आदिकवि श्रीमद्वाल्मीकिमहामुनिप्रणीत

श्री योगवासिष्ठ महारामायण

भाग-१

(वैराग्य प्रकरण, मुमुक्षु-व्यवहार प्रकरण और उत्पत्ति प्रकरण)

परमहंस श्रीमद् आनंद बोधेन्द्र सरस्वती प्रणीत

'श्रीवासिष्ठ महारामायण' (तात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्यासहित) का हिन्दी अनुवाद

श्री योग वेदान्त सेवा समिति

संत श्री आसारामजी आश्रम

संत श्री आसारामजी बापू आश्रम मार्ग, अमदावाद-380005. फोन : (079) 27505010-11.

आश्रम रोड, जहाँगीरपुरा, सूरत-395005. फोन : (0261) 2772201-2.

वन्दे मातरम् रोड, रवीन्द्र रंगशाला के सामने, नई दिल्ली-60. फोन : (011) 25729338, 25764161.

पेरूबाग, गोरेगाँव (पूर्व), मुंबई- 400063. फोन : (022) 26864143-44.

e-mail : ashramindia@ashram.org web-site : www.ashram.org

रु. 115.00

आमुख

कलियुग के बेचारे मानव में शारीरिक क्षमताएँ नहीं हैं, मानसिक सच्चाइयाँ नहीं हैं, बौद्धिक ऊँचाइयाँ नहीं हैं फिर भी 'श्री योगवासिष्ठ महारामायण' जैसा ऊँचा ग्रंथ उसे पढ़ने-सुनने को मिल रहा है, यह उसका कितना सौभाग्य है ! आज त्रेतायुग (जिस युग में वसिष्ठजी द्वारा भगवान श्रीरामजी को यह उपदेश दिया गया था) जैसा शरीर नहीं है, त्रेतायुग जैसी सामाजिक व्यवस्था नहीं है तथा वैसी मानसिक पवित्रता और सच्चाई भी नहीं है । लेकिन त्रेतायुग और सतयुग में सत्संग के विचार द्वारा श्रीरामजी जैसों को, श्रीरामजी के गुरुओं को, तत्कालीन लोगों को जो सत्यस्वरूप परमात्मा का ज्ञान, परमात्म-शांति और परमात्म-पद की प्राप्ति होती थी, वही परमात्म-ज्ञान, परमात्म-शांति और परमात्म-पद इस युग में भी हम पा सकते हैं । अपितु उन युगों की अपेक्षा इस युग में और सरलता से पा सकते हैं । कलियुग में मनुष्य शरीर से, मन से तथा बुद्धि से भी गरीब हो गया है । वह ज्यादा समय मन को एकाग्र और मौन नहीं रख सकता । परमात्मा ने कलियुग में ऐसी व्यवस्था की है कि मनुष्य थोड़ा-सा साधन करे तो भी उसे बहुत सारी उपलब्धियों की प्राप्ति हो जाय । परमात्मा से मुलाकात करने हेतु मेरे गुरुदेव के गुरुदेव ने जितना परिश्रम किया, जितनी तपस्या की, उससे कम परिश्रम में मेरे गुरुदेव को परमात्मा की मुलाकात हुई । लेकिन मेरे गुरुदेव को जो तप-तितिक्षा सहनी पड़ी, उसका हजारवाँ हिस्सा भी मुझे गुरु-प्रसाद पाने हेतु सहन नहीं करना पड़ा । फिर भी मुझे जो सहन करना पड़ा, उतना मेरे साधकों को नहीं करना पड़ रहा है और सहज में ही उन्हें साधना का मार्ग मिल रहा है ।

भगवान श्रीरामजी का विवेक मात्र १६ वर्ष की उम्र में जग गया और वे विवेक-विचार में खोये रहने लगे । उन्हीं दिनों यज्ञों का ध्वंस करनेवाले मारीच आदि राक्षस महर्षि विश्वामित्रजी के भी यज्ञ में विघ्न डालकर उन्हें तंग कर रहे थे । विश्वामित्रजी ने सोचा कि 'राजा दशरथ धर्मात्मा हैं । मैं उनसे मदद लूँ ।' वे अयोध्या गये । राजा दशरथ को जैसे ही खबर मिली कि विश्वामित्रजी आये हैं, वे सिंहासन से तुरंत उठ खड़े हुए और स्वयं उनके पास जाकर उनके चरणों में दंडवत् प्रणाम किया । राजा दशरथ इतना आदर करते थे आत्मज्ञानी महापुरुषों का !

दशरथजी ने विश्वामित्रजी को तिलक किया, उनकी आरती उतारी, फिर पूछा : ''मुनिशार्दूल ! मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?''

विश्वामित्रजी बोले : ''जो मैं माँगूँगा वह दोगे ?''

''महाराज ! मैं और मेरा राज्य आपके चरणों में अर्पित है ।''

''यह नहीं चाहिए । आपके सुपुत्र श्रीराम और लक्ष्मण मुझे दे दो ।''

यह सुनकर राजा दशरथ मूर्च्छित हो गये, फिर होश में आने पर बोले : ''महाराज ! यह मत माँगो, कुछ और माँग लो ।''

विश्वामित्रजी क्रोधित होकर बोले : ''अच्छा, खाली घर से साधु खाली ही जाता है । अभागा आदमी क्या जाने साधु की सेवा ? कौन अभागा मनुष्य साधु के दैवी कार्य में सहभागी हो सकता है ? हम यह चले ।''

दशरथजी घबराये कि संत रूठकर, नाराज होकर चले जायें, यह ठीक नहीं है । वसिष्ठजी ने भी दशरथजी को समझाया कि ''विश्वामित्रजी के पास वज्र जैसा तपोबल है । ये स्वयं समर्थ हैं राक्षसों को शाप देने में, लेकिन संत लोहे से लोहा काटना चाहते हैं, सोने से नहीं । विश्वामित्रजी आपके राजकुमारों द्वारा ताड़का आदि का वध करायेंगे और उन्हें प्रसिद्ध करेंगे । इसलिए राम-लक्ष्मण को विश्वामित्रजी को अर्पण करने में ही आपकी शोभा है ।''

राजा दशरथ ने कहा : ''श्रीराम तो विवेक करके संसार से उपराम हो गये हैं ।''

वसिष्ठजी ने कहा : ''साधो-साधो ! जब श्रीरामजी का विवेक जगा है तो हम उन्हें ज्ञानी बनाकर भेज देंगे, कर्मबंधन से पार करके भेज देंगे । वे ब्रह्मज्ञानी होकर राज्य करें ।''

भगवान श्रीरामजी को आदर के साथ राजसभा में लाया गया और वहाँ उन्होंने अपने हृदय के विचार प्रकट किये। इन्हीं विचारों का वर्णन 'श्री योगवासिष्ठ महारामायण' के पहले प्रकरण **'वैराग्य प्रकरण'** में किया गया है। फिर वसिष्ठजी और विश्वामित्रजी ने श्रीरामजी के वैराग्य की सराहना की और जैसे बीज बोकर सिंचाई की जाती है, वैसे उनको उपदेश देकर उनमें संस्कार सींचे। इन उपदेशों का वर्णन दूसरे प्रकरण **'मुमुक्षु व्यवहार प्रकरण'** में किया गया है। फिर 'सृष्टि का मूल क्या है और जगत की उत्पत्ति कैसे हुई ?'- इसका उपदेश दिया गया, जिसका वर्णन तीसरे प्रकरण **'उत्पत्ति प्रकरण'** में किया गया है। फिर अनात्मा से उपराम होकर आत्मा में स्थिति करने का उपदेश दिया गया, जिसका वर्णन चौथे प्रकरण **'स्थिति प्रकरण'** में किया गया है। फिर उपदेश का सिलसिला बढ़ता गया और सुख-दुःख में समता का अभ्यास करने और परमात्मा में विश्रांति पाने का उपदेश दिया गया, जिसका वर्णन पाँचवें प्रकरण **'उपशम प्रकरण'** में किया गया है। जैसे तेल खत्म हो जाने पर दीया बुझ जाता है, निर्वाण हो जाता है, वैसे ही मन को हमारी सत्ता न मिलने से उसकी दौड़, भटकान खत्म हो जाती है अर्थात् मन का निर्वाण हो जाता है। इसीका उपदेश आखिरी छठे प्रकरण **'निर्वाण प्रकरण'** में दिया गया है।

जो दुःखमय संसार की चोटों से बचकर परम सुख, परम शीतलता का अनुभव करना और अपना कर्तव्य निर्लेप भाव से निभाना चाहते हैं, उन सभीके लिए 'श्री योगवासिष्ठ महारामायण' बहुत अच्छा है।

स्वामी रामतीर्थ ने इसका बार-बार अध्ययन किया और वे इसके ज्ञान में, आत्मानुभव में इतने मस्त हुए कि अपने देश में तो आत्मशांति का प्रसाद बाँटा ही लेकिन अमेरिका भी गये और वहाँ के प्रेसीडेंट रुजवेल्ट ने उनसे बड़ी शांति पायी। यह सद्ग्रंथ पढ़कर मनन करने से व्यक्ति स्वयं भी शांति पाता है, परमात्मा में सराबोर हो जाता है तथा दूसरों को भी शांति देने की क्षमता उसमें आ जाती है। स्वामी रामतीर्थ बोलते थे : ''राम (स्वामी रामतीर्थ) के विचार से अत्यंत आश्चर्यजनक और सर्वोपरि श्रेष्ठ ग्रंथ, जो इस संसार में सूर्य के तले कभी लिखे गये, उनमें से 'श्री योगवासिष्ठ' एक ऐसा ग्रंथ है जिसे पढ़कर कोई भी व्यक्ति इस मनुष्यलोक में आत्मज्ञान पाये बिना नहीं रह सकता।''*

'श्री योगवासिष्ठ महारामायण' बार-बार विचारने योग्य है।

वेदांत ग्रंथ दो प्रकार के होते हैं : एक होते हैं प्रक्रिया ग्रंथ और दूसरे होते हैं सिद्धांत ग्रंथ।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश - इन पाँच स्थूल भूतों तथा सूक्ष्म भूतों की जानकारी, स्थूल भूतों से स्थूल शरीर कैसे बना ? सूक्ष्म भूतों से सूक्ष्म शरीर कैसे बना ? चैतन्यस्वरूप आत्मा इनसे पृथक् कैसे है ?- इस प्रकार जो ग्रंथ विभिन्न चरणों में, प्रक्रियात्मक ढंग से परब्रह्म-परमात्मा की समझ देते हैं, उन ग्रंथों को कहा जाता है 'प्रक्रिया ग्रंथ'। जैसे - पंचीकरण, विचारसागर, विचार-चंद्रोदय, पंचदशी आदि।

'श्री योगवासिष्ठ महारामायण' सिद्धांत ग्रंथ है। इसमें कहानियाँ, संवाद, इतिहास - सब कहे गये हैं और घुमा-फिराकर वही सिद्धांत की सारभूत बात कही गयी है। पुराणों में राजा हरिश्चंद्र आदि पूर्वकालीन श्रेष्ठजनों के प्रेरक चरित्रों और उनकी रसमय धर्मचर्चाओं के द्वारा सत्य को समझाया गया है। इस प्रकार पुराणों में कथा-प्रसंग अधिक आते हैं और सार बात (आत्मा-परमात्मा की बात) का कहीं-कहीं संकेत है, परंतु 'श्री योगवासिष्ठ' में कदम-कदम पर सार बात है।

वसिष्ठजी कहते हैं : ''जिसका अंतःकरण मुक्ति के लिए खूब लालायित हो, सत्कर्म करके खूब शुद्ध हो गया हो तथा ध्यान करके खूब एकाग्र हो गया हो उसे यह उपदेश सुननेमात्र से आत्मसाक्षात्कार हो जायेगा। जिन लोगों को इस ग्रंथ में, इस ज्ञान में प्रीति नहीं है, वे अपरिपक्व हैं। उनको चाहिए कि व्रत, उपवास, तीर्थाटन, दान, यज्ञ, होम, हवन आदि करें। इन्हें करके जब उनका अंतःकरण परिपक्व होगा, तब उनको इसमें रुचि होगी।''

- परम पूज्य संत श्री आसारामजी बापू

*(स्वामी रामतीर्थ, अरण्य संवाद (लेख व उपदेश), आठवाँ भाग, पृष्ठ क्र. : १२३)

श्री योगवासिष्ठ महारामायण विषय-सूची

परमहंस श्रीमद् आनंद बोधेन्द्र सरस्वती प्रणीत

'श्रीवासिष्ठ महारामायण' (तात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्यासहित) का हिन्दी अनुवाद

भाग-१

वैराग्य प्रकरण

मुमुक्षु-व्यवहार प्रकरण

उत्पत्ति प्रकरण

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

आध्यात्मिकता का आखिरी सोपान है - **श्री वसिष्ठजी का उपदेश**। यह एकदम ऊँचा है, विहंग मार्ग है। यह अगर जम जाय न, तो सुनते-सुनते बात बन जाय और जिनको नहीं जमती वे बार-बार सुनें तो उन्हें बहुत फायदा होगा। धनवान या निर्धन होना, विद्वान या अविद्वान होना, सुंदर या कुरूप होना - ये शाश्वत नहीं हैं। सुरूपता या कुरूपता यह २५-५० साल के खिलवाड़ में दिखती है। शाश्वत तो आत्मा है और उस पर न कुरूपता का प्रभाव है न सुरूपता का, न विद्वत्ता का प्रभाव है न अविद्वत्ता का। तरंग चाहे कितनी भी बड़ी हो लेकिन है तो अंत में सागर में ही लीन होनेवाली और चाहे कितनी भी छोटी हो लेकिन है तो पानी ही। ऐसे ही बाहर से आदमी चाहे कितना भी बड़ा या छोटा दिखता हो किंतु उसका वास्तविक मूल तो चेतन परमात्मा ही है। उस चेतन परमात्मा के ज्ञान को प्रकट करने का काम यह ग्रंथ करता है।

यह वह ग्रंथ है जिससे स्वामी रामतीर्थ को, घाटवाले बाबा को, मेरे गुरुजी (स्वामी श्री लीलाशाहजी महाराज) को और दूसरे अच्छे-अच्छे उच्चकोटि के महापुरुषों को अपने आत्मा की मुलाकात हुई। इसे पढ़ने-सुनने एवं विचारने से श्रीरामजी का अनुभव, मेरे गुरुजी का अनुभव तुम्हारा अनुभव हो जायेगा और '**सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म।** ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनंत है तथा मेरा ही स्वरूप है'- ऐसा साक्षात्कार हो जायेगा।

स्वामी रामतीर्थ बोलते थे : ''राम (स्वामी रामतीर्थ) के विचार से अत्यंत आश्चर्यजनक और सर्वोपरि श्रेष्ठ ग्रंथ, जो इस संसार में सूर्य के तले कभी लिखे गये, उनमें से 'श्री योगवासिष्ठ' एक ऐसा ग्रंथ है जिसे पढ़कर कोई भी व्यक्ति इस मनुष्यलोक में आत्मज्ञान पाये बिना नहीं रह सकता।''

– परम पूज्य संत श्री आसारामजी बापू

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

आदिकवि श्रीमद्वाल्मीकिमहामुनिप्रणीत

श्री योगवासिष्ठ महारामायण

परमहंस श्रीमद् आनंद बोधेन्द्र सरस्वती प्रणीत

'वासिष्ठ महारामायण' (तात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्यासहित) का हिन्दी अनुवाद

वैराग्य प्रकरण

पहला सर्ग

सम्प्रदाय की विशुद्धि के लिए ऋषि-देव संवाद और उपोद्घात के लिए
श्रीरामचन्द्रजी के अज्ञान के निमित्त का वर्णन।

अनादि महामोहरूपी निशा में सोये हुए इस जगत् को बारबार दुःखरूपी भ्रमों से रचित; जन्म, जरा, व्याधि, मृत्यु, हर्ष, शोक, क्रोध आदि अनर्थों से व्याप्त; आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीन तापरूपी दावानल से (वन की अग्नि से) चारों ओर घिरे हुए संसाररूपी महारण्य में मोहित, विवेकरहित और प्रबोध के उपाय के न मिलने के कारण दुःखी देखकर शास्त्ररूपी सूर्य के उदय से उसे (जगत् को) प्रबोधित करने के लिए भगवान श्रीब्रह्मदेव के आदेश से तथा अपने आप भी प्रवृत्त परमदयालु महर्षि श्रीवाल्मीकिजी रचे जानेवाले विशाल शास्त्र की, योगवासिष्ठ ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति एवं विशेषरूप से प्रचार के लिये श्रुति, स्मृति और सदाचार से प्राप्त तथा सम्पूर्ण विघ्नों के निर्मूलन में समर्थ सत्, चित् एवं आनन्दस्वरूप अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा का प्रणामरूप मंगलाचरण करते हुए शास्त्र के विषय और प्रयोजन को तटस्थलक्षण और स्वरूपलक्षण द्वारा संक्षेप से दिखलाने के लिए पहले 'यतो वा' इस श्रुति से प्रतिपादित तटस्थलक्षणसिद्ध तत्पदार्थ परब्रह्म को नमस्कार करते हैं।

सृष्टि के आरम्भ में आकाश आदि महाभूत एवं घट, पट आदि भौतिक पदार्थ जिस अद्वितीय वस्तु की सत्ता से अस्तित्व को प्राप्त कर आविर्भूत होते हैं, स्थितिकाल में जिसकी सत्ता से ही स्थित रहते हैं और प्रलयकाल में जिसमें लीन होते हैं उस सत्यस्वरूप (अपने में आरोपित सम्पूर्ण पदार्थों के पारमार्थिक स्वरूप एवं सब प्राणियों के हृदय में स्थित आत्मरूप) परमात्मा को नमस्कार है ॥१॥

सत्यस्वरूप के चिदेकत्वरस अनुभव द्वारा उपपादन करते हुए त्वम्पदार्थ जीव के तत्त्वभूत उसी स्वरूप को पुनः नमस्कार करते हैं।

जिस चिदेकरस परमात्मा से ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, दृष्टा, दर्शन, दृश्य, कर्ता, हेतु और क्रिया – ये सब व्यावहारिक पदार्थ आविर्भूत होते हैं। उस ज्ञाता आदि के साक्षी और परमार्थतः ज्ञानरूप से अवस्थित प्रत्यगात्मा को नमस्कार है (📖) ॥२॥

(📖) 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इस जीवरूप आत्मा से प्रवेशकर जगत् की रचना करता हूँ। इस श्रुति के अनुसार बिम्बभूत कूटस्थ चैतन्य ही प्रतिबिम्बरूप से अन्तःकरणरूप

इस प्रकार 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थ का शोधन करके तटस्थ लक्षण में पर्यवसित होनेवाले 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्यादि श्रुति से निर्दिष्ट निरतिशय आनन्दरूप परमपुरुषार्थभूत अखण्ड वाक्यार्थ को नमस्कार करते हैं।

जिस प्रत्यागात्मस्वरूप परिपूर्ण निरतिशयानन्द-महासमुद्र से स्वर्ग आदि लोकों में अर्थात् देवताओं में और भूमि में अर्थात् चेतन-अचेतन सम्पूर्ण पदार्थों में न्यूनाधिकभाव से आनन्दलेश का अनुभव होता है और वास्तव में जिसका आनन्दलेश जीवों का जीवन (आत्मा) है, उस परमपुरुषार्थभूत ब्रह्मानन्द को नमस्कार है ॥३॥

यों मंगलाचरण के साथ-साथ विषय आदि का प्रदर्शन करते हुए संक्षेपतः शास्त्रार्थ का प्रदर्शन किया। अब उसी शास्त्रार्थ का उत्पत्ति आदि से विस्तारपूर्वक निरूपण करने के लिए श्रोताओं के विश्वास की दृढ़ता के लिए ग्रन्थकार महामुनि वसिष्ठ और भगवान् रामचन्द्रजी के संवाद के आरम्भ के पहले उपोद्घातरूप आख्यायिका कहते हैं।

सुतीक्ष्ण नाम का कोई ब्राह्मण था। उसका हृदय अनेक प्रकार के सन्देहों से भरा था, अतएव उसने महामुनि अगस्त्य के आश्रम में जाकर उनसे सादर प्रश्न किया ॥४॥

सुतीक्ष्ण ने कहा : भगवन्, आप धर्म के तत्त्व को जानते हैं, सम्पूर्ण शास्त्रों का आपने भली भाँति मंथन किया है, मुझे एक बड़ा भारी संशय है, कृपा कर आप इसे दूर कीजिए ॥५॥ क्या मोक्ष का (✍) उत्पादक कर्म है ? अथवा ज्ञान ही मोक्ष का व्यंजक है ? या कर्म और ज्ञान दोनों मिलकर मोक्ष के साधन हैं ? इन तीनों पक्षों में से निश्चय करके किसी एक कारण को कहिए ॥६॥

'यत्र दुःखेन सम्भिन्नम्' इत्यादि श्रुति से स्वर्ग में नित्यत्व आदिका परिज्ञान होता है, वास्तव में अनेक श्रुतियों के साथ विरोध होने से स्वर्ग में नित्यत्व आदिका श्रवण आपेक्षिक है अर्थात् जितने

उपाधि में प्रविष्ट होकर तप्त लोहपिण्ड में अग्नि के समान तादात्म्य के अध्यास से अन्तःकरण की जड़ता को दूरकर उसे प्रकाशन-सामर्थ्य देता हुआ ज्ञाता कहलाता है। वही चिनगारियों के समान अन्तःकरण की वृत्तियों को प्रकाशन-सामर्थ्य देने से ज्ञान कहलाता है। वृत्ति के विषयाकार होने पर स्वयं भी वृत्ति द्वारा विषयाकार हुआ-सा ज्ञेय कहलाता है। वही ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा द्रष्टा कहलाता है। और इन्द्रिय-सम्प्रयोग से उत्पन्न इन्द्रियवृत्ति के द्वारा दर्शन कहलाता है। वृत्ति के फलरूप से विषयों को व्याप्त कर तद्रूप से स्वयं भी दृश्य-सा हो जाता है, अतः दृश्य कहलाता है। कर्मेन्द्रिय, प्राण और शरीर के द्वारा कर्ता कहलाता है। फल का भोक्ता होने से क्रिया की उत्पत्ति में निमित्त होने के कारण हेतु कहलाता है। क्रिया की न्यूनता और अधिकता में 'मैं ही न्यून या अधिक हूँ' ऐसा क्रिया के विषय में अभिमान करने से क्रिया कहलाता है। उक्त अर्थ में 'एष हि द्रष्टा श्रोता मन्ता कर्ता बोद्धा विज्ञानात्मा पुरुषः प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति' इत्यादि श्रुति प्रमाण है।

✍ परम पुरुषार्थभूत ब्रह्मानन्द ही यहाँ मोक्षशब्द का अर्थ है। उसका पर्यवसान स्वर्ग में ही होता है, क्योकिं 'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतंच तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥' जो किसी प्रकार के दुःख से सम्बन्ध न रखनेवाला, निरतिशय, अविनाशी एवं अभिलाषा करते ही प्राप्त होनेवाला सुख है, उसी को स्वर्ग कहते हैं। इस श्रुति से तथा 'स स्वर्गः सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात्' उस स्वर्ग को सभी लोग चाहते हैं।

अनित्य या दुःखमिश्रित पदार्थ हैं, उनसे स्वर्ग अधिक स्थायी है और उसमें दुःख का मिश्रण भी कम है, अतः असम्भव होने से प्रथम प्रश्न निरर्थक है। रह गई द्वितीय और तृतीय प्रश्न की बात, उसमें चित्तशुद्धि के द्वारा कर्म के ज्ञानांग होने पर भी श्रुति–तात्पर्य के साथ विरोध न होने के कारण ज्ञान और कर्म को अभिन्न मान कर अगस्त्य मुनि सुतीक्ष्ण ब्राह्मण के प्रश्न का उत्तर देते हैं।

अगस्त्य मुनि ने कहा : जैसे आकाश में दोनों ही पंखों से पक्षी उड़ते हैं, एक से नहीं, वैसे ही ज्ञान और कर्म दोनों से परमपद की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि जैसे आकाश–मार्ग से जानेवाले पक्षी अपने अभीष्ट देश में जाने के लिए दो पंखों के द्वारा ही उड़ कर जा सकते हैं, एक से नहीं; वैसे ही 'तद्विष्णोः परमं पदम्' इत्यादि श्रुति से जिस परमपदरूप कैवल्य का वर्णन किया गया है, उसको अधिकारी लोग अपने आत्मा में ही ज्ञान और कर्म दोनों से प्राप्त कर लेते हैं, अतः ज्ञान और (☐) कर्म दोनों मोक्ष के कारण हैं ॥७॥

पूर्वोक्त अर्थ को दृढ़ करने के लिए फिर कहते हैं।

केवल कर्मों से या केवल ज्ञान से मोक्ष नहीं होता, किन्तु ज्ञान और कर्म दोनों से मोक्ष होता है, अतः ब्रह्मज्ञ बड़े बड़े मुनि कर्म और ज्ञान दोनों को मोक्ष के साधन मानते हैं। इसलिए अनुभव सिद्ध विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिए ॥८॥ इस विषय में एक प्राचीन इतिहास कहता हूँ : प्राचीन काल में सम्पूर्ण वेदों का ज्ञाता कारुण्य नाम का एक ब्राह्मण था, उसके पिता का नाम अग्निवेश्य था। गुरुजी से वेद और सभी वेदांग, शास्त्र आदि का पूर्णरूप से अध्ययन कर वह कारुण्य अपने घर आया ॥९–१०॥ घर आकर वह सन्ध्यावन्दन आदि कोई कर्म नहीं करता था, बल्कि उनमें अनेक तरह के सन्देह करने लगा। अपने पुत्र को यों कर्मरहित अतएव निन्द्य देखकर अग्निवेश्य ने उसके हित के

इस प्रकार के जैमिनिसूत्र से स्वर्ग ही मोक्ष है, ऐसा मालूम पड़ता है। इस प्रकार का मोक्ष ज्योतिष्टोम आदि कर्मों से ही हो सकता है, अतः मीमांसक–मत के अनुसार क्या कर्म ही मोक्ष का कारण है ? ऐसा प्रथम प्रश्न का आशय है। 'न कर्मणा न प्रजया', 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः', 'ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति' इत्यादि श्रुतियों से यह ज्ञात होता है कि मुक्ति का ज्ञान से अतिरिक्त दूसरा कोई भी कारण नहीं हो सकता, अतः उपनिषत्मत के अनुसार क्या ज्ञान ही मोक्ष का कारण है ? ऐसा द्वितीय कल्प का भाव है। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि', 'विद्यांचाविद्यांच यस्तद्वेदोभय सह' इत्यादि मन्त्रों से उसके ज्ञान और कर्म दोनों मिलकर कारण हैं, ऐसा ज्ञात होता है, अतः क्या ज्ञान–कर्म दोनों समुच्चयरूप से मुक्ति के कारण हैं ? यों तृतीय प्रश्न का आशय है।

☐ यहाँ ज्ञान और कर्म का समुच्चय मोक्ष का हेतु है, ऐसा प्रतिपादन नहीं किया गया है, किन्तु पहले कर्मानुष्ठान द्वारा चित्त की शुद्धि होने पर ज्ञान होता है, तदनन्तर मुक्ति होती है, यों ज्ञान में ही साक्षात् मुक्ति की हेतुता का प्रतिपादन किया गया है; इसलिए पक्षीका दृष्टान्त ज्ञान और कर्म के यौगपद्यांश में स्वरूपसमुच्चय में नहीं समझना चाहिए, किन्तु क्रमसमुच्चय में समझना चाहिए, क्योंकि प्रवृत्ति और निवृत्ति कर्तृत्व–अकर्तृत्व एक समय में नहीं हो सकती, इससे भी ज्ञान से पहले कर्मों की अस्तिता अर्थतः प्रतीत होती है। जैसे दर्पण में किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ने के पहले दर्पण का परिमार्जन और प्रकाश दोनों अपेक्षित होते हैं, क्योंकि उनके बिना उसमें प्रतिबिम्ब ही नहीं हो सकता, वैसे ही अविद्या–मल की निवृत्ति में चित्त की शुद्धि और प्रमाण से उत्पन्न होनेवाली शुद्धवृत्ति ये दोनों अपेक्षित हैं, क्योंकि अशुद्ध चित्तवाले को हजार बार श्रवण करने पर भी आत्मज्ञानरूप फल की प्राप्ति नहीं देखी जाती।

लिए ये वचन कहे : हे वत्स, यह क्या कर रहे हो ? अपने कर्मों का पालन क्यों नहीं करते ? भला बतलाओ तो सही यदि कर्म न करोगे, तो तुम्हें सिद्धि कैसे प्राप्त होगी ? और यह भी बतलाओ कि तुम्हारी कर्मों में प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ? ॥११-१३॥ अपने पिता के यों पूछने पर कारुण्य ने कहा : श्रुति और स्मृतियों ने जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र, सन्ध्यावन्दन आदि प्रवृत्तिरूप धर्मों का विधान या प्रतिपादन किया है एवं 'धन से, कर्म से तथा प्रजाओं के उत्पादन से अमृतरूप मोक्ष प्राप्त नहीं होता, मुख्य-मुख्य यति लोग एकमात्र त्याग से मोक्ष प्राप्त करते हैं', ऐसे अर्थ का प्रतिपादन करनेवाली 'न धनेन' इत्यादि श्रुति मुक्तिप्राप्ति के लिए केवल त्याग को ही साधन बतलाती है। इसलिए पूज्यवर, इन परस्पर विरुद्ध अर्थों में से किसका मुझे अनुसरण करना चाहिए ? यों सन्देह में पड़कर मैं कर्मानुष्ठान से उदासीन हुआ हूँ॥१४-१६॥ अगस्त्य ने कहा : भद्र, पिता से कह कर कारुण्य चुप हो गया, उस के पिता ने चुप-चाप बैठे हुए पुत्र से कहा ॥१७॥ अग्निवेश्य ने कहा : प्रिय पुत्र, मैं तुमसे एक सुन्दर कथा कहता हूँ, उसे सुनो। उसके अर्थ का मुझसे निश्चय करके तुम्हें जैसा अच्छा लगे वैसा करना ॥१८॥ अप्सराओं में अत्यन्त सुन्दरी सुरुचि नामकी एक अप्सरा थी। वह मयूरों से आवृत्त हिमालय के शिखर पर बैठी थी, जहाँ पर कामसंतप्त किन्नरियाँ किन्नरों के साथ क्रीडा करती हैं और पापों का नाश करनेवाला श्रीगंगाजी का प्रवाह किलोंले मारता है। उसने आकाश-मार्ग से जा रहे इन्द्र के दूत को देखा। सुरुचि ने दूत से कहा : महाभाग, आप कहाँ से आ रहे हैं, अब कहाँ जाते हैं ? वह सब कृपापूर्वक मुझसे कहिये। दूत ने कहा : सुन्दरी, आपने बड़ा अच्छा प्रश्न किया। मैं आपके प्रश्न का यथावत् उत्तर देता हूँ। धर्मात्मा राजर्षि अरिष्टनेमि अपने पुत्र को राज्य देकर तप करने के लिए वन में गया। वह राजा गन्धमादन पर्वत पर तपस्या कर रहा है। वही कार्य करके मैं आ रहा हूँ और अब वहाँ का वृतान्त कहने के लिए इन्द्र के पास जाता हूँ॥१९-२५॥ अप्सरा ने कहा : भगवन्, वहाँ पर कौन घटना हुई, उसे मुझसे कहिये मैं आपसे विनयपूर्वक पूछती हूँ। मेरी अवहेलना न कीजिये ॥२६॥ देवदूत ने कहा : हे सुन्दरी, सुनो, मैं विस्तार से तुम्हें वहाँ की घटना सुनाता हूँ। राजा अरिष्टनेमि गन्धमादन पर्वत में कठिन तपस्या कर रहा है, यह जानकर देवराज इन्द्र ने मुझे आज्ञा दी कि 'हे दूत, तुम अप्सराओं और विविध बाजों से सुशोभित, गन्धर्व, सिद्ध, किन्नर आदिसे विभूषित विमान को एवं ताल आदि से सज्जित सेना को लेकर अनेक प्रकार के वृक्षों से शोभित गन्धमादन पर्वत पर जाओ और राजा अरिष्टनेमि को विमान पर बैठा कर स्वर्गसुख भोगने के लिए अमरावती पुरी में ले आओ ॥२७-३१॥ देवराज इन्द्र की वैसी आज्ञा पाकर सम्पूर्ण सामग्रियों से युक्त उस विमान को लेकर मैं उक्त पर्वत गया। वहाँ पहुँच कर राजा के आश्रम में जाकर मैंने उनको देवराज इन्द्र की सब आज्ञा कह सुनाई। हे सुन्दरी, मेरे वचनों को सुनने के बाद संदेह में पड़कर राजा ने कहा : हे दूत, मैं आपसे पूछना चाहता हूँ, मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिये। स्वर्ग में कौन गुण और दोष हैं ? उनका मेरे सामने वर्णन कीजिये। मैं उन्हें जानकर जैसी इच्छा होगी वैसा करूँगा ॥३२-३५॥ देवदूत ने कहा : राजन्, पुण्य की सामग्री के अनुसार मनुष्य स्वर्ग में उत्तम फल भोगता है। उत्कृष्ट पुण्य से उत्कृष्ट स्वर्ग मिलता है, मध्यम पुण्य से मध्यम स्वर्ग मिलता है एवं कनिष्ठ पुण्य से तद्नुरूप कनिष्ठ ही फलभोग मिलता है। इसमें हेरफेर नहीं होता। महाशय, पुण्य के तारतम्य के अनुसार स्वर्ग-स्थान और वहाँ के सुख का तारतम्य (उत्कर्ष और अपकर्ष) होता है।

जिन्हें उत्तम स्वर्ग प्राप्त नहीं है, उनको उत्तम स्वर्गवालों की उत्कृष्टता असह्य प्रतीत होती है, समान स्वर्गवाले एक दूसरे के साथ ईर्ष्या, स्पर्धा, विद्वेष आदि करते हैं और उत्तम स्वर्गवाले अपनी अपेक्षा हीन स्वर्गवालों की हीनता अर्थात् अल्प सुख देखकर सन्तोष करते हैं। जब तक पुण्य–क्षय नहीं होता, तब तक स्वर्गवासी यों उत्तम, मध्यम और अधम सुख का अनुभव करते काल–यापन करते हैं। तदनन्तर पुण्यों के क्षीण होने पर इसी मनुष्य–लोक में आकर जन्म ग्रहण करते हैं। महाराज स्वर्ग में ये ही गुण और दोष विद्यमान हैं ॥३६–३९॥ स्वर्ग के ये ही गुण और दोषों को सुनकर महाराज बोले : देवदूत, मैं ऐसे स्वर्ग–भोग की इच्छा नहीं करता। जैसे साँप पुरानी केंचुली को छोड़ देता है, वैसे ही मैं आज से महाउग्र तप करके इस घृणास्पद शरीर को छोड़ दूँगा। हे देवदूत, आप इस विमान को लेकर देवराज इन्द्र के समीप जैसे आये थे वैसे वापिस चले जाइये, आपको नमस्कार है ॥४०–४२॥ देवदूत ने कहा : सुन्दरी, राजा के यों कहने पर मैं वह निवेदन करने के लिए इन्द्र के पास गया। वहाँ जो वृत्तान्त हुआ था वह सब मैंने देवराज इन्द्र को कह सुनाया। राजा अरिष्टनेमि की स्वर्ग के प्रति विरक्ति, देखकर इन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। फिर महेन्द्र ने मधुर वाणी से मुझसे कहा : हे दूत, तुम फिर वहाँ जाओ और उस विरक्त, राजा को ब्रह्मज्ञान–प्राप्ति के लिए तत्त्वज्ञ महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में ले जाओ और महर्षि वाल्मीकि से मेरा यह सन्देशा कहो कि महर्षिजी, इस विरक्त, विनीत और स्वर्ग के प्रति निस्पृह राजा को तत्त्वज्ञान का उपदेश दीजिये तत्त्वज्ञान के उपदेश से संसार–दुःख से पीड़ित वह क्रमशः मुक्ति को प्राप्त होगा। यह कह कर देवराज ने मुझे राजा के पास भेजा। मैंने वहाँ जाकर इन्द्र के सन्देश के साथ राजा को वाल्मीकिजी के समीप उपस्थित किया और राजा ने महर्षि से मोक्ष के साधन के विषय में जिज्ञासा की। तदनन्तर वाल्मीकिजी ने राजा से प्रीतिपूर्वक देश, धन, पुत्र, तप आदि के प्रश्न द्वारा आरोग्य–कुशल पूछा ॥४३–४९॥ राजा ने कहा : भगवन् आप सब धर्मों के तत्त्वों को जानते हैं और जितने ज्ञातव्य विषय हैं उन सबके आप ज्ञाता हैं, मैं आपके दर्शन से कृतार्थ हूँ, यही मेरी कुशल है। भगवन्! इस समय मैं जिज्ञासु और संसारदुःख से कातर हूँ। जिस भाँति विघ्न न आवे वैसे मुझे तत्त्व का उपदेश दीजिये। जिससे मैं संसार–बन्धनरूप पीडा से मुक्त हो जाऊँ ॥५०–५१॥ वाल्मीकिजी ने कहा : राजन्, सुनिए, मैं अखण्डतत्त्व–प्रतिपादक रामायण की कथा कहूँगा, यत्नपूर्वक उसे सुनकर एवं हृदय में धारण कर आप जीवन्मुक्त हो जायेंगे ॥५२॥ उक्त रामायण वसिष्ठ–राम संवादस्वरूप है। (卐) वह मुक्ति का अद्वितीय उपाय और अत्यन्त कल्याणकारी है। हे राजेन्द्र, आप उसे समझने में समर्थ हैं और मैं भी उसे जानता हूँ, इसलिए मैं आपको उसे सुनाता हूँ। आप सावधान होकर सुनें ॥५३॥ राजा ने कहा : हे तत्त्वज्ञानियों में श्रेष्ठ, राम कौन हैं ? उनका कैसा स्वरूप है ? वे किस वंश में उत्पन्न हुए थे ? वे बद्ध थे अथवा मुक्त ? पहले आप मुझसे यही निश्चयकर कहने की कृपा करें ॥५४॥

(卐) वसिष्ठ और राम के संवाद से यह सूचित होता है कि वसिष्ठ ने रामचन्द्रजी को उपदेश दिया था। वसिष्ठ गुरु थे और राम उनके शिष्य। इस कथा ने राजर्षि के मन में सन्देह उत्पन्न कर दिया कि अज्ञ जीव ही ज्ञान–प्राप्ति के लिए शिष्य होता है, किन्तु राम स्वयं सनातन ब्रह्म थे, वे क्यों शिष्य होंगे ? वे कौन राम थे, क्या वे राम नाम के कोई जीव थे ? या भगवान् के अवतार प्रसिद्ध राम थे, ऐसा सन्देह होने पर राजर्षि ने महर्षि से जिज्ञासा की कि आप किस राम की कथा कहेंगे उसे मुझसे कहिये।

वाल्मीकिजी ने कहा : निग्रहानुग्रहसमर्थ भगवान् श्रीहरिने शाप पालन के बहाने राजा के वेश में अवतार लिया था। वे सर्वज्ञ होने पर भी अपने भक्तों के वाक्यों को सत्य करने की इच्छा से साधारण मनुष्यों की भाँति अज्ञ हो गये थे ॥५५॥ राजा ने कहा : भगवन्, अपराधी व्यक्ति ही शाप का भाजन होता है एवं अपराध भी अपूर्णकाम और अल्पज्ञ व्यक्ति ही करते हैं, जो सच्चिदानन्दस्वरूप और चिद्‌घनमूर्ति परमेश्वर थे, उन्हें अभिशाप कैसे ? अतएव उनके प्रति अभिशाप होने का कारण क्या था और उनको किसने अभिशाप दिया ? यह आप मुझे बतलाइए ॥५६॥ वाल्मीकिजी ने कहा : राजन् ! कामक्रोध रहित और परम ज्ञानी ब्रह्मा के मानसपुत्र सनत्कुमार एक समय ब्रह्मलोक में बैठे थे। उसी समय त्रैलोक्याधिपति भगवान् विष्णु वैकुण्ठ से वहाँ पधारे। सत्यलोक में निवास करेवाले अन्यान्य देवताओं के साथ ब्रह्मा ने अभ्युत्थान आदि से उनका सत्कार किया। केवल सनत्कुमार ने, अपने को निष्काम समझकर, उनका अभ्युत्थान आदि नहीं किया। यह देखकर भगवान् विष्णु ने कहा : सनत्कुमार, तुम अहंकारी हो, तुम्हारी चेष्टा गर्वसूचक है, इस कारण तुम कार्तिकेय नाम से विख्यात और कामासक्त होओगे ॥५७-५९॥ यह सुनकर सनत्कुमार ने भी अत्यन्त दुःखी होकर विष्णु को यह शाप दिया कि आपको भी सर्वज्ञता का परित्याग कर कुछ काल तक अज्ञ जीव की भाँति रहना पड़ेगा। महर्षि भृगु ने भी विष्णु द्वारा अपनी भार्या का विनाश देखकर क्रोधवश उन्हें यह शाप दिया था कि 'हे विष्णु, जैसे तुमने मुझे स्त्रीवियोगजनित दुःख से दुःखित किया, वैसे ही तुम्हें भी स्त्रीवियोगजनित दुःख का अनुभव करना पड़ेगा(📖) ॥६०-६१॥ पहले विष्णु ने जलंधर का रूप (🔔) धारण कर उसकी प्राणप्रिया भार्या

📖 यहाँ पर यह पौराणिक कथा है कि पूर्व कल्प में ख्याति नाम की भृगुपत्नी ने विष्णु-शरीर में लीन होने के लिए भगवान् विष्णु की प्रार्थना की थी। भगवान् ने उसकी प्रार्थना पूर्ण की, परन्तु भृगु के मन में आया कि विष्णु ने हमारी स्त्री का विनाश किया, इसी से उन्होंने क्षुब्ध होकर विष्णु को उक्त शाप दिया।

🔔 ब्रह्मवैवर्तपुराण में लिखा है कि गोलोकस्थ सुदामा नामक गोपाल राधा के शाप से जलंधर नाम से उत्पन्न हुआ और तुलसी नामकी गोपी धर्मध्वज राजा की पत्नी से उत्पन्न हुई थी। जलंधर ब्रह्मा के वरसे अवध्य हो गया था। ब्रह्मा किसी को भी नित्य अमर नहीं करते। मरने का एक न एक निमित्त रख छोड़ते हैं। यही बात उन्होंने जलंधर से भी कही थी कि तुम्हारी पत्नी के सतीत्व का नाश होने पर, तुम्हारा मरण होगा, अन्यथा तुमको कोई न मार सकेगा। बल से गर्वित जलंधर ने बलपूर्वक स्वर्ग का राज्य छीन लिया। ब्रह्मा, शिव आदि देवगण उसकी हरकतों को कहने के लिए वैकुण्ठ गये। भगवान् विष्णु ने शिव से उसके साथ युद्ध करने के लिए कहा। जलंधर के शिवजी के साथ युद्ध करने पर भगवान् विष्णु जलंधर के रूप में उसके घर गये और उसकी पत्नी का सतीत्व नष्ट कर दिया। इस प्रकार जलंधर की मृत्यु हो गई। वृन्दा को जब जलंधर की मृत्यु के बाद यह वृत्तान्त विदित हुआ, तो उसने विष्णु को पूर्वोक्त शाप दिया। किसी किसी पुस्तक में जलंघर के बदले शंखचूड़ नाम देखा जाता है। पद्मपुराण में जलंधर का उपाख्यान दूसरे प्रकार से लिखा गया है, यह ठीक है, परन्तु उसमें भी उसकी पत्नी का विष्णु द्वारा मोहित होना वर्णित है। दोनों पुराणों की कथाओं की आलोचना करने से प्रतीत होता है कि विष्णु ने वृन्दा को मोहित किया था और उससे वृन्दा का पातिव्रत्य नष्ट हुआ था। सर्वव्यापी और सर्वश्रेष्ठ विष्णु पुण्य और पाप से अलिप्त हैं, अतः उनका यह कार्य दोषयुक्त नहीं है।

वृन्दा को विमोहित कर उसका पतिव्रत्य भंग किया, इसलिए वृन्दा ने भी उन्हें शाप दिया कि 'हे विष्णु, तुमने छल करके मेरा पातिव्रत्यभंग किया और मुझे संतापित किया, अतः मेरे वाक्य से तुमको भी स्त्रीवियोगजनित दुःख का अनुभव करना पड़ेगा ॥६२॥ भगवान ने जब नृसिंहरूप धारण किया था तब गर्भवती देवदत्त की भार्या ने उनका विकरालस्वरूप देखकर पयोष्णी नदी के किनारे प्राण छोड़ दिये थे । इसलिए उसके स्वामी देवदत्त ने भार्या के वियोग से दुःखी होकर यह शाप दिया कि आपने जैसे मुझे स्त्रीवियोग से दुःखी किया वैसे ही आप भी कुछ काल के लिए अपने स्वरूप को भूलकर स्त्रीवियोग से दुःखी होंगे । ॥६३–६४॥ भक्तवत्सल भगवान ने इस प्रकार भृगु, सनत्कुमार, वृन्दा एवं देवदत्त द्वारा अभिशप्त होकर मनुष्यजन्म धारण किया और उनके शापानुसार तत्–तत् कार्य स्वीकार किये । अभिशापरूपी छल का कारण मैंने आपसे कहा । अब मैं प्रस्तावित कथा कहता हूँ, सावधान होकर सुनिये । भगवान् ने अपनी शक्ति के द्वारा शापमोचन में समर्थ होकर भी भक्तवत्सलता के कारण भक्तों की मर्यादा की रक्षा के लिए तत्–तत् कार्य किये । भृगु और वृन्दा के शाप से उनका स्त्रीवियोग और देवदत्त के शाप से गर्भवती सीता से वियोग हुआ । महाराज, जिस जिस कारण से भूतभावन भगवान् अभिशप्त हुए थे, वह सब आपसे मैं कह चुका हूँ । अब मोक्ष के उपायभूत साधनों के विषय में आपने मुझसे जो जिज्ञासा की है, उसके लिए बत्तीस हजार श्लोकों का योगवासिष्ठनामक महारामायण आपके निकट कहता हूँ ॥६५–६६॥

पहला सर्ग समाप्त

दूसरा सर्ग

अधिकारी, षट्काण्डात्मक पूर्वरामायण के साथ इस ग्रन्थ का सम्बन्ध ब्रह्मा के आदेश से इस ग्रन्थ का निर्माण तथा मुक्तों की चर्या का वर्णन ।

'मंगलादीनि मंगलमध्यानि' इत्यादि पातंजल महाभाष्य में दर्शित श्रुति के अनुसार रचे जानेवाले महाशास्त्र की निर्विघ्न परिसमाप्ति और प्रचार आदि के लिए मध्य में भी सर्वावभासक चिद्घनमूर्ति प्रत्यगभिन्न परब्रह्म का नमस्काररूप मंगलाचरण करते हुए ग्रन्थकार इस शास्त्र के विषय और प्रयोजन को भी अर्थतः कहते हैं ।

जो स्वर्ग में, भूमि में, आकाश में, हमारे अन्दर और बाहर निरन्तर विराजमान है, अर्थात् जिसकी सत्ता और प्रकाश से यह सम्पूर्ण प्रपंच सत्तावान् और प्रकाशित होता है, उस सर्वात्मा और सर्वावभासक परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार है । (✍)॥१॥ वाल्मीकिजी ने कहा : मैं इस संसाररूप कारागार में बद्ध

(✍) इस श्लोक के और भी अनेक अर्थ टीकाकारों ने किये हैं– जैसे 'पृथिवी पूर्वरूपं द्यौरुत्ततररूपम्' इस श्रुति में दर्शाया गया है, वैसे ही इस श्लोक में दिवि–ब्रह्माण्ड के सुवर्ण मय ऊपर के कपाल में, भूमौ – ब्रह्माण्ड के रजतमय नीचे के कपाल में, आकाश – उन दोनों के सन्धिभूत सूक्ष्म आकाश में और भीतर सूर्य, चन्द्र और अग्नि से भी जो अधिक प्रकाशित होता है, उस सब वस्तुओं के परमार्थस्वरूप अवभासात्मा परमात्मा को नमस्कार है । अथवा दिवि–द्योतनात्मक भूमानन्दरूप तुर्यस्वरूप में, भूमौ–दो अवस्थाओं की स्थूल–सूक्ष्म की उत्पत्तिभूमि में, आकाशे–अव्याकृत

हूँ, इससे मुझे मुक्त होना चाहिए, ऐसी जिसको मुक्ति की प्रबल इच्छा हुई है एवं जो अत्यन्त अज्ञानी नहीं है और जो अत्यन्त ज्ञानी भी नहीं है, वही इस शास्त्र के श्रवण में अधिकारी है ॥२॥

भाव यह है कि न अत्यन्त ज्ञानी और न अत्यन्त अज्ञानी इस शास्त्र का अधिकारी है, यह कहना ठीक है, किन्तु मैं कारागार में हथकड़ियों से बँधे हुए कैदी की नाईं अनादिकाल से बद्ध होकर परवशता, परिच्छिन्नता, जन्म, जरा, मरण आदि दुःख सागर में डूबा हुआ हूँ, इस दुःख की आत्यान्तिक निवृत्ति का उपाय एकमात्र आत्मज्ञान ही है, क्योंकि 'तरति शोकमात्मवित्' (आत्मा को जाननेवाला पुरुष ही दुःख से विमुक्त होता है।) यह श्रुति आत्मज्ञान ही मुक्ति का उपाय है, ऐसा कहती है। इसलिए मैं उस आत्मज्ञान का लाभ कर मुक्त होऊँ, इस प्रकार की उत्कट जिज्ञासा से युक्त जिसका निश्चय है, वह इस शास्त्र का अधिकारी है, ऐसे ही पुरुष को इस शास्त्र के श्रवण का फल मिलता है। निष्कर्ष यह निकला कि अनेक पुण्यों से जिसके राग आदि दोष क्षीण हो गये हैं और विवेक से जिसे आत्मा की जिज्ञासा हुई है, ऐसे विशेषरूप से आत्मा को न जाननेवाले अज्ञानी का ही इस शास्त्र में अधिकार है।

शंका – जिसके राग आदि दोष नष्ट हो गये हैं, ऐसा त्रैवर्णिक इस योगवासिष्ठरूप शास्त्र में अधिकारी है, ऐसा यदि मानो, तो यह संन्यासपूर्वक वेदान्त श्रवण में ही अधिकारी है, ऐसा अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि पूर्वकाण्ड के (कर्मकाण्ड के) अनुष्ठान से चित्त के शुद्ध होने पर ही उत्तरकाण्ड में (वेदान्त में) अधिकार प्राप्त होता है, ऐसा 'तमेतं वेदानुवचनेन' इत्यादि श्रुति से सिद्ध है। और जो त्रैवर्णिक नहीं है, उसका अधिकार भी इसमें नहीं हो सकता, क्योंकि 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' इत्यादि श्रुति से उसके अधिकार का निषेध किया गया है। इस परिस्थिति में इस शास्त्र का अधिकारी कैसे सुलभ होगा ?

आकाश में, बहीः बहिःप्रज्ञ द्वारा भोग्य जाग्रत् में, अंतः अन्तःप्रज्ञ द्वारा भोग्य स्वप्न में एवं मरण, मूर्च्छा आदि अवस्थाओं में जो स्थूल सूक्ष्म कारणों के अभिमानी-रूप से, भोक्तृत्वरूप से, साक्षीरूप से और निष्प्रपंचपूर्णानन्दचिन्मात्रस्वभाव से नाना प्रकार का प्रतीत होता है, पर वस्तुतः चैतन्यस्वभाव ही है, उस सर्वात्मा परब्रह्म को नमस्कार है। अथवा कारणोपाधि में, कर्मबीज के उद्भवस्थान कार्योपाधि में, जीवन्मुक्तिदशा में, निरुपाधि स्वरूप में एवं माया और अन्तःकरण की वृत्तियों में जो ज्ञानस्वभाव प्रकाशित होता है, उस सर्वोपाधि शून्य परमात्मा को नमस्कार है। अथवा दिवि-प्रकाशस्वरूप तेज में, भूमौ-पृथिवी में, व्योम्नि-आकाश में, अन्त-अन्तरालस्थ जल और पवन में, बहिः बहिर्भूत अव्याकृत में तथा निरुपाधिक परमार्थरूप में जो अनुवृत्त होकर सन्मात्रस्वभाव परमात्मा भासता है, उस अवभासात्मक परमात्मा को नमस्कार है। अथवा बाहर तटस्थरूप को धारण कर पूज्य देवता आदि के रूप से देवलोक में देह के मध्य में रहकर पूजकरूप से भूलोक में और क्रिया, फल, साधन आदि के रूप से अन्तराल में स्वरूप की अज्ञानावस्था में परिच्छिन्नरूप से अन्यथा प्रतीत होकर भी तत्त्वदृष्टि के उदित होने पर जो परिच्छेद रहित प्रतीत होता है, उस सर्वात्मा त्रिविधपरिच्छेदशून्य परमात्मा को नमस्कार है। अथवा ऊपर, नीचे, मध्य में, पूर्व आदि दिशाओं में, शरीर के भीतर, भूत और भविष्यत् काल में जो अवभासात्मा मुझ तत्त्वज्ञानी को प्रतीत होता है, उस सम्पूर्ण प्रपंच के बाध के आश्रयभूत परमात्मा को नमस्कार है।

समाधान – आपका कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे त्रैवर्णिकका त्रेताग्निसाध्य (आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि– इन तीन अग्नियों से साध्य) कर्म में अधिकार होने पर भी जो अनाहिताग्नि (जिन्होंने अग्न्याधान नहीं किया है) हैं, ऐसे पुरुषों द्वारा अनुष्ठेय स्मार्त कर्म में भी अधिकार है ही, वैसे ही श्रौतज्ञान के अधिकारी का भी असंन्यासी मुमुक्षु पुरुषों के अधिकार के समान इस ग्रन्थ में भी अधिकार है। और यह अधिकार तभी तक है, जब तक अज्ञान रहता है, क्योंकि यह योगवासिष्ठ शास्त्र स्मृति के समान वेदार्थ को ही विशद करता है।

कहा भी है।

वेदवेद्यो परे पुंसि जाते दशरथात्मजे। वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद् रामायणात्मना॥

अर्थात् केवल वेदों से जानने योग्य दशरथनन्दन परमपुरुष भगवान् रामचन्द्रजी के आविर्भूत होने पर वाल्मीकि महर्षि द्वारा रामायण के रूप में साक्षात् वेद का ही आविर्भाव हुआ। उसमें श्रीरामचन्द्रजी की कथा द्वारा पूर्वरामायण में उत्तरकाण्डसहित छः काण्डों से कर्मकाण्ड का निरूपण किया है और इस उत्तररामायण में याने योगवासिष्ठ में छः प्रकरणों द्वारा ज्ञानकाण्ड का निरूपण किया है। इस परिस्थिति में यह निष्कर्ष निकला कि जैसे कुछ स्मार्त कर्मों में – त्रैवर्णिकों के साथ स्त्री शूद्र आदि का भी अधिकार देखा जाता है, वैसे ही इस ग्रन्थ के श्रवण में भी पुराणश्रवण के समान त्रैवर्णिक और अत्रैवर्णिकसाधारण मुमुक्षुओं का अधिकार है। इस अर्थ में प्रमाणभूत 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः' (ब्राह्मण को मुख्य श्रोता बनाकर चारों वर्णों को (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र–इन चारों वर्णों को) पुराण सुनावे), 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (वेद को न जाननेवाला उस बड़ी वस्तु को परमात्मा को– नहीं पा सकता), 'तंव त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (उस उपनिषदेकगम्य पुरुष के विषय में पूछता हूँ) इत्यादि वचनों का 'वेद को न जाननेवाले का श्रौत ज्ञान में अधिकार नहीं है, इसी अर्थ में तात्पर्य है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि 'वेद को न जाननेवाले को अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं होता' इस अर्थ में उनका तात्पर्य है। कुछ लोगों का अभिप्राय यह है कि वेदपूर्वक प्राप्त हुआ आत्मज्ञान प्रशस्त होता है, यही उन वाक्यों से प्राप्त होता है। जो भी हो, परन्तु 'स हि सर्वैर्विजिज्ञास्य आत्म वर्णैस्तथाऽऽश्रमैः' इत्यादि अनेक वचनों से ज्ञात होता है कि पुराण श्रवण से उत्पन्न साधारण ज्ञान में औरों का भी (त्रैवर्णिकेतरों का भी) अधिकार है। अधिकार के सिद्ध होने पर श्रौत आत्मज्ञान में जैसे कर्मकाण्ड में प्रतिपादित कर्मों के अनुष्ठान से उत्पन्न चित्त की शुद्धि हेतु है, वैसे ही यहाँ पर भी पूर्वरामायण में प्रदर्शित स्व–स्व वर्ण और आश्रम के कर्मों के अनुष्ठान से होनेवाली चित्त की शुद्धि जिज्ञासा के उत्पादन द्वारा हेतु है, यों पूर्व और उत्तररामायण में हेतु हेतुमद्भावसंगति का प्रदर्शन करते हुए सम्पूर्ण अनर्थ की निवृत्तिरूप अन्य प्रयोजन दिखलाते हैं।

पहले जिसमें कथारूप उपाय है उस रामचरितवर्णनात्मक पूर्वरामायण का विचार कर जो मोक्ष के उपायभूत इन छः प्रकरणों का विचार करता है, वह बुद्धिमान् इस संसार में पुनः जन्म आदि दुःख को प्राप्त नहीं होता॥३॥

तात्पर्य यह है कि पूर्वरामायण में जिस मर्यादापुरुषोत्तम भगवान श्रीरामचन्द्रजी की कथा का वर्णन किया गया है, वह कथा ही ज्ञानाधिकार को प्राप्त करानेवाले धर्म–तत्त्वज्ञान, धर्म का अनुष्ठान और

ईश्वर में विश्वास के उपाय हेतु है अर्थात् सारी रामायण की कथा सुनने के बाद मनुष्य को धर्म का यथार्थ ज्ञान होता है, फिर वह उसका अनुष्ठान करता है और अनुष्ठान से निर्मल चित्त होने पर ईश्वर में उसे विश्वास होता है, इन तीनों के होने पर वह ब्रह्मज्ञान का अधिकारी होता है। अतः जिससे भगवान् की कथा का सविस्तर वर्णन किया है, उस पूर्वरामायण का पहले खूब अभ्यास और परिशीलन करने के बाद जो पुरुष इस योगवासिष्ठ में मोक्ष के लिए बतलाये गये छः प्रकरणों का विचार करेगा उसका फिर इस अनेकविध दुःखों से भरे हुए संसार में आगमन नहीं होगा अर्थात् वह मुक्त हो जायेगा। (🔔)

हे शत्रुनाशक, पहले छप्पन हजार श्लोकपरिमित पूर्व और उत्तर दो खण्डों से युक्त इस रामायण के अनादिकाल से अभ्यस्त राग, द्वेष आदि दोषों को दूर करनेवाले उत्तम-उत्तम उपदेशों से पूर्ण होने के कारण महाबलवान् (महासामर्थ्य से युक्त) रामकथारूप (रामचरितवर्णनरूप) पूर्वखण्ड की (चौबीस हजार श्लोक परिमित उत्तरकाण्ड सहित छः काण्डों की) रचना कर मैंने उसे अनुग्रह और प्रेम से एकाग्रचित्त होकर जैसे सागर रत्नार्थी को रत्न देता है, वैसे ही विनीत और मेघावी अपने प्रिय शिष्य भरद्वाज को दिया ॥४,५॥ मेघावी भरद्वाज ने मुझसे पूर्वरामायण को प्राप्त कर सुमेरु पर्वतस्थ किसी वन में उसे ब्रह्मा को सुनाया ॥६॥ उसे सुनकर सबके पितामह भगवान् ब्रह्मा भरद्वाज के ऊपर बड़े प्रसन्न हुए और वरदान के बहाने जगत् के उद्धार के साधन मोक्षशास्त्र की रचना करनी चाहिये, यों उत्तम आशयवाले ब्रह्मा ने भरद्वाज से कहा : हे पुत्र, वर माँगो ॥७॥ भरद्वाज ने कहा : हे भगवन् हे भूत, भविष्यत् और वर्तमान के स्वामी, जिससे यह जनता दुःख से मुक्त हो जाय, वह उपाय मुझसे कहिये। इसी वर में मेरी अभिरुचि है ॥८॥ श्री ब्रह्माजी ने कहा : वत्स भरद्वाज, जो तुमने मुझसे पूछा है इस विषय में अपने गुरु श्रीवाल्मीकिजी के निकट जाकर उनसे प्रयत्न से विनयपूर्वक प्रार्थना करो। उन्होंने जिस अनिन्दित (निर्दोष) रामायण का आरम्भ किया है, उसी का श्रवण करने पर अधिकारी मनुष्य सम्पूर्ण मोह को (अनादि अविद्याजन्य अज्ञान को) पार कर जायेंगे। जैसे लोग महागुणशाली रामसेतु (🔥) द्वारा महापापसागर को पार कर जाते हैं वैसे ही महर्षि वाल्मीकि द्वारा रचित उत्तररामायण के श्रवण से ही दुस्तर मोहसागर अर्थात् इस संसारमहासागर को अनायास तर जायेंगे॥९,१०॥ वाल्मीकिजी ने कहा : भगवन् ब्रह्मा भरद्वाज से यह कहकर उसके साथ मेरे आश्रम में आये। मैंने शीघ्र ही देवाधिदेव

(🔔) मूल में जो कथोपायशब्द आया है, उसका अर्थ सप्तकाण्डयुक्त पूर्वरामायण (बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड इत्यादि क्रम से सात काण्डों से युक्त रामायण) है। यह अर्थ 'जिस ग्रन्थ की कथा में महर्षि वाल्मीकिजी ने धर्मतत्त्वज्ञान, धर्मानुष्ठान और ईश्वरप्रपत्ति का निर्वाणज्ञान के उपायरूप से वर्णन किया है यह कथोपाय है इस व्युत्पत्ति के द्वारा लब्ध होता है। पहले सात काण्डों से युक्त पूर्वरामायण का श्रवण और उसके अर्थ या उसके उद्देश्य का विचार किया जाता है। उससे शम, दम आदि सिद्धि और सगुण ब्रह्म का आपाततः ज्ञान होता है तदनन्तर मनुष्य निर्गुण तत्त्व का अधिकारी होता है। वैसे अधिकारी के लिए ही वेदान्तवेद्य परब्रह्मप्रतिपादक इस ग्रन्थ का उपदेश है।

(🔥) श्रीरामचन्द्रनिर्मित सेतु, जो सेतुबन्ध रामेश्वर के नाम से प्रसिद्ध है। शास्त्र में लिखा है कि रामसेतु का दर्शन करके जीव के ब्रह्महत्या आदि सब पाप छूट जाते हैं। 'सेतुं दृष्ट्वा समुद्रस्य ब्रह्महत्यां व्यपोहति।' चूँकि रामसेतु सब पापों को छुड़ाता है, इसलिए वह महागुणशाली कहा गया है।

ब्रह्माजी की अभ्युत्थान, अर्घ्य, पाद्य आदि द्वारा पूजा की। तदनन्तर सब प्राणियों के हितैषी अतः सत्त्वगुणसम्पन्न (📖) ब्रह्माजी मुझसे कहने लगे ॥११,१२॥ हे मुनिश्रेष्ठ, पवित्र निर्दोष रामचरितवर्णनरूप रामायण का आरम्भ करके (यद्यपि आपको विस्तृत ग्रन्थ की रचना में बड़ा क्लेश होगा तथापि) जब तक उसकी समाप्ति न हो तब तक उसे न छोड़ दीजिए, उसे अवश्य ही पूरा कर डालिए ॥१३॥ हे महर्षे जैसे शीघ्रगामी जहाज द्वारा दुर्लंघ्य महासागर अनायास उत्तीर्ण हो जाता है वैसे ही सब लोग इस उत्तररामायण द्वारा इस संसाररूप संकट (卐) से छुटकारा पा जायेंगे ॥१४॥ इसीलिए हमारा अनुरोध है, आप लोगों के हित के लिए इस रामायण महाशास्त्र को शीघ्र प्रकाशित कीजिए। यह कहने के लिए (🕯) ही मैं (🔔) आपके पास आया हूँ ॥१५॥ जैसे क्षणभर के लिए जलराशि से उठी ऊँची लहर उसी क्षण में जल में लीन हो जाती है वैसे ही भगवान् ब्रह्मा यह कह कर उसी क्षण में मेरे उस पवित्र आश्रम से अन्तर्हित हो गये ॥१६॥ ब्रह्माजी के आने पर मुझे अत्यन्त विस्मय हो गया था, इसलिए उस समय मैं उनके वाक्य का मर्म नहीं समझ सका। उनके चले जानेपर मैंने चित्त में स्वस्थता प्राप्त कर स्वस्थ बुद्धि से वहाँ पर स्थित भरद्वाज से पूछा ॥१७॥ वत्स भरद्वाज, ब्रह्माजी ने यह क्या कहा ? उसे मुझसे शीघ्र कहो। मेरे यों पूछने पर भरद्वाज ने मुझसे फिर कहा : महर्षे, भगवान् ब्रह्मा ने कहा कि आपने जैसे पहले चित्त को विशुद्ध करनेवाले रामायण की रचना की, इस समय भी वैसे ही सब लोगों के हित के लिए संसाररूपी समुद्र से तारने के लिए नौकारूप उत्तर रामायण की रचना कीजिए ॥१८,१९॥

(पूर्वरामायण चित्तशुद्धिजनक होने के कारण लोकहितकारी है, उत्तररामायण मुक्तिप्रद होने के कारण लोकहितकारी है, इसलिए लोक हितार्थत्व दोनों में समान है।)

भगवन्! इस विषय में मेरी भी एक प्रार्थना है कि महामना रामचन्द्रजी, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, यशस्विनी सीता, महाबुद्धि रामानुयायी मन्त्रिपुत्र आदि अन्यान्य परिवार के लोगों ने इस संसारसंकट में किस प्रकार व्यवहार किया ? उसको कहिये। उन लोगों ने अज्ञानी जीव की तरह शोकयुक्त होकर कालयापन किया था या वे मुक्त जीव की तरह असंग रहे थे ?॥२०,२१॥ भगवन्, किस प्रकार उन्होंने दुःखमार्ग का अतिक्रमण किया था, मुझे उसका विशदरूप से उपदेश दीजिए। मैं और संसार के अन्य मानव (आपके उपदेशश्रवण से कृतार्थ जनता) हम सभी वैसे ही आचरण करेंगे और वैसे आचरण कर संसारसंकट से मुक्ति प्राप्त करेंगे ॥२२॥ महाराज, भरद्वाज ने बड़े आदर के साथ मुझसे कहने के लिए अनुरोध किया तब मैं भगवान् ब्रह्मा की आज्ञानुसार उससे कहने के लिए प्रवृत्त हुआ। मैंने

(📖) यद्यपि सृष्टि के समय ब्रह्मा में रजोगुण की अधिकता रहती है तथापि उस समय जगत् के उद्धार के लिए करुणायुक्त होने के कारण उनमें सत्त्वगुण की प्रचुरता हो गई, इसीलिए उन्हें 'महासत्त्व' कहा।

(卐) 'संसारसंकटात्' इस अपादान पंचमी से, जिसने इसे पार कर लिया, उसके संसार का अत्यन्त विच्छेद हो जाता है, उसे फिर संसारप्राप्ति नहीं होती, यह सूचित होता है।

(🕯) भाव यह है कि भरद्वाज के द्वारा आदेश या सन्देश भेजा जा सकता था, पर यह मैंने उचित नहीं समझा। कार्य की गुरुताका ध्यान रखते हुए मैं स्वयं ही आपके पास आया हूँ।

(🔔) जगत्पूज्य ब्रह्मा।

कहा : वत्स भरद्वाज, जो तुमने मुझसे पूछा है, उसे मैं विस्तार से तुमसे कहता हूँ, सावधान होकर सुनो। उसे सुनने से तुम्हारा आत्मतत्त्व का अज्ञानरूप मल दूर हो जायेगा और मन की वृत्ति निर्मल हो जायेगी ॥२३,२४॥ महामते भरद्वाज, कमलनयन राम सम्पूर्ण विषयों को मिथ्या समझ कर उनमें आसक्ति का त्यागकर जैसे लोकयात्रा का निर्वाह करने से सुखी हुए थे, तुम भी वैसे ही व्यवहार करो, वैसा करने से सुखी हो सकोगे ॥२५॥

महामना लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, कौशल्या, सुमित्रा, सीता, दशरथ एवं राम के मित्र कृतास्त्र और अविरोध, पुरोहित वसिष्ठ, वामदेव, ये सभी परमज्ञानी थे। रामचन्द्रजी के धृष्टि, जयन्त, भास, सत्य अर्थात् सत्यवक्ता विजय, विभीषण, सुषेण, हनुमान् और सुग्रीव का अमात्य इन्द्रजित् ये आठ मन्त्री भी महामना, जितेन्द्रिय, समदर्शी, विषयों में आसक्ति से रहित, प्राप्त प्रारब्ध कर्मों के नाश की प्रतीक्षा करनेवाले एवं जीवन्मुक्त थे। हे वत्स भरद्वाज, ये लोग जिस प्रकार और जिस भाव से श्रुति और स्मृति में कहे गये होम, दान आदि श्रौत-स्मार्त कर्म, आदान, प्रदान आदि लौकिक सब व्यवहार और इष्टचिन्तन आदि विहित कर्म का अनुष्ठान करते थे, तुम भी यदि वैसे ही कर सको, तो तुम भी अनायास संसाररूपी संकट से मुक्त हो जाओगे ॥२६-३०॥ अधिक क्या कहूँ, उत्कृष्ट ज्ञानबल से युक्त व्यक्ति अपार संसारसागर में गिरने पर भी इस परम योग को प्राप्त कर इष्टवियोग से उत्पन्न शोक, दुःख, दीनता आदि संकटों से मुक्त हो कर नित्य तृप्त हो जाता है ॥३१॥

दूसरा सर्ग समाप्त

तीसरा सर्ग

दृश्य के मार्जन के उपाय, वासनाभेद-निरूपण पूर्वक उनके लक्षण तथा श्रीरामचन्द्रजी की तीर्थ यात्रा का विस्तार से वर्णन।

जैसे जीवन्मुक्त श्रीरामचन्द्र आदि ने व्यवहार किया था वैसे ही तुम भी व्यवहार करो, ऐसा पूर्व सर्ग में कहा। भरद्वाज जीवन्मुक्तस्थिति की प्राप्ति के क्रम के वर्णन के श्रवण द्वारा ही श्रीरामजी की जीवन्मुक्तस्थिति-प्राप्ति के उपाय की जिज्ञासा करते हुए पूछते हैं।

भरद्वाज ने कहा : हे ब्रह्मन्, आप रामचन्द्रजी की कथा का अवलम्बन कर जीवन्मुक्त की स्थिति का अर्थात् लक्षण और लौकिक-वैदिक व्यवहार का वर्णन कीजिए, उसका श्रवण करके मैं परम सुखी होऊँगा (📖) ॥१॥

(📖) टीकाकारों ने इस श्लोक के और प्रकार से भी अर्थ किये हैं। जैसे हे ब्रह्मन्, श्रीरामचन्द्रजी क्रम से जीवन्मुक्त हुए थे, ऐसी कल्पना कर मुझसे पहले से कहिये, जिस क्रम से मैं नित्य सुखी होऊँ। अथवा संवाद-कथा में श्रीरामचन्द्रजी को पहले से प्रश्नकर्ता और श्रीवसिष्ठजी को वक्ता बनाकर जैसे श्रुति जनक और याज्ञवल्क्य की कल्पना करके स्वयं ही संवादरूप से तत्त्व का बोध कराती है वैसे ही आप भी मुझे तत्त्वज्ञान कराइए। इस प्रकार तत्त्वज्ञरूप से कल्पित दशरथ आदि की पूर्वरामायण में मूढचर्या और मुक्ति का अभाव देखने एवं नित्यमुक्त श्रीरामचन्द्रजी के 'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते' इत्यादि श्रुति से विरुद्ध शापमूलक अज्ञत्व आदि के वर्णन से भी कोई क्षति नहीं है, क्योंकि जैसे

भरद्वाज के यों पूछने पर महर्षि वाल्मीकिजी जीवन्मुक्ति का लक्षण, स्वरूप, साधन और फल द्वारा जीवन्मुक्तस्थिति का विस्तार करने की इच्छा से सुखपूर्वक ज्ञान होने के लिए पहले संक्षेप से मुक्ति का लक्षण और स्वरूप दिखलाते हैं।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : वत्स भरद्वाज, जैसे भ्रमवश रूपरहित आकाश में नीले, पीले आदि रंगों का भान होता है वैसे ही अज्ञानवश ब्रह्म में जगत् का भ्रम होता है। इसलिए प्रमाण और अनुभव से मैंने निश्चय किया है कि नीरूप आकाश में नीले, पीले आदि रंगों की भाँति ब्रह्म में कल्पित अत्यन्त असम्भावित जगत् का समूल अविद्या और उसके संस्कार के नाश द्वारा जैसे फिर स्मरण ही न हो उस प्रकार विस्मरण होना ही सबसे उत्कृष्ट मुक्ति का लक्षण और स्वरूप है (卐) ॥२॥

पूर्व श्लोक में मुक्ति के लक्षण और स्वरूप स्वानुभवसिद्ध दिखलाये, उनका अनुभव हमें क्यों नहीं होता ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

भरद्वाज, जब तक दृश्य के अत्यन्त अभाव का ज्ञान नहीं होता अर्थात् सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच भ्रान्तिकल्पित है, अतएव अत्यन्त असत् है, यह ज्ञान जब तक दृढ़तापूर्वक नहीं होता तब तक कोई भी किसी प्रकार मुक्ति के लक्षण और स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सकता। सम्पूर्ण जगत् के अधिष्ठान प्रत्यगभिन्न आत्मतत्त्वके साक्षात् से ही दृश्य का अत्यन्त बाध हो सकता है। इसलिए अविसंवादी आत्मज्ञान को उपाय से प्राप्त करो ॥३॥

उसकी प्राप्ति का क्या उपाय है ? इस पर कहते हैं।

वत्स, इस योगवासिष्ठरूप शास्त्र के ज्ञात होने पर उक्त ज्ञान असम्भव नहीं है, बल्कि संभव ही

अनादि जीव को ब्रह्म अभेद बोध कराने के लिए श्रुति में ब्रह्म में कार्योपाधिप्रवेश द्वारा आगन्तुक जीवभाव की कल्पना की गई है वैसे ही यहाँ पर भी समझना चाहिये, इसलिए कोई विरोध नहीं है।

(卐) यद्यपि परोक्षज्ञानी को भी सुषुप्ति में और निर्विकल्प समाधि में दृश्य का विस्मरण होता है तथापि वह विस्मरण पुनःस्मरण नहीं है अर्थात् उसे सुषुप्ति और समाधि के अनन्तर फिर ब्रह्म में जगत् का भ्रम होता है। अथवा पुनःस्मरण का अर्थ 'पुनः स्मर्यतेऽनेन – फिर जिससे स्मरण किया जाय' इस व्युत्पत्ति से अन्तःकरण है। उक्त अन्तःकरण जिसमें नहीं है ऐसा विस्मरण–स्मरण का अभाव। यह द्वैत के प्रतिभासमात्र के अभाव का उपलक्षण है। अथवा विस्मरण के समान विस्मरण यह अर्थ है। जैसे विस्मृत विषय की अनुभवकर्ता के रहने पर भी प्रतीति नहीं होती वैसे ही चैतन्य के रहते हुए ही दृश्य की अप्रतीति विस्मरण है।

शंका : क्या परमार्थ सत्य दृश्य की ही जैसे सांख्यों की अभिमत मुक्ति में अप्रतीति होती है वैसे ही आपके अभिमत मुक्ति में भी अप्रतीति होती है ? **समाधान** : नहीं, हमारे मत में जगत् परमार्थ सत्य नहीं है, वह ब्रह्म में अध्यस्त है। **शंका** : वह भ्रम कैसे है, क्योंकि वह संस्कार से जन्य नहीं है। **समाधान** : वह पूर्व पूर्व जगत् के व्यवहार से उत्पन्न संस्कार से जन्य है। **शंका** : दोष से उत्पन्न न होने और अधिष्ठानशून्य होने से वह भ्रम नहीं है। **समाधान** : जैसे दूरत्व और अविचाररूप दोष से आकाश में नीले रंग का भ्रम होता है वैसे ही अविद्यारूप दोष से ब्रह्म में जगत् का भ्रम होता है। दृश्य का आत्यन्तिक उच्छेद मुक्ति का लक्षण है और आत्यन्तिक दृश्यविनाश से उपलक्षित चिन्मात्र में अवस्थान मुक्ति का स्वरूप है, यह निष्कर्ष निकला।

है। इस उद्देश्य से ही इस ग्रन्थ का निर्माण आरम्भ किया है। यदि तुम जब तक तत्त्व का निर्णय न हो, तब तक भक्ति और श्रद्धा के साथ इसका श्रवण करो, तो अवश्य ही तुम्हें तत्त्वज्ञान प्राप्त होगा, अन्यथा कदापि भ्रम का संशोधन नहीं होगा। भ्रमसंशोधन हुए बिना तत्त्वज्ञान हो ही नहीं सकता ॥४॥

उक्त अर्थ को ही अधिक विशद करते हुए कहते हैं।

हे अनघ, यह जगत् वस्तुतः मिथ्या है, यह आकाश में नीले, पीले आदि रंगों की भाँति आपाततः सत्य-सा प्रतीत होता है, किन्तु इस ग्रन्थ में दर्शित विचार से सहज में ही यह असत् (मिथ्या) है, यह प्रतीत हो जाता है ॥५॥

'अनुभूयते' इससे उक्त अनुभव क्या आत्मचैतन्य ही है या अन्य है ? अन्य तो हो नहीं सकता, क्योंकि चित् से अन्य, जड़ और विषय होने से, अनुभव के योग्य नहीं है। यदि आत्मा ही अनुभव है, तो वह पहले ही विद्यमान है, फिर शास्त्र की क्या आवश्यकता ? ऐसी शंका पर कहते हैं।

यद्यपि आत्मा ही अनुभव है तथापि वह दृश्य के साथ सम्मिलित है, अतः उसका अनुभव नहीं होता, किन्तु मन की वृत्तिरूप आत्मतत्त्वसाक्षात्काररूप बोध द्वारा अविद्या का नाश होने से अविद्याजन्य दृश्य तीनों कालों में भी नहीं है, अर्थात् वह मायावी की माया के समान तीनों कालों में मिथ्या है। जो उसका द्रष्टा है वही सत्य है। यह सत् आत्मा ही सर्वत्र विराजमान और प्रकाशमान है ॥६॥

चैतन्यस्वरूप आत्मा के सिवा जो कुछ दिखाई देता है, वह सब जड़ अतएव आत्मा में कल्पित और मिथ्या है, इस प्रकार दृश्य वस्तु का मार्जन अर्थात् अस्तित्वपरिहार हो जाय, तो नित्यसिद्ध आत्मरूप भी परमनिर्वृत्ति (निर्वाण नामक मोक्ष) उस ज्ञान से उत्पन्न-सी होती है। उक्त वृत्ति से हुआ केवल स्वरूपभूत अनुभव शास्त्र का फल है, यह भाव है।

अन्य शास्त्रों में दर्शित उपायों से ही मुक्ति क्यों न हो ?

अन्यथा पूर्वोक्त उपाय का ग्रहण न करने पर अनादि अज्ञान से अन्धे अनात्मा का प्रतिपादन करनेवाले शास्त्ररूपी गढ्ढों में ठोकर खा रहे-रागान्ध जनों के पतन के कारणभूत गर्ततुल्य तत् तत् शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट उपायों से ऐहिक और पारलौकिक विषयों में आसक्त होकर आचरण कर रहे अतएव विषयों के उपभोग के लिए बार बार जन्म ग्रहण कर रहे मूर्खों को अनन्त ब्रह्मकल्पों से भी निर्वृत्ति (निर्वाण मोक्ष) नहीं मिल सकती। भाव यह है कि अनादि अज्ञान की ज्ञान से अतिरिक्त हजारों साधनों से भी निवृत्ति नहीं हो सकती ॥७॥

उपासना आदि अन्य उपायों से प्राप्त होनेवाले सालोक्य आदि और भी मोक्ष हैं, उनसे निर्वृत्ति क्यों नहीं होगी ?

हे ब्रह्मन्, निःशेषरूप से वासनाओं का (जन्म के बीजों का) जो परित्याग (मूलोच्छेद) है, वह उत्तम (मुख्य) (📖) मोक्ष कहा जाता है। उक्त मुख्य मोक्ष को अविद्यारूप मल से रहित ज्ञानी ही प्राप्त कर सकते हैं, अन्य नहीं ॥८॥

वासनाओं के नष्ट होने पर वासनाओं के कारण रूप मन के अस्तित्व से फिर वासनाएँ पैदा हो

(📖) 'मच्' धातु बन्धन की निवृत्तिरूप अर्थ में रूढ़ है। वासनाएँ ही मुख्य बन्धन है। सालोक्य आदि मुक्तियों में वासनाओं का नाश नहीं होता, इसलिए उनमें मोक्षशब्द गौण है।

जायेगी, उनसे बन्धन भी होगा ?

हे ब्रह्मन्, जैसे शीत के नष्ट होने पर हिमकण तुरन्त गल जाते हैं, वैसे ही वासनाओं के नष्ट होने पर वासनापुंजरूप चित्त शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥९॥

मन के नष्ट होने पर भी स्थूल देहरूप बन्ध बना ही रहेगा ?

जैसे पिरोये हुए सूक्ष्म सूत्र से (धागे से) मोतियों का समूह स्थित रहता है वैसे ही पंचमहाभूतों से बना हुआ यह शरीर वासना से खड़ा है ॥१०॥

इस प्रकार उपोद्घात से उत्कृष्ट मुक्ति का वर्णन कर प्रस्तुत जीवन्मुक्ति को कहने की इच्छा से उसके वर्णन में अपेक्षित वासनाद्वैविध्य (वासना दो प्रकार की है, ऐसा) कहते हैं।

वासना दो प्रकार की कही गई है शुद्ध और मलिन। मलिन वासना जन्म की कारण है और शुद्ध वासना जन्म का नाश करती है और मोक्ष का साधन है ॥११॥

मलिन वासना का लक्षण कहते हैं।

वासना बीजों के अंकुरित होने में अज्ञान ही सुक्षेत्र है। अज्ञानरूप सुक्षेत्र में जिसका कलेवर खूब विशाल हुआ है अर्थात् विषयों के अनुसन्धान के अभ्यास से खूब बढ़ी हुई, राग-द्वेष आदि से वृद्धि को प्राप्त होने के कारण घन (निविड़) अहंकाररूप क्षेत्र के स्वामी द्वारा भली भाँति पाली-पोषी गई अतएव शोभित इसी पुनर्जन्मकारिणी (बार-बार जन्म करानेवाली) वासना को पण्डित लोगों ने मलिन कहा है ॥१२॥

शुद्ध वासना का लक्षण कहते हैं।

जो भूने हुए बीज के समान अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति से शून्य होकर रहती है अर्थात् पुनर्जन्म की उत्पादक कारण न होकर केवल मात्र प्रारब्धवश देह आदि का अवलम्बन करके रहती है अर्थात् देहधारणमात्र से पर्यवसित होती है, वह शुद्ध वासना कही जाती है ॥१३॥

जैसे बीज के अन्दर पहले से ही विद्यमान और सूक्ष्म अंकुर समय, जल, मिट्टी आदि के सम्बन्ध से आविर्भूत हो जाते हैं वैसे ही वासनाओं के अन्दर पहले से ही विद्यमान आगामी जन्मपरम्परा काम, कर्म आदि निमित्त से आविर्भूत होती है, क्योंकि अत्यन्त असत् का जन्म ही नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में तत्त्वज्ञान द्वारा अविद्यारूपी क्षेत्र के जल जाने से उसके अन्तर्गत जन्मांकुर का नाश होने पर भी अपने प्रारब्ध से प्रतिबद्ध भूने हुए बीजों के समान केवल देहधारणमात्र ही जिसका प्रयोजन है ऐसी जो वासना अवशिष्ट रहती है, वह शुद्ध वासना है, यह भाव है।

उक्त अर्थ को ही स्फुट करते हैं।

पुनर्जन्म का निवारण करनेवाली शुद्ध वासना जीवन्मुक्त पुरुषों के शरीर में, चक्र में भ्रमण के समान, मृत संस्काररूप से रहती है अर्थात् देहधारणरूप कार्य से उनमें भी वासना के अस्तित्व का अनुमान होता है ॥१४॥ जो लोग शुद्ध वासना से युक्त हैं, वे ही ज्ञातज्ञेय (जिन्होंने ज्ञातव्य पदार्थ को, ब्रह्म को जान लिया है) होते हैं, ज्ञातज्ञेय होकर वे फिर जन्मरूप अनर्थ के भाजन नहीं होते अर्थात् दुःखभाजन पुनर्जन्मपर विजय पाकर जीवन्मुक्त पद प्राप्त करते हैं वे ही वास्तव में बुद्धिमान् कहे जाते हैं। (जीवन्मुक्त का यह लक्षण फलित हुआ कि जिस वासना की तत्त्वज्ञान से पुनर्जन्मांकुर की उत्पादि

शक्ति जल गई है ऐसी वासनामात्र से जिनका शरीरधारण किया गया है, वे जीवन्मुक्त पुरुष है।) (🕮) ॥१५॥ हे महामति भरद्वाज, महाबुद्धि श्रीरामचन्द्रजी जिस प्रकार जीवन्मुक्ति पद को प्राप्त हुए, उसे मैं जीव के जरा और मरण की शांति के लिए तुमसे कहूँगा, सुनो। श्रीरामचन्द्रजी की परममंगलदायिनी इस कथा का श्रवण करो, इसके श्रवण से ही तुम सम्पूर्ण तत्त्व को जान जाओगे ॥१६,१७॥ वत्स भरद्वाज ! राजीवलोचन श्रीरामचन्द्रजी ने गुरुकुल से लौटकर कुछ दिन भाँति-भाँति की लीलाओं द्वारा निर्भय होकर अपने घर में ही बिताये ॥१८॥ तदनन्तर कुछ समय बीतने पर जब कि महाराज दशरथ पृथिवी का पालन करते थे, शोकरहित प्रजा बड़े आनन्द में थी। राज्य की सुव्यवस्था से प्रजाओं में ज्वरादि पीड़ा भी नहीं थी, भय, अकालमरण आदि अन्य पीड़ाओं की तो बात ही क्या थी ? ॥१९॥

यह सूचित करने के लिए 'विगतज्वरम्' पद दिया है।

उस समय महागुणशाली श्रीरामचन्द्रजी का मन तीर्थ और पुण्याश्रम देखने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित हुआ। (🔔) ॥२०॥ श्रीरामचन्द्रजी ने पुण्य तीर्थों के दर्शन का यों विचार कर श्रीपितृचरणों के (श्रीमहाराज दशरथ के) निकट जाकर जैसे हंस नवीन कमलों का आश्रय लेता है वैसे ही पिताजी के नखरूपी केसर से सुशोभित चरणकमलों को ग्रहण किया ॥२१॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : पिताजी ! तीर्थ, देवमन्दिर, वन और आश्रमों के दर्शन के लिए मेरा मन अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहा है ॥२२॥ महाराज, मेरी इस प्रथम प्रार्थना को सफल (पूर्ण) करने की कृपा कीजिये इस संसार में कोई ऐसा नहीं है, जो प्रार्थी होकर आपके पास आया हो और उसकी अभिलाषा आपने पूर्ण न की हो ॥२३॥ श्रीरामचन्द्रजी द्वारा यों प्रार्थित महाराज दशरथ ने कुलगुरु वसिष्ठजी के साथ परामर्श कर श्रीरामचन्द्रजी को, जिनकी यह प्रथम

🕮 जीवन्मुक्त पुरुषों द्वारा किये गये कर्म का फल उत्तर काल में भोग पैदा नहीं करता। इसी लिए उनके सम्पूर्ण कर्मों का भोग द्वारा क्षय हो जाता है।

🔔 शंका : इस अध्यात्मशास्त्र में तीर्थयात्रा के वर्णन एवं आगे किये जानेवाले मृगयावर्णन का क्या सम्बन्ध है ? यदि कहिये कि ये श्रीरामचन्द्रजी के ही चरित हैं, इसलिए इनका यहाँ पर वर्णन किया गया है, तो ऐसी अवस्था में रामचन्द्रजी के जन्म आदि का भी यहीं पर वर्णन प्राप्त होगा और श्रीरामायण व्यर्थ हो जायेगा ? समाधान : 'कथोपायान् विचार्य' (२१३) इस श्लोक में अपने अपने वर्ण और आश्रमों के योग्य यज्ञादि कर्मों से उत्पन्न चित्तशुद्धि का ब्रह्मविद्याधिकार में उपयोग है, ऐसा कहा है। जो अवस्था, विद्या आदि सामग्री के न होने के कारण यज्ञ आदि का अनुष्ठान करने में समर्थ नहीं है, उसका आदि से भी यज्ञ से होनेवाली चित्तशुद्धि होने पर ब्रह्मविद्या में अधिकार सिद्ध होता है, क्योंकि 'एते भोमाम्मया यज्ञास्तीर्थरूपेण निर्मिताः' (ये स्थलमय और जलमय यज्ञ तीर्थरूप से बनाये गये हैं) इत्यादि वाक्य हैं। इस बात को सूचित करने के लिए तीर्थयात्रा का वर्णन किया। अतएव श्रीरामचन्द्रजी में वृद्धावस्था की कल्पना किये बिना आत्मजिज्ञासा का वर्णन किया उक्त अर्थ की सूचना में कोई आपत्ति नहीं है। मृगया का वर्णन पूर्वदृष्ट कौतूहलपूर्ण स्थानों को पुनः देखने की उत्कण्ठा भी आत्मजिज्ञासा में बाधक है, यदि उक्त कौतुक के अनुभव के बिना वह उत्कण्ठा दूर नहीं होती हो, तो उसका अनुभव करके ही या उसकी असारता के निश्चय द्वारा उस उत्कण्ठा को दूर कर जीव निर्विघ्न श्रवण आदि में संलग्न हो, यह विशेषबोधन के लिए है। इसलिए उसका वर्णन उचित है।

प्रार्थना थी, तीर्थदर्शन के लिए बड़े असमंजस में पड़कर अनुज्ञा दे ही दी ॥२४॥ शुभ नक्षत्र और शुभ दिन में ब्राह्मणों द्वारा मंगलपाठ कराकर एवं मंगलमय वेश–भूषा से शरीर को अलंकृत कर, आशीर्वाद दे रहीं माताओं द्वारा पुनः पुनः आलिंगन कर खूब विभूषित किये गये श्रीरामचन्द्रजी भाइयों, वसिष्ठ द्वारा प्रेषित शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों, कतिपय अपने प्रेमी श्रेष्ठ राजकुमारों के साथ तीर्थयात्रा के लिए अपने घर से निकले ॥२५–२७॥ नगरललनाओं से भँवरों की पंक्ति के समान चंचल नेत्रों द्वारा बड़े आदर के साथ देखे जा रहे श्रीरामचन्द्रजी जब नगर से निकले तो नगरवासियों ने उनकी यात्रा के उपलक्ष में मंगल के लिए तूरीघोष से उनका अभिनन्दन किया ॥२८॥ जैसे बर्फ की झड़ियों से हिमालय आच्छादित हो जाता है वैसे ही ग्रामीण महिलाओं के चंचल हाथों से बरसाई गई लाजा (धान आदि) की वृष्टि से उनका शरीर व्याप्त हो गया ॥२९॥ श्रीरामचन्द्रजी ब्राह्मणों को दान, सम्मान आदि से अपने वश में करते, प्रजाओं के आशीर्वाद सुनते और दिशाओं के अन्त भागों को देखते हुए गहन वनों में खूब घूमे ॥३०॥ तदुपरान्त अति श्रेष्ठ अपनी राजधानी कोशल से आरम्भ कर श्रीरामचन्द्रजी ने स्नान, दान, तप, ध्यान करते हुए पवित्रतम नदीतट, पुण्य वन, आश्रम, जंगल, देशों की सीमाओं में स्थित समुद्र और पर्वतों के तट, चाँदनी के समान स्वच्छ श्रीभागीरथी, नील कमल के तुल्य निर्मल श्रीयमुना, सरस्वती, सतलज, चिनाब, इरावती, केवल वेणी नदी, कृष्णा से मिली हुई वेणी, निर्विन्ध्या, सरयू, चर्मण्वती, वितस्ता, व्यास, बाहुदा, प्रयाग, नैमिषारण्य, धर्मारण्य, गया, काशी, श्रीशैल, केदारनाथ, पुष्कर, क्रमप्राप्त मानस सरोवर, उत्तर मानस, हयग्रीवतीर्थ, अग्नितीर्थ (ज्वालामुखी), महातीर्थ इन्द्रद्युम्नसर आदि पुण्य तीर्थ, सर, पुण्यतम नदियाँ, नद, तालाब आदि के सादर दर्शन किये। स्वामी कार्तिकेय, शालग्रामरूपी हरि, श्रीहरि के तथा महादेवजी के चौसठ स्थान, आश्चर्यमय विविध विचित्रताओं से पूर्ण चारों समुद्रों के तट, विन्ध्याचल और मन्दराचल के लतागृह (झाड़ियाँ), हिमालय आदि सात कुल पर्वत, बड़े बड़े महर्षियों, राजर्षियों, देवताओं और ब्राह्मणों के पवित्रतम और मंगलमय आश्रमों के बड़े आदर से दर्शन किये। दूसरों का सम्मान करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी ने अपने भाइयों के साथ चारों दिशाओं के प्रान्तभागों (सीमाओं) एवं सम्पूर्ण पृथ्वी में पुनः पुनः (पहले दर्शन करने पर भी लौटते समय निकट में आये हुए स्थानों में कौतूहल से या उनकी अधिक महिमा प्रकट करने के लिए फिर फिर) भ्रमण किया ॥३१–४१॥ जैसे सम्पूर्ण दिशाओं में विहार कर श्रीशिवजी शिवलोक में (कैलास में) जाते हैं, वैसे ही तत् तत् स्थानों में स्थित देवता, किन्नर और मनुष्यों द्वारा सत्कृत श्रीरामचन्द्रजी इस सम्पूर्ण भूमण्डलको (जम्बूद्वीपरूप पृथिवी को) भली भाँति देखकर अपने घर अयोध्या लौट आये ॥४२॥

तीसरा सर्ग समाप्त

चौथा सर्ग

श्रीरामचन्द्रजी के तीर्थयात्रा से लौटने पर घर में मित्रों का आनन्द–समारोह तथा श्रीरामचन्द्रजी की आखेटचर्या आदि का वर्णन।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : हे भरद्वाज, नगरवासियों ने श्रीरामचन्द्र के ऊपर पुष्पांजलियों पर पुष्पांजलियाँ बरसाई। यों नगरवासियों द्वारा सत्कृत श्रीरामचन्द्रजी जैसे श्रीमान् जयन्त (इन्द्र का

पुत्र) स्वर्ग में (अमरावती में) प्रवेश करता है वैसे ही अपने घर में प्रविष्ट हुए। तदुपरान्त प्रथम प्रवास से लौटे हुए रामजी ने पिताजी को, कुलगुरु वशिष्ठजी को, भाई-बन्धुओं को, ब्राह्मणों को, कुल के बड़े-बूढ़ों को यथायोग्य प्रणाम किया ॥१,२॥ मित्रों ने भाइयों ने, पिता ने और ब्राह्मणों ने श्रीरामचन्द्रजी को बार बार आलिंगन किया। आलिंगन करनेवालों के प्रति यथायोग्य अभिवादन, प्रिय भाषण आदि सुन्दर व्यवहार करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी हर्ष से फूले नहीं समाते थे ॥३॥ महाराज दशरथ के घर में श्रीरामचन्द्रजी के बाँसुरी की कोमल ध्वनि के समान मधुर प्रियवचनों से आह्लादित हुए लोग परस्पर दिशा-दिशा में घूमने लगे। या हर्ष से उत्पन्न व्यामोह से उन्हें दिग्भ्रम हो गया, यह अर्थ है ॥४॥ श्रीरामचन्द्र के शुभागमन के उपलक्ष में आठ दिन तक बराबर आनन्दपूर्वक उत्सव होता रहा। उक्त उत्सव हर्ष से खूब प्रसन्न लोगों द्वारा किये गये गम्भीर कोलाहल से पूर्ण रहा ॥५॥ तबसे श्रीरामचन्द्रजी भाँति-भाँति के देशाचारों का इधर उधर वर्णन करते हुए घर में ही सुखपूर्वक रहे ॥६॥ श्रीरामचन्द्रजी नित्य प्रातःकाल शय्या का त्याग कर, विधिपूर्वक स्नान, सन्ध्या आदि कर्म करके सभा में बैठे हुए इन्द्रतुल्य अपने पिताजी का दर्शन करते थे और एक पहर तक श्रीवसिष्ठ आदि के साथ बैठकर ज्ञानपूर्ण विविध विचित्र कथाओं द्वारा बड़े आदर के साथ सत्संग कर तदनन्तर शिकार खेलने की इच्छा से, पिताजी की आज्ञा लेकर, बड़ी भारी सेना के साथ वनवराह, वनमहिष आदि से भरे हुए वन में जाते थे ॥७-९॥ वहाँ से घर लौटकर स्नान आदि कर्म कर तथा मित्र और बन्धुओं के साथ भोजन कर मित्रों के साथ रात्रि बिताते थे ॥१०॥

श्रीरामचन्द्रजी तीर्थयात्रा से लौटकर लक्ष्मण और शत्रुघ्न के साथ प्रायः इस प्रकार की दिनचर्या करते हुए पिताजी के घर में सुखपूर्वक रहते थे। हे भरद्वाज, श्रीरामचन्द्रजी राजाओं के योग्य व्यवहार से मनोहर, सज्जनों के चित्त को चाँदनी के समान आनन्द देनेवाली, श्लाघनीय एवं अमृतद्रव के समान सुन्दर चेष्टा से कालयापन करते थे ॥११,१२॥

चौथा सर्ग समाप्त

पाँचवा सर्ग

श्रीरामचन्द्रजी केशरीर में कृशता आदि, वैराग्य आदि और राजा द्वारा उसके कारण की जिज्ञासा तथा श्री वसिष्ठजी के उत्तर का उपक्रम।

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी की चित्तशुद्धि के लिए साधनभूत दिनचर्या का वर्णन कर उसके फलरूप वैराग्य की साधनसामग्री को कहने की इच्छा से उपक्रम करते हैं।

वाल्मीकिजी ने कहा : हे भरद्वाज, तदनन्तर किसी समय जब कि रामचन्द्रजी एवं रामानुयायी लक्ष्मण और शत्रुघ्न के पूरे सोलह वर्ष के होने में कुछ महीनों की कसर थी, भरत सदा अपने नाना के घर में आनन्दपूर्वक रहते थे और महाराज दशरथ सुचारुरूप से इस सम्पूर्ण पृथिवीमण्डल का पालन करते थे और महाप्राज्ञ एवं परामर्श करने में कुशलराजा राजपुत्रों के विवाह के लिए भी प्रतिदिन मन्त्रियों के साथ परामर्श करते थे। तीर्थयात्रा कर चुकने पर अपने घर में ही स्थित श्रीरामचन्द्रजी जैसे शरद्ऋतु में निर्मल तालाब दिन-पर दिन सूखता जाता है वैसे ही दिन-पर दिन कृश होने लगे। जैसे भ्रमरपंक्ति

से युक्त पाकावस्था में अधिक खिला हुआ सफेद कमल पीला हो जाता है, वैसे ही राजकुमार का विशाल नेत्रों से युक्त मुख पीला पड़ गया। कपोल में हाथ रक्खे हुए और पद्मासन से बैठे श्रीरामजी सदा चिन्ता से ग्रस्त चुपचाप और निश्चेष्ट रहते थे। उनका शरीर कृश हो गया था, चिन्ता उन्हें नहीं छोड़ती थी, वे सदा दुःखी और उदास रहते थे। चित्रलिखित के समान वे किसी से कुछ बोलते भी न थे॥१–७॥ परिजनों के बार बार प्रार्थना करने पर कष्ट से स्नान, सन्ध्यावन्दन आदि अवश्य कर्तव्य दैनिक कर्म करते थे, उनका मुखकमल म्लान हो गया था॥८॥

विविध गुणों के आगार श्रीरामचन्द्रजी को पूर्वोक्त चिन्ता आदि से युक्त देखकर उनके भाई लक्ष्मण और शत्रुघ्न भी उसी अवस्था को प्राप्त हुए॥९॥ सभी पुत्रों को दुःखी और कृश देखकर रानियों के साथ महाराज दशरथ को बड़ी चिन्ता हुई॥१०॥ हे भरद्वाज, महाराज 'पुत्र, तुम्हें कौन–सी बड़ी चिन्ता है' इस प्रकार बड़ी मधुर वाणी से बार बार पूछते थे, परन्तु रामचन्द्रजी उनको कुछ भी नहीं बताते थे॥११॥ पिताजी, मुझे कुछ भी दुःख नहीं है, – यह कहकर कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी पिताजी की गोद में जाकर चुपचाप बैठ जाते थे॥१२॥ तदनन्तर महाराज दशरथ ने 'राम किसलिए खिन्न हैं' यह वक्ताओं में श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण कार्यों के ज्ञाता श्रीवसिष्ठजी से पूछा॥१३॥ दशरथजी के यों पूछने पर विचार कर महर्षि वसिष्ठजी ने राजा से कहा : राजन्, इसमें कुछ कारण है, पर श्रीमन्, आप दुःखी न हों॥१४॥

(यहाँ पर रामचन्द्रजी की चिन्ता का फल शुभ होगा, यह दर्शाने के लिए 'श्रीमन्' सम्बोधन है।)

जैसे संसार में पृथिवी, जल आदि महाभूत सृष्टि और प्रलय के बिना छोटे–मोटे कारणों से वृद्धि और क्षयरूप विकार को प्राप्त नहीं होते, वैसे ही सत्पुरुष भी छोटे–मोटे कारणों से क्रोध, विषाद और हर्ष के वशीभूत नहीं होते॥१५॥

पाँचवाँ सर्ग समाप्त

छठवाँ सर्ग

विश्वामित्रजी का आगमन, राजा द्वारा उनका विधिवत् पूजन तथा ऋषि के आगमनजनित हर्षोद्रेक से 'जो आप आज्ञा करेंगे उसका मैं विधिवत् पालन करूँगा' – यों प्रतिज्ञा।

वाल्मीकिजी ने कहा : भरद्वाज, जब मुनिवर वशिष्ठजी के यों कहने पर खेदयुक्त, सन्देहनिमग्न अतएव सन्देह के निर्णय के लिए कुछ काल की प्रतीक्षा करनेवाले महाराज दशरथ मौन हो गये थे और राजमहल में स्थित सभी महारानियाँ उदास होकर श्रीरामचन्द्रजी की चेष्टाओं पर (चेष्टाओं द्वारा उनके वैराग्य का कारण जानने के लिए) विशेषरूप से सावधान (सतर्क) थी। उसी समय लोकविख्यात महर्षि विश्वामित्र अयोध्याधिपति महाराज दशरथ को देखने के लिए गये। महामति महर्षि विश्वामित्र सदा यज्ञ, याग आदि धर्म कार्य ही किया करते थे। माया, वीर्य और बल से उन्मत्त राक्षसों ने उनके यज्ञ को सर्वथा विध्वस्त कर डाला। जब वे अविघ्नपूर्वक यज्ञ समाप्त करने में समर्थ नहीं हुए तब यज्ञ की रक्षा के लिए उनको राजा के पास जानेकी इच्छा हुई और राक्षसों के विनाश के लिए कटिबद्ध महातेजस्वी महर्षि विश्वामित्र अयोध्या नगरी में पहुँचे। वहाँ पहुँचकर राजा के दर्शन पाने की इच्छा से उन्होंने

द्वारपालों से कहा : महाराज से शीघ्र जाकर कहो कि गाधिपुत्र विश्वामित्र आये हुए हैं ॥१-७॥ उनके वचन सुनकर द्वारपाल राजमहल में गये। पूर्वोक्त वाक्य से प्रेरित द्वारपालों ने विलम्ब होने पर कहीं महर्षि शाप न दे डालें, इस भय से शीघ्र सभागृह में जाकर विश्वामित्रजी के आने का समाचार प्रधान यष्टिधारी से कहा। उसने त्वरा से सभामण्डप में राजाओं के मध्य में विराजमान महाराज को श्रीविश्वामित्रजी के आने का समाचार कह सुनाया ॥८,९॥ महाराज, ड्योढ़ी पर प्रातःकाल के सूर्य के समान तेजस्वी, बड़े प्रभावशाली अग्नि की ज्वाला के तुल्य जटाजूट से सुशोभित, एक तपस्वी पुरुष खड़े हैं, जिन्होंने अपने तेज से उस प्रदेश को– ऊपर दैदीप्यमान पताका तक और आसपास हाथी, घोड़े, पुरुष और आयुधों तक को–सुवर्णमय बना दिया है। महर्षि विश्वामित्रजी आये हैं। – ऐसा विनम्र वाणी से महाराज से कह रहे प्रधान यष्टिधारी के देखते ही उसके वचन सुनकर मन्त्रियों और सामन्तों के साथ महाराज सुवर्ण के सिंहासन से उठ खड़े हुए ॥१०-१४॥ अनेक राजाओं द्वारा परिवृत्त वसिष्ठ और वामदेवजी के साथ महाराज पैदल ही जहाँ पर विश्वामित्रजी थे, वहाँ को चल दिये। उन्होंने ड्योढ़ी पर खड़े हुए मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजी के दर्शन किये ॥१५॥ विश्वामित्रजी ब्रह्मवर्चस् से और क्षात्र तेज से सुसंपन्न थे। उनके दर्शन से ज्ञात होता था कि किसी निमित्त से मानों सूर्यदेव ही पृथिवी पर आ गये हों। बुढ़ापे के कारण सफेद और अधिक तप करने से रूक्ष जटाओं से उनके कन्धे ढके थे। अतएव वे सन्ध्याकाल के अरुण प्रभा से रंजित सफेद मेघ से आच्छादित पर्वत के समान प्रतीत होते थे। उनका शरीर सौम्य, सुन्दर, दैदीप्यमान (अधिक तेजस्वी होने के कारण जिस पर दृष्टि सहसा नहीं ठहर सकती), प्रभावशाली, विनय से सम्पन्न, हृष्टपुष्ट हाथ, पैर आदि अवयवों से युक्त और कान्तिमान् था। उनके तेज से नेत्र और मन प्रसन्न होते थे, उससे भय का भी संचार होता था, वह प्रसाद गुण से युक्त था, अधिक होने के कारण शरीर से छलक रहा था और गम्भीर तथा अपरिच्छिन्न था। उक्त प्रसन्न–गम्भीर तेज से ऋषि की कान्ति अनुरंजित थी। उनके हाथ में चिरकाल से परिगृहित एक सुन्दर और चिकना कमण्डलु था। उनका चित्त स्निग्ध और प्रसन्न था। उनका हृदय दया से परिपूर्ण था, इसलिए भाषण आदि भी सुमधुर था और प्रसन्न दृष्टिपात अमृततुल्य था। वे जिधर दृष्टि डालते थे, उस तरफ के लोगों को मानों अमृत के रस से सींचते थे। उनके कन्धे में अवस्था के अनुरूप यज्ञोपवीत थे। उनकी भौंहें सफेद और ऊँची थीं। दर्शकों के हृदय में अत्यन्त आश्चर्य का संचार कर रहे मुनिवर को देखकर राजा ने दूर से ही नम्र होकर उन्हें प्रणाम किया। नमने से राजा के मुकुट से मणियाँ पृथिवी पर बिखर गई। जैसे सूर्य इन्द्र का प्रत्यभिवादन करते हैं, वैसे ही विश्वामित्रजी ने भी मधुर और उदार वाणी द्वारा आशीर्वाद देकर राजा का प्रत्यभिवादन किया ॥१६-२५॥ तदनन्तर वसिष्ठ आदि सभी ब्राह्मणों ने स्वागत आदि के क्रम से आदरपूर्वक उनकी पूजा की ॥२६॥ महाराज दशरथ ने कहा : भगवन्, जैसे सूर्य अपने तेजोमय दर्शन द्वारा कमल के तालाबों पर अनुग्रह करते हैं, वैसे ही अनायास प्राप्त आपके अद्भूत तेजोमय दर्शनों से हम लोग अत्यन्त अनुगृहीत हुए हैं ॥२७॥ महर्षे, जो अनादि (कारणरहित), क्षय रहित और अविनाशी परम पुरुषार्थरूप सुख है, आपके दर्शनों से वह सुख मुझे प्राप्त हुआ है ॥२८॥ निस्सन्देह आज हमने पुण्य से धन्य पुरुषों के आगे स्थान प्राप्त कर लिया है, क्योंकि हम लोगों के उद्देश्य से आपका शुभागमन हुआ है ॥२९॥ यों महाराज दशरथ के समान ही कह

रहे महर्षि और अन्य राजा सभाभवन में आकर आसनों पर बैठ गये ॥३०॥ महर्षि के शुभागमन से प्रसन्नवदन महाराज दशरथ ने महर्षि की तपस्यासम्पत्ति (विपुल तप) से भयभीत होकर दूसरे के द्वारा अर्घ्य के लिए जल मंगाने में भी अपराध की सम्भावना देखकर स्वयं जल लाकर उन्हें अर्घ्य दिया ॥३१॥ महर्षि विश्वामित्र ने राजा के अर्घ्य को स्वीकार कर शास्त्र में वर्णित विधि से प्रदक्षिणा कर रहे राजा की भूरि भूरि प्रशंसा की ॥३२॥ राजा दशरथ द्वारा पूजित विश्वामित्र बड़े प्रसन्न हुए। उनका मुखकमल खिल उठा। उन्होंने राजा से उनकी तथा राज्य के विभिन्न अंगो की कुशल पूछी और पूछा : आपका राजकोष तो परिपूर्ण है ? ॥३३॥

तदन्तर मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजी ने प्रसन्नतापूर्वक महर्षि वसिष्ठजी से मिलकर वसिष्ठजी की पूजा की और उनसे यथायोग्य उनके शिष्य, आश्रम के मृग, पक्षी आदि की कुशल पूछी ॥३४॥ क्षण भर के लिए परस्पर मिलकर और यथायोग्य पूजा–सत्कार कर सभीको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे राजमहल में अपने अपने आसनों पर बैठ गये। आमने सामने बैठने से उनका तेज परस्पर बढ़ गया। वे सब आपस में एक दूसरे से कुशल प्रश्न करने लगे। महामति विश्वामित्रजी के आसन पर बैठने के उपरान्त महाराज दशरथ ने उनके चरण पखारे, उन्हें दूसरी बार अर्घ्य दिया, गाय दी एवं चन्दन, पुष्प, वस्त्र अलंकार, दक्षिणा, फल और ताम्बूल से उनकी पुनः–पुनः पूजा की ॥३५–३७॥ विधिपूर्वक पूजकर प्रसन्नचित्त पुण्यात्मा राजा ने हाथ जोड़ कर विश्वामित्रजी से ये वाक्य कहे : भगवन्, मरणधर्मा जीव को अमृत लाभ से जैसा सुख होता है, दीर्घकाल की अनावृष्टि के अनन्तर वृष्टि के लाभ से किसान को जैसा आनन्द होता है एवं अन्धे को नयनप्राप्ति से जैसा हर्ष होता है हमारे लिए आपका शुभागमन वैसा ही, उससे भी बढ़कर आनन्दप्रद है। पुत्रविहीन व्यक्ति को धर्मपत्नी से पुत्रोत्पत्ति होने पर जैसा आह्लाद होता है, दरिद्र पुरुष को स्वप्न में दृष्ट धन का लाभ होने पर जैसा आनन्द होता है, वैसे ही आपका आगमन हमारे लिए सुखकारक है। मनुष्य चिरकाल से इच्छित मणि, मन्त्र, अभ्युदय आदि की प्राप्ति, प्रियतम भाई, पुत्र आदि के समागम और खोई गई वस्तु के लाभ से जैसे अनिर्वचनीय आह्लाद का अनुभव करते हैं, वैसे ही आपके आगमन से हमें आह्लाद हो रहा है ॥३८–४१॥

ब्रह्मन्, स्थलचर मनुष्य आदिको आकाश में उड़ने से जैसा आनन्द होता है, और मृत पुरुष के पुनः वापिस आ जाने से उसके बान्धवों को जैसा आनन्द होता है वैसे ही आपके आगमन से हमें आनन्द हो रहा है, आपका स्वागत हो ॥४२॥ मुनिवर, ब्रह्मलोक में रहना किसको प्रीतिकर न होगा ? वैसे ही प्रीतिकर आपका आगमन है अर्थात् जैसे ब्रह्मलोक में निवास करने की सबको स्पृहा रहती है, वैसे ही आपके आगमन की सभी को स्पृहा रहती है, मैं यह निश्छल सत्य आपसे कहता हूँ॥४३॥ भगवन्, आप परम धार्मिक हैं, आपकी क्या अभिलाषा है ? मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? ब्रह्मन् आप सत्पात्र हैं मेरे भाग्य से यहाँ आये हैं। भगवन्, आप पहले राजर्षि शब्द से अभिहित होते थे, इस समय तपस्या से ब्रह्मर्षित्व को प्राप्त हुए परमवर्चस्वी आप मेरे परम पूज्य हैं ॥४४,४५॥ जैसे गंगाजल के स्नान से मुझे प्रसन्नता होती है, वैसे ही आपके दर्शन से प्रसन्नता हुई है। उक्त प्रसन्नता मेरे हृदय को शीतल कर रही है ॥४६॥ भगवन्, आपको न किसी वस्तु की अभिलाषा है, न किसी से भय है और न क्रोध ही है। आपमें राग (विषय–वासना) भी नहीं है। आधि–व्याधि आदि विपत्तियाँ भी नहीं है, फिर भी आप मेरे

पास आये हैं, यह बड़ी आश्चर्य की बात है ॥४७॥ हे तत्त्वज्ञशिरोमणे, आपके शुभागमन से मैं निष्पाप हो गया हूँ। अपने को पुण्यक्षेत्र में स्थित समझ रहा हूँ अर्थात् आपके आगमन से मेरा गृह भी पवित्र हो गया है। अधिक क्या कहूँ, मैं अपने को अमृतमय चन्द्रमण्डल में निमग्न समझ रहा हूँ ॥४८॥ मुने, मुझे प्रतीत हो रहा है कि आपका शुभागमन साक्षात् ब्रह्म का शुभागमन है। आपके आगमन से उत्पन्न पुण्य से मैं पवित्र हुआ हूँ, यश और अभ्युदय से अनुगृहित हूँ। आज आपके आगमन से उत्पन्न पुण्य से अनुरंजित मेरा जन्म सफल हो गया है और मेरा जीवन सार्थक हो गया है ॥४९,५०॥ यहाँ आये हुए आपके दर्शन कर, पूजा कर और प्रणाम कर, जैसे चन्द्रमा को देखकर समुद्र अपने में नहीं समाता, तटसीमा को लाँघकर उछल पड़ता है, वैसे ही मैं भी अपने में फूला नहीं समा रहा हूँ ॥५१॥ मुनिवर, आपका जो कार्य हो, जिस प्रयोजन से आप आये हैं, उसे आप किया ही समझिए, क्योंकि आप सर्वदा मेरे माननीय है ॥५२॥ गाधिनन्दन, अपने कार्य के विषय में आप विचार न कीजिए। भगवन्, पात्रभूत आपके लिए मुझे कुछ भी अदेय नहीं है। मेरा कार्य सिद्ध होगा या नहीं, इसका विचार आप मत कीजिए। मैं आपका कार्य सम्पूर्णरूप से धर्मतः करूँगा। आप मेरे परम देव है ॥५३,५४॥ आत्मवित् महाराज दशरथ द्वारा विनयपूर्वक कहे गये श्रुतिमधुर सुमिष्ट वचनों को सुनकर प्रख्यातकीर्ति और विख्यात गुणवाले मुनिपुंगव विश्वामित्र परम प्रसन्नता को प्राप्त हुए ॥५५॥

छठवाँ सर्ग समाप्त

सातवाँ सर्ग

राजा की प्रशंसा कर श्रीविश्वामित्रजी का अपने आगमन का प्रयोजन कहना तथा राक्षसों के विनाश के लिए श्रीरामचन्द्रजी को माँगना।

वाल्मीकिजी ने कहा : भरद्वाज, महाराज के आश्चर्यपूर्ण उक्त विस्तृत वाक्य को सुनकर महामुनि विश्वामित्रजी के शरीर में रोमांच छा गये। उन्होंने पुलकित होकर राजा से कहा : महाराज, भूलोक में ऐसा वाक्य आपके ही योग्य है, क्योंकि आप महावंश में उत्पन्न हुए हैं और गुरु वसिष्ठजी के आज्ञाकारी हैं ॥१,२॥ महाराज, मैं जो कहना चाहता हूँ, उसके विषय में आप कर्तव्य का निश्चय कीजिए और धर्म का परिपालन कीजिए ॥३॥ पुरुषश्रेष्ठ, मैं सिद्धिलाभ के लिए यज्ञ आरम्भ करता हूँ। भीषण राक्षस मेरे यज्ञ में विघ्न करने के लिए आ जाते हैं ॥४॥ जब-जब मैं यज्ञ द्वारा देवताओं का भजन पूजन करता हूँ तब तब राक्षस मेरे यज्ञ को छिन्न भिन्न कर देते हैं। मेरे बहुत बार यज्ञ आरम्भ करने पर राक्षस नायकों ने यज्ञभूमि को मांस और रक्त से पाट दिया। मेरे यज्ञों के यों विघ्नों द्वारा छिन्न भिन्न होने पर मेरा उत्साह जाता रहा। इस बार फिर मैंने यज्ञ का आरम्भ किया है, उसके प्रतीकार के लिए आपके पास आया हूँ ॥५-७॥ राजन्, क्रोध करके अर्थात् शापदान द्वारा उसका प्रतीकार करने की मेरी इच्छा नहीं होती, कारण कि क्रोधरहित होकर ही यज्ञानुष्ठान किया जाता है और क्रुद्ध हुए बिना शाप देना नहीं बनता ॥८॥ राजन्, उक्त महायज्ञ समारम्भ में ऐसी मेरी यज्ञदीक्षा है। आपके अनुग्रह से निर्विघ्न यज्ञ समाप्त कर महाफल प्राप्त करूँगा, ऐसी आशा से मैं आपके समीप आया हूँ। राजन्, मैं अत्यन्त आर्त (दुःखी) और शरणार्थी हूँ, आप मेरी रक्षा कीजिए। प्रार्थियों को निराश करना सज्जनों का तिरस्कार है अर्थात् तिरस्कार

के समान ग्लानिकर है।।९,१०।। राजन् आपके पुत्र श्रीरामचन्द्रजी मत्तसिंह के समान पराक्रमशाली अत्यन्त शोभासम्पन्न, महेन्द्र के समान शौर्य सम्पन्न और राक्षसों के विनाश में दक्ष हैं। अमोघ पराक्रमवाले काकपक्षधारी शूर–वीर अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामचन्द्रजी को आप मुझे दीजिए। मैं अपने दिव्य तेज से इनकी रक्षा करूँगा। यों मेरे तेज से सुरक्षित वे यज्ञ के विध्वंसक राक्षसों के शिर काटने के लिए समर्थ हैं।।१२,१३।। मैं भी निःसीम प्रभाव से युक्त और विविध अस्त्र, शस्त्र और विद्या देकर श्रीरामचन्द्र का कल्याण करूँगा। जिससे वे तीनों लोकों में पूज्य हो जायेंगे ।।१४।। जैसे क्रुद्ध सिंह को देखकर मृग वन में पैदा हुए इरिण की (तृणविशेष की) ओट में खड़े नहीं हो सकते, वैसे ही वे राक्षस श्रीराम के सामने खड़े नहीं हो सकते ।।१५।। जैसे क्रुद्ध सिंह के सिवा दूसरा कोई जीव मत्त हाथियों से नहीं लड़ सकता, वैसे ही श्रीरामजी के सिवा दूसरा पुरुष उनसे नहीं लड़ सकता। एक तो राक्षस ही बल से गर्वित, अत्यन्त पापी, युद्ध में कालकूटसे भी अधिक तीव्र, कुपित यम के समान अति दारुण हैं, उस पर फिर वे हैं खर दूषण के सेवक ।।१६,१७।। महाराज, जैसे मेघ की मुसलाधार वृष्टि को धूलि कण नहीं सह सकते, वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी की बाणवृष्टि को राक्षस नहीं सह सकेंगे ।।१८।। महाराज, आप यह मेरा पुत्र है ऐसा प्राकृत स्नेह न कीजिए, क्योंकि संसार में महात्मा पुरुषों के लिए कोई वस्तु अदेय नहीं है। महाराज, तपोबल से निस्सन्देह जानता हूँ और आप भी मेरे वचन से जानिये कि विघ्नकारी सम्पूर्ण राक्षस मरे हुए ही हैं, क्योंकि मेरे सदृश महामति पुरुषों की संदिग्ध विषय में प्रवृत्ति ही नहीं होती ।।१९,२०।। मैं जानता हूँ, महातेजस्वी वसिष्ठजी जानते हैं और अन्यान्य महात्मा भी जानते हैं कि कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी महात्मा (जीवोपाधि से अपरिच्छिन्न आत्मा ईश्वर) हैं, सामान्य पुरुष नहीं हैं।।२१।। यदि धर्म, महत्ता और यश की रक्षा करनी चाहिए, ऐसी आपकी वासना हो, तो मेरे इच्छित की सिद्धि के लिए श्रीरामचन्द्रजी को मुझे दीजिए। रामचन्द्रजी जिस यज्ञ में मेरे यज्ञ के विध्वंसक और सर्वविघ्नकारी राक्षसों को मारेंगे, मेरा यह यज्ञ दस दिन में पूरा होगा ।।२२,२३।। अतएव हे महाराज, इस विषय में आपके वशिष्ठ आदि मन्त्री अनुमति प्रदान करें। उनकी अनुज्ञा से आप रामचन्द्रजी को मेरे साथ भेजिए ।।२४।। हे राघव, आप अवसरज्ञ हैं, जैसे मेरा यह यज्ञ का अवसर बीत न जाय वैसा कीजिए आपका कल्याण होगा, आप मन में शोक को जगह न दीजिए।।२५।। समय पर थोड़ा भी कार्य किया जाय, तो वह बहुत उपकारक होता है। असमय में बहुत भी उपकार किया जाय, तो वह निष्फल जाता है ।।२६।। धर्मात्मा महातेजस्वी मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजी यों धर्म–अर्थ से युक्त वाक्य कहकर चुप हो गये ।।२७।। महानुभाव राजा दशरथ महर्षि के उक्त वचन सुनकर युक्तियुक्त उत्तर देने के लिए कुछ काल तक चुपचाप बैठे रहे, क्योंकि जिसका मनोरथ पूर्ण न किया जाय ऐसा धीमान् पुरुष युक्तियुक्त कथन के बिना संतोष को प्राप्त नहीं होता ।।२८।।

सातवाँ सर्ग समाप्त

आठवाँ सर्ग

राजा का श्रीरामचन्द्रजी में अधिक स्नेह होने के कारण उनमें युद्ध की अयोग्यता का वर्णन तथा रावण आदि के बल को जानकर राजा के विषाद का वर्णन।

वाल्मीकिजी ने कहा : भरद्वाज, राजश्रेष्ठ दशरथ विश्वामित्रजी के उक्त वचन सुनकर एक क्षण के

लिए चित्रलिखित की नाईं निश्चेष्ट हो गये और तदनन्तर दीन वचन कहने लगे ॥१॥ मुनिवर, कमलनयन श्रीराम अभी पूरे सोलह वर्ष का भी नहीं हुआ। मैं इसमें राक्षसों के साथ युद्ध करने की योग्यता नहीं देखता हूँ॥२॥ प्रभो, यह मेरी पूर्ण एक अक्षौहिणी सेना है, जिसका मैं अधीश्वर हूँ। उसको लेकर मैं ही राक्षसों के साथ युद्ध करूँगा॥३॥ ये सभी सैनिक शूर, वीर, पराक्रमशाली और परामर्श देने में दक्ष हैं। मैं समरभूमि में धनुष, बाण लेकर समस्त सैनिकों की रक्षा करूँगा। जैसे सिंह मत्त हाथियों के साथ युद्ध करता है, वैसे ही इन शूर-वीर सैनिकों के साथ मैं महेन्द्र से बलिष्ट वीरों से भी युद्ध कर सकता हूँ॥४,५॥ श्रीराम बालक है, युद्ध से नितान्त अनभिज्ञ है और सेना का बलाबल नहीं जानता। इसने अन्तःपुर में क्रीड़ा के लिए कल्पित संग्राम छोड़कर अन्य रणभूमि नहीं देखी है। न यह उत्तम शस्त्रों से युक्त है, न उत्तम अस्त्रों से युक्त है और न युद्धविद्या में निपुण ही है। समरभूमि में असंख्य शूर-वीरों से कैसे युद्ध करना चाहिए, यह भी इसे ज्ञात नहीं है, युद्धनिपुणता तो दूर रही। केवल यह राजकुमारों के साथ पुष्पों से सुशोभित नगरोपवनों में, उद्यान के कुंजों में परिभ्रमण करना तथा भाँति-भाँति के पुष्पों से व्याप्त अपने महल के आँगन में क्रीड़ा करना जानता है। आजकल तो मेरे दुर्भाग्य से हिमसे कमल के समान कमलवदन श्रीराम अत्यन्त कृश और पीला हो गया है। वह न अन्न खा सकता है, न घर में घूम-फिर सकता है। हृदयगत दुःख से व्याकुल होकर चुपचाप बैठा रहता है। मुनिश्रेष्ठ, उसके कारण मैं, मेरी रानियाँ, मेरे सेवकवर्ग सबके सब शरत्काल के मेघ के समान निःसार हो गये हैं॥६-१२॥ शरीर से इतना सुकुमार, अवस्था से बालक मेरा बच्चा है। उस पर उसे मानसिक पीड़ा ने जकड़ रखा है। ऐसी परिस्थिति में उसे मैं निशाचरों के साथ लड़ने के लिए आपको कैसे दूँ॥१३॥

यदि कहें कि आप तो धर्मलिप्सु हैं, आपको धर्मविरोधी पुत्रस्नेह से क्या प्रयोजन है ? इस पर कहते हैं।

मुनीश्वर, बालांगना के अंग का संग, सुधारस का सेवन, राज्य का आधिपत्य आदि जितने प्रकार के सुख हैं, उन सबकी अपेक्षा मैं पुत्रस्नेहजनित सुख को अधिक महत्त्व देता हूँ अर्थात् पूर्वोक्त सुख धर्म के फल हैं, पर वे पुत्रस्नेहजनित सुख से बढ़कर नहीं हैं। तीनों लोकों में धार्मिकक लोग भी दीर्घकाल में सिद्ध होनेवाले परिश्रमसाध्य क्लेशकारी तपस्या आदि महारम्भों को पुत्रस्नेह से ही निःसन्देह करते हैं॥१४,१५॥ मुनिश्रेष्ठ, मनुष्य प्राण, धन-सम्पत्ति और स्त्रियों को छोड़ सकते हैं, मगर पुत्र को नहीं छोड़ सकते, यह प्राणियों का स्वभाव है॥१६॥ राक्षस बड़े क्रूर कार्य करनेवाले और कूट युद्ध में दक्ष हैं। श्रीरामचन्द्र उनके साथ युद्ध करें, यह कल्पना ही मेरे लिए अति असहनीय है॥१७॥

मुनिवर, मैं जीने की इच्छा करता हूँ, लेकिन रामचन्द्र से क्षणभर के लिए भी वियुक्त होकर मैं जी नहीं सकता॥१८॥ भगवन्, मुझे उत्पन्न हुए नौ हजार वर्षों तक पुत्र की कामना सताती रही, तदुपरान्त बड़े कष्ट से मैंने इन चार बेटों को उत्पन्न किया है॥१९॥ इन चारों में कमलनयन राम सर्वप्रधान है, उसके बिना उसके तीन भाई भी नहीं जी सकेंगे। जिसको ले जाने से अवशिष्ट तीनों का भी मरण अवश्यम्भावी है, उस श्रीराम को आप मृत्युरूप राक्षसों के समीप ले जा रहे हैं, तो चारों पुत्रों से हीन मुझे आप मरा ही जानिये॥२०,२१॥ चार पुत्रों में से रामचन्द्र के ऊपर ही मेरा सर्वाधिक प्रेम है, क्योंकि वह सर्वज्येष्ठ और धर्मात्मा है। इसलिए राम को आप मत ले जाइये॥२२॥ मुने, यदि आपको राक्षसों की

सेना का संहार करने की इच्छा हो, तो मेरे साथ मेरी चतुरंगिणी सेना को ले जाइये ॥२३॥

उक्त राक्षसों में कितना बल है, वे किसके पुत्र हैं, कैसे रहते हैं, कितने हैं और उनके नाम क्या है ? यह सब स्पष्टरूप से मुझे सुनाइये।

हे ब्रह्मन्, मुझे या शिशु राम को अथवा मेरे चारों बालकों को कूटयुद्ध में विशारद उन राक्षसों का प्रतीकार कैसे करना चाहिये और उन दुरात्मा राक्षसों के साथ महारण में कैसे रहना चाहिए, यह भी मुझसे कहिये। ये राक्षस बड़े बलगर्वित हैं ॥२५,२६॥ साक्षात् कुबेर का भाई मुनि विश्रवा का पुत्र महाबलशाली रावणनामक राक्षस सुना जाता है। वह दुर्बुद्धि यदि आपके यज्ञ में विघ्न करता है, तो हम उस दुष्टात्मा के साथ युद्ध करने में समर्थ नहीं है ॥२७,२८॥ ब्रह्मन्, किसी समय किसी समुदाय में विपुल बल और सम्पत्ति से सम्पन्न पुरुष भूतों में उदय को प्राप्त होते हैं और काल पाकर विनाश को प्राप्त होते हैं ॥२९॥ इस समय तो हम लोग रावण आदि शत्रुओं के सामने खड़े होने में सर्वथा असमर्थ हैं, यह ईश्वरीय नियम ही है ॥३०॥ इसलिए हे धर्मज्ञ, अनुकम्पनीय मेरे पुत्र पर अनुग्रह किजिये और प्रार्थी के मनोरथ को पूर्ण न कर सकने के कारण अल्प भाग्यवाले मुझपर भी अनुग्रह कीजिये। आप हमारे परम देव हैं ॥३१॥

आपको ऐसा अधैर्य कैसे हुआ ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

देवता, दैत्य, गन्धर्व, यक्ष, पक्षी, नाग ये सब रावण से लड़ने के लिए असमर्थ हैं, मनुष्यों की तो बात ही क्या है ? रावण बड़े बलशालियों के बल को भी युद्ध में हर लेता है, उसके साथ संग्राम में लड़ने के लिए हम समर्थ नहीं हैं। उसके पुत्र इन्द्रजित् आदि के साथ भी हम नहीं लड़ सकते अथवा ऐसे बलशाली रावण का मेरे बच्चे क्या कर सकेंगे ?॥३२,३३॥ जिस समय मान्धाता आदि राजाओं ने जन्म लिया था, यह काल वैसा नहीं है। इस समय में सज्जन ही निर्बल हैं। इस समय यह रघुवंशीय बालक (मैं) बुढ़ापे से शिथिल हो गया है अथवा श्रीरामचन्द्र बूढ़ों की भाँति शिथिल है ॥३४॥ अथवा यदि आपके यज्ञ में विघ्न करनेवाला असुरश्रेष्ठ मधुपुत्र लवण है, तो भी मैं अपने बेटे को नहीं जाने दूँगा ॥३५॥ अथवा यदि यम के सदृश सुन्द और उपसुन्द के पुत्र (मारीच और सुबाहु) आपके यज्ञ के विघ्वंसक हैं, तो भी मैं अपने पुत्र को आपके साथ नहीं भेजूँगा ॥३६॥

तुम्हारे न देने पर भी तपोबल से श्रीराम को अवश्य ही ले जाऊँगा, ऐसा यदि विश्वामित्र कहें, तो इस पर कहते हैं।

ब्रह्मन्, यदि श्रीराम को जबर्दस्ती ले जाओगे, तो उस कल्प में आपसे मैं ही मारा जाऊँगा, मरे बिना मैं अपनी निश्चित विजय नहीं देखता हूँ॥३७॥ इत्यादि मधुर वचन कहकर, महाराज दशरथ मुनि के अभिमत (रामचन्द्रजी को भेजने) के विषय में और राक्षसवध के विषय में क्रमशः श्रीराम को भेजना चाहिए अथवा नहीं और राक्षसों का वध हो सकेगा या नहीं इत्यादि सन्देहरूप सागर की बड़ी तरंगों में निमग्न हो क्षणभर के लिए भी निश्चय नहीं कर सके। अतएव उस समय उनकी दशा उन्नत तरंगों से युक्त सागर में डूब रहे पुरुष की सी हो रही थी ॥३८॥

आठवाँ सर्ग समाप्त

नौवाँ सर्ग

राजा के निषेध करने पर श्रीविश्वामित्रजी का क्रुद्ध होना और श्रीवसिष्ठजी का श्रीविश्वामित्रजी के तपोबल और अस्त्र-बल के कथन द्वारा धीरे-धीरे राजा दशरथ को समझाना।

वाल्मीकि ने कहा : हे भरद्वाज, अपने प्रिय पुत्र रामचन्द्रजी में अधिक स्नेह होने के कारण जिन वचनों को कहते समय दशरथ के नेत्र आँसुओं से भर गये थे, उनके ऐसे बचनों को सुनने के बाद क्रोधित होकर विश्वामित्र ने राजा से निम्ननिर्दिष्ट वाक्य कहा : मैं आपके आदेश का अवश्य पालन करूँगा' इस प्रकार पहले प्रतिज्ञा कर उसको छोड़ना चाहते हो, इसका मतलब यह होता है कि आप सिंह होकर मानों अब मृग बनने की इच्छा कर रहे हो ॥१,२॥ राघवों के कुल की यह मर्यादा नहीं है अर्थात् इस प्रकार की झूठी प्रतिज्ञा करना या मिथ्या बोलना रघुवंशियों के लिए अनुचित (निन्दनीय) है। क्या शीतांशु चन्द्रमा की कभी उष्ण किरणें होती है ? हे राजन्, अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति करने में अपने को यदि असमर्थ पा रहे हो, तो मैं जैसे आया था वैसे ही वापस जाऊँगा। अपनी प्रतिज्ञा से च्युत होनेवाले हे दशरथ, तुम्हारा, अपने आत्मीयों के साथ, कल्याण हो ॥३,४॥ वाल्मीकि ने कहा : उस महान् तपस्वी विश्वामित्र के क्रोधित होने पर सारी पृथ्वी काँपने लगी। सम्पूर्ण देवताओं को भय होने लगा ॥५॥

(पृथिवी अपने मन में यह सोचकर भय के मारे काँपने लगी कि दशरथ मेरे स्वामी हैं, उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा का पालन न कर विश्वामित्र का बड़ा भारी अपराध किया है और अपराधी दशरथ को मैंने धारण किया है, अतः इस प्रकार के सम्बन्ध का विचार कर, मुझे भी अपनी अपराधिनी समझ कर कदाचित् शाप न दें। देवताओं को इस विचार से भय हुआ कि विश्वामित्र क्रोध में आकर अपने तप के प्रभाव से दूसरे रामचंद्र को उत्पन्न कर रावणवध के लिए उसीको यदि प्रेरित कर देंगे, तो बड़ा भारी अनर्थ होगा, क्योंकि नवीन रामचन्द्र के साथ हम लोगों का कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः अन्त में वह हमारे ऊपर भी आक्रमण कर सकता है।)

जगत् के मित्र महामुनि विश्वामित्र को क्रोध से अभिभूत याने क्रोधपूर्ण देखकर धैर्य आदि गुणों से सम्पन्न, उत्तम व्रतों का अनुष्ठान करनेवाले बुद्धिमान् महर्षि वसिष्ठ निम्ननिर्दिष्ट वाक्य बोले ॥६॥ वसिष्ठजी ने कहा : हे राजन्, तुम इक्ष्वाकु वंश में साक्षात् दूसरे धर्म के सदृश उत्पन्न हुए हो। अनेक प्रकार की लक्ष्मी से सम्पन्न हो, तीनों लोकों में सज्जनों के जो उत्तमोत्तम गुण हैं उनसे परिपूर्ण हो, धीर और प्रतिज्ञापालन आदि अच्छे व्रतों का अनुष्ठान करते हो, इसलिए तुम्हें धर्म का परित्याग नहीं करना चाहिए क्योंकि स्वर्ग, मृत्यु और पाताल-इन तीनों लोको में तुम अपने धर्माचरण से और यश से विख्यात हो ॥७,८॥ तुम्हारे कुल में उत्पन्न हुए पहले के राजाओं ने प्रतिज्ञापालन आदि धर्मों का कितनी दृढ़ता के साथ परिपालन किया था, उसे स्मरण करो और तीनों लोकों में अभीष्ट प्राप्त करने में समर्थ महर्षि विश्वामित्र के वाक्य का आदरपूर्वक पालन करो। 'आपकी आज्ञा का पालन करूँगा' यों प्रतिज्ञा करके उससे अपना मुँह मोड़ लोगे, तो तुम्हारे सम्पूर्ण इष्ट, पूर्त (बावली, कूप, तालाब आदि) आदि धर्म नष्ट हो जायेंगे, इसलिए महामुनि विश्वामित्र के साथ श्रीरामचन्द्र को भेजो ॥९,१०॥

लोक में यह प्रसिद्ध है कि जैसे राजा भले-बुरे आचरण करते हैं, वैसे ही उनकी प्रजा भी आचरण

करती है, इसलिए अपनी प्रजा को अच्छी शिक्षा देने के लिए तुम्हें अपनी प्रतिज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। यों महर्षि वसिष्ठ दशरथ को उपदेश देते हैं।

इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न होकर और स्वयं दशरथ जैसे राजा होकर भी यदि तुम अपने वचनों का पालन नहीं करते हो तो भला बतलाओ कि इस संसार में दूसरा कौन प्रतिज्ञा का पालन करेगा ? ॥११॥ तुम्हारे जैसे विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा चलाये गये व्यवहार से (नियम से) साधारण अज्ञानी भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते, अतः अपनी प्रतिज्ञा का पालन न करना तुम्हारे लिए अत्यन्त अनुचित है ॥१२॥ इन्द्र के साथ में रक्खा हुआ अमृत अग्नि द्वारा चारों ओर रक्षित होने के कारण जैसे उसकी राक्षस लोग कुछ भी हानि नहीं कर सकते, वैसे ही पुरुषों में सिंह के समान अर्थात् पुरुषों में श्रेष्ठ श्रीविश्वामित्र द्वारा रक्षित होने पर, फिर चाहे अस्त्रविद्या में निपुण हों, चाहे न हो, श्रीरामचन्द्रजी को राक्षस लोग कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सकेंगे ॥१३॥

राजा के प्रति स्वयं कथित अर्थ की पुष्टि करने के लिए विश्वामित्र के लोकोत्तर प्रभाव का महर्षि वसिष्ठ वर्णन करते हैं।

ये विश्वामित्र मुनि मूर्तिमान् साक्षात् धर्म, बड़े बड़े शक्तिशालियों में सबसे अधिक शक्तिशाली, संसार में सबसे अधिक बुद्धिमान् और तप के सर्वोच्च गृह हैं ॥१४॥ चराचर तीनों लोकों में यह प्रसिद्धि है कि विविध अस्त्रविद्या में ये इतने निपुण हैं कि इस समय इनकी बराबरी करनेवाला दूसरा कोई नहीं है और न भविष्य में भी कोई होगा। महर्षि विश्वामित्र की समानता न सम्पूर्ण देवता कर सकते हैं, न अन्य ऋषि कर सकते हैं और न असुर, राक्षस, नाग, यक्ष और गन्धर्व ही कर सकते हैं ॥१५,१६॥ विश्वामित्र जब राज्य करते थे, तब उनकी उग्र तपश्चर्या से सन्तुष्ट होकर रुद्र ने कृशाश्व द्वारा प्रसूत अस्त्र उन्हें दिये। प्रजापति के पुत्र रुद्र के समान संहार करने में वीर, दीप्तिमान् और शत्रुओं का निर्दलन करने में समर्थ वे कृशाश्व द्वारा प्रसूत अस्त्र (अस्त्ररूपी देव) विश्वामित्र को प्राप्त होकर अनुचर के समान उनकी सेवा करते हैं ॥१७,१८॥

उनमें प्रधान अस्त्रों को कहते हैं।

दक्ष प्रजापति की जया और सुप्रभा नामकी दो अत्यन्त सुन्दर कन्याएँ थीं। उनके गर्भ से बड़े पराक्रमी और शत्रुओं द्वारा दुर्जय सौ पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें जया ने पतिसेवा से वर पाकर देवसेना असुरों का वध करने में समर्थ हो, इसलिए यथेष्ट विहार करनेवाले पचास पुत्र अपने गर्भ से उत्पन्न किये और सुप्रभा ने शत्रुओं का दिल दहलानेवाले दुर्घर्ष और भयंकर आकारवाले अत्यन्त बली संघर्षनाम के अन्य पचास पुत्र उत्पन्न किये। राजन्, इस प्रकार के पराक्रमवाले महातेजस्वी और सारे जगत् को अपने योग के प्रभाव से हस्तामलकवत् देखनेवाले ये महानुभाव महर्षि विश्वामित्र हैं, अतः रामचन्द्रजी के इनके साथ जाने में तुम्हें मन में किसी प्रकार की व्याकुलता नहीं करनी चाहिए। क्योंकि हे साधो, महाप्रभावशाली ये मुनीन्द्र जिस पुरुष की सन्निधि में हो उसकी यदि मृत्यु भी प्राप्त हो, तो भी वह अमरभाव को प्राप्त हो जाता है, इसलिए तुम मूर्ख मनुष्य की नाईं दीन मत बनो ॥१९–२३॥

नौवाँ सर्ग समाप्त

दसवाँ सर्ग

श्रीवसिष्ठजी के समझाने पर राजा दशरथ द्वारा श्रीरामचन्द्रजी को अन्तःपुर से बुलवाने के लिए प्रतिहार को भेजना, श्रीरामचन्द्रजी को उदास देखकर प्रतिहार का वापस आना, रामचन्द्रजी की अवस्था पूछने पर अनुचर का श्रीरामचन्द्रजी की विरागावस्था कहना।

वाल्मीकिजी ने कहा : हे भरद्वाज, महर्षि वसिष्ठजी के यों कहने पर राजा दशरथ ने प्रसन्नमन होकर अपने पुत्र श्रीरामचन्द्रजी को लक्ष्मण के साथ बुलाने के लिए प्रतीहार से कहा ॥१॥ दशरथ ने कहा : हे प्रतीहार, अमोघ (सफल) पराक्रमवाले आजानुबाहु श्रीरामचन्द्र को महर्षि विश्वामित्र के यज्ञ की निर्विघ्न सिद्धि के लिए लक्ष्मण के साथ यहाँ शीघ्र ले आओ ॥२॥ इस प्रकार राजा दशरथ द्वारा भेजा गया द्वारपाल अन्तःपुर में स्थित श्रीरामचन्द्रजी के निवासस्थान में जाकर और मुहूर्तमात्र में वापस आकर राजा से कहने लगा : अपनी भुजाओं से शत्रुसमूह का मर्दन करनेवाले हे देव, रात्रि होने पर भ्रमर जैसे कमल में उदास होकर बैठा रहता है, वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी अपने निवासस्थान में अत्यन्त उदास होकर बैठे हुए हैं। थोड़ी देर में आता हूँ, ऐसा कहकर फिर किसी वस्तु का ध्यान करने लग जाते हैं, उनको इतनी ग्लानि हो गई है कि वे किसी के निकट ठहरना भी नहीं चाहते ॥३-५॥ श्रीरामचन्द्रजी के विषय में द्वारपाल द्वारा ऐसा समाचार पाकर राजा दशरथ प्रतीहार के साथ आये हुए श्रीरामचन्द्रजी के खास अनुचर से आश्वासन पूर्वक क्रमशः सब वृत्तान्त पूछने लगे : श्रीरामचन्द्रजी कैसे हैं और क्या कर रहे हैं ? यों पूछे जाने पर उस सेवक ने अत्यन्त उदास होकर राजा से ये वाक्य कहे : महाराज, आपके पुत्र श्रीरामचन्द्रजी को अत्यन्त कृश और खिन्न देखकर उनके विषय में हम लोग भी इतने दुःखी हो गये हैं कि हम लोगों का शरीर लकड़ी के समान हो गया है। अर्थात् हम लोगों का शरीर केवल अस्थिपंजर मात्र रह गया है ॥६-८॥ कमलपत्र के समान नेत्रवाले श्रीरामचन्द्रजी ब्राह्मणों के साथ जबसे तीर्थयात्रा कर घर वापस लौटे हैं, तब से वे अत्यन्त खिन्न रहते हैं। आम्लान (कुम्हलाये) शरीरवाले श्रीरामचन्द्रजी हम लोगों की बारबार प्रार्थना से अपने सन्ध्यावन्दन भोजन आदि कार्य कभी करते हैं और कभी नहीं भी करते हैं। स्नान, देवपूजन, दान, भोजन आदि में सदा उदास रहते हैं और प्रार्थना करने पर भी तृप्तिपर्यन्त भोजन नहीं करते ॥९-११॥

जैसे मेघ की धाराओं के साथ चातक खेलकूद (क्रीड़ा) करता है, वैसे आँगन में झूला झुलानेवाली अन्तःपुर की चपल अंगनाओं के साथ श्रीरामचन्द्रजी कभी क्रीड़ा भी नहीं करते। जैसे थोड़े समय में स्वर्ग से गिरनेवाले पुरुष को स्वर्गीय भोग-सामग्री आनन्द नहीं देती, वैसे ही मुकुल के सदृश आकारवाले माणिकों से जड़ित सुन्दर केयूर और कटक भी उन्हें आनन्द नहीं देते। क्रीडा करनेवाली सुन्दर रमणियों के कटाक्षरूपी बाणों के समान बहनेवाले सुगन्ध पूर्ण पुष्प की वायु से युक्त लताओं के निकुंजों में भी सदा उदासीन विषण्ण रहते हैं। जो पदार्थ उपभोग में लोक और शास्त्र से अविरुद्ध, मनोहर, स्वादिष्ट और कोमल हैं, उनसे भी अश्रुपूर्णनेत्र के समान खिन्न हो जाते हैं ॥१२-१५॥ हाव-भाव, लावण्य, विलास आदि से शोभित नृत्य करनेवाली अन्तःपुर की अंगनाओं को देखकर 'दुःखदायिनी ये सब क्या कर रही हैं' इस प्रकार उनके नृत्य आदि विलासों की ओर कटाक्ष करके श्रीरामजी उन कामिनियों की

निन्दा करते हैं। भोजन, शयन, यान (सवारी), विलास, स्नान, आसन आदि के निर्दोष होने पर भी उन्मत्त की तरह उनकी अवहेलना करते हैं। 'सम्पत्ति से, विपत्ति से, घर से और अन्यान्य व्यापारों से क्या होनेवाला है, क्योंकि ये सब असत् हैं, अधिक दिन तक रहनेवाले नहीं हैं, नश्वर हैं।' – ऐसा कह कर फिर चुप हो जाते हैं और एकाकी रहते हैं। परिहास से प्रसन्न नहीं होते, भोगों में आसक्त नहीं होते, कार्यो में सहयोग नहीं करते और किसी प्रकार के कार्यारम्भ में आस्था नहीं रखते, किन्तु मौन ही रहते हैं। जैसे चपल नेत्रवाली हरिणियाँ वृक्ष को आनन्द नहीं देती, वैसे ही जिनके केशों में पुष्प और रत्नों की मंजरियाँ लगी हैं, श्रृंगार की हाव–भाव आदि चेष्टाओं और कटाक्ष से जिनके नेत्र तिरछे हैं, ऐसी ललनाएँ उन्हें आनन्द नहीं देती ॥१६–२०॥ किसी उच्चवंशी पुरुष को, नीच जाति के पुरुषों में क्रीतदास होने पर जैसे एकान्त निर्जन प्रदेश और अरण्य आदि में रहना अच्छा लगता है, वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी को एकान्त में, नदी के तीर में, दिगन्त में और निर्जन अरण्य प्रदेश में रहना अच्छा लगता है ॥२१॥ राजन्, वस्त्र, पान, भोजन, दान आदि से विमुख होकर श्रीरामचन्द्रजी संन्यास धर्म से दीक्षित संन्यासी का अनुकरण कर रहे हैं अर्थात् संन्यासी जिस तरह किसी वस्तु का परिग्रह आदि नहीं करता, वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी भी किसी वस्तु का परिग्रह आदि नहीं करते हैं विरक्त से रहा करते हैं ॥२२॥ महाराज, रामचन्द्रजी जनशून्य देश में एकाकी होकर रहते हैं और वहाँ मन लगाकर न हँसते हैं, न रोते हैं और न गाते हैं, किन्तु पद्मासन लगाकर और अपने बांये हाथ में कपोल रखकर किसी ऊँची वस्तु का ध्यान लगाये बैठे रहते हैं। इष्ट और अनिष्ट पदार्थों के मिलने पर न हर्ष और विषाद करते हैं, न अभिमान करते हैं और न राज्य की इच्छा ही करते हैं ॥२३–२५॥ हम लोग यह नहीं जानते कि वे कहाँ जाते हैं, क्या करते हैं, क्या चाहते हैं, किसका अनुसरण करते हैं। जैसे शरत् ऋतु की समाप्ति में वृक्ष की अवस्था होती है, वैसे ही श्रीरामचन्द्र प्रतिदिन दुबले–पतले और पीले होते चले जा रहे हैं और उत्तरोत्तर उनका वैराग्य बढ़ता ही चला जा रहा है ॥२६,२७॥

राजन्, सर्वदा श्रीरामचन्द्र का अनुसरण करनेवाले शत्रुघ्न और लक्ष्मण भी श्रीरामचन्द्रजी के समान दुर्बल हो रहे हैं, अर्थात् रामचन्द्रजी के ठीक प्रतिबिम्ब के समान हो रहे हैं ॥२८॥ नौकरों के, राजाओं के और माताओं के बार बार पूछने पर भी 'कुछ नहीं' ऐसा प्रत्युत्तर देकर और अपने अभिप्राय की सूचक चेष्टाओं को न कर चुप हो जाते हैं। ॥२९॥ अपने समीप के विवेकी मित्रों को यह उपदेश देते हैं कि इन ऊपर–ऊपर से सुन्दर दीखनेवाले क्षणिकसुखजनक विषयों से तुम अपना मन हटा लो अर्थात् क्षणिक असत् विषयों में अपना मन कभी मत लगाओ ॥३०॥ अनेक प्रकार के आभूषणों से सुन्दर, विलासस्थान में अवस्थित रमणियों को अपने सामने खड़ी देखकर उनके प्रति स्नेहरहित श्रीरामचन्द्रजी विनाश की ही धारणा करते हैं। हम लोगों ने अपनी आयु परम पद की प्राप्ति के बिना यों ही निरर्थक अनेक तरह की चेष्टाओं के द्वारा व्यतीत कर दी, इस प्रकार मधुर और स्पष्ट वाणी से श्रीरामचन्द्रजी बार बार गान करते हैं। यदि कोई समीपस्थ अनुचर उन्हें यह कहे कि आप सम्राट हो, तो उसके कथन को उन्मत्तप्रलाप की नाईं समझकर दूसरी ओर चित्त करके हँसते हैं। किसी के वाक्य को न सुनते हैं और न सामने की वस्तु को देखते हैं। गुणादि से युक्त विस्मयोत्पादक उत्तम वस्तु के प्राप्त होने पर भी उसकी अवज्ञा करते हैं ॥३१–३४॥

यदि शंका हो कि गुणादि के उत्कर्ष से विस्मययोग्य वस्तु में विस्मय करना ही उचित है, अतः उसकी अवज्ञा करना ठीक नहीं है, तो इस पर कहते हैं।

आकाशरूप महारण्य में जैसे आकाशकमलिनी असम्भव और विस्मयोत्पादक है, वैसे ही यह मन भी है, इसलिए श्रीरामचन्द्रजी को विस्मय नहीं होता है। (तात्पर्य यह है कि जिस मन में बाह्य विषय द्वारा विस्मय होता है, वह मन ही आकाशरूप महारण्य में या आकाशस्थित अरण्य में कमलिनीकी तरह स्वयं असम्भव और विस्मयजनक है। जैसे विवेकी पुरुष के मन में आकाशकमलिनी से विस्मय नहीं होता, क्योंकि वह जानता है कि आकाश में पहले अरण्य का होना ही असम्भव है फिर उसमें कमलिनी होगी कैसे ? वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी यह जानते हैं कि कूटस्थ असंग आत्मा में मन का संसर्ग ही असंम्भव है और उसमें विस्मयादिका होना भी असम्भव है, अतः उनको किसी बाह्य पदार्थ से विस्मय नहीं होता ॥३५॥

श्लोकस्थ दो अपि शब्द आकाशअरण्य और आकाशकमलिनी की असंभावना सूचित करने के लिए हैं।

जैसे मेघ की धाराएँ बड़े भारी पत्थर का भेदन नहीं कर सकती, वैसे ही कामदेव अनेक सुन्दर स्त्रियों के बीच में रहने पर भी श्रीरामचन्द्रजी के मन का अपने बाणों से भेदन नहीं कर सकता ॥३६॥ 'आपत्तियों के प्रधान निवासस्थानरूप धन को क्यों चाहता है ?' – ऐसी शिक्षा देकर श्रीरामचन्द्रजी अपना सम्पूर्ण धन याचकों को दे देते हैं। और यह आपत्ति है, यह सम्पत्ति है, यह सब केवल कल्पनाओं से भरा हुआ, मन से उठा हुआ भ्रम है, ऐसे श्लोकों को खूब गाते हैं। 'हा मैं मर गया और मैं अनाथ हो गया, इस प्रकार लोक क्रन्दन तो करते हैं, पर वैराग्य को प्राप्त नहीं होते, यह बड़ा आश्चर्य है।' – ऐसा ही कहते हैं ॥३७–३९॥ रघुवंशरूप महाअरण्य में शाल वृक्ष के समान, शत्रुओं का मर्दन करने में समर्थ श्रीरामचन्द्रजी की ऐसी अवस्था देखकर हम लोगों को अत्यन्त खेद हो रहा है ॥४०॥ हे महाबाहो, इस प्रकार शोक से परिपूर्ण अन्तःकरणवाले श्रीरामचन्द्रजी के विषय में हमें क्या करना चाहिए, जिससे कि उनका शोक निवृत्त हो, यह हम नहीं जानते, अतः हे कमलनयन, हम लोगों को उपाय बतलाने के लिए आप ही हमारे दिग्दर्शक हों ॥४१॥

यदि यहाँ पर यह शंका हो कि राजनीति आदि व्यवहारों को जाननेवाले बड़े-बड़े विद्वानों द्वारा रामचन्द्रजी को उपदेश दिलाओ, जिससे उनका सारा मोह नष्ट हो जाय, तो इस शंका का अनुचर समाधान करता है।

प्रभो, राजनीति आदि व्यवहारों के उपदेशक राजा और अच्छे ब्राह्मण पण्डितों को अपने आगे देखकर रामचन्द्रजी अव्यग्र होकर उनकी हँसी उड़ाते हैं अर्थात् उनका किसी प्रकार का सम्मान न कर तिरस्कार करते हैं। बाह्य दृष्टियों से अनेक प्रकार का दीखनेवाला यह विस्तृत जगत् विनाशी ही है। यह अहमाकार वृत्ति से गम्य परमार्थ (परमात्मरूप) वस्तु नहीं है, किन्तु उससे भिन्न असत् वस्तु है, ऐसा निर्णय करके उसके जिज्ञासु होकर चुपचाप अवस्थित रहते हैं ॥४२,४३॥ महाराज, बाह्य जगत् में अर्थात् शत्रु, आत्मीय, मित्र, राज्य और माता आदि में सम्पत्ति या विपत्ति में रामचन्द्र किसी प्रकार की आस्था (विश्वास) नहीं करते। आस्था से, आशा से, इच्छा से और आत्मविश्रान्ति की प्राप्ति से शून्य ये रामचन्द्रजी न मूढ़

हैं और न मुक्त ही हैं, उन्हें ऐसा देखकर हम लोग बड़े दुःखी या अत्यन्त परितप्त होते हैं ॥४४–४६॥

(आशा पराधीन विषयों में होती है और स्वाधीन विषयों में आस्था होती है, यों आस्था और आशा का भेद समझना चाहिए। रामचन्द्रजी में विवेक है, अतः वे मूढ नहीं कहे जा सकते और आत्मविश्रान्ति उनमें नहीं है, अतः मुक्त नहीं कहे जा सकते, इसलिए वे न मूढ हैं और न मुक्त हैं, ऐसा इस श्लोक से कहा गया है। धर्म से क्या होगा ? माताओं से क्या होगा, इस विस्तृत राज्य से कौन प्रयोजन सिद्ध होगा, किसी झूठी वस्तु की इच्छा से क्या ? इस प्रकार का निश्चय करके प्राण त्याग करने की इच्छा कर रहे हैं अर्थात् राग आदि दोष ही जन्म और मरणरूप दुःख के कारण हैं, अतः मरने से ही मेरी मुक्ति होगी, यों निश्चय करके प्राण–त्याग करने के लिए उत्सुक हो रहे हैं, यह भाव है।)

जैसे वृष्टि का प्रतिबन्ध होने पर चातक पक्षी अत्यन्त उद्विग्न हो जाता है, वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी भोग, आयुष्य, राज्य, मित्र, पिता और माता के विषय में अत्यन्त उद्विग्न हो गये हैं ॥४७॥ महाराज, यों आपके पुत्र श्रीरामचन्द्रजी के ऊपर अनेक प्रकार की चिन्ता, कृशता आदि विविध शाखा–प्रशाखा के रूप से विस्तारपूर्वक आई हुई विपत्तिरूप लताका समूल उच्छेद करने में परम दयालु आप ही उद्योग करें ॥४८॥ हे प्रभो, उस प्रकार के स्वभाववाले श्रीरामचन्द्रजी को समग्र वैभवों से परिपूर्ण यह संसाररूपी जाल कृत्रिम और प्रतिकूल विष के समान प्रतीत हो रहा है ऐसे महामोह से मोहित श्रीरामचन्द्रजी को संसार–व्यवहार में प्रवृत्त कराने के लिए इस भूमण्डल में कोई भी महाशक्तिशाली नहीं है ॥४९,५०॥ जैसे भास्कर (सूर्य) अपने भास्करपनको इस पृथ्वी पर गिरनेवाले अन्धकारका नाशकर सफल बनाता है, वैसे इस भूखण्ड में ऐसा कोई भी महामना समर्थ साधु पुरुष नहीं है, जो कि रामचन्द्रजी के मन में रहनेवाले अनेकविध दुःखदायी मोहरूप अन्धकारका विनाश कर अपने साधुपनको सफल बनावे ॥५१॥

दसवाँ सर्ग समाप्त

ग्यारहवाँ सर्ग

अनुचर के मुँह से श्रीरामजी की अवस्था सुनने पर विश्वामित्रजी का उनसे उदास होने का कारण पूछना।

श्रीरामचन्द्रजी का वृत्तान्त सुनकर विश्वामित्रजी ने कहा : हे महाप्राज्ञ लोगों, श्रीरामचन्द्रजी यदि सचमुच ही ऐसी अवस्था को प्राप्त हुए हैं अर्थात् विरक्त, दुःखी और मोहित हुए हैं, तो जैसे मृगों का झुण्ड अपने यूथपति को लाता है वैसे ही आप लोग भी उन्हें शीघ्र मेरे पास ले आइये ॥१॥ वैराग्य और विवेक से युक्त श्रीरामचन्द्रजी का यह मोह किन्ही आपत्तियों से अथवा रागवश नहीं है, किन्तु यह महाफलदायक बोध ही है ॥२॥ श्रीरामचन्द्रजी शीघ्र यहाँ आयें और यहीं पर जैसे वायु पर्वत में स्थित मेघ को उड़ा देता है, वैसे ही हम उनके मोह को तुरन्त दूर कर देंगे ॥३॥ उपाय द्वारा उक्त मोह के दूर कर देने पर श्रीरामचन्द्रजी हम लोगों की भाँति 'तद्विष्णोः परमं पदम्' इत्यादि श्रुति में प्रसिद्ध परम पद अर्थात् अपनी आत्मा में विश्रान्ति को प्राप्त होंगे अर्थात् आत्माराम हो जायेंगे ॥४॥ मोह के हट जाने पर श्रीरामजी अमृत पिये हुए पुरुष की नाईं ब्रह्मरूप, परमानन्दसम्पन्न, अपरिच्छिन्नज्ञानस्वरूप, विश्रान्तिसुखसम्पन्न और सन्तापशून्य हो जायेंगे उनका शरीर हृष्ट–पुष्ट बलिष्ठ और कान्तिमान् हो जायेगा ॥५॥ माननीय श्रीरामचन्द्रजी तदनन्तर स्वस्थचित्त होकर अपने वर्ण और आश्रम के अनुरूप

सम्पूर्ण व्यवहारों को निर्बाधरूप से करेंगे ॥६॥ मनन आदि से उत्पन्न ज्ञान की दृढ़तारूप बल से युक्त श्रीरामचन्द्रजी को लोक में कार्यतत्त्व और कारणतत्त्व का ज्ञान हो जायेगा अथवा लोगों के परम पुरुषार्थ और संसार-भ्रमण का भी विवेक से ज्ञान हो जायेगा अथवा लोकात्मक विराट्, अव्याकृत और हिरण्यगर्भ – ये परमार्थतः ब्रह्म ही हैं, उससे पृथक् नहीं हैं, यह ज्ञान हो जायेगा। तदुपरान्त उन्हें सुख, दुःख आदि नहीं होंगे और सुवर्ण और मिट्टी के ढेले में कुछ भी अन्तर प्रतीत नहीं होगा ॥७॥ मुनिश्रेष्ठ श्रीविश्वामित्रजी के यों कहने पर राजा दशरथ का चित्त आह्लादित हो गया, उन्होंने श्रीरामचन्द्रजी को लाने के लिए फिर अन्य दूत भेजे ॥८॥ द्वारपालों के गमन के अनन्तर श्रीरामचन्द्रजी पिताजी के निकट जाने के लिए, जैसे सूर्य पर्वत से उदित होता है वैसे ही अपने घर के आसन से उठकर थोड़े से अनुचरों और दो भाइयों (लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न) के साथ जितने समय में राजा और मुनि का संवाद हुआ उतने ही समय में इन्द्र की स्वर्गभूमि के समान रमणीय पिताजी के पवित्रतम निवासस्थान में गये ॥९,१०॥ श्रीरामचन्द्रजी ने देववृन्द से परिवृत इन्द्र के सदृश राजाओं के मण्डल के मध्य में विराजमान महाराज दशरथ के दूर से ही दर्शन किये। उनके अगल-बगल में बैठे श्रीवसिष्ठजी और विश्वामित्रजी उनसे प्रिय, हित और मधुर वार्तालाप कर रहे थे एवं चारों ओर, शास्त्रों के अर्थ का विस्तार करनेवाले नीतिज्ञ मन्त्री, मालाकार पंक्ति बाँधकर बैठे थे। यथायोग्य स्थान पर खड़ी हुई अतएव मूर्तिमती दिशाओं के सदृश, हाथ में सुन्दर चँवर ली हुईं ललनाएँ महाराज पर चँवर डुला रही थीं ॥११-१३॥ इधर वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि ऋषिवृन्द तथा महाराज दशरथ आदि राजवृन्द ने दूर से अपने निकट आ रहे साक्षात् कार्तिकेयके तुल्य रूपवान् और बलवान् श्रीरामचन्द्रजी को देखा ॥१४॥ शान्ति और विवेक के हेतु सत्त्वगुण से सम्पन्न, सकलजनसेवनीय, असीम और व्यक्त आह्लादकता से युक्त श्रीरामचन्द्रजी विविध प्राणियों से व्याप्त, कलायुक्त चन्द्र द्वारा सेवनीय, अपरिमित और स्फुट हिमसे युक्त हिमालय के तुल्य दिखाई देते थे। उनका दर्शन बड़ा प्रिय लगता था, उनके शरीर के अवयव समविभक्त थे, आकृति बड़ी भव्य थी, उनका शान्त और सर्वमनोहर शरीर पुरुषार्थलाभ के (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्ति के) नितान्त योग्य था। वे बड़े विनीत और उदार थे। यौवन का आरम्भ होने पर भी उनके शरीर में यौवनोचित चंचलता नहीं थी किन्तु वृद्धोचित शान्ति (गम्भीरता) शोभा दे रही थी, अविवेक के नष्ट होने के कारण उनमें किसी प्रकार का उद्वेग नहीं था फिर भी उन्हें परमान्द प्राप्त नहीं हुआ था। देखते ही प्रतीत होता था कि उनकी अभीष्ट प्राप्ति प्रायः सन्निहित ही है ॥१५-१७॥ उन्होंने संसार की गतिविधि का विचार कर लिया था, वे पवित्रगुणवाले लोगों के आश्रय थे और गुणों ने मानों सत्त्वगुण के लोभ से उनका आश्रय लिया हुआ था। श्रीरामजी उदारस्वभाव शिष्ट और दर्शनीय थे। वे क्षोभरहित स्थिति से सम्पूर्ण साधनसम्पत्ति होने पर भी तत्त्वज्ञानरूप परमानन्द प्राप्त न होने के कारण अपने अन्तःकरणकोटर को (मनोरथ को) अपूर्ण-सा दिखा रहे थे ॥१८,१९॥ इस प्रकार अनेक गुणों से परिपूर्ण और अत्यन्त निर्मल परिमित हार और वस्त्रों से सुशोभित श्रीरामचन्द्रजी ने दूर से ही चंचल और सुन्दर चूड़ामणि की (सिर के रत्न की) किरणों से दैदीप्यमान अतएव भूकम्प से चंचल सुमेरु के सदृश सुन्दर मस्तक से प्रणाम किया ॥२०,२१॥ जबकि विश्वामित्रजी 'रामचन्द्रजी को लाओ' यों रामचन्द्रजी के विषय में राजा से कह रहे थे, उसी समय कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी श्रीपिताजी के चरणों में प्रणाम करने के लिए

समीप में आये ॥२२॥ श्रीरामचन्द्रजी ने पहले–पहले पिताजी को प्रणाम किया। तदुपरान्त माननीय पुरुषों द्वारा भी प्रधानरूप से सम्मानित वसिष्ठ और विश्वामित्रजी को प्रणाम किया ॥२३॥ तदनन्तर ब्राह्मणों को, बन्धुओं को और अपने बड़े–बूढ़ों को प्रणाम किया। तदनन्तर राजाओं द्वारा किये गये प्रणामों को तनिक झुकाये गये मस्तक से, प्रसन्न दृष्टि से और मधुर वाणी से ग्रहण किया ॥२४॥ समचित्त और देवतुल्य दर्शनीय श्रीरामचन्द्रजी मुनियों का आशीर्वाद ग्रहणकर पिताजी की पवित्र सन्निधि में पहुँचे ॥२५॥ स्नेहमय राजा ने प्रणामशील रामचन्द्रजी का सिर सूँघकर आलिंगन किया और जैसे राजहंस कमल को चूमता है वैसे ही बार बार उनका मुँह चूमा ॥२६॥ शत्रुतापन राजा ने श्रीरामचन्द्रजी की ही नाईं लक्ष्मण और शत्रुघ्न का भी आलिंगन और चुम्बन किया ॥२७॥ आलिंगन करने के पश्चात् राजा के 'वत्स, मेरी गोद में बैठो' यह कहने पर श्रीरामचन्द्रजी भूमि पर अनुचरों द्वारा बिछाये गये वस्त्र पर बैठ गये ॥२८॥ राजा दशरथ ने कहा : पुत्र तुम विवेकसम्पन्न हो एवं विविध कल्याणों के भाजन हो, तुम अविवेकियों की नाईं शिथिल बुद्धि से अपनी आत्मा को खिन्न मत करो। वत्स, वृद्धों की, ब्राह्मणों की और गुरुजनों की आज्ञा का पालन कर रहे तुम्हारे जैसे जनों को ही पवित्र पद प्राप्त होता है, किन्तु जो लोग मोह का अनुसरण करते हैं, उन्हें वह पद नहीं मिल सकता ॥२९,३०॥ पुत्र, तभी तक आपत्तियाँ निर्बल होकर दूर रहती हैं, जब तक मोह को अवकाश नहीं दिया जाता। मोह को अवकाश मिलने पर तो वे बड़ी बलवती हो जाती हैं ॥३१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे राजपुत्र, हे महाभूज, तुम बड़े शूरवीर हो, तुमने दुःख की परम्परा के जनक और कठिनाई से नष्ट होनेवाले इन विषयरूप शत्रुओं पर विजय पा ली है ॥३२॥ ऐसे प्रभावशाली होने पर भी मूढ लोगों के योग्य विक्षेपरूप बड़ी तरंगों से महान् आवरणरूप शैत्य से युक्त मोहरूप समुद्र में अनात्मज्ञ (आत्मतत्त्व को न जाननेवाले) की भाँति क्यों निमग्न होते हो ? ॥३३॥ श्रीविश्वामित्रजी ने कहा : राजकुमार, चित्त द्वारा की गई चंचल नीलकमलों के तुल्य नेत्रोंकी चंचलताको छोड़कर कहिये कि आपके मोहका क्या कारण है ?॥३४॥ जैसे घर को चूहे खोद डालते हैं, वैसे ही जो मन की व्यथाएँ आपके चित्तको दुःखी कर रही हैं। वे किसलिए हुई हैं, कितनी हैं, और कौनसी अभिलाषा के प्राप्त होने पर शान्त होगी ?॥३५॥

मानसिक व्यथाओं के कारण जगत् में प्रसिद्ध ही हैं, उनके लिए प्रश्न क्यों करते हैं ? इस शंका पर कहते हैं।

ठीक है मन की व्यथाओं के कारण प्रसिद्ध है, पर आप उन अनुचित व्यथाओंके उचित पात्र नहीं हैं। आपन्न (आपत्तियुक्त) अथवा दरिद्र ही उनका पात्र हो सकता है। आपकी सभी आपत्तियाँ आपके पिताजी के प्रताप से ही नष्ट हैं, अतः आपके द्वारा आपत्तियों में निरसनीय कुछ है ही नहीं और फिर आपकी आपत्तियाँ तो स्वतः ही निरस्त हैं ॥३६॥ हे अनघ ! जिस पदार्थकी आपको अभिलाषा हो उसे शीघ्र कहिये, वह आपको अवश्य मिलेगा, जिसकी प्राप्ति से फिर मानसिक व्यथाएँ आपको कष्ट नहीं पहुँचायेगी ॥३७॥ श्रीरामचन्द्रजी ने महामुनि श्रीविश्वामित्रजी के उक्त वाक्य को, जिसके गर्भ में अपनी अभिलाषाओं के अनुकूल प्रकाश निहित है, सुनकर खेद त्याग दिया, जैसे कि मेघ के गर्जने पर अपने अभिमत पदार्थों की सिद्धि का अनुमान करनेवाला मयूर खेद को छोड़ देता है ॥३८॥

ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

बारहवाँ सर्ग

भोगों की दुःखरूपता, विषय आदि की असत्यता तथा सम्पत्ति की अनर्थहेतुता का वर्णन।

वाल्मीकीजी ने कहा : हे भरद्वाज, मुनीन्द्र विश्वामित्रजी के यों पूछने पर रामचन्द्रजी धैर्य धारण कर उत्तम अर्थसे परिपूर्ण सुन्दर वचन बोले ॥१॥ रामजी ने कहा : भगवन् यद्यपि मैं अज्ञानी हूँ, तथापि इस समय आपके पूछने पर सब कुछ कहूँगा, क्योंकि सत्पुरुषों के वचनों का कौन उल्लंघन कर सकता है ? ॥२॥

यों अपनी विनीत वाणी से मुनि को अपने वश में करके रामचन्द्रजी अपने वृत्तान्त के अनुवाद के बहाने से धर्मानुष्ठानजनित चित्त की शुद्धि से विवेक और वैराग्य होने पर मुझमें विचार का उदय हुआ, ऐसा कहते हैं।

मैं यहाँ अपने पिताजी के घर में उत्पन्न हुआ, क्रम से बढ़ा और विद्या भी प्राप्त की। उसके बाद हे मुनिनायक, सत् आचरणों के अनुष्ठान में तत्पर होकर तीर्थयात्रा के लिए समुद्रपर्यन्त पृथ्वी के चारों ओर विचरा ॥३,४॥ इस बीच में इस संसार पर आस्था को हरनेवाला यह विचार मेरे मन में उत्पन्न हुआ, जिसे मैं आपके सामने उपस्थित करता हूँ ॥५॥ तीर्थयात्रा करने के अनन्तर मेरा मन उक्त विवेक से पूर्ण हो गया। उससे सब विषय परिणाम में नीरस हैं, ऐसी बुद्धि हुई और उस बुद्धि से मैंने विचार किया कि यह जो संसार का प्रवाह है, यह क्या सुख का हेतु हो सकता है ? अर्थात् इस विस्तृत संसार से कभी सुख नहीं मिल सकता, क्योंकि इसमें जो जीव उत्पन्न होते हैं, वे मरने के लिए ही उत्पन्न होते हैं और जो मरते हैं, वे जन्म के लिए ही मरते हैं, उनको कुछ भी सुख नहीं मिलता ॥६,७॥

(शास्त्रकारों ने भी 'मृतिबीजं भवेज्जन्म जन्म बीजं भवेन्मृतिः' यानी मरण में जन्म कारण है और जन्म में मरण कारण है, ऐसा कहा है।)

इस विषय में यदि शंका हो कि भले ही जन्म और मरण दुःखरूप हों, परन्तु उनके बीच में जीवनदशा में सुख मिलता ही है, तो इस पर कहते है।

चर और अचरों की चेष्टाओं से युक्त वैभवकाल में रहनेवाले ये जितने भोग के साधन पदार्थ हैं, ये सबके-सब अस्थिर याने क्षणिक हैं, ये आपत्तियों के ही स्वामी यानी मूल हैं और पाप के हेतु हैं पापस्वरूप हैं ॥८॥

(तात्पर्यार्थ यह है कि इस जगत् में दो प्रकार के प्राणी होते हैं एक चर यानी चलने फिरनेवाले और दूसरे अचर यानी जो चल-फिर नहीं सकते -वृक्षादि। उनमें चलने फिरनेवालों की भोग में प्रवृत्ति अपनी ही प्रवृत्ति और निवृत्ति से प्राप्त साधनों द्वारा होती है। और अचरों की भोग में प्रवृत्ति दैव (प्रारब्ध) से प्राप्त साधनों द्वारा होती है। इस भोगप्रवृत्तिरूप चेष्टा से युक्त होने पर भी स्त्रक् (पुष्पमाला), चन्दन, अन्न, पान आदि जितने विषय हैं, वे सब शाश्वत सुख नहीं दे सकते, क्योंकि वे खुद ही अस्थिर हैं, अर्थात् जिस समय उनकी प्राप्ति होगी, उस समय सुख देते हैं और जिस समय उनसे वियोग होता है, उस समय दुःख देते हैं, इसलिए उनसे एक प्रकार के सुख की आशा ही नहीं की जा सकती, अधिक क्या कहें, ये विषय आपत्तियों के स्वामी हैं अर्थात् राग-द्वेष आदि बड़ी-बड़ी आपत्तियाँ उन्हीं से प्राप्त

होती हैं और शास्त्रों में जो निषिद्ध विषय हैं, वे तो स्वयं पापरूप ही हैं, अतः इन अस्थिर विषयों से सुख की अभिलाषा करना सर्वथा मूर्खता ही है।)

लोहे की शलाकाओं के समान ये विषय परस्पर एक दूसरे से मिले जुले नहीं हैं, किन्तु केवल मन की कल्पना से उनका सम्बन्ध जबर्दस्ती माना जाता है अर्थात् यह मेरे उपभोग का साधन है, इससे मैं यह काम करूँगा, इस प्रकार की मन की कल्पना से उन विषयों का परस्पर क्रिया–कारणभाव से सम्बन्ध माना जाता है, इसलिए लोगों को सुखकारकरूप से उनका जो भान होता है, वह केवल अज्ञानमूलक मन से कल्पित ही है, इसलिए विषय दुःखरूप ही हैं, सुखरूप नहीं हैं ॥९॥

केवल विषयों का सम्बन्ध ही मन के द्वारा कल्पित नहीं है, किन्तु जीव के जन्म आदि भी मन के द्वारा ही कल्पित हैं, इसलिए दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् मन से कल्पित ही है, यह कहते हैं।

कृत्रिम वेष के समान दीखनेवाला यह सारा जगत् मन की कल्पनामात्र है और वह मन भी विवेकज्ञान होने पर शून्य–सा ही प्रतीत होता है, अतः मन से भी हम सुख की आशा नहीं कर सकते, फिर हम लोगों को इतने समय तक 'सुख होगा' इस प्रकार मोह में किसने डाल रक्खा है ?॥१०॥ जैसे मरीचिका को जल समझकर मुग्ध मृग वन में बड़ी दूर तक इधर–उधर भटकते रहते हैं, फिर भी कुछ नहीं मिलता, वैसे ही मूढ़बुद्धि हम लोग इस संसार में असत् पदार्थों को सुख के साधन समझकर इधर–उधर खूब भटकते रहते हैं, पर हाथ कुछ नहीं लगता। यद्यपि हम लोग किसी के द्वारा बेचे नहीं गये हैं, तथापि बेचे गये प्राणियों के समान परवश होकर बैठे हुए हैं, अत्यन्त खेद है कि माया को जानते हुए भी हम मूढ़ ही हैं, क्योंकि उसकी कुछ चिन्ता नहीं करते ॥११,१२॥ इस संसाररूप प्रपंच में ये जो अभागे भोग हैं, वे कौन चीज हैं कि हम लोग उनके व्यर्थ मोह से या भ्रान्ति से बद्ध होकर अवस्थित हैं ?॥१३॥ जैसे अरण्य में किसी गड्ढे में गिरे हुए मूढ़ मृग बहुत काल के बाद यह जानते हैं कि हम गड्ढे के अन्दर गिर गये हैं, वैसे ही हम लोगों ने बहुत काल के बाद यह जाना कि हम व्यर्थ मोह में गिरे हुए हैं ॥१४॥ मुझे राज्य से क्या ? इन भोगों से क्या ? मैं कौन हूँ और किसलिए आया हूँ ? जो मिथ्या है, वह मिथ्या ही रहे, क्योंकि उसके मिथ्या होने से किसका क्या बिगड़नेवाला है ? ॥१५॥ हे ब्रह्मन्, जैसे यत्रतत्र भ्रमण करनेवाले पथिक की मरुभूमि से आस्था हट जाती है, वैसे ही मेरे इन सब विचारों से सभी भोग–साधन पदार्थों से मेरा चित्त हट गया है। इसलिए भगवन्, आप यह बतलाइये कि यह दिखनेवाला जगत् सर्वात्मना नष्ट अर्थात् असत् इसलिए हो जाता है कि सत् और असत् का विरोध है ? यदि जगत् असत् है, तो वह फिर कभी सत् होता है ? उसकी क्या वृद्धि होती है ? क्या जरा, मरण, आपत्ति, जन्म और सम्पत्ति ये सब आविर्भाव और तिरोभाव से पुनः पुनः बढ़ते रहते हैं ? मुनिवर ! देखिये, हम लोग उन तुच्छ भोगों से ऐसे जर्जर हो गये हैं, जैसे कि पर्वत के ऊपर के वृक्ष आँधी से जर्जर हो जाते हैं। जो बुद्धिमान् लोग हैं, वे भी कुछ नहीं कर रहे हैं, इसलिए विवेकी और अविवेकी सभी प्राणी जैसे अचेतन बाँस की वेणु पवन के द्वारा शब्द करती है, वैसे प्राण नामक वायु से प्रेरित होकर व्यर्थ ही शब्द करते हैं, उनसे कुछ भी नहीं होता। जैसे पुराना वृक्ष अपने खोखले में रहनेवाली उग्र अग्नि से जल जाता है, वैसे ही हे मुनिश्रेष्ठ मेरा इस दुःख से छुटकारा कैसे होगा, ऐसी चिन्तारूप अग्नि से मैं सदा जलता रहता हूँ ॥१६–२१॥ संसार के विविध दुःखरूप पाषाण से मेरा अन्तःकरण जर्जर हो गया है, मैं अपने मित्रों और लोक से डरकर

अश्रुपूर्ण नेत्रों से नहीं रो रहा हूँ, क्योंकि यदि मैं रोना आरम्भ करूँ, तो वे भी रोने लगेंगे ॥२२॥ अश्रुरहित शुष्क रोदन से प्रीतिशून्य अतएव हर्षादिशून्य मेरे मुख के कृत्रिम स्मित, अभिलाप आदि वृत्तियों को एकान्त में मेरा अन्तःकरणस्थ विवेक ही देखता है ॥२३॥ जैसे कोई पूर्व अवस्था में अनेक प्रकार की सम्पत्तियों से सम्पन्न भाग्यवान् पुरुष दैव से आई हुई दरिद्रावस्था में अपनी पूर्वीय समृद्धि का स्मरण कर मुग्ध होता है। वैसे ही मैं भी प्रियतम विषयों की विनाशप्राय अवस्था का या सब प्रकार के दुःखों के उपशमरूप परमानन्द के अज्ञान की विकारभूत अवस्था का विचार कर इस सांसारिक चेष्टा से अत्यन्त मुग्ध हो रहा हूँ ॥२४॥ वंचना से भरपूर यह लक्ष्मी अन्तःकरण की वृत्तियों को मुग्ध करती है, गुणों को नष्ट करती है और अनेक तरह के दुःखों को देती है ॥२५॥ धनियों को चिन्तारूप धार से खण्डशः काटने के लिए प्रवृत्त चक्ररूपी ये विविध धन मुझे आनन्द नहीं देते और स्त्री, पुत्रादि परिवार से परिपूर्ण घर उग्र आपत्तियों के घरों के समान मुझे आनन्द नहीं दे रहे हैं ॥२६॥ जैसे भंगुर काष्ठ आदि से आच्छादित छोटे गर्त में गिरने के कारण प्राप्त क्षुधा, पिपासा आदि दोषों के और गिरना, बाँधा जाना आदि दुर्दशाओं के विचार से बन्धन में पड़े हुए हाथी को सुख नहीं होता, वैसे ही देह आदि पदार्थों के भंगुरत्वरूप हेतु से जनित अनेक प्रकार के दोषों और दुर्दशाओं का स्मरणकर मुझे सुख नहीं होता ॥२७॥ अज्ञानरूपी रात्रि में अविचाररूपी निविड़ कुहरे से लोगों की ज्ञानरूपी ज्योति के नष्ट होने पर दूसरों को दुःख देनेवाले बड़े चतुर सैकड़ों विषयरूपी चोर सदा चारों ओर विवेकरूपी मुख्य रत्न को चुराने के लिए जीजान से लगे हुए हैं। युद्ध में उन्हें विनष्ट करने के लिए विद्वानों को (तत्त्वज्ञानियों को) छोड़कर कौन से योद्धा समर्थ हो सकते हैं ? तत्त्वज्ञानी ही उनका विनाश करने में समर्थ हैं, दूसरे नहीं, क्योंकि तम (अज्ञान और अन्धकार) का विनाश हुए बिना उनका वध होना असंभव है, यह भाव है ॥२८॥

बारहवाँ सर्ग समाप्त

तेरहवाँ सर्ग

सब मूढ़ों को प्रिय और सदा भोगरूपी अनर्थ को देनेवाली लक्ष्मी की विविध दोषों द्वारा निन्दा।

इस प्रकार विषयों की असारता का प्रतिपादन कर विषय-सम्पादन में हेतुभूत श्री-धनसम्पत्ति-भी असार ही है, ऐसे प्रतिपादन करने के लिए इस सर्ग का आरम्भ करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिश्रेष्ठ, इस संसार में धनसम्पत्ति स्थिर और विविध सुखों की हेतु होने के कारण उत्कृष्ट है, ऐसा मूढ व्यक्तियों ने ही मान रक्खा है, वस्तुतः वह न स्थिर है, और न उत्कृष्ट ही है। वह नितान्त अनर्थ देनेवाली और मोह की हेतु है अर्थात वध, बन्धन, नरक आदि विविध क्लेश देती है, तनिक भी सुख नहीं देती अथवा प्राप्त होने पर मोह में डालती है, नष्ट होने पर क्लेश देती है या गर्हित धन ही देती है, विवेक नहीं देती ॥१॥ जैसे वर्षाकाल में नदी ऊपर को उछलने-कूदनेवाली बड़ी बड़ी अनेक मलिन तरंगों को धारण करती है, वैसे ही उक्त सम्पत्ति उत्साह से बढ़े हुए अनन्त मनोरथों से युक्त अतएव अत्यन्त आकुल अनेक मूढ लोगों को अपने वशमें कर अपनी ओर खींचती है। हे मुनिवर, चिन्ताएँ श्री की पुत्रियाँ हैं। जैसे नदीसे असंख्य तरंगे उत्पन्न होती हैं, फिर वे वायु की सहायता से बढ़ती हैं, वैसे ही श्री से असंख्य चिन्तारूप पुत्रियों की उत्पत्ति होती है, तदुपरान्त

विविध दुश्चेष्टाओं द्वारा उनकी वृद्धि होती है ॥२,३॥ जैसे अज्ञान से आग को पैर से कुचल कर जली हुई कोई अभागिन एक जगह चरण नहीं रख सकती, किन्तु हाथ–पैर पटकती हुई इधर–उधर घूमती है, उसकी चेष्टा एक सी नहीं रहती, वैसे ही श्री भी शास्त्रप्रतिपादित सदाचार से रहित पुरुष को प्राप्तकर इधर–उधर घूमती–फिरती है, कभी एक जगह स्थिर नहीं रहती ॥४॥ जैसे दिये की लौ छूने से दाह उत्पन्न करती है और काजल को धारण करती है, वैसे ही यह श्री भी जुआ, चोरी आदि से इसके कुछ हिस्से का क्षय होने पर श्रीमानों को सन्तप्त करती है और बीच में ही (अनवसर में ही) अपना या अपने उपभोक्ता का नाश कर डालती है ॥५॥ दुःख से उपार्जित भी यह मूढ़ श्री राजाओं की प्रकृति के समान गुण और अवगुणों के विचार के बिना ही जो कोई उसके समीप में रहता है, उसीका अवलम्बन कर लेती है अर्थात् जैसे प्रायः मूढ राजा लोग धार्मिक गुणवानों के साथ प्रीति नहीं करते, जिस किसी समीपस्थ के साथ प्रीति कर लेते हैं, वैसे ही दुःख से उपार्जित भी यह श्री गुणवान् धार्मिकों के ही उपभोग के लिए नहीं होती, किन्तु गुण और अवगुणों के विचार के बिना जिसको समीप में पाती है उसी से लिपट जाती है ॥६॥ जिन कर्मों का फल धन, राज्यलाभ आदि और लोभ, हिंसा, मिथ्याभाषण आदि दोषरूप सर्पविष के वेगोंके विस्तार के लिए होता है उन्ही युद्ध, जुआ, व्यापार आदि कर्मों से यह बढ़ती है; यज्ञ, दान आदि से नहीं, उनसे तो बढ़ने के बदले घटती है, क्योंकि उनमें इसका व्यय होता है ॥७॥ तभी तक लोग अपने और पराये लोगों पर दया, दक्षिण्य, स्नेह आदि करते हैं, जब तक कि जैसै वायु से बर्फ कड़ा हो जाता है, वैसे ही श्री द्वारा वे कठोर नहीं हो जाते। सम्पत्ति प्राप्त होते ही लोग अपने और पराये जनों पर दया और स्नेह का भाव छोड़कर कठोर बन जाते हैं, यह भाव है ॥८॥ जैसे धूलि की मुट्ठी मणियों को मलिन कर देती है, वैसे ही बड़े–बड़े विद्वान् शूरवीर, दूसरे के उपकार न भूलनेवाले, दक्ष और मृदुभाषी पुरुषों को भी धन–सम्पत्ति मलिन कर देती है ॥९॥ भगवन् सम्पत्ति की वृद्धि से दुःख ही होता है सुख नहीं होता अर्थात् जैसै विषलता केवल मृत्यु की ही कारण होती है, वैसे ही श्री भी सुख की कारण न होकर दुःख की ही कारण होती है। रक्षा करने पर भी वह मृत्यु के साधनों को जुटाती है। अर्थात् जैसे विषलता के समीप रक्षण, अवेक्षण आदि करने के लिए जानेपर भी मृत्यु लाभ की संभावना रहती है, वैसे ही सम्पत्ति की रक्षा करने पर भी अपने विनाश की पूरी सम्भावना है ॥१०॥

कोई–कोई श्रीमान् लोग भी बड़े धार्मिक और यशस्वी देखे जाते हैं ऐसी परिस्थिति में श्री की प्राप्ति होने तक ही गुणियों में गुण रहते हैं, यह कैसे कहा ? इस पर कहते हैं।

हे मुने, इस लोक में लोग जिसकी निन्दा नहीं करते ऐसा श्रीमान्, आत्मश्लाघा न करनेवाला शूरवीर पुरुष और सब पर समानभाव से दृष्टि रखनेवाला स्वामी ये तीन पुरुष दुर्लभ हैं, अर्थात् श्रीमान् की किसी न किसी तरह लोग अवश्य निन्दा करते है शूर अवश्य ही अपनी प्रशंसा करता है, निग्रह और अनुग्रह में समर्थ स्वामी सब पर समदृष्टि नहीं हो सकता ॥११॥ हे मुनिवर, अज्ञ लोगों ने जिस श्री को सुख की हेतु समझ रक्खा है, वह दुःखरूप सर्पो की दुर्गम और भीषण गुफा है एवं महामोहरूपी हाथियों का आवास रूप विन्ध्याचल का मैदान है अर्थात् यह श्री महादुःखदायिनी और महामोह से आवृत्त करनेवाली है ॥१२॥ सत्कर्मरूपी कमल के लिए रात्रि है। (जैसे रात्रि में कमल संकुचित हो जाते हैं, वैसे ही श्री प्राप्त होने पर सत्कर्मों का ह्रास हो जाता है), दुःख रूपी कुँई (कमलिनी) के लिए चन्द्रिका

(चाँदनी) अर्थात् जैसे चाँदनी में कमलिनी (नीलोत्पल) विकसित होती है, वैसे ही श्री के प्राप्त होने पर दुःखों का खूब विकास होता है और दयादृष्टिरूपी या परमार्थदृष्टिरूपी दीपक के लिए झकझोर वायु और बड़ी-बड़ी तरंगों से युक्त नदी हैं। (जैसे झंझावात और तरंगों से युक्त नदी के झोकों से दीपक बुझ जाता है, वैसे ही श्री की प्राप्ति होने पर दयादृष्टि या परमार्थदृष्टि बन्द हो जाती है।) ॥१३॥ यह भय और भ्रान्तिरूपी मेघ के लिए पुरोवात (पूर्वी हवा) है, (जैसै पूर्वी हवा मेघ की वृद्धि की हेतु है, वैसे ही श्री भी भय और भ्रान्ति की जननी है) विषादरूपी (खेदरूपी) विष को बढ़ानेवाली है, संशय और संक्षोभ आदि की क्षेत्र है और दुःखदायक भय को पैदा करने में सर्पिणी है या यह खेद के लिए भयरूपी भोग से (सर्पशरीर से) युक्त सर्पिणी है ॥१४॥ वैराग्यरूपी लताओं के लिए तुषार है, काम आदि चित्तविकाररूपी उल्लुओं के लिए अँधेरी रात है, विवेकरूपी चन्द्रमा के लिए राहू की दाढ़ है और सौजन्यरूपी कमल के लिए चाँदनी है अर्थात् जैसे तुषार से लताएँ सूख जाती हैं वैसे ही श्री प्राप्ति होने पर विवेक नष्ट हो जाता है एवं जैसे चाँदनी में कमल सिकुड़ जाते हैं खिलते नहीं वैसे ही सम्पत्ति प्राप्त होने पर सौजन्य का संकोच हो जाता है ॥१५॥ यह श्री इन्द्रधनुष के समान चंचल (अचिरस्थायी) रंगों से मनोहर एवं बिजली के समान चपल और उत्पन्न होते ही नष्ट होनेवाली है और प्रायः जड़ (मूर्ख) ही इसके आश्रय है ॥१६॥ यह चपलता में जंगली नेवलियों से भी बढ़-चढ़कर है, दुष्कुल में सत्पन्न हुई है, अच्छे कुल में सत्पन्न नहीं है। वंचना में उग्र मृगतृष्णिका को जीतनेवाली है अर्थात् यह वंचना में इतनी दक्ष है कि वंचकतम मृगतष्णा को भी इसके सामने हार खानी पड़ी है ॥१७॥ अतिचपल होने के कारण क्षण भर भी एक स्थान पर न रहनेवाली यह जलतरंग और दीपशिखा से (दिये की लौ से) भी बढ़कर भंगुर है और अनगिनत दुर्दशाओं की जननी है ॥१८॥ यह युद्ध के लिए उत्सुक मनुष्यरूपी गजेन्द्रों का विनाश करनेवाली सिंहनी के समान है। बड़ी शीतल तथा स्वयं तीक्ष्ण और तीक्ष्णहृदयवाले (क्रूर हृदयवाले) लोगों के पास रहनेवाली तलवार के समान है ॥१९॥ मृत्यु द्वारा हरे गये लोगों को चाहनेवाली, अनेक मानसिक व्यथाओं से व्याप्त (अनेक मानसिक व्यथाएँ जिसमें चोर के समान छिपी रहती है) अभव्य लक्ष्मी से दुःख को छोड़कर कुछ भी सुख मैं नहीं देखता ॥२०॥ जिस पुरुष की अलक्ष्मी द्वारा (सपत्नीरूप दरिद्रता द्वारा) स्वयं दूर निकाली गई चिरकाल तक सपत्नी द्वारा उपभुक्त उसी को फिर आदर से आलिंगन सा करती है, यह बड़े खेद की बात है, यह मानवती नहीं है, किन्तु निर्लज्ज है और इसकी दुष्टता कभी जाती नहीं ॥२१॥ यह लक्ष्मी मनोहर है, अतएव चित्तवृत्ति को अपनी ओर खींचती है, मरण, पतन आदि के कारण साहसिक कर्मों से प्राप्त होती है और बिजली के समान क्षण भर में नष्ट हो जाती है, अतः यह सर्पों से लिपटी हुई गड्ढे में उत्पन्न हुई पुष्पलता के समान है ॥२२॥

तेरहवाँ सर्ग समाप्त

चौदहवाँ सर्ग

काम आदि दोषों से दूषित तथा व्याधि, रोग और जरावस्था से पीड़ित मूर्ख के जीवन, यौवन और आयु की निन्दा ।

श्री के समान आयु भी सुखकर नहीं है, यह कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, जीव की आयु पत्ते के सिरे पर लटक रहे जलबिन्दु के (ओस के)

सदृश अस्थिर है, वह उन्मत्त के समान असमय में ही इस कुत्सित शरीर को छोड़कर चली जाती है, अर्थात् जैसे उन्मत्त पुरुष अपने अत्यन्त उपयोगी उपकरणों को, जब मन में आये, छोड़ कर चला जाता है, वैसे ही आयु भी शरीर को छोड़कर चली जाती है ॥१॥ जिन लोगों के चित्त विषयरूपी सर्पों के संसर्ग से सर्वथा जर्जर (शिथिल) है और जिनमें दृढ़ आत्मविवेक नहीं है, उनकी आयु वृथा और क्लेशकर ही है ॥२॥

क्या ब्रह्मवेत्ताओं की आयु भी व्यर्थ और क्लेशजनक है ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

जो लोग ज्ञातव्य वस्तु को (ब्रह्म को) जान चुके हैं, असीम ब्रह्म में विश्रान्त हैं और जिनके जीवन में लाभ, हानि और सुख–दुःख में चित्तवृत्ति समान रहती है, उन महापुरुषों की आयु ही सुखदायक है ॥३॥ हे महामुने, हम लोग देह आदि को ही 'यह आत्मा है', ऐसा निश्चय कर बैठे हैं, हमें संसाररूपी मेघ में स्थित बिजली के समान चंचल आयु में सुख प्राप्त नहीं हुआ। वायु का घेरा हो सकता है, आकाश के टुकड़े टुकड़े किये जा सकते हैं और लहरें एक दूसरे में माला की नाईं गूँथी जा सकती है पर आयु में विश्वास नहीं किया जा सकता। शरत् ऋतु के बादल के समान स्वल्प, तेल रहित दीपक और तरंग के समान चंचल आयु गई हुई ही देखी जाती है ॥४–६॥ तरंग को, जल आदि में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा को, बिजली को और आकाशकमल को हाथ से पकड़ने का मुझे विश्वास है, पर अस्थिर आयु में मेरा विश्वास नहीं है। तरंग, प्रतिबिम्बित चन्द्र आदि का ग्रहण असंभव है फिर भी उक्त असंभव बातें भले ही हो जायें, पर अस्थिर आयु में मेरा विश्वास नहीं होता यह भाव है ॥७॥ जैसे खच्चरी दुःख के लिए ही गर्भ धारण करती है, (क्योंकि उसका पेट फाड़कर ही गर्भ निकलता है, ऐसी बात प्रसिद्ध है) वैसे ही जिसके मन की तृष्णाओं का विनाश नहीं हुआ है, ऐसे मूर्ख पुरुष व्यर्थ आयु को दुःख के लिए ही विस्तृत चाहता है। व्यर्थ आयु को विस्तृत चाहना खच्चरी के गर्भधारण के समान दुःखहेतु ही है, यह भाव है ॥८॥ इस संसार से संभ्रमण में वल्लीरूप शरीर सृष्टिरूपी सागर में जल का विकार फेन रूप है, जैसे सागर में जल का विकार फेन अस्थिर है, वैसे ही इस सृष्टि में यह शरीर अत्यंत अस्थिर है, इसलिए इसमें मुझे जीवन अच्छा नहीं लगता ॥९॥ जिससे अवश्य प्राप्तव्य वस्तु की (परम पुरुषार्थ रूप मुक्ति की) प्राप्ति की जाती है, जिससे पीछे शोक प्राप्त नहीं होता और जो परम निर्वृत्ति (जीवन्मुक्ति) का स्थान है, वही उत्तम जीवन कहा जाता है ॥१०॥ वृक्ष भी जीते हैं और मृग–पक्षी भी जीते ही हैं, पर उसी पुरुष का जीना जीना है जिसका मन मनन के फलस्वरूप तत्त्वज्ञान से या वासना के क्षय से तुच्छ हो जाता है। जगत् में उनका ही उत्पन्न होना सफल है और वे ही प्रशंसनीय जीवन वाले हैं, जो फिर इस जगत् में जन्म नहीं लेते, शेष जीव तो चिरकाल तक जीने वाले गदहे के समान हैं अर्थात् गदहे के जीवन के समान उनका जीवन गर्हित है ॥११,१२॥ अपवित्र देह में आत्मबुद्धि करनेवाले अविवेकी के लिए शास्त्र भाररूप है अर्थात् भार के समान व्यर्थ श्रम का ही कारण है। विषयानुरागी पुरुष के लिए तत्त्वज्ञान भार है, अशान्त पुरुष के लिए मन भार है और अनात्मवान् के लिए शरीर भार है ॥१३॥ दुर्बुद्धि पुरुष के लिए आयु, मन, बुद्धि, अहंकार तथा चेष्टा ये सब भारवाहक के भार के समान दुःखदायक हैं। यह आयु श्रमनिवृत्तिसे रहित, पूर्णकामता से शून्य, आपत्तियों के घर और रोगरूपी पक्षियों का घोंसला है, इससे केवल सदा परिश्रम ही प्राप्त होता है ॥१४,१५॥ जैसे चूहा प्रतिदिन आलस्य का

त्यागकर लगातार धीरे-धीरे पुराने टीले को खोदकर नष्ट कर देता है। वैसे ही काल प्रतिदिन आलस्य का त्यागकर धीरे-धीरे आयु को क्षीण कर रहा है। जैसे बिल में आराम कर रहे, विष द्वारा सन्ताप देनेवाले भीषण सर्प वन की वायु का पान करतें हैं, वैसे ही शरीररूपी बिल में आरामसे बैठे हुए विष के समान दाह (सन्ताप) देनेवाले भीषण सर्पों के सदृश घोर रोग जीव की आयु का पान करते हैं॥१६,१७॥ सदा लकड़ी का बुरादा गिरा रहे वृक्ष के भीतर रहनेवाले छोटे-छोटे दुष्ट दीमकों द्वारा पुराना पेड़ काटा जाता है, वैसे ही सदा पीब-रक्त और मल बहा रहे शरीर में रहनेवाले तुच्छ और दुष्ट रोग आदि दुःखों द्वारा चारों ओर से आयु काटी जा रही है ॥१८॥ जैसे बिल्ली शीघ्र निगलने के लिए उत्कट अभिलाषापूर्वक चूहे को देखती है वैसे ही मृत्यु शीघ्र निगलने के लिए उत्कट अभिलाषापूर्वक सदा जीव की आयु की ताक में बैठी रहती है। जैसे बहुत भोजन करनेवाले पुरुष भक्षित अन्न को पचा डालता है, वैसे ही तुच्छ और गन्ध आदि गुण से युक्त वैश्यारूपी वृद्धावस्था जीव की शक्ति को क्षीण कर उसे जीर्ण कर देती है ॥१९,२०॥ जैसे कुछ ही दिनों में यह दुर्जन है, ऐसा जानकर सज्जन दुर्जन को अनादर पूर्वक छोड़ देता है, वैसे ही यौवनावस्था कुछ काल तक इस देह में वास कर थोड़े ही दिनों मे प्राणी को निरादर के साथ छोड़ देती है ॥२१॥ जैसे लम्पट लोग (महाविषयी पुरुष) सौन्दर्य के अभिलाषी होते हैं वैसे ही विनाश का मित्र और वृद्धावस्था तथा मृत्यु का सहायक काल भी पुरुष और पुरुषकी आयु का सदा ग्राहक रहता है ॥२२॥ हे मुनिवर, अधिक क्या कहें, जीवन्मुक्त पुरुषों द्वारा अनुभूत नित्य सुख और स्थिरता से सर्वदा के लिए त्यक्त, अति तुच्छ और गुणों से रहित संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जैसी कि मृत्यु की ग्रास यह आयु है ॥२३॥

चौदहवाँ सर्ग समाप्त

पन्द्रहवाँ सर्ग

सब अनर्थ और ममता के मूल स्तम्भ अहंकार की निन्दा।

इसी प्रकार अहंकार भी सुखकर नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण दोष अभिमान से ही होते हैं, ऐसा कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, अज्ञानरूप निमित्त कारण से व्यर्थ ही अहंकार की उत्पत्ति हुई है और व्यर्थ ही वह चारों तरफ से बढ़ता है, उससे किसी पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती। 'मिथ्यामयेन' से यह दर्शाते हैं कि उसका उपादान कारण भी अज्ञान ही है अर्थात् वह अज्ञानमय है या 'मिथ्यामयेन' ऐसे छेद करना चाहिए। दुष्ट अहंकार नामक शत्रु (काटनेवाले) रोग से मैं भयभीत हूँ ॥१॥ संसार एक आकारवाला नहीं है। उसके विविध प्रकार हैं। साध्य, साधन, फल, प्रवृत्ति-ये सभी संसार के आकार हैं। उक्त विविध आकारवाला संसार अनादिकाल से लेकर जन्म, मरण, नरक आदि अनन्त दुःखपरम्पराका अनुभव करके भी फिर फिर उक्त दुःख परम्परा के हेतु तुच्छ सुखों को अनेक कष्टों से चाहनेवाले इसीलिए दीनों से भी दीन विषयलम्पट लोगों को निरन्तर राग-द्वेष आदि दोषों में विक्षिप्त और कलंकित करता है। यह सब अहंकार का ही प्रसाद है, दूसरे का नहीं ॥२॥ अहंकार से ही विविध आपत्तियाँ- (शारीरिक कष्ट) होती हैं, अहंकार से ही अनेक भीषण मानसिक क्लेश होते हैं और अहंकार से ही विषयानुराग अथवा दुश्चेष्टाएँ होती है। मेरा रोग अहंकार ही है ॥३॥ मुनिवर, चिरकालिक परम

वैरी उक्त अहंकार का अवलम्बन करके न तो मैं भोजन करता हूँ और न जल पीता हूँ। विविध भोगों के भोग का तो कहना ही क्या है ? ॥४॥ जैसे बहेलिया वागुरा को (मृगों को बाँधने का फन्दा अर्थात् जाल को) बिछाकर मृगों को पकड़ता है, वैसे ही अहंकाररूपी दोष ने संसाररूपी अँधेरी रात्रि में फैलाकर मन को मोहित करनेवाली यह माया बिछा रखी है ॥५॥ जैसे पर्वत से खैर के वृक्षों की उत्पत्ति होती है, वैसे ही संसार में जितने चिरकाल स्थायी भीषण महादुःख हैं, उनकी उत्पत्ति अहंकार से ही हुई है ॥६॥ अहंकार शमरूपी चन्द्रमा को निगलने के लिए राहूका मुँह है, गुणरूपी कमलों का विनाश करने के लिए तुषाररूप वज्र है और सब भूतों में समदर्शितारूपी मेघ के लिए शरद्ऋतु है अर्थात् जैसे चन्द्रमा को राहू निगल जाता है जैसे कमलों को हिमवर्षा नष्ट कर देती है और शरद्–ऋतु मेघों का विध्वंस कर डालती है, वैसे ही अहंकार शम, दया, दाक्षिण्य आदि गुण और सब पर समदृष्टि को नष्ट कर देता है, इसलिए मैं इस अहंकार का त्याग करता हूँ ॥७॥

अहंकार का त्याग करने पर देहाभिमान, ममता आदि दोष स्वयं ही शान्त हो जाते हैं, ऐसा दर्शाते हैं ।

न मैं रामचन्द्र हूँ, न मुझे विषयों की अभिलाषा है और न मेरा मन ही है । मैं निर्वैर होकर बुद्ध के समान अपनी आत्मा में स्थित रहना चाहता हूँ। जैसे बुद्ध किसीको किसी प्रकार की पीड़ा नहीं पहुँचाते थे वैसे ही में भी किसी को किसी प्रकार की पीड़ा न पहुँचा कर आत्माराम होना चाहता हूँ ॥८॥

'निन्द्येष्यपि गुणो ग्रह्यः' इस न्याय से बुद्ध का उदाहरण दिया है या 'जितः' ऐसा पाठ समझना चाहिए ।

अहंकार के वशीभूत होकर मैंने जो कुछ खाया–पिया, यज्ञ–याग आदि किया तथा इसके अतिरिक्त और जो कुछ कर्म किया, वह सब तुच्छ (असार) है, अहंकार से रहित होना ही सार वस्तु है ॥९॥ ब्रह्मन्, यदि अहंकार रहता है, तो आपत्ति में मुझे दुःख होता है और अहंकार नहीं रहता, तो मैं सुखी रहता हूँ, इसलिए अहंकार रहित होना श्रेष्ठ है ॥१०॥

भोगसम्पत्ति से ही उद्वेगहीनता आदि क्यों नहीं होते इस शंका पर कहते हैं ।

मुनिवर, मैं अहंकार को त्याग कर शान्तचित्त होकर, उद्वेग को छोड़कर बैठा हूँ। भोग–समूह, भंगुर देह, इन्द्रिय, विषय आदि के अधीन हैं, इसलिए इनमें किसी एक के भी नष्ट होने पर उद्वेग की प्राप्ति दुर्वार होती है ॥११॥ ब्रह्मन्, जब तक अहंकाररूपी मेघ उमड़ता रहता है तब तक तृष्णारूपी कुटज के फूल खूब खिलते रहते हैं और अहंकार रूपी मेघ के शान्त होने पर तृष्णा बिजली की लकीर के तुल्य, बुझी हुई दीपशिखा (दीपक की लौ) की तरह, बड़ी शीघ्रता से कहीं विलीन हो जाती है। जैसे मेघ गड़गड़ाहट के साथ गर्जता है वैसे ही अहंकाररूपी विशाल विन्ध्याचल में मन रूपी मत्त गजेन्द्र युद्धोत्साह के साथ या निविड़ शिलाओं के टूटने की ध्वनि के साथ गर्जता है ॥१२–१४॥ इस देहरूपी महाअरण्यमें उन–उन हेतुओंसे वृद्धि को प्राप्त यह निविड़ अहंकाररूपी मत्त सिंह निरन्तर भ्रमण करता है, उसीने इस जगत् समुदाय को बनाया है उसी ने पुण्य–पापादिरूपी बीज की वृद्धि से इस जगत् के विस्तार को प्राप्त किया है ॥१५॥ जैसे लम्पट पुरुष मोतियों की माला गूंथ कर गले में पहने रहते हैं, वैसे ही अहंकार ने भी तृष्णारूपी तागे में जन्म परम्परारूप मोतियों की माला, गूँथ कर गले में धारण कर

रक्खी है ॥१६॥ महामुने, इस अहंकाररूपी परम शत्रु ने ही इस संसार में मन्त्र–तन्त्र से शून्य पुत्र, मित्र, कलत्र आदि वशीकरण, उन्मादन आदि के उपाय फैला रक्खे हैं ॥१७॥ प्रबल शत्रु अहंकार का मूलोच्छेदपूर्वक निरास करने पर ये सभी मानसिक कष्ट बड़ी जल्दी अपने आप विलीन हो जाते हैं, थोड़ी–थोड़ी करके हो या तीव्र वेग से हो, हृदयाकाश में स्थित अहंकार रूपी मेघ के शान्त होने पर शान्ति का विनाश करनेवाला महामोह रूपी कुहरा न मालुम कहाँ विलीन हो जाता है ॥१८,१९॥ हे ब्रह्मन्, मैं निरहंकार होकर भी मूर्खतावश शोक से दुःखी हो रहा हूँ इसलिए मेरी प्रार्थना है कि मेरे लिए जो विहित और हित हो, उसका मुझे उपदेश दीजिये ॥२०॥

इस प्रकार अहंकार, उससे होनेवाले अनर्थ और उसके उच्छेद के फल का वर्णन कर अहंकार के त्याग से उत्पन्न हुई अपनी श्रवणाधिकार–सम्पत्ति को कह रहे श्रीरामचन्द्रजी मुनि से उपदेश की प्रार्थना करते हैं।

हे महानुभाव, सम्पूर्ण आपत्तियों के घर, शान्ति आदि गुणों से रहित हृदयस्थ अहंकार को में आश्रय देना नहीं चाहता। मैं विवेककी दृढ़ता से अहंकार रूपी लांछन को चारों ओर से दुःख से पूर्ण समझता हूँ। महामुने, जो कुछ मेरे सम्पादन के योग्य अवशिष्ट रह गया है, उसके साथ मुझे आत्मतत्त्व का उपदेश दीजिए ॥२१॥

पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

सोलहवाँ सर्ग

श्रीरामचन्द्र द्वारा चित्त और मन के विविध दोषों का युक्तियों और दृष्टान्तों से विस्तारपूर्वक वर्णन।

अहंकार के समान चित्त और मन भी सुखहेतु नहीं हैं, किन्तु दुःख हेतु ही हैं, ऐसा कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : 'हे मुनिवर, महापुरुषों की सेवा मुक्ति का द्वार है' ऐसा वचन है, इसलिए सज्जनों (मुमुक्षुओं) द्वारा अवश्य करणीय महात्माओं की सेवा के बिना काम आदि दोषों से चित्त शिथिलता को (चंचलता को अर्थात् पुरुषार्थ साधन में अपटुता को) प्राप्त होता है। चंचल चित्त वायुप्रवाह में पतित मयूर की पूँछ के अग्रभाग की नाईं स्थिर नहीं रहता, इधर–उधर घूमता रहता है। मन भी प्राणवायु के अधीन और चंचल है, ऐसा आगे कहेंगे ॥१॥

उपर्युक्त कथन को ही दृष्टान्त द्वारा स्फुट करते हैं।

अत्यन्त व्याकुल चित्त युक्त और अयुक्त विचार के बिना इधर–उधर दूर से भी दूर प्रदेश तक, ग्राम में कुत्ते की नाईं, घूमता है कहीं पर भी अपनी पूर्ति के उपाय को न पाकर दीन–हीन बना रहता है अर्थात् जैसे कुत्ते अपने उदर की पूर्ति के लिए व्यग्रचित्त होकर ग्राम में दूर से भी दूरतर प्रदेश में घूमते हैं, वैसे ही दोषों से तुष्ट चित्तवाले व्यक्ति भी वृथा ही इधर–उधर घूमते हैं, अभीष्ट वस्तु न पाकर दीन–हीन बने रहते हैं ॥२॥ पहले तो उसे कहीं पर कुछ मिलता ही नहीं। कदाचित् दैवयोग से प्रचूर धन प्राप्त होने पर भी न पाये हुए के समान वह अतृप्त ही रहता है जैसे करण्डक (बांस या बेंत से बना हुआ पात्र) जल से नहीं भरता, वैसे ही अन्तःकरण भी पूर्ण नहीं होता अर्थात् जैसे बांस की शलाका और बेंत की सींकों से बनी हुई टोकरी आदि पात्र जल से भरने पर भी पूर्ण नहीं होता, छिद्रों से जल के निकल जाने

से उसमें कुछ भी जल नहीं रहता, वैसे ही व्यग्रचित्तवाले अशान्त लोगों का अन्तःकरण भी पूर्ण नहीं होता ॥३॥ जैसे अपने सजातीयों के झुण्ड से बिछुड़ा हुआ एवं बन्धन में पड़ा हुआ मृग सुख को प्राप्त नहीं होता, वैसे ही सब प्रकार से शून्य (मिथ्या) नित्य दुराशारूप रज्जु से वेष्टित मन कभी सुख को प्राप्त नहीं होता ॥४॥ हे मुने, तरंगों के समान चंचल वृत्ति को धारण कर रहा मेरा मन स्थूल और सूक्ष्म अवयवों के छेद के सिवा एक क्षण के लिए भी अपने स्थान पर स्थिरता को प्राप्त नहीं होता। विषयों के अनुसन्धान से विविध क्षोभ को प्राप्त हुआ मेरा मन मथनकाल में मन्दराचल के आघात से उच्चलित क्षीरसागर के जल के समान दसों दिशाओं में दौड़ता है, किन्तु सुख कहीं पर भी नहीं पाता ॥५,६॥ भोगों की प्राप्ति के हेतुभूत उत्साहरूप कल्लोलों से जिसने डूबने लायक आवर्त बना रक्खे हैं, मायारूप (परवंचनारूप) मगरों से परिवेष्टित मनरूप महासमुद्र को अपने वश में करने के लिए मैं असमर्थ हूँ ॥७॥ ब्रह्मन्, मनरूपी हरिण नरक की परवाह न कर भोगरूपी दूब के तिनकों की अभिलाषा से युक्त होकर तीव्र वेग से बहुत दूर तक दौड़ता है, अर्थात् जैसे मृग गर्त में गिरने की चिन्ता न कर दूबके तिनकों के लोभ से वेग के साथ बहुत दूर तक दौड़ते हैं, वैसे ही मेरा मन नरकपतन का भय छोड़कर भोगलाभ की आशा से बहुत दूर तक दौड़ता है ॥८॥ जैसे समुद्र अपनी चंचलता का त्याग नहीं करता, वैसे ही चिन्तासक्त और चंचलस्वभाव मेरा मन भी स्थूल और सूक्ष्म अवयवों के विनाश का त्याग नहीं करता ॥९॥ जैसे पिंजड़े में बँधा हुआ सिंह विविध चिन्ताओं से पूर्ण होकर चंचल चित्तवृत्ति से एक जगह स्थिर नहीं रह सकता, वैसे ही विविध चिन्ताओं से अतिचपल और चंचल वृत्ति से युक्त मेरा मन भी एक जगह धैर्य को नहीं प्राप्त हो रहा है ॥१०॥

चित्त स्वतः ही चपलस्वभाव है, विविध चिन्ताओं द्वारा और भी विचलित किया जाता है, इसलिए हठपूर्वक उसका विरोध करने पर भी वह धैर्य को प्राप्त नहीं होता, यह भाव है।

जैसे हंस जल से दूध को निकाल लेता है, वैसे ही मेरा मोह रूपी रथ पर सवार मन भी इस शरीर से उद्वेगरहित समतारूप सुख को हर लेता है। अर्थात् उत्कर्ष और अपकर्ष औपाधिक हैं (उपाधिकल्पित हैं) अतएव परमार्थरूप से सब प्राणियों में आत्मा एकरूप से (📖) विद्यमान है। जीवन्मुक्तों द्वारा उक्त प्रकार से अनुभूत आत्मा की एकरूपता ही समतासुख कही जाती है। मन के मोहाक्रान्त होने पर इस शरीर में पहले से प्राप्त भी उस समतासुख को मन ग्रस लेता है। और असार (तुच्छ) देहमात्र में आत्मभाव बच जाता है, यह भाव है ॥११॥

हे मुनिनायक, चित्त की आत्माभिमुखी वृत्तियाँ (स्वभाव) विविध द्वैत विषयों में आसक्तिकल्पनारूप शय्या पर सोई हुई हैं, वे बोध देनेवाले शास्त्र और आचार्य के उपदेश के बिना केवल अपनी बुद्धि से किये गये हजार बार के विचार से भी नहीं जागती। उन वृत्तियों के न जागने से व्याकुल हुआ मैं सन्तप्त हूँ ॥१२॥ जिसमें 'यह मैं हूँ' और 'यह मेरा है' इस प्रकार अन्योन्यतादात्म्याध्यास और अन्योन्य–

📖 एकात्मविज्ञान ही अभय पद और समतासुख है। साम्यसुख ही नित्य और निरतिशय है। उससे अतिरिक्त जो कुछ है वह सभी असार और दुःखप्रद है। देहात्मविज्ञान सबसे बढ़कर असार है। इस शरीर में सार और असार दोनों विद्यमान हैं, परन्तु मोहग्रस्त मन असार का ही ग्रहण करता है, सार का ग्रहण नहीं करता।

संसर्गाध्यासरूप दृढ़ ग्रन्थियाँ पड़ी हैं, ऐसे भोगस्पृहारूपी जाल में स्थित मैं अपने-आप चित्त द्वारा बाँधा गया हूँ, जैसे कि अनाज के दानों के लोभ से पक्षी बहेलिए द्वारा जाल से बाँधा जाता है ॥१३॥ मुने, जैसे दुःसह धूम और ज्वाला से युक्त अग्नि सूखे तृण को जला डालती है, वैसे ही विस्तारित कोपरूपी धूम से युक्त चिन्तारूपी ज्वाला से व्याप्त चित्त से मैं जलाया गया हूँ ॥१४॥ जैसे क्रूर और तृष्णा के समान सदा भूखी कुत्ती के पीछे चलनेवाला कुत्ता शव को खा जाता है, वैसे ही निष्ठुर और तृष्णारूपी भार्या के पीछे-पीछे चलनेवाला चित्त अज्ञता को प्राप्त हुए मुझको खा गया है ॥१५॥

मुनिवर, जैसे तरंगों से चंचलवृत्तिवाला जल का वेग तट के वृक्ष को उखाड़ कर फेंक देता है, वैसे ही तरंग के समान चंचल वृत्तिवाले जड़ चित्तने मेरी भी दशा कर रखी है। धर्मकर्मों से स्वर्ग के प्राप्त होने पर अनवसर में ही स्वर्ग से गिरने के लिए अथवा स्वर्गप्राप्ति के हेतु धर्मकर्म के न होने पर सुखलेश से शून्य इसी लोक में कीट, पतंग आदि योनियोंमें भ्रमण करने के लिए चित्तने मेरी वह दशा कर रक्खी है, जैसे कि आँधी तृण की दशा करती है। आँधी भी आकाश में उड़ रहे तृण को भूमि पर पटक देती है और भूमि पर स्थित तृण को इधर-उधर उड़ा देती है ॥१६,१७॥ इस संसाररूपी सागर से पार होने के लिए नित्य उद्योग कर रहे मुझ को यह कुत्सित चित्त इस भाँति रोकता है, जैसे कि जल के प्रवाह को बाँध रोकता है ॥१८॥ पृथिवी से (उर्ध्व प्रदेश से) पाताल को (अधः प्रदेश को) और पाताल से (अधः प्रदेश से) पृथिवी को (उर्ध्व प्रदेश को) जा रही रस्सी से लपेटे हुए घटीयन्त्र (रस्सी से जल आदि भार को खींचने के लिए एक ओर जिसमें रस्सी बँधी रहती है, दूसरी ओर पत्थर आदि भारी वस्तु बँधी रहती है, जिसे अरहट कहते हैं, कुएँ से जल निकालने का यन्त्र) के समान मैं इस कुत्सित चित्तरूप रस्सी से वेष्टित होकर कभी ऊपर जाता हूँ कभी नीचे गिरता हूँ ॥१९॥ जैसे बालकों को डराने के लिए कल्पित वेताल (विकरालस्वरूप) बालक को सत्य प्रतीत होता है, किन्तु बाल्यावस्था के बीतनेपर उसके लिए वह असत्य हो जाता है, वैसे ही अज्ञान से मुझे दुर्जय प्रतीत होनेवाला और विचार करने पर असत्यस्वरूप मन से मैं गृहीत हूँ जैसे कि बालक वेताल से गृहीत होता है ॥२०॥ ब्रह्मन्, मन अग्नि से भी अधिक उष्ण, पर्वत से भी दुरारोह, वज्र से भी बढ़कर कठोर है, इसलिए मनरूपी ग्रह दुःख से भी गृहीत (वश में) नहीं हो सकता ॥२१॥ जैसे मांसभक्षी चील, कौए आदि पक्षी मांस को देखते ही उसे खाने के लिए दौड़ पड़ते हैं हित और अहित का विचार नहीं करते, वैसे ही मन भी इन्द्रिय द्वारा देखे गये विषयों में टूट पड़ता है हित और अहित का विचार नहीं करता और क्षणभर में उससे विरत हो जाता है। जैसे बालक खिलौने को देखते ही उस पर टूट पड़ता है और थोड़ी देर के बाद उसे छोड़कर दूसरा खेल खेलने लगता है ॥२२॥ हे तात, जैसे समुद्र जड़स्वभाव (जलरूप), चंचल, बड़े बड़े आवर्तों से (भौंरियों से) भरा और अनेक सर्प आदि हिंस्र जन्तुओं से पूर्ण है वैसे ही यह मन भी जड़, चंचल, विस्तीर्ण आवर्तरूपी वृत्तियों से युक्त और काम आदि छः शत्रुरूपी साँपों से व्याप्त है। जैसे समुद्र हाथी को दूर फेंक देता है वैसे ही मन भी मुझे दूर फेंक रहा है ॥२३॥ हे साधो, समुद्र को पीने, सुमेरू पर्वत को लाँघने और अग्निभक्षण से भी चित्त को अपने वश में करना कठिन है अर्थात् समुद्रपान आदि महान कार्य हैं, पर उनके होने की सम्भावना हो सकती है, परन्तु मनका निग्रह करना उससे भी कठिन है ॥२४॥ सम्पूर्ण पदार्थों का कारण चित्त ही है उसके अस्तित्व में तीनों लोकों का अस्तित्व है, उसके क्षीण होने पर तीनों

लोक नष्ट हो जाते हैं। हे मुने, इसलिए प्रयत्नपूर्वक मन की चिकित्सा करनी चाहिए अर्थात् रोग की तरह चित्त का अवश्य परित्याग करना चाहिए। हे मुनिवर, जैसे विन्ध्याचल आदि श्रेष्ठ पर्वत से अनेक वनों की उत्पत्ति होती है, वैसे ही मन से ही ये सैकड़ों सुख–दुःख उत्पन्न हुए हैं। ज्ञान से चित्त के क्षीण होने पर वे अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं, ऐसा मेरा निश्चय है ॥२५,२६॥ मुमुक्षु पुरुषों ने जिस चित्त के जीतने पर शम, दम आदि गुणों के स्वाधीन होने की, काम, कर्म और वासनारूप कलाओं से युक्त सत्त्व, रज और तम–इन तीन गुणों से सम्पन्न अविद्या के नाश की और निरतिशयानन्दरूप ब्रह्म की प्राप्ति की आशा की थी, उस शत्रुरूप चित्त को जीतने के लिए मैं तत्पर हुआ हूँ, अतएव वैराग्यसम्पत्ति से युक्त होने के कारण मैं जैसे चन्द्रमा मेघपंक्ति का अभिनन्दन नहीं करता वैसे ही जड़–मलिन–विलासवाली लक्ष्मीका अभिनन्दन नहीं करता हूँ ॥२७॥

सोलहवाँ सर्ग समाप्त

सत्रहवाँ सर्ग

दीनता, कृपणता और मृत्यु देनेवाली, सम्पूर्ण जगत् को मोह में डालनेवाली तथा अनेकविध पापों की जननी तृष्णा की निन्दा।

रामचन्द्रजी ने कहा : परमप्रेमास्पद आत्मतत्त्व का तिरोधान होने के कारण अंधकारपूर्ण रात्रिरूपी दुरन्त तृष्णा से इस चेतनात्मक गगन में जीव में अनेक तरह की राग आदि दोष स्वरूप उल्लूओं की पंक्तियाँ स्फुरने लगती हैं ॥१॥ जैसे ताप पहुँचानेवाली सूर्य की किरणें कीचड़ के रस और मृदुता का अपहरण करके कीचड़ को सूखा देती हैं, वैसे ही अन्तःकरण को सन्तप्त करनेवाली चिन्ताने मेरे रस और मृदुता का हरण कर या मुझे विनय और दाक्षिण्य से शून्य कर सूखा दिया है अर्थात् उक्त चिन्ताने मेरे विनयादि को नष्ट कर मुझे नीरस और कठोर बना दिया है ॥२॥ व्यामोहरूप अन्धकार से व्याप्त विचारशून्य मेरे चित्तरूपी बड़े जंगल में ताण्डव–नृत्य करनेवाली आशारूपी पिशाचिकाका जोर–शोर से उदय हुआ है ॥३॥ तत्–तत् आर्त वचनों द्वारा रचित अश्रुरूप नीहार (ओस) कणों से युक्त और समीपस्थ सुवर्ण आदि की अभिलाषा द्वारा पाण्डुता का सम्पादन करने से उज्जवल चिन्तारूप चने की मंजरी अर्थात् तृष्णा पूर्णरूप से विकसित हो रही है। तात्पर्य यह है कि नीहार से ही (तुषार से ही) चने के पौधे बढ़ते हैं, ऐसी प्रसिद्धि है, इसलिए जैसे रात्रिरचित नीहार के कणों से युक्त चने के पौधे की मंजरियाँ समीपस्थ धतूरे के बन से उज्जवल (शोभित) होकर विकसित होती हैं, वैसे ही अनेक तरह के दुःख–विलापों से जनित अश्रुबिन्दुओं से युक्त और समीपस्थ सुवर्ण आदि की अभिलाषा द्वारा उज्जवल मेरी तृष्णा मानों विकसित हो रही है ॥४॥ जैसे मध्य भाग को चंचल करनेवाली तरंग समुद्र में केवल भ्रमण करने के लिए ही विषम ऊर्ध्व नाट्य को प्राप्त होती है, वैसे ही चित्त को क्षुब्ध करनेवाली तृष्णा ने केवल अंतःकरण में निविड़ भ्रम पैदा करने के लिए ही अनेक कष्टों से पूर्ण धनोपार्जन के लिए उत्साह प्राप्त कराया है ॥५॥ बढ़े हुए अधिक्षेप, अनूप भाषण आदिरूप प्रचण्ड कल्लोल शब्दों से युक्त अतएव उक्त तरंगों से तरल आकारवाली और एक विषय से दूसरे विषय की ओर जानेवाली तृष्णारूपी नदी मेरे शरीररूपी पर्वत में बह रही है ॥६॥ यद्यपि मैं अपनी चपलता को रोकने के लिए धर्ममेघा

समाधि आदि में तत्पर हूँ, तथापि जैसे आँधी जीर्ण तृण को कहीं अन्यत्र ले जाती है, वैसे ही कलुषित तृष्णा ने मेरे चित्तरूपी चातक को कहीं अन्यत्र–अयोग्य विषय – में ही प्राप्त करा दिया है ॥७॥ मैं विवेक, वैराग्य आदि गुणों से युक्त पदार्थों के विषय में जिस जिस आस्था का (उत्साह का) आश्रय करता हूँ, उस उस आस्था को मेरी तृष्णा इस तरह काट देती है, जिस तरह चूहा वीणा के चर्मसूत्र को काट देता हैं। जैसे जल के आवर्त में (भौंरी में) पुराना पत्ता, वायु में लघु तृण और आकाश में शरत्कालीन मेघ यत्र–तत्र घूमते रहते हैं, वैसे ही मैं चिन्तारूपी चक्र में घूम रहा हूँ। जैसे जाल में फँसे हुए पक्षी अपने घोंसले में जाने के लिए असमर्थ होने से जाल में ही पड़े रहते हैं, वैसे ही अपने पारमार्थिक स्वरूप को प्राप्त करने में असमर्थ हुए हम लोग चिन्तारूपी जाल में मुग्ध हो रहे हैं ॥८–१०॥ हे मुनिवर, तृष्णारूपी ज्वाला से मैं इस प्रकार दग्ध हो गया हूँ कि मुझे अमृत से भी अपने दाह की शान्ति की सम्भावना नहीं है। तृष्णारूपी उन्मत्त घोड़ी यहाँ से अतिदूर जाकर और फिर फिर वापस आकर बड़ी शीघ्रता से चारों ओर घूम रही है ॥११,१२॥ धर्म और अधर्म के अनुसार नित्य स्वर्ग और नरक में गमन और आगमन करानेवाली, भोक्ता और भोग्य के तादात्म्याध्यास एवं संसर्गाध्यास से युक्त, जड़ पदार्थों से सम्बद्ध एवं विक्षुब्ध तृष्णा घटीयन्त्र के ऊपर लगी हुई रज्जु के समान है। उक्त रज्जु भी सदा ऊपर नीचे आती जाती रहती है, जल से सम्बन्ध रखती है, गाँठवाली है एवं चंचल रहती है। देह के भीतर मन में गूँथी गई तथा किसी प्रकार किसीसे विच्छिन्न न की जानेवाली इस तृष्णारूपी रज्जु से बैल के समान ये मनुष्य अत्यन्त शीघ्रता से ऐहिक और आमुष्मिक (परलोक के) फल के हजारों साधनरूपी भार को वहन करते हैं ॥१३,१४॥ जैसे बहेलिये की स्त्री पक्षियों को फँसाने के लिए जाल बनाती है वैसे ही सदा आकर्षण–स्वभाववाली तृष्णारूपी किराती ने लोगों को फँसाने के लिए यह पुत्र, मित्र, कलत्र आदिरूप जाल बनाया है ॥१५॥ यद्यपि मैं धीर हूँ, तथापि भयंकर काली रात्रि की नाईं तृष्णा मुझे डरा रही है, विवेकरूपी चक्षु से सम्पन्न हूँ फिर भी अन्धा बना रही है और आनन्दस्वभाव हूँ तो भी दुःख दे रही है। हजारों कुटिलताओं से पूर्ण, अंशतः सुख देनेवाले विषयों के लाभ से युक्त और परिणाम में वैर बन्धन आदिरूप विषय देनेवाली यह तृष्णा तनिक स्पर्श होने पर ही काली नागिन की नाईं डँस लेती है अर्थात् मोह में डाल देती है ॥१६,१७॥ पुरुषों के हृदय को भेदन करनेवाली, बन्धन, रोग आदि की या सारे प्रपंच की उत्पादक, दुर्भाग्य देनेवाली और दीनता से पूर्ण यह तृष्णा काली राक्षसी के सदृश है ॥१८॥ हे ब्रह्मन्, अनेक तन्त्रियों (तारों) और नाड़ियों से वेष्टित शरीर को धारण करनेवाली तृष्णा निरतिशय परमानन्द के लिए उपयुक्त नहीं है, अतः यह जीर्ण तुम्बीसे युक्त वीणा है। तात्पर्य यह है कि जैसे आलस्यवश अन्य तुम्बीका सम्पादन न करने के कारण विच्छिन्न तन्त्रियों से सम्पन्न वीणा उत्सव आदि मांगलिक कार्यों के लिए उपयुक्त नहीं होती, वैसे ही यह तृष्णा भी परमानन्द के लिए उपयुक्त नहीं है ॥१९॥ नित्य अतिमलिन, परिणाम में दुःखप्रद उन्माद को देनेवाली, दीर्घ तन्त्रियों से युक्त तथा विषयों में घनीभूत स्नेह करनेवाली तृष्णा पर्वत की गुफा में उत्पन्न लतारूप ही है अर्थात् पर्वत गुफा में एक प्रकार की लता होती है, वह सूर्य के किरणों के न मिलने से अत्यन्त मलिन रहती है, उसका सेवन करने से परिणाम में उन्माद आदि दुःखप्रद व्याधियाँ होती है और वह अत्यन्त विस्तृत होती है। इसीलिए तृष्णा और उसकी समानता है। जैसे आम्र आदि उन्नत वृक्षों की शाखापर स्थित, सूख जाने के कारण अनेक

कण्टकों से आकीर्ण, पुष्पशून्य और फलरहित क्षीण मंजरी आनन्दप्रद नहीं होती, वैसे ही यह तृष्णा न आनन्दप्रद है, न सुखप्रद है और न फलप्रद है, किन्तु व्यर्थ–विस्तृत है, अमंगलकारिणी है और क्रूर है ॥२०,२१॥ चित्त को अपने वश में करने में असमर्थ वृद्ध वेश्या के समान तृष्णा प्रत्येक पुरुष के पीछे दौड़ती है, पर उसे फल कुछ नहीं मिलता ॥२२॥ अनेक प्रकार के शोक, मोह आदि रसों से परिपूर्ण इस महान् संसारसमूह में भुवनरूपी विस्तृत नाट्यशाला में तृष्णा वृद्ध नर्तकी है अर्थात् करुण, हास्य और बीभत्स आदि रसों से युक्त नृत्यशाला में स्थित वृद्ध वेश्या के समान तृष्णा है ॥२३॥ संसाररूप विशाल जंगल में जरा, मरण आदि विकसित कुसुमों से युक्त एवं विनिपात और उत्पात आदि फलों की जननी तृष्णा विस्तृत विष लता है ॥२४॥ तृष्णा जीर्ण नर्तकी के समान जिस कार्य के साधन में अशक्त है, (नर्तकी के पक्ष में) जहाँ जाने में असमर्थ है, वहाँ भी ताण्डवगति धारण करती है और उत्साह न होने के, निर्बल होने के कारण आनन्दरहित नृत्य करती है ॥२५॥ चिन्तारूपी चपल मयूरी निहार में निहारसदृश मोहावरण में–नृत्य करती है, आलोक के आनेपर–विवेकरूप प्रकाश होने पर–शान्त हो जाती है, और असाध्य वस्तुओं में अपना कदम रखती है। मयूरी भी वर्षा में नृत्य करती हैं, शरत् में शान्त हो जाती है और दुर्गम स्थानों में गमन करती है। जैसे अन्यकाल में बहुत दिनों तक शून्य रहनेवाली और वर्षा में भी बीच–बीच में शून्य रहनेवाली नदी वर्षाकाल में जलकल्लोलों से प्रचुर होकर क्षण में ही उल्लास को प्राप्त होती है, वैसे ही चिरकाल तक शून्य, फल पानेपर भी मध्य–मध्य में शून्य यह तृष्णा जड़ पदार्थों में अनेक प्रकार के कल्लोलों से–आनन्दों से – पूर्ण होकर क्षण में ही उल्लसित हो जाती है ॥२६,२७॥ जैसे क्षुधा और तृषा से व्याकुल चिड़िया फलशून्य वृक्ष को छोड़कर फलवाले अन्य वृक्षपर चली जाती है, वैसे ही यह तृष्णा एक पुरुष को छोड़कर अन्य पुरुष के पास चली जाती है ॥२८॥ चंचल बन्दरीरूपी तृष्णा दुष्प्राप्य स्थान में भी अपना कदम रखती है, तृप्त होने पर भी फल की आशा करती है, एक स्थान पर अधिक कालतक नहीं ठहरती, अतः वह चपल बन्दरी है ॥२९॥ जैसे प्राणियों के कर्मों के अनुसार विधाता सदा चेष्टा करते हैं, वैसे ही यह तृष्णा भी शुभ कर्म का आरम्भ करके उसकी समाप्ति न करके अशुभ, अनुचित, असमंजस या प्रक्रमविरुद्ध सभी कार्यों का अनुसरण करती है, उपरत नहीं होती, किन्तु शुभाशुभ के लिए सर्वदा चेष्टा करती रहती है ॥३०॥ क्षण में पाताल में जाती है, क्षण में आकाश की ओर उड़ती है, क्षण में दिशारूप निकुंजों में घूमती है, इसलिए यह तृष्णा हृदयरूपी कमल में रहनेवाली भँवरी है ॥३१॥ संसार में जितने दोष हैं उनमें एक तृष्णा ही दीर्घ काल तक दुःख देनेवाला दोष है, जो अन्तःपुर में रहनेवाले को भी भीषण संकट में डाल देती है ॥३२॥ परम–आत्मतत्त्वप्रकाश के साथ विरोध करनेवाली मोहरूप निहार से निविड़ मेघमालारूपी तृष्णा केवल जड़ता ही प्रदान करती है। मेघमाला भी सूर्यप्रकाश की विरोधिनी है, निहार से पूर्ण होती है और शैत्यरूप (शीतलतारूपी) जड़ता की दात्री है। अतः तृष्णा और मेघमालिका का साम्य उचित ही है ॥३३॥ जैसे अनेक पशुओं के बाँधने के लिए गले में लगी हुई रस्सियों से ग्रथित मालासदृश तिरछी विस्तृत रज्जु होती है वैसे ही सांसारिक व्यवहार में फँसे हुए प्राणियों के समूहों में मनों को चारों ओर से बाँधने के लिए यह तृष्णारूप रज्जु है ॥३४॥ जैसे इन्द्रधनुष विस्मयोत्पादक अनेक प्रकार के रूपों से युक्त, विगुण–ज्या से रहित, लम्बा–चौड़ा, मेघाश्रित, शून्यात्मक आकाश में स्थित और स्वतः शून्य–

अवस्तु है, वैसे ही यह तृष्णा भी विचित्र विषयों से अनुरंजित, असत् गुणों से युक्त, दीर्घ, मलिन पुरुष में आश्रित और शून्यात्मक मन में स्थित है ॥३५॥ तृष्णा गुणरूपी धान्यों के लिए वज्र है, फलरूप आपत्तियों के लिए शरद्ऋतु है, संवित्रूप–तत्त्वज्ञानरूप–कमलों के लिए हिम है–विघातिका है एवं अज्ञान के लिए दीर्घ हेमन्त की रात्रि है ॥३६॥ तृष्णा संसाररूप नाटक में नटी है, प्रवृत्तिरूप घोंसले में रहनेवाली चिड़िया है, मनोरथरूप अरण्यों में रहनेवाली हरिणी है और स्मरको–कामदेव को बढ़ाने के लिए संगीतवीणा है ॥३७॥ तृष्णा व्यवहाररूपी समुद्र की लहरी है, मोहरूप मत्त हाथियों की श्रृंखला है, सृष्टिरूप वटवृक्ष की सुन्दर लता है, दुःखरूप कमलीनियों की चन्द्रिका है, जरा, मरणरूप दुःखों की एक रत्नपेटिका है और सदा आधि,व्याधिरूप विलासों की मदमत्त विलासिनी है। तृष्णा को आकाशरूपी मार्ग की उपमा दी जा सकती है, क्योंकि जैसे आकाश कभी सूर्यप्रकाश से निर्मल हो जाता है, कभी मेघाच्छन्न होने पर कुछ–कुछ अँधियारी छा जाती है और कभी कुहरे से आवृत्त हो जाता है, वैसे ही तृष्णा भी कभी तनिक विवेकरूपी प्रकाश से निर्मल हो जाती है, विवेक न होने पर अज्ञान से मलिन और कभी कुहरे के तुल्य व्यामोह से व्याप्त हो जाती है ॥३८–४०॥

यों तृष्णा का वर्णन कर अब तृष्णा की शान्ति का फल कहते हैं।

जैसे गाढ़ अन्धकार से अँधेरी कृष्णपक्ष की रात्रि निशाचरों (राक्षसों) के प्रचार के अभाव के लिए विनष्ट हो जाती है अर्थात् राक्षसों का इतस्ततः गमन न हो, इसलिए बीत जाती है, वैसे ही तृष्णा भी देहप्रयुक्त परिश्रम की शान्ति के लिए (मुक्ति के लिए) नष्ट हो जाती है। अर्थात् तृष्णा की शान्ति होने से मुक्ति हो जाती है ॥४१॥ वेदान्त आदि अध्यात्मशास्त्रों के विचार से शून्य अतएव व्याकुलचित्त के संसारी लोग तभी तक मोह को प्राप्त होते हैं जब तक विषप्रयुक्त विसूचिका रोग के समान मृत्यु की हेतु तृष्णा पीछा करती रहती है अर्थात् लोग उसका त्याग नहीं करते ॥४२॥

उसके त्याग का क्या उपाय है ? इस पर कहते हैं।

यहाँ पर चिन्ता का अर्थ विषयों का स्मरण है। उक्त चिन्ता के त्याग से संसारी जनों का दुःख नष्ट हो जाता है। विद्वानों ने चिन्तात्याग को ही तृष्णारूपी विसूचिका (हैजा) का मन्त्र (प्रतीकारक उपाय) कहा है ॥४३॥ जैसे तालाब में रहनेवाली मछली घास–पत्ती, पत्थर–लकड़ी आदि सभी मेरा भक्ष्य है, ऐसा समझकर अन्त में भक्ष्ययुक्त बंशीको (मछली को फँसाने के काँटे को) भी मुँह में डालकर मछुवे द्वारा मारी जाती हुई फड़फड़ाती है वैसे ही तृष्णा भी तृण, पत्थर, काष्ठ आदि निखिल वस्तुओं को अपना भक्ष्य समझकर ग्रहण करती हुई अन्त में स्फूर्ति को प्राप्त होती है ॥४४॥ जैसे सूर्य की किरणें मुकुलित कमल को विकसित करा देती हैं, वैसे ही रोग, पीडा, स्त्री और तृष्णा भी धीर पुरुष को भी शीघ्र अधीरता को प्राप्त कर देती हैं। अर्थात् जैसे सूर्यकिरणें मुकुलितावस्था में गम्भीर (गहरे) कमल को खूब विकसित कर उत्तान (छिछला) कर देती है, वैसे ही तृष्णा भी धीर–अयाचित–व्रत–पुरुष को शीघ्र अधीर–याचना द्वारा लघु–बना देती है ॥४५॥ तृष्णा बाँस की लता के समान सदा अन्तःसारशून्य (भीतर से खोखली), ग्रन्थियों से युक्त (तृष्णाओं के पक्ष में दुराग्रहरूपी ग्रन्थियों से युक्त और बाँस के पक्ष में पोररूपी ग्रन्थियों से युक्त), बड़ी बड़ी चिन्ताओं और दुःखों से पूर्ण (बाँस के पक्ष में बड़े बड़े कोंपलों के काँटों से युक्त), मोती और मणियों पर प्रेम करनेवाली (बाँस के पक्ष में सर्वजनप्रिय मोतीरूपी

मणियों की उपलब्धि के स्थान) है अर्थात् जैसे बाँस की लताएँ सदा भीतर से खोखली रहती हैं, उनके बीच में बहुत सी गाँठें होती हैं, उनमें बड़े बड़े कोंपलों के काँटे होते हैं और सर्वजन मनोहर मोती उनमें उपलब्ध होते हैं, वैसे ही तृष्णाएँ भी खोखली, दुराग्रह से भरी, बड़ी चिन्ताओं और कष्टों से पूर्ण और मोती, मणि आदि धन सम्पत्ति में अति प्रेम करनेवाली होती हैं ॥४६॥

विवेक भी तृष्णा के नाश में हेतु हैं, ऐसा दर्शाते हैं।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि ऐसी दुश्छेद्य विषयतृष्णा को भी ज्ञान सम्पन्न महानुभाव लोग विवेकरूपी निर्मल (तीक्ष्ण) तलवार से अनायास काट डालते हैं ॥४७॥ हे ब्रह्मन् जीवों के हृदय में स्थित तृष्णा जैसी तीक्ष्ण न तो तेज तलवार की घार है, न वज्राग्नि की चिनगारियाँ हैं और न बन्दूक की गोलियाँ (छर्रे) ही हैं ॥४८॥

अर्थात् तलवार की धार आदि बाह्य होने के कारण प्राणी के लिए कदाचित् ही अनर्थकारी होते हैं, पर हृदय में रहने के कारण तृष्णा सदा ही अनर्थकारिणी होती है, इसलिए वह तलवार की धार आदि से भी बढ़कर है, यह आशय है।

जैसे दीये की लौ मध्य में उज्जवल और अन्त में कृष्णवर्ण, अग्रभाग से तीक्ष्ण, स्नेह से युक्त, दीर्घदशायुक्त, प्रकाशमान और दुःस्पर्श होती है, विषयतृष्णा भी ठीक वैसे ही है अर्थात् जैसे दीये की लौ पहले उज्जवल होती है, अन्त में उसका अग्रभाग काला और तीखा हो जाता है, उसमें तेल रहता है, बड़ी बत्ती रहती है और सन्ताप इतना अधिक रहता है कि उसे कोई छू नहीं सकता, वैसे ही विषयतृष्णा भी पहले भोग और वैभव से उज्जवल रहती है, अन्त में तमोगुण और मृत्यु का कारण होती है, माता, स्त्री और पुत्र के स्नेह से दीर्घ और उत्कृष्ट बाल्य, यौवन और वार्धक्य अवस्थाओं से युक्त, प्रत्यक्ष और इष्टवियोग से उत्पन्न हार्दिक क्लेश से असह्य है ॥४९॥ हे महर्षि, एकमात्र विषयतृष्णा ही मेरु के सदृश अति उन्नत, गौरवशाली, पराक्रमी, अयाचित व्रत से अटल एवं विद्वान् नरश्रेष्ठ को भी एक क्षण में याचना द्वारा दीन–हीन बनाकर तिनके के समान उपेक्षणीय और चंचल बना देती है ॥५०॥

किसी ने कहा भी है :

तृणाल्लघुतरस्तूलस्तूलादपि च याचकः। वायुना किं न नीतोऽसौ मामयं याचयिष्यति ॥

अर्थात् तृण से रुई हलकी होती है और रुई से भी याचक हलका है। रुई को हवा उड़ा ले जाती है, पर याचक मुझसे भी कोई याचना करेगा, यह समझकर हवा उसे नहीं उड़ाती।

जैसे विन्ध्याचल अनेक बड़े बड़े अरण्यों से पूर्ण निबिडतारूपी जाल और घूलिपटल से आच्छन्न एवं भीषण अन्धकार और घने कुहरे से व्याप्त होता है, वैसे ही विषयपिपासारूपिणी तृष्णा भी अरण्यतुल्य अनेक बड़े बड़े साहस के कार्यों से युक्त, पतन हेतु होने से भयंकर, निबिड जाल की नाईं बन्ध में हेतुभूत आशारूपी रस्सी से और रजोगुण से बनी हुई एवं अज्ञानरूपी कुहरे से व्याप्त है अथवा 'संस्तीर्णगहना' पदका – एक ही विषयतृष्णा आशा, काम, लोभ, लम्पटता आदि के रूप से चौदहों भुवनों में व्याप्त और दुर्लक्ष्य है – ऐसा अर्थ है ॥५१॥

तृष्णा कैसे विस्तीर्ण है, कैसे दुर्लक्ष्य है और कैसे एक है ? क्योंकि आश्रय, विषय और वाचक शब्द के भेद से आशा, काम, लोभ आदिरूप से तृष्णा भिन्न भिन्न है, ऐसी आशंका कर उक्त अर्थ का

दृष्टान्तपूर्वक प्रतिपादन करते हैं।

जैसे 'रसन' इन्द्रिय के रूप से शरीर में विद्यमान सब जलों के मध्य में (जल सामान्यमें) रहनेवाली एक ही माधुर्यशक्ति (नदी, समुद्र आदि में गिरने से) क्षीर, (गलाने से) उदक, (शब्द करने से) अम्बु, इस प्रकार क्रिया और वाचक शब्दों के भेद से विभिन्न चंचल तरंगों से संकुल जल में स्थित होकर दुर्लक्ष्य होती है, अर्थात् एक ही है ऐसा उसका ज्ञान नहीं होता, वैसे ही शरीर में विद्यमान तृष्णा एक होती हुई भी सम्पूर्ण भुवनों के भोग्य पदार्थों में व्याप्त होकर व्यवहार में दुर्लक्ष्य-सी प्रतीत होती है- देहस्थित तृष्णा ने ही आशा, काम और लोभ का वेश धारण किया है, ऐसा स्पष्ट प्रतीत नहीं होता ॥५२॥

सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

अठारहवाँ सर्ग

आधि, व्याधि आदि अनेक क्लेशों तथा जरा-मृत्यु से ग्रस्त अभिमान और
तृष्णा के मूलकारण शरीर की निन्दा।

तृष्णा भले ही दुःख की कारण हो, पर 'जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येत्' (जीवित पुरुष अनेक मंगलों को देखता है) इस न्याय से भी शरीर सुख-भोग का स्थान है, ऐसी प्रसिद्धि है और शरीर पर सबका अतिशय प्रेम भी देखा जाता है, इसलिए शरीर सुख का कारण है, ऐसी शंका करके शरीर भी दुःख का ही कारण है, ऐसा उपपादन करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : महर्षिजी, गीली आँतों (पेट में स्थित मल, मूत्र आदि की थैलियों) और नाड़ियों से व्याप्त परिणामशील और मरणधर्म जो शरीर संसार में सबके सामने प्रकाशित हो रहा है, वह भी केवल दुःखभोग के लिए ही है। अर्थात् मल, मूत्र, शुक्र और शोणित से आर्द्र नाड़ियों से परिव्याप्त, विविध प्रकार के विकारों से युक्त और पतनशील यह जीवदेह केवल दुःखभोग के लिए प्रकाशित हो रही है ॥१॥ युक्तिमार्ग का अवलम्बन करने पर स्पष्टरूप से ज्ञात होता है कि यह जीव शरीर दो रूपवाला है। प्राण आदि चार कोशों का आधार होने के कारण जिसमें आत्मचमत्कृति (अध्यस्त-चैतन्यतादात्म्य) लिपटी-सी है, ऐसा यह शरीर अज्ञ होने पर भी अभिज्ञ के समान और अभव्य होने पर भी भव्य के समान प्रतीत होता है। यह न तो जड़ है और न चेतन ही है (📖) ॥२॥ चित् और जड़ दृष्टियों के मध्य में क्या यह शरीर आत्मकोटि में है (चेतन है) या अनात्मकोटि में है (जड़ है) ऐसा सन्देह होने पर निर्णय न होने से दुष्ट चित्त से युक्त एवं विवेक रहित होने से ही विमूढ आत्मावाला यह शरीर मोह ही पैदा करता है। अथवा 'प्रपश्यति' ऐसा पाठ होने पर अज्ञानी और विवेकी में से अज्ञानी इस देह में आत्मबुद्धि करने के कारण संसार को ही देखता है, पुरुषार्थ को नहीं देख पाता, क्योंकि वह

(📖) इस चित्-जड़संयुक्त देह का देहभाग अज्ञ है अर्थात् जड़ है। आत्मा इसका ज्ञाता है और वह अभिज्ञ है। अभिज्ञ के संयोग से यह जड़ देह अभिज्ञ के समान प्रतीत होता है। इसके ही अवलम्बन से मुक्ति प्राप्त होती है, इसलिए यह अभव्य-अमंगल-होने पर भी भव्य है। इसी कारण यह अन्यान्य जड़ों से विलक्षण एवं शुद्ध चेतनरूप आत्मा भी नहीं है।

चंचल एवं अशुद्ध चित्तवाला है ॥३॥ यह शरीर अल्प खाने–पीने से आनन्द को प्राप्त होता है और अल्प शीत–उष्ण आदि के क्लेशको प्राप्त होता है, इसलिए शरीर के समान गुणहीन, शोचनीय (शोक करने योग्य) और अधम दूसरा कोई नहीं है ॥४॥

यह शरीर उपेक्षणीय है, यह दर्शाने के लिए वृक्ष के रूपक से उसका वर्णन करते हैं।

यह शरीर वृक्ष के तुल्य है। दो भुजाएँ इसकी शाखाएँ हैं उन्नत कन्धा इसका तना है, दो नेत्र इसके खोखले हैं, मस्तक इसका बड़ा भारी फल है, यह दाँतरूपी पक्षियों के बैठने के स्तम्भ के समान उत्तम रीति से खड़ा है, यह दो कर्णरूपी कठफोड़वा पक्षियों की चोंच के आघात से जर्जरित (छिद्रयुक्त–सा) है, हाथ और पैर इसके सुन्दर पत्ते हैं, रोग आदि इसमें लता स्थानीय हैं। जैसे कुल्हाड़े आदि से वृक्ष काटा जाता है, वैसे ही शस्त्र आदि से इस शरीर का भी उच्छेद, किया जा सकता है, 'द्वा सुपर्णा' इस श्रुति में प्रसिद्ध (जीव और ईश्वररूप) पक्षियों ने जिसके हृदय में अपने निवास के लिए घोंसला बना रक्खा है, यह उत्पन्न और विनष्ट होनेवाले दाँतरूपी केसर से शोभित हासरूप पुष्पों से हर घड़ी अलंकृत रहता है अर्थात् जैसे वसन्त आदि फूल की ऋतु आने पर वृक्ष उत्पन्न हो हो कर मुरझानेवाले एवं केसर से शोभित होनेवाले फूलों से अलंकृत होता है, वैसे ही यह शरीर भी हर्ष के समय में उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाले एवं दाँतरूपी केसरों से सुशोभित होनेवाले मन्दहाससे शोभित होता है। सुन्दर कान्तिरूपी छायावाला यह देहरूपी वृक्ष जीवरूपी यात्रियों का विश्राम–स्थान है। यह किसका आत्मीय (मित्र) और किसका शत्रु है ? इस देहरूपी वृक्ष में प्रेम और द्वेष करना व्यर्थ है अर्थात् देह के साथ जीव का कोई भी वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, इसलिए यह किसी का आत्मीय नहीं है, अतः इसके प्रति आस्था और अनास्था ही क्या ? ॥५–८॥

यह शरीर सब लोगों में आत्मरूप से प्रसिद्ध है, इसको उपेक्षणीय कैसे कहते हैं ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

पूज्यवर, संसार–सागर को पार करने के लिए पुनः पुनः गृहीत नौकारूपी देह में किसकी आत्मबुद्धि होगी ? अर्थात् जैसे सागर को पार करने के लिए गृहीत नौका में किसी की आत्मसंभावना का संभव नहीं है, वैसे ही संसार को पार करने के लिए अर्थात् संसार से मुक्त होने के लिए बार बार गृहीत देह में किसकी आत्मभावना हो सकती है ? ॥९॥ रोमरूपी असंख्य वृक्ष और इन्द्रियरूपी अनेक गड्ढों से युक्त देहनामक निर्जन वन में कौन पुरुष विश्वास को (यह चिरकाल तक निःशंक होकर रहने योग्य है, ऐसी प्रतीति को) प्राप्त होगा ? ॥१०॥ पूज्य मुनिजी, साररहित तथा छिद्रयुक्त, मांस, नसें (स्नायु) और हड्डियों से वेष्टित और बाहर निकलने (मुक्त होने) के उपायभूत उपदेश (शब्द) से विरहित इस शरीररूपी नगाड़े में मैं बिल्ली की तरह रहता हूँ ॥११॥

छः श्लोकों से देह का पाकड़ के वृक्ष के रूपक से निरूपण करते हैं।

शरीररूपी पाकड़ का वृक्ष मुझे सुखकारक प्रतीत नहीं होता। यह संसाररूपी अरण्य में पैदा हुआ है, चित्तरूपी चपल बन्दर इसमें इधर उधर कूदता फाँदता है, चिन्तारूपी मंजरी से यह फूला हुआ है, महादुःखरूपी घुनों ने इसके चारों ओर छेद कर रक्खे हैं, तृष्णारूपी सर्पिणी का यह घर है, कोपरूपी कौए ने इसमें घोंसला बना रक्खा है, मन्द हासरूप प्रस्फुटित पुष्पों से यह शोभायमान है, शुभ और

अशुभ (पुण्य और पाप) ये दो इसके महाफल हैं, भुजाएँ ही इसमें लताएँ हैं, हाथ ही पुष्पों के गुच्छे हैं, यह बड़ा भला लगता है, प्राणवायुरूप वायु से इसके सम्पूर्ण अवयवरूपी पत्ते हिल रहे हैं, सम्पूर्ण इन्द्रियरूपी चिड़ियाँ इसमें बसेरा करती हैं, सुन्दर घुटनों से युक्त अधोभाग इसका तना है, यह उन्नत है और यौवनकान्तिरूपी शीतल छाया से युक्त है। कामदेवरूपी यात्री इस पर बास करता है, सिर में उगे हुए खूब लम्बे सिर के केश उसके बरोह हैं। अहंकाररूपी गीध इसमें घोंसला बनाकर डटा है, यह भीतर से खोखला (छिद्रयुक्त) है। विविध वासनारूपी जटाओं से चारों ओर वेष्टित होने के कारण दुश्छेद्य है, व्यायामरूपी विस्तार से कोमलतारहित और रूक्ष भी है ॥१२-१७॥

महामुने, अहंकाररूपी गृहस्थ का महान् गृह यह कलेवर चाहे भूमि में गिरकर बदल जाय, चाहे चिरकाल तक स्थिर रहे, इससे मेरा क्या प्रयोजन ? ॥१८॥ इस देहरूपी अहंकार के घर में इन्द्रियरूपी पशु कतार बाँधकर खड़े हैं, तृष्णारूपी गृहस्वामिनी (घर की मालकिन) बार बार इधर उधर घूम रही है, कामदेवरूपी गेरु आदि रंगने के पदार्थों से सब अवयव रंगे गये हैं, इसलिए यह देह मुझे अभीष्ट नहीं है। पीठ की हड्डीरूपी (रीढ़रूपी) सहतीरों के परस्पर मिलने से जिसके भीतर बहुत थोड़ा स्थान रह गया है, आँतरूपी रज्जुओं से बँधा हुआ देहरूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है ॥१९,२०॥ स्नायु (नस) रूपी रस्सियाँ जिसमें चारों ओर तनी हैं, रस, रक्तरूप जल से रचित गारे से लिपा गया, वृद्धावस्था (केश रोम आदि को सफेद करनेवाला बुढ़ापा) रूपी चूने से सफेद यह देहरूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है ॥२१॥ चित्तरूपी नौकर ने विविध चेष्टाओं द्वारा इसकी स्थिति इतनी मजबूत कर रक्खी है कि यह गिर नहीं सकता, मिथ्या और अज्ञान इसके अधारस्तम्भ हैं, दुःखरूपी बाल-बच्चों ने इसमें रो रोकर कुहराम मचाया है, सुख-शय्या (सुषुप्ति) से यह मनोहर है, दुश्चेष्टारूपी दाह-व्रण से पीड़ित दासी इसमें रहती है, ऐसा देहरूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है ॥२२,२३॥

हे मुने, यह देहरूपी गृह दोषपूर्ण विषयसमूहरूपी बर्तनों और अन्यान्य सामग्रियों से ठसाठस भरा हुआ है और अज्ञानरूपी क्षार से जर्जर है, भला बतलाइए तो सही, यह हमारा अभीप्सित कैसे हो सकता है ? टखने (एड़ी के ऊपर की गाँठ) रूपी आधारकाष्ठ स्थित पिण्डलीका घुटनारूप मस्तक जिसके स्तम्भका मस्तक है, लम्बी लम्बी दो भुजाएँरूपी आड़ी लकड़ियों से अत्यन्त दृढ़ यह देहरूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है। ब्रह्मन्, जिसमें ज्ञानेन्द्रियरूपी झरोखों के भीतर प्रज्ञारूपिणी गृहस्वामिनी क्रीड़ा कर रही है, चिन्तारूपी अनेक पुत्रियाँ जिसमें विद्यमान हैं, ऐसा देहरूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है। सिर के केशरूपी छादन (छाजन-छाने की घास-फूस) से आच्छादित, कर्णरूपी शोभाशाली चन्द्रशालाओं से (घूर ऊपर के कमरों से) युक्त तथा लम्बी लम्बी अँगुलीरूपी काठ के चित्रों से सुसज्जित देहरूपी घर मुझे पसन्द नहीं है ॥२४-२७॥ जिसमें सम्पूर्ण अंगरूपी दीवारों में रोमरूपी निबिड़ (खूब घने) जौके अंकुर उगे हैं और पेटरूपी छिद्र है, ऐसा देहरूपी घर मुझे नहीं चाहिए ॥२८॥ जिसमें नखरूपी मकड़ियों के जाले तने हैं, कुत्ती की नाईं भ्रमण, दीनता, कलह आदि करानेवाली क्षुधा जिसके अन्दर शोर मचाती है, जिसमें भीषण शब्द करनेवाला वायु सदा चलता रहता है, वायु का वेग भीतर प्रवेश करने और बाहर निकलने में सदा व्यग्र रहता है और इन्द्रियरूपी झरोखे सदा खुले हैं, इस प्रकार का देहरूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है। उक्त देहरूपी घर के मुँहरूपी दरवाजे पर जिह्वारूप वानरी सदा

डटी रहती है, इससे उसकी भीषणता और बढ़ जाती है, दाँतरूप हड्डी के टुकड़े स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं, अतः यह देहगृह मुझे अभीष्ट नहीं है ॥२९–३१॥ त्वचारूपी चूने के लेप से (पलस्तर से) चिकना है, सम्पूर्ण सन्धियाँ इस घर के यन्त्र हैं, उनके संचार से (भ्रमण आदि से) यह चंचल है, मनरूपी सदा रहनेवाले चूहे ने इसे चारों ओर से खोदकर शिथिल और कूड़ा आदि से पूर्ण कर रक्खा है, अतः यह देहगृह मुझे नहीं जँचता ॥३२॥ क्षणभर में मन्दहासरूपी दीपों की प्रभा से उज्ज्वल एवं आह्लाद से दैदीप्यमान और क्षणभर में अज्ञानरूपी अन्धकार से व्याप्त यह देहरूपी गृह मुझे भला नहीं लगता। यह देह सम्पूर्ण रोगों का घर, बुढापे के कारण पड़नेवाली झुर्रियों और केशों की सफेदी का नगर है। इसमें मानसिक क्लेशों का ही प्रधानरूप से साम्राज्य है, अतः उनसे इसकी गहनता का कोई ठिकाना नहीं है, इसलिए यह देहरूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है। घोर अन्धकार से आच्छन्न दिशारूपी झाड़ियों से युक्त भीतर से शून्य अनेक गुहाओं से पूर्ण यह देहरूपी महाअरण्य है, इसमें इन्द्रियरूपी भालू भयप्रदर्शन करते हुए इधर उधर घूमते रहते हैं, अतः यह देहरूप अरण्य मुझे इष्ट नहीं है ॥३३–३५॥

हे मुनीश्वर, जैसे कोई निर्बल जीव कीचड़ में फँसे हुए हाथी को नहीं निकाल सकता, वैसे ही मैं भी इस देहरूपी गृह को धारण करने में असमर्थ हूँ ॥३६॥ क्या राजलक्ष्मी, क्या शरीर और क्या राज्य, क्या मनोरथ– इनमें से किसी से भी मेरा कुछ प्रयोजन नहीं है, क्योंकि थोड़े ही दिनों में काल उन सबका नाश कर डालता है अर्थात् नाशवान वस्तु से किसका क्या लाभ हो सकता है ? ॥३७॥ मुनिवर, रक्त और मांस से विरचित विनाशशील इस देह के बाहर और भीतर भली भाँति देखकर कहिए कि इसमें कौन–सी रमणीयता है ? ॥३८॥ पूज्यवर, भला आप ही कहिये जो शरीर मरने के समय जीव के पीछे नहीं जाते जीव का त्याग कर देते हैं, उन कृतघ्न शरीरों पर ज्ञानवान् पुरुषों का क्या आदर हो सकता है ? मदोन्मत्त हाथी के कानों के अग्रभाग की तरह चंचल और हाथी के कान के अग्रभाग में लटक रहे जलबिन्दु के समान विनाशशील यह शरीर मुझे छोड़े, उससे पहले ही मैं इसका त्याग कर देता हूँ। वायु के वेग से परिचालित कोमल पत्ते के समान चंचल यह शरीर आधि–व्याधिरूपी सैकड़ों काँटों से क्षत–विक्षत होने के कारण जर्जर हो जाता है। इस क्षुद्र स्वभाव, कटु और नीरस देह से हमारा किंचित्मात्र भी उपकार नहीं है। चिरकाल तक भाँति–भाँति के सुन्दर खाद्य और पेय पदार्थों को खा–पीकर नवीन पत्ते के समान कोमल कृशता को प्राप्त होकर स्वतः विनाश की ओर अग्रसर होता है। यह पामर शरीर पूर्व जन्मों में बारबार उपयुक्त ही भाव और अभावरूप सुख–दुःखों का पुनः पुनः अनुभव करता हुआ लज्जित नहीं होता। जब यह दीर्घकालतक लोगों पर अपना आधिपत्य जमाकर और विविध विभवों को पाकर न तो वृद्धि या उत्कर्ष को प्राप्त होता है और न स्थिरता को प्राप्त होता है, तब इसके परिपालन या परिक्षण से क्या लाभ ? यह शरीर बुढ़ापे के समय में बुढ़ापे को अवश्य प्राप्त होता है और मरने के समय मृत्यु को अवश्य प्राप्त होता है, यह नियम भाग्यवान् और दरिद्र दोनों के लिए समान है, उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं है, किन्तु यह बात इस अधम देह को ज्ञात नहीं है। यह शरीर मूक कच्छप के (कच्छपों द्वारा–दुष्ट इन्द्रियों द्वारा–दुर्विषयरूपी कीचड़ का पान करनेवाले कछुए के) समान संसाररूप समुद्र के उदर में तृष्णारूपी छोटे बिल के अन्दर रहता है। अपनी आत्मा के उद्धार के अनुकूल इच्छा और चेष्टा भी इसमें नहीं है और गुरु के समीप में जाकर आत्मा के विषय में प्रश्न आदिरूप वाणी भी

इसमें नहीं है। इस संसाररूपी महासागर में केवल जलना ही जिनका मुख्य प्रयोजन है, ऐसे हजारों देहरूपी काष्ठ भासित होते हैं, पर धीमान् जन उनमें से किसी को ही 'नर' कहते हैं, अर्थात् जो ज्ञानाग्नि द्वारा जलाया जा सकता है, वह देह ही नरदेह है ॥३९-४७॥ दुष्टतारूपी बड़े बड़े बंधनों से युक्त और दुश्चरितों से जिसका पतन अवश्यम्भावी है, ऐसी देहरूपी लता से विवेकी पुरुष का कुछ भी काम नहीं है ॥४८॥ यह शरीर कीचड़ से भरे हुए पल्वलों में (तलैयों में) निमग्न मेंढक के समान विषय-भोग में अत्यन्त निमग्न होकर वृद्धावस्था से आक्रान्त हो जाता है, किन्तु यह शीघ्र ही कहाँ जायेगा और किस प्रकार की दुर्दशाओं से ग्रस्त होगा, यह ज्ञात नहीं होता ॥४९॥ जैसे धूलिपटलयुक्त आकाशमार्ग से जा रही आँधी को कोई देख नहीं सकता, क्योंकि धूलि के कारण नेत्र बन्द हो जाते हैं, कुछ भी नहीं दिखाई देता, इस देहसमुदायकी चेष्टाएँ भी ठीक आँधी के ही अनुरूप हैं अर्थात् इसकी सब चेष्टाएँ नीरस (अनर्थकारिणी), और दर्शनशक्ति का नाश करनेवाली हैं। यह शरीर ही आँधीरूपी चपलता का मूल है, यही राजसी प्रवृत्ति का उत्पादन कर आत्मदर्शन में बाधक होता है ॥५०॥ वायु की, दीपक की और मन की गति-उत्पत्ति और विनाश-जैसे अज्ञात है वैसे ही इस शरीर की उत्पत्ति, विनाश आदि अज्ञात हैं। यह क्या है, किस प्रकार से और कहाँ से आता है और कहाँ जाता है, इस बात को कोई नहीं जानता ॥५१॥ जो लोग अनित्य शरीरों में नित्यत्व का आदर करते हैं और जो लोग संसार स्थिति के विषय में नित्यत्व का अभिमान करते हैं अर्थात् जो लोग शरीरों को तथा संसार को आशायुक्त, चिरस्थायी और सत्य मानते हैं वे मोह (अज्ञान) रूपी मदिरा से उन्मत्त हैं, उन्हें बार-बार धिक्कार है ॥५२॥

न मैं देह का सम्बन्धी हूँ, न देह मैं हूँ, न मेरी देह है और न मैं ही देह हूँ, ऐसा विचारकर अर्थात् इदंतासे विशिष्ट घट आदि के समान जड़ देह यह मैं नहीं हूँ, ऐसा विचार कर परमात्मा में जिनका चित्त विश्रान्त है, वे लोग ही पुरुषोत्तम हैं ॥५३॥ मान और अपमान से वृद्धि को प्राप्त हुई एवं प्रचुर लाभ से सुन्दर लगनेवाली दुष्ट दृष्टियाँ केवल शरीर में ही परमादर करनेवाले पुरुष को मृत्यु के वशीभूत कर देती है। शरीररूपी गड्ढे में रहनेवाली मनोहर भोगतृष्णारूपिणी पिशाचीने कपट से हमें संसार में पटककर हमारा सर्वस्व हर लिया- हमें ठग लिया है ॥५४,५५॥ शरीर को ही सब कुछ समझनेवाली इस मिथ्याज्ञानरूपिणी राक्षसीने अकेली अतएव दीन-हीन प्रज्ञा (सुबुद्धि) को पूर्णरूप से ठग लिया, यह बड़े कष्ट की बात है ॥५६॥ जब इस दृश्य प्रपंच में कोई भी वस्तु सत्य नहीं है, तब उसके मध्यवर्ती होने से यह शरीर भी सत्य नहीं है। अपने आप जले हुए (असत्य) शरीर से जनता ठगी जाती है, यह महान् आश्चर्य है ॥५७॥

यदि जनता को ठगने से इस शरीर का कोई प्रयोजन सिद्ध होता, तो किसी अंश में वह क्षन्तव्य भी होता, पर वह भी तो कुछ नहीं है, ऐसा कहते हैं।

कुछ ही दिनों में वृद्धता को प्राप्त हुआ यह शरीररूपी पत्ते झरने के जलकणों (सीकरों) के समान अपने आप गिर पड़ता है- मृत्यु को प्राप्त हो जाता है ॥५८॥ समुद्र में उत्पन्न हुए जल के बुद्बुदों की नाईं इस शरीर का विनाश बहुत शीघ्र हो जाता है, यह संसार में परिभ्रमणरूपी जलभँवर में व्यर्थ ही प्रकाश को प्राप्त होता है। न तो संसार में परिभ्रमण से इसका कोई प्रयोजन सिद्ध होता है और न इससे किसी दूसरे का ही प्रयोजन सिद्ध होता है ॥५९॥ मुनिश्रेष्ठ, यह शरीर मिथ्याभूत अज्ञान का विकार है-

अज्ञानजनित है, स्वप्नरूपी भ्रान्तियों का आधार है और इसका विनाश सर्वथा स्पष्ट है, इसलिए इस शरीर के प्रति मेरा क्षणभर के लिए आदर भी नहीं है ॥६०॥ जिस पुरुष ने बिजली में, शरत् ऋतु के मेघों में और गन्धर्वनगर में ये चिरस्थायी हैं, ऐसा निर्णय कर रक्खा है, वह इस क्षणभंगुर शरीर को भले ही चिरस्थायी माने ॥६१॥ किसका शीघ्र विनाश होता है, इस विषय में अपना अपना उत्कर्ष जताने के लिए हठ से प्रवृत्त हुए सम्पूर्ण पदार्थों में से सदा विनाशशील कार्यों में विजयी होनेवाले बिजली, शरत् ऋतु के मेघ आदि से भी, नाशक सामग्री के अधिक होने से, उत्कृष्ट इस शरीर को तृण से भी तुच्छ समझकर मैं परम सुखी हुआ हूँ ॥६२॥

अठारहवाँ सर्ग समाप्त

उन्नीसवाँ सर्ग

अज्ञान, क्षुधा, पिपासा, रोग, अशौच और
चपलता से दूषित जानवरों की-सी अवस्थावाली बाल्यावस्था की निन्दा।

देह की सभी अवस्थाएँ दुःखरूप नहीं हैं, क्योंकि उसकी बाल्यावस्था की सब लोग स्पृहा करते हैं, इससे प्रतीत होता है कि वह सुखमय है। 'तद्यथा महाराजो वा महाब्राह्मणो वा महाकुमारो वा अतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीत' यह श्रुति भी बाल्यावस्था में अतिशय आनन्द का प्रतिपादन करती है, ऐसी शंका करके विस्तारपूर्वक बाल्यावस्था की अनर्थकारिता का प्रतिपादन करने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : महर्षे, चंचल आकारवाले जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज– इन चार शरीरों से पूर्ण और नानाप्रकार के कर्तव्यभाररूपी तरंगों से युक्त संसारसागर में मनुष्य जन्म पाकर भी बाल्यावस्था में केवल दुःख ही मिलता है। पहले मनुष्यजन्म ही दुर्लभ है, वह किसी प्रकार पुण्य परिपाक से यदि प्राप्त भी हो गया, तो उसमें बाल्यावस्था अतिक्लेशकारक है ॥१॥

जिसकी पहले प्रतिज्ञा की थी, उसी अर्थ का विस्तार से वर्णन करते हैं।

अशक्ति (असामर्थ्य), आपत्तियाँ, खाने-पीने आदि की तृष्णा, मूकता, (बोल न सकना), मूढ़बुद्धिता (जान न सकना), क्रीड़ा, कौतुक आदि के विषय में अभिलाषा करना, न मिलने पर दीन-हीन बन जाना और चंचलता– ये सब बाल्यावस्था में ही होते हैं ॥२॥ हाथियों के बन्धन-स्तम्भ के समान बाल्यावस्था अकारण क्रोध और रोदन से भीषण और दीनता से जर्जरित दशाओं में बन्धन है अर्थात् जैसे अकारण क्रोध, रोदन आदि से भीषण और दीनता से जर्जरित अवस्थाओं में हाथी का बन्धनस्तम्भ (आलान) बन्धन होता है, वैसे ही अकारण क्रोध, रोदन आदि से भीषण और दैन्य से जर्जरित अवस्थाओं में प्राणियों का बाल्यकाल भी बन्धन ही है ॥३॥ जैसी पराधीनताप्रयुक्त चिन्ताएँ बाल्यावस्था में जीव के हृदय को पीड़ित करती हैं, वैसी मरण में, बुढ़ापे में, रोगावस्था में, आपत्ति में एवं यौवनावस्था में नहीं करती ॥४॥ बाल्यावस्था में पशुपक्षियों की-सी चेष्टाएँ होती हैं, सभी लोग बालकों की भर्त्सना करते हैं, सचमुच चंचल बाल्यावस्था मरण से भी बढ़कर दुःखदायिनी है ॥५॥ सामने स्थित प्रतिबिम्ब के समान बाल्यावस्था में स्फुट और निबिड़ अज्ञान रहता है अथवा प्रत्येक

क्षण में चित्त में तत् तत् विषयों का प्रतिबिम्ब पड़ने से अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ होती हैं, अतएव यह नाना प्रकार के संकल्पों से तुच्छ है। तत्–तत् संकल्पित विषयों के न मिलने से बाल्यावस्था में मन चारों ओर से कटा हुआ–सा और जीर्णशीर्ण–सा दुःखित रहता है, भला ऐसी बाल्यावस्था किसको सुखप्रद होगी ? ॥६॥ बाल्यावस्था में अज्ञानवश जल, अग्नि और वायु से सदा उत्पन्न होनेवाले भय से पद–पद में जैसा दुःख होता है, वैसा आपत्ति में भी किसीको न होगा अर्थात् बाल्यावस्था में आपत्ति से भी बढ़कर दुःख होता है ॥७॥ बालक बाल्यावस्था में निरन्तर विविध दुश्चेष्टाओं में–दुर्लीलाओं में, दुराशाओं में, दुरभिसन्धानों में और दुर्विलासों में सहसा पड़कर ये सार वस्तुएँ हैं, ऐसे महाभ्रम को प्राप्त होता है ॥८॥ बाल्यावस्था में बालक तुच्छ कार्य को भी नन्हे बच्चे या निपट पागल के कहने–मात्र से बड़ा महत्त्व दे डालते हैं, अनेक दुश्चेष्टाएँ करते हैं और किसी प्रकार की भी प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होते, इसलिए पुरुष की बाल्यावस्था, गुरु द्वारा किये गये ताड़न आदि से उत्पन्न दुःख भोगने के लिए ही है, सुख के लिए नहीं है। अर्थात् निष्फल कार्यप्रवृत्ति और सम्पूर्ण दुष्कर्मों का आवासरूप बाल्यकाल किसी प्रकार की भी शान्ति प्रदान नहीं करता, उक्त काल में प्रायः प्रतिक्षण गुरुजनों के समीप दण्डित होकर दुःखित होना पड़ता है और किसी प्रकार की भी प्रशंसा प्राप्त नहीं होती ॥९॥ जैसे उल्लू दिन में अन्धकारमय गड्ढों में छिपे रहते हैं, वैसे ही जितने दोष, जितने दुराचार, जितने दुष्कर्म और जितनी मानसिक चिन्ताएँ हैं, वे सब बाल्यावस्था में जीव के हृदय में छिपकर बैठे रहते हैं ॥१०॥ ब्रह्मन्, बाल्यावस्था रमणीय (सुखमय) है, ऐसी जो लोग कल्पना करते हैं, वे सब दुर्बुद्धि हैं, उन हतचित्त मूढ़बुद्धि लोगों को बार बार धिक्कार है ॥११॥ जिसमें हिंडोले के समान चंचल मन विविध विषयों के आकार को प्राप्त होता है, तीनों लोकों में अत्यन्त अमंगल वह बाल्यावस्था किस प्रकार सुखकर हो सकती है ? मुनिवर, सम्पूर्ण प्राणियों की सभी अवस्थाओं की अपेक्षा बाल्यावस्था में मन दसगुना चंचल होता है। मन की चंचलता का अधिक होना अधिक दुःख का हेतु है अर्थात् जितना ही मन चंचल होगा, उतना ही अधिक कष्ट होगा, यह भाव है ॥१२,१३॥ मन स्वभावतः चंचल है ही और बाल्यावस्था सम्पूर्ण चंचल पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ है। उन दोनों का सम्बन्ध होने पर चंचलताप्रयुक्त अनर्थ से बचानेवाला कौन है ? अर्थात् कोई नहीं है। ब्रह्मन्, बाल्यावस्था से आक्रान्त चित्त से युवतियों के लोचनों ने, बिजलीने, अग्निकी ज्वालाओंने और तरंगों ने चंचलता सीखी है अर्थात् मन सम्पूर्ण चंचल पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ है। सभी व्यवहारों में बाल्यावस्था और मन– ये दोनों सदा सहोदर भाई–से प्रतीत होते हैं, ये दोनों चंचल हैं– दोनों की स्थिति क्षणिक है। दुःखपूर्ण सम्पूर्ण दुर्व्यसन, सम्पूर्ण दोष और सम्पूर्ण मानसिक चिन्ताएँ बाल्यावस्था में ही निवास करती हैं, जैसे कि मनुष्य धनवान् पुरुष के आश्रय में रहते हैं ॥१४–१७॥ यदि बालक को प्रतिदिन मन को प्रसन्न करनेवाली नई–नई वस्तुएँ न मिले, तो वह विष के समान असह्य चित्तविकृति से मूर्च्छा को प्राप्त हो जाता है। बालक कुत्ते के समान थोड़े से खाने पीने की वस्तु देने आदि से वश में आ जाता है, थोड़े से घुड़कने आदि से विकृत हो जाता है और अपवित्र में (विष्ठा आदि में) क्रीड़ा करता है अर्थात् जैसे कुत्ता थोड़ा–सा खाना देने या पुचकारने से वश में हो जाता है, थोड़ा–सा घुड़कने या छड़ी आदि दिखाने से बिगड़ जाता है और विष्ठा आदि से अपवित्र स्थानों में खेलता है, ठीक वैसे ही बालक भी है ॥१८,१९॥ जैसे वर्षा से भीगी हुई और धूप से

तपी हुई भूमि के ऊपर सदा भाप निकलती है, इधर उधर कीचड़ व्याप्त होता है और भीतर जल रहता है, वैसे ही बालक भी सदा आँसुओं से युक्त मुखवाला, कीचड़ से सना एवं मूढ़बुद्धि और अचेतन रहता है ॥२०॥ मनुष्य सदा दूसरों से डरने और भोजन करनेवाले, दीन–हीन, दृष्ट और अदृष्ट सब वस्तुओं की इच्छा करनेवाले एवं चंचल बुद्धि और शरीर से युक्त बाल्यकाल को केवल दुःख भोग के लिए धारण करता है। विवश बालक जब अपने संकल्प से इच्छित पदार्थों को नहीं पाता, तब अत्यन्त सन्तप्त होकर ऐसे दुःख को प्राप्त होता है कि मानों किसी ने उसके हृदय को काट डाला हो ॥२१,२२॥ मुनिवर, बालक को दुष्ट चेष्टाओं या दुष्ट मनोरथों से उत्पन्न और भाँति भाँति के वंचना के उपायों से भीषण जो दुःख होते हैं, वे दूसरे किसी को नहीं होते ॥२३॥

बाल्यावस्था से बढ़कर दुःख और किसी अवस्था या योनि में नहीं होते, यह आशय है।

जैसे प्रखर ग्रीष्म ऋतु से वनभूमि सन्ताप को प्राप्त होती है, वैसे ही बालक भी मनोरथों के विलास से युक्त बलवान् अपने मन से नित्य सन्ताप को प्राप्त होता है। बालक जब विद्यालय में पढ़ने जाता है, तब उसे बन्धनस्तम्भ में बँधे हुए हाथी के समान पराधीनता, बेंतों की मार आदि और भी बड़े बड़े भीषण कष्ट झेलने पड़ते हैं। बाल्यावस्था में असत्य पदार्थों में ही सत्यत्वबुद्धि होती है, अनेक प्रकार के मनोरथों का साम्राज्य छाया रहता है और हृदय बड़ा कोमल रहता है, अतएव बाल्यावस्था में अत्यन्त दीर्घ दुःख के सिवा सुख का लेश भी नहीं होता ॥२४–२६॥ किसी समय जब बालक भूख लगने से रोता है, तब तुम्हें खाने के लिए भुवन (लोक) दूँगी, यों माता या पिता के कहनेपर सन्तुष्ट होकर वह भुवन को ही खाने की इच्छा करता है। तुम्हें चन्द्रमारूप खिलौना देंगे, यों ठगनेपर आकाश से चन्द्रमा को हाथ में लेने की इच्छा करता है, ऐसी मूर्खता से पूर्ण बाल्यावस्था कैसे सुखकर हो सकती है ? ॥२७॥

हे महामते, बालक के मन में शीत और ताप का अनुभव तो होता है, पर वह उनका निवारण नहीं कर सकता, इसलिए बालक और वृक्ष में क्या भेद है अर्थात् बालक वृक्ष के समान जड़ है ॥२८॥ बालक सचमुच पक्षियों के सदृश हैं, जैसे भूखे पक्षी आकाश में बहुत ऊँचा उड़ने की इच्छा करते हैं, वैसे ही भूखे बालक भी आहार लेने के लिए हाथों के सहारे उठने की इच्छा करते हैं, पर सामर्थ्य न होने से उठ नहीं सकते। जैसे पक्षियों को दूसरे से भय और आहार की चिन्ता प्रधानरूप से रहती है, वैसे बालक भी भय और भोजन में तत्पर रहते हैं ॥२९॥ बाल्यावस्था में गुरुओं से, माता–पिता से, अन्यान्य जनों से एवं अपने से बड़े बालक से भय बना रहता है, इसलिए बाल्यावस्था को यदि भय का घर कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी ॥३०॥ महामुने, सम्पूर्ण दोषपूर्ण दशाओं से दूषित किसी की रोकटोक के बिना स्वच्छन्द विहार करनेवाले अविवेक का घर बाल्यकाल किसी के भी सन्तोष के लिए नहीं हो सकता ॥३१॥

उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

बीसवाँ सर्ग

लोभ, द्वेष, मद, ईर्ष्या, अभिमान और डाह से दूषित एवं काम आदि अनर्थों के घर यौवन की निन्दा।

बाल्यावस्था अतिमूर्खता, असामर्थ्य और परतन्त्रता आदि से दुःखपूर्ण भले ही हो, पर यौवन अवस्था में ये बातें नहीं है, उसमें नानाभोग भोगने से उत्पन्न आनन्द ही आनन्द रहता है, इसलिए वह

सुख की कारण है, ऐसी शंका करके यौवन की अत्यंत अनर्थकारिता का वर्णन करने के लिए कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, बाल्यावस्था के अनन्तर पुरुष बाल्यावस्था के अनर्थों को त्यागकर भोग भोगने के उत्साह से या आनेवाले कामरूप पिशाच से दूषितचित्त होकर नरकपात के लिए ही यौवनारूढ होता है। मूर्ख पुरुष यौवनावस्था में अनन्त चेष्टावाले अतएव चंचल अपने चित्त की राग, द्वेष आदि वृत्तियों का अनुभव करता हुआ एक दुःख से दूसरे दुःख को प्राप्त होता है अर्थात् दुःख परम्परा का भोग करता है ॥१,२॥

माण्डव्य ऋषि ने व्यवस्था कर रक्खी है कि चौदह वर्ष तक किये गये दुष्कर्मों से नरकप्राप्ति नहीं होती, इसलिए बाल्यावस्था से नरकपतन नहीं होता, लेकिन यौवनावस्था तो नरकपतन की ही हेतु है, यह भाव है।

चित्तरूपी बिल में वास करनेवाला तथा अनेक प्रकार के भ्रमों को पैदा करनेवाला कामरूपी पिशाच विवश पुरुष के विवेक का तिरस्कार कर उसे अपने वश में कर लेता है ॥३॥ जैसे निधि आदि को देखने के लिए बालकों के हाथ में रक्खा हुआ सिद्धांजन चंचल वृत्तिवाली नेत्रप्रभाओं के अनावरण को –भूमि, शिला आदि के व्यवधान को हटाकर निधि देखने की सामर्थ्य देता है, वैसे ही यौवनावस्था में अवश चित्त युवतियों के चित्त से भी चंचल नाना प्रकार की चिन्ताओं के कपाट खोल देता है अर्थात् यौवनावस्था में पुरुष को विविध चिन्ताओं का सामना करना पड़ता है ॥४॥ मुनिवर, यौवनावस्था में स्त्री, जुआ, कलह आदि व्यसनों को उत्पन्न करनेवाले राग, लोभ आदि दोष– काम, चिन्ता आदि के वशीभूत चित्तवाला होने से काममय और चिन्तामय पुरुष को नष्ट कर डालते हैं और वे दोष यौवन द्वारा ही प्राप्त होते हैं। महानरक की हेतुभूत और सदा भ्रान्ति पैदा करनेवाली यौवनावस्था से जिन लोगों का विनाश नहीं हुआ, उनका दूसरे किसीसे विनाश नहीं हो सकता। श्रृंगार आदि नौ रसों से और कटु, तिक्त आदि छः रसों से पूर्ण आश्चर्यजनक अनेक वृत्तान्तों से परिपूर्ण भीषण यौवनभूमिको जिसने पार कर लिया, वही पुरुष धीर कहा जाता है ॥५-७॥ क्षणभर के लिए दैदीप्यमान, चंचल मेघों के गर्जन से युक्त बिजली के समान प्रकाशमान अमंगलमय यौवन मुझे पसन्द नहीं है। अर्थात् जैसे वर्षा ऋतु की रात्रि क्षण भर के लिए बिजली के प्रकाश से दैदीप्यमान हो उठती है और चंचल मेघों के गर्जन-तर्जन से गूँज उठती है, वैसे ही यौवनावस्था भी स्वल्पकाल के लिए उज्जवल है। घोर गर्जनाओं के समान अभिमानपूर्ण उक्तियों से युक्त अमंगलमय यह यौवन मुझे भला नहीं लगता। मुनिवर, भोग के समय मीठा अतएव बड़ा भला लगनेवाला, अन्त में दुःखदायी होने के कारण नीम के समान कडुवा, दोषरूप, निन्दा के हेतुभूत सम्पूर्ण दोषों का भूषण (सब दोषों में श्रेष्ठ), शराब के नशे के सदृश यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता ॥८,९॥ यौवन है तो निरा असत्य पर सत्य-सा प्रतीत होता है, शीघ्र ही लोगों को अपनी वंचना का शिकार बना डालता है-धोखा दे देता है-और स्वप्न में दृष्ट स्त्री के समान है, इसलिए यौवन मुझे नहीं रुचता ॥१०॥ यौवन एक क्षणभर के लिए सुन्दर प्रतीत होनेवाली सम्पूर्ण वस्तुओं में, गन्धर्वनगर (📖) के सदृश,

(📖) जिसे गन्धर्वनगर दिखाई देता है उसकी मृत्यु हो जाती है। इससे गन्धर्वनगर का दर्शन मरण का चिह्न है, यह सिद्ध है। इसलिए गन्धर्वनगर के पक्ष में 'सम्पूर्ण आयु के अन्त में' ऐसा अर्थ करना चाहिए।

सर्वश्रेष्ठ है और सभी लोगों को क्षणमात्र के लिए अच्छा लगता है, इसलिए यह मुझे अच्छा नहीं लगता ॥११॥ प्रत्यंचा से छोड़ा गया बाण जितने समय में लक्ष्य का वेध करता है, केवल उतने समय तक सुखदायक, शेष सम्पूर्ण काल में दुःख देनेवाला और नित्य सन्तापरूपी दोष देनेवाला यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता ॥१२॥ यौवन केवल आपाततः जब तक विचार न किया जाय तभी तक रमणीय प्रतीत होता है, इसमें शुद्धचित्तता का सर्वथा अभाव रहता है। यह वेश्या स्त्री के समागम के समान नीरस है, इसलिए मुझे अच्छा नहीं लगता ॥१३॥ जैसे प्रलयकाल में सबको दुःख देनेवाले बड़े–बड़े उत्पात चारों ओर से उमड़ पड़ते हैं वैसे ही युवावस्था में भी, सबको दुःख देनेवाले जो कोई कार्य हैं, वे सब समीप में आ जाते हैं अर्थात् युवावस्था में परदुःखदायी अनेक दुष्कर्म होते हैं ॥१४॥ हृदय में अन्धकार करनेवाली यौवनयुक्त अज्ञान–रात्रि से विशाल आकारवाले भगवान् महादेवजी भी निश्चय भयभीत रहते हैं, इसीलिए ही वे सदा विवेक ज्ञान–रूपी चन्द्रमा को धारण करते हैं। यदि नहीं डरते, तो क्यों धारण करते ? यह भाव है ॥१५॥ यह यौवनकालीन मोह शुभ आचरण को भुलानेवाली एवं बुद्धि को कुण्ठित करनेवाली (बुद्धिनाश करनेवाली) भ्रान्तिकी प्रचुरमात्रा में सृष्टि करता है ॥१६॥ जैसे वनाग्नि से वृक्ष जलाया जाता है, वैसे ही युवावस्था में प्रियतमा के वियोग से उत्पन्न दुःसह शोकाग्नि से जीव जलाया जाता है ॥१७॥ बुद्धि दोषों के निराकरण से कितनी ही निर्मल क्यों न हो, कितनी ही उदार क्यों न हो और गुणों के आधान से कितनी ही पवित्र क्यों न हो, पर जैसे वर्षा ऋतु में नदियाँ मलिन हो जाती हैं, वैसे ही यौवन में मलिन हो जाती है अर्थात् जैसे निर्मल पवित्र, शीतल और मधुर जलवाली नदी वर्षा ऋतु में मलिन हो जाती है, वैसे ही निर्मल, उदार और पवित्र बुद्धि भी युवावस्था में मलिन हो जाती है ॥१८॥ बड़ी–बड़ी लहरों से युक्त भीषण नदी लाँघी जा सकती है, पर भोगतृष्णा से चंचल इन्द्रियोंवाली यौवन से अस्थिर चित्तवृत्ति वश में नहीं की जा सकती है ॥१९॥ वह मनोहारिणी कान्ता, उसके वे विशाल स्तन, वे मनोज्ञ हावभाव और वह सुन्दर मुख युवावस्थामें ऐसी–ऐसी अनेक चिन्ताओं से मनुष्य शिथिल हो जाता है ॥२०॥ इस संसार में सज्जन लोग चंचल भोगतृष्णा से प्रपीडित युवा पुरुष का आदर–सत्कार नहीं करते, केवल यही बात नहीं है, किन्तु वे कटे हुए और सूखे तिनके के समान उसका तिरस्कार करते हैं ॥२१॥

मनस्वियों के लिए मानहानि मरण के समान क्लेशकारक है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

यौवन अभिमान से महागज के समान जड़ और दोषरूप मोतियों को धारण करनेवाले अविवेकी पुरुष के अधःपतन के लिए नित्य बन्धन का स्तम्भ है या जैसे आलान (हाथी को बाँधने का खूँटा) मोतीवाले मदोन्मत्त गजराज के दर्प को चूर्ण कर देता है, वैसे ही यौवन भी अभिमान से मत्त और विविध दोषों से पूर्ण पुरुष का अधःपतन कर देता है। मुनिवर, खेद है कि मनुष्यों का यौवन वनस्वरूप है, प्रियतम स्त्री, पुत्र आदि इष्ट पदार्थों की अप्राप्ति और वियोग–जनित सन्ताप से पैदा हुआ शोष और रोदन उसके वृक्ष हैं, मन उक्त वृक्षों की बड़ी जड़ है और दोषरूपी साँप उन वृक्षों के खोखलों में निवास करते हैं ॥२२,२३॥ मुनिवर, आप यौवन को दुष्ट चिन्तारूपी भ्रमरों का आवासभूत कमल समझिए। वह विषयसुखकणरूपी मधु–बिन्दुओं और रागादिरूपी केसरों से भरा हुआ है, और दुष्ट संकल्परूपी पंखुड़ियों से व्याप्त है। अर्थात् जैसे कमल के ऊपर भ्रमर मँडराते हैं, वह मकरन्द और केसर से खचाखच भरा रहता है और चारों ओर से पंखुड़ियों से घिरा रहता है, वैसे ही युवावस्था में मनुष्य के

चित्त में अनेक दुष्ट चिन्ताएँ मँडराती है, बुरे संकल्प घेरे रहते हैं और विषयसुखकण और राग का साम्राज्य छाया रहता है ॥२४॥ यौवन पुण्य और पाप रूपी या लौकिक कार्यरूपी, पतन के हेतु होने से, कुत्सित पंखवाले, हृदयरूपी तालाब के तीरपर विचरनेवाले आधि–व्याधिरूपी पक्षियों का निवासस्थान है। नवयौवन असंख्य एवं वृद्धि को प्रात होनेवाली तुच्छ संकल्प–विकल्परूप लहरों का अवधिरहित (असीम) या अन्त में जरा आदि दुःख देनेवाला सागर हैं। अर्थात् जैसे असीम समुद्र असंख्य और क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होनेवाली जलमय तरंगों का एकमात्र आश्रय है, वैसे ही अन्त में जरा, मरण आदि दुःख का स्थान नवयौवन भी असंख्य और लगातार बढ़नेवाली संकल्प–विकल्प–परम्परा का एकमात्र आश्रय है। जैसी संकल्प–विकल्प–परम्पराएँ यौवनकाल में होती हैं, वैसी अन्यकाल में नहीं होती, यह आशय है। यौवन आँधी के समान है। जैसे धूलि से अन्धकारपूर्ण आँधी मकड़ी के सम्पूर्ण जालों को तहस–नहस करने में सिद्धहस्त होती है, वैसे ही रजोगुण और तमोगुण से पूर्ण विषम यौवन सत्संगति, शास्त्राभ्यास आदि अनेक प्रयत्नों से उत्पन्न होनेवाले सद्गुणों की (प्रसाद, प्रकाश, विवेकदृष्टि की अभिवृद्धि आदि की) स्थिरता को नष्ट करने में बड़ा दक्ष है। यौवन अतिरूक्ष पांसुओं के (आँधी में उड़नेवाले धूलिकणों के) समान है। जैसे इधर–उधर उड़ रहे अपवित्र तृण–पत्तों से अधिक दुःखदायक अतिरूक्ष धूलिकण लोगों के मुँह को धूलि–धूसर कर देते हैं और आकाश में बहुत ऊँचे स्थान में चढ़ते हैं, वैसे ही विषयोन्मुख चंचल इन्द्रियों द्वारा अधिक कष्टदायक रूक्ष यौवन भी विषयवासना से उत्पन्न रोगों से लोगों के मुँह को घूसर (रक्तताशून्य सफेद) कर देता है और दोषों की परम सीमा में आरूढ होता है ॥२५–२८॥ मनुष्यों का यौवनोल्लास (यौवन की अभिवृद्धि) दोषों को जगाता है, उत्पन्न करता है और गुणों का मूलोच्छेद करता है। अतएव वह पापों की वृद्धि करने के कारण पापों का विलास है ॥२९॥ मुनिवर, मनुष्यों का नवयौवन चन्द्रमा के सदृश है। जैसे चन्द्रमा कमल के पराग में आसक्त भँवरी को कमल में बाँधकर मोहित कर देता है, वैसे ही नवयौवन शरीर में ही चंचल बुद्धि को अभिमानरूप कोश में बाँध कर विमूढ़ कर देता है ॥३०॥ शरीररूपी छोटे बन में उत्पन्न हुई बड़ी रमणीय यौवनरूपी मंजरी जब उत्कर्ष को प्राप्त होती है बढ़ती है तब अपने से संबद्ध मनरूपी भ्रमर को उन्मत्त कर डालती है। अर्थात् जैसे छोटी वाटिका या कुंज में उत्पन्न रमणीय फूलों का गुच्छा जब बढ़ता है, तब उसमें बैठे भँवरे को मोहित कर देता है, वैसे ही शरीर में उत्पन्न रमणीय प्रतीत होनेवाला यौवन मन को मोहित कर देता है ॥३१॥ मुनिवर, शरीररूपी मरुभूमि में कामरूपी सूर्य के ताप से प्रतीत हो रही यौवनरूपी मृगतृष्णिका के प्रति दौड़ रहे मनरूपी मृग विषयरूपी गड्ढे में गिर पड़ते हैं। अर्थात् जैसे मरुभूमि में सूर्य के ताप से प्रतीत हो रही मृगतृष्णा के प्रति जल की इच्छा से दौड़ रहे मृग गड्ढे में गिर पड़ते हैं, वैसे ही शरीर में कामके सन्ताप से भासित यौवन के प्रति दौड़ रहा मन विषयों में फँस जाता है ॥३२॥ शरीररूपी रात्रि की चाँदनी, मनरूपी सिंह की अयाल (गर्दन के बाल) और जीवनरूपी समुद्र की लहरी युवावस्था से मुझे सन्तोष नहीं होता ॥३३॥ जो यह युवावस्था है, यह देहरूपी जंगल में कुछ दिनों के लिए फली–फूली शरद्ऋतु है, यह शीघ्र ही क्षय को प्राप्त हो जायेगी। अतएव इस पर आप लोगों को विश्वास नहीं करना चाहिए। (भगवान् श्रीरामचन्द्रजी का अपने अनुचरों के प्रति यह कथन है) ॥३४॥

उक्त अर्थ का ही छः श्लोकों से विशदरूप से वर्णन करते है।

जैसे अभागे पुरुष के हाथ से चिन्तामणि (अभीष्ट पदार्थ देनेवाला रत्न) तत्काल चला जाता है, वैसे ही शरीर से युवावस्थारूपी पक्षी जल्दी भाग खड़ा होता है ॥३५॥ जब यौवन अपनी चरम सीमा में आरूढ हो जाता है, तब केवल नाश के लिए ही सन्तापयुक्त कामनाएँ वृद्धि को प्राप्त होती है ॥३६॥ तभी तक राग–द्वेषरूपी पिशाच विशेषरूप से इधर–उधर घूमते–फिरते हैं, जब तक यह यौवनरूपी रात्रि सम्पूर्णतया नष्ट नहीं हो जाती। राग–द्वेष आदि सम्पूर्ण दोषों की जननी युवावस्था ही है, यह भाव है ॥३७॥ जैसे विविध बालक्रीड़ाएँ करनेवाले, क्षणभर में नष्ट होनेवाले मरणासन्न पुत्र में लोगों की करुणा होती है, वैसे ही विविध चित्तविकारों (मनोरथों) से बढ़ी–चढ़ी, थोड़े समयतक रहकर नष्ट हो जानेवाली बेचारी युवावस्थापर भी करुणा करो। जो मनुष्य क्षणभर में विनष्ट होनेवाले यौवन से मूढ़तावश फूला नहीं समाता, वह मनुष्य होता हुआ भी निरा पशु ही है, क्योंकि वह महामूढ़ है। जो मनुष्य अभिमान युक्त अज्ञान के कारण मदोन्मत्त युवावस्था को उपादेय (सारयुक्त) वस्तु समझकर उस पर आसक्त होता है उस दुर्बुद्धि को शीघ्र ही पश्चात्ताप भोगना पड़ता है ॥३८–४०॥ मुनिवर, इस जगत में वे लोग पूजनीय हैं, वे ही महात्मा हैं और वे ही पुरुष हैं, जिन्होंने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि की हानि के बिना सुखपूर्वक यौवनरूपी संकट को पार कर दिया। बड़े–बड़े मगरों से पूर्ण सागर सुखपूर्वक तैरा जा सकता है, परन्तु रागद्वेष आदि रूप महातरंगों के कारण उमड़ा हुआ और अनेक दोषों से युक्त निन्दनीय यौवन के पार जाना कठिन है ॥४१–४२॥

बाल्यावस्था और वृद्धावस्था में अज्ञान और अशक्ति से पुरुषार्थ साधन नहीं हो सकता और युवावस्था विविध दोषों से पूर्ण होने के कारण पुरुषार्थ साधन के योग्य नहीं है, ऐसी परिस्थितिमें पुरुष को कभी भी साधनसम्पत्ति से मोक्ष की आशा नहीं है, ऐसी आशंका कर सम्पूर्ण यौवनों की निन्दा नहीं की जाती, किन्तु दुर्यौवन की ही निन्दा की जाती है। सुयौवन का तो पुरुषार्थ में ही पर्यवसान होता है, ऐसा लक्षण द्वारा दिखलाते हुए उसकी दुर्लभता को दिखलाते है।

ब्रह्मन् विनय से अलंकृत, साधुओं के आश्रम के समान शांतिप्रद, करुणापूर्ण और शम, दम आदि विविध गुणों से युक्त यौवन इस संसार में इस मनुष्य जन्म में भी वैसे ही दुर्लभ है जैसे कि आकाश में वन। अर्थात् जैसे आकाश में वन की स्थिति अतिदुर्लभ है, वैसे ही इस संसार में विनययुक्त, पूज्य मुनिजनों में रहनेवाला, दया से परिपूर्ण और शम, दम आदि गुणों से परिवृत सुयौवन मनुष्यजन्म में भी अतिदुर्लभ है, फिर अन्य योनियों में तो कहना ही क्या है ? ॥४३॥

बीसवाँ सर्ग समाप्त

इक्कीसवाँ सर्ग

प्रत्यक्ष नरकसमूहभूत सम्पूर्ण अंगोंवाली तथा मनुष्यों के नरकपतन की हेतु स्त्रियों की निन्दा।

जिन स्त्री–शरीरों में युवकों को रमणीयता की भ्रान्ति होती है, उनके स्वरूप को विवेचनपूर्वक दर्शाने के लिए इस सर्ग का आरम्भ करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, नस और हड्डियों के ग्रथन से शोभित मांसमयी स्त्री के रथ, गाड़ी आदि के समान चंचल शरीररूप पिंजड़े में, जिसे युवक रमणीय–सा समझते हैं, वह कौन वस्तु

है ? अर्थात् कुछ नहीं है ॥१॥

उक्त अर्थ को ही विस्तार से विशद करते हुए पहले युवकों को जिन नेत्रों में हावभावरूप विलास की भ्रान्ति होती है, विवेक के होने पर उन नेत्रों की असारता (निन्दनीयता) दिखलाते हैं।

हे प्रियजन, त्वचा, मांस, रक्त और अश्रुजल को अलग करके नेत्र को देखो, यदि वह रमणीय है, तो उस पर आसक्ति करो। यदि रमणीय नहीं है, तो क्यों व्यर्थ ही उस पर मोहित होते हो, अर्थात् नेत्र त्वचा, मांस, रक्त और आँसू इनसे अतिरिक्त वस्तु नहीं है, इन्हींके समुदाय का नाम नेत्र है, भला बतलाओ तो, त्वचा आदि में गर्हितता के सिवा रमणीयता क्या है ? ॥२॥ स्त्री का शरीर क्या है, उसका कुछ अंश केश है, कुछ अंश रक्त है और कुछ अंश मांस आदि हैं, इन सबमें रम्यता कहाँ है ? ये सब नितान्त घृणास्पद और हेय हैं, इस कारण विवेकसम्पन्न प्राज्ञ पुरुष को स्त्री के शरीर से क्या काम है ? अर्थात् वह उसे निन्दनीय ही समझते हैं, रमणीयता का लेश भी उसमें नहीं देखते ॥३॥ हे बन्धुगण, बहुमूल्य वस्त्र और कस्तूरी, केसर आदि के लेप से (उबटन, तेल आदि के मर्दन से) जो सम्पूर्ण मनुष्यों के शरीर कभी बारबार सुशोभित हुए थे, उन्हें समय पाकर गीध, सियार आदि मांसाहारी जीव नोच-दबोच कर खाते हैं। यही उनका अंतिम परिणाम है ॥४॥ जिस स्तनमण्डल पर सुमेरु पर्वत के शिखर से बहनेवाले गंगाजल के प्रवाह के सदृश मोतियों के हार की शोभा देखी गई थी और देखी जाती है, वही स्त्रीस्तन समय पाकर शीघ्र श्मशान-भूमि में एवं ग्राम और नगर से दूर निर्जन स्थानों में भात के छोटे पिण्ड के समान कुत्तों का ग्रास बनता है ॥५,६॥ जैसे वन में चरनेवाले गदहे या ऊँट के अंग रक्त, मांस और हड्डियों द्वारा बने हैं, वैसे ही स्त्री के अंग भी उन्हीं उपकरणों द्वारा बने हैं, फिर उसीके लिए इतना आग्रह (अधिक आदर) क्यों ? अर्थात् गदहे का शरीर जिस सामग्री से बना है, स्त्री का शरीर भी उसी तुच्छ और घृणित सामग्री से बना है, अतः वह भी उक्त जीवों के समान ही घृणित है ॥७॥ केवल अविचार से ही लोगों ने स्त्री में रमणीयता की कल्पना कर रक्खी है, परन्तु मेरे मत से स्त्रीशरीर में अविचारजनित रमणीयता भी नहीं है, क्योंकि स्त्री में जो रमणीयता की प्रतीति होती है, उसका कारण एकमात्र मोह है। सीप में जो चाँदी की कल्पना होती है, वहाँ पर सीपरूप अधिष्ठान और अज्ञान दोनों रहते हैं, किन्तु यहाँ पर अधिष्ठान का अभाव है, अतएव यह केवल अज्ञानजनित ही है ॥८॥ हे मुनीश्वर, मद से अनेक प्रकार का आनन्द देनेवाली और पतन, दंगा, फसाद आदि विविध अनर्थ करानेवाली मदिरा में और काम से विविध आनन्द देनेवाली और स्वयं काम विकार से युक्त स्त्री में क्या अन्तर है ? यह भाव है कि स्त्री काम द्वारा विविध प्रकार के उल्लासों को देती है, और स्वयं कामविकार से युक्त रहती है और मदिरा मादकशक्ति द्वारा विविध प्रकार के उल्लासों को देती है और स्वयं जव आदि के विकार से या स्खलन, कलह आदि विकार से युक्त है, इसलिए दोनों समान हैं, अर्थात् जैसे श्रेय चाहनेवाले पुरुष के लिए मदिरा हेय है, वैसे ही स्त्री भी हेय है ॥९॥ मुनिजी, ललनारूपी आलान में (हाथी को बाँधने के स्तम्भ में) मदरूपी मोह से सोये जैसे मनुष्यरूपी हाथी परिपक्व (अंकुश के पक्ष में कठोर) शमरूपी अंकुश के प्रहारों से विवेक (हाथी के पक्ष में जागरण) को प्राप्त नहीं होते हैं। अर्थात् जैसे बन्धन-स्तम्भ में मद से सुप्तप्राय हाथी कठोर अंकुश के प्रहारों से नहीं जागता, वैसे ही स्त्री के समीप मोहवश सुप्तप्राय मनुष्य तीव्र शम, दम आदि से विवेक को प्राप्त नहीं होते ॥१०॥ जैसे काजल

को धारण करनेवाली अग्नि की ज्वाला, दाहक होने के कारण छूने के अयोग्य है और नेत्रों को प्रिय लगनेवाली अग्नि की ज्वाला तिनकों को जला डालती है, वैसे ही केश और काजल को धारण करनेवाली, छूने के अयोग्य, नेत्रों को सुखदायक (मनोहर) पापरूपी अग्नि की ज्वालारूप स्त्रियाँ मनुष्य को जला डालती हैं ॥११॥ वासनाओं से पूर्ण होने के कारण आपाततः सरस मालूम पड़नेवाली लेकिन वास्तव में तो नीरस यहाँ स्थित स्त्रियाँ अतिदूरवर्तिनी यमपुरी में भीषण रूप से धधक रहीं नरकाग्नियों की उत्तम लकड़ियाँ है ॥१२॥

स्त्री लम्बी रात्रि के समान व्यर्थ है। जैसे रात्रि के चारों और व्याप्त अन्धकार ही केशों का जूड़ा है, चंचल तारे ही नेत्र हैं, पूर्ण चन्द्रबिम्ब ही मुख है, विकसित पुष्पराशि ही मन्द हास है, श्रृंगार आदि लीला से उसमें पुरुष चंचल रहते हैं, सोये रहने के कारण धर्म, विवेक, वैराग्य आदि का विनाश होता है और वह लोगों की बुद्धि को गाढ़ मोह में डालती है, वैसे ही स्त्री के भी चारों और बिखरे हुए अन्धकार के समान श्याम केशों का जूड़ा रहता है, चंचल कनीनिकाओं से युक्त नेत्र होते हैं, पूर्ण चन्द्रमा के समान आह्लादक होने से अपनी और आकृष्ट करनेवाला मुख रहता है, पुष्पराशि के समान विशद हास रहता है, श्रृंगारादि की लीला से पुरुष उसमें विशेषरूप से आसक्त रहते हैं, वह धर्म विवेक, वैराग्य आदि कार्यों की विघातक है और बुद्धि को मोहित करने में तो वह बेजोड़ है, अतः सचमुच स्त्री लम्बी रात्रि के समान केवल आयु का ही नाश करती है, उससे किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती ॥१३,१४॥

स्त्री केवल पुरुषार्थ का ही नाश नहीं करती, किन्तु अनर्थकारिणी भी है, ऐसा कहते हैं।

स्त्री विष की लता के समान युवावस्था से रसीली (लता के पक्ष में फूलों से मनोहर) हाथरूपी पत्तों से (कल्लों से) सुशोभित, भ्रमरूपी नेत्रों के हावभाव से पूर्ण, फूलों के गुच्छे रूपी स्तनों को धारण करनेवाली फूलों के केसर के समान गौर वर्णवाली मनुष्यों की हत्याके सदृश अधःपतन में तत्पर और कामोन्माद से अपना सेवन करनेवाले लोगों को मूर्छा, मरण आदि विवशता को प्राप्त कराती है। आशय यह है कि जैसे विष की लता फूलों से मनोहर लगती है, नये नये लाल पत्तों से शुभोभित रहती है, भँवरों से व्याप्त रहती है, फूलों के गुच्छों को धारण करती है, फूलों के केसर से पीतवर्ण हो जाती है, मनुष्यों को मार डालती है और जो लोग कामजनित उन्माद से उसका सेवन करते हैं उन्हें मूर्छा या मृत्यु के वश में कर देती है, वैसे ही स्त्री भी युवावस्था से रसीली, सुन्दर हाथों से सुशोभित, भँवर की भाँति चंचल नयनों के कटाक्ष आदि से सम्पन्न, गुच्छों के समान मनोज्ञ स्तनों को धारण करनेवाली, फूलों के केसर के समान कांचनवर्णा, मनुष्यों के विनाश के लिए तत्पर है और स्वसेवियों को मूर्छा, मृत्यु आदि के वश में कर देती है। जैसे टुकड़े–टुकड़े करने की इच्छावाली रीछन (भालू की स्त्री) अपनी साँस से बिल में स्थित साँप को बिल से निकाल कर खा जाती है, वैसे ही लम्पट लोगों का धन और मन हरकर विनाश करने के लिए उत्कण्ठित स्त्री दिखावे के लिए किये गये मिथ्याभूत सत्कार द्वारा आश्वासन देकर मनुष्य को अपने वश में कर लेती है ॥१५–१७॥ हे मुनिश्रेष्ठ, कामरूपी व्याध ने मूढ़बुद्धि मनुष्यरूपी पक्षियों को फँसाने के लिए स्त्रीरूपी जाल फैला रक्खे हैं, अर्थात् जैसे व्याध दाना चरने के लिए लालायित पक्षियों को फँसाने के लिए जाल बिछाते हैं, वैसे ही कामदेवने मूढ़मति (सांसारिक असत् विषयों को सच समझनेवाले) लोगों को फँसाने के लिए स्त्रियाँ, जाल की नाईं, इधर उधर बिखेर रक्खी हैं ॥१८॥

स्त्रीरूपी विशाल आलान में (हाथी को बाँधने के खूँटे में) रतिरूपी (प्रेमरूपी) जंजीर से बँधा हुआ मनरूपी मदोन्मत्त हाथी गूँगे के समान चुपचाप बैठा रहता है, अर्थात् असमर्थ होने के कारण अपने छुटकारे के लिए किसी उपाय का अवलम्बन नहीं कर सकता ॥१९॥ दुष्ट वासनारूपी रस्सी से बँधी हुई स्त्री धनरूपी कीचड़ में विचरनेवाले संसाररूपी छोटे तालाब के मछलीरूपी पुरुषों को फँसाने के लिए बंशी में (मछलियों का पकड़ने के काँटे में) लगी हुई आटे की गोली है। अर्थात् जैसे मछुवे की बंसी में लगी गोली कीचड़ में इधर उधर चलनेवाली छोटे बरसाती तालाब की मछलियों को बन्धन में डालकर मरवा देती है, वैसे ही दुर्वासना से पूर्ण नारी धनलोलुप संसारी पुरुषों को बन्धन में डालकर नष्ट कर देती है ॥२०॥ जैसे घोड़ों के लिए अश्वशाला बन्धन है, हाथियों के लिए आलान बन्धन है और साँपों के लिए मन्त्र बन्धन है, वैसे ही पुरुषों के लिए नारी बन्धन है ॥२१॥ हे मुनिवर, विविध रसों से पूर्ण भोग की भूमि यह विचित्र पृथिवी स्त्रियों के ही सहारे दृढ़ स्थिति को प्राप्त हुई है, इस संसार की हेतु स्त्री ही है, यदि स्त्री न होती, तो संसार कभी का विलीन हो गया होता ॥२२॥ दुखःरूपी जंजीर से युक्त सम्पूर्ण दोषरूपी रत्नों की पेटी (सन्दूक) रूप स्त्री से मुझे कुछ भी प्रयोजन नहीं है। स्त्री दोषरूपी रत्नों को रखने के लिए सन्दूक है और दुःख उसमें ताला बन्द करने के लिए जंजीर है, अतएव दुःखमय और दोषमय स्त्री की भला किस विवेकी को इच्छा होगी, यह भाव है ॥२३॥ स्त्री के मांसमय स्तन, नेत्र, नितम्ब (कमर का पिछला उभरा हुआ भाग) और भौंह में मैं क्या करूँ ? वे सब अतितुच्छ हैं, केवल मांस जैसी घृणित वस्तु से बने हैं ॥२४॥ ब्रह्मन, स्त्री के किसी भाग में मांस की अधिकता है, किसी भाग में खून अधिक है और कहीं पर हड्डियाँ प्रचुरमात्रा में है, ऐसे घृणित उपादानों से उसका निर्माण हुआ है, वह भी चिर कालतक रहे सो बात नहीं है, किन्तु थोड़े ही दिनों में वह जीर्ण-शीर्ण हो जाती है। पूज्यवर, जिन्हें अदूरदर्शी पुरुषों ने बड़े लाड़-प्यार से पाला-पोसा वे प्रियतमाएँ समय पाकर श्मशान में छिन्न-भिन्न होकर सोती हैं, अर्थात् कहीं उनका सिर पड़ा है, तो कहीं हाथ पड़े हैं, कहीं पैर पड़े हैं और कहीं दूसरे अंग ॥२५,२६॥ ब्रह्मन्, प्रिया के जिस मुख में प्रियतम पति ने बड़े प्रेम से कपूर, कस्तूरी, गोरोचन, केसर, चन्दन आदि से भाँति-भाँति के तिलक आदि बनाये थे, वही मुख थोड़े दिनों में निर्जन वन में सूखता है ॥२७॥ उनके सिर के बाल राख से घूसर होने के कारण श्मशान के वृक्षों में चँवर जैसे मालूम पड़ते हैं और उनकी मांस और रक्त से शून्य सफेद हड्डियाँ पृथिवी में तारों के समान चमचमाती मालूम होती है ॥२८॥ उनके शरीर के रक्त को धूलि सुखाती है और मांसाहारी जीव भी झुण्ड के झुण्ड उनपर टूटते हैं, उनके चाम को सियार नोच-नोचकर खाते हैं और उनका प्राणवायु आकाश में चला जाता है ॥२९॥ हे संसारस्थित लोगों, स्त्री के अंगों का थोड़े ही काल में होनेवाला यह परिणाम मैंने आप लोगों से कहा, उसमें आप लोग क्यों मोह कर रहे हैं ? ऐसे नाशवान् स्त्री के शरीर की सुन्दरता और सत्यता का भ्रम निर्मूल है ॥३०॥ स्त्री क्या है ? पांच भूतों के समुदाय से बना हुआ अंगों का संगठन ही स्त्री है। तनिक भी विवेक-बुद्धिवाला पुरुष राग का वशवर्ती होकर उस पर कैसे आसक्त हो सकता है, अर्थात् जो अज्ञानी है, वे भले ही उसे सत् या उपादेय समझें पर ज्ञानी उसको कैसे उपादेय समझेगा ? ॥३१॥ जैसे शाखा-प्रशाखा से जटिल बहुत से कडुवे (कच्चे) और खट्टे (सूखे) फलों से लदी हुई सुताला लता (एक प्रकार की जंगली लता) बड़ी ऊँचाई तक फैलती है, वैसे ही मनुष्यों की

कान्तानुसारिणी (स्त्री के कारण होनेवाली) चिन्ता अनेक खट्टे (कुछ सुख से मिश्रित ऐहिक दुःख) फलों से पूर्ण होती हुई बहुत बड़े विस्तार को प्राप्त होती है। जैसे अपने यूथ से बिछुड़ा हुआ हाथी मोह को प्राप्त होता है। (किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाता है), वैसे ही उक्त चिन्ता से व्याकुल अतएव उत्कट धनाभिलाषा से अन्घ कहाँ जाऊँ, कहाँ घन मिलेगा, यों चिन्ताग्रस्त होकर मनुष्य अत्यन्त मोह को प्राप्त होता है। जैसे हथिनी को चाहनेवाला (हस्तिनी पर आसक्त) हाथी विन्ध्याचल के गड्ढे में (हाथियों को पकड़ने के लिए बनाये गये गड्ढे में) बाँधा जाता है, वैसे ही स्त्रीलम्पट पुरुष वध, बन्धनरूप बड़ी शोचनीय अवस्था को प्राप्त होता है ॥३२–३४॥ जिसकी स्त्री है, उसको भोग की इच्छा होती है, जिसकी स्त्री नहीं है, उसे भोग की संभावना ही कहाँ है, स्त्री का यदि त्याग कर दिया तो जगत् का त्याग कर दिया, जगत् का त्याग करके सुखी होवे ॥३५॥ ब्रह्मन्, आपाततः (विचार के बिना) भले प्रतीत होनेवाले, भँवरे के पंखों की जड़ के समान चंचल और जिनसे मुक्त होना बड़ा कठिन है, ऐसे भोगों की, जन्म, मरण बुढ़ापा आदि के भयसे, मुझे तनिक भी इच्छा नहीं है; मैं इनसे विरत होता हूँ और ऐसा प्रयत्न करूँगा जिससे कि मुझे परम पद प्राप्त हो जाय ॥३६॥

इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त

बाईसवाँ सर्ग

शोक, मोह, इष्टवियोग का दुःख, रोग आदि से परिपूर्ण तथा चिन्ता और तिरस्कार के घर वृद्धावस्था की निन्दा।

युवावस्था में काम आदि दोष बड़े प्रबल रहते हैं, इसलिए युवक को भले ही सुख न हो, किन्तु वृद्धावस्था में काम आदि दोषों के शान्त हो जानेपर एवं विनीत पुत्र, पौत्र आदि द्वारा घर में सेवा होने पर वृद्ध को अति आनन्द होता है, ऐसी शंका कर वृद्धावस्था में अनन्त दुःखों का विस्तार से वर्णन करने की इच्छा से पहले 'अपने बच्चों का नाश करनेवाले साँपों को दूसरे के बच्चों पर दया कैसे हो सकती है' इस न्याय से वृद्धावस्था अति कठोर है, यह कहते हैं।

खेल–कूद कौतूहल आदि की अभिलाषा के पूर्ण न होने पर ही युवावस्था आकर जबर्दस्ती बाल्यावस्था को निगल जाती है, तदुपरान्त स्त्रीसंभोग आदि की इच्छा की पूर्ति न होने पर ही वृद्धावस्था आकर युवावस्था को स्वाहा कर देती है अतः इन दोनों की (युवावस्था और वृद्धावस्था की) परस्पर कठोरता को देखिये अर्थात् उसी शरीर में होनेवाली बाल्यावस्था को यौवन निगल गया अतएव यौवन कठोरतर हुआ, उक्त कठोरतर यौवन को निगलनेवाली वृद्धावस्था कठोरतम न होगी, तो क्या होगी ? ॥१॥

पामर लोगों के परम प्रेमपात्र विषयसुख के गृहभूत शरीर को ही जो वृद्धावस्था नष्ट–भ्रष्ट कर देती है, उसमें सुख की आशा कहाँ ?

जैसे तुषाररूपी वज्र कमलों को नष्ट–भ्रष्ट कर देता है, जैसे आँधी शरदऋतु की ओस को (पत्तों के सिरे पर लटक रहे जलकण को) नष्ट कर देती है और जैसे नदी तट के वृक्ष को उखाड़ देती है, वैसे ही वृद्धावस्था शरीर को नष्ट कर डालती है ॥२॥ यदि विष का छोटा–सा टुकड़ा खा लिया जाय, तो वह

जैसे थोड़ी देर में देह को कुरूप कर देता है, वैसे ही अंग–प्रत्यंग को शिथिल करनेवाली एवं वृद्धकेसे स्वरूपवाली वृद्धावस्था देह को शीघ्र (आते ही) कुरूप कर देती है। यदि वृद्धावस्था स्वयं वृद्धरूप न होती तो अन्यों को वृद्धरूप कैसे करती, ऐसे तर्क करके लोक में जरठरूपिणी कहा है ॥३॥ जिनके सब अंग शिथिल और छिन्न–भिन्न हो गये हैं, और वृद्धावस्था से शरीर जर्जरित हो गया है, ऐसे सभी पुरुषों को स्त्रियाँ ऊँट के समान समझती है ॥४॥ अनायास दीनता को प्राप्त करानेवाली वृद्धावस्था जब मनुष्य को पकड़ती है तब सौत से तिरस्कृत (पिटी गई) स्त्री के समान बुद्धि भागकर कहीं अन्यत्र चली जाती है ॥५॥ नौकर–चाकर, पुत्र, स्त्रियाँ, बन्धु–बान्धव और सगे–सम्बन्धी सभी लोग वृद्धावस्था से काँप रहे मनुष्य का घृणित उन्मत्त पुरुष की नाईं उपहास करते हैं ॥६॥ जैसे गीध फलयुक्त शाखा और टहनियों के फैलाव के कारण अन्य पक्षियों के आक्रमण से रहित अति उन्नत पुराने वृक्षपर आता है, वैसे ही कुरूप, वृद्ध, गुण और सामर्थ्य से शून्य अतएव दीन वृद्ध पुरुष में बड़ी अभिलाषा आती है ॥७॥ दीनतारूपी दोष से परिपूर्ण, हृदय में सन्ताप पहुँचानेवाली और सम्पूर्ण आपत्तियों की एकमात्र सहचरी बड़ी भारी तृष्णा वृद्धावस्था में बढ़ती जाती है ॥८॥ खेद है, परलोक में मैं क्या करूँगा, इस प्रकार का अतिभीषण भय, जिसका कोई प्रतीकार नहीं हो सकता, वृद्धावस्था में बढ़ता जाता है ॥९॥ हे महर्षे, मैं कौन हूँ, बड़ा दुःखी–दीन हूँ, मैं क्या करूँ, कैसे करूँ, अच्छा चुपचाप मौन ही रहूँ, ऐसी दीनता वृद्धावस्था में प्राप्त होती है अर्थात् वृद्धावस्था में मैं दुःखी हूँ, मैं अकर्मण्य हूँ, मैं नितान्त हेय और तुच्छ हूँ, मैं क्या करूँ, मुझ में सामर्थ्य ही क्या है, किस प्रकार मैं अपना जीवननिर्वाह करूँ, मेरा बोलने से क्या प्रयोजन है, अच्छा, मैं मोन ही रहता हूँ, इत्यादि प्रकार की दीनता उदित होती है ॥१०॥ वृद्धावस्था में, अपने आत्मीय जनों से मुझे किस प्रकार कब कुछ स्वादिष्ट भोजन प्राप्त होगा, ऐसी चिन्तारूपी दूसरी जरा सदा चित्त को जलाती रहती है ॥११॥ वृद्धावस्था में भोजन की शक्ति होने पर पचाने की अशक्ति, पचाने की शक्ति होने पर भोजन की अशक्ति इत्यादि शक्तिह्रास से भोग की इच्छा तो बड़ी प्रबल हो उठती है, पर उपभोग नहीं किया जा सकता और हृदय सदा जलता रहता है ॥१२॥ मुनिवर, जब विविध दुःखों से शरीर का अपकार करनेवाली, रोगरूपी साँपों से व्याप्त वृद्धावस्थारूपी जीर्ण बगुली शरीररूपी वृक्ष की चोटी पर बैठकर बासती है, उसी समय निबिड़ मूर्च्छारूपी अन्धकार को चाहनेवाला मृत्युरूपी उल्लू झटपट कहाँ से आया हुआ ही दिखाई देता है ॥१३,१४॥ जैसे सायंकाल की सन्ध्या के उत्पन्न होने पर अन्धकार उसके पीछे दौड़ता है अर्थात् सायंकाल होने के बाद अन्धकार इधर–उधर व्याप्त हो जाता है, वैसे ही शरीर में वृद्धावस्था को देखकर ही काल लेने के लिए समीप में दौड़ कर आता है ॥१५॥ मुनिश्रेष्ठ वृद्धावस्था से कपास की नाईं फूले हुआ (सफेद केश और मूँछ–दाढ़ी से युक्त) देहरूपी वृक्ष को दूर से ही देखकर कालरूपी बन्दर बड़े वेग से उसकी और दौड़ता है अर्थात् जैसे फूलों से युक्त वृक्ष को दूर से ही देखकर बन्दर उसकी और दौड़ता है, वैसे ही वृद्धावस्था से सफेद हुए शरीर की ओर काल दौड़ता है ॥१६॥ निर्जन नगर की यथा कदाचित् कुछ शोभा हो भी सकती है, जिसकी सबकी सब लताएँ कट चुकी है, वह वृक्ष भी कुछ शोभित हो सकता है, अनावृष्टि से पीड़ित देश की भी कुछ न कुछ शोभा हो सकती है, मगर वृद्धावस्था से जर्जरित शरीर की कुछ भी शोभा नहीं है, अर्थात् वह इन सब दृष्टान्तों से बढ़कर अभद्र है ॥१७॥ जैसे शब्द करनेवाली गृध्री (गीध की स्त्री)

निगलने के ही लिए शीघ्र मांस के टुकड़े को पकड़ लेती है, वैसे ही खाँसीरूप शब्द करनेवाली वृद्धावस्था मनुष्य को निगलने के लिए ही वेग से पकड़ लेती है ॥१८॥ जैसे बालिका उत्सुकता के साथ देखकर और सिर पकड़कर कमल के फूल को तोड़ लेती है, वैसे ही वृद्धावस्था भी बड़ी उत्सुकता के साथ देखकर और सिर पकड़कर देह को काट देती है, नष्टकर देती है ॥१९॥ जैसे धूलि के कणों से कठोर और सी–सी कार करानेवाली (सी–सी शब्द करानेवाली) शिशिर ऋतु के तेज वायु वृक्ष के पत्तों को धूलि से ध्वस्त कर छिन्न–भिन्न कर देती है, वैसे ही शरीर में कम्प करानेवाली रूसीसे कठोर यह वृद्धावस्था शरीर को नष्ट कर देती है ॥२०॥ वृद्धावस्था से तहस–नहस और जर्जरित शरीर तुषार (हिम) के कणों से व्याप्त अतएव म्लान (मुरझाये हुए) कमल की समानता को धारण करता है अर्थात् जैसे हिम समूह से आक्रान्त कमल मुरझा जाता है वैसे ही वृद्धावस्था से आक्रान्त शरीर भी जीर्ण–शीर्ण हो जाता है ॥२१॥ यह वृद्धावस्थारूपिणी चाँदनी सिररूपी पर्वत के शिर से उदित होते ही वातरोग और खाँसीरोगरूपी कुमुदिनी को बड़े प्रयत्न से विकसित करती है अर्थात् जैसे उदयाचल से उदित होते ही चाँदनी यत्नपूर्वक कुमुदिनी को विकसित करती है वैसे ही प्रथम सिर में आविर्भूत हुई वृद्धावस्था वातरोग और खाँसी को खूब बढ़ा देती हैं ॥२२॥ भगवन्, कालरूपी स्वामी वृद्धावस्थारूपी लवणादि चूर्ण से धूसर पुरुषों के सिररूपी कूष्माण्ड (कोहड़ा) को पका हुआ जानकर खा जाता है अर्थात् जैसे स्वामी (किसान या अन्य कोई गृहस्थ, क्योंकि वही उसको पैदा करता है, अतः वह स्वामी है) क्षार चूर्ण से धूसर कोहड़े को पका हुआ जानकर खा जाता है, वैसे ही काल भी मनुष्यों के सिर को वृद्धावस्था से सफेद हुआ देखकर खा जाता है ॥२३॥ आयुरूपी प्रवाह के शीघ्र चलनेपर वृद्धावस्थारूपी गंगा लगातार प्रयत्नपूर्वक इस शरीररूपी तटवृक्ष की जड़ों को काट डालती है, अर्थात् जैसे प्रवाह तेज होने पर गंगा तीरस्थित वृक्ष की जड़ों को काटकर उसे गिरा देती है, वैसे ही आयु के पूर्ण होने पर वृद्धावस्था लगातार शरीर की जड़ों (शरीर के आधार बल आदि) को काटकर उसे गिरा देती है ॥२४॥ पहले वृद्धावस्थारूपी बिल्ली यौवनरूपी चूहे को खाती है, फिर उद्धत होकर उसे शरीर का मांस खाने की इच्छा हो जाती है, तब तो उसकी उद्दण्डता का ठिकाना नहीं रहता ॥२५॥ इस संसार में ऐसी अमंगलकारिणी कोई नहीं है, जैसे कि रोदन करनेवाली (शब्द करनेवाली) देहरूपी जंगल की सियारिन यह वृद्धावस्था है अर्थात् जैसा जंगल की सियारिन के वासनेसे अमंगल होता है वैसा किसीसे नहीं होता। यह वृद्धावस्था भी ठीक सियारिन के समान है, यह भी रोदन करनेवाली है और सबसे बढ़कर दुःखदायिनी है ॥२६॥ खाँसी और साँस के साँय–साँय शब्द से युक्त दुःखरूपी धुँआ और कालिख से पूर्ण यह वृद्धावस्थारूपी ज्वाला जलती है, जिसने इस देह को जला ही डाला अर्थात् गीली लकड़ियों के जलने पर ज्वाला सीं–सीं शब्द करती है और उसमें धुँआ और कालिख भी रहती है, अतएव जैसे सीं–सीं शब्द से युक्त और धूममय और कालिखपूर्ण ज्वाला काष्ठ को जला देती है वैसे ही कास श्वास की साँय–साँय से युक्त और दुःखमय यह (☞) वृद्धावस्था भी देह को जला देती है ॥२७॥ जैसे सफेद पत्तोंवाली और फूलों से लदी

☞ वृद्धावस्था में नेत्रों की ज्योति के कुछ कम क्षीण होने पर धूममय प्रकाश दिखाई देता है और बहुत अधिक क्षीण होने पर अन्धकार हो जाता है, अतः धूममय और अन्धकारमय विशेषण भी जरा में लग सकते हैं।

हुई छोटी लता, फूलों के बोझ को न सह सकने के कारण, टेढ़ी हो जाती है, वैसे ही सफेद सम्पूर्ण अंगों से युक्त मनुष्यों का छोटा–सा शरीर वृद्धावस्था से टेढ़ा हो जाता है ॥२८॥ वृद्धावस्थारूपी कपूर से सफेद देहरूपी केले के पेड़ को कालरूपी हाथी निःसन्देह एक क्षण में उखाड़ कर फेंक देता है अर्थात् जैसे कपूर से सफेद केले के पेड़ को हाथी अनायास उखाड़कर फेक देता है वैसे ही मृत्यु भी वृद्धावस्था से सफेद देह को निःसन्देह क्षणभर में उखाड़कर फेंक देती है ॥२९॥ पीछे से आनेवाले मृत्युरूपी राजा की वृद्धावस्थारूपी सफेद चँवरो से युक्त चिन्ता–व्याधिरूपी अपनी निजी सेना पहले निकलती है। अर्थात् जैसे कोई राजा जब कहीं जाता है, तब चँवर से युक्त उसकी सेना पहले निकलती है वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए ॥३०॥ मुनिवर, बड़े धैर्य से दुर्गम पहाड़ों की गुफाओं में बैठे हुए जिन लोगों को रण में शत्रु नहीं हरा सके, उन्हें भी वृद्धावस्थारूपी वृद्ध राक्षसी ने शीघ्र हरा दिया, यह आश्चर्य देखिये ॥३१॥ वृद्धावस्थारूपी हिम से संकुचित (चारों और हिम से पूर्ण हो जाने के कारण कम अवकाशवाले) शरीररूपी गृह के मध्य में इन्द्रियरूपी बच्चे तनिक भी हिलने–डुलने को समर्थ नहीं हो सकते अर्थात् जैसे हिम से परिपूर्ण घर के अन्दर बालक इधर–उधर चल–फिर नहीं सकते, वैसे ही वृद्धावस्था से पूर्ण शरीर में इन्द्रियाँ अपना कुछ भी व्यापार नहीं कर सकती ॥३२॥ लाठीरूपी तीसरे पैरसे युक्त, बारबार लड़खड़ा रही तथा खाँसी और अधोवायुरूपी मुरजसे (पखावज से) युक्त वृद्धावस्थारूपी स्त्री नाच कर रही है ॥३३॥ गन्ध अर्थात् रागद्वेष आदि से चित्त को (दूसरे पक्ष में सभाको) वासित करनेवाला विषयभोग (और कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थ) इस संसाररूपी राजा के व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाली और विषयभोग की कुटी आश्रय देहरूपी यष्टि के सिर पर बैठी हुई वृद्धावस्था नामक चँवरशोभा विराजमान है अर्थात् जैसे राजा के व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाली और कस्तूरी आदि सुगन्धि पदार्थों को रखने की यष्टि के ऊपर स्थित चमरश्री अपने अनुपम सौन्दर्य, सुगन्धित और मन्द मन्द वायु के प्रसारसे शोभित होती है, वैसे ही विषय भोग की आश्रयभूत इस देह में सिर पर बैठी हुई वृद्धावस्था भी शोभित होती है ॥३४॥ मुनीश्वर, वृद्धावस्थारूपी चन्द्रोदय से शुभ्र (सफेद और प्रकाशमय) शरीररूपी नगर में स्थित जीविताशारूप तालाब में मृत्युरूपी कुमुदिनी क्षणभर में विकास को प्राप्त होती है अर्थात् जैसे चन्द्रमा के उदित होने से प्रकाशमय नगर में स्थित तालाब में कुमुदिनी शीघ्र विकसित हो जाती है, वैसे ही वृद्धावस्था से सफेद हुए शरीर में स्थित जीविताशा में शीघ्र मृत्यु का आविर्भाव हो जाता है ॥३५॥ वृद्धावस्थारूपी चूने के लेप से (पुताई से) शुभ्र शरीररूपी अन्तःपुर के (रनवास के) भीतर अशक्ति (सामर्थ्य का अभाव), पीड़ा और आपत्तिरूपी महिलाएँ बड़े चैन से रहती हैं ॥३६॥ जिन जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्जरूप चार प्रकार के शरीरों में पहले वृद्धावस्था आक्रमण करती है और उसके आगे मृत्यु अवश्य आनेवाली है, उन्हीं शरीरों में से एक इस शरीर में (उन शरीरों के सजातीय इस शरीर में) मुझ अतत्त्वज्ञ का क्या विश्वास हो सकता है? पहले वृद्धावस्था का तदन्तर मृत्यु का ग्रास होनेवाले इस शरीर में मेरी तनिक भी आस्था नहीं है, यह भाव है ॥३७॥ हे तात, जो वृद्धावस्था को प्राप्त होकर भी बना रहता है, उस दुष्ट जीवन के दुराग्रह से (दुरभिलाषा से) क्या प्रयोजन है अर्थात् कुछ भी नहीं, वह व्यर्थ ही है क्योंकि वृद्धावस्था इस पृथिवी में मनुष्यों की सम्पूर्ण एषणाओं का तिरस्कार कर देती है। अर्थात् वृद्धावस्था के आनेपर कोई भी पुरुष

अपनी किसी इच्छा को पूर्ण नहीं कर सकता, इसलिए दुःखप्रद दुष्ट जीवन की दुराग्रहपूर्वक इच्छा करना निष्फल ही है, यह भाव है ॥३८॥

बाईसवाँ सर्ग समाप्त

तेईसवाँ सर्ग

प्राणियों के पुण्य और पाप के बल से उत्कृष्ट अपनी चेष्टाओं द्वारा प्राणियों से कर्म करा रहे काल का वर्णन।

इस प्रकार भोग्य श्री, भोगतृष्णा और भोगकाल के बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था के दोषों का विस्तारपूर्वक वर्णन कर और ये अन्त में केवल असीम दुःख के ही कारण होते हैं, ऐसा उपपादन कर श्रीरामचन्द्रजी ने ऐहिक और परलौकिक पदार्थ और उनके फलों में अपना वैराग्य दर्शाया। अब काल आदि के स्वभाव के वर्णन द्वारा नित्य और अनित्य पदार्थों का विवेक दर्शाने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, मेरी यह भोग्य वस्तु है, मैं इसका भोग करनेवाला हूँ, ये भोग के उपकरण हैं, इस उपकरण से (साधन से) इस वस्तु को हस्तगत कर मैं चिरकाल तक इसका भोग करूँगा, मेरा यह मनोरथ आज पूर्ण हो गया, मुझे आशा है कि इस दूसरे मनोरथ को भी मैं शीघ्र प्राप्त कर लूँगा इत्यादि असंख्य मानसिक संकल्पविकल्पों द्वारा अनन्त व्यावहारिक वचनों से पूर्ण एवं तुच्छ शरीर में आत्मबुद्धि करनेवाले या अल्प वैषयिक सुख में पुरुषार्थ–बुद्धि करनेवाले मूढ़ों ने शत्रु, मित्र, उदासीन आदि भेदों से, हेय, उपादेय और उपेक्षणीय आदि भेदों से और तत्प्रयुक्त राग–द्वेषादि भेदों से संसाररूपी छिद्र में अन्यथाग्रहरूपी भ्रम को दुश्छेद्य बना दिया है ॥१॥ जाल के समान दूर से ही आकृष्ट कर बाँधनेवाले विषयों तथा पिंजड़े के समान परिच्छिन्न स्थान में बाँधनेवाले देह के समूहरूप इस अवस्तुभूत संसार के प्रति विवेकियों को कैसे आदर हो सकता है ? दर्पण में प्रतिबिम्बित फल को बालक ही खाने की इच्छा करते हैं, विवेकी नहीं। भाव यह है कि जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बित फल को खाने की इच्छा करना मूर्खता है, वैसे ही अवस्तुभूत इस संसार में आस्था करना मूर्खता ही है ॥२॥ इस प्रकार के अवस्तुभूत संसार में जिनको क्षुद्र सुख की आशा होती है, उनकी उस आशा को काल, जैसे तृण के सिरे से कुएँ में लटक रहे मकड़ी के जाले को चूहा पूर्णतया काट देता है वैसे ही, निःशेषरूप से काट देता है ॥३॥ जैसे बडवाग्नि चन्द्रोदय आदि से उमड़े हुए समुद्र को नष्ट करती है, वैसे ही इस संसार में उत्पन्न हुई ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जिसे यह सर्वभक्षी काल न नष्ट करता हो, अर्थात् जैसे बड़वाग्नि प्रतिदिन समुद्र को सोखती है, वैसे ही यह सर्वभक्षी काल भी प्रत्येक वस्तु को निगलता है ॥४॥ भयंकर रुद्ररूपी काल सर्वसाधारणरूप से इस सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच को निगलने के लिए सदा उद्यत रहता है। असंख्य ब्रह्माण्डों को अपने उदरस्थ करने के कारण सर्वात्मता को प्राप्त हुआ, यह काल बल, बुद्धि और वैभव आदि से महान् भूतों के लिए एक क्षणभर भी नहीं ठहरता अर्थात् सबको तुरन्त नष्ट कर देता है ॥५,६॥ युग, वर्ण और कल्प नामक क्रियोपाधिक (क्रिया द्वारा प्राप्त) रूपों से काल अंशतः ही प्रकट है, उसका वास्तविक रूप कोई नहीं देख सकता। वह संसार की सम्पूर्ण वस्तुओं को अपने वश में करके बैठा है ॥७॥ जैसे गरुड़ साँपों को निगल जाता है, वैसे ही काल भी जो अनुपम

रूप से सम्पन्न थे, जो पुण्यात्मा थे और जो सुमेरु पर्वत के समान गौरवान्वित थे, उन्हें हड़प कर गया। यह काल बड़ा निर्दय, पत्थर के समान कठोर, बाघ आदि के समान क्रूर आरेके तुल्य कर्कश, कृपण और अधम है। आज तक ऐसी कोई वस्तु नहीं देखी गई, जिसे इस काल ने अपने गाल में न समा लिया हो॥८,९॥ इसका चित्त सदा निगलने में ही लगा रहता है, यह एक को निगलता हुआ दूसरे को निगलता है। असंख्य लोग इसकी उदरदरी में समा चुके हैं, पर यह ऐसा पेटू है कि इसे तृप्ति ही नहीं हुई अर्थात् अब भी यह अपने उसी स्वाभाविक वेग से जीवों को लगातार निगलता जा रहा है॥१०॥ जैसे ऐन्द्रजालिक अपने विविध खेलों को आरम्भ करता है, उनका अन्त कर डालता है, उनको बिगाड़ देता है, कोई खाद्य पदार्थ बनाकर उसे खा जाता है और बरबाद कर देता है, वैसे ही यह काल भी अपने विविधरूपवाले संसाररूपी नृत्य को आरम्भ करता है, बन्द कर देता है, बिगाड़ देता है, खा जाता है और नष्ट कर देता है अर्थात् धन-सम्पत्ति आदि में जो कुछ भी हरण, नाश, व्यय आदि होते हैं, उन सबको हरणकर्ता, नाशकर्ता आदि के रूप से स्थित काल ही करता है, दूसरा नहीं॥११॥ जैसे तोता दाड़िम के फल को तोड़कर उसके भीतर के बीजों को खा जाता है, वैसे ही यह काल भी इस जगत् में व्याकृतावस्था में स्थित भूतों को (जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज भेद से चार प्रकार के प्राणियों को) नाश द्वारा असत् बनाकर, तोड़-मरोड़कर खा जाता है॥१२॥ शुभ और अशुभ (पुण्य और पाप) रूप दाँतों से मनुष्यरूपी पत्तों को छिन्न-भिन्न करनेवाला अभिमानपूर्ण जनता के जीवसमूहरूपी महाअरण्य में रहनेवाला गजरूप यह काल बड़े जोर से चिंघाड़ता है अर्थात् जेसे महाअरण्य में रहनेवाला और अपने दाँतों से वृक्षों के पत्तों को छिन्न-भिन्न करनेवाला हाथी बड़े जोर से दहाड़ मारता है, वैसे ही पुण्य-पापरूपी अपने दाँतों से प्राणियों को चबा डालनेवाला और दर्पपूर्ण जनता के जीवसमूहरूपी महाअरण्य का गज यह काल बड़े जोर से दहाड़ता है, गरजता है॥१३॥ अपंचीकृत पंचभूतों से उत्पन्न ब्रह्माण्डरूपी महान् और देवतारूपी फलों से युक्त वृक्षों से पूर्ण (अर्थात् ब्रह्मरूपी वनमें अंपचीकृत पंचभूतों से उत्पन्न अनेक ब्रह्माण्ड ही महान् वृक्ष हैं, और देवता ही ब्रह्माण्ड रूपी महावृक्षों के फल हैं) और मायिक जगत् रूप से युक्त (सप्रपंच) ब्रह्मरूपी महावन को (दुस्तर होने के कारण ब्रह्म को महावन कहा) पूर्णरूप से आवृत्त करके (ढँककर) यह काल बैठा है, क्योंकि काल के उदर में ही सब वस्तुओं की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश देखा जाता है, यह भाव है॥१४॥ यह काल रात्रिरूपी भँवरों से चारों ओर व्याप्त और दिनरूपी मंजरियों से शोभित वर्ष, कल्प (ब्रह्मा का दिन) और कालरूपी (📖) लताएँ बराबर बनाता रहता है पर इसे कभी कुछ भी परिश्रम नहीं होता, जिससे कि यह अपने व्यापार से विरत हो॥१५॥ मुनिवर, यह काल धूर्तों का सिरताज है, इसे कितना ही तोड़ो पर यह टूटता नहीं, जलाने पर जलता नहीं और दृश्य होने पर भी स्वरूप से नहीं दिखाई देता इसकी धूर्तता की सीमा नहीं है॥१६॥ सर्वव्यापक यह काल मनोराज्य के अनुरूप है। जैसे मनोराज्य एक पलक में किसी वस्तु के स्वरूप को हूबहू खड़ा कर देता है और किसीको बिलकुल विनष्ट कर डालता है, वैसे ही यह काल भी एक ही पलक

📖 १८ निमेष की १ काष्टा, ३० काष्टा की १ कला, २० कला का १ क्षण, १२ क्षण का १ मुहूर्त, ३० मुहूर्त का १ अहोरात्र (रात्रि-दिन) इस प्रकार आजकल के मानसे १ कला =२/१५ मिनट या ८ सेकण्ड है।

में किसी वस्तु को सर्वांगपूर्ण बनाकर खड़ा कर देता है और किसी वस्तु को निःशेष विनष्ट कर देता है, इसलिए इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है ॥१७॥ यह काल अपने दुर्विलासों में विलास करनेवाली प्राणियों के कष्ट से ही परिपुष्ट हुई चेष्टारूपी भार्या द्वारा भौतिक देह, इन्द्रिय आदि द्रव्यो में तादात्म्याध्यास होने के कारण अपने वास्तविक स्वरूप को न जाननेवाले जीव को स्वर्ग और नरक में घुमा रहा है। यह काल बड़ा पेटू है, इसको सदा अपने पेट भरने की ही चिन्ता रहती है, चाहे तिनका हो, चाहे धूलि हो, चाहे इन्द्र हो, चाहे सुमेरु हो, चाहे पत्ता हो, चाहे समुद्र हो, सभी को अपने आधीन करने के लिए निगलने के लिए उद्यत रहता है ॥१८,१९॥ यह काल इतना क्रूर है मानों संसारभर की सम्पूर्ण क्रूरता इसी में कूट–कूट कर भरी गई है, यह लोभी इतना है कि संसारभर की लुब्धता इसे अपना घर बनाये है, सम्पूर्ण दुर्भाग्यों का यह आगार है और दुःसह चपलता भी इसीमें है अर्थात् यह सबसे अधिक क्रूर, बेजोड़ लोभी, नितान्त अभागा और महाचपल है ॥२०॥ जैसे बालक अपने आँगनमें खेलके गेंदों को बारबार उछालता है, वैसे ही यह क्रूरतम काल खेल के (मन बहलाव के) लिए सूर्य और चन्द्रमाको आदेश देकर आकाश में मानों खेलता है ॥२१॥ प्रलयकाल में यह काल सब प्राणियों को नष्टकर और अपने शरीर को उनकी (सब प्राणियोंकी) हड्डियों की मालाओं से पैर तक ढाँककर खूब शोभित होता है ॥२२॥ प्रलय के समय निरंकुश चरित्रवाले इस काल के अंगों से निकले हुए वायुओं से विशाल सुमेरु पर्वत भूर्जपत्र के समान आकाश में फड़फड़ाता है अर्थात् चारों ओर से टूटने फूटने लगता है। बात यह है कि जैसे वायु से अतिकोमल भूर्जपत्र फटकर नष्ट हो जाता है, वैसे ही इस निरंकुशशिरोमणि के शरीर से निर्गत वायुओं से विशालतम सुमेरु पर्वत आकाश में उड़कर विशीर्ण हो जाता है ॥२३॥ यह काल रुद्र का रूप धारण कर महेन्द्र का रूप धारण करता है, फिर ब्रह्मा का रूप धारण करता है, फिर इन्द्र होता है और फिर कुबेर होता है, और अन्त में कुछ भी नहीं अर्थात् प्रलय में पर्यवसित हो जाता है ॥२४॥ जैसे सदा परिपूर्ण सागर रात–दिन अपने में अन्य तरंगों को धारण करता हुआ पहले की बड़ी–बड़ी तरंगों को नीचेकर देता है अर्थात् अपनेमें विलीन कर देता है, वैसे ही तत्परतापूर्वक रात–दिन अन्य नई–नई सृष्टियों को करता हुआ यह काल पूर्व की अति दैदीप्यमान सृष्टियों को नष्टकर देता है ॥२५॥ यह काल महाकल्परूपी वृक्षों से देवता, मनुष्य और राक्षसरूपी पके हुए फलों को गिरा रहा है ॥२६॥ यह काल प्राणिरूपी बहुत छोटे–छोटे मच्छरों से धुम्, धुम् ऐसा शब्द कर रहे और शीघ्र गिरनेवाले ब्रह्माण्डरूपी गूलर के फलों का बड़ा भारी वृक्ष है अर्थात् जैसे छोटे छोटे मच्छरों से गूँज रहे शीघ्र गिरनेवाले गूलर के फल गूलर के पेड़ में होते हैं, वैसे ही प्राणियों के शब्दों से गूँज रहे और शीघ्र गिरने वाले ब्रह्माण्डरूपी फलों का आश्रयभूत वृक्ष है, वैसे ही उक्त ब्रह्माण्डों का उत्पादक यह काल है, यह भाव है ॥२७॥ तत्–तत् प्राणियों के शुभाशुभक्रिया (पुण्य–पाप) रूप प्रियतमा से युक्त काल सब के अधिष्ठानभूत चित्रूप (चैतन्यरूप) चाँदनी के केवल सन्निधान से प्रकट हुई जगत् की सत्तारूपी कुमुदिनीयों से प्राणियों की क्रियारूप अपनी स्त्री अपने अद्वितीय स्वरूप को विनोदित करता है। विहारकौतुक से कालयापन ही विनोद है। यहाँ पर काल ही विहार करनेवाला है। विहार करनेवाला काल जिस काल का यापन करे ऐसा दूसरा काल प्रसिद्ध नहीं है, अतः स्वशरीर को ही विनोदित करता है, यह भाव है ॥२८॥ जैसे महापर्वत (हिमालय) पृथिवीमें पूर्व और उत्तर की सीमा से शून्य प्रदेश में

स्थित अपने शरीर का अवलम्बन करके खड़ा है वैसे ही यह काल भी अपरिच्छिन्न, आदि-अन्तरहित ब्रह्म में प्रतिष्ठित अपने स्वरूप का अवलम्बन करके स्थित है ।।२९।। यह काल कहीं पर (रात्रि आदि काले पदार्थों में) काले अन्धकार के तुल्य श्यामल, कहीं पर (दिन, चाँदनी, मणि आदि प्रकाशमान पदार्थों में) कान्ति से परिपूर्ण और कहीं पर (भण्डार और भीत आदि में) अन्धकार और कान्ति से शून्य अपने कार्य को करता हुआ स्थित है । यह विलीन हुए असंख्य प्राणिपूर्ण संसारों के सारभूत और सबका आधार होने से अत्यन्त भार से युक्त अपने स्वरूप से पृथिवी के समान ऐसा स्थित है कि इसकी जड़ कभी भी हिल नहीं सकती ।।३०,३१।। सैकड़ों महाकल्पों से न तो इसे खेद होता है, न प्रसन्नता होती है, न यह आता है, न जाता है, न अस्त को प्राप्त होता है और न उदित होता है । यह काल अत्यन्त अनादरपूर्वक जगत् की रचनारूप लीला से अहंकार से रहित और सर्वत्र व्याप्त अपनी आत्मा का पालन ही करता है, उसका विनाश कभी नहीं करता ।।३२,३३।। यह काल लगातार रात्रिरूपी पंक से उत्पन्न हुई और मेघरूपी भँवरी से युक्त दिनरूपी लाल कमलों की श्रेणी का अपने आत्मरूपी तालाब में रोपण करता रहता है ।।३४।। यह लोभी काल पुरानी सम्मार्जनी (बुहारी) रूपी काली रात्रि को लेकर कनकाचल के (सुमेरु के) चारों ओर उससे गिरे हुए आलोकरूपी सुवर्ण के कणों को बटोरता रहता है । एक बार झाड़ू से बटोरने पर बहुत-सा सुवर्ण मिलनेपर भी यह सन्तुष्ट नहीं होता और लोभी इतना बड़ा है कि नई सम्मार्जनी भी नहीं ले सकता, यह भाव है ।।३५।। लोभी होने के कारण ही कार्यरूपी उँगली से दिशाओं के कोनों में सूर्यरूपी दीपक ले जाता हुआ यह काल जगत्‌रूपी घर में कहाँ पर क्या है ? यह देखता है ।।३६।। दिनरूपी पलकों से युक्त सूर्यरूपी नेत्र से ये बहुत अच्छी तरह पक गये हैं, यह देखकर जगत्‌रूपी पुराने वन से यह लोकपालरूपी फलों को तोड़कर खाता है ।।३७।। जगत्‌रूपी पुराने फूस के झोपड़े में प्रमाद से इधर-उधर गिरे हुए गुणवान् जनरूपी मणियों को यह काल महान् उदरवाले मृत्युरूपी सन्दूक में क्रमशः डालता है ।।३८।। जो जनरूपी रत्नावली गुणों से (सूत्रों से) अत्यन्त पूर्ण हो जाती है, मानों अलंकार के लिए उसको अपने अवयवरूप सत्य, त्रेता आदि युगों में रखकर फिर उन्हें नष्ट कर देता है ।।३९।। यह चंचल काल बीच-बीच में दिनरूपी हंसों से गुँथी गई तारारूपी केसर से पूर्ण रात्रिरूपी नीलकमलों की माला को पाँच ऋतुरूपी अंगुलियों से युक्त वर्षरूपी हाथ के प्रकोष्ठ में कंकण के समान नित्य धारण करता है ।।४०।। पर्वत, समुद्र, द्युलोक और पृथिवीरूप चार श्रृंगवाले जगत्‌रूपी भेड़ों का हिंसक यह काल आकाशरूपी आँगनमें बिखरे हुए तारारूपी रक्त के बिन्दुओं को भी देखकर प्रतिदिन उन्हें चाटता है ।।४१।। यह काल यौवनरूपी कमलिनी के लिए चन्द्रमारूप और आयुरूपी गज के लिए सिंहस्वरूप है । इस संसार में अत्यन्त तुच्छ या महान् ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसका कि यह काल नाश न करता हो ।।४२।। जैसे जीव सुषुप्तिकाल में सब दुःखों का संहाकर अज्ञानमात्र के अवलम्बन से स्थिति करता है, वैसे ही जिसने जन्तुओं को पीसकर मृत्यु के मुँह में गिरा दिया है, ऐसे प्रलयरूपी क्रीडा के विलाससे पदार्थों का अभाव रूप यह काल भी अज्ञानावभासक अपने अधिष्ठानभूत ब्रह्म चैतन्य का अवलम्बन कर आत्मभूत उसीमें रमण करता है उससे पृथक् नहीं होता । इस प्रकार प्रलयकाल में विश्राम लेकर यह काल ही फिर सृष्टिकाल में संसार का कर्ता, भोक्ता, संहारक, स्मर्ता आदि सब पदार्थों के स्वरूप को प्राप्त हुआ है अर्थात् यह स्वयं ही कर्ता, भोक्ता संहारक, सुभग, दुर्भग आदि बना

है ॥४३,४४॥ बुद्धिकौशल से इस काल के रहस्य का किसीने निश्चय नहीं कर पाया है, पुण्य फल के उपभोग के अनुकूल सुन्दर रूप और पाप फल के भोग के अनुरूप कुरूप को धारण करनेवाले सम्पूर्ण शरीरों की सहसा सृष्टि, रक्षा और संहार करता हुआ यह प्रदीप्त हो रहा है। इस संसार के सम्पूर्ण जीवों में काल सबसे अधिक बलवान् है ॥४५॥

तेईसवाँ सर्ग समाप्त

चौबीसवाँ सर्ग

मृगया में कौतूहल करनेवाले राजकुमार के रूपक से अपनी प्रियतमा कालरात्रि से युक्त काल का वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिश्रेष्ठ, यह काल राजकुमार (卐) के अनुरूप है। संसार में इसकी लीलाएँ बड़ी विकट है, इसके समीप एक भी आपत्ति नहीं फटक सकती और इसका पराक्रम विचार शक्ति के बाहर है। इस सर्ग में उक्त काल के ही चरित्र का वर्णन किया जाता है ॥१॥ इस जीर्ण–शीर्ण जगत्रूपी वनराजि में दीन–हीन और अज्ञानी प्राणीरूपी मृगों का शिकार कर रहे इस राजकुमाररूपी काल के लिए प्रलयकाल का महासागर क्रीड़ार्थ बनाई गई रमणीय बावड़ी है, जिसके एक भाग में बड़वानलरूपी सुन्दर कमल लहलहा रहे हैं। दधिसागर, क्षीरसागर सहित तथा कड़ुवे, तीखे और खट्टे विविध खाद्यों से पूर्ण सदा एकरूप से रहनेवाले चिरकाल से स्थित अनेक जगत् इस राजकुमाररूपी काल के कलेवे (नाश्ते के पदार्थ) हैं (✲) ॥२–४॥ चलने में बड़ी दक्ष अर्थात् शीघ्र चलनेवाली सब मातृगणों से युक्त और बाघिन के समान प्राणियों का नाश करनेवाली इस राजकुमाररूपी काल की प्रिय पत्नी कालरात्रि संसाररूपी वन में विहार करने के लिए नियुक्त है ॥५॥ चंचल श्वेतकमल, नीलकमल और रक्तकमलों से परिवेष्ठित मधुर जल से युक्त विशाल पृथ्वी ही इसके हाथ में मधुर (✎) मद्य से पूर्ण विशाल पानपात्री (मद्य पीने का पात्र) है। गर्जनेवाले, भीषण ताल ठोंकनेवाले और केसरों से (गर्दन के बालों से) जिनका कन्धा ढका हुआ है वे नृसिंहदेव (विष्णु के अवतार) इसके भुजारूपी पिंजड़े में हिरण्यकशिपु आदि दानवों के हिंसारूपी क्रीड़ा के लिए बाज पक्षी बनाये गये हैं ॥६,७॥ ब्रह्माण्डों की माला को धारण करने के कारण तुम्बों से बनाई गई वीणा के समान सुन्दर रूप और ध्वनि से युक्त (🔔) और शरद् ऋतु के आकाश के तुल्य स्वच्छ नीली कान्तिवाला संहार भैरव इसकी क्रीडा के लिए कोकिल का बच्चा बनाया गया है ॥८॥ सदा टंकार शब्द करनेवाला और लगातार दुःखरूपी बाणों को उगलनेवाला उसका संहार नाम का धनुष चारों ओर चमचमा रहा है ॥९॥ ब्रह्मन्, इस काल से

卐 परब्रह्म सूर्य, चन्द्र आदि को भी प्रकाशित करता हुआ प्रदीप्त होता है अतः वह राजा कहलाता है। काल उसकी पटरानीरूप अनादि माया से उत्पन्न हुआ है और जगत्–रूपी युवराज सम्पत्ति का भोक्ता है अतः यह उक्त राजारूपी परब्रह्म का पुत्र–कुमार कहलाता है।

✲ कड़वा, तीखा एवं दही से युक्त वासी कलेवा द्राविड़ों में प्रसिद्ध है।

✎ मद्य को सुगंधित बनाने के लिए एवं उसको सुशोभित करने के लिए मद्यपात्र भी कमलों से परिवेष्ठित होता ही है।

🔔 यद्यपि उसका स्वरूप और शब्द औरों को भीषण प्रतीत होते हैं, तथापि काल उससे भी भयानक है उसकी दृष्टि में वे मधुर ही हैं, यह दर्शाने के लिए वह सुन्दर रूप और ध्वनि से युक्त कहा गया है।

बढ़कर विलास करनेमें प्रवीण कोई नहीं है, यह राजपुत्र रूपी काल स्वयं भी दौड़ता है और इसके लक्ष्यभूत प्राणी भी निरन्तर दौड़ते रहते हैं फिर भी इसका लक्ष्य (निशाना) नहीं चूकता। यह सबको ही दुःखरूपी बाणों से विदीर्ण करता रहता है। यह काल ही सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ लक्ष्यवेधी (निशानेबाज) है। यह जीर्ण जगत् में बन्दर की भाँति चंचलवृत्तिवाले विषयलोलुप जनों को व्याकुल बनाता है और स्वयं उक्त प्रकार से विराजमान रहकर मृगया का आनन्द लेता है ॥१०॥

चौबीसवाँ सर्ग समाप्त

पचीसवाँ सर्ग

कर्म और कर्मफलरूप दूसरे काल के अद्भुत नृत्यों का वर्णन।

इस प्रकार महाकाल का राजपुत्र के रूपक द्वारा वर्णन कर उसके उपाधिभूत कर्मरूप काल का, उसके मनोविनोद के लिए, दो प्रकार के नर्तकरूप से कल्पना कर वर्णन करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, इस संसार में दुश्चरित्रों के शिरोमणि पूर्वोक्त महाकाल से अन्य एक दूसरा काल है, अन्य काल होने पर भी यह पूर्वोक्तकाल का अवस्थाभेद है, उसका यहाँ पर वर्णन किया जाता है। वह इस लोक में प्राणियों की सृष्टि और संहार करता है, लोग उसे दैव (भाग्य) और काल भी कहते हैं ॥१॥

सूचीकटाह न्याय से पहले दूसरे का वर्णन करते हैं।

मुनिश्रेष्ठ, स्वकर्मरूपी जिसका फलसिद्धि के अतिरिक्त न कोई दूसरा रूप देखा जाता है, न कर्म देखा जाता है और न कोई अभिलाषा देखी जाता है, उसीने, जैसे सूर्य का प्रखर ताप बरफ को पिघला कर नष्ट कर देता है, वैसे ही सुकुमार इन सम्पूर्ण प्राणियों को सर्वथा नष्ट कर दिया है। भाव यह है कि सभी अनर्थों की जड़ अपना कर्म ही है। जो यह विस्तीर्ण संसाररूपी मण्डल दिखाई दे रहा है, वह उस काल की नृत्यशाला है, वह इसमें खूब जी भर कर नृत्य करता है ॥२-४॥

उक्त दो कालों में से प्रथम केवल शास्त्र से ही जाना जा सकता है, उस पर विश्वास दृढ़ करने के लिए उसका विस्तार से वर्णन करते हैं।

यह दैव पूर्वोक्त महाकाल की अपेक्षा तीसरा है। यह बड़ा उन्मत्त है, कृतान्त इस अतिभीषण नाम को धारण कर नरमुण्डधारी वेष में संसार में नृत्य करता है। मुनिजी, इस संसार में नृत्य कर रहे इस कृतान्त का नियतिरूप प्रिय भार्या में अत्यन्त अनुराग है ॥५॥ किये हुए कर्मों के फल की अवश्यम्भावितारूप नियम में बड़ा अनुराग है। यह किये हुए कर्मों का फल (♨) अवश्य देता है, यह भाव है ॥६॥ चन्द्रमा की कला के समान सफेद शेषनाग और तीन धाराओं में विभक्त गंगा का प्रवाह ये दोनों उसके संसाररूपी वक्षस्थल में उपवीत और अवीत यज्ञोपवीतरूप (卐) में विद्यमान है। सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डल

♨ दैव-प्राणियों को शुभ-अशुभ कर्म का फल देनेवाला अर्थात् फलोन्मुख भाग्य और काल-जो अवश्य फल को उत्पन्न करता है अर्थात् क्रियावस्था काल। यों एक ही काल का उत्तरावस्था और पूर्वावस्था के भेद से दो प्रकारों से वर्णन किया गया है।

卐 गंगा की एक धारा स्वर्ग में बहती है, दूसरी पृथ्वी में और तीसरी पाताल में। ये तीन धाराएँ काल के गले में उपवीत यज्ञसूत्र के सदृश प्रतीत होती हैं। बाएँ कन्धे में स्थित यज्ञोपवित को उपवित कहते हैं और दक्षिण स्कन्ध में स्थित यज्ञोपवितको अवीत कहते हैं। शेषनाग उसका अवीतरूप में स्थित यज्ञसूत्र है।

उसके हस्ताभरण हैं और सुमेरू पर्वत उसके हाथ में स्थित लीलाकमल है। प्रलयकाल के सागर में धोया गया असीम आकाश उसका एकमात्र वस्त्र है। वह तारारूपी चित्र–विचित्र बिन्दुओं से व्याप्त है और प्रलय के पुष्कर और आवर्त नाम के मेघ उसके चंचल छोर हैं। इस प्रकार के कृतान्तरूप काल के सामने उसकी भार्या नियति आलस्यरहित होकर लगातार प्राणियों के समुचित भोगानुरूप कार्यारम्भ द्वारा नाचती है। नियति की क्रियाशक्ति कभी क्षीण नहीं होती और नृत्य करने के कारण उसके अंग प्रत्यंग सदा चंचल रहते हैं। उसका नाच देखनेवाले प्राणियों के जन्म और नाश से चंचल जगत्–मण्डलरूपी कोठरी में नाच रही उस नियति के अंगों में देवलोक सहित अन्य लोकों की पंक्ति सुन्दर भूषण हैं और पातालपर्यन्त आकाश उसका लम्बमान बड़ा भारी केशों का जूड़ा है। प्राणियों के रोदन के कोलाहल से गुलजार और नरक की अग्नियों से दैदीप्यमान नरकों की पंक्ति उसके पातालरूप चरण में स्थित मंजीरमाला पाजेब है और वह पापरूपी तागे से पिरोई गई है ॥७–१३॥ चित्रगुप्त प्राणियों के कर्मरूपी सुगन्ध को प्रकट करता है, अतः वह कस्तूरीस्वरूप है। उक्त कस्तूरीभूत चित्रगुप्त से क्रियारूपी सखी द्वारा उसके यमरूप कपाल में सुन्दर तिलक बनाया गया है। भाव यह है कि यम इस नियति का ललाट (🔔) है और चित्रगुप्त उसमें स्थित कस्तूरी तिलक है, उसे क्रियारूपी सखीने तैयार किया है। प्रलयकाल में काल की प्रिय पत्नी यह नियतिदेवी अपने पति काल के इंगितपूर्ण मुख के अभिप्राय को जानकर बड़ी चंचलता के साथ फिर नाचना आरम्भ कर देती है। इसके नाचने में चट्टानों के टूटने का सा घोर शब्द होता है। वह नियतिदेवी महाप्रलयों में नाचने के समय पृष्ठ भाग में गले से सीधी लटक रही माला में चंचल कार्तिकेय के वाहनरूप मृत मयूरों से शोभित होती है। लम्बमान चंचल जटाओं में चन्द्रमासे लांछित महादेवजी के मुण्डों से, जो तीन नेत्रों के बड़े–बड़े छिद्रों से निकल रहे विपुल भाँय–भाँय शब्द से भयंकर प्रतीत होते हैं, विकसित मन्दार के पुष्पों से शोभित श्रीपार्वतीजी के केशरूपी चँवरों से, ताण्डव के समय पर्वताकार हुए संहारभैरव के उदररूपी तुम्बों से और एक हजार सात छेदों (📖) से युक्त इन्द्र की देहरूपी भिक्षापात्रों से (खप्परों से), जो नाचने के समय खनखन शब्द करते हैं, बड़ी शोभित होती है। सबका संहार करनेवाली यह नियति देवी सूखे हुए नर–कंकालरूपी खट्वांगों से (पाटियों से) आकाशमण्डल को पूर्णकर अपने को आप ही भयभीत करती है। नाचने के समय हिल रही जीवों के भाँतिभाँति के मस्तकरूपी सुन्दर कमलों की माला से इसकी शोभा की सीमा नहीं रहती। प्रलय के समय नियतिदेवी के उद्धत प्रलयकाल के मेघरूपी डमरू के भीषण शब्दों से तुम्बुरु आदि गन्धर्व भागते हैं ॥१४–२१॥

नियति देवी के नृत्य और नृत्य की सामग्री का वर्णन कर उसके पति के भी नृत्य का वर्णन करते हुए उसके भूषणों को कहते हैं।

🔔 यहाँ पर काल के ललाट और पैर–इन आदि और अन्त अंगों की भूषणकल्पना का ही वर्णन किया गया है, इसीसे उसके शरीर के अन्य अवयवों की भूषणकल्पना का भी यथायोग्य स्वयं अनुमान कर लेना चाहिये।

📖 अन्य देहियों के शरीरों में नौ छिद्र प्रसिद्ध है, परंतु इन्द्र सहस्राक्ष (हजार नेत्रवाले) हैं। उनके शरीर में एक हजार छिद्र तो नेत्रों के हैं तथा सात छिद्र और हैं, इस प्रकार नौ छिद्रवाले प्रसिद्ध अन्य शरीरों से एक हजार सात छिद्रवाला इन्द्र का शरीर विलक्षण है।

पूर्वोक्त नृत्यशाला के अन्दर नियति देवी का पति कृतान्त नृत्य करता है। कुण्डलभूत चन्द्रमण्डल से वह अति शोभित है और उसके केश तारे और चाँदनी से मनोहर आकाशरूपी पिच्छ से (मोरपंख से) अलंकृत है। उसके दाहिने कान में हिमालयरूपी हड्डी का बना अँगूठी के आकार का चमकदार कुण्डल है और बाँए कान में महान् सुमेरु पर्वत ही सोने का सुन्दर कुण्डल है। उसके चन्द्रमा और सूर्य ही उक्त दोनों ही कानों में गालों की शोभा को बढ़ानेवाले चंचल कुण्डल हैं। लोकालोकाचल पर्वत की श्रेणी उसकी कमर के चारों ओर लगी हई मेखला (करधनी) है। बिजली उसके हाथ का गोलाकार कंकण है और वह नृत्य के समय कभी इधर कभी उधर सरकता है। मेघ ही उसके रंग-बिरंग के वस्त्रों के टुकड़ों से बनी हुई कन्था है और वह वायु से सदा हिलती-डुलती हुई शोभित होती है। इसके गले में मुसल, पट्टिश, प्रास, शूल, तोमर और मुद्गरों से बनी हुई माला शोभा पा रही है, वे मूसल आदि ऐसे तीक्ष्ण हैं कि मानों पूर्व-पूर्व की जितनी सृष्टियाँ नष्ट हुई थी, उनसे निकले हुए मृत्यु ही इकट्ठे हो गये हों। यह माला शेषनाग के शरीररूपी महारस्सी से बँधे हुए, पूर्वोक्त राजपुत्ररूप काल के हाथ से गिरे हुए और जन्म-मरणशील जीवरूपी मृगों के बन्धन के लिए बिछाए गये जाल में गुँथी हुई है। सात समुद्रों की श्रेणी ही इसके बाहुओं के कंकण हैं, वे रत्नों की कान्ति से खूब चमकते हैं और सजीव मछलियाँ उनमें विद्यमान हैं ॥२२-२८॥

अन्य लोगों के कंकणों में निर्जीव मछलियों की आकृति बनाई जाती है, पर इसके कंकणरूपी समुद्रों में सजीव मछलियाँ विद्यमान है, यह भाव है।

शास्त्रीय और स्वाभाविक व्यवहाररूप आवर्त से (भँवर से) युक्त, रजोगुण पूर्ण तमोगुण से काली सुख-दुःखपरम्परा उसकी रोमावली के रूप में विराजमान हैं। इस प्रकार का वह कृतान्त प्रलयकाल में ताण्डव को उत्पन्न करनेवाली नृत्येच्छा (नाचने की इच्छा) का परित्याग करता है, अर्थात् उक्त नृत्यचेष्टा से विरत होकर चिरकाल तक विश्राम करता है। तदनन्तर ब्रह्मा आदि के साथ भूतों की फिर सृष्टि कर पुनः नृत्यलीला का विस्तार करता है। उसकी उक्त नृत्यलीला अंग-प्रत्यंग के अभिनय से पूर्ण है और वृद्धता, शोक, दुःख और तिरस्कार उसके आभूषण हैं। जैसे बालक गीली मिट्टी को लेकर नाना प्रकार के खिलौने आदि बनाता है और थोड़ी देर में उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर देता है, वैसे ही काल भी आलस्य रहित होकर चौदह भुवन, विविध देश, वन और असंख्य तथा विविध जीव और उनके सुन्दर श्रौतस्मार्तादिरूप आचार-विचारों की सृष्टि कर फिर उन्हें नष्ट कर देता है उक्त आचार-विचार सत्ययुग और त्रेतायुग में निश्चल रहते हैं तथा कलियुग और द्वापरयुग में चल हैं ॥२९-३२॥

पचीसवाँ सर्ग समाप्त

छब्बीसवाँ सर्ग

वैराग्य की उत्पत्ति के लिए विविध दोषों द्वारा कालाधीन संसार की अनेक दुर्दशाओं का वर्णन।

काल ऐसा करे उससे तुम्हारा क्या बिगड़ता है, ऐसी आशंका कर काल आदि सब वस्तुओं में आगे अपनी दोषदृष्टि दर्शानेवाले श्रीरामचन्द्रजी उसके फलभूत वैराग्य को दिखलाते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिश्रेष्ठ, जब इस संसार में पूर्वोक्त काल आदि का इस प्रकार का चरित्र

है, तब भला बतलाइये तो सही इसमें मेरे जैसे मनुष्यों का क्या विश्वास हो सकता है ? मुनिवर, यह बड़े दुःख का विषय है कि शब्द आदि विषयों के विस्तार में दक्ष इन दैव आदि (पूर्व जन्म के कर्म आदि) से प्रपंच–रचनाओं द्वारा मोहित हुए हम लोग विक्रीत पुरुषों (गुलामों) के समान एवं वनमृगों के समान स्थित हैं अर्थात् जैसे विक्रीत पुरुष (क्रीतदास) अपनी इच्छा से कोई भी काम नहीं कर सकता और जैसे व्याधों द्वारा मधुर ध्वनि से विमोहित मृग कुछ भी चेष्टा नहीं कर सकते वैसे ही दैव आदि द्वारा मोहित हम लोगों की अवस्था है। यह काल सदा अपना पेट भरने में ही लगा है और इसका चरित्र बड़ा गर्हित है, यह जिन लोगों की भोगतृष्णा और जीविततृष्णा पूर्ण नहीं हुई है, उन्हें आपत्तियों से परिपूर्ण संसार में गिराता है। मुनिश्रेष्ठ, जैसे अग्नि उष्ण और प्रकाशपूर्ण ज्वालाओं से दाह्य पदार्थों को जला देती है, वैसे ही यह संहारकारी काल भी दुराशाओं से हृदय को जलाता है और दुष्ट चारित्र्य से बाहर भी जलाता है। कालमर्यादारूप कृतान्त की प्रिय भार्या इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति करानेवाली यह नियति, स्त्री होने के कारण, स्वभावतः चंचल है, यह समाधि में तत्पर लोगों के ऊपर भी हाथ फेर लेती है और उनके धैर्य की तो यह महाशत्रु है, उसे टिकने नहीं देती। जैसे साँप वायु को निगल जाता है, वैसे ही यह क्रूर कर्म करनेवाला कृतान्त तरूण शरीर को बुढ़ापे में पहुँचाकर सब प्राणियों को निरन्तर निगलता रहता है। यह काल निर्दयों का राजा है, किसी आर्त प्राणि के ऊपर भी दया नहीं करता। सब प्राणियों पर दया करनेवाला उदार पुरुष तो इस संसार में दुर्लभ हो गया है॥१–६॥ मुनिवर, संसार में जितने भी प्राणी हैं, उनमें किसीका भी ऐश्वर्य पूर्ण नहीं है, सभी तुच्छ ऐश्वर्य वाले हैं। जितने भी विषय हैं, वे सभी भयानक हैं। उनसे अनन्त दुःख की ही प्राप्ति होती है। आयु अत्यन्त चंचल है, उसके जाने में कुछ भी विलम्ब नहीं होता और बाल्यावस्था मोह में ही बीत जाती है। सभी संसारी पुरुष विषयों के अनुसन्धान से ही कलंकित (मलिनचित्त) है, बन्धु–बान्धव संसाररूप बन्ध के लिए रज्जुरूप हैं। सभी भोग संसाररूपी महारोग हैं, अर्थात् जैसे अपथ्यसेवन से रोग नष्ट नहीं होता, वैसे ही भोगों के सेवन से संसाररूपी महारोग बना रहता है, अतएव उन्हें मूर्तिमान महारोग ही समझना चाहिये। सुख आदि की तृष्णाएँ मृगतृष्णिका के अनुरूप हैं। इन्द्रियाँ ही अपनी शत्रु हैं, सत्य, ज्ञान आदिरूप वस्तु (ब्रह्म) अज्ञानवश असत्यता (देहादिता) को प्राप्त हो गई है। बन्धन का हेतु होने से मन आत्मा का शत्रु है एवं मन में 'अहम्' ऐसा अभिमान करने से मनोभूत हुआ उक्त आत्मा आत्मा को आत्मभूत मन से ही दुःखी करता है। अहंकार (अभिमानप्रधान अन्तःकरण) आत्मा के कलंक का कारण है, अर्थात् स्वरूप को दूषित कर देता है, बुद्धियाँ (अध्यवसायात्मक वृत्तियाँ) बड़ी मृदु हैं, आत्मनिष्ठा की दृढ़ता से रहित हैं, क्रिया अर्थात् शारीरिक प्रवृत्तियाँ क्लेशकारिणी हैं। लीलाएँ (मानसिक चेष्टाएँ) स्त्री पर ही केन्द्रित हो गई हैं, अर्थात् उनकी विषय केवल स्त्रियाँ ही हो गई हैं। वासनाओं के विषय ही लक्ष्य हो गये हैं याने विषयों की ओर ही वासनाएँ दौड़ती हैं। आत्मस्फूर्तिरूप चमत्कार नष्ट हो गये हैं, स्त्रियाँ दोषों की पताका के सदृश हो गई हैं और सम्पूर्ण विषय नीरस हो गये हैं। मुनिवर, सत् पदार्थ ब्रह्म कार्यकारण–संघातरूपसे (देह, इन्द्रिय आदि रूप से) जाना जाता है, अर्थात् संसारी लोग देह, इन्द्रिय आदि को ही आत्मा समझते हैं, चित्त अहंकार में प्रविष्ट किया गया है अर्थात् लोगों का चित्त अहंकार से परिपूर्ण है, जितने पदार्थ हैं वे नाश से ग्रस्त हैं (विनाशी हैं)। उक्त अनित्य पदार्थों का जिसमें लय होता है, उस

आत्मा को कोई नहीं जानता। श्रेष्ठतम बुद्धि ने सभी के अन्तःकरणको व्याकुल कर रक्खा है, किसीका अन्तःकरण सुखी नहीं है, केवल दुःख ही दुःख छाया है, रागरूपी रोग दिन–दिन बढ़ रहा है, वैराग्य का कहीं पता नहीं है। आत्मदर्शनशक्ति रजोगुण से नष्ट हो गई है और तमोगुण बढ़ रहा है, सत्त्वगुण का कहीं पता नहीं है एवं तत्त्वपदार्थ अत्यन्त दूर है। जीवन अत्यन्त अस्थिर है, मृत्यु आने के लिए तत्पर ही है, धैर्य का सर्वथा विनाश हो गया है और लोगों का तुच्छ विषयों में अनुराग नित्य बढ़ता जा रहा है। मति मूर्खता से मलिन हो गई है, शरीर का अन्तिम परिणाम एकमात्र नाश ही है अर्थात् उसको अवश्य नष्ट होना है, शरीर में बुढ़ापा मानों प्रकाशित हो रहा है और पाप खूब दमदमा रहा है। दिन–प्रतिदिन जवानी प्रयत्नपूर्वक भाग रही है, सत्संगति का कहीं पता नहीं है, जिससे दुःख से छुटकारा प्राप्त हो जाय, ऐसी कोई गति नहीं है और सत्यता का उदय तो किसी में भी नहीं दिखाई देता। अन्तःकरण मोहजाल से अत्यन्त आच्छादित–सा हो गया है, दूसरे को सुखी देखकर होनेवाले सन्तोष का कहीं पता ही नहीं है, उज्ज्वल करुणा का उदय कहीं नहीं होता और नीचता न मालूम कहाँ से चली आ रही है। धीरता अधीरता में परिणत हो गई है, सम्पूर्ण जीवों का जन्म और मरण या उर्ध्वगमन और अधोगमन ही एकमात्र काम है, दुर्जन का संग पद–पद पर अतिसुलभ है, सज्जन की संगति अतिदुर्लभ है। सम्पूर्ण पदार्थ उत्पत्ति–विनाशशील हैं और वासना पदार्थों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होती। वही संसार में बन्धन करनेवाली है। काल नित्य प्राणियों के झुण्ड के झुण्ड को न मालूम कहाँ ले जाता है। दिशाएँ भी, जिन्हें काल से हरे जाने का भय नहीं है, नहीं दिखाई देती, नष्ट हो जाती हैं, देश भी अदेश हो जाता है अर्थात् नष्ट हो जाता है और पर्वत भी टूट जाते हैं, फिर मेरे सदृश जन्तु की स्थिरता में क्या विश्वास है ? सन्मात्रस्वभाववाला ईश्वर आकाश को भी खा जाता है, चौदहों भुवनों को नष्ट कर देता है और पृथिवी भी उसीसे नष्ट हो जाती है, फिर मेरे जैसे जीव की स्थिरता में क्या विश्वास है ? समुद्र भी सूख जाते हैं, तारे भी टूट पड़ते हैं और सिद्ध भी नष्ट हो जाते हैं, फिर मेरे जैसे जन की स्थिरता में क्या विश्वास है ? बड़े–बड़े पराक्रमी दैत्यों को भी ईश्वर नष्ट कर देता है, ध्रुव के जीवन का भी कोई निश्चय नहीं है और अमर भी (देवता भी) मारे जाते हैं, फिर मेरे जैसे जीव की स्थिरता में क्या विश्वास हो सकता है ? वह इन्द्र को भी अपने मुँह से चबा डालता है, यम को भी अपने कार्य से विरत कर देता है याने नष्ट कर देता है और उसीसे वायु भी अभाव को प्राप्त हो जाता है, फिर मेरे जैसे प्राणी में स्थिरता की क्या आशा ? चन्द्रमा भी शून्यता को (अभाव को) प्राप्त हो जाता है, सूर्य के भी खण्ड–खण्ड हो जाते हैं, और अग्नि भी भग्न हो जाती है अर्थात् शान्त हो जाती है, फिर मेरे जैसे प्राणी की क्या आशा है ? ब्रह्मा की भी अवधि है अर्थात् ब्रह्मा की भी समाप्ति का अवसर नियत है, अजन्मा विष्णु का भी संहार होता है और शिवजी भी नहीं रहते, फिर मेरे जैसे मनुष्य की स्थिरता की आशा केवल दुराशा ही है। काल का भी जो विनाश करता है, नियति को भी नष्ट कर डालता है, और अनन्तआकाश को नष्ट कर देता है, वह भला मुझे कहाँ छोड़ेगा, इस लिए मेरे जैसे जीवों की स्थिरता का कभी भी विश्वास नहीं हो सकता। जिसका कानों से श्रवण नहीं होता, वाणी से कथन नहीं होता और नेत्रों से दर्शन नहीं होता ऐसे अज्ञातस्वरूप एवं भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाले किसी सूक्ष्म तत्त्व से चौदहों भुवन अपनी आत्मा में माया द्वारा दिखलाये जा रहे हैं। अहंकारांश को प्राप्त होकर सबके मध्य में निवास करनेवाला वह तत्त्व

तीनों लोकों में स्थित प्राणियों में से जिसे नष्ट नहीं करता, ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं ॥७–३२॥

उसकी सर्वनाशकता का उपपादन करने के लिए निरंकुश स्वतन्त्रता कहते हैं।

जैसे पर्वत शिखर से वेगपूर्वक बहता हुआ जल गोल पत्थरों को नीचे की ओर ले जाता है, वैसे ही अवश (📖) रथभूत सूर्य को ईश्वर चट्टान, पर्वत और परिखाओं में हाँकता है। जैसे पका हुआ अखरोट का फल कठिन छिलके से घिरा रहता है, वैसे ही वह मध्य में स्थित देवता, असुर आदिका निवास पृथ्वीरूप गेंद को देवताओं के निवासभूत ज्योतिश्चक्र से चारों ओर से व्याप्त किये हुए है। स्वर्ग में देवता, भूलोक में मनुष्य और पाताल में सर्पों की उसीने कल्पना कर रक्खी है, वह जब इच्छा होती है, तभी उन्हें जीर्ण–शीर्ण दशा को प्राप्त करा देता है। भाव यह कि इस जगत् का अत्यन्त पराधीन होना बड़ा भारी दोष है, ऐसे अन्याधीन जगत् में आस्था करना मूर्खता ही है। जगत् के अधिपति के साथ हुए रण में विजयी अतएव पराक्रम पूर्ण कामदेव अनुचित रूप से जगत् को अपने वश में कर अपना प्रभाव दिखा रहा है। जैसे मत्त गजराच मद से चारों ओर दिशाओं को सुगन्धित करता है, वैसे ही वसन्तऋतु पुष्पवृष्टि द्वारा चारों ओर दिशाओं को सुगन्धित कर चित्त को चंचल कर देती है। अनुरागयुक्त महिलाओं के चंचल लोचनों के कटाक्ष विक्षेप के लक्ष्य बने हुए मन को महान् विवेक भी स्वस्थ नहीं कर सकता। दूसरों का उपकार करनेवाली, दूसरों के दुःख से अति सन्तप्त और अपनी आत्मा को शान्ति देनेवाली शीतल बुद्धि से युक्त ज्ञानी पुरुष ही सुखी है, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाले कालरूपी बड़वाग्नि के मुँह में गिरनेवाले जीवनरूपी सागर के तरंग के समान पदार्थों को कौन गिन सकता है? जैसे सागर में उत्पन्न होकर बड़वाग्नि के मुँह में गिरकर नष्ट होनेवाले अनेक कल्लोंलो को कोई गिन नहीं सकता वैसे ही संसार में उत्पन्न होकर काल के मुँह में गिरनेवाले असंख्य जीवों को गिन सकने की किसमें शक्ति है? दोषरूपी झाड़ियों में स्थित मृगों या पक्षियों के तुल्य सभी मनुष्य अज्ञान से दुराशारूपी जाल में बँधकर जन्मरूपी जंगल में विनष्ट हो गये हैं अर्थात् जैसे झाड़ियों में बैठे हुए मृग या पक्षी स्वाद लोलुपता के कारण अज्ञान से जाल में फँस कर नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही दोषपूर्ण मनुष्य अज्ञान से दुराशाबद्ध होकर जन्मरूपी जंगल में नष्ट हो जाते हैं। इन संसारी लोगों की आयु विविध जन्मों में पूर्वोक्त दोषों से होनेवाले कुकर्मों से (काम्य और निषिद्ध कर्मों से) नष्ट हो जाती है। उनका फल जो स्वर्ग, नरक आदि है वह आकाश में वृक्ष हो और उस वृक्ष में लता भी हो, उस लता से गले में फाँसी देकर मनुष्य लटका दिया जाय, उसके समान अन्त में पतन करानेवाला ही है। उसकी निवृत्ति के लिए उपाय करना तो दूर रहा, परन्तु उसका विचार करनेवाले लोग भी हमें नहीं दिखलाई देते ॥३३–४२॥ ऋषिप्रवर, इस संसार में चंचल और मंद बुद्धि से युक्त लोग आज उत्सव है, यह सुहावनी ऋतु है, इसमें यात्रा करनी चाहिए, ये हमारे बान्धव हैं, विशिष्ट भोगों से युक्त यह सुख है, यों वृथा ही अनेक संकल्प–विकल्प कर नष्ट हो जाते हैं ॥४३॥

छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त।

📖 'य आदित्ये तिष्ठन्' इत्यादि श्रुति से अपने में अधीष्ठित ईश्वर से प्रेरित होनेवाला एवं चट्टान, पहाड़ आदि दुर्गम स्थानों में किरणरूपी घोड़े के पैरों से चलते हुए से सूर्य में रथ की कल्पना की गई है।

सत्ताईसवाँ सर्ग

पूर्व में उक्त और अनुक्त मोक्ष के विरोधी पदार्थों में, वैराग्य के लिए, विस्तारपूर्वक दोषों का वर्णन।

पहले जो कहे जा चुके हैं और जो नहीं कहे गये, उन सम्पूर्ण पदार्थों में अन्यान्य दोषों को दर्शाते हुए अपने चित्त की शान्ति के कारणीभूत पदार्थ की अप्राप्ति को दर्शाते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, और सुनिए, वस्तुतः अत्यन्त अरमणीय पर जब तक विचार नहीं किया जाता है, तब तक रमणीय सा मालूम पड़ने वाले इस जगत् में जिस पदार्थ के प्राप्त होने से चित्त में शान्ति (पूर्णकामता) प्राप्त हो वैसा कोई भी पर्दाथ मेरी समझ में नहीं आता। विचार कर देखिए, बाल्यावस्था विविध प्रकार से कल्पित क्रीड़ाकौतुक में ही बीत जाती है, उसमें चित्त की स्थिरता का लेश भी नहीं रहता। तदुपरान्त यौवन पदार्पण करता है। यौवन में चित्तरूपी मृग स्त्रीरूपी गुफाओं में ही जीर्ण हो जाता है, उसमें भी चित्त में शान्ति नहीं रहती। तदनन्तर वृद्धावस्था के प्राप्त होने पर शरीर जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, उस समय भी शान्ति नहीं रहती, यों पुरुषार्थसाधनाशून्य अतएव व्यर्थ आयु बिताने से मनुष्यों को केवल दुःख ही दुःख प्राप्त होता है, सुख-शान्ति का कहीं लेश भी नहीं है। वृद्धावस्थारूपी हिमवर्षा से नष्ट हुई शरीररूपी कमलिनी का परित्याग कर जब प्राणरूपी भ्रमर अतिदूर चला जाता है, तब मनुष्य का यह संसाररूपी सरोवर सूख जाता है ॥१-३॥ वृद्धावस्था आक्रान्त, जिसमें अनेक पलितादि नये-नये फूल खिले हैं और अत्यन्त जीर्ण मनुष्यों की शरीररूपी लता जब अत्यन्त पाक (परिणाम) को प्राप्त हो जाती है, तब यह मृत्यु को अति आनन्द देती है, अर्थात् जरा-जीर्ण शरीर को देखकर मृत्यु को बड़ा आनन्द होता है, यह भाव है ॥४॥ इस लोक में तृष्णारूपी नदी निरन्तर बहती है, वह अपने प्रबल वेग से संसार के सम्पूर्ण अनन्त पदार्थों को निगल गई है और सन्तोषरूपी तटवृक्ष की जड़ों को खोदने में बड़ी दक्ष है। भाव यह कि संसार के अखिल और अनन्त पदार्थों को निगल कर भी इसे सन्तोष नहीं हुआ है। चर्म से आच्छादित यह शरीररूपी नौका संसाररूपी समुद्र में सुख दुःखरूपी तरंगों से व्याकुल और हलकी होने के कारण स्वयं भी इधर-उधर घूम रही है और इसीलिए नीचे डूबने के लिए तैयार है, पाँच इन्द्रियरूपी मगर भी इसके डूबने में सहायक हो रहे हैं, क्योंकि इसमें बैठे हुए जीव वैराग्ययुक्त और धैर्यशाली नहीं है। ऋषिजी, जिसमें तृष्णारूपी लताएँ ही अधिक हैं, ऐसे वन में घूमनेवाले ये मनरूपी बन्दर कामरूपी वृक्षों की सैकड़ों शाखाओं में घूमकर व्यर्थ ही आयु क्षीण करते हैं, उन्हें फल कुछ भी प्राप्त नहीं होता। अर्थात् काम विशाल वृक्ष समान है, वह तृष्णारूपी लताओं से आच्छादित भी है, उसकी असंख्य शाखा-प्रशाखाएँ हैं। मनरूपी बन्दर फल की इच्छा से उनमें निरन्तर पर्यटन करते हैं, मगर उन्हें इच्छित फल की प्राप्ति नहीं होती ॥५-७॥ महर्षे, जिन्हें आपत्तियों में दुःख और मोह प्राप्त नहीं होते, सम्पत्तियों में जिनके मन में तनिक भी अहंकार नहीं आता और स्त्रियों द्वारा जिनका अन्तःकरण दूषित नहीं होता ऐसे महान् पुरुष इस समय अतिदुर्लभ हैं। जब मैं वीरता के उत्कर्ष का विचार करता हूँ तब मुझे गजघटारूपी तरंगों से पूर्ण संग्रामसागर को जो तैरते हैं वे शूर प्रतीत नहीं होते, मैं उन्हीं को शूरवीर समझता हूँ, जो लोग मनरूपी तरंगों से पूर्ण इस वर्तमान देह, इन्द्रियरूपी सागर को विवेक, वैराग्य आदि द्वारा और भावी देह, इन्द्रियरूप सागर को

मूलअज्ञान के उच्छेद द्वारा भलीभाँति तैर जाते हैं। मगर ऐसा करना बड़ा कठिन है, क्योंकि उसके उपाय ही दुर्लभ हैं ॥८,९॥

कर्म ही देह, इन्द्रियरूपी सागर को तरने का उपाय है, ऐसी शंका पर कहते हैं।

किसीकी कोई भी क्रिया संसार के आत्यन्तिक विनाशरूप फल को देनेवाली नहीं है। क्रियारूपी दुराशा पिशाची द्वारा जिसकी चित्तवृत्ति नष्ट हो गई है, ऐसा पुरुष जिस क्रिया का अवलम्बन कर विश्रान्ति को प्राप्त हो, ऐसी क्रिया कोई नहीं दिखाई देती, क्योंकि 'तद् यथेह कर्मचितो लोकः' अर्थात् जैसे इस लोक में कृषि आदि कर्म से प्राप्त उपार्जित स्वर्ग आदि लोक भी क्षीण हो जाते हैं, ऐसी श्रुति है। अतएव कर्म से जो फल उत्पन्न होता है, उसका अवश्य विनाश हो जाता है, ऐसा नियम लोक में देखा भी जाता है ॥१०॥

भाग्योदय हुए बिना कीर्ति, प्रताप, लक्ष्मी आदि छोटे–मोटे फल भी, धैर्य आदि के नाशक राग, लोभ आदि की प्रबलता के कारण, जब दुर्लभ होते हैं, तब महाफल मोक्ष तो भाग्योदय हुए बिना हो नहीं सकता, इसमें कहना ही क्या है ? इस अभिप्राय से कहते हैं।

जो महापुरुष कीर्ति से संसार को, प्रतापों से दिशाओं को, सम्पत्ति से याचकों और क्षमा, विनय, उदारता आदि सात्त्विक बल से (*) लक्ष्मी को पूर्ण करते हैं, कभी क्षीण न होनेवाले धैर्य से परिपूर्ण ऐसे महापुरुष पृथिवी में सुलभ नहीं है ॥११॥

भाग्योदय होने पर सब जगह अभीष्ट वस्तु प्राप्त हो जाती है, इसलिए पुरुष का प्रयत्न विफल है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

पहाड़ की शिलामय चट्टान के भीतर स्थित भी एवं वज्र से बने हुए घर के भीतर बैठे हुए भी भाग्यशाली पुरुष के पास सम्पूर्ण अणिमा आदि सिद्धियाँ और सम्पत्तियाँ बड़े वेग के साथ आ जाती हैं, जैसे कि आपत्तियाँ आती हैं अर्थात् जैसे बुरे दिनों में आपत्तियाँ अनायास प्राप्त हो जाती हैं, वैसे ही भले दिनों में सम्पत्तियाँ और सिद्धियाँ भी अपने आप वेगपूर्वक आ जाती हैं ॥१२॥ पूज्यवर, भ्रान्तिवश पुत्र, स्त्रियाँ, धन आदि जो सम्पूर्ण रसायन के समान सुखसाधन समझे जाते हैं, मृत्युकाल आने पर वे पुत्र आदि अतिरमणीय भोगजनक विषय कुछ नहीं करते, परन्तु विष की मूर्च्छा के समान अत्यन्त दुःखदायी ही होते हैं। शरीर की बाल्य आदि अवस्थाओं के अवसान में अर्थात् वृद्धावस्था में दुःखमय विषमावस्था को प्राप्त हुआ अतएव दुःखी जीर्ण पुरुष इस लोक में अपने पुण्यसंचयशून्य अतीत कर्मों का स्मरण कर दुःसह अन्तर्दाह से जलता है ॥१३,१४॥ मनुष्य जीवन के आरम्भ में कमाने की और भोगतृष्णा की प्रबलता से मोक्षमार्गका परित्याग कर केवल काम और अर्थ की चिन्ता से युक्त होता है और तदनुसारी कार्यों में वह समय को बिताता है। फिर वृद्धावस्था आने पर मयूर के चंचल पंखों के समान कम्पमान पुरुष का चित्त किस कर्म से शान्ति को प्राप्त हो ? अर्थात् चित्त की शान्ति के साधनभूत कर्म तो उसने कभी किये ही नहीं, फिर उसका चित्त शान्त कैसे होगा ? ॥१५॥

जो लोग धर्मोपार्जन नहीं करते, उनके चित्त में भले ही शान्ति न हो; पर धर्मोपार्जन करनेवाले आप लोगों के मन में, धर्म के फल के लाभ से, शान्ति क्यों न विराजमान होगी ? ऐसी आशंका कर धर्म के फल स्वर्ग, पुत्र आदि भी कोई सारवान् पदार्थ नहीं है, ऐसा कहते हैं।

---

* क्षमा, विनय, उदारता आदि से लक्ष्मी पूर्ण-सी प्रतीत होती है।

अनात्मा में प्रीति करनेवाले लोग भाग्यवश प्राप्त हुए, सामने स्थित भी, नदीकी ऊँची तरंगों के समान शीघ्र नष्ट हो जानेवाले अतएव अप्राप्तप्राय क्रियाफल स्वर्ग आदि द्वारा वंचित होते हैं, ठगे जाते हैं। भाव यह कि वही लाभ सच्चा लाभ है, जो प्राप्त होकर नष्ट नहीं होता और जिससे अनर्थ नहीं होता, दूसरा लाभ तो केवल वंचनामात्र ही है, जैसे कि अल्पायु पुत्र की प्राप्ति और मछली को बंशी में लगे हुए खाद्य की प्राप्ति। उक्त लाभ से किसी प्रकार का आश्वासन नहीं हो सकता ॥१६॥

आसुरसम्पत्ति के विस्तारपूर्वक प्रदर्शन द्वारा पूर्वोक्त अर्थ को ही विशद करते हैं।

ये कार्य यहीं और अभी कर्तव्य हैं और ये अन्य प्रदेश और अन्य काल में करणीय हैं, यों जिन कार्यों की सदा चिन्ता बनी रहती है और अन्त में जिनका फल अनर्थ ही है। उन कार्यों का प्रयोजन स्त्रियों तथा अन्यान्य लोगों की प्रसन्नताका उत्पादन (मनोरंजन) ही है, पर वे देह के वृद्ध होने तक लोगों के चित्त को जबरदस्ती विवेक से भ्रष्ट कर देते हैं। जैसे वृक्षों के जीर्ण पत्ते जन्म लेकर शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही आत्म-विवेक से रहित लोग इस लोक में जन्म लेकर थोड़े ही दिनों में कहीं चले जाते हैं, अर्थात् विनष्ट हो जाते हैं। महाभाग, भला बतलाइए तो सही, मूढ़ व्यक्ति के सिवा कौन ज्ञानी जन विवेकी पुरुषों की सेवा और सत्कर्म से रहित दिन में इधर-उधर दूर तक घूम-फिरकर और सांयकाल के समय घर में आकर रात्रि में सुख की नींद सोयेगा ? दिन में विवेकियों की सेवा से रहित और सत्कर्मों से शून्य होने पर ज्ञानी को तो रात्रि में नींद ही नहीं आ सकती, पर अज्ञानी ही दिन में विवेकी जनों की सेवा और सत्कर्मों में शून्य होने पर भी इधर-उधर घूम-फिरकर सांयकाल में अपने घर में प्रवेश कर खूब सुख की नींद सोता है। सम्पूर्ण शत्रुओं के छिन्न-भिन्न होने पर और चारों ओर से धन-सम्पत्ति की वृष्टि होने पर जब पुरुष इन सांसारिक भोगों को भोगने लगता है तभी न मालूम कहाँसे आकर मृत्यु सामने खड़ी हो जाती है। इस संसार में सभी लोगों को किसी एक अनिर्देश्य अदभुत कारण से अभिवृद्धि को प्राप्त हुए, अत्यन्त तुच्छ और क्षणभर में जन्म लेकर नष्ट होनेवाले अर्थात् विनाशशील इन विषयों ने भ्रम में डाल रक्खा है, मोहित कर रक्खा है; अतएव वे लोग समीप में आई हुई मृत्यु को नहीं जानते, यह कम आश्चर्य की बात नहीं है। जिन लोगों ने विषयों पर आसक्ति, देह के लालन-पालन आदि द्वारा हृष्ट-पुष्ट-शरीर होना ही उचित समझा अर्थात् विवेक, वैराग्य आदि का अभ्यास नहीं किया, वे ठहरे निरे नरपशु। सब प्राणियों के परम प्रिय यजमानरूप प्राण उन्हीं नररूप पशुओं को (बकरों को) निन्दित कर्मरूपी यज्ञस्तम्भों में बाँधकर दोषरूपी कालिखसे उनका मुँह काला कर देते हैं। तदुपरान्त रोगरूपी ऋत्विजों द्वारा हनन, अंगछेदन आदि से शरीर का नाश होने के कारण वे असत्प्राय हो जाते हैं ॥१७-२२॥

भगवती श्रुति ने भी कहा है - 'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्' अर्थात् जो असत् देह आदि को ब्रह्म समझता है वह असत् ही हो जाता है। श्लोक में 'जनैडकाः' पद है अर्थात् जनरूपी एडक (भेड़) किसी किसी यज्ञ में भेड़ों का बलिदान प्रसिद्ध है अथवा एडक शब्द की बकरे में लक्षणाकर नररूपी बकरा अर्थ कर लेना चाहिए (🔔)।

🔔 भाव यह कि जैसे यजमान यज्ञकार्य की सिद्धि के लिए यज्ञस्तम्भ में बँधे हुए बकरे आदि का संस्कार करता है, तदुपरान्त ऋत्विक् उसका यथाविधि हनन और उसके अंग-प्रत्यांगों का छेदन करते हैं, वैसे ही परम प्रिय प्राण भी विषयभोग और देहपोषण आदि द्वारा अति परिपुष्ट लोगों को निन्दित कर्मों

इस संसार में यह चंचल जनता क्षण में नष्ट होनेवाली तरंगों की पंक्ति के समान न मालूम कहाँ से सदा बड़ी त्वरा के साथ आती है और जैसे आती है वैसे ही त्वरा के साथ न मालूम सदा कहाँ चली जाती है। 'कुतोऽपि' इस कथन से जहाँ से आती है और जहाँ चली जाती है, उस स्थान को हम जानना चाहते हैं, यह सूचित होता है ॥२३॥ जैसे चंचल भ्रमररूपी नयनों से युक्त (चंचल भ्रमरों से सेवित), लाल पत्तों से आच्छन्न विषवृक्ष पर चढ़ी हुई विषलताएँ देखनेमें अति सुन्दर होने के कारण पहले मनको हर लेती हैं बाद में प्राणनाशिनी होती हैं, वैसे ही मनुष्यों के प्राणहरण में तत्पर भ्रमर के समान चंचल नयनवाली और बिम्ब फल के समान होठोंवाली नारियाँ मनोहर होने के कारण पहले चित्त को चुरा लेती हैं फिर प्राणों को हर लेती हैं। जैसे तीर्थयात्रा या महोत्सव में बहुत से आदमियों का सम्मेलन होता है, वैसे ही मनुष्यलोक से या स्वर्ग आदि लोकों से व्यर्थ ही आये हुए और अमुक स्थानपर हम लोगों की भेंट होगी यों परस्पर संकेत और अभिप्राय से इकट्ठे हुए लोगों में परस्पर स्त्री, पुत्र, मित्र आदि व्यवहार होता है। यह व्यवहार माया नहीं है तो और क्या है ? संसार (जन्म–मरणकी परम्पराएँ) दीपकों के निर्वाण (बुझने) के अनुरूप है। जैसे दीपक रात्रिभर प्रचुर तेल और बहुत–सी बत्तियों का भक्षणकर अन्त में बुझ जाता है, वहाँ पर फिर उसका अस्तित्व प्रतीत नहीं होता अर्थात् प्रचुर तेल और बत्तियों का भक्षण करनेवाले अतिचंचल अतएव मिथ्याभूत क्षणिक दीपशिखा के निर्वाण–प्रवाह में पारमार्थिक वस्तु प्रतीत नहीं होती; वैसे ही बाल्य आदि सैकड़ों अवस्थाओं का भोग करनेवाले अत्यन्त स्नेह से (राग से) परिपूर्ण, अत्यन्त चंचल (क्षण–विध्वंसी) अतएव मिथ्याभूत संसार में कोई भी वस्तु पारमार्थिक नहीं है। यह संसार कुलालके (कुम्हार के) चाक के समान है। जैसे कुलाल के चाक के खूब जोर से घूमने पर भी असावधान आदमी को यह नहीं घूम रहा है, स्थिर है, ऐसा भ्रम होता है, वैसे ही यह संसारप्रवृत्तिरूप कुचक्र भी लोगों को भ्रम में डालता है। वास्तव में है तो यह वर्षा ऋतु के जल के बुद्बुदों के समान क्षणभंगुर पर असावधान लोगों की बुद्धि में अपनी चिरस्थायित्व की प्रतीति करा देता है। जैसे शरद्ऋतु में कमल के सौन्दर्य, सुगंध आदि गुण शोभासे देदीप्यमान रहते हैं, किन्तु हेमन्त ऋतु में वे सब नष्ट हो

में फँसाकर दोष से लांछित कर देते हैं। तदुपरान्त रोग उन पर आक्रमण कर उनका नाम–निशान मिटा देते हैं। संस्कृत टीकाकारों ने इस श्लोक के और भी अर्थ किये हैं। प्रिय प्राण, पोषण करनेवाले जिन नरपशुओं से स्वयं पुष्ट हुए, उन्हीं नरपशुओं को बलात्कार से निन्दित कर्मरूपी जाल में फँसाकर काल के (मृत्यु के) सम्मुख कर देते हैं अर्थात् काल को उपहार देते हैं, अतएव प्राण शरीर के विनाशक होने के कारण प्रिय नहीं हैं, किन्तु अप्रिय (शत्रु) ही हैं। इसमें निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य को केवल प्राणों के पोषण में ही तत्पर नहीं रहना चाहिए। अथवा – यद्यपि मूढ़ जन प्राणों के पोषण में सदा तत्पर रहते हैं तथापि वे प्रियप्राण (प्राणों के प्रति प्रेम करनेवाले) नहीं कहे जा सकते, क्योंकि वे तो उलटे मृत्यु के मुँह में डालनेवाले उपायों के आचरण द्वारा प्राणों के नाशक ही हैं। वास्तव में तत्त्वज्ञ पुरुष ही प्राणों पर प्रेम करनेवाले हैं। क्योंकि वे तत्त्वदृष्टि से प्राणों में नित्य आत्मभाव प्राप्त कर उनके रक्षक हैं। अतएव वे प्रिय–प्राण गर्हित कर्मों में फँसे हुए मूढ़ जनरूपी पशुओं का आदर नहीं करते। उत्तरार्द्ध से मूढ़ जनों की अपेक्षा शरीर के बाध से अपरिच्छिन्नता को प्राप्त हुए हैं, उनकी मूढ़ जनों की नाईं देह में आत्मबुद्धि नहीं हो सकती। मूढ़जनों की अपेक्षा तत्त्वज्ञों में यही विशेषता है।

जाते हैं, फिर उनसे न चित्त को शांति मिलती है और न घ्राणेन्द्रिय को तृप्ति ही मिलती है, वैसे ही यौवनावस्था में मनुष्य के जो कौमार्य और सौन्दर्य आदि गुणगण शोभा से उज्जवल रहते हैं, वे वृद्धावस्था में भाग्यवश विनष्ट होकर दुर्लभ हो जाते हैं, इसलिए उनमें विश्वास करना उचित नहीं है। इस संसार में बेचारा वृक्ष पृथिवी, जल, वायु आदि तत्त्वों के कारण, न कि किसी पुरुष द्वारा किये गये उपकार के कारण, जन्म, वृद्धि और फल-मूल आदि समृद्धि को प्राप्त होकर अपने देहधारण से छाया, पत्तियाँ, फूल फल आदि द्वारा बारबार लोगों का उपकार करता है, किसी का तनिक भी अपराध नहीं करता, फिर भी वह कुल्हाड़ियों से काटा जाता है। भला बतलाइए तो सही, ऐसे कृतघ्न संसार में पद-पद में जिससे अपराध हो सकते हैं और जिससे किसीका उपकार भी नहीं हो सकता, ऐसे मनुष्य के विषय में क्या विश्वास किया जा सकता है ? भाव यह कि यदि वह अपकार न भी करे, तो भी मृत्यु उसका नाश कर डालेगी। मृत्यु के घर में उपकारी और अपकारी के प्रति कोई भेदभाव नहीं है। आत्मीय जनों का संसर्ग विषवृक्ष के संसर्ग के तुल्य है। देखिये न ! विषवृक्ष देखने में बड़ा सुन्दर लगता है और आत्मीय जन भी आपाततः (विचार के बिना) सुन्दर प्रतीत होते हैं। जिस पुरुष का विषवृक्ष से सम्बन्ध होता है, उसको दाह और मूर्च्छा आदि होते हैं और आत्मीय जनका संसर्ग भी स्नेह और भोग आदि उत्पन्न करता है। विषवृक्ष जीवननाश का कारण है और आत्मीय जन भी जीवन के समान प्रिय आत्मज्ञान के विनाश का हेतु है। जैसे विषवृक्ष के संसर्ग से मूर्च्छा होती है, वैसे ही आत्मीय जनके संसर्ग से मूढ़ता प्राप्त होती है। अर्थात् इसका यही एक बड़ा भारी दोष है ॥२४-३०॥ संसार की दृष्टियों में ऐसी कौन दृष्टियाँ हैं, जिनमें दोष का सम्बन्ध नहीं है। दिशाओं में कौन ऐसी दिशाएँ हैं, जिनमें दुःखदाह नहीं होता, कौन ऐसी प्रजाएँ (जन) हैं, जिन का नाश नहीं होता, कौन ऐसी लौकिक क्रियाएँ हैं, जिनमें छल नहीं होता अर्थात् सभी दृष्टियाँ दोषयुक्त हैं, सभी दिशाएँ दुःखदाह से पूर्ण हैं और सभी लोग विनाशी हैं और सम्पूर्ण लौकिक कार्यों में छल-कपट रहता है ॥३१॥

यदि शंका हो कि इस लोक के जनों के विनाशी होने पर भी ब्रह्मलोक को प्राप्त हुए लोगों का, जो कि कल्पआयु हैं, विनाश नहीं होता, तो इस पर कहते हैं।

व्यतीत और आनेवाले अनन्त कल्पों की संख्या का परिज्ञान नहीं होता, अतएव जैसे क्षण अनन्त हैं, वैसे ही कल्प भी अनन्त ठहरे, इसलिए विष्णु, रूद्र आदि की दृष्टि से कल्प भी क्षण ही हैं। अतएव ब्रह्मलोकवासी जन भी कल्प नामक क्षणभर जीनेवाले हुए। अवयवयुक्त कालसमूह में लघुत्व और दीर्घत्व बुद्धि एवं चिरजीवन और अचिरजीवन बुद्धि भी, द्रष्टा की कल्पना के अधीन होने से, असत्य है। तुल्यन्याय से ब्रह्माण्ड भी अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों को देखनेवालों की दृष्टि में अणुरूप ही है, इसलिए अणुत्व और महत्त्वबुद्धि भी असत्य ही है ॥३२॥

इसी प्रकार प्रकृति की दृष्टि में सम्पूर्ण विकार भी असत्य ही प्रतीत होते हैं।

पर्वत वस्तुतः पाषाण ही हैं, पृथिवी मिट्टी ही है, वृक्ष काष्ठ ही हैं और मनुष्य मांस आदि ही हैं अर्थात् पर्वत पत्थर से अतिरिक्त वस्तु नहीं है, पृथिवी मिट्टी से अतिरिक्त नहीं है, वृक्षो में काष्ठ से भिन्न कुछ नहीं है और मनुष्य भी हाड़, मांस आदि के ही पुतले हैं, उनसे पृथक् उनमें कुछ नहीं है। यदि ऐसा है, तो उनमें पर्वत आदि विशेषबुद्धि क्यों होती है ? ऐसी शंका यदि हो, तो उस पर सुनिए-व्यवहार

के लिए मनुष्यों ने उनका नाम रख दिया है, वास्तव में वे पूर्वसिद्ध पाषण आदि पदार्थों से भिन्न नहीं है। इसी प्रकार सब जगह तुल्य युक्ति से विकाररहित सम्पूर्ण जगत् प्रकृतिभूत एक ही वस्तु है, ऐसा युक्ति से प्रतीत होता है। अथवा यदि यह शंका हो कि पर्वत आदि विकार भले ही असत्य हों, उनके कारण पाषाण, मिट्टी आदि की असत्यता कैसे ? उस पर कहते हैं। वे भी अपने कारण महाभूतों के विकार हैं, अतः असत्य हैं। इस भोग्यवर्ग में विकार से भिन्न कुछ भी नहीं है। विकार होने से ये विषय आदि सब मिथ्या हैं, इसलिए भी इन पर विश्वास ही नहीं करना चाहिए ॥३३॥

पाषाण आदि केवल महाभूतमात्र हैं, ऐसा जो पहले कहा था, उसीको स्फुट करते हैं।

जल, वह्नि, वायु, आकाश और पृथिवी ये पाँच महाभूत ही परस्पर मिलकर गो, घट आदि विविध पदार्थों के रूप में अविवेकी पुरूषों द्वारा उनकी बुद्धि से प्रतीत होते हैं, यह बड़े खेद की बात है। विवेकदृष्टि से पृथक्-पृथक विभाग से संशोधन करने पर तो पंचभूत से अतिरिक्त कोई भी पदार्थ नहीं है अर्थात् अविवेकी पुरुष ही मोहवश पंचमहाभूतविकार जगत्को सत्य समझता है, पर जो विवेकी हैं, उनको तो इस जगत्में पंचमहाभूतसमुदाय से अतिरिक्त कोई वास्तविक पदार्थ प्रतीत नहीं होता ॥३४॥

यदि इस प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों को असत्य मानें, तो मनुष्योंके व्यवहार और भोग कैसे होंगे ? शुक्तिरजत से क्या कोई भी कड़ा बना सकता है ? इस शंका पर कहते हैं।

मुनिवर, इस मिथ्यारूप जगत में व्यवहारकुशल विद्वान लोगों के मन में भी भोगचमत्कार को उत्पन्न करनेवाली जो व्यवहारचमत्कृति प्रतीत होती है, वह कोई आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि कदाचित् स्वप्न में मिथ्याभूत विषयों को देखकर भी उस प्रकार की चमत्कृति लोगों को होती है ॥३५॥

यदि भोगचमत्कार होता है, तो अभी क्यों विरक्त होते हो ? भोगों को भोगकर वृद्धावस्था में विरक्त होकर विचार किया जा सकता है, ऐसी आशंका होने पर भोगों में आसक्ति होने से वैराग्य और विचार दोनों दुर्लभ हैं, ऐसा कहते हैं।

इस युवावस्था में और आनेवाली वृद्धावस्था में आकाशलता के फल के समान मिथ्यारूप भी भोगासक्तिकल्पना जब अविचार के कारण वृद्धि को प्राप्त होती है तब भोग और उसके साधनों में आसक्त पुरुषों में परमात्मा के स्वरूप का निरूपण करनेवाली कथा ही उदित नहीं होती, निरन्तर उसका विचार करना तो दूर रहा ॥३६॥

आसक्ति होने पर केवल पुरुषार्थ की हानि ही नहीं होती, प्रत्युत महान् अनर्थ भी होता है, ऐसा कहते हैं।

जैसे पशु हरी-हरी लतारूप फल की प्राप्ति की इच्छा से ही पर्वतशिखर से गिर पड़ता है, वैसे ही उत्कृष्टभोगशाली पुरुषों का पद (समता या राज्य, धन आदि) प्राप्त करने की इच्छा करनेवाला पुरुष राग, लोभ आदि से मूढ़ अर्थात् प्रचुर राग और लोभ से अभिभूत अपने चित्त से आहत होकर पूर्वावस्था में ही पतनरूप गर्त में गिर जाता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। हे मुने ! आजकल के मनुष्य गड्ढे के वृक्षों के समान हैं, क्योंकि जैसे गड्ढ़े के वृक्ष के छाया, लता, पत्ते, फल फूल आदि गड्ढ़े में ही रह जाते हैं, अंशतः भी प्राणी उनका भोग नहीं कर सकते, वैसे ही मनुष्य भी अपने शरीर के पोषण के लिए ही अपनी विद्या, विनय, धन, सम्पत्ति आदि को व्यर्थ नष्ट कर देते हैं उनसे किसी

दूसरे का उपकार नहीं होता ॥३७,३८॥

यद्यपि कहीं धार्मिक पुरुष हैं, तथापि विवेकी पुरुष तो अति दुर्लभ हैं, ऐसा कहने के लिए दो प्रकार के मनुष्यों को कहते हैं।

जैसे कृष्णासार मृग गहन जंगलों में इधर-उधर भ्रमण करते हैं, वैसे ही मनुष्य भी कहीं पर दया उदारता, क्षमा, सौन्दर्य, विद्या, विनय आदि से युक्त सज्जन पुरुषों के समाज में और कहीं पर क्रोध, लोभ, निष्ठुरता आदि से परिपूर्ण पापासक्त दुराचारियों के साथ विहार करते हैं ॥३९॥

लोगों की दुर्गति को देखकर दुःखित हुए श्रीरामचन्द्रजी लोगों की दुर्गति में कारणभूत दैव की निंदा करते हैं।

महर्षे यह दैव अचेतन होने के कारण मृतक-समान है। यदि यह जीवित होता तो ऐसा निर्दय न होता। यह (दैव) इस संसार में प्रतिदिन फल से भीषण (भीषण क्लेश देनेवाले) आपाततः (विचार के बिना) भले प्रतीत होनेवाले राग आदि से अत्यन्त व्याकुल चित्तवाले लोगों से पूर्ण एवं अन्त में कष्टरूपी फल देने के कारण जिनका उदय दूषित है, ऐसे नूतन-नूतन कार्य करता है। उसके ये कार्य किन विवेकशील पुरुषों के मन को आश्चर्यचकित नहीं करते ॥४०॥

संसार की अभद्रताका प्रतिपादन कर उसका उपसंहार करते हुए उससे होनेवाली अपने चित्त की उद्विग्नता दिखलाते हैं।

आजकल स्वप्न के समान मिथ्याभूत इस संसार में विविध प्रकार के छल-कपटों से व्यवहार करनेवाले, विषयासक्त मनुष्य सर्वत्र सुलभ हैं, पर विवेकशील पुरुष अतिदुर्लभ हैं, और सम्पूर्ण कर्म अत्यन्त दुःखों से रहित साधनों अथवा फलों से शून्य हैं, अर्थात् ऐसी कोई क्रिया नहीं है, जिसके साधन अथवा फल अत्यन्त दुःख से रहित हों, सभी क्रियाएँ दुःखमय ही हैं। मुनिवर, समझ में नहीं आता है कि हम लोगों की जीवनदशा कैसे बीतेगी ॥४१॥

सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठाईसवाँ सर्ग

सम्पूर्ण भोग्य पदार्थों में विरसता की प्रतीति के लिए उनकी परिवर्तनशीलता का वर्णन।

सब पदार्थों में निरन्तर परिवर्तन देखने से भी उनमें स्थायित्व का विश्वास नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, यह जो कुछ भी स्थावर-जंगमरूप दृश्य जगत् दिखाई देता है, वह सब स्वप्न के समाज सम्मेलन के समान असत्य या अस्थिर है। मुनिजी, आज यहाँ पर सूखे समुद्र के सदृश गम्भीर जो यह विशाल गड्ढ़ा दिखाई देता है, वही कल मेघमाला से परिवेष्टित पर्वत बन जाता है और जो आज यहाँ पर विविध वनश्रेणियों से परिपूर्ण गनगनचुम्बी महापर्वत दिखाई देता है, कुछ ही दिनों में वही समतल पृथिवी के रूप में या गम्भीर कुएँ के रूप में परिणत हो जाता है। आज जो शरीर रेशमी वस्त्र, माला और कुमकुम, केसर एवं कस्तूरी के विलेपन से विभूषित है वही कल वस्त्रशून्य (नंगा) होकर ग्राम या नगर से दूरवर्ती गड्ढ़े में सड़ेगा। जहाँ पर आज अद्भूत आचार-व्यवहारवाले

मनुष्यों की चहल–पहल से परिपूर्ण नगर दिखाई देता है, कुछ ही दिनों के बाद वहीं पर सूना अरण्य बन जाता है। जो पुरुष आज तेजस्वी है, अनेक सामन्तों पर शासन करता है, वही कुछ ही दिनों के बाद भस्मराशि (राख की ढेरी) बन जाता है। आज जो महाअरण्य विस्तार और नीलता में आकाशमण्डल को मात करता है, अर्थात् आकाश के समान विशाल और गहन होने के कारण आकाश के समान काला है, वही थोड़े दिनों में पताकाओं से आकाश को पाट देनेवाला महानगर बन जाता है। आज जो लताओं से वेष्टित अतएव भयंकर वनश्रेणी दिखाई देती है, वही थोड़े ही दिनो में जल और वृक्षों से शून्य मरूभूमि (रेगिस्तान) बन जाती है। जहाँ पर अगाध जल भरा रहता है, वे बड़े–बड़े तालाब और समुद्र, स्थल बन जाते हैं और स्थल जलाशय बन जाता है, बहुत कहाँ तक कहें, काष्ठ, जल और तृणों से युक्त यह सारा–का–सारा जगत् विपरीत अवस्थाको प्राप्त होता है। युवावस्था, बाल्यावस्था, शरीर और धनसम्पत्ति ये सब–के–सब अनित्य हैं। जैसे तरंग लगातार जल से तरंगरूपता को और तरंग से जलरूपता को प्राप्त होती है वैसे ही सब पदार्थ निरन्तर अपने पूर्व स्वभाव से अन्य स्वभाव को प्राप्त होते हैं। इस संसार में जीवन प्रखर वायु से पूर्ण स्थान में रक्खे हुए दीपक की लौ के समान अत्यन्त चंचल है और तीनों लोकों के सम्पूर्ण पदार्थों की चमक–दमक बिजली की चमकके सदृश क्षणिक है। जैसे भंडार घर में पुनःपुन भरने पर भी धान, गेहूँ आदि अन्नों की राशि प्रतिदिन के व्यय से रिक्त हो जाती है या खेत में बोई गई और पानी से सींची जाती हुई धान्यराशि अंकुर और पौधे के रूप से विपरीत अवस्था को प्राप्त होती है, वैसे ही ये विविध पदार्थ विपरीत अवस्था (परिवर्तन) को प्राप्त होते हैं। अतिशय आडम्बर से शोभित होनेवाली संसाररचना अत्यन्त कौशलपूर्ण नटी के समान है। यह नर्तक के आवेश में नटी के समान अपना अतिशय नृत्य कौशल प्रकट करने के लिए अंगपरिवर्तन द्वारा पद पद में भ्रम उत्पन्न करती है। मनरूपी वायु से परिचालित जीवरूप धूलि ही इस संसाररचनारूपी नर्तकी के वस्त्र हैं और प्राणियों को नरक में गिराना, स्वर्ग में पहुँचाना और पुनः इसी लोक में वापिस लाना ही इसके उत्तम अभिनय है, उनसे यह विभूषित है ॥१–१४॥ ब्रह्मन्, कटाक्षदर्शन के समान क्षणभंगुर व्यवहारपरम्परा से मनोहर यह संसाररचना कटाक्षपात और क्षणभंगुर नई नई कारीगरियों से मनोहर नृत्तासक्त नटी के समान अद्भुत गन्धर्वनगर के सदृश अनेक भ्रम उत्पन्न करती है और यह पुनः पुनः बिजलीरूप चंचल दृष्टि को फैलाती है अर्थात् जैसे ऐन्द्रजालिक स्त्री तन्त्र और मन्त्रों के विस्तार द्वारा लोगों के नयनों की दर्शनशक्ति को आच्छादित कर अवस्तु में वस्तु ज्ञान उत्पन्न कराती है, यह संसाररचनारूपी नर्तकी की दृष्टि भी वैसे ही बिजली से भी चंचल है अतएव यह नृतासक्त संसार रचना नृतासक्त नटी के समान है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥१५,१६॥ महर्षिजी, आप विचार कर देखें वे उत्सव और वैभव से परिपूर्ण दिन, वे महापुरुष, वे प्रचुर सम्पत्तियाँ, वे यज्ञ आदि क्रियाएँ कहाँ हैं ? वे सब–के–सब हमारे दृष्टिपथ से दूर हो गये हैं, अब केवल उनकी स्मृति ही शेष रह गई है, वैसे ही हम भी थोड़े ही दिनों में चले जायेंगे, हमारी भी केवल स्मृति ही शेष रह जायेगी। यह गर्हित संसार प्रतिदिन नष्ट होता है और प्रतिदिन फिर उत्पन्न होता है। कितना काल बीत गया इसकी सीमा नहीं है, फिर भी आज तक इस निन्दत संसार का अन्त नहीं हुआ, यह बराबर चलता ही जाता है। मनुष्य पशु आदि योनि को प्राप्त होते हैं, पशु आदि मनुष्य–जन्म को प्राप्त होते हैं और देवता देवभिन्न योनियों में जन्म

लेते हैं; भला बतलाइए तो सही, इस संसार में कौन वस्तु स्थिर है ? सभी का तो विपर्यास (परिवर्तन) दिखलाई दे रहा है। कालरूप सूर्य अपनी किरणों द्वारा रात-दिन पुनःपुनः प्राणियों की सृष्टिकर अनेक रात्रि और दिनों को बिताकर स्वयं रचित भूतों के विनाश की अवधि की प्रतीक्षा करता है। और को क्या कहें, ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र आदि एवं सम्पूर्ण प्राणिवर्ग जैसे जल बड़वाग्नि का (📖) अनुसरण करता है वैसे ही विनाश का अनुसरण करते हैं। कहाँ तक कहें, द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत नदियाँ, दिशाएँ ये सब के सब विनाश रूपी अग्नि के लिए सूखे काष्ठ हैं अर्थात् जैसे अग्नि को सूखे लकड़े को जलाने में कुछ भी विलम्ब नहीं होता, वैसे ही इनका विनाश होने में भी कुछ काल नहीं लगता। काल से भयभीत पुरुषों के धन-सम्पत्ति, बन्धु बान्धव, मृत्यु मित्र और ऐश्वर्य ये नीरस हो गये हैं। इस जगत् में विवेकशील पुरुषों को तभी तक ये पदार्थ अच्छे लगते हैं, जब तक कि विनाशरूपी दुष्ट राक्षस का स्मरण नहीं होता ॥१७-२४॥ मुनिवर, इस संसार में क्षण भर में मनुष्य वैभवपूर्ण हो जाता है, क्षणभर में दरिद्र बन जाता है, क्षणभर में नीरोग हो जाता है और क्षण भर में ही रोग से आक्रान्त हो जाता है। गिरगिट के समान क्षणभर में रंग बदलनेवाले नश्वर जगत्रूपी भ्रम से कौन बुद्धिमान् जन मोहित नहीं हुए अर्थात् इस गर्हित जगद्भ्रम ने सभी को मोह में डाल रक्खा है ॥२५,२६॥

इस जगत् की अनियत स्थिति को ही उदाहरण द्वारा विशद करते है।

आकाशमण्डल कभी निविड अन्धकार से आच्छन्न हो जाता है, कभी सुवर्णद्रव के समान उज्ज्वल चाँदनी आदि से उद्भासित हो उठता है, कभी मेघरूपी नीलकमल की माला से परिवृत्त हो जाता है, कभी गम्भीरतर बादलों की गर्जना से परिपूर्ण हो जाता है, कभी मृककी नाईं सुनसान हो जाता है, कभी तारों की पंक्तियों से रंजित हो जाता है, कभी सूर्य की किरणों से विभूषित हो जाता है, कभी चाँदनीरूप आभूषण से अलंकृत हो उठता है और कभी पूर्वोक्त कोई भी पदार्थ उसमें नहीं रहते। क्या ये सब आकाश के स्वरूप है ? नहीं, वह तो रंग आदि से रहित है, केवल उक्त प्रकार के आकारों को धारण करता है, आकाश दृष्टान्तय है। इसका दार्ष्टन्तिक संसार भी इसी भाँति घोर मायामय (भ्रान्तिमय) है। संसार का स्वरूप ठीक आकाश के सदृश है। हे महर्षे, आगम और अपाय के वशीभूत एवं क्षण में उत्पन्न और क्षण में नष्ट होनेवाली इस जगत्-स्थिति से कौन ऐसा पुरुष है, जो धीर होता हुआ भी इस संसार में भयभीत नहीं होता ॥२७-३०॥

मुने, क्षण में आपत्तियाँ आती है एवं क्षण में ही सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं, केवल सम्पत्तियाँ और विपत्तियाँ ही नहीं, किन्तु क्षण में ही जन्म होता है और क्षणभर में ही मृत्यु हो जाती है। इस संसार मे कौन ऐसी वस्तु है, जो क्षणिक न हो अर्थात् सुस्थिर हो। जो पुरुष पहले अन्य था, वही थोड़े दिनों में अन्य प्रकार हो गया। भगवन्, सदा एकरूप में रहनेवाली सुस्थिर वस्तु यहाँ कोई भी नहीं है। कपास के खेत में नष्ट हुआ घड़ा कपास रूप में परिणत होकर पट (वस्त्र) बन जाता है और पट भी घटरूप बन जाता है, इस संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं देखी गई जिसका विपर्यास (परिवर्तन) नहीं होता। पुरुष

📖 मूल में स्थित वाड़वशब्द भागत्यागलक्षणा द्वारा अग्नि का प्रतिपादक है, क्योंकि अन्यथा प्रसिद्ध बड़वाग्नि जल को भी जला डालती है, इसलिए उसके दाह्य इन्धनों में शुष्क विशेषण अनुपयुक्त होगा।

को परमात्मा वृद्धि को प्राप्त कराता है, विपरिणाम को प्राप्त कराता है, क्षीण करता है, नष्ट करता है और फिर जन्म को प्राप्त कराता है। क्रम से वृद्धि विपरिणाम, अपक्षय, विनाश और जन्म को प्राप्त हो रहे देहाभिमानी के समीप ये पाँच भावविकार भी चिरकाल तक नहीं रहते, रात्रि और दिन के समान निवृत्त हो जाते हैं अर्थात् विपर्यय को प्राप्त हो जाते हैं। भाव यह कि रात्रि और दिन के समान उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, ह्रास और विनाश क्रम से मनुष्य को प्राप्त होते है, प्राप्त होकर स्थिर, नहीं रहते, किन्तु पुनः पुनः परिवर्तित होते रहते हैं। बलवान् दुर्बल के द्वारा मारा जाता है, एक व्यक्ति भी सैकड़ों व्यक्तियों को धराशायी बना देता है एवं सामान्य व्यक्ति भी प्रभुता को प्राप्त हो जाते हैं। बहुत क्या कहें सारा जगत् ही परिवर्तनशील है। जैसे जल का वेग क्रिया के साथ संपर्क होने से तरंगों की पंक्तियाँ लगातार परिवर्तित होती हैं, वैसे ही यह जनता (चेतनप्राणिसमूह) भी जड़ प्राण, इन्द्रिय आदि के संसर्ग से निरन्तर परिवर्तित होती है। बाल्यावस्था थोड़े ही दिनों में चली जाती है, तदन्तर यौवन पदार्पण करता है, वह भी बाल्यावस्था के अनुसार थोड़े ही दिनों में चल बसता है, तदुपरान्त वृद्धावस्था आती है। देखिए, देह में भी एकरूपता (स्थिरता) नहीं है, बाह्य पदार्थों में तो एकरूपता की क्या आशा हो सकती है ? जैसे नट हर्ष, विषाद आदि का अभिनय करता है, वैसे ही मन भी हर्ष, विषाद का अभिनय करता है, कभी वह किसी विषय को देखकर आनन्द को प्राप्त होता है, क्षणभर में ही अन्य को देखकर दुःखी बन जाता है और क्षणभर में सौम्य बन जाता है। जैसे बालक खेल क्रीड़ा में कभी कुछ, कभी कुछ वस्तु बनाता हुआ थकता नहीं, वैसे ही यह विधाता भी इधर दूसरी, उधर दूसरी और उधर दूसरी वस्तु को बनाता हुआ खेद को प्राप्त नहीं होता, कभी थकता नहीं। विधाता मनुष्यों को धान आदि के समान संचित कर बढ़ाता है, उनसे अन्य लोगों की (पुत्र–पौत्रादिरूप से) उत्पत्ति कराता है; फिर उनको मारकर खा जाता है। उनको खाने में उसे स्वाद मिल जाता है, फिर तो वह निरन्तर खाने के लिए अन्य लोगों की सृष्टि करता है। सृष्टि को प्र्राप्त मनुष्यों के पास हर्ष, विषाद आदि रात्रि और दिन की नाईं सदा आते जाते रहते हैं। उत्पन्न और विनष्ट होनेवाले संसारी पुरुषों की न तो आपत्तियाँ स्थिर रहती हैं और न सम्पत्तियाँ ही स्थिर रहती हैं। यह काल समर्थों को भी अनादर के साथ परिवर्तित करनेमें अति दक्ष हैं। यह प्रायः सब लोगों को आपत्ति में ढकेल कर क्रीड़ा करता है। कर्मों के एवं रसों के सम परिणाम और विषम परिणाम से विविध भाँति के तीनों लोकों के प्राणी समुदायरूप फल समयरूपी वायु द्वारा आन्दोलित होकर विस्तृत संसाररूपी वृक्षों से प्रतिदिन गिरते हैं ॥३१–४३॥

अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त

उनतीसवाँ सर्ग

श्रीरामचन्द्रजी का दोषदर्शन से सम्पूर्ण पदार्थों में स्ववैराग्यवर्णन एवं
चित्त की शांति के लिए तत्त्वोपदेश की प्रार्थना।

श्रीरामचन्द्रजी इस प्रकार दोषदर्शन से अपने चित्त में तत्त्वज्ञानजनक वैराग्य दर्शाते हैं।

श्रीरामचन्दजी ने कहा : मुनिवर, इस प्रकार दोषदर्शनरूपी वनाग्नि से मेरा चित्त दग्धप्राय हो गया

है अर्थात् उसमें पहले जो जगत् के प्रति स्थायित्वबुद्धि भी थी या जगत् के प्रति प्रेम था, वह जल गया है, अतएव वह विवेक से परिपूर्ण है। जैसे जलाशयों में मृगजल का (सूर्यकिरणों में जलबुद्धि का) उदय नहीं होता (मरुभूमि में ही मृगतृष्णा की प्रतीति होती है) वैसे ही उक्तरूप मेरे चित्त में भोग की आशा का उदय नहीं होता। जैसे छोटे-छोटे नीम के पेड़ काल की अधिकता से अर्थात् उत्तरोत्तर तिक्त, तिक्ततर और तिक्ततम होते हैं वैसे ही यह संसार भी हमारे प्रति दिन-प्रति दिन अधिकाधिक कटुता को प्राप्त होता है अर्थात् जैसे जैसे काल व्यतीत होता है, वैसे वैसे यह संसार हमारे प्रति कटुप्राय होता जाता है। भगवन्, मनुष्य का चित्त करंज वृक्ष (卐) के फल के समान कठोरतम है। धर्म का अंशतः ह्रास और अधर्म की अंशतः वृद्धि होने के कारण उसमें दिन- प्रति-दिन दुर्जनता बढ़ती जाती है और सज्जनता क्षीण होती जाती है। सूखी हुई उड़द की छीमी को तोड़नेमें तो टंकार शब्द होता है पर संसार में दिन प्रतिदिन बिना टंकारशब्द के बड़ी शीघ्रता के साथ मर्यादा का भंग किया जा रहा है अर्थात् लोग संसार में उड़द की सूखी हुई छीमी के समान बड़ी शीघ्रता से मर्यादा भंग कर रहे हैं, केवल अन्तर इतना ही है कि छीमी को तोड़ने में शब्द होता है, पर मर्यादा को तोड़नेमें शब्द भी नहीं होता। मुनिश्रेष्ठ, विविध मानसिक चिन्ताओं से परिपूर्ण प्रचुर भोगों से युक्त राज्यों की अपेक्षा चिन्ताशून्य महात्माओं द्वारा स्वीकृत एकान्तसेवन कहीं अच्छा है। उद्यान के दर्शन या विहार से मुझे प्रसन्नता नहीं होती, स्त्रियों से मुझे सुख नहीं होता और धनप्राप्ति से मुझे हर्ष नहीं होता। मैं मन के साथ उपशान्त होना चाहता हूँ, यही मेरी प्रबल इच्छा है ॥१-६॥

शान्ति के सिवा दूसरा कोई भी सुखका साधन नहीं है, ऐसा कहते हैं।

पूज्यवर, यह संसार सुखरहित और विनाशी है, तृष्णा (विषयवासना) बड़ी तीव्र है और चित्त की चंचलता की कोई सीमा ही नहीं है, उससे शान्तिलाभ की आशा दुराशा ही है, मैं कैसे निवृत्तिलाभ करूँगा, यही मैं सदा विचार करता हूँ। न मैं मृत्यु का अभिनन्दन करता हूँ और न जीवन का ही अभिनन्दन करता हूँ। जिस अवस्था में स्थित होने से मैं लोकसन्ताप से निर्मुक्त हो जाऊँ, उसी अवस्था का मैं अवलम्बन करना चाहता हूँ वह चाहे जीवनावस्था में प्राप्त हो, चाहे मरने के पश्चात् जब कभी हो, उसके लिए मैं व्यग्र नहीं हूँ। राज्य से मुझे क्या करना है, भोग से मेरा कौन प्रयोजन सिद्ध होगा, धन से मुझे क्या मतलब है, किसी प्रकार की चेष्टा से भी मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। अहंकार वश इनकी उत्पत्ति होती है, मेरा वह अहंकार ही नष्ट हो गया है। इन्द्रियों का विषयों की आसक्ति से मुक्त होना बड़ा कठिन है, अतएव इन्द्रियाँ ठहरी कभी न सुलझनेवाली दृढ़ ग्रन्थियाँ। उन ग्रन्थियों द्वारा जन्म की पंक्ति रूपी चमड़े की रस्सी में बाँधे गये जीवों में से जो लोग उससे छुटकारा पाने के लिए यत्न करते हैं, वे ही श्रेष्ठ पुरुष है। जैसे हाथी अपने विशाल पैर के प्रहार से कमल को कुचल डालता है। वैसे ही कामदेव ने रमणियों द्वारा कोमल मन को मथ डाला है, नष्ट कर दिया है। मुनीश्वर यदि इस बाल्यावस्था में निर्मल बुद्धि से चित्त की चिकित्सा नहीं की गई, तो फिर चित्त की चिकित्सा का अवसर कब आयेगा ? क्योंकि जब तक भलीभाँति जड़ न जमी हो तभी तक छोटा-सा वृक्ष उखाड़ा जा सकता, जब वह बद्धमूल हो जाता है, तब तो उसे उखाड़ना बड़ा कठिन हो जाता

卐 काँटेदार जंगली पेड़ है।

है, ऐसी लोकोक्ति है। कुटिल विषय ही विष है, प्रसिद्ध विष विष नहीं है, क्योंकि विष एक ही देह का अर्थात् जिस देह से उसका सम्बन्ध होता है, उसी का विनाश करता है मगर विषय तो अन्य जन्मों में भी देह को मृत्यु के मुँह में डालते हैं ॥७–१३॥

तत्त्वज्ञ पुरुष भी तो विषयों का भोग करते हुए सुखी आदि देखे जाते हैं, फिर उनमें कौन सी विशेषता है, ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

सुख, दुःख, मित्र, बन्धु, बान्धव, जीवन और मरण ये सब यद्यपि बन्धन के कारण है, तथापि ये ज्ञानी के चित्त के बन्धक नहीं होते, इसका कारण यही है कि ज्ञानी इनके वश में नहीं होते ॥१४॥

अतः सम्पूर्ण दुःखों का मूलोच्छेदक होने के कारण ज्ञानी होना ही परम पुरुषार्थ है, अतः ज्ञानोपदेश की प्रार्थना करते हैं।

हे ब्रह्मन्, हे तत्त्वज्ञशिरोमणे, इसलिए जैसे में ज्ञानी होकर शोक, भय और खेद से शीघ्र मुक्त हो जाऊँ, वैसा उपदेश मुझे शीघ्र दीजिये ॥१५॥

शीघ्र उपदेश देने के लिए अपने में अतिशय दुःख की असहिष्णुता और वैराग्य में उत्कण्ठा दिखलाते हैं।

अज्ञता भीषण अरण्य के सदृश हैं, जैसे अरण्य में मृगों को फँसाने के लिए जाल बिछे रहते हैं, चारो ओर काँटे बिखरे रहते हैं, जगह–जगह ऊँची–नीची भूमि रहती है, वैसे ही अज्ञता भी विषयवासनारूपी जालों से परिवेष्टित है, दुःखरूपी कण्टकों से आकीर्ण है और सम्पत्ति–विपत्ति से या स्वर्गनरकपरम्परा से पूर्ण है, इसलिए उससे मैं शीघ्र मुक्त होना चाहता हूँ। मुनिवर, यदि कोई मुझे आरे से चीरे, तो मैं आरे के दाँतों की रगड़ सहने के लिए समर्थ हूँ, लेकिन सांसारिक व्यवहार से उत्पन्न एवं आशा और विषयों से हुए संघर्ष को मैं सहने के लिए समर्थ नहीं हूँ। यह अभीष्ट है, यह सोचकर उसके निवारण में और यह इष्ट है, यह समझकर उसके सम्पादन में प्रवृत्ति–निवृत्तिव्यवहाररूप अविद्यारूप अंजन से उत्पन्न भ्रान्ति स्वभावतः चंचल चित्त को इस प्रकार कँपा डालती है जैसे वायु दीपक की लूर को कँपाती है। जीवसमूहरूपी मोती तृष्णारूपी अत्यन्त सूक्ष्म धागे में पिरोये गये हैं, साक्षीरूप चैतन्य के सम्बन्ध से एवं तैजस होने के कारण अत्यन्त दैदीप्यमान मन ही उस माला में प्रधान (नायक) मणि है। वैराग्य आदि से सम्पन्न मैं जैसे रोषपूर्ण सिंह जाल को तोड़ डालता है, वैसे ही कालरूपी किटके आभूषण इस संसाररूपी हार को आपके उपदेश से उत्पन्न ज्ञान से–क्रोध, हिंसा आदि उग्र उपायों के बिना तोड़ता हूँ। तत्त्वज्ञशिरोमणे, हृदयकमल ही दुष्प्रवेश होने के कारण अरण्य है, उसमें शीत और आवरण का हेतु होने के कारण कुहरे के तुल्य और उसमें आत्मतत्त्व के अन्वेषण के लिए प्रवृत्त हुए मन के अन्धकार की नाईं विवेकरूपी नेत्र को बन्दकर देनेवाले अज्ञान को सुखकर उपदेशरूपी सूर्य से नष्ट कर दीजिये। महात्मन्, जैसे चन्द्रमा से रात्रि का अन्धकार नष्ट होता है, वैसे ही उत्तम पुरुषों की संगति से प्राप्त उपदेश से जिनका विनाश नहीं होता, ऐसी दुष्ट मानसिक चिंताएँ इस जगतीतल में हैं ही नहीं अर्थात् जैसे चन्द्रमा रात्रि के अन्धकार को नष्ट कर देता है, वैसे ही महात्मा पुरुषों की संगति से प्राप्त उपदेश भी सम्पूर्ण क्लेशों को नष्ट कर देता है ॥१६–२२॥

अभी तुम बालक हो, इसलिए तुममें शम, दम आदि की दृढ़ता नहीं है। यदि तुम्हें हमने तत्त्वज्ञान

का उपदेश दे भी दिया, तो वह फलीभूत नहीं होगा, ऐसी शंका की निवृत्ति के लिए श्रीरामचन्द्रजी अपने में शम आदि की दृढ़ता दिखलाते हैं।

आयु वायु से टकराये हुए मेघों के समूह से टपक रहे जल के समान भंगुर है, भोग बादलों में चमक रही बिजली के समान चंचल हैं और यौवन में होनेवाले चित्तविनोद जल के वेग के समान चपल हैं, ऐसा शीघ्र विचार कर अर्थात् आयु, भोग, यौवन आदि में तृष्णा, चंचलता आदि दोषों से दुःख, नाश आदि अनर्थ जानकर उनका त्यागकर मैंने इस बाल्यावस्था में भी सम्पूर्ण दोषों से रहित शान्ति के लिए अपने हृदय के विषय में अटल अधिकार की मुहर दे रक्खी है ॥२३॥

भाव यह कि जैसे राजा अधिकार लोलुप बहुत से व्यक्तियों में से जिनसे लोभ, कायरता आदि दोषों के कारण राज्य में प्रजापीड़न, शत्रु द्वारा आक्रमण आदि की आशंका होती है, उन्हें छोड़कर किसी एक गुणवान और शक्तिशाली व्यक्ति को अधिकारमुद्रा सौंपता है, वैसे ही मैंने भी पूर्वोक्त प्रकार से समर्थ शान्ति के लिए अपने चित्त के विषय में दृढ़ अधिकार मुद्रा दे रक्खी है।

उनतीसवाँ सर्ग समाप्त

तीसवाँ सर्ग

अपने चित्त का उद्वेग दर्शा रहे श्रीरामचन्द्रजी द्वारा उसके निरास एवं
शांति के लिए उपदेश की प्रार्थना।

हेतुओं द्वारा अपने चित्त की उद्विग्नता का विस्तारपूर्वक वर्णन कर रहे श्रीरामचन्द्रजी चित्तविश्रान्ति के हेतुभूत उपदेश की प्रार्थना करते हैं।

उक्त रीति से सैकड़ों अनर्थों से परिपूर्ण संसाररूपी अँधे कुँए के छिद्र में सम्पूर्ण प्राणियों को मग्न देखकर मेरा मन चिन्तारूपी कीचड़ में फँस गया है। मेरा मन घूम–सा रहा है और मुझे भय भी हो रहा है, अतएव मेरे अंग प्रत्यंग पुराने वृक्ष के पत्तों की नाईं काँप रहे हैं। जैसे निर्जन अरण्य में रहनेवाली दुर्बल भर्तृका मुग्धा नारी पद पद में भयभीत और शंकित रहती है, वैसे ही उत्कृष्ट सन्तोषदायक धैर्यरूपी माँकी गोद न मिलने के कारण व्याकुल हुई मेरी बालबुद्धि भी इस संसार में पद पद में भयभीत और सशंक हो रही है। जैसे मृगगण विषमस्थान में लटक रहे तुच्छ तृणों के लोभ से वंचित होकर गड्ढ़े में गिर पड़ते हैं, वैसे ही असार विषयों से वंचित ये अन्तःकरण वृत्तियाँ विक्षेपरूप दुखों की प्राप्ति के लिए दुःखरूप गड्ढ़ें में गिरती है। अविवेकी पुरुषों की नेत्र आदि इन्द्रियाँ चिरपरिचित होने के कारण संसार की ओर ही पूर्णरूप से आकृष्ट है (संसार में ही उनकी दृढ़ वासना है), परमार्थ वस्तु के प्रति उनका तनिक भी आकर्षण नहीं है। अतएव वे बेचारी नेत्र आदि इन्द्रियाँ आत्मा के उद्धार में समर्थ नहीं हैं और अन्धकूप में गिरे हुए जीवों की नाईं दुःखी है। जैसे पति के अधीन कान्ता न तो उपराम को प्राप्त होती है और न स्वेच्छा से कहीं मन चाहे प्रदेश को ही जाती है, किन्तु पति के घर में ही रहती है, वैसे ही जीवरूपी पति की कान्ता चिन्ता भी न तो उपराम को प्राप्त होती है और न मन चाहे विषयों को ही प्राप्त होती है, किन्तु स्वपति जीव के प्रियस्थान हृदय में ही निवास करती है। जैसे मार्गशीर्ष मास के अन्त में लताएँ तुषार गिरने के कारण जीर्ण पत्तों को गिरा देती हैं, कुछ हरे पत्तों को धारण भी करती हैं, वैसे ही

विवेक से विषयों को तुच्छ समझकर उनका त्याग कर रही और रस के (卐) (राग के) शेष रहने के कारण कुछ विषयों को धारण कर रही मेरी धृति संकट को प्राप्त हो गई है ॥१–७॥

क्लेशदायिनी अपनी उसी अन्तरालावस्था का वर्णन करते हैं।

मेरी उक्त चित्त की अस्थिरता सांसारिक और पारमार्थिक सम्पूर्ण सुखों को गँवाकर स्थित है, क्योंकि संसारस्थिति आत्मा के विवेकमात्र से अर्थ बोध होने के कारण मुझे आधा छोड़कर आधा पकड़े हुए है अर्थात् न तो मैं पूर्ण ज्ञानी ही हूँ और न पूरा अज्ञानी ही, इसलिए अन्तराल में स्थित मुझे न ऐहिक सुख ही प्राप्त है और न पारमार्थिक ही। जैसे कटे हुए वृक्ष के ठूँठ द्वारा (स्थाणु द्वारा) अन्धकार में सत्य कोटि और असत्य कोटिरूप यह ठूँठ है या चोर है, इस प्रकार स्थिरत्व और अस्थिरत्व प्रकार के संशय से लोगों की बुद्धि वंचित (भ्रमित) होती है वैसे ही आत्मतत्त्व के निश्चय से रहित (आत्मतत्त्वनिश्चय में सन्देहयुक्त) मेरी बुद्धि भी यह तत्त्व है या यह तत्त्व है, इस प्रकार के सन्देह से वंचित हो रही है। जैसे देवता विविध भोगसामग्रियों से परिपूर्ण, भुवनों में विहार करनेवाले एवं शीघ्रगामी अपने विमान का परित्याग नहीं करते वैसे ही स्वभावतः चंचल नानाभोगसामग्रियों से परिपूर्ण भुवनों में परिभ्रमण से अधिक चपलता को प्राप्त मेरा मन भी चंचलता को नहीं छोड़ता है। मैं उसे जबरदस्ती रोकना चाहता हूँ, पर तत्त्वज्ञान न होने के कारण मैं ऐसा नहीं कर सकता हूँ। इसलिए हे मुनिनायक, परमार्थ सत्य, जन्म–मरण आदि दुःखों से शून्य, देहादि उपाधि से विरहित, भ्रम से रहित वह विश्रान्ति–स्थान कौन है, जिसे प्राप्त कर शोक नहीं होता। हमारे ही समान दृष्ट और अदृष्टरूप फलदायक सम्पूर्ण कर्मों के अनुष्ठाता एवं लौकिक व्यवहार में तत्पर जनक आदि महापुरुष कैसे उत्तम पद को प्राप्त हुए ? हे परसत्कारकारिन्, इस संसार में वह कौनसा उपाय है, जिससे कि संसाररूपी पंक अर्थात् पुण्य–पापरूपी पंक का या शोकमोहरूप पंक का अनेक बार शरीर से सम्पर्क होने पर भी मनुष्य उससे लिप्त नहीं होता ? महामहिमाशाली, वीतराग एवं जीवन्मुक्त आप लोग किस दृष्टि का अवलम्बन कर इस संसार में विचरते हैं ? प्राणियों को भयभीत करने के लिए लुभा रहे नश्वर (♨) विषय सर्पों के सदृश हैं, भला वे कल्याणकारी कैसे हो सकते हैं ? मोहरूपी हाथी द्वारा विलोडित, काम आदिरूपी कीचड़ और सेवाल से व्याप्त प्रज्ञारूपी तालाब किस प्रकार अत्यन्त निर्मलता को प्राप्त हो ? जैसे कमल के पत्ते से जल का सम्पर्क नहीं होता, वैसे ही संसारप्रवाह में व्यवहार करनेपर भी पुरुष बन्धन को प्राप्त न हो, इसका क्या उपाय है ? इस सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच को तत्त्वदृष्टि से आत्मा के समान और बाह्यदृष्टि से तृण के समान देख रहे एवं कामादि वृत्तियों का स्पर्श न कर रहे पुरुष कैसे श्रेष्ठता को प्राप्त होते हैं ? जिसने अज्ञानरूपी महासागर पार कर लिया है, ऐसे किस महापुरुष के चरित्र का स्मरणपूर्वक आचरण कर मनुष्य दुःखी नहीं होता ? अविनाशी होने के कारण प्राप्त करने के योग्य मोक्ष क्या है और कर्म उपासना आदि का उचित फल क्या है ? भला बतलाइए तो सही, इस विषम संसार में कैसे व्यवहार करना

卐 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' (परमात्मा का साक्षात्कार कर इसका रस भी निवृत्त हो जाता है) इस भगवद्वचन के अनुसार परमात्मादर्शन के बिना रस की निवृत्ति नहीं हो सकती।

♨ मूलस्थित 'भंगुराकारविभवाः' का विषयपक्ष में – विनाशशील आधार और विभववाले और सर्पपक्ष में कुटिक आकार और विषशक्ति से युक्त, यह अर्थ है।

चाहिए ? प्रभो, मुझे तत्त्व का उपदेश दीजिये, जिससे मैं अव्यवस्थित ब्रह्मा की कृति जगत् की पूर्वापर वस्तु जानूँ अर्थात् जगत् के आदि और अन्त में अवशिष्ट रहनेवाला पारमार्थिक तत्त्व जानूँ। ब्रह्मन् जैसे मेरे हृदयरूपी आकाश के चन्द्ररूप साभार अन्तःकरण का मल (अज्ञान) हट जाय वैसा प्रयत्न आप निशंक होकर कीजिये। इस संसार में कौन वस्तु उपादेय (प्राप्त करने योग्य) है, कौन वस्तु अनुपादेय है और कौन वस्तु न उपादेय है और न अनुपादेय है। यह चंचल चित्त कैसे पर्वत के समान स्थिरता (शान्ति) को प्राप्त हो ? सैकड़ों क्लेशों की सृष्टि करनेवाली यह निन्दित संसाररूपी महामारी किस पवित्रतम मन्त्र से अनायास शान्ति को प्राप्त हो ? जैसे पूर्ण चन्द्रमा अत्यन्त आनन्द देनेवाली शीतलता को प्राप्त करता है, वैसे ही मैं भी आनन्दरूपी वृक्ष की मंजरीरूप देशपरिच्छेद और कालपरिच्छेद से शून्य शीतलता को अपने हृदय में कैसे प्राप्त करूँ ? भगवन्, आप तत्त्वज्ञ और सज्जनशिरोमणि हैं, इसलिए अपने में पूर्णता को प्राप्त कर पूर्ण हुआ मैं जैसे इस लोक में फिर शोक को प्राप्त न होऊँ वैसा आप मुझे उपदेश दीजिये। महात्मन् जैसे वन में कुत्ते स्वल्प बल से युक्त जीवों की (क्षुद्र प्राणियों की) देह को अति पीड़ित करते हैं, वैसे ही विविध संशय सर्वोत्कृष्ट आनन्दमय ब्रह्मपद में आत्यन्तिक स्थिरता से रहित पुरुष को सदा अति पीड़ित करते हैं॥८-२७॥

तीसवाँ सर्ग समाप्त

इकतीसवाँ सर्ग

सांसारिक जीवन वर्षाऋतु के मेघ के समान कुत्सित है,
अतः संसार निर्मुक्तिपूर्वक सुखपदप्रापक उपाय का प्रश्न।

पूछे जानेवाले प्रश्नों के उपोद्घातरूप से संसार में जीवन की वर्षाऋतु के मेघरूप से कल्पना करते हैं।

ब्रह्मन्, इस संसार में जीव की आयु ऊँचे वृक्षों के चंचल पत्तों में लटक रहे, जलकण (ओसबिन्दु) के सदृश क्षणभंगुर एवं शिवजी के आभूषणरूप चन्द्रकला के सदृश अत्यल्प है (🔔) (दुर्लक्ष्य होने के कारण यदि कहा जाय कि उसका अस्तित्व ही नहीं है, तो भी कोई अतिशयोक्ति न होगी), तुच्छ देह धानों के खेतों में बोल रहे मेढ़कों के गले के चमड़े के समान अस्थिर है, इष्ट-मित्र और बन्धु-बान्धवों का समागम सद्गति का प्रतिबन्धक होने के कारण जाल की नाईं तने हुए झाड़ियों के समूह के सदृश है, वासनारूपी पूर्वी वायु से वेष्टित, तुच्छ आशारूपी बिजली से विभूषित और मोहरूपी निविड़ कुहरे से जनित मेघों के खूब जोर से तर्जन-गर्जन, पूर्वक वज्रपात करनेपर, अति उग्र और चंचल लोभरूपी मयूर के ताण्डव नृत्य करने पर, अनर्थरूपी कुटजवृक्षों की कलियों के चटचट शब्दपूर्वक खूब विकसित होने पर, अतिक्रूरतम यमरूपी वनबिलाव के सम्पूर्ण प्राणिरूपी चूहों का अविरत संहार करने पर एवं लगातार मूसलाधार वृष्टि के किसी अनिर्दिष्ट स्थान से अपने ऊपर गिरने पर इस संसार में किस उपाय का

🔔 वर्षाऋतु में पूर्ण चन्द्रमा का भी कठिनाई से यदा कदा ही दर्शन हो जाता है फिर कलामात्र अवशिष्ट कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के चन्द्रमा की दुर्लक्ष्यता में तो कहना ही क्या है ? उसका दिखाई देना ही आश्चर्य है।

अवलम्बन करना चाहिए ? कौन गति है ? किसका स्मरण करना चाहिए और किसकी शरण में जाना चाहिए (📖) ? जिससे कि यह जीवनरूपी अरण्य भविष्य में अकल्याणकारी न हो ॥१–६॥ भगवन्, तपःशक्ति और ज्ञानशक्ति से जिनकी बुद्धि की कोई सीमा नहीं है, ऐसे आप सरीखे महात्मा अति तुच्छ वस्तु को भी दिव्य बना सकते हैं। यह सामर्थ्य पृथिवी में मनुष्यों में एवं स्वर्ग में देवताओं में कहीं भी नहीं है। देखिए न ! यह आपके ही तपोबल और ज्ञानबल का प्रभाव है कि त्रिशंकु को कुलगुरु श्रीवसिष्ठजी द्वारा दिया गया शाप आकल्पस्थायी स्वर्गरूप में परिणत हो गया एवं शुनःशेप की मृत्यु दीर्घायु में परिणत हो गई। मुनिवर, यह निन्द्य संसार निरन्तर दुःखप्राप्ति से परिपूर्ण है, अतएव इसमें कुछ भी रस (स्वाद) नहीं है, कृपया बतलाइए कि यह किस उपाय से अज्ञाननिवृत्ति द्वारा सुस्वाद (सरस) बनता है ? जैसे फूलों से अत्यन्त रमणीय वसन्त के आगमन से पृथिवी मनोहर हो जाती है वैसे ही सम्पूर्ण दुःखों की एकमात्र कारण आशा के प्रसिद्ध स्वभाव से प्रतिकूल परिणामरूपी (पूर्णकामतारूपी) दुग्धस्नान से संसार रमणीयता को कैसे प्राप्त होता है अर्थात् किस उपाय का अवलम्बन करने से सम्पूर्ण दुःखों की एकमात्र कारण आशा के पूर्णकामता में परिणत होने पर पूर्णकामतारूपी दुग्ध स्नान से संसार सुखमय हो जाता है ॥७–९॥ महर्षे, काम से कलंकित मनरूपी चन्द्रमा विद्वान जनों द्वारा अनुभूत किस धोवन से (क्षालन से) धोया जाय जिससे कि उससे निर्मल (काम आदि मल से रहित) आनन्दरूपी चाँदनी उदित हो। जिसे संसार की अनर्थकारिता का अनुभव है और जो ऐहिक और लौकिक भोगों का विवेकजनित वैराग्य और दृढ़बोध द्वारा नाश कर चुका है, ऐसे किस महापुरुष की नाईं संसाररूपी वनश्रेणी में हमें व्यवहार करना चाहिए कृपया उसका निर्देश कीजिए। भगवन्, क्या करने से रागद्वेषरूपी महाव्याधियाँ एवं प्रचुरभोगों से परिपूर्ण दुःखदायिनी सम्पत्तियाँ संसाररूपी समुद्र में विहार करनेवाले प्राणी को क्लेश नहीं देतीं, कृपया उसे हमसे कहिए। हे धीर श्रेष्ठ ब्रह्मन्, जैसे अग्नि में गिरने से भी पारद रस जलता नहीं, वैसे ही अग्नि के तुल्य सन्ताप देनेवाले संसार में पड़नेपर भी ज्ञानामृत से सुशोभित पुरुष किस उपाय का अवलम्बन करने से सन्ताप को प्राप्त नहीं होता, कृपया उसको मुझसे कहिए ॥१०–१३॥

यदि व्यवहार से दुःख होता है तो व्यवहार का त्यागकर दीजिए ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

जैसे सागर में उत्पन्न हुए मछली आदि जलजन्तुओं के प्राण जल के बिना नहीं रह सकते हैं, वैसे ही व्यवहारों के सम्पादन के बिना इस संसार में स्थिति नहीं हो सकती ॥१४॥

व्यवहार में भले ही दुःख हो, किन्तु यज्ञ–याग आदि शुभ कर्मों के अनुष्ठान में तो किसी प्रकार के दुःख की सम्भावना नहीं है, ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

जैसे अग्नि की ज्वाला दाहरहित नहीं हो सकती है, वैसे ही इस संसार में ऐसा कोई सत्कर्म नहीं है, जो राग–द्वेष से रहित हो तथा सुख–दुःख से वर्जित हो अर्थात् सम्पूर्ण सत्कर्मों में किसी न किसी प्रकार राग–द्वेष का सम्बन्ध और सुख–दुःख का संसर्ग है ही ॥१५॥

📖 जैसे अरण्य में प्राप्त आँधी, वृष्टि आदि से उत्पन्न क्लेश की निवृत्ति के लिए छाता, छप्पर, चट्टाई आदि उपाय हैं, पारदगुटिका, औषधिलेप आदि द्वारा शीघ्र वृष्टिरहित दूर देश में गति (गमन) होती है, संकट से बचानेवाले मन्त्र या देवता आदि का स्मरण होता है, पर्वत की गुफा का आश्रय लिया जाता है, वैसे ही सांसारिक क्लेश की निवृत्ति के लिए भी क्या कोई उपाय, गमन, स्मरण और आश्रयण आदि साधन हैं ? यह अभिप्राय है।

बाह्य व्यवहार रहे, वह हमारा क्या बिगाड़ सकता है, मनकी चंचलता ही परम दुःख है, अतएव जिससे उसकी चिकित्सा हो, वही उपाय कहिए, ऐसा कहते हैं।

मुनिश्रेष्ठ, तीनों भुवनों में मन का विषयों से संसर्ग होना ही मन की सत्ता (अस्तित्व) है और उसका विषयों से सम्पर्क न होना ही उसकी सत्ता का विनाश (मन के अस्तित्वका अभाव) है और मन की सत्ता का विनाश सम्पूर्ण विषयों के बाधक तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति में कारणभूत युक्ति के उपदेश के बिना नहीं हो सकता, इसलिए जब तक मुझ में तत्त्वज्ञान का उदय न हो तब तक मुझे उक्त युक्तिका बारबार उपदेश दीजिये। अथवा जिस युक्ति से, मेरे लोकव्यवहार में रत रहने पर भी, मुझे दुःख प्राप्त न हो, व्यवहार की उस उत्तम युक्ति का आप मुझे उपदेश दीजिये। युक्ति से मोह का (अज्ञान का) निराकरण पहले किस उत्तम चित्तवालेने किया और किस प्रकार किया ? जिससे चित्त पवित्र होकर परम शान्ति को प्राप्त होता है। मोह की निवृत्ति के लिए जो कुछ आपको जानकारी हो उसे कृपाकर कहिये, जिसके अवलम्बन से अनेक साधु-सन्त पुरुष निर्वाण को प्राप्त हो गये हैं ॥१६-१९॥

यदि मुझे उक्त युक्ति प्राप्त न होगी तो मैं मरणान्त अनशन आरम्भ कर दूँगा, जीवन के उपयोगी व्यवहार कदापि न करूँगा, ऐसा कहते हैं।

ब्रह्मन्, यदि वैसी कोई युक्ति है ही नहीं अथवा उसके विद्यमान रहने पर भी कोई महात्मा पुरुष मुझको उसका स्पष्ट रीति से उपदेश नहीं करता है या मैं स्वयं ही विचार कर उस सर्वश्रेष्ठ शान्ति को नहीं पा सकता हूँ, तो सम्पूर्ण चेष्टाओं का त्यागकर निरहंकारता को प्राप्त हुआ मैं न तो भोजन करूँगा, न जल पीऊँगा, न वस्त्र पहनूँगा, न स्नान, दान, भोजन आदि कर्म ही करूँगा और न सम्पत्ति और आपत्ति की अवस्था में किसी प्रकार के कार्य का अवलम्बन करूँगा। मुनिवर, देहत्याग को छोड़कर मैं और कुछ भी नहीं चाहता हूँ। मैं सम्पूर्ण शंकाओं, मोह-ममता, डाह-द्वेष आदि से शून्य होकर भित्ति में लिखित चित्र की नाईं मौन रहता हूँ। तदुपरान्त क्रमशः श्वास-उच्छवास क्रिया का त्यागकर अवयवसंगठनरूप देहनामक इस अनर्थ का त्याग करता हूँ, इस देहरूप अनर्थ का न मुझसे कोई सम्बन्ध है, न मेरा इससे सम्बन्ध है और न मेरा और किसीसे सम्बन्ध है, मैं तेलरहित दीपक की नाईं शान्त होता हूँ। मैं सम्पूर्ण पदार्थों का परित्याग कर इस अनर्थरूप देह का त्याग करता हूँ। श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : जैसे मयूर बड़े-बड़े मेघों के सन्मुख केकावाणी (मयूर की वाणी) बोलकर, थकावट होने के कारण, चुप हो जाता है, वैसे ही निर्मल चन्द्रमा के सदृश मनोहर एवं तत्त्वविचार से उदार चित्तवाले श्रीरामचन्द्रजी यों कहकर वसिष्ठ आदि गुरुओं के सामने चुप हो गये ॥२०-२७॥

इकतीसवाँ सर्ग समाप्त

बत्तीसवाँ सर्ग

श्रीरामचन्द्रजी के वचनों को सुननेवाले लोगों के प्रचुर आश्चर्य का तथा देवताओं द्वारा की गई पुष्पवृष्टि का वर्णन।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : कमल के सदृश नेत्रवाले राजकुमार श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार मन के मोह को नष्ट करनेवाले वचन कहने पर वहाँ पर बैठे हुए सब लोग आश्चर्य सागर में गोता खाने लगे, श्रीरामचन्द्रजी की वाणी सुनने के लिए मानों खड़े हुए उनके रोंगटों से उनके कपड़े छिद गये, वैराग्य की

वासना से उनकी संसार की कारणभूत राग–द्वेष आदि सम्पूर्ण वासनाएँ नष्ट हो गई और वे क्षणभर के लिए अमृतसागर की तरंगों में ओत–प्रोत से हो गये। श्रीरामचन्द्रजी की वे वाणियाँ सुनने में समर्थ लोगों ने ऐसे ध्यान से सुनीं कि वे निश्चलता के कारण चित्रलिखित से प्रतीत होते थे और हार्दिक आनन्द से उनका वदन प्रसन्न था। वे सुननेवाले थे, सभा में स्थित वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि मुनि, मन्त्रणा करने में निपुण जयन्त, द्युष्टि आदि दशरथ के मन्त्री, दशरथ आदि राजा महाराज, पर्शु आदि देशों के शासक सामन्त, नगरवासी, भरत आदि राजकुमार, ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण, नौकर–चाकर, अमात्य, पिंजड़े में स्थित पक्षी, निश्चल क्रीडामृग (मनोविनोद के लिए पाले गये मृग), घास–दाना न चबा रहे घोड़े, अपने महल के झरोखे पर बैठी हुई, निश्चल अतएव आभूषणओं के शब्दों से रहित कौशल्या आदि रानियाँ, बगीचे की लताओँ में और महल के अग्रभाग में (कबूतर आदि के रहने के स्थान में) रहनेवाले, पंखों को तनिक भी न हिला रहे एवं चुपचाप पक्षी, आकाशचारी सिद्ध, गन्धर्व, किन्नर एवं नारद, व्यास, पुलह आदि मुनिश्रेष्ठ उक्त महानुभावों ने और उनसे अतिरिक्त देवता, दिक्पति देवराज आदि, विद्याधर तथा शेषनाग प्रभृति नागों ने श्री रामचन्द्रजीकी विचित्र अर्थों से परिपूर्ण वे उदारतम वाणियाँ सुनीं ॥१–११॥ रघुकुलरूपी आकाश के उज्ज्वल चन्द्रमा और चन्द्रमा के सदृश सुन्दर कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी जब उक्त गम्भीर वचन कहकर चुप हो गये तब चारों ओर से उनकी प्रशंसा के पुल बँध गये, वाह वाह से आकाश गूँज उठा और साथ ही साथ सिद्धों ने आकाश से ऐसी घनी पुष्पवृष्टि की कि पुष्पवृष्टि के कारण चारों ओर चँदवा–सा बँध गया। उक्त मन्दार के पुष्पों के मध्य में विश्राम ले रही भँवरों की जोड़ी की गुनगुनाहट से गुलजार थी, पुष्पवृष्टि की मधुर सुगन्ध और सुन्दरता से मनुष्यों का चित्त उनके अधीन नहीं रह गया था। वह पुष्पवृष्टि क्या थी मानों आकाशवायु से गिराये गये तारों की पंक्ति थी, पृथिवी में गिरी हुई अप्सराओं के हास की छटा थी, बरस चुके अतएव तर्जन–गर्जन से रहित और बिजली से दैदीप्यमान मेघों के छोटे–छोटे टुकड़ों की झड़ी थी, फेंके गये मक्खन के पिण्डों की परंपरा थी, मोतियों के हारों की राशि के समान विशाल हिमवृष्टि थी, चन्द्रमा के किरणों की माला थी और क्षीरसागर के लहरों की श्रेणी थी। उस पुष्पवृष्टि में प्रचुर केसर से पूर्ण कमलों की अधिकता थी और उसके चारों ओर भँवरे मंडराते थे तथा वह स्पर्शसुखसूचक लोगों की सीत्कार ध्वनि से गा रहे, अतिसुगन्धित और मन्द होने के कारण सुख स्पर्शवाले वायु से कुछ–कुछ हिल रही थी। उस पुष्पवृष्टि में कहीं पर केतकी के फूल लहलहा रहे थे, तो कहीं पर सफेद कमलों की छटा शोभित हो रही थी, तो कहीं पर कुन्द के फूल अधिक मात्रा में गिर रहे थे और कहीं पर केवल नीले कमलों की ही वृष्टि हो रही थी। फूलों की लगातार वृष्टि से आँगन, घर, छत और चौतरे सबके सब भर गये थे, नगर के सभी नर–नारी ऊपर गर्दनकर पुष्पवृष्टि की छटा को देखते थे। मेघरहित होने के कारण नीलकमल के सदृश स्वच्छ आकाश से गिरी हुई वह पुष्पवृष्टि अभूतपूर्व थी, अतएव उसने सभी के चित्त को आश्चर्यमग्न कर दिया था। आकाश में अदृश्य सिद्धों द्वारा की गई उक्त पुष्पवृष्टि आधी घड़ी तक लगातार होती रही। सभा और सभा में स्थित लोगों को आच्छन्न कर उक्त पुष्पवृष्टि के बन्द होने पर सभा में स्थित लोगों ने सिद्धों का आगे कहा गया वार्तालाप सुना : हम लोग सृष्टि के आरम्भ से लेकर स्वर्ग के इस छोर से उस छोर तक अनेकानेक सिद्धों में विचर रहे हैं, पर हमने आज ही कानों को अमृत के समान प्रिय लगनेवाले या वेदों के सारभूत ये वचन

सुने हैं। विरक्त होने के कारण रघुवंशदीपक श्रीरामचन्द्रजी ने जो उदार वचन कहे, उन्हें वाचस्पति भी नहीं कह सकते हैं। खेद है कि जिन लोगों ने ऐसे वाक्य नहीं सुने उनका जन्म वृथा है। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि हमें श्रीरामचन्द्रजी के मुखारविन्द से निर्गत एवं चित्त को अत्यन्त आह्लादित करनेवाले ये वचन सुनने को मिले। श्रीरामचन्द्रजी ने शान्तिप्रद, अमृत के समान सुन्दर एवं जाति, कुल, चरित्र, धर्माभिज्ञता आदि द्वारा प्राप्त उत्तमता के द्योतक जो वचन आदरपूर्वक कहे, उनसे हमको भी तुरन्त 'स्वर्ग आदि के सुखों में कुछ भी सार नहीं है', यह ज्ञान हो गया है ॥१२-२७॥

बतीसवाँ सर्ग समाप्त

तैंतीसवाँ सर्ग

सभा में सिद्ध पुरुषों का शुभागमन और अपनी अपनी योग्यता के अनुकूल स्थान में बैठे हुए सिद्धों द्वारा श्रीरामचन्द्रजी के वचनों की प्रशंसा।

सिद्धों द्वारा की गई श्रीरामचन्द्रजी के वचनों की श्लाघा को ही विश्कलित कर रहे महामुनि वाल्मीकिजी प्रश्न के उत्तर को सुनने की उनकी अभिलाषा और सभाप्रवेश आदिका वर्णन करने के लिए इस सर्ग का आरम्भ करते हैं।

सिद्धों ने कहा : रघुकुलतिलक श्रीरामचन्द्रजी द्वारा उक्त इन पवित्रतम प्रश्नवाक्यों का महर्षि लोग जो निर्णय करेंगे, उसे अवश्य सुनना चाहिए। हे नारद, व्यास, पुलह आदि मुनिश्रेष्ठों और सम्पूर्ण महर्षियों, आप लोग उसे निर्विघ्न सुनने के लिए शीघ्र पधारो ॥१-२॥

कल्याणकारी कार्यों में बहुत विघ्न उपस्थित हो जाते हैं, इसलिए विलम्ब करना उचित नहीं है, यह भाव है।

जैसे भँवरे कमलों से खचाखच भरे हुए, सुवर्ण के सदृश पीले केसर से दैदीप्यमान एवं पवित्र कमलों के तालाब में चारों ओर से जाते हैं, वैसे ही हम लोग भी पवित्रतम, धन-सम्पत्तिसे परिपूर्ण अतएव सुवर्ण से चमचमा रही महाराज दशरथ की इस सभामें चारों ओर से जायें ॥३॥ श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : सिद्धों के यों कहनेपर विमानों पर रहनेवाले सम्पूर्ण दिव्य मुनिजन उस विशाल सभा में, जहाँ पर श्रीरामचन्द्र आदि थे, उतरे। उनके आगे-आगे वीणा बजा रहे देवर्षि श्रीनारदजी थे और जल से पूर्ण मेघ के समान श्याम वेदव्यासजी उनके पीछे थे ॥४,५॥

उन दोनों के मध्य में दिव्य मुनिजनों की परम्परा थी, यह आशय है।

उक्त दिव्य मुनिमण्डली भृगु, अंगिरा, पुलस्त्य आदि मुनीश्वरों से विभूषित थी और च्यवन, उद्दालक, उशीर, शरलोम आदि मुनिजनों से परिवेष्टित थी। परस्पर के संघर्ष से उनके मृगचर्म मुड़कर कुरूप हो गये थे, रूद्राक्ष मालाएँ हिल रहीं थीं और सुन्दर कमण्डलु उनके हाथ में सुशोभित हो रहे थे। आकाश में तेज (ब्रह्मवर्चस्) के विस्तार से सफेद और लाल मुनियों की पँक्ति चमक रही तारागणों की पँक्ति के समान शोभित हो रही थी और परस्पर के तेज से उनके मुखमण्डल खूब दमक रहे थे अतएव वे सूर्यपँक्ति के सदृश प्रतीत होते थे। मुनिमण्डली ने परस्पर एक दूसरे के अंग-प्रत्यंग विविध वर्ण के कर रक्खे थे, अतएव वे विभिन्न रत्नों की राशि से दिखाई दे रहे थे। परस्पर एक दूसरे की शोभा

बढ़ानेवाली मुनिमण्डली मुक्तावली के समान दिखाई दे रही थी, वह मुनिमण्डली क्या थी मानों दूसरी चाँदनी की छटा थी, दूसरी सूर्य– मण्डली थी और दीर्घकाल से एक स्थान में संचित पूर्णचन्द्रों की परम्परा थी। उस मुनिमण्डली में, तारागणों में सजल मेघ के समान एक और व्यासजी विराजमान थे, तारागणों में चन्द्रमा के सदृश दूसरी ओर नारदजी विराजमान थे, देवताओ में देवराज के सदृश महर्षि पुलस्त्य विराजमान थे और देवमण्डल में सूर्य के समान अंगिरा विराजमान थे। उक्त सिद्धसेना के आकाश से पृथिवी पर आने पर महाराज दशरथ की वह सम्पूर्ण सभा उनके स्वागत के लिए उठ खड़ी हुई। एकत्र हुए अतएव एक दूसरे की छवि को धारण किये हुए और दशों दिशाओं को प्रकाशमय कर रहे वे आकाशचारी और भूमिचर अतिशोभित हुए। उनमें से किन्हींके हाथ में बाँसकी लाठियाँ थी, किन्हींके हाथ में लीला–कमल थे, किन्हींके सिर में दूब के तिनके थे और किन्हींके केशो में चूड़ामणियाँ चमक रही थी, कोई जटाजूटों से कपिल हो रहे थे, किन्हीं का मस्तक, मालाओं से वेष्टित था, किन्हींकी कलाई में रुद्राक्ष की मालाएँ थी, किन्हीं के हाथ में मल्लिका की मालाएँ शोभित हो रही थी, कोई चीर वल्कलधारी थे, कोई सूक्ष्म रेशमी वस्त्र पहिरे थे किन्ही के अंग में मूंज की मेखलाएँ लटक रही थी और कोई मुक्तहारों से अलंकृत थे। वसिष्ठ और विश्वामित्र ने अर्घ्य, पाद्य और मधुरवचनों द्वारा क्रमशः सभी आकाशचारियों की पूजा की। आकाशचारी उन सिद्धों ने भी श्रीवसिष्ठ और विश्वामित्रजीकी अर्घ्य, पाद्य और मधुर वचनों द्वारा बड़े आदर के साथ पूजा की। तदुपरान्त महाराज दशरथने सिद्ध मण्डली का बड़े आदर से पूजन किया और सिद्धोंने कुशलप्रश्न द्वारा महाराज दशरथ का सत्कार किया। पूर्वोक्त प्रेमोचित दान, सम्मान आदि के वेग से परस्पर आदर–सत्कार प्राप्त कर सब आकाशचारी सिद्ध महात्मा और भूमिचर अपने–अपने आसनोंपर बैठ गये। सामयिक वार्तालाप, प्रशंसा और पुष्पवृष्टि द्वारा खूब सत्कार किया। पूर्वोक्त सिद्ध महात्माओं के मध्य में राज्यलक्ष्मी से विभूषित श्रीरामचन्द्रजी विराजमान हुए और वसिष्ठ, वामदेव, सुयज्ञ आदि मन्त्री, ब्रह्मापुत्र श्रीनारदजी, मुनिश्रेष्ठ व्यासजी, मुनिवर मरीचि, दुर्वासा, अंगिरा, क्रतु, पुलस्त्य, पुलह, मुनिराज शरलोम, वात्स्यायन, भरद्वाज, वाल्मीकि, उद्दालक, ऋचीक, शर्याति, च्यवन आदि अनेक वेद और वेदांगों के पारंगत, तत्त्वज्ञानी महात्मा विराजमान हुए। वसिष्ठ और विश्वामित्रजी के साथ देवर्षि नारद आदि ने जो कि गुरुमुख से विधिपूर्वक सांग वेदों का अध्ययन किये हुए थे, विनय से नतमस्तक श्रीरामचन्द्रजी से यह वाक्य कहा था : बड़े आश्चर्य की बात है कि राजकुमार श्रीरामचन्द्रजी ने कल्याण गुणों से (कहे जानेवाले उत्तमोत्तम सोलह गुणों से) शोभायमान, वैराग्यरससे परिपूर्ण एवं बड़ी उदार वाणी कही। उक्त वाणी में ये इस प्रकार के और ऐसे ही है, यों विचारकर वक्तव्य अर्थ व्यवस्था के साथ निहित हैं, पदार्थों का तत्त्वबोध भी है अर्थात् केवल कपोलकल्पना से पदार्थों की व्यवस्था नहीं की गई है, अतएव यह विद्वानों की सभा में स्थान पाने योग्य है, इसके वर्ण बिलकुल स्फुट हैं, यह वाणी उत्कृष्ट और विपुलभाव से गम्भीर है, हृदय को आनन्द देनेवाली है, पूज्य महात्माओं के योग्य है, चित्त की चंचलता आदि दोषों से रहित हैं, जैसे इसके वर्ण स्फुट हैं वैसे ही अर्थ भी स्फुट है, इसके सम्पूर्ण पद व्याकरण के नियमों से संस्कृत है, यह हितकारिणी है, ग्रस्त आदि दोषों से रहित है और तृष्णा के विनाश से उत्पन्न सन्तोष की सूचक है। श्रीरामचन्द्रजी द्वारा उक्त यह वाणी किसको आश्चर्यमग्न नहीं करती ? सैंकड़ों में से किसी एक–आध

की ही वाणी सम्पूर्ण वक्ताओं की अपेक्षा सर्वांश में उत्कृष्ट चमत्कार से परिपूर्ण अतएव अभीष्ट (विवक्षित) अर्थ को प्रकट करने में सर्वथा समर्थ होती है। राजकुमार, आपके बिना किस पुरुष की विवेकरूपी फल से सुशोभित, कुशाग्र के समान तीव्र प्रज्ञा विचार–वैराग्यरूपी पुष्प–पल्लवों से वृद्धिको प्राप्त होगी ? श्रीरामचन्द्रजी के समान जिसके हृदय में असाधारण रीति से पदार्थों के तत्त्व का प्रकाश करानेवाली या अध्यस्त देह, इन्द्रिय आदि के साम्य से पृथक्कृत आत्मा का प्रकाश करानेवाली प्रज्ञारूपी दीपकशिखा (दीपज्योति) प्रज्वलित होती है, वही पुरुष है। और तो पुरुषार्थ के लिए असमर्थ अतएव स्त्रीप्राय हैं। पूर्वोक्त प्रज्ञा से हीन पुरुष रक्त, मांस आदि यन्त्ररूप देहमें आत्मबुद्धि होने से रक्त, मांस, अस्थि आदि यन्त्ररूप ही शब्द, स्पर्श आदि पदार्थों का उपभोग करते हैं, उनमें 'सचेतन आत्मा नहीं है' यों उनमें चार्वाकता ही सिद्ध होती है, यह भाव है। अथवा यदि उनमें कोई सचेतन होता, तो वह अवश्य पुरुषार्थ के लिए यत्न करता। वे यत्न नहीं करते अतएव वे घट, भित्ति आदि के समान अचेतन ही हैं ऐसे होने के कारण संसार का विचार नहीं करते, वे निरे पशु हैं; वे पुनःपुनः ज्न्म, मरण, जरा आदि दुःखों को प्राप्त होते हैं। जैसे शत्रुनाशक श्रीरामचन्द्रजी विमल अन्तःकरणवाले हैं, वैसे निर्मल अन्तःकरणवाला अतएव पूर्वापर का विचार करनेवाला कहीं पर बड़ी कठिनाई से कोई विरला ही दिखाई देता है। जैसे लोक में उत्कृष्ट माधुर्यवाले फलों से लदे हुए मनोहर आकृतिवाले आमके वृक्ष विरले हैं, वैसे ही उत्कृष्ट माधुर्य से परिपूर्ण तत्त्वसाक्षात्कार से सम्पन्न एवं मनोज्ञ आकृतिवाले महापुरुष विरले ही हैं। जिससे जगत् का व्यवहार यथार्थरूप से देखा गया है ऐसा केवल स्वविवेक से ही तत्त्वदर्शनपर्यन्त चमत्कार आदरणीय बुद्धिवाले इसी राजकुमार में इसी अवस्था में देखा जाता है, यह महान् आश्चर्य है। देखने में सुन्दर, सरलता से चढ़ने के योग्य एवं फल फूल और पत्तों से सुशोभित वृक्ष सभी देशो में होते हैं, पर चन्दन के वृक्ष सर्वत्र नहीं होते। फल और पल्लवों से पूर्ण वृक्ष प्रत्येक वन में सदा मिलते हैं, पर अपूर्व चमत्कारवाला लोंग का वृक्ष सदा सर्वत्र सुलभ नहीं है। जैसे चन्द्रमा से शीतल चाँदनी उत्पन्न होती है, जैसे सुन्दर वृक्ष से बौर उत्पन्न होते हैं और जैसे फूलों से सुगन्ध परम्परा उत्पन्न होती है, वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी से यह चमत्कार देखा गया है। हे द्विजश्रेष्ठ, अत्यन्त दुष्टात्मा दैव (पूर्वजन्म के कर्म) या उसका अनुसरण करनेवाले विधाता की सृष्टि से रचित इस निन्दित संसार में सार पदार्थ अत्यन्त दुर्लभ है। जो यशस्वी लोग सदा तत्त्व के विचार में तत्पर होकर सार पदार्थ की प्राप्ति के लिए यत्न करते हैं, वे ही धन्य हैं, वे ही सज्जनशिरोमणि हैं और वे ही उत्तम पुरुष हैं। तीनों लोकों में श्रीरामचन्द्रजी के सदृश विवेकी एवं उदारचित्त न कोई है और न कोई होगा, ऐसा मेरा निश्चय है ॥६–४५॥

श्रीरामचन्द्रजी के मनोरथ की पूर्ति अवश्य करनी चाहिए, इस बात को उनकी प्रशंसारूप उत्तम अधिकार की प्राप्ति के प्रख्यान द्वारा कहकर उसकी उपेक्षा करने में दोष कहते हैं।

सम्पूर्ण लोगों को गुण, शील, विनय आदि द्वारा और समुचित प्रष्टव्य बातों के रहस्य के उद्घाटन द्वारा आनन्दित करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी के चित्त का तत्त्वजिज्ञासारूप मनोरथ यदि हमारे जैसे ज्ञानियों के उपदेश से परिपूर्ण नहीं हुआ, तो ये हम लोग ही निश्चय हतबुद्धि होंगे अर्थात् हमारी अभिज्ञता निष्फल होगी, यह आशय है ॥४६॥

तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

इति श्री योगवासिष्ठ हिन्दीभाषानुवाद में वैराग्य प्रकरण समाप्त।

मुमुक्षु-व्यवहार प्रकरण

पहला सर्ग

विचार द्वारा स्वयं ज्ञात और पिता द्वारा उपदिष्ट तत्त्वज्ञान में विश्वास न कर रहे श्रीशुकदेवजी को जनक के उपदेश से विश्रान्तिप्राप्ति का वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने जिस शम, दम आदि साधनसम्पत्तिका वर्णन किया है, वह किस प्रकार से व्यवहार कर रहे मुमुक्षुओं को प्राप्त होती है और उससे किस प्रकार तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है, इस प्रकार प्रत्येक का विवेचन कर उनके उपदेश के लिए दूसरे मुमुक्षुव्यवहारप्रकरण का आरम्भ करते हुए श्रीवाल्मीकिजी बोले : इस प्रकरण में सर्वप्रथम, जिन्हें थोड़ा बहुत (अपरिपक्व) वैराग्य आदि साधन प्राप्त है, उनकी अधिकार सम्पत्ति हमें प्राप्त हो गई, इस भ्रान्ति से सहसा श्रवण आदि में प्रवृत्ति न हो, यह दर्शाने के लिए श्री शुकदेवजी की आख्यायिका द्वारा साधन सम्पत्ति की दृढ़ता का स्वरूप दर्शा रहे 'आचार्यादैव विद्या विदिता साधिष्ठं पापत्' (आचार्य से ही ज्ञात विद्या श्रेष्ठतम होती है) इस श्रुति के अनुसार कुलगुरु श्रीवसिष्ठजी को, श्रीरामचन्द्रजी को उपदेश देने के लिए, इतिहासस्मरण और तत्त्वोपदेश की भूमिका द्वारा उत्साहित कर रहे एवं स्वप्रयोजनसिद्धिरूप श्रवण के लिए शीघ्रता कर रहे श्रीविश्वामित्र ही पहले बोले, ऐसा कहते हैं।

सभा में आये हुए सिद्धों द्वारा बड़े दीर्घ स्वर से पूर्वोक्त वचन कहने पर अपने सामने स्थित एवं अधिकार की सीमा में स्थित श्रीरामचन्द्रजी से श्रीविश्वामित्रजी प्रीतिपूर्वक (🔥) बोले : हे ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ रामचन्द्र, तुम्हारे लिए और ज्ञातव्य कुछ भी नहीं है, अर्थात् जो तुम्हें ज्ञात न हो और अवश्य ज्ञातव्य हो, ऐसी कोई वस्तु नहीं है। तुम सार और असार का विवेचन करने में अति दक्ष अपनी बुद्धि से सम्पूर्ण हेयोपादेयरहस्य को जान चुके हो अर्थात् उक्त बुद्धि से तुम्हें परमार्थसारभूत अखण्ड अद्वितीय चिद्घन परमात्मतत्त्व भी ज्ञात हो गया है ॥१,२॥

यदि उक्त परमात्मतत्त्व का ज्ञान हो गया है, तो विश्रान्ति क्यों नहीं प्राप्त हुई ?

स्वभावतः निर्मल तुम्हारे बुद्धिरूपी दर्पण में केवल तनिक अविश्वास और सन्देहरूपी मलिनता के निराकरण की आवश्यकता है, क्योंकि अपनी बुद्धि से परमात्मतत्त्व ज्ञात होने पर भी शास्त्र और आचार्य आदि के संवाद के बिना विश्वास नहीं होता। *कहा भी है कि 'बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः' (भलीभाँति शिक्षित लोगों का भी चित्त अपने विषय में विश्वास नहीं करता)।* **भगवान वेदव्यासजी के सुपुत्र श्री शुकदेवजी की (📖) बुद्धि की नाईं तुम्हारी बुद्धि ने भी ज्ञातव्य वस्तु को जान लिया है। अब केवल मात्र विश्रान्ति की उसे अपेक्षा है ॥३,४॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवान् श्री व्यासजीके पुत्र श्रीशुकदेवजी की अपने ही विचार से ज्ञातव्य तत्त्व में कैसे विश्रान्ति नहीं हुई और गुरु के उपदेश द्वारा**

🔥 मुख्य अधिकारी दुर्लभ है, इसलिए रामचन्द्रजी में श्रीविश्वामित्रजी की प्रीति हुई और वे स्वयं ब्रह्मविद्या के महान् रसज्ञ थे, इसलिए आगे कही जानेवाली ब्रह्मविद्या की चर्चा में उनकी प्रीति थी, अतएव वे प्रीति से बोले।

📖 यहाँ पर श्रीवेदव्यासजी और श्री शुकदेवजी पूर्व द्वापर के अन्त में उत्पन्न हुए लिये जाते हैं, क्योंकि प्रत्येक द्वापर के अन्त में व्यासजी का अवतार होता है, यह प्रसिद्ध है।

प्राप्त संवादिनी बुद्धि से फिर कैसे उनको विश्रान्ति प्राप्त हुई ? ॥५॥ श्रीविश्वामित्रजी ने कहा : हे रामचन्द्र, मैं तुमसे श्रीव्यासजी के पुत्र शुकदेवजी का जीवनवृत्तान्त कहता हूँ, तुम इसे सुनो। यह तुम्हारे जीवनवृत्तान्त के तुल्य है और सुननेवालों के मोक्ष का कारण है। जो ये अंजन पर्वत के सदृश और सूर्य के समान तेजस्वी श्रीव्यासदेवजी तुम्हारे पिताजी के बगल में सुवर्ण के आसन पर बैठे हैं, इनका चन्द्रमा के समान सुन्दर, महाबुद्धिमान, सर्वशास्त्रज्ञ और मूर्तिमान् यज्ञ के सदृश शुकदेवनामक पुत्र हुआ। तुम्हारे समान अपने हृदय में सदा बारबार इस लोकयात्रा का (संसारस्थिति का) विचार कर रहे उनके हृदय में भी ऐसा ही विवेक उत्पन्न हुआ। वे महामनस्वी श्रीशुकदेवजी अपने उस विवेक से चिरकाल तक भलीभाँति विचारकर परमार्थसत्यरूप अद्वितीय, चिद्घन परमात्मतत्त्व को प्राप्त हो गये। स्वयं प्राप्त परमात्मतत्त्वरूप वस्तु में उनका मन विश्रान्त नहीं हुआ, उन्हें आत्मतत्त्व में, यही वस्तु है, ऐसा विश्वास नहीं हुआ। विश्वास न होने से विश्रान्ति भी नहीं मिली। विश्रान्ति न मिलने में अविश्वास ही कारण है। जैसे वर्षा की भिन्न जलधाराओं में चातक प्रीति नहीं करता, उनसे विरत रहता है, वैसे ही केवल उनका मन चंचलता का त्यागकर जन्म–मरणरूपी महान दुःख के कारण विषयभोगों से विरक्त हो गया। एक समय निर्मलमति शुकदेवजी ने मेरु पर्वतपर एकान्त स्थान में बैठे हुए अपने पिता श्रीकृष्णद्वैपायनजी से बड़े भक्ति–भाव के साथ पूछा : पूज्यतम, यह संसाररूप आडम्बर (✍) किस क्रम से उत्पन्न हुआ, कब यह उच्छिन्न होता है, यह कितना बड़ा है, कितने काल तक रहेगा और यह संसार है किसका ? क्या देह का है या इन्द्रियों का है या मन का है अथवा प्राण का है या देहेन्द्रियादिसंघात का है या उनसे अन्य विकारी का है अथवा निर्विकार चिन्मात्र का है ? ॥६–१४॥ पुत्र द्वारा यों पूछे जाने पर आत्मतत्त्वज्ञ महामुनि श्रीव्यासजी ने अपने पुत्र से सम्पूर्ण वक्तव्य आद्योपान्त भलीभाँति कहा। पिताजी के उपदेश के अनन्तर श्री शुकदेवजी ने यह सब तो मैं पहले ही जानता था, इससे कुछ अपूर्व बात नहीं ज्ञात हुई, यह सोचकर पिताजी के वाक्य का शुभबुद्धि से विशेष आदर नहीं किया। भगवान् व्यासदेवजी ने भी पुत्रका ऐसा अभिप्राय जानकर उनसे फिर कहा : मैं उक्त तत्त्व से अतिरिक्त तत्त्व को नहीं जानता। पृथिवी में जनक नाम के महाराज हैं, वे ज्ञातव्य तत्त्व को भलीभाँति जानते हैं, उनसे तुम वेद्य (जानने योग्य) आत्मतत्त्व को भलीभाँति जान जाओगे ॥१५–१८॥

पिताजी के यों कहने पर श्रीशुकदेवजी सुमेरु पर्वत से पृथिवी में आये और महाराज जनक से संरक्षित विदेहनगरीमें पहुँचे। द्वारपालों ने महात्मा जनकको सूचना दी कि राजन्, दरवाजे पर वेदव्यासजी के सुपुत्र श्रीशुकदेवजी स्थित हैं। जनकजी शुकदेवजी का चरित सुन चुके थे, अतएव सहसा उपदेश देने में श्रीव्यासजी के वाक्यों का जैसे अनादर किया वैसे ही मेरे उपदेश का अनादर होने से उनकी अकृतार्थता न हो, यह विचारकर उनके वैराग्य आदि साधनों की और विश्वास की स्थिरता की परीक्षा के लिए उपेक्षा के साथ, अच्छा, आये हैं, तो क्या हुआ ? रहें। ऐसा कहकर सात दिन तक चुपचाप रह गये। सात दिन के अनन्तर उन्होंने शुकदेवजी को घर के आँगन के अन्दर प्रवेश कराने की अनुमति दी, वहाँ पर भी वे पूरे सात दिन तक वैसे ही उन्मना अर्थात् तत्त्वजिज्ञासा की उत्कण्ठा से अनादर की ओर कुछ ध्यान न देकर बैठे रहे। तदुपरान्त जनक ने शुक को अन्तःपुर में प्रवेश कराने की आज्ञा दी। वहाँ

✍ अन्य की वंचना के लिए की गई कृत्रिम चेष्टा आडम्बर है।

पर भी जब तक तुम्हारी भोजन आदि द्वारा पूजा नहीं हो जाती तब तक राजा नहीं दिखाई देंगे, इस बहाने से राजाने चन्द्रमा के सदृश सुन्दर मुखवाले शुकदेवजी का अन्तःपुर में यौवनमदमत्त स्त्रियों द्वारा विविध भोगपूर्ण भोजनों से सात दिन तक लालन पालन किया। जैसे मन्द वायु बद्धमूल वृक्ष को नहीं उखाड़ सकता, वैसे ही वे भोग, वे दुःख व्यासदेवजी के पुत्र के मन को विकृत न कर सके। वहाँ पर पूर्ण चन्द्र के सदृश सुन्दर श्रीशुकदेवजी भोग और अनादर में समान (हर्ष–विषादरहित) अतएव स्वस्थ, वागादि इन्द्रियों को अपने वश में किये हुए एवं प्रसन्नमन रहे। इस प्रकार परीक्षा द्वारा श्रीशुकदेवजी के तत्त्वज्ञान होने तक स्थिर रहनेवाले विचार, वैराग्य आदि की दृढ़तारूपी स्वभाव को जानकर राजा जनक ने आदर से समीप में लाये गये प्रसन्नचित्त श्री शुकदेवजीको देखकर प्रणाम किया ॥१९–२७॥ राजा ने बड़ी शीघ्रता से शुकदेवजी का स्वागत कर उनसे कहा : महाभाग, आपने जगत में प्रसिद्ध परमपुरुषार्थ के साधनभूत आवश्यक सभी कार्य कर डाले हैं, अतएव आप कृतकृत्य हैं। भगवन्, सम्पूर्ण सुखलव आत्मसुख के अन्तर्गत हैं, आत्मसुख के प्राप्त हो जाने से ही आपके सभी मनोरथ सिद्ध हो गये हैं। आपकी क्या इच्छा है ?

श्रीशुकदेवजी ने कहा : गुरुदेव, यह संसाररूपी आडम्बर किस क्रम से उत्पन्न हुआ है और कैसे इसका उच्छेद होता है, यह भलीभाँति मुझसे कहिये ॥२८,२९॥ श्रीविश्वामित्रजी ने कहा : यों पूछने पर जनक ने श्रीशुकदेवजी से उसी तत्त्व का उपदेश दिया जिसका कि पहले उनके पिता महात्मा श्रीवेदव्यासजी ने दिया था। श्रीशुकदेवजी ने कहा : मैंने यह बात अपने विवेक से पहले ही जान ली थी और जब मैंने अपने पिताजी से पूछा, तो उन्होंने भी यही कहा। हे वक्ताओं में श्रेष्ठ महाराज, आपने भी यही बात कही। सम्पूर्ण उपनिषदों में स्थित महावाक्यों का भी यही अखण्ड वाक्यार्थ उपनिषद् के तात्पर्य का निर्णय करनेवाले सूत्र, भाष्य आदि शास्त्रों में दिखाई देता है। वह यह कि–यह निन्दित संसार अन्तःकरण से उत्पन्न हुआ है और अन्तःकरण का आत्यन्तिक विनाश होने से नष्ट हो जाता है, अतः यह निस्सार है; ऐसा तत्त्वज्ञानियों का निश्चय है (📖) ॥३०–३३॥

अथवा–स्वप्रकाशरूप आत्मा में तीनों कालों में बाधित होने और मिथ्या होने के कारण यह संसार

📖 उक्त श्लोक का विशद अर्थ यों है : स्व में अज्ञान से उपहित आत्मा में विविध प्रकार के प्रपंच की कल्पना करनेवाला विकल्प है अर्थात् अन्तःकरण, जो कि अनन्त काम, कर्म और वासनाओं के बीजों से परिपूर्ण है, सुषुप्ति अवस्था में केवल समष्टि तथा व्यष्टि संस्कारों से अवशिष्ट रहकर अव्याकृत में लीन हो जाता है और जीवभाव की उपाधि है। उस अन्तःकरण से प्रलय-क्रम से विपरीत क्रम से अर्थात् पहले अपंचीकृत आकाश आदि की उत्पत्ति के क्रम से समष्टिहिरण्यगर्भरूप से, तदनन्तर पंचीकरण द्वारा विराटरूप से, तदुपरान्त अन्नादि के क्रम से व्यष्टिस्थूलदेहरूप से और उसके अन्दर व्यष्टि लिंगदेहरूप से आविर्भूत हुआ यह निन्दित संसार महाअनर्थरूप है। यह केवल कर्म और उपासना के अनुष्ठान से व्यष्टिभाव की जननी वासना का विनाश होनेपर समष्टिहिरण्यगर्भरूप से अवशिष्ट रहता है तथा श्रवण आदि के परिपाक से उत्पन्न तत्त्वसाक्षात्कार से वासनासहित कार्यकारणरूप अविद्या का नाश होनेपर मूलोच्छेदपूर्वक अन्तःकरण का आत्यन्तिक विनाश होने के कारण सर्वथा नष्ट हो जाता है। मूलस्थित दग्धशब्द निन्दा का वाचक है।

प्रथमतः दग्धप्राय अतएव निस्सार है, फिर साक्षात्काररूपी प्रलयाग्नि से, चारों ओर से परिवेष्टित होने पर कैसे रह सकता है, यह भाव है।

श्री शुकदेवजी ने कहा : हे महाबाहो, जिसे मैंने स्वयं ही पहले विचार द्वारा जाना है, क्या वही सत्य तत्त्व है ? यदि वही सत्य तत्त्व है, तो वह जिस प्रकार निःसन्देरूप से मेरे हृदय में जम जाय, उस प्रकार उसका मुझे उपदेश दीजिए। यह तत्त्वपदार्थ है या यह तत्त्वपदार्थ है, यों अविश्वास से नाना विषयों में चक्कर काट रहे चित्त ने मुझे भ्रम में डाल रक्खा है। चित्त द्वारा इस जगत् में भ्रमित मैं आपसे शान्तिलाभ कर सकूँगा ॥३४॥ श्री जनकजी ने कहा : मुनिश्रेष्ठ, आपने स्वयं विचारपूर्वक जिस तत्त्व को जाना है और जिसका गुरुमुख से श्रवण किया है, उससे अतिरिक्त दूसरा कोई ज्ञातव्य तत्त्व नहीं है ॥३५॥

दृढ़ निश्चय होने के लिए पुनः उसी बात को कहते हैं।

हे शुकदेव, इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सर्वव्यापक, चिन्मय एकमात्र परम पुरुष परमात्मा ही है, उसके सिवा अन्य कुछ नहीं है। वही अद्वितीय परमात्मा अपने संकल्प से संसाररूप बन्धन में पड़ा है और जब वह संकल्परहित हो जाता है तब मुक्त हो जाता है ॥३५॥ मुनिश्रेष्ठ, आपने ज्ञातव्य तत्त्व को भली–भाँति जान लिया है। आप बड़े महात्मा हैं, क्योंकि आपको तत्त्वनिश्चयदशा में भोग भोगने से पूर्व ही सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच से वैराग्य हो गया है। भगवन्, आप बालक होते हुए भी विषयों के त्याग में शूरवीर होने के कारण महावीर हैं, अतएव दीर्घरोग के तुल्य भोगों से आपकी मति विरक्त हो गई है, अब आप क्या सुनना चाहते हैं ? जिसे सुनने के लिए आप व्यग्र थे, आपके उस जिज्ञासित विषय को मैं आपसे कह चुका। इस समय क्या सुनने के लिए आप इच्छुक हैं ? उसे मुझसे कहिए। आपके पितृचरण व्यासजी सम्पूर्ण ज्ञानों के महासागर हैं और असीम तपस्या में संलग्न हैं, पर जैसे पूर्णज्ञानी आप हुए हैं वैसे पूर्ण ज्ञानी वे नहीं हुए हैं (🔔)। श्री व्यासदेवजी का शिष्य मैं श्रीव्यासजी से भी बढ़कर हूँ, क्योंकि उनके पुत्र और शिष्य आप मेरे शिष्य हुए हैं। आपमें भोगों की इच्छा इतनी अल्प मात्रा में है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उक्त भोगेच्छा की न्यूनता से आप मुझसे भी कहीं बढ़कर हैं। (📖) ॥३७–४०॥ ब्रह्मन्, आपको जो पाना था, उसे आप पा गये हैं। इस समय आपका चित्त परिपूर्ण है आप अब दृश्य वस्तु में निमग्न नहीं हैं, दृश्य वस्तु में निमग्न होना ही संसारपतन है, क्योंकि 'उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' (जो तनिक भी आत्मा में भेद करता है उसे भय होता है) ऐसी श्रुति है। अतः आप मुक्त हो गये हैं, इसलिए कोई और भी ज्ञातव्य वस्तु है, ऐसी भ्रान्ति का त्याग कीजिये ॥४१॥

महात्मा जनक द्वारा आप सर्वव्यापक चिन्मय अद्वितीय परमात्मा हैं – यों उपदिष्ट श्री शुकदेवजी दृश्यरूप मल से रहित परमात्मा में चित्तसमाधानपूर्वक चुपचाप स्थित हो गये। उनके शोक, भय, खेद, सब नष्ट हो गये, इच्छा न मालूम कहाँ चली गई एवं सब सन्देह कट गये। यों निस्संशय होकर श्री शुकदेवजी सात्त्विक देवताओं से आक्रान्त होने के कारण चित्तविक्षेप के हेतुओं के न रहने से समाधि के अनुकूल मेरु के शिखर पर समाधि के लिए गये। वहाँ वे दस हजार वर्ष तक निर्विकल्प समाधि लगाकर तेलरहित दीपक के समान परमात्मा में लीन हो गये–विदेहमुक्त हो गये। विषयासक्ति और उसके हेतु

🔔 यह प्रशंसा निश्चय को दृढ़ करने के लिए है।

📖 इस श्लोक में भी जो प्रशंसा की गई है, वह भी निश्चय की दृढ़ता के लिए ही है।

अज्ञान का विनाश होने से परम शुद्ध अतएव संचित और आगामी पुण्य और पाप के असंपर्क एवं विनाश से निर्मलस्वरूप और प्रारब्ध कर्मों का नाश होने के कारण अशुद्ध देह आदि की निवृत्ति होने से पावन हुए महात्मा श्रीशुकदेवजी निर्मल परमपावन परमात्मवस्तु में वासनारहित होकर जैसे जलबिन्दु समुद्र में मिल जाता है वैसे ही एकता को प्राप्त हो गये अर्थात् भेदक उपाधि के नष्ट होने पर वास्तव अखण्डैक्य को प्राप्त हो गये ॥४२–४५॥

पहला सर्ग समाप्त

दूसरा सर्ग

श्रीरामचन्द्रजी को उपदेश देने के लिए प्रार्थित श्रीवसिष्ठजी को
श्री विश्वामित्रजीका प्रोत्साहित करना।

श्रीशुकदेवजी की आख्यायिका की प्रकृत में संगति दिखला रहे एवं श्रीरामचन्द्रजी को उपदेश देने के लिए श्रीवसिष्ठजी को उत्साहित कर रहे श्रीविश्वामित्र जी बोले : श्रीरामचन्द्र, जिस प्रकार व्यासपुत्र श्री शुकदेवजी के केवल मनोमालिन्य के मार्जन के लिए उपपत्तियुक्त उपदेश की आवश्यकता थी इसलिए उनका जनकके समीप में जाकर उपदेश ग्रहण करना आवश्यक हुआ था वैसे ही तुम्हारा भी मनोमालिन्य का मार्जन आवश्यक है ॥१॥

पूर्वोक्त बात का ही सम्पूर्ण मुनियों की सम्मति से समर्थन करने के लिए 'मुनीश्वराः' सब मुनियों का संबोधन है।

हे मुनिवरों, श्रीरामचन्द्र ने ज्ञातव्य वस्तु सम्पूर्णतया जान ली है, क्योंकि सुमति श्रीराम को भोग रोगों की नाईं रुचिकर नहीं हो रहे हैं। जिसने ज्ञातव्य वस्तु को जान लिया है, उसके मन का यही निश्चित लक्षण है कि उसको फिर सम्पूर्ण भोग भले नहीं लगते। अज्ञान से उत्पन्न संसाररूपी बन्धन भोगों की वासना से दृढ़ हो जाता है और जगत् में भोगवासना के शान्त होने पर बन्धन भी क्षीण हो जाता है॥२,३॥ हे राम, विद्वान लोग वासनाक्षय को 'मोक्ष' कहते हैं और विषयों में वासना की दृढ़ता को बन्ध कहते हैं अर्थात् जितनी ही विषयवासना क्षीण होती जायेगी, उतना ही संसार से (बन्धसे) छुटकारा मिलता जायेगा। वासना के सर्वथा क्षीण होने पर सर्वतः मुक्ति हो जाती है। मुनिवरों, मनुष्य को आत्मतत्त्व का आपात ज्ञान (सामान्य ज्ञान) प्रायः अल्प श्रवण आदि प्रयास से भी हो जाता है, (अर्थात् अपरोक्ष दृक्स्वरूप आत्मा का केवल दृश्य विवेक से भी अच्छा परिचय प्राप्त हो जाता है) पर विषयों में विराग तो क्लेश से ही होता है। जो व्यक्ति भलीभाँति (राग आदि से अप्रतिहत होकर) आत्मदर्शी होता है वही यथार्थ आत्मज्ञानी (तत्त्वज्ञान से उत्पन्न अविद्याध्वंसरूपी फलवाला) है, वही यथार्थ ज्ञातज्ञेय (ज्ञातव्य तत्त्वका ज्ञाता) है और वही पण्डित है। सामान्यरूप से आत्मदर्शी पुरुष वैसा नहीं है, कारण कि उससे मूढ़ता बिलकुल नष्ट नहीं हो जाती। उक्त महात्मा पुरुष को भोग हठात् अच्छे नहीं लगते। जिसे यश, पूजा, लाभ आदि उद्देश्यों के बिना ही भोग अच्छे नहीं लगते वह सांसारिक जीवन्मुक्त कहलाता है, भाव यह कि दम्भ से जो भोग का त्याग किया जाता है, उससे इष्टसिद्धि नहीं होती ॥४–८॥

वैराग्य, बोध और उपरति की अभिवृद्धि में वैराग्य आदि परस्पर सहायक हैं, अतः ज्ञान के अतिशय

परिपाक से ही मूलोच्छेद होने के कारण आत्यन्तिक राग का नाश होता है, ऐसा कहते हैं।

जैसे मरूभूमि में लता नहीं उगती वैसे ही जब तक ज्ञातव्य तत्त्व का ज्ञान नहीं होता तब तक विषयों में वैराग्य नहीं होता ॥९॥

इस प्रकार व्यतिरेकप्रकर्ष से अन्वयप्रकर्ष लक्षित होता है, अर्थात् ज्ञातव्य तत्त्व का ज्ञान होने पर ही विषयों में वैराग्य होता है, क्योंकि 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' ऐसा भगवान् का वचन है।

मुनिवृन्द, इसलिए आप लोग श्रीरामचन्द्रजी को निश्चय ज्ञातज्ञेय (जिसने ज्ञातव्य तत्त्व को जान लिया है) जानिये, क्योंकि इन्हें ये मनोहर विषय अनुरंजित (प्रसन्न) नहीं कर रहे हैं ॥१०॥

यदि श्रीरामचन्द्रजी तत्त्वज्ञानी हैं, तो उन्हें उपदेश देने के लिए श्रीवसिष्ठजी की वक्ष्यमाण (कही जानेवाली) प्रार्थना क्यों करते हैं, इस पर कहते हैं।

हे मुनिनायकों, श्रीरामचन्द्रजी जिस तत्त्व को जानते हैं, उसे श्रीगुरुमुख से यही वस्तु है, ऐसा सुनकर श्रीरामजी का चित्त अवश्य विश्रान्ति को प्राप्त होगा ही, अन्यान्य अधिकारी पुरुष भी उपदेश सुनकर विश्रान्ति को प्राप्त होंगे। इस प्रकार सबके उपकार के लिए हम वसिष्ठजी की प्रार्थना करते हैं, यह भाव है अथवा श्रीरामचन्द्रजी ने जिस तत्त्व को स्वयं विचार से जाना है, उसमें उन्हें यही वस्तु है, ऐसा दृढ़ विश्वास न होने के कारण वह अप्राप्त सा ही है, गुरुमुख से उसे सुनकर श्रीरामचन्द्रजी उसमें विश्वास होने के कारण अवश्य चित्तविश्रान्ति (📖) को प्राप्त होंगे ॥११॥ जैसे शरत्काल की शोभा मेघरहित निर्मल आकाशमात्र की अपेक्षा करती है वैसे ही शरत्–शोभा के समान निर्मल श्रीरामचन्द्रजी की बुद्धि द्वैतनिरास में विश्वास द्वारा केवल अद्वितीय चिन्मात्र के अवशेष की अपेक्षा करती है। यहाँ पर महात्मा श्रीरामचन्द्रजी की चित्तविश्रान्ति के लिए ये श्रीमान् भगवान वसिष्ठजी युक्ति का उपदेश देने की कृपा करें ॥१२–१३॥

यदि प्रश्न हो कि आप ही उपदेश क्यों नहीं देते ? तो इस पर कहते हैं।

ये महात्मा सम्पूर्ण रघुवंशियों के नियन्ता (शिक्षक) तथा कुलगुरु, सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी एवं तीनों कालों में मोह आदि से अनभिभूत हैं। भगवन् वसिष्ठजी, आपके और मेरे वैर को शान्त करने के लिए और महामति मुनियों के कल्याण के लिए, देवदार के वृक्षों से आवृत्त निषध पर्वत के शिखरपर, भगवान् ब्रह्माजी ने स्वयं पहले जिस ज्ञान का उपदेश दिया था, उसका आपको स्मरण है ? ब्रह्मन्, जिस युक्तिपूर्वक ज्ञान से यह सांसारिक वासना जैसे सूर्य के उदय से रात्रि नष्ट हो जाती है वैसे ही निस्सन्देह नष्ट हो जाती है आप उसी उपपत्तियुक्त ज्ञातव्य वस्तु का समीप में स्थित (शिष्यभूत) श्रीरामचन्द्रजी को शीघ्र उपदेश दीजिये, जिससे ये अवश्य विश्रान्ति को प्राप्त हो जायेंगे ॥१४–१८॥ भगवन्, यह

📖 अभिप्राय यह है कि श्रीरामचन्द्रजी परमतत्त्व को जानते ही हैं लोकहित के लिए वे गुरु उपदेश के प्रार्थी हैं। उनका आशय यह है कि इसी बहाने अन्यान्य अधिकारी जन भी उपदेश सुनकर मेरी नाईं चित्तविश्रान्ति को प्राप्त हों। अथवा श्रीरामचन्द्रजी परमतत्त्व क्या है ? इस बात को मन ही मन में खूब जानकर भी दृढ़ विश्वास के न होने के कारण अनात्मज्ञ के समान असुखी हैं, उन्हें विश्वास दिलाने के लिए कि यही तत्त्व है, उपदेश की आवश्यकता है। उपदेश देने के उपरान्त अविश्वास हट जायेगा और परम विश्रान्ति प्राप्त हो जायेगी।

अल्पफल देनेवाला महान् परिश्रम नहीं है। श्रीरामचन्द्रजी निष्पाप हैं, अतः जैसे निर्मल दर्पण में प्रयत्न के बिना ही मुँह प्रतिबिम्बित हो जाता है, वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी को प्रयत्न के बिना तत्त्वबोध प्राप्त हो जायेगा। सज्जनशिरोमणे, वही ज्ञान है, वही शास्त्रार्थ है और वही प्रशंसनीय पाण्डित्य है, जिसका कि विरक्त सत्‌शिष्य के लिए उपदेश दिया जाता है ॥१९,२०॥

पात्र में यदि उसका दान न किया जाय, तो व्यर्थ होने के कारण वह निन्दनीय ही होगा, यह भाव है।

वैराग्यशून्य असत् शिष्य के लिए जो कुछ भी उपदेश दिया जाय, वह कुत्ते के चमड़े से बने पात्र में रक्खे हुए गाय के दूध की नाईं अपवित्रता को प्राप्त हो जाता है। हे प्रभो, वीतराग, भय तथा क्रोध से रहित, अभिमानशून्य और पापविवर्जित आप जैसे महापुरुष जिसे उपदेश देते हैं, उसकी बुद्धि नित्य अपरोक्ष परमात्मतत्त्व में विश्रान्त हो ही जाती है ॥२१,२२॥ श्रीविश्वामित्रजी के यों कहने पर व्यास, नारद आदि सम्पूर्ण मुनियोंने भी उनके कथन की साधुवादपूर्वक खूब प्रशंसा की। तदुपरान्त महाराज दशरथ की बगल में बैठे हुए ब्रह्माजी के पुत्र अतएव ब्रह्माजी के समान महातेजस्वी महामुनि भगवान् वसिष्ठजी बोले। भाव यह कि वसिष्ठ जी ब्रह्माजी के पुत्र थे, अतएव वे ब्रह्माजी के तुल्य महातेजस्विता आदि गुणगणों से विभूषित थे, इसलिए दिव्य मुनियों की मण्डली के सम्मुख ब्रह्माजी की नाईं बोले ॥२४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : मुनिवर, जिस कार्य के लिए आप मुझे आदेश देते हैं, उसे मैं निर्विघ्न करता हूँ। सामर्थ्य होते हुए भी सन्तों के वचन को टालने की किसमें शक्ति है ? जैसे लोग दीपक से रात्रि का अन्धकार दूर करते हैं, वैसे ही मैं श्रीराम आदि राजकुमारों के अन्तःकरण के अज्ञान को ज्ञान से शीघ्र दूर करता हूँ। पहले भगवान् ब्रह्मा ने संसाररूप भ्रम को दूर करने के लिए जिस ज्ञान का निषध पर्वतपर उपदेश दिया था, उसका मैं ज्यों का त्यों आद्योपान्त स्मरण करता हूँ ॥२५,२७॥ वाल्मीकिजी ने कहा : महात्मा श्रीवसिष्ठजी यों स्पष्टतया प्रतिज्ञा कर जैसे पहलवान् या नट भूषण, वस्त्र, अस्त्र–शस्त्र आदि सामग्री को लेकर उद्यत होता हुआ शोभित होता है वैसे ही प्रबोधप्राप्ति द्वारा शिष्य के अनुरंजन में उपायभूत दृष्टान्त, उपाख्यान, प्रमाण और तर्क आदि का अनुसन्धान, उत्साह आदि परिकरबन्धन से व्याख्याताओं के तेज को स्वीकार कर जगत् की अज्ञानता का विनाश करने के लिए मुख्यरूप से परमात्मा के बोधक शास्त्र को कहने लगे ॥२८॥

दूसरा सर्ग समाप्त

तीसरा सर्ग

श्रीरामचन्द्रजी की शंका के निराकरण के बहाने स्थूल आदि जगत् के अध्यारोप और अपवाद से प्रत्यगात्मरूप विषय की सिद्धि।

इस प्रकार पूर्व वृत्तान्त का सम्पूर्णतया स्मरणकर विस्तारपूर्वक उसको कहने के लिए प्रस्तुत श्रीवसिष्ठजी सद्‌गुरुस्मरणरूप मंगल करते हुए एवं विद्या के सम्प्रदाय की शुद्धि को दर्शाते हुए शिष्य श्रीरामचन्द्रजी के ध्यान को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए पुनः प्रतिज्ञा करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजी, पहले सृष्टि के आरम्भ में भगवान् श्री

ब्रह्माजी ने सांसारिक सकल दुःखों की निवृत्ति के लिए जिस ज्ञान का उपदेश दिया था, उसीको मैं कहता हूँ, उससे अन्य नहीं ॥१॥

इससे संप्रदायशुद्धि कही।

इस प्रकार प्रतिज्ञापूर्वक अपने उपदेशश्रवण की ओर श्रीरामचन्द्रजी का ध्यान आकृष्ट किया गया, मन में अन्य जिज्ञासा के रहने पर श्रीगुरु के उपदेश पर ध्यान नहीं रहेगा, अतः सूचीकटाहन्याय से पहले उत्पन्न सन्देह की निवृत्ति के लिए प्रार्थना कर रहे श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, श्रीव्यासजी के अवशिष्ट लोगों के समान जीवभाव में दिखलाई देने से एवं शुकदेवजी की मुक्ति सुनने से उत्पन्न हुए इस सन्देह को पहले क्षणभर में दूर कर दीजिये, इस सन्देह की निवृत्ति के अनन्तर विस्तीर्ण मोक्षसंहिता को कहिएगा ॥२॥

उक्त सन्देह को ही दर्शाते हैं।

श्रीशुकदेवजी के पिता और गुरु महामति सर्वज्ञ ये व्यासजी कैसे विदेहमुक्त न हुए और इनके पुत्र श्रीशुकदेवजी कैसे मुक्त हो गये ? ॥३॥

यदि कहिए कि यह सन्देह ही नहीं बन सकता है, सो नहीं कह सकते, क्योंकि आत्यन्तिक दुःखविनाश से उपलक्षित (युक्त) निरतिशय स्वप्रकाशमात्र शेष रहना ही विदेहमुक्ति है और वही ज्ञान का फल है। वह यदि सर्वज्ञ श्रीव्यासजी को प्राप्त नहीं हुई, तो ज्ञान अनित्यफल हो जायेगा अर्थात् ज्ञान से मुक्तिरूप फल अवश्यंभावी न होगा। दूसरी बात यह भी है कि यदि ज्ञान से अज्ञान निःशेष नष्ट हो गया, तो भृगु आदि के समान जीवन नहीं रह सकेगा, क्योंकि अज्ञानरूप उपादान के नष्ट होने से कार्य नहीं रह सकता और जीवन न रहने पर ब्रह्मविद्या के उपदेश के न रहने से ब्रह्मविद्या का प्रवर्तक सम्प्रदाय ही विच्छिन्न हो जायेगा। यदि ज्ञान से अज्ञान उच्छिन्न न हुआ, तो मोक्षअभाव सिद्ध ही है। कर्म के तुल्य ज्ञान अदृष्ट के द्वारा मरण के पश्चात् फल नहीं देता, क्योंकि वह कर्म के तुल्य विधेय नहीं है, कारण कि ज्ञान तीनों कालों में अखण्डरूप से स्थित है, इस प्रकार जीवन्मुक्ति की सिद्धि नहीं हो सकती, यह सारांश है। इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी द्वारा पूछे गये भगवान् वसिष्ठ, जब तक श्रीरामचन्द्रजी बन्ध की अविद्याजन्यता, विद्या का स्वरूप और उसके साक्षी अपरिच्छिन्न सर्वाधार चैतन्यस्वरूप को नहीं जानते, तब तक जीवन्मुक्ति में इनका विश्वास नहीं हो सकता, इसलिए पहले उनका उपपादन कर, तदुपरान्त इनके प्रश्न का समाधान करूँगा, यों विचारकर सुबोध होने के कारण पहले साक्षी में स्थूलप्रपंचपरम्परा का अध्यारोप दिखलाते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : सम्पूर्ण जगत् का प्रकाशक सूर्य अर्क कहलाता है। सूर्य (📖) आदि सम्पूर्ण जगत् का प्रकाशक परमात्मा परमार्क हुआ। उक्त परमार्क रूपी प्रकाशके अन्दर

📖 'यैन सूर्यस्तपति तेजसिद्धः', 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्' अर्थात् जिस परमात्मारूप तेजसे दीप्त होकर सूर्य तपता है और उस तेजस्वरूप परमात्मा में न सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा और न तारे ही प्रकाश को प्राप्त होते हैं, इत्यादि श्रुति-स्मृतियाँ हैं।

त्रिजगत्‌रूपी (अनन्त कोटि ब्रह्माण्डरूपी) त्रसरेणु (卐) स्थित हो होकर लीन हो गये हैं, उनकी गिनती नहीं हो सकती ॥४॥

इससे व्यास आदि भी असंख्य उत्पन्न होते हैं, यह सूचित हुआ।

जो कोटि–कोटि त्रिजगत् इस समय विद्यमान हैं, उनमें भी कोई किन्हीं की गिनती नहीं कर सकता ॥५॥

परमात्मारूपी महासागर में जगत्‌सृष्टिरूपी जो तरंग होंगे, उनकी गिनती करने के लिए भी वाणी में सामर्थ्य नहीं है। इस कथन से भूत, भविष्यत् और वर्तमान जगत् का अध्यारोप दशार्या। पूछे गये विषयकी उपेक्षा कर अन्य विषय को कह रहे श्रीगुरुजीका गूढ़ आशय मैंने भली–भाँति जान लिया, यों गुरु की उत्साहवृद्धि के लिए अपनी कुशलता को सूचितकर रहे श्रीरामचन्द्रजी उक्त भूत, भविष्यत् और वर्तमान सृष्टियों में कुछ विलक्षणता कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : जो जगत्‌सृष्टिपरम्पराएँ अतीत हो गई हैं और जो आगामी हैं, उनका विचार करना तो ठीक है, परन्तु वर्तमान जो सृष्टियाँ हैं वे किसके सदृश हैं, अर्थात् वे न भूत के सदृश हैं और न भविष्यत् के सदृश हैं। वर्तमान सृष्टिपरम्परा में दोनों की समानता नहीं है, अतः उनकी श्रेणी में वर्तमान सृष्टि की विवेचना करना ठीक नहीं है। आशय यह कि यद्यपि वर्तमान सृष्टियाँ विशेषरूप से (तत्तद्‌व्यक्तित्वरूपसे) असंख्य हैं, तथापि कालतः– पूर्व और उत्तर कालरूप–दोनों तटों का भान होने से भूत और भविष्यत् सृष्टि की अपेक्षा वे न्यूनसंख्यक होने के कारण विदित ही हैं। इस प्रकार आपने यह दर्शाया कि अनन्त आगन्तुकों का उपादान आत्मतत्त्व अनन्त, अद्वितीय, अनागन्तुक और चैतन्यस्वरूप है। यह मैं जान गया हूँ ॥६,७॥

इस प्रकार अतिगूढ़ अभिप्राय के परिज्ञान द्वारा उसमें विशेष बात के कथन से श्रीराम द्वारा प्रोत्साहित पूर्वोक्त स्थूल प्रपंच के मिथ्यात्वबोधन के लिए सूक्ष्म प्रपंचमात्रता ही है, यों दर्शानेवाले वसिष्ठजी कहते हैं।

पशु–पक्षी, मनुष्य, देवता आदि प्राणियों में से जो जिस स्थान पर और जब भी नाश को प्राप्त होता है, वह प्रत्यगात्मा उसी स्थान में तभी वक्ष्यमाण (कहे जानेवाले) त्रिजगत् को देखता है। अर्थात् न तो दूसरे स्थान में देखता है और न कालान्तर में ॥८॥

वह किस सामग्री से और किस स्वरूप से युक्त होकर देखता है ? इस पर कहते हैं।

आतिवाहिक (✍) नामक चित्त, अहंकार, मन, बुद्धि, दस इन्द्रियों और प्राण से घटित वासनामय सूक्ष्मशरीर से अपने हृदयरूपी आकाश में ही वासनामय त्रिजगत् का अनुभव करता है और भ्रान्ति से वासनामय तत्–तत् शरीरों को क्रमशः प्राप्त होता है। वस्तुतः वह पूर्वोक्त

卐 त्र्यणुक। परमाणुद्वयेनाणुस्त्रसरेणुस्तु ते त्रयः (ब्र.वै.पु.),अणुर्द्वौ परमाणूस्यात्त्रसरेणुस्त्रयः (भा.३/१२/५) अर्थात् दो परमाणु = एक अणु और तीन अणु = एक त्रसरेणु।

✍ अतिवहनम्–अतिवाहः अर्थात् धूम, अर्चिरादि मार्गों के अभिमानी देवताओं द्वारा परलोक में पहुँचाना, उक्त कर्म में जो दक्ष है, वह आतिवाहिक कहलाता है।

चिदाकाशस्वरूप अतएव जन्मादिविकाररहित है ॥९॥

शंका – तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति।

(उस हृदय के अग्रभाग के प्रकाशन के साथ निकलता हुआ आत्मा चक्षु से या मस्तक से अथवा अन्यान्य शरीर–प्रदेशों से निकलता है, उसके निकलने पर प्राण भी उसका अनुसरण करता है) और 'उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि' (निकल रहे या स्थित) इत्यादि अनेक श्रुति और स्मृतियों के विरूद्ध मृत का अपने हृदय में ही परलोकदर्शन कैसे कहते हैं ?

समाधान – कर्म और उपासना से होनेवाले भावी व्यवहारदृष्टि से वे श्रुतियाँ और स्मृतियाँ हैं अर्थात् कर्म और उपासना से होनेवाले भावी फल के अनुसार बाहर निकलने के मार्ग अनेक प्रकार के हैं, यह दर्शाने के लिए उक्त श्रुति और स्मृतियाँ हैं–जिसे सूर्यलोक में जाना होता है वह चक्षुसे, जिसे ब्रह्मलोक में जाना होता है वह ब्रह्मरन्ध्र से और जिसे अन्यान्य स्थानों में जाना होता है वह अन्यान्य शरीर के अवयवों से निष्क्रान्त होता है। यहाँ पर तो परमार्थदृष्टि से 'अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' (इस हृदयाकाश में द्यौ और पृथिवी भली–भाँति स्थित हैं) इस श्रुतिवाद के समान हृदय में ही परलोककी कल्पना की जाती है। आत्मा के व्यापक होने से उसका आवास हृदय भी अपरिच्छिन्न हुआ, अतः हृदय–साक्षीमें हृदयरूप परिच्छेद को दूरकर निष्क्रियत्व और प्रपंचमें केवल वासनामयत्व का ज्ञान कराने के लिए, परलोकके समान उत्क्रमण और गमन की भी वहीं पर (हृदय में ही) कल्पनामात्र से उपपत्ति हो सकती है, अतः उक्त श्रुति और स्मृति से कोई विरोध नहीं है।

एक स्थान में दर्शाई गई युक्ति को सर्वत्र दर्शाते हैं।

इसी प्रकार करोड़ों प्राणी मर चुके हैं, मरते हैं और मरेंगे, वे मृत्यु के पहले जीवन–दशा में जिस सम्पूर्ण जगत्का दर्शन करते हैं–दृश्यसमूह देखते हैं–उनमें से जिस दृश्य में उनकी वासना (संस्कार) जड़ पकड़ लेती है, मृत्युकाल में उनके हृदयाकाश में वही दृश्य उदित होता है, मरण के अनन्तर उन्हें वही दृश्य–जगत् (योनि) प्राप्त होता है (📖)। सारांश यह कि यह सम्पूर्ण जगत् वासनाविशेष के विलाससे अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥१०॥

इस प्रकार जगत् के वासनामय होने पर जो फलित हुआ अर्थात् परमार्थ दृष्टि से उसमें भ्रमरूपता प्राप्त हुई, उसका वर्णन करते हैं।

यह जगत् संकल्प से निर्मित की नाईं, मनोराज्य के विलास की नाईं, इन्द्रजाल से रचित माला की नाईं, उपन्यास के अर्थ के प्रतिभास की नाईं, वातरोग से प्रतीत होनेवाले भूकम्प की नाईं, बालक को डराने के लिए कल्पित भूत की नाईं, निर्मल आकाश में कल्पित मुक्तावली

📖 'यद् यद् भवन्ति तदाभवन्ति' (व्याघ्र, सिंह आदि जो जो पहले हुए थे वे फिर आकर वे ही होते हैं। करोड़ों युगों का व्यवधान पड़ने पर भी संसारी जीव की पहले भावित वासना नष्ट नहीं होती) 'यं यं स्मरन् भावम्' (जिस–जिस भाव का स्मरणकर अन्त में जीवन त्याग करता है उस–उस भाव को प्राप्त होता है) इत्यादि श्रुति और स्मृतियाँ इस विषय में प्रमाण हैं।

की (मोतीमाला की) नाईं, नावकी गति से प्रतीत होनेवाली वृक्षों की गति की नाईं, स्वप्न में देखे गये नगर की नाईं, अन्यत्र दृष्ट के स्मरण से आकाश में कल्पित पुष्प की नाईं भ्रमकल्पित है। मृत पुरुष इसका अपने हृदय में स्वयं अनुभव करता है ॥११–१३॥

ऐसी परिस्थिति में भगवान् वेदव्यासजी का वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् (जाग्रत् और स्वप्न आदि में अबाधितविषयत्व और बाधितविषयत्वरूप विलक्षणता है, अतएव जाग्रत–ज्ञान स्वप्नादिज्ञान के समान निर्विषय नहीं है) यह सूत्र कैसे संगत होगा एवं भोक्ता के जाग्रतकाल में स्वप्न से विपरीत जो चिरकाल तक नियत व्यवहार आदि होते हैं और जो उनमें सत्यता प्रतीत होती है, उसकी क्या गति होगी ? इस पर कहते हैं।

जीव ने जीवनावस्था में जो जगत् देखा था, मृत्यु के अनन्तर उसीका उसको स्मरण होता है और फिर जन्म होने पर उसीका वह अनुभव करता है। जगत् यद्यपि पूर्वोक्त प्रकार से असत् है, फिर भी अति परिचय से दृढ़ता को प्राप्त होकर जीवाकाश में प्रकाशित होता है ॥१४॥

यही 'इहलोक' कहलाता है, यह अभिप्राय है। अव्यवस्थितस्वभाव का होने के कारण भी जगत् मिथ्या है, ऐसा दर्शाने के लिए कहते हैं।

जन्म, जन्म से लेकर मरण तक की चेष्टाएँ और मरण का अनुभव करनेवाला जीव उसीमें इहलोक की कल्पना करता है, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है और मरण के अनन्तर उसीमें परलोक की कल्पना करता है। वासना के अन्दर अन्य अनेक देह और उनके मध्य में और अन्यान्य देह इस संसार में, ये केले के तने त्वचा के समान एक के पीछे एक और एक के पीछे एक इस प्रकार शोभित होते हैं ॥१५,१६॥

इस प्रकार मिथ्यात्व के सिद्ध होने पर प्रपंच के निषेध से अवशिष्ट आत्मा की सिद्धि है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

न पृथिवी आदि पंच महाभूत हैं, न जगत् और जगत् का क्रम (सृष्टिक्रम) ही है अर्थात् ये सब मिथ्या है, फिर भी मृत और जीवित जीवों को इनमें जगत्–भ्रम होता है। ज्ञान के बिना इनका उच्छेद नहीं हो सकता। इस प्रकार प्रपंच के निषेध से अवशिष्य आत्मा की सिद्धि हुई ॥१७॥

मूलोच्छेद के बिना, केवल अपलापमात्रसे, उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती, ऐसा मन में रखकर अविद्या में उच्छेद्यत्व को बतलाने के लिए सूक्ष्मरूप से व्युत्पादित प्रपंच में कारणीभूत अविद्यामात्रता ही है, ऐसा कहते हैं।

मूढ़ों द्वारा तैरने के अयोग्य, विविध शाखा–प्रशाखाओं से युक्त अतएव अनन्त यह अविद्या लगातार हो रहे सृष्टिरूप तरंगों से युक्त विशाल नदी है ॥१८॥

अविद्या आदि सम्पूर्ण पदार्थों की कल्पना का अधिष्ठान कहते हैं।

हे राम, अतिविस्तृत परमार्थ सत्य (परमात्मा) रूपी महासागर में वे प्राचीन और नूतन सृष्टिरूपी तरंग बार–बार प्रचुरमात्रा में चक्कर काटते हैं, उत्पत्ति और लय को प्राप्त होते हैं उनमें से कुछ तो कुल, क्रम, मन और गुणों से सर्वथा समान होते हैं, कुछ आधी समानता

रखते हैं और कुछ बिलकुल निराले (अत्यन्त विलक्षण) होते हैं ॥१९,२०॥

प्रस्तुत शंका के समाधान के उपोद्घात (भूमिका) रूप से जगत् की व्यवस्था और प्रस्तुत शास्त्र के विषय को कहकर शंका के समाधान का उपक्रम करते हैं।

अठारह पुराण और महाभारत आदि के निर्माणरूप कार्यों से प्रसिद्ध यथोचित जन्म, शास्त्रविज्ञान और ब्रह्मविद्या से उपलक्षित सर्वशास्त्रविशारद ये वेदव्यासजी उक्त सृष्टिरूपी तरंगों में बत्तीसवें हैं, ऐसा मैं स्मरण करता हूँ ॥२१॥

उन बत्तीसों में भी आवान्तर भेद कहते हैं।

उन अनेक तरंगों से ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान् और ब्रह्मविद्वरिष्ठ इस प्रकार प्रसिद्ध चार भेदों में चतुर्थ स्थान में न पहुँचने के कारण अल्पबुद्धि बारह तरंग कुल, आकार, जीवन, चेष्टा आयु सर्वांश में समान हैं, दस ज्ञानादि विषय में भी समान हैं और शेष वंश में विलक्षण हैं (🔔)। पूर्वसदृश और उनसे विलक्षण व्यास तथा वाल्मीकि आगे होंगे, यही बात भृगु, अंगिरा और पुलस्त्य आदि अन्यान्य ऋषियों के विषय में दुहराई जा सकती है अर्थात् वे भी पूर्वसदृश और उनसे विलक्षण होंगे। मनुष्य, देवर्षि और देवता बार बार उत्पन्न और विलीन हुए हैं, होते हैं और होंगे। ये लोग पहले भी इस प्रकार के आकार से सम्पन्न थे, इस समय भी वैसे ही हैं इसके पश्चात् भी इस देह की अपेक्षा भिन्न–भिन्न देहों में जन्म ग्रहण करेंगे ॥२२–२४॥ हे राम, ब्रह्मकल्प का अवयवरूप यह त्रेतायुग इस समय है। पहले अनेक बार हो गया है और आगे भी होगा। जैसे इन त्रेता युगों में कितनी ही बार तुमने रामरूप धारण किया था एवं आगे आनेवाले त्रेतायुगों में कितनी बार तुम रामरूप में अवतार लोगे, इसकी कोई सीमा नहीं है। मैं भी कितनी बार वसिष्ठमूर्ति धारण कर चुका हूँ, इस समय भी वसिष्ठरूप में विद्यमान हूँ और आगे भी कितनी ही बार वसिष्ठरूप में अवतीर्ण होऊँगा। इन रूपों में कोई पूर्व के तुल्य होंगे और कोई उनसे भिन्न। यही बात अन्यान्य साधारण लोगों के विषय में कही जा सकती है। मैंने अद्भूत कर्म करनेवाले दीर्घदर्शी महामुनि इन श्रीव्यासजी का क्रमशः यह दसवाँ अवतार देखा है अर्थात् इन्हें दस बार जन्मते देखा है। हे राम, हम लोग कितनी ही बार व्यास, वाल्मीकि के साथ एकत्रित हुए और कितनी ही बार ये हम लोग पृथक्–पृथक् उत्पन्न हुए। हम लोगों ने कभी सदृशरूप में और कभी भिन्नरूप में जन्म ग्रहण किया। हम लोग आगे भी कितनी बार भिन्न आकारों में और समान अभिप्रायों में जन्म ग्रहण करेंगे। कभी हम लोगों ने अभिज्ञ होकर जन्म ग्रहण किया है और कभी अनभिज्ञ होकर। ये व्यासजी इस जगत् में और

🔔 तात्पर्य यह है कि सृष्टि के आरम्भ से श्रीरामचन्द्रजी के समय तक अनेक बार अनेक व्यास जन्मे हैं। उनमें सभी व्यास न द्वैपायन थे और न महाभारतादि के कर्ता थे। इसलिए कहा जा सकता है कि कोई–कोई वंश और कार्य में समान थे और कोई–कोई अर्धसमान थे इत्यादि। महाभारत आदि ग्रन्थों के कर्ता द्वैपायन व्यास प्रत्येक द्वापर में अवतीर्ण होते हैं। पूर्व मन्वन्तर के आरम्भ से लेकर वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तर के आरम्भ तक ३२ द्वापर व्यतीत हो गये हैं, उनमें ३२ व्यासावतार हुए हैं। उन बत्तीस अवतारों में से इनके दस अवतार हमारे प्रत्यक्ष हैं और अन्यान्य अवतार परोक्ष में हुए हैं।

आठ बार उत्पन्न होकर महाभारतनामक इतिहास का प्रचार, वेदविभाग, कुलप्रथा का पालन और ब्रह्मा के अधिकार को प्राप्त कर विदेहमोक्ष को प्राप्त होंगे ॥२५–३०॥

श्रीव्यासदेवजी की वर्तमान काल में भी जीवन्मुक्तता दिखलाते हैं।

इस समय भी ये श्रीव्यासजी वीतशोक, निर्भय, सब प्रकार की कल्पनाओं से शून्य, प्रशान्तचित्त, निर्वाण सुखको प्राप्त अर्थात् बन्धनसे विनिर्मुक्त हैं, अतएव ये जीवनमुक्त कहे गये हैं। कभी जीवन्मुक्त प्राणी वित्त, बन्धु, बान्धव, अवस्था, कर्म, विद्या, विज्ञान और चेष्टाओं से तुल्य होते हैं और कभी तुल्य नहीं होते, कभी सैकड़ों बार उनका जन्म होता है और कभी बहुत कल्पों में एक बार भी उनका जन्म नहीं होता। इस माया का अन्त नहीं है। जैसे तौलने के लिए पुनः पुनः बराबर तराजू में भरी जाती हुई धान्यराशि में पहले जिस क्रम से बीज रहे थे, उस क्रम से नहीं रहते, ऊपर नीचे हो जाते हैं वैसे ही यह बहुत से प्राणियों का समूह विपर्यासको (परिवर्तन को)–पूर्व जन्म के क्रम तथा अवयवसंनिवेश की अपेक्षा विपरीत क्रम और देहसंगठन को–प्राप्त होता है। कालरूप महासागर तरंग पूर्वजन्म के अवयव संगठन अथवा क्रम से भिन्न अवयवसंगठन अथवा क्रम से सृष्टि के रूप में आविर्भूत होते हैं ॥३१–३५॥

जीवन्मुक्त पुरुष योगबल से आधिकारिक विविध शरीर धारण करनेपर भी मुक्तिस्वरूपसे च्युत नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

अविद्यारूपी आवरण से रहित विद्वान् समाहित चित्त, विकल्पविरहित स्वरूपभूत सार से ओतप्रोत अर्थात् चिन्मय एवं परम शान्तिरूपी अमृत से तृप्त रहता है। चंचलता, विकल्प, असार देहआदि रूपता, अशान्ति और अतृप्ति अविद्यारूपी आवरण से होती है उक्त आवरण के नष्ट हो जाने से चित्त समाहित हो जाता है विकल्प नष्ट हो जाते हैं, चिन्मयता प्राप्त हो जाती है और परमशान्तिरूपी सुधा से तृप्ति प्राप्त हो जाती है। निष्कर्ष यह कि जीवनमुक्ति ही ज्ञान का फल है और वह ज्ञान से ही होती है, अन्य कर्म आदि से नहीं ॥३६॥

तीसरा सर्ग समाप्त

चौथा सर्ग

मुक्तों के अनुभव से सदेह और विदेह मुक्तियों में समानता वर्णन और ज्ञान की दृढ़ता के लिए शास्त्रीय पौरुष की प्रशंसा।

नित्यमुक्तस्वभाव आत्मा का अज्ञानरूप आवरण ही बन्धन है और ज्ञान से उसका विनाश ही मुक्ति है। जैसे यह चित्रलिखित बाघ है, सचमुच नहीं है, ऐसा ज्ञान हो जाने पर बाघ का डर नहीं रहता प्रत्युत उसे देखने में आनन्द ही आता है, वैसे ही अज्ञान के नष्ट हो जाने पर यह दृश्यमान व्यवहार कौतूहल का ही कारण होता है, अनर्थ का हेतु नहीं होता, इसलिए जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति में कोई अन्तर नहीं है, इस प्रकार पूर्व शंका का समाधान करके प्रस्तुत आत्मतत्त्व का विस्तार से उपदेश देने के लिए पहले मूल की दृढ़ता के लिए पुरुषार्थ का समर्थन करते हैं।

वसिष्ठजी ने कहा : हे सौम्य, जैसे समुद्र में जलकी निश्चलावस्था में और तरंगित दशा में जलत्व एक–सा ही है, उसमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं है वैसे ही विदेहमुक्त और जीवन्मुक्त मुनिकी स्वस्वरूप में अवस्थिति तुल्य ही हैं ॥१॥

मुक्ति चाहे सदेह हो अथवा विदेह हो, वह विषयाधीन तो कदापि नहीं है। यदि मुक्ति स्वर्ग आदि के समान विषयाधीन होगी, तो वह भी उसी प्रकार विषयों के वैषम्य से अवश्य विषम होगी, यह भाव है। यदि कोई कहे कि फिर भी उक्त दोनों मुक्तियों में भोकृत्व और अभोकृत्व से जनित अन्तर तो है ही, क्योंकि सदेह मुक्ति में देहस्थिति भोग के लिए ही है, इस पर कहते हैं।

जिसने सत्यत्वबुद्धि से भोगों का आस्वादन ही नहीं किया, उसमें भोग्य की अनुभूति कहाँ से होगी अर्थात् भोगों में सत्यत्वबुद्धि से भोक्तृत्व के अभिमान से भोग का आस्वादन करने पर भोगकृत अन्तर होगा, किन्तु असंग उदासीन आत्मैकत्वदर्शी में उक्त अभिमान ही नहीं है ॥२॥

तब ये सदेह कैसे हैं, इस पर कहते हैं।

जीवनमुक्त मुनिश्रेष्ठ श्रीवेदव्यासजी को सदेह के सदृश केवल हम अपनी कल्पना से सामने देखते हैं, इन्हें अपने विदेहत्वनिश्चय के प्रति किसी प्रकार का विघ्न नहीं है। आशय यह कि यद्यपि हम लोग अपनी कल्पना से इन्हें सदेह–सा देखते हैं तथापि ये अपने निश्चय से विदेह ही हैं, अतएव अपने अनुभव से इनमें कोई अन्तर नहीं है। ज्ञानरूपी (चिन्मय) सदेहमुक्त (जीवन्मुक्त) और विदेहमुक्त में क्या भेद है ? अर्थात् अज्ञान ही भेदक है, उसके नष्ट होने पर केवल ज्ञान के अवशिष्ट रहने पर भेदक कौन है ? कोई नहीं। जल की तरंगावस्था में जो जल है, वही सौम्यावस्था में (निश्चलावस्था में) भी है, उसमें कोई अन्तर नहीं है ॥३,४॥

जल में कदाचित् अस्वच्छता, मलिनता आदि से जनित अन्तर भी हो सकता है, ऐसी शंका से दूसरे दृष्टान्त द्वारा उक्त अर्थ का समर्थन करते हैं।

सदेह और विदेह मुक्ति में तनिक भी भेद नहीं है जैसे कि वेगवान् और वेगरहित वायु वायु ही है उसमें कुछ भी अन्तर नहीं है (📖) ॥५॥

सदेहमुक्ति, विदेहमुक्ति, बन्धन, मुक्ति आदि व्यवहार भी कल्पना से ही होते हैं परमार्थ दृष्टि से नहीं होते – ऐसा कहते हैं।

हमारी और श्री व्यासजीकी दृष्टि में सदेहमुक्ति अथवा विदेहमुक्ति परमार्थ वस्तु नहीं है, किन्तु द्वैतशून्य आत्मैक्य ही परमार्थ वस्तु है। उसकी प्राप्तिरूप ज्ञान–फल में कोई भेद नहीं है, इसलिए ज्ञान में अनित्यफलतारूप दोष की आशंका का अवसर ही नहीं है, ज्ञान का उदय होने पर देहपात की आपत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि विरोधी अंश का ही ज्ञान से बाध होता

📖 इस श्लोक में अनन्तर कुछ पुस्तकों में – 'मयोक्तं केवलीभावं तत्तत्स्मरणजीवनम्। सदेहस्य विदेहस्य समतैव सदा शिवा ॥' यह श्लोक अधिक है। इसका यह अर्थ है–यदि कोई कहे कि वेगवान् वायु शीतल, वृक्ष, लहर आदि के कम्पका (चंचलता का) हेतु है और त्वचा इन्द्रिय से जाना जाता है और वेगरहित वायु उससे विपरीत है, इस प्रकार उन दोनों में भेद है ही, इसलिए भेदशून्य सदेह और विदेह मुक्ति में सस्पन्द और निःस्पन्द वायु का दृष्टान्त कैसे देते हैं ? उस पर कहते हैं।

है, प्रारब्ध कर्म का फल होने से देहधारण प्रारब्धकर्म–फल ज्ञान के सदृश है और ज्ञानका उपजीव्य है, इसलिए देहधारण का ज्ञान के साथ किसी प्रकार का विरोध नहीं है, जैसे उपादानभूत निद्रा का नाश होने पर भी स्वप्न के संस्कारों की कुछ काल तक अनुवृत्ति देखी जाती है, वैसे ही अज्ञान का ज्ञान से विनाश होने पर जब तक प्रारब्ध कर्म रहता है तब तक देह आदि की स्थिति उपपन्न होती है, यह भाव है ॥६॥

हे रामचन्द्र, आप सर्वत्र तत्–तत् द्रष्टान्तों के स्मरण का विवक्षित सारभूत अंश वस्तु की स्वरूप से अप्रच्युति हैं, ऐसा जानो, अविवक्षित कार्यभेदकृत विलक्षणता की कल्पना मत करो और कानों को अति प्रिय लगनेवाले, अज्ञानरूपी अन्धकार का विनाश करनेवाले, जिस उत्तम ज्ञान का मैं उपदेश दे रहा हूँ, उक्त प्रस्तुत ज्ञान को ही तुम सुनो ॥७॥

भाव यह कि उक्त दृष्टान्त एक अंश में है, सब अंशो में नहीं। यहाँ पर सदेहमुक्ति की और विदेहमुक्ति की एकता उपमेय है, उनके सादृश्य के लिए कथित सस्पन्द और निःस्पन्द वायु की एकता उपमान है उसका विवक्षित सारभूत अंश उपमेय के सादृश्य को उल्लसित करनेवाला केवलीभाव है, परिस्पन्द के त्याग से केवल एक अंश से – ऐक्यसादृश्यरूप से–उपमेय को उपमा का विषय समझो। ऐसी अवस्था में सदेहमुक्त और विदेहमुक्त की सदा कल्याणकारिणी समता ही है। इस प्रकार अवान्तर सन्देह के निवृत्त होने पर प्रस्तुत कथा का अवसर दर्शाते हैं। श्री शुकदेव आदि शम, दम आदि साधनों से परिपूर्ण थे, अतएव उन्हें श्रवणका फल ज्ञान तदुपरान्त विदेहमुक्ति प्राप्त हुई, आधुनिक पुरुष उक्त साधनों का सम्पादन करने में समर्थ नहीं है; अतः उन्हें श्रवण का फल कैसे प्राप्त होगा ? ऐसी शंका होने पर संसारमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो पुरुष के प्रयत्न से साध्य न हो, यह कहते हैं।

हे रघुनन्दन, इस संसार में भली भाँति निरन्तर किये गये प्रयत्न से सबको सदा सब पदार्थ मिल सकते हैं। जहाँ कहीं प्रयत्न में विफलता देखी जाती है, वहाँ पर निरन्तर प्रयत्न का अभाव ही कारण है। शास्त्रविहित शारीरिक, वाचिक और मानसिक कर्मों से होनेवाली चित्तशुद्धि द्वारा जायमान ज्ञान की प्राप्ति होने पर हृदय में, चन्द्रमा के समान, काम, क्रोध आदि सन्ताप से शून्य जीवन्मुक्तिसुखमुद्रा उदित होती है। श्रुति भी कहती है–'स एको ब्रह्मणः आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।' (कामनाशून्य ब्रह्म विद्वरिष्ठ का आनन्द और ब्रह्म का आनन्द एक ही है) और स्मृति भी है – 'यच्च कामसुखं लोके' (लोक में जो वैषयिक सुख है और जो महान् स्वर्गीय सुख है, वे दोनों तृष्णाक्षय से उत्पन्न परमानंद की सोलहवीं कला को भी प्राप्त नहीं होते) उक्त सम्पूर्ण सुख पुरुषप्रयत्न से ही प्राप्त हो सकता है, अन्य से (दैव आदि से) नहीं, इसलिए पुरुष को प्रयत्न पर ही निर्भर रहना चाहिए ॥८,९॥

भाग्य के प्रतिकूल होने पर पुरुषप्रयत्न व्यर्थ देखा जाता है और 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' ऐसा लोकप्रवाद भी है, अतः पुरुषप्रयत्न से फल की आशा करना दुराशा ही है, ऐसी शंका कर दैव का (भाग्य का) पौरुष में अन्तर्भाव और दुर्बलत्व के अभिप्राय से उसका खण्डन करते हैं।

क्रिया द्वारा दूसरे देश में पहुँचाता हुआ और तृप्ति कराता हुआ, गमन, भोजन आदि

पुरुषप्रयत्न प्रत्यक्षतः क्रियारूप फलवाला देखा गया है। दैव को प्रत्यक्षतः किसीने नहीं देखा। वस्तुतः वह कुछ है ही नहीं, अज्ञानमोहित मूढ पुरुषों की वह कोरी कपोलकल्पनामात्र है ॥१०॥

वह पौरुष (पुरुषप्रयत्न) क्या है, जिसकी आप इतनी बड़ी प्रशंसा करते हैं ? इस प्रश्नपर कहते हैं।

शास्त्रज्ञ सज्जन पुरुषों द्वारा उपदिष्ट रीति से जो मानसिक, वाचिक और कायिक चेष्टा की जाती है, वही पौरुष है, वह सफल है, उससे भिन्न जो मन, वचन और शरीर की चेष्टा है वह उन्मत्त की चेष्टा है ॥११॥ जो मनुष्य जिस पदार्थ की अभिलाषा करता है, उसकी प्राप्ति के लिए यत्न भी करता है। यदि बीच में ही उसका त्याग न कर दे, तो वह क्रमशः उसको अवश्य प्राप्त करता है ॥१२॥

मूल में 'क्रमात्' पद 'कहीं पर विघ्नों द्वारा कार्य का विघात शास्त्रोक्त क्रम का त्याग करने से ही होता है' यह सूचित करने के लिए है। भाव यह कि सांगोपांग कर्म करने से अवश्य फलप्राप्ति होती है।

उक्त नियम को ही विविध दृष्टान्तों से दृढ़ करते हैं।

कोई एक प्राणी ही पुरुषप्रयत्न से तीनों लोकों के महा ऐश्वर्य से अतिरमणीय इन्द्रपदवी को प्राप्त हुआ है। कोई चिदुल्ला (चित् उत्कर्ष से उत्कृष्ट) (📖) प्राणी ही पौरुष प्रयत्न से कमलासन में स्थित होकर ब्रह्मा के पद को प्राप्त हुआ है। सारभूत अपने पुरुषार्थ से ही कोई पुरुष गरूड़ध्वज होकर पुरुषोत्तमता को प्राप्त हुआ है। अपने पुरुषार्थ से ही, कोई देही, अर्धनारीश्वर बनकर चन्द्रशेखरता को प्राप्त हुआ है। पौरुष दो प्रकार का है, एक पूर्वजन्म का और दूसरा इस जन्म का। आधुनिक पुरुषार्थ द्वारा पूर्व जन्म का पुरुषार्थ शीघ्र तिरस्कार को प्राप्त होता है ॥१३–१७॥

आधुनिक अल्प पुरुषार्थ अनेक करोड़ कल्पों से उपार्जित अनन्त प्राक्तन कर्मों पर विजय कैसे प्राप्त करता है ? इस पर कहते हैं।

निरन्तर प्रयत्न करनेवाले, दृढ़ अभ्यासवाले एवं प्रज्ञा और उत्साह से युक्त पुरुष प्रलय में अधिकार रखनेवाले देवताओं की पदवी को प्राप्त होकर महान् मेरू पर्वत तक को निगल जाते हैं, मटियामेट कर डालते हैं, प्राक्तन (पूर्व जन्म के) पौरुष की तो बात ही क्या है ? भाव यह कि यद्यपि प्राक्तन कर्म अनन्त हैं, फिर भी उनका मूल एक ही है उनके मूल का नाश करने से उन पर बड़ी आसानी से विजय प्राप्त की जा सकती है। श्रुति आदि से नियन्त्रित (श्रुत्यनुसारी) पुरुषार्थ का ही अवश्य सम्पादन करनेवाली पुरुषकी जो निरन्तर उद्योगशीलता है, वही अभीष्ट सिद्धि देनेवाली होती है। शास्त्रविधि के प्रतिकूल पुरुषार्थ का उपार्जन करनेवाली पुरुष की उद्योगशीलता अनर्थकारिणी होती है ॥१८,१९॥

📖 सत्त्वगुण की उत्कृष्टता से चैतन्य का उत्कर्ष होता है। ब्रह्माजी का सत्त्वगुण अन्यों की अपेक्षा उत्कृष्ट है, इसी कारण उनमें तन्मूलक चैतन्य भी सर्वोत्कृष्ट है। ब्रह्मा भी पूर्वकल्प में सामान्य जीव थे, तपस्या के बल से वे इस कल्प में ब्रह्मा हुए हैं।

महाधनी, प्रबल और महामति लोगों को प्राप्त होनेवाला पौरुष निर्धन, निर्बल और अल्पबुद्धिवाले लोगों को कैसे प्राप्त होगा ? ऐसी शंका कर उनको भी स्वशक्ति के अनुरूप निरन्तर पौरूष से इस जन्म में या जन्मान्तर में विपुल धन आदि सम्पत्ति से उक्त पौरुष प्राप्त हो सकता है। किसी पुरुष की निरन्तर सुदशा या दुर्दशा नहीं रह सकती, इस अभिप्राय से शास्त्रीय प्रयत्न और शास्त्रीय प्रयत्न में ढिलाई करना–इन दोनों के फल में बड़ा अन्तर दिखलाते हैं।

पुरुष जब शास्त्रीय यत्न को शिथिल करता है, तब स्वाभाविक रागादि दोषों से असन्मार्ग में आसक्ति होने के कारण दारिद्र्य, रोग, बन्धन आदि दुर्दशा में, जबकि अपने हाथ आदि भी अपने काबू में नहीं रहते, अंगुलियों को खूब तोड़ मरोड़कर बनाये गये चुल्लू के चुल्लूभर जल से मुँह में पडे हुए एक बुँद जल को भी दुर्लभ होने के कारण अधिक समझता है, वही जब शास्त्रीय प्रयत्न में दृढ़ रहता है, तब धर्म के उत्कर्ष से प्रियव्रत महाराज के समान सात द्वीपों की एक छत्र आधिपत्य दशा में अवश्य पोषणीय पुत्र आदि के लिए यथायोग्य दायभाग का विभाग करने में समुद्र, पर्वत, नगर और द्वीपों से व्याप्त विशाल पृथ्वी को भी अधिक नहीं समझता ॥२०॥

चौथा सर्ग समाप्त

पाँचवाँ सर्ग

पौरूष के प्रबल होने पर अवश्य फलप्राप्ति में एवं दैव की पुरुषार्थ से
अभिन्नता में युक्ति और दृष्टान्तों का प्रदर्शन।

पूर्व में जो यह कहा था कि दैव पौरुष से अतिरिक्त नहीं है, दैव से पौरुष प्रबल है और पौरुष से ही पुरुषार्थ की सिद्धि होती है, उक्त सबका युक्ति से समर्थन करने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : जैसे नीला, पीला आदि रंगों की अभिव्यक्ति में प्रकाश ही मुख्य कारण है, वैसे ही शास्त्र के अनुसार कायिक, वाचिक और मानसिक व्यवहार करनेवाले अधिकारी पुरुषों के सब पुरुषार्थों की सिद्धि में प्रवृत्ति ही मुख्य कारण है ॥१॥

विद्या तृप्ति आदि के समान दृष्टफलक है, उसके साधन में शास्त्रीय नियम का क्या उपयोग है ? इस पर कहते हैं।

पुरुष जिसकी केवल मन से इच्छा करता है, शास्त्रानुसार कर्म से नहीं करता, वह उन्मत्त की चेष्टा ही करता है, वह पुरुषार्थ का साधन नहीं है, बल्कि मोह का साधन है। सारांश यह कि यद्यपि विद्या दृष्टफलक है, तथापि विद्या के साधन में अशास्त्रीय नियम कारण नहीं हो सकता, क्योंकि अन्वयव्यतिरेक नहीं है। शास्त्रीय यत्न का शास्त्रीय ही फल होता है और अशास्त्रीय यत्न का अशास्त्रीय ही फल होता है, इस प्रकार औचित्य के बल से भी व्यवस्था की सिद्धि होती है। जो आदमी जैसा प्रयत्न करता है, वह वैसा ही फल पाता है। प्राक्तन (पूर्व जन्म का) स्वकर्म ही दैव कहलाता है, उससे अतिरिक्त दैव कुछ नहीं है। पौरुष दो प्रकार का

है–एक शास्त्रानुमोदित और दूसरा शास्त्रविरुद्ध। उनमें शास्त्रविरुद्ध कर्म अनर्थ का कारण है और शास्त्रानुमोदित कर्म परमार्थवस्तु की प्राप्ति का कारण है। कहीं पर सम और कहीं पर असम प्राक्तन और ऐहिक दो पुरुषार्थ भेड़ों की तरह परस्पर लड़ते हैं, उनमें जो कम बलवाला होता है, वह नष्ट हो जाता है। इसलिए पुरुष को शास्त्रीय प्रयत्न से सज्जन महात्माओं के संग के द्वारा वैसा उद्योग करना चाहिए जिससे कि इस जन्म का पौरुष पूर्व जन्म के पौरुष को शीघ्र जीत ले ॥२–६॥

'त्रिभिऋणैऋणवान् जायते' इस श्रुति से मनुष्य, देवता आदि का ऋणी, सुना जाता है और 'तस्मादेषां तन्न प्रियमेतन्मनुष्या विद्युः' (इसलिए देवताओं को यह प्रिय नहीं है कि मनुष्य आत्मतत्त्वज्ञानी होवें) ऐसी भी श्रुति है, इसलिए वे देवता अवश्य विघ्न करेंगे, उनके विघ्न करने पर किया गया प्रयत्न ही विफल हो जायेगा, ऐसी आशंका कर कहते हैं।

सम और विषम अपना और दूसरे का पुरुषार्थ– ये दोनों भेड़ों की तरह लड़ते हैं उन दोनों में जो अतिबलवान् होता है, वह जीत जाता है। भाव यह है कि दोषों के रहते ही देवता विघ्न कर सकते हैं, अपने प्रयत्न से दोषोंपर विजय पाने से उनकी विघ्नशक्ति कुण्ठित हो जाती है ॥७॥

शास्त्रीय मार्ग में यत्न कर रहे लोगों को भी कभी कभी रोगादि अनर्थ क्यों प्राप्त होते हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं।

जहाँ पर शास्त्रानुमोदित पौरुष से भी विघ्नबाधा प्राप्त होती है, वहाँ पर अनर्थकारी अपने पौरुष को बलवान् समझना चाहिए ॥८॥

उसको भी जीत लेना चाहिए यह भाव है।

अपने उत्कृष्ट पौरुष का अवलम्बन कर दाँतों से दाँतों को पीस रहे पुरुष को अपने शुभ पौरुष से विघ्न करने के लिए उद्यत पूर्व जन्म के अशुभ पौरुष को जीत लेना चाहिए। यह प्राचीन पौरुष मुझे प्रेरित करता है, इस प्रकार की बुद्धि को बलपूर्वक कुचल डालना चाहिए, क्योंकि वह प्रत्यक्ष प्रयत्न से अधिक बलवान् नहीं है। तब तक पौरुष पूर्वक भलीभाँति प्रयत्न करना चाहिए जब तक कि प्राक्तन (पूर्वजन्म का) अशुभ पौरुष स्वयं (卐) (निःशेष) शान्त हो जाय। इस जन्म के गुणों से (शुभ पौरुष से) पूर्वजन्म का दोष (अशुभ पौरुष) अवश्य नष्ट हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। आज के गुणों से (लंघन आदि से) कल के दोष का (अजीर्ण आदिका) क्षय इसमें दृष्टान्त है। पूर्व जन्म के दुरदृष्ट का ऐहिक शुभ कर्मों से सदा उद्योगशील बुद्धि द्वारा तिरस्कार कर अपने में संसार को तरने के लिए सम्पादनार्थ (मुक्त्यर्थ) शम, दम, श्रवण आदि सम्पत्ति के लिए यत्न करना चाहिए। आलसी पुरुष गदहे से भी निकृष्ट है, अतएव उद्योगहीन होकर गर्दभ तुल्य नहीं बनना चाहिए, किन्तु स्वर्ग और मोक्ष की सिद्धि के लिए शास्त्रानुसार सदा यत्न करना चाहिए ॥९–१४॥ जैसे विष्णु असुरों द्वारा प्रयुक्त माया

卐 'स्वयम्' विशेषण निःशेषतता का सूचक है, अन्य से शान्ति होने पर उसके (शामक अन्य के) हटने पर फिर उसका उद्भव हो सकता है वह न हो इसलिए 'स्वयम्' यह विशेषण दिया है।

रूप पिंजड़े से स्वयं बलपूर्वक निकल गये। अथवा जैसे सिंह मनुष्यों से बनाये गये बन्धरूप पिंजड़े से स्वयं बलपूर्वक निकल जाता है, वैसे ही मनुष्यों को पौरुषरूप यत्न का अवलम्बन कर इस संसाररूप गर्त से स्वयं बलपूर्वक निकल जाना चाहिए। अपने शरीर को प्रतिदिन नश्वर देखें, पशुओं के साथ समानता को छोड़ दें अर्थात् पशुता का स्वीकार न करें, किन्तु सत्पुरुषो के योग्य साधु संगम और सत्शास्त्रों का अवलम्बन करे। जैसे कीड़ा घाव में पीव आदि द्रव पदार्थ का आस्वादन करता है, वैसे ही घर में स्त्री, अन्न, पान आदि द्रव और कोमल पदार्थों का आस्वादन लेकर सम्पूर्ण पुरुषार्थों के साधनभूत यौवन को व्यर्थ नहीं कर देना चाहिए। शुभ पुरुष प्रयत्न से शीघ्र शुभ फल प्राप्त होता है और अशुभ पुरुष प्रयत्न से अशुभ फल मिलता है। पूर्वजन्म के शुभ और अशुभ पुरुष प्रयत्न के सिवा दैव नाम की कोई वस्तु नहीं है। जो मनुष्य प्रत्यक्ष प्रमाण का त्याग कर अनुमान प्रमाण का अवलम्बन करता है, वह अपनी बाहुओं को ये सर्प है, ऐसा समझकर उनसे भयभीत होकर भागता है। विश्वामित्र आदि श्रेष्ठ पुरुषों ने पुरुष प्रयत्न से ही पुरुषार्थ (परम लक्ष्य) प्राप्त किया था, इस बात को न जाननेवाले अतएव मुझे दैव प्रेरित कर रहा है, ऐसा कहनेवाले दुर्बुद्धियों का मुख देखकर लक्ष्मी लौट जाती है। इसलिए पहले पुरुष प्रयत्न से नित्यानित्यवस्तु विवेक आदि चार साधनों का अवलम्बन लेना चाहिए और आत्मज्ञानरूपी महान् अर्थवाले शास्त्रों का विचार करना चाहिए। शास्त्रानुसार श्रवण, मनन आदि चेष्टाओं द्वारा परमार्थभूत आत्मतत्त्वका विचार न कर रहे अतएव उक्त पुरुषार्थसाधन से शून्य मूढ़ पुरुषों की अनन्त नरकों की हेतु होने के कारण अतिदुष्ट भोगेच्छा के लिए धिक्कार है। अर्थात् ऐसे पुरुष शोचनीय हैं ॥१५–२२॥

'एव' पद योग्य जन्म का लाभ होने पर भी पुरुषार्थ की सिद्धि न करने पर फिर पुरुषार्थ सिद्धि की दुर्लभता का द्योतक है। श्रुति भी है– 'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' अर्थात् यदि अधिकारी मनुष्य ने आत्मतत्त्व को जान लिया, तो मनुष्यजन्म की ठीक सार्थकता है, यदि आत्मतत्त्व को नहीं जाना, तो बड़ा भारी विनाश है–अविच्छिन्न जन्म, मरण, नरक आदि की परम्परा प्राप्त होती है।

इतने समय तक पुरुषार्थ करना चाहिए, इस प्रकार अवधिका ज्ञान न होने के कारण वह अनन्त है और उसमें अति परिश्रम भी है, अतः उसमें कैसे प्रवृत्ति हो ? इस पर कहते हैं।

पौरुष निरवधिक नहीं है, साक्षात्कार का उदय ही उसकी अवधि है। वह प्रयत्न की भी अपेक्षा नहीं करता ॥२३॥

क्योंकि 'प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्' (अनेक जन्मों से संचित निष्काम कर्म का फल गुरु द्वारा प्रदर्शित विचार से युक्त वेदान्तवाक्य से सुखपूर्वक प्राप्त किया जा सकता है) ऐसी स्मृति है।

यदि शंका हो कि उक्त 'प्रत्यक्षावगमम्' इत्यादि वाक्य 'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति' (पूर्णाहूति से सम्पूर्ण कामों को प्राप्त करता है) इसके समान प्ररोचनामात्र है, क्योंकि अधिक श्रम होने पर ही अधिक फल प्राप्त होता है, ऐसा नियम है, तो उक्त नियम पर

अन्वयव्यभिचार दर्शाते हैं ।

बड़े भारी प्रयत्न से भी पत्थर से रत्न नहीं प्राप्त हो सकता और रत्न की परीक्षा में निपुण व्यक्तियों को परिश्रम के बिना भी प्रचुर लाभ होता दिखाई देता है । इस प्रकार व्यतिरेक व्यभिचार भी समझना चाहिए । जैसे जल से घड़ा परिमित है एवं जैसे लम्बाई चौड़ाई आदि परिमाण से वस्त्र परिमित है, वैसे ही पुरुषप्रयत्न भी परिमाणस्थ (आत्मतत्त्वसाक्षात्काररूपी फल की अवधि में स्थित) एवं परिमित है, अर्थात् उसकी अवधि (सीमा) तत्त्वसाक्षात्कार है । उक्त पुरुषप्रयत्न यदि सत् शास्त्र, सत्संग और सदाचार से युक्त होता है, तो अपना फल (तत्त्वसाक्षात्कार) देता है, यह उसका स्वभाव है । यदि वह सत्शास्त्र, सत्संग और सदाचार से रहित होता है, तो उससे फल की सिद्धि नहीं होती । पौरुष का यह स्वरूप है, इस प्रकार व्यवहार कर रहे किसी भी पुरुष का प्रयत्न भी विफल नहीं होता । दीनता और दरिद्रता से उत्पन्न दुःख से पीड़ित हुए नल, हरिश्चन्द्र आदि श्रेष्ठ पुरुष भी अपने पुरुषप्रयत्न से ही देवराज के सदृश हो गये हैं ॥२५–२७॥

यदि बहुत परिश्रम की अपेक्षा नहीं है, तो पीछे पौरुष करेंगे, इसी समय उसकी क्या आवश्यकता है ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं ।

बाल्यावस्था से लेकर भलीभाँति अभ्यस्त शास्त्र, सत्संग आदि गुणों द्वारा पुरुषप्रयत्न से (🕮) स्वार्थ (तत्त्वसाक्षात्कार) प्राप्त होता है, सहसा किये गये शास्त्राभ्यास, सत्संग आदि से वह प्राप्त नहीं किया जा सकता । वे तो कोमल काँटे के समान हैं । भाव यह कि जैसे कोमल काँटे से पैर में चुभा हुआ काँटा नहीं निकाला जा सकता वैसे ही सहसा अभ्यस्त शास्त्र आदि से तत्त्वसाक्षात्कार नहीं किया जा सकता । हम जीवन्मुक्त लोगों ने इस बात को प्रत्यक्षतः देखा है, उसका अनुभव किया है, सुना और साधनों से उपार्जित किया है, जो लोग उसे दैवाधीन कहते हैं, वे मन्दमति हैं और विनष्ट हैं ॥२८,२९॥

यदि ऐसा है, तो सभी लोग क्यों यत्न नहीं करते, इस पर कहते हैं ।

अनर्थ (दुर्गति) का कारण होने या अर्थ (उन्नति) का विघातक होने के कारण अनर्थकारी आलस्य यदि जगत् में न होता, तो कौन पुरुष बड़ा धनी और विद्वान नहीं होता अर्थात् सभी धनी और विद्वान होते । आलस्य के कारण ही यह सागरपर्यन्त सम्पूर्ण पृथिवी निर्धनों और नरपशुओं से परिपूर्ण है । इसलिए आलस्य का परित्याग कर बाल्यावस्था से ही मनुष्य को सत्संग, शास्त्राभ्यास आदि में जुट जाना चाहिए, यही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है ॥३०॥

यद्यपि अत्यन्त बाल्यावस्था से सत्संग आदि नहीं किये जा सकते फिर भी यौवनारम्भ से ही प्रयत्न करना उत्तम है, ऐसा कहते हैं ।

चपल बालकों द्वारा की गई क्रीड़ाओं से अति चंचल बाल्यावस्था के बीत जाने पर गुरुसेवा

🕮 जब तक आत्मतत्त्वसाक्षात्कार नहीं होता तभी तक पुरुषप्रयत्न करना अतीव आवश्यक है । आत्मतत्त्वसाक्षात्कार होने पर पुरुष के प्रयत्न की समाप्ति हो जाती है, इसलिए पुरुषप्रयत्न असीम नहीं है, किन्तु ससीम है ।

आदि में समर्थ भुजाओं से अलंकृत अवस्था से (यौवनावस्था से) लेकर पद–पदार्थ ज्ञान में निपुण (व्युत्पन्न) पुरुष गुरु, सतीर्थ्य, अपने से अधिक ज्ञाताओं के संग से अपने गुणों का (भक्ति, दया आदि का), दोषों का (राग–द्वेष आदि का) विचार (शान्ति आदि से अन्त में कल्याण होता है और राग आदि से अनर्थ की प्राप्ति होती है, इस प्रकार का पर्यालोचनरूप विचार) करें ॥३१॥ श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : महामुनि श्रीवसिष्ठजी के यों कहने पर दिन बीत गया और सूर्य भगवान अस्ताचल के शिखर पर गये। मुनिसभा महामुनि वसिष्ठजी को प्रणाम कर सायं सन्ध्योपासना, अग्निहोत्र आदि करने के लिए स्नानार्थ चली गई और रात्रि बीतने पर सूर्योदय होते–होते श्रीवसिष्ठजी के पास पुनः आ गई (✍) ॥३२॥

पाँचवाँ सर्ग समाप्त

छठा सर्ग

जहाँ प्रयत्न करने पर भी कार्य विनाश होने पर प्रबल दैव कार्य विनाशक माना जाता है,
वहाँ पर विघातक अन्य पुरुष का प्रयत्न ही 'दैव' शब्द से कहा जाता है
अथवा अपना प्राक्तन बलवान् पौरुष ही दैव कहा जाता है।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्र पौरुष से अतिरिक्त दैव कोई वस्तु नहीं है, इसलिए पूर्वजन्म में किया गया पुरुषप्रयत्न ही दैव है। अतएव मैं दैव के आधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं हूँ, ऐसी बुद्धि का सज्जन संगति एवं सत्शास्त्र के अभ्यास से सर्वथा परित्याग कर अधिकारी मनुष्य को इस संसारसागर से अपना उद्धार करना चाहिए। जैसा जैसा प्रयत्न होगा वैसा वैसा शीघ्र फल होगा, इसीका नाम पौरुष है और उसीको दैव भी कहते है, दैव और पौरुष में कोई अन्तर नहीं है। जैसे दुःख के समय में दुःख से 'हा कष्ट' कहा जाता है, वैसे ही 'हा कष्ट' शब्द का ही दूसरा पर्याय 'हा दैव' भी है अर्थात् दुःखरूप से परिणत अपना प्राक्तन कर्म 'हा कष्ट' शब्द से कहा जाता है और वही 'दैव' है। दैव अपने प्राक्तन कर्म से भिन्न नहीं है। जैसे प्रबल पुरुष बालक को जीत लेता है, वैसे ही वह भी प्रबल पौरुष से जीता जा सकता है। जैसे कल का दुराचरण आज के सुन्दर सदाचरण से शुभता को प्राप्त होता है, वैसे ही प्राक्तन अशुभ कर्म की अशुभता वर्तमान शुभ कर्म से नष्ट हो जाती है। जो लोग तुच्छ विषयसुख के लोभ में पड़कर प्राक्तन कर्मरूपी दैव को जीतने के लिए प्रयत्न नहीं करते तथा सदा दैव के भरोसे बैठे

✍ इसकी व्याख्या यों भी है वाल्मीकिजी ने कहा, यह अरिष्टनेमि के प्रति देवदूत की उक्ति है, वाल्मीकिजी के उक्त प्रकार से भरद्वाज के प्रति कहने पर दिन अस्त हो गया, सूर्य भगवान् अस्ताचल के शिखर चले गये एवं मुनियों की सभा वाल्मीकिजी को नमस्कार कर सायंकालीन सन्ध्योपासना, अग्निहोत्र आदि करने के लिए स्नानार्थ चली गई और रात्रि के बीतने के अनन्तर सूर्योदय होनेपर पुनःवाल्मीकिजी के पास आ गई। टीकाकार का कहना है कि यदि इस प्रकार अर्थ न किया जायेगा तो आगे तत्–तत् स्थलों में जो दशरथ सभा के उत्थान का वर्णन, आह्निक कर्मानुष्ठान वर्णन, रात्रि में राम आदि के साथ श्रुत अर्थ के चिन्तन का वर्णन, एवं प्रातः सूर्योदय आदि का वर्णन किया गया है, वह असंगत हो जायेगा।

रहते हैं, वे बेचारे पामर और मूर्ख हैं ॥१-६॥

जहाँ कहीं दैव की प्रबलता प्रसिद्ध है, वहाँ पर भी पौरुष की ही प्रबलता है, यह कहते हैं।

यदि कहीं पर पुरुषप्रयत्न से किया गया कर्म दैव से (भाग्य से) विनष्ट हो जाय, तो वहाँ पर भी नाश करनेवाले के पौरुष को बलवत्तर समझना चाहिए ॥७॥

पुरुष के अधीन जो विषय हैं, उन्हीं में ऐसा हो सकता है, जो पुरुष के अधीन नहीं है, वे तो दैव पर ही निर्भर हैं – इस पर कहते हैं।

जहाँ एक टहनी में लगे हुए दो फलों में एक फल खोखला (रसशून्य) होता है वहाँ पर उसके रस का उपभोग करनेवाले मनुष्य या कीड़े आदिका, पूर्वजन्म का या इस जन्म का, प्रयत्न ही (पौरुष ही) उसके रस का विनाशक होता है। यहाँ पर जगत् में संसिद्ध पदार्थ भी विनाश को प्राप्त हो जाते हैं, वहाँ पर विनाश करनेवाले का प्रयत्न अधिक बलवान् है, यह समझना चाहिए। पूर्वजन्म के और इस जन्म के कर्म (पौरुष) दो भेड़ों की भाँति परस्पर लड़ते हैं, उनमें जो बलवान् होता है, वही दूसरे को क्षणभर में पछाड़ देता है। राजवंश के न रहने पर मन्त्री आदि द्वारा प्रेरित अलंकृत हाथी किसी भिक्षुक को लाकर जो बलात् राजा बना देता है, वह मन्त्री, हाथी और नगरवासियों के प्रयत्न का महान् बल है। भाव यह कि भिक्षुक का राज्यप्राप्ति के अनुकूल पूर्वजन्म का पुण्य होने पर भी मन्त्री आदि का पौरुष भी उसमें अन्यतर कारण कहा जा सकता है। यदि मन्त्री लोग हाथी को भेजना आदि उद्योग न करते, तो भिक्षुक का लड़का कदापि राजा न हो सकता। निस्सन्देह मन्त्रियों का पुरुषप्रयत्न भिक्षुक के राज्यलाभ में सहकारी कारण है और भिक्षुक का बलवान् पुण्य मुख्य कारण है। यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि पुरुषप्रयत्न ही एक ऐसी चीज है जो साधारण व्यक्ति को भी बड़ा से बड़ा पद प्रदान करा सकती है। जैसे पुरुषप्रयत्न से भक्षण करने योग्य अन्न को मुँह में दबाकर फिर दाँतों से चूर चूर किया जाता है वैसे ही बलवान् पुरुष पौरुषका अवलम्बन कर दुर्बल को पीस डालता है। अतः प्रयत्नशील महाबली पुरुषों के अल्प बलवाले पुरुष उपभोग होते हैं, इसलिए वे उनको ढेले के सदृश अपनी इच्छानुसार कर्म में नियुक्त करते हैं। असमर्थ और अल्पबुद्धि पुरुष बलवान् और बुद्धिमान् पुरुष के पौरुष को तत् तत् पुरुषप्रयत्न को, चाहे वह दृश्य हो चाहे अदृश्य, अपनी अज्ञानता के वश उसे 'दैव' या अदृष्ट समझता है। उन समर्थ प्राणियों में जो अधिक बलवान् प्राणी होता है, वह औरों का नियन्ता होता है, यह बात सभी विद्यमान प्राणियों में परस्पर स्पष्ट है; दैव कोई वस्तु नहीं है, यह निश्चित है। भाव यह कि पूर्वोक्त समर्थ पुरुषों की अपेक्षा अधिक समर्थ अन्य पुरुष भी हैं, वे उनके उपर शासन करते हैं। अतएव वर्तमान प्राणियों में इस प्रकार पुरुषप्रयत्न ही दिखाई देता है, उससे अन्य कुछ नहीं दिखाई देता। अतः दैव कोई पदार्थ नहीं है, यही समझना युक्तियुक्त है। शास्त्र, मन्त्री, हाथी और नगरवासियों की एकमत्य को प्राप्त हुई स्वाभाविक बुद्धि ही भिक्षुक को राजा बनानेवाली और प्रजा की रक्षिका है ॥८-१६॥

अन्य के पौरुष से अन्य को फल की प्राप्ति होने पर व्यभिचार की आशंका कर कहते हैं।

अथवा, जहाँ कहीं अलंकृत हाथी से भिक्षुक राजा बनाया जाता है, वहाँ पर भिक्षुक का पूर्वजन्म का प्रबल पौरुष भी कारण है। इस जन्म में किया गया प्रबल पुरुषप्रयत्न अपने बल से पूर्वजन्म के पौरुष को नष्ट कर देता है और पूर्वजन्मका प्रबल पौरुष इस जन्म के पौरुष को अपने बल से नष्ट कर देता है। वही पौरुष सदा विजयी होता है, जो उद्वेग से रहित है। इसी जन्म का ही पौरुष उद्वेगशून्य हो सकता है, पूर्वजन्म का नहीं; क्योंकि वह पहले ही विच्छिन्न हो चुका है, यह भाव है ॥१७,१८॥ दोनों (ऐहिक और प्राक्तन) पौरुषों में से ऐहिक पौरुष ही प्रत्यक्षतः बलवान् है, इसलिए जिस प्रकार युवक द्वारा बालक जीता जा सकता है, वैसे ही इस जन्म के प्रयत्नों द्वारा दैव (पूर्वजन्म का प्रयत्न) जीता जा सकता है ॥१९॥

ओले आदि गिरने से खेती के विनाश आदि में इससे विपरीत ही (पौरुष से दैव ही प्रबल) देखा जाता है, ऐसी आशंका करके उक्त दृष्टान्त भी हमारे अभीष्ट की ही सिद्धि करता है, ऐसा कहते हैं।

जैसे मेघ किसानों द्वारा वर्ष भर में कमाई गई खेती को एक ही दिन में विनष्ट कर देता है, यह मेघ का ही पुरुषार्थ है, वैसे ही और जगह भी समझना चाहिए जो अधिक प्रयत्न करता है, उसकी जीत होती ही है। वस्तुतः तो वहाँ पर भी किसान का पूर्व जन्म का पुरुषप्रयत्न ही अदृष्ट द्वारा कारण है। क्रमशः उपार्जित धन का विनाश हो जाने पर भी खेद नहीं करना चाहिए जहाँ पर अपना कुछ वश नहीं चलता, वहाँ पर क्या खेद करना ? वहाँ पर पुनः उद्योग करना ही उचित है। जिस कार्य को हम लोग कर नहीं सकते, जो हमारी शक्ति के बाहर है, उसके लिए यदि हम दुःख करें, तो हमने मृत्यु का विनाश नहीं किया, वह कभी न कभी हमें मार डालेगा, यों सोच कर प्रतिदिन रोना चाहिए। इस संसार के सम्पूर्ण पदार्थ देश, काल, क्रिया और द्रव्य के अनुसार स्फूर्ति को प्राप्त होते हैं, जिस विषय में मनुष्य अधिक प्रयत्न करता है, उसमें विजयी होता है ॥२०-२३॥

जिस देश में जिस काल में प्रयत्न विफल हो जाय, उसका त्याग कर दूसरे देश में, दूसरे काल में, दूसरी क्रिया से और दूसरे द्रव्य से पुनः प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि पूर्व आदि दिशाओं में विघ्न आने पर भी श्रीविश्वामित्रजी के तप की उत्तर दिशा में सिद्धि हुई थी, यह तात्पर्य है।

इसलिए अधिकारी मनुष्य को पुरुषार्थ का अवलम्बन कर, सत् शास्त्रों के अभ्यास और सत्संगति द्वारा बुद्धि को निर्मल बना कर संसाररूप सागर से अपना उद्धार करना चाहिए। ये इस जन्म और पूर्व जन्म के दोनों पौरुष पुरुषरूपी अरण्य में उत्पन्न फल देने में समर्थ वृक्ष हैं, उनमें से जो अधिक बलवान् होता है, वह विजयी होता है। यहाँ पर जड़ का उच्छेद होने से एक के सूखने पर दूसरे का उगना जय है। जो पुरुष अपने ऐहिक शुभ कर्मों से पूर्वजन्म के तुच्छ कर्म का विनाश नहीं करता, वह अज्ञानी जीव अपने सुख और दुःख में असमर्थ है, भाव यह कि ऐसे लोग अपने दुःख के परिहार में और सुख के उत्पादन में अत्यन्त उदासीन हैं। वह पुरुष ईश्वर की प्रेरणा से पुण्य और पाप के बिना ही स्वर्ग अथवा नरक को जाता है, वह सदा

पराधीन रहता है, वह सचमुच पशु ही है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। जो पुरुष उदार स्वभाव से प्रयत्न करने में कुशल और सदाचारी हैं, वे पुरुष जैसे सिंह अपने उद्यम से पिंजड़े से निकल जाता है, वैसे ही जगन्मोह से निकल जाते हैं। जो पुरुष कर्म का त्यागकर कोई पुरुष (ईश्वर) मुझे प्रेरित कर रहा है, इस प्रकार अनर्थकारिणी कुकल्पना में स्थित है, उसका दूर से ही त्याग कर देना चाहिए, वह नराधम है ॥२४–२९॥

(शंका – एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते' (यही उस पुरुष से अच्छे कर्म करवाता है, जिसका इस लोक से उद्धार करने की इच्छा करता है) 'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनमन्तरो यमयति' (जो अन्तर्यामी आत्मा में स्थित होकर आत्मा का नियन्त्रण करता है), ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (हे अर्जुन, ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में स्थित है) इत्यादि श्रुति और स्मृतियों से विरुद्ध ईश्वर का अपलाप कर जीव की स्वतन्त्रता कैसे कहते हैं ?

समाधान – आप भी 'यथाकारी यथाचारी तथा भवति तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति (जैसा करता है वैसा होता है, साधुकर्मकारी साधु होता है और पापकर्मकारी पापी होता है), 'यजेत् जुहुयाद् दद्यात्' (यज्ञ करें, हवन करें, दान दें) 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' (आत्मा कर्ता है, क्योंकि कर्ता को अपेक्षित उपायों का बोध करानेवाला विधिशास्त्र निरर्थक हो जायेगा), 'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः' (ईश्वर जीवों के न कर्तुत्व की सृष्टि करते हैं और न कर्मों की सृष्टि करते हैं) इत्यादि श्रुति और स्मृति से विरुद्ध जीवकी परतन्त्रता का प्रतिपादन कैसे करते हैं ? अस्वतन्त्र जीव कर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि यदि अस्वतन्त्र को कर्ता मानेंगे, तो 'स्वतन्त्रः कर्ता' इस शास्त्र से विरोध होगा। बलवान् ईश्वर की अधीनता में स्थित पुरुष सैकड़ों विधियों और हजारों निषेधों से न तो किसी कर्म में प्रवृत्त किया जा सकता है और न निवृत्त किया जा सकता है। दूसरी बात यह भी है कि ईश्वर द्वारा जबरदस्ती ब्रह्महत्या आदि दुष्कर्मों में प्रवृत्त कराया गया जीव कैसे अपराधी होगा और स्वयं ही लोगों को बुरे कर्मों में प्रवृत्त कराकर उन्हें नरकमें गिरा रहे भगवान् वैषम्य और नैर्घृण्य दोष के भागी क्यों न होंगे ? और अन्तर्यामी ब्राह्मण के अन्त में 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता' इत्यादि से जीवके अपलाप द्वारा ईश्वरस्वातन्त्र्यका समर्थन कैसे संगत होगा ?

यदि कहिये केवल अज्ञ पुरुष की दृष्टि का अवलम्बन कर कर्मकाण्डप्रवृत्ति में जीवस्वातन्त्र्यवाद है, उसको शिथिल कर सम्पूर्ण भूतों में एकात्म्यज्ञान के लिए प्रवृत्त विवेकदृष्टि का अवलम्बन कर ईश्वरस्वातन्त्र्यवाद है, उसके फलभूत ज्ञान से प्राप्त विवेकदृष्टि का अवलम्बन करके 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (यह ब्रह्म कारणशून्य, कार्यरहित, अनन्तर, अबाह्य, सर्वरूप से सबका अनुभव करनेवाला है), 'न कर्तृत्वं न कर्माणि' इत्यादि श्रुतिवाद और स्मृतिवाद है। जैसे स्वप्न और दर्पण आदि में काष्ठहस्ती के धावन को हस्ती की दृष्टि से देखने पर हस्ती ही दौड़ता है न कि काष्ठ, काष्ठ

की दृष्टि से देखने पर काष्ठ ही दौड़ता है न कि हस्ती, परमार्थदृष्टि से देखनेपर तो न हस्ती है, न काष्ठ है और न धावन क्रिया ही है, केवल अविकृत पुरुष, दर्पण आदि ही हैं, वैसे ही ये वाद है, तो मोक्ष के उपाय के प्रवर्तक श्रीवसिष्ठजी का प्रस्तुत उपदेश अज्ञ पुरुषों के लिए है, इसलिए यहाँ पर ईश्वरस्वातन्त्र्यवादका निराकरण उचित ही है। भगवान श्रीशंकराचार्यजी का भाष्य भी है–'तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोशास्त्राणि विधिनिषेधमोक्षपराणि' (इस अविद्यारूप आत्मा और अनात्मा के अन्योन्याध्यास का अवलम्बन कर सभी प्रमाण, प्रमेय आदि लौकिक व्यवहार और विधि, निषेध तथा मोक्षपरक सम्पूर्ण शास्त्र भी प्रवृत्त हैं)।

इस प्रकार अज्ञानी जीव की दृष्टि से सिद्ध जीवस्वातन्त्र्य–पक्ष में प्राप्त कर्मों के अनुसार नियन्त्रण करनेवाले ईश्वर में वैषम्य और नैर्घृण्य दोष नहीं हैं, यह भाव है।

संसार में हजारों जो व्यवहार हैं, उनमें लाभ और हानि हुआ करते हैं। उनमें राग और द्वेष का त्यागकर शास्त्रानुसार प्रयत्न करना चाहिए। कभी विच्छिन्न न हुई शास्त्रानुकूल अपनी मर्यादा का त्याग न कर रहे पुरुष को जैसे सागर में रत्न प्राप्त होते हैं, वैसे ही सम्पूर्ण अभीष्ट प्राप्त होते हैं। जिनसे सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्ति होती है, उन अवश्य कर्तव्य कार्यों में प्रयत्नपूर्वक सदा तत्पर रहने को ही विद्वान लोग पौरुष कहते हैं, उक्त तत्परता यदि शास्त्रानुसार हो, तो वह परमपुरुषार्थकी साधक होती है। देहसंचालनरूप क्रिया से (गुरु सेवारूप कार्य से), सज्जनों के समागम एवं आत्मस्वरूप का प्रतिपादन करनेवाले सत्शास्त्रों के अभ्यास से असंभावना, विपरीत भावना आदि दोषों के निराकरणपूर्वक तीक्ष्ण हुई बुद्धि से आत्मा का जो स्वयं उद्धार किया जाता है, वह स्वार्थसाधकता है। विद्वान लोग अन्तरहित एवं अज्ञानकृत विषमता से शून्य परमार्थ वस्तु को (ब्रह्म) जानते हैं। उक्त परमार्थ वस्तु जिनसे प्राप्त हो, उन शास्त्र और साधुओं की सदा सेवा करनी चाहिए। जो दोनों लोकों मे हित करनेवाला पुरुष प्रयत्न है, देवलोक के भोग से अवशिष्ट वही पूर्वजन्म का पौरुष देवलोक से यहाँ आये हुए पुरुष का 'दैव' कहलाता है। यह ठीक है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है और इसकी हम निन्दा भी नहीं करते हैं। जो लोग मूढ़ों द्वारा अपनी कपोलकल्पना से गढ़े हुए 'दैव' को मानते हैं, वे विनाश को प्राप्त हो गये हैं, यों हम उनकी निन्दा करते हैं। सदा अपने पुरुषप्रयत्न से ही दोनो लोकों में हित होता है, जैसे कलका दुष्कर्म आजके सत्कर्म से शोभा को प्राप्त होता है, वैसे ही वर्तमान जन्म के शुभ कर्मों से पूर्वजन्म के दुष्कर्म शोभा को प्राप्त हो जाते हैं। जो मनुष्य प्रयत्नपूर्वक शुभ कार्य में संलग्न होता है, उसका फल हाथ में रक्खे हुए आँवले के समान पौरुष से ही साफ देखा गया है। जो प्रत्यक्षका त्यागकर दैवरूप मोह में निमग्न होता है वह परम मूढ़ है। हे श्रीरामचन्द्र, इसलिए अपनी कोरी कपोलकल्पना से उत्पन्न अतएव मिथ्याभूत सम्पूर्ण कारण और प्रयोजनोंसे रहित 'दैव' की उपेक्षा कर अपने पौरुष का अवलम्बन करो ॥३०–३९॥

वह पौरुष क्या है, जिसके अवलम्बन के लिए आप उपदेश देते है ? इस पर कहते हैं।

वेद–शास्त्रों द्वारा और महापुरुषों के शुभ आचार से अति विस्तृत विविध देश धर्मों द्वारा

समर्थित जो चित्तशुद्धिरूप और ज्ञानरूप अति प्रसिद्ध फल है, उसकी हृदय में अति उत्कट अभिलाषा होने पर उसको प्राप्त करने की इच्छा से चित्त में क्रिया होती है, उसके अनन्तर इन्द्रिय, हाथ, पैर आदि में क्रिया होती है, तब पुरुष श्रवण, मनन आदि करता है, इसीको पौरुष कहते हैं । अधिकारी पुरुषका जन्म पुरुषार्थकी सिद्धि होने पर ही सफल होता है, अन्यथा नहीं, यह जानकर सदा आत्मप्रयत्न में संलग्न रहना चाहिए । तदुपरान्त इस प्रयत्नपरायणता को सत्शास्त्रों के अभ्यास, सन्त महात्माओं और विद्वानों की सेवा द्वारा आत्मज्ञानरूप फलप्राप्ति से सफल बनाना चाहिए। यदि पौरुष का अवलम्बन किया जाय, तो वह अवश्य दैव को जीत लेता है, इस प्रकार दैव और पौरुष के बलाबल के विचार से भव्य, शम, दम आदि साधनों से सम्पन्न एवं श्रेष्ठ पुरुषों की सेवा में नित्य संलग्न अधिकारी पुरुषों को श्रवण, मनन आदि द्वारा तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति के लिए उद्यम करना चाहिए। यह अधिकारी जीव को इस जन्म में सम्पादन करने योग्य सहज पौरुष ही परम पुरुषार्थलाभ का हेतु है, ऐसा निश्चय कर सदा आनन्दमग्न सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मवेत्ताओं की शुश्रूषारूप अमोघ मधुर उत्तम औषधि से विविध जन्ममरणपरम्परारूप भवरोग को शान्त करें ॥४०–४३॥

छठा सर्ग समाप्त

सातवाँ सर्ग

प्रचुर उदाहरण और प्रत्युदाहरणों तथा युक्तियों से पौरुष की प्रधानता का समर्थन।

दैव का निराकरण कर पहले जो पौरुषप्रधानता का समर्थन किया गया था, उसीको उदाहरण और प्रत्युदाहरण द्वारा दृढ़ करनेवाले श्रीवसिष्ठजी उपपत्तिपूर्वक हितोपदेशद्वारा अधिकारियों को पुरुषार्थ की ओर आकृष्ट करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, रोगरहित, स्वल्प मानसिक पीड़ा से युक्त देह को प्राप्त कर आत्मा में इस प्रकार चित्त की एकाग्रता करे कि जिससे फिर जन्म ही न हो। जो पुरुष पौरुष से दैव को जीतने की इच्छा करता है, उसके इस लोक में और परलोक में सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं । जो लोग उद्यम का परित्याग कर दैव पर निर्भर रहते हैं, वे आत्मशत्रु अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष का विनाश करते हैं। पुरुषार्थ और उसके साधनों की स्फूर्ति संवित्स्पन्द है उससे उनके साधन की इच्छा से जन्य प्रयत्न मनःस्पन्द है अर्थात् दृढ़संकल्प, उससे कर्मेन्द्रियों और अंगों के संचालन की प्रवृत्ति इन्द्रियस्पन्द है अर्थात् कार्यप्रवृत्ति या अनुष्ठान में रत होना। बुद्धि, मन और कर्मेन्द्रियोंकी उक्त चेष्टाएँ पौरुष के रूप हैं उक्त पुरुषप्रयत्नों से ही संकल्पित फल की प्राप्ति होती है । साक्षी चेतन में पहले जैसी विषयाभिव्यक्ति (विषय ज्ञान) होती है, वैसी ही मन में क्रिया होती है, मन के व्यापार के अनुसार कर्मेन्द्रियों में व्यापार होता है, कर्मेन्द्रियों के व्यापार के अनुरूप शारीरिक क्रिया के अनुसार ही फल की सिद्धि होती है। लोक में लौकिक या वैदिक फल के लिए जहाँ जैसे जैसे पुरुषप्रयत्न की आवश्यकता होती है वहाँ वैसे ही पुरुषप्रयत्न के उपयोग से फल की

सिद्धि होती है यह बात बच्चों तक को विदित है। जैसे ध्यान आदि में मानसिक प्रयत्न ही प्रधान है, आसन तथा मौन उसके अंग हैं, स्तुति करने में वाचिक प्रयत्न प्रधान हैं, एकाग्रता और ध्येय देवता की अभिमुखता उसके अंग हैं, यात्रा आदि में कायिक प्रयत्न ही प्रधान है, वाणी और मन का नियन्त्रण उसके अंग हैं। कहीं पर दो दो प्रयत्न प्रधान रहते हैं, कहीं पर तीन प्रयत्न प्रधान रहते हैं, इस प्रकार सब जगह पौरुष ही देखा जाता है, दैव तो कहीं देखा नहीं गया, इसलिए वह असत् है। हे श्रीरामजी, पुरुषप्रयत्न से ही बृहस्पति देवताओं के गुरु बने और पुरुषार्थ से ही शुक्राचार्यने दैत्यराजों का गुरुत्वपद प्राप्त किया था। दीनता, दरिद्रता आदि दुःखों से पीड़ित हुए भी अनेक महापुरुष अपने पौरुष से (प्रयत्न से) ही महेन्द्र के सदृश ऐश्वर्यशाली हो गये हैं। हरिश्चन्द्र, नल, युधिष्ठिर आदि का इतिहास इस बात का साक्षी है। महासम्पत्तियों का उपभोग करनेवाले तथा उन विपुल वैभवों के अधिपति जिनका कि स्मरण करने में आश्चर्य होता है, नहुष आदि महापुरुष अपनेही पौरुषदोष से नरकगामी हुए, उत्कट पद से भ्रष्ट हुए। सभी प्राणी हजारों सम्पत्तियों और विपत्तियों को और विविध दशाओं को अपने भले बुरे पुरुषप्रयत्न से ही पार करते हैं। हे रामचन्द्रजी, शास्त्राभ्यास, गुरुउपदेश और अपना परिश्रम इन तीनों से ही पुरुषार्थ की सिद्धि देखी जाती है, लौकिक पुरुषार्थ अपने परिश्रम से ही सिद्ध होते है, यज्ञ, याग आदि अपने परिश्रम और शास्त्र की सहायता से सिद्ध होते हैं और ज्ञान अपने परिश्रम, शास्त्र की सहायता तथा गुरु के उपदेश से सिद्ध होता है, इस प्रकार की तीन सिद्धियाँ पुरुषार्थ से ही देखी जाती हैं, दैव से सिद्धियाँ कभी नहीं देखी गई। अपना अभ्युदय चाहनेवाला पुरुष अशुभ कर्मों में संलग्न मन को प्रयत्न से शुभ कर्मों में लगाये, यह सम्पूर्ण शास्त्रों के सारांश का संग्रह है। वत्स, जो वस्तु कल्याणकारी है, तुच्छ नहीं है (सर्वोत्कृष्ट है), जो विनाश रहित (अविनाशी) है, उसीका प्रयत्न से सम्पादन करो, ऐसा उपदेश गुरुजन सदा देते हैं। जैसे–जैसे मैं प्रयत्न करूँगा, वैसे वैसे ही मुझे शीघ्र फल प्राप्त होगा, ऐसा निश्चय करके मैं प्रयत्न से शुभ फल का भाजन हुआ हूँ, दैव से मेरा कुछ भी उपकार नहीं हुआ। पौरुष से पुरुषों को अभीष्ट पदार्थ प्राप्त होते हैं और पौरुष से बुद्धिमान् जनों के पराक्रम की वृद्धि होती है। दैव तो दुःखसागर में डूबे हुए दुर्बलचित्तवाले लोगों के आँसू पोंछना मात्र है और कुछ नहीं है, भाव यह कि दुःखी लोगों को समझाने बुझाने और ढ़ाढ़स बाँधने के लिए लोग दैव–दैव पुकारते हैं। लोक में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से पुरुषप्रयत्न का फल अन्य देश में गमन आदि सब लोगों को सदा दिखाई देता है। यदि पुरुष पौरुष का अवलम्बन नहीं करे, तो उसका अन्य देश में गमन कैसे हो सकता है ? जो पुरुष भोजन करता है वही तृप्त होता है, जो भोजन नहीं करता वह कभी भी तृप्त नहीं हो सकता, जो चलता है वही अन्य देश में पहुँचता है, गमन न करनेवालों की कदापि अन्य देशमें गति नहीं हो सकती, जो वक्ता है, वही बोल सकता है, जो अवक्ता है वह क्या बोलेगा ? इससे सिद्ध है कि पुरुषों का पुरुषप्रयत्न ही सफल है, दैव नहीं। पौरुष से ही बुद्धिमान् पुरुष बड़े भीषण संकटों को बात

ही बात में पार कर जाते हैं, न कि पौरुषरहित (अकर्मण्यतारूप) दैव पर निर्भर होकर। जो पुरुष जैसा–जैसा प्रयत्न करता है, उसे वैसा–वैसा फल प्राप्त होता है, इस लोक में जो हाथ पर हाथ रखकर चुपचाप बैठा रहता है, उसे तनिक भी फल नहीं मिल सकता। हे राम, शुभ पुरुषार्थ से (पौरुष से) शुभ फल मिलता है और अशुभ पुरुषार्थ से अशुभ फल मिलता है, तुम्हें जैसे फल की अभिलाषा हो वैसे पुरुषार्थ का अवलम्बन कर उस फल के भागी बनो। पुरुषार्थी पुरुषों को देश और काल के अनुसार पुरुषप्रयत्न से कभी शीघ्र और कभी कुछ विलम्ब से जिस फल की प्राप्ति होती है, उसी को अज्ञानी उद्यमहीन व्यक्ति 'दैव' कहते हैं। न तो 'दैव' का नयनों से दर्शन होता है, न वह कहीं स्वर्ग आदि अन्य लोक में ही स्थित है। पुरुषार्थी का स्वर्गलोक में स्थित कर्मफल ही दैवनाम से पुकारा जाता है। इस लोक में पुरुष पैदा होता है, बढ़ता है, फिर वृद्ध होता है, पर उस पुरुष में जैसे वृद्धास्था, यौवन और बाल्यावस्था दिखाई देती है, वैसे दैव नहीं दिखाई देता। अपने अभीष्ट को प्राप्त करानेवाली कार्यमात्रतत्परता को विद्वान लोग पौरुष कहते हैं, उसीसे सब कुछ प्राप्त किया जाता है। एक स्थान से दूसरे स्थान की प्राप्ति पैरों के पुरुषार्थ से होती है, हाथ का किसी वस्तु को पकड़ना हाथ के पौरुष से होता है और इसी प्रकार अन्यान्य अंगों के अन्यान्य व्यापार (चेष्टाएँ) पौरुष से ही होते हैं, दैव से नहीं। अनभीष्ट पदार्थ की प्राप्ति करानेवाले कार्य में जो संलग्नता है, वह उन्मत्त की चेष्टा है, उससे कोई भी शुभ फल प्राप्त नहीं होता, अशुभ (नरकपात आदि) फल ही प्राप्त होता है। देहचालनपरम्परारूप गुरुसेवा और श्रवण आदि क्रिया से तथा सज्जनसंगति और शास्त्रपरिशीलन आदि से तीक्ष्ण हुई बुद्धि से जो स्वयं अपनी आत्मा का उद्धार किया जाता है, वही स्वार्थसाधकता है। अज्ञानकृत विषमता की निवृत्ति से उपलक्षित अनन्त आनन्दरूप अपने परमार्थ को जो जानते हैं और जिनसे उक्त आनन्द प्राप्त किया जाता है, उन शास्त्र और महात्माओं की प्रणिपातपूर्वक सेवा करनी चाहिए। बार–बार सज्जनसंगति का फल उनके तुल्य शील–स्वभाव की प्राप्ति है और शास्त्राभ्यास का फल शास्त्र तात्पर्यज्ञान है। बुद्धि से सत् शास्त्राभ्यासरूप गुण होता और सत् शास्त्र के अभ्यास आदि से बुद्धि की वृद्धि होती है। जैसे वर्षाकाल में तालाब और कमल परस्पर की शोभा बढ़ाते हैं, वैसे ही चिरकाल के अभ्यास से मति और मति से शास्त्राभ्यास की वृद्धि होती है। भाव यह कि मनुष्य जैसे जैसे गुरुसेवा और शास्त्राभ्यास में तत्पर होता है वैसे वैसे उसका बोध बढ़ता है और जैसे–जैसे बोध की अभिवृद्धि होती है वैसे वैसे गुरु और शास्त्र में विश्वास बढ़ता है। उनकी वृद्धि होने पर सुख की वृद्धि होती है, तदनन्तर उत्तरोत्तर भूमिका में आरूढ़ होता है ॥१–२९॥

तत्त्वबोध की वृद्धि के लिए बहुत कालतक यत्न करना चाहिए ऐसा कहने के लिए उक्त बात को ही पुनः कहते हैं।

बाल्यावस्था से लेकर पूर्णरूप से अभ्यस्त शास्त्र एवं सत्संग आदि गुणों से पौरुष द्वारा अपना हितकारी स्वार्थ सिद्ध होता है। भगवान विष्णु ने पौरुष से ही दैत्यों के ऊपर विजय

प्राप्त की, पौरुष से ही लोकों कि क्रियाएँ नियत की और पौरुष से ही लोकों की रचना की, दैव से नहीं। हे रघुनन्दन, इस जगत् में केवल पुरुषप्रयत्न ही पुरुषार्थ का हेतु है। यहाँ आप चिरकाल तक वैसा पौरुष कीजिये जैसे कि हे सौम्य, आप वृक्ष, सर्प आदि योनियों को प्राप्त न हों ॥३०–३२॥

सातवाँ सर्ग समाप्त

आठवाँ सर्ग

पूर्व सर्ग में प्रचुर उदाहरणों द्वारा वर्णित दैवमिथ्यात्वका, उपजीव्यविरोध आदि युक्तियों से भी, समर्थन।

इस प्रकार दैव का निराकरण कर पौरुष की स्वतन्त्रता का समर्थन करनेपर भी विश्वास न होने के कारण भ्रम में पड़ रहे और पहले स्वयं विस्तार से वर्णित (🔥) एवं अनेक श्रुति, स्मृति, पुराण और इतिहास में प्रसिद्ध दैव का अपलाप करना कठिन ही नहीं असंभव है यों समझ रहे श्रीरामचन्द्रजी को मुखाकृति आदि से ताड़कर जब तक श्रीरामचन्द्रजी को दैव की स्वतन्त्रता में उपजीव्याविरोध नहीं दिखलाया जायेगा तबतक उन्हें विश्वास नहीं होगा, इसलिए उसको दिखलाने की इच्छा से श्रीवसिष्ठजी ने कहा :

हे श्रीरामचन्द्र, जिसकी न जाति है या न अनुगत शरीर के अवयवों का संगठन ही है, न कर्म हैं, न चेष्टाएँ हैं और न किसी प्रकार का पराक्रम ही है उस दैव का कैसा स्वरूप है इस बात को निर्णयपूर्वक यथार्थरूप से कोई नहीं बतला सकता, चूँकि उसे बताना कठिन ही नहीं असम्भव है, इसलिए मिथ्याज्ञान के समान उसकी केवल लोकप्रसिद्धिमात्र है ॥१॥

किस अधिष्ठान को लेकर दैवभ्रान्ति होती है ? ऐसी शंका होने पर अधिष्ठान को दिखलाते हुए परस्पर व्यवहार का स्पष्टीकरण करते हैं।

अपने कर्मफल की प्राप्ति होने पर इस कर्म का इस क्रम से अनुष्ठान किया था, इसलिए इस प्रकार फल प्राप्त हुआ, ऐसे जो वाग्व्यवहार होते हैं, वे ही दैवनामसे लोकमें प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं। उन वाग व्यवहारों में मन्दबुद्धि पुरुष यह दैव है, इस प्रकार का भ्रान्ति से निश्चय करते हैं जैसे कि भ्रान्ति से रस्सी में यह सर्प है, ऐसा निश्चय गृहीत होता है। जैसे अतीत काल के दुष्कर्म वर्तमान काल के शुभ कर्मों से शोभा को प्राप्त होते हैं, वैसे ही पूर्वजन्म के दुष्कर्म इस जन्म के शुभ कर्मों से शुभफलप्रद हो जाते हैं, इसलिए पुरुष को प्रयत्नपूर्वक उद्योगी होना चाहिए। जिस मन्दमतिका मूढ़ों द्वारा अनुमान से सिद्ध दैव है, अर्थात् जो दुर्मति मूढ़ों द्वारा

🔥 वैराग्य प्रकरण सर्ग २५ में –

अत्रैव दुर्विलासानां चूड़ामणिरिहाऽपरः। करोत्यत्तीति लोकेऽस्मिन् दैवं कालश्च कथ्यते ॥
तेनेयमखिला भूतसन्ततिः परिपेलवा। तापेन हिममालेव नीते विधुरतां भृशम् ॥
नृत्यतो हि कृतान्तस्य नितान्तमिव रागिणः। नित्यं यितिकान्तायां मुने परमकामिता ॥

(सर्ग २५)

कल्पित देवको मानता है, उस दुर्मति को मैं भाग्य से नहीं ही जलूँगा ऐसा निश्चय कर अग्निकुण्ड में कूद पड़ना चाहिए। यदि कर्ता धर्ता सब कुछ दैव ही है, तो पुरुष की चेष्टा से क्या प्रयोजन है ? स्नान, दान, उठना, बैठना, बोलना आदि सभी व्यापारों को दैव ही कर देगा। मनुष्य को शास्त्रोंका उपदेश देने से किस फलकी सिद्धि होगी, क्योंकि यह पुरुष तो बोलने के लिए भी स्वतन्त्र नहीं है दैव जैसा चाहता है वैसा उससे नाच नचाता है, फिर इस संसार में किसको क्या उपदेश दिया जाय ? इस लोक में शव को छोड़कर अन्य किसी में भी चेष्टाका अभाव नहीं देखा गया है, चेष्टा से ही फलप्राप्ति होती है, दैव से नहीं, इसलिए दैव निरर्थक है। मूर्तिरहति दैव मूर्तियुक्त पुरुष का सहकारी नहीं देखा जाता, इसलिए दैव निरर्थक है। जैसे लिखना, काटना आदि कार्यों में लेखनी, छूरा आदि और अंग परस्पर सम्बद्ध होते हैं, सम्बद्ध हुए दोनों में से एक में ही क्रियाकारिता देखी जाती है, दूसरे में नहीं, वैसे ही हस्त आदि के रहनेपर उनसे ही ग्रहण आदि क्रिया होगी दैव उनसे अन्यथा सिद्ध होने के कारण करण नहीं हो सकता और वातरोग आदि द्वारा हाथ आदि अंगों के नष्ट हो जाने पर दैव से कहीं पर कुछ नहीं किया जाता अतएव हाथ, पैर, मन, बुद्धि आदि के सदृश क्रिया के करणत्वरूप से भी दैव की कल्पना की आशा नहीं करनी चाहिए। बच्चे से लेकर विद्वानों तक को मन और बुद्धि के सदृश भी इस दैव का अनुभव नहीं होता, इसलिए भी दैव सदा असत् ही है, क्योंकि उस के अस्तित्व का किसी को भी अनुभव नहीं होता। किंच, दैव की सिद्धि में कर्ता आदि कारक बुद्धि ही प्रमाण है अथवा उससे पृथक् बुद्धि ? प्रथम पक्ष में कर्ता आदि ही दैव शब्द से कहे जायें तो दैव केवल कर्ता आदि का दूसरा नाम ही ठहरा। द्वितीय पक्ष में क्रिया में उपयोग रहित किसी दूसरे की दैव इस नाम से व्यर्थ ही कल्पना करनी होगी। यदि कहिए कि सभी पाण्डित्य आदिरूप समान फल की अभिलाषा से पढ़ते हैं उनमें से कुछ ही को अध्ययनफल पाण्डित्य आदि प्राप्त होते है सबको नहीं, इस विषमता में किसी न किसी निमित्त की अवश्य कल्पना करनी चाहिए। कार्य की जो विषमता देखी जाती है वह दैव की कल्पना में प्रमाण है, यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि कार्यवैषम्य को दैव की कल्पना में प्रमाण मानो, तो कार्यवैषम्य से पूर्व जन्म के पौरुष की ही कल्पना क्यों नहीं करते ? अप्रसिद्ध दैव की कल्पना की क्या आवश्यकता है ? जैसे मूर्तियुक्त हम लोगों का अमूर्त आकाश से संयोग नहीं हो सकता वैसे ही अमूर्त दैव का अन्य कारण के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतः मूर्त का ही परस्पर संयोग दिखाई देता है, अतः दैव कोई पदार्थ नहीं है। यदि प्राणियों को व्यापार में लगानेवाला दैव नामक कोई होता तो तीनों लोकों में सब प्राणी दैव ही सब कुछ करेगा ऐसा निश्चय कर सो जाते। दैव से प्रेरित हुआ मैं दैव के संकल्प से सिद्ध ऐसा कार्य करता हूँ, यह वचन आश्वासनमात्र है परमार्थतः दैव कोई पदार्थ नहीं है। मूर्ख लोगों ने अपने मन से दैव की कल्पना कर रक्खी है, जो लोग दैव पर निर्भर रहे उनका सर्वनाश ही हुआ है; बुद्धिमान् पुरुष तो पौरुष का अवलम्बन कर उत्तम पद को प्राप्त हुए हैं। भला कहिए तो सही जो लोग शूरवीर हैं, जो पराक्रमशाली हैं, जो बुद्धिमान् हैं और जो विद्वान हैं क्या वे इस लोक में दैव की प्रतीक्षा करते हैं ? ॥२–१७॥

यदि कहिए ज्योतिषी जो ग्रहों का वर्णन करते हैं, वही दैव है, सो ठीक नहीं, क्योंकि ग्रह तो अपनी गतिविशेष से पौरुष और उसके फल का सूचन ही करते हैं, फल के कारण नहीं है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

ज्योतिषियों द्वारा जिसकी बहुत बड़ी आयु का निर्णय किया गया है, यदि वह सिर कटने पर भी जीवित रहे, तो दैव उत्तम कारण हो। हे रामचन्द्रजी, ज्योतिषियों ने जिसके विषय में यह बड़ा भारी विद्वान होगा ऐसा निर्णय किया है, वह यदि बिना पढ़ाये ही विद्वान् हो जाय, तब दैव को उत्तम कारण कहना चाहिए। हे राम, देखो, इन महामुनि श्रीविश्वामित्रजी ने दैव को दूर फेंककर पौरुष के अवलम्बन से ही ब्राह्मणत्व प्राप्त किया, अन्य उपाय से नहीं। हम लोगों ने एवं अन्यान्य और लोगों ने जो कि मुनि बने हैं, चिरकाल के प्रयत्न से ही आकाशगति प्राप्त की है ॥१८–२१॥

जो इन्द्र आदि देव हैं, वे भी पौरुष से पराजित हुए थे, यह बात प्रसिद्ध है।

हिरण्यकशिपु आदि दैत्यराजों ने अपने पुरुषप्रयत्न के अवलम्बन से ही देवताओं को तहस–नहस कर तीनों भुवनों में साम्राज्य किया था और इन्द्र आदि देवराजों ने पौरुष के अवलम्बन से ही शत्रुसेना को काटकर और जर्जरितकर इस विशाल जगत् को दानवों से छीना था। हे रामजी, राल एवं मधुमक्खी का छत्ता आदि के लेपन आदिरूप प्रसिद्ध पौरुषयुक्ति से बाँस की टोकरी में चिरकाल तक बड़ी खूबी के साथ पानी रक्खा जाता है, इसमें पौरुष ही कारण है, दैव नहीं। आत्मीयजनों का भरण–पोषण, जबरदस्ती दूसरे के राष्ट्र को छीन लेना, क्रोध से दूसरे को दण्ड देना, भोग–विलास एवं अन्यान्य रोगादिनिवृत्ति आदिरूप परिश्रमसाध्य पुरुषार्थों के प्रति पराक्रम, मणि, मन्त्र और औषधि में जैसी शक्ति देखी जाती है वैसी दैव में शक्ति नहीं है, वे सब पौरुष से ही सिद्ध होते हैं। हे साधुचरित श्रीरामजी, सम्पूर्ण कारणों और कार्यों से रहित अपने भ्रम से बने हुए के सदृश मिथ्यारूप असत्य दैव की उपेक्षा कर तुम उत्तम पौरुष का अवलम्बन करो ॥२२–२६॥

आठवाँ सर्ग समाप्त

नौवाँ सर्ग

दैव के अपलाप की सिद्धि के लिए सफल कर्मों की मनोमात्रता और मन की चिदात्मताका वर्णन।

पुरुषप्रयत्न की स्वतन्त्रता को सिद्ध करने के लिए पहले कहीं पर 'दैव असत् है' ऐसा कहा और कहीं पर प्राक्तन प्रयत्न जनित कर्म ही दैव एवं पुरुष प्रयत्न कहलाता है, ऐसा कहीं पर यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'दैव असत् है' इस प्रथम पक्ष को मानने से लोक और वेद में दैव की जो प्रबल प्रसिद्धि है, उसकी असंगति हो जायेगी और दुर्बल दैव के अभाव में उसकी अपेक्षा पुरुषप्रयत्न की प्रबलता का प्रतिपादन करनेवाली उक्ति के साथ विरोध होगा। प्राक्तन प्रयत्न जनित कर्म ही दैव है, इस द्वितीय पक्ष में तो 'दैव असत् है' इस प्रकार की दैव में असत्त्वप्रतिज्ञा का भंग हो जायेगा, आधुनिक प्रवृत्तियाँ भी पूर्वकर्म की फलरूपा हैं,अतः प्राक्तन कर्मों के

अनुकूल होने के कारण उनका विरोध न होने से 'आधुनिक प्रवृत्तियों से' पूर्वकर्मों का जय होता है, यह कथन भी विरुद्ध होगा एवं कर्मपरतन्त्र होने पर पुरुष की स्वतन्त्रता का भी विघात होगा, इस प्रकार के गूढ़ अभिप्रायवाले श्रीरामचन्द्रजी उसके तात्पर्य की जिज्ञासा से वसिष्ठजी से पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, आप सम्पूर्ण धर्मों के ज्ञाता हैं, लोक में अत्यन्त विख्यात जो दैव है, वह क्या है ? यानी वह सत् है, या असत् ? उसे आप कृपया मुझसे कहिए ॥१॥

रामचन्द्रजी के पूछने पर उनके अभिप्राय को जानकर श्रीवसिष्ठजी भी दैव का अपलाप करनेवाली युक्तियों से ही जगत् के अपलाप द्वारा अद्वितीय आत्मतत्त्व को समझाने की इच्छा से 'पूर्वोक्त दोनों पक्षों में फलतः कोई भेद नहीं है, इस गूढ अभिप्राय से प्रथम पक्ष का अवलम्बन कर उक्त अर्थ को ही कहते हैं।

वसिष्ठजी ने कहा : हे राघव, सम्पूर्ण कार्यों को करनेवाला पौरुष ही है, अन्य नहीं है एवं सम्पूर्ण फलों का उपभोक्ता भी पुरुषप्रयत्न है, उसमें दैव कारण ही नहीं है। वस्तुतः आत्मा स्वयं उदासीन है, अतः उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व की किसी प्रकार भी उपपत्ति नहीं होती ॥२॥

ऐसा बोधन करने के लिए करणभूत पुरुषप्रयत्न में फलकर्तृत्वका कथन किया गया है, यह तात्पर्य है।

दैव न कुछ करता है, न भोग करता है, न उसका अस्तित्व है, न दिखाई देता है, एवं न तो विवेकी पुरुष द्वारा उसका आदर किया जाता है, पर अनादि रूढ़ भ्रान्ति से केवल मूढ़ों ने उसकी कल्पना कर रक्खी है ॥३॥

निरालम्बत्वरूप अनुपपत्तिका परिहार करते हैं।

फल को अवश्य देनेवाले पुरुषप्रयत्न से सिद्ध वनिता आदि को पति और सपत्नी आदि से जो कुछ और अशुभ फल प्राप्त होता है, उसीका अवलम्बन कर दैवशब्द का लोक में व्यवहार होता है। अथवा पुरुषप्रयत्न द्वारा प्राप्त इष्ट और अनिष्ट वस्तु की जो इष्ट और अनिष्टरूपा प्राप्ति है, वह भी सदा लोगों द्वारा दैवशब्द से कही जाती है ॥४,५॥

श्रीवसिष्ठजी चार्वाक मत का प्रदर्शन करते हैं।

पुरुषप्रयत्न से होनेवाला जो अवश्य फल का भोग है, वही इस लोक में दैवशब्द से कहा जाता है ॥६॥

अब महामुनि वसिष्ठजी सिद्धान्त बतलाते हैं।

हे रामचन्द्रजी, किसी पुरुष का कोई दैव ही भ्रान्त दृष्टि से आकाश को शून्य के सदृश या नील के सदृश बना देता है और विवेक दृष्टि से वैसा नहीं बनाता है अर्थात् दैव की सिद्धि भ्रान्ति से ही है, विवेक से नहीं। सिद्ध पुरुषार्थ से शुभ और अशुभ फल का उदय होने पर 'यह फल इस बीज के स्वरूप में पहले रहा' इस प्रकार जो कहा जाता है, वही दैव है। मेरी ऐसी बुद्धि थी और ऐसा मेरा निश्चय था यों कर्मफल के प्राप्त होने पर जो कहा जाता है, वही दैव है। इष्ट

और अनिष्ट फल के प्राप्त होने पर प्राक्तन कर्म ही इस प्रकार था । इस अभिप्राय को बतलानेवाला केवल आश्वासनमात्र ही दैव है ॥७–१०॥

दोनों कल्पों के अभेद का कथन करने से आशय को न जान रहे एवं प्रथम कल्प का उपक्रमकर द्वितीय कल्प से उपसंहार करने में विरोध को जान रहे श्रीरामचन्द्रजी अपने अभिप्राय को प्रकट करते हुए बोले ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, हे सर्वधर्मज्ञ, जो प्राक्तन कर्म है वही दैव है, ऐसा आपने बार–बार कहा, फिर दैव है ही नहीं, इस प्रकार उसका आप अपलाप कैसे करते हैं यानी उसके अपलाप करने में आपका क्या अभिप्राय है ? ॥११॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्र, ठीक है, आप उन दोनों कल्पों के विरोध को जानते हैं, सुनिए, मैं आपसे सम्पूर्ण वृत्तान्त को कहूँगा, जिससे दैव है ही नहीं, यह आपकी बुद्धि स्थिर हो जायेगी । मनुष्यों के मन में पहले जो अनेक प्रकार की वासनाएँ हुई थीं, वे ही कायिक और वाचिक कर्मरूप से परिणत हुई क्योंकि 'यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति' यानी जिसका मन से चिन्तन करता है उसको वाणी से बोलता है और उसको कर्म से करता है । हे रामजी, प्राणी में जिस प्रकार की वासना होती है, वह शीघ्र ही वैसा कर्म करता है । अन्य प्रकार की वासना हो और अन्य कर्म करे यह बात नहीं बन सकती । गाँव में जाने की जिसकी इच्छा होती है वह गाँव में पहुँचता है और शहर में जाने की जिसकी इच्छा होती वह शहर में पहुँचता है, जिसकी जिस विषय में अभिलाषा होती है वह उस विषय में प्रयत्न करता है । पूर्वजन्म में फल की उत्कट अभिलाषा से जो कर्म प्रबल प्रयत्न से किया जाता है वही इस जन्म में दैव शब्द से कहा जाता है अर्थात् पूर्वजन्म में फल की उत्कट अभिलाषा से किये गये कर्म का ही दूसरा नाम दैव है, अतः दैव कर्म से अतिरिक्त नहीं है ॥१२–१६॥ कर्मकर्ताओं के सभी कर्म इसी प्रकार होते हैं । अपनी प्रबल वासना ही कर्म है और वासना भी अपने कारणभूत मन से पृथक् नहीं है ॥१७॥

क्योंकि 'वाचारम्भणं विकारों नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (विकार और नाम केवल वाचारम्भणमात्र है, मृत्तिका ही (कारण ही) सत्य है) श्रुति में उक्त ऐसा न्याय है । यद्यपि वाचिक और कायिक भी कर्म देखे जाते हैं तथापि विचार करने पर वे भी केवल मनोवासनारूप ही हैं, ऐसा आगे कहा जायेगा, उसी के अनुसार सकल कर्म मनोवासनामात्र हैं, ऐसा कहा गया है ।

मन पुरुष (परमात्मरूप) ही है, उससे पृथक् नहीं है, क्योंकि 'तन्मनोऽकुरुत आत्मन्वी स्याम' (मैं मनस्वी होऊँ, इस अभिप्राय से उसने मन को बनाया) इस श्रुति से मन पुरुष का विवर्तरूप ही है, यह सिद्ध है ।

हे सज्जनशिरोमणि श्रीरामजी, जो दैव है, वही कर्म है, दैव कर्म से पृथक् नहीं है, कर्म मन से पृथक् नहीं है और मन पुरुषरूप है और पुरुष परमार्थरूप से निर्विकार चैतन्यमात्ररूप ही है, इससे मन असत् ठहरा, मन के असत् होने से कर्म भी असत् ठहरा और असत् कर्मरूप दैव भी असत् हुआ, अतएव दैव नहीं है, यह फलितार्थ है ॥१८॥

'प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति वदन् वाक्, पश्यँश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनः ' इस श्रुति से अध्यास से मन आदि भाव से स्थित आत्मा की ही कर्म और कर्म के फलरूप से भी स्थिति है, इसलिए वही दैव है, ऐसा यदि कहो, तो वह दैव रहे उससे पुरुष की स्वतन्त्रता का विनाश नहीं होगा, इस आशय से कहते हैं।

मन आदि भाव को प्राप्त हुआ यह प्राणी ही अपने हित के लिए जैसा प्रयत्न करता है दैवनाम से प्रसिद्ध अपने कर्म से वैसा ही फल पाता है ॥१९॥

यदि मन अत्यन्त असत् है, तो उससे व्यवहार की सिद्धि कैसे होगी ? अत्यन्त असत् वन्ध्यापुत्र आदि से किसी व्यवहार की सिद्धि नहीं देखी जाती, ऐसी आशंका कर युक्ति से उसकी अनिर्वचनीयता को दर्शा रहे 'तदेतद्धृदयं मनश्चैतात्संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानम्' (वही हृदय, मन, संज्ञान, अज्ञान, विज्ञान और प्रज्ञान है) इत्यादि श्रुति के अनुसार मन की ही दैव आदि संज्ञाएँ हैं। ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, मन, चित्त, वासना, कर्म, दैव और निश्चय ये सब सत्त्व था असत्त्व, चित्त्व या जडत्व, भेद या अभेद आदि से तत्त्वतः जिसका निश्चय नहीं हो सकता ऐसे मिथ्याभूत मन की (मनोरूपता को प्राप्त हुए पुरुष की) संज्ञाएँ कही गई हैं। यों पुरुष की स्वतन्त्रता सिद्ध हुई, ऐसा कहते हैं। हे रामचन्द्र, पूर्वोक्त नामोंवाला (मन, चित्त आदि संज्ञाओंवाला) पुरुष दृढ़ वासना से जैसा नित्य प्रयत्न करता है वैसा ही उसे पर्याप्त फल मिलता है। हे रघुकुलतिलक, इस प्रकार पौरुष से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है उससे अन्य से कुछ भी नहीं मिलता, इसलिए आपका पुरुषप्रयत्न शुभ फल देनेवाला हो ॥२०–२२॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, पूर्वजन्म की वासनाएँ जैसे मुझे कार्य में लगाती हैं, वैसे ही मैं रहता हूँ, परवश मैं कर ही क्या सकता हूँ। अर्थात् पूर्वजन्म की वासनाओं के अधीन हुए मुझे स्वतन्त्रतापूर्वक कुछ करने की शक्ति कहाँ है, वासना मुझसे जैसा नाच–नचा रही है, वैसा नाच मैं नाचता हूँ ॥२३॥

इस समय प्राप्त हो रहे फल में भले ही तुम्हारी स्वतन्त्रता न हो, पर भावी फल के अनुकूल यत्न में तो स्वतन्त्रता है ही। सद्विद्या से संयुक्त जन्म से अनुमित पूर्वजन्म के सत्प्रयत्न की फलभूत पूर्व वासना केवल अपने विरुद्ध फलों की अवरोधिका है, अतएव उससे युक्त जन्म में भी यदि पुरुष की सत्प्रवृत्ति में स्वतन्त्रता न हुई, तो कर्म और ब्रह्मविद्यापरक शास्त्र ही व्यर्थ हो जायेंगे। अपने मन में ऐसा अभिप्राय रखकर श्रीवसिष्ठजी ने कहा।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामजी, आप प्रस्तुत जन्म की हेतुभूत वासनाओं की अनुकूलता से ही अपने प्रयत्न से प्राप्त पौरुष द्वारा अक्षय श्रेय को प्राप्त होओगे, अन्यथा नहीं ॥२४॥

उक्त अर्थ का ही समर्थन करने के लिए वासनाओं का भेद दर्शा कर कहते हैं।

पूर्वजन्म की वासनाएँ, दो प्रकार की होती हैं, एक शुभ और दूसरी अशुभ। उनमें से आपकी पूर्वजन्म की वासनाएँ या शुभ हो सकती हैं या अशुभ हो सकती हैं ॥२५॥

प्रथम पक्ष में कहते हैं।

यदि आपकी पूर्वजन्म की वासनाएँ शुभ हों, तो पूर्वजन्म की शुभ वासनाओं द्वारा इस

समय भी आप शुभ वासनामें प्राप्त कराये जा रहे हैं, ऐसी अवस्था में शुभ वासनाओं द्वारा ही क्रमशः अविनश्वर पद को प्राप्त होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥२६॥

दूसरे पक्ष में कहते हैं।

यदि आपकी पूर्वजन्म की वासनाएँ अशुभ हैं और वे आपको संकट की ओर ले जाती हैं, तो उन प्राक्तन अशुभ वासनाओं पर आपको प्रयत्नपूर्वक दृढ़ता से विजय प्राप्त करनी चाहिए। भाव यह कि वासनाओं का उद्बोध स्वतन्त्ररूप से नहीं होता, किन्तु किसी उद्बोधक के अनुसार ही होता है। यदि असज्जन की संगति आदि से कदाचित् एक आध अशुभ वासना उठे, तो उसका, उसके विरोधी साधु संगति, सत्–शास्त्र के अभ्यास आदि से विरोधी शुभ वासना की उत्पत्ति कराकर, तिरस्कार कर देना चाहिए ॥२७॥

'यो मनसि तिष्ठन्मनोऽन्तरो यं मनो न वेद' इस श्रुति से मन को प्रेरित करनेवाला प्रज्ञानामक आत्मा दूसरा सुना जाता है उसके अधीन ही मनोवासनाएँ होती हैं, ऐसी परिस्थिति में सद्वासनाओं के उत्पादन में मेरी स्वतन्त्रता कहाँ है ? ऐसी शंका उठने पर कहते हैं।

जो चेतनमात्र प्राज्ञ श्रुति में कहा गया है, वही आप हैं। आप जड़रूप सूक्ष्म, स्थूल देह नहीं हैं जिससे उससे अपने को पृथक् समझें, इसलिए चेतनरूप आपकी अन्य चेतन से भास्यता कहाँ है ? भाव यह कि यदि प्राज्ञ आप से पृथक् हो, तो चेतन का अन्य चेतन से प्रकाश न होने के कारण आपको प्रकाशित न करता हुआ वह सर्वज्ञ न होगा, इसलिए आप ही प्राज्ञ हो, इस प्रकार प्राज्ञ और आपमें अभेद सिद्ध हुआ ॥२८॥

चेतनरूप आपको कोई दूसरा चेतन प्रकाशित करता है, ऐसा यदि मानो, तो उसको भी दूसरा चेतन प्रकाशित करेगा, यों अनवस्था भी होगी, ऐसा कहते हैं।

यदि आपको अन्य कोई प्रकाशित करता है, तो उस प्रकाशित करनेवाले को कौन प्रकाशित करेगा और उस दूसरे प्रकाशित करनेवाले को कौन प्रकाशित करेगा ? उसको भी अन्य करेगा और उसको भी अन्य प्रकाशित करेगा, ऐसा माना जय, तो अनवस्था होगी। अनवस्था किसी भी वस्तु को सिद्ध नहीं कर सकती। यों सद्वासनाओं का उद्बोध करने में आपकी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण है ॥२९॥

पुरुष की स्वतन्त्रता के साधन का फल कहते हैं।

सन्मार्ग और असन्मार्ग से बह रही वासनारूपी नदी को अपने पुरुषप्रयत्न से अशुभ मार्ग से हटाकर शुभ मार्ग में लगाना चाहिए। हे बलवानों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, असत् मार्गों में उलझे हुए अपने मन को अपने पुरुषार्थ से बलपूर्वक शुभ मार्गों में लगाओ ॥३०,३१॥

चित्तरूपी नदी दो प्रकार से बहती है पाप के लिए और पुण्य के लिए उन दो स्रोतों में से एक का निरोध होने पर दूसरे स्रोत में चित्तनदी दुगुने प्रवाह से बहती है, यह बात योगशास्त्र के अनुसार कहते हैं।

अशुभ कर्म से (पापमार्ग से) निवारित मनुष्य का चित्त बालक की नाईं शुभ कर्म में (पुण्यमार्ग में) जाता है और पुण्यमार्ग से निवारित पापमार्ग में जाता है, इसलिए प्रयत्न के साथ पापमार्ग

से चित्त को हटाना चाहिए ॥३२॥ इस प्रकार पूर्वोक्त क्रम से चित्तरूपी बालक को शीघ्र रागादि दोषों के विश्लेषण से और स्वाभाविक समता में स्थापन से निर्दोष बनाकर धीरे-धीरे आत्मस्वरूप में निरोधरूप पौरुषप्रयत्न से लगावे ॥३३॥

शीघ्र हठपूर्वक उसका निरोध न करें, ऐसा करने से उद्वेग से समाधि के टूटने का भय रहता है। भगवान् ने भी श्रीमुख से कहा है : 'शनैः शनैरुपरभेद् बुद्धया धृतिगृहीतया।' (धारणा से वश में की गई बुद्धि से मन को शनैः शनैः (अभ्यासक्रम के अनुसार न कि सहसा) बाह्य विषयों से विरत करे।)

आपने पहले अभ्यास से चाहे शुभ वासनाओं को चाहे अशुभ वासनाओं को निविड़ बना रक्खा हो, किन्तु इस समय तो आप शुभ वासनाओं को ही दृढ़ कीजिए। भाव यह कि पूर्वजन्मों में यदि आपके अभ्यास से शुभ वासनाओं को ही दृढ़ किया होगा, तो इस समय भी शुभ वासनाओं को ही दृढ़ करने से शीघ्र फल प्राप्त होगा। यदि पूर्वजन्म में अशुभ वासनाओं को निविड़ बना रक्खा होगा, तो विरोधी वासनाओं के विनाश के लिए भी शुभ वासनाओं के दृढ़ीकरण की आवश्यकता है ॥३४॥

वासनाओं के अभ्यास की विफलता की शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि पूर्ववासनाओं के अभ्यास का फल प्रत्यक्ष है, ऐसा कहते हैं।

हे शत्रुनाशन, जब आपकी पूर्वजन्म की वासनाएँ अभ्यासवश घनीभाव को (निविड़ता को) प्राप्त हुई हैं, तब आप अभ्यास की सफलता को जानिए। हे पुण्यचरित, पूर्व की भाँति इस समय भी अभ्यासवश आपकी वासना घनीभाव को प्राप्त हो रही है, इसलिए शुभवासनाओं का ही अभ्यास कीजिए ॥३५,३६॥

पूर्वजन्म की वासनाओं के घनीभाव में भी सन्देह कर रहे श्रीरामचन्द्रजी से कहते हैं।

हे प्रिय, यदि पूर्वजन्म में अभ्यास से आपकी वासना घनीभाव को प्राप्त नहीं हुई, तो इस समय भी वह वृद्धि को प्राप्त नहीं होगी, इसलिए आप सुखी होइए। भाव यह कि पूर्वजन्म में अभ्यासवश वासनाएँ वृद्धि को प्राप्त नहीं हुई, इस जन्म में भी वे अभ्यासवश दृढ़ नहीं होगी, ऐसी अवस्था में आप राजकुमारोचित सुख पूर्वक व्यवहार कीजिए, दुर्वासनाओं की अभिवृद्धि से जनित अनर्थ की संभावना से आपको विषाद नहीं होना चाहिए ॥३७॥

यदि ऐसा है, तो शुभ वासनाओं की अभिवृद्धि के लिए मुझे क्यों उपदेश देते हैं ?

राजकुमार, 'शुभ और अशुभ वासनाओं की सफलता में सन्देह होने पर भी आप अत्यन्त शुभ वासनाओं का ही संग्रह कीजिए। शुभ कर्मों के आचरण से शुभ वासना की अभिवृद्धि होने पर कोई दोष नहीं है ॥३८॥

जैसा कि न्याय है : शुभाशुभफलारम्भे सन्दिग्धेऽपि शुभं चरेत्। यदि न स्यात्तदा किं स्याद्यदि स्यान्नास्तिको हतः ॥ शुभ और अशुभ कर्मों की फलदातृता में सन्देह होने पर भी शुभ का ही आचरण करना चाहिए। यदि फल नहीं हुआ, तो क्या बिगड़ा, यदि हुआ, तो नास्तिक के मुँह में कालिख लगी।

वस्तुतः तो इस विषय में सन्देह का अवसर ही नहीं है, क्योंकि अन्य स्थलों से भी अभ्यास में अभ्यस्यमानकी (जिसका अभ्यास किया जाता है उसकी) दृढ़ता की हेतुता देखी जाती है, ऐसा कहते है।

लोक में मनुष्य जिस–जिस विषय का अभ्यास करता है, उसी में निःसन्देह तन्मय हो जाता है, यह बात बाल कों से लेकर बड़े–बड़े विद्वानों तक में देखी गई है। हे श्रीरामचन्द्रजी, इसलिए आप परम ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए परम पुरुषार्थ का अवलम्बन कर और पाँचों इन्द्रियों को अपने वश में कर शुभ वासना से युक्त होइए ॥३९,४०॥

कितने समय तक शुभ वासना का अभ्यास करना चाहिए ?

भद्र जब तक गुरु के उपदेश, शास्त्राभ्यास और युक्ति, अनुभव आदि प्रमाणों से तत्पद का निर्णय न हो जाय और जब तक अव्युत्पन्न चित्तवाले आपको तत्पद का ज्ञान न हो जाय, तबतक शुभवासनाओं का आचरण कीजिए। तदुपरान्त जब जैसे क्षार में पकाने से वस्त्र आदि में लगे हुए मल आदि शिथिल हो जाते हैं वैसे ही आपके राग आदि दोष नष्ट हो जाय, परमतत्त्व का परिज्ञान हो जाय और मानसिक व्यथाएँ नष्ट हो जाय तब आपको निश्चय इस शुभ वासनासमूह का भी परित्याग कर देना चाहिए ॥४१,४२॥

पूर्वोक्त अर्थ का ही संक्षेप से उपसंहार कर रहे महर्षि वसिष्ठजी आचरण करने के योग्य शुभ का ही निर्देश करते हैं।

महाभाग, आप श्रेष्ठतम पुरुषों द्वारा सेवित अति सुन्दर उन शुभ वासनाओं का अनुसरण कर, शुभ वासना से सम्पन्न बुद्धि से परमार्थ वस्तु का (परब्रह्म का) साक्षात्कार कीजिए और तदन्तर शुभ वासनाओं के अनुसरण का भी त्यागकर परम सत्य में स्थित होइए ॥४३॥

नौवाँ सर्ग समाप्त

दसवाँ सर्ग

ब्रह्माजी के और अपने जन्म का वर्णन एवं समस्त जनों की
मुक्ति के लिए मेरा उपदेश है इसका ज्ञान की अवतरणिका के रूप में वर्णन।

प्राक्तन पौरुष का ही नाम दैव है। उस पर आधुनिक पौरुष से भले ही विजय प्राप्त हो जाय। नियति तो, जो वैराग्य प्रकरण में कृतान्त की पत्नी कही गई है, अजेय है क्योंकि उसे श्रेष्ठ पुरुष भावी पदार्थों की अवश्यंभावरूप भवितव्यता और अप्रतिकार्य (अजेय) कहते हैं –'अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद् यदि। तदा दुःखैर्न लिप्येरन् नलरामयुधिष्ठिराः। अर्थात् यदि अवश्य होनेवाली घटनाओं का प्रतीकार होता, तो नल, राम, युधिष्ठिर आदि दुःखी न होते। ऐसी परिस्थिति में पुरुष पर नियति का नियन्त्रण रहने के कारण पुरुष की स्वतन्त्रता कहाँ रही ?

इस शंका का निवारण करने के लिए श्रीवसिष्ठजी ने कहा।

हे रामचन्द्र, ब्रह्मतत्त्व सब जगह सच्चिदानन्दप्रकाशरूप से सबकी अनुकूलता तथा

समतारूप से स्थित है। उससे सम्बन्ध रखनेवाली सम्पूर्ण पदोर्थों की सत्ता को ही नियति कहते हैं जिसका भविष्यत् काल के सम्बन्ध से भवितव्यता शब्द से व्यवहार किया जाता है। और सत्ता सर्वत्र उक्त रूप से स्थित ब्रह्मतत्त्व है। वही कारण और कार्य में क्रमशः नियामक और नियम्यरूप से रहती है। कारण है तो अवश्य कार्य होना चाहिए और कार्य है तो कारण अवश्य होना चाहिए, इस प्रकार का नियम नियति है। वह नियन्ता कारण आदि की नियन्तृता (कार्यादिनियामकता) है और नियम्य कार्य आदि की नियम्यता है। पूर्वकाल में नियत सत्ता कारणता है और पश्चात्काल में नियत सत्ता कार्यता है ॥१॥

वे दोनों देश–काल से विशेषित सत्तारूप ही हैं, यह भाव है।

नियति सर्वानुकूल ब्रह्मसत्तारूप है, अतः पौरुष की सफलता के लिए भी नियति अनुकूल ही है, प्रतिकूल नहीं है, इस अभिप्राय से कथित चित्त को एकाग्र करने के उपाय के बोधक वचन को कहते हैं।

इसलिए पौरुष का अवलम्बन कर श्रेय के लिए नित्य बन्धुरूप चित्त को एकाग्र करो, मेरे इस कथन को सुनो। इन्द्रियों को सदा विषयों की वासना बनी रहती है और वे मुक्ति से रहित ऐहिक और स्वर्ग आदि सुख में आसक्त रहती हैं, अतः जैसे वे विषय की वासना न करें वैसे प्रयत्न से इन्द्रियों को शीघ्र अपने वश में कर मन को सम कीजिए ॥२,३॥

तदुपरान्त जो कर्तव्य है, उसका उपदेश देते हैं।

इस लोक की सिद्धि (जीवन्मुक्ति) तथा परलोक की सिद्धि के (विदेहमुक्ति के) लिए या मनुष्यलोक और स्वर्ग आदि लोकों में अधिकारियों की ज्ञानसिद्धि के लिए मैं पुरुषार्थरूप फल देनेवाली, मोक्ष के उपायों के उपदेश से परिपूर्ण तथा सारभूत जिस संहिता को कहूँगा, उसे सावधान होकर सुनिए। श्रीरामजी (*) अपुनर्ग्रहण के लिए (सर्वदा के लिए) संसारवासना को हृदय से विदा कर तथा उदार बुद्धि से परिपूर्ण शान्तिसुख और सन्तोषसुख का ग्रहण कर पूर्ववाक्य (कर्मकाण्ड श्रुतियों) और उत्तरवाक्यों के (उपासनापरक श्रुतियों के) अर्थ के विचार से सम्पन्न और विषयों द्वारा अविद्ध (वेध को प्राप्त न हुए) मन को आत्मानुसन्धान से युक्त और समरस (गुरु और शास्त्र द्वारा उपदिष्ट प्रकार की और अपने अनुभव की एकरसता के आस्वादन से युक्त) करके सुख और दुःख का नाश करनेवाले महान् आनन्द के एकमात्र कारणभूत इस मोक्ष के उपाय को, जिसे मैं अभी कहूँगा, आप सावधान होकर सुनिए। श्रीरामचन्द्रजी, आप सम्पूर्ण विवेकशील (**) पुरुषों के साथ इस मोक्षकथा को सुनकर उस दुःखरहित परमपद को प्राप्त होगे, जहाँ पर विनाश का भय नहीं है ॥४–८॥

इस प्रकार सांगोपांग श्रवण की भूमिका रचकर श्रवणीय शास्त्र की (मोक्षकथा की) सिद्धि के लिए मोक्षकथा की प्राप्ति का प्रकार कहते हैं।

---

* उक्त संहिता के सुनने में मन्दविरक्त का भी अधिकार नहीं है, यह सूचित करने के लिए 'अपुनर्ग्रहणाय' ऐसा कहा है।

** श्रवणशाला में अविवेकी प्रविष्ट भी न हो सकें, यह सूचित करने के लिए विवेकशील कहा।

श्रीरामजी, सृष्टि के आदि में भगवान् ब्रह्माजी ने सम्पूर्ण दुःखों का विनाश करनेवाली और बुद्धि को अत्यन्त शान्ति देनेवाली यह मोक्षकथा कही थी ॥९॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, सृष्टि के आरम्भ में भगवान् ब्रह्माजी ने किस लिए यह मोक्षकथा कही थी और यह कैसे आपको प्राप्त हुई, यह कृपाकर मुझसे कहिए ॥१०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, घट-घट व्यापी, सबका आधार, अखण्ड चेतन, अविनाशी, सब प्राणियों में प्रकाशकरूप से स्थित एवं असीम मायिक विलासों का एकमात्र अधिष्ठान परमात्मा है। माया और माया के कार्यों के आविर्भाव और तिरोभाव में सदा एकाकार (निर्विकार) उस परमात्मा से विष्णु (सम्पूर्ण कार्यों में व्याप्त रहनेवाले ब्रह्माण्डरूप विराट्) सूक्ष्मभूतों के क्रम से उत्पन्न हुए जैसे कि स्पन्दमान जल से परिपूर्ण निश्चलावस्था और चंचलावस्था में अप्रच्युत जल-स्वभाव सागर से तरंगें उत्पन्न होती हैं। उस विराट् पुरुष के हृदयरूपी कमल से परमेष्ठी की (चतुर्मुख ब्रह्मा की) उत्पत्ति हुई। सुवर्णाचल सुमेरु उस कमल की कर्णिका है, दिशाएँ दल हैं और तारे केसर हैं। हे श्रीरघुकुलतिलक, जैसे कि मन विविध विकल्पों की सृष्टि करता है वैसे ही वेद और वेदार्थ के महान् परिज्ञाता ब्रह्माजी ने देवताओं और मुनियों की मण्डली के साथ सम्पूर्ण प्राणियों की सृष्टि आरम्भ की। उन्होंने इस जम्बूद्वीप के एक भाग इस भारतवर्ष में लाभ और हानि से दुःखी, जन्म-मरण-शील एवं मानसिक और कायिक व्याधियों से पीड़ित विविध प्राणियों की सृष्टि की। प्राणियों की इस सृष्टि में विविध विषयभोगरूपी व्यसनों से पूर्ण लोगों का क्लेश देखकर सम्पूर्ण लोकों की सृष्टि करनेवाले भगवान् ब्रह्मा को, जैसे पुत्र को दुःखी देखकर पिता को दया आती है वैसे ही, बड़ी दया आई। उन्होंने प्राणियों के कल्याण के लिए क्षणभर एकाग्रचित्त होकर विचार किया कि इन अल्पायु बेचारे जीवों के दुःख का अन्त किस उपाय से होगा ? ऐसा विचार कर भगवान् ब्रह्माजी ने स्वयं तप, धर्म, दान सत्य और तीर्थों की सृष्टि की। हे रघुवर, तप आदि की सृष्टि कर श्रीब्रह्माजी ने पुनः स्वयं विचार किया कि सृष्टिप्रवाह में पड़े हुए लोगों के दुःख का तप आदि से समूल विनाश नहीं हो सकता। निर्वाण (मोक्ष) परम सुख है, जिसके प्राप्त होने पर जीव न तो फिर जन्म लेता है और न मरता है। वह निर्वाण ज्ञान से ही प्राप्त होता है। अतः जीव के संसारसागर से पार होने का एकमात्र उपाय ज्ञान ही है ॥११-२२॥

तप, दान और तीर्थ संसारतरण के लिए 'न कर्मणा न प्रजया धनेन' (न कर्म से, न पुत्रोत्पादन से और न धनोपार्जन से ही मुक्ति हो सकती है) और 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः' (ये यज्ञ आदि कच्चे प्लव (छोटी डोंगी) हैं, इनसे संसारमुक्ति नहीं हो सकती) इत्यादि श्रुतियों में असाधन कहे गये हैं।

इसलिए मैं इन दीन-हीन लोगों के दुःख के समूल विनाश के लिए नूतन (मजबूत) संसारसागरतरण का उपाय शीघ्र प्रकट करता हूँ। यों विचार कर कमल पर बैठे हुए भगवान् ब्रह्माजी ने मन से संकल्प कर मुझे, जो तुम्हारे सामने बैठा हूँ, पैदा किया। पुण्यमय श्रीरामजी, जैसे एक तरंग से शीघ्र दूसरी तरंग होती है वैसे ही मैं भी अनिर्वचनीय मायावश ही उत्पन्न

हुआ और उत्पन्न होते ही तुरन्त पिताजी के समीप में उपस्थित हुआ। जिनके हाथ में कमण्डल एवं रुद्राक्ष माला शोभा पा रही थी, उन भगवान् ब्रह्माजी को कमण्डल और रुद्राक्षमाला से युक्त मैंने विनम्रतापूर्वक प्रणाम किया। मुझसे 'हे पुत्र, यहाँ आओ' कहकर उन्होंने अपने आसनरूप कमल की ऊपरी पँखुड़ी में सफेद बादलपर चन्द्रमा के समान मुझे अपने हाथ से बैठाया। मेरे पितृदेव ब्रह्माजी ने मृगचर्म पहन रक्खा था, उन्हींके अनुरूप मैं भी मृगचर्मधारी था। जैसे सुन्दर हंस सारस से कहे वैसे मृगचर्मधारी पितृदेव ब्रह्मा ने मृगचर्मधारी मुझसे कहा : हे पुत्र, जैसे चन्द्रमा में कलंक प्रविष्ट होता है वैसे ही वानर के समान चंचल अज्ञान एक मुहूर्त के लिए तुम्हारे चित्त में प्रवेश करे। वत्स रामचन्द्रजी, यों शीघ्र ब्रह्माजी से अभिशप्त हुआ मैं उनके संकल्प के अनन्तर ही अपना सारा निर्मल स्वरूप भूल गया। तदुपरान्त मैं जैसे किसी धनीका धन हर लेने से वह दीन–हीन हो जाता है वैसे ही दीन–हीन हो गया, तत्त्वविज्ञान से रहित और दुःख–शोकसे आक्रान्त मैं दिनपर–दिन जीर्णशीर्ण होने लगा। बड़े दुःख की बात है कि यह महाक्लेशदायक संसार नामक दोष कहाँ से मुझको प्राप्त हो गया ऐसा विचार करता था और किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करता था। तदुपरान्त पूज्य ब्रह्माजी ने मुझसे कहा : पुत्र, तुम क्यों दुःखी हो ? इस दुःख के नाशक उपाय को मुझसे पूछो। तदुपरान्त तुम अवश्य नित्यसुखी होओगे। तत्पश्चात् स्वर्णकमल की पँखुरी में बैठे हुए मैंने सम्पूर्ण लोकों के रचयिता श्रीब्रह्माजी से संसारदुःखकी औषधि पूछी। मैंने पूछा : भगवन्, यह महादुःखमय संसार जीव को कैसे प्राप्त हुआ और कैसे इसका विनाश होता है। यों मेरे द्वारा पूछे गये उन्होंने मुझको उस प्रचुर ज्ञान का उपदेश दिया, जिस परम पवित्र ज्ञान को जानकर मैं पिता के सर्वोत्कृष्ट तत्त्वज्ञान के समान परिपूर्णस्वभाव हो गया। तदुपरान्त जब कि मैंने ज्ञातव्य तत्त्व जान लिया था, अतएव मैं अपनी प्रकृति में स्थित हो गया था, तब जगत् के निर्माता, सबके कारण और उपदेशक ब्रह्माजी ने मुझसे कहा : पुत्र, मैंने शाप द्वारा तुम्हें अज्ञानी बनाकर समस्त अधिकारी लोगों की ज्ञान सिद्धि के लिए इस सारभूत ज्ञान का जिज्ञासु बनाया। वत्स, अब तुम्हारा शाप शान्त हो गया है, जैसे चिरकाल तक मल के संसर्ग से मानों सुवर्ण अभावता को प्राप्त हुआ सुवर्ण पुनः शोधन से पूर्वकालिक शुद्ध सुवर्ण रूपता को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही तुम्हारा औपाधिक अज्ञान नष्ट हो गया है, अब उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त हुए तुम मेरी नाईं अद्वितीय आत्मरूप हो गये हो॥२३–३९॥ हे सज्जनशिरोमणे, इस समय तुम लोकानुग्रह के लिए भूलोक में जम्बूद्वीप के मध्य में स्थित भारतवर्ष में जाओ। वत्स, वहाँ पर महामति तुम कर्मकाण्डपरायण लोगों को क्रम से शोभित होनेवाले कर्मकाण्डक्रम से ही उपदेश देना, क्योंकि 'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्' (कर्म परायण अज्ञानियों की बुद्धि में सन्देह उत्पन्न नहीं करना चाहिए) ऐसा न्याय है, और जो लोग विचारशील विरक्त और अतीन्द्रिय तत्त्व के ग्रहण में समर्थ हों, उन्हें आनन्ददायक ज्ञानमार्ग का उपदेश देना। रघुवंशशिरोमणि, इस प्रकार पिता ब्रह्माजी द्वारा आज्ञप्त मैं इस लोक में रहता हूँ और जब तक इस लोक में अधिकारी पुरुष रहेंगे, तब तक रहूँगा। इस लोक में मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है, पर रहना चाहिए, यों विचार कर मैं अमनस्क

होकर यहाँ स्थित हूँ, अतएव अभिमानशून्य वृत्ति से रहता हुआ मैं अज्ञानियों की बुद्धि से कार्य करता हूँ, अपनी बुद्धि से तो कुछ भी नहीं करता, यह भाव है ॥४०–४४॥

दसवाँ सर्ग समाप्त

ग्यारहवाँ सर्ग

ज्ञानप्राप्ति का विस्तार, श्रीरामचन्द्रजी के वैराग्य की स्तुति और वक्ता तथा प्रश्नकर्ता के लक्षण आदि का प्रधानतः वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे पुण्यचरित, ज्ञान का पृथिवी पर अवतरण, अपने जन्म, ज्ञानावरोध, पुनः ज्ञानप्राति आदि और श्री ब्रह्माजी का कार्य यह सब मैं आपसे कह चुका हूँ। अब आपका चित्त महान् पुण्य के उदय से उस ज्ञान के सुनने के लिए अति उत्कण्ठित हो रहा होगा ॥१,२॥

उक्त पुण्यपरिपाक की किन लक्षणों से पहचान करनी चाहिए एवं उस लक्ष्यभूत पदार्थ के उपदेश की प्रणालियाँ कैसी है ? इस बात को प्राचीन कथा के विस्तार के श्रवण द्वारा जानने के इच्छुक श्रीरामचन्द्रजी ने कहा :

ब्रह्मन्, सृष्टि करने के अनन्तर भगवान् ब्रह्माजी की बुद्धि इस लोक में ज्ञान के अवतारण के लिए किस प्रकार हुई ? कृपया उस प्रकार को विस्तार से कहिए ॥३॥ **श्रीवसिष्ठजी ने कहा** : राजकुमार, जैसे सागर में तरंग बार बार उत्पन्न होती है वैसे ही प्रचुर क्रियाशक्ति से सम्पन्न ब्रह्मा अपने पूर्वजन्म की विद्या, कर्म और वासनाओं के प्रकर्ष से परम ब्रह्म में उत्पन्न हुए। उन्होंने विविध प्राणियों की सृष्टि करने के अनन्तर सृष्ट लोगों को इस प्रकार जन्म, मरण, नरक आदि से अपने अज्ञान के कारण दुःखी देखकर वर्तमान सृष्टि के दृष्टान्त से अतीत, वर्तमान और भविष्यकाल की सृष्टि की सम्पूर्ण अवस्थाओं का अनुमान कर लिया। विशेषरूप से स्वर्ग और मोक्ष के साधनों के अनुष्ठान के योग्य सत्ययुग आदि समय के क्षीण होने पर लोगों में सिक्का जमानेवाले अज्ञान का प्राबल्य देखकर भगवान् ब्रह्माजी को बड़ी दया आई। तदुपरान्त भगवान् ब्रह्माजी ने मेरी सृष्टि कर और बार बार उपदेश द्वारा मुझे ज्ञानसम्पन्न बनाकर लोगों के अज्ञान की शान्ति के लिए मुझे पृथिवी में भेजा। भगवान् ब्रह्मा ने इस लोक में जैसे मुझे भेजा वैसे ही सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, नारद आदि अनेक अन्यान्य महर्षियों को अधिकार के अनुसार पुण्य कर्मकाण्ड के उपदेश और ज्ञानकाण्ड के उपदेश द्वारा मन और अज्ञान रूपी महाव्याधि के वशीभूत लोगों का उद्धार करने के लिए भेजा। प्राचीन काल में सत्ययुग के बीतने पर कालक्रम से पृथ्वी पर वैदिक या राग, लोभ आदि से अनुपहत कर्मकाण्ड का ह्रास होने पर कर्मकाण्ड के संचालन और मर्यादा के रक्षण के लिए पृथक् पृथक् देशों का विभाग कर राजाओं की कल्पना की गई। पृथिवी में राजाओं की कल्पना होने पर राजाओं और प्रजाओं के धर्म का नियन्त्रण करने में समर्थ स्मृतिशास्त्र और यज्ञ की विधि के प्रतिपादक श्रोतसूत्र और गृह्यसूत्र तथा श्रौतगृह्यप्रयोगों का धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि के लिए निर्माण किया गया। इस कालचक्र के परिवर्तित होने

पर फिर कर्मकाण्डक्रम नष्टभ्रष्ट हो गया, प्रतिदिन लोग भोजनमात्रपरायण और विषयों के अर्जन में तत्पर हो गये। ऐसी अवस्थामें राजाओं के देश या भोग्यपदार्थों के लिए परस्पर युद्ध होने लगे, इस प्रकार पृथ्वी में अनेक प्राणियों को दण्ड भोगना पड़ा (卐)। पहले युद्ध के बिना ही पृथ्वी के पालन में समर्थ होते हुए भी तदनन्तर राजा युद्ध के बिना पृथिवीपर शासन करने के लिए समर्थ नहीं हुए, इसका फल यह हुआ कि प्रजाओं के साथ राजा दीनता को प्राप्त हो गये। भाव यह कि देह में आत्मत्त्वबुद्धि से युद्ध आदि में देह का नाश होने पर आत्मा का नाश हो जायेगा, इस भय से वे दीनता को प्राप्त हो गये। तदनन्तर उन लोगों की दीनता को दूर करने के लिए और आत्मज्ञान के प्रचार के लिए हम लोगों ने ज्ञानवर्धक बड़े–बड़े दर्शनों का उपदेश किया। इस अध्यात्म विद्या का पहले राजाओं में उपदेश हुआ तदनन्तर इसका और लोगों में प्रसार हुआ, इस कारण श्रीवेदव्यास आदि ने इसको राजविद्या कहा है। हे राघव, राजा लोग राजविद्या, राजगुह्य आदि नामों से प्रसिद्ध उत्तम अध्यात्मज्ञान को जानकर अत्यन्त आनन्द को प्राप्त हुए, तदनन्तर उनमें किंचित् भी दुःख नहीं रहा। कालक्रम से निर्मलकीर्तिवाले अनेक राजाओं के कीर्तिशेष होने पर इन महाराज श्रीदशरथजी से आप श्रीरामचन्द्र इस पृथिवी में उत्पन्न हुए हैं ॥४–१९॥

परन्तप, आपके अतिनिर्मल मन में 'श्मशानमापदं दैन्यम्' इत्यादिसे आगे कहे जानेवाले दृष्ट निमित्तों के बिना ही पवित्रतम ज्ञानोत्पादन समर्थ वह उत्तम वैराग्य उत्पन्न हुआ है ॥२०॥

हे श्रीरामचन्द्र, सम्पूर्ण विवेकी पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ रूप से विख्यात साधु का सब विषयों में दृष्टनिमित्तपूर्वक ही राजस (🕮) वैराग्य होता है। श्रीरामजी, सत्पुरुषों को भी आश्चर्य में डालनेवाला अपने विवेक से उत्पन्न आपका यह सात्त्विक (✍) वैराग्य किसी निमित्त के बिना ही उत्पन्न हुआ है, ऐसा पहले कभी नहीं देखा गया है। बीभत्स (घृणाजनक) विषयों को देखकर किसको वैराग्य नहीं होता, किन्तु सत्पुरुषों का उत्तम वैराग्य विवेक से ही होता है। वे महापुरुष हैं, वे महाविद्वान हैं और उन्हीं का चित्त गंगाजल के समान निर्मल है, जिन्हें निमित्तके बिना ही वैराग्य होता है ॥२१–२४॥ हे परन्तप, केवल अपने विवेक से उत्पन्न तत्त्वपदार्थ के प्रति अभिमुखता से अन्य विषयों से विरक्त बुद्धि से युक्त पुरुष वैसा शोभित होता है जैसे कि वरमाला से युवा पुरुष शोभित होता है। विवेक से इस संसार रचना की दुःखरूपता का विचार कर जो लोग वैराग्य को प्राप्त होते हैं, वे ही श्रेष्ठ पुरुष हैं। अपने विलक्षण विवेकसे ही इस इन्द्रजालतुल्य प्रपंच का पुनः पुनः विचार कर हठपूर्वक इस मायिक बाह्य जगत् के साथ देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और अविद्या का परित्याग करना चाहिए। श्मशानभूमि, आपत्तियों और दीनता को देखकर किसे वैराग्य न होगा ? वही वैराग्य परम श्रेयका साधन है, जो स्वतः

卐 अथवा मूलस्थित 'द्वन्द्व' शब्द का अर्थ शीतोष्ण आदि द्वन्द्व करना चाहिए। उनके परिहार में उपायभूत विषयों के सम्पादन के लिए प्राणी राजाओं के दण्डनीय हुए, कारण कि विषयों की सिद्धि धनमूलक है और धन के लिए राजाओं ने प्रजा पर कर लगाया।

🕮 रजोगुण का कार्य दृष्ट दुःख के अनुभव से होता है अतएव राजस कहलाता है।

✍ केवल विवेकमात्र से उत्पन्न हुआ है अतएव सात्त्विक है।

उत्पन्न होता है। जैसे खूब जोता गया अतएव कोमल हुआ खेत बीज बोने के योग्य होता है वैसे ही स्वाभाविक वैराग्यरूपी अत्यन्त महत्त्व को प्राप्त हुए आप आत्मज्ञान के उपदेश के योग्य पात्र हैं ॥२५–२९॥

'तपःप्रभावाद् देवप्रसादाच्च' (तप के प्रताप से और देवता की प्रसन्नता से 'यस्य देवे परा भक्तिः' (जिसकी देवता पर परम भक्ति होती है) और ईश्वरानुग्रहादेव पुसामद्वैतवासना। प्रसादादेव रुद्रस्य भवानीसहितस्य तु। अध्यात्मविषयं ज्ञानं जायते बहुजन्मभिः।' (ईश्वर की अनुकम्पा से लोगों की अद्वैतवासना होती है। श्रीभगवती पार्वती जी सहित भगवान् महादेवजी के प्रसाद से ही बहुत जन्मों के पश्चात् अध्यात्म ज्ञान होता है) इत्यादि श्रुति और स्मृतियों का अनुसरण करते हुए कहते हैं।

परम प्रभु भगवान् श्रीमहादेवजी की प्रसन्नता से आप जैसे सज्जनों की शुभ बुद्धि विवेक की ओर अग्रसर होती है ॥३०॥

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन' (उस परमात्मतत्त्व को ब्राह्मण लोग वेदाध्ययन, यज्ञ, दान और अविनाशी तप से जानने की इच्छा करते हैं) इत्यादि श्रुति के अनुसार कहते हैं। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, उपनयन, चार वेदव्रत, समावर्तन, विवाह, पाँच महायज्ञों का अनुष्ठान, अष्टका, पार्वण, श्राद्ध, उपाकरण, उत्सर्जन, चैत्र और आश्विन में होनेवाली नवसस्येष्टि–ये सात पाकयज्ञ; अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्श–पौर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रयणेष्टि, निरूढ पशुबन्ध, सौत्रामणी – ये सात हविर्यज्ञ; अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोड़सी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम – ये सात सोमयज्ञ, ये चालीस संस्कार और सब भूतों में दया, क्षान्ति, अनसूया, शौच, आयासाभाव, मांगल्य, कार्पण्यका अभाव, अस्पृहा– ये आठ गुण जिसके हों वह सायुज्य को प्राप्त होता है–यों गौतमस्मृति में दर्शाये गये

कर्मकाण्ड के क्रम से, विपुल तपस्यासे, इन्द्रिय, प्राण और मन के नियमन से, दान से, तीर्थयात्राओं से और चिरकाल तक विचार करने से पापराशि के क्षीण होने के अनन्तर परमात्मचिन्तन करनेपर काकतालीयन्याय से (कौए के आने और ताल के गिरने के समान) संयोगतः सम्पन्न साधनों के संमिलन से प्राणी की बुद्धि विवेक की ओर अग्रसर होती है ॥३१,३२॥

ऐसी परिस्थिति में ब्रह्मजिज्ञासा के प्रयोजक विचार का उदय ही दुर्लभ है, यह भाव है।

जब तक परमपद का साक्षात्कार नहीं करते तब तक चक्र के समान लोगों को घुमानेवाले राग–द्वेष आदि से आवृत्त लोग कर्मकाण्डपरायण होकर इस संसार में पुनः पुनः जन्म–मरणरूप परम्परा को प्राप्त होते हैं ॥३३॥

श्रुति भी है 'मन्तरे वर्तमान स्वयं धीराः' (अविद्या में स्थित अपने को पण्डित माननेवाले मूढ जन अन्धों से ले जाये जा रहे अन्धों की नाईं पतन को प्राप्त होते हैं)।

इस संसार को असार और दुःखरूप जानकर और संसारमयी बुद्धि का परित्यागकर विद्वान्

लोग बन्धन-स्तम्भ से निर्मुक्त हाथियों की नाईं परब्रह्म को प्राप्त होते हैं। हे श्रीरामचन्द्रजी, वह संसारसृष्टि विषम और असीम है। देहाध्यास से युक्त महान् जीव भी कृमि, कीट आदि के सदृश ही है। ज्ञान के बिना परम पद को प्राप्त नहीं हो सकते। रघुवंशशिरोमणि, विवेकी लोग ज्ञानरूपी नौका से ही सुदुस्तर संसारसागर को एक पलकभर में पार कर गये हैं। संसाररूपी सागर से जीव को पार करानेवाले वक्ष्यमाण (आगे कहे जानेवाले) ज्ञानरूप उपाय को विचाराभ्यासपरायण तथा विवेक, वैराग्य आदि से युक्त बुद्धि से एकाग्र होकर सुनिए। इस अनिन्दित ज्ञानयुक्ति के बिना अनन्त विक्षेपों से पूर्ण ये संसारिक दुःखभीतियाँ चिरकाल तक हृदय को सन्तप्त करती हैं। हे राघव, साधुजनों में शीत, वात, धूप आदि दुःखद्वन्द्व ज्ञानयुक्ति को छोड़कर किस उपाय से सह्य होते हैं ? अर्थात् ज्ञान से अतिरिक्त किसी उपाय से सह्य नहीं होते। जैसे अग्नि की ज्वालाएँ तृण को जला डालती है, वैसे ही मूढ़ पुरुष को पदपद में (क्षण-क्षण में) दुःख-चिन्ताएँ प्राप्त होती हैं और जला डालती है। जैसे वर्षाकाल में सींचे गये वन को अग्नि जला नहीं सकती, वैसे ही जिसने ज्ञातव्य वस्तु जान ली है, ऐसे विवेकशील प्राज्ञ पुरुष को मानसिक व्यथाएँ सन्ताप नहीं पहुँचा सकती। शारीरिक और मानसिक पीड़ारूपी बवंडर से परिपूर्ण संसारूपी मरुस्थल में प्रसिद्ध वायु के तेज चलने पर भी तत्त्वज्ञानी पुरुष कल्पवृक्ष की नाईं उखाड़ा नहीं जा सकता यानी पीड़ित नहीं होता। इसलिए तत्त्वपदार्थ के ज्ञान के लिए बुद्धिमान् पुरुष को श्रुति आदि प्रमाण देने में अतिकुशल आत्मतत्त्वज्ञ बुद्धिमान् पुरुष से ही अनुगमन, साष्टांग प्रणाम, सेवा आदिरूप प्रयत्न से विनयपूर्वक प्रश्न करना चाहिए। जिज्ञासु द्वारा पूछे गये, श्रुति आदि प्रमाण देने में निपुण और विशुद्ध चित्त वाले वक्ता के वाक्य वैसे ग्रहण करने चाहिए जैसे कि रँगने के लिए घोले गये पक्के रंग में डुबाया गया वस्त्र रंग को पकड़ लेता है फिर उसे कभी नहीं छोड़ता ॥३४-४४॥

हे वक्ताओं में श्रेष्ठ श्रीरामजी, जो पुरुष तत्त्ववस्तु को नहीं जानता अतएव जिसका वचन ग्राह्य नहीं है, ऐसे पुरुष से जो प्रश्न करता है, उससे बढ़कर मूर्ख दूसरा कोई नहीं है। पूछे गये तत्त्वज्ञ प्रामाणिक वक्ता के उपदेश का जो प्रयत्न से आचरण नहीं करता, उससे बढ़कर नराधम दूसरा नहीं है। व्यवहार से वक्ता की अज्ञता और तत्त्वज्ञाता का पहले निर्णय कर जो पुरुष प्रश्न करता है, वह प्रश्नकर्ता महामति है। जो मूर्ख (परीक्षा द्वारा) प्रकृष्ट वक्ता का निर्णय किये बिना प्रश्न करता है, वह अधम प्रश्नकर्ता है और वह आत्मज्ञानरूप महान् अर्थ का पात्र नहीं हो सकता अर्थात् उसे कभी तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। प्राज्ञ पुरुष को चाहिए कि उक्त और अनुक्त का विवेचन कर निश्चय करने में जिसकी बुद्धि समर्थ हो और जो निन्दनीय न हो ऐसे पुरुष के लिए पृष्ट वस्तु का उपदेश दे पशु के जाड्य आदि धर्मों से युक्त अधम को कभी तत्त्व का उपदेश न दे ॥४५-४९॥ प्रश्नकर्ता की श्रुति आदि प्रमाणों से निर्णीत पदार्थ के ग्रहण की योग्यता का विचार किये बिना जो तत्त्व का उपदेश देता है, उसको प्राज्ञ पुरुष मूढ़तर कहते हैं ॥५०॥ हे रघुनन्दन, आप अत्यन्त श्रेष्ठ प्रश्नकर्ता है और मैं उपदेश देना जानता हूँ, इसलिए हमारा यह समागम सदृश है। हे शब्दार्थ के ज्ञाता श्रीरामजी, जिस

पदार्थ का मैं उपदेश देता हूँ उसको आप 'यह तत्त्व वस्तु है' ऐसा निश्चय कर प्रयत्नपूर्वक अपने हृदय में ज्यों–का–त्यों पूर्णरूप से धारण कीजिए। हे श्रीरामचन्द्रजी, आप कुल, दया, दाक्षिण्य आदि गुणों और सदाचार आदि से महान् हैं, विरक्त हैं एवं तत्त्वज्ञ हैं, मुझसे जो कहा जायेगा वह जैसे वस्त्र में घोला हुआ रंग बैठ जाता है वैसे आपके हृदय के अन्तस्तर में बैठ जायेगा। आपकी उक्त पदार्थ के ग्रहण में निपुण मेघा है और परम तत्त्व का विचार करनेवाली प्रतिभा भी है। मेघा और प्रतिभा से सम्पन्न आपकी प्रज्ञा जैसे सूर्य की किरणें जल के अन्दर प्रवेश कर जाती हैं, वैसे ही प्रतिपाद्य अर्थ (तत्त्वज्ञान) में प्रवेश करती है। मैं जो कुछ कहूँ, उसे आप ग्रहण कीजिए और प्रयत्नपूर्वक उसे अपने हृदयमें स्थान दीजिए। यदि ऐसा आप न कर सकें, तो आपको मुझसे पूछना ही नहीं चाहिए, क्योंकि ऐसा पूछना निरर्थक है ॥५१–५५॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, संसाररूपी वन का बन्दर मन बड़ा ही चपल है, उसको संस्कार द्वारा अपने वश में कर परमार्थतत्त्व का श्रवण करना चाहिए और फिर उसको प्रयत्न से हृदय में धारण करना चाहिए। विवेकशून्य, शास्त्र के अभ्यास से उत्पन्न ज्ञान से रहित एवं असाधु पुरुषों में प्रीति रखनेवाले पुरुष से अति दूर होकर चिरकालतक महात्माओं की सेवा करनी चाहिए। सदा सन्त–महात्माओं की संगति से विवेक उत्पन्न होता है। भोग और मोक्ष विवेकरूपी वृक्ष के ही फल कहे गये हैं। मोक्षद्वार के चार द्वारपाल कहे गये हैं –शम, विचार, सन्तोष और चौथा साधुसंगम। पहले तो इन चारों का ही प्रयत्नपूर्वक सेवन करना चाहिए। यदि चारों को सेवन की शक्ति न हो, तो तीनका सेवन करना चाहिए। तीनका सेवन न हो सकने पर दोका सेवन करना चाहिए। इनका भलीभाँति सेवन होने पर ये मोक्षरूपीराजगृह में मुमुक्षुका प्रवेश होने के लिए द्वार खोलते हैं। यदि दो के सेवनकी भी शक्ति न हो, तो सम्पूर्ण प्रयत्न से प्राणों की बाजी लगाकर भी इनमें से एक का अवश्य आश्रय लेना चाहिए। यदि एक वश में हो जाता है, तो शेष तीन भी वश में हो जाते हैं। जैसे अन्य तेजस्वियों में सूर्य सर्वश्रेष्ठ है वैसे ही विवेकवान् पुरुष सब लोगों में सिर के आभूषण के समान आदरणीय है। वह शास्त्र के श्रवण, मनन और निदिध्यासन का और ज्ञान का योग्य पात्र है। जैसे अधिक शीत पड़ने से जल घनीभूत होकर बर्फ बन जाता है, वैसे ही अविवेकियों की मूर्खता घनता को प्राप्त होकर अति कठिन हो जाती है ॥५६–६३॥ हे रघुकुलतिलक, आप तो जैसे सूर्य का उदय होने पर कमल विकसित होता है, वैसे ही सौजन्य आदि गुण एवं शास्त्रार्थ की दृष्टि से विकसित अन्तःकरणवाले हैं। हे सद्बुद्धि श्री रामजी, जैसे मृग आदि जन्तु ऊपर कान करके (कान खड़े करके) वीणा के शब्द को सुनते हैं वैसे ही आप इस ज्ञानमय वाणी को सुनने और समझने के योग्य हैं। हे श्रीरामचन्द्रजी, आप वैराग्य के अभ्यास आदि से सम्पूर्ण विनय आदि रूप सम्पत्तियों का उपार्जन कीजिये, जिनके प्राप्त होने पर नाश नहीं होता। पहले संसाररूप बन्धन से छुटकारा पाने के लिए शास्त्राभ्यास और सज्जनसंगतिपूर्वक तपस्या और इन्द्रियनिग्रह से प्रज्ञा को (विवेक के ग्रहण और धारण में निपुण बुद्धि को) ही बढ़ावें ॥५६–६७॥

प्रज्ञा की अभिवृद्धि में शास्त्राभ्यास ही उपाय है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

संस्कृत (विशुद्ध) बुद्धि से जो कुछ शास्त्र का अवलोकन, चिन्तन आदि किया जाता है, उसीको इस मूर्खता के विनाश का हेतु समझो। यह संसाररूपी विषवृक्ष आपत्तियों का एकमात्र घर है यह अज्ञानी पुरुष को सदा मोह में डालता है, इसलिए अज्ञान का यत्न से विनाश करना चाहिए। दुराशा से साँप की–सी कुटिल गति को धारण करनेवाली हृदय में हजारों विक्षेपरूप से व्याप्त मूर्खता से बुद्धि अग्नि में रक्खे हुए चमड़े की भाँति संकोच को प्राप्त होती है अर्थात् संकुचित कमल की नाईं मलिनता को प्राप्त होती है। जैसे मेघरहित और सम्पूर्ण निर्मल मण्डलवाले चन्द्रमा में दृष्टि प्रसन्नता को प्राप्त होती है वैसे ही यह पूर्वोक्त वस्तुदृष्टि (वस्तु यानी परमार्थरूप तत्त्व जिससे देखा जाता है) अर्थात् सूक्ष्मबुद्धि प्राज्ञ में, यथार्थवस्तु की एकरसता को प्राप्त होकर प्रसन्नता को प्राप्त होती है। जिसकी पूर्वापर के विचार से और अतिसूक्ष्म अर्थ के ग्रहण में अत्यन्त पटु तथा चतुरता से शोभित बुद्धि विकासयुक्त हो, इस लोक में वही 'पुरुष' कहा जाता है ॥६८–७२॥

मेरी बुद्धि विकासयुक्त है या नहीं, यों सन्देह कर रहे श्रीरामचन्द्रजी को आश्वासन देते हुए श्रीवसिष्ठजी कहते हैं।

हे श्रीरामजी, आपभी विकसित, अज्ञान का त्याग कर रहे अतएव विशुद्ध शान्ति आदि गुणों से शोभित एवं परमतत्त्व के विचार से शीतल बुद्धि से विराजमान है ॥७३॥

ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

बारहवाँ सर्ग

संसारप्राप्ति की अनर्थरूपता, ज्ञान का उत्तम माहात्म्य और
राम में प्रश्नकर्ता के गुणों की अधिकता का वर्णन।

अन्य लोगों के प्रति भी विवेक वैराग्य की अभिवृद्धि के लिए संसारप्राप्ति की अनर्थरूपता और ज्ञान के माहात्म्य को कहने के इच्छुक श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी को प्रवृत्त करने के लिए आप में केवल विकासयुक्त बुद्धि ही नहीं है, किन्तु और भी अनेक गुण हैं तथा प्रश्नकर्ता के सम्पूर्ण लक्षण आप में घटते हैं, इस प्रकार प्रशंसा द्वारा प्रोत्साहित करते हुए बोले :

हे रघुकुलकमलदिवाकर, आपका मन पूर्वोक्त गुणों से परिपूर्ण है और आप हमारे सामान्य हैं तथा आप प्रश्न करना जानते हैं, साधारणरूप से उक्त बात को भी विशेषरूप से आप जानते हैं, इसलिए मैं आदरपूर्वक आपको उपदेश देने के लिए उद्यत हुआ हूँ। रजोगुण और तमोगुण से रहित (रजोगुण से बुद्धि में चंचलता आती है और तमोगुण से आवरण होता है, इसलिए उक्त दोनों गुणों से शून्य होना आवश्यक है), इसीलिए शुद्ध सत्त्वगुणवाले परमात्मा की ओर प्रवृत्त होनेवाली बुद्धि को आत्मा में स्थापित कर अर्थात् स्वस्थ कर सुनने के लिए प्रवृत्त होईए। हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे समुद्र में रत्नसम्पत्ति (रत्नों से परिपूर्ण लक्ष्मी) रहती है वैसे ही प्रश्नकर्ता के सभी गुण आपमें विद्यमान हैं और वक्ता के (उपदेशक के) गुण मुझमें विद्यमान हैं ॥१–३॥ हे वत्स, जैसे चन्द्रमा के किरणों के संसर्ग से चन्द्रकान्त मणि आर्द्रता को

प्राप्त होती है, वैसे ही विवेक के संसर्ग से उत्पन्न वैराग्य को आप प्राप्त हुए हैं। जैसे कमल का चारों ओर फैले हुए एवं कभी नष्ट न होनेवाले दीर्घ तन्तुओं और सुगन्ध आदि से सम्बन्ध रहता है वैसे ही बाल्यावस्था से लेकर ही चिरकाल से शुद्ध आपका सब दिशाओं में फैले हुए एवं अविच्छिन्न शुद्ध सद्‌गुणों से सम्बन्ध है। इसलिए हे राघव, सुनिए, मैं आपसे यह मोक्षकथा कहूँगा, क्योंकि आप ही इस कथा के योग्य पात्र हैं अर्थात् श्रवणजनित प्रकृष्ट बोध के आधार हैं। शुद्ध (शुभ्र) कुमुदिनी चन्द्रमा के बिना विकासयुक्त नहीं हो सकती अर्थात् जैसे शुद्ध कुमुदिनी चन्द्रमामें ही (चन्द्रमा के उदित होने पर ही) विकसित होती है वैसे ही यह मोक्षकथा आप में ही विकास को प्राप्त होगी ॥४–६॥

इस कथा श्रवणरूप कार्य की अवधि कौन है ? ऐसी आशंका होने पर परम पदसाक्षात्काररूप विश्रान्ति ही उसकी विश्रान्ति है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

जो कोई कार्य हैं और जो कोई प्रमाण, प्रमेय आदि व्यवहार हैं, वे सब कार्य और वे सब व्यवहार परब्रह्म परमात्मा के दर्शन होने पर सर्वथा शान्त हो जाते हैं ॥७॥

उक्त विश्रान्ति में अविश्वास का निराकरण करते हैं।

यदि विशुद्ध चित्तवाले पुरुष को विज्ञानरूप विश्रान्ति प्राप्त न हो, तो कौन विवेकशील पुरुष इस संसार में अनेक चिन्ताओं को सहेगा अर्थात् उनका सहन न हो सकने से आपकी नाईं देहत्याग के लिए उद्यत हो जायेगा। केवल बाह्य व्यवहार ही शान्त नहीं होते, किन्तु मानसिक व्यवहार भी शान्त हो जाते हैं। जैसे हिरण्यगर्भ की आयु की समाप्ति को प्राप्त होकर हिमालय आदि कुलपर्वतों की बड़ी–बड़ी चट्टानें कल्पान्त के सूर्यों के संसर्ग से चूर्ण–चूर्ण हो जाती हैं वैसे ही परमात्मा का साक्षात्कार होने पर सम्पूर्ण मानसिक प्रवृत्तियाँ लीन हो जाती हैं ॥८॥

भगवती श्रुति भी कहती है – 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥' (परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार होने पर हृदय की ग्रन्थियाँ (काम आदि) टूट जाती हैं, सम्पूर्ण सन्देहों की निवृत्ति हो जाती है और सब कर्म क्षीण हो जाते हैं।)

हे श्रीरामचन्द्रजी, संसाररूपी विष के आवेश से हुई विषूचिका (हैजा) बड़ी कष्टदायिनी है, वह पवित्रतम जीव और ब्रह्म के ऐक्यज्ञानरूपी गारुड़मन्त्र से शान्त होती है। विषभक्षण से भी विषूचिका होती है और वह विषसंशोधन से शान्त हो जाती है। उक्त मन्त्ररूपी परमार्थज्ञान (जीवब्रह्मैक्यज्ञान) संतों के साथ शास्त्रचिन्तन करने से प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। इस अधिकारी जन्म में विचार करने पर अवश्य ही सम्पूर्ण दुःखों का विनाश होता है, ऐसा समझना चाहिए, इसलिए विचारवान् लोगों को अनादर दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। जैसे साँप अपनी जीर्ण त्वचा का परित्याग कर सन्तापरहित और शान्त हो जाता है वैसे ही विचारवान् पुरुष मानसिक व्यथाओं की पेटी के समान इस सम्पूर्ण जगत् का त्याग कर सन्तापरहित और शान्तहृदय हो जाता है। सम्यग्‌दर्शनवान् पुरुष इस सम्पूर्ण जगत् को विनोद से इन्द्रजाल की नाईं देखता है, जिसे सम्यक् ज्ञान नहीं हुआ है, उसीके

लिए यह जगत् परम दुःखदायी है। यह संसारानुराग अत्यन्त विषम (क्लेशदायक) है। यह निःशंक ही संसार में आये हुए पुरुषों को साँप के समान डँसता है, तलवार के समान काटता है, भाले के समान बेधता है, रस्सी के समान जकड़ देता है–हाथ–पैर बाँध देता है, अग्नि के समान जलाता है, रात्रि के समान अन्धा बना डालता है, सिर पर गिरे हुए पत्थर के समान मूर्छित कर देता है, विचारदृष्टि को हर लेता है, मर्यादा को नष्ट कर डालता है, पुरुष को मोहरूप अन्धकूप में गिरा देता है, इस संसार में तृष्णा मनुष्य को जर्जर कर डालती है अर्थात् जैसे रस निकालने के लिए सोम रगड़कर निचोड़ा जाता है वैसे ही मनुष्यों के अंग–प्रत्यंग को शिथिल कर डालती है। बहुत क्या कहें, ऐसा कोई दुःख नहीं है, जो संसारी पुरुष को प्राप्त न हो॥७–१४॥ मल–मूत्र आदि के नगररूप शरीरों में (पुत्र, कलत्र आदि पोष्य जनोंमें) पुरुष को अनुराग से बाँधनेवाली यह विषयविषूचिका दुरुच्छेद्य (अकाट्य) है। यदि इसकी चिकित्सा न की जाय, तो आगे कही जानेवाली हजारों नारकीय दुर्गतियों को प्राप्त कराती है। जहाँ जीवों को पत्थर खाने पड़ते हैं, तलवारों से उनके टुकड़े–टुकड़े किये जाते हैं, पर्वतों की चोटियों से वे गिराये जाते हैं, पत्थरों से मारे जाते हैं, आग से जलाये जाते हैं, बर्फ से सदा तर रक्खे जाते हैं, अंग–प्रत्यंग कुल्हाड़े, कैंची आदि से काटे जाते हैं, चन्दन की नाईं पत्थरों पर घिसे जाते हैं, तलवार के समान तीक्ष्ण पत्तेवाले वृक्षों के वन में दौड़ना पड़ता है, घुनों का–सा व्यवहार होता है अर्थात् सर्वांग में काठ के यन्त्रों से पीड़ा पहुँचाई जाती है, तपाई गई लोहे की बड़ी–बड़ी जंजीरों से शरीर को लपेटा जाता है, काँटेदार झाड़ुओं से शरीर बुहारा जाता है (त्वचारहित किया जाता है), जिनसे सदा आग की लपटें निकलती रहती हैं, ऐसे युद्ध में छोड़े गये बाणों की धारावाहिक वृष्टि होती है, छाया और पानी के बिना ग्रीष्मकाल बिताना पड़ता है, अतिशीत धारागृहों में लगातार झरनों की वृष्टि होती है, पहले काटे गये सिर के पुनः उगने पर फिर–फिर उसका काटना होता है, सुखपूर्वक नींद की तो वहाँ बात भी नहीं होती, मुँह को ढककर श्वास–प्रश्वास भी रोक दिया जाता है, अंगों की निम्नता और उन्नतता से विसंष्ठुल (विषम अवयव) होने के कारण व्यवहार की अयोग्यता होती है, यह सब महासम्पत्ति की अभिवृद्धि के समान सहना पड़ता है (✍)॥१५,१६॥

✍ इस श्लोक का दूसरा अर्थ टीकाकारों ने यों किया है–पत्थर खाना, तलवार द्वारा अंगछेदन, पर्वत के शिखर से निपातन और पत्थरों की मार को हिमसेक की नाईं सहन करना पड़ता है; कुल्हाड़े और कैंची द्वारा हाथ, पैर आदि अंगों का कर्तन चन्दनलेप की भाँति सहना पड़ता है; असिपत्रवाले वृक्षों के वन में दौड़ना, घुन के समान काठ के यन्त्र में जकड़ा जाना तथा लोहे की गर्म जंजीरों से शरीर को लपेटना देहसंस्कार की नाईं सहना पड़ता है; अग्नि की ज्वाला को बरसा रहे भयानक बाणों की लगातार वृष्टि ग्रीष्मकाल में विनोद के लिए बनाये गये धारा–गृहों के फुव्वारों की वृष्टि के समान सहनी पड़ती है; शिर के कटने से हुई मृत्यु निद्रासुख के समान सहनी पड़ती है; मुँह बन्द करने से बलपूर्वक किया गया मूकीभाव स्वाभाविक मूकमुद्रा के समान सहना पड़ता है एवं अंगों की छोटाई–बड़ाई से उत्पन्न अकिंचित्करता महती सम्पत्ति की वृद्धि के समान सहनी पड़ती है।

दुःख देने के स्थान तो अनन्त हैं, उनकी तो गणना ही नहीं हो सकती, यह तो केवल दिङ्मात्र का प्रदर्शन है, यों दर्शाकर उसका उपसंहार करते हुए प्रकृत में उनके वर्णन की उपयोगिता कहते हैं।

हे राघव, नश्वर देहों, परतन्त्रतापूर्ण एवं इस प्रकार की हजारों कष्टप्रद चेष्टाओं से अतीव क्लेशकारक इस संसार में अवहेलना (अनादर) नहीं करना चाहिए, आगे कही जानेवाली रीतिसे विचार करना चाहिए और वक्ष्यमाण रीति से ही निश्चय करना चाहिए कि शास्त्र के विचार से कल्याण होता है ॥१७॥

शास्त्र के विचार से कल्याण होता है, यह निश्चय कैसे हो ? क्योंकि शास्त्रविचार में परायण माण्डव्य आदि की भी हजारों दुर्दशाएँ देखी गई हैं, इस शंका का परिहार करते हुए विद्या की दृष्टफलता का प्रतिपादन करते हैं।

हे रघुकुलनन्दन, ज्ञानरूपी कवच से गुप्त शरीरवाले अतएव दुःख के सर्वथा अयोग्य भी ये ध्यानपरायण महामुनि, मन्त्रजपनिरत ऋषि, यज्ञ–याग आदि करनेवाले ब्राह्मण एवं जनक आदि राजा अज्ञानियों के समान मनोवृत्ति से होनेवाली पूर्वोक्त अनेक प्रकार की संसारपीड़ा का अनुभव करते हुए रहते हैं, ऐसा यदि तुम्हारा ख्याल है, तो वे कैसे सदा प्रसन्नचित्त रहते हैं ? ॥१८॥

उनकी स्थिति कैसी है ?

इस लोक में कौतुकरहित (कौतुक से–विषय के दर्शन और उपभोग में उत्साह से–शून्य), विविध विकल्पों से होनेवाले चित्तविक्षेपों से भी रहित, आत्मरूपी दीपक जिन्हें प्राप्त हो गया है, अतएव विशुद्ध बुद्धिवाले नरश्रेष्ठ जगत् में इस प्रकार पूर्णकामरूप से स्थित हैं, जिस प्रकार कि हरि, हर और ब्रह्मा आदि देवता स्थित हैं ॥१९॥ गुरु आदि केसाथ विचार कर पदार्थ का परिशोधन होने पर पहले स्थूल आदि शरीरों में तादात्म्याध्यास से जो आत्मसादृश्य था, वह जिसका निवृत्त हो गया है, उस अधिकारी पुरुष को 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के अर्थ के विचार से तत्त्व के ज्ञात होने पर, मनन द्वारा असंभावना और विपरीत भावना के निराकरण से अपरिच्छिन्न आत्मा के विदित होने पर, निदिध्यासन द्वारा विपरीतभावनाशून्य बुद्धि से ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर मोह के नष्ट होने एवं अति निविड़ भ्रम ज्ञान के विलीन होने पर यह जगत् का भ्रमण मनोविनोद (आनन्दसाधन) ही है, दुःखकारी नहीं है ॥२०॥ हे रामचन्द्रजी, और भी सुनिए, चैतन्यमात्रस्वभाव परमार्थ वस्तु के प्रसन्न होने और हृदय में उत्कृष्ट शान्ति का आविर्भाव होने पर सम्पूर्ण बुद्धिवृत्तियों के शान्तिरसास्वादरूप होने पर अन्तःकरण ब्रह्मरसास्वादपूर्वक विषमतारहित स्वभाव को प्राप्त होता है। तब बुद्धि से तत्त्व का साक्षात्कार होने पर यह जगत् का भ्रमण आनन्दमय हो जाता है, अतः जो आनन्दसाधनता कही, वह ठीक ही है। कटे हुए वृक्ष के समान जड़ शरीर रथ है, इन्द्रियों की विषयाभिमुख प्रवृत्ति घोड़ों की गतिचातुरी है, जिससे घोड़ों का इधर उधर परिचालन किया जाता है अर्थात् लगाम प्राणप्रधान मन है ऐसे रथ आदि के प्रापण से जिसे आनन्दरूप विषयप्राप्त होते हैं वह देही

(आत्मा) समाधि में परमात्मा ही है। व्यवहारकाल में बुद्धि आदिके परिच्छेद से भले ही रथी सूक्ष्म हो। तत्त्व का साक्षात्कार होने पर इस प्रकार का शुद्ध, बुद्ध, आनन्दघन मैं विहार कर रहा हूँ, यों विशुद्ध दृष्टि से जगत् का भ्रमण रमण ही है–क्लेशकर नहीं है ॥२१,२२॥

बारहवाँ सर्ग समाप्त

तेरहवाँ सर्ग

जीवनमुक्तिरूप फल के हेतु वैराग्य आदि गुणों का एवं शम का विशेषरूप से वर्णन।

वैराग्य, शान्ति आदि साधनों का आगे वर्णन करनेवाले श्रीवसिष्ठजी इस समय प्रस्तुत जीवन्मुक्तिस्थिति का वर्णन करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, इस दृष्टि का अवलम्बन कर सुबुद्धिमान् तत्त्वज्ञ महापुरुष इस संसार में ऐसे विचरते हैं, मानों उन्हें महान् साम्राज्य प्राप्त हो गया हो। वे लोग न तो अशुभ के लिए शोक करते हैं और न शुभ की कामना करते हैं अतएव वे उनके साधनों की भी याचना नहीं करते। वे सब कुछ करते भी हैं फिर भी कुछ नहीं करते। हेय और उपादेय के पक्षपात से रहित एवं अपनी आत्मा में स्थित वे असंग आत्मा के साक्षात्कार से निर्लेप रहते हैं, शास्त्रीय स्वच्छ कर्म करते हैं और सन्मार्ग में जाते हैं ॥१–३॥ वे अन्य लोगों की दृष्टि से आते हैं और जाते हैं पर अपनी दृष्टि से न आते हैं और न जाते हैं, अन्य की दृष्टि से करते हुए एवं बोलते हुए भी अपनी दृष्टि से न करते हैं और न बोलते हैं ॥४॥

क्योंकि 'सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव समना अमना इव' (तत्त्वज्ञ पुरुष अन्य की दृष्टि में चक्षुयुक्त होता हुआ भी अचक्षु के सदृश है और अन्य की दृष्टि से कर्णयुक्त होता हुआ भी कर्णरहित है, अन्य की दृष्टि से मनयुक्त होता हुआ भी मन से रहित–सा है) ऐसी श्रुति है।

हेय और उपादेय से जो कोई यज्ञ–याग आदि कार्य हैं और जो कोई प्रमाण, प्रमेय आदि व्यवहार हैं, वे सब परमतत्त्व के ज्ञात होने पर क्षीण हो जाते हैं ॥५॥ सम्पूर्ण अभिलाषाओं से रहित शान्तिपूर्ण तथा ब्रह्माकारत्व को प्राप्त मन चन्द्रबिम्ब में बैठे हुए स्वर्गी के समान चारों ओर से सुख को प्राप्त होता है ॥६॥ विषयों का बार–बार स्मरण करना और विषयों की प्राप्ति में कुतूहल ही विक्षेप के हेतु हैं, उनके अभाव में विक्षेपरहित सुख होता है। जैसे चन्द्रमा में अमृत नहीं समाता वैसे ही विषय मननरहित और सम्पूर्ण विषयकौतुक से शून्य सुखरूपता को प्राप्त हुआ मन आत्मा में ही नहीं समाता ॥७॥ सुखरूपता को प्राप्त हुआ मन न तो मायिक विक्षेपों को करता है और न विक्षेपों की जननी वासना के प्रति दौड़ता है, किन्तु बालकों जैसी भ्रममूलक चंचलता का त्याग कर अनादिसिद्ध आत्मसुखरूप हो विराजमान होता है। इस प्रकार की स्थिति आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से ही प्राप्त होती है, अन्य उपायों से नहीं ॥८,९॥ इसलिए पुरुष को जीवनपर्यन्त विचार द्वारा आत्मा का ही पुनः पुनः श्रवण और मनन करना चाहिए, आत्मा का ही निदिध्यासन करना चाहिए एवं श्रवण और मनन तथा निदिध्यासन द्वारा

आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए, इसके सिवा पुरुष का और कुछ कर्तव्य नहीं है। जिस अधिकारी को अपने अनुभव, शास्त्रवचन और गुरु के उपदेशकी एकार्थनिष्ठता का निश्चय हो, उसे नित्य निरन्तर किये गये श्रवण, मनन आदि के अभ्यास से आत्मा का साक्षात्कार होता है। शास्त्र और उसके अर्थ की अवहेलना करनेवाले, तत्त्वज्ञानी पूज्य पुरुषों की उपेक्षा करनेवाले मूढ़ों की तुलना को कभी भी प्राप्त न हो, चाहे कितने ही बड़े क्लेश क्यों न भुगतने पड़ें। पृथ्वी में मनुष्यों को ज्वर आदि शारीरिक क्लेश से, विष से, आपत्तियों से और मानसिक चिन्ताओं से वैसा क्लेश नहीं होता जैसा कि अपने शरीर में स्थित एक मूर्खता से क्लेश होता है। जिन लोगों की बुद्धि में थोड़ी बहुत भी व्युत्पत्ति हो गई है, इस शास्त्र के सुनने से जिस प्रकार उनकी मूर्खता की निवृत्ति होती है वैसे अन्य किसी शास्त्र के श्रवण से नहीं होती। यह शास्त्र अतिसुखदायी है, यथायोग्य अनेक दृष्टान्तों से इसकी सुन्दरता कहीं अधिक बढ़ गई है और किसी भी शास्त्र से यह विरुद्ध नहीं है। जिसे आत्मा का साक्षात्कार अभीष्ट है, उस नरश्रेष्ठको अवश्य इसका श्रवण करना चाहिए ॥१०–१५॥ हे रामजी, जो दुस्तर आपत्तियाँ हैं और जो अति नीच कुत्सित योनियाँ हैं वे सब, जैसे खदिर से काँटे उत्पन्न होते हैं वैसे ही, मूर्खता से पैदा होती हैं। मिट्टी के पात्र को (सकोरे को) हाथ में लेकर चाण्डालों की टोली में भीख माँगने के लिए दर–दर घूमना अच्छा है, पर मूर्खतापूर्ण जीवन अच्छा नहीं है। निर्जन स्थान में, अति भयानक अन्ध कूप में एवं पेड़ों के खोखलों में अन्धा कीड़ा होना अच्छा है, पर अतिदुःखदायी मूर्खता अच्छी नहीं है। यह संसारी पुरुष मोक्ष के उपायभूत इस शास्त्ररूप प्रकाश को पाकर फिर मोहान्धकार में भी अन्धता को प्राप्त नहीं होता। तभी तक तृष्णा मनुष्यरूपी कमल को संकुचित करती है जब तक विवेकरूपी सूर्य की निर्मल प्रभा का उदय नहीं होता। हे राघव, संसारदुःख से छुटकारा पाने के लिए मेरे सदृश आत्मीयों के साथ गुरुपदेश और शास्त्र के प्रमाण से अपने स्वरूप को जानकर जैसे इस संसार में जीवन्मुक्त हरि, हर आदि विचरण करते हैं और जैसे अन्यान्य जीवन्मुक्त महर्षि विचरण करते हैं वैसे ही आप भी विचरण कीजिए। हे रघुकुलतिलक, इस संसार में, अनन्त दुःख हैं, सुख तिनके के टुकड़े के बराबर बिलकुल ही नगण्य हैं, इसलिए दुःखों से सराबोर (परिपूर्ण) सुखों में कभी भी आदर नहीं करना चाहिए। ज्ञानवान् पुरुष को पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए जो वस्तु असीम और क्लेशलवविरहित है, उस ज्ञानरूप वस्तु को प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करना चाहिए। हे रामजी, वे ही सज्जन परम पुरुषार्थ के भाजन हैं और वे ही पुरुष श्रेष्ठ हैं, जिनका सर्वोत्कृष्ट वस्तु में (परब्रह्म में) लीन मन परमशान्त है। जो दुरात्मा राज्य आदि सुखों में उत्तम भोगों के आस्वादमात्र से सन्तुष्ट हैं, उन्हें आप अन्धे मेढक समझिए। मेढक कुएँ में रहने से बाहर नहीं देख पाता, उसमें भी यदि अन्धा हो, तो कहाँ से देखेगा, यह भाव है। जो लोग वंचक, प्रबल दुराचारियों, वैषयिक सुखों का भोग करनेवाले और मित्र जैसे दिखाई देनेवाले वास्तव में शत्रुओं पर आसक्त हैं, वे लोग संकट से संकट को , दुःख से दुःख को, भय से भय को और नरक से नरक को प्राप्त होते हैं। वे लोग मूर्ख हैं और अज्ञान से उनकी बुद्धि मन्द पड़ गई है।

'सुख के पश्चात् दुःख होता है और दुःख के पश्चात् सुख होता है, घटीयन्त्र के समान लगातार भ्रमण कर रहा पुरुष पुनः पुनः सुख और दुःख को प्राप्त होता है' इत्यादि वाक्यों से सुख और दुःख की परस्पर विनाशिता कही गई है, अतः यह संसारी पुरुष कभी विश्रान्ति को प्राप्त नहीं होता। सुख और दुःख की अवस्था बिजली की चमक के समान क्षणभंगुर है। जो लोग आपके सदृश वैराग्ययुक्त, सम्यक् विवेकी और महात्मा हैं, भोग और मोक्ष के एकमात्र भाजन वे पुरुष वन्दनीय हैं। परम विवेक का अवलम्बन कर वैराग्य और अभ्यास से आपत्तिरूप यह भीषण संसार नदी पार करनी चाहिए। विष के समान तीव्र मूर्छा देनेवाले इन मिथ्याभूत वंचनोपायों में नहीं सोना चहिए। इस संसार को प्राप्त कर जो पुरुष अवहेलना से रहता है वह जल रहे तृणमय घर के विस्तार में गहरी नींद सोता है ॥१६–३३॥

संसार के सिवा कोई अन्य स्थान ही नहीं है, फिर किसका अवलम्बन करके संसार में अरति करनी चाहिए ? ऐसी आशंका कर कहते हैं।

जिसको प्राप्त कर पुनः नहीं लौटते और जिसे प्राप्त कर फिर शोक नहीं होता, वह उत्तम पद केवल बुद्धिमात्र से प्राप्य है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥३४॥

पुराणों में भी कहा है– असत्यस्मिन् जगन्नाथे अन्धीभूतमिदं भवेत् । सूर्येणेव विहीनत्वान्निरालोकं जगद् यथा। (यदि जगदधिपति परमात्मा न होते, तो सूर्य से विहीन अन्धकारपूर्ण जगत् के समान यह सब प्रपंच अन्धकारमय हो जाता।) श्रुति भी है– 'असन्नेव स भवति' (वह असत् ही हो जाता है जो ब्रह्म को असत् जानता है जो ब्रह्म है यों ब्रह्म की सत्ता को जानता है, उसे 'सत्' कहते हैं।) सन्दिग्धे परलोकेऽपि वरं श्रुतिपथाश्रयः। यदि न स्यात् तदा किं स्याद्यदि स्यान्नास्तिको हतः॥ (परलोक के सन्देहास्पद होने पर भी श्रुतिप्रतिपादित मार्ग का अवलम्बन करना उत्तम है, यदि परलोक न हो, तो उत्तम कर्म करने से अपना क्या बिगड़ा, यदि हो, तो नास्तिक के मुँह में थप्पड़ लगा।) इस न्याय से सन्देह करनेवाले के प्रति कहते हैं।

यदि थोड़ी देर के लिए मान भी लिया कि ब्रह्म नहीं है तो भी उसके विचार से आपका कौन दोष होगा, यदि है, तो उसके विचार से आप संसारसागर को पार कर जायेंगे ॥३५॥

ऐसी अवस्था में सभी लोग मोक्ष के लिए प्रवृत्त क्यों नहीं होते, ऐसी शंका कर 'यावन्नाऽनुग्रहः साक्षाज्जायते परमेशितुः। तावन्न सद्गुरुं कश्चित् सच्छास्त्रं वाऽपि विन्दति॥' (जब तक साक्षात् परमेश्वर की असीम अनुकम्पा नहीं होती तब तक वह सद्गुरु या सत् शास्त्र को नहीं पाता) इत्यादि वचन से ईश्वर के अनुग्रह से प्राप्त होनेवाली मोक्षभाजनता से शोभित महान् लोगों की ही प्रवृत्ति मोक्षसाधन में होती है, सबकी नहीं, ऐसा कहते हैं।

इस लोक में जब पुरुष की मोक्ष के उपाय के विचार में प्रवृत्ति होती है तब वह शीघ्र मोक्षभागी कहा जाता है। प्रवृत्ति का फल मोक्षाभागिता प्रवृत्तिरूप लिंग से अनुमेय है, यह भाव है ॥३६॥

देह, इन्द्रिय और विषय से शून्य केवलीभाव (अद्वैतभाव) में हेतु इस शास्त्र से क्या प्रयोजन

है, देह आदि के रहने पर ही दूसरे उपायों से भी स्वर्गादिसुख हो सकता है, ऐसी शंका कर कहते हैं।

विनाशरहित, किसी प्रकारकी अशुभ आशंका से रहित, स्वस्थतायुक्त एवं विशिष्ट भ्रम से रहित सुख केवलीभाव के बिना तीनों भुवनों में कहीं नहीं है। स्वर्ग आदि विनाशी है, उनमें पतन की शंका सदा बनी रहती है और दूसरे के उत्कर्ष में चित्त अस्वस्थ भी बना रहता है, इसलिए केवली भाव ही पुरुषार्थ है। प्रवृत्ति होने पर केवलीभावकी प्राप्ति होती है। केवलीभाव की प्राप्ति होने पर क्लेश नहीं होता। न धनसम्पत्ति उपकार करती है, न मित्र उपकार करते हैं और न बन्धुबान्धव ही उपकार करते हैं। न प्रणाम आदि, न तीर्थयात्रा आदि, न उपवास, तीर्थवास उपकार करते हैं, केवल एकमात्र श्रवण, मनन तथा निदिध्यासनरूप पुरुषप्रयत्न से एवं द्वैतवासनाविरोधी ब्रह्माकार दृढ़वासना के तुल्य विषयवाले कर्म से साध्य साक्षात्कार से हुए केवल मनोमात्ररूप द्वैतके मूलोच्छेदरूप जय से वह पद प्राप्त किया जाता है। देह, इन्द्रिय आदि से आत्मा का पृथक्करणरूप विवेकमात्र से प्राप्त होनेवाला एवं श्रवण, मनन, निदिध्यासन से असम्भावनादिका निराकरणरूप विचार और एकाग्रता से निश्चय करने के योग्य वह उत्तम पद विषयों का त्याग कर रहे पुरुष द्वारा प्राप्त किया जाता है। सुखसेव्य आसन पर बैठे हुए और स्वयं उसका विचार कर रहे पुरुष को उक्त पद प्राप्त करके न तो शोक होता है और न फिर वह उत्पन्न ही होता है। उसको विद्वान् लोग संसार में साररूप से प्रसिद्ध सुखों के आसारों का (वेगवती वृष्टियों का) मेघरूप परम अवधि कहते हैं और ध्यान करनेवालों में जिससे अत्युत्तम आनन्द रस का आविर्भाव होता है। – ऐसा परम रसायन कहते हैं॥३७–४३॥ स्वर्ग और मनुष्यलोक में सम्पूर्ण भावों के विनाशशील होने से जैसे मृगतृष्णा में जल नहीं होता, वैसे इन दोनों में सुख है ही नहीं। इसलिए शान्ति और सन्तोष का एकमात्र साधन मन के विजय का विचार करना चाहिए। उससे परमात्मा में एकरसतारूप आनन्द प्राप्त होता है। राक्षस, दानव, देवता या मनुष्य को बैठते, चलते, गिरते, घूमते मन के विजय से उत्पन्न तथा प्रफुल्ल (विकसित) शमरूपी (शान्तिरूपी) पुष्पों से युक्त विवेकरूपी उत्कृष्ट वृक्ष का (कल्पवृक्ष का) फल (परम सुख) प्राप्त करना चाहिए॥४४–४७॥

उक्त सुख के प्राप्त होने पर भी फिर व्यवहार में प्रसक्ति होने पर वह नष्ट हो जायेगा, इस शंका पर कहते हैं।

व्यवहार में संलग्न होने पर भी कार्यजन्य फल को न प्राप्त हो रहे पुरुष द्वारा आकाशस्थित सूर्य के समान परिपूर्ण होने पर भी हेय न होने के कारण उक्त परम सुख न तो छोड़ा जाता है और परिपूर्ण होने के कारण न चाहा जाता है अर्थात् जैसे आकाशस्थित सूर्य द्वारा परिपूर्ण होने पर भी कल्पवृक्ष का फल हेय न होने के कारण नहीं छोड़ा जाता और परिपूर्ण होने के कारण वे उसकी अभिलाषा भी नहीं करते, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए॥४८॥

मन के रहने पर चाह क्यों न होगी ? इस पर कहते हैं।

प्रशान्त, अतिनिर्मल, विश्रान्ति–सुख से पूर्ण, भ्रमरहित, स्पृहारहित और अभीष्टशून्य

मन न तो किसी वस्तु की अभिलाषा करता है और न किसीका त्याग करता है। श्रीरामजी, पूर्व में उक्त भी इस समय विस्तारपूर्वक कहे जा रहे मोक्ष के द्वार–पर स्थित इन द्वारपालों को क्रमशः सुनिए, उनमें से एकपर भी आसक्ति होने से मोक्ष के द्वार में प्रवेश प्राप्त हो जाता है ॥४९,५०॥

सर्ग की समाप्ति तक शम का वर्णन करने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

सुख की आशारूप तृषाताप के तुल्य दोषदशा से दीर्घ संसाररूपी मरुमण्डली शम से चन्द्रमा की प्रभा के समान शीतलता को प्राप्त होती है। शम से कल्याण प्राप्त होता है, शम परम पद है, शम शिव है, शम भ्रान्ति का निरास है। शम से तृप्त, शीतल और निर्मल आत्मावाले एवं शम से जिसका चित्त विभूषित है, उसका शत्रु भी मित्र बन जाता है। शमरूपी चन्द्रमा से जिनका आशय अलंकृत है, क्षीरसागरों की नाईं उनमें परमशुद्धता उत्पन्न होती है अर्थात् जैसे क्षीरसागरों में अतिशुभ्रता विराजमान रहती है वैसे ही उनमें शुद्धता का साम्राज्य रहता है। जिन सज्जनों के हृदयरूपी कमलकोषों में शमरूपी कमल विकसित है, दो हृदयकमलवाले वे लोग भगवान् श्रीविष्णु के तुल्य हैं। भाव यह कि विष्णु भगवान् का हृदयकमल ही बाहर ब्रह्मा का आसन है, अतः वह दो प्रकार का है। जिनके कलंकरहित मुखचन्द्र में शम श्री शोभित होती है, अपने सौन्दर्यरूप गुणों से जिन्होंने अन्य लोगों के नेत्र, मन आदि इन्द्रियाँ अपने वश में कर लीं हैं, वे कुलीनशिरोमणि हैं और वन्दनीय हैं। तीनों लोकों के मध्य में स्थित राज्यलक्ष्मी वैसे आनन्द के लिए नहीं होती जैसे कि (केवल आकार से ही) साम्राज्यसम्पत्ति के सदृश (न कि अन्य गुणों से) शम–सम्पत्ति आनन्द के लिए होती है। जो विविध दुःख हैं, दुःसह तृष्णाएँ हैं और दुष्ट मानसिक चिन्ताएँ हैं, वे सब शान्तचित्तवाले पुरुषों में इस प्रकार नाश को प्राप्त होते हैं, जैसे कि अनेक सूर्यों के प्रकाश में अन्धकार विनष्ट हो जाता है। शान्त (शमवान) पुरुष के दर्शन से सब प्राणियों का मन जैसी कौतुकपूर्ण प्रसन्नता को प्राप्त होता है, चन्द्रमा के दर्शन से वैसी प्रसन्नता प्राप्त नहीं होती। शान्तियुक्त और सब प्राणियों में प्रेम करनेवाले सज्जनतम पुरुष में परम तत्त्व स्वयं ही (अनायास) प्रसन्नता को (निर्मलता को) प्राप्त होता है। हे रामजी, जैसे प्राणियों का अपनी माता पर विश्वास होता, वैसे ही क्रूर, कुटिल और मृदु सब प्राणियों का शमवान पुरुष पर विश्वास होता है। पुरुष को इन्द्रपद प्राप्त होने पर अमृत के पान से और भगवान् विष्णु का पद प्राप्त होने पर लक्ष्मी के आलिंगन से वैसा सुख प्राप्त नहीं हो सकता, जैसा कि शम से अन्तःकरण में सुख प्राप्त होता है ॥५१–६२॥

हे रामचन्द्रजी, सम्पूर्ण आधि और व्याधियों से ग्रस्त और तृष्णारूपी रस्सी से आक्रान्त मन को शमरूपी अमृत के सेकों से प्रकृतिस्थ कीजिए। शम से शीतल बुद्धि से जो कुछ कार्य करते हो, जो कुछ भोजन करते हो वह मन को अत्यन्त स्वादु लगता है। उक्त बुद्धि से भिन्न बुद्धि से जो कुछ कर्म किया जाता है एवं भोजन किया जाता है, वह स्वादु नहीं लगता है। हे रामचन्द्रजी, शमरूपी अमृतरस से आप्लावित मन ऐसे आनन्द को प्राप्त होता है कि उससे कटे हुए अंग भी उग जाते हैं, ऐसा मेरा निश्चय है। शमवान पुरुषका न पिशाच, न राक्षस, न

दैत्य, न शत्रु, न बाघ और साँप कोई भी द्वेष नहीं करते। जैसे बाण हीरे को नहीं छेद सकते, वैसे ही उत्कृष्ट शमरूपी अमृतकवच से जिसके सम्पूर्ण अंग–प्रत्यंग सुरक्षित है, उसे सम्पूर्ण दुःख पीड़ित नहीं कर सकते। अपने राजमहल में विराजमान राजाको भी वह शोभा प्राप्त नहीं हो सकती, जो शोभा स्वच्छ और शम से शोभायमान समबुद्धि से युक्त पुरुष को प्राप्त होती है। शान्त अन्तःकरणवाले पुरुष का दर्शन कर मनुष्य को जो अलौकिक आनन्द होता है, वह आनन्द अपने प्राणों से भी प्रियतरजन को देखकर नहीं होता। इस संसार में जो महात्मा शम से शोभित एवं सब लोगों द्वारा प्रशंसित समवृत्ति से सबके साथ सुन्दर वर्ताव करता है, उसीका जीवन सार्थक है, दूसरे का नहीं। शम से परिपूर्ण तथा उद्धतताशून्य मनवाला साधु पुरुष जो कुछ भी कर्म करता है, ये सम्पूर्ण प्राणी उसके उस कर्म की प्रशंसा करते हैं। जो पुरुष प्रिय और अप्रिय को सुनकर, छूकर, देखकर, खाकर और सूँघकर क्रमशः न तो प्रसन्न होता है और न खिन्न होता है, वह शान्त कहा जाता है। जो पुरुष प्रयत्न से इन्द्रियों को जीतकर सब प्राणियों में समान वर्ताव करता है और सुख आदि की न तो इच्छा करता है और न प्राप्त प्रारब्ध का त्याग करता है, वह शान्त कहा जाता है। दूसरे लोगों की कुटिलता को जानकर भी जिसमें बाहर–भीतर एक सी निर्मल बुद्धि से मोक्ष के उपायरूप कर्तव्य कार्य देखे जाते हैं, वह शान्त कहा जाता है। चन्द्रबिम्ब के समान कान्तिवाला जिसका मन मृत्यु, उत्सव और युद्ध में क्रमशः भय, अनुराग और क्रोध से सन्तापरहित रहता है, वह शान्त कहा जाता है। हर्ष और कोप के निमित्तवाले प्रदेशों में स्थित भी जो पुरुष वहाँ स्थित न हुए के तुल्य न हर्ष को प्राप्त होता है और न कोप करता है, किन्तु सुषुप्त पुरुष के समान स्वस्थ रहता है, वह पुरुष शान्त कहा जाता है। जिसकी अमृत के झरने के समान सुखप्रद और प्रसन्न दृष्टि सब जन्तुओं के ऊपर पड़ती है, वह शान्त कहलाता है। अतिशीतल अन्तःकरणवाला जो पुरुष व्यवहार करता हुआ भी सांसारिक विषयों में आसक्त नहीं होता और मूढ़ नहीं है, वह शान्त कहा जाता है। बड़ी–से–बड़ी आपत्तियों में भी तथा दीर्घ कालतक रहनेवाले बड़े–बड़े प्रलय में भी जिसकी नश्वर देह आदि में अहंबुद्धि नहीं होती, वह पुरुष शान्त कहा जाता है। व्यवहार करते हुए भी जिस पुरुष की ब्रह्म के समान समरस या आकाश के समान विकार को प्राप्त न होनेवाली बुद्धि राग द्वेष आदि के सम्पर्क को प्राप्त नहीं होती, वह पुरुष शान्त कहा जाता है ॥६३–८०॥

लोक में सम्पूर्ण गुणों में शम सर्वाधिक श्रेष्ठता से प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

तपस्वियों में, विद्वानों में, यज्ञकर्ताओं में, राजाओं में, बलवान् पुरुषों में एवं अन्यान्य प्रचुर गुणों से विभूषित लोगों में शमयुक्त (शान्त) पुरुष ही अधिक शोभित होता है। जैसे चन्द्रमा से चाँदनी उदित होती है वैसे ही जिन गुणशाली सज्जनों का चित्त शमपूर्ण है, उनके हृदय से आनन्द का स्रोत उद्भूत होता है। सम्पूर्ण गुणों की अवधि (सीमा), पुरुषों का मुख्य भूषण एवं सम्पूर्ण गुणों की सम्पत्ति से युक्त शम संकटों में और भयपूर्ण स्थानों में भी विराजमान रहता है –संकट और भय से पुरुष को मुक्त कर देता। हे रघुनन्दन, दूसरों के द्वारा न चुराया जा सकनेवाला तथा पूज्यजनों द्वारा बड़ी सावधानता से सुरक्षित परम साधनभूत शमरूपी

अमृत के अवलम्बन से अनेक महानुभाव जिस क्रम से परम पद को प्राप्त हुए हैं, आप भी सिद्धि के लिए उसी क्रम का अवलम्बन कीजिए ॥८१–८४॥

तेरहवाँ सर्ग समाप्त

चौदहवाँ सर्ग

साधुसंगम, सत् शास्त्र के अभ्यास और अन्तःकरण की शुद्धि से बुद्धि को प्राप्त एवं शम और सन्तोष के हेतु विचार की प्रशंसा।

पूर्वोक्त रीति से शमनामक पहले मोक्षद्वारपाल का वर्णन कर विचार नामक दूसरे द्वारपाल का वर्णन करनेवाले वसिष्ठजी बोले :

हे श्रीरामचन्द्रजी ! विषय, सन्देह, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त और प्रयोजन का विभागपूर्वक ज्ञान रखनेवाले पुरुष को शास्त्रज्ञान से निर्मल परम पवित्र (विशुद्ध) बुद्धि से नित्य निरन्तर आत्मा का विचार (卐) करना चाहिए ॥१॥ बुद्धि विचार से सूक्ष्म तत्त्व के ग्रहण में निपुण होकर परम पद को देखती है, इसलिए विचार संसाररूपी महारोग की महौषधि है। अनन्त प्रवृत्तियों से चारों ओर से पल्लवित आकारवाला आपत्तिरूपी वन विचाररूपी आरों से काटे जाने पर फिर

卐 विचार पाँच प्रकार के हैं, अर्थ और अनर्थ के कारण का विचार, सार और असार का विचार, हेय और उपादेय का विचार, प्रमाण के तात्पर्य का विचार एवं आत्मतत्त्वविचार। उक्त पाँच प्रकार के विचारों में स्वाभाविक प्रवृत्ति और विषयों में अनर्थकारिता और शास्त्रीय प्रवृत्ति एवं वैराग्य में पुरुषार्थहेतुता है, इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक से परीक्षणरूप प्रथम विचार है। स्त्री, पुत्र और अपनी देह में स्वभाव से, बीज से और परिणाम से अशुचिता, विषमूत्ररूपता और अमंगलता का परीक्षणरूप और ब्रह्मलोकपर्यन्त सम्पूर्ण सुखों में अनित्यत्व तथा दुःखमिश्रितत्व आदि का परीक्षणरूप दूसरा विचार है। ये दोनों वैराग्य और मुमुक्षा के हेतु हैं। मुमुक्षा के अनन्तर भी मोक्षसाधन केवल कर्म है या केवल उपासना है या वे दोनों मिलकर हैं अथवा ज्ञानसमुच्चित कर्म और उपासना मोक्षसाधन हैं अथवा केवल ज्ञान ही मोक्ष का साधन है, इस प्रकार परीक्षणरूप तीसरा विचार है। ज्ञान ही मोक्ष का साधन है, ऐसा मान लेने पर भी सांख्य, वैशेषिक आदि का अभिमत ज्ञान मोक्षका साधन है या केवल श्रौत ज्ञान ही। श्रौत ज्ञान के मोक्षसाधन होने पर भी श्रुतियों का द्वैत में अथवा अद्वैत में, सविशेष या निर्विशेष आत्मा में या अनात्मा में तात्पर्य है, इस प्रकार परीक्षणरूप चौथा विचार है। वह श्रवण कहलाता है। श्रुति आदि प्रमाणों का अद्वितीय सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में तात्पर्य होने पर भी अपनी आत्मा में परमार्थरूप से सच्चिदानन्दघनता हो सकती है या नहीं, इस विषय का रत्नपरीक्षान्याय से अनुभवी गुरु और सतीर्थ्य आदि के संवाद से जीव, ईश्वर और जगत्तत्त्व के परिशोधन से निश्चय होने तक परीक्षणरूप पाँचवाँ विचार है। उक्त पाँच विचारों में से आदि तीन का फल साधन चतुष्टय की सम्पत्ति है और अन्तिम दो का फल क्रमशः प्रमाण और प्रमेय में असम्भावना की निवृत्ति है। प्रथम तीन यद्यपि भाग्यवश स्वतः भी प्राप्त हो जाते हैं, तथापि अपनी प्रतीति को दृढ़ करने के लिए फिर गुरुशास्त्रपूर्वक उनकी प्राप्ति करनी चाहिए। अन्तिम दो तो गुरु और शास्त्र से ही प्राप्त होते हैं, इसीलिए ऊपर श्लोक में सर्वसाधारणरूप से 'शास्त्रावबोधामलया धिया' कहा है।

उत्पन्न नहीं होता। हे महाप्राज्ञ, बन्धुनाश आदि दुःख दूर हो और चित्त में शान्ति आये, वह मोह से व्याप्त है अर्थात् बुद्धि में स्फुरित नहीं होता। वहाँ पर विचार ही सज्जनों का परम आश्रय है अर्थात् उचित कर्तव्य के अनुसन्धान में हेतु है। दुःखसन्तरण के लिए विद्वानों के पास विचार के सिवा और कोई उपाय नहीं है, सज्जनों की मति विचार से अशुभ का त्यागकर शुभ को प्राप्त होती है। बुद्धिमानों के बल, बुद्धि, सामर्थ्य और समयोचित स्फूर्ति, क्रिया और उसका फल ये सब विचार से ही सफल होते हैं। यह युक्त है और वह अयुक्त है, इसके प्रकाशन में महादीपकरूप एवं अभीष्ट वस्तु की सिद्धि करनेवाले प्रचुर विचार का अवलम्बन कर संसाररूप सागर को पार करना चाहिए। हृदयस्थित विवेकरूप कमल को कुचल डालनेवाले महामोहरूपी हाथियों को विशुद्ध विचाररूपी सिंह मार डालता है। संसारसंतरण के उपाय से अनभिज्ञ लोग समय पाकर जो परमपद को प्राप्त हुए हैं, वह विचाररूप प्रदीप का ही उपायप्रकाशनजन्य सर्वोत्तम फल है। हे राघव, बड़े बड़े राज्य महती सम्पत्तियाँ भोग और अविनाशी मोक्ष ये सब विचाररूपी कल्पवृक्ष के फल है। इस संसार में महापुरुषों की विवेक से विकसित जो मतियाँ हैं वे जल में फेंकी गई तुम्बियों के समान विपत्ति में विषाद को प्राप्त नहीं होती। जो लोग विचार को उत्पन्न करनेवाली (विचारवती) बुद्धि से व्यवहार करते हैं, वे लोग अतिश्रेष्ठ फलों के पात्र होते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। विविध दुःख मूर्खों के हृदयरूपी वन में स्थित तथा मुमुक्षा को (मुक्ति की इच्छा के) सर्व प्रथम रोकनेवाले अविचाररूपी करंज वृक्ष की मंजरियाँ हैं अर्थात् जैसे करंज वृक्ष वन में उगते हैं और अपने बढ़ाव से दिशाओं को रोकते हैं वैसे ही अविचार मूर्खजनों के हृदय में वास करता है और मोक्ष की आशा को रोक देता है। उसी अविचार का फल दुःख है। हे रघुवंशमणे, आपकी अंजन के चूर्ण के ढ़ेर के समान काली और मदिरा (शराब) के नशे में होनेवाले चिह्नों से–भ्रम और स्खलन आदिसे–युक्त अविचाररूपी नींद नाश को प्राप्त हो। जैसे सूर्य निविड़ अन्धकारों में भी निमग्न नहीं होता, किन्तु स्वयं अन्धकार का विनाश कर सदा प्रकाशमान रहता है, वैसे ही सद्‌विचार में तत्पर पुरुष बड़ी–बड़ी आपत्तियों से युकत एवं अतिविस्तारयुक्त अज्ञानों में निमग्न नहीं होता। जिसके अतिनिर्मल मनरूपी तालाब में विचाररूप कमलराशि खिल जाती है, वह हिमालय की भाँति शोभा को प्राप्त होता है। अर्थात् शीलता, उन्नतता, स्थिरता आदि गुणों से हिमालय के सदृश शोभित होता है। हिमालय में भी निर्मल मानस सरोवर है और उसमें सदा कमल खिले रहते हैं। मूढ़ता को प्राप्त हुए जिस पुरुष की बुद्धि विचारशून्य है, उसके लिए चन्द्रमा से वज्र उत्पन्न होता है, जैसे मूर्खतावश बालक के लिए यक्ष (वेताल) उत्पन्न होता है। भाव यह है कि मन का देवता चन्द्रमा है और मन चन्द्रमा की नाईं प्रकाश के योग्य है, इसलिए मन में चांदनी के तुल्य ज्ञानजन्य सुख का ही आविर्भाव होना उचित है। जिस मूर्ख के मन में शोक, दुःख की उत्पत्ति होती है, उसके लिए चन्द्रमासे भी वज्र उत्पन्न होता है, जैसे कि बालक की मूर्खता से वेताल उत्पन्न होता है। विवेकशून्य अधम पुरुष निरन्तर दुःख–बीजों को रखने के लिए बनाया गया अति विशाल कुसूल (कोटिला) है एवं विपत्तिरूपी नवीन लताओं के विकास

का कारण वसन्त है, ऐसे अधम पुरुष का दूर से त्याग कर देना चाहिए। जो कोई अपने को और दूसरों को दुःख देनेवाले कार्य हैं, जो कोई निषिद्ध कार्य है और जो मानसिक पीड़ाएँ हैं, वे सब अन्धकार से वेताल की नाईं अविचार से (अविवेक से) ही उत्पन्न होते हैं। हे रघुकुलतिलक, जिस पुरुष में विवेक नहीं है, वह निर्जन स्थान में उगे हुए वनवृक्ष के सदृश है और पुरुषार्थ के उपयोगी सत्कर्म करने में असमर्थ है, उससे सदा दूर रहना चाहिए निर्जन स्थान में उत्पन्न वृक्ष भी सज्जन बटोहियों (पथिकों) को छाया में आश्रय देना आदि कार्यों में असमर्थ रहता है। विचारपूर्ण अतएव आशा की अधीनता से विमुक्त अधिकारी प्राणियों का मन पूर्णचन्द्र की नाईं आत्मा में परम विश्रामसुख को प्राप्त होता है। जैसे उदित हुई चाँदनी अत्यन्त शोभा कर देती है और जल प्यासे प्राणी को शीतल कर देता है, वैसे ही देह में जब विवेकशीलता उदित होती है, तब वह सबको अत्यन्त विभूषित कर देती है और शीतल कर देती है। जैसे रात्रि में चन्द्रमा शोभित होता है अर्थात् रात्रि का असाधारण चिह्न चन्द्रमा शोभित होता है, वैसे ही अधिकारी ब्राह्मण आदि कुल में जन्म लिए हुए पुरुष की सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थरूप (मोक्षरूप) राजत्वप्राप्ति की सूचिका होने के कारण पताकाभूत शुद्ध बुद्धि का विचार चँवर–सा (असाधारण राजचिह्न–सा) शोभित होता है। विचार से ही क्रमशः जीवन्मुक्त हुए जीव दसों दिशाओं को देदीप्यमान करते हुए सूर्य के तुल्य सुशोभित होते हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है, अपने प्रकाश से सूर्य अन्धकार का विनाश करते हैं और ये विचाररूपी प्रकाशसे अनेक प्राणियों के संसार–रूपी अन्धकारका विनाश करते हैं। जैसे रात्रि में बालकको बाहर न निकलने देने के लिए आकाश में कल्पित प्राणनाशक वेताल विचार से विनष्ट हो जाता है, वैसे ही अपने मन के अज्ञान से कल्पित स्वरूप का विनाशक यह संसार विचार से विलीन हो जाता है। जगत के सभी पदार्थ अविचार न करने से ही भले लगते हैं, सत्य पदार्थ की नाईं सुन्दर लगते हैं, वास्तव में उनका अस्तित्व नहीं है, इसीलिए वे विचार करने से पत्थर से तोड़े गये मिट्टी के ढेले की नाईं तहस–नहस हो जाते हैं, मिथ्या प्रतीत हो जाते हैं। यह संसाररूपी पुराना वेताल बड़ा दुःखप्रद है, पुरुषने अपने मन में स्थित अज्ञान से इसकी कल्पना कर रक्खी है, यह विचार करने से विलीन हो जाता है ॥२–२७॥

विचार का फल केवल भय की निवृत्ति ही नहीं है, किन्तु निरतिशय आनन्द की प्राप्ति भी उसका फल है, ऐसा कहते हैं।

ब्रह्मकैवल्य को उत्तम फल जानो, जो कैवल्य सुखरूप है, जिसमें जगत् की विषमता का तनिक भी सम्पर्क नहीं है, जिसका कभी बाध नहीं होता और जो दूसरे के आधीन नहीं है। जैसे चन्द्रमा के उदय से शीतता का उदय होता है, वैसे ही विचार से उत्पन्न निरतिशय आनन्द के बल से चंचलता के कारण अज्ञान का विनाश होने पर निश्चल स्थिति से उदार आनन्दपूर्णतारूप निष्कामता का उदय होता है। अचल स्थिति ही सर्वश्रेष्ठ है। उक्त अचल स्थिति को देनेवाली चित्त में स्थित आत्मविचाररूपी महौषधि से सिद्ध हुआ पुरुष न तो अप्राप्त वस्तु की इच्छा करता है और न प्राप्त का त्याग करता है, कृतकृत्य हो जाता

है, यह अर्थ है ॥२८–३०॥

यदि चित्त विचार से उत्पन्न ज्ञान से नष्ट हो गया, तो जीवन ही नहीं रहेगा, यदि नष्ट न हुआ, तो फिर नाना विक्षेपों को उत्पन्न करेगा, ऐसी परिस्थिति में कृतकृत्यता तो मृगतृष्णा ही ठहरी, इस शंका पर कहते हैं।

सच्चित् आनन्दघन परब्रह्म परमात्मा में लगे हुए अतएव अत्यन्त आभासता को प्राप्त हुए (जैसे भूँजे हुए बीज बीजाभास हो जाते हैं अर्थात् उनमें अंकुर पैदा करने की सामर्थ्य नहीं रह जाती, वैसे ही आभासता को प्राप्त हुए) चित्तविक्षेपहेतु वासनाएँ आकाश की नाईं अति विस्तीर्ण ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाती हैं, अतएव वह न तो विनाश को प्राप्त होता है जिससे कि जीवन ही न रहे और न राग, द्वेष आदि वृत्तियों से फिर उदय को ही प्राप्त होता है, जिससे कि विक्षेप हों (✍)। क्योंकि ब्रह्मवेत्ता पुरुष विशाल जगत् को (जगत् में स्थित विविध विषयों को) केवल उदासीनता से देखता रहता है, उनमें आसक्त होकर मन नहीं लगाता केवल उदासीनता से देखता रहता है, उनमें आसक्त होकर मन नहीं लगाता और न सत्य या पुरुषार्थ समझ कर उनका उपभोग ही करता है और न सुषुप्ति अवस्था की तरह उपाधि की शान्ति से शान्त होता है, न स्वप्न की नाईं मनोवासनामय पदार्थों में आसक्त होता है और न मूढ़ जनों की जाग्रत् अवस्था के सदृश बाह्य विषयों के फन्दे में फँसता है तथा नैष्कर्म्यका अवलम्बन करता है और न कर्मों में ही उलझा रहता है। ब्रह्मज्ञ पुरुष पूर्ण सागर के समान शोभित होता है, वह गई हुई (नष्ट हुई) वस्तु की उपेक्षा कर देता है अर्थात् उसकी प्राप्ति के लिए यत्न नहीं करता और प्राप्त वस्तु का अनुसरण करता है, उसे क्षोभ नहीं होता और निश्चल नही होता है अर्थात् स्वाभाविक व्यवहार का त्याग करता हुआ निश्चल नहीं होता है। (समुद्र पक्ष में) समुद्र भी गये हुए लक्ष्मी, कौस्तुभमणि आदि वस्तु की उपेक्षा करता है, प्राप्त अन्यान्य रत्नों से अपना व्यवहार करता है, उसे मर्यादात्याग पर्यन्त क्षुब्धता नहीं होती और वह निश्चल भी नहीं होता। इस प्रकार पूर्ण मन से युक्त इसी शरीर में अनुभव में आ रहे जीवब्रह्मैक्यरूप योगवाले जीवन्मुक्त उदार महात्मा इस जगत् में विहार करते हैं, विचरते हैं। वे धीर महात्मा अपनी इच्छानुसार चिरकालतक इस संसार में निवास कर अन्त में देह, इन्द्रिय आदि उपाधि का त्याग कर अपिरिच्छिन्न विदेहकैवल्य को प्राप्त होते हैं। बुद्धिमान् पुरुष को आपत्ति में भी (कुटुम्ब आदि फन्दे में फँसे रहने पर भी) मैं कौन हूँ, यह संसार किसका है ? यों संसार से छुटकारा पाने के उपाय श्रवण आदि के अनुष्ठान के साथ स्वयं ही प्रयत्नपूर्वक विचार करना चाहिए। हे श्रीरामचन्द्रजी, राजा सफल चाहे निष्फल अवश्य कर्तव्य सन्धि, विग्रह आदि का निश्चय विचार से ही करता है, विचार के सिवा उसका

✍ अथवा इस श्लोक का अर्थ यों करना चाहिए। परब्रह्म परमात्मा में संलग्न अतएव ब्रह्मभाव को प्राप्त हुआ चित्त भूँजे हुए बीजों के समान न तो उगता है, जिससे कि विक्षेप का डर हो और न अनादि वासना से दृढ़ हुआ चित्त विषयसंस्कार से विनाश को ही प्राप्त होता है जिससे कि जीवन का असंभव हो।

निश्चायक दूसरा मार्ग नहीं है। जैसे रात्रि में घट, पट आदि पदार्थों का परिज्ञान दीपक से होता है, वैसे ही पुरुषार्थप्राप्ति के हेतु वेद और वेदान्तसिद्धान्त के सारभूत धर्म तथा ब्रह्मतत्त्व का निर्णय विचार से ही किया जाता हैं। विचाररूपी सुन्दर नेत्र अन्धकार में नष्ट–सा (व्यर्थ–सा) नहीं होता, अति तेजस्वी सूर्य आदि में कुण्ठित नहीं होता एवं जो वस्तु सामने नहीं है, व्यवहित है उसे भी देख लेता है। प्रसिद्ध नेत्र अन्धकार में नष्ट से हो जाते हैं प्रचुर तेजवाले सूर्य आदि को नहीं देख सकते, चकाचौंध होने के कारण कुण्ठित हो जाते हैं, एवं जो वस्तु व्यवहित है और दूर है उसे नहीं देख सकते। जो पुरुष विवेकान्ध (विवेकरूपी नेत्रों से हीन) है वह जन्मान्ध है, उस दुर्मति के लिए सब शोक करते हैं, जिस पुरुष को विवेक आत्मा की नाईं प्रिय है, वह दिव्यचक्षु है वह सम्पूर्ण वस्तुओं में श्रेष्ठ है, अर्थात् वह आपत्तियों पर विजय पाता है अथवा परम पुरुषार्थ (मोक्ष) को प्राप्त करता है ॥३१–४१॥

विचारों में भी जो सारभूत (श्रेष्ठतम) विचार है, उसका निर्देश करते हैं।

परमात्मप्राय (सदा परमात्मा में संलग्न) महान् आनन्द की एकमात्र साधन आदरणीय विचारधारा का एक क्षण के लिए भी परित्याग नहीं करना चाहिए। जैसे परिपाक होने के कारण अत्यन्त माधुर्य से युक्त आम का फल महापुरुषों को भी अच्छा लगता है, वैसे ही विचार से रमणीय पुरुष तत्त्वज्ञोंको भी अच्छा लगता है, जिज्ञासुओं की तो बात ही क्या है ? विचार से जिनकी मति अतिनिमर्ल है और विचार से ही जिन्हें ज्ञानमार्ग में गमन ज्ञात है, वे अनेक दुःखमय गर्तों में (जन्म–मरणपरम्परा में) बार–बार नहीं गिरते। रोग, विष, शस्त्र की चोट आदि सैकड़ों दुःखों से शिथिल शरीरवाला रोगी वैसा नहीं रोता जैसा कि अविचार से जिसने अपनी आत्मा का प्रायः हनन कर दिया है, वह मूर्ख पुरुष विविध जन्म–मरण परम्पराओं में रोता है। कीचड़ में मेंढ़क बनना अच्छा है, विष्ठा का कीड़ा बनना अच्छा है और अँधेरी गुफा में साँप होना अच्छा है, पर मनुष्य का अविचारी होना अच्छा नहीं है। अविचार सम्पूर्ण क्लेशों का अपना निजी घर है, सम्पूर्ण सज्जनों द्वारा तिरस्कृत है, एवं समस्त दुर्गातियों की चरम सीमा है, इसलिए उसका परित्याग कर देना चाहिए। महात्मा पुरुष को सदा विचारशील होना चाहिए, लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि अन्धकूपरूप राग द्वेष आदि में गिर रहे लोगों का विचार अवलम्बन है। विचारपूर्वक स्वयं ही अपने आत्मा से राग, द्वेषादि प्रवाह में गिर रहे अपने आत्मा को जबरदस्ती स्थिरकर संसाररागरूपी सागर से अपने मनरूपी मृग को उतारना चाहिए ॥४२–४९॥

विचार के स्वरूप को दिखलाते हैं।

मैं कौन हूँ (क्या देह आदि ही मैं हूँ या उनसे विलक्षण हूँ यों त्वं पदार्थ का विचार) और यह संसारनाम का दोष मुझे कैसे प्राप्त हुआ (यह संसाररूप दोष अधिष्ठान–ब्रह्म–में कैसे आ गया, यों तत्पदार्थका विचार) श्रुति, मुनि आचार्य तथा साम्प्रदायिक पुरुषों द्वारा प्रदर्शित न्याय से इस प्रकार परामर्श विचार कहलाता है। ब्रह्मा ने पत्थर का और अविचारशील दुर्बुद्धि का हृदय दुःख के (क्लेश के) लिए ही बनाया है, (पत्थर के पक्ष में) घन से छेदन

आदि क्लेश से होनेवाले दुष्ट छेद के लिए ही बनाया है, अन्यत्र उसका कोई भी उपयोग नहीं है, क्योंकि वह अन्धे से भी अन्धा और मोह से अत्यन्त घना है। अन्धा देखे बिना कुएँ में गिरता है, दुर्बुद्धि का मन देखकर भी मोहवश नरक में गिरता है। (पत्थर के पक्ष में) जड़ होने से अन्धे से भी अन्धा है और कठोर होने से मोह से भी अधिक घना है। हे श्रीरामचन्द्रजी, इस व्यवहारभूमि में सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग को देख रहे विद्वानों को विचार के बिना उत्तम तत्त्व कुछ भी प्रतीत नहीं होता। विचार से तत्त्व का ज्ञान होता है, तत्त्वज्ञानसे विश्रान्ति (मनकी निश्चलता) होती है। विश्रान्ति से मन में जो शान्ति प्राप्त होती है, वही सम्पूर्ण दुःखों का विनाश है ॥५०–५३॥

विस्तारपूर्वक कहे गये विचार का ही संक्षेपतः उपसंहार करते हैं –

श्रीरामजी, अतः पृथिवी में सभी लोग स्फुट विचारदृष्टि से ही वैदिक और लौकिक कर्मों में सफलता प्राप्त करते हैं, आत्मतत्त्व की आगे कही जानेवाली सप्तम भूमिकारूप उत्तम प्रकटता भी विचार से ही प्राप्त करते हैं, इसलिए शम, दम आदि साधनसम्पत्ति से युक्त आपको उक्त विचारशीलता रूचिकर हो ॥५४॥

चौदहवाँ सर्ग समाप्त

पन्द्रहवाँ सर्ग

वैराग्यकल्पवृक्ष की छाया के समान सुखकर शीतल तीसरे द्वारपाल सन्तोष का वर्णन।

क्रम प्राप्त तीसरे द्वारपाल सन्तोष का वर्णन करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे शत्रुतापन श्रीरामजी, सन्तोष परम श्रेय (मोक्षसुख) कहा जाता है और सन्तोष स्वर्गसुख भी कहा जाता है, क्योंकि सन्तोषयुक्त पुरुष असीम विश्रान्तिसुख को प्राप्त होता है अर्थात् उसका विक्षेपदुःख सर्वथा निवृत्त हो जाता है। सन्तोषरूपी ऐश्वर्य से सुखी तथा चिरकाल से विश्रान्तिपूर्ण चित्तवाले शान्त पुरुषों को विशाल साम्राज्य भी पुराने तिनके का टुकड़ा–सा प्रतीत होता है, तुच्छ लगता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, सन्तोषशालिनी बुद्धि दारिद्रता,वियोग आदि से संकटपूर्ण सांसारिक जीवन में भी उद्वेगयुक्त न होकर कभी भी सुख से विरहित नहीं होती। जो शान्त पुरुष सन्तोषरूपी अमृत के पान से तृप्त हुए हैं, उनको यह अतुल विषयभोगसम्पत्ति प्रतिकूल विष–सी लगती है। प्रचुर आनन्ददायक आस्वाद से युक्त तथा आशा, दीनता आदि दोषों का विनाशक सन्तोष जैसा सुख देता है, वैसा सुख ये अमृत–रस की लहरें नहीं देती। हे राघव, अप्राप्त वस्तु की आकांक्षाका त्याग करनेवाला, वस्तु के प्राप्त होने पर भी उसके मिथ्या होने के कारण पूर्ववस्था के (अप्राप्त अवस्था के) तुल्य अवस्था को प्राप्त अथवा उसकी प्राप्ति से होनेवाले हर्ष आदि के अभाव के कारण समता को प्राप्त और जिसमें कभी खेद और हर्ष नहीं देखे गये ऐसा पुरुष इस लोक में सन्तुष्ट कहा जाता है। जब तक मन स्वतः ही (किसी अन्य निमित्त से नहीं) आत्मा में ही (अन्य विषयों में नहीं) नहीं जाता तब तक मनरूपी बिल से लता की भाँति विविध आपत्तियाँ उत्पन्न

होती हैं अर्थात् जैसे गर्त से लताएँ पैदा होती हैं, वैसे ही मन से आपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। जैसे जल में स्थित कमल सूर्य की किरणों से अत्यन्त विकास को प्राप्त होता है, वैसे ही सन्तोष से शीतल चित्त शुद्ध विज्ञानदृष्टि से अत्यन्त विकास को प्राप्त होता है। जैसे म्लान (जल, धूलि और भाप से मलिन) दर्पण में मुख प्रतिबिम्बित नहीं होता, वैसे ही आशाकी परवशता से व्याकुल तथा सन्तोषशून्य चित्त में ज्ञान प्रतिबिम्बित नहीं होता। जिस मनुष्य रूपी कमल के विकास के लिए पूर्वोक्त सन्तोषरूपी सूर्य नित्य उदित है, वह मनुष्यरूपी कमल अज्ञानरूपी घनान्धकारयुक्त रात्रि से संकोच को प्राप्त नहीं होता। जिसका आधि और व्याधि से (दैहिक क्लेश और मानसिक क्लेश से) विमुक्त मन सन्तुष्ट है, वह प्राणी दरिद्र होता हुआ भी साम्राज्य सुख का भोग करता है ॥१-११॥

सन्तोष के पूर्वोक्त लक्षण का अनुवाद कर अन्य लक्षण कहते हैं।

जो पुरुष अप्राप्त विषय की अभिलाषा नहीं करता, क्रमशः प्राप्त सुख और दुःख का भोग करता है जगत् को आनन्द देनेवाले सदाचार से युक्त वह पुरुष सन्तुष्ट कहा जाता है ॥१२॥

मुखकान्ति की विशिष्टता भी उसका लक्षण है, ऐसा कहते हैं –

सन्तोष से अत्यन्त तृप्त पूर्णचित्तवाले और क्षीरसागर के समान शुद्ध महापुरुष के मुखपर लक्ष्मी सदा विराजमान रहती है। अपनी आत्मा में आत्मा से ही निरतिशयानन्दरूप पूर्णता का अवलम्बन कर पौरुष प्रयत्न से सम्पूर्ण विषयों की तृष्णा का त्याग कर देना चाहिए। क्रोध और सन्ताप के हेतु के न रहने के कारण शान्त और शीतल बुद्धि से चन्द्रमा के समान सन्तोषरूप अमृत से पूर्ण मनुष्य का मन सदा स्वयं स्थिरता को प्राप्त होता है। बड़ी बड़ी सम्पत्तियाँ, मृत्यु की तरह सन्तोष से जिसका मन परिपुष्ट है, ऐसे पुरुष के पास स्वयं प्राप्त होती हैं। यानी उसकी सेविकाएँ बन जाती है। जैसे वर्षाऋतु में धूलिकण स्वयं शीघ्र शान्त हो जाते हैं, वैसे ही अपनी आत्मा से आत्मा में सन्तुष्ट स्वस्थ पुरुष में सम्पूर्ण मानसिक व्यथाएँ शान्त हो जाती हैं ॥१३-१७॥

ऐसा होने पर भी आवरणरूप दुःखबीज से जो दुःख होता है, वह तो होगा ही। इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, पुरुष नित्य शीतल और कलंक से शून्य शुद्ध वृत्तिरूपी पूर्णता से चन्द्रमा के समान शोभित होता है। अर्थात् जैसे अमावस्या के दिन क्षीण चन्द्रमा कलंक से भिन्न नहीं दिखाई देता, अतः कलंक में मग्न-सा हो जाता है और सूर्य के समीप में उसकी शीतल वृत्ति नहीं रहती, वही चन्द्रमा पौर्णमासी के दिन सोलहों कलाओं से पूर्ण होने से कलंक का भी भासक होने के कारण कलंक से पृथक् हुई शुद्ध वृत्ति से शोभित होता है, वैसे ही पुरुष भी असन्तोषावस्था में अज्ञानरूपी कलंक में मग्न की नाईं आध्यात्मिक आदि तीनों तापों से जलाया-सा जाता है और सन्तोषामृतरूपी कलाओं से पूर्ण होने पर अज्ञानरूपी कलंक का साक्षी होने के कारण उससे अस्पृष्ट आत्मसुख से शीतल वृत्ति से शोभित होता है। जैसे पुरुष समता से सुन्दर पुरुष के मुख को देखकर सन्तोष को प्राप्त होता है, वैसे धन

के संचय से सन्तोष को प्राप्त नहीं होता । हे रघुनन्दन, जो पुरुषश्रेष्ठ इस लोक में गुणशाली पुरुषों द्वारा प्रशंसित समता से अलंकृत है, उसको आकाशचारी देवता और महामुनि भी बड़े भक्तिभाव से प्रणाम करते हैं ॥१८-२०॥

पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

सोलहवाँ सर्ग

साधुसंगतिरूप चतुर्थ द्वारपाल का वर्णन तथा चारों में से प्रत्येक के सेवन में भी पुरुषार्थहेतुता का वर्णन।

साधुसमागमरूप चतुर्थ द्वारपाल का वर्णन कर रहे और चारों में से प्रत्येक के विषय में किया गया प्रबल पुरुषप्रयत्न पुरुषार्थपद है, ऐसा दर्शाते हुए श्रीवसिष्ठजी बोले :

हे महामते, इस लोक में श्रेष्ठ साधुसमागम मनुष्यों के संसारसागर से उत्तरण में विशेषरूप से सब जगहों में (सम्पूर्ण अवस्थाओं में) उपकार करता है। साधुसंगतिरूपी वृक्ष के उत्पन्न हुए विवेकरूपी सफेद फूल की जो महात्मा रक्षा करते हैं, वे मोक्षफलरूप सम्पत्ति के भाजन होते हैं। साधु पुरुषों का समागम होने पर आत्मीय जन और धन से शून्य दुःखपूर्ण स्थान धन और जन से परिपूर्ण हो जाता है, मृत्यु भी उत्सव में परिणत हो जाती है और आपत्तियाँ सम्पत्तियों की तरह मालूम होती है । इस संसार में आपत्तिरूपी कमलिनी के लिए हेमन्त ऋतुरूप और मोहरूपी कुहरे के लिए वायुरूप केवल श्रेष्ठ साधुसमागम ही सर्वोत्कृष्ट है। हे रामचन्द्रजी, आप साधुसमागम को बुद्धि को अत्यन्त बढ़ानेवाला, अज्ञानरूपी वृक्ष का उच्छेद करनेवाला और मानसिक व्याथाओं को दूर करनेवाला जानिए। जैसे उद्यान को सींचने से फल-फूलों के गुच्छे प्राप्त होते हैं, वैसे ही साधुसंगम से मनोहर और निर्मल विवेकरूपी परम दीप उत्पन्न होता है। साधुसंगतिरूपी विभूतियाँ नित्य बढ़नेवाले अविनाशी और बाध रहित उत्तम सुख को देती हैं। कितनी ही बड़ी आपत्ति को प्राप्त क्यों न हो और कितनी ही बड़ी पराधीनता को प्राप्त क्यों न हों फिर भी मनुष्यों को क्षणभर के लिए भी साधु संगति का त्याग नहीं करना चाहिए। साधुसंगति सन्मार्ग की दीपक है और हृदयान्धकार को दूर करनेवाली ज्ञानरूपी सूर्य की प्रभा है। जिसने शीतल और स्वच्छ साधुसंगतिरूपी गंगा में स्नान किया है, उसको दानों से, तीर्थों से, तपस्याओं से और यज्ञों से क्या प्रयोजन है ? जिनके राग नष्ट हो गये हैं, सन्देह कट चुके हैं एवं चिद्‌जड़ग्रन्थि नष्ट हो चुकी हैं, ऐसे साधु पुरुष यदि विद्यमान हैं, तो तप और तीर्थ करने से क्या प्रयोजन है ? जैसे दरिद्र पुरुष मणियों को बड़े प्रेम से देखते हैं, वैसे ही जिनका चित्त विश्रान्तिसुख से परिपूर्ण है, ऐसे धन्य साधु पुरुषों के बड़े प्रयत्न से दर्शन करने चाहिए। जैसे अप्सराओं के समूह में विष्णु के समागम और अपनी सर्वोत्कृष्ट सुन्दरता से युक्त लक्ष्मी शोभित होती है, वैसे ही जिन बुद्धिमानों की मति सत्समागम रूप सौन्दर्य से युक्त है, वह भी सदा विराजमान रहती है। जिस धन्य पुरुष ने साधुसंगति का परित्याग नहीं किया, ब्रह्म की प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर रहे लोगों में ब्रह्म की प्रथम प्राप्ति से वह अपनी

शिरोभूषणता (सर्वोत्कृष्टता) प्रसिद्ध कर लेता है। जिनकी अन्तःकरण और उसके धर्मों में तादात्म्यसंसर्गाध्यासरूप चिद्जड़–ग्रन्थि छिन्न–भिन्न हो गई है, उन ब्रह्मज्ञानी एवं सर्वसम्मत साधुओं की दान, सम्मान, सेवा आदि सब प्रयत्नों से सेवा करनी चाहिए, क्योंकि वे लोग भवसागर में डूबे हुए लोगों के तारण के उपाय हैं। जिन लोगों ने नरकरूपी अग्नि को बुझाने के लिए जल बरसानेवाले मेघरूप सन्त–महात्माओं को तिरस्कार की दृष्टि से देखा, वे लोग नरकरूपी अग्नि की सूखी लकड़ी बन गये, अर्थात् सूखी लकड़ियों की नाईं नरकाग्नि ने उन्हें जला डाला। सज्जनसंगतिरूपी औषधियों से दरिद्रता, मृत्यु, दुःख आदि विषयक सन्निपात समूल नष्ट हो जाता है ॥१–१७॥

सम्पूर्ण द्वारपालों की एक ही साथ प्रशंसा करने की इच्छा से पूर्वोक्त का अनुवाद करते हैं।

सन्तोष, सत्संगति, विचार और शान्ति ये ही चार संसारसागर में मग्न हुए लोगों के तरने के उपाय हैं। सन्तोष सम्पूर्ण लाभों में सर्वश्रेष्ठ लाभ है, सत्संगति परम गति है, विचार परम ज्ञान है और शम परम सुख है अर्थात् सन्तोष के तुल्य कोई लाभ नहीं है, सत्संग के तुल्य कोई गति नहीं है, आत्मविचार के समान ज्ञान नहीं है और शान्ति के तुल्य और सुख नहीं है। ये चार संसार के समूल विनाश के लिए निर्मल उपाय हैं, इनका जिन्होंने खूब अभ्यास किया, वे मोहरूपी जल से लबालब भरे हुए संसारसागर से तर गये ॥१८–२०॥

यदि सबका अभ्यास करने की सामर्थ्य न हो, तो एक के उत्तम अभ्यास से भी चारों का अभ्यास हो जाता है, ऐसा कहते हैं।

हे मतिमानों में श्रेष्ठ, उनमें से निर्मल उदयवाले एकका अभ्यास होने पर भी शेष चारों का अभ्यास हो जाता है। एक–एक भी इन सबकी उत्पत्तिभूमि है, जनक है, अतः सबकी सिद्धि के लिए एक का प्रयत्नपूर्वक आश्रय लेना चाहिए। जैसे तरंगों से शून्य (प्रशान्त) सागर में बड़े–बड़े व्यापारिक जहाज बिना किसी धक्का–मुक्की के बड़ी सावधानी से चलते हैं, वैसे ही शान्ति से स्वच्छ पुरुष में सत्संगति, सन्तोष और विचार बड़ी सावधानी से प्रवृत्त होते हैं। जैसे कल्पवृक्ष के आश्रय में स्थित पुरुष को लौकिक सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं, वैसे ही विचार, सन्तोष, शान्ति और साधुसंगति से सुशोभित पुरुष को ज्ञानसम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं। जैसे परिपूर्ण पूर्णिमा में सौन्दर्य आदि गुण प्राप्त होते हैं, वैसे ही विचार, शान्ति, सत्संगति और सन्तोष से युक्त मनुष्य में प्रसाद आदि गुण प्राप्त होते हैं। जो राजा सदा विचार के लिए मन्त्रियों को निमन्त्रित करता है या मन्त्रित सन्धि, विग्रह आदि पदार्थों को गुप्त रखता है, उस राजा को जैसे विजयलक्ष्मी प्राप्त होती है, वैसे ही सत्संग, सन्तोष, शान्ति और विचार से युक्त सद्बुद्धि पुरुष को ज्ञानसम्पत्ति प्राप्त होती है। इसलिए हे रघुकुलतिलक, पुरुषप्रयत्न से मन को नित्य अपने वश में कर इनमें से एक गुण का प्रयत्नपूर्वक उपार्जन करना चाहिए। प्रयत्नपूर्वक अपने चित्तरूपी हाथी को अपने वश में कर जबतक हृदय में एक गुण की प्राप्ति नहीं की जाती तबतक उत्तम गति दुर्लभ है। हे श्रीरामजी, जबतक आपका चित्त गुणों के उपार्जन के लिए आग्रहवान् न हो, तबतक प्रयत्नपूर्वक दाँतों को दाँतों से पीसना चाहिए

अर्थात् गुणार्जन के लिए अत्यन्त उद्योग करना चाहिए ॥२१–२९॥

सात्त्विक देव आदि जन्म के लिए प्रयत्न करना चाहिए, देव आदि जन्म प्राप्त होने पर बिना परिश्रम के ज्ञान होगा , इस शंका पर कहते हैं।

हे महाबाहो, आप चाहे देवता होइए या यक्ष होइए, पुरुष होइए अथवा वृक्ष होइए पर जब तक आपका चित्त गुणों के उपार्जन के लिए आग्रहवान् न होगा तब तक उत्तम गति का कोई उपाय नहीं है। फलदायक एक ही गुण के दृढ़ होने पर दोषाधीन चित्त के सम्पूर्ण दोष शीघ्र ही क्षीण हो जाते हैं ॥३०,३१॥

परस्पर विरोधियों में एककी वृद्धि होने पर उसके सजातीय कुल की वृद्धि होने से अन्य का क्षीण होना प्रसिद्ध ही है, ऐसा कहते हैं।

गुणों की अभिवृद्धि होने पर दोषों पर विजय पानेवाले गुणों की वृद्धि होती है और दोषों के बढ़ने पर गुणविनाशक दोष बढ़ते हैं। इस मनोमोहरूपी वन में, सब प्राणियों में वेगवती वासनारूपी नदी सदा बहती है, पुण्य और पाप उसके बड़े–बड़े तट हैं। अपने प्रयत्न से दूसरे तट का निरोध कर उक्त वासनारूपी नदी जिस तट की ओर फेंकी जाती है, उसी तट से बहती है, अतएव हे रामजी, आपको जैसा अभीष्ट हो, वैसा कीजिए। हे शुभमते, आप अपनी वासनारूपी नदी को मनरूपी वन में क्रमशः पुण्य तट की ओर प्रवृत्त कीजिए, ऐसा करने से आप तनिक भी पापप्रवाह से नहीं बहाये जायेंगे ॥३२–३५॥

सोलहवाँ सर्ग समाप्त

सत्रहवाँ सर्ग

प्रकरणों के क्रम से ग्रन्थसंख्या का वर्णन।

इस प्रकार साधनों का वर्णन कर उक्त साधनों से सम्पन्न पुरुष को प्रस्तुत ग्रन्थ के श्रवण आदि से पुरुषार्थ–प्राप्ति दर्शा रहे श्रीवसिष्ठजी ग्रन्थप्रवृत्ति के क्रम का, प्रकरण आदि के विभाग से, वर्णन करने के लिए उपक्रम करते हैं।

पूर्वोक्त प्रकरण का विवेक (विवेक आदि गुणों की सम्पत्ति) जिसे प्राप्त हो गया है, वह पुरुष महान् है। जैसे राजा नीतिशास्त्र सुनने का अधिकारी है, वैसे ही वह भी ज्ञान की वाणी सुनने का अधिकारी है। जैसे मेघ के संसर्ग से विमुक्त आकाश शरत्काल के चन्द्रमा के योग्य होता है, वैसे ही मूर्खों के संग से मुक्त एवं निर्मल उदार पुरुष निर्दोष को (परम ब्रह्म को) प्रकाशित करनेवाले विचार का योग्य भाजन है ॥१,२॥

श्रीरामचन्द्रजी में उक्त गुणों के अभाव की शंका का निराकरण करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप इन अखण्डित गुणगणों से परिपूर्ण हैं, अतएव आप आगे कहे जानेवाले मन के अज्ञान के विनाशक इस वाक्य को सुनिए। जिसका फलों के भार से खूब लदा हुआ पुण्यरूपी कल्पवृक्ष है, उसी पुण्यात्मा जीव का मुक्ति के लिए इसे सुनने के लिए उद्यम होता है। उक्त गुणों से सम्पन्न पुरुष ही मुक्ति के लिए अति पवित्र अन्य को बोध देनेवाले

उदार वचनों का पात्र होता है, अधम पुरुष नहीं। मोक्ष के साधन का प्रतिपादन करनेवाली और सारभूत अर्थ से परिपूर्ण अतएव मोक्षदायिनी इस संहिता में बत्तीस हजार श्लोक है। जैसे गहरी नींद में सोये हुए पुरुष के सामने दिये के जलने पर यद्यपि सोये हुए पुरुष को प्रकाश की अभिलाषा नहीं रहती तथापि प्रकाश होता है, वैसे ही इस संहिता के श्रवण से, इच्छा न होने पर भी, मोक्ष का साधन ज्ञान अवश्य प्राप्त होता है। जैसे स्वयं दर्शन करके जानी गई और दूसरे के मुख से सुनी गई श्रीगंगाजी विविध योनियों में भ्रमण के हेतुभूत पाप और ताप की शान्ति द्वारा शीघ्र सुखप्रद होती है वैसे ही स्वयं परिशीलन करके जानी गई अथवा दूसरे के मुख से सुनी गई यह संहिता अज्ञान के विनाश द्वारा शीघ्र सुखप्रद होती है। जैसे रस्सी के अवलोकन से रस्सी में हुई सर्पभ्रान्ति नष्ट हो जाती है, वैसे ही इस संहिता के अवलोकन से (परिशीलन से) संसारदुःख नष्ट हो जाता है। इस संहिता में युक्तिसंगत अर्थवाले वाक्यों से परिपूर्ण, श्रेष्ठ–श्रेष्ठ दृष्टान्तों से भरी हुई आख्यायिकाओंसे युक्त तथा पृथक्–पृथक् रचे गये छः प्रकरण है। उनमें पहला प्रकरण वैराग्य नामक कहा गया है, जैसे निर्जल स्थान में भी जल के सेक से वृक्ष बढ़ता है, वैसे ही उक्त वैराग्यप्रकरण से वैराग्य बढ़ता है। डेढ़ हजार श्लोकों से युक्त वैराग्यप्रकरण में निरूपण किया गया है। जिसके विचार करनेपर विषयों में दोष का ज्ञान होने से हृदय में ऐसी शुद्धता उत्पन्न होती है जैसे कि मणि को सान में चढ़ानेपर प्रकाश से उसमें स्वच्छता उत्पन्न होती है ॥३–१२॥

वैराग्य–प्रकरण के अनन्तर मुमुक्षु–व्यवहार नामक प्रकरण की रचना की गई है, इसमें एक हजार श्लोक हैं। यह प्रकरण युक्तियों से बड़ा सुन्दर है। इसमें मुमुक्षु पुरुषों के स्वभाव का वर्णन है। इसके पश्चात् दृष्टान्त और आख्यायिकाओं से भरे हुए ज्ञानप्रद उत्पत्तिप्रकरण की रचना की गई है। उस सात हजार श्लोक वाले प्रकरण में जगत् की 'अहम्' 'इदम्' स्वरूपवाली दृष्टा और दृश्य के भेद की विचित्रतारूप सम्पत्ति वास्तव में उत्पन्न न हुई भी भ्रम से उत्पन्न हुई–सी प्रतीत होती है, ऐसा वर्णन किया गया है। उक्त प्रकरण के सुनने पर श्रोता युष्मत् और अस्मत् से युक्त, जिनका अर्थ भिन्न प्रतीत होता है, उन त्वंपद और अहंपद की एकार्थता के प्रतिपादक अनन्त ब्रह्माण्डों के विस्तार से युक्त तथा प्रत्येक ब्रह्माण्ड में लोकालोक पर्वत और आकाश से युक्त इस चराचर सम्पूर्ण जगत् को अपने हृदय में मूर्त द्रव्यता से रहित, भेदशून्य, अतएव पर्वत आदि पदार्थों से रहित, पृथिवी आदि भूतों से रहित, संकल्पमय (कल्पनामय) नगर के तुल्य असत्, स्वप्न में जो मनोमय पदार्थ दिखाई देते हैं, उनके तुल्य, मनोराज्य के समान स्थित, अर्थशून्य होने के कारण गन्धर्व नगर के सदृश, दो चन्द्रमाओं की भ्रान्तिके सदृश, मृगतृष्णा में जल की भ्रान्ति के समान समझता है तथा नाव आदि के चलने से पर्वत, वृक्ष आदि के चलनभ्रम के सदृश, सत्य पुरुषार्थ से शून्य, चित्त के मोह से कल्पित भूत के सदृश, निर्बीज होने पर भी (जगत् की बीज माया के मिथ्या होने से और आत्मा के निर्विकार होने से बीजरहित होने पर भी) प्रकाशमान, कथा के अर्थ के प्रतिभास के समान (कथा सुनने में आसक्ति होने से संस्कार द्वारा प्रत्यक्ष के सदृश कथा के अर्थ की प्रतीति होना लोक में

प्रसिद्ध है), आकाश में कल्पित मुक्तावली के सदृश, सुवर्ण में कंकणत्व आदि की नाईं एवं जल में तरंगत्व की नाईं (卐) और आकाश में नीलिमा के सदृश असत् ही यह सदा उत्पन्न हुआ है, भीत (जिस पर चित्र बनाया जाता है) और विविध रंगों के बिना केवल प्रतीतिमात्र से (पूर्व अनुभव के स्मरणमात्र से) मनोहर एवं कर्ता से रहित चित्र जैसे स्वप्न में या आकाश में चिरकाल तक प्रतीत होता है तथा जैसे चित्रलिखित अग्नि अग्नि न होने पर भी अग्नि सी प्रतीत होती है, वैसे ही मिथ्याभूत यह प्रपंच जगत् शब्द के अनुरूप अर्थ को जाता है। (गच्छति) यानी विचार में नहीं ठहरता इस अर्थको–धारण करता है। तरंगों में भ्रान्ति से कल्पित नील कमलों की माला के तुल्य, पहले देखे गये स्मृतिपथ में आरूढ़ हो रहे नृत्य के समान मन में उत्थित, जैसे चित होकर सोये हुए पुरुष या कविको चक्रवाक के (चकवा पक्षी के) चीत्कार से पूर्ण आकाश को देखनेपर यह तालाब है, ऐसी उत्प्रेक्षा होती है, वैसे ही यह जगत् भी उत्प्रेक्षित है। ग्रीष्म ऋतु में पत्तों से शून्य, सूखे हुए और सारहीन अतएव छाया, शोभा आदि से रहित और फल आदि की समृद्धि से शून्य वन की नाईं, मरण के समय में व्यग्र हुए लोगों के मन की नाईं (मरण के समय व्यग्र हुए लोगों का मन भ्रम और मूर्च्छा से युक्त और अस्थिर रहता है, यह प्रसिद्ध है), पर्वतों की गुफाओं की तरह (गुफाएँ अन्धकार से भरी हुई, शून्य और भयंकर होती हैं, वैसे ही यह भी है), अन्धकारपूर्ण गुफामें प्रत्येक के नृत्य के सदृश, उन्मत्त पुरुषों की चेष्टाओं के सदृश, भीतमें लिखे हुए चित्र एवं खम्भे में खोदी हुई मूर्ति के समान तथा पंक आदि से बनाई गई प्रतिमा के सदृश पृथक्सत्ता से शून्य है, ऐसा समझता है। परमार्थ दृष्टि से यह प्रशान्त और अज्ञानरूपी कुहरे से शून्य ज्ञानरूपी शरत्काल के आकाश के सिवा अन्य कुछ नहीं है, अर्थात् अज्ञान के विकार के दूर होने पर यह नित्य निर्विशेष सच्चिदानन्द परब्रह्म में पर्यवसित हो जाता है। तदुपरान्त चौथा स्थितिप्रकरण कहा गया है, तीन हजार श्लोकवाले उस प्रकरण में प्रपंच और उसके अधिष्ठान तत्त्व का वास्तविक प्रतिपादन और कथाएँ प्रचुर मात्रा में हैं। ब्रह्म ही द्रष्टा और दृश्य भाव को स्वीकार कर इस प्रकार जगत्–रूप से और अहंरूप से स्थिति को प्राप्त हुआ है, ऐसा स्थितिप्रकरण में बतलाया गया है, दस दिशाओं के मण्डल की विशालता से दैदीप्यमान यह जगद्भ्रम चिरकाल से इस प्रकार वृद्धि को प्राप्त हुआ, यह बात उसमें भली–भाँति समझाई गई है। तदनन्तर पाँच हजार श्लोकों से विरचित परम पवित्र तथा विविध युक्तियों से अतिरमणीय पाँचवाँ उपशान्तिप्रकरण कहा गया है। उक्त प्रकरण में यह (जगत), मैं, तुम और वह यों उत्पन्न हुई भ्रान्ति इस प्रकार शांत होती है, यह बात अनेक श्लोकों से दर्शाई गई है। उपशान्तिप्रकरण के सुननेपर यह संसार जीवन्मुक्तिक्रम से क्षीण होता हुआ अंशतः अवशिष्ट रहता है। जैसे जीर्णशीर्ण चित्रलिखित सेना कुछ कुछ दिखाई देती है, वैसे ही जिसका भ्रमपूर्ण स्वरूप शान्त हो गया है ऐसी यह संसृति शतांश शेष रह जाती है॥१३–३४॥

卐 कंकणता और तरंगता का सुवर्ण, जल के स्वरूप के बिना निरूपण नहीं हो सकता, अतः वे मिथ्या हैं, वैसे ही यह भी मिथ्या है।

उत्तरोत्तर भूमिका की प्राप्ति होने पर अधिक विनाश होने से दृश्य और अदृश्य संस्कारमात्र से इसकी अवशिष्टता दृष्टान्तों से कहते हैं।

यह संसार अन्य के संकल्प से विरचित होने के कारण अन्य के चित्त में स्थित अतएव मिथ्याभूत, जिसमें संकल्प करनेवाले पुरुष के पास बैठे हुए अन्य पुरुष के स्वप्न के युद्ध और वादविवाद से कुछ भी धन आदि वस्तु प्राप्त नहीं होती ऐसी, नगरश्री के समान है, मिथ्या होने के कारण संसार और उक्त नगरश्री दोनों तुल्य हैं, अतएव अन्य की क्रिया और शब्द के अविषय भी हैं, वह जैसे स्वप्न देखनेवाले की दृष्टि से कुछ स्पष्ट दृश्य है, किन्तु संकल्प करनेवाले की दृष्टि से तनिक भी दृश्य न होती हुई अपने आप शान्त हो जाती है वैसे ही यह संसार बना है, यह भाव है ॥३५॥ उससे भी अधिक शान्तिका प्रकर्ष होने पर अदृश्य अवस्था से अन्त में यह संसार शान्त हुए संकल्प से कल्पित मदोन्मत्त गजराज के समान निरंकुश मेघ की भीषण गर्जना के समान, जिस नगरका स्वप्न द्वारा निर्माण या संकल्प द्वारा निर्माण भूल गया है, उस नगर के समान भावी (बनाये जानेवाले) नगर की वाटिका में बच्चा पैदा करनेवाली बाँझ की स्त्री के समान शून्यस्वरूप से युक्त, उक्त वन्ध्या स्त्रीकी जिह्वा से कही जा रही अपने पुत्र के युद्ध आदि की वीररस पूर्ण कथा के अर्थ के अनुभव के तुल्य, जिस घर में चित्र नहीं लिखा गया उस घर की चित्रों से भरी हुई भीत की नाईं, जिसकी अर्थशून्य कल्पना विस्मृत होती जा रही है, उस कल्पित नगरी के सदृश, भावी फूलों के वन के आकाररूप वसन्त से रसरंजित तथा सम्पूर्ण ऋतुओं से युक्त होने पर भी अनुत्पन्न वन के स्पन्दन (उल्लास विकास) के सदृश अस्पष्ट आकारवाला तथा तरंगमालाओं के अपने में समा जाने से अतिनिश्चल जल से युक्त नदी के समान प्रतीत होता है ॥३६–३९॥ तदुपरान्त निर्वाण नाम का छठा प्रकरण कहा गया है। शेष ग्रन्थ उसका परिमाण है अर्थात् बत्तीस हजार श्लोकों में से ऊपर गिने गये साढ़े सत्रह हजार श्लोकों से शेष साढ़े चौदह हजार ग्रन्थ उसका परिमाण है यानी इसकी श्लोक–संख्या साढ़े चौदह हजार है। यह प्रकरण ज्ञानरूपी महान् (दुर्लभ) पदार्थ को (परम पुरुषार्थ को) देनेवाला है। उसके ज्ञात होने पर मूलअविद्या का सर्वनाश होने से सम्पूर्ण कल्पनाएँ शान्त हो जाती हैं और मोक्षरूप कल्याण प्राप्त होता है। बहुत कल्पनाएँ सम्पूर्ण शान्त हो जाती है और मोक्षरूप कल्याण प्राप्त होता है। बहुत क्या कहें, उक्त प्रकरण के भली भाँति हृदयंगम होने पर जीव के सम्पूर्ण सांसारिक भ्रम विनष्ट हो जाते हैं और वह निर्विषय चैतन्य प्रकाशरूप अतएव सम्पूर्ण आधिव्याधियों से रहित तथा विगतस्पृह हो जाता है। उसकी सम्पूर्ण जगत्–यात्राएँ शान्त हो जाती हैं तथा कृतकृत्य होने से वह स्वस्थ हो जाता है जैसे हीरे का खम्भा अपने में किसी प्रकार के विकार के बिना ही अपने में प्रतिबिम्बित जनता और उसकी चेष्टाओं का आधार होता है वैसे ही आकाश तुल्य (सर्वव्यापक) उक्त जीव भी सबका आधार हो जाता है। मानों सम्पूर्ण जगत्–जलों के निगलने से अति तृप्ति को प्राप्त हो जाता है। उसके बाह्य इन्द्रियों के भोग और मानसिक भोग सब शान्त हो जाते हैं। वह आधिभौतिक आध्यात्मिक और आधिदैविक सम्पूर्ण विषयों में स्वीकार और परित्याग दृष्टि से

रहित हो जाता है अतएव देहयुक्त होने पर भी देह रहित सा संसार में रहने पर भी असंसारी हो जाता है, निविड़ पत्थर के हृदय की भाँति छिद्र रहित और वस्तुएँ भी जिसकी उपमा हों इस प्रकार का वह चैतन्यरूप सूर्य अपने अज्ञानसे कल्पित लोकों को आत्माकार वृत्ति से खूब प्रदीप्त हुए अपने प्रकाश से दीप्त करता हुआ भी (प्रकाशरूप होता हुआ भी) दृश्य पदार्थों के न होने से ही उनके प्रकाश के अविषय में निविड हुए अन्धकाररूप पत्थर के सदृश परम अन्धकारको प्राप्त हुआ–सा हो जाता है, उसकी जन्ममरणरूप संसार की दुष्ट लीलाएँ शान्त हो जाती हैं और आशारूपी हैजा नष्ट हो जाता है। उसका अहंकाररूपी पिशाच नष्ट हो जाता है तथा वह शरीर रहित होता हुआ भी देहवान् रहता है। भगवती श्रुति भी कहती है –'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्व–वस्थितम्। महान्त् विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति' (शरीर रहित होता हुआ भी नश्वर शरीरों में स्थित महान् विभु आत्मा को जानकर धीर पुरुष शोक नहीं करता) जैसे महान् मेरु पर्वत के किसी एक प्रदेश में फूलमें भँवरी बैठी रहती है वैसे ही उसके सिरके रोम के अग्रभाग में अर्थात् रोमकोटि के तुल्य परिच्छिन्न अविद्या के भी अग्रभाग में (एकदेश में) यह जगत्सम्पत्ति स्थित है ॥४०–४८॥

विस्तारशून्य प्रदेश में अतिविस्तारयुक्त जगत् की प्रतीति कैसे होती है। ऐसी शंका होने पर छोटे से दर्पण के अन्दर मेघ, ग्रह और नक्षत्रों से युक्त आकाश का समावेश सबको दिखाई देता है, अतः अज्ञान के लिए यह कोई कठिन काम नहीं है कि विस्तारशून्य प्रदेश में अतिविस्तारयुक्त जगत् दिखलाई दे, इस अभिप्राय से कहते हैं।

चैतन्यघन परमात्मा अपने भीतर कल्पित आकाश में, परमाणु–परमाणु में हजारों जगतों को स्वयं बनाकर धारण करता है और स्वयं उन्हें देखता है। श्रीरामचन्द्रजी, महामति जीवन्मुक्त पुरुष का हृदय परमात्मा ही है, उसकी विस्तीर्णता का माप करोड़ों हरि, हर आदि भी नहीं कर सकते। उनकी ऐसा करने की सामर्थ्य नहीं है, सो बात नहीं है, किन्तु सत्ता से, अनन्तता से और आनन्दस्वरूपता से जिससे बढ़कर उत्कृष्ट कोई वस्तु ही नहीं है, उस परमात्मा की अपरिच्छिन्नता पारमार्थिक ही है, आकाश आदि की तरह द्रष्टा पुरुष की शक्ति से कल्पित नहीं है, *यह भाव है*॥४९,५०॥

सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

अठारहवाँ सर्ग

मुख्य, अमुल्य और आनुषंगिक फलों के साथ इस ग्रन्थ के गुणों का निरूपण।

इस प्रकार विषय और प्रयोजन से प्रकरणभेद का वर्णन कर सम्पूर्ण ग्रन्थ के गुणों का वर्णन कर रहे श्रीवसिष्ठजी तत् तत् दृष्टान्तों के उपन्यास में ग्राह्य अंश और तात्पर्य को, ग्रन्थ शैली के ज्ञान के लिए कहते हैं।

हे रघुवंशतिलक, जैसे जोते हुए उपजाऊ खेत में उचित समय में बोये गये उत्तम बीज से अवश्यम्भावी सत्फल प्राप्त होता है, वैसे ही पूर्वोक्त छः प्रकरणोंसे युक्त इस मोक्षसंहिता के

केवल हृदयंगम करने से ज्ञान प्राप्त होता है ।।।१।।

अनेक शाखाओं के भेद से विभिन्न अनेक श्रुतियों के विद्यमान रहते उन्हें छोड़कर पुरुषबुद्धि से विरचित इसी को आप परम उपादेय क्यों कहते हैं ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं ।

यदि पुरुषबुद्धि से विरचित शास्त्र युक्तियों द्वारा तत्त्व का निर्णायक हो, तो उसका भी ग्रहण करना चाहिए । युक्तियों द्वारा तत्त्व का निर्णय न करनेवाले आर्ष ग्रन्थ का (वेदका) भी त्याग करना चाहिए । पुरुष को सदा न्याय से युक्त (युक्ति–युक्त) का ही अनुसरण करना चाहिए । भाव यह कि यद्यपि श्रुतियाँ पुरुषबुद्धिविरचित शास्त्र की अपेक्षा अत्यन्त पूज्यतम हैं तथापि उनका अभिप्राय नितान्त गुढ़ है, अतः उनसे सहसा ज्ञान नहीं होता; इसलिए साधारण अधिकारियों को उनका ग्रहण नहीं करना चाहिए, सार के ज्ञाता सत्पुरुषों के अनुभवमूलक युक्तियों से पूर्ण इस शास्त्र का अभिप्राय अत्यन्त साफ है, अतः इससे शीघ्र ज्ञान होता है, इसका अवश्य सादर सेवन करना चाहिए । युक्तियों से पूर्ण वचन बालक का भी हो, तो उसको ले लेना चाहिए और युक्तियों से शून्य वचन ब्रह्माजी का ही क्यों न हो पर उसका तृण के समान त्याग कर देना चाहिए ।।२,३।।

यदि कोई कहे कि पुरुषबुद्धि से विरचित शास्त्र ही ग्राह्य है, तो हमारे पूर्वजों के बनाये हुए ही किन्हीं अन्य ग्रन्थों को सुनेंगे, इसको क्यों सुने ? इस पर कहते हैं ।

जो पुरुष यह कुआँ हमारे बाप–दादों का बनाया हुआ है यह सोचकर सामने का गंगाजल छोड़कर कुएँ का जल पीता है, उस अतिरागी को कौन शिक्षा दे सकता है ? ।।४।।

अन्य की अपेक्षा इसमें अतिशय दिखलाते हैं ।

जैसे प्रातःकाल होने पर अवश्य ही प्रकाश होता है, वैसे ही इसके भी केवल चित्त में स्थित करने मात्र से सुन्दर स्वच्छ विवेक होगा ।।५।।

गुड़जिह्विकान्याय से आनुषंगिक फलों को दर्शाने की इच्छा से श्रीवसिष्ठजी पहले शब्दव्युत्पत्तिरूप प्रथम फल कहते हैं ।

विद्वान पुरुष के मुँह से अन्त तक इसका श्रवण कर और स्वयं ही मोटा–मोटी इसका ज्ञान प्राप्तकर विचार से धीरे–धीरे बुद्धि में संस्कार प्राप्त होने पर पहले उन्नत लता के समान सभा को अत्यन्त विभूषित करनेवाली शुद्धवाक्यता हृदय में उत्पन्न होती है ।।६,७।।

अर्थव्युत्पत्तिरूपी चतुरता भी इसका दूसरा फल है, ऐसा कहते हैं ।

महत्त्वरूपी गुण से शोभित होनेवाली वह दूसरी चतुरता उत्पन्न होती है जिससे राजा और देवताओं के तुल्य पूजनीय विद्वान् भी बड़ा प्रेम करते हैं । जैसे सुन्दर नेत्रवाला पुरुष रात्रि के समय दीपक को हाथ में लेकर पदार्थों का ज्ञाता होता है वैसे ही उससे बुद्धिमान् पुरुष सर्वत्र पूर्वापर का ज्ञाता हो जाता है । जैसे शरद ऋतु से परिपूर्ण दिशा का कुहरा नष्ट हो जाता है, वैसे ही बुद्धि के लोभ, मोह आदि दोष शनैः शनैः अत्यन्त क्षीण हो जाते हैं । हे श्रीरामजी, आपकी बुद्धि मलरहित (निर्मल) हो गई है, अब आपको केवल विवेकाभ्यास की अपेक्षा है । अपने अभ्यास के बिना किया कुछ भी फल नहीं देता । विवेकाभ्यास से मन शरत्काल में

महान् सरोवर के तुल्य अतिप्रसाद से युक्त और मन्दर पर्वत से रहित समुद्र के समान क्षोभरहित हो जाता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, इस ग्रन्थ के अभ्यास से जिसमें व्यामोहरूपी काजल की गन्ध भी नहीं है ऐसी रत्नदीपककी लौ के समान जिसका अज्ञानरूप आवरण नष्ट हो गया है अतएव पदार्थों के विभाग से युक्त प्रज्ञा अत्यन्त दैदीप्यमान हो जाती है। जैसे कवच और शिरत्राण आदि से सुसज्जित योद्धा को बाण छिन्न–भिन्न नहीं कर सकते, वैसे ही दीनता, दरिद्रता आदि दोषों से भरी हुई दृष्टियाँ इस ग्रन्थ के अभ्याससे धन आदि विषयों में असारता ज्ञात होने के कारण मर्मच्छेदन नहीं कर सकती। प्रस्तुत ग्रन्थ का ज्ञाता भयहेतुओं के सामने खड़ा क्यों न हो, फिर भी जैसे बाण पत्थर की चट्टान को नहीं काट सकते वैसे ही भीषण सांसारिक भय उसके हृदय को पीड़ित नहीं कर सकते। क्रमशः दैव और पौरुष की प्रधानता के हेतु जन्म और कर्मों की आदिता कैसे होगी अर्थात् संसार में जन्म के प्रथम होने पर पौरुष की प्रधानता और कर्म के प्रथम होने पर दैव की प्रधानता कैसे होगी ? इत्यादि सन्देह दिन में अन्धकार की नाईं शान्त हो जाते हैं, कारण कि इस ग्रन्थ के सुनने से दोनों में (जन्म और कर्म में) अविद्यामूलक मिथ्यात्व का निश्चय हो जाता है। रात्रि की नाईं अविद्या के नष्ट होने एवं ज्ञानरूपी आलोक के प्राप्त होने पर सदा सब पदार्थों में शान्ति (राग–द्वेष आदि से क्षोभ न होना) हो जाती है। इस ग्रन्थ का विचार करनेवाले पुरुष के हृदय में समुद्र की सी गम्भीरता, मेरु पर्वत की सी निश्चलता और चन्द्रमा की सी शीतलता प्राप्त होती ॥८–१८॥

इस प्रकार आनुषंगिक (गौण) फलों को दर्शा कर मुख्य फल दर्शाते हैं।

भूमिका के क्रम से सम्पूर्ण विशेषताओं के शान्त होने पर पुरुष की वह जीवन्मुक्ति परिपुष्ट हो जाती है, जिसका वाणी से वर्णन नहीं हो सकता। जैसे सम्पूर्ण पदार्थों को शीतल करनेवाली तथा अत्यन्त प्रकाश करनेवाली शरत्कालकी चाँदनी अत्यन्त शोभा को प्राप्त होती है, वैसे ही इस ग्रन्थ का विचार करनेवाले पुरुष की सम्पूर्ण पदार्थों को शीतल करनेवाली तथा परमात्मा का दर्शन करानेवाली बुद्धि अत्यन्त प्रकाश को प्राप्त होती है। हृदयरूपी आकाश में शम से प्रकाशयुक्त विवेकरूप निर्मल सूर्य के उदित होने पर विविध अनर्थों के हेतु काम, क्रोध आदि धूमकेतु कभी उदित नहीं होते, इसमें कोई सन्देह नहीं है। जैसे शरद्ऋतु में वृष्टि करने में अनिच्छुक मेघमालाएँ उन्नत पर्वत में स्थित होती हैं, स्वच्छता को प्राप्त होती हैं और शान्त हो जाती हैं, वैसे ही इस ग्रन्थका विचार करने से विषयों में तृष्णारहित सौम्य पुरुष चंचलतारहित उन्नत स्वात्मपद में स्थित हो जाते हैं, शुद्धि को प्राप्त होते हैं और शान्त होते हैं। जैसे दिन होने पर पिशाचों की लीला समाप्त हो जाती है, वैसे ही दूसरों का द्वेष आदि करनेवाली मुख को दीन बनानेवाली कुटिल अश्लीलवचनताकी निवृत्ति हो जाती है। जैसे चित्र में लिखी गई लता को हवा नहीं कँपा सकती, वैसे ही धर्मरूपी (शम, दमरूपी अथवा (🔥) परमात्मरूपी) भीत जिसमें एकाग्रता पूर्वक लीन हुई अतएव धैर्यकी पराकाष्ठा को प्राप्त हुई बुद्धि को मानसिक व्यथाएँ (चिन्ताएँ) विचलित नहीं कर सकती।

🔥 विश्वरूपी चित्र का आधार होने से धर्म में (परमात्मा में) भीत्तित्त्वका आरोप किया है।

तत्त्वज्ञानी पुरुष विषयों में आसक्तिरूपी मोहगर्त में नहीं पड़ता, भला बतलाईए तो सही, जिसे मार्ग ज्ञात हो गा वह गड्ढेकी ओर क्यों दौड़ेगा ? जैसे पतिव्रता नारी अन्तःपुर के आँगन में ही प्रसन्न रहती है, इधर–उधर नहीं जाती, वैसे ही सत् शास्त्रों के परिज्ञान से उत्तम चरित्रवाले लोगों की बुद्धि शास्त्र के अनुकूल यथायोग्य प्राप्त कर्म में ही रमण करती है। असंगबुद्धिवाला पुरुष, करोड़ों लाख जगतों में जितने परमाणु हैं, उनमें से प्रत्येक ब्रह्माण्डों को अपने अन्तःकरण में देखता है, कारण कि उसे माया की अघटित घटनामें अत्यन्त पटुता का ज्ञान हो जाता है। मोक्ष के उपाय के ज्ञान से जब पुरुष शुद्ध अन्तःकरणवाला हो जाता है, तब उसे विविध भोग न तो क्लेश पहुँचाते हैं और न आनन्द ही देते हैं। प्रत्येक परमाणु में जो सम्पूर्ण सर्गवर्ग असंकीर्ण होकर जलतरंगों की नाईं आविर्भूत और तिरोभूत होते हैं, उन्हें असंगबुद्धि पुरुष देखता रहता है। वह प्राप्त हुए अनिष्ट कार्यों के लिए द्वेष नहीं करता और निवृत्त हुए इष्ट कार्यों की प्राप्ति के लिए इच्छुक नहीं होता, कार्य के फल आदि के स्वरूप का ज्ञाता होता हुआ भी वह उसे न जाननेवाले वृक्ष के समान रहता है। जो कुछ मिल गया उससे निर्वाह करनेवाला वह सर्वसाधारण लोगों की नाईं दिखाई देता है, इष्ट या अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति होने पर उसके चित्त में तनिक भी विकार नहीं होता। हे श्रीरामजी, इस सम्पूर्ण शास्त्र को बँचवा कर और मोटामोटी जानकर फिर तात्पर्य के पर्यालोचनपूर्वक प्रत्येक श्लोक का विवेचन कीजिए। इसे आप केवल उक्ति ही न समझिए, किन्तु ब्रह्मा आदि देवताओं के शाप और वरदान के समान इसका फल अवश्य प्राप्त होता है। माधुर्य तथा उपमा, यमक आदि अर्थालंकार और शब्दालंकारों से विभूषित कवितामय और रसमय यह सुन्दर शास्त्र आयास के बिना ही ज्ञात हो जाता है। इसमें दृष्टान्तों द्वारा अर्थ का प्रतिपादन किया गया है, थोड़ी बहुत भी व्युत्पत्तिवाला पुरुष इसे स्वयं ही जान लेता है। जो इसे स्वयं नहीं जान सकता, उसे पण्डित के मुखसे इसको सुनना चाहिए। इसके सुनने, विचार करने और जानने पर मनुष्य को मोक्षप्राप्ति के लिए तपस्या, ध्यान, जप आदि किसीकी भी आवश्यकता नहीं रहती, कारण कि तपस्या, ध्यान, जप आदि का फल इसके फल से गतार्थ हो जाता है, यह भाव है। इस ग्रन्थ का खूब अभ्यास करने एवं पुनः पुनः इसके पर्यालोचन से चित्तसंस्कारपूर्वक अपूर्व पाण्डित्य होता है। यद्यपि अन्य ग्रन्थों के अभ्याससे भी पाण्डित्य होता है, तथापि वह चित्तसंस्कारपूर्वक नहीं होता, इसलिए इस ग्रन्थ के विचार से जनित पाण्डित्य को अपूर्व कहा है। जैसे सूर्योदय से पिशाच स्वयं नष्ट हो जाता है, वैसे ही मैं और जगत् इस प्रकार का अतिप्रौढ़ द्रष्टा और दृश्यरूप पिशाच अनायास नष्ट हो जाता है, अर्थात् द्रष्टा और दृश्य दोनों के शान्त होने से चिन्मात्र शुद्ध आत्मा अवशिष्ट रहता है। मैं और जगत् इत्याकारक भ्रम नष्ट हो जाता है, केवल अधिष्ठान ही शेष रह जाता है, जैसे स्वप्न मोह के ज्ञात होने पर वह भ्रम पैदा नहीं करता, वैसे ही यह भी भ्रम पैदा नहीं करता। जैसे संकल्प द्वारा निर्मित नगर में पुरुष को हर्ष और विषाद नहीं होते अर्थात् संकल्पनिर्मित नगर के पूर्णतया बन जाने पर हर्ष नहीं होता और उसके भंग हो जाने से विषाद नहीं होता, वैसे

ही यह जगत्भ्रम कल्पनामात्र है, ऐसा ज्ञात होने पर फिर यह क्लेशकारक नहीं होता। यह चित्र लिखित सर्प है, वास्तविक सर्प नहीं है, यों ज्ञात होने पर चित्रसर्प चित्रसर्प–दर्शनजनितभयप्रद नहीं होता, वैसे ही दृश्यरूपी सर्प का परिज्ञान होने पर यह सुखप्रद अथवा दुःखप्रद नहीं होता। जैसे यह चित्रलिखित सर्प है, ऐसा ज्ञान होने से चित्र सर्प की सर्पता नष्ट हो जाती है, वैसे ही संसार के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होने पर अधिष्ठानपरिशेषपूर्वक संसार शान्त हो जाता है ॥१९–४१॥

यह प्रपंच अति विस्तीर्ण है, इसका करोड़ों कुदालियों से भी छेदन नहीं हो सकता यह अनायास कैसे नष्ट होगा ? ऐसी शंका कर ज्ञान का प्रभाव ही वैसा है इस अभिप्राय से कहते हैं।

फूलों और पल्लवों के (नवीन पत्तों के) मलने में (नख और सुई आदि से उन्हें छेदने में) भले ही कुछ प्रयत्न करना पड़े, पर परमपदप्राप्ति में तनिक भी यत्न नहीं करना पड़ता॥४२॥

ऐसी यदि बात है तो पहले पौरुष का समर्थन क्यों किया ?

ज्ञान के प्रतिबन्धक राग, असंभावना, विपरीतभावना आदि पुरुषापराध के निराकरण के लिए पौरुष का समर्थन किया है। फूल की पांखुड़ी के मर्दन में भी अंगो में व्यापार होता है, परमार्थपदप्राप्ति में तो बुद्धि व्यापार का भी रोध हो जाता है अंग–प्रत्यंगों के व्यापार की तो कौन कहे ? सुखकर आसन में बैठे हुए, यथायोग्य भोगों का भोग कर रहे, शास्त्रविरूद्ध मार्ग से विमुख एवं देश, काल तथा यथायोग्य सत्संग के अनुसार इस शास्त्र का तथा उपनिषद् आदि का सुखपूर्वक विचार कर रहे पुरुष को संसाररूप क्लेश से मुक्त कर देनेवाला ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है। जिसके प्राप्त होने पर पुरुष को फिर माता के उदर में निवास और प्रसवसमय के क्लेश नहीं भोगने पड़ते। ऐसे प्रशंसनीय और सुलभ शास्त्र के रहने पर भी जो पापात्मा नरक आदि क्लेशों से भयभीत न होकर भोगों में आसक्त है, वे अधम माता के मल के कीड़े हैं, उनका नाम लेना भी उचित नहीं है, क्योंकि वे आत्मघाती हैं ॥४३–४७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मुझसे कहे जा रहे इस शास्त्र को आप सुनिए, यह शास्त्र जिनकी बुद्धि अत्यन्त परिशुद्ध है, उनका हृदयभूत है या विवेकबुद्धि से गृहीत होनेवाले सारतर पदार्थों की चरमसीमारूप है या इस शास्त्र का विषय बुद्धि से भी बढ़कर सारतर प्रत्यगत्भूत आत्मतत्त्व है और यह ज्ञान का विस्तार करनेवाला है। जिस दृष्टान्त से यह शास्त्र सुना जाता है और जिस संकेत से इस ग्रन्थ का यथार्थरूप से विचार किया जाता है, उस अवतरणिका को आप सुनिए। जिस अर्थ का अनुभव नहीं है, वह अननुभूत अर्थ है, इस शास्त्र में अननुभूत अर्थ में जिस दृष्ट अर्थ से सादृश्य से बोध किया जाता है, बोधोपकाररूप फलको देनेवाला उसको विद्वान् लोग दृष्टान्त कहते हैं। (दृष्टान्त – दृष्टः अन्तः सादृश्य बलेन प्रकृतार्थनिर्णयो येन सः। जिससे सादृश्य के बल से प्रस्तुत अर्थ का निश्चय होता है, वह दृष्टान्त है।) हे श्रीरामचन्द्रजी जैसे रात्रि में दीपक के बिना घर में स्थित घट, पट आदि पदार्थों का परिज्ञान नहीं होता वैसे ही दृष्टान्त के बिना अपूर्व (अननुभूत) अर्थ का परिज्ञान नहीं होता ॥४८–५१॥

दृष्टान्तों में विलक्षित सादृश्य के विवेक के लिए त्याज्य अंश को दिखलाते हैं।

हे काकुत्स्थ, जिन जिन दृष्टान्तों द्वारा मैं आपको बोध करता हूँ वे सब स्मरण (जन्मवान्) अतएव मिथ्या हैं, ज्ञातव्य परमार्थ सत्य और कारण रहित (नित्य) है। मिथ्याभूत मिट्टी, सुवर्ण आदि से बने हुए दृष्टान्तों से ब्रह्म का बोध कराया जाता है। इससे जन्मत्त्व आदि दृष्टान्तधर्म हेय हैं, यह निष्कर्ष निकला ॥५२॥

परब्रह्म के दृष्टान्तों में ही यह नियम है, अन्य दृष्टान्तों में यह नियम लागू नहीं है। – ऐसा कहते हैं।

केवल एक परब्रह्म को छोड़कर सम्पूर्ण उपमान और उपमेयों का कार्यत्व, कारणत्व आदि से सदृश्य पहले कहा गया है। भाव यह है कि जैसे विचार आदि से बिम्बका ग्राहक ज्ञान उत्पन्न होता है यह कहा जाता है, वैसे ज्ञान से बिम्ब उत्पन्न होता है, यह नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ब्रह्म की उत्पत्ति नहीं कह सकते हैं ॥५३॥

जो पूर्व श्लोक में 'परम ब्रह्म को छोड़ कर' कहा है, उसे विशेषरूप से स्पष्ट करते हैं।

मैं यहाँ ब्रह्मोपदेश में आपसे जो दृष्टान्त कहता हूँ, उसमें एक देश का साधर्म्य लेकर प्रस्तुत अर्थ का निर्णय किया जाता है। भाव यह कि जगद्रूप विवर्त के अधिष्ठान ब्रह्म के बोधन में सर्परूप विवर्त के अधिष्ठान का बोधक रज्जुदृष्टान्त अधिष्ठान का विवर्त होता है, केवल इसी एक अंश में दिया जाता है, दार्ष्टन्तिक ब्रह्म में रहनेवाले नित्यत्व, सुखित्व आदि सम्पूर्ण अंशों में नहीं ॥५४॥

दृष्टान्त का एक देश में ही ग्रहण क्यों होता है ? ऐसी कोई शंका न कर बैठे, इसलिए सर्वांश में सादृश्य की प्रसिद्धि ही नहीं है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

यहाँ ब्रह्मतत्त्व के ज्ञापन में जो–जो दृष्टान्त दिया जाता है वह स्वप्न में प्रतीत पदार्थ की नाईं मिथ्याभूत जगत् के अन्तर्गत ही है वास्तविक नहीं है, क्योंकि दूसरी परमार्थसत्य और चिदानन्दस्वरूप वस्तु है ही नहीं, यह आशय है ॥५५॥ ऐसा होने पर निराकार ब्रह्म में साकार दृष्टान्त कैसे ? ब्रह्म सद्वितीय है या अद्वितीय ? यदि सद्वितीय है, तो सिद्धान्त की हानि होगी। यदि अद्वितीय है, तो गुरु, शास्त्र आदि के अभाव से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होगी, इस प्रकार के विकल्पों से उत्पन्न मूर्खजनों की उक्तियों को अवसर नहीं मिलता ॥५६॥

इससे दृष्टान्त के अनुमान द्वारा बोधक होनेसे दृष्टान्त, हेतु, व्याप्ति आदि के मिथ्या होने पर व्याप्यत्वासिद्धि, स्वरूपासिद्धि इत्यादि और प्रपंच से सम्बन्ध रखनेवाले हेतुओं से सत्यत्व आदि के साधनमें विरूद्धत्व आदि हेत्वाभासता के प्रयोजक दोष होगे, यों तार्किकों को विवाद के लिए अवसर भी नही दिया गया, ऐसा कहते हैं।

असिद्ध, विरुद्ध आदि दूषण देने में दक्ष तार्किकों के दृष्टान्त–दोषों से, दूषणीय जगत् के स्वप्नतुल्य होने के कारण, वस्तु में कुछ भी दोष नहीं होता। साध्य की सिद्धि होने तक हेतु आदि जगत् के पदार्थों में जो बोध्यबोधक–व्यवहार होता है, वह व्यावहारिक सत्यतामात्र से भी उत्पन्न हो जाता है, यह भाव है ॥५७॥

हेतु आदि भूत जगत् की स्वप्नोपमता का साधर्म्यप्रदर्शन द्वारा उपपादन करते हैं।

उत्पत्ति के पूर्वकाल में और विनाश के उत्तरकाल में अवस्तुभूत (अभावग्रस्त) यह जगत् वर्तमानकाल में भी विचार करने पर अवस्तुभूत ही है, अतः जैसे जाग्रत् पदार्थ हैं वैसे ही स्वप्न पदार्थ भी हैं, दोनों में मिथ्यात्व का साम्य है, यह बात बालकों तक की समझ में आ सकती है ॥५८॥

यदि शंका हो कि प्रतिभासिक सत्तावाले स्वप्न से व्यावहारिक सत्तावाले की तुलना कैसे हो सकती है ? इस पर उन दोनों में परस्पर कार्यकारणता के प्रदर्शन से और लौकिक व्यवहार से तुलना है, ऐसा कहते हैं।

जाग्रत्काल में विजययात्रा करनी चाहिए अथवा नहीं, यों यात्रा के विषय में सन्देह होने पर देवताप्रार्थनापूर्वक सोये हुए पुरुष का स्वप्न में यात्रा करनी चाहिए ऐसा संकल्प होने पर चिरकाल तक पूजा, मन्त्रजप, स्तुति आदि से विजययात्रा के अनुकूल वर मिलने या शत्रुओं के प्रति मुनिशाप आदि देखने पर प्रातःकाल यात्रा करने से शत्रुओं पर विजय देखी जाती है और स्वप्न में औषधिकी प्राप्ति से जाग्रतावस्था में रोगशान्ति देखी जाती है । यों स्वप्नसादृश्य होने के कारण सम्पूर्ण जगत् की व्यवस्था स्वप्नरूप ही है, अतएव जाग्रत् में स्वप्नदृष्टान्त यथार्थ ही हैं। मोक्ष के उपायों की रचना करनेवाले महामुनि वाल्मीकि जी ने अन्य भी पूर्व रामायण आदि जिन ग्रन्थों की रचना की है, उनमें भी दृष्टान्तों की बोध्य के साम्य के बोधन में यही केवल एक व्यवस्था प्रसिद्ध है अर्थात् जिस अंश में साम्य संभव हो उसी अंश के साम्यज्ञापन में व्यवस्था प्रसिद्ध है ॥५९–६०॥

कोई कहे कि यदि ऐसा है, तो इस ग्रन्थ के श्रोता, जगत् की जो स्वप्न तुल्यता कही गई है, उसे सहसा क्यों नहीं जान लेते, इस विषय में विवाद क्यों करते हैं ? इस पर अध्यात्मशास्त्र के श्रवण से उत्पन्न संस्कार न होनेसे उन्हें जगत् में सत्यत्व–भ्रम है, अतः उन्हें शीघ्र जगत् की स्वप्नतुल्यता प्रतीत नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

सम्पूर्ण शास्त्र सुनने पर जगत् की स्वप्नतुल्यता ज्ञात होती है, उसका बोध शीघ्र नहीं कराया जाता, क्योंकि वाणी क्रमशः अपना कार्य करती है। शास्त्रश्रवण में जो लोग आलस्य करते हैं, उन्हें जगत् की स्वप्नतुल्यता प्रतीत नही होती, यह भावार्थ है। चूँकि यह जगत् स्वप्न, मनोरथ और ध्यान से कल्पित नगर के सदृश है इसलिए वे ही दृष्टान्त यहाँ पर दिये गये हैं, अन्य नहीं ॥६१,६२॥

यदि जगत् में स्वप्नादि दष्टान्त देने पर सर्वांश में साधर्म्य विवक्षित हो, तो ब्रह्म में भी कटक, कुण्डल आदि के उपादान सुवर्ण का दृष्टान्त देने पर, सुवर्ण कीसी परिणामिता क्यों न विवक्षित होगी ? इस पर कहते हैं।

बोध के लिए अपरिणामी ब्रह्म में जो परिणामी सुवर्ण आदि का दृष्टान्त दिया जाता है, वहाँ पर उपमाप्रयुक्त प्रयत्नों से सर्वांशमें सादृश्य नहीं हो सकता । भाव यह कि 'तदेतत् ब्रह्मापूर्वमनपरमबाह्यम्', 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतियों से चित् शक्ति के परिणाम शून्य,

प्रतिसंक्रमरहित, शुद्ध और अनन्त होने, 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽम्' इत्यादि स्मृतियों से असंग, उदासीन ब्रह्म में परिणाम हेतु का स्पर्श न होने और चित् का जड़ के आकार में होना संभव नहीं है इत्यादि युक्तियों से ब्रह्म का परिणाम न होने के कारण अपरिणामी ब्रह्म में जो परिणामी सुवर्णादि के तुल्य कारणताकी उपमा दी जाती है वहाँ पर उपमाप्रयुक्त प्रयत्नों से भी सर्वांश में साधर्म्य का लाभ होना संभव नहीं है ॥६३॥

उक्त अर्थ को ही स्पष्ट करते हैं।

विवादरहित बुद्धिमान् पुरुष को बोध के लिए उपमान से उपमेय का एक अंश में साधर्म्य स्वीकार करना चाहिए ॥६४॥

लोक में भी 'मणि दीपक के सदृश दिखाई देती है' इत्यादि स्थल में अविवक्षित अंश का सादृश्यज्ञान नहीं देखा जाता, ऐसा कहते हैं।

पदार्थों के प्रदर्शन में प्रकाशमात्ररूप दीपक के सिवा स्थान (दिया), तेल, बत्ती आदि किसीका उपयोग नहीं होता। एकदेश में सादृश्य होने से उपमान उपमेय का ज्ञान कराता है; जैसे 'मणिर्दीप इव' (मणि दीपक के समान है) इस दृष्टान्त से उपमान दीप केवल प्रभा से (प्रकाश से) उपमेय मणि का बोध करा देता है ॥६५॥

इस शास्त्र के सम्पूर्ण दृष्टान्तों का उपयोग कहते हैं।

दृष्टान्त के अंशमात्र से बोध्य का (ज्ञेय ब्रह्म का) बोधोदय होने पर 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के अर्थ के निश्चय का उपादेयरूप से ग्रहण करना चाहिए। भाव यह कि स्वप्न आदि दृष्टान्तों से जगत् का मिथ्यात्व प्रतीत होने पर जीवात्मा के आकाश, सूर्य आदि दृष्टान्तों के और ब्रह्म के मिट्टी, सुवर्ण आदि दृष्टान्तों के भी पदार्थपरिशोधन द्वारा बोध्यरूप लक्ष्य अर्थ के लिए और उसका बोध होने पर कार्यसहित अविद्या के विनाश के लिए अवश्य उपादेय होने से सम्पूर्ण श्रुति, और शास्त्रों के महातात्पर्य का विषय 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इस प्रकार का महावाक्य के अर्थ का निश्चय ग्राह्य है ॥६६,६७॥

'मैं गोरा हूँ, स्थूल हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष से, औषधपान, आरोग्यलाभ आदि प्रवृत्ति के फलदर्शनरूप लिंग से, अन्य के व्यवहार के साम्यरूप उपमान से, सम्पूर्ण व्यावहारिक महाजनवाक्यों से, 'ब्राह्मणो यजेत्' (ब्राह्मण यज्ञ करे) इत्यादि श्रुति, स्मृति, धर्मशास्त्रों तथा अनेक तार्किकों की युक्तियोंसे देह और उससे भिन्न कर्तृत्व, भोक्तृत्व स्वभाववाला आत्मा जाना जाता है, ऐसी परिस्थिति में प्रत्यक्ष आदि अनेक प्रमाणों से विरुद्ध अर्थका केवल महावाक्य से कैसे ग्रहण करते हैं, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं।

कुतार्किकता को प्राप्त होकर विद्वानों के अनुभवका अपलाप करनेवाले अपवित्र देहात्मभावविषयक होने और अपवित्र कुत्ते, सूअर आदि की योनिप्रद होने के कारण अपवित्र विकल्पों से अर्थात् ब्रह्म प्रमाण सहित है या प्रमाण रहित ? यदि सप्रमाण है, तो अद्वैत की हानि होगी, यदि अप्रमाण है, तो प्रमेय की हानि होगी इत्यादि विकल्पों से परम पुरुषार्थ को प्राप्त करानेवाली प्रबुद्धता का विनाश नहीं करना चाहिए। देह आदि में जिस प्रकार आत्मत्व

का असंभव है, वह प्रकार आगे कहा जायेगा ॥६८॥

सभी लोग प्रतिबन्धशून्य स्वेच्छाविहारजनित सुख के प्रार्थी हैं, अतः दयालु परमहितैषी चार्वाक आदि का तथा स्त्री, पुरुष, मित्र आदि का विविध विचित्र दृष्टभोगसुखजनक स्वाभाविक स्वप्रीति के विषयों में प्रवर्तक संसार में सारता आदि का प्रतिपादक वचन कैसे हेय है ? तपस्याजनित क्लेश, संयम, धनव्यय तथा परिश्रम करानेवाले; इष्ट पुत्र, धन, स्त्री आदि का वियोग करानेवाला तथा संन्यास भिक्षाटन आदि हजारों दृष्ट अनर्थों से परिपूर्ण निर्विषय आत्ममात्रपरिशेषरूप परम दारिद्रयभूत मोक्षफल को देनेवाली जीवब्रह्म की एकता का बोधक होने से शत्रु के वाक्य से तुल्य अचेतन श्रुतिप्रतिपादित महावाक्य कैसे उपादेय है, ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

ठीक है, विचार न करने से ही वैसा प्रतीत होता है। आपाततः वैरिरूप से ज्ञात हुए वेद का वाक्य विचार से तो नित्य निरतिशय आनन्द आत्मरूप परमपुरुषार्थ का अनुभव करानेवाला है, अतः अनुभवनिष्ठ हम लोगो में, वह सम्पूर्ण प्रमाणों में सर्वोत्तम है, यों समादृत है। परमार्थभूत वैदिक पुरुषार्थ से विरहित वचन यदि परम प्रिय स्त्रीका भी कहा हो, तो मरण, नरक, आदि अनेक अनर्थों का हेतु होने से प्रलापमात्र ही है, वह न तो वेद है, न आप्त पुरुष का वाक्य है और न प्रमाण ही है ॥६९॥

यदि ऐसी बात है, तो कपिल, कणाद, जैमिनि आदिने वेदार्थ के ज्ञाता होने पर भी, पुरुषार्थ और उसके उपायभूत तत्त्व का निरूपण अन्यथा ही कैसे किया और आप अन्यथा ही उसका निरूपण कैसे कर रहे हैं, आपके कथन में कौन-सी विलक्षणता है ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस बुद्धिसे तत्त्वसाक्षात्कारजनित जीवन्मुक्तिरूप शुभ भाग्य होता है, वैसी हमारी बुद्धि है, उस बुद्धि से पूर्वोक्त रीति से अपरोक्षानुभवयोग्य परमपुरुषार्थ जिससे प्राप्त होता है, वैसी सम्पूर्ण श्रुतियों की–आध्यात्मिक शास्त्रोंकी–एक वाक्यता (एक महावाक्य के अर्थ में पर्यवसान) फलित होती है। उससे भिन्न श्रुति के तात्पर्य का अविषय, केवल तर्क आदि से ही पुष्ट (विकसित) सांख्य, कणाद आदि का ज्ञान है। हमारा प्रमाण उससे सर्वथा विलक्षण महावाक्यार्थरूप अपरोक्षानुभव योग्य अर्थवाला है, उनका वैसा नहीं है। भाव यह कि उनकी मति कुतर्कों से कुण्ठित हो गई है, अतएव वे श्रुति के तात्पर्य का निश्चय करने योग्य बुद्धि से विरहित है ॥७०॥

अठारहवाँ सर्ग समाप्त

उन्नीसवाँ सर्ग

दृष्टान्त के अर्थनिरूपण के सिलसिले में नित्य अपरोक्ष द्रष्टा,
दृश्य आदि के साक्षी ब्रह्मरूप प्रमाणतत्त्व का शोधन।

प्रासंगिकता समर्थन कर उससे सम्बद्ध प्रमाणतत्त्व का निर्णय करने के इच्छुक श्रीवसिष्ठजी

ने कहा : हे श्रीरामजी, जिस अंश का विशेषरूप से प्रतिपादन करने की विवक्षा हो, उसीसे सादृश्य सब उपमानों में गृहीत होता है, उपमान और उपमेय में सर्वथा सादृश्य होने पर उपमान और उपमेय में क्या अन्तर रहेगा ? भाव यह कि विशेष, अंश में ही सादृश्य गृहीत होता है, अन्यथा 'गाय के समान गाय है' इत्यादि स्थान में जाति आदि से भी सादृश्य की विवक्षा होने पर भेद न होने से उपमानमात्र का उच्छेद हो जायेगा ॥१॥

दृष्टान्त बुद्धि का फल कहते हैं।

तत् और त्वं पदार्थ के परिशोधन के उपयोगी तत्-तत् दृष्टान्तबुद्धि होने पर अद्वितीय ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वरूप शास्त्रार्थ का (सम्पूर्ण वेदान्तों के तात्पर्यका विषय होने से आत्मतत्त्व शास्त्रार्थ है) ज्ञान होने से अर्थात् अद्वितीय आत्मतत्त्वविषयक अखण्डाकार वृत्ति का उदय होनेसे उससे अभिव्यक्त महावाक्यार्थभूत ब्रह्मस्वरूप से ही भली भाँति सिद्ध अज्ञान और उसके कार्य का विनाशरूप निर्वाण होता है। वही निर्वाण दृष्टान्तबुद्धि का फल कहा जाता है। इसलिए दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकों के विविध विकल्पों का अर्थात् दृष्टान्तका दार्ष्टान्तिक से भेद और दृष्टान्त में दार्ष्टान्तिक के प्रचुरधर्मवत्त्वके प्रसंजक-क्या यह दृष्टान्त सर्वांश में है, या कुछ धर्मों के अंशमें इत्यादि-विकल्पों का कोई प्रयोजन नहीं है ॥२॥

तो किससे प्रयोजन है ? इस पर कहते हैं।

जिस किसी युक्ति से (पदार्थ, लक्ष्यार्थ और तात्पर्यार्थ के ज्ञान के अनुकूल युक्ति से) महावाक्यार्थ का समाश्रय करना चाहिए ॥३॥

यदि कोई कहे कि सम्पूर्ण संसार की शान्ति होने पर उसके अन्तर्गत दृष्टान्त, युक्ति आदिका भी बाध होनेसे उनमें अभासता होगी, ऐसी आशंका पर फलसिद्धि के पश्चात् साधन की क्षति होना कोई दोष नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप शान्ति को परम कल्याण समझिए, उसीकी प्राप्ति के लिए यत्न कीजिए। भोजनयोग्य भात यदि पक गया, तो उसके पाक में साधनभूत दृष्टान्त आदि के मिथ्या होने से क्या क्षति है ? ॥४॥

'औषधं पिब भ्रातुरिव ते शिखा वर्धिष्ते' (औषधि पीओ, भाई के समान तुम्हारी भी शिखा बढ़ जायेगी) इस प्रकार बालक की औषधि पीने में प्रवृत्ति के कारण और शिखा की वृद्धि में अकारण, इष्ट साधन होने से, एक अंश में सदृश उपमान और उपमेयों से बालक को औषधिपान में इष्टसाधनताज्ञान के (औषधि पीने से मेरा हित होगा इत्याकारक ज्ञान के) लिए जैसे लोक में उपमा दी जाती है, वैसे ही एक अंश से सदृश अपरिणामी और परिणामी उपमान और उपमेयों से ज्ञातव्य सत् पदार्थ के बोध के लिए उपमा दी जाती है ॥५॥

प्रकृत स्थल में उपयुक्त होने के कारण अनात्मविषयक दृष्टान्त दे रहे श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी को शान्ति आदि की प्राप्ति में प्रवृत्त करते हैं।

विवेकशून्य बुद्धि वाले पुरुष को इस संसार में, पत्थर की चट्टान के बीच में उत्पन्न अत्यन्त मोटे अन्धे मेढक के समान भोगों में आसक्त नहीं होना चाहिए, किन्तु शान्ति आदि के लाभ के

लिए प्रयत्न करना चाहिए ॥६॥ इस प्रकार के दृष्टान्तों द्वारा बोधित, पुरुष को प्रयत्नपूर्वक परम पद प्राप्त करना चाहिए और शान्तिप्रद शास्त्रों के अर्थ का परिज्ञाता तथा विचारवान् होना चाहिए। सत्–शास्त्रों के उपदेश, सज्जनता, बुद्धि, शास्त्रज्ञ और आत्मज्ञानियोंके समागम से पूर्व पूर्व अन्तरंग साधन क्रम से युक्त धर्मों (✍) गुरुसेवा आदि के उपयोगी धनों और शास्त्र के तात्पर्यविषयीभूत अर्थों के उपार्जनरूप कर्म में तत्पर बुद्धिमान् पुरुष को तबतक विचार करना चाहिए जबतक कि पुनः नष्ट न होनेवाली चतुर्थपदनामक (🔔) (सप्तमभूमिकाप्राप्तिरूप) शान्तिमय आत्मविश्रान्ति प्राप्त नहीं हो जाती। जो पुरुष सप्तमभूमिकाप्राप्तिरूप विश्रान्तिसुख से युक्त है और संसाररूपी समुद्र के पार हो चुका है, वह चाहे जीवित हो चाहे जीवनरहित हो, गृहस्थ हो या यति हो उसको ऐहिक फल और पारलौकिक फल कृत या अकृत कर्म से प्राप्त नहीं होते और श्रवण–मननरूप मनके विक्षेपों से उसका कोई प्रयोजन नहीं है, वह मन्दराचलरूप मन्थनदण्ड से रहित समुद्र के समान स्वस्थ रहता है ॥७–११॥

यह तो आप परस्पर विरुद्ध कहते हैं 'गृहस्थस्य तथा यतेः' इससे तत्–तत् आश्रम में नियत धर्मों में निष्ठ रहना चाहिए, ऐसा कहा, 'न कृतेऽकृतेनार्थः' इससे अनियतधर्मनिष्ठता कही और 'तत्र निर्मन्दर इवाऽर्णवः' इससे आत्यन्तिक विक्षेपकी निवृत्ति का प्रतिपादक दृष्टान्त दिया, ये सब कैसे संगत होंगे ? ऐसी शंका कर जो पहले आत्मतत्त्व के विषय में एक अंश से साम्य ग्रहण करना चाहिए, ऐसा कहा, उसीके अभिप्राय से इसका उदाहरण दिया गया है, ऐसा कहते हैं।

किसी एक अंश से उपमानों की उपमेयों के साथ बोध्य पदार्थ के बोधन के लिए समता होती है। बोध्य पदार्थ के बोध के उपयोगी होने के कारण इस बात पर अवश्य ध्यान देना चाहिए कि दूसरे के पक्ष का खण्डन करने के लिए ही चोंच की नाईं तनिक बोध को मुँह में लगाकर न बैठ जाना चाहिए, अपितु बोध को हृदय में प्रविष्ट करा देना चाहिए। अन्यथा स्वपुरुषार्थ का विनाश अनिवार्य हो जायेगा ॥१२॥ हे श्रीरामजी, आपको जिस किसी भी युक्ति से ज्ञातव्य पदार्थ का ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिए, जो लोग बोधचंचु (अपूर्णबोध) हैं, वे परपक्ष खंडन में ही व्याकुल रहते हैं, अतएव युक्त और अयुक्तका विचार नहीं कर सकते ॥१३॥

लक्षणों द्वारा दो प्रकार के बोधचंचुओं का निर्देश करते हैं।

हृदयरूपी संविदाकाश में विश्रान्त अनुभवस्वरूप आत्मरूप वस्तु में जो अनर्थबुद्धि करता है, वह पहला बोधचंचु है, भाव यह है कि ज्ञान के फलको जो अनर्थरूप से समझे, वह पहला

✍ दिने दिने च वेदान्तश्रवणाद् भक्तिसंयुतात्। गुरुशुश्रूषया युक्तात् कृच्छ्राशीतिफलं लभेत्॥ यो यजेताऽश्वमेधेन मासि मासि शतं समाः। न यः क्रुध्येत सर्वस्य तयोरक्रोधनो वरः॥ इत्यादि स्मृति में प्रसिद्ध धर्मों का।

🔔 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' इस श्रुति में चतुर्थपदनामक शान्ति सप्तमभूमिकाप्रतिष्ठा कही गई है।

बोधचंचु है। जैसे निर्मल आकाश को मेघ मलिन कर देता है, वैसे ही अभिमानमूलक कुतर्कों से ज्ञान और उसके साधनों को विकल्पित करता हुआ जो मूर्ख अपने आत्मभूत बोध को अन्तःकरण में मलिन करता है, वह द्वितीय बोधचंचु है ॥१४,१५॥

प्रासंगिक बोधचंचु के लक्षण को कहकर प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के तत्त्व के परीक्षणपूर्वक जीवकी अद्वितीय कूटस्थ चिन्मात्रस्वभावता के व्युत्पादन द्वारा व्यवहार में भी जीवन्मुक्त पुरुष की मन्दराचलशून्य समुद्र के दृष्टान्त से लब्ध निष्क्रियताका समर्थन करने के लिए कहते हैं।

जैसे सम्पूर्ण जलों का आधार समुद्र है, वैसे ही सम्पूर्ण प्रमाणों के प्रामाण्य का आधारभूत प्रत्यक्ष ही मुख्य तत्त्व है, इसलिए उस प्रत्यक्षको ही तत्त्वतः आपसे कहता हूँ, उसे सुनिये। जैसे सब प्रमाणों की सार इन्द्रियाँ हैं, वैसे ही सम्पूर्ण इन्द्रियों का सार अपरोक्षज्ञान है, ऐसा श्रेष्ठ लोगों का कहना है, वही (अपरोक्षज्ञान) मुख्य प्रत्यक्ष है जो 'घटमहं जानामि' इस त्रिपुटीज्ञान से सिद्ध जो अवच्छेदभूत, आश्रयभूत और विषयभूत वस्तु है, वह भी प्रत्यक्ष कही गई है। व्यवहारभूमि में अनुभूति, वेदन और प्रतिपत्तिका नामाक्षरों के अनुसार 'प्रत्यक्ष' यह नाम किया गया है, वह साक्षी ही प्राणधारण के कारण जीव कहा जाता है। साक्षी ही वृत्तिरूप उपाधि से संवित् कहा जाता है। 'अहम्' इत्याकारक प्रतीति का विषय वही प्रमाता कहा जाता है, वही साक्षी जिस विषयाकारकी वृत्ति से (बाह्याकारवृत्ति से) आवरणभंग होने पर, आविर्भूत होता है वह पदार्थ (विषय) कहा जाता है, इस प्रकार साक्षी ही क्रम से त्रिविधता को प्राप्त होता है। जल जैसे तरंग आदि के रूप में प्रकाशित होता है, वैसे ही वही–परमात्मा नामक अद्वितीय, नित्य, सर्वव्यापक, सर्वावभासक चैतन्य ही–विविध भ्रमों को करनेवाले संकल्पविकल्पप्रधान अन्तःकरणों से जगत् के रूप में प्रकाशित होता है। सृष्टि के पूर्व में वह साक्षी एक और अकारणरूप से विराजमान था, तदुपरान्त सृष्टि आरम्भ में सृष्टिलीलावश सृष्टिभाव को प्राप्त हुए उसने अपने स्वयं ही कारणभाव का आविर्भाव किया अर्थात् आप ही अपना कारण हुआ ॥१६–२१॥ यद्यपि एक ही में वास्तविकरूप से कार्यत्व और कारणत्व नहीं बन सकते तथापि साक्षी चेतन में कारणता अविचार (अज्ञान) जनित होने से सत् नहीं है, फिर भी जीव को सत् सी प्रतीत होती है। इस अज्ञानसंवलित आत्मरूप प्रकृति में जगत् अभिव्यक्त (प्रकट) हुआ है, इस प्रकार यह जगत् आरोपित है, यह भाव है ॥२२॥ विचार (विचार से उत्पन्न आत्मसाक्षात्कार) भी अपने से उत्पन्न और परमार्थरूप से अपने से अभिन्न ही जगद्रूप शरीर को अज्ञान के विनाश द्वारा विनष्ट कर तत्त्वज्ञ पुरुषों को आत्मभूत अनावृत्त अपरिच्छिन्न परम पुरुषार्थ को प्राप्त कराता है ॥२३॥

तब तो उक्त विचार या अन्तिम साक्षात्कारवृत्ति मोक्ष में भी अवशिष्ट रहेगी, उसका अन्य से नाश मानने में अनवस्था होगी, इस पर कहते हैं।

जब विचारवान् पुरुष आत्माकार हो जाता है तब विचार भी निवृत्त हो जाता है, तब निरुल्लेख (शब्द आदि का अविषय) एकमात्र ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है। इस प्रकार प्रपंच

के बाधित होने पर अपने बुद्धि, इन्द्रिय आदि के साथ इच्छा आदि से रहित मन के शान्त (वृत्तिशून्य) होने पर कार्य, अकार्य, इच्छा आदिका कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता, क्योंकि बाधित का सत्यरूप से भान न होने के कारण प्रारब्धजनित क्रियाभास से क्रिया और उसके फल का भोग नहीं होता, यह भाव है ॥२४,२५॥ इच्छादिरहित मन के शान्त होने पर कर्मेन्द्रिय आदि कर्म में, नहीं चलाये गये यन्त्रों की नाईं, प्रवृत्त नहीं होते। मनकी शान्ति होने पर कर्मेन्द्रियों के और उनकी प्रवृत्ति के निमित्त विषयस्फूर्ति के न होने से जीवमें चलन क्रिया का अभाव है, इस अभिप्राय से 'निर्मन्दर इवाम्भोधिः' (मन्थनदण्डरूप मन्दराचल से शून्य समुद्र के समान) यह दृष्टान्त दिया है। भाव यह कि अज्ञानियों की दृष्टि से चलनक्रिया का भान होने पर भी जीवन्मुक्तों की चलनक्रिया सिद्ध नहीं हो सकती ॥२६॥ जैसे काठ की नाली के भीतर लकड़ी के बने हुए दो भेड़ों को परस्पर भिड़ाने में भीतर रक्खी हुई और भीतर से खींची जाती हुई रस्सी कारण है वैसे ही मनरूपी यन्त्र के चलने में विषयों की स्फूर्ति कारण है ॥२७॥

मन के चलने में निर्विषय संवेदन हेतु नहीं हो सकता अतएव सविषय वेदन को मन के चलन का हेतु कहना होगा। ऐसी अवस्था में मनःस्पन्दन के पहले भी विषयों का अस्तित्व मानना होगा तथा पहले आप विषयों को मनोमय कह चुके हैं, अतः विषयसिद्धि से पहले मन की सिद्धि कहनी होगी, यों अन्योन्याश्रय दोष होगा, ऐसी शंका कर सबके संस्काररूप से मायाशबल चैतन्य के भीतर अधिष्ठान की सत्ता से स्थित होने के कारण सत् ही आविर्भूत होता है, ऐसा कहते हैं।

जैसे स्पन्दन (चलन) वायु के ही अन्तर्गत है, वैसे ही रूप अवलोक, मनस्कार तथा पदार्थ या विषय इनसे परिपूर्ण जगत् वेदन के (विषयस्फूर्ति के) अन्तर्गत है। (बाह्य इन्द्रियों के द्वारा विषयग्रहण रूप अवलोक है एवं मन के द्वारा विषयानुसन्धान मनस्कार है) इन दोनों के ही विषय पदार्थ हैं। शुद्ध सर्वात्मवेदन कर्मपरिपाक की व्यवस्था से प्राणियों के कर्मभोग के लिए जैसे आविर्भूत होता है, उन्हीं का रूप धारणकर उत्पन्न हुआ–सा विस्तृत देश, काल, बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थोंके स्वरूप से शोभित होता है। सर्वात्मरूप विचार देह आदि दृश्यताभास को देखकर ही वही मेरा स्वरूप है यों अज्ञान से समझता हुआ जीवभाव से स्थित है। अपना रूप जहाँ, जैसे और जिस प्रकारका प्रतीत होता है वैसा ही वह हो जाता है। वह सर्वात्मा जहाँ जैसे उल्लास को प्राप्त होता है वहाँ शीघ्र वैसे ही स्थित होता है और तद्रूप जैसा शोभित होता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे भ्रमवश रज्जु में सर्पज्ञान होता है वैसे ही जगत् और वह सर्वात्मा द्रष्टा मिथ्या दृश्य होकर प्रकाशित होते हैं, परन्तु जब विचार होने पर भ्रम निवृत्त हो जाता है तब सम्पूर्ण दश्य यथार्थ है, ऐसा बोध नहीं होता। चूँकि चिद्रूपी द्रष्टा सर्वात्मक है अतएव उसके दृश्य के तुल्य होना अयुक्त नहीं है प्रत्युक्त युक्तिसिद्ध ही है। द्रष्टा के स्वरूप में ही दृश्यभाव का भान होता है, अतएव दृश्यभाव वास्तविक नहीं है। इसलिए यह स्थित प्रत्यक्ष ही अकारण अद्वितीय ब्रह्म सिद्ध हुआ अनुमान आदि प्रत्यक्षपूर्वक होने से उसके अंश हैं। भाव यह कि सम्पूर्ण प्रमाणों का तत्त्व आत्मा ही है। सिंहावलोकन न्याय से दैव के निरास

का स्मरण कराते हुए पौरुष का ही यह फल है। हे सज्जनशिरोमणि श्रीरामजी, परमार्थतः जो केवल अपने पूर्वजन्म का कर्म है, उसे दैव मानकर 'मैं उसके आधीन हूँ जैसा वह मुझसे करायेगा वैसा करूँगा' यों उसकी उपासना में तत्पर जो पुरुष है उससे कल्पित दैव को दूर भगाकर इन्द्रिय आदिकी विजय में शूर अधिकारी पुरुष अपने पौरुष से ही उस परम पद को अपने हृदय में ही प्राप्त करता है। हे श्रीरामचन्द्रजी जब तक आप स्वयं ही बुद्धि से उस अनन्तरूप, विशुद्ध परब्रह्म का साक्षात्कार नहीं करते तब तक आचार्यपरम्परा के परमार्थनिष्ठ और प्रमाणशुद्ध मत से विचार कीजिए ॥२८–३५॥

उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

बीसवाँ सर्ग

एक दूसरे को बढ़ानेवाले प्रज्ञाबुद्धि प्रकार, महापुरुषलक्षण और सदाचारक्रम का कथन।

उक्त ज्ञान महापुरुषों में ही रहता है दूसरों में नहीं, और महापुरुष बनने में वक्ष्यमाण सदाचार ही कारण है, अतः सदाचार का वर्णन करने के लिए उपक्रम कर रहे श्रीवसिष्ठजी बोले।

श्रीरामचन्द्रजी, पहले आर्यों के संसर्ग से प्राप्त उपदेश, आचरण, शिक्षण और युक्ति द्वारा बुद्धि को बढ़ाना चाहिए, तदनन्तर आगे कहे जानेवाले महापुरुष के लक्षणों से अपने में महापुरुषता का सम्पादन करना चाहिए। यदि सम्पूर्ण गुण एक पुरुष में न मिलें, तो इस संसार में जो पुरुष जिस गुण के द्वारा उन्नत प्रतीत होता है, वह उसी गुण के द्वारा दूसरे पुरुषों से विशिष्ट गिना जाता है, अतः उस पुरुष से शीघ्र उस गुण को प्राप्त कर अपनी बुद्धि को बढ़ाना चाहिए ॥१,२॥ हे श्रीरामजी, शम आदि गुणों से परिपूर्ण यह महापुरुषता यथार्थ ज्ञान के बिना किसी प्रकार की सिद्धि से प्राप्त नहीं होती। जैसे वृष्टि से नवीन अंकुर बढ़ते हैं, वैसे ही आत्मसुख के आविर्भाव से प्रशंसाके योग्य सत्पुरुषों के शम आदि आचार और अमानित्व आदि ज्ञान से वृद्धि को प्राप्त होते हैं ॥३॥ जैसे अन्नात्मक घृत आदि से युक्त यज्ञों से धान आदि अन्नों की हेतु वृष्टि की अभिवृद्धि होती है, वैसे ही शम आदि गुणों से उत्तम ज्ञान की अभिवृद्धि होती है। यज्ञों से वृष्टि होती है, इस विषय में कहा भी है 'अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिवृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥' अर्थात् अग्नि में भली भाँति दी गई आहुति आदित्य को प्राप्त होती है, आदित्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न होता है और अन्न से प्राणी होते हैं ॥४,५॥

एक समय में परस्पर वृद्धि के अनुरूप दृष्टान्त को बतलाने के लिए उक्त वस्तु को ही पुनः कहते हैं।

जैसे कमल के सौन्दर्य और शोभा आदि गुणों द्वारा सरोवर की और जल के शीतलता आदि गुणों द्वारा कमल की परस्पर वृद्धि होती है, वैसे ही शम आदि गुणोंकी ज्ञान से और ज्ञान की शम आदि गुणों से परस्पर अभिवृद्धि होती है ॥६॥

इसी प्रकार ज्ञान और सदाचार भी परस्पर अभिवृद्धि के कारण हैं, ऐसा कहते हैं।

ज्ञान की सत्पुरुषों के आचार से वृद्धि होती है और सत्पुरुष के आचार की ज्ञानसे वृद्धि होती है, यों ज्ञान और सत्पुरुष का आचार परस्पर एक दूसरे से अभिवृद्धि को प्राप्त होते हैं। शम, प्रज्ञा, महापुरुषता आदि से युक्त श्रवण आदि प्रयत्न के क्रम से बुद्धिमान् पुरुष ज्ञान और सदाचार का अभ्यास करे यानी उनका पुनः पुनः आवर्तन करे ॥७,८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, यहाँ जबतक ज्ञान और सदाचार का भली भाँति अभ्यास न किया जाय, तब तक उनमें से एक की भी पुरुष को सिद्धि नहीं होती ॥९॥

उनकी अभिवृद्धि का फल भी एक ही समय में होता है, इसे दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं।

जैसे पके हुए धान के खेत की रक्षा करनेवाली स्त्री को, जो कि पक्षियों को उड़ाने के लिए कोई दूसरा व्यापार नहीं करती है विस्तृत करतलध्वनि से युक्त गान से आयुषंगिक पक्षियों का निरास और गान का आनन्द एक ही काल में होता है वैसे ही ज्ञानप्राप्ति में विघ्नभूत राग, मान आदि के निराकरण से इच्छारहित अतएव कर्ता न होते हुए भी किये गये ज्ञान के हेतु श्रवण और सदाचार से कर्तारूप अर्थात् केवल श्रवण और सदाचारमात्र का कर्तारूप पुरुष आनुषंगिक विघ्नों के निरास द्वारा परम पद को प्राप्त होता है ॥१०,११॥ हे रघुकुलतिलक, जैसे मैंने इस प्रकार के इस सदाचारक्रम का आपको उपदेश दिया है, वैसे ही इस समय आगे के प्रकरण में ज्ञानक्रम का आपको भलीभाँति उपदेश देता हूँ। यह शास्त्र कीर्ति देनेवाला, आयु बढ़ानेवाला और पुरुषार्थरूपी फल देनेवाला है, बुद्धिमान् पुरुष को इस शास्त्र का इसे जाननेवाले हितैषी गुरु से श्रवण करना चाहिए। जैसे निर्मली के चूर्ण का संसर्ग होने से मैला जल निर्मल हो जाता है, वैसे ही इसका श्रवण कर के बुद्धि को दर्पण की नाईं निर्मल करने के कारण आप अवश्य ही उस परम पद को प्राप्त होंगे ॥१२–१४॥

केवल साधनों के बल से ही नहीं, किन्तु ज्ञातव्य तत्त्व के स्वभाव से भी आप परम पद को प्राप्त होंगे, ऐसा कहते हैं।

मुनि का (प्रस्तुत साधनसम्पत्ति से मननशील पुरुष का) मन, जिसने ज्ञातव्य पदार्थ को जान लिया है, ऐसा होकर ज्ञातव्य पदार्थ के बलसे ही विवश हो परम पद को प्राप्त होता है। वह अज्ञान और उसके कार्य का तिरस्कार कर जागरूक हो अखण्डित उत्तम पद को नहीं छोड़ता, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥१५॥

कहा भी है।

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम्। आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते॥

अर्थात् जैसे सर्वसाधारण को देहात्मज्ञान होता है, वैसे ही जिसको आत्मा में ही देहात्मज्ञानका बाधक ज्ञान हो जाता है, वह पुरुष इच्छा न रहते भी मुक्त हो जाता है।

बीसवाँ सर्ग समाप्त

इति श्री योगवासिष्ठ हिन्दीभाषानुवाद में

मुमुक्षु-व्यवहार प्रकरण समाप्त।

उत्पत्ति प्रकरण

पहला सर्ग

केवल ज्ञान से ही आत्मा की मुक्ति होती है, कर्म और समाधि से नहीं।
अज्ञात आत्मा ही स्वयं दृश्य की सृष्टि करता है इत्यादि का प्रतिपादन।

मुमुक्षुव्यवहारप्रकरण के अनन्तर पूर्वोक्त साधनों से सम्पन्न अधिकारी के लिए 'तावद् विचारयेत् प्राज्ञो यावद् विश्रान्तिमात्मनि। संप्रयात्यपुनर्नाशां शान्तिं तुर्यपदामिधाम् ॥' (बुद्धिमान पुरुष को तब तक विचार करना चाहिए जब तक कभी नष्ट न होनेवाली सप्तमभूमिकाप्राप्तिरूप तथा आत्मा में विश्रान्तिरूप शान्ति नहीं प्राप्त होती।) इस प्रकार तत्त्वके साक्षात्कारपर्यन्त विचारका कर्तव्यरूप से विधान किया है। वैराग्यप्रकरण तथा मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणमें वर्णित सम्पूर्ण साधनों से सम्पन्न सर्वोत्तम अधिकारी श्रीरामचन्द्रजीके लिए उक्त विचार के प्रकार का 'अथोपदिश्यते सम्यगेवं ज्ञानक्रमोऽधुना।' यों प्रतिज्ञापूर्वक विस्तार से वर्णन करने के लिए प्रवृत्त हुए भगवान् श्रीवसिष्ठजी सृष्टिप्रकार के वर्णन द्वारा अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन करने के लिए आरब्ध (आरंभ किये गये) उत्पत्तिप्रकरणका, सुखपूर्वक बोध के लिए, पहले संक्षेपमें तात्पर्य दर्शाने की इच्छासे जैसे 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' इत्यादि सृष्टिप्रतिपादक श्रुतिका 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्यके बोधमें पर्यवसान है वैसे ही इस प्रकरणका भी 'दृष्टान्तस्यैकदेशेन बोध्यबोधोदये सति। उपादेयतया ग्राह्यो महावाक्यर्थनिर्णयः ॥' पूर्वोक्त रीति से महावाक्य के बोधमें पर्यवसान दिखलाते हैं –

ब्रह्म ही जब 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्य से उत्पन्न अखण्डाकार वृत्ति से अत्यन्त प्रदीप्त आत्मप्रकाश द्वारा स्वतत्त्व का साक्षात्कार कर लेता है, तब वह अपने वास्तविक नित्य, मुक्त और पूर्णस्वरूप से प्रकाशित होता है।

भाव यह कि वह अपनी मुक्ति के लिए 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्यों से जन्य अखण्डाकार वृत्ति से अतिरिक्त किसी साधन की अपेक्षा नहीं करता।

शंका – सो कैसे ?

समाधान – चूंकि स्वप्न में विविध विचित्र पदार्थों की नाईं यह देह, इन्द्रिय आदि तथा आकाश आदि बन्धरूप दृश्य प्रत्यगात्मभूत ब्रह्म में ही आविर्भूत होकर प्रकाशित होता है। जैसे स्वप्न बन्ध की निवृत्ति के लिए प्रबोध से अतिरिक्त साधन की अपेक्षा नहीं होती है वैसे ही आत्मतत्त्व के साक्षात्कार के लिए महावाक्यजन्य अखण्डाकार वृत्ति से अतिरिक्त साधन की अपेक्षा नहीं होती, यह भाव है। श्रुति भी है यद्ब्रह्मविद्यया सर्व भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद्ब्रह्मावेद् यस्मात्तत्सर्वमभवत्' (ब्रह्मविद्या से ब्रह्म श्रीपरमात्मा) जिससे ज्ञात होता है वह ब्रह्मविद्या है उससे हम 'सब' हो जायेंगे, ऐसा मनुष्य मानते हैं, ब्रह्म ने क्या जाना जिससे कि वह सर्व हुआ) ऐसा प्रश्न कर उत्तर दिया है 'ब्रह्म वा इदमग्रआसीत् तदात्मानमेवावेदहमस्मीति तस्मात्तत्वसर्वमभवत्' (यह ब्रह्म ही सृष्टि के पूर्व था, उसने 'अहं ब्रह्मास्मि' यों अपने को

जाना उससे वह सर्व हो गया) इस श्रुति में ब्रह्म स्वयं स्वतत्त्व के बोध से बन्धनशून्य और पूर्ण हो गया इस कथन से ब्रह्म ही स्वतत्त्वबोध से पहले द्वैत, प्रिय–अप्रिय दर्शन परिच्छेदरूप बन्ध का अनुभव–सा करता है। इससे बन्ध का मिथ्यात्व प्रत्यग् आत्मा का ब्रह्मत्व अतिस्पष्टरूप से ज्ञात होता है। जैसे वहाँ पर महावाक्य के अर्थ के उपपादक 'तन्नमरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' (वह अव्याकृत आत्मा नाम और रूप से व्याकृत हुआ अर्थात् ऐसे व्यक्तिभाव को प्राप्त हुआ जिसमें नाम–रूप विशेष के निश्चय की मर्यादा है), 'स एष इह प्रविष्ट आनखोभ्यः' (आत्मा देह में नखाग्रपर्यन्त व्याप्त है) इत्यादि पूर्ववर्ती सृष्टि और प्रवेश के प्रतिपादक अर्थवादभूत वाक्यों का –अज्ञातब्रह्ममात्रोपादानक (केवल अज्ञात ब्रह्म ही जिनका उपादान है) जगत् और जीवकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश इन तीनों कालों में ब्रह्म से अतिरिक्त सत्ता नहीं है, अतः वे मिथ्या ही हैं– यों उपपादन द्वारा अपने प्रधानभूत महावाक्य के तात्पर्य के विषय अद्वैत ब्रह्म में पर्यवसान है वैसे ही यहाँ पर भी समझना चाहिये, यह भाव है।

शंका – वैसा हो उससे हमें क्या प्रयोजन है ?

समाधान – 'तद्' इत्यादि से। 'उस ब्रह्म को इस समय का जो हमारे समान अधिकारी श्रवण आदि उपायों से जिस प्रकार यथार्थरूप से 'मैं ही ब्रह्म हूँ' यों साक्षात्कार करता है, वह पूर्वोक्त पूर्ण, नित्य, मुक्त, ब्रह्मज्योतिस्वरूप मोक्षफल का भी जीतेजी अनुभव करता है। श्रुति भी है – तद् यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तद्यथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' (देवता, ऋषि और मनुष्यों में जिस जिसने यथोक्त विधि से आत्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया वही आत्मा (ब्रह्म) हो गया। 'ब्रह्म ही मैं हूँ' यों साक्षात्कार कर रहे ऋषि वामदेवजी को यह ज्ञान हुआ कि 'मैं मनु हुआ और मैं सूर्य हुआ' (📖) ॥१॥

📖 संस्कृत टीकाकारों ने उक्त श्लोक से अनेक अर्थ किये हैं उनमें से कुछ नीचे लिखे जाते हैं।

अथवा जो अज्ञात होने के कारण मुमुक्षुओं की जिज्ञासा का विषय है, सम्पूर्ण लोगों को जिसका आत्मरूपसे प्रत्यक्ष है, वह ब्रह्म वाचक शब्दसमूह और उससे प्रकाशित होनेवाले अर्थसमूह से 'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म' (नाम, रूप और कर्म ये तीन) इत्यादि श्रुति में प्रदर्शित द्वैतप्रपंच से अपृथक् अपने को देखता हुआ अपने में स्वप्न की नाईं, बन्धन, शोक मोह आदि से दुःखी प्रतीत होता है। जो अधिकारी उस प्रकार से प्रतीत होते हुए भी ब्रह्म को केवल आत्मा का ही परिशेष बतलानेवाले 'नेति नेति' इत्यादि वाक्य द्वारा द्वैतनिषेध से अवशिष्ट जानता है, वही ब्रह्म को यथार्थरूप से जानता है। आरोपित नाम, रूप आदि को देखनेवाला पुरुष उसे नहीं जान सकता यह भाव है।

अथवा – 'वाग्' से वचन (बोलना), गमन आदि क्रियाप्रधान कर्मेन्द्रियाँ लक्षित होती हैं और 'भाः' से प्रकाशप्रधान ज्ञानेन्द्रियाँ लक्षित होती हैं। उक्त द्वारभूत ज्ञानेन्द्रि और कर्मेन्द्रियों से जो वस्तुतः ब्रह्म को भी देखता है वह स्वयं ब्रह्म होता हुआ भी आत्मा में स्वप्न की नाईं अब्रह्मभूत अन्यथा प्रतीत होता है, कारण कि बहिर्मुख पुरुष को तत्त्वदर्शन नही हो सकता, 'पराचि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्म् (परमात्मा ने इन्द्रियों को अनात्मविषयक बना कर उनकी हिंसा की, इसलिए जीव

इस प्रकार उत्पत्ति–प्रकरण के संक्षिप्त अर्थ के प्रदर्शन द्वारा अवान्तर विषय के दिखलाने पर 'प्रपंच मिथ्या है' इत्याकारक ज्ञानरूप अवान्तर प्रयोजन से संबन्ध रखनेवाले पूर्वोक्त दूषण का परिहार भी अर्थात् हो गया, ऐसा कहते हैं।

पीछे संक्षेप से प्रदर्शित और आगे विस्तार से कहे जानेवाले 'अध्यस्त पदार्थ का अधिष्ठान से पृथक् अस्तित्व नहीं है' इस न्याय से या अध्यारोपाअपवादन्याय से अध्यासक्रमसे दृश्यमान इस प्रपंचरूप सृष्टि के ब्रह्म रूप होने पर या सृष्टिके अपवादक्रम से ब्रह्ममात्र शेष रहने पर : तदेतद्भगवान् ब्रूहि किमिदं परिणश्यति। किमिदं जायते भूयः किमिदं परिवर्द्धते॥ इत्यादि से 'यह क्या है, किसका है और कहाँ पर स्थित है' यों आपने पीछे (१/१२/१७) जो सत् के नाशादि के असंभवका दूषण दिया, वह स्वतः ही निराकृत हो गया, क्योंकि सत् का नाश नहीं माना गया है, विनाशी की सत्ता नहीं मानी गई है, इसलिए आपने जो दोष दिया, उसका यह विषय ही नहीं है, यह भाव है॥२॥

इस प्रकार अवान्तर विषय और प्रयोजन दिखला कर विस्तारपूर्वक कथन की प्रतिज्ञा करते हैं।

उनसे अनात्मपदार्थों को ही देखता है) इत्यादि परमार्थपरक वाक्यों से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान से सबका अधिष्ठान सन्मात्र जानता है, बाह्य इन्द्रियों की विषयप्रवृत्ति से मुक्त तथा प्रत्यङमुख हुआ वह ब्रह्म को जानता है। बाह्य दृष्टि से देखा गया ब्रह्म भी अनर्थ ही है और प्रामाणिक प्रत्यग् दृष्टि से देखा गया जगत् भी पुरुषार्थ के लिए होता है। यों सृष्टिविस्तार के बहाने प्रत्यग् दृष्टि के विकास कराने में ही इस ग्रन्थ का तात्पर्य है, यह भाव है। अथवा आगे कही जानेवाली उपदेश वाणियों से तथा दृष्टान्त, आख्यान और युक्तिरूप प्रकाशों से यह कहा जाता है कि ब्रह्मज्ञ ही परमार्थरूप से ब्रह्म है। ब्रह्मनाम का दूसरा कोई पदार्थ व्यवहित दूर प्रदेश में आत्मा से अतिरिक्त है, ऐसी भ्रान्ति नहीं करनी चाहिए। जो यह दृश्य प्रपंच है, वह स्वप्न की नाईं परमात्मा में अध्यस्त हुआ प्रतीत होता है, वह भी परमार्थ सत्य अन्य पदार्थ है, ऐसी भ्रान्ति को स्थान नहीं देना चाहिए। पूर्वोक्त ब्रह्मभाव और जगद्भाव में जो विवेकी अथवा अविवेकी 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं देवदत्त हूँ', यों स्वाभाविक लौकिक प्रसिद्ध मिथ्या स्वशब्दों से उत्पन्न या 'ब्रह्मैवाहम्' (मैं ब्रह्म ही हूँ) 'चिदेवाहम्' (मैं चित् ही हूँ) इत्यादि शास्त्रीय सत्य अर्थवाले स्वशब्दों से उत्पन्न ज्ञान से जैसा अपना स्वरूप जानता है वैसा ही पुनः पुनः अनुभव करता है। संसारी आत्मा को देखनेवाले को संसाररूप फल प्राप्त होता है और ब्रह्मात्मदर्शी को ब्रह्मभाव प्राप्त होता है, इसलिए जीव को ब्रह्मात्मदर्शी होना चाहिए, यह भाव है। अथवा यदि किसी को शंका हो कि 'यथास्थितं ब्रह्मतत्त्वं सत्ता नियतिरूच्यते' तथा 'अस्त्यनन्तविलासानामाश्रयः सर्वसंश्रयः' (योगवासिष्ठ. १०/१ तथा ११ मुमुक्षु व्य.प्र.) इत्यादि से पूर्व में ब्रह्म का उपदेश हो ही चुका है। वहीं पर ब्रह्म का उपदेश देने पर शम, दम आदि के अभाव में चित्त की अस्थिरता होने पर चित्त की स्थिरता के साधन, शम, दम आदि और उनकी पुष्टि के लिए पौरुष का उपदेश दिया जा चुका है अब कोई भी उपदेष्टव्य वस्तु बची नहीं। यदि कहिये कि एक बार उपदिष्ट वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान से ब्रह्म का भान नहीं होता, तो सैकड़ों बार उसका उपदेश देने पर भी वह वैसाका वैसा ही रहेगा। फिर पिष्टपेषणकी नाईं उसके पुनः पुनः उपदेश से क्या फल होगा ? इस पर कहते हैं। जो ब्रह्मवेत्ता श्रोता पुरुष एक बार उपदिष्ट वाक्यों के अर्थप्रकाश से 'मैं ही ब्रह्म

हे बुध (✍), मैं पीछे संक्षेप से दिखलाये गये सम्पूर्ण पदार्थों को प्रमाणों और अनुभव के अनुसार, वस्तु के अनुसार और स्वभाव के अनुसार क्रमशः विस्तारपूर्वक कहता हूँ, आप सावधान होकर सुनिए ॥३॥

'स्वप्न की नाईं आत्मा में आविर्भूत हुआ प्रतीत होता है' ऐसा जो पीछे कहा गया है, उसका तात्पर्य स्पष्ट करते हैं।

जीवभाव को प्राप्त होकर जो जगत् को देखता है, वह स्वप्न की नाईं देखता है अर्थात् जैसे स्वप्नदर्शन विषय का बाध होने पर भी बाधित नहीं होता, वैसे ही जगद्दर्शन भी बाधित

✍ 'यथावस्तु' का–परीक्षा द्वारा जैसी वस्तु है उसके अनुसार, 'यथाक्रम' का साधन और युक्तियों के निरूपणपूर्वक और 'यथास्वभाव' का जैसा श्रोता का स्वभाव है अर्थात् श्रोता की बुद्धि की परिपक्वता के अनुसार, यह अर्थ करना चाहिए। अथवा 'यथावस्तु' से सृष्टि से पूर्व अवस्था का कथन है, क्योंकि उस समय सम्पूर्ण सन्मात्र ही था। 'यथाज्ञानम्' से सृष्टि के आरम्भ की उन्मुखता का कथन है, 'यथाक्रमम्' से स्थूलरूप से सृष्टि के क्रम का कथन है 'यथास्वभावम्' से जगत् के आरोप की दशा में भी वह अविकृतस्वभाव रहता है, इसका कथन है और 'सर्वम्' से ज्ञान से प्राप्त होनेवाले पूर्णभाव का कथन है, 'तस्मात्तत् सर्वमभवत्' इस श्रुति में पूर्णभाव में सर्वशब्द देखा जाता है। 'बुध' इससे उत्तम अधिकार का स्मरण कराना श्रवण में आदर उत्पन्न करने के लिए है।

हूँ', यों जानता है उसके ज्ञान का स्वप्न की नाईं प्रायः बाध हो जाता है, वह दृढ़ नहीं रहता या जैसे निद्रावशीभूत पुरुष अप्रसिद्ध अपने नक्षत्रनाम से धीरे धीरे पुकारे जा रहे वाक्य को ठीक ठीक नहीं समझ पाता वैसे ही एक बार उपदिष्ट वाक्य के अर्थप्रकाश से भी 'मैं ही ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं होता। वही पुरुष हे देवदत्त ! हे यज्ञदत्त ! यों चिरकाल के व्यवहार से प्रसिद्ध अपने नामके सम्बोधन से उत्पन्न ज्ञान से जो जानता है वही जानता है वैसा असंदिग्ध आत्मबोध ही अविद्या के उच्छेद में हेतु है, यह अर्थ है। वैसे दृढ़ निश्चय से युक्त अपरोक्ष अनुभव के लिए युक्तियों से फल की प्राप्ति होने तक पुनः पुनः उपदेश का अभ्यास करना चाहिए। अथवा– जैसे ब्रह्मको न जाननेवाला पुरुष जाग्रत् काल की भय आदि की चिरकालिक वासनाओं से वासित होकर स्वप्न में अविद्यावश निन्दा करना, धमकाना आदि भीषण वाणियों से भय से काँपना, भागना, गड्ढे में गिरना आदि से युक्त होकर दुःखी प्रतीत होता है, या जैसे उपासक पुरुष जाग्रद्काल की देहभाव वासना से वासित होकर स्वप्न में देवता के तुल्य, राजा के तुल्य स्तुति, प्रशंसा आदि की वाणियों से और क्रीड़ा, विमान पर चढ़ना, आकाशविहार करना आदि प्रतिभासे युक्त प्रतीत होता है वैसे ब्रह्मवेत्ता भी चिरकाल से भली भाँति अभ्यस्त श्रवण आदि से वासित होकर स्वप्न में यह सब ब्रह्म ही है', 'यह सब आत्मा ही है', 'मैं ही यह सब हूँ' इस प्रकार परमार्थ का प्रतिपादन करनेवाली वाणियों से और वास्तविक ब्रह्मभाव की प्रतिभासे दीप्त होता है, फलावस्था में भी स्वप्न की नाईं परलोकफल भी दृढ़ अभ्यस्त वासना के अनुसार होता है, इसका आगे लीलोपाख्यान आदि में उपपादन किया जायेगा। **शंका –** इसमें क्या प्रमाण है ? **समाधान –** स्वप्न की नाईं परलोक फल भी वासना के अनुसार होता है, इस बात का 'जो स्वयं ही (न कि अन्य किसी की अपेक्षा से) ज्ञान कराते हैं, वे स्वशब्द हैं अर्थात् श्रुतियाँ उनसे उत्पन्न स्वतः प्रमाणभूत ज्ञान से निश्चय होता है। 'अख यत्रैनं ध्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाद्यति गर्तमिव पतति यदेव जाग्रद्भयं पश्यति तदत्राविद्यया

नहीं होता। भाव यह कि ज्ञान की सत्यता में तात्पर्य है। 'अहम्' यों प्रत्यक् आत्मा के तादात्म्य से और 'त्वम्' यों अनात्मभाव से भासित हो रहा प्रपंचरूप भी स्वप्नसंसाररूप दृष्टान्त में भली भाँति सम्बद्ध है। भाव यह कि उसके मिथ्यात्व में तात्पर्य है। अथवा देह की स्वप्नतुल्यता भले ही हो पर बाह्य नामरूपात्मक जगन्मात्र की स्वप्नतुल्यता कैसे हो सकती है ? इस शंका पर कहते हैं। केवल बाह्यरूप आदि ही नहीं भासता है, किन्तु मैं रूप को देखता हूँ, यों त्रिपुटीभूत 'अहम्' अर्थसे संवलित त्वमर्थरूप प्रकाशित होता है वह साक्षिमात्रजन्य होने से स्वप्नसंसारदृष्टान्त में दार्ष्टान्तिक होता ही है। अध्यस्तविषयक ज्ञान में सत्य पदार्थ विषय नहीं होता है। भ्रम में अध्यस्त का ही भान होता है और कुछ भी किसी तरह भासित नहीं होता–इस सिद्धान्त के अनुसार बाह्य प्रमाणों के व्यवहारों में अर्थ के विसंवादमात्रसे भी व्यावहारिक प्रमाण्य का विघात नहीं होता है, यह भाव है ॥४॥ जिस प्रकरण में प्रायः मुमुक्षुओं के व्यवहारका वर्णन है, उसके अर्थात् मुमुक्षुव्यवहारप्रकरण के अनन्तर में इस उत्पत्ति प्रकरण का वर्णन करता हूँ ॥५॥

यदि शंका हो कि मैं संसाररूप बन्धन की निवृत्ति का उपाय चाहता हूँ, मेरा दृश्य को मिथ्या सिद्ध करनेवाले इस उत्पत्ति प्रकरण को सुनने से क्या लाभ ? इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जब तक दृश्य है, तभी तक यह संसाररूप बन्धन है। दृश्य की निवृत्ति होने से बन्धन नहीं रह सकता। यह दृश्य जिस प्रकार उत्पन्न होता है, उसे आप क्रम से सुनिए ॥६॥

केवल दृश्य के अभावमात्र से बन्धन की निवृत्ति कही है, पर यह ठीक नहीं जँचता, क्यों कि उत्पत्ति, वृद्धि, नाश, स्वर्ग,नरक आदि बन्धन आत्मा के धर्मरूप से प्रतीत होते हैं, अतः

मन्तेऽथो यत्र देव इव राजे-वाहमेवेदं सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः (स्वप्न में इस स्वप्नदर्शक पुरुषको शत्रु या अन्य चोर मारते-से हैं, वशीभूत-सा करते हैं, हाथी-सा इसको भगाता है, गड्ढे में गिरता-सा है, जो हाथी आदिरूप जाग्रत भय को देखता है, उसीको स्वप्न में भी देखता है, स्वप्न में भयके बिना भी मिथ्या ही उत्पन्न हुई अविद्या से भय मानता है। जिस काल में देवता के समान, राजा के समान मैं ही सब हूँ, ऐसा मानता है। जो यह सर्वात्मभाव है वही इसका परम लोक है), 'तद्य इह व्याघ्रो वा सिंहो वा यद् यद्भवन्ति तदा भवन्ति' (वे इस लोक में कर्म से प्राप्त जिस-जिस व्याघ्र आदि जाति को प्राप्त हुए थे, वे उस कर्मज्ञान की वासना से वासित होकर सत् में प्रविष्ट होकर भी फिर तद्-तद् भाव से उत्पन्न होते हैं), 'यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्सनातनम्' 'मन कृतेनायात्यस्मिन् शरीरे' (जिस वस्तु का चिन्तन करता है, तन्मय हो जाता है, यह परम गुह्य है और संकल्प द्वारा ही इस शरीर में आता है) इत्यादि श्रुतियाँ तथा 'यंयं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुश्मर युद्ध च ॥ (जिस जिस पदार्थ का स्मरण करते हुए शरीर का त्याग करता है, उसी भाव को प्राप्त होता है। इसलिए तुम सर्वदा मेरा स्मरण करो) इत्यादि स्मृतियाँ है। अभ्यासावस्था में जो पुरुष संसारी आत्मा को या ब्रह्मभाव को जानता है, वह फलावस्थामें भी उसको जानता है, इसलिए नित्य निरन्तर ब्रह्मानुभववासना को ही दृढ़ करना चाहिए, यह उत्पत्ति प्रकरण का तात्पर्यार्थ है इत्यादि।

उनका आत्मकोटि में अन्तर्भाव ठहरा, ऐसी स्थिति में दृश्य की निवृत्ति होने पर भी बन्ध की निवृत्ति नहीं होगी, इस शंका पर कहते हैं।

इस संसार में जो उत्पन्न होता है, वही वृद्धि, क्षय, स्वर्ग और नरक को प्राप्त होता है एवं वही बन्ध और मोक्ष को प्राप्त होता है। उत्पत्ति, वृद्धि, विनाश, आदि धर्म आत्मा के नहीं हैं। अपने स्वरूप का परिज्ञान न होने से ही उसको उत्पत्ति आदिका भ्रम होता है, यह तात्पर्य है ॥७॥ चूँकि अपने स्वरूप के अज्ञान से ही बन्ध है, अतः अपने स्वरूप के बोध के लिए आगे के ग्रन्थ से दृश्य प्रपंच का असंभव कहता हूँ। उत्पत्ति आदि का सम्बन्ध दृश्य संसार से है, आत्मा से नहीं। आत्मा तो दृश्य प्रपंच की उत्पत्ति से पहले जैसा था वैसा ही रहता है। अणुमात्र भी उसमें विकार नही आता ॥८॥

भगवती श्रुति भी कहती है :

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्तिरित्येषा परमार्थता ॥

(न उत्पत्ति है और न प्रलय है, उत्पत्ति और प्रलय न होने से ही न बद्ध (संसारी जीव) है, न साधक है, न मोक्षार्थी है और न मुक्त है, यह परमार्थ बात है।)

यही इस प्रकरण का प्रतिपाद्य अर्थ है, यह बात आगे कहे जानेवाले विस्तार की भूमिका के रूप में इस सर्ग में कही जाती है, ऐसा कहते हैं।

हे राघव, आप पहले प्रकरण के उपोद्घात के लिए इस सर्ग में कहे जानेवाले अर्थ को सुनिए, तदुपरान्त मैं आपसे आपकी इच्छा के अनुसार इसको विस्तारपूर्वक कहूँगा ॥९॥

'पूर्वमेव हि यो यथा' इससे उक्त अर्थ की उपपत्ति के लिए प्रलयावस्था में अवशिष्ट आत्मस्वरूप को कहने के लिए कारण में पूर्वसृष्टि के लय के प्रकार को दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं।

जो यह चराचर सम्पूर्ण जगत् दिखलाई देता है, वह सुषुप्ति में स्वप्न की नाईं कल्पान्त में (प्रलयकाल में) नष्ट हो जाता है ॥१०॥ तदुपरान्त अमूर्त होने से क्रियारहित परिच्छेद (माप) से शून्य होने से अथाह (असीम), निर्धर्मिक (धर्मरहित) होने से संज्ञारहित और अज्ञानसे आवृत्त होने से अभिव्यक्ति से शून्य अथवा प्रपंच के संस्कार का आधार होने से अभिव्यक्ति से रहित केवल सत् नामक ही कोई वस्तु शेष रहती है, वह रूपरहित होनेसे न तो तेज है और न प्रकाशरूप होने से तम ही है ॥११॥ विद्वानों ने व्यवहार के लिए (卐) उस सद्रूप सर्वव्यापक आत्मा के ऋत, आत्मा, पर, ब्रह्म, सत्य (📖) इत्यादि अनेक नामों की

卐 यहाँ पर उपदेश के योग्य शिष्य आदि को उपदेश देना व्यवहार है, उस व्यवहार के लिए।

📖 वह सर्वश्रेष्ठ प्रमाणरूप श्रुति से जाना जाता है, अतः ऋत कहलाता है – 'यच्चाऽऽप्नोति यदादत्ते यच्चाति विषयानिह। यच्चास्य संततो भावस्तस्ममादात्मेति शब्दते ॥' (चूँकि सम्पूर्ण पदार्थों को व्याप्त करता है, उनका ग्रहण करता है, भोग करता है और कभी नष्ट नहीं होता, इसलिए यह आत्मा कहा जाता है) वेदव्यासजी की इस उक्ति के अनुसार आत्मा, सत्यता के उत्कर्ष की अवधि होने से पर, स्वयं बृहत् होने से या जगत् के आकार को बढ़ानेवाला होने से ब्रह्म, विद्वानों को शास्त्रानुसार उसका अनुभव होता है, अतः सत्य कहलाता है।

कल्पना कर रक्खी है ॥१२॥

अब सृष्टि के आरम्भ में उसका मिथ्याभूत समष्टिजीवभाव कहते हैं।

चैतन्यस्वभाव वही आत्मा अज्ञान से अन्य–सा, जड़–सा अर्थात् आकाश आदि के क्रम से उत्पन्न लिंगसमष्टिरूप होकर उसमें प्रवेश करने से 'वही हूँ' इस अभिमान से उसकी नाईं प्रतीत होता हुआ भावी जीवनामसे गर्हित बनाई गई जीवता को भ्रान्ति से प्राप्त–सा होता है ॥१३॥

इस प्रकार केवल ज्ञानशक्ति से होनेवाली सृष्टि को कहकर अब क्रियाशक्ति से युक्त ज्ञानशक्ति से साध्य सृष्टि को कहते हैं।

तदनन्तर क्रियाशक्ति की प्रधानता से सम्पन्न प्राण के धारण से चंचलता को प्राप्त हुआ वह भौतिकलिंगात्मा संकल्प और विकल्प के मननसे जड़तावश मन्द होकर मन बन जाता है। जैसे निश्चल आकारवाला समुद्र चंचल आकारवाले तरंगभाव को प्राप्त होता है, वैसे ही वह मनरूप बन जाने से अपने महान् परमात्मभाव को भूलकर मन के संकल्प, विकल्प आदि धर्मों को अपने धर्म समझने लगता है। इस प्रकार समष्टि मनोभाव को प्राप्त हुआ हिरण्यगर्भनामक ब्रह्म स्वयं ही (दूसरे द्वारा बोध पाये बिना ही) पूर्ववासना के अनुसार विराट्–भाव को, भुवन आदि भावको और वहाँ पर स्वेदज, उद्भिज्ज, अण्डज और जरायुज रूप चार प्रकार के जीवभावों का नित्य संकल्प करता रहता है। उस सत्यसंकल्प से इस प्रकार इन्द्रजाल की नाईं यह विशाल सृष्टि फैलाई जाती है ॥१४–१६॥

यों हजारों अध्यारोपों से भी अधिष्ठान की पारमार्थिकता का विनाश नहीं किया जा सकता, यह दर्शाने के लिए दृष्टान्त देते हैं।

जैसे सुवर्ण के बने हुए कटक (कड़ा) रूप सुवर्ण से कटक शब्द का अर्थ पृथक् नहीं किया जा सकता, वैसे ही परब्रह्म में जगत्–शब्दार्थ है, अर्थात् जगत् शब्द का अर्थ परब्रह्म से पृथक् नहीं किया जा सकता, क्योंकि दृष्टान्त की नाईं दोनों में भेद नहीं है। जैसे कटकरूपता सुवर्ण के स्वभाव के ही अन्तर्गत है कटकस्वभाव के अन्तर्गत नहीं है, वैसे ही परिच्छेद से रहित यह जगत् शब्दार्थ भी अनन्तस्वरूप ब्रह्म के स्वभाव के ही अन्तर्गत है नाशवान् अपने स्वभाव के अन्तर्गत नहीं है ॥१७–१८॥

यदि यह स्वतः नहीं है तो सत् की नाईं कैसे प्रतीत होता है ? इस शंका पर कहते हैं।

जैसे मरुस्थल में मृगतृष्णा की नदी असत् चंचल तरंगों का सत् के नाई विस्तार करती है वैसे ही मन से यह इन्द्रजाल सरीखा जगत् सत् न होता हुआ भी सत् के समान बनाया जाता है ॥१९॥

अविद्या के अनुरूप नामों से अविद्या को दर्शाते हैं।

सर्वज्ञ विद्वानों ने जिसके अविद्या, संसार, बन्धन, माया, मोह, महत्, तम (卐) इत्यादि

卐 विद्या से नाश्य होने के कारण वह अविद्या कही जाती है, ऊपर, नीचे और तिरछे गमन की

अनेक नामों की कल्पना की है। हे चन्द्रवदन, पहले मैं आपसे उस माया (बन्ध) का स्वरूप कह रहा हूँ, उसे आप सावधान होकर सुनिए। उसके श्रवण के अनन्तर आप मोक्ष के स्वरूप को समझ जायेंगे ॥२०,२१॥

ज्ञान द्वारा क्रमशः नष्ट होने और प्राप्त होने योग्य बन्ध और मोक्ष का स्वरूप बतलाते हैं।

वस्तु, दृश्य प्रपंच का अस्तित्व द्रष्टा का बन्ध कहा जाता है। दृश्य के कारण ही द्रष्टा बन्धन में पड़ा है और दृश्य के हट जाने से मुक्त हो जाता है। असत्य स्वरूप त्वम्' 'अहम्' (मैं) इत्यादि जगत् दृश्य कहलाता है जबतक यह दृश्य रहता है तब तक मोक्ष नहीं हो सकता ॥२२,२३॥

कोई शंका करे कि यदि दृश्य का अभाव ही मोक्ष है, तो तत्–तत् काल में उपस्थित हुए दृश्य के 'यह नहीं है, यह नहीं है' इत्यादि निराकरण से ही रोग के निराकरण से आरोग्य की नाईं मोक्ष सिद्ध हो जायेगा, उसके निराकरणार्थ तत्त्वज्ञानप्राप्ति के लिए कष्ट उठाने की क्या आवश्यकता है ? इस पर कहते हैं।

यह (दृश्य) नहीं है, यह (दृश्य) नहीं है इत्यादि व्यर्थ प्रलापों से इसका विनाश नहीं होता बल्कि संकल्प के हेतु 'यह दृश्य नहीं है' इत्यादि प्रलापों से दृश्यरूप व्याधि बढ़ती है। भाव यह है कि दृश्य रहते 'यह दृश्य नहीं है' यह प्रलाप बाधित हो जाता है, अतः वह विद्यमान दृश्य के विरोधी अन्य दृश्य के उत्पादन–संकल्प से उसके उत्पादन द्वारा पूर्व दृश्य का निराकरण करता है, ऐसा कहना होगा, ऐसी परिस्थिति में एक दृश्य के निराकरण के लिए दो दृश्यों की उत्पत्ति हो जाने से दृश्य बढ़ता ही है ॥२४॥ हे विचारशील पुरुषों, दृश्य जगत् के विद्यमान रहते सैकड़ों तर्कों से और तीर्थयात्रा तथा नियम आदि से भी दृश्यरूपी व्याधि की निवृत्ति नहीं होती, केवल इतना ही नहीं, किन्तु दूसरी दृश्य व्याधि प्राप्त हो जाती है। भाव यह कि इस दृश्यरूपी व्याधि की अनादर से उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, बल्कि विचार द्वारा इसका बाध करना चाहिए ॥२५॥

और दूसरी बात यह भी है कि यदि दृश्य स्वतः सत् माना जाय, तो सत् का बाध न होने से कभी भी मोक्ष नहीं हो सकेगा, ऐसा कहते हैं।

यदि जगत् की वास्तविक सत्ता है, तो किसी के जगत् की निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि असत् पदार्थ की सत्ता नहीं होती और सत् का अभाव नहीं होता, यह अकाट्य नियम है ॥२६॥

यदि कोई कहे कि यह द्रष्टा पुरुष तप, ध्यान आदि के बल से दृश्यशून्य तथा दृश्य के समावेश के अयोग्य परमाणु के उदर आदि में जाकर रहता हुआ दृश्य से छुटकारा पा जायेगा, ऐसी अवस्था में मोक्ष का अभाव कैसे होगा ? इस पर कहते हैं।

आत्मा का तप आदि से भी परिज्ञान नहीं हो सकता। चिद्रूप आत्मा जिसको ज्ञात नहीं

हेतु होने से संसार, अस्वतन्त्रता की जननी होने से बन्धन, मिथ्या होने से माया, भ्रम की हेतु होने से मोह, दुस्तर होने से महत् और स्वरूप का आवरण करनेवाली होने से तम कही जाती है।

हुआ, वह द्रष्टा जहाँ कहीं भी (परमाणु के मध्य में भी) रहेगा वहाँ परमाणु के उदर में भी उसको दृश्य की प्रतीति होगी ही। भाव यह है कि जिसको आत्मतत्त्व का परिज्ञान नहीं है, वह जीव ही दृश्य का बीज है, परमाणु के उदर में भी भ्रान्ति से विशालता की प्रतीति में विरोध न होने से वहाँ पर भी उसके दृश्यरूप बन्धन का निवारण नहीं हो सकता ॥२७॥

उक्त का ही उपसंहार करते हैं।

इसलिए दृश्य जगत् है और उसका तप, ध्यान और जप द्वारा जहाँ पर वह रहा वहीं पर उसे मिटा दिया और अन्य देश की प्राप्ति से उसका त्याग कर दिया, वह कथन बासी भात आदि के सड़े जल से तृप्ति करने की नाईं है। हे श्रीरामचन्द्रजी, यदि दृश्यरूप जगत् है, तो उसका परमाणु के भीतर और चैतन्यरूपी आदर्श में भी वैसा ही प्रतिबिम्ब पड़ता है। भाव यह कि दृश्यरूप जगत् जैसे विशाल प्रदेश में विद्यमान है, वैसे ही परमाणु में एवं चेतन आत्मा में भी, बिना संकोच के, उसका प्रतिबिम्ब पड़ता है। दर्पण चाहे कहीं पर भी स्थित हो, उसमें जैसे पर्वत, समुद्र, पृथिवी, नदी के जल का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही चैतन्यरूपी आदर्श में (आत्मा में) भी पड़ता है। उसके अनन्तर उस प्रतिबिम्ब में पुनः दुःख प्राप्त होता है – जरा, मृत्यु और जन्म प्राप्त होते हैं। जैसे जाग्रत अवस्था में स्थूल तथा स्वप्न में सूक्ष्म भाव और अभाव का ग्रहण और सुषुप्ति में उनका त्याग होता है, वैसे ही यह अस्थिर संसार रहता है ॥२८–३१॥

ज्ञान की अपेक्षा न करनेवाली निर्विकल्प समाधि से दृश्य के मार्जन की शंका कर कहते हैं।

इस दृश्य जगत् का मैंने परिमार्जन कर लिया और यहाँ पर मैं समाधि में स्थित हूँ, समाधि में संसार के स्मरण का यह कभी क्षय न होनेवाला बीज है। भाव यह है कि जिसका स्मरण नहीं हुआ, उसका मार्जन नहीं हो सकता और उसका स्मरण होने पर तो समाधि का ही भंग हो जायेगा ॥३२॥

अतएव निर्विकल्प समाधि से भी दृश्य का मार्जन नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं।

इस दृश्य प्रपंच के रहते निर्विकल्प समाधि नहीं हो सकती। निर्विकल्प समाधि होने पर ही तो चित्त के रहने पर चेतनता और चित्त का बाध होने पर तुर्यपद की उपपत्ति होती है। दृश्य के रहते तो निर्विकल्प समाधि का अवसर ही कहाँ ?॥३३॥

समाधि भले ही हो फिर भी संसार की निवृत्ति नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं।

जैसे सुषुप्ति के (गाढ़ी नींद के) पश्चात् दुःखमय यह सारा जगत् प्राप्त हो जाता है, वैसे ही समाधि टूटने पर यह दुःखमय सम्पूर्ण जगत् ज्यों का त्यों भासमान प्रत्यक् आत्मा में प्राप्त हो जाता है, इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, फिर भी जब अनर्थ–प्राप्ति की संभावना रही तो क्षणमात्र की समाधि से क्या सुख ? इसलिए समाधि से कौनसा प्रयोजन सिद्ध होता है ? यदि निर्विकल्प समाधि में कभी अव्युत्थान को प्राप्त हो, तो ज्ञान के बिना भी अक्षय सुख प्राप्त हो गया, ऐसा यदि कोई माने, तो वह निर्मल पद को कभी क्षीण न होनेवाली सुषुप्ति के तुल्य मानता है (✍) ॥३४–३६॥

✍ 'अक्षयसुषुप्ताभ' से मूढ़ता का कभी उच्छेद न होने से उसमें अपुरुषार्थता सूचित होती है।

उक्त अन्य के आशय का उत्तर देते हैं।

इस मनरूप दृश्य के रहते समाधिमें भले ही कोई कितना ही प्रयत्न क्यों न करे ? फिर भी क्या उसे दृश्य प्राप्त नहीं होता, अवश्य प्राप्त होता है, क्योंकि जहाँ–जहाँ इसका चित्त जाता है, वहाँ–वहाँ चित्त से उत्पन्न होनेवाले जगत्भ्रमका भी निवारण नहीं किया जा सकता ॥३७॥

दूसरी बात यह भी है कि यदि द्रष्टा अज्ञानी होनेसे आत्मभिन्न पाषाण आदि की ही समाधि में जबरदस्ती भावना (चिन्तना) करे, तो वह समाधि के अन्त में फलकाल में भी पुनः दृश्यता को प्राप्त होता है। जिसमें केवल आत्मा का ही शेष रहता है, वह समाधि उसको प्राप्त नहीं होती है, ऐसा कहते हैं।

यदि अज्ञानी द्रष्टा समाधि में समाधि के बल से लब्ध दुःखशून्य पाषाणता का चिन्तन करता रहता है तो समाधि के अन्त में उसको पुनः दृश्यता प्राप्त होती है ॥३८॥

समाधि द्वारा प्राप्त दुःखशून्य पाषाणता के प्राप्त होने पर भी स्थैर्यकी कोई आशा नहीं है, ऐसा कहते हैं।

किसी की भी समाधिबल से प्राप्त दुःखशून्य पाषाणता के तुल्य निर्विकल्प समाधियाँ स्थिरता को प्राप्त नहीं होती, यह बात सभी समाधिनिष्ठ पुरुषों द्वारा अनुभूत है ॥३९॥

यदि कोई शंका करे कि जिनकी समाधि रूढ (परिपक्व) नहीं हुई हो, उन्हें भले ही स्थिरता प्राप्त न हो, किन्तु जिनकी समाधि परमात्मभावापत्तिपर्यन्त रूढ़ है, उन्हें तो स्थिरता प्राप्त होगी, इस पर कहते हैं।

परिपक्वता को प्राप्त होने पर भी पाषाणता के तुल्य अचेतन समाधियाँ शान्त, चिद्रूप, अज तथा अक्षयरूप नहीं हो सकती यानी उक्त पाषाणतुल्य समाधियाँ सम्पूर्ण संसार की निःशेष शान्तिरूप मोक्ष नहीं हो सकती ॥४०॥

इसलिए जिस बात को हम पहले कह आये हैं, वही सिद्ध हुई, ऐसा कहते हैं।

इसलिए यदि यह दृश्य सत् है, तो यह कभी भी शान्त नहीं होगा, इसलिए तप, जप और ध्यान से दृश्य की निवृत्ति हो जायेगी, यह अज्ञानियों की केवल कल्पना ही है ॥४१॥

अविद्यायुक्त द्रष्टा में दृष्य की स्थिति का दृष्टान्त द्वारा साधन करते हैं।

जैसे कमलगट्टे के अन्दर वह बीज विद्यमान है, जिसमें होनेवाली कमलिनी का लतारूप अन्तर्हित है, वैसे ही अज्ञानी द्रष्टामें वह दृश्य–बुद्धि रहती है, जिसमें भावी संसार अन्तर्हित है। जैसे पदार्थों में रस रहता है, तिल आदि में तेल रहता है और फूलों में सुगन्ध रहती है, वैसे ही द्रष्टामें दृश्य बुद्धि रहती ही है। कपूर आदि चाहे कहीं पर क्यों न हों, फिर भी जैसे उनसे सुगन्ध निकलती है, वैसे ही द्रष्टा चाहे कहीं पर क्यों न हो, फिर भी उसमें दृश्य रहता ही है। जैसे आपके हृदय में स्थित मनोराज्यबुद्धि केवल आपके अनुभव से ही देखी जाती है और जैसे स्वप्न तथा संकल्प आपही के अनुभव से देखे जाते हैं, वैसे ही दृश्य जगत् भी स्वानुभव से ही आपके हृदय में प्रतीत होता है। इसलिए जैसे चित्त द्वारा कल्पित

पिशाच बालक को मार देता है, वैसे ही दृश्य रूपिका (🔥) (पिशाची) इस द्रष्टा को मार देती है यानी स्वरूप से भ्रष्ट कर देती है ॥४२–४६॥

यदि सम्पूर्ण दृश्य हृदय में हैं, तो अभी सबको उसका अनुभव क्यों नहीं होता इस पर कहते हैं।

जैसे बीज के भीतर स्थित अंकुर देश और काल से अपने को प्रकाशित करता है, वैसे ही दृश्यबुद्धि भी देश और काल से अपने स्वरूप को प्रकाशित करती है। जैसे अचिन्त्य कार्यवैचित्र्यशक्तिरूप चमत्कार बीज आदि के भीतर रहता ही है, वैसे ही चिन्मात्रस्वरूप आत्मा के ही उदर में चिद् और अचित् से सम्बद्ध अतीत, अनागत जगत् की सत्ता रहती है ॥४७,४८॥

पहला सर्ग समाप्त

दूसरा सर्ग

भौतिक देह को आत्मा समझनेवाला अज्ञानी मृत्यु का भोजन है,
तत्त्वज्ञानी नहीं वह तो आकाशज द्विज की नाईं चिन्मात्रस्वरूप ही है, इसका कथन।

काम और कर्म की वासना से पूर्ण अविद्योपहित आत्मा ही जगत् का बीज और मृत्यु का कारण है, विद्या द्वारा अविद्या का विनाश होने पर मृत्यु के वश नहीं होता, इस पूर्वोक्त अर्थ में विशेष दिखलाने के लिए जगत् के आदि स्रष्टा के स्वरूप के परिशोधन द्वारा आगे कहे जानेवाले उपदेश की उपोद्घातरूप आख्यायिका को कहनेवाले वसिष्ठजी बोले : हे राघव, इस आकाशज (🔔) विप्र के आख्यान को सुनिए जो कानों को विभूषित करनेवाला है और जिससे उत्पत्ति प्रकरण का आपको बहुत सरलता से बोध हो जायेगा ॥१॥

परम धर्मात्मा (📖) आकाशज नामका एक ब्राह्मण है। वह सदा ध्यान में तत्पर और प्रजाओं के हित में रत है। जब वह बहुत काल तक जी गया, तब मृत्यु ने विचार किया – मैं अक्षय हूँ, मैं क्रम से सभी प्राणियों का संहार करता हूँ फिर मैं इस आकाशज विप्र को क्यों न खाऊँ। जैसे पत्थर पर तलवार की धार कुण्ठित हो जाती है, वैसे ही इस पर मेरी शक्ति कुण्ठित हो गई है, ऐसा विचार कर, वह मेरूपर्वत के मध्य में स्थित सत्यलोकनामक उसके

🔥 स्त्री के वेष से पुरुषों को मोहित करके मारती हुई पिशाचियाँ रूपिका कहलाती हैं।

🔔 आकाश से – अध्यस्त अविद्यारूपी नीलता का आधार होनेसे आकाश तुल्य ब्रह्म से अथवा अविद्यावृत्त होनेसे स्वल्प प्रकाशवाले ब्रह्म से जो उत्पन्न है, वह आकाशज है अर्थात् लिंगसमष्टिरूप हिरण्यगर्भ।

📖 'तद्यथा कृताथ विजितायाधरेयाः संयन्ति' (जैसे एक कृतनामक पासे के जीते जाने पर अन्य द्वापर आदि पासे जीते जाते हैं) इत्यादि श्रुति के अनुसार हिरण्यगर्भपद प्रापक संवर्गविद्योपासनरूप धर्म में सम्पूर्ण प्रजाओं के धर्मों का अन्तर्भाव होने से वह परम धर्मात्मा कहा गया है।

नगर में उसे मारने के लिए गया। कोई भी समर्थ पुरुष अपना कर्म करने के लिए उद्यमका त्याग नहीं करते। उसके अनन्तर मृत्यु आकाशज विप्र के घरमें ज्यों ही स्वयं प्रविष्ट हुआ त्यों ही समाधि में उपस्थित होनेवाले विघ्नों को हटाने के लिए ब्रह्मा द्वारा प्रकाशरूप से स्थापित प्रलयाग्नि के तुल्य अग्नि मृत्यु को जलाने लगी। मृत्यु अग्नि की ज्वालाओं की परम्परा को चीरकर भीतर गया। उसने ब्राह्मण को देखकर यत्नपूर्वक उसे हाथ से पकड़ने की इच्छा की। जैसे बलवान् पुरुष भी संकल्प से कल्पित पुरुष को छूने में समर्थ नहीं होता, वैसे ही सामने विद्यमान उस ब्राह्मण को वह अपने सैकड़ों हाथों से भी पकड़ने में समर्थ नहीं हुआ ॥२–८॥

तदुपरान्त मृत्यु ने संशय को दूर करनेवाले यमराज के पास जाकर उनसे पूछा : हे विभो, मैं आकाशज ब्राह्मण को खाने के लिए क्यों समर्थ नहीं हूँ ? ॥९॥ यमराज ने कहा : हे मृत्यो तुम अकेले अपने बल से किसी को मारने में समर्थ नहीं हो। जिसको तुम मारते हो उसके कर्म ही उसका मारण करते हैं। तुम्हारी अशक्ति में और कोई कारण नहीं है, इसलिए उसे यदि तुम मारना चाहते हो, तो यत्नपूर्वक उसके कर्मों को खोजो। उनकी सहायता से तुम उसे खा सकोगे ॥१०,११॥ तदनन्तर मृत्यु उसके कर्मों को खोजने के लिए तत्पर होकर सम्पूर्ण देशों, दिगन्तों, तालाबों, नदियों, दिशाओं, वनों, जंगलों, पर्वतों, समुद्रतटों, अन्यान्य द्वीपों, अरण्यों, नगरों, कस्बों, ग्रामों, सम्पूर्ण राष्ट्रों एवं रेगिस्तानोंमें घूमा अर्थात् किस देश में इसने पहले क्या कर्म किया, उसे ध्यानपूर्वक जानना अधिक यत्नसाध्य होने से तत्–तत् स्थानों में घूमा, केवल देश घूमने के लिए नहीं घूमा। इस प्रकार सम्पूर्ण भूमण्डल में घूमकर उद्यमी मृत्युने आकाशज विप्र के कोई भी मारक कर्म कहीं भी नहीं पाये जैसे कि वन्ध्यापुत्रको प्राज्ञ तथा कल्पित पर्वत को कल्पना करनेवाले पुरुष से अन्य पुरुष नहीं पा सकता। अनन्तर सम्पूर्ण अर्थों को जाननेवाले यमराज के पास आकर मृत्यु ने उनसे पूछा, क्योंकि सेवकों को सन्देह उपस्थित होने पर उनके प्रभु ही आश्रय होते हैं ॥१२–१६॥

मृत्यु ने कहा : प्रभो, आकाशज विप्र के कर्म कहाँ हैं, यह बात आप मुझसे कहिए। मृत्यु के यों पूछने पर धर्मराज ने चिरकालतक विचार कर उससे यह कहा ॥१७॥

धर्मराज ने कहा : हे मृत्यो, आकाशज के कोई भी (🔔) कर्म नहीं है, यह आकाशज विप्र केवल आकाश से ही उत्पन्न हुआ है। आकाश से जो उत्पन्न हुआ है, वह आकाश के समान निर्मल है। इसके मारण में मृत्यु की सहायता करनेवाले कोई कर्म (卐) ही नहीं है। जैसे वन्ध्या के पुत्र का और जैसे जिसका आकार उत्पन्न ही नहीं हुआ, उसका प्राक्तन कर्म से कोई सम्बन्ध नहीं रहता, वैसे ही इस आकाशज विप्रका प्राक्तन कर्म से तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। अविद्या आदि कारणों का या निर्विकार तत्त्वके विकार के हेतुओं का अभाव होने से विकार का सम्बन्ध न होने के कारण वह आकाशरूप ही है। जैसे आकाश में महान् वृक्षका

🔔 प्रारब्ध से प्राप्त फलों का उपभोग से ही क्षय होने, संचितों का ज्ञान से क्षय होने तथा आगामी कर्मों का बीज के अभाव से क्षय होने से कर्म ही नहीं हैं यह भाव है।

卐 अथवा अभिमान, राग आदि अद्यतन कर्म, यह अर्थ है।

अस्तित्व नहीं है, वैसे इसके पूर्व कर्मों का भी संभव नहीं है ॥१८–२१॥

यदि शंका हो कि कायिक कर्म भले ही न हों, पर मानसिक कर्म तो उसके होंगे ही ? इस पर कहते हैं।

पूर्व कर्मों के अभाव से इसका चित्त अवश नहीं है, आज तक इसने मारण में मृत्यु के सहायक किसी मानस कर्म का संचय नहीं किया है। मन का व्यापार पूर्वदेह की व्यापारवासना के अधीन है ॥२२॥

ऐसे होने पर यह परब्रह्मस्वभाव से ही स्थित है, दृश्यस्वभाव यह नहीं है, ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार आकाशकोशरूप यह आकाशज ब्राह्मण निर्मल आकाशरूपी अपने कारण में नित्य स्थित है, इसके कोई भी कर्म नहीं हैं ॥२३॥

ऐसी अवस्था के प्राप्त होने पर तो पूर्व कर्मों का प्रसंग ही नहीं है, ऐसा कहते हैं।

प्राक्तन कर्म इसके है नहीं, आजकल यह कुछ कर्म नहीं करता, इस प्रकार इस संसारमें यह केवल विज्ञानाकाशरूप है ॥२४॥

यदि कोई कहे कि यदि यह कुछ भी कर्म नहीं करता, तो हम लोगों को यह प्राण क्रिया से युक्त एवं कायव्यापारवान् कैसे दिखलाई देता है, इस पर कहते हैं।

इसका प्राणव्यापार या कायिक कर्म जिसको हम लोग देखते हैं, उसको हम लोग ही अपनी अज्ञानजनित भ्रान्ति से देखते हैं, लेकिन इसकी उसमें सत्यताबुद्धि नहीं है ॥२५॥

तो उसको यह मेरा देह है, इत्यादि बुद्धि कैसे होती ? इस पर कहते हैं।

चैतन्यरूप स्तम्भ में चैतन्यरूपिणी प्रतिमा 'मेरा आकार परम पद से (ब्रह्म से) भिन्न है' ऐसी वासना करती हुई–सी स्थित है। मेरा यह स्वरूप वासनामात्र ही है, वास्तविक नहीं है, ऐसी उसकी बुद्धि है, यह अर्थ है ॥२६॥ जैसे जल में द्रवत्व (तरलता) है, जैसे आकाश में शून्यता है और जैसे वायुमें स्पन्दता (गति) है, वैसे ही परमार्थरूपसे आकाशभूत यह विप्र परमपदमें स्थित है। इसके न आधुनिक कर्म हैं, न संचित कर्म हैं और न प्राक्तन कर्म हैं, इसलिए यहाँ पर यह संसारका वशीभूत नहीं है। सहकारी कारणों का अभाव होने पर जो उत्पन्न होता है, वह अपने कारण से भिन्न नहीं होता, ऐसा अनुभव है। कारण न होने के कारण यह स्वयम्भू है। हे मृत्यो, न तो इसने पहले कर्म किये थे और न यह आज कर्म करता है, भला बताओ तो सही यह तुमसे कैसे आक्रान्त होगा ?॥२७–३१॥

यदि शंका हो कि अन्य जीव भी तो इसके व्यष्टिरूप ही हैं, फिर वे कैसे मृत्यु से गृहीत होते हैं ? इस पर कहते हैं।

जिस जीव का पृथिवी आदि से रचित देह ही मैं हूँ ऐसा निश्चय है, वह मूढ़ पार्थिव देह ही होता है, यह ब्रह्मा जिस समय सत्यसंकल्पबुद्धि से मृत्यु की कल्पना करेगा, उसी समय तुम उसको पकड़ सकते हो। पृथिव्यादिमय देहका ग्रहण न करने से यह आकाशज ब्राह्मण देहवान् (आकारवान्) नहीं है, अतएव जैसे आकाश कैसी ही मजबूत रस्सी क्यों न हो नहीं बाँधा जाता, वैसे ही इसका भी ग्रहण किया ही नहीं जा सकता ॥३२,३३॥

विकाररहित शून्य का विकार, अजका जन्म एवं सत् पृथिवी आदि की असत्ता कही, उसको असंभाव्य समझता हुआ मृत्यु बोला।

भगवन्, शून्य से अज की (अजन्मा की) कैसे उत्पत्ति होती है, यह बात मुझे समझाइए तथा पृथिवी आदि कैसे हैं ? नहीं हैं तो कैसे नहीं है, यह भी आप मुझे समझाइए ॥३४॥

परब्रह्म को आकाश कहा गया है और पृथिवी आदि की जो असत्वोक्ति है, वह शून्यता के अभिप्राय से नहीं है, किन्तु कार्य की कारण से पृथक् सत्ता नहीं है, इस अभिप्राय से है और इसी प्रकार अजका जन्मकथन विवर्त के अभिप्राय से है, परिणाम के अभिप्राय से नहीं है, इस आशय को सूचित करते हुए यमराज बोले :

यह आकाशज ब्राह्मण न कभी उत्पन्न हुआ और न कभी विनष्ट हुआ। चूँकि यह ब्राह्मण परमार्थरूप से केवल प्रकाशात्मक विज्ञानस्वरूप है, इसलिए यह सदा ज्यों–का–त्यों रहता है, कभी विकृत नहीं होता ॥३५॥

आदि और अन्त में तन्मात्रा का (प्रकाशात्मक विज्ञानमात्र का) परिशेष रहने से वही इसका स्वाभाविक सत्य रूप है, इस आशय से कहते हैं।

महाप्रलय होने पर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता, उस समय केवल शान्त जरारहित, अनन्तस्वरूप, शून्य, नित्य उदित, सूक्ष्म, उपाधिशून्य परब्रह्म ही स्थित रहता है। तदुपरान्त सृष्टि के आरम्भकालमें वासना और अदृष्ट से परिपूर्ण जीवकी अविद्या से, इसके विज्ञानमात्र होनेसे, इसके निकट विषयभावसे पर्वततुल्य (पर्वत के समान जिसका निवारण नहीं हो सकता) विराट्रूप या चतुर्मुखरूप देह इस नाम से कथन के योग्य स्थूलरूप कुछ स्फुरित होता है, उस समय उक्त अविद्या से ही हम लोग काकतालीयके समान अकस्मात् स्वप्न की नाईं मिथ्याभूत उस आकारको देखते हैं ॥३६–३८॥

ऐसी परिस्थिति में अन्य की दृष्टि से अध्यस्त देह आदि से इसकी निर्विकल्पताकी क्षति नहीं है, ऐसा जो हमने पहले कहा था, उसमें कुछ भी आंच नहीं आई, इस अभिप्राय से कहते हैं।

वही यह निर्विकल्प ब्राह्मण सृष्टि के आदि में निर्विकल्प चिदाकाशरूप अपने स्वरूप का अवलम्बन कर आकाश में स्थित है। इसका न तो शरीर है, न कर्म है, न इसमें कर्तृत्व है और न वासना है। यह शुद्ध चिदाकाश, विज्ञानघन और सर्वव्यापक है। यह केवल आकाशरूप और तेज से प्रकाशरूप–सा है। इसकी प्राक्तन वासनाएँ तनिक भी नहीं है ॥३९–४१॥

चित् की बहिर्मुख प्रवृत्ति वेदना है। वेदनामात्र की सर्वथा शान्ति होने पर प्रातिभासिकरूपवाला भी यह दिखलाई नहीं देता। वेदना की शान्ति कैसे होती है, ऐसी आशंका कर कहते हैं।

अधिष्ठान तत्त्व के ज्ञान से विषय का बोध होने पर विषयज्ञानरूप वेदनाएँ भी जैसे चिदाकाश है, वैसे ही चिदाकाशरूप से रहती हैं ॥४२॥

जहाँ पर चित्स्वभाव वेदनाओं का सहन नहीं होता, वहाँ पर पृथिवी आदि के सहन की संभावना कैसे हो सकती है, इसलिए उस पर तुम्हारे आक्रमण की आशा नहीं है, ऐसा कहते हैं।

इसमें पृथिवी आदि का संभव कैसा, कहाँ से और कैसे हो सकता है अर्थात् इसमें पृथिवी आदिका संभव नहीं है, इसलिए हे मृत्यो, तुम इसके ऊपर आक्रमण करने के लिए प्रयत्न मत करो। कोई भी पुरुष कभी भी आकाश को पकड़ नहीं सकता। श्रीयमराज के वचन सुनकर मृत्यु को बड़ा आश्चर्य हुआ और वह अपने घर लौट गया ॥४३-४४॥

आकाशज ब्राह्मण इस दूसरे नाम से उक्त ब्रह्मा ही इस आख्यायिका से दर्शाया गया है और जगत् मिथ्या है–ये दोनों बातें मैंने जान लीं, इसकी सूचना द्वारा गुरु को प्रसन्न कर रहे श्रीरामचन्द्रजी बोले :

भगवन्, आपने मुझसे आकाशज ब्राह्मण के नाम से स्वयम्भू, अज, एकात्मा, जीवसमष्टिरूप ब्रह्मा ही कहा, ऐसी मेरी धारणा है ॥४५॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्र, आपका कथन सत्य है, मैंने आपसे आकाशज विप्र के नाम से ब्रह्मा का ही कथन किया है। प्राचीन समय में इन्हीं के लिए मृत्युने यम के साथ संवाद किया था। मन्वन्तरमें जब कि सम्पूर्ण प्राणियों का संहार कर रहा सर्वभक्षी मृत्यु बलवान् हुआ तब उसने स्वयं ब्रह्माजी पर आक्रमण करने का उद्योग किया। उसी समय धर्मराज यम ने मृत्यु को शिक्षा दी ॥४६॥

मृत्यु ने ऐसे विषय में, जिसमें उसकी शक्ति काम नहीं कर सकती थी, क्यों उद्योग किया ? इस शंका पर व्यसनिता के कारण ही उसने उद्योग किया, ऐसा कहते हैं।

जो पुरुष नित्य जिस कामको करता है, उसीमें उसकी प्रीति होती है। ब्रह्मा चिदाकाशस्वरूप, संकल्पशरीर और पृथ्वी आदि से रहित मूर्तिवाला है, उसका शरीर मनोमात्र है, भला उस पर आक्रमण ही कैसे हो सकता है ? ॥४७-४९॥ जो चिदाकाश के समान चमत्कारवाला और चिदाकाश के समान अनुभव स्वरूप है, वह चिदाकाश ही है, उसमें न कारणता है और न कार्यता है। आकाश में जैसे इन्द्रनीलमणि से बना औंधा रक्खा हुआ महान् कड़ाही के आकार-सा पदार्थ पृथिवी आदि से रहित प्रतीत होता है और जैसे संकल्प से निर्मित पुरुष पृथिवी आदि से रहित प्रतीत होता है, वैसे ही यह स्वयम्भू (ब्रह्मा) भी पृथिवी आदि से रहित प्रकाशित होता है। जैसे निर्मल आकाश में मोती की माला एवं संकल्प और स्वप्न में नगर पृथिव्यादि रहित ही प्रकाशित होते हैं, वैसे ही स्वयंभू पृथिव्यादि रहित ही प्रकाशित होता है। केवल परमात्मा में न दृश्य है और न द्रष्टा है, केवल चिन्मात्रस्वभावता ही है तथापि यह स्वयम्भू नाम से प्रकाशित होता है। यह संकल्पमात्र मन ही ब्रह्मा कहा जाता है, यही संकल्पाकाश पुरुष ब्रह्मा है, इसमें पृथ्वी आदि विद्यमान नहीं हैं ॥५०-५४॥

यदि कोई कहे कि निराकार संकल्प की पुरुषाकारता कैसे हो सकती है ? तो इस पर कहते हैं।

जैसे चित्रकार के अन्तःकरण में स्थित चित्र देहरहित होने पर भी प्रतिमाकार प्रतीत होता है, वैसे ही चिदाकाश के स्वच्छ प्रतिबिम्ब का ग्राहक मन ब्रह्माकार प्रतीत होता है। भाव यह कि पहले चित्रकार अपने अन्तःकरण में एक प्रकार की चित्रप्रतिमा का संकल्प द्वारा निर्माण कर लेता है। तदनन्तर वैसा ही उसका बाहर चित्रण कर रहे चित्रकार के अन्तःकरणमें स्थित

संकल्पित चित्रप्रतिमा देहरहित होती हुई भी चित्रप्रतिमा के आकार से भासित होती है, वैसे ही चिदाकाश के प्रतिबिम्ब का ग्राहक स्वच्छ मन प्रजापति के (ब्रह्मा के) रूप से भासता है ॥५५॥

मन का स्वयम्भू के आकार में परिणाम वास्तविक नहीं है, किन्तु शुद्ध ब्रह्म ही अज्ञान से उस प्रकार विवर्त को प्राप्त होता है, यह कहते हैं।

आदि, मध्य और अन्त रहित चिदाकाशरूप अद्वितीय ब्रह्म ही अपने संकल्प के कारण स्वयम्भू यों आकारवान्–सा तथा पुरुष–सा भासित होता है, वास्तवमें तो वन्ध्यापुत्र के समान उसका शरीर नहीं है ॥५६॥

दूसरा सर्ग समाप्त

तीसरा सर्ग

ब्रह्मा स्वयं मनोरूप है और उसका संकल्परूप यह जगत् है,
इसलिए यह मनोराज्य के समान असत् ही है।

'मनोमात्रं च संकल्पः पृथ्व्यादिरहिताकृतिः।' इस प्रकार पीछे (यो.वा. ३–२–४९) कही गई रीति से ब्रह्मा को यदि मनोरूप मानें, तो मन के वासनासमूहरूप होने से 'प्राक्तनं वासनाजालं किंचिदस्य न विद्यते' (यो.वा.३–२–४१) यह कथन असंगत होगा, ऐसा समझ रहे श्रीरामचन्द्रजी ने कहा :

हे ब्रह्मन्, आपने जो ब्रह्माका मन शुद्ध पृथिवी आदि से रहित कहा, वह वैसा ही प्रसिद्ध है। परन्तु इस विषयमें शंका यह होती है कि यदि पृथिवी आदि से रहित मन ब्रह्मा है, यह सत्य है, तो जैसे आपके, मेरे, अन्य पुरुष के और पशु आदि के शरीर में पूर्वस्मृति कारण है वैसे ही ब्रह्मा के शरीर में पूर्वशरीर के त्याग के समय उत्पन्न स्मृति कारण क्यों नहीं है ? क्योंकि 'यं यं वाऽपि स्मरन् भावम्' इत्यादि स्मृति है। यदि ब्रह्मा के शरीर में प्राक्तन स्मृति है, तो प्राक्तन संस्कार और देह आदि का, जो उसकी उत्पत्ति के आधार हैं, वारण नहीं किया जा सकता ॥१,२॥

ठीक है, पूर्व देह आदि की सिद्धि होने पर उससे अनुभूत को विषय करनेवाली स्मृति ब्रह्मा के शरीर में कारण होगी, पर पूर्व शरीर आदि की ही सिद्धि नहीं होती, ऐसा श्रीवसिष्ठजी कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी, जिसका पूर्व जन्मों में उपार्जित कर्मों से युक्त पूर्व शरीर है, इस जन्म में उसी को संसारस्थिति की कारणभूत स्मृति हो सकती है। जब कि ब्रह्मा का प्राक्तन (पूर्वजन्म में उपार्जित) कर्म तनिक भी नहीं है, तो उनको पूर्वजन्म की स्मृति कहाँ से और कैसे होगी ? ॥३,४॥

शंका : 'तद्धैतल्लोकजिदेव' (वह यह प्राणदर्शन कर्मरहित यानी केवल भी लोकका साधन ही होता है) इत्यादि श्रुतियों से और 'जैसा संकल्पवाला इस लोकमें पुरुष होता है वैसा ही वह यहाँ से मरकर होता है, ऐसी व्यवस्था देखी गई है ऐसा जाननेवाला पुरुष क्रतु (अविचल अध्यवसाय) करे।' यों श्रुति में प्रदर्शित क्रतुन्याय से यह प्रसिद्ध है कि हिरण्यगर्भ का पद कर्म

और उपासना के समुच्चय का फल है, फिर हिरण्यगर्भ की प्राक्तन देह की वासनाएँ नहीं है, यह कथन तथा हिरण्यगर्भ का मनोमय देह पृथिव्यादिमय नहीं है, यह कथन कैसे घट सकता है ? क्योंकि 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' (हे सोम्य, मन अन्न का विकार है) इस सिद्धान्त से भी विरोध होता है।

समाधान : ठीक है, अज्ञानी की दृष्टि से ही पूर्व देहकी वासनाओं की एवं मनकी अन्नमयता की प्रतीति होती है। परन्तु 'यन्मदन्यन्नास्ति कस्मानु बिभेमीति' (जब मुझसे अन्य कोई नही है तब मैं किससे डरूँ), 'ज्ञानमप्रतिधं यस्य वैराग्यं च जगत्यतेः। ऐश्वर्य चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम्।' (जिस प्रजापतिका अप्रतिबद्ध ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म स्वाभाविक है।) इत्यादि श्रुति और स्मृति में प्रसिद्ध उसकी तत्त्वदृष्टि से तो भूत, वर्तमान और भविष्यत् प्रपंच न था, न है और न होगा यों जगत् का त्रैकालिक बाध होने के कारण उसमें पूर्व देह की वासना नहीं है, यह कहा गया है। बाधित की अनुवृत्ति होती है, इस पक्ष में तो मनमें और मनोमय ब्रह्मा के शरीरमें, जले हुए वस्त्रमें तन्तुमयता समान पृथिव्यादिमयता पूर्व की नाईं नहीं है, इसलिए कोई विरोध नहीं है। जब अबाधित अज्ञान के संकल्प से जनित नगर आदिकी सत्यता या भौतिकता नहीं है, तब तत्त्वज्ञान से बाधित तथा अनुवृत्त ब्रह्मा के मन के संकल्प से उत्पन्न विश्वकी सत्यता तथा भौतिकता नहीं है, इसमें तो कहना ही क्या ? इस अभिप्राय से आगे कहे जानेवाले जगत् के मिथ्यात्व में उपायभूत होने के कारण तत्त्वदृष्टिका अवलम्बन कर ही प्राक्तन देह की वासनाओं का अपलाप किया गया है, यह भाव है।

इसलिए ब्रह्मा का शरीर पृथिवी आदि कारण से शून्य है अथवा जीवका चित्त ही उसका एकमात्र कारण है। वह अपने कारण चिद्घन परब्रह्म परमात्मा से अभिन्न, स्वयम्भू और स्वयं आत्मरूप है। हे श्रीरामजी, इस स्वयम्भू ब्रह्मा की आतिवाहिक देह ही (卐) है, अजन्मा की आधिभौतिक (स्थूल भूतों से उत्पन्न) देह हो ही नहीं सकती ॥५,६॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, सम्पूर्ण भूतों के (प्राणियों के) एक आतिवाहिक और दूसरा आधिभौतिक यों दो शरीर हैं, किन्तु ब्रह्मा का केवल आतिवाहिक शरीर ही क्यों है ? ॥७॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, कारणयुक्त (पंचीकृत भूतों से उत्पन्न देह आदि से युक्त) सभी प्राणियों के आतिवाहिक और आधिभौतिक ये दो शरीर हैं, कारण न होने से (पंचीकृतभूतरूप कारण न होने से) अजन्मा हिरण्यगर्भ का केवल एक आतिवाहिक ही शरीर है ॥८॥

इसी बात को दूसरे प्रकार से कहते हैं।

एक अज (हिरण्यगर्भ) सम्पूर्ण भूतों का परम कारण है। उसका कोई कारण नहीं है, इससे वह आतिवाहिकरूप एक देहवाला है, आतिवाहिक और आधिभौतिकरूप दो देहोंवाला नहीं है। प्रथम प्रजापति (ब्रह्मा) का भौतिक शरीर नहीं है। भौतिक शरीर न होने से इसका केवल आतिवाहिक ही शरीर है, अतः वह केवल चिदाकाशस्वरूप है, कारण कि आरोपित पदार्थ का

卐 अतिवहन में-अर्चिरादि तथा धूमादि मार्ग से अन्य लोक में पहुँचाने में दक्ष हम लोगों के लिंग शरीर के सदृश, शरीर आतिवाहिक है।

अधिष्ठान से अतिरिक्त स्वरूप नहीं होता ॥९,१०॥

यों उसके संकल्प से कल्पित जगत् भी उसका अधिष्ठानभूत चैतन्यमात्र ही है, यह अर्थ सिद्ध हुआ, यों कहने की इच्छा से कहते हैं।

हे रामजी, पृथिवी आदि से शून्य, संकल्पमात्रशरीर चिदाकाशरूप आदि प्रजापति ने विविध प्रजाओं की सृष्टि की। वे प्रजा ब्रह्मा के संकल्प से अतिरिक्त कारणों से उत्पन्न नहीं हुई है, अतः वे भी चिदाकाशस्वरूप हैं। जिस उपादान कारण से जो उत्पन्न हुआ है वह तद्रूप ही होता है, यह बात कनककुण्डल आदि में सभीके द्वारा अनुभूत है ॥११,१२॥

यों जगत् की ब्रह्ममात्रता सिद्ध हुई, यह भाव है। इससे जीवकी भी ब्रह्ममात्रता सिद्ध हुई, यह कहते हैं।

चूँकि चित्तोपाधि जीव चित्तभ्रान्ति से चित्तमात्र होकर भी परमार्थरूप से निर्वाणमात्र परमबोधरूप चिदाकाश ही है, इसलिए वह भौतिक पुरुषता को प्राप्त नहीं होता। संकल्प शरीर यह ब्रह्मा संसारमें व्यवहार करनेवाले सम्पूर्ण भूतों में पहला प्रतिस्पन्द है, इसीसे ही अहंभाव का उदय हुआ है। इस प्रथम प्रतिस्पन्द से अभिन्न स्वरूपवाली (इससे उत्पन्न स्थूल प्रपंच के एतद्रूप होने से अभिन्न स्वरूपवाली) यह सृष्टि वायु से स्पन्द की सृष्टि की नाईं फैली हुई है। यह दृश्यमान सृष्टि प्रातिभासिक आकारवाले ब्रह्मा से उत्पन्न है, अतः प्रातिभासिकरूप है, फिर भी लोगों की दृष्टि में सत्यरूप से प्रतीत होती है। अथवा परमार्थरूप से चिन्मात्र आकारवाले ब्रह्मा से उत्पन्न चिन्मात्र आकारको धारण करती हुई भी यह सृष्टि जड़रूप से प्रतीत होती है। असद् वस्तु जो सत्यरूप से प्रतीत होती है, उसमें दृष्टान्त है–स्वप्नके अन्दर हुए दूसरे स्वप्न में स्त्रीका समागम। जैसे स्वप्न में स्त्रीसमागम का यदि स्वप्न देखा जाय,तो उससे धातुपात होता है, वैसे ही व्यवहार और प्रयोजन की सिद्धि की दृष्टि से असत्य पदार्थमें सत्यतुल्य व्यवहार हो सकता है। अतएव स्वप्न में स्त्रीसमागम–स्वप्न के सर्वथा असत्य होने पर उससे जैसे सत्य के समान प्रयोजन निष्पन्न होता है, वैसे ही प्रतिभासमात्र आकारवाले ब्रह्मा से उत्पन्न प्रतिभासरूपी यह सृष्टि भी सत्य के तुल्य प्रयोजन को सिद्ध करती है। जिसका शरीर पृथिवी आदिमय नहीं है और जो चिदाकाशरूप एवं शरीर रहित है,वह भूतों का अधिपति ब्रह्मा भ्रान्तिवश पुरुषाकृति एवं सदेह–सा प्रतीत होता है। ब्रह्माके दोरूप हैं–एक संवित्–रूप जो कि पारमार्थिक है और दूसरा संकल्परूप जो भ्रान्ति से है। यों संवित् और संकल्परूप ब्रह्मा परमार्थरूप से उदित नहीं होता और भ्रान्ति से उदित होता है। स्वरूपस्थिति जगत् की सत्ताके समान अविद्याके अधीन नहीं है, इसलिए न तो उसका उदय होता है और न विनाश ही। संकल्पपुरुष पृथिवी से रहित आकारवाला केवल चित्तमात्रशरीर ब्रह्मा ही तीनों जगतों की स्थिति का कारण है। उक्त ब्रह्मा का यह संकल्प प्राणियों के कर्मों के अनुसार जिस जिस प्रकार से विकास को प्राप्त होता है, जैसे कि आपका मन पर्वत के आकार को प्राप्त होता है, वैसे ही यह चैतन्यात्मा उसी प्रकार से प्रतीत होता है। भाव यह कि जब मन पर्वतभाव में होता है, तब पर्वताकार प्रतीत होता है, वैसे ही ब्रह्मा का संकल्प प्राणियों के कर्मों के अनुसार

जब जिस प्रकार से विकसित होता है तब चिदात्मा वैसा प्रतीत होता है ॥१३–२१॥

यदि ऐसा है, तो सब पदार्थों में संकल्पमय पर्वत से विलक्षण आधिभौतिकत्व, अर्थक्रियाकारित्व आदि का अनुभव कैसे होता है ? इस पर कहते हैं।

अपने स्वरूप के दृढ़ विस्मरण और आतिवाहिक भाव के विस्मरण से आतिवाहिक ही सर्वथा असत्य पिशाच की नाईं आधिभौतिकरूप से प्रतीत होता है। जैसे कि पिशाच वास्तव में सर्वथा असत् होता हुआ भी भ्रमवश आकारवान्–सा प्रतीत होता है, वैसे ही लोगों को स्वरूप की दृढ़ विस्मृति से आतिवाहिक ही आधिभौतिकरूप से प्रतीत होता है ॥२२॥

तब तो ब्रह्मा को भी, हम लोगों की नाईं, आतिवाहिकभाव विस्मृत क्यों नहीं होता ? इस पर कहते हैं।

यह ब्रह्मा का रूप मायाशबल ब्रह्म की प्रथमता (सम्पूर्ण स्थूल प्रपंच की अपेक्षा कारणभूत सूक्ष्मभूतता) है, सत्यसंकल्प होने के कारण उनमें स्वसंकल्प से वैसे ही प्रत्यक्ष आविर्भूत रहता है, अतः अन्धकार से आच्छादित न होने के कारण शुद्ध संवित्‌रूप प्रजापति को आतिवाहिक भाव की विस्मृति नहीं होती। इसलिए ब्रह्मा को आधिभौतिक से उत्पन्न हुई मृगतृष्णा के समान असत्य जड़तारूपी भ्रम देनेवाली पिशाचिका उत्पन्न नहीं होती ॥२३,२४॥ जब ब्रह्मा ही मनोमात्र है, पृथिवी आदिमय नहीं है, तब उससे उत्पन्न हुआ यह विश्व भी मनोमात्र ही है, जो जिससे उत्पन्न होता है, वह तद्रूप ही होता है, यह न्याय प्रसिद्ध है ॥२५॥

इस प्रकार 'अन्नेन सोम्य शुंगेनापो मूलमन्विच्छ' (हे सौम्य, अन्नरूप कार्य से कारण जल को खोजो) इस श्रुति में प्रदर्शित न्याय से जगत् मनोमात्र है और मन ब्रह्ममात्र है, इस प्रकार अद्वैत ब्रह्म फलित हुआ, ऐसा कहते हैं।

चूँकि अज के सहकारी कारण नहीं है, इसलिए उससे उत्पन्न हुए विश्व के भी कोई सहकारी कारण नहीं है। यहाँ पर कारण से कार्य में कोई भी वैचित्र्य नहीं है, इसलिए जैसे शुद्ध कारण है, वैसे कार्य भी शुद्ध ही है, ऐसा निश्चित हुआ ॥२६–२७॥

इस प्रकार भेदक न होने के कारण कार्यकारणभाव के न होने से जगत् ब्रह्मस्वरूप ही है, यह सिद्ध हुआ, ऐसा कहते हैं।

इस विश्व में कार्यकारणता की तनिक भी उपपत्ति नहीं होती। जैसा परब्रह्म है, ठीक वैसे ही तीनों जगत हैं। द्रवत्व से अभिन्न स्वरूपवाले जलसे जैसे द्रवत्व का विस्तार होता है, वैसे ही मनोरूपता को प्राप्त हुए ब्रह्मा द्वारा जगत् से अभिन्न शुद्ध आत्मा से जगत् का विस्तार किया जाता है। जैसे असत् संकल्पनगर की मन से ही कल्पना होती है और जैसे असत् गन्धर्वनगर की मन से ही कल्पना होती है, वैसे ही यह असत्‌रूप समस्त विश्व केवल मन से ही कल्पित है ॥२८–३०॥

इस प्रकार जगत् के ही बाधित होने पर तत्त्वज्ञों को देह आदि में आधिभौतिकत्व की प्रतीति नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं।

जैसे तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में रस्सी में सर्पता नहीं है, वैसे ही इस जगत् में आधिभौतिकता

नहीं है। फिर प्रबुद्ध वे ब्रह्मा आदि आधिभौतिक देह आदि में कैसे रह सकते हैं ? अर्थात् उनके आधिभौतिक देह आदि नहीं है, इसमें तो कहना ही क्या है ? ॥३१॥

कैमुतिकन्याय से भी उक्त अर्थ को दृढ़ करते हैं।

ज्ञानी का आतिवाहिक (प्रातिभासिक) शरीर भी नहीं है, फिर उसकी आधिभौतिक देह का कथन कैसे हो सकता है ? ब्रह्मा के आकार को धारण करनेवाले मन नामक मनुष्य का मनोराज्य यह जगत् सत्यरूप–सा स्थित है। मन ही ब्रह्मा है, वह संकल्पात्मक अपने शरीर को विपुल बनाकर मन से इस जगत् की रचना करता है। ब्रह्मा मनःस्वरूप है और मन ब्रह्मस्वरूप है, मनमें पृथिवी आदि नहीं है। मन से पृथिवी आदि आत्मा में अध्यस्त हैं। कमलगट्टे के अन्दर कमलकी लता के समान हृदय के अन्दर सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ विद्यमान हैं। *(यदि कोई कहे कि पहले श्लोक से मन में पृथिवी आदि नहीं है, ऐसा कहा और इस श्लोक से मन में दृश्य पदार्थ हैं, ऐसा कहा, यों परस्पर विरुद्ध कैसे कहते है, तो इस पर कहते हैं।)* चूँकि मन और दृश्य तथा इन दोनों का द्रष्टा अर्थात् साक्षीभूत आत्मा–इन दोनों का विवेक (पार्थक्य) किसीने कभी नहीं किया। जबतक उनका विवेक न किया जाय, तब तक अज्ञान का उच्छेद न होने से मनमें दृश्यवर्ग है ही, इसलिए ऐसा कहा है। अथवा मन और दृश्यदर्शन–इन दोनों का अभी उच्छेद नहीं हुआ है, इसलिए वैसा कहा गया है। निष्कर्ष यह निकला कि मनका उच्छेद ही दृश्यदर्शन का उच्छेद है। जैसे आपके हृदय में मनोराज्यबुद्धि अपने अनुभव से ही देखी गई है और जैसे स्वप्न तथा संकल्प आपके हृदयमें अपने अनुभवसे ही देखे गये हैं, वैसे ही आपके हृदय में दृश्यभू (दृश्यवर्ग) है। इसलिए जैसे चित्त द्वारा कल्पित पिशाच बालक को मार देता है, वैसे ही दृश्यरूपिणी रूपिका (पिशाची) इस द्रष्टा को मार देती है यानी स्वरूप से भ्रष्ट कर देती है ॥३२–३८॥

यदि सम्पूर्ण दृश्य हृदय में है, तो अभी सबको उसका अनुभव क्यों नहीं होता ? इस पर कहते हैं।

जैसे बीज के भीतर स्थित अंकुर देश और काल से अपने को प्रकाशित करता है, वैसे ही दृश्यबुद्धि भी देश और काल से अपने स्वरूप को प्रकाशित करती है ॥३९॥

यदि कोई कहे कि महान् प्रयास से दृश्यका मिथ्यात्व क्यों सिद्ध करते हो ? उसके सत्य होने पर क्या क्षति है ? इस पर कहते हैं।

यदि दृश्यरूप दुःख सत् हो तो उसकी कभी शान्ति नहीं होगी, दृश्य की यदि शान्ति नहीं होगी, तो बौद्धों में केवलत्व की (मोक्ष की) सिद्धि नहीं होगी। दृश्य का अभाव होने पर बौद्धों में बोद्धभाव स्थित भी हो, तो भी वह निवृत्त हो जाता है फिर मिथ्याभूत की निवृत्ति के विषय में तो कहना ही क्या है ? बौद्धों की केवलता को ही विमोक्ष कहते हैं ॥४०॥

तीसरा सर्ग समाप्त

चौथा सर्ग

मुनिश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी के उपदेश को सुनने के उपरान्त सभा का विसर्जन, रात्रिके कृत्य, प्रातःकाल पुनः सभा में आगमन तथा चित्त के स्वभाव का वर्णन।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : वत्स भरद्वाज, जब कि महामुनि श्रीवसिष्ठजी अपनी ज्ञानगर्भित एवं उत्कृष्ठ वाणी से यों उपदेश दे रहे थे, उनके उपदेशको सुनने के लिए सब लोग एकाग्रचित्त और मौन साधे थे। उपदेश सुनने में सब लोग ऐसे लीन हो रहे थे कि किसीका कोई अवयव हिलता-डुलता ही न था, अतएव आभूषणों में लगे हुए घुँघरूओं का शब्द शान्त था; पिंजड़े में बैठे सुग्गे, कबूतर, आदि पक्षियोंनें भी अपनी स्वाभाविक क्रीड़ा (चहकना आदि) छोड़ दी थी। विलासपरायण रमणियाँ अपने हाव, भाव आदि विलासों को भूलकर प्रस्तरप्रतिमाओंकी नाईं बैठी थीं। राजभवनमें रहनेवाले सभी प्राणी चित्रभित्ति में लिखे हुए चित्र की नाईं निश्चल होकर बैठे थे। केवल दो घड़ी दिन शेष रह गया था, उस समय का प्रकाश बड़ा भला लगता था। जैसे-जैसे सूर्य की किरणें कम होती जाती थीं वैसे-वैसे लोग भी अपना दैनिक कामकाज कम कर रहे थे। मानों महर्षि के उपदेश को सुनने के लिए आई हुई, विकसित कमलों की सुगन्धि से सराबोर, मन्द-मन्द सायंकाल की शीतल वायु बह रही थी। महर्षिजीसे जो उपदेश सुना था, मानों उसको मननपूर्वक खूब अभ्यस्त करने के लिए सूर्य दिन की रचना के लिए स्वीकृत अपने भ्रमण का परित्याग कर जनशून्य एकान्त अस्ताचल के शिखर को चले गये थे। ज्ञानगर्भित उपदेश के सुननेसे उत्पन्न हुई अन्तःकरणको शीतल करनेवाली शान्ति के समान वनभूमियों में तुषारपात से अविषमता हो गई थी। भाव यह कि तुषार गिरने से सम्पूर्ण व्यापार छोड़ दिये थे। उस समय सभी वस्तुओं की छाया लम्बी हो गई जिससे मालूम होता था कि सभी वस्तुओंकी छाया अपनी गर्दन ऊँची कर मानों श्रीवसिष्ठजी के उपदेश को सुन रही हैं॥१-९॥

इसी समय द्वारपाल सभा में आकर बड़े विनम्रभाव से महाराज दशरथ से बोला : देव स्नान, ब्राह्मण पूजा आदि का समय बहुत बीत चुका है॥१०॥

तदुपरान्त श्रीवसिष्ठजी ने अपनी मधुर वाणीका उपसंहार कर महाराज से कहा : महाराज, आज आप लोग इतना ही सुनिए; शेष कल प्रातःकाल कहूँगा। - ऐसा कहकर वे मौन हो गये। उनके वचन को सुनकर राजाने 'तथास्तु' कहकर अपने ऐश्वर्य की वृद्धि की कामना से पुष्प, अर्घ, दक्षिणादान और यथायोग्य सम्मान द्वारा आदरपूर्वक देवता, ऋषि और मुनियों के साथ सम्पूर्ण ब्राह्मणों की पूजा की। तदुपरान्त राजवृन्द और मुनिमण्डली के साथ सारी सभा उठ खड़ी हुई। निःस्पृह मुनियों ने राजा द्वारा दिये गये बहुमूल्य रत्नों की उपेक्षा कर दी थी, अतएव वे मण्डलाकार आवृत्त थे। परस्पर के अंगों की धक्काधुक्की से लोगों के बाजूबन्ध और कड़े ठनक रहे थे। सब लोगों के वक्षःस्थल और स्तनान्तर हार तथा सुवर्णजड़ित रेशमी वस्त्रोंकी कान्ति से विभूषित थे। बोल रहे केशों के सदृश शेखर (सिर में तिरछी पहनी गई माला) के

मध्य में पहले विश्रान्त और इस समय प्रबुद्ध भँवरों की मधुर ध्वनि से लोगों का सिर 'घुं घुं' शब्दवाला हो रहा था। सुवर्ण के आभूषणों की कान्ति से लोगोंने दिशाओं को सुवर्णमय बना दिया था। चित्त में स्थित महामुनि की वाणी के अर्थ से सबकी चित्तवृत्तियाँ शान्त थी। उन सभ्यों में से जो आकाशचारी थे,वे आकाशको गये और भूलोकवासी थे वे भूमि में गये। सबने अपने–अपने घरों में जाकर दैनिक कृत्य किये। इसी बीच में जैसे यौवनमध्यस्था नारी जनकोलाहल के निवृत्त होने पर धीरे–धीरे पतिगृह में गई हुई दिखलाई देती है, वैसे ही जनसम्पर्क से शून्य काली रात्रि दिखाई दी। श्रीसूर्य भगवान् अन्य देश को प्रकाशित करने के लिए चले गये, कारण कि सर्वत्र प्रकाश करना ही सत्पुरुषों का व्रत है ॥११–२०॥ फूले हुए पलाश के वनों से पूर्ण वसन्तशोभा के समान उदित हुई तारागणों को धारण करनेवाली सन्ध्या चारों ओर से उद्भूत हो गई। जैसे निर्मल चित्तवृत्तियाँ निद्रासे आवृत्त चित्त में लीन हो जाती हैं, वैसे ही पक्षी आम, कदम्ब आदि वृक्षों की चोटियोंमें तथा ग्राम के मन्दिरों में और घरों में लीन हो गये ॥२१,२२॥ कुछ–कुछ, केसर की कान्ति के समान सुनहली सूर्य की कान्ति से सुशोभित मेघखण्डरूपी पीले वस्त्रवाला तारारूपी हार तथा श्रीसे युक्त पूर्वोक्त अस्ताचल सूर्य की कान्ति से विभूषित मेघों से युक्त एवं हार और श्री से युक्त अतएव समान धर्मवाले आकाश में प्रविष्ट हो गया। जैसे पीतवस्त्रधारी हार और लक्ष्मी से युक्त श्रीविष्णु भगवान आवरणरहित तथा अपने अनुरूप ध्यान करनेवाले जनों के हृदयाकाश में प्रवेश करते हैं, वैसे ही अस्ताचल ने भी आकाशमें प्रवेश किया। समासोक्ति से यह भी प्रतीत होता है कि सन्ध्या के समय भगवान् का ध्यान करना श्रेष्ठ है। सन्ध्यादेवी के पूजा लेकर चले जाने पर मूर्तिमान् वेतालों की भाँति भीषण अन्धकार चारों ओर छा गया। तुषारकणवाही, वृक्षों के कोमल–कोमल पत्तों को अनायास हिलाता हुआ और चारों ओर आस–पास विकसित कुमुदोंको सूचित करता हुआ मन्द, सुगन्ध और शीतल पवन बहने लगा। चारों ओर व्याप्त निबिड़ अन्धकाररूपी केशों से युक्त, कुहरे से आच्छन्न होने के कारण विधवा दिशाएँ लम्बायमान और गाढ़ अन्धकारके समान काले केशवाली तथा सदा रोने के कारण जिनके नेत्रकी तारिका स्फुट नहीं है, ऐसी विधवा स्त्रियों के समान परम अन्धकार (निपट अन्धेपन) को प्राप्त हो गई। तदुपरान्त चाँदनीरूपी दूधके प्रवाह से सम्पूर्ण भुवन को लबालब भर रहा अमृतमयमूर्ति चन्द्रमारूपी क्षीरसागर आकाशमें आया। जैसे राजाओंके चित्तसे, जिसने ज्ञानगर्भित उपदेशवाणियाँ सुनी थी, अज्ञता भागकर कहीं चली गई वैसे ही चन्द्रोदय से गाढ़ अन्धकार की राशियाँ भाग कर कहीं अदृश्य हो गई। जैसे श्रीवसिष्ठजी द्वारा उपदिष्ट विचित्र अर्थों ने श्रोताओं के चित्त में विश्राम लिया वैसे ही सम्पूर्ण ऋषि, मुनि, ब्राह्मण और राजाओं ने अपने–अपने निवासस्थानों में विश्राम किया। तदुपरान्त गाढ़ अन्धकार से परिपूर्ण अतएव यमराज (काल) के शरीर के सदृश काली रात्रि चली गई और उनके निवासस्थानों में कुहरे से सराबोर प्रातःकाल ने पदार्पण किया। आकाश में दैदीप्यमान तारे प्रातःकाल के पवन से हरी गई पुष्पवृष्टियों की नाईं छिप गये और महात्माओं के मन में नूतन उत्पन्न हुई विवेकवृत्ति की नाईं अपनी कान्ति से लोगों के

नयनों को खोलनेवाले श्रीसूर्यभगवान् ने दर्शन दिये। केसर की कान्ति के सदृश कुछ कुछ विचित्र सूर्य की सुनहली किरणों से विभूषित मेघखण्डरूपी पीतवस्त्र धारण किया हुआ उदयाचल सूर्य की अरूण कान्ति से विभूषित आकाशमें प्रविष्ट हो गया। प्रातःकाल का कृत्य समाप्त कर सभी स्वर्गवासी और भूलोकवासी अतीत दिन के ही क्रम से फिर सभास्थान में आये। जिस क्रम से पूर्वदिन लोग बैठे थे उसी क्रम से सारी सभा बैठी और जैसे वायु से रहित पद्मों से पूर्ण तालाब निश्चल रहता है, वैसे ही वह सभा बातकी बात में निश्चल और नीरव हो गई। तदुपरान्त कथा के प्रसंग का अवलम्बन कर श्रीरामचन्द्रजी ने मधुर वाणी से वक्ताओं में श्रेष्ठ महामुनि श्रीवसिष्ठजी से कहा : भगवन्, मन का स्वरूप कैसा है, यह मुझको बतलाइए, क्योंकि मन से यह सम्पूर्ण लोकमंजरी बनी है ॥२३-३७॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे शून्य और जड़ आकारवाले भूताकाश का नाममात्र के सिवा कोई रूप नहीं है, वैसे ही शून्य और जड़ आकारवाले इस मन का कोई भी रूप नहीं दिखाई देता। अतएव मन के कार्य सम्पूर्ण पदार्थों में 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इत्यादि श्रुति से प्रतिपादित मिथ्यात्व की उपपत्ति होती है, यह भाव है ॥३८॥

मन की आकाशतुल्यता का ही उपपादन करते हैं।

हे रामजी, प्रस्तावित मन क्या बाहर ओर क्या हृदय में कहीं पर भी सद्रूप से विद्यमान नहीं है। किंतु, जैसे आकाश सर्वत्र विद्यमान है, वैसे ही इसको भी सर्वत्र स्थित जानो। मृगतृष्णा में (प्यासे मृगों को मरुस्थल में सूर्य की किरणों में) प्रतीत होनेवाले जलकी नाईं मिथ्या वह जगत् मन से उत्पन्न हुआ है। इसका स्वरूप क्षणभर के संकल्प से दूसरे चन्द्रमा के भ्रम की नाईं भ्रमात्मक ही है अर्थात् भ्रमज्ञान ही उसका आकार है ॥३९,४०॥

यद्यपि परमार्थरूप से मन है ही नहीं, तथापि शास्त्रीय व्यवहार के लिए कल्पित उसका रूप कहते हैं।

प्रत्यक्षस्थल में सामने विद्यमान और स्मरण आदि परोक्षस्थलमें अविद्यमान पदार्थ का जो दृश्यरूप-भान सब लोगों को होता है, वही मन है। जो पदार्थ का भान होता है, वही मन कहा जाता है, उससे अतिरिक्त मन नामक कोई भी वस्तु कदापि नहीं है ॥४१,४२॥

भाव यह कि निराकार चित् का जो पदार्थाकार अध्यास है, वही मन है।

सामान्य वृत्तियों से उसका लक्षण कहकर असाधारण वृत्ति से भी उसका लक्षण कहते हैं।

हे श्रीरामजी, संकल्प को ही आप मन जानिये। जैसे द्रवत्व से जल का और जैसे वायु से स्पन्द का भेद नहीं किया जा सकता। वैसे ही संकल्प से मन का भेद नहीं किया जा सकता ॥४३॥

उक्त बात को ही विषयभेदव्यवस्था के प्रदर्शन द्वारा दृढ़ करते हैं।

हे श्रीरामजी, जिस विषय का संकल्प होता है, उसमें मन संकल्परूप से स्थित रहता है, अर्थात् जो संकल्प है वही मन है। संकल्प और मनका कदापि किसी से भेद नहीं किया गया है ॥४४॥

यदि कोई कहे कि चित्‌से संवलित वृत्ति ही पदार्थभान कहा जाता है, ऐसी परिस्थिति में चित् के सत्य होने पर चिद्‌घटित मन कैसे मिथ्या है ? तो इस पर कहते हैं।

पदार्थभान मिथ्याविषयाकार होने से मिथ्या अथवा चित्संवलित होने से सत्य आपकी विवक्षा के अनुसार भले ही हो, इसमें हमारा कुछ भी आग्रह नहीं है। मन केवल संकल्परूप ही है। जैसे संकल्परूप मन है, वैसे ही मन की समष्टि भी संकल्पस्वभाव ही है, वही सृष्टिकर्ता ब्रह्मा है ॥४५॥

यदि सर्वपदार्थाकार मन ही ब्रह्मा की देह है,तो उसकी अन्य स्रष्टव्य वस्तु ही क्या रही, इस शंका पर कहते हैं।

आतिवाहिक देहरूपी (संकल्पमय देहरूपी) ब्रह्मा लोकमें मन कहा गया है, वही सूक्ष्म भूतों के ही मिश्रण से पंचीकरण द्वारा आधिभौतिक बुद्धिका (स्थूल देहज्ञान का) आधान करता है, यही उसका कर्तृत्व है ॥४६॥ अविद्या, संसार, चित्, मन, बन्धन, मल, तम–ये सब दृश्य के पर्यायवाची शब्द हैं, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ॥४७॥ दृश्य से अतिरिक्त मन का कुछ भी स्वरूप नहीं है, यदि उत्पन्न दृश्य ही अविद्या और मन है, तो उनकी अनादिता कैसी ? इस पर कहते हैं। यह दृश्य उत्पन्न ही नहीं हुआ है, ऐसा मैं आगे कहूँगा। जैसे कमलगट्टे के अन्दर कमल लता स्थित रहती है, वैसे ही महाचैतन्यरूप परमाणु के अन्दर यह जगत् स्थित है। जैसे प्रकाश का आलोक स्वभाव है, जैसे वायु का चांचल्य स्वभाव है और जैसे जल का द्रवत्व स्वभाव है, वैसे ही द्रष्टा में दृश्यत्व है। जैसे सुवर्ण में केयूरत्व है, जैसे मृगतृष्णा में जल है और जैसे स्वाप्निक नगर में भित्ति है, वैसे ही द्रष्टा में दृश्यबुद्धि है। इस प्रकार द्रष्टा में जो दृष्यत्व अभिन्न–सा स्थित है, उसको भी (उस मल को भी) तुम्हारे चित्तरूपी दर्पण से शीघ्र निवृत्त करता हूँ। दृश्य का अभाव होने पर इस द्रष्टामें जो अद्रष्ट्रता बलात् प्राप्त होती है, उसी को सन्मात्र चिद्रूप से अवशिष्ट आत्मा का केवली भाव जानो। चित्त के कैवल्यज्ञान द्वारा केवलीभाव को प्राप्त होने पर जैसे वायु के स्पन्दनरहित होने पर वन, जलाशय आदि में वायु–स्पन्दनप्रयुक्त चंचलता शान्त हो जाती है, वैसे ही केवलीभावापन्न मनमें राग, द्वेष आदि वासनाएँ शान्त हो जाती हैं। प्रकाश्य दिशा, भूमि, आकाश आदि सम्पूर्ण पदार्थों के न रहने पर जैसे प्रकाशका शुद्ध स्वरूप ही अवशिष्ट रहता है, वैसे ही तीनों जगत्, त्वम्, अहम्, इत्यादि दृश्यों के न रहनेपर विमलस्वरूप द्रष्टा का केवली भाव ही रहता है। जिसमें सम्पूर्ण पर्वत आदि का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ा है, ऐसे दर्पण में जैसे केवल आत्मस्वरूपभूत दर्पणता ही रहती है, वैसे ही त्वम्, अहम्, यह जगत् इत्यादि दृश्य भ्रम के शान्त होने पर दृश्योन्मुखताशून्य द्रष्टा में केवलता ही रहती है ॥४८–५८॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, यह दृश्य यदि सत् है, तो इसकी निवृत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि सत् की कभी निवृत्ति नहीं हो सकती। दुःखदायी दृश्यकी असत्ता हम लोगों को प्रतीत नहीं होती, इसलिए यह दृश्यरूपी महामारी कैसे शान्त होगी ? दृश्यरूपी महामारी मन से जन्म आदि भ्रम को उत्पन्न करनेवाली और दुःखपरम्परा को देनेवाली है ॥५९,६०॥

यद्यपि जगत् असत् है, तथापि अविद्या से वह सत्–सा प्रतीत होता है। केवलीभाव का साक्षात्कार होने से अविद्या की निवृत्ति हो जानेपर वैसा भ्रम नहीं होता, यह गूढ़ अभिप्राय है। पहले जीवन्मुक्ति पानेवाले पुरुषों के अनुभवरूप प्रमाण से तथा अनिर्मोक्ष की आपत्ति से दृश्य में सत्यताविश्वास को निवृत्त कर रहे श्रीवसिष्ठजी विवर्तवाद का आश्रय कर बोले :

हे रामजी, इस दृश्यरूपी पिशाच के विनाश के लिए, इस मन्त्र को सुनो, जिससे चेतनरूप से अभिमत देहरूपी यह पिशाच सर्वथा मर जायेगा और अचेतनरूप से अभिमत अन्तःकरण आदिरूप यह नष्ट हो जायेगा ॥६१॥

परिणामवाद में दोष दिखलाते हैं।

हे राघव, जिस वस्तुका अस्तित्व है, उसका कदापि नाश नहीं हो सकता, इसलिए नष्ट हुआ भी वह बीजरूप से हृदयमें विद्यमान रहता है। भाव यह है कि परिणामवादमें उत्तर अवस्थाओं में पूर्व पूर्व अवस्थाओं का तिरोभावमात्र होता है, उच्छेद नही होता, कारण कि सत् का अभाव कभी नहीं हो सकता। ऐसी अवस्थामें नाशरूप षड् विकार से तिरोहित द्वैत के चित्त में अथवा प्रकृति में स्थित रहने से काम, कर्म, वासनारूप बीजसे पुनः उद्भव को कोई रोक नहीं सकता, अतः अनिर्मोक्ष प्रसंग होगा। दृश्यबुद्धि स्मृतिरूपी बीज से चिदाकाशमें फिर उत्पन्न होकर भुवन, पर्वत, आकाश आदि आकारवाले महान् दोषकी सृष्टि करती है। इस प्रकार अनिर्मोक्षरूप दोष होगा, पर उसका यहाँ पर सम्भव नहीं है, क्योंकि अनेक देवता, ऋषि, मुनि जीवन्मुक्त देखे जाते हैं ॥६२–६४॥

यह चिदात्मा स्वभिन्न प्रधान में स्थित दृश्य को अविवेक से अपने हृदय में स्थित देखता है, वही उसका यह संसार है। विवेकज्ञान के उदय से पूर्वोक्त अविवेकजनित अभिमान की निवृत्ति होने पर बाह्य पदार्थों के रहनेपर भी मोक्ष हो जायेगा, इस प्रकार सांख्य प्रक्रिया की आशंका कर कहते हैं।

यदि इस जगत् आदि का अस्तित्व रहेगा, तो उससे किसीका भी मोक्ष नहीं होगा, वह (दृश्य) चाहे बाहर में स्थित हो, चाहे अन्तःकरणमें स्थित हो पर वह केवल स्वरूपनाश के लिए ही होता है ॥६५॥

इसलिए अन्त में विवर्तवाद ही अवशिष्ट रहता है, ऐसा कहते हैं।

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप अतिभीषण इस प्रतिज्ञा को सुनिये, जिसका स्वरूप आप आगे के ग्रन्थ से भलीभाँति जान जायेंगे। सामने जो ये भौतिक आकाश आदि और अन्दर अहं आदि लक्षित होते हैं, वे सब व्यवहारदशा में जगत् हैं; किन्तु परमार्थदशा में ब्रह्म ही हैं। ब्रह्म के सिवा जगत्–शब्द का कोई दूसरा वास्तविक अर्थ नहीं है। जो कुछ भी दृश्य दिखाई देता है, वह सब अजर–अमर अव्यय परम–ब्रह्म ही है। प्रत्यगात्मा जो ब्रह्मैक्य है, वह पूर्ण में पूर्ण का प्रवेश है। चूँकि स्वप्न, जाग्रत् और सुषुप्ति – इन तीन अवस्थाओं से रहित ब्रह्म में आकाशादि जगत् स्थित है और आकाश में घट आदि उपाधियों के त्याग से आकाश ही उदित होता है, इसलिए ब्रह्म में ही ब्रह्म रहता है, अणुमात्र भी

उसका विकार नहीं होता है (✍)। वास्तव में न यह दृश्य सद्रूप है, न द्रष्टा और न दर्शन ही सद्रूप है एवं न शून्य सद्रूप है न जड़ ही सद्रूप है और न बुद्धिप्रतिबिम्ब चैतन्य ही है किन्तु सर्वत्र व्याप्त यह ब्रह्म ही सद्रूप है।

उक्त विवर्तवाद में पामर पुरुषों की असंभावना दिखलाते हुए श्रीरामचन्द्रजी ने कहा।

भगवन्, आपका उक्त वचन 'वन्ध्या के पुत्र ने पर्वत को पीस दिया, खरगोश का सींग गाता है, शिला भुजाओं को फैलाकर ताण्डव नृत्य करती है, बालू से तेल निकलता है, पत्थर की प्रतिमाएँ वेद पढ़ती हैं और चित्र में लिखित मेघ गरजते हैं' – इन वचनों के सदृश प्रतीत होता है। सम्पूर्ण प्रामाणिक पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ होते हुए भी आप जरा, मृत्यु आदि विविध दुःखों से परिपूर्ण पर्वत, आकाश आदिमय जगत् नहीं है, ऐसा अश्रद्धेय वचन विवेकशाली तथा अवंचनीय मुझसे कैसे कहते हैं ? भगवन्, जैसे यह जगत् न तो अनादिकाल से स्थित है, न उत्पन्न हुआ और न इस समय विद्यमान है, वैसे मुझसे कहिए, जिससे इसका निश्चय हो जाय ॥६६–७४॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स राघव, मेरा वचन पूर्वपरसमन्वय से रहित नहीं है तथा शब्द करनेवाले वन्ध्यापुत्र के समान जैसे यह असत् प्रतीत होता है, वैसा में तुमसे कहता हूँ, सुनो। यह जगत् सृष्टि के आदि में उत्पन्न नहीं था, इसलिए उस समय इसका अस्तित्व सर्वथा नहीं था। जैसे स्वप्न आदि में नगर आदि की प्रतीति होती है, वैसे यह भी मन से उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। सृष्टि के आदि में अनुत्पन्न अतएव असत्–शरीर मनरूप यह जगत् जैसे अनुभूत होता है, वैसा मैं कहूँगा, आप सुनिये। मन क्षीण होनेवाले दृश्यरूप इस दोष का विस्तार करता है, जैसे कि स्वप्न असत् दृश्यरूप होता हुए भी सत्–सा प्रतीत होनेवाले अन्य स्वप्न का विस्तार करता है। मन ही अपनी इच्छानुसार स्वयं देहकी कल्पना करता है, उसीने चिरकाल की भावना से विपुल होकर इस इन्द्रजालरूप दृश्य की रचना कर रक्खी है। केवल चंचलशक्तिमान् मन ही प्रकाशित होता है, भ्रमण करता है, गमनागमन करता है, प्रार्थना करता है, निमग्न होता है, संहार करता है, सांसारिक दशाप्रयुक्त अपकर्ष को प्राप्त होता है तथा कैवल्यरूप उत्कर्ष को प्राप्त होता है। यह सब मन की ही क्रीड़ा है। मन ही सम्पूर्ण संसार है। उससे पृथक् जगत् कुछ नहीं है ॥७४–८०॥

चौथा सर्ग समाप्त

✍ पूर्ण पदार्थ का प्रवेश और निर्गम कहना संभव नहीं है। ब्रह्म और आत्मा की एकता ज्ञात होनेपर ही पूर्ण में पूर्ण का प्रकाश (प्रवेश) हुआ कहा जा सकता है। जब तक ब्रह्मतत्त्व अज्ञात रहता है, तब तक उसमें रस्सीमें सर्पदर्शन के समान जगत्-दर्शन होता है। रस्सी में जैसी सर्पकी स्थिति है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् की स्थिति है। जगत् नहीं है, यह ज्ञान ही जगत् की शान्तता है। शान्त में शान्त की स्थिति कहना उचित ही है। श्लोक में प्रथम शान्त शब्द ब्रह्म के लिए और द्वितीय शान्तशब्द जगत् के लिए उपात्त है। घटादि उपाधि के नष्ट होनेपर जैसे आकाश में आकाश का उदय हुआ कहा जाता है, वैसे ही जगत्-दर्शन के निवृत्त होनेपर ब्रह्म में ब्रह्म का उदय हुआ कहा जा सकता है। ब्रह्म में ही ब्रह्म का अवस्थान, इसका तात्पर्य यह है कि जगत् ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है।

पाँचवाँ सर्ग

विश्व का मूल मन है, मन का मूल परमात्मा है,
परमात्मा ही मन और समस्त जगत का मूल तत्त्व है, इस विषय का वर्णन।

पूर्वोक्त प्रकार से मन के मिथ्यात्व वर्णन करने से प्रकरणार्थ के स्पष्ट होने पर मन के अधिष्ठान के तत्त्व की, उसके आरोप के प्रकार की और उसके मिथ्यात्व में हेतु की जिज्ञासा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी बोले।

हे मुनिश्रेष्ठ, इस मन के भ्रम में परमार्थभूत मूल क्या है, भगवन्, मायामय यह मन कहाँ से कैसे उत्पन्न हुआ ? ॥१॥

सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति के मूलभूत हेतु को छोड़कर मन के मूलभूत हेतु के पूछने में कहते हैं।

हे प्रभो, मन की उत्पत्ति किससे हुई ? यह पहले मुझसे संक्षेप से कहिए, अनन्तर अवशिष्ट वक्तव्य को कहियेगा। भाव यह है कि आदिभूत मनके मूल का परिज्ञान हो जानेपर सबके मूलका परिज्ञान हो ही जायेगा॥२॥

उक्त दो प्रश्नों में पहला प्रश्न प्रधान है, इसलिए इस सर्ग की समाप्ति तक वसिष्ठजी ने पहले प्रश्न का उत्तर दिया।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, महाप्रलयावस्था में, जगत् के अतिसूक्ष्मरूप से स्थित होने के कारण, अपने कार्य में असमर्थ होने पर सम्पूर्ण दृश्यवर्ग की सृष्टि से पहले जगत् निर्विक्षेपावस्था में शेष रहता है। उस समय स्वयंज्योति, अजन्मा, प्रकाशमान, आनन्दघन सदा सर्वशक्तिमान् देवाधिदेव अविनाशी केवल परमात्मा ही रहते हैं। जिससे वाणियाँ भी निवृत्त हो जाती हैं, जिसे जीवन्मुक्त महात्मा जानते हैं और जिसकी आत्मा आदि संज्ञाएँ स्वाभाविक नहीं है किन्तु कल्पित हैं अर्थात् उसकी आत्मा आदि संज्ञाएँ अनारोपित स्वरूप से उत्पन्न नहीं है, किन्तु आरोपित धर्म से उत्पन्न हुई हैं। जिसे सांख्यदर्शन माननेवाले 'पुरुष' कहते हैं, वेदान्ती 'ब्रह्म' कहते हैं, विज्ञानवादी अत्यन्त निर्मल केवल 'क्षणिकविज्ञानरूप' कहते हैं और जिसे शून्यवादी 'शून्य' कहते हैं। भाव यह कि सभी वादियों के अपने–अपने बुद्धिवैभव से कल्पित विविध सिद्धान्तों का विषय वही है, सबके अधिष्ठानभूत उस परमात्मा के विषय में किसीको भी विवाद नहीं है। जो सूर्य के प्रकाशका भी प्रकाशक है, सदा सत्य बोलनेवाला, सत्य मनन करनेवाला, भोक्ता, द्रष्टा और कर्ता है। जगत् में सर्वदा विद्यमान होता हुआ भी असत् कर देनेवाली अविद्या से आवृत्त होने के कारण पामर पुरुषों की दृष्टि में जो असत् है, जो देहमें स्थित होने पर भी अविद्यावृत्त होने के कारण पामरों की दृष्टि में दूर स्थित है, सूर्य से उजियाले की भाँति जिससे वह चैतन्यरूपी प्रकाश होता है, सूर्य से किरणों के सदृश जिससे विष्णु आदि देवता उत्पन्न होते हैं एवं सागर से अनन्त बुद्बुदों की नाईं जिससे कोटि कोटि ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं॥३–९॥ जैसे नदी, नाले आदि का जल महासागर

में ही गिरता है, वैसे ही सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ प्रलय द्वारा जिसमें विलीन हो जाते हैं, जो दीपक की नाईं अपना और अपने में कल्पित अन्यान्य पदार्थों का प्रकाशक है। जो आकाश में, नाना शरीरों में, पत्थरों में, जल में, लताओं में, धूलिकणों में, पर्वतों में, वायु में और पाताल में स्थित है। जो अपने व्यापार में उद्यत पुर्यष्टक को (कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, भूतमात्रा, प्राण, अविद्या, काम, कर्म और अन्तःकरण को) बाहर–भीतर अपने चैतन्य की व्याप्ति से चैतन्य–युक्त करता है और जिससे मूक की गई जड़ शिलाएँ मानों ध्यान में बैठी हैं। चेतनों की चेतना में वही कारण है एवं अचेतनों की विचित्रतामें भी वही हेतु है, यह भाव है। आकाश को जिसने शून्य बना रक्खा है, पर्वतों को जिसने ठोस रूप दिया है, जल को जिसने तरल बना रक्खा है और जिसने अपने वशीभूत सूर्य को दीपक (प्रकाशक) बना रक्खा है ॥१०–१३॥ जैसे क्षीण न होनेवाले जल से भरे हुए मेघ से मूसलाधार वृष्टि होती है, वैसे ही कभी क्षीण न होनेवाले आनन्द से परिपूर्ण जिस परमतत्त्व से चित्र–विचित्र संसाररूपी मूसलाधार वृष्टि होती है। जैसे मरूभूमि में कभी दिखलाई देनेवाला कभी छिप जानेवाला मरीचिकाजल स्फुरित होता है, वैसे ही जिस अतिविस्तारयुक्त (व्यापक) तत्त्व में आविर्भाव–तिरोभावमय त्रिभुवनरूप लहरें स्फुरित होती हैं। प्रपंचरूप से विनाशी और स्वरूप से अविनाशी जो सब प्राणियों के अन्दर स्थित है। सूक्ष्म होने के कारण भीतर गुप्त और अतिमहत्तम होने के कारण सबसे अतिरिक्त (निष्प्रपंचरूप से अवशिष्ट) भी जो सब पदार्थों में विद्यमान है ॥१४–१६॥ माया ही लता है, वह चिदाकाशमें (शुद्ध चैतन्य में) उत्पन्न हुई है, चित्त उसकी जड़ है, इन्द्रियाँ उसके पत्ते हैं और कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड उसके सुन्दर फल हैं। वह मायारूपी लता वायुरूप जिससे परिचालित होती है। जो चैतन्यरूपी मणि प्रत्येक देहरूपी पेटी में प्रकाशित होती है और चन्द्रमा में किरणों की नाईं जिसमें ये अनेक जगत् स्फुरित हैं ॥१७,१८॥ जैसे वृष्टि करनेवाले गम्भीर मेघ में मूसलाधार जलवृष्टि और प्रकाशमय बिजली स्फुरित होती है वैसे ही जिस आनन्दवर्षी शान्त और चिद्घन में जड़ पाँच भूत और चेतन विविध सृष्टियाँ स्फुरित होती हैं। जिसके प्रकाश से सब पदार्थ परस्पर आश्चर्य जनक कार्य करते है, जिससे असतपदार्थ असत् हैं और सत् पदार्थ सत्त्व को प्राप्त हुआ। जो देवता, मनुष्य पशु, पक्षी आदि स्वरूप है, असंग और अनिच्छावाले अतएव शान्त भाव से अपनी आत्मा में स्थित जिसकी संनिधि में यह दृश्यवर्ग अत्यन्त जड़ होता हुआ भी क्रियावान् है ॥१९–२१॥ नियति अर्थात् सृष्टि के अवसर में अवश्य ही सृष्टि होनी चाहिए और प्रलय के अवसर में अवश्य ही प्रलय होना चाहिए इत्यादि नियम, उक्त नियम के अवच्छेदक देश और काल, उचित देश और काल में बोने पर बीजादि के अन्तर्गत कार्य का बीज के फूलने से चलन, बीज फोड़कर अंकुर आदि के निर्गमन द्वारा स्पन्दन और तदुपरान्त तना, शाखा, टहनियाँ, पत्ते आदि क्रमसे फलपर्यन्त जो जो व्यापार होते हैं वह सब क्रियाशब्दवाच्य हैं। इस क्रम से सम्पूर्ण पदार्थ जगत् से विलक्षण सत्तावाले (पारमार्थिक सत्तावाले) जिससे व्यावहारिक क्रिया करने में क्षमता को प्राप्त हुए हैं ॥२२॥

अथवा वही मायिक आकाश आदि पदार्थों के चिन्तन से व्योमादि भाव को प्राप्त हुआ है,

उससे अतिरिक्त व्योमादिशब्दवाच्य कोई दूसरी वस्तु नहीं है, ऐसा कहते हैं।

शुद्ध ज्ञानमय होने के कारण जो आकाश के चिन्तन से (मैं आकाश हूँ इस प्रकार विचार करने से) आकाशभाव को और पदार्थों के चिन्तन से पदार्थत्व को धारण कर स्थित है ॥२३॥

अब आरोपित के मिथ्यात्व में कारण कहते हैं।

चूँकि यह निविर्कार अतएव उत्पत्ति, स्थिति आदि से शून्य ज्ञानमय अपने स्वरूप में स्थित और अद्वितीय ही है अतएव अनेक महान् ब्रह्माण्ड के समूहों को और विचित्र विविध लीलाओं को करता हुआ भी न कुछ कार्य करता है और लीला आदि चेष्टाएँ ही करता है। भाव यह कि जिस कार्य का उपादान निर्विकार होता है वह मिथ्या होता है, यों कार्य के मिथ्यात्वमें निर्विकारोपादनकत्व ही हेतु है ॥२४॥

पाँचवाँ सर्ग समाप्त

छठा सर्ग

ज्ञान से आत्मा की प्राप्ति होती है, कर्मों से नहीं;
अतएव ज्ञानप्राप्ति के उपायों में प्रयत्न और क्रम का वर्णन।

पूर्वोक्त रीति से जगत् के मूलकारण देवाधिदेवका वर्णन कर उसकी प्राप्ति के उपाय भूत ज्ञान के साधनों को कहने की इच्छा से श्रीवसिष्ठजी बोले :

वत्स, देवों के देव (✍) इस परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति ज्ञान से ही हो सकती है, कर्मानुष्ठान से उत्पन्न क्लेशों से इसकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। ब्रह्म की प्राप्ति में ज्ञानरूपी अनुष्ठान का ही उपयोग है, ज्ञान से अतिरिक्त कर्म आदि का कोई उपयोग नहीं है। मरुस्थल में मरीचिका में जलभ्रम की निवृत्ति कोटि-कोटि कर्म करनेपर भी नहीं हो सकती, एकमात्र ज्ञान ही उसकी निवृत्ति में कारण देखा गया है ॥१,२॥

न बहुत नजदीक, न बहुत दूर, क्रिया के बिना प्राप्त होने के अयोग्य एवं विषम स्थान में स्थित फलकी प्राप्ति में क्रिया सफल हो सकती है, परमात्मा उक्त फलके सदृश नहीं है, इसलिए वह क्रिया द्वारा कदापि लभ्य नहीं है, ऐसा कहते हैं।

परमात्मा दूर भी नहीं है, नजदीक भी नहीं है, सुलभ भी नहीं है, दुर्लभ भी नहीं है और दुर्गम स्थान में स्थित भी नहीं है किन्तु विस्मृत सुवणहार की नाईं ज्ञानरूप कौशल से अपने ही शरीर से प्राप्त होता है। परमात्मा की प्रप्ति में तपस्या, दान, व्रत आदि तनिक भी सहायता नहीं करते, केवल स्वरूप में विश्रान्ति को छोड़कर उसकी प्राप्ति में और कुछ भी साधन नहीं है ॥३,४॥

यदि कोई शंका करे कि परमात्मा की प्राप्ति में साधनभूत ज्ञान सर्वथा कर्म-निरपेक्ष कैसे है ? तो इस पर कहते हैं।

(✍) देव हिरण्यगर्भ, परब्रह्म आदि कारण होनेसे उसके भी देव हैं, इसलिए वे देवाधिदेव हैं।

साधुसमागम तथा सत्–शास्त्रों के अभ्यास में तत्पर होना ही परम ब्रह्म की प्राप्ति में हेतु है, कारण कि अज्ञान–जाल का उत्पादक नित्यसिद्ध ब्रह्म जब चरमसाक्षात्कारवृत्ति में आरूढ़ होता है, तब वह अज्ञानजाल का नाशक होता है, उससे अतिरिक्त अन्य कुछ भी उसका बाधक नहीं होता ॥५॥

यदि कोई शंका करे कि तब तो दुःख की निवृत्ति में अथवा जीवन्मुक्ति में अन्य साधन होंगे ? इस पर कहते हैं।

यह परमात्मा सत् ही है, केवल इस प्रकार के ज्ञानमात्र से ही जीव को क्लेश नहीं होता और वह जीवन्मुक्तिको प्राप्त होता है ॥६॥

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (ब्राह्मण उसको वेदाध्ययन, यज्ञ, दान और अविनाशी तप से जानना चाहते हैं) यह श्रुति डिण्डिमघोष से यज्ञ, दान और तप को ज्ञान का साधन कहती है, 'किंचिन्नोपकरोति' (तप, दान, व्रत आदि तनिक भी सहायक नहीं होते हैं) यह कथन कठोरतम तप आदि के विधान की इच्छा से साधारण तप आदि पर लागू होता है ऐसा समझ रहे श्रीरामचन्द्रजी बोले :

गुरुवर, स्वरूपभूत इस आत्मा के केवल ज्ञात होने से क्लेशदायक जन्म–मरण आदि उपद्रव फिर कभी नहीं होते हैं। यह महान् देवाधिदेव किस उपाय से अतिशीघ्र प्राप्त होता है ? यदि कहिए ज्ञान से प्राप्त होता है, तो कृपया बतलाइए कि वह ज्ञान किस दुष्कर तप से अथवा कितने प्रचुर क्लेश से प्राप्त होता है ?॥७,८॥

विविदिषा के (ज्ञान की इच्छा के) लिए किये गये निष्काम कर्मों तथा अन्यान्य जन्मों में किये गये साधारण कर्मों के विविदिषा की उपपत्ति में ही क्षीण हो जाने से उत्कट विविदिषा होने पर श्रवण आदि प्रयत्न ही ब्रह्मज्ञान में उपयोगी होता है, तप आदि नहीं, यों मान रहे श्रीवसिष्ठजी बोले :

राघव, वेदान्तश्रवण आदि अपने पौरुष प्रयत्न से विकास को प्राप्त हुए विवेक से ही उक्त देवाधिदेव के ज्ञान की प्राप्ति होती है, तप, स्नान, यज्ञ आदि कर्मों से नहीं। हे रघुवंशतिलक, राग, द्वेष, अज्ञान, क्रोध, मद और मात्सर्य का त्याग किये बिना तप, दान आदि क्लेश ही हैं, वास्तविक साधन नहीं है, क्योंकि चित्त में राग आदि का साम्राज्य रहने पर दूसरे को ठगकर जो धन उपार्जित किया जाता है, उसके दानसे उसीको फल मिलता है, जिसका कि वह धन है। चित्त के राग आदि से उपहत होने पर जो व्रत आदि किया जाता है, वह दम्भ कहा जाता है, उसका कुछ भी फल नहीं होता। इसलिए पौरुष प्रयत्न से मुख्य औषधि का उपार्जन करना चाहिए। वह मुख्य औषधि है–सत् शास्त्रोंका अभ्यास और सज्जनसंगति, जिनसे संसाररूपी व्याधि की निवृत्ति हो जाती है। इस संसारमें संपूर्ण दुःखों के विनाश की प्राप्ति में केवल एक पौरुष प्रयत्न ही साधन है, उसको छोड़कर दूसरा कोई भी उपाय नहीं हो सकता। हे श्रीरामचन्द्रजी, आत्मज्ञानकी प्राप्ति के लिए अपेक्षित वह पौरुष कैसा है ? उसे आप सुनिए। जिससे राग–द्वेषरूपी विषूचिका सर्वथा निवृत्त हो जाती है। मुमुक्ष पुरुष–जिसमें लोक और

शास्त्र से किसी प्रकार का विरोध नहीं है, ऐसी यथायोग्य (अपने कुलानुरूप) आजीविकासे सन्तुष्ट होकर–भोगवासना का परित्याग करे। अपनी हितकारिणी (卐) अनुद्विग्नता द्वारा यथासंभव (शक्त्यनुरूप) उद्योग से सर्व प्रथम सज्जनसंगति और सत्–शास्त्र के अभ्यास की शरण लेनी चाहिए। जो पुरुष प्रारब्धानुसार जो कुछ पदार्थ मिल गया, उससे सन्तुष्ट रहता है, शास्त्र एवं शिष्टों द्वारा निन्दित की उपेक्षा करता है और साधुसंगति तथा सत्–शास्त्र के अभ्यास में निरत रहता है, वह शीघ्र मुक्त हो जाता है। जिस महामति पुरुष ने विचारद्वारा अपने स्वरूप (आत्मतत्त्व) को जान लिया है, उस महापुरुष के ये ब्रह्मा, विष्णु, शंकर और इन्द्र अनुकम्पा पात्र होते हैं ॥९–१९॥

साधु कौन है ? ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं।

श्रुति और स्मृति से प्रतिपादित सदाचार में परिनिष्ठित सज्जन लोग जिसे साधु कहते हैं, वह यदि ज्ञान, वैराग्य आदि शुभ गुणों से विशिष्ट हो, तो वह साधु है। प्रयत्नपूर्वक उसकी शरण लेनी चाहिए ॥२०॥

सत्–शास्त्र कौन हैं ? ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं।

सम्पूर्ण विद्याओं में अध्यात्मविद्या (📖) मुख्य है, उसकी उत्पत्ति के अनुकूल विचारात्मक वर्णन जिसमें हों, वह शास्त्र अर्थात् उपनिषत्, सूत्रभाष्य, गीता एवं इनके विवरणात्मक ग्रन्थ सत्–शास्त्र कहलाते है, उसके विचार से पुरुष मुक्त हो जाता है ॥२१॥

यदि कोई शंका करे कि अन्यान्य अनेक उपायों के विद्यमान रहते साधुसंगति और सत्–शास्त्रकी ही क्यों प्रशंसा करते हैं ? तो इस पर कहते हैं।

जैसे निर्मली के चूर्ण के संसर्ग से जलका मैल नष्ट हो जाता है और जैसे योग के अभ्यास से लोगों की बाह्य मनोवृत्तियाँ विनष्ट हो जाती हैं, वैसे ही सत्–शास्त्र और साधुसंगति से उत्पन्न विवेक से विद्या के विरोधी राग, द्वेष आदि सहसा विनष्ट हो जाते हैं ॥२२॥

छठा सर्ग समाप्त

सातवाँ सर्ग

हिरण्यगर्भ आदि जगत्का मूल कारणभूत जिस देवाधिदेव का पहले वर्णन हो चुका है, सम्पूर्ण उपाधियों से शून्य उसके तत्त्व का वर्णन।

प्रस्ताव द्वारा जिज्ञासित साधन के ज्ञात होने पर प्रस्तुत जगत्कारण के वास्तविक स्वरूप को जानने की इच्छा से श्रीरामचन्द्रजी बोले :

ब्रह्मन्, हिरण्यगर्भ आदि के कारणभूत जिस प्रत्यगात्मरूप देव का आपने पहले वर्णन किया है, जिसका ज्ञान होने पर पुरुष विमुक्त हो जाता है, वह देवाधिदेव कहाँ स्थित है तथा उसे मैं कैसे प्राप्त कर सकता हूँ, यह आप मुझे बतलाने की कृपा कीजिए ॥१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा :

卐 यह नहीं हो सकता, इस प्रकार का वैराग्य उद्विग्नता है, उसके त्याग द्वारा।

📖 आत्मा को उद्देश्य करके प्रवृत्त विद्या (ज्ञान) अध्यात्मविद्या है।

हे रघुकुलदीपक, जिस देवाधिदेव का मैंने वर्णन किया है, वह दूर नहीं रहता। चैतन्यमात्ररूप से विख्यात वह नित्य शरीर में ही (卐) स्थित है। चिन्मात्र यह सम्पूर्ण विश्व है ॥२॥

शंका– क्या वह देह से परिच्छिन्न ही है ?

समाधान – नहीं, वह सर्वव्यापक विश्वरूप है। सम्पूर्ण पदार्थों के अधिष्ठानरूप से सर्वव्यापिता दिखलाने के लिए उसको विश्वरूप कहा है, यह भाव है। केवल एकमात्र इसीकी सत्ता है। विश्वात्मक द्रष्टा नहीं है अर्थात् उससे अतिरिक्त विश्व की सत्ता नहीं है ॥३॥

केवल कार्यात्मक विश्व ही उससे पृथक् नहीं है, यह बात नहीं है, किन्तु विश्व की कारण माया भी, माया के गुणों के (सत्त्व, रज और तम के) अभिमानी ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र आदि देवताओं के साथ, उससे पृथक् नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

चिन्मात्रस्वरूप यही महादेव है, चिन्मात्रस्वरूप यही विष्णु है, चिन्मात्रस्वरूप यही सूर्य है और चिन्मात्रस्वरूप यही चतुर्मुख ब्रह्मा है अर्थात् उक्त चिन्मात्र से इनकी पृथक् सत्ता नहीं है ॥४॥

चिन्मात्र का (चेतनाश्रय) विश्व यह अर्थ होता है। वह लोकमें सबको भलीभाँति विदित है और वही पुरुषार्थ प्राप्त करानेवाला है, ऐसी अवस्था में उसके उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसा समझ रहे लोगों के अभिप्राय को प्रकट करते हुए श्रीरामचन्द्रजी ने शंका की।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : जब बालक भी यह जगत् चेतनमात्र है, ऐसा कहते हैं, तो इस विषय में उपदेश की क्या आवश्यकता रही ? ॥५॥

यह कर्ता क्विप प्रत्यय नहीं है, किन्तु भाव में (चेतनम्–चित्–ज्ञान) क्विप् प्रत्यय है। ऐसी परिस्थिति में उक्त दोषके लिए अवसर नहीं है अर्थात् उक्त जगत् को चेतनाश्रय सर्वसाधारण लोग जानते है, पर ज्ञानरूप (ब्रह्मरूप) नहीं जानते, इसलिए उपदेश की आवश्यकता है; इस अभिप्राय से श्रीवसिष्ठजी पूर्वोक्त विकल्प की निन्दा करते हैं।

वत्स श्रीरामचन्द्रजी, आपने जो विश्व को चिन्मात्र अर्थात् चेतन जाना है, ऐसी दशामें आपने भवभीतिनाशक कुछ भी उपाय नहीं जाना, क्योंकि कर्तामें क्विप् प्रत्यय से निष्पन्न चित् और चेतन शब्द समानार्थक ही हैं, कारण कि नन्द्यादिल्युट् प्रत्यय भी कर्ता में ही होता है। उनका अर्थ होता है–चितिकर्ता। नित्य चितिमें कर्तृत्वका सम्भव नहीं है, इसलिए अनित्य मनोवृत्तिमें प्रतिफलित चित् का ग्रहण करनेपर उसके आश्रयभूत अन्तःकरण को आत्मा समझनेवाला जीव ही चित्शब्द से कहा गया है। वह बहिर्मुख होने से विषयों को ही सार पदार्थ समझता है, अतएव पशु है, इससे ही जन्म, मरण आदि भय भीतर बैठे हुए–से बाहर निकलते हैं ॥६,७॥

यदि कोई कहे कि जीव मूर्तस्थूल शरीर से अतिरिक्त है। मूर्तस्थूलशरीरातिरिक्तत्वेन उसके ज्ञान से ही जरा, मरण आदि का विनाश हो जायेगा, क्योंकि 'अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये

卐 यह सामान्य अभिव्यक्ति से शरीर में और विशेषरूप से शरीर के अन्दर हृदयकमल में भलीभाँति अभिव्यक्त होता है।

न स्पृशतः' (शरीररहित उसको प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते) ऐसी श्रुति है, इस शंका पर कहते हैं।

बहिर्मुख होने के कारण बाह्य विषयों को ही सार समझनेवाला यह जीव मूर्तस्थूल शरीर से शून्य होता हुआ भी कृतकृत्य नहीं होता, क्योंकि अज्ञानी है, स्वयं चेतनीय मनरूप और अनर्थरूप बनकर स्थित है, अतः यह दुःख का ही भाजन है ॥८॥

'अशरीरम्' इत्यादि पूर्वोक्त श्रुति का तो–स्थूल, सूक्ष्म और कारण नामक तीन देहों से रहित को प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते, ऐसा अर्थ नहीं है, कारण कि स्वप्न में स्थूल देहका अभाव होने पर भी प्रिय और अप्रिय देखे जाते हैं, यह अभिप्राय है।

किस प्रकार के जीव के ज्ञान से कृतार्थता होती है ? ऐसा यदि कोई प्रश्न करे तो उसपर कहते हैं।

चेत्य (दृश्य) पदार्थों से जो सर्वथा मुक्तता (छुटकारा पाना) है अथवा जो अचेत्य (चेतनीय से भिन्न) पदार्थ की ओर प्रवणता (आकर्षण) है, (✍) वह जीव की पूर्णावस्था है, उसको जानकर जीव फिर शोक नहीं करता ॥९॥

इस विषय में श्रुतिरूप प्रमाण उपस्थित करते हैं।

उस परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार होने पर मूलाज्ञान के विनाश से इस जीव की मूलाज्ञान की कार्य अन्तःकरण में तादात्म्याध्यासरूप हृदयग्रन्थि टूट जाती है, उसके नाश से तन्मूलक सम्पूर्ण सन्देह भी छिन्न–भिन्न हो जाते हैं और संचित आदि सम्पूर्ण कर्म विनष्ट हो जाते हैं ॥१०॥

यदि ऐसी बात है, तो चित्तनिरोधरूप योग से ही जीव की चेत्य पदार्थों की ओर प्रवणता रोकी जा सकती है, फिर उसके लिए ज्ञानार्थ प्रयास की क्या आवश्यकता है ? इश शंका पर कहते हैं।

चेत्य का (दृश्य का) ज्ञान से समूल विनाश किये बिना जीव का दृश्य पदार्थों के प्रति आकर्षण नहीं रोका जा सकता। भला बतलाइये, ज्ञान के बिना दृश्य जगत् का उच्छेद ही कैसे हो सकता है ? भाव यह कि ज्ञान के बिना पूर्वोक्त ब्रह्मस्वरूपसमाधि नहीं हो सकती ॥११॥

इसी प्रकार ज्ञान के बिना मोक्ष भी दुर्लभ है, ऐसा कहते हैं।

जो मोक्षनामक अचेत्य चित्स्वरूप है, वह पूर्वोक्त चेत्य के (दृश्य के) असम्भव के बिना (ज्ञानद्वारा समूल बाध के बिना) कैसे प्राप्त हो सकता है ? जबकि समाधि में केवल ब्रह्मस्वरूपोन्मुखता भी दृश्य के बाध से ही होती है, तब मोक्ष में दृश्यस्वरूप के बाध की आवश्यकता के विषय में कहना ही क्या है ?॥१२॥

श्रीरामचन्द्रजी के निम्ननिर्दिष्ट दोनों प्रश्नलोक असंगत हैं, ऐसी किसीको शंका हो सकती है, क्योंकि 'चेतनं राम संसारोजीव एष पशुःस्मृतः' इस श्लोक में जीव के स्वरूप का और उसके आधार मन के मूल कारण का प्रतिपादन पहले हो चुका है, इसलिए पहले श्लोक के लिए

✍ जीव की चेत्यनिर्मुक्तता मुक्त्यावस्था में होती है और अचेत्योन्मुखता समाधि–अवस्था में होती है।

अवकाश नहीं है और ब्रह्म का स्वरूप इस सर्ग के प्रथम श्लोकमें पूछा गया है, इसलिए ब्रह्मस्वरूप के प्रश्न के लिए कहा गया दूसरा श्लोक भी निरवकाश है। हाँ ठीक है, जैसे प्रश्न सरसरी दृष्टि से प्रतीत होता है, वैसा श्रीरामचन्द्रजीको अभिप्रेत नहीं है, किन्तु यह आक्षेप है। उनका आशय यह है कि 'जीव ही संसार है' यह कथन व्याहत है, क्योंकि जीवको ब्रह्मप्राप्ति होने पर ब्रह्म भी संसारी हो जायेगा। यदि जीवको ब्रह्म प्राप्ति नहीं हुई, तो ब्रह्मप्राप्ति के साधन ज्ञान, शास्त्र आदि व्यर्थ हो जायेंगे। इसलिए जीवका रूप अन्य (संसार से अतिरिक्त) ही कहना चाहिए। दूसरी बात यह है कि जीव का आधार ब्रह्म ही है या अन्य कोई ? प्रथम पक्ष में ज्ञान द्वारा ब्रह्म में अध्यस्त सम्पूर्ण द्वैत के साथ ब्रह्म का भी बाध होने पर वरघातन्याय प्राप्त होगा। दूसरे पक्ष में अद्वैत ब्रह्म का व्याघात होगा, यों समझ रहे श्रीरामचन्द्रजी बोले :

ब्रह्मन्, जिस जीव के ज्ञान होने पर संसार का विनाश नहीं होता। आकाश के समान कल्पित रूपवाला, बहिर्मुख होने के कारण विषयों को ही सार समझनेवाला तथा अज्ञानी वह जीव किस आधार में स्थित है ? और कैसा है ? ॥१३॥

यानी उसका संसारकोटि में समावेश है या आत्मकोटि में ? यह अर्थ है।

ब्रह्मन् यदि जीव का संसारकोटि में ही समावेश है, तो उसका जो संसाररूपी सागर से तारण करनेवाला है और जिसका साधुसमागम और शास्त्र के अभ्यास से साक्षात्कार होता है, वह कैसा है ? उसे आप मुझसे कहिए। सागर को ही सागर से कोई तार नहीं सकता, इसलिए जीव का संसारित्वकथन व्याहत है ॥१४॥

आपका यह कथन ठीक होता, यदि जीव ही संसारी होता और जीव ही अपने ज्ञान से मुक्त होता अथवा जीव ही तात्त्विक आत्मा होता, किन्तु यह बात तो है नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्' (यह सब पहले ब्रह्म ही था, 'मैं ब्रह्म हूँ' यों ब्रह्म ने अपने को ही जाना, इससे वह सब हो गया) इस श्रुति में ब्रह्म को ही अपने अज्ञान से संसार होता है और अपने ज्ञान से मुक्ति होती है, इस कथन से विरोध होता है और 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इससे प्रतिपादित अन्य चेतन के निषेधसे विरोध होता है। जब ब्रह्म ही 'अनेन जीवेनात्मना' इत्यादि श्रुति से इदंकारका आस्पद और कल्पित होने से अनात्मभूत, संसारकोटि में प्रविष्ट तथा भ्रम से आत्मरूपसे गृहीत जीवरूप से उसके धर्मों द्वारा 'मैं जीव हूँ' ऐसा मानता हुआ संसार को प्राप्त होता है, तब जीवकी ही संसारिता फलित होती है। ऐसी अवस्थामें जीवका बाध होने पर भी वरघातन्यायकी प्राप्तिरूप दोष नहीं होता, ऐसा अपने मनमें रखकर पहले जो स्वयं कहा था, उसीको दृढ़ कर रहे श्रीवसिष्ठजी ने कहा :

हे श्रीराम, जो यह चेतन जीव विविधशरीररूपी जंगल में पतित और विशीर्ण है, इसे जो लोग आत्मा समझते हैं, वे लोग पण्डित (शास्त्रीय प्रज्ञासे सम्पन्न) होते हुए भी अज्ञानी हैं। हे राघव, जीव ही संसारी है और उसीको दुःखपरम्पराओं का अनुभव होता है, अतएव जीव के ज्ञात होने पर कहीं पर कुछ ज्ञात नहीं होता। यदि परमात्मा का ज्ञान हो जाता है,

तो जैसे विष के वेग के शान्त होने पर विषूचिका शान्त हो जाती है, वैसे ही दुःखपरम्परा भी नष्ट हो जाती है ॥१५-१७॥

यों जब श्रीरामचन्द्रजी की शंका का समाधान हो चुका, तब वे सर्ग के आरम्भमें जो प्रश्न किया था और जो प्रसंगपात्र कथनोपकथनसे व्यवहित हो गया था, उसे फिर स्पष्टरूप से पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, कृपा करके परमात्मा यथार्थस्वरूप मुझसे कहिये, जिसका साक्षात्कार होने पर मन सम्पूर्ण मोहों से छुटकारा पा जायेगा ॥१८॥

निर्विषय ज्ञान अप्रसिद्ध है, अतः वह निर्विषय, अनावृत्त और अपरोक्ष चिद्रूप है, ऐसा कहनेपर भी वह अनुभव में आरूढ़ नहीं हो सकता, इसलिए जैसे वह अनुभवारूढ़ हो, वैसे कहते हैं।

श्री वसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, एक पलक भर में एक देश से दूर अन्य देशमें प्राप्त संवित् (ज्ञान) का निर्विषय मध्यवर्ती यानी निकट और दूर देश के मध्य में स्थित जो स्वरूप है, वही परमात्मा का रूप है। भाव यह कि शाखा के अग्रभागमें चन्द्रमा के दर्शनमें नेत्र द्वारा निर्गत अन्तःकरणाभिव्यक्त अपरोक्ष ज्ञान शाखा प्रदेश से लेकर दूर चन्द्र प्रदेशतक एक पलक भर में पहुँच जाता है। शाखा प्रदेश से लेकर चन्द्र-प्रदेश तक उक्त ज्ञानकी अनुस्यूतता माने बिना शाखा और चन्द्रमा का एक साथ ज्ञान नहीं हो सकता, उसकी उपपत्ति के लिए शाखा से चन्द्र तक ज्ञान की अनुस्यूतता अवश्य माननी चाहिए। वहाँ पर शाखा और चन्द्र प्रदेशमें ज्ञानके सविषय होने पर भी बीचमें उक्त ज्ञानका जो स्वरूप है, वह निर्विषय अपरोक्ष चिद्रूप से प्रसिद्ध है, वही परमात्मा का भी रूप समझना चाहिए। जिस ज्ञानरूप महासागर में नाश आदि विकार के बिना ही अपने अधिष्ठान में मिथ्यात्व को प्राप्त होनेवाले संसारका अत्यन्त अभाव ही है, वह परमात्मा का स्वरूप है ॥१९,२०॥

उक्त को ही पुनः स्पष्ट करते हैं।

जिसमें द्रष्टा, दर्शन, दृश्य ये सम्पूर्ण क्रम रहते हुए भी नित्य अस्त को प्राप्त हो जाते हैं, जो आकाश न होता हुआ भी अपरिच्छिन्न होने से आकाश से उपमित होता है, वह परमात्मा का रूप है। जगत्-स्वभाव से शून्य होता हुआ भी जो सम्पूर्ण पदार्थों के याथात्म्यभूत स्वरूप से पूर्ण होने के कारण अशून्य-सा है, अविद्यमान भी जगत् जिसमें स्थित है यानी सद्भाव को प्राप्त हुआ है तथा विविध सृष्टियाँ जिसके प्रवाह हैं, ऐसे अज्ञान के रहने पर जो विद्यमान होता हुआ भी उपयोग न होने के कारण शून्य की नाईं स्थित है, वह परमात्मा का स्वरूप है। महाचिन्मय होने से यानी महाचित्प्रचुर होने से जो अस्थूल आदि धर्मवाला है, फिर भी अज्ञानी लोगों की दृष्टि में पाषाण की नाईं स्थूल है, जो अजड होता हुआ भी जड़ की भाँति अन्दर स्थित है, वह परमात्मा का स्वरूप है। बाह्य यानी अधिभूत और अधिदैव तथा आभ्यन्तर यानी अध्यात्म- जो जो पदार्थ प्रसिद्ध है, उनसे युक्त सम्पूर्ण जगत् जिससे आद्यासित तादात्म्यसम्बन्ध को प्राप्तकर सत्-असत् इस प्रकार की व्यवहारयोग्यतारूप स्वरूपसत्ता

को प्राप्त होता है, वह परमात्मा का स्वरूप है। जैसे प्रकाश का आलोक और आकाश का शून्यत्व आत्मरूप से स्थित है, वैसे ही यह जगत् जिसमें स्थित है अर्थात् जो इस जगत् का आत्मरूप है, वह परमात्मा का रूप है ॥२१–२५॥

जो वस्तु प्रमाणों द्वारा जैसे जानी जाती है उसकी वैसी ही सत्ता होती है, अन्य रूपसे नहीं। ब्रह्म तो प्रमाणों द्वारा जाना नहीं जाता, अतः वह सद्रूप है, यह निश्चय कैसे किया जा सकता है और जगत् प्रमाणों द्वारा सत्–रूप प्रतीत होता है, वह असत् है, यह निश्चय कैसे किया जा सकता है ? इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, परमात्मा सत् है, यह कैसे प्रतीत हो और इतना विशाल तथा विविध प्रमाणों द्वारा सिद्ध इस जगत्–नामक दृश्यका असंभव कैसे प्रतीत हो ?॥२६॥

'ब्रह्म प्रमाणों द्वारा नहीं ज्ञात होता' इस कथन की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि यदि प्रतिबन्धक न हों, तो महावाक्यों द्वारा उसका ज्ञान होता है। प्रतिबन्धक का नाश तो ब्रह्म में अध्यस्त द्वैत मिथ्यात्व ज्ञान से ही होता है, क्योंकि जहाँ पर रज्जु में सर्प का भ्रम होता है, वहाँ पर जब तक सर्प का निषेध न हो तब तक रज्जु का ज्ञान नहीं हो सकता, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी बोले :

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे रूपहीन आकाश में नील, पीत आदि रूप देखे जाते हैं, वैसे ही चिन्मय ब्रह्म में यह जगत्–भ्रम उत्पन्न हुआ। उक्त जगद्भ्रम के अत्यन्त अभाव के ज्ञानमें यदि अत्यन्त दृढ़ता हो तभी ब्रह्म का पूर्वोक्त रूप ज्ञात होता है, अन्य कर्म से नहीं। दृश्य के अत्यन्त अभाव के सिवा दूसरी कोई उत्तम गति नही है। 'यथाःस्थितेः' यानी नाश आदि विकार के बिना ही अपने अधिष्ठानमें मिथ्यात्व को प्राप्त होनेवाले इस दृश्य जगत् का अत्यन्त अभाव होने पर जो अवशिष्ट रहता है, उस परमार्थ वस्तुका बोध होता है; बोध होने से वह बोद्धाका आत्मा ही हो जाता है। दृश्य जगत् के अभाव के बिना चिन्मय ब्रह्मका बुद्धिमें प्रतिबिम्ब कभी नहीं पड़ सकता। ब्रह्म बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर अपना आवरण करनेवाले अज्ञानका नाश कर तात्त्विकरूप से प्रतीत होता है। अध्यस्त द्वैत प्रपंचको सत्य समझनेवाली बुद्धि में ब्रह्मका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता, क्योंकि विरोधी द्वैत से आक्रान्त बुद्धिमें अद्वैत का प्रतिबिम्ब पड़ना संभव नहीं है ॥२७–३०॥

शंका – जब द्वैत का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता उस अवस्थामें उक्त बुद्धिमें ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़े।

समाधान – नहीं, जैसे दर्पण कभी भी किसी–न–किसी प्रतिबिम्बका ग्रहण किये बिना नहीं रहता, वैसे ही बुद्धि द्वैतप्रतिबिम्बके ग्रहण के बिना नहीं रह सकती; ऐसी अवस्था में द्वैतप्रतिबिम्ब के रहते उसमें अद्वैत का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। वत्स श्रीरामजी, जब तक जगत्–नामक इस दृश्यका मिथ्यात्व सिद्ध न हो जाय, तब तक परमतत्त्व को (ब्रह्म को) कभी कोई नहीं जान सकता ॥३१॥

अपने मन में कुछ विशेष बात को रखकर श्रीरामचन्द्रजी दूसरा प्रश्न उठाते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, इतने बड़े ब्रह्माण्डरूप दश्यसमूह की असत्ता कैसे हो

सकती है, हाँ; जैसे कि आपने कहा वह हो सकता, यदि ब्रह्म में जगत् अध्यस्त होता। परन्तु ब्रह्म में जगत् का अध्यास ही नहीं बन सकता, क्योंकि चिन्मात्ररूप होनेसे सूक्ष्म ब्रह्म में इतने बड़े ब्रह्माण्डों से विस्तृत स्थूल प्रपंच का अध्यास होना असंभव है, क्या कहीं सरसों के अन्दर मेरु पर्वत समा सकता है ? ॥३२॥ *जैसा कि ऊपर कहा गया है, सूक्ष्म चिन्मात्र ब्रह्म में विशाल जगत् का अध्यास होना सरसों के पेटमें सुमेरु के समा जाने के समान असम्भव है, वह कथन ठीह होता यदि जगत् की स्थूलता विचार सह होती, किन्तु जगत् की स्थूलता ही विचारसह नहीं है। जब आपकी जगत् में स्थूलता प्रतीति को ही हम लोग युक्तियों द्वारा दीर्घ कालमें शिथिल करेंगें, तब हमारा कथन आपके हृदयमें जम सकेगा, इस अभिप्राय से श्रीवसिष्ठजी बोले :* वत्स श्रीराम, यदि आप अनुद्विग्नचित्त होकर कुछ दिनों तक साधुसंग और सत्–शास्त्रों के अभ्यासमें परायण रहेंगे, तब मैं एक क्षण में जैसे ज्ञान होने पर मृगजल नष्ट हो जाता है, वैसे ही आपके इस दृश्य को विनष्ट कर दूँगा। दृश्य का अभाव होने पर द्रष्टृता भी शान्त हो जायेगी, केवल बोध ही अवशिष्ट रह जायेगा ॥३३,३४॥

दृश्य द्वैतका अभाव होने पर केवल द्रष्टाका ही अभाव नहीं होता, किन्तु द्वित्व और एकत्व का भी अभाव हो जाता है, ऐसा उपपादन करते हैं।

इस दृश्य के रहने पर द्रष्टृत्व रहता है और द्रष्टा के रहनेपर दृश्यत्व रहता है। द्वित्व आदि के अत्यन्त प्रसिद्ध रहनेपर उनकी व्यावृत्ति के लिए एकत्व की कल्पना होती है। व्यावर्त्य ही जब प्रसिद्ध नहीं है, तब किसकी व्यावृत्ति के लिए उसकी कल्पना की जाय। एकत्व का योग होने पर ही द्वित्व होता है। उक्त दो में से एक के अभाव में दोनों की ही सिद्धि नहीं होती। द्वित्व, एकत्व, द्रष्टृत्व और दृश्यत्वका क्षय होने पर केवल सन्मात्र ही अवशिष्ट रहता है ॥३५,३६॥

दूसरे प्रकार से भी दृश्यके परिमार्जनकी प्रतिज्ञा करते हैं।

हे श्रीरामजी, दृश्य के अत्यन्त अभाव–ज्ञान से आपके मनरूपी दर्पण से मलरूपी दृश्य अहन्तादिरूप सम्पूर्ण जगत् को परिमार्जित कर देता हूँ यानी पोंछ देता हूँ। असत् पदार्थ की सत्ता नहीं होती और सत् का अभाव नहीं होता। जो वस्तु स्वभावतः नहीं है, उसके परिमार्जन में कौनसा–क्लेश है ? जो यह विस्तृत जगत् दिखाई देता है, यह पहले उत्पन्न नहीं हुआ है, यह चिन्मात्र होने के कारण निर्मल आत्मा में ही कल्पित है, अतः ब्रह्मरूप ही है, उससे अतिरिक्त इसकी सत्ता नहीं है। जगत्–नाम से न यह उत्पन्न हुआ है, न है और न दिखाई देता है। जैसे सुवर्ण में कल्पित कटकत्व आदि का सुवर्णदृष्टि से ही बाध हो जाता है, वैसे ही ब्रह्म में कल्पित इसका ब्रह्मदृष्टि से ही बाध हो जाता है। अतः इसके परिमार्जन में कौन–सा श्रम है ? मैं विविध युक्तियों द्वारा इस विषय को विस्तारपूर्वक इस तरह कहूँगा जैसे कि अबाधित तत्त्व आपको स्वयं ही अनुभूत हो जायेगा ॥३७–४१॥

जो वस्तु उत्पन्न ही नहीं हुई, उसका सत्त्वरूप से ग्रहण ही असत् है, ऐसा कहते हैं।

जो पहले उत्पन्न ही नहीं हुआ, उसका यहाँ अस्तित्व कैसे हो सकता है ? मरूस्थल में जलपूर्ण नदी की सत्ता तथा द्वितीय चन्द्रमा में ग्रहत्व का कैसे संभव है। इसलिए जैसे वन्ध्या

का पुत्र नहीं है, जैसे मरुभूमि में जल नहीं है और जैसे आकाश में वृक्ष नहीं है, वैसे ही जगद्भ्रम भी नहीं है। हे श्रीरामजी, जो कुछ यह दिखाई देता है, वह सब निर्मल ब्रह्म ही है, इसको मैं आगे केवल उपदेश से ही नहीं आख्यान आदि युक्तियों से भी कहूँगा। उदारबुद्धे, तत्त्वज्ञ पुरुष जिस बात को युक्तियों द्वारा सिद्ध करते हैं, उसकी उपेक्षा करना उचित नहीं है। जो मूढ़बुद्धि पुरुष युक्तियुक्त तत्त्व का अनादर कर युक्तिशून्य वस्तु में आग्रह करता है, उसे विद्वान् लोग अज्ञ ही समझते हैं ॥४२–४५॥

सातवाँ सर्ग समाप्त

आठवाँ सर्ग

पूर्वोक्त तत्त्वका ज्ञान सत्शास्त्रों से ही होता है अन्य से नहीं,
सत्शास्त्रोमें भी यह ग्रन्थ तुरन्त फलदायक है, यह कथन।

श्री वसिष्ठजी ने 'वक्ष्यामि युक्तितः' ऐसी पहले जो प्रतिज्ञा की थी, उसीको श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं :

भगवन्, जो आपने कहा कि 'यदिदं दृश्यते राम तद् ब्रह्मैव निरामयम्' (हे श्रीराम्, जो यह जगत् दिखलाई देता है, यह निर्मल ब्रह्म ही है) यह किस युक्ति से जाना जाता है, किस प्रकार यह सिद्ध होता है और कैसे युक्तियों द्वारा इसके अनुभूत होने पर कुछ ज्ञातव्य शेष नहीं रहता ? ॥१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामजी, यह मिथ्याज्ञानरूपी विषूचिका चिरकाल से बद्धमूल है, इसीका नाम जगत् और अविचार है, यह ज्ञान के बिना निवृत्त नहीं होती। मैं आपसे बोध की प्राप्ति के लिए आगे कही जानेवाली जिन विविध आख्यायिकाओं को कहूँगा, हे साधो, उनको यदि आप सुनेंगे तो आप अवश्य मुक्त हो जायेंगे, इसमें संशय नहीं है। यदि न सुनेंगे, उद्विग्न स्वभाववाले होने के कारण बीच में ही उठकर चले जायेंगे, तो पशुओंकी नाईं सत्शास्त्रके श्रवण में अयोग्यतावाले आपको कुछ भी प्राप्त नहीं होगा ॥२–४॥

यदि श्रीरामचन्द्रजी को यह संशय हो कि महात्माओं को भी जो तत्त्व दुर्लभ है, वह मेरे सदृश मन्दमति को कैसे प्राप्त होगा ? तो इस पर कहते हैं।

जिसको जिस पदार्थ की चाह होती है, वह उस पदार्थ की प्राप्ति के लिए वैसा ही प्रयत्न करता है, उसे वह पदार्थ अवश्य प्राप्त होता है, बशर्ते यदि वह बीच में श्रान्त होकर उससे विरत न हो जाय। हे श्रीरामचन्द्रजी, यदि आप सज्जनसंगति और सत् शास्त्रों के अभ्यास में तत्पर होओगे, तो कुछ ही महीनों में, नहीं नहीं कुछ ही दिनों में परम पद को प्राप्त हो जाओगे। महामते, जिन शास्त्रों में आत्मज्ञान का मुख्यरूप से प्रतिपादन है, उन शास्त्रों में यह महारामायणनामक शास्त्र ही सर्वश्रेष्ठ है। इस सर्वोत्तम इतिहास का श्रवण करने से बोध प्राप्त हो जाता है, यह शास्त्र सम्पूर्ण इतिहासों का सार कहा गया है। अतः इस शास्त्र के सुनने पर कभी क्षीण न होनेवाली जीवन्मुक्ति स्वयं उदित होती है, अतएव यही सबसे पवित्रतम है। जैसे स्वप्न आदि में स्वप्न के रहने पर ही 'यह स्वप्न है' ऐसा ज्ञान होने पर स्वप्नमें सत्यत्वभान

निवृत्त हो जाता है, वैसे ही इस शास्त्र के विचार से यथास्थित ही दृश्य जगत् अस्त को प्राप्त हो जाता है। आत्मबोध के लिए अपेक्षित जो जो उत्कृष्ट युक्तियाँ इस ग्रन्थ में हैं, वे दूसरे ग्रन्थ में नहीं है। जो यहाँ पर नहीं है, वह कहीं भी नहीं है। इसीलिए विद्वान् जन इसको सम्पूर्ण विज्ञान शास्त्ररूपी धनों का कोशगृह (खजाना) कहते हैं। जो पुरुष नित्य इसका श्रवण करता है, उस उत्कृष्ट बुद्धिवाले पुरुष की बुद्धि अन्य ग्रन्थों के अभ्यास से उत्पन्न बोध की अपेक्षा उत्कृष्ट बोध को प्राप्त होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। दुर्भाग्यवश जिस पुरुष को यह शास्त्र रुचिकर नहीं होता, वह ज्ञान का प्रतिपादन करनेवाले अन्य किसी शास्त्र का विचार करे, इसमें हमारा कोई द्वेष नहीं है ॥५-१४॥

यदि शंका हो कि इस शास्त्र के अतिशयमें हेतु क्या है, तो इस पर कहते हैं।

जैसे उत्तम औषधिके सेवन से निरोगिता स्वयं प्राप्त होती है, वैसे ही इस शास्त्रका श्रवण करनेपर जीवन्मुक्ति स्वयं अनुभूत होती है ॥१५॥

इस शास्त्र के सुनने पर श्रोता पुरुष जीवन्मुक्ति का स्वयं ही अनुभव करता है, यह जो हमने कहा है, वह वर और शाप के समान यथार्थ ही है,अन्यथा नहीं हो सकता है, यह भाव है।

हे रामजी, प्रस्तुत ग्रन्थ की आत्मविचारात्मक कथा से ही आपका यह संसाररूपी क्लेश नष्ट हो जायेगा। धन, दान, तपस्या, द्वैतशास्त्रों के श्रवण, कर्मकाण्डरूप वेद और द्वैतवेदशास्त्ररूप वाक्यप्रबन्ध से उक्त यज्ञ, याग, होम आदि सैकड़ों प्रयत्नों से भी आपका यह संसाररूप क्लेश नष्ट नहीं होगा ॥१६,१७॥

आठवाँ सर्ग समाप्त

नौवाँ सर्ग

जीवन्मुक्ति के लक्षण तथा सर्वात्मताका वर्णन और
जगत् का प्रलय होने पर अवशिष्ट आत्मस्वरूपका प्रतिपादन।

आत्मविचार भी जब तक आत्मज्ञान न हो जाय, तब तक निरन्तर एकाग्र मन से करना चाहिए। कदाचित् मास दो मास में कर लिया या नित्य करने पर भी बीच-बीचमें अन्यान्य व्यापार करते रहे, इस प्रकार नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' (जो आत्मा में ही क्रीड़ा करनेवाला, आत्मा में ही रमण करनेवाला, ध्यान, वैराग्य आदि क्रियावाला है, वह ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ है) 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (आत्मनिष्ठ मोक्ष को प्राप्त होता है) ऐसी श्रुति है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी बोले :

हे रामजी, जिनका चित्त निरन्तर आत्मा में ही लगा है और आत्मा की प्राप्ति में ही जिनका जीवनव्यापार है, जो नित्य परस्पर आत्माका ही बोध कराते हुए प्रसन्न होते हैं और उसके विषयमें वार्तालाप करते हुए आनन्दमग्न होते हैं। केवल ज्ञानसाधन श्रवण, मनन आदिमें ही जिनकी एकतानता है और जो सदा आत्मज्ञानका ही विचार करते हैं, उन महात्माओं की वह जीवन्मुक्ति उदित होती है, जो देह छुटने से शुद्ध मुक्ति ही है, अन्य नहीं है ॥१,२॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, विदेहमुक्त और जीवन्मुक्त का लक्षण आप मुझसे कहिये। जिससे कि मैं शास्त्ररूपी नेत्र से उत्पन्न की गई बुद्धि से वैसा ही होने के लिए प्रयत्न करूँ ॥३॥

पहले जीवन्मुक्ति होती है, तदुपरान्त विदेहमुक्ति होती है, परन्तु श्लोक में श्रीरामचन्द्रजी ने पहले विदेहमुक्ति का लक्षण पूछा है, पश्चात् जीवन्मुक्ति का। पाठक्रम से अर्थक्रम बलवान् होता है, इस न्याय से पाठ क्रम का उल्लंघन करके श्रीवसिष्ठजी ने पहले जीवन्मुक्ति के लक्षण का प्रतिपादन किया।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जिन कर्मोंका शास्त्र में निषेध नहीं है, उनको करते हुए भी जिस पुरुष का यथास्थित यह विश्व परमार्थ दृष्टि से निवृत्त होकर आकाश की नाईं शून्य हो जाता है, दर्पण में स्थित नगर की नाईं प्रतीत होता हुआ भी है ही नहीं, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जो व्यवहार करता हुआ ही 'नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' इस भगवद्वचन के अनुसार जाग्रत् अवस्था में भी सुषुप्त के समान निर्विकार रहता है, बोधनिष्ठता को प्राप्त वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जिसकी मुखकान्ति क्रमशः सुख और दुःख में उदित और अस्त नहीं होती अर्थात् जिसकी मुखकान्ति सुख में विकसित और दुःख में म्लान नहीं होती और जो कुछ मिल गया उससे जीवननिर्वाह करता है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जो निर्विकार आत्मा में सुषुप्त के समान स्थित रहता हुआ भी अविद्यारूपी निद्राका विनाश होने से आत्मामें सदा जागरूक रहता है। देह, इन्द्रिय आदि का बाध हो जाने से इन्द्रियों द्वारा पदार्थों की प्रतीतिरूपी जाग्रत अवस्था जिसकी नहीं है और जिसका ज्ञान वासनारहित है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। बाहर अनुराग, द्वेष, भय आदि का यथायोग्य नट की नाईं आचरण करता हुआ भी जो अन्दर आकाश की नाईं निर्विकार है तथा निरावरण स्वरूप आत्मा में स्थित है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जिसमें अहंकार नहीं है और कर्म कर रहे अथवा न कर रहे जिसकी बुद्धि कर्तृत्व और अकर्तृत्व के अभिमान से लिप्त नहीं होती, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जो चिदात्मा के अर्ध आरवणभंग से तीनों लोकों का प्रलय और अर्द्ध–आवरण से तीनों लोकों की उत्पत्ति देखता है एवं जो अपनी आत्मा में सम है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जिससे अन्य लोगों को भय नहीं है और जिसको लोगों से भय नहीं है यानी हर्ष, क्रोध और भय के हेतु अज्ञानाभिमान से रहित होने के कारण जिससे अन्य लोग भयभीत नहीं होते और स्वयं जो अन्य लोगों से भयभीत नही होता, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जिसकी संसारविषयक सत्यताबुद्धि निवृत्त हो गई है, जो दूसरों की दृष्टिमें देह आदि अवयवों से युक्त होता हुआ भी निरवयव है और जो सचेतन होता हुआ भी चित्तरहित है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। राग आदि के विषय पदार्थोंमें भी पूर्णात्मा (आत्मबुद्धि) होकर जो पुरुष सम्पूर्ण पदार्थों में व्यवहार करता हुआ भी राग आदि से ताप को प्राप्त नहीं होता, वह जीवन्मुक्त है ॥४–१३॥

अब पहले पूछे गये जीवन्मुक्तका लक्षण कहने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

हे राम, जैसे वायु अपनी सहज चंचलता का परित्याग करने के उपरान्त स्थिरता को प्राप्त

होता है, वैसे ही पूर्वोक्त जीवन्मुक्त पुरुष देह छूटने के अनन्तर यानी प्रारब्ध कर्मों के क्षीण होने पर जीवन्मुक्तिपदका त्याग कर विदेहमुक्ति में प्रवेश करता है ॥१४॥

सर्वप्रथम जीवन्मुक्तता का विद्वानों द्वारा अनुभूत स्वरूपलक्षण कहते हैं।

जिस पुरुष को विदेहमुक्ति प्राप्त हो जाती है, उसका फिर कभी न उदय (वृद्धि) होता है और न ह्रास ही होता है। वह न तो शान्त ही होता है (और न अशान्त ही होता है), वह व्यक्त भी नहीं है, अव्यक्त भी नहीं है, दूरस्थ भी नहीं है और निकटस्थ भी नहीं है अर्थात् सर्वव्यापी है। वह आत्मरूप नहीं है, यह भी नहीं कह सकते अर्थात् वह आत्मरूप ही है और आत्मा से भिन्न देह, इन्द्रिय आदिरूप नहीं है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि सर्वस्वरूप होने से सब कुछ वही है ॥१५॥

लोकदृष्टि से उसका सर्वात्मरूप तटस्थलक्षण कहते हैं।

वही सूर्य बनकर जगत् को प्रकाश और धूप देता है, विष्णु बनकर सबका पालन–पोषण करता है, रुद्र बनकर सबका संहार करता है और ब्रह्मा बनकर विविध सृष्टियाँ करता है। वही आकाश बनकर वायुस्कन्धों को (ऊपर स्थित उनचास वायुरूप स्तरों को) तथा ऋषि, देव और असुरों को धारण करता है, वही सुमेरु और हिमालय बनकर इन्द्र आदि लोकपालों को धारण करता है। वही भूमि बनकर कभी विच्छिन्न न होनेवाली इस जनमर्यादा की रक्षा करता है और वही तिनके, झाड़ियाँ और लताएँ बनकर विविध फल देता है। वही जल और अग्निका आकार धारण कर बरसता है और जलता है, वही चन्द्रमा बनकर अमृत बरसाता है, हलाहल विष बनकर मृत्यु पैदा करता है। वही प्रकाश बनकर दिशाओं को प्रकाशित करता है और तम बनकर अन्धकारको फैलाता है, शून्य होकर व्योमरूपता को प्राप्त होता है तथा पर्वत बनकर वायु आदिके वेग को रोकता है। वही अन्तःकरण में स्फुट अभिव्यक्त चैतन्य द्वारा जंगम जगत् की और अनभिव्यक्त चैतन्य द्वारा जड़ाकृति बनकर स्थावर जगत् की रचना करता है। वही समुद्र बनकर पृथिवीरूपी स्त्री को, जैसे कड़ा स्त्रीको परिवेष्टित करता है वैसे ही, परिवेष्टित करता है। आवरणरहित चैतन्य रूप बनकर चैतन्य के प्रकाश से व्याप्त तीनों जगतों से लेकर त्र्यणुकपर्यन्त सम्पूर्ण पदार्थों का विस्तार करता हुआ भी स्वयं शान्त (निर्विकार) ही रहता है। अधिक क्या कहें, जो कुछ यह दृश्य इस समय प्रकाशित हो रहा है यानी वर्तमानमें स्थित है, जो कुछ पहले प्रकाशित हुआ था, यानी भूतकालमें स्थित था और जो कुछ आगे प्रकाश को प्राप्त होगा यानी जो भविष्यकाल में स्थित होगा वह सम्पूर्ण दृश्य यही है, इससे अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं है ॥१६–२३॥

पुरुष को समदृष्टि प्राप्त करने में अनेकानेक विघ्नबाधाएँ उपस्थित होती है, अतः समदृष्टि दुर्लभ है। जब समदृष्टि दुर्लभ है, तब मुक्ति की दुर्लभता धरी धराई है, ऐसा समझ रहे मुक्ति की प्राप्ति के उपाय के प्रति उत्कण्ठित श्रीरामचन्द्रजी ने कहा :

भगवन्, कृपा करके कहिए कि जैसा आपने कहा है, वैसा मैं कैसे हो सकता हूँ ? क्योंकि मेरी दृष्टि विषम है। ऐसी अवस्था में मुक्ति दुष्प्राप्य है। यदि यथाकिंचित प्राप्त भी हो जाय,

तो उसमें चित्त को स्थिर रखना कहीं कठिन है। वह हाथमें आकर भी स्थायी नहीं हो सकती, ऐसा मेरा निश्चय है ॥२४॥ यों उत्कण्ठित हुए श्रीरामचन्द्रजी को मुक्तिप्राप्ति के उपाय के उपदेश द्वारा धीरज देते हुए श्रीवसिष्ठजी बोले : श्रीरामचन्द्रजी, यह मुक्ति कही जाती है, इसे ब्रह्म कहते हैं तथा यह निर्वाण कहा जाता है, वह कैसे प्राप्त होता है, इसको मैं कहता हूँ आप सुनिए। वत्स, तुम, मैं, वह, यह इत्यादि भावों से युक्त जो यह दृश्य दिखाई देता है, वह यद्यपि सत्–रूप से प्रतीत होता है, तथापि वन्ध्यापुत्र के तुल्य उसकी अत्यन्त अनुत्पत्ति के ज्ञानसे, यह मुक्ति प्राप्त होती है ॥२५,२६॥

ब्रह्मप्राप्ति होने के अनन्तर ब्रह्मभाव से संसारप्राप्ति ही क्यों नहीं होगी ? क्योंकि ब्रह्म सर्वात्मरूप है, यों भगवती श्रुति कहती है, ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ज्ञानियों में श्रेष्ठ, विदेहमुक्त पुरुष जब त्रैलोक्यरूपता को प्राप्त होते हैं, तब वे संसारभाव को ही प्राप्त हुए, ऐसा में समझता हूँ ॥२७॥

दृश्यमान जगत्की पूर्वोक्त अत्यन्त अनुत्पत्तिका ही अवलम्बन कर श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजीकी शंका का निराकरण करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामजी, यदि त्रैलोक्य हो, तो वे (विदेहमुक्त) त्रैलोक्यताको प्राप्त हों। जहाँ पर त्रैलोक्यशब्द का कोई अर्थ हीं नहीं हो सकता, वहाँ पर यह ब्रह्म (विदेहमुक्त) त्रैलोक्यरूपता को प्राप्त हुआ, इस प्रकार आपके द्वारा शंकित अर्थकी प्रतीति ही कैसे हो सकती है ? इससे सिद्ध हुआ कि वन्ध्यापुत्र शब्द के अर्थ की कल्पना की नाईं जगत्शब्द के अर्थ की कल्पना नहीं हो सकती। यह सम्पूर्ण जगत् सजातीय और विजातीय भेद से शून्य, निर्विकार, आकाश के समान निर्मल चिन्मात्र ब्रह्म ही है, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् के पदार्थों में सन्मात्रता की प्रतीति होती है ॥२८–३०॥

यदि ज्ञानदृष्टि से पर्यालोचन किया जाय, तो ब्रह्ममें अध्यस्त जगत् की असत्ता स्पष्टतया प्रतीत हो जाती है, इस बात का दृष्टान्तों द्वारा अनुभव कराते हैं।

वत्स, मैंने सोने के कड़े में, बहुत विचार करके भी, विशुद्ध सुवर्ण के सिवा 'कटक' नामक कोई वस्तु कहीं नहीं देखी। जल–तरंगमें जल के सिवा मैं कुछ नहीं देखता हूँ और जहाँ पर तरंग नहीं दिखाई देती, वहाँ पर भी जलके सिवा कुछ नहीं है। भाव यह है कि जलकी चाहे तरंगावस्था हो, चाहे अतरंगावस्था हो, दोनों जलके सिवा अन्य कुछ वस्तु नहीं है। वायु से भिन्न स्पन्दत्व नाम की कोई वस्तु कभी कहीं पर नहीं देखी गई, स्पन्द (वायु की गति) सदा वायुरूप ही है, इसलिए ब्रह्म से जगत् अतिरिक्त नहीं है, किन्तु ब्रह्मरूप ही है। जैसे आकाश में शून्यत्व, मरूभूमि में ताप ही जल और प्रकाश तेजरूप है, वैसे ही त्रैलोक्य ब्रह्म ही है ॥३१–३४॥

श्री गुरुजी ने जो दृष्टान्त दर्शाये, उन पर भलीभाँति विचार कर श्रीरामचन्द्रजीको गुरुजी द्वारा कथित अर्थमें जो संभावना हुई उसे दो श्लोकों से बतलाते हुए तथा उसमें विपरीतभावनारूप विक्षेप के होने के कारण फिर असंभावना आदि विकल्पों के उदय से अस्थिर

मन द्वारा उस उपदेश से उक्त तत्त्व का धारण करने में असमर्थ–से होते हुए–श्रीरामचन्द्रजी उसके अवधारण के उपाय पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, जिस युक्ति से दृश्यमान जगत् के बाध द्वारा मुक्ति प्राप्त हो उस उत्तम युक्तिका मुझे उपदेश दीजिये। परस्पर एक संख्यामें प्राप्त हुए यानी बाध के अवधिरूप से अवशिष्ट स्वप्रकाश आत्मभावको प्राप्त हुए द्रष्टा और दृश्य में द्वितीयता के अभाव के स्थिर होने पर निर्वाण (मुक्ति) शेष रहती हैं। इसलिए जिससे दृश्य जगत् का अत्यन्त अभाव (बाध) हो और जगत्का बाध होने पर कूटस्थ ब्रह्म का ही बोध हो, उस उपाय को मुझसे कहिए। उक्त बात किस युक्ति से ज्ञात होती है और कैसे स्थिर होती है, हे मुनिश्रेष्ठ, इसके स्थिर होने पर फिर कुछ भी साध्य (कर्तव्य) शेष नहीं रहता ॥३५–३८॥

श्रुत अर्थ की एक बार संभावना होने पर पुनः पुनः चिरकाल तक उसका अभ्यास ही उसके अवधारण का उपाय है, ऐसा श्रीवसिष्ठजी बोले।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामजी, चिरकाल से बद्धमूल यह अज्ञानरूपी विषूचिका (हैजा) विचाररूपी मन्त्र से समूल नष्ट हो जाती है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। कोई चाहे कि मैं तुरन्त एक क्षण में इसे नष्ट कर दूँ, तो उसका वैसा चाहना ठीक नहीं, क्योंकि एक क्षण में शीघ्र इसका नाश होना कठिन ही नहीं असंभव है, जैसे कि पर्वत शिखर पर चढ़े हुए पुरुष के लिए जिसके चारों ओरसे नीचे गिरना तुल्य ही है, ऐसै पर्वतमें एक ही समय में चढ़ना और उतरना कठिन ही नहीं असम्भव है। वैसा ही यहाँ पर भी समझना चाहिए। अतएव आपकी यह जगद्भ्रान्ति पुनः पुनः अभ्याससे, युक्तियों से तथा दृष्टान्तों द्वारा जैसे शान्त हो जाय वैसे मैं कहता हूँ, आप सुनिए। हे श्रीरामचन्द्रजी, आपको बोध की प्राप्ति होने के लिए जिस आख्यायिका को कहूँगा, हे सज्जनशिरोमणे, उसको यदि आप सुनेंगे, तो ज्ञानी होकर अवश्य मुक्त ही हो जायेंगे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। प्रलयाख्यायिका के अनन्तर मैं आपसे जगत् की उत्पत्तिका क्रम कहूँगा। हे रामजी, जो जो उत्पन्न होता है, वही मुक्त होता है अर्थात् बन्धशून्य स्वरूप से स्थित होता है। उत्पत्ति–प्रकरण यानी जगदुत्पत्तिक्रम। वह निर्विकार ब्रह्म ही जिसका उपादान है, ऐसा जगत् विवर्त ही है, ऐसा फलित होता है, इस प्रकार बन्धके मिथ्या होने पर मोक्ष स्वतःसिद्ध ठहरा, यही उत्पत्तिप्रकरण के वर्णन का अभिप्राय है। इस प्रकार यह जगद्भ्रान्ति कभी उत्पन्न न हुई तथा शून्यरूप होती हुई भी प्रतीत होती है, इस उत्पत्तिप्रकरण में अब यही मैं आपसे कहूँगा ॥३९–४४॥

उक्त अर्थ का ही प्रलयाख्यायिका द्वारा समर्थन करने के लिए प्रकरणान्तर का आरम्भ करते हैं।

विविध प्रकार की वस्तुओं में परिपूर्ण तथा देवता, असुर, किन्नर, आदि से अधिष्ठित सम्पूर्ण जो कुछ भी यह सचराचर जगत् दिखाई देता है, वह रूद्र आदिका भी तिरोधान करनेवाले महाप्रलय में असद् एवं अदृश्यस्वरूप होकर न मालूम कहाँ चला जाता है, विनष्ट हो जाता है, उसके अनन्तर नाम और रूप से रहित शान्त गम्भीर केवल 'सत्' ही अवशिष्ट

रहता है, जो अनन्तरूप से स्थित है। वह न तेज है और न व्याप्त अन्धकार ही है। न वह शून्य ही है, न आकारवान् ही है, न दृश्य है, न दर्शन है और न भूत–भौतिक पदार्थसमूह ही है। नामरहित होनेसे वह अव्यपदेश्यस्वरूप है (उसके स्वरूप का निर्वचन नहीं किया जा सकता) और पूर्ण से भी पूर्णतर आकारवाला है। न वह व्यक्त है, न अव्यक्त है, न व्यक्ताव्यक्त है, न वह कालसम्बन्ध ही है और न कालसम्बन्धवान् ही है। वह दृश्यशून्य, चिन्मात्र, अनन्त, अजर, शिव, आदि, मध्य और अन्त से रहित, कारणशून्य और निर्दोष है। जिसमें यह सम्पूर्ण जगत् चित्र, भ्रान्ति आदि में देखे गये मुक्तामय हंस की नाईं प्रस्फुरित हुआ है और जो व्यक्त और अव्यक्त दोनों अवस्थाओंमें अनुगत है, वह केवलरूप देव अध्यारोपदृष्टि से जगद्रूप है और अपवाद दृष्टि से जगद्रूप नहीं है (✍)। जिसके न कान है, न जीभ हैं, न नासिका है, न त्वचा है और न नेत्र हैं फिर भी वह सदा सभी जगह सुनता है, स्वाद लेता है, सूँघता है, छूता है और देखता है। जिस प्रकाश से पूर्वोक्त सद् और असद्रूप प्रपंच दिखाई देता है, वह चैतन्यरूप आलोक भी वही है। अज्ञान के रहनेपर विविध सृष्टियाँ करनेवाला वही है और अज्ञानकी निवृत्ति होने पर आदि और अन्त से शून्य स्वरूप को पाकर चित्प्रकाशस्वरूप भी वही है ॥४५–५३॥

इसी प्रकर जीवन्मुक्तदशा में बाधित जगत् का आभासरूप दर्शन भी वही है, ऐसा कहते हैं।

जैसे योगी खेचरी मुद्रा में दो भौहों के बीच में दृष्टि रखने पर अर्धोन्मिलित नेत्र से दृष्य भौहों के मध्यमें नेत्रों की कालीपुतलीको लगा कर अस्फुट होने के कारण सदा आभासरूप जगत् को देखते हैं, वैसे ही जो आकाशरूप सदाभासस्वरूप को देखता है, वह भी सद्रूप ही है। जैसे खरगोश के सींग कोई कारण नहीं है, वैसे जिस सर्वव्यापक का कोई दूसरा कारण नहीं है और जैसा जल का तरंग समूह कार्य है, वैसे ही जिस सर्वकारण का यह जगत् कार्य है ॥५४,५५॥

इस प्रकार उसको सम्पूर्ण जीवों के लय के आधार तत्पदार्थस्वरूप से दर्शाकर अब त्वंपदार्थरूप से उसे दर्शाने के लिए कहते हैं।

सामान्यरूप से सभी जगह दैदीप्यमान परन्तु अन्तःकरण में आवरणशून्य होने के कारण सदा विशेष अभिव्यक्ति द्वारा दैदीप्यमान और विद्यमान जिस चिन्मात्ररूपी दीपक की दीप्ति

✍ 'दृष्टमौक्तिकहंसवत्' इस पद का संस्कृत टीकाकार ने एक और अर्थ भी किया है, वह यों है। हंस मोती खाते हैं, अतः उनका सम्पूर्ण शरीर मोतियों का ही परिणाम ठहरा। उनको देखने से पहले सहसा यही प्रतीति होती है कि ये मोती हैं, जब समीप जाकर विशेषरूप से देखा जाता है, तब ये मोती नहीं है, किन्तु हंस हैं, ऐसा निश्चय होता है। तात्पर्य यह हुआ कि जैसे विशेषतः अगृहीत मुक्ताभोजी हंसरूप द्रव्य में अध्यारोपदृष्टि से मुक्तारूपता की और अपवाददृष्टि से अमुक्तारूपता की प्रतीति होती है, वैसे ही अध्यारोपदष्टि से व्यक्ताव्यक्तानुगत देव जगद्रूप है और अपवाददृष्टि से जगद्रूप नहीं है।

से तीनों जगत् प्रकाशित होते हैं, ये प्रकाशमय सूर्य आदि भी जिसके बिना अन्धकारसदृश हैं और जिसके रहनेपर ही तीनों जगद्रूपी मृगतृष्णाएँ प्रवृत्त होती हैं। जैसे रात में जली हुई लकड़ी को घुमाने पर चक्राकारता दीख पड़ती है, वैसे ही इसके मनोभावको प्राप्त होने से विक्षोभयुक्त होने पर यह जगत्–शोभा उदित हो जाती है और प्रत्यक्त्व को प्राप्त होने से निःस्पन्द (विक्षोभरहित) होने पर जगत्शोभा उदित नहीं होती। जगत् की सृष्टि और संहार जिसके विलास हैं, जो महान् सर्वव्यापक और स्पन्दस्वरूप तथा अस्पन्दस्वरूप है एवं जिसका पारमार्थिक स्वरूप निर्मल और अक्षय है। वायु की स्पन्दमयी और अस्पन्दमयी सर्वगामिनी सत्ता की नाईं जिसकी स्पन्दमयी और अस्पन्दमयी सर्वगामिनी सत्ता व्यवहारवश नाम से ही भिन्न–सी है, वस्तुतः भिन्न नहीं है। भाव यह कि पूर्वोक्त स्पन्द और अस्पन्द सद्रूपता और पूर्णता रूप ही हैं, उससे अतिरिक्त जो अन्यथाभाव है, उसकी विवर्तवश जनित सत्ता केवल नाम से ही भिन्न है, वस्तुतः भिन्न नहीं है। जो सदा ही जागा रहता है, जो सदा ही सोया रहता है और जो सभी जगह सदा न सोया रहता है और न जागा रहता है। जिसका अस्पन्दस्वरूप शिव और शान्त यानी परम मंगलमय है और जिसका स्पन्दस्वरूप शिव और शान्त यानी परम मंगलमय है और जिसका स्पन्दस्वरूप तीनों जगतों की स्थिति है। यों स्पन्द और अस्पन्द का विलास ही जिसका स्वरूप है। जो एक (अद्वितीय) और परिपूर्णस्वरूप है। जैसे पुष्पों में सुगन्धि सार है, वैसे ही सम्पूर्ण विनाशी पदार्थों में जो साररूप से स्थित है। विनाशी पदार्थों का विनाश होने पर भी जो अविनाशीस्वरूप से स्थित रहता है। सम्पूर्ण वस्तुओं का प्रत्यक्ष करनेवाली वृत्तियों में प्रकाशरूप से स्थित होता हुआ भी शुक्ल वस्त्र में स्थित शुक्लता की नाईं वृत्तिविषयत्वरूप से गृहीत नहीं होता, जो वाग् आदि इन्द्रियों से रहित होने के कारण मूक के सदृश होता हुआ भी सम्पूर्ण वाणियों की प्रवृत्ति में कारण होने से मूक नहीं है, जो मनरूप विकार से रहित होने के कारण पाषाण के तुल्य होता हुआ भी मन्ता (मननक्रियाकारी) है, जो नित्यतृप्त होता हुआ भी भक्षण करता है, जो क्रियातीत होता हुआ भी कर्ता है, अंगरहित होने पर भी सम्पूर्ण लोगों के अंग ही जिसके अंग हैं, अतएव जिसकी हजारों भुजाएँ हैं और हजारों नेत्र आदि हैं। जिसके शरीर का कुछ भी गठन नहीं है, फिर भी जिसने इस जगत् को व्याप्त कर रक्खा है। जो इन्द्रियबल से विहीन है, फिर भी सम्पूर्ण इन्द्रियव्यापार करता है, जो मननशून्य है, फिर भी ये प्रसिद्ध जगद्रूप कारीगरियाँ जिसकी कृतियाँ हैं, जो कि मनके बिना नहीं हो सकती। जिसके अदर्शन से भ्रमजनित संसाररूपी सर्प की भीतियाँ होती है, जिसका साक्षात्कार होने पर सम्पूर्ण भवभीतियाँ चारों दिशाओं में भाग जाती हैं। जैसे दीपक के रहने पर नाट्य आदि क्रियाएँ होती हैं, वैसे ही अपरिच्छिन्न प्रकाशरूप अतएव साक्षीरूप जिस कूटस्थ के रहते स्पन्दपूर्वक चित्तचेष्टाएँ प्रवृत्त होती हैं। जैसे समुद्र से तरंगसमूहभूत बड़ी बड़ी लहरें निकलती हैं, वैसे ही जिससे घट–पटाकार सैकड़ों हजारों पदार्थ प्रवृत्त होते हैं, जैसे कड़ा, बाजूबन्द, केयूर तथा नूपुरों से उनका कारण सुवर्ण अन्य–सा प्रतीत होता है, वैसे ही प्रसिद्ध शतशत पदार्थों के भ्रम से जो अन्य–सा प्रतीत होता है। जो तुमसे साक्षात्कृतस्वरूप होता

हुआ त्वद्रूप ही एक है, मुझसे साक्षात्कृतस्वरूप होता हुआ मद्रूप ही एक है और अन्य जनों द्वारा साक्षात्कृतस्वरूप होता हुआ तत् तत् रूप ही एक है तथा जो अज्ञातस्वरूप होता हुआ न त्वद्रूप है, न मद्रूप है और न अन्य जनरूप है। जैसे जल में क्षण में नष्ट होनेवाली तरंगों की पंक्ति स्फुरित होती है, वैसे ही जिससे अनन्य होती हुई भी अन्य–सी, पृथक् न होती हुई भी पृथक्–सी, प्रथमतः सिद्ध हुई भी उत्पन्न हुई–सी यह विनाशशील दृश्यपरम्परा स्फुरित होती है। जिससे काल के छः भावविकार, दृश्य की दृश्यता तथा इष्टप्राप्ति एवं अनिष्ट परिहारविषयक विविध मनोरथ होते हैं, ये तीन जिसकी दीप्ति से जगत् के प्रकाशरूप ही हैं, उससे अन्य कुछ नहीं है। हे राम, आप क्रिया, रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, चेतन को यत्स्वरूप होकर जानते हो, वह चिद्रूप भी वही है और जिससे जानते हो, वह भी वही है। द्रष्टा, दर्शन और दृश्य के मध्य में साक्षीरूप से जो स्थित है। स्वात्मभूत उसको एकाग्र मन से उपाधियों से पृथक् करके हे साधो आप समझिए ॥५६–७५॥

इस प्रकार तत् और त्वं पदार्थ का निर्देश कर अन्त में वाक्यार्थ का निर्देश करते हैं।

हे श्रीरामजी, जन्म और जरा से रहित, अनादि, नित्य, मंगलमय, निर्मल, अमोघ, सबके वन्दनीय, अनिन्द्य, सम्पूर्ण सम्बन्धों से रहित, सम्पूर्ण कारणों के कारण, अनुभवरूपी विश्वात्मक साक्षीरूप जो ब्रह्म है, वही तुम हो (卐) ॥७६॥

नौवाँ सर्ग समाप्त

दसवाँ सर्ग

पूर्वोक्त ब्रह्मलक्षण में विरोध की –सी संभावना कर उसके परिहार द्वारा
उक्त ब्रह्म–लक्षण के तात्पर्य का वर्णन।

महाप्रलय में जो सद्रूप कुछ अवशिष्ट रहता है, 'वह न तेज है और न तम है' इत्यादि विरुद्ध स्वरूप को असंभावित समझकर वसिष्ठजी की उक्ति के तात्पर्य को जानने के लिए उत्सुक श्रीरामचन्द्रजी दोनों में से एक अर्थ की संभावना करते हुए प्रश्न की भूमिका बाँधते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : महाप्रलय होने पर जो यह 'सत्' अवशिष्ट रहता है, वह आकाररहित है, इसमें तो संशय ही नहीं है, लेकिन वह शून्य नहीं है, यह कैसे ? वह प्रकाश स्वरूप नहीं है, यह कैसे ? तमोरूप नहीं है, यह कैसे ? न भास्वर ही है, यह कैसे ? तथा न चिद्रूप ही है, यह कैसे ? अथवा वह जीव कैसे नहीं हो सकता, वह बुद्धितत्त्व कैसे नहीं है अथवा मन कैसे नहीं है, वह कैसे कुछ नहीं है और कैसे सब कुछ है, आपकी इस वचनभंगी से मेरे मन में मोह–सा उत्पन्न हो गया है ॥१–४॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, आपने

卐 'कारणं कारणानाम्' इससे तत्पद के वाच्य अर्थ का निर्देश है, 'अजमजर०' यहाँ से लेकर 'सकलकलनशून्यम्' तक तत्पद के लक्ष्य अर्थ का निर्देश है। 'विश्वं वेदनम्' से तीनों अवस्थाओं के द्रष्टृतारूप त्वंपद के वाच्य अर्थ का निर्देश है और 'अवेद्यं वेदनम्' से वेद्य तीनों अवस्थाओं से निर्मुक्तत्वरूप त्वंपद के लक्ष्य अर्थ का निर्देश है।

मेरे आशय को ठीक न समझ कर यह प्रश्न किया है, अतएव यह विषम (टेढ़ा) प्रतीत हो रहा है। जैसे सूर्य अपने स्वभाविक प्रकाश से रात्रि के अन्धकार को विनष्ट कर देता है, वैसे ही मैं भी अपने अभिप्राय के उद्घाटन द्वारा आपके सन्देह को छिन्न–भिन्न कर देता हूँ। वत्स श्रीरामजी, महाप्रलय होने पर जो सत् अवशिष्ट रहता है, वह वैसा शून्य नहीं है, जैसा कि आप समझते हैं, इसी को मैं कहता हूँ, आप ध्यान देकर सुनिए। जैसे न गढ़ी गई प्रतिमा खम्भे में स्थित रहती है, वैसे ही यह विश्व उसमें स्थित है, अतः वह शून्य नहीं है। भाव यह कि जैसे खम्भे में न गढ़ी गई प्रतिमा की खम्भे की सत्ता से अतिरिक्त सत्ता न होने से खम्भे की सत्ता से ही वह स्थित रहती है, इसलिए जब कि वह खम्भे में नहीं गढ़ी गई, तब भी उसमें उसकी स्थिति का विनाश नहीं होता। इसी प्रकार यह प्रचुर भोगों से पूर्ण जगत्–नाम का प्रपंच व्यवहारतः सत्य और परमार्थतः असत्य भले ही हो, इसमें हमारा आग्रह नहीं है, पर जिस अधिष्ठान में इसका भान होता है, वहाँ पर इसकी शून्यता नहीं है, कारण कि शून्य का न तो आरोप हो सकता है और न वह अधिष्ठान ही हो सकता है। जैसे वह खम्भा, जिसमें कि प्रतिमा नहीं गढ़ी गई है, प्रतिमाशून्य नहीं है, वैसे ही ब्रह्म भी जगत्शून्य नहीं है। शिल्पी के कौशल से प्रत्येक खम्भे में प्रतिमा की अभिव्यक्ति हो सकती है, अतः जिसमें प्रतिमा नहीं खोदी गई, वह खम्भा प्रतिमाशून्य नहीं कहा जा सकता, अतः तत्पद (ब्रह्म) जगत् से शून्य नहीं है, यह कथन ठीक ही है ॥५–९॥

यदि कोई शंका करे कि उस समय यदि जगत् का अस्तित्व है, तो वह प्रलयकाल नहीं कहा जा सकता। यदि जगत् का अस्तित्व नहीं है, तो शून्यता प्राप्त ही हो गई, इस प्रकार से सत्त्व और असत्त्व के व्याघात को दृष्टान्त द्वारा हटाते हैं।

जैसे शान्त (विक्षोभ शून्य–अचंचल) जल में लीन वीचिकी (लहर की) न तो सत्ता है और न असत्ता है अर्थात् उसमें न वीचि है, यह कह सकते हैं और न नहीं है, यह कह सकते हैं, वैसे ही ब्रह्म में लीन यह जगत् भी न शून्य है और न अशून्य है, अर्थात् अनिर्वचनीय है, अथवा शून्य और अशून्य दोनों कल्पनाओं के अधिष्ठान परमार्थ वस्तु (ब्रह्म) को प्राप्त हुआ है ॥१०॥

यदि कोई कहे कि खम्भे में प्रतिमा के समान प्रलयकाल में जगत् है, तो उसके विषय में वादियों को संशय क्यों होता है, स्तम्भ की प्रतिमा के विषय में तो किसी को सन्देह नहीं होता ? इस पर कहते हैं।

पेड़ को चीर कर बनाये गये खम्भे में प्रतिमा का निर्माण हो सकता है, कारण कि जहाँ शिल्पी अपना शिल्प करे, ऐसा स्थान, दिन आदि काल तथा बसुला अदि सभी उपकरण वहाँ विद्यमान हैं, अतएव खम्भे में प्रतिमा की सत्ता की संभावना की जा सकती है, किन्तु अनन्त (देशतः, कालतः और परिमाणतः अपरिच्छिन्न यानी देश, काल परिमाण– इन तीन प्रकार के परिच्छेदों से रहित) ब्रह्म में उक्त सामग्री का सर्वथा अभाव है, अतः प्रलयकाल में जगत् की सत्ता के विषय में वादियों को सन्देह होता है ॥११॥

यदि कोई कहे कि उक्त प्रकार से दोनों में यदि समानता नहीं है, तो स्तम्भप्रतिमा का

दृष्टान्त कैसे दिया ? इस पर कहते हैं।

पूर्वोक्त स्तम्भप्रतिमा आदि 'ब्रह्म में जगत् की सत्ता है' इस एक अंश से (उसकी सत्ता के अस्तित्वरूप अंश से) दृश्य हैं, अतः उसी अंश में उपमान हैं, सर्वथा दृष्टान्त नहीं। भाव यह कि जैसे खम्भे में प्रतिमा की सत्ता है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् की सत्ता है, केवल इसी अंश में स्तम्भप्रतिमा का दृष्टान्त है, अन्य अंशों में नहीं ॥१२॥

पूर्वोक्त रीति से ब्रह्म में जगत् की सत्ता भले ही हो, किन्तु जगत् की उत्पत्ति और विनाश की जो कि परस्पर विरोधी हैं, उसमें एक ही काल में सत्ता कैसे मानी जा सकती है ? इस प्रकार शंका कर जगत् के उदय और विनाश की उनके धर्मी जगत् से अतिरिक्त सत्ता नहीं मानी गई है, इसलिए उनकी धर्मिसत्ता से पृथक् सत्ता के (धर्मी से पृथक् सत्ता के) निरास के विषय में संभावना ही नहीं है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

वास्तव में यह जगत् परब्रह्म से न कभी उदित होता है और न उसमें अस्त को प्राप्त होता है, केवल सद्ब्रह्म ही पूर्वोक्त रीति से अपने स्वरूप में स्थित है ॥१३॥

यदि कोई कहे कि यदि शून्य नहीं है, तो 'नोदेति', 'न शाम्यति' इस प्रकार शून्यार्थक नञ् से उसका उल्लेख कैसे किया ? तो इस पर कहते हैं।

उसकी जो शून्यरूप से कल्पना की जाती है, वह अशून्य की अपेक्षा से है और शून्य की अपेक्षा अशून्य की कल्पना है। यदि केवल एकमात्र शून्य या अशून्य ही होता, तो शून्य और अशून्य की कल्पना ही कैसे हो सकती ? भाव यह कि प्रतियोगी में (जिसका अभाव कहा जाता है वह प्रतियोगी है) अशून्यता की कल्पना कर उस कल्पित अशून्यता की अपेक्षा से अन्य वस्तु में उसकी शून्यता (अभाव) की कल्पना होती है और कल्पित शून्यता की अपेक्षा से प्रतियोगी में अशून्यता की कल्पना होती है, इस प्रकार जिनकी कल्पना परस्पर सापेक्ष है, ऐसी शून्यता और अशून्यता हो ही कैसे सकती हैं ?॥१४॥

इस प्रकार 'न शून्यं कथमेतत्स्यात्' इत्यादि से उक्त प्रथम प्रश्न का समाधान कर अब 'न प्रकाशः कथं भवेद्' इत्यादि से उक्त दूसरे प्रश्न का समाधान करते हैं।

जलरूप इन्धन के या पार्थिव इन्धन के व्यय से भौतिक सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, तारा आदि के प्रकाश का संभव है, किन्तु अव्यय ब्रह्म में वह प्रकाश कैसे ? ॥१५॥ *इसीलिए 'न प्रकाशः' कहा है। इससे 'वह कैसे भास्वर नहीं है ?' इस प्रश्न का भी समाधान हो गया।*

अब 'कथं वा न तमोरूपम्' ? इस तृतीय प्रश्न का समाधान करते हैं।

सूर्य आदि महाभूतों के अभाव से तम उत्पन्न होता है। पृथिवी आदि महाभूतों के प्रकाश का विरोधी होता हुआ वह दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित होनेवाले पृथिवी आदि में ही कहा जा सकता है अर्थात् 'तम' यह व्यवहार पृथिवी आदि में ही होता है ॥१६॥

स्वप्रकाश ब्रह्म में तम की स्थिति कदापि नहीं हो सकती। *इसलिए 'न तमः' कथन उचित ही है। यहाँ पर 'तु' शब्द मायारूपी तम की व्यावृत्ति के लिए है।*

ब्रह्म की स्वप्रकाशता की अनुभव से सिद्धि करते हैं।

चिदाकाशरूपी इस ब्रह्म का प्रकाश स्वानुभवैकगोचर है, अर्थात् ब्रह्म के प्रकाश के लिए अन्य साधन की आवश्यकता नहीं है, किन्तु वह केवल स्वानुभव से ही होता है। जो सर्वान्तर आत्मा है, उसका वही अनुभव कर सकता है, अन्य नहीं। यद्यपि बुद्धि आदि का अनुभव अन्य से होता है, तथापि जो बुद्धि आदि का आन्तर है, उसका वही अनुभव कर सकता है, उसके लिए अपने से अतिरिक्त अनुभव की अपेक्षा नहीं करता ॥१७॥

अन्यथा अनवस्थादोष प्राप्त होगा, यह अर्थ है।

दूसरे और तीसरे प्रश्न के उत्तर का जो उपपादन किया गया, उसीका उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जरा और मरण से वर्जित यह परम पद तम और प्रकाश से शून्य है, यह बात उक्त प्रकार से जाननी चाहिए। धनरूपी जगत्सत्ता के कोशगृह (धनागार) रूपी ब्रह्म को आप आकाश के मध्य के समान ही स्वच्छ जानिए ॥१८॥ जैसे बिल्व (बेल) फल और बिल्व–फल के उदर में कुछ भी अन्तर नहीं है, वैसे ही ब्रह्म और जगत् में तनिक भी भिन्नता नहीं है। जैसे जल के अन्दर तरंग और मिट्टी के अन्दर घड़ा है, वैसे ही जिस ब्रह्म में जगत् की सत्ता है, वह शून्य कैसे हो सकता है ॥१९,२०॥

यदि कोई शंका करे कि जल के अन्दर स्थित पृथिवी अपने आधार जलरूप नहीं देखी जाती और घड़े आदि के अन्दर स्थित जल अपने आधारभूत घट आदिरूप नहीं देखा जाता, फिर ब्रह्म के अन्दर स्थित जगत् ही अपने आधार ब्रह्मरूप कैसे ?

आपने जो पृथिवी, जल आदि दृष्टान्तरूप से उपस्थित किये हैं, वे सम नहीं हैं, किन्तु विषम हैं, क्योंकि वे सदा साकार ही दिखाई देते हैं और ब्रह्म आकाशसदृश निराकार है, निराकार ब्रह्म के अन्दर विलीन यह जगत् ब्रह्म के सदृश ही निराकार है ॥२१॥

उक्त अर्थ को ही स्पष्ट करते हैं।

इसलिए आकाश से भी निर्मल चिदाकाश ब्रह्म जैसा निराकार है, वैसा ही निराकार उसके अन्दर स्थित 'जगत्' शब्द का अर्थभूत दृश्य प्रपंच भी है। जैसे मिर्चा खानेवाले पुरुष के बिना मिर्चे के अन्दर विद्यमान तीक्ष्णता (कडुवेपन) का परिज्ञान नहीं हो सकता, वैसे ही चिदाकाश में दृश्यता के बिना चिन्मात्रता का ज्ञान नहीं हो सकता। भाव यह कि यद्यपि दृश्य से अतिरिक्त ही सत्य (चिन्मात्र) दर्शनरूप से (साक्षीरूप से) प्रसिद्ध है, तथापि दृश्य का अभाव होने पर वह दर्शनत्वव्यवहार के योग्य ही नहीं होता। इसलिए चिदात्मक ब्रह्म में चेत्य से (दृश्य से) अतिरिक्तरूप चित् हुआ भी अचित् ही है। चिद् और अचित् परस्पर सापेक्ष हैं, अचित् के सर्वथा अभाव में चित् भी अचित् ही है। भाव यह कि जगत् का लय होने पर चित् की जगद्विषयतारूप चित्ता निवृत्त हो जाती है, अतएव प्रत्यगात्मा में चिद् आदि शब्द लक्षणा से प्रवृत्त होते हैं। यह जगत्ता भी वैसे ही है, भाव यह कि जैसे जगत् का लय होने पर चित् की जगद्विषयतारूप चित्तता निवृत्त हो जाती है। वैसे ही चिद्विषयकत्वरूप जगतकी जगत्ता भी निवृत्त हो जाती है। बाह्य घट, पट आदि विषय तथा आभ्यन्तर सुख, दुःख आदि ब्रह्ममात्रस्वरूप होने के कारण ब्रह्ममय ही हैं, उससे

भिन्न नहीं है, इसलिए यथास्थित, सुषुप्तिरूप और तुर्यरूप (卐) सम्पूर्ण विश्व ब्रह्मरूप ही है। इसलिए सम्पूर्ण संस्कारों का कोषरूप सुषुप्तात्मक योगी लौकिक व्यवहार करता हुआ भी संस्काररहित ब्रह्म ही है ॥२२–२६॥

आकाररहित ब्रह्मरूप से साकार जगत् की सत्ता कैसे है, ऐसी आशंका कर जैसे विभिन्न आकारवाली लहरों की एकाकार जलरूपसे स्थिति है, वैसे ही साकार जगत् की निराकार ब्रह्मरूपसे स्थिति में कोई विरोध नहीं है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

जैसे निश्चल (शान्त होने के कारण प्रसन्न) आकारवाले जल में चंचलाकार बड़ी लहरें विद्यमान रहती हैं, वैसे ही आकाररहित ब्रह्म में यह विश्व निराकाररूप से स्थित हैं ॥२७॥

इस प्रकार उपाधिभूत जगत् का कारण से अपृथक्त्व कहते हैं।

जो पूर्ण ब्रह्म से औपाधिक भेद द्वारा जीवरूप से उत्पन्न होता है, वह परमार्थतः पूर्ण ही है और जो पूर्ण है, वह निराकार है, क्योंकि साकार पूर्ण नहीं हो सकता ॥२८॥

शंका : यदि वह पूर्ण है, तो जीवरूप से क्यों प्रतीत होता है ?

समाधान : जो वह विश्वरूप से प्रतीत होता है, वह उसने अपने स्वरूप लाभरूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए दिखलाया है। क्रमशः अधिकारी के शरीर की प्राप्ति से अपने तत्त्व के साक्षात्कार द्वारा अज्ञानसे तिरोहित अपने स्वरूप के लाभ के लिये वह जीवभावसे प्रतीत होता है, यह भाव है।

पूर्ण से पूर्ण ही आविर्भूत होता है, पूर्ण में स्थित वह पूर्ण ही है, अतः विश्व उत्पन्न ही नहीं हुआ और जो उत्पन्न हुआ है वह तत्स्वरूप ब्रह्म ही है। चेत्य का (दृश्य का) संभव न होने से उस चिद्घन आनन्द में जगत्शब्दार्थता ('जगत्' शब्द का अर्थ) एकरस हो गई, पृथक् नहीं रही, जब आस्वाद लेनेवाला ही नहीं है, तब मिर्चे में कडुवेपन की क्या संभावना ? अर्थात् वह नहीं के बराबर है। दृश्य प्रपंच के ब्रह्म में एकरस होने के कारण ही ब्रह्म में चित्ता, चेत्यता आदि सर्वथा असत्य होते हुए भी सत्य–से प्रतीत होते हैं। इस प्रकार उपाधिका अभाव होने पर प्रतिबिम्बभूत जीव की प्रतिबिम्बयोग्यता कहाँ ? जब उपाधि हो और उसमें प्रतिबिम्ब पड़े तब प्रतिबिम्बभूत जीवभाव की सत्ता हो, उपाधि ही जब नहीं है, तब प्रतिबिम्बभूत जीवभावता ब्रह्म में कहाँ ? अतः वह जीव भी नहीं है, यह कथन उचित ही है। *इससे 'जीवो वा न कथं भवेत्' इस शंका का निराकरण हुआ* ॥२९–३१॥

जीव अणुपरिमाण या मध्यमपरिमाण है, पुण्य–पाप आदि से दूषित होने के कारण अशुचि है और कर्मानुसार प्राप्त विषयों का भोक्ता है, परन्तु ब्रह्म उससे सर्वथा विपरीत है, अतः वह जीव कैसे हो सकता है, ऐसा कहते हैं।

वह परमाणु से भी अधिक सूक्ष्म, अत्यन्त सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, अत्यन्त शुद्ध अत्यन्त शान्त और आकाश के मध्य से भी बढ़ कर निर्मल है। देश, काल और परिमाण से उसके स्वरूपका

卐 आगे कही जानेवाली सात भूमिकाओं में से प्रथम से ले कर पाँचवी भूमिका तक पहुँचे हुए योगियों का जगत् सुषुप्त है तथा छठी और सातवीं भूमिका में पहुँचे हुओं का विश्व तुर्य है।

परिच्छेद नहीं हो सकता, अतएव वह अत्यन्त विस्तृत (सर्वव्यापक) है। उसका न आदि है, न मध्य है और न अन्त है और वह स्वयं प्रकाशस्वरूप है एवं उसका भासक भी कोई नहीं है, वह स्वप्रकाश है ॥३२,३३॥

जो अपने में विषयप्रकाशनरूप चिद्रूपता को भी सहन नहीं कर सकता, वह अनुकूल और प्रतिकूल विषयभोक्तृत्वरूप जीवता को कैसे सहन कर सकेगा, ऐसा कहते हैं।

जहाँ पर चिद्रूपताका ही लाभ नहीं हो सकता, वहाँ पर चित्तताकार जीवता और वासना कैसे रह सकती हैं ॥३४॥ चिद्रूप का उदय न होने से ही उसमें जीवता है ही नहीं और इसी कारण बुद्धिता, चित्तता, इन्द्रियता और वासना भी नहीं है। इससे ''कथं न बुद्धितत्त्वं स्यात्कथं वा न मनो भवेत् इन शंकाओं का भी निरास हुआ ॥३५॥

सम्पूर्ण प्रश्नों का समाधान करने पर फलित अर्थका उपसंहार करते हैं।

इस प्रकार महाभूत–भौतिक पदार्थोंसे पूर्ण भी जरामरणशून्य ब्रह्मतत्त्व हमारी दृष्टि से आकाश से भी अधिक शून्य और निर्विकार स्थित है ॥३६॥

इस प्रकार प्रश्नों का समाधान होने पर शंकाशून्य चित्त में जिस रूप से उसका अपरोक्ष ज्ञान हो सके, उस असाधारण रूपको पहिचानने के लिए श्रीरामचन्द्रजी फिर पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, अनन्त चिदाकार उस परमार्थतत्त्वका कैसा रूप है ? भलीभाँति उसका बोध प्राप्त होने के लिए उसको मुझसे फिर कहिए। श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, महाप्रलय होने पर सम्पूर्ण कारणों का भी कारण अपरोक्ष परमब्रह्म अवशिष्ट रहता है, उसका मैं वर्णन करता हूँ, आप सुनिए, समाधि में मन का विषयों से निरोध द्वारा वृत्ति का क्षय होने पर लकड़ियों के समाप्त होने पर अग्नि की नाईं मन के स्वरूप का भी नाश करके जो नाम–रूप–शून्य स्वप्रकाश सद्रूप अवशिष्ट रहता है, वही उस परमार्थ वस्तु का रूप है। निर्विकल्प समाधि के आरम्भ में दृश्य जगत की सत्ता नहीं रहती, दृश्य के अभाव से द्रष्टा भी विलीन हुए की नाईं प्रतीत होता है, यों ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान इस त्रिपुटी के लय का साक्षीरूप जो ज्ञान अवशिष्ट रहता है, वही उस परमार्थ वस्तु का रूप है। समाधि–व्युत्थान होने के पहले जो आगे जीव–स्वरूप होनेवाली है, उस चितिका अचेत्योन्मुख (चिन्मात्र में प्रवण) जो चिन्मात्र, निर्मल और निर्विकाररूप है, वह उस परमात्मा का रूप है। शरीरमें वायु आदि का स्पर्श होने पर भी चित्त के रहते–रहते अर्थात् दूधमें मिले हुए जलके समान ब्रह्म में एकरस होने के कारण तिरोभूत चित्त को कुछ न गिनकर स्पर्श आदि के अनुभव के बिना प्रतीत होनेवाला जो रूप है, वही उस परमात्मा का रूप है ॥३७–४२॥

अब उक्त रूप योगाभ्यास से रहित पुरुषों के भी अनुभवमें जैसे आरूढ़ हो, वैसा उसका प्रतिपादन करते हैं।

हे अनघ, जिसमें स्वप्नदर्शन नहीं है, जो मच्छर, खटमल आदि द्वारा जनित बीच बीच में विच्छेद से रहित है, मनकी विश्रान्ति का हेतु, सुषुप्तिरूप मनकी जड़ता से हीन गाढ़ निद्रा का जो रूप है, वही उस परमात्मा का रूप प्रलयकाल में अवशिष्ट रहता है। जैसे आकाशका

तात्त्विक रूप शून्यत्व है, शिलाका घनत्व है और वायुका अन्तर्बहिःपूर्णत्व है, वैसे ही उसी दृश्यभिन्न और दृश्यरहित चिदाकाश परमात्मा का जो रूप हो, वही वह है। बहुत क्या कहें सम्पूर्ण जीवित जीवों की चेत्य (दृश्य) और चित्त का परित्याग करने पर स्वभावतः जो स्थिति अवशिष्ट रहती है, वह शान्त उत्कृष्ट सत्ता उस आदिपुरुष का रूप है। चित्–प्रकाश अन्नमयकोषपर्यन्त आत्मरूप से व्याप्त है, अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय और आनन्दमय–इन पाँच कोषों में प्रत्येक कोषका विवेक–पूर्वक विचार करने से आनन्दमय कोष सब कोषोंका आन्तर ठहरता है और आनन्दमय कोषका आन्तर ब्रह्म है, अतः द्रष्टृकोटि में सर्वान्तरभूत चित्प्रकाशरूप आनन्दमय कोषका भी आन्तर होने से जो मध्य है (卐)। और दृश्यकोटि में मूर्त प्रपंच के सारभूत सूर्यरूप प्रकाश का, अमूर्त प्रपंच के सारभूत भूताकाशका अथवा लिंगसमष्टिरूप अव्याकृत आकाशका आन्तर होने से जो मध्य है (🕮) तथा चाक्षुष आदि वृत्तियों के भीतर स्फुरणरूप से विद्यमान होने से जो उक्त वृत्तियोंका मध्य है (🔥) क्रमशः जो आनन्द, सत् और चिद्रूप है, उसीको ज्ञानी जन ब्रह्म का रूप जानते हैं। बुद्धिवृत्तिका, पदार्थों के स्फुरणका, विषयका और अज्ञानका साक्षीरूप आदि और अन्त से शून्य जो ज्ञान है, वह उस परमात्मा का रूप है। जिसका रूप कभी उदित नहीं हुआ यानी नित्य अनुदित रूपवाला होता हुआ भी जगत् जिससे उदित–सा होता है, जिससे अभिन्न होता हुआ भी बिलकुल भिन्न–सा प्रतीत होता है, वह परमात्मा का पारमार्थिक रूप है। मायिक व्यवहारोंमें संलग्न हुए भी जिसकी (ज्ञानी की अथवा ईश्वर की) पाषाण के सदृश जो निश्चल स्थिति है और निरवकाश (सूराख आदि से शून्य) होते हुए भी सम्पूर्ण जगत् को अपने में अवकाश देने से जो व्योमता (सावकाशता) है, वही परमात्मा का रूप है ॥४३–४९॥

वेद्य (ज्ञेय) आदि त्रिपुटी के जन्म आदिका हेतु जो सच्चिदानन्दात्मक रूप है, वही वह है, – ***ऐसा कहते हैं।***

ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता–इन तीन रूपोंवाला सामने विद्यमान यह प्रपंच जिससे आविर्भूत होता है, जिसमें स्थित रहता है और जिसमें लीन हो जाता है, वही उसका परम दुर्लभ रूप है ॥५०॥

उसमें जो निमित्तकारणता है, वह परिणामरूप से नहीं है, किन्तु विवर्तरूप से है, ऐसा कहते हैं।

卐 तैतिरीय उपनिषद् में–अन्नमय आदि सब कोषों के आन्तर आनन्दमय कोष को दिखलाकर 'तस्य प्रियमेव शिरः। मोदः दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। इस श्रुति द्वारा आनन्दमय कोष का भी आन्तर ब्रह्म दर्शाया गया है।

🕮 बृहदारण्यक उपनिषत् में–'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' इस प्रकार आरम्भ कर 'तस्यैतस्य मूर्तस्य रसो य एष तपति तस्यैतस्यामूर्तस्य रसो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः, इससे मूर्त और अमूर्त रूप का सार दिखला कर 'अर्थात् आदेशो नेति नेति' इससे मूर्त और अमूर्त के आरोप का अधिष्ठान ब्रह्म उनका आन्तर है, यह बात उनके (मूर्त और अमूर्तके) निषेध से दिखलाई है।'

🔥 तलवकारोपनिषत् में– 'प्रतिबोधविदितं मतम्' इस वाक्य से ब्रह्म सम्पूर्ण बुद्धिवृत्तियोंका आन्तर कहाया है।

बुद्धि आदि से रहित महादर्पण रूप जिसमें ज्ञेय, ज्ञान, ज्ञाता रूप जगत् प्रतिबिम्बित होता है, वही उसका सर्वश्रेष्ठ परम रूप है। स्वप्न और जागरण से निर्मुक्त सुषुप्तरूप जो मन है, वही महाचित् का रूप है, वही दृश्य का प्रलय होने पर स्थावर और जंगम पदार्थों में अवशिष्ट रहता है। स्थावर पदार्थों का मन, बुद्धि आदि से शून्य जो रूप है यानी अचलस्वभाव, वह यदि बोधमय (चेतनायुक्त) हो जाय, तो उनके मन, बुद्धि आदि से निर्मुक्त उस बोधरूप की परमात्मा से तुलना की जा सकती है ॥५१–५३॥ प्रलयावस्था में ब्रह्मा, सूर्य, विष्णु, हर, इन्द्र, सदाशिव आदि के विलीन होने पर सम्पूर्ण उपाधियों का विलय होने से विश्व के संसर्ग से रहित निर्विकल्परूप, चैतन्यमात्र, परमशिव केवल वही एक शेष रहता है ॥५४॥

दसवाँ सर्ग समाप्त

ग्यारहवाँ सर्ग

सत्‌रूप अधिष्ठानवश प्रलयकाल में भी जगत् की सत्ता का प्रतिपादन और
स्वतः तो सृष्टिकाल में भी उसकी सत्ता के अभाव का प्रतिपादन।

प्रलयकाल में 'यह जगत् है' इस प्रकार विशेषरूप सत्ता से जगत् की निवृत्ति होने पर भी ब्रह्मरूप सामान्य सत्ता के अवशिष्ट रहने से जगत् की ब्रह्मरूप से सत्ता भले ही हो, किन्तु सृष्टिकाल में तो जगत् की प्रलयकाल से विलक्षणता सबको स्पष्ट ही दिखाई देती है, अतः जगत् की स्वतन्त्र सत्ता भी दूसरी माननी ही पड़ेगी। ऐसी अवस्थामें उक्त स्वतन्त्र सत्ता से युक्त जगत ब्रह्म में वर्तमान न होता हुआ अन्यत्र स्थित है, ऐसी संभावना भी नहीं रोकी जा सकती, क्योंकि आप पहले 'नाऽभावो विद्यते सतः' से सत् की असत्ताका स्वयं वारण कर चुके हैं। इसलिए प्रलयकालमें जहाँ पर जगत् स्थित रहेगा, वही जगत् का आश्रय माना जायेगा, उसका आप मुझे उपदेश दीजिए, इस आशयसे श्रीरामचन्द्रजी बोले :

ब्रह्मन्, चौदह भुवन, देवता, मनुष्य, असुर, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि असीम विस्तारवाला अतिस्पष्टरूप से दिखाई देनेवाला, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से दृढ़ीकृत यह जगत्, जिसका आप ब्रह्म में अभाव कहते हैं, महाप्रलय होने पर किसमें स्थित रहता है, उसे कृपा करके मुझसे कहिए ॥१॥

यदि सम्पूर्ण पदार्थों की उत्पत्ति के समय अपनी अलग सत्ता के साथ जगत् का कहींसे आगमन होता, तो प्रलयकालमें जगत् का अन्य स्थानमें गमन और अन्यमें स्थिति होती; किन्तु वन्ध्यापुत्रकी नाईं अपनी पृथक् सत्ता से उसका आगमन ही नहीं है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी कहते हैं :

वत्स श्रीरामचन्द्रजी, आपके प्रश्न का उत्तर मैं पीछे दूँगा पहले आप यह बतलाइये कि वन्ध्यापुत्र कहाँ से आता है, कैसा है, और कहाँ जाता है एवं आकाश में स्थित वन कहाँ से आता है और किसमें समा जाता है ? ॥२॥

दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में विषमता (असमानता) की शंका करते हुए श्रीरामचन्द्रजी ने कहा :

भगवन्, वन्ध्यापुत्र और आकाशवन न तो इस समय हैं और न आगे होंगे। फिर उनकी कैसी दृश्यता और कैसी नास्तिता ? ॥३॥

तात्कालिक सत्ता, भविष्यत्कालिकसत्ता और प्रत्यक्षवेद्यता भी उक्त वन्ध्यापुत्र और आकाशवन में नहीं है, अतः जगत् और उनमें विषमता है। उनके प्रतियोगी की सत्ता प्रसिद्ध नहीं है, अतः उनकी नास्तिता भी नहीं कही जा सकती यह भाव है। ठीक है, किन्तु जगत् की भी तो न वर्तमानकालिक सत्ता है, न भविष्यत्कालिक सत्ता है और न वह दृश्य ही है, इस प्रकार जगत् का वन्ध्यापुत्र और आकाशवन के साथ सादृश्य है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी बोले :

वत्स, जैसे वन्ध्यापुत्र और आकाशवन की त्रैकालिक सत्ता नहीं है वैसे ही इस सम्पूर्ण जगत् आदि दृश्य की भी त्रैकालिक सत्ता नहीं है ॥४॥

सत्ता न होने पर जगत् के उत्पत्ति आदि भी सिद्ध नहीं होते ऐसा कहते हैं।

हे रामजी, न तो यह जगत् उत्पन्न हुआ है और न विनाशी ही है। जिसकी पहले सत्ता ही नहीं है उसकी उत्पत्ति कैसी और उसमें विनाश शब्द की ही क्या कथा है ? ॥५॥

जगत् की उत्पत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है, अतएव प्रथम तो उत्पत्तिमान् जगत् का वन्ध्यापुत्र उपमान नहीं हो सकता, दूसरे अत्यन्त असत् कहीं उपमान नहीं देखा जाता, अतः परिशेष से विकल्परूप वन्ध्यापुत्र आदि के ज्ञानको जगत् का उपमान मानना पड़ेगा। उसका जन्म और नाश होता है, इसलिए उसका जगत् के साथ सादृश्य भी हो सकता है, इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, वन्ध्यापुत्र और आकाशवृक्ष की तो कल्पना होती ही है। वह जैसे जन्म और नाश से युक्त है, वैसे ही यह जगत् भी जन्म और नाश से युक्त क्यों नहीं होगा ? ॥६॥

वन्ध्यापुत्र और आकाशवृक्ष का ज्ञान (विकल्परूप) उपमान हो सकता यदि वह उपमेयरूप जगत् के बीच में पड़ा न होता। उपमेयरूप जगत् के मध्यपतित होने पर वह उपमान नहीं हो सकता। इसलिए अपारमार्थिक सत्तावाले जगत् का मेरे द्वारा दिया गया ही उपमान ठीक है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी ने उत्तर दिया :

दृश्य किसी अन्य पदार्थ के साथ तुलना (उपमा) करने की इच्छा तो है पर उपमेयभूत दृश्य पदार्थ से अतिरिक्त उपमान न मिलने के कारण उसकी किसीसे उपमा ही नहीं की जा सकती ॥७॥

उपमेय कोटि में प्रविष्ट जिन किन्हीं पदार्थों से उसको जो उपमा दी जाती है वह अनन्वयालंकार का उदाहण है, वैसे ही आपकी यह उक्ति भी है।

गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः। रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ॥

यह उक्ति इनका कोई उपमान ही नहीं है इस प्रकार अनुपमत्व में पर्यवसित होती है वैसे ही आपका यह कथन भी अनुपमत्व में पर्यवसित होगा, इसलिए वन्ध्यापुत्र और आकाशवृक्ष

के विकल्परूप ज्ञान को दृष्टान्त मानना ठीक नहीं है। अतः यह सिद्ध हुआ कि जगत् की पृथक् सत्ता मेरे द्वारा कही गई वन्ध्यापुत्र की सत्ता के समान ही है। दूसरी बात जो आपने यह कही है कि असत् दृष्टान्त भी नहीं हो सकता है इस पर सुनिए, असत् यद्यपि सत् का दृष्टान्त नहीं देखा जाता फिर भी उसके असत् के दृष्टान्त होने में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि वन्ध्यापुत्रके समान आकाशपुष्प असत् है, ऐसे प्रयोग देखे जाते हैं। जिसका प्रत्यक्षरूप से अनुभव हो रहा है, उसकी असत्ता कैसे ? ऐसी शंका कर प्रत्यक्षसे प्रतीत हो रहे पदार्थकी भी, विचार करनेपर बाध देखने से, असत्ता बहुत से दृष्टान्तों में प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

जैसे सुवर्ण के कड़े में स्पष्टतः भली भाँति दिखाई दे रहा भी कटकत्व नामका कोई पदार्थ नहीं है, वैसे ही प्रत्यक्षतः अनुभूयमान भी यह जगत् परमें (ब्रह्म में) नहीं है। जैसे आकाश में उपलम्यमान शून्यत्व आकाश से भिन्न नहीं है, वैसे ही ब्रह्म में प्रत्यक्षतः उपलम्यमान भी यह जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है। जैसे काजल से कालिमा पृथक् ज्ञात नहीं होती, हिम से शीतलता पृथक् ज्ञात नहीं होती वैसे ही परम पदमें (ब्रह्म में) पृथक् गृहीत होनेवाला जगत् नहीं है। जैसे शीतलता चन्द्रमा से और हिम से (बरफ से) पृथक् नहीं होती वैसे ही ब्रह्म से भी यह जगत् पृथक् नहीं है। जैसे मरूभूमि में प्रतीयमान नदी में जल नहीं है, अथवा जैसे प्रतीयमान द्वितीय चन्द्रमा में चन्द्रत्व नहीं है, वैसे ही सर्वविध मलों से रहित ब्रह्म में अनुभूयमान जगत् भी नहीं है। कारण के न रहने से जो स्वयं पहले भी नहीं था, वह वर्तमान काल में भी नहीं है, अतः उसका नाश ही कैसा ? ॥८–१३॥

कारण का असंभव कैसे है ? उसे कहते हैं।

जैसे छाया का कारण धूप नहीं हो सकती, वैसे ही पृथिवी आदि जड़ वस्तु का जड़ता से रहित ब्रह्म कारण नहीं हो सकता अर्थात् जड़का ही जड़ परिणाम हो सकता है, कहीं भी स्वविरूद्ध परिणाम नहीं देखने में आता, यह भाव है ॥१४॥ परिणामी कारण न होने से यह परिणामी कार्य नहीं है, अतः परिणामदृष्टि से यह कुछ उदित नहीं है, यद्यपि विवर्तदृष्टि से विरूद्ध का भी आरोप हो सकता है, तथापि विवर्त का कारणभूत ब्रह्म ही जगत् रूपसे अवस्थित है, अतः जगत् की कार्यरूप से पृथक् सत्ता नहीं है ॥१५॥

यदि शंका हो कि अज्ञान ही जगत् का परिणामी कारण है, फिर कारण के अभाव से यह जगत् कार्य नहीं है, इस प्रकार पूर्व श्लोकमें कारण का अभाव कैसे कहा ? इस पर कहते हैं।

जो अज्ञान ही जगदाकार से परिणत होता है, यह कहा जाता है, उसका यह तात्पर्य नहीं है कि जैसे दूधका परिणाम दही होता है, वैसे अज्ञान का परिणाम जगत् है, बल्कि अज्ञान संवित् को (ज्ञान को) ही जगत्रूप से दर्शाता है अर्थात् संवित्का ही जगत् के रूप से विवर्त कराता है। अज्ञानका परिणाम संवित् का विवर्त ही है, यह बात स्वप्नमें प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं। स्वप्न में जो जगत् (स्वाप्निक प्रपंच) दिखाई देता है, वह संवित् का विलास ही है। (संवित्का विवर्त ही है), उससे अतिरिक्त नहीं है ॥१६॥

उक्त विषय को ही स्पष्ट करते हैं।

स्वप्न में स्वप्न देखनेवाले पुरुष के अन्तःकरण में जो स्वाप्निक जगत् की भ्रान्ति होती है, वह जैसे संवित्–विकास ही है, वैसे ही सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्म में यह जगत्–विकास हुआ है, ब्रह्म से अतिरिक्त जगत् नाम की कोई वस्तु ही नहीं है ॥१७॥

अतः पहले जो जगत् ब्रह्ममात्र है, ऐसी प्रतिज्ञा की गई थी, वह सिद्ध हुई, ऐसा कहते हैं।

यह जो कुछ प्रपंच दिखलाई देता है, यह सदा ही आत्मा में स्थित है। न तो यह कभी कुछ भी उदित होता है और न कभी तनिक भी नष्ट होता है। जैसे द्रवत्व जल है (तरलता और जलमें कोई भेद नहीं है), जैसे स्पन्दन वायु है (कम्पन और वायुमें भेद नहीं है) और जैसे प्रकाश आभास है। (प्रकाश और आभास में कोई अन्तर नही है), वैसे ही ये तीनों जगत् ब्रह्म ही है (त्रिजगत् और ब्रह्ममें कोई अन्तर नहीं है)। जैसे स्वप्न देखनेवाले पुरुष के अन्दर विद्यमान चैतन्य ही नगर–सा प्रतीत होता है, वैसे ही परमार्थ स्वरूप में परमात्मा ही जगत्–सा प्रतीत होता है ॥१८–२०॥

जगत् की जो प्रतीति हो रही है, यह बड़ी दृढ़ है और स्वप्न की प्रतीति पूर्णरूप से अभिव्यक्त न होने के कारण कोमल (अदृढ़) है, अतः दोनें में आकाश–पाताल का अन्तर है और दूसरी यह बात भी विचारणीय है कि द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध स्वाभाविक है, अतः उसका निवारण होना कठिन ही नहीं, प्रत्युत असम्भव है, अतः मुक्तिका सम्भव ही नहीं है, यों श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, यदि यह दृश्यरूपी विष पूर्वोक्त रीति से स्वप्न की प्रतीति के समान मिथ्या है, तो यह इतनी सुदृढ़ प्रतीति से युक्त कैसे हो गया, अर्थात् प्रलय होने तक इसमें ऐसी सुदृढ़ प्रतीति रहती है कि व्यवहार में किसी प्रकार की गड़बड़ी नहीं होने पाती, इसका क्या कारण है ? दृश्य के विद्यमान रहते द्रष्टा (दर्शक) का निवारण नहीं किया जा सकता अर्थात् दृश्य यदि रहेगा, तो उसका द्रष्टा भी अवश्य रहेगा और द्रष्टा यदि रहेगा, तो दृश्य भी अवश्य रहेगा। भाव यह कि दृश्य और द्रष्टा परस्पर सापेक्ष हैं। दृश्य तभी कहा जा सकता है, जबकि उसका दर्शक हो और द्रष्टा तभी कहा जा सकता है, जब कि उसके दर्शन का विषय (दृश्य) हो। दृश्य और द्रष्टा दोमें से एक के अस्तित्व में दोनों का बन्धन है और दोनों में से एक का भी क्षय हो जाय तो दोनों की मुक्ति हो जाती है, पर ऐसा होना ही असम्भव है ॥२१,२२॥

क्यों असम्भव है ? ऐसा यदि कोई कहे, तो इस पर कहते हैं।

जब तक मूलाविद्या के विनाश से दृश्य के आत्यन्तिक क्षय का (सर्वथा उच्छेद का) ज्ञान न हो, तब तक द्रष्टा में दृश्यत्व का अस्तित्व अनिवार्य है, इसलिए मुक्ति नहीं हो सकती ॥२३॥

यदि कोई कहे कि दृश्य के आत्यन्तिक क्षयका परिज्ञान भले न हो। उसकी क्या आवश्यकता है ? किन्तु उत्पन्न हुए दृश्यका विद्यासे विनाश हो, इस पर कहते हैं।

यदि दृश्य प्रपंच की पहले उत्पत्ति और पीछे उसका विनाश मानो, तो संस्काररूप से स्थित दृश्य का पुनः पुनः उद्भवरूप अनर्थकारी बन्ध कभी विनष्ट ही नहीं हो सकता ॥२४॥

दृश्यप्रदेश के परित्याग से ही दृश्य के असम्भव की उपपत्ति हो अर्थात् जहाँ पर दृश्य नहीं

है, वहाँ पर दृश्य के असम्भव की उपपत्ति हो, इस शंका का समाधान स्वयं आप ही पहले कर चुके हैं, ऐसा कहते हैं।

जैसे स्वच्छ दर्पण चाहे कहीं पर भी स्थित क्यों न हो, उसमें प्रतिबिम्ब पड़ता ही है, वैसे ही चैतन्याश्रय द्रष्टा में सर्वस्मृतिमय प्रतिबिम्ब अवश्य पड़ता ही है ॥२५॥ यदि पहले से उत्पन्न न हुए दृश्य का स्वयं अस्तित्व न होता, तो द्रष्टा की दृश्यस्वभाव से मुक्ति हो सकती, परन्तु जगत् उत्पन्न नहीं है, यह बात अनुभव में नहीं आती, अतः द्रष्टाकी दृश्यस्वभाव से निर्मुक्ति नहीं हो सकती, यह भाव है ॥२६॥ हे ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ, इसलिए मेरी मुक्ति के असंभव की आशंका को युक्तियों द्वारा दूर कर जब तक दृश्य के अत्यन्त असम्भव का मुझे दृढ़ परिज्ञान न हो जाय, तब-तक आप मुझे उपदेश दीजिये ॥२७॥

स्वप्न-प्रतीति से जगत-प्रतीतिवैषम्य की जो श्रीरामचन्द्रजी ने आशंका की थी, श्रीवसिष्ठजी उसके समाधानकी, आगे कही जानेवाली सृष्टी की आख्यायिका से, प्रतिज्ञा करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : यह जगत् ब्रह्मात्मक ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है। जगत्रूप से असत् होता हुआ भी जिस प्रकार सत्-प्रतीत होता है, उसको मैं आपसे बड़ी लम्बी (मण्डपोपाख्यान आदि से बढ़ाई गई) आख्यायिका से कहता हूँ, आप सुनिये। आशय यह कि यद्यपि इस जगत्की प्रतीति बड़ी दृढ़ है, तथापि यह असत् होता ही सद्रूप से प्रतीत होता है, इस अंशमें इसकी स्वप्न से समता है ही। रह गई दृढ़ प्रतीति की बात, सो तो चिरकाल से बद्धमूल होने के कारण है। तब तक सुनिये, जब तक कि पूर्वजों के व्यवहार के प्रतिपादक वाक्यों से उन लम्बी आख्यायिकाओं में वर्णित तत्त्व आपके हृदय में, तालाब में धूलि के समान, न बैठ जाय ॥२८,२९॥

उसीसे आपकी दूसरी शंका निवृत्त हो जायेगी और दूसरी शंका की निवृत्ति होने पर आपको शान्ति मिलेगी और लोकव्यवहार भी सिद्ध होगा, ऐसा कहते हैं।

आपको भ्रान्ति से जो यह जगत् की सत्ता दिखलाई दे रही है, इसके अत्यन्त अभाव को (सर्वथा अभाव को) जानकर, आप अद्वितीय अखण्ड ब्रह्म के ध्यान में संलग्न हो लौकिक व्यवहार करेंगे। जिनका प्रयोजन रहने पर ग्रहण होता है और प्रयोजन न रहने पर त्याग होता है, ऐसे स्थूल, सूक्ष्म आदि विषयोंमे (विषयों के अनुसार) चंचल और स्थिर व्यवहारदृष्टियाँ आपको इस प्रकार पीड़ित नहीं कर सकेगी, जिस प्रकार कि बाण पर्वत को विद्ध नहीं कर सकते। हे रघुकुलतिलक, जिसका पहले विस्तारसे वर्णन किया है, वही यह केवल एक (अद्वितीय) आत्मा है। इसके सिवा दूसरी कल्पना ही नहीं है। इस द्वितीय-कल्पना से शून्य आत्मा में यह जगत् जिस प्रकार उत्पन्न हुआ है, उसको मैं आगे आपसे कहूँगा। ये सम्पूर्ण जगत् उस आत्मा से आविर्भूत हुए हैं ॥३०-३२॥

शंका - क्या जैसे ये तटस्थ ईश्वर से भेद से आविर्भूत हैं, वैसे ही इससे भी भेद से आविर्भूत हुए हैं ? अर्थात् जैसे अन्याभिमत स्रष्टा ईश्वर से भिन्नतया सृज्य पदार्थों का

आविर्भाव माना जाता है वैसे ही आपके अभिमत स्रष्टा आत्मा से भिन्नतया जगत् का आविर्भाव हुआ है ?

समाधान – नहीं, वह महान् आत्मा ही समष्टिव्यष्टिरूप बाहर इन्द्रियों द्वारा दिखाई देनेवाला दृश्यदर्शनप्रकाराकार और अन्दर मननप्रकाराकार होकर स्वयं ही उदित होता है और विलीन होता है। भाव यह कि वास्तव में उसका उदय और विनाश तो होते नहीं, पर अज्ञानतः भ्रान्ति से उसके उदय और विनाश की प्रतीति होती है ॥३३॥

ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

बारहवाँ सर्ग

आगे अपवाद से सम्पूर्ण सृष्टिका अत्यन्त अभाव कहने के लिए
अपवादानुरूप अध्यारोपभूत सृष्टिका विस्तार से वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने पहले जिस विषय की प्रतिज्ञा की थी, उसको कहने के लिए भूमिका बाँधते हुए बोले :

वत्स श्रीरामचन्द्र, सर्वोत्तम, शान्त और परम पवित्र इस पद से (ब्रह्म से) यह सम्पूर्ण विश्व जैसे आविर्भूत हुआ है, उसे आप उत्तम बुद्धि से (क्षोभशून्य एकाग्र मन से) सुनिये ॥१॥

जैसे सुषुप्त आत्मा ही स्वप्न–सदृश प्रतीत होता है, वैसे ही ब्रह्म ही सृष्टि की नाईं प्रतीत होता है। (यह कल्पना दृष्ट के अनुसार है।) स्वप्न केवल एक पुरुषकी वासना का कार्य है, अतः स्वप्नप्रतीति दृढ़ नहीं होती और प्रपंच सम्पूर्ण जीवों की वासना से उत्पन्न है, अतः उसकी प्रतीति सुदृढ़ है, इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीकी पूर्वोक्त शंका के परिहार के अभिप्राय से कहते हैं।

उसका अधिष्ठान सर्वात्मक (सर्वसुषुप्तसमष्ट्यवस्थ और सर्वप्रलयावस्थ) ब्रह्म है। इस विषय में आप क्रम को सुनिये ॥२॥ चूँकि यह सम्पूर्ण विश्व स्वभावतः सदा अनन्तप्रकाशरूप तथा अनन्तचैतन्यस्वरूप ब्रह्म का सत्तामात्ररूप (卐) है, इसलिए वही मानों चेत्यता को (दृश्यताको) प्राप्त होता है, यों अग्रिम श्लोक से सम्बन्ध है ॥३॥

पहले उसमें 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति' (उसने संकल्प किया कि मैं लोकोंकी सृष्टि करूँ) इस श्रुति से सिद्ध ईक्षणभाव को दिखलाते हैं।

आकाश से भी सूक्ष्म और निर्मल जो बोध है, वह भावी (होनेवाले) नाम और रूपों के अनुसन्धान से कुछ अनुमितरूपवाला होकर सम्पूर्ण स्रष्टव्य (सृष्टि करने योग्य) विषयों में संकल्पपूर्वक अहंकाराध्यास के बिना प्रतीत होता है। अतएव वही स्वयं अपने स्वरूप में मानों किंचित् चेत्यता (दृश्यता) को प्राप्त होता है ॥४,५॥

ईक्षणवृत्ति और ईक्षणवृत्ति के विषयरूप उपाधियों से उसमें ईश्वरभाव और जीवभाव को दर्शाते हैं।

卐 चैतन्यरूप ब्रह्म की सत्ता ही उसका परमार्थरूप है, उसकी सत्ता से अतिरिक्त उसका रूप नहीं है।

तदुपरान्त वह परम सत्ता ही ईक्षणात्मक वृत्ति से युक्त चेतना में (उक्त ईक्षणात्मक वृत्ति में अभिव्यक्त चैतन्य में) उन्मुख होकर यानी ईक्षणवृत्तिसहित चेतनाप्रधान होकर वाणी के व्यवहार के विषय धर्मों से युक्त होने के कारण वाणी से प्राप्य (ज्ञेय) होने से यानी वाणी के व्यवहार के योग्य होने से 'चित्' नाम के योग्य ('सर्वज्ञ ईश्वर' नाम के योग्य) होती है। पीछे चिरकाल की अनुवृत्ति से जिसकी ईक्षणवृत्ति अत्यन्त धन हो गई है और जिसने उक्त ईक्षणवृत्ति के विषय सूक्ष्म प्रपंचस्वरूपतारूप परिच्छेद स्वीकार कर लिया है एवंभूत वही परमसत्ता जब परम पदका त्याग करती है तब भावी प्राणधारणरूप उपाधिवाले जीव, हिरण्यगर्भ आदि नामवाली होती है ॥६,७॥

वैसे होने पर भी ब्रह्मसत्ता स्वरूप से विनष्ट नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

उस समय ब्रह्मसत्ता ही केवल भावना से संसारोन्मुख होती है, विकार आदि क्रिया से नहीं ॥८॥

शंका – सो कैसे ?

समाधान – ब्रह्मस्वभाव ही ऐसा है। भाव यह है कि उक्त ब्रह्मसत्ता का स्वभाव ही है कि वह केवल भावनामात्र से (संकल्पमात्र से) संसारभाव को प्राप्त होती है, उसमें किसी प्रकारका विकार होकर वह संसारभाव को प्राप्त होती है, यह बात नहीं है।

शंका – तो उसका जीवभाव कैसे होता है ?

समाधान – रज्जु में सर्प की नाईं उसीमें जीवभाव का उदय होता है।

अब श्रीमहामुनि वसिष्ठजी महाभूतों की सृष्टि को कहने की इच्छा से पहले आकाश की सृष्टि कहते हैं।

जीवभाव का उदय होने के अनन्तर अन्य भूतों को अवकाश देनेवाली होने के कारण शून्यप्रायः (प्रायः रिक्त) आकाशसत्ता उदित होती है, जो कि सूर्य आदि की सृष्टिके पश्चात् होनेवाले आकाश आदि नामों के अर्थ को (आकाश यानी आसमन्तात्–काशते प्रकाशते यानी चारों ओर जो प्रकाशित है, इत्यादि अर्थको) देती है और शब्द आदि गुणों की कारण है ॥९॥

पूर्वोक्त हिरण्यगर्भरूप जीव के अहन्ताभिमान की और तबसे लेकर द्विपरार्द्धपरिमित ब्रह्मा की आयुरूप कालकी सृष्टि को कहते हैं।

आकाशसत्ता के अनन्तर भावी (होनेवाले) नामों के अर्थरूप से जगत्स्थिति की मुख्य बीजभूत अहन्ता (अहंकार) कालसत्ता के साथ उदित होती है ॥१०॥

उक्त आकाश, अहंकार और काल की सृष्टि हिरण्यगर्भ से नहीं होती, किन्तु हिरण्यगर्भरूप उपाधि से उपहित परमात्मसत्ता से ही होती है, क्योंकि वही सबकी हेतु है, ऐसा कहते हैं।

उस परमशक्ति (परमात्मसत्ताका) स्वसंकल्पमात्ररूप यह प्रकाशमान असदात्मक दृश्य प्रपंच सत् की नाईं उससे उदित होता है। इसके उदयसे परमात्मसत्तामें किसी प्रकारका विकार नहीं होता, यह सूचन करने के लिए 'स्वसंवेदनमात्रकम्' कहा है ॥११॥

'मैं आकाश होऊँ' इस अहंकार से (अभिमान से) जिसका स्वरूप प्रायः आकाश–सा

हो जाता है ऐसी संवित् आकाशकार्य (वायु आदि) विषयक संकल्परूपी वृक्ष की बीज है। अतएव उससे परिच्छिन्न स्पन्दशक्तिप्रधान होने के कारण अहंकार का एक अंश–सा वायु आविर्भूत होता है ॥१२॥

आकाशाहंकारोपाधि से उपहित परमात्मसत्ता ही जब सम्पूर्ण शब्दोंके बीज–भूत शब्द तन्मात्र रूप बनने का संकल्प करती है, तब उसीसे शब्द तन्मात्राकी उत्पत्ति होती है, ऐसा कहते हैं।

आकाश में अहन्ताबुद्धिवाली परमात्मसत्ता शब्दतन्मात्र के संकल्पसे ('मैं शब्द तन्मात्रा होऊँ' इस संकल्प से) अतिसूक्ष्म आकाशभाव से कुछ घन होकर शब्दतन्मात्रा होती है (✎) ॥१३॥

वेद आदि सम्पूर्ण शब्दों का शब्दतन्मात्रा उपादान है, ऐसा कहते हैं।

भावी (होनेवाले) नामों का अर्थभूत तथा शब्दसमूहरूपी वृक्षका बीज वह शब्दतन्मात्रा ही विस्तार को प्राप्त किया गया पदवाक्यप्रमाणनामक वेदसमूह है ॥१४॥ इस प्रकार वेदरूपता को प्राप्त हुए परमात्मा से, जो कि शब्दसमूह से निर्मित पदार्थसमूहरूप परिणाम (कार्य) का विस्तार करते हैं, जगत् की उत्पत्ति होगी। भाव यह कि 'स भूरिति व्याहरत् स भुवमसृजत' उसने 'भूः' कहा, अनन्तर पृथिवीकी सृष्टि की) 'एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजत असृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितृन्' (प्रजापतिने 'एत' इससे देवताओंकी, 'असृग्रम्' से मनुष्योंकी और 'इन्दवः' से पितरों की सृष्टि की) इत्यादि श्रुतियों से यह प्रसिद्ध है कि वेदमे जो शब्दसमूह से सिद्ध पदार्थ हैं, उन्हींका परमात्मा विस्तार करते हैं ॥१५॥ इस प्रकार वायुपर्यन्त जिसका परिवार है, ऐसी वह चिति जीवशब्द से कही जाती है। वही भावी नाम–रूपसमूह से मूर्तिमान् जीवों के समूहरूपी वृक्ष की बीज है अर्थात् सम्पूर्ण मूर्त्याकार पदार्थ (जीव) उसीसे उत्पन्न होते हैं ॥१६॥

वह (परमात्मा) व्यष्टिप्राणरूप से आध्यात्मिक सम्पूर्ण क्रियाओंका हेतु है, ऐसा कहते हैं।

चौदह भुवन हैं। प्रत्येक भुवनमें प्राणियोंका आकार–प्रकार भिन्न भिन्न है। अतएव चौदह भुवनों के भेद से चौदह प्रकार के प्राणी पूर्वोक्त प्राणवायु के कारण अपने से (ब्रह्म से) व्याप्त होकर ब्रह्माण्डोदररूप विविध गर्तों में घूमते फिरते हैं ॥१७॥

वही चैतन्य जब 'मैं वायु हूँ' इस अभिमान से युक्त होता है तब वह सम्पूर्ण स्पर्शों का उपादान–कारण स्पर्शतन्मात्रारूप और आवह, प्रवह आदि उनचास वायुओंके विभाग से सम्पूर्ण पदार्थोंकी चेष्टा का कारण होता है, ऐसा कहते हैं।

यद्यपि 'मैं वायु हूँ' इस अभिमान के पूर्व उक्त चैतन्य का न 'वायु' नाम था और न उसमें

✎ यद्यपि सांख्यदर्शन, पुराण आदि में तन्मात्राओं से भूतों की उत्पत्ति कही गई है, तथापि 'आत्मन आकाशः सम्भूतः', 'तत्तेजोऽसृजत' इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म ही आकाश आदि भूतों का साक्षात् उपादान सुना गया है और 'तद्यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य' इत्यादि श्रुति में सामान्य शब्द विशेष शब्दों का कारण सुना गया है, अतएव आकाश से ही सामान्य शब्द रूप शब्दतन्मात्रा की उत्पत्ति कही गई है।

चलनादि क्रिया ही थी, तथापि 'मैं वायु हूँ' इस प्रकार अपने में वायुत्व के व्यापारवान् (चलनादि व्यापारसे युक्त) होकर स्पर्शतन्मात्रा की भावना से ('मैं स्पर्शतन्मात्रा होऊँ' इस संकल्प से) वही शीघ्र स्पर्शतन्मात्रा हो जाता है। वह (स्पर्शतन्मात्रा) विविध स्पर्शरूपी वृक्ष का बीज है तथा उनचास प्रकार के वायुओं का विस्तार उसमें सूक्ष्मरूप से निहित है। उसीसे सम्पूर्ण भूतों में चलनादि क्रियारूपी स्पन्द उत्पन्न होता है ॥१८,१९॥

वायु की उत्पत्ति के पश्चात् तेज की उत्पत्ति कहते हैं।

तदुपरान्त 'मैं प्रकाशरूप होऊँ' इस भावना से उसीमें (चैतन्य में ही) प्रकाश की उत्पत्ति होती है। प्रकाशरूपता को प्राप्त अनुभवरूप चैतन्यसे ही रूपतन्मात्रा की उत्पत्ति होती है, जो कि सम्पूर्ण भावी पदार्थों के नाम और रूप की प्रकाशक है। सूर्य, अग्नि, बिजली, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि रूप वह तेज प्रकाशरूपी वृक्ष का बीज है। उससे (तेज से) विविध रूपों के भेद द्वारा संसार का विस्तार होता है ॥२०,२१॥

तदुपरान्त जल की उत्पत्ति कहते हैं।

वह तेजस्वरूपता को प्राप्त चैतन्य मानों जलके विविध रस मैं ही हूँ, इस प्रकार अपनी जलरूपता की (अथवा परिच्छिन्नता की) भावना करता हुआ जलरूपता को प्राप्त होता है। जलरूप मूर्त द्रव्य (पदार्थ) का जिह्वा से आस्वाद लेने पर 'यह मीठा है' इस प्रकार का जो स्वाद है, वह सम्पूर्ण रसों का एकमात्र उपादान होने से रसतन्मात्रा कहलाता है। वह रसरूपी वृक्षका बीज है और भावी जलके विविध आकारों को धारण करनेवाला है। इन्द्रिय और विषयरूप से परस्पर रस का आस्वाद लेने पर विषयों में अनुराग आदि की उत्पत्ति से पुनः पुनः विषयों के उपार्जन में प्रवृत्तिरूप संसार का उससे प्रसार होता है ॥२२,२३॥

तदनन्तर पृथिवी की सृष्टि कहते हैं।

जलभाव को प्राप्त परमात्मा 'मैं पृथिवी ही हूँ' यों संकल्परूप होने से जिसका स्वरूप आगे होनेवाला है, उस पृथिवी का संकल्पनात्मक होकर संकल्परूप अपने गुणों से अपने को गन्धतन्मात्रा देखता है। अर्थात् 'मैं गन्धतन्मात्रा होऊँ' अपने इस संकल्पनात्मक गुण से गन्धतन्मात्रा हो जाता है ॥२४॥

अब पृथिवी की सृष्टि का उपयोग बतलाते हैं।

भावी (आगे होनेवाले) ब्रह्माण्डगोलकरूप से या ज्योतिषशास्त्र में प्रसिद्ध भूगोलरूप से वह मनुष्य आदि के विविध आकाररूप वृक्षका बीज है। सम्पूर्ण चर और अचर जीवों के आधारस्वरूप उक्त पृथिवी से संसार का प्रसार होता है ॥२५॥

उक्त रीति से उत्पन्न पाँच भूतों के संमिश्रण से ब्रह्माण्डाकार का विकास कहते हैं।

चैतन्य के पूर्वोक्त रीति से पाँच भूतों में अहन्ता (अहंकारभाव) को प्राप्त होने पर उक्त चैतन्य से ब्रह्माण्डाकार प्रतीत हो रहे भूततन्मात्रा अर्थात् शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा परस्पर से संमिश्रण से, जलमें बुद्‌बुदों की नाईं, स्वयं ब्रह्माण्डाकार से परिणत होते हैं ॥२६॥

कितने समय तक वे संमिश्रणभाव में स्थित रहते हैं, ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं।

ये पाँच भूत इस प्रकार संमिश्रण को प्राप्त हुए हैं, जिस प्रकार विनाश होने तक (महाप्रलयपर्यन्त) पृथक् और शुद्ध नहीं पाये जा सकते ॥२७॥

जितनी वस्तुओं का स्थूलरूप से आविर्भाव हुआ, वे सब पहले ब्रह्मसत्ता से विद्यमान थी, इस बात को दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं।

जैसे वट के अतिसूक्ष्म बीज के अन्दर विशाल वटवृक्ष स्थित है, वैसे ही ये ब्रह्माण्ड भी अव्याकृत आकाश के अन्दर केवल संविद्रूप से स्थित है ॥२८॥

यदि किसीको आशंका हो कि भूततन्मात्रा अतिसूक्ष्म हैं, अतएव स्थानाभाव उनमें स्थूल पदार्थों का रहना विरूद्ध प्रतीत होता है, इस पर कहते हैं।

तन्मात्राओं की स्थूल पदार्थों की वास्तव में स्थिति नहीं है, किन्तु उनसे उनकी केवल मायिक उत्पत्ति दिखलाई देती है और फिर वे शाखा–प्रशाखा के भेद से विविध विस्तार को प्राप्त होते हैं और क्षण में ही विलीन हो जाते हैं। पूर्वोक्त मायिक उत्पत्ति का प्रदर्शन अतिसूक्ष्म वस्तु में भी होता है, यह भाव है ॥२९॥

तन्मात्राओं के उक्त रीति से स्थूल हो जानेपर भी उनके सूक्ष्म–रूप की क्षति नहीं होती, क्योंकि जिस अधिष्ठान में विवर्त होता है, उसका विकार नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

वे विवर्त की ओर अग्रसर होते हैं यानी विवर्त से स्थूलता को प्राप्त होते हैं, पर वास्तव में विवर्तरहित अपने सूक्ष्मतम स्वरूप में ही रहते हैं। विकाररहित चेतन से सम्बद्ध होने के कारण क्षण में ही पिण्डीभाव (स्थूलता) को प्राप्त होते हैं। यदि यह स्थूलभाव तन्मात्राओं का परिणाम होता, तो जैसे कद्दू के बड़े होने में समय लगता है, वैसे ही इनकी स्थूलता में समय लगता, यह भाव है ॥३०॥

इस सर्ग में पहले जो विषय कहा गया है, उसका स्मरण कराते हुए इस सर्ग का उपसंहार करते हैं।

यह तन्मात्रासमूह, जिसका पहले विस्तार से वर्णन किया गया है, संकल्पस्वरूप चैतन्य ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है; कारण कि चैतन्य ही 'मैं अमुक हूँ' इस अभिमान से तत्–तत् स्वरूप हुआ है। चैतन्य अपने स्वरूप से तो निराकार ही है, पर संकल्परूप से वह अपने को त्रसरेणुसदृश (स्थूलरूप) देखता है ॥३१॥

जो पहले यह कहा था कि ब्रह्म ही जगत् के आकार में परिणत होता है, वह पूर्वोक्त रीति से सिद्ध हुआ, ऐसा कहते हैं।

दृश्यमान जगत् के मूल पंचभूततन्मात्रा ही हैं, पंचतन्मात्राओं का मूल मायाशक्ति ही है, जिसका परमात्मा से तनिक भी व्यवधान नहीं है और जो जगत् की स्थिति में कारण है। इस प्रकार चिद्घन अज परमात्मा ही मायाशक्ति द्वारा जगत् का बीज है। माया के हट जाने पर वही सदा अनुभवारूढ़ होता है, इस लिए यह दृश्यमान जगत् चेतनरूप ही है ॥३२॥

बारहवाँ सर्ग समाप्त

तेरहवाँ सर्ग

ब्रह्म के जीवभाव तथा देह आदि की प्राप्ति का वर्णन।

जैसे सुषुप्ति अवस्था में जीवप्रयोजक उपाधियों का (अन्तःकरण आदि का) विनाश होने से वे मायाशबलब्रह्मभाव को प्राप्त होती हैं, वैसे ही प्रलयावस्था में विलय होने से मायाशबल ब्रह्मभाव को प्राप्त हुई जीवप्रयोजक उपाधियों के फिर आविर्भावक्रम को श्रीवसिष्ठजी हेतुपूर्वक कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, सर्वव्यापक सम और असम (विकार से होनेवाली विषमता से शून्य होने के कारण सम–एकरस–और मायाशबल होने के कारण विषम) अधिष्ठानरूप उत्पन्न न हुए आकाश, तेज और तम आदि के कारणसत्तास्वरूप (जब कि आकाश, तेज, तम आदि की उत्पत्ति नहीं हुई थी तब उनकी कारणरूप सत्ता ब्रह्मसत्ता से अतिरिक्त नहीं थी) चिद्घन परब्रह्म में दृश्य अंश के प्रकाश से (卐) पहले दृश्यत्व (विषयभाव) की कल्पना उदित होती है, क्योंकि चैतन्य का विषय को प्रकाशित करना स्वभाव ही है। तदुपरान्त चितिशक्ति के प्रकाशन से उक्त चिदात्मा में चित्त की कल्पना उदित होती है, जिसका अध्यास किया जाता है, उसीका प्रकाशन करना चितिका स्वभाव ही है। उक्त चिति के अध्यास के विषय सम्पूर्ण पदार्थों से पूर्व विद्यमान है, अतएव वही सबके प्रति निमित्त है। तदनन्तर विषयों के साथ उसके सम्बन्ध का प्रकाश होने से उक्त चिदात्मा में जीवत्व की कल्पना उदित होती है। 'मैं केवल विषयरूप हूँ' ऐसा अभिमान होने के कारण उक्त चिदात्मा में अहंभावकी कल्पना उदित होती है। तदुपरान्त उक्त अहंभाव की अभिवृद्धि होने से उक्त चिदात्मामें बुद्धिभाव की कल्पना उदित होती है। इस प्रकार धर्मों की सिद्धि होने पर शब्दादितन्मात्राओं से युक्त वही मनःस्वरूप हो जाता है। भाव यह कि जैसे स्वप्न में संस्काररूप से अपने अन्तर्गत शब्द आदि विषयों का मनन होता है, वैसे ही संस्काररूप से अपने अन्तर्गत शब्दादिविषयमात्राओं के मनन से वही चिदात्मा शब्दादिविषयमात्राओं से युक्त मन बन जाता है ॥१–४॥

मनोभावापन्न चिदात्मा की स्थूलदेहभाव–प्राप्ति कहते हैं।

संस्काररूप से स्थित शब्दतन्मात्राओं का स्पर्शादितन्मात्राओं के साथ संमिश्रण करने से पंचीकरणरूप से आध्यात्मिक महाभूतरूपी (स्थूलदेहभाव को प्राप्त हुए) मन से ही यह महावृक्षरूपी अतिविशाल चराचर प्रपंच इस प्रकार दिखाई देता है। जैसे स्वप्न में इच्छा न रहते भी नगर बन जाता है, वैसे ही इच्छा के बिना ही पूर्वोक्त रीति से शीघ्र बना हुआ यह जगत्‌रूपी महान् वृक्ष महाकाशरूपी महारण्य में पुनः पुनः उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है। यह बोये बिना ही उगा हुआ जगद्रूपी करंज वृक्षों (कंजा) की झाड़ियों का बीज है, इसे

卐 जब विषय और करणों की सिद्धि हो जाय, तब चेतयितृत्वस्वरूप जीव की सिद्धि होती है, इसलिए चिदात्मा में पहले विषय और करणों का अध्यास दर्शाया है।

मिट्टी, जल, प्रकाश, वायु आदि किसीकी भी आवश्यकता नहीं है। भाव यह कि अन्यान्य बीजों को उगने के लिए भूमि, जल, सूर्यताप आदि की आवश्यकता होती है, पर यह उनसे विलक्षण है, इसे किसीकी भी आवश्यकता नहीं है, और यह बोये बिना ही उगता है। तदनन्तर जैसे स्वप्न देखनेवाला पुरुष अपने से अनुभूयमान नगर को उत्पन्न करता है, वैसे ही यह चिदात्मा भी पृथिवी आदिकी उत्पत्ति करता है। वस्तुतः स्वरूप से तो असंग चिदात्मक ही रहता है, वह जहाँ कहीं पर भी स्थित हो, जगद्रूपी अंकुर का त्याग करता ही है (जगद्रूप अंकुर को उत्पन्न करता है)। पंचभूत तन्मात्राएँ जगत् की बीज हैं और पंचतन्मात्राओं का बीज अविनाशी चिदात्मा है। जो बीज है, वही फल होता है, (क्योंकि कार्य और कारणका अभेद है)। इसलिए श्रीरामचन्द्रजी, आप जगत् को ब्रह्मरूप जानिये। इस प्रकार सृष्टि के आरम्भमें ये पंचभूततन्मात्राएँ, जो कि चिदात्मा की विषयप्रकाशनशक्ति से स्वस्वरूपभूता हैं, महाकाश में कल्पित हैं, वास्तविक नहीं है। यद्यपि ये ही पंचभूततन्मात्राएँ परस्पर संमिश्रण से स्थूलता को प्राप्त होकर इस सम्पूर्ण स्थूल प्रपंच का विस्तार करती हैं, तथापि ये आकाशमें प्रतीयमान रूप की भाँति अपनी कल्पना के अधिष्ठान चिदात्मा में स्थित होने के कारण ही सत् हैं, स्वतः सत् नहीं है, क्योंकि जिसका असिद्ध पदार्थ से साधन किया जाता है, वह कभी सिद्ध नहीं होता, यह निश्चित है। जो स्वरूप काल्पनिक है यानी वास्तविक नहीं है, वह कैसे सत्य हो सकता है ? ॥५–१२॥

शंका – ब्रह्म में अध्यस्त पंचभूततन्मात्राओं की ब्रह्ममात्रता भले ही हो, पर उनके कार्य जगत् की ब्रह्ममात्रता कैसे ?

समाधान – यदि 'ये ब्रह्मस्वरूप हैं' इस बुद्धि से पंचभूततन्मात्राएँ ब्रह्मस्वरूपा हैं, तो पंचतन्मात्राओं के कार्य स्थूल पांच महाभूत भी ब्रह्म ही हैं, उससे अतिरिक्त नहीं, क्योंकि कार्य और कारण की एकता दिनके समान प्रसिद्ध है। इससे यह सिद्ध हुआ कि चिरकाल से बद्धमूल तीनों जगत् ब्रह्म ही हैं।

शंका – यदि उनमें भेद नहीं है, तो अभिन्न पदार्थोंमें कार्यकारणभाव का व्यवहार कैसे होता है ?

समाधान – जैसे सृष्टि के पूर्व में ये कारणभूत पंचतन्मात्राएँ स्वरूपभूत स्थूल प्रपंच के प्रति कारणरूप से स्फुरित होती हैं, वैसे ही आज भी वे आगे होनेवाले अपने स्वरूप के प्रति ही कारण होती हैं, अतः उनमें कार्यकारणभावका व्यवहार होता है।

इस प्रकार यह जगत् न कभी उत्पन्न होता है और न उत्पन्न हुआ दिखाई देता है। जैसे संकल्प और मनोरथ द्वारा निर्मित नगर असत् होता हुआ भी सत्–सा प्रतीत होता है, वैसे ही ब्रह्माकाशरूपी परमप्रकाश आत्मा में जीवाकाशत्व असत् होता हुआ भी सत्–सा प्रतीत होता है। वस्तुतः चिदात्मा में पृथिवी आदिका संभव नहीं है, अतएव जैसे आकाशमें गन्धर्वनगर, घटाकाश, महाकाश आदि परिच्छिन्न आकाश आकाश से ही कल्पना द्वारा उत्पन्न हुआ है वैसे ही यह आकाशात्मा जीव भी कहा गया है (यानी परम प्रकाशरूप महाकाश में उत्पन्न

हुआ है), ऐसा ज्ञान से विशुद्धान्तःकरणवाले लोग देखते हैं ॥१३-१७॥

ब्रह्म के 'जीवोऽहम्' इस प्रकार के साधारण अभिमानसे समष्टिजीवभावको कहकर अब विशेष अभिमान से व्यष्टिजीवभाव द्वारा स्थूलदेहपर्यन्त तादात्म्य के आरोप के क्रम का विस्तार से प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं।

वत्स, जीवाकाश जिस प्रकार से इस देह को प्राप्त होता है, उस प्रकार को अब आप मुझसे सुनिए। चिदात्मा परमेश्वरमें कल्पित समष्टिजीवाकाश अतिविस्तृत होता हुआ भी मैं चिनगारी की नाईं अत्यन्त सूक्ष्म तेज का कण हूँ, इस प्रकार भावना करने से वैसा ही (अणुरूप ही) अपने को जानता है। इसी अभिप्राय से श्रुति ने कहा है – 'यथा अग्नेः क्षुद्रा विस्फुल्लिंगा व्युच्चरन्तयेवमेवास्मादात्मनः सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति' (जैसे अग्नि से छोटी-छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही इस आत्मा से ये सब जीव आविर्भूत होते हैं)। आकाश में आत्मरूप से जिस स्थूलता का चिन्तन करता है, भावना द्वारा तद्रूप ही अपने को स्थूलरूप-सा समझता है। जैसे संकल्प से कल्पित चन्द्रमा सत् नहीं है, वैसे ही जिसकी भावना करता है, वह स्वरूप सत् नहीं है, फिर भी सत्-सा प्रतीत होता है, उसीकी भावना करने से यह द्रष्टा-दृश्यरूप से स्थित है ॥१८-२०॥ स्वप्न में अपने मरणज्ञान के समान एक ही वह चिदात्मा द्वितीयता को प्राप्त होता है, पूर्वोक्त अतिसूक्ष्म तेजःकणस्वरूपता का परित्याग कर तारों के सदृश स्थूलता को मानों प्राप्त करता है अर्थात् यही उसकी भूत तन्मात्राओं से संवलित लिंगात्मता है। संकल्पित अर्थ की भावना से तथा विश्वात्मक होने से 'सोऽहम्' इस प्रकार वह तारकाकार आत्मा ही स्वात्मा हुआ ॥२१,२२॥

यह लिंगदेहज्ञान और भावी स्थूलदेहज्ञान चित्तकल्पना से ही होता है, ऐसा कहते हैं।

जैसे स्वप्न देखनेवाला पुरुष स्वप्न में पथिक बन जाता है, वैसे ही वह चित्त की कल्पना से मैं लिंगदेहाकार और भावी स्थूलदेहाकार हूँ, इस ज्ञान को धारण करता है। जैसे चित्त विषयाकारता को प्राप्त होता है यानी स्वप्न और मनोरथमें बाहर स्थित भी विषय बाह्यरूप का त्याग कर भीतर अन्तःकरणात्मना प्रतीत होता है, वैसे ही भावना करता हुआ यह चिदात्मा तद्रूपता को प्राप्त होता है, तदुपरान्त उपाधि से भीतर कल्पित आकाश में अपने स्वाभाविक रूप का त्याग करके बाह्य रूपता को प्राप्त करता है। जैसे बाहर स्थित भी, पर्वत दर्पण में भीतर स्थित-सा प्रतीत होता है, जैसे सर्वत्र व्यवहार करने में (यातायात में) समर्थ शरीर कूपजलमें प्रतिबिम्बित होकर कूपमें ही व्यवहार करनेवाला प्रतीत होता है, जैसे दूर से सुनने के योग्य गुहास्थित दीर्घशब्द गुहा आदि में ही स्थित रहता है, बाहर नही निकलता, जैसे स्वप्न और मनोरथमें संवित् देह में ही स्वप्न आदि देखती है, वैसे ही पूर्वोक्त स्फुल्लिंगसदृश उपाधि में स्वरूप से कल्पित तारका में स्थित चिदात्मा वासनामय देहादिका अनुभव करता है। तारकाकाशरूपी कोश में स्थित यह वासनामय देह आदि व्यवहारदृष्टि से विचार करनेपर बुद्धि, चित्त आदि रूप ही है, क्योंकि वह बुद्धि, चित्त आदि का परिणाम है और परमार्थदृष्टि से विचार करने पर तो वह ज्ञान, सत्ता और आनन्दरूप ही है। तदुपरान्त जीव 'मैं देखूँ' इस

भावना से आकाशमें विस्तार को प्राप्त होता है। जिन दो छिद्रों से वह भावी विषयों को देखता है उसका नाम नेत्र पड़ता है, जिससे विषयों को छूता है वह त्वचा नाम से विख्यात होती है, जिससे शब्दादि विषयों को सुनता है उसका नाम कान होता है और जिससे गन्ध आदि को सूँघता है वह नाक कहलाता है। वह अपने में अपने को देखता है (अनुभव करता है)। उसकी जो रसनेन्द्रिय है, वह पीछे जीभ नामसे प्रसिद्ध होती है, जिससे श्वासप्रश्वास आदि क्रिया होती है वह वायु उसके प्राण, अपान आदि से प्रसिद्ध होता है, उसकी जो चेष्टाएँ हैं वे कर्मेन्द्रियाँ होती हैं। इस प्रकार बाह्य विषयों और मानसिक विषयों की भावना कर रहा मनोमय शरीरधारी अतिसूक्ष्म जीव आकाशमें स्थित रहता है। पूर्वोक्त प्रणाली से उक्त तेज के कण में स्थूलता का अध्यास करता हुआ ब्रह्म ही जीवनामधारी होता है। यों जीवशब्द का अर्थभूत हुआ वह चिदात्मा ही विविध कल्पनाओं से, जो असत्य होती हुई भी सत्य–सी प्रतीत होती हैं, पूर्ण हो गया है। मनोमय शरीर ब्रह्म ही स्थूलदेहाकार (📖) बनकर यानी चिनगारी के आकार से लेकर बाह्य स्थूल विषयाकार पर्यन्त, जो स्वयं रचना की, तद्रूप बनकर अपनी रचना के अन्त में आवरण आदि से युक्त ब्रह्माण्ड को देखता है। कोई जीव जल के मध्य में स्थित ब्रह्माण्ड में 'अहम्' भावका ज्ञान होने से ब्रह्माण्ड को जानता है और कोई ब्रह्माण्ड के मध्यवर्ती ब्रह्मा के शरीर में 'अहम् ' भावना का ज्ञान होने से ब्रह्मा को जानता है। भाव यह कि चिनगारी से लेकर बाह्य स्थूल विषयाकार पर्यन्त स्वकल्पना को अपने संकल्पानुसार कोई ब्रह्माण्डरूप से जानता है और कोई हिरण्यगर्भरूप से। तदनन्तर आगे होनेवाले ब्रह्माण्ड की कल्पना को भी देखता है और उसका अनुभव भी करता है। मनोमय शरीरधारी जीव मन को ही आत्मा समझता है। अतएव आत्मरूप मन से अपने संकल्प के अनुसार गर्भरूपी घर (गर्भवासनिमित्त होने से गर्भगृह), देश, काल, कर्म, द्रव्य आदि कल्पनाओं की भावना करता हुआ नाम आदि का निर्माता मनोमय देहधारी वह ईश्वर ही स्वकल्पित तत् तत् नामों से पदार्थों को और अपने को भी असत्य जगद्भ्रममें बाँधता है। भाव यह कि जीवभावापन्न ईश्वर ही मन से देश, काल आदि विविध पदार्थों की कल्पना कर देश, काल आदि नामों की सृष्टि करता है और उन नामों से उन पदार्थों का सम्बन्ध स्थापित कर उनको और अपने को जगद्रूप भ्रम में बाँधता है। जैसे स्वप्न में आकाश में उड़ना असत्य है, वैसे ही मनोमय देहधारी परमात्मा पूर्वोक्त असत्य जगद्रूप भ्रममें मिथ्या ही विकासको प्राप्त होता है। इस प्रकार पूर्व में उत्पन्न न हुआ ही यह मनोमय देहधारी प्रजापति आदि स्वयम्भू उदित हुआ है। इस ब्रह्माण्डाकार भ्रम के होने पर भी कुछ भी नहीं हुआ है, कुछ भी पैदा नहीं हुआ है और न कुछ दिखाई ही देता है। केवल निर्मल अनन्त ब्रह्माकाश ही है। मनोरथ से कल्पित नगर के तुल्य यह जगत्प्रपंच सत्–सा प्रतीत होता हुआ भी सत् नहीं है। स्वयं उदित हुआ यह प्रपंच उस चित्र के सदृश है, जिसकी न तो किसी चितेरे ने तुलिका आदि बाहरी सामग्रीसे रचना की, न जिसमें विविध रंग भरे, न मानसिक

📖 चित्तदेहाम्बराकृत्तिः = जिसका सूक्ष्म मनोमय शरीर स्थूलता से स्थूल देहाकार बन गया है, वह है–चित्तदेहाम्बराकृति।

प्रयत्न से ही जिसका निर्माण हुआ, न किसीको अनुभव ही हुआ और जो न सत्य ही हो, फिर भी सत्य सा प्रतीत होता हो ॥२३-४२॥

तब जगत् को अदृष्ट संस्कार आदि सामग्रीसे उत्पन्न हुआ क्यों न माना जाय ? इस शंका पर कहते हैं।

महाकल्प के अन्त में ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ) आदि मुक्त हो जाते हैं, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है, इसलिए वर्तमान जन्म में ब्रह्मा की पूर्व जन्म की स्मृति तो जगत् की उत्पत्ति में कारण हो नहीं सकती ॥४३॥

भाव यह है कि–

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसंचरे। परस्याऽन्ते कृतात्मानः प्रतिशन्ति परं पदम् ॥

(ब्रह्मलोक में गये हुए कर्मी महाप्रलय होने पर ब्रह्मा के साथ एकीभूत होकर परम पद में प्रवेश करते हैं यानी मुक्त हो जाते हैं) तथा 'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् (प्रारब्ध कर्मों की अवस्थिति तक जीवन्मुक्तरूप से अधिकारियों की अवस्थिति रहती है, तदनन्तर वे विदेहमुक्ति को प्राप्त करते हैं) इत्यादि स्मृति और सूत्र में प्रदर्शित न्याय से महाकल्प के अन्त में उन पूर्व कल्प के ब्रह्मा आदि की मुक्ति हो जाती है, ऐसा निश्चय किया गया है। इसलिए, ब्रह्मा के अदृष्ट संस्कार से आगे के जगत् का निर्माण नहीं हो सकता। जो उपासक कल्प के आरम्भ में हिरण्यगर्भ आदि के पद को प्राप्त करता है, उसने पहले कभी यह विचित्र जगत् बनाया नहीं है, इसलिए उसे जगत् के निर्माण का अनुभव न होने से उससे संसार का संभव नहीं है, इसलिए जगत् को संस्कार से उत्पन्न नहीं कह सकते, किन्तु वह स्वप्न और इन्द्रजाल आदि के समान अकस्मात् उत्पन्न हुआ है, अतएव मिथ्या ही है, इसलिए जैसा संकल्पमय ब्रह्मा है, वैसे ही उससे उत्पन्न यह जगत् भी संकल्पमय ही है। यदि कोई शंका करे कि अनादि साक्षीरूप चेतन के अनुभव से जनित जगत् के निर्माण के संस्कार से जगत् की उत्पत्ति हो ? तो इस पर कहते हैं।

यदि पृथिवी आदि की सृष्टि के विषय में अनादि अनुभव को कारण मानो, तो साक्षीवेद्य होने के कारण स्वप्नानुभूत पदार्थ जाग्रतावस्था में जैसे (मिथ्या) होते हैं अनादि साक्षी के संस्कार से उत्पन्न जगत् भी वैसा (मिथ्या) ही हो जायेगा। जैसे स्वयम्भू (हिरण्यगर्भ) वर्तमान काल में जिसका स्मरण हो रहा है, ऐसे अतीत पदार्थ की नाईं शून्यमात्रस्वरूप है, वैसे ही उससे उत्पन्न जगत् भी शून्यमात्र स्वरूप है। जैसे किसी देश और किसी काल में जल से तरलता भिन्न नहीं होती है अर्थात् जल और द्रवता (तरलता) अभिन्न पदार्थ है, वैसे ही किसी देश और किसी काल में परमात्मा में जगत्सृष्टि का भेद नहीं है अर्थात् सृष्टि परमात्मा से भिन्न नहीं है। यह सृष्टि भ्रम से ही प्रौढ़ प्रतीत होती है, वास्तवमें केवल (जगत्–वैषम्य से रहित) परमात्मा ही स्थित है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है। अत्यन्त निर्मल चिदात्मा ही ब्रह्माण्ड–सा प्रतीत होता है। इस प्रकार यह दृश्य (जगत्), जिसका आत्मामें विशेषरूप से भ्रम हुआ है, शान्त, आधाररहित, आधेयशून्य, अद्वैत तथा द्वैत व्यवहार न होने के कारण ही

व्यावर्त्य न होने से एकत्व संख्यासे भी रहित ब्रह्मरूप ही है। यद्यपि जगत की भ्रान्ति होती है फिर भी उत्पन्न कुछ नहीं हुआ है। चारों ओर से शून्य, निर्मल चिदाकाश ही स्वरूप से स्थित है, न उसमें सम्पूर्ण संसार है, न उसका कोई आधार है, न कोई उसका आधेय है, न दृश्य है, न द्रष्टृत्व है, न ब्रह्माण्ड है, न ब्रह्मा है और न कहीं मदान्ध मोहान्ध जलरूपी गजघटा है। न जगत् है और न पृथिवी है। यह सम्पूर्ण दृश्य निर्मल ब्रह्म ही है। उक्त चिदात्मा ब्रह्म अपने में अपने से स्वयं विकास को प्राप्त होता है। तरल होने के कारण जैसे जल ही अपने में आवर्तरूप से प्रतीत होता है, आवर्त (भँवर) कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, वैसे ही चिद्रूप होने के कारण आत्मा में आत्मा ही जगत्–सा प्रतीत होता है, जगत् कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, यों यह असत् होता हुआ भी भ्रान्तिवश सत्–सा प्रतीत होता है ॥४४–५२॥

जैसे स्वप्न में प्रतीत हुआ असत् अपना मरण जाग्रत में बाधित हो जाता है, वैसे ही अज्ञानावस्था में प्रतीयमान यह दृश्य प्रपंच ज्ञान होने पर बाधित हो जाता है।

पूर्वोक्त रीति से अपवाददृष्टि द्वारा स्वरूपतः जगत् की असत्ता का प्रतिपादन किया गया है, अब अधिष्ठानदृष्टि से भी उसकी असत्ता का प्रतिपादन करते हैं।

अथवा ब्रह्मस्वरूप होने के कारण यह दृश्य प्रपंच निर्मल, परिपूर्ण, अद्वितीय, आदि और अन्त से शून्य चिदाकाशस्वरूप ब्रह्म ही है। उससे अतिरिक्त इसकी सत्ता ही नहीं है ॥५३॥

सिंहावलोकन न्याय से पूर्वोक्त सम्पूर्ण विषय का पुनः संक्षेप से निरूपण कर उपसंहार करते हैं।

परब्रह्म में कल्पित स्वयम्भू प्रजापति शून्य ही है। जो एकरस परमात्मा है, उसीका स्वयं असत् प्रजापतिरूप से आभास होता है, क्योंकि प्रजापति का मनोमय शरीर है पंचभौतिक शरीर नहीं है। ये पृथिवी आदि मनोमयशरीरवाले प्रजापति के संकल्पमात्र है, अतएव ये भी असत्य है। जैसे कभी उत्पन्न न हुआ खरगोश का सींग सत्य नहीं है, वैसे ही ये भी सत्य नहीं है ॥५४॥

तेरहवाँ सर्ग समाप्त

चौदहवाँ सर्ग

पूर्व सर्ग में वर्णित जीवभावमें परिच्छेद आदि सन्देहों का
युक्ति से खण्डन कर केवल मात्र ब्रह्मैक्य का वर्णन।

सबसे पहले समष्टि (हिरण्यगर्भ), उससे उत्पन्न विराट् और व्यष्टि जीव इस प्रकार के परिच्छेद के खण्डन के लिए श्रीवसिष्ठजी पूर्वोक्त विषय के अनुवाद द्वारा भूमिका बाँधते हैं।

जैसा कि पहले सर्ग में कहा गया है, उसके अनुसार अहन्ता आदि दृश्यसमूहभूत जगत् का अस्तित्व तनिक भी नहीं है, क्योंकि वह उत्पन्न ही नहीं हुआ है और जिसका अस्तित्व है, वह परमात्मा ही है। जैसे निश्चल सागर में जल स्पन्दता को (चंचलताको) प्राप्त होता है, वैसे ही सृष्टि के आरम्भमें परमप्रकाशरूप परमात्मा ही 'मैं जीव हूँ' इस प्रकार स्वयं जीवता की भावना

करता है। जैसे देह के अन्दर विद्यमान चेतनवृत्ति स्वप्न में देखे गये या मनोरथ द्वारा कल्पित पर्वत, नगर आदि में आत्मीयता के भ्रम से प्रेम करती है, वैसे ही अपनी आकाशरूपता (परमप्रकाशरूपता) का त्याग किये बिना ही संकल्परूप चिद्वृत्ति वक्ष्यमाण विराट् में आत्मत्वभ्रान्ति से मानों प्रेम करती है, यही मेरी आत्मा है, इस भ्रम से उसको मानों अपने प्रेमका पात्र समझती है। चिदात्मा की जो विराट्रूप देह है, वह पृथिवी आदिसे शून्य है, अर्थात् पांचभौतिक नहीं है, किन्तु मनोमय ही है (संकल्पजन्य ही है) अतएव वह चिन्मात्र निर्मल आकाशस्वरूप ही है, उससे पृथक् नहीं है। यदि स्वप्न में देखा गया पर्वत अक्षय (चिरस्थायी) हो और स्वप्न में दृष्ट नगर चिरकाल तक रहे, तो उनसे इस प्रपंचरूप विराट् देह की तुलना हो सकती है और सचमुच यह प्रपंच चित्रकारका चित्त यदि स्थिर हो और उसमें वासनामय स्थिर चित्र बने तो उसमें कल्पनालिखित सेना के सदृश है। बहुत कहाँ तक कहें, यह महान् खम्भों की उन प्रतिमाओं के सदृश है, जो कि गढ़ी नहीं गई है, ऐसे ही और भी अनेकों उपमानों से इसकी उपमा हो सकती है। मान लीजिये, यह प्रपंच चिदाकाशरूपी सुन्दर खम्भे में नहीं गढ़ी गई एक प्रतिमा है। आदि प्रजापति का भी, जो 'स्वयम्भू' इस नाम से सबसे पहले विख्यात हुआ, कोई कारण नहीं है, क्योंकि उसके पूर्वजन्म के कर्म नहीं है। क्यों नहीं ? ऐसी शंका के लिए यहाँ अवकाश ही नहीं है, क्योंकि हम पहले ही कह आये हैं कि महाप्रलय होने पर पूर्वकल्प के सभी प्रजापति मुक्त हो जाते हैं, अतः उनमें प्राक्तन (पूर्वजन्म का) कर्म कैसे रह सकता है ? जैसे आवरणरहित दर्पण आदि में प्रतिबिम्बरूप से पड़ी हुई दीवार आदि का स्वरूप दिखाई देता हुआ भी असत् होने से अदृश्य (दर्शनयोग्य नहीं) है, वैसे ही प्रजापति दृश्य होता हुआ भी सत् न होने से अदृश्य ही है और विकारशून्य चिदात्मा में कल्पित है। निर्विकार चिदात्मा में द्रष्टा, दृश्य तथा दर्शन, स्रष्टा, सृष्टि तथा सर्जन एवं भोक्ता, भोग्य और भोग इन सम्पूर्ण त्रिपुटियों का संभव ही नहीं है, अतः स्रष्टा प्रजापति असत् है। सबका निषेध होने पर भी शब्द और अर्थों की शून्यता नहीं है, कारण कि यह प्रत्यगातमा ही सम्पूर्ण शब्द और अर्थों का आत्मरूप से स्थित है। जैसे एक दीपक से अनेक दीपक उत्पन्न होते हैं (जलाये जाते हैं) वैसे ही सम्पूर्ण जीव उसीसे आर्विभूत होते हैं ॥१-१०॥

विराट् घनसंकल्पस्वरूप है, उसका कार्य होने से व्यष्ट्यात्मक जीव भी संकल्प ही है, पृथिवी आदि पंचभूतों से निर्मित नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे संकल्परूप हिरण्यगर्भ से मिथ्या होने के कारण अत्यन्त शून्य संकल्परूप विराट् उत्पन्न हुआ है तथा जैसे मिथ्याभूत स्वप्न से अन्य मिथ्याभूत स्वप्न उत्पन्न होता है, वैसे ही पृथिवी आदि से शून्य संकल्पात्मक विराट् से संकल्परूप जीव उत्पन्न हुआ है ॥११॥

व्यष्टि और समष्टि दोनों एकस्वभाव हैं। एकस्वभाव होने के कारण दोनों की एकता को सिद्ध कर उससे ब्रह्मैक्य सिद्ध हुआ है, ऐसा कहते हैं।

सहकारी कारणों के न रहने से जो निःसहाय (एकाकी) ही प्रतीत होता है, उस विराट् से जिन व्यष्ट्यात्मक जीवों का आविर्भाव होता है, वे आत्मस्वरूप ही हैं, उससे भिन्न नहीं,

क्योंकि एकमात्र वृक्ष से विस्तार को प्राप्त हुई शाखायें वृक्ष से भिन्न नहीं देखी जाती, यह भाव है ॥१२॥ सहकारी कारणों के न रहने पर कार्य और कारण एक ही यानी अभिन्न ही रहता है, पृथक् नहीं, अतः सहकारी कारण से शून्य चैतन्य से जनित सर्गभ्रम भी परस्वरूप (चैतन्यस्वरूप) ही है, उससे भिन्न नहीं है । ब्रह्म ही सर्व प्रथम होनेवाला हिरण्यगर्भ है, हिरण्यगर्भ ही विराटात्मा है, विराट् ही सृष्टिस्वरूप है इस प्रकार से वह चिदात्मा जीवरूप से स्थित है, जिससे असत् पृथिवी आदि उत्पन्न होते हैं अतः सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म के सिवा अन्य कुछ नहीं है, यह भाव है ॥१३,१४॥

व्यष्टि, समष्टि और उन दोनों की मूलभूत वस्तु के एक होने पर व्यष्टि और समष्टि का मिथ्यात्व और उनकी मूलभूत वस्तु का सत्यत्व कैसे कहते हैं ? यही क्यों नहीं कहते कि मूलभूत वस्तु और समष्टि अवास्तव (मिथ्या) है और प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध व्यष्टि विभाग सत्य है, क्योंकि सेना या समाज आदि स्थलों में समष्टि की निवृत्ति होने पर भी अवशिष्ट व्यष्टि से समष्टि की सत्यता देखी जाती है, इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी बोले :

भगवन्, क्या एकमात्र (परिमित) जीव है या अनन्त जीवों की राशि है या पर्वत के समान अनन्त आत्माओं का समुदायभूत जीवपिण्ड है ? तात्पर्य यह है कि व्यष्टिमात्र को सत्य मानें, तो व्यष्टिभूत एक जीव ही एकबुद्धि से परिमित होने के कारण या एक देश में रहने के कारण अथवा परस्पर संघर्ष से एक संघातरूप होने के कारण कल्पितरूप समष्ट्यात्मा हो सकता है ॥१५॥

व्यष्टि जीव को मानकर कल्पित समष्टि माननी चाहिए, अन्यथा मेघ की वृष्टिधार के समान, समुद्र के जलकणों के समान और अग्नि की चिनगारियों के समान समष्टि की उत्पत्ति मानने पर समष्टि के अनित्य होने से कृतहानि और अकृतप्राप्ति रूप दोष होगा, इस आशय से कहते हैं ।

मेघ से वृष्टिधाराओं के समान, समुद्र से जलकणों के समान, तपाये हुए लोहे के गोले से चिनगारियों के समान ये जीव किससे आर्विभूत होते हैं ? भाव यह कि जिससे आर्विभूत होते हैं, उसकी उपपत्ति नहीं हो सकती () ॥१६॥

भगवन्, मेरी शंका को दूर करने के लिए मुझसे जीवसमूह का निर्णय कीजिए । विशेषरूप से जानने की इच्छा से मैंने आपके कथन के विपरीत प्रश्न आपसे किया है । मन्दबुद्धि होने के कारण मैं आपके आशय को नहीं समझ सका, इसलिए नहीं किया है, वैसे ही ।

जो पूर्व में आप मुझसे कह आये हैं, उसे प्रायः सामान्यरूप से मैं समझ गया हूँ, उसीको अब आप विशेषरूप से स्फुट कीजिये ॥१७॥

केवल एकमात्र ब्रह्म ही है, यह सिद्ध करना हमारा प्रयोजन है, उक्त प्रयोजनकी सिद्धि के लिए हमने एक ब्रह्मरूप अधिष्ठान में अनेक कल्पना करने से लाघव है, यह सोचकर

अनुपपत्ति में कारण है – समष्टि की यदि उत्पत्ति मानोगे, तो समष्टि का जन्य होने के कारण विनाश हो जाने से कृतहानि-अकृताम्यागमरूप दोष होगा ।

समष्टिजीवकी कल्पना कर उससे उपहित व्यष्टि जीवकी कल्पना कही है। हमारी यह कल्पना व्यष्टि और समष्टि में से किसी एककी सत्यता के लिए या जीवों की उत्पत्ति आदिका प्रतिपादन करने के लिए नहीं है, इसलिए इस विषयमें आपकी शंका के लिए अवकाश ही नहीं है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी बोले :

हे वत्स, जब एक भी जीव नहीं है, तब जीवों की राशियों का तो सम्भव ही कहाँ है ? आपका पूर्वोक्त प्रश्न ऐसा ही उपहासास्पद है, जैसे कोई कहे कि खरगोश का सींग उड़कर जाता है। भाव यह कि यदि खरगोश के सींग का संभव हो, तो वह उड़ कर जाता है या स्थिर रहता है, ऐसा सन्देह हो, जब खरगोश के सींग की ही सत्ता नहीं है, तब उसकी गतिविधि के विषय में संशय करना उपहास्य नहीं तो और क्या है ? जब जीव हो, तब उसकी राशि या संघात की कल्पना हो, जीव ही जब असत् है, तब उसके विषय में अन्यान्य कल्पनाओं का अवकाश ही कहाँ है ? हे राघव, न तो एक जीव है, न जीवों का समूह है और न पर्वताकार कोई जीवसंघात ही है। हे श्रीरामचन्द्रजी, सम्पूर्ण दृश्य आभासों से युक्त कोई भी जीव–प्रतिभास चिदात्मा में नहीं है, ऐसा आपको दृढ़ निश्चय हो। केवल एकमात्र शुद्ध, चिद्घन, सर्वव्यापक निर्मल ब्रह्म ही है, वह सर्वशक्तिसम्पन्न होने से जिन कल्पनाओं की भावना करता है, स्वंय तद्रूप हो जाता है। जैसे लता क्रम से अपनी कोरकितावस्था और प्रफुल्लितावस्था को देखती है, वैसे ही ब्रह्म भी उन–उन संकल्पात्मक वृत्तियों के क्रम से प्राप्त हुए आभासों के प्रवेश से ही मूर्त अथवा अमूर्तरूप से आविर्भूत कल्पनाको शीघ्र देखता है। विकास को प्राप्त हो रही अपनी सत्ता को ही जीव, बुद्धि, क्रिया, स्पन्द, मन, द्वित्व, एकत्व आदि रूप से ज्ञानविषय करता है अर्थात् उक्त रीति से विकास को प्राप्त हो रही अपनी सत्ता को ही जीव आदि रूप से जानता है ॥१८–२३॥

इस प्रकार से इसका (ब्रह्म का) विकास केवल अविद्या से ही होता है, स्वतः नहीं, अविद्या की निवृत्ति हो जानेपर तो विक्षेपशून्य स्वरूपमात्र से इसकी अवस्थिति रहती है, ऐसा कहते हैं।

उक्त ब्रह्मसत्ता में जब अज्ञानरूप आवरण रहता है, तब वह पूर्वकथनानुसार विविध रूपों को प्राप्त होती है। बोध से तो वह ब्रह्म ही है। आत्मज्ञान से अज्ञान का विनाश हो जाता है, पर आत्मज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ है ॥२४॥

अज्ञान जब निवृत्त होता है, तब निवृत्त हुआ अज्ञान किस रूप से रहता है ? ज्ञानरूप से उसका शेष रहना तो सम्भव नहीं है, क्योंकि एक तो ज्ञान अज्ञान का कारण नहीं है, जिससे कि वह ज्ञानरूप से रहे। दूसरी बात यह है कि ज्ञान और अज्ञान में परस्पर विरोध है, इस कारण भी वह ज्ञानरूप से नहीं रह सकता। किसी अन्य के रूप से उसका परिशेष रहता है, यह भी नहीं बन सकता, क्योंकि अन्य वस्तु शेष ही नहीं रहती, ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

जैसे अन्धकार से आच्छन्न स्थान में दीपक लेकर अन्धकार को देखने से अन्धकार न मालूम कहाँ भाग जाता है, उसके मूल का पता नहीं लगता है, ठीक इसी प्रकार ज्ञान होने पर अज्ञान न मालूम कहाँ चला जाता है ? उसका कुछ भी पता नहीं लगता ॥२५॥

जिस विषय का पहले विस्तार से उपपादन कर आये हैं, उसीका अब उपसंहार करते हैं।

इस प्रकार अखण्ड, अनवच्छिन्न, अनादि, अनन्त तथा सर्वशक्तिमान् जीवात्मा, जो कि कभी बाधित न होनेवाले महाचैतन्यरूपी सारभूत अंश से परमार्थतः रूपवान् है, ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं है ॥२६॥ ब्रह्म सब प्रकार से – देश, काल और परिमाण से अपरिच्छिन्न है, अतः वास्तव में उसका कहीं पर भी भेद नहीं है और जो उसमें भेदकल्पना होती है, वह वही है, उससे अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा ही सर्वत्र अनुभव होता है, भाव यह है कि जैसे वन के सम्पूर्ण वृक्षों को काट देने पर वृक्षों द्वारा प्रतीत होनेवाला प्रकाश का भेद चला जाता है, वैसे ही विषयभेद के हट जाने पर विषयभेद कल्पनाप्रयुक्त भेद भी चला जाता है ॥२७॥

श्रीवसिष्ठजी ने जो कहा, उसको स्वीकार कर, श्रीरामचन्द्रजी जैसा कि आप कह आये हैं, वैसे ही यदि व्यष्टि और समष्टि जीवों का अभेद माना जाय, तो समष्टि की इच्छा (सत्यसंकल्प) जैसे अमोघ है, वैसे ही व्यष्टि जीवों की इच्छा भी समष्टि का धर्म होने से अमोघ हो जायेगी, ऐसी परिस्थिति में अमुक को भोग और अमुक को मोक्ष होता है, ऐसी शास्त्र की व्यवस्था नहीं बनेगी, क्योंकि सत्यसंकल्प होने से जो–जो चाहेगा, वही हो जायेगा ऐसी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, आपका कथन ठीक है, उसको मैं स्वीकार करता हूँ। पर इसमें मुझे एक सन्देह होता है। वह यह कि एक जीव की जैसी इच्छा होती है, वैसी ही इच्छा जगत् के अन्यान्य सम्पूर्ण जीवों की क्यों नहीं होती ? क्योंकि महाजीव तो एक ही है, उसीके अनुसार सब जीवों में एक ही इच्छा होनी चाहिए, यह भाव है ॥२८॥

ब्रह्म पहले सत्यसंकल्पवाले समष्टिजीवभाव को प्राप्त होता है, तदनन्तर अपने संकल्प के अधीन रहनेवाले व्यष्टिजीवभाव को प्राप्त होता है। समष्टिजीव के संकल्प से विरुद्ध अर्थ में व्यष्टिजीवों की सत्यसंकल्पता की सिद्धि नहीं होती, यों श्रीरामचन्द्रजी की शंका का समाधान कर रहे श्री वसिष्ठजी बोले :

वत्स, व्यष्टिविभाग से पहले व्यष्टिविभाग से रहित सर्वशक्तिसम्पन्न महाजीवरूप वह ब्रह्म 'मैं ही सदा सब जीवों में सत्यसंकल्प होऊँ' – ऐसी इच्छा करता है। वह जिस किसी वस्तु की इच्छा करता है, वह उस महात्माको सदा शीघ्र प्राप्त हो जाती है। उसने पहले अपने सत्यसंकल्पत्व और दूसरों की इच्छा के निरोध की इच्छा की, तदुपरान्त व्यष्टिविभाग का उदय हुआ, फिर उसने व्यष्टिविभाग को प्राप्त हुए अपने अंशभूत जीवों का क्रियाक्रम दण्ड, चक्र आदि बाहरी सामग्री से इस प्रकार घुमाने से घट आदि कार्य की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार का क्रियाक्रम बनाया। केवल संकल्प से उनके कार्य की सिद्धि नहीं होती, यह भाव है ॥२९,३०॥

अन्य महर्षियों का भी तो, क्रियाक्रम के बिना, संकल्प से ही कार्य सम्पन्न होते देखा जाता है, सो कैसे ?

उक्त क्रियाक्रम के बिना व्यष्टि जीवों के कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है, इस बात के निश्चित होने पर जो कहीं पर महर्षि आदि व्यष्टि जीवों की क्रियाक्रम के बिना इच्छा से ही

कार्य की उत्पत्ति होती है, वहाँ पर प्रधान (समष्टिजीव) की ही इच्छा से कार्य होता है, इसका यह संकल्प सिद्ध हो, ऐसी प्रधान की ही इच्छा वहाँ पर हेतु होती है, यह भाव है। यह नियम जन्मरहित ब्राह्मी शक्ति ने ही बनाया है ॥३१,३२॥ जिस जीव की (महर्षि आदि की) इच्छा कार्य को उत्पन्न करती है, वह प्रधान शक्ति की अपेक्षा करके ही कार्य को उत्पन्न करती है, प्रधान शक्ति के नियम के अनुष्ठान के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है ॥३३॥

उक्त क्रियाक्रम की भी फल सिद्धि प्रधान के संकल्प के अधीन ही है, ऐसा कहते हैं।

यदि प्रधान शक्ति का नियम फलसिद्धि (कार्यसिद्धि) के अनुकूल न होगा, तो कार्यों की हेतुभूत चेष्टाओं का भी कहीं पर फल नहीं होगा, क्योंकि कार्यजनक चेष्टाएँ भी शक्ति के ही अधीन हैं ॥३४॥

इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि ब्रह्म ही महाजीव है और महाजीव ही व्यष्टिजीव और समष्टि जीव है, यों उपसंहार करते हैं।

इस तरह ब्रह्म ही अजन्मा और अविनाशी महाजीव है तथा महाजीव ही जीवों की व्यष्टि और समष्टि रूप दो कोटियाँ हैं, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥३५॥

पहले विस्तार से कही गई बातों को ही, सरलता से उनका ज्ञान हो इसलिए, संक्षेप से दिखलाते हैं।

ब्रह्म ही विषयों के संकल्प से (चिन्तन से) जीव होता है और जन्ममरणरूप संसार को प्राप्त होता है। विषयसंकल्प का त्याग करने से फिर वैषम्यरहित ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता है ॥३६॥

जीवों को ब्रह्मभाव की प्राप्ति या तो उपासना द्वारा समष्टिजीवभाव (हिरण्यगर्भ भाव) प्राप्तिपूर्वक क्रमशः होती है या ज्ञान से साक्षात् होती है, – ऐसा कहते हैं।

जैसे ताँबा आदि धातुओं की सुवर्णता रस और औषधियों द्वारा पाकक्रम से होती है या पारस के सम्बन्ध से क्रम के बिना ही तुरन्त हो जाती है, वैसे ही व्यष्टि जीवों की पूर्वोक्त ब्रह्मभावरूप महाजीवता या तो समष्टिजीव के क्रम से (पहले वे उपासना द्वारा हिरण्यगर्भपद को प्राप्त होते हैं, तदुपरान्त हिरण्यगर्भ के साथ ब्रह्मभाव को प्राप्त होते हैं, इस क्रम से) या बिना क्रम से (ज्ञान से साक्षात् ब्रह्मभाव को प्राप्त होते हैं) उदित होती है ॥३७॥

यदि भलीभाँति विचार किया जाय, तो जीवभाव और जगत् भाव वास्तव में एक प्रकार का चित् का चमत्कार मात्र ही है, कोई अतिरिक्त वस्तु नहीं है, – ऐसा कहते हैं।

यद्यपि पूर्वोक्त रीति से इस प्रत्यक्–चैतन्यरूप महान् आकाश में यह जीव, जगत् आदि समुदाय असत् ही है, तथापि उक्त महान् आकाश में चित् (संवित्) का चमत्काररूप चिदात्मा ही जीव आदिरूप से सत् की नाईं उदित होता है। चिति का चमत्कार जो स्वयं ही भविष्यत् नाम, देह आदि भाव को प्राप्त होता है, उसके अहंकार को भावना कहते हैं ॥३८,३९॥

चिति का चमत्कार क्या है ? इस प्रश्न पर चमत्कार के विषय में कहते हैं।

जगत् के संस्कार से संस्कृत (जगत् की वासना से वासित) माया में प्रतिबिम्ब पड़ने के

कारण जगत् की वासना से वासित माया के साथ एकरूप होकर चित् का जो अपने स्वरूप का आस्वाद है, वही चित्–चमत्कार है और वही यह असीम भुवनविस्तार है, वह चिन्मय होने से आत्मचित् में प्रतीत होता है। चिति ने जिसका आस्वाद लिया, वह अविनाशिनी चिति यद्यपि वास्तविक चिति से भिन्न नहीं की जा सकती, फिर भी अपनी शक्ति से ही परिणाम, विकार आदि शब्दों से पुकारा जाता है अर्थात् अज्ञानी जन उसे वास्तविक चित् का परिणाम, विकार आदि समझते हैं। चिति द्वारा अपने स्वरूपभूत प्रकाश का और अपने द्वारा प्रकाशित होनेवाले विषयों का एकरूपता को प्राप्त जो स्वाभाविक आस्वादन है, वही 'जगत्' इस भ्रम से स्थित है। भाव यह कि चिति अपना और चेत्य का स्वभाव से जो स्वाद लेती है, ऐसा स्वाद कि जिसमें चित् और चैत्य का पार्थक्य तनिक भी प्रतीत नहीं होता, वही स्वाभाविक स्वाद भ्रान्तिवश जगत्रूप से प्रतीत होता है ॥४०–४२॥

तथापि पहले अहन्ता का दर्शन होता है, तदुपरान्त अहन्ता द्वारा किये गये परिच्छिन्न जगत्रूप की प्रतीति होती है, – ऐसा कहते हैं।

चिति की आकाश से भी सूक्ष्म जो शक्ति चारों और फैली है, वह स्वभाव से ही पहले इस अहन्ता का दर्शन करती है। उस समय जैसे जल में जल से जल ही बुद्बुदे या लहररूप में प्रतीत होता है, वैसे ही यह चिति भी आत्मा में आत्मा से स्वयं ही जो अतिसूक्ष्म अहन्तारूप में स्फुरित होती है तथा बाहर स्थूलता का अधिकाधिक उत्कर्ष करने पर अन्त में जो ब्रह्माण्डाकार बन जाती है, उस अणुरूप अहन्ता को देखती है ॥४३,४४॥

इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि चित् के चमत्कार का ही 'जगत्' यह नाम रक्खा गया है, जगत् कोई पृथक् वस्तु नहीं है, ऐसा कहते हैं।

चमत्कार करना (चमकना) चित् का स्वभाव ही है। चमत्कार करनेवाली चिति अपने स्वरूप में स्वयं जो सुन्दर चमत्कार करती है, उसी का नाम जगत् रख दिया गया है ॥४५॥

चिति अहंकार की कल्पना करती है, अहंकार में तन्मात्रादिरूप जगत् की कल्पना होती है। ऐसी परिस्थिति में जिससे दूसरे की कल्पना होती है, वही अवशिष्ट रहता है, ऐसा कहते हैं।

हे रामचन्द्रजी, चित् से अहंकार की कल्पना होती है और अहंकार से चेत्य की (तन्मात्रादि जगत् की) कल्पना होती, ऐसी अवस्था में कल्पना चित् से अतिरिक्त नहीं है, अतएव तन्मात्रादि जगत् भी चित् ही है। उसमें द्वित्व और एकत्व कहाँ हैं ? भाव यह कि जब द्वितीय हो, तब द्वित्व रहे, द्वित्व के अभाव में व्यावर्त्य न होने के कारण एकत्व भी नहीं है ॥४६॥

सत्य और असत्य कल्पनाओं के मध्य में 'त्वम्' 'अहम्' इस प्रकार चेतन के परिच्छेद की जो कल्पना है, उसीका त्याग करना कठिन है, उसका त्याग यदि हो जाय, तो उक्त कल्पनाओं में अवशिष्ट सद् वस्तु स्वयं सन्मात्र हो जाती है, क्योंकि तब विकल्प करनेवाला कोई रहता ही नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जीवभाव के प्रति कारणभूत वासना, कर्म आदि का त्याग होने पर

'त्वम्', 'अहम्' इत्यादि चेतनपरिच्छेद का त्याग कीजिये। सत् और असत् कल्पनाओं के मध्य में जो बच जायेगा, वही सत् होगा ॥४७॥

ज्ञान से दृश्य और दृश्य की सत्ता का नाश होने पर पूर्वसिद्ध जो अधिष्ठानसत्ता है, वह ज्यों-की-त्यों उदित होती है, जैसे कि मेघों के हट जाने पर निर्मल आकाशसत्ता उदित होती है, ऐसा कहते हैं।

जैसे चित् ने पहले अपनी जैसी सत्ता का ग्रहण किया था, वही सर्वाधिष्ठानसत्ता ज्ञान होने पर ज्यों-की-त्यों उदित होती है, जैसे कि मेघों के हट जाने पर पूर्वसिद्ध आकाश की निर्मल सत्ता उदित होती है। सत् और असत् इस प्रकार के सत्ता भेद को हम नहीं जानते ॥४८॥

पूर्वोक्त रीति से बतलाये गए निष्प्रपंचत्व को (प्रपंच के अभाव को) अनुमान से भी दृढ़ करते हैं।

मन की चेष्टारूप (संकल्परूप) सूक्ष्म जगत् शून्य ही है और देवताओं का (इन्द्रिय और उनके अधिष्ठाता देवताओं का) निवासभूत साकार और स्थूल जो विश्व है, वह भी शून्य ही है, क्योंकि दोनों चित् के चमत्काररूप हैं, उससे भिन्न नहीं हैं ॥४९॥

उक्त अनुमान में व्याप्ति आदि की सिद्धि के लिए उदाहरण (दृष्टान्त) आदि दिखलाते हैं।

जो वस्तु जिस वस्तु की विलास (विकार) होती है, वह उससे कभी भी भिन्न नहीं होती, अवयवयुक्त जल आदि के कार्य तरंग आदि में भी ऐसा देखा गया है, फिर निरवयव चित् के कार्य में तो कहना ही क्या है ? *वहाँ तो अवश्य ही ऐसा है, यह भाव है* ॥५०॥

उपर्युक्त कथन से यह निष्कर्ष निकला कि नाम और रूप से रहित तथा अपरिच्छिन्न (असीम) चित् का जो रूप है, वही जगत् का वास्तविक रूप है, ऐसा कहते हैं।

सदा अचेतन्य (रूपरहित), नामरहित और सर्वव्यापक चित् का जो रूप है, वही रूप चित्स्फुरणरूपी (चिद्विलासरूपी) जगत् का है ॥५१॥

यदि कोई इसे चिद्रूप न देखकर जगद्रूप देखे, तो भी यह जगद्रूप रचना चित् की ही रचना है, ऐसा कहते हैं।

मन, बुद्धि, अहंकार, पंच महाभूत, पर्वत, दिशाएँ इत्यादि जो अनेक रचनाएँ हैं, वे चित् ही हैं, उससे भिन्न नहीं हैं, क्योंकि जगत् की स्थिति चिद्रूप ही है ॥५२॥

यों जगत् के चिन्मय (चैतन्यमय) होने पर जगत् चिति का धर्म ही सिद्ध होता है, ऐसा कहते हैं।

हे रामजी, चिति का धर्म जो चितित्त्व है, उसीको आप जगत् जानिये, चितित्त्व (चिद्धर्म) जगत् से अतिरिक्त नहीं है। यदि चितित्त्व को जगत्त्व से भिन्न मानो, तो चिति अचित् (चित् से भिन्न) हो जायेगी। भाव यह कि अपने धर्मभूत चितित्त्व को (जगत् को) प्रकाशित करने के कारण ही उसका नाम चिति पड़ा है। यदि चितित्त्व जगत्त्व न माना जायेगा, तो उक्त प्रयोजन के अभाव में वह चिद् से भिन्न कही जायेगी। इस प्रकार चित् और चितित्त्व का (जगत् का) कल्पनारूप ज्ञान से भेद है, वास्तव में कोई भेद नहीं है, ऐसी परिस्थिति

में जगत् कहाँ से होगा ? ॥५३॥

पहले वर्णित जगत् की चिन्मात्रता का, वचनभंगी से भलीभाँति बोध कराने के लिए, फिर वर्णन आरम्भ करते हैं।

प्रकाश की बीजभूत चिति का जो स्वकीय अन्तश्चमत्कार (पदार्थों की प्रथम शक्ति–प्रकाशनशक्ति) है, वह जीव और जीव की उपाधिभूत तन्मात्र बनकर जगत् के वेश से स्थित है ॥५४॥

तदुपरान्त चित्त से अहंकारशक्ति का स्फुरण ही स्पन्दशक्ति प्राण के साथ मिलकर जीवशब्द से कहा जाता है, ऐसा कहते हैं।

चित् का चित्त से (संकल्प द्वारा) अपनी शक्ति का विकास रूप जो अहंकार है, वह स्पन्दशक्ति प्राण से युक्त होकर भविष्य में 'जीव' नाम को प्राप्त होता है ॥५५॥

वैसा होने पर भी चित् के स्वभाव में अन्तर नहीं आता, ऐसा कहते हैं।

यद्यपि चित् का चित्त्वरूप से (जीवभाव–जगत्भावरूप से) विकास अपने विकार अहन्ता आदि से अवच्छेद्य (परिच्छेद के योग्य) होकर अपने द्वारा बनाये जानेवाले जीव आदिनामक हो गया है, तथापि उपाधि आदि से अवच्छिन्न रूप का, उपाधि के मिथ्या होने से, अस्तित्व नहीं है। जब उसका अस्तित्व है ही नहीं, तब भेद का प्रसंग कहाँ से होगा ?॥५६॥

चित्–शक्ति और स्पन्दशक्ति के भेद से चित्शक्तिरूप अहंकार और स्पन्दशक्तिरूप प्राण इन उपाधियों से युक्त जीवकृत भेद है ही, इस शंका पर कहते हैं।

चितिरूपी (चित्प्रधान) कर्ता यानी अहंकार और स्पन्दरूपी (स्पन्दप्रधान) कर्म यानी प्राण में कोई भेद नहीं है। चित् का स्पन्दमात्र ही तो कर्म (प्राण) है। क्या कर्ता भी कभी अपनी क्रिया से भिन्न होता है ? चित् और स्पन्द से संवलित ही जीव कहा गया है, अतः जीवप्रयुक्त भेद नहीं है, यह भाव है ॥५७॥

चित्त, मन, इन्द्रिय आदि भाव में भी जीवकृत भेद नहीं होता, क्योंकि जीव का उपाधिरूप मन ही विभिन्न गोलकों के (इन्द्रियों के चिह्न आँख, कान, नासिका आदि) भेद से इन्द्रियरूप हुआ है, ऐसा कहते हैं।

जीव चित् का चित्तपरिस्पंदरूप (संकल्परूप) है और पुरुषों का चित्त भी संकल्परूप ही है और मन भी तत् तत् गोलकों के भेद से इन्द्रियरूप होकर नानारूप होता है ॥५८॥

पूर्वोक्त रीति से जगत् और जीवकृत भेद का खण्डन करने पर निष्कर्ष कहते हुए उपसंहार करते हैं।

चूँकि अति तुच्छ कार्य–कारण आदिभावरूप जगत् चित् से अतिरिक्त नहीं है, अतः वह पूर्वोक्त रीति से चित्–प्रकाश की छटा(एक हिस्से) की तरह ही है, उससे भिन्न सत्ता और स्फूर्तिवाला नहीं है, इसलिए वह प्रत्यगात्मरूप ही ठहरा, यह भाव है ॥५९॥

उक्त ज्ञान होने पर सम्पूर्ण अनर्थों की निवृत्ति हो जाती है, ऐसा दर्शाते हैं।

तदनन्तर सच्चिदानन्दरूप मैं न काटा जा सकता हूँ, न जलाया जा सकता हूँ, न सड़ाया

जा सकता हूँ और न सुखाया जा सकता हूँ, मैं अविनाशी, सर्वव्यापक, स्थिर स्वभाववाला अतएव अचल (चलन आदि क्रिया से रहित) हूँ, ऐसा ज्ञान होता है ॥६०॥

यह न जानने से ही द्वैतवादी इस विषय में वादविवाद करते हैं, पर हम लोगों को इसमें विवाद नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे अपने भ्रम से (भ्रान्ति से) औरों को भ्रम में डाल रहे लोग विवाद करते हैं (✍) वैसे ही अद्वितीय अखण्ड चित्घन परमात्मा के विषय में भ्रान्त द्वैतवादी वाद–विवाद करते हैं, परन्तु हम लोग तो भ्रमरहित हो गये हैं, अतएव हमारे लिए विवाद का अवसर ही कहाँ है ॥६१॥

अज्ञ और अभिज्ञ लोगों की दृश्य प्रपंच के विषय में जो मूर्त (साकार) और अमूर्त भावना है, उसीसे उसमें सत्यत्व और असत्यत्व से उत्पन्न द्वैत और अद्वैत भेद है अर्थात् आत्मज्ञानी दृश्य को, स्वप्न की भाँति अमूर्त होने के कारण, असत्य मानते हैं, अतः उनकी दृष्टि में अद्वैत है और अज्ञानी उसे मूर्त देखने के कारण सत्य समझते हैं, अतः उनकी दृष्टि में द्वैत है, ऐसा कहते हैं।

अज्ञ लोगों की दृष्टि से मूर्त प्रतीत होनेवाले अतएव सत्य दृश्यमें विकार आदि द्वैतकी प्रतीति होती है, आत्मज्ञानी की दृष्टि से अमूर्त (निराकार) अतएव स्वतः असत्य चिदाकाशरूपी दृश्यमें विकार आदि द्वैत की प्रतीति नहीं होती है ॥६२॥ चिद्रूपी वसन्त की शोभाभूत माया दृश्यमें आसक्तिरूप (अनुरागरूप) जल के सिंचन से चित्रूपी वृक्षमें काल आदि नामक अपनी मंजरीको, जो कि आकाशमें (प्रथम उत्पन्न आकाश नामक भूतमें) विकास को प्राप्त होती है, फैलाती है। भाव यह कि जैसे वसन्तशोभा जलके सिंचन से वृक्षोमें, ऊँची ऊँची टहनियोंमे, सुन्दर बौरको उत्पन्न करती है, वैसे ही चित् की शक्ति माया दृश्य प्रपंचमें आसक्तिवश चित् में प्रथम उत्पन्न आकाश में विकास को प्राप्त काल आदि को फैलाती है ॥६३॥

जैसे ब्रह्म स्वाधीन कल्पनाओं के क्रमसे जगद्भाव और जीवभावको प्राप्त हुआ है, वैसे ही स्वाधीन बोध क्रमसे सत्–चिदानन्दघन अपने स्वरूप में स्थित होता है, ऐसा कहते हैं।

चित् संवित् स्वयं अपने स्वरूप में किसी प्रकार का विकार आये बिना ही विचित्र आकाशके रूप में आविर्भूत होती है। तदुपरान्त चिति स्वयं ही आकाश से उत्पन्न होनेवाला वायु होकर विलक्षण स्पन्द (कम्पन) के साथ आविर्भूत होती है। तदनन्तर आगे कहे जानेवाले तेज की उत्पत्ति के उपरान्त चिति स्वयं जलतत्त्व बनकर विचित्र विकास को प्राप्त होती है। उक्त जल तलाब, तलैया आदिके जल से भिन्न था, क्योंकि पृथिवीकी सृष्टि से पहले तालाब आदिसे उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता। जलकी सृष्टि होने के बाद चिति स्वयं ही सुवर्ण, रजत आदि विचित्र धातुओं से परिपूर्ण पृथिवीतत्त्व को–देवता, असुर,

---

✍ अथवा ऐसा अर्थ करना चाहिए – अपने भ्रमण से चक्राकार घूमने से और लोगों को भ्रमयुक्त समझ रहे भ्रमि (भ्रमण) करनेवाले लोग 'तुम भ्रमण कर रहे हो', यों विवाद करते हैं, ऐसा अर्थ भी प्रतीत होता है, क्योंकि स्वयं चक्कर खा रहे लोगों को अन्य लोग या वस्तुएँ घूमती प्रतीत होती हैं।

मनुष्य आदि के देहभाव को प्राप्त हुई ॥६४,६५॥

सम्पूर्ण जगत् को आह्लादित करनेवाला चन्द्रमा भी वह स्वयं ही हुई, ऐसा कहते हैं।

सदा उदित चिति ही स्वयं अपने विचित्र रसवाले उल्लासों से (पृथिवी में होनेवाले औषधरस भी चन्द्रमा के ही अधीन हैं, अतएव उन उल्लासों से) युक्त चाँदनी (चन्द्रमा) और महान् चिदालोकरूपी प्रकट तेज भी हुई ॥६६॥ चिति स्वयं अपने (चैतन्यरूप ब्रह्म के) ज्ञान से ही दृश्य प्रपंच के विनष्ट होने पर उदित हुए अपने पूर्ण भाव को प्राप्त होकर स्थित होती है और स्वयं ही जड़तावश स्थावर आदि जड़ पदार्थों में अहम्भाव करने से सुषुप्त पदको (अज्ञानताको) प्राप्त होती है ॥६७॥

जो बात पहले ऊपर कही जा चुकी है, उसीको संक्षेप में कहते हैं।

चिन्मय ब्रह्म ही अविचारदशा में स्पन्दस्वभाव (श्वासोच्छ्वास क्रिया करनेवाले) प्राण आदि में आत्मत्व की कल्पना करने पर यानी अज्ञानवश स्पन्दस्वभाव प्राण ही मैं हूँ, ऐसी कल्पना करने पर संसारी होता है। विचार करने से जब मैं चित् ही हूँ, यों चित्ता का उदय हो जाता है, तब अपने स्वभावभूत चित् में ही स्थित होता है ॥६८॥

चिन्मय का संसार है या नहीं है ? यदि है, तो उसमें संसारापत्ति हो जायेगी। यदि नहीं है, तो उसका असत्ता से सम्बन्ध हो जायेगा, ऐसी आशंका करके ब्रह्म की सत्ता से जगत् का सदा अस्तित्व ही है और अपनी सत्ता से तो उसका असत्त्व ही है। ऐसा कहते हैं।

जगत् चिद्रूपी तेज का आलोक रूप है, ब्रह्मसत्ता से उसका अस्तित्व ही है और जगत् सत्ता से अभाव ही है। चिद्रूपी आकाश की शून्यतारूप जगत् है भी और नहीं भी है, यानी ब्रह्मसत्ता से उसकी सत्ता है और जगत् सत्ता से अभाव है। जगत् चिद्रूपी आलोक का महान्रूपभूत है, ब्रह्मसत्तासे उसकी सत्ता है और जगत् सत्ता से अभाव ही है। जगत् चित्–रूपी वायु का स्पन्दनस्वरूप है, उसका अस्तित्व है भी और नहीं भी है यानी ब्रह्मसत्ता से उसका अस्तित्व है और जगत् सत्ता से अभाव है। जगत् चिद्रूपी सूर्यालोक (सूर्यप्रकाश) से जनित दिवसरूप है, वह है भी और नहीं भी है। यह जगत्भ्रम चिद्रूपी काजल का देवबिन्दुरूप है यानी तेलके जलने पर जैसे काजल ही अवशिष्ट रहता है, वैसे ही जगत् का बाध होने पर चिति ही अवशिष्ट रहती है इस अभिप्राय से चिति को काजल कहा है, जैसे तेल का कार्य काजल है, वैसे ही जगत् का कार्य चिति है, इस आशय से नहीं ॥६९–७१॥

यह त्रिजगत्श्रेणी चिद्रूपी अग्नि की उष्णता है यानी जैसे अग्नि का उष्णता से भेद नहीं है, वैसे ही चित् का जगत् से भेद नहीं है, जगत् चित् –रूपी शंख की शुक्लता है। और जगत् चित् रूपी पर्वत का मध्यभाग है यानी जैसे पर्वत और पर्वत के उदर में कोई भेद नहीं है, वैसे ही चिद् से जगत् भिन्न नहीं है। जगत् चिद्रूपी जल का द्रवत्वरूप है, जगत् चिद्रूपी ईख की मिठास है, जगत् चित्रूपी दूध का मक्खन है, जगत् चिद्रूपी हिम (बर्फ) की शीतलता है, जगत् चिद्रूपी ज्वालाओं का ताप है, जगत् चित्रूपी सरसों का तेल है, जगत् चित् रूपी नदी की लहर है, जगत् चिद्रूपी शहद का माधुर्य है, जगत् चिद्रूपी सुवर्ण का कंकण है,

जगत् चिद्रूपी फूलों की सुगन्धि है और चिद्रूपी लता का प्रथम फल है। चित्सत्ता ही जगत्सत्ता है और जगत् सत्ता ही चिद् का स्वरूप है ॥७२-७५॥

सर्वत्र चित् से भिन्न सत्तावान् होने से ही जगत् चिद्धर्म माना गया है, ऐसा स्पष्टरूप से कहते हैं।

जैसे आकाश में यद्यपि भ्रमवश नीलिमा की प्रतीति होती है, पर वस्तुतः वह है नहीं, वैसे ही इस चिद्घन परमात्मा में यद्यपि भ्रान्ति से भेद और विकार आदि की प्रतीति होती है, पर वस्तुतः इसमें भेद आदि है नहीं। इस प्रकार ये तीनों भुवन यद्यपि असत् हैं, तथापि पूर्वोक्त रीति से सन्मय (चिन्मय) होने के कारण ये सद् हैं, यह भाव है।

यदि पूर्वोक्त रीति से सन्मय होने के कारण ही जगत् की सत्ता है, चित् सत्ता से जगत् की सत्ता अतिरिक्त नहीं है। तो जगत् की असत्ता दूसरी हेतु होगी, इस शंका पर कहते हैं।

अधिष्ठानरूप होने के कारण कल्पित पदार्थ की सत्ता और असत्ता अभिन्न ही है। भाव यह कि कल्पित की सत्ता और असत्ता कल्पित के अधिष्ठान से अतिरिक्त कहीं नहीं देखी गई है। अतः जगत् की असत्ता अतिरिक्त पदार्थ है, यह कथन ठीक नहीं है ॥७६॥

सावयव और निरवयव पदार्थों की कैसे अभिन्न सत्ता होगी ? यों कह रहे और विद्वानों के अनुभव का अलाप कर रहे तार्किकों (नैयायिकों) को धिक्कार देते हैं।

चिन्मय में अवयव और अवयवी शब्दों का अर्थ खरगोश के सींग के समान असत् है। जिन लोगों ने विद्वानों के अनुभव के अपलाप के लिए अवयव और अवयवी इन शब्दों के अर्थों की कल्पना कर रक्खी है, उन तार्किकों को धिक्कार है ॥७७॥

उक्त विषय में युक्तिविरोध भी कहते हैं।

चिन्मय होने के कारण जिसमें पर्वत, सागर,पृथिवी, नदी-नद और उनके अधिष्ठाता देवताओं के साथ जगत् पूर्वोक्त रीति से नहीं रहता है, उसमें अन्य का (अवयव आदिका) भ्रम कैसे हो सकता है, यह भाव है ॥७८॥ शिला के (पत्थर के) हृदय के (मध्य के) समान अत्यन्त निबिड़ (ठोस) होती हुई भी चिति स्फटिक आदि के समान स्वच्छ ही है। अतएव जैसे स्फटिक शिला अपने अन्दर प्रतिबिम्बित नगर, पर्वत आदि के आकार को धारण करती है, वैसे ही वह भी शान्त (मिथ्या होने के कारण असद्रूप) सम्पूर्ण प्रपंच को चिदाकाशरूप अपने स्वरूप में धारण करती है ॥७९॥

सम्पूर्ण प्रपंच शान्त कैसे है, इस पर कहते हैं।

सम्पूर्ण पदार्थों के अधिष्ठानभूत चिदाकाश में यह भूताकाशजनित वायु आदि सम्पूर्ण प्रपंच प्रतीत होता है। जब असंगस्वभाववाले भूताकाश में ही उसके कार्य वायु आदि का सम्बन्ध नहीं है, तब चिदाकाश में इस प्रपंच के सत्ता, असत्ता, त्वत्ता, मत्ता आदि सम्बन्ध कैसे होंगे ? कदापि नहीं हो सकते ॥८०॥

ऐसा यदि है, तो चित् में असत् जगत् के आकार का भान कैसे होता है, इस पर कहते हैं।

जैसे पत्तों के अन्दर रेशों की पंक्तियों का आकार फैला रहता है, वैसे ही चिति स्वभाव से

ही अपने से भिन्न और अभिन्न रूप इस जगत् को अपने अन्दर धारण करती है यानी जैसे पत्ता रेशों की रेखाओं के समूह के आकार को जो कि पत्ते से अलग उत्पन्न न होने के कारण असत् ही है और भिन्न तथा अभिन्नरूप से पत्ते में स्थित है, धारण करता है ॥८१॥

जगत्‌रूप विकार का निर्विकार चिदाकाश उपादान है, अतएव जगत् असत् है, ऐसा अब तक कहा। अब हजारों मिथ्या विकल्परूप चित्तोंके समष्टि भूत हिरण्यगर्भ से उत्पन्न होने के कारण भी जगत् मिथ्या है, ऐसा कहते हैं।

संसार में जितने कार्य दृष्टिगोचर होते हैं, उन सम्पूर्ण कार्यों के अखिल कारणों का ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ) आदि कारण है, चित्त से उत्पन्न मनोरथ से होनेवाले विकल्प असत् होते हैं, अतएव चित्त स्वभाव से ही कारण अभावरूप है (कारण नहीं है)। उक्त कारण अभावरूप चित्त ही ब्रह्मा है। अतः यह सिद्ध हुआ कि जैसे चित्त के कार्यभूत मनोरथ से होनेवाले विकल्प असत् हैं, वैसे ही उक्त ब्रह्मा से उत्पन्न जगत् मिथ्या है। यदि किसी को यह शंका हो कि चेत्य के (जगत् के) असत् होने पर चित् का भी असत्त्व हो जायेगा, क्योंकि चित् स्वस्वरूपभूत चेत्यसे अतिरिक्त नहीं है, इस पर कहते हैं कि चित् की असत्ता वाणी मात्र से भी सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि चित् अनुभव से सिद्ध है। अनुभव से विरुद्ध अर्थ में वाणी प्रमाण नहीं होती, यह भाव है ॥८२,८३॥

यदि जगत् स्वतः (अपनी सत्ता से न कि ब्रह्मसत्ता से) सत् होता, तो ज्ञान आदि सहस्त्रों उपायों से भी उसका विनाश कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि सत् का आत्यन्तिक (समूल) विनाश तो कभी हो ही नहीं सकता। ऐसी दशा में उसके पुनः आविर्भाव का वारण न हो सकने से कभी किसी का मोक्ष ही नहीं हो सकेगा, इस आशय से कहते हैं।

जो है, उसका बीज से अंकुर की नाईं अवश्य ही उदय होता, यह बात एक बार नहीं हजारों बार देखी गई है, इससे यह सिद्ध हुआ कि जगत् की स्वतः सत्ता नहीं हैं ॥८४॥

यदि दृश्य प्रपंच की सत्ता में आपका बड़ा ही आग्रह हो, तो अनुभव से (ज्ञान से) चित् और दृश्य के भेद को हटाकर दृश्य को परमपदरूप चिन्मय जानकर उक्त चिन्मय की सत्ता से ही *दृश्य के भेद को हटाकर दृश्य को परमपदरूप चिन्मय जानकर उक्त चिन्मय की सत्ता से ही* *दृश्य की सत्ता को स्वीकार कीजिये, ऐसा कहते हैं।*

हे रामजी, गगन में सर्वथा भेदशून्य गगन के समान इस महाचिति में सर्वथा भेदरहित यह त्रिभुवन है। इसलिए आप अनुभव से यह सम्पूर्ण दृश्य परमपदरूप चिन्मय है, ऐसे निश्चयवाले होइए। मुनि के इत्यादि कह चुकने पर दिन बीत गया। सूर्य अस्ताचल को चले गये। मुनियों की सभा सायंकाल के आवश्यक सन्ध्योपासना, अग्निहोत्र आदि कर्म करने के लिए स्नानार्थ उठ गई रात्रि के बीतने पर प्रातःकाल सूर्य के उदय होते ही पुनः मुनियों की सभा आकर बैठ गई ॥८५,८६॥

चौदहवाँ सर्ग समाप्त

पन्द्रहवाँ सर्ग

बार-बार दृष्टान्त और विविध युक्तियों द्वारा चित् और चेत्य के अभेद का ज्ञान कराने के लिए मण्डपाख्यान का आरम्भ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुवर, यह जगत् चिदाकाशरूप ही है।

शंका : यदि यह चिदाकाशरूप ही है, तो इसकी पृथक् प्रतीति कैसे होती है ?

समाधान : जैसे निर्मल आकाश में भ्रमवश मोतियों का समूह प्रतीत होता है वैसे ही भ्रमवश इसकी भी पृथक् प्रतीति होती है। चिदाकाशरूप आत्मा ही जैसे जगत् हुआ है, वैसे दृष्टान्त मैं आपसे कहता हूँ, सुनिये ॥१॥ त्रिजगत्रूपी प्रतिमा गढ़े बिना ही प्रतीत-सी होती है, क्योंकि जैसे पत्थर के खम्भे में प्रतिमा गढ़े बिना ही प्रतीत-सी होती है, क्योंकि जैसे पत्थरके खम्भे में प्रतिमा गढ़ी जाती है वैसे चित्रूपी खम्भे में न तो वह (त्रिजगत्रूपी प्रतिमा) गढ़ी गई है और न उसका कोई गढ़ने वाला शिल्पी ही है। भाव यह कि प्रथम तो चित् से अतिरिक्त कोई चेतन प्रसिद्ध ही नहीं है, जो चित्रूपी खम्भे में उसे गढ़े और दूसरी बात यह भी है कि निर्विकार और असंग चित्रूपी खम्भे का पत्थर के खम्भे के समान उत्कर्तन (तराशना) नहीं हो सकता ॥२॥ जैसे समुद्र में जल का स्पन्द (स्फुरण) जलस्वभाव से च्युत हुए बिना ही लहर-सा प्रतीत होता है, वैसे ही चिन्मय ब्रह्म में भ्रमवश जगत् की प्रतीति होती है ॥३॥

यद्यपि मूढ़ पुरुषों की दृष्टि में जगत् विशाल प्रतीत होता है, पर वास्तव में, विद्वानों की दृष्टि में, ऊँचे झरोखों और चिमनियों की राह से घर में पैठे हुए दण्डाकार सूर्य-किरणों में नाच रहे अणुओं से भी जगत् छोटा है, ऐसा कहते हैं।

जैसे अणुओं की अपेक्षा पहाड़ स्थूल (विशाल) हैं, वैसे ही जगत्प्रतीति की अपेक्षा झरोखे से अन्दर पैठी हुई धूप का झरोखे के छेद के अनुसार बना हुआ दण्ड और मूसल के समान जो आकार है, उसमें दिखाई देनेवाले अत्यन्त छोटे-छोटे कण भी स्थू ल हैं। जब इतने सूक्ष्म रजकण जगत् के भान की अपेक्षा स्थूल हैं, तब उसकी अपेक्षा औरों के स्थूलतम होने में तो सन्देह ही क्या है ? (✍) ॥४॥

उक्त अर्थ की ही उपपत्ति करने के लिए जगद्प्रतीति और चित् में सूर्य की दीप्ति और उसमें स्थित अणुओं से विलक्षणता दर्शाते हैं।

ब्रह्म से पृथक्रूप से यानी ब्रह्म के भेद से जगत् का भान नहीं होता, परन्तु झरोखे से भीतर पैठा हुआ सूर्य का किरण समुदाय और उसमें स्थित अणुओं का समुदाय भेद की

✍ उक्त श्लोक का संस्कृत टीकाकारों ने निम्नलिखित अर्थ भी किया है : जगत का प्रकाशक साक्षीरूप चित् प्रकाश सूर्य के प्रकाश से और उसके अंदर प्रतीत होनेवाले अणुओं से भी सूक्ष्म है। झरोखे से अंदर पैठी हुई सूर्य की दीप्ति से (धूप से) और झरोखे के छेद के अनुसार दंडाकार बनी हुई धूप में स्थित रजकणों से भी जगत का अवभासक चित्रूप साक्षी सूक्ष्म है, ऐसा सूक्ष्म जैसे कि पर्वतों की अपेक्षा परमाणु सूक्ष्म है।

प्रतीति कराता है ॥५॥

ब्रह्म के भेद से जगत् का भान नहीं होता है, इस कथन में प्रत्यक्षानुभव से विरोध का परिहार करते हैं।

जैसे स्वप्न और संकल्प (मनोरथ) में अनुभूत घट, पट आदि पदार्थ जाग्रत के पदार्थ जैसे पार्थिव (भौतिक) नहीं होते, वैसे ही चिदाकाशरूपी परब्रह्म में प्रतीत होते हुए भी ये जगत् पृथिवी आदिरूप (भौतिक) है ही नहीं। जैसे मरुभूमि में नदी के समान प्रतीत हो रहीं सूर्य की किरणों में (मृगतृष्णा में) कदापि जलका संभव नहीं है वैसे ही विज्ञानाकाशरूपी (चिदाकाशरूपी) इस जगत् में मूर्तता का (साकारता का) स्वीकार कदापि नहीं हो सकता ॥६,७॥ जैसे मरुभूमि में भ्रान्तिरूपिणी नदी प्रतीत होती है, वैसे ही पूर्वोक्त रीति से आकार रहित अतएव मनोरथ से कल्पित नगर के तुल्य इस जगत् में भ्रान्तिरूपिणी (भ्रमवश) दृश्यता प्रतीत होती है ॥८॥ जगत् की जो दृश्यता है, साक्षीरूप चैतन्य में एक ओर उसे और दूसरी ओर स्वप्न को रख कर सार और असार का विवेक करने वाले बुद्धिरूप काँटे (तुला) से तोला जाय, तो जैसे जाग्रत में स्वप्न कल्पनाशून्य (असत्) हो जाता है, वैसे ही कल्पनाशून्य होकर वही शून्यरूप से या ब्रह्मरूप से प्रतीत होती है ॥९॥

अज्ञानियों की दृष्टि से ही ब्रह्म आदि शब्दों के अर्थ से जगत् शब्दके अर्थ का भेद है, तत्त्वज्ञानी लोगों की दृष्टि से नहीं, ऐसा कहते हैं।

जगत्शब्द के अर्थ के भाजन अज्ञ लोगों के विज्ञान के सिवा जगत् , ब्रह्म और आत्मशब्दों के अर्थ में कोई भी भेद नहीं है, भाव यह कि जगत्शब्द का ब्रह्मशब्द के अर्थ से अतिरिक्त अर्थ अज्ञानियों को प्रतीत होता है, पर वास्तव में जगत्, ब्रह्म और स्व (आत्म) शब्दों के अर्थ में भेद है ही नहीं ॥१०॥

जब जगत् और ब्रह्म में कोई भेद ही नहीं है, तब तत्त्वज्ञानियों को जगत् की अपेक्षा (जगत् से अतिरक्त) जगत् के साक्षी का दर्शन कैसे होता है, ऐसी शंका होने पर जैसे शून्यरूप आकाश सूर्य प्रकाश प्रतीत होता है, वैसे ही शून्य रूप जगत् के प्रति तत्त्वज्ञानियों का जगत्–साक्षी–दर्शन है ऐसा कहते हैं।

जैसे रूप शून्य आकाश के प्रति सूर्य का प्रकाशकत्वदर्शन है, वैसे ही अचेतन (चेत्यसंसर्गरहित) चिन्मात्ररूप इस जगत् के प्रति इसके साक्षी का भान होता है।

शंका – तब साक्षी चैतन्य की अपेक्षा (साक्षीचैतन्य से अतिरिक्त) जगत् की प्रतीति कैसे होती है ?

समाधान – जैसे संकल्प से कल्पित मेघ सत्यमेघ के प्रति (असत्) है, वैसे ही जगत्–दर्शन चैतन्य के प्रति (असत्) है ॥११॥

यदि शंका हो कि दृश्य अत्यन्त मलिन है, वह अति स्वच्छतम चिन्मात्र कैसे हो सकता है ? तो इस पर प्रतीति काल में ही बाह्य (बाहर के) और आन्तर (मानसिक) दृश्यों की मलिनता प्रतीत होती है। जब उनका तिरोभाव हो जाता है, तब परस्पर की अपेक्षा यानी

मलिनता और स्वच्छता दो में से केवल स्वच्छतमता ही शेष रह जाती है, ऐसा कहते हैं।

जैसे जाग्रत्काल के सुन्दरनगर के प्रति स्वप्न का नगर स्वच्छ है, वैसे ही संकल्प से उत्पन्न (काल्पनिक) और स्वाप्निक जगत् के प्रति यह जाग्रत् प्रपंच भी स्वच्छ है। भाव यह कि इसकी अस्वच्छता तभी तक है जब तक यह प्रतीत होता है। इसका तिरोभाव होने पर परम स्वच्छता ही शेष रह जाती है। अतएव अत्यन्त मलिन दृश्य की अति स्वच्छतम चिन्मात्रता कैसे ? इस शंका के लिए अवसर ही नहीं है ॥१२॥ इस कथन से यह निष्कर्ष निकला कि अचेत्य (चेत्यभिन्न) चिद्रूप यह जगत् केवल व्योम (आकाश) ही है। चिन्मय व्योम और जगत् शब्द पर्यायवाची हैं। इनका चित् से अतिरिक्त कोई अर्थ नहीं है ॥१३॥ इसलिए यहाँ जगत् आदि कुछ भी दृश्य उत्पन्न नहीं हुआ है, नाम और रूप से रहित चिद्रूप ब्रह्म ज्यों–का–त्यों (स्वरूप में किसी प्रकार के विकार से रहित) स्थित है ॥१४॥ उक्त रीति से मायारूप आकाश में स्थित यह जगत् आवरण शून्य चिदाकाश ही है। यह चित् से अणुमात्र भाग का और अणुमात्र परिमाण का पूरक (पूर्तिकरनेवाला) नहीं है। भाव यह कि परिच्छिन्न जगत् का चित् से अभेद मानो, तो चित्त की भी परिच्छन्नजगन्मात्रता हो जायेगी, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अत्यन्त सूक्ष्म अन्तःकरण की वृत्ति और चित्त की वासना से परिच्छन्न सूक्ष्मतम चिद्भाग में भी सम्पूर्ण जगत् के परिच्छेद का भान होता है, इस कारण उक्त अणुतम चेतन में समा सकने योग्य जगत् जब उक्त अणुतम चित् का पूरक नहीं होता, तब अखण्ड ब्रह्मचैतन्य का वह पूरक हो और उससे ब्रह्म में परिच्छिन्नजगन्मात्रता है यह तो अत्यन्त असंभव है ॥१५॥

यदि किसी को शंका हो कि विशालतम जगत् आकाश के समान शून्यप्राय चित्त की वासनाओं में कैसे अन्तर्भूत हो सकता है, तो इस पर कहते हैं।

आकार के स्वीकार से रहित (अमूर्त) यह जगत् स्वच्छ आकाश रूप ही है, यह आकाश में मनोरथ से कल्पित (काल्पनिक) विचित्र नगर की नाईं आकाश में स्थित है ॥१६॥

पूर्व में जो उपदेश दिया गया है, उसके विषय में रामचन्द्रजी को सन्देह, अज्ञान और अनिश्चय है, यह रामचन्द्रजी की चेष्टाओं से जानकर उन्हें दूर करने के लिए श्रीवसिष्ठजी उक्त अर्थ की उपपत्ति करनेवाली सैकड़ों कथाओं से युक्त मण्डपाख्यान को सुनाने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं।

हे रामजी, इस विषय में आप कानों का विभूषण रूप मण्डपाख्यान को सुनिये, जिससे मेरे द्वारा उपदिष्ट यह विषय आपके चित्तमें बिना किसी सन्देह के बैठ जायेगा ॥१७॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, सत्–चिदानन्दमय ब्रह्म के बोध की सिद्धि के लिए सम्पूर्ण मण्डपाख्यान संक्षेप से शीघ्र मुझसे कहिये, जो कि बोध की वृद्धि करता है ॥१८॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामजी, प्राचीन काल में इस भूतल में पद्म नामका राजा हुआ। वह राजा था इसलिए लक्ष्मी की उसके पास कोई कमी न थी, उसके पुत्र भी बहुत थे और वह विवेकी भी था। जैसे खिला हुआ कमल तालाब को सुगन्धित करता है और उसकी शोभा बढ़ाता है, वैसे ही वह भी अपने कुल की कीर्ति रूपी सुगन्धि और सुन्दरता

का हेतु होने से कुल रूपी सरोवर का प्रफुल्ल कमल था ॥१९॥ जैसे समुद्र अपनी वेलारूपी मर्यादा का पालन करते हैं, कभी उसका उल्लंघन नहीं करता, वैसे ही वह अपनी वर्णाश्रम मर्यादा का पालन करता था, जैसे सूर्य अन्धकार का विनाशक है, वैसे ही वह अपने शत्रुओं का विनाशक था, जैसे चन्द्रमा कुमुदिनी को (कुईं को) प्रफुल्लित करता है, वैसे ही वह अपनी सहधर्मिणीरूपी कुमुदिनी को प्रफुल्लित (प्रसन्न) रखता था, जैसे अग्नि तिनकों को भस्म कर देती है वैसे ही वह दोषों का शत्रु था, जैसे सुमेरु पर्वत देवताओं का आश्रय (निवासस्थान) है वैसे ही वह विद्वद्वृन्द का आश्रय था, संसाररूपी सागर में उसके यशरूपी चन्द्रमा की चाँदनी सदा छिड़की रहती थी, जैसे मानसरोवर हंसों का आवासस्थान है वैसे ही वह व्यास दाक्षिण्य आदि सद्गुणों का आवास था, जैसे निर्मल (मेघमुक्त) सूर्य कमलों को विकसित कर देता है, वैसे ही वह कमल को (राजलक्ष्मी को) विकसित करता था यानी उत्कर्ष को पहुँचता था। जैसे वायु लताओं को कँपा देता है, वैसे ही वह संग्रामभूमि में लता तुल्य अपने शत्रुओं का हृदय दहला देता था, अतएव वह रणगर्वित शत्रुके मनरूपी हाथी के मर्दन में सिंहसदृश था (अथवा जैसे सिंह हाथी को अपने चंगुल में कर लेता है, वैसे ही वह अपने मन को अपने वश में रखनेवाला था), वह सम्पूर्ण विद्याओं का प्यारा था और सम्पूर्ण चमत्कारमय गुणों का आगार (खान) था। जैसे समुद्रमंथन के समय घूम रहे (नाच रहे) मन्दराचल ने समुद्र को विक्षुब्ध (विलोडित) कर दिया था, वैसे ही उसने दैत्यों की सेना को अनेक बार विक्षुब्ध कर दिया था (मथ डाला था), जैसे वसन्तु ऋतु विविध प्रकार के फूलों की जननी है, वैसे ही वह विविध विलासों का जनक था और सुन्दरता में दूसरा कामदेव था, जैसे वायु लता के मन्द–मन्द नर्तन का हेतु है वैसे ही वह विविध लीलाओं के विलास का हेतु था, जैसे भगवान् श्रीहरि ने अन्य लोगों से असाध्य पृथिवी का उद्धार आदि कठिन कार्य किये थे, वैसे ही अन्य लोगोंसे असाध्य कठिन से कठिन कार्य करने में वह कटिबद्ध रहता था, जैसे चन्द्रमा कुमुदिनी को विकसित करता है, वैसे ही वह सज्जनता को विकसित करता था और जैसे अग्नि तुच्छ लताओं को जला डालती है, वैसे ही वह दुष्टतारूपी विषलताओं का दाहक था। राजा पद्म की स्त्री का नाम लीला था। वह वनितोचित सम्पूर्ण विलासों में दक्ष और बड़ी सुन्दरी थी। वनिताओं के सम्पूर्ण सौभाग्य उसे प्राप्त थे, अतएव वह पृथिवी में अवतीर्ण दूसरी लक्ष्मी थी। लीला पतिसेवा के जितने प्रकार हो सकते हैं, उन सबमें निपुण थी और बड़ी मधुरभाषिणी थी। उसका आनन्दपूर्वक मन्द–मन्द गमन था और रूप दूसरे चन्द्रमा के उदय के सदृश उज्ज्वल था। उसका कमल–सा मुँह भ्रमर जैसे अलकों से अतिमनोहर लगता था, उसका शरीर बड़ा गौर था और उसमें कान के आभूषणों की दीप्ति से पीली छटा छटकती थी अतएव वह कर्णिका से (कमल के बीच के हिस्से से) पीली तथा चलने–फिरने वाली सफेद कमलिनी सी प्रतीत होती थी। जैसे मूर्तिमती वसन्त शोभा रसशालिनी (फूलों के रस शहद से शोभित होने वाली) होती है, वैसे ही वह भी रसशालिनी (अपने पति पर अत्यधिक प्रेम से शोभित

होनेवाली) थी, जैसे वसन्तशोभा प्रवालहस्ता और पुष्पाभा (प्रवाल–पल्लव ही जिसके हाथ हैं और पुष्प ही जिसकी कान्ति है।) होती है, वैसे ही वह भी प्रवालहस्ता और पुष्पाभा (पल्लव के सदृश रक्त हाथवाली और फूलों की कान्ति की नाईं कान्तिवाली) थी। जैसे गंगाजी का जल अतिनिर्मल होता है, वैसे ही उसकी देह निर्मल थी, जैसे ब्रह्मद्रवस्वरूप गंगाजी के जल के स्पर्श से आनन्द (जन्ममरणजनित क्लेश से मुक्ति) होता है, वैसे ही उसके स्पर्श से आनन्द होता था, गंगाजल के समान वह पवित्र थी और जैसे गंगाजी हंस विलासिनी (जिसमें हंस क्रीड़ा करते हैं) हैं, वैसे ही वह भी हंसविलासिनी (हंसगति) थी, अतएव वह भूमि में अवतीर्ण मूर्तिमती गंगाजी ही थी। सबको आनन्द देनेवाला राजा पद्म भूतल का कामदेव ( ) था, उसकी चिरकाल तक सेवा शुश्रुषा करने के लिए मानों वह दूसरी रति उत्पन्न हुई थी। पतिपरायणा लीला राजा के दुःख में दुःखी होती थी, सुख में सुखी होती थी, राजा की चिंता से चिन्तायुक्त होती थी, सचमुच वह राजा के प्रतिबिम्ब के सदृश थी, परंतु जब राजा कभी क्रुद्ध होते थे, तो वह केवल भयभीत ही होती थी, क्रुद्ध नहीं होती थी, एकमात्र इसी अंश में उसमें प्रतिबिम्बतुल्यता न थी ॥२०–३१॥

पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

सोलहवाँ सर्ग

कितने ही विषयों का भोग क्यों न किया जाय, पर उनसे तृप्ति कदापि नहीं हो सकती और अन्त में दुःख ही रहता है। यदि देवता भी चाहें कि विषयभोग से तृप्ति हो और दुःख शेष न रहे, तो वे भी इस विषय में सफल नहीं हो सकते औरों की बात ही क्या है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, लीला बड़ी पतिपरायणा नारी थी, पति के सिवा अन्य किसी में उसका प्रेम न था। उस अनन्यप्रिया नारी के पति राजा पद्म ने भूतल की अप्सरा अपनी प्रिया लीला के साथ प्रेमपूर्वक नीचे कहे जानेवाले उद्यान आदि विविधस्थानों में खूब विहार किया। ऐसा विहार कि इसमें बनावटी प्रेम की गन्ध भी न थी। वाटिका–बगीचों के निकुंजों में, तमाल के घने वनों में, लताओं से वेष्टित वनों में जोकि फूलों से आच्छादित होने से बड़े रमणीय लगते थे, अन्तःपुर में सजी फूलों की शय्या में, विविध प्रकार के फूलों से सुशोभित गलियों में, वसन्त ऋतु में बगीचों में डाले गये हिंडोलों में, जल–क्रीड़ा के लिए बने हुए पोखरों में, चन्दन–वृक्षों से अलंकृत पर्वतों में, सन्तानक वृक्षों की (एक प्रकार के कल्पवृक्षों की (卐)) छाया में, कदम्ब वृक्षों के गृहों में, नीम की सुखद छाया में, कोकिल की काकली से गुलजार और खिले हुए कुन्द और पारिजात के फूलों की भीनी सुगन्ध से मन को हरनेवाले वसन्त ऋतु के वनों में, अनेक वनों के मुलायम तृणों से आच्छन्न मैदानों में, इधर–उधर

राजा पद्म सौन्दर्य में कामदेव के तुल्य था, पर कामदेव वियोगियों को दुःख देता है, पर वह सभी को आनन्द देता था, इससे वह कामदेव से विशिष्ट था।

卐 उक्त कल्पवृक्ष राजापद्म को अपने प्रभाव से या इन्द्र के प्रसाद से प्राप्त हुए थे।

छनक रहे बड़े–बड़े जलकणों की तेजवृष्टि करनेवाले झरनों में, अनेक पर्वतों के मणि, माणिक्यमय शिलाखण्डों में, देवता और ऋषियों के आवासभूत दूर–दूर के पवित्र आश्रमों में, चाँदनी से संफुल्ल कुमुद्वतियों में (खिली कुईं से भरे तालाबों में), सूर्यातप से विकसित कमलिनियों में (कमल के तालाबों में), काले कालीन के समान मृदु दूर्वांकुरों से आच्छन्न, भाँति–भाँति के फूलों से व्याप्त तथा विविध फलों से लदे वृक्षों से सुशोभित वनोंमें सुरतों से, विविध विषयों के अभिलाषों से, आपस के निबिड़ प्रेम रस से प्रचुरमात्रा में होने वाले हाव भावों से, ग्रामीण किस्से–कहानियों से, ऐतिहासिक उपाख्यानों से, पासा, चौपड़, शतरंज आदि विविध प्रकार से द्यूतों से, नाटिकाओं आख्यायिकाओं और विद्वानों की ही समझ में आनेवाले (गूढ़ाशय) श्लोकों की विविध मालाओं के वेष्टनों से, अंगों में भाँति–भाँति के आभरणों के विन्यास से, विलासपूर्वक चंचल गमनों से, विचित्र रसवाले भोजनोंसे, आर्द्र कुमकुम (केसर) और कर्पूर से युक्त ताम्बूलों के चर्वणोंसे, फूलों, लताओं और गुंजाओं से जिनमें देह का आच्छादन किया जाता है ऐसे नख के व्रणों से, दौड़कर एक दूसरे को छूना आदि नाना क्रीड़ाओं से, माला द्वारा परस्पर प्रहार करने से, घर में पुष्पों से सुशोभित हिंडोले में अन्योन्य झूलने से, नौका विहार, हाथी, घोड़ों और शिक्षित ऊँटों की सवारी से, जलक्रीड़ा से, आपस में एक दूसरे पर जलप्रक्षेप से, नृत्य, गीत, लास्य तथा ताण्डव से विभूषित और वीणा, ढोल आदि वादन से युक्त संगीत से, गीत, कथा और आलापों से तथा उद्यानों में, नदी तीर के वृक्षों में, सुन्दर वीथियों में, अन्तःपुर में और महल में फूलों से सुसज्जित दोलाओं द्वारा झूलने से देवताओं की तरुणता के सदृश तरुणता से सुन्दर राजा पद्म ने भूतल की अप्सरा लीला के साथ प्रेमपूर्वक विहार किया। इस प्रकार सुख में पली हुई राजा पद्म के प्राणोंसे भी प्रिय मृगनयनी लीला ने एक समय विचार किया कि यह युवा और अत्यधिक सुन्दर पृथ्वीपति मेरा प्राणों से भी प्रिय पति है, यह कैसे अजर और अमर हो ? विशालस्तनवाली मैं फूलों की सेज से सुशोभित महलों मे इसके साथ सैकड़ों युगो तक अपनी इच्छा के अनुसार कैसे विहार करूँ ? आज से लेकर तप, जप, यह, यम–नियम आदि चेष्टाओं से मैं वैसा प्रयत्न करती हूँ जैसे कि यह चन्द्रवदन राजा अजर और अमर हो जाय। मैं ब्रह्मज्ञानी, तपस्वी और विद्यावृद्ध ब्राह्मणों से पूछती हूँ कि मनुष्यों का मरण कैसे नहीं होगा, ऐसा विचार कर उसने ज्ञानी वृद्ध विद्वानों को बुलाया और उनकी पूजा कर उनसे बड़े विनय से बार–बार पूछा : पूज्यवृन्द, मेरा और मेरे पति का अमरत्व कैसे होगा ? ॥१–२३॥ ब्राह्मणों ने कहा : देवि, तप, जप, यम–नियमों से सिद्धों की सम्पूर्ण सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती है, पर अमरत्व कदापि प्राप्त नहीं हो सकता ॥२४॥ ब्राह्मणों के मुख से यह बात सुनकर अपने प्रिय के वियोग से भयभीत लीला ने अपनी बुद्धि से ही फिर यह बात विचारी कि यदि दैवयोग से पति से पहले मेरा शरीर छूट गया, तो मैं सम्पूर्ण दुःखों से निर्मुक्त होकर आत्मा में सुखपूर्वक स्थित हो जाऊँगी। यदि मेरा पति मुझसे हजार वर्ष पहले मर गया, तो मैं वैसा प्रयत्न करूँगी जैसे कि उसका जीव घर से बाहर नहीं जा सकेगा ॥२५–२७॥ मेरे पति का जीव जिसमें घूमता रहे, ऐसे अन्तःपुर के खण्ड में सदा भर्ता

द्वारा देखी जाती हुई मैं सुखपूर्वक निवास करूँगी ॥२८॥ अपने इस संकल्प की सिद्धि के लिए आज से ही मैं ज्ञान रूपा सरस्वती देवी का जप, तप आदि से, जब तक वह प्रसन्न न हो, पूजन करती हूँ ॥२९॥ ऐसा विचार करके वह सुन्दरी अपने पति से पूछे बिना ही विधिपूर्वक (✍) उग्र तपस्या करने लगी। तीसरी–तीसरी रात के बाद वह सदा पारणा करती थी, देवता, ब्राह्मण, गुरु, विद्वान् और ब्रह्मज्ञानी लोगों की पूजा में तत्पर रहती थी ॥३०,३१॥ इस कर्म का फल अवश्य होगा, ऐसी आस्तिकबुद्धि और सदाचार सम्पन्न तथा क्लेश का निवारण करनेवाली लीला ने अपने शरीर को स्नान, दान, तपस्या और ध्यान में सदा तत्पर कर दिया। वह पहले जैसे समयमें, जैसी लगन से, जैसी शास्त्र की विधि के अनुसार और जैसे क्रम से पति की सेवा–शुश्रुषा करती थी उसमें किसी प्रकार का हेर फेर किये बिना पति को सन्तुष्ट करती गई। लेकिन उसने पति के समक्ष अपने उपवास का भेद प्रकट नहीं किया ॥३२,३३॥ इस तरह नियमपूर्वक रह कर पतिपरायणा उस नारी ने जब तक सौ त्रिरातव्रत पूर्ण नहीं हुए, तब तक लगातार क्लेश के साथ तपस्या की। सौ त्रिरात्रव्रतों की पूर्ति होने पर लीला द्वारा अर्घ्य, पाद्य, स्नान, गन्ध, पुष्प आदि बाहरी उपचारों से पूजित और ध्यान आदि भीतरी उपचारों से सत्कृत भगवती सरस्वती ने प्रसन्न होकर उससे कहा : वत्से, तुम्हारी अविच्छिन्न (अटूट) और पतिभक्ति से ओतप्रोत (सराबोर) तपश्चर्या से मैं तुम पर अति प्रसन्न हूँ, अतः तुम्हें जिस वस्तु की चाह हो, वह मुझसे लो ॥३४,३५॥ रानी ने कहा : भगवती आप जन्म और जरारूपी अग्नि की ज्वालाओं से उत्पन्न सन्तापरूपी रोग को दूर करने के लिए शीतल चन्द्रकान्ति (चाँदनी) रूप हैं, आपकी जय हो यानी आपके चरणों में मेरा विनम्र प्रणाम है। माता, आप निबिड़ हृदयान्धकार (अज्ञान) रूपी अन्धकार का विनाश करने में सूर्य–प्रकाश के तुल्य हैं। माँ, हे सारे जगत् की माँ, मैं बड़ी दीन–हीन हूँ, मेरी रक्षा कीजिये। हे देवी, ये दो वर मुझे दीजिये, जिनकी मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ। माँ, उनमें से पहला वर तो यह कि जब मेरे पतिदेव का शरीर छूट जाय, तब उनका जीव मेरे इसी अन्तःपुर के प्रासाद (महल) से बाहर न जाय। हे महादेवी, दूसरा यह कि जब जब वरदान के लिए आपके दर्शन की मैं प्रार्थना करूँ, तब तब आप मुझे दर्शन दे ॥३६–४०॥ यह सुनकर जगत् की माँ सरस्वती, जैसा तुम चाहती हो तुम्हारी इच्छानुसार वैसा ही हो, ऐसा स्वयं कह कर, जैसे समुद्रमें लहर उठ कर

✍ 'या स्त्री भर्त्राऽननुज्ञाता उपवासव्रतं चरेत्। आयुष्यं हरते भर्तुर्मृता नरकमृच्छति ॥' (जो स्त्री पति की आज्ञा के बिना उपवास व्रत करती है, वह पति की आयु को हरती है और मर कर नरक में गिरती है) इत्यादि स्मृतियों द्वारा स्त्री का पति की आज्ञा प्राप्त किये बिना उपवासव्रत आदि निन्दित है अतः उसे यथाशास्त्र (विधिपूर्वक) कैसे कहा? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'प्रत्यक्षं व परोक्षं वा सदा भर्तुहितं चरेत्। व्रतोपवासानयमैरुपचारैश्च लौकिकैः ॥' (स्त्री प्रत्यक्ष में अथवा परोक्ष में व्रत, उपवास, नियम और लौकिक उपचारों से सदा पति का हित करे) इस स्मृति के अनुसार यह सिद्ध है उक्तशास्त्र में कही गई निन्दा पतिहित से अतिरिक्त अपने काम्य उपवासों के लिए है, अतः कोई दोष नहीं है।

विलीन हो जाती है, वैसे ही अन्तर्धान हो गई ॥४१॥ इष्टदेवी के सन्तुष्ट होने के उपरान्त वह राजमहिषी जैसे गीत सुनने से हिरनी मारे खुशी के फूली नहीं समाती, वैसे ही मारे खुशी के आनन्द से विभोर हो गयी ॥४२॥ पक्ष (पखवाड़ा) जिसका नेमिटक (अन्तिम गोलाकार हिस्सा) है, मास(महीना) जिसका मध्यकटक (बीच का गोलाकार हिस्सा) है और ऋतु जिसका नाभिकटक (बीच का गोलाकार हिस्सा है) है, दिन जिसके आरे हैं यानी पहिये में लगी तिरछी सीकचें है और वर्ष जिसका अक्षदण्ड है और क्षण जिसकी नाभि (बीच का छेद) है, ऐसे वेग गामी कालरूपी चक्र (पहिये) के चलने पर अर्थात् क्षण, दिन, पक्ष, मास, ऋतु और वर्ण के क्रम से काल बीतने पर सूखे पत्ते के रस के समान उसके पति की चेतना देखते–ही–देखते शरीर में अन्तर्हित हो गयी। रणभूमि में शत्रुओं के प्रहारों से घायल राजा अन्तःपुर में मर गया। राजा के मरने पर रानी लीला जैसे जल न रहने से कमलिनी मुर्झा जाती है, वैसे ही अत्यन्त, म्लानवदन हो गई। विष के तुल्य उष्ण निःश्वास से उसका किसलय (नई कोंपल) सदृश अधरपल्लव कुम्हला गया, वह बेचारी बाण से विध्ध होने के कारण छटपटा रही हिरनी के समान मरणावस्था को प्राप्त हो गई। जैसे जले दीपक के प्रकाश से सुशोभित घर दीपक के बुझ जाने पर अन्धकार से व्याप्त हो जाता है, वैसे ही राजा के मर जाने पर रानी लीला अत्यन्त शोकाकुल हो गई। जैसे प्रवाह के सूख जाने पर नदी क्षीण हो क्षार से यानी रेह से धूसर हो जाती है, वैसे ही पतिके नष्ट होने पर वह सुन्दरी हतप्रभ हो क्षण भर में कृश हो गई। पहले पति का सम्मान करनेवाली और पति की मृत्यु से मरने को तैयार वह वियोगिनी बाला चकवी की नाईं क्षण में विलाप करती और क्षण में मूक हो जाती। तदुपरान्त जैसे तालाब के सूखने से व्याकुल हुई मछली के ऊपर ग्रीष्म के अन्त में हुई पहली वृष्टि कृपा करती है, वैसे ही पति की मृत्यु से अत्यन्त व्याकुल रानी लीला के ऊपर आकाशवाणी ने कृपा की, कारण कि पहले अनेक जन्मों से आराधित होने के कारण वह उसके ऊपर कृपालु थी ॥४३–५०॥

सोलहवाँ सर्ग समाप्त

सत्रहवाँ सर्ग

अन्वय और व्यतिरेक द्वारा नूतन वर्तमान और प्राक्तन पूर्वजन्म की सृष्टियों की, केवल मनोविलास होने से, तुल्यता का प्रतिपादन।

सरस्वती ने कहा : वत्से, अपने पति के शव को फूलों के ढेर में छिपाकर रक्खो। ऐसा करने से फिर तुम इस पतिको प्राप्त करोगी। न तो फूल ही मुर्झायेंगे और न तुम्हारे पतिका यह शव ही विनष्ट होगा याने सड़ेगा या सूखेगा। फिर यहाँ थोड़े दिनों में तुम्हारा स्वामी बन जायेगा और इसका जीव, जो कि आकाश की नाईं निर्मल है, तुम्हारे अन्तःपुरके प्रासाद से शीघ्र बाहर नहीं निकलेगा ॥१–३॥ आकाशवाणी का उक्त वचन सुनकर जैसे जलके सूख जानेसे मुर्झा रही कमलिनीको नई वृष्टिका जल तसल्ली देता है, वैसे ही भ्रमरोंके सदृश नेत्रवाली रानी लीलाके पास आकर उसके बन्धु–बान्धवोंने उसे धैर्य दिया ॥४॥

फूलों के ढेर में प्रच्छन्न अपने पति के शव को अन्तःपुर में ही रखकर कुछ धैर्य को प्राप्त हुई रानी लीला निधि से युक्त होने पर भी निधिके अपने उपयोग में न आने के कारण भोग, ऐश्वर्य से वंचित दरिद्रा–सी रही । भाव यह कि निधि के रहनेपर भी कारणवश उसके उपयोग में न आने के कारण जैसे निधानिनी दरिद्रा (भोगैश्वर्य से वंचित) रहती है, वैसे ही पति के रहने पर भी निश्चेष्ट होने के कारण उपयोग में न आने से वह भोगैश्वर्य से वंचित रही। लीला ने मारे क्लेश के उसी दिन अर्धरात्रि में, जबकि सभी परिजन घोर निद्रा में सोये थे, उसी अन्तःपुर के प्रासाद में शुद्ध ध्यान से युक्त अन्तःकरण से ज्ञानरूपिणी सरस्वती देवी का आवाहन किया। देवी ने उसके पास आकर उससे कहा : वत्से, तुमने मेरा स्मरण क्यों किया और क्यों तुम इतनी शोकाकुल हो रही हो ? दुःख के कारण ये संसाररूपी भ्रम, मृगतृष्णा में जल की नाई, मिथ्या ही प्रतीत होते हैं, यानी जैसे मृगतृष्णामें जलप्रतीति मिथ्या है, वैसे ही ये दुःखजनक संसाररूपी भ्रम मिथ्या हैं ॥५–८॥ लीला ने कहा : देवी, मेरे पति कहाँ हैं, क्या करते हैं और कैसे हैं, यानी सुखी हैं या दुःखी ? मुझे आप उनके समीप ले चलिये । मैं उनके बिना अकेले नहीं जी सकती ॥९॥

इस लोक की कल्पना के समान परलोक की कल्पना का भी अधिष्ठान केवल चित् ही है, यह दिखलाने के लिए देवी सरस्वती चिदाकाशको चित्ताकाश और भूताकाशसे पृथक्कर दिखलाती है ।

सरस्वतीजी ने कहा : सुन्दरी, एक वासनामय चित्ताकाश है, दूसरा शुद्ध चिदाकाश है और तीसरा सुप्रसिद्ध व्यावहारिक भूताकाश है। इन दोनों से सर्वथा शून्यको तुम चिदाकाश जानो यानी इन दोनों की सन्धि में दो से शून्य चिदाकाश स्पष्टरूप से लक्षित होता है ॥१०॥

उक्त चिदाकाश ही अपना आवरण करनेवाले अज्ञान से संकलित होकर जब प्रतीत होता है, तब वही मिथ्याभूत जगत्–रूपसे शीघ्र दिखलाई देता है, वही दुःख आदिका अनुभव करता है, ऐसा कहते हैं।

तुमने जो अपने पति के रहने का स्थान आदि पुछा है, वह वस्तुतः चिदाकाश कोशरूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है। अतः चिदाकाश का एकाग्र मन से जब चिन्तन किया जाता है, तब पृथक् विद्यमान न होता हुआ भी वह यहींसे शीघ्र दिखाई देता है और वहाँ जाकर उसका अनुभव भी किया जाता है ॥११॥

देवी उसके लिए चिदाकाशका परिचय कराती है ।

हे सुभगे, संवित् के एक पलक में एक देश से दूसरे देश को प्राप्त होने पर संवित् का जो मध्य है, उसीको तुम चिदाकाश जानो (✍) ॥१२॥

अतः तुम्हारी चिदाकाश की प्राप्ति ही चिदाकाशरूप से स्थित पति के समीप में गमन है, क्योंकी उसीमें तुम्हारे पति का परलोक कल्पित है, इस अभिप्राय से देवी कहती हैं।

✍ विस्तृत व्याख्यान उ.प्र. सर्ग २९ में देखिये ।

भद्रे, यदि तुम सम्पूर्ण संकल्पों का परित्याग कर उक्त चिदाकाश में ही मनको एकाग्र करती हो, तो तुम सर्वात्मक उस प्राप्तव्य तत्त्वको अवश्य प्राप्त हो जाओगी ॥१३॥

उसकी प्राप्ति कैसे होती है ? ऐसी आशंका होने पर उसकी प्राप्तिका उपाय बतलाती हैं।

हे सुन्दरी, उक्त तत्त्व यद्यपि जगत्के अत्यन्त अभाव की प्रतीति से ( ) ही प्राप्त होता है, अन्यथा प्राप्त नहीं होता, क्योंकि 'नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय' ऐसी श्रुति है। फिर भी तुम मेरे वरसे उसे शीघ्र प्राप्त हो जाओगी ॥१४॥ श्री वसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, ऐसा कह कर सरस्वती देवी अपने दिव्य लोक को चली गई और लीला को वर के प्रभाव से अनायास ही निर्विकल्प समाधि लग गई। जैसे चिड़िया अपने घोंसले को छोड़कर आकाश में उड़ जाती है वैसे ही उसने लोहे के पिंजड़े के समान दुर्भेद्य अन्तःकरण के साथ अपने स्थूल देहका त्याग कर दिया। ( ) रानी ने निर्विकल्प समाधि द्वारा चिदाकाशमें स्थित होकर अपने अन्तःपुर के प्रासाद के उस आकाश में ही अपने पति मृत महाराज को देखा। वह अपनी वासना और कर्मों के अनुसार शरीर, घर आदि सम्पत्ति से सम्पन्न था, अनेक राजाओं से सुशोभित सभामण्डपमें सिंहासन पर आरूढ़ था, बन्दीगण 'आपकी जय हो', 'आप चिरंजीव हों' कहकर उसकी स्तुति कर रहे थे, वह उपस्थित राज्य और सेना का कार्य करने में व्यस्त हो रहा था, पताकाओं से व्याप्त राजधानी के जिस सुन्दर घर में राजा बैठा था, उसके पूर्व दरवाजेपर असंख्य मुनि और श्रेष्ठ ब्राह्मण स्थित थे, दक्षिण दरवाजे पर असंख्य राजा–महाराज थे, पश्चिम दरवाजे पर असंख्य स्त्रियाँ थीं, उत्तर दरवाजे पर असंख्य रथ, हाथी और घोड़ों की भीड़ लगी थी। राजा ने एक गुप्तचर की जबानी दक्षिण देश के युद्ध की गति–विधिका निर्णय किया ॥१५–२१॥

सब देश के राजा उसके अधीन थे, यह दर्शाते हैं।

कर्णाटक देशाधिपति ने उसके पूर्वदेश की व्यवहारमर्यादा को अक्षुण्ण बना रक्खा था, सुराष्ट्र देशाधिपति ने उत्तरापथ में सम्पूर्ण म्लेच्छोंको उसके अधीन कर रक्खा था, मालंकाधिपतिने उसके लिए पश्चिम देशोंको आक्रन्त कर रक्खा था, दक्षिण समुद्रके तटसे आया हुआ लंका का दूत उसका मनोविनोद कर रहा था, पूर्व सागर के तटवर्ती महेन्द्र पर्वत का सिद्ध उससे हजारों मुहानों के विस्तारसे आश्चर्यमयी गंगाजीका वर्णन कर रहा था, उत्तर सागर के तटसे आया हुआ दूत गुह्यकों का वृत्तांत कह रहा था और जिस दूतने पश्चिम सागरका तट देखा था, वह अस्ताचलके रीति–रिवाजों को कह रहा था ॥२२–२५॥ कतार लगाकर खड़े हुए असंख्य राजाओंकी कान्तिसे उसका सारा आँगन जगमगा रहा था, उसकी यज्ञशाला में वेदमन्त्रों का उच्चारण कर रहे ब्राह्मणों ने तुरही, रणसिंगा आदि उत्तम बाजेके शब्दको दबा दिया था, उसके वनगज बन्दियों के तीव्र शोर–गुल की प्रतिध्वनि कर रहे थे, उसकी संगीतशाला के गायन और वादन के शब्दोंसे आकाश गूँज रहा था, चारों ओर घोड़े, हाथी और रथों के ठट्ट

तत्त्वज्ञान से अज्ञान का विनाश होने पर द्वैत का उदय न होना ही जगत् की अत्यन्त अभावसम्पत्ति है।

यहाँ देहत्याग से स्थिर चित्त द्वारा अभिमान का त्याग ही विवक्षित है। मरण के समान बाहर निर्गमन नहीं।

लगे थे, उनके एवं पैदल चलनेवाली जनताके चलनेसे उड़ी हुई धूलरुपी बादलों से आकाश छा गया था। वह स्वयं पुष्प, कर्पुर और धूप से युक्त था और उसके पर्वताकार प्रासाद सुगन्धिसे सराबोर थे। सम्पूर्ण मण्डलों से भेंटरूप धनको लाकर जो राजकीय कोषको परिपूर्ण रखते हैं, उन सेवकों के लिए उसने अनेक प्रकार के शासन बना रखे थे। उसके अपने यशरुपी कर्पूर के ढेर के तुल्य मेघरूपी अतिशुभ्र पर्वत अम्बरमें उत्पन्न हुए थे। स्वर्गलोक और भूलोक के स्तम्भभूत अपने अद्वितीय प्रतापसे उसने सूर्य को भी मात कर दिया था, उसके अनेक सामन्त आरम्भ में मन्दगति से चलनेवाले गुरूतर कार्यों में व्यग्र थे और उसके शिल्पी लोग नाना नगरों के निर्माण में संलग्न थे। इस प्रकार विविध राजकार्यों में व्यस्त राजाको लीला ने देखा। इसके अनन्तर जैसे कुहरा आकाशरूपी अरण्यभूमिमें गिरे, वैसे ही वासनामात्रशरीर होनेसे आकाशरूपिणी चिदाकाशनिष्ठारूप विपुल आरम्भवाली लीला वासनामय होने के कारण आकाशरूप राजाकी सभा में प्रविष्ट हुई ॥२६-३१॥ वहाँ वह सबके आगे घूमती थी, परन्तु वहाँ पर स्थित पुरूषों ने अपने आगे घूम रही केवल संकल्पसे कल्पित कामिनी की नाईं, नहीं देखा। जैसे दूसरेके मनोरथ से रचित नगरको दूसरा नहीं देख सकता, वैसे ही अपने आगे-आगे घूम रही लीला को किसीने भी नहीं देखा। वहाँ लीला ने अपने उन्हीं पुराने सब लोगोंको सभामें बैठे देखा, जिन्हें वह पहले देखती थी, मानों वे सब-के-सब राजाके साथ ही एक नगर से दूसरे नगर में चले गये हों। जो पहले जहाँ पर बैठते थे वे उसी जगह पर बैठे थे, उन्हीं के सदृश उनका आचरण था। लीला ने, जिन्हें वह पहले देखती थी, उन्हीं बालकों को, उन्हीं विदूषकों को और उन्हीं अनुचरोंको, तथा उनसे मिलते-जुलते सेवकों को देखा ॥३२-३६॥

वासनामय स्वप्न की नाईं वासनामय जगत् में सब पहले के सदृश ही हों ऐसा कोई नियम नहीं है, - ऐसा कहते हैं।

इसके बाद उसने उनसे भिन्न कुछ नये पण्डितों और मित्रों को देखा, उसे कुछ व्यवहार भी पहले से भिन्न दिखाई दिये, अनेक पुरवासी एवं अन्यान्य जन भी भिन्न थे। उसने दिनमें दोपहर के समय घने जंगलों से व्याप्त दिशाएँ देखी और चन्द्रमा तथा सूर्य से युक्त आकाश देखा, जिसमें बादलों की गड़गड़ाहट और वायु की सनसनाहट हो रही थी, वह वृक्ष, नदी, पर्वत, नगर, ग्रामों से विभूषित था और उसमें अनेक जंगल थे, जिनमें विविध नगरों की रचना की गई थी। वहाँ पर उसने सोलह वर्ष के राजा को देखा, जो पूर्वजन्म की वृद्धावस्था से निर्मुक्त था और पूर्वजन्म की सम्पूर्ण जनता को तथा सब नगरवासियों को देखा। उन्हें वासनामय नगरमें देखकर लीला को चिन्ता ने घेर लिया। उसे सन्देह हुआ कि क्या उस नगर में रहनेवाले सभी मर गये हैं ? फिर वह सरस्वती देवी के प्रसाद से उत्पन्न प्रबोधसे एक क्षण में अपने पहले के अन्तःपुर में आई। वहाँ आधी रात में उसने अपने अनुचरों को वैसे ही सोये देखा, जैसे कि वह उनको छोड़ गई थी। तदुपरान्त उसने घोर निद्रा में सोई हुई अपनी सखियों को जगाया और कहा कि मुझे अत्यन्त दुःख हो रहा है, इसलिए आप लोग मुझे सभा स्थान में ले जाईए। यदि मैं राजा के सिंहासन के समीप में बैठूँ और सदस्यों को देखूँ, तो मैं जीवित रह

सकती हूँ अन्यथा मेरा मरण ही जानिये। रानी के यों कहने पर वह सारा–का–सारा राजपरिवार जाग उठा और यथायोग्य अपने अपने काममें जुट गया। जैसे सूर्य की किरणें लोगों को अपने–अपने व्यवहार में लगाने के लिए पृथिवी पर आती हैं, वैसे पहरेदार नगरवासी सदस्यों को लेने के लिए गये। जैसे शरत् ऋतु के दिन वर्षाकाल के बादलों से मलिन आकाश को स्वच्छ कर देते हैं, वैसे ही अपने कार्य में दक्ष सेवकों ने सभामण्डप को खूब साफ–सुथरा कर दिया। आश्चर्य देखने के लिए आये हुए तारागणों के समान अन्धकाररूपी जलको पी चुकी दीपपंक्तियाँ आँगन में जगमगा उठी। जैसे प्रलयकाल में सूखे हुए समुद्रों को जीवों की सृष्टि से पहले होनेवाली जल वृष्टि प्रवाह से पूर्ण कर देती है, वैसे ही जनता ने राजा के आँगन को प्रवाह के समान आ रहे अपने संघ से भर दिया। जैसे प्रलय के अनन्तर त्रैलोक्य के पुनः उत्पन्न होने पर लोकपाल अपनी–अपनी दिशाओं में अधिष्ठित हो जाते हैं, वैसे ही निर्दोष मन्त्री और सामन्तगण अपने–अपने स्थान पर आ डटे। चारों ओर बिखेरे हुए कपूर के समान निबिड़ तुषार के संसर्ग से शीतल और खूब खिले हुए फूलोंसे निकल रहे मकरन्द की सुगन्ध से सुगन्धित वायु बहने लगी। जैसे ऋष्यमूक पर्वत पर अपने पुत्र सुग्रीव के ऊपर अनुग्रह करने लिए आये हुए सूर्य के सन्ताप से पीड़ित मेघपंक्तियाँ हिमालय आदि पर्वतों में आश्रय लेती हैं, वैसे ही सफेद वस्त्र पहने हुए प्रतीहार (द्वारपाल) सभामण्डप के प्रान्तों में (ओर छोर में) ये खड़े हो गये। जैसे प्रलयकाल के प्रचण्ड वायु से विध्वस्त होकर तारागण गिरते हैं, वैसे ही अपनी कान्ति से अन्धकारपटल का विनाश करनेवाले फूल तेज वायु के झोंकों से पृथिवी पर गिरने लगे। जैसे हंस प्रफुल्ल कमलों से व्याप्त सरोवर को भर देते हैं, वैसे ही महाराज के अनुयायियों ने सभामण्डप को ठसाठस भर दिया। जैसे कामदेव के चित्त में रति वैठती है या जैसे कामदेव से विकृत चित्त में श्रृंगारचेष्टाएँ आसन जमाती हैं, वैसे ही रानी लीला सिंहासन के पास में बिछाये हुए नूतन स्वर्णमय चित्रासन पर बैठ गई। लीला ने पहले की नाईं यथायोग्य स्थानों में बैठे हुए, पहले के ही सब राजाओं, गुरुओं, माननीयों, मित्रों, सदस्यों, सहचरों, सम्बन्धियों और बन्धुबान्धवों को देखा। राजा के राष्ट्र के सभी लोगों को यथापूर्व ही देखकर लीला की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा और सबके जीवन का निश्चय होने से उदित हुई चन्द्रमा की–सी कान्ति से वह सुशोभित हो गई ॥३७–५७॥

सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

अठारहवाँ सर्ग

समाधि में देखी गयी सृष्टि और पहले की सृष्टि दोनों दृश्य होने के कारण समानरूप से मिथ्या हैं चिन्मात्र ही सत्य हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, 'अत्यन्त दुःखदायी इस चित्त को इस प्रकार बहला रही हूँ', यों ईशारे से राजाओं को अपना अभिप्राय समझा कर रानी लीला सभाभवन से उठ गई। अन्तःपुर में जाकर अन्तःपुर के प्रासाद में फूलों से आच्छन्न अपने पति के पास

पहुँची और विचार करने लगी : अहो, यह बड़ी विचित्र माया है, ये हमारे पुरवासी मनुष्य समाधि में देखे गये प्रदेश में और बाहर अवकाशयुक्त हमारे नगर में भी स्थित हैं। ताल, तमाल आदि वृक्षों से व्याप्त ये पर्वत भी जैसे वहाँ दिखाई दे रहे थे, वैसे ही यहाँ भी दिखाई दे रहे हैं, आश्चर्य, यह किसी ने माया फैला रक्खी है। जैसे पर्वत दर्पण में भीतर और बाहर भी प्रतीत होता है, वैसे ही चित्तरूपी आदर्श में भीतर और बाहर भी यह सृष्टि प्रतीत हो रही है। इनमें कौन भ्रान्तिमयी सृष्टि है तथा कौन वास्तविक सृष्टि है ? इस सन्देह को मैं, सरस्वती देवी से, उनकी पूजा करके यों पूछती हूँ जैसे कि सन्देह बिलकुल न रहे। ऐसा निश्चय करके लीला ने सरस्वती देवी की पूजा की और तुरन्त ही सरस्वती देवी को कुमारी रूप में अपने सामने उपस्थित देखा। सिंहासन पर वैठी हुई परमार्थ महाशक्तिरूप देवी के सन्मुख होकर लीला ने भूमि पर बैठ कर देवी से पूछा ॥१-८॥ लीला ने कहा : हे देवी , उत्तम लोग अनुकम्पनीय (करुणा के पात्र) पुरुष पर क्रुद्ध नहीं होते, आपने ही सृष्टि के आरम्भ में यह उत्तम नियम बनाया है। इसलिए हे परमेश्वरि मैं आपके सन्मुख विनम्र होकर जो यह पूछती हूँ, उसे आप मुझसे कहिये, पहले आपने मेरे ऊपर जो वरदानरूप अनुग्रह किया है, वह सफल हो। इस जगत् नामक प्रपंच का आदर्श (चिदादर्श) आकाशसे भी अधिक निर्मल है, करोड़ों-करोड़ों योजन जिसका एक छोटा सा अवयव है। जिसमें वचन अखण्डितार्थ हैं यानी संसर्गरूप से बोधक नहीं हैं ऐसा चिद्घन, मृदु, सम्पूर्ण ताप का नाश करने के कारण शीतल, आवरणशून्य और सम्पूर्ण व्यवहारों में सर्वप्रथम स्फुरित होने वाला चैत्यभिन्न चित् कहा गया है। जिस आत्मादर्श में दिशाएँ, काल, सब कार्यों की उत्पत्ति, उत्पन्न हुए पदार्थों की आकाश में अवकाश प्राप्ति, अवकाश मिलने पर आलोक और नेत्र आदि द्वारा प्रकाश और प्रकाशित पदार्थों के 'इससे यह कार्य यों उपपन्न हुआ और यह इस प्रकार व्यवहार के उपयुक्त है' इस प्रकार का नियतिक्रम ये सब देशतः और कालतः विस्तृत विकाररूप विलक्षणता को प्राप्त होकर प्रतिबिम्ब की नाईं भीतर प्रतीत होते हैं। त्रिजगत्-रूप प्रतिबिम्ब बाहर और भीतर स्थित है, उन दोनों में से यानी आन्तर और बाह्यमें से कौन सृष्टि अकृत्रिम (सत्य) है और कौन कृत्रिम (मिथ्या) है ? ॥९-१४॥ श्रीदेवीजी ने कहा : हे सुन्दरी, सृष्टि की अकृत्रिमता कैसी है और कृत्रिमता कैसी है, यह मुझसे भलीभाँति कहो ॥१५॥ लीला ने कहा : हे देवि, जैसे मैं यहाँ पर बैठी हूँ और आप भी स्थित हैं, इसे मैं अकृत्रिम सृष्टि समझती हूँ तथा जहाँ पर इस समय मेरे पति हैं, उस सृष्टि को मैं कृत्रिम समझती हूँ, क्योंकि वह मिथ्याभूत है, अपनी स्थिति के लिए अपर्याप्त देश, काल और व्यवहार की पूर्ति नहीं करती। जैसे दर्पण आदि में प्रतिबिम्बित और स्वप्न में देखा गया पर्वत देश, काल और व्यवहार का पूरक नहीं है। (📖) ॥१६,१७॥

📖 दर्पण में प्रतिबिम्बित पर्वत की स्थिति के लिए, दर्पण रूप देश पर्याप्त नहीं है, जितने समय में पर्वत की तादृश रूप-रेखा बनती है, वह काल उसके लिए पर्याप्त नहीं है और उससे आरोहण अवहोरण आदि व्यवहार भी नहीं होता। वह अपनी स्थिति के लिए अपूर्ण अत्यन्त अल्प देश-काल व्यवहार की पूर्ति नहीं करता, वैसे ही वह सर्ग भी अपनी स्थिति के लिए अपर्याप्त अत्यन्त अल्प

तुम्हारे पति की जो वासनामय सृष्टि है, उसका कोई कारण है या नहीं ? यदि उसे अकारण कहो, तो उसकी उत्पत्ति नहीं होगी। यदि सकारण मानों, तो वह कारण कृत्रिम है या अकृत्रिम। कृत्रिम कारण मानो, तो यह सृष्टि उसकी कारण है या अन्य सृष्टि ? अन्य सृष्टि तो कोई प्रसिद्ध है नहीं, अतः पहला पक्ष ही शेष रहा, ऐसी दशा में कृत्रिम सृष्टि का कारणभूत यह सर्ग भी कृत्रिम ही ठहरेगा, क्योंकि कहीं पर भी भिन्न सत्तावाले कार्य और कारण नहीं देखे गये हैं अतः इन दो सृष्टियोंमें परस्पर विलक्षणता नहीं है, इस आशय से देवीजी ने कहा :

अकृत्रिम सृष्टि कभी उत्पन्न नहीं होती, कहीं पर भी कारण से सर्वथा भिन्न कार्य उत्पन्न नहीं होता ॥१८॥

उक्त नियम में लीला ने व्यभिचार की शंका कर कहा।

लीला ने कहा : माता, कारण से कार्य सर्वथा विलक्षण दिखाई देता है, मिट्टी का ढेला अपने में जल आदि धारण नहीं कर सकता पर उस से उत्पन्न घड़ा जल धारण करने में समर्थ दिखलाई देता है, ऐसी परिस्थिति मे जैसे कार्य और कारण में तुल्य सामर्थ्य का नियम नहीं है वैसे ही समानसत्ता का भी नियम नहीं है, *यह आशय है*॥१९॥

उपादान कारण की विचित्रता से या सहकारी और निमित्त कारणोंकी विलक्षणता से मिट्टी के ढेले और घड़े में विलक्षणता भले ही है, जिस वस्तु का एक ही उपादान और निमित्त कारण है उसमें दीपक से अन्य दीपक के समान कारण से विलक्षणता नहीं दिखलाई देती। प्रस्तुत दो सृष्टियाँ भी वैसी हैं, इस आशय से देवी लीला की शंका का समाधान करती हैं।

श्रीदेवीजी ने कहा : जो कार्य उपादान और सहकारी कारणों से उत्पन्न होता है, उसमें मृत्तिका, दण्ड, चक्र आदि असाधारण कारणों से कुछ विलक्षणता दिखाई देती है ॥२०॥

तुम्हारे पतिदेव की जो वासनामय सृष्टि है, उसमें तो असाधारण कारण से विलक्षणता की कल्पना की नहीं जा सकती, क्योंकि दोनों समानरूप से माया, काम, कर्म और वासनामूलक हैं, इस अभिप्राय से कहती हैं।

हे सुन्दरी, प्रत्यक्ष दीख रही इस सृष्टि के अन्तर्गत पृथिवी आदि में से तुम्हारे पति की सृष्टि का कारण क्या है ? उसे कहो, जिससे कि उसमें विलक्षणता आये ? भौतिक पदार्थों की बीज से इस भूमण्डलसे उत्पत्ति हुई है, वैसे ही उस भूमण्डल से उत्पत्ति हुई है, अतः भौतिक पदार्थों में भी कोई विलक्षणता नहीं है ॥२१॥

यहाँ की भूमि आदि से वहाँ की भूमि आदि की उत्पत्ति हो, ऐसी शंका होने पर कहती है।

यदि भूतल आदि यहाँ से उड़कर वहाँ गया है, तो यहाँ भूतल कैसे रहेगा ? वहाँ गये बिना कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता है और इसको कारण मानने पर भी सहकारी कारण कौन हैं अर्थात् कोई नहीं है ॥२२॥

यहाँ के सहकारी कारणों के न रहने पर भी वहाँ (समाधि में दृष्ट सृष्टि में) जो सामग्रीरूप सहकारिता उत्पन्न होती है, यानी यदि सहकारी कारण न होता, तो कार्य की ही उत्पत्ति न

देश, काल और व्यवहार की पूर्ति नहीं करता है, अतः मिथ्या है।

होती ! यों अन्यथानुपपत्त्या कल्पित होती है, वह पूर्व सृष्टि के कारण काम, कर्म, वासना और अविद्या से भिन्न नहीं है, अतएव विलक्षणताकी सिद्धि नहीं होती, यह बात सब के अनुभव में आती है ॥२३॥

सत्यरूप इस सृष्टि के अनुभव से जनित संस्कार से पैदा हुए पुरोवर्ति विषय रहित स्मृतितुल्य स्वप्न के सदृश मेरे पति की सृष्टि हो, यों अन्य प्रकार से लीला विलक्षणताकी शंका करती है।

लीला ने कहा : हे देवी, मेरे पति की वह (पूर्व के अनुभव से जनित संस्कार से पैदा हुई) स्मृति ही इस प्रकार वृद्धि को प्राप्त हुई कि वह स्मृति ही इस सृष्टिकी कारण है, उसी से यह सर्ग हुआ है, ऐसा मेरा निश्चय है ॥२४॥ श्रीदेवीजी ने कहा : भद्रे, तब तो पहले जन्म में देखी गई सृष्टि के संस्कार द्वारा तुम्हारे पतिकी सृष्टि हुई। संस्कार से उत्पन्न ज्ञान को स्मृति कहते हैं, उसमें विषय सामने नहीं रहता, पुरोवर्ती विषयसे शून्य होने के कारण स्मृति शून्यरूपा है, वैसे ही तुम्हारे पतिकी सृष्टि भी शून्यरूप ही ठहरी, क्योंकि वह भी स्मृति के सदृश पूर्व सृष्टि के संस्कार से जन्य है ॥२५॥

उक्त बात पर विचार कर लीला जान गई, अतः देवी के आशय के अनुसार बोली।

लीला ने कहा : हे देवी, जैसे आपने मेरे पतिकी सृष्टि को भी स्मृत्याकाशमय कहा है, वैसे ही मैं इस सर्ग को भी स्मृत्याकाशमय समझती हूँ, इससर्ग की स्मृत्याकाशमयता में वह (समाधि में दृष्ट) सर्ग दृष्टान्त है ॥२६॥ लीला की बात का समर्थन करते हुए देवी ने कहा : पुत्री, तुमने बहुत ठीक कहा है, वह असत् (मिथ्याभूत) सर्ग जैसे तुम्हारे पति के उन-उन सर्गभावों से प्रकाशमान प्रतीत होता है, वैसे ही यहाँ पर यह सर्ग भी तत्-तत् सर्गों से प्रकाशमान प्रतीत होता है, वस्तुतः यह असत् है, यह मैं देखती हूँ ॥२७॥ लीला ने कहा : माता, जैसे इस सृष्टि से मेरे पति की भ्रमात्मक अमूर्त सृष्टि हुई, जगत्-भ्रम की निवृत्तिके लिए, वैसा मुझसे कहिये ॥२८॥

यह सृष्टि भी पूर्व सृष्टि के संस्कारों से जन्य भ्रान्तिरूप ही है, यों उक्त अर्थ के उपपादन के लिए देवी मण्डपोपाख्यान के आरम्भ की प्रतिज्ञा करती हैं।

श्रीदेवीजी ने कहा : भद्रे, जैसे पूर्व सृष्टि की स्मृति से उत्पन्न केवल भ्रमस्वरूप की स्वप्नभ्रम-तुल्य यह सृष्टि प्रतीत होती है, वैसे मैं कहती हूँ, सुनो ।॥२९॥ चिदाकाश में अज्ञान से आच्छन्न भाग में तत्रापि स्रष्टा के अन्तःकरण के एक कोने में संसाररूपी जीर्ण मन्दिर है, जो आकाशरूपी काँच के टुकड़े के समान नीले छत्राकार संस्थान से आच्छादित है, जिसमें मेरूपर्वत रूपी स्तम्भ में लोकपालों की स्त्रियाँ प्रतिमाओं के तुल्य विराजमान हैं, चौदह भुवन जिसके अन्तर्गृह (कमरे) हैं, जिसके तीनों भुवनों के मध्यभागरूप तीन गड्ढे हैं, सूर्य जिसका दीपक है ॥३०,३१॥ जिसमें स्थित पंचभूत रूपी दीमकों के वल्मीक (वामी) सदृश नगरों से व्याप्त पर्वतरूपी मिट्टी के ढेले हैं और जो अनेक पुत्रों से युक्त वृद्ध ब्रह्मा का निवासस्थान है, जो जीव रूप कोशकारानामक कीड़ों (विलनी) से संयुक्त आकाश में रहनेवाले सिद्धों के

समूहरूप मच्छरों से सदा 'घूं घूं'–सा शब्द करता रहता है, बादलरूपी गृह–घूम (खरों के धुएँ) के पटल से जिसका कोना व्याप्त रहता है, जिसमें वायुमार्गरूपी महावंश में स्थित वैमानिक (विमानचारी) देवता आदि कीड़े हैं, जो सुर असुर आदिरूपी उद्धत बालकों की कीड़े के कोलाहलसे सदा खूब शब्दायमान रहता है, भू आदि लोकों के मध्यवर्ती नगर और ग्राम रूपी जल से जिसका भूभाग सिंचित है और पाताल, भूलोक और स्वर्गलोकरूपी प्रकाशमान कोठरियों से युक्त है। उस संसाररूपी पुराने मन्दिर में आकाशरूपी कमरे के किसी एक कोने में पर्वतरूपी मिट्टी के ढेले के तले एक छोटा सा पर्वतग्राम रूपी गड्ढा है। नदी, पर्वत और वनोंसे घिरे हुए उस ग्राम में स्त्री पुत्रों से युक्त और नीरोग अग्निहोत्री ब्राह्मण रहता था। उस धर्मात्मा ब्राह्मण के पास गाय आदि दूध देनेवाले अनेक पशु थे। वह राजभयसे सर्वथा निर्मुक्त था और सम्पूर्ण वर्णाश्रमियों का आतिथ्य सत्कार करता था ॥३२–३८॥

अठारहवाँ सर्ग समाप्त

उन्नीसवाँ सर्ग

राजा पद्म के इस सर्ग का जन्म राजा के दर्शन,
राज्य की इच्छा और दृढ़संकल्प से हुआ, इसका पूर्वजनम के वृत्तान्त से वर्णन।

श्रीदेवीजी ने कहा : भद्रे, वह ब्राह्मण वित्त, वेष, अवस्था, कर्म, विद्या, वैभव और आचरणों से वसिष्ठ के सदृश था, पर इक्ष्वाकु कुल का पौरोहित्य और श्रीरामचन्द्रजी को उपदेश आदि की वसिष्ठ की चेष्टाओं से रहित था ॥१॥ उसका नाम भी वसिष्ठ ही था, उसकी चाँद–सी सुन्दर अरुन्धती नाम की पत्नी थी, वह थी भूमिरूपी आकाश की दूसरी अरुन्धती थी। वित्त, वेष, अवस्था, कर्म, विद्या, वैभव और आचरणों से वह भी अरुन्धती के तुल्य थी, पर जीवस्वरूप से (ब्रह्मरूप से) स्थिति से वह अरुन्धती के तुल्य नहीं थी। भाव यह कि प्रसिद्ध वसिष्ठ और अरुन्धती तत्त्वज्ञानी होने से जीवनमुक्त थे, किन्तु उक्त अरुन्धती और वसिष्ठ को आगे के जन्म में ज्ञान होने वाला था, अतएव वे उस समय अज्ञानी होने के कारण बद्ध थे। उसका प्रेम अकृत्रिम था और विलासपूर्वक मन्थरगमन तथा कमल के विकास की नाईं मनोहर हास था। वह सुन्दरी संसार में उसकी सर्वस्व थी। वह ब्राह्मण दुर्वांकुरों से आच्छन्न समथर भूमिवाले उस पर्वत शिखर पर बैठा था, उसने पर्वत के नीचे शिकार खेलने की इच्छा से सारे साज–बाज के साथ जा रहे राजा को देखा। उसकी सेना का इतना बड़ा कोलाहल हो रहा था, जिससे मेरुपर्वत के विदारण की शंका होती थी। वह राजा अपने चँवरों और पताकाओं से लताओं के वन को चन्द्रमा की किरणों से व्याप्त कर रहा था, सफेद छातोंसे आकाशको चाँदी का फर्श बना रहा था, घोड़ों की नालों से खोदने के योग्य भुमि से उत्पन्न हुई धूलिके पटल से उसने आकाश को ढक दिया था, पर वह स्वयं हाथियों की पीठ पर रक्खी हुई सूर्य की किरणों और वायु को रोकनेवाली सोने चाँदी और मोतियों से अलंकृत अम्बरों से रक्षित था यानी अम्बारी में स्थित होने के कारण धूलि से आवृत नहीं हुआ था। उसके सैन्य के कोलाहल से

दसों दिशाओं के मृग आदि प्राणियों के झुण्ड दिग्भ्रम होने के कारण जल की भौंरी के तुल्य भाग रहे थे और उसके सुवर्ण और मणियों के बने हुए हार, बाजूबन्द आदि आभरणों की कान्ति छिटक रही थी। उस राजा को देखकर उस ब्राह्मण के (वसिष्ठ के) मन में यह विचार आया कि अहा! सम्पूर्ण सौभाग्यों से उद्भासित नृपता (राजा होना) बड़ी रमणीय है। मैं कब पैदल सेना, रथ, हाथी, घोड़े, पताका, छत्र और चँवरों से दस दिशा रूपी कुंज को पूर्ण करने वाला राजा होऊँगा, कब कुन्दनामक फूल के मकरन्द से सुगन्धित पवन मेरे अन्तःपुर की स्त्रियों के सुरतकाल के श्रम से उत्पन्न स्वेद बिन्दुओं को पीयेंगे और मैं कब अपनी पतिव्रता रानियों के मुखमण्डल को कर्पूर मिश्रित चन्दन से और दिशाओं के मुखमण्डल को कर्पूर तुल्य अपने विपुल यश से चन्द्रमा के उदयके तुल्य दीप्तिमय करूँगा। तब से नित्य अपने धर्म में तत्पर आलस्यरहित वह ब्राह्मण जीवनभर इस प्रकार के संकल्प से युक्त हुआ। तदुपरान्त जैसे सरोवर के जल में स्थित कमल को शिथिल करने के लिए कटिबद्ध तुषाररूपी वज्र कमल को प्राप्त होता है, वैसे ही शरीर शैथिल्ययुक्त वृद्धावस्था उस ब्राह्मण के शरीर को जर्जर बनाने के लिए उनके पास आई। जैसे वसन्त ऋतु के बीतनेपर प्रचण्ड ग्रीष्मकाल के सन्ताप के भय से लता मुर्झा जाती है, वैसे ही जब उसके मरने का समय समीप आया तब उसकी पत्नी को बड़ा क्लेश हुआ। तदनन्तर उस सुन्दरी ने तुम्हारी नाईं मेरी बड़ी आराधना की। अमरत्व प्राप्त होना कठिन है, यह जानकर उसने यह वर माँगा : हे देवि, मेरे मृत पतिका जीव मेरे घर से बाहर जाये ही नहीं। चूँकि उसने वैसी प्रार्थना की थी, अतः मैंने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। तदुपरान्त काल पाकर उसका पति मर गया और उसी घर के आकाश में जीवाकाशरूप से (卐) स्थित रहा। यद्यपि वह स्वयं आकाशरूप ही है तथापि पूर्वजन्म के दृढ़ संकल्प से परम शक्तिमान् राजा बन गया। उसने अपने प्रभाव से पृथिवी पर विजय प्राप्त कर ली, प्रताप से स्वर्गलोक को व्याप्त कर दिया, उसकी कृपा से पाताल लोक का पालन होता था, यों तीनों लोक उसके अधीन हो गये। वह शत्रुरूपी वृक्षों के नाश के लिए प्रलयाग्नि था (📖) स्त्रियों का मन हरने के लिए कामदेव था, विषयरूपी वायुओं के लिए मेरुपर्वत था (▲) सज्जनरूपी कमलों के विकास के लिए सूर्य था, जैसे दर्पण में पदार्थ प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही सम्पूर्ण शास्त्र उसमें प्रतिबिम्बित थे, याचकों को मुँह–माँगा देने के लिए वह कल्पवृक्ष था, उत्तम ब्राह्मणों के लिए वह बैठने का पीढ़ा था यानी वह सदा ब्राह्मणों के चरणों में नतमस्तक रहता था और धर्मरूपी चन्द्रमा के लिए पूर्णिमा था। अपने घर के मध्य के आकाश में वासनावच्छिन्न ब्रह्माकाशमय अतएव भूताकाशस्वरूप उस ब्राह्मण के मरने पर उसकी पत्नी वह ब्राह्मणी

卐 अन्तःकरण की वासनाओं से अवच्छिन्न ब्रह्म जीवाकाश है, तद्रूप से।

📖 वनाग्नि से जले हुए वृक्षों के फिर पनपने की आशा रहती है पर प्रलयाग्नि से विनष्टों का फिर प्ररोह कदापि नहीं हो सकता, वैसे ही वह शत्रुओं का समूल नाश करनेवाला था।

▲ जैसे वायु मेरु को विचलित नहीं कर सकते, प्रत्युत स्वयं टकरा कर रुक जाते हैं, वैसे ही वह विषयों से अप्रकम्प्य और विषयों का विष्टम्भक था।

शोक से अत्यन्त कृश हो गयी अतएव सूखी हुई उड़द की छीमी के समान उसके हृदय के दो टुकड़े हो गये। पति के साथ मरी हुई वह ब्राह्मणी अपने देह का परित्याग कर परलोक पहुँचाने में समर्थ मानस शरीरसे पतिके पास पहुँच गई। जैसे नदी नीची भूमि में पहुँचती है, वैसे ही अपने पति के पास पहुँचकर वसन्त ऋतु में उत्पन्न हुई मंजरी के समान वह शोक रहित (प्रफुल्लित) हो गई। उस पर्वतग्राम में मरे हुए इस ब्राह्मण के घर हैं, भूमि, वृक्ष आदि स्थावर सम्पत्तियाँ हैं, उसको मरे हुए आज आठवाँ दिन है और उसका जीव पर्वतके ग्राम के गृहमण्डप में स्थित है ॥२–२८॥

उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

बीसवाँ सर्ग

प्राक्तन जन्म के चरितों के सुनने के उपरान्त भी ऐसा होना सम्भव नहीं है, यों सन्देह में पड़ी हुई लीला को दृष्टान्त और युक्तियों से देवी का प्रतिबोधन।

श्रीदेवीजी ने कहा : हे सुन्दरी, वही ब्राह्मण आज राजा होकर तुम्हारा पति बना है और जो अरुन्धती नाम की ब्राह्मणी थी, वह तुम हो ॥१॥ नूतन चकवा और चकवी की नाईं और पृथिवी में उत्पन्न हुए शिव और पार्वती की नाईं सुन्दर दम्पती वे ही तुम दोनों यहाँ पर राज्य करते हो ॥२॥

पूर्वोक्त कथा का उपसंहार कर रही देवीजी समाधि दृष्ट सृष्टि और इस सृष्टि के समान पहले की और सृष्टियाँ भी भ्रम ही हैं, ऐसा कहती हैं।

मैंने तुम्हारे पूर्वजन्म का सम्पूर्ण सृष्टिक्रम कहा, उसका ब्रह्म का जीव भाव भ्रम ही मूल है, अतएव भ्रम मूलक होने से वह भ्रान्तिमात्र ही है यानी ब्रह्म का जीवभाव भ्रम से अतिरिक्त नहीं है ॥३॥

उत्तरोत्तर भ्रम में पूर्व–पूर्व भ्रम हेतु है, ऐसा दर्शाती हैं।

इस पूर्व भ्रम से चित्ताकाश में प्रतिबिम्बित यह भ्रमरूप सर्ग स्वदृष्टि से असत्य ही है अथवा अधिष्ठान दृष्टि से सत्य है जो आप दोनों के संसाररूपी भ्रम का नाशक है ॥४॥

यों भ्रमरूप होने के कारण सभी सर्ग समान ही हैं, ऐसा कहते हैं।

उस भ्रमरूप पूर्वसृष्टि से कौन सृष्टि भ्रान्तिरूप होगी और कौन भ्रान्ति से शून्य होगी ? इसलिए भ्रान्तिमय सृष्टि होती नहीं है ॥५॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, श्रीदेवीजी के उक्त वचन सुनकर रानी लीला के सुन्दर विशाल नयन आश्चर्य से विकसित हो गये, वह विलासपूर्वक मन्द–मन्द बोली ॥६॥ लीला ने कहा : आपका वचन तो सत्य है, वह इस प्रकार विरुद्ध कैसे हुआ ? कहाँ ब्राह्मण का जीव अपने घर में है और कहाँ इतने बड़े विशाल प्रदेश में हम लोग स्थित हैं यानी वे दम्पती हम कैसे हो सकते हैं ? वैसा यह दूसरा लोक, वह विस्तृत भूमि, वे विशाल पर्वत, वे दसों दिशाएँ, जिनमें मेरे स्वामी स्थित हैं, कैसे घर के अन्दर प्रतीत हो सकता है ? सरसों के भीतर मदोन्मत्त ऐरावत हाथी बाँधा गया,

परमाणु के भीतर मच्छर ने सिंहों के झुण्ड के साथ युद्ध किया, कमलगट्टे के अन्दर मेरु स्थापित है और भँवरें के बच्चे ने उसे निगल लिया, स्वप्न के मेघ की गर्जना को सुनकर मयूर बड़ा विचित्र नाच करते हैं, इत्यादि कहना जैसे असमंजस है, वैसे ही हे देवेशि घर के अन्दर पृथ्वी लोक और पर्वत हैं, यह कहना भी असमंजस है। हे देवि, जिस प्रकार से इसकी उपपत्ति हो, वैसा हम से निर्मल बुद्धि से कहिए, क्योंकि अपने प्रसाद से अनुगृहीत जनों की बड़े लोग कभी उपेक्षा नहीं करते ॥७-१२॥ श्रीदेवी ने कहा : सुन्दरी, मैं मिथ्या नहीं बोल रही हूँ, तुम इस विषय को भली-भाँति चित्त देकर सुनो, हम लोग वेदोक्त 'मिथ्या नहीं बोलना चाहिए' इत्यादि नियमों का उल्लंघन नहीं करते ॥१३॥ दूसरों के द्वारा भिद्यमान (उल्लंघन किये जा रहे) जिस (वेदमर्यादा) का मैं संस्थापन करती हूँ, यदि उसका मैं ही उल्लंघन करूँ तो उसका पालन दूसरा कौन करेगा ? ॥१४॥ राजा बनने की वासना से उपहित चिदात्मारूप उक्त गाँव के ब्राह्मण का वह जीवात्मा उसी अपने निवास स्थान में आकाश में इस व्योमरूप महानराष्ट्र को देखता है ॥१५॥

यदि वे ही हम दोनों हैं, तो हम लोगों को उक्त वृत्तान्त का स्मरण क्यों नहीं होता और मरण का स्वरूप क्या है ?

हे अंगने, जैसे जाग्रत्-स्मृति स्वप्न में नष्ट हो जाती है और अन्य स्मृति उदित होती है, वैसे ही तुम लोगों की पूर्व जन्म की स्मृति नष्ट हो चुकी है और उससे विपरीत स्मृति उत्पन्न हुई है, यही मरण है ॥१६,१७॥ जैसे स्वप्न में त्रिभुवन है, जैसे संकल्प में तीनों जगत् हैं, जैसे कथा का अर्थरूप संगम है, जैसे मरुभूमि में जल है और जैसे संकल्प और दर्पण में अन्दर स्थित भूमि है, वैसे ही उस ब्राह्मण के घर की पर्वत, वन और नगर से युक्त यह भूमि असत्य है। इसलिए सत्य, ज्ञान चिदाकाश के कोश-कोटर में यह असत्यभूत घनसृष्टि पंचकोश के अन्तर्गत सत्य चिद्व्योमरूप निमित्त से सत्य-सी प्रतीत होती है ॥१८,१९॥

पूर्व सर्ग के असत्य होने पर भी इस सर्ग में क्या आया ? इस पर कहतीं हैं।

भद्रे, असत्यरूप कारण से जो उत्पन्न होता है, वह स्मृतिरूप होने के कारण असत्य ही है, क्योंकि मृगतृष्णा से कल्पित सरिता में तरंग भी सत् नहीं होता। हे भद्रे, उक्त देहाकाशरूप कोश में स्थित तुम्हारा यह घर, मैं, तुम और यह सब केवल चिदाकाशरूप ही हैं ॥२०,२१॥

सम्पूर्ण प्रपंच के मिथ्या और केवल चिन्मात्र के परिशेष में अनुभव से सिद्ध दृष्टान्त के द्वारा अनुमान प्रमाण कहते हैं।

स्वप्न, भ्रम और मनोरथ के अपने-अपने अनुभव, दीपक के समान, यहाँ पर बोध करने के लिए मुख्य प्रमाण हैं ॥२२॥

इस सृष्टि से केवल गृहाकाश ही नहीं मरता यह बात नहीं है, किन्तु उसके एक देश में स्थित जीवाकाश का एक देश भी नहीं मरता है, इसलिए यह मिथ्या है, ऐसा कहते हैं।

ब्राह्मण के घर के अन्दर ब्राह्मण का जीव है, उस जीवाकाश में, कमल में भ्रमर की नाईं, समुद्र नद-नदी और वनों से परिपूर्ण यह पृथिवी है ॥२३॥ जैसे निर्मल आकाश में कुण्डल के

आकार के केशों का भ्रम होता है वैसे ही उक्त पृथिवी के किसी एक निर्मल कोने में नगर, देह आदि की प्रतीति होती है ॥२४॥

जैसे गर्भ से खच्चरी के पेट का विनाश हो जाता है वैसे अनेक सर्गों में उत्पन्न होने से ब्राह्मण के उक्त घर के विनाश की शंका नहीं करनी चाहिये, ऐसा कहती हैं।

उस ब्राह्मण के घर के अन्दर इस सृष्टि के उत्पन्न होने पर भी वह घर अभी ज्यों का त्यों बना ही है, विनष्ट नहीं हुआ। उस विप्रगृह के उदाहरण से आश्चर्य के लिए कौन स्थान है, क्योंकि त्रसरेणु के अन्दर भी जगत्–समुदाय स्थित–सा है। 'स्थित–सा' यह कथन मिथ्या होने के कारण त्रसरेणु के अन्दर जगत् का रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं है, यह दर्शाने के लिए है ॥२५॥

आकाश आदि जगत् की सृष्टि में पूर्वकालिक (आकाश आदि जगत् की सृष्टि के पूर्वकी) निरवकाशता की विरोधिनी नहीं है, परमाणु से अवच्छिन्न (अतिसूक्ष्म) चिदात्मा में भी जगतों का सम्भव होने से असंभव की शंका निरवकाश ही है, ऐसा कहती है।

भद्रे, परमाणु रूप चिदात्मा में भीतर–भीतर अनेक जगत् विद्यमान हैं, फिर उक्त चिदात्मा में ब्राह्मण के घर की असंभावना तुम क्यों करती हो ? ॥२६॥ लीला ने कहा : हे देवी, आज से आठ दिन पहले उस ब्राह्मण की मृत्यु हुई थी और हमें उत्पन्न हुए अनेक वर्ष बीत चुके हैं, हे माँ, वे ही दम्पती हम हैं, यह कैसे हो सकता है ? ॥२७॥ श्रीदेवी ने कहा : सुन्दरी, जैसे देशदैर्ध्य नहीं है, वैसे ही कालदैर्ध्य भी है ही नहीं, इस विषय को युक्तिपूर्वक तुमसे कहती हूँ, तुम सावधान होकर सुनो ॥२८॥ जैसे यह जगत्–सृष्टि की प्रतीति कल्पनामात्र है, वैसे ही यह क्षण, कल्प आदि की प्रतीति भी कल्पनामात्र ही है, वास्तविक नहीं है। क्षण, कल्प आदिरूप सम्पूर्ण जगत् 'त्वम्', 'अहम्' इत्यादि अध्यास के अधीन स्वजन्मरूप भ्रमवाले पुरुषों को ही प्रतीत होता है, उक्त प्रतीति के क्रम को मैं तुमसे यथार्थरूप से कहूँगी, तुम सुनो। पतिव्रते, जब जीव क्षण भर मिथ्याभूत मरण–मूर्छना का अनुभव कर, पूर्वजन्म के पदार्थों को भूल कर अन्य पदार्थों को देखता है, तभी आकाशरूपी वह चिदाकाश में, पलक भर में, यह मैं आधेयस्वरूप हूँ और इस आधार में स्थित हूँ, ऐसा स्मरण करता है यानी उसके चित्त में उक्त संस्कार उद्भूत होता है। और वह देखता है कि मेरा यह शरीर हस्त, पाद आदि से सम्पन्न है। जैसा उसके चित्त में संस्कार रहता है, वैसा ही वह अपने शरीर को देखता है। इस पिता का मैं पुत्र हूँ, मुझे इतने वर्ष हो गये हैं, ये मेरे रमणीय भाईबन्धु है और यह मेरा रमणीय घर है। मैं उत्पन्न हुआ, बालक हुआ, बढ़ा और अब ऐसा हूँ और ये सब मेरे बन्धु–बान्धव भी मेरे तुल्य ही उत्पन्न हुए बालक हुए, बढ़े और अब मेरे सदृश ही विचरण करते हैं ॥२९–३५॥

बन्धु–बान्धव देह के सम्बन्धीरूप से कल्पित है, अतः वे देह के सम्बन्धी भले ही हों पर उनमें आत्मीयत्व कैसे ? इस शंका पर कहते हैं।

यद्यपि बन्धु–बान्धव वस्तुतः देहसम्बन्धी हैं, तथापि देहरूपता को प्राप्त हुए चित्ताकाश और आत्माकाश का अत्यन्त दृढ़ तादात्म्याध्यास होने से वे वस्तुतः परकीय होते हुए भी

आत्मीय भी होते हैं, ऐसा होने पर जीव के चित्त के संसार में देहरूपता को प्राप्त होने पर भी कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ, केवल निर्मल आकाश ही स्थित है, जैसे स्वप्न में स्वप्नद्रष्टा में विद्यमान चिति ही रहती है, वैसे दृश्य प्रपंच में भी चिति ही है भाव यह है कि जैसे स्वप्न देखनेवाले पुरुष में विद्यमान चिति ही स्वप्न में दिखाई देनेवाले पदार्थों के आकार को प्राप्त होती है, वैसे ही चिति ही दृश्य पदार्थों के आकार में प्रतीत होती है, चिति से अतिरिक्त कुछ नहीं है। चूँकि स्वप्न में द्रष्टा और दृश्यरूप से कल्पित विभिन्न पदार्थों में अदृश्यरूप से व्याप्त चिति कल्पित द्रष्टा और दृश्यरूप विविध पदार्थों का बोध होने पर एकरस चिति रूप से पुनः दृष्टिगोचर होती है, अतः कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ। वह चिति जैसे स्वप्न द्रष्टा, दृश्य आदिरूप में उदित होती है, वैसे ही परलोक के द्रष्टाओं द्वारा देखी जाती हुई परलोक में उदित होती है और जैसे परलोक में उदित होती है, वैसे ही इस लोक में उदित होती है। इसलिए वास्तव में असत् किन्तु भ्रमवश सत्–से प्रतीत होनेवाले स्वप्न, परलोक और इस लोक में तनिक भी भेद नहीं है, वे परस्पर ऐसे अभिन्न हैं जैसे कि जल में उत्पन्न हुई लहरें एक दूसरे से अभिन्न रहती है। चूँकि यह विश्व जल में लहरों के समान चिति में भ्रमवश प्रतीत हो रहा है, अतः यह उत्पन्न ही नहीं हुआ है, उत्पन्न न होने के कारण यह अविनाशी है, क्योंकि जो उत्पन्न नहीं होता, उसका नाश नहीं होता, यह अकाट्य नियम है। इसका तात्त्विक रूप आत्मा ही है, अतएव जगद्रूप से इसका अस्तित्व नहीं है और जिसका भान होता है, वह चैतन्य ही है। भाव यह है कि सम्पूर्ण प्रमाणों से अधिष्ठान चैतन्य का ही भान होता है, क्योंकि वही अज्ञात और अबाधित होने से प्रमाणों के योग्य है, जड़ नहीं, क्योंकि उसमें (जड़ में) आवरण कार्य न होने से प्रमाणों की प्रवृत्ति का फल नहीं है। चेत्य (विषय) शून्य परमाकाशरूपिणी चिति जैसी है, चेत्ययुक्त परमाकाशरूपिणी चिति भी ठीक वैसी ही है। भाव यह है कि आरोपित चेत्य से अधिष्ठान में किसी किस्म का दूषण नहीं आता, अतएव जैसे जल से बीचि भिन्न नहीं है, वैसे ही चिति से चेत्य अतिरिक्त नहीं है। जल में बीचित्व खरगोश के सींग के समान ही है। भाव यह कि रसतन्मात्रा ही जल का यथार्थरूप है, उसमें बीचित्व नहीं है, क्योंकि उसका जीभ से ग्रहण नहीं होता, जो जल में चक्षु से बीचि के आकारका ग्रहण (प्रत्यक्ष) होता है, वह अन्य भूतों के सम्बन्धरूप उपाधि से उत्पन्न औपाधिक है, अतएव जल में बीचित्व खरगोश के सींग के समान असत् है, यह जो कहा वह ठीक ही है। वैसे ही यद्यपि चिति अपने स्वरूप से सर्वथा अप्रच्युत है फिर भी चेत्यभावापन्न–सी प्रतीत होती है, इससे यह सिद्ध हुआ कि दृश्य पदार्थ है ही नहीं। जब दृश्य पदार्थ नहीं है तब द्रष्टृ और दृश्य बुद्धि कैसे होगी ? दृष्टा और द्रश्य परस्पर सापेक्ष हैं, जब दृश्य नहीं है, तो द्रष्टृ कैसे ? यह भाव है। मरणरूप अज्ञान के अनन्तर ही देश, काल, कर्म, क्रम, उत्पत्ति, माता, पिता, भाई बन्धु, अवस्था, ज्ञान, स्थान, अभिलाषा, बन्धु–बान्धव, चाकर, चेष्टा सूर्योदय और सूर्यास्त के अनुसार त्रिजगत्रूपी दृश्य की शोभा जीव की बुद्धि में आरूढ होती है। चिति उत्पन्न हुए बिना ही मैं उत्पन्न हुई यों विचार करती है और वासना के अनुरूप देश, काल, कर्म, द्रव्य, मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि को देखती है और

मरने के अनन्तर तुरन्त ही अपना शरीर युवावस्था में दिखने पर भी जैसे पुष्प के बाद फल का उदय होता है वैसे ही बाद में वासनामय क्रम उदय होता है ॥३६–४८॥ यह मेरी माता है, यह पिता है, मैं बालक हुआ इत्यादि अनुभूत या अननुभूत जो स्मृतिमय क्रम है, वह इसके बाद उत्पन्न होता है, जैसे कि फूल के बाद फल का उदय होता है। और एक ही पलक में मेरा कल्प बीत गया, ऐसा अनुभव करता है। राजा हरिश्चन्द्र की एक रात बारह वर्ष की हुई थी, स्त्रीवियोगी पुरुषों को एक दिन वर्ष के समान मालूम होता है। जैसे स्वप्न में मैं मरा, उत्पन्न हुआ, यह दूसरा मेरा पिता है, ऐसी प्रतीति होती है, वैसे ही लोक में भी मैं मरा, पुनः उत्पन्न हुआ, यह मेरा पिता है, जिस भोग का भोग नहीं किया, उसको मैंने भोग लिया, ऐसी बुद्धि और भुक्त भोगों में मैंने इनका भोग नहीं किया, ऐसी प्रतीति मुग्ध लोगों में देखी जाती है ॥४९–५२॥

अविद्या से केवल असत्–प्रतीति ही नहीं होती, किन्तु सत् से विपरीत भान होना भी प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

नशे में और स्वप्न में रिक्त स्थान भी समृद्ध–सा यानी लोगों की भीड़ से ठसाठस भरा हुआ प्रतीत होता है, विपत्ति उत्सव के सदृश मालूम होती है और वंचना भी लाभ ज्ञात होती है ॥५३॥ जैसे मिर्चे के बीज के किनके में विद्यमान तीक्ष्णता डण्ठलों में अपने स्वरूप को व्यक्त किये बिना ही भीतर स्थित है, वैसे ही जिस अज में स्वरूपभूत यह सम्पूर्ण विश्व उसकी सत्ता से ही विद्यमान है, उस आत्मा में बन्धन और मोक्ष दृष्टि कहाँ से होगी और कैसे होगी ? यानी किस निमित्त से होगी और स्वरूपतः कैसे होगी ? वे सर्वथा असंभावित हैं, यह भाव है ॥५४॥

बीसवाँ सर्ग समाप्त

इक्कीसवाँ सर्ग

विचारपूर्वक देखा जाय तो स्थूल सूक्ष्म है, सूक्ष्म अविद्या है और अविद्या भी चिन्मात्र ही है, यों देवी द्वारा लीला का प्रतिबोधन।

श्रीदेवीजी विशेषरूप से प्रतिपादन करने के लिए पूर्वोक्त अर्थ का ही विस्तार करती हैं।

श्रीदेवीजी ने कहा : जैसे नेत्र खोलने से सम्पूर्ण रूपों की प्रतीति होती है, वैसे ही मृत्युरूप मोह के अनन्तर जीव को शीघ्र सम्पूर्ण जगतों का पूर्णरूप से भान होने लगता है। देश–काल–सम्बन्धमय, आकाशमय (गन्धर्वनगर आदि), धर्ममय (स्वर्ग आदि), कर्ममय (घर आदि) और प्रलयपर्यन्त स्थिर रहनेवाले पृथिवी आदि अनन्त जगत् उसके सन्मुख आविर्भूत होते हैं ॥१,२॥

मायिक स्मरणाभास और अनुभवाभास में प्रसिद्ध स्मरण और अनुभव से विलक्षणता दर्शाते हैं।

जो वस्तु कभी अनुभूत नहीं है और जो दृष्टिगोचर नहीं हुई है, वह भी स्वप्न में अपने मरण की नाईं मुझसे अनुभूत है और दृष्ट है, इस प्रकार तुरन्त स्मरण में आती है।

मायाकाश में प्रकाशमान आवरणरहित यह जगत्–नामक कल्पनारूप नगरी निःसीम भ्रान्ति ही है। वासना ही यह जगत्, यह सृष्टि, इस प्रकार विलास को प्राप्त होती है, समीप में स्थित और वर्तमान कालिक में यह दूरस्थित और भूतकालीन है, यों देश और काल के विप्रकर्षरूप से और सनातन और निष्क्रिय में क्षण, उनकी आवृत्तिरूप घड़ी, मुहूर्त, दिन, पक्ष, मास और वर्ष आदिरूप से विपर्यास (भ्रम) ही उक्त वासनाका केवल एकमात्र स्वरूप है। इस प्रकार ज्ञान अननुभूत और अनुभूतरूप से दो प्रकार का है, वह पूर्वकारणों से रहित ही और चिद्रूप ही प्रवृत्त होता है ॥३–६॥

जो अनुभव में नहीं आया है, उसमें अनुभूतत्व भ्रान्ति कहाँ देखी गई है? इस पर कहते हैं।

अननुभूत में (जो अनुभव में आरूढ़ नहीं हुआ है, उसमें) इसका हमने अनुभव किया, ऐसी प्रतीति अन्तःकरण में होती है, जैसे कि स्वप्न और भ्रमदशा में अन्य के पिता में ये मेरे पिता हैं ऐसी स्मृति होती है ॥७॥

यदि कोई कहे कि संसार अनादिकाल से चला आ रहा है, इस अनादि संसार में सब कुछ अनुभूत ही है, अतएव यह, जिसमें 'स एवायं यः पूर्वमनुभूतः पदार्थः' जिस पदार्थ का पहले अनुभव किया था, वही यह पदार्थ है) इत्याकारक तत्ता का लोप है, ऐसी स्मृति ही है, भ्रान्ति नहीं है, तो इस पर कहते हैं।

कभी प्रजापति की प्रथम सृष्टियों में स्मृतित्व का त्याग कर केवल अनुभवरूप से ही रहता है, उसके पश्चात् क्रमशः स्मृतिरूप से प्रतीत होता है ॥८॥

पूर्व अनुभूत का ही भान होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है, ऐसा कहती है।

हे सुन्दरी, तीनों भुवन आदि यह दृश्य प्रपंच किन्हीं लोगों की स्मृति में पहले अनुभव में आरूढ़ होकर स्थित है और किन्हीं की स्मृति में पूर्व में अनुभव में आरूढ़ हुए बिना ही स्थित है ॥९॥ काकतालीय के समान किन्हीं चिदणुओं को पूर्व में अननुभूत ब्रह्मत्व, स्मरण के बिना ही, प्रतीत होता है। भाव यह है कि जैसे कौए का जाना और ताल–फल का गिरना, इन दोनों का कार्यकारणभाव नहीं है, किन्तु काकगमन और फलपतन आकस्मिक है, वैसे ही कुछ चैतन्य परमाणुओं को मैं ब्रह्मा हूँ, यह स्मरण पूर्वानुभव के बिना ही अवभासित होता है। उसको पूर्वजन्म के प्रजेशत्व (ब्रह्मात्व) का स्मरण होता है, यह तो कह नहीं सकते, क्योंकि 'सहसिद्धं चतुष्टयम्' (तत्त्वज्ञान, सृष्टिकरणसामर्थ्य आदि ब्रह्मा के स्वाभाविक धर्म हैं) इत्यादि स्मृति से ब्रह्मा में अवश्य ज्ञानोदय होने पर उसका पुनर्जन्म नहीं हो सकता ॥१०॥

वासनाओं की राशि ही चित्त है, चूँकि संसार वासनाराशिरूप चित्तमय है, अतः चित्तके विनाश से आत्यन्तिक निर्वासनारूप विस्मृति ही मोक्ष है, यह सिद्ध हुआ, ऐसा कहती है।

विश्व का आत्यन्तिक विस्मरण मोक्ष कहलाता है। मोक्ष में किसी को भी प्रिय और अप्रिय कुछ नहीं होते, क्योंकि 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (मुक्त पुरुष को प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते) ऐसी श्रुति है ॥११॥ अहन्ता और जगत् की मूलभूत अविद्या के बाध

के बिना यह अनुत्पादमयी (नित्य) विमुक्तता उदित ही नहीं होती। कभी उत्पन्न हुए और रज्जू रूप से स्थित सर्पशब्द और सर्परूप अर्थ के भाव को जाने बिना रज्जू में सर्प का भ्रम शान्त होने पर भी शान्त नहीं होता। भाव यह है कि रज्जू में जो सर्प भ्रम होता है, उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति तभी हो सकती है, जब कि सर्प शब्द और सर्परूप अर्थ का होने पर भी फिर वह उदित हो जाता है, आत्यन्तिक निवृत्ति ही उसका एकमात्र उपाय है ॥१२,१३॥

यदि कोई कहे कि योग से मन की वृत्तिका शमन होने से ही वह शान्त हो जायेगा, ज्ञान की उसके लिए क्या आवश्यकता है, इस पर कहती है।

जो विक्षेपरूप अंशकी शान्ति से आधा शान्त हुआ यानी पूर्णतया निवृत्त नहीं हुआ, वह शान्त नहीं होता, क्योंकि समाधि से व्युथान होने पर वह फिर मूढ़ पुरुष को विक्षेपार्थरूप से प्रतीत होता है, क्योंकि मूढ़पुरुषको एक पिशाच की निवृत्ति होने पर दूसरा पिशाच दिखाई देता है॥१४॥

ज्ञान से ही इस संसार सागर से निस्तार हो सकता है, ऐसा कहती हैं।

यह विशाल संसार पर ब्रह्म ही है, यह निश्चय है। अविद्या के बाध से यदि यह प्रकाशित होता है, तो प्रकाशित ही रहता है यानी फिर उसके आवरण आदि की शंका नहीं रहती है ॥१५॥

जो पहले यह कहा था कि यह सर्ग ब्राह्मण–ब्राह्मणी के सर्ग में अभ्यस्त वासनाओं से उत्पन्न है, उसमें लीला अनुपपत्ति की आशंका करती है।

लीला ने कहा : देवी, ब्राह्मण और ब्राह्मणी रूप सर्ग में इस सर्ग का कारणभूत संस्कार, पूर्व में अनुत्पन्न स्मरणयोग्य के पूर्वानुभव के बिना, कैसे उत्पन्न हुआ ? इस समय (राजसर्ग में) जो वस्तुएँ हैं, वे पहले (ब्राह्मण–ब्राह्मणीरूप सर्ग में) नहीं थीं, अतः उस समय उनका अनुभव हुआ यह नहीं कहा जा सकता। पूर्व अनुभव न होने के कारण संस्कार रूप वासना उस समय नहीं हो सकती, यह भाव है ॥१६॥ श्रीदेवीजी ने कहा : भद्रे, केवल संस्कार ही वासना नहीं है, आगे मैं संस्कार से अतिरिक्त (अनादि अविद्याशक्तिरूप) वासना भी तुमसे कहूँगी। यदि संस्कार को भी तुम सृष्टि में आवश्यक मानती हो, तो सर्वज्ञ ब्रह्मा को भावी वस्तुओं का भी अनुभव हो सकता है, अतः उन्हीं का संस्कार उक्त सर्ग का कारण है, ऐसा मान लो। अपनी देह की सृष्टि आदि में तो उनका भी संस्कार कारण नहीं हो सकता है। यदि कहो कि उनसे पूर्व जो ब्रह्मा रहे, उनका संस्कार उनकी देह की सृष्टि में कारण है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वे तो पूर्वकल्प की समाप्ति में ही मुक्त हो चुके ॥१७॥

जिनका इस समय स्मरण हो रहा है, उन वस्तुओं के ब्राह्मणसृष्टि में न रहने से भी उनके स्मरण का (संस्कार का) सम्भव नहीं है, ऐसा कहती है।

पहले स्मरणयोग्य पदार्थ थे ही नहीं। पूर्वकल्प के ब्रह्मा के शरीर आदि की वासना से युक्त मायोपहित चैतन्य की ही तादृश आकार से स्थिति होने से वही इस प्रकार के अपूर्व ब्रह्मा आदि के रूप से विवर्त को प्राप्त होता है ॥१८॥

पूर्व कल्प के ब्रह्मा की वासना से युक्त अविद्या का अविद्या के अधिष्ठानभूत तत्त्व के ज्ञान से बाध होने पर जो होता है, उसे कहती हैं।

पूर्वकल्प के प्रजापति से अब मैं प्रजापति हुआ, इस प्रकार काकतालीय के समान (अकस्मात्) कोई प्रतिभामय (काल्पनिक यानी मनोमय) प्राणी (ब्रह्मा) उत्पन्न होता है ॥१९॥

चूँकि ब्रह्मा स्वयं कल्पनामय है, अतएव उसका और उसकी सृष्टि का बाध होना युक्ति युक्त है, इस आशय से कहती है।

जगत् के इस प्रकार उदित होने पर भी कभी कुछ भी उदित नहीं हुआ, केवल चिदाकाश ही स्थित है ॥२०॥ पूर्व अनुभव से उत्पन्न संस्कार से जनित अथवा अनादि अविद्याशक्तिरूप अन्य वासना से उत्पन्न हिरण्यगर्भ की अथवा अन्य किसीकी स्मृतिरूप इस सृष्टि का कारण परमपद (मायाशबल ब्रह्म) है। शुद्ध ब्रह्म में तो कार्यकारणभाव आदि भेद की गन्ध भी नहीं है, ऐसा कहती हैं। चिदाकाश में यह कार्यकारणभाव एक ही है यानी अभिन्न ही है। भाव यह कि शुद्ध चिद् में कार्यकारणभाव की गन्ध भी नहीं है ॥२१॥

कार्य–कारणविकल्प अविचाररूप माया द्वारा किया गया है, विचार करने पर उसका बाध हो जाता है, यह दर्शाने के लिए विचार करती हैं।

कार्य (पट आदि) और कारण (तन्तु आदि) ताना, बाना आदि सहकारी कारणों से होंगे, क्योंकि उनकी उत्पत्ति में यदि वे उपकारण न होंगे, तो सहकारी कारण ही क्यों कहलायेंगे ? उपकारक रूप कार्य भी वैसे ही सहकारी कारणों से होगा, इस प्रकार अनवस्था हो जायेगी। उक्त अनवस्था दोषवश उपकार न होने से कार्य–कारण भावका बाध होने पर कार्यकारण–कल्पना के अधिष्ठानभूत तन्तु आदि का अभेद शान्त नहीं होता, क्योंकि भेद का कारण कोई नहीं है ॥२२॥

युक्ति से ऐसा भले ही हो, पर यह बात अनुभव में कैसे आरूढ़ हो सकती है, उसके लिए श्रीदेवीजी प्रत्यग्दृष्टि का व्युत्पादन करती हैं।

'स्मर्यतेऽनेन इति स्मरणम्' इस व्युत्पत्ति से स्मरण चित्संवलित व्यष्टि और समष्टि अन्तःकरण है, उसीको आप वेदन जानिये और वह मायाशबल ईश्वर का कार्य है। वहाँ पर मायोपाधि और अन्तःकरणोपाधिका भेद प्रतीत होने पर उससे उपहित अधिष्ठानरूप सन्मात्र में भी भेदकल्पना होने से कार्य के अस्तित्व का जन्म कारणसत्ता के अधीन है, इस भ्रम से पूर्व अवस्थावाले सद्रूप कारण को यह उत्तरावस्थावाला कार्य है, ऐसा जो तुम जानती हो, वैसा जानना ठीक नहीं है, किन्तु माया और उसके कार्य की उपेक्षा कर उन दोनों में अनुगत सन्मात्र महाचिद्रूप का ही स्मरण (वेदन) जानो। उस पूर्वोक्त लक्षणवाले प्रत्यग्दर्शन से कार्यकारणता तो बाधित हो गई, बच गया केवल कार्य और कारण शब्द। वह भी इस दृष्टि से देखने पर वास्तव नहीं है। इस प्रत्यग्दृष्टि का स्वराज्यसिद्धि में खूब स्पष्टरूप से उपपादन किया गया है।

पिण्डावस्थाघटत्वे मनसि कलयतो हेतुकार्यत्वधीः स्यात्
मृन्मात्रं यद्वदेकं स्फुटमभिमृशतो नैव हेतुर्न कार्यम्।
तद्वन्मायिप्रपंचौ झटिति कलयतो ब्रह्म विश्वस्य हेतुः
सन्मात्रं त्वेकरूपं पटु परिमृशतो नैव मायी न विश्वम् ॥

(जैसे मन में मिट्टी का पिंड और घटत्व का ग्रहण (ध्यान) कर रहे पुरुष की हेतुत्व और कार्यत्व बुद्धि होती है, केवल मिट्टी का पिंड का ही ध्यान कर रहे पुरुष की दृष्टि में न कार्य है और न कारण है, वैसे ही मायावान् और प्रपंच का ध्यान कर रहे पुरुष की दृष्टि में ब्रह्म विश्व का हेतु है, यह प्रतीति होती है, एकरूप सन्मात्र का ध्यान कर रहे पुरुष की दृष्टि में न मायावान् है और न विश्व ही है।

वार्तिक में भी कहा है :

तस्मात्संभावनामात्रः संसारः प्रत्यगात्मनि।
उक्तेऽर्थे संशयश्चेत् स्यात् प्रत्यगृदृष्टया निरीक्ष्यताम्॥

इसलिए संसार प्रत्यगात्मा में संभावनामात्र है। उक्त अर्थ के विषय में यदि सन्देह हो तो प्रत्यक्–दृष्टि से देखिये॥२३॥

इस प्रकार प्रपंचाभाव अक्षुण्ण स्थित है, यों उपसंहार करती है।

इस तरह कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ है, जो कुछ जगत् आदि दृश्यरूप से प्रतीत होता है, यह भी चित् ही है। केवल चिदाकाश स्वात्मभूत चिदाकाश में स्थित है, क्योंकि 'स्वे महिम्नि स्थितः' (अपने स्वरूप में स्थित है) ऐसी (✍) श्रुति है॥२४॥

प्रत्यग्–दृष्टि से प्रबुद्ध हुई लीला ने कहा।

लीला ने कहा : हे देवी, जैसे प्रातःकाल की प्रभा लोगों को जगत् की स्फुटरूप शोभा दिखलाती है, वैसे ही आपने मुझे बड़ी श्रेष्ठ दृष्टि दिखलाई है। इस समय जब तक मैं अभ्यास न होने के कारण इस दृष्टि में व्युत्पत्ति प्राप्त न कर लूँ, तबतक आप मेरी इस उत्कण्ठा को नष्ट कीजिये॥२५,२६॥ हे देवी, जिस घर में वह ब्राह्मण ब्राह्मणी के साथ रहता था, उस सृष्टि में पर्वतीय ग्राम में मुझे ले चलिये, उसे मैं देखती हूँ॥२७॥ श्रीदेवीजी ने कहा : सुन्दरी, परम पवित्र जो चेत्यशून्य चिन्मय दृष्टि (कारण ब्रह्मरूपता) है, उसका अवलम्बन कर इस आकारका त्याग कर निर्मल होओ। भाव यह कि उसके अवलोकन के लिए समाधि द्वारा पहले की नाईं इस शरीर का भूल जाना परम आवश्यक है। तदनन्तर तुम मायाकाशरूप चिदाकाश में स्थित उस सृष्टि को अवश्य प्राप्त होओगी जो कि भूमि में स्थित मनुष्यों के संकल्प (मनोरथ) की नाईं और आकाश के अन्तःपुर की नाईं है॥२८,२९॥

तुम्हारे पूर्वोक्त प्रकार से निर्मल होने पर हम दोनों साथ–साथ किसी प्रकार के प्रतिबन्ध

✍ 'केचन' के स्थान में 'काचन' पाठ बहुधा उपलब्ध होता है। उक्त पाठ में ऐसा अर्थ करना चाहिए। विश्व का आत्यन्तिक विस्मरण मोक्ष कहा जाता है, उक्त अवस्था में प्रिय और अप्रिय नहीं होते, क्योंकि 'अशरीरं बाबा' ऐसी श्रुति है। क्यों नहीं होते ऐसी आकांक्षा होने पर कहती हैं– 'काचन'। मोक्षावस्था में जो चिति अवशिष्ट रहती है, वह किसकी है, विषय की है या भोक्ता की है? जिसके कारण प्रिय और अप्रिय होंगे? भगवती श्रुति ने भी कहा है– 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' (जिस मोक्ष दशा में इसका सब कुछ आत्मा ही हो गया, वहाँ किसको किससे देखेगा) इत्यादि।

से शून्य उस सृष्टि को देखेंगे। उस सृष्टि के दर्शनरूप महल के द्वार में यह शरीर का बड़ा भारी प्रतिबन्ध है, इस शरीर के रहते उसका दर्शन कदापि नहीं हो सकता, यह भाव है।

लीला ने कहा : हे देवी, इस शरीर से दूसरी सृष्टि क्यों प्राप्त नहीं होती ? इसमें क्या युक्ति है ? इस बात को कृपाकर आप मुझसे कहिये ॥३०,३१॥ श्रीदेवीजी ने कहा : वत्से, ये जगत् मायामय होने के कारण अमूर्त हैं, लेकिन मिथ्याज्ञान से आप लोग इन्हें मूर्तिमान् मान बैठे हैं जैसे कि सुवर्ण को लोग अँगूठी समझ लेते हैं जैसे अँगूठी का आकार धारण किये हुए सुवर्ण में अँगूठीपना नहीं है वैसे ही जगत् का रूप धारण किये हुए ब्रह्म में भी जगत् नहीं है। यह जगत् आकाश (शून्य) ही है, यहाँ पर जो कुछ दिखलाई देता है, वह ब्रह्म ही है, जैसे धूलि के विरोधी समुद्र में प्रतिबिम्बरूप धूलि दिखलाई देती है वैसे ही ब्रह्म में भ्रमवश माया दिखाई देती है ॥३२–३४॥

उक्त अर्थ में प्रमाणों की असंभावना का मूलोच्छेद करने के लिए दृढ़तर प्रमाणों को दिखलाते हैं।

यह सम्पूर्ण प्रपंच झूठा है और ब्रह्म सत्य है, अद्वितीय आत्मरूप । इस विषय में उपनिषत् वाक्य, गुरुजन और अपना अनुभव प्रमाण है ॥३५॥ ब्रह्म ही ब्रह्म को देखता है ब्रह्म से भिन्न कदापि ब्रह्म को नहीं देख सकता, ब्रह्म की ही इस प्रकार की यह आवृत–सत्ता सृष्टि के नाम से लोक में प्रसिद्ध हुई है ॥३६॥ ब्रह्म और जगतों की कारणता और कार्यता नहीं हो सकती है, क्योंकि सम्पूर्ण सहकारी कारणों का अभाव है ॥३७॥ अभ्यास न होने के कारण जबतक तुम्हारी भेदबुद्धि शान्त नहीं होती, तबतक तुम निश्चय अब्रह्मरूप (ब्रह्मभिन्न देह आदि में आत्मबुद्धि करने के कारण देह आदिरूप) हो, अतएव तुम ब्रह्म को नहीं देख सकती। ब्रह्मज्ञान का बार–बार अभ्यास करने के कारण उक्त अर्थ में (अद्वैत ब्रह्म में) जो अत्यन्त व्युत्पन्न हो गये हैं, ऐसे हम लोग उस परम पद का साक्षात्कार करते हैं ॥३८,३९॥ मनोरथ से गढ़े गये नगर के समान मेरा शरीर आकाशमय (शुद्धचित्ताकाशमय) है, इस देह से मैं ब्रह्मरूपी उस परम पद को अपने अन्तःकरण में ही देखती हूँ ॥४०॥ भद्रे, जैसे मैं देखती हूँ, वैसे ही ये ब्रह्मा आदि भी विशुद्ध चित्तरूपी देह से ब्रह्मदर्शन के योग्य हैं, वे ब्रह्मरूप जगत् और जगत् के व्यवहारों की ब्रह्म के एक देश में स्थिति देखते हैं। 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' (उसका एक हिस्सा सम्पूर्ण भूत हैं और अमृत तीन भाग द्योतनात्मक स्वरूप में हैं) ऐसी श्रुति है ॥४१॥

यह देह केवल अन्य सृष्टि के दरवाजे पर जाने में ही प्रतिबन्धक नहीं है। किन्तु तत्त्वज्ञान का भी प्रतिबन्धक है, ऐसा कहती हैं।

बेटी, अभ्यास न होने के कारण ब्रह्मरूपता को प्राप्त न हुआ तुम्हारा आकार कलनस्वरूप (कलन यानी अन्तःकरण में जो चिदाभास तत्स्वरूप) स्थित है, अतएव तुम प्रकरणप्राप्त ब्रह्म को और उक्त पर्वतीय ग्राम को नहीं देखती हो ॥४२॥

इस देह से उसकी जो प्राप्ति नहीं होती, उसमें हेतु है, उसका संकल्पजन्य होना इस बात

को कैमुतिक न्याय से दृढ़ करती हैं।

जब अपने संकल्प से (मनोरथ से) निर्मित नगर अपने शरीर से प्राप्त नहीं हो सकता, तब दूसरे के संकल्प से विरचित नगर को अन्य देह कैसे प्राप्त करेगी ? यानी यह संभव नहीं है ॥४३॥ हे कार्यज्ञों में श्रेष्ठ सुन्दरी, इसलिए इस देह का परित्याग कर तुम चिद्व्योमरूपिणी हो जाओ। चिद्व्योमरूपिणी होकर तुम तुरन्त उसको देखोगी, अतएव तुम शीघ्र वही कार्य करो ॥४४॥ देह से साध्य अथवा देह से असाध्य जो संकल्प नगर का व्यवहार उसके उपभोग के प्रति संकल्पनगर सत्य है, यानी व्यवहारक्षम है। पर देह से साध्य अथवा देह से असाध्य अन्य किसी व्यवहार के लिए सत्य नहीं है ॥४५॥

ब्रह्मा के संकल्प से उत्पन्न इस जगत् का हमारे संकल्प से जनित (सांकल्पिक) नगर से कोई अन्तर नहीं है क्योंकि संकल्पजन्यत्व दोनों में समान ही है फिर उनमें परस्पर विलक्षणता कैसे हो गई ? ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर अनादि नियतिरूप ईश्वर की इच्छास्वरूप मायाशक्ति से उनमें विलक्षणता हुई है – ऐसा श्रीदेवीजी कहती हैं।

प्रथम सृष्टि में यह जगत्भ्रान्ति जैसी दृढ़ता को प्राप्त हुई थी, तभी से लेकर यह ईश्वरेच्छारूप मायाशक्ति वैसे ही दृढ़ता को प्राप्त हुई है, भाव यह कि हमारे द्वारा संकल्पित नगर और ब्रह्मा द्वारा संकल्पित जगत् की विलक्षणता में अनादि ईश्वरेच्छारूप मायाशक्ति ही हेतु है ॥४६॥ लीला ने कहा : हे देवि आपने कहा है कि ब्राह्मण और ब्राह्मणी के जगत् में तुम और हम साथ ही जाते हैं, पर माता, मैं पूछती हूँ कि हम लोग साथ–साथ कैसे जायेंगे। इस शरीर को यहाँ पर रखकर शुद्ध सत्त्व का अनुसरण करनेवाले चित्त से मैं उस आकाशमय सृष्टि में जाऊँगी, पर आप अपनी इस देह से वहाँ कैसे जाओगी ? ॥४७,४८॥ श्रीदेवीजी ने कहा : भद्रे, जैसे तुम्हारा संकल्पमय आकाशवृक्ष सांकल्पिक सत्ता से सत् होता हुआ भी वास्तविक सत्ता से शून्यात्मक ही है, न वह आवरण करनेवाली भीत आदि की नाईं मूर्तिमान् है, न वह आवरण से रोका जा सकता है और न आवरणभूत दीवार का भेदक है, क्योंकि शून्यस्वरूप जो ठहरा। शुद्ध सत्त्वगुण का कार्य हमारा शरीर आदि चिद्रूप का ही वैसा (शरीराकार) प्रतिभान है, इस कारण परब्रह्म से तनिक ही उसमें भेद है। जैसे जले हुए वस्त्र में वस्त्राकार वस्तुतः उसकी भस्म ही है वैसे ही अस्मद्देहाकार वस्तुतः ब्रह्म ही है, यह भाव है ॥४९,५०॥ मेरा यह शरीर इस प्रकार का है, अतएव तुम्हारी नाईं इसका परित्याग करके मैं नहीं जाती हूँ। जैसे वायु गन्ध को प्राप्त होती है वैसे ही इसी देह से मैं ब्राह्मण–ब्राह्मणी के उस प्रदेश को प्राप्त होऊँगी ॥५१॥

यदि ऐसी बात है तो मेरे पति की संकल्पजनित सृष्टि से इसका (मेरी देहका) संयोग कैसे हुआ, इस पर देवीजी कहती हैं।

जैसे जल जल में मिल जाता है, अग्नि अग्नि से मिल जाती है, वायु वायु से मिल जाती है, वैसे ही यह तुम्हारी देह मनोमय देहों से और अन्य वस्तुओं से मिल जाती है ॥५२॥

तब तो मेरा शरीर भी वस्तुतः मनोमात्र होने से आपके शरीर का सजातीय ही ठहरा,

इसलिए आपके शरीर से अभिन्न होकर या आपके शरीर से संयुक्त होकर वहाँ क्यों नहीं जा सकता है ? इस पर कहती हैं।

पृथिवी का विकार पार्थिव कहलाता है, पार्थिवत्व से जो जाना जाय वह पार्थिवत्वसंवित् है, यानी तुम्हारा शरीर वह अपार्थिव संवित् यानी उससे विरुद्ध चिन्मात्र स्वरूप मेरे शरीर से कदापि अभेद या संयोग को प्राप्त नहीं हो सकता। क्या काल्पनिक पर्वत और सत्य पर्वत का परस्पर आघात (टकराना) कहीं हो सकता है ? कहीं नहीं ॥५३॥

मेरा शरीर भी तो मानस ही है, इसके मानस होने से यह पार्थिव कैसे ? इस पर कहती हैं।

तुम्हारा यह चित्तमय शरीर आतिवाहिक ही है। जैसे स्वप्न में, दीर्घकालिक ध्यान में, भ्रम से संकल्प होने पर और गन्धर्वनगर में आतिवाहक चित्तमय पदार्थ आधिभौतिकरूप से प्रतीत होता है, वैसे ही तुम्हारे सरीखे लोग आतिवाहक चित्तमय देह को चिरकाल के अभ्यास से आधिभौतिक समझ बैठे हैं ॥५४,५५॥

तो कब इसके पार्थिवभाव की (पृथिवी विकारता की) निवृत्ति होगी ? इस प्रश्न पर देवीजी कहती हैं।

जब समाधि के अभ्यास से तुम्हारी वासना अल्प हो जायेगी, तब फिर आतिवाहिक भाव तुम्हारे शरीर में प्राप्त होगा ॥५६॥

अन्य लोगों के स्थूलदेह का नाश दिखलाई देता है, अतएव जीवन्मुक्त के शरीर का भी नाश ही संभावित है, उसके आतिवाहिक होने की संभावना नहीं है, इस आशय से लीला पूछती हैं।

समाधि के अभ्यास से जब 'हमारा शरीर आतिवाहिक (सूक्ष्म) है' यह प्रतीति दृढ़ हो जाती है, तब यह स्थूल देह उक्त सूक्ष्म दशा को (अतिवाहिकता को) प्राप्त होता है, अथवा विनष्ट हो जाता है ॥५७॥

तत्त्वज्ञानी का शरीर ज्ञान से बाधित हो जाता है, अतः वह जले हुए वस्त्र के समान है ही नहीं। केवल पूर्वकाल की वासनामात्र से वस्त्राभास की नाईं प्रतीत होने पर भी वासना के और सूक्ष्म होने पर उससे भी अधिक सूक्ष्म हो जाता है, इसलिए वह आतिवाहिकता (सूक्ष्मता) को ही प्राप्त होता है, विनाश को प्राप्त नहीं होता, इस आशय से देवी ने उत्तर दिया।

जो वस्तु है उसीमें नाश और नाश के अभाव का क्रम होता है जो पदार्थ वास्तव में है ही नहीं, उसका नाश कैसा ? ॥५८॥

बेटी, यथार्थज्ञान होने से रस्सी में सर्प की भ्रान्ति के निवृत्त होने पर सर्पका विनाश नहीं हुआ और हुआ यह कथन क्या प्रयोजन रखता है यानी जब सर्प था ही नहीं तब उसके विनाश और अविनाश की कथा काक दन्त गणना के समान निष्फल है ॥५९॥

जैसे सत्य के परिज्ञान से रज्जु में सर्प नहीं दिखलाई देता वैसे आतिवाहिक शरीर के ज्ञान से आधिभौतिक शरीर नहीं दिखाई देता। कल्पित दृश्य प्रपंच पहले था, ज्ञान से उसकी समूल निवृत्ति हो गई है, इस प्रकार की व्यवहार-कल्पना स्थूल दृष्टि से ही होती है, तत्त्वद्रष्टि से तो

उसकी भी संभावना नहीं है, ऐसा कहती हैं।

कल्पना यदि किसी के द्वारा समर्थित हो, तो उसकी भी ज्ञान से निवृत्ति हो जाती है, जो शिला है ही नहीं, उसका भी तो उपयोग किया ही गया है, काल्पनिक पदार्थों का भी अज्ञानदशा में उपभोग देखा ही जाता है, ज्ञान होने पर उनकी निवृत्ति हो जाती है, यह भाव है ॥६०॥

गौड़पादाचार्य ने भी कहा है :

विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित्। उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ॥

(विकल्प– गुरु, शिष्य, शास्त्र आदि निवृत्त हो जाता है, यदि वह किसी के द्वारा कल्पित हो। जैसे यह प्रपंच रज्जू में सर्प के समान भ्रान्ति है वैसे ही शिष्य आदि भेद विकल्प भी भ्रम ही है, वह ज्ञान प्राप्ति से पहले उपदेश के लिए उपात्त है, उपदेशार्थ यह वाद यानी शिष्य, शासक, शास्त्र आदि होता है, उपदेश के कार्यभूत ज्ञान के उत्पन्न होने के उपरान्त तत्त्व के ज्ञात होने पर द्वैत नहीं रहता) ॥६१॥

तब आप लोग अपने शरीर को कैसे देखते हैं, यह प्रश्न होने पर देवीजी कहती है।

परम ब्रह्म से परिपूर्ण ये देह आदि पांच कोश, जो कि एक एक के अन्दर प्रविष्ट महिमा में स्थित परम ब्रह्म ही हैं, ऐसा हम लोग बिना किसी विघ्नबाधा के देखते हैं। हे भद्रे, तुम ऐसा नहीं देखती हो, क्योंकि तुम्हें अभी दृढ़ तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है ॥६२॥

यदि शंका हो कि चिति तो अदृश्य है, यह दृश्यसत्त्वरूपता को कैसे प्राप्त हुई, तो इस पर कहते हैं।

हिरण्यगर्भ की सृष्टि में उसे दर्शन का विषय बना रही चिति का चित्त्व धर्म होता है। जब पंचीकरण के द्वारा कल्पना से स्थूलरूप की कल्पना हूई तब सभी से लेकर एक अनुगत तत्त्व दृश्यके अनुरोध से स्वयं भी दृश्यभूत अपने को भ्रान्ति से देखता है ॥६३॥

जो पहले यह कहा था कि कलन नामक प्रथम विकार के अधीन ही तो सम्पूर्ण कल्पना होती है, उस कलना में ही लीला अनुपपत्ति की शंका करती है।

लीला ने कहा : देवी, देश और काल आदि के विभागसे रहित नित्यविद्यमान परतत्त्व में (ब्रह्म में) कलन (ईक्षण) नामक प्रथम विकार का अवसर ही कहाँ है ? भाव यह है कि पूर्वकाल में स्थित दूध उत्तरकाल में दही के आकार में परिणत होता है। दही होने पर दूध विद्यमान नहीं रहता देश–काल सम्बन्धशून्य नित्य विद्यमान ब्रह्म में कलन का अवसर ही नहीं है ॥६४॥

तुमने ऊपर जो दोष कहा है, वह विकार को सत्य मानने पर ही होता है, मिथ्या मानने पर नहीं होता, इस प्रकार लीला द्वारा उपस्थापित दोषका देवीजी परिहार करती हैं।

जैसे सुवर्ण में कटकत्व (वलयत्व) है ही नहीं, जैसे जल में तरंगत्व है ही नहीं और जैसे स्वप्न के नगर और मनोरथ से कल्पित नगर आदि में सत्यता है ही नहीं, वैसे ही सत्–चित् आनन्द ब्रह्म में कल्पनासे अतिरिक्त स्वरूप एवम् निर्दोष उसके स्वभाव से पृथक् कोई भी वस्तु नहीं है। जैसे आकाश में धूलि नहीं है वैसे ही परब्रह्ममें कलन नामक प्रथम विकार नहीं हैं। विषयशून्य, शान्त अविनाशी अद्वितीय ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है ॥६५–६७॥

जो कुछ भी यह दृश्य प्रपंच प्रतीत हो रहा है, वह सब ब्रह्म का विशुद्ध विकास है। पर जैसे श्रेष्ठ चन्द्रकान्त मणि भ्रमवश काचकी नाईं प्रतीत होती है वैसे ही ब्रह्म के विशुद्ध विकास की दृश्यरूप से प्रतीति हो रही है ॥६८॥

अब लीला उक्त भ्रम का कारण पूछती है।

लीला ने कहा : हे देवि, कृपाकर आप बतलाइए कि हम लोगों को इतने सुदीर्घ काल तक किसने द्वैत और अद्वैत के विविध विकल्पों द्वारा भ्रम में डाल रक्खा है ? ॥६९॥

विचार से बाध्य होने के कारण विचार विरोधी अविचार शब्द से वाच्य मोह ने ही उक्त भ्रम में लोगों को डाल रक्खा है, यों देवी उसका समाधान करती है।

श्रीदेवीजी ने कहा : चंचले, तुम अविचार से व्याकुल होकर चिरकाल से भ्रान्त हो। अविचार स्वभाव से उत्पन्न है, विचार से उसका विनाश होता है। विचार से अविचार पलकभर में ही निवृत्त हो जाता है। यह (अविचाररूप) अविद्या विचार से बाधित होकर ब्रह्मसत्ता हो जाती है, इसलिए अविद्या का अस्तित्व नहीं है। इसलिए न तो अविचार है, न अविद्या है, न बन्धन है और बन्धन न होने से न मोक्ष ही है, इसलिए यह जगत् केवल अबाधित शुद्ध बोध ही है ॥७०–७२॥ कितने काल तक तुमने इसका विचार नहीं किया, इसीलिए तुम्हें बोध नहीं हुआ, अतएव तुम ब्रह्म में भ्रमशालिनी हो, इसीलिए व्याकुल हो ॥७३॥ ज्ञान से द्वैतवासना का बाध होने पर तत्त्ववासना का शेष रहना ही वासना की अल्पता है, वही मुक्ति का बीज है, वह अब तुम्हारे चित्त में पड़ गया है, अतएव विवेकशालिनी तुम आज से प्रबुद्ध हो और विमुक्त हो ॥७४॥

यदि कोई कहे कि फिर द्वैतवासना का अंकुर हो जायेगा, तो उस पर कहती है।

संसार नामक यह दृश्य पहले ही जब उत्पन नहीं हुआ तब लोगों को उसकी वासना कैसे होगी ? और वासना भी क्या है ? भाव यह कि न वासना है और न जगत् ही है, फिर वासना से द्वैत का प्ररोह कैसे ? ॥७५॥ अध्ययनरूप परम निर्विकल्प समाधि के मन में आरूढ़ होने पर द्रष्टा, दृश्य और दृष्टि का अत्यन्त अभाव होने पर, हृदय में इस वासनाक्षयरूप बीज के कुछ अंकुरित होने पर राग, द्वेष आदि दृष्टियाँ क्रमशः उदय को प्राप्त नहीं होंगी और संसार की उत्पत्ति भी निर्मूल हो जायेगी एवं निर्विकल्प समाधि परम स्थिरता को प्राप्त होगी। इस प्रकार निर्विकल्प समाधि के स्थिर होने से कुछ समय के बाद मायाकाश और उसके कार्यों के अधिष्ठानस्वरूप निर्मल आत्मा के अवलम्बनसे (साक्षात्कार से) तुम भ्रान्तिज्ञान रूप कालिमा से रहित अतएव कलंकशून्य होकर सम्पूर्ण प्राणियों की भ्रान्तियों का, उनकी कार्यभूत वासनाओं का और उनकी कारण अविद्या का अवसान भूत (बाध की अवधिरूप) मोक्षरूप हो जाओगी ॥७६–७९॥

इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त

बाईसवाँ सर्ग

तुरीय अवस्था, जीवन्मुक्त की स्थिति,
वासनाओं के क्षयका उपाय और उसके अभ्यास का प्रतिपादन।

परिपक्व ज्ञान होने से पूर्व कही गई स्थूल देहता की निवृत्ति और आतिवाहिकता की प्राप्ति को दृष्टान्तों द्वारा बतलाने के लिए देवीजी प्रस्तुत होती है।

श्रीदेवीजी ने कहा : भद्रे, यद्यपि स्वप्नावस्था में स्वप्न के शरीर का अनुभव होता है, तथापि यह स्वप्न है, इस परिज्ञान से जैसे स्वप्नदेह वास्तविक नहीं रहती, मिथ्या ठहरती है, वैसे ही यद्यपि इस स्थूलदेह का पहले अनुभव होता है, तथापि वासनाओं का क्षय होने से यह स्थूल शरीर बाधित हो जाता है ॥१॥ जैसे स्वप्न के ज्ञानसे स्वप्न देह लापता हो जाती है, वैसे ही वासनाओं के क्षीण होने से जाग्रत देह (स्थूलदेह) भी शान्त हो जाती है, नष्ट हो जाती है ॥२॥ जैसे स्वप्न में प्रतीयमान स्वप्नदेह का और मनोरथ द्वारा कल्पित कल्पनामय देह का विनाश होने पर इस देह का (जाग्रत देह का) भान होता है, वैसे ही जाग्रद्भावना का (स्थूलदेह में अहंभावना का) समूल उच्छेद हो जाने पर आतिवाहिक देह का उदय होता है। जैसे स्वप्नावस्था के वासनारूपी बीज (✍) से निर्मुक्त होने पर सुषुप्ति का उदय होता है यानी जब तक स्वप्न में वासना रहेगी, तब तक सुषुप्ति का आविर्भाव नहीं हो सकता, वैसे ही जाग्रदावस्था के वासनारूपी बीजों से शून्य होने पर जीवन्मुक्ति का उदय होता है ॥३,४॥

यदि कोई शंका करे कि जीवन्मुक्तों में भी वासना है ही, क्योंकि यदि उनमें वासना न होती, तो उनका भोजन आदि व्यवहार ही नहीं बनता, इस पर कहते हैं।

जीवन्मुक्त पुरुषों की जो वासना है, वह वासना नहीं है, किन्तु सम्पूर्ण शुद्धवासनाओं के बाध के अवधिभूत अधिष्ठानसत्त्व का ही शुद्धवासना यह नाम है। जैसे कि 'जला हुआ कपड़ा' यह भस्म का ही नाम है, वह सम्पूर्ण वासनाओं में अनुगत (अनुस्यूत) सामान्य सत्ता ही शुद्ध वासनारूप से कही जाती है, यह भाव है ॥५॥

मूर्छा और सुषुप्ति में अवान्तर भेद दर्शाते हैं।

जिस निद्रा में वासनाओं का उद्भव न हो या तिरोभाव हो जाय, उसका नाम सुषुप्ति है, जिस जागरण में वासनाओं का आविर्भाव न हो या तिरोभाव हो जाय, उसको घन मोह (मूर्छा) कहते हैं। भाव यह कि अनुद्भुतवासना निद्रा सुषुप्ति है और आविर्भूतवासना जागरण मोह यानी मूर्छा है ॥६॥ जिसमें वासनाओं का सर्वथा क्षय हो जाता है, ऐसी निद्रा 'तुर्य' शब्द से कही जाती है, यहाँ पर 'निद्रा' पद की विवक्षा नहीं है, क्योंकि जागरणावस्था में भी परम पद

✍ श्लोकस्थ 'निर्मुक्तवासनाबीजे' का अर्थ जिसमें वासनारूपी बीज स्पष्ट नहीं है यानी तिरोहित है, ऐसा करना चाहिए न कि जिसमें वासनारूपी बीज उच्छिन्न हो गया है, ऐसा अर्थ करना चाहिए, क्योंकि ऐसा अर्थ करने से सुषुप्ति के अनन्तर पुनः स्वप्न की प्राप्ति नहीं होगी। ऐसे ही निर्वासनाबीज का अर्थ भी जिसमें सम्पूर्ण वासनारूपी बीज बाधित है, ऐसा करना चाहिए।

का ज्ञान होने पर और ज्ञान से समूल वासनाओं का विनाश होने पर तुर्यावस्था होती हैं। जीवित पुरुषों की वह जीवावस्था जिसमें कि वासनाओं का सर्वथा अभाव रहता है जीवन्मुक्ति कहलाती है, उसे अमुक्त (बद्ध) पुरुष नहीं जान पाते हैं। जैसे सूर्य के ताप से बर्फ जलरूप में परिणत हो जाती है, वैसे ही शुद्ध वासनाओं के अवधि अधिष्ठानभूत सत्त्व में संलग्न यानी समाधि के अभ्यास से चिरकाल तक उसमें स्थित तथा क्षीणवासना वाला मन आतिवाहिकता को (सूक्ष्मता को) प्राप्त होता है। आतिवाहिकता को प्राप्त, व्युत्थानकाल में और व्यवहारकाल में भी आत्मज्ञान सम्पन्न मन अन्यान्यसृष्टियों के और अन्यान्य जन्मों के चित्तों से और देव आदि के योग्यशरीरों से एकरूप में मिल जाता है, जो मन आतिवाहकता को प्राप्त नहीं है और सदा ज्ञानसम्पन्न नहीं है, वह उनसे नहीं मिलता। खूब अभ्यास करने से जब तुम्हारा यह अहंभाव (अहंकार) शान्त हो जायेगा, तब तुम्हारी स्वाभाविक चिद्रूपता, जो कि दृश्यप्रपंच की चरम अवधिभूत है, उदित हो जायेगी। जब तुम्हारा आतिवाहिकताज्ञान सर्वदा के लिए स्थायी हो जायेगा, तब तुम संकल्प से अदूषित अतएव पवित्र लोकों को देखोगी। भद्रे, इसलिए तुम वासनाओं का जैसे क्षय हो वैसा प्रयत्न करो। जब तुम्हारा वासनाक्षय चरम सीमा को प्राप्त हो जायेगा, तब तुम जीवन्मुक्त हो जाओगी ॥७–१३॥

पूर्वोक्त पर्वत का जो छोटा–सा गाँव है, उसको देखने की इच्छा से प्रतिबद्ध चित्त में बोध की पूर्ति या वासनाओं के क्षयार्थ अभ्यास नहीं हो सकता है, इस आशय से कहती हैं।

जब तक तुम्हारा यह अतिशीतल (शान्तिप्रद) बोधरूपी चन्द्रमा पूर्ण नहीं होता, तब तक तुम इस देह को रखकर अन्यान्य लोकों को देखो ॥१४॥

मेरी देह का अवस्थापन किसलिए किया जाय, आपकी देह के संसर्ग से यह भी क्यों नहीं जा सकती ? इस शंका पर देवीजी कहती हैं।

व्यवहारों में अथवा गमन आदि कर्मों में मांसनिर्मित देह मांसनिर्मित देह से ही संयोग को प्राप्त हो सकती है, मांस देह चित्तशरीरसे कदापि सम्बन्ध को प्राप्त नहीं हो सकती ॥१५॥

क्या वरदान की नाईं या शाप की नाईं आपके वचन से ही मेरा माँसमय शरीर आपके शरीर से सम्बन्ध को प्राप्त होगा ? इस शंका पर श्रीदेवीजी 'नहीं', ऐसा समाधान करती है।

अत्यन्त अनभिज्ञ बालकों से लेकर सिद्ध पुरुषों तक प्रसिद्ध सबके अनुभव से सिद्ध यथास्थित अर्थ का ही मैंने अनुवाद किया है, वर और शाप की नाईं किसी अपूर्व अर्थ का जबरदस्ती प्रतिवादन नहीं किया है ॥१६॥

यदि वस्तु का स्वभाव, जो कि लोकसिद्ध है, विपरीत नहीं हो सकता, तो वासनाओं के क्षीण होने पर भी इस स्थूलदेह की आतिवाहिकता की सम्भावना नहीं की जा सकती, ऐसी शंका कर श्रीदेवीजी कहती हैं।

ज्ञान के प्रचुर अभ्यास से सांसारिक वासनाओं का विनाश होने पर यही स्थूल देह चित्तशरीर यानी आतिवाहिक शरीर हो जाती है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥१७॥

जीवों का परलोकगमन भी आतिवाहिक देह से होता है, यह प्रसिद्ध है, मृत स्थूलदेह की

जो यहीं पर स्थिति देखी जाती है, ऐसी अवस्था में यह कैसे सम्भव हो सकता है कि एक ही काल में एक ही जीव का आतिवाहिक भाव जीवन हो और स्थूलभाव से मरण हो ? ऐसी शंका कर श्रीदेवीजी इसका समाधान करती हैं।

मरणकाल में इसी देह में उदित होनेवाली उक्त आतिवाहिकता को न तो कोई मरनेवाला देखता है और न जीवित ही देखता है, क्योंकि 'तद् यथा पेशस्कारी पेश सो माात्रामादाया' (जैसे सुवर्णकार सुवर्ण का टुकड़ा काटकर पहले की रचना से नवीन अच्छी से अच्छी दूसरी शक्ल बनाता है, वैसे ही परलोक जाने का इच्छुक यह आत्मा भी इस वर्तमान शरीर को नष्ट कर, अचेतनता को प्राप्तकर पितृलोकगमनोपयोगी, गन्धर्वलोकगमनोपयोगी या देवसम्बन्धी या प्रजापतिलोक प्रापक अथवा ब्रह्म प्रापक या अन्य भूतों के सम्बन्धी दूसरे नूतन शरीर को बनाता है) ऐसी श्रुति है। उक्त श्रुति के अनुसार पारलौकिक देहनिर्माण के लिए मर रहे पुरुष का अपने अज्ञान से कल्पित देहारम्भक भूतों के अंशों से संवलित होकर ही परलोक में गमन होता है, अतः उन मात्राओं का भी, जो कि उसको नहीं दिखाई देती, आतिवाहिक भावों से विरोध नहीं है। अज्ञान से कल्पित पंचभूतमात्र का अंश जो अज्ञान शरीर है, उसको और लोग मरता हुआ देखते हैं। यह अवास्तविक देह न तो मरती है और न जीती है। स्वप्न और संकल्प के भ्रम में मरण और जीवन क्या हैं ? यानी उनमें कुछ भी वास्तविकता नहीं है, वे भ्रममात्र हैं। इसलिए इस विषय में विरोध है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए ॥१८,१९॥ जैसे मनोरथ से कल्पित पुरुष में जीवन और मरण असत्य ही है। भाव यह कि संकल्पकल्पित पुरुष ही जब वास्तविक नहीं है, तब उसके मरण और जीवन की वास्तविकता की क्या कथा है ? वैसे ही बेटी उस शरीर में भी मरण और जीवन अवास्तविक ही प्रतीत होते हैं ॥२०॥ लीला ने कहा : देवी, आपने मुझे उस निर्मल ज्ञान का उपदेश दिया है, जिसके श्रवणमात्र से ही दृश्य रूपी महामारी शान्त हो जाती है। माँ, इस विषय में मेरे ऊपर अनुग्रह कीजिये, कृपया यह बतलाइए कि वह अभ्यास कौन है (उसका क्या स्वरूप है) और कैसा है (उसका क्या लक्षण है) तथा किस प्रकार पुष्ट होता है और उसके पुष्ट होने पर क्या होता है ?॥२१,२२॥ श्रीदेवीजी ने कहा : वत्से, जो भी प्राणी जब जब भी, किसी कार्य को करता है, अभ्यास के बिना कभी सिद्ध नहीं होता। भाव यह कि अभ्यासकी प्रत्येक कर्म में आवश्यकता है ॥२३॥

सर्वप्रथम देवीजी अभ्यास का स्वरूप बतलाती हैं।

असंदिग्धरूप से अपनी बुद्धि में जमाने के लिए उसका चिन्तन करना, अन्य ज्ञाता पुरुष की बुद्धि से संवाद करने के लिए उसकी चर्चा करना, परस्पर अज्ञात अंश के ज्ञान के लिए आपस में उसका उपदेश देना, सदा उसीमें मनोयोग देना, इसे विद्वान् लोग ज्ञान का अभ्यास कहते हैं (卐) ॥२४॥

दृढ़ वैराग्य आदि उसके लक्षण हैं, यह बात विरक्त पुरुषों की स्तुति द्वारा कहते हैं।

卐 उसका चिन्तन करने, उसकी चर्चा करने और आपस में उसी का बोधन करने से असंभावना की निवृत्ति होती है और सदा उसी में परायण रहने से विपरीत भावना की निवृत्ति होती है, ये अभ्यास के फल हैं।

जो विरक्त महात्मा पुरुष मुक्ति के लिए अपने अन्तःकरण में यत्नपूर्वक विषय वासनाओं के क्षय की भावना करते हैं (अपने अन्तःकरण में विषयवासनाओं का जैसे विनाश हो, वैसा यत्न करते हैं), वे पृथिवी में सर्वश्रेष्ठ हैं और उन्हींका जन्म सफल है। उदारतारूपी (सम्पूर्ण सामग्रीपरित्यागरूपी) सुन्दरता से एवं वैराग्य रस से सम्पन्न अतएव सदा आनन्द की वृष्टि करनेवाली बुद्धि जिन पुरुषों में उत्पन्न हुई है, वे सर्वश्रेष्ठ अभ्यासी (अभ्यासवाले) हैं ॥२५,२६॥

श्रवण आदि में निरत होना भी ज्ञानाभ्यास का लक्षण है, ऐसा कहती हैं।

जो लोग युक्ति से यानी प्रमाणतत्त्व के निर्धारण के अनुकूल तथा प्रमेयतत्त्व के निर्धारण के अनुकूल युक्ति से और अध्यात्म तत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रों से ज्ञाता और ज्ञेय वस्तु के अत्यन्त अभाव की प्राप्ति में (बाध में) यत्न करते हैं, वे ब्रह्माभ्यासी है ॥२७॥

कालों में दृश्य के बाध ज्ञान की आवृत्ति भी ब्रह्माभ्यास है, ऐसा कहती है।

यह जगत् है, यह मैं हूँ' इत्याकरक दृश्य सृष्टि आदि में उत्पन्न ही नहीं हुई, अतः वह सदा है ही नहीं, यह ज्ञानाभ्यास कहा गया है ॥२८॥ दृश्य प्रपंच के असंभव के ज्ञान से राग, द्वेष आदि का विनाश होने पर मनन से उत्पन्न विद्या की वासना के परिपाक से उत्पन्न हुई जो आत्मरति (आत्मप्रेम) है, वह ब्रह्माभ्यास है ॥२९॥

यह सम्पूर्ण दृश्य मिथ्या है, इस प्रकार के दृढ़ज्ञान से राग आदि का विनाश होने पर ही वह (आत्मरति) ज्ञानोपयोगिनी होती है, अतः उक्त राग आदि का उच्छेद होने पर ही वह ब्रह्माभ्यास है, अन्यथा नहीं, ऐसा कहते हैं।

दृश्य के असंभव का ज्ञान हुए बिना उत्पन्न जो राग, द्वेष आदि का अपक्षय है, वह तप कहलाता है, अतएव वह ज्ञान नहीं है, वह तप वृथा द्वेषआदि के रोकने से उत्पन्न दुःख को ही बढ़ाता है ॥३०॥

अभ्यास के हेतुओं का प्रतिपादन कर अब श्रीदेवीजी अभ्यास का फल दिखलाती हुई दो श्लोकों से सर्ग का उपसंहार करती हैं।

चरमसाक्षात्काररूप ज्ञान और उसका ज्ञेय ब्रह्म भी दृश्य असंभवबोध (दृश्य का असंभव जिससे या जिसमें होता है, ऐसा बोध) कहा जाता है, उसके अभ्यास से मुक्ति होती है, इस प्रकार के अभ्यास का फल महान् अभ्युदय है ॥३१॥ वत्से, जैसे शरद् ऋतु में हिम के समान शीतल ओस के सेंक से कुहरा बिलकुल विनष्ट हो जाता है, वैसे ही चित्त में पूर्वोक्त रीति से अभ्यस्त, सम्पूर्ण तापों (त्रिविध तापों) की शान्ति के हेतु होने से बरफ के समान शीतल विवेकबोध रूपी जल के निरन्तर सिंचन से संसाररूपी कृष्ण पक्ष की (अन्धेरी) रात्रि में उत्पन्न हुई मोहरूपी गाढ़ नींद निवृत्त हो जाती है ॥३२॥ महर्षि वाल्मीकिजी के इतनी कथा कह चुकने पर दिन बीत गया, सूर्य भगवान् अस्ताचल शिखर की ओर अग्रसर हो गये और भरद्वाज आदि मुनियों की सभा वाल्मीकिजी को प्रणाम कर सायंकाल के सन्ध्या-वन्दन आदि कृत्यके लिए स्नानार्थ चली गई एवं रात्रि बीतने पर सूर्य के उगते-उगते मुनि-मण्डली सभास्थान में आ गई ॥३३॥

बाईसवाँ सर्ग समाप्त

तेईसवाँ सर्ग

पर्वत-ग्राम को देखने की इच्छा से समाधि द्वारा स्थूल देह का परित्याग कर
देवीजी और लीला का विशाल आकाश में गमन-वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, वे दोनों उत्तम देवियाँ यानी सरस्वती और लीला उस रात्रि में परस्पर प्रश्नोत्तर कर जब कि सब सेवक सो गये थे, महल के दरवाजों और खिड़कियों में मजबूत और भाँति-भाँति के अर्गल लग गये थे, ड्योढ़ियों पर पहरेदार सावधान होकर पहरा दे रहे थे, फूलों की राशियों से निर्गत एवं घनीभूत सुगन्धि से अन्तःपुर भर गया था, अम्लान मालारूपी वस्त्रों से आच्छन्न राजा के शव के समीपस्थ आसन पर बैठ गई। उनके कलंकशून्य पूर्ण चन्द्रमा के तुल्य मुखमण्डल से सारा अन्तःपुर जगमगा उठा। वे दोनों (📖) समाधिस्थ हो इस प्रकार निश्चलता से बैठ गई कि प्रतीत होता था मानों वे रत्न के खम्भे में खुदी हुई दो मूर्तियाँ हैं एवं दिवार में लटकाये गये दो चित्र हैं। सम्पूर्ण इन्द्रियों को उनके विषयों से संकोच को (निवृत्तिको) प्राप्त हुई उन दोनों की सम्पूर्ण दुश्चिन्ताएँ गायब हो गई, अतएव वे सायंकाल के समयकी दो कमलिनियों की नाईं थी, जिनके चारों ओर परिमल व्याप्त रहता है। शरद ऋतु में वायु शून्य पर्वत में गिरी हुई दो मेघ पंक्तियाँ जैसे शुद्ध (सफेद), शान्त (शीतल) और कम्पन शून्य होती हैं, वैसे ही वे भी अत्यन्त शुद्ध, शान्त और स्पन्दन शून्य हुई। चूँकि उन्हें निर्विकल्प समाधि लग गई थी, अतएव उनको देह आदि अनात्मवस्तुओं का प्रतिसन्धान नहीं रह गया था। जैसे सुन्दर दो कल्पलताएँ वसन्तआदि ऋतु के प्राप्त होने पर पहले के रस का त्याग करती हैं, कारण कि पुराने पत्तों का सूखना आदि सभी को दिखलाई देता है, वैसे ही उन्होंने भी बाह्य ज्ञान का त्याग कर दिया था ॥१-७॥

दृश्य के आत्यन्तिक उपशम से (विनाश से) निर्विकल्प समाधि होने पर तत्त्वसाक्षात्कार से समूल त्रैकालिक दृश्यबाध ही परिनिष्ठित हेतु है, ऐसा कहते हैं।

पहले जब उन दोनों को 'मैं जगत्' इस प्रकार भ्रान्तिरूप दृश्य की अत्यन्ताभावरूप अनुत्पत्ति का ज्ञान हुआ, तब उन दोनों का दृश्यरूपी यह पिशाच अत्यन्त विनष्ट हो गया। जैसे समाधि में त्रैकालिक दृश्य का बाध होता है, वैसा सभी काल में त्रैकालिक दृश्य का बाध हम लोगों के अनुभव से सिद्ध है, ऐसा श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी को सम्बोधन कर कहते हैं।

अनघ, असत् (मिथ्या) होने के कारण ही हम लोंगों की दृष्टि से यह जगत् प्रतीत होने पर मृगतृष्णा में जल की नाईं और प्रतीत न होने पर खरगोश के सींग की नाईं है, क्योंकि जो पदार्थ पहले नहीं था वह वर्तमान काल में भी नहीं है, यह स्पष्ट है ॥८-१०॥

📖 देवी सरस्वती का ज्ञानदेह है, उसीसे वे विचरण कर सकती थीं, फिर उन्हें समाधिस्थ क्यों होना पड़ा, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि लीला को समाधि सिखलाने के लिए वह समाधिस्थ हुई थी। उक्त योग गुरु के सिखाये बिना प्राप्त नहीं हो सकता, अतः लीला के समाधिस्थ होने में सहयोग हो, इसलिए देवीजी ने समाधि ली।

दृश्य का अस्त होने पर वे कैसे नहीं, इस शंका पर श्रीवसिष्ठजी कहते हैं।

सूर्य, चन्द्रमा, तारे आदि सम्पूर्ण पदार्थों से अत्यन्त शून्य केवलमात्र आकाश सृष्टि के आरम्भ में यानी वायु की उत्पत्ति से पूर्व और प्रलयकालके आने पर (वायुपर्यन्त पदार्थों का प्रलय होने पर) जैसे केवलस्वभाव से स्थिर रहता है, वैसे ही वे दोनों अंगनाएँ दर्शन से विमुक्त शान्त और केवल स्वभाव हुई ॥११॥

आगे सर्ग में कहे जानेवाले आकाशगमन में देवी सरस्वती और लीला के देहवैलक्षण्य को कहते हैं।

ज्ञानदेवी सरस्वती ने पूर्वतन ज्ञानदेह से ही आकाश में विचरण किया और राजमहिषी लीला ने मानव देह के अभिमान का परित्याग कर ध्यान और ज्ञान के अनुरूप दिव्यदेह का अवलम्बन कर आकाशमें विचरण किया ॥१२॥

वह दूर आकाश में गमन की कल्पना अपने घर के मण्डप के वित्तेभर आकाश में ही हुई न कि बाहर, ऐसा कहते हैं।

सचमुच वे दोनों बहुत दूर गई सो बात नहीं है, किन्तु उन्होंने उद्‌बुद्ध हुए पूर्वसंकल्प–संस्कार–ज्ञान से बिलस्तभर गृहाकाश में ही चढ़कर सर्वगामी ज्ञान में आरोहण और आकाशगमन के अनुरूप चिदाकाशमूर्ति का अवलम्बन किया (✍) ॥१३॥ उसके अनन्तर सुन्दर नयनवाली और वनितोचित विलासों से मनोहर वे दोनों ललनाएँ विषयज्ञान के स्वभाव से (विषयानुसार व्यवहार कल्पना के कारण) यहाँ से अत्यन्त दूर आकाश में गई ॥१४॥ तदुपरान्त उसी घर में स्थित होकर 'हम लोग आकाश में संचरण करें' इत्याकारक चित्प्रधान मानस कल्पनावृत्ति से दूर से अतिदूर तथा करोड़ों योजन विस्तीर्ण आकाश में उन्होंने संचरण किया। भाव यह कि लीला और सरस्वती पहले ही अपने मन में 'हम लोग आकाशमार्ग से जायेंगे' यों संकल्प करके समाधिस्थ हुई थी। इसी कारण उन्हें समाधि अवस्था में तदनुरूप चित्तदेह के प्राप्त होने पर आकाश में उड़ने का अनुभव होने लगा ॥१५॥

चिदाकाश देह की प्राप्ति होने पर भी चित्त में स्थित पूर्व संकल्पित दृश्य के अनुसन्धान की अनुपपत्ति होती है। उक्त समाधिकाल में वे दोनों संकल्प–संस्कारोंसे पूर्ण चित्त के साथ एकी भाव को प्राप्त हो गई थी, इस कारण से वे पूर्वसंकल्पित दृश्य का दर्शन कर तृप्त हो गई, इसी को दूसरे प्रकार से कहते हैं।

समाधि अवस्था में आकाश देहयुक्त भी वे दोनों ललनाएँ पूर्वसंकल्पित दृश्य के अनुसन्धान से युक्त चित्तस्वरूपता को प्राप्त अपने स्वभाव से परस्पर अपने आकार के दर्शन स्नेहपूर्ण सखियाँ हुई ॥१६॥

तेईसवाँ सर्ग समाप्त

✍ इस विषय में दो मत हैं एक मत यह है कि योगी लोग समाधि द्वारा स्थूल देह से बाहर निकल कर सूक्ष्म देह से बाहर पर्यटन करते हैं। दूसरा मत यह कि योगी लोग देह से बाहर नहीं निकलते, मात्र स्थूल देह के अभिमान का परित्याग कर और हृदय से लेकर कंठ तक बिलस्तभर नाड़ी में स्थित होकर या आरोहण कर सर्वव्यापी ज्ञान प्राप्त करते हैं एवं उसी ज्ञान से वे लोग स्वर्ग, मृत्यु, पाताल आदि लोकों का दर्शन करते हैं।

चौबीसवाँ सर्ग

जा रही ज्ञप्ति देवी और लीला का असीम विश्व के वैचित्र्य के
विलासों से परिपूर्ण आकाशरूप मार्ग का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्र, एक-दूसरे का हाथ पकड़कर जा रही धीरे धीरे ऊपर चढ़कर अत्यन्त दूर ऊर्ध्वस्थान में गई हुई उन दोनों सखियों ने आकाशको देखा। आकाश तरंगित प्रलयकाल के एकमात्र समुद्र के समान गंभीर, निर्मल और स्निग्ध (बाधाशून्य), मन्द, सुगन्ध और शीतल वायु के संसर्ग से सुखभोग का दाता, शून्यतारूपी जलमें अवगाहन करने से अत्यन्त आनन्ददायक अथवा जगत् शून्यतारूप ब्रह्मजलमें पहले पहल निर्गमन करने से प्राणीरूपी भ्रमरोंको आह्लादित करनेवाला कमलरूप, शान्त, अत्यन्त स्वच्छ, गम्भीर और सज्जन के मन से भी बढ़कर प्रसन्न था ॥१-३॥ चन्द्रमा के मध्य के सदृश उज्ज्वल उन दोनों ने दिशाओंमें सुमेरु आदि पर्वतोंके शिखरों में स्थित शुभ्र मेघों के विशाल कलेवर के भीतर विद्यमान महलों में विश्राम किया। कहीं पर (चन्द्रमण्डल के समीप में) चन्द्रमण्डल से निकलकर उन दोनों ने सिद्ध और गन्धर्वो के गले में पड़ी हुई मदारमालाओं की अति सुगन्धि से मनोहर, मंद और सुगन्धित वायु में विचरण किया, कहीं पर प्रचुर ताप का विनाश करनेवाले बिजलीरूपी लाल कमलों से व्याप्त तथा जल से पूर्ण होने के कारण मन्दगामी मेघमण्डल में स्नान किया जैसे कि लोग प्रचुर ताप का अन्त करनेवाले बिजली के तुल्य उज्ज्वल कमलों से पूर्ण तालाब में स्नान करते हैं ॥४-६॥ जैसे दो भँवरियाँ करोड़ों मृणालांकुरोंसे व्याप्त कमल के तालाबों में भ्रमण करती हैं, वैसे ही उन्होंने भी विविध भूतलों के हिमालय आदि पर्वतरूपी मृणालों के (कमल के पौधे का मूल) करोड़ों अंकुरों से युक्त दिशाओं में भ्रमण किया ॥७॥ कहीं पर आकाशगंगा के शीकरों को धारण करनेवाले और वायु से विकसित मेघमण्डलरूपी मण्डप में धारागृह की फुहारों की बुद्धि से उन्होंने भ्रमण किया। तदुपरान्त अपनी शक्ति के अनुसार धीरे-धीरे चलनेवाली एवं मध्य-मध्य में विश्राम ले रहीं उन दोनों ललनाओं ने शून्य देश में अनेक ब्रह्माण्डों की रचनाओं से व्याप्त आकाशमंडल को देखा। यद्यपि सरस्वती देवीने उक्त आकाशमण्डल को पहले देखा था, तथापि दोनों ने परस्पर मिलकर पहले उसे नहीं देखा था। जितने प्राणियों के हेतुभूत गर्भच्छिद्र हैं, वे सब उसीके अंश हैं, कोटि-कोटि जगतों से लगातार भरा जाता हुआ भी वह चारों ओर शून्य रहता है। उन्होंने उसे ऊपर ऊपर आदि सुन्दर विमानोंसे युक्त, विचित्र आभरणों के सदृश और अलग-अलग बने हुए अनेक विशाल भुवनों से आवृत्त देखा। मेरु आदि सात कुलपर्वतों के, जिन्होंने चारों ओर से आकाश को भर रक्खा था, पद्मरागणिके तटों के प्रकाशों, उसका मध्यभाग उन्हें प्रलयकाल की अग्नि के सदृश प्रतीत हुआ। उक्त पर्वतों की मुक्तामय चोटियों के प्रभापुंज से वह हिमालयकी चोटी के समान भली प्रतीत होती थी और स्वर्णमय मेरु पर्वत मैदानों की कान्तियों से वह स्वर्णमय मैदान के सदृश चमकता था। पूर्वों की बड़ी-बड़ी मरकतमणियों की (हरित्-मणियों की)

आभाओं से घास के हरे मैदानों की हरियाली के सदृश हरियालीसे युक्त था, कहीं–कहीं पर नयनवान् लोगों की दृष्टि का और नील,पीत आदि रूपों का विनाश करनेके लिए कटिबद्ध गाढ़ अन्धकार से अन्धकारित था। पारिजात के वनों के ऊपर उड़ रहे विमानों का स्थानभूत वह कहीं पर समीप में स्थित लोगों की दृष्टि से पारिजात वन की मंजरी–सा ज्ञात होता था और दूरस्थित लोगों की दृष्टि से वैडूर्यमणि से बने हुए भूतल के तुल्य मालूम पड़ता था। कहीं पर उसमें मनके समान वेगवाले महासिद्धों ने वायुके संचार के वेग को जीत लिया था यानी मन से भी अधिक शीघ्र चलनेवाले सिद्धों ने अपने वेग से वायु के वेग को नीचा दिखा दिया था और कहीं पर विमानरूपी घरों में बैठी हुई अप्सराओं के गायन और वादन की 'धुम्, धुम् ' ऐसी ध्वनिसे पूर्ण था। कहीं पर तीनों लोकोंके श्रेष्ठ–श्रेष्ठ प्राणियों के गमनागमन से ठसाठस भरा था और कहीं पर देवता और दैत्यों के वृन्द से, जिन्होंने कि आपस में एक दूसरे के गमनागमन को नहीं देखा था, उसमें परस्पर टक्कर लगने से बड़ी घबराहट पैदा हो रही थी। कहीं उसके कोने में कूष्माण्ड, राक्षस पिशाचों की मण्डली बैठी थी और कहीं पर आवह, प्रवह आदि वायु के भेदों के महान् वेग से वैमानिकों के (विमान से चलने वाले देवताओंका) दल बढ़ रहे थे यानी बड़ी तेजी से भ्रमण कर रहे थे। उसमें कहीं पर विमानोंके शीघ्र चलने की ध्वनि (सरसराहट और धड़धड़ाहट) का दबने से बादलों के शब्द सुनाई देता था, कहीं पर सूर्य आदि ग्रह और नक्षत्रों के घनसंचार से (एक दूसरे से सटकर गमनागमन करने से), वायु को रोकनेवाला ज्योतिश्चक्र नामक यन्त्र चल रहा था, कहीं पर निकटवर्ती सूर्य के आतप की उष्णतासे झुलसे हुए सिद्धों ने (एक प्रकार की देव योनि को सिद्ध कहते हैं), जो कि तपस्या, योग और रसायन आदि से पूर्ण सिद्ध नहीं थे, अपना–अपना स्थान छोड़ दिया था, कहीं पर सुन्दर विमान सूर्य के तीक्ष्ण ताप से जल रहे थे और सूर्य के घोड़ों के मुख पवन से अस्त–व्यस्त हो रहे थे। कहीं पर लोकपाल और अप्सराओं के पैरों से गमन और अन्यान्य अंगों से उनके तत् तत् उचित आचरणोंसे वह चलवस्तु के तुल्य चंचल था, कहीं पर देवियों के अन्तःपुर में जली हुई धूप के धुएँ से उत्पन्न मेघरूपी वस्त्र से आच्छन्न था, कहीं पर उसमें इन्द्र ,चन्द्र आदि द्वारा स्वर्गसे यानी स्वर्गशब्दवाच्य अपने अपने लोकसे बुलाई गई, अतएव औरों की उपेक्षा करके 'मैं पहले जाऊँ, मैं पहले पहुँचूं' इस अभिमान से दौड़ रहीं देवियों के अंगों से आभरण गिरे हुए थे। उन अप्सराओं को चाहनेवाले इन्द्र आदिके तुल्य अणिमा आदि विशेष सिद्धियों से शून्य अन्यान्य स्वर्गस्थ पुरुषोंके उग्र तेज को क्रोध, ईर्ष्याँ आदि द्वारा तिरोभूत करने वाले तमोबल (तमोगुण प्रबलता) के तुल्य नीला था। बलवान् सिद्धों का परस्पर टकराकर (धक्का–धुक्की के साथ) जो गमनागमन था, उससे मेघ चकनाचूर हो जाते, अतएव मानों उनके गमनागमन से होनेवाले अपने विनाश के भय से उन्होंने पास में स्थित हिमालय आदि पर्वतों के शिखरों में आश्रय ले लिया। मेघों के पर्वतों के शिखरों में जाने से पर्वत ऐसे मालूम होते थे, मानों उन्होंने वस्त्र पहन रक्खे हैं। अतएव कहीं पर उसके पासमें स्थित हिमालय, मेरु,मन्दराचल आदि सवस्त्र से प्रतीत होते थे। कहीं पर जैसे चंचल लहरों से समुद्र व्याप्त होता है, वैसे ही समूह के समूह एक

साथ उड़ रहे अतएव चंचल कौए, उल्लू, गीध, चातक आदि पक्षियों और नाच रही डाकिनियों (पिशाच योनि विशेषों) से वह व्याप्त था। कहीं पर कुत्ते, कौए, ऊँट और गदहे के तुल्य अनेक प्रकार के विलक्षण मुँहवाली निष्प्रयोजन (✍) सैकड़ों कोस जाकर लौट रहीं गमनागमन में प्रवृत्त योगिनियों से आवृत्त था। कहीं पर लोकपालों के आगे ही स्थित (🔔) अन्धकार के तुल्य दृष्टि के प्रसार को रोकनेवाले, धुएँ के तुल्य धुमैले, मेघरूपी मन्दिर में सिद्ध और गन्धर्वोंके जोड़े सुरत क्रीड़ा कर रहे थे। कहीं पर आकाशमार्ग से चलनेवाले देववृन्द, स्वर्ग में गाये जा रहे उद्दीपन करनेवाले मनोहर गीतों और दिव्य स्तुतियोंसे उन्मत्त और कामपीड़ासे व्याप्त वे कहीं पर ग्रह–नक्षत्रों के गृहभूत ज्योतिश्चक्र के लगातार चलने पर सूर्य आदि की गति से शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष का कालविभाग उसमें दृष्टिगोचर हो रहा था। कहीं पर अनेक प्रकार के वायुसमूहों में से एक वायुसमूहरूप उक्त ज्योतिश्चक्रमें बनाये गये निखात (गड्ढे) के अन्दर गंगाजी का जल बह रहा था, कहीं पर देवताओं के बालक अनेक प्रकार के आश्चर्यमय कौतुकों के दर्शन में व्यावृत होकर घूम रहे थे , कहीं पर वज्र, चक्र, त्रिशूल, तलवार और शक्ति के अधिष्ठाता देवगण मूर्तिमान होकर संचार कर रहे थे। कहीं पर वह बिना भीत के भवनों से परिपूर्ण था, कहीं पर उसमें नारद और तुम्बुरु ऋषि गायन कर रहे थे, कहीं मेघों के संचारप्रदेश मे पुष्करावर्तक आदि महामेघों के प्रलयकालीन वृष्टि रूप महान् आरम्भ से उसमें हलचल मची थी और कहीं पर तो प्रलयकाल के मेघ चित्र में लिखित के तुल्य निश्चेष्ट और गर्जनध्वनि–शून्य थे। कहीं पर काजल के महान् पर्वतों के तुल्य सुन्दर मेघ उड़ रहे थे, तो कहीं पर सुवर्ण के द्रव के समान मनोज्ञ सूर्य के ताप को दूर करनेवाले मेघों का जमघट था और कहीं पर दिशाओं के दाह से उत्पन्न सन्ताप से पूर्ण था। ऋष्यमूक पर्वतपर पूर्व रामायण में वर्णित प्रकार से बरस रहे मेघ ही उसके वस्त्र थे। कहीं पर शून्यता रूपी जल से पूर्ण वह निश्चल सागर के सदृश था। कहीं पर उसमें वायु प्रवाहरूपी नदीं में बड़े बड़े वायुयान ही बहाये जा रहे तिनके और पत्तों के सदृश दिखाई देते थे,कहीं पर उड़ रहे भँवरों की पीठ की त्वचा की कान्ति के तुल्य कान्तिवाला और निर्मल था और कहीं पर वर्षाकाल की पर्वतीय नदियों के सदृश (समान रंगवाले) वायु में स्थित धूलि के प्रवाहों से वह मटमैला प्रतीत होता था, कहीं पर विमानों पर वैठे हुए देवताओं की कान्तिसे उसकी रूपरेखा चित्रविचित्र (चितकबरी) हो रही थी। कहीं पर निरन्तर नृत्य करनेवाले मातृमण्डल से परिवृत्त था, तो कहीं पर कभी नष्ट न होनेवाले, उन्मत्त और विक्षुब्ध योगीश्वरियों के नौ गणों से युक्त था। कहीं शान्त, समाधिस्थ अतएव परमपद में विश्रान्त (ब्रह्मनिष्ठ) मुनियों से परिवेष्टित था। कहीं पर जिसने क्रोध

✍ योगिनियों को अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त रहती हैं, अतः उन्हें अपने स्थानमें बैठे बैठे अभीष्ट वस्तु प्राप्त हो सकती है, अतएव उनका दूरगमन प्रयास निरर्थक है।

🔔 तत् तत् दिशाओं के अधिनायक लोकपाल दिशाओं के अन्त तक रहते हैं, अतएव वह उनके सामने ही स्थित फिर भी वे उस मेघ मन्दिर के अधिक घन और काला होने के कारण उसकी क्रीड़ाएँ नहीं देख सकते थे।

आदि का अत्यन्त परित्याग कर दिया है, ऐसे साधु–महात्मा के चित्त के समान मनोहर और सम (卐) था। कहीं पर उसमें किन्नर, गन्धर्व और देवताओं की पत्नियाँ गायन कर रही थीं, कहीं पर वह अचल (स्थिर) नगरों से व्याप्त था, तो कहीं पर उसमें चल रहे सुन्दर–सुन्दर पुरों की (त्रिपुर आदि के सुन्दर पुरों की) प्रचुरता थी। कहीं पर वह शिवजीके नगरों से परिपूर्ण था, तो कहीं पर उसमें ब्रह्माजी के महान् नगर विराजमान थे। कहीं पर उसमें माया द्वारा निर्मित नगर विद्यमान थे, तो कहीं पर भविष्य में बनाये जाने वाले तो, कहीं पर चलता–फिरता चन्द्र रूपी सरोवर विराजमान था तो कहीं पर निश्चल (जो चलने फिरनेवाला नहीं है) सरोवर की छटा देखते ही बनती थी,कहीं पर सिद्धगण धूम रहे थे, कहीं पर चन्द्रोदय की शोभा छटक रही थी तो कहीं पर सूर्योदयका आनन्द अपना अनोखा समा बाँध रहा था, कहीं पर रात्रि के गाढ़ अन्धकार ने अपनी निराली छटा दिखा रक्खी थी,कहीं पर सन्ध्याकालीन किरणों से लाल हो रहा था, तो कहीं पर कुहरे से मलिन हो रहा था, कहीं पर बरफ के समान सफेद मेघों से शुभ्र था, तो कहीं पर पानी बरसा रहे मेघों से आच्छन्न था, कहीं पर भूमि के तुल्य आकाशमें (आवरणशून्य प्रदेश में) लोकपाल बैठे थे,तो कहीं पर अनेक देवता और दैत्य ऊपर नीचे जानेमें व्यावृत थे और कहीं पर पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओं में संचार (भ्रमण) करनेवाले देव, दानव आदि से ठसाठस भरा था। कहीं पर लाखों कोशों तक भी पर्वतों का नाम निशान नहीं था और कहीं पर (लोकालोक पर्वत के अगल–बगल में) कभी नष्ट न होनेवाले अन्धकार से आवृत्त अतएव पत्थर के भीतरी हिस्से के सामान ठोस था,तो कहीं पर उसमें महान् तेज का कभी विनाश नहीं होता था, अतएव उस भाग में वह सूर्य और अग्नि के तुल्य तेजस्वी था, कहीं पर चन्द्र आदि गृहों में बरफ की चट्टान के मध्यभाग की नाईं चारों तरफ शीतल था। कहीं पर दैत्यों के भय से उखाड़ कर ले जा रहे देवताओं के अनुचरों द्वारा कल्पवृक्ष–लताका वन पुरस्कृत था, कहीं पर दैत्यों द्वारा छिन्न–भिन्न देवताओं का उन्नत नगर गिर रहा था, तो कहीं पर स्वर्गस्थ लोगोंके, पुण्यक्षय के पश्चात्, पतन से आग की रेखा की नाईं अंकित था (🕮)। कहीं पर वह सैकड़ों धूमकेतुओं के उदय और परस्पर संमर्द से वस्त्र की भाँति निबिड़ित (आच्छन्न) था, कहीं पर सूर्य, चन्द्र आदि शुभग्रहों से उसका श्रेष्ठ उर्ध्वमण्डल आक्रान्त था, कहीं पर वह रात्रि के अन्धकार से आवृत्त था, कहीं पर दिन के प्रकाश से चमक रहा था, कहीं पर उसमें जलपूर्ण मेघमण्डल अपना गर्जन–तर्जन दिखा रहा था, तो कहीं पर जलशून्य निर्मल मेघ चुप लगाये थे, कहीं पर उसमें स्थित शुभ्र मेघखण्डरूपी पुष्प शय्या वायु द्वारा अतस्ततः बिखेर दी गई थी। कहीं पर वह ज्ञानीजन के हृदय की नाईं दृश्य पदार्थों से अत्यन्त शून्य, स्वच्छ अज्ञानरूपी मेघ के व्यवधान से रहित, आनन्दरूप,

卐 महात्मा का चित्त भी सब पर सम होता है और वह भी सम यानी विषमता से शून्य (निर्बाध) था।

🕮 पुण्य क्षीण होने पर स्वर्गस्थ लोग जब मर्त्यलोक में गिरते हैं तो उनके गिरने के समय उनके प्रचुर तेज से आकाश में आग की सी तेज रेखा खिंच जाती है जैसे कि ऊँचे स्थान से बड़े वेग से जलती हुई लकड़ी फेंकी जाय, तो आग की रेखा सी बन जाती है।

कोमल, शान्त और धूलिकणों से रहित था ( )। मानों वह आकाशवासियों का खेत था, जैसे खेतों में मेढक बोलते हैं और जल भरा रहता है, वैसे ही उसमें शुक्रशब्द से उपलक्षणविधया उक्त आकाशचारियों के वाहनरूपी मेढ़क द्वारा शब्द करते थे और शून्यतारूपी जल से वह पूर्ण था। कहीं पर विद्याधरी देवियों के वाहन मयूर, हेमचूड आदि पक्षियों से, जिन्होंने कि उसमें अपने अपने घोंसले बना रक्खे थे, व्याप्त था। कहीं पर मेघमण्डल के अन्दर कार्तिकेय के वाहन मयूरों का झुण्ड उसमें नाच कर रहा था, कहीं पर वह अग्नि के वाहन शुकों से ( ) हरी घास के मैदान के तुल्य हरा था। कहीं पर उसमें यमराज के वाहन भैंस की महिमा से (बृहत्कलेवररूप महिमा से) मेघ छोटा–सा प्रतीत होता था, कहीं पर सूर्य के घोड़ों ने हरे घास की आशंका से काले काले बादलों को निगल डाला था। कहीं पर देवताओं के नगर से व्याप्त था, कहीं पर दैत्यों के नगरों का तांता लगा था, वे लोग एक दूसरे के नगर को नहीं पा सकते थे, क्योंकि उनके नगरों के बीच में पहाड़ों में भी छेद करने में समर्थ यानी अतिबलवान् वायु का आवास था। कहीं पर कुलाचलों के (मेरु आदि सात कुल पर्वतों के) तुल्य विशाल काय नाच रहे भैरवों से जगमगा रहा था, कहीं पर पंखवाले महान् पर्वतों के तुल्य विनायक नृत्य कर रहे थे। कहीं पर पर्वत घड़घड़ाहट और वायु के झोकों के साथ पंखों से उड़ते थे, कहीं पर गन्धर्वों का नगर था, जिसमें झुण्ड की झुण्ड अप्सराएँ निवास करती थीं। कहीं पर मेघ उड़ रहे पर्वतों द्वारा छिन्न–भिन्न तथा लाखों वृक्षों द्वारा छाते के समान ऊपर ताने गये थे, कहीं पर वह माया द्वारा निर्मित आकाश कमलिनी (कमलयुक्त सरोवर) के जल से शीतल था। कहीं पर वायु चन्द्रकिरणों के संसर्ग से शीतल और आह्लादकारी था, तो कहीं सूर्यकिरणों से तप्त वायु से (लू से) पर्वत, पेड़ और मेघ जल रहे थे। कहीं पर वायु के अत्यन्त शान्त होने के कारण बिलकुल सन्नाटा छाया था, कहीं पर पहाड़ों के समान विशालकाय मेघों के सैकड़ों शिखरसमूह उदित हो रहे थे। कहीं पर उसमें वर्षाऋतु के उद्दाम और निबिड़ मेघमण्डल के गर्जन की गड़गड़ाहट हो रही थी, कहीं पर प्रवृत्त (हो रहे) देवासुरसंग्राम के कारण जाना बड़ा कठिन था। कहीं पर आकाशकमलिनी में रहनेवाली हंसी अपने मधुर स्वर से ब्रह्माजीके वाहन हंस का आह्वान करती थी, कहीं पर वायु मन्दाकिनी के तीर की कमलिनियों की सुगन्धि चुरा रहा था गंगादि पुण्य नदियों की सन्निधि होने से मछली, मगर, केकड़े, वेतस (बेंत के वृक्ष) कछुए देवताओं का शरीर धारण कर उड़ते थे। भूगोल के चारों ओर सूर्य के घूमनेपर पृथिवी की छाया भी घूमती है, जब सूर्य पाताल में जाता है, तब पृथिवी की छाया ऊपर को फैलती है, काली होने से वही काक ठहरी, उसके आक्रमणों से किन्हीं किन्हीं मण्डलों में चन्द्र और सूर्य मण्डल में ग्रहण लगा था। कहीं पर विमानचारी देवताओं द्वारा अपनी अंगनाओं के विस्मय के

ज्ञानी के हृदय में भी सम्पूर्ण विशेषण लगाने चाहिए। वह दृश्य पदार्थों में आसक्ति से शून्य, स्वच्छ, अज्ञानरूपी आवरण से रहित, आनन्दमय, कोमल, शान्त और रजोगुण से रहित होता है।

यद्यपि सर्वत्र अग्नि का वाहन मेष ही प्रसिद्ध है, तथापि यहाँ के कथन से अग्नि का वाहन शुक भी है, ऐसा जानना चाहिए।

लिए रचित मायिक सृष्टि के वायुओं द्वारा मायानिर्मित फूलों का बन हिलाया जाता था, अतएव गिर रहे पुष्परूपी हिम की लगातार वृष्टि से विमानचारी देवताओं की अंगनाएँ भयभीत हो रही थीं ॥८-६४॥

इस प्रकार आकाश का वर्णन करने पर लोगों को आकाशचारियों के वैभव में राग न हो, इसलिए उन्हें तुच्छ करते हुए कहते हैं।

वे दोनों ललनाएँ जिसमें गूलर के फल के अन्दर के छोटे छोटे मशकों की नाईं त्रिजगत्-मध्यवर्ती प्राणिवर्ग घूम रहा था, ऐसे आकाश को ऊपर तक लाँघकर फिर पृथ्वीतल में जाने के लिए उद्यत हुई ॥६५॥

चौबीसवाँ सर्ग समाप्त

पचीसवाँ सर्ग

सरस्वती देवी और लीला द्वारा दृष्ट सात समुद्र और सात द्वीपों से परिवेष्टि,
ब्रह्माण्डरूप आवरण से युक्त अपूर्व भुवन का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्र, आकाश-मण्डल से पर्वतग्राम को जा रहीं उन दोनों ललनाओं ने अपूर्व भूमितल को देखा, जो कि सरस्वती के मन में था यानी जिसको सरस्वती लीला को दिखलाना चाहती थी ॥१॥

उसी भूमितल का ब्रह्माण्डरूपी पुरुष के हृदयकमलरूप से वर्णन करते हैं।

वह महीतल ब्रह्माण्डरूपी पुरुष का विशाल हृदय कमल था, आठों दिशाएँ उसकी पँखुड़ियाँ थी, पर्वतरूपी केसरों से ठसाठस भरा था, मन को आकर्षण करनेवाली सुगन्धि से उसकी मनोहरता कहीं अधिक बढ़ी चढ़ी थी। सरिताएँ ही उसकी अवान्तर शाखाएँ (केसर की अवान्तरशाखाएँ) थी, कारण कि वे केसररूप पर्वतों से निकली थी, हिमकण ही उनके नाल के बीच में स्थित मधुबिन्दु थे, रात्रि उसकी भँवरी थी (रात्रिरूपी भँवरी से वह भ्रमियुक्त था), असीम प्राणीवर्ग उसके मशक थे (प्राणीसंघरूप क्षुद्र पतिंगों से वह व्याकुल था)। भोग्य वस्तुओं के गुण उसके नालदण्ड के भीतर के तन्तु थे, उनसे वह व्याप्त था, जल प्रवाह को बहानेवाले पाताल आदि बिल उसके सुन्दर नालछिद्र थे, उनसे वह परिवृत्त था और सूर्य के प्रकाश से अत्यन्त कान्तिवाला था। शृंगार आदि नौ रस उसके मकरन्द थे, उनसे वह सरस था, आकाश में घूम रहा हंस (सूर्य) उसका हंस था, ब्रह्माकी रात्रिरूप रात्रि में (प्रलयकाल में) संकोच को प्राप्त होता था (📖), पातालरूपी पंक में निमग्न शेषनाग उसका मृणाल दण्ड था। कभी आश्रयभूत (🔥) महासागर के कम्पन से उक्त भुवनरूपी हृदयकमल की पँखुरीरूप दसों

📖 कमलों का रात्रि में संकोच को प्राप्त होना प्रसिद्ध है, उक्त कमल प्रलयरूपी रात्रि में संकोच को प्राप्त होता है।

🔥 'तद्यदपां शर आसीत्तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्' (जो जल का शर-घनीभूत भाग था वह संहत होकर पृथ्वी हुआ) यह श्रुति इसमें प्रमाण है, तथा पुराणों में भी यह बात आई हुई है कि भगवान् वराह ने पृथ्वी का उद्धार कर जल के ऊपर उसकी स्थापना की थी, इससे पृथ्वी का आश्रय महासागर कहा गया है।

दिशाएँ कम्पित हो जाती थी, नाल के अधोभाग में स्थित अनन्त दैत्य दानव ही उसके अनन्त काँटे थे, उसका मृणालकन्द सन्ततिरूपी प्राणियों की बीजभूत, संयोग से सुकुमार, असुरों के स्त्रीसमूहरूपी मृणालकलिका आदि वल्लरी द्वारा प्राप्त करने योग्य महाबीज स्थानीय मेरु आदि पर्वतों का हृदय के समान जीवन का हेतु था। उस भुवनरूप कमल में उन्होंने विशालकर्णिका को देखा, जो जम्बुद्वीप नाम से प्रसिद्ध थी। उसमें सरिताएँ ही केसर की अवान्तर शाखाओं के नालदण्ड थे, नगर और ग्राम ही उसमें केसर थे। वह जम्बुद्वीपरूपी कर्णिका उत्तुंग सात कुल पर्वतरूपी बीजों से (कमलगट्टों से) बड़ी भली लगती थी। मध्यवर्ती अत्यन्त उत्तुंग महामेरुरूपी बीज से (कमलगट्टे से) आकाश को स्पर्श कर रही थी, सरोवर उसके ओस की बूँद थे। वन और जंगल उसके पराग थे तथा कर्णिका के अगल–बगल के स्थानों में चारों ओर मण्डल के मध्य में रहनेवाला जनसमुदाय ही अलिवृन्द था। वह (जम्बूद्वीप नामक कर्णिका) प्रत्येक पूर्णिमा में उमड़नेवाले, चारों दिशाओं में स्थित तथा सौ योजन विस्तीर्ण समुद्ररूपी भ्रमरों से व्याप्त थी। आठों दिशारूपी पँखुरियों में स्थित दिक्पालों के सहित सागर उसके षट्पद थे। उसके भद्राश्व, केतुपाल आदि नौ भाइयों ने, जो कि राजा थे, नौ विभाग किये थे, तथा वह लाखों योजन विस्तीर्ण थी और रजःकणों से व्याप्त थी। अनेक जनपद (देश) समूह उसके स्थिर हिमकण के सीकर थे। वह जम्बूद्वीपरूपी कर्णिका इस द्वीप से (🔔) दुगने परिमाणवाले क्षारसमुद्र से, शंखवलय से मणिबन्ध की नाईं, चारों ओर घिरी हुई थी। तदनन्तर उससे भी दुगुने देह को धारण कर रही शाकनामक द्वीपरेखा से घिरी हुई जगद्रूप पद्मलता से व्याप्त थी, तदनन्तर उससे भी (शाकद्वीप से भी) दुगुने आकार धारण करनेवाली स्वादु और शीतल नवीन क्षीररसे पूर्ण समुद्ररेखा से यानी क्षीरसागर से व्याप्त थी। तदनन्तर क्षीरसागर से भी दुगुने आकार को धारण कर रही अनेक जनों से अलंकृत कुशनामक द्वीपरेखा से वेष्टित थी। तदनन्तर कुशद्वीप से भी दुगुने आकारवाली दधिसमुद्र की रेखा से, जो सतत देवताओं के समूहों को तृप्त करती है, वेष्टित थी, तदनन्तर दधिसमुद्र से भी दुगुने परिमाणवाली कौंचनामक द्विपरेखा से, नवीन राजनगरी की तरह, घिरी हुई थी। तदनन्तर कौंचद्वीप से दुगुने आकारवाली घृतसमुद्र की रेखा से घिरी थी, तदतन्तर घृतसमुद्र से दुगुने एवं सुरासमुद्र से परिवृत होने के कारण पापपूर्ण शाल्मलीद्वीपरेखा से वेष्टित थी। तदनन्तर जैसे शेषनाग की देहरूपी लता से भगवान् श्रीकृष्ण की मूर्ति वेष्टित रहती है, वैसे ही पुष्प के समान अतिशुभ्र सुरासमुद्र की रेखा से वेष्टित थी, तदनन्तर सुरासमुद्र से परिमाण में दुगुनी गोभेदक नामक द्वीपरेखा से (मणिप्रधान प्लक्षद्वीपरेखा से) परिवेष्टित थी, तदनन्तर उससे भी दुगुनी इक्षुसमुद्र की रेखा से जो हिमवान् के शिखर के समान शुद्ध थी, आवृत्त थी। तदनन्तर इक्षुसागर से दुगुने परिमाणवाले पुष्करद्वीप की रेखा से घिरी हुई थी, तदनन्तर इससे भी दुगुने

🔔 'द्वीपाद द्विगुणम्' इत्यादि यद्यपि पौराणिक प्रक्रिया से विरुद्ध है तथापि अन्य ब्रह्मांड को लेकर वैसा कहा गया है यह सृष्टि को मायिक सिद्ध करने में मुख्य तात्पर्य होने के कारण वैसा कहा गया है यह समझना चाहिए।

परिमाणवाले स्वादुजल के समुद्र से घिरी हुई थी। तदनन्तर वह कर्णिका उक्त स्वादुजलसमुद्र से दशगुना अधिक परिमाणवाले पातालतलगामी गड्ढों के समूहरूप निखातवलय से (निम्नदेशरूप वलय से), जो पाताल में जानेवालों का महाभयप्रद मार्ग है, वेष्टित थी। तदनन्तर इससे भी दशगुना अधिक परिमाणवाले चारों दिशाओं में आकाशपर्यन्त गर्तों के समूह से भी अत्यन्त भयंकर, दूसरे अर्धभाग में उन्म्लान यानी सूर्य के प्रकाश के न मिलने से ग्लानि को अप्राप्त तथा दूसरे यानी ऊपर के अर्धभाग में सूर्य के प्रकाश के संयोग से अन्धकारके न रहने के कारण म्लानप्राय अन्धकाररूपिणी नीलकमलों की पंक्ति से खचित था विविध प्रकार के माणिक्यों के शिखररूपी रक्तकमल और श्वेतकमलों से युक्त लोकालोक पर्वतरूपी अतिउत्तुंग विशाल और सौरभ्यादि गुणों से श्रेष्ठ माला से परिवेष्टित थी अतएव तीनों जगतों की लक्ष्मी की लटकी रचना की नाईं सुशोभित हो रही थी। तदनन्तर इससे भी दशगुना अधिक परिमाणवाले अज्ञात जीवसंचार नामवाले अरण्य से वह आवृत्त थी। अनन्तर अज्ञातभूतसंचार नामक जंगल से भी दशगुना अधिक परिमाणवाले अपरिमित जल से, आकाश के समान, चारों दिशाओं में वह व्याप्त थी। तदनन्तर अपरिमित जल से भी दशगुना अधिक परिमाणवाले, मेरु आदि पर्वतों को भी द्रवीभूत करने में (प्रलय करने में) समर्थ भीषण ज्वालाओं से वेष्टित थी। तदनन्तर ज्वालाओं से भी अधिक दशगुने परिमाणवाले मेरु आदि पर्वतों के समूह को तिनके और धूलिकण के सदृश ले जा रहे यानी अतिसामर्थ्यवान्, बड़े- बड़े पर्वतों में विस्फोट पैदा करनेवाले, अन्य भूतों के वेग को हरनेवाले मूर्त पदार्थों से प्रतिघात न होने के कारण शब्दरहित एवं बह रहे प्रलयकाल के वायु से चारों ओर परिवृत था। तदनन्तर पूर्वोक्त सब से भी दशगुना बड़े केवल एक शून्यरूपी आकाश से चारों ओर घिरा था। तदनन्तर सौ करोड़ योजन परिमाणवाली खूब घनी दोहरी सुवर्णमय ब्रह्माण्ड की दीवारों से व्याप्त था। इस प्रकार सागर, महापर्वत, लोकपाल, स्वर्ग, आकाश और भूतल से परिवेष्टित जगत् का मध्य देखकर लीला ने तुरन्त पृथिवी में अपने मन्दिर का आधारभूत गिरिग्राम का अवकाश देखा॥२-३५॥

पचीसवाँ सर्ग समाप्त

छब्बीसवाँ सर्ग

अपने घर में अपने पुत्र आदि आत्मीयों को देखकर और
उनका विलाप सुनकर उनके ऊपर लीला का अनुग्रह तथा जगत् के तत्त्व का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामजी, वे दोनों ललनाएँ राजा पद्म जिसमें रहता था, उस ब्रह्माण्डमण्डल से निकल कर दूसरे ब्रह्माण्डमण्डल में, जिसमें उस वसिष्ठनाम के ब्राह्मण का घर था, पूर्वोक्त रीति से पहुँची॥१॥ तदुपरान्त उन दोनों सिद्ध ललनाओं ने अन्य लोगों के दृष्टिगोचर हुए बिना ही ब्राह्मण का निवासभूत मण्डप अपना घर इस प्रकार देखा। गृहस्वामी के मर जाने के कारण उसमें दासियाँ शोक से व्याकुल थी, औरतों के मुँह आँसुओं की धाराओं से सराबोर थे, आँसू और धूलि से मलिन होने और आभूषण और तिलक से शून्य होने के

कारण सबके मुँह पर घनी उदासी छाई थी, अतएव सबके मुँह उस कमल के तुल्य थे, जिसकी पँखुड़ियाँ झड़ गई हों । ब्राह्मण के आस्पदभूत उस ब्रह्माण्ड के प्रायः सभी नगर उत्सवशून्य थे, अतएव वह महर्षि अगस्त्यजी द्वारा पिये गये समुद्र के समान, ग्रीष्म ऋतु से मुर्झाकर जर्जर हुए उद्यान की नाईं और बिजली गिरने से जले हुए वृक्ष के तुल्य आँखों को चीरता और वायु से छिन्न भिन्न हुए मेघ के समान तुषारपात से जले हुए कमल के समान एवं उस दीप के समान जिसका कि तेल और बत्ती चुक गई हो, अदर्शनीय था ॥२–५॥ वह घर गृहपति के वियोग से हतप्रभ हो गया था, उसकी मुखकान्ति करुणा से (शोक को बढ़ानेवाले एक प्रकार के भाव से) फीकी पड़ गई थी, अतएव वह आसन्न मृत्युवाले पुरुष की नाईं दिखाई देता था । वह चिरकाल की अनावृष्टि से धूलिधूसर देश की नाईं रूखा था और था उस बन के समान विरुप जिसके वृक्षों के पुराने सब पत्ते झड़ गये हों ॥६॥ वत्स श्रीरामचन्द्रजी, अब सुन्दरी लीला निर्मल ज्ञान का चिरकालतक अभ्यास करने से देवताओं की नाईं सत्यसंकल्प और सत्यमनोरथ हो गई थी । उसने संकल्प किया कि मुझे और देवी सरस्वती को ये मेरे बन्धुबान्धव साधारण स्त्री के वेष में देखें । उसके यों संकल्प करने के उपरान्त घर के लोगों ने वहाँ पर लक्ष्मी और पार्वती के तुल्य दो अंगनाओं को देखा । उन्होंने अपनी कान्ति से उस घर को जगमगा रक्खा था, सिरसे लेकर पैर तक भाँति–भाँति की अनेक अम्लान (न कुम्हलाई हुई) मालाओं के परिवेष्टन से उनकी सहज सुन्दरता कहीं अधिक बढ़ी चढ़ी थी, अतएव दो वसन्तलक्ष्मियों के सदृश उन्होंने अपने सहज सौरभ से वन और उपवनों को सुगन्धित कर दिया था । ये दो ललनाएँ क्या थी अपनी चाँदनीरूप सुधा से सम्पूर्ण औषधियों को पूर्ण कर रहे, शीतल तथा आह्लादसुख देनेवाले उदित हुए दो चन्द्रमा थे । वे दोनों लटक रहे अलकरूपी लताओं की संनिधि में चंचल होने के कारण भ्रमररूप से परिणत लोचनों द्वारा विलोकनों से नील कमलों से मिश्रित मालतीपुष्पों के (卐) पुंजों को मानों बरसा रही थी । पिघलाये गये सुवर्ण के रस को बहानेवाली नदी के वेग के सदृश मनोहर अपने शरीर की कान्ति के प्रवाह से उन्होंने आसपास के बनों को सुवर्णमय बना दिया था । वे दोनों ललनाएँ क्या थी, शरीर की प्राकृतिक (स्वाभाविक) शोभारूपी लक्ष्मीकी क्रीड़ा के लिए बनाये गये झूले के समान विलास करनेवाले अपने सौन्दर्यरूपी समुद्र की श्रेष्ठ तरंगें थी । कमल की नाईं लाल हाथों से युक्त चंचल दो भुजलताओं से नूतन नूतन स्वर्णमय कल्पवृक्षलताओं के बन की सृष्टि कर रही थी । भाव यह कि उन दोनों में प्रत्येक भुजलताओं और उनके अग्रभाग में स्थित लाल हाथों के हिलने–डुलने के कारण प्रतिक्षण विन्यासभेद से पहले कल्पित वन की अपेक्षा नूतन कल्पवृक्षलतावन का निर्मण कर रही थी । उनके चरण क्या थे, अमृदित (न मसले हुए) और अम्लान (न कुम्हलाये हुए) फूल और कोमल पल्लव थे और स्थलकमल की पँखुरियों की माला थी । ऐसे कोमल और लाल चरणों से वे भूमितल का स्पर्श नहीं करती थी । वे अपने दृष्टिपातरूप अमृत के सेंक से सूखे हुए अतएव सफेद रंग के

卐 कटाक्षों की नील से मिश्रित शुभ्र छबि होती है, अतएव उनकी नील कमलों से मिश्रित मालती के पुष्पों के रूप से उत्प्रेक्षा की गई है ।

ताल और तमाल के वृक्षों के खण्डों में नूतन नूतन पल्लवों को पैदा कर रही थी। तदनन्तर ज्येष्ठशर्मा ने घर के अन्यान्य जनों के साथ 'वनदेवियों के लिए नमस्कार' कहकर पुष्पांजलि छोड़ी। घर में उनके पैरों पर पुष्पांजलि ऐसे गिरी जैसे कमल की लता के कमलों पर हिमजल के सीकरों (छोटे छोटे बिन्दुओं) की वृष्टि गिरती है ॥७-१९॥ ज्येष्ठशर्मा आदि ने कहा : हे वन-देवियों, आप लोगों की जय हो, मालूम होता है कि आप दोनों हमारे दुःख को निवृत्त करने के लिए आई हैं, क्योंकि प्रायः दूसरों की रक्षा करना ही सत्पुरुषों का स्वभाव है ॥२०॥ ज्येष्ठशर्मा के यह कहने के बाद उन वन-देवियों ने बड़े आदर से पूछा आप लोग अपना दुःख कहिये, जिस दुःख से ये सभी लोग दुःखी दिखाई देते हैं। उन ज्येष्ठशर्मा आदि सबने क्रमशः उक्त वन-देवियों से ब्राह्मणदम्पतियों का मरणरूप दुःख कहा ॥२१,२२॥ ज्येष्ठशर्मा आदि ने कहा : हे देवियों, इस स्थान में अतिथिसत्कार करनेवाले ब्राह्मणदम्पती रहते थे, उनका आपस में बड़ा स्नेह था, वे द्विजातियों की मर्यादा के स्तम्भ के समान आधार थे और पुत्रपौत्र आदि सन्तति के जनक थे। वे हमारे माता-पिता इस समय पुत्र, इष्ट-मित्र और पशुओं के सहित घर का त्यागकर स्वर्ग में चले गये हैं। इसी कारण हमें यह सारा जगत् शून्य दिखलाई देता है ॥२३,२४॥

पूर्णः पूर्ण जगत्पश्येत् कामुकः कामुकं जगत्। आतोऽप्यार्तिमयं विश्वं लुब्धो लुब्धं स्वचित्तवत्।

(पूर्ण पुरुष अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार सम्पूर्ण जगत् को पूर्ण देखता है, कामी पुरुष अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार सारे जगत् को कामी देखता है, दुःखी पुरुष अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार सम्पूर्ण जगत् को दुःखमय देखता है और लोभी पुरुष अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार सम्पूर्ण जगत् को लोभी देखता है।) इस न्याय के अनुसार उन्होंने कहा :

हे देवियों, देखिये, पक्षी घर के ऊपर बैठकर प्रतिक्षण आकाश में अपनी देह को पटकते हुए मृतक के प्रति भक्ति से मधुर शब्दों द्वारा शोक प्रकट करते हैं। सब पर्वत दीर्घ गुर-गुर शब्दरूपी विलाप से पूर्ण गुहारूपी मुखों से युक्त और व्याकुल होकर नदीरूपी आँसूकी धाराओं से रोते हैं। दिक्पाल देवताओं के आलापरूप रोदन करनेवाली, तपे हुए निःश्वास वायु से मलिन एवं जिनके मेघों ने (स्तनों ने) आकाश का (वस्त्र का) त्यागकर दिया है, ऐसी दिशारूपी अंगनाएँ अत्यन्त कृशता को प्राप्त हुई है। ग्रामवासी सम्पूर्ण लोगों के सर्वांग मारे शोक के भूमि में लोटने, छाती पीटने आदि से क्षतविक्षत हो गये हैं, चारों ओर करुण रस का स्रोत बहानेवाले मुक्त कण्ठ रुदन से सब जर्जरित हो रहे हैं, कोई भी भोजन ग्रहण नहीं करता, सभी दीन-हीन दशा में हैं और सभी मरने के लिए प्रस्तुत हैं। प्रतिदिन वृक्षों के गुच्छरूपी लोचनकोशों से ओसरूपी अश्रुबिन्दु शोक से (धूप से) गर्म होकर नीचे गिरते हैं। जिनमें जनों का संचार शान्त है एवं धूलि से मलिन सड़कें आनन्दरहित एवं शून्य हृदय विधवा के समान हैं। कोयल और भ्रमरों के शब्द से विलाप करनेवाली, वृष्टिरूपी बाष्प से आहत और अत्यन्त उष्ण निःश्वासवाली लताएँ पल्लवरूपी हाथों से अपने शरीर को पीटती हैं। ये झरने शोक से अति सन्तप्त होकर बड़े भारी गर्त के शिलातल में अपने सौ टुकड़े करने के लिए गिर रहे हैं। गाढ़

अन्धकार (शोक) से व्याप्त, हर्ष की चर्चा से शून्य एवं जिसके अन्दर स्थित बर्तन आदि सामग्री तहस–नहस है ऐसे घर निस्सन्देह गतश्री (शोभाविहीन) होकर अरण्यरूप में परिणत हो गये हैं। भ्रमरों के गुंजार से रोदन कर रहे उद्यान के फूलों से सुन्दर आमोदनामक दुर्गन्ध निकल रही है। भाव यह कि उद्यानों के पुष्पों से यद्यपि सुन्दर सौरभ निकल रही है फिर भी नासिका को दुःखदायी होने से शोकार्त पुरुष दुर्गन्धि कह कर उसकी निन्दा करते हैं। बसन्त ऋतु के वृक्षों को सुशोभित करनेवाली लताएँ दिन–प्रतिदिन विरस और कृश होकर गुच्छरूपी लोचनों को संकुचित करती हुई शीर्ण–विशीर्ण हो रही हैं। नहर और नदियाँ सागर में अपने शरीर को डुबाने के लिए गमनाकुल होकर पृथिवी में अपने शरीर को कलकलनिनादपूर्वक दोलायमान कर रही है। ये बावड़ियाँ पहले लोगों के स्थान, जल मरना आदि व्यवहार से अत्यन्त चपलता को धारण करती थी, किन्तु अब इनमें मच्छर के गिरने से होनेवाले स्पन्दकी भी संभावना नहीं है, यों निस्पन्दभाव से स्वस्वरूप में समाधिनिष्ठ हुई जैसी स्थित है। हे देवियों, जिस प्रदेश में किन्नरियाँ, गन्धर्व, विद्याधर और देवताओं की अंगनाएँ गायन कर रही हैं, उस स्वर्ग प्रदेश को आज हमारे माता और पिता ने अलंकृत किया है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है। हे देवियों, हमारे शोक का विनाश कीजिये। महानुभावों का दर्शन कभी निष्फल नहीं होता, इसलिए हमें आशा है कि आप अवश्य हमारे शोक का विनाश करोगी। जैसे जल सूख जाने पर कमलिनी नम्र होकर अपने पल्लव से मूलग्रन्थि का (जड़का) स्पर्श करती है, वैसे ही पुत्र के ऐसा कहने के पश्चात् लीला ने अपने हाथ से उसके मस्तक का स्पर्श किया। जैसे वर्षा ऋतु के मेघों के संसर्ग से पर्वत ग्रीष्म ऋतु के सन्ताप का त्याग करता है, वैसे ही लीला के उस स्पर्श से ज्येष्ठशर्मा ने दुःखदुर्भाग्यरूपी विपत्ति का त्याग किया। उन देवियों के दर्शन से घर भर के सब लोग देवताओं की नाईं दुःखरहित और लक्ष्मीवान् हो गये ॥२५–४२॥

श्रीरामचन्द्रजी को यह शंका हुई कि लीला तो सत्यसंकल्प थी, अतएव उसने पहले के (ब्राह्मण और ब्राह्मणी के जन्म के) माता के शरीर से ही पुत्र के आश्वासन के लिए दर्शन क्यों नहीं दिया ? उसी शंका को वे व्यक्त करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, लीलादेवी ने पुत्र ज्येष्ठशर्मा को माता के शरीर से दर्शन क्यों नहीं दिया ? इस विषय में मेरे मोह का (अज्ञान का) आप निराकरण कीजिये ॥४३॥

लीला के पुत्र के घर में आगमन 'प्रपंच मिथ्या है' इसकी परीक्षा के लिए हुआ था, पुत्रस्नेहप्रयुक्त तो हुआ नहीं था। पुत्र आदि संसार में मिथ्यात्व ज्ञान होने पर पुत्रस्नेह कहाँ रहा, अतः तत्त्वज्ञान के पश्चात् मूलाविद्या के बाध के अनन्तर वर्तमान शरीर से अतिरिक्त भौतिक शरीर धारण करने का कोई हेतु नहीं था। इसलिए लीलाने पूर्व शरीर धारण नहीं किया, यों उपपत्ति सहित उत्तर देने के लिए श्रीवसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, जिस अज्ञानी पुरुष ने मिथ्या पृथिवी आदि का संघातरूप शरीर पृथिवी आदि के बोध से सत्य जान लिया, उसकी दृष्टि में वस्तुतः केवल अद्वितीय चिदाकाश ही भ्रान्ति से पिण्डरूपता को धारण करता है। तत्त्वज्ञ पुरुष की दृष्टि में तो उसका

हेतु अज्ञान न होने से केवल अद्वितीय चिदाकाश ही स्थित रहता है ॥४४॥ जैसे बालक को भ्रम से पुरुष का ज्ञान न होने से, वेताल प्रतीत होता है, वैसे ही भ्रमवश पृथिवी आदि का ज्ञान होने से असत् ही पृथिवी आदि सत् से प्रतीत होते हैं (🔥) ॥४५॥ जैसे स्वप्नावस्था में पृथिवी आदिरूप से प्रतीत पदार्थ यह स्वप्न है, ऐसा ज्ञान होने पर क्षणभर में अपृथिवी आदि रूप हो जाते हैं, वैसे ही जाग्रदवस्था में भी स्पष्ट है। भाव यह कि भ्रमवश जाग्रदवस्था में पृथिवी आदिरूप से प्रतीत पदार्थ ज्ञान होने के उपरान्त तुरन्त अपृथिवी आदिरूप हो जाते हैं। पृथिवी आदि यदि आकाशरूप से जाने जाय, तो ये आकाश ही हैं, ऐसा अनुभव होता है। देखिये न! विक्षिप्त लोगों को दरवाजे के सदृश प्रतीत होनेवाली स्फटिककी दीवारों पर शून्य में जैसा उद्यम दिखाई देता है यानी उन्हें दरवाजे समझकर वे घुसने की चेष्टा करते हैं। स्वप्नावस्था में नगर शून्यरूप से प्रतीत होता है और सम पृथिवी गर्तरूप से प्रतीत होती है। स्वप्न की अंगना यद्यपि शून्य है, सत् नहीं है, तथापि वह मनुष्यों की पादसंवाहन आदि क्रिया करती है। यदि आकाश की पृथिवी आदिरूप से प्रतीति हो गई, तो आकाश क्षणभर में पृथिवी आदि हो जाता है। मूर्च्छावस्था में किसी किसी को परलोक भी प्रत्यक्ष दिखाई देता है। बालक आकाश को ही वेताल, मर रहा पुरुष आकाश में वन, अन्य पुरुष उसे कुण्डलाकार केशों का गोला रूप और दूसरा पुरुष उसको मोतियों का समुदाय रूप देखता है। भयभीत, पागल, आधा सोया और आधा जागा हुआ पुरुष तथा नौका द्वारा चलनेवाले पुरुष सदा ही आकाश में वेताल, वन और वृक्ष आदि देखते हैं और तत्प्रयुक्त पलायन आदि कार्य का अनुभव करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि इन पदार्थों का अपनी अपनी भावना के अनुसार अभ्यास से उत्पन्न हुआ शरीर है, परमार्थतः कोई एक (नियत) शरीर नहीं है। लीला ने तो भ्रान्तिरूप से (मिथ्याप्रपंचरूप से) उदित हुआ आकाश ही दृश्य पदार्थरूप से प्रतीत होता है, यों पृथिवी आदि की नास्तिता (अभाव) रूप यथार्थ वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। ब्रह्मरूप एक चिदाकाशमात्र के ज्ञान से सम्पन्न मुनि के पुत्र, मित्र, कलत्र आदि कौन, कैसे, कहाँ से और कब होंगे ? दृश्य पहले ही उत्पन्न नहीं हुआ, जो प्रतीत होता है, वह अनादि अनन्त परब्रह्म ही है, इस प्रकार यथार्थ ज्ञानवाले लोगों की राग–द्वेषदृष्टियाँ कैसे हो सकती है ? ॥४६–५५॥

यदि लीला का अपने पुत्र आदि पर स्नेह नहीं था, तो उसने उनके सिरपर हाथ कैसे फेरा ? इस शंका पर कहते हैं।

ज्येष्ठशर्मा के सिर पर लीला ने जो हाथ फेरा, वह पुत्रप्रेम का फल नहीं था, किन्तु ज्येष्ठशर्मा के भावी कल्याण के लिए जिसमें पूर्वजन्म के पुण्य और उनका फल तत्त्वज्ञान स्थित है, ऐसी सर्वाधिष्ठानभूत चिति का ही विवर्तरूप फल था ॥५६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, बोध

🔥 जैसे बालक को असत् ही वेताल, पुरुष में वेताल बुद्धि होने से, सत् प्रतीत होता है, वैसे ही पृथिवी आदि के न होने पर भी भ्रान्तिवश अधिष्ठानभूत ब्रह्म में पृथिवी आदि का बोध होने से असत् भी पृथिवी आदि सत्–से प्रतीत होते हैं।

पहले जैसे ही पदार्थों का चिन्तन करता है, वैसे ही पदार्थ शीघ्र आभासित होते हैं। बोध स्वयं आकाश से भी सूक्ष्म तथा अत्यन्त शुद्ध है। बोध ही सर्वत्र पदार्थसंघ है, स्वप्नों में और कल्पित नगरों में यह बात शतशः अनुभूत है ॥५७॥

छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त

सत्ताईसवाँ सर्ग

आश्चर्यमग्न लीला द्वारा फिर अपने पति के दर्शन की अभिलाषा व्यक्त करना तथा सरस्वती देवी के उपदेश से बोध प्राप्त कर अपने पूर्व जन्मों का वर्णन करना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, उस पर्वतशिखर के ग्राम में उस ब्राह्मण के घर के मण्डपाकाश में ही वहाँ पर ज्येष्ठशर्मा आदि के सामने स्थित वे दोनों ललनाएँ शीघ्र अन्तर्हित हो गई। हम लोगों पर वनदेवियों ने अनुग्रह किया, ऐसा विचार कर ज्येष्ठशर्मा आदि घर के लोगों का दुःख मिट गया और वे अपने गृहकृत्य में संलग्न हो गये। तदुपरान्त गृहमण्डपाकाश में अन्य लोगों की दृष्टि में अन्तर्हित विस्मय से चुपचाप–सी बैठी हुई व्योमरूपिणी लीला से व्योमरूपा (शून्यरूप संकल्पशरीरवाली) सरस्वती ने कहा ॥१–३॥

लोक में प्रसिद्ध है कि दूसरे के संकल्पशरीर को दूसरा नहीं देख सकता, ऐसी अवस्था में संकल्पशरीरधारिणी उन दोनों का संवाद कैसे हो सकता है ? श्रीरामचन्द्रजी की इस शंका को उनकी आकृति से भाँपकर स्वयं श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं।

लोक में जिनका देवता के प्रसाद आदि से उषा और अनिरुद्ध की नाईं समान ही परस्परसंवादी संकल्प या स्वप्न हुआ, उनका उस संकल्प और स्वप्न में परस्पर संवाद जैसे संवाद के अनन्तर होनेवाली क्रियारूप में परिणत होता है, वैसे ही लीला और ज्ञप्तिदेवी का संवाद भी हुआ ॥४॥ जैसे स्वप्न और संकल्प में पृथिवी आदि अधिभूत और नाड़ी, प्राण आदि से उपलक्षित शरीर के बिना भी संवाद की प्रतीति होती है, वैसे ही अधिभूत (पृथिवी आदि) और अध्यात्म (नाड़ी, प्राण) आदि से उपलक्षित शरीर के बिना भी उनकी वह संवादप्रतीति हुई ॥५॥

श्रीवसिष्ठजी प्रसंगतः बीच में आई हुई शंका का समाधान कर प्रस्तुत कथा को कहते हैं।

श्रीसरस्वतीजी ने कहा : भद्रे, तुमने ज्ञातव्य वस्तु सम्पूर्णतया जान ली है, द्रष्टव्य पदार्थ देख लिये हैं, इस प्रकार की यह ब्रह्मसत्ता है। बताओ, अब और क्या तुम पूछती हो ?॥६॥ लीला ने कहा : देवीजी, मेरे मृत पति का जीव जहाँ पर राज्य करता है, वहाँ पर मुझे उन लोगों ने क्यों नहीं देखा, जैसा कि यहाँ पर मेरे पुत्र ने मुझे देखा ? इसका क्या कारण है ?॥७॥ श्रीसरस्वतीजी ने कहा : वत्से, उस समय अभ्यास न होने के कारण तुम्हारा द्वैतज्ञान (प्रपंच सत्य है इत्याकारक ज्ञान) निःशेष नष्ट नहीं हुआ था। जो पुरुष भेदक अविद्या के उच्छेद से अद्वैत को प्राप्त नहीं हुआ है, उसका सत्यसंकल्पत्व आदि क्रियाओं से कैसे सम्बन्ध हो सकता है ? धूप में बैठे हुए पुरुष को छाया में बैठे हुए पुरुष का शीतलता का अनुभव कैसे हो सकता

है ? ॥८,९॥ हे सुन्दरी, जब अभ्यास न होने के कारण मैं लीला देह ही हूँ, ऐसा तुम्हारा दृढ़ संस्कार विनष्ट नहीं हुआ था, तब तुम्हारी सत्यसंकल्पता उत्पन्न नहीं हुई थी। आज तुम सत्यसंकल्प हो गई हो, इसलिए 'मुझे मेरा पुत्र देखे' तुम्हारी यह अभिलाषा सफल हुई है ॥१०,११॥ इस समय यदि तुम अपने पति के समीप में जाओ, तो उसके साथ तुम्हारा सम्पूर्ण व्यवहार पहले की नाईं (जबकि वह जीवित था उस समय के समान) होगा ॥१२॥

यों प्रत्यक्ष दर्शन और उपदेश द्वारा सरस्वती देवीसे निर्दिष्ट अर्थ में लीला की असंभावना की शंका निवृत्त हो गई, अतएव वह मण्डपाकाश के अन्दर ही अपने पति के दोनों परलोकों की तथा हजारों ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति का अनुवाद करती हुई फिर अपने पति के मण्डल को दिखलाने की प्रार्थना करती है।

लीला ने कहा : देवि, इसी मन्दिर के आकाश में मेरे पतिदेव ब्राह्मण हुए, इसी में मरे और फिर इसी में उत्पन्न होकर राजा हुए ॥१३॥ अन्य भूमण्डलरूप उनका वह संसार भी यही मन्दिराकाश है, इसमें उनकी राजधानी के नगर में मैं उनकी (राजा पद्मकी) रूप से स्थित हूँ ॥१४॥ यहीं पर उस अन्तःपुर में मेरे पतिदेव राजा पद्म की मृत्यु हुई थी, इसी अन्तःपुराकाश में उस नगर में वे राजा हुए ॥१५॥ वे पृथिवीतल में अनेक नगरों के अधिपति हो गये। पारमार्थिक ब्रह्म में कल्पित मायिक चलन आदि विकार इस प्रकार से इस मण्डपाकाश में ही व्यवस्थित है। जैसे दोने के अन्दर सरसों की राशि रहती है, वैसे ही इसी गृहाकाश में सम्पूर्ण ब्रह्माण्डभूमियाँ स्थित हैं, ऐसा मैं मानती हूँ। कहीं पास में स्थित अपने पति के मण्डल को सदा अतिनिकटवर्ती समझती हूँ, उसे मैं यहाँ पर जैसे देखूँ, वैसा उपाय आप कीजिये ॥१६-१८॥

इस मण्डपाकाश में केवल आधुनिक पदार्थ ही नहीं है, किन्तु अतीत, आगामी सभी पदार्थ हैं। उन पदार्थों में तुम्हारे अनेक जन्मों के अनेक पतियों के शरीर हैं, सबका दर्शन एक साथ होना तो असम्भव है, उनमें से तुम्हें कौन-सा दिखलाऊँ, इस अभिप्राय से देवीजी ने कहा।

श्रीदेवीजी ने कहा : हे पुत्रि, हे भूतल की अरुन्धती, इस समय तुम्हारे तीन पति हुए अथवा सैकड़ों पति हुए। अत्यन्त संनिकट तीन पतियों में से वसिष्ठ ब्राह्मणरूप पति तो जलकर भस्म हो गया है और पद्मराजारूप पति फूलमालाओं की राशि से ढका हुआ शवरूप से अन्तःपुर में स्थित है ॥१९,२०॥ इस संसारमण्डप में तुम्हारा तीसरा पति वसुधाधिपति है, वह संसाररूपी महासागर में प्रविष्ट होकर भ्रम को प्राप्त हो गया है ॥२१॥ भोगरूपी बड़ी बड़ी लहरों की कल्पनाओं द्वारा विक्षिप्त हो गया है, इसी कारण उसकी बुद्धि मलिन हो गई है। बुद्धि की मलिनता से बुद्धि के अन्दर प्रतिबिम्बित उसकी चित्तवृत्ति भी प्रायः शिथिल हो गई है, वह संसाररूपी सागर का कछुआ बन गया है ॥२२॥ अनेकानेक कठिनतर राजकार्यों को करता हुआ भी वह इस संसाररूपी भ्रम में सोया पड़ा है, जड़ होने के कारण जागता नहीं है ॥२३॥ मैं राजा हूँ, मैं भाँति भाँति के भोगों का भोक्ता हूँ, मैं सिद्ध हूँ, बलवान् हूँ, सुखी हूँ, इस प्रकार की अज्ञानरूप बड़ी रस्सी से वेष्टित होकर अस्वतन्त्रता को प्राप्त हो गया है। हे सुन्दरी, कहो,

तुम्हें उन तीनों में से, जैसे आँधी सुगन्धपरम्परा को एक वन से दूसरे वन में ले जाती है, वैसे ही किस पति के समीप ले जाऊँ ? ॥२४,२५॥ वत्से, वह अन्य ही संसार है, अन्य ही ब्रह्माण्डमण्डप है, वहाँ अन्य ही विविध व्यवहार होते हैं ॥२६॥ यद्यपि वे पूर्वोक्त संसारमण्डल इस मण्डपाकाश में अधिष्ठानभूत चिद्दृष्टि से पास में ही स्थित हैं, तथापि सांसारिक दृष्टि से उन में कोटि–कोटि योजन दूरी का अन्तर (व्यवधान) है ॥२७॥ इन संसारमण्डलो का पारमार्थिक स्वरूप तो मण्डप के मध्य में स्थित केवल चिदाकाश ही है, यह तुम पुनः पुनः अनुभव करो। इन संसारमण्डलों में एक नहीं कोटि कोटि मेरु और मन्दर पर्वत स्थित हैं। जैसे झरोखे आदि से घर के अन्दर गई हुई सूर्यकिरणों में त्रसरेणु स्फुरित होते हैं, वैसे ही महाचैतन्य के परमाणु में विभिन्न विविध सृष्टियाँ निर्बाधरूप से स्फुरित होती है। इस प्रकार (पूर्वदर्शित ब्रह्माण्ड के समान ही) वे ब्रह्माण्ड भी यद्यपि बड़े बड़े द्वीप, समुद्र, भुवन आदि से विशाल ही है, तथापि चिद्दृष्टिरूप तुला से उन्हें देखा जाय, तो वे वटबीजों के बराबर भी नहीं होते हैं। जैसे आकाश में भ्रमवश वन की नाईं विविध प्रकार के रत्नों का निर्मल प्रकाश प्रतीत होता है, वैसे ही वस्तुतः पृथिवी आदि भेद से रहित ही चिति अविद्याजनित दृढ़ वासना से जगद्रूप प्रतीत होती है ॥२८–३१॥

भ्रान्ति से जगत् की प्रतीति होने पर भी वस्तुभूत आत्मा में कभी भी कुछ भी नहीं हुआ ऐसा कहती है।

चित् का ही भ्रमवश इस जगत् आदिरूप से विकास होता है। अतः सृष्टि के आदि में ही पृथिवी आदि कुछ नहीं हुआ, अतः उससे आत्मा में कभी कुछ भी ह्रास, वृद्धि आदि विकार नहीं हुआ ॥३२॥ जैसे तालाब में लहरें हो होकर पुनः होती हैं, वैसे ही विचित्र आकारवाले काल, काल के अवयव दिन, रात्रि आदि, ब्रह्माण्ड एवं उनके अवयव भुवन आदि देश महाचिति में हो होकर पुनः होते हैं ॥३३॥ लीला ने कहा : हे जगन् माता, जैसा आप कहती हैं, यह बात ठीक वैसी है। मुझे इस समय स्मरण हुआ है कि यहाँ पर यह मेरा जन्म राजस है, तामस या सात्त्विक नहीं है। इस जन्म में दुःख और परिताप की प्रचुरता है और 'मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः' (रजोगुणप्रचुर लोग मध्यलोक में रहते हैं) ऐसी स्मृति भी है, इससे निश्चय है कि मेरा यह जन्म राजस है। इस कल्प के आरम्भ में जब अन्तःकरणरूप उपाधि की उत्पत्ति होने के अनन्तर उसमें प्रतिबिम्बरूप से मैं अवतीर्ण हुई तबसे आज तक मेरे विभिन्न योनियों में आठ सौ जन्म बीत चुके हैं, उन्हें मैं आज पुनः साक्षात् देख–सी रही हूँ यानी स्पष्टरूप से उनका स्मरण कर रही हूँ। हे देवि, पहले किसी दूसरे संसारमण्डल में विद्याधरलोकरूप कमल की भँवरी मैं विद्याधरराज की पत्नी हुई। तदुपरान्त दुर्वासनाओं से कलुषित हृदयवाली मैं मानुषी (स्त्री) हुई, तदनन्तर दूसरे संसारमण्डल में मैं पन्नगराज की कामिनी हुई। तदनन्तर मैं कदम्ब, कुन्द, जामुन और करंजों के वन में रहनेवाली, वृक्षों के पत्तों के वस्त्र पहननेवाली काली भिलनी हुई। तदनन्तर वन की वासना से मूढ़ हुई यानी धर्ममर्यादा को न जाननेवाली अतएव दुष्कर्मों के संचय से उद्धत हुई मैं फूलों के गुच्छेरूप नेत्रवाली, पत्तेरूपी हाथवाली, वन में

विलास करनेवाली पुण्य आश्रम की गुलुच्छ लता हुई, तदनन्तर मुनियों के संसर्ग से पवित्र होकर मैं वनाग्नि से जलकर उन्हीं (पहले जिनके आश्रम में लता हुई थी) महामुनि की कन्या हो गई। तदुपरान्त पुरुषत्वरूप फल देनेवाले जो कर्म मैंने किये थे, उन पहले जन्मों में संचित कर्मों के फलस्वरूप मैं सौराष्ट्र देश में पूरे सौ वर्षोंतक श्रीमान् राजा हुई। तदुपरान्त राजा के परद्रव्यहरण आदि दुष्कर्मों से तालीवृक्ष के तले स्थित किसी जलाशय प्रदेश में नौ वर्ष तक कुष्ठऔर विकलांग नेवली हुई। हे देवि, तदनन्तर मैंने आठ वर्ष सुराष्ट्र देश में दुष्ट तथा अज्ञ ग्वालों की ताड़न, अनुधावन आदि क्रीड़ा के साथ गाय योनि में जन्म लेकर बिताये। उक्त गाय योनि में जन्म का अनुभव करने में मेरा अज्ञान ही कारण हुआ। तदुपरान्त मैं पक्षियोनि को प्राप्त हुई। पक्षियोनि में मैंने अकारण वैरसे ही व्याधों द्वारा बिछाये गये जालों को दुष्ट द्वैतवासनाओं के समान बड़े क्लेश से छिन्न भिन्न किया। तदनन्तर मैं भ्रमरी हुई, मैंने कमल के मुकुलों के (कलियोंके) मध्य में भरपेट केसर खाकर कर्णिका के (कमल के छातोंके) मध्यरूप शय्या में भ्रमर के साथ एकान्त में विश्राम किया। तदुपरान्त मैं मनोहर नेत्रवाली हरिणी हुई। हरिणी योनि में मैंने किरातों द्वारा मर्माहत होकर ऊँचे ऊँचे शिखरों से युक्त रमणीय वनस्थलियों में भ्रमण किया। तदुपरान्त मैं मछली हुई। मत्स्ययोनि में समुद्र के बड़े बड़े कल्लोलों द्वारा बहाई जा रही मैं दिग्भ्रम होने पर जब मछुओं के फन्दे में आ गई, तो मैंने मछुओं द्वारा लट्ठी आदि से अपने मुँह पर किये गये प्रहारों को बड़ी बड़ी लहरों और कछुओं की पीठ की हड्डीपर गिरने से व्यर्थ होते देखा। तदनन्तर मैं पुलिन्दी हुई। उक्त जन्म में चर्मण्वती नदी के किनारे मधुर स्वर गायन कर रही मैं संभोग के पश्चात् नारियलों के रस का आसव पीती थी। तदुपरान्त मैं सारसी हुई। कमलिनी में प्रेमयुक्त भ्रमरी की नाईं निश्चल रहती हुई मैंने संभोगकाल के सीत्कार से मधुरस्वरपूर्वक यथेच्छ कामचेष्टाओं से सारसराज अपने पति सारस को खूब प्रसन्न किया। तदनन्तर चंचलवदन और चंचलनयनवाली मैंने ताली और तमालों के निकुंजों में मदयुक्त कटाक्ष दर्शन से उत्पन्न कामोद्दीपन से पति का अवलोकन किया। तदुपरान्त मैं अप्सरा हुई। स्वर्ग में भी मुझ अप्सरारूपी कमलिनी ने भ्रमररूपी देवताओं को स्वर्ण के द्रव (रस) के संघात के तुल्य मनोहर अंगरूपी पिंजरों से आलिंगन अधरपान आदि द्वारा खूब सन्तुष्ट किया। उसी अप्सरा के जन्म में मणि, सुवर्ण, माणिक्य, मोतियों से जड़ी भूमिवाले कल्पवृक्षों के वनों से पूर्ण मेरुपर्वत में युवकों के साथ रमण किया। तदनन्तर समुद्र की बड़ी बड़ी तरंगों से आकुल, जलप्राय प्रदेशों से युक्त, फूलों के गुच्छों से शोभित लताओं से वेष्टित समुद्र के तटवर्ती वनों की गुफाओं में चिरकालतक मैं कछुईरूपसे रही। चंचल लहरियों से परिपूर्ण सरोवरों में मैंने अपने चंचल वस्त्र की नाईं शुभ्र पक्षों की पंक्तियों पर कमल के भ्रम से बैठे हुए भ्रमरों के झूलने के साधन राजहंसिनीत्व का अनुभव किया यानी मैं राजहंसिनी बनी मेरे वस्त्र के समान शुभ्र चंचल परों पर कमल के भ्रम से बैठे हुए भँवरों ने झूला खेला। झूल रहे एक सेंमर के पत्ते में चंचल हुए अनेक मच्छरों में से एक मच्छर वहाँ से गिर गया, फिर वहाँ न बैठ सकने के कारण वह बेचारा झूला खेलने से वंचित रहा, उसकी यह दयनीय

अवस्था देखकर, यद्यपि मैं हँसी थी तथापि उस मच्छर की दयनीय दशा के संस्कार से ही मैं मरी अतएव मच्छर बनकर दीन हीन दशा में मुझे रहना पड़ा, क्योंकि प्राणी जिस जिस भाव का स्मरण करते हुए प्राण त्याग करता है, उसकी वासना से वासित होकर वह उसी भाव को प्राप्त होता है, ऐसा भगवान् का वचन है। तदुपरान्त मैंने जलवेतस् की लीला से यानी जलवेतस् की योनि में बड़ी बड़ी लहरियों से व्याप्त पर्वतीय नदियों में चपल तरंगों के अग्रभाग के चुम्बन द्वारा भ्रमण किया ॥३४–५६॥

स्थावरपर्यन्त अधम योनियों में जन्म कहकर अब उत्तम जन्मों को भी कहती है।

पहले मैंने गन्धमादन पर्वत में स्थित मन्दारवृक्षों के निकुंज में कामपीड़ित विद्याधर के कुमारों को अपने चरणों पर गिराया था, कामपीड़ित विद्याधर कुमारों ने मेरा अनेक प्रकार से अनुनय विनय किया था ॥५७॥

वहाँ पर भी दुःखप्रचुरता दर्शाती हैं।

जैसे चाँदनी चन्द्रबिम्ब में लोट–पोट लेती है, वैसे ही उक्त विद्याधर कुमारों के वियोगजनित दुःख से पीड़ित होकर मैं कपूर के चूर्ण से भरपूर शय्याओं में चिरकाल तक लेटी रही। तराजू के पलड़े की नाईं ऊर्ध्वगति (ऊपर उठना) और अधोगति (नीचे गिरना) से व्याकुलचित्त एवं संसाररूपी विशाल नदी की चंचल तरंगरूप मैंने वातहरिणी के (वातप्रेमीनामक एक प्रकार की हरिण जाति के) दुर्वारगमनक्रम से (✍) भाँति–भाँति के सैकड़ों दुःखों से युक्त अनेक योनियों में भ्रमण किया ॥५८,५९॥

सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठाईसवाँ सर्ग

दृष्ट प्रपंच के असत्य होने से चिदाकाश की सत्यता और पर्वत तथा गिरिग्राम का विस्तार से वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, वज्र के समान दृढ़ पूर्वोक्त रीति से अनेक करोड़ योजन भलीभाँति पुष्ट मध्यभागवाले अत्यन्त निबिड़ ब्रह्माण्ड की दीवार से वे अबलाएँ कैसे निकली। भाव यह कि स्वप्न में मिथ्याभूत दीवार भी गमन की प्रतिरोधक देखी गई है, अतः उस प्रकार की दृढ़ और घन दीवार से निकलना असंभव प्रतीत होता है ॥१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, कहाँ ब्रह्माण्ड है, कहाँ उसकी दीवार है और कहाँ उसमें वज्र के तुल्य कठोरता है ? राजरानी लीला और सरस्वती देवी दोनों ही वस्तुतः उसी अन्तःपुर के आकाश में स्थित थी। उसी पर्वतग्राम में उसी गृहाकाश में पूर्वोक्त वसिष्ठनामक ब्राह्मण विदूरथ होकर राज्य के ऐश्वर्यका भोग करता है। उसने राजा पद्म बनकर उसी मण्डपाकाश के कोने को जो कि केवल शून्यमात्र है, चार सागरों से परिवेष्टित भूतल समझा वह वसिष्ठ और वह अरुन्धती दोनों उस शून्यस्वरूप मण्डपाकाश में चारों समुद्र पर्यन्त पृथिवी उसमें

✍ ऐसी प्रसिद्धि है कि वातप्रेमी मृग स्वभावतः वायु की गति के अनुसार सम–विषम प्रदेशों में दौड़ता है, उसे कोई रोक नहीं सकता।

राजधानीरूप नगर और राजधानी में राजमहल का अनुभव करते हैं (📖)। वह अरुन्धती ही लीलानाम की राजरानी (पटरानी) हुई, उसने सरस्वती देवी की उपासना की। तदनन्तर वह सरस्वती देवी के साथ अद्भुत दर्शन से रमणीय आकाश को लाँघ कर गृहोदरवर्ती बिलस्तभर आकाश में ही दूसरे ब्रह्माण्ड को प्राप्त हुई और तदनन्तर पहले ब्रह्माण्ड से उसमें आकर गिरिग्राममन्दिररूप अपने घर में आई। जैसे कि शय्या में सोया हुआ पुरुष एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न को प्राप्त करता है, शय्या में ही विविध देशों में विविध स्वरूपों से भ्रमण करता है। आकाशरूप यह सब भ्रान्तिमात्र ही है, न ब्रह्माण्ड है, न संसार है, न दीवार आदि है और न दूरी है। उनका अपना चित्त ही केवल वासनामात्र से तत् तत् विविध पदार्थों के व्यवहार का स्वरूप धारण कर वैसा प्रतीत होता है। कहाँ ब्रह्माण्ड है और कहाँ संसार है ? निरावरण और निस्सीम इस चिदाकाश की ही उन्होंने अपने चित्त से कुछ (ब्रह्माण्डरूप) कल्पना की। जैसे आकाश ही स्पन्द के सम्बन्ध से वायुरूप से कल्पित होता है, वैसे ही उन्होंने चिदाकाश की ही अपने चित्त से ब्रह्माण्डरूप से कल्पना की। सभी जगह सदा अनादि अविनाशी चिदाकाश ही व्याप्त है। जिसे उसका ज्ञान नहीं है, उसकी दृष्टि में वह स्वयं चित् होने से अपने में अपने से ही जगत् सा प्रतीत होता है। जिसने उसको जान लिया, उसकी दृष्टि में यह जगत् आकाश से भी शून्य है और जिसने नहीं जाना, उसकी दृष्टि में यह जगत् वज्र के समान कठोर पर्वत के तुल्य है। जैसे स्वप्न में घर में ही दैदीप्यमान नगर की प्रतीति होती है, वैसे ही असद् ही यह जगत् चिदाकाश में प्रतीत होता है। जैसे मरुभूमि में असत् जल की प्रतीति होती है, जैसे सुवर्ण में अविद्यमान कटकत्व की प्रतीति होती है, वैसे ही असत् यह दृश्य प्रपंच आत्मा में सत् सा प्रतीत होता है। – ऐसा कहती हुई वे दोनों सुन्दर ललनाएँ सुन्दर गति से घर के बाहर निकली। उन्हें ग्रामवासी नहीं देख पाते थे और वे सामने के पर्वत को देख रही थी। वह उत्तुंग पर्वत गगनचुम्बी था, सूर्यमण्डल को स्पर्श करता था, रंग–बिरंग के सम्पूर्ण फूले हुए विचित्र वनों से निर्मल था तथा उसमें अनेक झरनों का कलकल निनाद हो रहा था और वन के पंछी चहचहा रहे थे। उसमें ऊँचे ऊँचे वृक्षों की मंजरियों के पुंजों से पिंजर (लालिमा या भूरापन लिये हुए पीलेपन से युक्त) अतएव रंग–बिरंग के मेघमण्डल थे, इसलिए वह सुन्दर मेघों से युक्त था, उसमें गुलुच्छ लताओं की डालियों में पक्षी और सारस बसेरा ले रहे थे। बड़े मजबूत जलवेंतसों की झाड़ियों से नदियों के तट सुरक्षित (गिरने से बचे) थे, चट्टानों के गड्ढे में पैदा हुई लताओं को, जिन्होंने भली भाँति वृक्षों का अवलम्बन नहीं किया था, वायु खूब हिला रहा था, नचा रहा था। शिखर के वृक्षों ने, जिनकी आगे आगे की टहनियाँ फूलों से व्याप्त थी, आकाश की दीवार के सदृश बादलों को ढक रक्खा था। वेग से बह रही

📖 वसिष्ठ नामक ब्राह्मण और अरुन्धती ही विदूरथ की वासना से उत्पन्न पद्म और लीला की अन्तरात्मता को प्राप्त हुए थे। लीला की अन्तरात्मा को प्राप्त अरुन्धती अनुभव करती है, यह मानकर वर्तमानकाल का निर्देश उत्पन्न होता है।

विशाल नदी का स्रोत ही उसकी मुक्तामाला था। उस पर्वत के नदीतट हिल रहे वृक्षों के वृन्दों से युक्त वन समूह से व्याप्त थे, अतएव सदा वायु से वेष्टित रहते थे। उसका प्रान्तभाग विविध वनों से व्याप्त था, अतएव छाया से सदा ठण्डक रहती थी ॥२–२२॥

पर्वत का वर्णन कर पर्वतग्राम का वर्णन करते हैं।

तदनन्तर उन दोनों ललनाओं ने उस समय वहीं स्वयं पर्वतग्राम को देखा, वह आकाश से गिरे स्वर्ग के एक भाग के समान रमणीय था, उसमें रहटों के चलने का शब्द हो रहा था, जहाँ तहाँ कमलों से युक्त अनेक पोखरे बने थे, पक्षियों के कलरव से सारा नगर गुलजार था और उसमें क्रीड़ा के लिए बने हुए उत्तम निम्नस्थान और जलप्रदेश थे। गोचरभूमि में चल रहीं गायों के रांभने से उसके सम्पूर्ण निकुंज शब्दायमान हो रहे थे, और कुंजों झाड़ियों, छायादार सघन हरे घास के मैदानों से वह युक्त था। उसमें सूर्य की किरणों का प्रवेश बड़ी कठिनाई से होता था, वह शिलाओं तथा नीहार से भस्मलिप्त की नाईं धूसर था। ऊँची–ऊँची मंजरियों से जटा की नाईं लम्बायमान उसकी कतिपय शिखाएँ थी। चट्टानों के मध्य में जल के टकराने से जिनमें मोती के सदृश बिन्दु उछल रहे थे ऐसे झरनों ने उसमें मन्दराचल से मथे जाते हुए क्षीरसागर के जल की शोभा का स्मरण करा रखा था। फल और फूलों से लदे होने के कारण बड़े अच्छे प्रतीत होनेवाले आँगन के वृक्षों से वह व्याप्त था। वे वृक्ष ऐसे प्रतीत होते थे मानों पुष्पराशि को लाकर खड़े हो रहे हों। उसमें चंचल तरंगों को मुखरित करनेवाले पवनों द्वारा हिलाये गये, मकरन्द से व्याप्त वृक्ष भी अतिथियों पर फूल बरसाते थे फिर प्रेमपूर्ण अतिथि सत्कार करनेवाले मनुष्यों से वह अधिष्ठित था इसमें कहना ही क्या है ? बराबर पाषाणों से गिर रहीं जल की बूँदो की टंकारध्वनि से, गुलेल और धनुष के शब्द के तुल्य होने के कारण, भय के योग्य न होने पर भी भयभीत अतएव छिपेहुए पक्षियों ने उसमें कुछ कलरव कर रक्खा था। वह नदी में उत्तुंग लहरों में बैठे हुए और तरंग के जलबिन्दुओं के आस्वादन से शान्त चित्त एवं नक्षत्रों के परिवर्तन के समान परिवर्तनवाले हंसों से परिवृत था। ऊँचे–ऊँचे ताल वृक्षों पर बैठे हुए कौओं को देखकर ये हमारे कलेवेको खा न जाये, इस प्रकार शंकित हुए बालकों द्वारा प्रातःकाल का खाना पच जाने के बाद हम इसे खायेंगे इस बुद्धि से उसमें आमिक्षा (छेना) छिपाई गई थी। उस नगर में बालकों ने फूलों के ही मुकुट आदि सिर के आभूषण और वस्त्र पहने थे, उस नगर के आस–पास खजूर, नींबु, जम्बीर के निबिड़ वन थे, अतएव वह सदा शीतल रहता था ॥२३–३३॥

उस नगर में रहनेवाली भील आदि दरिद्रों की स्त्रियों का वर्णन करते हैं।

उसमें दरिद्र, नीच और आलसी लोगों की स्त्रियाँ अलसीकी शाखाओं को ही, सुलभ होने के कारण, वस्त्ररूप में पहननेवाली, बौरों का कर्णफूल पहनी हुई एवं भूख और प्यास से कृश होकर गलियों में घूमती थी। नदियों की लहरों के आपस में टकराने के शब्द से लोगों का आलाप नहीं सुनाई पड़ता था, शिल्प आदि कार्य करने की दक्षता न होने के कारण भयभीत मूर्ख और आलसी लोग एकान्त में बैठा रहना चाहते थे। दही से मुँह, हाथ और

कन्धों को पोते हुए, कोमल कोमल छोटी लताओं को लिये हुए, गोबर और कीचड़ में सने हुए बालकों से उक्त नगर के चौतरे भरे थे। उसमें बालूमय तटभूमि नदी के तटवर्ती सिवार की लताओं को झूले के समान हिलनेवाले तरंगों से बहाये जाते हुए जल की रेखाओं से अंकित थी। उसमें दही और दूध की घन सुगन्ध से उन्मत्त होकर मक्खियाँ मन्थरगति थी और अपनी इच्छित वस्तु खाने के लिए रो रहे बेचारे पराधीन बालकों का मुँह आँसुओं की धाराओं से जर्जरित हो रहा था। दासियों के हाथ के कंकण गोबर से सने हुए थे, अतएव उनपर गुस्सा होकर खुले हुए केशों को बाँधने में लगी हुई स्त्रियों को देखकर लोग उनकी हँसी कर रहे थे। उसमें पहाड़ी कौए शान्त मुनियों द्वारा डंडे और ढेले आदि से उड़ाने से कहीं उन्हें चोट न लग जाय इस कारण फूलों अथवा पत्तों द्वारा उड़ाये जानेपर भी पूजा के अक्षत खाने के लिए फिर फिर उड़ रहे थे। घरों और गलियों के दरवाजों पर उसमें कठिन पीली कटैया के पेड़ बखेरे थे। घर के समीप के गर्तों को कुंजों से, जो प्रफुल्लित और शोभायमान थी, प्रतिदिन प्रातःकाल टखनों तक आँगनों में फूल बरसाये गये थे। उसके जंगल घास चर रहे भाँति-भाँति के मृग और पक्षियों से पूर्ण थे, गुंजाफल के निकुंजों में जमे हुए घास के हरे हरे तिनकों में मृगों के बच्चे सोये थे (卐)॥३४-४२॥ एकान्त स्थान में सोये हुए बछड़े के एक कान के कम्पन से मक्खियाँ उड़ रही थी, गोपों (गौओं को पालनेवाले अहीर आदि) द्वारा उच्छिष्ट यानी जूठा छोड़े हुए दही में और मुँह के आसपास मक्खियाँ भिनभिना रही थी। उस गाँव के सम्पूर्ण घरों में मधुमक्खियों का क्षय करके मधु संचित किया गया था, फूले हुए अशोक के वनों में लाह से रँगे हुए सुन्दर क्रीड़ामन्दिर बने हुए थे। सीकरों की (छोटे-छोटे जलकणों की) झड़ी लगानेवाले वायु से नित्य आर्द्र होने के कारण सभी वृक्ष प्रफुल्ल थे, फूलों के भार से लदे थे, कदम्बों की कलियों से उसमें सम्पूर्ण छादन तृण ओतप्रोत थे। केतकी के फूलने में जो लताएँ बाधक थी, उन लताओं के काट डालने के कारण निर्बाधरूप से फूले हुए केतकियों के समूह से सारा गाँव सफेद हो रहा था। उस ग्राम के किसी किसी प्रदेश में जल की नाली द्वारा जल गुरु गुरु शब्द करता हुआ बहता था। मेघमण्डल उसके झरोखों से निकलकर बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं में विश्राम लेते थे। जल से लबालब भरे हुए अनेक पोखरों में पूर्ण चन्द्रमा के समान खिले हुए कमलवनों से उसकी शोभा की सीमा न रह गई थी। उसमें सघन वृक्षों की छाया से शीतल साफ सुथरे हरे मैदान थे और सम्पूर्ण हरी-रही घास के सिरों पर जो ओस की बूँदें थी, उनमें तारों का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था। लगातार गिर रहे खिले फूलों की वृष्टि से और हिमवृष्टि से उस ग्राम के सब मकान सफेद हो गये थे। उस ग्राम के सब वृक्ष भाँति-भाँति की मंजरियों, फूलों, पत्तों और सुन्दर फलों से लदे थे। उस घर की कोठरी के अन्दर छिपे हुए बादलों में युवतियाँ सोती थी और अट्टालिकाओं में स्थित

卐 यहाँ पर गाँव का वर्णन चल रहा है। 'गाँव' शब्द गाँव की सीमा और भूमि के सहित गाँव का वाचक है, इसलिए उसके अन्तर्गत गोचरभूमि, जंगल, निकुंज आदि का वर्णन करने पर भी कोई विरोध नहीं है।

मेघ की बिजली से लोगों को दीपक जलाने की आवश्यकता न रहती थी, क्योंकि दीपक की आवश्यकता बिजली से पूरी हो जाती थी। उस गाँव में सब घर गुफाओं की वायु की झंकार से मेघ की नाईं गरजते थे, घरों के आसपास चकोर, हारीत और हिरन घूमते थे, अतएव वे बड़े मनोहर लगते थे। खिले हुए कन्दल पुष्पों से निःसृत प्रचुर सुगन्धि से परिपूर्ण मन्द-मन्द बहने के लिए उद्यत वायु द्वारा उसके वृक्ष और लताओं के पल्लव चंचल थे। सुग्गा, मैना और लवा की बोली रूपी क्रीड़ा में ललनाएँ तल्लीन थीं। चक्रवाक, कोयल, पहाड़ी कौओं के कोलाहल का चारों ओर समां बँधा था। साल, ताड़, तमाल और कमल तथा उनके नीले फलों का, जिधर देखो उधर, ताँता बँधा था। वहाँ पर लताओं के वलयाकार वेष्टन से वृक्ष परिवेष्टित थे। उक्त गिरिग्राम के मन्दिरों की शोभा का पूर्णरूप से वर्णन कौन कर सकता है ? वे चंचल पल्लववाली असंख्य लताओं के सन्तान के आश्रय थे, खिले हुए कन्दल के फूलों की सुगन्धि से सराबोर थे, उनके मण्डपों में ताली, तमाल आदि के पत्ते नाचते, बाग में खिले हुए फूलों के वृक्षों से उनमें बड़ी ठण्डक रहती थी, उनकी गौएँ रँभाती हई जल में तैरने में आकुल थी, उनके आसपास चारों ओर के लललहाते हुए धान के खेतों और फूलों के बगीचों से उनकी शोभा कहीं अधिक बढ़ गई थी, तट के वृक्षों की कतार से नदी का प्रवाह छिप गया था, फूली हुई सघन लताओं के अग्रभाग ही उसके वितान (चँदवे) थे बगीचों के कुन्द पुष्पों के मकरन्द की (पुष्परस की) भीनी-भीनी सुगन्ध से वे सुगन्धित थे, सुगन्धि से अन्धे बने हुए भ्रमरों ने गिरिग्राम के घरों के आस-पास के कमलों को आच्छन्न कर दिया था, उन घरों ने अपनी सुन्दरता से इन्द्र भवन को नीचा दिखा दिया था, कमलों के पराग से उन्होंने आकाश को सुनहला बना दिया था, उनमें वेग से बह रही गिरिनदी का घर-घर शब्द सदा बना रहता था, कुन्दपुष्प के समान सभेदमेघों की छवि से वे दैदीप्यमान हो रहे थे , अटारियों पर आरूढ़ फूली हुई विशाल लताओं के वे आश्रय थे, उन घरों में परस्पर क्रीड़ा से चंचल मधुर ध्वनिवाले पक्षियों का आवास था, तुरन्त खिले हुए पुष्पों की पँखुड़ियों से युवकों की शय्या पूर्ण थी, स्त्रियाँ पैर के अँगूठे तक लटकी हुई मालाएँ पहनी थी, सभी जगह सुन्दर-सुन्दर नूतन अंकुर उगे थे, जिनसे वे घर दन्तुल से (जिसके छोटे-छोटे दाँत निकले हो ऐसे) प्रतीत होते थे, अत्यन्त सुशोभित सुन्दर लताओं से सरकण्डे घिरे थे, उगी हुई कोमल-कोमल लताएँ और कमलों की उनमें भरमार थी, स्थिर मेघरूपी वस्त्रों से घरों के कमरे आच्छादित (वितानयुक्त) थे, ओस की बूँदरूपी मोतियों की लहरों से युक्त हरी घास के मैदानों से जहाँ-तहाँ उनकी बड़ी ख्याति थी, अटारियों में रुके हुए मेघ की बिजली से घरों में स्त्रियाँ आकुल हो रही थी, नील कमलों से निर्गत सुगन्धि से उनकी सुन्दरता कहीं अधिक बढ़ गई थी, वहाँ की गौएँ रंभाने से बड़ी भली लगनेवाली और हरी घास को चरने में संलग्न थी, घर के आँगन में सुन्दर मृग निःशंक आ जा रहे थे, उक्त घर निबिड़ जलबिन्दुओं की वृष्टि करनेवाले झरनों से युक्त थे, अतएव वृष्टि की भ्रान्ति से उनमें मयूर अपना नृत्य करते थे, वे सुगन्धि से मत्त की नाईं भ्रान्त पवन से ताड़ित अतएव विकलता को प्राप्त हुए

थे, दीवारों में उगी हुई औषधिरूपी (ज्योतिर्लतारूपी) अग्नि से वे घर दीपकों को भूल गये थे, औषधियों से ही उनमें दीपकों का काम चल जाता था, पक्षियों के कलरव से परिपूर्ण अनेक घोंसलों से वे घर व्याप्त थे, सैकड़ों झरनों के अविरत कलरव से लोगों की बोल–चाल छिप गई थी, मोतियों की लरी के समान सुन्दर बिन्दुओं के गिरने से उनके सम्पूर्ण वृक्ष, लता, तृण और पल्लव शीतल थे और उनके फूलों का विकास कभी बन्द नहीं होता था ऐसे गिरिग्राम के मंदिरों की शोभा का वर्णन कौन कर सकता है ? ॥४३–६३॥

अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त

उनतीसवाँ सर्ग

लीला के पूर्व जन्मों के चरित्रों की प्रत्यभिज्ञा का वर्णन तथा लोकों की राशियों से मण्डित आकाशमें गमन वर्णन।

जैसे आत्मज्ञानी अतएव शान्त पुरुष में भोगश्री और मोक्षश्री प्राप्त होती है, वैसे ही सुशीतल सुरम्य उस गिरिग्राम में वे दोनों देवियाँ पहुँची। इतने समय में उक्त अभ्यास से लीला केवल शुद्ध ज्ञानरूप देहवाली होने के कारण भूत, भविष्यत् और वर्तमानरूप तीनोंकालों को भलीभाँति देखनेवाली हो गई थी। तदनन्तर उसे संसार की प्राक्तन जन्ममरणरूप सम्पूर्ण गतियों का अनायास ही स्मरण होने लगा॥१–३॥ लीला ने कहा : हे देवि, इस देशको देखकर आपके प्रसाद से मैं यहाँ पर अनेक पूर्वजन्मों की सब विविध चेष्टाओं के स्मरण करती हूँ। पहले मैं यहाँ पर बूढ़ी ब्राह्मणी हुई थी। मेरा सारा शरीर नसों से व्याप्त और कृश था। केश सफेद थे। सूखे हुए कुशो की नोंक से छिदने के कारण मेरी हथेली जर्जरित थी। मैं अपने पतिदेव के कुल की वृद्धि करनेवाली भार्या थी। बहुत से बच्चों की माता और अतिथियों का सत्कार करनेवाली गृहिणी थी। देवता और सन्त महात्माओं की भक्त थी। मेरा शरीर घी और दही–दूध से लथपथ रहता था। मैं भात पकाने की बटलोही, यज्ञ–चरु को पकाने के पात्र, अन्यान्य पात्रों और सामग्री को मांज, धो–पोंछकर साफ–सुथरा रखती थी। मेरा प्रकोष्ठ (पहुँचा) सदा अन्न से सनी हुई एक काँच की चूड़ी से युक्त रहता था। मैं जमाई, बेटी, भाई, पिता और माता की सदा पूजा–अर्चा करती थी। देहपात होने तक घर के ही काम–धाम में मेरे दिन रात बीतते थे। मैं पुत्र, बहू और नौकर–चाकरों से शीघ्र काम करने के लिए, तुमने बहुत देरी में स्नान किया, तुमने क्यों देरी लगाई, तुम क्यों विलम्ब कर रहे हो , इत्यादि वचन कहती रहती थी और स्वयं कार्य में व्यग्र रहती थी। मैं कौन हूँ और यह संसार कहाँ तक सच्चा है ? इस बातका कभी स्वप्न मे भी मैंने विचार नहीं किया था। मेरे पतिदेव भी मेरी नाईं घर में अत्यन्त आसक्त थे, उनकी बुद्धि विशुद्ध नहीं हुई थी, वे कोरे श्रोत्रिय थे। मैं समिध, शाक और कण्डों के संग्रह में नित्य दत्तचित्त रहती थी। मेरा शिराओं से (नसों से) भरा दुबला–पतला शरीर मैले कम्बल से ढका रहता था। मैं कभी बछिया की कनपटी के कीड़े निकालने में तत्पर रहती तो कभी घर के पास से शाकके खेतों को सींचन के लिए सींचनेवाले नौकरों को पुकारती थी, कभी जल की

लहरों की अन्तिम सीमारूप तटों मे उगे हुए हरी हरी घास के तिनकोंसे बछियों की तृप्ति करती थी। प्रतिक्षण घर के दरवाजे पर लेपन और ऐपन दिया करती थी। घर के नौकर–चाकरों को विनय, सदाचार आदि सिखलाने के लिए कुछ दीनता के साथ 'ऐसे लोगों के घर में इस तरह के अविनीत नौकर–चाकर कैसे रहते हैं' ऐसा लोग कहेंगे, यों जन–निन्दा का दिग्दर्शन कराया करती थी। मर्यादा के नियमरूप समुद्र की वेलासदृश मैं स्वयं कभी भी अपने कर्तव्य से भ्रष्ट नहीं होती थी, यों अपने चरित्र से भी उन्हें शिक्षा दिया करती थी ॥४–१४॥

ब्राह्मणी जन्म में इस तरह चिरकाल से कार्य में व्यावृत लीला की बुढ़ापे के आक्रमण से कान में बहिरापन, शिरःकम्पन, कूबड़ापन, लाठी लेकर चलने की नौबत आनेपर जो दशा हुई, उसका वह वर्णन करती है।

मैं वहाँ पर पुराने पत्ते के समान वर्णवाले शरीर का जो एक कान, शिर के कम्पन से झूलने के कारण, वहीं ठहरा झूला, उसमें चढ़ी हुई सी, टेकने की लट्ठी के उठाने पर उससे ताड़न करने के योग्य सी, बुढ़ापे से भयभीत–सी, अन्तिम जीवन वृत्ति से चिह्नित सी हुई। श्रीवसिष्ठजी ने कहा : यह कहकर पर्वत ग्राम के मध्य में भ्रमण कर रही लीला ने घूम रही सरस्वती देवी को विस्मयपूर्वक दिखलाया हे देवि, पाटल वृक्षों से अत्यन्त सुशोभित यह मेरी पुष्पवाटिका है। यह मेरी उद्यान मण्डप की अशोकवाटिका खिली हुई है। यह पोखरा है, जिसके तट के पेड़ों में बछड़े बँधे हैं। यह कर्णिका नाम की मेरी बछिया है, इसने मेरे वियोग दुःख से घास छोड़ दी है। यह बेचारी मेरी पनिहारि है, मेरे वियोग–दुःख से इसे अपना काम करने की फुर्ती नहीं है, यह धूलि से पूर्ण है। आज पूरे आठ दिन हो गये हैं इसकी आँखका पानी नहीं सूखा, बेचारी लगातार रोती है ॥१५–१९॥ हे देवि, यहाँ पर मैंने भोजन किया। यहाँ पर निवास किया, यहाँ पर मैं बैठी, यहाँ सोई, यहाँ जल पिया, यहाँ दिया और यहाँ फल, अन्न आदि लाई। यह मेरा ज्येष्ठशर्मा नाम का पुत्र घर में रो रहा है। यह मेरी दुधार गाय जंगल में हरी घास चर रही है। वसन्त के आरम्भ में होली जलाने के लिए बनाया गया, भस्मसे धूसर, पाँच खिड़कियोंवाला यह बरामदा पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसे युक्त मेरी देह के समान मेरा प्रिय है, इसे देखो। मानों स्वयं चढ़कर पली हुई तितलो की की लताओं से छत में वेष्टित बड़ी बड़ी नसोंसे वेष्टित मेरे शरीर के सदृश यह रसोई घर है। संसार में मेरे बन्धनरूप से बन्धुबान्धव, अग्नि और काष्ठ ला रहे हैं, सदा रोने के कारण इन बेचारों की आँखें लाल हो गई हैं और बाजूबन्दों में ये रुद्राक्ष धारण किये है ॥२०–२४॥ यह गृहमण्डप दिखाई देता है, जो कि शिलामय तट भूमि में फूलों के गुच्छों को सदा टक्कर देनेवाली, तटवर्ती लताओं के पत्तों को छूनेवाली, आस पास के हरे मैदानों तथा सुन्दर लताओं को सीकरों से व्याप्त करनेवाली एवं शिला पर टक्कर लगने से फेनयुक्त और नीलकमल की गन्ध से सुवासित जलकणों से पूर्ण लहरों से ढका हुआ है, मध्याह्न के सूर्य की किरणराशियों को भी बर्फ के सदृश शीतल करनेवाले, फूले हुए है, मध्याह्न के सूर्य की किरणराशियों को भी बर्फ के सदृश शीतल करनेवाले, फूले हुए फूलों की राशि पर मँडराने वाले भ्रमरों के गुँजार से उत्कण्ठित ऐसे बीच बीच में संनिविष्ट फूले हुए पलाश वृक्षों

की छबि से युक्त अतएव मूंगों के वृक्षों के तुल्य प्रतीत होनेवाले एवं पुष्पराशि का विकास करनेवाले तटवर्ती वृक्षों से व्याप्त ग्रामीण नहर से, जिसके प्रवाह में बह रहे आम आदि फलों को लेने में ग्रामीण लड़कियाँ अतिव्यग्र हैं, जो प्रचुर कलकल शब्द करनेवाली जलभौंरियों से मदमत्तसी प्रतीत होती है, घिरा हुआ है, बड़ी तेजी से बहनेवाले जल से जिसके पत्थर घुले हुए हैं, सघन पत्तेवाले वृक्षों की निबिड़ छाया से जो सदा शीतल है, फूली हुई लताओं के परिवेष्टन से बड़ा भला प्रतीत होता है और खिल रही गुलुच्छलता से जिसकी खिड़कियाँ आच्छन्न हैं। इसमें मेरे पतिदेव जीवाकाश होने के कारण निष्क्रिय होते हुए भी चार सागरपर्यन्त पृथिवी के स्वामी बन कर रहते थे। हाँ, मुझे स्मरण हुआ कि दृढ़ संकल्पवाले इन्होंने पहले मैं शीघ्र राजा होऊँ, ऐसी अभिलाषा की थी, इसलिए हे देवी, आठ ही दिनों में इन्होंने समृद्धिशाली राज्य प्राप्त किया, जो कि चिरकाल की प्रतीति देनेवाला था ॥२५-३४॥ जैसे आकाश में वायु अदृश्य होकर रहता है और जैसे वायु में सुगन्धि अदृश्य होकर रहती है वैसे ही इस घर के आकाश में यह मेरे पति का जीव राजा रहता है। यहीं अंगुष्ठमात्र गृहाकाश में ही स्थित परमार्थ वस्तु (परब्रह्म) को भ्रम से मैंने करोड़ों योजन विस्तृत मेरे पति का राज्य समझा। हे देवी, हम दोनों चिदाकाश ही हैं,मेरे पतिदेव का राज्य जो कि हजारों पहाड़ों से पूर्ण है, आकाश में स्थित है, यह बहुत बड़ी माया फैली हुई है। हे देवी पति के नगर में पुनः जाने की मेरी इच्छा है, इसलिए आइये वहाँ चले। उद्योगियों के लिए क्या दूर है ?॥३५-३८॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, देवी से यह कहकर नतमस्तक हुई लीला झटपट गृह मण्डप में प्रवेश कर देवी के साथ चिड़िया की नाईं तलवार के तुल्य नीले आकाश में उड़ी। पीसे हुए अंजन के ढेर के सदृश श्याम, निश्चलसागर के समान मनोहर, भगवान् श्रीविष्णु की अंगकान्ति के तुल्य श्यामल, भँवरे की पीठके सदृश निर्मल कान्तिवाले आकाशको लाँघकर, प्रवह आदि उनचास वायुओं के लोक को लाँघ कर, तदनन्तर सूर्यमार्ग और चन्द्रमार्ग का उल्लंघन कर, ध्रुवलोक के ऊपर पहुँचकर, सिद्धों के लोक में जाकर, सिद्धों के लोक को लाँघकर,स्वर्गमण्डल से ऊपर चढ़कर, ब्रह्मलोक में जाकर तुषितों (नित्यसन्तुष्टों) के लोक में (वैकुण्ठ में) पहुँचकर, तदनन्तर क्रमशः गोलोक, शिवलोक और पितृलोक का अतिक्रमण कर, विदेह और सदेह मुक्तोंके अतिदूरवर्ती लोक को पार कर अत्यन्त दूर जाकर लीला कुछ प्रबुद्ध हुई। दूर जाकर जब नीचे चन्द्रमा, तारा आदि कुछ भी नहीं दिखाई देते थे, दिशारूपी गर्तों को भरनेवाला एकमात्र सागर के सदृश, पत्थरके मध्यभाग के समान ठोस,निश्चल और गम्भीर अन्धकार ही अन्धकार था, तब उसने पीछे अतीत आकाशस्थल को देखा ॥३९-४६॥ लीला ने कहा : हे देवि, सूर्य आदि का तेज नीचे कहाँ चला गया, पत्थर के मध्यभागके समान निबिड़ अतएव मुट्ठी में लेने योग्य यह अन्धकार कहाँ से आ गया है ? कृपया यह मुझसे कहिये ॥४७॥ श्रीदेवी ने कहा : भद्रे, तुम कितने दूर आकाशमार्ग मे आ गई हो, जहाँ से सूर्य आदि तेज दिखाई ही नहीं देते हैं। जैसे बड़े भारी अन्धे कुएँ के नीचे विद्यमान जूगनूँ बहुत दूर ऊपर बैठे हुए पुरुष को नहीं दिखाई देता है वैसे यहाँ से बहुत नीचे स्थित सूर्य भी नहीं दिखाई देता ॥४८,४९॥ लीला

ने कहा : देवीजी, ओ हो ! क्या हम लोग इतने दूर मार्ग में आ गये, जिससे सूर्य तक परमाणु के समान नीचे तनिक भी दिखाई नहीं देता है। माँ, इससे आगे दूसरा मार्ग कौन और कैसा होगा और उसमें कैसे जाना होगा ? हे देवि, यह सब आप मुझसे कहिये ॥५०,५१॥ श्रीदेवीजी ने कहा : भद्रे, इसके बाद आगे ब्रह्माण्डसंपुट के ऊपरके कपाल में तुमको जाना है, चन्द्रमा आदि जिस ब्रह्माण्डसंपुट के ऊपर के कपाल के धूलिकण से उत्पन्न हुए हैं॥५२॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, जैसे दो भ्रमरियाँ पर्वत के छिद्ररहित (ठोस) भाग को प्राप्त होती हैं, वैसे ही इस प्रकार आपस में प्रश्नोत्तर कर रहीं वे दोनों ललनाएँ ब्रह्माण्डसंपुट के ऊपरवाले खप्पर पर पहुँची ॥५३॥ वे वहाँ से, जैसे कोई आकाश से निकले वैसे ही अनायास निकली। जो वस्तु सत्यता के अध्यवसायमें स्थित हो यानी यह वस्तु सत्य है ऐसे अध्यवसाय से युक्त हो, वह वज्र के समान ठोस होती है और जो उक्त अध्यवसाय से युक्त नहीं है वह मिथ्यात्वबुद्धि से बाधित हो जाती है। लीला का विज्ञान आवरणशून्य था, अतएव उसने ब्रह्माण्डसंपुटके ऊपरवाले कपाल के बाद ब्रह्माण्ड के आर पार अत्यन्त भाखर जलादि आवरण को व्याप्त देखा। ब्रह्माण्ड से दस गुना जल वहाँ पर है, वह जैसे अखरोट के ऊपर उसका बाहरी छिलका उसे व्याप्त करके रहता है, वैसे ही ब्रह्माण्ड को व्याप्त करके स्थित है। उसके बाद उससे दसगुनी अग्नि है, उसके बाद उससे दसगुना वायु था, उसके अनन्तर उससे दसगुना आकाश है तदनन्तर शुद्ध चिदाकाश है। उस परमाकाश में वन्ध्यापुत्र के वृत्तान्तों की नाईं, आदि, मध्य और अन्त की कल्पनाएँ कुछ भी उदित नहीं होती यानी वह अपरिच्छिन्न है। वह अद्वितीय, असीम, शान्त, कारण रहित, भ्रमशून्य, आदि अन्त और मध्यरहित है एवं अपनी महिमा में स्थित है। यदि उस निर्मल चिदाकाश में कल्पपर्यन्त बड़े भारी वेग से ऊपर से पत्थर नीचे को गिरे और नीचे से गरुड़ ऊपर को बड़े वेग से कल्पपर्यन्त उड़े और उनके बीच में उनका सन्धान करने में समर्थ वायु एक वेग से दाएँ–बाएँ दोनोंओर से बहे, तो वह भी उनसे मिल नहीं सकता फिर चारों ओर से उसके अन्त पाने की तो बात ही क्या है ? वह चारों ओर से असीम और अपरिच्छिन्न है ॥५४–६०॥

उनतीसवाँ सर्ग समाप्त

तीसवाँ सर्ग

जैसे ब्रह्माण्ड का पहले वर्णन किया गया है वैसे ही और उसी प्रकार के
विचित्र करोड़ों ब्रह्माण्डों को लीला ने चिदाकाशमें परमाणु के तुल्य देखा इसका वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के उत्तरोत्तर दसगुने बड़े आवरणों को एक क्षण में लाँघकर लीला ने पूर्वोक्त परिमाणसहित अविद्याशबलित चिदाकाश देखा, उक्त आकाश में जैसे यह ब्रह्माण्डरूप जगत् विस्तृत है वैसे ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों को भी उसने विस्तृत देखा ॥१,२॥ जैसे आकाश में, धूप में, करोड़ों त्रसरेणु दृष्टिगोचर होते हैं वैसे ही लीला ने सब ब्रह्माण्डों में वैसे आवरणवाली करोड़ों सृष्टियों को देखा, जो कि स्वप्रकाश

अधिष्ठान चैतन्य से भासित थी। अविद्यारूप जल से परिपूर्ण महाकाशरूपी महासागर में महाचैतन्य के स्फुरणरूप द्रवीभाव से उत्पन्न असंख्य ब्रह्माण्डरूपी बुद्‌बुदों को लीला ने देखा ॥३,४॥

इस प्रकार के हजारों करोड़ ब्रह्माण्ड हैं, क्योंकि प्रधान यानी अधिष्ठान चैतन्य सर्वगामी है, इसलिए वे तिरछे, ऊपर, नीचे, सब जगह स्थित हैं, इस पुराणवचन के अनुसार कहते हैं।

उसने तत्–तत् ब्रह्माण्डों के अभिमानी जीवों के ज्ञानानुसार उनमें से कुछ को नीचे गिरते हुए, कुछको ऊपर उड़ते हुए, कुछ को तिरछे चलते हुए और कुछ को निश्चलरूपसे स्थित देखा। जिन–जिनकी जहाँ–जहाँ पर जैसी भावना हुई, उन–उन की दृष्टि में वहाँ–वहाँ पर वैसा–वैसा रूप उदित हुआ। यह अनुभव करनेवालों की दृष्टि से कहा गया है, वास्तव में चिदाकाश में और ब्रह्माण्डमें भी कुछ नहीं है, न तो ऊपर का प्रदेश है, न नीचे का प्रदेश है और न ब्रह्माण्डों के गमन–आगमन ही हैं, किन्तु वाणी और मन का अगोचर दिग्विभाग आदि सब द्वैतों से रहित दूसरी ही वस्तु है, इसलिए जो ब्रह्माण्डों का वर्णन किया है, वह अज्ञानी लोगों की दृष्टि के अभिप्राय से किया है, ऐसा समझना चाहिए। स्वयं संवित् ही अविद्यासे उत्पन्न अपने संकल्पों से, बालकों के संकल्पों की नाईं उत्पन्न सी होती है और उत्पन्न होकर शान्त सी होती है ॥५–८॥

यदि अधिष्ठानतत्त्व में दिग्विभाग नहीं है, तो अध्यस्त में भी नहीं होगा, क्योंकि अध्यस्त केवल अधिष्ठान दशा में स्थित रहता है, ऐसा नियम है, इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, यदि अधिष्ठानतत्त्वमें ही पहले ऊर्ध्व, अधः, तिर्यक् नहीं था, तो कल्पना द्वारा प्रतीत हो रहे जगत् में क्या नीचे होगा, क्या ऊपर होगा और क्या तिरछा होगा अर्थात् अधिष्ठानमें कल्पित जगत्में अधः, ऊर्ध्व और तिर्यक् का संभव कैसे है ? ब्रह्मन्, यह आप कृपापूर्वक मुझे समझाइये ॥९॥

यह जगत् मायिक है, अतः मायिक प्रपंचमें इस प्रकार के नियम का व्यभिचार दोषावह नहीं है, इस अभिप्राय से पहले श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, जैसे आकाश में भ्रमवश केशों का कुण्डलाकार गोला दिखलाई पड़ता है वैसे ही अज्ञान से दूषित दृष्टिवाले पुरुष को असीम महान् चिदाकाशमें सम्पूर्ण आवरणोंसे युक्त ये ब्रह्माण्ड प्रतीत होते हैं ॥१०॥

अथवा सब वस्तुएँ ईश्वरेच्छाधीन हैं, इसलिए पूर्वोक्त नियम का उल्लंघन दोषदायक नहीं है, इस अभिप्राय से श्रीवसिष्ठजी कहते हैं।

अस्वतन्त्र होने के कारण सभी पदार्थ वेग से इधर–उधर भाग रहे हैं। उनमें परस्पर आकर्षण होने के कारण वे गिरते नहीं है। भाव यह है कि जैसे कदम्ब के फूल के केसरों की आधारभूत जो कर्णिका है, उसकी अपेक्षा से ही उनके मूलदेश की कल्पना होती है, वैसे ही ब्रह्माण्डों में जितने पदार्थ हैं, उन सबकी पृथिवी मूलदेश मानी जाती है। यहाँ पर ऐसी शंका नहीं करनी

चाहिए कि वास्तविक अधो देश का अस्तित्व न होने से फल की डंठी से गिरे हुए फल के गुरु (वजनदार) होने से नीचे गिरने में कोई हेतु नहीं होगा। क्योंकि गुरुत्व विषयों का कोई अन्य गुण नहीं है, जैसे विषयों में अपनी–अपनी इन्द्रिय की आकर्षण शक्ति ही गुरुत्व है। अतएव बाह्य दिग्विभाग न होने के कारण अत्यन्त गुरुतम ब्रह्माण्ड नहीं गिरते हैं और न उनके आवरण भूत जल आदिसे उनका विश्लेषण ही होता है। इसलिए अधिष्ठान चैतन्य में दिग् विभाग की आवश्यकता ही नहीं है, इस आशय से दूसरा समाधान करते हैं।

ब्रह्माण्ड में महापृथिवीरूप जो ब्रह्माण्ड का भाग है वह सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों के नीचे है और उससे अन्य आकाश भाग ऊपर है, ऐसी कल्पना है ॥११॥

वह प्रकार ज्योतिश्चक्र के आधारभूत खगोल से भूगोल को चारों ओर से वेष्टित माननेवाले ज्योतिषशास्त्रकारों को भी मान्य है, यह दर्शाने के लिए उनके द्वारा उदाहृत दृष्टान्त करते हैं।

जैसे गोल पत्थर या ढेले में चींटियाँ चिपकी रहती हैं, जिस ओर चींटियों के पैर होते हैं वह नीचे का भाग है और जिधर पीठ रहती है वह ऊपर का भाग है, वैसे ही दसों दिशाओं में संलग्न लोगों के पैर नीचे को ही होते हैं और पीठ ऊपर को होती है, यह सब सूर्यसिद्धान्त में कहा गया है ॥१२॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी की शंका का समाधान कर प्रस्तुत ब्रह्माण्डों की विचित्रता का वर्णन करने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

किन्हीं ब्रह्माण्डों के अन्दर की भूमि वृक्षों ओर वामियों से व्याप्त है। उनमें मनुष्यों का नामनिशान नहीं है और निर्मल आकाश देवताओं, नरभिन्न और नरतुल किंपुरुषों और दैत्यों से आक्रान्त है। जैसे पका हुआ अखरोट का फल त्वचा से (छाल से) वेष्टित रहता है वैसे ही कुछ ब्रह्माण्ड तुरन्त कल्पनात्मक चार प्रकार के प्राणियों के साथ ही ग्राम, नगर, पर्वतों से युक्त होकर उत्पन्न हुए हैं। जैसे विन्ध्याचल के विशाल वन में हाथी पैदा होते हैं, वैसे ही परमात्मा के मायाशबलस्थान में ब्रह्माण्डरूपी त्रसरेणु उत्पन्न होते हैं ॥१३–१५॥

जैसे ब्रह्माण्ड चिदाकाश के सामने अणुवत् सूक्ष्म है वैसे ही किसी दूसरे पदार्थ के सामने चिदाकाश भी क्यों न परमाणुतुल्य सूक्ष्म हो ? इस शंका पर कहते हैं।

स्थितिकाल में सम्पूर्ण पदार्थ चिदाकाश में रहते हैं, सृष्टिकाल में उससे उत्पन्न होते हैं, प्रलय में सब उसी में लीन हो जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में सब दिशाओं में सब कालो में और सब वस्तुओं में वहीं है,उससे अतिरिक्त कोई नहीं है। वही नित्य सर्वमय आत्मा है, उस प्रकार का वह किसके प्रति अणु होगा ? किसी के प्रति भी वह अणु नहीं हो सकता है, यह अर्थ है ॥१६॥ शुद्ध बोधरूप तथा परम प्रकाश के सागर चिदाकाश में ब्रह्माण्डनामक लहरें नित्य उठकर विलीन होती हैं ॥१७॥

उनमें कुछ ब्रह्माण्ड अव्याकृत ही भीतर हैं, ऐसा कहते हैं।

पूर्व कल्प के सम्पूर्ण संकल्पों के बीज लिंगरूप उपाधि का क्षय होने पर अन्धकारस्वरूप रात्रियों के समान अव्याकृत कुछ ब्रह्माण्ड भीतर स्थित हैं। जलमें तरंगों की नाईं शून्यतारूप

सागर में उनकी प्रकर्ष से तर्कना होती है। 'कैसे असत् से सत् उत्पन्न होगा ?' इत्वर्थक श्रुति युक्ति से वे हैं ऐसी तर्कना की जाती है, यह अर्थ है ॥१८॥ किन्हीं ब्रह्माण्डों के भीतर प्रलय समाप्त होनेवाला घर-घर शब्द प्रवृत्त है, स्वाभाविक अज्ञान से विषयों में प्रीति से व्याकुल हुए अन्य लोगों ने न उसे कभी सुना और न जाना ही, क्योंकि वे स्वाभाविक अज्ञान से विषयों में जो प्रीति होती है उससे आकुल हैं। अन्य ब्रह्माण्डों में प्राथमिक कल्प, युग आदि के आरम्भ में प्रथम उत्पन्न प्राणियों द्वारा दूषित न होने के कारण शुद्ध भुवनोंमें जैसे जल से सींचे हुए बीजों के कोष से सफेद अंकुर निकलता है वैसे ही सृष्टि होती है। किन्हीं ब्रह्माण्डों में महाप्रलय की प्राप्ति होने पर जैसे सन्ताप लगने से हिमकण गलते हैं, वैसे ही सूर्य, अग्नि और बिजलियाँ पहले भुवनों को जलाकर स्वयं गलने लगते हैं। कुछ ब्रह्माण्ड आधार भूमि को न पाकर कल्पपर्यन्त गिरते ही रहते हैं, जब तक कि बिलकुल चूरचूर होकर फिर न पैदा हों ॥१९-२२॥

शंका - पहले आप ब्रह्माण्डों के पतन का असम्भव कह चुके हैं, उसकी क्या गति होगी ?

समाधान - वे ब्रह्माण्डपतन संवित्मय हैं। ऐसे ब्रह्माण्डों में पतन का कोई विरोध नहीं हैं। कुछ ब्रह्माण्ड आकाश में केशों के गोले की नाईं निश्चल से स्थित हैं और स्पन्दात्मक वासना से उत्पन्न हुए कुछ ब्रह्माण्ड वायु से स्पन्दन की नाईं प्रतीत होते हैं ॥२३॥

यदि कोई शंका करे कि 'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' (ब्रह्मा ने पूर्व सृष्टि के अनुसार ही ब्रह्माण्डों की रचना की) यह श्रुति सम्पूर्ण सृष्टियों की एकरूपता का वर्णन करती है, उससे विरुद्ध सृष्टियों की विलक्षणता का प्रतिपादन कैसे करते है ? इस पर कहते हैं।

उक्त श्रुति पूर्व कल्प में जैसी ब्रह्मा की सृष्टि थी वैसी ही दूसरी, तीसरी आदि सृष्टियाँ होती हैं, ऐसा प्रतिपादन करती है। वेद-शास्त्रों से सम्बन्ध रखनेवाले पूर्व जन्म के कर्म-ज्ञान के अनुष्ठानरूप सदाचार से ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए ब्रह्मा का पहले की सृष्टि के अन्य सृष्टिकर्ताओं की सृष्टि से विलक्षण रूप से उदित होने पर आगे के कल्पों की सृष्टियों का आरम्भ भी पूर्व की नाईं हो, लेकिन अन्य सृष्टिकर्ताओं का सृष्टि की अपेक्षा इसका क्रम अनियत ही ठहरा। इस प्रकार सृष्टियों की विलक्षणता सिद्ध हुई ॥२४॥

'परम पिता परमेश्वर को अपनी-अपनी तपस्या से प्रसन्न कर आपस में एक दूसरे को जीतने की इच्छा करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु, शिव परस्पर से उत्पन्न होते हैं', इस प्रकार पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र की कल्प के भेद से परस्पर से उत्पत्ति कही गई है। जिस कल्प में जो उत्पादक होगा, उसकी प्रधानता होने पर उनके गुणोंके भेद से कभी सत्त्वगुण की प्रधानता होगी, कभी रजोगुण की और कभी तमोगुण की प्रधानता होगी, यों सत्त्व आदि गुणों की प्रधानता के कारण भी सृष्टि में विचित्रता का होना, इस आशय से कहते हैं।

कुछ ब्रह्माण्डों के ब्रह्मा ही सृष्टिकर्ता हैं, कुछ के विष्णु ही अधिपति हैं, कुछ के रुद्र, भैरव, दुर्गा, विनायक आदि अध्यक्ष हैं, क्योंकि उनके महात्म्य का वर्णन करनेवाले पुराणों में वे भी ब्रह्मा के नियन्ता कहे गये हैं। कुछ ब्रह्माण्डों में मृग, पक्षी आदि जन्तु किसी के

नियन्त्रण के बिना ही स्वच्छन्द रहते हैं ॥२५॥ कुछ ब्रह्माण्ड विचित्र सृष्टि और विचित्र अधिपतिवाले हैं, कुछ ब्रह्माण्ड प्राणियों के कर्म और वासनाओं के विलक्षण होने से एवं सृष्टिकर्ताओं की इच्छा और ज्ञान के विचित्र होने से पशु–पक्षियों से ही भरे हैं, कुछ ब्रह्माण्ड केवल एकमात्र समुद्र से भरे हैं, कुछ जीव–जन्तुओं से शून्य हैं, कुछ ब्रह्माण्ड शिला के तुल्य निबिड़ हैं, कुछ के अन्दर कीड़े–ही–कीड़े हैं, कुछ में देवताओं का ही आवास है और कुछ में मनुष्य ही प्रचुरमात्रा में रहते हैं, कुछ कभी नष्ट न होनेवाले अन्धकार से आवृत्त हैं, उनमें वैसे ही प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं, क्योंकि उल्लुओं का अँधेरे में दर्शनव्यवहार देखा जाता है; कुछ सदा प्रकाश से पूर्ण हैं, उनमें वैसे ही प्राणी दृष्ट होते हैं। कुछ गूलर के फल की तरह मच्छरों से परिपूर्ण हैं, कुछ ब्रह्माण्डों का मध्यभाग सदा शून्य रहता है, कुछ के जीव गतिशून्य हैं। पूर्वोक्त प्रकार की सृष्टिसे पूर्ण कुछ दूसरे ब्रह्माण्ड आकाश से पूर्ण पर्वत की नाईं योगियों की सविकल्पकज्ञानविषयता को भी प्राप्त नहीं होते। आकाश से पूर्ण पर्व के समान आकाश शून्य स्वभाव है और महाकाश तो वैसा विस्तृत है कि यदि विष्णु आदि अपनी आयुभर यदि कितना बड़ा है, यह जानने के लिए दौड़े तो भी उसकी सीमा नहीं जान सकते ॥२६–३१॥

यदि कोई शंका करे कि भले ही अनन्त ब्रह्माण्ड हों और परस्पर विलक्षण भी हों, लेकिन उनके बाहर स्थित जलादि आवरण को, उनको धारण न करने के कारण उनका विश्लेषण क्यों नहीं होता, ऐसी शंका कर पूर्वोक्त आकर्षण शक्ति का अवलम्बन कर उनका विश्लेषण नहीं होता, ऐसा समाधान करते हैं।

अपने स्वभाव से ही प्रत्येक ब्रह्माण्डगोलक की भूतों को आकृष्ट करनेवाली एक प्रकार की शक्ति वलय में जड़े हुए रत्न के समान चारों और से व्याप्त कर स्थित हैं, इस कारण उनका विश्लेषण नहीं होता ॥३२॥

अपनी अशक्ति स्थापन के बहाने जगत विस्तार वर्णन का उपसंहार करते हैं।

महामते, जगत् के वर्णन के विषय में हमारी बुद्धि का जो सम्पूर्ण वैभव था, उसे हम दिखला चुके हैं। उसके बाद जो जगत् है, वह हमारी बुद्धि का विषय नहीं है। उसके वर्णन की मुझमें शक्ति नहीं है ॥३३॥

मुझमें अन्यान्य जगत् के वर्णन की शक्ति न होने से इतने ही जगत् है, ऐसा नहीं सोचना चाहिए किन्तु अन्य लोगों द्वारा अदृष्ट (अज्ञात) अनन्त जगत् हैं, क्योंकि माया में अनन्त जगतों की सृष्टि करने की असीम सामर्थ्य है, ऐसा दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं।

भीषण अन्धकार से व्याप्त बड़े भारी अरण्य में जैसे मदोन्मत्त भूतगण परस्पर एक दूसरे के स्वरूप को देखे बिना नाच करते हैं, वैसे ही अविद्या से आवृत ब्रह्म में बहुत से महाजगत् स्फुरित होते हैं ॥३४॥

तीसवाँ सर्ग समाप्त

इकतीसवाँ सर्ग

फिर लीला के अन्तःपुर को देखने की इच्छा, अन्यान्य ब्रह्माण्डों के प्रेक्षण, शूरवीरों के चिह्नों से-कवच, शिरस्त्राण आदि से-सन्नद्ध सेना के निरीक्षण का वर्णन।

अपने पूर्वजन्म के संसार से निकलकर पूर्वोक्त रीति से अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों की विचित्रता को देखती हुई वे उनमें से किसी ब्रह्माण्ड में झटपट प्रविष्ट हुई वहाँ उन्होंने अन्तःपुर को देखा, वहाँ वे चिरकाल तक नहीं रही, तुरन्त ही निकल आई। उस अन्तःपुर में पुष्पराशि से परिपूर्ण महाराज का महान् शव रक्खा था, शव के पास समाधि में आरुढ़ चित्तवाला लीला का शरीर बैठा था, शोक के कारण रात्रि के बहुत दीर्घ होने से उसमें लोग थोड़ी-थोड़ी सुषुप्ति से (गाढ़ निद्रा से) युक्त थे, धूप, चन्दन, कपूर और कुमकुम की सुगन्धि से वह भरा था। उसको देखकर पति के दूसरे संसार को जाने की लीला को इच्छा हुई, लीला संकल्पमात्र देह से अन्तःपुर में ही स्थित पूर्वोक्त मण्डपाकाश में पहुँची। संसार रूप आवरण को तोड़कर और ब्रह्माण्ड के खप्पर को फोड़कर कुछ विस्तृत पति के संकल्प संसार में प्रविष्ट हुई। वह उक्त देवी से साथ फिर आवरणों से युक्त विस्तीर्ण ब्रह्माण्डमण्डप में वेग से पहुँची और उसमें प्रवेश कर जैसे सिंहिनी अन्धकार और मेघों के कारण पंकयुक्त की नाईं स्थित पर्वत की गुफा को देखती है वैसे ही उसने अपने पति देव के संकल्पजगत् को देखा जो कीचड़ से भरी हुई तलैया के समान था। चिदाकाशमय उन दोनों देवियों ने ब्रह्माण्ड के मध्यवर्ती शून्यात्मक जगत् में जैसे दो चींटियाँ पके हुए अतएव कोमल बिल्वफल में प्रवेश करती है, वैसे प्रवेश किया। वहाँ पर अन्यान्य लोकों, अनेकों पर्वतों और आकाश को लाँघकर वे विविध पर्वतों और समुद्रों से परिपूर्ण भूमितल पर आयी। तदनन्तर मेरु पर्वत से अत्यन्त सुशोभित और नौखण्डो में विभक्त जम्बूद्वीप में जाकर भारतवर्ष में लीला के स्वामी के राज्यमें पहुँची। इसी समय पृथिवी के भूषणस्वरूप उस राज्यमें किसी एक राजा ने (सिन्धुराजा ने), अपने सहायभूत सामन्तों से जिसकी शक्ति काफी बढ़ी-चढ़ी थी, आक्रमण किया था। उक्त सिन्धुराज के साथ संग्राम छिड़ने पर उक्त संग्राम को देखने लिए आये हुए तीनों लोकों के जीवों की आकाश में बड़ी भीड़ लगी थी। भय-शंका रहित होकर आई हुई उन देवियों ने आकाशचारी सिद्ध गन्धर्वों से आक्रांत उस आकाश को मेघमण्डल से घिरा हुआ सा देखा। वह सिद्ध, चारण, गन्धर्व और विद्याधरगण से युक्त था, शूर-वीर पुरुषों के ग्रहण में उतावली करने वाली स्वर्गलोक की अप्सराओं से आवृत था, उसमें उन्मत्त भूत, राक्षस और पिशाच रुधिर और मांस के लिए ताक में बैठे थे, उसमें ऐसी पुष्पवृष्टि हो रही थी कि उससे विद्याधरों की स्त्रियों के हाथ भर गये थे, युद्धदर्शन में अत्यन्त अभिलाषावाले अस्त्र-शस्त्रों केआघात से अपना बचाव करने के लिए पर्वत के तटों पर बैठे हुए वेताल (एक प्रकार के भूत), यक्ष और कूष्माण्डों से वह परिवृत था, अस्त्रों के मार्गभीत समीपवर्ती आकाश भाग से, स्वरक्षार्थ, सम्पुर्ण भूतगण उसमें भाग रहे थे, पौरुषाभिमान से क्षुब्ध योद्धागण दर्शकों का आमोद-प्रमोद कर रहे थे। सब लोग परस्पर

निकटवर्ती भीषण संग्राम की चर्चा कर रहे थे, क्रीड़ा में हास और विलासों में उत्कण्ठित सुन्दरियों ने अपने हाथों में चँवर ले रक्खे थे। अत्यन्त धर्मात्मा होने से अन्य लोगों के दृष्टिगोचर न हो सकने वाले योगबल से श्रेष्ठ मुनियों द्वारा देवताओं के स्तोत्र जगत् की शान्ति के लिए वहाँ पढ़े जा रहे थे, अनेक लोकपालों द्वारा अप्सराओं से सम्बन्ध रखनेवाली अवसरोचित स्तुतियाँ की जा रही थी, भाव यह कि अप्सराएँ हमें छोड़कर नूतन योग्य कान्तों का अनुसरण न करें, यों लोकपाल उनकी स्तुति कर रहे थे। स्वर्ग में स्थान पाने योग्य शूरवीर पुरुषों को लाने में व्यग्र इन्द्र के योद्धाओं से वह चमक रहा था, उसमें शूरवीर पुरुषों के लिए ऊँचे ऊँचे लोकपाल नामक यानी ऐरावत आदि हाथी सजाए गये थे, स्वर्ग की ओर आ रहे रणभूमि में आहत शूरों के आगत–स्वागत रूप सम्मान में गन्धर्व और चारण कटिबद्ध थे, वहाँ शूरवीर पुरुषों पर आकृष्ट होनेवाली अप्सराएँ कटाक्षों से अच्छे–अच्छे योद्धाओं को देखती थी, वह वीर पुरुषों के बाहु–दण्डों का आलिंगन करने में क्षुब्ध सहस्त्रों स्त्रियोंसे भरा था, शूर पुरुषों के शुभ्र यश ने वहाँ पर सूर्य को चन्द्रमा बना दिया था, भाव यह कि यश की शीतलता से उष्णता के दब जाने से सूर्य चन्द्र सा मालूम होता था ॥१–२२॥

प्रसंगवश शूर आदि के लक्षण को जानने की इच्छा से श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, शूर शब्द कैसे योद्धा का वाचक है ? कौन योद्धा स्वर्ग का अलंकार है और कौन डिम्भाहव योद्धा है ? यद्यपि यहाँ पर डिम्भाहव योद्धा कहीं पर न तो उक्त ही और न किसी प्रकार सूचित ही है तथापि यहाँ पर उसके लक्षण के प्रश्न को, स्वर्ग के अलंकार रूपी शूर से भिन्न होने के कारण, प्रासंगिक जानना चाहिए ॥२३॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, शास्त्रों में प्रतिपादित सदाचार से युक्त राजा के लिए रणभूमि में जो युद्ध करता है, वह चाहे रण में मृत्यु को प्राप्त हो, चाहे विजयी हो, वह शूर है और शूरोचित लोक का भाजन है। पूर्वोक्त विधि से विपरीत यानी असदाचारी राजा के लिए जिसने प्राणियों का अंगच्छेदन किया है, वह यदि रण में मृत्यु को प्राप्त हो, तो वह डिम्भाहव में मारा गया कहलाता है और वह नरकगामी होता है ॥२४,२५॥

उक्त अर्थ को ही विशेषरूप से स्पष्ट करते हुए कहते हैं।

जिस स्वामी का आचरण शास्त्रानुकूल नहीं है, उसके लिए जो पुरुष रणभूमि में युद्ध करता है, वह यदि संग्राम–भूमि में मरे, तो उसको शाश्वत नरक की प्राप्ति होती है ॥२६॥ जो यथासंभव शास्त्रप्रतिपादित विधि के अनुकूल और लोकाचार के अनुकूल आचरण करनेवाला होकर रण में युद्ध करता है और वैसे ही सदाचारी स्वामी का भक्त हो, वह शूर कहलाता है ॥२७॥ सुमते, गाय के रक्षण के लिए, ब्राह्मण के रक्षण के लिए, मित्र के रक्षण के लिए, शरणागत के रक्षण के लिए युद्ध रूप उपाय द्वारा जो मृत्यु को प्राप्त होता है, वह स्वर्गालंकार है ॥२८॥ अवश्य परिपालनीय (रक्षणीय) अपने देश की मुख्यवृत्ति से रक्षण में जो राजा सदा उद्यमी है, उसकी विजय के लिए जो युद्ध करते हैं वे वीर हैं और उन्हें वीरों का लोक प्राप्त होता है ॥२९॥ प्रजाओं के प्रति सदा कुछ न कुछ उपद्रव करने वाले राजा अथवा राजा से

भिन्न जमींदार आदि राजा के लिए जो युद्ध में मरते हैं, वे निस्सन्देह नरकगामी होते हैं ॥३०॥

शास्त्रानुकूल आचरण न करनेवाले का आश्रय लेना ही नरक का हेतु है, उस पर यदि वह प्रजाओं के प्रति उपद्रव करनेवाला हो, तो उसका आश्रय लेना नरक का हेतु है, इसमें कहना ही क्या है ? इस आशय से फिर पूर्वोक्त बात को कहते हैं।

शास्त्रानुकूल आचरण न करनेवाले और प्रजा को पीड़ित करनेवाले राजाओं अथवा राजाओं से भिन्न मालिकों की विजय के लिए जो रण में छिन्न-भिन्न शरीर होकर मरते हैं, वे निश्चय नरकगामी होते हैं ॥३१॥

धार्मिक स्वामी का आश्रित होने पर भी यदि अधर्म से युद्ध करता हुआ योद्धा मारा जाय, तो उसको स्वर्ग प्राप्त नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

यदि धर्मपूर्वक युद्ध हो, तो युद्ध में मृत योद्धा की स्वर्ग में स्थिति होती है। यदि अधर्म्य युद्ध से मारे गये पुरुष को स्वर्ग प्राप्त हो, तब तो मत्त पुरुष परलोक के भय से रहित होकर अत्यन्त अधर्म्य युद्ध से भी दूसरे लोगों को नष्ट कर डालें ॥३२॥

यदि ऐसी बात है, तो 'परप्राणान् निजप्राणैः पणीकृत्योद्यतायुधः। यत्र यत्र हतः शूरः स्वर्गस्तत्र पदे पदे ॥'(अपने प्राणोंसे दूसरे के प्राणों की बाजी लगाकर शस्त्र को उठाकर शूर जहाँ जहाँ भी मारा जाय वहाँ उसे पद पद पर स्वर्ग है) इत्यादि साधारण लोकप्रवादों की क्या गति होगी ? इस पर कहते हैं।

शूर जहाँ-जहाँ पर भी मारा जाय, वहाँ उसे पद पद पर स्वर्ग है' इत्यादि अवश लोगों की उक्तियाँ हैं, किन्तु धर्म के लिए युद्ध करनेवाला पुरुष शूर है, शास्त्र का तो यही निश्चय है ॥३३॥ जो लोग शास्त्रप्रतिपादित आचरणवाले प्रभुओं के लिए खड्ग की धार को सहते हैं, वे शूर कहे जाते हैं शेष लोग डिम्भाहव में मारे गये कहे जाते हैं ॥३४॥ उनके लिए रणभूमिमें और आकाश में शूरता को प्राप्त महाबलशाली को प्रिय कहने वाली सुरांगनाएँ उत्कण्ठित होकर खड़ी रहती हैं ॥३५॥ विद्याधरों की अंगनाओं के मधुर और मन्द मन्द गायन से गुलजार, मंदार के फूलों की मालाओं के गूँथने में व्यग्र कामिनियोंसे युक्त और जिसमें देवता और सिद्धों के सुन्दर सुन्दर विमानों की पंक्ति विश्राम ले रही थी, ऐसा आकाश, उत्सव के लिए बहुत बढ़ी चढ़ी शोभासे युक्त सा अत्यन्त शोभित था ॥३६॥

इकतीसवाँ सर्ग समाप्त

बत्तीसवाँ सर्ग

संकल्पमय विमान में बैठी हुई सरस्वती देवी तथा लीला द्वारा देखी गई
लड़ने के लिए उत्सुक शस्त्र-अस्त्र से सुसज्जित दो सेनाओं के वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे सौम्य, तदनन्तर शूरवीर प्रिय लिए उत्कण्ठापूर्वक नृत्य कर रहीं अप्सराओं से पूर्ण आकाश में स्थित सरस्वती देवीसे युक्त लीला ने पृथिवी में अपने पतिदेव से अपने राष्ट्रमण्डल में सुरक्षित, चतुरंगिणी सेना परिवृत, सिंह, भालू, बिच्छू, राक्षस आदि

का आवास होने के कारण दूसरे आकाश की नाईं किसी विशाल वन में दो महासागरों के तुल्य परस्पर सब प्रकार से क्षुब्ध दो सेनाओं को देखा। वे मत्त सेनाएँ महान् कार्योद्योगों से युक्त थी, दोनों पक्षों के दो राजा उनमें विद्यमान थे, युद्धके लिए वे सुसज्जित थी, कवच, सिरस्त्राण, हरवा हथियार से लैस थी, अतः दैदीप्यमान अग्नि की नाईं वे बड़ी अद्भुत प्रतीत होती थी, पहले प्रहार–पात को देखने के लिए क्षुब्ध असंख्य नेत्र उन्हें देख रहे थे, दोनों सेनाओं में प्रहार के लिए उठाई गई चमचमाती हुई तलवार धाराएँ ही मानों जलधाराएँ ठहरी उन्हें लोग सह रहे थे, कुल्हाड़े, बर्छे, बन्दूक, तोप और मुद्गर आदि अस्त्र–शस्त्र चमचमा रहे थे, गरूड़ के परों से बिक्षुब्ध वन संघात के समान दोनों सेनाएँ चंचल थीं, उनमें उदयकाल के सूर्य के सुनहले आलोक (प्रकाश) के समान सोने के कवच दैदीप्यमान हो रहे थे, योद्धा और प्रतियोद्धा द्वारा एक दूसरे के मुखदर्शन से उत्पन्न हुए कोप से परस्पर अस्त्र–शस्त्र उठाये गये थे, योद्धा और प्रतियोद्धा एक दूसरे के ऊपर टकटकी लगाकर देखने के कारण भीत में लिखे गये चित्र से मालूम होते थे, खूब लम्बी खींची हुई दो सेनाओं के बीच की रेखा रूपी मर्यादा से (सीमा से) दोनों सेनाओं की स्थिति नियत कर दी गई थी, बड़ी भारी दो सेनाओं में एकत्रित योद्धाओं के अनिवार्य हल्ले–गुल्ले के कारण लोगों कों परस्पर आलाप नहीं सुनाई देता था, राजा की आज्ञा के बिना पहले वार न हो, इस शंका के कारण बहुत देरी तक दोनों सेनाओं में रणदुन्दुभी शान्त था, प्रायः अपने–अपने स्थान में श्रेणीबद्ध योद्धारूपी प्रधान अवयववाली सम्पूर्ण सहायक सेनाओं से दोनों सेनाएँ परिपूर्ण थीं, जैसे प्रलयकाल के महावायु से विक्षुब्ध एकमात्र समुद्र दो विभागों मे विभक्त होता है, वैसे ही वे दोनों सेनाएँ केवल दो धनुष परिमाण के जनशून्य मध्यभागरूपी एक पुल से विभक्त थीं, उसमें दोनों पक्षों के राजा अपने शरीर पर वेग से उपस्थित हुए संकट की चिन्ता से ग्रस्त थे, दोनों सेनाओं में डरपोक लोगों की हृदयरूपी गुफा बोल रहे मेढ़क के कण्ठ की त्वचा की नाईं फरफरा रही थी, दोनों पक्षों मे असंख्य सैनिक प्राणरूपी सर्वस्व का त्याग करने के लिए उद्यत थे, कान तक खींचे गये बाण समूहरूपी प्रवाह को छोड़ने के लिए धनुर्धारी तत्पर थे, प्रहार करने की आज्ञा की प्रतीक्षा में असंख्य सैनिक चित्रवत् निश्चल खड़े थे, परस्पर योद्धा और प्रतियोद्धा में युद्ध की उत्कण्ठा से उत्पन्न अतिशय क्रोध से बँधी हुई भ्रुकुटियों से दोनों सेनाएँ दुष्प्रेक्ष्य हो गई थीं, योद्धा और प्रतियोद्धा के परस्पर अभिघात से कवचों की कर्णकटु टंकार ध्वनि हो रही थी, वीर योद्धाओं की मुखाग्नि से जले हुए से अतएव काले मुखवाले डरपोक लोग छिपने के लिए पहाड़ों की खोह ढूँढ़ रहे थे, परस्पर युद्ध के दर्शन पर्यन्त जिनका जीवन निश्चित था, दोनों पक्षों में हाथी और मनुष्य खड़े हुए रोंगटों से व्याप्त होने के कारण ऊपर की ओर ऊँचे और अगल–बगल बढ़े हुए थे, प्रथम प्रहार की आज्ञा की प्रतीक्षा में व्यग्र चित्त होने से दोनों सेनाओं में कोलाहलका शब्द शान्त था, अतएव वे जिसके नरनारी गाढ़ नींद में सोये हैं, ऐसे नगर के तुल्य प्रतीत होती थीं, शंखों, तुरहियों और दुन्दुभियों का शब्द शान्त था, सब धूलिकण और बादल क्रमशः भूमितल और आकाश में लीन थे, भागने में तत्पर डरपोक लोगों ने सेना के अलंकाररूपी शूरवीरों को पीछे

छोड़ दिया था, बड़े-बड़े मगरों का और मछलियों का जिसमें युद्ध हो रहा हो, ऐसे सागर की नाईं उस सेनाओं की छवि छिटक रही थी, पताकाओं में लगी हुई चमकदार झालरों ने आकाश के तारों को जीत लिया था, झुण्ड के झुण्ड हाथियों द्वारा ऊपर उठाई गई सूँड़ों ने आकाश के मध्यको वन बना डाला था ॥१-१९॥ आकाश में तैर रहीं चंचल प्रकाशराशियों से सकल शस्त्र-अस्त्र पूँछ से युक्त से हो रहे थे, दुन्दुभी आदि के 'धम्, धम्' शब्दोंसे और मुखवायु से होनेवाले शंख आदि के शब्दों से दोनों सेनाओं का आकाशमण्डल शब्दायमान था ॥२०॥

अब दोनों सेनाओं के प्रवेशमार्ग के भेद से विभिन्न व्यूहरचना का वर्णन करते हैं।

कहीं पर चक्राकार व्यूह का निर्माण करनेवाले पुरुषों से, दूर्दान्त दैत्यों पर आक्रमण किये हुए देवताओं की नाईं, दोनों सेनाएँ दैदीप्यमान थीं, कहीं पर उनमें गरुड़व्यूह के निर्माण से सर्पों के समूह (श्लेषवश हाथियों के झुण्ड) वेग के साथ भाग रहे थे, श्येन के व्यूह से प्रतिपक्षियों का सेनाशिविर दो भागों में विभक्त किया गया था, अतएव दोनों सेनाओं में गगनभेदी कलकलशब्द हो रहा था, कहीं पर परस्पर बाहुओं में जोर की टक्कर लगने के कारण वेग से सबके सब समूह भूमि में गिर रहे थे, कहीं पर व्यूहरचना से आगे निकले हुए वीरों के विविध सुन्दर शब्द हो रहे थे, कहीं पर हाथों द्वारा उठाने से उत्पन्न हुए उल्लास से मत्त की नाईं मुद्गर नाच रहे थे, कहीं पर काले-काले शस्त्रास्त्रों की किरणों से मानों उत्पन्न हुए मेघों ने सूर्य को तिरोहित कर दिया था, कहीं पर वायु द्वारा कँपाये गये पल्यूलों के (एक प्रकार की घास के) सूत्कार के (वायु के संघर्ष से उत्पन्न सूत् इत्याकरक शब्द के) समान बाणों की ध्वनि हो रही थी, प्रलय करने में समर्थ अनेक पुष्करावर्त आदि मेघों से मानों दोनों सेनाएँ अग्रभाग में संघीभूत होकर स्थित थी, वे दोनों सेनाएँ प्रलय के वायु के विक्षुब्ध एकमात्र सागर के समान उदित हुई थी, तुरन्त कटे हुए, अतएव फड़फड़ाते हुए महामेरु के दो परों के समान थी, अत्यन्त शोभायुक्त वायु से कँपाये गये चचंल पर्वत के समान थी, पातालरूपी गर्त से निकले हुए क्षुब्ध अन्धकार की नाईं थी, पर्वत के समान थी, पातालरूपी गर्त से निकले हुए क्षुब्ध अन्धकार की नाईं थी, उन्मत्त नृत्य से चंचल और दैदीप्यमान तटवाले लोकालोक पर्वत की नाईं थी और पृथिवी को तोड़कर उदित हुए महानरकों के संघात की नाईं थी। मानों वे दोनों सेनाएँ चंचल बर्छे, मूसल, तलवार और कुल्हाड़ों के किरणों से काले से प्रतीत हो रहे सूर्यप्रकाशरूपी जल के प्रवाह से सम्पूर्ण भूवनकोष को एकमात्र अगाध सागर बनाने के लिए उद्यत थी ॥२१-२८॥

बतीसवाँ सर्ग समाप्त

तैंतीसवाँ सर्ग

संकल्पजनित विमान में स्थित सरस्वती और लीला द्वारा देखे गये दोनों सेनाओं के संग्राम का वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन् इस युद्ध का कुछ संक्षेप से मुझसे वर्णन कीजिए, क्योंकि इन उक्तियों से श्रोता के कानों को बड़ा आनन्द मिलता है ॥१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा :

रामचन्द्रजी, तदुपरान्त वे देवियाँ उस संग्राम को देखने के लिए वहीं पर रोके गये मन से कल्पित सुन्दर स्थिर विमान पर चढ़ी। इसी बीच में उन दोनों सेनाओं की परस्पर मुठभेड़ होने पर शत्रु की सेना से प्रलयकालीन सागर के कल्लोलकी नाईं निर्भय योद्धा निकला। कोई योद्धा पर उसके प्रहार करने की इच्छा करने पर लीला के पूर्वजन्म के पति राजा विदूरथ ने, उसके व्यवहार को सहन करने में असमर्थ होकर, पर्वत के शिखर पर पत्थर के समान उसकी छाती पर मुद्‌गर से प्रहार किया। तदुपरान्त दोनों सेनाओं में प्रलयकाल के सागर के वेग से अग्नि की (अग्नि सदृश शस्त्रास्त्रों) और बिजली की (बिजली की तरह शस्त्रों की कान्ति की) वृष्टि करता हुआ शस्त्रसंपात होने लगा ॥२–५॥ ऐसा घमासान युद्ध हुआ कि आकाश में तैर रहे अस्त्र–शस्त्रों की चंचल धार के अग्रभाग से आकाशमण्डल रेखांकित सा प्रतीत होता था, उसमें हो रहे कण–कण शब्द के बीच में धनुषों के टंकार का शब्द सुनाई देता था, वीरों के हुंकार से मिलने के कारण अधिकाधिक गम्भीर होता हुआ उसका शब्द ग्रीष्म ऋतु के अन्त के मेघ के गर्जनशब्द को अपने में छिपा देता था, धनुष से छूटी हुई बाणधारा के अग्रभाग में प्रतिबिम्बित सूर्य की किरण उसमें वितान का काम दे रही थी, बाण और तलवार के वारों से बज रहे कवचों से टंकार के साथ आग की चिनगारियाँ उड़ती थी, रण–स्थल के आकाश में परस्पर आघात से छिन्न–भिन्न हुए तलवार आदि शस्त्रों के टुकड़े पक्षियों की भाँति उड़ रहे थे, वीरों की भूजारूपी वृक्षों के इतस्ततः संचार से युद्ध भूमिका नभस्तल जैसी प्रतीत होती थी, मानों उसमें चलने फिरनेवाले बन घूम रहे हों। उसमें धनुषों की राशियों के टंकार से देवंगनाएँ मारे भय के भाग रही थीं, उसने बड़े भारी कोलाहल शब्द से मेघ के शब्द को भँवरे की गूँजार सा छोटा कर दिया था, जैसे परमात्मभावापन्न होने से निर्विकल्पसमाधि पुरुष बाह्य शब्द आदि का अनुभव नहीं करते है, वैसे ही वह रणसंग्राम भी बाह्य शब्द आदि का अनुभव नहीं करता था, (कहा भी है : योगी समाधि में जब तक बाह्यशब्द आदि का अनुभव करता है तब तक वह सविकल्प समाधि है उसके बाद यानी जब बाह्य शब्द आदि का अनुभव नहीं करता, वह निर्विकल्प समाधि है) ॥६–१०॥ उसमें अर्धचन्द्राकार नोकवाले बाणों की लगातार वृष्टि से शूरवीरों के सिर और हाथ काटे गये थे, परस्पर के कन्धों की टक्कर से बज रहे कवचों से वह युद्धस्थल डरावना था, शस्त्रों के भीषण संघट्ट से उत्पन्न कर्णकटु टंकार ध्वनि वीरों के हुँकार से मन्द पड़ गई थी – तिरस्कृत हो गई थी, खड्‌गधारा तरंगरूपी मेघों से उस युद्धभूमि के सभी दिंगमुख दन्तुर से (कुछ ऊँचे से) मालुम पड़ते थे, उस घमासान युद्ध में तलवार के प्रहार से शत्रु को क्रोध होने पर उसके सर को काटने के लिए प्रवृत्त हुए हाथ को सिर के न मिलने से झग्–झग् शब्द मुष्टि में पकड़ने के योग्य–सा होता था, वहाँ पर चिरकाल तक बाहुओं पर ताल ठोंकने वाले शूरवीर लोगों के ताल ठोंकने से चट–चट शब्द मानों गिर पड़ते थे, वहाँ पर शीघ्रता से म्यान से निकल रही तलवारों का लोहे की म्यान के संघर्ष से उत्पन्न हुए सीत्कार शब्द से युक्त जल रहे स्फुल्लिगों की सण् सण् ध्वनि होती थी, तेजी से लक्ष्यदेश की ओर जा रहे लक्ष्य देश में

जाकर फैलनेवाले शरोंकी उसमें खर–खर ध्वनि हो रही थी, वीरों के कटे हुए कण्ठों से धग् धग् शब्द के साथ प्राण और और खून निकल रहा था, कटे हुए बाहुओं, सिरों और तलवार के टुकुड़ों से आकाश पट गया था, कवच में टक्कर लगने से निर्गत दीप्त अग्नि की जटातुल्य ज्वालाएँ वीरों के केशों का स्पर्श कर रही थी, परस्पर टक्कर लगने से बज रही और कटकर गिर रहीं तलवारों का जो झण–झण शब्द हो रहा था, उसने शूरों के चित्त को प्रफुल्लित और शरीर को रणोत्साह से दुगना बना दिया था, बच्छी से छिन्न–भिन्न हाथियों की देह से उत्तरंगित रक्त प्रवाह बहता था, हाथियों के दाँतों के टूटने से हुए दीर्घतम चीत्कारशब्द से वह अत्यन्त भीषण प्रतीत होता था, मूसल के प्रहारसे चूर–चूर हुए लोगों की कष्टमय कातर हाहाकार ध्वनि हो रही थी, कटकर आकाश में तैर रहे शूरों के सिर रूपी पद्मों के समूह से आकाश बिलकुल आच्छन्न था, कटकर आकाश में फेंकी गयीं वीरभुजाएँ ही उसमें सर्पराज थे और चारों ओर आच्छन्न धूलिमय ही मेघ थे, जिनके अस्त्र–शस्त्र कट गये थे, ऐसे पुरुषों द्वारा अस्त्र–शस्त्र के काटने का बदला चुकाने के लिए केशाकेशि युद्ध हो रहे थे, परस्पर द्वारा परस्पर के नखों से आँखें, नाक, कान, ओठ और कन्धे नोचे जा रहे थे, जिन महामल्लों के अस्त्र कट चुके थे, वे क्रीड़ापूर्वक बाहुयुद्ध से विजय प्राप्त कर रहे थे, शस्त्रों की चोट से गिर रहे मदोन्मत्त हाथियोंसे कंपाये गये घायल होने के कारण दौड़ने में असमर्थ लोग पृथिवी में वेग से लोट रहे थे, शब्दायमान रथ के वेग से बने हुए मार्गों में क्षत–विक्षत योद्धाओं के शरीर से निकल रहे खून की नदी बह रही थी ॥११–२१॥ चतुरंगिणी सेना के संचलन से उड़ी हुई धूली से वहाँ पर चारों ओर कुहरा छा गया था, चमचमा रहे अस्त्र–शस्त्र चल रहे थे, एकत्रित प्रचुर कोपयुक्त सेनारूपी सागर का प्रतिक्षण गर्जन हो रहा था, उन्मत्त हास और विलासवाले काल से असंख्य योद्धा चबाए जा रहे थे, मदोन्मत्त पर्वत तुल्य विशालकाय गजराजों ने अपने गर्जन के सामने सागर के गर्जन को तुच्छ बना दिया था, वहाँ वृक्ष, गर्त और तटोंके सहारे शत्रुओं पर वार कर रहे लोगों को मारने के लिए छोड़े गये शक्ति, तलवार और मुद्गर वृक्ष, गर्त आदि में रुक जाते थे, योद्धारूपी पर्वत के मध्यभाग बाणरूपी मकड़ी के जालों से निरन्तर गूँथे हुए थे, मेघों के आक्रमणों से या मेघों में विश्रान्त बिजली आदि से पताकाओं के वस्त्र और चँवर छिन्नभिन्न हो गये थे, वहाँ पर क्षेपणीयन्त्रों से (एक प्रकार के गुलेलोंसे) फेंके गये पत्थरों और चक्रों से पक्षी आदि आकाशचारी बहुत दूर भाग गये थे, मरने के लिए छटपटा रहे क्षतविक्षत शरीर (बुरी तरह घायल) योद्धाओं के कराहने से वहाँ तेज घर घर शब्द हो रहा था, कुठारों के आघातों से योद्धाओं के मस्तक कट रहे थे, बहुत ऊँचे आकाश में उड़े हुए चमचमा रहे खड्गों के टुकड़ों से आकाश तारों से भरा प्रतीत होता था, पूरे बल से छोड़े गये शक्ति नामक आयुधों के संघात से काटे गये हाथियों से भूमि पट गई थी ॥२२–२७॥ वहाँ सेनादर्शन से व्याकुल हुई वेतालों की स्त्रियाँ मुद्गर छोड़ रही थी, आकाश में ऊँचे उठाये हुए शूरवीरों के तोमर (गँड़ासे) तोरणमाला से प्रतीत होते थे, भुशुण्डी से छिन्नभिन्न तलवरों के टुकड़ों का समूह आकाश का केशजाल सा मालूम होता था, वहाँ पर दैदीप्यमान भालों

की छबि भालों के समूहरूप वेणुवन में छोड़ी हुई वनाग्नि के सदृश आकाश में चमक रही थी ॥२८,२९॥ वहाँ पर अपने सैनिकों की तलवार और छूरियों की कुशल वृष्टि से सन्तुष्ट हुए राजाओं द्वारा उनका सम्मान किया जा रहा था, शूलों पर टँगे हुए अच्छे अच्छे शूरों को ग्रहण करने के लिए अप्सराएँ उद्यमशील थी, हिमवृष्टि से गल रहे कमलों के तुल्य गदाओं के गिरने से योद्धाओं के मुँह गिर रहे थे, भालों से जबरन् कुचल दिये गये योद्धाओं की दुःखप्रद चेष्टाओं से भीषण दृश्य हो रहा था, चक्रों और आरों के प्रहार से घोड़े, मनुष्य और हाथी छिन्न भिन्न किये गये थे, अनेक कुल्हाड़ो के वारों से मदोन्मत्त हाथियोंका समूह गिर रहा था। वहाँ पर बड़ी–बड़ी लट्ठियोंसे गौओं की भाँति हाँकने से कोई योद्धा छिप गये थे, कोई भाग रहे थे, तथा वृक्ष, भीत और ढालसे अपने को ओझल कर रहे थे, क्षेपणीयन्त्र से फेंके गये पत्थरों से रथों और वृक्षों में लगी हुई पताकाएँ चूरचूर हो गई थी, तलवार से जिनके दण्ड काटे गये थे ऐसे छत्रों और वीरोंके कर्णाभरण रूप कमलों से सारा रणस्थल सफेद था, अस्त्रों के क्षेपणजनित क्षोभ से सैन्यक्षोभ शान्त हो गया था, सैनिकों के क्षोभ की वहाँ कोई गिनती नहीं थी, कबन्धों के (सिर कटने पर भी चलनेवाले धड़ों के) आलिंगनों से जीवित रथ नायकों के गिरने से नियन्त्रण न होने के कारण बे राह चलनेवाले रथ आदि से आसपास चलनेवाले अनेक योद्धा पीसे जा रहे थे, अंकुशयुक्त महावतों के अंकुश के आघात से आहत होने पर भी युद्ध में प्रहार करनेवाले वीर हाथियों को भगा रहे थे, कुल्हाड़ों के वार से मदोन्मत्त असंख्य हाथी गिर रहे थे, पाशों के युद्ध में विशारद वीर चारों ओर अपने प्राणों की बाजी लगा रहे थे, छूरों से पेट को काटने के कारण हृदयकमल गिर रहे थे और योद्धा धराशायी हो रहे थे, त्रिशूलों के बल से उन्मत्त शूरवीर प्रबल योद्धा नाच कर रहे थे, दौड़ रहे धनुर्धारियों के सम्पूर्ण दल अस्फूट और मधुर गीत गा रहे थे, भिन्दिवाल के अयालों के आडम्बर और अहंकारपूर्ण वचनों से वहाँ पर नट नृसिंहवेष का अनुकरण कर रहे थे, मल्ल लोगों की वज्रमुष्टि से पीसे गये अन्य योद्धाओं का वहाँ पर तांता लगा था, सुन्दर पट्टिश आकाशमार्ग में बाज की नाईं उड़ रहे थे, शूर पुरुषों के रथों, हाथियों और घोड़ों की पताकाएँ अंकुशों से खींची जा रही थी, शत्रुओं के बीच में अचल रहने वाले शूरवीर योद्धा हलों द्वारा किये जा रहे युद्ध में मारे गये और काटे गए लोगों की अवहेलना करने में व्यग्र थे ॥३०–४०॥ बड़े–बड़े ताड़ के वृक्षों के समान ऊँचे पुरुषों से, जो कि हाथ में कुदाली लिए थे, वनभूमियाँ खोदी गई और सम की गई थी, जहाँ तक बाण फेंका जा सकता है, उससे केवल दूने प्रदेश में युद्ध संचार के सुभीते के लिए लोग हटा दिये गये थे, चट्टानों की पंक्तियाँ काट छाँटकर बराबर कर दी गई थी। आरों के दोनों बगलों से मत्त मातंग काट डाले गये थे, संग्रामरूपी ऊखलमूसल से योद्धारूपी धानों को कूटनेवाले मुसलयुद्ध प्रवृत था। वहाँ अस्त्रों की कान्ति की श्रृंखलारूप जाल में सेनारूपी पक्षी फाँसे गये थे, चंचल तलवार को हाथ में लिए हुए वीरों की तलवारों से वे वैवस्वत के यानी यमराज के घरों में पहुँचाये गये थे, अर्थात् यम ही व्याधों का राजा है, यदि ऐसा न होता तो सेनारूप पक्षी उसके आँगन में क्यों पहुँचाए जाते।

युद्धभूमि में गिरे हुए श्रेष्ठ योद्धाओं को गणशः ले जा रहे व्याघ्र आदि हिंसक जीवों के घोर गर्जन से रण–स्थल पूर्ण था, नख जिसमें प्रधान हैं, ऐसे अंगुष्ठों से निकाले जा रहे बाणों के वेग के रण रण शब्दों से, जैसे मिर्च से चटनी में जायका आ जाता है वैसे ही, अन्य सम्पूर्ण शब्द रंजित हो रहे थे, सैनिकों द्वारा घड़े में भरकर फेंकी गई अग्नि से तनिक जले हुए प्रतिपक्ष के योद्धा शस्त्र–अस्त्र तानकर खड़े हो रहे थे और प्रति–पक्ष के सैनिकों द्वारा फेंकी गई उक्त अग्नि से अधिक जल जाने के कारण योद्धा अशक्ति से शस्त्र त्याग कर रहे थे, प्रतिपक्ष सैनिकों द्वारा घड़े में रखकर छोड़े गये तपे हुए अंगारों से योद्धाओं की आँखें जाती है उक्त सैनिकों द्वारा छोड़े गये घड़े में स्थित विषमिश्रित जल से योद्धा गिर रहे थे। लोहे के बाणों की वृष्टि रूप सुन्दर जल को वर्षाने वाले वीरसंघरूपी मतवाले मेघों के विलास से कबन्धरूपी मयूर जिसमें नाच करते थे और वेग से घूम रहे मत्त मातंगरूपी पर्वतों से परिवेष्टित वह संग्राम–संघर्ष प्रलयकाल के सदृश हुआ ॥४१–४७॥

तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

चौंतीसवाँ सर्ग

संग्राम दर्शकों के मुँह से प्रकारान्तर से पुनः युद्ध के ही चमत्कार का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, वहाँ युद्ध लिप्त राजाओं, युद्धेच्छु योद्धाओं, मन्त्रियों और आकाशमार्ग से संग्राम को देखने वाले देव, गन्धर्व आदि के मुँह से ये वचन प्रादुर्भूत हुए ॥१॥ जिसमें हंस, सारस आदि पक्षी उड़ रहे हैं और कमल हिल रहे हैं ऐसे तालाब के समान शूरवीर पुरुषों के मस्तकों से व्याप्त आकाश तारांकित सा (सितारों से व्याप्त सा) मालूम पड़ता है ॥२॥ देखिये, रुधिरबिन्दुओं की राशिरूपी सिन्दूर से लाल हुए वायु के कारण ये मेघ और सूर्य किरण मध्याह्न में सायंकाल के से (लाल से) प्रतीत होते हैं ॥३॥

कोई दर्शक दूर से बाणसमुदाय पराल की भ्रांति होने से पूछता है।

भगवन्, यह आकाश परालराशि से परिपूर्ण हुआ है क्या ? नहीं, भगवन यह पराल नहीं है, ये वीर पुष्षों के बाणराशिरूप मेघ हैं ॥४॥ रुधिर से पृथिवी में जितने रणरेणू (रणभूमि के धूलिकण) सींचे जाते हैं, उतने हजार वर्षो तक योद्धाओं का स्वर्ग में आवास होता है। भाई, मत डरो, नील कमल की पंखुड़ी के तुल्य कान्तिवाली ये तलवारें नहीं हैं, ये वीरों के निरीक्षण करनेवाली जयलक्ष्मी के नेत्रविभ्रम हैं ॥५,६॥ वीर पुरुषों का आलिंगन करने के लिए सस्पृह सुरांगनाओं के जघनस्थल में स्थित मेखलाओं को शिथिल करने के लिए कामदेव तत्पर हो गया है ॥७॥ सुन्दर भुजलताओं से मनोहर, लाल पल्लवों के सदृश कोमल हाथों से युक्त, पारिजात आदि, पुष्पमंजरियों के दर्शन से जिनके नेत्र आह्लादित हैं, आसव की अत्यन्त सुगन्धि से सुगन्धित, मधुर सुर से गा रही नन्दनवन की देवियाँ तुम्हारे आगमन की आशंका से नाचने के लिए तत्पर हो गई हैं ॥८,९॥ जैसे ग्रामीण सुन्दरी अपने कटाक्ष निरीक्षणों से अपने पति के अन्तःकरण को अधीर कर देती है, वैसे ही यह सेना कठिन कुल्हाड़ों से

प्रतिपक्षी सेना को काट रही है। खेद है, मेरे पिताजी का दैदीप्यमान कुण्डल से युक्त सिर भाले से काल के अष्टग्रह की नाईं सूर्य के निकट भेज दिया गया है ॥१०,११॥ पैरों तक लटकी हुई जंजीर में गूँथे हुए दो बड़े बड़े पत्थरों से युक्त चित्र दण्डनामक चक्र को वेग से घुमा रहा ऊपर को बाहू फैलाया हुआ यह योद्धा यम की नाईं प्रतीत होता है, दक्षिण दिशा से चारों ओर सेना का संहार करता हुआ इधर आता है, अतः चलो, जहाँ से हम आये थे वहीं चलें (यह डरपोक की डरपोक के प्रति उक्ति है) ॥१२,१३॥ देखिये, तुरन्त कटे हुए कण्ठच्छिद्रों में डुबकी लगा रहे सफेद चीलों से व्याप्त, युद्ध के बाजे के ताल से उछल रहे कबन्ध रणभूमि में नाच रहे हैं ॥१४॥ देवगणों की गोष्ठियों में परस्पर यह चर्चा चली थी कि कौन धीर पुरुष, कब, कैसे और किसलिए स्वर्ग आदि लोकों में जायेंगे ॥१५॥ अहो, यह विक्रान्त योद्धा, जैसे सागर मत्स्य और मगर के समूहों से युक्त नदियों को निगल जाता है वैसे ही मत्स्याकार और मकराकार व्यूहवाली सन्मुख आई हुई सेनाओं को निगलता है ॥१६॥ हाथियों के गण्डस्थलोंमें बिखरे हुए धाराकार बाणों की पंक्तियाँ पर्वतों के शिखरों पर गिरी हुई सम्पूर्ण वृष्टियों के समान शोभित होती हैं ॥१७॥ हा, भाले ने मेरा सिर काटा, ऐसा कहने की इच्छा कर रहे मेरे कट कर उड़े हुए सिर ने स्वर्गारोहण के उत्सव को देखने से मैं जी गया न कि मरा, यों हर्षपूर्वक जो आकाश में वचन कहा, उसे पक्षी के विरूत की नाईं लोगों ने सुना। जो यह सेना क्षेपणीयन्त्रसे निकले हुए पत्थरों की वृष्टि से हमें सींचती है, उसे जंजीरों के जाल से जबरदस्ती बाँध दो, ऐसा एक योद्धा दूसरे योद्धा से कहता था ॥१८,१९॥ पहले की पत्नी अप्सरा बन कर रणभूमिमें मारे गये पति को वलीपलित से निर्मुक्त यानी देवभूत जानकर ग्रहण कर रही है, यह देवताओं की उक्ति है ॥२०॥ भालों के समूहों की प्रभाएँ मानों वीरों के स्वर्ग में चढ़ने के लिए बनाई गई स्वर्ग पर्यन्त फैली हुई सीढ़ियाँ हैं ॥२१॥ जो योद्धा की पत्नी स्वतः सुन्दर और स्वर्णाभरणों से सुन्दर पति के वक्षःस्थल में मरी हुई देखी गई थी, वह यह अप्सरा होकर भर्ता की खोज में तत्पर दिखाई देती है। जैसे महाप्रलय के कल्लोलों से सुमेरु पर्वत आहत होता है, वैसे ही उद्धत मुष्टिवाले योद्धाओं से हमारी सेना मारी जाती है, बड़ा खेद है, यह कातर पुरुष की उक्ति है। हे मूढ़ों, आगे बढ़कर लड़ो अपने घायल सैनिकों को ले जाओ, अधमों, इन बेचारों को पैरों के प्रहार से मत कुचल डालो केशपाश की रचना में व्यग्र अत्यन्त उत्कण्ठित अप्सराओं के समुदाय में दिव्य शरीर से समीप में प्राप्त हुए इस योद्धा को देखिये। जिनमें सुवर्णसदृश कमल विकसित हुए हैं, ऐसे मन्दाकिनी के तटों में छाया, जल और वायु से दूर से आये हुए इस रणयोद्धाओं को विश्राम कराओ ॥२२–२६॥ विविध आयुधों की चोट लगने से टुटी हुईं असंख्य बड़ी–बड़ी हड्डियाँ, जो कि कणत्कार से (कण–कण शब्द से) शब्दायमान हैं, आकाशमें व्याप्त तारिका सी प्रतीत होती हैं। जीवरूपी नदी प्रवाह वाले, बाणरूपी जलवाले तथा चक्ररूपी आवर्तवाले आकाशरूपी सागर में बड़े बड़े पर्वत भी अणुरूपताको प्राप्त हो रहे हैं ॥२७,२८॥ ग्रहों के मार्ग में घूमनेवाले राजाओं के सिरोंने आकाशको जिसमें बह रहे

वायु से कमल चंचल हैं, ऐसा कमलों का तालाब बना दिया है। देखिए न, अस्त्र-शस्त्रों की किरणें ही उक्त सिररूपी कमलों की लताओं के नालदण्ड है, उनसे लगी हुई तलवारें उनके पत्ते हैं, त्रिशूल, भाले आदि उनके काँटे हैं, पताकाओं के वस्त्र उनके मृणालों के अंगभूत बड़े पत्ते हैं और बाणरूपी भँवरे उनमें लगे हैं ॥२९,३०॥ जैसे पर्वतों में पिपीलिकाएँ लीन हो जाती हैं तथा जैसे पुरुषों के वक्षस्थलों में स्त्रियाँ लीन हो जाती हैं, वैसे ही मरे हुए हाथियों के ढेर में डरपोक लोग लीन होते हैं ॥३१॥ विद्याधरों की अंगनाओं के अलकों को अनुकूलरूप से हिलानेवाले अतएव अभूतपूर्व उत्तम सौन्दर्य से सम्पन्न कान्त के मिलन के सूचक मन्द मन्द वायु बहते हैं। भाव यह कि वायु घर से आ रही विद्याधरों की अंगनाओं के अलकों को उल्लासित करने के कारण अनुकूल होने से शकुनरूप हैं। अतएव मनोरथसिद्धि के सूचक हैं ॥३२॥ उड़ रहे आकाश में स्थित छत्रों ने मानों चन्द्रमा का सम्पादन किया, यशरूप मूर्ति से चन्द्रमा ने भूमि में शुभ्र छातों का सम्पादन किया ॥३३॥ जैसे सोया हुआ पुरुष एक निमेष में स्वप्ननगर को प्राप्त होता है, वैसे ही योद्धा भी मरणकाली न मूर्छा के बाद एक निमेष में अपने कर्मरूपी शिल्पी द्वारा निर्मित दिव्य शरीर को प्राप्त हुआ ॥३४॥ आकाशरूपी सागर में त्रिशूल, शक्ति, तलवार और चक्रों की व्यग्र वृष्टियाँ मछलियों और मगरों से व्याप्त-सी स्थित हुई ॥३५॥ बाणों से काने गये सफेद छत्ररूपी कलहंसों से आकाशस्थल संचित लाखों पूर्णेन्दु-बिम्बों से आवृत सा प्रतीत होता है। आकाश में उड़े हुए सुन्दर घर-घर शब्द करने वाले चँवरो से आकाश वायु के वेग से जिनकी स्थिरता क्षुब्ध हो गई हो, ऐसे तरंगों के समूह की कान्तिवाला बनाया जा रहा है। अस्त्र-शस्त्रों से काटे गये तथा आकाशरूपी खेत में फेंके गये छाते, चँवर और पताका-वृन्द यशरूपी धानों के पेड़ों की नाईं दिखाई देते हैं॥३६-३८॥ हे कुशलिन्, जैसे फलने के लिए तैयार धानों की शोभा को आकाशमें उड़ रहे टिड्डियों का दल नष्ट कर देता है, वैसे ही समीप में आ रही शक्तियों की वर्षा आकाश में उड़ रहे बाणों से नष्ट की गई है, देखो ॥३९॥ कठिन कवच से उत्पन्न हुई यह भूजदण्डों को फैलाये हुए योद्धा के तलवार की वार की ध्वनि ही मानों मृत्यु की हुंकार है ॥४०॥ इस जनक्षय के अवसर में तलवार आदि अस्त्र-शस्त्र रूपी प्रलयकाल के वायु से परास्त, दाँतरूपी झरने के जल से युक्त (झरनों की नाईं दाँत बाहर निकले रहते हैं और सफेद होते हैं अतः झरनों के साथ दाँतों की तुलना की गई है) घायल हाथी ही पर्वतों की तरह प्रतीत होते हैं ॥४१॥ हा, खेद है, रुधिर के महान् तालाब में चक्र, रथारोही वीर, सारथि और घोड़ों से युक्त तथा शस्त्रास्त्र से परिपूर्ण रथरूपी नगर रुद्धगति होकर छटपटा रहा है। नाच रही कालरात्रि, वीरों की भुजाओं, हाथियों की सूँड़ों और कवचरूपी वीणा के तारों में तलवार के आघात से उत्पन्न वादनशब्दों से मानों वीणा बजाती है ॥४२,४३॥ मनुष्य, हाथी, घोड़े और गदहों से जो खून के झरने निकले उनके बिन्दुओं से सराबोर वायु से लाल हुई दिशाओं को देखो ॥४४॥ जैसे मेघ में बिजली का प्रादुर्भाव होता है, वैसे ही कालीजी की केशराशि के समान काले अस्त्र-शस्त्रों की किरणरूपी मेघ से युक्त आकाश में बाणरूपी कलियों के

समुदाय की माला प्रादुर्भूत हुई है ॥४५॥ असंख्य, रुधिर से लथपथ, टूटे–फूटे भूखण्डों और अस्त्र–शस्त्रों से व्याप्त भुवन अग्निलोक की नाईं चारों ओर से उठी हुई ज्वालाओं से युक्त सा प्रतीत होता है। उस युद्ध स्थल में परस्पर एक दूसरे को काटने और छेदन के लिए उद्यत हस्तसमूहों से भुशुण्डी (एक प्रकार का अस्त्र) शक्ति, त्रिशूल, तलवार, मूसल और भालों की वृष्टियाँ गिरती थी ॥४६,४७॥ हटने में असमर्थ अनेक योद्धाओं में एक शूरवीर द्वारा अतिशय हस्तलाघव से प्रहार करने के कारण जिसमें राक्षसों की माया के तुल्य शूरों की चेष्टाएँ हैं, क्रोध से निरीक्षण करनेवाली योद्धाओं की बुद्धि है, ऐसे रण को स्वप्न के समान सामने देखता हूँ। स्वप्न पक्ष विनाश के अनुकूल छेदन, भेदन, संचलन आदि से रहित स्वाप्निक पदार्थों में एकमात्र जागरण से प्रहार किया जाता है यानी बाधा पहुँचाई जाती है, इसलिए वह राक्षसों की माया के तुल्य मिथ्या है और उसमें आत्मप्रज्ञा आवेश से दर्शन करती है। घायल योद्धाओं के क्षोभ से प्रसन्न हुआ रणभैरव अन्यान्य शब्दों के संमिश्रण से रहित निरन्तर अन्योन्य के प्रहार से उत्पन्न झंकारों से मानों गायन करता है ॥४८,४९॥ कटे हुए छाते ही जिसमें तरंग से प्रतीत हो रहे हैं, ऐसा परस्परयुद्ध में प्रयुक्त अस्त्र–शस्त्रों के प्रचुर चूर्ण से परिपूर्ण रणभूमिरूप सागर बालूकामय ही हो गया है ॥५०॥ जिसने मधुर फैलनेवाले और तुरही आदि बाजों की प्रतिध्वनियों से वेग के साथ लोकपालों के लोक को भर दिया है, ऐसा रणरूपी यह पर्वत प्रलयकाल में युद्ध में कठोर हुए दो सेनारूपी परों के प्रबल परस्पर प्रतिकूल संचलन से आकाश में उड़ने के लिए तैयार हुआ–सा प्रतीत होता है ॥५१॥ बड़े खेद की बात है, अत्यन्त कठिन कवचों को बिना तोड़े ही कवचों में उनके टकराने से आकाश में उड़ी हुई बिजली के सदृश अग्नि की ज्वालाओं से तपे हुए बाण जो कि क्रेंकार ध्वनि के साथ विस्तारित प्रत्यंचा से छोड़े गये हैं, अतएव शब्द कर रहे हैं, समीपवर्ती पर्वत की शिलाओं को छेदकर धारण करते हैं। कठिन कवचों पर निष्फल हुए अपने प्रबल बाणों के लिए शोक कर रहे वीरों की यह उक्ति है ॥५२॥ हे मित्र, युद्ध से हुई थकावट से आपकी युद्धेच्छा शान्त हो गई है, अतः आपसे मैं निर्दोष हित की बात करता हूँ उसे सुनिए। जब तक जल रही अग्नि से उज्ज्वल बाण हम लोगों के अंगो को भंग नहीं करते, तब तक चलो, शीघ्र दौड़कर इधर से चले जायें, क्योंकि यह चौथा प्रहर यम का ही दिन है ॥५३॥

चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त

पैंतीसवाँ सर्ग

समुद्र, वन, प्रलय आदि विविधरूपकों से चतुरंगिणी सेना के संग्राम का विस्तार से वर्णन।

पहले समुद्र के रूपक से संग्राम का वर्णन करने के लिए वसिष्ठजी कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, मानों उड़ने के लिए तैयार घोड़े ही जिसमें तरंग का रूप धारण किये हुए थे, ऐसा वह संग्रामरूपी सागर उद्धत ताण्डव नृत्य करनेवाले उन्मत्त के तुल्य हुआ ॥१॥ उक्त रणसागर में इधर–उधर बिखरे हुए छातेरूपी समुद्रफेन

में अटके हुए सफेद बाणरूपी छोटी-छोटी मछलियों के समूह थे, घुड़सवार सैनिक रूपी उछल रही चंचल कल्लोलोंसे (बड़ी लहरों से) उसके कोटरों में हलचल मची थी, भाँति-भाँति के अस्त्रशस्त्ररूपी नदियों में बने हुए सैनिकरूपी आवर्त (जलभौंरी) उसमें भ्रमण कर रहे थे, उसमें मदोन्मत्त हाथियों के दलरूपी आमूल चंचल मन्दराचल थे, चमचमा रहे सैकड़ों चक्ररूपी आवर्तों के भ्रमण से उनसे (चक्रों से) काटे गये सिररूपी तिनके उसमें घूम रहे थे, धूलिरूपी बादलोंने उक्त रणसमुद्रमें चल रही तलवारों की प्रभारूपी जल को पी डाला था (卐) ॥२-४॥ मकराकार व्यूहों के (एक प्रकार के सेना संनिवेशों के) विस्तार से योद्धासमुदायरूपी नौकाएँ भग्न और अभग्न थी, जैसे जल-सागर में बड़े विशाल मगरों के कारण कुछ नौकाएँ नष्ट और कुछ अनष्ट रहती हैं, वैसे ही उक्त रणसागर में मकराकार सेना व्यूह के विस्तार से कुछ योद्धा भग्न थे और कुछ अभग्न थे। बड़ी भारी गड़गड़ाहट करनेवाले रथादिरूपी आवर्त के शब्द से उक्त रणसागर में बड़ी बड़ी पर्वतों की कन्दराएँ प्रतिध्वनित हो रही थी ॥५॥ जैसे सागर में मछलियों के समूहों से उत्पन्न हुए सर के (काश के) बीजों के ढेर की नाईं सरसों के आकार के सफेद अण्डे बिखरे रहते हैं, वैसे ही उक्त संग्रामभूमि में मरे हुए लोगों के समूह से उन्हें छिन्न-भिन्न कर निकले हुए बाणरूपी सरसों की छिमियाँ बिखरी थी, अस्त्र-शस्त्ररूपी प्रधान लहरों ने पताकारूपी छोटी लहरों के मण्डल को छिन्न-भिन्न कर दिया था, तलवार आदि शस्त्र रूपी जलसे निर्मित मेघ के समान अस्थिर आवर्त उक्त रणसागर के कुण्डल थे, मारे क्रोध के शीघ्र चलनेवाली सेना ही उसमें तिमि और तिमिंगिल (🔥) (महामत्स्य जाति) थे, वह रणसागर लोहमय कवचों को धारण की हुई इधर-उधर चलती हुई सेनारूपी जल से भीषण था, कवचरूपी जल के आवर्त की पंक्ति के मध्य में सैनिकों के भूषण प्रतिबिम्बित थे ॥६-८॥ बाणरूपी जलकणों के कुहरे से दसों दिशाएँ अन्धकार पूर्ण थी, उस रणसागरने अपने निर्घोष से सम्पूर्ण शब्दों को असंवेद्य कर दिया था, अतएव उसमें एकमात्र निबिड घुंघुम शब्द होता था। गिरने और उछलने से व्यग्र सिरों के खण्ड ही उसमें जलकण थे, आवर्तरूपी चक्रों के समूहों में योद्धारूपी काष्ठ घूम रहे थे ॥९,१०॥ क्लेशकारक टंकारवाले धनुषरूपी सर्पों के छेदन में योद्धा तत्पर थे, निशंक होकर पाताल से मानों निकल रहे सैनिकरूपी लहरों से युक्त था ॥११॥ गमन और आगमन में तत्पर अनन्त पताका और छत्र ही उसमें फेन थे, बह रही रुधिर की नदी के वेग में रथरूपी वृक्ष बहाये जा रहे थे ॥१२॥ रुधिर के बड़े-बड़े बुद्बुद्

卐 जैसे सागर के जल को मेघ पी डालते है, वैसे ही वहाँ पर धूलिपटल ने घूम रही तलवारों की प्रभा को पी डाला था, यानी छिपा दिया था। यहाँ पर आच्छादन की नीलरूप से कल्पना की गई है।

🔥 अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शतयोजनविस्तृतः। भरतधृतवाक्य। अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम तथा चास्ति तिमिंगलः। तिमिंगिनिलोऽप्यस्ति तद्गिलोऽप्यस्ति राधवः॥ रामायणवाक्य।

(यानी तिमि नाम की मछली सौ योजन की है, उसको निगलनेवाली मछली का नाम तिमिंगिल है और तिमिंगिल को निगलनेवाली मछली भी है, जो राधव कहलाती है।)

हाथी के सदृश हो गये थे, सेनारूपी प्रवाह में हाथी–घोड़े–रूपी जल–जन्तु वहाँ इधर–उधर चल रहे थे ॥१३॥ वह रणसागर संग्रामयुक्त अम्बरग्राम के (गन्धर्वनगर के) सदृश मनुष्यों के लिए बड़ा आश्चर्यकारी हुआ। वह संग्राम क्या थे, एक प्रकार का प्रलय ही था, प्रलयकाल के भूकम्प से कँपाये गये पर्वतों के सदृश चंचल था, उसमें पक्षी तैरती तरंगों के समान थे, गजघटारूपी तट गिर रहे थे। भयभीत हरिण रूपी सेना का घुघुर शब्द प्रलयकालीन वज्रनिर्घोष के तुल्य था, इधर से उधर सरसराते बाणों की पंक्ति से सैकड़ों शलभों के (पतंगों के) समान सैनिक गिर रहे थे, दौड़ते हुए घोड़े ही जिसमें मृग थे, बाणों के संघात ही अथवा बाणधारी योद्धा ही उसमें वनपूर्ण भूमि थी, उसमें चल रहे सैनिकरूपी भ्रमरों का गुंजार हो रहा था, बज रहीं तुरहीरूप गुहाओं से उसका विस्तार कहीं अधिक बढ़ा चढ़ा था, सेनायुक्त गज आदि ही उसमें मेघ थे, लुढ़क रहे योद्धा ही उसमें सिंह थे, चतुरंगिणी सेना के संचार से उड़ी हुई धूलि मेघरूप में परिणत हो गई थी, सैनिकरूपी पर्वत उसमें गल रहे थे, महारथों के अवयव चूरचूर होकर गिर रहे थे, तलवारें अपना प्रताप दिखा रही थी, पदचिह्नरूपी फूलों की राशियाँ उड़ रही थी, पताकाओं और छातों ने मेघों का रूप धारण कर रक्खा था, हाथी बह रही रुधिर की नदी के प्रवाह में गिरने के कारण चिंघाड़ रहे थे, इस प्रकार का वह समररूपी प्रलय जगत को निगलने में बड़ी तत्परता से प्रवृत हुआ। उसमें ध्वजाओं, छत्रों और पताकाओं से युक्त रथरूपी नगर इधर–उधर अस्त–व्यस्त हो रहे थे, वीरों के ऊपर गिर रहे अस्त्र–शस्त्रों के समूहरूपी अनेक दैदीप्यमान सूर्य तप रहे थे, घोर प्राणपीड़ा से सब लोगों के मन सन्तप्त हो रहे थे, वीरों के धनुषरूपी पुष्करावर्तों (प्रलयकाल के मेघों) से निकली हुई बाणवृष्टिरूपी मूसलाधार वृष्टि से वह चारों ओर व्याप्त था, चमचमा रहीं तलवारों की सान में तीखी की गई धाररूपी बिजली से सारा आकाश परिवेष्टित था, उसमें कटे लोगों के शरीरों से निकले हुए रुधिर के समुद्र में हाथी रूपी पर्वत डूब गये थे। आकाश में फैले हुए नीचे गिर रहे अन्य रुधिरबिन्दुओं से मिलकर स्थूल हुए (रुधिरबिन्दु) ही उसमें तारे थे, अनेक चक्रों की परम्परारूपी छोटी नदियों से, जो कि मेघप्रदेश में घूमने पर प्रचुर भौंरीवाली प्रतीत होती थी, आकाशमण्डल और मेघ भरे थे, वहाँ अस्त्रशस्त्ररूप प्रलयाग्नि से जले हुए सैनिक परलोकगमन कर रहे थे, शस्त्रास्त्रों की वृष्टिरूपी वज्र से भूतलरूपी निर्मल पर्वत आच्छन्न थे, उसमें गजराजरूपी पर्वतों की राशियों के गिरने से जनसमूह चूर–चूर हो गया था ॥१४–२५॥ सैनिकरूपी मेघों ने निबिड बाणवृष्टिरूपी वर्षा से महीतल और आकाशमण्डल को आच्छन्न कर दिया था, क्रमशः महासेनारूपी सागर के संक्षोभ से (क्रोध से) उत्पन्न संघट्ट से चारों ओर पलायन होने लगा ॥२६॥ जैसे उग्र झंझावात से उड़ाये गये जल के साँपों से समूद्र के गर्भ में स्थित पर्वत व्याप्त होता है, वैसे ही परस्पर एक दूसरे को काटने में व्यग्र, मानों शस्त्र बरसानेवाले प्रलयोत्पात में उत्पन्न हुए शस्त्रों से रणभूमि व्याप्त थी ॥२७॥ परस्पर एक दूसरे को काटने से शब्द कर रहे और झुण्ड के साथ दसों दिशाओं में घूम रहे दैदीप्यमान त्रिशूल, तलवार,

चक्र, बाण, शक्ति, गदा, तोप, भाले आदि ने प्रलयकाल के तीक्ष्ण वायु से कँपाये जा रहे (झकझोरों के साथ हिलाये जा रहे) पत्थर, वृक्ष, शस्त्र आदि पदार्थों के विलास को धारण किया ॥२८॥

पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

छत्तीसवाँ सर्ग

समान अस्त्र-शस्त्रों से द्वन्द्वयुद्ध और पूर्व आदि देशों के साथ उन देशों के अधिपतिरूप सहायकों का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, मेघपंक्तियाँ जिनमें विश्राम ले रही थी ऐसे हाथियों के शवरूपी पर्वतों में अति उन्नत होने के कारण स्थित बाणराशियों के शिखरसदृश होने पर, घायल हुए सम्पूर्ण डरपोक योद्धाओं के दसों दिशाओं की ओर भागने पर, यक्ष, राक्षस और पिशाचों के रुधिर के समुद्रों में जलक्रीड़ा करने पर, गर्ज रहे मेघों की नाईं सच्चरित्रता, तेजस्विता और बल से परिपूर्ण, धर्मनिष्ठ, शुद्ध, अपने कुल के कमलरूप यानी अपने यश आदि से कुल की प्रतिष्ठा बढ़ानेवाले और युद्ध में पीठ न दिखानेवाले महावीरों के द्वन्द्व युद्ध हुए। वे द्वन्द्व युद्धों के कर्ता वीरगण नदियों के प्रवाहों के समान परस्पर मिलते थे ॥१-४॥ जैसे पंजर पंजर के साथ मिलता है, हाथियों का झुण्ड हाथियों के झुण्ड के साथ बड़े वेग से मिलता है, जैसे वन से युक्त पर्वत वन युक्त अन्य पर्वत के साथ मिलता है, वैसे ही दोनों पक्षों के वीर परस्पर बड़े वेग से मिले ॥५॥ जैसे सागर में तरंगों के समूह से तरंगों का समूह शब्दपूर्वक मिलता है वैसे ही उस युद्ध में घोड़ों के समूह से घोड़ों का समूह शब्दपूर्ण वेग से मिला ॥६॥ जैसे वायु से चंचल बाँसों का समूह वायु से हिलनेवाले बाँसों के समूह के साथ लड़ता है वैसे ही नरसेना ने अपने समान आयुधवाली नरसेना से लड़ाई की ॥७॥ जैसे उड़ा हुआ असुरनगर देवनगर से अपने अंग-प्रत्यंगों को चूरचूर करे, वैसे ही रथों के समूह ने रथों के समूह से अपने अंग-प्रत्यंगों को खूब चूरचूर किया ॥८॥ जिसने बाणों से आकाश पाट दिया है ऐसे धनुर्धरों की सेना से सरसराते हुए असंख्य बाणों की मूसलाधार वृष्टिसे अद्भुत मेघों का निर्माण करते हुए युद्ध किया ॥९॥ जब उन विषमायुधवाले युद्धों में युद्धरूपी प्रलयाग्नि भड़की तब भयभीत चित्तवाले योद्धा लोग किसी न किसी बहाने से भागने लगे ॥१०॥ परस्पर युद्ध के लिए संगत हुए चक्रधारी लोगों ने चक्रधारी लोंगों से, धनुर्धारियों ने धनुर्धारियों से, तलवार से लड़नेवाले लोगोंने तलवारधारियों से, भुशुण्डी धारण करनेवाले लोगों ने भुशुण्डी-धारियों से, मुसलों से युद्ध करने में विशारद योद्धाओं ने मुसलधारियों से, भाले धारण करनेवालों ने भाला धारण किये हुए योद्धाओं से, ऋष्टि नामक हथियार से लड़नेवालों ने ऋष्टिधारियों से, बल्लोंसे लड़नेवालों ने बल्लधारियों से, मुद्गरधारियों ने मुद्गरधारियों से, गदाधारण किये हुए योद्धाओं ने गदाधारियों से, शक्ति से युद्ध करनेवालों ने शक्तिधारियों से, शूल चलाने में दक्ष योद्धाओं ने शूलधारियों से, प्रासों को (भालों को) चलाने में निपुण योद्धाओं ने प्रासधारियों

से, कुल्हाड़ों के वार में प्रसिद्धि प्राप्त योद्धाओं ने कुल्हाड़ाधारी योद्धाओं से, दण्डधारियों ने बाँसों के बड़े–बड़े डण्डों को हाथों में उठाये हुए योद्धाओं से, पत्थरों से लड़नेवाले योद्धाओं ने पत्थरों से लड़नेवाले योद्धाओं से, पाश (जाल) धारी योद्धाओंने पाशधारियों से, कील धारण करनेवाले योद्धाओं ने कील धारियों से, छूरे धारण करनेवाले योद्धाओं ने छूरी धारण करनेवाले योद्धाओं से, भिन्दिपाल धारण करनेवाले योद्धाओं ने भिन्दिपालधारियों से, वज्ररूप मुष्टि को धारण करनेवाले योद्धाओं ने वज्ररूपी मुष्टि को धारण करनेवाले योद्धाओं से, अंकुशों से उद्यत यानी अंकुशयुद्ध में विशारद योद्धाओं ने अंकुशधारी योद्धाओं से, हल से युद्ध करने में अभिज्ञ योद्धाओं ने हलधारियों से, त्रिशूलधारियों ने त्रिशूलधारियों से, कवच की नाईं लोहे की जंजीरों के जालीदार कोट शृंखलाजाल कहलाता है, उसको पहने हुए घुड़सवार योद्धाओं ने जालदार कवच पहने हुए घुड़सवारों से ऐसे युद्ध किया जैसे कि प्रलयकाल में विक्षुब्ध महासागर की आकाश–पाताल एक करनेवाली बड़ी–बड़ी लहरों की घटाएँ आपस में टकराती हैं ॥११–१७॥ वह युद्धाकाशरूपी एकमात्रसागर अति सुशोभित हुआ । उसमें वार करने के लिए व्याकुल चक्रों की राशियाँ ही आवर्त थे, वायु बाणरूपी जलकणों से युक्त थे, आयुधरूपी मगर इधर–उधर घूम रहे थे ॥१८॥ पृथिवी और अन्तरिक्ष का मध्यभाग रूपी वह सागर अमर (जीवित) लोगों से दुस्तर हुआ, उसमें चमचमा रहे हथियाररूपी तरंगों की शाखा–प्रशाखाओं से जलचररूपी योद्धा व्याकुल थे ॥१९॥ आयुध विद्या, बुद्धि, बल, शूरता, अस्त्रशस्त्र, घोड़े, रथ और धनुष ये आठ जिनके अप्रतिहत हैं, ऐसे योद्धाओं की सेना पूर्व में प्रतिपादित द्वन्द्वशः मिले हुए दो पक्ष होने से दोनों की सेनाओं में आधे–आधे भाग में कुपित होकर स्थित रही, क्योंकि दोनों राजा विदूरथ और सिन्धुराज उनके अनुकूल ही स्थित रहे । अथवा यह मानना चाहिए यक्ष, राक्षस पिशाच और असुर एक ओर, देवता, गन्धर्व, किन्नर और विद्याधर एक ओर यों आठ दिव्य पुरुषों का समूह भावी जय और पराजय के अनुसार दो पक्षों में बँटकर सम्पूर्ण सेना के आधे आधे भाग से कुपित होकर स्थित हुआ, क्योंकि वे दो राजे भी तदनुरूप अदृष्ट से युक्त थे ॥२०॥

अब विदूरथ और सिन्धुराज के सहायक लोगों का पूर्व आदि दिशाओं के भेद से क्रमशः वर्णन करने की श्रीवसिष्ठजी प्रतिज्ञा करते हैं ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, मध्यदेश आदि की गणना में पूर्व दिशा से लीला के स्वामी महाराज पद्म की सहायता के लिए आये हुए नीचे कहे जानेवाले देशों के अधिपतियों को मैं आपसे कहता हूँ, आप सुनिये ॥२१॥ पूर्व दिशा के कोशल, काशी, मगध, मिथिला, उत्कल, मेखल, कर्कर, मुद्र, संग्रामशौण्डक, मुख्य, हिम, रुद्रमुख्य, ताम्रलिप्त, प्राग्ज्योतिष, अश्वमुख, अम्बष्ठ, पुरुषादक, वर्णकोष्ठ, सविश्वोत्र, कच्ची मछली खानेवाले, व्याघ्र सदृश मुखवाले, किरात सौवीर और एकपादक इन चौबीस देशों के सहायक आए थे । माल्यवान् नामक पर्वत, शिवि, आंजन, वृषल, ध्वज, पद्म तथा उदय पर्वत इस सात पर्वतों के सहायक आये । पूर्व–दक्षिण दिशा से लीला के पति पद्म के विन्ध्य पर्वत के पूर्वभाग के देश, चेदि, वत्स,

दाशार्ण, अंग, बंग, उपबंग, कलिंग, पुण्ड, जठर, विदर्भ, मेकल, शवरानन, शवरवर्ण, कर्ण, त्रिपुर, पूरक, कण्टकस्थ, पृग्दीपक, कोमल कर्णान्ध्र, चौलिक, चर्मण्वती के निकटवर्ती, काकक, हेमकुड्य, श्मश्रुधर, बलिग्रीव, महाग्रीव, किष्किन्धा और नारिकेली इन सत्ताईस देशों और चार पर्वतों के निवासी वीरगण सहायक थे ॥२२-२९॥ हे रामजी, दक्षिण दिशा में लीला के पति के सहायक वीर नरपतियों का मैं उल्लेख करता हूँ, सुनो। विन्ध्य, कुसुमापीड़, महेन्द्र, दर्दुर, मलय, सूर्यवान, समृद्धिशाली अनेक गणराज्य, अवन्तीनाम से प्रसिद्ध, शाम्बवती, दशपूरक, कथाचक्रार, ईषिक, आतुरकच्छप, वनवासोपगिरि, भद्रगिरि, नागर, दण्डक, गणतन्त्रराज्य, जनतन्त्रराज्य, साह, शैव, ऋष्यमूक, कर्कोट, वनबिम्बल, पम्पानिवासीगण, कैरकदेशीय, कर्कवीरक, स्वेरिक, यासिक, धर्मपत्न, पांचिक, काशिक, तृणखल्लूल, याद, ताम्रपर्णक, गोनर्द, कनक, दीनपत्तन, ताम्रीक दम्फर, आकीर्णक, सहकार, ऐणक, वैतुण्डक, तुम्बवनाल, अजिनद्वीप, कर्णिकाकार, कर्णिक, शिवी, कोंकण, चित्रकूट, कर्णाट, मण्टवटक, महाकटकिक, आन्ध्र, कोलपर्वत, आवन्कि, विचेरिक, चण्डायत्त, देवनक, क्रौंच, वाह, शिलाक्षारोद, भोनन्द, मर्दन, मलय इन तिरसठ देशों और छः पर्वतों के निवासी तथा लंका के राक्षस ॥३०-३९॥ पश्चिम और दक्षिण दिशा के मध्य में महाराज्य, सुराष्ट्र, किन्थुस सौवीरस शूद्र, आभीर, द्रविड़, कीकट, सिद्धखण्ड, कालिरूहस सुमेरु पर्वत, रैवतक पर्वत, यकज्छ, मयवर, जिसमें यवन रहते थे, ये चार पर्वत, बाह्लीकस मार्गणावन्त, धम्र, तुम्बक, लाजगण और उक्त दिशा के पर्वत के निवासी, तथा समुद्रतट के और तोकनि देश के निवासी, हे श्रीरामचन्द्रजी, ये सब पूर्वोक्त लीला के पति के पक्ष के थे ॥४०-४३॥ अब हे श्रीरामचन्द्रजी, लीला के पति के विपक्ष में स्थित वीरों और उनके देशों को मैं आपसे कहता हूँ, सुनिये। पश्चिम दिशा में ये बड़े-बड़े पर्वत हैं - मणिमान्, शैलेन्द्र, कुरापर्णगिरि, बन, अर्कह , मेघफल, चक्रवान् और अस्ताचल ॥४४,४५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, काश तथा ब्राह्मण के समूहों के अन्तक पंचननामकजल और भारक्षतथ, पारक, शान्ति, शैब्य, आरमरकार, अच्छ, अगुहुत्व, अनियम, हैहय, सुह्मगाय, ताजिक और हुणक, दक्षिण और उत्तर में कतक देश के निकट में कर्क, गिरिपर्ण और अवम इन्होंने सब वर्ण धर्मों की मर्यादा का सवर्था त्याग कर दिया है, इसलिए ये म्लेच्छ कहलाते हैं ॥४६-४८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, उसके अनन्तर दो सौ योजन तक पृथिवी जनपदों से शून्य है, और उसके अनन्तर महेन्द्रपर्वत है, जिसकी भूमि मुक्तमयी तथा मणिमयी है ॥४९॥ सैकड़ों पर्वतों से युक्त आश्वनामक पर्वत है, उसके अनन्तर भयंकर महासमुद्र है, जिसके तट पर पारियात्रनामक पर्वत है ॥५०॥ पश्चिम और उत्तर दिशा के अन्तराल भाग में, जो पर्वतप्राय है, वेणुपति और नरपति देश है, जहाँ नित्य उत्सव हुआ करते हैं ॥५१॥ फल्गूणक, माण्डव्य, अनेकनेत्रक, पुरुकुन्द, पार, भानुमण्डल, भावन, वन्मिल, नलिन और इसके पश्चात् दीर्घ केश, अंग, हस्त पाल आदि से युक्त मनुष्यवाले होने के कारण दीर्घनाम के देश हैं तथा रंग, स्तनिक, गुरुह और लुह नामवाले देश हैं, इसके अनन्तर अतुल स्त्रीराष्ट्र है, जहाँ गाय, बैल तथा सन्तान को भी खा जाते हैं। इसके अनन्तर उत्तर

दिशा में हिमवान, क्रौंच और मधुमान् नाम पर्वत हैं ॥५२–५४॥ इनके अनन्तर कैलास, वसुमान् और मेरुपर्वत हैं, उनके सहायक पर्वत श्रेणियों में ये मनुष्य रहते हैं–मद्र, वारेव, यौधेय, मालव और शूरसैनिक ॥५५॥ इसके अनन्तर ये क्षत्रिय और देश हैं, राजन्य, अर्जुनातनय, त्रिगर्त, एकवाद, क्षुद्र, आमबल और अस्ताचलवासी, अबल, ब्रखल, शाक, क्षेम, धूर्ति, दश प्रकार के नाग, अवसनी, अदण्ड, अहन्यसह, धानद, सरक, वाटधान, अनन्तर द्वीप के निवासी, गान्धारस वन्ति और सुर, इसके अनन्तर दक्षशिला, बीलव, गोधनी, इसके अनन्तर पुष्करावर्त देश की यशोवती नाम की पृथिवी है। इसके अनन्तर नाभिमती भूमि है और उसके वाद तिक्षा तथा कालवराभूमि है और काहक तथा सुरभूतिपुर नामक नगर हैं, तदनन्तर रतिकादर्श, अन्तरादर्श पिंगल एवं पाण्डव्य के निवासी जन और यमुना के तीरवासी यातुधानक, नांगन, हेमताल, स्वमुख तथा हिमालय, वसुमान्, क्रौंच और कैलास ये पर्वत हैं। तदुपरान्त देशरहित अस्सी योजन विस्तृत भूमि है। तदनन्तर पूर्व और उत्तर दिशा के अन्तराल के क्रमशः इन देशों को सूनिये कालूत, ब्रह्मपुत्र, कुणिद, खादिन, मालव, रन्ध्रराज्य, वन, राष्ट्र, केडवस्त, सिंहपुत्र, वामन सावाकत्, जापलवह, कामिर, दरद, अभिसासद, जार्वाक, पलोल, कुवि, कौतिुक, किरात, यामुपात, दील तदुपरान्त स्वर्ण भूमि है, तदनन्तर अतिसुशोभित देवस्थल भूमि है, उसके बाद गन्धर्वराज विश्वावसु का उत्तम मन्दिर है, तदनन्तर कैलासभूमि है, तदनन्तर मंचुवन नामका पर्वत है, तदनन्तर विद्याधर और देवगणों की विमान के सदृश अभिराम भूमि है ॥५६–६७॥

छतीसवाँ सर्ग समाप्त

सैंतीसवाँ सर्ग

देशों के नामों के साथ मध्यदेशीय लोगों का तथा उनके जय और पराजय का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, वेग से काटे गये मनुष्य और हाथियों से भीषण रण में, जिसमें सैनिक लोग 'पहले मैं पहले मैं' इस होड़ से झुण्ड के झुण्ड विपक्ष सेना में टूट रहे थे, प्रयत्न से प्रवेश कर रहे पूर्वोक्त और उनसे अतिरिक्त भी अनेक लोग अग्नि में प्रवेश कर रहे पतींगों के समान भस्म हो गये। इस युद्ध में दूसरे यानी मध्य देश के लोग मैंने नहीं कहे, लीला के स्वामी के पक्षभूत उन लोगों को मैं कहूँगा, आप सुनिए। वे थे तद्देहिक, शूरसेन, गुड़, अश्वघनायक, उत्तमज्योतिभद्र, मदमध्यमिकादि, सालूक, अकोद्यमालास्य, दौर्ज्ञेय, पिप्पलायन, माण्डव्य, पाण्डुनगर, सौग्रीवादि, गुरुग्रह, पारियात्र, कुराष्ट्र, यामुन, उदुम्बर, राज्यनामक, उज्जिहान कालकोटिक, माथुर, पांचाल, धर्माख्य तथा उत्तर और दक्षिण पांचालक, कुरुक्षेत्र और सारस्वतनिवासी वीर सैनिक गण ॥१–७॥

जो पहले ये और दूसरे रण में भस्म हो गये, ऐसा कहा था, उसी को देशों के नामों का विभाग कर सर्ग की समाप्ति पर्यन्त कहते हैं।

उज्जयिनी की रथपंक्ति कुन्तिदेशवासी और पंचनददेशवासियों द्वारा छोड़े गये शस्त्रों से

भयपूर्वक काँपती और दौड़ती हुई बड़े भारी पर्वतप्रपातों में गिर पड़ी ॥८॥ वस्त्रवती के लोगों द्वारा काटे गये अतएव भूमि में गिर रहे कोशब्रह्म की सीमा के लोग हाथियों द्वारा कुचल दिये गये ॥९॥ बाण की भूमि के लोगों ने दाशपुर के शूरों को, जिनके कन्धे और पेट शस्त्रों से काट डाले गये थे, जीतकर आठ कोश तक उनका पीछा किया और संयोगवश मार्ग में प्राप्त तालाब में उन्हें डुबा दिया ॥१०॥ विदीर्ण (फाड़े गये) पेट से निकली हुई अपनी अँतड़ीरूपी रस्सियों में उलझे हुए अतएव मन्दगति हुए शान्तिदेशवासियों को मार्ग के पिशाचों ने चबा डाला ॥११॥ प्रचण्ड रणघोष करनेवाले भद्रगिरिनिवासियों ने, जो कि संग्रामरूपी यज्ञ में दीक्षित थे, मरदेशवासी योद्धाओं को कछुओं की भाँति पृथिवी के गड्ढों में फेंक दिया। जिन्होंने पहले बड़े–बड़े शत्रुओं को भगाया था, ऐसे दण्डिकानगरी निवासियों को, जिनके शरीरों से रुधिर बह रहा था, हैहयवंशियों ने यों भगाया जैसे कि वायु के वेग से वातप्रेमीनामक हरिण भागते हैं। हाथियों के दाँतों से विचूर्णित दरददेशनिवासियों को, जिन्होंने अपने शत्रुओं को विनष्ट कर दिया था, रुधिर की महानदी पेड़ के पल्लवों की भाँति बहा ले गई। अर्धचन्द्राकार बाणों से छिन्नभिन्न घायल अधमरे चीननिवासियों ने अपने लिए भारस्वरूप बने हुए अपने शरीरों को सागर के अर्पण कर दिया ॥१२–१५॥ कर्णाट देश के दक्ष योद्धाओं द्वारा वायु में फेंके गये भालों से जिनके कन्धे कट गये थे, ऐसे नलददेश के शूर तारों के समूह की नाईं विशीर्ण हो गये ॥१६॥ मगरों के समूह के सदृश गजराजों ने जिनके शस्त्रास्त्र बड़े वेग से छिन्न भिन्न कर दिये थे, ऐसे दाशक और शक केशाकेशि युद्ध के लिए (एक दूसरे का झोटा पकड़ कर जो युद्ध होता है उसे केशाकेशि युद्ध कहते हैं) सन्नद्ध होकर सिंहनाद करते थे ॥१७॥ पाशदेशवासियों द्वारा छोड़े गये श्रृंखलाजाल से भयभीत दाशार्ण लोग जैसे बेंत की झड़ियों की जड़ों में रहनेवाली मछलियाँ कीचड़ में छिप जाती है वैसे ही रक्त रूपी कीचड़ में छिप गये। तंगण लोगों के ऊपर उछले हुए खड्गों और शंखशतनामक शस्त्रों ने रणभूमि में गुर्जरसेना के विनाश से गुर्जरस्त्रियों के केशों का लुंचन करा दिया ॥१८,१९॥ जैसे वीरों के आयुधों के सदृश कान्तिवाले मेघ अपनी बूँदों से जंगलों को सींचते हैं, वैसे ही जिन्होंने कानों की भाँति अस्त्र–शस्त्रों को खड़ा किया था, ऐसे सैनिकों के संघ से निकली हुई वीरायुधप्रभारूपी बिजलीसे मेघवत् प्रतीत हो रहे निगुड़देशियों ने गुहदेशीय योद्धाओं के प्रति बाणों की धाराएँ बरसाई ॥२०॥ भुशुण्डीनामक हथियार के मण्डल की कान्ति से कालिमा को प्राप्त सूर्य ही ठहरा एक उत्पात (✍) (अशुभ सूचक चिह्न), उससे भयभीत आभीर देशवासियों पर शत्रु ऐसे टूटे, जैसे हरी घास पर गौओं का झुण्ड टूट पड़ता है ॥२१॥ वत्स श्रीराम, ताम्रों (एक प्रकारके यवनों) की संग्राम के लिए तत्पर सेनारूपी कान्तकांचनप्रिया (जिसे पति और सुवर्ण प्रिय है) नायिका गौड़देश योद्धाओं द्वारा नखक्षत और भासकदेशवासियों ने रणभूमि में वृक्षों और पहाड़ों को तहस नहस कर देने

✍ यदि चन्द्र इवाऽऽदितयः सच्छिद्रों रश्मिमणडलः। कृष्णरक्तान्तपर्यन्तस्तज्जनक्षयलक्षणम् ॥
यदि सूर्य चन्द्रमा की नाईं हो, या किरणमण्डल में छेद दिखाई दे अथवा रवि मण्डल चारों ओर काला या लाल हो जाय, तो उसे मनुष्यों के विनाश का हेतु समझना चाहिए।

वाले शब्दायमान असंख्य चक्रों के वारों से या चक्रों द्वारा छेदन से तंगणदेशवासियों को किनका–किनका बनाकर कंक (सफेद चील) और गीधों में बिखेर दिया। गौड़ सैनिकों के अस्पष्ट बोल के शब्द को, जो बड़ी–बड़ी लाठियों के भ्रमण से उपलक्षित था, सुनकर गोतुल्य गान्धरदेशवासी द्रविड़ों की नाईं भाग गये ॥२२–२४॥ पर्वतों से नदी की नाईं उतरते हुए शकों के समुदाय ने, जो कि काली पोशाक पहनने के कारण आकाशस्थित सागर के तुल्य था, पारसियों को रात्रि के निबिड़ अन्धकार का भ्रम कर दिया ॥२५॥ वहाँ पर सफेद पोशाक पहने हुए पारसियों के साथ युद्ध करनेवाले शकों के हथियार मन्दर पर्वत के आलोडन से ऊपर को उछले हुए अत्यन्त स्वच्छ क्षीरसागर के मध्य में मन्दराचल के वनों की नाईं दिखाई दिये और दर्शक लोगों को शत्रुरूपी हिमालय के शिखर में हिमालय के वनों की नाईं दिखाई दिये ॥२६॥ भूमिस्थित लोगों ने शस्त्रसमुदाय को मेघों की नाईं आकाशमण्डल में उड़ा देखा, आकाश में स्थित लोगों ने उसे सागर में अन्य तरंगों के प्लवन (तैरने) की नाईं देखा। लोगों ने आकाशरूपी वन को सफेद छातों से सैकड़ों चन्द्रों से युक्त सा देखा, बाणों से टिड्डियों से अत्यन्त व्याप्त सा देखा और शक्तियों से निरवकाश देखा ॥२७,२८॥ केकयदेशवासियों ने अपने शत्रुओं को वीरपान में (📖) रोदन करनेवाले बना दिया, क्योंकि अपने सगे–सम्बन्धियों का विनाश होने से वीरपान के समय उनका रोना स्वाभाविक हुआ और कंक देशवासियों ने अपने शत्रुओं को चीलों के झुण्ड से आक्रान्त आकाश में उद्धूलित मस्तकवाले बना दिया ॥२९॥ विजयप्राप्ति पर कोलाहल करनेवाले अंगदेशवासियों ने किरात सैनिकरूपी कन्याओं की विदेहता को (अंगरहितत्व और कामप्राबल्य को) प्राप्तकर भैरवों की नाईं अत्यन्त गर्जना की ॥३०॥ माया से पक्षी बने हुए अदृश्य समुद्री मनुष्यों ने फैलाये हुए अपने परों से तद्देहकवासी लोगों पर ऐसा आक्रमण किया जैसा कि क्षुभित झंझावात धूलिकणों पर आक्रमण करता है ॥३१॥ युद्ध से उन्मत्त, खूब कँपाये गये और शस्त्रास्त्र तथा रण की पोशाक का त्याग किये हुए नर्मदातीरवासियों ने ऐसा नृत्य, हास और गान किया, जिससे मनोविनोद होता था। समीप में आई हुई शक्तियों की वृष्टि, जिसमें छोटी छोटी घण्टियाँ बज रही थी, साल्वदेशवासियों के बाणरूपी वायु से कम्पित होकर बिन्दुओं के आकार में परिणत हो गई। शैव्यदेशवासी गणों को कुन्तिदेशवासी वीरगण घुमाये जा रहे भालों से विघटित, विखण्डित और विनष्ट कर विद्याधरों के तुल्य स्वर्ग में ले गये ॥३२–३४॥ धरा पर यानी युद्धभूमि पर आक्रमण करनेवाली धीरप्रकृति अहीनदेश की सेना ने अपने सोल्लास गमन से ही पाण्डुनगर के वीरगणों को लुण्ठित कर दिया ॥३५॥ मदोन्मत्त की नाईं चलनेवाले पंचनददेश के वीरों ने तद्देहकवासी योद्धाओं को, जो भालों, हाथी के दाँतों और वृक्षरूपी हथियारों से युद्ध करनें में कुशल थे, जैसे हाथी पर्वतों को खोद डालते हैं वैसे ही कतल कर दिया ॥३६॥ नीपदेशवासियों द्वारा चक्रों से काटे गये अतएव घोड़ों के साथ पृथिवी में गिरे हुए ब्रह्मावत्सनदेश के सैनिक आरों से काटे गये, फूले हुए वृक्षों की नाईं प्रतीत होते थे। जठरदेशीय योद्धाओं से प्रेरित (फेंके गये) कुल्हाड़ों ने श्वेतकाकदेश

📖 रणसमाप्ति में या रण के आरम्भ में जो आसवपान होता है, वीरपान कहा जाता है।

के योद्धाओं के सिर काट डाले और जठरदेशीयों की सेना को पास में स्थित मद्रदेश के राजा ने बाणरूपी अग्नि से जला डाला ॥३७,३८॥ काष्ठदेशीय योद्धारूपी पंक में (कीचड़ में) बन्धनस्तम्भ के बिना ही फँसे हुए अतएव जर्जर हुए मतंगजदेशीय सैनिकरूपी मतंगज (हाथी) युद्धभूमि के चारों ओर ऐसे विनाशको प्राप्त हुए जैसे कि अग्नि में डाले हुए काष्ठ भस्म होते हैं ॥३९॥ त्रिगर्तदेश के योद्धाओं से पकड़े गये मित्रगर्तदेशीय योद्धा तिनके की नाईं ऊपर को घूमकर नीचे मस्तक हो भागने के लिए पाताल के अन्तस्तल में प्रविष्ट हुए । मन्दगति वनिलदेशीय वीर मन्दवायु से अस्थिर हुए महासागर के तुल्य स्फूर्तिमान् मगधदेश की सेना में ऐसे निःशेषरूप से मग्न हो गये जैसे कि कीचड़ में बूढ़े हाथी मग्न हो जाते हैं ॥४०,४१॥ समरभूमि में चेदिदेशीय वीरों ने जैसे मार्ग में गिरे हुए फूलों की सुकुमारता को धूप हर लेती है वैसे ही तंगणदेश के योद्धाओं की चेतना को हर लिया यानी उन्हें निष्प्राण बना दिया । पौरवदेश के योद्धाओं के शब्दको भी सहन न करनेवाले और उन्हें यमराज की नाईं पीट रहे कोसलदेशवासियों पर पौरवों ने गदाओं, भाले, बाणों, शक्तियों की अतिवृष्टि की । उनमें से जो भालों से अंगों के कटने पर भी शत्रुओं के शौर्य के विषय में किसी प्रकार के विस्मय से रहित अतएव गीले और गाढ़े रुधिर से बालसूर्य से हुए, वे पर्वत में मूँगे के वृक्षों की नाईं दौड़ते थे ॥४२–४४॥ उसमें से अर्द्धचक्राकार बाणों के समूह आदि प्रबल हथियाररूप वायु से जिनके शरीर कम्पित हो गये थे, वे भँवरों के दल से सुशोभित मेघों की नाईं घूमते थे ॥४५॥ बाणरूपी मूसलाधार वृष्टि की धाराओं को धारण करनेवाले मेघों के तुल्य, बाण समूहरूपी ऊन से परिपूर्ण भेड़ों के सदृश, बाणव्यूहरूपी अतएव गर्जनकारी हाथी घूमते थे । कन्दाक स्थल के मनुष्य, हाथी आदि प्राणी वनराज्य नामक देशके वीरों से ऐसे निर्बल कर दिये गये कि केवल खिंचनेमात्र से धागे के समान टूट गये । जन्तु खूब जोर से खींचे गये कच्चे सूत की नाईं टूट गये, छिन्न–भिन्न हो गये ॥४६–४७॥ खाईरूपी गड्ढे में टकराने से रथों के चक्रों के टूटने पर इन रथों के मस्तकों पर प्रहार करनेवाले शत्रुओं के समूह ऐसे टूटे जैसे वनपूर्ण पर्वतों पर मेघ गिरते हैं ॥४८॥ शाल का वन और तालका वन युद्ध में परस्पर दो जनसमूहों के सम्मेलन से महावनरूप में परिणत युद्धस्थान को प्राप्त होकर और वहाँ बाहुच्छेदन और मस्तकच्छेदन को प्राप्त होकर क्रमशः ऊँचे तालवृक्षप्राय और स्थाणुओं का वन हुआ । भाव यह कि शालों के चारों ओर की शाखाओं के काटने पर ताल सरीखे पेड़ हो जाते हैं और तालों की चोटी काट देने से स्थाणुता ही बच जाती है,अतः शालका वन जो तालवन बना और जो तालवन स्थाणुओं का वन बना वह ठीक ही बना ॥४९॥ उन्मत्त यौवनवाली नन्दनवन की सुन्दरियाँ सुमेरु पर्वत के वन और उपवनों में धीर वीर पुरुषों से संगत होकर अत्यन्त प्रसन्न हुईं ॥५०॥ प्रचुर कोलाहल (सिंहनाद) से पूर्ण उत्तम सेनारूपी वन तभी तक शोभित हुआ जब तक कि प्रलयकाल की अग्नि की ज्वाला के सदृश ज्वालावाला शत्रुदल नहीं आया । कामरूप आदि देशों के योद्धाओं के साथ, जिनमें पिशाचों का आधिक्य था, युद्ध के लिए संगतहुए दाशार्ण देश के योद्धा, पिशाचों द्वारा शस्त्रों के हर लेने और घायल होने पर बछड़ों की भाँति भागते हुए राह में

कर्णदेश के योद्धाओं को मार कर निकल गये ॥५१,५२॥ जिसने तालाबों को भरनेवाले झरनों को सुखा दिया ऐसे ग्रीष्म, ऋतु के प्रभाव से जैसे कमल अपनी कान्ति को खो बैठते हैं वैसे ही तांजिगीयवनदेशीय योद्धाओं के प्रताप से काशिदेश के योद्धाओं ने, जिनके कि स्वामी मर चुके थे, कान्ति खो दी। मेखल देशवासियों ने तुषाकदेशीय योद्धाओं के ऊपर बाण, शक्ति, तलवार और मुद्‌गरों की वृष्टि की। नरकदेशीय योद्धाओं द्वारा शस्त्रास्त्रों से आक्रान्त कटकच्छेलनदेश के योद्धा भी भाग गये ॥५३,५४॥ अपने स्थान में ही बैठकर युद्ध करनेवाले धीर वीर प्रस्थवासदेश के वीरों से आवृत (घेरे गये) कौन्तक्षेत्र के योद्धा दुष्ट पुरुषों से आक्रान्त सद्‌गुणों की नाईं अत्यन्त अशक्तता को प्राप्त हुए ॥५५॥ द्विपिदेश के योद्धा, जिन्होंने कमल तोड़े हैं उन पुरुषों की नाईं, अपने भालों से बाहुधानदेश के योद्धाओं के मस्तक को एक क्षण में लेकर (काट कर) भागकर तुरन्त चले गये ॥५६॥ सरस्वती नदी के तीरवर्ती देशों के योद्धा शामतक लगातार परस्पर युद्ध करते हुए शास्त्रार्थ में पण्डितों की नाईं न तो श्रान्त हुए (थके) और न पराजित ही हुए। खर्वदेशवासी क्षुद्र योद्धा यद्यपि भाग कर चले गये थे तथापि लंका में रहनेवाले सहायभूत राक्षसों द्वारा परावतिर्त हुए, फिर तो वे जैसे बुझी हुई अग्नि लकड़ियों से भड़क उठती है वैसे ही परम प्रताप को प्राप्त हुए ॥५७,५८॥ श्रीवसिष्ठजी प्रस्तुत संग्राम वर्णन का उपसंहार करते हुए कहते हैं : हे श्रीरामचन्द्रजी, मैं कितना कहूँ, यह श्रेष्ठ इतना विस्तृत है कि वासुकि (शेषनाग) भी आकुलतापूर्वक (शीघ्रता से) अपनी दो हजार जिह्वाओं से इसका पूर्ण वर्णन करने के लिए समर्थ नहीं है ॥५९॥

सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

अड़तीसवाँ सर्ग

सायंकाल में दोनों सेनाओं के युद्ध से निवृत्त होने पर
भूत-प्रेतों से भीषण और बीभत्स रणभूमि का विस्तार से वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, भुजास्फोट करने वाले विजयी वीरों से पराजित योद्धाओं के त्रास से परिपूर्ण अतिभीषण संग्राम में अन्धकार के आगमन से सूर्य भगवान् के वृद्ध होने पर, शरीर के घावों से रुधिर प्रवाह को रोकनेवाले कठिन लौह कवचों के रुधिरक्लेद को बहाने पर, पत्थर रूपी ओलों से स्वच्छ पाषाणवृष्टि के एक पक्ष में ऊपर जाने और दूसरे पक्ष में नीचे गिरने पर, नदियों में कमलपंक्तियों के संकुचित होने पर, परस्पर फल के (बाण की नोक में लगे हुए लोहे के टुकड़े के) अग्रभाग में हुए आघात से उत्पन्न अग्नि कणरूपी सीकरों को (जलकणों को) धारण करनेवाली बाणनदियों के समीप में और दूर जाने पर, आयुधों की राशिरूपी मन्दाकिनियोंसे, जिनमें कटे हुए सिररूपी पद्म बह रहे थे, जो चक्ररूपी आवर्तों से पूर्ण और तरंगयुक्त थी, आकाशरूपी सागरके भर जाने पर, वायु के समान शब्द कर रहे शस्त्रों से परिपूर्ण होने के कारण अत्यन्त निबिड़ बैठने की जगह की लालिमा को बढ़ाने के कारण वर्षा ऋतु के आरम्भ के सन्देह से वानरों को काम पीड़ा देनेवाले मेघों से सिद्धों को

प्रलय का सन्देह होने पर, आठवें भागरूप अवस्था में हुई लालकान्ति से वीर की नाईं तनुता (क्षीणता) को प्राप्त हुआ। सेनाएँ, जिनके घोड़े और हाथी थक गये थे और हथियारों की कान्ति क्षीण हो गई थी, दिन के साथ ही मन्दप्रतापवाली हो गई यानी जैसे दिन का प्रताप मन्द हुआ वैसे ही सेनाओं का प्रताप भी मन्द पड़ गया ॥१-७॥ तदुपरान्त सेनापतियों ने मन्त्रियों के साथ विचार कर एक दूसरे के पास रण बन्द करने के लिए दूत भेजे ॥८॥ रणभूमि में श्रमवश सभी के यन्त्र, शस्त्रास्त्र तथा पराक्रम मन्द पड़ गये थे, सभी ने समय पर रणसमाप्ति का अनुमोदन किया ॥९॥ तदुपरान्त दोनों सेनाओं का एक एक योद्धा महान् रथ के पताकदण्डकी चोटी पर रक्खे हुए लम्बे बाँस के खम्भे पर ध्रुव की नाईं चढ़ा ॥१०॥ जैसे रात्रि सम्पूर्ण दिशाओं में किरणों से विशाल शुभ्र चन्द्रमा को घुमाती है, वैसे ही उसने चारों ओर सफेद वस्त्र हिलाया जो 'युद्ध बन्द कीजिये' इसका सूचक था ॥११॥ तदुपरान्त महाप्रलयकी निवृत्ति होने पर पुष्करावर्तनामक मेघों की नाईं दुन्दुभियाँ बजने लगीं, उनके निनाद से सम्पूर्ण दिक्‌मण्डल मुखरित हो उठा ॥१२॥ विशाल आकाशमण्डल में स्थित बाण आदि अस्त्र-शस्त्रों की नदियाँ मानस सरोवर से सरयू आदि नदियों की नाईं बेरोकटोक गिरने लगी ॥१३॥ जैसे भूकम्प के बाद वनस्पन्द मन्द पड़ जाता है और जैसे शरद् ऋतु में समुद्र का लहराना कम हो जाता है, वैसे ही वीर योद्धाओं के बाहुरूपी वृक्षों के संचार धीरे धीरे मन्द हो गये ॥१४॥ तदनन्तर जैसे प्रलय के अन्त में प्रलयकालीन एकमात्र समुद्र जलप्रवाह चारों दिशाओं में बहता है, वैसे ही दोनों सेनाएँ रणभूमि से निकलने लगी ॥१५॥ जिससे मन्दराचल निकाला गया है, ऐसे क्षीर समुद्र के समान प्रशान्त और आवर्तों से (जलभौंरियों से) रहित सेना धीरे धीरे अव्याकुलता को प्राप्त हुई ॥१६॥ थोड़ी देर में जैसे जैसे सैनिक निकलते गये, वैसे वैसे रणभूमि पूतनेश्वरी के पेट के समान भीषण और अगस्त मुनि द्वारा पिये गये सागर के समान शून्य (रिक्त) ही हो गई। सारी रणभूमि मुर्दों से पटी थी, जहाँ तहाँ रुधिर के नद बह रहे थे, घायल एवं मरणासन्न सैनिकों के रोदन और कराहने से वह पूर्ण थी अतएव वनमक्खियों की भनभनाहट से भरे हुए वनमक्खियों के वन के सदृश लगती थी, बह रही रुधिर नदियों के प्रवाह और तरंगों के शब्द से उसमें घर घर ध्वनि हो रही थी, रो रहे, चिल्ला रहे अधमरे लोगों द्वारा पुकारे गये जीवित पुरुष बड़े व्यग्र थे, मरे हुए और अधमरे लोगों के शरीरों से चू रहे खून के झरने बह रहे थे, सजीव (अधमरे) पुरुषों की पीठ में पड़े हुए शवों (मुर्दों) में स्पन्दन का भ्रम होता था, मत्त मातंगों के शवों के ढेर की चोटी पर मेघखण्ड विराजमान थे, वहाँ अनेक रथ जहाँ तहाँ बिखरे थे, अतएव वह रणस्थल उस महावन के तुल्य प्रतीत होता था, जिसमें आँधी से वृक्ष ढह गये हों, वहाँ बह रही रुधिर नदी के प्रवाह में हाथी, घोड़े बह रहे थे, बाण, शक्ति, ऋष्टि, मुसल, गदा, भाले और तलवारों से सारी रणभूमि पटी थी, काठी, शरीर के रक्षक चमड़े के टुकड़े और कवचों से सारा भूतल व्याप्त था, शवों के शरीर, पताका, चँवर और घाव बाँधने की पट्टियों से आच्छन्न था, साँपकी फन के समान जिनका आगे का हिस्सा ऊँचा था और जिनमें छलनी के समान चारों ओर छिद्र किये गये थे ऐसे तरकसों में वायु इस प्रकार शब्द करता था जैसे कि

कीचक की (एक प्रकार के बाँस की) झाड़ियों में करता है, वहाँ पर पिशाच शवों की राशिरूप पुआल के बिछौने पर सोये थे ॥१७–२४॥ सिर पर धारण किये हुए शिरोरत्नों और अंगदों (बाजू–बन्दों)की जगमगाहट से सैकड़ों इन्द्रधनुष उसके चारों ओर उगे थे, कुत्ते और सियार अपने पंजों से खून से लथपथ अँतड़ीरूपी लम्बी रस्सी को खींच रहे थे, जिनका जीवन कुछ कुछ शेष है, ऐसे दाँतों से चिरे हुए पुरुष वहाँ पर रुधिर से परिपूर्ण खेत में घर् घर् शब्द कर रहे थे, सजीव नररूपी मेंढक रुधिरके कीचड़ में सर्वथा निमग्न थे, चित्रकंचुक के सदृश सैंकड़ों आँखों के समूह वहाँ पर निकले हुए पड़े थे, वहाँ पर सैकड़ों रक्तनदियाँ बह रही थी जो भुजा और जंघा रुपी काष्ठ समूह से बड़ी भीषण थी, रो रहे बन्धुओं से सारी रणभूमि व्याप्त थी, जहाँ देखो वहीं मरे और अधमरे मनुष्यों का ढेर लगा था, बाण, अस्त्र–शस्त्र, रथ, घोड़े, हाथी और काठियों से सारी रणभूमि आच्छन्न थी, वहाँ नाच रहे कबन्धोंके बाहुदण्डमण्डल से आकाशमण्डल नीचा किया गया था, हाथियों के मद, मेदा और वसा की गन्ध से नाक में पीड़ा होती थी और नाक बहने लगती थी, जिन्होंने अपने तालू (जबड़े) ऊपर को किये थे ऐसे अधमरे हाथी और घोड़ों से अपने अल्पजीवित की रक्षा की जा रही थी, बह रही रुधिर नदी की लहरों के हार से नगाड़े बज रहे थे, मरे हुए हाथी एवं घोड़े रूपी मगर खून की सैकड़ों नदियों में ऊपर तैर रहे थे, वहाँ पर मर रहे नरों के फूत्कार से मुखमें भरे हुए खून के फव्वारे बाहर निकाले जा रहे थे, जिनका जीवन थोड़ा शेष है और मुँह और नेत्रों में बाण भरे हुए हैं, ऐसे लोग वहाँ पर रो चिल्ला रहे थे वहाँ पर खून पिण्डभार्या के (🔔) वसा की दुर्गन्धि से युक्त और वायु लगने से धनीभूत हुआ था, ऊपर की ओर सूँड़ किये हुए अधमरे गजराजों की सूँड़ों से कबन्ध आक्रान्त थे, सवारों के मर जाने के कारण अनियन्त्रित (नियन्त्रणरहित) हाथी, घोड़ों ने ऊँचे–ऊँचे कबन्धों को गिरा दिया था, रो रहे, चिल्ला रहे और गिर रहे शवों से खूब खून उछल रहा था, मरे हुए पति के गले में आलिंगन करके स्थित कुलांगनाओं ने दैवात् प्राप्त शस्त्रघात से प्राण त्याग किया था, अग्निसंस्कार आदि के योग्य शवों के लाने के लिए स्वामी का आदेश पाकर शिविरों में प्रविष्ट सेना में से गये हुए रणभूमि में अलग–अलग प्रवेश करने में भयभीत होने के कारण इकट्ठे हुए बड़ी जल्दी से कार्य कर रहे बहुत से बटोहियों ने अपने–अपने आत्मीयों के शवों को वहाँ पर पहचाना। शवों को ले जाने–वाले लोगों की स्वभीष्टशवान्वेषणत्वरा से सारी रणभूमि, जिन्होंने अपने हाथों से सजीव लोगों को खींचा है ऐसे सेवकों से, व्याप्त थी ॥२५–३५॥ वहाँ पर सैकड़ों रुधिर–नदियाँ बह रही थी, उनमें केश ही सेवाल थे, मुख ही कमल थे, चक्र ही आवर्त थे। रक्त के महानद बह रहे थे जो ऊपर तैर रही बड़ी–बड़ी तरंगों से पूर्ण थे, अधमरे मनुष्य शरीर में लगे हुए हथियारों को निकालने में व्यग्र थे, विदेशमें मरे हुए लोगों के अंगभूषण, हाथी और घोड़े शोक से रोदनपूर्वक दिये गये थे। वहाँ पर लोग मरते समय पुत्र, इष्ट मित्र, माता, देवता और परमेश्वर का स्मरण करते, 'हा हा ही ही' आदि कराहना मर्मपीड़ा को सूचित करता था, पराक्रम दर्शाये बिना ही मर रहे दुर्भाग्य

🔔 पेट की बाईं ओर स्थित एक मांस की ग्रन्थि पिण्डभार्या कही जाती है।

से आक्रान्त कितने ही शूरवीर अपने भाग्य को कोस रहे थे, हाथियों के साथ युद्ध करने में असमर्थ हाथियों के आगे स्थित मृतप्राय शरीरवाले योद्धा कहीं कुचल न जायें, इस भय से देवताओं की प्रार्थना करते थे ॥३६–३९॥ मर रहे योद्धाओं पर अशुर लोगों ने पादाघातादिरूप महती अवज्ञा से जो अपराध किया, उससे वे भाग रहे थे, अतएव वे रुधिर के आवर्तों से युक्त होने के कारण भीषणतम स्थानों में भी बिना किसी हिचक के जाने को तैयार थे ॥४०॥ मर्मच्छेद करनेवाले बाणों के प्रहार से उत्पन्न पीड़ा से जन्मान्तरों की पापराशि का अनुमान होता था, भाग रहे कबन्धों को बाँधकर वेतालों ने रुधिरपान के लिए अपने मुखों को प्रवृत्त किया था, रुधिर के बड़े–बड़े तालाबों में तैर रहे छत्र, ध्वज और सुन्दर चँवर ही वहाँ पर कमल थे, रक्त के तालाबों में संध्याकाल की लालिमा के प्रतिबिम्बित होने पर लाल तेजसमूह रूप रक्त कमल को वह (समरभूमि) चारों ओर बिखेर रही थी। वह रणभूमि क्या थी, आठवाँ रुधिरपूर्ण समुद्र था, रथ और रथों के पहिए उसमें क्रमशः पर्वत और आवर्त थे, पताकारूपी फेन–समूह से वह युक्त था, सुन्दर चँवर ही उसमें बुद्बुद थे। उसमें रथ औंधे गिरे हुए थे, अतएव वह भूमिके कीचड़ में धँसे हुए नगर के तुल्य प्रतीत होता था, जिसमें उत्पात वायुसे (भीषण अन्धड़ से) वृक्ष तोड़े–मरोड़े गये हों ऐसे घने वन के समान, प्रलयकाल में जले हुए जगत् के सदृश और महामुनि श्रीअगस्त्यजी द्वारा पिये गये समुद्र के समान लगता था, अतिवृष्टि से उजड़े हुए देश के तुल्य उससे मनुष्य हट गये थे ॥४१–४५॥ आभूषणों, बाणों, भालों से सारा युद्धस्थल व्याप्त था, भुशुण्डी के समूहों का वहाँ चारों ओर ढेर लगा था, वहाँ पर सैकड़ों मदोन्मत्त हाथियों के आकार के मुर्दे और सैकड़ों महान् अजगरों के आकार के तोमर और मुद्गर थे ॥४६॥ बह रही रुधिर की नदी के अगल बगल लगे हुए मुर्दों पर गड़े हुए कुन्त ही उन्नत वृक्ष थे, वे ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानों चट्टानों के ऊपर उगे हुए घने ताल के झुरमुट हों। हाथियों के विभिन्न अंगों में चुभे हुए हथियारों के समूह रूपी वृक्षों के किरण रूपी फूल वहाँ पर जहाँ तहाँ बिखरे थे, सफेद चीलों द्वारा खींची गई अंतड़ीरूपी रस्सियों से युद्ध भूमिका आकाशमण्डल मानों जालों से छा गया था ॥४७,४८॥ रुधिर की नदी के तीर पर लगे हुए ऊँचे ऊँचे भाले ही उसमें ऊँचे ऊँचे वन वृक्ष थे और रुधिर के कुण्डों के ऊपर स्थित पताकाएँ ही कमलवृन्द थे। रुधिर के कीचड़ में फँसे हुए जन अपने अपने मित्रों को पुकारते थे। मत्त मातंगों के शवों से कुछ निकले हुए अंगभग्न लोगों द्वारा युद्धभूमि कातर दृष्टि से देखी गई थी, हथियारों से जिनकी लताएँ कट गई थी ऐसे वृक्षों से कबन्धों का सन्देह होता था, रुधिर की नदियों में बह रहे हाथियों के मस्तक और अम्बारी ही वहाँ पर नौकाएँ थी ॥४९–५१॥ रुधिर के प्रवाह में चमक रहे सफेद वस्त्र ही वहाँ पर फेन समूह था, चलने के लिए आज्ञप्त और शीघ्रता करनेवाले सेवकों द्वारा वहाँ पर मनुष्य पहिचाने जा रहे थे ॥५२॥ कबन्ध और नये नये दानव इधर उधर गिर रहे थे। ऊपर को खड़े हुए बड़े बड़े छेदवाले चक्रों के समूह द्वारा सेना से भाग रहे पुरुष काटे गये थे। वहाँ पर रुधिरके शब्द से युक्त 'भन् भन्' और 'फूत्कार' रूप अधमरे प्राणियों के शब्द हो रहे थे, चील आदि पक्षी शिलाओं पर गिर रही रक्तधारा को पीने के लिए अपने परों की धूलि उड़ा

रहे थे। वहाँ पर सुन्दर ताड़ के वृक्षों के समान और ताड़ से भी ऊँचे वेतालों ने ताल शब्द के साथ ताण्डव नृत्य आरम्भ कर दिया था अतएव वह स्थान और संकटपूर्ण हो गया था, औंधे गिरे हुए (अस्त–व्यस्त) रथों की लकड़ियों के अन्दर जीवित योद्धा थोड़ा बहुत छिपे हुए थे ॥५३–५५॥ शवों के ढेर के अन्दर विद्यमान जीवित योद्धा से स्पन्दयुक्त शव वहाँ पर स्पन्दन की भीति देते थे यानी मालूम होता था कि शव में स्पन्दन क्रिया हो रही है। रुधिर के कीचड़ से जिनका मुँह भरा था और थोड़ा सा जीवन जिनमें शेष था, ऐसे शवों पर वहाँ बड़ी तरस आती थी ॥५६॥ जिन योद्धाओं में कुछ ही जीवन शेष था, उन्होंने खाने के लिए गर्दन उठाए हुए कुत्ते और कौओं को बड़े क्लेश से देखा यानी उन्हें भक्षणोन्मुख देखकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ, जहाँ तहाँ एक ही मांसपिण्डों को खाने के लिए उत्सुक कौए, कुत्ते, गीदड़ आदि का युद्ध एवं तज्जनित कोलाहल हो रहा था और जहाँ तहाँ एक ही मांस–पिण्ड के लिए युद्धेच्छा से मरे हुए मांसाहारी जीव कौए, कुत्ते, गीदड़ आदि बिखरे पड़े थे ॥५७॥ वह रणभूमि क्या थी मृत्यु का उद्यान था। मर कर इधर उधर गिरे हुए असंख्य घोड़े, हाथी,नर, नरपति, रथ और काटी गई ऊँटों की गरदनों से निकले हुई रुधिर के प्रवाह से सुन्दर अनेक नदियाँ वहाँ पर बह रही थी, खून से लथपथ (गीले) हथियार ही लताएँ थी। उक्त रणोद्यान प्रलयकाल में शैलयुक्त जगत् के समान सम्पूर्ण विध्वस्त हो गया था ॥५८॥

अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त

उनतालीसवाँ सर्ग

सूर्य के अस्तसमय का, राक्षस और वेतालों से परिपूर्ण सन्ध्या का और
रात्रि में अत्यन्त बीभत्स रणभूमि का वर्णन।

श्रीवशिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, तदुपरान्त अस्त्र–शस्त्रों के तेज से जिसका पराक्रम मन्द पड़ गया है, ऐसे रक्त से लथपथ वीर के समान स्वच्छ आकाश में मन्द प्रतापवाले अस्तचलोन्मुख अतएव लाल सूर्य को काल ने समुद्र में डुबा दिया ॥१॥ पहले आकाशरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित रणभूमि के रुधिर की कान्ति ने सूर्यरूप अश्वारोही का सिर कटने पर आकाश का त्याग कर दिया। क्षणभर के लिए सन्ध्या ने आगमन किया ॥२॥ पृथिवी, पाताल, आकाश और दशों दिशाओं से प्रलयकाल के समुद्र की जलराशि के तुल्य वेताल आये, जो सम्पूर्ण दिशाओं का परिवेष्टन करने से वलयाकार प्रतीत होते थे और खूब करताल बजा रहे थे। सान में रखकर खूब तेज की गई अन्धकाररूपी तलवार से दिनरूपी गजराज का मस्तक काटने पर सन्ध्यारागरूपी रुधिर से लाल तारामण्डलरूपी गजमौक्तिक बिखर पड़े ॥३,४॥ जैसे प्राणरहित, मोह से अन्धकारमय और जीवनावस्था में जीवन से प्रेम करनेवाले मृतकों के हृदयों में प्राणों द्वारा शब्दायमान कमल संकोच को प्राप्त होते हैं, वैसे ही हंस आदि जीव जिनसे हट गये हैं, अन्धकार से अन्धे बने हुए जलपूर्ण तालाबों में पहले भँवर आदि के कारण शब्द कर रहे कमल संकोच को प्राप्त हो गये ॥५॥ जिनके पंख देह से सटे थे और जो क्लेश से

ऊपर को अपनी गर्दन किये थे, ऐसे पक्षीगण मृत योद्धाओं के शरीरों में आयुधों की नाईं घोंसलों में क्षणभर में निद्रादेवी की गोद में पहुँच गये थे ॥६॥ जैसे वीरों के पक्ष में विजयलक्ष्मी का हृदय खिल जाता है, वैसे ही समीपवर्ती चन्द्रमा के सुन्दर आलोक (चाँदनी) से युक्त कुमुद आदि फूलों का हृदय खिल उठा। जैसे रणभूमि रुधिर रूपी जल से परिपूर्ण होती है, उसमें योद्धाओं के अंगों में बाण छिपे रहते हैं और मुखरूपी कमल म्लान रहते हैं, वैसे ही कमलों के तालाब सन्ध्या की लालिमा के प्रतिबिम्बित होने से लाल जल से भरे थे, कमलों में भँवरे बन्द थे और उनके मुख के तुल्य कमल संकुचित हो गये थे ॥७,८॥ ऊपर आकाशरूपी तालाब तारारूपी कुमुदों से (कुँईयों से) विभूषित हुआ और नीचे का जलतालाब कुमुदरूपी ताराओं से चमकने लगा ॥९॥ जैसे बाँध से रहित जल चारों ओर फैल जाता है, वैसे ही अन्धकार में पहले बिछुड़े हुए फिर मिलने पर भी पहिचान न सकने के कारण एक दूसरे से डरे हुए जीव चारों ओर भागते थे। गा रहे वेतालों के झुण्ड से रणस्थली परिपूर्ण थी और उसमें जहाँ–तहाँ नर कंकालों के अंक में बैठे हुए और बस रहे सफेद चील और कौए अठखेलियाँ करते थे। रणभूमि में काष्ठ की अनेक चिताएँ जल रही थी, उनकी ज्वालाओं से युक्त वह तारागणों से परिवेष्टित आकाशमण्डल के समान दमक रही थी, वहाँ पर पक रहे तथा पच–पच शब्द कर रहे मेदा और मांस से पूर्ण अग्नि थी, सर्वांग की हड्डियों के टूटने से शब्द करती हुई अनेक चिताएँ वीरों की नाईं प्रधानरूप से प्रकाशमान थी, वेतालों की स्त्रियाँ जल–क्रीड़ाओं की तरह चिताओं में छिर रही थी। वह कुत्ते, कौए, यक्ष और वेतालों के कर्णकटु कोलाहलों से भीषण थी, प्राणियों के गमन और आगमन से उड़ते हुए वनों की तरह थी, डाकिनियाँ वहाँ पर रुधिर, मांस, चर्बी, और मेदा के हरण में व्यग्र थी। वहाँ पर पिशाचों ने जो मांस खाया था, वह उनके ओठों से गिर रहा था, बीच–बीच की चिताओं में पिशाचों द्वारा खून से भरे हुए शव देखे जा रहे थे, पूतनाएँ अपनी गोद में बड़े–बड़े शवों को ले जा रही थी। वहाँ पर उद्धत नृत्य में उग्र कुष्माण्डों के (ऊँचे पेटवाले पिशाचों के) मण्डल के बड़े–बड़े उदर थे, शवों के मुख के पास प्रलाप की नाईं 'छम–छम' ज्वाला के शब्द हो रहे थे, मेदा और रुधिर के गीले धुएँ से वह रणभूमि मेघयुक्त सी थी। वहाँ पर रूपिका (एक प्रकार की पूतना) बह रही रुधिर नदी के वेग में जमकर खड़ी हुई अतएव भूचरी सी मालूम पड़ रही थी। वहाँ पर नाना प्रकार के वेताल शवपिंजरों को खींचने में अपने कुल के अनुरूप किलकारियाँ भर रहे थे। मरे हुए हाथियों के उदररूप पालने में वेतालों के बालक सो रहे थे। एकान्त रण–प्रदेश में राक्षस अपनी पानक्रीड़ा में व्यस्त थे ॥१०–१९॥ मदोन्मत्त वेतालों में परस्पर कलह होने पर चिताओं के आधे जले काष्ठों द्वारा हुए उनके संग्राम से सारी रणभूमि जगमगा उठी। वहाँ वायु बह रहे रुधिर और वसा की मिश्रित गन्ध से युक्त था एक प्रकार की पूतनाओं की पेटिकाओं से निकले हुए रट–रट शब्द हो रहे थे। आधे पके हुए शव के आस्वादन में लुब्ध यक्षों का कलह बढ़ रहा था। बंग, कलिंग, अंग, तरंग आदि देशों के पुरुषों के ऊँचे–ऊँचे शरीरों में राक्षस और चील आदि पक्षी (मांसभक्षणार्थ) चिपट रहे थे। तारापात के तुल्य दाँतों से हँस रही रूपिकाएँ संमुखस्थित

मूर्तिमती ज्वालाओं से युक्त–सी प्रतीत हो रही थी। रुधिर के मारे उछलकर भूमि में गिर रहे वेतालों के बीच में खून पीनेवाली पूतनाएँ परिहास कर रही थी। वहाँ पर योगिनीगण के नायक पिशाचों द्वारा आहत होकर समीप में आ रहे थे, चारों ओर बिखरी हुई आँतड़ीरूपी महावीणाओं द्वारा वादन किया जा रहा था। वहाँ पर पिशाचों की वासना से पिशाच बने हुए मनुष्य उछल कूद रहे थे, पूतना के दर्शन से जनित अपूर्व भय से अच्छे–अच्छे योद्धा मृतप्राय हो रहे थे, कहीं पर वेतालों और राक्षसों के आनन्दोत्सव मनाये जा रहे थे, पूतनाओं के कन्धों से गिरे शवों से निशाचर भी भयभीत हो रहे थे, आकाशसे टकरानेवाले अपूर्व भूतों के पिटारों से सारी रणभूमि व्याप्त थी। वहाँ मर रहे मनुष्य के मांस को बड़े प्रयत्न से छीन रहे थे, भक्ष्यकी अपेक्षा रखनेवाले अपने पक्षों में वहाँ पर शवों की राशि बिखेरी गई थी। लोमड़ियों के मुख से निकली हुई अग्नि की ज्वालाओं से पूर्ण संज्ञा को प्राप्त हुए और खून से लथपथ पुरुषों से चारों ओर रणभूमि ऐसी प्रतीत होती थी, मानों नये–नये अशोक–पुष्पों के गुच्छे उड़ रहे हों ॥२०–२८॥ वहाँ पर वेतालों के बालक कबन्धों के कटे हुए कन्धों में क्रीड़ा–व्यग्र थे। यक्ष, राक्षस, पिशाच आदि के आकाश में उड़ रहे उल्मुक (अर्धदग्ध काष्ठ) दीप्त हो रहे थे ॥२९॥ वहाँ पर आकाश, पर्वतों के निकुंज और गुफाओं के मध्य में पिण्ड के समान घने तमोरूप मेघों का समूह था। चंचल प्राणियों के वेग से आकुल अतएव प्रलयकाल के वायु से लोक, लोकोंमें रहनेवाले जल और उनके उपकरण जिसमें कँपाये गये हैं, ऐसे ब्रह्माण्डों के तुल्य वह रणांगण था ॥३०॥

उनतालीसवाँ सर्ग समाप्त

चालीसवाँ सर्ग

राजा विदूरथ के सोने पर सरस्वती और लीला का गृहप्रवेश और आतिवाहिक देह का तत्त्व वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामचन्द्रजी, निशाचरों के कारनामों से अत्यन्त घोर रणांगण में यमदूतों और निकृष्ट श्रेणी के जीवों की (भूत, पिशाच आदि की) चेष्टाओं के दिन में मनुष्यों के यथोचित आचरण की नाईं पूर्वोक्त प्रकार से सम्पन्न होने पर हाथ से पकड़ने के योग्य यानी निबिड़ अन्धकार राशि से जिस में साफ साफ दीवारें बनी थी ऐसे रात्रि रूपी घरमें भक्ष्य पदार्थों की प्रचुरमात्रा में प्राप्ति होने पर वस्त्र पसार कर माँगना जिनसे कोशों दूर भाग गया था ऐसे भूतगणों के क्रीड़ा करने पर निद्रा से आक्रान्त दशों दिशाओं में अन्धकार का संचार होने पर कुछ खिन्न से हुए उदाराशय लीलापति ने प्रातःकाल के कार्य में सलाह देने में दक्ष मन्त्रियों के साथ भी विचार किया, तदन्तर चन्द्रमा के सदृश आकारवाले बर्फ के सदृश शीतल शयन पर नेत्र कमलों को बन्दकर एक क्षण में निद्रा की गोद में विश्राम लिया ॥१–५॥ तदनन्तर उन दोनों ललनाओं ने पूर्वोक्त मण्डपाकाश को छोड़कर उस घर में जैसे वायु सुराखों से कमल की कली के अन्दर प्रवेश करता है, वैसे ही झरोखों के सुराखों से प्रवेश किया ॥६॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : विद्वन्मूर्धन्य, इतना बड़ा चार हाथ का यह स्थूल शरीर कमल की ताँत के समान सूक्ष्म सुराख से कैसे जल्दी प्रवेश कर गया ? ॥७॥ श्रीवसिष्ठजी ने

कहा : हे अनघ, जिसको यह भ्रम रहता है कि यह शरीर आधिभौतिक है, उस पुरुष का यह शरीर सूक्ष्म छिद्र से नहीं जा सकता ॥८॥ इस शरीर ने मुझे यहाँ प्रवेश करने से रोक दिया, अतः इस छिद्र में मैं नहीं समा सकता, क्योंकि मनुष्य शरीर का स्वभाव ऐसा ही है। जिसकी ऐसी बुद्धि पैनी आत्मा को स्थूल देह स्वरूप समझती है, वह अगमन का ही अनुभव करता है ॥९॥ किन्तु जिस पुरुष को, स्थूल मनुष्य देह में तादात्म्यबुद्धि न होने और मेरा एकमात्र आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर है, यह निश्चय होने के कारण, पहले की दृढ़वासनाओं से अत्यन्त सूक्ष्म छिद्र में भी जाने में समर्थ हूँ, ऐसा सैकड़ो बार अनुभूत है, वह पुरुष उत्तरकाल में स्थूल देह की अनुरुप निरोध आदि क्रियाओं से युक्त कैसे हो सकता है ? क्योंकि वह अतिसूक्ष्म छिद्र में गमन करनेवाले चेतन का अंशस्वरूप ही है ॥१०॥

बाहर भी वस्तुशक्ति का स्वभाव वैसे ही एकरूप देखा गया है, ऐसा कहते हैं।

जैसे जल कभी ऊपर को नहीं जाता और अग्नि कभी नीचे को नहीं जाती, वैसे चिति का भी जैसा स्वभाव है, वैसी ही वह रहती है ॥११॥

स्थूल देह में आत्मबुद्धि न रखनेवाले योगी, पिशाच आदि को भी जब स्थूलदेहजनित निरोधदुःख नहीं होता, तब द्वैतमात्र के अध्यास से रहित तत्त्वज्ञानियों को वह दुःख नहीं होता, इसमें तो कहना ही क्या है ? इस आशय से कहते हैं।

छाया में बैठे हुए पुरुष को ताप का अनुभव कहाँ से हो सकता है ? परमात्मा का यथार्थ ज्ञान होने पर उससे अतिरिक्त पदार्थ का किसी को अनुभव नहीं होता ॥१२॥

अधिष्ठान रूप ज्ञान में स्थूलता, सूक्ष्मता आदि शक्तियों का आविर्भाव होने पर भी चित्त में स्थूलत्व आदि कैसे प्राप्त होते हैं ? इस पर कहते हैं।

जैसी संवित् है, वैसा ही चित्त है, संवित् ही चित्तरूपता को प्राप्त हुई है। यदि किसी को यह सन्देह हो कि उसका अन्यथाभाव (संवित् आकारता) कैसे होता है ? तो इस पर कहते हैं। बड़े भारी प्रयत्न से वह फिर अन्य अवस्था को प्राप्त की जाती है ॥१३॥

ज्ञानप्रयत्न से अन्यथाभाव का उदाहरण देते हैं।

यह 'रज्जू' है, यों प्रयत्नपूर्वक रज्जुपदार्थ का निश्चय होने पर रज्जू में सर्पज्ञान निवृत्त हो जाता है, अन्यथा (प्रयत्न न होने पर) वह ज्यों-का-त्यों बना रहता है ॥१४॥

जैसे चित्त संवित्-शक्ति का अनुसरण करती है, वैसे ही चेष्टा भी चित्त का अनुसरण करती है, यह भी प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

जैसी संवित् होती है, वैसा ही चित्त होता है और जैसा चित्त रहता है वैसी चेष्टाएँ भी होती हैं, यह बालक तक को सुविदित है, फिर दूसरे को यह क्यों न सुविदित होगा ? ॥१५॥

स्थूल शरीर के समान आतिवाहिक चित्तशरीर का भी निरोध क्यों नहीं होता इस पर कहते हैं।

जो स्वप्न के पुरुष की नाईं और मनोरथ निर्मित प्रतिमा की नाईं केवल आकाशमात्रशरीर है (शून्यात्मकशरीर है) उसे कौन कैसे रोक सकता है ? ॥१६॥

यदि कोई शंका करें कि भौतिक शरीर ज्ञानबलसे चित्त शरीर कैसे बन जाता ? इस शंका पर कहते हैं।

वास्तव में सभी लोगों का सभी जगह चित्तमात्र ही शरीर है, किन्तु कहीं पर हृदय में स्थित ज्ञान के बल से वह कहीं आता हुआ–सा प्रतीत होता है। आता हुआ–सो प्रतीत होता है, वह भ्रम है, वास्तव में प्राणी चित्त से अतिरिक्त नहीं है, यह भाव है ॥१७॥

प्राणियों की चित्त से पृथक् सत्ता नहीं है, इसका उपपादन करते हैं।

परमात्मा की इच्छा के अनुसार ही सब प्राणियों के उत्पत्ति, विनाश आदि होते हैं, जो कि आदि सृष्टि में स्वाभाविक अज्ञान अथवा स्वाभाविक कर्म से उत्पन्न होते हैं, स्थूल भूत और भौतिक पदार्थ द्वैत कहलाते हैं, उनका मेल यानी एकदेहभावना ऐक्य होता है। उसमें कारण है पंचीकरण, वह बाद में होता है ॥१८॥

चित्त और अव्यक्त का भी शुद्ध चित्त से पृथक् अस्तित्व नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप चित्ताकाश, चिदाकाश और तीसरा भूताकाश इन तीनों को एक ही समझिए, क्योंकि अधिष्ठानसत्ता के बिना उनका स्फुरण ही नहीं होता। यानी जिसका स्फुरण जिसकी सत्ता के अधीन है, वह उससे अतिरिक्त नहीं होता, ऐसा नियम है, यह भाव है ॥१९॥

यद्यपि स्थूलशरीर और चित्तशरीर दोनों ही अधिष्ठान सत्ता के अधीन सत्तावाले हैं, फिर भी स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर में विशेषता है, वह यह कि वह निरोध का हेतु नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप इस चित्तशरीर को ऐसा समझिये कि इसने सम्पूर्ण पदार्थों में आविर्भावशक्ति प्राप्त की है। कहीं पर भी इसके लिए रोकटोक नहीं हो सकती, क्योंकि उसका उदय (आविर्भाव) संवेदन यानी पूर्व वासना और कर्म का अनुसरण करनेवाले पदार्थों की स्फूर्ति के अनुसार होता है, उसका स्वभाव बाहर की वस्तु का अनुसरण करना नहीं है, क्योंकि संवेदन के अनुसार ही उसकी इच्छा होती है। भाव यह कि वह रजतरूप से ज्ञात शुक्ति (सीप) की भी इच्छा करता है, शुक्ति का अनुसरण कर उसकी उपेक्षा नहीं करता ॥२०॥

निष्कर्ष यह कि स्थूल शरीर बाह्य वस्तुओं का अनुसरण करता है, अतः उसका निरोध होने पर भी संवेदनेच्छामात्र के अनुसारी चित्तशरीर का निरोध नहीं हो सकता सब पदार्थों में उसका आविभार्व प्राप्त ही है, यह जो कहा था, उसीका विस्तार से प्रतिपादन करते हैं।

चित्तशरीर त्रसरेणु के भीतर प्रविष्ट हो जाता है, आकाश के मध्य में स्थित होता है, अंकुर के कोष में लीन हो जाता है और पल्लव में रस बन जाता है। जलवीचियों में (लहरों में) उल्लास करता है और शिलाओं के मध्य में नाचता है। मेघ बन कर जल बरसाता है, शिला बन कर एक जगह स्थिर होता है, जब इच्छा होती है तब आकाश में जाता है, पर्वतों के अन्दर स्थित होता है, जिसमें तनिक अवकाश नहीं है ऐसा परमाणु बन जाता है, वह

रूप रंगों को धारण कर रहा पर्वत बन जाता है ऐसा पर्वत कि जो पृथिवी को धारण करता है, दृढ़मूल है और आकाशचुम्बी है, ऐसा पर्वत केवल बाहर ही नहीं होता, किन्तु देह के अन्दर भी होता है (卐) कभी आकाश बन जाता है, कभी जैसे समुद्र अपने से अभिन्न आवर्त (पानी का भँवर) रचनाओं को धारण करता है, वैसे ही यह चित्तशरीर अपने स्वरूप से अभिन्न करोड़ों ब्रह्माण्डों को चारों ओर धारण करता है ॥२१-२५॥ जिसका कर्मानुसारी प्रबोध उद्वेग से विपर्यस्त नहीं हुआ ऐसा चित्तशरीर सर्ग के आदि में आकाशादि क्रम से महान् (ब्रह्माण्डात्मा) होकर तदुपरान्त प्रारब्ध कर्मानुसारिणी प्रवृत्ति को जानता है ॥२६॥ जैसे मृगमरीचिका आदि में मिथ्या जल का उदय होता है एवं जैसे स्वप्न में यह स्फुरण वन्ध्यापुत्र हे ऐसे भ्रम का उदय होता है, वैसे ही यह आकाशात्मा भी स्वनिष्ठ असत्यबुद्धि द्वारा महान् (ब्रह्माण्डात्मा) होकर प्रस्तुतता को प्राप्त हुआ है ॥२७॥

सूक्ष्मतम चित्त ही सम्पूर्ण जगत् है, सर्वशक्तिशाली है उसको जब तक तत्त्व का परिज्ञान हो जाता है, तब वही व्यवहार में सर्वत्र अप्रतिहत और स्वतन्त्र हो जाता है, ऐसा आपने कहा। इस पर हमारी जिज्ञासा है कि क्या हम लोगों का प्रत्येक चित्त ऐसी शक्ति रखता है या नहीं ? प्रथम पक्षमें प्रत्येक पुरुष के चित्त में भिन्न-भिन्न रूप से विद्यमान जगत् सद् हो जायेगा। द्वितीय पक्ष में चित्त से उत्पन्न न हुआ जगत् चित्त से विलक्षण ही होगा, क्योंकि वैसे ही सब लोग देखते हैं, या ऐसी परिस्थिति में ज्ञान से चित्त का विनाश होने पर भी जगत् की अनुवृत्ति ही होगी, इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

महाराज, जो शक्ति आपने कही उस शक्ति से युक्त हम लोगों का चित्त है अथवा नहीं ? पहले पक्ष में प्रत्येक चित्त में भिन्न जगत् सद्रूप क्यों नहीं होगा और दूसरे पक्ष में वह चित्त से अतिरिक्त क्यों न होगा, क्योंकि ऐसा ही सब लोग देखते हैं ॥२८॥

पूर्वोक्त पक्षों से प्रथम पक्ष का ही अंगीकार कर श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, हर एक का जो चित्त है वह इस प्रकार की शक्ति से सम्पन्न है, प्रत्येक चित्त में जगत् का भ्रम पृथक् पृथक् रूप से उदित हुआ है। क्षण के तुल्य अनेक जगत् किसी की दृष्टि में निमेष भर में उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते हैं और किसी की दृष्टि में कल्प से उत्पन्न और विनष्ट होते हैं इसमें आप क्रम सुनिये ॥२९,३०॥ जिस मृत्युरूपी मूर्छा का हरेक आदमी अनुभव करता है, हे सुमते, उसे आप महाप्रलयरूपी रात्रि समझिये, महाप्रलयरूपी रात्रि का अन्त होने पर सभी लोग अलग अलग सृष्टि का विस्तार करते हैं। जिसका जैसा ज्ञान और जैसे कर्म होते है, वह तदनुरूप सृष्टि का दर्शन और अनुभव करते है, भाव यह कि जैसे रोगी चित्त-व्यामोह से पर्वतों का नृत्य देखता है, वैसे ही जीव अनादिस्वाभाविक अविद्या के प्रभाव से उत्पन्न तीन अवस्थाओं के संकल्पों को देखता है ॥३१,३२॥ महाप्रलयरूप रात्रि का अवसान होने पर जैसे समष्टिचित्तशरीर

卐 देह के अन्दर पर्वतभाव आदि स्वप्न में प्रसिद्ध ही है, इन्द्रजाल आदि में बाहर भी चित्त शरीर का पर्वतभाव देखा जाता है।

हिरण्यगर्भ समष्टिभोग्यप्रपंच का विस्तार करते हैं, वैसे ही व्यष्टिचित्त शरीर प्रत्येक जीव भी मृत्यु के अनन्तर अपने–अपने भोग्य स्वप्नादि व्यष्टि–प्रपंच का विस्तार करता है यानी अनुभव करता है ॥३३॥

'यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति' (जिसका मन से स्मरण करता है, उसे वाणी से बोलता है, उसे कर्मेन्द्रियों से करता है) इस श्रुति से और सब लोगों के अनुभव से स्मृति के तुल्य सम्पूर्ण क्रियाएँ एकवस्तुविषयक हैं, यह निश्चित है, स्मृति भी यदि स्मृति का कारण अनुभव सत्य हो तो यथार्थ होती है और उसके कारणभूत अनुभव के मिथ्या होने पर असत्य होती है । ऐसी परिस्थिति में हम लोगों में भ्रान्ति प्रचुरमात्रा में विद्यमान है और हम लोगोंका संकल्प असत्य है, अतः हमारी स्मृति के यथार्थ होने के कारण उससे उत्पन्न कतिपय स्वप्न आदि प्रपंच भले ही मिथ्या हों, किन्तु हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) सर्वज्ञ होने से भ्रान्ति शून्य हैं और सत्यसंकल्प हैं, अतः उनकी स्मृति यथार्थ कदापि नहीं हो सकती, फिर उनके द्वारा सृष्ट प्रपंच मिथ्या कैसे ? इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, जैसे व्यष्टि जीवों को मरने के बाद तुरन्त स्मृति से अपने द्वारा रचित सर्ग का अनुभव होता है, वैसे ही समष्टि जीव (ब्रह्मा) भी चिरकालिक महाप्रलय के बाद अपनी यथार्थ स्मृति से सृष्ट प्रपंच का अनुभव करते हैं, अतः 'उनकी स्मृति से उत्पन्न प्राक्तन सत्य पदार्थ ही था, कल्प के सत्य विश्व के कारण हो सकते हैं, अतः विश्व अकारण नहीं है । विश्व ब्रह्मा से अतिरिक्त कारण से शून्य है, ऐसी जो पहले प्रतिज्ञा की थी, उस मत का व्याघात हुआ, यह भाव है ॥३४॥

जैसा आप (श्रीरामचन्द्रजी) कहते हैं, वैसा होता, यदि ब्रह्मा की आदि सृष्टि यथार्थ अनुभव से उत्पन्न सृष्टि की हेतु स्मृति होती तो पहले पहल हिरण्यगर्भपद को प्राप्त हुए उपासक को उक्त स्मृति नहीं हो सकती, कारण कि उसकी स्मृति उपासना से प्राप्त संस्कार से उत्पन्न है, यथार्थ अनुभव से उत्पन्न नहीं है । पूर्व जन्म की उपासना व्यष्टि की ही है । व्यष्टिका समष्टिभाव चिन्तन यथार्थानुभव नहीं है । इसलिए यथार्थ उपासना के संस्कार से उत्पन्न स्मृति से जन्य होने के कारण आदि सर्ग में सत्यत्व का प्रसंग नहीं आ सकता । पहले कल्प के कोई भी सर्वज्ञ पुरुष द्वितीय कल्प में नहीं कर सकते, क्योंकि सभी पहले कल्प में ही मुक्त हो चुके । द्वितीय कल्प में आदि सृष्टि की हेतुभूत स्मृति पूर्वकल्प की सृष्टि में अनुभूत मिथ्या पदार्थ विषयक ही है, इसलिए कहीं भी सृष्टिसत्यता का प्रसंग नहीं हो सकता, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं ।

वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, महाप्रलय में सभी हरि, हर आदि विदेह मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं, अतः पूर्वसर्ग की स्मृति का संभव ही कहाँ है ? ॥३५॥ तत्त्वज्ञानी हम लोग भी अवश्य मुक्त हो जाते हैं फिर ब्रह्मा आदि क्यों न विदेहमुक्त होंगे ? श्रीरामजी, इस लोक में आपके सदृश जो अन्य जीव हैं, उनकी मृत्यु और उत्पत्ति के हेतुभूत सृष्टि में पूर्वजन्म के मिथ्या पदार्थों के वासनानुभव से जन्य ही स्मृति कारण होती है, क्योंकि

उनका मोक्ष नहीं होता ॥३६,३७॥

यदि श्रीरामचन्द्रजी को यह शंका हो कि हिरण्यगर्भ की सृष्टि प्रकृति से महत्, अहंकार आदि क्रम से होती है, ऐसा पुराण आदि में सुना जाता है। जीव की सृष्टि की समता कैसे हो सकती है, तो उसमें भी प्रकृति, महत् आदि के भ्रम का उपपादन करते हैं।

मृत्युरूपी मूर्च्छा के अव्यवहित उत्तर क्षण में अन्दर तनिक तनिक उन्मेष होता हुआ (स्फुरित होता हुआ) भी बाहर जो जीव उन्मेषरहित ही रहता है, पुराण आदि शास्त्रों में उसकी वह अवस्था 'प्रधान' यानी मूलप्रकृति कही गई है ॥३८॥

'आकाश एव तदोतं च प्रोतं च' (आकाश में ही वह ओत और प्रोत है) इत्याति श्रुति से आकाशादि शब्द भी उसमें प्रसिद्ध हैं, ऐसा कहते हैं।

पूर्वोक्त मूलप्रकृति आकाश प्रकृति नाम से भी शास्त्रों में कही गई है, यह अव्यक्त यानी मूल प्रकृति जड़ भी है और अजड़ भी है। चित् का प्रतिबिम्ब पड़ने और न पड़ने से जड़ाजड़ है अर्थात् स्वभावतः जड़ है और चित्प्रतिबिम्ब पड़ने से अजड़ (चेतन) है। वह विश्वबीज मूलप्रकृति ही संस्मृति और अस्मृति की यानी सृष्टि और संहार की भी मूल कारण है और वही भव के उदय और अन्त की अवधि है ॥३९॥ वही व्योमात्मक प्रकृति जब प्रबुद्ध यानी चित्प्रतिफलित होती है अर्थात् जब उसके अहंकार का उदय होता है तब तदवस्थ आकाश से पाँच तन्मात्रा, दिशा, काल, भूत आदि सम्पूर्ण सूक्ष्म भाव उत्पन्न होते हैं ॥४०॥ तदनन्तर वे ही कुछ स्थूल होकर पाँच इन्द्रियरूप से उद्‌बुद्ध होते हैं। वे ही स्वप्न और जाग्रत में देहरूपसे ज्ञात होते हैं, वही जीव का आतिवाहिक स्वरूप है ॥४१॥ चिरकालिक प्रत्यय से कल्पना द्वारा स्थूल हुआ वह आतिवाहिक स्वरूप बालक की नाईं मैं आधिभौतिक हूँ, इस प्रतीति को धारण करता है ॥४२॥ तदुपरान्त स्थूल देह के आश्रित चक्षु आदि के आधीन स्थित हुई तत्–तत् देश और काल के पदार्थों की कल्पनाएँ उदित न होती हुई भी वायु की स्पन्दन क्रिया के तुल्य प्रादुर्भूत होती हैं ॥४३॥ मिथ्या ही यह जगत्–भ्रम इस प्रकार बुद्धि को प्राप्त हुआ है। यद्यपि स्वप्न में स्त्रीसंगम के तुल्य इसका अनुभव होता है तो भी यह असत् ही है।

शंका : यदि यह असत् ही है तो इसका अनुभव कैसे होता है ?

समाधान – जैसे स्वप्न में स्त्री के संगम का अनुभव होने पर भी वह असत् है, वैसे ही यद्यपि इसका अनुभव होता है फिर भी यह असत् ही है ॥४४॥

जहाँ पर वह प्राणी मरता है, वहाँ उसी को शीघ्र देखता है, वहीं पर इस भुवनाभोग को इसी प्रकार से स्थित देखता है ॥४५॥ आगन्तुक देह आदि रूप से आत्मवान् हुआ सा व्योमरूपी जीव आगन्तुक देह आदि को आत्मा समझकर निर्मल चिदाकाश में ही 'यह मैं हूँ,' 'यह जगत् है' इस व्योमरूपी भ्रम का अनुभव करता है ॥४६॥

उक्त जगद्‌भ्रम का ही विस्तार से प्रतिपादन करते हैं।

उस जगद्‌भ्रम का अनुभव करता है, जो इन्द्र आदि देवताओं, अमरावती आदि श्रेष्ठ नगरों, मेरु आदि उनके पर्वतों, सूर्य, चन्द्र और सितारों से बड़ा मनोहर है, जरा (बुढ़ापा),

मरण, दुश्चिन्ताएँ, शारीरिक क्लेश आदि से परिपूर्ण मर्त्यलोकरूप खोखले से युक्त है, इसमें अपनी इष्ट वस्तु के संपादन में और अनिष्ट वस्तु के निवारण में स्थूल सूक्ष्म चर–अचर सभी प्राणी उद्योगशील हैं, दिन, रात, कल्प, क्षण और प्रलय समुद्र, पर्वत, नदियों और उनके अधिपतियों (अधिष्ठाता देवों) से युक्त हैं। जिस जगद्भ्रम में मैं इस स्थान में इस पिता से उत्पन्न हुआ हूँ, ऐसा निश्यच रहता है, यह मेरी माता है, यह मेरी धन–सम्पत्ति है, ऐसी दृढ़ वासना जागरुक रहती है, यह मेरा पुण्य है, यह पाप है, ऐसी कल्पना बद्धमूल रहती है, मैं पहले बच्चा था, किन्तु आज युवक हूँ, ऐसी प्रतीति रहती है, यों हृदय में विलास को प्राप्त हो रहे जगद्भ्रम को देखता है ॥४७–५०॥

अब प्रत्येक जीव के उसी संसार का वनसमूह रूपसे वर्णन करते हैं।

यह संसाररूपी वन समूह प्रत्येक जीव में उदित हुआ है। उक्त संसार रूप वनखण्ड में तारे ही फूल हैं, काली मेघघटा ही चंचल पल्लव हैं, इधर उधर चल फिर रहे मनुष्य ही मृगों के झुण्ड हैं, देवता और दैत्य ही पक्षीगण हैं, आलोक्य प्रकाशपूर्ण दिन ही फूलों का रज यानी पराग है, रात्रि ही बड़े घने कुंज (लतागृह) हैं। वह समुद्ररूपी बावड़ी से पूर्ण है, सुमेरु आदि पर्वत उसके ढेले हैं, चित्तरूपी कमलबीज यानी कमलगट्टे के भीतर संस्काररूप से बैठी हुई चित्तवृत्तियाँ ही उसमें अंकुर हैं ॥५१–५३॥ जहाँ पर यह जीव मरता है, वहीं पर इस प्रकार से वर्णित वनखण्ड को एक क्षण में देखने लगता है। इस प्रकार प्रत्येक जीव में उदित हुए जगद्रूप वनखण्डों में पर्वतश्रेणियों, समुद्रसमुदायों, द्वीपों और लोकों को ब्रह्म के अन्दर देखनेवाले अनेक करोड़ ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, देवता, विष्णु और सूर्य चले गये हैं यानी नष्ट हो गये हैं ॥५४,५५॥ इस प्रकार ये मिथ्या ब्रह्माण्ड की सृष्टियाँ अनेक बार बीत चुकी हैं, बीतेगी और बीतती हैं, जो ब्रह्म में आविर्भूत हुई हैं, उन्हें गिनने की किस में सामर्थ्य है ? ॥५६॥

इस प्रकार प्रपंच के आरोपक्रम का वर्णन कर अब क्रमशः अपवाद का वर्णन करते हैं।

इस प्रकार कुड्यमय (दीवार के तुल्य स्थूल) जगत् मन के संकल्परूप मनन से अतिरिक्त है ही नहीं, क्योंकि 'त्रीणि रूपीणीत्येव सत्यम्' ऐसी श्रुति है। ( )

शंका – स्थूल पदार्थ स्थिर स्वभाववाले होते हैं और मन तो चंचल है, ऐसी अवस्था में विश्व की मनोमात्रता कैसे ?

समाधान – यद्यपि बाहर विश्व स्थिर प्रतीत होता है तथापि मनन करने में मन से

छान्दोग्योपनिषद् ६–४–१ में कहा है – त्रिवृत्कृत अग्नि का जो लाल रूप लोक में प्रसिद्ध है उसे अत्रिवृत्कृत तेज का रूप जानो, जो, अग्नि का शुक्लरूप है, उसे त्रिवृत् न किये गये जल का रूप जानो और जो अग्नि का काला रूप है, उसे अत्रिवृत्कृत पृथ्वी का रूप जानो। ऐसी अवस्था में जिसे तुम तीन रूपों से अतिरिक्त 'अग्नि'समझते थे, उस अग्नि का अग्नित्व गया यानी उक्त तीन रूपों का विवेक होने से पहले जो तुम्हारी अग्निबुद्धि थी वह अग्निबुद्धि गई और अग्निशब्द भी गया क्योंकि वह नाममात्र है, तीन रूप ही सच हैं। जैसे उक्त स्थल में तीन रूप से पृथ्वी अग्नि नहीं है, वे तीन रूप ही सत्य है, स्थूल अग्नि सत्य नहीं है, वेसे ही प्रकृत में मन से अतिरिक्त स्थूल विश्व नहीं है।

अपनी इच्छानुसार जाना जाता हुआ भीतर अस्थिरस्वभाव ही प्रतीत होता है, मनसे मलिन होने पर मलिन सा और मनोरथ आदिमें उत्पन्न कर दूसरी जगह रक्खा जाता हुआ सा सभी लोगों द्वारा अनुभूत होता है, उसी का इस समय आप अपने अनुभव से विचार कीजिए ॥५७॥

मन के स्वरूप का जब विचार करते हैं, तब वह साक्षी से अतिरिक्त नहीं ठहरता और साक्षी भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है, यों एकमात्र परिपूर्ण चित् का ही परिशेष रहता है, ऐसा कहते हैं।

जो अखण्ड आनन्दस्वरूप चिदाकाश है, वही मन कहा गया है, चिदाकाश से अतिरिक्त मन नहीं है और जो चिदाकाश है वही परम पद है ॥५८॥

उक्त बात का ही दृष्टान्तों से समर्थन करते हैं।

जो जल है वही आवर्त है यानी आवर्त जल से अतिरिक्त नहीं है, किन्तु आवर्त वस्तु सत् (यथार्थ) नहीं है, वैसे ही द्रष्टा ही दृश्य की नाईं स्थित है दृश्य कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है ॥५९॥ चिदाकाश का अभूत असत्य अथवा अनादि मायाकाश में अथवा सूक्ष्म भूतों के कार्यभूत चित्ताकाश में जो जीवरूप से स्फूरण है, वही नाम और रूप से नानास्वरूप को प्राप्त होनेवाला जगत् कहा जाता है। जैसे कि ऐन्द्रजालिक की मणिका आकाश में कचन (स्फुरण) बहुत प्रकार के गन्धर्वनगररूप छिद्रों से युक्त सा होता है। भाव यह कि उक्त चिदाकाश ही तत्त्व यानी परमार्थ वस्तु है ॥६०॥ मुझसे जिसका अर्थ (अधिष्ठान सन्मात्र) ज्ञात है वह जगत् शब्द परम अमृत (नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अमृत, अद्वय, ब्रह्म) है और आपसे जिसका अर्थ (आरोपितसत्ता) ज्ञात है ऐसा जगत्–शब्द परम अमृत है ही नहीं। जो 'त्वम्' और 'अहम्' शब्द की अभिलाषा करते है, वह जगत् प्रमाता भी मुझसे जाना गया परम अमृत है और आपका जाना गया जगत् प्रमाता अमृत है ही नहीं ॥६१॥

उक्त का उपसंहार कर उसका प्रकृत में सम्बन्ध जोड़ते हैं।

इससे यह निश्चित हुआ कि लीला और सरस्वती देवी का शरीर आकाशवत् सूक्ष्म था अतएव सर्वत्र जा सकती थी। उनके अत्यन्त सूक्ष्म छेद में भी प्रवेश करने में कोई रोकटोक नहीं हो सकती थी, वे दोनों निष्पाप और परमात्मा के तुल्य विशुद्ध थी ॥६२॥ अपनी स्पृहा और कामना के अनुसार सदा यत्र तत्र आकाश में आविर्भूत होती थी, इस कारण से राजा विदूरथ के घर में उनका गमन हुआ ॥६३॥ चिदाकाश का सर्वत्र सम्भव है, कहीं पर भी उसका प्रतिरोध नहीं होता। वही कलन होकर यानी मानसिक विषयों का अवधारण करने तक बाहर प्रसरण करनेवाला बनकर यथार्थ ज्ञान होता है। उस आतिवाहिक देह को सूक्ष्म ही कहते हैं, उसे कौन पुरुष किसलिए और किस प्रकार से रोक सकता है, यानी उसका निरोध किसी प्रकार भी नहीं हो सकता ॥६४॥

चालीसवाँ सर्ग समाप्त

इकतालीसवाँ सर्ग

सोकर जागे हुए राजा द्वारा घर में प्रविष्ट हुई देवियों का पूजन तथा
राजा के वंश का पूर्वजन्म की स्मृति का और ज्ञप्ति द्वारा आत्मोपदेश का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी,उन दो देवियों के प्रविष्ट होने पर राजा पद्म के घर के भीतरी भाग दो चन्द्रमाओं के उदय होने पर जैसा प्रकाश होता है, वैसे प्रकाश से वह सुन्दर हो गया ॥१॥ उसमें स्पर्श होने पर बड़े भले लगनेवाले और निर्मल सुगन्धिवाले मृदु मन्दार पवन बहने लगे। उन देवियों के प्रभाव से राजा के सिवा घर के अन्य नर नारी निद्रायुक्त हो गये ॥२॥ वह सुन्दरता में नन्दन वन के तुल्य हो गया, व्याधि, पीड़ा उससे दूर हो गई, वसंत के उल्लाससे युक्त वन की नाईं और प्रातः काल के खिले हुए कमल की नाईं रमणीक हो गया ॥३॥ चन्द्रमा के द्रव के समान शीतल उनकी देह के कान्ति पटल से, अमृत से सिक्त हुए की नाईं, आह्लादित होकर वह राजा जाग उठा ॥४॥ उसने दो आसनों पर बैठी हुई मेरु के दो शिखरों पर उदित हुए दो चन्द्रबिम्बों की नाईं, दो अप्सराओं को देखा। राजा को बड़ा विस्मय हुआ, एक क्षणभर अपने मन में विचारकर जैसे शेषशय्या से चक्रपाणि भगवान् गदाधर उठते हैं, वैसे ही वह शयन से उठा ॥५,६॥ उसने सोते समय इधर-उधर अस्त-व्यस्त हुए माला, हार और धोती को अपने-अपने स्थान पर ठीक किया, सिरहाने के पास रक्खी हुई फूल की टोकरी से दास की नाईं स्वयं ही खूब फूले हुए फूल अंजलि में लिये और भूमि में ही पद्मासन बाँधकर बड़े विनयभाव से देवियों से यह कहा ॥७,८॥ हे देवियों, आपकी जय हो, आप दोनों जन्म, दुःखमयजाल और त्रिविध तापरूपी दाह-दोष को दूर करने के लिए चन्द्रकान्ति (चाँदनी) हैं, बाह्य और आभ्यन्तर अन्धकार के विनाश करने के लिए सूर्य के प्रकाशरूप हैं ॥९॥ यह कहकर राजा ने, जैसे कमल थे वैसे ही, उनके चरणकमलों पर पुष्पांजलि अर्पित की ॥१०॥ देवी सरस्वती ने, लीला के प्रति राजा का जन्मवृत्तान्त कहने के लिए, संकल्प से पास में स्थित मन्त्री को जगाया। जागे हुए मन्त्री ने अप्सराओं के सदृश मनोहररूपवाली दो देवियों को देखर उन्हें प्रणाम किया और उनके चरणों में पुष्पांजलि अर्पित कर बड़े विनय से उनके आगे उपस्थित हुआ ॥११,१२॥ देवी ने राजा से कहा : हे राजन्, आप कौन हैं, किसके पुत्र हो और कब यहाँ उत्पन्न हुए ? इस प्रश्न को सुनकर मन्त्री ने उत्तर दिया ॥१३॥ हे देवियों, यह आप लोगों का ही प्रसाद है कि जो मैं आपके सामने भी बोलने में समर्थ हो रहा हूँ। अतः हे देवियों, आप लोग मेरे स्वामी का जन्म सुनिए ॥१४॥ पहले ईक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुए राजा श्रीमान् कुन्दरथ थे, 'उनके कमल के सदृश विशालनेत्र थे और उन्होंने अपने बाहुओं की छाया से आच्छादित की नाईं शत्रुओं और दरिद्रता से जनित दुःख के निवारण द्वारा पृथिवी का पालन किया। उनका चन्द्रमा के सदृश सुन्दर मुख वाला भद्ररथ नाम का लड़का हुआ। उसका विश्वरथ नाम का लड़का हुआ। विश्वरथ का बृहद्रथ नाम का लड़का हुआ। उसका सिन्धुरथनामक लड़का हुआ। सिन्धुरथ के लड़के का नाम शैलरथ पड़ा। शैलरथ से कामरथ

नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। कामरथ से महारथ पैदा हुआ। महारथ का विष्णुरथ लड़का हुआ। उसका लड़का नभोरथ हुआ। ये हमारे स्वामी राजा नभोरथ के महान् पुण्यपुंजों से समुद्रसे चन्द्रमा की नाईं उत्पन्न हुए हैं, पूर्ण चन्द्रमा के समान इनकी निर्मल आकृति है, जैसे चन्द्रमा अपनी अमृतस्राविणी किरणों से लोगों को आह्लादित करते है, वैसे ही इन्होंने अमृततुल्य अपने स्नेह, मधुरता, उदारता, दया आदि गुणगणों से लोगों को तृप्त कर दिया है। ये माता सुमित्रा की कोख से उनके महान् पुण्यपुंजों से, श्रीपार्वतीजी से गुह की नाईं, उत्पन्न हुए हैं। इनका शुभ नाम विदूरथ है। इनके विरक्त और मोक्षेच्छु पिताश्री, जब ये दस ही वर्ष के थे, इन्हें राज्य देकर तप करने के लिए वन में चले गये थे ॥१५-२०॥ हे देवियों, तभी से लेकर ये धर्मपूर्वक भूतल का पालन कर रहे हैं। आज हमारे पुण्यरूपी वृक्ष के फलने पर आप यहाँ प्राप्त हुई हैं ॥२१॥ हे देवियों बड़े भारी तप आदि सैकड़ों क्लेशों से भी आपके दर्शन मिलना कठिन हैं। इस प्रकार दर्शनप्रदानरूप आपके प्रसाद से ये महाराज श्रीमान् विदूरथ आज अत्यन्त पवित्र हो गये हैं, यह कहकर जब मन्त्री चुप हो गये और राजा नीचे मुखकर भूमि में पद्मासन बाँधकर चुपचाप बैठे थे तब 'राजन्, आप विवेक से स्वयं अपने पूर्वजन्म का स्मरण कीजिए' यह कह रही सरस्वती ने उनके मस्तक पर हाथ से स्पर्श किया। देवी के स्पर्श करने के अनन्तर पद्म का हृदयान्धकार यानी माया विनष्ट हो गई ॥२२-२५॥ देवी सरस्वती के स्पर्श करने पर राजा पद्म का हृदय बाहर-भीतर प्रकाशपूर्ण हो गया। राजा ने अपने पूर्व जन्मों के वृत्तान्त का, जो कि स्फुरित होता हुआ सा अन्तःकरण में स्थित था, स्मरण किया ॥२६॥ राजा ने लीला के विलास (कर्तव्य) के साथ-साथ शरीर और एकच्छत्र राज्य के त्याग को, कभी पहले अनुभवपथ में आरूढ़ न हुए भी देवी सरस्वती के वृत्तान्त को, लीला की अत्युन्नति को और अपने वृत्तान्त को जाना। उसे जानकर राजा समुद्र में गोते लगाता हुआ सा विस्मय में पड़ गया। उसने अपने मन में कहा, बड़े खेद की बात है कि संसार में यह माया फैलायी गई है ॥२७,२८॥ इस समय इन देवियों की कृपा से मुझे इसका परिज्ञान हुआ है। राजा ने कहा : हे देवियों, यह क्या बात है कि मुझे मरे एक ही दिन हुआ है, पर यहाँ मेरी आयु बीत चली है, मुझे पैदा हुए सत्तर वर्ष व्यतीत हो गये हैं। मुझे इस जन्म के अनेक कार्यों का जो स्मरण हो रहा है मुझे अपने पितामह की जो याद आ रही है, मैं अपनी बाल्यावस्था का जो स्मरण करता हूँ, युवास्था का जो स्मरण करता हूँ, मित्रों की मुझे जो स्मृति हो रही है, बन्धुबान्धव आदि परिवार का जो स्मरण हो रहा है, सो कैसे ?

अधिष्ठान चिन्मात्र ही सम्पूर्ण प्रपंच का तत्त्व है यानी यथार्थ स्वरूप है, वही अपना स्वरूप है उससे अतिरिक्त सब मायामात्र है, यों तत्त्व उपदेश करने के लिए पहले दूर देश और काल में स्थित अन्य लोक में गमन भ्रम का निवारण कर रही सरस्वती देवी ने कहा :

राजन्, मरणरूपी महामोहमयी मूर्छा के बाद तुरन्त उसी क्षण में तुम्हारे इसी घर के, उसके अधिष्ठानभूत चिदाकाश के मायारूप आवरण से तिरोहित होने पर, गिरिग्रामवाले ब्राह्मण के घर के अन्दर स्थित होने पर उक्त पद्मलोकान्तर में उसी राजमहल में उसमें भी

प्रधान राजसदन के अन्दर आकाश में ही यह ब्रह्माण्डमण्डप है। उस ब्रह्माण्डमण्डप के अन्दर यह प्रत्यक्ष देखा जाता हुआ तुम्हारा जन्म आदि आपाततः प्रतीत हो रहा है ॥२९–३३॥

शंका – तो क्या वही ब्रह्माण्ड जगत् इस प्रकार प्रतीत होता है ?

समाधान – नहीं, प्रत्येक यानी भिन्न–भिन्न जगद्–रुपी घर ब्राह्मणगृह के अन्दर है और मेरे भक्त तुम्हारा जीव भी ब्राह्मण के घर के अन्दर है ॥३४॥

उसी ब्राह्मणगृह में उसी मण्डप में उसका (तुम्हारे जीव का) भूतल है उसी घर के अन्दर यह परिदृश्यमान पाद्मसंसारमण्डल है। वहीं पर तुम्हारा यह महा–समृद्धिशाली घर स्थित है, वहीं पर निर्मल आकाशके तुल्य निर्मल तुम्हारे चित्तमें व्यवहार भ्रम का विस्तार करनेवाला यह दृश्य प्रपंच प्रतीति को प्राप्त हुआ है। व्यवहारभ्रम परम्परा की विस्तारकता का, जो कि सबको अनुभूत है, उल्लेख करते हैं। जैसे कि यह मेरा जन्म है, मेरा इक्ष्वाकु कुल है, ये इस नाम के मेरे पिता, पितामह आदि पहले हुए थे। मैं उत्पन्न हुआ, बालक रहा, जब मैं दस वर्ष का था, मेरे पिता यहाँ पर राज्य में मेरा अभिषेक कर संन्यासी हो बन को चले गये। तदुपरान्त दिग्विजय करके राज्य को कण्टकशून्य (शत्रुविहीन) बनाकर इन मन्त्रियों और नागरिकों के साथ मैं पृथिवी का पालन करता हूँ, यज्ञक्रिया करते और धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करते–करते मेरी अवस्था के सत्तर वर्ष व्यतीत हो गये हैं। इस समय शत्रुसेना ने मेरे ऊपर चढ़ाई कर रक्खी है। उसके साथ मेरा भीषणयुद्ध चल रहा है, युद्ध करके मैं घर आया हूँ, इस घर में यथापूर्व स्थित हुआ हूँ। ये देवियाँ मेरे घर में प्रकट हुई हैं, मैं इनका पूजन करता हूँ। यह निश्चित बात है कि पूजित देवता मनोकामना पूरी करते हैं। इन दोनों में से एक देवी ने जैसे सूर्य की प्रभा कमल को विकास देती है वैसे ही मुझे यहाँ पर ऐसा ज्ञान दिया जो पूर्व जन्मस्मृतिप्रद है, इस समय मैं कृतकृत्य हो गया हूँ, मेरे सन्देह कट गये हैं ॥३५–४४॥ मैं सम्पूर्ण दुःखों के उपरत होने से शान्त होऊँगा, निरतिशय सुख की समृद्धि होने से मुक्त होऊँगा, केवल एकरस सुख ही होकर मैं स्थित होऊँगा, इस प्रकार की प्रचुर शाखा–प्रशाखाओं से युक्त भ्रान्ति, जो कि नाना प्रकार के आचार विहारों और लोकान्तर में गमन से युक्त है, फैली है। पहले जिस मुहूर्त में तुम मृत्यु को प्राप्त हुए, उसी समय यह प्रतिभा अपने–आप तुम्हारे हृदय में उदित हुई। जैसे नदी का प्रवाह एक आवर्त का त्यागकर शीघ्र ही दूसरे आवर्त का ग्रहण करता है यानी बनाता है, वैसे ही चित्तप्रवाह भी एक सृष्टिका त्यागकर दूसरी सृष्टि का ग्रहण करता है। जैसे आवर्त भी अन्य आवर्त से मिला हुआ और कभी बिना मिला हुआ प्रवृत्त होता है वैसे ही यह सृष्टि भी जाग्रत में अन्य जीवों की सृष्टि से युक्त और स्वप्न में अमिश्र यानी अन्य जीवों की सृष्टि से रहित है, उस मरण मुहूर्तमें चिद्रूप सूर्य जो तुम हो तुम्हारी प्रतिभा को प्राप्त हुआ असद्रूप यह जगज्जाल उपस्थित हुआ है। जैसे स्वप्न के एक मुहूर्त के अन्दर सैकड़ों वर्षों की भ्रान्ति होती है ॥४५–५०॥ जैसे मनोरथ में जीवन और मरण होते हैं, जैसे गन्धर्वनगर में भीत और भीत को शोभित करनेवाले चित्रों की प्रतीति होता है, जैसे नौका के वेग से चलने पर वृक्ष और पर्वतों का कम्पन (चलन) प्रतीत होता है, जैसे अपने वात, पित्त आदि धातुओं का सन्निपात

होने पर पर्वतों का चलना प्रतीत होता है और जैसे स्वप्न में अपने शिर का काटना दिखाई देता है, जो पूर्व में कभी अनुभूत नहीं है और जो अव्यवहार्य है, वैसे ही विस्तृत रूपवाली अतएव दुरुच्छेद्य यह प्रपंच भ्रान्ति भी मिथ्या ही है ॥५१-५३॥

तब परमार्थ वस्तु क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर देवी कहती है।

वास्तव में न तो तुम कभी उत्पन्न हुए हो और न तुम कभी मरे हो, किन्तु विशुद्ध विज्ञानस्वरूप शान्त तुम अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में स्थित हो ॥५४॥

दृश्य के मिथ्या होने पर दृश्यसंवलित चिदाभासरूप दृश्यदर्शन भी मिथ्या ही है, यों विषयशून्य केवल चिन्मात्र का शेष है, इस अभिप्राय से देवी कहती है।

तुम इस समस्त प्रपंच को देखते से हो, वास्तव में कुछ भी नहीं देखते, क्योंकि विषयी जीव ही नहीं है, तब देखोगे क्या ? किन्तु तुम ही निर्मल महामणि के समान और भास्कर सूर्य आदि के समान अपने स्वरूप में अपने से नित्यसर्वात्मभाव से प्रदीप्त होते हो। वस्तुतः न तो यह भूतल सत् है, न यह तुम (प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा विदूरथदेह) सत् हो, न ये पर्वत हैं, न ये ग्राम हैं, और न ये तुम्हारे परिजन, शत्रु ही सत् हैं, न हम लोग ही सत् हैं ॥५५,५६॥

अल्पतर में महत्तर वस्तुका न समा सकना ही प्रपंच के मिथ्यात्व का कारण है, इस आशय से कहते हैं।

गिरिग्राम के ब्राह्मण के मण्डपाकाश में सभार्य लीलापति से युक्त यह भास्वर (दैदीप्यमान) जगत् प्रतीत होता है। उसमें बहुत से भवनों से सुशोभित लीला की राजधानी है। उक्त ब्राह्मण के गृहाकाशमें इस प्रकार से जाना गया यह जगत् है। जिस घर में इस समय हम लोग बैठे हैं, वह उस जगत् में प्रतीत होता है। इस प्रकार मण्डपों का जो आकाश है, वह आकाश आदि से शून्य निर्मल (ब्रह्म) ही है। उसी प्रकार मण्डपों में न पृथिवी है और न नगर ही है, न वन है, न पर्वतश्रेणियाँ हैं, न मेघ, नदियाँ और सागर ही हैं। केवल चिन्मात्रपूर्ण उस ब्रह्मरूप मिथ्या घर में मिथ्या पुरुष विहार करते हैं। न लोग देखते हैं, न राजा हैं और न पर्वत हैं ॥५७-६१॥

लोग नहीं देखते हैं, इस कथन से मन्त्री, सेवक आदि स्वप्न में ऐसे देखे गये लोगों के तुल्य हो जायेंगे, पर यह तो संभव नहीं है, ऐसी शंका से राजा ने पूछा।

विदूरथ ने कहा : हे देवि, यदि ऐसा है, तो मेरे ये अनुचर यहाँ पर कैसे सत्य हैं ॥६२॥ वे मेरे सदृश्य सत्यस्वभाव आत्मा में जीवभाव से युक्त हैं अथवा नहीं। जगत् स्वप्न के पदार्थ की नाईं प्रतीत होता है। मेरे स्वप्ननर आदि सत्स्वभाव मुझ में कैसे सत्य होंगे और कैसे न होंगे ? यह आप मुझसे कहिये ॥६३॥

यदि अज्ञानियों की दृष्टि से जीवभाव से उनकी सत्यता पूछते हो, तो वह सत्यता तुम्हारी भी नहीं। तत्त्वदृष्टि से अधिष्ठान चिन्मात्ररूप से उनकी सत्यता पूछते हो, तो वह उनकी भी है ही, इस आशय से देवीजी ने उत्तर दिया।

श्रीसरस्वतीजी ने कहा : हे राजन्, जिन लोगों को ज्ञातव्य वस्तु ज्ञात हो चुकी है और

जो शुद्ध बोधस्वरूप हैं, ऐसे चिदाकाशरूपी पुरुषों की दृष्टि से यह जगत् समबन्धी कुछ भी पदार्थ सत् नहीं है। जो शुद्ध बोधस्वरूप है, उसे जगद्भ्रम कहाँ से हो सकता है ? रस्सी में सर्प भ्रम के निवृत्त हो जाने पर फिर सर्पभ्रम कहाँ से होगा ? जगद्भ्रम असत्य है, यह जब भलीभाँति ज्ञात हो गया, फिर उसकी सत्ता कैसे ? मरुभूमि में प्रतीत होनेवाले मृगजल के स्वरूप का परिज्ञान होने पर फिर उसमें जलबुद्धि कैसे हो सकती है ? स्वप्नकाल में, जाग्रत से अपने स्वरूप के परिज्ञात होने पर अपना मरण कैसे सत्य हो सकता है ? अपनी स्वप्नावस्था में अमृत पुरुष को ही अपने मरण का भय होता है। मेघरूप आवरण का विनाश होने पर जैसे शरत्कालीन आकाशकी शोभा स्वच्छ हो जाती है, वैसे ही आत्मज्ञान से अज्ञानरूप आवरण का विनाश होने पर जिसका हृदय स्वच्छ और स्फुरित होती हुई आत्मप्रभासे धवल और आत्मैक्यापत्ति से पूर्णता रूप विस्तार को प्राप्त हुआ है, ऐसे शुद्ध और तत्त्ववेत्ता पुरुष की बुद्धि में अज्ञानियों की दृष्टि में होनेवाली 'मैं' और 'जगत्' ऐसी प्रतीति वस्तुतः नहीं है, वह केवल वाचिक व्यवहारमात्र है। महर्षि वाल्मीकिजी के इतनी कथा कह चुकने पर दिन बीत गया, सूर्य भगवान् अस्ताचल–शिखर की ओर अग्रसर हो गये और भरद्वाज आदि मुनियों की सभा वाल्मीकिजी को प्रणाम कर सायंकाल के सन्ध्यावन्दन आदि कृत्य के लिए स्नानार्थ चली गई एवं रत्रि बीतने पर सूर्य के उगते उगते मुनिमण्डली सभा स्थान में आ गई ॥६४–६९॥

इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त

बयालीसवाँ सर्ग

अज्ञानावस्था में जगत् और स्वप्न की सत्यता का तथा वरदानपर्यन्त अवशिष्ट कथा का वर्णन।

तत्त्वज्ञ की दृष्टि से जगत् की असत्यता का विस्तार से वर्णन कर उसको दृढ़ करने के लिए अज्ञानियों की दृष्टि से उसकी अत्यन्त दृढ़ सत्ता कहते हैं।

जिस पुरुष की आत्मतत्त्व में दृढ़ व्युत्पत्ति नहीं हुई और बुद्धि में बोध का उदय नही हुआ उसके लिए यह जगत् असत् भी परमार्थ सत् है; क्योंकि लोक में जो अर्थ क्रियाकारी है, उसीकी सत्यरूप से प्रसिद्धि होती है, यह भाव है ॥१॥

असत् पदार्थ की अज्ञानी के प्रति अर्थ क्रियाकारिता कहाँ देखी गई है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं।

जैसे असत् वेताल भी बालक को मृत्यु पर्यन्त सब दुःखों का देनेवाला है, वैसे ही मूढ़मति को सत् की नाईं प्रतीत हो रहा यह असत् जगत् मृत्युपर्यन्त सब दुःखों का देनेवाला है। जैसे मरूभूमिस्थित सूर्य का प्रकाश ही अज्ञ मृगों की दृष्टि में सत्यजलरूप से प्रतीत हुआ मृगों के भ्रम का कारण होता है, वैसे ही असत्य ही यह जगत् मूढ़मतिकी दृष्टि में सत्य–सा प्रतीत होता है ॥२,३॥ जैसे प्राणियों की असत्य स्वप्नमृत्यु ही सत्यरूपिणी होकर अर्थक्रियाकारिणी शोक, रोदन आदि अर्थक्रियाकारिणी होती है वैसे मूढ़बुद्धियों को यह जगत शोक, मोह आदि देनेवाला

है ॥४॥ जिस पुरुष को कटक, कुण्डल आदि में अनुगत सुवर्ण का परिज्ञान नहीं है, उसको जैसे कनक के कटक में कटक–ज्ञान ही होता है, सुवर्णज्ञान नहीं होता, वैसे ही अज्ञपुरुष की नगर, गृह, पर्वत गजराज आदि से व्याप्त वह दृश्यदृष्टि ही है, अन्य परमार्थदृष्टि (सर्वानुगत ब्रह्मदृष्टि) नहीं है ॥॥५,६॥ जैसे विकृतदृष्टिवालों को आकाश में मुक्तावली (मोतियों की माला), मोर पंख से और कुण्डलाकार केशों का गोला आदि असत्य होते हुए भी सत्य से प्रतीत होते हैं, वैसे ही अज्ञानियों को यह जगत् असत्य होता हुआ भी सत्य–सा प्रतीत होता है ॥७॥ अहन्ता आदि से युक्त इस विश्व को दीर्घ स्वप्न समझो, यहाँ पर अपने से अतिरिक्त सत्य जन स्वप्नदृष्ट अन्य पुरुषों के तुल्य हैं।

शंका – यदि ऐसा है, तो ये शास्त्र–प्रतिपादित याजन, प्रतिग्रह, उपदेश आदि अर्थक्रियायोग्य सत्य हैं, ऐसा शास्त्र में क्यों स्वीकार किया गया है ?

समाधान – जैसे वे सत्य हैं, वैसा सूनो, कहते हैं– सर्वाधिष्ठान शान्त और निरतिशय सत्य निर्मल अचेत्य–चिन्मात्र वपू सर्वत्र व्याप्त परमाकाश है। वह सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, सर्वात्मक स्वयं जहाँ–जहाँ जैसे–जैसे उदित होता है (जैसी अर्थक्रियाकारिता के योग्य आविर्भूत होता है) वहाँ–वहाँ वैसे रहता है ॥८–१०॥

जाग्रत में जैसे शास्त्रीय अर्थक्रिया के योग्य वह आविर्भूत हुआ, किन्तु स्वप्नमें वैसे अर्थक्रिया के योग्य आविर्भूत नहीं हुआ, यह अवान्तर विशेष होने पर भी उसके सद्रूप में कोई विशेष नहीं है, ऐसा कहते हैं।

इस कारण द्रष्टा स्वप्नपुर में जिन पुरवासियों को नर रूप से जानता है, वे तुरन्त ही उसके नर ही हो जाते हैं ॥११॥ स्वप्न का विकास यानी सुषुम्नानाड़ी का छिद्र, उसके भीतर स्थित स्वप्नाध्यस्त विपुलाकाशमें परिवर्तन और चित्तकी वासना के अनुसार तत्–तत् पदार्थों के रूप से विवर्तता को प्राप्त हुआ द्रष्टा का जो चित् स्वरूप है, वही भावित होता हुआ 'नर' यों नाम को प्राप्त हुआ है ॥१२॥

स्वप्न और जाग्रत दोनों अवस्थाओं में भी आत्मा में नरता आदि के अवबोध में और अध्यस्त सत्यतावबोध में अन्योन्यतादात्म्यसंसर्गाध्यास ही हेतु है, ऐसा कहते हैं।

सत्य स्वप्रकाश अपरोक्ष चैतन्य के तादात्म्य से जनित संसर्गाध्यास से नरता सी ज्ञात होती है, अतः चित् के बल से स्वप्न और जाग्रत में अध्यस्त तत्–तत् धर्मों की आत्मा में सत्यता प्रसिद्ध होती है ॥१३॥

इस प्रकार स्वप्न और जाग्रत् के दृश्यपदार्थ परस्पर मिलित माया और उसके अधिष्ठानात्मक सत्य और अनृत हैं, ऐसा कहा गया, ऐसी अवस्था में स्वप्नपदार्थ केवल अनृतमात्र हों, उनमें सत्यांश के प्रवेश से क्या लाभ है ? ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, यदि जाग्रत–पुरुष अधिष्ठान की सत्ता से सत्य न हों तो व्यवहार में विसंवाद और कर्मकाण्ड का अप्रामाण्य आदि दोष होंगे, इसलिए वे सत्य हों, परन्तु केवल मायास्वरूप स्वप्न में कल्पित स्वप्न पुरुष उस प्रकारके सत्य न हों, तो क्या दोष है ?

तात्पर्य यह है कि भगवान् व्यासने 'मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनाऽनभि–व्यक्तस्वरूपत्वात्' (स्वप्न केवल मायास्वरूप ही है, क्योंकि उसकी साकल्येन अभिव्यक्ति नहीं होती) इस सूत्र से स्वप्न को केवल मायामात्र कहा है, ऐसी अवस्था में जाग्रत् जगत् की स्वप्नतुल्यता कैसे ? ॥१४॥

स्वप्नपदार्थ ब्रह्म के तुल्य वस्तुतः सत्य नहीं हैं, इतना ही कहा जा सकता है अधिष्ठानरहित होने के कारण अधिष्ठान सत्यता से सत्य नहीं होते, ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से विरोध है, ऐसा श्रीवसिष्ठ जी कहते हैं।

स्वप्न में स्वप्ननगरवासी लोग वस्तुतः सत्य नहीं हैं, इस विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मुझसे सुनो, अन्य प्रमाण को जानने की कोई आवश्यकता नहीं है। अत्यन्त असत् पदार्थ वन्ध्यापुत्र आदि का प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु स्वप्नपदार्थों का प्रत्यक्ष होता है, अतः वे अत्यन्त असत् नहीं हैं ॥१५॥

स्वप्न यदि अत्यन्त असत् है, तो जाग्रत् प्रपंच के असत्त्व का निवारण नहीं हो सकेगा, क्योंकि वह भी तो हिरण्यगर्भ का स्वप्नरूप ही है, इस आशय से कहते हैं।

सृष्टि के आदि में स्वयं प्रजापति स्वप्नसदृश आभास से सम्पन्न थे, वे ही अनुभवरूपी हिरण्यगर्भ है यानी संस्कारीभूत ज्ञान समष्टिरूपी है, अतएव उनके संकल्प से उत्पन्न हुआ यह विश्व भी स्वप्नसदृश है ॥१६॥

इस प्रकार जगत् की स्वप्नतुल्यता और पूर्वोक्त सत्यता हुई, ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार यह विश्व स्वप्न है, उसमें जैसे मेरी दृष्टि में आप सत्य हैं क्योंकि अपनी सत्यता का आप अपलाप नहीं कर सकते, वैसे ही अन्य लोग भी आपकी दृष्टि और मेरी दृष्टि से सत्य हैं, इसी प्रकार स्वप्न में अन्य मनुष्यों की भी अपने अपने अनुभव के अनुसार स्वप्न सत्यता सिद्ध है। ये नगर और नगरवासी स्वप्न में यदि सत्य न हों, तो स्वप्नाकार इस जाग्रत् में भी वे तनिक भी सत्य न होगे। तुम्हारी दृष्टि में मैं जैसे सत्यात्मा हूँ, मेरी दृष्टि में वैसे ही सब सत्य हैं, स्वप्नसदृश संसारमें पदार्थों की परस्पर सिद्धि के लिए ऐसी प्रमा है। जैसे इस विपुल स्वप्न रूपी संसारमें तुम्हारी दृष्टि में मैं सत्य हूँ और मेरी दृष्टि में तुम भी सत्य हो, वैसे ही सारे स्वप्नों में क्रम हैं ॥१७–२०॥

यदि ऐसा है, तो स्वप्नदृष्टा के जागने पर भी स्वप्न प्रपंच की जाग्रत्प्रपंच की नाईं अवस्थिति होगी ? ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, स्वप्नदृष्टा की नींद खुलने पर दृष्टा का वह स्वप्नपत्तन सद्रूप होने से वैसा ही रहता है। आपके कथन से मेरी ऐसी धारणा हो गई है ॥२१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, जैसा आप कहते हैं, वह ठीक है, सत्यरूप होने से स्वप्नपत्तन स्वप्नद्रष्टा के जागने पर भी वैसा ही रहता है, क्योंकि वह अधिष्ठान सन्मात्रस्वभाव यानी सत्य ही है ॥२२॥

अगर ऐसा है, तो जाग्रत–पदार्थ की नाईं स्वप्नपदार्थों का भी अन्य स्वप्नों में व्यवहार संवाद होगा, ऐसी श्रीरामचन्द्रजी की जिज्ञासा को चिह्नों से ताड़कर देशान्तर और कालान्तर

की अनुवृत्ति से अनेक जाग्रत्–पदार्थों में भी असंवाद है ही, पृथ्वी, आकाश, नाम, जाति आदि कतिपय पदार्थों की अनुवृत्ति का संवाद स्वप्न में भी है ही, इसलिए जाग्रत और स्वप्न में कोई भी अन्तर सिद्ध नहीं किया जा सकता, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी कहते हैं अथवा स्वप्न के पदार्थ यदि सत्य हों, तो जाग्रत में भी उनकी अनुवृत्ति होनी चाहिए। – श्रीरामचन्द्रजी की ऐसी शंका को ताड़कर श्रीवसिष्ठजी कहते हैं।

आपकी शंका रहे, यदि आप स्वप्न के पदार्थों की जाग्रत्काल के बाहरी देश और काल में अनुवृत्ति नहीं होती, इसलिए उन्हें असत्य समझते हैं, तो जिसे आप जाग्रत् मानते हैं, उसकी भी तो आभ्यन्तर स्वप्न देश और काल में अनुवृत्ति नहीं होती यानी वह भी स्वाप्निक देशकाल का पूरक नहीं होता, ऐसी अवस्था में दोनों की स्वप्नतुल्यता समान ही है ॥२३॥

इस प्रकार अधिष्ठानसत्ता से स्वप्न और जाग्रत् के सत्य होने पर भी सम्पूर्ण यानी जाग्रत् और स्वप्न देश तथा काल के पूरक न होने से स्वतः उनकी सत्यता नहीं है, इसलिए दोनों का मिथ्यात्व तुल्य है, ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार यह सब स्वप्न और जाग्रद्रूप प्रपंच सत्य नहीं है, किन्तु अधिष्ठान सत्ता से सत्य सा प्रतीत होता है। स्वप्नस्त्रीसंगम की नाईं मिथ्या ही अपने में आसक्ति कराकर जीव को मोहित करता है ॥२४॥

संवित् सम्पूर्ण यानी स्वप्न और जाग्रत् देश और काल की पूरक होने से सत्य है और मायाशक्ति से सर्वत्र सर्वपदार्थरूप से स्फुरण सामर्थ्य भी उसमें है, ऐसा कहते हैं।

सब वस्तु देह के अन्दर और सर्वत्र विद्यमान है संवित् जैसा जानती है, वह वैसे अपने को ही देखती है ॥२५॥ जैसे कोश में जो धन रहता है, उसको उसका द्रष्टा अवश्य जानता है, वैसे ही चिदाकाश में सब कुछ है, उसका चिदाकाश ही अनुभव करता है ॥२६॥

तदुपरान्त देवी सरस्वती ने राजा विदूरथ को ज्ञानरूपी अमृत के सेंक से विवेक युक्त बनाकर उनसे यह कहा : राजन्, यह सब पूर्वोक्त तत्त्वज्ञान लीला की प्रीति के लिए ही मैंने तुमसे कहा। तुम्हारे इच्छित पदार्थ की सिद्धि हो, लीला ने पूर्वोक्त जगन्मिथ्यात्व की दृष्टान्तभूता मण्डप के अन्दर तुम्हारी ब्रह्माण्डकल्पनारूपी दृष्टियाँ देख ली हैं ॥२७,२८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीमान्, मधुर अक्षरों से युक्त वाणी से देवी सरस्वती से 'तुम्हारे ईच्छित पदार्थ की सिद्धि हो' यह कहने पर उक्त कथन के तात्पर्य को जाननेवाले राजा विदूरथने श्रीदेवीजी से कहा ॥२९॥ देवीजी, मैं साधारण मनुष्य हूँ, थोड़ा सा दान दे सकता हूँ, फिर भी किसी याचक को मेरा दर्शन हो जाय, तो वह निष्फल नहीं जाता। आप तो महाफल देनेवाली हो, फिर आपका दर्शन कैसे निष्फल हो सकता है ? हे देवी, जैसे मनुष्य एक स्वप्न से दूसरे स्वप्नमें जाता है, वैसे मैं अपनी पूर्वतन देह का त्याग कर दूसरे लोक में शीघ्र आऊँगा। हे माता, आपकी शरण में आया हूँ, मुझे आप दयापूर्ण दृष्टि से देखिये। हे वरदायिनी, महान् लोगों की भक्त पर अवहेलना शोभा नहीं देती। जिस लोक में मैं जाऊँगा, उसी लोकमें मेरा यह मन्त्री और यह अविवाहिता कन्या आवें, ऐसी मेरे ऊपर दयादृष्टि कीजिये ॥३०–३३॥

श्रीसरस्वतीजी ने कहा : हे पूर्वजन्म के मण्डलपति, आइये और लीला की भक्ति और भाग्य के अनुरूप पदार्थों की समृद्धि से अत्यन्त मनोहर राज्य का आप निशंक होकर भोग कीजिये। हम लोगों ने कभी भी याचकों की अभिलाषा का प्रत्याख्यान नहीं किया और न किसी ने उसे देखा ही है ॥३४॥

बयालीसवाँ सर्ग समाप्त

तैंतालीसवाँ सर्ग

अभीष्ट वरदान, राजधानी पर शत्रुपक्ष का आक्रमण और नगरदाह तथा
जल रहे नगरवासियों की विविध चेष्टाओं का वर्णन।

राजा द्वारा जिज्ञासित भावी बात को भी स्पष्ट कह रही देवी सरस्वती ने अवशिष्ट वरदान देने के लिए कहा।

श्रीसरस्वती जी ने कहा : राजन्, इस समय इस भीषण रण में आपको अवश्य मरना होगा और पूर्वजन्म का राज्य आपको मिलेगा, यह सब तुम्हें प्रत्यक्ष ही होगा ॥१॥ राजन् अविवाहित राजकुमारी को और मन्त्री को पूर्वजन्म का नगर प्राप्त होगा और आपको शवरूप वह शरीर प्राप्त होगा ॥२॥ राजन्, हम लोग जैसे आये थे, वैसे ही जाती हैं, लेकिन आप, राजकुमारी और मन्त्री मरकर वायुरूप होकर यानी आतिवाहिक देहरूप होकर उक्त पूर्वजन्म के प्रदेश में आओगे ॥३॥

अश्व आदि की गति के समान देशदैर्ध्य की अपेक्षा नहीं होती, इस आशय से देवीजी कहती हैं।

यह आतिवाहिक देह की गति मनोरथ की गति के सदृश मण्डप के अन्दर संवृत आकाश में भी सुदूर सी हो सकती है। घोड़े की गति अन्य प्रकार की है, गधे और ऊँट की गति दूसरे प्रकार की है, जिसके गण्डस्थल से मदधारा बह रही हो ऐसे मदोन्मत्त हाथी की गति दूसरे ही प्रकार की है। भाव यह कि आतिवाहिक देह की गति मनोरथ की गति की नाईं दूर देश में भी और अदूर देश में भी अदृश्य है। अश्व आदि की गति वैसी नहीं है, क्योंकि अश्व आदि स्थूल और परिच्छिन्न हैं ॥४॥ मधुर भाषण करनेवाले श्रीसरस्वती देवीजी और राजा में परस्पर यह वार्तालाप हो ही रहा था कि एक भयचकित पुरुष ने वहाँ राजा के पास प्रविष्ट होकर और ऊँचे स्थान पर खड़े होकर कहा : महाराज, तरंगाकुल सागर के समान बाण, चक्र, तलवार, गदा और मुद्‌गरों की वृष्टि करनेवाली बड़ी विशाल शत्रुसेना हमारी राजधानी पर चढ़ आई है। वह बड़े उत्साह से सम्पन्न है और प्रलय की वायु से उड़ाये गये कुल पर्वतों की शिलाओं के सदृश गदा, शक्ति और भुशुण्डियों की वृष्टि करती है ॥५–७॥ पर्वताकार नगर में आग लगी है उसने अपनी ज्वालाओं से चारों दिशाओं को व्याप्त कर रक्खा है। वह चट चट शब्दों से उत्तम नगरी को जलाती हुई तहस नहस कर रही है। आकाश में प्रलयकाल की मेघ घटा के सदृश धुएँ के महान् पर्वत छाये हुए हैं,

मालूम होता है कि वे अपनी पूरी ताकत से उड़ने के लिए तैयार हुए गरुड़ हैं ॥८,९॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, वह पुरुष राजा से यह सब कह ही रहा था कि बाहर दारुण चीत्कारों से परिपूर्ण बड़ा भारी कोलाहल पूरी ताकत के साथ कानों तक खीचें गये बाणों की वृष्टि करनेवाले धनुषों का था, चिंघाड़ रहे अत्यन्त मदोन्मत्त और बलवान् हाथियों का था, नगर में चट चट शब्दों के साथ खूब जल रही आग की ज्वालाओं का था, जिनकी स्त्रियाँ और बालबच्चे जल गये थे ऐसे पुरवासियों के महान् हाहाकार, स्पन्दमान अग्निज्वालाओं की प्रज्वलित शिखाओं के धग्-धग् शब्द, इधर उधर तैर रहे अंगारों के शब्दों के साथ लोगों द्वारा उच्चारित टंकार उत्पन्न हुआ ॥१०-१३॥ तदुपरान्त दोनों देवियों ने यानी सरस्वती देवी तथा लीला ने, मन्त्री और राजा विदूरथ ने अपने महल के झरोखे से घोर रात्रि में अपने नगर को देखा जिसमें बड़े भारी कोलाहल हो रहे थे ॥१४॥ वह नगर प्रलयकाल में अत्यन्त विक्षुब्ध पूर्ण समुद्र के सदृश वेगवाले भीषण हथियाररूपी मेघतरंगों से पूर्ण शत्रु के दलबल से भरा था प्रलयकालीन अग्नि से जल रहे मेरुपर्वत के सदृश खूब चमकदार और आकाश को छूनेवाली बड़ी बड़ी ज्वालाओं की शिखाओं से जल रहा था ॥१५,१६॥ उक्त नगर लूटने के समय दूसरों को डराने के लिए महामेघों की गर्जना के सदृश अपनी डाँटफटकार से बढ़े-चढ़े कोलाहल से पूर्ण डाकुओं के शोरगुल से भयानक था । पुष्करावर्त मेघों के सदृश विशाल और भयावह धुएँ के बादलों से उसका आकाश आच्छन्न था । आकाश में उड़ रहे और स्वर्ण के सदृश अग्रकान्ति वाले ज्वालापुंजों से वह ठसाठस भरा था यानी तिल रखने को भी ऐसी जगह नहीं थी, जहाँ ज्वाला न हो, इधर से उधर छनक रहे आधे जले हुए काष्ठरूपी उग्र यानी उत्पातसूचक तारों से उसका आकाशचंचल था, वहाँ पर ज्वालाओं के परिवर्तन से हुए अन्योन्य देश के विनिमय से गृहों के समूहरूपी बड़े-बड़े अग्नि के पर्वत जल रहे थे ॥१७-१९॥ उस नगर में मरे हुए सैनिकों में से बचे हुए कुछ सैनिकों का नगर प्रवेश हो रहा था, जिनमें अंगारे फैले हुए थे ऐसे मेघच्छिद्रों से वह नगर उपलक्षित था, जिन्होंने बड़े हृदयविदारक रोदन के साथ जनसमूहों को जला डाला था, ऐसे शत्रुओं द्वारा उस नगरमें जोर जोर से गर्जना की जा रहा थी, वह आग की चिनगारियों और अर्धचन्द्राकार बाणों से अत्यन्त निरवकाश था, वहाँ बहुत से शस्त्रों और शिलाओं से अधजले पुरवासियों के झुण्ड गिर रहे थे, रणभूमिमें हाथियों की टक्कर से शूरवीर योद्धा चूरचूर हो गये थे, नगर के मार्ग, भाग रहे चोरों का सिर काटने से उनके द्वारा रखे गये धन से आकीर्ण थे, वहाँ अंगारों के समूहों से गिर रहे नर-नारियों का हृदयविदारक रोदन हो रहे था, जले हुए काठ के टुकड़े चट चट शब्द के साथ इधर-उधर गिर रहे थे, बड़े-बड़े अलात यानी जले हुए काष्ठों के चक्राकार समूहोंसे आकाशतल ऐसा मालूम पड़ता था, मानों उसमें सौ सूर्य उगे हों, अँगारों की आग से सम्पूर्ण पृथिवीतल व्याप्त था, जले हुए अग्निकाष्ठों (अगर) के साथ बाँस के बड़े-बड़े डंडे केंकार शब्द कर रहे थे, जले हुए जीवों के करुणक्रन्दन से सब सैनिकों का हृदय दहल रहा था, वहाँ पर

राज्यश्री का ऐसा दाह होने पर, जब कि केवल धूलि ही शेष रह गई थी, अग्नि प्रबल और तुप्त हुई, सर्वभक्षी अग्नि पूर्वोक्त प्रकार से सम्पूर्ण नगर को ग्रास करने में बड़ी उद्योगशील थी वहाँ पर अकस्मात् ही दैवयोग से प्राप्त सर्वस्वहरण और दस्युओं द्वारा कुण्ठन से और कठिनतम (क्रूरतम) अग्नि से घर रोदन कर रहे थे, असंख्य लोगों के भोजन के लिए पर्याप्त अन्न के अग्नि द्वारा भस्म हो जाने पर वहाँ पर किसी की अवशिष्ट इन्धनमात्र में स्पृहा हो रही थी ॥२०–२७॥ तदुपरान्त राजा विदूरथ ने वहाँ पर योद्धाओं की तथा उन लोगों का, जिनका देखते देखते स्त्री, पुत्र, घर, द्वार आदि सर्वस्व स्वाहा हो गया था और इधर–उधर भाग रहे थे, वाणियाँ सुनी ॥२८॥ उनमें से किसीने किसीको सम्बोधन कर कहा : खेद है, अधिक रस होने से (जलाधिक्य से) हरे–भरे अतएव सन्ताप को दूर करनेवाले ऊँची जगह के हमारे घररूप वृक्षों को या हमारे घर के समीप के वृक्षों को उखाड़ फेंकने के लिए विपत्तिरूप प्रचण्डवायु रण से खड़खड़ शब्द के साथ आई ॥२९॥ हाय, पहले तुषार की ठण्ड से ठिठुरी हुई, बाद में आग की झपटों से झुलसी हुई स्त्रियाँ हाथियों के शरीरों में लीन हो गई, जैसे कि जिन्होंने ज्ञानाग्नि से स्थूल आदि देह जला डाले हैं और त्रिविधसंताप दूर करने के कारण हिम से भी शीतल हैं ऐसी विज्ञानसूक्तियाँ महान् पुरुषों के मन में लीन होती हैं ॥३०॥ हाय हाय, युवतियों के केश बन्धन रूपी तिनकों में लगी हुई और वीररूपी वायु द्वारा फेंकी गई शस्त्राग्नि सूखे हुए पत्ते के ढेर की नाईं जलती है ॥३१॥ देखो, आवर्तों से और नदी के प्रवाहभेदों से विशाल, ऊपर को बहनेवाली धुम्ररूपी यमुना आकाशगंगा से मिलने के लिए दौड़ी जा रही है ॥३२॥ देखो, यह ऊपर को जानेवाली धुम्रनदी, जिसमें अधजले काठ जल रहे हैं और चिनगारियाँ ही बुद्बुदों की तरह प्रतीत हो रही हैं, विमानों से यात्रा करनेवाले देवता, गन्धर्व आदि को अन्धा बना रही है ॥३३॥ हे पुत्री, इस बेचारी के माता, पिता, भाई, जमाई और दूध पीने वाले बच्चे इस घर में जल गये हैं । इसे भी अग्नि के न रहने पर भी उनके विरहरूपी अग्नि में जली हुई ही समझो ॥३४॥ जल्दी निकलो, तुम्हारा अँगार की नाईं जला हुआ यह घर, प्रलयकाल में सुमेरु की नाईं अपने स्थान से गिरने के लिए तैयार है ॥३५॥ अहा, बाण, पत्थर, शक्ति, भाले, प्रास, तलवार, आदि शस्त्रास्त्र झरोखों के जालरूपी सन्ध्याकालीन मेघवृन्द में टिड्डियों की नाईं घुस रहे हैं ॥३६॥ जैसे समुद्र से जलप्रवाह खूब धधकती हुई ज्वालाओं से युक्त बड़वानल में प्रवेश करते हैं, वैसे ही मारे भय के आकाशमें उड़ने की इच्छा करनेवाली नगरी में शस्त्रास्त्रों की वृष्टियाँ प्रवेश कर रही हैं ॥३७॥ अग्नि की ज्वालाएँ ऊँचे–ऊँचे महलों के शिखरों में स्थित बड़े–बड़े मेघों को धुआँ–सा बना रही हैं, नगरी में सजल तालाब, बावड़ी और उद्यान आदि रागियों के हृदय की नाईं सूख रहे हैं ॥३८॥ हाथी चिंघाड़ते हुए इन वृक्षपंक्तियों को ये हमारे बन्धनस्तम्भ के सजातीय हैं, इस रोष से मानों कटकट शब्द के साथ गिरा रहे हैं ॥३९॥ घरों के आस–पास के वृक्षों के फूल, फल और लता आदि जल गये हैं, उनमें शोभा नाममात्र को भी नहीं रह गई है । वे उन गृहस्थों की

नाईं, जिनका कि सर्वस्व जल गया है, दीनता को प्राप्त हो गये हैं । हाय, माता–पिता से बिछुड़े हुए घने अन्धकार में अपने घरों को खोज रहे बालक बाणों से परिपूर्ण सड़कों पर दीवार के गिरने से मर गये । रणभूमि में वायु से उड़ाये गये और अँगारों को बरसानेवाले घर के छप्पर से हथिनियाँ भीषण चिंघाड़ के साथ डरती थी ॥४०–४२॥ हाय हाय, बड़ा कष्ट है किसी पुरुषके तलवार से कटे हुए, कड़े उल्मुक(अधजले काठ) से युक्त कन्धे में वज्र की नाईं यह यन्त्रपाषाण गिरा ॥४३॥ हाय हाय, व्याकुल हुए भीषण गाय, घोड़े भैंस, हाथी, ऊँट, कुत्ते, सियार और भेड़ो ने मार्ग को रोकनेवाला युद्ध सा आरम्भ कर दिया है, जरा देखिये तो सही ॥४४॥

आग की ज्वालाओं से झुलस जाने के भय से गीले वस्त्र पहनकर घरों से निकल रही स्त्रियों का वर्णन करते हैं।

जलबिन्दुसमूहरूपी भ्रमरों से परिवेष्टित अतएव पटपट शब्द करनेवाले वस्त्रों से युक्त और हाथ, पैर और मुँह रूपी स्थलकमलों से बनी हुई सी स्त्रियाँ रोती हुईं जाती हैं ॥४५॥ देखो, अशोक के फूलों की कान्ति को धारण कर रही ज्वालाओं की लपटें स्त्रियोंके अलकों को ऐसे चाट रही है, जैसे ऊँट लटकी हुई पेड़ों की शाखाओं को या दैवात् उसमें लटकी हुई सर्पिणियों को चाटता है । हा हा , खेद है, अग्नि की शिखा मृगछौने के नेत्रों के तुल्य नेत्रवाली नायिकाकी भ्रमरों के परोंके सदृश काली नेत्रराजियों पर जैसे कोई कुमार्गों में विश्राम ले वैसे विश्राम लेती है ॥४६,४७॥ स्वयं जल रहा भी पुरुष अपने स्त्री–पुत्र आदिके बिना घर से नहीं निकलता । ओहो बड़ा खेद है कि प्राणियों का स्नेह बंधन कटना कठिन है ॥४८॥ जिसने बल के वेग से जल रहे अँगारों से सना हुआ अपना बन्धनस्तम्भ तोड़ डाला, अतएव उसको खींचने के समय जिसकी सूँड़ जल गई थी; ऐसा हाथी क्रोध से भाग कर लोगों को पुष्कर देनेवाले यानी कमल देनेवाले तालाब में जाकर वहाँ डूब गया । (✍) धुआँ मेघों के मार्ग में यानी वृष्टि करने के अधिकारी आकाशस्थान में पहुँचकर और मध्य में चंचल अग्निज्वालारूपी तड़ित–लता से युक्त होकर जलरहे अँगाररूपी बाणों की वृष्टि करता है । राजन्, आकाशमें जिसमें चिनगारियाँ चमक रही हैं, आवर्त (जलभौंरी) की सी वृत्तियाँ हो रही हैं, शिखररूपी तरंगें उछल रही हैं, ऐसा धुआँ आकाश में रत्नों से भरा हुआ, आवर्तों से व्याप्त और तरंगमालाओं से घिरे हुए समुद्र के तुल्य प्रतीत होता है । ज्वालाओं की कोटियों के प्रकाशसे उज्जवल हुआ आकाश ऐसा प्रतीत होता है मानों मृत्यु ने उत्सव के लिए कुमकुम केसर से रँगा हुआ सन्दूक दिशारूपी बहुओं को दिया है । सच्चारित्र्य से विपरीत यह बड़ा अनुचित हो रहा है कि हाथों में आयुध लिये हुए शत्रुवीरों द्वारा राजरानियाँ भी पकड़ी जा रही हैं। इन राजरानियों की दशा का क्या वर्णन करें, ये मार्ग में खूब फूलों की वृष्टि करनेवाली चंचल मालाओं और पुष्पराशिसे

✍ पुष्कर सूँड़ को भी कहते है और कमल को भी । चूँकि उसका पुष्कर (सूँड़) जल गया था, अतएव उसका पुष्कर (कमल) देनेवाले तालाब में पुनः पुष्कर प्राप्ति के लिए जाना उचित ही है, यह श्लेषमूलक उत्प्रेक्षा है ।

युक्त हैं, अधजला केशभार इनके वक्षस्थल और स्तनमण्डल पर बिखरा है। वायु के कारण फरफरा रहे वस्त्र से इनकी कमर और जंघाएँ कुछ खुली दीख रही हैं, गिर रहे माणिक्यजड़ित कड़ोंसे इन्होंने पृथिवीमण्डल को आच्छन्न कर दिया है। इनके टूटे हुए हारों से निर्मल मोती बिखर रहे हैं, इनके पहले कभी न देखे गये स्तनमण्डल के समीप में उदित हो रही सुवर्णकान्ति दृष्टिगोचर होती है। कुररी के शब्द की नाईं कर्कश इनकी रोदनध्वनि से रण का शब्द फीका पड़ गया है। धारावाहिक रूप से निरवच्छिन्न निकली हुई रोदनध्वनियों से इनकी पेट की पसलियाँ टूट सी गई हैं, अतएव ये इस समय क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है, इसका विवेक करने में असमर्थ हैं। इनके ये कहीं भाग न जाय, इस भय से एक दूसरे से बँधे हुए हाथ रक्त, कीचड़ और आँसुओं से सने हुए हैं। काँख में हाथ डाले हुए पुरुष इन्हें जबरदस्ती ले जा रहे हैं। इस संकट के समय कौन हमारा प्राणकर्ता होगा, यों कातरदृष्टियोंसे ये नीलकमलों की वृष्टि कर रही हैं, इन्होंने दया से अपने पक्ष के सैनिकों को रुलाया है। भसींड़े के समान स्वच्छ और निर्मल जँघामूल से जो कि स्वच्छ वस्त्रों के अन्दर कुछ–कुछ दिखाई दे रहे हैं आकाश नलिनी सी प्रतीत हो रही है, इनकी मालाएँ, वस्त्र, आभूषण और अंगराग सभी अस्थिर हैं, लम्बी–लम्बी और चंचल अलकलताएँ (केश) आँसूओं से सनी हुई है, ये आनन्द यानी विषयसुखरूपी मन्दराचल से मथे जा रहे कामरूपीसागर से उत्पन्न हुई मानों राजाओं की मूर्तिमती सम्पत्तियाँ हैं, अथवा राजा अर्थात् चन्द्रमा उससे युक्त लक्ष्मियाँ हैं ॥४९–६१॥

तैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

चौवालीसवाँ सर्ग

अन्तःपुर की बरबादी को सुनकर राजरानी को भयभीत देखकर राजा का
युद्ध के लिए घर से निकलने का और लीला के तत्त्व का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इसी बीच में राजरानी, जिसके शरीर के रोमरोमसे यौवन छलक रहा था, जैसे लक्ष्मी कमल के कोटर में प्रवेश करती हैं, वैसे ही राजा के घर में प्रविष्ट हुई, जिसमें लीला और सरस्वती देवी स्थित थी। राजरानी की मालाएँ और वस्त्र चंचल थे, छिन्न–भिन्न हारलता से वह व्याकुल थी, सखियाँ और दासियाँ उसके पीछे चल रही थी और वह भयविह्वल थी। चन्द्रमा के तुल्य सुन्दर उसका मुँह था, सम्पूर्ण अंग भसींड़े के समान गौर थे, उसका स्तनमण्डल श्वासोच्छ्वास से हिल रहा था, उसके दाँत सितारों से मिलते जूलते थे, वह मूर्तिमती बिजली के तुल्य थी ॥१–३॥ राजमहल में प्रविष्ट होने के अनन्तर जैसे अप्सरा भूतसंग्राम में संलग्न देवराज से निवेदन करे, वैसे ही उसकी एक सखी ने राजा से निवेदन किया ॥४॥ महाराज, देवी, (पट्टरानी) अन्तःपुर से हम लोगों के साथ भागकर जैसे वायु के झोंके से विताड़ित लता वृक्ष की शरण लेती है, वैसे ही आपकी शरण में आई है। महाराज, आपकी अन्यान्य रानियों को, जैसे महासागर की बड़ी–बड़ी लहर तटवर्ती वृक्षों में आश्रित लताओं को हर ले जाती हैं, वैसे ही अस्त्रशस्त्र से सुसज्जित बलवान् शत्रु हर

ले गये हैं। अचानक आये हुए उद्धतशत्रुओं ने अन्तःपुर के संरक्षार्थ नियुक्त अधिकारियों को ऐसे चकनाचूर कर डाला जैसे कि सहसा झौंके के साथ आई हुई भीषण आँधी सुन्दर वृक्षोंको चकनाचूर कर डालती है ॥५-७॥ वर्षाऋतु के बढ़ने के कारण विपुल कलकल नाद करनेवाला जलप्रवाह जैसे कमलों को छिन्न-भिन्न कर मटियामेट कर डालता है, वैसे ही दूर से निःशंक होकर आये हुए शत्रुओं ने रात्रि के समय हमारे नगर को लूटखसोट डाला है ॥८॥ धुएँ की वृष्टि कर रही, तेज धक्-धक् शब्द करनेवाली तथा साँप की नाईं लपलपा रही ज्वालाओं से युक्त अग्नि ने तथा तलवारों को लिये हुए असंख्य शत्रुसैनिकों ने हमारे नगर में प्रवेश किया। उनके अत्याचार का कहाँ तक वर्णन करें जैसे धीवर रो रही चिल्ला रही कुररी को (एक प्रकार के मृग या पक्षी को) जबरदस्ती पकड़ कर ले जाता है, वैसे ही वे क्रूर शत्रुसैनिक विविध हावभावों से सम्पन्न रानियों को, जो रो रही और चिल्ला रही थी, जबरदस्ती घसीट ले गये हैं ॥९,१०॥ महाराज, इस प्रकार जो यह शाखा-प्रशाखाओं के विस्तार से युक्त आपत्ति हम लोगों के ऊपर आई है, उसका समूल निवारण करने में केवल महाराज ही समर्थ है। महारानी की सखी के मुँह से यह सुनकर राजा ने देवियों की (सरस्वती और लीला की) ओर देखकर कहा : देवियों, चूँकि ऐसा विपत्तियोंका पहाड़ हमारे परिजनों पर टूट पड़ा है, अतः मैं युद्ध करने के लिए समरभूमि में जाता हूँ। आप क्षमा करें। मेरी अनुपस्थिति में मेरी यह पत्नी आप लोगों के चरणकमलों की सेवा करेगी, आप इसकी रक्षा करना, ऐसा अभिप्राय है ॥११,१२॥ ऐसा कह कर राजा, जिसकी आँखें शत्रुओं के अत्याचार से लाल हो गई थी, जैसे मत्त हाथियों ने जिसका वन छिन्न भिन्न कर दिया हो ऐसा सिंह गुहा से निकले वैसे घर से निकला ॥१३॥ प्रबुद्ध लीला ने अपनी आकृति के तुल्य आकृतिवाली सुन्दरी लीला को दर्पण में प्रतिबिम्ब को प्राप्त हुई सी देखा ॥१४॥ प्रबुद्ध लीला ने कहा : हे देवी, जो मैं हूँ, वही यह कैसे ? जो मैं युवावस्था में थी वही मैं इस रूप में कैसे स्थित हूँ ? इसमें क्या रहस्य है ? यह कृपाकर मुझसे कहिये। भाव यह है कि मैं अपने आपसे भिन्न नहीं हो सकती और अतीत अवस्था की स्थिति का भी सम्भव नहीं है, फिर यह अघटित घटना कैसे ? ॥१५॥

दूसरी यह बात मुझे संशय में डाल रही है कि मन्त्री आदि में भेद प्रतीति और वे ही ये हैं, ऐसी प्रत्यभिज्ञा भी विरुद्ध है, ऐसा कहती है।

हे देवि, ये मन्त्री आदि नागरिक तथा बल और वाहन से युक्त योद्धा सभी वे ही हैं, ये लोग सभी जैसे यहाँ पर स्थित हैं, वैसे ही वहाँ पर भी स्थित हैं ॥१६॥ हे देवि, जैसे दर्पण में बिम्बप्रतिबिम्बरूप से वस्तु बाहर और भीतर भी रहती है, वैसे ही ये सभी वहाँ पर और यहाँ पर कैसे स्थित हैं ? क्या वे चेतन हैं ? भाव यह कि ये दर्पण में स्थित प्रतिबिम्ब की नाईं वे ही यदि यहाँ प्रतिबिम्बित हुए हैं, तो अचेतन होंगे, चेतन कैसे हो सकते हैं ? ॥१७॥

चितिशक्तियाँ अचिन्तनीय हैं, तुल्य कर्मों से उद्बोधित पदार्थों का कहीं पर समान ही आविर्भाव होता है, यों देवी दृष्टिसृष्टिवाद का अवलम्बन कर समाधान करती है।

श्रीदेवी ने कहा : हे लीले, भीतर जैसा ज्ञान उदित होता है, वैसा ही क्षणभर में बाहर

पदार्थों का अनुभव होने लगता है । जैसे मन स्वप्न आदि में चित्त द्वारा अनुभूत जाग्रत् पदार्थों के आकार को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही चिति अध्यास द्वारा चेत्याकारता को प्राप्त होती है ॥१८॥

जैसा संस्कारात्मक जगत् स्वरूप चित्तमें और चितिमें है, वैसा ही वह उदित होता है। भोगकर्ता के अदृष्ट से उद्बोधित (प्रेरित) मायासंवलित चित्शक्ति अघटित वस्तु को गढने में समर्थ है, यह भाव है। ऐसी परिस्थिति में देशकालकी स्वल्पता और विपुलताका विरोध भी हट गया, ऐसा कहती है।

देश और काल की अल्पता या विपुलता तथा विचित्रता पदार्थ जन्य नहीं है । यदि वह पदार्थजन्य होती, तो पदार्थ के स्वभाव के विरुद्ध नहीं होती ॥१९॥ बाह्य पदार्थ आभ्यन्तर से प्रतीत होते हैं, इसके लिए दृष्टान्त खोजने के वास्ते दूर भटकने की आवश्यकता नहीं है। इस विषय में स्वाप्निक पदार्थ दृष्टान्त है, जो सभी को अनुभूत है । चैतन्य में अध्यस्त होने के कारण चैतन्य का आभ्यन्तर जगत् बाह्य सा प्रतीत होता है, इस विषयमें स्वप्न पदार्थ दृष्टान्त है, क्योंकि स्वप्न चेतन आत्मा ही पदार्थाकार हो जाता है। जो स्वप्न और मनोरथ के नगर का भीतर स्फुरण होता है, वह चेतन का ही स्फुरण है ॥२०॥

चिरकाल से अभ्यास होने के कारण यह जगत् बाह्य नाम से ही व्यक्त होकर सत्यका–सा स्थित है, उस समय जैसी वासनावाला तुम्हारा पति उस नगर में मरा था, उसी भावना से युक्त होकर उसी पदार्थ को यहीं पर प्राप्त हुआ है। वे प्राणी बारबार अनुभूत होते हुए भी उसी आकार के अन्य ही हैं । इस राजा की चित्सत्ता से ये स्वप्न और संकल्प की सेना की नाईं सद्रूप ही हैं। स्वाप्न वस्तु से जाग्रद्वस्तु की इतनी ही विलक्षणता है कि वह अविसंवादिरूप से सब पुरुषों के लिए समानरूप से अर्थक्रियाकारिता में समर्थ है।

केवल इतने से जाग्रत् की सत्यता की सिद्धि नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं।

क्योंकि चन्द्रमा की प्रदेशिका (बिलस्तभर दिखना) और इन्द्रजाल आदि में भी सब को असंवादी यथार्थ प्रतीति होती है, पर वह सत्य नहीं है ॥२१–२३॥

भला बताओ तो सही जाग्रत पदार्थों की सत्यता कैसी ? उत्तरकाल में (जाग्रत् में) बाधित होने से स्वप्न को यदि असत्य कहो तो जाग्रत में उक्त असत्यता समानरूप से विद्यमान है, क्योंकि नाश और बाध होने पर वस्तु में कोई अन्तर नहीं आता।

तात्पर्य यह कि स्वप्न पदार्थों का जाग्रत काल में बाध होता है, तो जाग्रत्–पदार्थों का उत्तरकाल में नाश होता है, एक का नाश होता है और दूसरे का बाध होता है पर असत्यता में कोई अन्तर नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

यदि यह कहो कि उत्तरकाल में (जाग्रत में) भंगुर (बाधित) होने से स्वाप्न पदार्थ असत् है, ऐसा तो यह सारा ही जाग्रत जगत् है, इसलिए इस जाग्रत् जगत् में अनास्तिता (सत्यता) क्या अधिक है ? स्वप्न में जैसे जाग्रत् असत्रूप है, वैसे ही जाग्रत् में स्वप्न भी असद्रूप है ॥२४,२५॥

दूसरी बात यह भी है कि परस्पर काल में असत्ता भी दोनों मे समान है, यानी जाग्रत्काल

में जैसे स्वप्न की असत्ता है वैसे ही स्वप्नकाल में जाग्रत् की भी असत्ता है, ऐसा कहा है।

नाश में भी बाध की नाईं परस्पर के काल में न रहना समान है, ऐसा कहते हैं।

जन्मसमय में मृत्यु असद्रूप है और मृत्युसमयमें जन्म भी असन्मय है, नाश में अवयवों के विसरणशील होने के कारण द्रव्य का विनाश होता है, बाध में अनुभूति के बल से द्रव्य विनष्ट होता है, इस प्रकार निमित्त भेद होने पर भी विशरण में विशेष नहीं है, यह भाव है ॥२६॥

पहले दोनों की सत्यता का उपपादन किया था, यहाँ पर असत्यता का उपपादन किया, यों दोनों की ही अनिर्वचनीयता तुल्य है ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार यह स्वप्न और जाग्रत् जगत् न सत् है और न असत् है, केवल भ्रान्तिमात्र ही प्रतीत होता है।

इस प्रकार सृष्टिकाल और प्रलयकालमें अवशिष्ट सद्रूप ब्रह्म सिद्ध हुआ, ऐसा कहते हैं।

महाकल्प का अन्त होने पर और आज भी और आगे भी यानी अतीत वर्तमान और अनागत युगों में भी जो कभी भी नहीं था, नहीं है और नहीं होगा, वह स्वरूपतः नहीं है, किन्तु उसका कल्पना का अधिष्ठान ब्रह्म ही है; अतः वही जगत् है, भासमान अब्रह्मरूप जगत् नहीं है। उसी ब्रह्म में ये सृष्टिनामक भ्रान्तियाँ विकास को प्राप्त होती हैं, जैसे कि आकाशमें केशोण्ड्रक (केशों का वर्तुलाकार गोला) प्रतीत होता है, पर वास्तव में वह आकाश से अतिरिक्त नहीं है, आकाश रूप ही है। ये सृष्टियाँ परब्रह्म में वास्तव में स्फुरण को भी नहीं सी प्राप्त होती हैं।

चिदाकाश को नहीं ही प्राप्त होती हैं, ऐसा कहना चाहिए था, सदृशार्थक 'इव' शब्द का प्रयोग प्रपंच के समान ब्रह्म से अतिरिक्त प्रपंच का अभाव भी मिथ्या है, यह सूचन करने के लिए है।

जैसे समुद्र में लहर उत्पन्न होती हैं, वैसे ही परब्रह्म में ये सृष्टियाँ उत्पन्न हो होकर महापवन में (आँधी में) धूलिकणों के समान लीन हो जाती है। इसलिए त्वम्, अहम्, जगत् इस प्रकार विभागस्वरूप भ्रान्तिमय प्रतीत होनेवाले, मृगतृष्णा जलरूप तथा जलाये गये वस्त्र की भस्म के तुल्य प्रपंच में कौन सा आदर है ?

शंका : पूर्वोक्त रीति से अत्यन्त तुच्छ विषयों का बाध होने पर भी भ्रान्तिरूप ज्ञान के स्वरूप का बाध न होने से उससे द्वैत होगा ही।

समाधान : विषय बाध होने पर भ्रान्तियाँ (भ्रम-ज्ञान) ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं रहती, वे भ्रान्तियाँ परम पद रूप ब्रह्म ही हैं। भाव यह है कि निर्विषय ज्ञानों का परस्पर से और ब्रह्म से भेद करानेवाला कोई है नहीं, इसलिए वे ब्रह्ममात्र ही हैं ॥२७-३१॥ जैसे घने अँधेरे में बालक को जो भूत की भ्रान्ति होती है, वह अन्धकार ही है, भूत नहीं है, वैसे ही जन्म, मरण और मोहरूप यह जगत् अज्ञान (आवरण और विक्षेप) ही है और उसीसे विस्तार को प्राप्त हुआ है। यह सब महाकल्प से अर्थात् ब्रह्मज्ञान से सब पदार्थों के बाधरूप वैज्ञानिक प्रलय से बाध्य है। इस सबके शान्त होने पर जो अवशिष्ट रहता है, वही ब्रह्म है। जगत् ब्रह्म से पृथक् अतिरिक्त सत्य नहीं है एवं ब्रह्मरूप होने के कारण अत्यन्त असत्य भी नहीं है। भाव यह कि

अधिष्ठानभूत ब्रह्म की सत्ता ही दृश्य के सत्य, असत्य आदि सम्पूर्ण पक्षों को रोकती है। अथवा यह जगत् सत्य और असत्य दो रूपवाला भी नहीं हो सकता, क्योंकि एक वस्तु दो विरुद्ध रूपवाली नहीं हो सकती। उक्त तीनों विरुद्ध पक्षों में ब्रह्म का, विरोध के बिना, सम्भव होने से, यह जगत ब्रह्म ही है। आकाश में, परमाणु के मध्य में और द्रव्य आदि के अणु के अतिसूक्ष्म अन्तर्भाग में जहाँ–जहाँ जीवाणु स्थित होता है, वहाँ–वहाँ इस जगत को अपना शरीर जानता है ॥३२–३४॥

वासना के बल से आत्मा में अनात्मा का अध्यास होनें मे दृष्टान्त कहते हैं।

पहले अग्नि से भिन्न होता हुआ भी उपासक 'मैं अग्नि हूँ' इस प्रकार उपासनरूप अपनी भावना के क्रम से उदित हुआ यानी उपासना के फलरूप से आविर्भूत उष्णता का जैसे अनुभव करता है, वैसे ही विशुद्ध चैतन्य आत्मा इस जगत् को आत्मभूत देखता है। जैसे सूर्योदय होने पर घरमें त्रसरेणु घूमते हैं, वैसे ही परमाकाश में ये ब्रह्माण्डरूपी त्रसरेणु घूमते हैं। जैसे वायु में स्पन्द और आमोद (गंध) स्थित है और आकाश में शून्यता स्थित है, वैसे ही स्थूलता से शून्य यह विश्व परब्रह्म में स्थित है। अवयवों से शून्य ब्रह्म के आविर्भाव, तिरोभाव, उपादान, त्याग, स्थूल, सूक्ष्म, चर और अचर ऐसे भाग हैं। इस समय साकार विश्व के निराकारत्वज्ञान के लिए उन्हें आपको वैसी अपनी आत्मा से अभिन्न से यानी आत्मा के अनवयव से आपको जानना चाहिए। इस प्रकार अपनी भावना के क्रम से उत्पन्न हुआ यह विश्व यथास्थित है ॥३५–४०॥ अनन्य (अभिन्न) रूप से ब्रह्म में स्थित यह विश्व विश्वशब्द के अर्थों से रिक्त नहीं होगा। भाव यह है कि विश्वशब्द का पर्यवसान पूर्णार्थता में है और पूर्ण रिक्त नहीं हो सकता है। रज्जु में सर्प भ्रान्ति के समान न यह सत्य है और न असत्य है, किन्तु अनिर्वचनीय है, मिथ्याज्ञान से यह सत्य प्रतीत होता है और विचारपूर्वक देखने से असत्य ही है, भाव यह है कि भ्रान्तिज्ञान से अनुभूत पदार्थ सत्य नहीं होता और वस्तुतत्त्व का निर्धारणात्मक ज्ञान, जो कि मर्मज्ञान से अनुभूत पदार्थ का बाधक है, सत्यका निषेध नहीं करता, जिससे कि असत्य हो। परम कारण ही स्वरूपभूत चैतन्य से माया से आवृत होनेके कारण जीवत्व को प्राप्त हुआ, अतः जीवत्व भी अनिर्वाच्य है ॥४१,४२॥ हे रामचन्द्रजी, चिरकाल के विचाराभ्यास से हुए दृढ़ अनुभव से जीवत्व को वैसा ही स्पष्टरूप से जानता है। यह संसार सत्य हो अथवा असत्य हो, चिदाकाश में ही यह स्फुरित हो रहा है, चिदाकाश के सिवा अन्य कोई भी वस्तु कहीं भी सत् नहीं है ॥४३॥

जीव की जो भोगेच्छा है, वही संसार की उत्पादिका है। इस अंश में सत्यत्व और मिथ्यात्व की उपयोगिता नहीं है, विषय चाहे सत्य हों, चाहे असत्य हों उनकी अनुरंजना ही संसार की उत्पत्ति और स्थिति की मूल कारण है, जीव पहले स्वेच्छा से उत्पन्न विषयों की अनुभूति से अनुरंजित होता है, तदनन्तर पूर्वानुभूत सब विषयों का पुनः अनुभव करता है, ऐसा कहते हैं।

जीवाणु स्वेच्छाभूत अनुभूतियों से इस जगत् को रंजित करता है। कुछ अनुभूतियाँ पूर्व अनुभूतियों से ही शीघ्र अनुभव में आती हैं, कुछ पूर्व में अनुभव न होने पर भी समान प्रतीत

होती हैं और कुछ कहीं पर असम ही प्रतीत होती हैं। वे ही ये हैं, यों कभी कहीं पर अर्धसम भी वे प्रतीत होती हैं ॥४४,४५॥ असत्य अनुभूतियाँ जीवाकाश में सत्यसी प्रतीत होती हैं। वैसे ही कुलवाले, वैसे ही सदाचारवाले, वैसे ही उच्च जन्मवाले, वैसी ही चेष्टावाले वे ही मन्त्री और पुरवासी तुम्हारी प्रतीति में आते हैं। वे परमार्थस्वरूप आत्मा में वे ही हैं, यों अत्यन्त सत्य हैं और अपने अपने देश, काल और चेष्टा की दृष्टि से तुल्य हैं ॥४६,४७॥

सभी जगह ऐसी ही चैतन्य की स्थिति है, ऐसा कहते हैं।

जिसका आत्मस्वरूप सर्वगामी है, ऐसी प्रतिभा की यही स्थिति है।

शंका : ईश्वर की प्रतिभा के अनुसार पदार्थों का निर्माण पहले सुना गया है, जीवप्रतिभा तो अर्थानुसार ही उदित होती है, यदि ऐसा न माना जाय,तो मनोरथ से कल्पित पदार्थ सबके प्रति समानरूप से सत्य हो जायेंगे। इसलिए केवल राजा की प्रतिभामात्र से पदार्थों की सिद्धि कैसे होगी और उसमें अन्य जीवों की समानरूप से व्यवहार योग्यता कैसे होगी ?

समाधान : राजारूप आत्मा में जैसी सन्मयी यानी सर्वसाधारण के लिए सत्यपदार्थवाली प्रतिभा उदित होती है, वैसे ही उससे पहले सर्वसाधारण भोक्ताओं के अदृष्ट से अव्याकृत आकाशरूप ईश्वर में सत्यसंकल्परूप प्रतिभा उत्पन्न होती ही है, इसलिए पूर्वोक्त दोष के लिए अवकाश नहीं है ॥४८॥

पूर्वोक्त रीति से प्रतिभा के प्रतिबिम्ब से उत्पन्न हुई यह लीला तुम्हारे सरीखे शील, सदाचार, कुल और शरीर से युक्त प्रतीत होती है। सर्वव्यापक संवित्रूपी दर्पणमें प्रतिभा प्रतिबिम्बित होती है। वह जहाँ पर जैसी होती है, वहाँ पर वैसी ही सदा उदित होती है, उसका अन्यथाभाव कदापि नहीं होता। सर्वान्तर्यामी ईश्वर की प्रतिभा जो भीतर है, वही स्वयं बाहर भी कार्य करती है, इसलिए चित् रूपी दर्पण में प्रतिबिम्ब होने से यह तुम्हारे सदृश स्थित है। तात्पर्य यह है कि उसी के बाह्य होने के कारण सम्पूर्ण पदार्थों में सामान्यदृश्यता की उपपत्ति होती है। आकाश, उसके अन्तर्गत भुवन, भुवन के अन्तर्गत पृथिवी, उसके अन्तर्गत यह तुम मैं और राजा ये सब चिन्मात्रस्वभाव में यानी प्रत्यग्रूप ही हैं। इसी प्रकार और भी तत्त्वज्ञ पुरुष सब पदार्थों को चिदाकाशरूपी बिल्वफल की सत्तामात्र जानते हैं, वे सब चिदाकाश से अतिरिक्त नहीं हैं। हे लीले, तुम भी वैसे ही जानो। उक्त ज्ञान से स्वस्वभाव में स्थित होकर तुम यहाँ अत्यन्त होकर (विक्षेपशून्य होकर) रहो ॥४९-५२॥

चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त

पैंतालीसवाँ सर्ग

लीला को दूसरे वररूप राजा पद्म की प्राप्ति तथा जीवों को
अपने-अपने संकल्पों के अनुसार फल-प्राप्ति का वर्णन।

श्रीसरस्वतीजी ने कहा : भद्रे, तुम्हारा पति यह विदूरथ रणभूमि में देह का त्याग कर उसी अन्तःपुर में पहुँच कर राजा पद्मरूप होगा ॥१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामचन्द्रजी,

श्रीदेवी का यह वचन सुन कर देवी के सामने बैठी हुई उस नगर में रहनेवाली लीला ने नम्रतापूर्वक हाथ जोड़ कर देवी से कहा : भगवती सरस्वती देवी की मैंने नित्य ही पूजा परिचर्या की है। सरस्वती देवी जब तब सदा रात में मुझे स्वप्न में दर्शन देती है। हे देवी, जैसी वह है, ठीक वैसी ही आप हैं, अतः मालूम होता है कि वही आप हैं। इसलिए हे वरानने, दीन के ऊपर दया करके मुझे आप वर प्रदान कीजिये ॥२–४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, द्वितीय लीला के यों कहने पर देवी सरस्वतीजी ने उसके भक्तिभाव से किये गये ध्यान और पूजन का स्मरण कर, प्रसन्न होकर उस नगर में रहनेवाली लीला से यह कहा : भद्रे, तुम्हारी जीवनभर की अनन्यभक्ति से, जो कभी भी विच्छिन्न नहीं हुई, मैं तुमसे सन्तुष्ट हूँ, तुम्हें जो इच्छा हो, वह वरदान मुझसे माँगो। उस प्रदेश में रहने वाली लीला ने कहा : हे देवि रणभूमि से देह का परित्याग कर जहाँ पर मेरे पति रहेंगे, मैं इसी देह से वहाँ पर उनकी पत्नी होऊँ ॥५–७॥ श्रीदेवीजी ने कहा : हे पुत्री, तुमने चिरकालतक अनन्यभक्ति से प्रचुर पुष्प–धूप–दीप–युक्त पूजन–सामग्री से मेरा सांगोपांग पूजन किया है, अतः जैसा तुम चाहती हो, वैसा ही होगा ॥८॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, तदनन्तर उस वर के लाभ से उस देश में रहनेवाली लीला के सन्तोष से प्रफुल्लित होने पर उसकी स्थूल शरीर से पतिलोकप्राप्ति और मेरी स्थूलदेह का त्याग कर पतिलोकप्राप्ति हुई, यह अन्तर कैसे ? इस सन्देह से जिसकी चित्तवृत्ति चंचल हो गई थी, ऐसी पूर्वलीला ने देवी से कहा : हे देवी, जो लोग आपके सदृश सत्यकामनावाले और सत्यसंकल्प ब्रह्मरूपी हैं, उनके सब अभीष्ट शीघ्र ही सिद्ध होते हैं। हे ईश्वरी, आपने सत्यकामता के बल से उसी स्थूल शरीर से मुझे गिरिग्रामरूप इस लोकान्तर में क्यों नहीं पहुँचाया ? ॥९–११॥

मुझमें स्वतः कोई कामना नहीं है, क्योंकि मैं पूर्णकाम हूँ। प्राणियों के कर्म के अनुसार होनेवाली मेरी कामना प्राणियों के कर्मों से ही व्यवस्थित है, इस आशयसे देवी लीला की शंका का समाधान करती है।

श्रीदेवीजी ने कहा : भद्रे, मैं किसी का कुछ भी नहीं करती, जीव स्वयं अपने सम्पूर्ण ईच्छित पदार्थों को शीघ्र सम्पादित करता है ॥१२॥ संविन्मात्र की अधिष्ठात्री देवी मैं सरस्वती प्राणियों के भावी शुभ फल को वरदान द्वारा प्रकाशित करती हूँ। प्रत्येक जीव में पूर्वजन्म के काम, कर्म और वासना से अवच्छिन्न चिदात्मरूप जीवशक्ति–स्वरूपिणी तत्–तत् कार्य की बीजभूत माया से संवलित जो चित्–शक्ति है, वही फल का उत्पादन करती है ॥१३॥

उसीके अनुसार ही मैं फल देती हूँ, ऐसा कहती है।

जिस जिस जीव की जो शक्ति जैसे जैसे उदित होती है,उस–उस को वैसा वैसा फल देनेवाली वह कर्मानुष्ठान की हेतुभूत कामना के विषयरूप से स्फुरित होती है। मेरी आराधना कर रही तुम्हारी तब यदि 'इस संसार में मेरी मुक्ति होती, तो क्या ही अच्छा होता' ऐसी चिरकाल तक जीवशक्ति उदित हुई ॥१४,१५॥ भद्रे, पूर्वोक्तभिन्न प्रकार से मेरे द्वारा प्रबोधित हुई तुम उक्त युक्ति से बोध द्वारा जिसका अज्ञानरूपी आवरण निकल गया है ऐसे निर्मल

आत्मावस्थितिरूप भाव को प्राप्त की गई हो ॥१६॥ 'मैं मुक्त होऊँ' इस प्रकार की भावना से चिरकाल तक युक्त तुम इस पूर्वप्रदर्शित युक्ति द्वारा मुझसे प्रबोधित हुई हो, अपनी चितिशक्ति के प्रभाव से उस यानी सदा भावित अर्थ को ही प्राप्त हुई हो ॥१७॥ जिस-जिस का पुरुषप्रयत्न चिरकाल तक जैसा उदित होता है, वह समय पाकर उस उस को वैसा-वैसा फल देता है ॥१८॥ अपनी चित्-शक्ति ही तपस्या बन कर या देवता का रूप धारण कर स्वेच्छा से आकाश से फल गिरने की नाईं (मिथ्यारूप) फल देती है ॥१९॥ स्वसंवित् (जीवशक्ति) प्रयत्न के बिना कभी कुछ भी फल नहीं दे सकती, इसलिए तुम जैसा फल चाहती हो वैसा कर्म करो, कर्मानुसार ही फल मिल सकता है ॥२०॥ यह निश्चित है कि सर्वान्तर्यामी चिद्भाव (चित्सत्ता) ही पहले रम्य यानी शास्त्रविहित अथवा अरम्य यानी शास्त्रनिषिद्ध जिस कर्म का विचार करता है और प्रयत्न करता है, बाद में उसीकी फलरूप श्री उदित होती है, ऐसा तुम विचार करो और विचार से जो पवित्रतम पद है, उसको जानकर उसमें स्थित होओ ॥२१॥

पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

छियालीसवाँ सर्ग

राजा विदूरथ का विराट् सेना के साथ युद्ध के लिए प्रयाण और
रणभूमि में प्रवेश पूर्वक युद्धारम्भ का वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, उस राजमहल के अन्दर जब वे तीन ललनाएँ इस प्रकार की बातचीत कर रही थी, तब क्रोध के साथ घर से निकल कर राजा विदूरथ ने क्या किया ? ॥१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामजी, राजा विदूरथ अपने महल से निकला और जैसे चन्द्रमा तारामण्डल से परिवेष्टित होता है, वैसे ही वह सेनारूप परिवार से परिवेष्टित हुआ, उसके सम्पूर्ण अंग-प्रत्यंग कवच और अस्त्र-शस्त्रों से सुसन्नद्ध थे, हारआदि आभूषण अपने-अपने स्थानों में शोभा पा रहे थे, वह जयकार की तुमुल ध्वनि के साथ महेन्द्र के समान घर से निकला। योद्धाओं को तत् तत् कार्य का आदेश देता हुआ, मन्त्रियों के मुँह से व्यूहरचना की स्थिति या देश की रक्षा-व्यवस्था को सुनता हुआ और वीरगणों का निरीक्षण करता हुआ रथ पर चढ़ा। सुमेरु पर्वत के शिखर के आकार के समान उस रथ का आकार था। मोती और मणियों से वह विभूषित था और पाँच पताकाएँ उसमें फहरा रही थी, अतएव तह उत्तम स्वर्गलोक के विमान के सदृश था, उसमें पहिये और अगल बगल की भीत में जड़ी हुई सोने की कीलें चमक रही थी, मोतियों की झनकार से उसका विशाल अग्रभाग बड़ा सुन्दर प्रतीत हो रहा था ॥२-६॥ वह रथ आठ घोड़ों से जुता हुआ था, वे घोड़े सुन्दर गर्दनवाले थे, अश्वों के सम्पूर्ण शुभ लक्षणों से युक्त थे, उत्तम जाति के थे, फुर्तीले और दुबले पतले थे, जबसे यानी उड़ने के वेग से मानों वे आकाश में देवताओं का प्रवहन कर रहे थे, वेग में वायु को न सहनेवाली अपनी विविध तीव्र गतियों से अपने पिछले देह भाग को आगे के देह भाग से मानों ले जा रहे थे, मानों आकाश को पी रहे थे,

सम्पूर्ण पूनम के चन्द्र के समान चँवरों की कान्ति से युक्त थे और अपनी हिनहिनाहट से दिशाओं के अन्तराल को पूर्ण कर रहे थे ॥७–९॥ तदुपरान्त मदोन्मत्त हाथी रूपी मेघों के चिंघाड़ से बढ़ा चढ़ा हुआ और पर्वतों के शिखरोंमें गूँजने से कठोर नगाड़ों का शब्द होने लगा ॥१०॥ उक्त ध्वनि मदोन्मत्तसैनिकों द्वारा किये गये कोलाहल से, हथियारों को टकराने से प्रचुरमात्रा में हो रही रथ आदि में लगी हुई छोटी–छोटी घंटियों की ध्वनियों से, धनुषों की टंकारसे, बाणों की सरसराहट से, परस्पर के शरीरसे टकराये हुए कवचों की झनझनाहट से, जल रही अग्नि की कड़कड़ाहट से, दुःख भरी रोदन ध्वनि से, योद्धाओं में से एक दूसरे को पुकारने से और बन्दियों द्वारा वीरों का उत्साह बढ़ाने के लिए निन्दा करने से युद्ध के बिना ही हुए मानसिक घाव से कातर हुए लोगों के रोदन से व्याप्त थी। उसने सम्पूर्ण ब्रह्माण्डरूपी बिल को पत्थर के समान ठोस बना दिया था यानी सारा ब्रह्माण्डमण्डल उक्त ध्वनि से भर गया था और उसने दसों दिशारूपी निकुंजों को पूर्ण कर दिया था, अतएव वह भीषण ध्वनि हाथ से पकड़ने के योग्य सी हुई ॥११–१४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर अतिस्थूल बन कर आदित्य के मार्ग को ढाँकने की इच्छा करनेवाला भूमण्डल ही धूलि के वेष से आकाश में उड़ने को तत्पर होकर उठा यानी आकाशमें घनी धूलि छा गई ॥१५॥ उक्त धूलिपटल से वह महान् नगर मानों गर्भवास को प्राप्त हुआ। रजोगुण की अधिक मात्रावाले यौवन से स्वभाविक मूढ़ता की नाईं उक्त रजसे अन्धकार निबिड़ हो गया ॥१६॥ जैसे दिवस के आविर्भाव से दीपों की कान्ति नष्ट हो जाती है, वैसे की तारागण कहीं विलीन हो गये, रात्रि में होनेवाले चंचल भूत – पिशाचों की कतार ने बल पकड़ा। उस महायुद्ध को दो लीलाओं ने तथा राजा विदूरथ की कन्या ने, जिन्हें देवी सरस्वती ने दिव्यदृष्टि दी थी, विदीर्ण हो रहे हृदय से बड़े क्लेश से देखा ॥१७,१८॥ जैसे एकमात्र समुद्र के जलप्रवाहों से बड़वानल शान्त हो जाता है वैसे ही राजा विदूरथ के प्रयाण के अनन्तर नगर को लूट–खसोट रहे राजा सिन्धु के सैनिकों के हथियारों और बाणों से उद्भुत हो रहे कटकट शब्द शान्त हो गये ॥१९॥ अपनी सेना को शत्रुवाहिनी के साथ भिड़ाने के लिए ले जा रहे राजा विदूरथको अपनी सेना और शत्रु सेना का बलाबल ज्ञात नहीं हुआ। जैसे अपने परों से उड़ा हुआ सुमेरु पर्वत प्रलयकालीन एकार्णव में प्रवेश करे, वैसे ही उसने भी शत्रु के और अपने बल का अन्तर जाने बिना ही शत्रु के दल–बल में प्रवेश किया ॥२०॥ राजा विदूरथ के परबल में प्रविष्ट होने के उपरान्त 'चट' 'चट' शब्द के साथ साफ सुनाई दे रही प्रत्यंचाध्वनि होने लगी, शत्रुओं की सेना के झुण्ड के झुण्ड, जिन्होंने अपने हथियारों की कान्ति के मेघ बना डाले थे, इधर–उधर घूमने लगे ॥२१॥ अनेक शस्त्रास्त्ररूपी पक्षीगण आकाश का आश्रय कर यानी आकाशमें उड़कर इधर–उधर घूमने लगे। जिन्होंने शत्रुओं के प्राण ले लिये थे, अतएव पाप से मानों जो मलिन हो गई थी, ऐसी शस्त्रों की चमचमाहट इधर–उधर फैलने लगी। शस्त्रों के परस्पर टकराने से उत्पन्न हुई आग अधजले काठ की नाईं जलने लगी। बाणरूपी धारा–प्रवाहों की वृष्टि कर रहे वीररूपी जलधर गर्जने लगे। आरों के समान निष्ठुर हथियार वीरों के अंग

प्रत्यंगों में घुसने लगे। तलवारों के प्रहार पट पट शब्द के रूप से आकाश में उड़े। शस्त्रास्त्रों की अग्निरूपी दीपमालाओं से अन्धकार तुरन्त विनष्ट हो गया। सारी सेनाएँ नूतन बाण रूपी रोंगटों से व्याप्त हो गई। यम की आराधनारूप यात्रोत्सव के लिए कबन्धरूपी नटों की पंक्तियाँ उठने लगी। रणोत्सव की आभूषणरूप युवती पिशाचियाँ रण की भीषणता का खूब ऊँचे स्वर में गान करने लगी ॥२२-२६॥ हाथियों के दाँतों के परस्पर टकराने से उत्पन्न हुए टंकार बड़ी तेजी से ऊपर को गये, आकाश में क्षेपणी से निकले हुए पत्थरों की महानदियाँ बहने लगी। आँधी द्वारा फेंके गये सूखे वनपत्तों के समान शव गिरने लगे, मृत्यु की वृष्टि करनेवाले रणरूपी पर्वत से लाल नदियाँ निकलने लगी ॥२७,२८॥ खून के पनालों से धूल के कण शान्त हो गये और हाथियों के टकराने से उत्पन्न अग्नि से अन्धकार मिट गया, एक मात्र युद्ध का ही ध्यान करने से अन्योन्य की वाणियाँ शान्त हो गयी और मरने के दृढ़ निश्चय से भय शान्त हो गया ॥२९॥ शब्दशून्य, भ्रमरहित अतएव वायु आदि से आकुलतारहित मेघ के समान केवल युद्ध हुआ, तलवाररूपी लहरों की टंकार ही उसमें सुनाई पड़ती थी ॥३०॥ उसमें खट-खट शब्द के साथ बाणवृष्टि बह रही थी, टक टक शब्द के साथ भुशूण्डियाँ गिर रही थी, झण झण शब्द के साथ महान्-महान् शस्त्र टकरा रहे थे, उक्त शस्त्रों से अतिरिक्त तिम-तिम शब्द से युक्त वह दुस्तर युद्ध हुआ ॥३१॥

छियालीसवाँ सर्ग समाप्त

सैंतालीसवाँ सर्ग

सिन्धुदेश के राजा का शत्रुपर विजय पाने में हेतुकथन, सूर्योदय और रण का क्रम वर्णन तथा दोनों राजाओं का विविध मन्त्रास्त्रों द्वारा युद्ध वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामचन्द्रजी, जब कि उक्त भीषण समर-संगम हो रहा था, दोनों लीलाओं ने भगवती सरस्वती देवी से फिर यह पूछा ॥१॥ हे देवि, आपके सन्तुष्ट होने पर भी हमारे पति इस रणभूमि में, जिसमें से हाथी भाग रहे हैं, अकस्मात् विजय क्यों नहीं प्राप्त करते, कृपा कर कहिये ॥२॥ श्रीसरस्वतीजी ने कहा : पुत्रियों, राजा विदूरथ के शत्रु इस राजा सिन्धु ने विजय के लिए चिरकाल तक मेरी आराधना की थी, राजा विदूरथ ने विजय की कामना से मेरी आराधना नहीं की थी, इसलिए यही (राजा सिन्धु ही) विजय प्राप्त करेगा और राजा विदूरथ पराजित होगा। सम्पूर्ण प्राणियों के हृदयान्तर्गत संवित् ही मैं (ज्ञप्ति) हूँ। उस ज्ञप्तिरूप मुझे जो पुरुष जब जैसा प्रेरित करता है, यानी काम, कर्म और वासना के बल से बल देने में प्रवृत्त करता है, तब उसका वैसा फल सम्पादन करती हूँ यानी तत्-तत् फलरूप से विवर्तित होती हूँ ॥३,४॥

उक्त अर्थ को ही स्पष्ट करती हैं।

जो मुझे जैसे प्रेरित करता है, उसके लिए में तत्फलस्वरूप होकर स्थित होती हूँ। मेरा यह स्वभाव अग्नि की उष्णता के समान अन्यथा नहीं होता ॥५॥ बाले, राजा विदूरथ ने

'मैं मुक्त ही होऊँ' इस बुद्धि से मेरी, जो कि प्रतिभारूपिणी है, आराधना की है, इसलिए वह मुक्त होगा ॥६॥

बाले से अप्रबुद्ध लीला को सम्बोधन किया गया है। प्रबुद्ध लीला को 'बाले' से सम्बोधन सम्भव नहीं है क्योंकि लीला प्रबुद्ध हो चुकी है।

राजा विदूरथ का शत्रु जो सिन्धुनामक राजा है, उसने स्वयम् 'मैं जय से शत्रु को पीड़ित करूँ' इस संकल्प से मेरी पूजा की थी ॥७॥ हे बाले, इसलिए राजा विदूरथ उस देह को पाकर तुम्हारे और इस भार्या के साथ समय आने पर मुक्त होगा और इसका शत्रु राजा सिन्धु इसको मारकर विजयी हो पृथ्वीतल में स्वयं राज्य करेगा ॥८,९॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, दो देवियाँ यों कह रही थी कि जूझ रही दो सेनाओं का आश्चर्यमय युद्ध देखने के लिए मानों भगवान् भास्कर उदयाचल में आरूढ़ हुए ॥१०॥ जिन तिमिर संघातों ने (अन्धकार समुदायों ने) रात्रि में (सन्ध्या में) तारों की भाँति राक्षस, पिशाच आदि जीव संघों को वैरिरूपी विदूरथ की सेना की नाईं प्रकट किया था, वे न मालूम कहाँ चले गये ॥११॥ नीला आकाश और पर्वतश्रेणियाँ धीरे-धीरे प्रकट होने लगी। सम्पूर्ण भुवन काजल के सागर में से निकाला हुआ-सा शोभित हुआ ॥१२॥ रणभूमि में श्रेष्ठवीरों पर रुधिर छटा की नाईं शैलों पर सुवर्ण के द्रव समान सूर्य किरणें गिरी ॥१३॥ तदुपरान्त आकाश और रणभूमि दोनों आकाश में उड़ी हुई और भूमि पर गिरी हुई वीरों की भुजाओं से ऐसे प्रतीत होते थे, मानों उनमें सर्प घूम रहे हैं, परस्पर प्रभा से दोनों ऐसे प्रतीत होते थे कि मानों उनमें सोना बिखेरा है, आकाश में उड़ रहे और भूमि पर गिरे हुए कुण्डलों से आकाश और धरती तक ऐसा मालूम पड़ता था मानों उनमें रत्नराशियाँ बिखेरी हों, सिरों से कमलपूर्ण तालाब- से प्रतीत होते थे, हथियारों से मानों गैंड़ों से निबिड़रूप से भरे से मालमू होते थे, बाणों से ऐसे लगते थे कि मानों वे टिड्डियों के दल से व्याप्त हों, रक्तकान्ति से वे स्थिरसन्ध्या से युक्त से मालूम होते थे, शवों से सिद्ध पुरुषों से पूर्ण हारों से साँप की केंचुल से भरे से, कवचों से प्रदीप्त और संकटग्रस्त से प्रतीत होते थे। आकाश में उड़ रही और भूमि में गिरी हुई पताकाओं से मानों उनमें लताएँ लहलहा रही हों, जंघाओं से मानों उनमें वन्दनवार बनाये गये हों, हाथ और पैरों से वे पल्लवयुक्त से प्रतीत होते थे, बाणों से शर के वन के सदृश लगते थे, शस्त्रों की किरणों से हरी दूब से हरे भरे मैदान से प्रतीत होते थे, शस्त्रों के समूहोंसे केतकी के फूलों से युक्त से प्रतीत होते थे, हथियारों के समूहों से व्याप्त वे उन्मत्त भैरव से प्रतीत होते थे, शस्त्रास्त्रों के टकराने से उत्पन्न हुई अग्नि से प्रफुल्ल अशोक के वन के तुल्य प्रतीत होते थे, समुद्र की नाईं 'घुं घुं' महाशब्दवाले, प्रातःकाल के सूर्य से प्रतीत आयुधवाले भाग रहे सिद्ध नायकों से सौवर्ण नगराकार प्रतीत होते थे, प्रास, तलवार, शक्ति, चक्र, ऋष्टि और मुद्गरों के उत्पतन और निपतन से आकाश प्रतिध्वनित हो रहा था, बह रही रुधिर नदी के प्रवाह से शवों के झुण्ड के झुण्ड बहाये जा रहे थे, भुशुण्डी, शक्ति, कुन्त, तलवार, शूल तथा पत्थरों के उत्पतन और निपतन से आकाश और रणभूमि पट गई थी, शूल और अन्यान्य शस्त्रास्त्रों के आघात से आच्छन्न कबन्ध वहाँ पर गिर रहे थे

और काल के सदृश कराल ताण्डव करनेवाले वेताल हल–गल शब्द कर रहे थे ॥१४–२२॥

इस प्रकार आकाश और रणभूमि का वर्णन कर सिन्धु और विदूरथ का द्वैरथ (जिसमें केवल दो ही रथ हैं) युद्ध का वर्णन करते हैं।

परस्पर के युद्ध से अपने–अपने योद्धाओं का विनाश हो जाने से शून्य रणभूमि में जैसे स्वर्ग में आकाश के चिह्नभूत सूर्य और चन्द्रमा दिखाई दें, वैसे ही राजा विदूरथ और राजा सिन्धु के प्रदीप्त और चंचल दो रथ दिखाई दिये। वे दोनों रथ चक्र, शूल, भुशुण्डी, ऋष्टि, प्रास और अन्यान्य हथियारों से खचाखच भरे थे और उनमें प्रत्येक में एक–एक हजार वीर सवार थे। विस्तृत शब्दवाले अपने–अपने पैतरों से अपनी इच्छानुसार घूमते थे, उनके चीत्कार युक्त महान् पहिये से अनेक मृत और घायल सैनिक चूर–चूर किये गये थे, मदोन्मत्त हाथी की चाल से वे रुधिरनदियों को, जो केशरूपी सेवाल से पूर्ण थी, रथों के चक्र ही जिनमें चक्रवाक और जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र थे, तैरते थे, उन्होंने चल रहे पहियों के आघात से हुई व्यथावश घायल हाथियों को गिरा डाला था, उनमें मणि और मोतियों के झनकार ही रण में प्रवृत्त कूबरों के (रथ के अग्र भाग के) शब्द हो रहे थे, वायु के आघात से फरफरा रही पताका के अग्रभाग में पट–पट शब्द हो रहे थे, जिन वीरों के सैनिक कातर थे ऐसे अनेक महावीर उनके पीछे चल रहे थे, वे रणभूमिमें चल रहे भाले, बाणों, धनुषों, शक्तियों, प्रासों, कीलों और चक्रों की धाराओं को उगल रहे यानी वृष्टि कर रहे थे ॥२३–२९॥ रणभूमि के कुण्डल के समान अलंकाररूप रथों के परिवर्तनरूप मण्डल में एक क्षणभर आवृत्ति कर युद्ध में वे दोनों संमुख परस्परकी क्रिया के व्यत्यास से शोभित होते थे। बाणरूपी धारासमूह और प्रास रूपी ओलों के गिराने और उनको सहने के लिए की गई ध्वनि होने पर दोनों ही परस्पर तरंगित सागर और मेघों की नाईं गर्जते थे। परस्पर आघात–प्रतिघात कर रहे उन दोनों भूमि के नरश्रेष्ठों के पत्थरके मूसल के सदृश बाण आकाश में फैलते थे ॥३०–३२॥ उन बाणों में से कुछ के मुँह तलवार के सदृश थे, कुछ के मुँह मुद्गरके सदृश थे, कुछ के मुँह चक्रों के तुल्य थे, कुछ के मुँह कुल्हाड़े के सदृश थे, कुछ के मुँह शूल और शिलाओं के सदृश थे, कुछ के मुख त्रिशूलाकार और कोई महाशिला के समान स्थूलाकार थे, वे सब बाण आकाश में फैलते थे ॥३३,३४॥ उस समय प्रलयकालीन वायु से गिराये गये पत्थरों के समूहों की नाईं बाण उन पर गिरते थे। सिन्धुराज और विदूरथ का परस्पर संमिलन प्रलयकाल में बढ़े हुए दो समुद्रों के परस्पर संमिलन विलास के तुल्य हुआ ॥३५॥

सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

अड़तालीसवाँ सर्ग

सिन्धु और विदूरथ के संग्राम का, जो कि विचित्र माया को
उत्पन्न करनेवाले मन्त्रास्त्रों से विश्व को मोहित करनेवाला था, विस्तार से वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामचन्द्रजी, राजा विदूरथ सामने खड़े हुए उन्नत मस्तक

राजा सिन्धु को पाकर मध्याह्नकालीन सूर्य के तुल्य कोप से व्याप्त हुआ ॥१॥ जैसे प्रलयकालीन वायु का आघात सुमेरु के तन को टंकार से युक्त करता है, वैसे ही राजा ने अपने धनुष को, जिसने चिरकाल से दिक्मण्डल को मुखरित कर रक्खा था, टंकार से युक्त किया यानी ताना ॥२॥ जैसे प्रलयकालीन सूर्य अपनी किरणों को छोड़ता है, वैसे ही रोष के आवेग से प्रवृत्त राजा ने तरकसरूपी रात्रि में बँधे हुए बाणों की परम्परा को छोड़ा ॥३॥ उसकी प्रत्यंचा से एक ही बाण जाता था, पर वह आकाशमें जाते–जाते हजार हो जाता था और लाख होकर गिरता था, भाव यह कि राजा का हस्तलाघव इतना बढ़ा–चढ़ा था कि एक बाण के बाद ही पलकभर में हजार बाण आाकाश में दिखाई देते थे और गिरने तक उनकी संख्या लाखों तक पहुँच जाती थी ॥४॥ राजा सिन्धु की भी शक्ति और हस्तलाघव राजा विदूरथ के समान ही थे। उनकी ऐसी आश्चर्यमय धनुर्युद्ध में कुशलता स्वाभाविक नहीं थी, किन्तु वर देने वाले भगवान् श्रीविष्णु के वरदान से वह प्राप्त हुई थी ॥५॥ प्रलयकालीन वज्रों की नाईं प्रचण्डशब्द करनेवाले मूसलाकार मूसलनाम के उन बाणों ने आकाशतल को आच्छन्न कर दिया ॥६॥ आकाश में शब्दायमान सोने के बाणों की कतार प्रलयकालीन पवन से पीड़ित अतएव शब्द कर रही और गिर रही तारावली के समान शोभित हुई ॥७॥ जैसे समुद्र से जलप्रवाह सदा निकलते रहते हैं और जैसे सूर्य से किरणें निरन्तर निकलती रहती हैं, वैसे ही राजा विदूरथ से बाणों की मूसलाधार वृष्टि निरन्तर निकलती गई ॥८॥ विदूरथ से वे ऐसे निकलते थे, जैसे आँधी से खूब हिलाये गये महावृक्ष से फूल गिरते हैं, जैसे खूब तपाये गये और पीटे गये लोहपिण्डों से चिनगारियाँ निकलती हैं, जैसे वृष्टि करनेवाले मेघ से धाराएँ निकलती हैं, जैसे झरने से जलकण निकलते हैं और जैसे उसके नगर में पूर्वोक्त अग्नि महादाह से चमकदार चिनगारियाँ निकले ॥९,१०॥ उन दोनों योद्धाओं के धनुषों के चट–चट शब्द को सुन रही दोनों सेनाएँ शान्त सागरके समान स्तब्ध हो गई ॥११॥ जैसे सागर की ओर गंगाप्रवाह बहते हैं, वैसे ही युद्ध में राजा सिन्धु की ओर घरघर शब्द से युक्त वेग वाले बाणों के प्रवाह बहते थे ॥१२॥ धनुषरूपी मेघ से चमक रहे सोने के फाल (अग्रभाग) वाले बाणों की वृष्टि 'शव'–'शव' शब्द करती हुई निरन्तर निकलती थी ॥१३॥ उस नगर में रहनेवाली लीला ने राजा सिन्धु को (सागरको) भरने के लिए जा रहे बाणों की गंगा के उस प्रवाह को झरोखे से देखकर और उस बाणसंघीत से अपने पति में विजय की आशा कर मारे आनन्द से विकसित मुखारविन्दवाली होकर देवी से निम्नलिखित वाक्य कहा ॥१४,१५॥ हे देवि, आपकी जय हो, ये हमारे स्वामी विजय प्राप्त कर रहे हैं, आप देखिये, इस बाणवृष्टि से, औरों की तो बात ही क्या है, मेरु भी चूर–चूर हो सकता है ॥१६॥ पति में गाढ़ प्रेम होनेके कारण आकुलतापूर्वक उसके ऐसा करने पर तथा युद्धदर्शन में व्यग्र दो देवियों के मनुष्य देह में आत्मबुद्धि करनेवाली उस नगर में निवास करनेवाली लीला के ऊपर हँसने पर जैसे जह्नुऋषि ने गंगाजी को पी डाला था, वैसे ही सिन्धुरूपी बड़वानल ने अगस्त्य स्थानापन्न हुए बाणरूपी दाह से राजा विदूरथ के बाणसागर को पी डाला ॥१७,१८॥ राजा सिन्धु ने अपनी बाणवृष्टि से उस बाण समूह रूपी महामेघ को

कणशः काट कर फिर उसे महीन धूलि बनाकर आकाशरूपी सागर में फेंक दिया। जैसे बुझे हुए दीप की गति नहीं जानी जाती यानी दीपक कहाँ गया, यह ज्ञात नहीं होता, वैसे ही उस बाणसमुदाय की गति किसीको ज्ञात नहीं हुई ॥१९,२०॥ राजा सिन्धु ने बाणों की उस वेगवती वृष्टि को तहस-नहस कर रण में अतिशय अनुराग होने से शरीर (शवशरीर) रूपी जल को धारण करनेवाले सैकड़ों शवोंसे युक्त मेघ को आकाश में फैलाया ॥२१॥ जैसे प्रलयकालीन मत्त पवन साधारण मेघ को उड़ा देता है वैसे ही राजा विदूरथ ने भी उसे अपने उत्तम-उत्तम बाणों से तुरन्त उड़ा दिया ॥२२॥ दोनों राजाओं ने इस प्रकार बाणवृष्टि से, प्रहार और प्रतीकार से, एक दूसरे के अस्त्र को व्यर्थ करने से और एक दूसरे को लक्ष्य बनाने से एक प्रहर बिता दिया ॥२३॥ तदुपरान्त राजा सिन्धु ने गन्धर्वों की मित्रता से प्राप्त विमोहनास्त्र का धनुष में सन्धान किया, उससे विदूरथ के सिवा उसके पक्ष के सब लोग मोह को प्राप्त हो गये। विमोहनास्त्र से राजा विदूरथ के सैनिकों के अस्त्र-शस्त्र और वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये थे, मूँह से वचन नहीं निकलता था, मूँह और नेत्रों में विषाद छा गया था तथा वे मृत से हो गये अथवा चित्रलिखित से हो गये थे ॥२४,२५॥ सम्मोहनास्त्र से उत्पन्न मोह के विदूरथ से भिन्न लोगों को मन्द बनाते न बनाते राजा विदूरथ ने प्रबोधास्त्र उठाया। प्रबोधास्त्र के सन्धानसे प्रातः काल में कमलिनी की (कमलसर की) नाईं सब लोग जाग उठे, तब तो जैसे सूर्य मन्देह नाम के राक्षस पर क्रुद्ध होता है, वैसे ही राजा सिन्धु विदूरथ पर क्रुद्ध हुआ यानी लाल पीला हुआ ॥२६,२७॥ तदनन्तर उसने (सिन्धु ने) भीषण नागास्त्र उठाया, जो कि पाशबन्धन द्वारा दुखदायी था, नागास्त्र से आकाश पर्वताकार साँपों से व्याप्त हो गया। मृणालों से (कमल की जड़ों से) जैसे तालाब विलास को प्राप्त होता है,वैसे ही सफेद साँपों से भूमि विलसित हुई,सब के सब पर्वत काले सर्परूपी कम्बलों से आच्छन्न हो गये, ये सभी पदार्थ विष की गर्मी से खेद को प्राप्त हुए और पर्वतों तथा वनों की विशालता से युक्त भूमि व्याकुलता को प्राप्त हो गई। विष की विषमता के सूचक, आग की चिनगारियों से पूर्ण और हिमशीतल तथा स्निग्धपदार्थों को भी रुखे और गर्म कर देनेवाले वायु भस्म से पृथक् किये गये अंगारों से व्याप्त होकर बहते थे ॥२८-३१॥ तदनन्तर महास्त्रवेत्ता राजा विदूरथ ने सौपर्ण (गारुड़) अस्त्र को उठाया। गरुड़ास्त्र से पर्वतोंकी नाईं विशालकाय गरुड़ उदित हुए। उन्होंने सम्पूर्ण दिशाओं को सुपर्णमय (सर्पमय) बना दिया, सब दिशाएँ उनसे छा गई और परों द्वारा परवाले पर्वतों के तुल्य अपने उड़ने के वेग से उन्होंने प्रलयकाल का वायु उत्पन्न कर दिया। अपने श्वासके वेग से फुफकार मार रहे साँपों को खींच लिया तथा महान् घुर, घुर शब्द से समुद्र के कुछ हिस्सों को भर दिया था ॥३२-३४॥ जैसे महामुनि श्री अगस्त्यजी ने भूमि को भरनेवाले (प्लावित कर देनेवाले) कष्टके साथ इधर उधर सरक रहे चंचल प्रवाहवाले समुद्र को पी डाला था, वैसे ही उस गरुड़ास्त्र ने भूमि को आच्छन्न करनेवाले इधर उधर कष्ट के साथ सरक रहे सर्परूपी प्रवाह को पी डाला ॥३५॥ काले सर्परूपी कम्बलों से निर्मुक्त भूमण्डल ऐसा शोभित हुआ, जैसा कि वराह भगवान् द्वारा चिरकाल से उद्भूत अतएव वारि राशि से

निकाला हुआ भूमिमण्डल शोभित हुआ था। तदुपरान्त वह गरुड़ों की महती वाहिनी, जैसे वायु के झोंकों से दीपसमुदाय अदृश्य हो जाता है, जैसे शरद् ऋतु से मेघमण्डल लुप्त हो जाता है, जैसे वज्र के भय से पक्षयुक्त मैनाक आदि पर्वत संघात सामने से अदृश्य हो जाता है, जैसे स्वप्नदृष्ट नगर लुप्त हो जाता है और मनोरथ से कल्पित नगर तथा जलप्रवाह या नगरों की परम्परा विलुप्त हो जाती है, वैसे ही, न मालूम कहाँ चली गई ॥३६–३८॥ तदुपरान्त राजा सिन्धु ने अन्धा बनानेवाले अन्धकार को पैदा करनेवाले तमोस्त्रकी सृष्टि की। उससे काला और शिला के मध्य के समान घना अन्धकार बढ़ा। अन्तरिक्ष और भूमिमण्डल के मध्य में फैला हुआ वह घना अन्धकार एकमात्र सागर सा हो गया, उसमें दोनों राजाओं की सेनाएँ मछलियाँ सी हुई और उनके अंग–प्रत्यंग में लगे हुए मणिगण तारे–से हुए ॥३९,४०॥ अन्धकार के प्रसार से जगत् स्याही के पंक के सागर के तुल्य हो गया और अंजनपर्वत के उपादानरूप धूलिकणों के साथ उत्पन्न हुए प्रलयवायुओं से व्याप्त सा हो गया। सब लोग मानों अन्धे कुएँ में गिर गये थे, चारों दिशाओं के, कल्पान्तकाल की नाई, सब व्यवहार नेस्तनाबूद हो गये थे ॥४१,४२॥ तदुपरान्त मंत्रों में श्रेष्ठ राजा विदूरथ ने ब्रह्माण्डमण्डल में दीपकतुल्य प्रकाश करनेवाले सूर्यास्त्र की सृष्टि कर गुप्तमन्त्रणा की कोई अपेक्षा किये बिना ही जगत् को सचेष्ट कर दिया ॥४३॥ तदनन्तर सूर्यरूपी अगस्त्य ने अपने किरणों से अन्धकार के सागर को, ऐसे पी डाला जैसे निर्मल शरद् ऋतु काले मेघों को पी डालती है ॥४४॥ अन्धकाररूपी वस्त्र से उन्मुक्त सुन्दर मेघों से युक्त निर्मल दिशाएँ वस्त्ररहित रमणीय स्तनमण्डल से संपन्न कान्ताओं की नाईं, राजा के सन्मुख सुशोभित हुई ॥४५॥ उनके मध्य में सज्जनों के अन्तःकरण में लोभरूपी काजल–समूह से मुक्त बुद्धि के समान सम्पूर्ण वनपंक्तियाँ प्रकट हो गई ॥४६॥ तदनन्तर क्रोध से व्याकुल राजा सिन्धुने एक क्षण में महाभयंकर राक्षसास्त्र का प्रयोग किया ॥४७॥ राक्षसास्त्र के प्रयोग से दसों दिशाओं से बड़े भयानक और कठोर वनराक्षस निकल आये। वे पातालमें रहनेवाले दिग्गजों की फुफकार से विक्षुब्ध (तरंगित) सागरों के तुल्य थे। उनकी जटाएँ कपिल रंग की और ऊपर को खड़ी थी, चट चट शब्द कर रहे थे, उनकी भीषण जीभ लप लपा रही थी, अतएव वे ऊपर उठनेवाली लाल ज्वालाओं से युक्त, चट चट शब्द कर रही थी, जिसमें काली, कराली, मनोजव, सुलोहिता आदि सात उग्र ज्वालाएँ लपलपा रही हों, ऐसी गीले काठवाली अग्नि के समान धूम्रवर्ण के थे। वे आकाश में जलभौंरी की नाई घूमते थे, भीषण चीत्कार शब्द टंकार करते थे, अतएव वे अग्नि के सन्ताप से युक्त (जल रहे) और महान् धुएँ से चंचल उल्मुकधारियों के सदृश थे ॥४८–५०॥ दाढ़रूपी मृणालों से आक्रान्त मुखों से और कीचड़ से मलिन चक्षु आदि इन्द्रियों से युक्तरोमरूपी सेवाल से युक्त शरीरवाले वे खराब पल्वलों के (छोटे तालाबों) तटों की नाईं उदित हुए थे। खराब पल्लवों के तट मृणालों और कीचड़ तथा कमलगट्टों से व्याप्त रहते हैं और सेवाल भी उनमें रहता है ॥५१॥ जैसे सजल मेघ गरजता है, सूर्य, चन्द्र, तारे आदि ज्योतियों को निगल जाता है और बिजली से युक्त होता है, वैसे ही गरज रहे और लोगों को निगल रहे मानों जगत् को

निगलने के लिए ब्रह्मा द्वारा रचे गये से वे जटाजाल रूप बिजली से युक्त थे ॥५२॥ इसी समय युद्धभूमि में लीलापति राजा विदूरथ ने दुष्ट भूतों का विनाश करनेवाला नारायणास्त्र, प्रयोग करनेके लिए, उठाया ॥५३॥ इस श्रेष्ठ अस्त्र के उदित होते ही सूर्य के उदित होने पर जैसे अन्धकार विलीन हो जाता है, वैसे ही राक्षसों की वे विविध शस्त्रास्त्र परम्पराएँ विलीन हो गई। नारायणास्त्र के प्रयोगों से तीनों भुवन राक्षसों की महती सेना से शून्य हो गये। अतएव जैसे शरद ऋतु में मेघों से निर्मुक्त अतएव निर्मल आकाश शोभित होता है, वैसे ही राक्षस सेनाशून्य त्रिभुवन शोभित हुआ ॥५४,५५॥ तदनन्तर राजा सिन्धु ने आग्नेयास्त्र, जिसने आकाशको प्रज्वलित कर दिया था, छोड़ा, उससे दिशाएँ प्रलयकालीन अग्नि से जलाई गई सी जलने लगी ॥५६॥ धूम्ररूपी मेघों के संघात से आच्छन्न सम्पूर्ण दिशाएँ आकाश में गूंथे हुए पाताल के अन्धकारसे आकुल सी हो गई ॥५७॥ जले हुए पर्वत सोने के से लगते थे और फूले हुए और अत्यन्त घने चम्पा वृक्षों के वनों से युक्त से लगते थे ॥५८॥ आकाश, पर्वत और दिशामण्डल मृत्यु के उत्सव में कुमकुम से सींची गई मालाओं की नाईं अग्नि की ज्वालाओं के जाल से जटिलता को प्राप्त हो गये यानी व्याप्त हो गये। हजारों आकारवाले नौकावेगों से सागर से आये हुए और आकाशचुम्बी बड़वानल से मानों जगत् के अग्निरूपी अद्वैतकी (अग्निरूपताकी) संभावना करती हुई जनता जलाई गई ॥५९,६०॥ राजा विदूरथ ने आग्नेय अस्त्र को जीतकर रिपु सिन्धु पर भी जैसे यह अस्त्र प्रहार करे वैसे पूजा करके वारुणास्त्र का प्रयोग किया ॥६१॥ उस अस्त्र के प्रयोग से शरों के मार्ग के अवकाश में दसों दिशाओं से चारों ओर के अन्धकार के प्रवाह की नाईं, द्रवरूप पर्वतों की नाईं, आकाश के भाग की नाईं, स्थिरगति (निश्चल) बादलों की नाईं, महासागर की नाईं और ऊपर से नीचे को लुढ़काई गई कुलपर्वतों की चट्टानों की नाईं जलप्रवाह आने लगे ॥६२,६३॥ वे जलप्रवाह क्या थे मानों बाणों के मार्गभूत आकाश में उड़े हुए तमाल वृक्षों के झुण्ड थे, आपस में एक दूसरे से पिरोई हुई रात्रियाँ थी, लोकालोक पर्वत की तलहटी से निकले हुए असंख्य काजल के अन्धकार रूपी ढेर थे आकाश के दर्शनों की तीव्र इच्छावाली विशालकाय पाताल की गुफाएँ थी, जिनकी स्वभावतः विशाल देह महान् घुरघुर शब्द के वेग से और भी अधिक बढ़ गई थी ॥६४,६५॥ जैसे भुवनव्यापिनी काली रात सन्ध्या को शीघ्र ही पी डालती है, वैसे ही जल संघात ने उन्मत्त उस अग्निसंघात को पी डाला। जलराशि ने महान् विस्तार को प्राप्त उस अग्नि को पीकर जैसे व्यक्त (प्रकट) होती हुई निद्रा श्रम से श्रान्त शरीर को भर देती है, वैसे ही पहले ज्वालाओं से व्याप्त भुवनतल को भर दिया ॥६६,६७॥ पूर्व अस्त्र द्वारा की गई अपनी मलिनता को हटानेवाले तथा उनसे विरुद्ध अस्त्रवेत्ताओं ने परस्पर ऐसे मायिक अस्त्रमोह किये, जिन्हें वे अपने सामने स्वयं देखते थे और शत्रु के विनाशरूप फल द्वारा उनका अनुभव भी करते थे ॥६८॥ तदनन्तर जल से राजा सिन्धु के अपनी सेना की रक्षा करनेवाले अस्त्रशस्त्र समूह और श्रेष्ठ योद्धा तिनकों की नाईं बह चले और राजा सिन्धु का रथ भी जलप्रवाह में तैरने लगा। इसी बीच राजा सिन्धु को शोषणास्त्र का स्मरण हुआ। उसने आपत्ति से बचानेवाले तथा देव से प्राप्त शररूपी शोषणास्त्र का धनुष में

सन्धान किया ॥६९,७०॥ सूर्य के उदय से रात्रि की नाईं शोषणास्त्र से जलमयी माया शान्त हो गयी जो मर चुके थे वे, मरे ही रह गये, किन्तु भूमितल सूख गया ॥७१॥ तदनन्तर मूर्ख के क्रोध के सदृश लोगों को क्लेश पहुँचा रहा सूर्यताप, जोकि सूखे हुए पत्तों से इधर उधर चारों ओर व्याप्त विशाल वनों से अधिक कठोर हुआ था, खूब बढ़ने लगा ॥७२॥ दिशाओं की चमचमा रहे सुवर्ण के द्रव की नाईं सुन्दर शरीर शोभा ऐसी भली मालूम होती थी मानों राजाओं की उत्तम स्त्रियों के शरीर में लगा हुआ केसर आदि का अंगलेप हो। शोषणास्त्र से राजा सिन्धु के विरोधी ग्रीष्म ऋतु की वनाग्नि के खूब सन्तप्त कोमल–कोमल पल्लवों की नाईं ताप से होनेवाली मूर्च्छा को प्राप्त होने लगे ॥७३,७४॥

तदुपरान्त रणभूमि की भयंकरता के बढ़ने पर राजा विदूरथ ने क्रेंकार की (प्रत्यंचाशब्द की) शोभा से व्याप्त धनुष को तान कर उसमें पर्जन्यअस्त्र का अनुसन्धान किया। एक स्थान में ढेर लगा कर रक्खी हुई रात्रियों की नाईं जलपूर्ण होने के कारण मन्दगामिनी मेघपंक्तियाँ तमाल वनों के आकाशमें उड़ने की लीला से उदित हुई। उक्त मेघपंक्तियाँ जलराशि से नमने के कारण उन्नत नहीं थी, गर्जन और तर्जन से उनका गमन बड़ा उद्दाम था, तिरछे विस्तार से अमन्थर और स्वाभाविक विस्तार से कुण्ठित गतिकी नाईं संकुचित सम्पूर्ण दिशामण्डल मानों उनके कुण्डल हो गये थे। विकीर्ण (इधर उधर बिखेरे गये) जलबिन्दुओं और शीतलता से सुखदायक, मेघाडम्बर को भिन्न करनेवाले और मूसलाधार वृष्टि से व्याप्त वायु बहने लगे। अप्सराओं के कटाक्ष विक्षेप के तुल्य चपल बिजली आकाश में ऐसी चमकती थी, मानों सोने के साँप किसी बहुत बड़ी आपत्ति से बड़ी उतावली के साथ निकल रहे हों ॥७५–७९॥ दिशाएँ, जिनकी कन्दराएँ मेघों के गर्जन की बढ़ी चढ़ी प्रतिध्वनियों से व्याप्त थी और जिनमें मेघगर्जन सुनने के पश्चात् 'हमारे सामने यह कौन गरज रहा है, यों क्रोधपूर्वक सामने दौड़े हुए हाथियों, सिंहों और रीछों के प्रतिगर्जन से विपुल कोलाहल हो रहा था, घूमने लगी ॥८०॥ ओले गिरने की कष्टदायक टं टं ध्वनियों से कठिन खूब वेगवाली वृष्टि बड़ी–बड़ी मूसलाधारों से गिरने लगी। वह वृष्टि क्या थी मर्मस्थान और नसों को तोड़ने का ध्वनियोंसे कठिन (क्रूर) यम की ही दृष्टि थी ॥८१॥ पहले मेघों के युद्ध के लिए मानों शूरवीरता को धारण किया हुआ सा अग्नि के तुल्य गर्म पृथिवी की वाष्प पाताल से निकली ॥८२॥ तदुपरान्त परमात्मा के बोधरूप निरतिशय आनन्दप्रवाह से सांसारिक वासनाओं की नाईं मृगतृष्णा को पैदा करनेवाले आतपसन्ताप (प्रचण्ड सूर्य प्रकाश) पर्जन्यास्त्र से एक पलक भर में शान्त हो गया ॥८३॥ सारा भूमण्डल कीचड़ से सन गया अतएव उसमें चलना भी दूभर हो गया। राजा सिन्धु जलधाराओं से ऐसा पूर्ण हो गया जैसा कि जलराशि से समुद्र भर जाता है। यों जलधाराओं से व्याप्त सिन्धु राजा ने वायव्य अस्त्र का प्रयोग किया। वायव्यास्त्र ने आकाशरूपी कोटर को (खोखले को) वायु से पूर्ण कर दिया और वह स्वयं प्रलयकाल के नृत्य में मत्त और गा रहे भैरव के सदृश भीषण था यानी उसमें सांय–सांय शब्द और कम्पन प्रचुर मात्रा में हो रहा था ॥८४,८५॥ दसों दिशाओं में प्रबल आँधी बहने लगी। जैसे वज्र गिरने से लोगों के शरीर में

दर्द होता है, वैसे ही उक्त आँधी ने प्राणियों के अंगों को व्यथित कर डाला, बड़ी-बड़ी शिलाओं के टुकड़ों को तोड़-फोड़ डाला, योद्धाओं के प्रलय काल की सूचना करनेवाले एवं योद्धाओं के प्रतियोद्धाओं द्वारा किये गये बड़े-बड़े टंकारों से यानी शिलाओं को तोड़ने की ध्वनियों से टंकवाले से अर्थात् पत्थरों को तोड़ने के हथियारों से (घनोंसे) युक्त-सी थी ॥८६॥

अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त

उनचासवाँ सर्ग

पर्वतास्त्र, वज्रास्त्र, ब्रह्मास्त्र और पिशाचास्त्र का,
जिसमें पिशाचों की विविध लीलाएँ थी, विस्तार से वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, तुषार से सने हुए वायु बहने लगे, उन्होनें वन के पल्लवों को अस्त-व्यस्त कर दिया, वन के वृक्षों को कँपा दिया और जितने मूर्तिमान् पदार्थ थे, उनके मस्तकों में धूलि को लीला से आपीड़ (शिरोभूषण) बना दिया ॥१॥ उक्त वायुओं ने वृक्षों के झुण्ड के झुण्ड को पक्षियों की नाईं आकाश में उड़ा दिया, बड़े-बड़े योद्धाओं को पृथिवी में पछाड़ दिया और आकाश में उड़ा दिया बड़े-बड़े महलों की अटारियों के हिस्से को चूर-चूर कर दिया और बादलरूपी भीत को छिन्न भिन्न कर दिया। उस भीषण वायु से राजा विदूरथ का रथ भी जैसे जीर्ण पत्ता नदी के वेग से बहाया जाता है, वैसे ही बहाया गया ॥२,३॥ तदुपरान्त महास्त्रवेत्ता राजा विदूरथ ने पर्वतास्त्र का त्याग किया, वह मानों मेघ-जल के साथ आकाश को भी ग्रसने के लिए उद्यत था ॥४॥ उस पर्वतास्त्र के प्रहार से सर्वत्र व्याप्त वायु ऐसे शान्ति को प्राप्त हुआ जैसे कि तत्त्वज्ञान होने से, मायारूप कारण का नाश होने के कारण, उसके कार्य विराट् सूत्रात्मा शान्त हो जाता है ॥५॥ जैसे अनेक लोगों के शवों के ढेर में करोड़ों कौए गिरते हैं, वैसे की पहले वायु के कारण आकाश में गई हुई वृक्षपंक्तियाँ पृथिवी में गिरी ॥६॥ दिशाओं के सूत्कार (निःश्वास के शब्द), डात्कार (लूटपाट के शब्द), भांकार (भीषण शब्द) और उत्कार शब्द शान्त हुए, नगर, गाँव, वन और लताओं के निरर्थक वर्णनवचन विध्वस्त होते हैं ॥७॥ जैसे सागर ने प्राचीन कालमें अपने ऊपर इधर-उधर उड़ते हुए पंखवाले मैनाक आदि पर्वतों को देखा था, वैसे ही राजा सिन्धु ने आकाश से पत्ते के तुल्य गिर रहे पर्वतों को देखा ॥८॥ तदुपरान्त राजा सिन्धु ने दीप्त वज्रास्त्र की सृष्टि की। उससे जैसे अग्नि लकड़ियों को जला डालती है वैसे ही बड़े-बड़े पर्वतरूपी अन्धकार को गिरा रहे वज्रों के झुण्ड के झुण्ड निकले ॥९॥

उन्होंने (वज्रों ने) अपने करोड़ों मुखों द्वारा कर्तन से (काटने से) पर्वतों के शिखरों को ऐसे गिरा दिया जैसे कि आँधी फलों को गिरा देती है ॥१०॥ तदनन्तर राजा विदूरथ ने वज्रास्त्र की शान्ति के लिए अन्यान्य अस्त्रों का अतिक्रमण कर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया। उसके अनन्तर ब्रह्मास्त्र और वज्रास्त्र दोनों एक साथ शान्त हो गये ॥११॥ फिर तो राजा सिन्धु ने अँधियारी रात्रि के समान काले पिशाचास्त्र का प्रयोग किया। उससे अत्यन्त भीषण पिशाचों

की पंक्तियों की पंक्तियाँ निकली। उन पिशाचों की पंक्तियों से जैसे सन्ध्या के समय कोई आदमी भयभीत हो काला हो जाता है, वैसे ही दिन भी भय से मानों काला हो गया। अन्धकार के समूह की तरह पिशाच भुवन में व्याप्त हुए। उनमें से कोई भस्म के (जले हुए) स्तम्भों के तुल्य काले थे, कोई ताड़ के पेड़ के सदृश ऊँचे थे, किन्हीं का कोई रूप ही न था यानी अदृश्य थे। किन्हीं के केश ऊपर को खड़े थे, कोई बड़े दुबले पतले थे, कोई मूछ–दाढ़ीवाले थे, कोई काले थे, किन्हीं का शरीर ग्रामीण पुरुषों की नाईं बड़ा गन्दा था, कोई आकाशचारी थे, कोई केवल अपवित्र लोगों के दृष्टिगोचर होते थे, किन्हींके हाथ में हड्डी, नर–मुण्ड आदि वस्तुएँ थी, कोई चंचल थे, कोई दीन–हीन थे, कोई वज्र और तलवार से भी बढ़कर क्रूर थे, कोई ग्रामीण दरिद्रों की नाईं दीन–हीन थे, वृक्ष, कीचड़, रथ्या (जलप्रवाह) के भीतर और शून्य घर में उनका निवास था और वे बड़े चंचल थे। उनमें से कोई अपनी जिह्वाओं को लपलपा रहे थे, किन्हीं का स्वरूप प्रेतों के तुल्य था, किन्हीं का अंग काला था, कोई बिजली के तुल्य स्वरूपवाले थे यानी कभी दिखाई देते थे और कभी छिप जाते थे। मदोन्मत्त उन लोगों ने मरने से बचे हुए शत्रु के सैनिकों को पकड़ना आरम्भ किया। वहाँ पर उसके सैनिकों की बुरी हालत हुई। किन्हीं के अस्त्र–शस्त्र, छिन्न –भिन्न हो गये थे और किन्हीं की चेतना शक्ति नष्ट हो गयी थी, किन्हींके हथियार कवच अलग हो गये थे, कोई मारे भय के दुबके हुए थे और कोई बारबार ठोकर खाकर चल रहे थे। वे सब नयन, मुख, पैर और अन्यान्य अंगों से भाँति भाँति की भूताविष्ट–चेष्टाएँ कर रहे थे। उनमें से कुछ ने कौपीन और वस्त्रों का त्याग कर दिया था, कुछ के ऊपर के और नीचे के वस्त्रहीन अंग संकुचित थे, कुछ खड़े होकर मल–मूत्र का त्याग कर रहे थे और कुछ ने नाचना आरम्भ कर दिया था ॥१२–२०॥ राजा सिन्धु की पिशाचसेना जब राजा विदूरथ के ऊपर आक्रमण करना चाहती थी, तभी राजा विदूरथ ने, जो बड़ा बुद्धिमान था, उसे माया जान लिया ॥२१॥ राजा विदूरथ पिशाचों से संग्राम करने की माया को जानता था, उस माया द्वारा उसने पिशाचों की उस सेना को शत्रु सेना से भिड़ा दिया ॥२२॥

तदनन्तर राजा विदूरथ के अपने सैनिक तो स्वस्थ हो गये और शत्रु के सैनिक पिशाचों से आविष्ट होकर उनकी सी गतिविधिवाले हो गये। राजा विदूरथ ने कोप से उसके सहायक दूसरे रूपिकास्त्र का प्रयोग किया ॥२३॥ खड़े हुए केशवाली गड्ढे से घुसी हुई विकराल नेत्रवाली तथा चंचल कटिभाग और स्तनमण्डल से युक्त रूपिकाएँ (अनेक पूतनाएँ) भूतल और आकाश से उत्पन्न हुई। उनमें से किसी की जवानी उभरी हुई थी, कुछ बुढ़ियाँ थी, कुछ बड़ी मोटी थी और कुछ का शरीर जीर्ण–शीर्ण यानी कृश था, किन्हींके जघन अपने स्वरूप के अनुरूप थे और किन्हींके स्वरूप के अनुरूप नहीं थे, किन्हींकी नाभियाँ बड़ी घृणित थी, गुप्त अंग भी आवृत नहीं थे, कुछने अपने हाथों में नररक्त से पूर्ण खप्पर ले रक्खा था, अतएव उनका शरीर सन्ध्याकाल के मेघ के समान लाल था, आधा चबाये हुए माँस और खून को बहा रहे ओठों के प्रान्तों से उनका मुँह व्याप्त था ॥२४–२६॥ वे पिशाचियाँ विविध प्रकार की अंगचेष्टाएँ कर रही थी, वे भाँति–भाँति के अनम्र लोगों को नवाने में समर्थ थी और उनके मुँह, जंघा,

कमर, पसली, भुजाएँ और अन्यान्य अंग शिलाओं की नाईं कठोर और साँपों की नाईं टेढ़े मेढ़े थे। उन्होंने बच्चोंके शवों की नरमाला पहन रक्खी थी, हाथ से वे मनुष्यों की आँत रूपी रस्सी को खींचती थी, उनमें से किसी का मुँह कुत्ते जैसा किसी का कौए जैसा और किसी का उल्लू जैसा था। उनके मुँह, चिबुक (ठोड़ी) पेट गहरे थे ॥२७,२८॥ उन्होंने उन दुर्बल पिशाचोंको दुष्ट बच्चों की नाईं पतिरूप से पकड़ लिया, तदुपरान्त रूपिकाओं और पिशाचों की वह सेना एक में मिल गई ॥२९॥ वे क्रीड़ारस में अत्यन्त मग्न, नाचने के कारण उठाने मुँह, अंग और नयनवाले थे, परस्पर एक दूसरे के ऊपर आक्रमण कर रहे थे तथा परस्पर दौड़ रहे थे। उन्होंने बड़ी जिह्वा बाहर निकाल रक्खी थी, नाना प्रकार के मुँह के विकारसे युक्त थे, रुधिरमुण्ड के भार से वे आक्रान्त थे, परस्पर एक दूसरे की प्रसन्नता के लिए वे शवों को ले जा रहे थे ॥३०,३१॥ वे रुधिररूपी जलमें बार-बार डूबकर ऊपर को उबरते थे, उनके शरीर बह रहे खून से लथपथ अतएव दैदीप्यमान थे, पेट, भुजाएँ, कान, ओठ और नासिका- ये अंग बड़े लम्बे थे। रुधिर और माँस के कीचड़ में वे परस्पर लोट-पोट कर रहे थे और मन्दराचल से मथे जा रहे क्षीरसागरके से विपुल कोलाहल से वे व्याप्त थे ॥३२,३३॥ जैसे ही पहले राजा विदूरथ ने राजा सिन्धु की माया का संचार (उसकी माया को लौटाकर उसी के ऊपर डालना) किया था, वैसे ही राजा सिन्धु ने भी जानकर बड़ी शीघ्रता और फुर्ती के साथ उसकी माया का संचार उसी के ऊपर कर दिया ॥३४॥

तदुपरान्त पिशाचास्त्र से उत्पन्न पिशाच और रूपिकाओं की सेना की सहायता के लिए राजा सिन्धु ने वैतालास्त्र का प्रयोग किया, उससे वेतालों के आवेश से चलाये गये मुर्दों के झुण्ड के झुण्ड, जिनमें कुछ तो सिर रहित थे और कुछ सिर सहित थे, उत्पन्न हुए ॥३५॥ तदनन्तर पिशाच, वेताल, रूपिका और भीषण कबन्धों से परिपूर्ण वह भीषण सेना पृथिवी को निगलने में समर्थ हुई ॥३६॥

तदुपरान्त राजा विदूरथ ने भी पहले प्रयोग करने के कारण शिक्षक तुल्य राजा सिन्धु पर उस माया को लौटाकर राक्षसास्त्र की सृष्टि की, उक्त राक्षसास्त्र तीनों लोकों को ग्रसने में तत्पर हुआ। चारों ओर से पर्वताकार महाकाय राक्षसों का आविर्भाव हुआ, मालुम होते थे कि मानों नरक ही देहधारण कर पाताल से निकले हों। तत्पश्चात् देवता और असुरों को भयभीत करने वाली बड़ी भीषण राक्षससेना, जिसमें गरज रहे राक्षसों के महान् सिंहनादरूपी बाजे से कबन्ध नाच रहे थे, उत्पन्न हुईं। वह सेना मेदा और मांसरूप उपदंश से (मद्य के ऊपर रुचनेवाली वस्तु यानी चाट से) भरी थी, रुधिररूपी मद्य से रंगी थी और मत्त कूष्माण्ड, वेताल और यक्षों के ताण्डव से (नृत्य से) बड़ी भली लगती थी ॥३७-४०॥ कूष्माण्डों के उद्धतनृत्य में दण्डपाद से (पैरों को इधर उधर नचाने के एक प्रकार से) विक्षुब्ध रुधिर की उठी हुई तरंगों से सींचे गये प्राणियों से उक्त सेना ने रुधिर के प्रवाह पर पुल बाँध रक्खा था, उक्त पुलकी कान्ति संध्याकाल के मेघ की प्रचुर लालिमा से भी करोड़ गुना अधिक था ॥४१॥

उनचासवाँ सर्ग समाप्त

पचासवाँ सर्ग

दो वैष्णवास्त्रों का युद्ध, दोनों राजाओं का रथरहित होना और राजा विदूरथ की मृत्यु का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, समयोजित प्रतिभा रखनेवाले लोगों में सर्वश्रेष्ठ, महान् उदार और अधिक धैर्यशाली राजा सिन्धु ने उस समय जब कि वह भीषण संग्राम हो रहे थे, शत्रु की सम्पूर्ण सेना के विनाशके लिए तथा अपनी सेना की पिशाचों से हुई पीड़ा की शान्ति के लिए सब अस्त्रों के राजा असाधारण श्रीवैष्णवास्त्र का, जो कालरुद्र के समान संहारकारी था, स्मरण किया ॥१,२॥ राजा सिन्धु ने वैष्णव अस्त्र से अभिमन्त्रित कर जो शर अपनी प्रत्यंचा से छोड़ा उसके फल के अग्रभागसे उल्मूक (उल्का) आदि निकलने लगे। उससे निकली हुई बड़े, बड़े चक्रों की पंक्तियों ने दिशाओं को सैकड़ों सूर्यों से युक्त सा बना दिया, अभिमुख आ रही गदाओं की पंक्तियों ने आकाश को सैकड़ों गदाकार बाँस के नये अँकुरों (पौधों) से युक्त कर दिया, सौ धारवाले वज्रों की पंक्तियों ने आकाश को तिनकों के समूह से व्याप्त बना दिया, कमलदलों के कलियों के आकार की अनेक शाखाओं से युक्त पट्टिशों की पंक्तियों ने आकाश को कटे हुए वृक्षों से व्याप्त सा कर दिया, चोखी धारवाले बाणों की पंक्तियों ने आकाश को फूलों की जाली से युक्त सा कर दिया और काली आकृतिवाले खड्गों की कतारों ने आकाश को पत्तों की राशि से व्याप्त कर दिया ॥३-६॥ तदनन्तर दूसरे राजा ने यानी विदूरथ ने भी वैष्णव अस्त्र की शान्ति के लिए वैष्णव अस्त्र का ही, जो कि शत्रु की पराक्रम स्थितिके अनुरूप था, प्रयोग किया ॥७॥ उससे भी बाण, शक्ति, गदा, प्रास, पट्टिश आदिरूप जलवाली अस्त्रों की नदियाँ निकलीं, जिन्होंने पहले के वैष्णवास्त्रप्रयुक्त अस्त्र-शस्त्रों को छिन्न-भिन्न कर दिया था। आकाश में उन शस्त्रास्त्रों की नदियों का द्युलोक और पृथिवी के मध्यवर्ती अवकाशका भी विनाश करनेवाला तथा श्रेष्ठ कुलपर्वतों को भी चूर-चूर कर देनेवाला युद्ध हुआ ॥८,९॥

उक्त शस्त्रास्त्रों की नदियों के ही युद्ध का विस्तारसे वर्णन करते हैं।

उस युद्ध में शर से (वैष्णवास्त्र से अभिमन्त्रित बाण से) निकले हुए शूल, तलवार और कटार से पट्टिश (किर्च के आकार के एक प्रकार के लोहे के हथियार) चूर चूर हो गये थे, मूसलों के विस्तार तथा प्रास और शूल से शक्तियाँ (शक्ति नाम का शस्त्र) काट कर टुकड़े-टुकड़े की गईं थी और बाण समूह रूप जलनिधि के मंथन में समर्थ मुद्‌गर ही मन्दर का काम कर रहे थे। वहाँ गदाओं के मुखसदृश अग्रभागों से टक्कर लग रही थी तथा जिनके अस्त्रों का निवारण करना महाकठिन था, उन प्रतियोद्धाओं के अनुरूप प्रमाण और प्रभाववाली तलवारें थी। उस युद्ध में अपनी-अपनी सेनाओं के विध्वंसरूप अशुभ की शान्ति के लिए भालेरूपी चन्द्रमण्डल घूम रहे थे, यम वहाँ पर प्रासों के प्रसार से कुपित थे, अतएव उन्होंने लोगों का क्षय करना आरम्भ कर दिया था। उस युद्ध में चक्रों से ऊपर को खड़े किये गये अस्त्र-शस्त्र कुण्ठित किये गये थे, सम्पूर्ण आयुधों का क्षय हो रहा था, उसके शब्द से ब्रह्माण्ड

मानों फूटता था, प्रहारों से कुलाचल भी छिन्न–भिन्न हो रहे थे। जैसे मैंने विश्वामित्र के अस्त्र का निवारण किया था, वैसे ही परस्पर एक दूसरे के घात–प्रतिघात का निवारण करनेवाले लड़ रहे उन दो वैष्णवास्त्रों की बाणवृष्टि ने सब प्रकार के शस्त्रों के समूह को काट डाला, वज्रों ने अकाट्य पर्वतों को काटकर जीर्ण–शीर्ण कर दिया ॥१०–१४॥ वहाँ पर शूल और पत्थर कीलों की नाईं तीक्ष्ण थे, शत्रुभेदन रूप कार्य से उनकी खूब प्रशंसा होती थी और वे तेज दौड़ने से हुई फुफकार से सुशोभित थे। वहाँ भुशुण्डियों ने (एक प्रकार के शस्त्रों ने) भीषण भिन्दपालों के घने ढेर पर विजय पाई थी। सबका संहार करने में समर्थ भगवान् शंकर के तुल्य पराक्रमशाली शिवशूल को उसके तुल्यही दूसरे शूलने कुण्ठित कर डाला था, निकलते ही तुरन्त काटे गये हथियारों की टेढ़ी–मेढ़ी गतियाँ हो रही थी। फूट रहे चट–चट शब्द ने गंगाजी के प्रवाह को रोक दिया था और अस्त्र–शस्त्रों के चूर के ढेर रूपी महान् धूम्र से चँदवा तन गया था ॥१५–१७॥ वहाँ पर परस्पर के शस्त्रास्त्रों के टकराने से घूम रहे जाल की नाईं बिजलियाँ प्रदीप्त होती थी, कलकल शब्द से ब्रह्माण्ड मानों फूटा जा रहा था, प्रहार से बड़े–बड़े कुलपर्वत छिन्न–भिन्न हो गये थे, परस्पर जूझ रहे अस्त्रों की शरवृष्टि ने शस्त्रास्त्रों के ढेर को काट कर गिरा दिया था पर्वत की नाईं निश्चल राजा विदूरथ मेरे द्वारा विश्वामित्र के अस्त्रों के निवारण की नाईं केवल अस्त्रनिवारणमात्रसे स्थित थे,उनकी ऐसी स्थिति केवल कालक्षेप का उपाय था ॥१८,१९॥ मेरे सामने इसकी क्या हस्ती है, यों राजा विदूरथ की अवहेलना से राजा सिन्धु के स्थित होने पर राजा विदूरथने सिंधु के ऊपर वज्र–निर्घोषयुक्त अग्नेय अस्त्र छोड़ा। उक्त आग्नेय अस्त्र ने सूखी हुई घास के ढेर की नाईं राजा सिन्धु के रथ को जला दिया। इसी बीच में जब कि अस्त्र–शस्त्रों से आकाश ऐसा पट गया था कि कहीं पर भी सुराख दृष्टिगोचर नहीं होता था, जो राजा सन्नद्ध था वह तो वर्षा ऋतु की नाईं बाणों की वर्षा करता था और जो दूसरा राजा था वह मेघ से बढ़ाई गई नदी की नाईं बहता था। दोनों राजाओं के पहले प्रयुक्त दो बलवान् वैष्णवास्त्र क्षणभर के लिए परस्पर भीषणतम युद्ध कर दो बलवान् योद्धाओं की नाईं शान्त हो गये। इसी बीच में जैसे वनाग्नि वन को जलाकर गुहा से निकले हुए सिंह को प्राप्त होती है, वैसे ही आग्नेयास्त्र की अग्नि राजा सिन्धु के रथ को जलाकर सिन्धु को प्राप्त हुई। राजा सिन्धु ने हस्तलाधव से आग्नेयास्त्र को वारुणास्त्र से शान्त कर दिया और अपने जले हुए रथ को छोड़कर पृथिवी पर आकर ढाल और तलवार से लैस हो गये। राजा सिन्धु ने नेत्रों के पलक गिरने भर में शत्रु के रथ के घोड़े के खुरों को कमलनाल की नाईं बड़ी फुर्ती से काट दिया। अब तो राजा विदूरथ भी रथ रहित हो गये, अतएव उन्होंने भी हाथ में ढाल–तलवार ली ॥२०–२६॥ अब तो दोनों के हाथों में एक से हथियार हो गये और उत्साह भी दोनों का एक– सा था, वे दोनों अपने–अपने वार के लिए समय ढूँढ़ने के लिए पैंतरे बदलने लगे। परस्पर प्रहार कर रहे उन दोनों की तलवारें वार करते करते आरों के तुल्य हो गई थी। दोनों सेनाओं में तलवारें यम की दन्तपंक्तियों के सदृश प्रजा को (सैनिकों को) चबा रही थी। राजा विदूरथ ने उक्त

तलवार का त्याग कर शक्ति ली और उसे शत्रु के ऊपर छोड़ा। वह शक्ति मथे जा रहे समुद्र के जल की नाईं गम्भीर घर–घर शब्द से युक्त प्रलय आदि बड़े–बड़े उत्पातों को सूचित करने वाली वज्रपात के समान आई और राजासिन्धु की छाती पर गिरी, वह ऐसी गिरी जैसे कि अप्रिय पति के वक्षस्थल पर उसे न चाहनेवाली भार्या गिरती है, उस शक्ति के प्रहार से राजा सिन्धु के प्राण गये नहीं, किन्तु केवल उसकी छाती से हाथी की सूँड़ से जलधारा की नाईं खून की धारा बही चन्द्रमा से नष्ट किये गये अन्धकार की नाईं उसे (सिन्धु को) राजा विदूरथ से भग्न किया हुआ देखकर उस देशकी लीला बड़ी प्रसन्न हुई उसके आनन्द का पार न रहा। उसने पूर्वलीला से कहा : हे देवी, देखो, नृसिंह रूप हमारे पति ने हिरण्यकशिपुरूपी महाबलवान् इस सिन्धु को शक्ति के शिखरमयी नखों से मार दिया है। जैसे तालाब के बीच में खड़े हुए हाथी की सूँड़ से फुफकारपूर्वक जलधारा गिरती है, वैसे ही इसके चूर्ण–विचूर्ण वक्षस्थलसे 'चुल–चुल' शब्द के साथ खून निकल रहा है। हा बड़े दुःख की बात है कि लाये गये रथ पर चढ़ने के लिए वह ऐसा तैयार हो गया है, जैसे कि सोने के मेरुशिखर पर पुष्करावर्त मेघ चढ़ता है। हे देवि देखो, इसका यह रथ मुद्गर से चूर चूर कर दिया गया है। हे देवि, ये हमारे स्वामी लाये गये रथ में बैठने के लिए उद्यत हैं। अर्जुन की बाणवर्षा से निवातकवचनामक दानवों की सुवर्ण निर्मित नगरी की नाईं घूम रहे उस रथ को आप देखिये ॥२७–३६॥ हा बड़े खेद की बात है कि जैसे इन्द्र अपने शत्रु पर प्रहार करने के लिए वज्र को देखते हैं यानी ग्रहण करते है, वेसे ही सिन्धु ने हमारे स्वामी पर प्रहार करने के लिए मूसल को देखा यानी ग्रहण किया। हमारे स्वामी मूसलरूप हथियार वाले राजा सिन्धु को चकमा देकर बड़ी फुर्ती से रथ पर सवार होकर वेग से हट गये हैं। हाय बड़ा कष्ट उपस्थित हुआ। इस राजा सिन्धु ने बड़े वेग से हमारे स्वामी के रथ को, जो कि सेवाल आदि से हरे रंग के तालाब की नाईं हरा है और वृक्ष की नाईं ऊँचा है और पताका से चिह्नित होने के कारण प्लव से (एक प्रकार के पक्षी से) युक्त है, पीड़ित कर यानी बाणवृष्टि से छिन्न–भिन्न कर बाणों की वृष्टियों से हमारे पति विदूरथ को व्यथित कर दिया ॥३७–३९॥ यह हमारे पति को, जिनके रथ की पताका कट गई है, रथ ध्वस्त हो गये है, घोड़े मर गये हैं, सारथि कट गया है, धनुष और कवच कट गये हैं और सब अंग–प्रत्यंग छिन्न–भिन्न हो गये हैं अतएव बड़े घबराये हुए हैं, शिलाफलक के समान दृढ़ (जिसका फटना संभव नहीं है) हृदय में और स्थूलतम मस्तक में वज्र के समान कठोर बाणोंसे घायलकर पृथिवी पर गिरा रहा है ॥४०,४१॥ बड़े क्लेश से होश में आकर सारथि द्वारा लाये गये अन्य रथ में चढ़ रहे हमारे पति के सिन्धु द्वारा तलवार से काटे गये कन्धे को देखो। कन्धा कटने के कारण हमारे पति, जैसे घन से तोड़े गये पद्मरागमणिके पर्वत से लाल कान्ति निकलती है वैसे ही, खूब रुधिर बहा रहे हैं। ओ हो, अब तो बड़ा भारी कष्ट आया, जैसे आरे से वृक्ष काटा जाता है वैसे ही इस सिन्धु ने तीखी तलवार की धार से हमारे पति की पिण्डलियाँ काट डाली। हा, मैं मारी गई हूँ, जलाई गई हूँ, मर गई हूँ और लथेड़ी गयी हूँ। मेरे पति की दोनों जंघाएँ

कमलनाल की नाईं काट दी गई हैं।' – ऐसा कहकर पति की अवस्था को देखकर दुःखी हुई और पति के प्रति उसका जो अत्यन्त प्रेम था, उससे और भय से कातर होकर वह कुल्हाड़े से काटी गई लता की नाईं मूर्छित होकर पृथिवी पर गिर पड़ी। यद्यपि विदूरथ की दोनों जंघाएँ कट गयी थी, तथापि शत्रु पर प्रहार करता हुआ ही वह छिन्नमूल (जिसकी जड़ कट गई हो) वृक्ष की भाँति रथ के नीचे गिरने को तैयार हुआ। वह गिरना ही चाहता था कि सारथि उसे सँभालकर रथ से ही घर की ओर भगा ले गया (📖)। जब सारथि राजा विदूरथ को भगा ले गया तब उद्दण्ड राजा सिन्धु ने विदूरथ के कंठ में तलवार से वार किया। तलवार के वार से उनका आधा कंठ कट गया तदनन्तर आधे कटे गलेवाले विदूरथ का सिन्धु ने पीछा किया। राजा विदूरथ जैसे सूर्य की किरणें कमल में प्रवेश करती हैं, वैसे ही अपने घर में प्रविष्ट हुआ, लेकिन राजा सिन्धु सरस्वती के प्रभाव से परिपूर्ण उस घर में ऐसे प्रवेश नहीं कर सका जैसे कि मदोन्मत्त मच्छर महाज्वाला के भीतर नहीं घुस सकता ॥४२–४९॥

सारथि ने राजा विदूरथ को, जिसके वस्त्र, कवच और शरीर तलवार से काटे गये गले के छेद से बुद्बुद ध्वनि के साथ निकल रही रक्तधाराओं से सने थे, घर में ले जाकर सरस्वती के सामने सुखपूर्वक मरण के योग्य कोमल बिस्तर में रखा और शत्रु भी घर में प्रवेश न कर सकने के कारण लौट गया ॥५०॥

पचासवाँ सर्ग समाप्त

इक्यावनवाँ सर्ग

राजा विदुरथ के वध से राष्ट्रविप्लव तथा सिन्धु के राज्य में
प्रतिष्ठित होने पर फिर राज्य की सुव्यवस्था का विस्तार से वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, युद्ध में प्रतिद्वन्द्वी राजा सिन्धु के हाथ से राजा विदूरथ मारे गये–राजा विदूरथ मारे गये, इस प्रकार का शोरगुल मचने पर सारा राष्ट्र भयभीत हो गया। वहाँ भाँडे–बर्तन आदि सामग्री से लदी हुई गाड़ियों पर गाड़ियाँ इधर उधर भाग रही

📖 सारथि की राजा को भगा ले जाने में जो प्रवृत्ति हुई, उसका कारण है। वह यह कि यदि राजा रण में अभिमुख मरता तो 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ। परिव्राडयोगयुक्तश्च रणे चाऽभिमुखो हतः॥ (इस लोक में दो पुरुष सूर्यमण्डलभेदी है, कौन दो ? योगयुक्त परिव्राट और रणमें शत्रु के सामने लड़ता हुआ मारा गया योद्धा) इस स्मृतिवचनसे रण में अभिमुख मरे हुए सूर्यमण्डलभेदी विरक्त सूर की मुक्ति होने पर और सूर्यमण्डलभेदी अविरल शूर की 'ब्रह्मणा सह ते सर्वं संप्राप्ते प्रतिसंचरे; परस्याऽन्ते कृतात्मनः प्रविशन्ति परं पदम्॥'(प्रलय प्राप्त होने पर वे सब ब्रह्मा के साथ कृतार्थ होकर परमपद में प्रवेश करते हैं यानी मुक्त हो जाते हैं।) इस वचन के अनुसार क्रम मुक्ति होने पर 'इमं मानवमावर्त नावर्तन्ते ' (मनुष्यलोकरूप आवर्त में नहीं लौटते) इस श्रुति के अनुसार दूसरे कल्प में उसकी पुनरावृत्ति न होने पर पूर्वजन्म में पद्मशरीर से अवशिष्ट प्रारब्ध के भोग की सिद्धि नहीं होगी, इस कारण सरस्वती के संकल्प और वरदान के बल से ही सारथि की राजा के यश और मोक्ष के प्रतिबन्धरूप भगाने में प्रवृत्ति हुई।

थी, रो रहे भूखे प्यासे स्त्री और बालबच्चों को लेकर भाग रहे नागरिकों की अपार भीड़ लगी थी, राष्ट्र उत्पात मचने के कारण भाग रही और रो रही अनेक युवतियाँ मार्ग में डाकुओं द्वारा हर ली गई थी, आपस में एक दूसरे को लूटने खसोटने में व्यग्र हुए लोगों को आपस का भी बड़ा भारी भय लगा रहता था, शत्रु के राष्ट्र की असैनिक जनता और सैनिकों के विजयप्रयुक्त ताण्डवकी वृद्धि से सारा विदूरथ राष्ट्र कोलाहल युक्त था, स्वामियों के मर जाने के कारण निरंकुश हुए हाथी, घोड़े और वीरों की टक्कर से असैनिक जनता गिर रही थी, कोषगृह का (खजानों का) विनाश करते समय किवाड़ों को तोड़ने से उत्पन्न हुआ 'घर घर' शब्द आकाश में फैला हुआ था, वहाँ पर प्रबल परपक्षी योद्धाओं ने लूटे गये असंख्य रेशमी वस्त्रों को लपेटकर कोषगृह के रक्षक सैनिकों को तिरस्कृत कर दिया, मरी हुई राजरानियाँ चोरों द्वारा छूरों से काटी गई खून से लथपथ अपनी आँतड़ियों से उलझी हुई थी, राजा के अन्तःपुर में डोम–चाण्डालों के झुण्ड के झुण्ड विश्राम ले रहे थे, राजगृह से लूटपाट द्वारा हस्तगत किये गये राजा के भोजनयोग्य स्वादु अन्नों के भोजन में गँवार लोग जुटे थे, सोनेकी सिकड़ियों को पहने हुए बालक योद्धाओं की लातें और ठोकरें खा कर रो रहे थे, अपरिचित युवक अन्तःपुर की महिलाओं के केशपाश को खींच रहे थे, चोरों के हाथों से मार्ग में गिरे हुए बहुमूल्य रत्नों से बटोही लोग दन्तुर–से (ऊँचे दांतवाले की नाईं से) उज्ज्वल हो रहे थे। हाथी, घोड़े और रथों को छीनकर लाने में सामन्त लोग व्याकुल हो रहे थे, राजा सिन्धु के पुत्र के राज्याभिषेक कार्य का आदेश देने में मन्त्री आदि ऊँचे राजकर्मचारी बड़े तत्पर थे, राजधानी के निर्माण केलिए अच्छे अच्छे कारीगर सन्नद्ध थे, बनाये गए झरोखों के छेदों में सिन्धुराज की रानियाँ अपूर्व नगर की सुन्दरता देखने के लिए प्रवेश कर रहीं थी, सैकड़ों 'जय जय' उद्घोषों के साथ नगर में प्रवेशित सिन्धुराज के पुत्रका, जिसका तुरन्त अभिषेक हुआ था, उस राष्ट्र में बड़ा प्रभाव था, राजा सिन्धुने वहाँ पर जो नई राजव्यवस्था चलाई थी, उसे सिन्धुपक्ष के राजाओंने शिरोधार्य कर लिया था, अन्यान्य गाँवों में छिपकर रहनेवाले पूर्व राजा के पक्षपाती (प्रीतिपात्र) लोग शत्रु को पता लगने पर वहाँसे भी भाग रहे थे, चोरों के बड़े भारी गिरोहने लूटपाट करने के लिए मार्गों में लोगों का आना–जाना रोक रक्खा था, महाप्रतापी राजा विदूरथ के विरह से दिनमें धूप तुषार से सनी हुई–सी ठण्डी मालूम होती थी, मरे हुए बन्धु–बान्धवों के लिए रोने–धोने से और मरे हुए जनों के लिए किये गये तूरे शब्द से पिण्ड के सदृश हाथसे पकड़ने योग्य शब्द वहाँ हो रहा था ॥१–१४॥ तदुपरान्त वहाँ पर पृथ्वी के एकच्छत्र अधिपति राजा सिन्धु की जय हो, ऐसी घोषणा करते हुए प्रत्येक नगर में लोग भेरियाँ बजाने लगे ॥१५॥ पुत्र के राज्याभिषेक के बाद जैसे प्रलय के अन्त में जगत् की सृष्टि करने के लिये मनु भगवान जगत् में प्रवेश करते हैं, वैसे ही राजा सिन्धु ने, जो कि विजयजनित गर्व से उन्नत मस्तक था, दूसरे मनु की नाईं राजधानी में प्रवेश किया ॥१६॥ राजा सिन्धु के नगर में प्रवेश करते ही सिन्धु के नगर में दसों दिशाओं से कर (भेंट) हाथी घोड़े से यों प्रवेश करने लगे (आने लगे) जैसे समुद्र में रत्नों की राशियाँ प्रवेश करती हैं। मन्त्रियों ने प्रत्येक दिशा में और प्रत्येक सामन्त (अधीन राजा) के पास

राजकीय नियम, चिह्न और आदेश तुरन्त भेज दिये ॥१७,१८॥ थोड़े ही समय में देश देश में नगर नगर में जीवन, मरण और सम्मान के विषय में यमके–से कठोर नियम बन गये ॥१९॥ नियम बनने के उपरान्त पलक भर में, देश में उपद्रव के बादलों की जो घटा छाई थी, वह उत्पात वायु (अंधड–बवंडर) के समाप्त होने पर जैसे वायु के जोर से होनेवाले तृण, पत्ते और धूल का घूमना शान्त हो जाता है, वैसे ही सब शान्त हो गई ॥२०॥ महाप्रलय से मथने के समय भीषण जलभौंरियों से भरा हुआ तरंगित क्षीरसागर मन्दराचल को निकाल देने से जैसे शान्त हो गया था वैसे ही अराजकता के समय उत्पातपूर्ण सारा देश दसों दिशाओं के साथ शान्त (विनयपूर्ण) हो गया ॥२१॥ सिन्धु के देश की सुन्दरियों के मुखरूपी कमल की भ्रमरपंक्तियों के तुल्य अलकों को धीरे धीरे हिला रहे वायु मुखकमल के मधुबिन्दुरूप स्वेदजल के कणों को लेने से मत्त और मन्दगति होने के कारण आकुल होकर उक्त सुन्दरियों के मुखकमलों की शीतलता और सुगन्धि आदि मंगलमय गुणों से सम्पूर्ण देश से सन्ताप, दुर्गन्धि आदि अशुभ गुणों को नष्ट करते हुए बहने लगे ॥२२॥

इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त

बावनवाँ सर्ग

राजा विदूरथ की मृत्यु, संसार की असत्यता और उस देश की लीला की वासनारूपता का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस बीचमें, अपने सामने मृत्युशय्या पर लेटे हुए मूर्च्छित अपने पति को श्वासमात्रशेष (जिसमें जीवित के चिह्नों में केवल श्वास ही शेष रह गया था) देखकर देवी सरस्वती से कहा : माँ, यह मेरा पति यहाँ पर देह का त्याग करने के लिए उद्यत है। **श्रीसरस्वतीजी ने कहा :** भद्रे, इस प्रकार के महान् उद्योग से परिपूर्ण, राष्ट्र में उथल पुथल मचा देनेवाले, अत्यन्त अद्‌भुत व्यापारों से भरे हुए इस संग्राम के शुरु होने, चलने और समाप्त होने पर कहीं पर न तो राष्ट्र या महीतल कुछ भी रहा और न नष्ट हुआ। इस प्रकार का यह स्वप्नरूप जगत् है। पूर्वोक्त गिरिग्राम के ब्राह्मणगृह के मण्डप के अन्दर रक्खे हुए राजा पद्म के शव के निकटवर्ती मण्डपाकाश में तुम्हारे पति का यह पृथ्वीरूपी राष्ट्र प्रतीत होता है, अन्तःपुर के घर के अन्दर अनेक राष्ट्रों से युक्त यह ब्रह्माण्ड है ॥१–५॥ विन्ध्याद्रि के ग्राम में वसिष्ठनामक ब्राह्मण के घर का मध्यभाग स्थित है, वसिष्ठनामक ब्राह्मण के घर में शवयुक्त गृहरूप जगत् स्थित है, शवगृहरूप जगत् के पेटमें यह घर रूपी ब्रह्माण्ड स्थित है। इस प्रकार यह त्रिजगत्, जिसमें अनेकानेक व्यापार होते रहते हैं, भ्रम ही है तथा विन्ध्याद्रि के छोटे से ग्राम में घर के अन्दर आकाशकोशमें सागर और पृथ्वी दृष्टिगोचर होते हैं, तथा यह भ्रम तुमसे, मुझसे, इससे (दूसरी लीला से) तथा तुम्हारे पति से युक्त है, एक के भीतर दूसरा उत्पन्न हुआ, यह भी कल्पना ही है, वस्तुतः चैतन्य में ही यह विकास को प्राप्त हुआ है। अपना आत्मा ही इस जगत्‌रूप से व्यर्थ विकास को प्राप्त होता है अथवा कहीं भी इस जगत्‌रूप से विकास को प्राप्त नहीं होता। भाव यह कि विषय के मिथ्या होने से चैतन्य में विषयसंवलित

रूप भी है ही नहीं। ऐसी अवस्था में निर्विषय चैतन्य ही अवशिष्ट रहता है, वही मुख्य ज्ञातव्य है, इसलिए तुम नाश और उत्पत्ति से शून्य उस परम पद को जानो ॥६–९॥ स्वयंप्रकाश, शान्त, निर्विकार वही (चैतन्य ही) मण्डपघर के अन्दर अपने चिन्मात्र स्वभाव से उदित अपनी आत्मामें जगत्–रूप से प्रतीत हुआ है, उससे अतिरिक्त दूसरी वस्तु नहीं है, ऐसी विद्वानों में प्रसिद्धि है ॥१०॥

मण्डप के अन्तर्गत आकाश में भी जब जगत् नहीं है, तब शुद्ध चिदाकाश में जगत् नहीं है, इसमें तो कहना ही क्या है ? इस आशय से कहते हैं।

इस प्रकार अनेक व्यापारों से पूर्ण प्रतीत होनेवाले उन मण्डपों के भी अन्दर शून्य आकाश ही है, जगद्भ्रम नहीं है ॥११॥

अति क्षुद्र वस्तु के अन्दर विशाल वस्तु का समावेश नहीं हो सकता, अतएव अल्पवस्तु में बृहत्पदार्थ की प्रतीति यदि भ्रम है, तो अत्यन्त बृहत् ब्रह्म का मण्डप के अन्दर समावेश होना सम्भव नहीं है, फिर शास्त्र और आचार्य के उपदेश से वहाँ पर ब्रह्म की प्रतीति भ्रम क्यों नहीं होगी ? ऐसी शंका कर उपजीव्यविरोध होने से ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, यह कहते हैं।

जब भ्रम का कोई द्रष्टा ही नहीं है, तब भ्रम में भ्रमता ही कैसे होगी, इसलिए भ्रम की सत्ता है ही नहीं और जो है, वह निर्विकार परम (चैतन्य) ही है ॥१२॥

भ्रम को देखनेवाला दूसरा नहीं है, तो भ्रम ही भ्रम को देखे ? इस पर कहते हैं।

भ्रम असत् दृश्य है। दृश्य द्रष्टा पुरुष के व्यापार के फल का आधार होता है यानी द्रष्टा जो कुछ व्यापार करता है उस व्यापार का फल जिसमें रहता है, वह दृश्य है। अपने में अपने आप कोई भी व्यापार नहीं कर सकता, क्योंकि एकमें कर्तुत्व भी रहे और कर्मत्व भी रहे, यह विरुद्ध है, इसलिए दृश्य भ्रम की द्रष्टा और दृश्य दो दशाएँ नहीं हो सकती हैं। द्रष्टा के अभाव में दृश्य की सत्ता और स्फूर्ती भी सिद्ध नहीं हो सकती। यह द्रष्टा और दृश्य के क्रम का अभाव द्वैतदशा में दूषण है और अद्वैतदशा में तो वह भूषण है, ऐसा कहते हैं। अद्वैत में द्रष्टा और दृश्य के क्रम का अभाव होने से वहाँ पर स्वभावतः है ॥१३॥ आप उस परम पद को, जो नाश और उत्पत्तिरहित, स्वयंप्रकाश, शान्त, आदि और निर्विकार है, जगत्–रूप से प्रतीत जानो ॥१४॥

अति अल्प स्थान में बृहत्तर वस्तु का समावेश न हो सकना भी दृश्यका ही दूषण है। सर्वाधिष्ठान चैतन्य का दूषण नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

मण्डप गृह के भीतर अपने स्वभाव से उदित आत्मारूप अपने घर में लोग अपने अपने व्यवहार के अनुकूल प्रशस्त प्रदेश की व्यवस्था कर विहार करते हैं, संचार करते हैं, यह कम आश्चर्य नहीं ॥१५॥ वहाँ पर तत्त्वज्ञ पुरुषों को न तो जगत् की प्रतीति होती है और न किसी सृष्टि का ही अनुभव होता है, उक्त तत्त्वज्ञों के अनुभवरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से यह निश्चित होता है कि अहंकार का साक्षीरूप अविनाशी चिदाकाश ही अज्ञानी की दृष्टि से जगत्–रूप से स्थित है ॥१६॥

अनुमान प्रमाण से भी उक्त बात को सिद्ध करते हैं।

मेरू आदि पर्वतों के समुदाय से युक्त वह सम्पूर्ण दृश्य निराकार ज्ञानरूप ही है, यह जैसा दिखाई देता है, वैसा स्थूलरूप नहीं है, क्योंकि उसका जहाँ पर समावेश नहीं हो सकता, अत्यन्त अल्प प्रदेश में तत्त्वज्ञों को उसकी प्रतीति हुई है, जैसे देह के अन्दर स्वप्न में देखा गया महानगर ॥१७॥

स्वप्न में सबके अनुभव से सिद्ध व्याप्ति को दिखलाते हैं।

'स्वप्नः कण्ठे समाविशेत्' इस श्रुति के अनुसार कण्ठ से लेकर हृदय तक बिलस्त भर स्थान में आत्मचैतन्य को ही पर्वतसमुदायों से पूर्ण वज्र की नाईं कठिन लाखों जगत् के रूप में स्वप्न में सभी देखते हैं ॥१८॥ जैसे बहुत से केले के कोमल पत्ते तह के साथ अल्प स्थान में संनिविष्ट रहते हैं, वैसे ही अत्यन्त सूक्ष्म चैतन्य में अनन्त जगत् रह सकते हैं ॥१९॥ जैसे देह के अन्दर स्वप्नमहानगर दिखलाई देता है, वैसे ही चिदणु में तीनों जगत् हैं, उसके अन्दर भी चिदणु है, उनमें भी प्रत्येक में जगत् है ॥२०॥ हे भद्रे, उनमें से जिस जगत् में यह पद्म राजा शवरूप में स्थित है, वहाँ तुम्हारी सौत यह लीला उसके पहले ही चली गई है ॥२१॥ यह लीला ज्यों ही तुम्हारे सामने मूर्छा को प्राप्त हुई, त्यों ही तुम्हारे पति राजा पद्म के शव के निकट जा पहुँची है ॥२२॥ लीला ने कहा : हे देवि, यह लीला वहाँ पर पहले देहधारिणी कैसे हो गई, जिस स्थिति में यह मेरी सौत है, उस स्थिति को प्राप्त होकर यह कैसे स्थित है। राजा पद्म के राजमहल में रहने वाले लोग इसका कैसा रुप देखते हैं और इसको क्या कहते हैं, यह सब संक्षेप से आप मुझसे कहिये ॥२३,२४॥ श्री देवीजी ने कहा : भद्रे, सुनो, जैसे तुमने मुझसे पूछा है, वह सब में संक्षेप से तुमसे कहती हूँ, यह तुम्हारा ही, जो दूसरी लीला बनी हुई हो, वृत्तान्त है, इससे तुमको निश्चय हो जायेगा और इससे मरण, परलोकगमन आदि को भी, जिनको देखना कठिन है, तुम देख सकोगी। तुम्हारा पति महाराज पद्म नगर आदि के रूपसे दिखाई दे रही जो यह जगन्मय भ्रान्ति है, खूब विस्तार को प्राप्त हुई इस जगन्मय भ्रान्ति को ही उसी शवगृह में देखता है ॥२५,२६॥ यह जो युद्ध तुमने देखा है, यह स्वप्नयुद्ध के समान भ्रान्तियुद्ध ही था, यह लीला भी, जिसके बारे में तुमने पूछा है, भ्रान्ति ही है, ये जो लोग हैं, वे जन्म आदि विकार से रहित आत्मा ही हैं, यहाँ जो मरण होता है, वह भ्रम ही है और यह संसार भी इस प्रकार भ्रमात्मक ही है। इसी भ्रम से राजा पद्म की लीला भार्यारूप से स्थित रही। तुम और वह दोनों सर्वांग सुन्दरी ललनाएँ स्वप्नमात्र ही हो। जैसे राजा की आप दोनों सुन्दरियाँ स्वप्नमात्र हैं, वैसे ही आपका पति यह राजा पद्म और स्वयं मैं भी स्वप्नमात्र ही हूँ। भद्रे, यह सम्पूर्ण जगत् की शोभा ऐसी ही (भ्रममात्र ही) है। यहाँ पर यह सब दृश्य भी भ्रान्तिमात्र ही कहा गया है। यदि यह जान लिया जाय, तो पुरुष दृश्य शब्द के अर्थ का (दृश्य में द्रष्टा के कर्मत्व का) त्याग कर देता है ॥२७-३०॥ इस प्रकार यह (लीला), तुम, यह संसार स्थिति और यह राजा ये सब भ्रान्तिरूप ही हुए हैं, आत्मा की पूर्णता होने से केवल मैं आत्मा सत्यता को प्राप्त हूँ। ये राजा लोग और हम परस्पर अनुग्राह्य और अनुग्राहकरूप से परिचलित होकर इस प्रकार महाचिद्घन की मिथ्या कल्पना स्थिति से बन गये हैं, वैसे ही यह लीलारूप रानी बन गई है,

क्योंकि महाचिद्घन (परम चेतन) की स्थिति सर्वात्मक है। यह लीला, जो कि मनोहर हासरूपी विलास से अलंकृत है, हावभावरूप लीला से चंचल मुँह से युक्त है, नव यौनव से सुशोभित है, बड़ी दक्ष, सुन्दर आचरणों से मन को लुभानेवाली, मीठे और अनमोल वचन बोलनेवाली, कोकिला के सुर के सदृश सुन्दर सुरवाली, यौवन मद से मन्दगति, नीले कमल की पंखुड़ियाँ के तुल्य विशाल नेत्रवाली, गोल और विशाल छाती से युक्त, सोने के सदृश गोरे अंगोंवाली, पके हुए बिम्बफल के सदृश लाल ओठवाली और बड़ी रमणीय है, तुम्हारे संकल्परूप पद्म की जब मनोवृत्ति से उसकी वासना हुई, तब तुम्हारे सदृश आकारवाली यह चैतन्य रूप चमत्कार में स्थित हो गई ॥३१–३६॥ तुम्हारे पति के मरने के अनन्तर ही तुरन्त तुम्हारे संकल्परूप तुम्हारे पति ने इसे अपने सामने देखा ॥३७॥

यदि यह वासनामयी थी, तो मेरे पतिने इसको सत्यरूप से कैसे अनुभव किया, इस पर कहती हैं।

जब चित्त अभ्यासवश दृढ़वासना से आधिभौतिक (व्यावहारिक) पदार्थ का अनुभव करता है, तब अनुभव से वह परमार्थ सत्य हो जाता है, परन्तु वस्तुतः दृश्य ही प्रातिभासिक है ॥३८॥ जब चित्त आधिभौतिक (व्यावहारिक) पदार्थों को विवेकज्ञानाभ्यास से परमार्थसत्य नहीं जानता, तब उसकी वासना से सत्य (दृढ़) प्रपंच में प्रातिभासिकता का निश्चय होता है ॥३९॥ मरणज्ञान से पुनर्जन्मरूप भ्रम होने पर तुमको इस राजा ने पत्नीरूप से जाना और वासनामय अन्य लीलारूपता को प्राप्त हुई तुमसे संगत हुआ ॥४०॥ इस प्रकार इस राजा ने तुमको अपनी वासनारूप ही देखा और तुमने राजा को अपनी वासनामय ही देखा। तुम भी आत्मा में पहले जैसे तीन ब्रह्माण्डों की ब्रह्म में स्थिति दर्शाई है, वैसे ही स्थित हो, क्योंकि आत्मा सर्वत्र व्यापक है यानी सब वासनाओं में व्याप्त है, इसलिए ब्रह्म का सर्वाकार विवर्त उत्पन्न होता है ॥४१॥ चूँकि ब्रह्म सर्वव्यापक है, अतएव जब जहाँ पर जैसी वासना होती है, तब वहाँ पर वह तुरन्त वैसा ही हो जाता है और विक्षेप शक्ति से (वैसा ही) उसका अनुभव करता है। ब्रह्म सर्वत्र सम्पूर्ण शक्तियों से युक्त है, अतएव जहाँ पर जिस जिस रूप से भोक्ता के अदृष्टवश जिस शक्ति का आविर्भाव कराता है, वहाँ पर वह वैसा ही होता है और दृढ़ आग्रहरूप वासना के कारण वैसी ही उसकी प्रतीति होती है ॥४२,४३॥ जब इन दो दम्पतियों का मरणानुकूल मूर्च्छा का क्षण आया, तभी इन्होंने सबका, जो आगे कहा जायेगा, वासना के जाग्रत् होने के कारण अपनी कल्पना से अनुभव किया कि ये हमारे पिता है और ये हमारी माताएँ हैं, यह हमारा देश है, यह हमारी धनसम्पति है, यह हमारा कर्म है और ऐसा कर्म हमने पूर्वजन्म में किया था। इस प्रकार हम लोगों का विवाह हुआ और इस प्रकार हम दोनों एकता को प्राप्त हुए। इनकी वह जनता भी, जो कि कल्पनात्मक ही है, भोगकर्ता के अदृष्ट से सत्यता को (अर्थक्रियाकारिता को) प्राप्त हुई है, वैसी ही स्वप्नप्रतीति यहाँ पर प्रत्यक्ष दृष्टान्त है, स्वाप्निक पुरुष भी स्वप्नकाल में सत्यता को (अर्थक्रियाकारिता को) प्राप्त होते ही हैं। लीले, इस प्रकार के अभिप्राय से युक्त लीला ने मेरी आराधना की

थी कि मैं कभी विधवा न होऊँ और मैंने भी उसे वरदान दिया था। इस कारण वह बालिका यहाँ पर पहले ही मर गई है ॥४४-४८॥

इस वासनात्मक लीला ने और मैंने क्यों आपकी आराधना की और क्यों आप हमपर प्रसन्न हुई ? इस पर कहती है।

मैं, व्यष्टिचेतन जो आप लोग हैं, आपकी समष्टिचेतना (हिरण्यगर्भचेतना) हूँ और आप लोगों की कुलदेवी होने से सदा पूजनीय हूँ, अतएव स्वतः ही सब कुछ करती हूँ ॥४९॥

पहले यह कैसे प्राप्त हुई इसका उत्तर देकर अब यह देहधारिणी कैसे हुई ? इस अंश का उत्तर देती है।

वासनामय इस लीला के देह से निकलने की इच्छावाले अंगुष्ठपरिमाण वाले जीवने प्राणवायु का रूप धारण किया (卐) तदनन्तर मन से तत् तत् पदार्थों की प्राप्ति के लिए उत्सुक होकर नाडीमार्ग से देहका परित्याग किया यानी 'तस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा' (उसके हृदयका अग्रभाग प्रद्योतित (प्रकाशित) होता है, उस आत्मज्योतिरूप प्रद्योतन से यह आत्मा नेत्रों से, सिर से अथवा अन्यान्य शरीरभागों से निकलता है) इस श्रुति में कहे गये क्रम से नाडीमार्ग द्वारा देह का परित्याग किया। तदनन्तर वासना के कारण पूर्वजन्म के स्मरण से मरणमूर्छा के बाद जीवरूप से स्थित इस लीला ने इसी (ब्रह्माकाश या भूताकाशरूप) घर में बुद्धि में संकल्पित आगे कहे जानेवाले शरीर में गमन और कुमारीरूप प्राप्ति आदि पदार्थ देखे ॥५०,५१॥ चन्द्रमण्डल के सदृश मुखकान्तिवाली और मृग के तुल्य विशाल नेत्रवाली यह लीला, जिसकी सूर्य की किरणों से कमलिनी की नाईं वासनारूपी कलियाँ खिल गई थी, जो लावण्यमयी होने के कारण स्वयं पति के लिए उपभोग की वस्तु थी और स्वयं भी सुन्दर पति का उपभोग करना चाहती थी, भावनावश पूर्वदेहकी स्मृति से, स्वप्न में जैसे, पद्मब्रह्माण्डमण्डल के भीतर जाकर पति से संयुक्त हो गई ॥५२॥

बावनवाँ सर्ग समाप्त

तिरपनवाँ सर्ग

लीला के गमनमार्गका, स्वामी पद्म की प्राप्तिका तथा आकाशमार्ग में अज्ञानियों की गति के अभाव का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, तदुपरान्त यह (लीला), जिसे सरस्वती देवी से वरदान मिला था, पूर्व वर्णित वासनामय शरीर से ही अपने स्वामी राजा पद्म को पाने के लिए आकाशमार्ग से आगे कहे जानेवाले भुवनों में जाती है, स्मरण से देहादिभाव को प्राप्त कर

卐 'प्राणं तेजसा युक्तः सहात्मना यथा संकल्पितं लोकं नमति' (प्राण तेज से युक्त होकर आत्मा के साथ संकल्पानुसार तत्-तत् लोक को जाता है) इस श्रुति से यह सिद्ध होता है कि उत्क्रमण प्राणों के अधीन है 'प्राणं तर्हि वागप्येति' (तब वाणी का प्राण में लय होता है) इत्यादि श्रुतियों से सब करणों का प्राण में लय होने से उसने प्राणवायु का रूप धारण किया।

पतिमिलन की सम्भावना से प्रबल कामवेदनावाली तथा छोटे से आकारवाली वह आनन्दपूर्वक आकाश में चिड़िया की नाईं उड़ी। वहाँ पर उसको सरस्वती देवी के द्वारा भेजी गई उसकी कन्या ऐसे मिली, मानों वह उसके संकल्परूपी महान दर्पण से उसके सामने निकल आई हो ॥१–३॥ कुमारी ने कहा : हे सरस्वती देवी की सखी, मैं तुम्हारी कन्या हूँ, हे सुन्दरी, आपका स्वागत हो। मैं तुम्हारी प्रतीक्षा में ही यहाँ आकाशमार्ग में स्थित हूँ ॥४॥

लीला ने कहा : हे देवता के शरीर को प्राप्त हुई वत्से, हे कमललोचने, मुझे मेरे पति के समीप में ले जाओ।

यदि कुमारी कहे कि तुम्हें पति की चाह है, तो तुम भले ही मेरे पिताजी के पास जाओ मैं वहाँ क्यों जाऊँ ? इस पर लीला कहती है।

महान् लोगों का दर्शन कभी भी निष्फल नहीं जाता, मेरी भलाई के लिए मैंने जो कहा उसे करो, यह तात्पर्य है ॥५॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, 'देवी ! आइए, वहींपर हम दोनों जाते हैं, यह कहकर वह कुमारी लीला के आगे हो गई और आकाश में मार्ग दिखलाने लगी ॥६॥ उस कुमारी के पीछे–पीछे चलती हुई लीला, जैसे होनेवाले शुभ और अशुभ को सूचित करनेवाली ब्रह्माकी रची हुई हस्तरेखा प्राणियों के हाथ के तलवे को प्राप्त होती है, वैसे ही ब्रह्माण्ड के छिद्ररूप निर्मल आशा को प्राप्त हुई। तदनन्तर लीला पहले मेघमार्ग को लाँघकर प्रवह, आवर आदि वायुसमूह के मार्ग में पहुँची, तदुपरान्त सूर्यमार्ग से निकलकर, नक्षत्र मार्ग को लाँघकर और शीघ्रता से वायु, इन्द्रदेव और सिद्धों के लोकों का तथा ब्रह्मा, विष्णु और शिवजी के लोकों का भी अतिक्रमण कर वह ब्रह्माण्डकपाल में पहुँची ॥७–९॥ जैसे घड़े के भीतर रक्खे हुए हिमजल की शीतलता घड़े के फूटे बिना भी बाहर निकल आती है, वैसे ही वासनामयी वह लीला भी ब्रह्माण्ड से बाहर निकल गई ॥१०॥

लीला का यह गमन केवल उसकी मन की कल्पना ही थी, इसका स्मरण कराते हैं।

संकल्पमात्रदेहवाली लीला को अपने संकल्प के स्वभाव से उत्पन्न इस प्रकार के गमनरूप भ्रम का अपने अन्दर ही अनुभव करती है ॥११॥ ब्रह्मा आदि के लोकों को लाँघकर ब्रह्माण्ड के कपाल में पहुँचकर तदुपरान्त ब्रह्माण्ड के पार पहुँची हुई लीला जल आदिरूप आवरणों को पारकर अपार मायासंवलित चिदाकाश के मध्य में पहुँची। वह इतना विशाल है कि यदि गरूड़ अत्यन्त वेग से सदा उड़ते रहें तो वे भी सैकड़ों करोड़ कल्पोंमें उसके ओर–छोर का पता नहीं लगा सकते तो, औरों की बात ही क्या है ? उसमें लाखों ब्रह्माण्ड लाखों क्या असंख्य ब्रह्माण्ड हैं, वे ऐसे ही हैं जैसे महान् वन में असंख्य फल होते हैं, उन ब्रह्माण्डों ने भी आपस में एक दूसरे को कभी नहीं देखा ॥१२–१४॥ उनमें से एक में, जो कि उसके सामने था और विस्तृत आवरण से युक्त था, जैसे छोटा कीड़ा बेर को छेदकर भीतर घुसता है, वैसे ही उसे छेदकर वह उसमें प्रविष्ट हुई। फिर ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु आदि के दैदीप्यमान लोकों को लाँघकर आकाश के नीचे राजा पद्म के समृद्ध भूमण्डल में पहुँची ॥१५,१६॥ भूमण्डल में राजा पद्म के राज्य में

और उसके नगर में पहुँचकर तत्पश्चात उस मण्डप में प्रविष्ट होकर फूलों से ढके हुए शव के समीप में बैठ गई ॥१७॥ इतने में ही सुन्दरी लीला ने कुमारी को नहीं देखा, जैसे ज्ञान होने पर माया कहीं चली जाती है, वैसे ही वह कहीं चली गई ॥१८॥ शवरूपी अपने पति का मुख देखकर लीला ने अपने तर्क से उसे सत्य समझा। संग्राम में सिन्धु के हाथ से मारा गया वह मेरा स्वामी वीरों को प्राप्त होनेवाले इन लोकों में पहुँचकर क्षण भर के लिए आराम से सोता है ॥१९,२०॥ मैं श्रीदेवीजी के वरदानरूप प्रसाद से सदेह ही (अपने प्राक्तन स्थूल देह से युक्त ही) इस प्रकार यहाँ पर आई हुई हूँ। मैं बड़ी धन्य हूँ, मेरे समान दूसरी कोई भी भाग्यशालिनी नहीं है, ऐसा विचारकर अपने हाथ में सुन्दर चँवर लेकर लीला जैसे द्युलोक चन्द्र से भूमिमण्डल को पंखा झलता है वैसे ही, झलने लगी यानी अपने पति के ऊपर चँवर डुलाने लगी ॥२१,२२॥ प्रबुद्ध लीला ने कहा : हे देवि, वे नौकर–चाकर, वे दासियाँ और वह राजा उसे कैसे जान पाये ? वे उसे किस बुद्धि से क्या कहते थे और वह बुद्धि कैसे उत्पन्न हो सकती है यानी वे उसको किस नाते से पुकारते थे और वह नाता कैसे सिद्ध हो सकता है ? यह सब हमसे कहिये। भाव यह है कि राजा को यदि अपने पूर्वजन्म के वृत्तान्त का विस्मरण न भी हुआ हो तो भी अविवाहित स्त्री का ग्रहण शिष्ट पुरुषों द्वारा गर्हित होने के कारण राजा उसका ग्रहण नहीं कर सकते, यह सब कथा मुझसे आप कहिये ॥२३॥

यदि सभी को ऐसी प्रतीति हो कि यह कोई नई आई है तभी उक्त दोष आ सकता है। सत्यसंकल्पवाले हमारे प्रभावसे वैसी प्रतीति ही नहीं होगी, इस प्रकार देवी पूर्वोक्त शंका का समाधान करती है।

वह राजा, वासनामयी लीला और उनके नौकर–चाकर सभी आपस में एक दूसरे को एकमत से ही देखते हैं यानी जैसे राजा की रानी के प्रति 'यह मेरी पत्नी है', यह बुद्धि है, वैसे ही रानी की राजा के प्रति 'यह मेरा स्वामी है', यह मति है और जैसे नौकरों के प्रति उनकी ये हमारे नौकर हैं, एसी मति है वैसे ही नौकरों की भी ये हमारे मालिक हैं, ऐसी मति है, क्योंकि उनकी ऐसी प्रतीति होने में चार हेतु हैं – पहला हेतु है – सत्यसंकल्पवाले हम दोनों का प्रभाव, दूसरा हेतु है–साक्षीरूप चिदाकाश का ऐसा स्फूरण जिससे कि सबकी एकमति हो और जो प्रत्येक की बुद्धि के, जल में सूर्य के प्रतिबिम्ब के समान, भीतर पैठा है, तीसरा हेतु है – ब्रह्मचैतन्य का भोक्ता के अदृष्ट के अनुसार तत् तत् रूप में विवर्त होना और चौथा हेतु 'उनका महानियति के (इसे ऐसा ही होना चाहिए, इस प्रकार के ईश्वर के संकल्प के) अधीन में रहना, यानी सत्य संकल्पवाले इन लोगों के प्रभाव से सबकी बुद्धि में प्रतिबिम्ब की नाईं स्थित चिदाकाश के ऐकमत्यानुकूल स्फुरण से, भोक्ता के अदृष्टानुसार ब्रह्मरूप महाचैतन्य का तादृश विवर्त होने से और 'इसको ऐसा ही होना चाहिए' इस प्रकार के भगवान् के संकल्प के अधीन होने से उनकी परस्पर एक मति थी। यह मेरी सहज (साथ उत्पन्न हुई) पत्नी है, यह मेरी सहज रानी है, यह मेरा सहज नौकर है। इस आश्चर्यमय वृत्तान्त को आदिसे लेकर अन्त तक पूरे–का–पूरा तुम्हारे, मेरे और इसके (विदूरथ की पत्नी लीला के) सिवा दूसरा

कोई भी नहीं जान पायेगा ॥२४–२७॥ प्रबुद्ध लीला ने कहा : हे देवी, यह मधुरभाषिणी लीला, जिसे आप पति के पास पहुँच गई कहती है, आपके वरदान के प्रताप से इस स्थूल शरीर से ही पति के पास क्यों नहीं गई ? ॥२८॥ श्रीदेवीजी ने कहा : भद्रे जैसे छाया धूप को नहीं पा सकती, वैसे ही अज्ञानी (आत्मा के ज्ञान से शून्य) लोग पुण्यों के प्रभाव से प्राप्त हुए शुभ लोकों को नहीं पा सकते। प्रथम सृष्टि में सत्यसंकल्पवाले ईश्वर, हिरण्यगर्भ आदि ने ऐसी मर्यादा कर छोड़ी है, जैसे कि सत्य वस्तु मिथ्या वस्तु से तनिक भी नहीं मिलती है, जैसे कि भाष्य है–जहाँ (सत्य पदार्थ में) जिसका (मिथ्या पदार्थ का) अध्यास है, वह (सत्य) अध्यस्त (मिथ्या पदार्थ) के गुण और दोषों से अणुमात्र भी लिप्त नहीं होता ॥२९,३०॥

यदि लीला यह पूछे कि इसे आपके वरदान के बल से अस्थूल आत्मा का ज्ञान क्यों नहीं हुआ ? इस पर देवीजी कहती हैं।

जब तक बालक के मन में वेताल का निश्चय रहता है, तब तक उसमें वेताल के अभाव की बुद्धि का उदय कैसे हो सकता है ? ॥३१॥ जब तक आत्मा में अज्ञानरूपी ज्वर की गर्मी रहती है, तब तक विवेकरूपी चन्द्रमा की शीतलता पूर्वरूप से कैसे उदित हो सकती है ? ॥३२॥ मेरा शरीर पृथिवी आदि से निर्मित है, मेरी आकाश में उत्तम गति नहीं हो सकती, जिसके अन्तःकरण में ऐसे निश्चय की जड़ जमी हुई है, उसमें अन्य प्रकार का (उक्त निश्चय से विपरीत) निश्चय कैसे हो सकता है ? ॥३३॥ अतएव लोग विवेकज्ञान से, प्रचुर पुण्य से और वरदान से इस (तुम्हारे सदृश) पुण्य शरीर से परलोक में जाते हैं ॥३४॥

आतिवाहिक देह के मिलने पर स्थूल में अहंभाव की निवृत्ति कैसे होती है ? इस शंका पर देवीजी कहती हैं।

जैसे सूखा हुआ पत्ता जल रही अग्नि में गिरते गिरते तुरन्त ही जल जाता है, वैसे ही यह स्थूल देह अहंकार–वासनामय आतिवाहिक देह को प्राप्त होते ही नष्ट हो जाता है ॥३५॥

वर और शाप भी पूर्वजन्म की वासना और कर्म के अनुसार ही कर्म और वासना के उद्‌बोधकरूप से प्राणियों को मिलते हैं, यह बात स्मृति के दृष्टान्त से श्रीदेवीजी कहती हैं।

जैसे पहले से खूब अभ्यस्त होने पर भी तुरन्त संस्कार का उद्‌बोध न होने से चिरकाल तक जिसमें चिन्तन करने की आवश्यकता होती है, ऐसे अनुवाद आदि को जब कोई आदमी प्रतीक के कथन द्वारा स्मरण कराता है, तब जिसे स्मरण होता है वह पुरुष कहता है–जैसा आपने स्मरण कराया वैसा ही मैंने उसका स्मरण किया, यों जैसे स्मरण होता है वैसे ही वर और शाप के अभ्युदय से वासना और कर्म की स्मृति होती है ॥३६॥

यदि कोई शंका करे कि अर्थक्रियाकारी स्थूल देह का तत्त्वज्ञान से कैसे बाध होता है ? इस पर तत्त्वदृष्टि से स्थूलदेह में अर्थक्रिया का ही अभाव है, ऐसा श्रीदेवीजी कहती हैं।

रस्सी में जो सर्प की भ्रमात्मक प्रतीति होती है, वह सर्प का कार्य कैसे कर सकती है ? जो पदार्थ स्वस्वरूप से है ही नहीं, उसकी कार्यकारिता कैसे हो सकती है ? ॥३७॥

यदि स्थूल देह है ही नहीं, तो यह देह मर गई, ऐसा सबको क्यों अनुभव होता है ?

इस पर कहती हैं।

'यह मर गया' इत्याकारक मिथ्या पदार्थ का जो सबको अनुभव होता है वह अनुभव खूब बढ़े हुए पूर्व जन्म के अभ्यास के संस्कार से होता है ॥३८॥ जब यह जगत्–जाल खूब अनुभूत हो जाता है, तब भ्रमात्मक स्मरण बराबर अभ्याससे सुगम हो जाते हैं। इस प्रकार का यह सृष्टि का अभ्यास वर या शाप देनेवाले हिरण्यगर्भ या ईश्वर द्वारा हमारे वासना, कर्म आदि से निरपेक्ष होकर नहीं बनाया गया है अर्थात् हमारी वासना और कर्म से सापेक्ष होकर ही बनाया गया है ॥३९॥

यदि किसी को यह शंका हो कि संसार यदि आन्तर वासनामय है, तो वह बाह्य कैसे प्रतीत होता है, तो उसका दृष्टान्तपूर्वक समाधान करते हैं।

जिन्हें तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है यानी जो अज्ञानी हैं और जो बाहर भूतसमूह को देखते हैं, उनको संसार का भीतर ही अनुभव होता है, जैसे कि दूर में प्रतीत हो रहा अध्यस्त दूसरा चन्द्रबिम्ब भी आन्तर अनुभूत होता है इसी युक्ति से कल्पित ये संसृतियाँ भी आन्तर ही हैं, बाह्य नहीं हैं ॥४०॥

तिरपनवाँ सर्ग समाप्त

चौवनवाँ सर्ग

सब पदार्थों की नियति, मरणक्रम, भोग और कर्म, गुण एवं आचार के अनुसार आयु के मान का वर्णन।

श्रीदेवीजी ने कहा : भद्रे, इसलिए जो लोग तत्त्वज्ञानी हैं अथवा जिन लोगों ने योग के अभ्यास से जन्य परम धर्म का आश्रय लिया है, वे ही आतिवाहिक लोकों को प्राप्त होते हैं, अन्य लोग नहीं ॥१॥

यदि कोई शंका करे कि आतिवाहिक ब्रह्मादि के लोकों में भी यहाँकी नाईं चिरकाल के अभ्यास आदि से भौतिक देहता का उदय क्यों नहीं होता ? तो इस पर कहती हैं।

आधिभौतिकदेहता मिथ्या (भ्रमरूप) है, वह स्थूल की अपेक्षा सत्य (✍) यानी पुण्य के उत्कर्ष से प्राप्त आतिवाहिकरूप सत्य में कैसे स्थिति को प्राप्त हो सकती है ? छाया धूप में कैसे रह सकती है ? भाव यह कि जैसे धूप में छाया की स्थिति नहीं हो सकती, वैसे ही आतिवाहिकरूप सत्य में आधिभौतिक देहता नहीं रह सकती ॥२॥

यदि ऐसा है तो लीला का पद्म की प्राप्ति के बाद आधिभौतिक शरीर कैसे उत्पन्न हुआ ? इस शंका पर कहती है।

लीला को न तो तत्त्वज्ञान ही हुआ था और न उसने योगाभ्यास से उत्पन्न परम धर्म का ही

✍ 'अपागादग्नेरग्नित्वं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' (अग्नि से अग्नित्व गया, शुक्ल, कृष्ण और लोहित ये तीन रूप ही सत्य हैं।) 'प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यः' (प्राण सत्य हैं, प्राणों का यह सत्य है) इत्यादि श्रुतियों से कहा गया है कि सूक्ष्म में त्रिवृत्करण आदि से स्थूल अध्यस्त है, अतः स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म सत्य है।

अवलम्बन किया था, इसलिए वह केवल पति के कल्पित नगर में गई ॥३॥

देवी के उक्त कथन को स्वीकार कर राजा की मृत्यु देखने से सूचित जीवन के नियम और अनियम की अनुपपत्ति देख रही लीला ने कहा।

प्रबुद्ध लीला ने कहा : हे देवि, यह लीला राजा पद्म के पास चली गई, ऐसा जो आपने कहा, यह आपके कथनानुसार वैसा ही हो, इसमें मुझे कोई अनुपपत्ति नहीं दिखती। जरा अपनी आँखों से देखिये, यह मेरे पति प्राणों का त्याग करने लगे हैं, इस विषय में इस समय क्या करना चाहिए यानी इसकी उपपत्ति कैसे है ? ॥४॥

यहाँ पर प्रश्न का 'इस समय मुझे क्या करना चाहिए।' ऐसा अभिप्राय नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से एक तो अन्य प्रश्नों से असंगति आती है और दूसरा प्रश्न के उत्तर में देवीजी ने लीला के कर्तव्य कार्य का उपदेश नहीं दिया है।

देह आदि भाव पदार्थों के जीवन, सौख्य आदि तथा दुःख दौर्मन्य (दौर्बल्य) आदि अभावों में पहले नियम कैसे आया और फिर मरण, जन्म आदि से सूचित अनियम भी कैसे आ गया ॥५॥

यदि कोई कहे कि नियम न हो, अनियम ही रहे, तो इस पर कहते हैं।

यदि अनियम मानोगे, तो जल का शीतलता ही स्वभाव, अग्नि का उष्णता ही स्वभाव इत्यादि की सिद्धि कैसे होगी ? घटादि पदार्थों में रहनेवाली सत्ता (भावरूपता का नियम) कैसे होगी, अग्नि आदि में उष्णता और पृथ्वी आदि में स्थिरता कैसे होगी ? हिम आदि में शीतलता कैसे होगी, काल, आकाश आदि की नित्यता कैसे होगी, भाव का (सत्य रजत आदि का) ग्रहण, अभाव (शुक्ति रजत आदि का) त्याग कैसे होगा ? पृथिवी आदि की स्थूलता और मन, इन्द्रिय आदि की सूक्ष्मता ही है, इन नियमों का दर्शन कैसे होगा ? अपनी ऊँचाई के कारण के रहते भी तिनका, झाड़ी, मनुष्य आदि वस्तुओं शाल, तमाल आदि वृक्षों के तुल्य अत्यंत ऊँचाई को नहीं पाती, इष्ट अनिष्ट सभी जगह नियमन होने से सर्वत्र अविश्वास ही क्यों न होगा ? ॥६–८॥

सभी जगह ऐसा ही नियम होता, यदि जगत केवल सत्य स्वभाव होता और सभी जगह अनियम ही होता, यदि जगत असत्य (मायामात्र स्वभाव) होता किंतु जगत की सत्य और असत्य से सम्मिलित माया प्रकृत है, इसलिए नियम भी सत्य और असत्य स्वभाव होकर भोगकर्ता के अदृष्ट के अनुरूप चित्–विवर्त की व्यवस्था से रहते हैं, ऐसा समाधान करने की इच्छावाली देवीजी उसके लिए शुद्ध चित् के विवर्त का क्रम कहती है।

श्रीदेवीजी ने कहा : भद्रे, महाप्रलय होने पर, जब कि सब पदार्थों का विनाश हो जाता है, अनन्त चिदाकाशरूपी शान्त सत् बुद्धरूप ब्रह्म ही केवल रहता है। पर वह जैसे स्वप्न में अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य सर्पता तथा आकाशगमन आदिका अनुभव करता है, वैसे ही चिद्रूप होने के कारण मैं तेज का कण (शुद्ध चित् से व्याप्त होने के कारण चमकदार सूक्ष्म भूत) हूँ, ऐसा समझता है ॥९,१०॥ वह तेज का कणरूप ब्रह्म अपने से अपने में स्थूलता को प्राप्त करता है यानी अपनी कल्पना से स्थूलता का लाभ करता है, वही स्थूल यह दृश्यमात्र

ब्रह्म कहा गया है, जो असत्य होता हुआ भी सत्य–सा प्रतीत होता है ॥११॥ उक्त ब्रह्माण्ड के भीतर स्थित हिरण्यगर्भनामक ब्रह्म 'सहसिद्धं चतुष्टयम्' इस पूर्वोक्त स्मृति के अनुसार अन्तुर्मुखतारूप अंश से यह मैं ब्रह्म हूँ, यह जानता है और बाह्यवासनारूप दूषित अंश से प्राणियों के कर्म के अनुरूप सृष्टि के संकल्परूप से मनोराज्य करता है, वही सत्यसंकल्परूप मनोराज्य यह जगत् है ॥१२॥ उस पहली सृष्टि में जो संकल्पवृत्तियाँ जहाँ पर जैसे (नियम–अनियमरूपसे) विकास को प्राप्त हुई वे वहाँ पर वैसी ही आज भी ज्यों–की–त्यों निश्चल (बिना हेर–फेर के) स्थित है ॥१३॥

भाँति–भाँति की वासनाओं से भरे हुए मन में, वैसा संकल्पोदय होने पर भी आत्म–चैतन्य का मन के संकल्पानुसार विवर्त कैसे होता है ? इस शंका पर देवीजी कहती हैं।

चित्त जिस जिस प्रकार से स्फुरित होता है, चैतन्य भी स्वयं ही उस प्रकार से स्फुरित होता है, क्योंकि आत्मचैतन्य का यह स्वभाव ही है कि वह स्वच्छ उपाधि में प्रतिफलित होता है। इसलिए कुछ भी पदार्थ अनियत स्वभावरूप से उत्पन्न नहीं होते ॥१४॥

मायाशबल ब्रह्म में अनादिकाल से नियतरूप से स्थित विश्व के आविर्भाव से भी 'नियति' की सिद्धि होती है, इस आशय से कहते हैं।

प्रलयकाल में भी विश्वरूपी (विराट्) सम्पूर्ण वस्तुओं से शून्य नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो जाय तो उसमें कारणता ही नहीं रहेगी, कारण कि सोना कटक, कंकण, कुण्डल, रुचक, पिण्डत्व आदि सब आकारों का त्याग करके कैसे रह सकता है ? भाव यह है कि सब आकारों का उसमें अन्तर्भाव है, अतः वह किसीका भी त्याग नहीं कर सकता ॥१५॥ सृष्टि के आरम्भ में स्वयं ही आत्मचैतन्य जैसे अपनी सत्ता से (शीतलता, उष्णता आदिरूप से) अपने में हिम, अग्नि आदि के आविर्भाव को प्राप्त हुआ वह वैसे ही आजतक ज्यों–का–त्यों अविचलरूप से स्थित है ॥१६॥

यदि मायाशबल ब्रह्म अपनी अधिष्ठान–सत्ता का त्याग करेगा, तो मायान्तर्गत नियमों की असत्ता हो जायेगी, लेकिन यह अशक्य है, ऐसा दिखलाती हुई देवीजी उपसंहार करती है।

इसलिए माया शबल ब्रह्म अपनी सत्ता का त्याग करे, यह संभव नहीं है, जब चिति है, तब उसीसे (चित् की सत्ता से ही) इस नियति का अपलाप नहीं किया जा सकता ॥१७॥

नियति के अविपर्यास में (उलटफेर न होने में) पृथ्वी आदि की स्थिति ही दृष्टान्त है, इस आशय से कहती हैं।

यद्यपि पृथ्वी आदि दृश्य प्रपंच आकाशरूपी (शून्य) है, तथापि वह सृष्टि के आरम्भ में जहाँ पर जिस रूपसे आविर्भूत हुआ था, वह आज भी अपनी मर्यादा से तनिक विचलित नहीं हो सकता ॥१८॥

जीवननियति का मरणनियति से जो विपर्यास है, उसके सभी को दिखाई देने से कहती है।

जीवननियम का मरणनियम से जो विपर्यास है, उसके सिवा जो चिति जहाँ जिस प्रकार आविर्भूत हुई है, वह अभ्यासवश दृढ़ प्रतीति होने के कारण स्वयं विचलित नहीं होती यानी

ज्यों–की–त्यों बनी रहती है ॥१९॥

ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह मायिक दृष्टि का अवलम्बन करके कहा गया है परमार्थ दृष्टि से तो जब जगत् की ही सत्ता नहीं है, तब नियति की क्या कथा है ? इस आशय से कहती हैं।

जगत् पहले उत्पन्न ही नहीं हुआ।

शंका – यदि जगत् उत्पन्न नहीं हुआ, तो उसका अनुभव कैसे होता है ?

समाधान– जो कुछ यह अनुभव में आ रहा है, यह चिदाकाश का ही तादृशरूप से विकास है, स्वप्न में स्त्रीसंग की नाईं यानी स्वप्न में जैसे अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य का ही तादृश आकार से स्फुरण होता है, वैसे ही यहाँ पर भी समझना चाहिए ॥२०॥ इस प्रकार असत्य होता हुआ भी सत्य के तुल्य प्रतीत होनेवाला यह प्रातिभासिक जगत् स्थित है, इस प्रकार का नियति का स्वभाव है और ऐसे जीवन मरण आदि पदार्थों के अनुभव हैं ॥२१॥

नियति शब्द के अवयवार्थपर ध्यानपूर्वक विचार करने से भी यही अर्थ सिद्ध होता है, ऐसा कहती है।

सृष्टि के आरम्भ में जो चेतनविकासपरम्परा जैसे आविर्भूत हुई (बद्धमूल हुई) उसे आज तक भी कोई दूसरा टससे–मस नहीं कर सका, अतएव वह नियति कही जाती है ॥२२॥

उक्त अर्थ को ही उदाहरण देकर दर्शाती है।

सृष्टि के आरम्भ में चिदाकाश, जिसने आकाशरूप से स्फुरण को स्वीकार किया था, आकाशरूपता को प्राप्त हुआ, कालरूप से स्फुरणका स्वीकार कर चिदाकाश ही कालरूपता को प्राप्त हुआ, जलरूप से स्फुरण का स्वीकार कर चिदाकाश ही ऐसे जल के रूप में स्थित हुआ जैसे कि स्वप्न में पुरुष अपने में ही जलत्व को देखता है। स्वप्न की नाईं चिति ही तत्–तत् रूप को प्राप्त हुई है। तत् –तत् रुप को प्राप्त होने पर भी वह ज्यों–की–त्यों बनी रहती है यानी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होती, क्योंकि चित् के चमत्कार की यानी माया के चातुर्य से यह प्रपंच असत्य होता हुआ ही अपने में सत्यता की बुद्धि उत्पन्न कराता है ॥२३–२५॥ जैसे स्वप्न, संकल्प और ध्यान में असत् वस्तु को ही अन्तःकरण अपनी कल्पना से जानता है, वैसे ही आकाशत्व, जलत्व, पृथिवीत्व, अग्नित्व और वायुत्व भी असत् है, चिति स्वयं अपनी कल्पना से इनका अनुभव करती है ॥२६॥

इस प्रकार अन्य नियमों की व्यवस्था करके जीवननियति भी कर्मों के भेद से नियत अवधिवाली ही ईश्वर के संकल्प से रची गई है, इसलिए मरने के पश्चात उसका भंग नहीं होता है, यह दिखलाने के लिए कर्मफलों के अनुभवक्रम का निरूपण करने के लिए प्रतिज्ञा करती है।

मरण के बाद (मरने तक जिनका फल प्रारब्ध है, उन कर्मों के प्रतिबन्धक होने के कारण उस देह के संचित कर्म फल देने में समर्थ नहीं होते, मरने पर प्रतिबन्धक के हट जानेसे वे फल उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं, यह सूचित करने के लिए 'मरणानन्तर' कहा गया है) कर्मफलों के अनुभव का क्रम सुनो, इसके सुनने से तुम्हारे सब सन्देह मिट जायेंगे और तुम्हारे मुँह से लोक में प्रसिद्ध होकर यह और लोगोंमें आस्तिक बुद्धि उत्पन्न करके मरने पर उनके लिए भी

कल्याणकारी सिद्ध होगा ॥२७॥ पहली सृष्टि में सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग में पुरुषों की क्रमशः चार सौ, तीन सौ, दो सौ और एक सौ वर्ष की जो आयु स्थिर हुई थी, उसके न्यूनाधिक होने में भी अवान्तर नियम सुनो ॥२८॥ आयु के निमित्तभूत अपने कर्मों की देश, काल, अनुष्ठान और द्रव्य की अशुद्धि और शुद्धि तथा न्यूनता और अधिकता मनुष्यों की आयु में कारण है। आयु के हेतुभूत कर्मों में देश आदिकी अशुद्धि से वैगुण्य आने से फल की न्यूनता होती है और देश आदि की अधिक शुद्धि से अधिक फल होता है, यह भाव है ॥२९॥

इसी प्रकार विहित कर्मों का अनुष्ठान न करना भी आयु के ह्रास का कारण है, ऐसा कहती हैं।

अपने कर्मरूप धर्म का ह्रास होने पर मनुष्यों की आयु क्षीण होती है, स्वकर्मधर्म की वृद्धि होने पर बढ़ती है, स्वकर्मधर्मका शास्त्रानुसार (जितना शास्त्र में कहा गया है उतना ही) अनुष्ठान होने पर उसमें कमी–बेशी न करनेपर सम ही (उस युगमें जितनी नियत है उतनी ही) रहती है ॥३०॥

विहित का आचरण न करने के समान निषिद्ध का आचरण करना भी आयु के ह्रास का हेतु है, ऐसा कहती हैं।

बाल्यावस्था में मृत्यु देनेवाले कर्मों से देही बाल्यावस्था में ही मर जाता है, युवावस्था में मृत्यु देनेवाले कर्मों से युवावस्था में मर जाता है और वृद्धावस्था में मृत्यु देनेवाले कर्मों से वृद्ध होकर मरता है ॥३१॥ जो पुरुष शास्त्र में जैसा कहा गया है, उसका उल्लंघन किये बिना आरम्भ किये गये अपने धर्म का अनुष्ठान करता है, वह पुण्यात्मा शास्त्रमें वर्णित पूर्ण आयु का भाजन होता है ॥३२॥ इस प्रकार अपने कर्मों के अनुसार जीव अन्त्य दशा को प्राप्त होता है, आयु की समाप्ति को प्राप्त हुए पुरुष को मर्मको पीड़ा पहुँचानेवाली वेदनाओं का प्रत्यक्ष अनुभव होता है ॥३३॥ प्रबुद्ध लीला ने कहा : हे चन्द्रमुखी देवि, मुझसे आप संक्षेप से मरण का वृत्तान्त कहिये, क्या मरण सुखरूप है अथवा दुःखरूप है और मरने के बाद क्या होता है ? लीला के पूछने का मतलब यह है कि पूर्ववर्णित मरणदुःख सबको समान होता है या किसीको सुख भी होता है और मरने के बाद क्या सबकी एकसी गति होती है या योगियों की विशिष्ट गति होती है ? ॥३४॥ श्रीदेवीजी ने कहा : भद्रे, मुमूर्षु (मरने के इच्छुक) पुरुष तीन प्रकार के होते हैं–मूर्ख, धारणा का (नाभि में, हृदयमें, कण्ठमें, भौंहों के बीचमें और ब्रह्मरन्ध्र में नियत अवधि तक प्राण और मन के निरोध का) अभ्यासवाला तथा युक्तिमान यानी जिसे अपनी इच्छा के अनुसार उत्क्रमण में (निर्गमन में), परकायप्रवेश में, अपने अभीष्ट लोक की प्राप्ति के मार्गभूत नाड़ी द्वारा विशेष प्रकार से निकलने और प्रवेश करने में निपुणताका अभ्यास हो गया हो। उनमें बिचला धारणानिष्ठ पुरुष क्रम से युक्ति का अभ्यास कर देह का त्याग कर देह के अन्त में सुखपूर्वक जाता है, युक्तिमान् पुरुष वैसा ही रहकर सुख को प्राप्त होता है और जिस पुरुष को न तो धारणा का अभ्यास है और न युक्ति ही उसके पास है, ऐसा मूर्ख पुरुष विवश होकर दुःख को ही

प्राप्त होता है ॥३५–३७॥ वासना के आवेशवश पराधीनचित्त हुआ अतएव विषयों का ही चिन्तन करनेवाला पुरुष कटे हुए कमल की नाईं अत्यंत दीनता को प्राप्त होता है, जिसकी बुद्धि शास्त्रों से संस्कृत नहीं है और जो असज्जनों की संगति करता है, वह मरने पर अग्नि में गिरे हुए पुरुष की नाईं अन्तर्दाह का अनुभव करता है। उस अविवेकी का कण्ठ जब कफ से 'घर, घर' शब्द करता है और दृष्टि तथा वर्ण विरूप हो जाते हैं, तब वह बड़ा दयनीय होता है ॥३८–४०॥ वह परम अन्धकार को प्राप्त होकर प्रकाश से वंचित रहता है, क्योंकि दिन में उसके लिए तारे उगे रहते हैं, उसका आकाश अत्यन्त तिमिराच्छन्न रहता है, उसके चारों ओर दसों दिशाओं में मेघ व्याप्त रहते हैं, मर्मपीड़ा से वह व्याप्त रहता है,उसकी दृष्टि चक्कर खाती रहती है, पृथिवी उसके लिए आकाश बन जाती है, आकाश पृथिवी बन जाता है, दिशाएँ उसे घूमती हुई प्रतीत होती हैं, समुद्र में बहाया जाता हुआ–सा, आकाशमें ले जाया जाता हुआ–सा, अंधे कुएँ में गिरा हुआ–सा, शिला के अन्दर घुसाया–हुआ–सा, प्रबल निद्रा को प्राप्त होता हुआ–सा पराधीन रहता है। अपने दुःखों को कहने की इच्छा होने पर भी वाणी का स्तम्भ हो जाने से उसके मुँह से अक्षर नहीं निकलते, वह हृदयमें काटा हुआ–सा, आकाशमार्ग से गिरता हुआ–सा, प्रबल आँधी में डाला हुआ–सा, तेज दौड़नेवाले रथमें बैठा हुआ–सा, हिमशिला की नाईं गलता हुआ–सा, अपने को उदाहरण बनाकर लोगों में संसार–दुःख का व्याख्यान करता हुआ–सा, पत्थर को फेंकने के यन्त्र से घुमाया हुआ–सा, वायुयन्त्र में रक्खा हुआ–सा, भ्रमियन्त्र (चर्खी आदि) में घुमाया हुआ–सा, रस्सीसे खींचा हुआ–सा, जल की भौंरी में घूमता हुआ सा, शस्त्रयन्त्र (आरे आदि में या अन्य प्रकार की काटने की मशीन) में रखा हुआ–सा, तृष्णाकी नाईं जलाया जाता हुआ–सा, बह रहे पर्जन्यवायु में बैठकर जलप्रवाह के साथ समुद्र में गिरता हुआ–सा, चक्रआवर्तरूप असीम आकाशरूप छिद्र में गिरता हुआ–सा, पृथिवीकी विपर्यास दशा का अनुभव करता हुआ–सा स्थित होता है। निरन्तर चारों ओर से नीचे गिरते हुए और ऊपर उछलते हुए समुद्र की नाईं अस्थिर रहता है, निःश्वास के शब्द के श्रवण से उसके सब इन्द्रियरूपी व्रण उद्भ्रान्त हो जाते हैं ॥४१–५०॥ जैसे सूर्य के अस्त होने पर मन्द–मन्द प्रकाशवाली दिशाएँ काली हो जाती हैं, वैसे ही उसकी सम्पूर्ण इन्द्रियों की शक्तियाँ धुँधली पड़ जाती हैं यानी उनकी तत्–तत् विषयों को ग्रहण करने की शक्ति मन्द पड़ जाती है ॥५१॥ जैसे पश्चिम सन्ध्या के (सायंकाल की सन्ध्या के) बाद नष्ट हुई नेत्रशक्ति आठों दिशाओं में पूर्वापर को नहीं जानती, वैसे ही क्षीणता को प्राप्त हुई उसकी स्मृति पूर्वापर को नहीं जानती ॥५२॥ उसका मन मोह होने के कारण कल्पना शक्ति का त्याग करता है, इसलिए अविवेकवश महामोह में गिरता है ॥५३॥ जब देही अल्प मूर्च्छा को प्राप्त होता है, तब उसके प्राण अंग–प्रत्यंगों को नहीं थामते जब वह प्राणों को भी नहीं चला सकता तब वह गाढ़ मूर्छा को प्राप्त होता है ॥५४॥ मोह यानी अपने स्वरूप का परिचय न रहना, संवेदन यानी विषयवासनाएँ और भ्रम यानी अन्यथा ज्ञान ये जब एक दूसरे से पुष्ट होते हैं,

तब इनसे जीव पाषाणता को (पाषाण की नाईं जड़ता को) प्राप्त होता है, यह नियम आदि सृष्टि से चला आ रहा है। प्रबुद्ध लीला ने कहा : हे देवि, सिर, हाथ, चरण, मलमूत्रके द्वार, नाभि और हृदय इन आठ अंगों से युक्त यह देह भी पीड़ा, मोह, मूर्छा, भ्रम, व्याधि और अचेतना को क्यों प्राप्त होता है ? ॥५५,५६॥ श्रीदेवीजी ने कहा : भद्रे ! ईश्वर ने, जिनमें क्रियाशक्ति की प्रधानता है, इस प्रकार संकल्परूप कर्म का विधान किया है, वह यह कि इस समय में (बाल्यावस्था में, युवावस्था में, और वृद्धावस्था में) इतने काल तक भोगने योग्य इस प्रकार का दुःख मुझसे अभिन्न जीवको हो ॥५७॥ 'वह मुझे प्राप्त हो' इस अपने संकल्प के स्वभाव से उत्पन्न दुःख को स्वयं ही जीवरूप से देहादि उपाधि में अपने चित्त के स्वभाव से कल्पित वृक्षों के झुरमुट की नाईं प्रवेशकर उसका भोग करता है। उसके दुःखभोग में दूसरा कारण नहीं है ॥५८॥ जब नाडियाँ पीड़ावश हुए संकोच-विकास से खाये और पीये गये पदार्थों के रस को विषमता के साथ ग्रहण करती हैं, तब समान नाम का वायु खाये-पीये गये पदार्थों के रस के समीकरणरूप अपने काम को छोड़ देता है ॥५९॥ जब नाड़ियों में प्रविष्ट वायु बाहर नहीं आते और बाहर निकले हुए वायु उनमें प्रवेश नहीं करते तब नाड़ियों के व्यापार के रुकनेपर पुरुष नाड़ी शून्य हो जाता है अतएव चक्षु आदिका स्पन्दन न होने से स्मरण ही भीतर रहता है, इन्द्रियज्ञान नहीं रहता ॥६०॥ जब वायु न तो प्रवेश ही करता है और न बाहर ही निकलता है, तब शरीर की नाड़ियों से शून्य हो जाने के कारण पुरुष मृतक कहलाता है ॥६१॥ मुझे इतने काल में नाश को प्राप्त होना चाहिये इस प्रकार की पूर्वजन्म के संकल्प से युक्त और नियति द्वारा प्रेरित जो संवित् है, वह भी नाश को प्राप्त हो जाती है ॥६२॥

यदि कोई कहे कि उक्त नियति का नाश होने पर जगत् के व्यवहार का ही भंग हो जायेगा। इस पर कहती है।

'इस प्रकार का जो मैं हूँ, मुझे इस स्थान में इस प्रकार जन्म लेना होगा, इस आकारवाली आदि सृष्टि में उत्पन्न हुई सत्यसंकल्प के संस्कार से युक्त माया कभी भी नाश को नहीं प्राप्त होती, मुक्ति होने पर काल के साथ ही उसकी भी निवृत्ति होती है, उससे पूर्व नहीं, यह भाव है ॥६३॥

अविद्यायुक्त जीवचैतन्य के स्वरूप का विचार करने पर भी यही प्रतीत होता है कि जबतक मोक्ष न हो जाय, तब तक जन्म, मरण आदि की निवृत्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

संवित् का वेदन यानि स्वभाव व्यतिरेकरहित (विश्लेषशून्य) है, इसलिए जन्म और मरण स्वभावसंवति् से पृथक् नहीं है यानी जब तक आविधक जीवचैतन्य रहेगा, तब तक जन्म और मरण से छुटकारा नहीं है, वे उसके स्वभावरूप ही हैं, हाँ, मुक्ति होने पर काल के साथ ही उनसे छुटकारा होता है ॥६४॥

सांसारिक जीव के संवित् प्रवाह का वर्णन करते हैं।

जैसे नदी में जल कभी आवर्तयुक्त यानी अस्थिर अतएव मैला होता है और कभी स्थिर

अतएव निर्मल हो जाता है, वैसे ही यह चेतन (सांसारिक जीव) भी कभी सौम्य (निर्मल) और कभी राग द्वेष आदि से कलुषित हो जाता है ॥६५॥ जैसे लम्बी दूब आदि की लताओं के बीच–बीच में गाँठें होती हैं, वैसे ही चेतनसत्ता के मध्य में जन्म और मरण होते हैं ॥६६॥ ऊपर जिसका वर्णन किया है, वह सब भ्रान्तदृष्टि है, परमार्थदृष्टि तो यह है कि चेतन पुरुष न तो कभी जन्म लेता है ओर न कभी मरता है, क्योंकि श्रुति ने कहा है– 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (परमार्थदर्शी न तो जन्म लेता है और न मरता है) भ्रान्त पुरुष ही स्वप्नकाल के भ्रम के तुल्य इसे (जन्म, मरण आदि को) देखता है ॥६७॥

चेतन की अमरणस्वभावता का युक्ति से उपपादन करते हैं।

चेतनामात्र ही तो पुरुष है, वह कब और कहाँ नष्ट हो सकता है ? यदि पुरुष को चेतन से अतिरिक्त मानो, तो बताओ क्या देह पुरुष होगा या प्राण पुरुष होगा या इन्द्रियाँ पुरुष होगी अथवा मन पुरुष होगा या बुद्धि, अहंकार, चित्त पुरुष होंगे या उनके अधिष्ठाता देवता पुरुष होंगे अथवा अविद्या पुरुष होगी ? इन सभी पक्षों में पुरुषरूप से माने गये देह आदि जड़ों द्वारा चेतनरूप पुरुष से जन्य प्रकाश से होनेवाले सम्पूर्ण व्यवहार न हो सकेंगे। अतएव चेतनामात्र ही पुरुष है, यह पक्ष अटल रहा ॥६८॥

चेतन का मरण सिद्ध नहीं हो सकता, जिसने चेतन का मरण देखा हो, ऐसा कोई साक्षी ही नहीं है, फिर जिसका कोई साक्षी ही नहीं है, उसकी सिद्धि कैसे हो सकती है ?

इतना संसार बीत गया, आजतक चेतन को मरा हुआ किसने देखा ? जरा उसका नाम तो बतलाइये क्या चेतन का मरण विनाश है या दूसरी देह की प्राप्ति है ? यदि उसका मरण विनाश है, तो वह अपने आप होता है या दूसरे से ? प्रथम पक्ष तो बन नहीं सकता, क्योंकि विनाश विरोधी करता है, अपनेमें अपना विरोध कैसे ? दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि असंग चेतना का दूसरे से विनाश हो ही नहीं सकता। यदि चेतनका मरण अन्य देह की प्राप्ति है, तो वह भी कोई मरण है ? देह तो लाखों मरते हैं और चेतन ज्यों–का–त्यों अविनाशी बना रहता है ॥६९॥

यदि चेतन की मृत्यु हुई तो बड़ा भारी अनर्थ प्राप्त होगा, यों दर्शाते हुए चेतन की मृत्यु का खंडन करते हैं।

प्रत्येक देह में भिन्न–भिन्न चेतन हैं, इसमें कोई प्रमाण नहीं है, प्रत्युत 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' इस श्रुतिरूप प्रमाण से सब देहों में एक ही चेतन है, वह सिद्ध होता है। वह एक चेतन यदि मर जाय, तो समष्टि और व्यष्टि का चित्त, जिसकी सत्ता और स्फूर्ति उसीके अधीन है, कैसे नहीं मरेगा ? यानी अवश्य मर जायेगा। समष्टि और व्यष्टि के चित्त के मर जाने पर चित्तमात्ररूप जगत् की उपादानशून्य सत्ता नहीं रह सकती। इसलिए एक के मरने पर यहाँ सब भूतों की मृत्युरूप दोष अनिष्ट नहीं होगा क्या ? ॥७०॥

यदि कोई पूछे तब जन्म–मरण, जिनका सबको अनुभव होता है, क्या हैं यानी उनका स्वरूप क्या है ? इस पर कहते हैं।

जिसका यानी जन्म–मरण का जीव अनुभव करता है, वह केवल वासना का चमत्कार है। उसीके (वासनाचमत्कार के ही) जीवन और मरण दो नाम रख दिये हैं ॥७१॥ इस प्रकार न तो कोई मरता है और न कोई पैदा होता है। केवल जीव अपनी वासनारूपी जलभौंरी के गड्ढे में गिरता है ॥७२॥ दृश्य का सर्वथा असंभव होने से यह वासना है ही नहीं, इस प्रकार के विचार से दृढ़ (मजबूत) ज्ञाता (अन्तःकरण) अवश्य नष्ट हो जाता है ॥७३॥ वैराग्य आदि साधनों से सम्पन्न अधिकारी जीव गुरुमुख से श्रवण आदिके अभ्यास से प्रतीत हो रहे जगत्–प्रपंच को यह परमार्थरूप से उदित नहीं हुआ है, यों तत्त्वज्ञान से देख कर मूल के (अज्ञान के) कटने से सर्वथा द्वैतवासना से शून्य होकर विमुक्त हो जाता है, यों विमुक्त आत्मस्वरूप ही यहाँ परमार्थ वस्तु है, उससे अतिरिक्त सब असत् है ॥७४॥

चौवनवाँ सर्ग समाप्त

पचपनवाँ सर्ग

आदि सृष्टि से लेकर जीव की विचित्र संसारगतियों का तथा
जीवकर्मानुसारी ईश्वर की स्थिति का वर्णन।

प्रबुद्ध लीला ने कहा : हे देवेशि, जैसे जन्तु (प्राणी) मरता है और जैसे फिर पैदा होता है, उसीको (पूर्वकथित को ही) फिर आप मुझसे विस्तार से कहिये। उसका परिणाम यह होगा कि बारबार सुनने से वैराग्य बढ़ेगा और उससे ज्ञान की वृद्धि होगी। श्री देवीजी ने कहा : भद्रे, नाडियों की गति रूक जानेपर जब कि प्राणी प्राणवायुओं की विसंस्थिति (चलनस्वभाव से विपरीत स्थिति) अर्थात् गत्यवरोध को प्राप्त होता है, तब उसकी चेतना शक्ति, अन्तःकरणरूप उपाधि का लय हो जाने से, शान्त–सी हो जाती है ॥१,२॥

वस्तुतः चेतना कहीं शान्त नहीं होती है, ऐसा कहते हैं।

चेतन मल के सम्पर्क से रहित तथा नित्य है, न तो उसका उदय होता है और न विनाश। वह चर–अचर सब जीवों में, आकाश में, पर्वत में, अग्नि में और वायु में स्थित है। मतलब यह कि कोई पदार्थ या स्थान उससे शून्य नहीं है ॥३॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि मरण देह का धर्म है, आत्मा का धर्म नहीं है, ऐसा मानते हैं।

प्राणवायु की गति रुकने से जब शरीर में स्पन्द (चेष्टा) शान्त हो जाता है, तब यह देह, जिसका दूसरा नाम जड़ है, 'मृत' कहलाती है ॥४॥ जब यह देह मुर्दा बन जाती है, प्राणवायु अपने कारणरूप महावायु में लीन हो जाता है, तब वासनारहित चेतन आत्मतत्त्व में लीन हो जाता है यानी प्राण तेज के साथ प्राज्ञ आत्मा में लीन हो जाते हैं, उपाधि का विनाश होने पर जीव भी वासनाओं के साथ परमात्मरूप से स्थित हो जाता है ॥५॥

यदि जीव परमात्मरूप से स्थित हो जाता है, तो वह मुक्त होकर ब्रह्म ही हो गया, फिर उसे जीव कैसे कहते हैं ? इस पर कहते हैं।

पुनर्जन्म में बीजभूत वासना से युक्त सूक्ष्म (अणुपरिच्छिन्न) है, उसका नाम जीव कहा

जाता है, वस्तुतः जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है। अतएव वासनावश उसको अपने स्थान में ही परलोक गमन आदि का भ्रम होता है।

वास्तव में उसका परलोकगमन आदि नहीं होता। इस आशय से मण्डपाकाशन्याय का स्मरण कराते हैं।

वह वहीं पर राजा पद्म के शवागार में मण्डपाकाश में ही रहता है ॥६॥ देह के मरण से ही लौकिक व्यवहार करनेवाले लोग उसे प्रेत कहते हैं। चेतन वासनाओं से युक्त होकर पुष्प आदि की सुगन्ध से मिले हुए वायु के समान रहता है। इस (पूर्वजन्म के) देह आदि दृश्य का त्याग कर अन्य देह आदि के दर्शन में जब रहता है, तब वह जीव स्वप्न की नाईं तथा मनोरथ की नाईं स्वयं ही परलोकगमन, परलोक, वहाँ के भोग्य आदि वासनामय नाना आकारों को धारण करता है ॥७,८॥

उसी भ्रम को नये सिरे से क्रमशः कहना आरम्भ करते हैं।

उसी प्रदेश के अन्दर पूर्व जन्म की नाईं जब उसे स्मृति होती है तभी (तुरन्त) मरणकाल की मूर्छा के बाद अन्य शरीर को देखता है ॥९॥

यदि कोई कहे कि छोटे से मरण–प्रदेशमें यथा कथंचित् अन्य शरीर की कल्पना हो सकने पर भी दूरगमन, विस्तारयुक्त परलोक आदि का समावेश वहाँ कैसे हो सकता है ? तो इस पर कहते हैं।

आत्मा में विपुल एक आकाश अथवा आकाश और पृथ्वी दोनों ही या करोड़ों लाख ब्रह्माण्ड एक साथ एक ही समय समा सकते हैं, फिर आत्मा में इस सम्पूर्ण प्रपंच का सम्भव क्यों नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य है ही, क्योंकि आत्मा असीम है और माया अघटितघटनामें पटु है। ऐसी स्थिति में आत्मस्वरूप का विचार कर अत्यल्प प्रदेश में भी अन्य लोक का (परलोक आदि का) समावेश कहा गया है, केवल उसी प्रदेश के अभिप्राय से नहीं कहा है (卐)।

अब भिन्न–भिन्न गति को कहने के लिए देवीजी प्रेतों का विभाग करती हैं –

हे सुन्दरी, प्रेत छः प्रकार के होते हैं, उनके आगे कहे जानेवाले भेद को सुनो–साधारण पापी, मध्यम पापी और बड़े भारी पापी, साधारण धर्म वाले, मध्यम धर्मवाले तथा उत्तम धर्मवाले। इनमें से प्रत्येक में किसी के दो भेद होते हैं और किसीके तीन भेद होते हैं ॥१०–१२॥

उनमें से पहले और तीसरे की गति कहते हैं।

कोई बड़ा भारी पातकी एक वर्ष तक मरणमूर्छा का अनुभव करता है, पत्थर के मध्य की नाईं ठोस और मूढ रहता है ॥१३॥ बहुत समय के बाद चेतना को प्राप्त होकर चिरकाल तक वासनारूपी नायिका के उदर से उत्पन्न होकर कभी नष्ट न होनेवाले नारकीय दुःख का भोगकर

卐 इस श्लोक का द्वितीय अर्थ यों है – यदि उस प्रदेश में मार्ग, परलोक आदि हैं, तो उन्हें दूसरे लोग क्यो नहीं देखते, मृतक ही क्यों देखता है ? आकाश और पृथ्वी दो, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा आदि से युक्त सारा जगत् मृत परुष की आत्मा में मेघघटा की नाईं खूब पुष्ट हुआ है, अन्य की दृष्टि से तो केवल आकाश ही है, अतः अन्य को नहीं दिखाई देते हैं।

एक दुःख के बाद दूसरे दुःख को प्राप्त होता हुआ वह महापापी सैकड़ों योनियों को खूब भोगकर कभी संसाररूपी स्वप्न में शान्ति को (महापापों के फलकी समाप्ति को) प्राप्त होता है, यानी उसके पापफलों का अन्त होता है ॥१४,१५॥ अथवा वे मृत्यु–मोह के अन्त में सैकड़ों जड़–दुःखों से व्याकुल वृक्ष आदि योनियों का, जो कि उसके हृदय में स्थित है, भोग करते हैं और फिर नरक में अपनी–अपनी वासनाओं के अनुरूप विविध दुःखों का अनुभव कर चिरकाल तक भूतल में विविध योनियों में उत्पन्न होते हैं ॥१६,१७॥

मध्यम पापी की गति को कहते हैं।

और जो मध्यम पापी है, वह मरणमूर्छा के पश्चात् पत्थर के उदर की (मध्य भाग की) नाईं घनी मूर्छा का कुछ कालतक अनुभव करता है। तदुपरान्त जब उसे चेतना प्राप्त होती है, तब वह कुछ काल में या उसी समय तिर्यग् आदि क्रम से योनियों को भोगकर संसार में प्राप्त होता है ॥१८,१९॥

साधारण पापी की गति बतलाते हैं।

कोई साधारण पापी मरते ही अपनी वासनाओं के अनुसार प्राप्त हुए अविकल मनुष्य शरीर का अनुभव करता है, क्योंकि 'उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्' (पुण्य और पापों से मनुष्यलोक को प्राप्त होता है) ऐसी श्रुति है ॥२०॥ वह स्वप्न की नाईं और मनोरथ की नाईं, वैसा अनुभव करता है और उसी क्षण में उसकी स्मृतियाँ (जैसा कि पहले कहा गया है) उदित होती है ॥२१॥

सर्वश्रेष्ठ महापुण्यात्माओं की गति कहते हैं।

किन्तु जो सर्वश्रेष्ठ महापुण्यात्मा हैं, वे मरणजनित मूर्छा के बाद पुण्य वासना के उदय से स्वर्गलोक, विद्याधरलोकका सुख भोगते हैं। महापुण्य के फल के उपभोग के बाद थोड़ा–बहुत पापकर्म यदि हो, तो उसके अनुरूप फल को इलावृत्त, किंपुरुष आदि खण्डों में भोगकर मनुष्य लोक में सज्जनों के धनवान् घर में जन्म लेते हैं ॥२२,२३॥

मध्यम धर्मात्माओं की गति कहते हैं।

जो मध्यम धर्मात्मा हैं, वे मरणमूर्च्छा के बाद आकाश–वायु से वेष्टित होकर भाँति–भाँति के वृक्ष, लता और पल्लवों से व्याप्त नन्दनवन, चैत्ररथ आदि दिव्य उद्यानों में किन्नर, किंपुरुष, यक्ष आदि के शरीर से जाते हैं, वहाँ पर अपने पुण्यकर्मों का सुन्दर फल भोगकर वायु, वृष्टि आदिसे पृथिवी में धान, गेहूँ, जौ आदि में प्रवेशपूर्वक अन्न बनकर ब्राह्मण आदि के हृदय में प्रवेशकर वीर्यरूप से स्त्रियों के गर्भ में प्राप्त होते हैं ॥२४,२५॥

इससे साधारण धर्मात्मा की भी गति प्रायः कही गई, ऐसा मानते हुए उपसंहार करते हैं।

प्रेत अपनी वासना के अनुसार मरणमूर्च्छा के अन्त में अपने हृदय में इस अवस्था का क्रम से और क्रम के बिना भी अनुभव करता है ॥२६॥

अब उनका मरण आदि अध्यारोपक्रम विशेषरूप से दर्शाते हैं।

प्रेत पहले हम लोग मरे, तदनन्दर दाह, दशाहकृत्य आदि के क्रम से हम लोगों का शरीर बना, यह जानते हैं। तदनन्तर वे जानते हैं कि हाथों में कालपाश लिए हुए ये यमदूत हैं, इन

यमदूतों द्वारा ले जाया जा रहा मैं, जो कि पाथेय श्राद्ध आदि से तृप्त किया गया हूँ, एक वर्ष में यमपुरी को जाता हूँ ॥२७,२८॥ उनमें से जो महापुण्यवान होते हैं, वे बड़े मनोहर देवलोक के विमान और उद्यानों को 'ये हमारे कर्मों से बार–बार प्राप्त होते हैं', ऐसा जानते हैं ॥२९॥ महापापी पुरुष बर्फ की चट्टानें, काँटे, गड्ढे और तलवार की नाईं तीक्ष्ण पत्तों से भरपूर वन, जो कि हमारे दुष्कर्मों से उत्पन्न हैं, हमें प्राप्त हो रहे हैं, ऐसा जानते हैं ॥३०॥ मध्यम पुण्यवाले पुरुष जानते हैं कि यह मार्ग, जिसमें बड़े आनन्द के साथ पैदल चला जा सकता है, ठण्डी और हरी–हरी दूब जमी है, मनभावनी छाया से युक्त है और स्थान–स्थान पर बावडियाँ बनी हैं, मेरे सामने स्थित है ॥३१॥ मध्यम पापीजनों को यह अनुभव होता है कि यह मैं यमपुरी में आ पहुँचा, ये सर्वलोकप्रसिद्ध यमराज हैं और यहाँ चित्रगुप्त आदिने मेरे कर्मों का विचार किया ॥३२॥

यह अध्यारोपक्रम स्वप्न के समान प्रत्येक पुरुष का भिन्न भिन्न है, ऐसा कहते हैं।

जैसे प्रतीत होते हैं, वैसे ही स्थित यानी सत्य–से सब घट, पट आदि पदार्थ और उनकी तत्–तत् अर्थ क्रिया (जल का आनयन आदि) से देदीप्यमान, विशाल संसारभाग प्रत्येक को प्राप्त होता है ॥३३॥

परमार्थदृष्टि से यदि देखा जाय, तो आत्मा से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

आकाश की नाईं स्वरूपरहित में स्थित जगत्–प्रपंच, जिसमें लम्बे देश, लम्बे काल और लम्बी क्रियाओं की प्रतीति होती है, कुछ भी नहीं है, किन्तु सम्पूर्ण अध्यारोपों से शून्य आत्मा ही है ॥३४॥ 'मुझे यमराज ने अपने कर्मों के फलों का भोग करने के लिए इस दिशा में जाने की आज्ञा दी है, इसलिए यमसभा से मैं शीघ्र सुन्दर सुन्दर भोगों से युक्त स्वर्ग में जाता हूँ या नरक में ही जाता हूँ॥३५॥ यमराज ने जिस स्वर्ग का भोग करने के लिए मुझे आज्ञा दी थी उस (स्वर्ग) का मैंने भोग कर लिया है अथवा यमराज ने जिस नरक का भोग करने के लिए मुझे आदेश दिया था उसका मैंने भोग कर लिया है। यमनिर्दिष्ट ये पशु आदि योनियाँ मैंने भोग ली हैं। इस समय मैं मनुष्य संसार में आविर्भूत होता हूँ॥३६॥ यह मैं कभी धान का अंकुर हुआ, फिर बढ़कर पौधा हुआ, पत्ते लगे, गाभ हुआ, धान की बाल हुआ, इस क्रम से बीज बनकर रहा।

शंका–स्वर्ग, नरक और विविध योनियों के भोग की नाईं व्रीह्यादिभाव (धान के अंकुर आदि होना) भी क्या उसका अनुभव सिद्ध है ?

समाधान – नहीं, भविष्यकाल में प्राप्त होनेवाले मनुष्य शरीर में श्रुति, पुराण आदि से उत्पन्न बोध से उसे अपने व्रीह्यादिभाव का परिज्ञान होता है ॥३७॥

यदि किसीको शंका हो तो उस समय उसे अपने व्रीह्यादिभाव का अनुभव क्यों नहीं होता ? इस पर कहते हैं।

उस अवस्था में शरीर न होने से उसकी इन्द्रियाँ और अन्तःकरण मूर्च्छित रहता है। उसी अवस्था में वह पिता के शरीर में भुक्त अन्न द्वारा प्रवेश कर वीर्य बनता है। तदुपरान्त वह माता के उदर में गर्भ बनता है। अपने पूर्वकर्मों के अनुसार सुख, सौभाग्य, आरोग्य और सुन्दर

स्वभाव से युक्त अथवा दुःख, दुर्भाग्य, रोग तथा विषम स्वभाव से युक्त मनोहर आकृतिवाला बालक होता है ॥३८,३९॥ तदुपरान्त वह चन्द्रमा के समान घटने बढ़नेवाले चंचल और मनोहर तथा कामोन्मुख (नारीपरायण) यौवन का अनुभव करता है, फिर कमल के मुँहमें गिरे हुए तुषाररूपी वज्रकी नाईं बुढ़ापे का अनुभव करता है यानी जैसे कमल के उपर तुषाररूपी वज्र गिरकर उसे मुरझा देता है, वैसे ही बुढ़ापे से जर्जर हो जाता है ॥४०॥ उसका इतने में छुटकारा नहीं होता, उसके बाद भी व्याधिरूपी मरण का अनुभव करता है फिर वह मरणजनित मूर्छा को प्राप्त होता है, तदनन्तर बन्धुओं द्वारा दिये गये पिण्डों से स्वप्न के समान प्राप्त देहग्रहण का अनुभव करता है ॥४१॥ फिर वह पूर्वोक्त रीति के अनुसार यमलोक में जाता है, फिर वैसे ही विविध योनियों की प्राप्ति में भ्रमक्रमका पुनः पुनः अनुभव करता है ॥४२॥ आकाश में आकाशरूपी जीव इस प्रकार के वेगवान परिवर्तन का मोक्ष होने तक पुनः पुनः अनुभव करता है ॥४३॥

त्वं पदार्थ जीव में भ्रान्ति हो सकती है, इसलिए उसमें भले ही यह अध्यारोपक्रम हो, तत्पदार्थ ईश्वर में तो भ्रान्ति हो नहीं सकती, अतः उसमें जगत् का अध्यारोपक्रम कैसे ? इस प्रकार तत्पदार्थ ईश्वर की शुद्धि को जानने के लिए लीला पूछती है।

प्रबुद्ध लीला ने कहा : हे देवि, आदि सृष्टि में जैसे यह भ्रम होता है, वैसा मुझसे कृपापूर्वक पुनः कहिये, जिससे कि मेरे बोध की वृद्धि हो ॥४४॥

ईश्वर की भ्रान्ति से जगत् का अध्यारोप नहीं होता, किन्तु परमार्थघन ईश्वर का ही माया अध्यारोपित रूप से विवर्त होता है। अनावृत चैतन्य को जो अध्यस्त का भान होता है, वह भ्रम नहीं है, किन्तु असत्य की सत्यरूप से प्रतीति भ्रम है। सर्वज्ञ होने के कारण ईश्वर को सदा पदार्थों की प्रतीति होने पर भी उनमें सत्यताकी प्रतीति नहीं होती, क्योंकि वे ईश्वर के प्रति स्वस्वरूप के परिज्ञानरूप बोध से बाधित रहते हैं। इस प्रकार तत्पदार्थ में अध्यारोप होने से कोई दोष नहीं है, इस आशय से देवी तत्पदार्थ में अध्यारोप का उपपादन करती हैं।

पर्वत परमार्थघन चैतन्य हैं, वृक्ष परमार्थघन हैं, पृथिवी परमार्थघन है और आकाश परमार्थघन है ॥४५॥ सर्वस्वरूप होने के कारण उस चिदात्मा परमेश्वर का जहाँ पर जैसा विवर्त होता है, परमाकाश शुद्धस्वरूप वह ईश्वर ही वहाँ वहाँ पर हम लोगों की दृष्टि से स्वप्न की कल्पना करनेवाले पुरुष की नाईं जीवसमष्टिरूप आदि प्रजापति बनकर सृष्टि करने योग्य पदार्थों के संकल्परूप से जैसे भी आदि लोकरूप विवर्त से स्फुरित हुआ, वैसे ही आज भी व्यवस्था ज्यों–की त्यों स्थित है ॥४६,४७॥

यदि यह माना जाय कि संकल्प से उत्पन्न हुई जगत्सत्ता से यह जगत्सत्ता भिन्न है, तो इस पक्ष में भी उसकी (संकल्पजनित जगत्–सत्ता की) प्रतिबिम्बतुल्य होने के कारण वह मिथ्या ही है, ऐसा कहती है।

संकल्पजनित स्फुरण रूप पदार्थों का पहला विवर्त बिम्बरूप ठहरा, उससे जो प्रतिबिम्ब हुआ वह आज भी वैसा ही स्थित है ॥४८॥

जगत्सृष्टि में स्थावर–जंगम विभाग जैसे हुआ, उसमें निमित्त कहती है।

देहों का जो छिद्र स्थान है, उसमें प्रविष्ट हुआ वायु शरीरों में चेष्टा उत्पन्न करता है, उससे यह जीता है, ऐसा कहा जाता है। सृष्टि के आदि में ही जंगम प्राणियों में इस प्रकार की यह स्थिति उत्पन्न हुई, इसी कारण चेतन होते हुए भी वृक्ष आदि चेष्टाशून्य हैं। भाव यह कि उनमें छिद्र नहीं है, अतएव वायु उनमें प्रविष्ट हो चेष्टा उत्पन्न नहीं करता, इसलिए वे चेतन होते हुए भी निश्चेष्ट हैं ॥४९,५०॥

इसी प्रकार चेतन और अचेतन के विभाग की कल्पना करने में भी निमित्त कहती हैं।

यह चिदाकाश ही (ईश्वर ही) प्रतिबिम्ब होकर आविर्भूत औपाधिक जीव विभाग को करता है, वही अंश संवित् (चेतन) होता है, शेष अध्यारोपित है, वह चेतन नहीं है, किन्तु अचेतन ही है ॥५१॥

उसका बुद्धि के द्वारा स्थूल में प्रवेश और स्थूल में चक्षु आदि की प्राप्ति होने से बाह्य व्यवहार की क्षमता आती है, ऐसा कहती है।

बुद्धि में प्रविष्ट हुआ चिदाकाश बुद्धि के लिए मनुष्यशरीररूप दूसरे उपाधिभूत नगर में प्रविष्ट होकर अपने में अधिरूढ़ बुद्धि को चक्षु आदि के गोलक में पहुँचता हुआ चाक्षुष आदि बुद्धिवृत्तियों द्वारा बाह्य पदार्थों का अनुभव करता है।

शंका – चक्षु आदि ही साक्षात् चित् में अध्यस्त होने से चित् (चेतन) है, अतः वे जीवभूत शरीर में रहकर व्यवहार करें, बुद्धिरूप उपाधि से युक्त जीव मानने की क्या आवश्यकता है?

समाधान – नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, सम्पूर्ण इन्द्रियाँ स्वयं ही चेतन जीवभूत नहीं है, क्योंकि चैतन्य में अध्यारोपमात्र से ही कोई चेतन नहीं होता। यदि ऐसा माना जाय, तो घट आदि पदार्थ को भी चेतन मानना होगा ॥५२॥

बुद्धि ही जीव की उपाधि है, अन्य नहीं है, इस नियममें तो सम्पूर्ण पदार्थों की शक्ति का व्यवस्थापक चित्तका संकल्प ही कारण है, इस आशय से देवीजी कहती हैं।

आकाश शून्यता शक्ति से युक्त होकर स्थित है, पृथिवी सब पदार्थों को धारण करने की शक्ति से स्थित है, जल सब पदार्थों को तर करने की शक्ति से युक्त है। तात्पर्य यह कि चितिशक्ति स्वेच्छा से जिसका जैसा संकल्प करती है, वह अपने शरीर को वैसा ही जानता है ॥५३॥ इस प्रकार सर्वात्मक चेतन ही जंगमरूप से जंगम का (चरका) और स्थावररूप से स्थावरका (अचर का) संकल्प करता हुआ सबके स्वरूप से स्थित है ॥५४॥ इसलिए जो जंगम् जगत् है, उसको उसने अपने संकल्प के अनुसार जैसा जाना वैसा ही वह आज तक स्थित है ॥५५॥ जिन वृक्ष, शिला, पेड़–पौधों, तृण आदि को स्थावररूप से जड़ जाना, वे आज भी वैसे ही स्थित हैं। न तो जड़ कोई पृथक है और न चेतन ही पृथक् है, इस प्रकार तत् पदार्थ का भेद नहीं है, यह भाव है। इन पदार्थों में उत्पत्ति, स्थिति और नाश में भेद नहीं है, क्योंकि जो वस्तु असत् है, उसमें भेद कैसा?

शंका – जड़ वस्तु में अनुगत जो सद्वस्तु है, उसमें भेद हो।

समाधान – सत्तासामान्य में भी भेद नहीं है ॥५६,५७॥

यदि कोई कहे कि सब वस्तु केवल चिदेकरस ही है, फिर उसमें उससे विरुद्ध जाड्य, रूप, नाम आदि भेदों का अनुभव सबको कैसे होता है ? तो इस पर कहती हैं।

जो अन्तःकरण में स्थित संवित् है, उन्हीं के वृक्षों के, पर्वतों के जाड्य, नाम और रूप आदि भेदों की रचना की है, ऐसी यथार्थ स्थिति है। तत्–तत् पदार्थों के भीतर स्थित प्रत्यक् चैतन्य में अविद्या अध्यस्त बुद्धि की कल्पना से ही यह स्थावर, जंगम आदि या जाड्य, नाम, रूप आदि भेद होते हैं, यह भाव है ॥५८॥ प्रत्यक् चैतन्य ही उक्त स्थावर, आदि बुद्धि के 'मैं स्थावर हूँ' यों व्यवस्थित रूप से अन्दर रहने के कारण 'हम जंगम पदार्थों से भिन्न यानी स्थावर हैं' इस कथन और अभिमान के विषय होकर अन्य (वृक्ष, पर्वत आदि) संकेतों से स्थित है। यानी प्रत्यक्–चैतन्य ही 'मैं स्थावर हूँ' इस वासना से स्थावर नाम आर अभिमान को प्राप्त है। अपनी अपनी आन्तरिक संवित् (प्रत्यक् चैतन्य) ही बुद्धि का रूप धारण करती है, वह बुद्धि ही तत्–तत् कृमि, कीट, पतंग आदि विविध अर्थ और उनके वाचक शब्दों की कल्पना के भेद रूप से स्थित है ॥५९,६०॥ जैसे उत्तर सागर के तीर में निवास करनेवाले लोग दक्षिण सागर के किनारे पर रहनेवाले लोगों के विषय में कुछ नहीं जान सकते, वैसे ही प्रत्यक्चैतन्य के बिना किसी भी पदार्थ में सत्ता और स्फूर्ति नहीं आ सकती। ये सब संविद्रूप ही हैं उससे भिन्न नहीं है। जैसे दक्षिण सागर और उत्तर सागर की जनता का दृष्टान्त दिया गया है, वैसे ही सब स्थावर और जंगम पदार्थ अपने प्रत्यक्–साक्षिक अनुभव में लीन हैं अतएव वे अन्य की बुद्धि से कल्पित पदार्थों का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। जब वे परस्पर एक दूसरे से व्यवहार करते हैं, तब उन्हें आपस में संकेत की आवश्यकता पड़ती है ॥६१,६२॥

इस प्रकार सच्चित्रूप ब्रह्म में असत्त्व, जाड्य, वायु, आकाश आदि की कल्पना की भी उपपत्ति हो सकती है, उसका होना असंभव नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे पत्थर के मध्य में उत्पन्न हुए मेढक और पत्थर से बाहर स्थित मेढक एक दूसरे की कल्पना में असत् और जड़ हैं, वैसे ही परस्पर स्थावर पदार्थों में भी समझना चाहिए। जैसा यह दृष्टान्त है, वैसे ही प्रलयकाल में माया में लीन सर्वात्मक और सर्वगत समष्टि चित्त, जो कि जगत् की सूक्ष्मावस्थाका रूप है, सर्वप्रत्यक्रूप चिदाकाश से सृष्टि के आरम्भ में जिस प्रकार स्फुरित हुआ, वह आज भी जैसा–का–तैसा स्थित है। जो स्पन्दनरूप से स्फुरित हुआ वह वायु है और वह आज भी यहाँ पर स्थित है। जो छिद्ररूप से स्फुरित हुआ वहा आकाश है, उसमें स्पन्दरूप सर्वक्रियाशक्तिस्वरूप वायु स्थित है। उक्त वायु से सब पदार्थों की चेष्टाएँ ऐसे होती हैं जैसे कि सुखे हुए तिनके, पत्ते आदि पदार्थों में वायु से कम्पन होता है ॥६३–६५॥

वस्तुतः स्थावर और जंगम दोनों पदार्थों में चित्त समानरूप से विद्यमान है, पर वायु के स्पन्दन और स्पन्दन के अभाव से उनमें विशेष है, ऐसा कहते हैं –

चित्त तो परमार्थरूप से स्थावर और जंगम दोनों में स्थित है, पर जंगम में वायु से स्पन्दन

(चेष्टाएँ) होते हैं और स्थावर में नहीं होते ॥६६॥

इस नियम में भी पूर्वकथित नियति ही हेतु है, ऐसा कहते हैं।

भ्रान्तिमय विश्व में इस प्रकार के चेष्टायुक्त या चेष्टाशून्य सब पदार्थ सृष्टि के आदि से संवित् में किरणों की नाईं स्फुरित हुए थे, वे आज भी वैसे ही स्थित हैं ॥६७॥

प्रस्तुत विषय को कहने के लिए पूर्वपृष्ठ प्रसंगप्राप्त तत्त्वज्ञान का उपसंहार करते हैं।

सम्पूर्ण पदार्थ स्वभाव के विलास और असत्य होने पर भी जैसे सत्य–से प्रतीत होते हैं, वह सब मैंने तुमसे कह दिया है। देखो मैं समझती हूँ कि यह राजा विदूरथ मरकर फूलों की माला से आच्छादित शवभूत राजा पद्म के हृदय में स्थित पद्मकोश में प्रवेश करनेकी इच्छा से जाता है ॥६८,६९॥ प्रबुद्ध लीला ने कहा : हे देवी, किस मार्ग से यह शवमण्डप में जाता है, इसको देखती हुई ही हम दोनों शीघ्र जावें ॥७०॥ श्री देवीजी ने कहा : भद्रे, पद्मशरीर में 'अहम्' वासनारूप अन्तःकरण में स्थित मार्ग का अवलम्बन कर यह चिन्मय 'मैं दूसरे लोक में जाता हूँ', ऐसी भावना से जाता है। जिस मार्ग से जाना तुम्हें सहमत हो, उसी मार्ग से हम दोनों जाती हैं, एक दूसरे की इच्छाका विघात स्नेह–सम्बन्ध का हेतु नहीं होता है ॥७१,७२॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, श्रेष्ठ राजा की पुत्री लीला के विशुद्ध हृदय में परमार्थदृष्टिरूप आत्मतत्त्व के पूर्वोक्त कथा द्वारा सब सन्तापों के निवृत्त होने पर विबोधरूप सूर्य के आविर्भूत होने पर राजा विदूरथ चित्त के परमात्मा में विलीन होने से जड़ (अनुसन्धानरहित) यानी मरण के लिए मुर्छित हो गया ॥७३॥

पचपनवाँ सर्ग समाप्त

छप्पनवाँ सर्ग

राजा विदूरथ का वासनामय यमपुरी में गमन, लीला और सरस्वती देवीजी द्वारा उसका अनुगमन और पूर्व शरीर की प्राप्ति का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस बीचमें राजा विदूरथ के नेत्र स्पन्दशून्य हो गये थे, ओठ सूख गये और सफेद हो गये थे। तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों के मूर्छित होने पर केवल एक तनिक प्राण ही उसके शरीर में अवशिष्ट रह गया था। उसकी कान्ति पुराने पत्ते के समान पीली पड़ गई थी और मुख की छबि नष्ट हो गई थी तथा भँवरे की ध्वनि के तुल्य श्वासध्वनि से वह मुखरित था। मरणमूर्छारूपी महान् अन्धकारपूर्ण कुएँ में उसका मन डूब गया था, उसकी नेत्र आदि सम्पूर्ण इन्द्रियों की वृत्तियाँ अन्दर लीन हो गई थी, वह चेतनाशून्य था। चित्रलिखित पुरुष की नाईं उसका केवल आकार ही शेष रह गया था। पत्थर में खुदी हुई मूर्ति की नाईं उसके सम्पूर्ण अवयव निश्चेष्ट थे। बहुत क्या कहें, जैसे आकाश में उड़नेवाला पक्षी गिरनेवाले अपने निवासभूत वृक्ष को छोड़ देता है, वैसे ही प्राण ने उत्क्रमण करने के लिए अवलम्बित थोड़े से ही प्रदेश से उस राजा के शरीर को छोड़ दिया ॥१–५॥ जैसे घ्राणवृत्ति से उपहित संवित् वायु में स्थित सूक्ष्म गन्ध का अनुभव करती है, वैसे ही दिव्यदृष्टिवाली उन

दोनों देवियों ने आकाश में गये हुए उस जीव को देखा ॥६॥ वह जीवसंवित् गगनमण्डल में अतिवाहिक प्राणवायु से मिलकर वासना के वशवर्ती होकर आकाश में दूर जाने लगी ॥७॥ तदुपरान्त उन दोनों स्त्रियों ने जैसे भँवरियाँ वायु में मिले हुए सुगन्धलेश का अनुगमन करती हैं, वैसे ही उसी जीवसंवित् का अनुगमन किया ॥८॥ तदनन्दर मुहूर्तभर में मरणमूर्छा के शान्त होने पर जैसे वासनामय शरीर से स्वप्न आविर्भाव होता है, वैसे ही आकाश में वासनामय देह से जीवचेतन प्रबुद्ध हुआ ॥९॥ उसने यम के दूतों को और उनसे ले जाये जा रहे अपने वासनामय शरीर को देखा तथा बन्धुओं के और्ध्वदेहिक पिण्डप्रदान से उत्पन्न हुए–से अपने स्थूल शरीर को देखा। तदनन्तर वह अतिदूर (जिसकी यात्रा एक वर्षमें पूरी होती है) दक्षिण मार्ग में स्थित तथा प्राणियों के कर्मफलों को प्रकट करनेवाली यमपुरी में पहुँचा, जो कि बहुत से प्राणियों से घिरी थी ॥१०,११॥ उसके यमपुरी में पहुँचने के पश्चात् यम ने उसके कर्मों पर विचार कर आज्ञा दी कि इसने पापकर्म कभी किये ही नहीं यानी इसका एक भी पाप कर्म नहीं है। सदा लोभ आदि दोषों के सम्पर्क से रहित तथा पुण्य कर्मों का अनुष्ठान करनेवाला यह श्रीसरस्वती देवीजी के वरदान से बढ़ाया गया है यानी इसके पुण्यों की वृद्धि की गई है। इसका पूर्वजन्म का मुर्दा शरीर फूलों से वेष्टित मण्डपाकाश में है, यह वहाँ जाकर उस शरीर में प्रवेश करे और आप लोग मेरी आज्ञा का अनुसरण करनेवाले चित्त से इसे छोड़ दें ॥१२–१४॥ तदनन्तर क्षेपणीयन्त्र (एक प्रकार के गुलेल) से गिरे हुए पत्थर के समान आकाशभाग में उसे छोड़ दिया। फिर तो जीवकला, लीला और श्रीसरस्वती देवी ये तीनों मूर्तिमती थी, तथापि राजा विदूरथकी जीवकलाने उन्हें नहीं देख पाया, वे दोनों तो राजा की जीवकला को देखती ही थी। उक्त जीवकलाका ही अनुगमन कर रही वे दोनों आकाश को लाँघकर अन्यान्य लोकों का अतिक्रमण कर जगद्रूपी घर से (ब्रह्माण्ड से) निकलकर दूसरे जगत् के (ब्रह्माण्ड में) पहुँची। दूसरे ब्रह्माण्ड के भूलोक से आकर अपने सत्यसंकल्प से रूप धारण करनेवाली वे दोनों देवियाँ राजा विदूरथ की जीवकला के साथ राजा पद्म के नगरमें पहुँचकर जैसे कमलमें वायु और सूर्य की प्रभा प्रवेश करती है और सुगन्धि वायु में प्रवेश करती है, वैसे ही एक क्षण में स्वच्छन्दता के साथ लीला के अन्तःपुर के मण्डप में प्रविष्ट हुई ॥१५–१९॥

राजा विदूरथ की पत्नी द्वितीय लीला के जीव को उसकी लड़की ने मार्गप्रदर्शन कराया यह पहले कहा गया है, राजा विदूरथ के जीव को किसने मार्ग दर्शाया यह नहीं कहा। यदि कोई मार्गपरिदर्शक नहीं था, तो उसे मार्ग का परिज्ञान कैसे हुआ ? यह सन्देह होने पर श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, राजा विदूरथ का जीव शव के निकट घर में कैसे पहुँचा ? उस मृत शरीरवाले को मार्ग का परिज्ञान कैसे हुआ ? ॥२०॥

पूर्व शरीर की वासना के पूर्ण होने के पहले ही बीचमें बलवान् प्रारब्ध से अन्य जन्म की सृष्टि हो गई, भोग से उस प्रारब्ध का क्षय होने पर पूर्व वासना के उद्भव से जैसे आया था वैसे मार्ग की प्रतीति होती है, अतः मार्गदर्शक की अपेक्षा नहीं है ऐसा उत्तर देतै हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे राघव, उस जीवकी वासना के अन्दर शवरूप पद्मशरीर में अहंभाव था, अतएव उसके हृदय में वह सब मार्ग आदि स्फुरित हो जाता है, इसलिए वह उस घर को कैसे प्राप्त नहीं होगा ? जैसे वट का बीज मिट्टी, जल आदि अंकुरोत्पत्ति की सामग्री मिलने पर स्वयं अंकुररूप से उत्पन्न हो रहे वटवृक्ष का अपने भीतर ही अनुभव करता है, वैसे ही सूक्ष्म जीवोपाधिभूत अन्तःकरण के अन्दर आविर्भूत वासनाओं के रूप से स्थित भ्रान्तिरूप असंख्य जगत् को कौन नहीं देखेगा ? उसको दिखाने के लिए किसी परिदर्शक की आवश्यकता नहीं है, यह भाव है ॥२१,२२॥ जैसे सजीव वटबीज अपने अन्दर अंकुर का अनुभव करता है, वैसे ही चित्कला जीव भी अपने स्वभावभूत त्रैलोक्य का (तीनों लोकों का) अपने अन्दर अनुभव करता है ॥२३॥ जैसे अन्य स्थान में स्थित पुरुष दूर देशान्तर में स्थित अपने निधान की (भूमि में गाढे हुए धन की) निरन्तर सदा मन से भावना करता हुआ भलीभाँति देखता रहता है, वैसे ही सैकड़ों जातियों से युक्त भी और भ्रम में पड़ा हुआ भी जीव अपनी वासना के अन्दर अन्तर्हित अपने अभीष्ट को देखता है ॥२४,२५॥

पहले जो यह कहा था कि जीवने बन्धुओं के पिण्डप्रदान से उत्पन्न हुए अपने शरीर को देखा, उसे सार्वत्रिक न समझते हुए श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : गुरुवर, जिसे पिण्ड नहीं दिया जाता, उसमें पिण्डदानादि वासना का हेतु नहीं है, अतएव पिण्डदानादि वासना से रहित आकृति वाला वह जीव कैसे सशरीर होता है ? ॥२६॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, बन्धुओं द्वारा पिण्ड चाहे दिया जाय अथवा न दिया जाय, परन्तु यदि प्रेत में 'मुझे पिण्ड दिया गया' ऐसी वासना उदित हो जाय, तो उक्त वासना से ही पुरुष को पिण्डदान का फल शरीर लाभ हो जाता है। शास्त्र में पिण्डप्रदान की विधि पिण्डप्रदान को बन्धुओं का कर्तव्य कहती है यानी मृतक के बन्धुओं को अवश्य पिण्डप्रदान करना चाहिए, यह बतलाती है। वस्तुतः वह विधि बन्धुओं को फल देती है, पर मृतक को भी वासनारूप फल मिलता है, इस शास्त्रसंवाद से दोनों को ही उसका फल प्राप्त होता है, यह प्रसिद्ध है ॥२७॥ जैसा चित्त होता है, वैसा ही जन्तु होता है, इसमें 'यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत् सनातनम्' (जैसा चित्त होता है, तदनुरूप ही चित्तमय पुरुष होता है यह सनातन रहस्य है) इत्यादि श्रुतियाँ तथा विद्वानों के अनुभव प्रमाण हैं, जो विदेह और सदेह योगियों में प्रसिद्ध हैं अथवा जीवित और मृत जीवों में कहीं पर भी इस नियम में उलट फेर नहीं होता, इसलिए चित्त ही संसार है, उसकी प्रयत्नपूर्वक शुद्धि करनी चाहिए ॥२८॥ मुझे मेरे बन्धुबान्धवों ने पिण्ड दिया, इस बुद्धि से जिसे पिण्ड नहीं दिया गया, वह भी पिण्डप्रदान के फल का भागी होता है। मुझे बन्धु बान्धवों ने पिण्ड नहीं दिया, इस बुद्धि से पिण्डप्रदान करने पर भी पिण्ड प्रदान का फल नहीं मिलता ॥२९॥ इन पदार्थों की सत्यता भावना के अनुसार होती है और भावना भी अपने कारणभूत पदार्थों से उत्पन्न होती है। बन्धुओं द्वारा पिण्डप्रदान करनेपर अवश्य ही मृत पुरुष में पिण्डदान किया, ऐसी भावना उदित होती है, यह बात शास्त्र बतलाते हैं ॥३०॥

जैसे प्राणी की वासना से (गरुड़ की उपासना करनेवाले पुरुष की अपने में गरुड़भावना करने से) सर्पका विष भी अमृत बन जाता है यानी पच जाता है, वैसे ही असत्य पदार्थ भी, सत्यरूप से भावना करने से, सत्य हो जाता है, यानी काँटा चुभनेपर यदि यह भ्रम हो जाय कि मुझे साँपने काट लिया, तो असत्य भी सर्पदंश मरण आदि कार्य कर डालता है, यह भाव है ॥३१॥ वत्स श्रीरामचन्द्रजी, आप अपने मन में यह अटल निश्चय कर लीजिये कि कारणभूत भावना के बिना कभी भी किसी पदार्थ की प्रतीति नहीं होती,जिसको जब जो पदार्थप्रतीति होगी, वह किसी न किसी भावना से होगी, कारण यदि सत्य हो, तो कार्य की सत्यता हो सकती है पर भावना तो सत्य नहीं है, सत्य कारण के बिना उत्पन्न हुआ कार्य भी नहीं ही है, अतएव शुद्ध ब्रह्म ही वस्तुतः है, ऐसे निश्चयवान् होओ ॥३२॥

कारण की असत्ता में कार्य क्यों उत्पन्न नहीं होता, इस विषय में कहते हैं।

कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति महाप्रलयपर्यन्त न तो कहीं देखी गई और न सुनी गई है। सर्वथा कार्य की सत्ता कारण की सत्ता के अधीन है, यही बात सब प्रमाणों से सिद्ध होती है, यह भाव है।

शंका – तो क्या ब्रह्म सत्ता भी कारणाधीन है ?

समाधान – नहीं, जो स्वतः उदित यानी नित्य स्वप्रकाश ब्रह्म है, उसको छोड़कर अन्य सब वस्तुएँ कारणाधीन हैं। भाव यह है कि अनित्य सत्ता में ही कारणसत्ता की अपेक्षा होती है, नित्य सत्ता में नहीं होती ॥३३॥

इस प्रकार शुद्ध चिन्मात्र ही भ्रान्ति से वासना और वासनाजन्य जगद्रूपसे भासित होता है, यह कहते हैं।

चिन्मात्र ही वासना का रूप धारण करता है, चेतन जैसे स्वप्न में पदार्थों का रूप धारण कर लेता है, वैसे ही वह चिति ही पदार्थों के रूप को धारण करती है। वही कार्यकारणता को प्राप्त होती है, वही गमनरहित होकर स्थित होती है यानी स्थावररूप से स्थिर होती है ॥३४॥

'सपिण्डोऽस्मीति संवित्या' (मैं सपिण्ड हूँ यानी पिण्डप्रदान से युक्त हूँ, इस भावना से) इत्यादि से पहले जो यह कहा था कि प्रेत की वासना के अनुसार ही प्रेत को शरीर आदि फल प्राप्त होता है, उसमें आगे किये जानेवाले आक्षेपों की गुंजाइश होने से श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, जो मैंने पुण्यकर्म नहीं किये, अतः मेरे पास धर्म नहीं है, इस भावना से युक्त होकर मरा, उसके बन्धु–बान्धव यदि प्रचुर कर्म करके उसके अर्पण कर दें, तो वह धर्म, प्रेतवासना से विरोध होने के कारण, निष्फल हो जायेगा। अथवा बन्धु–बान्धुवों की वासना के प्रबल होने से निष्फल नहीं होगा। उन दोनों वासनाओं में सुहृद–वासना, धर्म होनेसे, सत्य है और प्रेत की वासना असत्य है, वासना की प्रबलता में प्रयोजक क्या है ? भोक्तृनिष्ठता या सत्यार्थता यानी भोक्ता में स्थित वासना बलवती है या सत्य वासना बलवती है। प्रथम पक्ष में यानी प्रेत की वासना को प्रबल मानो, तो कृतहानि दोष होगा यानी बान्धवों द्वारा किया गया धर्म निष्फल हो जायेगा। यदि बन्धु–

बान्धवों की वासना प्रबल है, तो अर्थ की सत्यता हुई और वासना कोई वस्तु नहीं रही। वासना से ही सब कुछ होता है, यह जो पूर्व में कहा था, उसका व्याघात होगा, इस प्रकार उभयतः पाशा रज्जु है, यह आशय है ॥३५,३६॥

शास्त्रोक्त देश और काल में शास्त्रोक्त अनुष्ठान से शास्त्रानुसारिणी सुहृदवासना शास्त्रप्रमाण से प्रबल है। प्रेतवासना केवल लौकिक होने से दुर्बल है, इसलिए शास्त्र ही वासना की प्रबलता में कारण है, अर्थसत्यता प्रबलता में हेतु नहीं है, यों गूढ़ अभिप्रायवाले श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं।

श्रीरामजी ! देश, काल, कर्म और द्रव्य की सम्पत्ति से भावना उत्पन्न होती है, वह जिस फलरूप विषय में उत्पन्न होती है, दोनों में से वही विषय विजयी होता है ॥३७॥

धर्म–दान के प्रतिपादक शास्त्रप्रमाण से यह कल्पना होती है कि प्रेत के अन्तःकरणमें उसी समय (धर्मसमर्पणकाल में ही) 'मैं अमुक धर्मवान हूँ' ऐसी वासना उत्पन्न होती है, ऐसा कहते हैं।

धर्म देनेवाले की वासना हुई हो, तो उस भावना से क्रमशः प्रेत की मति पूर्ण होती है यानी शास्त्रवचन के प्रामाण्य से ही दाता की वासना के अनुसार प्रेत को अवश्य फल मिलता है ॥३८॥

शंका – प्रेत यदि पाखण्डी हो और वेद के ऊपर द्वेष, नास्तिकता आदि अशुभवासना से उसका अन्तःकरण दूषित हो, तो बन्धु–बान्धवों द्वारा धर्मसमर्पण करनेपर भी उसे फल मिलता है या नहीं ?

समाधान – नहीं मिल सकता, यदि प्रेत की बुद्धि शुभ हो, तो तभी उसे बन्धुओं द्वारा समर्पित धर्म का फल मिल सकता है। यदि वासना की प्रबलता में अर्थसत्यत्व हेतु हो, तो उसे भी धर्मफल की प्राप्ति होगी, यह भाव है।

इसलिए पूर्व प्रकरण में मैंने पुरुषप्रयत्न की प्रबलता को सिद्ध कर शुभ कर्मों का अभ्यास ही सदा करना चाहिए, यह कहा है, ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार परस्पर के विजय से अतिबलवान् पुरुषप्रयत्न जीतता है, इसलिए शुभ प्रयत्न द्वारा शुभाभ्यास करना चाहिए ॥३९॥

यदि देश, काल आदि सहकारी कारणों के बल से धर्म और उसकी वासना आदि का उदय माना जाय, तो 'सदेव समोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्' (हे सोम्य, यह पहले एक और अद्वितीय सत् ही था) इस श्रुति से आदि सृष्टि में देश, काल आदि सहकारी कारण तो थे ही नहीं, उनके अभाव में वासना की उत्पत्ति कैसे होगी ? वासना की उत्पत्ति न होने से वासनामय जगत् की उत्पत्ति ही नहीं होगी। ऐसी परिस्थिति में 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (उसने संकल्प किया कि मैं प्रजारूप से बहुत होऊँ) इत्यादि श्रुतियों से विरोध होगा, इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन् देश, काल आदि से यदि वासना उत्पन्न होती है, तो महाकल्प के अनन्तर की सृष्टि में देश, काल आदि कहाँ थे ? सहकारी कारणों से वासनारूप

कारण के रहने पर ही यह जगत् उत्पन्न होता है। महाकल्प के बाद होनेवाली सृष्टि के आदि में देश, काल आदि सहकारी कारण तो थे नहीं, फिर वासना होगी कहाँसे ॥४०,४१॥

आपने जो मेरे प्रति कहा वह अभीष्ट ही है, विरुद्ध नहीं है। 'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधक :। न मुमुक्षुर्नवै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥' (न प्रलय है, न सृष्टि है, न कोई बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त है, यही परमार्थता है) 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमन पर' (कारण रहित, कार्यरहति, अस्थूल) अनणु और अह्रस्व ब्रह्म है) इत्यादि अनेक श्रुतियों का जगत् की अनुत्पत्ति में तात्पर्य दिखाई देता है, बड़े भारी प्रयत्न से इसी अर्थ का बोध कराना अभीष्ट भी है। 'सोऽकामयत बहु स्याम्' इत्यादि सृष्टिप्रतिपादक श्रुतियों का भी प्रतीत हो रहे द्वैत की असत्यता का उपपादनपूर्वक पहले उपक्रान्त मुक्तिफल देनेवाले निष्प्रपंच आत्मा का ज्ञान कराने में ही तात्पर्य है। सृष्टि आदि में तात्पर्य नहीं है, इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी के कथन का अनुमोदन करते हुए श्रीवसिष्ठजी ने कहा।

श्रीरामचन्द्रजी, जो तुम यह कहते हो, वह ठीक ऐसा ही है, महाप्रलयरूप सृष्टि के आदिभूत परमार्थ सत्य आत्मा में कोई भी देश, काल कभी नहीं थे। सहकारी कारणों का अभाव होने पर यह दृश्यप्रतीति नहीं है, न तो यह कभी उत्पन्न हुई, न कभी इसका स्फुरण होता है; यों दृश्य का सम्भव न होने से ही यह जो कुछ भी दिखाई देता है, वह स्वचिद्रूप निर्विकार ब्रह्म ही इस रूप में है, ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस बात को हम आगे आपसे सैकड़ों युक्तियों से कहेंगे ही, इसीलिए यह हमारा प्रयास है। फिलहाल आप वर्तमान कथा को पूरी सुन लीजिये ॥४२-४५॥

पूर्ववर्णित प्रणाली से राजा पद्म के नगर में आयी हुई लीला और सरस्वती देवीजी ने राजा पद्म के महल को देखा। उसका भीतर का भाग अत्यन्त मनोरम था, चारों और फूलमालाएँ बिखरी थी, अतएव वसन्त के समान शीतल था, राजधानी के लोगों से, जिनकी राजकार्य करने की फूर्ती ढीली पड़ गई थी, वह राजप्रासाद युक्त था। उस राजमहल में उन राजकर्मचारियों के साथ रक्खे हुए मन्दार, कुन्द आदि की मालाओं और फूलों से ढँके हुए शव को भी उन्हों ने देखा, उस महल में मन्दार और कुन्द के फूलों की मालाओं से ढँका हुआ वस्त्रों से लपेटा हुआ शव रक्खा था, शव की शय्या के सिरहाने पर सुन्दर पूर्ण कुम्भ आदि मांगलिक पदार्थ रक्खे थे, घर के दरवाजे और खिड़कियों की अर्गलाएँ बन्द थी, दीपकों का उजियाला मन्द पड़ रहा था, अतएव स्फटिक की भाँति साफ सुथरी गृहभित्तियाँ कुछ मैली हो गई थी, घर के एक भाग में, सोये हुए लोगों के मुख के निःश्वास से वह महल व्याप्त था ॥४६-४९॥ वह महल सम्पूर्ण चन्द्रमा के कलासहित उदय प्रकाशित होने के कारण बाहर बड़ा सुन्दर था, उसने अपनी सुन्दरता से इन्द्रभवन की सौन्दर्यसमृद्धि को जीत लिया था और भीतर ब्रह्मा के उत्पत्तिकमल के (भगवान के नाभिकमल की कौंढ़ी के) मध्य के समान सुन्दर था शब्दशून्य होने के कारण मूक-सा (गूँगे सा) स्थित था और चन्द्रमा के समान रमणीय था ॥५०॥

छप्पनवाँ सर्ग समाप्त

सत्तावनवाँ सर्ग

दूसरी लीला का दर्शन, लीला के देह की असत्यता और
योगियों के शरीर में आतिवाहिकता के उदय का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, श्रीरामजी, तदुपरान्त वहाँ पर उन्होंने विदूरथकी शवशय्या के एक छोर पर स्थित लीला को देखा, जो पहले मरी थी और उनसे पहले आ गई थी, उसका हूबहू पहले का–सा वेष, पहले का–सा आरचण और पहले का–सा ही शरीर था, क्योंकि पहले उसमें वैसी ही वासनाएँ थी। उसकी आकृति भी पूर्वजन्म की आकृति से सर्वथा मिलती थी, रूपवान् सम्पूर्ण अंग–प्रत्यंगों से वह युक्त थी, पहले के जैसे उसके अवयव और चेष्टाएँ थी, जैसे पूर्वजन्म में उसने वस्त्र पहन रक्खे थे, वैसे ही वस्त्रों से उसका तन ढका था, पूर्वजन्म के ही सदृश आभरणों से वह विभूषित थी, केवल अन्तर इतना ही था कि पहले वह राजा विदूरथ के घर में थी, अब राजा पद्म के घर में स्थित थी। वह चँवर लिए हुए थी और बड़ी सुरुचि से राजा के ऊपर चँवर डुला रही थी, जिसमें चन्द्रमा उदित हो रहे हों, ऐसे द्युलोककी नाईं वह पृथिवी को जगमगा रही थी, वह मौन थी, उसने अपने चन्द्रवदन को बायें हाथ की हथेली के सहारे लटका रक्खा था, अतएव वह एक ओर को कुछ नमी हुई थी, आभूषणों के किरणरूपी पत्र, लता और पुष्पों से वनस्थली–सी थी, अपने दर्शनों से (दृष्टिपातों से) मानों मालती के फूल और नीलकमलों की वृष्टि कर रही थी, अपने अंग–प्रत्यंगों के लावण्य से आकाश में उदित सब चन्द्रमाओं की सृष्टि कर रही थी, राजा पद्मरूपी विष्णु की लक्ष्मी के सदृश थी, पुष्पों की राशि से उदित हुई वसन्तशोभा के तुल्य थी, अपने पति के मुखकमल को टकटकी लगाकर देख रही थी, उसकी सभी चेष्टाएँ रम्य थी, मुखचन्द्र कुछ मलिन था, अतएव वह जिस रात्रिमें चन्द्रमा मलिन हो, उस रात्रिके तुल्य थी॥१–८॥ उन दोनों ने उस सुन्दरीको (द्वितीय लीला को) देखा, पर उसने उनको नहीं देखा, क्योंकि वे दोनों सत्यसंकल्प थी, पर वह सत्यसंकल्परूप से आविर्भूत नहीं हुई थी॥९॥

लीला ने पहले जिस स्वरूप को छोड़ा था, उसे उसीका अन्वेषण करना चाहिए था, क्योंकि वह आवश्यक था, उसे छोड़कर विदूरथ और लीला के दर्शन का ही पहले वर्णन क्यों किया ? इस प्रकार सन्देह होने पर श्रीरामचन्द्रजी जिज्ञासा करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : प्रभो, पूर्वलीला उस राजमहल के एक भाग में अपनी स्थूल देह को रखकर ज्ञप्ति के साथ ध्यान से (समाधि से) गई, ऐसा पहले वर्णन हो चुका है। इस समय वहाँ पर लीला की उस देह का वर्णन क्यों नहीं किया ? उस देह का क्या हुआ अथवा वह कहाँ गई ? यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये॥१०,११॥

आतिवाहिकता बुद्धि का उदय होने से एवं तत्त्वज्ञान से उस देह के बाधित होने के कारण ही लीला द्वारा अपनी देह के दर्शन का वर्णन नहीं किया। जिनकी (अज्ञानियों की) दृष्टि से वह बाधित नहीं हुआ, उनकी दृष्टि से अग्रिम सर्ग में उस देह के मरण, दाह आदि का वर्णन किया

जायेगा। इस प्रकार वक्ष्यमाण उस देह के मरण, दाह आदि को छिपाकर तत्त्वज्ञान कराने के लिए उसकी असत्यता का ही प्रतिपादन कर रहे श्रीवसिष्ठजी ने उत्तर दिया।

श्री वसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, लीला का वह शरीर था ही कहाँ ? फिर उसकी सत्यता की बात ही कैसे ? मरूभूमि में जलबुद्धि (जल की भ्रान्ति) के तुल्य वह भ्रान्ति ही थी। यह सम्पूर्ण जगत आत्मा ही है, ऐसी दशा में देह आदि की कल्पना कैसी ? जो कुछ आप देखते हैं वह आनंदरूप सद्‌ब्रह्म ही है, वही चित् है ॥१२,१३॥ जैसे-जैसे यह पूर्वलीला क्रमशः बोध में परिपक्वतारूप परिणाम को प्राप्त हुई, वैसे-वैसे बोध से परब्रह्म में उसका शरीर हिम की नाईं गल गया यानी बाधित हो गया ॥१४॥ (आतिवाहिक देहवाले को समय पाकर रस्सी में सर्प की नाईं 'मैं आधिभौतिक देहवाला हूँ ।' ऐसा भ्रम उदय हुआ है।) (📖)

केवल उसी देह की आधिभौतिकता बाधित नहीं हुई, किन्तु भूमि आदि सम्पूर्ण वस्तुओं की भी आधिभौतिकता नष्ट हो गई। 'अपागादग्नेरग्नित्वं त्रीणि रुपाणीत्येव सत्यम्' (अग्नि की अग्निता गई, शुक्ल, कृष्ण और रक्त-ये तीन रूप ही सत्य हैं, यानी इन तीन रूपों से अतिरिक्त अग्नि में जो अग्नित्व की प्रतीति तुम्हें हुई थी, वह नहीं रही) इस श्रुति से उनकी स्थूलता का बाध होने से केवल आतिवाहिकता अवशिष्ट रहती है, इस आशय से कहते हैं।

आतिवाहिकताबुद्धि से यानी सूक्ष्मतम समष्टिमनोमात्रत्वबुद्धि से तत्त्वदृष्टि द्वारा लीला ने जो दृश्य देखा, उसीका पहले भ्रान्ति से पृथिवी आदि नाम रक्खा, वही आधिभौतिक है ॥१५॥ भूमि आदि रूप आधिभौतिक प्रपंच खरगोश के सींग की नाईं वास्तविक रूप से न शब्दतः और न अर्थतः ही सत्यस्वरूप है ॥१६॥ जिस मनुष्य को स्वप्न में मैं हरिण हूँ, ऐसी बुद्धि हुई, वह क्या अपनी मृगता का विनाश होने पर मृग को खोजता है। भाव यह है कि बाधित वस्तु के अन्वेषण में किसीकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती ॥१७॥ भ्रान्त पुरुष की दृष्टि में भ्रमवश असत्य वस्तु का तुरन्त आविर्भाव होता है और सत्य वस्तु तिरोहित होती है, परन्तु सर्प की भ्रान्ति के मिट जाने पर भी क्या फिर रस्सी में सर्प का भ्रम हो सकता है ? कदापि नहीं ॥१८॥

यों अज्ञ मन की समष्टि ने ही इस आधिभौतिक प्रपंच की कल्पना कर रक्खी है, ऐसा फलितार्थ कहते हैं।

प्रत्येक ब्रह्माण्ड के भिन्न-भिन्न असंख्य मनसमूहों के मध्य में किसी एक मन-समूह की यह यानी इस ब्रह्माण्ड की स्थूलत्वभ्रान्ति वृथा प्रसिद्धि को प्राप्त हुई है और वह मिथ्या एवं निर्बीज है ॥१९॥ सभी अज्ञ पुरुष, जो कि जन्म और मरण से युक्त देहको ही आत्म समझते हैं, स्वप्न के तुल्य प्राप्त होनेवाली इस सृष्टि का अनुभव करते रहते हैं, जैसे कि चक्कर काटता हुआ बालक भूमि के मण्डल के भ्रमण का अनुभव करता है ॥२०॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, जीवितावस्थामें वर्तमान, अपने आत्मस्वरूपको प्राप्त हो रहे अथवा मरे हुए योगी के आतिवाहिकता को प्राप्त शरीर को सब लोग देखते हैं यह कैसा व्यवहार है। श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न का आशय यह है कि यदि योगी का शरीर आधिभौतिक

📖 कुछ पुस्तकों में यह पाठ अधिक है।

नहीं है तो जब वह जीवित रहता है या आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है यानी मुक्ति को प्राप्त होता है अथवा मर जाता है, तो आतिवाहिकता को प्राप्त हुए उसके शरीर को लोग कैसे देखते हैं ? न तो आतिवाहिक शरीर लोगों के दृष्टिगोचर होता है और न मुक्तिकाल में अवशिष्ट ही रहता है ॥२१॥

योगियों का मरना दो प्रकार का होता है एक तो प्रारब्धभोग के लिए अपनी इच्छानुसार विविध शरीरों की कल्पना और दूसरा सम्पूर्ण प्रारब्ध का विनाश होने पर विदेहकैवल्य की प्राप्ति। प्रथम मरण में पूर्वशेष नहीं रहता, ऐसा कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, जैसे स्वप्नों में, आतिवाहिक देहमें एक देह का (मृग भावका) त्याग कर अन्य देह की (मनुष्यादि भाव की) कल्पना, जो कि अनित्य है, पूर्वदेह के परिशेष के बिना ही होती है वैसे योगियों को भी प्रारब्ध भोग के लिए एक देह से दूसरी देह की प्राप्ति सदा पूर्वदेह के परिशेष के बिना ही होती है ॥२२॥

दूसरे में भी पूर्वदेह का परिशेष नहीं रहता है, यह दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं।

जैसे धूप में हिमकण, शरत्काल के आकाश में सफेद मेघ यद्यपि दिखाई देता है वैसे ही योगी का शरीर भी दिखाई देता हुआ भी अदृश्यताको प्राप्त होता है यानी उसके भी परिशेष का भ्रम स्वल्पकालव्यापी होता है ॥२३॥

धीरे–धीरे क्षय को प्राप्त होता है और अन्य लोग उसे देखते हैं, इसमें भी कोई नियम नहीं है, क्योंकि किन्हीं योगियों के 'इसका तुरन्त नाश हो' इस प्रकार के संकल्प से उसका तुरन्त नाश होना भी असंभव नहीं है, ऐसा कहते हैं।

'तुरन्त नष्ट हो जा', ऐसे संकल्प से किसी योगी का शरीर, आकाश में अपने सामने से वेग के साथ उड़े हुए पक्षी के समान योगियों को भी नहीं दिखाई देता साधारण लोगों की तो बात ही क्या है ? जीवनावस्था में भी 'ये मुझे ऐसा देखें' ऐसे उसके (योगी के) सत्यसंकल्पवश ही लोग योगी की देह को देखते हैं न कि उसकी देह के आधिभौतिक होने के कारण देखते हैं, यह तात्पर्य है ॥२४॥

अथवा इस विषय को यों हृदयंगम करना चाहिये कि यद्यपि योगी जनों को अपनी दृष्टि से अपने शरीर की आतिवाहिकता का ही अनुभव होता है किन्तु उस शरीर के दर्शनसुख का उपभोग करानेवाले अदृष्ट से युक्त अज्ञानी लोगों की वासना से उसकी भौतिकता, मृत्यु आदि की कल्पना हो सकती है, इसलिए कोई विरोध नहीं है, इस अभिप्राय से श्रीवसिष्ठजी कहते हैं।

कोई पुरोवर्ती पुरुष कभी कहीं पर अपनी वासना से उत्पन्न भ्रम से 'यह मर गया' यों देखते हैं, कोई जीवित देखते हैं। अतएव विदेहमुक्त श्रीशुकदेवजी का परीक्षित की सभा में दर्शन होना और भागवतकथा का उपदेश देना संगत होता है ॥२५॥

दूसरी बात यह है कि योगियों को जब ज्ञानप्राप्ति होती है, उसी समय उनकी देह आदि का बाध हो जाता है, इसलिए उनकी दृष्टि से उनकी जीवितदशामें भी उनका शरीर नहीं

रहता है, ऐसा कहते हैं।

देह में आत्मबुद्धि केवल भ्रान्ति ही है, आत्मतत्त्व का ज्ञान होने से उनकी अपने में वह भ्रान्ति रस्सी का ज्ञान होने से रज्जु में सर्पबुद्धि के समान नष्ट हो जाती है ॥२६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जरा ध्यान देकर विचार तो कीजिये देह क्या थी, किसकी थी, किसकी सत्ता रही, किसका विनाश हुआ और कैसे हुआ ? जो वस्तु वास्तव में थी, वही केवल रह गई, एकमात्र अज्ञान चला गया। भाव यह कि ज्ञान होने पर जो वस्तु शेष रह गई वही वास्तविक है और जो चली गई, वह सब अज्ञान ही (भ्रम ही) था ॥२७॥

श्रीवसिष्ठजी के उक्त कथन से श्रीरामचन्द्रजी को यह शंका हुई कि यदि योगियों की देह बाधित होती है तो बाधित का अन्य रूप में परिणाम हो नहीं सकता, अतः कहना होगा प्रारब्ध भोग के लिए दूसरा ही आतिवाहिक शरीर उत्पन्न होता है। ऐसी अवस्था में उसका दूसरा जन्म हो गया फिर वह जीवन्मुक्त कहाँ रहा ? इतना ही नहीं 'न स भूयोऽभिजायते' (वह फिर जन्म नहीं लेता) इत्यादि शास्त्र से विरोध भी हुआ। उक्त शंका के समाधान के लिए वे गुरुजी से पूछते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : भगवन्, क्या योगी का आधिभौतिक शरीर ही आतिवाहिक बन जाता है अथवा दूसरा ही आतिवाहिक शरीर उत्पन्न होता है। यदि प्रथम पक्ष मानिये, तो बाधित शरीर का दूसरे शरीर में परिणाम होना सभी प्रमाणों से विरुद्ध है। यदि दूसरा पक्ष मानिये तो ज्ञान का फल मुक्ति है, यह शास्त्रसिद्धान्त बाधित होता है। दोनों ही प्रकारों से अनुपपत्ति होने के कारण मैं सन्देहरूपी तेज धारा में बह सा रहा हूँ, कृपया मेरे संशय को दूर कीजिये ॥२८॥

त्रिवृत्करण श्रुति सूक्ष्मदेह से उपहित ब्रह्म में स्थूल शरीर के अध्यास का बाध कराती है 'त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' इस श्रुति से स्थूल का बाध होने पर सूक्ष्म का परिशेष कहा गया है, इसलिए जो दोष आपने दर्शाया उसके लिए वहाँ अवकाश ही नहीं है। हमने बहुत बार पहले भी आपको यह विषय समझा दिया है, उसका भी जरा स्मरण कीजिये, यों उक्त शंका का समाधान करते हुए श्रीवसिष्ठजी कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, सुनिये, जिसे आप आधिभौतिक शरीर का आतिवाहिकरूप से परिणाम कहते हैं, वह परिणाम नहीं है, किन्तु ज्ञानोत्पत्ति से स्थूल देह के बाधित होने पर पहले से सिद्ध स्थूल शरीर के अधिष्ठानभूत सूक्ष्म शरीर का अवशेष है। हे श्रेष्ठतम, यह बात मैं आपसे बहुत बार कह चुका हूँ, इसे आप क्यों हृदयंगम नहीं कर रहे हैं ? केवल आतिवाहिक ही देह है, यहाँ आधिभौतिक देह है ही नहीं ॥२९॥ आतिवाहिक देह के ही अभ्यास से वह आधिभौतिकता बुद्धि प्राप्त होती है। जब आधिभौतिकता बुद्धि शान्त हो जाती है तब पहले विद्यमान आतिवाहिकता ही रह जाती है ॥३०॥ तब प्रबुद्ध पुरुष के निर्मल बोध से गुरुता, कठिनता इत्यादि का जो असत् आग्रह है वह भी, स्वप्न देखनेवाले मनुष्य के निर्मल बोध से स्वप्न के नगर के गुरुत्व, कठिनत्व आदि के समान चला जाता है ॥३१॥ जैसे

स्वप्न में यह स्वप्न है, इस ज्ञान से क्लेश आदि का भार हल्का हो जाता है वैसे ही तब योगी का शरीर हल्का रूई के फाहे के सदृश हो जाता है यानी वह सर्वत्र गमन में समर्थ हो जाता है ॥३२॥ जैसे स्वप्न में यह स्वप्न है, इस परिज्ञान से शरीर हल्का हो जाता है वैसे ही बोध होने से स्थूल के सदृश प्रतीत हो रहा यह शरीर आकाश में गमनसमर्थ हो जाता है ॥३३॥

जब दृढ़तर स्थूल वासनावाले अज्ञानी पुरुषों को भी स्थूलशरीर के शव होकर दाह आदि द्वारा नष्ट होने पर पूर्ववर्ती सूक्ष्म शरीर की प्राप्ति होती है तब वासनाशून्य ज्ञानी जनों को स्थूल शरीर का बाध होने पर स्वाभाविक सूक्ष्म शरीर की प्राप्ति होती है, इसमें कहना ही क्या है ? ऐसा कहते हैं।

जैसे अनेक दिनों के संकल्प से प्राप्त देह को आत्मा समझनेवाले और उसी देह में दृढ़ आत्माभिमान करनेवाले लोगों को इस देह के शव होकर जलाये जाने पर अवश्य सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता है वैसे ही योगियों को जीवितावस्था में ही अतिशय ज्ञान होने से सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता है ॥३४,३५॥ स्वप्न में संकल्पात्मा ही हूँ स्थूलस्वरूप नहीं हूँ, ऐसी (卐) स्मृति के उदित होने पर जैसे (यानी अपनी इच्छा के अनुसार आकाश में विहार करने में समर्थ) शरीर प्राप्त होता है वैसे ही यह सूक्ष्म शरीर भी योगी को बोध से प्राप्त होता है ॥३६॥

यदि किसीको यह शंका हो कि अपनी देह तो सबको परम प्रिय है, उसका नाश करनेवाला ज्ञान अनर्थ नही है, तो और क्या है ? उस पर कहते हैं।

जैसे रस्सी में सर्प की प्रतीति भ्रान्ति है, वैसे ही यह स्थूलदेहप्रतीति भ्रम ही है। उस भ्रम के नष्ट होने पर अपना क्या नष्ट हुआ और उत्पन्न होने पर अपना क्या उत्पन्न हुआ ? भाव यह कि शुक्तिरजत का विनाश होने पर क्या कभी कोई शोक करता है ?॥३७॥

इस प्रकार प्रासंगिक वस्तु का निर्णय होने पर प्रस्तुत कथा के विषय में ही श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

हे प्रभो, पूर्व लीला और नूतन लीला का पद्म के घर में समागम होने के बाद पद्म के घर में रहनेवाले लोग लीला को, जो आतिवाहिक देह होने के कारण दिखाई नहीं दे सकती थी, ये लोग मुझे देखें, इस सत्यसंकल्प के कारण यदि देखते हैं, तो उसके बाद उसे क्या समझते हैं ? क्या यह वही पूर्व पद्मपत्नी है, यह जानते हैं, अथवा कोई अपूर्व देवी आ गई है, यों ज्येष्ठशर्मा आदि के समान विस्मययुक्त हुए, *यह अर्थ है*॥३८॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, वे लोग यह रानी यहाँ दुःख-पूर्वक स्थित है, इसकी यह दूसरी सखी कहीं से आ गई है, ऐसा जानते हैं ॥३९॥

यदि यह शंका हो कि दूसरी लीला पहले-पहल आई थी, अतः उसके विषय में यह कौन है, कहाँ से आई है, यह सुचरित्र है या व्यभिचारिणी है, सत्य है या असत्य है, ऐसा सन्देह उन लोगों को क्यों नहीं हुआ ? उस पर कहते हैं।

卐 ऐसी स्मृति स्वप्न में योगियों को ही होती है, उन्हींके अनुभव से सिद्ध है। पामर पुरुषों के अनुभव से सिद्ध नहीं है।

यहाँ पर इनको सन्देह कौन–सा होगा ? क्योंकि पशु तो अविवेकी होते ही हैं, जैसा देखा उसीके अनुसार व्यवहार करने लगते हैं। इनको विचार ही कहाँ ? ॥४०॥

उनके विचार के अनुदय में हेतु क्या है, ऐसा यदि कोई कहे, तो स्थूल में अभिनिवेश तथा सार, दाढर्य, सूक्ष्मता आदि से शून्यता हेतु है, ऐसा दृष्टान्त से सूचित करते हैं।

जैसे वृक्ष को नष्ट करने के लिए जोर से फेंका गया ढेला वृक्ष में पहुँचकर स्वयं अपना ही नाश करता है बाण की नाईं भीतर नहीं घुसता और न कीचड़ के पिण्ड की नाईं वृक्ष से चिपट जाता है और न पत्थर के समान तनिक भी आघात पहुँचाकर स्वयं फिर उपघात के योग्य ही बना रहता है, किन्तु शीघ्र नष्ट हो जाता है, वैसे ही वे लोग भी, ज्ञान न होने के कारण, वस्तुतः पशु (अजारूप पशु) यानी विचार करने में असमर्थ हैं, क्योंकि 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते' (जो अन्य देवता की उपासना करता है, यह अन्य है और मैं अन्य हूँ इस प्रकार वह पशु की भाँति अज्ञानी है) ऐसी श्रुति है। उनके विचार के अनुदय में केवल अज्ञान ही कारण नहीं है, किन्तु शरीर, काम, कर्म, वासना आदि भी उनके पशु के तुल्य ही होते हैं, इसलिए उनमें विचार का उदय न होना ठीक ही है ॥४१॥

जो विचार करते हैं, उनमें क्रमशः आधिभौतिकता की प्रतीति बोध से बाधित हो जाती है, अतः उनमें आधिभौतिकता की प्रतीति रहती नहीं फिर सन्देह आदि की प्रसक्ति तो दूर रही, इस आशय से उपसंहार करते हैं।

जैसे स्वप्नशरीर बोध से (जागरण से) न जाने कहाँ चला जाता है, अतः वह असत्य ही है वैसे ही आधिभौतिक भी बोध होने पर कहीं चला जाता है यानी विलीन हो जाता है, अतः वह भी असत्य ही है ॥४२॥

दृष्टान्त प्रसंग से श्रीरामचन्द्रजी स्वाप्नविषय का मूलाज्ञान के बाध के बिना आत्यन्तिक बाध नहीं है, वह कहाँ छिपकर रहता है, वह स्थान कौन है, ऐसा पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, वह स्वप्नरूपी पर्वत बोध होने पर कहाँ रहता है, मेरे इस सन्देह को जैसे वायु शरत्काल के मेघ को नष्ट कर देता है, वैसे ही आप दूर कीजिये ॥४३॥

स्वप्न जगत् और मनोरथजन्य प्रपंच जाग्रत् वासना से संचित अविद्या से उपहित जीव की संवित् से उत्पन्न है, इसलिए जिससे उसकी उत्पत्ति है, उसीमें उसका तिरोभाव होता है, ऐसा श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं।

स्वप्नभ्रान्ति में और मनोरथ में पर्वत आदि पदार्थ से स्पन्दन (गति) वायु में अन्तर्भूत होते हैं वैसे ही संवित् के अन्दर विलीन हो जाते हैं ॥४४॥ जैसे स्पन्दरहित वायु के अन्दर वह स्पन्द विलीन हो जाता है वैसे ही अनन्यस्वरूप (अन्य तात्त्विक स्वरूपहीन) ये स्वाप्निक पदार्थ संवित् के मलकी नाईं आवरक अपने उपादानभूत अज्ञान में ही प्रवेश करते हैं ॥४५॥ स्वप्न आदि पदार्थों के अवभास से संवित् ही खूब स्फुरण को प्राप्त होती है स्फुरण को प्राप्त न होती हुई वह संवित्, जो कि स्वप्न पदार्थरूप है, पदार्थों के साथ एकता को प्राप्त होती है ॥४६॥ जैसे द्रवत्व और जल में भेद नहीं है और जैसे स्पन्द (चलन) और वायु में भेद नहीं

है वैसे ही संवित् और स्वाप्न पदार्थों में भेद कदापि नहीं पाया जाता है। भाव यह है कि संवित् ही अज्ञात होकर कर्मवश कभी स्वाप्निक पदार्थों के रूप में स्फुरित होती है, विवेक होने पर स्वाप्न पदार्थ और संवित् में कोई अन्तर नहीं रहता ॥४७॥

जो उसमें अन्य–सा प्रतीत होता है, वह अविद्या ही है, वही संसार है, ऐसा कहते हैं।

जो उसमें अन्य–सा प्रतीत होता है, वह सबसे बढ़कर अज्ञान है, उसे ही 'संसार' कहा गया है, वह मिथ्याज्ञानरूप ही है ॥४८॥ सहकारी कारणों का अभाव होने से स्वप्न में संवित् और स्वप्न के पदार्थों का भेद निरर्थक ही है। भाव यह कि स्वाप्निक पदार्थ लोकप्रसिद्ध दण्ड, चक्र आदि सहकारी कारणों से उत्पन्न न होने के कारण भी असत् है ॥४९॥

यदि ऐसी बात है तो सहकारी कारणवाले जगत् प्रपंच में सत्यता प्राप्त हुई ? इस शंका का समाधान करते हैं।

जैसा संवित्रूप स्वप्न है वैसा ही यह जाग्रत् भी संवित्रूप ही है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। स्वप्न में असत्य नगर की प्रतीति होती है और सृष्टि के आदि में असत् जगत् का भान होता है। भाव यह है कि यद्यपि इस समय सहकारी आदि हैं तथापि आदि सृष्टि में अज्ञानोपहित हिरण्यगर्भ की संवित् से अतिरिक्त कुछ नहीं था, अतः जगत् की स्वप्नतुल्यता हो गई ॥५०॥

प्रपंच को यदि सत्य मानो, तो उसमें भी संवित् के समान चित्त्व हो जायेगा, ऐसी स्थिति में उसमें चिद्विषयत्व का व्याघात हो जायेगा, ऐसा कहते हैं।

स्वप्नता यानी स्वरूप के अज्ञान से उदित हुए प्रपंच को यदि सत्य मानो, तो वह संविद्–भास्य नहीं होगा और दूसरी बात यह भी है कि संवित् का सत्ता से व्यभिचार नहीं है और पदार्थों का उससे व्यभिचार होता है, इसलिए वे सत्य नहीं हो सकते, ऐसा कहते हैं। संवित् की नित्यसत्यता और स्वप्न पदार्थों की असत्यता है, अतएव प्रपंच सत्य नहीं हो सकता है ॥५१॥

'तत्त्वज्ञान से बाध्य होने के कारण भी यह प्रपंच सत्य नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे जागरण होने पर स्वप्न का पर्वत तुरन्त शून्यता को प्राप्त हो जाता है, तनिक भी अवशिष्ट नहीं रहता, वैसे ही तत्त्वज्ञान होने पर आधिभौतिक (प्रपंच) बोधाभ्यास क्रम से या सहसा ईश्वर के अनुग्रह से असत् यानी शून्य हो जाता है ॥५२॥

ऐसी अवस्था में श्रीशुकदेवजी का सूर्यमण्डलगमन और दधीचि आदि ऋषियों के मृतक शरीर का दर्शन लोगों को कैसे हुआ ? इस शंकापर कहते हैं।

निकट स्थित लोग आतिवाहिकता को प्राप्त हुए (यानी जिसका आधिभौतिक शरीर बाध हो चुका है, ऐसे) तत्त्वज्ञानी को 'यह उड़ गया अथवा यह मर गया' ऐसा देखते हैं, क्योंकि वे स्वाभाविक अज्ञान से विनष्टप्राय हैं। भाव यह कि अपने अज्ञान से कल्पित देह को ही वे देखते हैं, ज्ञानी की देह को नहीं देखते ॥५३॥

उक्त अर्थ को अनुमानप्रमाण से भी दृढ़ कर रहे श्रीवसिष्ठजी दो श्लोकों से प्रकरण का उपसंहार करते हैं।

ये द्वैतदृष्टिवाली (द्वैतदर्शनवाली) सृष्टियाँ मिथ्या दृष्टियाँ हैं, क्योंकि मोहदष्टियाँ हैं

यानी अज्ञान से उनका दर्शन होता है। ऐन्द्रजालिक की केवल माया का दर्शन करनेवाले की भ्रान्ति (उसमें सत्यत्वभ्रम) सबको होती है और स्वप्न में जिनका अनुभव होता है, वे पदार्थ अर्थशून्य हैं, यह भी सबको प्रसिद्ध है ॥५४॥ पूर्व–पूर्व पदार्थों के भेदरूपी भ्रम का दर्शन करनेवाले पुरुष में दृढ़तर भेदसंस्कार का उदय होने से प्राणों के उत्क्रमण के पूर्व क्षण में उत्पन्न भावी भोगों के अनुकूल पदार्थों की प्रतीति होने पर बिलकुल स्पष्ट जो ये सृष्टिकी प्रतीतियाँ हैं, ये यद्यपि केवल मनोमात्रनिष्ठ हैं, तथापि मृगतृष्णा की नदी के प्रवाह की नाईं मिथ्या उदित हुई हैं और भ्रान्ति से बाह्य–सी प्रतीत होती हैं, वे वास्तव में मन के बाहर नहीं हैं ॥५५॥

सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठावनवाँ सर्ग

समय, समाधि में स्थित लीला की देह का विनाश,
लीला के साथ सम्भाषण और राजा पद्म के पुनः जीने का वर्णन।

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी के प्रासंगिक प्रश्नों का समाधान कर प्रकृत कथा के अवशिष्ट अंश का वर्णन करनेवाले श्रीवसिष्ठजी सर्ग की समाप्ति तक की कथा के लिए भूमिका बाँधते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इसी बीच में श्रीसरस्वती देवीजी ने अमूर्त मन की चेष्टा के समान राजा विदूरथ के जीव का अपने सत्यसंकल्प से निरोध किया ॥१॥ लीला ने कहा : हे देवि, इस पाद्म सृष्टि में इस मन्दिर में मेरी समाधि में और राजा पद्म की शवावस्था में कितना समय व्यतीत हुआ ? ॥२॥ श्रीसरस्वती देवीजी ने कहा : भद्रे, इस सृष्टि में, इस राजमहल में एक महीना व्यतीत हुआ। ये तुम्हारी दो दासियाँ, जो तुम्हारी देह की रक्षा के लिए सावधान थी, अब सोती हैं ॥३॥

लीला के शरीर का, जो अज्ञान से कल्पित तथा लीला को स्वानुभवसिद्ध था, यद्यपि तत्त्वज्ञान से बाध हो चुका था, फिर भी वह शेष प्रारब्ध के भोग के लिए प्रतीत हो रहा था। पहले उसकी आतिवाहिकता का वर्णन किया गया, अब दूसरों के अज्ञान से कल्पित और दूसरों के अनुभव से सिद्ध लीला के शरीर का वृत्तान्त कहते हैं।

हे सुन्दरी, यहाँ पर तुम्हारी देह का क्या वृत्तान्त हुआ ? इसे तुम सुनो। तुम्हारा शरीर पन्द्रह दिनों में पसीने से तर होकर प्राणायाम से प्रदीप्त हुई जठराग्नि से तपकर भाप बन गया। तदनन्तर सूके हुए पल्लव के समान निर्जीव होकर भूमि में गिर पड़ा, फिर काष्ठ और दिवार के समान निर्जीव और बर्फ के समान शीतल शव (मुर्दा) बन गया ❊। तब मन्त्रियों ने आकर शिथिल अंग प्रत्यंग और खुला मुँह देखने से 'यह स्वयं ही मर गई' ऐसा निश्चयकर उस शव को घर से बाहर किया। बहुत क्या कहें, उसे श्मशान में ले जाकर चन्दन के काष्ठों से बनी

❊ राजा के शरीर में विकार न आने का कारण देवी सरस्वती का 'यह ऐसा निर्विकार बना रहे।' ऐसा सत्य संकल्प और राजा का उस शरीर से भोग्य अदृष्ट है, यह समझना चाहिए।

चिता में रखकर घृत के साथ उसे सहसा जला डाला ॥४–७॥ तदनन्तर तुम्हारे परिवार ने महारानी मर गई, यों जोर से रो–पीटकर सम्पूर्ण और्ध्वदेहिक क्रिया की । इस समय यहाँ पर तुमको सशरीर आई हुई देखकर उन्हें यह परलोक से लौट आई, ऐसा महान् आश्चर्य होगा ॥८,९॥ हे पुत्री, तुम अपने सत्यसंकल्पवश अत्यन्त स्वच्छ आतिवाहिक शरीर से, जिसे मनुष्य नहीं देख सकते, दिखाई देती हो, इसलिए तुम्हारे दर्शन से लोगों को और आश्चर्य होगा ॥१०॥

यदि किसीको यह शंका हो कि दिव्य शरीर पूर्वदेह के आकारवाला नहीं होगा, तो लोगों को उसमें 'यही वह है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकेगी, इसलिए उसका पूर्व शरीर के सदृश आकार होना आवश्यक है, उसके पूर्व शरीर के आकारवाला होने में क्या बीज है ? इस शंका की निवृत्ति के लिए उसके पूर्व शरीराकार होने में हेतु कहती है ।

हे वत्से, अपने शरीर के प्रति तुम्हारी जैसी वासना थी, वही तुम्हें रूप प्राप्त हुआ, इसलिए तुम्हारा शरीर पूर्व शरीर के सदृश हुआ ॥११॥

यदि मुझे उस देह की वासना थी, तो राजा की नाईं मुझे वही देह क्यों नहीं मिला ? इस पर कहती हैं ।

सब लोग अपनी वासना के अनुसार ही सब पदार्थों को देखते हैं, इस विषय में बालक का वेतालदर्शन अनुरूप दृष्टान्त है, जैसे अपनी वासनाके अनुसार स्तम्भ आदि में बालक को वेताल की भ्रान्ति होती है, वैसे ही तुम्हें अपनी वासनाके अनुसार यह शरीर प्राप्त हुआ है और राजा को अपनी वासना के अनुसार वही शरीर मिला । हे सिद्धसुन्दरी, इसमें कारण यह है कि तुम आतिवाहिक देहवाली हो गई हो । पूर्वजन्म के देह को तो तुम भूल चुकी हो, अतएव उस पर तुम्हारी वासना नहीं रही । जिस ज्ञानी पुरुष की आतिवाहिक दृष्टि बद्धमूल हो जाती है, दूसरों को आधिभौतिकरूप से दिखाई देता हुआ भी उसका शरीर आकाश में शरत्काल के मेघ की नाईं शान्त हो जाता है ॥१२–१४॥ जिनमें आतिवाहिकता बद्धमूल है, ऐसे सभी शरीर जलरहित शरत्कालीन मेघ के तुल्य और गन्धहीन पुष्प की तरह होते हैं ॥१५॥ वासनायुक्त ( ) पुरुष में आतिवाहिकभाव के बद्धमूल होने पर जैसे यौवनावस्था में गर्भ में निवास विस्मृत हो जाता है, वैसे ही आधिभौतिक देह का विस्मरण हो जाता है। आज इकतीसवें दिन हम इस मण्डपाकाश में प्राप्त हुई हैं । इस समय प्रभातकाल होने पर मैंने ही इन दासियों को निद्रा से मोहित कर दिया है ॥१६,१७॥ हे लीले, आओ, तबतक अपने सत्य संकल्प के विलास से इस लीला को अपना स्वरूप दिखायें और हमारा मानवोचित व्यवहार प्रवृत्त हो ॥१८॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इन हमको (लीला और सरस्वती देवी को) विदूरथ की पत्नी लीला देखे, यों सरस्वती देवी के चिन्तन करते ही वहाँ पर सरस्वती और लीला दृश्य हो गई ॥१९॥ उनके दृश्य होने के बाद विदूरथ–लीला

वासना का अत्यन्त उच्छेद होने पर आतिवाहिक देह की कल्पना भी नहीं हो सकती है, यह सूचन करने के लिए वासनायुक्त कहा है ।

की आँखोंमें चकाचौंध हो गई। उसने अपने घर को उनके तेजःपुंज से दैदीप्यमान देखा ॥२०॥ द्रव से शीतल दीप्ति के कारण चन्द्रमा के बिम्बसे निकाले गये–से और उनकी कान्तिरूपी द्रवसे युक्त भित्तिवाला होनेके कारण सोने के द्रव से (पानी से) धोये गये–से घर को देखकर और आगे लीला और सरस्वती देवीजी को देखकर बड़े वेगसे उठकर वह उनके चरणोंपर गिर पड़ी ॥२१,२२॥ हे देवियों, आप मेरी विजयके लिए यानी कल्याणके लिए आई हैं और आप जीवन देनेवाली हैं आपकी जय हो। आपकी सेविका मैं यहाँ पर पहले प्राप्त हुई हूँ। उसके ऐसा कहने पर पूर्ण यौवनवाली वे तीनों मानिनियाँ जैसे मेरुके शिखरों में लताएँ बैठती हैं, वैसे ही सोने के आसनों पर बैठ गई ॥२३,२४॥ श्रीसरस्वती देवी ने कहा : हे पुत्रि, पहले से आरम्भ कर तुम यह बताओ कि तुम यहाँ कैसे आई, रास्ते में कहाँ पर क्या आश्चर्यकारी घटना घटी और तुमने क्या देखा ? विदूरथ की लीला ने कहा : हे देवि, उस समय विदूरथ के गृहप्रदेश में कल्पान्त की ज्वाला से मुर्छित द्वितीया तिथि की चन्द्रकला के समान मैं मूर्च्छित हो गई तदनन्तर चंचल नेत्रपलकवाले नेत्रों को बन्दकर मूर्छा में पड़ी हुई मुझको भला या बुरा कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ ॥२५–२७॥ हे परमेश्वरी, तदनन्तर मरणमूर्छाके बाद मैं क्या देखती हूँ कि वासना से परिकल्पित देह के तुल्य देहसे मैं अध्यास से आविर्भूत हुई हूँ, भूताकाश में उड़ी हूँ, तदनन्तर भूताकाश में वायुरुपी रथ में बैठी हूँ। तदनन्तर सुगन्धि के लेश की नाईं वायुरूपी रथ मुझे यहाँ इस घर में लाया ॥२८,२९॥ तदुपरान्त मैंने इस महल को देखा जो नायक (शवरूप राजा पद्म) से अलंकृत था, इसमें दीपक जलते थे, बड़ा स्वच्छ और बहुमूल्य शयन से युक्त था, जब मैं इस पति को देखने लगी तो क्या देखती हूँ कि यह विदूरथ फूलों से आच्छादित होकर फूलों के वनमें वसन्त के समान सोता है। मैंने सोचा अधिक संग्राम करने से उत्पन्न परिश्रम से यह खिन्न है, अतः यह गाढ़ नींद में सोता है, इसलिए उसकी इस निद्रा में मैंने विघ्न नहीं डाला यानी इसे नही जगाया। इसके बाद ही इस भूमि में आप दोनों देवियों का शुभागमन हुआ इत्यादि जैसा मेंने अनुभव किया था, हे कृपाकारिणि, वैसा ही आपसे कह दिया है ॥३०–३३॥ श्रीसरस्वती देवीजी ने कहा : हे हंस के समान गमनवाली और सुन्दर लोचनवाली दोनों लीलाओं, हम शवशय्या से इस राजा को उठावें, ऐसा कहकर सरस्वती देवी ने जैसे कमलिनी सुगन्धि छोड़ती है वैसे ही पूर्व संकल्प से रोके हुए राजा के जीव को छोड़ा। वायु के सदृश आकारवाला जीव उसकी नासिका के निकट गया। जैसे वायु बाँस के छेद में प्रवेश करता है, वैसे ही उसने नासिकारन्ध्र में प्रवेश किया। जैसे सागर अपने अन्दर अनन्त मणियों को धारण करता है, वैसे ही अनन्त वासनाओं को वह धारण करता था। जैसे अनावृष्टि होने पर मुरझाया हुआ कमल अच्छी जलवृष्टि होने पर मनोहर कान्ति से युक्त हो जाता है, वैसे ही जीव के अन्दर जानेपर पद्म का पहले मुरझाया हुआ मुख कान्तियुक्त हो गया ॥३४–३७॥ उसके सब अंग सरस (हरेभरे) होकर ऐसे शोभित होने लगे, जैसे कि पर्वत की लताएँ वसन्त आने पर शोभित होती हैं ॥३८॥ पूर्णचन्द्रमावाली पौर्णमासी की रात्रि में सोलहों कलाओं से पूर्ण चन्द्रमा की नाईं शोभित हुआ

और मुखरूपी चन्द्रकिरणों से पृथिवी को खूब प्रकाशित करता था ॥३९॥ जैसे वसन्त सुवर्ण के तुल्य उज्ज्वल कान्तिवाले अपने पल्लवों को संचालित करता है, वैसे ही राजा पद्म ने अपने हरे भरे (सजीव) कोमल अंगों को संचालित किया ॥४०॥ निर्मल चंचल तारिकावाले अपने सुन्दर नेत्रों को उसने यों खोला जैसे भुवन (भुवनात्मा हिरण्यगर्भ विराट्) अपने नेत्ररूपी चन्द्रमा और सूर्य को उन्मीलित करता है ॥४१॥ राजा, जिसका शरीर शोभित हो रहा था, विन्ध्याचल के समान बुद्धिमान था, उठा और मेघ के घोष के समान गम्भीर ध्वनि से उसने 'कौन है ?' कहा : दोनों लीलाओं ने उसके आगे जाकर 'महाराज आज्ञा कीजिये' कहा ॥४२,४३॥ उसने नम्र दो लीलाओं को अपने सामने उपस्थित देखा। उन दोनों का एक–सा व्यवहार एक–सा आकार, एक–सी रूप रेखा, एक–सी मर्यादा, एक–से वचन, एक–सा उद्योग, एक–सा आनन्द और एक–सा अभ्युदय था ॥४४॥ उसने देखते हुए तुम कौन हो और यह कौन है तथा यह कहाँ से आई है, ऐसा पूछा, उससे पूर्व लीला ने कहा : हे देव, जो मैं कहती हूँ, उसे आप सुनें, मैं आपकी पूर्व जन्म की सहधर्मिणी लीला हूँ जैसे शब्द अर्थ का वाचक होने से अर्थसे मिलती है, वैसे ही मैं आपसे संबद्ध होकर स्थित हूँ ॥४५,४६॥ यह लीला तुम्हारी दूसरी पत्नी है, मैंने तुम्हारी क्रीड़ा के लिए (उपभोग के लिए) इसका उपार्जन किया है, यह सुन्दरी प्रतिबिम्बमयी है ॥४७॥ हे देव, यह स्वर्णसिंहासन के सिरहानेपर बैठी हुई है, इसकी आप रक्षा कीजिये। यह सरस्वती देवीजी हैं, जो तीनों लोकों की जननी और कल्याणकारिणी है ॥४८॥ हम लोगों के पुण्यों की प्रचुरता से यह साक्षात् यहाँ पर उपस्थित हैं। हे राजन्, ये ही हम दोनों को परलोक से यहाँ लाई हैं ॥४९॥ कमल के तुल्य विशाल नेत्रवाला राजा यह सुनकर उठकर देवी के चरणों में गिर पड़ा। उसके वस्त्र और मालाएँ लटक रही थी, हे देवि, हे सबका कल्याण करनेवाली देवी, सरस्वतीजी आपको नमस्कार है, हे वरदायिनी, बुद्धि दीजिये, दीर्घ आयु दीजिये और धन दीजिये।

राजा के यह कह चुकने पर देवी सरस्वतीने अपने हाथ से उसका स्पर्श किया।

श्री सरस्वतीजी ने कहा : हे पुत्र, दीर्घायु, धन आदि ईच्छित पदार्थों से खूब सम्पन्न होओ। तत्त्वबुद्धि से प्राप्त अपने पारमार्थिक स्वरूप स्थिति से युक्त होओ। सम्पूर्ण आपत्तियाँ और समस्त पापबुद्धियाँ विनाश को प्राप्त हों, अनन्त सुख तुम्हें प्राप्त हों, तुम्हारे राज्य में सम्पूर्ण जनता सदा आनन्दित रहे और सकल सम्पत्तियाँ स्थिर होकर सदा विलास करें ॥५०–५३॥

अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त

उनसठवाँ सर्ग

राजा के जी उठने के हर्ष से नगर और अन्तःपुर में उत्सव, जीवन्मुक्त राजा पद्म और दो लीलाओं का चिरकाल तक राज्यभोग और तदुपरान्त मुक्तिका प्रतिपादन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, देवी सरस्वती पूर्वोक्त प्रकार से राजा ने जो वर माँगा था, 'उसे ऐसा ही हो' यह कहकर यानी देकर वहीं पर (राजमहल में ही) अन्तर्धान को प्राप्त हो

गई तथा प्रातःकाल में कमलों के साथ सब लोग जागे ॥१॥ राजा ने उस लीला का बारबार आलिंगन किया और लीला ने भी मरकर फिर वापिस आये हुए राजा का बार-बार बड़े आनन्द से आलिंगन किया। उस समय उस राजमहल का क्या कहना था। उसमें सभी लोग आनन्द में मस्त थे, गाने और बाजों की ध्वनि से वह गूँज रहा था, उसमें सभी लोगों में मद और काम ने अपना सिक्का जमा रक्खा था। जय-जयकार की ध्वनि और मांगलिक पुण्याहवाचन के घोष से वह मुखरित था, सन्तुष्ट और हृष्टपुष्ट लोगों से भरा था, राजपुरुषों से उसका आँगन ठसाठस भरा रहता था, उस पर सिद्ध और विद्याधरों से छोड़ी गई हजारों पुष्पवृष्टियाँ बरसती थी, वहाँ ढोल, पखावज, काहल (कार्णाल नाम का एक प्रकार का बाजा यानी बड़ा ढोल) शंख और नगारे बजते रहते थे, अपनी बड़ी-बड़ी सूँडों को उठाये हुए हाथियों के झुण्ड की चिंघाड़ से वह भीषण लगता था। उसका आँगन उद्धत नृत्य करनेवाली नर्तकियों से पूर्ण था अतएव उसमें विचित्र ध्वनि हो रही थी। परस्पर एक को दूसरे की टक्कर लगने से राजा के लिए उपहार ला रहे लोगों के उपहार वहाँ पर गिर रहे थे, गिर रहे उपहारों से वह नीचा ऊँचा हो गया था, फूलों की सिर की मालाओं और उत्सव के साज-बाजों से भरपूर विविध लोगों के इधर उधर आने जाने से वह बड़ा भला लगता था, मंत्रियों, अधीन राजाओं और नगरवासियों से बिखेरे गये फूलों, मालाओं और मोतियों से चारों ओर आच्छन्न होने के कारण ऐसा लगता था, मानों उसे रेशमी वस्त्र पहनाये गये हों, नर्तकियों के लाल-लाल हाथों से, जो आकाश में नाच रहे थे, बड़े-बड़े कमलोंवाले तालाब के सदृश प्रतीत होता था। खूब प्रसन्न (सुखी) स्त्रियों के कानों के कुण्डल, उनके विशेषरूप से गर्दन घुमाने से, झूल रहे थे, इधर उधर चलने-फिरनेवाले लोगों के पैर पड़ने से फूलों का कीचड़ बड़ा भला प्रतीत होता था ॥२-९॥ वहाँ पर शरत्काल के तुल्य सफेद रेशमी वस्त्रों के चँदवे तने थे, रूपवती ललनाओं के मुखों से उक्त महल के आँगनों में लाखों चन्द्रमा नाच रहे थे यानी सुन्दरियों के प्रतिबिम्बित मुखरूपी लाखों चन्द्रमा उसके आँगन में नाच रहे थे। पूर्व लीला परलोक से रानी को यानी दूसरी लीला को और महाराज पद्म को लाई। इस प्रकार की सैकड़ों प्रबन्धों के रूप में प्रस्तुत गाथाओं का देश देशान्तर में लोग गान करते थे ॥१०,११॥

राजा पद्म ने अपने मरण आदि की कथा को, जो संक्षेप से कही गई थी, सुनकर नौकरों द्वारा लाये गये चार सागरों के जल से स्नान किया। तदुपरान्त राज्यप्राप्ति के लिये अनेक प्रयास करनेवाले नहुष को गिराकर जिसने फिर राज्य प्राप्त किया था, ऐसे देवराज का देवताओंने जैसे अभिषेक किया था, वैसे ही राजा पद्म का ब्राह्मणों ने, मन्त्रियों ने और राजाओं ने अभिषेक किया (🔥) प्रथम लीला, द्वितीय लीला और राजा, जो जीवन्मुक्त और महाज्ञानी थे, सुरतों की नाईं पूर्ववृत्तान्तों की कथाओं द्वारा रमण करते थे। राजा पद्म

🔥 जैसे चिरकाल के प्रवास से आये हुए राजा का पुनः राज्याभिषेक मंगल के लिए होता है, वैसे ही परलोक से लौटे हुए राजा पद्म का पुनः अभिषेक मंगलार्थ किया गया।

को पूर्वोक्त रीति से सरस्वती के प्रसाद से और अपने पौरुष से वह तीनों लोकों का कल्याण प्राप्त हुआ। राजा ने जो सरस्वती की प्रसन्नता, पुनर्जीवन और राज्य प्राप्त किया, वह तो दैव से ही मिला, अपने पौरुष से मिला नहीं, ऐसी श्रीरामचन्द्रजी की शंका को ताड़कर श्रीवसिष्ठजी की यह उक्ति है। सरस्वती की आराधना आदिरूप अपने पौरुष से सरस्वती का प्रसाद प्राप्त हुआ। उसका प्रसाद काकतालीय के समान आकस्मिक नहीं है, यह भाव है ॥१२–१५॥ दोनों लीलाओं से युक्त प्रशंसनीय राजा पद्म ने, जिसे श्रीसरस्वती देवीजी द्वारा उपदिष्ट ज्ञान से भलीभाँति आत्मतत्त्व का ज्ञान हो चुका था, वहाँ पर अस्सी हजार वर्ष तक राज्य किया। वे जीवन्मुक्त, जिनका आत्मतत्त्वज्ञान खूब बद्धमूल हो गया था, इस प्रकार अस्सी हजार वर्ष तक राज्य करके विदेहमुक्ति को प्राप्त हुए ॥१६,१७॥ अपने राज्य का, जो प्रजाओं के नित्य अभ्युदय से दोषरहित था, शास्त्रानुसारी होने के कारण विद्वानों के भी मन को हरनेवाला था, अपनी कुलपरम्परा की मर्यादा के योग्य था, भोग, यश और धर्म देनेवाला होने के कारण अपने लिए भी हितकर था, लोगों के चित्त के अनुरंजन में दक्ष था, अतएव सम्पूर्ण लोगों को सन्तोष देनेवाला था, चिरकाल तक पालनकर वे सुन्दर दम्पती विमुक्त हो गये ॥१८॥

उनसठवाँ सर्ग समाप्त

साठवाँ सर्ग

लीलोपाख्यान के प्रयोजन का विस्तार से वर्णन और काल आदि की समता और विषमता के कारण का निर्देश।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, यह पवित्र लीलोपाख्यान, दृश्यरूप दोष की निवृत्ति के लिए, मैंने आपसे कहा। यानी दृश्य नहीं है, इस प्रकार के ज्ञान से यदि मन से दृश्य का परिमार्जन हो गया, तो परम निवृत्ति प्राप्त हो गई, ऐसी जो प्रकरण के आरम्भ में प्रतिज्ञा की गई थी, उसकी सिद्धि ही लीलोपाख्यान का मुख्य प्रयोजन है। अब आप जगत् की सत्यता का त्याग कीजिये ॥१॥

यदि किसी को यह शंका हो कि जगत् में सत्यता के त्यागमात्र से उसकी निवृत्ति कैसे होगी ?

दृश्य की सत्ता शान्त ही है यानी है ही नहीं, जब दृश्यसत्ता है ही नहीं, तब उसके शमन का क्या उपयोग ? विद्यमान के मार्जन के लिए प्रयास किया जाता है, जो है ही नहीं, उसके परिमार्जन के लिए प्रयास कैसा ? ॥२॥ ज्ञानी पुरुष आकाशरूप ज्ञान से ज्ञेयस्वरूप दृश्य को पूर्वोक्त रीति से अपवाद द्वारा अखण्ड ब्रह्म में एकरसता को प्राप्त हुआ जानकर आकाश के सदृश निर्मल रहता है ॥३॥

दृश्य तो जड़ है, उसकी ज्ञानघन ब्रह्म में एकरसता कैसे ? ऐसी आशंका कर आदि सृष्टि में चिन्मात्रस्वरूप ब्रह्माने अपने में ही दृश्यरूप विवर्तकी कल्पना की, इसलिए जैसे

जलरूप ओलों में कठिनता का विरोध नहीं है, वैसे ही दृश्य की चिद्रूपता में विरोध नहीं है, ऐसा कहते हैं ।

पृथिवी आदि से रहित प्रकाशरूप ब्रह्म ने यदि इसकी कल्पना की तो अपने में ही की, उससे अतिरिक्त उसका दूसरा उपादान है नहीं, इसलिए इसके चिद्रूप होने में कोई विरोध नहीं है ॥४॥

यदि कोई कहे कि जैसे ओलों की कठिनता प्रयत्न के बिना ही शान्त हो जाती है, वैसे ही प्रयत्न के बिना ही दृश्य का विनाश क्यों नहीं होता ? इस पर कहते हैं ।

सृष्टिवेत्ता (सृष्टिकर्ता) ब्रह्मचैतन्यरूप नदी में उसकी एक भागरूप जो जीव संवित् है, वह जिस प्रकार की प्रवृत्ति के प्रवाह से जिस तरह के कार्यकारणफलभाव के लिए प्रयत्न करती है, वैसे कार्यकारण के फलभाव से छोड़ी गई वह अपने प्रयत्न के अनुसार वैसे ही व्यवस्थित होती है, जब तक उससे विरुद्ध निवृत्ति प्रयत्न से वह रोकी नहीं जाती, तब तक निवृत्त नहीं होती है ॥५॥

यदि कोई शंका करे कि इस जगत् की रचना ब्रह्माजी ने की है, जीव की क्या ताकत कि इसे रोक दे, महाराजाधिराज ने जिस कार्य के लिए आज्ञा दे दी हो, भला वह साधारण आदमी के यत्न से रोकी जा सकती है ? इस पर कहते हैं ।

यद्यपि चिदाकाशरूप स्वच्छ ब्रह्म में चिदाकाश का जो मायिक अवभास है, वही जगत्‌रूप से प्रतीत होता है, इसलिए जगत् ब्रह्म से रचा गया है, तथापि वह जगत् जिसका ब्रह्मभाव अपरिच्छिन्न है, उस पुरुष के प्रति वैसा प्रतीत नहीं होता, किन्तु बुद्धि आदि परिच्छिन्न उपाधियों के कारण अत्यन्त परिच्छिन्न जीव के प्रति ही वह वैसा प्रतीत होता है, क्योंकि उसके प्रयत्नों से उत्पन्न कर्मफलों के भोग के लिए ही वह ब्रह्म में कल्पित है और जब उसके प्रयत्न से बोध होता है, तब दृश्य का परिमार्जन अवश्य होता ही है ॥६॥

ऐसी परिस्थिति में सत्ता, नियति, वासना आदि से भी जगत् की रक्षा नहीं हो सकती , इस आशय से कहते हैं ।

इस प्रकार इस व्यर्थभ्रमरूप दृश्य की क्या सत्ता है, कौन-सी वासना है, कौन आदर है, क्या नियति है और क्या अवश्यम्भाविता कही जाय। भ्रम के सत्ता आदि की क्या संभावना है, यह भाव है ॥७॥ यह सब यद्यपि मायादृष्टि से जैसा दिखाई देता है, वैसे ही ज्यों-का-त्यों स्थित है, तथापि परमार्थदृष्टि से इसका संभव नहीं है, माया से उत्पन्न होने के कारण यह सम्पूर्ण सृष्टि माया ही है और माया भी तो वास्तविक नहीं है ॥८॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, आपने मुझे, जैसे वनाग्नि से जले हुए तृणों की दाह की शान्ति होने पर, फिर पनपने के लिए चन्द्रमा की कला उगती है वैसे ही, संसारताप से सन्तप्त लोगों को शान्तिविवेक की प्राप्ति के लिए यह दृष्टि दर्शाई है ॥९॥ हर्ष की बात है कि आज चिरकाल में अखण्ड ज्ञातव्य पदार्थ जिस प्रकार जाना जाता है, जैसा उसका स्वरूप है, जिस तरह का वह है, जिन प्रमाणों से ज्ञेय होता है, जब जाना जाता है, यह सब मुझे ज्ञात हुआ ॥१०॥ हे द्विजश्रेष्ठ, जगत्तत्त्वका

विचार कर रहा मैं उपाधि के शान्त होने से शान्त–सा हो रहा हूँ, नित्य निर्वाणस्वरूप की प्राप्ति से आनन्दसागर में डूब–सा रहा हूँ, यह आश्चर्यमय लीलोपाख्यान श्रुति द्वारा प्रदर्शित ज्ञानो में उपबृंहणरूप है यानि श्रुति द्वारा प्राप्त ज्ञान को बढ़ानेवाला है ॥११॥ भगवन्, कृपा करके आप मेरे इस सन्देह को निवृत्त कीजिये, क्योंकि आप सर्वज्ञ हैं। आपके वचनरूपी अमृत कर्णरूपी पात्रों से पीकर मैं तृप्त नहीं होता यानी मुझे उसे पीने की इच्छा बनी रहती है ॥१२॥ वह पूर्वोक्त काल, जो लीला के पति के तीन जन्मों में बीता, वह कहीं तो (गिरिग्राम में तो) आठ दिन–रात रूप कहा गया है, कहीं (पद्म–जन्म में) एकमासरूप कहा गया है, कहीं (विदूरथजन्म में) बहुत वर्षवाला कहा गया है, इस प्रकार क्या विभिन्न ब्रह्माण्ड हैं या एक ही ब्रह्माण्ड में मनुष्यों का वर्ष, देवताओं का दिन (अति अल्पकाल) होता है, किसीको (क्षुद्र जन्तुओं को) वह बड़ा विशाल प्रतीत होता है, और किसीको (ब्रह्माको) क्षण प्रतीत होता है, यों क्या एक ही काल, देश, लोग आदि के भेद से विरुद्धरूप से (छोटे बड़े रूप से) स्थित है क्या ? पदार्थसत्ता के एकरूप होने पर प्रतीति में भेद कैसे आता है ? यह भाव है। हे भगवन्, यह सब आप अनुग्रहपूर्वक यथार्थरूप से मुझसे कहें, जैसे ढेले में गिरा हुआ जलबिन्दु कहीं विलीन हो जाता है, वैसे ही 'देशदैर्घ्यं यथा नास्ति कालदैर्घ्यं तथैव हि' इत्यादि से आपके कह चुकनेपर भी एक बार के श्रवण से वह स्थिरता को नहीं प्राप्त होता है ॥१३–१५॥

यदि जैसी पदार्थों की सत्ता है, उसीके अनुसार प्रतीति हो, तो यह विरोध हो सकता है, अनिर्वचनीय पदार्थों की सत्ता ही प्रतीति के अनुसारिणी होती है उसमें जितने द्रष्टा (देखने वाले) हैं, उनके प्रति पदार्थ भिन्न भिन्न होते हैं, कालवैषम्यरूपभेद नहीं है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, जिस–जिस पुरुष को जिस समय जिस प्रकार से जिस–जिस पदार्थ की प्रतीति होती है, वह–वह उस समय उस प्रकार से उस–उस पदार्थ का अनुभव करता है। सदा ही यह जीवन का साधन है, यह ज्ञात होने से विष भी अमृतता को प्राप्त होता है, देखिये न यह हमारे जीवन का साधन है, इस प्रकार की दृढ़ प्रतीति होने से विष के कीड़े विष से ही जीते हैं, यदि कहिये कि प्रमाद से यह हमारा खाद्य है, यह सोचकर जो आदमी विष खा लेता है, वह क्यों मरता है ? सुनिये, विष के कीड़ों की नाईं उसका विष में यह हमारा जीवन का साधन है, ऐसा चिरकाल से दृढ़ विश्वास नहीं है, दूसरी बात यह भी है कि उसको ऐसा पक्का संस्कार रहता है कि विष खाने से मृत्यु होती है। विष में जीवनसाधनता के दृढ़ निश्चय का अभाव और मरणहेतुता का निश्चय होने से उसकी मृत्यु होती है। यह मित्र है, ऐसी दृढ़भावना करने से शत्रु भी मित्रता को प्राप्त हो जाता है ॥१६,१७॥ इन पदार्थों के स्वरूप की जैसी भावना की, वही (भावित स्वरूप ही) चिरकाल के अभ्यास से नियति के वश में आ गया है। चिरकाल से अभ्यस्त भावना का अनुसरण करनेवाली पदार्थों की अर्थक्रियाकारिता नियति है ॥१८॥ चिति का स्फुरण स्वभाव है, जैसे और जिस रूप में उसका स्फुरण होता है, वह शीघ्र उसी रूप में हो जाती है, क्योंकि वैसा होने में उसका स्फुरणस्वभाव होना ही एकमात्र

कारण है। *भाव यह कि चित् स्फुरणस्वभाव ही है, उसके पदार्थविशेषाकार होने में द्रष्टा का संस्कार कारण है। यों एक ही संवित् में किसीका संस्कार के अनुसार क्षण का आरोप होता है और किसीका कल्प आदिका आरोप होता है, इस प्रकार कोई विरोध नहीं है।* यदि किसी पुरुष को एक क्षण में सैकड़ों कल्पों की प्रतीति होती है, तो क्षण ही उसके लिए कल्प होता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। यदि किसीको कल्प में निमेषता का ज्ञान हो जाता है, तो कल्प ही उसके लिए निमेष बन जाता है, क्योंकि चित् स्फुरणरूपा है ॥१९–२१॥

लोक में भी यह प्रकार प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

दुःखी (वियोगी) पुरुष को जो रात्रि कल्प–सी लम्बी प्रतीत होती है, वही रात्रि सुखी पुरुष को क्षण के तुल्य हो जाती है। स्वप्न में एक क्षण कल्प बन जाता है और कल्प क्षण बन जाता है। जरा ध्यान दीजिये एक क्षण के स्वप्न में पुरुष देखता है–मैं मर कर पैदा हुआ, जवान हुआ, यौवनावस्था में स्थित हुआ, मैं सौ कोश गया, ऐसा स्वप्न में सबको अनुभव होता है ॥२२,२३॥ राजा हरिश्चन्द्र को एक रात्रि बारह वर्ष की प्रतीत हुई थी, लवणासुर ने एक रात्रि में सौ वर्ष की आयु का भोग किया था। जो मनु की आयु है, वह आत्मा का मनन करनेवाले प्रजापति का एक मुहूर्त है। जो ब्रह्मा की आयु है, वह आत्ममननशील विष्णुका एक दिन है, विष्णु की जो आयु है, वह शिवजी का एक दिन है, पर जिस पुरुषने ध्यान से अपने चित्त पर विजय पा ली है यानी जो निर्विकल्प समाधि में स्थित है, उसके लिए न दिन हैं और न रात्रियाँ। आत्म के चिन्तन में मग्न योगी की दृष्टि में न पदार्थ सत्य हैं और न जगत् ही सत्य है। मधुर पदार्थ की भी यदि यह तीखा है, यह तीखा है, ऐसी भावना की जाय, तो वह भी तीखा हो जाता है, यदि तीखे की यह मधुर है, यह मधुर है, इस प्रकार की भावना की जाय, तो वह मधुर हो जाता है। हे महाबाहो, शत्रु ही क्यों न हो यदि यह मित्र है, मित्र है, यों मित्रबुद्धि से उसकी भावना की जाय, तो वह मित्र बन जाता है, मित्र ही क्यों न हो, यह शत्रु है, ऐसी बुद्धि से उसकी भावना की जाय तो शत्रु बन जाता है। यह सारा जगत् भावना का खेल है, जैसी भावना होती है, वैसा ही दिखाई देता है। शास्त्राध्ययन, जप आदि जिन पदार्थों का पहले अभ्यास नहीं रहता, उनमें भावना के अभ्यास से स्वाधीनता प्राप्त होती है। नौका से यात्रा करनेवाले चक्कर आने से पीड़ित लोगों की भावना से पृथिवी घूमती है। भावनाभ्रमजनित पीड़ा से रहित तट में स्थित लोगों की दृष्टि से तो वह नहीं घूमती, जैसे स्वप्न देखनेवालों की दृष्टि में शून्य स्थान भी जनाकीर्ण प्रतीत होता है, वैसे ही भावना करने से भी शून्य स्थान लोगों से भरा हुआ–सा प्रतीत होता है ॥२४–३१॥ भावना से आकाश पीला, नीला या सफेद प्रतीत होता है, मोहवश उत्सव भी आपत्ति के सदृश दुःखदायी होता है। छोटे–छोटे बालक अपने खेल कूद के उत्सवों में कभी–कभी रोते दिखाई देते हैं ॥३२॥ अविचारी पुरुष का जहाँ पर दीवार खड़ी है, वहाँ पर भी शून्य का (दीवाररहित का) सा व्यवहार देखा गया है, अविद्यमान भी यक्ष मूढ़ लोगों के प्राणों को हर लेता है। भाव यह कि जो पदार्थ असत्य है, उनमें कार्य करने की क्षमता लोक में प्रसिद्ध है, वेताल वस्तुतः है नहीं, पर वह मूढ़ लोगों के प्राणहरणरूप कार्य को कर ही लेता

है ॥३३॥ देखिये न, स्वप्न में देखी गई स्त्री भावनावश जागरण काल की तरह आनन्ददायिका होती है, जो पदार्थ जिस रूप में आभासित हुआ, वह उसी रुप में स्थिर होता गया। जगत् असत् ही है।

शंका – यदि जगत् असत् ही है, तो उसे सरासर मिथ्या ही कहना चाहिए।

समाधान – सरासर झूठा भी नहीं है, किन्तु अव्याकृत आकाशरूप है, क्योंकि कार्य कारण से अतिरिक्त नहीं है। वह अव्याकृत आकाश ही अपने अधिष्ठानभूत चिदात्मा में सौ हाथ के मिथ्या नटके, जो मेघ की छाया से कल्पित है, नाच के (एक प्रकार के अभिनय के) सदृश जगत् की विलक्षणता के रूप से विस्तार को प्राप्त हुआ है ॥३४,३५॥

सम्पूर्ण मन की समष्टि और व्यष्टि का कार्य होने से भी जगत् असत्य ही है, ऐसा कहते हैं।

जिस बालक ने अपने मिथ्याज्ञान से पिशाच की कल्पना कर रक्खी है, उसका जो स्पन्ददर्शन है, उसके तुल्य मनोमात्र आकृतिवाला यह जगत् आकाश में मानस स्पन्द ही है, वास्तविक नहीं है ॥३६॥ यह जगत् वस्तुतः मूर्तिमान् नहीं है, अतः किसी दूसरे का अवशेष नहीं करता, जो इसका अवरोध करे, ऐसी दूसरी वस्तु भी इसमें नहीं है और मायामात्र ही है, ऐसा होने पर भी स्पष्टरूप से प्रतीत हो रहा है, इसलिए तत्त्वज्ञानी लोग इसे न सोये हुए पुरुष को हुआ अपूर्व स्वप्नदर्शन मानते हैं। जैसे अपने स्फुरण के अनुकूल व्यापार से रहित स्तम्भ अपने स्वरूप में प्रतिमारुप को प्रकट करता है, वैसे ही परमार्थ महास्तम्भ (सर्वाधिष्ठान चैतन्य) भी वैसा होकर, वैसी ही सृष्टि को सृष्टिकाल में देखता है ॥३७,३८॥ जैसे स्वप्न में मेरे समीप में महायोद्धाओं से छेड़ा गया पुरुष जागने पर भी सुषुप्त के सदृश अज्ञानमात्रस्वभाव ही है, वास्तविक नहीं है, वैसे ही ब्रह्मा की सृष्टि भी जाग्रत् होने पर भी सुषुप्त के सदृश ही है ॥३९॥ जैसे शिशिर ऋतु के अन्त में (वृक्ष आदि के पत्र गिरने के समय) आगे वसन्त में पत्र, पुष्प आदि के रूप मे होनेवाले तिनके, पत्ते, झाड़ी, लता आदि से युक्त रस अपनी उपादानभूत भूमि में स्थित होता है, वैसे ही परम पद में यानी सच्चिदानन्दघन परब्रह्म में यह सृष्टि स्थित है ॥४०॥ जैसे सोने के अन्दर द्रवत्व विद्यमान है, पर लोगों को दृष्टिगोचर नहीं होता, अग्नि का संयोग होने पर प्रकट हो जाता है, वैसे ही अत्यन्त सूक्ष्म परम पद में यह सृष्टि स्थित है। प्राणियों को उनके कर्मोंका फलभोग कराना ही उसका प्रयोजन है, जब प्राणियों का भोगजनक अदृष्ट उदित होता है, तब यह सृष्टि प्रादुर्भूत हो जाती है। जैसे अंगों का (अवयवों का) गठन आत्मरूप अंगी से अभिन्न है यानी अंगों की अंगी से पृथक् सत्ता नहीं है, वैसे ही आत्मरूप अखण्ड ब्रह्म से यह जगत् भी अनन्य (अभिन्न) है। जैसे स्वप्न में किसी आदमी का किसी दूसरे आदमी के साथ युद्ध हुआ। स्वप्न काल में स्वप्न देखनेवाले के प्रति सद्रूप और अन्य के प्रति असद्रूप भी वह युद्ध स्वप्नद्रष्टा का आत्मा ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है, वैसे ही मायाकाश में स्थित आत्मरूप यह जगत् भी मायिक दृष्टि से सत् होता हुआ भी तात्त्विक दृष्टि से असत् ही है ॥४१–४३॥ महाकल्प और सृष्टि के आदि में यह जगत् चित्स्वभाव ही है, असत् पदार्थ ही पीछे कारण में लीन

होता है, वास्तविक नहीं, इससे यह सिद्ध हुआ कि जगत् असत् है, उसका कारण चित् ही महाप्रलय और सृष्टि में रहता है, उससे अतिरिक्त सत् कुछ नहीं है ॥४४॥

सम्पूर्ण जगत् के आकार में परिणत पूर्व–पूर्व हिरण्यगर्भ में अहंबुद्धि की कल्पनारूप उपासना के संस्कार से उत्पन्न स्मृति से कल्पित होने से भी जगत् अधिष्ठानभूत सन्मात्रसे अतिरिक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं।

इस ब्रह्मा के मुक्त होने पर यदि स्मृति से उत्पन्न हुआ अन्य ब्रह्मा हो, तो भी स्मृतिरूप ज्ञान से उत्पन्न सृष्टि में ज्ञप्तिमात्रता है ही ॥४५॥

जैसे अन्यान्य ब्रह्माण्डों में रहनेवाले प्राणियों के अलग–अलग वासना, कर्म आदि हैं, वैसे ही एक नगर में रहनेवालों में प्रत्येक प्राणी के भी वासना कर्म आदि विचित्र हैं, इसलिए स्वप्न के तुल्य जाग्रत में भी क्रम की विलक्षणताका आरोप क्यों नहीं होता ? यानी सभीको भिन्न–भिन्न क्रम से प्रतीति क्यों नहीं होती, इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

भगवन्, नगरवासी, मन्त्री आदि सभी को विदूरथ के कुल का क्रम एक–सा ही क्यों प्रतीत हुआ ? इसमें क्या कारण है ?॥४६॥

सृष्टिकर्ता के संकल्प से विहित अन्य जीवों की प्रतीति प्रधान जीव की प्रतीति की अनुवर्तनी हो, इत्याकारक जो नियति है, वही सबको विदूरथकुलक्रम के एक–सा प्रतीत होने में हेतु है, ऐसा कहते हैं।

जैसे छोटे–मोटे वायु के झोंके बड़े बवंडर का अनुसरण करते हैं, वैसे ही सब प्रतीतियाँ मुख्य चित् का ही अनुवर्तन करती हैं ॥४७॥

उसके अनुरूप फल देनेवाला भोक्ता के अदृष्ट का संयोग भी उसमें हेतु है, ऐसा कहते हैं।

सबका एकरूप से सम्पादन करनेवाले अदृष्टने इन सब संविदों का राजा प्रजा, नगरवासी और मन्त्रियोंका परस्पर के अनुसार स्फुरण किया है ॥४८॥ इस प्रकार के उच्च कुल से उत्पन्न हुआ यह हमारा स्वामी है, राजा विदूरथ के नगर के पदार्थ और उनका भोग करनेवाले लोग मानों इस प्रकार स्फुरित हुए थे ॥४९॥

यदि कोई शंका करे कि चित् तो उदासीन है। उसके अध्यस्त पदार्थ प्रतीतिरूप स्फुरण में क्या हेतु है, तो यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें स्फुरण स्वाभाविक है, जिनका स्फुरण स्वाभाविक नहीं है, उन्हीं विषयों के स्फुरण में हेतु का अन्वेषण ठीक है। जैसे उदासीन चिन्तामणि के प्रकाशों के प्रसार में हेतु की अपेक्षा नहीं है, किन्तु उससे विभिन्न पदार्थों को उत्पन्न करने में ध्यान करनेवाले लोगों के मनोरथ की विचित्रता की अपेक्षा है, वैसे ही यहाँ भी है, ऐसा कहते हैं।

चित् के स्फुरण के लिए हेतु खोजने की जरूरत नहीं है, क्योंकि वह स्वभावतः होता है, जैसे महामणि से (चिन्तामणि से) कान्तियों का प्रसार अपने आप होता है, वैसे ही चित् का स्फुरण भी स्वतः होता है। जिन वस्तुओं का स्फुरण स्वतः नहीं होता जैसे कि चिन्तामणि से विविध विचित्र पदार्थों की प्राप्ति। उसमें प्रार्थी लोगों के विचित्र मनोरथों की अपेक्षा होती है यानी चित् के स्फुरण में कोई कारण नहीं है, किन्तु विचित्र पदार्थों के रूप से स्फुरण में जीवों

का अदृष्ट कारण है ॥५०॥

पहले तदनुकूल संकल्पवैचित्र्य की उत्पत्ति भी पूर्वोक्त रीति से ही होती है, ऐसा कहते हैं।

मैं इस प्रकार के कुलाचार में इस प्रकार का राजा होऊँ, यह जैसे चिन्तामणि से कान्ति स्वतः निकलती है, वैसे ही विदूरथरूपी जीव चैतन्य से मनोरथ उत्पन्न हुआ। जिस जिस सृष्टि में जब जब जो जो और जितने जीव हुए होंगे और हैं, वे सब चेतन के सर्वव्यापक होने के कारण अन्योन्य के लिए दर्पणरूप हो गये। भाव यह है कि जैसे दर्पण एक दूसरे के अन्दर पड़े हुए प्रतिबिम्बों को ग्रहण कर लेते हैं, वैसे ही अनेक जीवचैतन्यो में समान विषय के आरोपक्रम से परस्पर के अन्तर्गत प्रतिबिम्बग्राहकता आ जाती है ॥५१,५२॥

ऐसी अवस्था में बिम्ब के रहते प्रतिबिम्ब हटाया नहीं जा सकता, फिर निर्विकल्पतारूप मोक्ष की प्राप्ति कैसे होगी, ऐसी आशंका कर कहते हैं।

पूर्वोक्त जीवसंविदों में जो ही जीवसंवित् यानी ब्रह्माकारवृत्ति तीव्र वेगवाली और विषयदोष से अविचलित होकर मोक्षपर्यन्त एक रूपवाली होती है, वही सर्वोत्कृष्ट परमस्थिरतारूप (ब्रह्मरूप से स्थिरत्वरूप) मोक्ष को प्राप्त होती है अन्य नहीं ॥५३॥ बलवान् चिद्–विलासों की परस्पर अनुवृत्ति से स्वभाव चित्तरूपी आदर्श में अपने आप प्रतिबिम्बित होते हैं। जगदाकार अथवा ब्रह्माकार के जीवचैतन्यप्रतिबिम्बित होने में तीव्रवेगवत्तारूप बलवान् तत्–तत् आकार के चिद्विलास ही नियामक हैं, यह भाव है ॥५४॥

यदि कोई शंका करे कि यदि ऐसी बात है, तो जगत् के प्रति आकर्षण चिरकाल से अभ्यस्त है, उसीमें तीव्र वेग होगा, ऐसी स्थिति में मोक्ष के प्रति आशा दुराशा ही हो जायेगी, इस पर कहते हैं।

यह व्यवहार में सभीको अनुभूत है कि जो वेग किसी प्रकार के प्रयत्न के बिना उत्पन्न होता है, उसकी अपेक्षा प्रयत्न से उत्पन्न होनेवाला वेग प्रबल होता है, इसलिए प्रयत्न से संपादित ब्रह्माकार वेग ही जगदाकार चिद्विलास पर विजय पाता है। सत्यसंविद् और असत्यसंविद्–इन दोनों में सत्यंसंवितों में ही प्रबलता दिखाई देती है, अतः ब्रह्माकार संवित् ही जगदाकार वेग को ग्रहण कर लेती है, जैसे सागरगामिनी महानदी अपनी सहायक छोटी–मोटी नदियों को अपने अधीन कर लेती है, वैसे ही यहाँ पर भी समझना चाहिए ॥५५॥

यदि कोई कहे कि भले ही ब्रह्माकार संवित् की, अतिवेगवत्ता होने से, विजय हो, लेकिन जब मन्द अधिकार और मध्य अधिकारवश चित्त स्थिर न होने से बीच–बीच में ब्रह्माकारता और विषयाकारता का उदय होगा, तब दोनों के समबल होने से किसीकी भी जयपराजय की आशा नहीं करनी चाहिए, इस पर कहते हैं।

जो अधिकारी उक्त दोनों आकारों में समानवेगवाले हैं, वे भी दोनों आकारों में सदा समानवेगवाले नहीं रह सकते, किन्तु इन दोनों आकारों में जब एक यानी ब्रह्माकार स्थिर होकर उत्कर्ष को प्राप्त होता है और दूसरा बाह्याकार विलीन हो जाता है, तब वे लोग श्रवण आदि की आवृत्तिरुप प्रयत्न करते हैं। तब उन्हें भी क्रमशः अभ्यास बढ़ने से ब्रह्माकार में तीव्र

वेग का उदय होने एवं विषयाकार के विलीन होने से अन्य का विजय सिद्ध हो जाता है ॥५६॥

इस प्रकार प्रसंगप्राप्त मोक्ष के अभाव की आशंका का निवारण कर जो विषय छिड़ा था उसीका यानी प्रत्येक जीव में सम, विषम सकल विचित्रताओं का ही अवलम्बन कर कहते हैं।

उपाधिवश प्राप्त हुई परिच्छिन्नता का अपने में आरोप करने से परमाणुकणरूप जीवसमूह के प्रति पूर्वोक्त प्रकार की सम, विषम हजारों सृष्टियों के भ्रान्तिवश उत्पन्न होने पर, स्थित होने पर और विनष्ट होने पर वास्तव में किसी जीवरूपी कण को न तो दौड़ धूप करने से कुछ वस्तु प्राप्त हुई और न उदासीन होकर बैठे रहने से ही कुछ वस्तु अप्राप्त हुई। भाव यह कि जो वस्तु है ही नहीं, वह न तो प्राप्ति के योग्य है और न अप्राप्ति के योग्य। अतः (जब कुछ वस्तु है ही नहीं तब) यह सब व्यवधानरहित (निरावरण) शान्त चिदाकाश ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है।यह स्वप्न प्रतीत होता है, ऐसा स्वप्न कि जिसमें विवेकदृष्टि का अभाव है और निद्रा भी नहीं है, इसके अधिष्ठानरूप आत्मा का साक्षात्कार होने पर तो पहले भली भाँति अनुभूत होता हुआ भी यह असन्मय ही हो जाता है ॥५७-५९॥

विवेकदृष्टि से प्रपंच की पृथक् सत्ता का अभाव कह कर मायिक दृष्टि से भी उसकी पृथक् सत्ता नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे पत्ते, फूल, शाखा आदि अंशों से युक्त वृक्ष एकरूप से ही स्थित है, वैसे ही अनन्त सर्वशक्तिरूप परमात्मा एकरूप से ही स्थित है ॥६०॥

जीवों की दृष्टि से भी बोध होने तक ही वह भिन्नरूपवाला प्रतीत होता है, बोध होने पर विस्मृति के कारणभूत अज्ञान के हट जाने से वह एकरूप ही रहता है, ऐसा कहते हैं।

बोध होने तक ही प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण आदि मायिक रूपवाला अविनाशी अज पर (परब्रह्म) जब जान लिया जाता है, तब विस्मृति के हेतु अज्ञान के हट जाने से फिर कभी किसीको भी विस्मृत नहीं होता, एक अद्वितीयरूप से प्रतीत होता है ॥६१॥

माया से भेद के अवभासित होने पर भी शुद्ध की वास्तविक एकरूपता से स्थिति का कोई विरोध नहीं है, इस आशय से उपसंहार करते हैं।

जैसे निर्मल जल चाहे तरंगित हो चाहे निश्चल, दोनों अवस्थाओं में जल के स्वरूप में कोई भेद न आने से एकरूप ही है, वैसे ही साक्षीरुप से अज्ञान को प्रकाशित करनेवाला, दिशा और कालरूपी होता हुआ भी परमार्थरूप से सदा शुद्ध, जिसमें सम्पूर्ण विकारों के उदय और नाश नहीं रह गये हैं ऐसा आत्मरूप पदार्थ आदि, अन्त और मध्य से रहित होकर एकरूप से स्थित है॥६२॥ केवल विशुद्ध बोधमात्रस्वरूपवाले ब्रह्म की स्वरूपभूत विभा (प्रकाश) ही जैसे आकाश में उसकी अपनी शून्यता (आकाश की शून्यता) ही तन्मलिनता, मोतियों के समूहरूप, बालों के वर्तुलाकार गोले की आकारता और बड़े-बड़े कड़ाहों की आकारता से प्रतीत होती है, वैसे ही द्वैत और ऐक्यविषयक संकल्पविकल्प करनेवाले मन से और उसके मूलभूत अविद्या, काम, कर्म, वासना आदि वश 'अहं मम त्वं तव' इत्यादि जगत् के रूप से प्रतीत होती है ॥६३॥

साठवाँ सर्ग समाप्त

इकसठवाँ सर्ग

तत्त्वज्ञान प्राप्तिरूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए एवं जगत् के पदार्थों में
वैराग्य होने के लिए सृष्टि की असारता और असत्यता का अन्यान्य युक्तियों द्वारा वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, परब्रह्म को मैं देह हूँ, इत्याकारक अहंभाव से रहित देह में अहंभाव के कारण के बिना भी 'अहम्' ऐसी भ्रान्ति और परमाणु तथा क्षण के मध्य में इस जगत् की, जो कि बड़ा विस्तृत और चिरकालव्यापी प्रतीत होता है, स्थिति का कोई कारण नहीं है, फिर भी उसमें 'जगत्' ऐसी भ्रान्ति जैसी कल्पना और युक्ति से उदित होती है, इसे आप मुझसे फिर ऐसे ढंग से कहिये कि मेरी समझ में आ जाय ॥१॥

यद्यपि 'महाकल्पान्तसर्गादौ चित्स्वभावमिदं वपुः' इत्यादि से इसे आप कह चुके हैं, तथापि जिन युक्तियों के द्वारा ठीक ठीक समझ में आ जाय, उन युक्तियों से मुझसे कहिये, यह भाव है। जितनी भी भ्रान्तियाँ हैं, वे सब स्वरूपचैतन्य के मध्य में सन्निविष्ट हैं, इसी मुख्य युक्ति को पहले श्रीवसिष्ठजी कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, चूँकि ज्ञानी सब प्रकार की सकल भ्रान्तियों को स्वरूपचैतन्य के अन्दर ही स्थित सदा जानता है, कभी भी उससे अतिरिक्त कोई भी भ्रान्तियाँ नहीं है, अतः सब सर्वात्मक ही है। वह समता ही है। सबके सर्वात्मक होने पर तनिक भी विषमता शेष नहीं रहती। जब विषमता नहीं है, तब जन्म आदि विकारों की उपपत्ति कहाँ ? इसलिए अज (परमात्मा) ही वस्तुतः है, इस जगत् की भ्रान्ति कारण बिना हुई है, ऐसा जो कहा, वह ठीक ही कहा, यह भाव है ॥२॥

यदि किसीको यह शंका हो कि चैतन्य के अन्दर प्रतीत होनेमात्र से सब पदार्थों की सर्वात्मता कैसे सिद्ध हो सकती है ? उसका उत्तर यह दिया जाय कि एकमात्र चित् के (चैतन्य के) तादात्म्य से पदार्थों का स्फुरण होता है, अतः सब पदार्थ सर्वात्मक (चैतन्यात्मक) हैं, तो यह उत्तर भी ठीक नहीं जँचता, क्योंकि घटज्ञान, पटज्ञान इस प्रकार विभिन्न विषयों के तादात्म्य से चैतन्य में भी भेदज्ञान होता है, अतः वह भी भिन्न हो जायेगा, इस आशंका के समाधान के लिए कहते हैं।

चित् का भेद नहीं है। सब बोध, चाहे वे अर्थों के हों चाहे शब्दों के, ब्रह्म ही है। चित् भी ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है। विषयनिष्ठ भेद के सम्बन्ध से चित् में भेद प्रतीत होता है, विषय का निस्सारण होने पर चित् में भेद नहीं रहता।

शंका – उक्त अनुभव में विषयाकारता की प्रतीति होती है, अतः उसमें विषय के तुल्य भेद क्यों नहीं होता ?

समाधान – सम्पूर्ण विषयरूप शब्दार्थ और उनके अवयवरूप जो तत्–तत् आकार हैं, वे बोधों के नहीं हैं, क्योंकि चित् में जड़ आकार के रहने में कोई युक्ति नहीं है। जो आकार अनुभव में आता है, वह वृत्ति का ही है; बोधों का नहीं, यह तात्पर्य है ॥३॥

पूर्वोक्त रीती से चिद् में भेद का निरास होने पर जड़ के भेद का निरास करना भी कठिन नहीं है, क्योंकि जड़ भेद की सत्ता और स्फूर्ति चित् से अतिरिक्त नहीं है, ऐसा दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं।

जैसे कटकता सुवर्ण से पृथक् नहीं है और जैसे तरंगता जल से पृथक् नहीं है, वैसे ही जगत् भी ईश्वर से पृथक् नहीं है ॥४॥

जगत् के चित् से अभिन्न होने पर भी यदि कोई प्रश्न करे कि कारण के बिना जगत् कैसे उत्पन्न हुआ उसके उत्तर में यही कहना होगा कि जैसे कटक आदि का कनक कारण है, वैसे ही जगत् का कारण चित् है, इस शंका पर कहते हैं।

ईश्वर (चित्) ही जगद्–रूप हुआ है, यह जगत् ईश्वर का विवर्त है। यदि जगत् का ईश्वर से भेद होता, तो ईश्वर उसके प्रति कारण नहीं हो सकता, यह भाव है।

शंका – तो क्या जगद्रूप ही ब्रह्म है।

समाधान – नहीं, ईश्वर में जगद्रूप ही नहीं है। भाव यह कि विवर्त की पृथक् सत्ता नहीं होती। इसी प्रकार कटक कुण्डल आदि भी सुवर्णात्मक ब्रह्म के विवर्त ही हैं, सुवर्ण में कटक आदि पृथक् नहीं हैं, क्योंकि विवर्तकी पृथक् सत्ता नहीं होती, यह ऊपर कहा गया है ॥५॥

यदि कोई शंका करे कि एक की अनेकात्मता में विरोध होगा, तो उस पर समानसत्तावाले अनेक अवयवों के साथ एक अवयवी का समानसत्तावाला तादात्मय लोक में जब विरुद्ध नहीं है, तब कल्पित (न कि वास्तविक) अनेकों से वास्तविक ब्रह्मैक्य अविरुद्ध है, इसमें तो कहना ही क्या ? इस आशय से कहते हैं।

जैसे अनेक अवयवों का समुदायभूत अवयवी का रूप लोक में अविरुद्ध है, वैसे ही अनवयवभूत यानी नित्य चित् की एकात्मता कल्पित अनेक रूपों से अविरुद्ध है। एकात्मा होने पर सबको सर्वात्मता का लाभ होने से अनेकता हट जाती है, इससे भी विरोध का अभाव ही है ॥६॥

तो सबके अनुभव से सिद्ध 'जगत्' और 'अहम्' ऐसी भेदप्रतीति कैसे होती है ? इस पर कहते हैं।

सब प्राणियों में अन्दर स्थित समानकालिक जो ब्रह्मस्वरूपमात्र का अज्ञान है, वही परम ब्रह्म में 'जगत्' और 'अहम्' इस प्रकार भेद से प्रतीत होता है यानी यह भेदप्रतीति अज्ञानकल्पित है, वास्तविक नहीं है ॥७॥ जैसे स्फटिकशिला के भीतर, भेद न होने पर भी प्रतिबिम्बित वनपंक्तियों की स्थिति विरुद्ध नहीं है, वैसे ही चिद्घन परब्रह्म में उससे अभिन्न 'जगत्' और 'अहम्' भेदप्रतीति विरुद्ध नहीं है। भाव यह कि स्फटिकशिला में प्रतिबिम्बरूप वनपंक्तियाँ स्फटिकशिला से अतिरिक्त नहीं है, फिर भी भेद से उनका सन्निवेश उनमें प्रतीत होता है, जिसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है, वैसे ही ब्रह्म से अभिन्न ही यह जगत् ब्रह्म में भेद से प्रतीत होता है ॥८॥ जैसे तरंगशून्य जल के अन्दर तरंगें स्थित हैं, वैसे ही सृष्टिशब्दार्थ से शून्य परब्रह्म के अन्दर सृष्टियाँ स्थित हैं ॥९॥

यदि किसीको यह जिज्ञासा हो कि जैसे विलीन तरंगें महाजल में अवयवरूप से रहती हैं अथवा अवयवी समवायसम्बन्ध से अवयवों में रहता है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् की स्थिति तो नहीं है ? इस पर कहते हैं।

न तो सृष्टि में समवायसम्बन्ध से परब्रह्म रहता है और न सृष्टि ही अवयवरूप से परब्रह्म में रहती है। वास्तव में अवयव और अवयवी में भी परस्पर की आधारता उत्पन्न नहीं होती है। विचार कीजिए, अवयवों में समवायसम्बन्ध से रहता हुआ प्रत्येक अवयव में सर्वांश से रहता है अथवा कुछ अवयवों को लेकर ? प्रथम पक्ष में प्रत्येक अवयव में अलग–अलग अनेक अवयवी हो जायेंगे। ऐसी स्थिति में गाय के कान में भी सम्पूर्ण गाय रहेगी, अतः उसके दोहन आदि कार्य होने लगेंगे और अवयवों का विश्लेषण होने पर भी अवयवी का जाति के समान नाश नहीं होगा। दूसरे पक्ष में अनवस्था से अनन्त अवयव होने के कारण मेरु और सरसों में साम्य हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि जब प्रत्येक अवयव में कुछ अवयवों को लेकर अवयवी रहता है, ऐसा यदि माना जाय, तो जिन अवयवों को सद्भाव मानना पड़ेगा, फिर उन उन अवयवों में भी मानना होगा, ऐसी स्थिति में अनवस्थित अनन्त अवयव मानने होंगे, फलतः मेरु और रसों में समान परिमाण की प्रसक्ति होगी, क्योंकि दोनों के अवयव अनन्त हैं। इसी प्रकार अवयव भी अवयवी में क्या एक भाग में रहते हैं या सर्वांशमें ? पहले पक्ष में अनवस्था दोष होगा। द्वितीय पक्ष में अन्य अवयवों का समावेश न होने से तथा अद्वितीय ब्रह्म में अवयवों का सम्बन्ध नहीं होने से सम्पूर्ण द्रव्यों की निरवयवत्वापत्ति हो जायेगी, इसलिए अवयव और अवयवी की अनवयवों से ही यह सत्ता है, यह सिद्धान्त है ॥१०॥

दृष्टि–सृष्टिवाद के उपपादनक्रम से भी जगत् की चित् से अभिन्नता का अनुभव श्रीवसिष्ठजी करा रहे हैं यद्यपि चैतन्य निष्क्रिय (व्यापारशून्य) है, तथापि अविद्या में उसके प्रतिबिम्बित होने से वह अन्यथा अपनी कल्पना करता है, ऐसा कहते हैं।

परमार्थ चिद्रूप ब्रह्म, दर्पण में आँखों का प्रतिघात होने से अपने मुँह की नाईं, अविद्या में प्रतिबिम्बित अपनी संवित् से अपने चिन्मात्रस्वरूप प्रपंच के रहस्यभूत अज्ञानावृत अपने स्वरूप की ही ऐसी कल्पना करता है, जैसे कि वायु अपने में स्पन्द की कल्पना करता है ॥११॥

उसी समय अपने कारण में लीन हुए शब्दतन्मात्रा का आकाशरूप से आविर्भाव होता है।

यह शब्दतन्मात्रा, जो पहले अपने कारण में लीन थी, सर्वशक्तिमती माया से संवलित ब्रह्मरूप को धारण कर चित्त से अन्तःकरण में उसी क्षण में संकल्प के समान चिद्रूप आकाश के तुल्य स्फुरित होती है, वही आकाश की उत्पत्ति है ॥१२॥

वही (आकाशता को प्राप्त हुआ ब्रह्म ही) स्वयं अपने में स्वसत्तात्मक वायुता का, जिसके अन्दर स्पर्शतन्मात्रा का संस्कार उद्बुद्ध हो गया, ऐसे अनुभव करता है, जैसे कि पवन अपने में स्वयं स्पन्दता का (स्पन्दनक्रिया का) अनुभव करता है ॥१३॥ पवनात्मा को प्राप्त हुआ ब्रह्म ही स्वयं अपनी सत्तात्मक तेजस्ताको, जिसके मध्य में तेजस्तन्मात्रा का उन्मेष हो चुका है, ऐसे प्राप्त होता है, जैसे कि तेज स्वयं प्रकटता को प्राप्त होता है ॥१४॥ तेजस्ता को प्राप्त

हुआ ब्रह्म ही स्वयं निजसत्तात्मक जलत्व को, जिसके अन्दर रसतन्मात्रा स्थित है, ऐसे प्राप्त होता है, जैसे जल स्वयं द्रवता को प्राप्त होता है ॥१५॥

यदि कोई शंका करे कि जिस क्षण में नेत्रों के पलक खोलते हैं, उसी क्षण में तुरन्त ही जगत् का भान होता है । इस भान में आरोपक्रम की प्रतीति नहीं होती, ऐसी अवस्था में दृष्टिसृष्टि की उपपत्ति कैसे ? इस पर कहते हैं ।

यह चित् का चमत्कार ऐसा है कि इसकी प्रतीति का तराजू में जोखे हुए की नाईं कठिनाई से लक्ष्य करने योग्य निमेष के लाखवें हिस्से के तुल्य है, इस तरह का भी जो संवित् का जगदाकार स्फुरण है, वह करोड़ों कल्पों तक रहनेवाली सृष्टियों की परम्परा बन जाता है । चित् के स्फुरण में काल से अपरिच्छिन्न निमेष के लक्षतम (लाखवें) हिस्से का आरोप अथवा करोड़ों कल्पों का आरोप मायिक है, इसलिए वास्तविक में उसमें कोई विरोध नहीं है, यों आरोपक्रम की कल्पना हो सकती है, यह भाव है ॥१६,१७॥

जो अशुद्ध, जड़, देश और काल से परिच्छिन्न, दोषयुक्त, उत्पत्तिविनाशशील और काल में स्थित है, वह काल से परिच्छिन्न होता है, ब्रह्म तो ऐसा है नहीं, इसलिए कहते हैं ।

एक बार प्रकाशित न कि बीच बीच में रुक रुककर प्रकाशित यानी नित्य स्वप्रकाश, सृष्टि और प्रलय जिसके अन्तर्गत हैं, जन्म और विनाश से रहित तथा विक्रिया आदि दोषशून्य ब्रह्म निराधार स्थित है ॥१८॥

यदि कोई कहे कि उसके मध्य में यदि सृष्टि और प्रलय निहित है, तो अपवर्ग भी सृष्टियुक्त या प्रलययुक्त, यों विविध प्रकार का होना चाहिए, एक प्रकार का नहीं, इस पर कहते हैं ।

परमार्थ सत्य वस्तु के ज्ञात होने पर अपवर्ग होता है । उक्त परमार्थ वस्तु सृष्टियुक्त होने पर भी विषमता से रहित ही है । यदि उसका परिज्ञान न हो, तो परमार्थतः सृष्टिशून्य भी वह सृष्टिरूप होती है ॥१९॥ चैतन्यरूप जो ब्रह्म है, उसको ज्ञानी लोग अपने आत्मरूप से अपने में जैसा जैसा जानते हैं, वैसा–वैसा यानी उस उस प्रकार का वह ब्रह्म आत्मा में होता है यानी माया से तत् तत् सब आकारों को धारण करता है, क्योंकि वह सर्वानुगुण मायारूप शक्ति से युक्त है ॥२०॥

जगत् भी यदि शास्त्रीय चिद्‌विलासरूप दृष्टि से देखा जाय, तो परमार्थ सत्य ब्रह्म ही है । ब्रह्म भी यदि बहिर्मुख चक्षु आदि और मन से उत्पन्न वृत्ति से देखा जाय, तो असत्य जगत् ही है ऐसा कहते हैं ।

यदि जगत् परमार्थदृष्टि से देखा जाय, तो चिद् का विलास होने से तथा चित्यानुभवरूप होने से वह सत्य ही है । यदि ब्रह्म भी मन से संयुक्त ज्ञानेन्द्रियों से देखा जाय, तो वह भी असत्य ही है, क्योंकि वह सम्पूर्ण नामों को प्राप्त हुआ है । भाव यह है कि वाणी के अगोचर ब्रह्म का वाणी का गोचर वह रूप सत्य नहीं हो सकता ॥२१॥ जैसे वायु में चलन से पहले असत् के तुल्य वायु में आविर्भाव होने से सत् के तुल्य स्थित है, चलन के समय वायु की सत्ता का परिज्ञान होने से सत्य वायु में केवल स्थिरता से रहने के कारण असत्य–सा स्थित रहता है,

वैसे ही यह सृष्टि भी असत्‌रूप मूल अज्ञान में अधिष्ठानसत्ता से सत्कल्प तथा सत्य भी अधिष्ठान में असत्य मायारूप होने से असत्य सी स्थित है ॥२२॥ जैसे तेज के अन्दर आलोकता (चमक) अनन्य (अभिन्न) होती हुई भी भिन्न प्रतीत होती है, वैसे ही चिद्‌घन ब्रह्म में असत्यरूप विश्व की शोभा सत्य प्रतीत होती है ॥२३॥ जैसे खिलौना बनाने के लिए तैयार की गई गीली मिट्टी में न बनाये गये खिलौने रहते हैं, जैसे खिलौने बनाने के लिए प्रस्तुत काठ में खिलौने स्थित हैं और जैसे स्याही के चूर्ण में अक्षर स्थित रहते हैं, वैसे ही परब्रह्म में सृष्टियाँ स्थित हैं। ब्रह्मतत्त्वरूप मरुभूमि में त्रिजगत्‌रूपी मृगतृष्णा यद्यपि असत्य है, फिर भी मायावश सत्य–सी प्रतीत होती है यानी जैसे मरुभूमि में मृगतृष्णा अनन्य (अभिन्न) होती हुई भी अन्य–सी स्फुरित होती है वैसे ही ब्रह्मतत्त्व में असत्य भी यह त्रिजगत् सत्य प्रतीत होता है ॥२४,२५॥ भ्रमवश चिदाभासरूप जीव बना हुआ ब्रह्म सर्ग को ही अपना आत्मा जानता है और तत्त्वदृष्टि से परब्रह्म से अनन्य (अभिन्न) होने के कारण नहीं जानता है, जैसे कि बीज अपने अन्दर स्थित वृक्ष को नहीं जानता ॥२६॥ जैसे दूध में मिठास, मिर्चे में कड़ुवापन, पानी में तरलता (द्रवता) और वायु में चलन अभिन्नरूप से रहता है, वैसे ही परमात्मा में यह असत् विनाशिस्वरूप सर्ग चिद्रूप होकर स्थित है। यद्यपि यह परमात्मा से भिन्न नहीं है, तथापि अज्ञानवश भिन्न–सा लगता है। परब्रह्मरूपी सर्ग का जगत् के रूप से जो स्फुरण हुआ है, यह अकारण है, इसलिए वह ब्रह्मरूपी मणि से भिन्न नहीं है ॥२७–२९॥

यदि यह जगत् अकारण ही है, तब तो उत्पन्न ही नहीं हुआ, फिर उसका अनुभव कैसे होता है ?

वासना, चित्त, जीव आदि का अनुभव उत्पन्न हुआ है।

शंका – उसके उदय न होने का क्या उपाय है ?

समाधान– मन का नाश होने से वह उदित नहीं होता यानी मनोनाश ही उसके अनुदयका हेतु है।

शंका–मनोनाश कैसे होता है ?

समाधान– मनोनाश ज्ञानयोग में दृढ़ अभ्यासरूप पुरुषप्रयत्न से होता है ॥३०॥ कोई भी वस्तु कहीं भी और कभी भी न तो पैदा होती है और न नष्ट होती है। सब शान्त अविनाशी चिद्‌घन शिला के समान ठोस ब्रह्म ही है, इस श्लोक से अभिनयपूर्वक ज्ञानयोग का आकार दर्शाया ॥३१॥

जब तक चित्त रहेगा, तब तक परमाणु के पेट में भी सृष्टि की परम्परा का निवारण नहीं किया जा सकता, ऐसा कहते हैं।

परमाणु में चित्त से भ्रान्तिमय हजारों सृष्टियों के समूह के समूह उत्पन्न होते हैं, उनमें भी प्रत्येक परमाणु में सृष्टियाँ होती हैं, पर परमाणु के अन्दर सृष्टियों के समूह की समावेशपूर्वक स्थिति कैसे हो सकती है ? यानी परमाणु के अन्दर सृष्टियों के समूह की स्थिति असंभव है। वह कभी किसी प्रकार भी युक्त नहीं है, अतः मिथ्या ही है, यह अर्थ है ॥३२॥

अनिर्वचनीय मायाशक्ति के रूप से स्थिति तो तरंग आदि दृष्टान्त में भी समान है, ऐसा कहते हैं।

जैसे जल के भीतर तरंग आदि गुप्त और अगुप्त रहते हैं, वैसे ही जीव में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि शक्तियाँ भीतर स्थित हैं ॥३३॥

यदि पुरुष की भोगों के प्रति तनिक भी अरूचि हो गई, तो वह उतने से ही ऊँचे पद को प्राप्त हो गया, ऐसा श्रुति कहती है। स्मृति को भी उद्घृत करते हैं।

पुरुष जैसे-जैसे विरक्त होता है वैसे वैसे मुक्त होता है, इसलिए (ज्ञान-वैराग्य की दृढ़ता से) 'अहम्' इस प्रकार देह आदि का ज्ञान न करता हुआ यानी उनको न देखता हुआ कौन जन्ममरण भ्रान्ति को प्राप्त होगा, कोई भी नहीं ॥३४,३५॥ जो लोग परा (ईश्वर-चैतन्यरूप) अपरा (जीवचैतन्यरूप) क्रमशः ईश्वरचैतन्यरूप परा चिति को नामरूपात्मक जगत्कल्पनारूप उपाधि से रहित और जीवचैतन्यरूप अपरा चिति को चराचर देह आदिरूप निकृष्ट उपाधियों से शून्य और जन्म आदि विकारों से शून्य जानते हैं, वे संसारपर विजय पाते हैं यानी मुक्त हो जाते हैं ॥३६॥

परब्रह्म में व्यष्टि जीवरूप प्रकट अद्वितीय 'चिति' ऐसे रहती है, जैसे द्रवभूत जल के अन्दर आवर्त की रेखा रहती है, वही अहंकार से युक्त होकर इन जगतों को धारण करती है, परमात्मा में न तो जगत् सद्रूप है और न असद्रूप है। व्यष्टि के तुल्य समष्टि में भी अहंकार और संकल्प से-इन दोनों के कारण ही-अपने भीतर संसार की कल्पना होती है, ऐसा दिखलाते हुए उपसंहार करते हैं ॥३७॥

अहंकारमयी पद्मयोनि की भावनारूपी चिति संकल्प के भेद से जगत् की रचना करती है।

शंका - समष्टि चिति में व्यष्टि चिति की अपेक्षा क्या विशेष है ?

समाधान - समष्टिचिति हम लोगों के समान बहिर्मुख नहीं है, किन्तु अन्तर्मुख ही है, अनन्त (विष्णु) भगवान् के निमेष के करोड़वें हिस्सेरूप काल में युगान्तरूप (बहत्तर हजार यानी सात करोड़ बीस लाख दिव्यवर्षरूप) अपनी आयु का अनुभव करती है, अहो माया क्या नहीं कर सकती ! ॥३८॥

इकसठवाँ सर्ग समाप्त

बासठवाँ सर्ग

पहले जगत् की भ्रान्तिमात्रताका वर्णन तदुपरान्त जीवन्मुक्ति आदि की सिद्धि के लिए महानियति का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, परमाणु के लाखवें हिस्से की कल्पनामें हजारों ब्रह्माण्ड और निमेष के लाखवें हिस्से की कल्पना में हजारों कल्प दिखाई दे रहे हैं जो इस ब्रह्माण्ड के समान ही सर्वथा सत्य-से प्रतीत होते हैं ॥१॥ उनमें भी हर एक के अन्दर प्रत्येक परमाणु में इसी प्रकार की ब्रह्माण्डकल्पना और कल्प-कल्पना होती है, फिर उनके अन्दर

इस प्रकार इस कल्पना की कहीं समाप्ति नहीं है, यह अनन्त है, अतएव यह भ्रान्ति ही है, वह भ्रान्ति ही जगद्रूप से भासित हो रही है। वर्तमान, आनेवाली और अतीत सृष्टि–परम्पराएँ, जैसे जलराशि अपने अन्दर आवर्तों की परम्पराओं को धारण करती है तथा बहती है वैसे ही प्रातिभासिक सत्ता को धारण करती हैं और बहती हैं ॥२,३॥ इस महामरुरूपी जगत् में जैसे मरूभूमि में तटवर्ती वृक्षों और लताओं से गिरे हुए फूलों की कतार से भरी हुई मिथ्या नदी प्रतीत होती है, वैसे ही सृष्टि शोभा भी मिथ्या ही है यानी मरूभूमि में पहले जलनदी ही मिथ्या है फिर उसके तटवर्ती वृक्ष और लताएँ एवं उनके द्वारा बरसाये गये फूलों का समुदाय कहाँ ? सारी की सारी परम्परा मिथ्या है, वैसे ही यह सृष्टिशोभा भी मिथ्या परम्पराओं से पूर्ण है ॥४॥ स्वप्न और इन्द्रजाल के नगर के तुल्य, औपन्यासिक नगर और पर्वत के तुल्य, मनोरथ से कल्पित पुर और पर्वत के सदृश अथवा संकल्प के तुल्य असत्य ही यह सृष्टियों के अनुभव की भूमि प्रतीत होती है ॥५॥

तत्त्वज्ञान होने से सम्पूर्ण भ्रान्तियों के निवृत्त होने पर तत्त्वज्ञानियों की देहस्थिति का संभव नहीं है, ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ, पूर्वोक्त प्रकार के सम्यक् विचार से एक अद्वितीय ब्रह्म के अभेद से निर्विकल्प आत्मज्ञान होने पर तत्त्वज्ञानियों के भी शरीर यहाँ पर किसलिए रहते हैं ? यदि कहिये दैव से आक्रान्त राजा बलि आदि के समान वे यहाँ रहते हैं, तो वह भी नहीं हो सकता, क्योंकि तत्त्व–ज्ञानियों के ऊपर दैव की क्या दाल गल सकती है, क्योंकि 'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशत आत्मा ह्येषां स भवति' (तत्त्वज्ञानी पुरुष का अकल्याण करने में देवता समर्थ नहीं होते क्योंकि वह देवताओं का आत्मभूत ही है) यह श्रुति तत्त्वज्ञानी के विषय में देवताओं की असामर्थ्य कहती है। कृपया बतलाइए कि उनके शरीरों की स्थिति में कौन प्रबल कारण है ? ॥६,७॥

प्राणियों की अदृष्ट शक्ति को साथ लेकर ईश्वरसंकल्परूप महानियति ही जैसे सम्पूर्ण व्यवहारों की व्यवस्था करती है, वैसे ही वही विद्वानों (ब्रह्मवेत्ताओं) के शरीर की भी स्थिति में कारण होती है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामजी, यहाँ पर सम्पूर्ण जगत् के सुव्यवस्थित व्यवहार से रूपवती–सी ब्राह्मी चित्शक्ति है, जिसे नियति कहते हैं, वह अवश्यम्भाविनी और सम्पूर्ण कल्पों में रहनेवाली है ॥८॥

वह महानियति कबसे है और कैसे उसका रूप है ? इस पर कहते हैं।

सृष्टि के आदि में (अग्नि) आदि को इस प्रकार से (उष्णता, ऊर्ध्वज्वलन आदि स्वभाव से) सदा रहना चाहिए यों परमात्मा ही स्वयं संकल्पात्मवृत्तिरूप पदार्थवैचित्र्य को अप्रतिहतरूप से प्राप्त होता है, वही नियति है ॥९॥ वही नियति परमात्मा से अभिन्न होने से सम्पूर्ण जगतों की स्थिति, प्रकाश–सामर्थ्य, विवेक, क्रिया, जन्म, अर्थक्रिया आदि की हेतु होने से क्रमशः महासत्ता, महाचिति, महाशक्ति, महादृष्टि, महाक्रिया, महोद्भव, महास्पन्द नामों से कही

जाती है। सब जगत् इस प्रकार तृणों के समान परिवर्तित होते हैं, क्रूर स्वभाववाले दैत्य, सौम्य आकारवाले देवता, विशालाकार पर्वत, सर्प आदि यों उसने कल्पपर्यन्त व्यवस्था कर रक्खी है ॥१०-१२॥

परमार्थ दृष्टि से ब्रह्मसत्ता के समान व्यवहार में वह भी अव्यभिचरित है, ऐसा कहते हैं।

यद्यपि ब्रह्मसत्ता का व्यभिचार और आकाश में चित्रलेखन अत्यन्त असंभावित है तथापि उसका कभी (अज्ञानावस्था में) अनुमान हो सकता है, परन्तु नियति की स्थिति विपरीत हो, इसका तो अनुमान करना भी संभव नहीं है ॥१३॥

यह बात व्यावहारिक दृष्टि से कही गई है, तात्त्विक दृष्टि से तो ब्रह्म, नियति और सर्ग शब्द के अर्थ में कोई भेद नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

तत्त्वज्ञानी विरंचि आदि अज्ञानियों के बोध के लिए ब्रह्म ही वह नियति और यह सर्ग है, ऐसा कहते हैं ॥१४॥

यदि कोई शंका करे कि ब्रह्म अचल है और सृष्टि चंचल है, इसलिए उन दोनों की एकता कैसे हो सकती है ? उस पर कहते हैं।

जैसे आकाश में वृक्ष आकाश को पूर्ण करके स्थित है, वैसे ही यह सृष्टि आदि, मध्य और अन्तरहित तथा अचल ब्रह्म को पूर्ण करके स्थित है, अज्ञ की दृष्टि से चल के सदृश दिखाई देती है ॥१५॥

यदि कोई कहे कि हिरण्यगर्भ ने इस नियति को कैसे जाना, जिससे कि उन्होंने नियति के अनुसार ही सृष्टि की ? इस पर कहते हैं।

जैसे स्फटिकशिला के अन्दर प्रतिबिम्बित वनपंक्तियाँ रहती हैं, वैसे ही मायाशबल ब्रह्म में स्थित हिरण्यगर्भ ने जैसे सोया हुआ पुरुष अपने में स्वाप्नकल्पना के आधार आकाश को देखता है, वैसे ही नियतिरूपी भावी सृष्टि को देखा ॥१६॥ जैसे अंगी देह में अंगों को देखता है, वैसे ही हिरण्यगर्भ चित्स्वभाव होने के कारण नियति, आदिसृष्टि आदिरूप अंगों को देखता है ॥१७॥ दैव नाम से प्रख्यात यह (नियति) जो मोह से अभिभूत न होने से शुद्ध ईश्वरसंकल्परूप है, जगत् की व्यवस्थारूप से भूत, भविष्य एवं वर्तमान काल में स्थित सम्पूर्ण पदार्थों को खूब आक्रान्त कर स्थित रहती है ॥१८॥ अमुक पदार्थ में इस प्रकार स्पन्द होना चाहिए, अमुक को भोक्तृता पद प्राप्त होना चाहिए, इससे इस प्रकार अवश्य होना चाहिए, इस प्रकार दैव ही नियति है ॥१९॥ यही (महानियति ही) पुरुषचेष्टा, सम्पूर्ण तृण, पेड़, पौधे, झाड़ियाँ आदि है, यही सम्पूर्ण पृथिवी, जल, तेज वायु आकाश-पाँच भूतस्वरूप जगत् है और यही काल, क्रिया आदि स्वरूप है ॥२०॥ इससे पुरुष की अदृष्टसम्बन्धिनी सत्ता (फलावश्यम्भावरूप स्थिति) लक्षित होती है। जब तक तीन भुवन हैं, तब तक यह व्यवस्था है। प्रलय होने के पश्चात् ये दो सत्ताएँ एकात्मता से (अभेद से) स्थित होती हैं ॥२१॥ मनुष्य को अपने पौरुष से ही नियति सत्ता और पुरुषअदृष्ट सम्बन्धिनी सत्ता दोनों सत्ताओं को बनाना चाहिए। नियति और पौरुष भी इसी प्रकार प्राणी के अदृष्ट से निर्वाह्य हैं, इस क्रम से

इस प्रकार की नियति स्थित है ॥२२॥

बहुत क्या कहें, आपके शिष्यभाव से पूछने में मेरे द्वारा उपदिष्ट अर्थ के अनुष्ठान में भी नियति ही कारण है, ऐसा कहते हैं।

हे रामजी, आपको मुझसे पूछना चाहिए, इस विषय में भी दैवपौरुषनिर्णय ही हेतु है। आपको मेरे द्वारा उक्त पौरुष का पालन करना चाहिए, यह भी नियति कृत ही है। जो मुझे दैव खिलायेगा, इस प्रकार कोई मनुष्य दैव का अवलम्बन कर पौरुष प्रयत्न को न कर अजगर की वृत्ति धारण कर चुपचाप बैठा रहता है, वह भी उसके अनुरूप पूर्व जन्म के कर्मों से उद्बोधित नियति के कारण ही होता है, यह निश्चय है ॥२३,२४॥ यदि पहले भी कोई पुरुष निर्व्यापार ही रहेगा, तो बुद्धि नहीं होगी, बुद्धि से होनेवाले कार्य भी नहीं होंगे, कार्य से होनेवाले विकार नहीं होंगे और विकारों के गाय आदि से शरीरों के आकार नहीं होंगे। इस विषय में श्रुति भी प्रमाण है– 'यर्ह्येतन्न कुर्यात् क्षीयेत ह' (यदि कर्म न करेगा तो क्षीण हो जायेगा) इस प्रकार पुरुषकर्ममूलक ही कल्पपर्यन्त व्यवहारस्थिति होनी चाहिए, इस प्रकार नियति के कारण ही सब पदार्थ स्थित हैं, यह अर्थ है ॥२५॥ इसकी स्थिति ऐसी ही होनी चाहिए इस प्रकार की अवश्यभवितव्यतारूप नियति का रूद्र आदि की बुद्धि द्वारा भी उल्लंघन नहीं किया जा सकता ॥२६॥ बुद्धिमान् पुरुष ऐसा निश्चय कर पौरुष का कभी त्याग न करे, क्योंकि नियति पौरुषरूप से ही नियामिका होती है, यानी पूर्वजन्मों में किया गया पौरुष ही वर्तमान जन्म में नियतिरूप होकर 'इसे ऐसा ही होना चाहिए' ऐसा नियम करता है ॥२७॥

यद्यपि नियति और पौरुष शब्द का एक ही अर्थ है, फिर भी उपाधिभेद से उनमें भेद व्यवहार होता है, ऐसा कहते हैं।

पुरुष के प्रयत्नरूप से अविवक्षित (अनिच्छित) केवल ईश्वर के संकल्पमात्र से नियति कही जाती है, वही पुरुषप्रयत्न से सृष्टिफल से उपहित होकर पौरुष कही जाती है, क्योंकि पुरुष के प्रयत्न के आकार में परिणत न हुई नियति निष्फल है और पौरुषात्मिका सफल है। भाव यह है कि नियति पुरुषार्थ रूप फलप्रदान में असमर्थ है, अतः निष्फल है और पौरुष पुरुषार्थरूप फलप्रदान में समर्थ है अतः सफल है ॥२८॥

यदि कोई शंका करे कि जो पुरुष पौरुषशून्य होकर अजगरवृत्ति से रहे, उसको भी तो तृप्ति आदि फललाभ होता है, ऐसा देखा गया है, इस पर कहते हैं।

सचमुच देखा गया है, तथापि मुँह में ग्रास डालने और निगलने आदि कर्म से ही देखा गया है, जो नियति से मुझे तृप्ति हो जायेगी, यों सोचकर मूक बनकर अकर्मण्य होकर पौरूषशून्य रहता है, वह कदापि तृप्त नहीं हो सकता। जो वह क्षुधासे व्याकुल होकर कुछ काल तक जीता है, वह प्राणचलन आदि पुरुषप्रयत्न से ही जीता है। पौरुष के बिना कदापि तृप्ति आदि नहीं हो सकते, यह भाव है ॥२९॥ यदि निर्विकल्प समाधि में चित्त को शान्तिप्रदान करनेवाला प्राणनिरोध करता रहता है और उस प्रयत्न से साधु (तत्त्वज्ञानी) होकर यदि मुक्ति पा जाता है, तो वह मुक्तिप्राप्ति भी प्राणनिरोध आदि पौरुष का ही फल है, इसलिए पौरुष के बिना

किसी भी फल की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥३०॥ इसलिए शास्त्रीय पौरुष में तत्पर होना श्रेयका कारण होने से साधनरूप से श्रेयस्कर है और अत्यन्त अकर्मण्यतारूप मोक्ष फलरूप से श्रेय है–इन फल और साधनरूप श्रेयों की अपेक्षा ज्ञानियों का पक्ष सबल है, यानी कार्यसहित अविद्या के विनाश में समर्थ है, इस तरह दुःखरहित ही उनकी नियति है ॥३१॥ जो यह दुःखरहित नियति है, वह यदि ब्रह्मसत्ता की आभा में यानी स्फूर्ति में प्रयत्न से स्थिर की जाय, तो वही परम शुद्ध नामक परमगति जिसे श्रुति 'सा काष्टा सा परा गतिः' कहती है, प्राप्त ही हो गई, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥३२॥ जैसे पृथ्वी के अन्दर स्थित जलकी सत्ता (द्रवता) तृण, लता, वृक्ष, झाड़ियोंसे स्फुरित होती है, वैसे ही सर्वव्यापक ब्रह्म ही पूर्वोक्त नियति के विलासों से, जो कभी नष्ट नहीं होते, स्फुरित होता है ॥३३॥

बासठवाँ सर्ग समाप्त

तिरसठवाँ सर्ग

ब्रह्म मायाशक्ति के विलास से जिस प्रकार सर्वस्वरूप से और
सर्वतः स्फुरित होता है उसका प्रतिपादन।

'नित्यादिविलासैर्ब्रह्मैव विस्फूर्जति' ऐसा जो कहा, सो किसके कारण ? इस शंका पर कहते हैं।

श्रीवशिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, चूँकि यह मायाशबल ब्रह्म सम्पूर्ण वस्तुओं के रूपसे, सम्पूर्ण कालों में सम्पूर्ण देशों में सब पदार्थों का रूप धारण करने में सामर्थ्य युक्त है अतएव सर्वाकार सर्वज्ञ होने के कारण सबका नियमन करने में समर्थ है अतएव सर्वेश्वर, सर्वव्यापक और सर्वस्वरूप है ॥१॥

दूरत्व और तटस्थता का वारण करने के लिए 'सर्वगम् सर्वम्' ये दो विशेषण हैं।

यदि कोई शंका करे कि उसमें विप्रकर्ष और तटस्थता क्यों नहीं है, इस पर कहते हैं–

यह आत्मा है और सर्वशक्तिशाली है यानी आत्मा होने से और सर्वशक्तिशाली होने से यह विप्रकर्ष और तटस्थता से शून्य है।

शंका – यदि वह सबका आत्मा और सर्वशक्तिशाली है तो सबको सर्वत्र प्रकट क्यों नहीं करेगा ?

समाधान – सबको सर्वत्र–प्रकट नहीं करता, क्योंकि सर्वशक्तिशाली होने पर भी कहींपर यानी अन्तःकरणरूप उपाधि में जीवरूप से प्रवेश होने पर चित्शक्ति को प्रकट करता है, कहीं पर (सात्त्विक उपाधि में) प्रवेश करने से शान्ति को प्रकट करता है, कहीं पर (तामस उपाधि में) प्रवेश करने से जड़शक्ति को प्रकट करता है, कहीं पर (राजसोपाधि में) राग, लोभ आदि वृत्तियों का उल्लास प्रकटता है, कहीं पर कुछ यानी मिश्रित गुणों का कार्य होने से विशेष रूप से कथन के योग्य प्रकट करता है और सुषुप्ति और प्रलय में कुछ भी प्रकट नहीं करता ॥२॥

विभिन्न स्थानों में उसके विभिन्नरूपसे प्रकट होने में उसकी सत्यसंकल्पता ही कारण है, ऐसा कहते हैं।

जिस स्थान में, जिस काल में जिसकी जिस प्रकार से यह भावना करता है, वहाँ पर उस समय उसको वैसा ही देखता है ॥३॥

शक्तियों के आर्विभाव के अनुरूप ही इसकी विचित्ररूप से स्थिति है, ऐसा कहते हैं।

सर्वशक्तिमान् परमात्मा से जो जो शक्ति जैसे उदित होती है वह वैसे ही स्थित है। तब वह शक्ति स्वभाव से ही नाना प्रकार के रूपवाली होती है।

शंका – यह शक्ति और शक्तिमान् के भेद की कल्पना व्यवहारदृष्टि से ही है या परमार्थरूप से भी है ?

समाधान – शक्ति और शक्तिमान् के भेद की कल्पना व्यवहारदृष्टि से ही है परमार्थदृष्टि से नहीं। परमार्थदृष्टि से तो ये शक्तियाँ आत्मरूप हैं। बुद्धिमानों ने लौकिक व्यवहारकी सिद्धि के लिए इस प्रकार भेद की कल्पना कर रक्खी है, आत्मा में तनिक भी भेद नहीं है ॥४–६॥

जैसे सागर में छोटी–बड़ी तरंग और जल का, कंकण, बाजूबन्द से सोने का और अवयव तथा अवयवी का परस्पर भेद वास्तविक नहीं है, वैसे ही यह आत्मभेद वास्तविक नहीं है, किन्तु व्युत्पादक पुरुष की बुद्धि से परिकल्पित है ॥७॥ क्योंकि रज्जु आदि पदार्थ जिस प्रकार से यानी सर्प के आकार से प्रतीत होता है, वह उसी प्रकार का विवर्तरूप से होता है, न कि परमार्थरूप से, क्योंकि यह सर्प आदि रज्जु आदि के न तो बाहर उदित होता है और न भीतर ॥८॥ सर्वसाधारण को प्रकाशित करनेवाला साक्षिचैतन्य भोक्ता के अदृष्ट से उद्‌बुद्ध होकर कहींपर कुछ ही वस्तु को भ्रान्ति से देखता है, न तो सब ठौर उसीको देखता है और न स्वरूप को ही देखता है ॥९॥ यदि परमार्थदृष्टि से देखा जाय, तो यह विस्तृत प्रपंच ब्रह्म ही है। किन्तु मिथ्याज्ञानवाले व्यक्तियों ने शक्ति और शक्तिमान्, अवयव और अवयवी, इस प्रकार से भेद की कल्पना कर रक्खी है, यह भेद पारमार्थिक नहीं है ॥१०॥ इस प्रकार मिथ्याज्ञान से उपहित चिति, चाहे शास्त्रानुकूल हो, चाहे शास्त्र–विरुद्ध, जिसका कर्तव्यत्वेन संकल्प करती है, उस विषय में उद्युक्त होती है, अभिनिवेश से तत्–तत् विहित या निषिद्ध कर्म करके उसके फलभोगकाल में उसको देखती है। प्रथम सृष्टिसंकल्प से लेकर भूत–भौतिक देहों से भोग्य आदि सृष्टि से पुरुषभोगपर्यन्त सकल प्रपंचरूप ब्रह्मचिति ही प्रतीत हो रही है, अन्य कुछ भी नहीं है ॥११॥

तिरसठवाँ सर्ग समाप्त

चौसठवाँ सर्ग

भोग्य की विचित्र शक्तियों के आविर्भाव का निरूपण तथा भोक्ता की जीवत्वप्राप्ति के क्रम का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जो यह घट–घटव्यापी स्वयंप्रकाश, कारणों का भी कारण, महामहिमाशाली, विशुद्ध, जन्म और विनाश से रहित आत्मज्ञानान्दरूप

परमात्मा है, शुद्ध चैतन्यस्वरूपी इसी परमात्मानन्द से 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इस श्रुति से नामरूपविस्पष्टकरणरूप जगत्–सृष्टिसे पहले जीवोपाधि लिंगसमष्टि की उत्पत्ति से जीव उत्पन्न होता है, वही उपाधि की प्रधानता से चित्त कहलाता है, उससे यह जगत् उत्पन्न हुआ है ॥१,२॥

अखण्ड अद्वितीय स्वप्रकाश ब्रह्म में सखण्ड सद्वितीय जीवसत्ता कैसे उत्पन्न हो सकती हैं, इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, ब्रह्म होने के कारण अत्यन्त अपरिच्छिन्नतारूप वृद्धि को प्राप्त, स्वानुभव से वेद्य अद्वितीय ब्रह्म में छोटा–सा जीव पूर्वसिद्ध ब्रह्मता से विरुद्ध पृथक् सत्ता को कैसे प्राप्त होता है ? ॥३॥

सत्यस्वरूप अविद्यासम्बन्धशून्य ब्रह्म में परमार्थदृष्टि से जीवसत्ता का सम्भव नहीं है, किन्तु अविद्यासंवलित ब्रह्म में जीवसत्ता होने में कोई विरोध नहीं है, इस प्रकार विभाग करके कहने की इच्छा करनेवाले श्रीवसिष्ठजी पहले ब्रह्म के साधारण स्वरूप को कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, यहाँ पर विशुद्ध व्यापक ब्रह्म है, जिसमें द्वैतप्रतीतियाँ असत् हैं, जो असीम चैतन्यस्वरूप, अविनाशी और आनन्दस्वरूप है। एवं जो आत्मज्ञानी नहीं है, उनके लिए उसका स्वरूप बड़ा भयंकर है। जैसे कि वृद्ध पुरुषों ने कहा है – 'अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्व योगिनाम्। योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः।' (यह अस्पर्श योग सर्वयोगियों के लिए दुर्दर्श है, भयशून्य में भय देखनेवाले योगी इससे भयभीत होते हैं) ॥४॥

उनमें से पहले को दर्शाते हैं।

उसका जो सम, परिपूर्ण, शुद्ध, चिह्नरहित सत्स्वरूप है, जिसका कि ज्ञानी भी निर्देश नहीं कर सकते, वह शान्त परम पद है ॥५॥ उसीका मोक्ष होने तक, उद्भव बीज की सत्ता होने से, उदित हुआ–सा उपाधिस्वभाव से जो चलनशक्त्यात्मक (प्राणधारणरूप) संविदात्मक सत्त्वरुप है, वह जीवशब्द से कहा जाता है ॥६॥

उसीमें सब नाम और रूपों का व्याकरण होता है, ऐसा कहते हैं।

परम आदर्शरूप चिदाकाश में अनुभवरूप इन अनन्त जगज्जालपरम्पराओंका प्रतिबिम्ब पड़ता है ॥७॥

जगत् की विचित्रता की कल्पना के अनुरूप क्रियाशक्तिप्रधान प्राण बनना ही चित् का जीवभाव है, इसमें दृष्टान्त देते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, निर्मल चिदाकाश का प्राणाधीन चलनाध्यास होने से स्वाभाविक निष्क्रियता के छिप जानेपर जो अल्पसंवेदन यानी परिच्छेद भ्रान्ति (अहम्) उदित होता है, वही जीव है ॥८,९॥

जीवात्मा का जीवत्व जबतक मोक्ष नहीं होता, तबतक स्वाभाविक है, ऐसा कहते हैं।

जैसे वायु का चलन स्वाभाविक है, जैसे अग्नि की उष्णता स्वाभाविक है और हिम की

शीतलता स्वाभाविक है, वैसे ही आत्मा का जीवत्व भी स्वाभाविक है ॥१०॥ चिद्घन जो आत्मतत्त्व है, उसका स्वयं अपने स्वरूप के अपरिज्ञान के कारण जो अल्पज्ञान–सा (ज्ञानस्वरूप की परिच्छिन्नता–सी) है, वही जीव नाम से पुकारा जाता है। जैसे अग्नि की चिनगारी अपने को उद्दीप्त करनेवाले घी, तेल आदि की अधिकता से अपनी स्वाभाविक प्रकाशकता को प्राप्त होती है, वैसे ही वही जीव क्रमशः वासना की दृढ़तासे अहंकारता को प्राप्त होता है ॥११,१२॥ जैसे दर्शक पुरुष द्वारा अपने नेत्रों के गोचर न होनेवाले आकाशभाग में दौड़ाया गया नेत्र जहाँ तक पहुँच सकता है, वहाँ तक नीलिमा नहीं देखता जहाँ पर पहुँच कर आगे बढ़नेमें असमर्थ होता है, वहाँसे आगे उसका मार्ग नीला न होने पर भी उसे नीला दिखाई देता है, वैसे ही अहन्ता से रहित भी जीवकी अपने अगोचर अपनी आत्मा में अहंभावना होती है ॥१३॥ जैसे आकाश अपनी निबिड़ता से (घनतासे) नीलिमा को प्राप्त होता है, वैसे ही अपने पूर्व संकल्प के संस्कार से जाग्रत हुई अपने में अध्यस्त इस इन्द्रनील शिला के सदृश निबिड़ता से जीव अहंकार को ग्रहण करता है ॥१४॥ वायु के स्पन्द के समान स्फुरित हुआ अहंभाव आत्मा का दैशिक और कालिक परिच्छेद करता है, तथा स्वयं संकल्पवश उसने देह आदि का आकार धारण कर रक्खा है ॥१५॥

पूर्वोक्त चित्त आदि भेद अहंभावाध्यासमूलक है, ऐसा कहते हैं।

वही अहंकार संकल्पोन्मुख होकर अहंकाररूपसे रुद्र, चित्तरूप से विष्णु और जीवरूप से ब्रह्मा नाम से प्रसिद्ध है तथा क्रमशः उनके (रुद्र आदि के) ही मन, माया, प्रकृति–ये क्रियानाम हैं। उनमें संकल्पात्मक चित्त (ब्रह्मा) संकल्प से भूततन्मात्राओं की कल्पना करता हुआ चेतनात्मक पूर्व अवस्था से अवश्य च्युत होता है और जड़ प्रपंचरूप होता है। पंचभूत तन्मात्रता को प्राप्त हुआ वह चित्त (ब्रह्मा) तेजःकण बन जाता है। ब्रह्मभाव से अत्यल्प होने के कारण उसे कण कहा है। जिसमें अभी जगत् उत्पन्न नहीं हुआ ऐसे आकाश में वह तेजःकण मन्द प्रकाशवाले तारे के सदृश प्रतीत होता है ॥१६–१८॥ जैसे बीज अपने स्पन्दन से धीरे–धीरे अंकुरित होता है, वैसे ही अपने स्पन्दन से धीरे–धीरे पंचतन्मात्राओं की कल्पना करने के बाद चित्त तेजःकणता को धारण करता है ॥१९॥

पूर्वकल्प में विराट में आत्मोपासना करने से संस्कृत हुए जीव को स्थूलसमष्टिरूप हिरण्यगर्भता प्राप्त होती है, उससे अन्यको, व्यष्टि देहमें अहंभाव का संस्कार होने से, व्यष्टिस्थूल देह में अहंभाव प्राप्त होता है, इस प्रकार अन्तर कहते हैं।

जैसे जल जमने के कारण हिमरूप से तथा ओले के रूप से घनता (कठिनता) को प्राप्त होता है, वैसे ही अण्डनाम को प्राप्त हुआ वह तेजःकण, जिसके अन्दर श्रीब्रह्मा विराजमान रहते हैं, पूर्व जन्ममें मैं अण्ड हूँ, यों अण्डरूप से आत्मभावना करने से अण्डता को प्राप्त होता है ॥२०॥ कोई (जो उपासक नहीं है) और पुण्यात्मा ही, इस प्रकार दिव्य देह आदि की भावना से झटपट देव आदि की देह को प्राप्त होता है, देवादि देह, जो 'अहम्' नहीं है, उसमें अहंभावरूप भ्रान्ति को प्राप्त होता है, तथा गन्धर्वों से या अन्य देवताओं से सुरक्षित अमरावती आदि

नगरों में निवास करता है ॥२१॥ कोई पापी पुरुष अपने संकल्प से स्वयं वृक्ष आदि स्थावर योनिको प्राप्त होता है, कोई पशु–पक्षी आदि जंगम योनियों में प्राप्त होता है, कोई राक्षस, पिशाच आदि खेचर योनियों में जाता है, अपने संकल्पानुसार सबको स्वतः ही तत्–तत् योनियाँ प्राप्त होती हैं। सृष्टि के आदि में प्रथम उत्पन्न ही ब्रह्मारूपी जीव, जिसकी सूक्ष्म देह समष्टिरूप उपाधि है और अपने संकल्प से ही जिसकी उत्पत्ति हुई है, क्रमशः विरंचिका पद प्राप्त कर अपने संकल्प से अण्ड के भीतर जगत् की सृष्टि करता है ॥२२,२३॥

ब्रह्मा की सत्यसंकल्पता में पूर्व कल्प के सत्यसंकल्प ब्रह्मा ही मैं हूँ यह उपासना हेतु है, ऐसा कहते हैं।

पूर्वकल्प के सत्यसंकल्प ब्रह्मा की तादात्म्योपासना से उत्पन्न हुए ये ब्रह्मा जिस पदार्थ का संकल्प करते हैं, उसे तुरन्त अपने सत्यसंकल्पतारूप स्वभाव के कारण उत्पन्न हुआ ही देखते हैं ॥२४॥

पहले चिदात्मा नामरूपात्मक दो धर्मवाले जगत्की प्रख्याति में कारण होता है, चलन (क्रिया), विकार आदि में पश्चात्–भावी कर्म कारण होता है, ऐसा कहते हैं।

वे यानी ब्रह्म चैतन्यस्वभाव से सर्वकारणत्व और ब्रह्मत्व को प्राप्त हुआ है, पीछे संसार के कारण होकर कर्म के निर्माण में होते हैं ॥२५॥ जैसे जल से फेन (गाज) निकलता है, वैसे ही चिदात्मा से स्वभावतः चित्त (जीव) आविर्भूत होता है, जैसे नाव आदि की रस्सियों से जलसे निकला हुआ फेन पीछे बँधता है, जल नहीं बँधता है, वैसे ही पीछे जीव ही देहबन्धक कर्मों से बन्धनको प्राप्त होता है, चिदात्मा बन्धन में नहीं पड़ता ॥२६॥

लोक में देखा जाता है कि जो कोई कर्म करता है, वह पहले संकल्प करता है, तदुपरान्त व्यापार से घट आदि की रचना करता है, इससे पूर्वोक्त क्रम की सिद्धि में कोई भी सन्देह नहीं हो सकता, इस अभिप्राय से कहते हैं।

किसी कल्पना (रचना) का मूल कारण संकल्प है, संकल्प के बिना रचना हो ही नहीं सकती, इसलिए आत्मा ही जीव बनकर निष्क्रिय (निर्व्यापार) आत्मासे क्रमशः पृथक् होकर कर्म करता है ॥२७॥

पीछे होनेवाले कर्म पहले जीव में बीज में अंकुर के तुल्य वासना रूप से स्थित का ही आविष्कार करते हैं, किसी अपूर्व का आविष्कार नहीं करते हैं, इस आशय से कहते हैं।

जैसे बीज में स्थित जीव अपने जीवित को, जिसने सूक्ष्मरूप से पहले अपने अन्दर अंकुर को धारण कर रक्खा है, धारण करता है, पीछे अंकुर, पत्ते, तना, शाखा, टहनियाँ, पल्लव, पुष्प और फल के क्रम से नानात्व को प्राप्त होता है, वैसे ही हिरण्यगर्भ जीव अनेकता को प्राप्त होता है ॥२८॥ जो अन्य व्यष्टि–जीव हैं, वे भी इसी प्रकार अपने में वासनारूप से स्थित ही आकृति को (देह आदि के आकार को) प्राप्त हुए हैं। उनमें अन्तर इतना ही है कि वे हिरण्यगर्भ जीव के संकल्प के पहले उत्पन्न हुए ब्रह्माण्ड में देह को, जिसके माता–पितादिरूप भूत आश्रय हैं, प्राप्त होते हैं ॥२९॥ तदनन्तर जन्म और मृत्यु के कारण बने हुए अपने कर्मों से

ऊपर (ऊँच योनियों में) या नीचे (नीच योनियों में) प्राप्त होते हैं। चित् का जो स्पन्दन है, वह कर्म कहलाता है। सारांश यह कि इस लोक में चित् का जो स्पन्दन (स्फुरण) है, वही शुभाशुभरूप कर्म है, वही दैव भी कहलाता है और वही चित्त है। जैसे वृक्षसे उसके अवयवरूप शाखा, पत्ते, फूल, फल आदि पहले उत्पन्न होकर फिर फिर होते हैं, वैसे ही कारणभूत ब्रह्म से चित्स्पन्दरूप शुभाशुभकर्मवश भोक्तारूप प्राणियोंका समुदाय तथा उनके आधार और भोग्य भुवनों की फिर–फिर उत्पत्ति होती है ॥३०,३१॥

चौसठवाँ सर्ग समाप्त

पैंसठवाँ सर्ग

मन का, भोग्यसमुदायका और भोक्ता के मूल का तत्त्व चिन्मात्रशेष है, यह प्रदर्शन।

सम्पूर्ण कल्पनाएँ चित् से अतिरिक्त नहीं है, यह कहने के लिए मूलभूत मन की उत्पत्ति और स्थिति कारणसत्तारूप होने से कारणमात्ररूप ही है, ऐसा कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामजी, परमकारण से ही मन पहले उत्पन्न हुआ है, वह मनन स्वभाववाला है। जो कुछ भोग्य पदार्थ हैं, वे सब तदात्मक यानी मनोमय हैं। जो कोई दृश्य पदार्थ हैं, वे मन में ही स्थित हैं, वह मन भी परमकारण में स्थित हैं, यह इस प्रकार होता है और यह इस प्रकार नहीं होता, इस प्रकार के भाव और अभाव के विषय में वह झूले के समान दायें और बायें घूमता है। जैसे पहले अनुभव में आई हुई सुगन्ध स्मरण करने पर वहाँ पर विद्यमान न होने पर भी मनोरथ से देखी जाती है, वैसे ही उस मन से सत् और असत् के तुल्य प्रतीत होनेवाली यह सृष्टि देखी जाती है ॥१,२॥

मन ही जब भेददर्शन को कराता है तब मन के हट जानेपर केवल एक आत्मा के प्रतिष्ठित रहने से मन से कल्पित भेद भी हट जाता है, ऐसा कहते हैं।

मन के हट जाने पर ब्रह्म, जीव, मन, माया, कर्ता, कर्म, और जगत् की प्रतीतियों का कोई भेद नहीं रहता, केवल सब द्वैतों के एकमात्र आश्रय परमात्मा स्थित रहते हैं ॥३॥

भेद के नष्ट हो जानेपर अवशिष्ट आत्मस्वरूप को दिखलाते हैं।

जिसके विस्तार का आर–पार नहीं है, इस प्रकार के संवित्रूपी जल के असीम प्रसारों से चिदेकार्णव यह आत्मा स्वयं विजृम्भित (विकसित) होता है ॥४॥

चित् और जगत् का बाध होने पर कैसे सत् का परिशेष होता है ? ऐसी शंका कर जगत् स्थिर और अस्थिर इन दो अंशों से संयुक्त होने के कारण सत् और असद्रूप है, अस्थिर अंश का बाध होने पर स्थिर अंश के परिशेष रहने में कौन अनुपपत्ति है, इस आशय से कहते हैं।

अस्थिर होने के कारण असत्य तथा अवभासित होने के कारण सत्य यह मनोमय जगत् स्वप्न के समान सत् और असद्रूप है। जैसे स्वप्न के अस्थिर विषयांश का बाध होने पर स्थिर जो स्वप्नद्रष्टा है, उसका परिशेष दिखाई देता है, वैसे ही यहाँ पर भी समझना चाहिए ॥५॥

यद्यपि जगत् अत्यन्त असत् है, तथापि उसका कभी बाध नहीं दिखाई दिया, ऐसी आशंका

कर उसकी बाधयोग्य अनिर्वचनीयता कहते हैं।

जगत् न तो सत् है, न असत् है और न उत्पन्न हुआ है, केवल चित्त का भ्रम है यानी मिथ्या है।

शंका – यदि वह मिथ्या है, तो उसमें बहुतों को एकाकारता कैसे प्रतीत होती है ?

समाधान – सामाजिकों को विविध बुद्धियों की एकाकारताभ्रम वैसे ही होता है, जैसे ऐन्द्रजालिक की माया से क्षुब्ध हुए अनेक लोगों को इन्द्रजाल से बनी वस्तु में एकाकारता प्रतीति होती है ॥६॥

तब यह चिरकाल तक कैसे स्थिर रहता है ? इस पर कहते हैं।

जैसे भलीभाँति न देखने से स्थाणु में (ठूँठ में) व्यर्थ ही पुरुषप्रतीति होती है, वैसे ही मन द्वारा की गई आसक्ति के बल से संसार नामका यह लम्बा स्वप्न अज्ञों को प्राप्त हुआ है ॥७॥

यदि कोई शंका करे कि आत्मा अपने परिपूर्णानन्दस्वभावसे च्युत करनेवाले तथा सम्पूर्ण दुःखों के निदानभूत अपने मनोभाव का ही क्यों शोक नहीं करता ?

जैसे बालक स्वयं वेताल की कल्पना कर उससे होनेवाले भय के भली भाँती मन में जम जाने पर भय से परिपूर्णचित्त होने के कारण भय की हेतुभूत वेताल की कल्पना पर शोक नहीं करता, वैसे ही आत्मविषयक अज्ञान तथा अनात्माओं के दर्शन से चित्तभाव को प्राप्त हुआ भी आत्मा चित्तभाव से प्राप्त हुए अनर्थों के लिए शोक नहीं करता ॥८॥

चिदात्मा का विषयोन्मुखतारूप स्वभाव ही विविध अनर्थों की जड़ है, ऐसा कहते हैं।

नामरहित, सम्पूर्ण दिशाओं को अतिक्रान्त करनेवाला यानी सर्वव्यापक आत्मा का विषयोन्मुखतारूप स्वभाव होने से उससे चित्त की उत्पत्ति होती है, चित्तसे जीवत्व की उत्पत्ति होती है, जीवत्व से अहंभाव की उत्पत्ति होती है, अहंभाव से चित्तता होती है, चित्त की विषय तन्मात्रा से इन्द्रियाँ, उनसे देह आदि का भ्रम, देह आदि में (आत्मत्वभ्रम से) 'अहं मम' इस अभिमान से बीजांकुर के समान नानाकार्यपटु देह, कर्म; उनसे स्वर्ग और नरक तथा बन्ध और मोक्ष होते हैं ॥९–११॥

यह सारी–की सारी अनर्थपरम्परा जीव और ब्रह्म में भेदभ्रम से उत्पन्न हुई है, उन दोनों की एकता के बोध से उक्त भ्रम के बाधित होने पर बाधित हो जाती है, इस अभिप्राय से भेद का निषेध करते हैं।

चिदात्मा (ब्रह्म) और जीव में जैसे भेद नहीं है, वैसे ही जीव और चित्त में भी भेद नहीं है, जैसे ही जीव और चित्त में भेद नहीं है, वैसे ही देह और कर्म में भी भेद नहीं है ॥१२॥

सम्पूर्ण शास्त्रों के विचाररहस्य को एक उक्ति से संक्षेपतः कहते हैं।

वस्तुतः कर्म ही देह है, कर्म से भिन्नसत्ताविशिष्ट देह नहीं है, और देह ही चित्त है, वह चित्त ही अहंकार विशिष्ट जीव है, वह जीव ही ईश्वरचैतन्य है, वह आत्मा मंगल और सर्वात्मक है, यह सब एक पद से कहा गया है ॥१३॥

पैंसठवाँ सर्ग समाप्त

छासठवाँ सर्ग

द्वैत की केवल मनोमात्रता तथा इष्ट वस्तु के त्याग से और
ज्ञान से अज्ञानसहित मन के क्षय का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार जैसे दीपक से अनेकता को प्राप्त हुए सौ दीपक होते हैं, वैसे ही अद्वितीय परम वस्तु (चिदात्मा) ही अनेकता को प्राप्त होता है। अथवा केवल चेत्य (विषय) ही अनेक नहीं हुआ है, किन्तु पूर्वोक्त रीति से चित् में प्रत्येक उपाधि के भेद से अनेकत्व-सा हो गया है ॥१॥

जैसे चित् के अधीन जीवत्व की कल्पना से बन्ध होता है, वैसे ही चित्त के अधीन विचार और तत्त्वज्ञान से मुक्ति भी होती है, इस गूढ़ आशय से कहते हैं।

यदि पुरुष अपने अन्तःकरण में द्वैत के आग्रह से रहित, यथास्थित (अनारोपितरूप) तथा नामरूप से शून्य आत्मा का विचार करता है, तो वह वैसा ही उसे देखता है, तब वह शोक नहीं करता ॥२॥

यदि कोई शंका करे कि विचार से चित्त की शान्ति होने पर कैसे सब द्वैत की शान्ति होती है ?

जीव चित्तमात्र ही है, चित्त से अतिरिक्त नहीं है, चित्त के हट जाने पर यह जगत् शान्त (विनष्ट) हो जाता है, जैसे जिस पुरुष के चरण जूते से आवृत्त रहते हैं, वह समझता है कि सारी पृथिवी चमड़े से आच्छन्न है वैसे ही जिसका चित्त से छुटकारा हो जाता है उसकी दृष्टि में जगत् असत् है ॥३॥ जैसे केले के वृक्ष में पत्तों को छोड़कर और कुछ भी नहीं रहता, वैसे ही जगत् में भी केवल भ्रम को छोड़कर और कुछ नहीं रहता ॥४॥ पैदा होता है, बालक बनता है, जवान होता है, फिर बुढ़ापे को प्राप्त होता है, मरण, स्वर्ग और नरक को प्राप्त होता है, यह सब भ्रमवश चित्त का नाच है ॥५॥ जैसे आकाश में अनेक हजार बुद्बुद्के आकार की भ्रान्ति उत्पन्न करने में शराबकी सामर्थ्य है, वैसे ही ब्रह्माण्डरूपी अनन्त बुद्बुद्रूप तथा आत्मा से अभिन्न संसार को उत्पन्न करने में चित्त की सामर्थ्य है ॥६॥ जैसे मल से कलुषित नेत्र एक चन्द्र में द्वित्व देखता है, वैसे ही चित्तकी कला यानी भ्रान्तिजननशक्तिसे आक्रान्त यानी पराधीन की गई जीवचिति परमात्मामें द्वित्वको देखती है ॥७॥ जैसे शराब आदि के नशे में मस्त हुआ पुरूष नशे के कारण वृक्षों को घूमते हुए देखता है, वैसे ही जीवचिति चित्त से विक्षुब्ध (कल्पित) संसारों को देखती है ॥८॥ जैसे बालक खेलकूद में भ्रमण से जगत् को कुलालके चाक के समान घूमता हुआ देखते हैं, वैसे ही जीव चित्त से इस दृश्य को देखते हैं, इसमें सन्देह नहीं है। जब जीवचिति द्वित्वका अनुभव करती है, तब द्वैत और ऐक्य का भ्रम होता है। जब चिति द्वैत का अनुभव नहीं करती तब द्वैत और ऐक्यका विनाश हो जाता है ॥९,१०॥ जिसका अनुभव होता है, वह चित्से अतिरिक्त जड़रूप नहीं है, यानी प्रतीतिकाल में भी द्वैतसत्ता नहीं है।

शंका : तब चित्त की शान्ति कैसे होती है ?

समाधान : चित्त से अतिरिक्त जड़रूप कुछ नहीं है, यों दृश्यकी शान्ति होने पर विषय न रहनेपर निरिन्धन (काष्ठशुन्य) अग्नि के समान चित्त स्वयं शान्त हो जाता है ॥११॥

पुरूष जीवन्मुक्त कब होता है, इस शंका पर कहते हैं।

जब पुरूष चिद्घन परमात्मा से एकता को प्राप्त होकर निश्चल रहता है, चाहे वह समाधिमें लीन हो चाहे व्यवहार करता हो, तब संशान्त कहा जाता है ॥१२॥

अल्पज्ञ जीवकी चिद्घन के साथ एकता होने पर सर्वज्ञता ही होगी निर्विषयतारूप संशान्ति नहीं होगी, ऐसा यदि कोई कहे, तो उसपर कहते हैं।

अत्यल्प चिति विषय का अनुभव करती है, घन चिति विषय का अनुभव नहीं करती है, जैसे कि थोड़ा पागल पुरूष का चित्त चमक उठता है, लेकिन अत्यन्त पागल व्यापारशुन्य होकर रहता है।

भाव यह है कि चित्की सविषयता केवल चित्त्वसे नहीं होती किन्तु अविद्याविक्षेपयुक्त चित्त्ववश होती है।

उक्त सविषयता ज्ञान तथा समाधिकी दृढ़ता से उद्बुध्ध हुई चिद्घन की एकता से अविद्याविक्षेपके हट जानेपर दूर हो जाती है। जो ईश्वर आदिकी सर्वज्ञता है, वह भी मायिक ही है, वास्तविक नहीं है, अतः कोई दोष नहीं है ॥१३॥ जिसका ध्यान निरन्तर चिद्घन के सिवा अन्य विषयमें नहीं रहता है, अतएव चिद्घनरूप परमपदमें आरूढ़ यानी निर्विकल्प समाधि तथा आत्मसाक्षात्कार से युक्त चित्तका नैरात्म्य (स्वरूपशून्यता), शून्यवेद्य (निर्विषयता) आदि पर्यायशब्दोंसे प्रतिपादन होता है ॥१४॥

चित् में चेत्यता, जड़ता, संसारिता आदिकी कल्पना भी चित्त के कारण ही होती है, चित्तके शान्त होने पर चित्में उक्त चेत्यता, जड़ता आदि दूर हो जाते हैं ऐसा कहते हैं।

चिति चित्त के व्यापार द्वारा ही चेत्यताको प्राप्त होती है और 'मैं उत्पन्न हूँ, जीवित हूँ, देखती हूँ, संसार को प्राप्त होती हूँ', इस प्रकारके असत्य भ्रमको देखती है ॥१५॥

चेतन चित्त के व्यापारस्वभावसे अतिरिक्त नहीं है, वह समाधि तथा ज्ञानके अभ्यास से भले ही उपरत हो जाय, किन्तु चित्त कहाँ उपरत हुआ ? यानी अनुपरत ही रहा, ऐसी शंका पर कहते हैं।

चेतन चित्त के स्वभाव से अतिरिक्त नहीं है, जैसे कि स्पन्द को छोड़कर वायु का दूसरा स्वभाव नहीं है। जैसे उष्णता के हट जाने पर अग्नि शान्त हो जाती है, वैसे ही व्यापार के नष्ट हो जाने पर चित्त अवशिष्ट नहीं रहता, क्योंकि चेतनव्यापार के सिवा चित्त के अन्दर किसी दूसरे स्वरूप का कोई अनुभव नहीं करता ॥१६॥

इस प्रकार चित्त के हट जाने पर चित् में चैत्य का प्रकाश न होने से और जो वस्तु प्रकाशमान नहीं है, उसका साधक कोई दूसरा न होने के कारण उसकी असिद्धि होने से वह नष्ट रूप ही है, ऐसा कहते हैं।

चित् से जिस किसीका अनुभव होता है, वह चेत्य है, रज्जु में सर्पभ्रम के तुल्य प्रतीत होनेवाले उसे अविद्याभ्रम कहते हैं ॥१७॥ इस संसारनामक व्याधिका केवल ज्ञानमात्र से प्रतीकार हो सकता है, यह चित्तका एक व्यापारमात्र है, इसमें किसी प्रकारका आयास नहीं है। यदि आप सबका परित्याग कर वासनामय चित्त से रहित होकर स्थित हों, तो एक ही पलक में मुक्त हो जायेंगे, उसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है ॥१८,१९॥ जैसे सम्यग्-दर्शन से रज्जु में सर्पभ्रम निवृत्त हो जाता है, वैसे ही प्रत्यक्मुख होकर स्वतत्त्वदर्शन से यह संसार नष्ट हो ही जाता है ॥२०॥ जिस वस्तु की अभिलाषा हो, उसका सर्वथा त्याग कर यदि पुरुष से रहा जा सके, तो मोक्ष उसे प्राप्त ही है, केवल इतने में कौन-सी दुष्करता यानी कठिनाई है ॥२१॥ जब इस संसार में महामहिमाशाली पुरुष अपने प्राणों का भी तृण के समान परित्याग कर देते हैं, तब जिस वस्तु की केवल अभिलाषा है, उस वस्तुका परित्याग करने में कृपणता कैसी ? जिस वस्तु की अभिलाषा हो, उस वस्तु का अपने चित्त से परित्याग कर प्राप्त वस्तु का कर्मेन्द्रियों से आसक्तिरहित होकर ग्रहण करते हुए और नष्ट वस्तु का शोक न करते हुए आप स्थित रहिए ॥२२,२३॥ जैसे हाथ में रक्खा हुआ बिल्वफल अथवा सामने स्थित पर्वत सबके प्रत्यक्ष ही रहते हैं, तिरोहित नहीं रहते, वैसे ही उक्तलक्षण तत्त्ववेत्ता की जन्मादि विकारशून्य ब्रह्मता अत्यन्त प्रत्यक्ष ही है, किसीसे तिरोहित नहीं है ॥२४॥ जैसे प्रलयकालीन एक असीम समुद्र तरंगों से अनेक प्रकार का प्रतीत होता है, वैसे ही अप्रमेय आत्मा ही जगद्रूप से आविर्भूत होकर अज्ञ लोगों की दृष्टि से प्रतीत हो रहा है, वही ज्ञान से अभिव्यक्त होकर मोक्षरूप पुरुषार्थ को देता है और अज्ञात होकर पहले तो सम्पूर्ण अनर्थों के कारणभूत चित्तता (मनोभाव) के लिए होता है, तदनन्तर चिरबन्धन के लिए होता है ॥२५॥

छासठवाँ सर्ग समाप्त

सड़सठवाँ सर्ग

भोक्ता जीव के स्वरूपका प्रतिपादन।

समष्टि की प्रधानता से उक्त जीव को व्यष्टि की प्रधानता द्वारा स्पष्टरूप से जानने की इच्छा करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी फिर पूछते हैं।

भगवन् ! मन की सृष्टि करके 'मैं मन हूँ' यों मन के तादात्म्य का अपने में अध्यास करने से मनस्ता के योग्य यह जीव परमात्मा का क्या है ? क्या परमात्मा का अंश है ? अथवा कार्य है ? किंवा वह (परमात्मरूप) ही है ? यदि परमात्मा ही है, तो अपने में वह कैसे उत्पन्न हुआ ? यानी क्या परिणाम से उत्पन्न हुआ या विवर्त से ? यदि अपने में परिणाम से उत्पन्न हुआ है तो अनित्य हो जायेगा। यदि विवर्त से उत्पन्न हुआ है, तो वह बाध्य हो जायेगा। यदि अपने में उत्पन्न नहीं हुआ है, तो भोक्ता की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि परमात्मा से अतिरिक्त द्वितीय कोई है नहीं और परमात्मा में अशना (भूख) आदि का अभाव श्रुति स्वयं कहती है, इसलिए परमात्मा को भोक्ता कह नहीं सकते। यदि भोक्ता कोई अन्य है, तो वह कौन है ?

क्या परमात्मा सजातीय है या विजातीय है यों एक भी पक्ष संगत नहीं होता, इसलिए मेरे सन्देह को हटाने के लिए आप पुनः कहिए ॥१॥

जिसकी अनन्त और अचिन्त्य शक्तियाँ हैं, ऐसी मायाशक्ति से युक्त ब्रह्म, जो कि परमार्थरूप से अविकृत और अद्वितीय है, मायावश द्वितीयता को (भेद को) प्राप्त हुए-से अपने में विविध औपाधिक विकारों का आरोप कर असंख्य जीवों के वेश से और सर्वज्ञ ईश्वररूप से क्रीड़ा करने में समर्थ है, इसलिए पूर्वोक्त कोई भी दोष प्राप्त नहीं होता इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी समाधान के लिए भूमिका बाँधते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, सदा सब शक्तियों से परिपूर्ण ब्रह्म सब कुछ करने के लिए समर्थ है। वह जहाँपर जिस शक्ति से प्रस्फुरित होता है, वहाँ पर वह अपने को उसी शक्ति से सम्पन्न देखता है ॥२॥ सबका आत्मा ब्रह्म अनादिकाल से जिस चेतनरूपिणी को यानी चित्त के संस्कार से उपहित (उपाधियुक्त) चैतन्य को (जीवशक्तिको) स्वयं जानता है, वह इस समय 'जीव' नाम से पुकारी जाती है और वही संकल्परूपिणी है ॥३॥

अपने में स्वाभाविक द्वितीयता (भेद) ही आगे होनेवाले संसार की प्रवृत्तिका मुख्य कारण है, पहले-पहले के संकल्पों की वासनाओं से युक्त जीवचैतन्य तो केवल पीछे होनेवाली विचित्रता का कारण है, ऐसा कहते हैं।

आत्मा में स्वाभाविक द्वितीयता संसार का मुख्य कारण है, पूर्व पूर्व संकल्पों की वासनाओं से वासित जीवचिति तो पीछे जन्म, मरण आदि नाना भावों की कारण होती है ॥४॥

इसीसे मेरे प्रश्न के अवशिष्ट अंशका भी उत्तर हो चुका, यों सोच रहे श्रीरामचन्द्रजी उक्त जीवके जन्म-मृत्यु आदि के हेतु दैव, कर्म आदि को वस्तुतः जानने के लिए पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिश्रेष्ठ, आपके कथनानुसार जीवके स्वरूप के हृदय में प्रतिष्ठित होने पर मैं आपसे पूछता हूँ कि दैव किसको कहते हैं, कर्म किसे कहते हैं तथा कारण क्या कहा जाता है ? ॥५॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जैसे आकाश में स्पन्दस्वभाववाला और अस्पन्दस्वभाववाला वायु ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है, वैसे ही इस संसार में स्पन्दस्वभाववाला (रजोगुणप्रधान माया से उपहित) तथा अस्पन्दस्वभाव-वाला (शुद्ध) चिन्मात्र ही है, उससे अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, वह चेतन स्पन्द से उल्लासयुक्त (सृष्टि में तत्पर) होता है और स्पन्द न होने से शान्त ही रहता है ॥६॥

उक्त दो प्रकार के चिन्मात्रों में से प्रथम यानी स्पन्दस्वभाव (रजोगुणप्रधान माया से उपहित) चित् का विवरण करते हैं।

चित् द्वारा अपने स्वाभाविक चित्त्व की ही अविद्यावश यदि विषय के आकार में कल्पना (भावना) की जाय, तो चित्ताकार (विषयाकार) बना हुआ अपना स्वाभाविक चित्त्व ही विद्वानों द्वारा स्पन्द कहलाता है, यदि चिति अपने स्वाभाविक चित्त्वकी दृश्यत्वरूप से भावना नहीं करती है, तो उक्त स्वाभाविक चित्त्व अस्पन्द कहलाता है ॥७॥

स्पन्द से चित् की प्रपंचरूपता और अस्पन्द से निष्प्रपंचरूपता ऐसा निष्कर्ष होने पर

स्पन्द का ही जीव, कारण, कर्म, दैव आदि नाम से निर्देश होता है, ऐसा तात्पर्यार्थ कहते हैं।

चिति स्पन्द से सृष्टिरूप में स्फुरित होती है और स्पन्द के अभाव से अविनाशी ब्रह्मरूप है। जीव, कारण, कर्म आदि चित् के स्पन्द के ही नाम हैं। भाव यह कि वह चैतन्य ही प्राणस्पन्द की विवक्षा (प्रयोजन) से जीव कहलाता है, अपने भीतर स्थित कार्यों के आविर्भावरूप स्पन्द की विवक्षा से कारण कहा जाता है, शरीर आदि के स्पन्द की विवक्षा से कर्म कहलाता है। कर्म ही, जो कि सूक्ष्म अवस्थावाला, चिरकाल से स्थित और फल के आरम्भ में तत्पर होता है, दैव कहा जाता है ॥८॥

जीव, कारण, कर्म और दैव की ज्ञानरूप ब्रह्म की सत्ता के अवलम्बन से ही सत्ता और अपना कार्य करने की क्षमता है, ऐसा कहते हैं।

फलतः जो ही ज्ञानरूप है, वही उक्तरूप से चित् का स्पन्द (स्फुरण) है और वही जीव, कारण और कर्म नामवाला है एवं वह संसार का बीज है ॥९॥

जो यह पूछना था कि यदि जीव परमात्मा ही है, तो वह परमात्मा में कैसे उत्पन्न हुआ ? उसका उत्तर कहते हैं।

जिसने भेद की कल्पना कर रक्खी है, ऐसे चिदाभास के कारण (बुद्धि में आत्मा के प्रतिबिम्ब के कारण) चित्स्पन्द सृष्टिकाल में तत्–तत् विविध कर्मों के अनुसार पहले मरने के समय बुद्धि में प्राप्त हुए देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के शरीरों को और पूर्व के संकल्पों के अनुसार विविध भोग्य पदार्थरूपता को प्राप्त होता है। चित् का आभास यानी स्वीय अविद्या में प्रतिबिम्ब स्फुरित होकर जो द्वैत होता है उसी द्वैत से अर्थात् उक्त द्वित्वभाव से शास्त्र में उक्त क्रम से शरीर की उत्पत्ति होती है, इसलिए चित्स्पन्द ही अपने संकल्प के अनुसार सृष्टि के आदि में विविध भोग्य आकारों को प्राप्त होता है, यह भाव है ॥१०॥

विविध हजारों योनियों को देनेवाले कर्म, कारण और दैव को प्राप्त हुआ कोई चित्स्पन्द, जिसकी शास्त्रीय प्रवृत्ति मन्द है, चिरकाल में मुक्ति पा जाता है, किसीको मुक्ति पाने में हजारों जन्म बीत जाते हैं और कोई, जिसे ज्ञानाधिकार प्राप्त हो गया है, एक ही जन्म में मुक्त हो जाता है ॥११॥ जिस प्रकार की उपाधि से मिल जाय उस रूप से स्फुरण चित् का स्वभाव है जैसे कि प्रकाश नीले कपड़े में नीला, लाल में लाल और पीले में पीला होता है। उक्त स्वभाव के कारण ही चिति देह के जन्म के कारण अन्नरसों से, उनके द्वारा पिता–माता के शरीरों से ऐक्य को प्राप्त होकर धीरे धीरे स्वर्ग मोक्ष, नरक, वध, बन्ध आदि के कारणभूत देहभाव को प्राप्त होती है ॥१२॥ सुवर्ण में कटकत्व, केयूरत्व आदि के समान काठ और ढेले के समान जड़ देह में जन्म, वृद्धि आदि छः भावविकारों से उत्पन्न भेद रहता है। देह आदि उपाधियाँ पंचमहाभूतों की विकार हैं, पंचभूतों में भी पीछे–पीछे के पंचमहाभूत पूर्व पूर्व महाभूतों के विकार हैं, यों उनके अखण्डाकाशमात्र होने पर सत्य भेद का अवकाश नहीं है, इस आशय से सुवर्ण–कटक दृष्टान्त दिया गया है ॥१३॥

इस प्रकार भेद के मिथ्या होने पर भी जो जन्म आदि भेदज्ञान होता है, वह मन का भ्रम ही

है, ऐसा कहते हैं।

न तो यह नानात्व (भेद) अभी उत्पन्न हुआ है और न इसका स्वरूप ही सत् है तथापि मनका भ्रम इसे देखता है, जैसे भ्रम से पीड़ित पुरुष धूमते हुए नगर के पतन का अनुभव करता है, वैसे ही मनोभ्रम में भी मैं उत्पन्न हुआ, स्थित रहा, मरा इस प्रकार अनुभव करता है ॥१४॥

जितने भेदज्ञान हैं, उनका मूल 'अहम्, मम' यह भेदकल्पना ही है, उसके भी परमात्मा के स्वरूपका अज्ञान और भोग की आशाका संस्कार क्रम से मूल हैं, इस अभिप्राय से कहते हैं।

परमार्थ वस्तु का दर्शन न होने के कारण विवश हुआ चित्त 'अहम्, मम' इत्यादिरूप संसार को देखता है, जो असद्रूप ही है ॥१५॥

उक्त विषय में आगे कहे जानेवाले लवणोपाख्यान का दृष्टान्तरूप से निर्देश करते हैं।

जैसे मथुराधिपतिराजा लवण का अपने में 'मैं चाण्डाल हूँ' ऐसा भ्रम हुआ था, वैसे ही यह जगत्-स्थिति, जो कि चित्त की भ्रान्तिरूप है, स्फुरित होती है ॥१६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे जल तरंगरूप से स्फुरित होता है, वैसे ही मन की भ्रान्ति का प्रचुर उल्लासरूप यह सब जगत्रूप से स्फुरित होता है ॥१७॥ जैसे सौम्य (निश्चल यानी तरंगरहित) समुद्र से पहले थोड़ा थोड़ा जल का संचलन होता है यानी तरंग उठती हैं, वैसे ही मंगलमय कारणभूत परमात्मासे पहले चैतन्यकल्पनोन्मुखी (सृष्टि के उन्मुख) चिति (चेतनशक्ति) उदित होती है ॥१८॥ चिति-रूपी जल ब्रह्मरूपी समुद्र में स्फुरण से (संचलन या स्पन्दन से) जीवरूपी आवर्तता को धारण करता है तथा चित्तरूपी तरंगों को धारण करता हुआ बुद्बुद् रूपी सृष्टियों की रचना करता है ॥१९॥ हे सौम्य श्रीरामचन्द्रजी, अपने बोधमात्र से मायाबन्धनका विनाश करनेवाले या सिंह के सदृश अचिन्तनीय शक्तिवाले ब्रह्म का जो माया से देहधारण है, वही आत्मस्थित संविदाभास जीव के सदृश स्थित है, वही स्वयं विषयरूप-सा होकर स्थित है, उससे पृथक् नहीं है, *यह भाव है* ॥२०॥

जिन उपाधियों से जीव, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि शब्दों का भेद है, उनको कहते हैं।

वह चिति ही चिदाभास से जीव, संकल्प करने से मन, निश्चय करने से बुद्धि, स्मरण करने से चित्त, अभिमान करने से अहंकार तथा विक्षेपशक्तियुक्त होने से माया कहलाती है ॥२१॥

उनमें संकल्पप्रधान मन पहले शब्द आदि सूक्ष्म भूतों की (तन्मात्राओं की) कल्पना कर जगत् की कल्पना करता है, ऐसा कहते हैं।

मन पहले भूततन्मात्राओं की कल्पना करता है, तदनन्दर इस जगत् का विस्तार करता है, जो कि गन्धर्वनगर के तुल्य असत्य होता हुआ भी सत्य-सा प्रतीत होता है ॥२२॥

मन से कल्पित वस्तु मनसूबों से बनी हूई वस्तु के समान मिथ्या ही है, ऐसा कहते हैं।

जैसे आकाश में दृष्टि के विस्तार से मोतियों की मालाओं का दर्शन होता है और जैसे स्वप्न में नगर आदि का भ्रम होता है, वैसे ही यह चित्त से कल्पित संसार भ्रम ही है ॥२३॥

जगत् का साक्षी तो नित्य शुद्ध ही है, ऐसा कहते हैं।

विशुद्ध, क्षुधा, पिपासा आदि के अभाव से नित्यतृप्त–सा, शान्त तथा समस्थित आत्मा इस चित्तनामक स्वप्नभ्रमको न देखता हुआ भी देखता–सा है ॥२४॥ उस शुद्ध आत्मा का इन्द्रियों द्वारा बाहर निकलना जाग्रत कहा गया है, भीतर अहंभाव से युक्त उसीका हृदयसे कण्ठ तक निकलना स्वप्न कहा गया है, स्मरण के बीज वासनामात्र से हृदय में स्थिति सुषुप्ति है, केवल चिन्मात्ररूप से स्थिति तुर्यावस्था है ॥२५॥ इस प्रकार शोधित प्रत्यगात्मा की अत्यन्त शुद्ध सन्मात्र ब्रह्मात्मा में परिणति से निर्विकार जो स्थिति है, वही तुर्यातीत पद है, उस पद में स्थित पुरुष फिर शोक नहीं करता है ॥२६॥

अशोधित तत्पदार्थमें स्थिति की शंका का निवारण करने के लिए उसका शोधन 'तज्जलानिति शान्त उपासीत' इस श्रुति से परिदर्शित रीति के अनुसार दिखलाते हैं।

उसमें यह सब उदित होता है, उसीमें रहता है और उसीमें लीन हो जाता है, न तो यह ब्रह्म जगत्–रूप है और न उसमें जगत् का सम्बन्ध है, जैसे दृष्टि के विस्तार से आकाश में मुक्तावली का भ्रम होता है, वैसे ही मायावश इस जगत् का भ्रम होता है ॥२७॥

यदि उसमें जगत् का कोई संसर्ग नहीं है, तो श्रुति ने उसे जगत् का हेतु कैसे कहा ?

जैसे वृक्ष की उन्नति में (वृद्धि में) अवरोधक (रुकावट डालनेवाला) न होने से आकाश वृक्ष की उन्नति का कारण है, वैसे ही चैतन्यसमुद्र परमात्मा जगत्–सृष्टिका कर्ता न होने पर भी उसका अवरोधक न होने से कर्ता कहा जाता है। भाव यह कि माया द्वारा रचित सृष्टिका केवल निवारण न करनेमात्र से उसमें कर्तृत्व का उपचार होता है ॥२८॥ जैसे लोहे का बना हुआ दर्पण सन्निधिमात्र से प्रतिबिम्बका हेतु होता है, वैसे ही चेतनमय परमात्मा सन्निधिमात्र से पदार्थप्रतीति में कारण होता है। जैसे बीज, अंकुर, पत्ते आदि के क्रम से फल होता है, वैसे ही चिन्मात्र चित्त, जीव आदि के क्रम से मन होता है ॥२९,३०॥

यदि किसीको शंका हो कि प्रलयकाल में सबका लय होने पर चिति सदा वैसी ही स्वस्थ क्यों नहीं रहती, तो इस पर कहते हैं।

स्वर्गप्राप्ति के लिए किये गये पुण्य कर्म का स्वर्ग में भोग कर चुकने पर उसमें से जो अवशिष्ट अंश रह जाता है, वह अनुशय है। जैसे उक्त अनुशयवाले जीव से युक्त वृष्टि का जलबिन्दु वृक्ष, धान, गेहूँ के पेड़–पौधों में प्रविष्ट होकर फिर बीज होता ही है, उदासीन (बीज होने से विरत) नहीं होता, वैसे ही जीव की वासना से वासित चिति भी चेत्य, चित्त आदि की सृष्टि के रूप से फिर होती ही है, उसे छोड़कर स्वस्थ नहीं होती ॥३१॥

यदि कोई शंका करे कि जैसे बीज में सूक्ष्मरूप से स्थित वृक्षका और उसके बीज का बोध हो चाहे न हो, पर उसमें जो वृक्षजननशक्ति है, वह नष्ट नहीं होती वैसे ही चित्तात्मता को प्राप्त हुए जगत् और ब्रह्म का भी तत्त्वतः बोध हो चाहे न हो कोई अन्तर न होगा, ऐसी परिस्थिति में बोध की विफलता होगी, इस पर कहते हैं।

यद्यपि वृक्ष तथा बीज का बोध हो अथवा न हो, परन्तु सूक्ष्मरूप से बीज के मध्य में

स्थित जो वृक्ष और बीज हैं, उनकी वृक्षजननशक्ति नष्ट नहीं होती है, यह भेद प्रत्यक्ष दिखलाई देता है तथापि चित्तभूत जगत् और ब्रह्म में यह बात है ही नहीं यानी चित्तभूत जगत् और ब्रह्म का वास्तविक बोध हो जानेपर वृक्ष और बीज के समान उनमें सृष्टिजननशक्ति नहीं रहती है। क्योंकि बीज और वृक्ष के बोधमात्र से वास्तविक अखण्डित स्वरूप व्यक्त नहीं होता, ब्रह्मबोध से तो दीपक से रूपशोभा के समान वह चिन्मात्र के आलोक से दिखाई देनेवाला तत्त्व व्यक्त हो जाता है, यानी और बातों में समानता होने पर भी उन दोनों में इतनी विलक्षणता है ॥३२,३३॥

बोध की ऐसी सामर्थ्य कैसे है ? यदि कोई ऐसी शंका करे, तो उसपर बोध, विचारजन्य होने के कारण, तत्त्वावगाही है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे धरती का जो-जो स्थान खोदा जाता है, वह आकाश हो जाता है, वैसे ही जिस-जिस आविद्यक (अविद्याकृत) घट, पट आदि का विचार किया जाता है, वह अधिष्ठानभूत सन्मात्र हो जाता है ॥३४॥ जैसे स्फटिक के अन्दर प्रतिबिम्बित वन आदि यह प्रतिबिम्ब है, ऐसा जाने बिना सत्य प्रतीत होता है, वैसे ही शुद्ध ब्रह्म के अन्दर अद्वितीय भी यह जगत् भिन्न-सा प्रतीत होता है ॥३५॥ जैसे एक अखण्ड स्फटिकशिला फल, पत्ते, लता, झाड़ी और उनके आधार तथा उनके अन्तर्गत बीजरूप से स्थित है, वैसे ही यह ब्रह्म जगद्रूप से स्थित है ॥३६॥

इस प्रकार वर्णित जीव, मन, बुद्धि और अहंकारस्वरूप जगत् की मायामात्रता को सुनकर आश्चर्यमग्न हुए, गुरुवचनों में विश्वास होने के कारण स्वयं अनुवाद द्वारा उसका अनुमोदन करते हुए पंचभूत और तन्मात्राओं के इन्द्रियों सहित समष्टि, व्यष्टि, और स्थूल-शरीरभाव के उत्पत्तिक्रम को जानने के लिए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

भगवन्, अहो बड़े आश्चर्य की बात है कि यह जगत् स्वयं असत् हो कर भी सत्-सा प्रतीत होता है, क्षुद्र होता हुआ भी यह कैसा विस्तृत, कैसा स्वस्थ और कैसा स्पष्ट प्रतीत होता है ? यह कम आश्चर्य की बात नहीं है ॥३७॥ जिस प्रकार ब्रह्म में प्रतिभासस्वरूप और ओस के बिन्दु के समान तन्मात्रारूप गुण से युक्त यह ब्रह्माण्ड स्फुरित होता है, वह मैंने आपसे सुना। पर जैसे यह यथार्थस्वभावसिद्ध आत्मवस्तु से विपुलता को यानी समष्टि, व्यष्टि, स्थूलदेहता को प्राप्त होता है और जैसे व्यष्टि, समष्टि का उपभोग करनेवाला वैश्वानररूपवाला होता है, वैसा आप मुझसे कहिए ॥३८,३९॥

पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर देने के लिए सर्वप्रथम अत्यन्त असम्भावित अनिर्वचनीय स्थूलतापर्यन्त सम्पूर्ण वासनाओं से वृद्धि को प्राप्त हुए जीवभाव के आविर्भाव को दृष्टान्तपूर्वक दिखलाते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, जीव अत्यन्त असंभावित, अत्यन्त अननुभूत और अनन्य होता हुआ भी पहले अनुभूत-सा प्रतीत होता है। जैसे वास्तव में विकसित अंग से शून्य वेताल भी बालक के हृदय में विकसित अंगवाला होकर स्पष्टरूप से उदित होता है, वैसे

ही स्वस्वभावरूप जीवता परब्रह्म में उदित होती है ॥४०,४१॥

जो वस्तु अनुभूत नहीं है, उसका मनन नहीं हो सकता तथा अनुभव प्रमाण और प्रमेय के अधीन है, इसलिए मनोभाव के निमित्त प्रमाण और प्रमेयकी वासनाओं की उत्पत्ति कहते हैं।

वह जीवता, जो मानमेयरूप, शुद्ध, सत्य होती हुई असत्य के समान स्थित है, ब्रह्म से भिन्न न होती हुई भी भिन्न–सी प्रतीत होती है, ब्रह्म का बृंहणात्मक जो स्वरूप है, तद्रूप है ॥४२॥ जैसे ब्रह्म शीघ्र जीव, जिसका कल्पना ही स्वरूप है, हो जाता है, वैसे ही जीव मननवासना से उत्पन्न होने के कारण मन बन जाता है ॥४३॥ वह मन पंचतन्मात्राओं का मनन करने से अपने को पंचतन्मात्रारूप में आविर्भूत देखता है, यानी पंचतन्मात्राओं का मनन करने से पंचतन्मात्रा बन जाता है, यह भाव है। अविच्छिन्न दृग्रुपवाला और अतिसूक्ष्म वह पंचतन्मात्रात्मा शीघ्र चिदाकाश में स्फुरित होता है और उसके स्वतःप्रकाशमान होने पर अपनी सूर्य के समान प्रकाशमान अपरिच्छिन्न चित् दृष्टि द्वारा ओस के बिन्दु के सदृश ब्रह्माण्डरूप और मनुष्य आदि के देहरूप को अपने में देखता है ॥४४,४५॥

उसमें पहले शब्द और अर्थ के विभाग की स्फूर्ति से मोहाक्रान्त अहन्ताध्यास और तदनन्तर संसारतत्त्वस्मरण होता है, ऐसा कहते हैं।

जीव 'मैं क्या हूँ', यों तात्त्विक रूप से या मनुष्य आदि के आकाररूप से विशेषतया ज्ञान को प्राप्त नहीं होता है, मोहाक्रान्त संवित् को पहले देखता है, तदुपरान्त पुरुषार्थविचार के साथ हजारों पूर्व जन्मों के स्मरण से गर्भ में जगत् और तत्त्वशब्द के अर्थ को तथा ज्ञान को देखता है ॥४६॥

जीव की क्रमशः इन्द्रियों की कल्पना को कहते हैं।

तदनन्तर शरीरपिण्ड में अस्फुट अहंभाव के ज्ञान से शरीर के मुखरूप एकदेश में भावी रसनेन्द्रिय और उसके विषय रस के नाम से उपलक्षित रसनेन्द्रिय का क्षणभर में वह जीव अनुभव करता है ॥४७॥ तदनन्त शरीरपिण्ड में अस्फुट अहंभाव के ज्ञान से चक्षुरिन्द्रिय और उसके विषय रूप की ओर उन्मुख हुआ जीव शरीर के एक देश चक्षुगोलक में भावी नेत्रनाम से उपलक्षित चक्षुरिन्द्रिय होता है ॥४८॥ तदनन्तर शरीरपिण्ड में अस्फुट अहंभाव के ज्ञान से घ्राणेन्द्रिय के दर्शन के संकल्प से घ्राण हो जाता है, इस प्रकार श्रोत्र आदि के भाव में भी जबतक वह स्थित रहता है, तबतक शब्द आदि दृश्य का उपभोग करने का उसका स्वभाव हो जाता है ॥४९॥ इस प्रकारका वह जीवात्मा धीरे–धीरे काकतालीयन्याय के अनुसार पूर्ववासना से कल्पित स्वयं विशिष्ट देहादिसन्निवेश का अनुभव करता है ॥५०॥

श्रोत्र आदि इन्द्रियों के द्वारा उसका शब्द आदिभोग होने पर तत्–तत् इन्द्रियों में तादात्म्याध्यास के विषय में कहते हैं।

असत् होता हुआ भी सत् और सत्त्वसम्पन्न उस इन्द्रियादिसंघात के श्रोत्ररूप देहैकदेशता को श्रवण रूप क्रिया के लिए वह प्राप्त होता है। स्पर्शभावरूप त्वगिन्द्रिय–रूप देहैकदेशता को स्पर्शक्रिया के लिए प्राप्त होता है। रूपभाव यानी चक्षुरिन्द्रिय–रूप देहैकदेशता को

दर्शनरूप क्रिया के लिए देखता है, घ्राणेन्द्रियरूप देहैकदेशता को गन्धग्रहणक्रिया के लिए प्राप्त होता है ॥५१-५३॥ इस प्रकार उक्त और अनुक्त भावमय इन्द्रियों से भावमय देह में बाह्य पदार्थोंकी सत्ता को प्रकट करने में समर्थ भावी इन्द्रियनामक छिद्र को देखता है ॥५४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार आदि जीव यानी समष्टिरूप और अद्यतन (व्यष्टि) जीव का प्रतिभासस्वरूप आतिवाहिक ही शरीर उत्पन्न होता है ॥५५॥

ब्रह्म के ही अज्ञान से विविध आतिवाहिक देहों की प्राप्ति होती है और ज्ञान से आतिवाहिक देहों का नाश हो जाता है, ऐसा कहते हैं।

आतिवाहिक देह की यह परा सत्ता अवर्णनीय ही है। वह सत्ता ब्रह्म के अपरिज्ञानसे मानों आतिवाहिकता को प्राप्त होती है और ब्रह्मरूप सत्य आत्मा के परिज्ञान से उसका आतिवाहिक-भाव नष्ट हो जाता है ॥५६॥ जब ब्रह्म के परिज्ञान से प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय आदि ब्रह्मस्वरूप ही हैं, तब आतिवाहिक देहों की उक्तिका क्या प्रसंग है ? यानी वे तो ब्रह्मस्वरूप हैं ही। भाव यह है कि आतिवाहिक देहादि द्वारा अध्यारोप और अपवाद की कल्पना भी व्युत्पत्याधायक व्यवहारदृष्टि से ही है, परमार्थदृष्टि से नहीं है ॥५७॥

भेदज्ञान से आतिवाहिक ब्रह्म से अन्य प्रतीत होता है और ब्रह्मत्वज्ञान से तो वह आतिवाहिक ब्रह्म ही है। यदि ज्ञानानुसार ही वस्तु की सिद्धि है तो ब्रह्मत्वज्ञान और अन्यत्वज्ञान में विशेष क्या हुआ ? तो इस पर कहते हैं ?

ब्रह्मत्वज्ञानरूप संवित् भ्रान्तिजन्य नहीं है, अतः ब्रह्मत्वज्ञान प्रमात्मक है और अन्यत्वज्ञान भ्रमात्मक है ॥५८॥

यदि ऐसा है, तो चिदेकरस ब्रह्म में अज्ञान का सम्पर्क न होने से अज्ञान न होने के कारण जीवभेद की कल्पना ही नहीं होगी अथवा ब्रह्मैकत्व ही स्वतःसिद्ध होगा, अपने से अतिरिक्त मोक्षरूप फल और उसके प्रापक विचार का संभव हीं नहीं है, तो प्रवृत्ति कैसे होगी ? ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, अज्ञान का असम्भव होने से अथवा ब्रह्मात्मैकता की स्वतःसिद्धि होने से क्या मोक्ष है और क्या विचार है ? इसलिए भेदकल्पनाएँ विफल हैं ॥५९॥

क्या यह प्रश्न तात्त्विक वस्तु को जानकर किया गया है अथवा बिना जाने। यदि जानकर किया गया है, तो विचार की अनर्थकता से हमें कोई आपत्ति नहीं है, यदि बिना जाने किया गया है तो इस प्रश्न का अवसर ही नहीं है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी, सिद्धान्तकाल में ही आपका यह प्रश्न सुशोभित हो सकता है। अकाल में उत्पन्न फूलों की माला कितनी भी सुन्दर क्यों न हो, शोभा नहीं देती। क्योंक उससे उत्पातजनित अनर्थों की आशंका से भय होता है ॥६०॥ जैसे अत्यन्त शोभायमान भी अकाल-पुष्पमाला तत्काल में उपभोग सुख देने के कारण सार्थक भी क्यों न हो, तथापि औत्पातिक अनर्थों की जननी होने के कारण लोगों को हर्षित नहीं कर सकती, अतः वह अनर्थकारिणी ही है, वैसे ही परिपाकदशा को (सिद्धदशा को) जो जीव प्राप्त न हो, उसके

विषय में अकालोत्पन्न उक्ति अनर्थकारिणी ही होती है। पूर्व श्लोक में जो बात अर्थान्तरन्यास से सिद्ध की गई थी, वह इस श्लोक में उपमा द्वारा सिद्ध की गई है ॥६१॥ इस लोक में हेमन्त आदि काल धान आदि के अंकुरों की उत्पत्ति की प्रतिकूलता और जव आदि के अंकुरों की उत्पत्ति की अनुकूलता का दाता देखा जाता है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थों का काल द्वारा ही फल से सम्बन्ध होता है ॥६२॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी की मध्यपाती शंका का मखौल से ही समाधान कर 'अनाख्येयम्' यहाँ तक जो बात कही थी, उसी के अनुसार आतिवाहिक देहों की समष्टिसे उपहित हिरण्यगर्भ में पितामहत्व की कल्पना करते हैं।

इस प्रकार समष्ट्यात्मा जीवात्मा यानी हिरण्यगर्भ समय पाकर अपने में उन्नति को प्राप्त हुए पितामहत्व का अनुभव करता हुआ उपासना के परिपाक से फलीभूत उपास्यरूप से स्थित होता है ॥६३॥

वह प्रणव के उच्चारण से और उसके अर्थ के परिज्ञान से सम्पूर्ण प्रपंच की सृष्टि करता है, ऐसा कहते हैं।

ॐकार के उच्चारण और तदर्थ के परिज्ञान से जो संकल्प करता है, तुरन्त तन्मय हो जाता है अर्थात् संकल्पानुसार पदार्थों को प्रकट देखता है ॥६४॥

इस प्रकार व्यष्टि के संकल्प के अनुसार समष्टि का संकल्पस्वरूप यह जगत् मिथ्या ही है, ऐसा फलितार्थ कहते हैं।

व्यापक आकाश में यह सब तलमलिनत्व आदि के समान कल्पित है और जब मेरु आदि पर्वतों की उन्नत आकृति भी आकाश ही है, फिर छोटों मोटोंकी तो बात ही क्या है, क्योंकि वायु आदि के क्रम से सम्पूर्ण जगत् आकाश में ही आरोप द्वारा वृद्धि को प्राप्त हुआ है, अतः उसमें और तलमलिनता आदि में क्या अन्तर है ? ॥६५॥

इस प्रकार सृष्टि का प्रतिपादन प्रपंच के मिथ्यात्व का बोधन करने के लिए ही है, वास्तविक सृष्टि के प्रतिपादन के लिए नहीं है, इस अभिप्राय से 'न निरोधो न चोत्पत्तिः' इत्यादि श्रुति के आशय को अभिव्यक्त करते हैं।

यहाँ न तो कोई वस्तु उत्पन्न होती है और न कोई विनष्ट होती है, ब्रह्म ही जगद्रूपी गन्धर्वनगर के आकार से स्फुरण को प्राप्त होता है ॥६६॥

जीवत्व भी जगत्कोटि में ही है, ऐसा दर्शाने के लिए जगत् की सत्ता जीवसत्ता के तुल्य है, ऐसा कहते हैं।

जैसे हिरण्यगर्भ आदि जीवों की सत्ता सदसन्मयी यानी यौक्तिक दृष्टि से विचारसहन नहीं कर सकती, वैसे ही नीचे कीट, पतंग आदि तक और ऊपर देवयोनिपर्यन्त सबकी सत्ता विचार सहन नहीं कर सकती ऐसी ही है यानी अनिवर्चनीय ही है ॥६७॥

परमार्थदृष्टि से तो कहते हैं।

ब्रह्मा से लेकर कीट, पतंगपर्यन्त प्रसिद्ध संवित्ति (वृत्त्यात्मक ज्ञान) से अनुभवारूढ भी

यह संवत्संभ्रम असत् ही है, क्योंकि इसका सम्यक् ज्ञान से बाध हो जाता है ॥६८॥

'आब्रह्मकीटसंवित्तेः' इस अंश का उपपादन करते हैं।

जैसे ब्रह्मा उत्पन्न होता है, वैसे ही कीड़ा भी उत्पन्न होता है।

शंका – कीड़े में क्षुद्रकर्मता कैसे ?

समाधान – भौतिक मालिन्य के आधिक्य से कीड़ा क्षुद्र कर्म करता है। जीव में जो ही विषयोन्मुख चैतन्यरूप जीवन है, वही उसमें पौरुष है, वही फलरूप में पर्यवसन्न होनेवाला कर्म है, वह कर्म ही पौरुष है। यानी उपाधि का अनुसरण करनेवाली जीवता है और जीवता का अनुसरण करनेवाला पौरुष है, पौरुष ही फलपर्यवसायी कर्म है और उक्त कर्म ही पौरुष है ॥६९,७०॥

उन दो में सुकृतरूप सार के उत्कर्ष की चरम सीमा का फल ब्रह्मता (ब्रह्मा का पद) है, और दुष्कृतरूप सार के उत्कर्ष की चरम सीमा का फल कीटता (कीड़े का पद) है, इस प्रकार वैचित्र्य के कारण भिन्न होने पर भी दोनों में अज्ञानचिन्मात्रप्रयुक्त जो द्वैत–भ्रान्ति है और ज्ञानमात्र से उसका विनाश होता है, ये दोनों में समान ही हैं, ऐसा कहते हैं।

ब्रह्मा का पुण्य से आविर्भाव होता है, और कीड़े का पाप से। चिन्मात्र के अज्ञान से भ्रान्ति होती है और उसके ज्ञान से भ्रान्ति का क्षय हो जाता है ॥७१॥

यदि कोई शंका करे कि जब तक प्रमाता प्रमाण से प्रमेयरूप द्वैत का अनुभव करता है, तब तक द्वैत है और उसके नष्ट होने पर ऐक्य ही है, इस प्रकार सबका क्रमशः द्वैत और ऐक्यस्वभावत्व ही वास्तविक क्यों न मान लिया जाय, इस पर कहते हैं।

द्वैत मातृ (प्रमाता) और मान (प्रमाण) से प्रमेय नहीं है, क्योंकि मातृ, मान आदिरूप द्वैत को भी अन्य मातृ, मान आदि की अपेक्षा होने के कारण अनवस्थापत्ति हो जायेगी। मातृ, मान आदिकी चिन्मात्रता होने पर द्वैत और ऐक्य के साधक अन्य का अभाव होने से द्वैत और ऐक्यवाद खरगोश के सींग और आकाशकुसुम के तुल्य हैं ॥७२॥

यदि शंका हो कि मान से मेय यदि द्वैत नहीं है, तो करोड़ों कुदालों से दुर्भेद्य भुवन आदिभाव दृढ़तारूप द्वैत कैसे प्रतीत होता है, तो इस पर कहते हैं।

ब्रह्मानन्दरूप आत्मा ही बन्धन में डालनेवाला भुवन आदि भाव की दृढ़ता रूप द्वैत है, ऐसा भ्रान्ति से प्रतीत होता है, जैसे रेशम के कीड़े द्वारा अपनी लार की दृढ़तारूप बन्धन का अनुभव किया जाता है, वैसे ही आत्मा के द्वारा भी स्वबन्धक भुवनभावदृढ़ता रूप द्वैत का अनुभव किया जाता है ॥७३॥

यदि बन्धन स्वकल्पित ही है, तो प्रत्येक पुरुष में उसकी अभिलाषा के अनुसार ही कल्पना होगी, अनिष्टकल्पना नहीं होनी चाहिए, ऐसी आशंका पर कहते हैं।

सब मनों के समष्टिरूप ब्रह्मा ने भोक्ता के कर्मानुसार जिस जिस वस्तु को जिस प्रकार स्रष्टव्यरूप से देखा और जैसे कार्य के लिए उसकी कल्पना की, वह वस्तु अन्य जीवों द्वारा वैसी ही देखी जाती है क्योंकि नियति का ऐसा निश्चय है ॥७४॥

वट के बीज से वटका अंकुर होता है, कुटज के बीज से वट का अंकुर नहीं होता और बुद्बुद कुछ ही निमेष तक रहते हैं, ब्रह्माण्ड महाकल्प तक रहता है, इस प्रकार हेतु, फल आदि की नियति के बल से भी अपनी इच्छा के अनुसार कल्पना नहीं की जा सकती, ऐसा कहते हैं।

जो वस्तु जिससे उदित हुई है, उसके बिना वह उदित नहीं होती। निमेष भर कोई रहे या कल्प भर कोई रहे, यह नियति का निश्चय है ॥७५॥

हम लोगों की अस्वतन्त्रता के प्रभाव से और नियति द्वारा निर्धारित शक्ति, काल आदि की व्यवस्था के देखने से यह जगत् सत्य ही है, ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

यह जगत् मिथ्या ही उत्पन्न हुआ है और मिथ्या ही वृद्धि को प्राप्त होता है, भोगकाल में यह मिथ्या ही रोचक प्रतीत होता है और मिथ्या ही विलीन होता है ॥७६॥

तीन सर्गों में पद्यों द्वारा जो अर्थ विस्तारपूर्वक कहा गया है, उसीको गद्यों द्वारा संक्षेप से दिखलाते हैं।

शुद्ध सर्वव्यापक ब्रह्म अनन्त और अद्वितीय है, भ्रान्तिवश अशुद्ध–सा असत्–सा, नाना–सा, असर्वव्यापक–सा ज्ञात होता है ॥७७॥ जैसे जल भिन्न है और तरंग भिन्न है, ऐसी मूर्खों की कुकल्पना से अवास्तविक भेद प्रतीत होता है, वैसे ही जो यह जगत् का भेद प्रतीत होता है, वह भी अवास्तविक है केवल अज्ञानियों ने उसकी कल्पना कर रक्खी है। *जल का तरंग परिणाम है, यह माना जाय तो विवर्त स्फुट नहीं होगा, इसलिए दूसरा दृष्टान्त देते हैं।* जैसे रज्जुमें सर्प की स्थिति है, वैसे ही ब्रह्म में ही शत्रु और मित्र के समान विरुद्ध और अविरुद्ध कभी भी अपने स्वभाव का परित्याग न करनेवाली भेदाभेदशक्तियों की स्थिति है। जैसे जल तरंगों की कल्पना से द्वित्व का विस्तार करता है, जैसे सुवर्ण कटक की कल्पना से द्वित्व का विस्तार करता है, वैसे ही उसी अद्वितीय प्रत्यक् आत्माने मानों द्वित्व का विस्तार कर रक्खा है। अतः उस आत्मा से स्वयं अन्य आत्मा का अनुभव होता है ॥७८,७९॥ इस ब्रह्म से निर्विकल्प जगत् का स्फुरण हुआ, वही सविकल्पता को प्राप्त होकर मन बन गया, उसने अहंभावकी कल्पना की। यह पहले निर्विकल्प प्रत्यक्षरूप था, वह मन होता है, शीघ्र 'अहम्' शब्द के अर्थ की भावना करने से 'अहम्' होता है ॥८०॥ तदनन्तर मन और अहंकार से अनुभव के अनुसार स्मृति उत्पादित हुई, मन, अहंकार और स्मृति–इन तीनों ने स्मृति द्वारा अनुभूत यानी अनुभवानुसार स्मरण किये गये तन्मात्राओं की कल्पना की (सृष्टि की), तन्मात्राओं में चित्तरूप जीवने ब्रह्मरुप उपादानकारण से अनन्तब्रह्माण्डों से विस्तृत संसारसागर की काकतालीयन्याय से कल्पना की ॥८१॥

पूर्व में जिसका वर्णन किया गया है, उस सृष्टिक्रम का लोक भी ठीक ऐसे ही स्वप्न में अनुभव करते हैं, ऐसा कहते हैं।

मन जिस वस्तु की कल्पना करता है, उसको देखता है।

शंका – स्वप्न के पदार्थ प्रातिभासिक असत् होते हैं, वे व्यावहारिक सत् पदार्थों के दृष्टान्त

कैसे हो सकते हैं ?

समाधान – चिरकाल से उस पदार्थ की भावना से युक्त चित्त जिस वस्तु की कल्पना करता है, वह सत् हो चाहे असत् हो, उसको अवश्य देखता है। दर्शन से सत्य के समान प्रतिभासित हुआ वह शीघ्र व्यवहारोपयोगी बन जायेगा ॥८२॥

सड़सठवाँ सर्ग समाप्त

अड़सठवाँ सर्ग

कर्कटीनामक राक्षसी का तथा सम्पूर्ण प्राणियों को मारने की इच्छा से की गई उसकी उग्र तपस्या का वर्णन।

विस्तार और संक्षेप से पहले वर्णित अर्थ को दृढ़ करने के लिए 'कर्कट्युपाख्यान' नामक इतिहास द्वारा राक्षसीका किरातराज तथा मन्त्री के साथ हुए संवाद को कहने की इच्छा से कर्कट्युपाख्यान का अवतरण करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी इसी विषयमें राक्षसी द्वारा कथित अनेक प्रश्नों से युक्त इस प्राचीन इतिहास को कहते हैं, जिसमें कि तात्त्विक विचारसे सम्पूर्ण जगत् स्थित है ॥१॥ हिमालय पर्वत के उत्तर बगल में काजल के पंक से या काजल के पर्वत से बनाई गई प्रतिमा के समान काली, उग्र कर्म करनेवाली कर्कटीनाम की राक्षसी थी। उसके दो नाम थे–एक विसूचिका और दूसरा अन्यायबाधिका। वह विन्ध्याचल के समान शरीर से शुष्क और बड़ी कृशता को प्राप्त हुई थी। वह बड़ी बलवती थी, उसके नेत्र अग्नि के सदृश देदीप्यमान थे, उसका शरीर इतना विशाल था कि वह आकाश और पृथिवीके मध्यवर्ती भाग को अपने शरीर से आधा भर देती थी। वह नीले वस्त्र पहनती थी और ऐसी काली थी कि मालूम पड़ता था मानों मूर्तिमती अँधेरी रात हो। कुहरारूपी वस्त्र से वह आच्छादित रहती थी, बड़े विशाल बादल ही उसके उत्तरीय वस्त्रका काम देते थे, वह जलसे भरे मेघमण्डल के समान उल्लास को प्राप्त हुई थी, कभी नष्ट न होनेवाले अन्धकार के समान काले उसके केश थे, सदा रहनेवाली बिजली की रेखा के समान उसके नेत्र थे, उसकी पिण्डलियाँ तमाल के पेड़ के समान लम्बी थी, वैदूर्यमणि के रंग के समान रंगवाले तथा सूप के अग्रभाग के आकार के समान आकारवाले उसके नख थे, भस्म और तुषार के समान उसका हास था, मांसरहित अनेक नरकंकालरूपी फूलों की माला ही उसका अलंकार था, सर्वांगमें खूब पिरोई गई नरमाला से वह विराजमान थी, वेतालों के साथ नाचने के आवेश में उसके काले–काले नरकंकालरूपी कुण्डल दायें–बायें हिलते थे, उसका विशाल भुजमण्डल का अग्रभाग सूर्य को पकड़ने के लिए उत्कण्ठित–सा था, इससे बड़ा भयावना प्रतीत होता था ॥२–८॥ उस कर्कटी का शरीर अत्यन्त विशाल था, अपनी जाति के अनुरूप आहार उसे नहीं मिलता था, अतएव उसकी जठराग्नि वडवानल की नाईं अतृप्त–सी रहती थी ॥९॥ वह महोदरी कर्कटी वड़वानल की जिह्वा के समान कभी भी तृप्त नहीं हुई। उसने एकबार

विचार किया–यदि मैं जम्बूद्वीप में रहनेवाले सब प्राणियों को जैसे सागर जलराशि को निगलता है, वैसे ही सदा और प्रत्येक श्वास में निगलूँ, तो जैसे जल बरसने से मृगतृष्णा शान्त हो जाती है, वैसे ही मेरी क्षुधा शान्त हो सकती है। जिस युक्ति से आपत्ति में जीवित रहा जाय, वह युक्ति विरुद्ध नहीं है, परन्तु मन्त्र, औषधि, तप, दान, देवपूजा आदि से सुरक्षित सम्पूर्ण जनों को एक साथ बे–रोक–टोक कौन बाधित कर सकता है ? भाव यह है कि एक साथ सब लोगों को निगलने की युक्ति अशक्य होने से विरुद्ध ही है ॥१०–१३॥

तो मेरी सर्वजनग्रसन मनोरथ सिद्धि कैसे होगी ? इस शंका पर वह स्वयं कहती है।

कभी परिश्रान्त न होनेवाले चित्त से मैं परम तप करूँ, जो वस्तु दुर्लभ होती है, वह भी उग्र तपस्यासे प्राप्त हो जाती है, ऐसा मन में विचार कर सम्पूर्ण जन्तुओं को मारने की इच्छा से उसने हिमालय पर्वतका, जहाँ अन्य प्राणी नहीं जा सकते, तपके लिए स्मरण किया। उसके नेत्र स्थिर बिजली के समान थे, वह हाथ, पैर से युक्त आकृतिवाली काली मेघमाला के समान उस पर्वत के शिखर पर चढ़ी ॥१४–१६॥ वहाँ जाकर तप करने के लिए निश्चय कर उसने स्नान किया, तदनन्तर सूर्य और चन्द्रमा के समान प्रदीप्त और निश्चल नेत्रवाली वह कर्कटी एक पैर से खड़ी रही। पत्थर से बनाई हुई प्रतिमा के समान शीत और ताप में लीन उस कर्कटी के क्रमशः दिन, पक्ष, मास, ऋतु बीत गये। उस कर्कटीने मेघमाला के समान अपनी आकृति को स्थिर किया, उसका शरीर काला था, वह उपर को चलती थी, और उसके केश भी उपर को खड़े थे, अतः मालूम पड़ता था कि वह आकाश को निगलने के लिए उत्पन्न हुई है ॥१७–१९॥ शीत, उष्ण और धूलि से रुक्ष वायु से शिथिल हुए उसके कृश अंगों की लटक रही त्वचा ही उसका वस्त्र था, एक बड़ी सेना के सदृश उसका आकार था, शब्दायमान वायुओं द्वारा हिलाये गये और खड़े केशरूपी अन्धकारपटल से तारा रूपी मुक्तामाला को धारण कर रही उसको देखकर वर देने के लिए ब्रह्माजी उसके पास आए ॥२०॥

अड़सठवाँ सर्ग समाप्त

उनहत्तरवाँ सर्ग

कर्कटी राक्षसी को मनोवांछित वर देकर तथा गुणी लोगों की
रक्षा के लिए मन्त्र कहकर ब्रह्माजी का अपने लोक में जाना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, एक हजार वर्ष तक इस प्रकार कठिन तपस्या करने पर ब्रह्माजी उसके पास वर देने के लिए आये।

शंका : कर्कटी अत्यन्त दुःशील थी, उसको अतिदुर्लभ ब्रह्माजी का प्रसाद कैसे प्राप्त हुआ ?

समाधान : दारुण तपस्या सिद्धि के लिए होती ही है, तप की सिद्धि होने पर और तो और विषयुक्त अग्नि भी शीतल हो जाती है, तपस्या से कुछ भी असाध्य नहीं रहता, यह भाव है ॥१॥ वह मन से ही ब्रह्माजी को प्रणाम कर वैसे ही स्थित रही, उसने मन में विचार किया कि

मेरी भूख की शान्ति के लिए कौन वर उत्तम होगा ॥२॥ हाँ, जो वस्तु मुझे माँगनी चाहिए उसकी मुझे स्फूर्ति हो गई। भगवान् ब्रह्माजी से यह एक वर माँगूंगी कि मैं रोगरूपा और लोहमयी जीवयुक्त सूचिका होऊँ। ब्रह्माजी के इस वरदान से दो प्रकार की सजीव सूचिका होकर जैसे नासिका से आकृष्ट सुगन्धि प्राणियों के हृदय में अलक्ष्यरूपसे प्रविष्ट हो जाती है, वैसे ही सब प्राणियों के हृदय में एक साथ प्रविष्ट हो जाऊँगी। इस उपाय से अपनी अभिलाषा के अनुसार मैं सम्पूर्ण जगत् को अपनी क्षुधा की निवृत्ति के लिए निगल जाऊँगी, संसार में क्षुधानिवृत्ति से बढ़कर दूसरा कोई आनन्द नहीं है ॥३–५॥ इस प्रकार विचार कर रही तथा शान्ति, दम, दया आदि तपस्वियों के स्वभाव के विरुद्ध हिंसा की इच्छा होने के कारण तपस्विविपरीतस्वभाववाली कर्कटी की वज्रपात के तुल्य अभिलाषा को देखकर ब्रह्माजी ने उससे कहा ॥६॥ हे कर्कटि, तुम राक्षसरूपी कुलपर्वत की मेघमाला हो, उठो, तुम्हारे लिए मैं सन्तुष्ट हुआ हूँ। तुम्हें जो वर चाहिए, माँगो ॥७॥ कर्कटी ने कहा : भगवन्, आप अतीत, अनागत, वर्तमान सबके नियन्ता है, यदि आप मुझे वरदान देना चाहते हैं, तो मुझे ऐसा वरदान दीजिए कि जिससे मैं रोगरूपा और लोहमयी जीवयुक्त विसूचिका होऊँ ॥८॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामजी, 'जैसा तुम चाहती हो, वैसा ही हो।' – ऐसा कहकर ब्रह्माजी ने फिर उससे कहा : तुम उपद्रवों से युक्त सूचिका ही नहीं, किन्तु 'वि' उपसर्ग के साथ विसूचिका होओगी ॥९॥ अपनी अलक्ष्य माया द्वारा सब लोगों की तुम हिंसा करोगी, जिनका आहारविहार समुचित नहीं है, दुष्ट देशों में रहते हैं, ऐसे मर्यादारहित मूर्ख तथा दुष्ट लोगों की तुम हिंसा करोगी। प्राणों द्वारा अपान वायु के स्थान से हृदय तक प्रवेश कर हृदयपद्म, प्लीहा आदि के पीड़न द्वारा वायुरूपी विसूचिका व्याधि होओगी, शास्त्र में प्रतिपादित सदाचार में निष्ठा रखनेवाले पुरुषों को या उससे रहित पुरुषों को तुम प्राप्त करोगी ॥१०–१२॥ किन्तु सदाचारियों की चिकित्सा के लिए यह मन्त्र मैं कहता हूँ। ब्रह्माजी ने कहा : हिमालय पर्वत के उत्तर पार्श्व में कर्कटीनामक राक्षसी, जिसके विसूचिका तथा अन्यायबाधिका (अन्यायमार्ग में चलनेवाले पुरुषों को पीड़ित करनेवाली) ये दो नाम हैं, उसका मन्त्र यह है– 'ॐ ह्रीं ह्रां रीं रां विष्णुशक्तये नमः ( )'। परब्रह्मरूप विष्णुशक्ति को नमस्कार है। हे सबके नियमन की शक्तिवाली, हे आद्यविष्णुशक्ति, तुम दूसरी अपनी अंशभूत रोगात्मक इस विष्णुशक्तिको ॐकारवाच्य कारणस्वरूप में भलीभाँति लीन करो और अपने स्थान में ले जाओ। जैसे चावल आदि पकाने से तुरन्त कोमल हो जाते हैं, वैसे उसे कोमल करो, दही के समान उसे मथो, इस स्थान से अन्य स्थान में ले जाओ, जो प्रकार मैंने कहे हैं – उनसे अथवा उनसे अन्य प्रकारों

भगवान् विष्णु की दो शक्तियाँ हैं–पहली मायाशक्ति, जिसके अधीन अन्य सब शक्तियाँ हैं और दूसरी शक्ति माया के अधीन जो प्रत्येक वस्तु में रहती है तथा सात्त्विक आदि भेदों से भिन्न हैं, उसमें तामसी संहारशक्ति के अंशभूत प्राणियों के दुष्कर्म के फलजननशक्तिरूप रोग हैं, उनकी निवृत्ति के लिए आद्य मायाशक्ति की प्रणव, माया आदि पाँच रहस्य बीजों से सम्बोधन कर प्रार्थना की जाती है 'ॐ' इत्यादि से।

से इसे दूर करो इस प्रकार आदि शक्ति की प्रार्थना कर अब उसके अधीन स्थित रोगशक्ति की प्रार्थना करते हैं। तुम अपने स्थान हिमालय को जाओ। तदनन्तर रोगी से कहते हैं–जो तुम अपने पूर्वजन्म के दुष्कृत से पीडित थे, रोग से तिरस्कृत थे, मृत्यु से खींचे जा रहे थे, अब मन्त्र की सामर्थ्य से अमृत से पूर्ण चन्द्रमण्डल को मेरी भावना से प्राप्त हुए हो, जैसे प्रदीप्त अग्नि में हविस् का प्रक्षेप किया जाता है, वैसे ही पूर्ण चन्द्रमण्डल में भावना द्वारा रोगी का प्रक्षेप करना चाहिए, यह मन्त्रस्थ 'स्वाहा' पदसे सूचित होता है, इस मन्त्र को मन्त्रसिद्ध पुरुष बाँये हाथ के मध्य में बाँधकर रोगी पुरुषका उस हाथ से युक्त होकर मार्जन करे। मन्त्ररूपी मुद्‌गर से पीडित, कर्कश रोदन करनेवाली और हिमालय की ओर भागी हुई कर्कटी की भावना करे ॥१३–१५॥ जिसके हृदय में रसायन है ऐसे चन्द्रमा में रोगी पुरुष की स्थिति की भावना करे और यह भावना करे कि रोगी जरा और मरण से रहित हो गया, सम्पूर्ण मानसी व्यथाओं से मुक्त हो गया और समाहित हो गया ॥१६॥ साधु पुरुष पवित्र होकर आचमन करके एकाग्र चित्त हो क्रमशः इस उपाय से सम्पूर्ण विसूचिका का विनाश करता है ॥१७॥ इस प्रकार आकाश में स्थित दिव्यरूपधारी ब्रह्माजी, जिनका सिद्धमन्त्र आकाशचारी सिद्धों द्वारा ग्रहण किया था और अपने अन्यान्य कार्यों के लिए आये हुए इन्द्र जिन्हें प्रणाम कर रहे थे, अक्षयमायावाले अपने नगर को गये ॥१८॥

उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

सत्तरवाँ सर्ग

कर्कटी का क्रमशः शरीरकी सूक्ष्मतापूर्वक दो सूचिकाओं के रूप में गमनवर्णन और उसका प्राणियों के शरीर में प्रवेश वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, तदुपरान्त पर्वत के शिखर के समान विशाल, कज्जलाकार मेघघटा के समान बड़ी काली वह राक्षसी सूक्ष्मता को प्राप्त होने लगी। पहले वह मेघाकार हुई, तदनन्तर उसका देह–प्रमाण वृक्षकी शाखा के तुल्य हुआ, तदुपरान्त वह मनुष्य के आकारवाली हुई, फिर उसका स्वरूप केवल हाथभर का बन गया, तदनन्तर वह एक बिलस्त भर का हुआ, उसके बाद वह केवल एक अंगुलमात्र रह गई, तदनन्तर उड़द की छीमी के बराबर हुई और फिर वह सूचिका बन गई। सूचिका बनने के बाद जैसे संकल्पादि अणुता को (अलक्ष्यता को) प्राप्त होता है, वैसे ही शिखर के समान विशाल आकारवाली वह रेशमी वस्त्र सीने योग्य अत्यन्त सूक्ष्म सुई बनकर पद्मकेसर के समान सुन्दरी हुई ॥१–४॥ वह सूक्ष्म लोहविकार होकर तथा अनायसी (रोगरूप) जीवयुक्ता सूचिका होकर शोभित हुई। महाभूत, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण, अविद्या, काम, कर्मके संघातरूप पुर्यष्टक से चली हुई वह आकाश में जाती थी और निवास करती थी, वह सूची तो दिखाई ही देती थी, पर उसमें लोहा नाममात्र भी नहीं था। अनेक भ्रमों के बीचमें उसका यह स्वल्प–सूचीरूप से दिखाई देना भी एक प्रकारकी भ्रान्ति ही थी ॥५,६॥ मन के मनन से (भावना से) युक्त यह

सूची सूर्यकिरणों के भीतर में प्रवेश करने से सुन्दर रत्नसूचे के समान और वैदूर्यमणि की किरणलेखा के समान चिकनी दिखाई देती थी ॥७॥ वह पवन से उड़ाई गई काजल के मेघ के पिण्ड की लेखा के समान थी, उसके शरीर के अनुरूप छोटे मस्तक में अत्यन्त छोटे-छोटे सुराखों में स्थित नेत्रों की स्वच्छ ज्योतिरूपी कनीनिका विराजमान थी ॥८॥ सूक्ष्म पुच्छाग्र से अणु (परमाणु के सदृश) मुख की प्रसन्नतापूर्वक वरदान से प्राप्त होनेवाले अत्यन्त अभीष्ट अपने सूचीरूप के लिए पूर्व के अपने विशाल शरीर की निवृत्ति हो, इसलिए मानों उसने पहले मुनि की तपस्या की थी, दूरसे देखने पर खूब प्रकाशित हो रहे नेत्रों की सन्धिका ज्ञान न होने से एक दीप के समान देखी गई वह, सूचीरूप शरीर का दर्शन न होने से, केवल आकाशरूपता को प्राप्त हुई थी। पहले विपुल देहावस्था में जो आकाश उसने निगल रक्खा था, देह में स्थित उस आकाश का सूक्ष्म शरीर की प्राप्ति होने पर अपने मनोज्ञ मुख से मानों वमन कर रही थी ॥९,१०॥ टिमटिमाते हुए नेत्रों से दृश्य वह दूर-दूर फैले हुए दीपक की किरणों के समान सूक्ष्म थी, अतएव बड़ी एकाग्रता के लिए जिन्होंने अपनी आँखें अत्यन्त संकुचित कर रक्खी थी, ऐसे देखनेवालों की दृष्टि से वह दिखाई देती थी। तुरन्त स्नान करने से पृथक्-पृथक् हुए बालकों के केशों के समान उसका विलास था, बाह्य संचार करने के कौतुक से मृणाल को तोड़नेपर उसके बीचसे निकले हुए तन्तु के समान और मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र का भेदन कर बाहर निकली हुई सूर्यमण्डलाभिमुख होकर स्थित ब्रह्मनाड़ी की (सुषुम्ना नाड़ी की) तरह वह उस समय सुन्दरी प्रतीत होती थी ॥११,१२॥ उसकी चक्षु आदि इन्द्रियशक्तियाँ प्रत्येक नियत स्थान में स्थित थी, मानों उसका लिंगदेह ही बाहर सूची के आकार में स्थित था। जैसे ज्ञानियों का आलयविज्ञानसन्तान स्वमात्रगोचर होता हुआ भी अन्य से अलक्ष्य रहता है, और जैसे तार्किकों का धारावाहिक ज्ञानसन्तान, साक्षीका स्वीकार न होने से अलक्षित रहता है, वैसे ही वह भी दूसरों से अलक्षित थी ॥१३॥ अत्यन्त अलक्ष्य होने के कारण ही मानों वह शून्यवादियों के मत में प्रसिद्ध अर्थों की जननी और आकाश की जो नीलिमा है, तद्रूप थी और निःशब्द थी। इस प्रकार लोहसूचिकाका वर्णन कर अब रोगरूपिणी सूचिका उसका अनुसरण करती है। उस लोहरूप सूचिका का अदृश्य और जीवयुक्त रोगरूपिणी सूचिका, जो कि तत्-तत् पदार्थाकार मनोवृत्तिमें प्रतिफलित चिदाभास के समान धर्मवाली थी, सदा अनुगमन करती थी। जैसे विनाशावस्था को प्राप्त सूक्ष्म दीपज्योति दृष्टिगोचर नहीं होती और स्पर्श करने पर उसके अन्दर तीक्ष्ण दाहक शक्ति प्रतीत होती है, वैसे ही यद्यपि वह सूचीभाव को प्राप्त हुई राक्षसी अत्यन्त अदृश्य थी, फिर भी उसके अन्दर वासना आदि ज्यों-की-त्यों विद्यमान थी, उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ था ॥१४,१५॥

अब सुखोपयोगी न होने से उस कर्कटी नामक राक्षसी के तपस्याफलका उपहास करते हैं।

वह कर्कटी जगत् के प्राणियों को निगलने के लिए सूचीरूपता को प्राप्त हुई, उसका जगत् को निगलने का वह आदर ही उपयुक्त नहीं हुआ, क्योंकि सूचिकावस्था में जब उदर ही नहीं रहा तब निगलती कैसे ? उसने इस बात का विचार ही नहीं किया, अहो यह उसकी मूर्खता की

पराकाष्ठा ही है ॥१६॥ उसने जगत् को निगलने का विचार तो किया, पर सूचीरूप तुच्छताका विचार नहीं किया। केवल एकमात्र जगद्ग्रसनरूप अभिलाषाको देख रही उसका संकल्प निरर्थक ही रहा। उस मूढ़मति कर्कटीने बिना विचारे ही सूची बनने की अभिलाषा की। निरर्थक बुद्धिवाले प्राणियों में पूर्वापर का विचार नहीं रहता ॥१७,१८॥

विचार करने योग्य चित्त के रहते उसे पूर्वापर विचारणा क्यों नहीं हुई, इस पर कहते हैं।

ईच्छित विषयमें लगा हुआ चित्त ईच्छित वस्तु में दृढ़ प्रयत्न की अनुल्लंघनीय सामर्थ्य से भावना द्वारा पूर्व निर्मल अवस्था से अन्य अवस्था को यानी कालुष्य को प्राप्त होता है, जैसे कि निर्मल दर्पण निःश्वासवायु से मलिनता को प्राप्त होता है ॥१९॥ स्थूल शरीर को छोड़कर सूचीभाव को प्राप्त हुई उस राक्षसीका महामरण भी यानी महादुःख भी सुखरूप ही हुआ, क्योंकि उसका स्वार्थ में दृढ़ अनुराग था ॥२०॥ एक वस्तु में अत्यन्त अनुराग करनेवाले लोगों की विषम अवस्था को तो देखिए, राक्षसी ने अपनी इच्छासे अपने शरीर का तृणवत् त्याग कर दिया, एक वस्तु में अत्यन्त तृष्णा होने से अन्य प्रतीतियाँ नष्ट हो जाती हैं। जगत्–ग्रास में अत्यन्त अभिलाषा होने से राक्षसी ने अपने देहविनाश को भी नहीं देखा ॥२१,२२॥ एक वस्तु में अत्यन्त अनुराग करनेवाले अज्ञानी को अपना नाश भी सुख देता है, सूचिका बनी हुई राक्षसी देहरहित होने पर भी सन्तुष्ट ही रही ॥२३॥

प्रसंगप्राप्त नीति का वर्णन कर प्रस्तुत विषय का अनुसरण करते हुए जीवयुक्त सूचिकानामक व्याधि के स्वरूप का वर्णन करते हैं।

लोहमयी सूची से संलग्न जीवयुक्त विसूचिका अन्य सूचिका हुई। वह व्योमात्मिका, निराकार और आकाशके समान सूक्ष्म स्वभावयुक्त लिंग शरीरवाली थी, वह तेज के सूक्ष्म प्रवाह के समान कान्तिवाली तथा प्राणतन्तु के तुल्य, कुण्डलीनी शक्ति के सदृश तथा सूर्य और चन्द्रमा की छोटी–छोटी किरणों के समान सुन्दरी थी। उस कर्कटी की पापात्मक अतएव तलवार की धार के सदृश क्रूर मनोवृत्ति लोहमय सूची से पृथक् ही थी। वह फूल की सुगन्ध के समान अत्यन्त सूक्ष्मरूप से प्राणियों के भीतर प्रवेश कर हिंसादिचातुरी के सम्पादन से मूर्तिमती होकर जीवरूप से प्रकट होती थी। दूसरे लोगों के प्राणों का अनुसरण कर अपनी परम मनोरथ–सिद्धि में परायण थी ॥२४–२७॥ इस प्रकार उस कर्कटी की दो प्रकार की सूचिकारूप देह उत्पन्न हुई। वह कुहरेरूपी वस्त्र के सदृश सूक्ष्म और कपास के (सूती) वस्त्र के समान कोमल थी। उन दो शरीरों से मनुष्यों के हृदयों में प्रवेश कर उन्हें पीड़ित करती हुई वह क्रूर राक्षसी दसों दिशाओं में घूमती थी ॥२८,२९॥

संकल्प की अघटितघटनामें यही दृष्टान्त है, ऐसा कहते हैं।

सभी लोग अपने संकल्प से लघु होते हैं और अपने संकल्प से महान् होते हैं। इसी न्याय के अनुसार संकल्प से ही कर्कटीने अपने भीषण शरीर का त्यागकर सूचीकारूपता का स्वीकार किया। क्षुद्र चित्तवाले लोग तुच्छ पदार्थ की प्रार्थना करते हैं। राक्षसी ने सूची के स्वभाव के तुल्य स्वभाववाले पिशाचीत्व की तपस्या से अभिलाषा की ॥३०,३१॥

यदि कोई शंका करे कि तपस्या से पवित्र हुई उस राक्षसी ने दूसरे लोगों को पीड़ा पहुँचानेवाले सूचीरूप शरीर की प्रार्थना क्यों की ? अर्थात् ऐसी प्रार्थना उसके लिए योग्य कैसे हो सकती है ? इस पर कहते हैं।

पुण्यशरीरवाले जीवों की भी जाति के उचित वासना शान्त नहीं होती। इसीलिए सूक्ष्म सूचीरूपी पिशाचीत्व का कर्कटी ने उपार्जन किया ॥३२॥ उसके दिशा–विदिशामें घूमनेपर उसकी सर्वसाधारण कर्कटीदेह को, जो कि अविद्या से कल्पित थी, महावायुओं ने शरत्कालीन मेघ के समान छिन्न–भिन्न कर दिया ॥३३॥

अब विसूचिका का चरित्र विस्तारपूर्वक कहते हैं।

जो कोई जीव पहले किसी रोग से आक्रान्त होने के कारण क्षीणकाय हुआ हो या विशालकाय हुआ हो उसके अन्दर प्रवेश करके वायु में छिपी वह लोहसूची भयंकर विसूचिकारूप रोग में परिणत हो जाती है। किसी लघुकाय, स्वस्थ और बुद्धिमान् पुरुष के अन्दर जीवयुक्त सूचिकारूप से प्रवेश करके दुर्बुद्धिरूपा हो जाती है ॥३४,३५॥ इस प्रकार किसी पुरुष में दुर्बुद्धिरूप से हृदय में स्थित होकर तृप्त होती है और किसी पुरुष में मन्त्र, औषधि, तप आदि पुण्य उपाय से उसकी निवृत्ति की जाती है। दोनों शरीरों से आकाश और भूमितल में जाती हुई वह बहुत वर्षों तक इधर उधर घूमती रही ॥३६,३७॥

उसके तिरोधान का स्थान कहते हैं।

भूमि में वह धूलिकणों से तिरोहित रहती है, हाथ में अंगुलियों से तिरोहित रहती है, आकाश में प्रभा से तिरोहित रहती है और वस्त्रमें सूत से तिरोहित रहती है ॥३८॥

देह के बीच में भी इसके तिरोधान के स्थान कहते हैं।

देह के अन्दर स्थित आँतरूपी नदी में, व्यभिचार आदि दोष से दुष्ट उपस्थेन्द्रिय में, ऊसर आदि भूमि के धूलिकणों से धूसर अंगों में, हस्त, पाद आदि की रेखारूपी सूखी नदीके गड्ढों में और छोटे–छोटे रोमरेखारूपी पुराने तृणों में तिरोहित रहती है ॥३९॥ पीड़ित लोगों को उच्छ्वसित करनेवाली और अन्दर सद्भाव से रहित वह विसूचिका सौभाग्य से हीन और कान्तिरहित शरीर में, मक्खियों, रूक्ष दुर्गन्धवायुओं से युक्त हरे तृणों से आवृत्त देश में तथा बिल्व, आम्र आदि श्रेष्ठ वृक्षों से रहित देश में रहती है। पशु, मनुष्य आदिकी बड़ी–बड़ी हड्डियों से व्याप्त, आँधी आदि से नित्य कम्पन होने के कारण अत्यन्त स्फुरित होनेवाले, आत्मनिष्ठ अतएव निर्मल तथा हिम के समान दूसरों का सन्ताप हरनेवाले सत्पुरुषों से रहित मैले, कुचैले और अपवित्र वस्त्रवाले अशिष्ट लोगों के संचार में आनेवाले देश में, जहाँ पर खोखलों मे और काटे हुए वृक्षों के अग्रभाग में क्रमशः मधुमक्खियाँ और कोयल, कौए निवास करते हैं, अत्यन्त शीत होने के कारण रूक्ष तेज हवा सांय–सांय शब्द करती है, अतएव कम्प के कारण अंगुलिरूपी शाखाएँ चंचल रहती हैं तथा जहाँ पर घनीभूत कुहरे का संचार रहता है ऐसे स्थानों में, जिनकी अंगुलियाँ कटने के कारण व्रणपूर्ण हैं ऐसे लोगों के निवासस्थानो में, जहाँ पर हिमकण पिघलते रहते हैं, लोगों के पैरों के चिह्नों में युक्त स्थान

में, बामियों में, पर्वतों में, जहाँ पर जलभ्रान्ति होती है, ऐसे मरुप्रदेशों में, नखप्रधान बाघ, भालू आदि में तथा अजगर आदि में भीषण जंगलों में, जहाँ पर इधर उधर भाग रहे अत्यन्त भयभीत और जुओं से गर्हित बटोही लोग रहते हैं उन प्रदेशों में, कुत्सित स्वरूपवाले एवं सूखे हुए शरीरवाले पिशाच आदिसे पान के बीड़ों के समान चबाए गये पुराने पत्तों से भरे हुए और दुर्गन्धियुक्त जल के गड्ढों में, जिन मार्गों के बीच में कुल्या (नहर) आदि के गड्ढों में रहते हैं, शीत वायु से पूर्ण पथिकों के विश्राम–स्थानों में, चबाये जुओं के पेटमें स्थित मनुष्यों के रक्त से जिनके ओठ भरे हैं, ऐसे जंगली मनुष्य, वानर आदि के नखरूपी मुखवाले अंगुलिसमूह से आक्रान्त सम्पूर्ण देहप्रदेशमें तथा भूमि के पूर्वोक्त भिन्न–भिन्न स्थानों में वह जाती थी ॥४०–४६॥ जिन नगरों में अनेक प्रकार की हाथी, घोड़े आदि की रचना चित्र–विचित्र वस्त्र रहते हैं, उन नगरों मे वह जाती थी और वहाँ अत्यन्त लम्बे मार्ग में गमनागमन से वह परिश्रम को प्राप्त होती थी ॥४७॥ सूचिकास्वभाव होने के कारण वह नगरों में और गाँवों में सड़कों और गलियोंमें फेंके हुए यानी अव्यवस्थितरूपसे पड़े हुए कपास के सूतों और उनमें गुँथे हुए काँचमणि आदि अलंकारो को केवल धारण (ग्रथन) करती थी और ज्वर आदि से पीड़ित प्राणियों के शरीररूपी वन में साँड के समान विहार करती थी यानी जैसे हृष्टपुष्ट साँड अपने सींगों से बामी आदि को खोदता हुआ इधर–उधर घूमता है, वैसे ही वह सूचिका भी मनुष्य के शरीर का उन्मथन करती हुई घूमती थी ॥४८॥ जैसे किसीके द्वारा सीने के लिए हाथ में ली गई चिरकाल तक सीने के लिए पिरोये हुए धागे को मुख से खींचनेवाली सुई मानों थककर थोड़ी देर के लिए सीनेवाले के हाथ से गिरी हुई विश्राम करने के लिए कहीं अलक्षित होकर लीन हो जाती है, वैसे ही यह सूचिका भी थी ॥४९॥

यदि कोई शंका करे कि सीनेवाले हाथ को ही उस सुई ने क्यों नहीं छेदा ? तो इस पर कहते हैं।

वह क्रूर होती हुई भी अपने योग्य सीवनरूप कर्म में (सीने में) ही लगी रहती थी, क्योंकि सीना ही सुई का स्वभाव है, अतएव उसने सीनेवाले के हाथ को छेदा नहीं। यदि वह सुई सीनेरूप अपने स्वभाव को छोड़ दे यानी प्रगट न करे, तो अपने क्रूर स्वभाव को भी बाहर प्रगट न कर सकेगी, क्योंकि जैसे उसका सीना स्वभाव है, वैसे ही अपने क्रूर स्वभाव को प्रकट करना भी स्वभाव है ॥५०॥ जैसे बड़ी भारी शिला नाव द्वारा इधर उधर ले जाई जाती है, वैसे ही वृद्धावस्था में स्थित आशा के समान वह लोहमयी सूचिका जीवयुक्त सूचिका के सहारे दिशाओं में घूमती थी। जैसे धान आदि की भूसीका कण अपने भ्रमण को प्रगट करनेवाली पवनशक्ति से दिगन्तों में घूमता है, वैसे ही वह लोहमयी सूची भ्रमण को प्रकट करनेवाली अन्तःकरण की सत्ता से दिशाओं में घूमती थी ॥५१,५२॥ दूसरों के द्वारा गुँथे गये महीन तागे को अपने मुँह से खाती हुई–सी अतएव दूसरे लोगों के द्वारा प्राप्त कराये गये उदरपूर्ति के उद्यम से वह मानों स्वस्थ हृदय हुई ॥५३॥ सूचीने पहले भी दूसरे लोगों के वध से होनेवाले उदरपूर्ति की इच्छा से ही तपसे क्लेश को प्राप्त हुए

अपने मन को उल्लसित किया था, इसलिए मानों वह निरन्तर मुख में गिर रहे अपने इच्छित सूक्ष्म तागे में स्तम्भित रहती थी ॥५४॥

अब सूची द्वारा मूर्खतापूर्वक किया गया तप तागे से गिरे हुए चीथड़ों को पिरोने के लिए ही हुआ, अपने उदरपूरण के लिए नहीं हुआ यह उत्प्रेक्षापूर्ण अर्थ जो कहा गया था, वह लोकप्रसिद्ध सामान्योक्तिका दृष्टान्त हो गया, ऐसा कहते हैं।

चिरकाल से दरिद्रता, कृशता आदि से परिपीड़ित कुल को क्रूर लोग भी दया से पुष्ट करते हैं, इस विषय में विचार करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है, यहाँ इस अर्थ में दृष्टान्त सूची द्वारा भरा गया जीर्ण शीर्ण वस्त्र प्रत्यक्ष देखा गया है ॥५५॥

सूची ने अपने उदर की पूर्ति क्यों नहीं की ? इस पर कहते हैं।

क्योंकि सूची ने तागे के अग्रभाग के भीतर अप्रवेश के योग्य छिद्ररहित (अवकाश रहित) हृदय को तपस्या से प्राप्त किया तथा तत्त्वबोधभाग्यशाली होने के कारण सूर्यकान्ति के समान अभिज्ञता के प्रकाश अपने बुद्धिप्रकाश को भी पट आदि के सीवन से ही व्याप्त किया यानी अपने भोग के लिए अर्जित नहीं किया ॥५६॥

इसलिए उसको बड़ा पश्चात्ताप हुआ, ऐसा कहते हैं।

अपनी तपस्या से, जिसने उसके पेट को क्षीण कर दिया था, अकस्मात् प्राप्त हुई सूचिरूपता से मूर्तिमती हुई वह सूचिका राक्षसी बड़ा सन्ताप करती थी ॥५७॥

यदि उसको पश्चाताप हुआ तो क्या वह प्राणियों के विघात से विरत हो गयी ? नहीं, ऐसा कहते हैं।

यद्यपि उसको पश्चात्ताप हुआ था, तथापि नदी के प्रवाह के वेग के तुल्य अपने राक्षसस्वभाव से और प्रकृत सूचीभाव से भी, जिसका प्राणियों के वेधन में आग्रह था, प्राणियों के वेधन के लिए ही अपने स्वभाव के अनुरूप प्रचारित–पहले उद्यत की गई और फिर व्यवहार में लाई गई–भी वह वेध को करती ही थी ॥५८॥

अतएव केवल सूची के स्वभाव से होनेवाले कार्यों को भी वह करती ही है, इस प्रकार के पूर्वोक्त अर्थको दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं।

जैसे पुत्र, कलत्र आदि में दीर्घ वासनारूप तन्तु मरण के समय में उद्‌बुद्ध होकर तत्–तत् वासना के अनुसार स्त्री आदि शरीरों में जीवचेतना को संचारित करता है, वैसे ही यह सूची भी निपुण वेधन से तत्–तत् वस्त्रों में सूत्र को संचारित करती है ॥५९॥ इसलिए वस्त्रों में दर्जी द्वारा वेधपूर्वक चलाई जा रही वह उनके नेत्रोंके सामने अपने मुख को वस्त्र में छिपाकर दौड़ती–सी देखी जाती है। पिशुन (चुगलीखोर), चोर आदि दुर्जन लोग अपने मुखको दिखाये बिना ही परमर्मभेदी होते हैं, अतः उसने भी यह जो काम किया, वह दुष्टोंका–सा ही है ॥६०॥ किसी समय गले में लटकाये गये दुपट्टे के सूतमें पिरोई गई वह अपने छेदरूपी नेत्र से स्त्रियोंका मुख 'इनका कैसे भेदन करूँ' इस अभिप्राय से देखती है। जो लोग क्रूर होते हैं, उनकी एकमात्र यही अभिलाषा रहती है ॥६१॥ वह मृदु और स्निग्ध कौशेय वस्त्र में तथा कठिन और रुक्ष क्षौम

वस्त्र में (वल्कल में) तुल्यवृत्ति से प्रवेश करती है। कौन मूर्ख गुण और अवगुण का विचार करेगा ॥६२॥ अँगूठे की अंगुली से दबाई गई और लम्बे सूत्र को धारण कर रही वह सूची भीतर न समा रही अँतड़ियों को बाहर उगलती हुई–सी दिखाई देती है ॥६३॥ सूत में पिरोई गई तीक्ष्ण भी वह सूची सरस और निरस सभी पदार्थों में हृदयशून्यतावश विशेष का अवधारण न करती हुई अतएव रसास्वाद से रहित होकर सूचीस्वभाव से ही घुसती है ॥६४॥

अपराध के बिना दण्ड पाने के कारण इसकी दुर्गति को तो देखिए, ऐसा कहते हैं।

निष्ठुर भाषण आदि शब्द न करती हुई भी वह मुखमें तागे से गुँथी गई है। अन्य को सन्ताप देने में समर्थ होती हुई भी वह स्वयं ही सन्तापयुक्त बुद्धि से युक्त है, सुवेधिता यानी छिद्रयुक्त होने पर भी वह हृदयरूपी छिद्र से रहित है। जैसे कोई राजपुत्री भी अभागिनी हो जाती है, वैसे ही यह भी अभागिनी हो गई है ॥६५॥

इसकी दुर्दशा होना ठीक ही है, ऐसा कहते हैं।

चूँकि वह सूचिका अपने अपकार के बिना ही दूसरों का मरण चाहती है, इसलिए उस पाप के कारण अपनी बुद्धि से ही वह तागे में बँधकर अपने कर्मरूप जाल में ही लटकती रहती है ॥६६॥ भाग्यवश सीनेवाले के हाथ से गिरी हुई उसके अथवा किसी दूसरे के हाथ से स्पर्श करने के अयोग्य स्थान में कुत्सित श्याम वर्णवाले अधोरोमोंके साथ मानों मैत्री प्राप्त कर उनके साथ सोती है, अपने स्वरूप के अनुकूल मित्र किसको अच्छा नहीं लगता ॥६७॥

इसलिए मूर्खों की चित्तवृत्ति के साथ भी संगति उसे अच्छी लगती है, ऐसा कहते हैं।

मूढ़ लोगों की वृत्तियों से मिली हुई वह प्राकृतजनों में रहती है, अपनी अनुरूप संगति को कौन छोड़ सकता है ? ॥६८॥

यदि कोई कहे कि उसकी अन्य लोहसूचियों के साथ भी साम्य होने के कारण, कभी उनके साथ अगर वह लोहार के पास चली जाय, तो क्या करती है ? तो इस पर कहते हैं।

लोहारों की प्राप्ति होने पर लोहारों द्वारा तपाने के लिए अग्नि में डाली गई वह सूचिका उनकी धौंकनी के वायु से इधर–उधर होकर उन्हें छोड़कर अदृश्य हो जाती है और आकाशकी ओर मुख करके भाग जाती है ॥६९॥

उसका प्राणियों के प्राण आदि वायुओं द्वारा देह के अन्दर संचार होता है, ऐसा कहते हैं।

प्राण और अपान वायु के प्रवाह में स्थित होकर लोगों के हृदयकमल के अन्दर संचरण करनेवाली यह महाघोर दुःखप्रद कर्मशक्तिरूप ही मानों सजीव होकर उदित हुई है। समान वायु के विपरीत होने पर भी समान के साथ चलनेवाली, उदानवायुके विपरीत होने पर भी उदान के साथ चलनेवाली और व्यान वायु में स्थित होकर सर्वांग में संचरण करनेवाली और विविध व्याधियों को उत्पन्न करनेवाली यह सूचिका हृदयमें, कण्ठमें शुलरोगात्मक वायु में प्रवेश करके विवर्णता (पांडुरोग) और उन्माद रोग को उत्पन्न करती है ॥७०–७२॥ प्रायः कम्बल आदि सीने के समय गडरियों के हाथ में स्थित वह सूचिका कभी उन लोगों के उनके टुकड़ों के खोखलों में सोती है, कभी बालकों के हाथ, अंगुली आदिरूप अपने शयन के वेधन

में कौतुक करती है ॥७३॥ पैर में घुसकर रक्तपान के उपार्जन से सन्तुष्ट होती है, फूलों के गुच्छों की माला पिरोने के समय अधिक भोजन करनेवाली भी अल्प भोजन से तृप्त हो जाती है। मलपंकयुक्त मूलाधार कोशमें बैठी हुई चिरकालतक नीचे मुख करके सोई रहती है, अपने इच्छानुरूप स्थान को पा कर कौन फिर उसे छोड़ सकता है ? क्रूरता से दूसरों के प्राणहरणपर्यन्त वेधनों से अपने को दूषित दिखलाती है।

शंका – यदि उसका कोई स्वार्थ नहीं था, तो उसकी अन्य लोगों के मारण में प्रवृत्ति क्यों हुई ?

समाधान – नीच लोगों को कलह करना उत्सव से भी अधिक सुखदायी होता है। भाव यह कि जिन दुष्टों को दूसरों को पीड़ित करने की सामर्थ्य न होने पर भी दूसरों से कलह करने में सुख होता है, उनको दूसरे को मारने में सुख हो, इसमें तो कहना ही क्या है ? ॥७४–७६॥

थोड़े से रक्तकणों के आस्वाद के लोभ से इसकी दूसरों को मारने में प्रवृत्ति हो सकती है ? इस पर कहते हैं।

आधी कौड़ी की प्राप्ति से भी कृपण को बड़ा हर्ष होता है, प्राणियों का अहंकार–चमत्कार दुरुच्छेद्य है, यानी उसका विनाश नहीं किया जा सकता ॥७७॥ वह सूचिका मूढ़ अपनी आत्मा द्वारा किये जा रहे जीवसूची और लोहसूची इन दो अपनी सूचिकाओं से होनेवाले वेधन से सब प्राणियों के मरण की तर्कना करती है। मूढ़ों की आवश्यक स्वार्थमें यदि मूढ़ता उदित न हो, तो वह बड़े आश्चर्य की बात है। यह मेरा परमारणरूप कार्य पहले (वस्त्र सीने के समय) वस्त्र के तन्तुओंका भेदन करनेसे अभ्यस्त है, इस कारण यह शीघ्र सम्पन्न हो रहा है, इस प्रकार अपने चातुर्य के अनुसंधान से अपने मन में अत्यन्त प्रसन्न होती है ॥७८,७९॥ जैसे मिट्टी में घिसने के बिना चुपचाप रक्खी हुई सुई जंग लगने के कारण मलिन हो जाती है, वैसे ही सूचिका भी यदि परमारणरूप अपराध न करे, तो उसे व्याधिरूपी दुःख हो जाता है। यह सूचिका सूक्ष्म अतएव अदृश्य होकर शरीर को काटनेवाली है और क्षणभर में विस्मृति को प्राप्त हो जाती है। तीक्ष्ण भेद करनेवाली दैवचेष्टा (औत्पात्ति की चेष्टा के) समान क्रूर है ॥८०,८१॥ मर्मस्थान के आच्छादनभूत उत्तरीय वस्त्र के तन्तु के वेधनमात्र से दूसरे को मार दिया, ऐसा समझकर आप सन्तोष को प्राप्त होती है। जिस नाश को करने से दुर्जन हर्ष को प्राप्त होता है, उसी नाश से वह भी हर्ष को प्राप्त होती है, कीचड़ में वह डूबती है, आकाश में वह उड़ती है, आकाशचारी वायुओं से दिशाप्रान्तों में विहार करती है। भूतल में, वनमें और धूलिकणों में भी, अन्तःपुर के घर में पलंगपर बिछाए गये बिस्तर की नाईं सोती है, मनुष्यों के हाथ में और कान में स्थित या कानरूप कमल में और भेड़ों के रोमों की राशि में इच्छानुसार सोती है, काठ और मिट्टी की बनी हुई भित्तीयों के छिद्र में समा जाती है और प्राणियों के हृदय में ऐसे समा जाती है जैसे कि मणि, मन्त्र आदि द्रव्यों की शक्ति से और आत्मशक्ति से मायावी अथवा योगी सर्वत्र यथेच्छ विहार करता है। श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : वत्स भरद्वाज, मुनि के इतना कह चुकनेपर दिन समाप्त हो गया, सूर्य भगवान् अस्ताचलको गये, मुनियों की सभा

महामुनि को नमस्कार कर सायंकालीन सन्ध्या आदि के लिए स्नानार्थ चली गई, रात्रि समाप्त होने पर दूसरे दिन सूर्य के किरणों के साथ फिर मुनि–सभा आ गई ॥८२–८४॥

सत्तरवाँ सर्ग समाप्त

इकहत्तरवाँ सर्ग

सूचिकारूप को प्राप्त होकर अपने पूर्व शरीर का स्मरण कर रही
कर्कटी के पश्चात्ताप का विस्तारपूर्वक वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, इसके बाद वह कर्कटी नामकी राक्षसी चिरकालतक सब जाति के मनुष्यों के मांसों का आस्वादन करनेपर भी तृप्ति को प्राप्त नहीं हुई, यों तो पहले ही दिन एक रुधिरबिन्दु से वह तृप्त हो गई, क्यों कि सूचिके भीतर कितना समा सकता है ? किन्तु तृष्णापूर्ण उस सूचीका मरना अत्यन्त कठिन है। उसने विचार किया कि बड़े खेद की बात है, मैं क्यों सूची बनी, मैं बहुत छोटी हूँ, मेरी खाने की शक्ति अतिअल्प है, एक ग्रास भी मेरे पेटमें नहीं समाता, मैं बड़ी दुर्बुद्धि हूँ, मेरे वे विशाल अंग कहाँ गये, काले मेघ के समान विशाल वे मेरे अंग वन में पत्ते के समान विलीन हो गये। इस मन्दभाग्या मुझ में वसा से सुगन्धित स्वादु मांसरस का ग्रास थोड़ा भी नहीं समाता। मैं कीचड़ के अन्दर डूब जाती हूँ और पृथ्वीमें गिर जाती हूँ, मनुष्यों के पैरों के समूहों से कुचली जाती हूँ और शुक्र से मलिन हूँ; मैं मारी गई हूँ, मैं अनाथ हूँ, मुझे आश्वासन देनेवाले मित्र, बन्धु आदि नहीं है, मेरा कोई आधार नहीं है, मैं एक दुःख से दूसरे दुःख में और एक संकट से दूसरे संकट में पड़ती रहती हूँ, न मेरी कोई सखी है, न कोई मेरी दासी है, न मेरी माता है, न मेरा पिता है, न मेरा बन्धु है, न मेरे नौकर चाकर हैं, न मेरा भाई है, न मेरा पुत्र है, न मेरा शरीर है, न रहने का स्थान है, न कोई उपजीव्य है और न एक स्थान में मेरा आवास ही है। मैं वन के जीर्ण–शीर्ण पत्ते के समान घूमती फिरती हूँ, मैं आपत्तियों के सम्मुख खड़ी रहती हूँ, अत्यन्त भीषण स्थानों में प्रविष्ट हूँ, मैं चाहती हूँ कि मैं मर जाऊँ, पर वह (मृत्यु) भी मुझे प्राप्त नहीं होती ॥१–१०॥ मैं बड़ी मन्दबुद्धि हूँ, जैसे कोई मूढ़ पुरुष काँच समझकर चिन्तामणि को हाथ से छोड़ दे, वैसे ही मैंने अपना शरीर छोड़ दिया। मोह को प्राप्त होता हुआ मन पहले दुर्बुद्धिको आश्रय देता है, फिर स्वयं ही अनर्थों की परम्परारूपसे विस्तार को प्राप्त होता है ॥११,१२॥ कोई लोग कभी मुझे डोरे से पिरोकर धुएँ के घरों में रख देते हैं, ऐसी हालत में मुझे धुएँ के उपर रहना पड़ता है। कभी मैं मार्ग में गिर पड़ती हूँ और गिरने पर गदहे, ऊँट आदि के खुरों द्वारा रगड़ी जाती हूँ। कोई लोग नरकुल आदि तृणों के भीतर मुझे डाल देते हैं। मेरी दुःखपरम्परा का कोई ठिकाना है ? ॥१३॥ मैं नित्य दूसरे की चाकरी बजाती हूँ, दूसरे जब मुझे चलाते हैं, तब मैं चलती हूँ, अत्यन्त दीनता को प्राप्त हुई मैं अत्यन्त परवश हो गई हूँ, तुच्छ के यानी भीतर स्थित रक्त आदि के आस्वाद की मुझे इच्छा होती है, परन्तु वह इच्छा भी वेधनरूपिणी ही है यानी उसका फल केवल वेधन ही है, क्योंकि न मुझे पेट है और न जिह्वा है। मैं बड़ी मन्दभागिनी हूँ, मेरा

दुर्भाग्य भी बड़ा अभागा है ॥१४,१५॥

वेताल की शान्ति करनेवाला कर्म करनेपर वेतालोदय हो गया, यह लोकोक्ति मेरे ऊपर ही पूरी तरह से घटी, ऐसा कहती है।

गई तो थी वेताल की शान्ति के लिए, पर उससे विशाल वेताल उत्पन्न हो गया। तप करने के लिए प्रवृत्त हुई मेरा तपस्या से सर्वनाश हो गया। मन्दमति मैंने उस प्रकार का वह विशाल शरीर क्यों छोड़ा ? अथवा जिस प्रकार की बुद्धि होने पर सर्वथा नाश होता है, उस प्रकार की अशुभ मति नाश के समय उत्पन्न होती ही है ॥१६,१७॥ कीड़े के शरीर से भी सूक्ष्म, अवान्तर में (मार्ग में) भाग्यवश धूली में डूबी हुई और धूलिराशि से आवृत्त मेरा कौन उद्धार करेगा ? मुझे देखना ही मुश्किल है, इसलिए मेरा कोई उद्धार करनेवाला नहीं है ॥१८॥

यद्यपि स्थूलदर्शी पुरुष तुम्हारा उद्धार करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि तुम उनके दृष्टिगोचर नहीं हो सकती, किन्तु सूक्ष्मदर्शी योगी तुम्हारा उद्धार करेंगे, ऐसी यदि कोई शंका करे, तो उस पर कहती है।

जैसे पर्वत के उपर रहने वाले लोगों की बुद्धि में ग्राममार्ग के तृणों का स्फुरण होना सम्भव नहीं है, वैसे ही सूक्ष्मदर्शी योगियों की बुद्धि में मेरे जैसे हतभाग्य लोगों का स्फुरण कैसे हो सकता है ? ॥१९॥

यदि कोई कहे कि तुमको स्वयं अपना उद्धार करना चाहिए, तो इस पर कहती हैं।

अज्ञानसागर में डूबी हुई मेरा उद्धार कहाँ हो सकता है ? खद्योत (जुगनूँ) का सेवन करनेवाले अन्धे पुरुष को पदार्थों का दर्शन कदापि नहीं होता ॥२०॥ इसलिए कितने समय तक आपत्तियों से परिपूर्ण होकर मुझ मन्दभागिनी को आपत्तिरूपी गड़ढ़ों में पड़ा रहना पड़ेगा, यह मैं नहीं जानती ॥२१॥ मैं कब काजल के महाशैल की प्रतिमा के समान प्राणियों के संहार और अवष्टम्भ के द्वारा भार उतारने के लिए आकाश और पृथ्वी की स्तम्भता को प्राप्त करनेवाली होऊँगी। मेघमाला के समान भुजाओंवाली स्थिर बिजली के समान नेत्रवाली, कुहरे के समूह ही जिसके वस्त्र हैं, ऊँचे ऊँचे केशों से जिसने आकाश को नाप दिया है तथा जिसने खूब लम्बे उदररूपी मेघ के दर्शन से मयूरों को नचा दिया है इस प्रकार की, और लम्बायमान चंचल स्तनवाली, काली, श्वासवायु से जिसके स्तन हिलते हों ऐसी, अट्टहास के विलासरूपी दग्ध वन के धूलि के पटलों से आच्छादित सूर्यमण्डल को रोकनेवाली, यमराज के समान सम्पूर्ण प्राणियों के ग्रसन के लिए जिसने कार्य आरम्भ किया था, इस प्रकार की भीषण आकृति को धारण करनेवाली, अग्नि के समान देदीप्यमान, उखल के समान गहरे नेत्रवाली, सूर्य की किरणमाला का अपहरण करनेवाली तथा एक पर्वत से दूसरे पर्वतपर, एक शिखर से दूसरे शिखरपर पैर रखकर चलनेवाली मैं कब होऊँगी ? कब बड़े भारी गड्ढे के समान देदीप्यमान वह बड़ा भारी मेरा उदर होगा ? शरत्काल के मेघों के समान स्थूल मेरी नखपंक्तियाँ कब होंगी। कब मेरा हास बड़े बड़े बलवान् राक्षसों के भी हृदयको विदीर्ण करने में समर्थ होगा, कब मैं अपने नितम्बरूपी बाजों के वादन से महारण्य

में खूब प्रसन्न होकर नृत्य करूँगी, मज्जारूपी आसव के बड़े बड़े घड़ों से भरे हुए प्राणियों के मांस और हड्डियों की राशियों से कब मैं लगातार अपने विशाल उदर का पोषण करूँगी, कब मैं बड़े–बड़े जीवों के रूधिर को पीकर उन्मत्त हुई अत्यन्त आनन्द को प्राप्त होऊँगी, तदनन्तर निद्रा की गोद में सो जाऊँगी ॥२२–३०॥ जैसे सोना अग्नि में अपने देदीप्यमान स्वरूप को भस्म बना देता है, वैसे ही मैंने ही कुतपरूपी अग्नि में अपने उस श्रेष्ठ प्राचीन शरीर को भस्म कर दिया और सूचिता को स्वीकार किया ॥३१॥

कहाँ अंजनपर्वत के सदृश दिक्–तटों को पूर्ण करनेवाला मेरा वह विशाल शरीर और कहाँ मकड़ी की टाँगों के समान सूक्ष्म और तिनके के समान कोमल यह सूचिता ? अर्थात् दोनों शरीरों में महान् अन्तर है ॥३२॥ जैसे अज्ञ पुरुष स्वर्ण के बाजूबन्द को पा कर भी 'यह मिट्टी है' ऐसा समझकर उसका त्याग कर देता है, वैसे ही इस सूचिता के लोभ से मैंने अपने देदीप्यमान शरीर का त्याग कर दिया ॥३३॥ कुहरे से पूर्ण विन्ध्याचल की गुफा के सदृश हे मेरे विशाल उदर, आज तुम सिंह के सदृश अपने आविर्भाव से तुम्हारे वियोग से उत्पन्न हुई हाथी के सदृश व्यथाओं का क्यों अन्त नहीं करते हो ? ॥३४॥ अपने भार से पर्वत के शिरों को तोड़फोड़ देनेवाली हे मेरी भुजाओं ! चन्द्रमारूपी उज्ज्वल नखों से इस चन्द्रमा को देवभाग पुरोडाश समझकर तुम क्यों नहीं पीड़ित करते ? ॥३५॥ काँचमणियों की मालाओं से शून्य होने पर भी हिमालय के तटके समान सुन्दर हे मेरे वक्षस्थल, तुमने आज वह रोमों का वन नहीं धारण किया, जिस में सिंह आदि बड़े–बड़े जानवर जुओं के समान प्रतीत होते थे, इसलिए मुझे तुम्हारे लिए खेद है ॥३६॥ अँधेरी रात्रि के अन्धकाररूप शुष्क लकड़ियों को जलानेवाले हे मेरे नेत्रों, तुम आज अपनी दृष्टिरूपी ज्वालाओं की लपटों से दिशाओं को क्यों नहीं अलंकृत करते हो ? हे मेरे कन्धे, हे मेरे बन्धु, तुम पृथ्वी में नष्ट हो गये हो, मैंने तुम्हारा त्याग कर दिया है, कालने तुमको पर्वतों की शिलापर पीस डाला है एवं घिस डाला है ॥३७,३८॥ प्रलयाग्नि से दग्ध चन्द्रबिम्ब के समान मनोहर हे मेरे मुखचन्द्र, तुम आज अपनी किरणों से क्यों नहीं तप रहे हो ? ॥३९॥ वे बड़े मेरे हाथ कहाँ चले गये, इसका मुझे बड़ा पश्चात्ताप है, मैं आज मक्खियों के पैरों से हिलाई जानेवाली महासूची बन गई हूँ। उग्र करंज से युक्त, जिसमें अनेक कन्द हो, ऐसे गर्त के समान सुन्दर हे मूत्रद्वार तथा विन्ध्यारण्य के समान विशाल हे नितम्बम्बि ! मैं तुम्हारे लिए शोक करती हूँ॥४०,४१॥ कहाँ वह मेरा गगनचुम्बी आकार और कहाँ यह अत्यन्त सूक्ष्म नवीन सूचीरूपी शरीर, कहाँ उसका द्युलोक और पृथ्वी के मध्यवर्ती रन्घ्र के तुल्य वह मुखरूपी गर्त और कहाँ यह सूचीका मुख, कहाँ बहुत से मांस के भार से विशाल पूर्व का मेरा ग्रास और कहाँ आज जल के बिन्दु से भोजन ? मैं अत्यन्त सूक्ष्म हो गई हूँ, अहो यह सब आत्मक्षय के लिए नाटक स्वयं मैंने अपने आप ही किया है ॥४२॥

इकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

बहत्तरवाँ सर्ग

सूची के भीषण तप का वर्णन और उससे आश्चर्य मग्न इन्द्र का नारदोक्ति से निश्चय-कथन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामजी, इस प्रकार शोकमग्न हुई उस सूची ने मौन होकर, अत्यन्त निश्चलतापूर्वक (एकाग्रता से) पूर्वोक्त रीति से अपने देहादिका और आगे कहे जानेवाले प्रकार का चिन्तन कर फिर उसी देह के लाभ के लिए मैं शीघ्र तपस्विनी होऊँ, ऐसा निश्चय किया। तदनन्तर पहले चित्तमें स्थित लोगों की हत्या का त्यागकर उसी हिमालय के शिखर में, जिसमें पहले वह रहती थी, तपश्चर्या के लिए गई ॥१,२॥

उसने पहले आत्मा में (अपने में) मन से कल्पित जो सूचिता है, उसीको देखा।

शंका : क्रियाशक्ति रहित आत्मा में (अपने में) सूचिता का दर्शन होने पर भी उसमें गमनक्रिया की सिद्धि कैसे हुई ?

समाधान – प्राणवायुरूप उस जीवयुक्त सूची ने अपने उपाधिभूत प्राणों से मन से कल्पित लोहसूची में प्रवेश करके अपने में ही मनोमय लोहसूची की कल्पना की, तदनन्तर उसने अपने में ही मनोमय सूचिता को देखा और प्राणवायुरूप शरीर होकर वह हिमालय के शिखर में गई। तात्पर्य यह हुआ कि लोह सूची और जीवसूचीका अन्योन्य तादात्म्याध्यास होने से यह कर्कटी प्राणवायुरूप शरीरवाली होकर क्रियाशक्ति को पाकर हिमालय के ऊपर गीध के शरीरमें प्रवेश करके गई, अतः आत्मा में क्रियाशक्ति न होने पर भी असंगति नहीं है ॥३,४॥ सम्पूर्ण प्राणियों से रहित, वनाग्नि की लपटों से पूर्ण, सूर्य के ताप से रूक्ष, धूलि से धूसरित, तृण रहित और विपुल उस विशाल-स्थान में बड़ी-बड़ी इन्द्रनीलमणि की शिलाओं के समान कान्तिवाली वह मानों अभ्युदित होकर स्थित हुई। वह मरुभूमि में अकस्मात् उत्पन्न होकर सूखी हुई तृणशिखा के समान प्रतीत होती थी। अत्यन्त सूक्ष्म एक पैर के एक सूक्ष्म हिस्से से उर्वर पृथ्वी में खड़ी हुई उसने अपनी कल्पना से एक पैररूप तप करना आरम्भ किया। भाव यह कि यद्यपि दो पैरवाले लोगों के समान एक पैर का परित्याग कर एकपादतारूप तप करना उसके लिए संभव नहीं था, क्योंकि सूची को दो पैर हैं नहीं, तथापि अपनी कल्पना से ही कल्पित दो भागों में से आगे के अर्ध भाग का परित्याग करने से एकपादतारूप -एक पैर से स्थितिरूप-तप करना उसने आरम्भ किया। अत्यन्त सूक्ष्म पैर के तलुवे से (अत्यन्त तीखे अग्रभाग से) पृथ्वी की धूलि को भी पीड़ित करनेवाली वह सूची सामने और दोनों अगल-बगलरूप तीन भागों में फैली हुई दृष्टि को सम्पूर्ण विषयों से प्रयत्नपूर्वक हटाकर उपरको मुख करके स्थित हुई ॥५-८॥

ऊपर को मुख करने पर दृष्टि के चारों ओर से हट जानेपर भी धूलिरूपी तथा छोटे-छोटे पत्थरकणरूपी संकट में उसके पैर की स्थिरता कैसे हुई ? इस पर कहते हैं।

कृष्णता (कृष्णलोहमयत्व), क्रूरता, तीक्ष्णता (तीक्ष्णताग्रत्व) सर्वांगव्याप्ति, मुख से वायु के भक्षण से और विष्टम्भरूप उक्त यत्न से रेणुरूपी तथा छोटे-छोटे पत्थरो के संकट में वह प्रयत्न से अपने पैर को स्थिर रखती थी। भाव यह कि अत्यन्त दृढ़ होने के कारण

ही उसकी स्थिरता सिद्ध हुई ॥९॥ उस सूची ने जंगल में मारे भूख के क्षुब्ध हुई अतएव अपने समीप में आनेवाले जंगल के बटोहियों को दूरसे देखने के लिए उठाई हुई गर्दन से युक्त, पुच्छ से तृण, पत्ते आदि के अग्र भाग में स्थित और वायु से भी चंचल होनेवाली ऐसी–तृणजलौका का अनुकरण किया ॥१०॥

सूचिका के छिद्र से निकली हुई धूप भी, सूचिकाकार होने के कारण, उसकी सखी हुई, ऐसी उत्प्रेक्षा करते हैं।

उसके मुख के छेद से निकली हुई सूर्य की किरण पृष्ठभाग की रक्षा करनेवाली और सूची के समान आकारवाली सखी हुई ॥११॥ अत्यंत क्षुद्र भी अपने आत्मीय जीव में लोगों को प्रेम होता है, किरण ने भी शुद्ध होने के कारण सूची में सखीभाव को धारण किया ॥१२॥ उस सूची की अपनी छाया भी दूसरी तापसी सखी हुई, सूची के समान मलिन उस छायासूची को उसने अपनी पृष्ठरक्षिका बनाया ॥१३॥

उन तीनों सूचियों के परस्पर शिर और मूल के गूँथने से परस्पर सम्बंध होने के कारण मानों उन्होंने परस्पर की अनुकूलता का आचरण किया, ऐसी उत्प्रेक्षा करते हैं।

पृष्ठरक्षक सूर्यकिरणरूप सखी का लोहसूची के साथ तथा द्वारभूत लोहसूची से भलीभाँति निकली हुई छायासूची के साथ, जिसका कि सूर्यकिरणों का गिरना ही नेत्र है, ग्रथन करने पर उन्होंने परस्पर द्वारा करने योग्य स्थिरता की सहायता में दृढ़ता की, इसलिए उनका वैसा करना उत्तम हुआ ॥१४॥ इस प्रकार तपस्या कर रही सूची को अपने सामने देखकर पेड़, लता आदि को भी सद्बुद्धि प्राप्त हो गयी। महातपस्विनी सूची को देख करके किसको तप करने की उत्कंठा नहीं होगी ॥१५॥ तप करने के लिए स्थिर अपनी मनोवृत्ति के समान उत्पन्न हुई उस सूची को पेड़, लता आदि ने अपने फल–फूलों से वासित वायु खिलाया, क्योंकि उसके मुख से झंकार शब्द निकलता था और शब्द के साथ भोजन करना पामर लोगों में प्रसिद्ध है ॥१६॥

भाग्यवश द्रुमलता आदि ने फूल के पराग से सूची के मुख को ढक दिया, ऐसी उत्प्रेक्षा करते हैं।

जो पहले उत्पन्न हुए थे, जो भविष्य में होंगे और जो देवताओं के लिए नहीं हैं वे सब फूलों के पराग इस सूची को देने चाहिए, इस उत्साह से मानों पेड़, लता आदि ने उसके मुख को भर दिया ॥१७ ॥

भाग्यवश उसके छेद में वायु से प्रेरित माँस आदि के अपवित्र कणों के प्रवेश की इन्द्र द्वारा किये गये विघ्नरूप से और प्रविष्ट हुए उनका जो बहिर्गमन है, उसकी उसके अनिगरणरूप से उत्प्रेक्षा करते हैं।

तदनन्तर इन्द्र द्वारा भेजे गये और वायु से प्रेरित आमिष (मांस) के कण को, जो कि उसके छिद्ररूपी मुख में प्रविष्ट हो रहा था, उसने नहीं निगला ॥१८॥ दृढ़ निश्चय होने के कारण उसने उन पुष्परजों को और मांसकणों को नहीं निगला, अन्तःसार होने के कारण क्षुद्र लोग भी तप में आनेवाले विघ्नों की निवृत्तिरूप प्रयोजन को प्राप्त करते हैं ॥१९॥ अपने मुँह

में स्थित फूल के परागों को भी वह नहीं पीती है, यह देखकर वायु को सुमेरूपर्वत को उखाड़ने से भी बढ़कर आश्चर्य हुआ ॥२०॥

इस प्रकार अन्य विघ्नों से भी वह अपने कार्य से विचलित नहीं हुई, ऐसा कहते हैं।

यद्यपि वह कीचड़ से सिर तक हजारों वर्षों तक ढ़की गई थी, प्रचुर जल से हजारों वर्षों तक पूर्ण की गई थी, आँधी द्वारा वह हजारों वर्ष तक उड़ाई गई थी, वनाग्नि से हजारों वर्षों तक जलाई गई थी और ओले आदि के गिरने से तोड़ी फोड़ी गई थी, बिजली के तड़कने से हजारों वर्षों तक भ्रान्त हुई थी, मेघों से हजारों वर्ष तक क्षुभित की गई थी, तथापि दृढ़ निश्चयवाली वह तपस्विनी विषमूर्छासे सोई हुई की नाईं अणुमात्र भी विचलित नहीं हुई ॥२१-२३॥

इस प्रकार तप कर रही उसके पापों का क्षय होने से और चिरकाल तक चित्त की एकाग्रता से उसको विचार-पूर्वक ज्ञान उत्पन्न हुआ, ऐसा कहते हैं।

बाह्य व्यापारों से निवृत्त हुई सत्य, सुचेतन अपने स्वरूप का विचार कर रही उसके बहुत देश-काल के बीतने पर उसकी आत्मा ही ज्ञानप्रकाशरूप अर्थात् आत्मसाक्षात्कारवृत्ति से प्रदीप्त बोधरूप हो गई। पर और अवर को देखनेवाली (परब्रह्मसाक्षात्कारवती) वह सोपसर्गा सूची निर्मल हो गई और परम पावन हो गई। तपस्या से पापों के क्षीण होने पर अपने सुख को सूचित करनेवाली उस सूचीने पैनी बुद्धि से स्वयं ही ज्ञातव्य तत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लिया ॥२४-२६॥ इस प्रकार उसने ऊपर को मुख करके हजारों वर्ष तक कठोर तपस्या की, जो चतुर्दश महालोकों को सन्ताप देनेवाली थी ॥२७॥ उसकी प्रलयाग्नि के समान भीषण तपस्या से हिमालय पर्वत जल उठा, तदनन्तर उसने जगत् को प्रज्वलित किया ॥२८॥ तदनन्तर इन्द्र ने यह जगत् किसकी तपश्चर्या से आक्रान्त है, - ऐसा नारदजी से पूछा। नारदजी ने इन्द्र से सूची की तपश्चर्या कही : सात हजार वर्ष तक बड़ी भारी तपश्चर्या करनेवाली महाविज्ञानरूप देहवाली इस सूचीने तपश्चर्या की, उससे यह जगत् प्रज्वलित हुआ है ॥२९,३०॥ हे इन्द्र, भगवान् रुद्र की संहारशक्ति के समान सूची की तपस्या से हाथी निःश्वास छोड़ रहे हैं, पर्वत विचलित हो रहे हैं, विमान से चलनेवाले देवता वगैरह गिर रहे हैं, सागर तथा मेघ सूख रहे हैं तथा सूर्य के साथ दिशाएँ मलिन हो रही हैं ॥३१॥

बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

तिहत्तरवाँ सर्ग

जीवयुक्त सूची के भोगविस्तार का पुनःवर्णन,
तदनन्तर इन्द्र की प्रेरणा से चारों ओर वायु का सूची-अन्वेषण वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, इन्द्र ने कर्कटीनामक राक्षसी के क्रूर वृतान्त को आद्योपान्त सुनकर फिर नारदजी से पूछा, क्योंकि उसके वृत्तान्तको सुनने में इन्द्र को कौतूहल हो गया था ॥१॥ इन्द्र ने कहा : हे मुनिवर, उक्त सूचीरूपी पिशाचता को तपश्चर्या से प्राप्त

कर के हिमालय की बन्दरी–सी उस कर्कटी ने किन–किन भोगों का भोग किया ? ॥२॥ नारदजी ने कहा : हे देवराज, अत्यन्त क्षुद्र पिशाचता को प्राप्त हुई उस जीवयुक्त सूची का लोहे की सूची आश्रय थी, लोहसूचीरूपी आश्रय का त्याग करके आकाश में चलनेवाले वायुरूपी रथ में बैठी हुई और प्राण–वायुके मार्ग से प्राणियों की देहमें प्रविष्ट हुई वह सब पापियों के मांस, मेदा, वसा और रक्त की आँतों के सूराख से भीतर चिरकालतक लीन होकर ऐसे स्थित रही, जैसे कि छिद्र से भीतर प्रवेशकर पक्षी स्थित रहता है ॥३–५॥ जिस नाड़ी में रोगों का आश्रयभूत बाह्यवायु भरा रहता है, उस नाडी को प्राप्त होकर उसने उस नाड़ी में अत्यन्त उत्कट शूलरूपी वेदना ऐसे उत्पन्न की, जैसे कि दक्षिणामूर्ति के विशाल वटवृक्षकी नाड़ीमें शैवशूल गाड़ा गया था ॥६॥ उसने उन प्राणियों के शरीर और इन्द्रियों से उन्हीं प्राणियों के भोजनयोग्य बहुत भोजन तथा अन्यान्य नरमांस आदि का उपभोग किया ॥७॥ पति के वक्षःस्थल में जिन्होंने मछली आदिके आकार के पत्रों को संक्रामित किया है, ऐसे कपोलों से युक्त और कान्त के आलिंगन से जिसकी मालाएँ मर्दित हो गई हों, ऐसी मुग्ध बाला के समान वह सोई रही यानी मुग्ध बाला के सुख का भी उसने अनुभव किया। कल्पवृक्षों के पुष्पों से भी श्रेष्ठ अतएव द्विगुण सुगन्धवाले कमलों से पूर्ण शोकरहित वनभूमियों में पक्षीके शरीर में प्रविष्ट हुई उसने लम्बी उड़ान मारी। भँवरी के शरीर में प्रविष्ट होकर भ्रमर के साथ विहार करती हुई उसने खूब सुगन्धित मन्दारवृक्ष के मकरन्द (पुष्परस) रूपी आसव का देवताओं के पर्वतों के वनों में पान किया, संग्राम में वेग से चमक रही तलवार की धार जैसे वीर पुरुषों को चबा डालती है, वैसे ही गीध की देहमें प्रविष्ट हुई उसने क्षतरूपी गर्तों से युक्त शवों के शरीर चबा डाले ॥८–११॥ जैसे वायु–लेखा दिशाओं में नीचे और ऊपर उड़ती है, वैसे ही सम्पूर्ण प्राणियों के शरीरों की नाड़ियों में तथा काँच के समान नीले आकाश में वह ऊपर नीचे उड़ती थी। जैसे समष्टि प्राणवायुका स्पन्द विराट् के हृदय में स्फुरित होता है, वैसे ही प्रत्येक देहरूपी घर में उसका स्फुरण होता था ॥१२,१३॥

यदि कोई शंका करे कि प्रत्येक देहरूपी घर में उसने कैसे विहार किया ? तो उस पर कहते हैं।

सम्पूर्ण प्राणियों के शरीरों में जैसे प्राणवायु अपना व्यापार करता है, वैसे ही चित्–शक्तियाँ भी उनमें भासित होती हैं, जैसे गृहिणी अपने घर में दीपप्रभा से भासित होकर व्यवहार करती है, वैसे ही पूर्वोक्त चित्शक्ति रूपी प्रभा से भासित होकर उसने प्रत्येक प्राणी के शरीररूपी घर में विहार किया ॥१४॥ जैसे जल में द्रवशक्ति विहार करती है, वैसे ही उसने रुधिर में विहार किया, जैसे समुद्र में आवर्तशक्ति विहार करती है, वैसे ही उसने प्राणियों के पेट में विहार किया। जैसे विष्णु भगवान् सफेद शेषनाग पर सोते हैं, वैसे ही वह सफेद मेदा में चिरकाल तक सोई रही। जैसे पाचनशक्ति अमृतका आस्वादन लेती है, वैसे ही वायुरूप हुई उसने अंग के गन्ध का आस्वादन लिया ॥१५,१६॥ वायुरूप हुई उसने वृक्ष, लता, औषधि आदि के रस (निर्यास) आदि का उपभोग किया और हिंसा से इकट्ठे

किये हुए काले, पीले आदि अशुद्ध रसों का उपभोग किया, इसके बाद 'मैं जीवमयी सूची होऊँ' इस प्रकार खम्भे के समान अटल तपश्चर्या के संकल्प से तपस्विनी वह सूची चेतना, पावनी और शुद्ध हो गई ॥१७,१८॥ मारुतरूपी तेज घोड़ेवाली, वायुरूप से बह रही, दिशाओं में व्याप्त उस लोहमयी सूचीने अदृश्य होकर अनन्त प्राणियों की देहों से पान किया, भोजन किया, विविध प्रकार की क्रीड़ाएँ की, दान दिया, दिलाया, आहरण किया (छीन लिया), नाच किया, गाया और निवास किया ॥१९,२०॥ अदृश्य, शरीररहित तथा समष्टि और व्यष्टि के मन और पवनरूप देहवाली आकाशरूपी उस सूचीने जो न किया, ऐसा कोई काम नहीं है, अर्थात् सभी उसने किया । यद्यपि वह सर्वत्र भ्रमण में समर्थ थी, फिर भी कुछ प्राणियों के रक्त के आस्वाद के लोभ से मत्त हुई उसने प्राणियों के आयुष्य के लिए नियत कालरूपी आलान स्तम्भ का (बन्धन स्तम्भ का) आश्रय ले कर हथिनी की नाईं थोड़े से प्रदेश में भ्रमण किया । कल्लोलों से (बड़ी-बड़ी लहरोंसे) खूब कँपाई गई देहरूपी नदियों में बड़े वेग से प्राणियों का देह से वियोग करनेवाली उस मदोन्मत्त सूचिका ने मगर के समान खूब आचरण किया ॥२१-२३॥ मेदा और मांस को निगलने में असमर्थ हुई वह अपने हृदय में इस प्रकार रोई, जैसे कि धनाढ्य वृद्ध, रोगी आदि पुरुष भोजन की शक्ति न होने के कारण रोते हैं ॥२४॥ जैसे नर्तकी रंग-स्थल में अपने शरीर में पहने हुए कंकण, बाजुबन्द आदि को नचाती है, वैसे ही उसने अपने द्वारा पीड़ित बकरी, ऊँट, हरिण, हाथी, घोड़े, सिंह, बाघ आदि को चिरकालतक खूब नचाया ॥२५॥ बाहर उनचास वायुओं के स्तरों में और भीतर प्राणवायुओं में एकता को प्राप्त हुई अतएव वायु की गति से विवश हुई वह जैसे वायुओं के अन्दर सुगन्धि रहती है, वैसे ही उनके भीतर स्थित रही ॥२६॥ मन्त्र, औषधि, तपस्या, दान, देवपूजा आदि से आहत हुई वह पर्वतनदी की ऊँची तरंगों के समान बाहर भाग जाती थी । बुझी हुई दीपक की ज्योति के समान अन्तर्धान-गति से जिसकी गति जानी नहीं जा सकती ऐसी वह शीघ्र लोहसूची में छिप जाती है और वहाँ पर जैसे बच्चा माता की गोद में विश्रान्ति को प्राप्त होता है, वैसे ही विश्रान्ति-सुख को प्राप्त होती है ॥२७,२८॥ अपनी अपनी वासना के अनुसार सभी अपने पद की इच्छा करते हैं । राक्षसी ने सूचीको ही अपना पद बनाया, क्योंकि उसका सूची के समान तीक्ष्ण स्वभाव था । जीवसूची सम्पूर्ण दिशाओं में विहार करके भी आपत्ति में अपने ही पदभूत लोह-सूची को प्राप्त होती है, जैसे कि जड़ पुरुष आपत्ति में अपने ही स्थान को प्राप्त होता है । इस प्रकार प्रयत्न करती हुई, दसों दिशाओं में घूमती हुई उस जीवसूची को मानसिक तृप्ति तो यथाकथंचित् प्राप्त हुई, किन्तु शारीरिक तृप्ति उसे कभी प्राप्त नहीं हुई । धर्मी के रहते धर्म रह सकते हैं, धर्मी के अभाव में धर्म कैसे रह सकते हैं ? जिसका शरीर रहता है, उसीका शरीर तृप्त होता है ॥२९-३२॥ इसके बाद अपने प्राक्तन तृप्त शरीर के स्मरण से उदरपूर्ति से प्राप्त होनेवाले सुखको चाहनेवाली उस सूचीका हृदय दुःखित हुआ । तदनन्तर अपने प्राचीन शरीर की प्राप्ति के लिए मैं कठोर तपस्या करूँगी,

ऐसा दृढ़ निश्चयकर, तप के लिए स्वयं देश का निर्णय कर वह आकाश में उड़नेवाले जवान गीध के हृदय में प्राणवायु के मार्ग से प्रविष्ट हुई, जैसे कि घोंसले में सोनेवाली चिड़िया घोंसले के छिद्र में प्रविष्ट होती है ॥३३–३५॥ अपने भीतर प्रविष्ट रोगसूचिता से अधिष्ठित तथा सूची से प्रेरित किया गया उक्त गीध अपने में प्रविष्ट हुई सूची के ईच्छित कार्य को करने के लिए तत्पर हुआ ॥३६॥ जैसे वायु से प्रेरित मेघ पर्वत को प्राप्त होता है, वैसे ही अपने भीतर प्रविष्ट हुई सूची द्वारा प्रेरित वह गीध सूचीरूपी पिशाची का निवृत्तिकाल उपस्थित होने पर जहाँ जानेका उसने विचार किया था, उस पर्वत में गया ॥३७॥ जैसे योगी अपनी बुद्धिवृत्ति को सम्पूर्ण संकल्पों से रहित परम पद में स्थापित करता है, वैसे ही उस गीध ने उस निर्जन महावन में उस सूची को रक्खा ॥३८॥ वह एक ही पैर के प्रान्त से स्थित लोहसूची पर्वत के शिखरपर गीध द्वारा प्रतिष्ठापित देवप्रतिमा के समान हुई ॥३९॥ धूलीकणरूपी घर में स्थित स्थाणु के सिर में एक अत्यन्त सूक्ष्म पैर से पर्वत शिखर में मयूर के समान ऊपर को गर्दन करके वह खड़ी हुई ॥४०॥ गीध–द्वारा स्थापित की गई और खड़ी हुई स्नेहमयी सूचीको देखकर जीवयुक्त सूचिका गीध के शरीर से बाहर निकलने के लिए तत्पर हुई ॥४१॥ बाहर निकलने के लिए जिसकी बुद्धि अत्यन्त उत्सुक थी ऐसी जीवसूची वायु से नासिका से प्राणवायु के साथ मिलने के लिए उत्सुक सुगन्धि के समान उस गीध के देह से बाहर निकल आई ॥४२॥ जैसे भारवाही पुरुष भार को छोड़ करके सुखी होकर अपने स्थान को जाता है, वैसे ही गीध भी विसूचिका को उतार कर अपने देशको चला गया, उस समय जिस पुरुष की व्याधि निवृत्त हो गई हो, ऐसे पुरुष के समान स्वस्थ हुआ ॥४३॥ उस जीवसूची ने तपस्या के लिए लोहसूची को आधार बनाया, पदार्थों का खूब विचार कर किया गया यथोचित विनियोग शोभित होता है ॥४४॥ अमूर्त पदार्थ की किसी आधार के बिना तपस्या आदि क्रियाएँ सिद्ध नहीं हो सकती, यह विचार कर वह जीवसूची लोहसूचीरूपी आधार में एकनिष्ठ होकर तपस्या करने के लिए प्रस्तुत हुई ॥४५॥ जैसे पिशाची सेंमर के वृक्ष को चारों ओर से व्याप्त कर लेती है और जैसे आँधी सुगन्धि के लेश को व्याप्त कर लेती है, वैसे ही जीवसूचीने लोहसूची को सर्वांश से व्याप्त कर लिया ॥४६॥ हे इन्द्र, तदनन्तर तभी से लेकर यह दीर्घ तपस्या करनेवाली सूची बहुत वर्षों से उक्त जंगल में तप कर रही है ॥४७॥ हे कर्तव्यार्थ का निर्णय करने में परम कुशल देवराज, उसको वरदान द्वारा ठगने के लिए आप प्रयत्न कीजिए, क्योंकि उसकी तपस्या चिरकाल से परिपालित लोक को जलाने में अत्यन्त समर्थ है ॥४८॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामजी, इस प्रकार उक्त सूचीका वृत्तान्त नारदजी से सुनकर इन्द्र ने सूची को देखने के लिए वायु को दसों दिशाओं में भेजा ॥४९॥ तदनन्तर वायु का दिव्यदृष्टिरूप ज्ञान उसको देखने के लिए गया यानी वायुने दिव्यदृष्टि से गन्तव्य दिशा का आलोचन किया। तदनन्तर आकाशमार्ग को छोड़कर वायु ने शीघ्रता के साथ भूमि में पर्यटन किया ॥५०॥ शीघ्रता से युक्त वायु की संविद् ने (देवताने) एक अंश से ही सम्पूर्ण दिशाओं का पर्यालोचन कर सर्वोत्कृष्ट

ब्रह्मज्योति के समान बिना किसी विघ्नबाधा के सहसा सब कुछ देख लिया ॥५१॥

सब कुछ देख लिया, यह जो कहा उसका विस्तार करते हैं।

सात समुद्रों के और भूमिके अन्त में लोकालोक पर्वत की करधनीरूप, प्राणियों से रहित स्वर्णमय भूमि को उसने देखा, तदनन्तर मणिमयाकार पुष्कर द्वीप को देखा, जो स्वादु जल के समुद्र से घिरा था और पर्वतों की सन्धि में स्थित देशों और दिशाओं से युक्त था, उसके बाद पुष्करद्वीप के अन्तर्गत पर्वतों में वृत्ताकार गोमेदद्वीप को देखा, जो सुरासमुद्र से घिरा था, उस देश में रहनेवाले जलचरों से वह व्याप्त था, इससे उस देश के प्राणियों की जल और स्थल दोनों में समानरूप से संचरण–सामर्थ्य प्रतीत होती है। तदनन्तर उसने मध्यवर्ती देशों से पूर्ण क्रौंच द्वीप को देखा, जो इक्षुदकसमुद्र से घिरा था, उपद्रवरहित था, पर्वतश्रेणियों से व्याप्त था एवं उर्वरा पृथ्वी का वह पीठस्वरूप था। तदनन्तर उसने वृत्ताकार श्वेतद्वीप को देखा, वह क्षीरसागररूप मोतियों से जटित कंकण से घिरा था, मध्य में त्रिलोकीनाथ विष्णु भगवान से अधिष्ठित था, उसमें अवान्तर प्राणी एवं भिन्न भिन्न खण्ड थे। तदनन्तर जिसके मध्यवर्ती मन्दिर, नगर घृतसमुद्र से परिवेष्टित थे ऐसे कुशद्वीप को उसने देखा, उसमें बड़े बड़े पर्वत और उनकी संधि में स्थित देश थे। तदनन्तर उसने दधिसमुद्ररूपी करधनी से सीमित आकाश ही जिसका नगर रूपी उदर है, ऐसे शाकद्वीप को देखा, जिसकी सीमा में अन्यान्य देश थे। जम्बूद्वीप में महामेरू को, जो कुलपर्वतों से परिवेष्टित था, जिसके प्रान्तमार्ग में अन्यान्य देश थे और क्षारसमुद्र से घिरा था, देखा ॥५२–५९॥ पहले वायुसंविद् (वायुदेवता) वातस्कन्धों से (उनचास वायुओं के स्तरों से) अवतीर्ण हुई। जहाँ से वायु की संवित् अवतीर्ण हुई, उसी मार्ग से वायु भी अनायास अवतीर्ण हुआ ॥६०॥ सूचिका का अन्वेषण करता हुआ वह वायु जम्बूद्वीप को देखकर हिमालय के उस शिखर में पहुँचा जहाँ पर वह तपस्विनी सूची थी ॥६१॥ अत्यन्त ऊँची शिखर की चोटी में, जहाँ वह सूची तप कर रही थी, उस महावन में वह गया, वह महावन दूसरे आकाश के समान विस्तृत था और प्राणियों के संचार से रहित था। सूर्य के अति निकट होने के कारण उसमें तृण, लता आदि के समूह उत्पन्न ही नहीं हुए थे। वह रजोगुणमयी संसार–रचना के समान रजोमय था यानी धूली से भरा था। वह मृगतृष्णारूपी नदियों के समूह से पूर्ण होनेवाले समुद्र के तुल्य था, इन्द्रधनुष के तुल्य मृगतृष्णारूपी सैकड़ों नदियाँ उसमें थी, वह इतना विस्तीर्ण और असीम था कि लोकपाल भी (इन्द्र आदि भी) अपनी दृष्टि से उसकी सीमा जानने में असमर्थ थे और उसके अवान्तर देश अनेक थे, दोनों ओर जोर के वायु के यानी आँधी के चलने से बह रहे धूलिपटल ही उसके कुण्डल थे, सूर्य के किरणरूपी केसर से उसका सर्वांग लिप्त था और चन्द्रकिरणरूपी चन्दन उसमें लगा था, वह आकाश की विलासयुक्त नायिका के समान था और आकाश को वायुरूपी सूत्कार (कान्त के आलिंगन से जनित सुख को अभिव्यक्त करनेवाले ध्वनि) सुनाती थी ॥६२–६६॥ वह वायु, जिसका विशाल शरीर व्याप्त अनन्त दिशाओं का पूरक था, सात द्वीपों से और समुद्रों से किये गये मुद्रण से ऊपर को व्याप्त हुए एकदेश के आश्रयभूत पृथ्वीरूप पीठ पर चारों ओर विहार

करके दीर्घमार्ग में चलने के कारण थका था, अतः उसने भँवर के समान शरीरवाले आकाश में लटकी हुई–सी उन्नत पर्वत स्थली को प्राप्त कर विश्राम लिया ॥६७॥

तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

चौहत्तरवाँ सर्ग

उस तपस्विनी सूची को देखकर वायु का इन्द्र के समीप में जाना,
सूची को वर देने के लिए ब्रह्मा से इन्द्र की प्रार्थना और सूची के ज्ञान का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, जिसमें पूर्ववर्णित महान् वन था, उस उन्नत शिखर की उस भूमि में उन्नत शिखर की मध्य शिखा के समान उठी हुई सूची को वायुने देखा। वह एक पैर से तप कर रही थी, अपने सिर की गर्मी से सूख रही थी और सदा निराहार थी तथा उसकी उदर–त्वचा मानों सूखे हुए पिण्ड के समान हो गई थी ॥१,२॥ एक बार खुले हुए मुख से धूप और वायु का ग्रहण कर ये मेरे अन्दर नहीं समा रहे हैं, यह दर्शाती हुई सी वह उनको बार बार बाहर निकाल रही थी, प्रचण्ड सूर्य की किरणों से वह सूख गई थी और वन के रूक्ष वायुओं से उसका शरीर जर्जर हो गया था, अपने स्थान से वह विचलित नहीं होती थी और चन्द्रमा की किरणें उसे स्नान कराती थी। अन्य को स्थान न दे रहे एक रजःकण से उसका मस्तक आच्छन्न था, अतएव उसकी रजःकण से वह अपनी कृतार्थता को प्रकाशित कर रही थी, भाव यह है कि सूची के मस्तक पर दूसरे रजःकण का समावेश तो हो नहीं सकता था इसी कारण अन्य रजोजातीय रजोगुण को और उससे सहचरित तमोगुण को स्थान न दे रहे रजःपरमाणुरूप हेतु से वह अपनी कृतार्थता का अनुमान करा रही थी ॥३–५॥ वह पूर्वोक्त महाअरण्य द्वारा वृक्ष, लता, झाड़ियाँ, मृग आदि अपने विभवरूप पदार्थों को अन्य अरण्यों को देकर चिरकाल की तपस्या द्वारा सूचीरूप से पैदा की गई शिखा के समान स्थित थी। उसके बाद योग का परिपाक होने के कारण जिन्होंने अपने मस्तक में प्राणों को स्थापित किया है, ऐसे योगियों के जटाजूट की लटके समान वह स्थित थी ॥६॥

यहाँ पर सूची की, तप के उपक्रम में अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण, उस महान् वन की शिखा के रूप से उत्प्रेक्षा (तुलना) की गई है और चिरकाल के तप से उत्पन्न तेज की वृद्धि होने पर पुंजीभाव की विवक्षा से उसकी महाअरण्य के जटाजूट के रूप से उत्प्रेक्षा की गई है।

उस सूची को देख कर वायु के आश्चर्य का ठिकाना न रहा, उसको प्रणाम कर और चिरकाल तक उसे देखकर अत्यन्त भयभीत की नाईं वह उसके पास आया ॥७॥ महातपस्विनी सूची किसलिए तपश्चर्या करती है, यह पूछने का उसको साहस नहीं हुआ, क्योंकि वह उसकी तेजोराशि से अभिभूत हो गया था, भगवती महासूची का महातप अत्यन्त आश्चर्यकारी है, केवल यही सोचता हुआ वायु आकाश में चला गया ॥८,९॥ मेघमार्ग को लाँघकर और उन चास वायुओं के स्तरों का अतिक्रमण कर सिद्धों को अपने से नीचे करके सूर्यमार्ग में प्राप्त होकर विमानों से यानी वैमानिकप्रधान नक्षत्र लोक के ऊपर चढ़कर वह इन्द्रपुरी में पहुँचा।

सूची के दर्शन से अति पुनीत हुए वायु का इन्द्र ने आलिंगन किया ॥१०,११॥ इन्द्र के पूछने पर वायु ने देववृन्द से परिवृत्त और सभामें बैठे हुए इन्द्र से कहा : जिस कार्य के लिए आपने मुझे आदेश दिया था, वह सब मैंने देखा ॥१२॥ हे महेन्द्र, जम्बूद्वीप में अत्यन्त उन्नत हिमालय नाम का पर्वतराज है, जिसके साक्षात् भगवान् चन्द्रशेखर जमाई हैं, उसके उत्तर तरफ के बड़े शिखर के ऊपर महातेजस्विनी तपस्विनी सूची खड़ी होकर भीषण तपस्या कर रही है, उसकी तपस्या का बहुत क्या वर्णन करूँ ? उसने मुझसे वायु आदिका भी भोजन न हो, इसलिए अपने उदरके छिद्र को लोहपिण्ड बनाकर नष्ट कर डाला है ॥१३–१५॥ उसने शीत और वायु के निगलने की निवृत्ति के लिए मुख को, जिसके अत्यन्त छोटे छिद्र के संकोच का निवारण किया जा चुका था, खोलकर धूलिकणों से भर दिया ॥१६॥ उसकी घोर तपस्या से हिमालय अपनी हिममयता का त्यागकर अग्निमय लोहपिण्ड बनकर दुःसेव्य हो गया है, इसलिए शीघ्र उठिए, हम सभी लोकपितामह ब्रह्माजी के पास उसके वरदान के लिए जायें, यह निश्चय समझिए कि यदि उसकी उपेक्षा की जायेगी तो उसका वह घोर तप लोगों के अनर्थ के लिए ही होगा ॥१७,१८॥ इस प्रकार वायु के अनुरोध से इन्द्र देवताओं के साथ ब्रह्मलोक में गये, वहाँ जाकर उन्होंने भगवान् ब्रह्मा की प्रार्थना की ॥१९॥

मैं सूची को वर देने के लिए हिमालय के शिखर में जाता हूँ, यों ब्रह्माजी के आश्वासन देनेपर इन्द्र स्वर्ग को लौट आये ॥२०॥ इतने समय में (सात हजार वर्षों में) वह सूची अति पवित्र हो गई थी, उसने अपने तप के ताप से देवलोक को सन्तप्त कर दिया था ॥२१॥

इस सर्ग की समाप्ति में सूची के तप का वर्णन कर रहे श्रीवसिष्ठजी निर्जन वन में किये गये सूची के तप की केवल उसकी छाया ही साक्षिणी थी, ऐसा कहते हैं।

अत्यन्त बढ़ रही तपस्या में स्थित उस सूची को उसकी छायाने, विकास को प्राप्त हुई मुखरन्ध्र में प्रविष्ट सूर्यकिरणरूपी दृष्टि से, तब तक देखा जब तक तपस्या करनेका उसने संकल्प किया था ॥२२॥ रेशम के तार के समान अत्यन्त सूक्ष्म सूचीने अपनी स्थिरता से मेरू को भी जीत लिया, उसके द्वारा जीता गया वह मेरु कहीं लज्जा से समुद्र में डूबता तो नहीं है, इस अभिप्राय से उसको देखने के लिए मानों दिन के आदि और अन्त भागों में उसने दीर्घता धारण कर उसके दर्शन का त्याग किया। उसकी छायाने दोनों सन्ध्याओं में और रात्रिमें क्यों उसके दर्शन का परित्याग किया, ऐसी यदि किसीको शंका हो, तो उस पर उपर्युक्त समाधान है, यह समझना चाहिए ॥२३॥

तो मध्याह्न में क्यों वह उसके मूल में छिप जाती थी ? इस पर कहते हैं।

अन्य समय में दूर से गौरव के साथ देख रही वह मध्याह्न के समय तापके भय से मानों सूची के उदर में प्रविष्ट हो जाती थी, अतएव उस समय उसने उसके दर्शन का त्याग किया ॥२४॥ वह छाया सूची को देखती थी और बड़े तीक्ष्ण सूर्य के ताप से उसके अंगों में मग्न हो जाती थी, यह बात ठीक भी है, लोग संकट के समय गौरवप्रयुक्त सत्कार को भूल ही जाते हैं ॥२५॥ छायासूची, तापसूची और लोहसूची यों तीन रूप धारण की हुई

उसने अपनी तपस्या से पवित्र हुए परस्पर के मध्यवर्ती त्रिकोणदेशको असी, वरणा और गंगा इन तीनों के मध्य में स्थित वाराणसी के समान पवित्र बना दिया ॥२६॥ सूखने के कारण अदृश्य, श्यामा, शुक्ला–इन तीन वर्णोंवाली सूचीरूपी सरिता से परिवेष्टित जो वहाँ पर वायु, धूली–कण आदि थे, वे भी परम मुक्ति को –अपने साथ संसर्ग करनेवाले प्राणियों को मुक्तिरूप फल देनेवाली या दोषों से मुक्त करनेवाली पवित्रता को–प्राप्त हो गये ॥२७॥ हे राघव, प्रत्यग्ज्ञान का स्वयं ही विचार करके जिसने परम कारण ब्रह्मका साक्षात्कार कर लिया था, ऐसी वह सूची आज प्रबुद्ध हो गई। अपनी युक्तियों से विचार द्वारा आत्मपरिचय का अनुसरण करना ही एकमात्र मुख्य गुरु है, अन्य गुरु मुख्य नहीं है। यद्यपि 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यादि श्रुति है, तथापि वह 'दृश्यते त्वग्रचया बुद्धया' इत्यादि अन्य श्रुति के अनुसार शिष्यप्रज्ञा का ही अनुसरण करती है ॥२८॥

चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

पचहत्तरवाँ सर्ग

ब्रह्माजी के प्रसन्न होने पर भी ज्ञान होने के कारण सूचीका वरलाभ के लिए चुपचाप रहना तथा ब्रह्माजी के वरदान से फिर उसकी देहप्राप्ति का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, बोध होने के अनन्तर एक हजार वर्ष में ब्रह्माजी उसके पास आये। उन्होंने आकाश से 'हे पुत्रि, तुम वरदान लो' – यह कहा ॥१॥ सूची केवल जीवकलामात्र से युक्त थी, उसमें कर्मेन्द्रियाँ कोई थी नहीं, इसलिए उसने ब्रह्माजी से कुछ भी नहीं कहा, केवल अपने मन में विचार करती रही ॥२॥

उसके विचार–प्रकार को ही स्पष्टरूप से कहते हैं।

मैं पूर्ण हो गई हूँ, मेरे सब सन्देह कट गये हैं, मैं वर से क्या करूँ, मैं शान्त हूँ, परम निर्वाण को प्राप्त हो गई हूँ। मुझे अब अन्य वरदान से क्या प्रयोजन है ?॥३,४॥ जैसे मैं यहाँ पर स्थित हूँ वैसे ही परमार्थरूपा मैं स्थित रहूँ, केवल परमार्थरूप सत्यकला को छोड़कर अन्य पदार्थों से मेरा क्या प्रयोजन है ? ॥५॥ जैसे कि बालिका अपने संकल्प से उत्पन्न वेताल से युक्त होती है, वैसे ही इतने समय तक मैं अपने ही संकल्प से उत्पन्न अविवेक से युक्त थी ॥६॥ इस समय मेरा यह अविवेक आत्मविचार द्वारा अपने आप शान्त हो गया है। अब प्राप्त हुए इष्ट और अनिष्ट पदार्थों से मेरा कौन प्रयोजन है ? ॥७॥ इस प्रकार के निश्चय से युक्त, कर्मेन्द्रियों से रहित, उस सूची को चुपचाप अवस्थित देखकर कर्मफल की अवश्यंभाविता का नियमन करनेवाले ईश्वरसंकल्प से युक्त भगवान् ब्रह्माजी खड़े रहे। प्रसन्न हुए ब्रह्माजी ने उस विरक्त सूची से फिर यह कहा : हे पुत्रि ! तुम वरदान लो, कुछ समय तक भूतल में विविध भोगों का अनुभव कर तदनन्तर तुम परम पद को प्राप्त होओगी। जिस नियति के स्वरूप का हम लोगों से भी परिवर्तन नहीं हो सकता, उसका तुम्हारे लिए यही निश्चय है ॥८–१०॥ फले हुए इस तप से तुम्हारा संकल्प सफल हो, फिर तुम स्थूलशरीर होकर इस पर्वत में हिमालय–वन की

राक्षसी होओ ॥११॥ जैसे पहले बीज के अन्दर रहनेवाली वृक्षत्वजाति महद्‌वृक्षस्वरूप व्यक्ति से वियुक्त रहती है, वैसे ही मेघ के समान आकारवाले जिस शरीर से तुम पहले वियुक्त हुई हो। हे पुत्रि ! जैसे अंकुर–स्थिति जल के सिंचन से लतारूप में परिणत हो जाती है, वैसे ही अन्तर्बीजरूपिणी (सूची के अन्दर बीजरूप से अवस्थित) तुम फिर उस शरीर से युक्त हो जाओगी ॥१२,१३॥ जलशून्य होने के कारण शुभ्र स्पन्दरहित शरत्कालकी मेघमण्डली के समान ज्ञानी होने के कारण तुम लोक में किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाओगी। सदा ध्यान में मग्न रहनेवाली तुम जब कभी लीलावश निर्विकल्प समाधि से व्युत्थित होओगी, तब न्याय से भूतों की बाधा करोगी यानी प्राणियों को दुःख दोगी, तब व्यवहारात्मक ध्यान धारणा की आधारभूत, वातस्वभाववाली देह के चलन से इधर उधर घूमनेवाली और अपने राक्षसजाति के उचित अशास्त्रीय हिंसा आदि कर्मरूप स्पन्द की विरोधिनी होकर तुम अपनी क्षुधा की निवृत्ति के लिए न्यायपूर्वक प्राणियों को पीड़ित करोगी ॥१४–१७॥ तुम न्यायवृत्ति होओगी और अन्याय करनेवालों को नष्ट करोगी, जीवन्मुक्त होने के कारण अपने विवेक का एकमात्र पालन करोगी ॥१८॥ यह कहकर देवाधिदेव ब्रह्माजी आकाश से चले गये और सूची भी 'ब्रह्माजी ने जो कुछ कहा वह मुझे प्राप्त हो, उसमें मेरा क्या विरोध है और उनके वरदान के निवारण में मेरा अनुराग क्यों हो' यह विचार कर पहले अपने मन में पूर्व शरीराकार हुई यानी पूर्व शरीर का उसने पहले अपने मन में स्मरण किया ॥१९॥

मन की कल्पना के अनुसार स्थूल शरीर का आविर्भाव हुआ, यह कहते हैं।

पहले बिलस्त भर हुई, फिर उसका आकार हाथ भरका हुआ, तदनन्तर पेड़ की शाखा के तुल्य उसका शरीर बन गया, फिर वह मेघघटाकार हो गई, इस प्रकार वह सूची एक पलक भर में अपने संकल्पवृक्ष की कणिका के (बीजके) अंकुरक्रम से जिसकी अवयवरूपी लता उत्पन्न हो गई हो ऐसी बन गई ॥२०॥ उसके शरीर से अविकल शक्तिसम्पन्न तत् तत् अंग, इन्द्रियों के गोलक, ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ, जो पहले तिरोहित बीजसमूहरूप थी, संकल्पवृक्षों के वन के फूलों की नाईं चारों ओर से भलीभाँति उत्पन्न हुई। मन की कल्पना से उत्पन्न होने के कारण वे मिथ्या ही हैं, यह अर्थ है ॥२१॥

पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

छिहत्तरवाँ सर्ग

देह को प्राप्त करके समाधि में बैठी हुई छः महीने में क्षुधित होकर समाधि से उठी हुई कर्कटी का वायु के वचन से किरातों के देश में जाना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामजी, सम्पूर्ण अवयवों के प्रादुर्भूत होने के बाद यह कर्कटी नाम की राक्षसी सूक्ष्म होकर भी फिर ऐसे स्थूलता को प्राप्त हुई जैसे वर्षाकाल की मेघपंक्ति सूक्ष्म होती हुई भी स्थूलता को प्राप्त होती है ॥१॥ स्वात्मभूत ब्रह्माकाश को प्राप्त करके फिर उसका अनुसन्धान कर कुछ प्रसन्न हुई उसने ब्रह्मबोध से चिरकाल से

बद्धमूल बृहद्राक्षसभाव को केंचुल के समान छोड़ दिया यानी जैसे साँप केंचुल छोड़ता है वैसे ही उसे छोड़ दिया ॥२॥ निष्प्रपंच आत्मा का अपनी वृत्तिधारा द्वारा आश्रय लेकर बद्धपद्मासन से स्थिर और आत्मध्यान में परायण वह पर्वत के शिखर के समान वहीं पर बैठी रही ॥३॥ तदनन्तर छः महीने में जैसे वर्षाकाल में बड़े भारी मेघ के निर्घोष से मयूरी बोध को (कामोद्‌बोधको) प्राप्त होती है, वैसे ही ध्यान से बोध को प्राप्त हुई यानी समाधि से व्युत्थित हुई ॥४॥ समाधि से जागी हुई वह बहिर्वृत्ति होकर क्षुधा से पीड़ित रही, जब तक देह रहती है, तब तक देह के स्वभाव क्षुधा, तृषा आदि की निवृत्ति नहीं होती ॥५॥

तदनन्तर चिन्तन हेतु मन से उसने विचार किया कि मैं किसे निगलूँ ? मुझे अन्याय के साथ दूसरे जीव का भोग नहीं करना चाहिए, जो सज्जनों द्वारा निन्दित है और जो न्यायोपार्जित नहीं है उस भोजन से देहियों के मरण को मैं उत्तम समझती हूँ ॥६,७॥ यदि न्यायोपार्जित भोजन के बिना इस शरीर का मैं परित्याग कर दूँ, तो कोई अन्याय नहीं होगा, क्योंकि न्यायरहित थोड़ासा भी अन्न यदि ग्रहण किया जाय, तो वह विष हो जाता है। जो वस्तु लोकसम्मत रीति से प्राप्त नहीं है, उसके भोजन से क्या फल सिद्ध होगा ? मुझे न तो जीवन से कोई लाभ है और न मरने से मेरी कोई हानि है ॥८,९॥ मैं देह आदि भ्रम जिसका भूषण है, ऐसी मनोमात्र थी, वह भ्रम (मनोमात्रत्व) मेरा शान्त हो गया, अब मेरे जीवन और मरण का भ्रम कहाँ रहा ? ॥१०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, मौन होकर बैठी हुई उसने राक्षसस्वभाव का परित्याग करने से सन्तुष्ट हुए वायु द्वारा कही गई वाणी आकाश से सुनी ॥११॥ हे कर्कटी, तुम मूढ (अज्ञानी) लोगों के पास जाओ और ज्ञान से उन्हें शीघ्र उद्‌बुद्ध करो, अज्ञानियों का उद्धार करना ही महान् पुरुषों का एकमात्र स्वभाव है। जो पुरुष तुम्हारे द्वारा बोध को प्राप्त कराया जाता हुआ भी बोध को प्राप्त नहीं होगा, अपने विनाश के लिए ही उत्पन्न हुआ वह तुम्हारा न्यायोचित ग्रास होगा ॥१२,१३॥

वायु के वचन को सुनकर 'आपने मेरे ऊपर अनुग्रह किया।' – यह कहकर वह धीरे से उठी और पर्वतशिखर से क्रमशः नीचे उतरने लगी। पर्वत की ऊर्ध्वभूमि का शीघ्र उल्लंघन कर और पर्वत की समीपस्थ भूमि के तट में जाकर हिमालय पर्वत के अधोभाग में स्थित किरातों के मण्डल में पहुँची ॥१४,१५॥ उसमें अन्न, पशु, जन–समुह, धन, हरे तृण, औषध और मांस प्रचुर मात्रा में था, असंख्य कन्दमूल, पेय वस्तु, मृग, कीट, पक्षी आदि की भी कमी नहीं थी ॥१६॥ तदनन्तर रात्रि में, जब कि अत्यन्त निबिड़ अन्धकार से मार्ग–भूमि व्याप्त थी, जले हुए और काजल से लिप्त पर्वत के समान आकारवाली वह निशाचरी हिमालय पर्वत की तलहटी में स्थित सुन्दर देश में गई ॥१७॥

छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

सतहत्तरवाँ सर्ग

पहले रात्रि का वर्णन, तदनन्तर कर्कटी को राजा और मन्त्री का दर्शन और उनसे कर्कटी की प्रश्न करने की इच्छा का विस्तार से वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, इस बीचमें, जब कि वह किरातों के देश में गई, अत्यन्त अँधेरी रात्रि थी, उसका पिण्ड के तुल्य घनीभूत अन्धकार हाथ से पकड़ा जा सकता था, (वह रात्रि क्या थी, कर्कटीकी सखी थी) नीले मेघरूपी वस्त्रों से वह आच्छादित थी, अमृत को कोई लूट न ले, इस भय से उसके आकाश से चन्द्रमा भाग गया था, तमालों के घनीभूत वनों को वह मानों एकत्रित कर रही थी, अतएव अत्यन्त पुष्ट थी, उसके नेत्रका काजल चारों ओर उड़ता और काला कर देता था, पर्वत के गाँवों में लताएँ अति निबिड़ थी, अतः तारों की ज्योतिका भी प्रवेश नहीं होता था, अतएव अत्यधिक अन्धकार होने के कारण बुढ़िया के समान वह मन्दगति थी, घरों के आँगनोंसे अत्यन्त घने नगर में नवयुवती नायिका के समान दीपिकाओं से इधर उधर संचार करती थी, आँगनों में वायु द्वारा उसने दीपकों को टेढ़ा कर दिया था, वह पिण्डीभूत अन्धकार के तुल्य थी, झरोखों के टेढ़े छिद्रों से निकली हुई छोटी दीपरश्मियों से वह शोभित हो रही थी, वह कर्कटीकी सखी सी थी, उसमें पिशाच नाच रहे थे, मदोन्मत्त वेतालों को नरकंकालों की लूट से वह रोकती नहीं थी, अतएव प्रतीत होता था कि मानों उसने काष्ठ के समान मौन धारण कर रक्खा है, सोये हुए मृग आदि प्राणियों से और निबिड़ कुहरे से वह अलंकृत थी, उसमें मन्द मन्द वायु के स्पर्श से ओस के कण भले मालूम पड़ रहे थे। तालाबों में बड़े-बड़े गर्तों के मुँह पर वह कौओं और मेढकों से व्याप्त थी, उसमें अन्तःपुरों में क्रीडा के समय स्त्रीपुरुषों के मुख परस्पर आलाप कर रहे थे, जंगलों में प्रलयकालीन अग्नि की तरह ज्वालायुक्त वनाग्नि से वह चमक रही थी, उक्त रात्रि में खेतों में जल के सेक से अनेकों साही के पर घुस रहे थे, जो कि पुराने हो जाने के कारण उनकी पीठ से गिर गये थे। आकाश में आँखों के तुल्य प्रतीत हो रहे और स्पन्द व्यापारसे अलग-अलग हुए सैंकड़ों नक्षत्र उसमें व्याप्त थे, वनों में तेज बह रहे वायु से उसमें फूल, फल और वृक्ष गिर रहे थे और वृक्षों के खोखलों के अन्दर उल्लुओं का शब्द सुनकर उसमें कौओं की बोली बन्द हो गई थी, तस्करों द्वारा चारों ओर घिर गये ग्रामीण लोगों के रोदन से वह अति भीषण मालूम पड़ती थी, जंगल में वह जंगल के समान स्तब्ध थी और नगर में सब नागरिक उसमें सोये हुए थे। वनों में खूब वायु बह रही थी और घोंसलों में पक्षी निर्व्यापार होकर सोये थे ॥१-११॥

गुफाओं में सोये हुए सिंहों से वह पूर्ण थी, कुंजों में हिंस्रजीवों और हरिणों से भरी थी, आकाश में तुषार-कणों से वह व्याप्त थी और वन में मौनयुक्त थी उसका स्वरूप काजल के बादल के मध्यभाग के समान और काँचपर्वत के मध्य के तुल्य काला था। पंक के पिण्ड के मध्य के समान वह निबिड़ थी और इतनी निबिड़ थी कि मालूम पड़ता था मानों तलवार से वह काटी जाय। अत्यन्त अन्धकार से वह परिपुष्ट थी, प्रलयकाल के वायुसे विक्षुब्ध हुए काजल

के पर्वत के तुल्य चंचल थी, प्रलयकालीन एकमात्र समुद्र के पंक के पर्वत के मध्यभाग के समान वह स्थूल थी, कोयलों की भट्ठी के समान वह निबिड़ काली थी, महाअज्ञान के समान वह घनी थी और भौंरों की पीठ और परों के समान उसकी श्यामल कान्ति थी ॥१२–१५॥ उस समय यानी उस भीषण रात्रि में किरातों के नगर का विक्रम नामक राजा, जो बड़ा धैर्यवान् था, अपने नगर से, जिसमें सब नागरिक सो गए थे, मन्त्री के साथ बाहर निकला। वह वीरोचित रात्रि–चर्यासे दस्यु आदि के वध के लिए भीषण जंगल में गया। उस कर्कटीने जंगल में घूमते हुए उन राजा और मन्त्रीको, देखा जिन्होंने केवल धैर्यरूपी अस्त्र धारण कर रक्खा था और जो ग्राम से बाहर स्थित ग्राम के देवता वेताल के दर्शन के लिए उत्सुक थे। उनको देखकर उसने विचार किया : 'बड़े हर्ष की बात है कि आज मुझे भोजन मिल गया है, ये दोनों मूढ अतएव अनात्मज्ञ हैं, इन दोनों का शरीर पृथ्वीका भाररूप है ॥१६–१९॥

अनात्मज्ञ पुरुष इस लोक में और परलोक में विनाश और दुःख के लिए जीवन धारण करता है। इसलिए मूढ का यत्नपूर्वक विनाश कर देना चाहिए। अनर्थका परिपालन करना उचित नहीं है ॥२०॥ अपने यथार्थ स्वरूप को न देख रहे मूढ़ का मरण ही जीवन है यानी जीवन से मरण अच्छा है। मरण से इस मूढ़ का अभ्युदय होता है, क्योंकि उसे पाप की प्राप्ति नहीं होती। ब्रह्मा ने सृष्टि के आदि में यह नियम कर रक्खा है कि अनात्मज्ञ मूढ़ पुरुष घातक पशुओं का भोजन हो ॥२१,२२॥ इसलिए मेरे भोज्य बने हुए इन दोनों को मैं आज ही खा डालूँगी। अभागा जीव ही हाथ में आये हुए निर्दुष्ट पदार्थ की उपेक्षा करता है ॥२३॥ शायद ये दोनों गुणयुक्त महाशय हों, गुणवान् नरका विनाश करना मुझे स्वभावतः अच्छा नहीं लगता ॥२४॥ इसलिए मैं इन दोनों की परीक्षा करती हूँ, यदि ये उस प्रकार के गुणों से युक्त होंगे, तो मैं उनको नहीं खाऊँगी, क्योंकि मैं गुणियों की कभी हिंसा नहीं करती ॥२५॥ जो पुरुष स्वाभाविक (अक्षय) सुख, कीर्ति और आयु को चाहता हो, उसे चाहिए कि वह सम्पूर्ण अभीष्ट पदार्थों के दान से गुणी पुरुषों की पूजा करे ॥२६॥ भले ही मैं इस देह के साथ नष्ट हो जाऊँ, पर गुणवान् को मैं नहीं खाऊँगी, क्योंकि गुणवान् सज्जन लोग अपना जीवन देकर भी लोगों के चित्त को सुख पहुँचाते हैं। अपना जीवन देकर भी गुणवान् लोगों के जीवनकी रक्षा करनी चाहिए, गुणवान् लोगों की संगतिरूपी औषधि से मृत्यु भी मित्र बन जाता है ॥२७,२८॥ जब राक्षसी होकर भी मैं गुणवान् की रक्षा करती हूँ, तब अन्य कौन पुरुष गुणवान् पुरुष को गले का निर्मल हार नहीं बनायेगा ॥२९॥

जो देही (प्राणी) उदार गुणों से युक्त होकर इस संसार में विहार करते हैं, धरातल के चन्द्रमारूप वे अपनी संगति से लोगों को अत्यन्त आह्लादित करते हैं ॥३०॥ गुणी पुरुषों का तिरस्कार करना मरण है और गुणवान् की संगति करना जीवन है। गुणिसंगतिरूपी जीवन से स्वर्ग, अपवर्ग आदि फल सिद्ध होते हैं, इसलिए कमल के समान नेत्रवाले इन लोगों में कितना ज्ञान है, यह जानने के लिए मैं इनकी कुछ प्रश्नों से परीक्षा करूँगी ॥३१,३२॥ पहले यह गुणवान् है या निर्गुण है, इस प्रकार गुण के सम्बन्ध का विचार कर तदनन्तर गुणीको अपने से

श्रेष्ठ समझ कर यदि वह गुणों से हीन हो, तो शास्त्रोक्त दृष्टि से भलीभाँति विचार कर उसको शास्त्रोक्त दण्ड दे। यदि गुणों से अपने से वह श्रेष्ठ हो, तो उसे दण्ड न दे ॥३३॥

सतहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

अठहत्तरवाँ सर्ग

भीषण वाक्यों से भी भयभीत न हुए राजा का कर्कटी को देखना और
मन्त्री द्वारा समझाई गई कर्कटी का प्रश्न करना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, तदुपरान्त राक्षस–कुलरूपी महावन की मंजरीरूप वह राक्षसी अन्धकारमें मेघघटा के समान खूब जोर से गरजी। गरजने के बाद मेघगर्जन के बाद वज्रनिर्घोष के समान शब्दतः (हुंकार से) भीषण होने पर भी अर्थतः अनिष्ठुर यह वचन उसने कहा : अरे घोर अरण्यरूपी आकाशमार्ग में सूर्य और चन्द्रमा के सदृश तथा सब भूतों के आधारभूत महामायारूपी अन्धकारपूर्ण गुफाके अन्दर बैठे हुए कीटों के समान तुम कौन हो, तुम कोई महाबुद्धि हो या अल्पबुद्धि हो ? एक क्षणमें मेरे ग्रासको प्राप्त हुए मरणयोग्य तुम यहाँ आये हो ॥१–४॥ राजा ने कहा : अरे भूत, तुम कौन हो ? और कहाँ रहते हो ? अपनी देह को दिखलाओ। भँवरी के गुंजन के सदृश तुम्हारी इस वाणी से कौन डर सकता है ?॥५॥ किसी वस्तु में अभिलाषा रखनेवाले लोग अपनी अभिलाषा के विषय पदार्थपर सिंह के समान पूर्ववेग से टूटते हैं। अपने क्रोध को छोड़ो, भीषण कार्यवाली अपनी शक्ति को दर्शाओ। हे सुव्रत, तुम क्या चाहते हो ? कहो, मैं तुमको तुम्हारी अभीष्ट वस्तु देता हूँ अथवा कोपपूर्ण शब्दों से या विभीषिका से क्या प्रयोजन है ? या तुम्हीं हमसे डरते हो ? तुम शीघ्र दूसरे को दिखाई देनेवाले शरीर की कल्पना करनेवाली शक्ति से अपनी आकृति और शब्द के साथ हमारे सामने खड़े होओ, जो लोग शीघ्र कार्य नहीं कर सकते, उनका आत्मनाश के सिवा और कुछ सिद्ध नहीं होता ॥६–८॥ राजा के वैसा कहनेपर 'राजा ने बहुत उत्तम कहा।' – ऐसा मन में विचाकर वह उन लोगों के प्रकाश के लिए और अधैर्य के लिए गरजी और हँसी ॥९॥ उसके गरजने और हँसने के बाद राजा और मंत्री ने उसे देखा, उसने अपनी भीषण ध्वनि से दसों दिशाओं को पूर्ण कर दिया था और अपने अट्टहास की दशन कान्तियों के घनीभाव से अपनी आकृति को उनके सामने प्रकट कर दिया था, वह प्रलयकाल के मेघ के वज्र के टकराने से घिसी हुई पर्वतस्थली के समान थी, अपने नेत्ररूपी बिजलियों और शंख की बनी हुई चूड़ीरूपी बकपंक्तियों से उसने आकाशको उज्ज्वल बना रक्खा था, अन्धकाररूपी एकमात्र सागर में वह बड़वानलकी प्रदीप्त ज्वालाओं की लपटों के समान थी। उसके गरज रही घनघटा के आटोप के समान विशाल काले कन्धे थे। कटकटा रहे दाँतों से उत्पन्न हुए भय से हाहाकार के साथ उसने निशाचर, चोर, व्याघ्र आदि को मार डाला था, आकाश और पृथ्वी को मानें वह काजल से धारण कर रही थी और फिर लीला से उल्लासको प्राप्त हो रही थी, उसके केश ऊपर को खड़े थे, उसका सारा अंग मोटी मोटी नसों से भरा था और उसकी बिल्ली के समान पीली–पीली

आँखें थी, वह ऐसी काली थी मानों अन्धकार से ही उसकी रचना हुई हो, यक्ष, राक्षस और पिशाचों को भी वह मरण आदि का भय देती थी। देहरन्ध्र में प्रविष्ट हो रहे श्वासवायु के झंकारशब्द से वह बड़ी भयावनी लगती थी। मूसल, ऊखल, उल्मुक (अधजला काष्ठ), हल और टुटे फूटे सूप उसके शिरोभूषण थे, वह प्रलयकाल में दैदीप्यमान वैदूर्य पर्वत की शिखर स्थली के समान थी, जिसने अपने हास से विश्व के अधिपति दानव मार डाले थे ऐसी कालरात्रि (शिवदूति के) के समान वह उदित हुई थी। मानों मेघयुक्त शरत्–काल का आकाशरूपी महावन ही देह धारण करके आया हो, मानों वह बड़े–बड़े मेघों से युक्त मूर्तिमती खूब अँधेरी रात्रि थी। शरीर धारण करके पृथ्वी की पीठ के समान उठी हुई थी, वह ऐसी लगती थी मानों चन्द्र एवं सूर्य के साथ युद्ध करने के लिए राहु के द्वारा धारण की गई देह हो। उसके इन्द्रनील मणि के समान अत्यन्त काले, जल से भरे दो मेघों के समान तथा ऊखल आदि के हारों के धारण करनेवाले काले स्तन थे ॥१०–१९॥ वह जले हुए काठ से चिह्नित और जले हुए काठ के समान थी और उसका विशाल शरीर था, वृक्षों के तुल्य, स्पन्दरहित था, नसों से व्याप्त सुन्दर भुजलताओंसे उसका आकार और भी अधिक बढ़ गया था ॥२०॥ उसको देखकर वे महाबलशाली राजा और मन्त्री पूर्ववत् बिना किसी क्षोभ के खड़े रहे। ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो कि सत्य और मिथ्याका विवेक रखनेवाले के चित्त को मोह में डाल सके ॥२१॥

यदि तुम महाबलशालिनी हो, तो छोटे कार्य के लिए इतना कोप करना युक्त नहीं है, यों शांति से समाधान करने की इच्छा से मन्त्री कहते हैं।

मन्त्री ने कहा : हे महाराक्षसी, यह तुम्हारा अत्यन्त कोप किसलिए है ? भाव यह कि केवल वचनमात्र से मिलनेवाले आहार–लाभ के लिए क्रोध और साहस आदि की आवश्यकता नहीं है। अथवा क्षुद्र जीव तुच्छ कार्य के लिए भी अत्यन्त घटाटोप करते हैं यानी तुम यदि लघु हो, तो तुम्हारे क्रोध से हमको किसी तरह का भय नहीं है, यह भाव है। तुम कोप को छोड़ो, तुम्हारा यह उद्योग उत्तम नहीं है। अपना कार्य सिद्ध करनेवाले बुद्धिमान् पुरुष साम से (शान्ति से) सिद्ध होनेवाले विषय में दण्डका प्रयोग नहीं करते हैं ॥२२,२३॥ हे अबले ! तुम्हारे जैसे हजारों मच्छर हम लोगों की धीरतारूपी आँधी से तिनके और सूखे हुए पत्तों के समान उड़ाये गये हैं। इसलिए भी तुम्हारा दण्डप्रयोग करना उचित नहीं है ॥२४॥

यदि राक्षसी की ओर से प्रश्न हो कि मेरी स्वार्थसिद्धि कैसे होगी ? तो इस पर कहते हैं।

इस कोपरूपी उपाय का त्यागकर समता से स्वच्छ हुई बुद्धि से और प्राज्ञ के व्यवहार के योग्य युक्ति से प्राज्ञ पुरुष अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं ॥२५॥

कार्य की सिद्धि में सन्देह होने पर भी उक्त अनादि नियम से सिद्ध सामरूप उपाय का त्याग नहीं करना चाहिए, फिर कार्य की सिद्धि का निश्चय होने पर तो कहना ही क्या है ? ऐसा कहते हैं।

अपने ही व्यवहार से कार्य सिद्ध हो अथवा न हो, सामका ही व्यवहार करना चाहिए, यह महानियति का (पण्डितों को शान्ति से ही व्यवहार करना चाहिए, इस अनादि नियमका)

निश्चय है, इस विषयमें भ्रान्तपुरुषोचित कोप का अवसर ही कहाँ है ? ॥२६॥ कहो, तुम्हें किस वस्तु की अभिलाषा है, तुम प्रार्थिनी होकर क्या चाहती हो ? हम लोगों का याचक जन स्वप्न में भी निराश होकर दूसरे के पास नहीं गया है। मन्त्री के यों कहने पर उस राक्षसी ने सोचा, इन दोनों महापुरुषों का धैर्य और बुद्धिबल बड़ा निर्मल है ॥२७,२८॥ ये कोई सामान्य पुरुष नहीं है, यह कोई विचित्र चमत्कार है, मेरा अन्तःकरण इनके वचन और मुखदर्शन से यानी प्रसन्नता आदि चिह्नों से तत्त्वनिश्चय करता है कि हो न हो ये अवश्य ज्ञानी हैं ॥२९॥ वचन, मुखदर्शन आदि से ज्ञानियों के अन्तःकरण परस्पर ऐसे एक हो जाते हैं जैसे कि नदियों के जल संगम से एक होते हैं ॥३०॥ इन लोगों ने मेरा अभिप्राय जान लिया और मैंने इनका अभिप्राय जान लिया है। इन लोगों का मुझे विनाश नहीं करना चाहिए, ये आत्मज्ञ होने के कारण स्वयं अविनाशी हैं। निश्चय ये लोग आत्मज्ञानी होंगे, मिथ्यात्व के निश्चय से जीवनमरणव्यवहार का जिसने त्याग कर दिया है, ऐसे आत्मज्ञानी के सिवा दूसरे पुरुष की बुद्धि मृत्युतुल्य भय के उपस्थित होने पर इस प्रकार निर्भय नहीं हो सकती ॥३१,३२॥ इसलिए जो मुझे कुछ सन्देह हुआ है, उसे इनसे पूछती हूँ। जो लोग विद्वान पुरुष को पाकर अपने सन्देह के निराकरण के लिए उससे प्रश्न नहीं करते वे अधम पुरुष हैं, ऐसा विचार कर प्रश्न के लिए अवसर खोजती हुई वह अकाल में प्रलय के मेघ के निर्घोष के समान अपने हास को रोककर बोली ॥३३,३४॥ हे पापरहित धीर पुरुषों, मुझे बतलाइए कि आप लोग कौन हैं ? निर्मल चित्तवाले ज्ञानी पुरुषोंकी, दर्शनसे ही, मैत्री हो जाती है ॥३५॥ मंत्री ने कहा : हे राक्षसी, ये किरातों के राजा हैं, मैं इनका मन्त्री हूँ। हम लोग तुम्हारे सरीखे घातक जीवों को दण्ड देने के लिए रात्रिचर्या में उद्यत हैं। राजा का रात दिन दुष्टों को दण्ड देना धर्म है। जो दुष्ट अपने धर्म का परित्याग करते हैं, वे विनाशरूपी अग्नि के इन्धन होते हैं ॥३६,३७॥ राक्षसी ने कहा : राजन्, तुम्हारा मन्त्री दुष्ट है यानी तुम दुष्टमन्त्रीवाले हो। और दुष्टमन्त्रीवाला राजा भविष्णु नहीं होता। अच्छे राजा से युक्त मन्त्री आदरणीय होता है और सन्मन्त्री से युक्त राजा आदरणीय होता है ॥३८॥ योग्य मन्त्रीको चाहिए कि वह राजा को विवेकी बनाये। विवेकसे राजा श्रेष्ठताको प्राप्त होता है, जैसा राजा होता है, वैसी उसकी प्रजा होती है। सम्पूर्ण गुणगणों में से अध्यात्मज्ञान सर्वोत्तम है। उक्त अध्यात्मज्ञान को जाननेवाला राजा प्रशस्त राजा होता है और अध्यात्मज्ञानी मन्त्री मन्त्रविद् (विचार के रहस्य को जाननेवाला) होता है ॥३९,४०॥

प्रभुता और समदृष्टिता राजविद्या से प्राप्त होते हैं, उस राजविद्याको जो नहीं जानता है, वह न तो मन्त्रि है और न राजा है। यदि आप लोग अध्यात्मज्ञानी हैं, तब तो अच्छा है और आप लोग उत्तम कल्याण को प्राप्त होंगे। यदि आप लोग अध्यात्मज्ञानी नहीं हैं। तो आप प्रजाओं के भी अकल्याणकारी हैं, इसलिए अपनी प्रकृति के अनुसार मैं तुम लोगों को खा जाऊँगी ॥४१,४२॥ एक ही उपाय से मेरे पाप से तुम लोग मुक्त हो सकते हो। जैसे बालक अपनी माता पिताके प्रीतिपात्र होते हैं, वैसे ही तुम लोग मेरे प्रीतिपात्र होओगे, यदि मेरे ठोस प्रश्नों का बुद्धि से विचार करोगे ॥४३॥ हे राजन् अथवा हे मन्त्रिन्, इन प्रश्नों

को सुनो, इन प्रश्नों के उत्तर के लिए ही मैं अत्यन्त अर्थिनी हूँ, मेरी अभिलाषा को पूर्ण करो – देने के लिए स्वीकृत अर्थ को न देता हुआ कौन पुरुष इस लोक में विनाशकारी दोष से युक्त नहीं होता ? ॥४४॥

अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

उन्नासीवाँ सर्ग

कर्कटी का अनात्मज्ञ पुरुषों के लिए वज्र के तुल्य और
आत्मज्ञानी पुरुषों के लिए मनोज्ञ बहत्तर प्रश्न करना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त कथन के अनन्तर राजा के अपने प्रश्नों को कहो, यों अनुमति देनेपर राक्षसी ने प्रश्न करना आरम्भ किया। इन प्रश्नों को आप सुनिये ॥१॥ राक्षसी ने कहा : राजन्, एक होते हुए भी उपाधिवश अनेक संख्यावाले, (अपरिच्छिन्न होने के कारण) समुद्र के तुल्य एवं (दुर्लक्ष्य होने के कारण) अणु के तुल्य किसके भीतर लाखों ब्रह्माण्ड समुद्र के भीतर बुद्बुदके समान लीन होते हैं ? ॥२॥ कौन वस्तु आकाशरूप (शून्य) और अनाकाशरूप (अशून्य) है ? लौकिक पुरुषों की दृष्टि में जो कुछ नहीं है और तत्त्वज्ञोंकी दृष्टि में कुछ है, ऐसी कौन वस्तु है ? कौन मैं हूँ और कौन अहंरूप से स्थित तुम हो ? कौन न चलता हुआ भी चलता है, कौन स्थित न होता हुआ भी स्थित होता है ? कौन चेतन होता हुआ भी पाषाण के समान अचेतन है ? कौन आकाश में दृश्यरूप आश्चर्यजनक चित्र को बनाता है ? अग्नि का त्याग न करता हुआ ही कौन अदाहक अग्नि है ? अग्नि भिन्न किससे निरन्तर अग्नि उत्पन्न होती है ? हे राजन्, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि और ताराओं से भिन्न होता भी कौन अविनाशी प्रकाशक है ? नेत्रगोचर न होनेवाले किससे प्रकाश होता है ? जन्मान्ध लता, पेड़, झाड़ी, अंकुर आदि का और जिनकी इन्द्रियाँ आविर्भूत नहीं हुई हैं, ऐसे अन्यान्य पदार्थों का कौन उत्तम आलोक है ? आकाश आदिका कौन उत्पादक है ? और सत्ता को सत्ता प्रदान करनेवाला कौन है ? कौन जगद्रूपी रत्न का कोष है और जगत् किस मणिका कोश है ? कौन अणु तम का प्रकाशक है और किस अणु का ज्ञानियों की दृष्टि से अस्तित्व होते हुए भी अज्ञोंकी दृष्टि से अभाव है ? कौन अणु दूर में होता हुआ भी समीप में है ? कौन अणु होता हुआ भी निमेष है ? कौन प्रत्यक्ष होता हुआ भी अज्ञों की दृष्टि से असद्रूप है ? कौन चेतन होता हुआ भी अचेतन है ? कौन वायु होता हुआ भी वायु से भिन्न है ? कौन शब्द होता हुआ भी शब्दभिन्न है ? कौन सब है और कुछ भी नहीं है ? कौन अहं होकर भी अहं नहीं है ? पहले अनेक जन्मों में अपनी आत्मा के रूप से प्राप्त होकर भी कौन अज्ञान से आवृत्त होने के कारण अलभ्य–प्राय होने से सैकड़ों प्रयत्नों से प्राप्त होने योग्य है ? जो अज्ञों को कुछ प्राप्त नहीं होता और ज्ञानियों को पूर्ण रूप से प्राप्त होता है ॥३–१२॥ किसने स्वस्थ और जीवित होते हुए भी अपने आत्मा का अत्यन्त विस्मरण कर दिया ? कौन अणु अपने भीतर मेरु को धारण करता है ? कौन त्रिभुवन को तृण बनाता है ? किस अणुपरिमाण ने सौ

योजन पृथ्वी को पूर्ण कर दिया ? कौन अणु होता हुआ ही सैकड़ों योजनों में भी नहीं समा सकता ? कौन केवल अपने दृष्टिपात से जगत्रूपी बालक को नचाता है या किस अणु के अन्दर पर्वतों के समूह विद्यमान हैं ? कौन अपनी अणुताका त्याग न करता हुआ मेरु से भी बढ़कर स्थूल आकृति धारण करता है ? बाल के अग्रभाग के शतांश स्वरूपवाला कौन अणु उन्नत पर्वत के सदृश बन जाता है ? कौन अणु प्रकाश और अन्धकार को प्रकट करनेवाला दीपक है ? किस अणु के उदर में सम्पूर्ण वृत्तिअवच्छिन्न ज्ञान के लव हैं ? कौन अणु मधुर आदि रससे रहित होता हुआ भी सदा स्वाद देता है, सबका त्याग करते हुए किस अणुने सब वस्तुओं का स्वीकार कर रक्खा है ? ॥१३-१८॥ अपने स्वरूप के आच्छादन में असमर्थ किस अणुसे यह सम्पूर्ण जगत् आच्छादित (व्याप्त) है ? लय से तिरोहित हुआ भी जगत् किस अणु की सत्ता से सत्ता को प्राप्त होकर फिर सृष्टिकाल में आविर्भूत होता है ? ॥१९॥ जिसके अवयव उत्पन्न ही नहीं हुए हैं, ऐसा कौन अणु सैकड़ों हाथ और लोचनों से युक्त है ? वह कौन अणु है, जो निमेषमात्र होता हुआ भी महाकल्प और सैकड़ों करोड़ों कल्परूप है ? ॥२०॥ किस अणु में, बीज में वृक्ष की तरह, अनुत्पन्न अनेक जगत् प्रलयकालमें भी स्थित रहते हैं ? सृष्टि के आरम्भ में जिनकी बीजपरम्परा की अवधि अव्यक्त है, ऐसे सम्पूर्ण बीज, सृष्टिकाल में जगद्रूप से विकसित किये गये भी, किसमें सदा ही अनुदित रहते हैं ? बीज के अन्दर वृक्ष की तरह निमेषरूप किसके अन्दर, कल्प स्थित है ? कौन तत्-तत् कारकों का प्रवर्तन न करते हुए भी यानी क्रियारहित होने के कारण कारकव्यापारयितृत्वरूप कर्तृत्व का आश्रय न करके भी कर्ता है ? भोग्य की सिद्धि के लिए बाह्यदृष्टि से अपनी आत्मा को दृश्य बनाता हुआ कौन द्रष्टा है ? और नेत्ररहित होता हुआ भी कौन बाह्यदृष्टि से अपने आत्मरूप दृश्य को देखता है ? ॥२१-२३॥ कौन ज्ञान से दृश्य का विनाश कर दृश्य की असिद्धि के लिए अखण्डित अपनी आत्मा को देखता हुआ दृश्य को नहीं देखता ? कौन पुरुष अपनी आत्मा को (द्रष्टा को), वृत्ति को और दृश्य को, जैसे चक्षु दृश्य को अवभासित करता है वैसे ही, अवभासित करता है ? जैसे सुवर्ण से कटक आदि होते हैं, वैसे ही द्रष्टा, दृश्य और दर्शन-ये तीनों किससे उत्पन्न हुए हैं ? ॥२४,२५॥ जैसे समुद्र से तरंग, द्रवता आदि भिन्न नहीं है, वैसे ही यह सब किससे पृथक् नहीं है ? जैसे जलराशि से जलतरंगत्व भिन्न है, वैसे ही यह जगत्रूप द्वैत किसकी इच्छासे पृथक् है ? जैसे जलराशि से द्रवता भिन्न नहीं है, वैसे ही देश, काल आदि से अनवच्छिन्न अद्वितीय अतिसूक्ष्म होने के कारण असत्-सा प्रतीत होनेवाले वस्तुतः सद्रूप किससे द्वैत भी अपृथक् यानी अभिन्न है ? ॥२६,२७॥ द्रष्टा, दर्शन और दृश्यरूप उद्भुतावस्था और तिरोहितावस्थावाले तीनों जगतों को कौन सर्वदा अपने भीतर रखकर स्थित है, जैसे कि बीज वृक्ष को अन्दर रखकर सदा स्थित रहता है ? ॥२८॥ अतीत, वर्तमान और भावी जगत्-समूह, जो कि एक बड़ा भारी भ्रम है, सदा समस्वरूप (विकाररहित) किसके अन्दर, बिज के अन्दर वृक्ष के समान, स्थित है ? ॥२९॥ जैसे बीज वृक्षरूप से और जैसे वृक्ष बीजरूपसे उदित होता है, वैसे ही कौन अपने स्वरूप को न छोड़ता हुआ जगद्विकाररूप से

उदित होता है ? ॥३०॥ हे राजन्, जिसकी दृढ़ता के सामने महामेरु कमलनाल के तन्तु के समान अत्यन्त अदृढ़ है, अथवा जिसके संकल्प से उक्त तन्तु भी महामेरु के तुल्य हो जाता है, ऐसी किस वस्तु के अन्दर करोड़ों मन्दराचल विद्यमान हैं ? ॥३१॥ अनेक चेतनों से युक्त इस विश्व का किसने सृष्टि द्वारा विस्तार किया है ? किसकी शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर तुम व्यवहार करते हो, प्रजाओं का पालन करते हो और दण्डनीयों को दण्ड देते हो ? सबके सृष्टि आदि व्यवहार किसके बलपर होते हैं ? यह भाव है। किसके दर्शन से तुम निर्मल दृग्रूप होकर उससे भिन्न नहीं होते हो अथवा सदा तद्रूप ही होते हो। उस वस्तु को मुझसे अपनी मृत्यु को छुड़ाने के लिए तुम कहो। मेरा यह संशय, जो कि चन्द्र का कुहरे के समान, स्वात्माकारवृत्ति का आवरणभूत है, सर्वथा नष्ट हो। जिसके आगे प्रश्न करने पर मूलअज्ञानसहित संशय नष्ट नहीं होता, वह पुरुष कहीं भी ज्ञानीशब्दवाच्य नहीं होता। क्रम से कहे गये छोटे–मोटे संशयों को अगर तुम निवृत्त नहीं करोगे, तो दोनों ही राक्षसीके जठरानल के इन्धनता को, बिना किसी विघ्न बाधा के, क्षणभर में प्राप्त होओगे ॥३२–३४॥ तुमको खाने के बाद प्रचुर जठराग्नि से सम्पन्न मैं तुम्हारे जनपदों को एक क्षण भर में निगल जाउँगी, उक्त प्रश्नों के उत्तरप्रदान से तुम्हारी अपने साथ सब प्रजाका पालन करने के कारण सुराजता बनी रहेगी, ऐसा में समझती हूँ, मूर्खों की (अनात्मज्ञानियों की) भोगलम्पटता की अधिकता उनके नाश के लिए ही होती है। अगर मैं तुम्हारा भक्षण न भी करूँ, तो भी तुम्हारा राज्य के अन्त में नरकपात अवश्य ही होगा। प्रचण्ड मेघनिर्घोषके उल्लास के समान प्रकट वाणी से ऐसा कहकर शरत्काल की निर्मल मेघमण्डली के समान भीतर शुद्ध और बाहर से कटु बोलनेवाली अत्यन्त विकटाकार वह राक्षसी चुप हो गई ॥३५,३६॥

उन्नासीवाँ सर्ग समाप्त

अस्सीवाँ सर्ग

पहले मन्त्री द्वारा उक्त राक्षसी के प्रश्नों का क्रम से और
व्युत्क्रम से सूक्ष्म उपपत्तियों द्वारा यथायोग्य समाधान।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, अँधेरी रातमें महाअरण्य में महाराक्षसी के इस प्रकार अनेक प्रश्न करनेपर आगे कहे जानेवाली रीति से महामंत्री ने उत्तर दिया। **मंत्री ने कहा :** हे मेघतुल्य राक्षसी, जैसे सिंह मदोन्मत्त हाथी को छिन्नभिन्न करता है, वैसे ही मैं तुम्हारे अनुक्रमरूप प्रश्नोंको युक्तियों द्वारा छिन्न–भिन्न करता हूँ ॥१,२॥

सम्पूर्ण प्रश्नों का खण्डन करने के लिए उनका पहले हृदय दिखलाते हैं।

सोने के कमल के समान पीले नेत्रवाली हे राक्षसी, तुमने प्रश्न जाननेवाले के समझने योग्य इन वचनों से परमात्मा का ही प्रतिपादन किया है। नामरहित होने के कारण तथा आभ्यन्तर और बाह्य मन, चक्षु, श्रोत्र आदि छः ज्ञानेन्द्रियों का अविषय होने के कारण आकाश से भी सूक्ष्म चिन्मात्र आत्मा का ही तुमसे अणुशब्द से व्यवहार किया है। इसमें 'कस्याऽणोरम्बुधेः'

इस प्रश्न में स्थित अणु शब्द का अभिप्राय खोला गया है ॥३,४॥

किस अणु के अन्दर लाखों ब्रह्माण्ड लीन होते हैं, इस प्रश्न का समाधान करते हैं। परम चिदणु के अन्दर अज्ञानियों की दृष्टि से सत्–सा और ज्ञानियों की दृष्टि से असत्–सा स्थित यह जगत् बीज के मध्य में वृक्ष की सत्ता के समान स्फुरित होता है, इससे 'अणौ जगन्ति तिष्ठन्ति कस्मिन् बीज इव द्रुमः' इस प्रश्नका भी उत्तर हो गया।

सम्पूर्ण वस्तुओं की सत्ता अनुभव सत्ता के अधीन है, उसको यदि अन्य के अधीन मानें, तो अनवस्था होगी, अतः स्वतःसिद्ध अनुभव सत्ता से ही सब भाव सत्ता को प्राप्त हुए हैं। इससे 'सदिवासदिवापि वा' इत्यादि से किये गये सत्ता का सत्ताप्रद कौन है ? इस प्रश्न का समाधान हुआ ॥५,६॥

'किमाकाशमनाकाशम्' इत्यादि प्रश्न का समाधान करते हैं।

वही अनन्त चिदणु परमात्मा बाह्यशून्य होने के कारण आकाशस्वरूप है और चेतनरूप होने के कारण अनाकाशरूप (अशून्यस्वरूप) है। *('न किंचित्किंचिदेव किम्' इस प्रश्न का समाधान करते हैं।)* अतीन्द्रिय होने के कारण वही अनन्त परमाणु कुछ नहीं है यानी लौकिक दृष्टि से अप्रसिद्ध है ॥७॥

कुछ होता हुआ भी यह दृश्य जिसके स्वरूपापन्न होने पर कुछ नहीं रहता वह क्या है ? ऐसा यदि प्रश्न का आशय माना जाय, तो उस पर कहते हैं।

सर्वात्मक होने से साक्षात् किये गये अपने स्वरूप से ही सब जीवों के निगीर्ण (लय) होने पर वही कुछ न कुछ रह जाता है यानी आत्मा से अतिरिक्त कुछ अवशिष्ट नहीं रहता। एक की जो अनेकता उदित होती है, वह प्रातीतिक है, वास्तविक नहीं है, इससे एक होता हुआ अनेक कौन है, इसका उत्तर हो गया। जैसे सुवर्ण ने विक्षेपशक्ति से कटक आदि को प्रकट किया है, वैसे ही उसी चिदणुने द्रष्टा, दर्शन आदि को विक्षेपशक्ति से प्रकट किया है, इससे 'कटकादीनि हेम्नेव' इस प्रश्न का उत्तर भी हो गया ॥८॥

'कोऽणुः तमःप्रकाशः स्यात्' इत्यादि प्रश्नों में बार बार प्रयुक्त 'अणु' शब्द का भी वही अभिप्राय है, जिसे हम पहले कह आये हैं।

परम प्रकाशरूपी यह अणु सूक्ष्म होने के कारण चक्षु का अविषय है, सर्वात्मक होता हुआ भी मन और पाँचों इन्द्रियों का अविषय होकर स्थित है, अतः अणु कहलाता है ॥९॥

'कौन अणु है और नहीं भी है', इस प्रश्न में उक्त 'नहीं है' अंश बाधित ही है, यों उक्त अंश को दूषित करते हैं।

जो सर्वात्मक है, वह शून्य कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि वह है नहीं, ऐसा कहनेवाला और मनन करनेवाला आत्मा ही तो है यानी उक्त आत्मा ही वक्ता और मन्ता के रूप में प्रसिद्ध है। अपने आत्मा का अपलाप न हो सकने के कारण उसकी नास्तिता नहीं कही जा सकती है, यह भाव है ॥१०॥

सत्पदार्थ का असत् से विरोध है, इससे भी उसे असत् कहना युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं।

किसी भी युक्ति से सत् वस्तु की असत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती।

शंका : यदि वह है, तो उसका दर्शन क्यों नहीं होता ?

समाधान : यद्यपि पृथक् रूप से उसका दर्शन नहीं होता, फिर भी सबमें अनुगत सद्रूप से, जो कि आवरण से गुप्त है, सर्वात्मा वह दिखलाई पड़ता है, जैसे कपूर अपनी सुगन्धि से प्रतीत होता है, वैसे ही सबमें व्याप्त वह प्रत्यक्रूप से प्रतीत होता है ॥११॥

कौन सब है और कुछ भी नहीं है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

चिन्मात्र वही अणु सब है। जो अपरिच्छिन्न है, वह परिच्छिन्न सर्वस्वरूप कैसे होगा ? मन और इन्द्रियों की वृत्तियों से नानाप्रत्यय होने से मन से परिच्छिन्नरूप से ही वह सर्वात्मक है और इन्द्रियातीत होने के कारण निर्मल वही चिदणु 'न किंचित्' (कुछ भी नहीं) इस रूप में स्थित है ॥१२॥

अथवा एक होते हुए भी अनेक संख्यावाले किसके अन्दर लाखों ब्रह्माण्ड लीन होते हैं, इस अभिप्राय से तुम्हारा वह प्रश्न है, ऐसा कहते हैं।

वही एक है और सम्पूर्ण सत्त्वों में आत्मप्रतीति होने से अनेक भी है। किस समदृष्टि के अन्दर यह जगत् सदा स्थित है, इस प्रश्न का उत्तर यह है। वही इस सम्पूर्ण जगत् को धारण करता है। कौन जगद्रूपी रत्नों का कोष है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं। और वही जगत् का कोष भी है ॥१३॥

जैसे जलराशि से ऊर्मियाँ (लहरें) पृथक् नहीं हैं, वैसे ही किससे यह जगत् पृथक् नहीं है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

चित्तरूप होने से विकारी उस चेतनरूपी महासागर में चित्त–विकल्पस्वरूप ये त्रिजगद्रूपी तरंगें ऐसे स्फुरित हो रही है जैसे कि द्रव होने के कारण जल में आवर्त स्फुरित होते हैं। इससे 'कस्येच्छया पृथक् चाऽस्ति' इस प्रश्न का उत्तर भी हो गया ॥१४॥

देश, काल आदि से अनवच्छिन्न अद्वितीय असत् के सदृश किस सत् से द्वैत भी अपृथक् है, इस शून्यात्मक और अशून्यात्मक उक्ति का तात्पर्य कहते हैं।

चित्त, इन्द्रिय आदि से लभ्य न होने के कारण वह अणु शून्यस्वरूप के (असत् के) तुल्य है, व्योमरूपी होता हुआ भी स्वानुभवलभ्य होने से अशून्य (सत्) है ॥१५॥ मैं अद्वैतज्ञान से आत्मस्वरूप ही होकर त्वदात्मा (आपका स्वरूप) हो गया हूँ और तुम भी आत्मस्वरूप से मदात्मा (मेरे स्वरूप) बन गये हो। यह सब अहन्ता और भवता के प्रतिसन्धान की व्यवहारदशा में होता है। परमार्थदशा में तो वह आत्मा न त्वद्रूप है या न मद्रूप है, किन्तु बोधरूप बृहद्शरीरवाला ही है ॥१६॥ त्वन्ता और अहन्तारूप सबका बोध से निगरण कर न तुम हो और न मैं हूँ और न सब है, अथवा वही स्वयं सब कुछ होता है ॥१७॥

चलता हुआ भी कौन नहीं चलता है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

अणु होता हुआ भी आकाश की नाईं हजारों योजनों में व्याप्त वह चलता हुआ भी नहीं चलता है, स्वप्न के समान कल्पना से हजारों योजन उस अणु के अन्दर स्थित हैं ॥१८॥

कौन स्थित न रहता हुआ भी स्थित रहता है, इसका भी उत्तर उसी ढंग से देते हैं।

गया हुआ भी यह नहीं जाता, प्राप्त हुआ भी नहीं आया, क्योंकि देश और काल उसकी सत्ता से सत्तावाले आकाश कोश के अन्दर ही स्थित हैं ॥१९॥ गमन द्वारा प्राप्त होनेवाला देश जिसके शरीर के अन्दर ही स्थित है, वह कहाँ जाय ? क्या माता अपनी गोद में सोये हुए बच्चे को दूसरी जगह खोजती है ? ॥२०॥ गम्य (गमन के योग्य) महादेश जिस सबके रचयिता के अन्दर स्थित है, यह कैसे कहाँ जाय ? जैसे जिसका मुँह बँधा है, ऐसे घड़े को अन्य देश में ले जाने पर उसमें स्थित आकाश के गमन और आगमन नहीं होते, वैसे ही उपाधि के गमन और आगमन से आत्मा के गमन और आगमन नहीं हो सकते ॥२१,२२॥

'कौन चेतन होता हुआ भी पाषाण है' इस प्रश्न का यदि चेतनरूप और जड़रूप विरुद्ध दो रूपवाला कौन है यह अर्थ हो, तो उत्तर देते हैं।

स्वभावतः जड़ एवं आत्मतादात्म्याध्याससे चेतन बने हुए देह आदि में प्रकाशस्वभावता और जड़ता अनुभव-सिद्ध है, अज्ञान से उसका विवेक न होने के कारण वह जड़ और बोध उभयरूपवाला होता ही है ॥२३॥

जब 'चेतन भी पाषाण के समान घनरूप कौन है, यह यदि प्रश्न का अर्थ हो, तब पारमार्थिक आत्मरूप चिद्घन ही वह है, ऐसा कहते हैं।

हे राक्षसी, जब वह चिन्मात्र अचेतन पाषाण की सत्ता का एकात्मरूप से अवलम्बन करता है तब वह चेतन ही पाषाण के तुल्य अचेतन हो जाता है ॥२४॥

आकाश में विचित्र चित्र बनानेवाला कौन है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

आदि और अन्त से रहित परमाकाश में चिन्मात्र परमात्मा ने यह विचित्र त्रिजगत्‌रूपी चित्र, जो कि मिथ्या होने के कारण अनिर्मित-सा ही है, बनाया है ॥२५॥

अग्निता का त्याग नहीं करता हुआ कौन अदाहक अग्नि है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

आत्मसत्ता से अग्नि की सत्ता है, इसलिए अग्नि के आकार का त्याग किये बिना ही सर्वव्यापक वह दाह नहीं करता है, भाव यह कि आत्मसत्ता से ही अग्नि की सत्ता है,उसके सर्वगत होने के कारण सबमें स्थित भी वह जलाता ही नहीं है, इससे वह सर्वगत नहीं है, ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि वह सब पदार्थों का अग्नि के समान प्रकाशक है ॥२६॥

किस अग्नि से अग्नि की उत्पत्ति होती है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

दैदीप्यमान उज्ज्वल आकारवाले आकाश से भी निर्मल उससे देदीप्यमान चेतनस्वरूप अग्नि उत्पन्न होती है ॥२७॥

चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि और तारों से भिन्न होता हुआ भी कौन अविनाशी प्रकाशक है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

जो अपने ज्ञान से सूर्य आदि के प्रकाश का भी प्रकाशक है और महाकल्प के प्रलय कालीन मेघों से भी जो नष्ट नहीं होता, वह आत्मप्रभारूप अविनाशी प्रकाश है ॥२८॥

नेत्रों से नहीं गृहीत होनेवाले किससे प्रकाश प्राप्त होता है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

नेत्रों से नहीं प्राप्त होनेवाला और अनुभवरूप, हृदयरूपी घर को प्रदीप्त करनेवाला, सबको सत्ता देनेवाला जो अनन्त परमप्रकाश कहा गया है, उससे प्रकाश प्राप्त होता है। हम लोगों का प्रकाश (अहंकार आदि का प्रथन) मन और पाँचो ज्ञानेन्द्रियों के अविषय आत्मा से प्रवृत्त होता है। जैसे कि गाढ़ अन्धकार में स्थित पुरुष भी 'तुम कहाँ हो', यह पूछने पर 'मैं यहाँ पर हूँ', ऐसा कहता है। जिस प्रकाशक से आलोक, दीप आदि के बिना भी देह, इन्द्रिय आदि की अपरोक्ष प्रतीति सर्वानुभवसिद्ध है ॥२९,३०॥

लता गुल्म आदिका, जो कि जन्मान्ध हैं और अन्यान्य जीवों का भी कौन उत्तम आलोक है, इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं।

लता, झाड़ी, अंकुर आदिका, जो कि इन्द्रियरहित हैं, अपने सन्निधानमात्र से पालन करनेवाला उनकी ऊँचाई और उनके फलों का साक्षी अनुभवात्मा प्रकाश ही उनका प्रकाशक है ॥३१॥

आकाश आदि का जनक कौन है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

काल, आकाश, क्रिया आदिकी सत्ता और जगत् उस ज्ञानस्वरूप में हैं, व्यवहारदृष्टि से वही सबका स्वामी, कर्ता, पिता, भोक्ता है, परमार्थदृष्टि से आत्मा होने के कारण वह कुछ भी नहीं है ॥३२॥

कौन जगद्रूपी रत्नों का कोश है, इसका उत्तर देते हैं।

अपनी अणुता का त्याग न करता हुआ वह अणु जगद्रूप रत्नों का भंडार है।

किस मणिका कोश यह जगत् है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय आदिरूप जगत् अद्वितीय ब्रह्म में नहीं है, इसलिए सम्पूर्ण जगत् में सर्वत्र वही केवल भली भाँति स्फुरित होता है, ऐसी अवस्था में इस जगद्रूपी पिटारीमें वह परममणि स्थित है ॥३३,३४॥

कौन अणु तम और प्रकाश है, इसका उत्तर देते हैं –

दुर्बोध होने के कारण वह अणु तम है और चिन्मात्र होने के कारण प्रकाश-स्वरूप है। अब कौन अणु है और नहीं है, इस पर कहते हैं। ज्ञानरूप होने के कारण वह सत् है और इन्द्रियातीत है, अतः असत् है ॥३५॥

कौन अणु दूर में है और समीपमें भी है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

इन्द्रियों से प्राप्त न होने के कारण वह दूर में है, चैतन्यरूप होने के कारण दूर नहीं है यानी समीप में है। कौन अणु होता हुआ ही महापर्वत है, इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं। करणों के बिना ही सभी लोगों को 'अहम्, अहम्' इस प्रकार सामने स्थित पर्वत के समान अपरोक्षरूप से उसका ज्ञान होता है, अतः इसीको, जो कि अणु है, तुमने पर्वत कहा है ॥३६॥

जो कि अणु है, इस अंश के तात्पर्य को स्फुट करते हैं।

जो यह जगत् भासित होता है, वह चेतन का स्फुरणमात्र ही है, इसलिए पर्वत आदि सत्य नहीं है, अतः अणु में ही मेरुता प्रतीत होती है ॥३७॥

निमेष होता हुआ भी कौन कल्प है, इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं।

वही अणु निमेष की तरह भासित होता है, अतः निमेष कहा जाता है, वही कल्प के समान प्रतीत होता है, अतः उसमें कल्पशब्दका व्यवहार होता है ॥३८॥ निमेष ही एक कल्प में जितनी क्रियाएँ होती हैं उन क्रियाओं के विलास से युक्त प्रतीत होता है ॥३९॥

जैसे कि मन में ही अनेक करोड़ों योजन में फैला हुआ नगर प्रतीत होता है। पूर्वोक्त अर्थ में असंभावना की निवृत्ति के लिए दूसरा दृष्टान्त देते हैं।

निमेष के अन्दर कल्प का उदय होता है, जैसे कि अत्यन्त निर्मल दर्पण के अन्दर बड़े भारी नगरका आविर्भाव होता है ॥४०॥ जिस अत्यन्त सूक्ष्म अणुमें ही निमेष, कल्प, पर्वतसमूह और अनेक करोड़ योजन विद्यमान हैं, यानी अपने मिथ्यात्व का अवलम्बन कर प्रविष्ट होते हैं उसमें द्वैत और ऐक्य कहाँ ? यानी द्वैत और एकता का भी मिथ्यात्व से ही उसमें समावेश है ॥४१॥ एक क्षण में ही मैंने इस कार्य को पहले किया था, यों कालदीर्घता का बुद्धि में स्फुरण होता है तथा क्षण में ही असत्य में सत्यता और सत्य में असत्यता यानी व्यावहारिक सत्यता और प्रातिभासिक असत्यता होती है, इसमें दृष्टान्त स्वप्नरूपी भ्रम है ॥४२॥

इसमें लोकानुभव और आख्यायिका का उदाहण देते हैं।

दुःख में काल दीर्घ प्रतीत होता है और सुख में सदा अतिअल्प प्रतीत होता है, यह सबके अनुभव से सिद्ध है। हरिश्चन्द्र को एक रात बारह वर्षकी–सी लम्बी प्रतीत हुई थी ॥४३॥

चित्तवृत्ति के अनुसार ही चित् की प्रतीति होती है, वस्तु के स्वभाव के अनुसार नहीं, ऐसा कहते हैं।

जो सत्यस्वरूप, सत्य निश्चय चित्तवृत्ति में उदित होता है, वही सुवर्ण में कटक आदि के समान चित् का प्रतिभास है ॥४४॥

तो वास्तविक तत्त्व क्या है ? इस पर कहते हैं।

न निमेष है, न कल्प है, न सामीप्य (नजदीकी) है और न दूरता है, इस प्रकार चिद् अणु की प्रतिभा ही अन्यान्य वस्तुओं की नाईं स्थित है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥४५॥

इस प्रकार और पदार्थ भी नहीं है, क्योंकि विरुद्ध पदार्थों में अधिष्ठानभूत चित् का भेद न होने से भेद नहीं है, ऐसा कहते हैं।

प्रकाश और अन्धकार, दूर और अदूर, क्षण और कल्प–इनका एकमात्र चित् ही शरीर है, अतः इनमें परस्पर तनिक भी भेद नहीं है ॥४६॥

कौन प्रत्यक्ष है और असद्रूप है, इस प्रश्न उत्तर कहते हैं।

इन्द्रियों का सार यानी अपने कर्म में सामर्थ्य देनेवाला तत्त्व है, अतः प्रत्यक्ष है और इन्द्रियों से उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, अतः अप्रत्यक्ष यानी असद्रूप है अथवा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ज्ञेय दृश्य में आरोप से इसका उदय होने के कारण यह प्रत्यक्ष है, ऐसा कहते हैं। दृश्य होने के कारण इसका उदय होता है, इसलिए यह चेता द्रष्टा प्रत्यक्ष है ॥४७॥

यदि वही दृश्यस्वरूप है, तो दृश्य हेय है, ऐसा कैसे कहते हो ? इस शंका पर कहते हैं।

जब तक कटक–प्रतीति रहती है, तब तक स्वर्णता नहीं–सी रहती है, जब तक दृश्यता की प्रतीति रहती है, तबतक वह वास्तविक चिदेकरसता नहीं–सी रहती है, और दृश्यरूप से परमपुरुषार्थता उसमें है नहीं, इसलिए दृश्यता हेय कही गई है ॥४८॥

अतएव दृश्यरूप से उसकी कल्पना न करने पर और कल्पना करके भी दृश्यरूप से न देखने पर दृश्य के ब्रह्मरूप होने से परमपुरुषार्थता सिद्ध होती है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे कटकता की कल्पना न करने पर और करने पर भी उसका दर्शन न करने पर सुवर्णता व्याप्त रहती है, वैसे ही दृश्यता की कल्पना न करने पर और कल्पना करने पर भी उसका दर्शन न करनेपर केवल निर्मल शुद्ध ब्रह्म ही दिखाई देता है ॥४९॥

'असद्रूप कौन है' इस प्रश्नांश का तात्पर्य कहते हैं।

सर्वात्मक होने के कारण ही वह सद्रूप है यानी सर्वानुगत सद्रूप से उसकी प्रतीति होती है, अतः वह सद्रूप है। उसका दर्शन पृथक्‌रूप से हो ही नहीं सकता, अतः वह असद्रूप है। 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इस श्रुति में ऐसा व्यवहार देखा जाता है। 'किं चेतनमचेतनम्' इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं। चित्स्वरूप होने के कारण वह चेतन है, उसमें विषयरूप का संभव न होने से भी विषयरूप से वह प्रतीत होता है, अतः तुमने उसको अचित् कहा है ॥५०॥

उसमें विषय के अभाव का ही उपपादन करते हैं।

चित् स्फुरणमात्र ही जिसका स्वरूप है, चित्प्रतिभा स्वरूप वायु से कँपाये गये वृक्षके समान अत्यन्त अस्थिर (या वृक्षाकार विद्युत् के समान अत्यन्त असत्) इस जगत् में चैतन्य की आश्रयता और विषयता कैसे ? जैसे प्रचुर ताप का भासन मृगतृष्णा है, वैसे ही प्रचुर अद्वैतरूप चित् का स्फुरण यह जगत् है ॥५१,५२॥ सूर्य की किरणों से आगे कहे जानेवाले काँचन आदि का जो सूक्ष्मतर निर्माण निर्विघ्नता से होता है, उस निर्माण में जैसे अस्तिता नास्तिता हैं, वैसे ही ब्राह्म कल्प आदिरूप जगत् की अस्तिता नास्तिता है, इसलिए उसमें चिद्‌बुद्धि या चैत्यबुद्धि कैसे यानी उक्त बुद्धियाँ निर्विषय ही हैं ॥५३॥

माया से जैसे सूर्य–किरणों के लेश से युक्त आकाश में स्वर्ण स्फुरित होता है, वैसे ही यह जगत् भी स्फुरित हुआ है, इसमें चित्कल्पना या चैत्यकल्पना कैसे हो सकती है, जैसे स्वप्ननगर में, गन्धर्वनगर में या संकल्प से कल्पित नगर में दीवार का ज्ञान न सत् है और न असत् है, वैसे ही दीर्घ भ्रमरूप इस जगत् को जानो ॥५४,५५॥

जगत् इस प्रकार भ्रान्तिसिद्ध हो, उससे क्या ? इस पर कहते हैं।

इस प्रकार के जगत् के मिथ्यात्व के उपपादक न्यायों की पुनः पुनः भावना करनारूप अभ्याससे निर्मल हुए मन से पारमार्थिक वस्तु ब्रह्म का दर्शन कर चुके पुरुष की अविद्याका नाश होने पर चिदाकाश में फिर संसार प्रविष्ट नहीं होता यानी उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती ॥५६॥

अथवा विषयरूप भेदक के ज्ञान से ही आत्मा विभिन्न–सा प्रतीत होता है, वस्तुतः भिन्न नहीं है, क्योंकि वैसा ही ब्रह्म से लेकर कीटपर्यन्त सभी प्राणियों को दृढ़ अनुभव होता

है, ऐसा कहते हैं।

भेदक दृश्य के ज्ञान के बिना धरती और आकाश का कोई भेद नहीं है, ब्रह्मा से लेकर कीट–पतंग पर्यन्त को पहले जैसा अनुभव हुआ था, वह वैसा ही बना हुआ है ॥५७॥

यदि भेद नहीं है, तो धरती आदि की भेदप्रतीति कैसे होती है, इस पर कहते हैं।

जैसे कि प्रभापिण्ड में यौक्तिक दृष्टि से अनिर्वचनीय प्रभाएँ स्फुरित होती हैं वैसे ही चिदाकाश में वे पूर्वोक्त भेदप्रतीतियाँ सत्ता के बिना ही प्रतीत होती है ॥५८॥

इस प्रकार युक्तिपूर्वक प्रसंगप्राप्त 'किं चेतनमचेतनम्' इस प्रश्न का उत्तर देकर शेष प्रश्नों का उत्तर देनेका भार राजा पर छोड़ते हुए मन्त्री 'मन्त्री को शायद् इन प्रश्नों का उत्तर ज्ञात ही न हो', इस शंका की निवृत्ति के लिए उनमें से दो एक का उत्तर कहने की इच्छा से द्वैतमिथ्यात्व के उपवर्णन द्वारा 'द्वैतमप्यपृथक्कस्मात्' इत्यादि प्रश्नका उत्तर देते हैं।

द्वैतवासना से वासित बुद्धिवृत्ति के अन्तर्गत आत्मप्रकाशका जो भेदप्रकटन शक्तिरूप स्वचमत्कार है, उसके सम्बन्ध से प्रतीत हुआ भी द्वैत अपृथक् ही है, क्योंकि वृक्ष के आत्मा बीज की नाईं वह परम आत्मप्रकाश सर्वात्मक है ॥५९॥

'वृक्षात्मबीजवत्' इस दृष्टान्त का विवरण करते हुए 'कोऽन्तर्बीजमिवाऽन्तस्थं स्थितः कृत्वा त्रिकालगः' इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं।

एकरूप बीज पृथक्भूत और अपृथक्भूत अपने भीतर स्थित वृक्षाकार को बनाकर जैसे स्थित है, वैसे ही शान्त ब्रह्म भी आकाशकोश के तुल्य असंख्य जगत् की रचना करके स्थित है ॥६०॥

'आकाशकोशवत्' इस कथन का तात्पर्य कहते हैं।

जैसे बीज के भीतर स्थित वृक्ष की, अतिसूक्ष्म होनेके कारण स्थिति, आकाशतुल्य है, वैसे ही ब्रह्म के भीतर स्थित जगत् का आत्मा साक्षी है, अतः जगत् की साक्षी से पृथक् प्रतीति न होने के कारण, चिद्रूप से ही स्थिति है, इस प्रकार चैतन्य का भेदक न होने के कारण उसको आकाश कोश की उपमा दी गई है ॥६१॥

इसीसे सब प्रश्नों का उत्तर प्रायः हो गया, ऐसा सूचित करते हुए सब प्रश्नों की परमतात्पर्य–विषयभूत अद्वितीयचिन्मात्र–परमार्थस्थिति का प्रदर्शन करते हुए उपसंहार करते हैं।

शान्त, सर्वात्मक, जन्मरहित, अद्वितीय,आदि और मध्य से शून्य, शान्तबुद्धि पुरुषों से ही माया और माया के कार्यरूप मल का परिहार करने से परिशोधित होनेवाला एकत्व गुण से रहित जो चारों ओर बृहत् होने के कारण निरंकुशरूप से विकसित होता है, ऐसा निर्मल ब्रह्म ही है, उसमें किसी प्रकार की कल्पना का किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है ॥६२॥

अस्सीवाँ सर्ग समाप्त

इक्यासीवाँ सर्ग

राजा का क्रम से अवशिष्ट प्रश्नों का उत्तर देना तथा विशेषज्ञ होने के कारण कहींपर मन्त्री द्वारा कहे गये प्रश्नों में युक्ति-प्रदर्शन।

राक्षसी ने कहा : हे राजन्, आपके मन्त्री की परमार्थोक्ति अत्यन्त पवित्र है, यह कम आश्चर्यकी बात नहीं है। अब कमल के समान विशाल नेत्रवाले ये राजा (आप) मेरे प्रश्नों का उत्तर कहें। भाव यह कि मन्त्री के वचनों में चमत्कार देखकर ही राजा भी तत्त्वज्ञ है, इस बात के ज्ञात होने पर भी राजा के कथन में अधिक चमत्कार होगा, यह समझकर राजा के वचनों को सुनने के लिए राक्षसी ने राजा से कहने का अनुरोध किया ॥१॥

राजा राक्षसी के अभिप्राय को जानकर सब प्रश्नों के मुख्य तात्पर्यविषय ब्रह्म को विरोधाभासोक्तिपूर्वक चमत्कारातिशय से दर्शाते हैं।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं को विषय करनेवाली जगत्प्रतीतिका (द्वैतका) अभाव यानी निवृत्ति (तत्त्वज्ञान) ही, जिसका परम दर्शन है, जो सम्पूर्ण संकल्पों का त्यागरूप है या सब संकल्पों की विरामभूमि है, जो तन्मात्रनिष्ठता रूप चित्त संयमका फलस्वरूप है, जिसके मायिक संकोच और विकाससे जगत् के प्रलय और सृष्टि होते हैं, जो वेदान्तवाक्यों का निष्ठारूप (तात्पर्यरूप) है और जो स्वयं वाणी का अगोचर है, सत्ता और असत्ता, भान और अभान इन दो कोटियों के मध्यमें स्थित यानी अनिर्वचनीय अतएव आदि और अन्त में असत्कोटि से ग्रस्त होने पर भी मध्य में दैशिक परिच्छेद से कहीं पर है और कहींपर नहीं है, इस प्रकार कोटिद्वयमय यह चराचर जगत् जिसकी चित्तमयी लीला है, विश्वात्मक होने पर भी जिसकी अखण्डता वस्तुतः खण्डित नहीं होती, उस सन्मात्र शाश्वत ब्रह्म को तुम पूछ रही हो ॥२-५॥ यह ब्रह्माणु अपने को वायुरूप से देखकर माया के विवर्त से वायु हुआ है, इसलिए वह अन्यथाग्रहणरूप ज्ञान भ्रान्तिकी महिमा है, परमार्थतः वह अवायु है और भ्रान्तिदर्शन से वायु है। यानी जो वायु है, वह वस्तुतः केवल शुद्ध चेतन ही है उससे अतिरिक्त दूसरी वस्तु नहीं है ॥६॥

'कः शब्दोऽशब्द एव च' इत्यादि प्रश्न का समाधान करते हैं।

इसी प्रकार वही शब्दसंवेदन द्वारा शब्द एवं उक्त शब्द भ्रान्तिदर्शनमूलक होने से शब्द नहीं है यानी भ्रान्तिवश उसका शब्दरूप से दर्शन होता है, परमार्थ दृष्टि से वह अशब्द है, अतएव शब्द और शब्दार्थकी दृष्टि से वस्तुतः वह बहुत दूर है ॥७॥

'कः सर्वं न च किंचिच्च' इत्यादि प्रश्न का उत्तर कहते हैं।

वही अणु सब है और कुछ भी नहीं है। 'कोऽहं नाहं च किं भवेत्' इसका समाधान करते हैं-'सोऽहं' इत्यादि से। वही मैं हूँ और कुछ भी नहीं हूँ। अहंकार के हटने के कारण वह मैं हूँ और तद्रूप से मैं नहीं हूँ, इस प्रकार वास्तव और अवास्तव विचित्रता में क्या कारण है, इस पर कहते हैं। सर्वशक्तिस्वरूप इस अणु की ही प्रतिभा एकमात्र इसमें कारण है, उसकी

भ्रान्तिप्रतिभाशक्ति अवास्तविक रूपकी स्फूर्ति में और वास्तवप्रतिभाशक्ति वास्तवरूप की अभिव्यक्तिमें कारण है, यह अर्थ है ॥८॥

'किं प्रयत्नशतप्राप्यम्', 'लब्धं न किंचिद्भवति' इन प्रश्नों का उत्तर देते हैं।

आत्मा सैंकड़ों प्रयत्नों से अप्राप्य है, उसके प्राप्त होने पर कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रहता। वही परम प्राप्तव्य है और कुछ भी नहीं है। भाव यह है कि यह आत्मरूप होने के कारण पहले ही लब्ध है, इसलिए उसकी प्राप्ति में प्रयत्न की सफलता नहीं है, उससे बढ़कर कोई उत्कृष्ट फल नहीं है, इस आशय से तुमने उक्त प्रश्न किया है ॥९॥

तो क्या ज्ञानरूप प्रयत्न निष्फल ही है, इस शंका का परिहार करते हुए 'किन्तु सर्वं न लम्पते' इसका तात्पर्य कहते हैं।

तब तक जन्मरूपी वसन्तों में संसाररूपी लता चिरकालतक विकास को प्राप्त होती है, जब तक संसार के मूल अज्ञान का नाश करनेवाला ज्ञान उदित नहीं होता। भाव यह कि जब तक संसार के मूल अज्ञान का नाश नहीं हुआ, तब तक प्राप्त हुआ भी आत्मतत्त्व पूर्णरूप से प्राप्त नहीं हुआ। बोध से तो उसका पूर्णरूपसे लाभ होता है, इसलिए ज्ञानरूपी प्रयास व्यर्थ नहीं है ॥१०॥

'स्वस्थेन जीवितेनोच्चैः' इस प्रश्न का समाधान करते हैं।

जैसे मरूभूमि में सूर्य प्रकाश जलबुद्धि से अपना अपहरण करता है, वैसे ही साकार भाव को प्राप्त होकर दृश्यता को प्राप्त होते हुऐ स्वस्थ इसी अणुने अपने वास्तविक रूप का अपहरण किया है ॥११॥

किस अणु से मेरूपर्वत अपने अन्दर किया जाता है और त्रिभुवन तृण बनाया जाता है, इन प्रश्नों का उत्तर देते हैं।

वह संविद्रूपी अणु अपने अन्दर मेरू को रखता है और त्रिभुवनको तृण के समान तुच्छ बनाता है।

शंका : यदि मेरू को वह अपने अन्दर रखता है, तो मेरु बाहर कैसे दिखाई देता है ?

समाधान : भीतर स्थित ही मेरु को बाहर मानों वमन करके मायात्मकरूप से बाहर दिखलाता है यानी अन्दर स्थित मेरू की ही बाहर स्थित की नाईं कल्पना करके उसको बाह्य दिखाता है चिदणु के अन्दर जो जो वस्तु है, वह बाहर दिखाई देती है, इस विषयमें कामी पुरुषों का संकल्प से कल्पित अपनी प्रेयसी का आलिंगन आदि दृष्टान्त है। भाव यह कि संकल्प से सिद्ध स्त्री और उसका आलिंगन यद्यपि अन्दर है फिर भी बाह्यसंस्कार जनित होने के कारण 'बाहर–सा देखता हूँ' यह कामियों को अनुभव होता है ॥१२,१३॥ आदि सृष्टि में सर्वशक्ति चिति जिस रूप से आविर्भूत हुई, इस समय की सृष्टि में भी यह सम्पूर्ण को वैसे ही देखती है। भाव यह कि ईख के अथवा बाँस आदि के पहले पर्व से जिस प्रकार शाखा, पत्ते आदि निकलते हैं, उसी प्रकार दूसरे तीसरे आदि पर्वों से भी स्वतः निकलते हैं, यह नियम है वैसे ही आदि सृष्टि के संकल्प में पर्व से जैसे तत्तत् जीवों की सृष्टि हुई वैसे ही इदानीतन

सृष्टि में भी दूसरे तीसरे पर्वों से स्वतः तत्–तत् सृष्टि हुई यह नियम है। आशय यह है कि आदिसर्ग में प्रवृत्त नियति ही अन्दरस्थित मेरु आदि के बाहर प्रदर्शन में हेतु है॥१४॥ आविर्भूत हुए चित्तवाले जिसके अन्दर जो–जो वस्तु जैसे प्रतिभासित होती है, उसको वह वैसे ही देखता–सा है, इसमें बच्चे का मन दृष्टान्त है। यानी बच्चे के हृदय में जो वस्तु (स्थाणु–वेताल आदि) जैसे प्रतिभासित होती है, उसको वह वैसे ही यानी सत्य ही देखता है॥१५॥

किस अणुमात्र से सौ योजन की पृथ्वी पूर्ण हुई है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

देशतः परमाणुरूप, वस्तुतः चिन्मात्र अणु और कालतः अतिसूक्ष्मतम, इस प्रकार देश, वस्तु और काल इन तीन प्रकारके परिच्छेदों की कल्पना के भी अवधिभूत इस अणु से सारा विश्व चारों ओर से परिपूर्ण है॥१६॥

कौन अणु होता हुआ भी सैंकड़ों योजनों में नहीं समाता, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

सर्वव्यापक होने से, अनादि होने से और रूपरहित होने से निराकार यह अणु ही सैकड़ों योजनों में भी नहीं समाता है यानी उक्त अणु सर्वव्यापक है, अनादि है, रूपरहित है, फिर भी सैकड़ों योजनों में नहीं समाता है॥१७॥ जैसे धूर्त लंपट पुरुष मुग्ध स्त्रीजनों को सुन्दर भ्रूविकारों, नयनों द्वारा निरीक्षणों और विविध प्रकारकी चेष्टाओं से अपने वशमें कर अपनी ओर आकृष्ट करता है, वैसे ही शुद्ध चिदालोक पर्वत और तृणों से युक्त जगत् को अपना अभिनय दर्शा कर सदा नचा रहा है॥१८,१९॥

किस अणु के उदर में पर्वतों की घटाएँ विद्यमान हैं, इसका उत्तर देते हैं।

जैसे वस्त्र अपने अन्दर स्थित मेरु आदि के चित्रको बाहर करके मानों आच्छादित करता है, वैसे ही उस अणु ने ही अनन्तरूप होने के कारण भीतर स्थित मेरु आदि को बाहर करके मानों संवित् से वेष्टित कर रक्खा है (卐)॥२०॥

अपनी अणुता का त्याग नहीं करता हुआ कौन अणु मेरु से भी विशाल आकारवाला है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

यद्यपि यह चेतन आत्मा बाल के अग्रभाग के शतांश से भी सूक्ष्मस्वरूपवाला परम अणु है तथापि देश, काल आदि से अनवच्छिन्न होने के कारण मेरू से भी विशाल है॥२१॥

प्रत्येक प्रश्न में आत्मा के लिए अणु शब्द का राक्षसी ने जो प्रयोग किया है, उसका मंत्री ने जो अभिप्राय कहा, वही कर्कटीका भी अभिप्राय था और उसने उसे स्वीकार भी कर लिया, ऐसा निश्चय कर राजा अपनी विशेषज्ञता दिखलाने के लिए मन्त्री द्वारा निरूपित अणुशब्दार्थ को दूषित करते हैं।

शुद्ध चिदाकाशस्वरूप परब्रह्म का परमाणु से साम्य करना मेरु के साथ सरसों की साम्योक्ति के समान मुझे अच्छा नहीं लगता, यानी जैसे मेरु के साथ सरसों की तुलना नहीं

卐 वस्त्र बुनकर उसमें पर्वत आदि की तस्वीर बनाई जाती है। वह चित्ररूप पर्वत वस्त्रवेष्टित कहा जा सकता है, क्योंकि वस्त्रको लपेटने पर उसके बीचमें चित्रभूत पर्वत की स्थिति होती है। चित्रभूत पर्वत जैसे मिथ्या है वैसे ही आत्मचैतन्य में चित्रित जगद्–ब्रह्माण्ड भी मिथ्या है।

हो सकती वैसे ही शुद्ध संवेदनरूप आकाशात्मा परमात्मा के साथ परमाणु की तुलना नहीं हो सकती। भाव यह कि वह अपिरिच्छिन्न है, अतः केवल सूक्ष्मता के कारण परिच्छेद के उत्कर्ष के अवधिस्वरूप परमाणु के सादृश्य का अवलम्बन कर गौणी वृत्ति से (लक्षणा द्वारा) वह अणु नहीं कहा जा सकता है ॥२२॥

यदि ऐसा है, तो 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' इत्यादि श्रुतियों में उसका अणुरूप से उपदेश कैसे किया गया ? ऐसी यदि कोई शंका करे, तो सर्वशक्तिमान् होने के कारण महत्त्व के समान अणुत्व का भी माया द्वारा अपने में निर्माण कर वह स्थित है, अतः मुख्य वृत्ति से ही अणुशब्द का उसमें प्रयोग है, सादृश्यवश लाक्षणिक अणुशब्द का प्रयोग नहीं है, ऐसा कहते हैं।

मायाशबल ब्रह्म अपने में ही अणुताका निर्माण कर अणुरूप से स्थित है। अतः जैसे सुवर्ण में सुवर्णनिर्मित कटकत्व आदि से समता नहीं हो सकती वैसे ही प्रकृत में स्वनिर्मित अणुत्व से सौक्ष्म्यात् समता नहीं हो सकती। इस प्रकार 'बालाग्र शतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः' इत्यादि श्रुतियाँ और बालाग्रशत भागात्मा इत्यादि तुम्हारी उक्ति भी संगत होती है ॥२३॥

कौन अणु प्रकाश और तमका दीपक है, इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं।

पूर्वोक्त अनुभवरूप परमात्मा दीपक है, क्योंकि आत्मा के सिवा किसीमें भी स्वतन्त्रता से प्रकाश करनेका सामर्थ्य नहीं है और कभी भी आत्मा का अभाव नहीं होता। उसका अभाव है कहना 'मैं नहीं हूँ' कहने के बराबर है। प्रकाश और अन्धकार दोनों का प्रकाशक है, यदि इस आत्मदीपकके बिना ही प्रकाश अथवा अन्य (तम) होगा, तो उसकी सत्ता का लोप हो जायेगा, उससे वह असत् ही हो जायेगा ॥२४॥

दूसरी बात यह भी है कि यदि उसकी असत्ता हो जाती, तो जगत् अन्धा हो जाता, ऐसा कहते हैं।

यदि सूर्य आदि सम्पूर्ण जगत केवल मात्र जड हो जायेगा, तो रूप किमात्मक होगा और प्रकाश कहाँ होगा और क्या होगा ? ॥२५॥

चिदणु ने अपने में ही तेज, तम आदि की कल्पना कर रक्खी है, इसलिए प्रकाश उसके अधीन है, ऐसा कहते हैं।

शुद्ध सन्मात्र चित्स्वरूप, जो स्वतः आत्मा में स्थित था, उसी को अणुने बाहर स्थित तेजरूप से देखा ॥२६॥

यदि कोई शंका करे कि सूर्य, चन्द्र आदि से भी प्रकाश की सिद्धि हो सकती है, फिर चिदणु ने क्या विशेष किया ? इस पर कहते हैं।

सूर्य, चन्द्र और अग्नि का तेज अपने कारण अज्ञान से भिन्न नहीं है, अपने कारण अज्ञानसे उनमें इतना ही भेद है कि उनकी वर्ण में शुक्लता और उष्णता है और जाड्योंमें तो कोई भेद नहीं है, अतः उनसे प्रकाशकी क्या आशा ? ॥२७॥ काला कुहरा छा जाने पर यह मेघ है, ऐसा

व्यवहार होता है, अतः मेघ और कुहरे में जितना भेद होता है प्रकाश और तममें भी उतना ही भेद है, उनका स्वतः कोई भेद नहीं है, यही वस्तुस्थिति है ॥२८॥

चित् के अधीन प्रकाश से सत्तावान् होने के कारण भी प्रकाश और तम का भेद नहीं है, ऐसा कहते हैं।

इन जड़ प्रकाश और तम के प्रकाश के लिए यह चित्सूर्य तपता है, उसकी सत्ता से सत्तावाले होकर ये एकता को प्राप्त हुए हैं ॥२९॥

चैतन्य का तो कहींपर भी अप्रकाश नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं।

चिद्रूपी एक सूर्य रात–दिन आलस्यशून्य होकर बाहर–भीतर शिलाओं के अन्दरतक भी अस्त और उदय से रहित होकर तपता है ॥३०॥ उसीसे जीव की यह प्रसिद्ध त्रिलोकी भासित होती है। प्रकाशित होती है, जो अनेक प्रकार के भोगों और भोगसाधन सामग्रियों से पूर्ण है और कुटी के समान संकुचित कोठरियों से युक्त है ॥३१॥

यदि आत्मा से तम का प्रकाश होता है, तो उसका तमसत्व ही नष्ट हो जायेगा, क्योंकि जिन वस्तुओं का अप्रथनरूप (अप्रकटन) स्वभाव है, उसका नाश हुए बिना उनका प्रथन (प्राकट्य) नहीं किया जा सकता, इस शंका पर कहते हैं।

वह परमात्मा स्वतत्त्व के प्रतिभास से शून्य चैतन्य द्वारा तम के स्वरूपभूत तमस्त्वका विनाश किये बिना तमको कार्य के लिए क्षुब्ध करता है, उससे सम्पूर्ण जगत्–भूत तमका आभास होता है ॥३२॥ जैसे तप रहे सूर्य से पद्म और नील कमलों का विकास होता है, वैसे ही चित्ने प्रकाश और तमकी सत्ता को प्रकट किया है। भाव यह कि तमकी सत्ता का प्रकट करनेवाला होने के कारण भी वह तमकी निवृत्ति नहीं करता है ॥३३॥ जैसे सूर्य रात्रि और दिन को बनाता हुआ अपनी आकृतिको दर्शाता है, वैसे ही चिति ही आविर्भाव और तिरोभावरूप प्रकाश और तमकी सृष्टि करके अपनी आकृति को दर्शाती है ॥३४॥

किस अणु के उदर में सम्पूर्ण अनुभवरूपी अणु हैं, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

जैसे शहद के रस के अन्दर पत्र, पुष्प और फलों की शोभा विद्यमान रहती है, वैसे ही चिदणु के अन्दर सम्पूर्ण अनुभवरूपी (वृत्ति से अवच्छिन्नज्ञानरूपी) अणु विद्यमान हैं। जैसे वसन्त ऋतु से वन–भागों का सौन्दर्य प्रकट होता है, वैसे ही इस चिदणु से ये सम्पूर्ण अनुभवरूपी अणु उदित होते हैं ॥३५,३६॥

कौन अणु मधुर आदि रसों से शून्य होने के कारण स्वादरहित भी अत्यन्त स्वाद देता है, इसका उत्तर देते हैं।

अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अत्यन्त अस्वादु भी यह परमात्मारूपी अणु समग्र स्वादों की सत्ता का एकमात्र हेतु होने के कारण स्वयं स्वाद को प्राप्त होता है ॥३७॥

सम्पूर्ण जलों के अन्तर्गत रसके आविर्भाव का वही निमित्त है, इसलिए भी वह स्वाद देता है, ऐसा कहा जा सकता है, यह कहते हैं।

जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब रहता है, वैसे ही जल में जो कोई भी रस स्थित है। वह उसीके

कारण है, उसके बिना स्वतः उसकी सत्ता नहीं रह सकती ॥३८॥

सबका त्याग कर रहे किस अणुने इस सम्पूर्ण जगत् को आश्रित कर दिया है, इसका उत्तर कहते हैं।

सम्पूर्ण जगत का त्याग कर रहे चिन्मात्र परमाणु ने यह सब विश्व आश्रित (आच्छादित) कर रक्खा है ॥३९॥

अपने स्वरूप के भी आच्छादन में असमर्थ किस अणु ने इस सम्पूर्ण जगत को आच्छादित कर रखा है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

परिच्छिन्न होकर अपने स्वरूप के तिरोधान में असमर्थ इस चिदणुने सम्पूर्ण जगत् को चँदवे की नाईं अपनी उत्कृष्ट चित्ताणुता को फैलाकर आच्छादित किया है ॥४०॥

उक्त अर्थ के आशय को ही विशेष रूप से स्फुट करते हैं।

जैसे हाथी दूब के वन में तनिक भी, क्षणभर भी अपने स्वरूप को आच्छादित नहीं कर सकता, वैसे ही शून्याकृति परमात्मा यद्यपि अपने स्वरूप को छिपाने में समर्थ नहीं है। तथापि उसने विश्व को चारों और से आक्रान्त कर रक्खा है, जैसे बालक जागकर धानकणों की रक्षा करता है, सोकर नहीं करता वैसे ही ज्ञात होकर यह परमात्मा जगदन्तःपाती जीवों की आत्मलाभ से रक्षा करता है ॥४१॥

इस प्रकार के प्रकाशस्वरूप पूर्णात्मा की बालक के तुल्य आत्मविस्मृति कैसे हो सकती है, इस पर कहते हैं।

उसकी माया अपार है, माया की सामर्थ्य से ही यब सब आश्चर्य कर आत्मविस्मृति आदि होते हैं ॥४२॥

प्रलय से तिरोहित भी जगत् किस अणु की सत्ता से सत् होकर पुनःजीवित होता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

जैसे वसन्तऋतु में पत्ते आदि को उत्पन्न करनेवाले रस आदि के उद्बोध से वनराजि विचित्र हो जाती है, वैसे ही प्रलय से लीन हुआ जगत् भी चिन्मात्र के अवलम्बन से जीता है यानी प्रलय में भी चित्–सत्ता से ही जगत् संस्कार शेष रहता है ॥४३॥

यदि प्रलय में और सृष्टि में भी ब्रह्म की सत्ता से ही जगत् जीवित रहता है, तो प्रलय की अपेक्षा सृष्टि में क्या विशेषता है ? जिससे फिर सृष्टि का आविर्भाव होता है, इस शंका पर कहते हैं।

जैसे वसन्त ऋतु के रस के उल्लास से वनभाग विचित्र हो उठता है, इसी प्रकार चित्त–सत्ता ही स्वतः सम्पूर्ण जगद्रूप से उदित होती है। भाव यह कि प्रलय में चित्त–सत्ता पृथक् नहीं रहती और सृष्टि में रहती है, प्रलय की अपेक्षा सृष्टि में यही विशेषता है ॥४४॥

इस प्रकार चित् और जगत का तत्त्वतः भेद नहीं है, ऐसा कहते हैं।

इस जगत् को सत्य चिन्मय ही आप जानिए, जैसे कि पल्लव, निकुंज आदि वसन्त रस ही हैं, उससे अतिरिक्त नहीं है ॥४५॥

जिसके अवयव उत्पन्न ही नहीं हुए, ऐसा कौन अणु सैंकड़ों हाथ, सिर, लोचन आदि से युक्त है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

सदा अवयवों के बिना उदित हुआ भी यह परमाणु ही सम्पूर्ण अवयवियों का यानी उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज इन चार प्रकार के सम्पूर्ण प्राणियों का सार यानी आत्मा होने से सैकड़ों, हाथ, सिर, लोचन आदि से युक्त है ॥४६॥

कौन निमेष होता हुआ भी महाकल्प और करोड़ों कल्परूप है, इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं।

स्वप्न में जैसे बुढ़ापा और बाल्यावस्था का बोध होता है, वैसे ही चिद्णु से निमेषांश का ज्ञान और सैकड़ों कल्पों के समूह का आभास प्रतीत होता है। इसलिए वह अणु निमेष होता हुआ भी सैकड़ों करोड़ों कल्पों का समूह है। सम्पूर्ण अभाससत्ताओं के विलास से यह एक प्रतिभा का विकास है ॥४७,४८॥ जैसे स्वप्न में भोजन न करनेपर भी 'मैंने अच्छा भोजन कर लिया' इस प्रकारकी प्रतीति होती हैं, वैसे ही निमेष में कल्पों का निश्चय होता है। भोजन किये बिना 'मैंने भोजन कर लिया' इस प्रकार के ज्ञान से युक्त पुरुष स्वप्न में अपने मरण के तुल्य विविध वासनाओं से पूर्ण देखे जाते हैं ॥४९,५०॥

किस अणु में बीज में वृक्ष के समान सम्पूर्ण जगत् स्थित हैं, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

चिदात्मरूप परमाणु में सम्पूर्ण जगत् स्थित हैं और उसीसे ही जगत् की प्रतीतियाँ प्रवृत्त होती हैं ॥५१॥ जो वस्तु जहाँ पर है, वह वहाँ से उत्पन्न होती है और तद्रूप ही है, जैसे स्तम्भ में बनी हुई प्रतिमा स्तम्भरूप ही है, उससे भिन्न नहीं है। आकारवाले पदार्थ में ही विकार आदि देखे जाते हैं और आकाररहित निर्मल आकाशमें विकार आदि नहीं देखे जाते हैं ॥५२॥

सृष्टि के समय जिनकी बीजपरम्परा की अवधि अव्यक्त है, ऐसे सब बीज सृष्टि के समय जगद्रूप से विकसित होकर किसमें अनुस्यूत हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

जैसे बीज में वृक्ष रहते हैं, वैसे ही चित् में अतीत, इस समय वर्तमान और आगे होनेवाले सभी भूत सदा विद्यमान रहते हैं ॥५३॥

जैसे बीज के अन्दर वृक्ष रहता है, वैसे ही किस निमेष के अन्दर कल्प स्थित है ? इस प्रश्न का तात्पर्य कहते हैं।

जैसे चावल और उसके अवयव धान की त्वचा से चारों ओर वेष्टित रहते हैं, वैसे ही निमेष और कल्प इस अणु से वेष्टित हैं और यह अणु चेत्यरूप कल्प और निमेषों से अपने एकदेशका आश्रय ले करके स्थित है, क्योंकि 'विष्टम्भ्याहमिंद कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' इत्यादि भगवान् का वचन है ॥५४॥

'कः प्रयोजन–कर्तृत्वमप्यनाश्रित्य कारकः' (अक्रिय होने के कारण कारक–व्यापारयितृत्वरूप कर्तृत्व का आश्रय न ले करके भी कौन कर्ता है) इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं।

सम्पूर्ण जगत् में भोक्तृत्व, कर्तृत्व आदि से तनिक भी स्पृष्ट नहीं हुआ उदासीन के तुल्य

स्थित यह आत्मा कर्ता न होता हुआ भी कर्ता है ॥५५॥ शुद्ध चैतन्यरूप परमाणु से यह जगत्सत्ता उदित हुई है और क्रिया और भोग के सम्बन्ध के बिना ही परमाणु में कर्तुत्व और भोक्तृव स्थित हैं ॥५६॥

उसका क्रिया और भोग से सम्बन्ध क्यों नहीं है ? इस पर कहते हैं।

जगत् सदा हि किसीसे कुछ नहीं बनाया जाता है और न लीन होता है, क्योंकि क्रिया का विषय जगत् अत्यन्त असत् है ॥५७॥

शंका : यदि ऐसा है तो असत् दृश्य का खण्डन वेदान्तों में किसलिए किया जाता है ?

समाधान : व्यावहारिक यौक्तिक दृष्टि से वेदान्तों में दृश्यका खण्डन किया गया है, परमार्थदृष्टि से नहीं किया गया है।

परमार्थ दृष्टि कैसी है, यह प्रश्न होने पर उसे दर्शाते हैं।

हे राक्षसी, ब्रह्म से भासित होनेवाला यह सब दृश्यादि चिदाकाशकोशस्वरूप ही है, इसका केवल जगत्रूप से शब्दतः व्यवहार हुआ है, ऐसा तुम जानो ॥५८॥

कौन नेत्ररहित द्रष्टा दृश्य की सिद्धि के लिए अपने स्वरूप को दृश्यता को प्राप्त कर अपने को दृश्यरूप से देखता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

चिद्रूपी अणु दृश्य की सिद्धि के लिए अन्दरस्थित चित् के चमत्कार को यानी चिद् में व्याप्त मायाशक्ति को, जो कि उसकी आत्मा में स्थित है, बाह्यप्रपंचरूप से अपने में धारण करता है ॥५९॥

यदि कोई शंका करे कि ब्रह्म तो 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' इस श्रुति के अनुसार आन्तर-बाह्यभेदशून्यरूप से ज्ञात है अतः उसमें 'वह आन्तर चित्चमत्कृतिको बाह्यप्रपंचरूप से धारण करता है।' यह कथन कैसे संगत हो सकता है ? तो इस पर कहते हैं।

बहिष्ठत्व और अन्तस्थत्व - ये तीनों जगतों में अधिकारी प्राणियों के उपदेशके लिए कल्पित हैं और शब्द में ही इनकी स्थिति है, वस्तु में नहीं; क्योंकि वस्तु चिदेकस्वरूप है, उसमें बहिष्ठत्व, अन्तस्थत्व इत्यादि भेद की कल्पनाका सम्भव ही नहीं है ॥६०॥

'दृश्य की सिद्धि के लिए अपने को दृश्यता को प्राप्त करता हुआ' यहाँ तक के प्रश्नांशका तात्पर्य कहकर अवशिष्ट अंशका तात्पर्य कहते हैं।

नित्य अपरोक्ष भी आत्मा अविद्या से आवृत्त न होने के कारण अन्तःकरण अवच्छेद सदा स्फुरित हो रहा है अतः उस स्फुरण के अभिमान से द्रष्टा है और बाह्य विषयों के अवच्छेद से आवृत्त होने के कारण अदृष्टविषय यानी नेत्रज्ञों से दृश्य होकर नेत्र द्वारा निर्गत अन्तःकरणप्रणाली से बाहर जाकर सत् ही आत्मस्वरूप को असत् घटादिरूप-सा स्थित देखता है यानी स्वात्मभूत चित् से ही प्रकाशित करता है, नेत्र से नहीं, क्योंकि नेत्र तो केवल द्वारमात्र हैं, इसलिए अनेत्रवान् कहा है ॥६१॥

सत् ही असत् के समान स्थित है, ऐसा जो ऊपर कहा था, उसका उपपादन करते हैं।

द्रष्टा असत् अतएव अवास्तव दृश्यत्व को प्राप्त ही नहीं होता।

शंका : क्यों दृश्यत्व को प्राप्त नहीं होता ?

समाधान : जो वस्तु आत्मा में तनिक भी नहीं है, तत्ताको परमात्मा कैसे प्राप्त होगा, कारण कि सत् असद्रूप नहीं हो सकता ॥६२॥

इसी प्रकार द्रष्टता भी मिथ्याभूत दृश्यसापेक्ष होने के कारण मिथ्या ही है, ऐसा कहते हैं।

नेत्र द्वार होने के कारण लोचन (देखनेवाले) नहीं है, किन्तु अपरोक्ष आत्मचैतन्य ही लोचन हैं, क्योंकि 'वह चक्षु का चक्षु है', इत्यर्थक श्रुति है, वह आत्मचैतन्य आविर्भाव से लेकर पुनः तिरोभाव से वासनाभावान्त अपने शरीरभूत दृश्य को बाह्यरूप बनाकर उसके दृश्यरूप से स्वयं उदित है यानी द्रष्टरूप से उसने अपनी कल्पना कर रक्खी है ॥६३॥

इस प्रकार परस्पर सापेक्ष कल्पनावाले होने के कारण वे दोनों ही मिथ्या हैं ऐसा कहते हैं।

जैसे पुत्र के बिना पितृता का संभव नहीं है और जैसे ऐक्य के बिना द्वित्व का संभव नहीं है वैसे ही द्रष्टता के बिना दृश्यता का किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है ॥६४॥ द्रष्टा ही दृश्यता को प्राप्त होता है और दृश्यके बिना द्रष्टत्वका सम्भव नहीं है, जैसे कि पिता के बिना पुत्रका सम्भव नहीं है और भोक्ता के बिना भोग्यता का संभव नहीं है। जैसे विशुद्ध सुवर्ण का कटक आदि के निर्माण में सामर्थ्य है, वैसे ही द्रष्टा का दृश्यविनिर्माण में सामर्थ्य है ही, क्योंकि वह चेतन है ॥६५,६६॥ जैसे सुवर्णमय कटक सुवर्ण के निर्माण में समर्थ नहीं है, वैसे ही दृश्य द्रष्टा के निर्माण में समर्थ नहीं है, क्योंकि वह जड़ है ॥६७॥ चित् चेतन है, अतएव वह जैसे सुवर्ण कटकभ्रम को उत्पन्न करता है, वैसे ही दृश्यभ्रमका निर्माण करता है। उक्त दृश्य असत् होता हुआ भी अज्ञानवश सत्–सा प्रतीत होता है। दृश्य अज्ञानमात्रसे उत्पन्न है, जब तक अज्ञान रहता है, तब तक उसकी स्थिति रहती है ॥६८॥

यदि द्रष्टा ही दृश्यता को प्राप्त होता है, तो यह द्रष्टा ही है, यों दृश्य की प्रतीति क्यों नहीं होती ? इस पर कहते हैं।

जैसे कटकत्व की प्रतीति होने पर सुवर्ण की सुवर्णता सत्य होने पर भी स्फुटरूपसे स्फुरित नहीं होती, क्योंकि मूढ़ की बुद्धि में सुवर्णता का स्फुरण नहीं होता, वैसे ही द्रष्टा के दृश्यरूप से स्थित होने पर द्रष्टा का स्वरूप स्फुरित नहीं होता ॥६९॥

तब तो द्रष्टा का स्फुरण न होने पर दृश्य द्रष्टनिरपेक्षतावाला ही क्यों न होगा ? ऐसी यदि कोई आशंका करे, तो ऐसा माननेपर दृश्य में जो द्रष्टाकी उपजीवकता है, उसका अभाव हो जायेगा, इसलिए ऐसा मानना उचित नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे कटकरूप में प्राप्त होने पर सुवर्ण अपनी पूर्वसिद्ध कनकता का उपजीवन करता है वैसे ही दृश्यरूप से स्थित होता हुआ द्रष्टा अपनी द्रष्टता का उपजीवन करता है ॥७०॥

कटकत्व की प्रतीति होने पर जैसे सुवर्ण की सुवर्णता सत्य होती हुई भी स्फुरित नहीं होती, यह कहना अयुक्त है, क्योंकि यह कटक सुवर्ण है, इस प्रकार समानाधिकरण प्रतीति में दोनों की सत्ता का प्रतिभास होता है, वैसे ही मैं द्रष्टा हूँ, इस प्रतीति में भी दोनों की (दृश्य और द्रष्टाकी) समानाधिकरण्य से प्रतीति होती है, ऐसा यदि कोई कहे, तो उसपर कहते हैं।

जैसे दूर स्थित विषय में यह पुरुष है या पशु है, इस पुरुषप्रतीतिकी उत्कट कोटिवाले संशय में पुरुषत्व का प्रतिभास नहीं होता, इसी प्रकार समानाधिकरण्य प्रतीतियों में भी उभयांश की एक प्रतीति में प्रमेयता नहीं हो सकती ॥७१॥ द्रष्टा अपने को दृश्य देखता हुआ अपने स्वरूप को नहीं देखता, द्रष्टा की दृश्यत्वापत्ति होने पर द्रष्टा की सत्ता असत् हो जाती है। भाव यह कि द्रष्टा बहिर्मुख वृत्ति से दृश्य को देखता है और अन्तर्मुखदृष्टि से द्रष्टा को देखता है, चित् की एक ही समय दृश्य और द्रष्टा इन दोनों के प्रति उन्मुखता नहीं हो सकती ॥७२॥

कौन ज्ञान से दृश्य के नष्ट हो जाने के कारण अखण्डित अपने आत्मा को दृश्य की असिद्धि के लिए सामने देखता हुआ दृश्य को नहीं देखता, इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं।

बोध से जिसका दृश्यभाव गलित हो गया है, ऐसे द्रष्टाकी सत्ता ही अवभासित होती है, जैसे कि कटक के प्रति अनुसन्धान न करनेपर सुवर्ण की अकटकता ही भासित होती है ॥७३॥

दृश्य का दर्शन न होने पर भी द्रष्टा का दर्शन अपरिहार्य है, इसलिए आत्यन्तिक दृश्य का अदर्शन कैसे सिद्ध होगा ? इस पर कहते हैं।

दृश्य के रहते द्रष्टा रहता है और दृश्य द्रष्टा के रहते भासित होता है। दोनों के बिना एक भी भासित नहीं होता, अतः इन द्रष्टा और दृश्य के बीच में एक भी नहीं है, जैसे कि छत्र के हट जानेपर छाया हट जाती है, वैसे ही दृश्य के नष्ट होने पर द्रष्टा का भी अपाय हो जाता है, इसलिए दृग्मात्र का परिशेष रहता है ॥७४॥ शुद्ध संविद्रूप आत्मा से इस सबका यथावत् ज्ञान प्राप्त करके वाणियों का अविषय शुद्ध कुछ ही अवशेष रहता है ॥७५॥

द्रष्टा का, दर्शन का और दृश्य का कौन अवभासन करता है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

इस चित्परमाणुरूप दीपक ने सब द्रष्टा, दर्शन और दृश्य को अवभासित किया। जैसे सुवर्ण कटक आदि को अपने में लीन कर लेता है, वैसे ही इस द्रष्टा दर्शन और दृश्य को किसने अपने में लीन कर लिया है ?

इस प्रश्न का पूर्वोक्त दृष्टान्तों के उपन्यास द्वारा ही अर्थात् परिहार करते हैं।

जैसे असत्स्वरूप उत्पन्न हुए कटक आदि को सुवर्ण अपनेमें लीन कर लेता है, वैसे ही चित्परमाणुरूप दीप से प्रकाशित प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयरूप इन तीनों को विद्वान् (ब्रह्मज्ञानी) निगल जाता है ॥७६,७७॥

किससे कोई पृथक् नहीं है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

जैसे जल, भूमि आदि पाँचभूतों से भौतिक पदार्थ तनिक भी पृथक् नहीं हैं, वैसे ही इस स्वभावरूप अणुसे कुछ भी पृथक् नहीं है ॥७८॥

दृश्य की अपृथकता का युक्ति से भी अनुभव कराते हैं।

सर्वगामी अनुभवरूप होने से और सबका अनुभवरूप होने से एकत्व के अनुभव का न्याय जब दृढ़ हो जाता है तब इसकी सबके साथ एकता सिद्ध है ॥७९॥

किसकी इच्छा से यह पृथक् है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

जैसे जलराशि से तरंगता पृथक् नहीं है, वैसे ही इच्छानुरूप सम्पत्तिवाले इसकी इच्छासे

भावित अर्थों की एकता पृथक् नहीं है ॥८०॥

देश, काल आदि से अनवच्छिन्न, असत् होते हुए भी सत् किससे द्वैत भी अभिन्न है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

देश, काल आदि से अनवच्छिन्न केवल अद्वितीय परमात्मा ही है, सबका आत्मा होने के कारण सबसे अभिन्न है तथा अनुभवरूप होने के कारण स्वतः सर्वानुभवरूप ही है, जड़ नहीं है ॥८१॥

'असत् भी सत् रूप किससे' पूर्वोक्त इस अंश का तात्पर्य कहते हैं।

जिनमें आत्मसत्ता संदिग्ध नहीं है, ऐसे चेतनों का आत्मा होने के कारण यह सत् है और चक्षु आदि द्वारा देखने पर ज्ञात नहीं होता, अतः इस सर्वरूप महान् आत्मा में लौकिक सद्रूप द्वैत और ऐक्य नहीं है, इसलिए यह श्रुति में असत् कहा गया है, वास्तव में असत्ता के अभिप्राय से असत् नहीं कहा गया है ॥८२॥

यदि कोई शंका करे कि द्वैत अन्यसापेक्ष होने के कारण मिथ्या हो, ऐक्य तो दूसरे किसीकी अपेक्षा नहीं करता, अतः वास्तव ही है, ऐसी अवस्था में ऐक्य उसमें नहीं है, यह कैसे कहा ? इस पर कहते हैं।

यदि कोई दूसरा हो, तब एककी एकता हो, द्वैत और ऐक्य की, छाया और धूप के समान, परस्पर एक की दूसरे से सिद्धि होती है, अतः ऐक्य की अन्यनिरपेक्षता कैसे ? ॥८३॥

द्वितीय की व्यावृत्ति के लिए कल्पित संख्यारूप एकत्व भी द्वितीयसापेक्ष होने से द्वित्व आदि के समान ही है, इस आशय से कहते हैं।

जहाँ पर दूसरा नहीं है, वहाँ पर एककी एकता कैसे ? एकता के असिद्ध होने पर दोनों ही नहीं है ॥८४॥

जैसे जलराशि से द्रवता पृथक् नहीं है, वैसे ही किससे द्वैत भी पृथक् नहीं है, इस प्रश्नांश का विवरण करते हैं।

इस प्रकार परमार्थ तत्त्व के द्वैत और ऐक्य–शून्यरूप से स्थित होने पर जो द्वैत और ऐक्य से युक्त–सा तथा द्वैत और ऐक्य–सा दिखाई देता है, उससे द्वैत और ऐक्य रूप वैसे ही भिन्न नहीं है जैसे कि जलराशि से द्रव भिन्न नहीं है ॥८५॥

द्रष्टा, दर्शन, दृश्यरूप सदसद् त्रिजगत्को, जैसे बीज अपने अन्दर वृक्ष को रखता है वैसे ही, अपने अन्दर रखकर कौन स्थित है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

जैसे पृथ्वी, जल आदि के साम्य से पूर्व अवस्था से च्युत न हुए बीज के अन्दर वृक्ष स्थित रहता है, वैसे ही सत्त्व, रज और तम के साम्य से अपनी पूर्व अवस्था से च्युत न हुए ब्रह्म के अन्दर नाना प्रकार के आरम्भ और स्फुरण से संयुक्त यह जगत् स्थित है। जैसे सुवर्ण से कटकता अपृथक् है, वैसे ही ब्रह्म से द्वैत भी अपृथक् है, ऐसा भली भाँति जिसको ज्ञान हो चुका है, ऐसे पुरुष का ज्ञानरूप ही तो द्वैत है और ज्ञान सत् ही है, सन्मय नहीं है ॥८६,८७॥ जैसे जल की द्रवता जलसे पृथक् नहीं है, वायु का स्पन्दन वायु से पृथक् नहीं है तथा आकाश

की शून्यता आकाश से पृथक् नहीं है, वैसे ही द्वैत ईश्वर से पृथक् नहीं है ॥८८॥ द्वैत और अद्वैतकी प्रतीति दुःखरूप प्रवृत्ति की सिद्धि के लिए ही है, निवृत्ति के लिए नहीं है और जो इन द्वैत और अद्वैत की उत्तम अप्रतीति है, वह परमपद है ॥८९॥

भूत, भावी और वर्तमान जगत् किसके अन्दर रहता है ? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं।

भूत, भविष्यत् आदि जगत् शास्त्रीय प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमितिरूप ही है और लौकिक रीति से द्रष्टा, दर्शन और दृश्य–त्रिपुटीरूप ही है, इससे अधिक नहीं है। वह सब जगत् साक्षीभूत चित्परमाणु में स्थित है ॥९०॥ जैसे पवन अपने ही शरीर में स्पन्द को उत्पन्न कर देता है और लीन भी कर लेता है, वैसे ही इस आत्मरूप अणु सुमेरुने अपने शरीर में इस जगद्रूपी अणु को बहुत बार उत्पन्न किया और लीन भी किया ॥९१॥

यह जगत् बृहद्भ्रम है, इस अंश का उपपादन करते हैं।

यह आत्मचिति मायाशबल होने के कारण माया है अथवा मायावी यानी लोगों को मोह में डालनेवाले लोगों की माया से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि परमाणु के अन्दर ही तीनों लोकों की परम्परा है, इसलिए दर्पण के अन्दर प्रतीत हुए पर्वत के समान वह है ही नहीं, अतः वह बृहद्भ्रम ही है ॥९२॥

यदि 'एक अद्वितीय ब्रह्म ही है' इस श्रुति से माया की भी असत्ता प्रतिपादित है, तो जगत् चिदणु ही है, कोई दूसरी वस्तु नहीं है, इसलिए जगत्प्रतीति महाभ्रम ही है, इस आशय से कहते हैं।

यदि आत्मस्वरूप सदा मायाशून्य ही है, तो सर्वदा आत्मस्वरूप ही स्थित है, इस पक्ष में भी जगत्स्थिति चिन्मात्रपरमाणुत्वमात्र ही है, उससे पृथक् नहीं है ॥९३॥

जैसे बीज के अन्दर वृक्ष रहता है, वैसे ही यह जगत् किसके अन्दर स्थित है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

जैसे बीज, जिसके अन्दर महान् वृक्ष है, पात्र के अन्दर रहता है, वैसे ही यह अणु, जिसके अन्तर्गत अनेकों जगत् विद्यमान हैं, अपनी समता का त्याग न कर स्थित है। 'बीजं भाण्डोदरे' यह दृष्टान्त परमाणु के अन्तर्गत ब्रह्मचित् में भी सम्पूर्ण जगत् की उत्पादनशक्ति भरी हुई है, यह सूचन के लिए है ॥९४॥

बीज के अन्दर जैसे वृक्ष रहता है, इस अंश का वर्णन करते हैं।

जैसे बीज के अन्दर फल पल्लवों से युक्त वृक्ष का विस्तार स्थित है और वह परमार्थदृष्टि से (योगपरिष्कृत दृष्टि से) देखा जाता है, वैसे ही चिदणु के अन्दर अनेक शाखा प्रशाखाओं से स्थित यह जगत् परमार्थदृष्टि से (ब्रह्मदृष्टि से) देखा जाता है ॥९५॥ जैसे बीज के अन्दर अपने शाखा, फल, फूल आदि का त्याग न करता हुआ वृक्ष स्थित है, वैसे ही चिदणु के अन्दर यह विशाल जगत् स्थित है ॥९६॥

अपनी एकता का त्याग न करता हुआ उदित न हुआ भी कौन उदित होता है, इस प्रश्न में स्थित 'स्वमेकमजहद्रूपम्' इन अंशों का उपपादन करने के लिए अध्यारोपित स्थूल, सूक्ष्म

आदि प्रपंचका खण्डन करते हैं।

बीज के अन्दर वृक्षके समान चित्परमाणु के अन्दर स्थित द्वैतरूप जगत् को जो अद्वैत देखता है, उसीका दर्शन दर्शन है यानी वही तत्त्वज्ञानी है, वस्तुतः न द्वैत है, न अद्वैत है, न बीज है, न अंकुर है, न स्थूल है, न असत्ता है, न यह सौम्य है, न क्षुभित है, चिदणु के अन्दर तीनों जगत्, आकाश, वायु आदि भी कुछ नहीं है। न जगत् है, न अजगत् है, केवल एक सर्वोत्कृष्ट उत्तम चिति है।

कौन उदित न होता हुआ भी उदित होता है, इस अंश का उपपादन करते हैं।

वह चिति सर्वात्मिका है, वह जहाँ जिस रूपसे (प्राक्तन वासना के अनुसार) उदित होती है, वहाँ पर सृष्टि प्रतिभारूपसे आविर्भूत होती है। उदित न होता हुआ भी यह एकात्मा परमाणु अपने संकल्प से विकास को प्राप्त होकर निष्प्रपंचस्वरूप आकाश में समग्र वस्तुरूप से स्थित है ॥९७–१०१॥

उक्त अर्थ में दृष्टान्त देते हैं।

जैसे वृक्ष बीजों को उत्पन्न करता हुआ और वृक्षस्वभाव को न हटाता हुआ स्वबीजरूप से उदित होता है, तदनन्तर भूमि को प्राप्त होता है, वैसे ही परम तत्त्व भी जगद्रूप से उदित होता है और अपने उदय से जगत्ता को यानी जन्ममरण आदि की कल्पना को प्राप्त होता है ॥१०२॥ उन दोनों में विशेषता इतनी ही है कि वृक्ष बीजरूप से ही विकारी नहीं है, किन्तु वृक्षरूप से भी विकारी है, क्योंकि दोनों रूपों से उसमें विकाररूप विषमता देखी जाती है, आत्माणु तो असंग अद्वितीय होने के कारण सबके त्याग में तत्पर है और सर्वानुगत सद्रूप होने के कारण सबके अत्याग में तत्पर है और निर्विकार ही सदा रहता है ॥१०३॥

हे राजन्, जिसकी अपेक्षा स्थूल होने के कारण बिसतन्तु (कमल–नाल का तंतु) महामेरू है, वह कौन है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

परमाणु की अपेक्षा स्थूल होने के कारण बिसतन्तु महामेरू है, क्योंकि बिसतन्तु दृष्टिगोचर होता है और परमाणुता नेत्र से दृश्य नहीं है ॥१०४॥

दृष्टान्त में उक्त का दार्ष्टान्तिक में समन्वय करते हुए 'ऐसे किसके उदर में करोड़ों मेरुमन्दर हैं' इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

परमाणु के भी अन्दर आत्मरूप ब्रह्म की अपेक्षा बिसतन्तु भी महामेरु है और उसी के अन्दर चिद्घन परमार्थस्वभाव करोड़ों मेरु पर्वत स्थित हैं ॥१०५॥

यह त्रिजगत् किसके द्वारा निर्मित है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

जैसे आकाश द्वारा गन्धर्व नगर आदि दृश्य नाना विचित्र प्रपंचरूप से बनाया गया भी चारों ओर निर्मल शून्यता को यानी आकाशस्वरूपता को प्राप्त ही है, वैसे ही उस एक महान् और परमाणु से विश्व अपंचीकृत पंचभूतों के रूप से विस्तारित है, पंचीकरण द्वारा ब्रह्माण्ड और भुवनरूप से बनाया गया है, उन ब्रह्माण्ड और भुवनों में देव, मनुष्य, असुर, तिर्यक् भेद से उत्पन्न किया गया है और उनके भोग के लिए तत्–तत् विषयों के भेद से रचा गया है ॥१०६॥

'किसके दर्शन से निर्मलदृष्टि होकर तुम उससे अन्य नहीं होते अथवा सदा ही तद्रूप होते हो' इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

चित्संमिश्रिति जड़ अविद्यामात्ररूप होने के कारण सुषुप्ति के सदृश, स्वकाल में भी यानी द्वैतावस्था में भी सत्ता और स्फूर्ति के व्यवहार की सिद्धि के लिए सच्चिदानन्दैकरस होने से अत्यन्त सुन्दर अपने स्वरूप अर्थात् अधिष्ठान आत्मतत्त्व का त्याग न किये हुए द्वैत ने जब यथास्थित आत्मतत्त्व के ज्ञान से स्थिति, गमन और आगमन से मुक्त ऐक्य को प्राप्त किया तब क्षुद्र जगत् परमार्थ पिण्डरूप ही रह जाता है इस प्रकार वह ब्रह्मैकस्वभावता से स्थित है। इसलिए मैं संसाररूप नहीं हूँ, किन्तु सदा अद्वितीय ब्रह्मरूप ही हूँ, यह भाव है ॥१०७॥

इक्यासीवाँ सर्ग समाप्त

बयासीवाँ सर्ग

प्रसन्न हुई कर्कटी का राजा और मन्त्री को मन्त्र देना और उनका समाधि से व्युत्थित हुई इसके लिए वध्य लोगों का भोजनरूप से अर्पण करना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार राजा के मुख से सुनकर उस वन की बन्दरीरूपी कर्कटी राक्षसी ने अपनी राक्षस जाति के योग्य मात्सर्यप्रयुक्त चपलताका, जिसका कि ज्ञात ब्रह्मपद ही मूलोच्छेदपूर्वक नाश है, त्याग कर दिया। वह बाह्यदृष्टिरूपसन्ताप से रहित अन्तःशीलता को प्राप्त होकर ऐसे विश्रान्ति को प्राप्त हुई जैसे कि चन्द्रिका (चाँदनी) से युक्त कुमुदिनी और वर्षाकालकी मयूरी अन्तःशीतलताको प्राप्त होकर विश्रान्ति को प्राप्त होती है। उसको राजा की उस वाणी से अत्यन्त आनन्द हुआ। जैसे आकाश में मेघों के शब्द से गर्भधारण करने पर बगले की पंक्ति को आनन्द होता है ॥१-३॥ राक्षसी ने कहा : अहो, आप दोनों की बुद्धि बड़ी पवित्र मालूम पड़ती है, जो कभी अस्त न हो ऐसे ज्ञानरूपी सूर्य से वह भासित है। जैसे चन्द्रमण्डल से निकली हुई चाँदनी शुद्ध, शीतल और समरस होती है वैसे ही यह मैं आप लोगों की बुद्धि से वाणी द्वारा निकली हुई विवेकामृत कणिकाको सुनकर शुद्ध शीतल और समरस हो गई हूँ, हे राजन्, आपके सदृश जो विवेकी पुरुष हैं, वे जगत् के पूज्य हैं और सेवाकरने योग्य हैं, ऐसा मैं समझती हूँ, जैसे चन्द्रमासे कुमुदिनी विकसित होती है, वैसे ही मैं आप लोगों के सत्संग से विकसित हो गई हूँ ॥४-६॥ जैसे सूर्य की किरणों के संसर्ग से कमलों का विकास होता है और कुसुमों के संसर्ग से सुगन्धि प्राप्त होती है, वैसे ही सत्संगति से कल्याण प्राप्त होता है। महात्माओं की संगति से फिर दुःख नहीं होता, जिसके हाथ में दीपशिखा हो क्या ऐसा पुरुष अन्धकार से तिरस्कृत हो सकता है ? ॥७,८॥ मैंने भूमि के सूर्य के सदृश आप दोनों को इस जंगल में पाया है, आप दोनों पूजनीय हैं, इसलिए शीघ्र कहिए, मैं आप लोगों की कौन शुभ इच्छा पूरी करूँ ॥९॥ राजा ने कहा : हे राक्षसकुलकानन की मंजरी, इस नगर में हृदयशूल सदा प्राणियों को अत्यन्त पीड़ा पहुँचाता है ॥१०॥ चूँकि मेरे राज्य में सारी-की-सारी जनता दृढ़ विसूचिका से युक्त होकर सन्तप्त है, इसीलिए मैं अपनी रात्रिचर्या

करने के लिए निकला हूँ, जब मनुष्यों के हृदय में शूलादि रोग औषध द्वारा शान्त नहीं हुआ तब मैं तुम्हारे सरीखे पुरुषों द्वारा कहे गये मन्त्र की अभिलाषा से घर से बाहर निकला हूँ ॥११,१२॥ मूढ़ लोगों का विनाश करनेवाले तुम्हारे तुल्य व्यक्ति के निग्रह के लिए मेरी प्रवृत्ति हुई है। वह इस समय सर्वथा सम्पन्न हो गई है। हे शुभे, तुम मेरा इतना ही वचन स्वीकार कर लो कि अब तुम किसीके भी प्राण न लेना। राक्षसी ने कहा : बहुत ठीक है, हे प्रभो, आजसे लेकर मैं निश्चित ऐसा ही करूँगी। मैं सच कहती हूँ, अब मैं किसीकी हत्या नहीं करूँगी ॥१३–१५॥ राजा ने कहा : हे प्रफुल्लित कमल के सदृश नेत्रवाली राक्षसी, दूसरे जीवों की देह से अपना जीवन–निर्वाह करनेवाली हे कर्कटी, यदि ऐसा है, तो मेरे अभीष्ट अहिंसा के व्रत में स्थित हुई तुम्हारे शरीर का निर्वाह कैसे होगा ?॥१६॥ राक्षसी ने कहा : हे राजन्, हिमालय पर्वतमें छः मास के बाद समाधि से उठी हुई मुझे भोजन के संकल्प से आज यह भोजनेच्छा हुई है। इस समय उसी शिखर पर जाकर, समाधि लगाकर अपनी इच्छानुसार सजीव प्रतिमा के समान मैं सुख से रहती हूँ। अमृतरूप आत्मा की भावनावाली समाधि लगाकर मैं अपने शरीर को इच्छानुसार जीवित रखती हूँ। उसके अनन्तर मैं अपने शरीर का त्याग करूँगी, ऐसा मेरा निश्चय है ॥१७–१९॥ हे राजन्, अब मैं अपने शरीर के परित्याग तक प्राणियों की हत्या नहीं करूँगी, इसलिए मेरे इस वचन को सुनो ॥२०॥ राजन्, हिमालयनामक पर्वत है, जो शरत्काल की चाँदनी के समान शुभ्र है एवं उत्तर दिशा के मध्य में पूर्व और पश्चिम सागर का अवगाहन कर स्थित है ॥२१॥ पहले लोहे की मेघघटा के समान कर्कटी नामकी मैं उस पर्वतमें स्वर्णशिखर के गुफारूपी घर में रहती थी। मैंने जनता को मारने की इच्छा से जीवों के प्राणको हरनेवाली सूचीरूपी विसूचिका होने के लिए ब्रह्माजी को तप से प्रसन्न किया। ब्रह्माजी से वरदान प्राप्त कर मैंने बहुत वर्षों तक विसूचिकारूप से जीवों को क्लेशप्रदान द्वारा जनताका विनाश किया। तब 'गुणी लोगों की हिंसा न करना', यों ब्रह्माजी ने गुणी लोगों की हिंसा न करने के लिए महामन्त्र दिया। मैं उस मन्त्र के अधीन होकर स्थित हूँ ॥२२–२५॥ उस मन्त्र को तुम लो, उससे लोक में सम्पूर्ण हृदयशूल शान्त हो जायेंगे, मेरे द्वारा की गई पीडा की तो बात ही क्या है ? मैंने जगत् में पहले खूब हिंसा की। मैंने पहले खून चूसने से लोगों के हृदय को खूनरहित कर दिया। उससे लोगों की नाडियाँ खून से रहित हो गई हैं ॥२६,२७॥ मारकर, रक्त और मांस को चूसकर जो बहुतसे लोग मैंने छोड़े, रक्तसंचार से रहित नाडीवाले उन लोगों से जो लोग उत्पन्न हुए वे भी वैसे ही हुए यानी किसी प्रकार उनका जीवन रहनेपर भी उनके वंशजों में भी रक्तरहितता हुई, इसलिए हिंसा अत्यन्त अनर्थकारिणी है ॥२८॥ हे राजन्, यह विसूचिकामन्त्र तुमको प्राप्त हुआ ही समझो, क्योंकि सत्त्वयुक्त जो पुरुष हैं, उनके लिए कुछ भी दुःसाध्य नहीं है। इसलिए हे राजन्, दुष्ट नाडियों के अन्दर शूलरोग की शान्तिके लिए ब्रह्माजी ने जो मन्त्र कहा था, उसको आप शीघ्र ग्रहण कीजिए। हे राजन्, आओ नदी के समीप चलें, वहाँ पर तुम्हारे ऊपर खूब प्रसन्न हुई मैं आचमन कर पवित्र हुए तुम दोनों को उक्त मन्त्र देती हूँ ॥२९–३१॥ वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार उस रात्रि में

राक्षसी, मन्त्री और राजा तीनों, जिनमें परस्पर मित्रता हो गई थी, नदीके निर्जन तट पर गये तब अन्वय और व्यतिरेक से राक्षसी की मैत्री को जानकर आचमन किये हुए वे दोनों राक्षसीके शिष्य होकर बैठे, तदुपरान्त उक्त राक्षसी ने ब्रह्माजीके द्वारा उपदिष्ट जप से सिद्धि देनेवाला वह विसूचिकामन्त्र क्रमशः उनको स्नेहपूर्वक दिया। तदनन्तर उन राजा और मन्त्री से, जिनके साथ उसकी मित्रता हो गई थी, विदा होकर जब वह राक्षसी चलने लगी, तब राजा ने उससे कहा ॥३२–३५॥ हे विशालशरीरवाली, तुम हमारी गुरु और सखी बन गई हो, इसलिए हे सुन्दरी, हम लोग तुम्हारे भोजन के लिए यत्न से तुम्हें निमन्त्रित करते हैं। हमारे ऊपर प्रसन्न हुई तुम हमारी बिनती को अस्वीकार करने के लिए योग्य नहीं हो, सज्जनों की मित्रता दर्शनसे ही बढ़ती है। अत्यन्त सौभाग्ययुक्त और मनोहर छोटे आकार को बनाकर हे भद्रे, आप हमारे घरमें आइए और वहाँ आनन्दपूर्वक रहिए ॥३६–३८॥ राक्षसी ने कहा : राजन्, मुग्धा युवती का रूपधारण करनेवाली मेरे लिए भोजन देने में आप समर्थ हैं, पर राक्षसरूप धारण करनेवाली मुझ को आप किससे तृप्त करेंगे ? राक्षस अन्न ही मेरे लिए सन्तोषप्रद होता है और सामान्य लोगों का भोजन मेरे सन्तोष के लिए नहीं होता, क्योंकि यह मेरा स्वभाव बहुत काल से परिपक्व हो गया है, अतः जब तक मेरी देह रहेगी, तब तक यह हट नहीं सकता ॥३९,४०॥ राजा ने कहा : हे अनिन्दिते, सोने के हारों से विभूषित स्त्रीका रूप धारण करनेवाली तुम मेरे घरमें जब तक तुम्हारी इच्छा हो, कुछ दिनों तक रहो ॥४१॥ तदनन्तर सैंकड़ों–हजारों पापियों, चोरों और दण्डनीयों को अपने राज्य से लाकर मैं तुम्हारा अनुरूप भोजन दूँगा ॥४२॥ स्त्रीके सुन्दर रूप का परित्याग कर राक्षसी का शरीर धारण कर तुम सैकड़ों दण्डनीय पुरुषोंको, जो कि इकट्ठे किये रहेंगे, उठाकर हिमालय पर्वत के शिखर पर ले जाना और वहाँ पर सुखपूर्वक उन्हें खाना। जो अधिक भोजन करते हैं, उनको एकान्त में भोजन करना बड़ा रूचिकर होता है ॥४३,४४॥ भोजनसे तृप्त होकर थोड़ी निद्रा लेकर फिर तुम समाधिस्थ हो जाओ। समाधि से व्युत्थित होकर फिर आकर दूसरी बार अन्य वध्यजनों को ले जाओगी। धर्मतः इन लोगों की हिंसा हिंसा नहीं है, स्वधर्म से हिंसा ही इनके लिए महती कृपा के समान है। अवश्य तुम समाधि से उठकर मेरे पास आओगी, क्योंकि असज्जनों की भी बढ़ी हुई मित्रता निवृत्त नहीं होती ॥४५–४७॥ राक्षसी ने कहा : हे मित्र, तुमने बहुत ही युक्तियुक्त कहा है, हे राजन्, मैं तुम्हारे कथनानुसार ही करती हूँ। मित्रता से प्रवृत्त हुए पुरुष के वचनका कौन अभिनन्दन नही करता ? ॥४८॥ वसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी, ऐसा कहकर वह राक्षसी वहाँ पर सुन्दर स्त्री बन गई। उसने हार, बाजूबन्द, कड़े, रेशमी वस्त्र और सुन्दर मालाएँ धारण कर ली ॥४९॥ 'हे राजन्, आओ चलें', – ऐसा कहकर वह राक्षसी रात्रि में पहले चलने के लिए तैयार हुए उक्त राजा और मन्त्री के पीछे–पीछे चली। इसके बाद राजा के महलमें पहुँचकर एक–दूसरे के साथ आदर भाव रखनेवाले उन्होंने एक सुन्दर घर में बैठकर परस्पर कथा आदि से सारी रात बिता दी ॥५०,५१॥ प्रातःकाल होने पर वह राक्षसी सती–साध्वी स्त्रीकी लीला से अन्तःपुर में स्थित हुई और राजा एवं मन्त्री अपने–अपने कार्य में लगे ॥५२॥ तदुपरान्त राजा ने अपने

मण्डल में से तथा दूसरे लोगों के नगरों से भी तीन हजार दण्डनीय लोगों को इकट्ठा कर दिया, उन्हें इकट्ठा करने के उपरान्त राजा ने वे सब उस राक्षसी को दे दिये। वह रात्रिमें फिर वैसी ही भयंकर काली राक्षसी बन गई। उन तीन हजार वध्यों को उसने अपने भुजमण्डल में ऐसे ग्रहण किया जैसे कि मेघमाला अपने मध्यमें लटक रही धाराओं को ग्रहण करती है। फिर जैसे कोई दरिद्रा सुवर्ण को पाकर राजा से अनुमति लेकर चली जाती है, वैसे ही पूतना, राक्षस, पिशाच आदि में बृहत्काय होने के कारण श्रेष्ठ वह राक्षसी राजा से अनुमति लेकर उसी हिमालय शिखर पर चली गई ॥५३–५६॥ वहाँ सुखपूर्वक भोजन करके खूब तृप्त हुई तीन दिन तक लगातार सोकर जागरण से स्वस्थ हुई उसने फिर समाधि ले ली ॥५७॥ वह पाँच या चार वर्षों में समाधि से जागृत होती थी और तदनन्तर समाधि से उठने के बाद फिर राजा के पूर्वोक्त वचन से प्रतिसंगम की इच्छा होने पर राजा के पास जाती थी ॥५८॥ वहाँ परस्पर विश्वासपूर्ण कथाएँ करती हुई कुछ काल तक रहकर उन वध्योंको लेकर फिर अपने स्थान हिमालय को जाती ॥५९॥ वह राक्षसी आज भी पूर्वोक्त रीति से ही जीवन्मुक्त होने के कारण उसी हिमालय पर्वत के वनमें कभी यानी व्युत्थान होने पर लौकिक व्यवहार करनेवाली कभी समाधि में एकमात्र ज्ञान में लीन चित्तवाली होकर बैठी है। उस किरातों के राजा के काल आने पर सकल एषणाशून्य मन से विदेहकैवल्यरूप परम शान्ति को प्राप्त होने पर उसके वंशजों की, जो उस समय उस राष्ट्र के अधिपति थे, मित्रता से पूर्व की नाईं अपने ग्रासभूत वध्यों को खाती हुई चिरकाल से स्थित है ॥६०॥

बयासीवाँ सर्ग समाप्त

तिरासीवाँ सर्ग

समाधि से चिरकाल तक व्युत्थित नहीं हुई वह कर्कटी किरातमण्डल में
कन्दरादेवीरूप से प्रतिष्ठित हुई–यह वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, उस किरातमण्डल में जो–जो राजा होते हैं, उन सबके साथ उस राक्षसी की अत्यन्त मैत्री रहती है ॥१॥ यह योगसिद्ध राक्षसी वहाँ पर जो बड़े–बड़े उत्पात, पिशाच आदिका भय, और रोग उत्पन्न होते हैं, उन सबकी निवृत्ति करती है ॥२॥ बहुत वर्षों के बाद ध्यान से विरत हुई वह किरातमण्डल में आकर इकट्ठे किये हुए समस्त वध्य जन्तुओं को खाती है। आज भी वहाँ पर जो लोग वध्य होते हैं, उन्हें राजा उसके लिए ले आता है। अपने मित्रका सन्मान करने के लिए कौन उद्योगशील नहीं होता ? उसके ध्यान में बैठ जाने पर और किरातमण्डलमें चिरकाल तक न आने पर लोगों ने विविध दोषों की शान्ति के लिए कन्दरा नामकी उस देवीकी, जिसका दूसरा नाम मंगला था, नगर में गगनचुम्बी राजमहल के ऊपर मूर्तिरूप से स्थापना की। तबसे लेकर उस मण्डलका जो भी राजा होता है, वह भगवती कन्दरा की प्रतिष्ठा करता है यानी काल से पूर्वप्रतिमा के नष्ट होने पर नयी प्रतिमाकी स्थापना करता है ॥३–७॥ जो अधम राजा कन्दरा देवीकी प्रतिष्ठा नहीं करता,

अनेक उपद्रव आदि उसकी प्रजाको यत्नपूर्वक नष्ट करते हैं ॥८॥ उसके पूजन से मनुष्य उत्पात, रोग आदि की शान्तिरूप सम्पूर्ण फलको प्राप्त होते हैं और जो पूजन नहीं करते, वे अपनी अपनी वासना से उत्पन्न हुए अनर्थ को प्राप्त होते हैं ॥९॥ वध्य जनों की बलि से उस देवीकी पूजा की जाती है, वह प्रतिमा आज भी वहाँ पर स्थित है, अन्यत्र भी यदि वह चित्र में लिखित हो, तो भी उक्त फल देती है ॥१०॥ सम्पूर्ण लोगों को बालक, बछड़े, धन, धान्य आदि वैभव और सम्पत्तियाँ देनेवाली, सम्पूर्ण वध्यजनों को ग्रसनेवाली, परम बोधवती, चिरकाल से अनुवृत्त देवीरूपा वह कर्कटी किरातजनों के मण्डल में स्थित है ॥११॥

तिरासीवाँ सर्ग समाप्त

चौरासीवाँ सर्ग

राक्षसी के कर्कटी नाम में हेतु, उपदेश से अर्थ की कल्पना और दृष्टान्त कथन का उपयोग कथन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामजी, मैंने आपसे हिमालय की राक्षसी कर्कटी का यह अनिन्दित आख्यान आदि से अन्त तक यथावत् कहा ॥१॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, हिमालय पर्वतकी गुफामें वह राक्षसी कैसे कर्कटी नाम से उत्पन्न हुई यह मुझसे आप यथार्थरूप से कहिए। भाव यह कि उसकी कृष्णवर्णता और कर्कटी नाम होने में क्या हेतु है ? ऐसी रामचन्द्रजी ने आशंका की ॥२॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, राक्षसों के अनेक वंश हैं, उनमें कोई स्वभावतः सफेद हैं, कोई काले हैं, कोई हरे हैं और कोई उज्ज्वल हैं ॥३॥ कर्कट के (केकड़े के) सदृश होने से एक राक्षस का नाम कर्कट पड़ा। उससे उत्पन्न हुई काली कर्कट के समान आकृतिवाली वह राक्षसी कर्कटी कहलाई। विश्वरूप के (जगत्तत्त्वके) निरूपण के प्रस्तुत होने पर अध्यात्मविषयक उक्तियों के सिलसिले में कर्कटी के प्रश्नों का स्मरण होने से मैंने इसका वर्णन आपसे किया ॥४,५॥

कही गई आख्यायिका की प्रकृत में योजना करते हैं।

अनुत्पन्न हुआ ही यह जगत् आदिअन्तरहित परमकारण अद्वितीय ब्रह्म से उत्पन्न हुआ–सा प्रकाशित होता है ॥६॥ जैसे जलराशि में उठ रही (वर्तमान), अतीत और अनागत तरंगें भिन्न–अभिन्नरूपसे स्थित हैं, वैसे ही परब्रह्म में वर्तमान अतीत और अनागत सृष्टियाँ अन्य अनन्य रूप से स्थित हैं ॥७॥

यदि वर्तमान सृष्टियाँ अतीत और अनागत सृष्टियों के तुल्य हैं, तो उनमें अर्थक्रियाकारितारूप विशेष कैसे है ? इस पर कहते हैं।

जैसे काष्ठों में न जलता हुआ भी अग्नि बन्दरों के शीतनिवारणरूप अर्थक्रियाकारिता को करता है वैसे ही नित्योदित और नित्यस्थित ब्रह्म ही कर्ता–सा होकर इन अनेक जगतों को करता है फिर भी वह अपनी समता, सौम्यत्व आदि का त्याग नहीं करता यानी वर्तमान सृष्टि में जो अर्थक्रियाकारिता है, वह भ्रम ही है, क्योंकि वास्तव में अतीत, अनागत सृष्टियों की नाईं वर्तमान सृष्टि में भी अर्थक्रियाकारिता उक्त रीति से नहीं है। हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे

काष्ठ में मिथ्या ही शालभंजिकाबुद्धि उदित होती है, वैसे ही अनागत ही यह सृष्टि आगत–सी प्रतीत होती है ॥८–१०॥ जैसे बीज में फल आदि (अंकुर आदि) अभिन्न होता हुआ भी भिन्न–सा उदित होता है, वैसे ही चित् में अन्य न होता हुआ भी यह चेत्य अन्य–सा उदित हुआ है ॥११॥ बीज से लेकर फलपर्यन्त अनुस्यूत एक द्रव्यसत्ता का विच्छेद न होने के कारण फल और बीज में कोई भेद नहीं है। जल और तरंगों के समान चित् और चेत्य में भी कोई भेद नहीं है ॥१२॥ किसी अविचार से उत्पन्न हुआ भेद इन में उपपन्न (प्राप्त) नहीं हो सकता, क्योंकि जिस किसी कारण से भ्रान्तिवश उत्पन्न हुआ भेद विचार से नष्ट हो जाता है ॥१३॥ हे रामजी, यह तो भ्रान्ति ही है, यह जैसे किसी कारण के बिना आई वैसे ही जाये। प्रबुद्ध होकर आप उस ब्रह्म को जान जायेंगे। इस समय आप इस भ्रान्ति का त्याग कीजिए। मेरे वाक्यों के श्रवण से भ्रान्तिरूप ग्रन्थि के टूट जाने पर तदनन्तर यद्यपि आप ज्ञान, शब्द, अर्थ इनके भेद को नहीं जानेंगे, तथापि मेरे उपदेश की तात्पर्यगोचर वस्तु को स्वयं ही जान जायेंगे। चित्त से ही यह सम्पूर्ण अनर्थ उत्पन्न हुआ है। चित्त, वह चित्तजनित अनर्थ और चित्तजननी अविद्या– ये सब मेरे कथन के श्रवणमात्र से आपके शान्त हो जायेंगे, इसमें सन्देह नहीं है ॥१४–१६॥

जगत् की उत्पत्ति आदि के निरूपण का भी प्रयोजन निष्प्रपंच वस्तु का ज्ञान ही है, इस आशय से कहते हैं।

सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है और लय द्वारा ब्रह्म को ही प्राप्त होता है, मेरी वाणियों द्वारा प्रबुद्ध होकर आप इस अनिन्दित तत्त्वको पूर्ण रूप से जानेंगे ॥१७॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, यदि भेद असत् ही है, तो ब्रह्म से ही सब कुछ उत्पन्न हुआ, इस प्रकार की आपकी उक्ति में तथा 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यादि श्रुति में 'तस्मात्' यह भेदप्रतिपादिका पंचमी और सब परब्रह्म से अभिन्न ही है, यह अभेदप्रतिपादक वाक्य दोनों कैसे ? यानी दोनों की उपपत्ति नहीं होती। तात्पर्य यह हुआ कि लक्ष्य और अलक्ष्य के भेद तथा उनके प्रतियोगियों के अभाव में शब्द की प्रवृत्ति नहीं होगी, ऐसी अवस्था में लक्षण द्वारा लक्ष्यबोधनरूप व्यवहार की असिद्धि होने से उपदेश ही नहीं बनेगा ॥१८॥

तात्कालिक भेद की कल्पना करने या व्यावहारिक दृष्टि से सिद्ध भेद आदि के उपादान से शब्दप्रवृत्ति हो सकती है, अतः बिम्ब–प्रतिबिम्बरूप व्यवहार की नाईं उपदेश की उपपत्ति हो सकती है, इसलिए उक्त दोष नहीं है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी की उक्त शंका का परिहार करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, शास्त्रों में उपदेश के लिए शब्दों की कल्पना की गई है अथवा लोकसिद्ध अर्थों से उत्पन्न व्यावहारिक भेद का उपजीवी शब्द ही प्रतियोगी, अभाव, संख्या, लक्षण और पक्षरूप होता हुआ तत्–तत् स्थल में प्रवृत्त होता है ॥१९॥

कल्पित पदार्थ से प्रयोजनयुक्त व्यवहार की सिद्धि लोक में भी देखी जाती है। ऐसा कहते हैं।

व्यवहार से ही यह भेद देखा जाता है यानी भेद व्यावहारिक है, वास्तविक नहीं है, जैसे

बालक को वेताल की कल्पना होती है, वैसे ही व्यवहार के लिए इस भेद की कल्पना की गई है। जहाँ पर यानी स्वप्न या गन्धर्वनगर आदि में द्वैत और ऐक्य नहीं है, वहाँ पर भी इस प्रकार का लक्षण आदि व्यवहार है, अतः सत्यसंकल्पों के उपदेश आदि व्यवहार में संकल्प का विनाश कैसे हो सकता है ? ॥२०,२१॥

तुमको उपदेश देने के लिए मैंने ही अपने संकल्प से कार्य, कारण आदि भेद की कल्पना कर रक्खी है, ऐसा कहते हैं।

अज्ञानियों को प्रबुद्ध करने के लिए कार्यकारणभाव, स्वस्वामिभाव, हेतु हेतुमद्भाव, अवयव–अवयविभाव, भेदाभेद परिणाम आदि का भ्रम, भावों के विविध विलास, विद्या और अविद्या, सुख–दुःख इत्यादि रूप मिथ्या संकल्पों की कल्पना की गई है, सत्य वस्तु में वस्तुतः कोई भेद नहीं है ॥२२–२४॥

यह व्यवहार उपदेश्य वस्तु का ज्ञान न होने से ही है यानी अज्ञानावस्था में ही है, प्रबोधावस्था में नहीं है, इसलिए अद्वैत की हानि नहीं है, ऐसा कहते हैं।

यह भेदवाद परतत्त्व के अज्ञान से ही है, परमार्थ वस्तु के ज्ञात होने पर द्वैत नहीं रहता। उसके ज्ञात होने पर तो सम्पूर्ण कल्पनाओं से शून्य अशब्द ही केवल अवशिष्ट रहता है ॥२५॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, समय आनेपर बोध को प्राप्त हुए आप परमतत्त्व आदि और अन्त से रहित, विभागशून्य, एक अखण्ड और सर्वात्मक है, ऐसा जानेंगे ॥२६॥ जिन लोगों को तत्त्व का परिज्ञान नहीं हुआ है, ऐसे अज्ञ पुरुष अपने विकल्पों से उत्पन्न हुए तर्कों से अद्वैत के विषय में विवाद करते हैं, उपदेश से तत्त्ववस्तु के ज्ञात होने पर द्वैत नहीं रहता, यह सम्पूर्ण भेदवाद जबतक वेदान्ततत्त्वका उपदेश नहीं होता, तभीतक रहता है ॥२७॥

द्वैत भले ही न हो, पर विवाद का असम्भव कैसे हो सकता है, इसपर कहते हैं।

द्वैत के बिना वाच्यवाचक का परस्पर बोध नहीं हो सकता।

शंका – यदि द्वैत के बिना परस्पर वाच्यवाचकसम्बोधरूप विवाद नहीं हो सकता, तो द्वैत ही हो।

समाधान – द्वैत का वास्तव में सम्भव ही नहीं है, क्योंकि वह वेतालकल्पना के समान कल्पित है, इसलिए मौन ही सिद्ध होता है ॥२८॥

यदि द्वैत नहीं है, तो 'यतो वा' इत्यादि ब्रह्मलक्षणबोधक श्रुतिवाक्य में 'पंचमी' आदि विभक्ति के अर्थ भेद का परिज्ञान नहीं होना चाहिए, इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, पंचमी आदि से अवगत वचोभेद का (द्वैतका) परित्याग कर 'यतो वा इमानि' इत्यादि लक्षणवाक्य से उत्पन्न बुद्धि को अखण्ड महावाक्यार्थ में यानी तत्त्वमस्यादि महावाक्यार्थभूत ब्रह्म में ही निष्ठावाली यानी पदों के वाच्य और लक्ष्य अर्थों की व्युत्पत्ति के द्वारा पर्यवसन्न कर यह जो कुछ मैं आपसे कहता हूँ, उसे सुनिये ॥२९॥ मन गन्धर्वनगर की नाईं जिसका हम निर्वचन नहीं कर सकते, ऐसे किसी हेतु से यानी अनिवर्चनीय अज्ञान से उत्पन्न हुए इस जगत् नामक अपने विजृम्भण (विकास) का, विस्तार करता है जो केवल भ्रांतिमात्र है ॥३०॥

उक्त अर्थ में आगे कही जानेवाली आख्यायिका का दृष्टान्त के रूप से अवतरण करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे चित्त इस जगन्मायाको फैलाता है, वैसा यह (आगेका) दृष्टान्त, जिस पर केवल दृष्टि देने से ही दार्ष्टान्तिक का परिज्ञान हो जाता है, मैं आपसे कहता हूँ, सुनिये ॥३१॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस दृष्टान्त को सुनकर यह सम्पूर्ण दृश्य भ्रान्तिमात्र ही है, ऐसा स्वयं निश्चय करके आप वासनाओं का परित्याग कर देंगे ॥३२॥ केवल मनकी कल्पना द्वारा बने हुए इन सम्पूर्ण तीनों लोकों का परित्याग कर शान्तस्वरूप होकर आप स्वात्मा में ही स्थित होंगे ॥३३॥ मेरे द्वारा उपदिष्ट अर्थ के अवधान में स्थित आप विवेकरूपी औषधि–मात्रा से मनोव्याधि की चिकित्सा करने के लिए प्रयत्न भी करेंगे ॥३४॥ ऐसी अवस्था में यानी वक्ष्यमाण (कही जानेवाली) आख्यायिका की प्रणाली से ऐसा निश्चय होने पर चित्त ही जगद्रूप से विकास को प्राप्त हुआ है, जैसे बालू के अन्दर तेल नहीं रहता, वैसे ही शरीर आदि की सत्ता नहीं है। राग, द्वेष आदि क्लेशों से दूषित यह चित्त ही संसार है। जब उनसे पुरुष मुक्त होता है तब संसार का नाश कहा जाता है ॥३५,३६॥

लौकिक और शास्त्रीय जितने साध्य, पालनीय आदि पदार्थ हैं, उनके रूप से चित्त ही विकास को प्राप्त हुआ है, अन्य कोई पदार्थ नहीं है, ऐसा कहते हैं।

चित्त ही साध्य, पालनीय, विचारणीय, आर्यवत् करणीय, आहार्य, व्यवहार्य, संचार्य और आदरपूर्वक धार्य सब कुछ है (📖) ॥३७॥ इन तीनों जगतों की कल्पना का आकाशरूप चित्त सम्पूर्ण दृश्य को अपने अन्दर धारण करता है, तथा वही समय पर देह, इन्द्रिय आदि के तत्–तत् व्यापार करने पर 'मैं व्यापार करता हूँ', इस प्रकार अहन्ता के प्रवाह की नाईं बढ़ता है ॥३८॥

चित्त के दो अंश है–उनमें एक चैतन्य अंश की प्रधानता से दृष्टतारूप सर्वकल्पनाओं की बीजभूत अहन्ता है और दूसरा जड़ांश की प्रधानता से दृश्यभ्रान्तिरूपता है, ऐसा कहते हैं।

चित्त का जो चैतन्य अंश है, वही सम्पूर्ण पदार्थों का बीज है और जो इसका जड़ भाग है, वह जगत् है और वही भ्रम है ॥३९॥

उक्त अर्थ का पूर्वोक्त सृष्टिक्रम के स्मरण द्वारा उपपादन करते हैं।

सृष्टि के आरम्भमें यह सब पृथ्वी आदि अविद्यमान यानी असत् ही थे, इनको आकार–रहित ब्रह्मा स्वप्न के समान देखते हुए भी नहीं देखते हैं ॥४०॥

ब्रह्मा कैसे देखते है ? इस पर कहते हैं।

📖 साधनों के सिद्ध होने पर भी जो सिद्ध न हुआ हो, वह साध्य है। जो पहले से सिद्ध हो, वह पालनीय है। असिद्ध अनेक साधनों के प्राप्त होनेपर प्रयत्न की गुरुता और लघुता के विचार से साधनों का सम्पादन कर पीछे सिद्ध होनेवाला जो कार्य है, वह विचार्य है। उसमें भी जो केवल शिष्टों के सम्मत उपायों द्वारा सेव्य होता है, वह आर्यवत् करणीय है। अन्य देश में सिद्ध ही जो अपने घर में लाने योग्य है, वह आहार्य है। अपने घर में स्थित ही जो क्रय–विक्रय आदि के उपयुक्त हो, वह व्यवहार्य है। क्रय–विक्रय के उपयोगी पदार्थों में भी हाथी, घोड़े, रथ आदि संचार्य हैं। भूषण आदि धार्य हैं।

पर्वत आदिरूप स्थूल विराट्–देह को सृष्टि, स्थिति और प्रलयमें एक–सी साक्षी संवित् से, सृष्टि आदि को जड़ संवित् से यानी जड़ में अहंभावनारूप वैश्वानर संवित् से, सूक्ष्म यानी लिंगसमष्टिसूत्रात्मक हिरण्यगर्भ–देह को सूक्ष्मसंवित् से (उक्त देहमें अहंभावनासंवित् से) इस प्रकार तीनों देहों को शून्य ही वे देखते हैं, वास्तव में नहीं देखते हैं ॥४१॥ जैसे सूर्यतेज से सौम्य और निर्मल जल व्याप्त रहता है, वैसे ही सर्वव्यापी आत्मा से अपना चेत्यस्वरूपभूत मन व्याप्त है, चित् की व्याप्ति के कारण उसमें सर्वार्थबीजता है ॥४२॥

चित् की व्याप्ति से ही चित्त को अविचार से जगत्–दर्शन और विचारसे आत्मदर्शन होता है, ऐसा कहते हैं।

चित्तरूपी बालक अज्ञानवश जगद्रूपी मिथ्या वेताल को देखता है, यदि उसमें बोध उत्पन्न किया जाय, तो वह अपने निर्विकार उत्कृष्ट स्वरूप को देखता है ॥४३॥

इस प्रकार शुद्धात्मा ही चित्तभाव द्वारा दृश्यभाव को प्राप्त–सा हुआ है, यह फलित अर्थ निकला। उक्त फलितार्थ की पुष्टि के लिए आगे कही जानेवाली कथाकी अवतरणिका देते हैं।

जिस प्रकार आत्मा द्वैत और एकत्वभ्रम करनेवाली दृश्यताको प्राप्त होता है, उसे आप सुनिये, मैं वक्ष्यमाण (कही जानेवाली) कथा द्वारा उसे कहता हूँ ॥४४॥

ऐन्दवोपाख्यान के दृष्टान्त से जगत में मनोमात्रता का निश्चय कैसे होगा ? इस पर कहते हैं।

ऐन्दवोपाख्यान के दृष्टान्तों से युक्त, मधुर और युक्तियुक्त पदार्थों से पूर्ण वाणी द्वारा जो मैं कहता हूँ, वह शंका को दूरकर श्रोता के हृदयको–जलमें तेल के समान चारों ओर फैलकर–व्याप्त कर देता है ॥४५॥

उक्त अर्थ का ही व्यतिरेक से उपपादन करते हैं।

जिस वाक्य में दृष्टान्त का उल्लेख नहीं रहता, मनोहर पद नहीं रहते, जो वर्णोंके स्फुट न रहने के कारण श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत नहीं हो सकता, क्रोधावेशके कारण क्षुब्ध होकर जिसके वर्ण अपने स्थान से च्युत हुए हों, जिसमें अक्षर पूर्वरूप से न हों (खण्डित हों), ऐसा वाक्य श्रोता के हृदय में असर नहीं करता। वह जैसे भस्म में होमा गया घृत व्यर्थ जाता है, वैसे ही निष्फलता को प्राप्त होता है ॥४६॥

व्यतिरेक दृष्टान्त से कहे गये अर्थ का अन्वयदृष्टान्त से उपपादन करते हुए निगमन करते हैं।

जो आख्यान यानी विविध कथाओं से युक्त बड़ी–बड़ी महाभारत आदि कथाएँ हैं, उनसे छोटी जो–जो कथाएँ हैं और अभिज्ञ पुरुषों के अनुरंजन के योग्य जो–जो काव्य, नाटक, अध्यात्मनिबन्ध आदि शब्द से और अर्थ से मधुर हैं, अथवा जो–जो श्रोत्रेन्द्रियका प्रमेय है, वे सब दृष्टान्तों के और लोकप्रसिद्ध प्रमाणदृष्टियों के कथन से ही ऐसे प्रकाशता को प्राप्त होते हैं, जैसे कि चन्द्रमासे लोक प्रकाशता को प्राप्त होता है ॥४७॥

चौरासीवाँ सर्ग समाप्त

पचासीवाँ सर्ग

सृष्टि करने की इच्छा कर रहे ब्रह्मा का दस ब्रह्माण्डों को देखना,
वहाँ के एक सूर्य द्वारा उनके यथार्थ तत्त्वका वर्णन ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, मुझसे जो यह पहले ब्रह्माने कहा था, उस सबको मैं ब्रह्मा से कहे गये ऐन्दवोपाख्यान द्वारा आपसे कहता हूँ, क्योंकि आप मुझसे पूछ रहे हैं ॥१॥ पहले मैंने भगवान् ब्रह्मा से पूछा था, हे ब्रह्मन्, ये सब ब्रह्माण्ड कैसे उत्पन्न होते हैं ? मेरे प्रश्नों को सुनकर 'तुमने जो पूछा उसे मैं तुमसे कहूँगा ।' – ऐसी प्रतिज्ञा कर लोकपितामह ब्रह्मा ने ऐन्दवोपाख्यान से युक्त ये गम्भीरार्थक वचन मुझसे कहे ॥२,३॥ ब्रह्माजी ने कहा : वत्स श्रीवसिष्ठ, जगद्भाव को धारण करनेकी शक्तिवाला यह मन ही इस प्रकार सब पदार्थों के रूप में स्फुरित होता है, जैसे कि जलाशयमें विशालता को प्राप्त विचि बड़े–बड़े आवर्तों के रूप से जल ही स्फुरित होता है ॥४॥ पहले किसी कल्प में कल्प के आरम्भ में जागे हुए और संसार की सृष्टि करनेवाले मेरा जो कुछ वृत्तान्त हुआ, उसे आप सुनिये ॥५॥ किसी समय कल्प के अन्त में सम्पूर्ण जगत् का संहार करके अकेले मैंने ही एकाग्र और स्वस्थ होकर कल्पान्तरूपी रात्रि को बिताया । प्रातःकाल यानी कल्प के आरम्भमें जाग कर यथाविधि सन्ध्योपासन आदि करके सृष्टि करने के लिए आकाश में मैंने अपनी विशाल दृष्टि लगाई ॥६,७॥ दृष्टि लगाते ही अत्यन्त विस्तृत अन्तरहित असीम शून्य आकाशको मैंने देखा । वह न तो अन्धकार से व्याप्त था और न तेज से । मैं सृष्टि की कल्पना करूँ, ऐसा निश्चय करके मैंने सूक्ष्म चित्त से उस द्रष्टव्य वस्तु का शुद्धतापूर्वक निरीक्षण करना आरम्भ किया ॥८,९॥ इसके बाद मैंने विस्तृत आकाश में अलग–अलग स्थित, विविध व्यापारों से युक्त एवं वहाँ के विष्णु आदि के द्वारा की गई पालन आदि की व्यवस्था से निष्कण्टक ब्रह्माण्डों को देखा ॥१०॥ उन ब्रह्माण्डों में मेरे प्रतिबिम्ब के तुल्य पद्मकोश में रहनेवाले और राजहंसों पर बैठे हुए दस ब्रह्मा स्थित थे ॥११॥ उन पृथक् पृथक् स्थित सर्गों में, जिनमें चतुर्विध प्राणिवर्ग उत्पन्न हो रहा है, जलों को जाल के समान बाँधनेवाले अवग्रह आदि से रहित जल देनेवाले मेघो में और जगतों में महानदियाँ बहती हैं, सागर गरजते हैं, सूर्य तपते हैं, वायु आकाश में इधर–उधर परिभ्रमण करते हैं, स्वर्गमें देवता विविध क्रीड़ाएँ करते हैं, पृथ्वीमें मनुष्य क्रिडाएँ करते हैं, दानव और नाग पातालों में स्थित है ॥१२–१४॥ कालचक्र में गुँथी हुई शीत, ग्रीष्म, वर्षा आदि स्वभाववाली सब ऋतुएँ अपने अपने अवसर पर फलों से पूर्ण होकर पृथ्वी को चारों ओरसे भूषित करती हैं। प्रत्येक दिशा में सभी वर्णों में विहित और निषिद्ध आचार का प्रतिपादन करने वाली तथा स्वर्गनरकरूप फल का प्रतिपादन करनेवाली स्मृतियाँ प्रौढ़ता को प्राप्त हुई हैं । भोग और मोक्षरूप फल को चाहनेवाले सम्पूर्ण प्राणी अपनी–अपनी इच्छानुसार अवसर–अवसर पर अपने अपने प्रवृत्तिक्रम के अनुसार यत्न करते हैं ॥१५–१७॥ सात लोक, सात द्वीप,

समुद्र, पर्वत, जिन्हें काल विनाश की ओर ले जानेवाला है यानी विनाशी है, बड़े कोलाहल से युक्त होकर स्फुरित होते हैं। तम कहीं पर अनावृत्तदेश में ह्रासता को प्राप्त होता है, कहीं पर पर्वतगुहा आदि में अत्यन्त स्थिररूप से स्थित है और कहीं पर सब झाड़ियों में तेजके कणों से मिश्रित होकर स्थित है ॥१८,१९॥ जिसमें आकाशरूपी नीलोत्पल के मध्यमें मेघरूपी भ्रमर घूम रहे हैं तथा चमकते हुए तारासमूहरूपी केसरसे पूर्णता को प्राप्त जगत् सरोवर के सदृश स्थित है ॥२०॥ कल्पान्त की तरह निबिड़ कुहरा मेरु की झाड़ियों में ऐसे स्थित है, जैसे कि सेमल की निर्मल रूई उसकी गुठली के अन्दर रहती है ॥२१॥ लोकालोक पर्वत ही जिसकी श्रृंखला है, शब्द करते हुए अर्णव ही जिसके भूषण के शब्द हैं, अन्धकार के टुकड़े ही जिसमें इन्द्रनील मणिकी प्रभाएँ हैं, अपने भीतर स्थित रत्नों से जो विराजित है, धान आदि के बीज ही प्राणियों द्वारा आस्वादित होने के कारण जिसकी अधर-सुधा हैं और प्राणियों के शब्द ही जिसके मधुर अस्फुट वाग्विलास हैं, इस प्रकार की पृथ्वी अपने अन्तःपुरमें नायिका के समान भुवनाभोग में स्थित है ॥२२,२३॥ संवत्सरलक्ष्मी के कण्ठ में धारण की गई अन्धकार और प्रकाशरूपी श्वेतकमल और नीलकमलों से बनी हुई माला के अन्दर प्रविष्ट अतएव उसके पराग के तुल्य बिजली, नक्षत्र आदि से व्याप्त होने के कारण हल्दी के लेप के तुल्य रात्रिसमूहरूप अंगराग रंजित खूब गौर कण्ठ, वक्षःस्थल, उदर, त्रिवली, नाभि आदि अंगों की पंक्ति की तरह द्युलोक दिखाई देता है ॥२४॥ भुवनरूपी गर्तों में स्थित बहुत से प्राणी जिनमें बीजके (दाडिमबीजके) तुल्य हैं, ऐसे लोक (ब्रह्माण्ड), जो तेजोयुक्त होकर प्रकाशित हो रहे हैं, दाडिमों की तरह दिखाई देते हैं ॥२५॥ तीन प्रवाहोंवाली ऊर्ध्व लोक में और अधोलोक में गमन और आगमन करनेवाली गंगा नदी, जो कि चन्द्रमा की कला के समान निर्मल है, जगत् के यज्ञोपवीत के समान स्फुरित होती है ॥२६॥ दिशारूपी लताओं में तडिद्रूपी फूलों से युक्त मेघरूपी पल्लव वायु से टकरा कर इधर-उधर घूमते हैं, नष्ट होते हैं और फिर उत्पन्न होते हैं ॥२७॥ समुद्र, भूमि और आकाशका आश्रयभूत जगत् वितानों से (विस्तारों से) शोभित होनेवाली गन्धर्वनगर की उद्यानलता के समान शोभित है, वास्तविक नहीं है। भाव यह कि प्रतिभासित जगत् मिथ्या ही है ॥२८॥ उन भुवनों के मध्य में गूलर के फल के मध्यमें स्थित छोटे छोटे मशकों के समान देवता, असुर, नर, नाग आदि संघशः घुं घुं शब्द करते हुए स्थित हैं ॥२९॥ उन लोकों के मध्य में युग, कल्प, क्षण, लव, कला, काष्ठा आदि से युक्त अतर्कित सबके विनाश की प्रतीक्षा करनेवाला काल बहता है ॥३०॥ इस सबका अपने परम शुद्ध चित्त से विचार कर मैं अत्यन्त विस्मय को प्राप्त हुआ कि यह क्या है और कैसे है ? ॥३१॥ जिस मायाजाल को चर्मचक्षुसे मैंने कुछ भी नहीं देखा, उस अतुल मायाजाल को मैं मन से आकाश में देखता हूँ, यह कैसे हुआ ? ॥३२॥ इसके बाद चिरकाल तक उस अतुल मायाजाल को देखकर मैंने मन से ही उस भुवन के आकाश से एक सूर्य को सत्यसंकल्प से अपने समीप बुलाकर पूछा ॥३३॥ हे सूर्य, हे देवाधिदेव, हे महाद्युते, तुम आओ, तुम्हारा

स्वागत हो, ऐसा मैंने पहले उससे कहा फिर यह निम्ननिर्दिष्ट प्रश्न पूछा ॥३४॥ तुम कौन हो, यह तुम्हारा जगत् कैसे उत्पन्न हुआ एवं इससे अतिरिक्त और जो नौ जगत् हैं, वे कैसे उत्पन्न हुए ? हे भगवन्, यदि आप इसको जानते हों, तो मुझसे कहिये ॥३५॥ ऐसा मेरे पूछने पर और मुझे देखकर ये इस लोकके ब्रह्मा हैं, यो उन्होंने मुझे पहचान लिया। तदनन्तर मुझे नमस्कार करके अनिन्दनीय पदों से युक्त वाणी से सूर्य ने मुझसे कहा : हे भगवन्, आप इस दृश्य प्रपंच के नित्य कारणता को प्राप्त हैं, क्या आप इसके वृत्तान्त को नहीं जानते, जो कि मुझसे पूछते हैं ? ॥३६,३७॥ हे सर्वव्यापिन्, यदि मेरे वाक्य–सन्दर्भ को सुनने में आपको कौतुक हो, तो आपके द्वारा जिसका संकल्प नहीं किया गया था, ऐसी अपनी उत्पत्ति को आपसे कहता हूँ, सुनिये ॥३८॥ हे महात्मन्, आप सर्वशक्तिमान् होने के कारण व्यवहार में ईश्वर रूप से व्यवहृत होते हैं और परमार्थदृष्टि से तो आप महात्मा हैं, यह सत् है या असत् है, यों तत्त्वतः बोध न होनेके कारण विमोहित करनेवाली और निरन्त जगत् की रचना करनेवाली तथा कभी सत् कभी असत् कहीं पर सत् कहीं पर असत् यों देश और काल से परिच्छिन्न जगत् की सत्ता दर्शाने में कुशल कलाओं से जो चारों ओर से व्याप्त है वह मन ही तत्–तत् रूप में स्फुरित हो रहा है, यह आप जानिये ॥३९॥

पचासीवाँ सर्ग समाप्त

छियासीवाँ सर्ग

स्त्रीसहित इन्दु की तपस्या से दस ऐन्दवों की उत्पत्ति और
उनमें सबसे ज्येष्ठ के उपदेश से उनकी ब्रह्माहंभावना का वर्णन।

सूर्य ने कहा : हे देवाधिदेव ब्रह्माजी, कल्पनामक आपके अतीत दिनमें जम्बूद्वीप के एक कोने में स्थित कैलास पर्वत के निम्नप्रदेश में सुवर्णजटनाम से प्रसिद्ध जो प्रदेश है, वहाँ पर आपके पुत्रोंने, जिनकी अनेक सन्तानें उत्पन्न हो गई थीं, अपनी सन्तति के विकास के लिए बड़े सुन्दर प्रचुर सुख से पूर्ण मण्डल की कल्पना की ॥१,२॥ वहाँ पर कश्यपगोत्रोत्पन्न अत्यन्त धर्मात्मा ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ अत्यन्त शान्त इन्दुनामक ब्राह्मण हुआ ॥३॥ अपने वर्ग के लोगों में वहाँ नित्य निवास कर रहे उस महात्मा की प्राणों के तुल्य प्रिय कोई भार्या थी, जैसे मरूभूमि में तृण उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही उसमें उसके कोई पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ जैसे सीधी, सफेद तथा अत्यन्त शुद्ध काशकी लता पुष्प फलशून्य होने के कारण शोभित नहीं होती, वैसे ही उसकी सर्वगुणसंपन्न भार्या भी पुत्ररहित होने के कारण शोभित नहीं हुई। पुत्र न होने के कारण अत्यन्त खिन्न हुए वे दोनों दम्पती पुत्रप्राप्ति के लिए तपस्यार्थ कैलास पर्वत के ऊर्ध्व शिखर में, उत्पन्न हुए नूतन वृक्षों के समान, आरूढ़ हुए। प्राणियों से रहित निर्जन उस कैलास पर्वत के शिखर पर वृक्ष की स्थिति के समान स्थितिवाले वे दोनों केवल जल पीकर घोर तपस्या करने लगे। सायंकाल के समय केवल एक चुल्लू जल पीकर निश्चल वृक्ष की वृत्ति का अवलम्बन कर खड़े रहते थे। वे तब तक वृक्ष के समान खड़े रहे, जब तक

कि त्रेता और द्वापर दोनों ही युग बीत गये। तदुपरान्त देवाधिदेव भगवान चन्द्रशेखर उन दोनों पर प्रसन्न हुए ॥४–१०॥ जैसे दिन के सूर्य तेज से सन्तापित कुमुदों के लिए चन्द्रमाका उदय होता है, लता और वृक्षों से युक्त वनप्रदेश में वसन्त का आगमन होता है, वैसे ही जिस प्रदेश में वे ब्राह्मणदम्पती तप कर रहे थे, वहाँ शंकर भगवान् उपस्थित हुए। वे दोनों दम्पती वृषभपर आरूढ़ उमासहित शशिमौलि भगवान् को देखकर ऐसे विकसितवदन हुए, जैसे कि चन्द्रमा को देखकर दो कुमुद विकसित होते हैं। उन दोनों ने हिम के तुल्य विमलदेहवाले देवाधिदेव भगवान् शंकर को ऐसे प्रणाम किया जैसे कि द्यौ और पृथ्वीमें स्थित मनुष्य उदित हुए परिपूर्ण चन्द्रमा को प्रणाम करते हैं। मलयपवन से कँपाए गये नूतन पल्लवों से युक्त आम्र आदि वृक्षों के मुख से समान शब्द कर रहे भ्रमर, कोकिल आदि की ध्वनि को अपनी ध्वनि से तिरस्कृत करते हुए शिवजी मृदु और सौन्दर्य से अत्यन्त उत्कृष्ट स्मित से अधर को हिलाते हुए निम्नलिखित वचन बोले। शिवजी ने कहा : हे विप्र, तुम मुँहमाँगा वर माँगो। मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ, वसन्त ऋतु के रस से आक्रान्त अतएव हरेभरे वृक्ष के समान तुम खूब प्रसन्न होओ। ब्राह्मण ने कहा : हे भगवन्, हे देवाधिदेव मेरे मंगलमय कर्म करनेवाले महामति दस पुत्र हों, जिससे फिर मुझे शोक पीड़ित न करे। श्रीसूर्य ने कहा : जो तुम चाहते हो वह वैसा ही हो, ऐसा कहकर भगवान् शंकर आकाश में अन्तर्हित हो गये जैसे कि तरंगों से विशाल शरीरवाला समुद्र गरज कर अन्तर्हित हो जाता है। तदनन्तर शिवजी से वर पाकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुए देवताओं के तुल्य वे दम्पती जैसे शिव और पार्वतीजी आकाश को गये, वैसे ही अपने घर को गये। वहाँ पर वह ब्राह्मणी उदार गर्भवाली हुई, जैसे जल से काली मेघघटा परिपूर्णगर्भवाली होकर शोभित होती है, वैसे ही पूर्णगर्भा वह ब्राह्मणी शोभित हुई। तदनन्तर अवसरपर यानी दसवें महीने में प्रतिपदा के चन्द्रमा की तरह कोमल भोले–भाले दस बालकों को–जैसे कि पृथ्वी नूतन अंकुरों को उत्पन्न करती है वैसे ही– उसने उत्पन्न किया। जैसे वर्षा ऋतु में नूतन मेघ वृद्धि को प्राप्त होते हैं, वैसे ही ब्राह्मणसंस्कार से सम्पन्न वे बालक थोड़े ही समयमें बड़े तेजस्वी होकर वृद्धि को प्राप्त हुए। सात वर्षकी अवस्था में उन्होंने सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर लिया ॥११–२२॥ जैसे निर्मल नक्षत्र आकाश में अपने तेज से शोभित होते हैं, वैसे ही वे वहाँ पर अपने तेजसे शोभित हुए। तदुपरान्त बहुत समय बीतनेपर उनके वे माता पिता अपने शरीर का त्यागकर उत्तम गति को प्राप्त हुए, क्योंकि वे प्रधानतम सद्गतिरूप ब्रह्म के ज्ञाता थे। पिता और माता के देहावसान के बाद माता और पिता से रहित दस बालक अत्यन्त खिन्न हुए और अपने घर का परित्याग कर कैलास पर्वत के शिखर पर गये। पिता, माता आदि बान्धवों से रहित अतएव दुःखी उन लोगों ने वहाँ पर विचार किया – इस जगत् में अत्यन्त सुख क्या है ? यह विचार कर उन्होंने अपने आपस में यह कहा : हे भाइयों, ऐहिक और पारलौकिक सुख के उपायरूप से कौन वस्तु स्वीकार करने योग्य है, ऐहिक सुखका कारण न होने पर भी परिणाम में दुःख न देनेवाला क्या है ? ॥२३–२६॥ क्या महत्त्व है, क्या ऐश्वर्य, क्या अत्यन्त शुभ महावैभव

है ? क्या इन लोगों का ऐश्वर्य भी कोई ऐश्वर्य है ? क्योंकि सर्वसाधारण गृहस्थों और ग्राम के नायकों की अपेक्षा सामन्त अधिक ऐश्वर्यवान् है । सामन्त की सम्पत्ति कौनसी सम्पत्ति हैं ? क्योंकि राजा लोग उनके ऐश्वर्य से कहीं अधिक ऐश्वर्य–सम्पन्न हैं ? राजाओं की सम्पत्ति भी कौन सम्पत्ति है ? क्योंकि उनकी अपेक्षा सम्राट् कहीं अधिक ऐश्वर्यवान् है । वह महेन्द्रत्व भी क्या वस्तु है, जो ब्रह्माके मूहूर्तमें नष्ट हो जाता है । जो वस्तु प्रलयमें नष्ट नहीं होती है, ऐसी कौन शोभन वस्तु यहाँ है ? ॥२७–२९॥ जब वे भाई परस्पर वैसा कह रहे थे, इतनेमें जैसे मृगयूथ से एक मृग अन्य मृगों से कहता है वैसे ही महामति ज्येष्ठभ्राता ने, जिसकी वाणी अत्यन्त गम्भीर थी, यह वचन कहा ॥३०॥ सम्पूर्ण ऐश्वर्यों में जो कल्पान्त तक यानी प्राकृत प्रलयपर्यन्त नष्ट नहीं होता, हे भाइयों, वही ब्रह्मात्व (हिरण्यगर्भता) यहाँ मुझे रूचती है और कोई वस्तु मुझे रूचिकर नही है ॥३१॥

भाग्यवश उन सबकी भी उसीमें रूचि हुई, ऐसा कहते हैं ।

उसके इस वचनका उन सब इन्दुनामक ब्राह्मण के उत्तम पुत्रों ने अनेक साधुवादपूर्वक अपने अपने वचनों से अभिनन्दन किया ॥३२॥

रुचि होने के कारण उसका उपाय पूछते हैं ।

और उन्होंने कहा : हे तात, जरा, मरण आदि सम्पूर्ण दुःखोंका जहाँ पर विनाश है, ऐसे पद्मासनरूप जगत्–पूज्य ब्रह्मत्व को (हिरण्यगर्भत्व को) हम शीघ्र कैसे प्राप्त होंगे ? ॥३३॥

जिज्ञासु अपने भाईयों को हिरण्यगर्भ अहंग्रह उपासना का सपरिकर उपदेश देने की इच्छा कर रहे उनके ज्येष्ठभ्राता ने पहले उसकी अंगभूत मरणपर्यन्त धारणा की दृढ़ता का उपदेश दिया, ऐसा कहते हैं ।

उस ज्येष्ठ भाई ने उन विपुल तेजस्वी भाइयों से फिर कहा : तुम सभी लोग, जो मैं कहूँ, उसका अनुसरण करो । मैं पद्मासन में स्थित देदीप्यमान ब्रह्मा हूँ, अपने तेज से मैं सृष्टिकर्ता और संहारकर्ता हूँ, इस प्रकार तुम लोग चिरकालतक ध्यान करो । 'ज्येष्ठ भाई के ऐसा कहनेपर जो आप कहते हैं, वैसा ही हम लोग करेंगे ।' – ऐसा कहकर वे सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मणपुत्र अपने बड़े भाई के साथ ही हिरण्यगर्भोपासना से होनेवाले फलमें अत्यन्त राग होने के कारण ध्यानासीन होकर बैठ गये ॥३४–३६॥ चित्रपट में लिखे हुए–से ध्यानासक्त उन्होंने अपने अन्दर स्थित मन से ही बड़े आदर के साथ यह विचार किया ॥३७॥ खूब खिले हुए कमल के कोश का मुख ही मेरा उन्नत आसन है, मैं ब्रह्मा हूँ, मैं जगतों का रचयिता, कर्ता, भोक्ता, महेश्वर यानी नियन्ता हूँ, यज्ञमूर्तिरूप मेरे अन्दर यज्ञ करनेवाले महर्षि और शिक्षादि अंग एवं पुराण आदि उपांगों से युक्त सरस्वती तथा गायत्री के सहित वेद मूर्तिमान् होकर स्थित हैं । लोकपालों से परिवृत्त, सिद्ध मण्डलों के संचार से सुशोभित, उत्कृष्ट सौभाग्यशाली और देवांगनाओं के गान आदि की ध्वनि से विभूषित स्वर्ग मेरे अन्दर है । पर्वत, द्वीप, समुद्र और वचनों से अलंकृत त्रिलोकीरूपी नायिका के कानों का कुण्डलरूपी भूमण्डल मेरे भीतर है ॥३८–४१॥ दैत्य, दानवों से जिसका उदर परिपूर्ण है, ऐसा पाताललोक देवताओं की अप्सराओं से व्याप्त घर के समान गगनकोटर (घर)

मेरे अन्दर स्थित है ॥४२॥ यह महाबाहु इन्द्र, जो प्रजाओंको अलंकार प्रदान करनेवाले राजाओं में सर्वोत्तम है, त्रैलोक्यरूपी नगरी का अकेले पालन करता है और पवित्र यज्ञों का भोक्ता है, मेरे अन्दर है ॥४३॥ कान्तियों के जालरूपी पाशों से दिशाओं को बाँधकर रसों के आदान के लिए ये प्रचुर किरणोंवाले बारह सूर्य चैत्र आदि मासों के क्रम से मेरे अन्दर तप रहे हैं ॥४४॥ ये शुद्धवृत्तिवाले लोकपाल न्याययुक्त होने के कारण महती मर्यादाओं से लोककी ऐसे रक्षा कर रहे हैं, जैसे गोपाल गायों की रक्षा करते हैं ॥४५॥ जैसे जलों की तरंगें आविर्भूत होती हैं, तिरोभूत होती हैं, विविध विभव आदि से विराजित होती हैं, वैसे ही ये प्रजा प्रतिदिन आविर्भूत होती हैं, विनष्ट होती हैं, विविध प्रकार के वैभव से सुशोभित होती हैं और दरिद्रता, दोष आदि से इनका पतन होता है । यह भुवनेश्वर मैं इस सृष्टि की रचना करता हूँ और संहार करता हूँ तथा आदरणीय होकर पारमार्थिक स्वस्वरूप में स्थित हूँ, अतएव उपराम को प्राप्त होता हूँ ॥४६,४७॥ यह संवत्सर बीता, यह युग भी कूच कर गया, यह सृष्टि का समय है, यह संहारका समय है, यह कल्प बीत चुका है, यह ब्रह्मा की रात्रि फैली है, मैं आत्मा में यानी स्वस्वरूप में स्थित हूँ, पूर्णात्मा हूँ, परमेश्वर हूँ ॥४८,४९॥ इसके अनन्तर वे दस ऐन्दव ब्राह्मण इस प्रकार क भावित बुद्धि से पत्थर में खुदी हुई प्रतिमाओं की तरह बद्धासन होकर पर्वत के तुल्य अटलरूप से स्थित हुए ॥५०॥ हे ब्रह्मन्, तदनन्तर कुशासन में स्थित वे दस ऐन्दव, अपने में ब्रह्मा की कल्पना होने पर जिनकी अन्य तुच्छ वृत्तियाँ विनष्ट हो गई थी और जिन्होंने ब्रह्मा का क्रम (हिरण्यगर्भस्थान) प्राप्त कर लिया था, निरन्तर अत्यन्त सुशोभित हुए ॥५१॥

छियासीवाँ सर्ग समाप्त

सत्तासीवाँ सर्ग

मन से ब्रह्मा बने हुए उन लोगों की देह के राक्षसों द्वारा भक्षण करनेपर उनकी संहार और सर्ग में वैसी ही स्थिति रही, यह वर्णन ।

श्रीसूर्य ने कहा : हे पितामह, तदनन्तर वे ऐन्दव ब्राह्मण उस उपासनाक्रममें बहुत भावना करने से भुवन, प्राणी, ग्राम आदिकी सृष्टि, पालन, संहार आदि तत्-तत् कर्मों से आपके समान व्यग्र चित्तवाले उसीमें अत्यन्त आसक्त होकर तब तक स्थित रहे, जब तक कि उनके कृश शरीर सूर्य के सन्ताप और वायु से चिरकाल तक सूखकर पुराने पत्ते के समान विनष्ट हो गये ॥१,२॥ वन में रहनेवाले मांसभक्षी पशु-पक्षियोंने, जैसे बन्दर सुन्दर फलों को खाते हैं वैसे ही, इधर उधर लुढ़के हुए उनके शरीरों को खा डाला ॥३॥ तदनन्तर वे ऐन्दव ब्राह्मण, जिन्होंने अपनी ब्रह्मता में यानी 'मैं ब्रह्मा हूँ' ऐसी भावना कर रक्खी थी और जिनका बाह्य व्यापार विरत था, तब तक स्थित रहे, जब तक अवशिष्ट चार युगों के अन्त में कल्प नष्ट हुआ ॥४॥ तदनन्तर कल्प के क्षीण होने पर और बारह आदित्यों के तपने पर, पुष्करावर्तनामक प्रलयकारी मेघों के खूब गर्जन-तर्जन के साथ वृष्टि करनेपर, कल्पान्त के वायुओं के बहनेपर, एकमात्र महार्णव के स्थित होने पर और सब प्राणियों के क्षीण होने पर वे ऐन्दव अपने मन से

कल्पित ब्रह्माण्ड में सृष्टि आदि में व्यग्र होकर स्थित रहे ॥५,६॥ तदनन्तर हे विभो, जब आप रात्रि के अतिक्रमण की प्रतीक्षा कर रहे थे और सम्पूर्ण स्थिति का संहार करके योगनिद्रा से आत्मा में स्थित थे, तब भी वे वैसे ही यानी सर्गादिव्यापार में व्यग्र होकर स्थित रहे ॥७॥ आज जब आप प्रलयरूप रात्रि से जागे और आपने संसार की सृष्टि करने की इच्छा की, उस समय भी वे उसी क्रम से स्थित हैं ॥८॥ हे भगवन्, इस प्रकार ये दस ऐन्दव ब्राह्मण दस ब्रह्मा हो गये। उन दसों के मनोरूप आकाशमें ये दस ब्रह्माण्ड स्थित हैं ॥९॥

इतने ग्रन्थ से 'कथमिदं जातम्' (कैसे यह उत्पन्न हुआ) इस प्रश्न का उत्तर देकर 'कस्त्वम्' (तुम कौन हो) इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

हे ब्रह्मन्, उन ऐन्दव सर्गों से एक ब्रह्माण्ड छिद्रभूत आकाशरूप मन्दिर में भूलोक में (तीनों लोकों में) कालविभागरूप कर्ममें नियुक्त मैं एक सूर्य हूँ ॥१०॥ हे ब्रह्मन्, यह दस ब्रह्माओं की सृष्टि मैंने आपसे कही और आकाश में दस ब्रह्माओं की उत्पत्ति भी कही, अब आप जो करना चाहते हैं, उसे कीजिये, क्योंकि उनकी सृष्टियों के रहते भी आपकी सृष्टि से कोई विरोध नहीं है ॥११॥

यदि कोई कहे विरोध क्यों नहीं है ? इस पर केवल मन की कल्पना होने से उनका सर्ग असत्य ही है, इस आशय से कहते हैं।

हे उत्तम, अनेक प्रकार की कल्पनाओं द्वारा आकाश को वेष्टित करनेवाला, बाह्य और आभ्यन्तर करणों का जाल के सदृश बन्धनरूप, आसक्ति से मोहित करनेवाला जो यह जगत दृश्य उत्पन्न हुआ है, वह सब उनके चित्त में भ्रान्तिमात्र ही है, वस्तुतः कुछ नहीं है ॥१२॥

सत्तासीवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठासीवाँ सर्ग

ब्रह्मा की अनासक्ति से सृष्टि-सिद्धि का वर्णन तथा
मन से दृढ़ बद्धमूल हुए कार्य की अन्य उपायों से अनिवृत्ति का वर्णन।

श्री ब्रह्माजी ने कहा : हे ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ वसिष्ठजी, 'हे ब्रह्मवित्तम ब्रह्माजी, वे दस ब्राह्मण ही दस ब्रह्मा हैं', ऐसा मुझसे कहकर भानु चुप हो गये ॥१॥ तदनन्तर उसके कथन को बहुत देर तक अपने मन से विचारकर मैंने कहा : हे भानो, मैं और क्या सृष्टि करूँ, यह आप मुझसे शीघ्र कहिए ॥२॥ हे सूर्य, जहाँ पर ये दस ब्रह्माण्ड विद्यमान हैं, वहाँ पर मेरी सृष्टि से और क्या प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है, इसको आप कहिए ॥३॥ हे महामुने, मेरे ऐसा कहने पर भानु ने अपनी बुद्धि से चिरकाल तक विचार कर इस विषय में यह युक्तियुक्त वचन मुझसे कहा ॥४॥

सूर्य ने कहा : हे प्रभो, आपको किसी प्रकार की इच्छा नहीं है, किसी प्रकार की चेष्टा करने की आवश्यकता नहीं है, आपको सृष्टि से क्या प्रयोजन है ? हे जगत्पते, फिर भी जो सृष्टि आप करते हैं, वह आपका केवल मनोविनोद मात्र है ॥५॥

हे प्रभो, निष्काम आपसे किसी प्रकार के मानसिक व्यापार के बिना ऐसे सृष्टि होती है, जैसे कि निर्मनस्क सूर्य से जलादित्यरूप सूर्य का प्रतिबिम्ब होता है ॥६॥ भगवन्, शरीर वपू अवयवसन्निवेश के त्याग में और उसमें अहम् अभिमान से राग करनेमें भी आपका भाव निष्काम है, वह न शरीरग्रहण से कुछ प्रेम करता है और न शरीरत्याग से द्वेष करता है ॥७॥ हे प्राणियों के पालक, फिर भी जैसे सूर्य दिन का संहार करके फिर दिन की सृष्टि करते हैं वैसे ही आप विनोद के लिए ही सृष्टि करते हैं ॥८॥ आसक्तिरहित यह जगत्–सृष्टि करना मेरा कर्तव्य ही है, यह सोचकर केवल मनोविनोद के लिए जगत्सृष्टिमें आपकी प्रवृत्ति होती है, किसी अपनी स्वार्थ की अभिलाषा से नहीं ॥९॥ हे महेश, अपना नित्यकर्म सृष्टि अगर आप नहीं करेंगे, तो नित्यकर्मोंके परित्याग से अतिरिक्त और क्या अदृष्ट आपको प्राप्त होगा ? ॥१०॥ इसलिए सत्पुरुष को आसक्ति किये बिना जो कर्तव्य प्राप्त हुआ हो, उसे करना चाहिए, जैसे कि कलंकरहित स्वच्छ दर्पण प्रतिबिम्बक्रिया को करता है ॥११॥ जैसे आत्मज्ञानियों की अप्राप्त कर्म करने में कामना नहीं होती है वैसे ही प्राप्त कर्म के त्यागमें भी कामना नहीं होती, क्योंकि कामनात्याग का कोई हेतु देखने में नहीं आता, इसलिए परमार्थरूप से कुछ न करनेके कारण सुषुप्ततुल्य और प्रतीतिरूप से तो करने के कारण स्वप्नतुल्य निष्काम बुद्धि से प्राप्त हुए कार्य को कीजिये ॥१२,१३॥ हे जगत्प्रभो, इन ऐन्दवों की सृष्टि से अपने पुत्र, पौत्र आदि सम्पत्ति की वृद्धि देखने से यदि आप सन्तोष को प्राप्त हो, तो हे देवाधिदेव ये ऐन्दव ब्राह्मण भविष्यमें भी सृष्टि से सन्तुष्ट होनेवाले आपको सन्तुष्ट करेंगे ॥१४॥

उनकी सृष्टि से मुझे सन्तोष हो, तथापि मेरी सृष्टि उनसे गतार्थ क्यों नहीं है ? इस पर कहते हैं।

भगवन्, आप अन्य की इन सृष्टियों को चित्तरूपी नेत्र से ही देखते हैं, चक्षुसे नहीं देखते। उनकी सृष्टि करनेवाला तो अपनी की हुई सृष्टि को 'मैंने यह रचा' यों अपने नेत्र से ही जानता है, इसलिए आपके नेत्रगोचर होनेवाली आपकी सृष्टि अन्य की सृष्टि से गतार्थ नहीं है ॥१५॥

तब तो ऐन्दव द्विजों की सृष्टि को ही मैं अपनी आँखों से देखूँ, इस पर कहते हैं।

हे परमेश्वर, जिस पुरुष ने मन से सृष्टि की, वही चर्मचक्षु से उस सृष्टि को देख सकता है, दूसरा नहीं देख सकता ॥१६॥

यदि ऐसा है, तो मेरे मन से दिखाई देनेवाली यह ऐन्दव सृष्टि वृथा है और मेरे प्रतिकूल है; इसलिए इसका मुझे विनाश कर देना चाहिए, इस पर कहते हैं।

इन दस ब्रह्माण्डों का और इनके रचयिता दस ब्रह्माओं का कोई भी विनाश नहीं कर सकता, क्योंकि ये चित्त की दृढ़ता से बहुत काल से स्थित हैं ॥१७॥ जो कर्म इन्द्रियों द्वारा किया जाता है, उसका विनाश हो सकता है, पर मन के निश्चय से किए हुए कर्म को कोई भी विनष्ट नहीं कर सकता ॥१८॥ हे ब्रह्मन्, प्राणी के मनमें जो निश्चय बद्धमूल हो गया, उसका उसके बिना दूसरा निवारण नहीं कर सकता ॥१९॥ बहुत काल से जिस वस्तु का अभ्यास किया गया हो तथा मनसे दृढ़ निश्चय किया गया हो, उसका महात्माओं के शाप से भी विनाश

नहीं हो सकता, देहका भले ही विनाश हो जाय, पर वह ज्योंका त्यों बना रहता है ॥२०॥ जो वस्तु बद्धमूल है और मनमें चारों ओर से आरूढ़ है, तद्रूप ही पुरुष होता है, उसका दूसरा रूप नहीं है। उसके बोध के सिवा अन्य उपाय शिला के टुकड़ों के समूहों को सींचने के तुल्य सर्वथा निष्फल है, ऐसी मेरी धारणा है ॥२१॥

अट्ठासीवाँ सर्ग समाप्त

नवासीवाँ सर्ग

बद्धमूल मन की अन्य प्रयत्नों से अविचलता का इन्दु और अहल्या की मनोवृत्ति से कथन द्वारा वर्णन।

भानु ने कहा : भगवन्, मन ही जगतों का रचयिता है, समष्टिभावापन्न मन ही परम पुरुष यानी हिरण्यगर्भ है। लोकमें जो कार्य मनसे किया गया हो, वही कृत है और शरीर द्वारा किया गया कुछ भी कृत नहीं है ॥१॥ मन की सामर्थ्य देखिए, ऐन्दव साधारण ब्राह्मण होकर भी मनकी भावना से ब्रह्मा के पद को प्राप्त हुए ॥२॥ मन से 'मैं तुच्छ देह हूँ' ऐसी भावना करने पर नर देहता को (जन्म, मरण आदि धर्मवत्ताको) प्राप्त होता है, और देहभावना से यदि युक्त न हो, तो जन्म, मरण आदि से पीड़ित नहीं होता ॥३॥ बाह्यदृष्टि यानी देह आदि में आत्मबुद्धि करनेवाले पुरुष को देह में सुख, दुःख आदि की प्राप्ति होती है, अन्तर्मुख होने के कारण (चेतन आत्मा को आत्मा समझने के कारण) योगी को देहमें प्रिय और अप्रिय का ज्ञान नहीं होता ॥४॥ इसलिए यह निश्चित हुआ कि सम्पूर्ण भ्रमों से पूर्ण जगत् मन से ही उत्पन्न हुआ है, इस विषय में इन्द्रका अहल्या के साथ जो वृत्तान्त हुआ हे, वह दृष्टान्त है ॥५॥ ब्रह्माजी ने कहा : भगवन् भानुजी, यहाँ पर कौन अहल्या है और हे तमोनाशिन्! कौन इन्द्र है ? जिनका वृत्तान्त सुननेपर पवित्र दृष्टि प्राप्त होती है ॥६॥ सूर्य ने कहा : हे देव, सुना जाता है, प्राचीन समय में मगध देश में इन्द्रद्युम्न नामका राजा हुआ, जो पुराण में प्रख्यात राजा इन्द्रद्युम्न के समान प्रतापी था। जैसी चन्द्रमाकी रोहिणी भार्या है वैसी ही उसकी चन्द्रमण्डलकी कान्ति के समान कान्तिवाली कमल के तुल्य विशाल नेत्रवाली अहल्या नामकी भार्या थी ॥७,८॥ उसी नगर में सम्पूर्ण विटों में श्रेष्ठ और विटविद्यामें कुशल इन्द्रनामक कोई विट ब्राह्मणकुमार रहता था ॥९॥ पटरानी अहल्या ने कहीं पर कथा के प्रसंग से पहले अहल्या (गौतमपत्नी) इन्द्रकी इष्ट हुई थी, ऐसा सुना था ॥१०॥ ऐसा सुनकर अहल्यानामक राजा की पत्नी इन्द्रनामक विटपर अनुरागिणी हुई। तदनन्तर मुझपर आसक्त वह इन्द्र मुझ अहल्या के पास क्यों नहीं आता इस प्रकार वह उत्कण्ठित हुई ॥११॥ वह बाला कमलनालों के समूह तथा केले के पल्लवों के बिछौने पर वनमें जैसे कटी हुई लता सन्तप्त होती है, वैसे ही अत्यन्त सन्तप्त होती थी ॥१२॥ जैसे ग्रीष्म ऋतुमें सन्तप्त वनभूमि में मछली तड़पती है वैसे ही सकल राजसम्पत्तियों में उसे खेद होता था यानी सम्पूर्ण राजविभूतियाँ उसको भली नहीं लगती थी ॥१३॥ यह इन्द्र है, यह इन्द्र है, इस प्रकार वह प्रलाप करती थी। कामदेव की पराधीनता को प्राप्त हुई उसने लज्जा का भी परित्याग कर दिया था ॥१४॥ उसकी वैसी दुरवस्था देखकर

दुःखित हुई उसकी एक सखी ने उससे बड़े प्रेम के साथ कहा : प्रिये, इन्द्र को मैं बिना किसी प्रकार की विघ्नबाधा के तुम्हारे समीप लाती हूँ। तुम्हारे इष्ट को तुम्हारे समीप लाती हूँ। यह सुनकर उसकी आँखें विकसित हो गई, जैसे मुरझाई हुई नलिनी (कमल) के पैर पर गिरती है, वैसे ही वह सखी के पैरपर गिर पड़ी। तदनन्तर दिन के बीतने पर जब सन्ध्या हुई तब उसकी वह सखी इन्द्रनामक उस ब्राह्मणबालक के पास गई॥१५-१७॥ वह सखी इन्द्र को युक्तिपूर्वक समझा-बुझाकर रात्रिमें अहल्याके निकट शीघ्र ले आई। तदनन्तर किसी एक गुप्त घरमें बहुतसी फूलमालाएँ और अंगराग से विभूषित वह अहल्या जैसे गौतमपत्नी अहल्या इन्द्र के साथ रतिको प्राप्त हुई थी वैसे ही उस इन्द्रनामक विट के साथ रति को प्राप्त हुई॥१८,१९॥ जैसे वसन्त लता को रस से अपने अधीन करता है, वैसे ही हार, केयूर आदि से मनोहर उस विट से, वह तरूणी सुरतोचित क्रीडाओं द्वारा अपने वश में की गई। तदनन्तर इन्द्रनामक विटपर अनुरक्त हुई सम्पूर्ण जगत् को तन्मय देखती हुई उसे समस्त गुणों से पूर्ण अपना पति रूचिकर नहीं हुआ॥२०,२१॥ कुछ समय के बाद राजा को उस अहल्या के मुखरूपी आकाश को प्रकाशित करनेवाली इन्द्रानुरागिता ज्ञात हुई॥२२॥ जितने समय तक वह इन्द्रका ध्यान करती थी, उतने समय तक उसका मुख ऐसा शोभित होता था, जैसे कि पूर्ण चन्द्रमा से विकसित कुमुद सुशोभित होता है॥२३॥ इन्द्रकी भी समस्त इन्द्रियाँ उसपर आसक्त थी, अतः वह बड़ा व्याकुल रहता था, उसके बिना कहीं पर भी एक क्षण नहीं रह सकता था॥२४॥ तदुपरान्त अत्यन्त प्रगाढ़ स्नेह होने के कारण प्रकाशरूप से कामचेष्टावाले उन लोगों का दुर्विनय, जो कि अत्यन्त व्यथा पहुँचानेवाला था, राजा के कानों तक पहुँचा॥२५॥ राजा ने उनका परस्पर अत्यन्त आसक्तिवाला भाव देखकर बहुत से दण्डों से उन दोनों का शासन किया॥२६॥ उन दोनों को हेमन्त ऋतुमें तालाब में छोड़ा, फिर भी वे बड़े सन्तुष्ट होकर हँसते थे, वहाँ उन्हे तनिक भी दुःख नहीं हुआ॥२७॥ तदनन्तर राजा ने उनसे पूछा : 'हे दुर्मतियों, तुम खिन्न हो या नहीं', जलाशय से निकाले गये उन दोनों ने राजा से कहा : हे राजन्, परस्पर की अनिन्दित मुखकान्तिका स्मरण करके यहाँ पर हम लोगोंने परस्पर बद्धप्रेम अपनी आत्मा को नहीं जाना॥२८,२९॥ चूँकि हम लोगों का संग यानी मन का सम्बन्ध निःशंक है यानी पृथक् होने की शंका से रहित है, इसलिए हे राजन्, आपके द्वारा किये गये उत्पीड़न आदि दण्डों में अंगों के छेदन से भी हम लोग हर्षित रहते हैं, खिन्न नहीं होते॥३०॥ तदनन्तर वे भाड़ में (भडभूँजे की भट्ठी में) झोंके गये, वहाँ पर भी प्रसन्न ही रहे। उन्होंने पहले की तरह राजा से कहा : परस्पर की स्मृति से हर्षित होकर वहाँ पर भी हम सुखी रहे। तदुपरान्त हाथी के पैरों में बाँध दिये गये। वहाँ पर भी पूर्ववत् वे प्रसन्न रहे। परस्पर स्मृति से हर्षित होकर उन्होंने राजा से फिर वैसे ही कहा। कोड़ों से पीटे गये फिर भी वे खिन्न न हुए, पहले की तरह फिर भी उन्होंने राजा से कहा। राजा से दिये गये अन्यान्य दण्डों से पुनः पुनः निकाले गये उन्होंने पूछने पर फिर-फिर वैसे ही उत्तर दिया। इन्द्र ने राजा से कहा : राजन्, सम्पूर्ण जगत् मेरे लिए दयितामय है, दुःखहेतु शरीरच्छेदन आदि मुझे कुछ भी दुःख नहीं देते। हे राजन्,

इसका भी सम्पूर्ण जगत् मन्मय हो गया है, इसलिए अन्य पीडन से भी हम लोगों को कुछ दुःख नहीं होता है। हे राजन्, मैं मनोमात्र हूँ और मन ही पुरुष कहा गया है ॥३१–३६॥ यह देह मन का विस्तारमात्र ही देखा जाता है। यदि कहिए मैं मन को ही दण्ड से नष्ट कर डालूँगा, तो उसपर कहते हैं–एक काल में प्रयुक्त अनेक दण्डों से इस वीर मन का तनिक भी भेदन नहीं किया जा सकता। हे राजन् वे किसकी और कैसी शक्तियाँ हैं, जिनसे वे भी मन, जिनका कि तद्भावापरित्तरूप निश्चय अनुभूत है, भिन्न किये जाते हों। देह चाहे वृद्धि को प्राप्त हो, चाहे नष्ट भ्रष्ट हो जाय, किन्तु विचारित (भावित) अर्थ के अभिमुख हुआ मन पूर्ववत् स्थिर रहता है। हे राजन्, अपने इष्ट अर्थ चिरकाल से अभिनिविष्ट (आग्रहयुक्त) और उसमें स्थित मन को शरीर में स्थित भाव और अभाव पीड़ित करने के लिए समर्थ नहीं होते। हे राजन्, तीव्रवेगवाले मन से जो वस्तु भावित होती है, उसीको पुरुष स्थिररूप से देखता है, शरीर द्वारा किये गये कार्य को नहीं देखता। हे राजन्, महात्माओं की वर, शाप आदि कोई भी क्रियाएँ तीव्रवेग से युक्त मन को उसके अभीष्ट पदार्थ से विचलित नहीं कर सकती। जैसे मृग महा पर्वत को विचलित नहीं कर सकते, वैसे ही पुरुष तीव्रवेग से युक्त मन को अपने अभीष्ट पदार्थ से विचलित करने में समर्थ नहीं होते। जैसे बहुत ऊँचे देवालयमें भगवती देवी प्रतिष्ठित होती है, वैसे ही यह सुन्दरी मेरे मनःकोष में प्रतिष्ठित है। मेरे जीवनकी रक्षा करनेवाली इस प्रिया से युक्त मैं दुःख का अनुभव वैसे ही नहीं करता, जैसे कि शिखर पर स्थित मेघमाला से युक्त पर्वत ग्रीष्मऋतु की तपन का अनुभव नहीं करता। हे राजन्, मैं जहाँ–जहाँ रहता हूँ अथवा गिरता हूँ, वहाँ पर इच्छित पदार्थ के लाभसे अतिरिक्त तनिक भी किसीका अनुभव नहीं करता। अहल्यारूप प्रिया नामवाले मनसे इन्द्र नामक मन ही भलीभाँति संबद्ध होकर यानी एक ही मन दो वेषों से अहल्या और इन्द्ररूप से दृढ़ता से सम्बद्ध होकर स्वभाव से अतिरिक्त अन्य विषयको प्राप्त नहीं होता यानी सैंकड़ों प्रयत्नों से भी उसका स्वभाव दूसरे रूप में परिणत नहीं किया जा सकता। हे राजन्, धीर का मन एक कार्यमें निविष्ट (एकाग्र) होता है। वह महात्माओं के वर और शाप के प्रभाव से भी मेरु की तरह चलित नहीं होता। देह वर और शाप से अन्यता को प्राप्त होती है, किन्तु धीर मन सम्पूर्ण विक्षेपों के विजिगीषु के रूप से स्थिर रहता है ॥३७–४९॥

यदि कोई कहे की देह ही मन का कारण है, देह उत्पीड़न होने पर मनका उत्पीड़न क्यों नहीं होता ?

हे राजन्, ये दिखाई दे रहे प्राणियों के शरीररूपी टुकड़े, जो कि वृथा उत्पन्न हुए हैं, मन के कारण (उत्पादक) नहीं है, किन्तु मन ही इन शरीरों का ऐसा कारण है, जैसे जल सम्पूर्ण वनों की लताओं के रस का कारण होता है ॥५०॥ हे महात्मन्, मन आत्मा का पहला भोगायतन है, यह समझिए और उसने जगत् में सम्पूर्ण शरीरों की कल्पना कर रक्खी है। इस पुरुष का वह आद्य भोगायतन मन जहाँ–जहाँ पर 'अहम्' इस अभिमान से आविर्भूत होता है, उससे तत्–तत् शरीर का आकार उत्पन्न होता है, अन्य नहीं होता ॥५१॥

उक्त अर्थ का ही दृष्टान्त द्वारा उपपादन करते हुए कहते हैं।

हे सुभग, मन को ही मुख्य अंकुर जानिये। उससे वृक्षके पल्लव आदि के तुल्य पुरुष की देह उत्पन्न हुई है, फैली है। अंकुर के नष्ट होने पर फिर पल्लव शोभा उदित नहीं होती, किन्तु पल्लवों के क्षीण होने पर अंकुर का कदापि नाश नहीं होता ॥५२॥

इसीलिए देह का नाश होने पर भी पुनः पुनः देह की उत्पत्ति होती है, किन्तु चित्त का नाश होने पर कैवल्य ही होता है, फिर उत्पत्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

देह के नष्ट होने पर भी मन अनेक देहों को उत्पन्न करता है, जैसे कि स्वप्नभूमि में चित्त नये–नये स्वप्नों को दर्शाता है और चित्त के नष्ट होने पर तो शरीर किसीका भी उत्पादन नहीं करता, इसलिए सम्पूर्ण पदार्थों के हेतुभूत चिन्तामणि के सदृश मनकी परमपुरुषार्थसाधनरूप से रक्षा कीजिए। अपने तुच्छ क्रोध आदि के कारण उसका विनाश न कीजिए, यह अर्थ है ॥५३॥

जो बात पहले कही थी, उसीका समुचितरूप से अनुवाद कर उपसंहार करते हुए दण्ड में प्रयत्न की विफलता को दर्शाते हैं।

हे राजन्, प्रिय युवती मेरे मन में स्थित है, अतएव प्रत्येक दिशामें उसको मैं देखता हूँ और नित्य आनन्द में हूँ। तुम्हारे नगर के अन्तर्गत तुम्हारे सेवक आदि में जो मुझे दुःख देनेवाले कशाघात, शस्त्राघात आदि हैं, उनके फलभूत दुःखको एक क्षणभर अथवा बहुत देरी तक मैं कुछ भी नहीं देखता ॥५४॥

नवासीवाँ सर्ग समाप्त

नब्बेवाँ सर्ग

भरतमुनि के शाप से उनके देहों के नष्ट होने पर भी उनके मनकी तन्मयता नष्ट न हुई, यह वर्णन।

भानु ने कहा : हे ब्रह्मन्, तदनन्तर इन्द्रनामक विट के ऐसा कहनेपर कमल के तुल्य नेत्रवाले उस राजा ने समीपमें स्थित भरत नाम के ऋषिजी से कहा ॥१॥ राजा ने कहा : हे भगवन्, आप सम्पूर्ण धर्म के मर्म को जाननेवाले हैं। मैं मेरी पत्नीका अपहरण करनेवाले इस दुरात्मा के मुख में अत्यन्त घृष्टता देखता हूँ॥२॥ हे महामुने, आप इसके पाप के अनुरूप इसे शीघ्र शाप दीजिए, क्योंकि यदि इसको दण्ड न दिया जाय, तो मारने योग्य पुरष के त्याग से वही पाप होता है, जो कि अवध्य के वध से होता है, इसलिए इसे दण्ड देना आवश्यक है ॥३॥ श्रेष्ठ राजा के ऐसा कहनेपर मुनिवर भरत ने उस दुरात्मा के पापका पूर्वापर से यथायोग्य विचार कर, हे दुर्बुद्धे ! पति के द्रोह से पतित इस पापिन के साथ तू विनष्ट हो जा', ऐसा शाप दे दिया ॥४,५॥ तदनन्तर उन दोनों ने राजा और भरत के प्रति यह वचन कहा : तुम दोनों अत्यन्त दुर्मति हो, क्योंकि तुम लोगोंने अपने शाप से अपना कठिन तप नष्ट किया है और तुम लोगों के शापदान से हमारा कुछ भी होनेवाला नहीं है। हम लोग मनरूपी हैं, देह के नष्ट होने पर भी हम लोगों का कुछ भी नष्ट नहीं होगा। तुम निश्चित समझो, मनका कोई कहीं पर भी विनाश नहीं कर सकता, क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म है, चिन्मय है और अन्य लोगों से दुर्लक्ष्य

है ॥६–८॥ भानु ने कहा : ब्रह्मन्, अत्यन्त प्रगाढ़ स्नेह से जिनका मन सम्बद्ध है, ऐसे वे दोनों शाप से वृक्ष से गिरे हुए पल्लवों की तरह पृथ्वी पर गिर पड़े यानी मर गये ॥९॥ तदनन्तर दृढ़ विषयराग से बँधे हुए वे दोनों मृगयोनि में गये, तदनन्तर वे दृढ़ विषयराग से बद्ध होने के कारण फिर पक्षी हो गये ॥१०॥ तदनन्तर बहुत जन्मों के बाद हे प्रभो, हमारे ब्रह्माण्ड में परस्पर सम्बन्ध की भावनावाले वे दोनों तपस्यामें निरत बड़े पुण्यात्मा ब्राह्मणदम्पती हुए ॥११॥ भरत का वह शाप उनके शरीरमात्र के विनाश में समर्थ हुआ और मनके निग्रहमें समर्थ नहीं हुआ। वे आज भी उसी मोह संस्कार के कारण जहाँ–जहाँ उत्पन्न होते हैं, वहाँ दम्पती ही होते हैं ॥१२,१३॥ अकृत्रिम प्रेमरस से पूर्ण उनके उस सुन्दर स्नेह को देखकर वृक्ष भी प्रेमरस से युक्त होकर श्रृंगारचेष्टायुक्त होते हैं, फिर औरों की तो बात ही क्या है ?॥१४॥

नब्बेवाँ सर्ग समाप्त

इक्यानबेवाँ सर्ग

भानु को मनु बनाकर ब्रह्मा की सृष्टि का और ऐन्दवों की सृष्टि के समान विश्व की मनोमात्रविलासता का निरूपण।

भानु ने कहा : हे भगवन्, चूँकि भरत का शाप मनोनिग्रह में समर्थ नहीं हुआ, इसलिए मैं यह कहता हूँ, मन अत्यन्त कठिन शापों से भी निग्रह के अयोग्य और अभेद्य है ॥१॥ इसलिए ऐन्दवों की सृष्टियों का विनाश आप नहीं कर सकते, चूँकि आप महात्मा हैं, इसलिए आपके लिए उनका विनाश करना अयुक्त भी है ॥२॥ हे नाथ, इस संसार में और विविध संसारों में वह कौनसी वस्तु है, जो कि महात्मा और सबके स्वामी आपकी दीनता के लिए हो ? यानी मेरी सृष्टि वृथा है, ऐसा समझकर आपको दीनता का अवलम्बन नहीं करना चाहिए ॥३॥ मन जगतों का कर्ता है, मन पुरुष कहा गया है। जो मनके निश्चय से किया गया है, उसका द्रव्य, औषधि, दण्ड आदि से विनाश नहीं किया जा सकता। जैसे कि मणि के प्रतिबिम्ब का विनाश नहीं किया जा सकता, इसलिए ये ऐन्दव द्विज यहाँ पर देदीप्यमान अपनी सृष्टि भ्रान्तियों के साथ स्थित रहें ॥४,५॥

तब मेरी सृष्टि के लिए अवकाश कहाँ है ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

आप इस अनन्त स्वचित्ताकाश में प्रजा की सृष्टि करके स्थित होइए, क्योंकि चित्ताकाश, चिदाकाश और परमाकाश, ये तीनों अनन्त हैं और ये तीनों चिदाकाश से प्रकाशित हैं। हे जगत्पते, आप एक, दो, तीन अथवा बहुत सृष्टियों को कीजिए और इच्छानुसार अपनी आत्मा में स्थित होइए। ऐन्दवों ने आपका क्या ग्रहण किया है ? ब्रह्माजी ने कहा : हे महामुने, तदनन्तर ऐन्दव जगतों के विषयमें भानु के ऐसा कहने पर चिरकाल तक विचार कर मैंने यह कहा : हे भानो, तुमने बहुत युक्तियुक्त कहा, क्योंकि पूर्वोक्त चार प्रकार का आकाश विस्तृत है, मन भी विस्तृत है और चिदाकाश भी विस्तृत है, इसलिए अपने अभिमत नित्यकर्मरूपी सृष्टि को मैं करता हूँ ॥६–१०॥ हे भास्कर, मैं शीघ्र अनेक प्राणियों के समूहों की रचना करता हूँ,

इसलिए हे भगवन्, आप ही शीघ्र मेरे पहले मनु होइए ॥११॥ मेरे द्वारा प्रेरित होकर आप अपनी इच्छानुसार सृष्टि कीजिए। तदुपरान्त हे तपस्विश्रेष्ठ, महा तेजस्वी सूर्य ने मेरे इस वाक्य को स्वीकार कर अपने दो स्वरूप बना डाले। पहले के एक स्वरूप से वह ऐन्दवसृष्टि में सूर्यता को प्राप्त हुए व्योममार्गगामी होकर उन्होंने उस स्वरूप से दिनपरम्परा का निर्माण किया और दूसरे स्वरूप से शीघ्र मेरे लोकका मनुत्व स्वीकार कर मेरी अभीष्ट तत्–तत् सब सृष्टियों की रचना की ॥१२–१५॥ हे मुने, यह सब मैंने आपसे महात्मा मनका स्वरूप कहा तथा मनकी सर्व कारिता और सामर्थ्य का वर्णन किया ॥१६॥ जो–जो वस्तु इस चित्त में स्फुरण को प्राप्त होती है, वह सब आविर्भाव को, स्थिरता को और सफलता को प्राप्त होती है ॥१७॥ साधारण ब्राह्मण होकर भी मनकी भावना के कारण ऐन्दव ब्राह्मण ब्रह्मता (ब्रह्मा के पद) को प्राप्त हुए, यह मन का सामर्थ्य है ॥१८॥ जैसे ऐन्दव जीव चिद्भाव से चित्तत्व को प्राप्त कर चित्तत्व से हिरण्यगर्भता को प्राप्त हुए, वैसे ही हम भी चिद्भाव से चित्तत्व को और चित्तत्व से ब्रह्मता को प्राप्त हो गये। चित्त प्रतिभासस्वरूप है, उसका जो प्रतिभासन है, वही देहादिरूप से प्रतीत होता है। इसलिए देहादि मन ही हैं। देहप्रतीति चित्त से अन्य नहीं है। चित्त अपने में विविध कल्पनाओंसे युक्त है और वह उनकी रचना करता है। यदि कोई कहे कि यदि ऐसा है, तो सबका मन एकसी ही कल्पना क्यों नहीं करता, तो यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि काम, कर्म और वासना के अनुसार जिस समय जिसके लिए जैसा संभव होता है, उस समय उसके लिए उतना ही उस प्रकार होता है, जैसे कि मिर्चा कटुता से ही अपने अन्दर परिणाम को प्राप्त होता है, निम्ब तिक्तरूप से परिणत होता है और द्राक्ष मधुरता से ही ये सब अपने अपने संस्कार से व्यवस्थित हैं, वैसे ही मन भी तत्–तत् समय में तत्–तत् वस्तु की अपने में ही रचना करता है ॥१९–२१॥

इसलिए सब लोग मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ इत्यादि देह के नाम से अपने को कहते हैं, एकरूप से नहीं कहते हैं, ऐसा कहते हैं।

इसलिए चित्त के समान प्रतीत आतिवाहिक सूक्ष्म देह को ही स्थूलता की भ्रान्ति से युक्त होने पर लोग तत्–तत् देह के नाम से कहते हैं ॥२२॥ सूक्ष्म वासनावाला यह चित्त जीव कहलाता है और स्थूलताभ्रम से युक्त यह चित्त देह कहलाता है, इस भेद के क्रम से जिसमें तीनों देहों का (कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल देहों का) चमत्कार विनष्ट हो गया, उस जीवको आप परब्रह्म ही समझिए ॥२३॥ हे वसिष्ठजी, इस प्रकार तन्तुओं से पट की तरह किसीकी भी देह चित्त से पृथक् नहीं है। न मैं हूँ, न अन्य है, यह सब विचित्र चित्त ही स्थित हैं। ऐन्दवों की संवित् के समान असत् ही चित्त सत्ता को प्राप्त हो गया है ॥२४॥

उनके द्वारा दूसरी सृष्टि की गई है, यह भी मेरे चित्त की ही कल्पना है, इसलिए वह सृष्टि भी मैं ही हूँ, ऐसा कहते हैं।

जैसे ऐन्दवों का मन ब्रह्मा है, वैसे ही यह मैं भी मन की कल्पना से ब्रह्मा होकर स्थित हूँ, उनके द्वारा की गई संकल्पात्मक सृष्टि भी मैं ही हूँ। कोई चित्त का विलासरूप यह मैं ब्रह्मारूप

से स्थित हूँ। परमात्मा ही सम्पूर्ण प्रपंचों से शून्य चिदाकाश से मानों पृथक् होकर देहादिरूप से प्रतीत होता है, ऐसा जानो ॥२५,२६॥ परमार्थरूपिणी शुद्ध चिति ही इस प्रकार भावना करने से जीव, तदनन्तर मन होकर व्यर्थ इस प्रकार देहता का अनुभव करती है ॥२७॥ चिद्–वपु चेतन परमात्मा ही ऐन्दवों के संसार की नाईं सर्वात्मरूप से प्रतीत होता है जैसे अपने अज्ञान से उत्पन्न हुआ स्वप्न दीर्घकालिक होकर जाग्रतस्वरूप प्रतीत होता है वैसे ही चैतन्यस्वरूप परमात्मा सर्वात्मरूप से प्रतीत होता है ॥२८॥ चूँकि सूक्ष्मतम वासनामय शब्दतन्मात्राओं के अध्यास से इस जगत् की उत्पत्ति हुई है, इसलिए यह ऐन्दवों के चित्ताकाश के समान ही उत्पन्न हुआ है। यह दो चन्द्रमाओं के भ्रम के तुल्य असत् ही है ॥२९॥

यदि उदासीन चित्त से ही इस सबकी उत्पत्ति है, तो देहादि में अहन्ता के अभिमान से यह अनुदासीनरूप कैसे प्रतीत होता है ? इस पर कहते हैं।

जो अहंरूप उदासीन–स्वभाव अनुभूत होता है, वह सत् नहीं है, क्योंकि सर्वत्र चित्त के कार्यों में उसका दर्शन नहीं होता और वह असद् भी नहीं है, क्योकि असद् की उपलब्धि नहीं होती, इसलिए वह सत्ता–असत्तारूप है यानी सत्रूप होने से वह सत् ही है, असत्स्वरूप होने से वह असत् ही है, कहीं पर उसकी प्रतीति होती है, अतएव वह सत्–सा प्रतीत होता है, कहींपर उसकी उपलब्धि नहीं होती, अतः असत्स्वरूप है यों विरुद्धस्वभाववाला प्रतीत होता है, इसलिए वह मायिक ही है, यह अर्थ है ॥३०॥

इस प्रकार जड़ाजड़ विरुद्धस्वभाव होने से भी मन मायिक ही है, ऐसा कहते हैं।

संकल्परूपी विपुलाकार मन को जड़ और अजड़–स्वरूप जानिए, ब्रह्मरूप होने के कारण वह अजड़ है और दृश्यरूप होने से जड़ है ॥३१॥

वह कब दृश्यरूप होता है और कब ब्रह्मरूप होता है ? यदि ऐसी किसीको शंका हो, तो इस पर कहते हैं।

मन दृश्य के अनुभव कालमें दृश्यकी तरह स्थित रहता है। सत्य आत्मा के सद्भाव में ब्रह्म के अनुभव से अतिरिक्त उसका विलास नहीं रहता, अतः ब्रह्म ही है, जैसे सुवर्ण में कटकत्व हाथ के अलंकरणरूप कार्य की दृष्टिसे सुवर्ण से पृथक् होता हुआ भी सुवर्णदृष्टि से सुवर्ण ही रहता है, वैसे ही मन भी ब्रह्मरूप से स्थित रहता है ॥३२॥

इस प्रकार जगत् भी जड़ाजड़रूप विरुद्धस्वभाव होनेसे मायिक ही है, ऐसा कहते हैं।

ब्रह्म सर्वमय है; इस प्रकार सभी जड़ और सभी चिन्मय ही है। ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब (चींटी) पर्यन्त सम्पूर्ण जगत् जड़ाजड़ धर्मशून्य है। युक्तिरूप दृष्टि से देखने पर एकमें उक्त उभयविधता असंभव है, ऐसा बोध होता है सही, पर परमार्थदृष्टि से तो वह धर्मशून्य है। अर्थात् परम तत्त्व में जड़त्व और चेतनत्वरूप किसी भी धर्म की स्थिति सिद्ध नहीं हो सकती ॥३३॥

यह जड़ है अथवा यह चेतन है यह व्यवस्था अनुपलब्धि के समय होती है या उपलब्धि के बाद ? पहले पक्ष में उपलब्धि का ही सम्भव न होने से उसकी सत्ता सिद्ध होती ही नहीं है,

उसकी जड़ता और अजड़ता का विचार तो दूर रहा, इस आशय से कहते हैं।

वृक्ष आदि पदार्थ चिन्मय नहीं है, अतः उनकी उपलब्धि का सम्भव नहीं है, क्योंकि सदृश वस्तुओं की (प्रमातृचैतन्य और प्रमेयचैतन्य की) सदृश सम्बन्ध से वृत्तिद्वारक ऐक्य सम्बन्ध से उपलब्धि होना प्रसिद्ध है। केवल जड़ैक्यरूपवाद में तो प्रमेयचैतन्य ही नहीं है, फिर उसके उपलम्भ (प्रत्यक्ष ज्ञान) का संभव कैसे ? ॥३४॥

भाव यह है कि विषयावच्छिन्न चैतन्य और मनोवच्छिन्न चैतन्य के इन्द्रिय द्वारा अभिन्न यानी अपृथक् होने पर प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। जो वस्तु दूर है, इन्द्रियगोचर नहीं है, उसका अनुमान आदि से ज्ञान होने पर भी वह परोक्ष है प्रत्यक्ष नहीं है। यही दर्शनशास्त्र की प्रक्रिया यहाँ पर दर्शाई गई है।

दूसरे पक्ष में कहते हैं।

प्रमेय का उपलम्भ में अन्तर्भाव होने पर उपलम्भ के विषय पदार्थ की चित्स्वभावता ही अवशिष्ट रहती है, इसलिए इस सबको अजड़ ही यानी चेतन ही समझो, क्योंकि पूर्वोक्त दो चैतन्यों का (प्रमातृचैतन्य और प्रमेयचैतन्य का) वृत्तिद्वारक ऐक्यलक्षण सम्बन्धसे ही उपलम्भ होता है, ऐसी अवस्थामें उपलम्भ न होने पर तथा उपलम्भ होने पर जड़चेतनभेद दुर्घट है ॥३५॥

जड़ और चेतन के भेद के दुर्घट होने पर जो फलित अंश निकला, उसे कहते हैं।

जैसे महामरु में पत्ते, लता आदि नहीं रहते, वैसे ही अनिर्देश्य पदमें जड़त्व, चेतनत्व आदि शब्दार्थ नहीं है ॥३६॥

उस चित् की चेत्याकार कल्पना ही मनस्त्व है। उसीमें जड़ाजड़ विकल्प होता है, उस जड़ाजड़ के विकल्प का विवेक ही निर्मनस्कता है, इस आशय से कहते हैं।

चित् की जो चेत्याकार कल्पना है, वही मनस्त्व कहा गया है, उसमें जो चिद्भाग है, वह अजड़ है और चेत्यांश में जाड्य (जड़त्व) है ॥३७॥ इसमें चिद्भाग ज्ञानांश है और चेत्यभाग जड़ दिखाई देता है। इस प्रकार जगद्भ्रान्तिको देखता हुआ जीव चंचलता को प्राप्त होता है यानी इसमें चैतन्यरूप आत्मांश की विस्मृति होनेसे जड़स्वरूप जीव-जगत्का भ्रम उत्पन्न हुआ है ॥३८॥ चित्त में स्थित चित्स्वभाव ही चित्त और जगत् इस भेद से दो प्रकार का किया गया है। इसलिए एकमात्र चिद्बुद्धि से ज्ञात यह सम्पूर्ण जगत् चित् ही है और द्वैतबुद्धि से ज्ञात भी यह जगत् चित् ही है ॥३९॥ निर्विभाग भी चेतन अन्यरूप दृश्यरूप से स्वगतभेदतुल्य अपने शरीर को देखकर भ्रमसे आर्त होकर भटकता है ॥४०॥ वास्तव में यहाँ न भ्रान्ति है, न भ्रान्तियुक्त पुरुष है, यह निश्चय है, किन्तु परिपूर्ण सागर के तुल्य स्थित हुई चिति ही जगद्भ्रान्ति आदिरूप से जानती है यानी अनुभव करती है ॥४१॥ इस चिति का सर्वरूप (जगद्रूप) जाड्य भी चिति ही है, क्योंकि उस जाड्य में तुमको चित्त्वका अनुभव होता है, यदि उसे अचिदेकस्वभाव ही माना जाय, तो उसका स्फुरण नहीं होगा और स्फुरण न होनेसे जाड्य की भी सिद्धि नहीं होगी, जैसे जड़में अवबोध है, वैसे ही चेतनमें जड़भाग भी है, ज्ञानका अंश चिद्भाव है और जड़ता का उदय अहन्ता है ॥४२॥

यदि कोई शंका करे कि अहन्ता में जड़ता कैसे है ? तो उसपर ब्रह्म से व्यावृत्त होने के कारण वह जड़ है, ऐसा कहते हैं।

पर तत्त्व में अहन्ता आदि तनिक भी नहीं है, क्योंकि वह चिदेकरस है, जैसे जलमें लहर आदि पृथक् नहीं हैं, वैसे ही वह केवल संविदेकरस है ॥४३॥

इसीलिए अहन्ताकी असत्ता भी है, ऐसा कहते हैं।

आविर्भाव को प्राप्त हुआ जो चैत्य है, उसे अहन्ता से दिखाई देनेवाला जानो, वह मृगतृष्णिका के जलके अनुरूप है। वस्तुतः वह है ही नहीं। सम्पूर्ण द्वैत का बाध होने पर भी विनष्ट न होनेवाले आत्मतत्त्व को अहन्ता का अनाश्रय जानिये और उस निरामय ज्ञानरूप चित्स्वभाव को ही लोग वासना से घनीभूत अहन्तादिरूप से जानते हैं, जैसे कि शीतलता को ही घनीभाव होने पर हिम रूप में देखते हैं ॥४४,५५॥ स्वप्न में अपने मरण के तुल्य चेतन ही जाड्य को प्राप्त करता है। सबके आत्मस्वरूप होने के कारण सम्पूर्ण शक्तियों का आविष्कार करता हुआ चेतन ज्ञान की दृढ़ता के बिना समता को प्राप्त नहीं होता ॥४६॥ पदार्थ आदिरूप से सर्वरूप मन ही वृद्धि को प्राप्त होता है, नाना प्रकार का चित्रूपी यह आतिवाहिक देह आकाश के समान निर्मलाकृति है ॥४७॥

इसका किस प्रकार ज्ञान हो सकता है ? इसका उपाय कहते हैं।

स्थूल देह आदिरूप तीन देहों की प्रतिभारूपता का त्याग कर रहे अधिकारी चित्तको ही प्रतिभासात्मक (प्रातिभासिक) चित्तका स्वयं विचार करना चाहिए ॥४८॥

विचाररूप शोधन करने पर चित्त क्या होता है ? यह कहते हैं।

चित्तरूपी ताँबे का शोधन करनेपर जब वह परमार्थरूप सुवर्णताको प्राप्त होता है, तब निरतिशय आनन्द की उपलब्धि होती है। यदि कोई कहे तब देह आदिका भी शोधन करना चाहिए, उससे भी पुरुषार्थ क्यों प्राप्त नहीं होता ? इस पर कहते हैं। देहरूप पत्थरके टुकड़ों का शोधन करने से क्या लाभ है ? अर्थात् देह आदिका शोधन वृथा है ॥४९॥

देह आदि असत् है, इसलिए भी वे शोधनयोग्य नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जो वस्तु वर्तमान रहती है, उसका शोधन होता है, उसका शोधन फलवान् है, आकाश में कल्पित वृक्षोंको शोधे जाते किसने देखा ? यदि देहादि अविद्या सत्य हो, तो उसका शोधन हो सकता है ॥५०॥ अतएव आत्मा आदि शब्द देह में प्रयुक्त किये गये भी श्रुतिमें देहवाची नहीं देखे गये, क्योंकि श्रुति असत्य अर्थ का प्रतिपादन नहीं करती है, जो असत्य का आग्रह करनेवाले देहमें दृढ़ आत्मबुद्धि करनेवाले चार्वाक आदि पामर हैं, वे आत्मादि देहवाची ही हैं, ऐसा कहते हैं। जो उनकी प्रामाणिक वस्तु का तनिक भी उपदेश करते हैं, वे पुरुशपशु हैं ॥५१॥

यदि कोई कहे अमूर्त चित्त मूर्त देहभाव को कैसे प्राप्त हुआ ? तो उसकी भावना से ही प्राप्त हुआ, ऐसा कहते हैं।

यह मन जैसी भावना करता है, तुरन्त वैसा ही हो जाता है, यहाँ पर ऐन्दव अहल्या और कृत्रिम इन्द्र आदि के निश्चय दृष्टान्त है ॥५२॥

उक्त अर्थ का ही स्पष्टरूप से प्रतिपादन करते हुए उपसंहार करते हैं।

प्रतिभासस्वरूप चित्त जब जब जिस रूप से स्फुरित होता है तब तब उस प्रकार के देह के रूप से उदित होता है। यह देह नहीं है, 'अहम्' रूप से प्रसिद्ध अहंकार भी नहीं है, इसलिए तुम एकरस स्वस्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर इच्छाशून्य होकर स्थित होओ। जैसे बालक किसी युक्ति से यक्षरहित देह में प्राप्त होकर भी यक्ष, उसकी भीषणता आदि कल्पना से भयको प्राप्त होता है वैसे ही यह मनुष्य आदिका शरीर है, यह प्रत्यक्ष देहभोग्य प्रपंच है यों अपनी कल्पना से यह आत्मा ही देह होता है और यही सम्पूर्ण भोग्य होता है। उन उन भावों को प्राप्त होने से देह आदिके नाश के पश्चात् नाश को प्राप्त होता है ॥५३,५४॥

इक्यानबेवाँ सर्ग समाप्त

बानबेवाँ सर्ग

पुनः शंका कर मन की अमोघ शक्ति की दृढ़रूप से स्थापना का तथा
पुरुषप्रयत्न की दृढ़ता होने पर यथेष्ट कार्याचरण में सामर्थ्य का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुकुलदीपक, भगवान् ब्रह्माजी ने मुझसे यह सब कहा। मैंने उनके पूर्वकथित वाक्य में अनुपपत्ति दर्शा कर फिर उनसे पूछा ॥१॥ भगवन्, आपने ही शाप, मन्त्र आदि की शक्तियाँ अमोघ हैं, ऐसा कहा है, फिर आपने ही उन्हें मोघ (व्यर्थ) कैसे कर डाला ? ॥२॥ देखा गया है कि शाप द्वारा और मन्त्र की शक्ति द्वारा प्राणियों के मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि सभी मूढ़ हो जाते हैं। देखिये न, शापसे अजगर बने हुए राजा नहुषकी स्ववंशज भीम को डँसने में प्रवृत्ति हुई थी। वैसे ही शाप से राक्षस बने हुए अतिधार्मिक राजा सौदासकी बुद्धि के व्यामोहसे ब्राह्मणवध आदि पाप में प्रवृत्ति हुई थी। शाप से गन्धर्वराज की धृतराष्ट्र जन्म में चक्षुरिन्द्रिय का विनाश हुआ था, ऐसा एक-आध जगह ही नहीं, अनेक जगह देखा गया है ॥३॥

ऐसा मानने से वरदान एवं शाप के कार्य में विरोध भी आता है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे ये वायु और स्पन्दन अभिन्न हैं, तेल और तिल अभिन्न हैं और जैसे अग्नि और उष्णता अभिन्न हैं वैसे ही मन और देह भी अभिन्न ही हैं, क्योंकि मन ही तो देह है। तात्पर्य यह है कि मन पर ही यदि वरदान या शाप का आक्रमण नहीं होता है, तो उससे अभिन्न देहमें भी उसका आक्रमण नहीं होना चाहिए ॥४॥

देह मनकी अपेक्षा न्यून सत्तावाली है, अतएव उस पर शाप आदि का आक्रमण होने पर भी मन पर शाप आदि का आक्रमण नहीं होता, यों विवर्तवाद का अवलम्बन कर उक्त दोषके परिहार की आशंका करते हैं।

यदि कहिए यहाँ देह कोई पदार्थ ही नहीं है, केवल मनसे ही स्वप्न, मृगतृष्णा और दूसरे चन्द्र के तुल्य उसका मिथ्या ज्ञान होता है ॥५॥

तो उसमें भी दूसरा दोष दर्शाते हैं।

दोनो में से एक का नाश होने पर दोनों का ही नाश अवश्य होना चाहिए। जैसे मनका विनाश होने पर देहका नाश देखा जाता है, वैसे ही देहका नाश होने पर मन का विनाश भी हो सकता है, इस प्रकार देह की मनकी अपेक्षा न्यून सत्ता सिद्ध नहीं होती बल्कि नेत्र आदि से अदृश्य होने पर प्रत्यक्षका विषय होनेसे स्वप्न आदि के समान मनकी ही देह की अपेक्षा न्यून सत्ता सिद्ध होती है, यों रज्जु का विनाश होने पर सर्प की अवस्थिति की भाँति देह का विनाश होनेसे मनकी अवस्थिति का सम्भव नहीं है, यह भाव है। हे प्रभो, मन शाप आदि दोषों से कैसे आक्रान्त नहीं होता अथवा कैसे आक्रान्त होता है ? हे परमेश्वर, यह आप कृपापूर्वक मुझसे कहिए ॥६,७॥

पहले विरोध को दूर करने के लिए वर और शाप की प्रबलतोक्तिकी औत्सर्गिकता बहुधा दृष्ट होनेके कारण अवश्य माननी चाहिए। इसकी उपपत्ति करने के लिए कर्म से उपोद्बलित पौरुषप्रबलताका, जो वर और शाप की भी हेतु है, स्मरण कराते हैं।

श्री ब्रह्माजी ने कहा : ब्रह्माण्ड में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो शुभ कर्मानुसारी शुद्ध पौरुष से मनुष्यों को प्राप्त न हो सके ॥८॥

मेरा पूर्व कथन स्थूलका ही विनाश देखा गया है, सूक्ष्मका नहीं, इस लोकदृष्ट के अनुसार है, यह कहने के लिए भिन्न स्वभाववाले दो देहों को दर्शाते हैं।

इस जगत् में ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त सदा समस्त जातियाँ और सब प्राणी दो शरीरवाले हैं ॥९॥ उनमें एक तो मनोमय शरीर है, जो शीघ्र कार्य करनेवाला और सदा चंचल है। दूसरा मांसमय शरीर है, जो अकिंचित्कर है ॥१०॥ उक्त दो शरीरों में मांसमय शरीर सभी लोगों को प्रत्यक्षरूप से ज्ञात है। उस पर शाप तथा अभिचार आदि कृत्या, शस्त्र, अस्त्र, विषआदि का आक्रमण होता है। यह मांसमय शरीर मूकप्राय, असमर्थ, दीन–हीन, क्षणमें नष्ट होनेवाला, पद्मपत्र में स्थित जल के समान चंचल तथा दैव (प्राक्तन कर्म) आदिके कारण स्थित है। यहाँ पर प्राणियों का मननामक दूसरा जो यह शरीर है, वह तीनों लोकों में प्राणियों का स्वाधीन होता हुआ भी स्वाधीन नहीं है ॥११–१३॥

उसकी स्वाधीनता की, हेतुप्रदर्शनपूर्वक, उपपत्ति करते हैं।

यदि वह अपने पौरुषका आश्रय लेकर और कभी नष्ट न होनेवाले अपने धैर्यका अवलम्बन लेकर खड़ा होता है, तो सम्पूर्ण दुःख आदि उस पर आक्रमण नहीं कर सकते हैं; दुःख आदि के हेतुओं से वह अदूषित रहता है ॥१४॥

जैसे उस पर दुःख का आघात नहीं होता वैसे ही उसकी सुखकी अभिवृद्धि भी बढ़ती है, ऐसा कहते हैं।

प्राणियों का मनोमय शरीर जैसे जैसे प्रयत्न करता है वैसे वैसे वह स्वनिश्चय के फल का भाजन होता है ॥१५॥

मांसमय देह का यह क्रम नहीं है, ऐसा कहते हैं।

मांसमय देह का कोई भी पौरुषक्रम सफल नहीं होता, मनोमय देह की सम्पूर्ण चेष्टाएँ

सफल होती हैं ॥१६॥

विषयदोष से मन दूषित होता है, अन्य दोष से नहीं, ऐसा कहते हैं।

चित्त सदा पवित्र विचार का स्मरण करता है, इसलिए जैसे पत्थरमें बाण निष्फल होते हैं वैसे ही उसमें शाप आदि निष्फल हैं ॥१७॥

शरीर जल में, अग्नि में, चाहे कीचड़ में गिर पड़े, किन्तु मन जिसका ध्यान करता है, तुरन्त उसीको प्राप्त होता है ॥१८॥ सम्पूर्ण देह आदि भावों का विनाश होने पर भी प्रयत्न समृद्ध होकर बिना किसी प्रकार की विघ्नबाधा के फल देता है। वह जो देता है वह मन ही मनका फल देता है, क्योंकि पौरुष भी तो मन से अभिन्न है ॥१९॥

जब विषयदोष में भी मन की दृढ़ता होने पर दुःखका दर्शन नहीं होता, तब पवित्र विषयमें मनकी दृढ़ता होने पर दुःख का दर्शन नहीं होता, इसमें कहना ही क्या है ? इस आशय से इन्द्रोपाख्यान आदिक का स्मरण कराते हैं।

पौरुष बल से अपने अन्दर चित्त को प्रियामय बनाकर कृत्रिम इन्द्रको उस भीषण दुःखपीड़ा का तनिक भी अनुभव नहीं हुआ ॥२०॥ शूल के अग्रभाग में स्थित माण्डव्य ऋषिने अपने पुरुषप्रयत्न से मनको रागरहित और दुःखशून्य बनाकर सम्पूर्ण क्लेशों पर विजय पाई यानी क्लेशों को क्लेशरूपसे नहीं जाना। ऋषिमाण्डव्य की कथा महाभारत आदि में प्रसिद्ध है ॥२१॥ अन्ध कुएँ में गिरे हुए दीर्घतपा नामके ऋषि को मानसिक यज्ञों से स्वर्ग प्राप्त हुआ। ऋषि दीर्घतपा भी यज्ञ करनेकी इच्छासे यज्ञ की सामग्रीका संग्रह करने के लिए आश्रम से निकले। अकस्मात् किसी अन्धे कुएँ में गिर पड़े। वहाँ यज्ञकाल के अतिक्रमण का प्रसंग होने पर मन से ही उन्होंने यज्ञ किया। उससे इन्द्र प्रसन्न हुए। उन्हें कुएँ से निकालकर अपने लोक को ले गये। यह कथा महाभारत में प्रसिद्ध है ॥२२॥ मनुष्य होते हुए भी इन्दु के पुत्रोंने पुरुषोद्योगसे (पौरूषसे) ध्यान द्वारा ब्रह्मता (ब्रह्मा का पद) प्राप्त की। उनकी ब्रह्मता का मैं भी खंडन नहीं कर सकता। और भी जो सावधान धीर देवता, महर्षि हैं, वे चित्त से अपनी उपासना का तनिक भी त्याग नहीं करते हैं ॥२३,२४॥ जैसे कमलों की चोट पत्थर को नहीं तोड़ सकती वैसे ही मानसिक व्यथाएँ, शाप और पापदृष्टिवाले राक्षस, पिशाच आदि अपने ध्येय पदार्थ में एकाग्र चित्त का तिरस्कार नहीं कर सकते ॥२५॥ जो कोई (राजा सौदास, नहुष, विश्वामित्र आदि) शाप, काम, क्रोध आदि मानसिक व्यथा रूपी बाणोंसे खण्डित हुए, उनका मन उपासना में अदृढ़पौरुष वाला और ज्ञानमें भी असमर्थ था, ऐसा मेरा तर्क है ॥२६॥

विवेक और पौरुष से दृढ़ मनमें तो इच्छित पदार्थ की क्षति नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

इस संसार में सावधान मनवाला कोई भी पुरुष स्वप्न में अथवा जाग्रत में कभी भी दोषों से जरा भी जड़ीभूत नहीं हुआ ॥२७॥ इसलिए पुरुष इस संसार में पुरुषप्रयत्न के साथ मन से ही मन को, अपने से ही अपने को पवित्र मार्ग में लगाये ॥२८॥ हे मुनिजी, जो वस्तु मन को प्रतिभासित होती है, वही अत्यन्त यथार्थ-सी ही होती है। एक क्षण में ही मन वेताल की नाईं स्थूल हो जाता है ॥२९॥

यदि कोई कहे कि ऐन्दवों का पूर्वतन मनुष्य आदि भावका प्रतिभास भी तो दृढ़ रहा, अतः उनकी मनुष्यादिभाव में स्थिति क्यों नहीं हुई ? उस पर कहते हैं।

जैसे कुलाल की (कुम्हार की) घटनिर्माणक्रिया के अनन्तर घड़ा अपनी मृत्पिण्डदशा का त्याग कर देता है, वैसे ही पुरुष उत्तर पदार्थ की वासना के अनन्तर ही पूर्व की स्थिति का त्याग कर देता है। भाव यह कि आगे की दृढ़वासना से पिछली वासना का विनाश हो जाता है॥३०॥

यदि कोई कहे पूर्ववासना के नाश से क्षीण हुई उपासना कैसे अन्य कार्य को कर सकती है ? तो इस पर कहते हैं।

हे मुनिजी, जैसे चंचल जल क्षणभरमें ऊँची तरंगके रूप में प्राप्त होता है, वैसे ही स्पन्दमात्र मन एक क्षण में ही भावितपदार्थता को प्राप्त होता है। विरोधीका विनाश करने तक ही अपने कार्य में विलम्ब होता है, उसके बाद तो कोई विघ्न न रहने से एक क्षण में उपासनाजनित वासना के विषयीभूत पदार्थता को प्राप्त होता है, इसलिए उसका नाश नहीं होता॥३१॥

यदि ऐसा है तो प्रलयकालमें आपके विरुद्ध सृष्टि की कल्पना कैसे हुई ? इस पर कहते हैं।

जिस पुरुष के नेत्र में विकार है, यानी जिसने अपनी अंगुलीसे दृष्टि बन्द की है (आँख को दबाई है), उसे जैसे दो चन्द्र देखने का अनुभव होता है, वैसे ही मन केवल अनुसन्धान से सूर्य के बिम्ब में भी रात्रि को देखता है (📖)॥३२॥

सृष्टिकर्तृत्व की तरह सृष्टिभोक्तृत्व भी मनमें ही है, ऐसा कहते हैं–

यह मन भावना से जिसे देखता है, झटपट फलरूप में परिणत हुए उसीका हर्ष और विषाद से उपभोग करता है, इसलिए जो कर्ता है, वही भोक्ता है॥३३॥

पूर्वोक्त अर्थ को उदाहरण द्वारा दर्शाते हैं।

अनुसन्धान यानी भोक्ता के अदृष्ट से उद्‌बोधित संस्कार का अनुसारी मन चन्द्रमामें भी सैंकड़ों अग्निज्वालाओं को देखकर दाह को प्राप्त होता है और जलकर दुःखी होता है। यह बात विरही पुरुषों में प्रसिद्ध है, यह अर्थ है॥३४॥ भोक्ता के अदृष्ट से उद्‌बोधित संस्कार का अनुसारी चित्त क्षार मिट्टी में रसायन को (मधुर आदि विविध रसों को) देखकर और उनका पानकर परमतृप्ति को प्राप्त होता है, मारे हर्ष के प्रसन्न होता है और नाचता है। ऊँट, बकरी आदि आक, नींब आदि के पत्ते भी बड़े चाव से खाते देखे जाते हैं॥३५॥ अनुसन्धान का अनुसरण करनेवाला मन आकाश में भी महावन को देखकर उसको काटता है और काटकर फिर उसमें वृक्ष लगाता है। हे वत्स वसिष्ठ, इस प्रकार मन जिस इन्द्रजाल की रचना करता है, उसीको शीघ्र देखता है। यह जगत् न सत् है और न असत् है, ऐसा जानकर विविध भेदों से युक्त परिच्छिन्न दृष्टिका तुम परित्याग करो॥३६,३७॥

बानबेवाँ सर्ग समाप्त

📖 उनकी सृष्टि में आपकी सृष्टि में स्थित कुछ वस्तु न तो अनुकूल है और न प्रतिकूल है उसमें उनके अनुसन्धानमात्र की अपेक्षा होती है, इसलिए प्रलयकाल में भी उसका विरोध नहीं है, यह भाव है।

तिरानबेवाँ सर्ग

ब्रह्म से मन की उत्पत्ति, उससे तैजस ब्रह्मा की उत्पत्ति,
उससे मोहवश अहंकार की उत्पत्ति तथा उससे विश्वकी उत्पत्ति का वर्णन।

पूर्वोक्त मनःपूर्वक सृष्टिक्रम का विस्तार से प्रतिपादन करने की इच्छा करनेवाले श्रीवसिष्ठजी ब्रह्मा के संवाद का उपसंहार करते हैं।

वत्स श्रीरामजी, भगवान् ब्रह्माजी ने यह सब मुझसे पहले कहा था, वही आज मैंने आपसे कह दिया है ॥१॥ अव्याकृत नामरूपवाले उस ब्रह्म से चारों ओर से अतिसूक्ष्म होनेके कारण नामसम्बन्ध के अयोग्य निर्विकल्प ज्ञान से प्रकाशित सम्पूर्ण प्रपंच उत्पन्न होता है। वह समय पाकर संकल्पविकल्परूप मननकी सामर्थ्य की उत्पत्ति से स्वयं घनता को प्राप्त होकर मन बन जाता है ॥२॥ उक्त मन तन्मात्ररूप सूक्ष्म भूतों की कल्पनापूर्वक स्वाप्न शरीर के समान वासनामय पुरुष का आकार धारण करता है। उस वासनामय पुरुषाकाररूपी उपाधि से उपहित आत्मा तेजप्रधान लिंगशरीरसमष्टिरूप उपाधिवाला होने से तैजस हो जाता है। उसीने अपना 'ब्रह्मा' यह नाम किया ॥३॥

इसलिए हे श्रीरामजी, जो यह परमेष्ठी (ब्रह्मा) है, उसीको आप मनरूप तत्त्व जानिए।

मनरूप तत्त्व के आकारवाले भगवान् ब्रह्मा संकल्पमय होने के कारण जिस वस्तु का संकल्प करते हैं, उसीको देखते हैं ॥४,५॥

यदि कोई शंका करे कि उनके संकल्प से जगत् की उत्पत्ति भले ही हो, पर जीवों का उसमें अभिमान कैसे होता है? तो उस पर कहते हैं।

तदनन्तर उन्होंने इस अविद्या की (卐) कल्पना की। वह अनात्मा में आत्माभिमानरूप है। इस रीति से उस ब्रह्मा ने पर्वत, तृण, समुद्र रूप इस जगत् की क्रम से कल्पना की। यद्यपि इस क्रम से चिदेकरस ब्रह्मतत्त्व से यह सृष्टि आई है, तथापि तार्किक लोगों को अन्य से यानी जड़ प्रधान, परमाणु आदि से यह प्राप्त हुई है, ऐसी प्रतीति होती है ॥६,७॥

एक-एक के अनेक उपादानों की कल्पना में गौरव है, अतएव परमाणुओं से जगत् की सृष्टि हुई है, यह तार्किकों का मत युक्त नहीं है। किसी कर्ता के बिना जड़ प्रधान से जगत् की विचित्र रचना नहीं हो सकती और असंग उदासीनमें कर्तृत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती, अतएव प्रधान को जगत् का कारण माननेवाले सांख्योंका मत उचित नहीं है। चित् का जड़ के आकारमें परिणाम नहीं हो सकता, इसलिए विज्ञान को जगत् का कारण माननेवाले विज्ञानवादी बौद्धों का मत ठीक नहीं है। शून्य कहींपर भी कारण नहीं देखा जाता, अतः शून्य को कारण माननेवाले शून्यवादी बौद्धों का मत भी अयुक्त है। इन पूर्वोक्त सभी पक्षों में कोई प्रमाण न होने से यह सृष्टि परमाणु, प्रधान आदि से नहीं हुई है, यह निश्चय होने पर श्रुतिरूप प्रमाण से और लाघव से भी अनिर्वचनीय मायारूप शक्तिवाले ब्रह्म का यह विवर्त है, यह मत ही शेष

卐 यहाँ पर अविद्यापद से अन्यथाग्रहणलक्षण अध्यासरूप कार्याअविद्या लेनी चाहिए।

रहा, इस आशय से कहते हैं।

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे समुद्र से तरंगों की उत्पत्ति होती है वैसे ही तीनों लोकों के मध्यवर्ती सम्पूर्ण पदार्थों की उत्पत्ति उक्त ब्रह्म से हुई है ॥८॥ जगत् की उत्पत्ति का प्रकार इस तरह दर्शाया गया है। चूँकि जगत् ब्रह्म का विवर्त ही है, अतएव परमार्थतः उत्पन्न न हुए जगत् में जो ब्रह्म का चित्तरूपी चैतन्य है, वह अहंकारसमष्टिरूप उपाधि में ब्रह्म प्रविष्ट–सा है ऐसी कल्पना कर ब्रह्मताको (परमेष्ठिता को) प्राप्त होता है ॥९॥ जो अन्य (व्यष्टिअहंकारोपाधि से उपहित) चिदाभास हैं, वे सब सर्वशक्तिमान् ब्रह्म से अभिन्न ही हैं ॥१०॥ जब यह जगत् विस्तार को प्राप्त होता है तब वे ही पितामहरूप (ब्रह्मारूप) मन से सर्वप्रथम उल्लास को प्राप्त होते हैं, वे ही सब पृथक् पृथक् चिदाभाव उपाधि की असंख्यता से असंख्य और संसरणशील जीव कहे जाते हैं ॥११,१२॥ वे चिदाकाश से ही उत्पन्न होकर मायाकाश में तन्मात्रोपाधियों के (भूतमात्रोपाधियों के) साथ मिलकर आकाश में स्थित आवह, उद्वह आदि भेदों से भिन्न वायुओं के उनचास स्तरों के मध्यवर्ती चौदह लोकों में जिस प्रकार की भूत जाति में रहने से जिस प्रकार की वासना और कर्म से अभिनिविष्ट होते हैं। उसी भूतजाति के प्राणशक्ति द्वारा स्थावर या जंगम शरीर में प्रविष्ट होकर रज–वीर्यरूप बीजता को प्राप्त होते हैं ॥१३॥ तदुपरान्त योनि से जगत् में उत्पन्न होते हैं। तदनन्तर काकतालीयन्याय के सम्बन्ध से उत्पन्न वासनाप्रवाह के अनुसार अपने कर्मफल के भागी होते हैं ॥१४॥ तदनन्तर शुभ और अशुभ वासनाओं से युक्त पुण्य–पाप कर्मरूपी रस्सियों से जिनका लिंग शरीर बँधा है, ऐसे वे जीव घूमते हुए उत्तम लोकों में जाते हैं अथवा नरकों में गिरते हैं ॥१५॥

कर्म और कर्मों की वासना में इच्छा ही कारण है, इसलिए सब जीव काममय ही हैं, ऐसा कहते हैं।

ये सब प्राणियों की जातियाँ इच्छारूप ही हैं, श्रुति भी यही कहती है, 'काममय एवायं पुरुषः' (यह पुरुष काममय ही है) ॥१६॥ कोई जीव जिनको हजारों वर्षों के बाद तत्त्वज्ञान होनेवाला है, कर्मरूपी बवँडर से भ्रान्त होकर पर्वतों के मध्य में वन के पत्तों की नाईं संसार में पड़ते हैं और इधर उधर लुढ़कते हैं, तदनन्तर मुक्त हो जाते हैं। भाव यह है कि जब तक मोक्ष न हो तब तक इच्छा के अनुसार जन्मपरम्परा होती रहती है ॥१७॥ कोई जीव, जो कि चित्सत्ता के अज्ञान से मोहित रहते हैं, अतएव असंख्य जन्मवाले हैं, चिरकाल से जन्म लेकर इस संसार में सैकड़ों कल्पों तक उत्पन्न होते हैं। कोई जीव जिनके कुछ अमनोहर जन्मान्तर बीत चुके हैं और जो इस समय शुभ कर्मों में तत्पर होकर इस जगत् में विहार कर रहे हैं, वे थोड़े ही जन्मों में मुक्त हो जायेंगे ॥१८,१९॥ जैसे वायु से उड़ाये गये समुद्र के बिन्दु समुद्र में प्रवेश करते हैं, वैसे ही जिन्होंने तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लिया है, ऐसे कोई जीव परम पद को पहले ही प्राप्त हो गये हैं। इस प्रकार परमपदरूप ब्रह्म से सम्पूर्ण जीवों की उत्पत्ति यहाँ हुई है। यह उत्पत्ति आविर्भाव (प्रकट होना) और तिरोभाव से (छिपने से) क्षण भंगुर है, विविध जन्मों से शोभायमान है, वासनारूपी विषय की विषमता से हुई व्याकुलतारूपी ज्वर को धारण करती

है, अनेक दुःखों से पूर्ण अनर्थकारी कार्यों का सत्कार करनेवाली है, अनेक दिशाओं, अनेक देशों, अनेक कालों में विविध पर्वतों की गुफाओं में कर्मफल का भोग कराती है, रची गई उत्तम विचित्रताओं से उसने चारों और भ्रमों का निर्माण कर रक्खा है, परमार्थरूप से वह असत्य है ॥२०-२३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस संसाररूपी जंगल की जीर्ण-शीर्ण लताका विक्षुब्ध मन ही शरीर है। यदि यह तत्त्वज्ञानरूपी कुल्हाड़ी से काट दी जाय, तो जैसे कटी हुई लता फिर नहीं पनपती वैसे ही फिर नहीं पनपती है ॥२४॥

तिरानबेवाँ सर्ग समाप्त

चौरानबेवाँ सर्ग

उपाधि तथा गुणों की विचित्रता से शीघ्र और विलम्ब से
मुक्त होनेवाली बारह प्रकार से भिन्न जीवजातियों का वर्णन।

किन्हीं जीवों की शीघ्र मुक्ति होती है और किन्हीं की विलम्ब से होती है, इस पूर्वोक्त मुक्ति के विभाग में भावभंगिमा से श्रीरामचन्द्रजी की विशेष जिज्ञासा ताड़ कर उसे विस्तारपूर्वक कहने के लिए श्रीवसिष्ठजी कहते हैं।

वत्स श्रीरामचन्द्रजी, सात्त्विक, तामस और राजस भेदसे उत्तम, अधम और मध्यम जीवोपाधिरूप पदार्थों की विविध भुवनों में जो उत्पत्तियाँ पहले कही हैं, उनका यह (आगे कहा जानेवाला) विभाग है, उसे मैं कहूँगा, आप सुनिए ॥१॥

(१) इदंप्रथमता (२) गुणपीवरी (३) ससत्त्वा (४) अधमसत्त्वा (५) अत्यन्ततामसी (६) राजसी (७) राजससात्त्विकी (८) राजसराजसी (९) राजसतामसी (१०) राजसात्यन्ततामसी (११) तामसी (१२) तामससत्त्वा (१३) तमोराजसी और (१४) अत्यन्ततामसी आगे कहे जानेवाले इन १४ भेदों में अन्तिम दो भेदों का पाँचवें और नवें भेद में अन्तर्भाव होने के कारण १२ भेद बचते हैं।

उनमें से पहली इदं प्रथमतानामक उत्पत्ति को दर्शाते हैं।

जिस जीव को पहले कल्प के अपने अन्तिम जीवजन्म में शम, दम आदि सर्वसाधन गुणसम्पत्ति प्राप्त होने पर भी श्रवण, मनन आदि का लाभ न होने या बलवान् विघ्न रहने से ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ, वह जीव इस कल्प में प्रथम जन्म में ही ज्ञानलाभ के योग्य बनकर उत्पन्न होता है। उस श्रेणी के जीवका वह जन्म इदं-प्रथम नाम से विख्यात होता है। यह इदंप्रथमता पूर्वकल्प के शुभाभ्यास का फल है ॥२॥

दूसरी जीवजाति को दर्शाते हैं।

वही यदि पूर्वजन्म में वैराग्य कम होने के कारण उत्तम-उत्तम लोकों की प्राप्ति के लिए किये गये उपासनारूप शुभकर्मों से युक्त हो, अतएव विचित्र संसार की वासना से भोगव्यवहारवाली हो, तो भोगों से वासना का क्षय होने पर कतिपय (दस या पन्द्रह) ही जन्मों में मोक्ष को प्राप्त करा देती है, इस कारण वह गुणपीवरी कही गई है, क्योंकि वह शान्ति, राग आदि गुणों से युक्त है ॥३॥

तीसरी जीवजाति को कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, विविध प्रकार के सुख–दुःखरूपी फलों के प्रदानरूपी मुख्य हेतुओं से पूर्वकल्प के पुण्य और पापका अनुमान करानेवाली जो जीवजाति है, उसको बुद्धिमान् पुरुष 'ससत्त्वा' कहते हैं। वह भी क्रम से सत्त्वगुणकी वृद्धि होने पर लगभग सौ जन्मों में मोक्षभागिनी होती है, यह अर्थात् प्रतीत होता है ॥४॥

चौथी जीवजाति को कहते हैं।

जो जीवजाति विचित्र संसारकी वासनाओं से युक्त हो, अत्यन्त कलुषित यानी पूर्वकल्प में संचित अत्यधिक दुष्कर्म और दुर्वासनाओंसे मलिन हो और भाँति–भाँति के भले और बुरे फलों के प्रदानरूप हेतुओं से पूर्वकल्प के धर्म और अधर्म का अनुमान कराती है, इस कारण उसे सज्जन पुरुष 'अधमसत्त्वा' कहते हैं ॥५,६॥

पाँचवी जीवजाति को कहते हैं।

पूर्वोक्त लक्षणवाली उत्पत्ति ही यदि अध्यात्मशास्त्रसे विमुख होनेके कारण असंख्य अनन्त जन्मों के बाद इस कल्प में, जिसमें मोक्षप्राप्ति संदिग्ध हो यानी किसी प्रकार मोक्ष की संभावना हो, ऐसी हो, तो उसे अत्यन्ततामसी कहते हैं ॥७॥

छठी जीवजाति को कहते हैं।

हे नृपश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, पुरुष की जो उत्पत्ति पूर्वकल्प की वासनाओंके अनुरूप हो, अतएव वैसे ही कार्य करनेवाली हो, इस कल्पके दो तीन जन्मों के मध्य में मनुष्य आदिरूप हुई हो, तदनुसार स्वर्ग, नरक आदि में पहुँचानेवाली और संदिग्धमोक्षा हो, वह लोकमें 'राजसी' कहलाती है।

सातवीं जीवजाति को दर्शाते हैं।

वह उत्पत्ति जब राजस दुःखों के अनुभव से उत्पन्न वैराग्य की समृद्धि से जिसका ज्ञानप्राप्ति योग्य जन्म संनिकट है, ऐसी होती है। महामति मुमुक्षुओं द्वारा उसी जन्म में मरनेमात्रसे वह मोक्षयोग्य कही जाती है। उसको मैंने उक्त कार्य हेतुक अनुमान से राजससात्त्विकी कहा है ॥८–१०॥

आठवीं जीवजाति को दर्शाते हैं।

वही यदि उक्त मनुष्यजन्मों से भिन्न यक्ष, गन्धर्व आदि के जन्मों से क्रमशः ज्ञानप्राप्ति द्वारा मोक्षभागिनी हो, तो उस प्रकार की उत्पत्ति को उसके ज्ञाता विद्वान् राजसराजसी कहते हैं ॥११॥

नवीं जीवजाति को दर्शाते हैं।

वही यदि चिरकाल की अभिलाषावाली होने से सैकड़ों जन्मों से मोक्षभागिनी हो और वैसे ही यानी राजस, तामस फलको देनेवाले उपासना आदि कर्मका आरम्भ करनेवाली हो, तो उस जीवजाति को सज्जनों में राजसतामसी कहा है ॥१२॥

दसवीं जीवजाति को दर्शाते हैं।

यदि वही उत्पत्ति, जिसमें हजारों जन्मों से भी मोक्ष पाने में सन्देह हो और राजस, अत्यन्त तामस आदि फल को देनेवाले उपासना आदि कर्मों के आरम्भवाली हो, तो उसको राजसात्यन्ततामसी कहते हैं ॥१३॥

ग्यारहवीं जीवजाति को कहते हैं।

कल्प के आदि में हिरण्यगर्भमें मनुष्यों की जो उत्पत्ति है, जिसमें अनेकों जन्म भोगे गयें हों और मोक्ष दूसरे कल्पमें होनेवाला हो, उसे महर्षियोंने तामसी उत्पत्ति कहा है ॥१४॥

बारहवीं को कहते हैं।

वह तामस उत्पत्ति यदि तामस जन्म से ही मोक्षकी भागिनी हो और तामस फल प्राप्त करानेवाले उपासना आदि कर्मों से शोभित होनेवाली हो, तो उसे जानकार विद्वान लोग तामससत्वा कहते हैं ॥१५॥

दानव, राक्षस, पिशाच आदि जन्म में सत्त्वगुणकी अभिवृद्धि होने से प्रह्लाद, कर्कटी आदिकी ज्ञानप्राप्ति प्रसिद्ध है, यह भाव है। राजसतामसी पहले कही जा चुकी है, उसके कार्य के हेरफेर से तेरहवीं जीवजाति को कहते हैं।

यदि रजोगुण–तमोगुण प्रचुर फलों से युक्त कुछ जन्मों के बाद ही मोक्षभागिनी उत्पत्ति हो, तो ऐसा होने पर वह रजस्तमोगुणबहुला उत्पत्ति तमोराजसनाम से प्रसिद्धि प्राप्त करती है ॥१६॥ जो उत्पत्ति पहले के हजारों जन्मों से युक्त और आगे आनेवाले सैंकड़ों जन्मों से भी मोक्ष के अयोग्य है, उसको इसीलिए उत्पत्तिविभाग जाननेवाले विद्वान् तामसतामसी कहते हैं ॥१७॥ जो उत्पत्ति पहले लाखों जन्मों से युक्त है और आगे भी लाखों जन्मों से जिसमें मोक्षप्राप्ति में सन्देह है, ऐसी उत्पत्ति अत्यन्ततामसी कहलाती है ॥१८॥ जिसकी परिपूर्णता कुछ प्रचलित हुई है, ऐसे समुद्र से जैसे लहरें उठती हैं, वैसे ही ये सम्पूर्ण भूतजातियाँ ब्रह्म से उत्पन्न हुई है ॥१९॥ अपने तेज से जिसका कलेवर चंचल हुआ है, तेजःस्वरूप दीपक से जैसे किरणें निकलती हैं, वैसे ही ये सभी जीवराशियाँ ब्रह्म से ही निकली हैं ॥२०॥ जैसे प्रज्वलित अग्नि से उसकी ज्वालाओं के बल से उत्पन्न हुई चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं वैसे ही ब्रह्म से ये सब प्राणिवर्ग उत्पन्न हुए हैं। जैसे चन्द्रमा के बिम्बसे किरणें निकलती हैं वैसे ही मन्दारकी मंजरीके सदृश ये सम्पूर्ण जीवराशियाँ उस ब्रह्म से ही उदित हुई हैं ॥२१,२२॥ जैसे वृक्ष से वृक्षरूप विविध शाखाएँ उत्पन्न होती हैं वैसे ही ये सम्पूर्ण दृश्यराशियाँ ब्रह्म से ही उत्पन्न हुई हैं ॥२३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे सुवर्ण से कड़ा, बाजूबन्द आदि आभूषण उत्पन्न होते हैं वैसे ही सभी जीवश्रेणियाँ ब्रह्म से उत्पन्न हुई हैं ॥२४॥ जैसे निर्मलकान्तिवाले झरने से जलबिन्दु निकलते हैं वैसे ही सभी जीवराशियाँ ब्रह्म से उत्पन्न हुई हैं ॥२५॥

इस प्रकार अंशांशिभाव की कल्पना द्वारा ब्रह्म से जीवों की अभेदयोग्य दिखला कर उपाधिकी असत्यता के प्रदर्शन द्वारा अभेद दिखलाते हैं।

हे श्रीरामजी, जैसे घटाकाश, बटलोई का (पतीली का) आकाश, छिद्राकाश आदि आकाश की ही रचनाएँ हैं वैसे ही अजन्मा परब्रह्म की ही सम्पूर्ण प्राणिवर्गरूप में कल्पना हुई है ॥२६॥

जैसे जल के सीकर (छोटे छोटे जलबिन्दु), जलभौंरियाँ, लहरें और बड़े जलबिन्दु जलसे ही उत्पन्न होते हैं वैसे ही ये सम्पूर्ण लोकरचनाएँ परमपद ब्रह्म से ही उदित हुई हैं ॥२७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे सूर्य के तेजसे मृगतृष्णाकी नदियाँ उत्पन्न होती हैं वैसे ही सम्पूर्ण दृश्यसृष्टियाँ ब्रह्म से ही उत्पन्न हुई हैं ॥२८॥ जैसे चन्द्रमा की चाँदनी चन्द्रमासे पृथक् नहीं है और जैसे तेजकी प्रभा तेजसे भिन्न नहीं है वैसे ही ये सब दृश्य पदार्थ द्रष्टा ब्रह्म के स्वरूप से अतिरिक्त नहीं है ॥२९॥ इस प्रकार ये विविध प्राणियों के वर्ग जिससे उत्पन्न होते हैं, उसीमें उपाधि के लयसे अभेद को प्राप्त हो जाते हैं ॥३०॥ इनमें कोई प्राणिवर्ग चिरकाल से जन्म–मरण आदि भोग रहे हैं और हजारों जन्मों के बाद वे लीन होंगे और किन्हीं के अभी कुछ ही जन्म व्यतीत हुए हैं, यों उनकी व्यवस्थिति है ॥३१॥ वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार भगवान् परब्रह्म परमात्मा की इच्छा से व्यवहार करनेवाले, उपाधिरूप शोभावाले, विलक्षण विलक्षण रूपों से युक्त पूर्वोक्त प्राणिवर्ग अग्नि से निकली हुई चिनगारियों के समान विविध जगतों में आते हैं, जाते हैं, एक जन्म से दूसरे जन्म में भ्रमण करते हैं और फिर उत्पन्न होते हैं ॥३२॥

चौरानबेवाँ सर्ग समाप्त

पंचानबेवाँ सर्ग

अज्ञानीजनों के बोध के लिए न कि वस्तुतः कर्म और कर्ता की सहोत्पत्ति का आशंकापूर्वक समर्थन।

कल्प के आरम्भ में ब्रह्म से ही सम्पूर्ण जीवजातियों का आविर्भाव होता है, इस कथन के बहाने ब्रह्म ही उपाधियों में जीवरूप से प्रविष्ट है, वह दर्शाया। ऐसी परिस्थिति में आगन्तुक जीवभावमें प्राक्तन कर्म हेतु नहीं कहा जा सकता, कारण कि प्राक्तन कर्म की सिद्धि तभी हो सकती है जब प्राक्तन कर्ता रहेगा। प्राक्तन कर्ता की सिद्धि के लिए यदि जीवको अनादि मानें, तो ब्रह्म के पूर्वोक्त औपाधिक जीवभाव का समर्थन नहीं हो सकेगा, यों दोनों प्रकार ही प्राप्त हुए दोषका दृष्टिभेद के अवलम्बन से परिहार करनेवाले गूढ़ आशयवाले श्रीवसिष्ठजी यौक्तिक दृष्टि से कर्म और कर्ता की सहोत्पत्ति पक्ष को दर्शाते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जैसे वृक्ष से फूल और उसकी सुगन्धि साथ ही साथ प्रकट होते हैं वैसे ही परस्पर अभेदकल्पना से अभिन्न आदिमें प्रकट हुए ॥१॥

भगवान् ने भी श्रीमुखसे कहा है –'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः। न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते' भगवान् न लोगों के कर्तृत्व की सृष्टि करते हैं, न कर्मोंकी सृष्टि करते हैं और न कर्मों के फल के संयोग की सृष्टि करते हैं, किन्तु जीवकी अविद्यारूप प्रकृति स्वयं कर्म आदिरूप से प्रवृत्त होती है। उनके आविर्भाव में और अभेदाध्यासमें जीवों का स्वभाव नामसे प्रसिद्ध अपना अज्ञान ही कारण है, यों दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं।

जैसे अज्ञानी लोगों की दृष्टि में विस्तृत निर्मल आकाशमें नीलिमा स्फुरित होती है वैसे ही सब संकल्पनाओं से रहित निर्मल ब्रह्म में अज्ञ लोगों की दृष्टि में ये जीव स्फुरित हुए हैं ॥२॥

अतएव यह सृष्टिवाद अज्ञानी के संमत व्यवहारभूमि में ही है, परमार्थपद में नहीं है

ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जहाँ पर अज्ञानी लोगों का व्यवहार देखा जाता है, वहींपर जीव ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं, ऐसी उक्तियाँ स्थित हैं ॥३॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥

(न प्रलय है, न उत्पत्ति है, न बद्ध (संसारी जीव) है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त है, यह परमार्थता है।) तद्तद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानभूः' इत्यादि श्रुति से लभ्य परमार्थ दृष्टि से तो न जगत् की न जीवोंकी या कर्मों की उत्पत्ति आदि का प्रतिपादन किया जा सकता है। अथवा न उनके निषेधका ही प्रतिपादन किया जा सकता है, ऐसा कहते हैं।

हे राघव, जहाँ पर ज्ञानी पुरुषों का व्यवहार है वहाँ यह ब्रह्म से उत्पन्न हुआ और यह उत्पन्न नहीं हुआ यह कथन शोभा नहीं देता है ॥४॥

यदि ऐसा है, तो ऐसी अवस्थामें परमार्थका उपदेश देनेवाले शास्त्रमें अज्ञानियों की दृष्टिसे उपपन्न होनेवाले सृष्टि आदि के कथन का क्या प्रयोजन है ? उस पर कहते हैं।

हे रामचन्द्रजी, जब तक कोई द्वितीय कल्पना प्रसिद्धि को प्राप्त न की जाय, तब तक लोकमें उपदेश्य, उपदेशक और उपदेश शोभित नहीं होते। इसलिए भेददृष्टि से शोचनीय द्वैतकल्पना का व्यवहारकाल तक–जब तक कि निश्चय से प्रमेय का निर्णय न हो जाय तब तक–संशय के साथ अंगीकार कर यह ब्रह्म है ये जीव है, यों वाणीका उपदेश दिया जाता है ॥५,६॥

लोक में अभ्युपगम्यवाद (काल्पनिकवाद) बहुधा देखा जाता है, ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार लोक में अभ्युपगम्यवाद देखा गया है।

शंका : यदि द्वैत का अंगीकार कर लिया, तो उसका खंडन क्यों करते हैं ?

समाधान : असंग अद्वितीय ब्रह्म से जगत् उत्पन्न होता है, ऐसा पहले उपदेश देनेपर जो उससे उत्पन्न होता है, वह तद्रूप ही है, क्योंकि उत्पत्ति के पहले अपने उपादान कारणमें स्थित वही आविर्भावदशा में भी हेतुगत होनेके कारण तन्मात्र होता हुआ भी भ्रान्तिज्ञान से पृथक्–सा प्रतीत होता है, अतः द्वैत बाधित होता है, यह अर्थ है ॥७॥

ब्रह्म की उपादानता तो तीनों कालों में उसीमें उत्पन्न होकर लीन होने के कारण सिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

मेरू और मन्दर के तुल्य बहुत–सी जीवराशियाँ पुनः पुनः उत्पन्न होकर उसी परमतत्त्व में लीन हो गई है। उसके बाद जैसे विविध दिशाओंमें वृक्षों में पल्लव लगते हैं वैसे ही ये अनन्त जीवराशियाँ हजारों की संख्यामें उस परमपदमें उत्पन्न होकर स्फुरित होती हैं जैसे वसन्त ऋतुमें नूतन अंकुर उत्पन्न होते हैं वैसे ही आगे भी उस परमपदमें ये जीवसमूह उत्पन्न होंगे। जैसे ग्रीष्म ऋतु में वसन्त ऋतु के रस लीन हो जाते हैं वैसे ही फिर उसीमें लीन हो जायेंगे। वे और अन्य अनेक जीवराशियाँ सदा उस परमपदमें स्थित रहती हैं, उसीसे उत्पन्न होती हैं और उसीमें लीन हो जाती हैं ॥८–११॥

हे रामचन्द्रजी, जैसे पुष्प और सुगन्धि अभिन्न हैं वैसे ही पुरुष (कर्ता) और कर्म अभिन्न हैं। ये परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं और फिर उसीमें शनैः–शनैः लीन हो जाते हैं। ये दैत्य, नाग, मनुष्य, देवता इस जगत् में वस्तुतः उत्पन्न न होते हुए भी वासनारूप भूतमात्रउपाधियों से उत्पन्न होते हैं, और तुरन्त स्फुरित होते हैं यानी गमन आदि क्रिया से युक्त होते हैं। इससे जन्म और कर्म की सहोत्पत्ति और अभेद प्रत्यक्ष दिखलाई देता है ॥१२,१३॥

उनकी उत्पत्ति में न कर्म हेतु है और न और कुछ हेतु है, क्योंकि जब पहले कर्ता रहेगा तब न कर्म होंगे, इसलिए परिशेष से केवल पूर्वोक्त अज्ञान ही उनकी उत्पत्तिमें निमित्त है, ऐसा कहते हैं।

हे सज्जनशिरोमणे श्रीरामजी, उन दैत्य, नाग, मनुष्य, देवता आदि संसारभ्रमण में आत्मस्वरूप के विस्मरण के सिवा अन्यान्य जन्मरूपी फल देनेवाला दूसरा कोई हेतु नहीं दिखाई देता ॥१४॥

तात्पर्य यह है कि कर्ता की अनादिता तो कही नहीं जा सकती, क्योंकि कर्तृत्व को यदि स्वाभाविक धर्म मानें, तो जैसे अग्नि की अनादि स्वभाववाली उष्णता हजारों उपायों से मिटाई नहीं जा सकती वैसे ही अनादि स्वभाववाले कर्तृत्वका भी हजारों उपायों से परिहार नहीं किया जा सकेगा। ऐसी अवस्थामें मोक्ष कथमपि नहीं हो सकेगा। यदि कर्तृत्वको औपाधिक मानो, तो वह उपाधि अविद्या है अथवा अन्य कुछ है ? पहले पक्षका फलतः सिद्धान्त के परिशेष पक्षमें ही अन्तर्भाव हो गया। किंच, अविद्या आत्मा में कर्तृत्व का आपादन स्वतः करती है अथवा अन्य किसीकी सहायता से ? स्वतः तो कर नहीं सकती, क्योंकि अविद्या में स्वतः कर्तृत्वापादन होने पर सुषुप्ति, मूर्च्छा और प्रलय में भी आत्मा में कर्तृत्व की आपत्ति होगी। यदि कहिये अन्य की अपेक्षासे अविद्या कर्तृत्वका आपादन करती है, तो जिसकी मुखापेक्षी होकर अविद्या कर्तृत्व का आपादन करती है वही उपाधि होगी, अविद्या उपाधि न होगी। उपाधि की तो कोई उपाधि होती नहीं। दूसरे पक्षमें भी यानी उपाधि अविद्या से अन्य है, इस पक्षमें भी वह उपाधि अविद्याकी कार्य है या स्वतन्त्र है ? स्वतन्त्र है इस पक्षमें यदि वह अनादि है, तो सुषुप्ति और प्रलयमें भी कर्तृत्व का आपादन करेगी। यदि सादि हैं, तो उससे उपहित कर्तुत्व भी सादि ही होगा, यों अनादि कर्तृसिद्धि नहीं होगी। उपाधि अविद्याकार्य है, इस पक्षमें भी यही दोष है, इसलिए यद्यपि आत्मा नित्य है तथापि कर्तृ–उपाधिसम्बन्ध के प्रतिकल्प और प्रतिदिन भिन्न अभेद भी होता है। उसमें आत्मविस्मरण ही बीज है, यह पक्ष ही यौक्तिक दृष्टि से अवशिष्ट होता है। इस पक्ष में आगे अनुपपत्ति दर्शानेवाले श्रीरामचन्द्रजी उसके अनुकूल भूमिका रचने के लिए शास्त्र का लक्षण कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, प्रामाणिक दृष्टिवाले (अलौकिक यानी धर्म और ब्रह्म में प्रमाणभूत श्रुति से जिनकी दृष्टि उत्पन्न हुई है) वीतराग मनु आदि ने धर्माधर्मरूप अर्थ में स्वमूल श्रुति से विवाद न करनेवाले (श्रुत्यविरोधी) मीमांसा के न्यायों से निर्णय करके जो जो स्मृति, पुराण कल्पसूत्र, इतिहास आदि रचे हैं वे 'शास्त्र' नाम से कहे जाते हैं। भाव यह कि

श्रुतियाँ और श्रुतिमूलक स्मृतियाँ आदि अलौकिक अर्थ में प्रमाण हैं ॥१५॥

इसी प्रकार सदाचार भी प्रमाण है, यह कहने के लिए सन्तों का लक्षण कहते हैं।

जो अत्यन्त विशुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त हैं, दुःखदायी विषयों से विचलित नहीं हो सकते हैं, राग, द्वेष आदि से रहित हैं एवं शब्द से जिसका निर्वचन नहीं हो सकता, ऐसी निरतिशय आनन्दरूप ब्रह्म की साक्षात्कारकला से सम्पन्न हैं, वे सन्त कहे गये हैं ॥१६॥ पूर्वोक्त लक्षणवाले सन्तों का सदाचार और श्रुतिस्मृतिरूप शास्त्र ये दो ही जिन्हें आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं हुआ, उन शिष्टों के सब कर्मोंकी सिद्धि के लिए यानी धर्मतत्त्व और ब्रह्मतत्त्व के ज्ञान के लिए सदा दो नेत्र हैं ॥१७॥ जो पुरुष स्वर्ग और मोक्ष के उपयोगी सम्यग् व्यवहार के लिए शास्त्रका अनुसरण नहीं करता, उसका सब शिष्ट पुरुष बहिष्कार कर देते हैं और वह दुःख में निमग्न हो जाता है। हे प्रभो, इस लोकमें प्रामाणिक पुरुषोंमें और वेदमें सदा इस प्रकार की प्रसिद्धि है कि कर्म और कर्ता हेतु और फलरूप से संसृष्ट हैं यानी कर्म और कर्ताका कार्य–कारणभाव है ॥१८,१९॥ बीज और अंकुर के सदृश कर्म से कर्ताकी सृष्टि होती है और कर्ता से कर्म का निर्माण होता है, वह न्याय लोक और वेदमें प्रसिद्ध है। जैसे बीज से नूतन अंकुर उत्पन्न होता है, वैसे ही कर्म से जन्तु उत्पन्न होता है। जैसे अंकुर से पुनः बीज होता है, वैसे ही जन्तु से कर्म होता है ॥२०,२१॥

कर्म के समान प्राक्तन वासना भी कर्ता की उत्पत्ति में हेतु है, ऐसा कहते हैं।

जिस वासना से जीव संसाररूपी पिंजड़े में प्रविष्ट किया जाता है, उस वासना के अनुरूप उसे फल का भी अनुभव होता है ॥२२॥

इस प्रकार भूमि का रचकर कर्ता और कर्म की साथ साथ उत्पत्ति होती है, इस पक्षपर आक्षेप करते हैं।

ऐसी अवस्था में जन्म के निमित्तभूत कर्म के बिना परमपदरूप ब्रह्म से प्राणियों की उत्पत्ति आपने कैसे कही ?॥२३॥ भगवन्, आपने इस सहोत्पत्ति पक्षसे इन जीव और कर्मों की जगत् में प्रमाणों द्वारा प्रसिद्ध परस्पर हेतुफलता का तिरस्कार कर दिया है ॥२४॥ अद्वय होने के कारण अपने से अतिरिक्त कारणशून्य मायाशबल ब्रह्ममें आकाश आदि से लेकर स्थूलदेहपर्यन्त भोगायतन की सृष्टि कर्मों का फल है और उसके फलरूप (कार्यभूत) हिरण्यगर्भ आदि स्थूल सूक्ष्म उपाधियों में भोग और उसकी सामग्रीकी सृष्टि फल है, यों लोकमें प्रसिद्ध इन दोनों प्रवादों का आपने खण्डन कर दिया। कर्मों के निष्फल होने पर नरक आदिका भय न होनेके कारण लोकमें सांकर्य (संकरता) होने पर जैसे बड़े मत्स्य छोटे मत्स्य को निगल जाते हैं वैसे ही बलवानों द्वारा हीनबलों की हिंसा होगी, यों नाश ही अवशिष्ट रहेगा ॥२५,२६॥ भगवन्, इसलिए आप यथार्थतः मुझसे कहिए कि किया हुआ कर्म फलरूप से अवश्य परिणत होता है या नहीं ? मेरे इस महान् संशय को आप दूर कीजिए। आप तत्त्वज्ञों में सर्वश्रेष्ठ हैं, इसलिए आपमें ही मेरे संशय को दूर करने की सामर्थ्य है ॥२७॥

इस प्रकार रामचन्द्रजीके आक्षेप करने पर प्रामाणिक आक्षेप की प्रशंसा करते हुए उसके

समाधान की प्रतिज्ञा करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी, मुझसे आपने जो यह सुन्दर प्रश्न किया, यह बहुत ही अच्छा किया। सुनिए, मैं आपसे कहता हूँ, जिससे अवश्य ज्ञान का उदय होगा ॥२८॥

सहोत्पत्ति पक्षमें भी (कर्ता और कर्मकी साथ उत्पत्ति होती है, इस पक्षमें भी) जैसे कोई दोष न आये वैसा उपपादन करने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

'यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति तत् कर्मणा करोति' (जिसका मनसे ध्यान करता है, उसे वाणी से बोलता है, उसे कर्म से करता है) इस श्रुति से मनका क्रियाकौशल–प्रतिसन्धानरूप से जो यह विकास है, वही कर्मोंका प्रसिद्ध कारण है।

शंका : क्रियाकौशलरूप से मन का विकास ही कर्मों का कारण है, यह आप कैसे जानते हैं ?

समाधान : मन के विकास के बाद ही क्रियासिद्धिरूप फल देखा जाता है, जिसमें मनका सहयोग नहीं है, ऐसी देहचेष्टा का कोई फल नहीं दिखाई देता है ॥२९॥

मन के विकास के बाद ही फल होता है, यह जो कहा था, उसे उदाहरण द्वारा दर्शाते हैं।

आदि सृष्टि में परमपदरूपी ब्रह्म से जभी मनरूप तत्त्व उत्पन्न हुआ तभी मनरूप उपाधिवाले आविर्भूत समष्टि व्यष्टि जीवों का कर्म भी उदित हुआ और जीव प्राक्तन वासना के अनुसारी देहवाला होने से देहमें अहंभाव से स्थित हुआ। इस विषयमें श्रुति भी 'तन्मनोऽकुरुतात्मन्वी स्यामिति' (उसने मैं मनसे मनस्वी होऊँ, इस अभिप्राय से मनकी रचना की) मन के जन्म के अधीन ही आत्मन्विता से कथित देहित्व और संचरण रूप कर्म दिखलाती है। 'यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति' यह दूसरी श्रुति भी है। इससे मन ही कर्ता है, आत्मा कर्ता नहीं, यह दिखलाने के लिए मैं सहोत्पत्ति यानी पुरुष और कर्म की सहोत्पत्ति पक्ष दर्शाया है, यह भाव है ॥३०॥

इस प्रकार कर्ता और कर्म के अभेद कथन से भी कर्म मनोधर्म ही है, आत्मधर्म नहीं है। यदि कर्म आत्मधर्म माना जायेगा, तो उसके कूटस्थत्व स्वभावसे विरोध होगा, यह उसे मनोधर्म कहने में तात्पर्य है, इसे दृष्टान्तपूर्वक दिखाते हैं।

जैसे परस्पर अभिन्न पुष्प और सुगन्धिका भेद नहीं है वैसे ही परस्पर अभिन्न कर्म और मनका भेद नहीं है ॥३१॥

यदि कोई कहे कर्म शब्द का यज्ञ लिया जाता है, या उससे उत्पन्न अदृष्ट ? उनमें पहला देह का धर्म है, दूसरा भोग्य में समवाय सम्बन्ध से रहता है, ऐसी अवस्था में उसकी मनोधर्मता कैसे ? इस पर कहते हैं।

इस जगत् में कर्मसंस्काररूप से मनमें स्थित क्रिया ही अदृष्ट के फलरूप से आविर्भूत होकर देह, स्वर्ग, नरक आदिरूप होती है। इस प्रकार उस कर्म का आश्रय देह भी पहले मन ही था। 'सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति' इस श्रुति से भावी देहाकारता के अभिमान को प्राप्त हुए ही मन का पूर्व देह से उत्क्रमण सुना जाता है। आतिवाहिक (सूक्ष्म) देह की ही वासना के बल से स्थूलदेहाकार में कल्पना होती है, ऐसा पहले कह आये हैं, इसलिए मन ही कर्म है ॥३२॥

इस प्रकार तुम्हारे द्वारा कहा गया कर्मों की निष्फलता का दोष भी हट गया, क्योंकि मनका कार्यभूत सम्पूर्ण प्रपंच कर्मफल है, इस आशय से कहते हैं।

वह (ऐसा) कोई पर्वत नहीं है, वह कोई आकाश नहीं है, वह समुद्र नहीं है, वह लोक नहीं है, जहाँ पर किये हुए अपने कर्मोंका फल न हो ॥३३॥ सावधान होकर किया गया सांगोपांगरूप से विराजमान कर्म चाहे वह ऐहिक हो चाहे प्राक्तन हो, पौरुष ही प्रयत्न है, वह कभी निष्फल नहीं होता ॥३४॥

भाव यह है कि अविद्या से उत्पन्न हुआ मन ही क्रियाशक्तिसम्पन्न और चैतन्यरूप आत्मा का उपाधि होने से कर्ता और भोक्ता है और वह 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' (हे सौम्य, मन अन्नमय है), 'तन्मनोऽकुरुत' (उसने स्रष्टव्य के आलोचनके योग्य मनःशब्दवाच्य संकल्प आदि रूप करण की रचना की), 'त्रीण्यात्मनेऽकुरुत मनो वाचं प्राणम्' (मन, वाणी और प्राण इन तीन अन्नों की अपने लिए सृष्टि की) इत्यादि श्रुतियों से और पूर्वोक्त युक्ति से यद्यपि प्रत्येक कल्पमें और प्रतिदिन उत्पन्न होकर लीन होता है, तथापि प्रतिदिन आविर्भूत होकर रात्रिमें छिप रही दीवार की छाया के समान तथा दर्पण को सामने से हटाने पर छिप रहे मुख के प्रतिबिम्ब के समान वही यह है, इस प्रकार अबाधित प्रत्यभिज्ञारूप प्रमाण से और उपहित आत्मा की एकता से उसका भेद नहीं होता, यों वह अनादि भी है। नाश शून्यतापत्ति नहीं है, अथवा उत्पत्ति असत् की सत्ता नहीं है, जिससे कि प्रतिदिन सुषुप्ति में उसके नाश से भेद हो। सत्कार्यवाद का आश्रय लेने से अविद्या बीजरूप से विद्यमान ही प्राक्तन कर्ता और कर्म की तथा उनके फल आकाश आदि की सहोत्पत्ति मानने पर भी कृतहानि और अकृत-प्राप्तिरूप दोष की आपत्ति नहीं होती, न शास्त्र के प्रामाण्य का बाध होता है, अथवा न मात्स्यन्याय की प्राप्ति होती है और न जन्म और कर्म की कार्यकारणताके नियम का खण्डन होता है और तिरोभूत अवस्थावाला और आविर्भूत अवस्थावाला मन ही अविद्या है, यह मानने से जीवों की उत्पत्ति में परिशेष से एकमात्र अज्ञानको मैंने जो हेतु कहा है, वह भी विरूद्ध नहीं है। यदि कोई कहे कि कर्ता और कर्म की सहोत्पत्ति और अभेद कहनेका फल क्या है ?

जैसे कृष्णता का क्षय होने पर काजल स्वयं क्षीण हो जाता है, चलनात्मक कर्म का नाश होने पर मन का क्षय हो जाता है। भाव यह कि कर्म और मनमें से एक का विनाश चाहनेवाले पुरुष को चलनात्मक प्राण के अथवा मनके निरोधरूप हठयोग या राजयोग का अभ्यास करना चाहिए, यही उनका फल है ॥३५॥ कर्म का नाश होने पर मनका नाश हो जाता है, मनका नाश होने पर कर्मका अभाव हो जाता है। योग से जनित तत्त्वसाक्षात्कार से अविद्या का नाश होने पर दोनों का आत्यन्तिक विनाश होता है अन्यथा नहीं होता, इस आशय से कहते हैं। यानी कर्म नाश होने पर मनोनाश या मनोनाश होने पर कर्म का अभाव मुक्तपुरुष का होता है; जो मुक्त नहीं है, उसका कदापि नहीं होता ॥३६॥ अग्नि और उष्णताकी भाँति सदा अभेद से मिले हुए दोनों में से-चित्त और कर्म में से-एक का अभाव होने पर दोनों ही विलीन हो जाते हैं ॥३७॥

एक का विनाश होने पर दूसरे का विनाश होता है, इसमें उपपत्ति दर्शा रहे श्रीवसिष्ठजी उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्त को सदा स्पन्दरूप विलास को प्राप्त होकर एकमात्र स्पन्दरूप (विहित और निषिद्ध के आचरण द्वारा पुण्य–पाप धर्माधर्मरूप में परिणत हुआ) कर्म जानिये और कर्म भी पुण्यपाप के फलके भोग के अनुरूप स्पन्दरूप विलास को प्राप्त होकर चित्तरूप में परिणत होता है। अतएव लोक में वे दोनों चित्त और कर्म धर्म और कर्म शब्द से कहे जाते हैं॥३८॥

पंचानबेवाँ सर्ग समाप्त

छानबेवाँ सर्ग

कर्मों की विलक्षणता से नाना प्रकार की आकृति धारण करनेवाले
मन के विविध नामों का प्रतिपादन तथा उसकी शुद्धि के लिए तत्त्व का निरूपण।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामचन्द्रजी, मन क्या है ? मन पहले अनुभव में आई हुई वस्तुओं की केवल भावना है, जो विकल्पना या विभावना शब्द से भी पुकारी जाती है। यह भावना स्पन्दरूप धर्म से युक्त होकर विहितप्रतिषिद्धरूपा क्रियामें परिणत होती है। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अदृष्टभावापन्न उस क्रिया के जन्मान्तर आदिरूप फल का सब जन्तु अनुसरण करते हैं॥१॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, मन जड़ होता हुआ भी अजड़ के सदृश आकृतिवाला है, उसका संकल्पारूढ़ रूप (आकार) आप विस्तारपूर्वक कहने की कृपा कीजिए॥२॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : रघुवर, सर्वशक्तिशालिनी माया से शबलित असीम आत्मतत्त्वका पहले रचित संकल्पशक्तिवाला जो रूप है, उसको लोग मन कहते हैं॥३॥

लोगों के आधुनिक व्यवहार में भी मन का रूप प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

यह खम्भा है या पुरुष है, यों विकल्पव्यवहारमें सत्–असत् दोनों कोटियोंमें जो भाव झूले की नाईं झूलता है और दोनों कोटियों में स्मृतिपूर्वकता को प्राप्त होता है, यानी दोनों पक्षों में अवस्थित होता हुआ भी एक पक्षमें स्थिर नहीं होता, उसे विद्वान मन का रूप कहते हैं॥४॥

आत्मा के चिद्रूप होने के कारण सदा भासित होने पर भी मैं आत्मा को नहीं जानता यह प्रतीति और अकर्ता आत्मा में कर्तृत्व की प्रतीति जिससे होती है, वह मन है, ऐसा कहते हैं।

चैतन्यस्वरूप होते हुए भी पुरुष को जिससे मैं आत्मा को नहीं जानता हूँ, और अकर्ता होते हुए भी मैं कर्म कर रहा हूँ, ऐसा निश्चय नियतरूप से होता है, वह मन का स्वरूप है॥५॥

स्पन्दरहित (निष्क्रिय) मन में इस लक्षणकी अव्याप्ति की आशंका कर कहते हैं।

इस लोक में जैसे गुणीका गुण से हीन होना संभव नहीं है, वैसे ही मनका भी कल्पनात्मक क्रियाशक्ति से रहित होना सम्भव नहीं है॥६॥ जैसे परस्पर भिन्न हुए अग्नि और उष्णता का अस्तित्व नहीं रह सकता वैसे ही भिन्न हुए कर्म और मनका तथा जीव और मनका अस्तित्व नहीं रह सकता अर्थात् जैसे अग्नि और उष्णता अभिन्न है, वैसे ही कर्म और मन तथा जीव

और मन भी अभिन्न हैं ॥७॥ एकमात्र संकल्परूप विविध विस्तार से शोभित होनेवाले फलजनक चित्तरूपी कर्म ने स्वयं ही इस नानाविध विश्व का विस्तार कर रक्खा है, जो मायामय, कारणशून्य, विविध रचनाओं से युक्त और वासना की कल्पनाओं से व्याप्त है ॥८,९॥ जैसे यहाँ पर स्थित ही ऐन्दवों ने हम लोग सत्य लोकमें स्थित हैं, ऐसी कल्पना की थी वैसे ही जिससे जहाँपर जिस वासना का जैसे आरोप किया जाता है, वहाँ पर फल देनेवाली उस वासना की कल्पनाओं से यह विश्व व्याप्त है, यह स्पष्ट हुआ ॥१०॥ उस वासनारूपी वृक्ष का कर्म बीज है, मन की गति शरीर है और सुख–दुःख आदि फल देनेवाली विविध क्रियाएँ उसकी शाखाएँ हैं, यह शास्त्र में कहा जाता है और फलतः इसका अनुभव भी होता है ॥११॥

यदि कोई कहे कि कर्म कर्मेन्द्रियों का वृत्तिरूप है, वह मनसे कैसे हो सकता है ? तो इस पर कहते हैं।

मन जिसका अनुसन्धान करता है, उसीका सम्पूर्ण कर्मेन्द्रियवृत्तियाँ सम्पादन करती है, इसलिए कर्म मन कहा गया है ॥१२॥

मन ही सर्वेन्द्रियता को धारण करता है, इसलिए यह दोष नहीं है, यह दर्शाते हुए मनके नामों को दिखलाते हैं।

मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, कर्म, कल्पना, संसृति, वासना, विद्या, प्रयत्न, स्मृति, इन्द्रिय, प्रकृति, माया, क्रिया, केवल इतनी ही नहीं और भी अनेक विचित्र शब्दोक्तियाँ ब्रह्म में कल्पित हैं। ये शब्दवैचित्र्य के सिवा और कुछ भी नहीं है। संसारमें कल्पित आगे कहे जानेवाले भिन्न–भिन्न प्रवृत्तिनिमित्त (शब्दों की अर्थबोधनशक्ति के प्रयोजक यानी शक्यताअवच्छेदक) ही इनके कारण हैं ॥१३,१४॥ अकस्मात् अपने स्वरूप का विस्मरण होने से जिसे अपने अपरिच्छिन्न दृष्टापन का (चिदेकरसता का) अनुभव नहीं हो रहा है, अतएव बाह्य कल्पना में उन्मुख चिति के ये सब नामान्तर किये गये हैं ॥१५॥

बाह्य कल्पना में उन्मुख चित् में प्रवृत्तिनिमित्त के भेद से योगरूढ़ि से पूर्वोक्त मन, बुद्धि आदि नामों की पर्यायता को, प्रत्येक के निर्वचन द्वारा, विशेषरूप से जाननेकी इच्छा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

ब्रह्मन्, चिद्घन ज्ञानघन परमात्मा के ये मन आदि पर्याय, जिनके विचित्र यौगिक अर्थकी कल्पना की गई है, कैसे प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं ॥१६॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न करनेपर क्रमशः पूर्वोक्त पन्द्रहों नामों की व्याख्या करने की इच्छावाले श्रीवसिष्ठजी पहले 'मन' नामकी व्याख्या करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, अविद्यावश मानों कलंकता को प्राप्त हुआ परम चेतन ही जब कभी स्फुरण रूप को प्राप्त होकर 'यह इस प्रकार का है, या यह इस प्रकार का नहीं है' यों विकल्परूपसे नाना प्रकार का होता है, तभी वह मनरूपसे स्थित होता है, इसलिए उसका 'मन' नाम होता है ॥१७॥

उक्त शुद्ध चेतन जब पहले ही या विकल्प के बाद विशेष भावना प्राप्त कर उक्त विकल्पकी

दो कोटियों में से एक कोटिके अनुसन्धान का निश्चय कर सुस्थिर हो स्थित होता है, तब यह वस्तु ऐसी ही है, इस प्रकार का निर्धारण करने में समर्थ 'बुद्धि' नाम से कहा जाता है ॥१८॥

जब तुच्छ देह आदि में आत्माभिमान करने से अपनी सत्ता मानता है, तब अभिमान से 'अहंकार' कहा जाता है। अहंकार ही सकल अनर्थों का मूल होनेसे संसार में बन्धन करनेवाला है ॥१९॥ जब वह शुद्ध चेतन पूर्वापर के अनुसन्धानका त्यागकर बालक की नाईं एक विषय का त्यागकर दूसरे विषयका स्मरण करता है, तब 'चित्त' नाम से कहा जाता है ॥२०॥ चूँकि कर्ता एकमात्र स्पन्दधर्म से युक्त होता है, अतः जब उक्त शुद्ध चेतन ही वास्तवमें असत् स्पन्दरूप गुण से कर्ता को गुणी करता है, और स्पन्द के फल का (शरीर और उसके अवयवों का अन्य देश में संयोग का) सम्पादन करने के लिए दौड़ता–सा है, तब कर्म कहा जाता है ॥२१॥ काकतालीय न्याय से (अकस्मात्) अन्य वस्तु के लिए अवकाश से रहित अपने स्वरूप के ज्ञानका त्याग कर यानी अपनी पूर्णता को भूलकर जब अपनी इच्छित परिच्छिन्नताकी कल्पना करता है, तब कल्पना नाम से प्रसिद्ध होता है ॥२२॥ जब शुद्ध चेतन जो पहले देखा गया हो अथवा न देखा गया हो, उसकी 'पहले मैंने इसे देखा है' इस निश्चय से हृदयमें अभिलाषा करता है, तब सृति (संसृति) नामसे कहा गया है ॥२३॥ जब शुद्ध चेतन तिरोभूत हुई पद, पदार्थ और उनकी शक्तियों के स्वरूप से शून्यप्राय अति सूक्ष्मभावमें रहता है और उसकी अन्य चेष्टाओंका अन्त हो जाता है, तब वह 'वासना' नामसे ख्यात होता है ॥२४॥ जब शुद्ध चेतन अविद्यारूप कलंक से युक्त होने के कारण उत्पन्न हुई दूसरी दृष्टि (प्रपंचप्रतीति) तीनों कालों में अविद्यमान ही है, ऐसे बोध को प्राप्त होता है, तब विद्या कहा जाता है ॥२५॥

'विस्मृतिर्मलमेव च' इस पाठ में दो नामों का साथ ही व्याख्यान करते हैं।

जब शुद्ध चेतन आत्मस्वरूप के अत्यन्त अदर्शन के लिए स्फुरण को प्राप्त होता है, तब वह मल नाम से पुकारा जाता है, आत्मस्वरूप का विस्मरण करता है, अतः 'विस्मृति' कहलाता है यह अर्थ है ॥२६॥

अथवा मिथ्या विकल्पों से विविध प्रकार के विक्षेप करता है, अतः विस्मृति कहलाता है। आवरणशक्ति की प्रधानता से मल और विक्षेपशक्ति की प्रधानता से विस्मृति कहलाता है, यह भाव है। 'प्रयत्नः स्मृतिरेव च' इस पाठ में तो अपने विनाश यानी अदर्शन के लिए स्फुरित होता है यत्न–सा करता है, अतः प्रयत्न कहलाता है और विविध वस्तुओं का स्मरण कराता है; इसलिए स्मृति कहलाता है, यों यथाकथंचित् व्याख्या करनी चाहिए।

मनःस्वरूप हुआ वह शुद्ध चेतन जब सुनकर, छूकर, देखकर, भोजन कर, सूँघकर, विचारकर यानी श्रवण आदि क्रियाओं से कार्यकारण के स्वामी जीवभाव को प्राप्त हुए परमेश्वर को आनन्दित करता है यानी भोगों द्वारा प्रसन्न करता है, तब वह इन्द्रिय कहलाता है ॥२७॥ अलक्षित परमात्मा में सम्पूर्ण दृश्यजाल की उपादन से अभिन्न कर्तारूप से रचना करता है, अतएव वह सब पदार्थों की प्रकृति कहा जाता है ॥२८॥ जब वह शुद्ध चेतन सत् को शीघ्र असत्ता को प्राप्त करता है और असत् को (देहादि को) प्रमाणसत्ता के बिना सत्ता को प्राप्त

करता है, इसलिए सत्ता और असत्ता का विकल्परूप होने से माया कहलाता है ॥२९॥ संसार और उसकी बीजरूपता को प्राप्त हुआ वह शुद्ध चेतन दर्शन, श्रवण, स्पर्श, रसन, घ्राण आदि क्रियाओं के करने से लोकमें क्रिया नाम को प्राप्त होता है ॥३०॥ अविद्यावश कलंकयुक्त हुई अतएव बाह्य कल्पना के उन्मुख वस्तुतः प्रकाशस्वरूप चिति के ये मन आदि पर्याय (नामान्तर) हैं ॥३१॥ चित्तरूपता को प्राप्त हुए अतएव प्रस्तुत संसारपद को पहुँचे हुए शुद्ध चेतनके अपने ही सैंकड़ों संकल्पों से ये नामान्तर योगरूढ़िको प्राप्त हुए हैं ॥३२॥

एक ही शुद्ध चेतन के मन, बुद्धि आदि संख्याभेदों की कल्पना कैसे हुई ? इस पर कहते हैं।

चूँकि चिति 'मैं चेतनीय हूँ यानी मैं अज्ञ हूँ' इस प्रकार स्वयं अनुभव के योग्य जो अज्ञानरूपी कलंक अथवा चेतनीयों से (विषयों से) प्राप्त जो द्वैतवासनारूपी कलंक उनकी सन्निधि से अपने पूर्व स्वरूप की विकलता से आकुल–सी होकर देह आदि जड़समुदाय के उन्मुख होती है, अतः उसके मन, बुद्धि आदि संख्याभेद की कल्पना होती है ॥३३॥

पूर्वोक्त भेदकल्पना को, पुनः विवेचनकर, कहते हैं।

वह शुद्ध चित् लोक में 'जीव' नामसे कही जाती है, 'चिति' कही जाती है और वही 'बुद्धि' कही जाती है। अथवा इस विषय को यों मनोगत करना चाहिये कि परमात्मपद से च्युत हुई अतः अज्ञानरूपी कलंकवाली संवित् की ही इस प्रकारकी नाना संकल्पनाओं को विद्वानों ने ये भिन्न नाम दे रक्खे हैं ॥३४,३५॥

वह जीव कहा जाता है, इस कथन से मनमें चेतनताकी प्राप्ति होने से अन्य दर्शनोंमें और लोकमें भी उसकी जड़ता की प्रसिद्धि होने से सन्देहमें पड़ रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

ब्रह्मन्, मन क्या जड़ है अथवा चेतन है ? हे तत्त्वज्ञ, इस प्रकार का मेरे मनमें एक निश्चय नहीं होता है ॥३६॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, मन न तो केवल जड़ है और न केवल चेतन ही है। वास्तवमें, संसारदशामें मलिन हुई अजड़ दृष्टि (चिति ही) मन शब्द से कही जाती है अर्थात् चेतन और जड़का संमिश्रणरूप होने से मन चेतन और जड़ इनमें से अन्यतर नहीं है। परमार्थरूप से तो 'मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव' (मनन करता हुआ मन होता है ये उसके कर्मप्रयुक्त नाम हैं) इत्यादि श्रुति में आत्मा के ही कर्मप्रयुक्त नामों में मनशब्द की गणना से चेतन द्रष्टा ही संसारदशामें उपाधि मलिनता का अनुभव करता है, अतः मन कहा जाता है ॥३७॥

मन जैसे चित् और अचित् से विलक्षण है वैसे ही वह सत् और असत् से भी विलक्षण है, ऐसा कहते हैं।

सत् और असत् के मध्य में वर्तमान यानी न सत् और न असत्, प्रत्येक प्राणीमें भिन्न–भिन्न, जगत् का कारणरूप जो अनिर्मल रूप है, वह चित्तनाम से पुकारा जाता है ॥३८॥

अथवा आत्मा की अज्ञात सत्ता ही मन है, ऐसा कहते हैं।

शाश्वत (अविनाशी) एकरूप निश्चय के बिना जो आत्मा की स्थिति है, वह चिति कही गई है। उससे यह जगत् उत्पन्न हुआ है। म्लानरूपवाली चिति की जो जड़ और अजड़

दृष्टियों के मध्यमें झूले की नाईं अपनी कल्पना है, वही मन कहा जाता है।

हे श्रीरामजी, चित् का बाहर औपाधिक चलनरूप मलिन और भीतर साक्षिचैतन्य के आवरणरहित होनेसे अविद्यारूप कलंक से शून्य जो रूप है, वह मन कहा जाता है। वह न जड़ है और न चेतन है, किन्तु जड़ और चेतन से विलक्षण है ॥३९–४१॥ उसके ये अहंकार, मन, बुद्धि, जीव आदि तथा अन्य भी विचित्र नाम कल्पित हुए हैं। जैसे नट अनेक विविध रूपों को प्राप्त होता है वैसे ही मन भी अन्यान्य कर्मों को प्राप्त होता हुआ अनेक नामों को धारण करता है ॥४२,४३॥ जैसे एक ही मनुष्य रसोई बनाने से पाचक, पढ़ाने से पाठक, गाँवका प्रधान होने से मुखिया यों विलक्षण अधिकारों के कारण विचित्र और विकृत (तत्–तत् कार्य का प्रकाश करनेवाले) नामों को प्राप्त होता है वैसे ही मन भी कर्मवश उक्त नामों को प्राप्त होता है ॥४४॥ हे रघुवर, जौ मैंने ये चित्तकी संज्ञाएँ कही हैं, उन्हींको अन्यान्य वादियों ने अपनी सैंकड़ों कपोलकल्पनाओं से अन्य प्रकार से कहा है ॥४५॥ अपने–अपने तर्कों के अभिमत द्रव्यत्व, गुणत्व आदि बुद्धि का मनमें आरोप कर अपनी इच्छा से उन्होंने मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि के विचित्र नामभेद किये हैं ॥४६॥

उनके कल्पनाप्रकारों का विभाग कर दिखलाते हैं।

किसी वादी के मत में मन जड़ है, किसीके मत में जीव से भिन्न है, किसीके मतमें अहंकारनाम से उसका निर्देश है और किसीके मतमें वह बुद्धि कहा गया है। हे श्रीरामचन्द्रजी, अन्तःकरण के एकरूप होने के कारण उसकी संकल्प आदि भिन्न–भिन्न वृत्तियों की सृष्टि से हुए अहंकार, मन, बुद्धि आदि भिन्न नाम जो मैंने आपसे कहे हैं, उनकी नैयायिकों ने अपनी बुद्धि के विकल्पों से अन्यथा कल्पना कर रक्खी है। वे कहते हैं – द्रव्यविशेष विभु आत्मा अहंकार (अहंप्रत्ययविषय) है, मन अणु है, वह आत्मसाक्षात्कार में कारण है और बुद्धि आत्मा का गुण है और तीन क्षणों तक रहती है। परन्तु यह उनकी अपनी कपोलकल्पना ही है। वस्तुतः ऐसा है नहीं। सांख्यों ने इनकी अपेक्षा भिन्नरूप से उनकी कल्पना की है। वे कहते हैं – सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणरूप प्रकृति का अन्तःकरणरूप पहिला परिणाम जिसका दूसरा नाम महत्तत्त्व भी है, बुद्धि है, उसका परिणाम अहंकार दूसरा तत्त्व है। मन ग्यारह इन्द्रियों के अन्तर्गत और सोलह विकारों के मध्यवर्ती है। चार्वाकों ने उनकी दूसरी ही कल्पना की है। वे कहते हैं–शरीरका ही चैतन्यरूपी गुण बुद्धि है, शरीर ही अहंकार आत्मा है तथा उसका पूर्वापरप्रतिसन्धान मन है। मीमांसकों में कोई मन को व्यापक द्रव्य मानतें हैं और कोई अन्नमय मानते हैं, उनके मतमें जड़बोधात्मक अहंकाररूप आत्मा का चिदंश बुद्धि है। जैनों के मत में मध्यमपरिमाणवाला चैतन्य रूप जीवास्तिकाय ही अहंकार है, उसका विषयाभिलाष मन है और अर्थप्रतीति बुद्धि है। इसी प्रकार बौद्ध, वैशेषिक, पांचरात्र, पातंजल, माहेश्र, नाकुल आदिने अपनी–अपनी विलक्षण कपोलकल्पनाओं से उक्त अहंकार, मन, बुद्धि आदिकी अन्यथा कल्पना की है ॥४७–५०॥

सभीका अपनी–अपनी मति के अनुसार परमात्मतत्त्वनिर्णय ही भावी फल है ऐसा कहते हैं।

जैसे अनेक पथिकों का एक ही नगर गन्तव्य होता है, वैसे ही राजस, तामस, मलिनसत्त्व, और अर्धमलिनसत्त्वप्रधान लोगों के योग्य देश और कालमें उत्पन्न हुए उक्त सभी लोगोंका–तत्–तत् बुद्धि के अनुसार फलरूप से स्थित होने में समर्थ–पारमार्थिक पद ही गन्तव्य है ॥५१॥

यदि एक ही परम पद प्राप्तव्य है, तो वे परस्पर विवाद किसलिए करते हैं ? इस पर कहते हैं।

परम पद में आरूढ़ होने की इच्छा करनेवाले वे परमार्थ वस्तु के अज्ञान से अपरमार्थ वस्तु में (अनात्म वस्तु में) यह परमार्थ है, यों विपरीत ज्ञान होने से विविध विकल्पों से (इदमित्थं इदमनित्थं यों) विवाद करते हैं ॥५२॥ जैसे पथिक अपनी–अपनी बुद्धि और रूचि के अनुसार (✍) अपने अपने गन्तव्य मार्गकी प्रशंसा करते हैं वैसे ही रजोगुणप्रधान, तमोगुणप्रधान, मलिनसत्त्वप्रधान लोगों के उचित देश, कालमें उत्पन्न हुए वादी भी अपने–अपने पक्ष की प्रशंसा करते हैं। भाव यह कि उक्त काल आदि का अनुसरण करनेवाले उन लोगों की अपने–अपने पक्ष में अभिरूचि होती है, अतः वे स्वस्वपक्ष की प्रशंसा करते हैं ॥५३॥

क्या मुमुक्षु पुरुषों के लिए भी उनके द्वारा कही गई युक्तियाँ उपादेय हैं ? इस पर, ''नहीं, मुमुक्षुओं के लिए उनकी युक्तियाँ उपादेय नहीं है , ऐसा कहते हैं।

हे रामचन्द्रजी, फल की इच्छा से फलसाधन कर्ममें जिनका चित्त आसक्त है, ऐसे लोगों के लिए उन्होंने अपनी कल्पना से प्रसूत तत्–तत् पदार्थों से अपनी–अपनी वैचित्र्य युक्तियाँ मिथ्या ही कही हैं, वे प्रमाणों में सर्वश्रेष्ठ प्रमाण उपनिषत् के सम्मत नहीं है, यह अर्थ है ॥५४॥

यों उनके मिथ्या होने पर परिशेष से हमारे द्वारा कही गई युक्तियाँ ही प्रामाणिक है ऐसा कहते हैं।

जैसे कोई ही पुरुष स्नान, दान, प्रतिग्रह आदि क्रियाओं को करता हुआ स्नायी, दाता, प्रतिग्रहीता आदि विचित्र नामों को प्राप्त होता है, वैसे ही वह मन भी विचित्र कार्य करता है, अतः कार्य के अनुसार जीव, वासना, मन आदि नाना नामों से कहा जाता है ॥५५,५६॥

अपने द्वारा कही गई युक्तियों में लोकानुभवका संवाद दिखलाते हैं।

यह सब चित्त ही है, ऐसा सभी लोगों को अनुभव होता है, क्योंकि यदि मनुष्य के चित्त न हो, तो वह लोक को देखता हुआ भी कुछ नहीं देखता है। मनयुक्त पुरुष ही भली–बुरी वस्तु को सुनकर, स्पर्शकर, देखकर, भोजन कर, सूँघकर अन्तःकरणमें हर्ष अथवा विषाद को प्राप्त होता है, मनरहित नहीं ॥५७,५८॥ जैसे आलोक रूपप्रकाशों का कारण है, वैसे ही मन

✍ उनकी बुद्धि की विचित्रता यानी भेद ही उक्त कलह में हेतु है। रुचिवैचित्र्य का कारण है, देश, काल, पात्र आदि का भेद। कोई पुरुष रजोगुणप्रधान है, तो कोई तमोगुणप्रधान है, कोई मलिनसत्त्वप्रधान है, कोई अर्धमलिनसत्त्वप्रधान है। मुख्य बात तो यह है कि जो जैसा जानता है, वह वैसा ही कहता है और करता है। उनमें से निर्मलसत्त्वप्रधान ऋषियों के श्रौत ज्ञान से जो विज्ञेय है, वही अभ्रान्त है। एवं जो केवल अपनी बुद्धि से कल्पित है, यह भ्रान्त है, परंतु काकतालीयन्याय से वह भी कभी अभ्रान्त हो जाता है।

सब पदार्थों का कारण है, जिस पुरुष का चित्त बँधा रहता है, वह बन्धन में पड़ता है और जिसका चित्त मुक्त है, यानी वासनारहित है, मैं मुक्त हूँ, यह निश्चयवाला है, वह मुक्ति को प्राप्त होता है ॥५९॥

अतएव वादियों को अपनी–अपनी वासना के अनुसार मनमें जाड्य और चैतन्य का अनुभव उत्पन्न होता है ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जो मनको जड़ कहता है, उसके मनको आप जड़ोंमें सर्वोच्च जड़ समझिये, जिसका मन चेतन है, वह मनको जड़ नहीं जानता है। यानी जो मनको चेतन जानता है उसका मन जड़ नहीं है ॥६०॥ जो यह मन पूर्वोक्त रीति से उत्पन्न हुआ, तत्त्वज्ञ लोग उसे न तो चेतन है और न जड़ है, ऐसा जानते हैं। उससे विविध सुख, दुःख और चेष्टाओं से पूर्ण यह जगत् उत्पन्न हुआ है ॥६१॥ मन के अद्वितीय ब्रह्माकार होने पर संसार का विलय हो जाता है। कलुष जल के सदृश मलिन चिद्रूप मन संसार का कारण है। मलिन चिद्रूप मनों से (समष्टिभूत मनरूप हेतुओं से) भ्रान्तिवश जगत् उत्पन्न हुआ है ॥६२॥

'कलुषित जल के समान मलिन चिद्रूप मन' इस कथन का तात्पर्य कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसलिए न तो चेतन मन संसार का कारण है और न पत्थर के समान जड़ मन ही संसार का कारण है। जैसे नील, पीत आदि रूपों का न 'भासन' शब्दसे कहा जानेवाला केवल तेज कारण है और न पृथिवी आदि कारण हैं, किन्तु त्रिवृत्करण द्वारा मलिन हुआ तेज उनका कारण है, वैसे ही केवल जड़ और केवल चेतन मन जगत् में पदार्थों का कारण नहीं है, किन्तु जड़चेतन मिश्रित मन पदार्थों का कारण है ॥६३,६४॥

मन की असत्ता में जगत् का निरूपण नहीं होता, इसलिए भी जगत् मनोमात्र है, ऐसा कहते हैं।

यदि चित्त से पृथक् जगत् नहीं है, तो जिसका चित्त लीन हो गया उसकी दृष्टि से जगत् क्या है ? यानी कुछ भी नहीं। क्योंकि चित्त का लय होने पर सब प्राणियों का सारा जगत् लीन हो जाता है। इसलिए सम्पूर्ण जगत् चित्तमात्र ही है ॥६५॥ जैसे एक ही काल ऋतुविशेषों के आविर्भावसे विचित्र आकार धारण करता है, वैसे ही एक ही मन विचित्र कर्मों के उद्रेक से विचित्र आकार धारण करता हुआ विविध नामों से प्रसिद्ध होता है ॥६६॥ यदि मन के सम्बन्ध के बिना अहंकार, इन्द्रिय और क्रियाएँ शरीर को क्षोभित करें, तो जीव आदि मनसे पृथक् हों। वादियों ने किन्हीं–किन्हीं दर्शनोंमें यानी अपने–अपने शास्त्रोंमें मनके जो भेद तर्क से कहे हैं, वे कुतर्क करनेवालों से कहे गयें हैं, प्रामाणिक वेदव्यास आदि द्वारा नहीं कहे गये हैं ॥६७,६८॥

उनकी कुतर्क की उत्पत्ति में कारण कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ये तत्त्वज्ञानी वेदव्यास आदि द्वारा कभी कहींपर न तो कहे गये हैं और न ज्ञात हैं। उक्त कुतर्कों की उत्पत्ति में अज्ञान, साम्प्रदायिकशिक्षाशून्यता तथा मनरूपी देव की स्वाभाविक कुतर्कशक्तियाँ कारण हैं, क्योंकि मनमें सब जगह दौड़नेवाली सब शक्तियाँ विद्यमान हैं ॥६९॥

तर्कों के स्थिर न होने से उनको सदा संशय ही होगा, व्यवस्थित एक पक्षका निर्णयभेद कैसे होगा ? इस पर कहते हैं।

जभी शुद्ध चित् में तनिक भी जड़शक्ति उदित होती है तभी वैचित्र्य प्राप्त होता है, भाव यह कि अपनी–अपनी कल्पना से कल्पित तर्कमें श्रद्धाजाड्य होने से उसमें वैचित्र्य होता है ॥७०॥

यदि कोई कहे कि आपके पक्षमें भी तो आपका श्रद्धा जाड्य हेतु क्यों नहीं है ? ऐसी शंका होने पर यह पक्ष मेरी स्वबुद्धि से कल्पित नहीं है, किन्तु 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात्संभवतीह विश्वम्' (जैसे मकड़ी अपने जालेको अपने से ही तानती है और अपने में लीन कर लेती है, जैसे पृथिवीमें औषधियाँ होती हैं, जैसे सत् (जीवित) पुरुष से केश और रोम निकलते हैं वैसे ही अक्षर से विश्व की उत्पत्ति होती है) इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे चेतन मकड़ी से जड़ तन्तु उत्पन्न होता है वैसे ही नित्यप्रबुद्ध परम पुरुष ब्रह्म से मन उत्पन्न होता है ॥७१॥

वादियों का श्रुति में तो आदन है नहीं, इसलिए उनकी अविद्यावश अपनी अपनी भावना ही स्थिर हुई है कि उन्होंने मनके ही नामरूपभेदों की भ्रमसे कल्पना की है ऐसा कहते हैं।

वादियों की अविद्यावश चित्तभावनाएँ स्थिति को प्राप्त हुई हैं यानी वादियोंकी मति श्रुति से परिशुद्ध नहीं है, इसलिए उन्होंने उक्त अज्ञानके वशवर्ती होकर अपनी अपनी मनोभावना को ही ठीक या अकाट्य समझा। इसलिए उन्होंने चित्तभावको प्राप्त हुए चैतन्य में भ्रान्तिवश नाम आदि भेद की कल्पना की है ॥७२॥

उक्त अर्थ को स्पष्ट करते हुए उपसंहार करते हैं।

यह मलिन चेतन ही जीव, मन, बुद्धि, अहंकार इन रूपों से ख्याति को प्राप्त हुआ है, वही इस जगत् में चेतन, चित्त और जीव संज्ञाओंसे कहा जाता है। जो वस्तु है, वह विवाद का विषय नहीं है, केवलमात्र नाम और कल्पना में विवाद है ॥७३॥

छानबेवाँ सर्ग समाप्त

सत्तानबेवाँ सर्ग

मन की सम्पूर्ण पदार्थों के आकारमें अवस्थिति का तथा
चित्ताकाश, चिदाकाश और भूताकाश का विस्तार से निरूपण।

गुरु वसिष्ठजी ने पूर्वोक्त रीति से जब मनका कार्य, मनका स्वरूप और मन के विभिन्न नाम विविध प्रकारों से श्रीरामचन्द्रजीको बतलाये, तब जो उन्होंने समझा था, उसे, गुरु की बुद्धि से संवाद करने के लिए, स्वयं श्रीमुख से श्रीरामचन्द्रजी उसे दर्शाते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन् पूर्व प्रदर्शित आपके वाक्यार्थसे 'यह ब्रह्माण्डरूपी आडम्बर मन से ही आविर्भूत हुआ है, अतः जगत् मनका ही कर्म है' यह तात्पर्य मुझे प्रतीत

होता है ॥१॥

श्रीरामचन्द्रजी ने जो तात्पर्य समझा वह ठीक समझा यों उसका अनुमोदन करने के लिए श्रीवसिष्ठजी संक्षेप और विस्तार से कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जैसे मरुप्रदेशका प्रचण्ड सूर्य के प्रकाश तेजस्विता की अप्रतीति के हेतु मृगतृष्णाजल को स्वीकार करता है वैसे ही दृढ़ भावना से उपरक्त हुए मन ने ही देदीप्यमान आत्मा की अप्रतीति के हेतु अज्ञानजाड्य का अंगीकार किया है ॥२॥ ब्रह्मात्मक इस जगत् में मन मुख्य आकृति को (जगद्रूप स्थितिको) प्राप्त हुआ है यानी मन ही ब्रह्मात्मक जगत्का संस्थापक है। कहीं पर वह नररूप से उदित हुआ है, तो कहीं पर देवरूप से उत्पन्न हुआ है, कहीं पर दैत्यरूप से उसका विकास हुआ है, तो कहीं पर वह गन्धर्वता को प्राप्त हुआ है, कहीं पर यक्षके रूप से उसका उदय हुआ है और कहींपर किन्नररूप से वह स्थित है ॥३,४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरा यह दृढ़ निश्चय है कि विविध प्रकार के आचार, आकाशप्रदेश, ग्राम, नगर आदिरूप अपनी विस्तृत आकृति से (विचित्र ढाँचे से) मनही विराजमान है। ऐसी अवस्था में शरीरसमूह तृण, काठ, लता आदि के तुल्य हैं, उनके विचार से क्या प्रयोजन निकल सकता है ? हमे ंतो केवल मनका ही विचार करना चाहिए। भाव यह है कि जैसे पृथ्वी आदि भूतों के तत्त्व को जानने की इच्छा करनेवाले के लिए तृण, काठ आदि प्रत्येक विचार करने योग्य नहीं है, वैसे ही मनके तत्त्वके जिज्ञासुओं के लिए शरीरों के समूहों का विचार करना अनावश्यक है ॥५,६॥

इस प्रकार कर्ता और कर्म के स्वरूप के ज्ञात होने पर उनके शोधनद्वारा उनके अधिष्ठान–भूत आत्मा को दिखलाने के लिए कहते हैं।

मेरा मत है कि मनने ही विविध रचनाओं से व्याप्त इस विशाल सम्पूर्ण जगत् का विस्तार किया है। मनसे भिन्न केवल परमात्मा ही अवशिष्ट रहता है, यानी परमात्मा से भिन्न सब कुछ मन के अन्तर्गत है ॥७॥

आत्मा सर्वातीत होता हुआ सर्वव्यापक और सर्वाधार है।

मन आदि में गति आदि क्रियाएँ परमात्मा के प्रभावसे ही होती हैं, स्वतः नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

आत्मा के प्रसाद से ही मन संसार में दौड़ता है, यानी संसाररूप में प्रस्पन्दित होता है ॥८॥

मन का शोधन प्रकार कहते हैं।

मेरा निश्चय है कि मन ही कर्म है और मनही तत्–तत् शरीरसमूहका कारण है। मन ही उत्पन्न होता है और मरता है। इस प्रकार के भावविकार आत्मा में नहीं है ॥९॥ विचार से मन ही विलय को प्राप्त होगा। मनके केवल विलयमात्रसे श्रेय होगा। भ्रम उत्पन्न करनेवाले मननामक कर्म का क्षय होने पर जीव मुक्त कहा जाता है, फिर इस संसार में उत्पन्न नहीं होता ॥१०,११॥

इस प्रकार मन से जगत् की उत्पत्ति भले ही हो, किन्तु कूटस्थ चिन्मात्र स्वभाववाले ब्रह्म

से मनकी तो उत्पत्ति नहीं हो सकती। 'तन्मनोऽकुरुत आत्मन्वी स्याम्' (उसने मनस्वी होऊँ, इस आशय से मन की सृष्टि की) इस श्रुति से मनकी सृष्टि बुद्धिपूर्वक सुनी जाती है। मनकी उत्पत्ति से पहले बुद्धि का सम्भव नहीं है। जो वस्तु मनसे पर्यालोचित नहीं है, उसमें अध्यवसाय कहीं पर नहीं देखा जाता, ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, आपने जीवों की जो तीन प्रकार की जातियाँ (卐) कही है और सद्-असद् रूप मनको उनका मुख्य कारण कहा है, किन्तु मुझे इस विषय में आशंका है कि बुद्धिशून्य शुद्ध चित्-नामक तत्त्वसे जगद्रूप चित्रका चितेरा मन कैसे उत्पन्न हुआ और कैसे जगद्रूप विस्तार को प्राप्त हुआ ? ॥१२,१३॥

इस आशंका का भी आगे कहे जानेवाले दृष्टिभेद के अभिप्राय से सत्कार्यवादका अवलम्बन कर समाधान करने की इच्छा करनेवाले श्रीवसिष्ठजी उसके उपयोगी तीन आकाशों की कल्पना दर्शाते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्ताकाश, चिदाकाश और तीसरा भूताकाश ये तीन आकाश विद्यमान है, जिनका उदर अत्यन्त विस्तीर्ण है ॥१४॥ ये तीनों आकाश अपने सब कार्योंमें साधारण हैं, सब स्वकार्योंमें अनुगत हैं, अतएव उनके हेतु हैं। इससे अद्वैतहानिकी शंका करना उचित नहीं है, क्योंकि इनकी पृथक् सत्ता नहीं मानी गई है। कारण कि शुद्ध चित्-तत्त्व की शक्ति से ही उन्होंने अपनी सत्ता प्राप्त की है यानी शुद्ध चित् की सत्ता से उनकी सत्ता पृथक् नहीं है ॥१५॥

तीनों आकाश जब एक ही सत्तावाले है, तो चिदाकाशमें क्या विशिष्टता है ? ऐसी स्वयं आशंका कर उसकी विशिष्टता दर्शाते हुए चिदाकाश को मायाशबल दर्शाते हैं।

जो आभ्यन्तर बुद्धि आदि और बाह्य घट-पट आदि वस्तुओं की उत्पत्ति और विनाशका साक्षी तथा बाहर और भीतर स्थित सब वस्तुओं का व्यापक है, वह चिदाकाश कहा जाता है ॥१६॥

चित्ताकाश का लक्षण कहते हैं।

जो सब व्यवहारों का हेतु होने से सब प्राणियों का हितकारी है, जो सब कार्य और कारणों का नियन्ता होने से श्रेष्ठ है, जो काल का विभाग करनेवाला है एवं जिसने अपनी कल्पना से इस सकल जगत् का विस्तार कर रक्खा है, वह चित्ताकाश कहा जाता है ॥१७॥

भूताकाशका लक्षण कहते हैं।

दस दिक्मण्डलों में जिसका विशाल कलेवर व्याप्त है और जो वायु और मेघों का आश्रय है, वह भूताकाश है ॥१८॥

चिदाकाश सन्निधानमात्र से उनका (चित्ताकाश और भूताकाशका) निमित्त है, ऐसा दिखलाते हैं।

卐 यद्यपि श्रीवसिष्ठजी ने पीछे बारह प्रकार की जीवजातियाँ कही हैं, तथापि उनका सात्त्विक, राजस और तामस रूप त्रिविधता में अन्तर्भाव मानकर यहाँ तीन प्रकार की जीवजातियाँ कही हैं।

भूताकाश और चित्ताकाश–ये दोनों चिदाकाश के बल से उत्पन्न हुए हैं जैसे दिन अपने संनिधानमात्र से विविध कार्योंका कारण है, वैसे ही चिदंश भी संनिधानमात्र से सबका कारण है ॥१९॥

जड़ अंश के मन के आकार में परिणत होने के कारण मनके प्रति मुख्य उपादान होने पर भी मन में चित् और जाड्य दोनों का अनुभव होने से चित् स्वलित जड़ ही मनोभाव में परिणत होता है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, चित् का 'मैं जड़ हूँ, मैं जड़ नहीं हूँ' इत्याकारक जो मलिन निश्चय है, उसीको आप मन जानिए। उसीसे आकाश आदि उत्पन्न हुए हैं ॥२०॥

यह मनकी सृष्टि आदि की कल्पना अज्ञानी को उपदेश देने के लिए है, वास्तविक नहीं है, परमार्थदृष्टि से शुद्ध चित् से न कुछ उत्पन्न हुआ अथवा न नष्ट हुआ, इसलिए किसी प्रकार के आक्षेप का कोई अवसर नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

तीन आकाशों की कल्पना जिसे आत्मतत्त्व अज्ञात है, उस पुरुष के लिए है। उसीके उपदेश के लिए उनकी कल्पना की गई है। आत्मतत्त्व के ज्ञाता पुरुष के लिए उनकी कल्पना नहीं की गई है ॥२१॥ प्रबुद्ध पुरुषों की दृष्टि में तो सब प्रकारकी कल्पनाओंसे रहित, सर्वव्यापक, सर्वात्मक तीनों कालों में एकरस एकमात्र परम ब्रह्म ही विराजमान है ॥२२॥ विविध वाक्यसन्दर्भोंसे परिपूर्ण द्वैत और अद्वैत के भेदोंसे अज्ञानी पुरुषको ही उपदेश दिया जाता है, ज्ञानी जनको कदापि नहीं ॥२३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जब तक आपको ज्ञान नहीं हुआ तभीतक इन तीनों आकाशों की कल्पना है और तभी तक मैं आपको उपदेश देता हूँ ॥२४॥ जैसे मरूभूमि में निपतित वनाग्निसदृश सूर्य के ताप से मृगतृष्णाकी (मरूभूमि में मिथ्या जलप्रवाह की) भ्रमवश अज्ञों की दृष्टि में उत्पत्ति होती है वैसे ही अविद्याकलंकसे युक्त चिदाकाश से भूताकाश, चित्ताकाश आदि उत्पन्न हुए हैं ॥२५॥

कार्यों में मलिनता दिखलाई देती है अतएव चित्त शुद्ध चित् का कार्य नहीं है ऐसा कहते हैं।

चैतन्य पहले अविद्यारूप मालिन्य को प्राप्त होता है तदनन्तर चित्तता को प्राप्त होकर व्याकुल चित्तरूप वह तीनों लोकरूप इन्द्रजाल की रचना करता है ॥२६॥

चित्त एकमात्र अज्ञानियों द्वारा दृश्य होने से अज्ञानकार्य है, इससे निश्चित है कि अज्ञानीकी दृष्टि से ही बन्ध है, तत्त्वज्ञकी दृष्टि से तो आत्मा नित्यमुक्त ही है, ऐसा कहते हैं।

जैसे व्यावहारिक लोग यानी अज्ञानी पुरुष (जिन्हें तत्त्वज्ञान नही हुआ या जो शास्त्रदर्शी नहीं है) अज्ञान की अधिकता से सीपके टुकड़े में रजतदृष्टि करते हैं वैसे ही अतत्त्वज्ञ लोग चिदात्मक मलिन तत्त्व को चित्तरूप से देखते हैं, तत्त्वज्ञ नहीं देखते। अपने में स्थित अज्ञान से ही बन्ध होता है और बोध के बलसे मोक्ष होता है ॥२७॥

सत्तानबेवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठानबेवाँ सर्ग

पूर्वोक्त विषयका स्पष्टरूप से ज्ञान होने के लिए चित्ताख्यानका वर्णन तथा
चित्त के तत्त्व के विचार से चित्त के विनाश का कथन।

यद्यपि आत्मा नित्यमुक्त है, तथापि उसको अपने स्वरूप के अज्ञानसे 'मैं मन हूँ' इस भ्रान्ति से बन्धनप्रतीति हुई है, इस प्रकार के निर्णय के लिए ज्ञात आत्मा से मन की उत्पत्ति विस्तारपूर्वक कही गई। यह कथन रोगनिर्णय के लिए रोग कारणभूत अपथ्य भोजन की उक्ति के सदृश है। मनस्तत्त्व का निर्णय होने पर अब उसकी चिकित्सा का प्रयत्न करना ही आवश्यक है, फिर निदानचिन्ता का कोई प्रयोजन नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, मन चाहे जिस किसीसे उत्पन्न हुआ हो, चाहे उसका स्वरूप जो कुछ भी हो, बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि उसे प्रयत्नपूर्वक अपनी मुक्ति के लिए आत्मा में समाहित करे ॥१॥

मन को आत्मा में समाहित करने का फल कहते हैं।

हे रघुकुलतिलक, परमात्मामें समाहित चित्त वासनारहित अतएव शुद्ध हो जाता है। चित्त के वासना शून्य एवं शुद्ध होनेके अनन्तर मन कल्पनाहीन होकर आत्मता को प्राप्त हो जाता है ॥२॥

यदि कोई शंका करे कि केवलमात्र चित्त के निरोध से बाह्य और आभ्यन्तर सकल द्वैतरूप बन्ध की निवृत्ति कैसे होगी ? इस पर कहते हैं।

हे रामजी, यह सारा चराचर जगत् चित्त के अधीन है, इसलिए हे रघुवर, यह स्पष्ट है कि बन्ध और मोक्ष भी चित्त के अधीन हैं ॥३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस विषयमें मेरे द्वारा कहे जा रहे अति उत्तम चित्ताख्यान को, जिसे पहले ब्रह्माजी ने मुझसे कहा था, आप प्रयत्नपूर्वक सुनिए ॥४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मृग, पक्षी आदिसे रहित, बड़े-बड़े विक्षेपों से परिपूर्ण, अतिभयंकर बड़ी विशाल एक अटवी ( ) है, वह इतनी विशाल है कि उसमें सैंकड़ों योजन भूमि परमाणु की भाँति अतिसूक्ष्म प्रतीत होती है ॥५॥ उस महाटवी में महाकाय अतिभयंकर तथा हजारों बाहुओं और हजारों नेत्रों से युक्त एक पुरुष रहता है। उसकी बुद्धि कभी ठिकाने नहीं रहती है। मैंने देखा-हजारों बाहुओंसे बहुत से मुद्‌गर को लेकर अपनी पीठपर स्वयं ही प्रहार कर रहा वह भाग रहा है। स्वयं ही अपने ऊपर दृढ़ प्रहारों से प्रहार कर रहा वह भयभीत होकर सैंकड़ों योजनों तक दौड़ रहा है। रोते-रोते भाग रहा वह इधर-उधर बहुत दूर जाकर परिश्रान्त, परवश हो गया, चलने से जर्जरित पैर और अन्यान्य अंगवाला और विवेकरूपी दृष्टिसे रहित वह विवश होकर शीघ्र महान् कूप में गिर पड़ा। वह कूप अन्धकार से कृष्णपक्षकी रात्रि की नाईं भीषण था, ऐसा भीषण कि ज्ञात होता था मानों वह आकाश का खूब गहरा कोट हो ॥६-१०॥ तदनन्तर चिरकाल के बाद उस अँधेरे कुएँ से बाहर आया और फिर अपने आप

अटवी आदि शब्दों का तात्पर्यार्थ अगले सर्ग में ग्रन्थकर्ता स्वयं ही कहेंगे।

पूर्ववत् मुद्गरों के प्रहारों से अपने को पीटता हुआ भागने लगा। तदुपरान्त बहुत दूर जाकर जैसे पतंगा आगमें प्रवेश करता है वैसे ही वह अनेक दूसरे काँटों से भी भरपूर करौंदों की लताओं से खूब आच्छन्न थोड़ी छायावाले दुःखपूर्ण करौंदे के वनकी झाड़ीमें प्रविष्ट हो गया। उस करौंदे के वन से थोड़ी ही देरमें बाहर निकल कर फिर मुद्गरों के प्रहारों से अपने ऊपर प्रहार करता हुआ भयका कोई दूसरा निमित्त न होने पर भी अपने से आप ही भागने लगा। फिर बहुत दूर जाकर चन्द्रमा की किरणों के समान शीतल बड़े मनोहर केले के वनमें बड़ा प्रसन्न हुआ–सा प्रविष्ट हुआ। क्षणभरमें उस केलेके वनसे बाहर निकल कर फिर अपने ऊपर अपने आप प्रहार करता हुआ दौड़ने लगा। फिर अति दूर जाकर विवेकदृष्टि से शून्य वह पुरुष, जिसके अंग–प्रत्यंग जर्जरित हो गये थे, जल्दी से उसी अँधेरे कुएँ में घुस गया। अँधेरे कुएँ से बाहर निकल कर केले के वन में प्रविष्ट हो गया। केले के वन से गड्ढे के समान गहरे करौंदे के वन की झाड़ी में प्रविष्ट हुआ। करौंदे के वन से अँधेरे कुएँ में गिरा, कुएँ से निकल कर दूसरे केले के वन में प्रवेश कर रहा और अपने ऊपर स्वयं प्रहार कर रहा वह स्थित था॥११–१८॥ मैंने इस प्रकार के आचरण से युक्त उसको चिरकालतक विवेकदृष्टि से देखकर तथा अपने योगबल से पकड़ कर हठात् मुहूर्तभर के लिए मार्ग में रोका और उससे पूछा तुम कौन हो, यह अपने ऊपर प्रहार आदि किसलिए कर रहे हो, यहाँ पर तुम्हें किस वस्तु की अभिलाषा है तथा तुम क्यों व्यर्थ मोह में पड़े हो ? ॥१९,२०॥

हे श्रीरघुनन्दन, मेरे यों पूछने पर उसने कहा : हे मुनिजी, मैं कोई नहीं हूँ और मैं यह कुछ भी नहीं करता हूँ॥२१॥ तुमने मुझे नष्ट–भ्रष्ट कर दिया है, इसलिए तुम मेरे शत्रु हो। तुमसे देखा गया मैं दुःख के लिए और सुख के लिए नष्ट हुआ हूँ, – ऐसा कहकर अपने विह्वल अंगों की ओर देखकर जैसे मेघ जंगलमें वृष्टि करता हुआ बड़े जोर से शब्द करता है वैसे ही भोगों से तृप्त न हुआ वह दीन–हीन पुरुष भी बड़े जोरसे रोने लगा॥२२,२३॥ एक क्षण में वहाँ पर रोना समाप्त कर वह अपने अंगों को देखकर हँसने और गरजने लगा॥२४॥ अट्टहास करने के बाद उस आदमीने मेरे सामने ही अपने उन अंगों का क्रमशः त्याग कर दिया। पहले उसका संकल्पात्मक सिर गिरा, जो कि सम्पूर्ण अनर्थों का मूल होने के कारण अतिभीषण था। तदनन्तर विकल्पाशयरूपी भुजाएँ गिरी। तत्पश्चात् विषयाभिनिवेशरूप वक्षःस्थल गिरा। उसके बाद तृष्णारूपी उदर नष्ट हुआ। इसके पश्चात् वह पुरुष उन अंगों का–एक क्षण में क्रमानुसार ज्ञान से अज्ञानका बाध होता है, इस नियतिशक्ति से–त्यागकर कहीं जाने को तत्पर हुआ। किसी गन्तव्य स्थानका निर्देश न होने के कारण वह निःस्वरूप हो गया, यह समझना चाहिए। फिर मैंने एकान्त में वैसे ही दूसरे पुरुषको देखा वह भी स्वयं अपने ऊपर अपनी बड़ी स्थूल बाहुओंसे स्वयं प्रहार करता हुआ भाग रहा था। पहले कुएँ में गिरा। कुएँसे निकलकर फिर दौड़ने लगा। फिर अन्ध कूपमें गिरा फिर पीड़ित होकर दौड़ा, फिर करौंदे के वनरूप गड्ढेमें प्रविष्ट हुआ। तदुपरान्त एक क्षण के लिए शीतल केले के वन में प्रविष्ट हुआ। कभी दुःख को प्राप्त होता और कभी सन्तोष को प्राप्त होता हुआ वह फिर अपने ऊपर स्वयं प्रहार करता,

इस प्रकार का आचरण करनेवाले पुरुष को आश्चर्यपूर्वक चिरकाल तक देखकर मैंने उसे योगबल से पकड़ा और वैसे ही पूछा। उसीसे वह पुरुष भी क्रमशः रो और हँसकर तथा अंगों से रहित होकर अदृश्य हो गया। तदनन्तर ज्ञान से अज्ञानका नाश होता है, इस नियति की शक्तिका विचार कर निःस्वरूपतापत्ति को प्राप्त होने के लिए तत्पर हुआ। फिर मैंने उसी प्रकार के दूसरे पुरुष को एकान्त में देखा, वह भी उन लोगों के समान स्वयं अपने ऊपर प्रहार करता हुआ दौड़ रहा था ॥२५-३४॥ दौड़ते-दौड़ते अन्धकाराच्छन्न बड़े भारी कुएँ में गिर पड़ा। उसकी प्रतीक्षा के लिए मैं वहाँ पर बहुत देर तक टिका रहा ॥३५॥ जब वह शठ बहुत समय बीतने पर भी कुएँसे नहीं निकला तब मैं चलने के लिए उठा। इतने में मुजे फिर वैसा ही दूसरा पुरुष दिखाई दिया। वह भी उसीके आकार का था और वैसे ही कुएँ आदि में गिर रहा था। उसे झटपट योगबल से पकड़कर मैंने उससे पूछा। हे कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी, उन्हीं के समान उसने भी मेरे प्रश्न को कुछ नहीं समझा। वह मूढ़, 'हे पापी, हे दुष्ट ब्राह्मण, तुम कुछ नहीं जानते हो', ऐसा मुझसे कहकर अपने कार्य में तत्पर होकर चला गया। इसके बाद उस महाअरण्य में विचरण कर रहे मैंने बहुतसे वैसे दोषकारी पुरुषों को देखा। उनमें कुछ तो मेरे द्वारा प्रबोधित होकर स्वप्नभ्रम की नाईं पूर्वोक्त स्वरूपनाशरूप उपशम को प्राप्त हुए, कुछ लोगों ने मेरे उपदेश की शव के शरीर के समान उपेक्षा और घृणा की और कोई लोग अन्धकूपमें गिरकर फिर उनसे बाहर निकले। कोई शीतल केले के वनसे बहुत समय बीतने पर भी बाहर नहीं निकले यानी वहीं ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो गये। कोई विशाल करौंदे के वन के गुल्ममें दीर्घकाल तक छिपे रहे ॥३६-४२॥ काम्य धर्मों में तत्पर कोई पुरुष कहींपर भी स्थिरता को प्राप्त नहीं होते हैं। हे रघुकुलदीप, इस प्रकारकी वह विस्तृत महाटवी आज भी विद्यमान है, जिसमें इस प्रकार वे पुरुष स्थित हैं। आपसे सब व्यवहारवाली वह महाटवी आपने देखी है। हे श्रीरामजी, बुद्धिरूपी सार वस्तु के अप्रौढ़ होने के कारण आपको उसका स्मरण नहीं होता है। उक्त महाटवी यद्यपि बड़ी भयंकर विविध प्रकार के काँटों से परिपूर्ण, निबिड़ अन्धकार से व्याप्त और घोर है तथापि अधिकारी द्विजाति आदि जन्ममें साधनसम्पत्तिरूप सुख पाकर भी अभाग्यवश जिन्हें परमात्मबोध नहीं हुआ ऐसे लोग विषयासक्ति से उसका फूलों से परिपूर्ण उद्यानवाटिका के समान सेवन करते हैं ॥४३-४५॥

अट्ठानबेवाँ सर्ग समाप्त

निन्यानबेवाँ सर्ग

पूर्व सर्ग में कहे गये चित्ताख्यान का क्रम और और व्युत्क्रमसे तात्पर्य वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन् – वह महाटवी कौन है, मैंने उसे कब और कैसे देखा, वे पुरुष कौन हैं और अपने शरीरपर प्रहार करने तथा कुएँ और करौंदे के वन आदि में प्रवेश करने के लिए वे क्यों उद्यत हुए (✍) ? ॥१॥

✍ किसी पुस्तक में 'किंतत्कर्तृकृतोद्यमाः' ऐसा भी पाठ है। उक्त पाठ में श्रीरामचन्द्रजी का

वास्तव में ब्रह्म ही मिथ्याभूत स्वर्ग, नरक आदि वैचित्र्य की कल्पना से संसाराटवी है और उसकी कल्पना करनेवाले मन ही वे पुरुष हैं, इसलिए वे लोग कोई दूर के मैंने कहे हैं, सो बात नहीं है, ऐसा कहते हैं।

श्री वसिष्ठजी ने कहा : हे रघुनाथजी, हे महाबाहो, आप सुनिये, मैं आपसे सब कहूँगा। हे श्रीरामचन्द्रजी, न तो वह महाटवी कहीं दूर है और न वे मनुष्य ही दूरवर्ती हैं। हे रामचन्द्रजी, अतिगंभीर और अपार (अनन्त) लोकों से पूर्ण जो यह संसारपदवी है, उसे आप परमार्थदृष्टि से उसकी सत्ता न होने के कारण शून्य और भ्रान्तिदृष्टि से तो उसकी सत्ता होने से विविध विकारों से पूर्ण महाटवी जानिये ॥२,३॥

यदि कोई शंका करे कि कब वह शून्य होती है अथवा ऐसी वह किस उपाय से प्राप्त होती है, तो इस पर कहते हैं।

यह जब अद्वितीय वस्तु से (ब्रह्म से) ही पूर्ण होती है, अन्य वस्तु से इसका कोई संपर्क नहीं रहता है तभी यह शून्य सी होती है। इस प्रकार की (शून्य–सी) यह 'तत्–त्वम्' पदार्थशोधनात्मक केवल विचाररूपी प्रकाश से प्राप्त होती है ॥४॥ उसमें जो ये विशाल कलेवरवाले पुरुष घूमते है, उन्हें आप बड़े भारी क्लेश में डूबे हुए मन जानिये। जो यह 'मैं' उनका द्रष्टा हूँ, वह विचार (तत्–त्वम्–पदार्थशोधनरूप विचाररूप) है, हे पुण्यमय, उक्त विचाररूप मैंने उनको देखा है और किसीने उन्हें नहीं देखा है ॥५,६॥ जैसे सूर्य निरन्तर प्रकाश से कमलों को प्रफुल्लित करता है वैसे ही उन्हीं मनों को विवेकरूप मैं प्रबुद्ध करता हूँ ॥७॥ हे महामते, उनमें से कई एक मन विवेक के प्रसाद से तत्त्वज्ञानको प्राप्त कर मनोभाव का नाश होनेसे मुक्ति को प्राप्त हुए हैं ॥८॥ उनमें से कई मन अज्ञानवश विवेकरूप मेरा अभिनन्दन नहीं करते हैं। विवेकरूप मेरा तिरस्कार करने से यानी विचारकी उपेक्षा करने से वे कुओं में ही नीचे गिरते हैं ॥९॥ हे रघुकुलमणे, जो ये मैंने अन्धकूप कहे हैं, वे घोर नरक हैं। जो मन केले के वन में प्रविष्ट हुए हैं, उन्हें आप एकमात्र स्वर्ग में प्रीति रखनेवाले मन जानिये, यानी जो मैंने कदली के वन कहे हैं, वे स्वर्ग हैं। हे रामचन्द्रजी, जो अन्धे कुओं के अन्दर प्रविष्ट हुए फिर उनसे निकले नहीं, उन्हें आप महापातकी चित्त जानिये। हे रघुवर, केले के वनों में स्थित जो मन वहाँ से चिरकाल बीतनेपर भी नहीं निकले, वे प्रचुरपुण्यराशि से सम्पन्न चित्त हैं। हे रघुनन्दन, जो करौंदे के वनमें जाकर उससे बाहर नहीं निकले, वे मनुष्यभावमें परिणत चित्त हैं। मनुष्यजन्म में कोई तत्त्वज्ञान प्राप्त कर (卐) बन्धन से मुक्ति

आशय यह है कि स्वतः अपने लिए अनिष्ट स्वशरीरप्रहार आदि में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए कहना होगा कि वह प्रवृत्ति किसी दूसरे से हुई 'किस उनके कर्तासे (जबरदस्ती वैसे अनिष्टमें नियुक्त करनेवाले किस हेतुभूत से) वे स्वतः अपने ऊपर प्रहार आदिमें उद्यत हुए– यह अर्थ है। 'कश्चाऽसौ तत्कर्ता कितत्कर्ता तेन कृतोद्यमाः' ऐसा समास करना चाहिए।

卐 मनुष्य देह में वैराग्य आदिका विशेषरूप से संभव है, इसलिए मनुष्यदेह में ज्ञान का अधिकार मुख्य है, यह सूचित करने के लिए 'संप्रबुद्धनि' (तत्त्वज्ञान को प्राप्त हुए) कहा है।

पा गये हैं। उनमें से कई एक मन से बहुत रूप धारण कर एक योनिसे दूसरी योनि में प्रवेश करते हैं, वे मन भूमि में मनुष्य आदि रूपसे स्थित होते हैं, नरकों में गिरते हैं और स्वर्ग में जाते हैं ॥१०–१५॥ जो वह करौंदे का वन है, उसे कुटुम्बस्नेह से युक्त, दुःखरूपी कण्टकों से व्याप्त तथा पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से पूर्ण मनुष्यजन्म कहते हैं ॥१६॥ जो मन करौंदे के वन में प्रविष्ट कहे गये हैं, उन मनों को आप मनुष्ययोनि में उत्पन्न हुए और वहीं पर रमे हुए यानी विषयों के स्वादमें तत्पर हुए जानिये ॥१७॥ हे रघुकुलदीपक, चन्द्रमा की किरणों की नाईं शीतल जो कदलीवन पीछे कहा गया है, उसे चित्त को प्रसन्न करनेवाला स्वर्ग जानिये ॥१८॥ उनमें से कई एक मन शास्त्र द्वारा विहित, ध्येय तत्त्व में मन लगानारूप धारणाप्रधान उपासनात्मक तपसे ग्रह, सप्तर्षि, ध्रुव आदिका शरीर धारण करते हैं, वे औरों की अपेक्षा तेज और भोग की अधिकता से और तत्त्वज्ञानसे अभ्युदययुक्त होकर चिरकाल से स्थित हैं ॥१९॥ जिन अज्ञानी पुरुषोंने बुद्धि अथवा चित्त से विचाररूप मेरी उपेक्षा की यानी विचारोद्योग नहीं किया, ऐसा मैंने जो कहा, वह उन अज्ञानी मनोंने अपने विवेकका तिरस्कार किया। तुमसे देखा गया मैं विनष्ट हो गया हूँ तुम मेरे शत्रु हो, जो यह कहा, वह तत्त्वज्ञान से जर्जरित हो रहे (गल रहे) चित्त ने विलाप किया ॥२०,२१॥ हे रामचन्द्रजी, जो मैंने कहा कि पुरुषने बड़े तार स्वर से बहुत रोदन किया, वह भोगसमूह का त्याग कर रहे मनने रोदन किया। जिसे आधा विवेक प्राप्त हो गया है, परमपद प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसे चित्त को भोगों का त्याग करने में अत्यन्त परिताप होता है ॥२२,२३॥ बड़े खेद की बात है, इन अंगोंका परित्याग कर कहाँ जाऊँ, यों रो रहे थोड़े बहुत विवेक को प्राप्त हुए मनने बड़ी करुणा से अपने अंग देखे ॥२४॥ जिसे आधा विवेक प्राप्त हो गया है, निर्मल पद प्राप्त नहीं हुआ, ऐसे चित्त को अपने स्नेह, लोभ आदि अंगों का त्याग करते बड़ा परिताप होता है ॥२५॥ मेरे परिज्ञान (तत्त्वज्ञान) से पुरुष ने आनन्दमय हास किया, ऐसा जो मैंने कहा, वह चित्त को, जिसे पूर्ण विवेक हो गया था, आनन्द प्राप्त हुआ ॥२६॥ जिसे पूर्णरूप से विवेक की प्राप्ति हो गई है तथा जिसने संसारस्थितिका परित्याग कर दिया है, ऐसे चित्त को अपने रूपका परित्याग करते महान् आनन्द होता है ॥२७॥ हँस रहे पुरुष ने उपहासपूर्वक अपने अंग-प्रत्यंग देखे, ऐसा जो मैंने कहा था, उसका यह अर्थ है कि मनने अपनी वंचना के निमित्त लोभ, स्नेह आदि देखे ॥२८॥ मिथ्या विकल्पों से कल्पित विषयों से मैं चिरकालतक ठगा गया, यों उपहास से चित्त ने अपने अंगों की ओर देखा। मन जब विवेक प्राप्त कर विस्तृत पदमें (परम पद में) विश्रान्त होता है तब प्राक्तन अपनी दीनता के आधार विषयों को हँसता हुआ दूरसे देखता है। मैंने उस पुरुष को योगबल से पकड़कर बड़े जतन से पूछा, इसका मतलब विवेक जबरदस्ती चित्त को व्याप्त करता है, यह दर्शाने में है ॥२९–३१॥ छिन्न-भिन्न हुए अंग मेरे सामने अन्तर्हित हो गये, ऐसा जो मैंने कहा उससे चित्त के बिना अर्थसहित आशा शान्त हो जाती है, यह दर्शाया है। भाव यह कि मन का बाध होने पर विषयों के साथ विषयों की आशा भी निवृत्त हो जाती है, यह दर्शाया है ॥३२॥ जो मैंने पुरुष के हजारों नेत्रों

और भुजाओं का वर्णन किया है, उससे चित्त की असंख्य आकृतियाँ हैं, यह दर्शाया है ॥३३॥ जो यह वर्णन किया है कि पुरुष अपने–आप अपने ऊपर प्रहार करता है, वह विविध कुकल्पनारूपी आघातों (प्रहारों) से मन अपने ऊपर प्रहार करता है, यह दर्शाया है। अपने ऊपर प्रहार करता हुआ पुरुष अपने से भागता है यह जो वर्णन किया है, उससे अपने वासनारूपी प्रहारों से मन भागता है, यह दर्शाया है। मन अपने–आप अपनी इच्छा से अपने ऊपर प्रहार करता है और स्वयं भागता है, अज्ञान की महिमा को तो देखिये। यद्यपि मनों में ब्रह्मपद का ज्ञान प्राप्त करने की स्वरूपयोग्यता है, तथापि सभी मन अपनी–अपनी वासना से सन्तप्त हैं यानी विक्षोभित हैं; अतएव स्वयं ही भागते हैं ॥३४–३७॥ जो यह दुःख विस्तार को प्राप्त हुआ है, उसको मन ही स्वयं बढ़ाता है। फिर स्वयं ही बन्धन में पड़ता है वैसे ही मन अपने संकल्पवासनाजालों से स्वयं ही बन्धन में पड़ता है ॥३८,३९॥ जैसे बालक अपने ऊपर पड़नेवाले अनर्थ (दण्ड) की कोई परवाह न कर नानाविध दुर्लीलाओं से खेलता है और अनर्थको प्राप्त होता है वैसे ही चंचल मन भी अपने भावी दुःखकी ओर कुछ भी ध्यान न देकर जैसे–जैसे अनर्थको प्राप्त होता है वैसे–वैसे दुष्ट लीलाओं द्वारा खेल करता है ॥४०॥

इस विषय में लौकिक गाथा का उदाहरण देते हैं।

जैसे आधे चीरे हुए खम्भे में डाली हुई कील को उखाड़नेवाला वानर, यह ध्यानमें न रखकर कि कील निकालने से काठ के छिद्र के बीचमें स्थित मेरे वृषण दब जायेंगे, दुःख पाता है, वही दशा मन की भी है (*) ॥४१॥

यदि कोई कहे कि योग आदि से निरूद्ध चित्त भी विक्षेपों द्वारा यदि भागता है, तो परमपद प्राप्तिरूप इष्टसिद्धि कैसे होगी ? इस पर कहते हैं।

एक बार के निरोध से इष्टसिद्धि नहीं होती है, किन्तु चिरकालतक निरोधकी रक्षा करने से और चिरकालतक असंग अद्वितीय आत्मा की भावनासे अभ्यासवश तुच्छता को प्राप्त (ज्ञान से बाध्य) होकर फिर मन शोक नहीं करता है ॥४२॥

मन ही प्रमाद और विवेक से बन्ध और मोक्ष को धारण करता है, यह फलित अर्थ कहते हैं। मन के प्रमाद से विविध दुःख पर्वतके शिखर के समान बढ़ते हैं और विवेक से जैसे सूर्य के सामने बर्फ गल जाता है वैसे ही सब दुःख जल जाते हैं ॥४३॥ यदि मन शास्त्रों के अर्थज्ञानसे उत्पन्न हुई श्लाघनीय वासना से सराबोर होकर राग आदि विषयों में निरोधसे जीवनपर्यन्त

(*) जंगल में बढ़ई आदि बड़े-बड़े बल्लों को आरे से चीरते हैं। चीरने के समय आरा सरलतासे आर-पार आ-जा सके इसलिए चीरे हुए काठ के मध्य में कील दे दी जाती है। किसी समय की घटना है कि चीरनेवाले लोग एक बड़े बल्लेको आधा चीरकर उसके बीचमें एक कील देकर भोजन करने के लिए अन्यत्र चले गये थे। एक चंचलबुद्धि वानर उस चीरे हुए बल्ले पर बैठकर उस कील को हाथ से हिलाने लगा। उसके अण्डकोष चीरे हुए बल्ले के बीच में थे। बार-बार कील को हिलाने से कील निकल गई, उससे मध्य में स्थित उसके वृषण दब जाने से वह मर गया। इस मरणरूपी दुःख का उसने जैसे स्वयं आवाहन किया, वैसे ही मन भी नाना प्रकार के दुःखों का स्वयं आवाहन करता है।

मुनि की नाईं रमता है, तो बाद में तत्त्वज्ञान से परम पवित्र, जन्म आदि विकारों से शून्य अतएव तीनों प्रकारके तापों के स्पर्श से रहित परिपूर्ण ब्रह्मपद को प्राप्त कर उसमें स्थित यानी जीवन्मुक्त पुरुष को प्रलय आदि बड़ी–बड़ी आपत्तियोंमें भी शोक नहीं होता, क्योंकि 'तरति शोकमात्मवित्' (आत्मज्ञानी पुरुष शोक को पार कर जाता है) ऐसी श्रुति है ॥४४॥

निन्यानबेवाँ सर्ग समाप्त

सौवाँ सर्ग

मन की शक्ति से ब्रह्म की सर्वशक्तितता का तथा
एकमात्र अज्ञानसे अद्वितीय ब्रह्म में बन्ध, मोक्ष आदिकी कल्पना का वर्णन।

बन्ध और मोक्ष की कल्पना मनके अधीन ही है, ऐसा जो पीछे कहा था, उसमें उपपत्ति दिखलाते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जैसे सागर से जलकी विकाररूप और जलसत्ता की विवर्तरूप तरंगें उठती हैं वैसे ही परमपदरूप ब्रह्म से यह चित्त आया है, जो कि अब्रह्मभूत अज्ञानका विकार और शुद्ध ब्रह्म का विवर्त है ॥१॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे तरंगसत्ता जलकी सत्ता से अतिरिक्त नहीं है ऐसा समझनेवाले पुरुषों की दृष्टि में तरंग समुद्र से भिन्न नहीं है, वैसे ही इस लोकमें ज्ञानी (चित्त की सत्ता ब्रह्मकी सत्ता से भिन्न नहीं है, यह जाननेवाले) पुरुषों का चित्त ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं है ॥२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे जल और तरंगमें, जलसत्ता को न देख रहे पुरुष को, भेद प्रतीत होता है वैसे ही अज्ञानी पुरुषों का मन संसारभ्रम का कारण है ॥३॥

उपदेश्य, उपदेशक, शब्द, अर्थ आदि शास्त्रीय व्यवहारकी कल्पना भी अज्ञानियों का अवलम्बन करके ही है, तत्त्वदृष्टि से नहीं है, ऐसा कहते हैं।

अज्ञानियों के पक्ष में केवल उनके उपदेश के लिए वाच्य–वाचक सम्बन्ध से उत्पन्न भेद की कल्पना की जाती है ॥४॥

अज्ञात ब्रह्म ही सम्पूर्ण जगत् का कारण है, ज्ञात नहीं, इस आशय से अज्ञात ब्रह्मकी ही सर्वशक्तिशालिता का उपपादन करते हैं।

नित्य परिपूर्ण अविनाशी परमब्रह्म सर्वशक्तिशाली है। उस सर्वव्यापक ब्रह्म में जो नहीं है, ऐसी कोई वस्तु नहीं है ॥५॥ भगवान् सर्वशक्तिशाली हैं, उनको जब जो शक्ति रूचती है, सर्वव्यापी वे उसी शक्तिको कार्यरूप में प्रकट करते हैं ॥६॥ हे रामचन्द्रजी, जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज–इन चार प्रकार के प्राणियों में ब्रह्म की चित्–शक्ति दिखाई देती है। वायुओंमें ब्रह्म की स्पन्दनशक्ति, पत्थरमें जड़शक्ति, जलमें द्रवशक्ति, अग्निमें तेजःशक्ति, आवरणरहित होनेके कारण आकाशमें शून्यशक्ति यानी सर्वावरणशक्ति और जगत्स्थितमें भावशक्ति ('है' इस प्रकार की व्यवहारयोग्यता) है ॥७,८॥ ब्रह्म की सर्वशक्ति दसों दिशाओं में ओत–प्रोत दिखाई देती है। विनाशों में उनकी विनाशशक्ति दिखाई देती है, शोकयुक्त

पुरुषोंमें शोकशक्ति, प्रसन्न जीवमें आनन्दशक्ति, योद्धामें वीर्यशक्ति, विविध सृष्टियों में सर्गशक्ति, प्राकृत प्रलयमें प्रकृतिमें उनकी सर्वशक्तितता है, क्योंकि वही सब कार्योंकी बीजभूत है ॥९,१०॥ जैसे वृक्ष के बीजमें फल, फूल, लता, पत्ते, शाखा, प्रशाखाएँ और तने से युक्त वृक्ष रहता है, वैसे ही यह जगत् ब्रह्म में स्थित है ॥११॥

ब्रह्म के प्रथम कार्य चित्त में चित्त्व और जड़ता दिखाई देने से भी अज्ञात ब्रह्म ही जगत् का कारण है, इस आशय से कहते हैं।

चित्ता और जड़ता के मध्य में स्थित मन, जिसका दूसरा नाम जीव है, अज्ञान साक्षी के कारण ही ब्रह्म के मध्य में दिखाई देता है ॥१२॥

चूँकि वृक्ष, झाड़ी आदि दृश्य प्रपंच अज्ञातचिद्विवर्त है, अतः एकमात्र चित् ही तत्त्व है, ऐसा कहते हैं।

विविध वृक्ष, लता, झाड़ियाँ, पल्लव और पेड़, पौधे आदि अज्ञात तत्त्वमें यह नाना कल्पना है, अतः निर्विकल्प चिन्मात्र ही है ॥१३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, अब इस जगत् को और 'अहम्' रूप से भासित हो रहे जीवतत्त्व को आप ब्रह्मरूप ही देखिये, वह ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है। वह आत्मा सर्वव्यापक है और उसका अनन्तस्वरूप नित्य प्रकाशमान है ॥१४॥

ब्रह्म ही तत्–तत् शक्तियों से भ्रान्तिवश मन आदि शब्दों से पुकारा जाता है, वह ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं।

वह जब तनिक मननशक्तिको धारण करता है, तब मन कहलाता है। जैसे आकाशमें भ्रमवश मोर के पंखों की प्रतीति होती है और जलमें आवर्तबुद्धि होती है, वैसे ही ब्रह्म में मनकी प्रतीति होती है। आत्मा में जीव और मन यह केवल प्रतीतिमात्र ही है, वास्तविक नहीं है। जो यह मनका मननात्मक रूप उदित हुआ है, वह ब्राह्मी शक्ति ही है। इसलिए हे रिपुसूदन, वह ब्रह्म ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है। शक्ति और शक्तिके कार्य में अभेद है, अतः 'इदम्' (यह) यों सामने स्थितरूप से, 'तत्' (वह) यों परोक्षरूपसे और 'अहम्' (मैं) यों प्रत्यगात्मा के अभेद से प्रतीत हो रहा तीन प्रकार का जो दृश्यविभाग है, वह प्रातिभासिक ही है, वास्तविक नहीं है ॥१५–१७॥

यदि कोई शंका करे कि काम, कर्मवासना आदि भी द्वैतप्रपंच के हेतु सुने जाते हैं, ऐसी अवस्थामें ब्रह्मशक्ति ही प्रपंचकी हेतु है, यह कैसे कहा ? इस पर कहते हैं।

मन के यानी जीव के और ब्रह्म के भेद आदि भ्रममें अन्यान्य काम आदि जो कुछ भी परम कारण लोक में कहे गये है, मन में ही आविर्भाव और तिरोभाव होने के कारण सदसदात्मक उन सबको विज्ञ पुरुष सर्वशक्तिशाली ब्रह्म की पूर्वोक्त ब्रह्मता (बृहणशक्ति) ही जानते हैं, वे उससे अतिरिक्त नहीं है ॥१८॥

यदि कोई शंका करे कि काम आदि मनके धर्म हैं, वे ब्रह्ममें स्थित कैसे हो सकते हैं, जिससे कि वे ब्रह्मशक्ति कहे जाय ? इस पर कहते हैं।

जैसे मन का सत्तात्मक ब्रह्मरूप नाम संसर्गाध्याससे मनमें स्थित है अथवा जैसे वसन्त

आदि ऋतुओं की शक्तियाँ वृक्ष आदि में स्थित हैं वैसे ही मनके धर्म भी ब्रह्म में स्थित हैं ॥१९॥

यदि सभी मनोधर्म ब्रह्मशक्तियाँ हैं, तो सबका सब जीवों में संमिश्रण क्यों नहीं होता ? इस पर कहते हैं।

यद्यपि पृथिवी में सब ऋतुओं के फूलों की शक्ति व्याप्त है तथापि वह जैसे तत्–तत् प्रदेशों के बीजों के संस्कार आदिके नियमभेद से तत्–तत् कालमें व्यवस्था के साथ ही फूल आदि को धारण करती है, सबको एक साथ धारण नहीं करती, वैसे ही लोकों की सृष्टि करनेवाले ब्रह्म भी चित्त की शक्तियों को व्यवस्थासे ही धारण करते हैं; सबको सांकर्य (संकरता) से धारण नहीं करते हैं ॥२०॥ जैसे देश, काल आदि की विलक्षणतासे पृथ्वीतल से धान आदि के पौधे उगते हैं वैसे ही ब्रह्म से भी कहीं–कहीं पर कभी ही उक्त चित्तशक्तियाँ व्यवस्थासे आविर्भूत होती हैं ॥२१॥

यह प्रतियोगी, भेद, संख्या, रूप आदिस्वरूप जगत् की विचित्रता कल्पना द्वारा मानकर दर्शाई गई है, परमार्थदृष्टि से यह मनशब्द से कल्पित ब्रह्मका प्रतिभासमात्र ही है। जो केवल प्रतिभासमात्र है, उसमें वास्तविकताका संभव नहीं है। अतः प्रतिभासिक यह जगज्जाल न तो उत्पन्न हुआ है, न कुछ है और न कोई किसीसे इसे देखता है। पूर्वोक्त जगद्वैचित्र्य मनशब्द से कल्पित ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, अतः केवल ब्रह्मरूप ही है, ऐसा आप जानिये; यों श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजीसे कहते हैं।

प्रतिभास से जो उत्पन्न हुआ है वह उत्पन्न नहीं हुआ है, क्योंकि प्रतिभासिक (मृगतृष्णा आदि) में वास्तविकता नहीं हो सकती है; अथवा न किसीको किसी दूसरे करण आदि से कोई देखता है। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्' (जिस अवस्थामें इसका सब आत्मा ही हो गया वहाँ पर किसको किससे देखे) ऐसी श्रुति है। प्रतियोगी, भेद, संख्या, रूप आदि जो कुछ पदार्थजात है, उनकी कल्पना मनःशब्दकल्पित ब्रह्म से होती है, अतः उनको आप ब्रह्म ही जानिये ॥२२,२३॥ इस मनका जैसा–जैसा प्रतिभास होता है वैसा–वैसा ही यह हो जाता है, इसमें ऐन्दव (*) ब्राह्मण दृष्टान्त हैं ॥२४॥ जैसे निश्चल और निर्मल जलराशिमें अपने–आप स्पन्द (कम्पन) होता है वैसे ही परमात्मा में यह जीव भी उत्पन्न हुआ है, यही संसार का कारण है, भाव यह है कि जगत्‌की कल्पना करनेवाला जीव ही जब ब्रह्म से भिन्न नहीं है तब उससे कल्पित जगत् ब्रह्म से भिन्न कैसे होगा ? ॥२५॥ जैसे सागर का जल कल्लोल, लहर और तरंगके रूप में चारों ओर स्थित रहता है वैसे ही ज्ञानीकी दृष्टि में यह सारा प्रपंच परिपूर्ण ब्रह्म ही चारों ओरसे विद्यमान है, प्रपंच परिपूर्ण ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है। जैसे विविध तरंगों से व्याप्त विशाल सागर में जलसे अतिरिक्त कोई कल्पना नहीं है यानी जल से अतिरिक्त कुछ नहीं है, एकमात्र जल ही है; वैसे ही परम ब्रह्ममें नामरूपात्मक दूसरी सत्ता नहीं है, किन्तु एक ही सत्ता है। जो यह जगज्जाल उत्पन्न होता है, नष्ट होता है, गमन करता है, स्थित होता है वह ब्रह्ममें ब्रह्म ही ब्रह्म से

(*) ऐन्दवों का आख्यान पीछे कहा गया है।

अवास्तविकरूप से भासित होता है ॥२६–२८॥ जैसे प्रचंड सूर्य के प्रकाश अपनेमें ही मृगतृष्णारूप से स्फुरित होता है वैसे ही नामरूप रहित ब्रह्म भी अपने आप जगद्वैचित्र्यरूप से स्फुरित होता है ॥२९॥ करण, कर्म, कर्ता, जन्म, मरण, स्थिति, सब ब्रह्म ही है, उसके सिवा कोई दूसरी कल्पना है ही नहीं ॥३०॥ न लोभ है, न मोह है, न तृष्णा है और न अत्यन्त आसक्ति है। आत्मा में आत्मा का लोभ कैसा अथवा आत्मा में आत्मा की तृष्णा या मोह कैसे हो सकता है ? दूसरे के अभावमें लोभ, मोह आदिकी प्राप्ति ही नहीं हो सकती है, यह भाव है ॥३१॥ यह सारा जगत् आत्मा ही है। जो कुछ यह कल्पनाक्रम है, वह सब आत्मा ही है, बहुत क्या कहें, जैसे सुवर्ण अंगद (बाजूबन्द) रूपसे उदित होता है, वैसे ही आत्मा मनरूपसे उदित हुआ है ॥३२॥ जैसे बन्धु ही क्यों न हो, यदि यह मेरा बन्धु है, ऐसा ज्ञान न हो तो शीघ्र ही अबन्धु हो जाता है, वैसे ही अज्ञानसे आवृत्त जो परम धाम (परब्रह्म) है, वही चित्त और जीव नामसे कहा जाता है, यानी अज्ञानवश ब्रह्म में ही जीवभाव, चित्तभाव आदि उदित हुए हैं ॥३३॥ अशून्य भी आकाश जैसे अपनी शून्यता प्रकट करता है, वैसे ही अज्ञानावृत्त चिन्मय आत्माने अपनी कल्पनासे स्वयं जीवत्व प्रकट किया है ॥३४॥ आत्मा ही इस जगत् में अनात्मभूत अहंकार के अभेद से अनात्मा की नाईं जीवरूपसे विराजमान है। जैसे दृष्टि के दोष से एक ही चन्द्रमा दो रूपों से प्रकट होता है, वैसे ही अज्ञानवश वह आत्मा ही दो रूपों से प्रकट होता है। द्वितीय रूप से (विषयरूप से) वह असत् है और परमार्थरूप से सत् है ॥३५॥ व्यामोहजनित बन्ध–मोक्षशब्दार्थदृष्टियों का आत्मा में अत्यन्त असम्भव है, तथा आत्मा सत्य है, इस कारण कहाँ आत्मा बद्ध होता है और कहाँ मुक्त होता है यानी आत्मा के बन्ध और मोक्ष की कल्पना अज्ञान स्फुरित है ॥३६॥ जिसका बन्धन होना कभी सम्भव नहीं है, उसकी 'मैं बद्ध हूँ' यह कुकल्पना नहीं है तो और क्या है ? जिसका बन्ध काल्पनिक है, उसका मोक्ष भी मिथ्या ही है, वास्तविक नहीं है, तब मोक्ष कैसा ? भाव यह कि परमार्थदृष्टिसे कल्पनाप्रसूत बन्ध और मोक्ष दोनों तुच्छ हैं ॥३७॥

क्योंकि – न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥ ऐसी श्रुति है।

चूँकि पहले यौक्तिक दृष्टि से काल्पनिक अनिर्वचनीय बन्ध का विस्तार से उपपादन किया गया है, अतएव काल्पनिक होते हुए भी बन्ध की तुच्छत्वउक्ति को सहन न कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

हे प्रभो, आप पहले विस्तार से कह आये हैं कि मन जिस निश्चय को प्राप्त होता है, वही हो जाता है। उसमें कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता है। इससे यहाँ काल्पनिक बन्ध नहीं है, यह आपने कैसे कहा ? ॥३८॥

यौक्तिकदृष्टि की लौकिकदृष्टि की दृढ़ता का विघटन करने के लिए परमार्थदृष्टि के द्वाररूप से कल्पना की गई है, इसलिए वहींपर उसकी विश्रान्ति नहीं है, किन्तु श्रुति द्वारा प्रतिपादित बन्ध की तुच्छतादृष्टि में विश्रान्ति है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जैसे स्वप्नकी कल्पना जाग्रतदृष्टि से तुच्छ हो जाती है, वैसे ही अज्ञानियों की यह बन्ध की कल्पना मिथ्या है, इसलिए उनकी दूसरी मोक्षकल्पना भी मिथ्या ही उदित हुई है ॥३९॥ पूर्वोक्त रीति से तुच्छ अज्ञानसे ही बन्ध और मोक्षकी दृष्टियाँ उत्पन्न हुई है । 'नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः । उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः' (असत् की सत्ता नहीं होती और सत् का अभाव नहीं होता, इन दोनों का ही निर्णय तत्त्वदर्शियोंने देखा है) इस स्मृतिके विरोधसे सत्–असत् के मध्यवर्ती अनिर्वचनीयता में यौक्तिक दृष्टिकी विश्रान्ति नहीं हो सकती है, अतएव हे महामते, वस्तुतः न तो बन्ध है और न मोक्ष है ॥४०॥ हे महामते, जिसकी बुद्धि प्रबुद्ध है, यानी जो ज्ञानी है, उसके प्रति रज्जुमें सर्पकी कल्पना के तुल्य बन्ध–मोक्षकी कल्पना अवास्तविक (तुच्छ) है, पूर्वोक्त अनिर्वचनीयता तो अबुद्धमति यानी अज्ञानी के प्रति ही है, ज्ञानी के प्रति नहीं है ॥४१॥ हे रघुवर, बुद्धिमान् को (ज्ञानीको) बन्ध, मोक्ष आदिका संमोह कुछ भी नहीं होता है, मोहजनित बन्ध, मोक्ष आदि अज्ञानी को ही होते हैं ॥४२॥

पूर्वोक्त अर्थ में बालकाख्यायिका की अवतारणा करते हुए श्रीवसिष्ठजी उपसंहार करते हैं ।

हे सुन्दरतम श्रीरामचन्द्रजी, पहले मन हुआ, तत्पश्चात् बन्ध और मोक्षकी दृष्टि हुई, तदनन्तर प्रपंचकी रचना हुई, जिसका कि भुवन नाम पड़ा इत्यादि यह बन्ध की स्थिति बालक के लिए धाय से कही गई आख्यायिका के समान बद्धमूल हुई है ॥४३॥

सौवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ एकवाँ सर्ग

वस्तुतः अर्थशून्य होती हुई भी संकल्प से सैकड़ों विकल्पवाली सृष्टि का बालकाख्यायिकारूप दृष्टान्त वर्णन ।

संकल्प–विकल्प रूप मन का संकल्प ही मूल है । संकल्प का निरोध करने पर मूल का उच्छेद हो जाने के कारण विकल्पों के न उठने पर निर्विकल्प पद में स्थिति प्राप्त होती है, यह सूचन करने के लिए पूर्व सर्ग में अवतारित बालकाख्यायिका को सुनने की इच्छा करने वाले श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिश्रेष्ठ, बालकाख्यायिका का दृष्टान्त लोक में किस प्रकार का कहा जाता है । मनके वर्णन में कारण रूप उसे आप कृपा कर क्रमशः मुझसे कहिये ॥१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, किसी युक्तायुक्तविचारशून्य बालक ने अपनी धाय से कहा : धाय, मन बहलानेवाली कोई कथा सुनाओ ॥२॥ महामते, उस बालक के मनोविनोद के लिए धाय ने सरल और कोमल पदों से युक्त आख्यायिका कही ॥३॥ कहीं अत्यन्त असत् नगर में तीन बड़े सुन्दर राजकुमार थे । वे बड़े मनस्वी, धार्मिक और शौर्य सम्पन्न थे । जैसे आकाश में जलमय तारे होते हैं वैसे ही उस विस्तीर्ण शून्य नगर में वे रहते

थे। उनमें से दो उत्पन्न ही नहीं हुए और एकमाँ के गर्भमें भी स्थित नहीं हुआ। किसी समय, जब कि दुर्भाग्यवश उनके बन्धु-बान्धव मर गये थे, दुर्भिक्ष आदि से मलिनवदन हुए अपने नागरिकों के समाज से किसी उत्तम दूसरे नगर की प्राप्ति के लिए निकले। जैसे आकाश से परस्पर मिले हुए बुध, शुक्र और शनैश्चर निकलते हैं वैसे ही विशाल वदनवाले वे तीनों राजकुमार उस शून्य नगर से निकले। शिरीष के फूल के समान उनके अंग सुकुमार थे, अतएव पीछे से सूर्य के संताप से सन्तप्त हुए वे ग्रीष्म के सन्ताप से सन्तप्त हुए पल्लवों की नाईं मार्ग में मुरझा गये ॥४-८॥ खूब तपी हुई मार्ग की बालू से उनके चरणकमल जल गये, अतएव यूथसे अलग हुए मृगों की नाईं हा तात ! आदि कहकर वे शोक कर रहे थे। कुशके अग्र भाग से उनके चरण विध्ध गये थे। सूर्य के प्रचण्ड ताप से अंगो के सब जोड़ शिथिल हो गये थे। उनका सर्वांग धूलि से धूसर हो गया था। लम्बे मार्ग को तय कर उन्होंने मार्गमें फूलों की मंजरियों से व्याप्त, फल और पल्लवोंसे अलंकृत तथा मृग और पक्षियों के निवासभूत तीन पेड़ पाये। जिन तीन वृक्षोंमें से दो वृक्ष तो बिलकुल भी उत्पन्न नहीं हुए थे, सुखसे चढ़ने योग्य तीसरे वृक्ष का बीज भी न था ॥९-१२॥ वे बहुत थके थे, अतएव एक वृक्ष के नीचे उन्होंने ऐसे विश्राम लिया जैसे कि स्वर्ग में पारिजात वृक्ष के नीचे इन्द्र, वायु और यम विश्राम लेते हैं ॥१३॥ अमृत के तुल्य सुस्वादु फल खाकर, उनका रस पीकर और गुलुच्छ नाम की लताके बौरों से माला पिरोकर तथा बहुत देर तक वहाँ आराम कर वे वहाँ से चले गये। फिर बहुत दूर जाकर मध्याह्न होने पर उन्हें तीन नदियाँ मिली, जो लहरों से चंचल और मुखरित थी। उनमें एक नदी बिल्कुल सूखी ही थी और दोमें जैसे अन्धे के नेत्रगोलकों में दर्शनेन्द्रिय नहीं होती है वैसे ही तनिक भी जल न था ॥१४-१६॥ जो नदी अत्यन्त सूखी थी, उसमें उन्होंने सूर्य की धूप से पीड़ित लोगों की तरह बड़े प्रेम से ऐसे स्नान किया जैसे कि गंगाजी में ब्रह्मा, विष्णु और महेश स्नान करते हैं। इच्छित नगर की प्राप्ति के लिए उत्सुक वे राजपुत्र चिरकाल तक जलक्रीड़ा कर, दूध के तुल्य स्वच्छ जल पीकर वहाँसे चले। तदुपरान्त सायंकाल के समय जब कि सूर्य भगवान् अस्ताचल पर लटक रहे थे तब उन्हें पर्वत के तुल्य ऊँचा नगर मिला जिसकी अभिनव रचना आगे होनेवाली थी ॥१७-१९॥ उस नगर में ऊपर तो पताकाएँ व्याप्त थी और नीचे कमलके तालाब भरे हुए थे। नीले आकाश के सदृश सुन्दर जलाशय थे। उस नगर के नागरिकों के दलके-दल गाना गा रहे थे, उनके स्वरों के आरोहावरोहक्रम दूर से ही सुनाई दे रहे थे ॥२०॥ उस नगर में उन्होंने तीन रमणीय उत्तम भवन देखे, वे मणि और सुवर्ण के घर हिमालय पर्वत के शिखरों के समान विशाल थे ॥२१॥ उनमें दो भवन तो बने ही न थे, एक बिना दीवार का था। दीवाररहित सुन्दर भवन में वे तीनों पुरुष प्रविष्ट हुए ॥२२॥ उक्त भवन में शीघ्र प्रवेशकर और बैठ कर विहार कर रहे सुन्दर मुख-कमलवाले उन राजकुमारों को तपे हुए सोने से बनी तीन बटलोहियाँ मिली। उनमें से दो के तो दो टुकड़े हो गये थे और एक चूर-चूर हो गई थी। उन महाबुद्धियों ने चूर-चूर हुई बटलोही को ग्रहण किया ॥२३,२४॥ बहुत-सा भोजन करनेवाले उन राजकुमारों ने उस बटलोही में निनानबे और एक कम सौ द्रोण (एक द्रोण = १५

कि.ग्रा.) चावल पकाये। उक्त राजकुमारों ने तीन ब्राह्मणों को भोजन करने के लिए निमन्त्रण दिया। उनमें से दो तो देहरहित थे और एक का मुँह ही न था। वत्स, जिसका मुँह न था, उसने सौ द्रोण अन्न खा डाला। ब्राह्मण के भोजन करने से जो अन्न बच गया था, वह उन तीनों राजकुमारोंने खाया। उसे खाकर उन राजकुमारों को बड़ी तृप्ति हुई। हे पुत्र, उस भावी नगर में वे तीन राजकुमार सुख शान्ति से स्थित हैं और मृगया से क्रीड़ा करते हैं यानी शिकार खेलते हैं ॥२५-२८॥ हे अनघ वत्स, यह बड़ी सुन्दर आख्यायिका मैंने तुमसे कही है। इसे तुम हृदयंगम करो। इससे तुम अवश्य पण्डित हो जाओगे ॥२९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, धाय ने यह सुन्दर बालकाख्यायिका कही है, इस सुन्दर आख्यायिका से बालक को भी बड़ा आनन्द हुआ ॥३०॥ हे कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी, मैंने आपके लिए यह बालकाख्यायिका चित्ताख्यान के अनन्तर प्रवृत हुई जो जगत्प्रतीति ही विकल्पमात्रत्व कथा है, उसके उदाहरण रूप से कही है। विकल्पमात्ररूप यह संसार रचना बालकाख्यायिका के समान दृढ़तापूर्वक कल्पित उग्र संकल्पों से दृढ़ता को प्राप्त हुई है, वस्तुतः यह कुछ नहीं है ॥३१,३२॥ हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, विकल्परूपी जालों से परिपूर्ण यह प्रातिभासिक संसार रचना बंध, मोक्ष आदि की सैंकड़ों कल्पनाओं के रूप से वृद्धि को प्राप्त होती है ॥३३॥

विकल्प संकल्पों के कार्य हैं, यानी संकल्पजनित हैं, अतः संकल्प से पृथक् उनकी सत्ता नहीं हैं, इस आशय से कहते हैं।

वस्तुतः एकमात्र संकल्प के सिवा यहाँ और कुछ नहीं है। जो विकल्परूप प्रतीत होता है, वह सब संकल्प के कारण ही प्रतीत होता है। जो विकल्प समूह का भान होता है, वह कुछ भी नहीं है, अथवा कुछ है, कुछ नहीं है अर्थात् रज्जु सर्प के तुल्य मिथ्या है, कुछ है यानी भ्रान्ति का आधार चैतन्य है ॥३४॥ किंच, यह द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ, दिशाएँ आदि सभी आत्मा के स्वप्न के समान संकल्पमय चित्त के संकल्प से विकसित (स्फुरित) हैं ॥३५॥ जैसे तीन राजपुत्र, तीन नदियाँ और भविष्यत् नगरमें और और संकल्प रचना हुई वैसे ही यह संसार स्थिति भी संकल्पमय ही है ॥३६॥ एकमात्र जलस्वरूप चंचल समुद्र अपने स्वरूपभूत जल में अपने आप स्फुरित होता है वैसे ही एकमात्र संकल्प ही चारों ओर स्फुरित हो रहा है ॥३७॥ पहले परमात्मा से एकमात्र संकल्प उदित हुआ। वही संकल्प जैसे दिन सूर्य के व्यापारों से और लोगों के विविध व्यापारों से विस्तारको प्राप्त होता है वैसे ही विस्तार को प्राप्त हुआ है ॥३८॥

केवल संकल्प के त्यागमात्र से निर्विकल्प स्वरूप में स्थिति होती है, ऐसा दर्शाते हुए उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, संकल्प रूपीजालों की रचना ही सम्पूर्ण जगत है। संकल्प को ही आप राग आदि चित्तवृत्तियाँ और समस्त विषय जानिये। आप एकमात्र संकल्पका पूर्णरूप से परित्याग कर निर्विकल्प आत्मज्ञान का जो कि संकल्प के परित्यागका एकमात्र हेतु है, अवलम्बन कर शान्ति को प्राप्त होइए ॥३९॥

एक सौ एकवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ दोवाँ सर्ग

अहंकार और संकल्प के विनाश के उपाय का, अनात्मवर्ग के विवेक का तथा
परमात्मा की नित्यता का निरूपण।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, जैसे बालक अपने संकल्प से ठूँठ आदि में वेताल आदि की कल्पना कर भयभीत होता है वैसे ही अज्ञानी पुरुष अपने संकल्प से परमात्मा में नश्वरात्मा के संकल्प से मोह को प्राप्त होता है, ज्ञानी पुरुष मोह को प्राप्त नहीं होता ॥१॥

क्षयसंकल्पात् (क्षीयते इति क्षयो नश्वरात्मा तत्संकल्पात् यानी नश्वरात्माके संकल्प से) इस हेतु वचनमें संकल्प का कौन कर्ता है और कौन कर्म है यह विशेषरूप से जानने की इच्छा कर कहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

ब्रह्मवेत्ताओं में सर्वश्रेष्ठ, संकल्पित नश्वरात्मा कौन है और किसने उसका संकल्प किया ? जिससे इस आत्मा ने बिना किसी कारण के संसारभ्रान्ति का ग्रहण किया है ॥२॥

भाव यह है कि क्या नित्य आत्मा नश्वर आत्मा का संकल्प करता है या नश्वर आत्मा ही नश्वर आत्मा का संकल्प करता है ? पहला पक्ष बन नहीं सकता, क्योंकि नित्य आत्मा अपने स्वभाव से विपरीत का संकल्प नहीं कर सकता है यानी वह नश्वर आत्मा का संकल्पयिता नहीं हो सकता। दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि उसमें आत्माश्रय दोष विद्यमान है। जब नश्वरात्मा उत्पन्न हो जाय तब नश्वरात्मा का संकल्प करेगा ? और सुनिए, संकल्पित नश्वर आत्मा भी क्या जड़ है अथवा चेतन है ? पहला पक्ष हृदय अंग नहीं होता, क्योंकि यदि वह जड़ होगा, तो आत्मा के साथ उसका अभेद नहीं हो सकेगा। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं जँचता, क्योंकि यदि वह चिद्रूप है, तो संकल्प का विषय नहीं हो सकेगा। यद् यद् भवन्ति तदा भवन्ति (पहले इस लोक में जो जो हुए थे वही फिर यहाँ आकर होते हैं) इस श्रुति () के अनुसार पूर्वजन्मों के सिंह, बाघ आदि प्राणि समुदायमें आत्मभाव की वासना से वासित 'असत्' शब्दवाच्य अविद्या से उपहित परमात्मा ने चित–अचित्–सम्मिश्रणात्मक सिंह व्याघ्र आदि में अहंकारात्मक नश्वर आत्मा का संकल्प किया है, इसलिए जिन दोषों की आपने सम्भावना की है, वे कोई भी नहीं हैं, इस आशय से श्री वसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न का समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामजी, जैसे अज्ञ बालक मिथ्या वेताल की कल्पना

पूरी श्रुति इस प्रकार है–'त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतंगो वा दंशो वा मशको वा यद् यद् भवन्ति तदा भवन्ति' जो अपनी सद्रूपता का ज्ञान प्राप्त किये बिना ही सत् में प्रविष्ट होते हैं वे इस लोक में जिन कर्मों से प्राप्त हुई व्याघ्र आदि जिस, जिस जाति को प्राप्त हुए थे – 'मैं व्याघ्र हूँ, मैं सिंह हूँ' इत्यादि रूप से स्थित थे– वे पूर्व कर्म, ज्ञान की वासना से युक्त होकर सत् में प्रविष्ट होने पर भी उस भाव से ही फिर आकर होते हैं। पुनः सत् से आकर बाघ या शेर या भेड़िया या सुअर या कीड़ा या पतंगा अथवा डाँस या मच्छर जो लोक में पहले हुए थे वही फिर आकर होते हैं। हजारों करोड़ों युग बीतने पर भी संसारी जीव की जो वासना पहले भावित थी, वह नष्ट नहीं होती।

करता है, वैसे ही सिंह, बाघ आदि प्राणियों में अहंभाव की वासना से वासित यानी पूर्वकल्प में जीवभाव को प्राप्त हुए अहंकार के संस्कार से संस्कृत अविद्या से उपहित परमात्मा ने तत्–तत् कल्प में मिथ्या अभिमान और मिथ्या नाम धारण करनेवाले नश्वर आत्मा की कल्पना की है ॥३॥

यदि कोई शंका करे कि अहंकार की आत्मस्वभावता ही क्यों न हो, उसका मिथ्यात्व कैसे ? इस पर कहते हैं।

जब एकमात्र परिपूर्ण परमवस्तु ही स्थित है, तब यह अहंकार नाम का कौन है और कहाँ से कैसे उदित हुआ है ? अद्वितीय पूर्ण परमवस्तु से अतिरिक्त अहंकारनामक कोई वस्तु नहीं है, यह भाव है ॥४॥ भेदरहित परमात्मामें वास्तव में अहंकार है ही नहीं। जैसे भ्रान्तिवश तीव्र सूर्य के प्रकाश में मृगतृष्णा की प्रतीति होती है वैसे ही भ्रान्तिवश परमात्मा में अहंकार का भान होता है ॥५॥ मनरूपी चिन्तामणि की बड़ी भारी कार्यसमूहसृष्टि संसाररूप से देखी जाती है।

शंका : तो क्या मन ही संसार की रचना करने में स्वतन्त्र है ?

समाधान : नहीं, आत्मा का आश्रय ले करके वह स्वयं संसाररूप में स्फुरित होता है जैसे कि जलका अवलम्बन करके जल ही तरंग रूप से स्फुरित होता है ॥६॥

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप असद्‌विषयिणी भ्रान्ति का त्याग कीजिये और सत्यार्थविषयक तथा सत्य सम्यक् दर्शन का अवलम्बन कीजिये जो कि आनन्ददायक है ॥७॥

असद्‌विषयक भ्रम के त्याग और सद्‌विषयक सम्यक् दर्शन के आश्रय के लिए कौन उत्तम उपाय है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं।

श्रीरामजी, आप विचाररूपी अपने धर्म से सम्पन्न और मोह के वेग से हीन बुद्धि से सत्य तत्त्व का विचार कीजिये और असत्य का त्याग कीजिये ॥८॥ आप वास्तव में बँधे नहीं हैं, फिर भी 'मैं बँधा हूँ'ऐसा मानकर आप व्यर्थ ही क्यों शोक कर रहे हैं ? आत्मतत्त्व का जो कि असीम है, क्या, किससे और कैसे बाँधा जा सकता है अर्थात् जब एक अद्वितीय असीम आत्मतत्व ही है तब फिर कौन किसके द्वारा कैसे बद्ध होगा ? ॥९॥ अद्वितीय परमात्मा में भेद और अभेद की भ्रान्ति हो रही है। इस सकल प्रपंच के बाध द्वारा ब्रह्ममात्र शेष होने पर कौन बद्ध और कौन मुक्त होता है ? सम्पूर्ण प्रपंच के ब्रह्ममात्र शेष होने पर बद्ध–मुक्त की कोई कथा ही नहीं है ॥१०॥

छेदन और भेदन के अयोग्य ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर देह के छेदन, भेदन आदि से होनेवाले दुःख का भी अवसर नहीं आता है फिर अन्य क्लेशों की तो बात ही क्या है, ऐसा कहते हैं।

जब तक ब्रह्म साक्षात्कार नहीं होता, तभी तक देह आदि के पीड़ित होने पर पीड़ा से रहित भी जीव पीड़ा से युक्त सा प्रतीत होता है। अंग के कट जाने पर कोप करता है, पर जब आत्मा का दर्शन हो जाता है तब ये नहीं होते। परमात्मा में भेद, अभेद, छेदन, भेदन आदि विकार एवं उनसे होनेवाली पीड़ा कुछ भी नहीं है ॥११॥ जैसे धौंकनी के जल जाने पर वायु

नष्ट नहीं होती वैसे ही देह के नष्ट होने पर, कटने पर या क्षीण होने पर आत्मा की कोई क्षति नहीं होती है ॥१२॥ देह चाहे नष्ट हो चाहे अभ्युदय को प्राप्त हो इससे हमारी कौन हानि हुई ? फूल के छिन्न-भिन्न हो जाने पर आकाश में रहनेवाली फूल की कौन महक नष्ट हुई ? ॥१३॥ शरीर रूपी कमलमें सुख-दुःखरूपी तुषारपात भले ही होता रहे, उससे आकाश में उड़नेवाले भ्रमररूपी हम लोगों की कौन हानि प्राप्त हुई ? ॥१४॥ देह चाहे गिर पड़े, चाहे उठ खड़ा हो अथवा दूसरे आकाश में चला जाय। मेरा स्वरूप तो उससे बिलकुल भिन्न है, अतः यह मेरी कौन- सी क्षति है ॥१५॥ हे श्रीरामजी, जैसे मेघ और वायु का सम्बन्ध है जैसे भँवर और कमल का सम्बन्ध है वैसे ही आपके शरीर और आपकी आत्मा का सम्बन्घ है, आत्मा और शरीर का सम्बन्ध मानने पर भी लेपरहित आत्मा में देहप्रयुक्त दुःख आदि की प्राप्ति नहीं होती है, यह भाव है ॥१६॥

दूसरी बात यह है कि यदि शरीर आदि समस्त जगत् को एकमात्र मन ही मानो, तो भी मन के रहते शरीर आदि के नाश से होने वाला शोक उचित नहीं है। यदि उन्हें एकमात्र आत्मा माना जाय, तो ऐसी स्थिति में तो शरीर आदि के नाश से होनेवाले शोक आदि की कथा ही नहीं उठती है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, मन सम्पूर्ण जगत् का स्वरूप है। मनकी हेतु आद्या शक्ति यानी आदिकारण चिदात्मा है वह मन से भी बढ़कर है, वह कभी भी नष्ट नहीं होता है, उसके नाश की भ्रान्ति सर्वथा अनुचित है ॥१७॥

आत्मा के नाश की भ्रान्ति ही सब शोकों की जड़ है, अतः उसका पुनः वारण करते हुए कहते हैं।

हे महामते, यह जो आत्मा है यह न तो नष्ट होता है और न जाता है। इसका कदापि विनाश नहीं होता, आप इसके विनाश के भय से क्यों वृथा सन्ताप करते हैं ? ॥१८॥ जैसे मेघ के छिन्न-भिन्न होने पर वायु तथा कमल के सूखने पर भँवर विस्तीर्ण आकाश में चला जाता है वैसे ही देह का क्षय होने पर आत्मा असीम आकाश में चला जाता है ॥१९॥ इस संसार मे विचरण कर रहे (आवागमनरत) प्राणी का ज्ञानरूपी अग्नि के बिना मन तक नष्ट नहीं होता, आत्मा के विनाश की तो कथा ही क्या है ?॥२०॥ बटलोई और बेर का जो न्याय है और घड़े और आकाश का जो न्याय है, वही न्याय विनाशी और अविनाशी देह और आत्मा का है। जैसे बटलोई के फूटने पर बेर हाथ में आ जाता है वैसे ही देह के नष्ट होने पर जीव वासनाकाश को प्राप्त हो जाता है। जैसे घड़े के फूटने (चूर-चूर होने) पर घटाकाश महाकाश में स्थित हो जाता है वैसे ही देह के विनष्ट होने पर यह निर्दोष देही (जीव) परमात्मा में स्थित होता है ॥२१-२३॥ जीवों का मनोमय शरीर देश और काल से तिरोहित है तथा मरण रूपी वस्त्र से बार-बार आच्छन्न रहता है। ठगनेवाले इस मनोमय देह के नष्ट होने पर क्या क्लेश ? यानी क्लेश करना उचित नहीं है ॥२४॥

मरण क्या है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

हे महाबाहो, मरण देश और काल का तिरोधानमात्र ही है। देश–काल का तिरोधानमात्र मरण होने पर मूढ़ पुरुष क्यों भयभीत होता है ? यह निश्चित समझिये कि अपना नाश तो कोई देख ही नहीं सकता है। घर आदि में अपने अन्तिम समय दूसरों की दृष्टि से अपना छिप जाना ही मरण है, आत्मनाश मरण नहीं है, यह भाव है ॥२५॥ इसलिए हे रामचन्द्रजी, जैसे आकाश में उड़ने के लिए उत्कण्ठित पक्षीका बच्चा, जिसके पंख जम गये हों, अपने आवरणरूप अण्डे के छिलके का त्याग करता है वैसे ही आप 'अहम्' रूप से मिथ्या ही स्थित वासना का त्याग कीजिये ॥२६॥ यह वासना इष्ट और अनिष्ट में अनुराग और द्वेष से अभिनिवेशरूप बन्धन करनेवाली मानसी शक्ति है। इसी ने व्यर्थ भ्रान्ति से स्वप्न के समान यह कल्पना की है। यह वासना अविद्याविलास होने से अविद्या है। इसका अन्त होना बड़ा कठिन है, यह केवल दुःख के लिए ही बढ़ती है। इसके स्वरूप का परिज्ञान न होने से ही यह असद्रूप इस प्रपंच का विस्तार करती है ॥२७,२८॥ जैसे कुहरा होने पर भ्रान्त पुरुष आकाश को कुहरे से मलिन यानी अनिर्मल देखते हैं वैसे ही भ्रान्त यह मानसी वृत्तिरूप वासना स्वच्छ आत्मा को तुच्छ के समान देखती है, क्योंकि ऐसे देखना मन का स्वभाव ही है ॥१९॥ इस मानसी शक्ति ने ही इस विशाल जगत् को दीर्घकालीन स्वप्न के तुल्य असत् होते हुए भी विविध व्यापारों से पूर्ण सत् के समान उदित बनाया है ॥३०॥ जैसे तिमिर आदि दोष से दूषितनेत्र आकाश में मोर के पंख, केशों के वर्तुलाकार गोले के आकार के चन्द्रमा, सूर्य आदि के बिम्ब के विभावनामात्र में कर्ता होता है वैसे ही इसका स्वरूप जगत् के आकार की भावनामात्रमें ही कर्तृता को प्राप्त हुआ है, उससे अतिरिक्त के निर्माण प्रसिद्ध नहीं है, अतः वही जगत् के नाम से सिद्ध हुआ है ॥३१॥

अतएव अविचारजनित द्वैत की भावनामात्र से सिद्ध जगत् का विचारजन्य ज्ञानमात्रसे लय होता है, इसलिए विचार अवश्य करना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामन्द्रजी, जैसे सूर्य अपने ताप से बर्फ की चट्टान के स्वरूप को नष्ट कर देता है वैसे ही आप विचार से इस मानसी शक्ति के स्वरूप को नष्ट कर दीजिए ॥३२॥ जैसे शीत के अभाव को चाहनेवाले सूर्य के अपने उदयमात्रसे शीत का नाश हो जाता है वैसे ही मन के नाश की इच्छा करनेवाले पुरुष का केवल विचार से मनोनाश रूप अभिलाषा सिद्ध हो जाती है ॥३३॥

एक मन के नष्ट होने पर भी फिर अविद्या से मन आदिरूप बन्ध की उत्पत्ति हो जायेगी, ऐसी आशंका कर कहते हैं।

बड़े–बड़े अनर्थों से पूर्ण अविद्यारूपी मेघमाला जब आत्मतत्त्व के परिज्ञान से शून्य होती है, तभी जैसे शम्बर नामका असुर विविध माया करता है, वैसे ही इन्द्रजालकल्पनारूप असत् सुवर्ण की वृष्टि करती है, किन्तु जब उसे आत्मस्वरूप का परिज्ञान हो जाता है, तब निःस्वरूप हा जानेके कारण वह असत् की वृष्टि नहीं करती है ॥३४॥

इस प्रकार मन ही चिरकाल तक जगत्–रूप से नाचकर अन्तमें विद्यारूप परिणाम से अविद्या के साथ अपना विनाश कर देता है, यह फलित अर्थ कहतें हैं।

इस अपनी विनाश क्रिया को मन ही स्वयं भली–भाँति करता है, मन आत्मवध रूप

(स्वसंहाररूप) नाटक को (स्वरचित नाटक को) देखकर मारे आनन्द के खूब नाचता है। केवल अपने विनाशके लिए चित्त आत्मा का दर्शन करता है, पर दुर्बुद्धि यह मन उपस्थित हुए अपने विनाश को नहीं जानता है ॥३५,३६॥ मन के विनाश का उपाय खोज रहे विवेकी पुरुषों के मनोनाश को मन स्वयं अपने संकल्प से शीघ्र सिद्ध कर देता है, मनोनाश के लिए तपस्या आदि क्लेश उपयोगी नहीं हैं ॥३७॥ विवेक से संस्कृत (शुद्ध) हुआ मन अपने पूर्वकालीन संकल्पविकल्प–अंश का परित्याग कर ब्रह्माकार विस्तारवाला आत्म–साक्षात्कार वृत्ति रूप अपना परिणाम करता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, मन का विनाश होना परमपुरुषार्थ की प्राप्ति है और सब दुःखों के समूल नाश का उदय है। इसलिए आप मन के नाश के लिए प्रयत्न कीजिये, मन के बाह्य व्यापार में प्रयत्न मत कीजिये ॥३८,३९॥

उक्त अर्थ की उपेक्षा करने पर अनर्थ की प्राप्ति होती है, यह दर्शाते हुए उपसंहार करते हैं।

अति सघन दुःख–सुख रूप वृक्षों के झुण्डों से भरपूर, क्रूर कालरूपी विषैले साँप से युक्त, दुरुच्छेद्य इस संसाररूपी असिपत्रवन में यह विवेकहीन मन ही एकमात्र प्रभु – दुखों का, जिनका आर–पार नहीं है, हेतु –तथा संसारी जीवों की विपदाओं का एकमात्र कारण है ॥४०॥ श्री मुनिजी के ऐसा कहने पर दिन बीत गया भगवान् सूर्य अस्ताचल में डूब गये, सब मुनियों की सभा महामुनि को नमस्कार कर सायंकाल की सन्ध्यावन्दन अग्निहोत्र आदि विधि के लिए उठ गई और रात बीतने पर दूसरे दिन सूर्य की किरणों के साथ फिर सभा आ गई ॥४१॥

एक सौ दोवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तीनवाँ सर्ग

विवेकहीन मन जिन–जिन अनर्थों की सृष्टि करता है, मुमुक्षु के विवेक के लिए उन सबका वर्णन।

अनर्थों की सृष्टि करने के लिए ही परमात्मा से मन की सृष्टि हुई है, यह दर्शाते हैं।

जैसे सागर से उसकी बड़ी–बड़ी लहरें उठती है वैसे ही परमात्मा से चित्त उत्पन्न हुआ है, जैसे तरंग स्वस्वभाव से विशालताको प्राप्त होती है वैसे ही मन स्वस्वभाव से विशालताको प्राप्त होकर चारों ओर भुवन का विस्तार करता है ॥१॥

मन में वस्तु के स्वभाव से विरुद्ध कल्पना करने की सामर्थ्य है, ऐसा दर्शाते हैं।

मन ह्रस्व को (नेत्र के समीप में स्थित अंगुली आदि को) अतिविस्तृत सूर्य मण्डल आदि के आच्छादकरूप से कल्पना कर शीघ्र दीर्घ बना देता है, अतिदीर्घ सूर्यमण्डल आदि को ह्रस्व (छोटा) बना देता है। इसी प्रकार आत्मा और अनात्मा के स्वरूप की विनिमयकल्पना भी मन ही करता है। वह अनात्म देह आदि को अपनी कल्पना द्वारा आत्मा बना डालता है और उसी प्रकार आत्मा को अन्य (अनात्मा) बना डालता है। जो वस्तु केवल एक बिलस्त भर की होती है, उसको मन शीघ्र स्वयं उत्पन्न हुई कल्पना द्वारा पर्वतराज हिमालय के समान प्रकाशमान (विशालकाय) बना डालता है ॥२–३॥

मन को ऐसी सामर्थ्य कहाँ से प्राप्त हो गई, ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

उल्लसित मन परमपदरूप ब्रह्म की सत्ता से सत्ता को प्राप्त हुआ है, यह पलक भर में विविध संसारों की रचना कर देता है और पलक भर में उन्हें मटियामेट कर डालता है ॥४॥ जो कुछ भी स्थावर जंगम (चराचर) जगत् दिखाई देता है, सम्पूर्ण पदार्थों से भरा हुआ यह सारा जगत् चित्त से ही उदित हुआ है ॥५॥ जैसे नट एक पात्र के आकार से दूसरे पात्र के आकार को धारण करता है वैसे ही देश, काल, क्रिया और द्रव्य की शक्ति से व्याकुल हुआ मन चंचल होने के कारण एक वस्तु के आकार से दूसरी वस्तु के आकार को प्राप्त होता है ॥६॥ वह सत् पदार्थ को असत् बना देता है और असत् को सर्वथा सत् बना डालता है। तदनुरूप ही सुख-दुःखों का ग्रहण करता है ॥७॥ चंचल मन कर्म द्वारा उपस्थापित भोग्य पदार्थ को जब जैसे जिस किसी कल्पना के ढंग से, चाहे वह अनुकूल हो चाहे प्रतिकूल हो, ग्रहण करता है तब हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियसंघ उसके अनुसार ही ग्रहण या त्याग में प्रवृत्त होता है यों सभी व्यवहारो में मन की स्वतन्त्रता है, यह तात्पर्य है ॥८॥ तदनन्तर भोग्य पदार्थों को उपस्थित करनेवाली वह क्रिया ही चित्त द्वारा कल्पित फलाफल यानी सुख-दुःख को एक क्षण में वैसे ही देती है जैसे समय पर सींची गई लता फल प्रकट करती है ॥९॥ हे रामचन्द्रजी, जैसे बच्चा घर में मिट्टी से नाना प्रकार के खिलौनों को बनाता है, वैसे ही मन जगद्रूप विकल्पों की सृष्टि करता है ॥१०॥

यह जगत् एकमात्र मन की कल्पना है इसमें कोई पदार्थ वास्तविक नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं।

इस कारण मन की सम्पूर्ण जनरूप से जो क्रीड़ा है उस क्रीड़ा में मनुष्य देहरूप कीचड़ में जो रूप सत्य सा कल्पित है, वह क्या कुछ सत्य हो सकता है ? अर्थात् कुछ भी सत्य नहीं है ॥११॥ जैसे ऋतुओं का निर्माण करनेवाला काल वृक्ष की अन्यरूपता कर देता है वृक्ष को विलक्षण बना देता है, वैसे ही चित्त ही इन सब पदार्थों को विलक्षण बनाता है ॥१२॥ जैसे मनोरथ में, स्वप्न में और संकल्पकल्पनाओं में अनेक योजन भूमि गोपद के समान अति अल्प प्रतीत होती है, वैसे ही अपनी लीलाओं में चित्त कल्प को क्षण बना देता है और क्षण को कल्प बना देता है, इसलिए सम्पूर्ण देश-कालक्रम को सभी लोग चित्त के अधीन मानते हैं ॥१३,१४॥

यदि कोई शंका करे कि यदि मन ही सबकी सृष्टि में समर्थ है, तो हमारी इस समय सम्पूर्ण पदार्थों की सृष्टि करने में असामर्थ्य कैसे ? इस पर कहतें है।

रजोगुण का आधिक्य होने पर तीव्रता और तमोगुण की अधिकता होने पर मंदता, इस प्रकार वेग के भेद से आहार की वृद्धि से पुष्टि होने पर बहुत्व और आहार के न्यून होनेसे क्षीणता होने पर अल्पता इनके भेद से तत्-तत् वस्तुओं की सृष्टि के अनुकूल उपासना आदि में विलम्ब होने से मन में प्राप्त हुई जो सर्ग की (सृष्टि की) अशक्ति है, उससे हम मन की वास्तविक सर्वसृष्टिशक्ति का अपलाप नहीं कर सकते ॥१५॥ जैसे वृक्ष से पल्लव (नये-नये पत्ते) उत्पन्न होते हैं वैसे ही मोह, भ्रम, अनर्थ, देश, काल, गमन और आगमन ये सब मन से ही उत्पन्न होते हैं ॥१६॥ जैसे जल ही सागर है और जैसे अग्नि ही उष्णता है वैसे ही विविध

व्यापारों से पूर्ण संसार चित्त ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है। भाव यह है कि कार्य कारण से अभिन्न होता है, अतः चित्त का कार्य यह संसार भी चित्त रूप ही है ॥१७॥ कर्ता, कर्म और करण से युक्त द्रष्टा, दर्शन और दृश्य से सम्पन्न तथा भोक्ता, भोग्य और भोगरूप जो यह नौ प्रकार का संसाररूपी अनर्थ प्राप्त हुआ है यह सब चित्त ही है ॥१८॥

सब चित्त ही है, यह जिस उपाय से दिखलाई देता है, उसे दिखलाते हुए उपसंहार करते हैं।

जैसे सुवर्ण परीक्षा करनेवाला पुरुष बाजूबन्द, मुकुट, कड़ा, हार आदि आभरणों से कल्पित नाना स्वरूप का त्याग कर एकमात्र काँचन में बुद्धि का प्रणिधान करने से सुवर्ण की परीक्षा करने पर वास्तव सुवर्ण को देख सकता है, बाजूबन्द आदि के रचनावैचित्र्यमें जिनकी बुद्धि फँसी है, वे वास्तविक सुवर्णतत्त्व को नहीं देख सकते, वैसे ही विवेकी पुरुष भी जगतों को तदन्तर्गत भुवनों को और उनके अन्तर्गत वन आदि सब वस्तुओं को आत्मभेदों से (स्ववैचित्र्यों से) चित्त स्वयं प्राप्त हुआ है, अतः ये चित्तमात्र ही हैं, चित्त से अतिरिक्त वस्तु नहीं है, ऐसा देखते हैं, अविवेकी ऐसा नहीं देख पाते ॥१९॥

एक सौ तीनवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चौथा सर्ग

लवणाख्यान में पहले देश, राजा और सभा का वर्णन तथा
सभा में ऐन्द्रजालिक के घोड़े का दर्शन और राजा के विस्मय का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरघुवंशमणे, यह जगद्रूप इन्द्रजाल जिस प्रकार चित्त के अधीन है यानी चित्त की कल्पना के अधीन है, उसे समझाने के लिए यहाँ पर मैं आपसे एक उत्तम उपाख्यान कहूँगा, आप सावधान होकर सुनिये ॥१॥ इस भूमण्डल में अनेक वनों से व्याप्त, धन–जन से सुसमृद्ध 'उत्तरापाण्डव' नाम का एक विशाल देश है। उसके अत्यन्त घने और गहन वनों में तपस्वी शान्त चित्त से निवास करते थे अर्थात् बाघ, चोर आदि का कहीं कोई उपद्रव न था। उसके नगरों के उपवनों में विद्याधारियाँ लताओं के हिंडोले बनाकर झूलती थी। उस देश के सब पर्वत वायु से उड़ाई गई कमल के केसर राशि से पीले पड़ गये थे। शोभायमान फूलों की राशि से पूर्ण वनश्रेणी ही उसका अवतंस (शिरोभूषण यानी सिर पर तिरछी माला) था ॥२–४॥ उसके गाँवों के चारों ओर करौंदे के फूल, झाड़ियाँ और फूलों के गुच्छों से भरे हुए जंगल थे। ऊँचे–ऊँचे खजूर के पेड़ों से उसके बहुत से गाँव आच्छन्न थे। लोंगों के घुँ, घुँ शब्द से आकाश गूँजता था। उत्तम पीले रंग की मणियों की श्रेणी के सदृश पके हुए धानोंके खेतों से सारा देश पीला दिखता था। नीलकण्ठ के शब्द से खूब गूँजे हुए वन और जंगलों से वह देश सुशोभित था, सारसों के शब्द के वेग से उसके फूलों के केसर से कनकमयसे कानन मुखरित थे। तमाल और पाटल के वृक्षों से विचित्र प्रकार के नीले पर्वतों के छोटे–छोटे गाँव उसके कुण्डल थे। रंग–बिरंग के पक्षियों के कलरव से उसमें बड़ी मधुर और अव्यक्त

ध्वनि हो रही थी। नदी के किनारे पर खूब खिले हुए मीठी नीव के वृक्षों से वह सारा देश लाल था धान के खेतों में गा रही युवतियों से उसमें मन्मथ का आवाहन हो रहा था। फूल और फलों में, उनके शिथिल वृन्त (डंठी) को गिराने के लिए, बह रहे वायु से उसमें फूलरूपी मेघ कँपाये जा रहे थे। मेरु पर्वत की गुफाओं से जिसके सिद्ध, चारण और बन्दी निकल गये थे, ऐसे लावण्य को स्वर्ग से लाकर मानों वह देश बनाया गया था ॥५-१०॥ उसके केलों के मण्डपों में किन्नर और गन्धर्व गाते थे। मन्द-मन्द वायु के शब्दों से वह बड़ा रमणीय था। फूलों से भरे हुए उपवनों से वह सफेद था ॥११॥ उक्त उत्तरापाण्डवनामक देश में हरिश्चन्द्र कुल में उत्पन्न हुआ परमधार्मिक लवण नामक राजा था। वह भूमि में सूर्य के सदृश तेजस्वी था। जिसके यशरूपी फूलों की शिरोमालाओं से शुभ्र मध्यभागवाले शैल विभूति से विभूषित भगवान् शंकरजी के वृषभ आदि के समान सुशोभित हो रहे थे ॥१२,१३॥ उसके प्रधान-प्रधान शत्रुजन तलवारों से टुकड़े-टुकड़े करके काटे गये अतएव निःशेष हो गये थे। उसके शत्रुओं के सेवकों को उसके स्मरण से ही ज्वर हो आता था ॥१४॥ धार्मिक पुरुषों के रक्षक उदार कर्मों से भरे हुए जिसके चरित का श्री हरि के चरित की नाईं चिरकाल तक लोग स्मरण करेंगे। जिस राजा के गुणों के गीतों को अप्सराएँ पर्वतराज हिमालय के शिखरों पर स्थित देवमन्दिरों में प्रचुर रोमांचों से युक्त होकर आज भी गाती है जिसके गुणों के गीतों का जिन्हें स्वर्गीय सुन्दरियों ने गाया था और लोकपालों ने चिरकाल तक सुना था, ब्रह्मा के हंस सुन्दर अभ्यास से अपनी ध्वनियों द्वारा अनुकरण करते हैं ॥१५-१७॥ हे रामचन्द्रजी, जिसका उदार चमत्कार अन्य राजाओं के तुल्य नहीं था यानी उनसे कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ा था, जिसकी दीनतारूपी दोष से युक्त क्रिया न तो स्वप्न में भी देखी गई थी और न सुनी गई थी ॥१८॥ कुटिलता तो वह जानता ही न था, अविनीतता तो उसने देखी भी न थी। जैसे ब्रह्मा रुद्राक्षमाला को सदा धारण करते हैं, वैसे ही उसने निरन्तर उदारता धारण की थी। किसी समय, जब सूर्य आकाश में उस स्थान पर पहुँच गये थे जहाँ पहुँचने पर चार दण्ड दिन चढ़ता है, वह सभागृह में सिंहासन पर विराजमान हुआ ॥१९,२०॥ जैसे चन्द्रमा आकाश में उदित होते हैं, वैसे ही जब उक्त राजा सभागृह में सिंहासन पर विराजमान हो गया तब सामन्त राजाओं की सेनाएँ वेग के साथ प्रविष्ट होने लगी, स्त्रियाँ गाने लगी, अन्यान्य राजा यथास्थान बैठ गये, आनन्ददायक वीणा और बाँसुरी की मधुर ध्वनि मन को हरने लगी, सुन्दर चँवर हाथ में ली हुई स्त्रियाँ विलासपूर्वक राजा के ऊपर चँवर डुलाने लगी और शुक्र के समान प्रखरमति मन्त्रिमण्डल यथास्थान बैठ गया, जब प्रविष्ट राजकार्य मन्त्रियों द्वारा प्रस्तुत हो रहे थे, चतुर वार्तावाहक दूत देश की खबर सुना चुके थे, पवित्र महाभारत आदि इतिहासमय पुस्तक पढ़ी जा रही थी और विनम्र बन्दीगण सामने पवित्र स्तुतियाँ पढ़ रहे थे, जैसे मेघ, जिसने होनेवाली वृष्टि से बिजली की चमक-दमक आदि आटोप को धारण किया है, पृथ्वी में प्रवेश करता है वैसे ही किसी ऐन्द्रजालिक ने उस सभा में प्रवेश किया ॥२१-२६॥ जैसे पर्वत के समीप के छोटे पर्वत में स्थित फलों से लदा हुआ वृक्ष जिसकी ऊपर की भूमि भली मालूम होती है ऐसे सुन्दर पर्वत

को प्रणाम करता है वैसे ही मुकुट से जिसकी गर्दन सुशोभित हो रही थी ऐसे सुन्दर राजा को उसने प्रणाम किया ॥२७॥ जैसे छायादार, ऊँचे तनेवाले, फूलों से सुशोभित और फलों से लदे हुए वृक्ष के आगे बन्दर प्रवेश करता है वैसे ही वह सुन्दर कान्तिवाले, उन्नत कन्धेवाले, फूलों से सुशोभित हो रहे तथा फलशाली राजा के सामने प्रविष्ट हुआ ॥२८॥ जैसे भँवरा सुगन्धयुक्त कमल से मधुर स्वर से बोलता है वैसे ही अत्यन्त चपल और धनलोलुप उसने ऊपर को गर्दन किये हुए तथा सुगन्ध अतएव सुखकारी श्वासवायुवाले राजा से कहा : राजन्, यहाँ पर आप एक आश्चर्ययुक्त मिथ्या कौतुक क्रीड़ा को सिंहासन में बैठे हुए ही इस प्रकार देखिये, जिस प्रकार कि आकाश में स्थित चन्द्रमा आश्चर्यपूर्ण पृथिवी को देखता है ॥२९,३०॥ यह कहकर उसने भ्रम उत्पन्न करनेवाले मोरपंख के मोरछल को घुमाया जो कि नानाविध रचनाओं के कारण परमात्मा की माया के तुल्य था। जैसे देवविमान में स्थित इन्द्र अपनी धनुषलता को (इन्द्रधनुष को) देखता है वैसे ही राजा ने तेज के कणों से विराजित उस मोरछल को देखा ॥३१,३२॥ इसी समय एक अश्वपालक जैसे मेघ सितारों से पूर्ण आकाश में प्रविष्ट होता है वैसे ही सभा में प्रविष्ट हुआ ॥३३॥ अत्यन्त वेगवान् सौम्य घोड़ा उसके पीछे ऐसे चला जैसे स्वर्ग की ओर जा रहे अतिप्रसन्न वदन इन्द्र के पीछे उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा जाता है। जैसे क्षीरसागर ने उच्चैःश्रवा से युक्त होकर इन्द्र से कहा था वैसे ही उसने उस घोड़े को लाकर राजा से कहा ॥३४,३५॥ हे राजन्, उच्चैःश्रवा के तुल्य इस उत्तम अश्व को आप देखिये। वेग से उड़ने में यह मूर्तिमान् वायु की तरह है। हे प्रभो, हमारे स्वामी ने इसे आपके समीप भेजा है, क्योंकि उत्तम पदार्थ महान् पुरुषों के समर्पण से अधिक सुशोभित होता है ॥३६,३७॥ जैसे मेघनिर्घोष के शान्त होने पर चातक मेघ से कहते हैं वैसे ही उसके ऐसा कहने पर ऐन्द्रजालिक ने कहा ॥३८॥ हे प्रभो, जैसे सूर्य अपने प्रताप से अधिक शोभायुक्त पृथिवी पर विचरण करते हैं वैसे ही इस सुन्दर घोड़े पर सवार होकर आप सम्पूर्ण भुवन में विचरण कीजिए। उसके ऐसा कहने पर जैसे मयूर गर्दन उठाकर घोर शब्दवाले मेघ को देखता है वैसे ही राजा ने गर्दन ऊँची करके उस घोड़े को देखा ॥३९,४०॥ देखने के अनन्तर चित्र में लिखित आकार के तुल्य आकारवाला राजा निर्निमेष दृष्टि से घोड़े को देखता हुआ भीत में लिखे हुए चित्र के तुल्य निश्चल हो गया। जैसे समुद्र पीने के लिए उद्यत हुए अगस्त्य की दृष्टि से क्षुब्ध होकर, अपने भीतर स्थित पर्वत रूपी मीनों के साथ भय से स्तम्भित होकर स्थित हुआ था वैसे ही राजा क्षण भर देखकर सिंहासन में ही आँख बन्द करके स्थित हो गया ॥४१,४२॥ दो मुहूर्त तक राजा आत्मा में ध्यानासक्त के समान ऐसे स्थित हुआ जैसे कि वीतराग और बाह्यदृष्टि शून्य मुनि परमानन्द में स्थित होता है ॥४३॥ अपने पराक्रम से बलवानों पर जिसने विजय पायी थी, ऐसे उस राजा को किसी ने नहीं जगाया क्योंकि वे सोचते थे ये किसी बड़ी भारी चिन्ता का अपनी बुद्धि से चिन्तन कर रहे हैं ॥४४॥ जिनमें चन्द्रमा की किरणें स्तम्भित हों, ऐसी रात्रियों की नाईं केवल वहाँ पर चँवर डुलानेवाली महिलाएँ निश्चल सफेद चँवरवाली हो गईं यानी उन्होंने चँवर डुलाना बंद कर दिया ॥४५॥ जैसे मिट्टी से

बने हुए निश्चल केसर और दलवाले कमल शोभित होते है वैसे ही विस्मयपूर्ण निश्चल वे सब सभासद शोभित हुए ॥४६॥ जैसे वर्षा ऋतु की समाप्ति में आकाश में मेघ का गर्जन शान्त हो जाता है वैसे ही सभामण्डप में धीरे–धीरे कोलाहल शान्त हो गया। जैसे कि भगवान् विष्णु के असुरयुद्ध में पीड़ित होने पर देवताओं को चिन्ता होती है वैसे ही सन्देहसमुद्र में डूबे हुए बुद्धिमान् मन्त्री परम चिन्ता को प्राप्त हुए ॥४७,४८॥ राजा के आँख बन्द करके बैठने पर अति आश्चर्य से निरुत्साह हुई भय और मोह से दुःखी सभामण्डप की जनता ने जिसमें कमल मुकुलित हैं ऐसे कमल वन की शोभाधारण की ॥४९॥

एक सौ चौथा सर्ग समाप्त

एक सौ पाँचवाँ सर्ग

मोहरहित प्रकृतिस्थ राजा के प्रति सभासदों का मोह हेतु के विषय में
प्रश्न के अनन्तर राजा की उक्ति के आरम्भ का वर्णन।

वसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी, जैसे वर्षाकाल के जल से मुक्त हुआ उत्तम कमल विकसित हो जाता है वैसे ही दो मुहुर्त में राजा बोध को प्राप्त हो गया ॥१॥ जैसे भूकम्प के समय विशाल वन और शिखरों के अग्रभागों से युक्त पर्वत अपने शरीर को कँपाता है वैसे ही जाग कर बाजूबन्द और शिरोमालासे विभूषित राजा ने आसन से अपने शरीर को कँपाया। पाताल हस्ती के (पृथिवी को धारण करनेवाले दिग्गज के) क्षुब्ध होने पर जैसे हिमालय कम्पित होता है वैसे ही प्रबुद्ध होकर आसन के ऊपर वह कम्पित हुआ ॥२,३॥ जैसे प्रलयकाल में क्षुब्ध हुए मेरु को कुलपर्वत अपने तटों से सम्हालते हैं वैसे ही गिर रहे उस राजा को सामने स्थित मन्त्री आदि ने अपनी भुजाओं से सम्हाला ॥४॥ मन्त्री आदि सन्मुखवर्ती पुरुषों द्वारा सम्हाले जा रहे व्याकुलबुद्धि उस राजा ने चन्द्रमा का उदय होने पर उछल रहे समुद्र के जल की शोभा धारण की ॥५॥ जैसे डूब रहे कमल के कोश के अन्दर स्थित भ्रमर मन्द–मन्द ध्वनि करता है वैसे ही उस राजा ने यह कौन प्रदेश है और यह किसकी सभा है ? यों धीरे–धीरे कहा ॥६॥ तदनन्तर जैसे राहू से ग्रस्त सूर्य से नलिनी, जिससे भ्रमरियाँ शब्द कर रही हों, आदर के साथ आश्वासन वचन कहती है वैसे ही सभा ने 'हे देव, यह आप क्या कह रहे हैं'; यों बड़े आदर के साथ राजा से कहा ॥७॥ तदनन्तर जैसे प्रलयकाल में भयभीत श्री मार्कण्डेय मुनिजी से देवता पूछते है हैं वैसे ही सन्मुखवर्ती मन्त्रियों ने राजा से पूछा ॥८॥ महाराज, आपकी ऐसी हालत होने पर हम अत्यन्त व्याकुल हैं। यद्यपि मन अभेद्य है तथापि भ्रम उसका भेदन किसी कारण के बिना कर डालते हैं ॥९॥ आपातरमणीय और परिणाम में विरस भोगों में जैसे पामर जनोंका मन ललचाता है वैसे ही किन विकल्पों में आपका मन मोह को प्राप्त हुआ ॥१०॥ उदार वृत्तान्तवाली विद्वत्चर्चाओं के विषय में परिशीलन करने से शीतल अतएव निर्मल आपका मन भयों में क्यों निमग्न हो रहा है ?॥११॥

किस प्रकार का मन मोह योग्य है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं।

तुच्छ विषयों में आसक्त अतएव विषय के छिन्न–भिन्न होने पर छिन्न–भिन्न सा और विषय से जर्जरित सा मन लोकव्यवहारों में मोह को प्राप्त होता है, पर विवेक से परिष्कृत मन कदापि मोह को प्राप्त नहीं होता ॥१२॥ देहाभिमान से विवेकरहित अवस्थाओं में इस मन की स्त्री, पुत्र आदि के विषय में एक धारा से जो वृत्ति उदित हुई, उसी वृत्ति की ओर यह दौड़ता है ॥१३॥ आपका मन तो अतुच्छ (अविनाशी) वस्तु का अवलम्बन करता है। धीर, प्रबुद्ध और गुणों से मनोहर है फिर भी वह छिन्न–भिन्न सा दिखाई देता है, यह बड़े आश्चर्य की बात है। जिस मन ने विवेक का अभ्यास नहीं किया और जो देश–काल का वशवर्ती है, वह मन्त्र और औषधि का वशीभूत होता है। उदार वृत्तिवाला मन मणि, मन्त्र और औषधि के वश में नहीं होता ॥१४,१५॥ जिसको नित्यविवेक प्राप्त है, विवेक से परिष्कृत उसके चित्त को क्या छिन्न भिन्नता और जर्जरता कम्पित कर सकती है ? क्या आँधी कभी भी मेरु को कँपा सकती है ? अर्थात् जैसे आँधी का मेरुपर्वत को कँपाना सम्भव नहीं है, वैसे ही विवेकी पुरुष के विवेक से विशुद्ध हृदय को विशीर्णता कम्पित नहीं कर सकती ॥१६॥ इस प्रकार अपने आत्मीयलोगों से अनुकूल वाणियों द्वारा आश्वासित राजा के मुख को कान्ति ने ऐसे विभूषित किया जैसे पौर्णमासी के दिन पूर्णता चन्द्रमा को विभूषित करती है ॥१७॥ वह राजा, जिसके लोचन प्रफुल्लित थे, मनोहर मुख से युक्त होकर ऐसे सुशोभित हुआ जैसे कि हेमन्त ऋतु के बीत जाने पर फूलों के समुह से युक्त वसन्त उल्लसित होकर सुशोभित होता है ॥१८॥ जैसे डूबने के लिए तैयार चन्द्रमा आकाश में राहू को देखकर भय से और आश्चर्य से खिन्नमुखवाला होता है वैसे ही राजा ऐन्द्रजालिक को देखकर अतिभय और आश्चर्य से खिन्न और पूर्वापर सब वृत्तान्तों के अनुसन्धान से युक्त मुखवाला होकर सुशोभित हुआ। तदनन्तर ऐन्द्रजालिक को देखकर हँसते हुए राजा उससे जैसे सर्प को मार डालनेवाले नेवले को देखकर छोटे साँप के वेष में छिपा हुआ नागराज उससे कहता है वैसे ही कहा ॥१९,२०॥ अरे बिना विचारे काम करनेवाले ऐन्द्रजालिक, मायारूपी जाल से जटावाले तुमने यह क्या किया ? जिससे निश्चल और प्रसन्न सागर के सदृश मेरा मन एक क्षण में अप्रसन्नता को प्राप्त होता है। भगवान् के सैंकड़ों पदार्थों की शक्तियाँ विचित्र हैं, जिन्होंने अत्यन्त शक्तिशाली मेरे चित्त को मोह में डाल दिया है, यह कम आश्चर्य नहीं है। लोकप्रसिद्ध सम्पूर्ण व्यवहारों के सिद्धान्तरहस्य के ज्ञाता हम कहाँ और मन को मोह में डालनेवाली इस समय अनुभूत ये विस्तृत आपत्तियाँ कहाँ ? ॥२१–२३॥ बुद्धिमानों का भी मन चाहे उसने महा ज्ञान का अभ्यास कितना ही क्यों न कर लिया हो, देह के रहते कभी क्षण भर के लिए स्वप्नरूपी इन्द्रजालों का मोह धारण करता है। हे सभासदों, इस आश्चर्यकारी आख्यान को आप लोग सुनिये, जो ऐन्द्रजालिक ने यहाँ पर एक मुहूर्त में मुझे दर्शाया है। मैंने इसमें एक मुहूर्त में बहुत सी चंचल कार्य दशाओं को देखा, जैसे कि बलि द्वारा प्रसादित ब्रह्मा ने, जिन्होंने इन्द्र की सृष्टि को विनष्ट नहीं किया था, एक मुहूर्त इन्द्र की सृष्टि का माया कौतुक देखा था (📖) ॥२४–२६॥ ऐसा कहकर जब सब

📖 पहले किसी समय बलि ने इन्द्र को असहाय अवस्था में पा लिया। वह अपने बल से इन्द्र

सभासद राजा की ओर टकटकी लगाकर देख रहे थे तब मुस्कुराते हुए राजा ने विचित्र वृत्तान्त कहना आरम्भ किया ॥२७॥

आगे कही जानेवाली कथा के उपोद्‌घातरूप से पहले सर्वजनप्रसिद्ध भूमि के अन्तर्गत अपने स्वदेश की सत्ता का अनुवाद करते हैं।

राजा ने कहा : हे सभासदों, विविध विचित्र वस्तुओं से ठसाठस भरी हुई, तालाब, नदी, नद, नगर और पर्वतों से व्याप्त तथा कुलपर्वत और समुद्रों से युक्त इस पृथ्वी में विविध विभवों से परिवेष्टित यह प्रदेश है ॥२८॥

एक सौ पाँचवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ छठा सर्ग

उक्त घोड़े द्वारा वन में पहुँचाये गये राजा का चाण्डाल कन्या के साथ विवाह वर्णन।

राजा ने कहा : हे सभासदों, इस पृथिवीमण्डलका सगा भाई सा यह देश, जो विविध वन और नदियों से युक्त है, आप सब लोगों के सन्मुख विद्यमान है। इस प्रदेश में यह मैं राजा, जो कि नगरवासियो का प्रिय हूँ, जैसे इन्द्र स्वर्ग में सभा के बीच में रहता है वैसे ही इस सभा के बीच में बैठा था ॥१,२॥ जैसे पाताल से मायावी मय दानव अपने-आप निकल आवे वैसे ही यह कोई ऐन्द्रजालिक दूर से आ पहूँचा, यह भी सबको विदित है ॥३॥ जैसे प्रलयकाल के वायु से युक्त मेघ इन्द्रधनुषरूपी लता को घुमाता है वैसै ही इसने आज यहाँ पर तेज से व्यूह यह मोर-पंखे का मोरछल घुमाया ॥४॥ सामने बैठा हुआ मैं उस चंचल मोरछल को देखकर अकेले इस घोड़े की पीठ पर अपने आप सवार हो गया। उस समय मेरा मन कुछ भ्रान्त-सा हो गया था ॥५॥ तदनन्तर जैसे प्रलयकाल में उत्पातवश हिल रहे पर्वत पर सवार होकर पुष्करावर्तनामक मेघराज चलता है वैसे ही चल रहे उस सुन्दर घोड़े पर सवार हुआ मैं चला ॥६॥ जैसे अत्यन्त बढ़े हुए प्रलयकालके समुद्र की बड़ी लहर फले-फूले खेतों की ओर जाने लगती है वैसे ही मैं अकेला बड़े वेग से शिकार खेलने के लिए जाने को तैयार हुआ। जैसे आपातरमणीय विषयों के भोगाभ्यास से जड़ चंचल मन अज्ञानी पुरुष को दूर ले जाता है वैसे ही वायु के समान तेज दौड़नेवाला वह घोड़ा मुझे बहुत दूर ले गया। तदुपरान्त यति के मनके समान शून्य (विषयरहित) और स्त्रियों के चित्त के समान तुच्छ अथवा विषम तथा प्रलयकाल में जले हुऐ ब्रह्माण्ड के समान भीषण वन में मैं पहुँचा। वहाँ पक्षी नाममात्र को भी न थे, वहाँ का शीत अत्यन्त दुःसह था, वृक्षों का कहीं नामनिशान न था, तथा जल का भी पूरा अभाव था।

को पीड़ित कर ले जाना चाहता था, पर इन्द्र ने अपनी माया से स्वसेना की सृष्टि कर मायाबन्धन द्वारा बलि को मोहित कर दिया। तब बलि ने अपने बन्धनमोचन के लिए स्तुति से ब्रह्मा को प्रसन्न किया। ब्रह्मा ने वहाँ उपस्थित होकर इन्द्र की सृष्टि का विनाश करना चाहा, किंतु इन्द्र के प्रार्थना करने पर ब्रह्माजी ने इन्द्र की सृष्टि का ध्वंस नहीं किया और एक मुहूर्त तक इन्द्र की सृष्टि की माया क्रीड़ा देखी थी, ऐसी पौराणिक कथा है।

उस विशाल अरण्य का कहीं ओर–छोर न था। मेरा घोड़ा थक गया था। दूसरे आकाश के समान और आठवें अर्णव के (स्वादुदक समुद्र के बाद आठवें समुद्र यानी पूर्व वर्णित भूमि के परिखारूप गर्त के) समान सूखे हुए पाँचवें सागर के समान (जम्बूद्वीप में चारों दिशाओं में चार सागरों की प्रसिद्धि है मानों वह पाँचवा सागर था) वह शून्यगर्तवाला था, तत्त्ववेत्ता के ब्रह्माकार चित्त के समान अपरिच्छिन्न था, मूर्ख के क्रोध के समान दुर्गम था, उसमें कभी कोई प्राणी पहुँचा न था और न कभी तृण पल्लव ही उगे थे। ऐसे भयंकर जंगल को पाकर मुझे बड़ा दुख हुआ। जैसे अन्न–फल–बन्धु–बान्धवों से रहित दरिद्रता को प्राप्त होकर दुःख पा रही ललना स्थित होती है, वैसे ही फैल रहे मरुमृगतृष्णा के जल से जहाँ पर दिशाओं के मुख आप्लावित हो रहे थे, ऐसे स्थान में स्थित अति दुःखी हो रहे मैंने सूर्यास्त होने तक सारा दिन वहाँ पर बिताया ॥७–१४॥ जैसे विवेकी पुरुष संसार का अतिक्रमण करता है, वैसे ही दुःखी हुए मैंने मध्य–रहित और विस्तीर्ण उस अरण्य को किसी प्रकार बड़े क्लेश से लाँघा, जैसे सूर्य जिनके घोड़े श्रान्त हो गये हों, आकाशगमन से अस्ताचल के शिर को प्राप्त होते है वैसे ही इस वेगशाली घोड़े से उस जंगल को क्रमशः लाँघकर वहाँ पर प्राप्त हुआ, जामुन और कदम्ब ही जिनमें प्रचुरमात्रा में थे ऐसे जिन खण्डों में बटोहियों के बान्धवों की नाईं मधुर कलरव करनेवाले पक्षी उड़ रहे थे ऐसे खेतों में कहीं–कहीं धानों की बात ऐसे ही दृष्टिगोचर हो रही थी जैसे कि कुटिल पुरुष के हृदय में अधर्म से उपार्जित धन से आनन्द वृत्तियाँ उदित होती हैं ॥१५–१८॥ पूर्व नीरस अरण्य से यह कुछ सुखकर था। अत्यन्त दुःखों से परिपूर्ण मरण से प्राणियों को व्याधि कुछ सुखकर प्रतीत होती ही है ॥१९॥ जैसे एकमात्र समुद्र में विहार करने के बाद मार्कण्डेयजी श्री विष्णु भगवान् से अधिष्ठित श्रेष्ठ वटवृक्ष को प्राप्त हुए थे, वैसे ही मैं भी वहाँ पर जंभीर के पेड़ के नीचे पहुँचा। जैसे सूर्य के सन्ताप से सन्तप्त पर्वत नीली मेघघटा का अवलम्बन करता है वैसे ही वहाँ पर उस वृक्ष के तने से सटी हुई लता का घोड़े के त्याग के लिए मैंने अवलम्बन किया। जैसे मनुष्य के गंगाजी की शरण लेने से पाप राशि भाग जाती है वैसे ही मेरे उस लता के सहारे लटकने पर वह घोड़ा भाग गया। मैं दीर्घकाल का पथिक था, अतः थक कर चूर हो गया था। वहाँ पर मैंने चिरकाल तक ऐसे विश्राम लिया जैसे सूर्य अस्ताचल पर्वत की गोद में कल्पवृक्ष के नीचे विश्राम करते हैं ॥२०–२३॥ सम्पूर्ण संसार के व्यवहारों के साथ सूर्य भगवान मानों विश्राम करने के लिए अस्ताचल रूपी आँगन में प्रविष्ट हो गये। रात्रि द्वारा धीरे–धीरे सारे भुवन के मध्यभाग के ग्रसे जाने पर और जंगल में रात्रि के व्यवहारों का राज होने पर जैसे पक्षी अपनी चोंच को डैनों के बीच में छिपाकर घोंसले में छिप जाता है, वैसे मैं एक वृक्ष के पत्ते और तिनकों से युक्त कोमल खण्डित खोखले में छिप गया ॥२४–२६॥ विषधर सर्प से जिसका विवेक डँसा गया है अतएव गल रही स्मृतिवाले मृत्यु के वशीभूत पुरुष की नाईं, बेचे गये दीन–हीन के सदृश और अन्धेरे कुएँ में डूबे हुए व्यक्ति के तुल्य मोह में डूबे हुए मेरी कल्प के समान वह रात्रि ऐसे बीती जैसे एकमात्र प्रलयकालीन सागर में बह रहे श्री मार्कण्डेय मुनि जी की प्रलयरात्रि बीती थी। उस काल में न मैंने स्नान किया, न

देवताओं की पूजा की और न भोजन ही किया। आपत्तियुक्त लोगों की प्रथम श्रेणी में स्थित हो रहे मेरी किसी प्रकार केवल वह रात्रि बीती ॥२७-२९॥ उस भीषण रात्रि में नींद का तो मुझसे स्पर्श भी नहीं हुआ, धैर्य भी मेरा न मालुम कहाँ चला गया था, मैं पल्लवों के साथ काँप रहा था ऐसी शोचनीय अवस्थावाले मेरी वह रात्रि दुस्तर अति लम्बाई के साथ किसी प्रकार तो बीती ॥३०॥ तदनन्तर जैसे मैं अपने मुँह, नेत्र और तारिका के साथ मलिनता को प्राप्त किया गया था वैसे ही अन्धकार घटा के सितारों, चन्द्रमा और कुँई के फूलों के साथ खूब मलिनता को प्राप्त किये जाने पर और दीर्घ जंगल में वेतालों के सिंहनाद के शान्त होने पर दुःसह शीत की व्यथा से युक्त प्राणियों के दाँतों की पंक्तियों की खटखटाहट और चीत्कारों से क्लेश में पड़े हुए मेरा ही उपहास कर रही पूर्व दिशा को मैंने देखा जिसने मद्यपान से अरुणता प्राप्त की थी ॥३१-३३॥ एक क्षण के बाद जैसे अज्ञानी को ज्ञान प्राप्त होता हो और जैसे दरिद्र को सुवर्ण मिले वैसे ही मैंने पूर्व दिशा के ऐरावत नामक दिग्गज पर सवार होने के लिए (उससे ऊपर उगने के लिए) तत्पर सूर्य को आकाश में देखा ॥३४॥ उस समय उठ कर मैंने जैसे सन्ध्या के समय नृत्य में अनुराग रखने वाले शंकर भगवान् गज चर्म को झाड़ते हैं – इधर उधर फटकारते हैं वैसे अपना बिछौना झाड़ा। जैसे काल जगत्रूपी कुटिया में, जिसमें प्रलयकालमें भूतसंघ जल गये, विहार करता है वैसे ही मैं उस अतिविस्तीर्ण वनस्थली में विहार करने के लिए उद्यत हुआ। जैसे मूर्ख के शरीर में कोई मनोहर गुण नहीं दिखाई देता वैसे ही उस जीर्ण जंगल में मुझे एक भी प्राणी नहीं दिखाई दिया ॥३५-३७॥ वहाँ पर केवल 'चीं चीं चूं चूं 'यों चहचहा रहे पक्षी निशंक होकर निष्फल वनप्रदेश में परिभ्रमण से अपनी जाति चपलता प्रकट करते हुए फुदक रहे थे। तदुपरान्त जब सूर्य आकाश के आठवें हिस्से में चढ़ चुके थे यानी लगभग चार दण्ड दिन चढ़ गया था और लताएँ, जिनके ओसबिन्दु सूख गये थे, अतएव मालूम होता था मानों स्नान कर चुकी हों, उस समय घूम रहे मैंने सिर पर भात का थाल रक्खी हुई एक कन्या को देखा जैसे कि दानव ने अमृत के सुन्दर घड़े को धारण की हुई माधवी (मोहिनी रूप धारण किये हुए भगवान) को देखा था। उसके नेत्रों की तारिका बड़ी चंचल थी, स्वरूप काला और काले ही वस्त्र पहिने थी। जैसे चंचल सितारे रूपी नेत्रों से युक्त तथा अन्धकार रूपी वस्त्रों को धारण करनेवाली काली रात्रि के पास चन्द्रमा जाता है वैसे ही वहाँ पर मैं उसके समीप गया ॥३८-४१॥ मैंने उससे कहा : हे बाले, इस भारी संकट में पड़े हुए (卐) मुझे शीघ्र यह भात दो, दीन पुरुषों का दुःख हरने से सम्पत्तियाँ वृद्धि को प्राप्त होती है ॥४२॥ हे बाले, जैसे पुराने पेड़ में खोखले में रहनेवाली व्याई (📖) हुई काली साँपिन वृद्धि को प्राप्त होती है

卐 'जिस पुरुष के प्राणों पर संकट उपस्थित हुआ हो वह यदि जिस किसी से अन्न लेकर खाता है, तो जैसे कमल के पत्ते को जल का स्पर्श नहीं होता वैसे ही उसको भी पाप का स्पर्श नहीं होता' इत्यर्थक स्मृति है।

📖 वह अपने अण्डों तक को खा जाती है। ' प्रसूता' विशेषण भूख की अनुचित कारिता का द्योतन करने के लिए है। जैसे व्याई हुई साँपिन अपने अण्डे तक को खा डालती है, भला इससे बढ़कर अनौचित्य और क्या होगा ? वैसे ही भूख भी क्या-क्या अनौचित्य नहीं करा डालती है ?

वैसे ही मेरे पेट में यह प्राणान्तकारिणी भूख की ज्वाला वृद्धि को प्राप्त हुई है ॥४३॥ जैसे लक्ष्मी प्रयत्नपूर्वक की गई प्रार्थना से पापी को धन नहीं देती है वैसे ही मेरी इस प्रकार की प्रार्थना से भी उसने मुझे कुछ नहीं दिया ॥४४॥ तथापि मैं अन्न प्राप्ति की आशा से चिरकाल तक उसका अनुगामी बना रहा। मेरे छाया के समान एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में उसके पीछे–पीछे चलने पर उस रमणी ने मुझसे कहा : हे हारकेयुरधारिन् भद्र पुरुष, आप मुझे पुरुष, अश्व और गज का भक्षण करनेवाली राक्षसी के तुल्य अत्यन्त क्रूर चाण्डालिन जानिये ॥४५,४६॥ हे राजन्, जैसे ग्रामीण जन से, जिसकी इच्छा पूरी न हुई हो, सुन्दर सौजन्य कोई पा नहीं सकता वैसे ही केवल याचनामात्र से आप मुझसे भोजन नहीं पा सकते हैं। यह कह चुकने के अनन्तर पद–पद पर हाव–भाव के साथ चल रही, वृक्षों कें निकुंजों में छिप रही तथा अपनी अभिलाषा के सूचक कटाक्ष आदि चेष्टाओं से विनम्र हुई उसने मुझसे यह कहा : यदि तुम मेरे पति बनते हो, तो मैं यह भोजन तुम्हें देती हूँ; क्योंकि पामर लोग प्रेम के बिना किसी वस्तु से उपकार नहीं कर सकते। जैसे श्मशान भूमि में वेताल भूखा और धूलि से धूसर रहता है वैसे ही यहाँ खेत में भूखा और धूलि से सना हुआ मेरा पिता, जो चाण्डाल है, बैलों को चला रहा है यानी खेत जोत रहा है। उसके लिए यह अन्न है, आपमें मेरा भर्तृत्व यदि स्थिर हो जाय, तो इस अन्न को आपको दे सकती हूँ, क्योंकि प्रिय पुरुषों की प्राणों से पूजा करनी चाहिये। तदुपरान्त मैंने उससे कहा : हे सुव्रते, मैं तुम्हारा पति होता हूँ, आपत्ति में वर्ण, धर्म और कुलाचारों का कौन विचार करता है ?॥४७–५२॥ मेरे प्रतिज्ञा करने के उपरान्त जैसे प्राचीन काल में मोहिनीरूप धारण किये हुए भगवान् ने आधा अमृत इन्द्र को दिया वैसे ही उसने आधा भात मुझे दे दिया। उसीको मैंने क्षुधा की पीड़ा से बहुत समझा ॥५३॥ मोह से मेरा चित्त हरा जा चुका था, अतएव मैंने वह भीलों के ग्राम का भात खाया और जामुन का रस पीया और वहाँ पर विश्राम भी किया ॥५४॥ जैसे मेघों से काली वर्षाऋतु सूर्य को छिपा देती है वैसे ही वह श्यामल कामिनी मुझे वहाँ पर छिपाकर बाहर स्थित प्राण के समान हाथ से लेकर कुत्सित काली आकृतिवाले दुष्कर्मकारी अतिस्थूल तथा भयानक पिता के पास जैसे नारकीय व्यथा अवीचिनामक नरक में पहुँचती है वैसे ही पहुँची ॥५५,५६॥ वह मुझ पर अनुरक्त थी, अतः जैसे अन्य भ्रमर पर अनुरक्त भँवरी हाथी के कान में मधुर ध्वनि से अपनी अभिलाषा कहती है वैसे ही उसने अपनी अभिलाषा उस चण्डाल के (अपने पिता से) कान में मधुर ध्वनि से कही : पिताजी, यह मेरा पति हो, इसकी आप अनुमति दीजिये। उसने उससे अच्छा कहकर दिन बीतने पर जैसे काल अपने दो किंकरों को बाँधता है वैसे ही उसने बैलों को बाँध दिया। कुहरे और मेघ से कपिल दिशाओं के धूलि–धूसर होने पर वेतालों के निवासस्थान भूत उस वन से हम तीनों चले। जैसे वेताल श्मशान से दूसरे बड़े श्मशान में पहुँचते हैं वैसे ही सन्ध्या के समय हम लोग उस विशाल वन से एक क्षण में भीलों की बस्ती में पहुँचे। वहाँ पर कटे हुए बन्दर, मुर्गे और कौए टुकड़े–टुकड़े करके रक्खे थे, खून से सींची हुई भूमि में मक्खियाँ भनभना रही थी ॥५७–६१॥ सूखने के लिए फैलाए हुए गीले आँतरूपी रस्सी के जाल पर मांसाहारी पक्षी

टूट रहे थे, घर के बगीचों में खड़े जंभीर के पेड़ों पर बैठे पक्षीगण कलरव कर रहे थे, सूख रहे बड़े भारी वसा (चर्बी) के पिण्डों से पूर्ण बाहर के दरवाजे की कोठरी में पक्षियों की चहल-पहल हो रही थी, नेत्रों के गोलक से निकले हुए रुधिर से लथपथ चमड़ों से रुधिरबिन्दु टपक रहे थे, बालकों के हाथ में स्थित मांसपिण्ड में मक्खियों के दल भनभना रहे थे, बूढ़े और बलिष्ठ चाण्डालों द्वारा शोरगुल मचानेवाले बालक डाँटे-डपटे जा रहे थे। जैसे प्रलयकाल में मृत प्राणियों से पूर्ण जगत् में यम के अनुचर प्रवेश करते हैं वैसे ही हम तीनों उस भयंकर भीलों की बस्ती में गये। उसमें चारों ओर नसें और आँतें बिखरी थी। मैं उस नये श्वसुर के घर में बैठा, जहाँ बड़े आदर के साथ बहुत से केले के पत्तेरूपी आसन बिछाये गये थे। खून के समान लाल आँखवाले श्वसुर ने यह जमाई है, ऐसा मेरी सास से कहा, टेढ़ा देखनेवाली मेरी सास ने उसके कथन का अभिनन्दन किया। तदनन्तर कुछ विश्राम कर, चर्म के आसन पर बैठकर इकट्ठा किया हुआ विविध प्रकार का चण्डालोचित भोजन मैंने इस प्रकार खाया जैसे पापी पुरुष अनेक प्रकार के संचित पापों का भोग करता है। मैंने बहुत से प्रेमालाप खूब सुने, जो अनन्त दुःखों के बीज थे, कुछ मनोहर भी न थे एवं जिनमें किसी प्रकार का आकर्षण भी न था ॥६२-६९॥ तदुपरान्त किसी दिन, जब कि मेघहीन आकाश में नक्षत्र दमक रहे थे, जैसे पाप नारकीय पीड़ा देता है वैसे ही काले वर्णवाले उस चण्डाल ने वह काली कलूटी भयानक कुमारी कन्या चण्डालोचित मद्य, मांस आदि के संचय के साज-सरअंजाम, वस्त्र और धन के समर्पण के साथ मुझे दी ॥७०,७१॥ इस विवाहोत्सव में जिन्हें मदिरा और आसव का मद चढ़ा था, खूब जोर से नगाड़े बजा रहे थे, ऐसे चण्डाल लोग नाच विलास करते हुए मूर्तिधारी ब्रह्महत्या आदि पापराशियों के तुल्य बड़े वेग से मेरे चारों ओर भाँति-भाँति के शब्द करते थे ॥७२॥

एक सौ छठा सर्ग समाप्त

एक सौ सातवाँ सर्ग

वहाँ पर पूरे साठ वर्ष तक निवास करते हुए राजा का चण्डालोचित कार्य से जीवनयापन वर्णन।

राजा ने कहा : हे सभासदों, इस विषय में मैं बहुत क्या कहूँ विविध उत्सवों से युक्त विवाह से मेरा चित्त वशीभूत था। तब से लेकर मैं वहाँ पर पूरा चण्डाल बन गया ॥१॥ सात रात के उत्सव के बाद क्रमशः आठ मास बीतने पर मेरी वह पत्नी रजःस्वला हो गई। तदुपरान्त उसने गर्भधारण किया। उसने जैसे विपत्ति दुःखदायिनी क्रिया को उत्पन्न करती है वैसे ही एक दुःखदायिनी कन्या को जन्म दिया। वह विपुल मूर्खचिन्ताके समान बहुत जल्दी बढ़ने लगी। तदनन्तर जैसे दुर्बुद्धि आशारूपी पाशों की रचना करनेवाले अनर्थ को उत्पन्न करती है वैसे ही तीन वर्षों के बाद उसने आशारूपी पाशके निर्माण करनेवाले अशोभन नामक पुत्र को उत्पन्न किया। फिर उसने कन्या को जन्म दिया, तदनन्तर फिर पुत्र को। इस प्रकार परिवारवाला मैं उस वन में बूढ़ा भील बन गया। जैसे ब्रह्महत्या करनेवाले पुरुष नरक में चिन्ता के साथ

विविध यातनाओं को बिताता है वैसे ही उसके साथ वहाँ पर मैंने बहुत वर्ष बिताये। जैसे बूढ़ा कछुआ छोटी तलैया में चिरकाल तक चक्कर काटता रहता है वैसे ही शीत, वायु, ताप आदि के कष्ट से पीड़ित मैं वन में फिरता रहा ॥२–७॥ कुटुम्ब के पालन की चिन्ता से नष्ट हुई अतएव जल रही बुद्धि से मैंने जलती हुई दिशाओं के समान अनेक क्लेशकारी कार्यों को देखा ॥८॥ तीसी की छाल से बने हुए अनेक वर्षों से काम में लाने के कारण जीर्ण–शीर्ण वस्त्र के ऊपर पिण्डी को (करड़े, तिनके आदि से बनाई गई पिण्डी, जिसे सिर पर रखकर बोझ उठाया जाता है) धारण करनेवाले मैंने वन में लकड़ियाँ ढोई, जो मूर्तिमान् दुष्कर्म के समान था ॥९॥ जुँओं से भरे हुए, जीर्णशीर्ण, पसीने से तर अतएव दुर्गन्ध से युक्त कौपीनमात्र ही मेरा एकमात्र वस्त्र था। इस प्रकार एकमात्र कौपीन धारण करनेवाले मैंने धवलीक नामक वृक्षों के तले विश्राम लेकर अनेक वर्ष बिता दिये ॥१०॥ जैसे हेमन्त ऋतु में मेढक वन के मध्य में छिप जाता है वैसे ही जाड़ा और शीतवायु से जर्जरित और कुटुम्ब के भरण–पोषण में उत्कण्ठित मैं वन के अन्दर छिपा रहा। नाना प्रकार के कलह कल्लोलों के सन्ताप से पिघले हुए खून की बूँदें, आँसुओं के बहाने, मैंने अपनी आँखों से छोड़ी ॥११,१२॥ भीगे हुए जंगल में पाषाणों की गुफारूपी कुटियों में मेघ से भीषण वे रात्रियाँ बीती जिनमें एकमात्र वराह का मांस ही भोजन को मिलता था ॥१३॥ काले मेघों से निबिड़ता को प्राप्त हुए सब बीजों को अंकुरित करनेवाले वर्षाकाल के बन्धुओं के दुर्भव से और सदा होनेवाले कलहों से बीतने पर सब जगह शंका करनेवाले अतएव दुःखी चित्तवाले मैंने तोतली वाणी बोलनेवाले बालकों के साथ अनेकों वर्ष दूसरे चाण्डाल के घर में बिताये ॥१४,१५॥ चण्डाली के कलह से दुःखी हुए अतएव क्रुद्ध चण्डालों के अत्यन्त तर्जन–भर्त्सन से मेरा मुख ऐसा जीर्ण–शीर्ण हो गया, जैसे कि राहु के दाँतों से चन्द्रमा जीर्ण–शीर्ण हो जाता है ॥१६॥ नारकी पुरुषों से लाई गई और नारकी पुरुषों के हाथ भेजी गई नरक की अँतड़ियों की नाईं बाघ की मांसपेशियाँ, छोटे किये हुए ओठ से, मैंने चबाई ॥१७॥ हिमालय की कन्दराओं से निकली हुई बड़ी भयंकर हेमन्त की लहरों, शिशिर में जलकणों की तेज वृष्टियों और बरफ की राशियों को मैंने वस्त्ररहित शरीर से सहन किया। ये सब इतनी भीषण थी कि मालूम पड़ता था मानों यमराज ने बाण छोड़े हों। बुढ़ापे से जीर्ण और मूढ़ हुए अकेले मैंने पुण्यों की नाईं अनेक वृक्षों की जड़ खोद डाली। चण्डाल होने के कारण मुझे कोई छूता न था और मेरी स्त्री भी परले सिरे की डाकिन थी, अतः जंगल में हँड़िया आदि मिट्टी के बर्तनों में बड़ी लगन से पकाया हुआ मांस मैंने खाया। अपने तेज के नाश के लिए भाँति–भाँति के मुख के विकार करनेवाले मैंने अपने मांस की नाईं मृग और भेड़ का मांस अन्य लोगों से खरीदा। उनमें से कोमल–कोमल मांस को निकालकर और लोहे के पात्र में पकाकर विन्धायाचल के निवासी भीलों की बस्तियों में अधिक लाभ के लिए बेचा। वह मांस क्या था, मानों हजारों जन्मान्तरों में उदित हुआ मेरा पाप ही था ॥१८–२३॥ बेचने से बचे हुए मांस को चण्डालों के घरों के आस–पास के बागों में सूखने के लिए मैंने फैला दिया। वह अपवित्र मल, मूत्र आदि से व्याप्त था। रौरव नरक में पड़े हुए की तरह अत्यन्त दुर्दशा को

प्राप्त हुए अतएव विन्ध्याचल की झाड़ियों के बन्धु से बन रहे मैंने सन्ध्या के ऊपर स्नेह से रहित यानी कन्द, मूल, मांस आदि के अर्जन में विघ्न डालनेवाले सन्ध्याकाल की विद्वेषिणी बुद्धि से कुदाली को ही देखा अन्य किसी को नहीं देखा, जो पोषक होने के कारण उस समय मित्रता को प्राप्त हुई थी ॥२४,२५॥ जिस दुर्दशा में लाठियों के आघात से कुत्ते आदि के उपद्रव को दूर करनेवाले और भीलों के तुल्य शरीरवाले मैंने कुग्राम के अन्धे लोगों के खाने योग्य कोदो आदि मोटे-मोटे अन्न से परम्परा सम्बन्ध से दैव द्वारा प्राप्त पुत्र, स्त्री आदि का भरण-पोषण किया। जिनके पत्ते मुसलाधार वृष्टि से शब्द करते थे ऐसे सूखे हुए ताड़ के पेड़ों के तले वन-वानरों के साथ जाड़े के मारे दाँतों को खटखटाते हुए मैंने रात्रियाँ बिताई। उस समय शीत से आक्रान्त मेरे शरीर में रोमों ने सूची के अग्रभाग का आकार धारण कर रक्खा था। और वर्षा ऋतु में वे मेघ के बिन्दुओं को मोतियों के तुल्य धारण करते थे ॥२६-२८॥ क्षुधा से पीड़ित और क्षीण उदरवाले मैंने मेघ के खण्ड के समान तुच्छ बकरे के मांस के टुकड़े के लिए जंगल में अपने परिवार के साथ बड़ा भारी कलह किया ॥२९॥ वन में शीत से मेरे दाँत बजते थे और मारे जाड़े के मेरी आँखें तिरछी हो गई थी। मेरा शरीर स्याही से भी अधिक काला हो गया था। यह सब होने से मैं पिशाचों का सगा-सम्बन्धी बन गया था ॥३०॥ जैसे प्रलयकाल में जगत् का भलीभाँति विनाश करने के लिए फाँस (फंदा) हाथ में लिए हुए काल घूमता है वैसे ही मैं मछलियों को मारने के लिए नदी के किनारे-किनारे बंसी लेकर घूमा ॥३१॥ बहुत उपवास होने के कारण तुरन्त काटे हुए मृग के वक्षस्थल से तत्काल गरमा-गरम खून माता के स्तन के दूध के समान मैंने पिया ॥३२॥ श्मशान में बैठे हुए खून से लथपथ तथा श्मशानभूमि में स्थित अपवित्र मांस, बलि आदि खानेवाले मुझसे वन के वेताल ऐसे भागे मानों वे चण्डिकाओं से भगाये गये हों। मैंने वन में मृग और पक्षियों के बन्धन के लिए जाल ऐसे फैलाये जैसे कि लोग अपनी वृद्धि के लिए पुत्र, स्त्री, कुटुम्ब आदि की आशा का जाल फैलाते हैं ॥३३,३४॥ मैंने अपने मायारूपी जालों से लोगों को और डोरे के जालों से पक्षियों को क्लेश पहुँचाया और अपने पापमय जीवन से दिशाओं को दूषित किया ॥३५॥ ऐसे पापकर्म के रहते भी मैंने पापाचरण में ही मन लगाया और पापकर्म में ही आशा ऐसे बढ़ाई जैसे वर्षा ऋतु में नदियाँ बढ़ती हैं। जैसे भालु (卐) के श्वास से साँप दूर भाग जाता है वैसे ही सद्‌बुद्धि मुझसे दूर चली गई थी। जैसे साँप केंचुल का परित्याग कर देता है वैसे ही मैंने दया का परित्याग कर दिया था ॥३६,३७॥ जैसे ग्रीष्म ऋतु के अन्त में आकाश वेग से वृष्टि करनेवाले एवं गर्जन-तर्जन करनेवाले काले मेघ का अंगीकार करता है वैसे ही वेग से बाणों की वृष्टि करनेवाली एवं गर्जन करनेवाली क्रूरता का मैंने अंगीकार किया ॥३८॥ जैसे लोगों से काटकर दूर फैंकी गई खूब फूली हुई खराब मंजरी को, जिसकी गन्ध अत्यन्त उत्कट हो, गड्ढा स्वीकार लेता है वैसे ही उत्पन्न दुःसह अनेक आपत्तियाँ मैंने चिरकाल तक धारण की जो बहुत विस्तार से युक्त और अन्यान्य जनों से त्यक्त थी। 'इतने समय तक इसका भोग करना चाहिये, इस प्रकार का नियत काल

卐 भालु (रिच्छ) अपने श्वास से साँप को बिल से बाहर खींचकर खा डालता है, ऐसी प्रसिद्धि है।

ही' जिनके क्षेत्रभेद का विभाग करनेवाला है ऐसी नारकी उत्कट भूमियों में मैंने पापरूपी बीजों की मुट्ठियाँ बोई, जिन्हें मोह ही वर्षा के तुल्य बढ़ाता है ॥३९,४०॥ विन्ध्याचल की गुफाओं में रहनेवाले मैंने जाल आदि मृगों को फँसाने के साधनों से मृगों पर अपना निर्दयतापूर्वक ऐसा पराक्रम दिखाया जैसा कि काल प्राणियों पर दर्शाता है। जैसे श्रीविष्णु भगवान् शेषनाग के शरीर पर शयन करते हैं वैसे ही मैं, जिसका विवेक नष्ट हो गया था, चामरी के कण्ठरूपी भीत पर सिर रख कर सोया ॥४१,४२॥ चंचल चरण और वस्त्रवाले, तथा शब्दपूर्वक धूम जिसमें उल्लसित हो रहा है ऐसे मेरे शरीर ने, पक्षियों से जिसके समीपस्थ पर्वत और आकाश चंचल हो, गरजते हुए व्याघ्र आदि से जिसका रूप उल्लसित हो, ऐसे कुहरे से आच्छन्न विन्ध्याचल के जलमय प्रदेश की शोभा धारण की। जैसे भगवान् वराह ने पृथिवी को, जिसमें असंख्य जीव चल रहे थे, सहा था यानी अपने ऊपर धारण किया था वैसे ही काले शरीरवाले मैंने ग्रीष्म ऋतु में जुँओं के झुँड से पूर्ण कन्था को बहुत दिनों तक अपने कन्धे पर सहा यानी धारण किया। बहुत बार मैंने वन में धधकती हुई अग्नि से बहुत से प्राणियों को भस्म कर डाला था, अतएव मैंने जिसने प्रलय की अग्नि से जगत् को खा डाला, उस काल का अनुकरण किया। जैसे स्त्रीप्रसंग का व्यसनी पुरुष रोगों को उत्पन्न करता है अथवा जैसे दुष्ट ग्रह या दुराग्रह वैर, कलह आदि अनर्थों की सृष्टि करता है वैसे ही मेरी पत्नी ने दुःख और सुख रूप बच्चों को उत्पन्न किया ॥४३–४६॥ राजा के लड़के उसमें भी इकलौते लड़के अतएव दोषों से अत्यन्त निबिड़ मैंने तब कल्प के सदृश साठ वर्ष बिताये ॥४७॥ हे सभासदों, दुर्वासनारूपी बेड़ी से बँधे हुए अभागे मैंने वहाँ पर आप लोगों को जितना समय मालूम हुआ, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक समय तक क्रोधावेश से भद्दी–भद्दी गालियाँ दी, आपत्तियो में खूब जोर से रोया, रूखा–सूखा मोटा अन्न खाया,भीलों की टूटी–फूटी गन्दी टोली में निवास किया ॥४८॥

एक सौ सातवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ आठवाँ सर्ग

राजा के चण्डालों की उस बस्ती में बहुत वर्षों तक निवास करते समय अनावृष्टि से उत्पन्न दुर्भिक्ष से देश की दुर्दशा का वर्णन।

राजा ने कहा : हे सभासद्वृन्द, तदनन्तर क्रमशः समय बीतने पर मेरी आयु वृद्धावस्थासे जर्जरित हो गई, मेरा मुँह तुषार से लदे हुए घास के तिनकों के तुल्य सफेद दाढ़ी–मूँछ से आच्छन्न हो गया ॥१॥ जैसे वायु से प्रेरित जीर्ण–शीर्ण पत्ते उड़ते हैं वैसे ही कर्मरूपी वायु से प्रेरित सुखयुक्त और दुःखयुक्त मेरे दिन बीतने लगे ॥२॥ जैसे युद्ध में बाणों के समूह लगातार आते और जाते हैं वैसे ही सुख–दुःख, लड़ाई– झगड़ा, अकरणीय चोरी, सीनाजोरी आदि कार्य आने–जाने लगे ॥३॥ मेरा चित्त कल्लोलों से भरे हुए समुद्र के समान भ्रान्त हो गया था, मैं सदा विकल्पों की कल्पनारूपी भँवर में पड़ा रहता था, जैसे पक्षी आकाश में किसी अवलम्बन के बिना उड़ता है वैसे ही में किसी अवलम्बन के बिना आकाश में चलता था और बिलकुल

जड़ हो गया था ॥४॥ चिन्ताओं से व्याप्त चल रहे चक्र में आरूढ़ होने से मेरे भ्रान्त हो जाने पर और कालरूपी सागर में भौंरियों के साथ बहाये जा रहे तृण के तुल्य किसी अवलम्बन के बिना स्थित होने पर विन्ध्याचल की भूमि के वन के कीड़े और एकमात्र उदर भरना ही जिसका मुख्य काम है, ऐसे दो बाहुवाले गर्दभरूप मेरे इस प्रकार वहाँ पर अनेक वर्ष बीते । मैं शव की नाईं अपनी भूपताको भूल चुका था । जिसके पंख कट गये हो ऐसे पर्वत के समान बड़ी वेगवाली चाण्डालता पूर्णरूप से मुझमें स्थिर हो चुकी थी । जैसे प्रलयकाल संसारको तहस-नहस कर डालता है, जैसे वनाग्नि जंगल को राख कर देती है, जैसे सागर की लहर तट को मटियामेट कर डालती है, जैसे वज्र सूखे वृक्ष को जला डालता है, वैसे ही अनवसर में ही जिसमें लोगों का परलोकगमन होता है ऐसा दुर्भिक्ष क्रोधी चण्डालों की मण्डली से परिपूर्ण अन्न, तृण, पत्ते और जल के अभाव से युक्त विन्धाचल के जलप्राय प्रदेश में आया ॥५-९॥ मेघ समुह बरसते न थे, देखते ही नष्ट हो जाते थे । यह भी मालूम नहीं, वे कहाँ रहते थे, कपड़े से छने हुए से अत्यन्त सूक्ष्म अंगार-कणों से मिश्रित वायु बहती थी । वनस्थलियाँ शून्य थी, सूखे हुए मर्मरशब्द करनेवाले पत्तों से वे युक्त थी और चारों ओर वनाग्नि से परिवेष्टित थी, अतएव मालूम पड़ता था मानों बहुत दिनों से उन्होंने संन्यास ले रक्खा हो ॥१०,११॥ अनवसर में उत्पन्न हुआ दुर्भिक्ष बड़ा भीषण हुआ । उसमें वनाग्नि उद्दाम गति से फैली थी । सम्पूर्ण वन सुखाये गये थे । तृण और लताओं की भस्म ही शेष रह गये थे । सबके अंग धूलि से धूसरित हो गये थे । सब मानव मारे भूख के व्याकुल थे । उस दुर्भिक्ष में अन्न, तृण और पानी का कहीं नाम न था । सब नगर और ग्राम उसमें उत्कृष्ट अरण्य बन गये थे ॥१२,१३॥ उस दुर्भिक्षकाल में प्रतीत हो रहे मृगतृष्णा के जल में भैंसों का यूथ नहा रहा था । जंगल का आकाश वायु से उड़ाये गये जलकणों को भी धारण नहीं करता था । 'पानी' शब्दमात्र के श्रवण से लोगों के झुण्ड के झुण्ड उत्कण्ठित होते थे । सूर्य के ताप के विस्तार से उत्पन्न हुए शोषसे सब मनुष्य दुःखी हो रहे थे । घास-पत्ती खाने के उद्योग से अत्यन्त क्षुभित हुए लोगों का उस दुर्भिक्ष में जीवन चला गया था । अपने शरीर को चबाने की अभिलाषा से दाँत परस्पर एक-दूसरे को काटते थे । यह मांस है, ऐसी शंका से खैर के उग्र अग्नि-कणों के समूह को लोग निगल गये थे । मण्डक की (एक प्रकार के पकवान की) भ्रान्ति से निःसार वन के पत्थरों के टुकड़ों को भी लोग निगल गये थे । माता, पुत्र, पिता आदि परस्पर के स्नेह से दुःखी होकर प्राणों के भय से लिपटे थे । मांसाहारी पक्षियों के पेट में पूरी निगली गयी सुन्दर सारिकाएँ शब्द करती थी । परस्पर अंगों के काटने से सम्पूर्ण धरातल रुधिर से सिक्त था मदोन्मत्त और क्षुभित हाथी शेरों को निगलने के लिए सन्नद्ध थे ॥१४-१९॥ गुफाओं में हमें कोई निगल न जाय इस आशंका से एक-एक करके घूम रहे सिंहों से उसकी भीषणता कहीं अधिक बढ़ गई थी । परस्पर एक दूसरे को मारने लिये उद्यत हुए लोगों के मल्ल चरित्र को वह धारण करता था ॥२०॥ उस भीषण दुर्भिक्ष में पत्तों से रहित पेड़ों को अंगारों से भरी हुई तेज आँधी उड़ा रही थी । प्राणियों के रुधिर को पीने के लिए उत्कण्ठित बिलार गेरू आदि धातुओं की तट भूमि को चाटते थे । अग्नि की ज्वालाओं

के घन घटाटोप से वह दुर्भिक्ष काल आवर्त से और वनवायु से युक्त था। सभी जगहों में चटचट शब्द कर रही अग्नि की ज्वालाओं से सबके–सब जंगल उसमें पीले पड़ गये थे ॥२१,२२॥ जिन झाड़ियों में वनाग्नि से अजगर जल गये थे, उनसे उठे हुए धुएँ से, जो उनके अधिक फलने–फूलने के लिए दी गई धूप के तुल्य प्रतीत होता था, सब पेड़ और झाड़ियाँ हृष्टपुष्ट हो गई थी। वायु के झोंके से परिवेष्टित वनाग्नि की ज्वालाओं से सन्ध्याकालीन मेघ के तुल्य सारा आकाश आच्छन्न था ॥२३॥ उस दुर्भिक्ष में चारों ओर उद्दाम हाहाकार मचा था, वनाग्नि से उड़ी हुए भस्म से बिना दण्ड के छाते तने हुए थे, मारे भूख के रो रहे नर–नारियों के आगे दीन–हीन बालक रो –चिल्ला रहे थे, संभ्रान्त पुरुष दाँतों से बड़े–बड़े शवों के मांस को काट रहे थे, मांस के छोटे–छोटे टुकड़ों को बड़े वेग से निगलने के कारण लोग खून से तर अपनी अँगुलियों को निगल रहे थे ॥२४,२५॥ उस दुर्भिक्ष में लोग नीले पत्ते और लताओं की आशंका से धुएँ की निविड़ छबि को पीते थे। आकाश में घूम रहे गीध आकाश में उड़ रहे अंगार रूपी मांस खण्ड को निगल रहे थे यानी आकाश में अंगारे इधर–उधर उड़ रहे थे, उन्हें यह मांस पिण्ड है, यह समझकर गीध निगलते थे। परस्पर एक दूसरे के अंग को काटनेवाले लोगों के पलायन से वहाँ बड़ी व्याकुलता हो रही थी, जोर से धधकती हुई अग्नि की भड़भड़ाहट से लोगों के हृदय और पेट फट रहे थे, गहरे गड्ढों में प्रवेश कर रहे वायु के झनकार के समान भीषण वनाग्नि की लपटें धधक रही थी, भयभीत अजगरों की फुफकार से वहाँ वृक्षों पर अंगार उड़ रहे थे ॥२६–२८॥ जो विन्ध्याचल का प्रदेश पहले बड़ा मनोहर था, वह इस प्रकार के प्राणि–विनाशकारी दुर्भिक्ष को पाकर, अनवसर में जिसमें देश नष्ट हो रहे हैं, शुष्क कोटरवाला होकर प्रलयकाल में उगे हुए बारह सूर्यों की अग्नि से जले हुए जगत् की तुल्यता को प्राप्त हुआ। वह देश, जहाँ पर धधक रही अग्नि से जटायुक्त हुए वृक्षों में बह रही हवा के संचार से लोग बहुत पीड़ित थे, अग्नि, सूर्य और सूर्य–पुत्र शनैश्चर की क्रीड़ाभूमिरूपी घर की तुलना को प्राप्त हुआ ॥२९,३०॥

एक सौ आठवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ नौवाँ सर्ग

दुर्भिक्ष पीड़ित विन्ध्यप्रदेश से स्त्रीसहित निकले हुए पुत्र की आपत्ति देखकर
अग्नि में प्रवेश करने के लिए इच्छुक राजा का जागकर सदस्यों से संवाद।

राजा ने कहा : हे सभासदों, उस समय उक्त कष्टदायिनी दैव की प्रतिकूलता के, जो अत्यन्त सन्ताप देनेवाली थी, अतएव यदि उसे अकाल में प्राप्त घोर प्रलय कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी, सिर पर पड़ने पर जैसे शरद् ऋतुमें आकाश से मेघ कहीं दूसरे प्रदेश में चले जाते हैं वैसे ही कोई लोग अपने परिवार बन्धु–बान्धवों के साथ निकल कर दूसरे देश में चले गये ॥१,२॥ जैसे वन में काटे गये वृक्ष वहीं पर जीर्णशीर्ण हो जाते हैं वैसे ही कितने लोग, जो अपने पुत्र, स्त्री, श्रेष्ठ बन्धुओं को अपने शरीर के अवयवों की नाईं छोड़ नहीं सकते थे, वहीं

पर तहस–नहस हो गये ॥३॥ जैसे अपने घोंसले से निकले हुए पक्षियों को, जिनके पंख नहीं निकले हों, बाज खा जाते हैं, वैसे ही अपने घर से निकले हुए कितनों को बाघ, भालू आदि जंगली जानवर चट कर गये ॥४॥ पतंगों की नाईं कोई लोग जली हुई आग में प्रविष्ट हो गये, कोई पहाड़ से लुढ़की हुई शिलाओं की भाँति गड्ढों में गिर गये ॥५॥ मैं तो उन श्वसुर आदि मित्रों को छोड़कर मेरे पीछे चल सकने में समर्थ केवल अपने कुटुम्ब को लेकर बड़ी कठिनाई से उस दुर्भिक्ष पीड़ित देश से निकल आया ॥६॥ अग्नि, वायु, बाघ आदि हिंसक जीवों और सर्प आदि की आँखों में धूल झोंककर यानी उनसे बचकर मैं मृत्यु के भय से सपत्नीक निकल आया ॥७॥ उस देश की सीमा में पहुँचकर वहाँ एक ताड़ के पेड़ के तले अपने कन्धे से बच्चों को, जो विविध अनर्थों के समान भीषण थे, उतारकर मैंने चिरकाल तक विश्राम किया। मेरी दशा बड़ी शोचनीय थी, रौरव नरक से निकले हुए पुरुष के सदृश मैं थका था और ग्रीष्म ऋतु के प्रचुर वनाग्नि के सन्ताप से पीड़ित मैं जल रहित कमल के सदृश मुरझाया था। तदुपरान्त चण्डाल की पुत्री के (मेरी पत्नी के) उस पेड़ के तले विश्राम लेने, दो लड़कों को छाती से लगाकर सो जाने पर पृच्छक नाम का एक लड़का मेरे आगे बैठा था, जो सबसे छोटा और बड़ा भोलाभाला होने के कारण हम दोनों का बड़ा दुलारा था। उसने दीन होकर और आँखों में आँसू भरकर मुझसे कहा : पिताजी मुझे जल्दी खाने के लिए मांस और पीने के लिए रुधिर दीजिये। बार–बार ऐसा कहता हुआ वह नन्हा–सा बच्चा प्राणान्तिक अवस्था को प्राप्त हुआ और मारे भूख के बार–बार रोने लगा ॥८–१३॥

मैंने उससे बार–बार कहा : बेटा, मांस नहीं है। फिर भी वह मन्दमति मुझे मांस दीजिये कहता ही रहा ॥१४॥ तदुपरान्त पुत्र के प्रति गहरे स्नेह से मूढ़ बने हुए अतएव अत्यन्त दुःखी मैंने उससे कहा : बेटा, पका हुआ मेरा मांस खाओ। फिर 'दो' कहकर अत्यन्त भूखे और मेरे शरीर से चिपक रहे उसने मेरा मांस खाना भी स्वीकार कर लिया ॥१५,१६॥ स्नेह और करुणा से मोह में पड़े हुए तथा अत्यन्त दुःखित हुए मैंने, जो कि उस तीव्र आपत्ति को सहने में समर्थ न था, बच्चे की उस पीड़ा को देखकर सब दुःखों से छुटकारा पाने के लिए और उस काल के योग्य सहृत् मरण के लिए मन में निश्चय किया ॥१७,१८॥ वहाँ पर लकड़ियों को इकट्ठी कर मैंने चिता बनाई। वह चिता चटचट शब्दों से मेरी अभिलाषा करनेवाली–सी स्थित हुई। उस चिता में जैसे ही मैं अपने को फेंकने लगा वैसे ही इस सिंहासन से राजा रूप मैं बड़े वेग से चलित हुआ। तदनन्तर तुरी के शब्द से और जय घोष से मैं जगाया गया। इस प्रकार ऐन्द्रजालिक ने जैसे अज्ञान जीव की सैंकड़ों दशाओं से युक्त मोह उत्पन्न करता है वैसे ही यह मोह मुझमें उत्पन्न किया। अत्यन्त तेजस्वी राजाधिराज लवण के यह कह चुकने पर ऐन्द्रजालिक एक क्षण में वहीं पर अन्तर्हित हो गया। आश्चर्य से आँखें तरेरते हुए सदस्यों ने राजा से कहा : राजन्, जिसको धन की इच्छा नहीं हैं, वह ऐन्द्रजालिक नहीं हो सकता। यह संसार की स्थिति समझानेवाली कोई दैवी माया है ॥१९–२४॥ संसार मनोविलासमात्र है। यह इस माया में प्रतीत होता है। सर्वशक्ति, भगवान विष्णु का

विलासरूपी मन ही जगत् है ॥२५॥ सर्वशक्तिशाली विधाता की सैंकड़ों विचित्र शक्तियाँ हैं, जिनसे विवेकशील मन को भी वे मन से मोहित करते हैं ॥२६॥ जिन्हें लोक का वृत्तान्त भलीभाँति ज्ञात है, ऐसे ये महीपति कहाँ और पामर लोगों की मनोवृत्ति जानने योग्य यह बड़ा भारी संभ्रम कहाँ ? विधाता की माया से ही यह अघटित घटना घटी है ॥२७॥ ऐन्द्रजालिक की इच्छा नहीं है। यह मनमें मोह डालनेवाली माया है। ऐन्द्रजालिक तो नित्य धन की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं। उनका दूसरा कोई प्रयोजन नहीं होता। वे तो बड़े प्रयत्न से धन माँगते हैं, वे अदृश्य नहीं हो जाते। इन दो हेतुओं से सन्देहाकुल हम लोग सन्देहसागर के तटरूप निर्णय को प्राप्त हुए हैं ॥२८,२९॥

यह आख्यायिका न तो बालकाख्यायिका के समान कल्पित कथा है और न दूसरे के मुँह से सुनी है, बल्कि प्रत्यक्ष देखी हुई सच्ची घटना है, ऐसा कहते हैं।

वत्स श्रीरामचन्द्रजी, उस समय उस सभा में मैं उपस्थित था, इसलिए यह सब मैंने अपनी आँखों से देखा है, दूसरे के मुँह से नहीं सुना है ॥३०॥ हे महात्मन् इस प्रकार बहुत-सी कल्पनाओं से बद्धमूल (जिसने अपने कलेवर की वृद्धि की है) अतएव फल, पल्लव और शाखाओं से विस्तार को प्राप्त वृक्ष के समान मन आत्मा के स्वरूप को छिपाकर स्वयं सर्वोत्कर्ष में स्थित है। विचारजनित ज्ञान से मन को निर्वासनिकतारूप शम को प्राप्त करा देने से मन के आत्मस्वभाव होने पर भेदक उपाधि का बाध हो जाने से आप परम पवित्र पद को प्राप्त हो जायेंगे ॥३१॥

एक सौ नौवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ दसवाँ सर्ग

मन के वैभव के वर्णन द्वारा मन के शमन के उपाय का वर्णन।

मन वासनामय है, अतएव वासनाओं का आत्यन्तिक उच्छेद ही मन के शमन का उपाय है। वासना के आत्यन्तिक उच्छेद का उपाय शास्त्राभ्यास, आचार्योपदेश और अपने अनुभव से सकल दृश्य और अपने अनुभव से सकल दृश्यपदार्थ एकमात्र मन की भ्रान्ति रूप हैं, यह निश्चयपूर्वक सप्तम भूमिकारोहपर्यन्त ज्ञान को परिपक्व करनेवाला मनोनिरोध ही है, यह कहने के लिए जड़ से मन के स्वरूप का शोधन करते हुए श्री वसिष्ठजी कहते हैं।

वत्स, परम कारण यानी चैतन्यसंवलित अज्ञान से ही सर्वप्रथम शुद्ध चेतन चेत्यपदवी को प्राप्त हुआ, वस्तुतः वह चेत्य पदवी को प्राप्त नहीं है, क्योंकि वह निर्विकार है ॥१॥

श्लोकस्थ 'आदौ' से यह सूचित होता है कि जब चित् के प्राथमिक चेत्यपदपात अज्ञाननिमित्तक है तब तन्मूलक द्वैतदर्शन भी अज्ञान निमित्तक है, यह इसलिए सिद्ध हुआ। चिति के चेत्य पद में पड़ने से ही 'पदार्थप्रथा' नाम को प्राप्त होकर नाम-रूप की विचित्रता से चिति कलुषता को प्राप्त हुई है। वह कलुषी भाव ही वासना का पहला अंकुर है, यह भाव है।

इस प्रकार की वस्तु स्थिति वाले पदार्थों के नाम-रूपवैचित्र्याभास भ्रमों के, जो कि है ही

नहीं, क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होने पर वह चिति अपनी स्वाभाविक पूर्णता को भूलकर, असत् मनोरूपता को प्राप्त होकर अनादिकाल से लेकर जन्म, मरण आदि भ्रमों से मोह में पड़ती है। भाव यह कि चेतन का चेत्योन्मुख होना ही अनर्थों की जड़ है, इसलिए उसीका निरोध करना चाहिए ॥२॥ इस प्रकार अति तुच्छ वासनारूपी सहस्त्रों दोषों से म्लान हुई मनोवृत्तिरूप से स्थित वह चिति जैसे बालिका वेतालों का विस्तार करती है वैसे ही असत् ही दुःखों का खूब विस्तार करती है ॥३॥ जैसे सकलंक असत् मनोवृत्ति चेतन के दुःख की वृद्धि करती है वैसे ही वासनाओं का क्षय हो जाने पर वासनारूपी कलंक से निर्मुक्त स्वाभाविक सद्रूप मनोवृत्ति ही इस तरह महादुःख को शून्य करती है जिस तरह सूर्य की प्रभा अन्धकार को दूर कर देती है यानी बोध से महादुःख का बाध कर देती है ॥४॥

उक्त अर्थ की संभावना से मनकी अघटित घटना शक्ति को कहते हैं।

मन दूर को समीप बना देता है और समीप को दूर कर देता है। जैसे छोटा बच्चा चिड़ियों के बच्चों में अपना पराक्रम दिखाता है वैसे ही मन प्राणियों में अपना प्रभाव दिखाता है ॥५॥ जैसे भ्रान्त पथिक को दूर से स्थाणु भी पिशाच प्रतीत होता है वैसे ही वासनाओं वाले अज्ञानी चित्त को अभय में (जहाँ भय नहीं है वहाँ भी) भय होता है ॥६॥ कलंक से (वासनाओं से) मलिन हुआ मन मित्र में शत्रुत्व की शंका करता है। देखिये न ! नशे में चूर हुआ प्राणी पृथिवी को घूमती हुई देखता है ॥७॥ मन के व्याकुल होने पर चन्द्रमा से वज्र की उत्पत्ति होती है। अमृत ही क्यों न हो यदि यह विष है, ऐसी बुद्धिसे उसका पान किया जाय तो अवश्य विष का कार्य मूर्च्छा, मरण आदि होता है ॥८॥ वासनाओं से परिपूर्ण मन गन्धर्वनगर को, जो असत् है, सत् के समान देखता है और जाग्रत को स्वप्न के सदृश देखता है ॥९॥ मन की उत्कट वासना प्राणी के मोह की एकमात्र कारण है। उसी को प्रयत्न के साथ मूलोच्छेदपूर्वक जड़ से उखाड़ फेंकना चाहिए ॥१०॥ वासनारूपी जाल से खींचा गया मनुष्यों का मन रूपी हिरन संसाररूपी वन की झाड़ी में अत्यन्त विवशता को प्राप्त होता है ॥११॥ जिस विचार ने जीव की ज्ञेय पदार्थों की वासना का उच्छेद किया, मेघों के आवरण से रहित सूर्य के प्रकाश के तुल्य उसका प्रकाश विराजमान है ॥१२॥

पहले मन ही मेरी देह है अन्य देह नहीं है, ऐसा सदा अभ्यास करना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

इसलिए तुम नर को मन ही समझो, देह न समझो। देह जड़ है। मन को न लोग जड़ कहते हैं और न अजड़ कहते हैं ॥१३॥ हे रघुवर, जो मन ने किया, उसी को आप किया हुआ समझिये। हे पुण्यमय जिसका मन ने त्याग किया उसीको त्याग किया हुआ जानिये। एकमात्र मन ही यह सारा जगत् है और मन ही भूमि का प्रान्त है। मन ही आकाश है, मन ही भूमि है, मन ही वायु है, मन ही महत्तत्त्व है। मन यदि सूर्य आदि पदार्थों में प्रकाशादिरूप से युक्त न हो, तो सूर्योदय होने पर भी ये प्रकाश आदि कदापि न हों ॥१४–१६॥ जिसका मन मोह को प्राप्त होता है, वह मूढ़ कहा जाता है। शरीर के मोह को प्राप्त होने पर शव को कोई मूढ़ नहीं कहता है ॥१७॥ मन जब देखता है चक्षु हो जाता है, जब सुनता है तब श्रोत्रता को प्राप्त होता है,

स्पर्श करने से वह त्वग्भाव को प्राप्त होता है, सूँघने से वह घ्राणता को प्राप्त होता है, रस का स्वाद लेने से जिह्वा बन जाता है। नाटक में जैसे एक ही नट वेशभूषा के परिवर्तन से नाना आकारों को प्राप्त होता है वैसे ही देह में इन पूर्वोक्तविचित्र वृत्तियों में मन की ही अनुवृत्ति होती है ॥१८,१९॥ मन छोटे पदार्थ को बड़ा बना देता है, सत्य पदार्थ में असत्ता स्थापित कर देता है। स्वादिष्ट वस्तु को कटु बना देता है और शत्रु को मित्र बना डालता है ॥२०॥ जो वृत्तिवर्ती चित्त का प्रतिभास है यानी चैतन्य द्वारा उज्ज्वलित मन की घट, पट आदि विषयाकार वृत्ति है, वही प्रत्यक्षनामक प्रमाण है, क्योंकि लोक में तथा शास्त्र में ऐसा ही अनुभव है ॥२१॥ प्रतिभास के कारण ही स्वप्न से व्याकुल चित्तवाले हरिश्चन्द्र की एक रात बारह वर्ष की हो गई। चित्त के प्रभाव से ही ब्रह्मलोक में गये हुए राजा इन्द्रद्युम्न का एक मुहुर्त एक युग में बीत गया। यदि हरिस्मरण आदि रूप मनोहर चित्तवृत्ति का उदय हो, तो घोर रौरव नरक दुःख भी सुखरूप में परिवर्तित हो जाता है जैसे कि प्रातः मुझे अवश्य राज्य प्राप्त होनेवाला है, इस बात का जिसे प्रमाणों में निश्चय है और जिसके हाथ–पैर हथकड़ी और बेड़ी से भलीभाँति बँधे हैं, उसका बन्धन दुःख के बदले सुख रूप में परिवर्तित हो जाता है ॥२२–२४॥ जैसे डोरे के जल जाने पर मोती की माला टूट जाती है वैसे ही मन के जीत लेने पर सब इन्द्रियाँ वश में आ जाती है ॥२५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मन की इससे बढ़कर पदार्थों की विपरीत कल्पना की सामर्थ्य और क्या कही जाय ? देखिये न, मन सब जगह स्थित, समत्व, स्वच्छत्व, निर्विकारत्व, सूक्ष्मत्व आदि स्वभाववाली, साक्षिस्वरूप, सब पदार्थों में अनुगत, चेत्य पदार्थों से अभिन्न, चिन्मात्ररूप, आत्मसत्तामात्र से स्थित, वाग् आदि सब क्रियाओं से रहित भी ब्रह्म को देहतादात्म्य की कल्पना से देह के तुल्य और जड़ बनाकर अन्तःकरण में काम, संकल्परूप भ्रान्ति से और बाहर पर्वत, नदी, समुद्र, आकाश, नगर आदि की लीला से कल्पना कर व्यर्थ ही घूमता है ॥२६–२८॥

यदि किसी को यह शंका हो कि मूढ़ मन भले ही अन्यथा कल्पना करे परन्तु विचार से जागरुक हुआ मन अन्यथा कल्पना नहीं करेगा, ऐसी परिस्थितिमें विचार जागरुक मनके विनाश की चिन्ता से क्या प्रयोजन है, इस पर कहते हैं।

विवेक से जागरुक हुआ मन भी यद्यपि स्त्री–अधर आदि वस्तु अस्वादु और उच्छिष्ट है तथापि उसे राग आदि से अभीष्ट अमृत के तुल्य स्वादु बना डालता है। यदि अभिलाषा न हो तो अमृत को भी विष के तुल्य हेय बना डालता है क्योंकि विरक्त पुरुषों की अमृत में भी हेयताबुद्धि देखी ही जाती है ॥२९॥

तत्त्वज्ञान होने पर मन क्यों नहीं घुमाता है ? इस पर कहते हैं।

जिन्होंने पूर्णता का साक्षात्कार नहीं किया, उन्हींका मन पदार्थों में अभिमत आकारवाले आत्मचमत्कारभूत रूप की सृष्टि करता है, तत्त्ववेत्ताओं का मन नहीं करता, क्योंकि मिथ्याबुद्धि से बाधित मनोविलासों में उनकी चमत्कार दृष्टि नहीं होती है, यह अभिप्राय है ॥३०॥ चित्–शक्ति से प्रस्फुरित मन स्पन्दों में वायुता को प्राप्त होता है, प्रकाशों में प्रकाशता को प्राप्त

होता है, द्रवों में द्रवता को प्राप्त होता है, पृथिवी में कठिनता को तथा 'नहीं है' इस प्रकार जिनका ग्रहण होता है, उन शून्य वस्तुओं में शून्यता को प्राप्त होता है यों चित् शक्ति से स्फुरित हुआ मन सर्वत्र अप्रतिहर स्वच्छन्दता को प्राप्त होता है। देश और काल के बिना ही मन सफेद को काला कर देता है और काले को सफेद कर डालता है। इस चित्तकी इस प्रकारकी अद्‌भुत शक्ति देखिये ॥३१-३३॥ मन यदि अन्य स्थान में संलग्न हो, तो खूब चबाये गये स्वादिष्ट भोजन तक का जिह्वा को स्वाद प्रतीत नहीं होता है, इससे अधिक आश्चर्य और क्या होगा ? ॥३४॥

जो वस्तु चित्त द्वारा देखी गई वही दृष्ट है। यदि चित्त ने नहीं देखी, तो सामने स्थित होने पर भी वस्तु दृष्ट नहीं होती।

चक्षु आदि इन्द्रियों की मन ने ही अपने में कल्पना कर रक्खी है, ऐसा कहते हैं।

जैसे अँधेरे में छायावैचित्र्यरूप नीलता की कल्पना होती है वैसे ही उसने अपने में इन्द्रियों का निर्माण कर रक्खा है ॥३५॥ यद्यपि इन्द्रियों द्वारा आलोचित आकार को धारण करने से मन इन्द्रियों के कारण साकार है और इन्द्रियाँ मनके अधीन पदार्थ की आलोचक होने से मन से साकार हैं, इस प्रकार दोनों में समता है तथापि मन उत्कृष्ट है, क्योंकि मन से इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई हैं, इन्द्रियों से मन उत्पन्न नहीं हुआ है ॥३६॥

उस मन की मूढ़ आत्मकोटि में गणना कर 'अहम्' यों उसका आत्मरूप से ग्रहण करते हैं, किन्तु तत्त्वज्ञानी देहकोटि में उसकी गणना कर जड़ देहरूप से उसका ग्रहण करते हैं। अतएव निर्विकार आत्मा के ज्ञाता वे महात्मा वन्दनीय हैं, ऐसा कहते हैं।

मूढ़ो की दृष्टि से चित्त और शरीर का अन्धकार और प्रकाश के समान अत्यन्त भेद है। जिन महात्माओं की दृष्टि से मूढ़दृष्टि से अत्यन्त भिन्न चित्त और शरीर का ऐक्य है, उन महापण्डितों को ज्ञातव्य तत्त्व का ज्ञान हो गया है, अतएव वे सबके वन्दनीय है ॥३७॥

अतएव उनमें काम आदिका विकार नहीं देखा जाता है, ऐसा कहते हैं।

जिसका बालों का जूड़ा सुगन्धित फूलोंसे सुशोभित है और जिसने हाव-भाव से कटाक्ष मारे हैं ऐसी नायिका मनरहित पुरुष के शरीर से चिपट भी जाय, तो उसकी दृष्टि में काठ और भीत के तुल्य है यानी तनिक भी विकार पैदा करने में सक्षम नहीं है ॥३८॥

इसी प्रकार दुःख-निमित्तों से दुःखरूप विकार भी उनको नहीं होता है ऐसा कहते हैं।

वीतराग नाम के मुनि ने मन के अन्यत्र संलग्न होनेके कारण वन में मांसाहारियों द्वारा चबाये गये हाथ को नहीं देखा, जो कि ध्यान के समय गोद में पसारा था ॥३९॥ मुनि के मन की भावनाएँ, जो अभ्यास की अधिकता से उत्पन्न की जाती हैं, बड़े-से-बड़े दुःखों को सुख बनाने के लिए तथा सुखों को दुःखरूप में परिणत करने लिए अनायास ही समर्थ होती हैं ॥४०॥ मन कहीं और जगह में उलझा हो, तो बड़े जतन से कही जा रही कथा भी ऐसे छिन्न-भिन्न हो जाती है जैसे कि कुल्हाड़ी से काटी गई लता छिन्न-भिन्न हो जाती है। यदि मन पर्वतके शिखर पर आरूढ़ हो, तो घर में बैठा हुआ जीव भी स्वप्न में सफेद मेघों से युक्त कन्दराओं की

भ्रान्ति के दुःख का अनुभव करता है ॥४१,४२॥ स्वप्न में मनके उल्लास को प्राप्त होने पर हृदय में ही निर्मित नगर, पर्वत आदि विस्तीर्ण आकाश में निर्मित नगर, पर्वत आदि के सदृश अपने–अपने कार्य को करने में समर्थ दिखाई देते हैं ॥४३॥ चंचल समुद्र जैसे अपने में लहरों की कतार को फैला देता है वैसे ही मन स्वप्न में अपने से विक्षिप्त हृदय में ही पर्वत और नगरों की परम्परा का विस्तार करता है । जैसे समुद्रान्तर्वर्ती जल तरंग, आवर्त और छोटी–छोटी लहरों के रूप में परिणत होता है वैसे ही देह के मध्यवर्ती मन भी स्वप्न के आवेश से पर्वत और नगरों की श्रेणि के रूप में परिणत होता है ॥४४,४५॥ जैसे पत्र, लता, पुष्प, फलों की शोभा अंकुर से अतिरिक्त नहीं है यानी अंकुर से ही उत्पन्न है वैसे ही जाग्रत्, स्वप्न आदि विभ्रम मनसे अतिरिक्त नहीं हैं यानी मन के ही कार्य हैं ॥४६॥ जैसे सुवर्ण की प्रतिमा सुवर्ण से भिन्न नहीं है वैसे ही क्या जागत् और क्या स्वप्न की विविध क्रियाएँ चित्त से पृथक् नहीं हैं ? जैसे जलकी धारा, सीकर, तरंग, बुद्बुद् आदि शोभा दिखाई देती है यानी एक ही जल, धारा आदि अनेक रूपों में प्रतीत होता है वैसे ही मनकी यह विचित्र विभववाली नाना विचित्रता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है । जैसे शृंगार आदि के आवेश से नट विलक्षण–विलक्षण वेषों के आविर्भाव को स्वीकार करता है वैसे ही यहाँ पर अपनी चित्तवृत्ति ही राग के आवेश से जाग्रत और स्वप्न दृष्टि से आविर्भाव को प्राप्त होती है ॥४७–४९॥ जैसे राजा लवण में भ्रमवश चण्डालता स्फुरित हुई थी वैसे ही यह विशाल जगत् मन का स्फुरणरूप ही है ॥५०॥ मन जिस किसी का संकल्प करता है शीघ्र वही हो जाता है । इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, स्फुरणरूप मन को आप जैसा चाहते हैं वैसा कीजिये ॥५१॥ यह मन विविध नगर, नदी, पर्वत रूपता को प्राप्त होकर देहियों के अन्दरस्थित होकर ही जाग्रत–स्वप्नमयजगत् का विस्तार करता है ॥५२॥ जैसे भ्रान्ति वश लवण राजा चण्डालता को प्राप्त हुआ था वैसे ही चित्त भ्रमवश देवत्व से दैत्यता को प्राप्त होकर नागता से (गजता या सर्पता से) वृक्षता या पर्वतता को प्राप्त होता है । जैसे पितृत्व से पुत्रता को प्राप्त हुआ मनुष्य अपने संकल्प से नरता से नारीत्व को प्राप्त होता है वैसे ही अपने संकल्प से मन शीघ्र प्रत्येक वस्तु के रूप को प्राप्त होता है ॥५३,५४॥ मन चिरकाल से अभ्यस्त संकल्प से ही मरता है और संकल्प से ही फिर उत्पन्न होता है और स्वतः आकृतिरहित होने पर भी जीवाकार को प्राप्त होता है ॥५५॥ विस्तृत मनमें, जिसमें मनन द्वारा मूढ़वासना अत्यन्त मोह को प्राप्त हुई है, संकल्प से जन्मस्थान, सुख–दुःख रहते हैं । वे देश और काल के कारण कभी प्रचुर हो जाते हैं अथवा कभी स्वल्प हो जाते हैं ॥५६,५७॥ जैसे कोल्हू आदि यन्त्र से तिलों के पेरने से तेल सदा के लिए स्पष्ट हो जाता है वैसे ही चित्त के अन्दर घनीभूत सुख–दुःख मन की वृत्ति से स्फुटता को प्राप्त होते हैं ॥५८॥

यदि कोई शंका करे कि देश, काल और कर्म की विचित्रता से ही सुख–दुःख आदि की विचित्रता प्रसिद्ध है, फिर मननरूप मन की वृत्ति से (संकल्प से) सुख की विचित्रता होती है, यह कैसे कहते हैं, तो इस पर कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, संकल्प ही देश और काल के नाम से कहा जाता है, क्योंकि संकल्प के

कारण ही देश और काल की स्थिति है। भाव यह कि देश और काल स्वल्प ही क्यों न हों यदि मन से उनके प्राचुर्य का संकल्प किया जाय, तो उनकी विपुलता का अनुभव होता है तथा विषय कितना भी तुच्छ क्यों न हो मन उसे उत्तम समझे, तो उसमें अधिक अनुराग देखा जाता है। इससे देश और काल की स्थिति संकल्प से ही है, यह जो कहा वह ठीक कहा है ॥५९॥

इसी प्रकार शरीर भी मन के संकल्प के अधीन ही है, ऐसा कहते हैं।

मनः शरीर के संकल्प के सफल होने पर ही स्थूल शरीर शान्ति को प्राप्त होता है, उल्लसित होता है, आता है, जाता है, प्रसन्न होता है, शब्द करता है, स्वयं स्वन्त्ररूप से कुछ नहीं करता है ॥६०॥ जैसे पतिव्रता नारी अपने संकल्प से उदित विविध विस्तृत उमंगों से अन्तःपुरके आँगन में विलास करती है वैसे ही मन इस देह में अपने संकल्प से कल्पित विविध विस्तृत उमंगों से विलास करता है ॥६१॥

मन के निग्रह के उपाय को, फल के साथ, दर्शाते हैं।

इसलिए जो पुरुष विषयों के अनुसन्धान में मन को स्वतन्त्रता नहीं देता, उसका मन गजबन्धनस्तम्भ में बँधे हुए हाथी के समान विलय को प्राप्त हो जाता है॥६२॥ जैसे स्तम्भनास्त्र से स्तब्ध हुआ शत्रु किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करता है वैसे ही जिसका मन सद्वस्तु के सिवा अन्यत्र कुछ चेष्टा नहीं करता, वही परमार्थ रूप से उत्तम पुरुष है, उससे अतिरिक्त पुरुष कीचड़ के कीड़े हैं॥६३॥ हे निष्पाप, एक स्थान में स्थित जिसका मन निश्चल हो गया है, वह ध्यान से सर्वोत्तम पद यानी ब्रह्म से संगत हो गया यानी ब्रह्मीभूत हो गया॥६४॥ जैसे मन्दराचल के निश्चल होने पर क्षीरसागर शान्त हो जाता है वैसे ही मन के संयम से संसारभ्रान्ति शान्त हो जाती है॥६५॥ भोगसंकल्प के विलासों से जो जो मानसिक वृत्तियाँ उदित होती हैं, वे ही संसाररूपी विष वृक्ष के अंकुर के बीज हैं॥६६॥ मद और मोह से मन्दमति और मूढ़ ये पुरुषरूपी दुष्ट भँवर चित्तरूपी चंचल कमल को (संसाररूपी दुष्ट नदी से बहाये जा रहे कमल को) घेरकर घूमते हुए महाजड़ता के प्रवाहरूप जलवेग से युक्त, बवंडरके चक्करों से घूमनेवाले, प्रबल दूसरी चिन्ता से कटे हुए और चिरकाल तक निष्फलता प्राप्त होने से देह के साथ नष्ट हुए चिन्तारूपी चक्रभ्रमण में गिरते हैं॥६७॥

एक सौ दसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग

यत्न से अभिमत वस्तु के तथा अहन्ता - ममता के त्याग का और
चित्त पर विजय पाने के उपाय का तथा चित्त की एकाग्रता का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, मैं इस चित्त रूपी महाव्याधि की चिकित्सा की महौषधि को आपसे कहूँगा, जो स्वाधीन है, अवश्य पुरुषार्थ को सिद्ध करती है, बड़ी मीठी और अव्यर्थ है, सुनिये॥१॥ प्रिय बाह्य विषय का परित्याग कर एकमात्र आत्माकारवृत्तिधारारूपी अपने ही पौरुष प्रयत्न से चित्तरूपी वेताल पर शीघ्र विजय प्राप्त की जाती है॥२॥

अभिमत वस्तु त्याग रूपी पहली भूमिका को दृढ़ बनाना चाहिये, इस अभिप्राय से कहते हैं।

अभिमत वस्तु का त्याग करता हुआ जो पुरुष राग आदि चित्त की व्याधि से रहित होकर रहता है, वह मन को इस प्रकार जीत ही चुका जिस प्रकार कि सुन्दर दाँतवाला हाथी खराब टूटे–फूटे दाँतवाले हाथी को जीत लेता है ॥३॥ आत्ममात्राकार–वृत्तिधारारूपी प्रयत्न से चित्तरूपी बालक की राग, चपलता आदि रोगों के प्रतिकार द्वारा रक्षा की जाती है, वह अवस्तु से हटाकर वस्तु में (तत्त्व में) लगाया जाता है और बोधित किया जाता है ॥४॥ हे मननशील श्रीरामचन्द्रजी, आप चिन्तारूपी अग्नि में तपाये गये मन रूपी लोहे को शास्त्राभ्यास और सत्संग से धीर तथा सन्तापरहित मन रूपी लोह शस्त्र से काट डालिये। जैसे बालक लाड़–प्यार और भय से किसी प्रयत्न के बिना इधर–उधर जहाँ चाहो वहाँ लगाया जा सकता है वैसे ही चित्त भी शम–दम आदि उपायों से जिधर चाहो उधर लगाया जा सकता है, इसलिए चित्त पर विजय प्राप्त करने में कौन सी कठिनाई है ? उत्तरकाल में अभ्युदयरूप फल देनेवाले समाधि के अभ्यासरूप कर्म में लगे हुए मन को पुरुष अपने पुरुषप्रयत्न से ही चिदात्मा के रूप से एकता को प्राप्त कराये ॥५–७॥

अविरक्त लोगों की निन्दा करते हैं।

जिसको अपने अभीष्ट वस्तु के विषय में वैराग्यवृत्ति मुश्किल हो गई हो, जो अपने आधीन और परम हितकर है, उस पुरुष रूपी कीड़े को धिक्कार है ॥८॥ अपनी वृद्धि से अरमणीय वस्तु की परम रमणीयब्रह्मरूप से भावना करके जैसे कोई बड़ा नामी पहलवान बच्चे को अनायास पछाड़ देता है, जीत लेता है वैसे ही मन पर अनायास विजय प्राप्त ही जा सकती है ॥९॥ अपने पौरुष प्रयत्न से शीघ्र ही मन पर विजय प्राप्त की जा सकती है, चित्तरहित पुरुष (जिसका चित्त स्वतन्त्र नहीं है, वह पुरुष) प्रयास के बिना शीघ्र ही ब्रह्म में पैर रखता है यानी ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥१०॥ जो लोग केवल अपने चित्त का निग्रह नहीं कर सकते, जो कि स्वाधीन और सहज साध्य है, वे पुरुषों में गीदड़ हैं, उनको बार–बार धिक्कार है ॥११॥ एकमात्र अपने पौरुष से प्राप्त होने वाले अपने अभीष्ट का परित्याग रूपी मन के निग्रह मात्र के बिना शुभ गति नहीं है ॥१२॥ एकमात्र मन के मारण से प्राप्त होने वाले आत्मतत्त्व–साक्षात्कार से स्वराज्य सुख के विरोधी मोह आदि शत्रुओं से रहित अतएव अचल अनादि अनन्त स्वराज्य की इसी जीवन्मुक्त देह में आप निःशंक होकर प्रतिज्ञा कीजिये ॥१३॥ अपने अभीष्ट मोक्षसुख का निवेदन करनेवाले प्रधान साधन रूप मन के निग्रह के बिना गुरुउपदेश, शास्त्राभ्यास, मन्त्र आदि साधन तृण के तुल्य असार हैं। यहाँ गुरुउपदेश, शास्त्राभ्यास आदि की निन्दा में तात्पर्य नहीं हैं, किन्तु मन के शमन की स्तुति में तात्पर्य है ॥१४॥ श्रीराम, जब संकल्प परित्यागरूप तीक्ष्ण शस्त्र से मूल के साथ चित्त का उच्छेद हो गया, तभी पुरुष सर्वस्वरूप सर्वव्यापी शान्त ब्रह्म हो जाता है ॥१५॥ अपने संवेदन द्वारा इस संकल्परूप अनर्थ का निग्रह होने पर तदनन्तर शान्ति आदि साधनों से सम्पन्न जीवन्मुक्ति होने पर अधिकारी पुरुष के शरीर में कौन क्लेश है ? अर्थात् कुछ नहीं है ॥१६॥

यदि कोई शंका करे कि दैव के प्रतिकूल होने पर कैसे कार्य सिद्धि होगी ? इस पर कहते हैं ।

हे रामचन्द्रजी, मूढ़ पुरुषों से संकल्प से कल्पित दैव का अनादर कर पुरुषार्थ रूप आत्मसंवेदन से अपने चित्त को अचित्त बना दीजिये । यानी संकल्प–विकल्प रहित बना दीजिये ॥१७॥

अचित्तता की प्राप्ति में कौन उपाय है ? यह पूछने पर उसे कहते हैं ।

चित्त को बहुत काल तक उस किसी एक महापदवी को (ब्रह्मरूपता को) प्राप्त हुआ बनाकर पीछे साक्षात्कार वृत्ति से आविर्भूत हुई चिति से मन के साथ अविद्या का बोध होने से चिद् से भक्षित करके चित्त से भी पर परिपूर्ण चिन्मात्ररूप होओ, यह अर्थ है । पहले आप चिन्मात्रभावना से युक्त होइए। चिन्मात्रभावना की स्थिरता के लिए अतिसावधान बुद्धि से युक्त होइए। तदनन्तर चित्त को चित् से ग्रस्त करके किसी प्रकार की व्याकुलता से रहित होकर चित्त से पर आत्मा का धारण कीजिये ॥१८,१९॥ परम पौरुष का अवलम्बन करके चित्त को अचित्त बनाकर उस महापदवी को (परब्रह्मरूपता को) प्राप्त होइए, जहाँ पर नाश नहीं होता है ॥२०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे दिग्भ्रम होने पर पश्चिम दिशा में यह पूर्व दिशा है, यह संवेदनविपर्यासरूपी बुद्धि, जो उस समय बिलकुल स्थिर रहती है, विवेक स्थिरता रूपी पुरुषप्रयत्न से जीती जा सकती है वैसे ही मन भी पुरुषप्रयत्न से ही शीघ्र जीता जा सकता है ॥२१॥

चिरकाल से मन के निग्रह में लगा हुआ पुरुष उद्वेग होने से उसका परित्याग न कर बैठे, इसलिए उसके उत्साह को बढ़ाते हुए कहते हैं ।

उद्वेग न होना राज्य आदि संपत्ति का कारण है, अनुद्वेग से जीव के मनोजय की सिद्धि होती है जिस मनोजय से तीनों लोकों का विजय भी तृण के सदृश सहज हो जाता है ॥२२॥

राजलक्ष्मीरूप सुख देने वाले युद्ध में शस्त्रच्छेदनरूप क्लेश होता है, स्वर्गरूप सुख में भरकर ऊर्ध्वगमन और वहाँ से अधःपतनरूप क्लेश होता है । मनोजयरूप सुख में तो कोई भी क्लेश नहीं है, ऐसा कहते हैं ।

जिसमें शस्त्रास्त्र से, अंगच्छेदन, उर्ध्वगमन, अधःपतन आदि कुछ भी नहीं होते, उस स्वभावमात्र की व्यावृत्ति में कौन सा क्लेश है ? ॥२३॥ जो नराधम अपने मन के निग्रह में भी समर्थ नहीं हैं, वे व्यवहारावस्थाओं में कैसे व्यवहार करेंगे ? ॥२४॥

समाधि, सुषुप्ति आदि में जन्म, मरण आदि दुखों का अनुभव नहीं होता और व्यवहारकाल में मनोवृत्तिपूर्वक ही जन्म, मरण आदि दुखों का अनुभव होता है, अतः सिद्ध हुआ कि संसार मनोवृत्तिमात्र है, यह दर्शाते हैं।

मैं पुरुष हूँ, मैं मरा हूँ, मैं उत्पन्न हुआ हूँ और मैं जीता हूँ इत्यादि कुदृष्टियाँ चपल चित्त की असत् ही उदित हुई वृत्तियाँ प्रतीत होती हैं । यहाँ पर न कोई मरता है न उत्पन्न होता है । मन अपने मरण और अपने लोकगमन की स्वयं कल्पना करता है ॥२५,२६॥ इस लोक से मन परलोक में जाता है और वहाँ अन्यरूप से स्फुरित होता है । वे मरण और परलोकगमन जब तक मोक्ष नहीं होता तब तक मन को प्राप्त होते हैं, इसलिए पुरुष को मरण का भय कैसे ? ॥२७॥

इस लोक में इस लोक के रूप से मन विचरण करे और परलोक में परलोक रूप से विचरण करे, इसलिए जब तक मोक्ष न हो तब तक चित्त ही तत्-तत् रूप से विद्यमान कहते हैं। इस संसार का चित्त से अतिरिक्त रूप नहीं है ॥२८॥ लोग भाई, सेवक आदि के मरने पर व्यर्थ शोक करते हैं, वह निर्विकार अपने चैतन्य से पृथग्भूत अपना चित्त ही है, ऐसा मेरा निश्चय है ॥२९॥

अतः परमात्मा में समूल चित्त का विनाश कर देना ही मुक्ति का उपाय है, अन्य उपाय नहीं है, ऐसा कहते हुए उपसंहार करते हैं।

अन्यसत्तानिरपेक्षसत्तावाले (जिसकी सत्ता किसी अन्य सत्ता की अपेक्षा नहीं करती) सबके हितकारी, मायारूपी मलिनता से रहित सब प्रमाणों में सर्वश्रेष्ठ प्रमाणरूप श्रुति द्वारा बोधित परमात्मा में चिद्भावमात्र से परिशेषरूप चित्त के उपशमन के सिवा मुक्ति का दूसरा उपाय ही नहीं है। इस बात का ऊपर के स्वर्ग आदि लोकों में, नीचे के पाताल आदि लोको में और अन्यान्य द्वीपों में तत्त्वदर्शी विद्वानों ने एक बार नहीं अनेक बार विचार कर निश्चय किया है ॥३०॥

चित्तोपशमन के सिवा मोक्ष का दूसरा उपाय है ही नहीं, यह निश्चित है। मन के विलय का उपाय समाधि की परिपाकावस्था से शोधित मन में अपरोक्ष रूप से आविर्भूत ब्रह्मात्मक बोध ही है, इस आशय से कहते हैं।

सर्वश्रेष्ठ प्रमाणरूप श्रुति से बोधित सत्य सर्वव्यापक तथा मायाकलंकरहित बोध के हृदय में उदित होने पर मन के विलयमात्र से परमशान्ति प्राप्त होती है। अत्यन्त विस्तीर्ण दहराकाशरूपी ब्रह्मचित् में चरमवृत्ति से प्रदीप्त चित्रूपी तलवार की धारा से मन को बिना किसी संदेह से मारो। ऐसा करने से मानसिक चिन्ता आपको बन्धन में नहीं डालेगी ॥३१,३२॥

आपाततः रमणीय विषयों में दोषानुसंधान से अरमणीयतादृष्टि पहले करनी चाहिये, इस आशय से कहते हैं।

यदि आपाततः रम्य-से प्रतीत होनेवाले स्त्री-पुत्र आदि को आपने अरमणीय जान लिया तब तो चित्त के सब अंग-प्रत्यंग निश्चय ही कट गये, ऐसा मेरा विश्वास है ॥३३॥

काटने योग्य मन के अंग-प्रत्यंग बतलाकर अब मन के शरीर को बतलाते हैं।

यह दिखाई दे रहा पिता द्वारा उत्पादित देह और यह देह से सम्बन्ध रखनेवाला घर, खेत आदि, जिसका कि पहले पिता ने उपार्जन किया था, 'मेरा है' ऐसा जो भ्रम है, केवल यही मन का शरीर है। जैसे कोई वस्तु हँसिया से काटी जाती है वैसे ही यह मन शरीर भावना न करना रूप शस्त्र से काटा जाता है। जैसे शरद ऋतु में आकाश में बिखरे हुए बादल के टुकड़े वायु से उड़ाये जाते हैं वैसे ही पूर्वोक्त अहम्, मम इत्यादि कल्पना न करने से मन उड़ाया जाता है, नष्ट किया जाता है ॥३४,३५॥ अपने अधीन, अकठिन (अनायाससाध्य), अति स्वच्छ, असंकल्पन में (कल्पनाभाव में) कौन-सा भय है ? जहाँ पर शस्त्र, अग्नि, आँधी आदि होते हैं, वहीं पर भय होता है ॥३६॥ यह कल्याणकारी है, यह नहीं है, यह बात बालकों तक में प्रसिद्ध है, इसलिए जैसे कोई विज्ञ पुरुष बालक पुत्र को भले कार्य में लगाता है वैसे ही पण्डित को चाहिये मन को उत्तम कल्याण में लगाये ॥३७॥ अक्षय (जिसका नाश होना कठिन है),

अनवीन (अबाल यानी अभिमानी), मनरूप सिंह को जो कि संसार की वृद्धि करता है, जो लोग मारते हैं, वे इस संसार में सबसे बढ़कर उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं और अन्य लोगों को भी उपदेश द्वारा निर्वाण पद देनेवाले होते हैं ॥३८॥

मन ही महाभय है और मन पर विजय ही अभय पद है, ऐसा कहते हैं।

संकल्परूपी क्लेश से बड़ी भीषण, भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाली ये विपत्तियाँ मरुभूमि में मृगतृष्णिका के समान उत्पन्न होती हैं ॥३९॥ भले ही प्रलय काल की वायु बहे, भले ही चारों समुद्र एक हो जाय और भले ही बारह सूर्य एक साथ तपें, पर जिसके मन का शमन हो गया है, उस पुरुष की कोई भी हानि नहीं होती है ॥४०॥ मनरूपी बीज से सुख-दुःख और शुभ-अशुभरूपी ये संसारखण्ड (संसार रूपी वन) उत्पन्न होते हैं, इन वनखण्डों के सातों लोक पल्लव हैं ॥४१॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आप परमात्मपदरूप सिंहासन लगाकर एकमात्र संकल्प के अभाव से सिद्ध होनेवाले, समग्र सिद्धियाँ देनेवाले, असंकल्परूप साम्राज्य में स्थित होइये। जैसे अंगार के विनाश की इच्छा करनेवाले यानी जलते हुए अंगार के विनाश से तापशान्तिरूप सुख को चाहनेवाले पुरुष को काठ को क्रमशः भस्म करता हुआ, अतएव क्षीण होता हुआ अंगार ताप का उपशमन आनन्द देता है वैसे ही क्षीण हो रहा मन क्रमशः अति उत्तम आनन्द देता है ॥४२,४३॥

संकल्प की वृद्धि होने पर चिद्अणु के मध्य में लाखों ब्रह्माण्डों की कल्पना हो सकती है, ऐसा कहते हैं।

यदि मन संकल्पों द्वारा वासनायुक्त हो, तो अणु के अन्दर भी लाखों ब्रह्माण्ड साफ और अलग-अलग दिखाई दे सकते हैं ॥४४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आप एकमात्र संकल्परूप अपने वैभव से, जिसने ब्रह्माण्ड आदि करोड़ों पदार्थों की भलीभाँति रचना की है, अतएव एकमात्र संकल्प से ही जन्म, मरण आदि अत्यन्त अनर्थों का जिसने निर्माण किया है, ऐसे मन को निरन्तरभावित, संकल्परहित, एकमात्र सन्तोषरूप वैभव से जीतकर विजय को (सर्वोत्कर्ष) प्राप्त होइये ॥४५॥ आत्मज्ञानियों की भी अभिमत, परम पवित्र, वैषम्यवृत्तिरहित विमनस्तता से और शान्त की गई बहुत विपुल अहन्ता से भी अन्दर में जो जन्म आदि विकारों के रहित यह (तत्त्व) अवशिष्ट है, वही आपको प्राप्य हो ॥४६॥

एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बारहवाँ सर्ग

चिन्मात्र वासना के अभ्यास से तथा एकमात्र उसी के दृढ़ निश्चय से
चित्तक्षय के उपायभूत वासनात्याग का वर्णन।

वासनाक्षय के लिए द्वैत में मन के तीव्र वेग का निरोध करना चाहिए और चिन्मात्राकार में तो मन के वेग को बढ़ाना चाहिए, यह कहने के लिए मन का अपने तीव्र वेग के अनुसार फलसम्पादनरूप स्वभाव है, ऐसा कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस पदार्थ में जिस-जिस अभिलाषा के लिए

जैसे–जैसे प्रकर्ष से मन तीव्र वेग से युक्त होता है उस पदार्थ में उसी वेग से तत्–तत् अभिलाषा को देखता है ॥१॥ हे सौम्य, जल के बुदबुदे के समान यह मन का तीव्र वेग उपेक्षा करने से स्वभावतः उत्पन्न होता है और रोकने के प्रयत्न से शान्त होता है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति में कोई निमित्त नहीं है ॥२॥

'स्वभावतः' ऐसा जो कहा है, उसका उपपादन करते हैं।

जैसे बर्फ का शीतलता रूप है और काजल का कालिमा रूप है वैसे ही एकमात्र तीव्र रूपिणी तीव्र चंचलता मन का रूप है ॥३॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, अत्यन्त चंचल इस मन के तीव्र वेग का मुख्य कारण वेग का यानी चंचलता का बल से कैसे निवारण हो सकता है ? ॥४॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस संसार में कहीं पर भी चंचलता से हीन मन दिखाई नहीं देता। जैसे अग्नि का धर्म उष्णता है वैसे ही मन का धर्म चंचलता है ॥५॥ जो यह जगत् कारण मायासंवलित चैतन्य में स्थित चंचल क्रियाशक्ति है, उसीको आप मन रूप से परिणत हुई जगदाडम्बररूप शक्ति जानिये। जैसे स्पन्दन और अस्पन्द के बिना वायु के अस्तित्व का अनुमान नहीं होता वैसे ही चंचल स्पन्द के बिना चित्त का अस्तित्व नहीं है ॥६,७॥ जो मन चंचलता रहित है, वह मृतक मन कहा जाता है, वही तप और शास्त्र का सिद्धान्तरूप मोक्ष कहा जाता है ॥८॥ मन के केवल विनाशमात्र से दुःख की शान्ति प्राप्त होती है और मन के संकल्पनमात्र से परम दुःख प्राप्त होता है। उठा हुआ चित्त रूपी राक्षस विपुल दुःख को उत्पन्न करता है, इसलिए मोक्ष सुख के लिए उसको प्रयत्नपूर्वक गिराओ ॥९,१०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मन की जो चंचलता है, वह अविद्या नाम से कही जाती है। वासनापद नामक उस अविद्या का विचार से विनाश करो ॥११॥ अविद्या और वासनारूप उस चित्तसत्ता के बाह्य विषयों के अनुसन्धान त्याग के विलीन होने पर निरतिशय सुख प्राप्त होता है ॥१२॥

इस प्रकार वक्तव्य विषय के उपयोगीरूप से मन की चांचल्यधर्मता का समर्थन कर वास्तविक और अवास्तविकरूप द्विस्वरूपता को, अवास्तवांशकी हेयता दिखलाने के लिए और वास्तविकरूप की प्रतिष्ठा के विनाश के वारण के लिए, कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, सत् और असत् का जो मध्य है और चित्त्व और जाड्य का जो मध्य है, वह दोनों में दोलायमान स्थितिवाला मन कहा जाता है ॥१३॥ जड़ता के अनुसन्धान से बिगड़ा हुआ चित्त बद्धमूल हुई जाड्यात्मकता से दृढ़ाभ्यासवश जड़ता को प्राप्त होता है ॥१४॥ विवेक के अनुसन्धान से बद्धमूल हुई चिदंशात्मता से मन दृढ़ाभ्यासवश चिन्मात्रता को प्राप्त होता है ॥१५॥ पौरुष प्रयत्न से, चाहे वह शास्त्रीय हो, चाहे स्वाभाविक, जिसी पद में मन लगाया जाता है, उस पद को प्राप्तकर अभ्यासवश तद्रूप हो जाता है ॥१६॥ फिर पुरुषप्रयत्न का अवलम्बन कर, चित्त को चित्त से आक्रान्त कर, शोक रहित पद को पाकर निःशंक होकर स्थिर होइये ॥१७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, संसार की भावना से डूबा हुआ मन यदि मन से ही जबरदस्ती नहीं उबारा जाता है, तो उसको उबारने का उससे अन्य उपाय नहीं है ॥१८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आपके मन का भली–भाँति निग्रह करने में आपका मन ही समर्थ है। भला,

जो स्वयं राजा नहीं है, वह राजा के निग्रह में कैसे समर्थ हो सकता है ? जो लोग संसाररूपी सागर के वेग में तृष्णारूपी ग्राह से ग्रस्त हैं और आवर्तों से दूर बहाये जा रहे हैं, उन लोगों के लिए अपना मन ही नौका है ॥१९,२०॥ परम बन्धन जालरूप मन को अपने मन से ही काट कर जिसने अपनी आत्मा को नहीं छुड़ाया, उसकी मुक्ति अन्य से नहीं हो सकती ॥२१॥ बाह्य पदार्थों का मनन ही जिसका नाम है, ऐसी हृदय को वासित करनेवाली जो जो वासना उदित होती है, विद्वान् पुरुष उस–उस वासना का मिथ्यात्व के अनुसन्धान से त्याग करे। तदनन्तर जैसे उष्णता के क्षीण होने पर अग्नि शान्त हो जाती है वैसे ही वासना का क्षय होने पर मन के साथ अविद्या का क्षय हो जाता है ॥२२॥

वासना के त्याग में क्रम दिखलाते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, भोग्यपदार्थों की वासना का त्याग कर आप भेदवासना का त्याग कीजिये। तदनन्तर चित्त और चेत्य का त्यागकर विकल्प रहित होकर सुखी होइए। भावना की भावना न करना ही वासनाक्षय है। वही मनोनाश और अविद्यानाश कहा जाता है। अर्थात् जिस अविद्या के आवरण से पूर्णतया अनुभव नहीं होता, उसका तत्त्वसाक्षात्कार से त्याग कर सुखी होइये। साक्षात् अथवा चित्त द्वारा साक्षी से जिस किसी का ज्ञान होता है वहाँ पर संवेद्यता का असंवेदन ही उत्कृष्ट मनोनाशरूप निर्वाण है, यह संक्षिप्त अर्थ है, ऐसे कहते हैं : जो कुछ जाना जाता है उसमें जो परम असंवेदन है, वह असंवेदन ही निर्वाण सुख है और संवेदन से दुःख होता है ॥२३–२५॥

वह वेद्य का अवेदन पुरुष के प्रयत्न से होता है, ऐसा कहतें हैं।

वह वेद्य का अवेदन पुरुष के अपने प्रयत्न से ही क्षणमात्र में होता है। वेद्य का अवेदन कल्याण के लिए होता है, इसलिए अपने प्रयत्न का नित्य अभ्यास करे ॥२६॥ आपके मन में जो–जो विषय और उनके उपाय अभीष्ट हैं, उनको आप अवास्तविक जानकर, बीज के मुख से निकल रहे अंकुरों के तुल्य राग आदि जिसके मुख से निकल रहे हैं, ऐसे मन का भी अज्ञान और वासनाबीजों के साथ त्याग कर, परिपूर्ण आत्मा के अनुभव से तृप्त होकर हर्ष और शोक को प्राप्त न होइये ॥२७॥

क्योंकि 'मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' (अध्यात्मयोगी चित्त के आत्मा में समाधि की प्राप्ति से परमात्मा का साक्षात्कार किया हुआ धीर पुरुष हर्ष व शोक का त्याग करता है) ऐसी श्रुति है।

एक सौ बारहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तेरहवाँ सर्ग

विविध विचारों से पुष्ट हुए, सम्पूर्ण दुर्वासनाओं का समूल नाश करनेवाले तथा द्वैतमिथ्यात्वबुद्धि से बद्धमूल हुए तत्त्वज्ञान का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, चूँकि यह वासना नित्य असत्य होती हुई ही उदित हुई है, इसलिए दो चन्द्रमाओं की भ्रान्ति के समान उसका त्याग करना उचित है।

अविद्या विवेकविज्ञानहीन पुरुषों में परमार्थ सत्य के समान दृढ़तररूप से विद्यमान है, किन्तु जो लोग विवेकविज्ञान से सम्पन्न हैं, उनमें तो अपरमार्थ होने के कारण वन्ध्यापुत्र के तुल्य नाम मात्र ही उसका अंगीकार है, अतः वह कहाँ है ? ॥१,२॥ हे श्रीरामचन्द्र, आप अज्ञानी मत बनिये, आप ज्ञानवान् बनिये, भलीभाँति विचार कीजिये, आकाश में दूसरा चन्द्रमा है ही नहीं, पर भ्रान्ति से उसकी मिथ्या प्रतीति होती है ॥३॥ यहाँ पर तत्त्व के (अद्वितीय ब्रह्म के) सिवा न कोई भाव पदार्थ है और न अभाव है। जैसे विशाल समुद्र में जलराशि के सिवा अन्य कुछ नहीं है वैसे ही संसार में ब्रह्म के सिवा अन्य भाव या अभाव पदार्थ नहीं है ॥४॥ ये भाव और अभाव पदार्थ असन्मय हैं। अपने संकल्प के सिवा इनका दूसरा रूप नहीं हैं। इनका आप देहादिबन्धनों से रहित, सर्वव्यापक, नित्य, शुद्ध ब्रह्म में आरोप मत कीजिये ॥५॥

बन्धन की जड़ कर्तृत्वाभिमान है, इसलिए पहले उसी का त्याग कीजिये, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप कर्ता नहीं हैं, फिर आपकी इन क्रियाओं में ममता क्यों हैं ? जब एक अद्वितीय ब्रह्म के सिवा दूसरा कोई है ही नहीं, तो कौन किसको किससे और कैसे करे ? भाव यह कि केवल एकमात्र से साध्य कोई क्रिया प्रसिद्ध नहीं है ॥६॥ हे ज्ञानियों में श्रेष्ठ श्रीरामजी, 'मैं अकर्ता हूँ' ऐसा अभिमान भी आप मत कीजिये। अकर्तृत्वरूप से अभिमान करने पर प्राप्त होने योग्य अपने यत्न से साध्य क्या फल है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है, अतएव अकर्तृत्वाभिमान भी व्यर्थ है, यह भाव है। इसलिए हे निष्पाप, आप अभिमान से रहित होकर स्वस्थ होइये ॥७॥ हे रघुवर, अभिमान का अभाव होने पर कर्ता होते हुए भी आप उसमें आसक्त न होने के कारण अकर्ता भी है, इसी प्रकार अकर्ता होते हुए भी उसमें भी अभिमान न होने पर अकर्तृत्व में भी आसक्तिरहित होने से कर्ता भी हैं।

शंका : तो, क्या मैं अज्ञानी के सदृश कर्ता हूँ ?

समाधान : नहीं, आप में अज्ञानी कर्ता के समान स्पन्दनरूप कर्तृत्व कैसे ? यानी अस्पन्द आत्मा का साक्षात्कार कर चुके आप में अज्ञानी कर्ता के समान देह के स्पन्दन से आत्मस्पन्दनभ्रमरूप कर्तृता की प्रसक्ति नहीं है ॥८॥

क्रिया के फल के मिथ्या होने से कर्म में आसक्ति ही युक्त नहीं है, यों तर्क से भी दृढ़ करते हुए कहते हैं।

यदि क्रिया का फल सत्य होता तो कर्तृता (क्रिया) उपादेय होती और यदि क्रिया का फल मिथ्या होता तो क्रिया हेय होती, क्योंकि एकमात्र उपादेय में ही लोगों की आसक्ति होती है। क्रियाफल के मिथ्या होने पर क्रिया में आसक्ति उचित नहीं है। इन्द्रजाल के समान सभी मायामय और अवास्तविक है, उनमें कौन आस्था है और कैसे हेय और उपादेय दृष्टियाँ हो सकती है ? ॥९,१०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जो यह संसार की बीजकणिका अविद्या है, वह यद्यपि विद्यमान नहीं है तथापि विद्यमान-सी विशालता को प्राप्त हुई है ॥११॥ जो यह कृत्रिम वेषवाली सारविहीन संसाररूप घट-शरावों को उत्पन्न करनेवाली चक्रिका (कुम्हार की छोटी चाक) है, उसे आप चित्त को मोह में डालनेवाली वासना

जानिये ॥१२॥ वह सुन्दर बाँस की लता के समान भीतर में पोली है यानी उसके अन्दर का हिस्सा असार है। नदी की लहरों की परम्परा के तुल्य यदि वह भली भाँति काटी भी जाय, तो भी नष्ट नहीं होती है। वह हाथ से ग्रहण करनेपर भी ग्रहण नहीं की जा सकती, अत्यन्त कोमल होती हुई भी झरने के प्रवाह के समान उसका अग्रभाग अत्यन्त तीखा है (झरने का प्रवाह तटवृक्ष का छेदन करने के कारण तीक्ष्णाग्र होता है)। यद्यपि वह कार्य करने में समर्थ कारणकलाप के तुल्य प्रतीत होती है तथापि सत्य पुरुषार्थ में उसका कोई उपयोग नहीं होता। सत्य तरंगों से शून्य स्वप्न की तरंगिणी के सदृश, मृगतृष्णा की नदी के तुल्य प्रतीति मात्र से शोभायमान वह आकार में ही परिनिष्ठित है, अर्थक्रिया में परिनिष्ठित नहीं है ॥१३-१५॥ जिस प्रस्तुत चक्रिका के प्रसाद से उत्पन्न हुए सब पदार्थ कहीं पर टेढ़े है, कहीं पर साफ हैं, कहीं पर लम्बे, कहीं पर बौने, कहीं पर स्थायी और कहीं पर चंचल हैं, इसलिए परस्पर भेद को प्राप्त हुए हैं ॥१६॥ यद्यपि यह भीतर से पोली (निस्सार) है तथापि सार से सुन्दर सी लगती है। यद्यपि वह कहीं पर भी स्थित नहीं है, तथापि यहाँ सभी स्थानों में दिखाई देती है ॥१७॥ वह यद्यपि जड़ ही है तथापि मन की चंचलता को धारण करती हुई चैतन्यमयी (चेतन) सी प्रतीत होती है। यद्यपि एक पलकभर भी वह कहीं स्थिर नहीं होती, तथापि अपने में स्थिरता की आशंका पैदा करती है ॥१८॥ सत्त्वगुण से अग्नि की ज्वाला के समान शुद्ध वर्णवाली होने पर भी वह तमोगुण से स्याही के समान भीतर में कृष्णवर्णवाली है। परमात्मा की सन्निधि से उसमें चलनक्रिया है और उन्हीं के साक्षात्कार से उसका विनाश हो जाता है ॥१९॥ निर्मल आत्मप्रकाश में प्रकाश की आवरक होने के कारण वह मलिन हो जाती है और अन्धकार में भी विराजमान रहती है। यद्यपि मृगतृष्णा के समान शुष्क कान्तिवाली है, तथापि विविध वर्णों से विलसित होती है। वह काली-साँपिन के समान टेढ़ी, विष से भरी हुई, दुबली-पतली, बड़ी कोमल, दुःख की हेतु होने से अत्यन्त कर्कश, नारी के समान चंचल, तृष्णा के समान लोलुप है। स्नेह का विनाश होने पर दीपक की लौ से समान अपने-आप शीघ्र नष्ट हो जाती है, स्नेह के बिना भी सिन्दूर की बुकनी की रेखा के समान रागवती होकर विराजमान होती है ॥२०-२२॥ जैसे जल की आशा से बिजली मेघ में रहती है वैसे ही बिजली के तुल्य चंचल उसने जड़ आशा से अपनी स्थिति कर रक्खी है। वह मूढ़ लोगों में त्रास पैदा करनेवाली टेढ़ी बिजली के समान उदित हुई है। बिजली के समान अत्यन्त भंगुर वह बड़े यत्न से पकड़कर जलाती है यानी सन्ताप दुःख में डालती है, हो होकर लीन हो जाती है और खोजने पर भी नहीं मिलती है ॥२३,२४॥ यह अकाल में उत्पन्न हुए फूलों की माला के समान बिना किसी प्रयत्न और प्रार्थना के ही प्राप्त हुई है, देखने में मनोहर होती हुई भी बड़े-बड़े अनर्थों को देती है और मोक्षरूप कल्याण के लिए अभिनन्दित नहीं है यानी कल्याण में बाधा पहुँचाती है। विविध भ्रम उत्पन्न करनेवाली यह जब अत्यन्त विस्मृत होती है, तभी अति सुख प्राप्त होता है। कल्पना द्वारा जब पुनः पुनः इसका अनुसन्धान किया जाता है तब दुःस्वप्नों की

कल्पना के समान यह अनर्थदायिनी ही होती है। यह प्रतिभास से बड़े–बड़े तीनों जगतों को एक मुहूर्त में उत्पन्न कर धारण करती है और संहार कर डालती है। इसने राजा लवण के एक मुहूर्त को अनेक वर्ष बना डाला और राजा हरिश्चन्द्र की एक रात को बारह वर्ष कर दिया ॥२५–२८॥ कान्तारूपी विभव से शोभित होने वाले विरही पुरुषों की एक रात इसी के प्रभाव से एक वर्ष सी लम्बी हो जाती है ॥२९॥ जिसके प्रसाद से, एकमात्र भ्रम ही जिनका स्वभाव है, ऐसे पुरुषों में सुखी पुरुष को समय अल्प मालूम होता है और दुःखी पुरुष को दीर्घ प्रतीत होता है ॥३०॥ जैसे प्रकाश के कार्यों में दीपक की अपने संनिधानमात्रसे कर्तृता है, वैसे ही उसकी अपनी केवल सत्ता से ही इन वृत्तियों में कर्तृता है, वस्तुतः कर्तृता नहीं है ॥३१॥

इसकी वास्तव में कर्तृता क्यों नहीं है यदि ऐसी कोई जिज्ञासा करे, तो उसमें कर्तृत्व की योग्यता न होने के कारण वह कर्ता नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे चित्र में लिखी गई नितम्ब, स्तन आदि अंगों से युक्त स्त्री गृहकार्य आदि करने में समर्थ नहीं होती वैसे ही पहले अनुभूत पदार्थों की वासनारूप यह अविद्या कुछ भी करने की योग्यता नहीं रखती। मनोराज्य के समान यह एकमात्र आकार से प्रकाशमान है। वास्तविकता का तो इसमें नामनिशान भी नहीं है। यद्यपि यह लाखों शाखा प्रशाखाओं से युक्त मालूम होती है, तथापि परमार्थरूप से यह कुछ भी नहीं है ॥३२,३३॥ जैसे अरण्य में मृगतृष्णा मिथ्या ही स्वरूपाडम्बर से युक्त है, वास्तव में कुछ नहीं है, वैसे ही यह मिथ्या स्वरूपाडम्बर से युक्त है और उन्हीं भोले–भाले मृगों को यह ठगती है, मनुष्यों को नहीं ठगती जैसे मृगतृष्णा मृगों को ही ठगती है, मनुष्यों को नहीं ठगती वैसे ही यह भी मृगों की नाईं अज्ञ जीवों को ही ठगती है, ज्ञानी पुरुषों को नहीं ठगती है। यह जल की फेनराशि के समान उत्पन्न होते ही नष्ट होनेवाली है और प्रवाहरूप से नित्य है। पाले के समान चंचल आकारवाली है। इसे पकड़ने जाओ, तो कुछ भी हाथ नहीं लगता ॥३४,३५॥ भयंकर आकृतिवाली, रजोगुण के आधिक्य से धूसरवर्णवाली तथा जिसने हठात् अपने से भुवनमध्य को आक्रान्त किया है, ऐसी यह प्रलयकाल के बवंडर के समान है। बवंडर की भी आकृति भीषण होती है, धूलि से वह धूसर होता है और जबरदस्ती भुवनमध्य को आक्रान्त कर लेता है ॥३६॥ इसने परमात्मा को गर्भ में कर रक्खा है यानी आवृत कर रक्खा है, अतएव शरीर में लगने से दाह और क्लेश देनेवाली, जिसने जल को गर्भ में धारण किया है, ऐसी घूपपंक्ति के समान यह शरीर में लगने से दाह और क्लेश देनेवाली लोकों को आक्रान्त कर (तिरस्कृत कर) घूमती है। यह खूब लम्बी और जल से बनी हुई मेघ की धारा के समान है और तृण समुह से दृढ़ रस्सी के समान असार(नाजुक) संसरणशील संसार से दृढ़ है। कवियों द्वारा कल्पनामात्र से वर्णित जलात्मक लहरों की श्रेणि के समान, कीचड़ में प्रौढ़ कमलों की श्रेणि के समान और बहुत से छेदों से युक्त कमलनाल के समान यह जड़ात्मक, पाप में प्रौढ़ और विविध छिद्रों से युक्त है ॥३७–३९॥ लोग इसे बढ़ाने में तत्पर दिखते हैं पर यह बढ़ती नहीं है, विषमिश्रित मोदक के स्वाद के समान यह आपाततः मधुर

मालूम होती है, पर अन्त में महाभीषण रूप धारण करती है ॥४०॥ बुझी हुई दीपक की लौ के समान बाधित हुई यह न मालुम कहाँ चली जाती है। भाव यह कि बाधित पदार्थ के स्वरूप का एक दो की तो बात ही क्या हजारों वादी भी यदि चाहें तो, निरूपण नहीं कर सकते हैं। तुषार से निकलती हुई धूपपंक्ति के समान आगे से दिखाई देती है, पर पकड़ने पर कुछ भी हाथ नहीं आती ॥४१॥ जैसे बिखेर कर देखी गई परमाणुओं की धूलिमुष्टि कुछ भी प्रतीत नहीं होती, वैसे ही यह भी कुछ भी प्रतीत नहीं होती। आकाश की नीलिमा जैसे बिना किसी कारण के दृष्टिगोचर होती है वैसे ही यह अकारण दिखाई देती है ॥४२॥ द्विचन्द्र के भ्रम के समान यह उत्पन्न हुई है, स्वप्न के समान विविध भ्रम उत्पन्न करती है, जैसे नौका से यात्रा करने वाले लोगों को स्थाणु (ठूँठ) में स्पन्द की (गति) प्रतीति होती है, वैसे ही यह उदित हुई है ॥४३॥ जब यह चित्त को दूषित कर डालती है तब व्याकुल हुए लोगों को दीर्घकाल तक मिथ्या लम्बे संसार स्वप्न का भ्रम होता है ॥४४॥ इसके द्वारा आत्मा के दूषित होने पर यानी आवरण द्वारा असत्प्राय किये जाने पर मन में भाँति-भाँति की भ्रान्तियाँ, समुद्र के तरंगों की नाईं, उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं ॥४५॥ मनोहर और सत्य ब्रह्म को वह असत्‌रूप से (जगत्‌रूप से) देखती है, अमनोहर और असत् जगत् को सत्‌रूसे (ब्रह्मरूप से) देखती है ॥४६॥ विषयरूप रथ पर बैठी हुई यानी विषयाकार बनी हुई उद्‌भूतवासनारूप महाबलवती यह अविद्या, जैसे जाल पक्षियों पर आक्रमण करता है, वैसे ही शीघ्र मन पर आक्रमण करती है यानी मनको मोह में डालकर बाँधती है ॥४७॥

यह अविद्या ही माता और पत्नी का रूप भी धारण करती है, ऐसा कहते हैं।

यह अविद्या कृपा से अश्रुपूर्ण नेत्रवाली तथा जिसके स्तनों से दूध की धारा बह रही हो, ऐसी माता तथा गृहिणी के समान बड़े आनन्द के साथ होती है ॥४८॥ चाँदनी के रूप में परिवर्तित अमृत बिन्दुओं से जिसने तीनों लोकों को तृप्त किया है, ऐसे अमृत से अत्यन्त आर्द्र, पूर्ण चन्द्रमा के बिम्ब को भी यह एक क्षण में विष बना देती है ॥४९॥ अन्ध बनानेवाली इस अविद्या से वाणी आदि सब कर्मेन्द्रियों से रहित स्थाणु (ठूँठ) भी उन्मत्त शब्दवाले वेतालों के नाचने, कूदने आदि का भ्रम उत्पन्न करते हैं ॥५०॥ इसीके प्रताप से सन्ध्या आदि कालों में ढेले, पत्थर और भीत साँप, अजगर आदि की भ्रान्ति से देखे जाते हैं ॥५१॥ इसीके प्रताप से जैसे दो चन्द्रमाओं का दर्शनरूप भ्रम होने पर एक चन्द्रमा दो रूप से दिखाई देता है, वैसे ही एक ही वस्तु दो रूपों को प्राप्त होती है, जैसे स्वप्न में अपना मरण दूर होता हुआ भी समीप में प्राप्त होता है, वैसे ही दूर की वस्तु नजदीक में आ जाती है, जैसे संहाररुद्रकी अभीष्ट प्रलयरात्रि दीर्घ होती हुई भी क्षणरूप में परिवर्तित हो जाती है वैसे ही दीर्घ काल क्षणता को प्राप्त होता है, जैसे प्रिया के विरह से दुःखी पुरुषों का एक क्षण वर्ष की तरह प्रतीत होता है वैसे ही एक क्षण वर्ष-सा मालूम होता है ॥५२,५३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसका यह उद्धत अविद्या निर्माण न करती हो। यद्यपि यह अपनी सत्ता में भी दरिद्र है तथापि इसकी सामर्थ्य तो देखिये। यह क्या क्या नहीं कर डालती है ? जैसे विवेकबुद्धि से विषयबुद्धि का

निरोध किया जाता है वैसे ही विवेकबुद्धि से प्रयत्नपूर्वक वासनारूप अविद्या का शीघ्र निरोध करना चाहिये, जैसे स्रोतों को रोकने से नदी सूख जाती है वैसे ही इसके निरोध से यह मन रूपी नदी सूख जाती है ॥५४,५५॥

इस प्रकार आश्चर्यसागर में डाले गये श्रीरामचन्द्रजी अविद्या के स्वरूप का पर्यालोचन करने से विस्मित होकर उसका वर्णन करते हुए अपने विस्मय को प्रकट करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, यह अविद्या अविद्यमान (असत्) है, अतिसुकुमार अंगवाली है, अत्यन्त तुच्छ है यानी वास्तविकता तो इसे छू तक नहीं गई और मिथ्या भावनारूप है। इस बला ने सारे जगत् को अन्धा बना रक्खा है, यह कम आश्चर्य की बात नहीं है ॥५६॥ इसका न कोई लाल, पीला,हरा आदि रूप है और न कोई आकार है, सुन्दर चैतन्य से भी यह हीन है, यह असत् है तथापि मृगतृष्णा की नदी के समान यह नष्ट नहीं होती। इस निगोड़ी ने सारे जगत् को अन्धा कर रक्खा है, यह बड़े आश्चर्य की बात है ॥५७॥ यह आलोक से (आत्मप्रकाश से) नष्ट हो जाती है और अन्धकार के मध्य में खूब चमकती है, अतएव यह उल्लू के नेत्रों के सदृश है। इसने जगत् को अन्धा बना रक्खा है, यह बड़े अचम्भे का विषय है ॥५८॥ एकमात्र क्रियाशक्ति की यह आश्रय है, अतएव केवल कुत्सित कर्म करती है, भगवत्तत्त्वसाक्षात्कार को तो यह फूटी आँख से भी नहीं देख सकती है और ज्ञानशक्तिशून्य होने के कारण अपनी देह को भी नहीं जानती है। इसने सम्पूर्ण जगत् को अन्धा बना डाला है, यह आश्चर्य है ॥५९॥ जैसे पामर की स्त्री अत्यन्त दीन–हीन आचार और धर्मवाली और नित्य अन्धकार से (अज्ञान से) ढकी रहती है वैसे ही इसका भी आचार और धर्म अत्यन्त दीन–हीन है, यह पामर लोगों की प्रिय है और सदा असती है, इसने समग्र जगत् को अन्धा बना डाला है, यह बड़े खेद की बात है ॥६०॥ सदा अनन्त दुःखों से आकुल मृत के तुल्य अतः संज्ञाहीन इसने इस जगत् को अन्धा बना रक्खा है ॥६१॥ इस अविद्या के काम और कोप ही सुदृढ़ अंग है, तमोगुण की अधिकता से यह बड़ी क्रूर है, ज्ञान का उदय होने पर यह शीघ्र ही शरीररहित हो जाती है, अतएव यह काम और कोप से सुघन अंगवाली, अंधेरे की अधिकता होने से अतिक्रूर, मरने पर तुरन्त शरीर रहित होने वाली किसी निशाचरी दीनहीन नारी के तुल्य है। बड़े अचम्भे की बात है कि इसने जगत् को अन्धा बना रक्खा है ॥६२॥ आत्मा के विषय में जो अन्धरूप मूढ़ है, वे ही इसके आश्रय हैं, यह जड़ है, अपनी जड़ता से जीर्णशीर्ण है, दुःखसे दीर्घ प्रलाप करनेवाली है, अतएव पूर्वोक्त निशाचरी दीन–हीन स्त्री के तुल्य है। इसने जगत् की आँखों में धूल झोंक रक्खी है, यह कम अचम्भे की बात नहीं है। यह अविद्या पुरुष के साथ ऐक्याध्यास से पुरुष की संगिनी है तथा विविध विचित्र विषयों की कल्पन क्रिया से पुरुष का भोग संपादन करने के कारण पुरुष की अनुरागिणी है। स्वतत्त्वविचारों में भाग रही इसने पुरुष को अन्धा बना डाला है, यह कम विचित्र नहीं है ॥६३,६४॥ जो पुरुष के साक्षात्कार को तनिक भी सहने के लिए समर्थ नहीं है, उस आवरण करनेवाली अविद्यारूप स्त्री से पुरुष अन्धा बनाया गया है, यह बड़े अचम्भे की बात है ॥६५॥ न जिसमें चेतना ही है और जो नष्ट

न होने पर भी नाश को प्राप्त होती है, उस कर्कश स्त्रीरूपी अविद्या से पुरुष अन्धा किया गया है, यह बड़े आश्चर्य का विषय है ॥६६॥

पूर्व वर्णित वासनामयी अविद्या का उपसंहार कर रहे श्रीरामचन्द्रजी अविद्या के उच्छेद का उपाय पूछते हैं।

भगवन्, असंख्य दुश्चेष्टारूप विलास करनेवाली, मरण, जन्म आदि सुख–दुःख प्राप्त करानेवाली, विषम, तथा मनरूप गुहागृह में जिसने वासना बाँध रक्खी है ऐसी यह अविद्या किस उपाय से नष्ट होती है ? ॥६७॥

एक सौ तेरहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चौदहवाँ सर्ग

अविद्या के विनाश के उपायभूत आत्मदर्शन का,
विशुद्ध आत्मस्वरूप का तथा असंकल्प से वासनाक्षय का वर्णन।

वासना के क्षय के उपाय को पूछकर तन्मूलक अविद्या रूप आवरण के विनाश का उपाय पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, अविद्या के प्रतापसे उत्पन्न हुआ, अत्यन्त सघन आवरणरूप जो यह पुरुष का महान् अन्धत्व (अंधता) है, उसका विनाश कैसे होता है ?॥१॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी के पूछने पर वसिष्ठजी पहले अविद्या के क्षय का उपाय कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जैसे सूर्य के दर्शन से पाला एक क्षण में नष्ट हो जाता है, वैसे ही आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से यह अविद्या नष्ट हो जाती है। यह अविद्या तभी तक संसाररूपी पर्वत के ढूहों में (टीलों में), जो कि सघनकाँटेरूपी दुःखों से भरे हैं, अपने साथ प्राणियों को अधःपात द्वारा लुढ़काती है, जब तक कि इसका विनाश करनेवाली और मोह को दूर करनेवाली आत्म–साक्षात्कार की इच्छा स्वयं उत्पन्न नहीं हुई ॥२–४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे धूप का आस्वाद लेने की इच्छा करनेवाली छाया का आत्मविनाश हो जाता है, वैसे ही परब्रह्म परमात्मा के दर्शन कर रही इस अविद्या का आत्मविनाश हो जाता है ॥५॥ जैसे सभी दिशाओं में बारह सूर्यों के एक साथ उदित होने पर छाया अपने आप विनष्ट हो जाती है वैसे ही सर्वव्यापक ज्ञानस्वरूप परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार होने पर यह अविद्या अपने–आप नष्ट हो जाती है ॥६॥

कारणरूप अविद्या के विनाश का उपाय कहकर अब कार्यरूप अविद्या की जय के उपाय को कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, बाह्य पदार्थों में इच्छामात्र का नाम अविद्या है। इच्छामात्र का विनाश मोक्ष कहा जाता है, क्योंकि भगवती श्रुति कहती है– 'यदा' सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥' अर्थात् जब मनुष्य के हृदय में स्थित सब अभिलाषाएँ छूट जाती हैं तब मरणधर्मा जीव अमृत हो जाता है और यहाँ पर ब्रह्म का आस्वाद

लेता है। उक्त मोक्ष एकमात्र संकल्प के अभाव से सिद्ध होता है ॥७॥ मनरूपी आकाश में शुद्ध चैतन्यरूपी सूर्य का उदय होनेसे कामवासना रूपी रात्रि के थोड़ा बहुत क्षीण होने पर अविद्यारूपी आवरण क्षीण हो जाता है ॥८॥ जैसे सूर्य भगवान् का उदय होने पर अँधेरी रात न मालूम कहाँ चली जाती है वैसे ही विवेक के उदित होने पर अविद्या न मालूम कहाँ छिप जाती है ? ॥९॥ जैसे वेताल की दृढ़तर वासना से वासित बालक का सन्ध्या के समय वेतालसंकल्प अपने–आप हठात् बढ़ने लगता है, वैसे ही अपनी दृढ़तर विषयवासना से चित्त का बन्धन मजबूत होता जाता है ॥१०॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, जो कुछ भी यह दृश्य वस्तुसंघात है, वह अविद्या है और वह अविद्या आत्मचिन्तन से नष्ट हो जाती है, कृपया बतलाइये वह आत्मा कैसा है ? ॥११॥ श्री वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, विषयों के संसर्ग से रहित, सामान्य (卐) से रहित अर्थात् विक्षेप और आवरण से रहित तथा जिसका वाणी द्वारा वर्णन नहीं हो सकता, ऐसा जो चित्–तत्त्व है, वह परमेश्वर आत्मा है ॥१२॥

उक्त आत्मा की असंभावना के निवारणके लिए कार्यसहित अविद्या के उसमें बाध दर्शाते हैं।

हे पुण्यचरित श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्मा से लेकर पेड़ पौधों तक जो यह तृण आदिरूप जगत् है, वह सब सदा आत्मा ही है, अविद्या तो है ही नहीं ॥१३॥ यह सब नित्य, चैतन्यघन, अविनाशी, अखण्ड ब्रह्म ही है, मन नामकी कोई दूसरी कल्पना है ही नहीं। इन तीनों जगतों में न कोई जन्म लेता है और न कोई मरता है और न जन्म, मरण आदि भावविकारों का कहीं पर अस्तित्व ही है। अद्वितीय, केवल प्रकाशस्वरूप, सबमें अनुगत, सत्‌रूप, अखण्ड और विषय संसर्गशून्य चिन्मात्र ही यहाँ पर है ॥१४–१६॥ उस नित्य, सर्वव्यापक, शुद्ध, चैतन्यघन, किसी प्रकार के उपद्रवों से रहित, शान्त, सर्वत्र समदृष्टि, निर्विकार, प्रकाशमान आत्मा में जो यह आवरणसहित चिति चित्स्वभाव के विपरीत यानी जड़ता, परिच्छेद आदि स्वभाववाले चेत्य (विषय) की स्वयं कल्पना कर दौड़ती है, वह विक्षेप से मलिन हुई चिति ही मन नाम से कही गई है ॥१७,१८॥ जैसे समुद्र से तरंग उठती है, वैसे ही सर्वशक्तिशाली सर्वत्रगामी महात्मा इस मन रूपी देवता से पदार्थों की विभागकल्पनाशक्ति उत्पन्न हुई है ॥१९॥ अद्वितीय सर्वव्यापक शान्त आत्मा में यह सृष्टि कुछ भी नहीं है। यह परमात्मा में केवल संकल्प से उत्पन्न हुई है ॥२०॥ चूँकि यह संकल्प से उत्पन्न हुई है, अतः जैसे अग्नि की ज्वाला जिससे उत्पन्न हुई उसी वायु से शान्त होती है, वैसे ही संकल्प से ही इसका विनाश होता है ॥२१॥ इस अविद्या ने पुरुष के उद्योग से होने वाले संकल्प से विषयभोग की आशा का रूप धारण किया है। निदिध्यासन की परिपुष्टतारूप पुरुषप्रयत्न से सिद्ध साक्षात्कार से बद्धमूल एकमात्र असंकल्पन से यह अविद्या विलीन हो जाती है ॥२२॥

बन्धन और मोक्ष भी मन के ही धर्म हैं, आत्मा के धर्म नहीं हैं, ऐसा कहते हैं।

'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' इस प्रकार के दृढ़ संकल्प से मन को बन्धन प्राप्त होता है। 'यह सब ब्रह्म

卐 सामान्य (अविद्या) क्योंकि वह सब पदार्थों की कारण है, अतः 'सामान्य' शब्द से कही गई है।

ही है' इस प्रकार के दृढ़ संकल्प से मन मुक्त होता है। संकल्प ही मजबूत बन्धन है और संकल्प का अभाव मुक्ति है। हे श्रीरामचन्द्रजी, 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' इस संकल्प को 'यह सब ब्रह्म ही है' इस संकल्प से जीतकर जैसा चाहते हो वैसा करो ॥२३,२४॥ यद्यपि इस आकाश में जो सुवर्ण के कमलों से भरी हुई, चंचल नीलमणिरूपी भँवरों से गुलजार, दिशाओंको सुगन्धित करनेवाली, खूब बड़े-बड़े, प्रकट स्वरूपवाले मृणालरूपी भुजाओं से प्रकाशमान चन्द्रमा की किरणों का उपहास कर रही ऐसी कमलिनी(कमलों से भरा हुआ तालाब) नहीं है, फिर भी उसकी जैसे बालक अपने मनोरथ से विलास के लिए खूब दृढ़ रूप से कल्पना कर लेता है, वैसे ही इस दो प्रकार की अविद्या की, जो कि इस प्रकार विकल्पसमूहों के तुल्य असत्य ही है तो भी सत्य के तुल्य प्रतीत होती है, मुढ़जनों ने अत्यन्त क्लेश के लिए ही दृढ़रूप से कल्पना कर रक्खी है। यह संसाररूपी बन्धन में डालनेवाली है और बड़ी चंचल है ॥२५-२८॥

बन्ध-कल्पना के भेदों को विस्तारपूर्वक दर्शाते हैं।

मैं कृश हूँ, अति दुःखित हूँ, बन्धन से जकड़ा हुआ हूँ, हाथ, पैर आदि अवयवों से युक्त हूँ, इस भावना के अनुरूप व्यवहार से जीव बन्धन में पड़ता है ॥२९॥

बन्धन से मोक्ष पाने की उपाय भूत कल्पना को दिखलाते है।

न मैं दुःखित हूँ, न मेरी देह है, बन्धन किस आत्मा को प्राप्त हो सकता है, इस भावना के अनुरूप व्यवहार से जीव को मुक्ति प्राप्त होती है ॥३०॥ न मैं मांस हूँ, न मैं हड्डियाँ हूँ, मैं तो देह से उत्कृष्ट कुछ और ही हूँ जिसके हृदय में ऐसा दृढ़ निश्चय है, वह क्षीण अविद्यावाला कहा जाता है ॥३१॥

अविद्या आदि कल्पनाओं के दूसरे दृष्टान्त कहते हैं।

हे रघुवर, जैसे पृथिवी तल पर खड़ा हुआ पुरुष बढ़ी-चढ़ी अपनी कल्पना से अत्यन्त ऊँचे सुमेरु पर्वत के अगले हिस्से के नीलमणि के शिखरोंकी कान्ति की अथवा सूर्यकिरणों से जिसका भेदन नहीं हो सकता ऐसी आकाश के ऊपर स्थित अन्धकार राशि की आकाश की स्वाभाविक कालिमा के रूप से कल्पना करता है, वैसे ही अज्ञानीजनों ने अनात्मामें आत्मभावनारूप इस अविद्या की कल्पना की है, प्रबुद्ध पुरुषों ने नहीं की है ॥३२-३४॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, यह आकाशकी नीलता न तो सुमेरु पर्वत के नीलमणि के शिखरों की प्रभा है और न अन्धकार की कान्ति है, क्योंकि यदि उसे सुमेरु पर्वत के नीलमणिमय शिखर की छाया मानें, तो सुमेरु पर्वत के पद्मराग आदि मणियों के भी शिखर हैं, उनकी भी कान्ति दिखाई देनी चाहिये, पर वह नहीं दिखाई देती, इसलिए यह कल्पना ठीक नहीं है। यदि उसे सूर्यकी किरणों से दुर्भेद्य अन्धकार राशि मानें, तो ब्रह्माण्ड के ऊपर और नीचे के कपाल सुवर्णमय और रजतमय हैं।' *तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्*' इस प्रकार पुराणों में ब्रह्माण्ड की महाप्रकाशता सुनी जाती है। ऊपर-ऊपर सत्यलोक आदि अत्यन्त चमकदारलोकों से यह ब्रह्माण्ड खप्पर व्याप्त है। व्यवधान के न रहने पर आदित्य आदि की किरणों का सम्बन्ध नहीं रोका जा सकता, बीच में अन्धकार का संभव नहीं है, तब कहिये कि वह आकाश की

नीलता (📖) किसकी है ? ॥३५॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : शून्य आकाश की नीलता गुण के समान स्थित नहीं है, पद्मराग आदि दूसरे रत्नों की प्रभा आकाश में नहीं दिखाई देती, इसलिए वह सुमेरु पर्वतके नीलमणिमय शिखरों की प्रभा भी नहीं है। ब्रह्माण्ड तेजोमय है और तेज प्रचुर है एवं ब्रह्माण्ड के मध्यवर्ती आकाश का ऊपरी भाग प्रकाश से व्याप्त है, इसलिए यहाँ पर अन्धकार का सम्भव नहीं है ॥३६,३७॥

इस प्रकार दोनों पक्षों का अनुवाद कर सिद्धान्त पक्ष को कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, अविद्या की अनुरूप सखी के समान असन्मयी यह केवल विपूल शून्यता ही दिखाई देती है ॥३८॥ नेत्रों की ही अपनी दर्शनशक्ति का क्षय होने पर जो वस्तुस्वभाव से अन्धकार उदित हुआ है, वह आकाश की नीलता के रूप से दिखाई देता है ॥३९॥ यह जानकर जैसे आकाश में दिखाई देती हुई भी कालिमा 'यह कालिमा नहीं है' ऐसी बुद्धि होती है, वैसे ही अविद्या रूपी अन्धकार को भी जानिये ॥४०॥

प्रासंगिक प्रश्न का समाधान कर प्रस्तुत विषय को कहते हैं।

जैसे आकाशकमलिनी का निग्रह संकल्प का अभाव है, वैसे ही विद्वानों ने संकल्प के अभाव को अविद्या का निग्रह कहा है। संकल्प का अभाव सहज प्रतीत होता है, कठिन नहीं है ॥४१॥ जगत् के इस भ्रम का जो कि आकाश की नीलिमा की तरह उत्पन्न हुआ है, फिर जिसका स्मरण न हो, ऐसा विस्मरण ही मैं उत्तम समझता हूँ ॥४२॥ 'मैं नष्ट हो गया' इस संकल्प से जैसे स्वप्न में दुःख से नष्ट होता है और 'मैं जाग गया हूँ' इस संकल्प से स्वप्न दुःख के नाश को प्राप्त होता है, सुख को प्राप्त होता है, वैसे ही विषय के संकल्प से मन मूढ़ता को प्राप्त होता है। प्रबोधरूप उदार संकल्प से बोधमय ब्रह्मभाव की ओर अग्रसर होता है ॥४३,४४॥ 'मैं अज्ञानी हूँ' ऐसे संकल्प से यह अनादि अविद्या एक क्षण में उदित होती है और विस्मरण के यानी संकल्पवासनाओं के मूलोच्छेद से नित्य नष्ट हुई यह नष्ट हो जाती है।

📖 दृष्टि फैलाने पर ऊपर आकाश में प्रगाढ़ कालिमा-सी प्रतीत होती है, पर आकाश में कोई रंग नहीं है, कारण कि आकाश नीरूप है। इसलिए पण्डित लोग अनुमान करते हैं कि आकाश की जो नीलता है वह औपाधिक है यानी वह आकाश से भिन्न किसी दूसरी वस्तु की प्रभा या प्रतिच्छाया है। इस विषय में योगियों की कल्पना यों है– सुमेरु से ऊपर के शिखर इन्द्रनील मणिमय हैं, उन्हींकी कान्ति छिटक कर ऊपर आकाश में जाकर नीलता दिखलाती है। ज्योतिषी लोग कहते हैं– अतिदूरता के कारण सूर्य की किरणें ब्रह्माण्ड खप्पर के समीप में स्थित अन्धकार का विनाश नहीं कर सकती, इस कारण उस अन्धकार की प्रतिच्छाया को ही भूमि में स्थित लोग देखते हैं। अन्य विद्वान् कहतें हैं– यह नीलिमा ऊपर को छिटकी हुई पृथिवी की छाया द्वारा होती है। इन तीनों कल्पनाओं में कोई भी कल्पना श्रीरामचन्द्रजी को संगतरूप से प्रतीत नहीं हुई। अतएव इस नीलता का वास्तविकरूप जानने की इच्छा करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी से वसिष्ठजी ने उसके उत्तर में कहा : जीवों की दृष्टिशक्ति के कुण्ठित होने पर अर्थात् सामर्थ्यशून्य होने पर वस्तुदर्शन का अभावरूप अन्धकार स्फुरित होता है। वही वस्तुदर्शन के अभावरुप तम आकाश की कालिमारूप से अज्ञानियों को प्रतीत होता है।

आत्मा के अदर्शन से अत्यन्त भारयुक्त यानी बढ़नेवाली सब पदार्थों को उत्पन्न करनेवाली और सम्पूर्ण प्राणियों को मोह में डालनेवाली यह अविद्या अपरिच्छिन्न आत्मस्वरूप की प्राप्ति होने पर नष्ट हो जाती है ॥४५,४६॥

मन का निरोध करने पर भी इन्द्रियों से वासना का उद्‌भव क्यों नहीं होता, ऐसी यदि कोई शंका करे, तो इस पर कहते हैं।

जैसे मन्त्री लोग राजा की आज्ञा को एक क्षण में पूरी कर देते हैं, वैसे ही मन जिस विषय का अनुसन्धान करता है सम्पूर्ण इन्द्रिय वृत्तियाँ उसको क्षणभर में कर डालती हैं। इसलिए जो पुरुष बाह्य पदार्थों में मन का अनुसन्धान नहीं करता, वह ब्रह्माहंभावनारूप यत्न से शान्ति को प्राप्त होता है ॥४७,४८॥

उक्त अहंभावनारूप प्रयत्न कैसे करना चाहिये, उसीको दर्शाते हैं।

जो यह पहले भी नहीं था, वह आज भी नहीं है। जो यह भासित होता है, वह शान्त, अद्वितीय, निर्विकार, निर्दोष ब्रह्म है ॥४९॥ ब्रह्म से अतिरिक्त कहीं पर कोई किसी प्रकार का किसी कारण के लिए मननीय दुसरा नहीं है, अतः निर्विकार आदि–अन्तरहित पूर्णरूप से स्थित होइए ॥५०॥ परम पौरुष का अवलम्बन कर प्रयत्न के साथ उत्तम बुद्धि से विषयभोग की आशा की भावना को समूल चित्त से उखाड़ कर फेंक दीजिये ॥५१॥ आत्मतत्त्व का अज्ञान ही जरा, मरण आदि का कारण है। जो जो वस्तु कार्य–रूप से उदित होती है, वह सब सैंकड़ों आशारूपी जालों से वासना ही विस्तार को प्राप्त होती है, वह वास्तविक नहीं है ॥५२॥ ये मेरे पुत्र हैं, मेरा धन है, यह मैं हूँ, यह मेरा घर है, इस प्रकार के इन्द्रजाल से यह वासना ही वृद्धि को प्राप्त होती है ॥५३॥ जैसे जल में वायु द्वारा तरंग रूपी सर्प की कल्पना की जाती है, वैसे ही इस अनन्य वासना द्वारा इस शून्य शरीर में ही अहंभावरूप सर्प की कल्पना की गई है ॥५४॥ हे तत्त्वज्ञ श्रीरामचन्द्रजी, परमार्थदर्शन से 'मेरा', 'मैं' ये दोनों ही नहीं हैं। आत्मतत्त्व के सिवा कोई भी वस्तु कभी भी सत्य नहीं है ॥५५॥ आकाश, पर्वत, द्युलोक, पृथिवी, नदियों की श्रेणियाँ, ये सब दृष्टिसमकालिक सृष्टि से पुनः पुनः उत्पन्न होते हैं। वही यह अविद्या अन्य के समान विचित्र परिवर्तित होती है ॥५६॥ यह अज्ञानमात्र से उत्पन्न होती है और ज्ञान से नष्ट हो जाती है। त्रिविध परिच्छेदवाली यह अविद्या रज्जु में सर्प की भ्रान्ति की नाईं सन्मात्र से भ्रान्ति से प्रतीत होती है ॥५७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानी की दृष्टि में यह अविद्या नहीं है। आकाश, पर्वत, समुद्र, पृथिवी, नदीरूप जो यह अविद्या है, वह अज्ञ के लिए है। ज्ञानी की दृष्टि में तो आकाश आदि रूपसे ब्रह्म ही अपनी महिमा से स्थित है ॥५८॥ रज्जु में सर्प की प्रतीतिरूपी प्रातिभासिक और व्यावहारिक ये दो विकल्प अज्ञ द्वारा ही कल्पित हैं। ज्ञानी ने तो एकमात्र स्वतःसिद्ध ब्रह्मदृष्टि का ही निर्णय किया है। हे रामचन्द्रजी, आप अज्ञानी मत होइये, ज्ञानी बनिये, संसारवासना का नाश कीजिये, अनात्म देह आदि में आत्मभावना से अज्ञ की नाईं आप क्यों रोते है ? ॥५९,६०॥

अनात्मा देह आदि में आत्मतत्त्व की भ्रान्ति ही सब दुःखों का निदान है, इसलिए पहले देह

में आत्म भ्रान्ति का ही वारण करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह जड़, मूक शरीर आपका क्या है ? जिसके लिए अवश होकर सुख और दुःख द्वारा आप अभिभूत हो रहे हैं ॥६१॥ जैसे काष्ठ और लोह परस्पर मिले रहने पर भी एक नहीं हैं और जैसे बेर और बर्तन परस्पर अत्यन्त संयुक्त होने पर भी अभिन्न नहीं हैं वैसे ही देह और आत्मा भी परस्पर संयुक्त होने पर भी अभिन्न नहीं हैं ॥६२॥

आत्मा देहरहित है, इसलिए उसके जन्म, मरण आदि की संभावना भी नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे धौंकनी के जल जाने पर धौंकनीके अन्दर स्थित वायु का दाह नहीं होता, वैसे ही देह का नाश होने से आत्मा नष्ट नहीं होता ॥६३॥ हे राघव, मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ, इस भ्रान्ति को मृगतृष्णा के तुल्य समझ कर छोड़ो और सत्यतत्त्व का अवलम्बन करो ॥६४॥ यह क्या अचम्भे की बात नहीं है ? जो सत्य ब्रह्म है, उसे तो लोग भूल गये हैं और जो असत्य अविद्यानामक वस्तु है उसका सबको अत्यन्त स्मरण हो गया है ॥६५॥ हे रामचन्द्रजी, आप अविद्या को यानी आत्मविस्मरण को खूब बढ़ने का मौका न दीजिये। इस अविद्या द्वारा चित्त के दूषित होने पर यहाँ पर अनन्त अपार दुःख होते हैं ॥६६॥

अविद्या असम्भावित हजारों अनर्थों को उत्पन्न करती है, ऐसा कहते हैं।

मिथ्या होती हुई भी अनर्थ करनेवाली, मन के संकल्प से पुष्ट हुई, अन्त में महामोहरूप फल देने वाली, दुःखदायिनी इस अविद्या से अमृतरस से सराबोर चन्द्रबिम्ब में भी रौरव नरक की कल्पना करके पुरुष नारकीय दाह, शोष आदि दुःखों का अनुभव करता है ॥६७,६८॥ इससे जल की तरंग, कमल, जलबिन्दु, छोटी–छोटी लहरों से युक्त तालाबों में मृगतृष्णा से भरी हुई मरुभूमि का दृश्य दिखाई देता है ॥६९॥ इसीसे आकाश में नगर की रचना, आकाश से गिरना, आकाश में उड़ना आदि भ्रम, जो विचित्र और सुख–दुःख देनेवाले हैं, स्वप्न में पुरुषों से अनुभूत होते हैं ॥७०॥ यदि यह अविद्या चित्तको संसारवासनाओं से पूर्ण न करे, तो यहाँ जाग्रत्, स्वप्न आदि के भ्रम आत्मा को आपत्ति को प्राप्त कैसे करायें ॥७१॥ मिथ्या ज्ञान के बढ़ने पर स्वप्न और उपवन की भूमियों मैं रौरव, अवीचि आदि नरकों की अनर्थकारी यातनाएँ देखी जाती हैं ॥७२॥ इस अविद्या से वेधित चित्त कमलनाल के अत्यन्त सूक्ष्म तन्तु में भी एक क्षण में समस्त संसार–सागररूपी अनर्थकारी भ्रम देखता है ॥७३॥ इससे चित्त के अभिभूत होने पर राज्य में ही स्थित पुरुष उन–उन यातनाओं को प्राप्त होते हैं, जो चाण्डालों के भी योग्य नहीं हैं ॥७४॥ इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, संसाररूप बन्धन में डालनेवाली और सम्पूर्ण द्वैताकाररूपी रंग से युक्त वासना को त्यागकर स्फटिक के समान रागरहित होकर स्थित होइये ॥७५॥ व्यवहार के कार्य कर रहे आपकी अनुराग के विषयों में आसक्ति न हो, जैसे कि विचित्र प्रतिबिम्बों का ग्रहण कर रहे स्फटिक की रंग के विषय में आसक्ति नहीं होती। हे रामचन्द्रजी, निरतिशयानन्दरूप होने से परम कौतुकमय ब्रह्म का जो साक्षात्कार कर चुके हैं यानी जो तत्त्वज्ञ हैं, उनकी संगति में पुनः–पुनः विचार करने से

दीप्त हुई, अतएव सर्वत्र समदर्शन आदि सुशीलवाली असंग बुद्धि से यदि आप सदा व्यवहार करते हैं, तो आप अविद्याप्रयुक्त जन्म, मरण आदि भ्रमों से रहित हैं यानी नित्यमुक्त स्वरूप हैं। तब आपकी किसी जीवन्मुक्त महाभाग्य ब्रह्मा, विष्णु अथवा शंकरजी के साथ तुलना नहीं हो सकती है ॥७६,७७॥

एक सौ चौदहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पन्द्रहवाँ सर्ग

श्रीरामचन्द्रजी का बोध से आश्चर्य वर्णन, माया और
उसके नाश की स्थिति, राजा लवण की आपत्ति के कारण का निरुपण।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : भगवन्, महात्मा श्रीवसिष्ठजी के ऐसा कहने पर कमल की पंखुड़ी के समान विशाल नेत्रवाले श्रीरामचन्द्रजी विकसित पद्म के समान सुशोभित हुए। जैसे अन्धकार के नष्ट होने पर सूर्य भगवान् के दर्शन से कमल प्रसन्न होकर शोभा को प्राप्त होता है, वैसे ही समाधान से सन्तुष्ट हुए श्रीरामचन्द्रजी अज्ञान के नष्ट होने पर प्रफुल्लित अन्तःकरणवाले होकर शोभा को प्राप्त हुए। बोध से उत्पन्न हुए आश्चर्य से मन्द-मन्द मुस्कुराहट से जिनका मुखकमल प्रकाशमान है, ऐसे श्रीरामचन्द्रजी ने दाँतों की किरणरूपी सुधा से धोई हुई यह वाणी कही ॥१-३॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, जो अविद्या है ही नहीं, उसने सब लोगों को वश में कर लिया, यह बड़े आश्चर्य की बात है। यह कथन तो कमल के नाल से उत्पन्न हुए तन्तुओं से पर्वतों को बाँधने के तुल्य है ॥४॥ जो अविद्या से तीनों जगतों में असद् ही सत्य की तरह स्थित है, यह तो तृणमात्र तीनों जगतों में वज्रता को प्राप्त हो गया ॥५॥ त्रिभुवन रूप आँगन में स्थित इस संसारमायारूप नदी का स्वरूप मेरे ज्ञान के लिए फिर कहिए ॥६॥ हे महात्मन्, और दूसरा यह सन्देह, जो मेरे हृदय में बैठा है, वह यह है कि वह महाभाग राजा लवण किस प्रकार आपत्ति को प्राप्त हुए ? ॥७॥ हे ब्रह्मन्, और तीसरा प्रश्न यह है कि काठ और लोह के समान परस्पर संयुक्त, मल्ल और मेष के समान परस्पर के आघातों से आक्रान्त देह और देही हैं, इन दो में से कौन-सा शुभ और अशुभ फल का एकमात्र भाजन संसारी है ? ॥८॥ चौथा सन्देह यह है कि राजा लवण को उस प्रकार की बड़ी भारी आपत्ति देकर चंचल कार्य करनेवाला वह ऐन्द्रजालिक क्यों चला गया और वह कौन था ?॥९॥

इस प्रकार पूछे गये श्रीवसिष्ठजी विवेक की दृढ़ता में प्रकृष्ट हेतु होने का कारण पहले तृतीय प्रश्न का समाधान करते हुए अर्थतः प्रथम प्रश्न का भी समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे निष्पाप रामचन्द्रजी, इस संसार में काष्ठ और भीतके समान जड़ देह कुछ भी नहीं है यानी वास्तविक नहीं है। स्वप्न के प्रकाश की नाईं इस चित्त ने कल्पना कर रक्खी है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि अचेतन होने से और असत् होने से शरीर कर्मफल का भोक्ता नहीं हो सकता ॥१०॥

तो भोक्ता कौन है ? इस पर कहतें है : जीवता को प्राप्त हुआ चित्त भोक्ता है।

शंका : चित्त भी तो जड़ है, अतः वह भोक्ता कैसे ?

समाधान : चिदाभास के तादात्म्य को प्राप्त हुए चित्त में जाड्यरूप दोष नहीं रहता। उक्त चित्त का भोकृत्व में आग्रह है और वह बन्दर के बच्चे के समान चंचल है ॥११॥

वही जीव है, ऐसा कहते हैं।

नाना प्रकार के शरीरों को धारण करनेवाला कर्मफल का भागी जो यह देही है, वह अहंकार, मन, जीव आदि पर्यायों से कहा जाता है ॥१२॥ हे राघव, अप्रबुद्ध जीव के ये अनन्त सुख–दुःख होते हैं और प्रबुद्ध के नहीं होते। शरीर के भी ये सुख–दुःख आदि नहीं होते ॥१३॥ अज्ञानी मन, जिसने नाना प्रकार की संज्ञाओं से अनेक कल्पनाएँ कर रक्खी हैं, अनेक प्रकार की वृत्तियों में प्रवेश करता हुआ विचित्र–विचित्र आकार को प्राप्त हुआ है। जब तक मन अज्ञ रहता है तभी तक निद्रित रहता है और स्वप्न में नाना प्रकार के भ्रमों को देखता है, लेकिन ज्ञानी मन कदापि इन विविध विभ्रमों को नहीं देखता। अज्ञाननिद्रा से पीड़ित हुआ जीव जब तक अज्ञानरूप निद्रा से जगाया नहीं जाता तब तक अभेद्य संसाररूप स्वप्न भ्रम को देखता है ॥१४–१६॥ जैसे दिन के प्रकाश से विकसित होने वाले कमल के मध्यका अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही प्रबुद्ध हुए मन का सम्पूर्ण अन्धकार विलीन हो जाता है। चित्त अविद्या, मन, जीव, वासना, कर्मात्मा–इन नामों से विद्वानों द्वारा जो कहा जाता है वह देही दुःख का भोक्ता है। देह जड़ है, अतएव देह दुःखभोग के योग्य नहीं है। जीव ही अविचारवश दुःखी होता है। अविचार सघन अज्ञान से होता है, इसलिए सम्पूर्ण दुःखों का कारण अज्ञान है ॥१७–१९॥ जैसे रेशम का कीड़ा रेशम के कोश से बन्धन को प्राप्त होता है, वैसे ही जीव भी अविवेक रूपी दोष से शुभ और अशुभ धर्मों का भाजन बना है। अविवेकरूप रोग से बँधा हुआ, विविध वृत्तियों से युक्त मन अनेक आकारों में विहार द्वारा चक्र के समान घूमता है। इस शरीर में मन ही उदय को प्राप्त होता है, रोता है, मारता है, खाता है, जाता है, बोलता है और निन्दा करता है, शरीर कभी भी कुछ नहीं करता है ॥२०–२२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे घर में घर का मालिक अनेक प्रकार की क्रियाएँ करता है, किन्तु घर कुछ भी नहीं करता, वैसे ही देह में जीव विविध चेष्टाएँ करता है, जड़ देह कुछ नहीं करता ॥२३॥ सब सुख–दुःखों में और सब कल्पनाओं में मन ही कर्ता है और मन ही भोक्ता है। मन को आप जीव जानिये ॥२४॥ यह राजा लवण मन के भ्रम से जिस प्रकार चाण्डलता को प्राप्त हुआ, इस उत्तम वृत्तान्त को मैं आपसे कहूँगा, आप सावधान होकर सुनिये। हे श्रीरामचन्द्रजी, मन ही शुभ अथवा अशुभ फलका भोग करता है, इस बात को आप जिस प्रकार समझ जायेंगे वैसे मैं आपसे कहता हूँ, आप सुनिये ॥२५,२६॥ हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, प्राचीन काल में हरिश्चन्द्र के कुल में उत्पन्न राजा लवण ने एकान्त में बैठकर बहुत दिनों तक मन से विचार किया : मेरे पितामह बड़े महानुभाव थे। उन्होंने राजसूययज्ञ किया था। मैं उनके कुल में उत्पन्न हुआ हूँ। मैं मन से उस यज्ञ को करता हूँ, ऐसा मन से विचारकर आदरपूर्वक सब सामग्रियाँ इकट्ठी कर राजा

ने राजसूययज्ञ की दीक्षा ली । उसने ऋत्विजों को बुलाया, श्रेष्ठ मुनियों की पूजा की, यज्ञ में आने के लिए देवताओं से प्रार्थना की और अग्नि प्रज्वलित की ॥२७-३०॥ अपने उपवन के भीतर मन से अपनी इच्छा के अनुसार यज्ञ कर रहे राजा का देवता, ऋषि और ब्राह्मणों की पूजा से पूरा एक वर्ष बीत गया ॥३१॥ ब्राह्मण आदि प्राणियों को सर्वस्व दक्षिणा देकर राजा अपने ही उपवन में दिन के अन्त में जाग उठा ॥३२॥ इस प्रकार राजा लवण ने सन्तुष्ट मन से ही राजसूययज्ञ किया, इसलिए उसी को यज्ञ का फल होना उचित है ॥३३॥ इससे सिद्ध हुआ कि चित्त को ही सुख-दुःख का भोक्ता पुरुष जानिये, इसलिए मन के शोधनरूप सत्य उपाय में मन को लगाइए । मन ही क्रियाशक्ति की प्रधानता से कर्ता, करण और क्रिया है । वह क्रिया ही सुखदुःखरूप फल के रूप में परिणत होती है । चिदाभास की व्याप्ति से उस फल का भोक्ता मन ही है इसलिए भोक्तृत्व कर्तृत्व का प्रवाह ही मायारूपी महानदी का स्वरूप है । इस तरह प्रथम प्रश्न का विषय भी इस सन्दर्भ से दिखलाया गया है, चतुर्थ प्रश्न के उत्तर का समाधान आगे के सर्ग में होगा ॥३४॥

इस प्रकार रामचन्द्रजी के प्रश्न का समाधान कर देवता आदि सदस्यों के प्रति विस्तार से वर्णित अर्थ का निचोड़ कहते हैं ।

हे देवताओं, यह मनरूपी पुरुष काल आदि के परिच्छेद से रहित पूर्ण आलम्बन में स्थित होकर पूर्ण होता है और नित्य नष्ट होने वाले काल आदि से परिच्छिन्न देह आदि देश में स्थित होकर देहभाव की प्राप्ति से नष्ट हो जाता है । इसलिए 'मैं देह हूँ' ऐसी जिनकी नश्वर देह में अहंभावना है, उनसे कोई प्रयोजन नहीं है । शास्त्राभ्यास और आचार्योपदेश से उत्पन्न सम्यक् विचार के परिपाक से सारासार विवेकवाले चित्त को 'मैं देहादिस्वभाव कभी नहीं हूँ' मैं पूर्णानन्दप्रकाश, एकरस ब्रह्म ही हूँ' ऐसा ज्ञान होने पर ब्रह्मीभूत अधिकारी के सब दुःख समूल नष्ट हो जाते हैं, कभी भी उत्पन्न नहीं होते । सूर्य की किरणों से प्रफुल्लित होने पर कमल के संकोच, जड़ता और अन्दर स्थित अन्धकार आदि चिर काल के लिए नष्ट हो ही जाते हैं ॥३५,३६॥

एक सौ पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सोलहवाँ सर्ग

चौथे प्रश्न के समाधान के लिए पूर्वोक्त अर्थ के दृष्टान्तरूप से
उपोद्घातसहित योग भूमिका का वर्णन ।

चौथे प्रश्न का उत्तर जानने की इच्छा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी चौथे प्रश्न के उत्तर में सहायक दूसरे प्रश्न के उत्तर में प्रमाण पूछते हैं ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे प्रभो, राजा लवण ने अपने चाण्डालत्वकी कल्पना रूप ऐन्द्रजालिक द्वारा दिखलाये गये मायाजाल में राजसूयप्रयुक्त अनिष्ट फल पाया, यह जो आपने इतिहास कहा, इसमें क्या प्रमाण है ? प्रत्यक्ष प्रमाण तो हो नहीं सकता, क्योंकि यह मेरे

मानसिक राजसूययज्ञ का फल है, इसे लवण राजा जान नहीं सकता ॥१॥

यद्यपि अन्य लोगों के लिए उसमें प्रमाण का अवसर नहीं है तथापि योगबल से मुझे वह प्रत्यक्ष है । इसलिए मेरे प्रत्यक्ष से ही और लोगों में भी उसकी प्रसिद्धि है ऐसा वसिष्ठजी समाधान करते हैं ।

श्री वसिष्ठजी ने कहा : जब ऐन्द्रजालिक राजा लवण की सभा में आया, उस समय मैं वहाँ पर विद्यमान था । यह सब कुछ मैंने प्रत्यक्ष देखा ॥२॥ उस ऐन्द्रजालिक के चले जाने पर सभासदों ने और राजा लवण ने बड़े प्रयत्न से मुझसे पूछा कि यह क्या हुआ ? लवण और सभासदों के पूछने पर योगबल से देखकर और विचारकर मैंने वहाँ पर उनसे जो ऐन्द्रजालिक का अभिप्राय कहा था, वह आपसे कहूँगा, आप सुनिये ॥३,४॥ राजसूययज्ञ करनेवाले लोग बारह वर्षतक आपत्ति रूप दुःख को प्राप्त होते हैं, जिसमें विविध प्रकार की व्यथाएँ होती हैं ॥५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इसलिए इन्द्र ने राजा लवण के दुःख के लिए ऐन्द्रजालिक का वेष धारण किये हुए देवदूत को आकाश से भेजा । राजसूययज्ञ करनेवाले उस राजा लवण को महाक्लेश देकर वह देवता और सिद्धों से सेवित आकाश मार्ग में चला गया ॥६,७॥ इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, राजा लवण ने राजसूययज्ञ का फल रूप वह क्लेश पाया, यह प्रत्यक्ष ही है । इसमें सन्देह नहीं है । मन विलक्षण–विलक्षण क्रियाओं को करता है और भोग करता है । हठयोग से मन रूप रत्न को घिसकर राजयोग से शुद्ध कर निर्विकल्प समाधि से उसको सूर्य के ताप से बर्फ के टुकड़े की नाई विलीन कर आप तत्त्व साक्षात्कार से परम श्रेय को प्राप्त होंगे । चित्त को ही सब प्राणियों के आडम्बर को करनेवाली अविद्या जानिये । विविध प्रकारकी विचित्र रचनाओं की प्रकृतिभूत इन्द्रजाल के तुल्य जो वासना है उससे अविद्या इसको उत्पन्न करती है । अविद्या, चित्त, जीव, बुद्धि शब्दों में वृक्ष और तरु शब्दों की भाँति भेद नहीं है, ऐसा जानकर चित्त को ही कल्पनाशून्य कीजिये । चित्तविमलतारूप सूर्यबिम्ब के उदित होने पर कलंकयुक्त विकल्पों से उत्पन्न हुए दोषरूपी अन्धकार का नाश हो जायेगा । यदि कोई शंका करे कि अपने चित्त का लय होने पर या अपनी अविद्या का क्षय होने पर अपने अदृष्ट उपार्जित अपनी अविद्या के कार्य की ही निवृत्ति होगी, सबके अदृष्ट से उपार्जित अविद्या के कार्य की निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि अपना चित्त उनके कार्य का कारण नहीं है, इस पर सब के अदृष्ट से उपार्जित कार्य और सबके उपभोग्य सब अविद्या कार्य ही है, सर्वात्मक आत्मदर्शन से उनका दर्शन हो जाता है, सब आत्मभूत किया जाता है, सबका त्याग किया जाता है और सबका विनाश किया जाता है, इसमें तनिक भी असम्भावना नहीं करना चाहिये, इस आशय से कहते हैं : चित्त विमलतारूप सूर्य के उदित होने पर वह वस्तु नहीं है, जो न देखी जाती हो, वह वस्तु नहीं है, जो आत्मस्वरूप न की जाती हो, वह वस्तु नहीं है, जिसका परित्याग न किया जाता हो, क्योंकि वह वस्तु नहीं है जो आत्मीय न हो, वह वस्तु नहीं है जो परकीय न हो, सब आत्मीय होता है, सब परकीय होता है, सब सदा सब होता है, यह परमार्थ स्थिति है ॥८॥

इसमें मधुब्राह्मण श्रुति प्रमाण है :

'इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु'(यह पृथिवी सम्पूर्ण भूतों के लिए मधु है और इस पृथिवी के लिए सब भूत मधु हैं) इत्यादि।

इसलिए समाधि के परिपाक से उत्पन्न होने वाले बोध से मन और मन के कार्यभूत प्रपंच का और अविद्या का एकरस ब्रह्मात्मभाव शेष रहता है, ऐसा पद्य द्वारा उपसंहार करते हैं।

जैसै जल में रक्खे हुए कच्चे, रंग–बिरंग के मिट्टी के बर्तन एक पिण्ड बन जाते हैं वैसे ही दृश्य पदार्थ समूह, उनको विषय करनेवाला विचित्र वृत्तिरूप बोध और उससे उपहित सब जीव एक यानी ब्रह्मैकरस हो जाते हैं ॥९॥

गुरू की उक्ति का निचोड़ अर्थ अनुवादपूर्वक दिखलाते हुए श्रीरामचन्द्रजी अपनी बुद्धि के द्वारा तर्कित उपायोंसे मन का विनाश होना सम्भव नहीं है, ऐसा समझते हुए मन के उच्छेद का दूसरा उपाय जानने के लिए गद्य से पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे महात्मन्, इस प्रकार मन का विनाश होने पर सम्पूर्ण दुःखों का विनाश हो जायेगा, आपने कहा, पर यह चित्त तो अत्यन्त चपलवृत्ति है, इसका विनाश कैसे हो सकता है ? ॥१०॥

मन के उच्छेद का उपाय कहने के लिए श्रीवसिष्ठजी प्रतिज्ञा करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुकुलभूषण, मन के शमन के लिए आप युक्ति सुनिये, जिसको जानकर आप अपनी इन्द्रियों के संचार के अगोचर ब्रह्ममें मनोवृत्ति धारा को प्राप्त होंगे ॥११॥

यदि श्रीरामचन्द्रजी शंका करें, जिस मन का अनादि संसार में कभी नाश हुआ ही नहीं, उसके विनाश की संभावना कैसे हो सकती है ? इस पर उसके विनाश की संभावना के लिए बीच–बीच में उसके नाश की प्रसिद्धि को और परिणामी स्वभाव होने से अन्य प्राणियों की तुल्यता को दिखलाने के लिए पूर्वोक्त सात्त्विक आदि भेद से त्रिविध जीवसृष्टि का स्मरण कराते हैं।

यहाँ पर ब्रह्म से सब भूतों की (卐) त्रिविध (सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार की) उत्पत्ति जो पहले कही है, उसका यहाँ पर स्मरण करना चाहिये ॥१२॥

अपने संकल्प की विचित्रता से ब्रह्माण्डाकार में परिणित हिरण्यगर्भ के मन का विनाश प्रलयमें प्रसिद्ध है, क्योंकि उसके कार्य भौतिक पदार्थों का विलय देखा जाता है। इसलिए वह भी नश्वर है ऐसा अनुमान किया जा सकता है। इस प्रकार मूलकारण मन में विनाशस्वभावता का निश्चय होने पर उसके तुल्य स्वभाव होने के कारण हमारे मन में भी उक्त विनाशस्वभावता की संभावना की जा सकती है, इस आशय से कहते हैं।

卐 यद्यपि बारह प्रकार की जीवजातियाँ पहले कही गई हैं तथापि बारहों जातियों का सात्त्विक, राजस और तामस भेदों में अन्तर्भाव होने से यहाँ तीन प्रकार की कही गई हैं अथवा आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक भेद से यहाँ तीन प्रकार की जीवजातियाँ कही गई हैं । उन तीनों प्रकारों की सृष्टियों का मूल कारण हिरण्यगर्भ का मन ही है । हिरण्यगर्भ के मन के संकल्पानुसार और मन भी उनके कारण हैं, ऐसा पहले कहा जा चुका है ।

आद्य मन की कल्पना से चतुर्मुखाकार देहवाला मैं हूँ, इस प्रकार की जो ब्रह्मारूपिणी संकल्पमयी कल्पना है तद्रूप होकर वह जिसका संकल्प करती है, उसीको देखती है, क्योंकि वह सत्यसंकल्प है। उसीसे भुवनरूपी आडम्बर की कल्पना होती है ॥१३॥

हम लोगों का जन्म, मरण आदि संसार भी उसी की कल्पना है, ऐसा कहते हैं।

जगत् में जन्म–मरण, सुख–दुःख, मोह आदि संसार की कल्पना करती हुई, चार हजार युगवाले अपने दिनों में तत्–तत् अनुकूल रचनाओं द्वारा निर्मित देवता, असुर आदि के अनन्त नामों से भारपूर्वक स्थित होकर जैसे धूप में रक्खा हुआ बर्फ का टुकड़ा अपने कारण तेज में लीन हो जाता है, वैसे ही वह भी शेषशय्याशायी भगवान् विष्णु में स्वयं विलीन हो जाती है ॥१४॥ फिर सृष्टिकाल में भगवान के नाभिकमल से आविर्भूत होकर दूसरे कल्प की सृष्टि के रूप से पूर्व की कल्पना उत्पन्न होती है और फिर कल्पान्त में लीन हो जाती है और फिर उदित होती है। इस प्रकार जब तक अधिकारप्रापक प्रारब्ध का क्षय नहीं होता, तब तक संसार के प्रवाह में बहते हुए प्रारब्ध का क्षय होने पर स्वतः स्फुरित हुए आत्मबोध से अपने आप शांत हो जाती है ॥१५॥

इस प्रकार अन्य हिरण्यगर्भों के मन में भी नश्वरता प्रमाणसिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

इस ब्रह्माण्ड में भी प्रत्येक परमाणु में करोड़ों ब्रह्माण्डों की कल्पना है, इसलिए अनन्त ब्रह्माण्डकोटियाँ और अन्य ब्रह्मण्डों में भी व्यतीत हो गई होगी और हैं, जिनकी संख्या नहीं है ॥१६॥

जैसे समष्टि मन पुरुष के प्रयत्न से होने वाले उपासना और ज्ञान से वृद्धि को प्राप्त होते हैं और शान्त होते हैं, वैसे ही व्यष्टि जीवों के मन भी जन्म–मरण के हेतु काम, कर्म, वासना और संकल्पों से बढ़ते हैं। निरोध और ज्ञानाभ्यास के प्रकर्ष से शान्त हो जाते हैं, इसलिए मनोनाश असम्भावनीय नहीं है, इस आशय से सृष्टिकाल से लेकर मोक्ष पर्यन्त जीवसृष्टि का संक्षेप और विस्तार से वर्णन करते हैं।

पूर्वोक्त समष्टि कल्पना के परमात्मा में स्थित होने पर व्यष्टि जीव जैसे परमात्मा में स्थित होने पर व्यष्टि जीव जैसे परमात्मा से आकर जीता है और मुक्त होता है, उसे सुनिये ॥१७॥

संक्षेप से सूचित अर्थ का व्याख्यान करने की इच्छावाले श्रीवसिष्ठजी पहले 'ईश्वरादागत्य'(ईश्वर से आकर) इस अंश का विवरण करते हैं।

प्रलयकाल में उपाधि का विलय होने से अव्याकृत में लीन हुए जीवों की संस्कारमात्र से अवशिष्ट मनःशक्ति–पहले अव्याकृत से शब्दतन्मात्ररूप आकाशशक्ति का आविर्भाव होने पर पहले से उत्पन्न उसी आकाशशक्ति का अवलम्बन करके स्वयं भी उदित होकर पवनशक्तिरूप स्पर्शतन्मात्र की उत्पत्ति होने पर पवन में स्थित पवनता के अनुसरण करने वाली हो– ईषत् चलनरूप घनसंकल्पता को प्राप्त होती है ॥१८॥ तदनन्तर पहले प्राप्त रूप, रस और गन्धरूप तन्मात्रा के क्रम से अपंचीभूत पंचतन्मात्रता को प्राप्त होकर मन, बुद्धि,

अहंकार, चित्तरूप व्यवहार हेतु जीवोपाधिता को प्राप्त हो पूर्वोक्त मनःशक्ति वृद्धि को प्राप्त होकर प्रकृति होती है। पंचीकृत स्थूल प्रकृति होकर पंचीकृत आकाश, वायु, तेजोरूपता के संकल्प से हिम, वृष्टि आदि जड़रूपता को प्राप्त होकर धान, गेहूँ आदि औषधियों में प्रवेश करती हुई अन्न होती है। पुरुषों द्वारा उपभुक्त होकर वीर्यरूपता को प्राप्त होकर कलल, बुद्‌बुदादि के क्रमसे प्राणियों को गर्भदशा की प्राप्ति होती है ॥१९॥ तदनन्तर उससे जीव उत्पन्न होता है। जन्म के अनन्तर कदाचित् पुण्य की अधिकता से वह कर्म और ज्ञान का अधिकारी पुरुष होता है ॥२०॥ उस पुरुष को पैदा होते ही बचपन से लेकर विद्याध्ययन करना चाहिये और तत्त्वज्ञानी गुरु का अनुगमन करना चाहिये ॥२१॥ तब क्रमशः पुरुष को तुम्हारे तुल्य विवेक, वैराग्य आदि साधन सम्पत्ति होती है। चित्तवृत्तिकी स्वच्छदृष्टि से पुरुष को संसाररूपी अनर्थ हेय है और मोक्षोपाय उपादेय है, ऐसा विचार उत्पन्न होता है ॥२२,२३॥

गद्यों द्वारा उक्त अर्थ के सारांश को पद्य से कहकर उपसंहार करते हुए उक्त प्रकार के पुरुषमें आत्यन्तिक मनोनाश की उपायभूत योगभूमिका का अवतरण करते हैं।

अन्यान्य साधनों से वृद्धि को प्राप्त हुए पूर्व विवेक से युक्त, निर्मल सत्त्वगुणमयी ब्राह्मणादि उत्तम जातिवाला मैं हूँ यों अभिमान रखनेवाले अधिकारी पुरुष के अटल होने पर परमपुरुषार्थ के लिए आगे कही जानेवाली सात प्रकार की योगभूमिका, जो कि चित्त को ज्ञान द्वारा प्रकाशमान करनेवाली है, क्रमसे (चित्त की उपरमताके तारतम्य के क्रम से) आविर्भूत होती है ॥२४॥

एक सौ सोलहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सत्रहवाँ सर्ग

ज्ञानभूमि के भेदों के उपोद्‌घातरूप से सात प्रकार की अज्ञानभूमिका का प्रसंगतः वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, सिद्धि देनेवाली सात योगभूमिकाएँ कैसी हैं, हे सर्वतत्त्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ मुनिजी, यह सब मुझसे संक्षेप में कहिए ॥१॥

श्रीरामचन्द्रजी द्वारा पूछे गये ज्ञानभूमिका के बोध के लिए उपयोगी अज्ञानभूमिका के भेद को पहले कहने की इच्छा करनेवाले श्रीवसिष्ठजी ज्ञान और अज्ञान की भूमिकाओं को अलग-अलग करके दिखाते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, अज्ञानभूमिका और ज्ञानभूमिका दोनों सात प्रकार की हैं, किन्तु इन दोंनों के ही असंख्य अन्यान्यभेद होते हैं यानी गुणों की विचित्रता से ये दोनों असंख्य भेदों में विभक्त होती हैं। स्वाभाविक प्रवृत्तिरूप पुरुषप्रयत्न और भोग में राग की दृढ़तारूप रसावेश ये दोनों अज्ञानभूमिका की स्थिरता के मुख्य कारण हैं और शास्त्रों में उक्त नियम से श्रवण मननरूप पुरुषप्रयत्न तथा मुमुक्षादृढ़तारूप रसावेश (मोक्ष ही परमसुख है इस प्रकार की विवेचना से मोक्षरस का रसिक होना) ये दो ज्ञानभूमिका की स्थिरता के हेतु हैं और सबका अधिष्ठान (आधार) ब्रह्म उन दोनोंका आधार है एवं उसकी ही सत्ता से उन दोनों का अस्तित्व है। तथा उसके प्रकाश के उत्कर्ष और अपकर्ष से उक्त दोनों भूमिकाओं में

ह्रास और वृद्धि देखी जाती है एवं उन–उन कारणों से ये सब भूमिकाएँ अपने–अपने विषय से बद्धमूल होकर अपने–अपने अनुरूप संसार स्थित दुःखरूप तथा संसार से मुक्ति निरतिशयानन्द–प्राप्तिरूप उत्तम फल को उत्पन्न करती हैं। जैसे नीचे की भूमिका के सात पद उत्तरोत्तर रजोगुण, तमोगुण और दुःख से पूर्ण नरक पर्यन्त हैं तथा ऊपर की भूमिका के उत्तरोत्तर सत्त्वगुण, सुख और ज्ञान से पूर्ण सत्यलोक पर्यन्त सात पद हैं तथा क्रममुक्ति उनका फल है वैसे ही ये अज्ञानभूमिका और ज्ञानभूमिका भी हैं यह अर्थ है ॥२,३॥ उनमें से पहले आप सात प्रकार की अज्ञानभूमिका को सुनिये। तदनन्तर आप सात प्रकार की ज्ञानभूमिका को सुनेगें ॥४॥

पहले दोनों भूमिकाओं में से प्रत्येक का फलतः साधारण लक्षण कहते हैं।

स्वरूप में स्थिति मुक्ति है एवं अहन्ता की प्रतीति उसकी च्युति है ('अहं' यह बोध होने पर ही स्वरूपावस्थितिरूप मुक्ति च्युत हो जाती है इस कारण बद्ध अवस्था प्राप्त होती है) क्योंकि 'अहम्' का उदय होने पर स्वरूपस्थितिरूप मुक्ति की विस्मृति होती है। संक्षेपतः यही तत्त्वज्ञ और अतत्त्वज्ञ का लक्षण है ॥५॥

उसमें पहले का लक्षण स्पष्ट करते हैं।

जो राग–द्वेष का उदय न होने से शुद्ध सन्मात्र ज्ञानरूप से विचलित नहीं होते हैं, उनमें अज्ञता की संभावना नहीं हैं ॥६॥ जो स्वरुप से भ्रष्ट होने के कारण चेत्य अर्थ में (विषय में) चिति का मग्न होना है, इससे बढ़कर मोह न तो कोई हुआ और न होगा ॥७॥ चित्त के एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में जाने पर यानी पूर्व विषय से हटकर अन्य विषय में जाने के पहले बीच में जो मननरहित स्थिति है वह स्वरूपस्थिति कही जाती है। सब प्रकार की कल्पनाओं से शून्य, जड़ता और निद्रा– इन दो अवस्थाओं से निर्मुक्त तथा शिला के मध्य के तुल्य (जैसे पत्थर का मध्य निश्चल होता है उसके सदृश) जो स्थिति है, वह स्वरूप की स्थिति कही गई है ॥८,९॥ अन्दर अहन्तांश के और बाहर भेद के विनष्ट और शान्त होने पर तथा दोनों जगह निस्पन्द होने पर स्वप्रकाश चित् का जो विकास है, वही स्वरूप है यह सिद्धान्त है। उस प्रत्यक् चैतन्य में अज्ञान का अनादि रूप से अध्यास किया गया है। इस समय उस अज्ञान की इन भूमिकाओं को आप सुनिये– बीजजाग्रत, जाग्रत, महाजाग्रत, जाग्रत्स्वप्न, स्वप्न, स्वप्नजाग्रत और सुषुप्ति इस प्रकार सात तरह का मोह है। यह सात प्रकार का मोह परस्पर संश्लिष्ट होकर बहुत से नामों को धारण करता है। सात प्रकार के मोहों में से प्रत्येक का लक्षण आप सुनिये। सृष्टि के आदि में अथवा जागरण के आदि में मायाशबल चैतन्यसे प्राणधारण आदि क्रियारूप उपाधि से भविष्य में होनेवाले चित्त, जीव आदि नामशब्दों और उनके अर्थों का भाजनरूप तथा वक्ष्यमाण जाग्रत का बीजभूत जो प्रथम चेतन (चिदाभाससंवलित स्वरूप) है, वह बीजजाग्रत कहलाता है ॥१०–१४॥ यह ज्ञान की नूतन अवस्था है। अब आप जाग्रत संसार को सुनिये। नवप्रसूत बीजजाग्रत के बाद 'अयं स्थूलदेहोऽहम्' (यह स्थूल देह मैं हूँ) 'इदं देहभोग्यजातं मम' (यह देह–भोग्यसमूह मेरा है) ऐसी जो अपने में प्रतीति है, उसे ही

जाग्रत कहते हैं। यह अवस्था महाजाग्रत से विलक्षण हैं, क्योंकि इसमें पूर्व के अनुभव का अभाव है । 'यह देह मैं हूँ', 'यह भोग्य वस्तुजात मेरा है' इस जाग्रत प्रतीति के जन्म के अनन्तर उदय को प्राप्त हुआ अथवा पूर्वजन्म के सजातीय संस्कार के उद्बोधसे अच्छी तरह उदित हुआ, अतएव अभ्यास से दृढ़, अर्थात् जैसे ब्राह्मणादिजन्म में तुल्यता रहने पर भी जन्मान्तर के अभ्यास से किसी में ब्राह्मणोचित क्रियाओं में विशेष आग्रह तथा निपुणता देखी जाती है, सबमें ऐसी बात नहीं देखी जाती, अतः ऐहिक या जन्मान्तरीय दृढ़ाभ्यास से दृढ़ता को प्राप्त हुआ जो पूर्वोक्त जाग्रत्प्रत्यय है, उसीको महाजाग्रत कहते हैं।

जाग्रत्स्वप्न का लक्षण कहते हैं।

जाग्रत पुरुष का अनभ्यास से अदृढ़ अथवा दृढ़ाभ्यास से दृढ़ जो तन्मयात्मक मनोराज्य है, उसी को जाग्रत्स्वप्न कहते हैं। जैसे राजा लवण को हुआ था।

चन्द्रदर्शन, शुक्तिरूप्य आदि की भ्रान्तियाँ भी जाग्रत स्वप्न के ही भेद हैं, ऐसा कहते हैं।

दो चन्द्रमाओं का दर्शन, सीप में चाँदी की प्रतीति, मृगतृष्णा आदि भेद से अभ्यासवश आग्रहभाव को प्राप्तकर स्वप्न अनेक प्रकार का होता है।

स्वप्न का लक्षण कहते हैं।

जिसे मैंने अल्पकाल तक देखा, जो सत्य भी नहीं हैं, इस तरह की निद्रा के मध्य में अथवा निद्रा के अन्त में निद्राकाल में अनुभूत पदार्थों की जो प्रतीति है, उसे स्वप्न कहते हैं, वह स्वप्न अज्ञ पुरुष के महाजाग्रत में स्थित स्थूल शरीर के कण्ठ से लेकर हृदयपर्यन्त नाड़ी प्रदेश में होता है ॥१५-२०॥

स्वप्न के उक्त लक्षण के उपपादन के लिए पुनः स्वप्न का ही विशेषणों द्वारा वर्णन करते हैं।

चिरकाल तक दर्शन के अभाव से अविकसित महाशरीरवाला दृढ़ अभिमान या चिरकाल तक स्थायित्व की कल्पना द्वारा जाग्रद्भाव से प्ररूढ़ हुआ वह स्वप्न महाजाग्रत की तुलना को प्राप्त हुआ है, जैसे महाराज हरिश्चन्द्र का बारह वर्ष महाजाग्रत् के तुल्य हो गया था। यह देह का नाश होने पर या नाश न होने पर भी होता है। दैववश देह के नाश होने पर भी उसी तरह आगे अनुवृत्त होता है, इसलिए श्लोक में 'क्षते देहे' ऐसा कहा है।

सुषुप्ति का लक्षण कहते हैं।

पूर्व छहों अवस्थाओं का परित्याग करने पर जो जीव की जड़ अवस्था है, वह सुषुप्ति है यानी पूर्व छहों अवस्थाएँ कर्मफल की भोगभूमिरूप होने से कर्मज हैं, सुषुप्ति तो उद्भूत कर्मो का भोग से क्षय होने पर दूसरे कर्मों का अनुदय होने पर और मध्यकाल में शेष रहनेसे अज्ञानउपहित चैतन्यशेषरूपा ही है, जो जीव की जड़ावस्था है। वही जड़ावस्था होने वाले दुःखोंका अनुभव करानेवाली वासना तथा कर्मों से पूर्ण सुषुप्ति कही जाती है।

सुषुप्तिकाल में कारण में विलीन जगत् की वासनारूप से सत्ता रहती है, अन्यथा फिर इसकी उत्पत्ति कैसे होती ? इस आशय से कहते हैं :

ये तृण, ढेले, शिला आदि सब पदार्थ उस अवस्था में भी परमाणु के प्रमाण से रहते हैं।

उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, मैंने आपसे अज्ञान की ये सात अवस्थाएँ कहीं हैं ॥२१–२४॥

उनमें एक एक के अन्दर दूसरी–दूसरी का आविर्भाव होने से परस्परसंमिश्रण से अनन्त भेद होते हैं, ऐसा कहतें हैं।

इनमें नाना विभववाली एक एक की सैंकड़ों शाखाएँ हैं। चिरकाल तक बद्धमूल हुई जाग्रत्स्वप्नावस्था जाग्रदवस्था में ही मिलती है। उक्त अवस्था नाना पदार्थों के भेद से खूब विकास के साथ वृद्धि को प्राप्त होती है। इस जाग्रदवस्था को प्राप्त हुई जाग्रत्स्वप्न अवस्था के भी अन्दर महाजाग्रत्‌दशारूप प्रतीतियाँ पृथक्–पृथक् हैं। उनके भी अन्दर जैसे नदी के भीतर गिरनेवाले जलभँवर में नौका भ्रमण को प्राप्त होती है यानी चक्कर काटती है, वैसे ही जीव एक मोह से दूसरे मोह को प्राप्त होते हैं ॥२५–२७॥ कोई सृष्टियाँ दीर्घकाल तक स्वप्न–जाग्रत् रूपसे स्थित हैं, कोई सृष्टियाँ स्वप्न जाग्रत् हैं और अन्य जाग्रत स्वप्न हैं ॥२८॥

यों वर्णित अज्ञानभूमिका का उपसंहार कर रहे श्रीवसिष्ठजी उससे उतरने का उपाय कहते हैं।

इस प्रकार सात प्रकार की अज्ञानभूमिका का मैंने वर्णन किया। यह अज्ञानभूमिका विविध विकारों से तथा अन्यान्य जगतों के भेदों से अवश्य त्याज्य है। पूर्व में कही गई एवं आगे कही जानेवाली सुन्दर विचारणाओं से प्रत्यंगमात्र एकरस आत्मा का दर्शन होने पर इस अविद्याभूमिका से आप अवश्य बाहर निकल जायेंगे ॥२९॥

एक सौ सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ अट्ठारहवाँ सर्ग

मोक्षपर्यन्त सात प्रकार की ज्ञानभूमिका का अपने–अपने लक्षणों के साथ भलीभाँति वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, सात प्रकार की इस ज्ञानभूमिका को आप सुनिये। अभ्यास क्रमसे अनुभव में आई हुई इस ज्ञानभूमिका से फिर आप अज्ञानरूपी कीचड़ में नहीं फँसेंगे ॥१॥

यदि कोई शंका करे कि योगशास्त्र में यम, नियम आदि आठ अंगों के भेदों से भिन्न जो योगभूमिकाएँ प्रसिद्ध है क्या वे ही तो ये नहीं है ? इस पर कहते हैं, वे ये नहीं हैं।

योग–सांख्यवादी बहुत भेदों से युक्त योगभूमिकाओं को कहते हैं, उन योग भूमिकाओं का फल तुच्छ सिद्धि है। वे औरों को अभीष्ट हैं। मुझे तो ये ज्ञानभूमिकाएँ ही अभीष्ट हैं, क्योंकि ये परम पुरुषार्थरूप कल्याण देनेवाली हैं ॥२॥

ज्ञेय क्या है अथवा ज्ञान क्या है ? जिसकी भूमिकाओं का आप वर्णन करते हैं, ऐसी जिज्ञासा होने पर उसका लक्षण कहते हैं।

अखण्डाकार चित्तवृत्ति में आरूढ़ ब्रह्म अज्ञान का निवर्तक होने से ज्ञान कहा जाता है,

उक्त ज्ञान सात भूमिकावाला है। अज्ञान की निवृत्ति होने पर उसी ब्रह्म का औपचारिक नाम ज्ञेय या मुक्ति है, इस प्रकार उपचार से एक ही ब्रह्म दो प्रकार का कहलाता है। ज्ञेय या मुक्ति नाम की स्वस्थ अवस्था तो सात भूमिकाओं के अनन्तर प्रतिष्ठित है ॥३॥

पूर्वापर अवस्थाओं से कल्पित अवान्तर प्रवृत्ति निमित्तभूत भेद के, जो कि मिथ्याभूत है, नष्ट होने पर अवबोध और मोक्ष पदों की ब्रह्मरूप एकार्थमात्र में निष्ठा होने से पर्यायरूपता सिद्ध हुई, क्योंकि उक्त प्रकार का जीव फिर उत्पन्न नहीं होता, जिससे कि उन दोनों में भेद होने से पर्यायता न हो, इस आशय से कहते हैं।

सत्यावबोध और मोक्ष ये दोनों ही पर्यायवाचक शब्द हैं, क्योंकि जिस जीव को सत्य अवबोध हो जाता है, उसे फिर इस संसार में जन्म लेना नहीं पड़ता इससे सिद्ध हुआ कि जो सत्यावबोध है, वही मोक्ष है ॥४॥ पहली ज्ञानभूमिका शुभेच्छा कही गई है, दूसरी का नाम विचारणा है, तीसरी तनुमानसा कही जाती है, चौथी सत्त्वापत्ति है, उसके बाद पाँचवी असंसक्ति नाम की योगभूमिका है, छठी पदार्थाभावनी है एवं सातवीं तुर्यगा कहलाती है। मुक्त मन के अन्त में स्थित है। उसमें फिर शोक नहीं होता। हे श्रीरामचन्द्रजी, इन सात भूमिकाओं के पृथक्-पृथक् लक्षणों को आप सुनिये ॥५-७॥ मैं मूढ़ होकर ही क्यों स्थित हूँ, विचारित वेदान्तवाक्यों से और गुरुजनों से परमतत्त्व को देखूँगा, इस प्रकार की साधन चतुष्टय सम्पत्तिपूर्वक जो इच्छा है, उसे विद्वान् लोग शुभेच्छा कहते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि निषिद्ध कृत्यों के त्याग, निष्काम दान आदि के अनुष्ठान से उत्पन्न, संन्यास-साधनचतुष्टयसम्पत्ति से युक्त मुक्तिपर्यन्त रहनेवाली, श्रवण आदि में प्रवृत्ति के फलरूप आत्म-साक्षात्कारकी उत्कट इच्छा ही पहली भूमिका है ॥८॥ शास्त्राभ्यास, गुरुओं के साथ संसर्ग, वैराग्य और अभ्यासपूर्वक जो प्रवृत्ति (卐) है, वह विचारणा नाम की ज्ञानभूमिका है ॥९॥ विचारणा और शुभेच्छा से साधन चतुष्टय सम्पत्तिपूर्वक किये गये श्रवण और मननसे युक्त निदिध्यासन से मन की शब्द आदि विषयों में असक्ततारूप जो तनुता (सविकल्प समाधिरूप सूक्ष्मता) है, वह तनुमानसा नामक भूमिका कही गई है। उक्त भूमिका में मन अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है, इसलिए वह तनुमानसा कही गई है ॥१०॥

योगशास्त्र में भी कहा गया है :

श्रोत्रादिकरणैर्यावच्छब्दादिविषयग्रहः। तावद्ध्यानमितिप्रोक्तं समाधिः स्यात्ततः परः ॥

अर्थात् जब तक श्रोत्र आदि इन्द्रियों द्वारा शब्द आदि विषयों का ग्रहण होता है तब तक ध्यान कहलाता है, तदनन्तर यानी श्रोत्र आदि इन्द्रियों से शब्द आदि विषयों का ग्रहण न होने पर समाधि होती है।

शुभेच्छा, विचारणा और तनुमानसा - इन तीन भूमिकाओं के अभ्यास से बाह्य विषयोंमें संस्कार न रहने के कारण चित्त में अत्यन्त विरक्ति होने से माया, माया के कार्य और तीन

卐 गुरूसेवा, भिक्षान्नभोजन, शौच आदि यतिधर्मपालनसहित श्रवण मनन ही यहाँ पर सदाचार है, अन्य सदाचार चित्तशुद्धिमात्र का हेतु है अतः वह पहले ही सिद्ध है।

अवस्थाओं से शोधित, सबके आधार, सन्मात्ररूप आत्मा में क्षीर में जलके तुल्य ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेयभाव के विनाश से साक्षात्कारपर्यन्त जो स्थिति यानी निर्विकल्प समाधिरूपा स्थिति है, वह सत्त्वापत्ति है, क्योंकि उसमें मन परमात्मसत्त्व रूप से स्थित हो जाता है। इस भूमिका में जीव ब्रह्मवित् कहा जाता है ॥११॥ शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति इन चार ज्ञानभूमिकाओं के अभ्यास से बाह्य और आभ्यन्तर विषयाकारों से और उनके संस्कारों से असम्बन्धरूप समाधिपरिपाक से चित्त में वृद्धि को प्राप्त हुआ निरतिशयानन्द, नित्य अपरोक्ष, ब्रह्मात्मभावसाक्षात्कार रूप चमत्कार जिसमें उत्पन्न हुआ है, ऐसी पाँचवीं ज्ञानभूमिका असंसक्ति नाम की कही गई है। यद्यपि उत्तम अधिकारियों को द्वितीय भूमिका में भी शब्दजन्य अपरोक्षज्ञान से साक्षात्कार होना प्रसिद्ध है तथापि पाँचवीं भूमिका में द्वैत संस्कार के अत्यन्त उच्छेद से उत्पन्न अत्यन्त उत्कर्ष का और चतुर्थ भूमिका के अन्तमें उत्पन्न साक्षात्कार की पाँचवीं भूमिका में दृढ़तरता की उपपत्ति का सूचन करने के लिए 'रूढ़' चमत्कार का विशेषण है। अतएव चौथी भूमिका के अन्त में कहीं पर पाँचवीं भूमिका को प्राप्त हुआ पुरूष ब्रह्मविचार कहलाता है। इस ज्ञानभूमिका में अविद्या और अविद्या के कार्यों का संसर्ग बिलकुल नहीं रहता, अतएव यह असंसक्ति नाम की भूमिका कही जाती है ॥१२॥

इसी भूमिका के अत्यन्त परिपाक से आगे की दो भूमिकाएँ होती है, इस आशय से कहते हैं।

पाँच भूमिकाओं के अभ्यास से आत्मारामरूप से दृढ़ स्थिति होती है। बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों की भावना न होने से यह भूमिका पदार्थाभावनी कहलाती है ॥१३॥

यदि इस भूमिका में पदार्थों की भावना नहीं होती है, तो देहयात्रा कैसे सम्पन्न होगी ? इस पर कहते हैं।

चिरकाल तक दूसरे के द्वारा किये गये प्रयत्न से इसमें अर्थों की प्रतीति होती है, इसलिए पदार्थाभावनानामक यह छठी भूमिका कही जाती है। इस भूमिका में स्थित पुरुष ब्रह्मविद्वरीयान् कहलाता है। पूर्वोक्त छः भूमिकाओं का बहुत दिनों तक अभ्यास होने से दूसरे के प्रयत्न से भी भेद की प्रतीति न होने से जो एकमात्र स्वरूप में स्थिति है उसे तुर्यगा नामकी गति यानी ज्ञानभूमिका जानिये। 'तुर्यं जाग्रदाद्यवस्थात्रयनिर्मुक्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' (जाग्रद् आदि तीन अवस्थाओं से रहित शिव, अद्वैत, चौथा तुर्य माना गया है) इस श्रुति से उस प्रकार के विद्वान् के अनुभव से सिद्ध ब्रह्म को प्राप्त होता है यानी जिस अवस्था में आत्मरूप से अखण्ड ब्रह्म का अनुभव करता है, वह तुर्यगा अवस्था है उसको जो प्राप्त हो चुका, वह ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहा जाता है। उक्त ब्रह्मविद्वरिष्ठ ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर और ब्रह्मविद्वरीयान् में चौथा है। उसे यह अवस्था प्राप्त होती है, इसलिए यह तुर्यगा कहलाती है। यह तुर्यावस्था जीवनमुक्त पुरुषों में इसी देह में विद्यमान रहती है। इस अवस्था के बाद विदेहमुक्ति का विषय तुर्यातीत ब्रह्म ही है, अतः भूमिकाओं में उसकी गणना नहीं की जाती ॥१४–१६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जो महापुरुष सातवीं भूमिका को

प्राप्त हो गये हैं, वे आत्माराम और महात्मा परम महत् पद को प्राप्त हो चुके हैं ॥१७॥ जीवन्मुक्त पुरुष सुख–दुःख में निमग्न नहीं होते। केवल देहयात्राके लिए छठी और सातवीं भूमिकाओं में कुछ कार्य करते भी हैं अथवा नहीं भी करते ॥१८॥

करते हैं या नहीं भी करते, इस कथन से किसी को उनके यथेष्टाचार की शंका न हो जाय, इसलिए यथेष्टाचार की शंका का खण्डन करते हुए अपना अभिप्राय प्रकट करते हैं।

पूर्वोक्त महात्मा पास में स्थित पुरुषसे बोधित होकर तत्–तत् आश्रमों में स्थित पुरुषों के आचारक्रम से प्राप्त हुए सदाचार का ही आचरण करते है, जो कि फल की आसक्ति से दूषित नहीं रहता है। तात्पर्य यह निकला कि उक्तपुरुषों की यथेष्टाचार में आसक्ति नहीं हो सकी। कहा भी है : 'विदितब्रह्मतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि। शुनां तत्त्वविदां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे॥ (यदि तत्त्वज्ञानियों की यथेष्टाचार में प्रवृत्ति हो, तो कुत्तों और तत्त्वज्ञानियों के अपवित्र पदार्थ के भक्षण में कौन भेद होगा ?) ॥१९॥

आसक्तिरहित व्यवहार से पुरुष को सुख–दुःख की प्राप्ति नहीं होती, इसको दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं।

अपने आत्मा में रमण करने के कारण जगत् के व्यवहार जीवन्मुक्तों को ऐसे ही सुख नहीं देते, जैसे कि गाढ़ निद्रा में सोये हुए पुरुषों को अत्यन्त सुन्दर रूपवाली स्त्रियाँ सुख नहीं देती हैं ॥२०॥ ये सात ज्ञानभूमिकाएँ विद्वानों को ही प्राप्त होती हैं। पशु, स्थावरादि अथवा म्लेच्छादिचित्तवाले (देहमें आत्मबुद्धि करनेवाले) मनुष्यों को नहीं प्राप्त होती ॥२१॥ जो पशु (हनुमान् आदि), म्लेच्छ (धर्मव्याध आदि) (प्रह्लाद, कर्कटी आदि असुर) भी इस ज्ञानदशा को प्राप्त हुए हैं, वे भी सदेह अथवा विदेह मुक्त ही हैं, इसमें संदेह नहीं है। चित् और अचित् की ग्रन्थि का विच्छेद ही ज्ञान है। उसके प्राप्त होने पर मुक्ति हो जाती है, क्योंकि मृगतृष्णा में जलबुद्धि, शुक्ति में रजतबुद्धि का जो बाध है, तद्रूप ही वह है ॥२२–२३॥ जो लोग यद्यपि दूसरी–तीसरी भूमिकाओं में या चौथी भूमिका में ज्ञान का उदय होने से आवरण का नाश होने पर मोह से भलीभाँति पार हो गये, तथापि प्रबल प्रारब्धप्रयुक्त विक्षेप के कारण परमपावन पद को प्राप्त नहीं हुए यानी आत्यन्तिक मोहनाश से उपलक्षित, निरतिशयानन्द, पूर्णरूप, विदेह कैवल्य को प्राप्त नहीं हुए, आत्मप्राप्ति में संलग्न वे लोग इन भूमिकाओं में स्थित हैं ॥२४॥ एक ही जन्म में कुछ लोग क्रमशः सब भूमिकाओं को प्राप्त होते हैं, कोई दो या एक भूमिका को प्राप्त होते हैं, कोई (सनकादि) एकमात्र सातवीं भूमिका में स्थित रहते हैं, कोई तीन भूमिकाओं में स्थित रहते हैं, कोई अन्तिम भूमिका में चले जाते हैं कोई चार भूमिकाओं को प्राप्त होते हैं, कोई दो भूमिकाओं में स्थित रहते हैं, कोई लोग ज्ञानभूमिका के किसी एक हिस्से (आधा, तिहाई या चौथाई) तक रह जाते हैं, कोई साढ़े तीन भूमिकाओं तक पहुँचते हैं, कोई साढ़े चार, दूसरे साढ़े छः भूमिकाओं को प्राप्त होते हैं। पूर्वोक्त ज्ञानभूमिकाओं में विचर रहे विवेकी पुरुष भूमात्मा के दर्शन से बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियाँ, उनके विषय और उनके आधारभूत शरीर के होनेवाले आध्यात्मिक आदि भेदों से भिन्न ताप के बाधरूप आत्मा के अन्तःप्रवेश में

उद्योगशील हैं ॥२५–२८॥

इन्द्रियों के साथ मन पर विजय पाना ही सब शत्रुओं की जयों से उत्कृष्ट जय है, स्वात्मसाम्राज्य ही सब राज्योंसे बढ़कर राज्य है, अन्य राज्यश्रेष्ठ नहीं है, ऐसा कहते हैं।

वे लोग बड़े धीर उत्तम राजा हैं, जो इन दशाओं में सर्वोत्कर्षरूप से स्थित हैं। इन दशाओं में स्थिति के आगे दिग्गजों की घटाओं के सहित सब शत्रुयोद्धाओं की पराजय तृण के तुल्य नगण्य है ॥२९॥ इन भूमिकाओं में जिनकी जीत होती है यानी उत्कृष्ट स्थान होता है वे निश्चय ही महात्मा हैं, वे ही वन्दनीय है उन्होंने इन्द्रियरूपी शत्रुओं पर विजय पाई है। जिसने राजसूय यज्ञ किया, जो अकेला ही सारी पृथिवी का अधिपति है, राजाओं पर शासन करता है, वह सम्राट यानी 'युवा स्यात् साधु युवाद्यापकः। आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः।' (अवस्था में युवा, केवल युवा ही नहीं रोगादिविहीन युवा, शास्त्रवेत्ता, उत्तम शास्त्रोपदेशक, दृढ़देहवाला और बलवान् हो एवं धन से पूर्ण समस्त पृथिवी यदि उसके आधीन हो उसका जो आनन्द है वही मनुष्य के पक्ष में एक पूर्ण आनन्द है।) इस श्रुति द्वारा कहे मानुष आनन्द से पूर्ण और विराट भी यानी देवानन्द की परम अवधि भी जिस सप्तम भूमिका में तृणतुल्य तुच्छ हो जाती हैं उससे बढ़कर विदेह कैवल्य सुख को यहीं पर वे प्राप्त होते हैं ॥३०॥

एक सौ अट्ठारहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ उन्नीसवाँ सर्ग

मायिक रूप का निराकरण कर एकमात्र सन्मात्रत्व का प्रदर्शन और
भूमिकाओं में स्थिर करने के लिए युक्ति के विस्तार से वर्णन।

उसके लिए परमात्मा को सहज स्वकीय पूर्णानन्द स्वप्रकाशरूपता का विस्मरण होने पर मायिक जीवभाव और जगत्भाव के आरोप से विविध दुःख, शोक आदि की प्राप्ति होने में दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे सुवर्ण सब जगह सब कालों मे एकमात्र सुवर्णस्वभाव है लेशमात्र भी उसमें सुवर्णशून्यता नहीं है, फिर भी वह अपने में कल्पित अँगूठी की भ्रान्ति से अपनी सुवर्णरसता को (एकमात्रसुवर्णरूप को) न देखकर बाहरी मन के संसर्ग से होनेवाली कांस्यता की कल्पना से 'मैं सोना नहीं हूँ' यों रोता है (यद्यपि जड़ सुवर्ण का रोदन सम्भव नहीं है तथापि 'अँगूठी' शब्द के व्यवहार से अथवा स्वामी के रोदन से सुवर्णरोदन का व्यवहार होता है) वैसे ही आत्मा भी अहन्ता से रोता है ॥१॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिजी, सुवर्ण में अँगूठी की भ्रान्ति का उदय कैसे होता है और आत्मा में अहन्ता कैसे होती है ? दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक इन दोनों को आप युक्ति द्वारा स्पष्टरूप से कहने की कृपा कीजिये ॥२॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, सत् के उत्पत्ति और विनाश स्वतःसिद्ध द्रष्टा द्वारा देखे जा सकतें है असत् के उत्पत्ति और विनाश कदापि नहीं, इसलिए सत् के ही

उत्पत्ति और विनाश को आपको पूछने चाहिये ॥३॥

अहन्ता और अँगूठीपना कभी भी सत् नहीं है, इसलिए उनके उत्पत्ति और नाश भी नहीं हो सकते। जायते, अस्ति, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यति– इन छः भावविकारों में बीच के चार सत् के ही होते हैं असत् के नहीं। वैसे ही उत्पत्ति और विनाश भी सत् के ही होते है, असत् में शक्ति ही कहाँ है कि वह उत्पत्ति क्रिया का और नाश क्रिया का आधार बने। यदि असत् के उत्पति और नाश हों, तो असत् के धर्म उत्पत्ति और विनाश भी असत् हो जायेंगे। ऐसी अवस्था में वे देखे नहीं जा सकते, क्योंकि सत् का असत् से सम्बध नहीं हो सकता, इसलिए सत् ही सुवर्ण अथवा ब्रह्म अँगूठी या अहन्तादि के वेष से उत्पन्न होता है, यह भाव है।

त्याग और ग्रहण आदि क्रिया का सम्बन्ध भी सत् का ही देखा जाता है, असत् का नहीं देखा जाता, ऐसा कहते हैं।

यदि तुम्हें सुवर्ण लेना हो, तो तुम मूल्य देकर सुवर्ण के लिए अँगूठी लो। इस प्रकार मध्यस्थ पुरुष द्वारा कहे गये खरीदने वाले पुरुष के मूल्य देने पर बेचनेवाला पुरुष बहुत मूल्य से जो सुवर्ण देता है वह सत्य ही है, इसमें कोई संशय नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म ही सम्पूर्ण व्यवहारों का विषय है। उससे अन्य का तनिक भी व्यवहार में निरूपण नहीं किया जा सकता, यह भाव है ॥४॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, यदि सुवर्ण ही खरीदना, बेचना आदि सम्पूर्ण व्यवहारों का विषय है, तो उसमें प्रतीत हो रहे अँगूठी आदि के आकार का सुवर्ण से अतिरिक्त क्या स्वरूप होगा और वह किस प्रकार होगा, जो कि अँगूठी आदि शब्दों से कहा जाता है। इसके निश्चय से मैं ब्रह्म के स्वरूप को जान जाऊँगा ॥५॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, असत् के रूपरहित रूप का यदि निरूपण किया जाता है, तो उसे आप बाँझ के लड़के के आकार और गुणों का निरूपण कहिये। भाव यह है कि सुवर्ण में जो अँगूठीयकत्व है वह अविचार से ही है, विचार करने पर तो वह कुछ भी नहीं है ॥६॥

अँगूठीपना जो है वह केवल भ्रान्ति है वह असत्स्वरूपिणी माया है।

यदि असत् का रूप कहा जाय तो वह अविचार समय तक रहनेवाली माया का रूप ही है, ऐसा कहते हैं।

यदि उसको विचारकर देखा जाय, तो वह नहीं दिखाई देती यानी तुच्छ हो जाती है। इसलिए वह इस माया का ही रूप है ॥७॥

ऐसी ही प्रसिद्धि दूसरे माया कार्य में दिखलाते हैं।

मृगतृष्णा के जल में और दो चन्द्रमाओं के भ्रम में और अहन्ता आदि में यही रूप है, जो कि विचार करने पर दृष्टिगोचर नहीं होता ॥८॥ जो पुरुष सीप में चाँदी से आकार को देखता है, वह चाँदी के अणुमात्र कण को एक क्षण के लिए भी कहीं पर नहीं प्राप्त करता है। जैसे सीप में चाँदीपना और जैसे मरुभूमि में जल अविचार से ही प्रतीत होता है, वैसे ही असद्वस्तु ही अविचार से सत्–सी प्रतीत होती है ॥९,१०॥ जो वस्तु नहीं है, उसकी असत्ता विचार करने पर प्रकाशित होती है। यदि विचार न किया जाय, तो मृगतृष्णा में जलबुद्धि की तरह वह

स्फुरित होती है जैसे कि सीप में रजतभाव का दर्शन होता है। यदि सीप का दर्शन न हो, तो वह रजतरूप में प्रतीत होती है। असत् ही सत्कार्य करनेवाला और स्थिर होता है ॥११॥

यदि कोई शंका करे, असद् वस्तु की सत्कार्यकारिता और स्थिरता कहाँ देखी गई है ? तो इस पर कहते हैं।

वेताल की भ्रान्ति से उत्पन्न हुआ भय, रोदन आदि बालकों के मरण के लिए होता है ॥१२॥ जैसे बालू में तेल आदि नहीं है वैसे ही सुवर्ण में केवल सुवर्णता को छोड़कर अन्य अंगूठीयकत्व, कटकत्व आदि नहीं है। यहाँ पर न तो कुछ सत्य है और न मिथ्या है यानी सत्य ही अर्थक्रियाकारी है अथवा मिथ्या ही अर्थक्रियाकारी है, यह कोई नियम नहीं है। जो वस्तु अधिष्ठानसत्ता में जैसे प्रतिभासित होती है वैसे ही वह अर्थक्रियाकारी होती है। जैसे कि बालक को असत् यक्ष के दर्शन आदि से विकार आदि होते हैं ॥१३,१४॥ सद्वस्तु हो चाहे असद्वस्तु हो, जो हृदय में सुदृढ़रूप से जम गई, वही अर्थक्रियाकारी होती है। जैसे कि यह अमृत है, इस प्रकार विश्वास होने पर विषसे भी अमृतकार्य होते हैं ॥१५॥ यह परम अविद्या है, यही माया है और यही संसार है, जो कि प्रतिष्ठारहित असत् अहन्त्व की भावना होती है। जैसे सुवर्ण में अंगूठीयकत्व आदि नहीं हैं वैसे आत्मा में अहन्त्व आदि नहीं है। इस प्रकार स्वच्छ, शान्त, बन्धन आदिसे रहित परमात्मा में अहन्ता असत् ही है, परमार्थ वस्तु नहीं है ॥१६,१७॥

ब्रह्म से अतिरिक्त सब अवस्तु है यह बात 'अथातो नेति नेति', 'स एष नेति नेत्यात्मा', 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनन्तरमबाह्मम्', 'नेह नानास्ति किंचन', 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' इत्यादि द्वैत का निषेध कहनेवाली हजारों श्रुतियों से सिद्ध है, इस आशय से कहते हैं।

कालातीत परमात्मा में सर्वकाल सम्बन्ध रूप न सनातनता है, न कोई विरंचिता है, न कोई ब्रह्मण्डता है, न कोई प्रजापतिता है, न कोई अन्यलोकता है, न कहीं पर स्वर्गादिता है, न मेरुता है, न असुरता है, न मनस्त्व है, न देहता है, न कोई महाभूतता है, न कहीं कारणता है, न भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालों की कल्पना है, न भाव वस्तु है, न अभाव वस्तु है, त्वत्ता, अहन्ता, आत्मता, तत्ता, सत्ता, असत्ता कोई भी नहीं है, न कहीं पर भेद की कल्पना है, न राग है और न राग का कार्य रंजन ही है ॥१८–२१॥ सब जगत् का पारमार्थिक रूप शान्त यानी अधिष्ठानसन्मात्र, निराधार, अविनाशी, कल्याणमय, दोष आदि से रहित, इन्द्रियों से अग्राह्य, नामरहित, कारण रहित ब्रह्म ही है। वह न तो उत्पत्ति रूप भावविकार से युक्त है, न नाशनामक भावविकारवाला है, न मध्य के भावविकारों से युक्त है और न सब है, सर्वरूप भी वही है। मन वचन से उसका ग्रहण नहीं होता। वह शून्य से भी शून्य और सुखसे भी बढ़कर सुख है ॥२२,२३॥

इस प्रकार निष्प्रपंच पारमार्थिक एकरस ब्रह्म का बोध कराने पर भी उसमें चित्त्वृत्तिको स्थिर करने की शक्ति न होने से उससे लौटकर फिर विपरीत भावना से कातर हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, यद्यपि मैंने इस समय सर्वत्र शम, सर्वरूप ब्रह्म को जान लिया है तथापि फिर मुझे यह सृष्टि क्यों दिखाई दे रही है, इसे आप कृपा कर बतलाइये। भाव यह है कि ज्ञान से अज्ञान का नाश होने पर अज्ञानमूलक जगत् का भी बाध हो गया, इसलिए फिर जगत् की प्रतीति युक्त नहीं है ॥२४॥

यदि आपको तत्त्व ज्ञात हो गया, तो फिर जो यह जगत् की प्रतीति है वह ब्रह्ममान ही है। निमित्त भूत अज्ञान का नाश होने से ही जगत्भेद और सृष्टि नाम का नाश हो गया, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी परिहार करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, परम तत्त्व सर्वोत्कृष्ट शान्त स्वस्वभाव में ही स्थित है उससे च्युत नहीं है। इस प्रकार पूर्णात्मभाव होने से सृष्टि और सृष्टि का नाम इदन्ता से इस ब्रह्म में कभी नहीं हैं, किन्तु स्वस्वभाव से ही हैं ॥२५॥ महार्णव के जल में जल के तुल्य परमेश्वर में यह सृष्टि स्थित है। भेद इतना ही है कि जल द्रव होने से चलनशील-सा है और ब्रह्म निष्क्रिय है ॥२६॥ सूर्य आदि की ज्योति के तुल्य वह स्वप्रकाश है भेद इतना ही है कि सूर्य आदि की ज्योति अपने में दीप्त होती है, किन्तु परमपद दीप्ति क्रिया को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि दीप्ति क्रिया सूर्य आदि का स्वभाव है, परमपद को तो लोग निष्क्रिय कहते हैं ॥२७॥ जैसे नीचे-ऊपर छोड़कर समुद्र के मध्य में जल ही जल रहता है वैसे ही चित् होने से परम पद वह परम ही नाना रूप से स्फुरित होता है ॥२८॥ आपका बोध परिपक्व नहीं है, इसलिए आपकी दृष्टि में चिद्रूप परमतत्त्व मानों चेत्यता को प्राप्त होता है और सृष्टिरूप से उसकी प्रतीति होती है। वह सृष्टि ही ज्ञान का परिपाक होने पर अविनाशी ब्रह्म स्वरूप हो जाती है। कारण कि उस समय अज्ञानियों द्वारा देखा गया यह भेद ऐसे ही बिलकुल नहीं रहता जैसे कि आकाश का दूसरा आकाश नहीं है, यदि आकाश का दूसरा आकाश माना जाय, तो अनवस्था हो जायेगी एवं परमार्थ का दूसरा परमार्थ नहीं है, इसलिए सर्गशब्द ब्रह्म का ही नाम है, ऐसा विद्वानों का निश्चय है ॥२९,३०॥

चित्त के आत्यन्तिक विनाश का अभाव ही आपके पुनः सृष्टिदर्शन में हेतु है, इस आशय से कहते हैं।

अत्यन्त शान्त परमपद में चित्त से ही सर्ग की प्राप्ति होती है और चित्त के अभाव से ही सर्ग का नाश होता है। जैसे कि सुवर्ण में कटक, कुण्डल आदि का भ्रम होता है। चित्त की शान्ति का उदय होने पर विद्यमान सृष्टि भी असत् हो जाती है और चित्त का उदय होने पर असत् सृष्टि भी अपने-आप सत्ता को प्राप्त हो जाती है। अभिमानयुक्त चित्त ही सृष्टिभ्रमण रूप भ्रान्ति है और चित्त अभाव को ही सर्वतः शान्त परमपद जानिये, वह परमपद जड़ नहीं है ॥३१-३३॥

ज्ञानियों को भी व्युत्थानदशा में चित्तभास का उदय होने पर सर्गभान कैसे होता है ? इस पर कहते हैं।

तत्त्वदृष्टि से भेदरहित सृष्टि भी प्रातिभासिक भेद से भिन्न सी ऐसे प्रतीत होती है

जैसे शिल्पियों की मिट्टी की बनी हुई पुरुषाकार सेना युद्धादि पुरुषार्थ करनेवाली सी प्रतीत होती है ॥३४॥

परमार्थिक दृष्टि होने पर तो यह जगत् पूर्ण ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है, इस पर 'पूर्णमिदं पूर्णमदः पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाऽवशिष्यते' इस श्रुति को अर्थतः दिखलाते हैं ।

यह पूर्ण उत्पत्तिरहित, नाशशून्य अतएव अन्य विकाररूपी दोषोंसे रहित है, क्योंकि पूर्ण परमात्मा ही चारों ओर की व्याप्तियों से पूर्ण है । इसलिए पूर्ण होकर पूर्ण ही सदा बना रहता है, अणुमात्र भी अपूर्णता को प्राप्त नहीं होता । जो यह सृष्टि दिखाई देती है, वह ब्रह्म ही ब्रह्म में स्थित है । जैसे आकाश आकाश में विश्रान्त है वैसे ही शान्त शिव में शान्त शिव स्थित है ॥३५,३६॥ दर्पण में प्रतिबिम्बरूप से स्थित नौ योजनवाले दीर्घ नगर में जैसे दूरता और समीपता दोनों हैं, वैसे ही ईश्वर में दूरता और समीपता का क्रम है ॥३७॥ इस प्रकार सत् का ही असत् विश्व के आकार से भान होनेसे तत्त्वदृष्टि से सत् ही उदित हुआ है और अतत्त्व दृष्टि से असत् ही उदित हुआ है, क्योंकि अभेद का भान होने से वह सत् की तरह प्रतीत होता है और भेद का दर्शन होने पर वह अवस्तु होने से असन्मय हो जाता है ॥३८॥ यह सृष्टि दर्पण में प्रतिबिम्बित नगर के तुल्य है और मृगतृष्णा के जल के समान प्रकाशमान है तथा दो चन्द्रमाओं के भ्रम के सदृश प्रतीत होती है, इसलिए इस सृष्टि में कौन–सी सत्यता है ॥३९॥ जैसे ऐन्द्रजालिक पुरुषों द्वारा दूसरे को मोह में डालने के लिए अभिमन्त्रित औषधि के चूर्ण के उड़ाने से आकाश में नगर भ्रान्ति हो जाती है वैसे ही ज्ञानरूप ब्रह्म में संसार सत्य और मिथ्या भासित होता है यानी अधिष्ठान–सत्ता से सत्य और स्वतन्त्ररूप से असत् भासता है ॥४०॥

जब तक वासना के सहित अविद्या का विनाश सप्तम भूमिकारोहण पर्यन्त नहीं हुआ, तब तक विक्षेपदुःख तत्त्वज्ञ लोगों को भी प्रतीत होता है । इसलिए जीवन्मुक्ति सुख को चाहनेवाले लोगों को भूमिका का अभ्यास करना चाहिए, इस आशयसे उपसंहार करते हैं ।

जब तक विचाररूपी अग्नि से अविद्यारूपी पुरानी लता समूल नहीं जली, तब तक वह बहुत सी शाखाओं और लताओं के प्रतानों से व्याप्त सुख–दुःख रूपी विविध वनों को उत्पन्न करती है ॥४१॥

एक सौ उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बीसवाँ सर्ग

राजा लवण का विन्ध्यस्थित पूर्वदृष्टि शबरों के गाँव में फिर जाकर चण्डाली सास के साथ संवाद ।

सुवर्ण की अँगूठी के दृष्टि से वर्णित जगत् की ब्रह्मविवर्तता उसकी परीक्षा कर चुके लवण के अनुभव से सिद्ध है । आपको भी विचार करके जगत् की ब्रह्मविवर्तता का प्रत्यक्ष करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, सुवर्ण में कल्पित अँगूठी के तुल्य मिथ्या कही

गई अविद्या की विचारमात्र से क्षयोन्मुख आश्चर्यभूतता कैसी है, इसे आप सुनिये। राजा लवण, जिसका पहले वर्णन कर चुके हैं, वैसे भ्रम को उस समय देख कर दूसरे दिन उस महाअरण्य में जाने के लिए तत्पर हुए ॥१,२॥ जिस महावन में मैंने दुःख देखा, चित्त रूपी दर्पण में स्थित उस महावन का मैं स्मरण करता हूँ। विन्ध्य में शायद वह कहीं मुझे मिल जाय ॥३॥ यों विचार कर राजा मन्त्रियों के साथ दक्षिण दिशा को गये। पुनःदिग्विजय के लिए मानों विन्ध्यपर्वत को प्राप्त कर राजा लवण ने जैसे सूर्य सम्पूर्ण आकाश मार्ग में भ्रमण करते हैं वैसे ही पूर्व, दक्षिण और पश्चिम महासमुद्रों की तटभूमियों में कौतूहल से भ्रमण किया ॥४,५॥ इसके अनन्तर एक प्रदेश में आगे आई हुई चिन्ता के समान उस उत्कट महावन को परलोकभूमि के समान राजा ने देखा ॥६॥ वहाँ पर विचर रहे राजा ने पहले अनुभूत वे सब वृत्तान्त देखे, पूछे और पहचाने एवं राजा के आश्चर्य की सीमा न रही ॥७॥ कौतूहल से भरे हुए राजा लवण ने उन व्याधों को और चण्डालों को पहचाना तथा आश्चर्यमग्न होकर फिर-फिर इधर-उधर भ्रमण किया ॥८॥ तदनन्तर महावन में पहुँचकर उस वन के धुएँ से भरे हुए एक छोर पर उसी गाँव में पहुँचा, जिसमें वह विशालकाय चण्डाल हुआ था ॥९॥ वहाँ पर उसने पहले से परिचित उन उन पुरुषों के, पूर्वदृष्ट उन स्त्रियों को पहले अनुभूत उन छोटी-छोटी झोंपड़ियों को और उन उन भूमितटों को देखा, जिनका आकार-प्रकार भाँति-भाँति का था और जिनमें अनेक लोग निवास करते थे ॥१०॥ दुर्भिक्ष में (अकाल में) दुर्दशायुक्त हुए उन उन पूर्वानुभूत वृक्षों को, उन अपने अनुगामियों को, उन उन प्रदेशों को, उन व्याधों को और बन्धुशून्य अपने पुत्रों को देखा। आँसू बहा रही, क्लेश सहती हुई अन्यान्य बूढ़ी सहेलियों के बीच में दुर्भिक्ष के समय विकट वन में नष्ट-भ्रष्ट हुए अपने बन्धु-बान्धवों के असंख्य दुःखों का वर्णन कर रही एक बुढ़िया, अन्य वृद्धों की अपेक्षा जिसके नेत्रों से अधिक आँसुओं की धाराएँ बह रही थी, फटी पुरानी कथरी जिसने ओढ़ रक्खी थी, जिसके स्तन सूख गये थे, शरीर सूखकर तिनका हो गया था, उस दुर्भिक्षरूपी प्रचण्ड वज्र से लाये गये देशमें बड़े करुण क्रन्दन के साथ यों रो रही थी ॥११-१३॥ हे पुत्रि, तुम्हारा सारा वदन पुत्रों से ढका होगा, तीन दिन तक भोजन न मिलने के कारण तुम्हारा शरीर जर्जर हो गया होगा, जैसे तलवार अपने कोश में प्रवेश करके स्थित हो जाती है, वैसे ही अपने कोश में स्थित हुए राजा ने प्राण के समान प्रिय तुम लोगों को, जिनके कि शरीर दुर्भिक्ष से जर्जर हो गये थे, कैसे और कहाँ छोड़ा ? ॥१४॥

इस समय राजा लवण के कुटुम्ब के पोषण के लिए किये गये साहस कर्मका स्मरण करती हुई कहती है।

हे पुत्र, मेघ की नाईं ऊँचे पहाड़ पर ताड़ के पेड़ पर चढ़कर और उसके फल को लेकर उतरते समय दोनों हाथों के अन्य कार्यमें लगने यानी खाली न रहने के कारण फल को लेने में असमर्थ होने से, जिसने दाँतों के बीच में लाल पके हुए फल को रक्खा था, अतएव उस समय प्राप्त हुए वेष से श्रीहनुमान्‌जी का अनुकरण करनेवाले तथा गुंजा के फलों की माला को धारण करनेवाले तुम्हारे अभाग्यवश फिसलने पर निकटवर्ती दूसरे ताल की शाखा का

अवलम्बनरूप साहस का मुझे स्मरण होता है ॥१५॥ कदम्ब और जम्बीर के पेड़ों तथा लौंग और गुंजा की लताओं के निकुंजों के (झाड़ियों के) भीतर छिरकर चल रहे बाघ को भी भय में डालनेवाले अपने पुत्र के (जमाई के) बाघ को मारने के लिए छलाँग मारकर चलने को फिर मैं कब देखूँगी ॥१६॥

इस समय अपनी लड़की के ऊपर मोहित हुए उसकी मुखशोभा का स्मरण कर वर्णन करती है।

आसवपान आदि के समय अपनी परम प्रिया के मुख से बड़ी प्रीति के साथ जिसे मांस का टुकड़ा प्राप्त हुआ था, ऐसे मेरे दुलारे बेटेरूप (जमाता)तुम्हारे उस मांस के टुकड़े को चबाते समय तमाल के सदृश काली दाढ़ी से नीले चिबूक के (ठोड़ी के) एक भाग में जो शोभा से सने हुए विलास हुए, वे इस सारे जगत् में विलास करनेवाले कामदेव के सारे मुँह में नहीं हो सकते हैं ॥१७॥

इस समय पति के साथ अपनी लड़की के मरण की संभावना करती हुई कहती है।

जैसे वन में तमाल की लता को फूलों के गुच्छों के साथ बलवान् पवन उड़ा ले जाता है, वैसे ही हो न हो मेरी पुत्री को, जो कि वर्ण में यमुना के तुल्य है, उस शूर–वीर पतिके साथ यम भगा ले गया है ॥१८॥ गुंजा के फलों की मालारूपी हार धारण करनेवाली, उन्नत और विशाल स्तन मण्डल से युक्त अंगवाली, वायु से उड़ रहे काजल के तुल्य चंचल वर्णवाली लता, बेर और जामुन के दानों के तुल्य दाँतवाली हे पुत्री, तुम्हारा मुझे बड़ा दुःख है ॥१९॥ हे चन्द्रमा के समान सुन्दर राजकुमार, तुम्हारे लिए मुझे बड़ा शोक है, तुमने एक से एक बढ़कर सुन्दरी उन अन्तःपुर की विलासिनी रानियों को छोड़कर मेरी (एक साधारण भीलनी की) लड़की से प्रेम किया, किन्तु दुर्भाग्यवश वह भी तुम्हारे लिए चिरस्थायिनी नहीं हुई ॥२०॥ संसाररूपी नदी के सुन्दर तरंगरूप कर्मपरिपाकोंने, जिनके लिए उपहास उचित है, क्या गर्हित फल पैदा नहीं किया, जो कि महाराज का चण्डाल की तुच्छ कन्या से संयोग करा दिया ॥२१॥ जैसे दुर्भाग्य के दिन आने पर बहुत मनोरथों से युक्त आशा धन के साथ नष्ट हो जाती है, वैसे ही भयभीत हिरनी के सदृश विशाल नेत्रवाली वह मेरी लड़की तथा मदोन्मत्त शेर के समान बलशाली वह मेरा जमाई दोनों एक साथ विनष्ट हो गये ॥२२॥

अब अपने भाग्य को कोसती है।

हे सखियों, बड़े क्लेश की बात है कि मेरे पतिदेव मर चुके हैं, अभी जल्दी मेरी लड़की मर गई है, इस दुर्दैश में मैं पड़ी हुई हूँ, बड़ी दरिद्र हूँ, चण्डाल जाति में पैदा हुई हूँ, बड़े संकट में फँसी हूँ, मुझे आप साक्षात् भय जानिए, मैं महती विपत्ति में हूँ। अनाथ मैं नीच के अपमान करने से उत्पन्न हुए क्रोध की, क्षुधा से पीडित हुए पुत्र, कलत्र आदि पोषणीय लोगों के आहार के विषय में अवश्यभावी शोक की और भी इसी प्रकार के अन्यान्य दुःखों की एकमात्र घर रूप नारी बनाई गई हूँ ॥२३,२४॥

इस समय अपने सदृश अन्य जनकी भी निन्दा करती हुई कहती है।

भाग्य से सताये गये, बन्धु–बान्धव हीन, मुर्ख और बड़ी भारी मानसिक व्याधिभूमि में उत्पन्न हुए (सदा मानसिक चिन्ता से युक्त) इस प्रकार के प्राणी का जो जीवन है, जो मरण है और जो महाआपत्ति है, उसकी अपेक्षा स्वतः जीवरहित पाषाण आदि उत्तम हैं ॥२५॥ जैसे वर्षा ऋतु में जनों से रहित तथा पृथिवी के एक देश में स्थित पर्वत के सैंकड़ों शाखाओं और रस से व्याप्त तृण उल्लास को प्राप्त होते हैं वैसे ही स्वजनों से रहित, अत्यन्त गर्हित देश में रहनेवाले पुरुष के सैंकड़ों शाखा प्रशाखाओं से पूर्ण अनन्त दुःख उल्लास को प्राप्त होते हैं ॥२६॥ इस प्रकार विलाप कर रही तथा चण्डालता को प्राप्त हुए अपने पोषणीय लोगों में सबसे बड़ी–बूढ़ी उस स्त्री को दासियों द्वारा समझा बुझाकर राजा ने उससे पूछा : यहाँ पर क्या घटना घटी है, तुम कौन हो, तुम्हारी लड़की कौन है और कौन तुम्हारा लड़का है ?॥२७॥ तदुपरान्त आँसुओं से भरे हुए नेत्रवाली उसने कहा : पुष्पसघोष नामका यह गाँव है, यहाँ पर पुष्पक नाम का मेरा पति हुआ। उसकी चन्द्रमा के तुल्य एक लड़की हुई। जैसे बेचारी करभी (गदही या ऊँट) वन में फूटे हुये शहद के घड़े को प्राप्त हो, वैसे ही उसने भाग्यवश यहाँ पर आये हुए इन्द्र के तुल्य राजा को दुर्भाग्यसे पति पाया। उसके साथ चिरकालतक सुख का उपभोग कर उसने लड़कियाँ और लड़के पैदा किये, इस वन की गुफा में वह पेड़ के सहारे स्थित हुई लौकी की लता के सदृश वृद्धि को प्राप्त हुई ॥२८–३०॥

एक सौ बीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ इक्कीसवाँ सर्ग

चण्डाली द्वारा उक्त वृतान्त को सुनकर विस्मित हुए राजा लवण के घर आ जाने पर वसिष्ठजी के कथन से उस वृत्तान्त का श्रीरामचन्द्रजी को विनिश्चय।

चण्डाली ने कहा : हे राजन्, कुछ काल बीतने पर इस ग्राम में वृष्टि के न होने से अत्यन्त भयंकर तथा मनुष्यों को नष्ट करनेवाला दुर्भिक्ष का दुःख उपस्थित हुआ ॥१॥ इस महान् दुःख से ग्राम के सभी लोग निकलकर दूर चले गये तथा शेष सब लोग मर गये ॥२॥ हे प्रभो, हे सुन्दर, उस दुर्भिक्ष तथा बन्धुओं के मरण से इस वन में हम अभागिनियाँ शून्य होकर नेत्रों से अश्रुधारा बहाती हुई शोक कर रही हैं ॥३॥ उस वृद्धा के मुख से यह सुनकर राजा अत्यन्त विस्मित हुए और मन्त्रियों के मुख को देखकर चित्रलिखित के समान स्तब्ध हो गये ॥४॥ उस अपूर्व आश्चर्य का राजा ने पुनः विचार किया, तदनन्तर बार–बार पूछा और इससे राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ ॥५॥ लोक में ऊँच, नीच आदि विविध भावों को देख चुके राजा लवण दया से पूर्ण हो गये, उन्होंने समुचित दानसम्मान से उन भीलों के दुःख का निवारण किया। वहाँ चिरकाल तक निवास कर तथा दैव की गति का विचार कर घर लौटे और पुरवासियों से वन्दित होते हुए उन्होंने घर में प्रवेश किया ॥६,७॥ प्रातःकाल उस राजा ने विस्मित होकर सभाभवन में मुझसे पूछा : हे मुने, यह स्वप्न मैंने प्रत्यक्ष कैसे देखा ? ॥८॥ मैंने राजा के प्रश्न का यथार्थरूप से समाधान किया और उनके हृदय से

संशय को इस तरह मिटा दिया जिस तरह वायु मेघ को आकाश से दूर करता है ॥९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार यह अविद्या बड़ी भ्रम देनेवाली है, यह अतिशीघ्र पूर्ण रीति से सत् को असत् तथा असत् को निरा सत् बना देती है ॥१०॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, कृपा कर यह बतलाइये कि यह स्वप्न कैसे सत्य अर्थात् जाग्रतकाल के अनुभव का विषय हो गया ? बड़े भ्रम के समान यह बात मेरे मन में बैठती नहीं है ॥११॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इन सभी बातों का अविद्या में सम्भव है, देखिये न, स्वप्न तथा संभ्रम आदि में घट में पटता दीख पड़ती है ॥१२॥ जैसे दर्पण के भीतर स्थित पर्वत दूर होता हुआ भी निकट प्रतीत होता है वैसे ही अत्यन्त दूर की वस्तु भी निकट की तरह प्रतीत होती है। सुख की नींद से बीती हुई रात्रि के तुल्य दीर्घकाल भी शीघ्रता को प्राप्त हो जाता है ॥१३॥ जैसे स्वप्न में अपना मरण प्रतीत होता है, वैसे ही अत्यन्त असम्भव भी संभव हो जाता है। स्वप्न में आकाशगमन के तुल्य अत्यन्त असत् भी सत् सा प्रतीत होता है। चक्राकार घूमने पर पृथिवी के भ्रमण के तुल्य अत्यन्त स्थिर वस्तु भी चलने लगती है और मदसे विक्षुब्ध चित्तवाले से देखी गई वस्तु के समान अचल वस्तु भी चंचलता को प्राप्त होती है ॥१४,१५॥ वासनायुक्त चित्त पूर्णरूपसे जिस वस्तु की जैसी भावना करता है, उस वस्तु का वैसा ही शीघ्र अनुभव करता है, वह वस्तु न सत् है अथवा न असत् है ॥१६॥ अहन्त्व आदि रूप मिथ्या ज्ञान जिस समय उदय को प्राप्त हुआ, उसी समय आदि, मध्य तथा अन्त से हीन असंख्य भ्रम उदय को प्राप्त हो गये ॥१७॥ सब पदार्थों का विपरिणाम मन के प्रतिभास से ही होता है, इसीलिए क्षण कल्पता को प्राप्त होता है तथा कल्प क्षणता को प्राप्त होता है ॥१८॥ जिसकी मति विपरीत हो गई है, वह प्राणी अपने को भेंड़ा समझता है और वासना से भेंड़ा भी अपने में सिंहता को धारण करता है ॥१९॥ विषम भ्रम को देने वाले अविद्या, मोह, अहन्त्व आदि समान हैं, क्योंकि ये सब चित्त के विपर्यासरूप फल की सम्पत्ति के हेतु हैं ॥२०॥

यद्यपि सब पदार्थ अविद्या से कल्पित ही हैं तथापि उत्तर व्यवहार से पूर्व व्यवहार का संवाद होने से सत्यत्व और असंवाद होने से मिथ्यात्व व्यवहार होता है, न कि परमार्थ विचार से। इस पर कहते हैं।

कोई कौआ एक ताड़ के वृक्ष में जा रहा था। ताड़ के वृक्ष से कौए का संयोग होते ही दैववश उसका फल नीचे गिरा, इसे ही काकतालीय न्याय, अर्थात् आकस्मिक घटना कहते हैं। चित्त के संस्कारवश काकतालीय न्याय से बिना किसी कारण के महान् आरम्भवाले व्यवहारों का परस्पर एक दूसरे से संवाद होता है ॥२१॥

राजा लवण के व्यवहार में किस रीति से संवाद हुआ; उसे कहते हैं।

उस भीलों की टोली में पहले किसीका जो चण्डाली विवाहादि सम्पन्न हुआ था, वही राजा लवण के मन में प्रतिभासित हुआ। वह सत् हो या असत् हो। अतएव संवाद का भ्रम हुआ, यह अर्थ है ॥२२॥

जिस तरह अनुभूत वस्तु की विस्मृति होती है उसी तरह अननुभूत वस्तु का स्मरण भी दोषावह नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

जैसै विस्तारपूर्वक की हुई क्रिया को चित्त भूल जाता है वैसे ही की हुई क्रिया का भी 'मैंने इसे नहीं किया' यों स्मरण करता है। यद्यपि भ्रान्ति में राजा लवण को अनुभव ही हुआ था, स्मृति नहीं हुई थी तथापि अनुभव, स्मृति आदि में जो अवान्तर भेद है, वह भी कल्पनामात्र है; इसलिए वह विचारसह नहीं है, यह सूचित करने के लिए ऐसा कहा है ॥२३॥ इसी प्रकार स्वप्न में देशान्तरगमन में प्राकृत पुरुष भी भोजन करने पर मैंने भोजन नहीं किया, ऐसा समझता है ॥२४॥

प्रतिभास और संवाद का पूर्वापरभाव भी कल्पनामात्र है, अतः व्यवस्थित नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

विन्ध्य पर्वत के चण्डालों के ग्राम में ऐसा व्यवहार (चण्डालीविवाहादि) होता है, यह बात राजा लवण की प्रतिभा में आ गई थी। जैसे स्वप्नमें पूर्व की कथा प्रतिभा में आ जाती है ॥२५॥ अथवा राजा लवण ने जो स्वप्नभ्रम देखा था, वही भ्रम विन्ध्यपर्वत के चण्डालों के चित्त में संविद् को प्राप्त हुआ था ॥२६॥

प्रतिभा के भेद की कल्पना भी विचारसह नहीं है, क्योंकि एक में उत्पन्न हुई प्रतिभा का दो में भान हो सकता है, इस आशय से कहते हैं।

राजा लवण की प्रतिभा विन्ध्यपर्वत के चण्डालों के हृदय में आरूढ़ हुई थी, अथवा विन्ध्यपर्वत के चण्डालों की प्रतिभा राजा लवण के चित्त में आरूढ़ हुई थी ॥२७॥

प्रतिभा और प्रतिभा के विषय के संवाद में दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे बहुत कवियों के मनों की उत्प्रेक्षा से रचित काव्य शब्द तथा अर्थ से समान होते हैं, वैसे ही लवण और चाण्डालों के भ्रान्तिरूप स्वप्न में भी देश, काल और क्रिया भी समान हैं ॥२८॥

क्या इस तरह का व्यवहार अत्यन्त असत् है ? इस शंका पर 'नहीं' ऐसा कहते हैं।

उस व्यवहारदशा की सत्ता भी प्रतिभास से ही है।

अधिष्ठान चेतन की सत्ता से ही सब वस्तुओं की सत्ता है, स्वतन्त्र किसी की सत्ता नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

सब पदार्थों की सत्ता अधिष्ठानभूत चेतनसत्ता से अतिरिक्त नहीं है। अधिष्ठान चेतन की सत्ता ही भूत, वर्तमान तथा भविष्य के प्रपंचो में व्याप्त हुई इस तरह अधिष्ठानसत्ता से भिन्न भासित होती है, जिस तरह जल में तरंग तथा बीज में वृक्ष उससे भिन्न भासते हैं ॥३०॥ अधिष्ठानसत्ता से भिन्न जो पदार्थों की सत्ता है उसकी सत्यता और असत्यता न सत् है, और न असत् है, यह निश्चित है, क्योंकि श्रुति ने 'न तत् सदासीत् नोऽसदासीत्' कहा है। सत्त्व के संवेदन से वह सत् है तथा सत्त्व के असंवेदन से वह असत् है। उसकी सत्ता और असत्ता भ्रान्ति और संवेदन के अधीन हैं, यह अर्थ है ॥३१॥

भ्रम का विषय अविद्यामात्र है, इसलिए फलतः असत्य ही है, इस आशय से कहते हैं।

वस्तुतः अविद्या कोई वस्तु नहीं है जैसे कि बालू में तेल आदि वस्तु नहीं है। क्या सुवर्ण का कटक (कंकण) सुवर्ण से अतिरिक्त कोई वस्तु है ? अर्थात् कुछ नहीं है ॥३२॥

सत् वस्तु के सम्बन्ध से वह वस्तु क्यों नहीं हैं ? इस पर कहते हैं।

अत्यन्त असत् अविद्या का सम्बन्ध सत् आत्मा से उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि परस्पर सदृशों का ही सम्बन्ध होता है, यह अपने अनुभव से स्पष्ट है ॥३३॥ पार्थिवत्व तथा द्रवत्व से अत्यन्त विषम लाख और काठ आदि का जो परस्पर सम्बन्ध है, वह अत्यन्त असदृशों के परस्पर सम्बन्ध में उदाहरण नहीं हो सकता, क्योंकि वे एक अविद्या के ही स्फुरणरूप हैं, अतः सदृश हैं, यह अर्थ है ॥३४॥

यदि सब पदार्थ चिन्मय ही मान लिये जायें तो चिद्रूप से तुल्य सब पदार्थों के साथ चित् का सम्बन्ध उत्पन्न है, यह कहते हैं।

चूँकि सब पदार्थमय हैं, इसलिए पाषाण आदि पदार्थ चित् के समान हैं चित् के साथ सम्बन्धवश वे चित् से प्रकाशित होते हैं ॥३५॥

चित् के सम्बन्ध से पदार्थों का भान होता है, इस पक्षमें भी दोष कहते हैं।

यदि जगत् के सभी पदार्थ चिन्मात्रमय-सन्मात्रमय हैं, तो वे स्वप्रकाशता के बल से ही परस्पर प्रकाशित होते हैं। न कि किसी अन्य चेतन से जैसे दीपक को अपना प्रकाश करने के लिए अन्य दीपक की अपेक्षा नहीं होती है वैसे ही उनको भी अपने प्रकाश के लिए दूसरे चेतन की अपेक्षा नहीं हैं ॥३६॥

पूर्वोक्त दोनों प्रकारों को दो श्लोकोंसे फिर स्पष्ट कहते हैं।

अत्यन्त विषम पदार्थों का निरन्तर (साक्षात्) सम्बन्ध नहीं हो सकता है तथा परस्पर सम्बन्ध के बिना परस्पर अनुभव भी नहीं हो सकता है ॥३७॥ चिद्रूप से सदृश परमात्मरूप वस्तु में चिन्मयरूप से सदृश जगत्‌रूप वस्तु अणुमात्र भी भेदक अचिद् वस्तु के अभाव से अखण्ड स्वप्रकाशमात्र एकता को प्राप्त कर उसकी ही सामर्थ्य से अर्थात् एकत्व से ही अपनी एकरूपता प्रकट करती है, अन्यथा नहीं ॥३८॥ ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञानरूप दृश्य त्रिपुटी के रूप से चेतन ही उदित हुआ है, ऐसा जो मूढ़ों का अनुभव है, वह चित् और जड़ के अभेदसम्बन्ध से नहीं बन सकता है, क्योंकि चित् और जड़ की एकता विलक्षणतावश कहीं हो ही नहीं सकती ॥३९॥

चित् और जड़ के भेदसम्बन्ध से भी उक्त अनुभव उत्पन्न नहीं हो सकता, इस आशय से कहते हैं।

एक त्रिपुटीरूप चित्र में चित् और जड़ दोनों भेदसम्बन्ध से भी कभी नहीं मिल सकते।

चिन्मय पदार्थों का चित् के साथ सम्बन्ध हो सकता है इस पक्ष को लेकर भी उक्त अनुभव उत्पन्न नहीं हो सकता, यह कहते हैं।

चिन्मयत्वरूप सादृश्य से यद्यपि चित् की उपलब्धि होती है, तथापि चित् की उपलब्धि होने पर भी चिद्रूप वेदनांशकी ही उपलब्धि हुई न कि वेद्यांश की, क्योंकि भेदक अचिद् वस्तु

के अभाव से वेद्यत्वरूप की सिद्धि असम्भव है। अतएव वेद्य और वेदन दोनों अंशों की उपपत्ति नहीं होती है, यह अर्थ है ॥४०॥

यदि कोई कहे कि जैसे जाड्यरूप धर्म के कारण साम्य होने पर भी काठ, पत्थर, मिट्टी आदि का एक घर के अवयवरूप से सम्बन्ध होता है और जैसे जलमय होनेसे सजातीय जिह्वा तथा रस का सम्बन्ध होता है, वैसे ही चिद्रूप होने से सदृश होने पर भी ज्ञान तथा ज्ञेय का सम्बन्ध हो सकता है, इस पर कहते हैं।

काठ, पत्थर आदि जो भिन्न–भिन्न पदार्थ हैं, वे चिद्रूप नहीं हैं, क्योंकि काठ आदि जड़ पदार्थ गृह आदि पदार्थों के रूप से परिणत होते हुए अनुभूत होते हैं। चेतन कभी परिणामी नहीं होता है, यह अर्थ है ॥४१॥

जलमय होने से सजातीय जिह्वा और रस से स्पष्ट उदित हुआ रसास्वाद भी जो कि परिणामी है, जिह्वा से ही अनुभूत होता है।

किंचित् अभिन्न का ही ऐक्य सम्बन्ध होता है, उसका दोनों पक्षों में सम्भव नहीं है, ऐसा कहते हैं।

किंचित् अभिन्न का जो ऐक्य है, उसे ही आप सम्बन्ध जानिये। वह अत्यन्त असमान जड़ और चेतन का नहीं हो सकता, इसलिए पत्थर आदि पदार्थ जड़ नहीं हैं किन्तु चेतन ही पत्थर, दीवार आदि रूपवाला है, इसलिए परमार्थदृष्टि से एकीभाव को प्राप्त हुआ चैतन्य ही सत्य है, द्रष्टा, दृश्य आदि भाव भ्रम हैं, क्योंकि काठ, पत्थर आदि सब पदार्थ चिन्मय ही हैं ॥४२–४४॥

यदि काठ, पत्थर आदि अशेष पदार्थ परमार्थ चिन्मय ही है, तो चिद्रूप काठ, पत्थर आदि का गृहरूप से साथ सम्बन्ध कैसे देखा जाता है ? इस पर कहते हैं।

परमार्थरूप में कल्पित काठ, पत्थर आदि रूप से ही गृहादि पदार्थों के साथ उनका सम्बन्ध देखा जाता है, न कि वास्तविक चिद्रूप से चूँकि अनन्त ब्रह्म ही सब प्रकारों से युक्त होकर सब के तुल्य भासित होता है, इसलिए यह विश्व परमार्थमय ही है, इस तरह उत्तर श्लोक से इसका अन्वय जानना चाहिए ॥४५॥ हे तत्त्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, इस विश्व को आप सन्मात्र ही समझिये। यह विश्व मिथ्यात्वग्रहणरूप चित् के चमत्कार द्वारा सैंकड़ों, लाखों भ्रमों से पूर्ण हैं। वह चित् का चमत्कार परमार्थतः किसीसे पूर्ण नहीं है। जैसे मनुष्यों के संकल्प से नगर में निवास करनेवाले जन देश और काल के अवरोध के लिए परस्पर चेष्टा नहीं करते वैसे ही सृष्टि को भी अवस्थित जानिये। भेद का बोध होने पर ही सृष्टि तथा अहन्त्व आदि भ्रम का उदय होता है। जैसे सुवर्णज्ञान का परित्याग करने पर कटक आदि का भ्रम होता है। सुवर्ण में कटक आदि का भ्रम मिथ्या ही है, क्योंकि वे सुवर्ण के ही देश से देश तथा सुवर्ण की सत्ता से ही सत्ता प्राप्त करते हैं ॥४६–४९॥ जैसे कटक आदि बड़े भेदवाला सुवर्ण भेददृष्टि और भेददर्शन का त्याग करने पर एकमात्र निर्मल सुवर्ण ही है यानी उसकी पृथक् सत्ता नहीं है, वैसे ही द्रष्टा और दर्शन का परित्याग होने पर अविद्या पृथक् नहीं हैं ॥५०॥ बोध की एकता से ही

यह सृष्टि सद्रूप विश्व को असत् बनाती है अथवा असद् विश्व को सत् के साथ एकरसता को प्राप्त कराती है। जैसे मिट्टी की बनी हुई सेना मिट्टीबुद्धि से विचित्र होने पर भी विचार दृष्टि से मिट्टीमात्र की तरह मृन्मयी ही है ॥५१॥ जिस प्रकार तरंग आदि सब वस्तु एकमात्र जल ही हैं, काठकी बनी हुई पुतलियाँ एकमात्र काठ ही हैं और घट आदि सब वस्तु मिट्टीमात्र है उसी प्रकार तीनों जगत् का भ्रम एकमात्र ब्रह्म ही है ॥५२॥

घट आदि पदार्थों में अनुस्यूत सारभूत मिट्टीस्वरूप के तुल्य द्रष्टा आदि त्रिपुटी में अनुस्यूत साक्षी चिन्मात्र को त्रिपुटी के निराससे दिखाते हैं।

द्रष्टा का दृश्य और दर्शन के साथ सम्बन्ध होने पर फूलों में सूत्र की तरह सबके मध्य में अनुगत द्रष्टा, दर्शन और दृश्य से वर्जित जो द्रष्टा का शुद्ध रूप है, वही इस त्रिपुटी में व्याप्त परब्रह्म है। इस वाक्य से अखण्य वाक्यार्थ दिखलाया गया है, ऐसा समझना चाहिए ॥५३॥

उस ब्रह्म की त्रिपुटीशून्यता कब सिद्ध होती है ? इस पर कहते हैं।

चित्त के एक विषय से दूसरे विषय में जाने पर मध्य में जाड्यस्फुरण से शून्य चेतन का जो शुद्ध रूप है, उसमें आप तन्मय होइये ॥५४॥ जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति– इन तीन अवस्थाओं से रहित चित्तवृत्ति से शून्य जो आपका सनातन शुद्ध चेतन रूप है, उसमें आप तन्मय होइये ॥५५॥ एक जड़ता का परित्याग कर जो कूटस्थ चिद्घनमात्र है, आप समाधिस्थ होकर अथवा व्यवहार करते हुए सर्वदा उसमें तन्मय होइये ॥५६॥

यदि कोई कहे कि व्यवहार में रहने वाले की तन्मयता कैसे हो सकेगी ? इस पर कहते हैं।

इस संसार में किसी का न तो कुछ उदित होता है और न लीन होता है अर्थात् व्यावहारिक वस्तु की सत्ता ही नहीं है। इसलिए समाधिस्थ होकर या व्यवहार करते हुए स्वस्थ होकर सुखपूर्वक स्थित होइये। व्यवहारदशा में भी परमार्थ दृष्टि का ही अनुवर्तन कीजिये, यह भाव है ॥५७॥ आत्मा किसी देह में न तो किसी की इच्छा करता है और न किसी से द्वेष करता है; इसलिए आप स्वस्थ होकर आशंकाहीन हो स्थित होइये। देह की वृत्तियों में मत गिरिये ॥५८॥

जिस तरह अप्राप्त वस्तु में चित्त की अनासक्ति स्वतः सिद्ध है, उसी तरह वर्तमान वस्तु में भी मिथ्यात्वदृष्टि से अनासक्तिका सम्पादन करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

जैसे आप अप्राप्त ग्राम के ग्राम्यव्यवहार में आसक्तिरहित हैं वैसे ही सत्य आत्मा में स्थित होकर चित्त की वृत्तियों में मिथ्यात्वदृष्टि से आसक्ति रहित होइये ॥५९॥ जैसे दूर देश में स्थित मनुष्य रहता हुआ भी असत् के तुल्य है और जैसे काठ और पत्थर समीप में होने पर भी चेतन हीन होने से ही आसक्ति, अभिमान आदि के अयोग्य हैं, वैसे ही आप चित्त को जानिये, क्योंकि आत्मरूप से विचार करने पर अचित्तता ही विद्वानों के अनुभव से सिद्ध है ॥६०॥ जैसे शिला में जल नहीं है, जैसे जल में अग्नि नहीं है, वैसे ही अपनी आत्मा में (जीवात्मा में) चित्त नहीं है, फिर वह परमात्मा में कैसे रह सकता है ?॥६१॥

जब चित्त असत् है, तो उसके कार्य सुतरां असत्य हैं, ऐसा कहते हैं।

विचार करके देखने पर जो कुछ नहीं है, उसके द्वारा जो कुछ करते हैं वह भी कृत नहीं है,

ऐसा मानकर चित्त से परे होइये ॥६२॥

शुद्ध आत्मा का अशुद्धचित्त का अनुवर्तन भी अनुचित है, इस आशय से कहते हैं।

अत्यन्त अनात्मभूत चित्तवृति का जो अनुवर्तन करते हैं, वे प्रत्यन्त देशवासी म्लेच्छों का अनुवर्तन क्यों नहीं करते ? 'तस्मान्न जनमियान्नान्तमियान्नेत्पाप्मानं मृत्युमन्वयानि' (प्रत्यन्तवासी जनों में पाप निहित है, इसलिए उनका स्पर्श नहीं करना चाहिये, उनके स्थान में नहीं जाना चाहिये, अन्यथा पापरूप मृत्यु को हम लोग प्राप्त होंगे) इस श्रुति के अनुसार म्लेच्क्षादि का अनुसरण करना निषिद्ध है, यह भाव है ॥६३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आप इस चित्त रूपी चण्डाल का निरन्तर दूर से ही निरादर करके मिट्टी की बनी हुई जड़ मूर्ति के तुल्य स्वस्थ होकर आशंकाहीन स्थित होइये। यथार्थ में चित्त है ही नहीं, यही मुख्य पक्ष है अथवा उत्पन्न हुआ भी हो, तो वह मर गया है, आज मृतक होकर ही पदार्थों को देखता है यानी मिथ्या देखता है, ऐसा निश्चय करके आप पत्थर के बने हुए पुरुष की तरह निश्चल होइये ॥६४,६५॥ आत्मविचार करने से अथवा चित्त का विचार करने पर यह चित्त नहीं है। आप वस्तुतः चित्तहीन हैं, इसलिए आप ऐसे अनर्थभूत व्यर्थ चित्त के साथ क्यों दुःखी होते हैं ? अत्यन्त असत्य चित्त रूपी यक्ष ने जिन लोगों को अपने वश में कर लिया है, उन सुकुमार मतिवालों के लिए चन्द्रमा से वज्र उत्पन्न हुआ है ॥६६,६७॥ इसलिए चित्त का दूर से ही परित्याग करके आप जो हैं, वही होकर स्थिर होइये और मननरूपी उत्तम युक्ति तथा ध्यान से युक्त होइये ॥६८॥

अधिकारियों के प्रोत्साहन के लिए मूढों की निन्दा करते हैं।

जो मूर्खज्ञ असत्य चित्त का अनुवर्तन करते हैं, आकाशताड़न में समय बितानेवाले उन मूर्खों को धिक्कार हैं ॥६९॥ तत्त्वज्ञान में कुशल होकर पहले व्यपगतमन यानी चित्तहीन होइये, तदनन्तर तत्त्वज्ञान से निर्मलात्मा होकर संसार से परे हो जाइये।

इसी बात को दृढ़ करने के लिए श्रीवसिष्ठजी विचारविशुद्ध अपना अनुभव कहते हैं।

मैंने तत्त्वज्ञान के लिए बहुत काल तक मन का विचार किया तथापि निर्मल आत्मा में मानसरूपी मल कुछ नहीं पाया। इसलिए मानसमल कोई वस्तु नहीं हैं। मेरे वाक्य से भी आप स्वस्थचित्त होइये, यह अर्थ है ॥७०॥

एक सौ इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बाईसवाँ सर्ग

पहले पुरुष का ज्ञानभूमिका के उदयक्रम का वर्णन तदनन्तर
शोक, मोह आदि के निराकरण द्वारा श्रीरामचन्द्रजी का बोधन।

पहले उत्पन्न हुए कुछ विकसित बुद्धिवाले यानी इस जन्म में या जन्मान्तर में किये गये कर्मों से शुद्धचित्त हुए पुरुष को इस प्रकार सत्संग में तत्पर होना चाहिए ॥१॥

सत्संग से साधनचतुष्टयसम्पत्ति के साथ अध्यात्मशास्त्र से सम्बन्ध होता है, वही पहली भूमिका है, ऐसा कहते हैं।

अनवरत प्रवाह में पड़ा हुआ यह अविद्यारूपी नदियों का समूह शास्त्र और सज्जन (संतजन) के संसर्ग के बिना नहीं तरा जा सकता है ॥२॥ उससे विवेकपूर्वक पुरुष को यह हेय है और यह उपादेय है, यह विचार उत्पन्न होता है ॥३॥ तब वह पूर्वोक्त शुभेच्छा नाम की ज्ञानभूमिका में अवतीर्ण होता है ॥४॥

शुभेच्छा नाम की ज्ञानभूमिका में विजय प्राप्त करने से दूसरी भूमिका की प्राप्ति दर्शाते हैं।

तदुपरान्त विवेकवश विचारणा नाम की ज्ञानभूमिका में आता है ॥५॥

दूसरी भूमिका के विजय से तीसरी भूमिका में अवतरण होता है, ऐसा कहते हैं।

सम्यग् ज्ञान से असम्यग्वासना का त्याग कर रहे पुरुष का मन संसार की वासनाओं से तनुता को प्राप्त होता है ॥६॥

उसके द्वारा तनुमानसा नाम की तीसरी ज्ञानभूमिका में अवतीर्ण होता है ॥७॥

चौथी भूमिका के अवतरण का प्रकार कहते हैं।

जभी योगी के सम्यग् ज्ञान का उदय होता है, तभी शुद्ध, सत्य आत्मा में स्थितिरूप चौथी ज्ञानभूमिका सत्त्वापत्ति प्राप्त होती है ॥८॥ उसके कारण जब वासना सूक्ष्मता को प्राप्त हो जाती है, तभी योगी असंसक्त कहा जाता है, कर्मफल से बन्धन में नहीं पड़ता है ॥९॥ तदनन्तर वासनाओं के तनु होने के कारण पुरुष सदा ही अन्तर्मुखरूप रहने से ब्रह्माहंभाव की वासना के बढ़ने के कारण बाह्य पदार्थों के क्रम से विस्मरण रूप भावना की तनुता का अभ्यास करता है ॥१०॥

कितने काल तक भावना की तनुताका अभ्यास करना चाहिए, इस प्रश्न पर कहते हैं।

जब तक समाधिस्थ हो, चाहे समाधि से व्युत्थित हुआ हो, चाहे असत् संसार वस्तुओं में स्थित हो, अपनी आत्मा में ही क्षीणमन होने के कारण अभ्यासवश बाह्यवस्तुओं को करता हुआ भी नहीं देखता है, अतएव रूचि से उनका सेवन नहीं करता है, न कभी उसका स्मरण करता है, सूक्ष्म वासनावाला होने के कारण केवल बालक या उन्मत्त अथवा आधा सुप्त और आधा प्रबुद्ध के समान स्नान, भोजन आदि कर्तव्य को दूसरे की इच्छा से करता है, तब तक उसका अभ्यास करे ॥११॥ अत्यन्त सूक्ष्म ब्रह्म में जिसने अपने चित्त को एकरस कर दिया है, ऐसा योगी उसके द्वारा पदार्थाभावनी नाम की योगभूमिका में आरूढ़ होता है ॥१२॥ पूर्वोक्त प्रकार से ब्रह्म में जिसका चित्त लीन हो गया है, ऐसा योगी कुछ वर्षों तक अभ्यास करके दूसरों की इच्छा से कार्यानुसार कभी स्नान, भोजन आदि बाह्य क्रियाओं को करता हुआ भी उसकी भावना को सर्वथा छोड़ देता है। स्वयं ही तुर्य आत्मा हो जाता है। छठी भूमिका तक चित्त की ब्रह्माकारता के स्थिर होने पर कुछ न कुछ प्रयत्न की अनुवृत्ति रहती है, सातवीं भूमिका में तो प्रयत्न की सर्वथा निवृत्ति होने से स्वाभाविक प्रतिष्ठा यानी ब्रह्मनिष्ठा हो जाती है, यह विशेष है। वही पुरुष जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥१३॥

यद्यपि पूर्व की भूमिकाओं में भी जिन्होंने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है, वे जीवन्मुक्त ही हैं तथापि उनमें कभी प्रबल प्रारब्ध से प्राप्त कराये गये प्रिय, अप्रिय का सम्बन्ध होता है,

अतः उनमें मुख्य जीवन्मुक्ति सुख नहीं है। सातवीं भूमिका में योग के परिपाक से उत्पन्न पुण्य के प्राचुर्य से, जो अति प्रबल है, तिरस्कृत हुआ प्रारब्ध कर्म केवल जीवन व्यवहार के आभास में पर्यवसित होता है, हर्ष, शोक आदि को उत्पन्न करने के लिए नहीं होता है, इस आशयसे उसका लक्षण पद्य से कहते हैं।

जीवन्मुक्त पुरुष प्राप्त हुई वस्तु का अभिनंदन नहीं करता यानी किसी वस्तु के प्राप्त होने पर प्रसन्न नहीं होता और खोई हुई वस्तु के लिए शोक नहीं करता। जो कुछ प्राप्त हो गया, केवल उसीका भय, आशंका से रहित होकर अनुवर्तन करता है ॥१४॥

आप तो अत्यन्त शुद्ध चित्तवाले हैं, इसलिए आपने दूसरी भूमिका में ही अपने ही विचार से प्रत्यगात्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आपने सबका अन्तर्यामी ज्ञातव्य तत्त्व जान लिया है, क्योंकि आपकी वासना सम्पूर्ण कार्यों से तनुता को प्राप्त हो गई है ॥१५॥ चाहे आप सदा ही समाधिस्थ रहें, चाहे लोकव्यवहार करते रहें, आप शोक अथवा हर्ष को प्राप्त न हों, क्योंकि आप शोक, मोह आदि दोषों से रहित आत्मा ही हैं ॥१६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, स्वयंप्रकाश, निर्मल, सर्वव्यापक, अविनाशी आत्मरूप आपमें सुख और दुःख का अवसर कहाँ तथा जन्म-मरण का अवसर कहाँ ? ॥१७॥

यदि कोई शंका करे, आत्मबोध से जन्म-मरण आदि से होनेवाले शोक पर भले ही विजय प्राप्त हो जाय, किन्तु बन्धु-बान्धवों के संग से होनेवाले शोक पर कैसे विजय प्राप्त की जा सकती है, इस पर कहते हैं।

आपके कोई बन्धु नहीं हैं, फिर क्यों आप बन्धु से उत्पन्न दुःख के लिऐ शोक करते हैं ? यह आत्मा अद्वितीय है, इसमें बन्धु-बान्धवों का अवसर ही कहाँ ? ॥१८॥ आप बन्धुओं की देह को शोक के योग्य कहते हैं अथवा आत्मा को ? पहला पक्ष नहीं बन सकता, क्योंकि देह के भस्मीभूत होने पर केवल परमाणु का समूह दिखाई देता है, वह तो अचेतन होने के करण शोक के योग्य नहीं है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि आत्मा नष्ट होता है और उदित होता है, यह मान लिया जाय, तो उसकी सर्वव्यापकता न रहेगी तथा अन्य देश और अन्य काल में उसके भिन्न होने की आपत्ति प्राप्त होगी, अतः आत्मा न तो मरता है और न उदित होता है ॥१९॥ आप अविनाशी हैं फिर भी मैं विनष्ट होऊँगा, इस प्रकार शोक क्यों करते हैं ? आत्मा मृत्यु का निवासभूत नहीं है और निर्मल है, अतएव उसमें विनाश का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है ? ॥२०॥ जैसे घट के फूटकर टुकड़े होने पर घटाकाश का विनाश नहीं होता, वैसे ही इस शरीर के नष्ट होने पर आत्मा का विनाश नहीं होता ॥२१॥ जैसे सूर्य की किरणों पर प्रतीत हो रही मृगतृष्णा रूपी नदी के नष्ट होने पर धूप नष्ट नहीं होती, वैसे ही देह के नष्ट होने पर आत्मा नष्ट नहीं होता ॥२२॥ व्यर्थ भ्रान्तिरूप पदार्थों की इच्छा ही आपके हृदय में क्यों उदित होती है ? आत्मा अद्वितीय है, ऐसी अवस्था में वह दूसरी किस किस वस्तु की अभिलाषा करेगा ? ॥२३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस जगत् में सर्वशक्ति परमात्मा में ही ये सब शक्तियाँ

स्थित है। ऐसी कोई सुनने योग्य, छूने योग्य, देखने योग्य, श्वास लेने योग्य, सूँघने योग्य दूसरी वस्तु नहीं है, जो आत्मा से भिन्न हो ॥२४॥

यदि कोई शंका करे, जैसे धूप में मृगतृष्णा भ्रम की शक्तियाँ हैं, वैसे ही यदि ब्रह्म में जगत् की शक्तियाँ है तो वे भिन्न होगी, इस पर कहते हैं।

जैसे आकाश में शून्यता है यानी शून्यता आकाश से पृथक् नहीं है, वैसे ही सर्वशक्तिमान्, व्यापक, व्यक्त आत्मा में ये सब शक्तियाँ हैं यानी उससे पृथक नहीं हैं ॥२५॥

अत्यन्त असत् जगत् के उदय में क्या बीज है ? ऐसी यदि कोई शंका करे, तो जगत् की उत्पत्ति में एकमात्र चित्त ही बीज है, उसीको कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह पूर्वोक्त त्रिलोकीरूपी ललना चित्त से ही उदित हुई है। इसने सात्विक, राजस और तामस तीन प्रकार के जन्मों से संसार में भ्रम उत्पन्न कर रक्खा है ॥२६॥

चूँकि यह चित्त से उत्पन्न हुई है, इसलिए चित्त के क्षय से ही इसका क्षय होता है, ऐसा कहते हैं।

वासनाक्षयनामक मनःप्रशमन के सिद्ध होने पर कर्मों की (क्रियाशक्तियों की) निवासभूत यह माया नष्ट हो जाती है ॥२७॥ संसाररूपी विशाल चाक के बीच में स्थित कील पर आरूढ़ तिरछे काट में लगी हुई, ऊपर और नीचे के चाक को वहन करनेवाली रज्जुरूपी यह वासना है, हे श्रीरामचन्द्रजी आप प्रयत्नपूर्वक इस वासना का नाश कीजिये। इस संसाररूपी चक्की में पृथिवी नीचे का चाक है, मेरु पर्वत उसकी कील है और ज्योतिर्मण्डल ऊपर का चाक है और यह जगत् वासना से बँधा हुआ है ॥२८॥ जब तक इस माया का ज्ञान नहीं होता, तब तक यह बड़े-बड़े मोहों को देती है। जब इसका ज्ञान हो जाता है, तो इसका नाम भी अनन्त यानी ब्रह्म हो जाता है, यह सुखदायिनी और ब्रह्मदायिनी हो जाती है ॥२९॥ यहाँ पर संसार का भोग करके अपनी लीलाभूत ब्रह्मविद्या से ब्रह्म का स्मरण कर ब्रह्म से आई हुई यह फिर ब्रह्म में ही लीन हो जाती है ॥३०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे तेज से प्रकाश उत्पन्न होता है, वैसे ही कल्याणमय, रूपरहित, अप्रमेय, निर्दोष ब्रह्म से सब भूत उत्पन्न हुए हैं। जैसे पत्ते में विविध रेखाएँ होती हैं, जैसे जल में अनेक लहरें उठती हैं, जैसे सुवर्ण में कटक आदि का आविर्भाव होता है और जैसे अग्नि में उष्णता आदि धर्म होते हैं, वैसे ही वासनाअवच्छिन्न ब्रह्म में यह सारा त्रिलोक स्थित है, उसी से उत्पन्न हुआ है और तद्रूप ही है ॥३१-३३॥ वही सब भूतों का आत्मा ब्रह्म कहा जाता है, उसका ज्ञान होने पर सारे जगत् का ज्ञान हो जाता है। तीनोंलोकों में वही ज्ञाता है, क्योंकि 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा (उससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है) ऐसी श्रुति है। शास्त्रोपदेश आदि व्यवहार के लिए विद्वान् लोगों ने उसी सर्वव्यापक तत्त्व के चित्, ब्रह्मा और आत्मा इत्यादि नामों की कल्पना की है। प्रिय और अप्रिय विषयोंका इन्द्रियों के साथ कभी संयोग होने पर भी उनमें मिथ्यात्व बुद्धि होने के कारण हर्ष और शोक से रहित यह शुद्ध जीन्मुक्तानुभूति ही वह प्रसिद्ध अविनाशी चिदात्मा है। मूढ़ जिसका अनुभव करते हैं, ऐसा संसार स्वभाववाला आत्मा नहीं है ॥३४-३६॥

हर्ष और शोक से रहित ऐसा जो पहले कहा, उसका उपपादन करने के लिए कहते हैं।

आकाश के समान अत्यन्त स्वच्छ उस चिदात्मा में यह जगत् भिन्न के तुल्य प्रतिबिम्बित होता है। शुद्ध साक्षी के द्वारा उसका प्रिय और अप्रिय विभाग से विवेक नहीं हो सकता इसलिए प्रिय और अप्रिय के विभाग के विवेक के वास्ते उन दोनों से भिन्नरूप से मध्य में अन्तःकरण प्रतिबिम्बित होता है, वही प्रिय और अप्रिय के विकल्पों द्वारा मोह आदि जो भाव हैं, उन्हें प्राप्त होता है। आत्मा लोभ, मोह आदि भावों को प्राप्त नहीं होता है। वे यानी जगत्, जगद्बुद्धि और जगद्बुद्धिप्रयुक्त लोभ, मोह आदि भेद के बिना ही उस चिदात्मा में प्रतिबिम्बित हैं, इसलिए वे परमार्थतः परमात्मरूप ही हैं। जैसै दर्पण से अपृथक् दर्पण के अन्दर दिखाई दे रहे पर्वत, वन, नदी आदि हैं, वैसे ही परमात्मा में ये भी प्रतिबिम्बित हैं ॥३७,३८॥

ऐसी अवस्था में जिन मूढ़ों को देह में आत्मबुद्धि है, उन्हींको भय, दुःख आदि होते हैं, आपको तो नहीं होने चाहिए, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप तो देहरहित निर्विकल्प चिदाकाश हैं, इसलिए आपको लज्जा, भय, विषाद, आदि से मोह कैसे उत्पन्न हुआ ?॥३९॥ जैसे दुर्बुद्धि मूर्ख पुरुष विकल्पों से अभिभूत होता है, वैसे ही देहरहित आप देह से उत्पन्न होनेवाले असत्स्वरूप इन लज्जा आदि से कैसे अभिभूत होते हैं ? ॥४०॥ देह के नष्ट होने पर अखण्ड चैतन्यरूप अज्ञानी का भी विनाश नहीं होता। आप तो ज्ञानी हैं, आपका कहना ही क्या है ?॥४१॥

अज्ञानी का भी नाश नहीं होता, ऐसा जो पूर्व में कहा है उसके उपपादन के लिए देह से अतिरिक्त चिदात्मा को सिद्ध करते हैं।

जो चित्त गमनागमन की स्वतन्त्रता होने से सर्वत्र जाता है, आलम्बनरहित सूर्य के मार्ग में भी जिसके संचार का निरोध नहीं होता वह चित्त ही पुरुष (पुरि शेते इति पुरुषः) संसारी आत्मा है, शरीर पुरुष नहीं हैं। हे श्रीरामचन्द्रजी, शरीर चाहे रहे या न रहे, तीनों लोको में पुरुष ही– चाहे वह ज्ञानी हो या अज्ञानी स्थित रहता है। शरीर के नष्ट होने पर उसका नाश नहीं होता ॥४२,४३॥

अब असंसारी आत्मा को दर्शाने के लिए चित्त को भी देहकोटि में रखकर देह को ही प्रिय और अप्रिय का स्पर्श होता है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो आप इन विविध दुःखों को देखते है, वे सब देह के ही हैं, इन्द्रियों द्वारा गृहीत न होनेवाले चिदात्मा के नहीं हैं ॥४४॥ मन के अगोचर होने के कारण जो यह चिदात्मा शून्य की तरह स्थित है, वह सुख और दुःखों से व्याप्त कैसे हो सकता है ? ॥४५॥

यदि कोई शंका करे कि देह के नष्ट होने पर जीव कहाँ जाता है ? तो इस पर कहते हैं।

जैसे भ्रमर कमल से उड़कर आकाश में जाता है वैसे ही यह जीव नष्ट हुए देह के अभिमान का त्याग कर पहले अपने आधारभूत परमात्मा में ही जाता है।

मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्। (मन प्राण में लीन होता है, प्राण तेज में लीन होता है और तेज परमात्मा में लीन होता है।) इस श्रुतिप्रमाण से मन, प्राण आदि उपाधियों

से विहीन होने से जीव बिम्बभूत ईश्वरैक्य को प्राप्त होता है।

शंका : ईश्वैक्य को प्राप्त होकर वह मुक्त क्यों नहीं होता ?

समाधान : वह चिरकाल से अभ्यस्त भेदवासना को प्राप्त हुआ है यानी भेदवासना का मूलोच्छेद करनेवाले ज्ञान का उदय न होने से उसकी मुक्ति नहीं होती ॥४६॥

यदि आप शंका करे कि यदि जीव प्रतिबिम्ब है, तो उसकी उपाधि से अतिरिक्त सत्ता न होने से वह असत् ठहरा और उपाधि का नाश होने से उसका नाश हो जायेगा। भले ही ऐसा हो, तथापि आप जीव नहीं हैं। जीव के न रहने पर अथवा नाश होने पर आपको शोक नहीं करना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

वह प्रसिद्ध आत्मतत्त्व यानी जीव यदि असत् हो, तो इस आपके देहपिंजर के नष्ट होने पर आपका क्या नष्ट हुआ और आप किसलिए शोक करते हैं ?॥४७॥ वस्तुतः प्रतिबिम्ब बिम्ब ही है, क्योंकि उपाधि में प्रवेश रूप भेद की कल्पना से बिम्ब की ही प्रतिबिम्बरूप से प्रतीति होती है अन्यथा जड़ उपाधि का कार्य होने पर चिदाभास भी जड़ हो जायेगा, अतः संसार का भान नहीं होगा, इसलिए आप जीव को उसकी उपाधियों के परित्याग द्वारा सत्य ब्रह्म ही समझिये। भ्रान्ति से प्राप्त हुए नश्वर देह आदि भाव का अनुभव न कीजिये। पूर्ण ब्रह्मभाव से तृप्त होने के कारण इच्छारहित और निर्दोष आत्मा में कोई इच्छा नहीं है ॥४८॥

यदि कोई शंका हो कि यदि उसमें इच्छा नहीं है, तो इच्छा के बिना उसकी सृष्टि की सिद्धि कैसे होगी ? तो इस पर कहते हैं।

सबके साक्षी सर्वत्र शम, निर्मल, निर्विकल्प, चिदात्मा में ये सब जगत् बिना किसी प्रकार की इच्छा के ऐसे प्रतिबिम्बित होते हैं जैसे कि दर्पण में पर्वत, वन, नगर आदि। जैसे सुन्दर मणि में किरण स्वयं दिखाई देती हैं वैसे ही सबके साक्षीभूत, सर्वत्र शम, निर्मल, निर्विकल्प चिदात्मा में जगत् स्वयं दिखाई देते हैं ॥४९,५०॥ जैसे दर्पण और बिम्ब का सम्बन्ध इच्छा न होने पर भी होता है वैसे ही आत्मा और जगत् का भेदाभेद रूप सम्बन्ध इच्छा के बिना ही होता है यानी भानमात्र से भेदसम्बन्ध और यथार्थरूप से अभेद है। जैसे सूर्यके केवल उदय होनेसे जगत् के कार्य होते हैं वैसे ही केवल चित् की सत्ता से ही इस जगत् की उत्पत्ति होती है ॥५१,५२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार के हमारे उपदेश से इस जगत् की स्थिति का मूर्ताकार निवृत्त हो गया। आप लोगों के भी चित्त में आकाश के समान यह शून्य हो गई ॥५३॥ जैसे दीपक की केवल सत्ता से प्रकाश स्वभावतः होता है वैसे ही चित्तत्त्व की केवल सत्ता से स्वभावतः जगत् की स्थिति होती है ॥५४॥

इस प्रकरण में जो अर्थ विस्तार से कहा है, उसको संक्षेप से दर्शाते हुए श्रीवसिष्ठजी प्रकरण का उपसंहार करते हैं।

पहले परमात्मतत्त्व से मन उदित हुआ। उसने जैसे शून्य आकाश असत् नीलताका, जिसका कि सब लोगों के अनुभव से अधोमुख किया हुआ मनोहर इन्द्रनीलमणि के कड़ाहे की तरह यह नील आकाश दीख रहा है, इस तरह उपमा और उत्प्रेक्षा द्वारा– सुन्दर वाग्व्यवहार

होता है, विस्तार करता है, वैसे ही अपने विविध विल्कपों से इस जगत् का विस्तार किया ॥५५॥

इसलिए निमित्त का नाश होने पर नैमित्तिक का भी नाश होने से निर्मल एकमात्र आत्मा ही शेष रहता है, ऐसा कहते हैं।

संकल्पों का क्षय होने से चित्त के नष्ट होने पर संसार मोह रूपी पाला नष्ट हो जाता है। जैसे शरद् ऋतु आने पर आकाश स्वच्छ होता है वैसे ही चित्त के गलित होने पर अन्तःकरण अद्वितीय जन्मरहित अनन्त प्रत्यगात्मस्वभाव हो जाता है ॥५६॥

व्यष्टिभ्रमकल्पना की तरह समष्टिसृष्टिकल्पना में भी आविर्भाव और तिरोभाव मन के ही अधीन हैं, ऐसा दर्शाते हैं।

सब प्राणियों के कर्मों की समष्टिरूप और समष्टिकर्मशक्तिप्रधान मन पहले उत्पन्न होता है। उसके बाद मन में चित् का प्रतिबिम्ब पड़ने से ब्रह्मा, मनु आदि रूप सृष्टिकर्ताओं के शरीरों को स्वीकार करके वह संकल्पवश विविध प्रकार के इस जगत् की व्यर्थ ही सृष्टि करता है, जैसे कि अज्ञानी बालक व्यर्थ वेताल के शरीर की कल्पना करता है ॥५७॥

इसलिए सम्पूर्ण दृश्य व्यष्टि-समष्टि भेद से कल्पित मनोमात्र ही है। मन अज्ञान कार्य होने से असत् है। असत् का ही अधिष्ठानभूत साक्षी की सत्ता और स्फूर्ति के बल से जो स्फुरण है, वह उत्पत्ति है, इस रीति से जगत् के जन्म आदि विवर्तों की उपादानता ब्रह्म का तटस्थ लक्षण हुआ। उससे निष्प्रपंच, सच्चिदानन्द, एकरस, पूर्णब्रह्म ही लक्षित होता है, जो परमार्थभूत है। ऐसा सब सृष्टि श्रुतियों का तात्पर्यार्थ, यह सिद्ध हुआ, ऐसा कहते हैं।

अज्ञानकार्यभूत मन स्वयं ही अपने अधिष्ठानभूत चैतन्य में वृद्धि को प्राप्त होने से स्फुरित जगद्रूप से सामने विद्यमान सा साक्षी द्वारा दिखाई देता है। जैसे पूर्ण महासागर में उसकी सत्ता से ही सिद्ध हुई अपरिच्छिन्न जलपंक्तियाँ सामने दिखाई देती हैं, उत्पन्न होती हैं और लीन हो जाती है वैसे ही मन साक्षीभूत चेतन में स्वयं पुनःपुनः उत्पन्न होता है और लीन हो जाता है ॥५८॥

एक सौ बाईसवाँ सर्ग समाप्त

योगवासिष्ठभाषानुवाद में

उत्पत्ति प्रकरण समाप्त

आदिकवि श्रीमद्वाल्मीकिमहामुनिप्रणीत

श्री योगवासिष्ठ महारामायण

भाग-२

(स्थिति प्रकरण और उपशम प्रकरण)

परमहंस श्रीमद् आनंद बोधेन्द्र सरस्वती प्रणीत

'श्रीवासिष्ठ महारामायण' (तात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्यासहित) का हिन्दी अनुवाद

श्री योग वेदान्त सेवा समिति

संत श्री आसारामजी आश्रम

संत श्री आसारामजी बापू आश्रम मार्ग, अमदावाद-380005. फोन : (079) 27505010-11.

आश्रम रोड, जहाँगीरपुरा, सूरत-395005. फोन : (0261) 2772201-2.

वन्दे मातरम् रोड, रवीन्द्र रंगशाला के सामने, नई दिल्ली-60. फोन : (011) 25729338, 25764161.

पेरूबाग, गोरेगाँव (पूर्व), मुंबई- 400063. फोन : (022) 26864143-44.

e-mail : ashramindia@ashram.org web-site : www.ashram.org

रू. 115.00

श्री योगवासिष्ठ महारामायण विषय-सूची

परमहंस श्रीमद् आनंद बोधेन्द्र सरस्वती प्रणीत

'श्रीवासिष्ठ महारामायण' (तात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्यासहित) का हिन्दी अनुवाद

भाग-२

विषय सूची **II से VIII तक**

स्थिति प्रकरण

उपशम प्रकरण

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

आदिकवि श्रीमद्वाल्मीकिमहामुनिप्रणीत

श्री योगवासिष्ठ महारामायण

परमहंस श्रीमद् आनंद बोधेन्द्र सरस्वती प्रणीत

'श्रीवासिष्ठ महारामायण' (तात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्यासहित) का हिन्दी अनुवाद

स्थिति प्रकरण

पहला सर्ग

प्रसिद्ध चित्र से जगद्रूप चित्र की विलक्षणता
वर्णनपूर्वक सांख्य आदि के मतों का खण्डन कर ब्रह्ममात्रता का साधन।

उत्पत्ति प्रकरण में 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं) इत्यादि सृष्टि प्रतिपादक सब श्रुतिवाक्यों का अद्वितीय ब्रह्म में जगत के अध्यारोप प्रदर्शन द्वारा तटस्थलक्षणरूप से तात्पर्यदर्शनपूर्वक जगत और जीव के भेद का खण्डन कर प्रत्यग् ब्रह्मैकरसता का बोध कराया। अब 'येन जातानि जीवन्ति' (उत्पन्न होकर जिससे जीवित रहते हैं), 'येन द्यौः पृथिवी दृढा' (जिससे द्युलोक और पृथिवी दृढ़ हैं), 'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' (हे गार्गि, इसी अक्षर की आज्ञा में नियमित होकर सूर्य और चन्द्रमा अपना–अपना कार्य करते हैं), 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यादेष ह्येवानन्दयाति' (यदि यह सर्व साक्षिभूत हृदयाकाश में स्थित बुद्धि गुहा में निहित आनन्दरूप आत्मा न होता, तो कौन निश्वास क्रिया करता और कौन उच्छ्वास क्रिया करता, यही आत्मा लोक को आनन्दित करता है) 'भीषास्माद्वातः पवते' (इसके भय से वायु बहता है), 'एको दाधार भुवनानि विश्वा' (जो अकेले सम्पूर्ण भुवनों को धारण करते हैं), 'य एको जालवानीशत ईशनीभिः परमशक्तिभिः' (जो अद्वितीय मायावी ईशनीनामक परमशक्तियों से इन लोकों के ऊपर शासन करता है), 'अनुज्ञाता ह्ययमात्मास्य सर्वस्य स्वात्मानं ददाति' (अनुज्ञा करनेवाला यह आत्मा इस सब जगत को अपनी आत्मा देता है यानी अपनी सत्ता से सत्तावान करता है) इत्यादि वर्तमान जगत की स्थिति के निर्वाह का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों का और 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (हे सोम्य, सृष्टि के पहले यह सत् ही था), 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (यह जगत सृष्टि के पूर्व में अद्वितीय आत्मा ही था) इत्यादि प्रलयकाल में जगत की सत्ता के निर्वाह का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों का भी पुरुषों की बुद्धि की विचित्रता से उत्पन्न हुए विविध तात्पर्यों के उत्प्रेक्षण से युक्त भ्रान्तिजनित वैचित्र्य के निरास द्वारा सच्चिदानन्दैकरस ब्रह्म में सच्चिद्रूपता के उपपादन द्वारा और तटस्थ लक्षण के तात्पर्य के प्रदर्शन द्वारा विस्तारपूर्वक उपपादित ब्रह्मैक्यज्ञान को स्थिर करने के लिए स्थिति प्रकरण का आरम्भ करते हुए भगवान श्रीवसिष्ठजी उत्पत्ति प्रकरण के साथ स्थिति प्रकरण की संगति दर्शाते हुए कहते हैं :

हे श्रीरामचन्द्रजी, उत्पत्ति प्रकरण के बाद आप इस स्थिति प्रकरण को सुनिये। उत्पत्ति स्थिति में

हेतु है, इसलिए इन दोनों प्रकरणों की हेतु मद्भाव संगति है। *एककार्यत्वरूप संगति भी दोनों की है, ऐसा कहते हैं।* जो स्थिति प्रकरण ज्ञात होने पर निर्वाणपद (मुक्ति) देता है ॥१॥

जगदुत्पत्ति में मिथ्यात्व दर्शाने के लिए पहले जो युक्ति दिखलाई हैं, वे स्थिति प्रकरण में समान हैं, ऐसा अतिदेश से दर्शाते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार जगतरूप से स्थित इस सम्पूर्ण दृश्य को और अहम् को आप आकाररहित भ्रान्तिमात्र और असन्मय जानिये ॥२॥ साधारण अन्य चित्र का कोई कर्ता होता है, वह रंग आदि उपकरणों से बनता है, भीत आदि आधार में बनाया जाता है, पर यह जगद्रूप चित्र अन्य चित्रों से विलक्षण है। न तो किसी कूँची, रंग आदि उपकरणों से युक्त कोई चितेरा है, न उपादानभूत रंजक पदार्थ हैं, न कोई आधार है, यह चित्र आकाश में उदित हुआ है। जिसका अनुभव होता है, वह चित्र अपने से भिन्न द्रष्टा के रहने पर ही अनुभूत होता है। इससे अतिरिक्त कोई द्रष्टा नहीं है, इसलिए जगतरूप चित्र द्रष्टारहित अनुभवरूप है। निद्रा होने पर ही स्वप्न दिखाई देता है, पर यह जगद्रूप चित्र निद्रारहित स्वप्नदर्शन है ॥३॥ चित्त में स्थित भावी नगर के निर्माण की तरह यह उदित हुआ है। बन्दरों द्वारा शीत की निवृत्ति के लिए कल्पित गुंजाफल और गेरु आदि के कंकरों के संचय रूप अग्नि के ताप के तुल्य असद् होता हुआ भी कार्यकारी है। उससे भी बन्दरों की शीतनिवृत्ति होती है, यह ऐतिह्य प्रमाण से सिद्ध है इस आशयसे असद् होता हुआ भी कार्यकारी है, यह कहा ॥४॥ यह जगद्रूप चित्र ब्रह्म से अभिन्न है फिर भी जल में आवर्त के तुल्य ब्रह्म में अन्य सा स्थित है। यह जगद्रूप होता हुआ भी आकाश में सूर्य के प्रकाश के समान सर्वथा शून्य है ॥५॥ आकाश में दिखाई दे रहे रत्नों की कान्ति के समूह के तुल्य यह भित्तिरहित है। गन्धर्वों के नगर के समान दिखाई देता हुआ भी सदा आधाररहित है ॥६॥ मृगतृष्णा के जल के समान असत्य है; परन्तु सत्य के समान प्रतीति कराता है। मनोरथ कल्पित नगर के समान विस्तृत है, खूब अच्छी तरह अनुभव में आता है, किन्तु है असन्मय ॥७॥ कवियों द्वारा कल्पित कथा के पदार्थभूत नगर, पर्वत आदि अवयवों की प्रतीति के समान इसका स्वरूप है, यह किसी देश या काल में स्थित नहीं रहता, इसलिए असत् है। यह स्वप्न में देखे गये पर्वत के तुल्य सारहीन होता हुआ भी अत्यन्त दृढ़ है ॥८॥ यह जगद्रूप चित्र उलटकर रक्खे हुए इन्द्रनील मणि के बड़े भारी कड़ाहे के तुल्य देदीप्यमान भूताकाश के सदृश शून्यरूप है। शरत्काल के मेघ के तुल्य जब तक सामने रहता है तभी तक धूप के निवारण आदि में समर्थ, काटने के अयोग्य और अविच्छिन्न है ॥९॥ यह जगद्रूपी चित्र आकाशतल की नीलिमा के समान दिखाई देता हुआ भी वास्तविक नहीं है। स्वप्नांगना के रति के तुल्य भोगरूप अर्थक्रियाकारी होता हुआ भी असत्य है ॥१०॥ चित्रलिखित उद्यान के समान यह जगद्रूपी चित्र मकरन्द आदि से रहित होता हुआ भी सरस प्रतीत होता है। चित्रलिखित तेजरहित सूर्य और अग्नि के तुल्य प्रकाशमान स्थित है ॥११॥ अनुभव में आरूढ़ मनोराज्य के समान यह स्वतः असत्य है और फलतः भी अवास्तविक है। चित्रलिखित कमलों से पूर्ण तालाब के समान मकरन्द, पराग और सुगन्धि से रहित है। आकाश में स्फुरित हुए विविध वर्णोंसे युक्त, कल्पित आकारवाले, मूर्ति से रहित, चारों ओर से शून्य इन्द्रधनुष के समान यह जगद्रूप चित्र उदित हुआ है ॥१२-१३॥ परमात्मा के थोड़े से विचार से सूख रहा महाभूतरूपी कोमल पल्लवों से बनाया गया, जड़, सारहीन यह जगद्रूपी

चित्र वायु, सूर्य और मनुष्यों के थोड़े से आघात से सूख रहे कोमल पत्तों से रचित जलमय निःसार केले के खम्भे के तुल्य है ॥१४॥ नेत्र रोग से (रतौंधी से) देखे गये अन्धकार के चक्र के तुल्य जिसका रूप अत्यन्त असम्भावित है, ऐसा यह जगत्रूपी चित्र प्रत्यक्ष के तुल्य स्थित है। जल के बुद्बुदों के समान इसने अपने आकार की कल्पना कर रक्खी है। भीतर में यह शून्य है। इसका स्वरूप देदीप्यमान है। आपाततः रमणीय होता हुआ भी परिणाम में अत्यन्त कटु है। इसके जन्म और मरण अविच्छिन्न हैं ॥१५,१६॥ कुहरे के समान यह विस्तार युक्त है और गृहीत होने पर कुछ भी नहीं है। सांख्यवादियों ने केवल जड़रूप से इसकी कल्पना कर रक्खी है। वेदान्तियों ने इसको अविद्यारूप माना है। माध्यमिक इसे शून्य मानते हैं। योगाचार्य क्षणिक होने के कारण कालतः इसे परमाणु तुल्य मानते हैं। सौत्रान्तिक और वैभाषिकों के मत में कालतः और देशतः परमाणु तुल्य है। वैशेषिक और नैयायिक इसको केवल देशतः ही परमाणुवत् मानते हैं और जैनियों ने इसे अनियत स्वभाव परमाणु के तुल्य माना है। इस प्रकार वादियों ने इसकी विविधरूप से कल्पना कर रक्खी है ॥१७॥

बाह्य जगत में उक्त न्यायको आध्यात्मिक जगत में भी दिखाते हुए कहते हैं।

मैं किंचित् भूतमय हूँ, इस प्रकार शून्य और भौतिकरूप से स्थित, ग्रहण किया जाता हुआ भी असत् निशाचर के तुल्य यह जगद्रूप चित्र स्थित नहीं है ॥१८॥

यदि ऐसा है, तो जगत स्वतः तो सत्ता शून्य है, ब्रह्मसत्तासे जगत का कोई स्पर्श नहीं है, ऐसी अवस्था में 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि सत्कार्यवाही श्रुतियों का और उक्त श्रुतियों के अनुसारी व्यास, कपिल आदि के सूत्रों का सामंजस्य कैसे होगा ?

ऐसा समझते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं : हे भगवन्, बीज में अंकुर के समान महाप्रलय होने पर दृश्य पर (ब्रह्म) में रहता है, फिर उसीसे यह उत्पन्न होता है, इस प्रकार जो व्यास आदि ने कहा है, उसकी संगति कैसे होगी, यह आप कृपाकर मुझसे कहिये ॥१९॥ भगवन्, प्रलय में अपनी सत्ता से कारण में जगत है, इस प्रकार के बोधवाले कपिल आदि क्या अज्ञानी हैं अथवा ज्ञानी हैं ? यह बात मुझसे स्पष्टरूप से सब संशयों की शान्ति के लिए यथा योग्य कहिये ॥२०॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, महाप्रलय में बीज में अंकुर के तुल्य यह दृश्य रहता है ऐसी अज्ञान भरी बात जो कहता है, उसका यह जगत की सत्यता में दृढ़ विश्वासरूप बालकपन ही है ॥२१॥ आगे कही जाने वाली मेरी युक्तियों को सुनिये। उत्पत्ति के पहले कारण में कार्य है ऐसा जो कहता है, उससे पूछना चाहिये कि वह सामान्यसत्ता से है अथवा बीजादि की सत्ता से है या अंकुरादिकी सत्ता से है ? प्रथम पक्ष में उस अंकुरादिका किससे सम्बन्ध नहीं होगा। यानि सामान्यसत्ता सर्ववस्तु साधारण है, इसलिए उत्पन्न होनेवाले अंकुर आदि का सब वस्तुओं से सम्बन्ध प्राप्त हो जायेगा। यदि कहो, हमें दृष्टापत्ति है, तो खेत में अथवा अंकुरित बीज में देखा गया ही अंकुरादि वास्तविक है और कोठिला में रक्खे गये बीज में अथवा पत्थर के टुकड़े में यह अवास्तविक है, यह कैसे होगा ? दूसरे पक्ष में भी बीज सत्ता से अंकुरसम्बन्धका और घट, पटादि के सम्बन्ध का स्वरूपतः विलक्षणता का निरूपण न होने से जिसके साथ बीजका सम्बन्ध न हो ऐसी कौन सी वस्तु न होगी यानी धान आदि के बीज में सम्पूर्ण जगत की सत्ता प्राप्त होगी। यदि कहिये, इष्टापत्ति है, तो अंकुरित बीज में अंकुर आदि ही वास्तविक है; घट, पट आदि वास्तविक नहीं हैं, यह कैसे होगा ? तीसरे पक्ष में अंकुर

की स्वरूपसत्ता से बीजसम्बन्ध का और घट आदि के सम्बन्ध का भेदनिरुपण न होने से जिसके साथ अंकुरसत्ता का सम्बन्ध न हो, ऐसी कौन वस्तु होगी अर्थात् सर्वत्र अंकुर के सद्भाव का प्रसंग होगा, यदि इष्टापत्ति मानिये, तो बीज आदि में अंकुर आदि वास्तविक हैं अन्यत्र नहीं हैं, यह कैसे होगा ? दूसरी बात यह भी है कि साधारण सत्ता से असाधारण अंकुर आदि है, कारण सत्ता से कार्य है और कार्यसत्ता से कारण है। इन तीनों पक्षों में भी पूर्वोक्त उक्तिका सम्भव नहीं घटता, इसलिए यह बोध विपरीत ही है। यह श्रोता और वक्ता दोनों को मोह में डालनेवाला है ॥२२॥

बीज में अंकुर के समान प्रलय में जगत है, यह दृष्टान्त विषम है; क्योंकि कूटस्थचिदेकरस आत्मा में बीजत्व का ही सम्भव नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

बीज में अंकुर के तुल्य प्रलय में जगत है, इस प्रकार की प्रलय में जगत सत्ता का दृष्टान्त देने के लिए जो बुद्धि है, वह भ्रान्ति है। कैसे भ्रान्ति है ? यह यदि कहिये, तो सुनिये ॥२३॥ स्वयं दृश्य बीज चित्तादि इंद्रियों का गोचर है, इसलिए तुषसहित जवादि धान्यों में अंकुर आदि की उत्पत्ति उचित है। जो स्वयम्भू पदार्थ पाँच इंद्रियों और छठे मन का अगोचर है और अत्यन्त अणु है, वह जगतों का बीज होने में कैसे समर्थ हो सकता है। भाव यह है कि जिसमें बीजत्व ही दुर्घट हो, उसमें जगतकी स्वसत्ता से स्थिति तो बहुत दूर की बात ठहरी ॥२४,२५॥ आकाश से भी सूक्ष्म सम्पूर्ण नामों से रहित परमात्मामें बीजता कैसी और कैसे हो सकती है ? ॥२६॥

इस प्रकार तत्त्वदृष्टि से बीजत्व का परमात्मा में असम्भव कहते हैं।

वस्तुतः सदेकरस भी वह सूक्ष्म होने के कारण नहीं दिखाई देने से असत् के तुल्य प्रतीत होता है, इसलिए असत् ही है। इस प्रकार के परमात्मा में बीजता कैसे और बीज के अभाव में जगदंकुर की उत्पत्ति कैसे ? आकाश की अपेक्षा भी अत्यन्त सूक्ष्म शून्य उस परम पद में जगत, मेरु, समुद्र, आकाश आदि कैसे स्थित हैं ? ॥२७,२८॥ जो वस्तु कुछ भी नहीं है, उस वस्तु में कुछ भी कैसे रह सकता है ? यदि है तो वहाँ पर रहती हुई वह क्यों नहीं दिखाई देती ? 'अर्थात् आदेशों नेति नेति' इस श्रुति से सबके निषेधस्वरूप आत्मा से क्या वस्तु, कैसे और कहाँ से उत्पन्न होगी शून्यरूप घटाकाश से कहाँ, कैसे और कब पर्वत उत्पन्न हुआ यानी शून्यरूप घटाकाश से जैसे पर्वत का उत्पन्न होना असम्भव है वैसे ही सर्वनिषेधस्वरूप परमात्मा से इसकी उत्पत्ति का सम्भव नहीं है ॥२९,३०॥

चिदेकरससत्ता जड़ अनेकरससत्ता की विरोधिनी है, इसलिए भी चिदेकरससत्ता में जगतसत्ता की सम्भावना नहीं की जा सकती, ऐसा कहते हैं।

जैसे धूप में छाया नहीं रह सकती, जैसे सूर्य में अन्धकार नहीं रह सकता और जैसे अग्नि में हिम नहीं रह सकता वैसे ही अपनी विराधी चिदेकरससत्ता में जगत की सत्ता कैसे रह सकती है ? यानी नहीं रह सकती है ॥३१॥

भले ही भेद से परमात्मा में जगत की स्थिति न हो, उसके साथ अभेद से तो उसकी स्थिति होगी ही, ऐसा यदि कोई कहे, तो उस पर कहते हैं।

अणु में मेरु कैसे रह सकता है ? निराकार परमात्मा में यह जगत कैसे स्थित हो सकता है ? छाया और प्रकाश के तुल्य परस्पर भिन्न रूपों की एकता कहाँ हो सकती है ? ॥३२॥ साकार वटबीज आदि

में अंकुर है, यह बात तो युक्ति–युक्त है, लेकिन आकार रहित परमात्मा में यह विशालकाय जगत है, यह कहना तो अनहोनी है ॥३३॥

यहाँ पर यह विचार करना चाहिये कि सांख्यवादियों ने कारण में जगत की सत्ता की जो कल्पना कर रक्खी है, वह क्या लौकिक प्रमाण के बलसे कर रक्खी है अथवा 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इस श्रुति के बल से कर रक्खी है, पहला पक्ष ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जो बुद्धि आदि सम्पूर्ण इन्द्रियों की शक्ति से दृश्य यानी अनुभव के योग्य घट, पट आदि हैं, वे अपने अधिकरण देश से अन्य देश में या अपने अधिकरणकाल से अतिरिक्त काल में स्वयं द्रष्टा रहने या अन्यपुरुष के द्रष्टा रहने और न रहने पर तत्–तत् प्रकार के प्रत्यक्ष, अनुमान आदि बुद्धिवृत्तिरूप बोध में नहीं हैं यानी भासित नहीं होते हैं। अतः उक्त दृश्य के अदर्शन आदि के योग्य अनुपलब्धि से कुछ भी नहीं हैं यानी असत् ही हैं, ऐसा सब लौकिक प्रामाणिक कहते हैं, इसलिए प्रलय में जगत के सद्भाव की कल्पना सब लौकिकों की अनुपलब्धि से विरुद्ध है, यह भाव है ॥३४॥

दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतिवाक्य से विरोध होगा। यहाँ पर यह विचार करना चाहिये कि क्या कार्य ही सत् है, कार्य की सत्ता ही कारणता में आरोपित है, ऐसा श्रुति कहती है या कारण ही सत् है, कारण की सत्ता ही कार्य में आरोपित है, ऐसा श्रुति कहती है अथवा सत् ही सत् है, सत् की सत्ता ही कार्य और कारण दोनों में आरोपित है, ऐसा श्रुति कहती है ? तीन पक्षों में सांख्य का बोध यदि प्रथम पक्ष के अनुसार हो, तो वह भ्रम ही है, क्योंकि उस पक्ष में 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इत्यादि कार्य को असत् कहनेवाली श्रुति अनुकूल नहीं है और कारण को असत् कहने से अपने सिद्धान्त का भी बाध होता है, ऐसा कहते हैं।

कारण के गुणों के असत्य होने से वह महदादि कार्य किन कारणों से उत्पन्न होगा। जब कारण ही नहीं है तब कार्य उत्पन्न ही नहीं हो सकता। अतएव कारण ही सत् है कारण की सत्ता ही कार्य में आरोपित है, यह द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि कार्य के अभाव में तद्घटित तत्–तत् कारणता का निरूपण नहीं हो सकता। अतः परिशेषात तीसरा ही कल्प उचित है और युक्ति–युक्त भी है, ऐसा उत्तर श्लोक से कहते हैं ॥३५॥ इसलिए यानी कार्य और कारण के भेद की सत्यता श्रुतिसम्मत नहीं है। अतः सांख्यवादियों द्वारा कल्पित कार्यकारण भाव को उनके सहकारी कारण, निमित्त, प्रयोजन आदि भेदों के साथ दूर करके (ये असत् हैं यों खण्डन करके) जो कुछ अवशिष्ट आदि, मध्य और अन्त से रहित सन्मात्र वस्तु है, वही जगद्रूप से अब स्थित है उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है, ऐसा जानिये ॥३६॥

पहला सर्ग समाप्त

दूसरा सर्ग

युक्तियों से स्वरूपभेदवश जगत की स्थिति का खण्डन करके
अवशिष्ट पूर्णानन्दस्वरूपमात्र की स्थिति का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे ज्ञानियों में श्रेष्ठ श्रीरामजी, प्रलयकाल में इस जगत का पृथक् अस्तित्व मानने में दोषों को कहता हूँ।

यदि कोई शंका करे कि यदि प्रलय में जगत नहीं है, तो सृष्टि ही सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि उत्पत्ति क्रिया किसी कर्ता से होती है। कर्ता भी नहीं है। यदि कहिये ब्रह्म ही सत् होने से कर्ता है, तो वही उत्पन्न होगा न कि जगत उत्पन्न होगा। कूटस्थ ब्रह्म का उत्पत्ति आदि विकारों से सम्बन्ध नहीं हो सकता, इसलिए उत्पत्ति की सिद्धि के लिए प्रलय में जगत की सत्ता अवश्य माननी चाहिये, इस आशंका का अनुवाद कर खण्डन करते हैं।

सब कल्पनाओं से रहित निर्मल महाचिदाकाश में यदि जगदादि अंकुर है, तो प्रलय के बाद में किन सहकारी कारणों से वह उदित होता है, उन्हें आप कहिये। सहकारी कारणों के अभाव में जगद्रूप अंकुर की उत्पत्ति वन्ध्या की कन्या के समान किसी ने कहीं पर नहीं देखी है ॥१–३॥ यदि सहकारी कारणों के अभाव में भी रज्जुमें सर्पादि के समान जगद्रूपी अंकुर आविर्भूत हुआ है, ऐसा मानते हैं, तो हे श्रीरामचन्द्रजी, मूलकारण ही भ्रान्तिवश जगत्स्वभावता को प्राप्त हुआ है, वस्तुतः जगत की सृष्टि नहीं हुई है; इसलिए प्रलय में जगत की कल्पना व्यर्थ है ॥४॥

उक्त अर्थ को ही स्पष्ट करते हैं।

सृष्टि के आरम्भ में सृष्टि रूप से यथा स्थित निराकार ब्रह्म ही अपने स्वरूप में स्थित होता है, इसलिए जन्य–जनक सम्बन्ध कहाँ ? ॥५॥

यदि कोई कहे, प्रलय में सम्पूर्ण जगत की सत्ता का स्वीकार करने से सहकारी कारणों की दुर्लभता नहीं है, क्योंकि जगत के अन्तर्गत पृथिवी आदि से परस्पर का उपकार हो सकता है, इस शंका का खण्डन करते हैं।

यदि पृथिवी आदि अथवा अन्य कोई जगत की उत्पत्ति में उपकार करते है तो पृथिवी आदि की सहकारिकारणता पृथिवी आदि की उत्पत्ति के बाद होगी, ऐसी अवस्था में पृथिवी आदि की उत्पत्ति की सिद्धि होने पर उनकी सहकारिता की सिद्धि होगी और सहकारिता की सिद्धि होने पर उत्पत्ति की सिद्धि होगी, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष यहाँ पर उपस्थित है ॥६॥

इस प्रकार सांख्य आदि की कल्पना बालक की कल्पना के तुल्य है, यों उपसंहार करते हैं।

इसलिए प्रलयकाल में प्रकृतिसहित पुरुष में जगत तिरोहित रहता है और सहकारी कारणों द्वारा वह चित्त से आविर्भूत होता है, यह उक्ति बालक की ही है, विद्वान की नहीं ॥७॥

अन्य मत के खण्डित होने पर अब अवशिष्ट अपने सिद्धान्त को दिखलाते हैं।

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, जगत न तो था, न है और न होगा। चिदाकाश ही शीघ्र अपने में इस प्रकार स्फुरित हुआ है ॥८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जब इस जगत का अत्यन्त अभाव ही है, तब सम्पूर्ण जगत ब्रह्म ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है, यही श्रुति का तात्पर्य है ॥९॥ श्रुति के निषेध से पहले जगत के घट, पट आदि मुद्गर प्रहार आदि से नाश द्वारा और अन्य वस्तु के रूप से अन्योन्याभाव द्वारा जो शान्त होते हैं यानी 'यह इस समय नष्ट हो गया 'घट, पटादि यह नहीं है' इस प्रकार ग्रहण किये जा रहे अभाव को प्राप्त होते हैं, वे शान्त नहीं होते यानी वह उपशम नहीं; किन्तु तिरोहित होने से चक्षु आदि द्वारा दृश्यता का उपराममात्र है, क्योंकि चित्त में वासनारूप से वे शान्त होते ही नहीं है। इसी न्याय को प्रागभाव और अत्यन्त अभाव में भी लगाना चाहिये। अपनी सत्ता से अथवा ब्रह्मसत्ता से सत् घट आदि

की बाध के बिना कहीं पर भी असत्ता नहीं होती, क्योंकि मिट्टी का पिण्ड, भूतल आदि में घट के अदर्शन की तिरोधान से भी उपपत्ति हो सकती है ॥१०॥ जब दृश्य काम, कर्म, वासना आदि बीजों के साथ नष्ट हो जाता है तब इस जगत का आत्यन्तिक उच्छेद होता है। चित्त यदि रहे तो काम आदि भावनाओं का उच्छेद न हो सकने के कारण दृश्य शान्त होता ही नहीं, इसलिए ज्ञान के बिना दृश्यता कहाँ शान्त हो सकती है ? अर्थात् दृश्य की शान्ति दुर्लभ ही है। ॥११॥ दृश्य के उपशम में अधिष्ठान साक्षात्कार से दृश्य का सर्वथा बाध होना ही एकमात्र युक्ति है। इसके सिवा दूसरी युक्ति दृश्यरूप अनर्थ के क्षय में यानी मोक्ष में है ही नहीं ॥१२॥ जब जगत के तत्त्व के साक्षात्कार से चिदाकाश का बोध हो जाता है यानी बोधैकरस चिदात्मा ही है, अणुमात्र भी अचिद्रूप नहीं है, ऐसा परिनिष्ठित ज्ञान हो जाता है तब (देवदत्त नामक) विशिष्ट माता–पिता से उत्पन्न प्रत्यभिज्ञायमानदेह ही मैं हूँ, परकीय देह, दीवार आदि मैं नहीं हूँ, इस प्रकार लोक में प्रसिद्ध पामर जनों का व्यवहार चित्रकथा के तुल्य हो जाता है। अर्थात् जैसे दीवार में लिखा गया चित्र सभी की दृष्टि में परमार्थरूप से एकमात्र दीवाररूप ही है तथा चित्रगृह की दीवार में यह दीवार है, ऐसा व्यवहार नहीं होता वैसे ही यह पूर्वोक्त व्यवहार है ॥१३॥

पृथिवी आदि में भी चित्रकथान्याय को ही दर्शाते हैं।

ये पर्वत आदि, ये पृथिवी आदि, ये वर्ष आदि, यह कल्प, यह क्षण, ये जन्म–मरण, यह प्रलय का आडम्बर, यह महाकल्पान्त, पुराण आदि में प्रसिद्ध सृष्टव्य आकाश आदि का सृष्टिक्रम, ये कल्पों के लक्षण, ये वर्तमान करोड़ों ब्रह्माण्ड, ये अतीत करोड़ों ब्रह्माण्ड, ये पुनः उत्पन्न हुए करोड़ों ब्रह्माण्ड, ये चौदह प्रकार से भिन्न देव, मनुष्य आदि के भिन्न–भिन्न लोक, ये सप्त द्वीपआदि देशों की तथा कृत, त्रेता, द्वापर आदि कालों की कल्पनाएँ अनन्त, अनावृत महा चिदाकाश ही हैं। इस प्रकार से वर्णित चित्रकथा के न्याय से परमाकाश ही अपने में स्वयं स्फुरित होता है। वह यथा पूर्वस्थित और शान्त है। जैसे झरोखे के छिद्र से भीतर आये हुए परमाणुओं में सूर्य की प्रभा परिच्छिन्न है वैसे ही मन से निकले हुए करोड़ों ब्रह्माण्डों में परिच्छिन्न ये चित्त की प्रभाएँ हैं। जैसे आकाश में विस्तृत सूर्य प्रकाश में विभिन्न परमाणुओं के भ्रमण आदि नहीं दिखाई देते वैसे ही महाचितपरमाकाश में इनका भ्रमण नहीं दिखाई देता है ॥१४–१८॥

ऐसी अवस्था में मनरूप परिच्छेद से पीड़ित हुई चिति अपने अन्तर्गत जगत को मानों उगलती है, ऐसा कहते हैं।

चिति स्वयं ही अपने अन्दर विद्यमान जो जगद्रूप चमत्कार है, उसको उगलती है। वही सृष्टिरूप से प्रतीत होती है। यह रूपरहित और भित्ति रहित है ॥१९॥

स्फटिक शिला के भीतर नेत्र–दोष से दिखाई दे रही रेखाओं के तुल्य पदार्थ भेद नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे महाशिलाओं के अन्दर रेखाओं के अमिट स्वरूप दिखाई देते हैं वैसे ही ये सृष्टियाँ दिखाई देती हैं। न तो ये उत्पन्न होती हैं और न नष्ट होती हैं, न आती हैं और न जाती हैं ॥२०॥ जैसे निराकार आकाश में निराकार आकाशभाग स्फुरित होते हैं, वैसे ही निर्मल आत्मा में ये सृष्टियाँ अपने–आप स्फुरित होती हैं। जैसे आकाश से आकाश भाग की पृथक् सत्ता नहीं है वैसे ही आत्मा

की सत्ता से इन सृष्टियों की पृथक् सत्ता नहीं है, यह दर्शाने के लिए 'नभसीव' दृष्टान्त दिया है ॥२१॥ जल के द्रवत्व के समान, वायु स्पन्द के समान, समुद्र के आवर्तों के समान, गुणी के गुणों के समान, उत्पत्ति और विनाश से युक्त यह सारा जगत उक्त दृष्टान्तों के अनुसार सर्वत्र व्याप्त शान्त ब्रह्म ही विस्तृत है, भाव यह है कि जैसे द्रवत्व जल से पृथक् नहीं है, स्पन्द वायु से पृथक् नहीं है, आवर्त समुद्र से पृथक् नहीं है और गुण गुणी से पृथक् नहीं है वैसे ही यह उत्पत्ति विनाशशील जगत अनन्त, शान्त ब्रह्म ही है, उससे पृथक् नहीं है ॥२२,२३॥

ऐसी अवस्था में सहकारी कारणों के न रहने पर कर्ता के विद्यमान रहने पर भी उत्पत्ति आदि की सिद्धि नहीं होती है, अतः सांख्यों की जो कल्पना है, वह उन्मत्त की चेष्टा के तुल्य है, यों उपसंहार करते हैं।

उत्पत्ति के पहले पृथक्रूप से स्वीकृत भी पदार्थ सहकारी आदिकारणों के अभाव में शून्यकल्प प्रधान से उत्पन्न होता है, यह कथन उन्मत्तपुरुषों के फूत्कार के तुल्य है ॥२४॥ जिनका सम्पूर्ण पदार्थों की कल्पनारूपी कलंक दूर हो गया है, सब पदार्थों के स्वप्नदर्शन में कारण होने से विकल्परूपी शय्या जिन्होंने छोड़ दी है तथा जिन्होंने विकल्परूपी शय्या बिछानेवाली अविद्या को आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से हटा दिया है, ऐसे ज्ञानवान आप निर्भय तथा ब्रह्मवेत्ताओं की सभा भूमि को भूषित करनेवाले होइये ॥२५॥

दूसरा सर्ग समाप्त

तीसरा सर्ग

जगत की विवर्तरूपता का स्थापन करके बोधदृष्टि से उसके बाध का प्रदर्शन तथा
अज्ञ पुरुष की दृष्टि में जगत की अनन्तता का वर्णन।

यद्यपि बाह्य घट आदि पदार्थों की उत्पत्ति में उत्पत्तिकर्ता से अतिरिक्त सहकारी कारणों की अपेक्षा हो सकती है, तथापि जगत को आपने हिरण्यगर्भ के मनः संकल्प से जन्य उनकी स्मृति तथा मनोराज्य के तुल्य बतलाया है। स्वप्नराज्य में तो सहकारी कारण की अपेक्षा कहीं नहीं देखी गई है। इस तरह प्रलयकाल में अपनी सत्ता में छिपकर विद्यमान ही मनोरूप प्रजापति स्मृतिरूप ही उत्पन्न होता है, तो सहकारी कारणों के अभाव में जगत की उत्पत्ति में क्या विरोध है ? इस गुढ़ अभिप्राय से श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं :

भगवन्, महाप्रलय के अनन्तर सृष्टि के आरम्भ में सर्वप्रथम यह प्रजापति स्मृतिरूप उत्पन्न होता है। इसकी उत्पत्ति में सहकारी कारणों की अपेक्षा नहीं है, यह भाव है ॥१॥

यह ठीक है, परन्तु प्रलयकाल में जगत की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि स्वप्न, मनोरथ और स्मृति के विषयों की अपने काल में भी जब सत्ता नहीं रहती है, तब स्मृति के बल से प्रलयकाल में उसकी सत्ता की कल्पना नहीं हो सकती, इस गूढ़ अभिप्राय से ही श्री वसिष्ठजी अभ्युपगमपूर्वक समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी, महाप्रलय के बाद सृष्टि के आरम्भ में इसी तरह (जैसा कि

आप कहते हैं) यह जगत स्मृतिरूप ही है, पहले–पहल सर्वप्रथम प्रजापति स्मरणरूप से ही उत्पन्न होता है ॥२॥ इस कारण उसका संकल्पभूत यह जगत स्मृतिरूप ही है, प्रजापति का प्राथमिक संकल्प का नगर ही इस जगतरूप से भासित होता है ॥३॥

अस्तु, मन से अतिरिक्त बाह्यविकार विषयरूप से यह जगत भले ही सत्य न हो; परन्तु मनोविकाररूप से तो सत्य ही है, जैसे चित्रांकित घोड़ा मांसविकाररूप से सत्य नहीं है; परन्तु रंग के विकाररूप से तो सत्य ही है, श्रीरामचन्द्रजी की ऐसी शंका को लक्षणों से पहचान कर श्रीवसिष्ठजी कहते हैं।

सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा की स्मृति नहीं हो सकती है। भाव यह है कि स्मरणकर्ता के रहने पर स्मृति आदि मन के परिणाम हो सकते हैं। सांख्यवादियों द्वारा परिकल्पित प्रधान स्मृतिकर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि वह मिट्टी आदि की तरह अचेतन है। पुरुषों में भी स्मृतिकर्तव्य का सम्भव नहीं है, क्योंकि सांख्यवादियों ने उन्हें असंग, उदासीन एवं निर्विकार माना है। यदि पुरुषों में स्मृति का सम्भव नहीं है, तो परस्पर भेदक धर्म के न मानने के कारण भेद की सिद्धि न होने से परमात्मा के साथ उनका भेद होने से उनमें सुतरां स्मृति का सम्भव नहीं है। और *'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' इत्यादि श्रुतियों ने* परमात्मा के मन का निषेध किया है। मन के निषेध द्वारा स्मृतिकर्तव्य का भी निषेध सिद्ध हुआ। चूँकि स्मृति का जन्म ही असम्भव है और जन्म के अभाव से जन्ममूलक उसके विकार जगत का भी सम्भव नहीं है, इसलिए आकाश में महावृक्ष के तुल्य स्मृति के विकारभूत जगत कहाँ और कैसे हो सकते हैं ? ॥४॥

जैसे प्रतिदिन की सुषुप्ति है वैसे ही प्रलय भी है। सुषुप्ति अवस्था में लीन मन के जाग्रतकाल में आविर्भाव के तुल्य प्रलयकाल में लीन मन का सृष्टि के आरम्भ में आविर्भाव होने से तदव्यच्छन्न प्रजापति अथवा अन्य के स्मर्ता होने में क्या विरोध है ? इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं:

हे ब्रह्मन्, सृष्टि के आरम्भ में पूर्वकल्पीय स्मृति क्यों नहीं हो सकती ? महाप्रलय के प्रबल सम्मोह से पूर्वकल्पीयस्मृति कैसे नष्ट हो जाती है ? ॥५॥

श्रीरामचन्द्रजी के अभिप्राय का प्रकाशन करते हुए श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, क्या यह आपकी शंका हिरण्यगर्भरूप एक ही जीव अपने मन से अनेक जीव, शरीर आदिके भेद की कल्पना कर संसार को प्राप्त होता है। इस मन से है अथवा अनेक जीव अपने–अपने उपभोग के योग्य प्रपंच की कल्पना करते हुए अपनी बुद्धि के अनुसार सबकी सृष्टि करनेवाले हिरण्यगर्भ की भी कल्पना करते हैं इस मत से हैं। इस दोनों कल्पों में से द्वितीयकल्प में *'महाकल्पान्तसर्गादौ प्रथमोऽसौप्रजापतिः'* इत्यादि आपकी शंका के उपक्रम से विरोध है तथा प्रथम कल्प में बहुत श्रुतियों की अनुकूलता है, अतः प्रथम कल्प ही उचित होने से परिशिष्ट रहता है। इस पक्ष में जो पूर्वकल्पीय जीव तथा जगत महाप्रलयकाल में हिरण्यगर्भ की मुक्ति से मुक्त हो गये, वे सभी ब्रह्मीभूत हो गये। यदि अन्य कोई जीव अवशिष्ट रहा नहीं, तो हे सुव्रत, बतलाइये, पूर्वोत्पन्न कौन स्मर्ता है ? क्योंकि स्मर्ता के मुक्त हो जानेसे स्मृति निर्मूलता को प्राप्त हो गई है। इसलिए क्या स्मरणकर्ता के अभाव से किसी तरह स्मृति उत्पन्न हो सकती है ? महाप्रलय में सब लोग अवश्य मोक्ष के भागी हो गये, इसलिए इस सर्ग की सिद्धि नहीं हो सकती है ॥६–८॥ पूर्वकल्पीय सर्ग स्मृतिरूप ही हैं,

वे भी सिद्ध नहीं होंगे, इसलिए अनुभूत या अननुभूत स्वतःसिद्ध चिदाकाश में जिसकी आपने स्मृतिरूपसे आशंका की है, वह प्रौढ़ एवं दृश्य जगत्स्थितचित्प्रभा ही है और वह सदा स्थित है। यही सत्कार्यवादी श्रुतियोंका आशय है, यह भाव ॥९॥

उक्त अर्थ को ही स्पष्ट कहते हैं।

जो यह जगतरूप से और स्वयंभूरूप से (उत्पत्ति के पहले पृथक्सत्ता से माने गये पदार्थरूप से) स्थित है, वह अनादि, अनन्त प्रकाशमान यह चेतन की प्रभा ही भासित होती है ॥१०॥

अनादि काल से सिद्ध जो ब्रह्म के स्वरूप का भान है, वही ब्रह्माण्ड शरीर का उपादानकारण जगताकार सूक्ष्म शरीर है, वह परमात्मा ही है। इस तरह ब्रह्म ही सूक्ष्म-स्थूल भावों के आरोप के द्वारा जगद्रूप से भासित होता है, यह भाव है ॥११॥

जगत का स्वभाव अव्यवस्थित है, इसलिए भी जगत की सत्ता जगद्रूप से नहीं है, किन्तु ब्रह्मरूपसे ही है, इस आशय से जगत के अव्यवस्थित स्वभाव का उपपादन करते हैं।

जंगल, मेघ, आकाश आदि पदार्थों के सहित तथा देश, काल, क्रिया, द्रव्य, दिन और रात्रि के क्रम से युक्त ये तीनों जगत परमाणु में भासित होते हैं ॥१२॥ उस पूर्व परमाणु के अन्तर्गत अन्य विस्तृत परमाणु है, वह भी पूर्व परमाणु के सदृश ही है तथा उसमें भी वैसा ही जंगल, मेघ, आकाश आदिके साथ प्रकाशमान पर्वतसमूह आदि जगत भासित होता है। उस परमाणु के भीतर भी वैसा ही विस्तृत परमाणु है, उसमें भी उसी तरह जंगल, मेघ आकाशआदि से विस्तृत यह दृश्य जगत् भासित होता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, यह केवल भानरूप ही है। सत्य नहीं है ॥१३,१४॥

तत्त्वज्ञों के प्रति सन्मात्रदृष्टि जैसे स्वतः अनन्त है वैसे ही अज्ञों के प्रति असत्, अनृत जगत की दृष्टि संख्या से अनन्त है, यह कहते हैं।

हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह परम अभ्युदय यानी आत्मसाक्षात्कार को प्राप्त ज्ञानी के प्रति इस सद्दृष्टि का अन्त कहीं नहीं है और अज्ञ के प्रति इस असत् जगत की दृष्टि का अन्त कहीं नहीं है ॥१५॥

इसी सिद्धान्त को स्पष्ट करके दिखलाते हैं।

यह जगत् ज्ञानी के प्रति केवल, शान्त, अविनाशी ब्रह्म ही है और अज्ञों के प्रति बुद्धिमात्र से भासमान नाना लोकों से युक्त है ॥१६॥ ब्रह्माण्ड में वृद्धि को प्राप्त यह भासमान जगत जैसे भासित हो रहा है वैसे ही करोड़ों हजारों अन्यान्य जगत भी एक-एक अणु में भासित होते हैं ॥१७॥ जैसे स्तम्भ के (खम्भेके) अन्दर प्रतिमा रहती है, उस प्रतिमा के अंगों में भी प्रतिमा रहती है तथा उसके अंग में भी प्रतिमा रहती है, वैसे ही ब्रह्मस्तम्भ में अणु-अणु में त्रैलोक्यरूपी प्रतिमा है ॥१८॥ जैसे पर्वत में परमाणु पर्वत से अभिन्न तथा असंख्य हैं वैसे ही ब्रह्मरूपी महामेरुपर्वत में त्रैलोक्यरूपी परमाणु न तो उससे भिन्न हैं और न गिनने योग्य है यानी असंख्य तथा ब्रह्म से अभिन्न हैं ॥१९॥ यदि सूर्य आदि की किरणों में छोटे-छोटे परमाणुओं की गणना हो सके, तो चिद्रूप आदित्य में जो त्रैलोक्यपरमाणु उत्पन्न होते हैं, उनकी भी गणना हो सकेगी। अर्थात् वे सूर्यकिरणों में दिखाई देनेवाले परमाणुओं की तरह असंख्य हैं ॥२०॥

जैसे सूर्य की दीप्ति में, जल में तथा धूलिपुंज में परमाणु भ्रमण करते हैं वैसे ही चिदाकाश में त्रैलोक्यरूपी परमाणु भ्रमण करते हैं ॥२१॥

यदि कोई कहे कि निष्प्रपंच कूटस्थ ब्रह्म का सविकार सृष्टि रूप से भान कैसे होता है ? तो नीरूप, अशून्य आकाशका जैसे स्वरूपविरुद्ध शून्यरूप से या नीलरूप से भान होता है वैसे ही कूटस्थ ब्रह्म का भी सर्गरूप से भान होता है, ऐसा कहते हैं।

जैसे वास्तव में पूर्ण (अशून्य) और नीरूप इस भूताकाश का आवरणाभाव (शून्य) और असत्य नीलरूप से अनुभव होता है वैसे ही चिदाकाश का सर्गरूप से अनुभव होता है ॥२२॥ सृष्टिरूप में समझी गई यह सृष्टि अधोलोकको प्राप्त कराती है। श्रुति ने भी कहा है : 'उदरमन्तरं कुरुते अथतस्य भयं भवति' अर्थात् इस ब्रह्म में जो जरा सा भी भेद करते है यानी' यह अन्य है, मैं अन्य हूँ' ऐसा भेद देखता है, उस भेद के दर्शन से उस अनात्मदर्शी पुरुषको भय होता है। ब्रह्मरूप से समझी गई यह सृष्टि परम मंगलमय हो जाती है, क्योंकि 'तरति शोकमात्मवित्' (आत्मदर्शी पुरुष शोक को प्राप्त नहीं होता है) ऐसी श्रुति है ॥२३॥

जैसा कि नैयायिक परमात्मा को तटस्थरूप (निमित्तमात्ररूप) मानते हैं वैसे तटस्थ रूप से ज्ञात ब्रह्म क्या मंगलमय नहीं है ? नहीं, ऐसा कहते हैं।

जो विज्ञानस्वरूप जीव है और जो इस विश्व का परम कारण ईश्वर है, वे दोनों परमार्थ दृष्टि से परिशोधन करने पर पूर्ण, चेतन, एकरस, चिदाकाश ब्रह्म ही हैं। जिस ब्रह्म से बाह्य तथा आन्तर दोनों उपाधियाँ उत्पन्न हैं।' *(तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्यः)'* इत्यादि न्याय से जो जिससे उत्पन्न है, वह तद्रूप ही है, इस तरह सभी वेद्य प्रपंच को स्वात्मबोध होने पर शुद्ध, सम्बोधस्वरूप चिन्मात्र ही समझना चाहिये। भाव यह है कि परमार्थदृष्टि से जगन्मात्र को ब्रह्म जानने से ही मोक्षप्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं, क्योंकि 'उतरमन्तरं कुरुते' ऐसी श्रुति है ॥२४॥

तीसरा सर्ग समाप्त

चौथा सर्ग

इन्द्रिय युक्त मन ही जगत की स्थिति का मूल है,
उसका समूल उच्छेद होने पर दृश्य का असंभव देखने से जगत शून्य हो जाता है, यह कथन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इन्द्रियसमूह के ऊपर विजयप्राप्तिरूपी पुल से संसाररूपी सागर तरा जा सकता है, अन्य किसी भी कर्म से इसका तरण नहीं हो सकता है। ॥१॥

इन्द्रियों पर विजय पाने के लिए विवेक श्रेष्ठ उपाय है। विवेक की प्राप्ति में एकमात्र सज्जन और शास्त्रों में निष्ठा रखना उत्तम उपाय है, इस आशय से कहते हैं।

बार-बार शास्त्रपर्यालोचन और सत्संगति करने से विवेकशील और जितेन्द्रिय हुआ पुरुष इस दृश्य का अत्यन्त अभाव जानता है ॥२॥

किये गये इन्द्रिय विजय का प्रकृत में सम्बन्ध कहने के लिए पूर्वोक्त पदार्थ का पुनः स्मरण करते हैं।

हे रूपवान पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, ये संसार सागर की श्रेणियाँ जैसे प्राप्त होती हैं और विनष्ट होती हैं, वह सब स्वरूप मैंने आपसे कहा ॥३॥ इस विषय में बहुत कहने से क्या मतलब है, मन ही कर्मरूपी वृक्ष का अंकुर है। मन के नष्ट होने पर भोक्ता के भोग्य भोगाकार में परिणत विहित और

निषिद्ध कर्मरूप शरीरवाला जगतरूपी वृक्ष कट जाता है ॥४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, यह सारा जगत मन ही है। मन का प्रतीकार होने पर सब जगजंजालरूपी रोग का प्रतीकार हो जाता है ॥५॥

यदि कोई शंका करे कि मन की चिकित्सा होने पर भी देहाधीन सुख और दुःख होंगे ही ? उस पर कहते हैं।

जैसे मन का मननरूप ही स्वप्न कार्य में समर्थ होता है वैसे ही मन का देह के आकार से मननरूप ही देह, जो कि कार्य करने में समर्थ है, उत्पन्न होती है, भला बताइये तो सही, मन से भिन्नरूप से देह कहाँ दिखाई देती है ?॥६॥

तो मन की चिकित्सा के लिए कौन औषधि उपयुक्त है, ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

दृश्य की अत्यन्त असंभावना (बाध) के सिवा दूसरे किसी भी उपाय से मनरूपी पिशाच का विनाश एक कल्प में तो क्या सैकड़ों कल्पों में भी नहीं हो सकता है ॥७॥

यदि कोई शंका करे कि मनरूपी रोग आभ्यंतर है, दृश्य तो बाह्य है ऐसी अवस्था में बाह्य पदार्थों के अत्यन्त बाध से आभ्यन्तर मन की चिकित्सा कैसे हो सकती ? इस पर कहते हैं।

यह दृश्य का अत्यन्त अभावरूप सर्वोत्तम परम औषधि मनरूपी व्याधि की चिकित्सा में अमोघ उपाय है ॥८॥

बाह्य दृश्य का अत्यन्त अभाव मनकी चिकित्सा में कैसे उपाय होता है, इसे कहते हैं।

मन की आभ्यन्तरता और पदार्थों की बाह्यता वास्तविक नहीं है, किन्तु मन ही द्वैविध्यआदि की कल्पना द्वारा मोह को प्राप्त होता है, मरता है, उत्पन्न होता है यानी जन्म, मृत्यु, बन्ध, मोक्ष आदि की कल्पना करता है, अर्थात् विषयचिन्तन के प्रभाव से बन्धन में पड़ता है और आत्मतत्त्व के विचार के प्रताप से मुक्त होता है ॥९॥

यह कैसे प्रतीत हुआ ? ऐसा प्रश्न होने पर अन्वय-व्यतिरेक से हमने यह जाना है, यह कहते हैं।

जैसे विशाल आकाश में शून्य ही (असत् ही) गन्धर्वों का नगर स्फुरित होता है, वैसे ही विषयों के चिन्तन से वृद्धि को प्राप्त मन में यह सम्पूर्ण संसार स्फुरित होता है ॥१०॥

और विचार करने पर जगत मन का धर्म ही है, इसलिए धर्मी मन के निवृत्त होने पर वह रह नहीं सकता है, इस आशय से दृष्टान्तों को कहते हैं।

जैसे फूलों के गुच्छे में सुगन्धि स्फुरित होती है और उसमें रहती भी है वैसे ही मन में यह विशाल जगत स्फुरित होता है और रहता भी है, धर्मों में धर्मी का भेद वास्तविक में नहीं है, यह द्योतन करने के लिए अन्तिम श्लोक में इवकार है ॥११॥ जैसे तिलों में तेल रहता हैं अथवा जैसे गुणी में गुण रहता है या जैसे धर्मी में धर्म रहता है वैसे ही यह जगत चित्त में स्थित है। जैसे सूर्य में किरणों का समूह है, जैसे तेज में प्रकाश है और जैसे अग्नि में उष्णता है वैसे ही मन में यह जगत है। जैसे बरफ में ठण्डक है, जैसे आकाश में शून्यता है और जैसे वायु में चंचलता है वैसे ही मन में यह जगत है ॥१२-१४॥

मन और जगत का धर्मी और धर्मभाव अभेद होने पर भी धर्मी मन का नाश होने से ही जगत का नाश हो जाता है, विपरीतता से नहीं होता यानी धर्म जगत का नाश होने पर धर्मी मन का नाश नहीं होता, क्योंकि ऐसा ही लोक में देखा जाता है, इस आशय से उपसंहार करते।

मन ही सम्पूर्ण जगत है और सम्पूर्ण जगत ही मन है। वे दोनों सदा ही परस्पर अविनाभूत हैं। उन दोनों में से मन के अत्यन्त नष्ट होने पर जगत नष्ट हो जाता है, पर जगत के नष्ट होने पर मन नष्ट नहीं होता है ॥१५॥

चौथा सर्ग समाप्त

पाँचवाँ सर्ग

भृगु ऋषि के समाधिस्थ होने पर पर्वत पर खेल रहे शुक्राचार्य के,
अप्सरा को देखने पर, मोहवश प्राप्त अप्सरोभाव का वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, आप सकल धर्मों के ज्ञाता हैं, पूर्वापर के ज्ञाताओं में सर्वश्रेष्ठ हैं, इसलिए कृपया यह बतलाइये कि यह विशाल संसार मन में कैसे स्थित है ? ॥१॥ हे पुण्यचरित, प्रकाश हो रहा यह विशाल संसार जैसे मन में स्फुरित होता है वैसे स्पष्ट दृष्टान्त के प्रदर्शन द्वारा आप मुझसे कहिये ॥२॥

पूर्वोक्त ऐन्दव आदि के जगत ही इसमें दृष्टान्त हैं, ऐसा कहते हुए श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, जैसे स्थूल शरीर से रहित भी ऐन्दव ब्राह्मणों के मन में दृढ़ता को प्राप्त अनेक जगत स्थित थे वैसे ही यह जगत मन में स्थित है ॥३॥ इन्द्रजाल से व्याकुल चित्तवाले राजा लवण को जिस प्रकार चण्डालत्व प्राप्त हुआ था वैसे ही यह जगत मन में स्थित है ॥४॥

शुक्राचार्य का उपाख्यान का भी यहाँ पर दृष्टान्तरूपसे उपक्षेप करते हैं।

जैसे शुक्राचार्य की चिरकाल तक स्वर्ग के भोगों को भोगने की इच्छा से अप्सराओं के उपभोग में स्पृहा, संसारिता (अप्सराओं के भोग के लिए स्वर्गादि गमनरूप जन्मान्तर) एवं स्वर्ग में अप्सराओं का भोग हुआ वैसे ही यह जगत मन में स्थित है। श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, महर्षि भृगु के पुत्र शुक्राचार्य को स्वर्गीय भोगों को भोगने की इच्छा से अप्सराओं के उपभोग में स्पृहा और स्वर्गगमनरूप अन्य जन्म कैसे प्राप्त हुआ ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, प्राचीन काल में मन्दराचल के शिखर पर, जो कि तमाल के वृक्षों से खूब हरा भरा था, महर्षि भृगु और काल का जो संवाद हुआ था उसे आप सुनिये। प्राचीन काल में मन्दराचल के विविध फूलों से व्याप्त किसी एक शिखर पर भगवान श्री भृगुजी कठोर तपस्या करते थे। उनके पूर्ण चन्द्रमा के तुल्य सुन्दर, प्रकाश के समान दैदीप्यमान, तेजस्वी, महामति पुत्र श्री शुक्राचार्य, जो कि तब बालक ही थे उनकी सेवा–शुश्रूषा करते थे। महर्षि भृगु उस उत्तम वन में वहाँ के पत्थर को काट–छाँटकर बनाई गई प्रस्तरमूर्ति के सदृश निश्चल हो सदा समाधि में ही स्थित रहते थे। बालक शुक्राचार्य फूलों की शय्याओं में, चाँदी तथा सोने की वेदियों पर और मन्दाराचल के बड़े बड़े हिंडोलों पर खेलते थे। उस समय शुक्राचार्य जैसे राजा त्रिशंकु द्युलोक और पृथिवी के मध्य में स्थित हुए थे वैसे ही पारमार्थित आत्मतत्त्वदृष्टि और पामर आदि में प्रसिद्ध जगतसत्यतादृष्टि इन दोनों के बीच में स्थित थे, अतएव वे राग आदि से व्याकुल रहते थे, किसी समय जब कि उनके पिता श्री भृगुजी निर्विकल्प समाधि में बैठे थे, जिसने अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली हो, ऐसे राजा के तुल्य वे

अन्य विषयों से अविक्षिप्त चित्तवाले हुए। वहाँ पर उन्होंने जैसे भगवान ने क्षीरसागर के मध्य से मन्थन द्वारा उत्पादित श्री लक्ष्मीजी को देखा था वैसे ही क्षीरसागर के मध्य से मंथनपूर्वक उत्पादित आकाश मार्ग से जा रही एक अप्सरा को देखा। वह मन्दार की मालाओं से विभूषित थी, मन्द-मन्द वायु से उसके अलक हिल रहे थे, हार से उसका गमन झंकारसे पूर्ण था, उसने आकाशमें वायु को सुगन्धित कर दिया था, वह ऐसी सुन्दरी थी कि उसे यदि लावण्यरूपी वृक्ष की लता कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी, मद से उसके नेत्र चढ़े हुए थे तथा अपने शरीररूपी चन्द्रमा से उदित हुई किरणों से उसने उस प्रदेश को अमृतमय कर दिया था। उस सुन्दरी को देखकर शुक्राचार्य का मन, जिसने निर्मल पूर्ण चन्द्रमा देखा है, ऐसे समुद्र के शरीर के तुल्य उल्लास को प्राप्त हुआ और चंचल हुआ। वह अप्सरा भी शुक्राचार्य का मुख देखकर वैसे ही परवश हुई (मोहित हुई) ॥५-१८॥ शुक्राचार्यजी अप्सरा को देखने के पश्चात कामदेव के बाणों से घायल हुए मनको यथाशक्ति विवेक द्वारा समझा-बुझाकर यानी प्रेयसी के अनुसरण आदि शारीरिक व्यापारों को रोककर, एकाग्रता को प्राप्त करके भी एकमात्र अप्सरा में एकाग्रचित्त होने के कारण वे अप्सरा के रूप से अप्सरामय हो गये ॥१९॥

पाँचवाँ सर्ग समाप्त

छठा सर्ग

शुक्राचार्य का मन से स्वर्ग में गमन वहाँ पर इन्द्र का उन्हें सम्मान के साथ अपने समीप में बैठाना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, वहाँ पर नेत्र बन्द करके मन से उसी अप्सरा का ध्यान कर रहे अकेले श्री शुक्राचार्य ने आगे कहे जानेवाले इस मनोराज्यका आरम्भ किया ॥१॥ यह आकाशमें मेरे आगे आगे जा रही अप्सरा इन्द्रलोक जाती है। इसका अनुगमन कर रहा यह मैं स्वर्ग में, जो कि इधर-उधर घूमनेसे कुछ चंचल हुए देवताओं से बड़ा मनोहर है, आ पहुँचा हूँ ॥२॥ कोमल मन्दार के फूलों की शिरोमालाओं और कर्णफूलों से विभूषित ये देवता हैं, इनके शरीर बह रहे सुवर्ण के द्रव के समान सुन्दर है ॥३॥ प्रत्यक्ष देखे गये नीलकमलों के तुल्य जिनकी दृष्टियाँ हैं, मनोहर हास से विभूषित लतारहित शावाक्षी ये वे कान्ताएँ हैं ॥४॥ फूलों से बनाई गई मालाओं से जगमगा रहे, परस्पर एक दूसरे में प्रतिबिम्बित अतएव विश्वरूप सर्वाकार भगवान हरि के आकार के सदृश तथा खूब सन्तुष्ट और दीप्तिमान ये देववृन्द हैं ॥५॥ ऐरावत के कपोलों के मदजल की अतिसुगन्धि में भी आसक्तिरहित हुए (मदजल तक का त्याग करके) भँवरों द्वारा सुने गए, अत्यन्त मधुर और अस्पष्टध्वनि से गाये गये, ये देवताओं के गीत है ॥६॥ यह मन्दाकिनी है, इसके स्वर्णमय कमलों पर ब्रह्माजी के हंस और सारस घूम रहे हैं, तीर के उद्यानों में मुख्य-मुख्य देवगण विश्राम ले रहे हैं ॥७॥ ये यम, चन्द्र, इन्द्र, सूर्य, अग्नि, जल और वायु लोकपाल हैं, इन्होंने अपने शरीर की कान्ति से चारों ओर दीप्त अग्नि की ज्वालाएँ फैला रक्खी है ॥८॥ युद्धों में शस्त्रास्त्रों के प्रहारों से जिसका मुँह खुजलाया गया है ऐसा यह ऐरावत है, इसने संग्राम में अनेक दैत्यों को अपने दांतों में पिरो दिया था ॥९॥ ये भूतल से आकाशमें तारे रूप बने हुए विमान से चलनेवाले सिद्ध लोग है, जिनके शरीर और विमान की कान्तियाँ संचरणशील सुन्दर सुवर्णमय सी प्रतीत हो रही हैं ॥१०॥ मन्दार के फूल जिनमें व्याप्त हैं, ऐसी ये गंगा जल की लहरें है, इन्होंने

मेरुपर्वत के पत्थरों पर टकराने के कारण जल बिंदुओं से देवताओं को भर दिया है ॥११॥ ये इन्द्र के नन्दनवन की वीथियाँ हैं, गिरी हुई मन्दारमंजरी के गुच्छों से ये पीली हो गई हैं और अनेक अप्सराएँ इनमें झूला झूल रहीं हैं ॥१२॥ चन्द्रमा की किरणों की नाईं आनन्द देनेवाले शीतलता और मन्दता आदि से युक्त, कुन्द और मन्दार के मकरन्द से सुगन्धित ये पारिजात के वायु हैं ॥१३॥ फूलों, केसरों और हिम तथा मकरन्द के कणों और वस्त्रों को सुगन्धित करनेवाले परागों से जो एक दूसरे से परस्पर ताड़नरूप संग्राम है,उसमें आसक्त लताओं और अंगनाओं से व्याप्त यह नन्दनवन है ॥१४॥ सुन्दर गान की ध्वनि से आनन्दपूर्वक देवांगनाओं को नचानेवाले वीणा के समान मधुर स्वरवाले ये नारद और तुम्बरु ऋषि हैं ॥१५॥ ये अनेक पुण्यात्मा पुरुष हैं, जो विविध भूषणों से विभूषित होकर आकाश में उड़ रहे विमानों में स्थित हैं ॥१६॥ मद से उत्पन्न कामदेव से मत्त अंगवाली ये देवांगनाएँ जैसे वनलताएँ वन की सेवा करती हैं वैसे ही देवराज इन्द्र की सेवा कर रही हैं ॥१७॥ इन्द्रनील मणियाँ ही जिनके फूल हैं, चिन्तामणियाँ जिनके कलियों के गुच्छे हैं तथा पके हुए फलों के गुच्छों से लदे हुए ये कल्पवृक्ष हैं ॥१८॥ यहाँ पर सिंहासन पर विराजमान इन देवराज इन्द्र को, जो दूसरे त्रिलोकी स्रष्टा के (ब्रह्मा के) तुल्य हैं, मैं अभिवादन करता हूँ ॥१९॥ यह सोचकर उन शुक्राचार्य ने मन से ही शचीपति इन्द्र को आकाश में स्थित दूसरे महर्षि भृगु के तुल्य अभिवादन किया ॥२०॥ तदुपरान्त इन्द्र ने सिंहासन से उठकर शुक्राचार्य का आदरपूर्वक पूजन किया। उनका हाथ पकड़कर उन्हें अपने समीप में लाकर बैठाया ॥२१॥

हे श्रीशुक्राचार्य, यह स्वर्ग आपके शुभागमन से धन्य होकर सुशोभित हो रहा है, हे प्रभो, आप चिरकाल तक यहाँ निवास कीजिये, – यों शुक्राचार्य से इन्द्र ने स्वर्ग में रहने का अनुरोध किया ॥२२॥ तदुपरान्त सुन्दर मुखकमलवाले श्री शुक्राचार्यजी ने वहाँ पर बैठकर सोलहों कलाओं से युक्त निर्मल चन्द्रमा की शोभा को हर लिया ॥२३॥ सब देववृन्दों से अभिवन्दित एवं देवराज इन्द्र के समीप में बैठे हुए श्री शुक्राचार्य को चिरकालतक युक्त सन्तोष प्राप्त हुआ और वे नृपतियों में सर्वश्रेष्ठ देवराज इन्द्र के पुत्र आदि के तुल्य लालनीय हुए ॥२४॥

छठा सर्ग समाप्त

सातवाँ सर्ग

स्वर्ग में शुक्र का पुनः अपनी प्रिया को देखना और परस्पर के प्रेमाधिक्य से दोनों का संगम होना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त मनोराज्य के प्रभाव से शुक्राचार्य देवलोक में पहुँचकर अपने पुण्यप्रताप से मरण–दुःख के बिना ही अपने प्राक्तन भाव को (शुक्राचार्य को) भूल गये ॥१॥ इन्द्र के समीप में एक मुहूर्त भर विश्राम कर श्री शुक्राचार्य स्वर्ग में चलनेवाले देवताओं से उत्साहित होकर स्वर्ग में विहार करने के लिए उठ खड़े हुए ॥२॥ स्वर्ग की शोभा को और अपनी सुन्दरता को स्त्रीजनों की अत्यन्त अभीष्ट जानकर जैसे सारस कमलिनी को बेधने के लिए जाता है वैसे ही वे अप्सराओं के समूह को देखने के लिए गये ॥३॥ श्री शुक्राचार्यजी ने वन के मध्य में स्थित आम्रलता के समान वहाँ पर अप्सराओं के मध्य में बैठी हुई मृगनयनी उस पूर्वदृष्ट अप्सरा को देखा ॥४॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वह अप्सरा भी श्री शुक्राचार्य को देखकर मोहित हो गई और शुक्राचार्य भी

स्फुरित हो रहे चंचल हावभावरूपी विलासों से सराबोर आकारवाली उसको देखकर मोहित हो गए। जैसे चाँदनी को देखकर चन्द्रकान्तमणि के सब अवयव गलने लगते हैं वैसे ही उसे देखकर मारे पसीने के शुक्राचार्य के सब अवयव तर हो गये ॥५॥ पसीने से सराबोर शरीर वाले शुक्राचार्यजी ने उस सुन्दर अप्सरा को ऐसे देखा, जैसे कि चन्द्रकान्तमणि आकाश में शोभित होनेवाली शीतल चाँदनी को देखती है ॥६॥ रात्रि में वियोग होने के उपरान्त रोदन करनेवाली चक्रवाकी जैसे प्रातःकाल में चक्रवाक द्वारा देखी जाती है वैसे ही शुक्राचार्य के प्रति अनुरक्त वह भी शुक्राचार्य से देखी गई। अत्यन्त प्रेम होने के कारण उसकी शोभा का ठिकाना न रहा। परस्पर एक दूसरे पर अनुरक्त हुए सूर्य और कमलिनी की प्रातःकाल में जो शोभा होती है, वही उन दोनों की हुई ॥७,८॥ चूँकि स्वर्गरूप देश संकल्पित अर्थ को देनेवाला है, अतएव सम्पूर्ण अंग को विवश करके उसके द्वारा वह काम के लिए अर्पित हुई ॥९॥ जैसे कमलिनी के पत्तों पर मेघों की धाराएँ गिरती हैं वैसे ही उसके कोमल अंगो पर काम के एक-आध नहीं अनेकों बाण गिरे ॥१०॥ कामदेव से कम्पित तथा भँवर के तुल्य चंचलकंकणों से युक्त वह मन्द-मन्द वायु से हिलाई गई भँवरों से व्याप्त मंजरी के सदृश हुई ॥११॥ जैसे मदोन्मत्त हाथी कमलिनी को रौंद डालता है वैसे ही नीलकमल के सदृश नयनवाली तथा हंस और सारस के समान चलनेवाली उस सुन्दरी को कामदेव ने क्षोभित कर डाला ॥१२॥ तदनन्तर सफल संकल्पवाले शुक्राचार्य ने उस सुन्दरी की वैसी दशा देखकर जैसे रुद्र प्रलयकाल में अन्धकार का संकल्प करते हैं वैसे ही अन्धकार का संकल्प किया ॥१३॥ जैसे भूलोक के अन्धकार से लोकालोक पर्वत का तट भर जाता है वैसे ही शुक्राचार्य द्वारा संकल्पित अन्धकार से स्वर्ग का नन्दनवनरूपी प्रदेश भर गया ॥१४॥ लज्जारूपी अन्धकार के लिए सूर्यस्वरूप यानी लज्जारूपी अन्धकार का निवारण करनेवाली उक्त अन्धकार राशि के नन्दनवन में स्त्री पुरुषों के जोड़े के तुल्य स्थिरता को प्राप्त होने पर तथा उसकी सब सखियों के सायंकाल के समय भूलोक में चिड़ियों की नाईं उस प्रदेश से अपने-अपने अभिमत स्थानों में चले जाने पर बड़े-बड़े और चंचल नेत्रप्रान्तवाली तथा बढ़ी-चढ़ी कामपीड़ावाली वह जैसे मयूरी मेघ के समीप जाती है वैसे ही भृगुपुत्र श्रीशुक्राचार्य के समीप में आई ॥१५-१७॥ जैसे श्रीविष्णु भगवान क्षीरसागर में प्रवेश करते हैं वैसे ही शुभ्रभवन के मध्य में स्थित सजे-सजाये पलंग पर भार्गव ने प्रवेश किया ॥१८॥ वह सुन्दरी भी भृगुपुत्र के हाथों को पकड़कर वहाँ पर प्रविष्ट हुई। मारे लज्जा के नतवदन वह सुन्दरी ऐरावत के हृदय में लगी हुई पद्मिनीके समान सुशोभित हुई ॥१९॥ प्रेम और स्नेह से सराबोर वाणी से उसने यह मधुर वचन कहा। उसके उस मधुर वचन में प्रत्येक अक्षर आनन्द के विलास से व्याप्त था ॥२०॥

हे चन्द्रवदन, देखिये, यह कामदेव अपने धनुष को पूर्णरूप से तानकर मुझ अबला को पशोपेश में डाल रहा है ॥२१॥ इसलिए हे नाथ, आप मेरी रक्षा कीजिये। मैं अबला हूँ और दीन हूँ। आप ही यहाँ पर मेरे शरण हैं। हे सज्जनशिरोमणे, दीनों को आश्वासन देना सच्चरित्र लोगों का व्रत है, ऐसा आप जानिये ॥२२॥ हे महामते, स्नेहदृष्टि को न जाननेवाले मूढ़जन ही अत्यधिक प्रीति की अवहेलना करते हैं, रसज्ञ लोग कदापि प्रीति की अवहेलना नहीं करते हैं ॥२३॥ हे प्रियतम, एक-दूसरे पर अनुरक्त हुए स्त्री-पुरुषों का विच्छेद, अपराध गणना आदि की शंका से रहित उत्पन्न हुआ प्रेम, अमृत बरसानेवाले आनन्ददायक चन्द्रमा से बढ़-चढ़ कर है, जिलानेवाले और आनन्द देनेवाले एक दो नहीं हजारों

चन्द्रमाओं से भी प्रियतम का प्रेम बढ़ा-चढ़ा यह भाव है ॥२४॥ यह त्रिलोकी का ऐश्वर्य चित्त को वैसा आनन्द नहीं देता जैसा कि पहले-पहल अनुकृत हुए प्रियतमों का परस्पर आनन्द देनेवाला प्रेम सुख देता है ॥२५॥ हे सम्मान करनेवाले शुक्राचार्यजी, जैसे रात्रि में चन्द्रमा की किरणों से संस्पृष्ट कमलिनी विकास को प्राप्त होती है वैसे ही आपके चरणों से स्पर्श से यह मैं आश्वासन को प्राप्त हुई हूँ ॥२६॥ हे सुन्दर, जैसे चपलचकोरी चन्द्रमा की किरणों के रसपान से जीवित रहती है वैसे ही मैं आपके स्पर्शरूपी अमृतपान से जीवित हो रही हूँ ॥२७॥ हे प्राणनाथ, चरणों में लीन हूई इस भ्रमरी रूप मेरे हाथरूपी पल्लवों से आलिंगन कर आप मुझे स्नेह-दयारूपी अमृत से भरे हुए अपने कमलरूपी हृदय में धारण कीजिये ॥२८॥ यह कहकर कल्पवृक्ष की मंजरी के तुल्य जिसके नयनरूपी भँवर मद से घूम रहे थे, तथा फूलों के तुल्य कोमल अंगवाली शुक्र के वक्षस्थल पर गिर गई ॥२९॥ जैसे केसर से पीले हुए वायु से कम्पित पद्मिनी में परस्पर अनुरक्त भँवरी और भँवर प्रवेश करते हैं वैसे ही हावभाव आदि विलासों से अधिक कान्तिवाले वे दम्पती उन वनस्थलियों में प्रविष्ट हुए ॥३०॥

सातवाँ सर्ग समाप्त

आठवाँ सर्ग

स्वर्गीय विविध सुखों के भोग के अनन्तर भूलोक में आये हुए
शुक्र का वासनावश अनेक जन्मों का तथा तपस्विता का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्री रामचन्द्रजी, इस प्रकार चित्त के विलास से चिरकाल तक कल्पित प्रिय प्रणयों से अप्सरा का सुन्दर समागम श्री शुक्राचार्यजी की मनस्तुष्टि के लिए हुआ ॥१॥ मन्दार के फूलों की मालाओं से लदी हुई तथा देवताओं के उपभोग योग्य अमृत या मदिरा से मस्त हुई उस अप्सरा के साथ दूसरे निर्मल चन्द्रमा के तुल्य उक्त शुक्राचार्य ने मन्दाकिनी के तटों पर, जिनमें मदोन्मत्त हंस भ्रमण करते थे और सोने के कमल खिले थे, चारण और किन्नरों के साथ विहार किया ॥२,३॥ चन्द्रमा की कलाओं से निर्मित शरीरवाले देवताओं के साथ उस विलासी ने पारिजात की लताओं के निकुंजों में रसायन का पान किया ॥४॥ झूला झूलने के लिए व्यग्र हुई विद्याधरियों के साथ कुबेर के मनोहर चैत्ररथ नामक उद्यान में लीला के लिए लताओंसे बने हुए सुन्दर झूले से चिरकाल तक क्रीड़ा की ॥५॥ जैसे मन्दराचल समुद्र में अवलोडन करता है वैसे ही उसने श्री शिवजी के पार्षदों के साथ नन्दनवन के एक छोर से दूसरे छोर तक खूब परिभ्रमण किया ॥६॥ नूतन-नूतन सुवर्ण की लताओं से व्याप्त सुमेरू पर्वत की नदियों और भूमियों में उसने इस प्रकार भ्रमण किया जिस प्रकार कि उन्मत्त हाथी कमलों से भरे हुए तालाब में भ्रमण करते हैं ॥७॥ उस विलासी ने उस अप्सरा के साथ कैलासवन के कुंजों में श्रीशिवजी के मस्तक पर विराजमान चन्द्रमा से सदा (कृष्णपक्ष में भी) चाँदनी रातें शिवजी के गणों के गीतों के साथ बिताई ॥८॥ श्री शुक्राचार्य ने गन्धमादन पर्वत के ऊपर के शिखरों पर विश्राम लेकर उस सुन्दरी को सिर से लेकर पैर तक सुवर्ण के कमलों से विभूषित किया ॥९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, लोकालोक पर्वत के तटों के आसपास की भूमियों में, जो विविध आश्चर्यों से भरपूर थी, हँसते हुए उसने उस अप्सरा के साथ क्रीड़ा की ॥१०॥ मन्दराचल के मध्यवर्ती जलप्राय शीतल प्रदेशों में उसने मृगों के साथ अपने मन

से कल्पित देवमन्दिरों में साठ वर्षों तक निवास किया ॥११॥ स्त्री के साथ निवास करनेवाले श्री शुक्राचार्य का क्षीरसागर के तटों में श्वेतद्वीप के लोगों के साथ आधा सत्ययुग बीत गया ॥१२॥ गन्धर्वनगर के उद्यानों की क्रीड़ाओं के निर्माण से एकमात्र मनोरथ द्वारा अनन्त संसारों की सृष्टि का सर्जनहार होकर शुक्र काल की समता को प्राप्त हुआ ॥१३॥

तदनन्तर श्री शुक्राचार्य ने उस मृगनयनी के साथ पुनः स्वर्ग में सुखपूर्वक आठ चौकड़ियों तक निवास किया ॥१४॥ तदुपरान्त स्वर्ग से पतन के स्मरण के भय से जिनका दिव्य शरीर गल गया था, ऐसे श्री शुक्राचार्य पुण्यक्षय से उस सुन्दरी के ही साथ भूमि पर गिर पड़े ॥१५॥ जिनके सब दिव्य अंग–प्रत्यंग कट गये थे और विमान, नन्दनवन तथा वस्त्र, आभूषण आदि के उपभोग के साधन जिनसे छीने गये थे एवं चिन्ताग्रस्त श्री शुक्राचार्य युद्ध में मारे गये योद्धा की नाईं नीचे गिर गये ॥१६॥ दीर्घ चिन्ता के साथ भूमण्डल पर गिरे हुए उनके शरीर के शिला के ऊपर गिरे हुए झरने की धार के समान सौ टुकड़े हो गये ॥१७॥ उन दोनों के खण्ड–खण्ड हुए दो शरीरों के लिंग शरीर दुःख से मलिन होकर जिनके घोंसले नष्ट हो गये हों, ऐसे पक्षियों के तुल्य आकाश में घूमने लगे ॥१८॥ आकाश में वे दो लिंग शरीर चन्द्रमा की किरणों में प्रविष्ट हुए। तदनन्तर तुरन्त ओस की बूँद बनकर धान के रूप में परिणत हो गये ॥१९॥ पके हुए उन धानों को दशार्ण देश निवासी ब्राह्मण ने खाया। वह शुक्राचार्य वीर्य बनकर उस ब्राह्मण की भार्या का पुत्र हुआ ॥२०॥ ब्राह्मण के घर जन्म लेने के अनन्तर मुनियों के साथ संगति होने से घोर तपस्या में स्थित हुआ वह पुण्यवान एक मन्वन्तर तक मेरुपर्वत के गहन वन में रहा ॥२१॥ वहाँ पर उसका शापवश मृगी बनी हुई उस अप्सरा से नराकार पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र के स्नेह से वह फिर भी तुरन्त अत्यन्त मोह को प्राप्त हो गया ॥२२॥ मेरे इस पुत्र के धन हो, बड़े उत्तम गुण हों, बड़ी आयु हो इस प्रकार सदा बनी रहनेवाली चिन्ताओं से उसने ध्यान आदि की निष्ठा का परित्याग कर दिया ॥२३॥ पुत्र के लिए भोगों की चिन्ता से धर्म के चिन्तन से विमुख होने के कारण क्षीणायु हुए उसको मृत्यु ने ऐसे ग्रसा जैसे कि साँप वायु को ग्रसता है ॥२४॥ एकमात्र भोगों की चिन्ता के साथ उसके प्राणपखेरू उड़े थे, अतएव वह मद्रदेशाधिपति का लड़का बनकर समय आने पर मद्रदेश का शासक बना ॥२५॥ मद्रदेश में चिरकाल तक निष्कण्टक राज्य करके जैसे कमल हिमरूपी वज्र को प्राप्त होता है वैसे ही वह बुढ़ापे को प्राप्त हुआ ॥२६॥ तप की वासना के यानी वानप्रस्थ के धर्मचिन्तन के साथ उसने वह सुन्दर मद्रराज का शरीर छोड़ा था, इस कारण वह तपस्वी का लड़का और स्वयं तपस्वी हुआ ॥२७॥ हे श्रीरामजी, शान्ति आदि से राग आदिसन्तापों का निरास कर चुके उस महामति तपस्वी ने समंगा नाम की महानदी के तट पर पहुँचकर तपस्या की ॥२८॥ वह पूर्वोक्त शुक्राचार्य नाना प्रकार की वासनाओं से वासित होकर उन वासनाओं के अनुसार प्राप्त होनेवाली विविध जन्म दशाओं को प्राप्त कर, शरीर परम्पराओं का भलीभाँति अनुभव कर भाग्यवश प्राप्त हुई वैराग्य आदि की साधन सम्पत्ति से समंगा नाम की बड़ी नदी के सुन्दरतट पर विक्षेपशून्य हो, दृढ़ वृक्ष के समान यानी छेदन, भेदन आदि हजारों विक्षेप होने पर भी अचल रहने वाले वृक्ष के तुल्य स्थित रहा ॥२९॥

आठवाँ सर्ग समाप्त

नौवाँ सर्ग

भृगु ऋषि के समीप में स्थित मृतप्राय शुक्र शरीर के पतन और सूखने का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार पिता के आगे मनोराज्यों से कल्पना कर रहे श्री शुक्राचार्य का अनेक वर्ष का लम्बा समय बीत गया ॥१॥ इसके अनन्तर अधिक समय बीतने के कारण वायु और धूप से जर्जरित हुआ शुक्राचार्य का शरीर, जिसकी जड़ कट गई हो, ऐसे वृक्ष के तुल्य, पृथिवी पर गिर पड़ा ॥२॥ किन्तु चंचल शरीरवाले मन ने तो पुनः पुनः अपने से कल्पित स्वर्गगमन आदि–आदि विचित्र धाराओं में जैसे अत्यन्त विचित्र वनश्रेणियों में मृग भ्रमण करता है वैसे ही भ्रमण किया ॥३॥ उसके मन को, जिसने विविध भोगों की कल्पनाओं से भ्रमण किया, जन्म–मरण परम्पराओं की कल्पना से चक्र में रक्खे हुए की तरह व्याकुलतापूर्वक चारों ओर ऊपर नीचे चक्कर काटा, समंगा नदी के तट पर विश्रान्ति मिली ॥४॥

शुक्राचार्य अपने शरीर की कुछ भी परवाह न कर अनन्त वृत्तान्तों से भरी हुई मन की कल्पनामात्र होने के कारण अत्यन्त कोमल तथा यह सत्य है, इस भ्रान्तिवश पूर्व देह के विस्मरण से अत्यन्त दृढ़ उस संसार दशा का अनुभव करते रहे ॥५॥ उस धीमान का मन्दराचल के शिखर पर स्थित वह स्थूल शरीर ताप की अधिकता से सूखकर बाहर केवल चर्मशेष रहा और भीतर केवल हड्डी ही उसमें रह गई ॥६॥ वह शरीर अभिमान दुःख के क्षय से प्राप्त आनन्द के कारण शरीर के छिद्रों मे बह रहे वायु से, बाँस के छिद्रों में बह रहे वायु की वेणुध्वनि के तुल्य सीत्कारों से हुई काकली से (मीठी महीन तान से) देह की ऐसी गति होती है, यों देह की चेष्टाओं को मानों गाता था ॥७॥ वह शरीर संसार भूमियों में भोगाशारूपी गड्ढे में पूर्वोक्त रीति से गिरे हुए बेचारे मन का सफेद मेघों के सदृश सफेद दन्तपंक्ति से मानों उपहास करता था ॥८॥ वह शरीर मुखमण्डलरूपी अरण्य में पुराने अंधे कुओं के तुल्य नाक, आँख, मुँह आदि के गड्ढों की शोभा से जगत की स्वाभाविक असद्रूपता को (शून्यता को) विवेकी पुरुषों के चर्मचक्षुओं के सामने दर्शाता हुआ–सा स्थित था ॥९॥ पहले सूर्य संताप से तपाया गया, ताप से तपने के बाद वर्षाऋतु की मूसलाधार वृष्टि से सींचा गया वह शरीर मानों अपने बन्धुरूप पूर्व पूर्व शरीरों की परम्परा के स्मरण से उत्पन्न हुए दुःख से या आनन्द से बढ़नेवाले बाष्प को छोड़ता था ॥१०॥

चण्डालिन के (तेज आँधी के) विलास से वनभूमियों में इधर–उधर लुढ़कता था और वर्षाऋतु के आने पर वृष्टि की धाराओं के निपात से ताड़ित होता था, पर्वत की नदी के तट पर वर्षाऋतु के झरने के तुल्य गेरु आदि धातुओं के रंग से रंगा गया था, आँधी से उड़ी हुई धूलि से, जो पाप के सदृश थी, वह सना था। सूखे काठ के समान वह चंचल था, वायु बहने पर आकाश में भाँजने से उत्पन्न हुआ तलवार का सा शब्द करता था, तेज वायु की साँय–साँय से भरे हुए वन में मानों वह तपस्या करता था। वह शुक्राचार्य का शरीर टेढ़ा हो गया था, उसके आँतरूपी तन्तु सूख गये थे, वह प्राणियों को डरानेवाली भीषण ध्वनि करता था, वह अलक्ष्मी के तुल्य था, आहार से शून्य था, अतएव उसके पेट में केवल चमड़ा ही बच गया था ॥११–१४॥ उस पवित्र आश्रम में राग–द्वेष की कहीं गन्ध भी न थी और महर्षि भृगुजी महातपस्वी थे, अतएव शुक्राचार्य के शरीर को मांसाहारी पशु–पक्षियों ने नहीं खाया ॥१५॥

शुक्राचार्य का चित्त, जिसने कि यम और नियमों से अपनी शरीरयष्टि को कृश बना डाला था, तपस्या करता था और उनका वह पूर्वशरीर, जिसके रुधिर को वायु ने सुखा दिया था, बड़ी-बड़ी शिलाओं पर चिर काल तक बराबर लुढ़कता रहा ॥१६॥

नौवाँ सर्ग समाप्त

दसवाँ सर्ग

पुत्र का शरीर देखने से भृगुजी का कालके प्रति क्रोध तथा
काल का आत्मविद्या से भृगुजी को बोधित करना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर देवताओं के हजार वर्ष बीतने पर भगवान भृगुजी भगवान का साक्षात्कार करानेवाली समाधि से उठे ॥१॥ उन्होंने विनय से अवनत, सैकड़ों सद्गुणों के आकार, मूर्तिमान पुण्यके सदृश पुत्र श्री शुक्र को अपने आगे नहीं देखा किन्तु उन्होंने पुत्र के बदले अपने आगे देहधारी दुर्भाग्य के सदृश तथा मूर्तिमान दारिद्रय के तुल्य शुक्राचार्य का केवल महान देहपंजर (शव) देखा ॥२,३॥

उक्त नर कंकाल का ही वर्णन करते हैं।

धूप से उसका शरीर सूख कर काँटा हो गया था, उसके चमड़े के छेदों में तीतर फुदक रहे थे, उदररूपी गुहा की, जिसकी आँतें सूख गई थी, छाया में मेंढक आराम कर रहे थे, आँखों के गड्ढों में नये-नये कीड़े सटे थे, बच्चे देने से उनकी संख्या कहीं अधिक बढ़ गई थी और पसलीरूपी पिंजड़े में मकड़ियों के दल के दल गुँथे थे ॥४,५॥ वह कंकाल वर्षा की धाराओं से धोई हुई अँतड़ी से और खूब सूखी हुई हड्डियों की माला से भला और बुरा फल देनेवाली पूर्व काल की भोगवासना का अनुकरण करता था एवं सफेद, चिकने तथा चन्द्रमा के समान प्रकाशमान सिररूपी घड़े से कपूर से लिप्त शिवलिंग के सिर की शोभा का अनुकरण करता था ॥६,७॥ वह सीधी गर्दन से, जिसकी नसें सूख गई थी, एक मात्र हड्डी शेष रह गई थी एवं जो वासना से व्याप्त आत्मा का अनुसरण सा कर रही थी, अपने आकार को ऊँचा कर रहा था ॥८॥ वह कमल की जड़ के तुल्य सफेद नासिका के अग्रभाग की छोटी हड्डी से, जिसका कि वृष्टि धाराओं से मांस गिर गया था, मुँह में सीमा जानने के लिए गाड़े हुए पत्थर आदि के आकार को धारण करता था ॥९॥ वह कंकाल ऊँची गर्दन से, जिसने उसके मुँह को ऊँचा किया था, मानों आकाश में उठे हुए प्राणपखेरुओं को देख रहा था ॥१०॥ दीर्घ परलोकमार्ग के परिश्रम से उसे भय था, अतएव फूल कर दुगने हुए आठ अंगों से जाँघ, घुटनों, बाहुदण्डों और उरुओं से आठ दिशाओं के प्रति प्रस्थान करता हुआ सा वह स्थित था। भाव यह कि उनसे पृथक् होकर वह भागना चाहता था ॥११॥ अत्यन्त रिक्त, सूखे हुए एवं चमड़ा ही जिसमें शेष है, ऐसे उदर से अज्ञानी के हृदय की शून्यता को मानों वह दर्शा रहा था ॥१२॥ अपने दुःखरूपी हाथी के बन्धनस्तम्भ के तुल्य उस सूखे हुए कंकाल को देखकर पूर्वापर का विचार न करते हुए भृगु उठ खड़े हुए ॥१३॥ तदनन्तर पुत्र के कंकाल को देखते ही भृगु के मन में तुरन्त यह वितर्क उत्पन्न हुआ कि क्या मेरे लड़के के प्राण पखेरू चिरकाल से उड़ गये हैं ! ॥१४॥ अवश्यम्भावी वस्तु का विचार न कर रहे महर्षि भृगु को पुत्र को मरा देखकर तुरन्त काल के

प्रति बड़ा गुस्सा आया ॥१५॥

हे क्रूर काल, अकाल में ही तुमने मेरे पुत्र को क्यों मारा ? यों कुपित हुए भगवान भृगु काल को शाप देने के लिए तैयार हुए ॥१६॥ मुनिजी के शाप देने के लिए उद्यत होने पर लोगों को कवलित करनेवाला रूपरहित भी यह काल आधिभौतिक शरीर धारण कर मुनिजी के पास आया ॥१७॥ उसकी शोभा अद्‌भुत थी, उसके हाथ में खड्ग और पाश था, वह कुण्डलों से विभूषित था और कवच पहने था। प्रत्येक ओर उसकी छः भुजाएँ (बारह मासरूप बारह भुजाएँ) थी, छः (ऋतुरूपी) मुख थे, अपनी बड़ी भारी किंकरों की सेना से वह घिरा था। उस समय उसके शरीर से उत्पन्न हुई और चारों ओर फैल रही ज्वालाओं से फूले हुए पलाश के वृक्षों से पूर्ण पर्वत की शोभा को आकाश धारण करता था। उसके हाथमें स्थित त्रिशूल के शिखरों से बाहर निकल रही अग्नि की ज्वालाओं से, जो सुवर्ण के कुण्डलों के तुल्य प्रतीत होती थी, दसों दिशाएँ सुशोभित हुई ॥१८–२०॥ उसके तेज श्वासवायु से छिन्न–भिन्न शिखरवाले हुए पर्वत झूले में बैठे हुए की तरह इधर–उधर झूलते और चक्कर काटकर गिर पड़ते थे ॥२१॥ उसके तलवार के मण्डल की चमक से काला हुआ सूर्य का प्रतिबिम्ब प्रलयकाल में जले हुए जगत के धुएँ से व्याकुल हुआ सा मालूम पड़ता था ॥२२॥ हे महाबाहो श्रीरामचन्द्रजी, वह काल कुपित हुए भृगुजी के पास आकर प्रलयकाल में क्षुब्ध हुए समुद्र के तुल्य गंभीर स्वरसे शान्तिपूर्वक उनसे बोला ॥२३॥ हे मुनिजी, लोक की मर्यादा को जाननेवाले एवं पूर्वापर व्यवहारों को देखे हुए उत्तम लोग दूसरे से अपराध होने पर भी मोह को प्राप्त नहीं होते। अपराधरूप हेतु के न रहने पर तो कहना की क्या है ? ॥२४॥ भगवन्, आप महातपस्वी ब्राह्मण हैं। हम नियम का पालन करनेवाले हैं, हे साधो, आप पूज्य हैं, इसलिए हम आपकी पूजा करते हैं। शाप के भय आदि से उत्पन्न हुई इच्छा से हम आपकी पूजा नहीं करते ॥२५॥ हे बुद्धिरहित ❊ मुनिजी, आप तप का नाश न कीजिये। जो मैं प्रलयकालरूपी महाग्नियों से भी नहीं जलाया गया, उसको आप अपने शाप से क्या जलायेंगे ? ॥२६॥ हमने संसार की पंक्तियों की पंक्तियाँ निगल डाली हैं, करोड़ों रुद्र चबा डाले हैं, एक नहीं, हजारों विष्णुओं को ग्रस डाला है। हे मुनिजी, किस विषय में हम समर्थ नहीं हैं ? उसे जरा उदाहरणरूप से उपस्थित तो कीजिये ॥२७॥ हे ब्रह्मन्, हम लोग भोक्ता हैं और आप लोग हमारे भोजन हैं, यह स्वाभाविक मर्यादा है। इच्छा, द्वेष आदि किसी अन्य निमित्त से हम लोगों का यह भोग्य–भोक्तृत्व व्यवहार नहीं है ॥२८॥ अग्नि अपने–आप ऊपर की ओर चलती है जल स्वभावतः नीचे की ओर बहता है, भोजन स्वभावतः भोक्ता के पास आता है और विनाशकाल भी जितने जन्य पदार्थ हैं उनके पास स्वभावतः आता है ॥२९॥

यदि कोई प्रश्न करे कि आपकी यह सर्वभोक्तृता कहाँ से आई और आपका क्या स्वरूप है तो उस पर कहते हैं।

यह मूर्तामूर्त जगत परमात्मारूप मेरा यों भोज्यरूप से ही अपने में कल्पित रूप है, क्योंकि परमात्मा अपने में स्वयं ही जगतरूप से विकास को प्राप्त होता है, अतः स्वयं ही इसका उपसंहार करता है, यह भावार्थ है ॥३०॥

यह भी औपनिषदव्यवहार दृष्टि से कहा है, परमार्थदृष्टि से तो कहते हैं।

❊ बुद्धि के ज्ञान से बाधित होने के कारण हे अबुद्धे यानी हे अविद्यमान बुद्धे यों मुनि की प्रशंसा ही की है।

कलंकरहित दृष्टि से (परमार्थदृष्टि से) न तो यहाँ कोई कर्ता है और न कोई भोक्ता है, किन्तु कलंक युक्त दृष्टि से (कर्मकाण्डियों की दृष्टि से) यहाँ पर बहुत से कर्ता हैं ॥३१॥ हे ब्रह्मन्, कर्तृत्व और अकर्तृत्व असम्यग् दृष्टि पुरुष से केवल कल्पित हैं। आपको तो तत्त्वसाक्षात्कार हो चुका है। आपकी दृष्टि में कर्तृत्व और अकर्तृत्व हैं ही नहीं ॥३२॥

'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः'(भगवान मनुष्यों के कर्तृत्व और शुभाशुभ कर्मों की सृष्टि नहीं करते हैं) इत्यादि भगवान द्वारा प्रदर्शित पक्ष का अवलम्बन करके कहते हैं।

विविध वृक्षों में रंग-बिरंगे फूलों की तरह इन भुवनों में प्राणी स्वयं आते हैं और जाते हैं। इस विषय में कर्ता आदि शब्दों से काल ही कल्पित होता है ॥३३॥ जैसे जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के चलन में कर्तृता और अकर्तृता परमार्थ दृष्टि से उसका अभाव होने के कारण सत्य नहीं हैं और व्यवहारदृष्टि से संवाद होने के कारण वे असत्य भी नहीं हैं वैसे ही सृष्टियों में कालरूप परमात्मा के कर्तृत्व और अकर्तृत्व परमार्थदृष्टि से सृष्टि का अभाव होने से सत्य नहीं हैं और व्यवहार दृष्टि से असत्य भी नहीं हैं ॥३४॥ जैसे दूषित दृष्टिवाला पुरुष रस्सी में सर्पत्व की कल्पना करता है वैसे ही मन ने मिथ्याभ्रम में कर्तृत्व और अकर्तृत्व रूप कल्पना कर रक्खी है ॥३५॥ हे मुनिजी, पूर्वोक्त रीति से मेरे अपराध का संभव न होने से आप व्याकुल होकर कोप न कीजिये। आपत्तियों का ऐसा ही क्रम है। जो जैसा है वह वैसा होकर ही रहेगा, इसे आप सत्य समझिये ॥३६॥

राग, अभिमान आदि के कारण यदि मैंने आपके पुत्र का विनाश किया होता तो वैसी स्थिति में मुझमें अपराधिता हो सकती थी, पर वे मुझमें हैं ही नहीं, ऐसा कहते हैं।

हे पूज्य, भ्रान्ति से कल्पित ख्याति, पूजा आदि में अनुराग रखनेवाले हम लोग नहीं हैं और न अभिमान के ही वशीभूत हैं। आपके समीप में हमारा आगमन भी आपके क्रोध के भय से नहीं हुआ है किन्तु तपस्वियों का सम्मान करना चाहिए इस नियम के कारण ही हुआ है, हे तात, हम स्वयं भी अपने वश में नहीं हैं केवल नियति के वशमें स्थित हैं ॥३७॥

मेरी नियति की वशवर्तिता उचित है, क्योंकि सब प्राज्ञ पुरुष उसका अनुसरण करते हैं और आपको क्रोध, अभिमान और अज्ञान का वशवर्ती होना उचित नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

सब प्राज्ञ पुरुष जगत की मर्यादा के पालक ईश्वर की इच्छारूप महानियति के बल से आन्तर प्रकृतव्यवहारेच्छारूप नियति का अनुवर्तन करते हैं, अभिमानरूप महातम का अनुवर्तन नहीं करते ॥३८॥ व्यवहारचतुर पुरुषों को अपनी-अपनी उचित मर्यादा का अवश्य पालन करना चाहिये। आप तमोवृत्ति का अवलम्बन करके कदापि उसका नाश न कीजिये ॥३९॥ आपकी वह ज्ञानमयी दृष्टि कहाँ, वह महत्त्व कहाँ, वह धैर्य कहाँ ? सब प्राज्ञ पुरुषों के परिचित मार्ग में भी आप अन्धे की नाईं क्यों मोह में पड़े है ? ॥४०॥ हे मुनिजी, अपने कर्म के फल की परिणामरूप दशा का विचार न करके हे सर्वज्ञ, मूर्ख की नाईं आप मुझे व्यर्थ शाप देना चाहते हैं ॥४१॥ हे मुनिजी, आप क्या नहीं जानते हैं कि यहाँ पर सब प्राणियों के दो प्रकार के शरीर होते हैं। उनमें से एक स्थूल शरीर है और दूसरा मननामक सूक्ष्म शरीर है ॥४२॥ उनमेंसे देह अत्यन्त जड़ और थोड़े से भी निमित्त से नष्ट होनेवाला है एवं मन मोक्ष तक स्थिर रहनेवाला और प्रातिभासिक है। वही आपका मनरूप सूक्ष्म शरीर क्रोध आदिसे पीड़ित

हो रहा है ॥४३॥ हे सज्जनशिरोमणे, जैसे अभिमान से कुछ कर रहे चतुर सारथि द्वारा रथ चलाया जाता है वैसै ही अभिमान से 'इस प्रकार का' यों विशेषरूप जो नहीं कहा जा सकता, ऐसे आभ्यन्तर व्यापार को कर रहे मन द्वारा यह शरीर चलाया जाता है। जैसे बच्चा कच्चे मिट्टी के खिलौने को, जो विद्यमान नहीं है, बनाता है और पहले से बने हुए का नाश करता है वैसे ही यह मन असत् (अविद्यमान) देह का संकल्प करता है और पूर्व विद्यमान देह का नाश करता है ॥४४,४५॥ इस लोक में चित्त ही पुरुष है उसका किया हुआ ही कृत कहा जाता है। वह चित्त असत् संकल्परूप कल्पना से बद्ध है। कल्पना का विनाश होने पर विमुक्त हो जाता है। मन की देह कल्पना इस प्रकार है : 'यह देह है, इसमें स्थित यह अंग है, यह सिर है', यों विविध विकारों से वह मन ही इन रूपों में कहा जाता है। मनही पूर्व जीव से अन्य जीव की संज्ञावाला होता है। (एक ही मन जैसे पूर्वपूर्व जीव से अन्य जीव की संज्ञावाला होता है वैसा जीवटोपाख्यान में कहा जायेगा।) उसके बाद मन से संकल्पित अर्थ में निश्चय होने से मन बुद्धि होता है। मन ही अभिमान करने के कारण अहंकार होता है। इस प्रकार मन स्वयं ही नानात्व को प्राप्त होता है। मन देह की वासना से अन्य या अपने पार्थिव शरीरों को, जो कि विद्यमान नहीं है, इच्छा से देखता है ॥४६–४९॥

मन की यह देह आदि कल्पना आत्म–साक्षात्कार तक ही होती है, उसके बाद नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

यदि मन सत्य तत्त्व का साक्षात्कार करता है, तो उस समय असत्य शरीर भावना का त्याग कर परम निवृत्ति को प्राप्त होता है ॥५०॥

इस प्रकार भृगु को ज्ञानोपदेश देकर एकमात्र मनोविलास से किये गये उनके पुत्र के वृत्तान्त को कहते हैं।

आपके समाधि में स्थित होने पर आपके पुत्र का मन अपने मनोरथ के मार्ग से बहुत दूर चला गया। वह इस भार्गव शरीर का मन्दराचल की कन्दरा में त्यागकर स्वर्ग में ऐसे चला गया जैसै कि घोंसले से उड़ा हुआ पक्षी आकाश में जाता है। हे मुनिजी, वहाँ पर मन्दराचल के निकुंजों में, पारिजात वृक्षों के तले, नन्दनवन के उद्यानों में और लोकपालोंके नगरों में महातेजस्वी आपके पुत्र ने आठ चौकड़ी तक विश्वाची नामक अप्सराओं का ऐसे सेवन किया जैसे भ्रमर पद्मिनी का सेवन करते हैं ॥५१–५४॥

स्वर्ग की तरह पुण्य के क्षय से स्वर्ग से पतन भी मन की कल्पना से ही हुआ, इस आशय से कहते हैं।

तीव्र वेग से उत्पन्न अपनी कल्पना से कल्पित पुण्यक्षय रात्रि के कुहरे की तरह प्राप्त होने पर उसके पुष्पों की शिरोमालाएँ म्लान हो गयी। अंक के अवयवों का उल्लास धीमा पड़ गया। वह काल से पके हुए फल की नाईं उस अप्सरा के साथ स्वर्ग से गिरा। उस दिव्य शरीर का आकाश में ही परित्याग कर वह भूताकाश में आया। तदुपरान्त पृथ्वी में उत्पन्न हुआ ॥५५–५७॥ पहले वह दशार्ण देश में ब्राह्मण हुआ। तदनन्तर कोसल देश में वह राजा हुआ। उसके बाद महाटवी में वह धीवर हुआ। धीवरयोनि के उपरान्त वह गंगाजी के तट पर हंस हुआ। तदनन्तर सूर्यवंश में पौंड्र देश का राजा हुआ। सौरशाल्व देश में दूसरों को उपदेश देनेवाला मन्त्र सिद्ध हुआ। एक कल्प तक वह सुन्दर विद्याधर

हुआ। तदनन्तर वह सुन्दर बुद्धिमान मुनिपुत्र वासुदेव इस नाम से प्रसिद्ध समंगा नामक नदी के तट पर स्थित रहा। वासनावश और भी विचित्र और विषम अन्यान्य योनियों में आपका पुत्र भ्रमण करता रहा ॥५८-६१॥ फिर विन्ध्य पर्वत में वह किरात हुआ, तदनन्तर कैकट नगर में किरात हुआ। किरात योनि के वाद सौवीर देशमें वह सामन्त राजा हुआ। उस योनि में किये गये पापों से उसे तिर्यक्, स्थावर आदि अनेक जन्म भोगने पड़े, सामन्त होने के बाद त्रिगर्त देश में गधा हुआ। किरात देश में बाँस की कोठी हुआ। चीन के जंगल में हरिण हुआ, फिर ताड़ के वृक्ष में साँप हुआ। तमाल के वृक्ष में मृग हुआ ॥६२,६३॥ हे मुनिजी, आपके इस पुत्र ने मन्त्रवेत्ताओं में सर्वश्रेष्ठ होकर विद्याधर नगर में पहुँचानेवाली विद्या का पहले जप किया था। इसलिए हे ब्रह्मन्, यह आकाशमें श्रेष्ठ विद्याधर हुआ, जो कि हार, केयूर आदि भूषणों से एवं विविध लीलाओं से स्त्रियों को आह्लाद देने वाला हुआ ॥६४,६५॥ दूसरे कामदेव की नाईं नायिकारूपी नलिनियों को प्रकाशित करनेवाला विद्याधरियों का अत्यन्त प्रिय एवं गन्धर्व नगर का भूषण हुआ ॥६६॥ कल्परूपी अवधि को प्राप्त कर प्रलयकाल के एक साथ उदित हुए बारह आदित्यों की ज्योति में जैसे पतंगा अग्नि में भस्मता को प्राप्त होता है वैसे ही वह भस्मशेष हो गया। तदनन्तर जैसे घोंसले से रहित चिड़िया आकाश में घूमती है, वैसे ही उसकी वासना जगन्निर्माण रहित विशाल आकाश में घूमती थी। तदनन्तर समय पाकर विचित्र-विचित्र विविध कर्म करनेवाले संसार की सृष्टि के आरम्भ से युक्त ब्रह्मा का प्रातःकाल होने पर हे मुनिजी, आपके पुत्र की वह वासना वायु से परिचालित होकर सत्ययुग में ब्राह्मणता को प्राप्त होकर इस भूमण्डल में उत्पन्न हुई ॥६७-७०॥ हे मुनिजी, वह ब्राह्मण का कुमार वासुदेवनाम से उत्पन्न हुआ, विद्वान लोगों के बीच में उसने समस्त वेदों का अध्ययन किया। हे महामुने, एक कल्प तक विद्याधर होकर वह आपका पुत्र इस समय समंगा नदी के किनारे बैठ कर तप करता है ॥७१,७२॥ मुने, वह जिस जगत में विविध विषयों की वासनाओं के अनुवर्तन से खैर और करौंदे के काँटों से भीषण पर्वत की गुफाओं के तुल्यविभिन्न गर्भाशयों में तथा घनी लता और झाड़ियों से अत्यन्त व्याप्त वनस्थलियों में भी भटका ॥७३॥

दसवाँ सर्ग समाप्त

ग्यारहवाँ सर्ग

महर्षि भृगु के योगदृष्टि से भलीभाँति पुत्रवृत्तान्त प्रदर्शन से तथा
काल के संवाद से जगत की स्थिति मन का खेल है, यह वर्णन।

काल ने कहा : हे मुनिजी, समंगा नदी के तट पर, जहाँ बड़ी-बड़ी तरंगो की पंक्तियों की गंभीर ध्वनियों से वायु प्रतिध्वनित होते हैं, आपका पुत्र तपस्या कर रहा है। उसने जटा धारण कर रक्खी है, रुद्राक्ष की मालाओं के कंकण पहन रक्खे हैं और सब इन्द्रियों के अपने-अपने विषयों में भ्रमण को रोक दिया है। इस प्रकार की गतिविधि से युक्त वह आठ सौ वर्षों से वहाँ पर अटल तपस्या में स्थित है ॥१,२॥ हे मुनिजी, यदि आप पुत्रचरित्ररूप पुत्र के मनोभ्रम को, जो स्वप्न के तुल्य है, देखना चाहते हैं, तो योगदृष्टि को भलीभाँति खोल कर शीघ्र उसे देखिये ॥३॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जगतों के एकमात्र अधिपति सर्वत्र समदृष्टि कालके

यों कहने पर महर्षि भृगु ने योगदृष्टि से पुत्र के चरित्र का ध्यान किया ॥४॥ उन्होंने ध्यानवश एक क्षण में बुद्धिरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित पुत्र के वृत्तान्त को आदि से लेकर अन्त तक सम्पूर्ण देख लिया ॥५॥ फिर समंगा नदी के तट से आकर मन्दराचल के शिखर पर कालके आगे स्थित अपने स्वस्थ शरीर में भृगु ने प्रवेश किया (✎) ॥६॥ आश्चर्य से विकसित सुन्दर दृष्टि से राग–द्वेषशून्य काल को देखकर पुत्र के प्रति रागरहित हुए मुनि भृगुजी ने यह वचन कहा ॥७॥ हे भगवन्, हे भूत और भविष्य के अधिपति, हम लोगों का चित्त स्नेह आदि से मलिन है, इसलिए हम लोग अज्ञानी हैं। हे देव, आप जैसे त्रिकालज्ञ पुरुषों की ही बुद्धि भूत भविष्य और वर्तमान तीनों कालों को साफ–साफ देखती है ॥८॥ तरह–तरह के विकारों से भरी हुई और असत्य स्वरूपवाली यह जगत् स्थिति सत्य–सी प्रतीत होती हुई विद्वान को भी भ्रमयुक्त करती है ॥९॥

विषयभूत जगत–स्थिति की तरह कारणभूत मन का रूप भी हम लोगों के लिए दुर्ज्ञेय है, ऐसा कहते हैं।

हे देव, इस मनोवृत्ति का जो स्वरूप आपके अन्दर रहता है और इन्द्रजाल के तुल्य माया और मोह की सृष्टि करता है, उसे आप ही जानते हैं ॥१०॥ भगवन्, मेरे इस पुत्र की महाकल्प तक मृत्यु नहीं है ऐसा मुझे ज्ञात था। इसीलिए उसे मृत देखकर मुझे यह व्यामोह हुआ है ॥११॥ हे देव, मेरे पुत्र की आयु अभी क्षीण नहीं हुई है फिर भी काल उसे ले गया, इस प्रकार मेरी तुच्छ इच्छा भगवदिच्छा से उत्पन्न हुई ॥१२॥ हे विभो, यद्यपि हम लोग संसार की गति को भलीभाँति जान चुके हैं तथापि भगवदिच्छावश हम आपत्तियों और सम्पत्तियों के हर्ष और क्रोध के वशीभूत होते हैं ॥१३॥ भगवन्, अपकार या अनुचित कार्य करनेवाले व्याक्ति पर क्रोध करना चाहिए और उचित कर्मकारी पर प्रसन्नता प्रगट करनी चाहिए, इस प्रकार का नियम संसार में चिरकाल से चला आ रहा है, इसलिए मैंने आपके प्रति क्रोध किया है ॥१४॥ जब तक यह अवश्य करना चाहिए, यह नहीं करना चाहिए यों इष्ट और अनिष्ट साधनों का फल सत्य है, ऐसी प्रतीति रहती है तभी तक जगत की भ्रान्ति है, हे जगत्गुरो, इस समय उस भ्रान्ति का तत्त्वज्ञान से त्याग हो चुका है, इसलिए क्रोध और प्रसन्नता करना चाहिये, यह नियम भी हेय हो गये है। इस समय आप पर क्रोध करना अनुचित ही है ॥१५॥

पूर्व वर्णित रीति से अपराध के रहते भी क्रोध करना उचित नहीं है, यदि अपराध बिलकुल न हो, उसे अपराध मानकर क्रोध किया जाय, तो क्रोध करनेवाले को ही दण्ड देना उचित है, ऐसा कहते हैं।

भगवन्, केवल आपके एकमात्र नियम परिपालनरूप कार्य का विचार न कर यानी आप केवल नियम का परिपालन करते हैं किसी के प्रति राग–द्वेष से किसी का हनन नहीं करते इसका विचार न कर

(✎) यहाँ पर भृगु अपने शरीर से निकलकर उन–उन समंगातटपर्यन्त सब प्रदेशों में क्रमशः पुत्र के वृत्तान्त को देखकर फिर वापिस आकर अपने शरीर में प्रविष्ट हुए, ऐसी भ्रान्ति नहीं करनी चाहिये क्योंकि योगबल से अपने स्थान में सब कुछ देखा जा सकता है और निकल कर घूमने पर भूत और भविष्य वृत्तान्त का दर्शन योगदृष्टि के बिना नहीं हो सकता। इसलिए 'समंगा नदी के तट से आकर अपने शरीर में प्रविष्ट हुए' इस उक्ति का तात्पर्य उसके चिन्तन को छोड़कर उन्होंने केवल शरीर का संधान किया, इसमें समझना चाहिये।

जब हम आपके लिए क्रुद्ध हुए तब हम ही आपके दण्डनीय हो गये हैं ॥१६॥ हे देवाधिदेव, आपने इस समय मुझे मेरे पुत्र के चरित्र का स्मरण कराया है, इस कारण समंगा नदी के तीर पर योगदृष्टि से मैंने अपने पुत्र को देखा है ॥१७॥ इस जगत में मन ही भौतिक शरीर की कल्पना करता है, इसलिए सर्वत्र जानेवाले मन ही प्राणियों के स्थूल और सूक्ष्म शरीर है। मन से इस जगत की भावना होती है ॥१८॥ इस तरह विनयपूर्ण वार्तालाप से एवं अपने द्वारा उपदिष्ट सूक्ष्मतत्त्व के ग्रहण से काल सन्तुष्ट हुए थे, अतएव उनकी उक्ति की प्रशंसा करते हुए काल ने कहा : ब्रह्मन्, आपने मन ही शरीर है, ऐसा जो कहा है, वह बहुत ठीक कहा है, क्योंकि जैसे कुम्हार घड़े को बनाता है, वैसे मन संकल्प से देह का निर्माण करता है ॥१९॥ जैसे बालक अज्ञानवश अविद्यमान वेताल की कल्पना करता है वैसे ही मन संकल्प से पूर्व में नहीं बनाये गये आकार का क्षणभर में निर्माण करता है और पूर्वकृत आकार का क्षणभर में विनाश करता है ॥२०॥

मन की असत् पदार्थ के निर्माण की शक्ति सब लोगों के अनुभव से सिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

देखिये न भ्रम, स्वप्न, मिथ्याज्ञान आदि से भासुर तथा गन्धर्वनगर के तुल्य आकारवाली शक्तियाँ मन मे देखी गई हैं ॥२१॥ हे महामुनिजी, इस स्थूल दृष्टि की अवस्था का अवलम्बन कर पुरुष के मनरूप सूक्ष्मशरीर और स्थूल शरीर दो देह हैं, ऐसा कहा जाता है ॥२२॥

तब सूक्ष्म दृष्टि कौन है ? इस शंका पर कहते हैं।

हे मुनिजी, एकमात्र मनन से बने हुए ही ये तीनों जगत हैं, क्योंकि ये मन के सदृश ही न सत् हैं और न असत् हैं यानी मन के सदृश ही सत्त्व और असत्त्व से अनिर्वचनीय रूप से बड़े आटोप के साथ उदित हैं, ये मन से अतिरिक्त नहीं हैं ॥२३॥ जैसे अज्ञानवश आकाश में द्विचन्द्रता का उदय होता है वैसे ही चित्तरूपी देह की अवयवभूत लता के तुल्य फैल रही बढ़ी-चढ़ी भेदवासना से यह जगत्भेद उदित हुआ है ॥२४॥ भेदवासना से पदार्थ समूह को देख रहा मन सब जगह घट, गर्त, वस्त्र आदि को भिन्न-भिन्न देखता है ॥२५॥ मैं दुबला-पतला हूँ, मैं बड़ा दुःखी हूँ, मैं मूर्ख हूँ इन भावनाओं की तथा इनसे अतिरिक्त अन्यान्य अनेक भावनाओं की भावना कर रहा मन अपने ही विकल्प से आविर्भूत हुई संसारिता को प्राप्त होता है ॥२६॥

मन का संसार में आने का क्रम दर्शा कर अब मन की संसार से निवृत्ति का उपाय कहते हैं।

मनन मेरा बनावटी रूप है, कारण कि यह मैं मन ही हूँ, इस प्रकार बनावटी रूप के परित्याग से चित्त शान्त सनातन ब्रह्म ही है। कृत्रिम मननरूप का त्याग करने पर अकृत्रिम स्वरूप स्थिति स्वयं अर्थतः प्राप्त है, यह तात्पर्य है ॥२७॥ जैसे फैली हुई अनेक लहरों से भरपूर, अनेक बड़े-बड़े कल्लोलों से शोभित होने वाले तथा दूरगमनरूप स्पन्दन होने के कारण स्पन्दनरहित विशाल समुद्र में, जो जलमय, सम, स्वच्छ, शुद्ध, स्वादु, शीतल, अविनाशी विस्तारयुक्त महामहिमाशाली और प्रत्यक्ष है, छोटी तरंग अपने स्वभाव के अनुसार अपने स्वरूप की भावना करती हुई अपने विकल्प से मैं छोटी हूँ, ऐसी भावना करती है। बड़ी तरंग अपने स्वभाव से अपने स्वरूप की भावना करती हुई अपने विकल्प से मैं बड़ी हूँ, ऐसी भावना करती है , छोटी तरंग पाताल की भावना करती हुई मेरा स्वरूप परिभ्रष्ट हो रहा है, यों पतन के भय से अपनी उक्त भावना वश तटभूमि को प्राप्त होती है। उत्पन्न होकर थोड़े समय

के बाद मैं भोगयोग्य जन्म को प्राप्त हुई हूँ, ऐसा अभिमान करती हुई भाग्यवश पर्वत की नाईं उज्जवल मणियों की किरणों से विभूषित होकर दीप्त कान्ति से शोभा पाती है। मैं भूषित हूँ, यों समझकर प्रसन्न होती है, यह अर्थ है ॥२८–३३॥

उसकी और भी अनेक हर्ष और भय की अवस्थाओं को दिखलाते हैं।

चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब में उपाधिरूप से स्थित होकर उक्त तरंग अपने को शीतल समझती है, तटवर्ती पर्वत की वनाग्नि के प्रतिबिम्ब से युक्त वह जलते हुए स्वरूपवाली होकर मैं जल गई हूँ, यों समझकर भयभीत होती है और मौन धारण कर काँपती है। समुद्र के तटवर्ती पर्वत के तटों के परों के तुल्य वनवृक्ष जिसमें प्रतिबिम्बित हैं, ऐसी वह तरंग राज्यप्राप्तिरूप फलवाले कार्याडम्बर से मैं कृतार्थ हूँ, यों सुशोभित होती है। अपने स्वरूप में घुस रहे चंचल वायु से खूब तहस-नहस अतएव चंचल शरीरवाली वही तरंग मैं टुकड़े-टुकड़े हो गई हूँ, यों रोती हुई सी ध्वनियुक्त होती है ॥३४–३७॥

दृष्टान्त में पूर्वोक्त रीति से आरोप कह कर अपवाद दिखलाते हैं।

जलसमूहरूप सागर से वे तरंगें पृथक् नहीं हैं, इनका न तो सन्मय और न असन्मय कोई एक रूप है और न ह्रस्व, दीर्घ आदि गुण उनमें हैं और न उन गुणों में तरंगें ही हैं ॥३८॥ तरंगें समुद्र में स्थित नहीं हैं। 'समुद्र में स्थित नहीं है' ऐसा जो कहा गया है वह ठीक नहीं है, क्योंकि अधिष्ठानरूप से समुद्र में उनकी सत्ता है, विर्वतरूप से तो प्रतियोगी की सिद्धि न होने से ही उनके अभाव की सिद्धि नहीं होती। तब वे तरंगें क्या हैं ? इस शंका पर कहते हैं कि केवल अपने स्वभाव में स्थित संकल्प से कल्प ली गई हैं यानी परिच्छेदकृत भेद से कल्पित हैं ॥३९॥ ये तरंगें नष्ट होकर फिर उत्पन्न होती हैं, उत्पन्न हो-होकर फिर-फिर समुद्र में नष्ट होती हैं, परस्पर के सम्मेलन से अत्यन्त भेद को प्राप्त नहीं होती हैं। वे एकमात्र जलमय और निर्विकार ही हैं। वैसे ही इस सर्वव्यापक, ज्योतिस्वरूप, शुद्ध, निर्विकार, एकमात्र निरंकुश बृहणस्वभाववाले अतएव 'ब्रह्म' शब्द से पुकारे जानेवाले परिपूर्णरूप सर्वशक्तिसम्पन्न, जन्म-नाशशून्य परम तत्त्व में आश्चर्यपूर्ण विचित्र जन्म-मरण आदि व्यापारों से चंचल जगत, जो उससे पृथक् नहीं है, पृथक् के तुल्य स्थित हैं। विविध विचित्र शक्तिवाला ब्रह्म ही अपने शरीर में भिन्नता को प्राप्त होता है ॥४०–४३॥ जैसे जल में अनेक लहरें वृद्धि को प्राप्त होती हैं वैसे ही ब्रह्म में ब्रह्म ही जगत रूप से वृद्धि को प्राप्त हुआ है। स्त्री, पुरुष और नपुंसक रूप से ब्रह्म ही परिवर्तित होता है।४४॥ ब्रह्म से भिन्न जगत नाम की न तो कोई कल्पना कभी थी, न है और न होगी। जगत का ब्रह्म से रत्तीभर भी भेद नहीं है ॥४५॥ यह सब ब्रह्म ही है, जगत एकमात्र ब्रह्म ही है, ऐसी भावना प्रयत्नपूर्वक कीजिये और सबका परित्याग कीजिये ॥४६॥

अन्य के परित्याग में उपायरूप से सबके अधिष्ठान सन्मात्र का बोध कराते हैं।

नानारूपवाली होने पर भी एकरूपवाली, अपने सैकड़ों विकृतरूप धारण करनेवाली होने पर भी सदा सर्वत्र एकरूपवाली सत्ता पदार्थों में अधिष्ठानरूप से विद्यमान है ॥४७॥

यदि कोई शंका करे कि जड़ और अजड़ पदार्थों में अधिष्ठानरूप से विद्यमान सत्ता सदा सर्वत्र एकाकार कैसे हो सकती है ? तो इस पर चित्त द्वारा कल्पित जड़ और अजड़ के विकल्पों से सन्मात्र की एकरूपता की क्षति नहीं हो सकती, इस आशय से कहते हैं।

चिदाभास के चित्त को प्राप्त होने पर उससे व्याप्त अहंकार को ही आत्मरूप से तथा उससे अतिरिक्त को अनात्मरूप से मान रहा मन अनाध्यात्मिक जड़ है और आध्यात्मिक अजड़ है, ऐसा भेद करता है। यह चित्त की भेदवासनारूपिणी शक्ति यदि अधिष्ठानसन्मात्र से अतिरिक्त मानी जाय, तो मिथ्या हो जायेगी, इसलिए वह आत्मा का स्वरूप ही है, इसलिए सत्ता की एकरसता की हानि नहीं हैं ॥४८॥

इस प्रकार पूर्ववर्णित दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक की समता अक्षुण्ण रही, ऐसा कहते हैं।

हे निष्पाप मुनिजी, इससे सिद्ध हुआ कि जैसे पूर्ण सागर ही भाँति-भाँति की लहरों, आवर्तों और बुद्‌बुदों से विकसित होता है, वैसे ही ब्रह्म ही विशाल आकारवाले इस जगत रूप से विकसित होता है ॥४९॥ जैसे समुद्र के जल में समुद्र का जल विविध प्रकार की गतिविधियों से अपने आप भेद को प्राप्त करता है वैसे ही आत्मा में आत्मा ही अपने-आप ही नाना प्रकार के विचरणों से नानात्व (भेद) को धारण करता है ॥५०॥ जैसे विविध आकार-प्रकार की लहरें जल से भिन्न नहीं है, वैसे ये समस्त कल्पनाएँ परमात्मा से भिन्न नहीं है ॥५१॥ जैसे एक बीज में शाखा, फूल, लता, पत्ते, फल, कली की स्थिति है, वैसे ही परमात्मा में सदा सर्वशक्तिता विद्यमान है ॥५२॥

परिणामवाद के दृष्टान्तों से ब्रह्म से जगत की अभिन्नता का उपपादन कर अब विवर्तवादमें प्रसिद्ध दृष्टान्त से भी ब्रह्म-जगत के अभेद का उपपादन करते हैं।

जैसे तेज धूप में विचित्र वर्णता दिखाई देती है, वैसे ही परमात्मा में सदसन्मयी विचित्रशक्तिता है ॥५३॥ जैसे एक रंग के मेघ से रंग-बिरंग के इन्द्रधनुष की उत्पत्ति होती है वैसे ही विचित्रतारहित, कल्याणमय परमात्मा से विचित्ररूपवाली यह जगत्स्थिति उत्पन्न होती है ॥५४॥

चेतन से अचेतन की उत्पत्ति में भी परिणामवाद और विवर्तवाद इन दोनों वादों के अनुरूप दो दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे चेतन मकड़ी से अचेतन मकड़ी के जाले की उत्पत्ति होती है और जैसे चेतन पुरुष से स्वप्न के रथ आदि उदित होते हैं, वैसे ही अजड़ परमात्मा से जड़ता की भावनावश जड़ता उदित होती है ॥५५॥

यदि कोई शंका करे कि जब चित् का एक रूप है, तब उसके कार्यभूत अचित् में भेद कैसे सिद्ध हुआ ? इस पर कहते हैं।

जैसे रेशम का कीड़ा अपने बन्धन के लिए तन्तुओं का लच्छा फैलाता है, वैसे ही आत्मा अपने बन्धन के लिए अपनी इच्छानुसार अचित् चित्त की वासना की विचित्रता का विस्तार करता है ॥५६॥ हे ब्रह्मन्, जैसे रेशम का कीड़ा तन्तुजाल की रचनाकर अपने कठिन बन्धन की स्वयं रचना करता है, वैसे ही यह आत्मा अपनी इच्छा से अपने स्वरूपकी विस्मृति की भावना कर अपने कठिन बन्धन की सृष्टि करता है ॥५७॥ जैसे हाथी अपने बन्धनस्तम्भ से छुटकारा पाता है वैसै ही आत्मा अपनी इच्छा से अपने पूर्ण स्वरूप का अनुभव कर संसार से मुक्त होता है ॥५८॥ आत्मा सदा जैसी भावना करता है, स्वयं वैसा हो जाता है और महान होता हुआ भी मन की शक्ति से वैसा पूर्ण हो जाता है ॥५९॥ जैसे वर्षा ऋतु का विपुल कुहरा सम्पूर्ण आकाश को अपने रूप में रंग देता है वैसे ही भावित शक्ति (वासना) व्यापक आत्मा को एक क्षण में अपने रूप को प्राप्त कर देती है ॥६०॥ जैसे छः ऋतुओं में जो ऋतु जिस समय रहती है, उस समय वृक्ष तन्मय हो जाता है, वैसे ही जो शक्ति

उदित होती है आत्मा शीघ्र तन्मय बन जाता है ॥६१॥

यह बन्ध और मोक्ष की कल्पना अज्ञ की दृष्टि से है, तत्त्वदृष्टि से तो उनकी संभावना ही नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जो लोक में मोक्ष कहा जाता है, वह परमात्मा का मोक्ष नहीं है और बन्धन भी आत्मा का बन्धन नहीं है। न मालूम ये बन्धन–मोक्ष दृष्टियाँ लोक में कहाँ से टपकी ? अर्थात् बन्धन–मोक्ष की कथा ही नहीं है ॥६२॥ वास्तव में न तो मोक्ष है और न बन्धन है, फिर भी यह आत्मा बन्धन–मोक्षरूप विकारों से युक्त–सा भ्रान्ति से प्रतीत होता है; क्योंकि इसका नित्य, पूर्ण परमात्मरूप अनित्य अविद्याजनित भोक्ता, भोग्य आदि भाव से तिरोहित है, वही मायामय जगत है ॥६३॥ इस अखण्ड आत्मा ने जब भी चित्त की कल्पना की, उसी समय जैसे रेशम के कीड़े को रेशम के तन्तु लपेट लेते हैं वैसे ही इसको चित्त ने लपेट लिया यानी बाँध दिया ॥६४॥ परस्पर मिलते–जुलते रूपवाली, सर्वथा विकल्पित आकारवाली ये करोड़ों मन की शक्तियाँ इस परमात्मा से ही उत्पन्न हुई है ॥६५॥ जैसे समुद्र से उत्पन्न हुई और समुद्र में ही विद्यमान तरंगें समुद्र से पृथक् सी प्रतीत होती हैं और जैसे चन्द्रमा से आविर्भूत और चन्द्रमा में स्थित किरणें चन्द्रमा से पृथक् सी स्थित रहती हैं, वैसे ही ये मन की शक्तिरूप सृष्टियाँ परमात्मा से उत्पन्न हैं और उसी में स्थित हैं फिर भी पृथक् सी प्रतीत होती हैं ॥६६॥

कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों के भेद अथवा तामस और सात्त्विक भेद से सृष्टि–विभाग को कहने के लिए यहाँ पर क्रमशः दो दृष्टान्त दिये गये हैं, यह समझना चाहिये।

मुख्य और अमुख्य बन्धनरूप उपाधिवाले जीवरूप संविद् भेदों को ही नाम–रूप–क्रिया के वैचित्र्य से विस्तारपूर्वक दर्शाने के लिए भूमिका रचते हैं।

इस स्पन्दमय, विशाल, परमात्मरूप महासागरमें, जिसमें चैतन्य ही जल है और जिसका विशाल आकार है एवं एकमात्र चिद्रस से जो सुशोभित होता है, कोई स्थिर जीवनामक संवित्भेद ब्रह्मा, विष्णु हुए हैं, कोई रुद्रत्व को प्राप्त हुए हैं, कोई कोई पुरुषत्व को प्राप्त हुए हैं और कोई देवत्व को प्राप्त हुए हैं ॥६७,६८॥

[अपने स्वभाव से जिन्होंने अपने स्वरूप की कल्पना की है, ऐसी कोई ये लहरें यम, महेन्द्र, सूर्य, अग्नि, कुबेर आदि रूप से स्फुरित होती हैं। चंचल वृत्तिवाली ये लहरियाँ आपस में एक दूसरे का विनाश करती हैं, स्वोचित व्यवहार करती हैं और अपना स्वरूप बनाये रखती हैं। किन्नर, गन्धर्व, विद्याधर, देव आदि कोई लहरियाँ ऊपर को उठती हैं और कोई नीचे गिरती हैं। कोई कुछ स्थिर आकारवाली है जैसे कि ब्रह्मा आदि और कुछ उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाती है, जैसे देवता, मनुष्य आदि ॥१–३$^{१/२}$॥]

महासागर में जल के बुद्बुदों की तरह कृमि, कीट, पतंग, सर्प, गाय, मच्छर, अजगर आदि कोई जीवसंवित् इस चैतन्यरूपी महासागर में अत्यल्प समयके लिए स्फुरित होती है ॥६९॥ पर्वत के कुंजों में तथा समुद्र की तीर भूमि के वन में वृक्ष, लता आदि के तुल्य चंचल कोई मनुष्य, मृग, गीध, सियार आदि रूपवाली जीवसंवित् कुछ समय के लिए आविर्भूत होती हैं ॥७०॥ इन जीवसंविदों में किन्हींकी आयु बहुत लम्बी है, कोई बहुत थोड़े दिनों तक जीवित रहती हैं, किन्हींकी शरीर कल्पना विशाल है, किन्हीं का शरीर अत्यन्त तुच्छ है। इस संसाररूपी स्वप्न में कोई अपने चिरस्थायित्व की भावना करती हैं, कोई

दृढ़ विकल्पों से मोहित होकर जगत को स्थिर समझती हैं। कुछ दीनता आदि दोषों से आक्रान्त होकर अपने जीवन की अत्यन्त अल्पता की भावना करती हैं। मैं दुबला हूँ, अत्यन्त दुःखी हूँ और अत्यन्त मूढ़ हूँ, इस तरह दुःखों से परवश होकर कोई जीव स्थावरता को प्राप्त हुए हैं कोई देवत्व को प्राप्त हुए हैं, कोई पुरुषता को प्राप्त हुए हैं और कोई मोहसागरता को प्राप्त हुए हैं ॥७१-७४॥ सागर से उत्पन्न हुई लहरी के समान चंचल कुछ जीव, जिनका कि मनन दूसरा नाम है, ब्रह्मरूपी सागर से उत्पन्न हुए हैं। उनमें विशाल शरीरवाले कुछ तो सैकड़ों कल्प तक जगत में रहते हैं और कुछ ज्ञानरूपी अमृत से पूर्ण होने के कारण चन्द्रमा के तुल्य स्वच्छ होकर स्वरूपस्थितिरूप मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥७५॥

ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

बारहवाँ सर्ग

समुद्र और तरंग के दृष्टान्त से प्राप्त हुई आत्माविकारिता के
वारणपूर्वक मोह से उत्पन्न हुई विचित्रता की विवर्तरूपता का वर्णन।

पहले सब जीवों की ब्रह्मैकता और भेदक प्रपंच की असत्यता का उपपादन करने के लिए कहते हैं।

काल ने कहा : हे मुनिजी, देव, असुर और नर के आकारवाले ये जीव ब्रह्मरूपी सागर से अभिन्न हैं, यही बात सत्य है, इससे अतिरिक्त मिथ्या है ॥१॥

यदि उससे अभिन्न हैं, तो क्यों वैसा (हम अभिन्न हैं यों) अनुभव नहीं करते ? इस पर कहते हैं।

हे ब्रह्मन्, अपने विकल्प से कलंकित वे जीव देह में आत्मत्व की भ्रान्ति से हम ब्रह्म नहीं हैं, इस आन्तरिक निश्चय द्वारा शोचनीय दशा को प्राप्त हुए हैं। यानी यद्यपि वे ब्रह्मरूपी सागर में स्थित हैं, तथापि ब्रह्म से अपनी भिन्नता की (परिच्छिन्नता की) भावना करते हुए नरक के तुल्य योनियों में घूमते हैं ॥२,३॥ जो ये ब्रह्मसंविद्रूपी जीव हैं, वे एकमात्र देहात्मभाव के पुनः पुनः अनुसन्धान से कलंकित हैं, वही देहात्मभाव का अनुसन्धान पाप और पुण्य की प्रवृत्तियों का बीज है। देहात्मभाव के अनुसन्धान से कलंकित होने पर भी उन जीवों को आप निर्विकार ब्रह्म ही जानिये ॥४॥ हे मुनिजी, संकल्परूपी इस कल्पना से ही, जो कराल विविध कर्मरूपी कंजों के बीजों की मुट्ठी के तुल्य है, जगत में विस्तीर्ण हुई ये शरीररूपी लताओं की पंक्तियाँ स्थित हैं, इधर-उधर चलती-फिरती है, रोती और हँसती हैं। जैसे वायु अपने स्पंदनों द्वारा उल्लास को प्राप्त होती है और लीन हो जाती है, वैसे ब्रह्मा से लेकर वृक्षपर्यन्त ये शरीर पंक्तियाँ भी उल्लास को प्राप्त होती हैं, तिरोहित हो जाती हैं, म्लान हो जाती हैं और हँसती हैं ॥५-७॥ इनमें से कोई ये जीव अत्यन्त निर्मल हैं, जैसे कि विष्णु, हर आदि। कोई ज्ञानाधिकार की योग्यता के पाने से अल्प मोह में स्थित हैं, जैसे नाग, मनुष्य और देवता आदि। कोई अत्यन्त मोह मे स्थित हैं, जैसे वृक्ष, तृण आदि। कोई अज्ञान से मोह युक्त होकर कृमि और कीड़ों की योनियों को प्राप्त हुए हैं। कृमि-कीटों में इष्ट और अनिष्ट में प्रवृत्ति और निवृत्ति की क्षमता होने से स्थावर योनियों के तुल्य अत्यन्त मोह नहीं है, यह भाव है ॥८,९॥

कुछ जीव शास्त्रप्रतिकूल प्रवृत्ति से ब्रह्मरूपी महासागर के यानी मुक्ति से दूर बहाये जाते हैं, उन्हें भूमिका प्राप्त नहीं होती है। वे हैं सर्प, वृक्ष आदि ॥१०॥ इस संसार में आने के क्रम से मनुष्यआदि भाव

को प्राप्त हुए कुछ जीव संसार में आने से उत्पन्न हुए परिश्रम की विश्रान्ति में हेतुभूत योगभूमिका के अस्तित्व को शास्त्र से सुनकर योगसाधना में बार-बार उन्मुख होकर भी कालरूपी बूढ़े चूहे से पीड़ित होते हैं ॥११॥ कुछ विष्णु, ब्रह्मा, हर आदि जीव ब्रह्मतत्त्वरूप महोदधि से कुछ भेदक विशुद्ध ज्ञानोपाधि को पाकर कार्यों के साथ ब्रह्म महासागरता को प्राप्त हुए हैं यानी जीवन्मुक्त हो गये हैं ॥१२॥ अल्पमोहवाले कोई जीव, जिसकी सीमा नहीं है ऐसी पूर्णतावाले, उसी ब्रह्मरूपी महासमुद्र का समाधि से अवलम्बन करके स्थित हैं ॥१३॥ कुछ जीव, अवश्य भोगने योग्य जन्मसमूहों से जिन्होंने करोड़ों जन्मों का भोग कर लिया है फिर भी मोक्ष की प्राप्ति न होने से वन्ध्य तथा अधिकारी देह की प्राप्ति से प्रकाश में भी राग आदि से अन्धे होने के कारण तामसिक वृत्तिवाले होकर स्थित हैं। कोई जीव ऊपर से नीचे गिरते हैं जैसे हाथ से बड़ा भारी फल गिरे, कोई ऊपर से और अधिक ऊपर चढ़ते हैं और कोई नीचे से और नीचे गिरते हैं ॥१४,१५॥

बहुत प्रकार के सुख-दुःख देनेवाले जन्मों की आकाररूप, ज्ञान के बिना कभी क्षीण न होनेवाली यह जीवता परमपद का स्मरण न करने से संसारिता को प्राप्त हुई है। जैसे भगवान विष्णु के स्मरण से गजेन्द्र की पीड़ा नष्ट हुई थी वैसे ही परमपद के ज्ञान से वह नाशको प्राप्त होती है ॥१६॥

बारहवाँ सर्ग समाप्त

तेरहवाँ सर्ग

मन की शक्तियों का वर्णन करके भृगु और काल का शुक्र के समीप में जाने के लिए उठना।

पूर्वोक्त जीवजातियों में से जीवन्मुक्त ही कृतकृत्य हैं और नहीं, ऐसा कहते हैं।

काल ने कहा : हे भृगुजी, सागर से उत्पन्न हुई लहरों की भाँति और वसन्त ऋतु में उत्पन्न हुई विविध विचित्र लताओं के तुल्य इन जीव-जातियों में जिन्होंने मन के मोह पर विजय पा ली है और लोक के ऊँच-नीच विविध व्यवहार देख लिये हैं, ऐसे जीवन्मुक्त अतएव कृतकृत्य यक्ष, गन्धर्व, किन्नर (卐) जगत में भ्रमण करते हैं ॥१,२॥ और उनसे अतिरिक्त जो चराचर प्राणी हैं, वे काठ और दीवार के तुल्य मूढ़ हैं पुनः-पुनः जन्ममरण को प्राप्त होते हैं और दूसरे क्षीणमोह (तत्त्वज्ञानी) हैं। साधनचतुष्टय से युक्त अज्ञानी ही शास्त्रविचार के अधिकारी हैं तत्त्वज्ञानी अधिकारी नहीं हैं ॥३॥

वे किस लिए देहधारण करते हैं ? ऐसी यदि शंका हो तो उस पर शास्त्र-रचना द्वारा अज्ञानियों के उद्धार के लिए ही वे देहधारण करते हैं, इस आशय से कहते हैं।

लोक में जो लोग आत्मज्ञान के लिए जागरुक हैं, उन प्राणियों की आत्मज्ञान की सिद्धि के लिए ज्ञानी महात्माओं द्वारा रचे गये शास्त्र इस संसार में विहार करते हैं, गरजते हैं ॥४॥

पापकर्म का क्षय होने पर पुरुष को ज्ञानप्राप्ति होती है, इस अर्थवाले स्मृतिवचन के बल से शास्त्र भी जिनका चित्त शुद्ध हो गया है, ऐसे पुरुषों के प्रति ही फलदायक होते हैं, औरों के लिए नहीं, ऐसा कहते हैं।

(卐) यहाँ पर यक्ष आदि तीनों का ग्रहण केवल उदाहरण के लिए हैं परिगणन के लिए नहीं है, क्योंकि मनुष्य आदि में भी जीवनमुक्तों का संभव है।

पापों का विनाश होने पर जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, उन्हींकी निर्मल बुद्धि शास्त्रविचार में प्रवृत्त होती है ॥५॥ जैसे सूर्य के आकाशमें भ्रमण करने से रात्रि का अन्धकार मिट जाता है वैसे ही आध्यात्मिक सत्शास्त्रों के विचार से मनरूपी मैल नष्ट हो जाता है ॥६॥ क्षीणता को प्राप्त न होता हुआ मन मोह के लिए ही होता है, न कि सिद्धि के लिए। वह कुहरे के समान ढककर बेताल के समान नाचता है यानी कुहरा जैसे आकाश को आवृत कर देता है वैसे ही अक्षीयमाण मन तत्त्व को आवृत कर देता है और जैसे वेताल नाच द्वारा विक्षेप करता है वैसे ही वह विक्षेप करता है ॥७॥ मुनिजी, देहात्मता को प्राप्त हुए (देह में आत्मबुद्धि करनेवाले) सभी जीवों का सुख–दुःख आदि का भाजन मनोरूप शरीर ही है, मांसमय शरीर उक्त सुख–दुःखआदि का भाजन नहीं है ॥८॥ जो यह मांस और हड्डियों का समूहरूप पांचभौतिक देह दिखाई देती है, यह एकमात्र मन की कल्पना है। वह देह वास्तविक नहीं है ॥९॥ हे मुनिजी, आपके पुत्र ने मनरूपी शरीरसे जो कुछ किया, उसी को वह प्राप्त हुआ। इस विषय में हमारा तनिक भी अपराध नहीं है ॥१०॥ जो आदमी अपनी वासना से जो जो कर्म करता है, वह वैसे ही उसको प्राप्त होता है, उसमें अन्य किसी की कर्तृता नहीं है ॥११॥ प्राणी अपनी केवलमनोवासना से (अनुसन्धानमात्र से) अपने मन में सोचे गये जिसका एक क्षण में निर्माण करता है; कौन ऐसा भुवनों का अधिपति है, जिसे उसे करने की सामर्थ्य है यानी लोकाधिपति हम लोग बड़े प्रयत्न से चिरकाल से भी उसे नहीं कर सकते हैं, इसलिए भी हम लोगों का अपराध नहीं हो सकता ॥१२॥ जो सृष्टियाँ, जो नरकों के विस्तार और जो जन्म–मरण की इच्छाएँ हैं, वे सब मनके स्फुरण से हैं, वह मन का किंचिन्मात्र स्फुरण भी दुःखदायी है ॥१३॥ इस विषयमें केवल शब्दों का श्रवण करानेवाले (न कि तत्त्वप्रदर्शक) बहुत कथन से क्या लाभ है ? भगवन्, आप उठिये, वहाँ चलें, जहाँ पर आपका लड़का तपस्या में स्थित है ॥१४॥ स्वर्ग के सब भोगों को चित्तशरीरसे एक क्षण में भोग कर तदुपरान्त आकाश आदिके क्रम से भूमि में अवतीर्ण हुआ आपका पुत्र शुक्र चन्द्रमा की किरणों के सम्बन्ध से औषधियों में प्रवेशकर अन्न आदि के रूप से जन्मपरम्परा को पाकर समंगा के तट पर तपस्वी बनकर बैठा है ॥१५॥

चन्द्रमा की किरणों के सम्बन्ध से, ऐसा जो कहा है, उसे स्पष्ट करते हैं।

शुक्र का प्राणवायु चेतनशक्ति से संमुर्च्छित होकर नीहाररूप से चन्द्रमा की किरणों के साथ सम्पर्क होने से चन्द्रकिरण के तुल्य होकर धान द्वारा उसका फल चावल आदि होकर पुरुष में प्रविष्ट हो वीर्य बनकर स्त्री के गर्भ में स्थित हुआ ॥१६॥ यह कहकर जगत की स्थिति पर हंस रहे भगवान काल ने हाथ फैलाकर अपने हाथ से भृगुजी को ऐसे पकड़ा, जैसे सूर्य चन्द्रमा को पकड़े ॥१७॥ भगवदिच्छारूप नियति की व्यवस्था बड़ी विचित्र है, ऐसा धीरे–धीरे कह रहे भगवान भृगु उदयाचल से सूर्य के तुल्य उठ खड़े हुए ॥१८॥ तमाल के वृक्षों के झुण्ड से युक्त मन्दराचल में एक ही साथ खड़े हुए वे दोनों तेज के निधान उस समय बादलों से युक्त, निर्मल आकाश में विहार करने के लिए एक साथ उदित हुए पूर्णचन्द्र और सूर्य के समान सुशोभित हुए ॥१९॥ श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : श्रीमुनिजी के इतना कह चुकने पर दिवस बीत गया, सूर्य भगवान अस्ताचल को चले गये, ऋषियों की सभा महामुनि को नमस्कार करके सायंकालकी सन्ध्याविधि आदि के लिए स्नानार्थ चली गई। दूसरे दिन रात बीतने पर सूर्य के उदय होने के साथ फिर आ गई ॥२०॥ तेरहवाँ सर्ग समाप्त

चौदहवाँ सर्ग

समंगा नदी के किनारे पर जाकर काल और भृगु ऋषि का शुक्राचार्य को समाधि से जगाना,
पूर्व वृत्तान्त का स्मरण दिलाना और वहाँ से आने की इच्छा का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इसके अनन्तर काल और भृगु ये दोनों देवता मन्दराचल की कन्दरा से पृथ्वीतल में उतरकर समंगा नदी के तट पर जाने के लिए तत्पर हुए ॥१॥ पर्वत से उतर रहे उन दोनों महातेजस्वियों ने अभिनव, सुवर्णमयी लताओं के समूहों के निकुंजों में सोये हुए देवताओं और पक्षियों को देखा जो गगनांगण में लताओं से वेष्टित झूलों के द्वारा क्रीड़ा कर रहे थे। वे हरिणियों के तुल्य मनोहर अपने कटाक्षों से कमल का स्मरण करा रहे थे ॥२,३॥ ऊँचे शिलाखण्डरूपी आसन पर बैठे हुए तथा लीला से तीनों जगतों को देखनेवाले सिद्धों को भी देखा जो शरीरधारी उत्साह के तुल्य थे ॥४॥ जिनमें निरन्तर फूल गिर रहे थे, ऐसे धारा के प्रवाहों में, जो नहा चुके थे तथा ताल वृक्ष की तरह लम्बे, मोटे और ऊपर उठाये हुए सूँड़वाले गज यूथपों को देखा, वे मद के आधिक्य के कारण आलस्य से झपकी ले रहे थे, मूर्तिधारी मद के तुल्य थे और फूलों के केसरों से रंजित पवन से उनकी पूँछ लाल हो गई थी ॥५,६॥ एवं चंचल और मनोहर चमरों को देखा जो पर्वतराजके चँवर के तुल्य प्रतीत होते थे। जिनमें निरन्तर फूल गिर रहे थे, ऐसे धारा के प्रवाह में निमज्जन किये हुए किन्नरों को, शाखापर्यन्त सीधे हुए उत्तम जाति के खजूर वृक्षों को और खजूर के फलों से परस्पर ताड़नरूपी क्रीड़ा द्वारा बाँस को भी फलयुक्त बनानेवाले बन्दरों को भी देखा जिनके विरूप मुख गेरु के तुल्य लाल थे और जो उछलने-कूदने में मस्त थे। पर्वत के शिखरभाग के उपवन में जिनके मन्दिर लताओं के विस्तार से ढके हुए थे, जिन्हें रतिकालका सूचन करने के लिए देवांगनाएँ मन्दार के फूलों से मार रही थी, ऐसे सिद्धों को भी देखा और उन पर्वत के प्रपात देशों को भी देखा, जो गेरु से लाल और सघन बादल के समूहों से आच्छन्न तथा मनुष्यों के संचार से शून्य थे, उनकी बौद्धों संन्यासियों से तुलना की जा सकती है, क्योंकि वे भी गेरू आदि से लाल और सघन वस्त्र से आवृत रहते हैं और जन संसर्ग से शून्य होते है; कुन्द और मन्दार के फूलों से जिनकी लहरें आच्छन्न थी, ऐसी नदियों को, जिन्होंने मानों समुद्ररूपी कान्त के प्रति अत्यन्त उत्सुकता के कारण मधुमाससम्बन्धी पुष्प, पल्लव आदि अलंकार धारण किये हैं तथा फूलों के भार से आच्छन्न पवन से हिलते हुए वृक्षों को भी देखा, मानों वे वृक्ष मधुमास के (वसन्त के) प्राप्त होने पर चंचल भ्रमररूपी नेत्रों से युक्त थे, अतएव मद्य पीने पर नशे में चढे हुए नेत्रवाले पागल से लगते थे ॥७-१२॥ इस तरह वे दोनों इधर-उधर बढ़ी-चढ़ी पर्वत की शोभा को देखते हुए गाँव तथा शहरों से सुशोभित पृथ्वीतल को प्राप्त हुए ॥१३॥ पृथिवी पर क्षणमात्र में फूलों से चंचल तरंगों से युक्त समंगा नदी पर पहुँचे। मालूम होता था कि वह सम्पूर्णतः पुष्पों से ही बनी हुई है ॥१४॥ वहाँ पहुँचने के अनन्तर समंगा नदी के किनारे कहीं पर भृगु ऋषि ने अपने पुत्र को देखा, उसने दूसरी देह का परिवर्तन किया था, अतएव वह शुक्राचार्य से विलक्षण भाव को प्राप्त हुआ था, उसकी इन्द्रियाँ शान्त हो गई थी, समाधिस्थ होने से उसका मनरूपी मृग स्थिर हो गया था, मानों वह पुरुष अनादि संसारश्रम को दूर करने के लिये बहुत दिनों से विश्राम ले रहा था तथा अनादिकाल से भुक्त,

थोड़े ही दिनों से परित्यक्त और हर्ष, शोक से भरी हुई संसार सागर की गतिओं का विचार कर रहा था, मानों अवश्य ही वह अनन्त जगद्रूपी आवर्त में अतिशय भ्रमण से जोर से घुमाये हुए चक्र के तुल्य निश्चल हो गया था ॥१५-१८॥ वह एकान्त में अकेला स्थित था, शरीर कान्ति से अत्यन्त कमनीय था। उसकी सारी चेष्टाएँ शान्त हो गई थी, अतएव उसके चित्त के सम्भ्रम का समागम नष्ट हो गया था ॥१९॥ वह निर्विकल्प समाधि में स्थित था, अतएव शीत-उष्ण आदि द्वन्द्व की वृत्तियों से शून्य था। मानों वह अपनी शान्त बुद्धि द्वारा सम्पूर्ण लोकव्यवहार का उपहास कर रहा था ॥२०॥ सम्पूर्ण प्रवृत्तियाँ उससे पृथक् हो गई थी, सम्पूर्ण कर्मफलों से वह शून्य था और उसने सम्पूर्ण कल्पनाजाल का परित्याग कर दिया था, अतएव अपरिच्छिन्न आत्मसुख से वह पूर्ण था ॥२१॥ वह अनन्त सुखपूर्ण व्यापक आत्मतत्त्व में विश्रान्त था अतएव प्रतिबिम्ब का ग्रहण नहीं कर रही स्वच्छ मणि के तुल्य स्थित था ॥२२॥ 'यह अग्राह्य है' तथा 'यह ग्राह्य है' इस संकल्प-विकल्प से शून्य तथा आत्मबोध को प्राप्त हुए अपने धीर पुत्र को भृगुजी ने देखा ॥२३॥ उस भृगु के पुत्र को देखकर काल ने भृगुजी से समुद्र के निर्घोष के तुल्य गम्भीर स्वर से कहा : 'यही आपका पुत्र है' ॥२४॥ जैसे मेघ के गम्भीर स्वर से मोर जाग जाता है वैसे ही 'जागो' इस वाणी से वह भृगुपुत्र समाधि से धीरे-धीरे जाग उठा ॥२५॥ उसने आँखें खोलकर समीप में आये हुए एक साथ उदित हुए सूर्य और चन्द्रमा तुल्य काल और भृगु को देखा ॥२६॥ कदम्ब लता के आसन से उठकर उसने एक साथ आये हुए, विप्रवेषधारी विष्णु शिव के तुल्य समान कान्तिवाले उन दोनों को प्रणाम किया ॥२७॥ तत्कालोचित परस्पर अभिनन्दन आदि व्यवहार कर लेने पर वे लोग शिला पर सुमेरु पीठ पर जगत्पूज्य ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर के तुल्य बैठे ॥२८॥

तदनन्तर हे श्रीरामचन्द्रजी, समंगा के तट में समाधि से विरत उस ब्राह्मण ने इन दोनों से (काल और भृगु से) अमृतबिन्दु के तुल्य सुन्दर शान्त वचन कहा ॥२९॥ हे भगवन्, इस लोक में एक साथ आये हुए चन्द्रमा और सूर्य के समान आप लोगों के दर्शन से आज मैं परम सुख को प्राप्त हुआ हूँ ॥३०॥ जो मनोमोह शास्त्राभ्यास, तपश्चर्या, उपासना तथा ब्रह्मज्ञान से नष्ट नहीं हुआ था, वह मेरा मनोमोह आप लोगों के दर्शन से दूर हो गया। (उन लोगों की प्रशंसा के लिये यहाँ पर अतिशयोक्ति है) ॥३१॥ निर्मल अमृत की वृष्टि अन्तरात्मा को वैसा सुखी नहीं बनाती है जैसा कि आप महात्माओं की केवल यह दृष्टि सुखी बना रही है ॥३२॥ हे भगवन्, आकाश को चन्द्रमा और सूर्य के तुल्य इस हमारे देश को अपने चरणों से पवित्र बनानेवाले महातेजस्वी आप लोग कौन हैं ? ॥३३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, शुक्र के यह कहने पर भृगुजी ने जन्मान्तर के अपने पुत्र से कहा : तुम अपना स्मरण करो, क्योंकि तुम ज्ञानी हो, मूढ़ नहीं हो ॥३४॥ भृगुजी द्वारा बोध को प्राप्त हुए उसने ध्यान से दिव्य चक्षु खोलकर क्षणभर अपनी जन्मान्तर की अवस्था का स्मरण किया ॥३५॥ तदनन्तर वक्ताओं में श्रेष्ठ उसने आश्चर्य के दर्शन से विकसित मुख होकर वितर्क से मन्द वचन कहा। उस समय उसका मन अत्यन्त प्रसन्न था ॥३६॥ इस संसार में कर्मफल का नियन्त्रण करनेवाली परमात्मा की मायाशक्ति का व्यापार किसी को ज्ञात नहीं है जिसके कारण यह विशाल जगद्रूपी चक्र चल रहा है ॥३७॥ मेरे अनन्त जन्म बीत गये हैं, जिनका मुझे ज्ञान भी नहीं है तथा प्रलयकाल में प्राप्त वर्ष, वायु और धूप आदि से उत्पन्न हुए दुःख, मोह आदि के तुल्य मरण, मूर्छा आदि दुर्दशाओं के फलभूत अनेक दुःख, मोह

आदि भी बीत गये हैं ॥३८॥ मैंने कठिन क्रोध और उद्योग से भरे हुए राजाओं को देखा, धनोपार्जनार्थ विविध भ्रमणों का अनुभव किया तथा बहुत दिनों तक शोक से शून्य सुमेरुपर्वत की भूमियों में विहार किया ॥३९॥ सुमेरुपर्वत के समीप की भूमियों में मन्दार के फूलों के केसरों से रंजित अतएव सुगन्धपूर्ण तथा सन्ध्याकाल में खिलनेवाले कमलों से युक्त मन्दाकिनी के जल का मैंने पान किया ॥४०॥ फूली हुई सुवर्णलताओं की पंक्तियों से पूर्ण मन्दराचल के निकुंजों में मैंने भ्रमण किया ॥४१॥ ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसका मैंने भोग न किया हो, ऐसी कोई क्रिया नहीं है, जो मैंने नहीं की हो और ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो मैंने अनुकूल या प्रतिकूल दशा में न देखी हो यानी सब कुछ किया, सबका भोग किया और सब कुछ देखा ॥४२॥

एक आत्मा के साक्षात्कार से भी सबका ज्ञान दर्शाते हैं।

इस समय जानने योग्य सारी बातें मैंने जान ली हैं, देखने योग्य सम्पूर्ण वस्तुएँ अच्छी तरह देख ली हैं, बहुत दिनों से थका हुआ मैं अब विश्राम ले रहा हूँ और मेरे सम्पूर्ण भ्रम दूर हो गये हैं ॥४३॥ हे पिताजी, उठिये चलें, सूखी हुई वनलता की नाई सूखे हुए मन्दराचल पर स्थित उस शरीर को देखें ॥४४॥

यदि शंका हो कि उस शरीर से तुम्हें क्या करना है ? तो इस पर कहते हैं।

इस संसार में न तो मेरा कुछ अभीष्ट है और न अनिष्ट है, केवल नियति की रचना देखने के लिए मैं इस जगत में विहार कर रहा हूँ ॥४५॥

यदि कोई शंका करे कि नियति की रचना देखने के लिए विहार करते हुए आपकी उसमें आसक्ति होने से पहले की तरह अप्सरा के मनोरथ द्वारा अनुगमनरूप संसार की प्राप्ति हो जायेगी ? तो इस पर दृढ़तर तत्त्वज्ञान से अज्ञानानुवृत्तिमात्र का बाध हो जाने से अब पहले की तरह अभिनिवेश की प्रसक्ति नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं।

चूँकि मैं एकात्मता के दृढ़ निश्चय से अत्यन्त शुभालय, जीवन्मुक्त महापुरुषों से सेवित चरित्र का ही स्थिरता पूर्वक अनुसरण करता हूँ न कि मूढ़ों के चरित्रों का, इसलिए मेरी तथा आपकी अभीष्ट जो पूर्वदेह में अवस्थितिरूप बुद्धि है, वह रहे, उससे कोई भी क्षति नही होगी उस बुद्धि से बचे हुए प्रारब्ध का भोग करानेवाले व्यवहार का ही आचरण मैं करूँगा, न कि मूढ़ों की तरह आसक्ति को प्राप्त होऊँगा, यह अर्थ है ॥४६॥

चौदहवाँ सर्ग समाप्त

पन्द्रहवाँ सर्ग

पूर्व शरीर को देखकर शुक्र का विलाप तथा विलाप में हेतु विशेष कथनपूर्वक शरीर के स्वभाव का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : इस प्रकार के तत्त्वज्ञानी, जिनके प्राण चंचल थे, संसार की गतिविधि का विचार करते हुए उस समंगा नदी के तट से भृगुजी के आश्रम के प्रति चले (चंचल शब्द, यह कथन प्राणक्रिया से ही उनमें चलन क्रिया हुई आत्मा में क्रिया नहीं है, यह सूचन के लिए है।) ॥१॥

क्रमशः आकाश को आक्रान्त कर मेघच्छिद्रों से बाहर निकलकर वे सिद्धमार्ग से क्षणभर में मन्दराचल की गुफा में पहुँच गये। उस पर्वत की ऊँची भूमि में शुक्र ने अपने पूर्व जन्म के सूखे शरीर

को देखा जो कि हरे पत्थरों से ढका था ॥२-३॥

शुक्र ने यह कहा : हे तात, वही यह कृश शरीर है, जिसका आपने सुखदायक भोगों से पहले लालन-पालन किया था ॥४॥ वह यह मेरा शरीर है, जिसके अवयवों में स्नेहमयी धाई ने कपूर, अगरू, चन्दन आदि से बहुत दिनों तक लेप किया था। वह यह मेरा शरीर है, जिसके लिए मेरुपर्वत की उद्यान भूमियो में मन्दार के पुष्पों से शीतल शय्या रची गई थी। देखिये, पहले मदोन्मत्त देवांगनाओं द्वारा लालित मेरा यह शरीर है, जो इस समय साँप, बिच्छू आदि कीड़ों के डँसने से छिद्रयुक्त होकर पृथिवी पर गिरा हुआ है। मेरे जिस शरीर ने चन्दन के उद्यानों में चिरकाल तक क्रीड़ा की थी, वही यह आज शुष्क कंकालता को प्राप्त हो गया है। अप्सरा के संसर्ग से तीव्र कामवेगवाली चित्तवृत्ति से रहित मेरा शरीर आज सूख रहा है, उन-उन देवोद्यान आदि प्रदेशों में हुए विलासों में, उन-उन बाल्य, यौवन आदि विचित्र अवस्थाओं में पूर्व अनुभूत तत्-तत् सौन्दर्य, अलंकार, गीत, हास्य आदि विलास आदि भावनाओं के सम्बन्ध से युक्त होकर भी हे देह, आज तुम कैसे स्वस्थ हो ! यानी तुम क्यों नहीं उसका शोक करते हो ॥५-१०॥ हे शरीर, तुम्हारा नाम शव पड़ गया है, सूर्य के सन्ताप से तुम शोषको प्राप्त हो गये हो और कंगालता को प्राप्त हो गये हो, हे दुर्भाग्य, तुम इस समय मुझे डरा रहे हो, जिस देह से मैं विविध विलासों के समय प्रसन्न हुआ था, इस समय कंकालता को प्राप्त हुए उसी से मैं डर रहा हूँ। जिस शरीर में पहले ताराओं के समूह के तुल्य हार सुशोभित हुआ था उसी मेरे शरीर के वक्षस्थल में इस समय चींटियाँ घुस रही हैं, इसे आप देखिये ॥११-१३॥ जिस पिघले हुए सुवर्ण के समान रमणीय मेरे शरीर से सुन्दर-सुन्दर अंगनाएँ काम से मोहित हुई थी, देखिये, वही इस समय कंकालता को धारण कर रहा है ॥१४॥ ताप से जिसका चर्म सूख गया है एवं जिसका मुँह खुला है ऐसा मेरे कंकाल का विकृत मुख वन में मृगों को भयभीत कर रहा है ॥१५॥ मेरे शव की उदररूपी गुहा सूख जाने के कारण भीतर प्रविष्ट हुई प्रकाशमान सूर्य की किरणों के समूह से ऐसे शोभित हो रही है मानों विवेक से शोभित हो रही हैं, ऐसा मैं देख रहा हूँ ॥१६॥ मेरा यह सूखा शरीर पर्वत की शिला पर चित पड़ा है। यह अपनी तुच्छता से यानी विकृतरूप के प्रदर्शन से सज्जन पुरुषों के हृदय में वैराग्य का मानों उपदेश दे रहा है ॥१७॥ शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध की अभिलाषा से रहित मेरा यह शरीर इतने समय तक मेरे परोक्ष में और इस समय मेरे प्रत्यक्ष में भी मानों निर्विकल्प समाधि में बैठकर पर्वत में सूख रहा है ॥१८॥ यह चित्तरूपी पिशाच से मुक्त हो गया है, अतएव बड़े सुख के साथ स्वस्थ सा स्थित है। देवताओं से रची गई विपत्तियों से अब तनिक भी इसे भय नहीं है ॥१९॥ चित्तरूपी वेताल के शान्त होने पर शरीर को जो आनन्द प्राप्त होता है, वह सम्पूर्ण जगत के राज्य से भी प्राप्त नहीं होता ॥२०॥ यह शरीर, जिसके सम्पूर्ण सन्देह नष्ट हो गए हैं और सब कौतुक जिससे चले गए हैं, कल्पनाओं का जिसने निरास कर दिया है, वन में कैसे सुख से सो रहा है, इसे आप देखिए ॥२१॥ चित्तरूपी बन्दर की काम आदि चपलता से क्षुब्ध हुआ यह शरीररूपी वृक्ष जिस प्रकार अपने विवेक, सद्वासना आदि शाखा, पल्लवों का विनाश हो, वैसे वेग से नहीं चलता, किन्तु जैसे जड़ के साथ उखड़ जाय वैसे चलता है।

भाव यह है कि जिन स्थावर आदि योनियों में विवेक का अधिकार नहीं है, उन्हीं योनियों में जीव को गिराता है।

इस सुन्दर पर्वत में मेरा यह शरीर चित्तरूपी अनर्थ से मुक्त होकर आज गजघटाओं और सिंहों के गर्जन, तर्जन आदिरूप वैर को नहीं देखता, पहले कौतुक दर्शनरूप परमानन्द में स्थित हुआ सा यह जैसे बाहर के कौतुक दर्शन से प्रसन्न होता था वैसा आज नहीं होता (📖) ॥२२,२३॥ सम्पूर्ण आशारूपी ज्वरों के कारणरूप मोहरूपी कुहरे के लिए शरदागमनरूप औचित्य के सिवा दूसरा श्रेय प्राणियों में मैं नहीं देखता हूँ यानी चित्तभाव सम्पूर्ण आशारूपी ज्वरों के हेतुभूत मोह का नाश कर देता है, अतएव वही सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ श्रेय है। वे ही ब्रह्मा के आनन्दपर्यन्त विषय सुखों की परमावधिरूप भूमानन्द को प्राप्त हुए हैं, जो शान्तबुद्धि पुरुष अपरिच्छिन्न ब्रह्मसाक्षात्काररूप महाबुद्धि से मनोनाश को प्राप्त हुए हैं। मैं अपने भाग्योदय से सब दुःखदशाओं से रहित और सन्तापशून्य इस शरीर को संकल्प–विकल्प से रहित जीवन्मुक्त के शरीर के तुल्य वन में देख रहा हूँ॥२४–२६॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, आप सम्पूर्ण धर्मों के तत्त्वों को जाननेवाले हैं, कृपया यह बतलाइये कि शुक्राचार्यजी ने उस समय बारबार अनेक शरीरों का उपभोग किया था जैसा कि आप पहले कह आये हैं, फिर उन्हें भृगु से उत्पादित उसी शरीर में अत्यन्त स्नेह कैसे हुआ ? और उसीके लिए उन्होंने विलाप क्यों किया ? ॥२७,२८॥

शुक्र के आधुनिक ब्रह्मपद में अधिकार के कारणभूत पूर्वकल्प में किये गये कर्म, जो कि पूर्व शरीर से उत्क्रान्ति के समय इस कल्प में होनेवाले भृगु द्वारा उत्पाद्य शरीराकार से परिणत हुए थे, भृगु से उत्पाद्य शरीर की वासना से ही प्रलयों में चिरकाल तक रहे थे, आकाश आदि के क्रम से इस कल्प में भृगु के शरीर की उत्पत्ति होने पर अन्न द्वारा उनके शरीर में प्रवेश कर वीर्यरूप में परिणत होकर चिरकाल के अभ्यास से खूब दृढ़ हुए पूर्व जन्म के काम, कर्म वासनाओं के अनुसार ही शुक्राचार्य के शरीर की उत्पत्ति हुई थी। उस शरीर से कतिपय कर्मों के भोग होने पर भी अवश्य भोक्तव्य बहुत से प्रारब्ध कर्मों के शेष रहने से उसमें उनका स्नेहातिशय हुआ, अन्य देहों में नहीं हुआ, क्योंकि अन्य देहों में भोगने योग्य कर्म शेष नहीं थे, इस आशय से वसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी, शुक्राचार्य की कर्मात्मक जो यह वासना थी, वह जीवदशा को प्राप्त होकर भृगु से उत्पाद्य भार्गवरूप से उत्पन्न हुई ॥२९॥ प्रलयकाल में अवशिष्ट मायाशबलित ईश्वर से इस कल्प के सर्वप्रथम शरीररूप से जल में भिगोने से फूले हुए बीजों के अन्दर अंकुर शक्ति की नाईं तनिक आविर्भूत होकर, क्रमशः तत् तत् भूतों की समता को प्राप्त होकर वायु से वृष्टि द्वारा अन्न आदि भाव से अन्तर्भावित हुई वही कर्मात्मक वासना प्राण और अपान के प्रवाह से महर्षि भृगु के हृदय में प्रवेश कर क्रम से वीर्य बनकर शुक्राचार्य की देह बनी है॥३०,३१॥ उस जन्म में उसके ब्राह्मण जन्मोचित गर्भाधान आदि सब संस्कार विधिपूर्वक किये गये थे, वहाँ पर समाधिस्थ पिता के आगे विद्यमान वह शुक्राचार्य की देह एक लम्बे अरसे से सूखे हुए कंकाल के रूप में परिणत हो गई ॥३२॥ चूँकि यह शरीर ब्रह्म से पूर्वोक्त रीति के अनुसार पहले–पहल इसी शुक्राचार्य के रूप में

(📖) जैसे परमानन्द में स्थित पुरुष, हाथी, मेघ, सिंह, आदि के शरीर को नहीं देखता है वैसे ही चित्तरूप अनर्थ से मुक्त हुआ मेरा यह शरीर पर्वत की स्फटिक शिलाओं में प्रतिबिम्बित हाथी, मेघ और सिंहों की मूर्ति को नहीं देखता है, ऐसा दूसरा अर्थ भी हो सकता है।

आविर्भूत हुआ था, इसलिए शुक्राचार्य ने इस शरीर के लिए विलाप किया ॥३३॥ यद्यपि शुक्राचार्य वीतराग थे, उन्हें किसी प्रकार की अभिलाषा भी न थी और समंगा नदी के तीर में तपस्या निरत ब्राह्मण का रूप उन्होंने धारण कर रक्खा था फिर भी उन्होंने देह के लिए विलाप किया; क्योंकि देह का ऐसा ही स्वभाव है। भाव यह कि ज्ञानी भी प्रारब्ध कर्म का उल्लंघन नहीं कर सकते, उन्हें भी उसका भोग करना ही पड़ता है ॥३४॥ चाहे ज्ञानी की देह हो चाहे अज्ञानी की देह हो, जब तक जीवन रहेगा सदा यह नियम चलेगा ही, इसमें रत्तीभर भी उलट-फेर नहीं हो सकता है। हाँ, इतना अन्तर अवश्य है कि ज्ञानी का यह दैहिक लोकव्यवहार अनासक्ति से होता है और अज्ञानी का आसक्ति से होता है ॥३५॥

अतएव अन्य व्यवहारों में उनकी समानता ही है, ऐसा कहते हैं।

जिन लोगों को तत्त्वज्ञान हो गया है और जो पशुओं के सदृश आचरणवाले अज्ञानी हैं, वे दोनों ही लोकव्यवहारों में जैसा लोक का जाल है, उसी के अनुसार स्थित हैं यानी आचरण करते हैं ॥३६॥ लोकव्यवहार में अज्ञानी जैसा आचरण करता है, पूर्ण ज्ञानी भी ठीक वैसा आचरण करता है।

शंका : यदि लौकिक व्यवहार में ज्ञानी और अज्ञानी दोनों की तुल्यता ही है तो एक बन्धन में पड़ता है दूसरे को मुक्त मिलती है, यह अन्तर कैसे ?

समाधान : उनको बन्ध-मोक्ष देने में एकमात्र कारण वासना का भेद है ॥३७॥

जिसकी बुद्धि विषय पर आसक्त नहीं है, ऐसे विद्वान तत्त्वज्ञ पुरुष जब तक शरीर रहता है तब तक दुःख के निमित्त के प्राप्त होने पर दुःख का और सुखहेतु के प्राप्त होने पर सुख का अज्ञानी के तुल्य अभिनय करते हैं ॥३८॥ महात्मा लोग सुख निमित्तों की प्राप्ति होने पर सुखी की तरह और दुःखनिमित्तों की प्राप्ति होने पर दुःखी की तरह केवल लौकिक व्यवहार के विषय में ही अज्ञानी के सदृश बर्ताव करते हैं, आत्मतत्त्व में तो वे सुस्थिर रहते हैं, अज्ञानी के तुल्य व्यवहार नहीं करते हैं ॥३९॥

एक ही पुरुष का एक समय स्थिर और अस्थिर वृत्तियों के विरोध का निवारण करने के लिए दृष्टान्त देते हैं।

जैसे सूर्य के जल में पड़े हुए प्रतिबिम्ब शरीर ही चंचल होते हैं, किन्तु आकाश में स्थित बिम्बशरीर चंचल नहीं होता, वैसे ही आत्मज्ञान में स्थिर तत्त्वज्ञानी भी लोकव्यवहारों में स्थिर-अस्थिर रूप से विद्यमान रहता है ॥४०॥ जैसे प्रतिबिम्बों में स्थित सूर्य वस्तुतः स्वस्थ होता हुआ भी अस्वस्थ-सा, चंचल सा प्रतीत होता है, वैसे ही जिसने सम्पूर्ण लौकिक व्यवहारों का त्याग कर दिया है, ऐसा ज्ञानी पुरुष ही व्यवहार स्थिति में अज्ञानी होता है ॥४१॥

तब तो अज्ञ के समान विहित और निषिद्ध कर्मों से उसका भी बन्धन होगा, ऐसी आशंका करके ज्ञानेन्द्रियों से आसक्तिपूर्वक किये गये कर्म ही बन्धक होते हैं, अन्य कर्म नहीं, इस आशय से कहते हैं।

जिसकी ज्ञानेन्द्रियों ने संग छोड़ दिया है, उसकी कर्मेन्द्रियों के विषयों में आसक्त होने पर भी वह मुक्त है। यदि कर्मेन्द्रिय विषयों में आसक्ति रहित हैं और ज्ञानेन्द्रिय विषयों के आधीन हैं, तो वह बद्ध है ॥४२॥ लोक में सुख-दुःख दृष्टि और बन्धमोक्ष दृष्टि की हेतु ज्ञानेन्द्रिय ही हैं, जैसे कि किसी वस्तु के प्रकाशन में तेज हेतु है। बाहर लोकोचित व्यवहारवाले और भीतर लोकोचित आचार से रहित, सम्पूर्ण इच्छाओं से शून्य और विषमता रहित होकर आप स्थित होईये ॥४३,४४॥ ब्रह्म में स्थित,

सम्पूर्ण कर्मफलों की आसक्ति से रहित मन से आप कर्म कीजिये क्योंकि कर्म देह की स्थिति है, स्वभाव है। भगवान ने भी कहा है : 'नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः' अर्थात् देहधारी कर्मों का निःशेष त्याग नहीं कर सकता है ॥४५॥ मानसिक दुःख, शारीरिक दुःख, जन्ममरणरूपी गर्तों से भरे हुए संसार के मार्गभूत तथा अत्यन्त सन्ताप देनेवाले इस ममतारूपी भीषण अन्धकूप में आप मत गिरिये। न तो आप दृश्य वस्तु देहादि में विद्यमान हैं और न आप में ये देहादिभाव हैं। हे कमलनयन, शुद्ध-बुद्ध स्वभाववाले आप अपने स्वरूप में स्थित होइये। आप निर्मल शुद्ध ब्रह्म है। आप सबका निर्माणकरनेवाले और सर्वात्मक है। सारा विश्व शान्त अज है, ऐसी भावना करते हुए आप सुखी होइये ॥४६-४८॥ हे महात्मन्, सकल इच्छाओं की निवृत्ति करनेवाले, पूर्णानन्दरूप, अविद्यादि दोषों से रहित पद को सम्यक् ज्ञान से प्राप्त कर ममतारूपी महाअंधकार से रहित हुए आप यदि चित्त के नाश में समर्थ हुए, तो अपरिमितबुद्धि, महान से महान्, परिपूर्ण परमार्थ सत्यब्रह्मरूप आपको नमस्कार है यानी आप हम लोगों के भी सदा के लिए वन्दनीय हो जायेंगे ॥४९॥

पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

सोलहवाँ सर्ग

काल के चले जाने पर काल की आज्ञानुसार शुक्राचार्य का
अपने शरीर में प्रवेश करना तथा उनकी दैत्यों की गुरुता और जीवन्मुक्ति का वर्णन।

वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर भृगु तथा भृगुपुत्र शुक्राचार्य के विलापवचन को बीच में ही रोककर गम्भीर ध्वनि से युक्त भगवान काल ने वचन कहा ॥१॥

काल ने कहा : हे परकार्य साधक भृगुपुत्र, समंगा नदी के तट के इस तपस्वी शरीर का परित्याग कर जैसे राजा नगरी में (राजधानी में) प्रवेश करता है वैसे ही आप इस देह में प्रवेश कीजिये ॥२॥ हे निष्पाप शुक्राचार्यजी, ग्रहाधिकार को प्राप्त करानेवाले प्रारब्ध के उदयकाल में सर्वप्रथम उत्पन्न हुई उस देह से फिर तप करके आप दैत्यराजों का आचार्यत्व कीजिये ॥३॥ महाकल्परूप ब्रह्मा के दिन का (हजार चौकड़ी का) अन्त होनेपर आप भृगुजी से उत्पन्न देह का, पुनः अन्य शरीर का ग्रहण न करने के लिए, उपभुक्त अतएव मुरझाये हुए फूल की नाईं त्याग कीजिये ॥४॥ हे महामते, पूर्वकल्प में उपार्जित कर्मों से प्राप्त शरीर द्वारा जीवन्मुक्तिरूप पद पाकर बड़े-बड़े दैत्यराजों का आचार्यत्व करते हुए आप स्थित होईये ॥५॥ आप लोगों का कल्याण हो, मैं अपनी अभिमत दिशा को जा रहा हूँ।

(दिशा का 'अभिमत' जो विशेषण है, वह अनभिमत की व्यावृत्ति के लिए नहीं है, क्योंकि पूर्ण आत्मा के लिए अनभिमतवस्तु ही प्रसिद्ध नहीं है। जिसे 'यह अभिमत है' और 'यह अनभिमत है' यह विकल्प होता है अनभिमत का त्यागकर अभिमत को प्राप्त कर रहा वह चित्त अवास्तविक है; इसलिए 'अभिमत दिशा' इस वाक्य का 'परमप्रेमास्पद आत्मभाव में अवस्थित' यह अर्थ है, इस तरह के स्वाभिप्राय का सूचन करने के लिए 'अभिमत' इस विशेषण का उपादान किया गया है, यह दर्शाते हुए कहते हैं।)

जिसको अभिमत नहीं होता ऐसा जो चित्त है, वह कुछ भी नहीं है, यानी अवास्तविक है ॥६॥ यह कहकर भगवान काल जैसे सूर्य सन्तप्त अंगवाले आकाश और पृथ्वी की उपेक्षा कर अपनी किरणों के

साथ अन्तर्हित हो जाते हैं वैसे ही स्नेह से आँसू बहा रहे भृगु और शुक्राचार्य की उपेक्षा कर अन्तर्हित हो गये ॥७॥ उस भगवान कृतान्त के चले जाने पर भृगुपुत्र शुक्राचार्य ने अवश्यभाविनी कर्मगति तथा अनिवार्य ईश्वर की इच्छा की गति का विचार कर हेमन्त और शिशिर काल के कारण सूखी हुई भावी पुष्प–फल के उदयवाली लता में वसन्तऋतु के तुल्य बहुत काल बीत जाने के कारण सूखी हुई भावी अभ्युदय से युक्त उस देह में प्रवेश किया ॥८,९॥ वासुदेव नामवाली समंगातटवर्ती तपस्वी ब्राह्मण की देह , जिसका मुख तथा सम्पूर्ण अंग विकृत वर्णवाले हो गये थे, जिसकी जड़ कट गई हो ऐसी लता की भाँति काँप कर शीघ्र ही गिर पड़ी ॥१०॥ उस पुत्र के शरीर में जीव के प्रवेश कर लेने पर महामुनि श्री भृगु ने कमण्डलु के जल के साथ मन्त्रों से उस शरीर का आप्पायन (बढ़ानेवाला अभिषेक) किया ॥११॥ अभिषेक के अनन्तर उस शरीर की सम्पूर्ण नाड़ियाँ ऐसे दीप्त हो उठी जैसे वर्षा ऋतु में जल प्रवाह से पूरित कोटरवाली नदियाँ दीप्त हो जाती हैं ॥१२॥ जब वह शरीर वर्षा ऋतु में कुमुदिनी की भाँति तथा वसन्त ऋतु में अभिनव लता की भाँति पूर्ण हो गया, तब उसके अंगुली, नख, केश आदि पल्लव के तुल्य उदित होकर सुशोभित होने लगे ॥१३॥ तदनन्तर शुक्राचार्य जल तथा वायु के संयोग से सर्वतः पूर्ण मेघ के तुल्य प्राणवायु के संचार से युक्त होकर उठ खड़े हुए ॥१४॥ सामने उपस्थित पवित्रमूर्ति पिता का नामगोत्रोच्चारणपूर्वक ऐसे अभिवादन किया जैसे मानों नूतन मेघ अपने गर्जन से पर्वत का अभिवादन कर रहा हो ॥१५॥

तदनन्तर स्नेह से आर्द्र चित्तवाले पिता ने (भृगुजी ने) पुत्र शरीर की यौवन सौन्दर्य आदिसे युक्त प्राक्तन मूर्ति का बहुत देर तक ऐसे आलिंगन किया जैसे आर्द्रवृत्तिवाले मेघ पर्वत के प्रान्त का आलिंगन करता है ॥१६॥ पहले की भाँति यौवन, सौन्दर्य आदिसे युक्त वह नूतन पुत्र की देह स्नेह पूर्वक महामति भृगुजी ने देखी तथा तत्त्वदृष्टि से अनुचित जानकर हँस रहे भी उन्होनें यह शरीर मुझसे उत्पन्न है, ऐसी धारणा की ॥१७॥ उस समय यह मेरा पुत्र है, इस स्नेह ने परमज्ञानी भृगुजी का भी आकर्षण कर लिया। देह में अत्यन्त आत्मीयता जीवनभर प्रबल प्रारब्ध के कारण अवश्य ही रहती है ॥१८॥ तदनन्तर वे दोनों पिता–पुत्र रात्रि के अन्त में प्रसन्न हुए सूर्य और कमल समूह की भाँति परस्पर सुशोभित हुए ॥१९॥ चिरकाल के बाद हुए संगम से सम्बद्ध (मिले हुए) चकवी–चकवा के जोड़े के तुल्य तथा वर्षा ऋतु के समागम से स्नेह युक्त मयूर और मेघ के तुल्य उन दोनों महामुनियों ने चिरकाल के वियोग से, जिनकी समागम की उत्कण्ठा दृढ़ हो गई थी, पूर्वोक्त वर्णन के अनुसार उस समान आनन्द की योग्यता से वहाँ क्षण भर जड़ की नाई स्थिर होकर तदनन्तर उस समंगातटवर्ती ब्राह्मण की देह का वहाँ दाह किया। कौन ऐसा व्यक्ति है, जो संसार के सदाचार का अनुविधान नहीं करता है ? आचार का पालन मात्र ही यहाँ देहादि कृत्यों का फल है, इतर फल नहीं है, यह भाव है ॥२०–२२॥ इस तरह उस पवित्र वन में वे दोनों तपस्वी भृगु तथा भृगुपुत्र शुक्राचार्य आकाश में चन्द्रमा और सूर्य की भाँति दीप्त होते हुए स्थित हो गये ॥२३॥ तदनन्तर जगत के गुरु वे दोनों जीवन्मुक्त होकर भ्रमण करने लगे। उन्होंने विज्ञेय आत्मतत्त्व को जान लिया था तथा देश और काल की शुभ और अशुभ दशाओं में वे समानभाव से रहते थे, क्योंकि वे अपने स्वरूप में स्थिर हो गये थे ॥२४॥ तदनन्तर समय आने पर शुक्राचार्यजी ने दैत्यों का आचार्यत्व तथा ग्रहपति का अधिकार प्राप्त किया। भृगुजी भी अपने योग्य निरामय आत्मतत्त्व में स्थित हो गये ॥२५॥

पूर्वोक्त शुक्राचार्य की स्थिति का संक्षेप से उपसंहार करते हैं।

यह उदार कीर्तिवाले शुक्राचार्य पहले उस सत्यपरमात्म तत्त्व से पूर्वोक्त आकाशादिक्रम से उत्पन्न हुए। तदनन्तर शीघ्र ही स्मरण में आरूढ़ अप्सरा के निमित्त से उत्पन्न अपने मनोराज्य के विभ्रम से अन्यान्य विविध दिशाओं में इन्होंने भ्रमण किया ॥२६॥

सोलहवाँ सर्ग समाप्त

सत्रहवाँ सर्ग

शुद्ध चित्तों की सत्यसंकल्पता का वर्णन।

शुक्राचार्यजी का अप्सरा, स्वर्ग, आदि मनोरथ चिरकाल के उपभोग से जैसे सफल सा हुआ था वैसे और लोंगो के मनोरथ सफल क्यों नहीं होते ? ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, भृगुपुत्र शुक्राचार्य के मनोरथ की प्रतिभा जैसे स्वर्ग आदि के अनुभव से सफल हुई वैसे औरों की मनोरथ की प्रतिभा क्यों नहीं सफल होती ? ॥१॥

प्रतिभाओं के फलोपभोग द्वारा सफल होने में दो कारण हैं, एक तो सत्यसंकल्पता के योग्य चित्तशुद्धि और दूसरा उत्क्रमणकाल में उद्बुद्ध परिपक्व भावी जन्म में भोग देनेवाले कर्मों की उत्कटता। उनमें से मनोरथ की सफलता का चित्तशुद्धिरूप पहला कारण शुक्राचार्य में था, यह दर्शाते हुए समाधान करते हैं।

शुक्राचार्यजी के प्रथम कल्प के सब दोषों का उस कल्प के अन्तिम जन्म में किये गये कर्म और उपासनाओं से क्षय हो गया था, इस कल्प में उनका यह शरीर पहले-पहल उत्पन्न हुआ था, इसलिए इस कल्प के दोष भी उसमें न थे। ब्रह्मपद से ही अधिकार भोग के लिए ब्रह्मा के संकल्प से वह उत्पन्न हुआ था, अतएव ब्रह्मा के सांकल्पिक दोष भी उसमें न थे। दोनों कुलों में शुद्ध ब्राह्मण जाति का था, अतएव बीज, गर्भ, जाति आदि के दोष भी 'उसमें न थे, यही सब कारण हैं कि उनमें असत्य संकल्प की प्राप्ति न थी, यही औरों से उनमें विशेषता है ॥२॥

अन्य ब्रह्मवेत्ताओं के भी सत्यसंकल्पत्व में राग आदि दोषों के क्षय से होनेवाली शुद्ध चिति की सत्यात्मभावापत्ति ही हेतु है, इस आशय से कहते हैं।

सम्पूर्ण एषणाओं की (वित्तैषणा, पुत्रैषणा, लोकैषणा आदिकी) निवृत्ति होने पर शुद्ध चित्त पुरुष की जो स्थिति है, वही सत्य आत्मतत्त्व कहा जाता है, वही निर्मल चिति कही गई है॥३॥ निर्मल सत्त्वरूप मन जिस वस्तु की जैसी भावना करता है, जैसे जल आवर्तरूप हो जाता है, वैसे ही शीघ्र वैसा हो जाता है ॥४॥

और लोगों में चित्त की शुद्धि न होने से सत्यसंकल्पता की असिद्धि से प्रथम कल्प का सम्भव न होने पर भी द्वितीय कल्प के अनुसार पूर्व देह के मरण के समय उद्भूत कर्मों की वासना आदिके अनुगुण सुख-दुःख के भोग के अनुकूल जगत के प्रतिभान में शुक्राचार्य की समता है ही, इस आशय से कहते हैं।

जैसे शुक्राचार्य को अपने-आप भ्रान्ति हुई थी, प्रत्येक जीव में वैसी भ्रान्ति है ही, इस विषय में शुक्राचार्य ही दृष्टान्त हैं ॥५॥ जैसे बीज के भीतर स्थित अंकुर, पत्ते आदि अपने स्वरूपको प्रकट करते हैं यानी चमत्कार को प्राप्त होते हैं, वैसे ही सब प्राणियों के भ्रान्ति से उत्पन्न द्वैतभेद अपने को प्रकट करते हैं ॥६॥ जो यह जगत हम लोगों को दृष्टिगोचर हुआ है, वैसा ही सारा जगत प्रत्येक जीव में मिथ्या

ही उदित है और मिथ्या ही अस्त को प्राप्त होता है। परमार्थ दृष्टि से तो किसी का कोई भी जगत न अस्त को प्राप्त होता है और न उदित होता है। यह केवल भ्रान्ति मात्र है, एकमात्र माया ही उन्मत्त की नाईं उल्लास को प्राप्त होती है ॥७,८॥

यदि प्रत्येक जीव के संसार प्रत्येक में अलग अलग उदित हुए हैं, तो वे प्रतीत क्यों नहीं होते, इस पर प्रतीत होते ही हैं, ऐसा कहते हैं।

जैसे हमारे स्फुट अनुभव में स्थित हमारा मिथ्या संसार है, वैसे ही अन्य जीवों के मिथ्या हजारों संसार हैं ही ॥९॥

यदि कोई शंका करे कि सब लोग सब के संसारों को अलग-अलग क्यों नहीं देखते, तो इस पर कहते हैं।

जैसे अन्य के स्वप्न और मनोरथ के नगरों के व्यवहार अन्य को दृष्टिगोचर नहीं होते, वैसे ही अन्य के ये संसाररूपी भ्रम भी पृथक्-पृथक् नहीं दिखाई देते। भाव यह कि जैसे अन्य का स्वप्न अन्य पुरुषको दिखाई नहीं देता, वैसे ही अन्य का संसार भी अन्य को नहीं दिखाई देता ॥१०॥ इसी प्रकार संकल्परूपी आकाश में अनेक जगद्रूपी नगर हैं; पर वे ज्ञानदृष्टि के बिना मिथ्या प्रतीत नहीं होते ॥११॥ इसी प्रकार के संकल्पमात्र शरीरवाले सुख-दुःखमय पिशाच, यक्ष, राक्षस भी हैं। भाव यह कि पिशाच आदि भाव केवलमात्र संकल्प से कल्पित हैं, किन्तुः सुख-दुःख देते हैं ॥१२॥ हे रघुनन्दन, शुक्र के तुल्य ही अपने संकल्परूप आकारवाले मिथ्या को सत्य समझनेवाले ये तुम लोग भी उत्पन्न हुए हैं। हिरण्यगर्भ में भी इसी प्रकार की यह सृष्टि परम्परा विद्यमान है, यह वास्तविक नहीं है, अवस्तु में वस्तुता अन्धपरम्परा से ही स्थित है ॥१३,१४॥ जैसे एकमात्र वसन्त ऋतु का रस ही वन, लता, गुल्म आदिरूप से उदित होता है वैसे ही एक मात्र परब्रह्म ही प्रत्येक में मिथ्या विश्वरूप से उदित हुआ है। भाव यह है कि सम्पूर्ण जीवों के आकाररूप से ब्रह्म ही उदित हुआ है ॥१५॥

अपना प्राथमिक संकल्प ही जगदाकार प्रतीति को प्राप्त हुआ , यह कैसे जाना जा सकता है ? इस पर कहते हैं।

प्रथम संकल्प ही जगदाकार प्रतीति को प्राप्त हुआ है, यह अत्यन्त परमार्थदृष्टि से ही ज्ञात होता है ॥१६॥ अपने अनादि अज्ञान के मध्य में स्थित चित्त ही इस प्रकार के विविध व्यापारों से युक्त, प्रत्येक जीव में उदित यह जगत है, यों जानता हुआ स्वयं विनष्ट हो जाता है अर्थात् ब्रह्मरूप हो जाता है ॥१७॥

यह जगत्सत्ता प्रतिभासकाल में ही रहती है, वास्तविक अधिष्ठान का दर्शन होने पर यह रह नहीं सकती, ऐसा कहते हैं।

भ्रान्तिवश इसकी सत्ता है और अधिष्ठान तत्त्व के साक्षात्कार से इसका अस्तित्व मिट जाता है। चित्तरूपी हाथी का बन्धनस्तम्भरूप यह जगज्जाल एक दीर्घ स्वप्न ही तो है ॥१८॥

चित्तरूपी हाथी का बन्धनस्तम्भरूप यह जगज्जाल है, ऐसा जो पहले कहा था, उसी को स्फुट करते हैं।

चित्त की सत्ता ही जगत है और जगत की सत्ता ही चित्त है। एक के अभाव से दोनों का ही नाश हो जाता है, या सत्य तत्त्व के विचार से नाश होता है ॥१९॥

चित्त की सत्ता से जगत की सत्ता कहाँ देखी गई है, ऐसा यदि कहिये, तो सुनिये, शुद्ध चित्तवालों के सत्य संकल्प से उत्पन्न वस्तु में देखी गई है, ऐसा कहते हैं।

जैसे युक्तिपूर्वक मलिन मणि को साफ करने से शुद्ध प्रकाश निकलता है, वैसे ही चित्त का प्रतिभास सत्य होता है। चिरकाल तक एकाग्रता के दृढ़ अभ्यास से चित्त की शुद्धि होती है। संकल्पों से अनाक्रान्त यानी शुद्ध चित्त से स्वच्छता जनित प्रकाशमयता उदित होती है ॥२०,२१॥ जैसे मलिन वस्त्र में सुन्दर रंग नहीं टिकता, वैसे ही अज्ञान मलिन चित्त में अद्वैतात्मज्ञानरूप एक दृष्टि स्थिर नहीं होती ॥२२॥

आपने वासनानुसारी जगद्भ्रम होता है, ऐसा कहा है, उस वासनानुसार जगद्भ्रम में पहले अननुभूत स्वर्ग, अप्सरा और जन्मपरम्परा आदिकी विचित्रता में वासनारूप बीज का संभव नहीं है, इसलिए शुक्र का उनमें आरोपक्रम कैसे हुआ, इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं :

भगवन्, शुक्र के चित्त के प्रातिभासिक कल्पनारूप जगत में ये उदय और अस्त से युक्त काल–क्रियाक्रम किस कारण हुए ? उदयअस्तमय इससे प्रातिभासिक उदय और अस्त का प्रतिभासकाल में ग्रहण नहीं हो सकता, प्रतिभास से भिन्नकाल में उनका अनुभव ही नहीं है, इसलिए तद्विषयक वासना सिद्ध नहीं होती और वासना की सिद्धि न होने पर क्रम की सिद्धि भी नहीं हो सकती, यह सूचित किया ॥२३॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, पिता से उत्पन्न चक्षु आदि से या पिता के वचन से और शास्त्र से जैसे उत्पत्ति–विनाश विशिष्ट यह जगत् है, ऐसा शुक्रने जाना था, ऐहिक पारलौकिक सम्पूर्ण वृत्त उनके चित्त में वैसा ही संस्काररूप से स्थित हो गया, जैसेकि मयूर के अण्डे में मयूर रहता है। भाव यह कि पिता के वचन, शास्त्र आदि प्रमाण और प्रमाणाभासों से ही वासना का उदय शुक्र को था। उत्पत्ति–नाश के क्रम का संस्कार साक्षी से ही सिद्ध हो जाता है ॥२४॥ चैतन्य से अधिष्ठित सजीव अविद्या में स्थित यह सब पिता और शास्त्र के कारण ही क्रम से ऐसे उदित हुआ, जैसे कि बीज से अंकुर, पत्र, लता, पुष्प, फल आदि उदित होते हैं ॥२५॥ जीव जिस वासना से बद्ध रहता है, उसी को अपने अन्दर देखता है, स्वप्न में अपने से कल्पित शरीर इसमें दृष्टान्त है, यह जगत भी तो दीर्घ स्वप्न ही है ॥२६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, यह संसारभेद रात्रि में सैनिक पुरुष द्वारा स्वप्न में देखे गये सैनिकों के समूह के तुल्य अपनी आत्मा में प्रत्येक जीव में उदय हुआ है। भाव यह है कि जैसे दिन में सैन्यवासना से वासित सैनिक पुरुष रात्रि में स्वप्न में प्रत्येक सेना को अपनी–अपनी वासना से कल्पित नाना सेनाओं के रूप में देखते हुए भी सैन्यगत एकत्व को मानते ही हैं, वैसे ही प्रत्येक जीव में ये संसारभेद उत्पन्न हुए हैं ॥२७॥

यदि ऐसा है, तो मनुष्य और उसके संसार को अन्य लोग नहीं देख सकेंगे, ऐसी अवस्था में गुरुजनों की शिष्यों के उद्धार के लिए प्रवृत्ति और शास्त्ररचना स्वप्न में किये गये परोपकार के तुल्य शिष्यों को प्राप्त न होगी, ऐसी अवस्था में उपदेश न मिलने के कारण शिष्य को मोक्ष की प्राप्ति न होगी, इस प्रकार अनिर्मोक्ष प्रसंग हो जायेगा, यों यह कल्पना मूलघातिनी ही हुई, इस आशय से रामचन्द्रजी पूछते हैं :

हे भगवन्, उदित हुए ये संसार यदि स्वयं परस्पर नहीं मिलते, तो पूर्वोक्त अनिर्मोक्षप्रसंगरूप दोष प्राप्त होता है। यदि मिलते हैं, तो यह सर्वसाधारण संसार अलग–अलग एक–एक के ज्ञान से बाधित नहीं हो सकेगा, इस प्रकार उभयतःपाशारज्जु प्रतीत होती है। कृपा कर आप मेरे इस सन्देह

को यथार्थ रीति से दूर कीजिये ॥२८॥

उक्त दोनों दोष जिस प्रकार प्राप्त न हो, उस प्रकार की व्यवस्था से श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, मलिन मन शुद्ध मन में परस्पर सम्बन्धरूप मेल को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वह शुद्ध मन के साथ सम्बन्ध के योग्य सूक्ष्मता से सवीर्य (शुद्ध में मिलने योग्य सूक्ष्मतारूप सामर्थ्य से युक्त) है। शुद्ध चित्त तत्त्व परस्पर एक दूसरे से ऐसे मिलते हैं जैसे एकरूपवाले जल परस्पर एकता को प्राप्त होते हैं, किन्तु अशुद्ध चित्त कलुषित जलों के तुल्य एकता को प्राप्त नहीं होते। भाव यह निकला कि सवीर्य होने के कारण ही देवताओं का जैसे दूसरे के स्वप्न में प्रवेश करके वरदानरूप अनुग्रह देखा जाता है, वैसे ही शिष्य के मन से कल्पित जगत में प्रवेश द्वारा गुरु का मन उपदेश देने में समर्थ है, इसलिए आपके द्वारा उद्भावित प्रथम दोष का खण्डन हो गया। जगत की सर्वसाधरणता तो हम मानते नहीं, अतः दूसरा दोष भी न रहा ॥२९,३०॥

चित्तशुद्धि की चरम सीमा दर्शाते हुए उसकी प्राप्ति से ही तत्त्वज्ञता और दृढ़ परमप्राप्ति प्रतिष्ठित होती है, अन्यथा नहीं, यो उपसंहार करते हैं।

वासना का आत्यन्तिक क्षय ही, जो एकरूप है और संवेदन से रहित है, चित्त की परम शुद्धि है। चित्त की शुद्धि से पुरुष शीघ्र प्रबुद्ध हो जाता है। प्रबुद्धपुरुष चित्त की पूर्वोक्त चिन्मात्रपरिशेषरूप शुद्धि की प्राप्ति से परम कैवल्यरूप मोक्ष को प्राप्त होता है ॥३१॥

सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

अठारहवाँ सर्ग

मलिन चित्तों का मलिन चित्तों के साथ सम्बन्ध, जाग्रत आदि अवस्थाओं के शोधन से
चिन्मात्रपरिशेषरूप शुद्धि का लाभ और ज्ञानी की मोक्षप्राप्ति का वर्णन।

शुद्ध मनोराज्य का शुद्ध और मलिनों के साथ सम्मेलन प्रकार पहले कहा जा चुका है, अब मलिनों का मलिनों के साथ मेलन प्रकार तथा जाग्रदादि अवस्थाओं और द्रष्टा, दृश्य आदि के शोधन द्वारा पूर्व सर्ग के अन्तिम श्लोक में कही गई चित्त की चिन्मात्रपरिशेषरूप सिद्धि की प्राप्ति और उसके द्वारा मुक्ति प्राप्ति बतलाने के लिए पूर्वोक्त जाग्रदादि प्रपंचभेद को आत्मा के असाधारण प्रतिभास के अधीन प्रतिभास से सिद्ध करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, सब जीवों की अपने-अपने द्वारा कल्पित संसाररूप सृष्टि के टुकड़ों में स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप प्रपंच की प्रत्येक जीव में जो भिन्नता कही गई है, वह स्वयं प्रकाश चिदेकरस आत्मा की प्रतिनियताकार कल्पना से ही है, वस्तुतः नहीं है ॥१॥

यह कैसे जाना जाता है ? ऐसी शंका पर कहते हैं।

चूँकि सकल जीव संघात की सुषुप्ति के अनन्तर अव्यवहित उत्तर काल में अनादि द्वैतव्यवहार के लिए जो प्रवृत्ति से जो निवृत्ति है, वह सभी चिदेकरसकी चारों ओर की व्याप्ति से ही होती है, यह सर्वानुभवसिद्ध है। इसलिए पूर्वोक्त प्रपंच की भिन्नता स्वप्रकाश चिदेकरस आत्मा के प्रतिभास से है, यह ज्ञात होता है ॥२॥ प्रवृत्तिमार्ग में व्यवहार करनेवाले जो जो जीव हैं, वे सबके सब चिन्मात्र से ही

पदार्थों के प्रकाशवाले हैं किसी अन्य ज्योति से नहीं। भले ही ऐसा हो, तथापि अन्य को अन्य के मनोराज्य की प्रदर्शन सिद्धि कैसे हुई ? ऐसा यदि कहिये, तो सुनिये, स्व–स्वसाक्षी चिन्मात्र केउपाधि संयोग से या ब्रह्मैक्यदार्ढ्य से एकत्व की प्राप्ति होने के कारण जीव परस्पर की सृष्टियोंको देखते हैं, अन्यथा नहीं देख सकते ॥३॥ विचित्र सृष्टिरूपी विविध जलाशय पूर्वोक्त चिन्मात्ररूपी एक मार्ग से परस्पर एक दूसरे से मिलते हैं और दूसरे के व्यवहार के संवाद आदि से सत्यत्व भ्रान्ति की दृढ़ता होने के कारण चारों ओर से निबिड़ जड़ता को प्राप्त होते हैं ॥४॥ कोई सृष्टिरूपी जलाशय दूसरी सृष्टि में मिले बिना ही पृथक् स्थिति को प्राप्त है और अन्य सृष्टियों में मिले बिना ही लय को प्राप्त हुए हैं। कोई परस्पर संमिलित हैं। इस प्रकार ब्रह्माण्डरूपी गुंजाफल अक्षुण्ण स्थित हैं ॥५॥

जिसमें प्रत्येक अणु में असंख्य हजारों ब्रह्माण्डरूपी गुंजाफल एक दूसरे से मिले बिना स्थित हैं, वह ब्रह्म मायाशबल नाम का वन है। ये जगद्रूपी गुंजाफल परस्पर मिलने से निबिड़ता को (साधारण व्यवहार योग्यता को) प्राप्त हो गये हैं।

शंका : क्या सब पदार्थ सबके दर्शन योग्य हैं ?

समाधान : नहीं सब पदार्थ सबके दर्शन योग्य नहीं हैं। जिस प्राणी का जिस प्रकार के कर्मों का भोगानुकूल फल जहाँ पर जैसा रहता है, वहाँ पर उतना ही वह देखता है। अन्य लोक में स्थित अधिक का उसे दर्शन नहीं होता ॥६,७॥

इसीलिए चित्तों का भेद और चित्तोपाधिक जीवों का भेद सिद्ध होता है, इस आशय से कहते हैं।

एक मन की दूसरे मन में वर्तमान मनोराज्यों के प्रति उसके दर्शन, उपभोग आदि की असमर्थतारूप निष्फलता को प्राप्त हुई जो स्थिति है, उसी को आप मन के भेदमें हेतु जानिये। उसी से जीव भेद भी जानिये ॥८॥ इस प्रकार तुल्य कर्म, वासना आदि वाली विभिन्न मनोराज्यरूप सृष्टियों का एक साथ फलोन्मुखता द्वारा सम्बन्ध होने से व्यष्टि–समष्टि स्थूल देहों का अस्तित्व भी बद्धमूल है, ऐसा जानिये। उक्त देहसत्ता की विस्मृति होने पर तो देह का अभाव ही स्वाभाविक है ॥९॥

स्थूलदेहता के बद्धमूल होने पर जीव की स्वाभाविक आत्मस्थिति विस्मृत हो जाती है और काल्पनिक संसार स्थिति को वह स्वीकार कर लेता है, ऐसा कहते हैं।

जैसे अपने स्वरूप की विस्मृतिवाला सोना शुद्ध कटकता को प्राप्त होता है, वैसे ही अपने स्वरूप की विस्मृतिवाले चैतन्यरूपी सुवर्ण ने देहत्व के बद्धमूल होने के कारण कटकत्व के सदृश केवल संसाररूप अविद्या का मिथ्या ही अनुभव किया है ॥१०॥

इस प्रकार कहीं पर अशुद्धों के भी परस्पर सम्बन्धकी उपपत्ति बतलाकर शुद्धों के अन्य के मनोराज्य के परिज्ञान में दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे हठयोग के अभ्यास से शुद्ध हुआ प्राणवायु दूसरे के शरीर में प्रवेश द्वारा दूसरे के प्राणों और देहेन्द्रियों में अपनी स्वाधीनता के परिज्ञानवश उनसे ज्ञेय शब्द आदि विषयों को जानता है, वैसे ही शुद्ध मन भी अन्य सृष्टि के मनोराज्य को जानता है ॥११॥

यदि मनोराज्यों के परस्पर संमिलन से ही स्थूल देह की सत्ता बद्धमूल हुई है, तो संमिलन न होने पर देह ही नहीं रहेगी, अतः –

नेत्रस्थं जाग्रतं विद्यात् कण्ठे स्वप्नं समादिशेनं। सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम् ॥

अर्थात् जाग्रदवस्था को नेत्र में स्थित जानें, स्वप्न को कण्ठदेश में स्थित समझें, सुषुप्त को हृदय में स्थित जानें और तुरीय अवस्था को मस्तक में स्थित समझें। इस प्रकार श्रुति द्वारा बोधित देह के विभिन्न प्रदेशों में अवस्थिति के अधीन जाग्रदादिअवस्था भी नहीं होगी, ऐसी आशंका करके कहते हैं।

सम्पूर्ण जीवों का आत्मा जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्तिनामक तीन अवस्थाओं को प्राप्त है। इनमें देह कारण नहीं है , भाव यह कि जीवत्व के स्वभाव से ही तीन अवस्थाओं की कल्पना है। देह के कारण उनकी कल्पना नहीं है, क्योंकि जाग्रत की कल्पना के बिना देह की सिद्धि न होने से अन्योन्याश्रय दोष प्राप्त होगा। श्रुति तो दूसरे की दृष्टि से सिद्ध देह के अनुवाद द्वारा उसके एक देश में दिखाई देने के कारण जाग्रदादि प्रपंच विस्तार सत्य नहीं है, यह तात्पर्य प्रकट करती है, देहजाग्रदादि अवस्थाओं का हेतु है, यह तात्पर्य प्रकट नहीं करती ॥१२॥ इस प्रकार जाग्रदादि तीन अवस्थारूप इस आत्मा में देहता जल में लहर की तरह स्फुरित नहीं होती। भाव यह कि जैसे जल ही तरंग आदिरूप से प्रकट होता है, तत्त्वदर्शन होने पर तो जल से पृथक् तरंग आदि कोई वस्तु नहीं है, वैसे ही जीव ही तीन अवस्थावाला आत्मा है, ऐसा विचार होने पर जीव से अन्य देहता कोई वस्तु बाकी नहीं रहती ॥१३॥ इसी प्रकार तत्त्ववेत्ता पुरुष सुषुप्ति अवस्था के अवसानभूत तुरीय पद में, जो कि अपना स्वरूप है, स्थित चैतन्यैकरसस्वभाव को ज्ञान से प्राप्त कर जीवभाव से निवृत्त होता है, किन्तु जो तत्त्वज्ञानी नहीं है वही अपनी कल्पना से फिर देहादि की आकारकल्पनारूपसृष्टि में प्रवृत्त होता है ॥१४॥

तो क्या ज्ञानी और अज्ञानी की सुषुप्ति भी भिन्न है ? इस पर नहीं, ऐसा कहते हैं।

ज्ञानी और अज्ञानी दोनों की सुषुप्ति समान ही है, क्योंकि अज्ञानी की भी सुषुप्ति श्रुति में निरतिशयानन्दरूप मोक्ष के दृष्टान्तरूप से कही गई है।

शंका : तब वह सुषुप्ति क्यों एक की सृष्टि की कारण होती है और अन्य की नहीं होती ? उसमें अन्तर क्या आया ?

समाधान : इन दोनों में जो सुषुप्ति-अवस्थापन्न अज्ञानी है, वह वास्तव आत्मज्ञान से रहित है और देहादि में आत्मतत्त्व भ्रान्ति की वासना से वासित भी है। इसी भेद के कारण अज्ञानी पुनः सृष्टि भाजन होता है ॥१५॥

सृष्टियों में और भी अवान्तर भेद कहते हैं।

चित् के सर्वव्यापक होने के कारण कोई पुरुष दूसरे सर्ग के भीतर पहुँचाया जाता है। प्रत्येक सर्ग में और भी दूसरे-दूसरे सर्ग अलग-अलग विद्यमान हैं ॥१६॥ उनमें जैसे कदली के खम्भों में एक के बाद एक पर्त रहते हैं, वैसे ही भीतर स्थित बहुत से सर्गों के समूह हैं। विस्तारयुक्त पत्तों से मानों बृहत्, बाहर और अन्तर के सम्पूर्ण सर्गों के समूह हैं। उनसे रहित ब्रह्म केले के पत्तों के मण्डप के तुल्य स्वभाव शीतल है ॥१७॥ जैसे सैकड़ों पत्तों के होने पर भी केले में भेद नहीं है, वैसे ही सैकड़ों सृष्टियों के रहते भी ब्रह्मतत्त्व में भेद नहीं है ॥१८॥

इस प्रकार जगद्भाव को प्राप्त हुए ब्रह्म की पुनः स्वभाव की प्राप्ति में दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे वट आदि का बीज ही जल आदिके सम्पर्क से वृक्ष बनकर वृक्ष के शाखा-प्रशाखाओं के

विस्तार, फलआदि द्वारा फिर पूर्वतन बीज होता है, वसे ही ब्रह्म भी काम, कर्म आदि रूप जल के सम्पर्क से मन बनकर जन्म–मरण आदिकल्पना द्वारा अधिकारी देह की प्राप्ति होने पर श्रवण, मनन आदि के क्रम से ज्ञानोत्पत्ति होने के कारण प्राक्तन ब्रह्मभाव से आविर्भूत होता है ॥१९॥

जल के सम्पर्क से उक्त बीज की भी जैसे पुनः वृक्षभावापत्ति होती है, वैसे ही मुक्त की भी पुनः जीवभावापत्ति होगी, इस प्रकार यदि बीज को दृष्टान्त न मानों, तो रस ही दृष्टान्त है, ऐसा कहते हैं।

रसकारणवाला बीज फल रूप से विकास को प्राप्त होता है और ब्रह्मकारणवाला जीव जगद्रूप से विकास को प्राप्त होता है ॥२०॥

ऐसा होने पर ब्रह्म का कारण क्या है, इस प्रकार की शंका का भी अवसर नहीं आता, ऐसा कहते हैं।

जैसे रस का कारण क्या है, यह कहना उचित नहीं है, वैसे ही ब्रह्म का कारण क्या है, यह भी कहना युक्त नहीं है ॥२१॥

यदि कहिये जैसे पत्ते, शाखा, फूल, फल आदि में सरसता दिखाई देने के कारण उनका स्वभावभूत रस उनका कारण है, वैसे ही जगत का कारण ब्रह्म भी जगद्धर्मस्वभाव ही होगा, ऐसी अवस्था में ब्रह्मकारणता स्वभावकारणतावाद ही ठहरी, ऐसी शंका करके कहते हैं।

पर ब्रह्म परमात्मा निर्विशेष होने के कारण स्वभाव नहीं कहा जा सकता। भाव यह है कि कार्य के साथ उत्पन्न होनेवाले असाधारण कर्मविशेषरूप कार्यस्वभाव का कारण में सम्भव नहीं हो सकता ॥२२॥

तब तो चेतन ब्रह्ममात्र कारण से जगत में जाड्यादिस्वभावत्व की असिद्धि हो जायेगी, अतः ब्रह्म में जड़ता, दुःखादि स्वभाववाले जगत के अन्य कारण का और जगत में वैचित्र्य के हेतु अन्य निमित्तों को स्वीकार करना पड़ेगा, यदि ऐसी कोई शंका करे, तो उस पर कहते हैं।

निर्विकार, अद्वितीय, असंग होने के कारण वस्तुतः अकारण सम्पूर्ण प्रपंच के आरोप के आदि कारण ब्रह्म में कारण, निमित्त आदिवस्तु का भी संभव नहीं है। भाव यह कि ब्रह्मस्वभावसे विरोध होने के कारण ही अकारणविवर्तरूप जगत मिथ्या ही है।

शंका : जड़, अनृत, दुःखरूप जगत का जड़, असत्य दुःखरूप ही आदि कारण होना उचित है, उसी का विचार करना चाहिए। जो जगत का कारण नहीं है, उस ब्रह्म के विचार से क्या लाभ ?

समाधान : सार वस्तु का (ब्रह्म का) ही विचार करना उचित है, ब्रह्म के अतिरिक्त असार वस्तु के विचारों से कौन पुरुषार्थ सिद्ध होगा ? ॥२३॥

ब्रह्म निर्विकल्प, अद्वितीय और असंग होने से कारण नहीं है और आदि कारण है, ऐसा जो कहा, उसके अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए पूर्वोक्त बीजरूप दृष्टान्त की अपेक्षा ब्रह्म में जो भेद है, उसे कहते हैं।

लोक में बीज अपने आकार का त्याग करके अंकुर आदिरूप फल में परिणत देखा जाता है; ब्रह्म वैसा नहीं है, ब्रह्म अपने आकार का त्याग किये बिना ही जगद्रूप विवर्त का कारण होता है, वहाँ पर फल और बीज दोनों उपस्थित रहते हैं। इसलिए जगद्विवर्त के उपादान ब्रह्म को अपनी तुल्य सत्तावाले कार्य के न होने से अकारण कहा, यह भाव है ॥२४॥

बीज की अपेक्षा ब्रह्म में और भी भेद दर्शाते हुए निर्विशेष ब्रह्म की बीज से जो समता दिखाई गई है,

वह गौणी वृत्ति से है। वस्तुतः ब्रह्म और बीज की तुलना नहीं है ऐसा कहते हैं।

बीज के अवयव, गुण आदि सभी स्वरूप आकारयुक्त अहं यानी अन्य से व्यावृत्ति करनेवाले जाति, विशेष प्रकार की गठन आदि से युक्त हैं। इसलिए आकृतिरहित परमपदरूप ब्रह्म की बीज से तुलना नहीं की जा सकती। वस्तुतः कल्याणरूप ब्रह्म में कोई उपमा है ही नहीं ॥२५॥

तब गौणी वृत्ति से उपमा देने का क्या फल है ? इस पर कहते हैं।

ब्रह्म ही अनात्मा के तुल्य उत्पन्न होता है, यह दर्शाने के लिए गौणवृत्ति से उपमा दी गई है। वस्तुतः ब्रह्म अन्य की तरह उत्पन्न नहीं होता, इसलिए न तो ब्रह्म को उत्पन्न हुआ जानिये और न अनुत्पन्न ही जानिये, अतः जगत शून्य है ॥२६॥

यदि अपने को ही जगत के तुल्य देखता है, तो उसे अनर्थ की प्राप्ति कैसे हुई, जिससे कि उस अनर्थ के परिहार के लिए शास्त्र सफल हो, इस शंका पर कहते हैं।

अपने को दृश्यरूप से देख रहा दृष्टा अपनी यथार्थ आत्मा को नहीं देखता। इसी से उसे अनर्थ की प्राप्ति हुई है। जिसकी बुद्धि प्रपंच से आक्रान्त हो, ऐसे किस पुरुष को अपनी यथार्थ स्थिति ज्ञात होती है ? ॥२७॥

यद्यपि उसकी पूर्णानन्द स्वप्रकाशता स्वाभाविक है, तथा विभ्रान्ति पैदा होने पर वह व्यर्थ हो गई, इस आशय से कहते हैं।

यदि मरुभूमि की मृगतृष्णा में जलभ्रान्ति है, तो यह मृगतृष्णा है, यह अभिज्ञता कहाँ ? यदि यह जल नहीं है, यह अभिज्ञता है, तो मृगतृष्णा कहाँ ? भाव यह कि भ्रान्ति होने पर अभिज्ञता रह नहीं सकती ॥२८॥

निर्मल, स्वप्रकाश, सर्वगत होने से आत्मा यद्यपि सदा सबके स्पष्टरूप से दर्शन योग्य है, तथापि कभी कोई भी उसको यथार्थरूप से नहीं देख सकता, यह बहिर्मुख लोगों की भ्रान्ति की प्रबलता पर महान आश्चर्य है, ऐसा कहते हैं।

जैसे नेत्र बहिर्मुख होने के कारण अपने स्वरूप को नहीं देख सकता, वैसे ही सम्पूर्ण अंगों से युक्त आकाश की तरह निर्मल द्रष्टा भी बहिर्मुख होने के कारण साक्षात अपने स्वरूप को नहीं देख पाता, यह भ्रम की बड़ी विस्मयकारिता है ॥२९॥

यदि कोई शंका करे बहिर्मुख पुरुष भीतर अपने आत्मा को भले ही न देखे, पर बाहर के और लोगों के आत्मा को उसे देखना चाहिए, इस पर कहते हैं।

जैसे सर्वथा भ्रमशून्य मुक्त पुरुष दृश्यता को प्राप्त हुए द्वैत को नहीं देखता, वैसे ही सर्वांगपूर्ण आकाश के तुल्य निर्मल द्रष्टा बहिर्मुख होने के कारण अपने आत्मा की तरह बाहर के सब लोगों के भी परमार्थिक स्वरूप को नहीं देखता है ॥३०॥ आकाश के तुल्य निर्मल ब्रह्म यत्न से भी प्राप्त नहीं होता। दृश्य को दृश्य रूप से देखने पर तो उसका लाभ बहुत दूर है, इसलिए दृश्य को दृश्य रूप से नहीं देखना चाहिये, किन्तु दृक्मात्र रूप से देखना चाहिये, यह भाव है ॥३१॥

यदि कोई शंका करे, द्रष्टा को अन्तरात्मा विषयाभिमुख द्रष्टा द्वारा भले ही न देखा जाय, किन्तु घटादि विषयों का अधिष्ठानभूत आत्मा तो बाह्यवृत्तिव्याप्ति से दिखाई देना चाहिए, क्योंकि उसमें

प्रत्यंमुखता का कोई उपयोग नहीं है, इस पर कहते हैं।

घटादि विषय प्रदेश में वृत्त्यवच्छिन्न द्रष्टा की वृत्ति के बाह्य घटादि के आकार में परिणत हो जाने से जहाँ द्रष्टा की भी घटादिस्वरूप प्राप्ति के बिना घटादि नहीं देखे जा सकते। वहाँ पर द्रष्टा की दृश्यता दूरतः अपास्त ही है, इसी अर्थ को बतलाने के लिए 'सूक्ष्मस्य' यह विशेषण दिया है। भाव यह है कि विषयाकारवृत्ति के साथ तादात्म्यापन्नस्वरूप से अतिरिक्त सूक्ष्म चिन्मात्र का दर्शन नहीं हो सकता है ॥३२॥

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, दृश्य ही दिखाई देता है, द्रष्टा दिखाई नहीं देता।

शंका : यदि द्रष्टा सर्वथा नहीं देखा जाता है, तो चित्त की पूर्वोक्त चिन्मात्र परिशेषरूप शुद्धि के लाभ से मोक्ष प्राप्ति कैसे होगी ?

समाधान : केवल एक मात्र द्रष्टा ही है, दृश्य तो यहाँ कुछ है ही नहीं। जो कुछ दिखाई देता है एकमात्र भ्रान्ति का विलास है। इसलिए चिन्मात्रपरिशेषरूप शुद्धि के लाभ से मोक्ष की प्राप्ति में कौन बाधा है ? ॥३३॥

द्रष्टृता भी वास्तविक नहीं है, ऐसा कहते हैं।

यदि सर्वस्वरूप द्रष्टा दृश्य में स्थित है तो द्रष्टृता कहाँ रही ? भाव यह कि दृश्य प्रदेश में जो स्थित नहीं है, उसकी द्रष्टृता नहीं हो सकती और 'सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता' इत्यादि श्रुति भी है, इससे द्रष्टा को सर्वात्मा और दृश्य में स्थित अवश्य कहना चाहिये। ऐसा यदि है, तो उसके आत्मभूत सम्पूर्ण दृष्ट में, अपने में क्रिया का विरोध होने से द्रष्टृता कैसे होगी ? यदि कहिये कि सर्वशक्तिमान होने के कारण राजा की तरह वह दृश्य को उत्पन्न कर उसका वैसा अनुभव करता हुआ द्रष्टा होता है, तो अपने से अतिरिक्त उपकरण की अपेक्षा होने पर शक्ति संकोच मानना पड़ेगा; अतः स्वयं अविकृत ही वह तत्–तत् दृश्य रूपसे उदित होता है, यहीं पर अवशिष्ट रहता है। इससे सिद्ध हुआ कि द्रष्टृतारूप अतिरिक्त वस्तु की सिद्धि नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

राजा के समान सर्वशक्तिमान द्रष्टा जिस जिस वस्तु को जैसे प्राप्त होता है, वैसे ही शीघ्र उसका अनुभव करता है। सर्वशक्तिमान द्रष्टा ही दृश्यरूप में उदित होता है ॥३४॥ जैसे वसन्तरस का उल्लास अपनी रसता का त्याग न करता हुआ ही फल, पुष्प और लतारूप से उन्नत दैदीप्यमान वनखण्ड होता है, वैसे ही चित का उल्लास भी अपनी चिन्मात्रता का त्याग किये बिना ही जीव और तदनन्तर देह होता है। स्वानुभवरूप ही वह इक्षुविकार रूप रस में शर्करा की नाईं अहन्तादि रसवाले अपने में दर्शन, दृश्य रूप जगत स्वप्न को देखता है। जैसे ईख का रस ईख के रस से भिन्न विविध सैकड़ों शर्करा–खण्ड आदि के रूप से उदित होता है, वैसे ही चेतन भी अपने स्वरूप से अभिन्न विविध जगद्रूप से निश्चय उदित होता है ॥३५–३८॥ अपने में अपने–आप स्फुरित हो रहे दृश्यरूप सैकड़ों शाखाओं से युक्त चिद्रसउल्लास वृक्षों का यहाँ पर अन्त नहीं जाना जाता, क्योंकि 'नानाखण्डसहस्त्रौधैः इससे ब्रह्माण्डों की अनन्तता दर्शाई गई है ॥३९॥

उन–उन ब्रह्माण्डों में भोग चमत्कार भी अनन्त हैं, ऐसा कहते हैं।

यह ब्रह्माण्डरूप वन खण्ड जैसे–जैसे अपने रस के चमत्कार का प्रत्येक को अनुभव कराता है,

वैसे-वैसे यह चेतन अपनी पृथक् स्थिति को देखता है ॥४०॥

चमत्कृति की विचित्रता में चमत्कृति की कल्पना करनेवाले तत्-तत् जीवों के विचित्र संस्कार का उद्‌बोध ही कारण है ऐसा कहते हैं।

इस जीवशक्ति को जो-जो अपनी सृष्टि जैसे उदित होती है, वह आत्मचिद्रूप उस-उस भुवन स्थिति को वैसे ही प्राप्त होती है ॥४१॥

समान वासनाओं का आविर्भाव होने पर अज्ञानी जीवों की भी सृष्टियाँ परस्पर मिलती हैं, ऐसा जीवसृष्टियों का मिलन जो पहले कहा गया, उसका उपसंहार करते हैं।

कोई जीवरूप संसार परस्पर मिलते हैं और इस संसार में स्वयं विहार करके चिरकाल में शान्त हो जाते हैं ॥४२॥

तब मेरे दूसरों की हजारों संसृतियों को देखने के लिए क्या उपाय है ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

आप पूर्वोक्त शुद्धचित्त लोगों के दर्शनोपाय से परमाणुओं के भीतर में भी हजारों जगत्परम्पराओं को देखिये। जैसे सारे तिल में तेल रहते है, वैसे ही चित्त में, आकाश में, शिलाओं में, ज्वाला में, वायु में तथा जल में लाखों संसार विद्यमान हैं ॥४३,४४॥ जब चित्त सिद्धि को प्राप्त होता है, तब जीव चित् हो जाता है, वह चित् शुद्ध और सर्वगत है, अतएव उसका परस्पर अन्यों से मिलन होता है ॥४५॥

मिलन भी स्वकीय परकीय स्वप्नों के दैवात् कहीं संवाद के तुल्य अपने-अपने अन्तःकरण का कल्पनामात्र ही है, इस आशय से कहते हैं।

ब्रह्मा आदि सब का स्वसत्ता से कल्पितभ्रम का प्रतिरूप यह जगद्रूप बड़ा भारी स्वप्न अन्दर उदित हुआ है ॥४६॥ कई भूतपरम्पराएँ एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में जाती हैं। स्वप्न परम्परा में भ्रमण करने से दीवार आदि के तुल्य ठोस परमात्मरूप वस्तु में इस संसाररूप दीर्घ स्वप्न की प्राप्ति होती है और संसाररूपी स्वप्न की वासना की दृढ़ता से वह दृढ़तर है ॥४७॥ चिति जहाँ पर जिसकी भावना करती हैं, वहाँ पर वह शीघ्र ही उत्पन्न होता है। उसने स्वप्न में भी जिसको देखा, वह स्वप्न के समय में सत्य ही है, इसीलिए उसमें चित् सत्ता के संबन्ध का अनुभव होता है ॥४८॥ जैसे बीज के अन्दर सूक्ष्मरूप से पत्ते, लता, फूल, फलरूप अणु रहते हैं वैसे ही चिद् अणु के अन्दर सब सूक्ष्म अनुभव यानी जगत के आकार की वासनाएँ विद्यमान हैं ॥४९॥ परमाणुरूप जगत् के अन्दर चित् परमाणु विद्यमान है, ऐसी अवस्था में चित् और जगत के सम्पूर्ण रूप से परस्पर अन्दर प्रवेश को आश्चर्य मानता हूँ, यह अर्थ है। अथवा यह आश्चर्य नहीं हैं, क्योंकि चिदाकाश ही, जो कि जगद्भ्रमों के द्वारा भेद से गृहीत था, अपने में लय हो जाता है, इसी आशय से कहते हैं, आकाश आकाश में लीन हो गये, अतः आप द्वैत या एकत्व के भ्रम का त्याग कीजिये ॥५०॥

पूर्वोक्त का ही स्पष्टीकरण करते हैं।

चेतन देश, काल, और क्रियारूप अपने ही सूक्ष्म अंशों से आत्मभूत अणुओं का ही अन्य की तरह अपने अन्दर अनुभव करता है, वस्तुतः अन्यों का अनुभव नहीं करता है, अन्यों का तो संभव ही नहीं है ॥५१॥ ब्रह्मा से लेकर कीड़े-मकोड़े तक सर्वसाधारण तत्-तत् अन्तःकरणरूप की उपाधि के कारण परिच्छिन्न हुआ चिदणुखण्ड प्रलयकाल में यद्यपि अस्फुट रहता है तथापि सृष्टि का स्वप्न प्राप्त होने

पर स्फुट होकर तत्–तत् देहदृष्टि से अनुभव को प्राप्त कराया जाता है ॥५२॥

जिसका सबको अनुभव होता है वह क्या है ? ऐसी यदि किसी को जिज्ञासा हो, तो उस पर कहते हैं ।

यह जो स्फुरित हुआ है (दृष्टिगोचर हुआ है), यह अनिर्वचनीय ही है ।

शंका : फिर वह है क्या ?

समाधान : चित्परमाणु (जीव) साक्षात् सत्य आत्मा को ही द्वैतरूप से आस्वादन करते हैं । भाव यह कि जैसे कोई भ्रान्तपुरुष स्वयं अपने कन्धे पर चढ़ने की इच्छा करता है, वैसे ही चित्परमाणुरूप जीव भी सत्य आत्मस्वरूप को ही द्वैत मानते हुए भ्रान्तिवश उसका अनुभव करता है ॥५३॥ चिद्रूपी परमाणु खूब विकसित शरीर होकर नेत्र आदिरूप पुष्प द्वारों से संविद्रूपी सुगन्धि को बिखेरते हुए स्वयं स्फुरित हुए हैं ॥५४॥ कोई व्यष्टिरूप चिद्घट (घड़े के सदृश स्थूलदेह के परिचछेद से चेतन ही मानों घट ठहरा यानी जीव) दृश्य के हेतुभूत चेतन के सर्वव्यापक और अविनाशी होने के कारण देशतः और कालतः बाह्यरूप से जगत को देखता है ॥५५॥ कोई समष्टिरूप (विराट्) जगत को साफ–साफ अपने अन्दर ही देखता है । वहाँ पर चिरकाल के अभ्यास से तादात्म्य अभिमान होने से लीन होता है और फिर आविर्भूत होता है ॥५६॥ जगत में एक स्वप्नरूप जगत से दूसरे स्वप्नरूप जगत को एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न के समान पुनः–पुनः देख रहा वह पर्वत की चोटी से गिरी हुई शिला के समान गर्तरूप मिथ्या योनियों में लुढ़कता है ॥५७॥ स्फुरित हो रहे कोई शरीर परस्पर सम्मिलित हैं, कोई भ्रमशून्य आत्मा में स्थित हैं, कोई आत्मज्ञान के विस्तार में मग्न हैं ॥५८॥

जो अपने अन्दर दृश्य को देखनेवाले हैं, उनका द्वैतमिथ्यात्वज्ञान विशेष है, ऐसा कहते हैं ।

जो जगद्रूपी जीवभ्रम को स्वयं अपने अन्दर देखते हैं, उन थोड़े–से महापुरुषों ने चारों ओर व्याप्त दृश्य को स्वप्न के समान असत् जान लिया है ॥५९॥

उन लोगों की दृष्टि में भीतर ही विश्व का उदय होने पर भीतर ही विश्व की सत्ता का हेतु है । किन्हीं की दृष्टि में बाहर उसका दर्शन होने पर बाहर ही उसकी सत्ता का हेतु है, ऐसी बीज की व्यवस्था मन में रखकर कहते हैं ।

चित्स्वभाव सर्वरूप है, इसलिए वह दृश्य आत्मा में आत्माभिमान रूप से सत्य ही है । जहाँ सर्वव्यापी आत्मा है, वहाँ पर सब कुछ उदित होता है ॥६०॥

जीव के अन्दर दूसरे जीव का, दूसरे जीव के अन्दर फिर दूसरे जीव का, फिर दूसरे जीव का यों अव्यवस्थित, सप्रपंच जीव के उदय में भी उसमें स्थित चैतन्य में अज्ञानसहित तत्–तत् सत्ता ही हेतु है । उसका ज्ञान होने पर कुछ भी कहीं पर न अवशिष्ट था, न है और न रहेगा, इस आशय से कहते हैं ।

जीव के अन्तर्वर्ती सम्पूर्ण प्रतिभास के अन्दर जीवसमूह का उदय होता है, उसके अन्दर पुनः दूसरा जीवसमूह उदित होता है, उसके अन्दर फिर दूसरा जीव, जीव के अन्दर फिर जीव, उसके अन्दर भी जीव उत्पन्न होता है केले के पत्तों की तरह जीव के अन्दर सर्वत्र जीव ही है ॥६१,६२॥ बुद्धि के विषयाभिमुखता का त्यागकर अर्न्तमुख होने पर एक ही साथ आन्तर और बाह्य दृश्य परिज्ञात होकर विनष्ट हो जाता है, जैसे कि तत्त्वतः परिज्ञान होने पर कटकत्व आदि सुवर्ण में विनष्ट हो जाते हैं ॥६३॥

इस प्रकार तत्त्वसाक्षात्काररूप चिन्मात्रपरिशेषलक्षण शुद्धिलाभ को दर्शाकर उसकी प्राप्ति और स्थिति के इन्द्रियजन्य आदि से लेकर विचारपर्यन्त उपायों को आगे-पीछे (सिलसिले के बिना) आरम्भ करते हैं।

जिस पुरुष के मन में 'मैं कौन हूँ' 'यह जगत क्या है', ऐसा दृढ़ विचार नहीं उठता है, उसके अन्दर यह बड़ा भारी जीवज्वरभ्रम नहीं छूटता ॥६४॥ जिस सद्बुद्धि पुरुष की विचार करने से संसारिक विषयभोगलिप्सा दिन प्रतिदिन घटती जाती है, उसके विचार को सफल जानना चाहिए। भाव यह कि वैराग्यपूर्वक ही विचार फलप्रद होता है। यदि कोई रागी पुरुष विचार करे, तो उसे विचारफल भोगवासना-तानव (क्षीणता) तनिक भी प्राप्त नहीं हो सकता है ॥६५॥

इन्द्रिय विजय में अभ्यास करके यदि वैराग्य हो, तो वही वैराग्य विवेक का कारण होता है, अन्य नहीं, ऐसा कहते हैं।

जैसे पथ्य भोजन आदि नियमों से सेवित औषधि आरोग्य करती है, वैसे ही इन्द्रियजय का अभ्यास हो जाने पर विवेक फलीभूत होता है ॥६६॥

विवेक भी यदि वैराग्य, मुमुक्षा की उत्कण्ठा होने से संन्यास, श्रवण आदि फल में पर्यवसन्न हो, तो वही तत्त्वदर्शन रूप तन्मात्रयुक्ति की उत्पत्ति और स्थिति के उपयोगी होता है, केवल वाणीमात्र से विकसित विवेक उक्त फल नहीं दे सकता है, ऐसा दर्शाते हैं।

चित्र में दैदीप्यमान अग्नि के समान जिसके वचन में ही केवल विवेक है, मन में नहीं है; उस पुरुष के द्वारा अपरित्यक्त अविवेकिता केवल दुःख के लिए ही है। यानी जैसे चित्र में स्थित प्रकाशमान अग्नि से दाह आदि नहीं होते, वैसे ही वचनमात्र विवेक से फल सिद्ध नहीं होता है ॥६७॥

तब विवेक के मन में स्थित होने की क्या पहचान है ? इस शंका पर वैराग्य ही एकमात्र उसकी पहचान है, ऐसा कहते हैं।

जैसे स्पर्श से वायु सत्ता को प्राप्त होता है वाणी से नहीं, वैसे ही एकमात्र इच्छा के दूर होने से यानी वैराग्य से ही विवेक जाना जाता है। जैसे प्रत्यक्ष स्पर्श वायु का लक्षण है, वचनमात्र स्पर्श उसका लक्षण नहीं है, यह भाव है ॥६८॥

रागी पुरुष द्वारा वाणीमात्र से प्रदर्शित विवेक अविवेक की शाखा-प्रशाखारूप होने से अविवेक ही है, ऐसा दर्शाते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी, चित्र में लिखित अमृत या जल को आप अनमृत या अजल ही जानिये, चित्र में लिखित अग्नि को आप अनग्नि ही जानिये एवं चित्र में लिखित स्त्री स्त्री नहीं है, इसी प्रकार वचन से प्रदर्शित विवेक भी अविवेक ही है ॥६९॥ पहले विवेक से राग (विषयेच्छा) घटता है, इसमें सन्देह नहीं है, राग के घटने से वैर समूल नष्ट हो जाता, तदनन्तर इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के अनुकूल प्रवृत्ति, ज्ञान का उदय होने से मूलोच्छेद होने के कारण, अवश्य नष्ट हो जाती है। इसलिए जिसमें विवेकिता है, वही पुरुष तत्त्वदर्शनरूप तन्मात्रयुक्ति की स्थिति का योग्य भाजन है यानी पवित्र है ॥७०॥

अठारहवाँ सर्ग समाप्त

उन्नीसवाँ सर्ग

उपासनाओं के अनुसार फल की प्राप्ति, ज्ञानोपाय से सत्य आत्मा में अवस्थान और जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय अवस्था में स्थिति का वर्णन।

यदि जीवों के अन्दर जीवपरम्परा की कल्पना की जायेगी, तो बाह्य जीव ही आन्तरजीवों के अधिष्ठान होंगे। इस तरह आन्तर–आन्तर जीवों की मुक्ति स्वाधिष्ठानभूत बाह्य–बाह्य जीवात्म–भावचिन्तन से बाह्य–बाह्य जीवात्मभावप्राप्ति द्वारा बाह्य जीवों के अधिष्ठानभूत ब्रह्मात्मभावबोध का उदय होने पर बाह्य जीवों की मुक्ति से ही सिद्ध हो सकती है, न कि साक्षात् ब्रह्मात्मावबोध से उनकी मुक्ति सिद्ध हो सकती है, क्योंकि जीवों के मध्य में ब्रह्मसत्ता के असन्निधान से अधिष्ठानत्वरूप आन्तरजगत्बीजता का ब्रह्म में असम्भव है। यदि आन्तरजगद्बीजता का ब्रह्म में सम्भव हो, तो सभी आन्तर–बाह्य जीव तुल्य ही हैं। जीवों के आन्तरत्व की कल्पना असम्भव हो जायेगी, ऐसी आशंका करके जीवोदरवर्ती जगज्जालों का भी ब्रह्म ही अधिष्ठान बीज है, यह सिद्ध करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जीवों का अधिष्ठानरूप बीज ब्रह्म ही सब जगह आकाश की भाँति स्थित है, सब जगह स्थित रहने के कारण ही जीवोदरवर्ती जगत में भी अनेक जीव स्थित हैं ॥१॥ जैसे केले के पत्ते एक के भीतर एक रहते हैं और और जैसे धरातल के गर्भ में नाना प्रकार के कीड़े रहते हैं, वैसे ही आनन्दघन, एक अवकाशरहित आत्मस्वरूप होने के कारण जीव के भीतर भी अनेक जीवजातियाँ रहती हैं। एक के भीतर एक उसके भी भीतर एक इस परम्परा की कल्पना में दृष्टान्त केले के पत्ते दिये हैं। एक के भीतर अनेक की स्थिति कल्पना में दृष्टान्त धरातल के कीड़े दिये गये हैं ॥२॥

यदि कोई कहे आन्तर और बाह्य सभी जीवों का समान ही अधिष्ठान है, ऐसी स्थिति में आन्तरत्व की कल्पना निर्मूल है, इसका क्या परिहार है ? इस पर कहते हैं।

जैसे ग्रीष्मकाल में शरीरान्तर्वर्ती मल और पसीने के कारण जो–जो कृमि उत्पन्न होते हैं, वे शरीर के मल या पसीने के भीतर ही होते हैं। उसी दृष्टान्त से शुद्धचित्त्व भी आन्तर अथवा बाह्य जो–जो जहाँ पर दृश्य होता है, उस–उस का भोक्ता जीव वहाँ पर हो जाता है ॥३॥

अथवा पुरुष के पूर्व जन्म के प्रयत्नरूप कर्म से सब व्यवस्थाओं की सिद्धि होती है, इस आशय से कहते हैं।

वे जीव अपनी सिद्धि के लिए जैसे जैसे प्रयत्न करते हैं, शीघ्र ही विविध प्रकार की उपासना के क्रम से वैसे ही हो जाते हैं ॥४॥

कर्म और उपासना के तारतम्य के अनुसार देवताओं के सायुज्य में भी तत्–तत् देवतारूपी जीवों के भीतर ही तारतम्यरूप से भोग की प्रसिद्धि शास्त्ररूप प्रमाण से सिद्ध है, इस आशय से कहते हैं।

देवताओं की पूजा करनेवाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, यक्षों की पूजा करनेवाले यक्षों को प्राप्त होते हैं और हिरण्यगर्भ और परब्रह्म की उपासना करनेवाले हिरण्यगर्भ और परब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

इनमें से किसको प्राप्त करना चाहिये ? इस पर कहते हैं।

जो तुच्छ न हो यानी सर्वोत्तम हो, उसीका आश्रय करना चाहिये ॥५॥

भार्गवोपाख्यान भी पूर्वोक्त अर्थ में दृष्टान्त है, ऐसा कहते हैं।

जो प्रथम दृष्ट अप्सरारूप दृश्य से चित्त के स्वभाव वश शीघ्र बद्ध हो गया था, वह भृग-पुत्र अपनी संवित् के (ज्ञान के) निर्मल हो जाने से मुक्त हो गया ॥६॥

इसी तरह यह अव्युत्पन्न, मूढ़ संवित् जैसी व्युत्पत्ति से युक्त की जाती है, वैसी ही हो जाती है, इसलिये इसे वास्तविक ब्रह्मरूप से ही व्युत्पन्न करना चाहिए, मिथ्या जीवआदि भाव से नहीं, इस आशय से उपसंहार करते हैं।

यह बाल संवित् संसार के व्यसन तथा संताप से जब तक मलिन न हुई हो, उसके पहले ही सर्वप्रथम जिस भाव को प्राप्त होती है तद्रूप हो जाती है, कोई अन्य वस्तु नहीं होती ॥७॥

संवित् कब बाल रहती है और कब प्रौढ़ होती है, यह विशेषता जानने के लिए जाग्रत और स्वप्न दशाओं की विलक्षणता का हेतु श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, जाग्रत और स्वप्न दशाओं का भेद आप कहिये और यह भी बतलाइये कि प्रत्यक्ष के अवभास में कोई विशेषता न रहने पर भी जाग्रत किस कारण से सत्य व्यवहार का हेतु होता है और स्वप्न जाग्रत के आकार का भ्रम कहा जाता है ? ॥८॥

बार-बार संवादयुक्त प्रतीति से प्राप्त स्थिर प्रतीति की योग्यता ही जाग्रत के पदार्थों में सत्यत्वव्यवहार की हेतु है, इस तरह श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जो स्थिर प्रतीति से युक्त होता है, उसे जाग्रत कहते हैं और जो अस्थिर प्रतीति से युक्त होता है, वह स्वप्न कहा गया है ॥९॥ यदि स्वप्न भी कालान्तर में स्थित है, तब तो जाग्रतरूप होने से क्षणमात्र में यह जाग्रत ही है, यह प्रत्यक्ष अनुभव से ही दृष्ट हो जायेगा। यदि जाग्रत भी कालान्तर में स्थित नहीं है, तो वह स्वप्न ही है। इस तरह जाग्रत स्वप्नता को और स्वप्न जाग्रद्भाव को प्राप्त होता है ॥१०॥ स्थिरता और अस्थिरता के बिना जाग्रत और स्वप्न की दशाओं में भेद नहीं है, क्योंकि इन दोनों दशाओं में सम्पूर्ण अनुभव सदा सब जगह समान ही होता है ॥११॥ स्वप्न भी स्वप्न के समय में स्थिर होने के कारण जाग्रतभाव को प्राप्त होता है और जाग्रत के मनोरथ भी जाग्रत के समय में अस्थिर होने से स्वप्न ही हैं, क्योंकि वैसा बोध होता है ॥१२॥ स्वप्न भी, हरिश्चन्द्र के बारह वर्षवाले स्वप्न की भाँति जिसकी स्थिरता जाग्रद्बुद्धि से ग्रहण करने योग्य हो, वह जाग्रद्रूप हो जाता है।

तो वह स्वप्न कैसे हुआ ? इस पर कहते हैं।

उसमें स्वप्नता तो स्वप्न बुद्धि से है, क्योंकि स्वप्नरूप से ही उसका ज्ञान स्थिर था ॥१३॥

जब तक जो वस्तु स्थिर समझी जाय तब तक वह जाग्रत कही जाती है। क्षणमात्र में उसका भंग होने पर वह जिस प्रकार स्वप्न हो जाता है, उसे सुनिये ॥१४॥

प्रतिज्ञात विषय के वर्णन की भूमिका के रूप में स्वप्नद्रष्टा की जीव की सत्ता को सिद्ध करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस शरीर के भीतर जीव वस्तु विद्यमान है, जिससे लोगों का जीवन रहता है। 'येन जीव्यते' इससे यह दर्शाया कि जीवित रहना ही जीव के अस्तित्व में प्रमाण है। तेज यानी शरीर

की गर्माहट, वीर्य यानी शरीर के व्यापार का कारण बल, जीवधातु यानी जीवन में हेतु निर्विशेष प्रेम और आदि पद से 'अहम्' इत्यादि अभिमान का निमित्त ज्ञान आदि जिसके नाम हैं यानी तेज, बल, प्रेम और ज्ञान ये सब जीव की सत्ता से ही हैं। इसलिए जीव के सद्भाव में ये सब प्रमाण हैं ॥१५॥

यदि कोई कहे देह में जीव रहे, पर उसकी रूप आदि की दशा के लिए प्रवृत्ति में क्या हेतु है ? इस पर कहते हैं।

जिस समय यह शरीर मन, वचन और कर्म से व्यवहार करनेवाला होता है, उस समय प्राणवायु से प्रेरित जीव चेतन, तालाब से नाली आदि के द्वारा जल के सदृश, हृदय से निकलकर बाहर संचार करता है, फैलता है ॥१६॥ जीव चेतन के भीतर सब नाड़ियों में संचार करने पर सब संवित् (ज्ञान) उदित होती है। पहले अनुभूत होने के कारण संवित् जिसमें जगतरूप भ्रम अन्दर छिपा हो, ऐसे चित्त को प्राप्त होती है यानी उनमें वासनाओं की उत्पत्ति होने के कारण स्वप्न देखती है ॥१७॥ नेत्र आदि छिद्रों में संचार कर रही संवित् नाना प्रकार के आकार और विकारों से सम्पन्न बाह्यरूप को अपने में देखती है वैसी ही वह स्थिर होने के कारण जाग्रत कही जाती है। भाव यह है कि यद्यपि अनुभव के समय प्रतीति स्वप्न के सदृश ही होती है, उससे भिन्न नहीं होती, फिर भी प्रतिदिन के प्रत्यभिज्ञान के बाद स्थिरत्व कल्पना जाग्रत है, यह ज्ञान होता है। जाग्रत का क्रम इस प्रकार आपसे मैंने कहा, अब आप सुषुप्ति आदि के क्रम को सुनिये ॥१८,१९॥

वाचिक और कायिक विक्षेप की निवृत्ति होने पर स्वप्न का उदय होता है, मानसिक विक्षेप की भी यदि निवृत्ति हो जाय, तो सुषुप्ति होती है, इस आशय से कहते हैं।

जिस समय शरीर, मन, वचन और कर्म से क्षोभ को प्राप्त नहीं होता है, उस समय यह जीव चेतन शान्तस्वरूप और स्वस्थ होकर रहता है ॥२०॥ जैसे कि विक्षेपशून्य प्रकाश का एकमात्र निमित्त दीपक निर्वात (वायुरहित) घर में क्षोभ को प्राप्त नहीं होता है वैसे ही सुषुप्ति को प्राप्त हुआ पुरुष समता को प्राप्त वायुओं से हृदयाकाशमें तनिक भी क्षोभ को प्राप्त नहीं होता ॥२१॥ उससे शरीर के भीतर स्थित नाड़ियों में संवित् का संचार नहीं होता; अतः पुरुष विक्षोभ को प्राप्त नहीं होता है। इससे स्वप्न के निमित्त का अभाव दर्शाया।और वह संवित् इन्द्रियाँ आदि छिद्रों में भी नहीं आती; अतएव इन्द्रियों द्वारा बाहर भी नहीं आती। इससे जाग्रत के निमित्त का अभाव दिखलाया ॥२२॥

यदि कोई शंका करे कि 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतोभवति' (हे सौम्य, सुषुप्ति के समय जीव 'सत्' शब्दवाच्य ब्रह्म से एकीभूत हो जाता है, अपने पारमार्थिक रूप को प्राप्त होता है) इस श्रुति से सुषुप्ति में जीव का ब्रह्म में लय सुना जाता है, फिर उस समय आप जीव की दीप के तुल्य स्थिति कैसे कहते हैं ? इस पर कहते हैं।

'मैं जीव हूँ' इस संस्कार से युक्त ही वह तिल में तैलसंवित् के तुल्य, बर्फ में शीतसंवित् के तुल्य और घृत में स्नेह संवित् के तुल्य ब्रह्मभाव को प्राप्त होकर स्फुरित होता है ॥२३॥

यदि शंका हो कि तब ''तीर्णो हि तदा सर्वांछोकान् हृदयस्य भवति

(हृदय में स्थित बुद्धि से सब शोकों को तर जाता है), 'सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति'(उस समय सजातीय भेदशून्य और विजातीय भेदशून्य एकमात्र द्रष्टा होता है) इत्यादि श्रुतियों द्वारा कहे गये

आत्यन्तिक ब्रह्मैक्य की क्या गति होगी ? इस पर कहते हैं।

जीव के आकार की जो कोई चिति है, वह चेतन की कला उपाधि का विनाश होने से स्वच्छतावश ब्रह्मात्मा में पृथक् चेतनशून्य, प्राणवायु से किये गये विक्षेप से शून्य सुषुप्ति दशा को प्राप्त होती है, इस अंश को लेकर वे श्रुतियाँ प्रवृत्त हुई हैं, भेदवासना के विलय के अभिप्राय से प्रवृत्त नहीं हुई हैं, यह भाव है ॥२४॥

प्रसंगतः जीव की तुर्यावस्था दिखलाते हैं।

चित्त के उपरत होने पर सकल व्यवहारों के उपराम से युक्त चित्त में शास्त्र से अविषमता का ज्ञान कर विचार और एकाग्रता से साक्षात्कार को प्राप्त हुआ योगी प्रसिद्ध जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्तियों में अथवा पूर्वोक्त भूमिका हो तो उसमें व्यवहार करता हुआ और समाधि में स्थित रहता हुआ भी ज्ञान की दृढ़ता से तुर्य आत्मस्वभाव से च्युत न होकर सदा ही तुर्यावस्थावान कहा जाता है ॥२५॥

प्रस्तुत सुषुप्ति का ही अनुवाद करके उससे पहले पूर्वोक्त स्वप्नावस्था का विस्तार करने के लिए चित्त की उत्पत्ति कहते हैं।

सौम्यता को प्राप्त हुए प्राणों से युक्त वह जीव चेतन जब भोग करानेवाले अदृष्ट के परिपाक से विषमता को प्राप्त किये गये प्राणों द्वारा ही संचालित होता है, तब वह जीव चेतन तत्–तत् भोगों के अनुकूल पूर्वजन्म के संस्कारों के उद्‌बुद्ध होने के कारण चित्तरूप से उदित होता है ॥२६॥

उससे स्वप्नदर्शन को कहते हैं।

उस समय जैसे योगी बीज में स्थित वृक्ष को अपनी यौगिक शक्ति से आगे होनेवाले विस्तार से युक्त देखता है वैसे ही भाव और अभावरूप क्रमिक भ्रमों से अपने हृदय में स्थित जगज्जाल को अपने भीतर ही तुरन्त देखता है ॥२७॥ सुप्त जीव चेतन जब प्राण वायुओं से थोड़ा बहुत क्षुब्ध होता है तब 'मैं हूँ' ऐसा अपने को अहंकारयुक्त देखता है; किन्तु जब अत्यन्त क्षोभ को प्राप्त होता है तब आकाश में अपना गमन देखता है ॥२८॥ जैसे फूल अपनी सुगन्धि का अपने अन्दर ही अनुभव करता है वैसे ही जब–जब नाड़ी के अन्दर स्थित श्लेष्मा के जल से प्लावित होता है तब अपने अन्दर ही जलआदि के भ्रम को देखता है ॥२९॥ जब यह जीवचेतन नाड़ी के अन्तर्गत पित्त से आक्रान्त होता है, तब बाहर की तरह सम्पूर्ण ग्रीष्म आदि के भ्रम का अपने अन्दर ही अनुभव करता है ॥३०॥ नाड़ी के अन्दर स्थित रुधिर से आप्लावित होकर गेरु आदि धातुओं से व्याप्त प्रदेशों को और लाल बादलों से भरे हुए सन्ध्या आदि कालों को बाहर के सदृश अपने अन्दर ही देखता है, अनुभवरूप होने से उन्हीं में निमग्न हो जाता है ॥३१॥ वह जीवचेतन जिस–जिस वासना का सेवन करता है यानी जिस वासना से वासित अन्तःकरणवाला होता है, निद्रावस्था में उसी वासना को प्राणवायु से क्षुब्ध होकर नेत्र आदि छिद्रों से बाहर के पदार्थों की तरह अपने अन्दर देखता है ॥३२॥ प्राणवायु से भीतर ही क्षुब्ध हुआ, अतएव इन्द्रियच्छिद्रों पर अपने आक्रमणों से रहित जीव अपनी संवित् से आन्तर पदार्थों का तुरन्त अनुभव करता है, वही स्वप्न कहा जाता है ॥३३॥ जब वायु से क्षुब्ध हुआ जीव इन्द्रिय छिद्रों का आक्रमण करनेवाला होकर बाहर शब्द आदि को देखता है, तब वह दर्शन जाग्रत कहलाता है ॥३४॥

जाग्रदादि भेदों से विस्तार को प्राप्त हुए जगत में सत्यता बुद्धि ही आसक्ति का कारण होने से

अनर्थ है; इसलिए उसी का त्याग करना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार ज्ञान को प्राप्त हुए अतः प्रथित महाबुद्धिवाले आपको भी इस असत्य जगत में सत्य दृष्टि नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह सत्य दृष्टि आध्यात्मिक निमित्तों से मरण के हेतुभूत दोषों की जननी है ॥३५॥

उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

बीसवाँ सर्ग

संसार सत्य आत्मा का अवलम्बन न करनेवाली चित्त की भ्रान्ति है,
सत्य आत्मा का अवलम्बन करने पर तो चित्त और संसार आत्मा ही है, यह वर्णन।

पूर्ववर्णित जाग्रदादिस्वरूप कथन का प्राकृत में सम्बन्ध दिखलाते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी, मैंने आपसे यह जाग्रदादि स्वरूप का वर्णन मन के यथार्थ ज्ञान के लिए किया है, इसका और कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है ॥१॥

इस वर्णन से मन का कैसा स्वभाव ज्ञात हुआ, यदि यह कोई शंका करे, तो दृढ़रूप से भावित पदार्थ के आकार को धारण करना ही मन का स्वभाव है, ऐसा कहते हैं।

जैसे अग्नि के सम्बन्ध से लोहे का गोला आग बन जाता है, वैसे ही दृढ़ निश्चयवाला चित्त जिस वस्तु की बार–बार भावना करता है उसी के आकार को प्राप्त हो जाता है ॥२॥

इससे सत् और असत्रूप हेय और उपादेय प्रतीति के विषय सभी पदार्थ एकमात्र मन से कल्पित होने के कारण सत् और असत् से विलक्षण (अनिर्वचनीय) है, यह सिद्ध हुआ, ऐसा कहते हैं।

भाव, अभाव, उपादान, त्याग आदि प्रतीतियाँ चेतन में कल्पित हैं। न तो सत्य हैं और न असत्य हैं। मन की चपलता ही इनकी जननी है ॥३॥

व्यष्टिरूप से मन भ्रान्तिजनक है और समष्टिरूप से भ्रान्ति के विषय जगत का उपादान है, ऐसा भेद कहते हैं।

मन भ्रान्ति का तो कर्ता है और जगत की स्थिति का कारण है। समष्टिव्यष्टिरूप से मलिन मन ही इस जगत का विस्तार करता है ॥४॥

यदि कर्ता–अंश शुभ मार्ग में लगाया जाय, तो उपादानांश में स्थित अणिमा आदि विभूतियाँ और तत्त्वज्ञान भी वश में हो जाते है, ऐसा कहते हैं।

मन ही पुरुष है, उसको शुभमार्ग में लगाकर एकमात्र उसकी जय से अवश्य प्राप्त होनेवाली जगत में स्थित सब विभूतियाँ प्राप्त होती हैं ॥५॥

यदि कोई कहे कि देह ही पुरुष हो, मन पुरुष न हो, तो इस पर कहते हैं।

यदि शरीर पुरुष होता, तो महामति शुक्राचार्य विविध आकारवाले अन्यान्य सैकड़ों जन्म रूप भ्रमों को कैसे प्राप्त होते ? ॥६॥

इसलिए शरीर पुरुष नहीं हो सकता, घड़े, दीवार आदि के तुल्य वह चेत्य ही है; ऐसा कहते हैं।

इसलिए चित्त ही पुरुष है, शरीर तो विषय है। चित्त जिसकी भावना करता है, उसको निश्चय ही

प्राप्त होता है ॥७॥

मन सब पदार्थों की प्राप्ति में समर्थ हो, उससे मेरा क्या काम ? ऐसी यदि शंका हो, तो उस पर कहते हैं।

जो वस्तु अतुच्छ है, आयास रहित है, उपाधिशून्य है और भ्रमहीन है, प्रयत्न के साथ आप उसका अनुसन्धान कीजिये। उससे आप तत्स्वरूपता को प्राप्त होंगे। भाव यह है कि मोक्ष के लिए प्रयत्न करने पर आपको मोक्ष की प्राप्ति होगी ॥८॥

पहले कहे गये अर्थ का ही संक्षेप कर उपसंहार करते हैं।

मन के इच्छित स्थान या विषय को शरीर प्राप्त होता है। शरीर से किये गये स्थान या विषय को मन नियमतः प्राप्त नहीं होता, इसलिए हे सुभग, मन की इच्छित सिद्धि होने पर देह, इन्द्रिय आदि के नियमन में समर्थ होने के कारण आपका भी मन परमार्थभूत आत्मतत्त्व को प्राप्त हो, अन्य असत्य द्वैत भ्रमों का त्याग करे ॥९॥

बीसवाँ सर्ग समाप्त

इक्कीसवाँ सर्ग

विशुद्ध पुरुष में कल्पक का अभाव होने से मन की कल्पना नहीं होती और
अविशुद्ध में मन की सिद्धि होने से अनेक मत-मतान्तरों की कल्पनाएँ होती हैं, यह कथन।

जो वस्तु तुच्छ नहीं है, आयासरहित है, उपाधिशून्य है और भ्रमरहित है उसका यत्न से अनुसन्धान करो, ऐसा गुरुजी के कहने पर अपने बुद्धि कौशल से उसका अनुसन्धान कर उसमें मन की कल्पना की योग्यता को न देख रहे श्रीरामचन्द्रजी पूर्वोक्त मन की कल्पना में विश्वास न रखते हुए अर्धविकसित बुद्धि होकर पूछने के लिए गुरुजी को अपनी ओर आकृष्ट कर संशय दिखलाते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, हे सम्पूर्ण धर्मों के मर्मज्ञ, सागर में चंचल कल्लोल की तरह मेरे हृदय में जो यह बड़ा भारी संशय घूम रहा है, उसे आप कृपाकर दूर कीजिये। देशकृत परिच्छेद न होने के कारण सर्वत्र व्याप्त, कालकृत परिच्छेद न होने के कारण नित्य और वस्तुकृत परिच्छेद न होने के कारण निर्दोष परमात्मा में मन नाम की विषयाकार कलुषित यह संवित् कौन है और कहाँ से आई है ? यदि कहिये, अनादि अविद्यावश यह उपस्थित हुई है, तो उसकी भी संभावना नहीं है, क्योंकि जिससे भिन्न दूसरी वस्तु न तो है, न थी और न होगी, उसमें किसी दूसरे निमित्त से या स्वतः अथवा दूसरे प्रकार से कलंक कैसे प्राप्त हो सकता है ? ॥१-३॥

इस तरह श्रीरामचन्द्रजी के पूछने पर श्रीवसिष्ठजी तत्त्वपदार्थ के परिचय से चमत्कारयुक्त श्रीरामचन्द्रजी की बुद्धि की पहले प्रशंसा करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, वाह आपने बहुत अच्छा प्रश्न किया। नन्दनवन की मंजरी के समान मकरन्दनिस्यन्दरूपी अनुभव चमत्कारवाली आपकी बुद्धि मोक्षभागिनी हो गई है ॥४॥ आपकी बुद्धि पूर्वापर विचार में तत्पर है, इसलिए शंकर आदि देवताओं ने जो पद प्राप्त किया है, उस ऊँचे पद को आप प्राप्त होंगे ॥५॥

शुद्ध चिदात्मा में अविद्या का कलंक युक्त नहीं है, यह प्रश्न जो पुरुष शुद्धात्मा का अनुभव कर चुका है, उसे शोभा देता है; लेकिन उसके प्रति तो हम मन का निरूपण कर नहीं रहे हैं, जिससे कि उसे पूछने का अवसर मिले, किन्तु जिसने शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं किया है, ज्ञाता को ही आत्मा समझता है, उसे अपने अनुभव से विरुद्ध आत्मा की शुद्धि कैसे है ? यही शंका करनी चाहिए, अनुभव से विरुद्ध शुद्धि स्वीकार कर शुद्ध में मालिन्य कैसे है ? इस तरह के प्रश्न का अज्ञ के उपदेश के समय में विज्ञ के समान अवसर नहीं है, ऐसा श्रीवसिष्ठजी कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस समय आपके इस प्रश्न का अवसर ही नहीं है। निर्वाण प्रकरण में जबकि आत्मदर्शन समाधि की प्रतिष्ठा प्राप्त हो जायेगी, अनुभव में आरूढ़ इसी अर्थ को मैं अपने अनुभव के संवाद के लिए कहूँगा, वहाँ पर आपके इस प्रश्न का समाधान दिया जायेगा। सिद्धान्त के समय आपको यह प्रश्न मुझसे पूछना चाहिए। मुझसे समाहित इस प्रश्न से सिद्धान्त आपको हस्तामलकवत् हो जायेगा ॥६,७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे वर्षा ऋतु में मयूर की वाणी सुशोभित होती है, शरत काल में हंस की वाणी भली लगती है, मयुर की वाणी भली नहीं लगती, वैसे ही सिद्धान्त काल में ही आपका यह वचन सुशोभित होगा ॥८॥

इस समय यह आपका प्रश्न वर्षा ऋतु में आकाश की स्वाभाविक नीलिमा के वर्णन के तुल्य है, ऐसा कहते हैं।

वर्षा ऋतु के बीत जाने पर आकाश की स्वाभाविक नीलिमा सुशोभित होती है; किन्तु वर्षा ऋतु में तो उस पर बड़े बड़े विशालकाय बादलों की घटा छाई रहती है ॥९॥

इस प्रकार श्री रामचन्द्रजी के प्रश्न का समाधान कर प्रस्तुत विषय के श्रवण में श्रीरामचन्द्रजी को प्रवृत्त करते हैं।

हे सुन्दर व्रतवाले श्रीरामचन्द्रजी, प्रकृत में इस उत्तम मनोनिर्णय का मैंने आरम्भ किया है, जिसके कारण लोगों का जन्म होता है, उस मन को आप सुनिये ॥१०॥ पूर्वोक्त रीति से चैतन्य में मलिनता अज्ञानियों के अनुभव से सिद्ध है। उस मालिन्य से उपहित वह चैतन्य प्रकृतिरूप होता है, मनन धर्मयुक्त होकर मन होता है, सुनता हुआ कान और देखता हुआ नेत्र होता है, क्योकि 'पश्यंश्चक्षुः श्रृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनः' इत्यादि श्रुति है। तथा कर्मेन्द्रियाँ को प्राप्त हुआ यह चेष्टा से धर्माधर्मरूप कर्म भी स्वयं ही होता है, ऐसा मुमुक्षु लोगों ने श्रुति आदि प्रमाणों से निर्णय कर रक्खा है ॥११॥

बहुत से वादी अपने–अपने अभिमत नाम–रूप और आकार से उसी की अन्य–अन्यरूप से कल्पना करते हैं, इस आशय से कहते हैं।

वक्ताओं में श्रेष्ठ वादियों की भाँति–भाँति की शास्त्रदृष्टियों से वही उनके अभिमत आकृति को दर्शन भेद से प्राप्त हुआ है, इसे आप सुनिये ॥१२॥

यदि एक ही मूल है, तो वादियों के सिद्धान्तभेद कैसे हुऐ ? इस शंका के समाधान के बहाने 'वही कर्म है, ऐसा मुमुक्षुओं ने निर्णय किया है' ऐसा जो पहले कहा था, उसीकी व्याख्या करते हैं।

मनन से चंचल हुआ मन जिस जिस भावना से उत्पन्न हुए भाव को प्राप्त होता है, जैसे सुगन्ध, दुर्गन्ध, उत्कट गन्धवाले फूलों के भीतर स्थित वायु सुगन्ध, दुर्गन्ध और उत्कट गन्ध को प्राप्त हो जाता

है वैसे ही उक्त मन भी तत्स्वरूपता को प्राप्त होता है ॥१३॥ इसलिए अपनी–अपनी वासना से कल्पित का ही युक्ति से निर्णय कर उसी का पुनः पुनः विकल्प करते हुए, अपने द्वारा कल्पित पदार्थ से स्वीयतारूपी रंग से अपने अहंकार को रंगते हुए यानी उसके आकार को प्राप्त करते हुए उसके निश्चय को प्राप्त होकर वह मन उसीमें पुनः पुनः आस्वादनरूप चमत्कार को प्राप्त होता है। शरीर में जैसा मन होता है उसके बाद बुद्धि और इन्द्रियों में भी वैसा ही हो जाता है ॥१४,१५॥ जैसे सुगन्धित पदार्थ के भीतर स्थित वायु सुगन्धिता को प्राप्त होता है, वैसे ही मन जिस प्रकार के भाव से युक्त होता है, उसके बाद उसका वशवर्ती शरीर भी तन्मय हो जाता है ॥१६॥ ज्ञानेन्द्रियों के आविर्भूत होकर अपने–अपने विषय में प्रवृत्त होने पर उनसे कर्मेन्द्रियसमूह स्वतः ही ऐसे स्फुरित होता है, जैसे कि धूलिमिश्रित वायु में पृथ्वी (तदन्तर्ग धूलिरूप पृथिवी) अपने–आप आविर्भूत होती है ॥१७॥ क्षुब्ध हुए कर्मेन्द्रिय के अपनी क्रियाशक्ति को प्रकट करने पर वायु में धूलि समूह की तरह प्रचुर कर्म की निष्पत्ति होती है ॥१८॥

मन की कर्मरूपता प्राप्ति का उपसंहार करते हुए कर्म और मन की परस्पर बीजरूपता और अभिन्नसत्ता को कहते हैं।

इस प्रकार मन से कर्म की उत्पत्ति हुई है। मन का भी कर्म ही बीज कहा गया है। इन दोनों की सत्ता फूल और सुगन्ध की सत्ता के समान अभिन्न ही है ॥१९॥

इस प्रकार वासना, कर्म और उसके फलरूप अनुभवों की भी समान रूप होने से एक ही सत्ता है, ऐसा कहते हैं।

दृढ़ाभ्यास होने के कारण मन जैसे भाव का ग्रहण करता हैं वैसे ही स्पन्दनाम की, कर्मनाम की शाखाओं को पैदा करता है, वैसे ही क्रियारूप उसके फल को बड़े आदर से उत्पन्न करता है, तदनन्तर उसी के स्वाद का अनुभव कर शीघ्र बन्धन में पड़ता है ॥२०,२१॥ मन जिस जिस भाव को प्राप्त होता है, उसी उसी को वस्तुरूप से प्राप्त होता है, वही श्रेय है, उससे अतिरिक्त श्रेय नहीं है, ऐसे निश्चय को प्राप्त हो जाता है। भाव यह कि इसीलिए निःसार अपने–अपने अभिमत वस्तु में प्राणियों और वादियों का पक्षपात देखा जाता है ॥२२॥ अपनी ही प्रतीति से अत्यन्त अनुविद्ध हुए मन धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिऐ सदा ही प्रयत्न करते हैं। भाव यह कि अपने निश्चयानुसार जिसका मन जिस प्रकार के निर्णय से युक्त होता है, वह उसी के अनुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिए प्रयत्न करता है ॥२३॥ उन वादियों में कपिलजी के अनुयायियों का मन विवेकी होने से असंग, चिन्मात्र त्वंपदार्थविषयक अपनी प्रतिपत्ति से निर्मल ही है। तत्पदार्थ के विषय में वे श्रुति का अवलम्बन नहीं करते, इसलिए मोह वश अपनी बुद्धि से ही सुखदुःख मोहरूप जड़ जगत का सुखदुःख मोहरूप जड़ त्रिगुणात्मक प्रधान ही उपादान हो सकता है, ऐसा स्वीकार कर पुनः पुनः उसी के आस्वादन से वही एकमात्र तत्त्व है, ऐसा निर्णय कर उन्होंने ऐसी ही शास्त्रदृष्टियों की कल्पना की है ॥२४॥ हमने जो उपाय कहा है, उसके बिना किसी को भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है, इस प्रकार के निश्चय से युक्त चित्तवाले लोग अपने कल्पित नियम रूपी भ्रमों से भ्रम में स्थित और अन्य उपायरूपी मतों से विमुख होकर ग्रन्थ रचना आदि द्वारा अपनी दृष्टि को औरों की बुद्धियों में संक्रान्त करते हैं ॥२५॥

ऐसे ही वेदान्तवादी भी हैं, ऐसा कहते हैं।

श्रुतिरूप प्रमाण से अध्यारोप और अपवाद द्वारा यह जगत ब्रह्म ही है, ब्रह्म से अतिरिक्त अणुमात्र भी कुछ नहीं है, यों बद्धमूल हुई बुद्धि से निर्णय करके सर्वानर्थनिवृत्ति और वास्तविक निरतिशयानन्द अपरिच्छिन्न ब्रह्मात्मभाव के आविर्भाव रूप से अपने स्थान में ही प्राप्त हुई, न कि अर्चिरादि मार्ग से दूरगमन द्वारा प्राप्त हुई मुक्ति है, यों वेदान्तियों ने मुक्ति का सर्वोत्कृष्टता से समर्थन किया है ॥२६॥ हमारे उपाय के बिना किसी को भी मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती, इस प्रकार के निश्चय से युक्त चित्तवाले वे अपने द्वारा कल्पित नियमों से अपनी कल्पना का व्याख्यान करते हैं। नियम भ्रम इससे यह सूचित किया कि वेदान्तियों का एकमात्र उपाय तत्त्व ही वास्तविक है, उपाय आदि की प्रक्रियाएँ तो पाणिनिजी की तरह कल्पित ही है ॥२७॥ विज्ञानवादियों ने अपनी अत्यन्त भ्रम के प्रवाह से पूर्ण बुद्धि से सांवर्तिक उपद्रव के उपशम और इन्द्रिय द्वारों के संवरण से युक्त मुक्ति है, यों निर्णय करके मुक्ति की कल्पना कर रक्खी है ॥२८॥ हममें परिकल्पित उपाय के बिना किसी को भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती, इस प्रकार के निश्चय से युक्त वे अपने ही द्वारा कल्पित नियम भ्रमों से यानी तप्तशिलारोहण आदि साधन नियमभ्रमों से अपनी दृष्टि को प्रकाशित करते हैं ॥२९॥ आर्हत (अरिहंत) आदि अन्यान्य लोगों ने भी अपनी अभिमत इच्छा से (卐) जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जर, बन्ध, मोक्षआदि पदार्थों की कल्पना द्वारा स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्च इत्यादि सप्तभंगी न्याय की कल्पनाओं से और नंगे रहना, भिक्षा करना आदि विचित्र आचारों से विचित्र शास्त्र दृष्टियों की कल्पना कर रक्खी है ॥३०॥ बिना किसी निमित्त के उठे हुए निर्मल जल के बुद्बुदों के समूहों की तरह उदित हुए अपने निश्चयों से ही ये नाना प्रकार की रीतियाँ प्रौढ़ता को प्राप्त हुई हैं। भाव यह कि सब विचित्र विचित्र कल्पनाओं की जड़ प्रमाण या प्रमेय नहीं हैं; किन्तु चिरकाल के अभ्यास से दृढ़ हुई मन की कल्पना ही इनकी जड़ है ॥३१॥ हे महाबाहो, इन सभी रीतियों का एक मात्र मन ही आगार है, जैसे कि मणियों का सागर आगार है ॥३२॥ नीम और ईख ये दोनों कडुवे या मीठे नहीं हैं। चन्द्रमा और अग्नि शीत और गर्म नहीं हैं। जिसका जैसा अभ्यास हुआ, वैसा ही अनुभूत होता है अतएव चन्द्रमण्डल और सूर्य, अग्नि आदि के मण्डलों में निवास करनेवाले देवताओं को शीत

(卐) जैनों के मत में जीव से लेकर मोक्षपर्यन्त सात पदार्थ हैं। उनमें जीव चेतन शरीर परिमाण है। पत्थर आदि अजीव हैं, इन्द्रियवर्ग आस्रव कहलाता है, कोई लोग विवेक को संवर कहते हैं और कोई यम, नियमादि को संवर कहते हैं। केशलुंचन आदि तपस्या निर्जर कहलाती है। बार-बार जन्म-मरण बन्धन है। बन्धन के उच्छेद से अलोकाकाश में सदा ऊर्ध्वगमन मोक्ष है। इन सात पदार्थों का साधक सप्तभंगी न्याय है। सद्वादी, असद्वादी, सदसद्वादी, अनिर्वचनीयवादी, इस प्रकार चार प्रकार के वादी हैं। अनिर्वचनीयवाद में भी सत् आदि के भेद से फिर तीन प्रकार के वादी होते हैं, यों कुल मिलाकर सात प्रकार के वादी हैं सद्वादी यदि आर्हत से पूछे, तुम्हारे मत में मोक्ष आदि है ? तो वह कहते है स्यादस्ति, 'स्यात्' तिंत प्रतिरूपक अल्पार्थक या कथंचिदर्थक अव्यय है असत्वादी आदि के प्रति पूछने पर क्रमशः 'स्यान्नास्ति' आदि उत्तर होते हैं। इससे पूछनेवाले चुप हो जायेंगे, यह आर्हतों का मनोरथ है।

और उष्ण आदि की पीड़ा नहीं होती ॥३३॥

यदि इस प्रकार के तुच्छ फल में भी दृढ़ अभ्यास की अपेक्षा है, तो अनादि सांसारिक विपरीत भावना से तिरस्कृत, अकृत्रिम आनन्दस्वरूप मोक्ष के फल में दृढ़ अभ्यास की अपेक्षा है, इसमें कहना ही क्या है ? इस आशय से कहते हैं।

जो अकृत्रिम आनन्द है, उसके लिए प्रयत्नशील हुए मनुष्यों को अपना मन अकृत्रिम आनन्दमयता को प्राप्त कर देना चाहिये, जिससे कि वह प्राप्त हो जाय ॥३४॥

मुक्ति के लिए किस वस्तु का दृढ़ अभ्यास करना चाहिये, ऐसी कोई यदि शंका करे, तो उस पर दृश्यमार्जन का ही अभ्यास करना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

भली-भाँति आलिंगन करके बालक की तरह स्नेह से दृश्य को उत्पन्न करनेवाला अपना मन उस दृश्य का त्याग करता हुआ दृश्य से उत्पन्न होनेवाले सुख और दुःखों से किसी प्रकार आकृष्ट नहीं होता ॥३५॥ हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, अपवित्र, असद्रूप, मोह में डालनेवाले, भय के कारण, प्रतीतिमात्र सिद्ध विशाल आकार के दृश्य को आप अपना बन्धन समझिये ॥३६॥ यह द्रश्य माया है, अविद्या है, भय देनेवाली भावना है। मन की जो दृश्यमयता है, विद्वान लोग उसीको बन्धन में डालनेवाला कर्म कहते हैं ॥३७॥ मन को एक मात्र दृश्य में तत्पर देखकर आप दृश्य को मोह में डालनेवाला जानिये, उस अत्यन्त मलिन कर्दमरूप असत्यदृश्य का परिमार्जन कीजिये ॥३८॥

यदि कोई शंका करे कि दृश्य ने क्या बिगाड़ा है, जिसके परिमार्जन के लिए आप कहते है, तो इस पर कहते हैं।

स्वभाव में स्थित जो यह दृश्यतन्मयता अनुभूत होती है, वही संसार को मत्त करनेवाली अविद्या कही जाती है ॥३९॥ जैसे पटल नामक रोग से अन्ध बना हुआ पुरुष सूर्य के दैदीप्य आलोक को नहीं देखता, वैसे ही इस अविद्या से उपहत लोग अपना कल्याण नहीं जानते ॥४०॥ आकाश में वृक्ष की तरह संकल्प से वह अविद्या स्वयं उत्पन्न होती है। हे महामते, भावना के असंकल्पमात्र से उस के समाधि के अभ्यास से दृढ़ श्रवण, मननरूप विचार से अपने-आप क्षीण होने पर सब पदार्थों में अनासक्ति स्थिर हो जाती है ॥४१,४२॥ सत्यदृष्टि के प्राप्त होने पर असत्य जगत के क्षीण होने पर निर्मलस्वरूप निर्विकल्प चिद्रूप परमार्थ सत्य वह आत्मा प्राप्त होता है ॥४३॥ जिसकी न व्यक्तता है, न अव्यक्तता है, न सुख है और न दुःखिता है, अपने हृदय में जिसका केवल अद्वैतभाव अपने अनुभव से ही प्राप्त होता है ॥४४॥ न तो अकल्याणकारिणी भावना से और न चित्त, इन्द्रियदृष्टियों से जिसकी उपलब्धि होती है, जैसे आकाश अनन्त मेघपंक्तियों से रहित है, वैसे ही जो अपने से अपृथक् अनन्त वासनाओं से रहित है ॥४५॥ जैसे यह रस्सी है या नहीं, इस प्रकार रस्सी में सन्देह होने पर सर्पत्वभ्रम होता है वैसे ही बन्धनरहित चिदाकाशरूप आत्मा ने अपने में बन्धन की कल्पना कर रक्खी है ॥४६॥ जैसे एक ही आकाश रात और दिन में अन्यस्वरूपता को प्राप्त होता है। वैसे ही कल्पितवस्तु में सम्बन्ध होने से प्रत्येक वस्तु में ब्रह्म ही नाना प्रकार की विचित्रता को प्राप्त हुआ सा दुःखमय संसाररूप से ज्ञात होता है ॥४७॥ जो तुच्छ नहीं है, क्लेशशून्य है, उपाधिरहित है, भ्रम से शून्य है और तत्-तत् कल्पनाओं से रहित है, वह एकमात्र सुख के लिए ही है ॥४८॥ जैसे कोठिले के सिंह आदि से रहित

रहने पर भी इसमें सिंह है, ऐसा भय होता है, वैसे ही शून्य शरीर में भी मैं भीतर बद्ध हूँ, ऐसा भय होता है, जैसे खाली कोठिले में देखने पर सिंह नहीं मिलता, वैसे ही यह संसाररूपी बन्धन जब विचार पूर्वक देखा जाता है, तो प्राप्त नहीं होता।' यह जगत् है' 'यह देहसंघात मैं हूँ' इस प्रकार का गाढ़ भ्रम ऐसे ही उत्पन्न हुआ है, जैसे बच्चों को मन्द–मन्द अन्धकार के समय वेताल के आकार की छाया दिखाई देती है ॥४९–५१॥ जीव की कल्पना के कारण धन–वैभव और दारिद्यरूप शुभ और अशुभ भाव एक क्षण में तिरोभाव को प्राप्त हो जाते हैं और फिर क्षण भर में आविर्भूत हो जाते हैं ॥५२॥ माता ही यदि गृहिणी के भाव से गृहीत होकर गले लगती है, तो सुरतानन्द देनेवाली गृहिणी का कार्य करती है। स्त्री ही मातृभाव से गृहीत होकर यदि गले लगती है, तो, मातृभाववश कामदेव को निश्चित भूला देती है ॥५३,५४॥ समस्त पदार्थ जातों को भावानुरूपी फल देनेवाले जानकर इस संसार में ज्ञानी पुरुष पदार्थों में एक रूप कभी नहीं कहता ॥५५॥ दृढ़भावना से चित्त जिस पदार्थ की जैसी खूब भावना करता है, उस समय तदाकार तत्–तत् फल को देखता है ॥५६॥ वह वस्तु नहीं है, जो सत्य न हो, ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो मिथ्या न हो। जिसका जिसने जिस प्रकार निर्णय किया, वह उसको उस प्रकार दिखाई देता है। जिस मन ने अपने में आकाशगज की भावना की है, वह आकाशगज के रूप से आकाश स्थित आकाशवन की हथिनी के पीछे कामातुर होकर चलता है। इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप सुषुप्ति में स्थित होकर सब पदार्थमय संकल्प का त्याग कीजिये, अपने पारमार्थिक अद्वितीयानन्द आत्मरूप से स्थित होइये। अपारमार्थिक दुःखरूप से स्थित न होइये ॥५७–५९॥

यदि कहिये, मैंने संकल्पों के साथ यद्यपि द्वैतभाव का त्याग कर दिया है तथापि जैसे शुद्ध मणि में प्रतिबिम्बों का निवारण नहीं किया जा सकता, वैसे ही इच्छा न होने पर भी उन द्वैतभावों का मुझ में वारण नहीं किया जा सकता, तो इस पर कहते हैं।

मणि जड़ है, अतएव वह प्रतिबिम्बों का निषेध नहीं कर सकती। हे श्रीरामचन्द्रजी, आप तो चेतन हैं, इसलिए आपकी जड़ मणि के साथ समानता नहीं हो सकती ॥६०॥

चित्त का निरोध करने पर भी यदि दैव योग से द्वैत का प्रतिबिम्ब हो भी जाय, तो उसे मिथ्या समझकर तद्रूपतानुरंजन का त्याग करना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आपके स्वच्छ आत्मा में जो जगत का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसको अवस्तु समझकर आप उसके अनुरंजन को प्राप्त न होइये ॥६१॥

अथवा उसका चिदात्मा के साथ एकता के अनुसन्धान द्वारा प्रविलापन करना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

हे राघवजी, वह सत्य ब्रह्म ही है अथवा परमात्मा से अभिन्न ही है, ऐसा अपने हृदय में निश्चय कर आप जन्म–विनाशरहित आत्मा की अपने से भावना कीजिये ॥६२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आपके चित्त में जिन भावों का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वे स्फटिक की भाँति आपको रंजित न करें क्योंकि आप आत्मतत्त्व में संलग्न हैं ॥६३॥

अथवा द्वैत की प्रतीति हो, तथापि निर्विकार आत्मा का बोध होने के कारण स्फटिक के समान स्वच्छ आपका स्फटिक की तरह उनसे अनुरंजन न हो, ऐसा कहते हैं।

जैसे प्रतिबिम्बित पदार्थों की पुनः पुनः प्राप्ति होने पर भी उनके राग आदि के संसर्ग से रहित स्फटिक में भाँति-भाँति के रंग प्रकटरूप से प्रविष्ट नहीं होते हैं, वैसे ही प्रतिबिम्बित पदार्थों का पुनः पुनः अनुसंधान होने पर भी राग आदि की वासना के आधान से रहित आप में प्रारब्ध भोग के उचित जगद्व्यवहार की इच्छाएँ प्रकटरूप से प्रविष्ट न हों ॥६४॥

इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त

बाईसवाँ सर्ग

दृढ़ बोध हो जाने पर सब दोषों के विनाश,
मन की प्रसन्नता और विशुद्ध आत्मतत्त्व के साक्षात्कार का वर्णन।

ज्ञान की फलभूत जीवन्मुक्तावस्था के अनुभव का प्रकार बतलाने के लिए श्रवण, मनन आदि के वृद्धि क्रम से जैसे-जैसे ज्ञान दृढ़ होता है वैसे -वैसे अधिकाधिक दोषों का क्षय होता है, यह पहले दर्शाते हैं।

जो नित्य और अनित्य वस्तु के विवेक से सम्पन्न है, जिसका चित्त वृत्तियों को त्याग रहा है, जो समाधि के अभ्यास द्वारा ज्ञान प्राप्तकर क्रम से बाह्य तथा आन्तर मनन का त्याग कर रहा है, जिसका मन कुछ विशुद्ध आत्माकाररूप से परिणत हो गया है, जो दृश्य और अज्ञान की भूमिकाओं का परित्याग कर रहा है, जो उपादेय यानी ज्ञान की भूमिकाओं को प्राप्त हो चुका है, जो द्रष्टा यानी प्रमाता को भी साक्षी चित् से वेद्य यानी दृश्यभूत देख रहा है, *जो भासक चित् से अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं देख रहा है, जो 'यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः' इस भगवद्वाक्य के अनुसार* जागरण के उचित परम तत्त्व में ही जाग रहा है तथा निबिड़ अज्ञान के विकारभूत संसार मार्ग में सोया हुआ है और जो सम्पूर्ण तुच्छ सुखों से लेकर हिरणयगर्भ पद पर्यन्त सुखों में अत्यन्त वैराग्य होने के कारण क्रमिक मोक्षरूपी सुख से युक्त तथा उसकी हीन एवं भोगकालतक ही रमणीय ऐहिक भोग के साधन, माला, चन्दन आदि में विरक्त अतएव लोकसंग्रह के लिए क्रियमाण कर्मफल तथा प्रारब्ध कर्म से प्राप्त भोगों में निस्पृह है, ऐसे अधिकारी पुरुष का अनादि जड़ अज्ञानरूपी आकाश के परमात्मरूपी जल के साथ ऐक्य को प्राप्त होने पर, आसक्तिहीन अज्ञानाकाश के नमक के टुकड़े के समान रसावशेष होने पर नहीं, किन्तु धूप में बर्फ समूह की भाँति निरवशेष गल जाने पर तथा जैसे वर्षाकाल के व्यतीत हो जाने पर बड़ी-बड़ी तरंगों से भरे हुए जल से चंचल मध्यभागवाली तरंगयुक्त नदियाँ शान्त हो जाती हैं, वैसे ही बड़ी-बड़ी तरंगों से भरे हुए जल के तुल्य चंचल स्वरूपवाली विविध विषयरूपी तरंगों से युक्त तृष्णाओं के शान्त होने पर तथा जैसे चूहे के द्वारा चिड़ियों के जाल काटे जाते हैं, वैसे ही वैराग्य के आवेग से संसारवासनारूपी जाल के तोड़ने पर अतएव हृदय की ग्रन्थि के ढीली पड़ जाने पर जैसे कतक के फल से (निर्मली से) जल स्वच्छ हो जाता है, वैसे ही विज्ञान की दृढ़ता से स्वभाव यानी मन प्रसन्नता को (स्वच्छता को) प्राप्त हो जाता है ॥१-८॥ जैसे पक्षी पिंजड़े से मुक्त होता है, वैसे ही कामनाओं से रहित, विषयों में आसक्त करनेवाले विषय के गुणों के चिन्तन से शून्य, भार्या आदि प्रियजनों के सम्पर्क से विहीन और बार-बार भोग के लाभ की भूमि से रहित मन मोह से निर्मुक्त हो जाता है। भाव यह कि मन पहले

कामना आदि से छुटकारा पाता है, तदनन्तर अज्ञान से छुटकारा पाता है ॥९॥

अज्ञान से विनिर्मुक्त मन की कैसी स्थिति होती है, उसे कहते हैं।

संशयरूपी दुष्टता के शान्त होने पर कौतुकभ्रम से निर्मुक्त, परिपूर्ण अन्तर्भागवाला मन पूर्ण चन्द्र के तुल्य प्रकाशमान हो जाता है ॥१०॥ जैसे वायु के शान्त होने पर समुद्र में समता (निश्चलता) उदित होती है, वैसे ही मन के शान्त होने पर सब जगह सर्वोत्तम सुख पैदा करनेवाली, अज्ञानरूपी मल से विमुक्त, उन्नत समदृष्टिता उदित होती है ॥११॥ जड़ता से जर्जरित स्वरूपवाली, अन्धकारमयी, बोधजनक वाक्य के व्यवहार से शून्य यह संसार की वासना सूर्योदय होने पर रात्रि के तुल्य क्षीणता को प्राप्त होती है ॥१२॥ चिद्रूपी आदित्य का दर्शन कर लेने पर गुरुसेवा, श्रवण, समाधि का अभ्यास आदिरूप पुण्यपल्लववाली प्रज्ञापद्मिनी हृदयरूपी सरोवर में ऐसे खिलती है जैसे कि प्रातःकाल में निर्मल प्रकाश से युक्त अतएव सुन्दर प्रकाश खिलता है ॥१३॥ सम्पूर्ण लोकों को आनन्दित करने में समर्थ, सत्त्वगुण की वृद्धि से प्राप्त हुई मनोहर प्रज्ञाएँ पूर्णचन्द्रमा की किरणों की भाँति बढ़ती हैं ॥१४॥ अधिक कहने से क्या लाभ ? जिसने ज्ञातव्य परमात्मतत्त्व को जान लिया है, ऐसा महामति पुरुष वायु आदि चारों भूतों से रहित आकाश के तुल्य न तो उल्लास को प्राप्त होता है और न अस्त होता है ॥१५॥

उसके महाप्रभाव का वर्णन करते हैं।

जिसने विचार से स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जिसे आत्मा का प्रकाश हो गया है, ऐसे महापुरुष के इस संसार में ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, शंकर भी अनुकम्पनीय (करुणा के पात्र) है, क्योंकि उनमें भी अवतार धारण आदि अधिकार के क्लेश देखे जाते हैं ॥१६॥

प्रमादवश पहले की तरह पुनः प्राप्त विक्षेपप्रसक्ति का वारण करते हैं।

आकारमात्र से प्रकट होने पर भी जिनका चित्त भीतर अहंकार से शून्य है, उस पुरुष को विकल्प ऐसे नहीं पाते हैं, जैसे मृगतृष्णा को मृग नहीं पाते हैं ॥१७॥ चित्त की वासना से ये लोक तरंगों की भाँति उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, वे अज्ञ प्राणियों को ही अपनाते हैं न कि तत्त्वज्ञ को। मरण–जन्म यानी आविर्भाव–तिरोभावरूपी संसार तत्त्वज्ञ पर अपना असर नहीं डालता, यह जानकर तत्त्वज्ञानी इस आविर्भाव और तिरोभावों से माया से निर्मित व्याघ्रादि कौतुक के दर्शन के तुल्य रमण (क्रीड़ा) करते हैं और अज्ञानी उनसे बन्धन में पड़ते हैं ॥१८,१९॥ जैसे घट में घटाकाश न उत्पन्न होता है और न मरता है, वैसे ही इस संसार में शरीर के भूषित या दूषित होने पर भी आत्मज्ञानी भूषित या दूषित नहीं होता यानी घटाकाश के तुल्य अविकृत ही रहता है ॥२०॥ भ्रमरूपी मरुस्थल में उत्पन्न हुई मिथ्या संसारवासना शीतल विवेक का उदय होने पर चन्द्रमा के सहित प्रदोषकाल के आने पर मरुस्थलमें उत्पन्न हुई मृगतृष्णा की भाँति नष्ट हो जाती है ॥२१॥ 'मैं कौन हूँ' 'ये शरीरादि कैसे प्राप्त हैं' यह जब तक विचार नहीं किया गया, तभी तक यह अन्धकार के तुल्य संसार आडम्बर स्थित है ॥२२॥

तो कैसी स्थिति से संसाररूपी अन्धकार से शून्य, पूर्ण आत्मा को पुरुष देखता है ? इस पर उस स्थिति को कहते हैं।

मिथ्या भ्रमसमूह से उत्पन्न, आपत्तियों के आश्रयभूत इस शरीर को जो आत्मभावना से 'नेदं शरीरम्' (यह शरीर नहीं है) इस तरह बाधित देखता है, वह पूर्वोक्त पूर्ण आत्मा को देखता है ॥२३॥

देशवश उत्पन्न जो आधिभौतिक, काल वश उत्पन्न जो आधिदैविक तथा शरीर में उत्पन्न जो आध्यात्मिक सुख-दुःख हैं, वे मेरे नहीं हैं, इस तरह जो भ्रमरहित दृष्टि से देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्मा को देखता है ॥२४॥ असीम जो आकाश, दिशा, काल आदि हैं और उनमें वर्तमान परिच्छिन्न उत्पत्ति, गति आदि क्रियाओं से युक्त वस्तु हैं, उन सबमें 'मैं ही हूँ' ऐसा जो देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्मा को देखता है ॥२५॥ करोड़ों अंशों में विभक्त जो बाल के अग्रभाग का लाखवाँ भाग है, मैं उससे भी सूक्ष्म और व्यापक हूँ, ऐसा जो देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्मा को देखता है ॥२६॥ आत्मरूप से प्रसिद्ध जीव तथा उससे दृश्य सकल पदार्थ चित्प्रसादमात्र है, इस तरह नित्य ऐक्यदृष्टि से जो देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्मा को देखता है ॥२७॥ यह अद्वितीय चित् सर्वशक्ति, अनन्तात्मरूप तथा सम्पूर्ण पदार्थों में अन्तः स्थित है, इस तरह जो देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्मा को देखता है ॥२८॥ मनोव्यथा, दैहिक व्यथा और भय से उद्विग्न होनेवाला जरा, मरण और जन्म से युक्त देह मैं हूँ' जो बुद्धिमान इस तरह नहीं देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्मा को देखता है ॥२९॥ मेरी महिमा तिरछे, ऊपर, नीचे सर्वत्र व्याप्त है, मुझसे अन्य कोई नहीं है, इस तरह जो देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्मा को देखता है ॥३०॥ सूत में मणियों की भाँति सम्पूर्ण जगत मुझमें ही गुँथा है और चित्त भी मैं नहीं हूँ, इस तरह जो देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्मा को देखता है ॥३१॥

'मैं ही हूँ' इस तरह जो देखता है, ऐसा करने पर चित् के परित्याग से अहंकार मात्र परिगृहित न हो, इसलिए अहंकार के साथ जगत के निषेध से चिदेकरस ब्रह्म का ही परिशेषकर दर्शन करना चाहिये, यह कहते हैं।

न मैं हूँ और न अन्य ही है, किन्तु एकमात्र निरामय ब्रह्म ही हैं, इस तरह व्यक्त तथा अव्यक्त पदार्थों के मध्य में जो देखता है, वही पूर्वोक्तपूर्ण आत्मा को देखता है ॥३२॥

जो भी कुछ यह त्रैलोक्य है, वह समुद्र में तरंग की भाँति मेरे ही अवयव है, इस तरह जो अपने अन्दर देखता है, वही पूर्वोक्तपूर्ण आत्मा को देखता है ॥३३॥ स्वतः सत्ताशून्य होन से शोचनीय यह त्रिलोकी मुझसे ही अपनी सत्ता के प्रदान द्वारा पालनीय है, यह मेरी छोटी बहन है, दृष्टिमात्र से पीड़ित होने के कारण अत्यन्त सुकुमार है, इस तरह जो देखता है, वही पूर्वोक्तपूर्ण आत्मा को देखता है ॥३४॥ आत्मता-परता, त्वत्ता-मत्ता ये जिस महात्मा के देहादि से निश्चितरूप से विवेक तथा बोध द्वारा निवृत्त हो गये, वही सुलोचन महापुरुष पूर्वोक्तपूर्ण आत्मा को देखता है ॥३५॥ दृश्य के सम्बन्ध से रहित अतएव निर्विघ्न स्वभाव की स्फूर्ति से जगज्जाल को, अंधकार को प्रकाश की तरह, व्याप्त करनेवाले विशाल चिन्मय आत्मशरीर को जो देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्मा को देखता है ॥३६॥ सुख, दुःख देह, उस देह में विद्यमान गुरु, देवता तथा शास्त्र में श्रद्धा उसमें नित्य-अनित्य आदि का विवेक, उससे उत्पन्न श्रवण आदि के क्रम से आत्मज्ञान में तारतम्य के भेद, ये जो हैं, वो मैं ही हूँ, इस तरह जो निश्चय के साथ देखता है, वह भी आत्मतत्त्व से च्युत नहीं होता है ॥३७॥ निरतिशय आनन्दघन आत्मसत्ता से आपूर्ण यानी आनन्दलवमात्र के अर्पण से तृप्त, ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्तजगत में अंशमात्र से वर्तमान ऐहिक, पारलौकिक भोग्य वस्तु से मुझे क्या दुःख है कि जिससे वह हेय हो अथवा अन्य क्या सुख है कि जिससे वह उपादेय हो, इस तरह देखता हुआ पुरुष सुदृक् यानी अभ्रान्तदृष्टि

है ॥३८॥ यह जगत पूर्णरूप से तर्क से अगम्य, वृत्तिके परिणाम से रहित यानी निर्विशेष सन्मात्र ही है, यह जानकर जिस पुरुष की हेय और उपादेयभावना नष्ट हो गई है वही पुरुष है ॥३९॥ जो आकाश की भाँति एकात्मा है और सम्पूर्ण पदार्थों में व्याप्त होता हुआ भी उन भावों में अनुरक्त नहीं होता है, वह महात्मा पुरुष निरतिशय स्वानन्द के उपभोग में समर्थ साक्षात शिव है ॥४०॥ सुषुप्ति, जाग्रत, स्वप्न इन अवस्थाओं से मुक्त, मृत्यु का भी परम आत्मीय यानी मृत्यु से भी उद्विग्न न होनेवाला जो सौम्य, समदृष्टि तथा तुरीयावस्था में स्थित है उस परमात्मपद को प्राप्त पुरुष को मैं नमस्कार करता हूँ ॥४१॥ सम्पूर्ण जगत में एक ब्रह्म ही है, इस बुद्धि से युक्त जिस पुरुषकी ब्रह्माकार दृष्टि संसार में स्थित विचित्र और सुन्दर विभवों से युक्त सृष्टि, प्रलय और स्थिति में सदा ही अपरिच्छिन्न है, उस परम बोध से युक्त जीवन्मुक्त शरीरवाले साक्षात शिव को नमस्कार है ॥४२॥

बाईसवाँ सर्ग समाप्त

तेईसवाँ सर्ग

ज्ञानी का शरीररूपी नगर में राज्यवर्णन, आसक्तिरहित सद्भोगों से विनोद और मनोजयरूपी सुख के उदय का वर्णन।

जीवन्मुक्त के शरीररूपी नगरी राज्य का वर्णन करनेवाले श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी के तदुपयोगी प्रश्न का उत्थान कराते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जैसे घटोत्पत्तिरूप कार्य हो जाने पर भी कुम्हार का चक्र जब तक वेग रहता है तब तक घूमता रहता है वैसे ही जब तक प्रारब्ध का क्षय न हो जाय तब तक देह धारण–व्यवहार में स्थित जीवन्मुक्तिरूप उत्तम पद में वर्तमान जो जीवन्मुक्त पुरुष शरीररूपी नगरी में राज्य करता हुआ भी उसके फल से लिप्त नहीं होता। क्रीड़ाविनोद हेतु होने के कारण उपवन के सदृश यह शरीररूपी महापुरी उस ज्ञानी के भोग और मोक्ष के लिए है। एकमात्र सुख ही इससे होता है, राजधानी में रहनेवाले राजा के तुल्य दुःख नहीं होता ॥१,२॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, यह शरीर नगरी कैसे है ? और इसमें रहनेवाला योगी एकमात्र सुख का ही भागी कैसे होता है ? ॥३॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानी की देहनगरी बड़ी मनोहर है। सब गुणों से युक्त है, अनन्त विलासों से भरपूर है, आत्मज्योतिरूपी सूर्य से वह प्रकाशित है ॥४॥ इसमें नेत्ररूपी झरोखों में स्थित इन्द्रियरूपी दो दीपों से अन्यान्य भुवन प्रकाशमान हैं, भुजारूपी सड़कों के विस्तार से पादरूपी उपवन प्राप्त हैं, रोमराजि ही लताओं की झाड़ियाँ हैं, त्वचा में स्थित विविध नसों से यह व्याप्त है, इसमें एड़ी और पैर की अंगुलियों में जंघा और उरुरूपी खम्भे खड़े है, सामुद्रिक शास्त्र में कही गई रेखाओं से विभक्त पादतलरूपी शिला की नींव से यह निर्मित है। इसके बाहर त्वचारूपी सीमा, भीतर मर्मस्थानरूपी सीमा, बीच–बीच में नसों की शाखारूपी सीमा और हड्डियों में सन्धिरूपी सीमा हैं, इन सीमाओं से यह मनोरम है ॥५–७॥ इसमें बड़ी–बड़ी जंघाओं और शरीर के मध्यभाग की सन्धि के अग्रभाग में उपस्थेन्द्रिय ही नगर मध्य की नदी बनाई गई है। चमक रहे केशावलीरूपी काँच के तुल्य

नीले पत्तों से युक्त क्रीड़ा शैल के सदृश सिर, मूँछ, दाढ़ी और काँख के रोमों से यह व्याप्त है ॥८॥ नील पत्तों के तुल्य भौंहों से, सफेद नूतन पत्तों के तुल्य ललाट से और फूलों के तुल्य ओठों से अत्यन्त सुन्दर मुखरूपी उद्यान से यह सुशोभित है। इसमें कटाक्षरूपी कमलों से व्याप्त कपोलस्थलरूपी विशाल दो विहार स्थलियाँ हैं ॥९॥ वक्ष स्थलरूपी सरोवर में सटे हुए स्तनरूपी कमल की कलियों से यह युक्त है। इसमें स्कन्धरूपी क्रीड़ाशैलघन रोमावली से आच्छन्न हैं ॥१०॥ इसमें उदर रूपी गर्त में रक्खे हुए अपने प्रारब्ध से प्राप्त अन्न ही धन, अन्न, धान्यआदि और वसन, आभरण आदि प्रिय वस्तुएँ हैं। अनिषिद्ध उपभोग का विस्तार करनेवाले जिह्वा, श्रोत्र आदि इसमें सिररूपी महल के झरोखों में बैठे हुए नागरिक हैं। विशाल और ऊपर को मुख किया हुआ जो गले का छिद्र है, उसके द्वारा ऊपर को निकलता हुआ जो प्राणवायु है, उसके शब्द से यह मुखरित है ॥११॥ हृदय में स्थित विचाररूपी जौहरियों द्वारा परीक्षा करके खरीदे गये और चक्षु आदि द्वारा प्राप्त जो शब्द आदि अर्थ हैं, वासनारूपी उन विक्रेय वस्तुओं से यह भूषित है। इसमें प्राणरूपी नागरिक नौ दरवाजों से निरन्तर संचार कर रहे हैं ॥१२॥ मुख में हाथी के दाँत के एक भाग की तरह थोड़े देखे गये दाँत रूपी हड्डी के टुकड़ों से यह व्याप्त है। मुँह में रहनेवाली चारों ओर घूम रही जिह्वारूपी काली ने इसमें भोज्य, चोष्य, लेह्य आदि चार प्रकार के खाद्यों का आस्वाद लिया है ॥१३॥ यह रोमरूपी लम्बे-लम्बे तृणों से आच्छादित है। कान का गर्त ही इसमें कुआँ है। कटिपृष्ठभागरूपी श्रृंखला पर पृष्ठरूपी विस्तीर्ण जंगल इसमें स्थित हैं ॥१४॥ इसमें मूत्रस्थानरूपी घटीयन्त्र के प्रान्तप्रदेश में गुदाद्वार से निकलने वाला मलरूपी कीचड़ बह रहा है। इसमें चित्तरूपी उद्यानभूमि में सदा खेल रही आत्मविचाररूपी पुरस्वामिनी स्थित है ॥१५॥ इसमें बुद्धिरूपी रस्सी से चपल इन्द्रियरूपी बन्दर बँधे हैं। बदनरूपी उद्यान के हास्यरूपी पुष्पों के विकास से यह मनोहर है। सकल सौभाग्यों से सुन्दर यह देह तत्त्वज्ञानी के परमसुख और उपदेश आदि द्वारा परोपकार के लिए है, दुःख के लिए नहीं है ॥१६-१७॥ अज्ञानी की यह देह अनन्त दुःखों की खान है, परन्तु ज्ञानी की देह अनन्त सुखों की खान है ॥१८॥

यह शरीररूपी महानगरी ज्ञानी के अनन्तसुख के लिए है, यह जो कहा था, उसीको विशद करते हैं।

हे शत्रुतापन, उसके नष्ट हो जाने पर ज्ञानी की एक नगण्य तुच्छ वस्तु का नाश हुआ और इसके रहने पर सब भोग-मोक्ष सुख स्थित रहा, इसलिए यह ज्ञानी के लिए सुखावह है ॥१९॥ ज्ञानी इसमें बैठकर संसार में सम्पूर्ण भोग और मोक्ष के लिए खूब विहार करता है, इसलिए यह ज्ञानीरथ कही गई है ॥२०॥ शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गन्ध आदि विषय, बन्धु-बान्धव और मोक्ष इसी शरीररूपी महानगरी से प्राप्त होते हैं, इसलिए यह ज्ञानी को लाभ देने वाली कही गई है ॥२१॥ यह सुख-दुःखमय क्रियाओं का जाल स्वयं धारण करती है, इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, यह सर्वज्ञ के भोग और मोक्ष के उपायभूत सब वस्तुओं का संग्रह करने में समर्थ कही गई है ॥२२॥ जैसे इन्द्र अपनी नगरी में निश्चिन्त होकर राज्य करता है, वैसे ही उस शरीररूपी नगरी में राज्य करता हुआ ज्ञानी निश्चिन्त और स्वस्थ रहता है ॥२३॥ वह योनिगर्त में ही पराक्रमवाले काम के विषय में मनरूपी मत्त घोड़े को प्रेरित नहीं करता। लोभरूपी विषवृक्ष को शुल्करूप से लेकर प्रज्ञारूपी पुत्री को मोह, धर्म आदि दुष्कुल में उत्पन्न हुए लोगों को नहीं देता ॥२४॥ अज्ञानरूपी पर राष्ट्र उसके छिद्र को नहीं देखता और वह संसाररूपी शत्रु के भय

के मूल स्नेहों को उखाड़ फेंकता है ॥२५॥ काम–भोगरूपी दुष्टग्राह से युक्त सुखलेश रूपी दुःखों से रुलानेवाले इस तृष्णा नदी के प्रवाह के बड़े भारी आवर्त में बहिर्मुख होकर वह निमग्न नहीं होता ॥२६॥ वह मानस ब्रह्माकारवृत्ति में आरूढ़ होकर बाहर और भीतर परमात्मा के दर्शन से आधिभौतिक और आध्यात्मिक नदियों के संगम तीर्थों में सदा स्नान करता है।

कहा भी है :

स्नातं तेनसमस्ततीर्थसलिले सर्वाऽपि दत्ताऽवनि।
यज्ञानां च कृतं सहस्रमयुतं देवाश्च सम्पूजिताः ॥
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरः सर्वस्व पूज्यो ह्यसौ।
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि प्राप्तं हि धैर्यं मनः॥

(जिसका ब्रह्मविचार में एक क्षण भी मन स्थिर हुआ उसने सब तीर्थ जलों में स्नान कर लिया, सम्पूर्ण पृथ्वी का दान कर दिया, हजारों यज्ञ कर डाले, दशों हजार देवताओं की पूजा की, संसार से अपने पितरों का उद्धार कर दिया और सबका पूज्य बन गया) ॥२७॥ इन्द्रियरूपी सब लोगों से आपाततः देखे जानेवाले विषयों में सुख की दृष्टि से विमुख हुआ वह ध्यान नामक अन्तःपुर के भीतर नित्य सुखपूर्वक बैठा रहता है ॥२८॥ जैसे इन्द्र की अमरावती नगरी सुखदायक और भोग–मोक्षप्रद है, वैसे ही तत्त्ववेत्ता की यह देहरूपी महानगरी नित्य सुख देनेवाली और भोग–मोक्षप्रद है ॥२९॥ जिस बड़ी भारी देहरूपी नगरी के रहने से सब यानी भोग–मोक्ष स्थित रहता है और नष्ट होने से कुछ नष्ट नहीं होता, वह सुख आदि की साधन क्यों न होगी ? ॥३०॥ जैसे घड़े के नष्ट होने पर जिसने घटाकाश को अपने में मिला लिया, ऐसे आकाश का कुछ भी नष्ट नहीं होता, वैसे ही इस देहरूपी नगरी के नष्ट होने पर ज्ञानी का कुछ भी नष्ट नहीं हुआ ॥३१॥

जिस शरीररूपी नगरी का विद्यमान दशा में भी भलीभाँति स्पर्श नहीं होता, उसका नाश होने पर स्पर्श नहीं होता, इसमें कहना ही क्या है ? ऐसा दृष्टान्त से कहते हैं।

जैसे वायु विद्यमान घड़े का कुछ स्पर्श करता है, अविद्यमान घड़े का स्पर्श कुछ नहीं करता, वैसे ही देही विद्यमान ही अपनी इस शरीर नगरी का कुछ स्पर्श करता है। उसके अविद्यमान होने पर तो कुछ भी स्पर्श नहीं करता ॥३२॥ सर्वव्यापक होकर भी इस शरीररूपी महानगरी में स्थित हुआ आत्मारूपी पुरुष विश्व के द्वारा रचे गये विविध प्रारब्ध भोगों का भोग करके पहले से ज्ञात आत्मरूप परम पुरुषार्थ को प्राप्त होता है ॥३३॥ व्यवहार दृष्टि से कर्म करता हुआ भी परमार्थ दृष्टि से कुछ न करता हुआ समस्त पदार्थों की क्रिया में उन्मुख ज्ञानी कभी व्यवहार प्राप्त सम्पूर्ण कार्यों को करता है ॥३४॥

उसकी देहनगरी में कान्तादिभोगरूप फल कहते हैं।

अव्याहतगति यह आत्मा कभी भोगकौतुकवाले निर्मल अपने मन का विनोद करने के लिए चंचल विमान के तुल्य हृदयकमल में आरूढ़ होता है ॥३५॥ उक्त शरीररूपी महानगरी में स्थित हुआ वह हृदयकमल में आरूढ़ होकर सदा शीतल शरीरवाली लोकमनोहर मैत्रीरूपी प्रिया के साथ नित्य क्रीड़ा करता है ॥३६॥ जैसे चन्द्रमा के दोनों बगलों में दो विशाखा ताराएँ चित्त को प्रसन्न करनेवाली स्थित रहती हैं, वैसे ही सत्यता और एकता ये दो कान्ताएँ उसके दोनों पार्श्वों मे स्थित रहती हैं ॥३७॥

जैसे स्वर्गीय लोग नारकीय लोगों के दुःख को देखते हैं वैसे ही ज्ञानी अज्ञानियों के दुःख को देखते हैं, ऐसा कहते हैं।

जैसे आकाश में उदित हुआ सूर्य वन बगैरह को देखता है वैसे ही वह लताओं से वन की तरह परस्पर वेष्टित होकर स्थित हुए तथा दुःखरूपी आरे से काटे हुए सब पीड़ित लोगों को देखता है ॥३८॥ जिसके सम्पूर्ण मनोरथ चिरकाल तक पूर्ण हो गये है एवं सब सम्पत्तियों से सुन्दर ज्ञानी पुरुष परिपूर्ण स्वरूपवाले चन्द्रमा के समान पुनः क्षीण न होने के लिए शोभित होता है ॥३९॥ विविध भोगों का यद्यपि वह सेवन करता है, तथापि वे इसके पुनर्जन्म आदि दुःख के लिए नहीं होते। देखिए न कालकूट (विष) भगवान श्रीशंकरजी के कण्ठ में क्लेश देना तो दूर रहा, बल्कि शोभा ही करता है ॥४०॥ यह नश्वर है, क्षणिक है, यों पहले ज्ञात होकर उपभुक्त हुआ भोग तृप्तिदायक होता है, शत्रुता को प्राप्त नहीं होता ॥४१॥ समाज का विघटन होने पर दूर जानेवाले समाज के नरनारीरूपी नटों के समूह की यात्रा के समान इस सुन्दर भोग्य पुत्र, धन आदि की शोभा को ज्ञानी देखता है ॥४२॥ जैसे बटोही लोगों को अवान्तर ग्राम की यात्रा अतर्कित प्राप्त होती है, वैसे ही अज्ञानी लोग भी व्यवहारमय क्रियाओं को अतर्कित प्राप्त हुई जानते हैं ॥४३॥ जैसे बिना किसी यत्न के बनाये हुए पर्वत, वन, तालाब आदि में स्थित पेड़, झाड़ी, कमल आदि पदार्थों में ममता न होने से उनका छेदन, भेदन, अपहरण आदि देखने पर भी दुःख न होने के कारण उनमें आँख प्रेम रहित ही गिरती है, वैसे ही विद्वान पुरुष की बुद्धि भी अपने पुत्र, मित्र आदि के व्यवहार कार्यों में भी अनुराग रहित ही रहती है ॥४४॥

यदि ऐसा है, तो ज्ञानी प्रवृत्ति मे क्यों पड़ता है ? इस पर कहते हैं।

इन्द्रियों को प्रारब्ध से प्राप्त हुए विषय का ही कभी वरण नहीं करता और अप्राप्त वस्तु को प्रयत्न के साथ ग्रहण नहीं करता यानी यथा प्राप्त के उपयोग से अपनी आजीविका चलाता है, इस प्रकार ज्ञानी परिपूर्ण होकर स्थित रहता है ॥४५॥

क्यों ऐसा करता है ? इस पर कहते हैं।

जैसे पर्वत को चंचल मोरपंख के आघात नहीं कँपाते हैं, वैसे ही ज्ञानीपुरुष को अप्राप्तप्राप्ति की चिन्ता और प्राप्त पदार्थों की उपेक्षा विचलित नहीं करती ॥४६॥ सम्पूर्ण सन्देहों के कारण अज्ञान के नष्ट होने से ही जिसके सम्पूर्ण सन्देह शान्त हो गये हैं, सब भोगों में मिथ्यादृष्टि होने के कारण भोग भोगने का सारा कौतुक जिससे चला गया है, इस दोनों की कल्पना के हेतु स्थूल और सूक्ष्म शरीर जिसके क्षीण हो गये हैं, ऐसा ज्ञानी पुरुष सम्राट की (राजसूययज्ञ के फल स्वराज्य को प्राप्त हुए की) नाईं विराजमान होता है ॥४७॥

पामरों की दृष्टि से स्वराज्य दृष्टान्त हो सकता है, तत्त्वज्ञ की दृष्टि से तो वह दृष्टान्त नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें परिच्छेद नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे अपार क्षीर सागर सागर में ही वृद्धि को प्राप्त होता है, वैसे ही परिपूर्ण अपरिच्छिन्न आत्मज्ञानी आत्मा में ही नहीं समाता, आत्मा में आत्मा से ही वृद्धि को प्राप्त होता है ॥४८॥ जैसे शान्तपुरुष मत्तों का उपहास करता है, वैसे ही प्रशान्तचित्त ज्ञानी पुरुष भोगों की इच्छा से दीन-हीन जन्तुओं की हँसी करता है और दयनीय इन्द्रियों की भी हँसी करता है ॥४९॥ जैसे अन्य के द्वारा परित्यक्त स्त्री की इच्छा

कर रहे पुरुष की प्रवृत्ति का अन्य पुरुष उपहास करता है, ऐसे ही भोगों की इच्छा कर रही इन्द्रियों की प्रवृत्ति का तत्त्वज्ञ पुरुष उपहास करता है ॥५०॥

यदि कोई शंका करे जिसका ज्ञान परिपक्व नहीं हुआ, ऐसा पुरुष विषयों में दौड़ रहे मन का निग्रह कैसे करें ? तो इस पर कहते हैं।

सौम्य आत्मसुख का त्याग कर विषयों की ओर दौड़े हुए मन को, गजराज को अंकुश की तरह, विचार से वश में लायें ॥५१॥ जो भोगतृष्णा मनोवृत्ति का भोगों में प्रसार करती है, जैसे विष वृक्ष के अंकुरोद्गम का ही विनाश कर दिया जाता है, वैसे ही उसका भी पहले ही नाशकर देना चाहिये ॥५२॥

यदि कोई कहे दण्ड देने से पीड़ित हुआ मन रूठे हुए बालक की नाईं आत्मा में भी अनुरक्त नहीं होगा, तो उस पर कहते हैं।

पहले खूब ताड़ित हुए मन का पीछे जो थोड़ा सा सन्मान है, वह भी असीम हो जाता है। देखिये न, ग्रीष्म ऋतु में खूब सन्तप्त हुए धान के पौधों के लिए साधरण सा जल भी अमृत का काम कर देता है। भाव यह है कि चिरकाल तक उन्माद से लालित मन का एक बार निग्रह करने पर फिर निग्रह का त्याग करने पर ऐसा होता है, चिरकाल के निग्रह से निराश किये हुए मन का बालक की नाईं रूठना सम्भव नहीं है ॥५३॥

उक्त भाव को ही पुनः विशद करते हैं।

जैसे भरी हुई नदियों का वर्षाकाल का थोड़ा सा प्रवाह सुशोभित नहीं होता, वैसे ही जब तक पुरुष पीड़ित न हो तब तक उसको सम्मान या बहुमान प्रतीत नहीं होता ॥५४॥ परिपूर्ण हुआ भी प्राकृत पुरुष फिर भी अधिक की इच्छा करता है। संसार के भरने योग्य जलवाला समुद्र और जल चाहता ही है ॥५५॥ खूब निगृहीत हुए मन की पीछे भिक्षा जलादि विषयों के अर्पण से थोड़ी बहुत जो लालना है, उसी थोड़ी बहुत लालना को, क्लेश में होने के कारण, बहुत मानता है ॥५६॥

उक्त अर्थ में दृष्टान्त कहते हैं।

बन्धन से युक्त हुआ राजा एक कौर भोजन से भी सन्तुष्ट हो जाता है, किन्तु जो शत्रुओं द्वारा गृहीत नहीं है और आक्रान्त नहीं है, वह विशालराज्य को भी अपर्याप्त मानता है ॥५७॥

इसलिए चिरकाल के निग्रह से और तत्त्वबोध से समूल मन की जय के लिए पहले इन्द्रिय जय ही सम्पूर्ण प्रयत्न से करना चाहिये ऐसा कहते हैं।

हाथ को हाथ से दबाकर, दाँतो को दाँतों से पीसकर, अंगों से ही अंगों को तोड़–मरोड़ कर इन्द्रियरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे ॥५८॥

केवल मन पर विजय पाने के लिए ही नहीं, बाह्य शत्रुओं के ऊपर जय पाने के लिए भी इन्द्रियों पर विजय पाना आवश्यक है, ऐसा कहते हैं।

औरों पर विजय पाने के लिए प्रोत्साहित हुए विद्वान लोगों को पहले हृदय स्थित शत्रु होने के कारण इन्द्रियों पर विजय अवश्य प्राप्त करना चाहिये ॥५९॥

जिसने मन पर विजय प्राप्त की है, उसकी प्रशंसा और वन्दना द्वारा इन्द्रिय निग्रह के फलरूप मनोविजय की प्रशंसा करते हैं।

इतने बड़े भूमण्डल पर वे ही साधु चित्तवाले पुरुष धन्य हैं, वे ही पुरुषों के बन्ध–मोक्ष कौशलों में गणनीय हैं, जिन पर उनके चित्त ने विजय नहीं पाई ॥६०॥ हृदयरूपी बिल में की गई कुण्डलाकार कल्पना से गर्वीला हुआ मनरूपी अजगर जिस पुरुष का शान्त हो गया है, अपने स्वरूप से आविर्भूत अत्यन्त निर्मल उस तत्त्ववेत्ता को मैं प्रणाम करता हूँ ॥६१॥

तेईसवाँ सर्ग समाप्त

चौबीसवाँ सर्ग

इन्द्रियों की प्रबलता, उन पर विजय पाने के उपाय तथा
उनसे प्रसाद और बोध द्वारा वासनाक्षय का वर्णन।

इन्द्रियों की विजय में उपाय और प्रयत्न की अधिकता बतलाने के लिए उनकी दुर्जयता कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इन्द्रियरूपी शत्रु बड़े दुर्दान्त है, वे तपन, अवीचि, महारौरव, रौरव, संघात, कालसूत्र नामवाले महानरकरूपी साम्राज्य पर एक–एक करके अभिषिक्त हैं, मतवाले पापरूपी हाथियों से युक्त हैं तथा तृष्णारूपी बाण की शलाकाओं से भरपूर है ॥१॥ जो कृतघ्न सर्वप्रथम अपने आश्रयभूत शरीर का नाश करते हैं, पापरूपी धनराशि से सम्पन्न वे स्वेन्द्रियरूपी शत्रुगण अत्यन्त दुर्जय हैं ॥२॥ अनिषिद्ध तथा निषिद्ध कर्मरूपी प्रचण्ड पंखों से युक्त, विषयरूपी मांस के लोभी इन्द्रियरूपी गीध शरीररूपी घोंसले को पाकर बड़ा पराक्रम दिखलाते हैं ॥३॥ जैसे पाश (फन्दा) गजघटा का विनाश नहीं कर सकता वैसे ही जिस पुरुष ने विवेकरूपी सूत के जालसे उन चालबाज इन्द्रियरूपी शत्रुओं पर विजय पा ली है, उसके शान्ति आदिरूपी अंगों का वे विनाश नहीं करते ॥४॥

उन शत्रुओं पर विजय पाने के लिए पहले विवेकरूपी धन का संचय करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

जो पुरुष विवेकरूपी धन से युक्त होकर इस शरीररूपी निन्दित नगर में आपात रमणीय विषयों में रमण करता है, वह अन्यस्थ इन्द्रियरूपी शत्रुओं से अवश होकर अभिभूत नहीं होता। उस पुरुष के तुल्य वह राजा भी सुखी नहीं है जो मिट्टी से बनी हुई नगरी का सेवन करता है, जैसे कि अपना शरीररूपी नगरी का ईश्वर, जिसका मन अपने अधीन है, वह सुखी होता है। मृन्मय और उग्र ये जो पुरी के विशेषण दिये गये हैं, वे शरीररूपी पुरी उससे विलक्षण है, अतएव उत्कृष्ट है, यह बोधन करने के लिए है ॥५,६॥

इन्द्रिय आदि के निग्रह का फल कहते हैं।

जिसने इन्द्रियरूपी चाकरों को आक्रान्त कर लिया है तथा मन रूपी शत्रु का निग्रह कर लिया है, उस पुरुष की विशुद्ध बुद्धि ऐसे बढ़ती है, जैसे वसन्त ऋतु में फूलों के गुच्छे बढ़ते हैं ॥७॥ जिसके चित्त का अभिमान क्षीण हो गया है, जिसने इन्द्रियरूपी शत्रुओं को निगृहीत कर लिया है, उस पुरुष की भोगवासनाएँ हेमन्त ऋतु में कमलिनी की भाँति नष्ट हो जाती हैं ॥८॥ अज्ञानान्धकार के वेतालरूपी ये वासनाएँ तभी तक पराक्रम दिखलाती हैं, जब तक परमात्मतत्त्व के दृढ़ाभ्यास द्वारा यह मन विजित नहीं हुआ ॥९॥

स्वदेहरूपी नगरी के साम्राज्य में चाकर, मन्त्री, सामन्तआदि के कार्य का शुद्ध मन ही सम्पादन करता है, ऐसा कहते हैं।

विवेकी पुरुष का मन ही अभिमत कार्य करने से चाकर है, उत्तम कार्य का सम्पादन करने से मन्त्री है और इन्द्रियों पर आक्रमण करने से सेनापति है, ऐसा मैं समझता हूँ ॥१०॥ मनीषी पुरुषों का मन ही लालन (उपसेवन) करने से स्नेहयुक्त ललना है, पालन करने से पवित्र पिता है तथा उत्तम विश्वास के कारण मित्र है, ऐसा मैं समझता हूँ ॥११॥

मन के पिता होने में दूसरा हेतु भी कहते हैं।

शास्त्र द्वारा दिखाई गई देवता की भावना से इनका शासन अनुल्लंघनीय है' यों देखा गया और स्नेह बुद्धि से अपने हृदय में अनुभूत पिता जैसे स्वरूपभूत अपनी देह का त्याग कर स्वोपार्जित धनरूप सिद्धि देता है, वैसे ही शास्त्र के ज्ञान से चिन्मात्र दृष्टि से देखा गया विवेकबुद्धि से अपने हृदय में अनुभव किया गया मन अपने स्वरूप का त्यागकर तत्त्वज्ञानरूप सिद्धि देता है ॥१२॥ भाग्यवश खान में देखी गई, सान की खराद से स्वच्छ की गई, प्रकाशक रस से प्रक्षालन द्वारा अच्छी तरह चमकीली बनाई गई, हजारों घनों के भी आघात से अभेद्य, सुन्दर सूतवाले सुवर्ण के हार आदि में लगाई गई मनोहर मणि जैसे हृदय में शोभित होती है, वैसे ही शास्त्रदर्शित परीक्षा द्वारा अच्छी तरह देखा गया, आचार्य, सहाध्यायियों की सहायता से आत्मानुभवपर्यन्त ज्ञात हुआ, निदिध्यासन से दृढ़ हुआ तथा पंचम आदि भूमिका भेदों में लगाया गया उत्तम मन भासित होता है ॥१३॥

मणि के साथ मन के रूपक प्रस्ताव के प्रस्तुत रहते ही मध्य में श्रीरामचन्द्रजी की 'मन्त्री सत्कार्यकारणात्' ऐसा पहले जो कहा था उसमें वह सत्कार्य कौन है ? ऐसी विशेष जिज्ञासा को ताड़कर श्रीवसिष्ठजी कहते हैं।

मनरूप मन्त्री शास्त्रविहित कर्मों में प्रवृत्त पुरुष के अनर्थ परम्परारूप जन्म वृक्षों का छेदक तथा निरतिशय आनन्द के आविर्भाव के साधनभूत साधन चतुष्टय से लेकर साक्षात्कारपर्यन्त कर्मों का उपदेश करता है ॥१४॥

इस तरह रामचन्द्रजी का समाधान करके प्रस्तुत मणिरूपक कह उपसंहार करते हैं।

इस तरह हे श्रीरामचन्द्रजी, असंख्यवासनारूपी पंक से मलिन मनोमणि को सिद्धि प्राप्ति के लिए विवेकजल से धोकर आत्मप्रकाश से युक्त होइये ॥१५॥

इस तरह विवेक को निरतिशय उत्तम फल देनेवाला बतलाकर अत्यन्त अनर्थ परिणामवाले विवेक–प्रमाद से श्रीरामचन्द्रजी को निवृत्त करते हैं।

नीचे गिरानेवाले राग आदि अनर्थों से परिपूर्ण, भीषण भवभूमियों में विवेकहीन होकर निवास करते हुए आप साधारण प्राणी की भाँति विवश होकर नीचे न गिरिये ॥१६॥ सैकड़ों अनर्थों से व्याप्त, महामोहरूपी कुहरे से पूर्ण, उदित हुई इस संसार माया की महारोग की भाँति आप उपेक्षा न कीजिये अर्थात् उससे सावधान हो जाइये ॥१७॥

प्रस्तुत इन्द्रिय रूपी शत्रुओं के जयोपाय के उपदेश का उपसंहार करते हैं।

परम विवेक को प्राप्त, बुद्धि से सत्य का अवलोकन कर तथा इन्द्रियरूपी शत्रुओं को अच्छी तरह

जीतकर आप संसार सागर से पार हो जाइये ॥१८॥

यदि कोई कहे कि उत्पत्ति प्रकरण में तो इन्द्रियों की असत्यता बतलाई है। तो क्यों यहाँ उसकी जय के उपाय का उपदेश करते हैं, उस पर श्रीवसिष्ठजी कहते हैं :

हे श्रीरामचन्द्रजी, असत्य इस शरीर में तथा असत्य सुख-दुःखों में आपको दाम-व्याल-कट न्याय की प्राप्ति न हो ॥१९॥

तत्त्वदृष्टि से यद्यपि ये असत्य हैं, तथापि मोहदृष्टि से उनकी सत्यता अनुभव सिद्ध है, इसलिए उनकी चिकित्सा के बिना वासना की दृढ़ता से दाम, व्याल और कट के न्याय से अनर्थ की प्राप्ति दुर्वार है। विवेक आदि के अभ्यास से उनकी चिकित्सा हो जाने पर तो भीम, भास और दृढ़ की स्थिति से अनर्थ की प्राप्ति नहीं होगी, ऐसा कहते हैं।

भीम-भास-दृढ़ स्थिति से आप विशोकता को प्राप्त हो जायेंगे ॥२०॥ हे महामते, यह दृश्यभूत देह आदि मैं हूँ, इस मिथ्या अभिमान को स्वतत्त्वनिश्चय के द्वारा अच्छी तरह दूर और जो दृश्यभूत वस्तु से अतिरिक्त प्रत्यक् एकरस आत्म वस्तु है, उसी का अवलम्बन कर तत्स्वभाव होने के कारण मनोरहित होकर गमन कीजिए, पान कीजिए, भोजन कीजिए, यों आप बद्ध नहीं होंगे। गमनादि व्यवहार करते हुए भी मुक्त ही है, यह भाव है ॥२१॥

चौबीसवाँ सर्ग समाप्त

पचीसवाँ सर्ग

देवताओं द्वारा शम्बर के सेनापतियों की हत्या; दाम, व्याल और कट नामक सेनापतियों की उत्पत्ति और उनसे देवताओं पर विजय पाने की आशा का वर्णन।

वासनारहित पुरुष में भी धीरे धीरे वासनाओं का संचय होने से देहादि का अभिमान होने पर जन्म-मरण परम्परा होती है, फिर विवेक से कुछ क्षीण वासनावाले पुरुष की होती है, इसमें तो कहना ही क्या ? इस कैमुतिक न्याय के प्रदर्शन द्वारा जिनमें थोड़ा सा आत्मज्ञान प्राप्त हुआ है, जिन्हें पूर्णनिष्ठा प्राप्त नहीं हुई है, उन मन्द और मध्यम अधिकारियों को वासना के उच्छेद के लिए अवश्य दृढ़ प्रयत्न करना चाहिये, यह दर्शानेवाली दाम-व्याल-कट की आख्यायिका को कहने वाले श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी में उक्त आख्यायिका को सुनने की इच्छा उत्पन्न करने के लिए पूर्वोक्त का ही पुनः अनुवाद करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, आप में लोग विश्राम लेते हैं, आप बुद्धिमानों में सर्वश्रेष्ठ है, कल्याण के लिए प्रयत्न कर रहे हैं शम, दम आदि उत्तम पदार्थों को अपने में प्रकाशित करने का आपका स्वभाव है, इस लोक में विहार कर रहे आपका दाम-व्याल-कट-न्याय न हो और भीम-भास-दृढ़ स्थिति से आप शोकरहित होइये ॥१,२॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, संसार के ताप को दूर करनेवाले आपने ऐसा जो कहा कि तुम्हारा दाम-व्याल-कट न्याय न हो, वह क्या है ? हे प्रभो, संसार ताप को दूर करनेवाले आपने भीम-भास दृढ़ स्थिति से आप शोकरहित होइये, यह क्या कहा ? जैसे मेघ वर्षा ऋतु में मयूर को उल्लासित करता है वैसे ही इन दो कथाओं का वर्णन करनेवाली तथा

भवताप को दूर करनेवाली अपनी उदार वाणी से शुद्ध तत्त्व का बोध मुझे कराइये ॥३–५॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, दाम – व्याल– कट न्याय को और भीम–भास दृढ़ स्थिति को आप सुनिये, उन्हें सुनकर जो आपको अभिमत हो, उसे कीजिये ॥६॥ सम्पूर्ण आश्चर्य वस्तुओं से मनोहर पातालगर्त में शम्बर नामक दैत्यराज था। उसे मायारूपी मणियों का यदि महार्णव कहें, तो कोई अत्युक्ति न होगी ॥७॥ उसने आकाश में कल्पित नगरों के उद्यानों में राक्षसों से मन्दिर बना रक्खे थे, बनावटी उत्तम चन्द्रमा और सूर्य से उसने अपने प्रदेश को विभूषित कर रक्खा था, पत्थर के टुकड़ों की नाईं सर्वत्र सुलभ पद्मराग आदि मणियों से वह देवपर्वत मेरु के तुल्य हो गया था। असीम धनसम्पत्तियों के निर्माण से उसने सब दानवों को मालामाल कर दिया था। घर में स्थित रत्नरूप स्त्रियों के गान से उसने अप्सराओं की गानध्वनि को जीत लिया था। उसके क्रीड़ा के उपवन के वृक्ष चन्द्रबिम्ब की कलाओं से पूर्ण थे ॥८–१०॥ खिले हुए नील कमल की राशियों से उसने अपने क्रीड़ा के घर को कामियों के लिए भयंकर बना दिया था। रत्नभूत हंसों की ध्वनि से स्वर्णकमल के सारसों का आह्वान किया था। स्वर्णवृक्षों की शाखाओं के अग्रभागमें कमल की कलियाँ गुँथ रक्खी थी। कुंजों के वृक्षों के ऊपर से मन्दार के फूल गिरते थे। कैंची के तुल्य अनन्त दैत्यों से उसने इन्द्र पर विजय प्राप्त की था। बर्फ के समान ठंडी अग्नि की ज्वालाओं से उसने अपना उद्यानमण्डप बना रक्खा था, सर्वज्ञ बने हुए फूलों के बगीचों से आनन्ददायी नन्दनवन को उसने जीत लिया था। वह अपनी माया से मलयाचल के सब चन्दन के वृक्षों को साँपों के साथ हर लाया था। उसके अन्तःपुर की अंगनाएँ स्वर्ण की कान्ति और सब लोगों की सुन्दरता को नीचा दिखानेवाली थी। विविध पुष्पों की राशियों से उसके घर का आँगन घुटनों तक भरा था। क्रीड़ा के लिए बनाये गये मिट्टी के शंकरजी ने भगवान श्रीकृष्ण को जीत लिया था। सदा ऊपर को छिटक रही जुगनू की तरह घूम रही रत्नराशियों की प्रभा रूपी तारों से उसके नगर का मध्यभाग भरपूर था। सब रात्रियों में सारे पाताल में आकाश सौ चन्द्रमाओं से युक्त रहता था। उसका युद्ध पराक्रम ऐसा था कि उससे रचे गये प्रतिमारूपी लोग उसके प्रबन्ध का गुणगान करते थे। माया से रचित ऐरावत आदि गजराजों से देवताओं के ऐरावत आदि का उसने मानमर्दन कर दिया था। तीनों लोकों मे स्त्री, हाथी, घोड़े आदि में सर्वोत्कृष्ट रत्नरूप स्त्रीरत्न आदि से उसने अन्तःपुर को परिपूर्ण कर दिया था ॥११–१८॥

वह सकल सम्पत्तियों से महासौभाग्यशाली था और ऐश्वर्य उसे प्रणाम करते थे उसके उग्र शासन को सब दैत्य सामन्त नतमस्तक होकर ग्रहण करते थे। उसकी महाभुजाओं के वन की छाया में सब असुर आराम से रहते थे। वह सब बुद्धियों का आधार था और समस्त रत्नों के मण्डल से विभूषित था। दुःसह और भीषण आकृतिवाले उस दैत्य की, जिसने देवताओं को नष्ट–भ्रष्ट कर डाला था, देवताओं का विनाश करनेवाली विशाल वाहिनी थी ॥१९–२१॥ मायाबलवाले उस दैत्य के सो जाने पर और देशान्तर चले जाने पर अवसर पाकर देवताओं ने उसकी सेना को बड़े वेग से मार डाला ॥२२॥ देवताओं के द्वारा उसकी सेना का विनाश होने पर शम्बरासुर ने मुण्डी, क्रोध, द्रुम आदि सेनापतियों को अपनी सेनाओं में रक्षा के लिए नियुक्त किया ॥२३॥ भयानक देवताओं ने अवसर पाकर जैसे आकाश में स्थित बाज पक्षी व्याकुल हुई गौरैयों को मार डालता है, वैसे ही उनको भी मार डाला ॥२४॥ असुर श्रेष्ठ शम्बर ने जैसे सागर चंचल और उग्र शब्द करनेवाली तरंगों की सृष्टि करता है, वैसे ही चंचल और

उग्र शब्द करनेवाले अन्य सेनापतियों को पुनः उत्पन्न किया ॥२५॥ देवताओं ने उन्हें भी जल्दी ही मार डाला, इससे उसके कोप की सीमा न रही। वह देवताओं से भरे हुए स्वर्ग में देवताओं के नाश के लिए गया ॥२६॥ शम्बरासुर की माया से भयभीत हुए देवता देवीजी के वाहन सिंह से भयभीत हुए मृगों की नाईं स्वर्ग से भागकर सुमेरु पर्वत की झाड़ियों में छिप गये ॥२७॥

शम्बरासुर ने स्वर्ग में जाकर स्वर्ग को, जिसमें क्षुद्र-क्षुद्र देवगण रो रहे थे और अप्सराओं के मुखमण्डल आँसुओं से लथपथ थे, प्रलयकाल में नष्ट-भ्रष्ट हुए जगत के तुल्य शून्य देखा ॥२८॥ क्रुद्ध हुए शम्बरासुर ने वहाँ पर इधर-उधर भ्रमण किया, जो रत्न आदि सुन्दर वस्तुएँ थी, उन्हें हर कर और लोकपालों की नगरी को जलाकर वह अपने स्थान को चला गया ॥२९॥ इस प्रकार देवता और दानवों के मनोमालिन्य के दृढ़ होने पर देवता स्वर्ग का परित्याग कर इधर-उधर दिशाओं में छिप गये ॥३०॥ किन्तु शम्बरासुर जिन-जिन को अपनी सेनाओं के अधिपति बनाता था, उन्हें देवता प्रयत्नपूर्वक मार डालते थे ॥३१॥ देवता बराबर तब तक ऐसा करते जब तक कि कुपित शम्बरासुर अत्यन्त उद्वेग को प्राप्त होकर तृणाग्नि के समान उच्छवास लेता हुआ अत्यन्त प्रज्वलित नहीं हुआ ॥३२॥ जैसे पापी पुरुष निधि को नहीं पा सकता, वैसे ही बड़े प्रयत्न से तीनों लोकों को खोजकर भी वह देवताओं को न पा सका ॥३३॥ फिर तो उसने अपनी सेना की रक्षा के लिए मूर्तिमान तीन कालों की तरह उदित हुए महाबली बड़े भीषण तीन असुरों की माया से सृष्टि की ॥३४॥ माया से बने हुए अतएव बड़े मायावी, बलरूपी वृक्षों को धारण करनेवाले वे भयंकर सेनापति अपने परों से क्षुब्ध हुए सेना की तरह वृक्षों को धारण करनेवाले बड़े भयानक पर्वतों की तरह उत्पन्न हुए ॥३५॥ दाम (शत्रुओं का दमन करनेवाला), व्याल (साँप की तरह शत्रुओं को लपेटनेवाला) और कट (शत्रुओं के शस्त्रों से अपनी सेना को सुरक्षित रखनेवाला) इन नामों से युक्त वे जो प्राप्त हो जाय, उसे करनेवाले एकमात्र चेतना धर्मवाले थे ॥३६॥ प्राक्तन कर्मों का अभाव होने से वे प्राक्तन (पूर्वसिद्ध जीव) न थे और न उनकी वासनाएँ थी, वे भय, शंका, पलायन आदि विकल्पों से रहित चिन्मात्र के सन्निधान के कारण देह क्रियावाले थे ॥३७॥

यदि कोई शंका करे कि यदि उनके कर्म, काम और वासनाएँ नहीं थी, तो उनका जन्म ही नहीं होना चाहिये था, क्योंकि जन्म के हेतुओं का अभाव था। यदि कहिये, बीज न होने पर भी जन्म होगा, तब तो मुक्तों का भी पुनर्जन्म होगा। आगे स्वयं कहेंगे भी 'विद्यतेवासना यत्र तत्र सा याति पीनताम्' (जहाँ पर वासना रहती है वहीं पर वह स्थूलता को प्राप्त होती है) इसलिए उनके कर्म आदि का अभाव कहना संगत प्रतीत नहीं होता इस पर कहते हैं।

ये दाम, व्याल और कट स्वतन्त्र जीव न थे, किन्तु निमित्तभूत अन्तर्यामी चैतन्य से कर्मजीवरूप शम्बर की कौशलरूप, कर्म, वासना आदि से वृद्धि को प्राप्त न हुई, माया कल्पनारूप अतएव भोगसाररहित थोड़ी सी सृष्टि संकल्पवृत्ति को लेकर आविर्भाव को प्राप्त हुए थे। ऐन्द्रजालिकों द्वारा रचे गये अन्य पुरुषों की तरह स्वतन्त्र कर्मों का अभाव होने पर भी आविर्भाव रूप जन्म हो सकता है। यह भाव है ॥३८॥ वासनाशून्य वे योद्धा काकतालीय न्याय की तरह अन्धपरम्परा से ही प्रस्तुत क्रिया का अनुवर्तन करते हैं। भाव यह है कि जब तक उनकी वासना वृद्धि नहीं हुई, तब तक योगियों की तरह उनका व्यवहार हुआ ॥३९॥

यदि कहिये, जिनकी वासना उद्भूत नहीं हुई, उनका व्यवहार कहाँ देखा गया है, तो सुनिये, ऐसा कहते हैं।

जैसे आधे सोये हुए बालक अपने अंगों से ही चेष्टा करते है, वैसे ही वासना और आत्माभिमान से रहित उन लोगों की केवल अंगों से चेष्टा हुई ॥४०॥ न तो वे युद्ध के समय शत्रुओं के अभिमुख आगमन को जानते थे, न विश्रान्त और निःशंक शत्रुओं के अकस्मात आक्रमण को जानते थे, न भागना ही जानते थे, न जीवन जानते थे, न मरण जानते थे, न युद्ध जानते थे और न जय–पराजय जानते थे ॥४१॥

यदि नहीं जानते थे, तो स्वयं शत्रुओं के ऊपर आक्रमण कैसे करते थे ? इस पर कहते हैं।

अपने प्रहार से पर्वतों को चूर–चूर करनेवाले वे शस्त्र प्रहार करने के लिए उद्यत अपने आगे देखे गये शत्रुसैनिकों पर केवल आक्रमण करते थे। भाव यह है कि जाकर प्रहार करना चाहिए। इस प्रकार की शम्बरासुर की वासना ही उनका शरीर था। सामने शत्रु को देखने से उतना ही उनको ज्ञात होता था, इसलिए वे आक्रमण करते थे ॥४२॥शम्बरासुर ने अत्यन्त प्रसन्न होकर ऐसा विचार किया कि माया से निर्मित दाम आदि असुरों से सुरक्षित मेरी सेना अवश्य शत्रुओं पर विजयी होगी ॥४३॥ अत्यन्त बलशाली असुरों के बाहुरूपी वृक्षों से सुरक्षित मेरी यह सेना शत्रु का प्रहार होने पर भी दिग्गजों के दाँतों का प्रहार होने पर भी जैसे मेरु पर्वत की सुवर्ण शिला स्थिर ही रहती है विचलित नहीं होती, वैसे ही अत्यन्त स्थिरता को प्राप्त होगी ॥४४॥

पचीसवाँ सर्ग समाप्त

छब्बीसवाँ सर्ग

देवताओं के साथ पाताल से निकले हुए दाम, व्याल और कट आदि के घोर संग्राम का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी, दैत्यराज शम्बरासुर ने इस प्रकार विचारकर दाम, व्याल और कट से अधिष्ठित देव विनाशिनी अपनी सेना को भूलोक में भेजा ॥१॥ भीषण सिंहनादवाले आयुधधारी दैत्यसागर से, सागर तट की झाड़ियों से, पर्वतों की कन्दराओं से आशय यह है कि जहाँ जिसे मार्ग मिला, पक्षधारी पर्वतों के आटोप से ऊपर आये ॥२॥ दाम, व्याल और कट से बलशाली हुए दानवों ने अन्तरिक्ष और पृथिवी के मध्यवर्ती आकाश को ठसाठस भर दिया, जिसमें उनके मुक्कों के प्रहारों से सूर्य निस्तेज हो गया था ॥३॥ इसके बाद मेरुपर्वत के निकुंजों से और कन्दराओं से प्रलयकाल की तरह क्षुब्ध और भयंकर देवताओं के गण युद्ध के लिए उतर आये ॥४॥ उन देव और असुर सेनाओं का वन के मध्य में वह युद्ध अकाल में हुए दुःसह प्रलय के समान भीषण हुआ ॥५॥ इसके बाद कुण्डलों की कान्तियों के तेज से अन्धकार का नाश कर चुके मस्तक, प्रलयकाल में नष्ट हो गये हैं आश्रयभूत चन्द्रमा और सूर्य जिनके ऐसी दीप्तियों की तरह, धड़ों से गिरने लगे ॥६॥ प्रलयकाल के वायुओं के महाप्रवाहों से पड़ी हुई दराररूपी हँसी से युक्त तथा दुर्दान्त योद्धाओं से छोड़े गये सिंहनादों से मुखरित पर्वत काँपने लगे ॥७॥ पर्वत की शिलाओं के तुल्य शस्त्रास्त्रों के आघात से जिनकी दीवारें ढह गई थी। भयभीत सिंह जिनमें विश्राम ले रहे थे ऐसे हिमालय आदि कुलपर्वतों के तट गूँजने लगे ॥८॥ परस्पर के प्रहारों से नष्ट हुए शस्त्रास्त्रों से निकली हुई चंचल आग की चिनगारियाँ प्रलयकाल में आकाश से टूटे हुए

तारों की तरह उड़ने लगी ॥९॥ रक्त-मांस की राशि से पूर्ण एकमात्र सागरके तटपर बैठे हुए, प्रलयकाल के उत्पातभूत तालवृक्षों के समान ऊँचे करताल बजाकर नाच रहे वेताल इधर-उधर विलास करते थे ॥१०॥ इधर-उधर फैलती हुई रुधिर की धाराओं से बादलों के समान धूलि जिसमें शान्त हो गई थी, ऐसे आकाश में आयुधों के प्रहारों से चूर-चूर किये गये मस्तकों के करोड़ों कुण्डल सूर्य के आकार से युक्त हो गये थे। अपने प्रहारों से हिमालय आदि पर्वतराजों को छिन्न-भिन्न करनेवाले, प्रहार करने के लिए उखाड़े हुए कल्पवृक्षों को धारण करनेवाले, सूर्य के आकारके सदृश आकारवाले दैत्यों से युक्त दिशाएँ ऐसी पट गई, कहीं पर एक छिद्र भी दिखाई न देता था ॥११,१२॥ चल रही तलवार की धारों के वायु से जिनकी दीवारें गिरा दी गई थी अतएव प्रलयकाल की अग्नि से तहस-नहस किये गये से पर्वत धूली के ढेर बन गये ॥१३॥

अश्वमेघ यज्ञों से वृद्धि को प्राप्त हुए से देवता लोग भी अस्त्रों से रहित हुए असुरों के पास ऐसे आये जैसे मेघों के समीप वायु आते हैं ॥१४॥ तदनन्तर जैसे बिल्लियाँ झपट कर बूढ़े चूहों को पकड़ती हैं, वैसे ही उन्होंने राक्षसों के ऊपर आक्रमण कर उन्हें पकड़ा और राक्षसों ने भी देवताओं को ऐसे पकड़ा जैसे वृक्षों पर चढ़े हुए उन्मत्त आदमियों को भालू पकड़ते हैं॥१५॥ जिनके बाहुरूपी वृक्षों पर शस्त्रास्त्ररूपी फूल खिल रहे थे और शस्त्र रूपी पल्लव शोभित हो रहे थे, ऐसे सुर और असुर वन में हिल रहे फूले हुए वृक्षों की तरह सुशोभित हुए ॥१६॥ जैसे वायु सुमेरु पर्वत पर फूलों के समूहों से वनों को भर देता है वैसे ही परस्पर के प्रति फेंके गये शस्त्र समूहों से उन लोगों ने दशों दिशाएँ भर दी ॥१७॥ अन्तरिक्ष और पृथ्वी के अवकाशरूपी गूलर के फल के अन्दर रहनेवाले महामशकों के संघ के तुल्य देवता और दानवों की सेनाओं का घोर युद्ध हुआ ॥१८॥

दिग्गज आदि द्वारा कुचले जा रहे लोगों के रण कोलाहल का वर्णन करते हैं।

इसके अनन्तर ऊँचे तालों के समान विशालकाय लोकपालों के दिग्गजों से प्रलयकालमें मेघों से वृद्धि को प्राप्त हुए कोलाहल के आकार का बड़ा भीषण रण कोलाहल हुआ ॥१९॥ वह कहीं पर आकाश में अत्यन्त घन होने के कारण मानों गज बनाता हुआ सा, कहीं पर मुट्ठी में पकड़ने योग्य सा और कहीं पर जलभार से भरे हुए मेघों के उदर के समान गम्भीर था ॥२०॥ रथ के ऊपर पड़ने से पीसे गये शस्त्रों से पर्वतों में शब्द करता हुआ वह कोलाहल नाचनेवाले नट के समान ताल और लय के अनुसार था, जिनके हृदय मारे भय के फट रहे थे, ऐसे बलहीन पुरुषों के करुण क्रन्दन से उसमें घरघराहट हो रही थी ॥२१॥ वह प्रलयकाल के हेतुभूत अग्नि, वायु आदि से उल्लसित होनेवाले, ब्रह्मा के दिन-भूत सृष्टिकाल के अन्त में होनेवाले कोलाहल की प्रतिध्वनि के तुल्य था और बारह सूर्यों के सम्मेलन से पिघल रहे सुवर्ण पर्वत के शब्द के तुल्य था ॥२२॥

ब्रह्माण्डरूपी दीवार में टकराकर लौटने से बढ़ा हुआ और उद्गम स्थान से भी निकलता हुआ वह कोलाहल प्राणियों से ताड़ित एवं प्राणियों के आगारभूत महास्रोत के जलप्रवाह की ध्वनि के तुल्य था जो किसी पर्वत आदि से टकरा कर रुका हो और अपने उद्गम स्थान से भी निकलता हो ॥२३॥ इधर-उधर उड़ रहे पक्षधारी पर्वतराजों के पंखों के वायु से मानों उसमें ध्वनि हो रही थी, उसने कर्णकटु शब्द प्रवाह से व्याप्त हिमालय आदि पर्वतों की कन्दराओं को फूट रहे कानों की तरह बना दिया था ॥२४॥

मन्दराचल से अमृतमन्थन के समय अमृतोत्पत्ति होने पर अमृत के प्रति आसक्ति होने के कारण अमृतोत्पत्ति को सुन रहे देवता और असुरों का हर्षोत्कर्ष होने पर घंघम् शब्द के सदृश ताल ठोकना आदि के शब्दों से उसने सातों द्वीप रूपी प्राणी निवासभूमि को व्याप्त कर रक्खा था ॥२५॥ क्षुब्ध हुई दोनों सेनाओं का ऐसा भीषण युद्ध हुआ कि उनमें नगर, ग्राम, पर्वत, वन और मनुष्य पीसे गये थे, बड़े–बड़े उद्धत दानव विद्यमान थे, सैकड़ों बड़े–बड़े आयुधों से काटे गये दानवरूपी पर्वतों से सब दिशाएँ भरी थी, परस्पर तहस–नहस किये गये अस्त्र आदि के चूर्णों से आकाश का मध्यभाग भरा था, भुशुण्डी नामक अस्त्र समूह के शब्दों से मेरुपर्वत के सैकड़ों शिखर ढह रहे थे, बाणरूपी आँधी से दैत्य और देवताओं के मुखरूप कमल कटे थे और दोनों सेनाओं के प्रहाररूपी कल्लोलों के संचार से आकाश व्याप्त था ॥२६–२९॥

उस युद्ध में आयुधरूपी आँधी से पीसे गये वैमानिकों के समूह गिर रहे थे, अस्त्र से उत्पन्न हुए समुद्रों के जल के प्रवाह से आकाश में स्थित अमरावती आदि नगर आप्लावित थे, महास्त्रों के संपात से तलवार, शूल, शक्ति आदि रूप सैकड़ों नदियाँ बह रही थी, पर्वतों के समीप में घोर योद्धाओं के ताल ठोकने के शब्दों से ब्रह्माण्डरूप मण्डप काँप रहा था, दैत्यों की एड़ियों के प्रहारों से लोकपालों के लोक गिर रहे थे और स्त्रियों के हल–हल शब्द के साथ मन्दिरो में कंकण बज रहे थे ॥३०–३२॥ वह युद्ध गिर रही दैत्य सेना से उत्पन्न हुई अथाह रक्त–राशिरूप जल से युक्त था। उसमें खून से लथ–पथ मनुष्यों द्वारा छोड़े गये घोर सिंहनाद से लोग इधर–उधर भाग रहे थे, वह लोकपालों के सेनापतिरूपी कमलो में भौंरे के समान कभी मरते हुए लोगों के प्राण हरने के लिए छिपे हुए और कभी युद्ध के लिए प्रकट यम से युक्त था, सुर और असुरों द्वारा भागने के समय किये गये प्रहारों से ताड़ित अतएव फिर लौटकर प्रहार कर रहे सैन्यसमूह से व्याप्त था, पंखवाले पर्वतों के आकार के सदृश आकारवाले दानवरूपी पर्वतों के गमनागमन से हो रहे साँय–साँय शब्द की भनभनाहटों से भीषण था तथा आयुधों के अग्रभागों से छिन्न–भिन्न भयंकर दैत्यरूपी पर्वतों के झरने के सदृश रक्तप्रवाहों से समस्त पृथ्वी, सागर और पर्वत उससे लाल हो गये थे ॥३३–३६॥

राष्ट्र, नगर, वन ग्राम और गुफाएँ सब के सब नष्ट हो गये थे, असंख्य असुर, हाथी, घोड़े और मनुष्यों के शवों से सब मेरु आदि पर्वत पूर्ण हो गये थे, उसमें सुन्दर ताल के समान ऊँचे बाणों की पंक्तियाँ से हाथी चमक रहे थे। मुट्ठियों के प्रहारों से मत्त ऐरावत आदि गजराजों के कुम्भस्थल पीसे गये थे। प्रलयकाल के तुल्य विशाल मेघपटल की मुसलाधार वृष्टियों से पर्वत विदीर्ण हो गये थे और बड़े भारी वज्र के गिरने से खूब पीसे गये कुलाचल (पर्वत) उड़ गये थे ॥३७–३९॥ उसमें कुपित हुई अग्नि की जलती हुई विविध ज्वालाओं से दानव जलाये गये थे, एक अंजलिपुट से लाये गये समुद्र से देवताओं द्वारा जलाई गई अग्नि राक्षसों द्वारा बुझाई गई थी, प्रचण्ड दैत्यों द्वारा शैल, शिला आदि बोझदार वस्तुओं के फेंकने से देवताओं द्वारा जलाई गई अग्नि रोक दी गई थी, वनसमूहरूप इन्धनों से सुलगाई गई अग्नि की ज्वालाओं से पिघलाये गए पर्वत जड़मय हो गये थे उस युद्ध में कभी अस्त्रों से रचित निबिड़ अन्धकार से प्रलयकाल की रात्रि हो गई थी, कभी माया के सूर्य समूह के प्रकाशोंसे घोर अन्धकार पटल नष्ट कर दिया गया था, माया की अग्नि की वृष्टि से माया के कौशल से बनाये गये मेघों की वृष्टि

नष्ट कर दी गई थी, सीत्कार के साथ अग्नि उगलनेवाले शस्त्रों के परस्पर संघट्टन की वृष्टि हो रही थी। शैलवृष्टिरूपी अस्त्रों से शैलवृष्टिरूपी अस्त्रों का विलास नष्ट किया गया था, निद्रास्त्र और प्रबोधास्त्रों के युद्ध से वह पूर्ण था, शत्रु के अभिभवरूपी अवग्रह (वर्णप्रतिबन्धक वायु विशेष) से वह युक्त था। उसमें क्रकचास्त्र और वृक्षास्त्र चल रहे थे, जल और अग्नि के व्यामोह से वह अन्धकारित था, ब्रह्मास्त्र के युद्ध से भीषण था एवं अंधकारास्त्र और तैजसास्त्र से कर्बुरित था ॥४०-४५॥

असुर और पिशाचों के अस्त्रों से उत्पन्न किये गये तोमर, मुद्गर, मुसल आदि अस्त्रों की परम्परा से सारे आकाश में तिल रखने की भी जगह न थी, शिलाओं की वृष्टि से वह छिन्न-भिन्न था, अग्नि की वर्षा से प्रकाशमान था, अपनी पताकाओं से जिन्होंने चन्द्रमा का स्पर्श कर रक्खा था, चक्रों के चित्काररूपी गर्जन से युक्त रथों ने उसमें एक मुहूर्त में उदयाचल और अस्ताचल पर्वत को लाँघ दिया था, वज्र के प्रहार से निरन्तर महाअसुर मर रहे थे और शुक्राचार्य जी की अमरनामक मृतसंजीवनी महाविद्या से महाअसुर पुनः जीवन पा रहे थे। कहीं पर देवताओं की सेना भाग रही थी, कहीं पर विजय से देवता लोग हर्ष मना रहे थे, कहीं पर इधर-उधर शुभग्रह और महाकेतु की पंक्तियों के दर्शन के लिए लोग ऊपर को गर्दन किये थे और कहीं पर उत्पातों के और मंगलों के दर्शन के लिए गर्दन ऊपर किये हुए थे। पर्वत, आकाश, पृथ्वी और द्युलोक सहित सारा जगत ही उसमें रुधिर का समुद्र बन गया थे, वह युद्ध दुर्वार वैर से सम्पूर्ण जगत को ही फूला हुआ एकमात्र पलाश का वन बना रहा था एवं पर्वतों के सदृश असंख्य शवों से भरा महासागर था ॥४६-५१॥

सब वृक्षों की शाखाओं के अग्रभाग में बड़े-बड़े चंचल शव झूल रहे थे।

बाणराशि के वन रूप से निरूपण करने के लिए विशेषण देते हैं।

उसमें सूर्य की किरणों के प्रतिबिम्बरूपी पल्लवों से दैदीप्यमान, अपने वेग के वायु से चंचल, कंक आदि पक्षियों के पंखरूपी फूलों से युक्त, लोहाग्रभागरूपी चमकीले फलवाले, तालों से भी अधिक ऊँचे बाणसमूहरूपी वनों से सारा आकाशमण्डल व्याप्त था, पर्वत के सदृश विशाल, असंख्य, नाच रही कबन्धों की सैकड़ों बाहुओं से मेघ, विमान, देवता और तारे गिराये गये थे और बाण, शक्ति, गदा, भाले, पट्टिश से पर्वत आच्छन्न हो गये ॥५२-५४॥ उसमें सातों लोकों से गिरे हुए दीवार के टुकड़ों सा सारा आकाश व्याप्त था, कल्पकाल के भीषणमेघों के गर्जन-तर्जन तुल्य निरन्तर दुन्दुभि बज रही थी, इस प्रकार के सैकड़ों शब्दों से पाताल में रहनेवाले हाथी प्रतिगर्जन कर रहे थे, विनायकों के द्वारा हाथों से विशाल दानवरूपी पर्वत खींचे जा रहे थे, दिशाओं का विभाग करनेवाले सूर्य आदि के एक दिशा में मिलने पर सिद्ध, साध्य और मरुद्गण असुरों के भय से सन्त्रस्त अतएव निश्चल थे तथा गन्धर्व, किन्नर, देवता और चारण भाग रहे थे ॥५५-५७॥

अब औत्पातिक आँधी का वर्णन करते हैं।

वज्रों के गिरने से जिनके अंग खण्डित हो गये थे और जिन्होंने पत्थरों के टुकड़ों को चूर-चूर कर दिया था, प्रलय के समय को सूचित करनेवाले तथा कल्पवृक्ष में रहनेवाले भ्रमर, कोकिल आदि की ध्वनियों को विलीन कर देनेवाले प्रचण्ड वायु (आँधी) दिशाओं में बहे ॥५८॥

छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त

सत्ताईसवाँ सर्ग

दाम, व्याल और कट से पराजित होकर शरण में आये हुए
देवताओं से ब्रह्माजी का चिरकाल तक वासना वृद्धिरूप दैत्यवधोपाय कथन।

उस घोर संग्राम के घटाटोप के चलने पर देवताओं तथा दैत्यों के शरीरों पर हुए व्रणों से जैसे आकाश से मेघों के मध्य में गंगा के प्रवाह बहते हैं वैसे ही खूनों के नाले बहने पर, दाम नामक दैत्य के देवताओं को वेष्टितकर सिंहनादरूपी महाध्वनि करने पर, व्याल के अपने हाथों द्वारा आकर्षण से सब देवताओं के निवासों को चूरचूर कर देने पर, कट के भीषण संग्राम में देवताओं को छिन्न–भिन्न करने पर, ऐरावत के मूक होकर भागने पर जैसे मध्याह्न में सूर्य की प्रखरता बढ़ जाती है, वैसे ही दानवों की सेना के वृद्धि को प्राप्त होने पर, कटे हुए अंगो की व्यथा से पीड़ित, रुधिर बहा रही देवताओं की सेनाएँ, जिसका बाँध टूट गया हो ऐसी जलराशि के समान भागी। दाम, व्याल और कट ने चिरकाल तक छिपी हुई देवसेनाओं का गर्जन–तर्जन के साथ ऐसे पीछा किया, जैसे अग्नि लकड़ियों का पीछा करती है ॥१–६॥ जैसे सिंह निबिड़ लतादि जालों से भरे हुए वन में दौड़कर गये हुए हरिणों को नहीं पाते हैं, वैसे ही असुर बड़े प्रयत्नसे खोजने पर भी देवताओं को न पा सके ॥७॥ देवताओं के न मिलने पर उस समय प्रसन्न हृदय हुए दाम, व्याल और कट पाताल के मध्य में स्थित अपने प्रभु शम्बरासुर के पास गये ॥८॥ तदुपरान्त दैत्यों से जीते गये अतएव उदास हुए वे देवता क्षणभर आराम कर अमित तेजस्वी ब्रह्माजी के पास विजय के उपाय पूछने के लिए गये ॥९॥ देवताओं के, जिनकी मुखशोभा रुधिर से लाल हुई थी, सन्मुख जैसे सन्ध्या के समय लाल बादलों से लाल जलवाले सागरों के सन्मुख चन्द्रमा प्रादुर्भूत होता है वैसे ही ब्रह्माजी आविर्भूत हुए ॥१०॥ उन देवताओं ने ब्रह्माजी को प्रणाम करके दाम, व्याल और कट की सृष्टिरूप शम्बरासुर का अनर्थकारी कार्य भलीभाँति उनसे कहा ॥११॥ विचार करने में कुशल ब्रह्माजी ने वह सब वृत्तान्त सुनकर और विचार कर देव सेना से यह आश्वासनकारी वचन कहा ॥१२॥

श्रीब्रह्माजी ने कहा : हे देव श्रेष्ठों, एक लाख वर्षों के बाद संग्राम के अधिपति श्रीहरि के हाथ से शम्बर का मरना बदा (निश्चित) है। आप लोग उस काल की प्रतीक्षा कीजिये। आप लोग इस समय तो इन दाम, व्याल और कट नामक दानवों को माया युद्ध से लड़ाते हुए भागिये ॥१३,१४॥ युद्धाभ्यास के कारण इनके हृदय में अहंकार का चमत्कार ऐसे प्राप्त होगा, जैसे दर्पणों के अन्दर प्रतिबिम्ब प्राप्त होता है। हे देवताओं, जैसे जाल में फँसे हुए पक्षी सरलता से पकड़े जा सकते हैं वैसे ही वासना युक्त हुए ये दाम, व्याल और कट नामक असुर आप लोगों के सुजेय हो जायेंगे ॥१५,१६॥ सुख–दुःख से रहित ये आज तो शम्बर के संकल्पानुसार वासनारहित हैं, इसलिए हे देवताओं, धैर्यपूर्वक शत्रुओं के ऊपर प्रहार कर रहे ये दुर्जय हो गये हैं ॥१७॥ जो लोग वासनातंतु से बँधे हैं और आशारूपी पाश के वशीभूत हैं, वे रज्जु में बँधे हुए पक्षियों की तरह लोक में औरों की पराधीनता को प्राप्त होते हैं ॥१८॥ जिन धीर पुरुषों की वासनाएँ नष्ट हो गई हैं और जिनकी बुद्धि सभी जगह आसक्त नहीं है, वे न तो कहीं हर्ष को प्राप्त होते हैं और न कहीं पर शोक को प्राप्त होते हैं, उन महाबुद्धियों पर विजय पाना कठिन है ॥१९॥

जिस पुरुष के भीतर वासनारूपी रज्जु की गाँठ बँधी है, वह महान क्यों न हो, बहुज्ञ ही क्यों न हो, उसे बालक भी जीत लेते हैं ॥२०॥ यह देहादि ही मैं हूँ, यह जय-पराजय, पूजा, जीवन आदि मेरा है इस प्रकार की कल्पनाओं से युक्त पुरुष जैसे सागर जलों का आश्रय होता है, वैसे ही आपत्तियों का आश्रय बनता है ॥२१॥

सब दुर्वासनाओं में से आत्मा की देहादितादात्म्य से परिच्छिन्नतारूप भ्रान्त वासना ही महामूर्खता, कृपणता और जन्म-मरण आदि की बीज होने से सबसे महा अनर्थ है, ऐसा कहते हैं।

जिसने यह आत्मा केवल देहमात्र परिच्छिन्न है, यह भावना की, वह सर्वज्ञ क्यों न हो, सर्वत्र ही परम दीनता को प्राप्त होता है ॥२२॥ जिसने अनन्त, अप्रमेय उस आत्मा की सीमा की कल्पना की, उसने अपने आत्मा से ही अपने आत्मा को विवश कर दिया यानी संसाररूपी अनर्थ से विह्वल कर दिया ॥२३॥ यदि तीनों जगतों में आत्मा से अतिरिक्त कोई वस्तु हो, तो उसमें ग्राह्यरूप से ग्रहण करने के लिए वासना होगी, पर वैसा तो कुछ है ही नहीं, यह भाव है ॥२४॥ ज्ञानी लोग आसक्ति को अनन्त दुःखों की खान कहते हैं तथा सर्वतः केवल अनासक्ति को सम्पूर्ण सुखो की खान कहते हैं ॥२५॥ जब तक दाम, व्याल और कट इस संसार में आसक्ति रहित हैं, तब तक जैसे मच्छरों के लिए अग्नि अजेय होती है वैसे ही वे आपके अजेय होंगे ॥२६॥ देहादि के विनाश द्वारा अपने नाश की संभावना से दीनता को प्राप्त हुई, भीतर स्थित देहादि में अहंभाव ग्रहण करनेवाली वासना से जन्तु जीता जा सकता है, अन्यथा तो मच्छर भी अमर और अचल है ॥२७॥ जहाँ पर वासना रहती है वहीं पर वह पीनता (स्थूलता) को प्राप्त होती है, क्योंकि धर्मी के रहने पर पीनत्व नामक गुण होता है और उपचय के बिना पीनता की सिद्धि नहीं होती और उपचय भी दूसरे अवयव की सिद्धि होने पर होता है। द्वितीयता भी सत् ही पदार्थ की होती है, असत् की नहीं ॥२८॥ हे इन्द्र, जिस उपाय से दाम, व्याल और कट अपने अंतःकरण को यह देह आदि ही प्रसिद्ध मैं हूँ और यह जय-पराजय, पूजा, जीवन आदि मेरा है, इस प्रकार वासनायुक्त समझें, उस उपाय को आप कीजिये ॥२९॥

मनुष्य की जो-जो विपत्तियाँ हैं और जो भाव और अभाव दशाएँ हैं, वे सब तृष्णारूपी करंज लता के कड़वे और कोमल बौर हैं ॥३०॥ वासनारूपी रस्सी से बँधा हुआ जो पुरुष आवागमन करता है, उस पुरुष की वृद्धि को प्राप्त हुई वह वासना अतिदुःखदायी होती है और नाश को प्राप्त हुई वह सुख के लिए होती है ॥३१॥ जैसे सिंह शृंखला से बाँधा जाता है वैसे ही अत्यन्त धीर, अत्यन्त बहुज्ञ, कुलीन और महान पुरुष भी तृष्णा से बाँधा जाता है ॥३२॥ यह तृष्णा क्या है यह शरीररूपी वृक्ष पर बैठे हुए हृदयरूपी अपने निवास में जानेवाले चित्तरूपी पक्षी का जाल बुना हुआ है ॥३३॥ वासना से दीन लोगों को यमराज इस प्रकार खींचता है जैसे बालक रज्जु से विवश और खूब श्वास छोड़ रहे पक्षी को खींचता है ॥३४॥ आयुधों के समूह की कोई आवश्यकता नहीं है एवं युद्ध में घूमने की भी कोई जरूरत नहीं है, आप केवल दाम, व्याल और कट की वासना के (शम्बर के संकल्प से उत्पन्न हुई निरभिमान वासना के) विपरीतता यानी अभिमान की वृद्धि युक्तिपूर्वक प्रयत्न से कीजिये ॥३५॥ हे देवराज, शत्रु के हृदय में अक्षुभित धैर्य के रहने पर न शस्त्र जीत सकते हैं, न अस्त्र जीत सकते हैं और न शुक्राचार्य आदि द्वारा प्रणीतनीति शास्त्र ही जीत सकते हैं ॥३६॥ वे मत्त दाम, व्याल और कट युद्धाभ्यास से ही अहंकारमयी

वासना का ग्रहण करेंगे ॥३७॥

तत्त्वज्ञों की अपेक्षा उनमें कौन सी कमी है ? जिससे वे वासना ग्रहण करेंगे ? इस पर कहते हैं।

शम्बरासुर से निर्मित वे अत्यन्त अज्ञ पुरुष थे, अतः जब वे वासना का ग्रहण करेंगे, तब आप लोगों के सुजेय हो जायेंगे ॥३८॥ इसलिए हे देवताओं, आप लोग सर्वप्रथम युक्ति युद्ध से उन्हें व्यवहार कार्यों में जागरुक कीजिये, व्यवहार कार्यों में अभ्यस्त होने के कारण वे वासना युक्त हो जायेंगे। वासनाओं के बद्धमूल होने पर वे आप लोगों के वशीभूत हो जायेंगे, कोई भी पुरुष यदि तृष्णा से बद्ध अंतःकरणवाले न हो, तो वे सहज में सुजेय नहीं होते ॥३९,४०॥ जैसे जलाशय के अन्दर अत्यन्त चंचल तरह–तरह की लहरियों की अधिकता जलरूप से स्थित है, वैसे ही अपनी वासना के मध्य में स्थित यह सम और विषम समस्त जगत प्रवाह से नित्यता को प्राप्त हुआ स्थित है, इसलिए एकमात्र स्ववासना की ही चिकित्सा करनी चाहिए ॥४१॥

सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठाईसवाँ सर्ग

विश्राम को प्राप्त हुए देवता और दानवों का,
वासनोदय होने तक चिरकालीन युद्ध का पुनः विस्तार से वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे समुद्र की तरंग तीर भूमि के तट पर शब्द करके अन्तर्हित हो जाती है, वैसे ही भगवान ब्रह्मा देवताओं को यह उपदेश देकर वहीं पर अन्तर्हित हो गये ॥१॥ जैसे वायु कमलों की सुगन्ध लेकर अपनी–अपनी अभिमत वनपंक्तियों को जाते हैं, वैसे ही देवता लोग भी उनके वचन सुनकर अपनी अभिमत दिशा को गये ॥२॥ जैसे भ्रमर सुन्दर कमलों पर विश्राम करते हैं, वैसे ही देवताओं ने स्थिर कान्तिवाले अपने सुन्दर मन्दिरों में कुछ दिन विश्राम लिया ॥३॥ अपना अभ्युदय करनेवाले किसी शुभ अवसर को पाकर देवताओं ने प्रलयकाल के मेघ की ध्वनि के सदृश ध्वनिवाला दुन्दुभिघोष किया ॥४॥ दुन्दुभिघोष सुनकर दैत्यों के ऊपर आने पर अन्तरिक्ष में पातालवासी उन दैत्यों के साथ देवताओं का दीर्घ समय बितानेवाला घोर युद्ध फिर शुरु हुआ ॥५॥

सर्ग की समाप्ति तक युद्ध का ही वर्णन करते हैं।

दोनों ओर से तलवार, बाण, शक्ति और मुद्गरों के समूह, मूसल, गदा, कुल्हाड़े, भीषण चक्र, शंखाकार शस्त्र, वज्र, पहाड़, शिलाएँ, अग्नि, वृक्ष तथा साँप, गरूड़ आदि के सदृश मुखवाले अनेक आयुध आकाश में चलने लगे ॥६॥ माया से रचे गये आयुध ही जिसमें बड़ा भारी निबिड़ जल प्रवाह था, शीघ्र बहनेवाली, पत्थर, पर्वत लाखों साधारण वृक्ष और प्रधान वृक्षों से क्षुब्ध हुए जल प्रवाह से घन शब्द करनेवाली नदी तुरन्त चारों दिशाओं में बहने लगी ॥७॥

पूर्वोक्त नदी का ही फिर वर्णन करते हैं।

जिसके मध्यप्रवाह में उल्मुक (अधजली लकड़ियाँ), त्रिशूल, पर्वत, भाले, तलवार, बर्छियाँ, बाण, तीर और मुद्गरों की राशियाँ बह रही थी, ऐसी वह नदी जिसने जल की नाईं देव मन्दिरों को नष्ट कर दिया था, ऐसे वज्र आदि आयुधों की वृष्टि से हुए तटभंग से गंगा के सदृश थी यानी मेरु आदि पर्वतों पर

बहने वाली गंगा के तुल्य थी ॥८॥

अब सुर और असुरों को परस्पर मोह में डालने के लिए विचित्र माया निर्माण, प्रतीकारों से उसकी शान्ति, फिर उसके तुल्य अन्य मायाओं के निर्माण और उनके उपशम को कहते हैं।

पृथिवीमयी, जलमयी, तेजोमयी, वायुमयी, आकाशमयी सी (जिसमें जैसे पृथ्वी घूमती-सी थी, गिरती-सी थी, तथा जिसमें लोग जल में डूबते से थे, अग्नि से जलाये-से जाते थे, वायु से उड़ते-से थे, महागर्तरूप आकाश में गिरते-से थे) माया और पिशाच आदि शरीरमयी-सी माया (जैसे पिशाचों के शरीर गिरते हैं, दौड़ते हैं, युद्ध करते हैं, इस प्रकार की दारुण शरीरमयी माया), जिसमें दूसरे के प्रहारों का ग्रहण करना और स्वयं प्रहार करना बार बार होता था, ऐसी दूसरी माया तथा शत्रुओं से दुर्दमनीय ढेर की तरह बहुत्व को प्राप्त हुए प्रत्येक योद्धा के शरीर से युक्त, इस प्रकार की भी माया, ये सब मायाएँ प्रयुक्त हो, सुर, असुर और सिद्धों द्वारा प्रतीकारों से विनष्ट होकर शान्त होती थी, फिर वैसी ही माया उदित होती थी, वह क्या पहले उत्पन्न हुई माया ही है अथवा वह नहीं है, किन्तु अन्य ही है, यों यथार्थरूप से उसे जानना कठिन था ॥९॥

उस युद्ध में दिशाओं के मुख शैलसदृश हथियारों से तहस-नहस किये गये पर्वतों से पूर्ण, रक्तरूपी जल के प्रवाह से भरे हुए महासागरों से युक्त एवं देव और असुरों में श्रेष्ठ लोगों के शवरूपी पर्वतों पर गड़े हुए भाले रूपी ताड़-वनवाले हुए ॥१०॥ लोहमय आयुधरूपी सिहों की सृष्टि गिरी जिसमें चलाये हुए भाले, बाण, शक्ति, गदा, तलवार और चक्रों द्वारा सुर और दानवों से छोड़े गये पर्वत अनायास निगले गये थे, कटने के कारण चमक रहे आरों के दाँत ही जिनकी नखपंक्तियाँ थी, दूसरे के जीव के हरण करने के कारण जो जीवयुक्त थी ॥११॥ ज्वालाएँ उगल रही नेत्रों की विषाग्नियों के सन्ताप समूह से उत्पन्न दिशाओं के दाह से युगान्त में एक साथ उदित हुए बारह सूर्यों की समानता जिसने दर्शायी थी, ऐसी विषधर साँपों की पंक्ति चारों ओर उड़ रहे सर्वतः दीर्घ ऊँचाई में बहुत बड़े पर्वतों से व्याप्त समुद्र के तुल्य सुशोभित हुई ॥१२॥ विविध शस्त्रास्त्रों की नदी के प्रवाहों से, जिन्होंने मेरु पर्वत को वेष्टित कर रख्खा था, खूब शब्द कर रहे, वज्र आदि रत्नों से और मगरों के समूह से कठिन तथा भीतर क्षुब्ध हुए समुद्र की लहरों से सारा-का-सारा जगत परिवर्तनों द्वारा पीड़ित हुआ ॥१३॥ सुर और असुरों का युद्ध भूमिरूप आकाश शूलरूपी अस्त्रों, शस्त्रों, मायारचित गरुड़ों से और उखाड़कर फेंकी गयी चट्टानों से पूर्ववर्णित दृष्टि विषवाले नागों से रहित होकर क्षणभर में समुद्रों से भर जाता था, क्षणभर में अग्नि की ज्वालाओं से पूर्ण हो जाता था, क्षणभर में सूर्यों से पट जाता था और क्षण भर में अन्धकार पटलों से व्याप्त हो जाता था ॥१४॥ गरुड़ास्त्र से उत्पन्न हुए गरुड़ों से और उनकी गुड़ गुड़ ध्वनियों से व्याप्त आकाश में फैले हुए आयुधरूप अग्नि के पर्वतों के प्रवाहों से भी सारा-का-सारा जगत असह्य प्रलयकाल की तरह जिसमें स्वर्ग और भूतल का मध्यभाग जला हो, ऐसा हो गया ॥१५॥ जैसे पर्वत के तट से पक्षी ऊपर को उड़ते हैं, वैसे ही दैत्य भूमितल से आकाश की ओर ऊपर को उठते थे और प्रलयकाल में वायु से चलाई गई शैलशिलाओं के समान देवता बड़े वेग से ऊपर से नीचे को गिरते थे ॥१६॥ जिनके शरीर में गड़े हुए ऊँचे-ऊँचे आयुधरूपी वृक्षों से बनी हुई वनपंक्तियों में महान अग्निदाह हो रहा था, ऐसे असुरों ने आकाश के

बीच प्रलयकाल में वायु से झकझोरे गये पर्वत की शोभा प्राप्त की ॥१७॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरु पर्वत चारों ओर आकाश सुर और असुररूपी उत्तम पर्वतों के शरीरों से निकले हुए, चारों ओर घूम रहे, रक्तप्रवाहों से पूर्ण सन्ध्यारूपी नायिका के नखक्षतों को धारण करता था अथवा पूर्वोक्त रक्तप्रवाहों से पूर्ण गंगा को धारण करता था ॥१८॥ वे देव और असुर एक ही साथ एक दूसरे पर पर्वतों की वृष्टि, जल की वृष्टि, विविध भीषण आयुधों की वृष्टि, विषम वज्रों की वृष्टि और अग्निवृष्टि करते थे, नीतिमार्ग को जाननेवाले वे देव और असुर, जिन्होंने सबल श्रेष्ठ पर्वतों के शिखर तोड़ दिये थे, चारों ओर एक साथ हाथियों के कुम्भस्थलों पर विशेष उत्सव में क्रीड़ा के लिए पिचकारी आदि से कुंकुम, चन्दन आदि रस की वृष्टि के समान उर्पयुक्त वृष्टियों की सृष्टि करते थे ॥१९,२०॥

परस्पर युद्धोत्साह का त्याग न कर रहे देवता और असुर परस्पर शरीरों को काटने के लिए व्यग्र, अस्त्रों से युक्त हाथवाले होकर ऐरावत आदि दिग्गजों की सन्ततिरूप हाथियों की सेनाओं की बड़ी–बड़ी पीठों के सदृश विशालपीठों को पीसने की तरह पीड़ा करनेवाले बड़े भारी सामग्री के साथ सवारी करने से शोभा को प्राप्त होकर आकाश में घूमते थे ॥२१॥ कटे हुए सिर, हाथ, भुजा और उरुओं के समूहों से, जो आकाश और दिशाओं में उत्पातसूचक टिड्डियों के तुल्य घूम रहे थे, मेघों की घटाओं की तरह सारा जगत का मध्यभाग, ऐसा हो गया कि उसमें सूर्य, दिशाओं के तट और शैल समूह ये सब के सब आच्छादित हो गये ॥२२॥ भलीभाँति छोड़े गये, सिंहनाद कर रहे योद्धाओं के टकराने से समर में टूट रहे तथा परस्पर के टकराने से टुकड़े टुकड़े होकर गिर रहे आयुधों से और क्षेपिणी आदि यन्त्रों द्वारा फेंके गये पत्थर, पर्वत आदि से समूहों के छिन्न–भिन्न हुई पृथिवी चूर–चूर हो गयी ॥२३॥ परस्पर आयुध शिला, पर्वत, वृक्षों की वर्षा से तथा मेरु के समान विशाल कठिन शरीरों के परस्पर टकराने से उत्पन्न हुए बड़े भारी भीषण उग्र नादों से जिसमें चटचट शब्द से आकाश फूट रहा था, ऐसा वह रण प्रलय के समान हुआ ॥२४॥ जिसमें प्रचण्ड आँधी से नीचे जल और अग्नि क्षुब्ध थे तथा ऊपर सूर्य क्षुब्ध थे ऐसे दो कपालवाला, माया से बढ़े हुए सुर और असुरों के समूह से पूर्ण, जिसके प्रान्तभाग की दीवारों के कोने खण्डित हो गये थे, ऐसा ब्रह्माण्ड अकाल में हुए प्रलय के समान भीषण हुआ ॥२५॥ अपने सदृश विशाल और निबिड़ आयुधों से आहत अतएव खूब घूम रहे, घूमने में शब्द कर रहे, विशाल गुहाओं के तेज वायु रूपी पीड़ा से कराह रहे–से, दीर्घ हो रहे प्राप्त सिंह के शब्दों से रो रहे–से स्थित हुए पर्वतों के शिखरों से दिशाओं के तट भर गये ॥२६॥ वायु से व्याप्त वन के पत्ते की नाईं भीतर ही भीतर घूम रहे माया निर्मित नदी, समुद्र, योद्धा, निबिड़ अग्निदाहों से, वृक्षों से, देवता ओर असुरों के शवों से, पर्वतों से, चट्टानों से तथा बाण, तलवार, चोखी–चोखी शक्तियों, गदाओं और शस्त्रास्त्रों से दिशाओं के तट भर गये ॥२७॥ मेरु पर्वत के नीचे के पर्वतों के सदृश परिमाणवाले अतएव मनुष्यादि के संचार के निरोधक होने से गमनागमन के अयोग्य पूर्वोक्त दुर्दान्त हस्ति सेनाओं के शवों से दिशाओं के तट भर गये थे और गिर रहे योद्धाओं के शरीररूपी पर्वत और वायु से ढहे हुए देवनगरों से सब दिक्तटों के सागरों के समूह पूर्ण हो गये थे ॥२८॥ उस समय ब्रह्माण्ड की उदरगुहा निबिड़ घुंघुम ध्वनि से परिपूर्ण आकाशवाली, खून से धोये हुए पर्वत, पृथिवी, पाताल आदि से युक्त, खून का तालाब ही

जिनका आहार है, ऐसे पिशाचादि की तरह वृत्तिवाली होकर आकुल हो गई ॥२९॥ इन्द्रादि देवताओं के विस्तृत भय आदि का विकार करानेवाली (अविद्यापक्ष में त्रिविध परिच्छेद शून्य आत्मचैतन्य में फैले हुए जगद्रूप विकार को करानेवाली क्षयोन्मुख और उदयोन्मुख लोगों के लिए सुख और दुःख को कहनेवाली, प्रसिद्ध सूर और असुरों के (अविद्यापक्ष में अशास्त्रीय चित्तवृत्ति रूप असुरों के और शास्त्रीय चित्तवृत्तिरूप सुरों के) परस्पर समागम से संकटाकीर्ण रणक्रिया अविद्यादि संसार के सदृश हुई ॥३०॥

अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त

उनतीसवाँ सर्ग

दाम आदि के, जिन्हें देवताओं के प्रयत्न से देहाभिमान प्राप्त हो गया था,
युद्ध में विषाद का, तदनन्तर पलायन और पराजय का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी, इस प्रकार के व्यग्रता बहुल रणारम्भवाले अत्यन्त क्रोधयुक्त प्राणग्राही असुरों ने बड़ा भारी संग्राम सहसा आरम्भ किया। उस युद्ध को देवताओं ने किसी समय एक मात्र वाग्युद्ध से, किसी समय दानादि उपाय द्वारा सन्धि से, किसी समय पलायन से, किसी समय धैर्य से, छिपकर अपने लोगों की रक्षा करने से, किसी समय कृपण के सदृश शरणागति की याचना आदि से, किसी समय अस्त्रयुद्ध से और बार-बार अपने अन्तर्धानों से तीस वर्ष तक चलाया, दूसरा युद्ध पाँच वर्ष आठ महीने दस दिन चलाया और तीसरा युद्ध बारह वर्ष तक चलाया। तब तक लगातार दोनों सेनाओं में पेड़ों, अग्नियों, आयुधों और मुख्य-मुख्य वज्रों और पर्वतों की वृष्टियाँ गिरी ॥१-४॥ इतने समय तक अहंकार का दृढ़ अभ्यास होने के कारण वासना से ग्रस्तचित्त हुए दाम, व्याल और कट ने 'अहम्' ऐसा अभिमान ग्रहण कर लिया ॥५॥

अभिमान का अभ्यास अहंकार की दृढ़ता का हेतु है, इसे दृष्टान्त द्वारा दर्शाते हैं।

जैसे अत्यन्त निकटता होने के कारण दर्पण बिम्ब से युक्त हो जाता है वैसे ही कल्पना का अभ्यास होने के कारण वे अहंकार को प्राप्त हुए ॥६॥ जैसे दूर स्थित वस्तु दर्पण में प्रतिबिम्बित नहीं होती वैसे ही अभ्यास का त्याग करने के कारण पदार्थ में वासना उत्पन्न नहीं होती ॥७॥ जब अहंकार ही आत्मा है, ऐसी वासनावाले दाम आदि हुए, तब मेरा जीवन रहे, मेरा धन हो, इस प्रकार के आशयवाले वे दीनता को प्राप्त हुए ॥८॥

तदनन्तर विहित-निषिद्ध प्रवृत्ति की वासना से वे ग्रस्त हुए। तदनन्तर मेरा शरीर नीरोग, दृढ़ और भोगसमर्थ हो, इत्यादि मोहवासना से ग्रस्त हुए। तदनन्तर आशारूपी पाशों से बँधे हुए वे मुग्धा के समान कृपणता को प्राप्त हुए। तदनन्तर जैसे रस्सी में सर्पत्व की कल्पना होती है ऐसे ही अहंकारशून्य दाम, व्याल और कट ने ममता की कल्पना की ॥९-१०॥ पैर से लेकर मस्तक तक मेरा सारा शरीर कैसे स्थित हो, 'मेरा' इस प्रकार की तृष्णा से कृपण हुए वे दीनता को प्राप्त हुए ॥११॥ मेरा शरीर स्थिर हो, मेरे सुख के लिए धन हो, इस प्रकार की बद्धमूल हुई बुद्धि से युक्त उन लोगों का धैर्य छिप गया ॥१२॥ दाम आदि दैत्यों के वासनायुक्त होने के कारण शरीर में अल्प सामर्थ्य होने से पहले जो प्रहार करने में तत्परता थी, वह तुरन्त मिटाई हुई लिपि के समान कार्य में असमर्थ हो गई ॥१३॥ हम

इस जगत में कैसे अमर हों, इस चिन्ता से विवश हुए वे जल से निकाले गये कमलों की तरह दीनता को प्राप्त हुए ॥१४॥ अपने में अहंकारवाले दाम, व्याल और कट की स्त्री, अन्न–पान से विषयों की भावना में स्थित अतएव संसार को प्राप्त करानेवाली भीषण आसक्ति हुई ॥१५॥ तदनन्तर जैसे मत्त हाथियों से खूब कुपित हुए वन में हरिण अपने जीव के विषय में प्रयत्नशील होते हैं वैसे ही उस रण में भय के कारण वे अपने जीवन में प्रयत्नशील हुए॥१६॥ वे लोग हमें मारेंगे, हमें मारेंगे, इस चिन्ता से आहत हृदय होकर कुपित ऐरावतवाले रण में धीरे–धीरे घूमने लगे ॥१७॥ मरण से भयभीत हुए एकमात्र शरीर को चाहनेवाले उनके सिर पर अल्प बल होने के कारण शत्रुओं ने पैर रख ही दिया ॥१८॥ जैसे लकड़ियों के जल जाने पर अग्नि चरु को नहीं जला सकती वैसे ही क्षीण बल होने के कारण वे अपने सन्मुख आये हुए योद्धा को मारने में समर्थ नहीं हुए ॥१९॥ प्रहार कर रहे देवताओं के सामने मच्छररूपता को प्राप्त हुए क्षत–विक्षत शरीरवाले वे अन्यान्य साधारण योद्धाओं की नाईं स्थित हुए ॥२०॥ बहुत क्या कहे, मरण से भयभीत चित्तवाले वे दाम आदि दैत्य देवताओं के आक्रमण करने पर समरभूमि को छोड़कर भाग निकले ॥२१॥ स्वर्ग में ख्याति प्राप्त किये हुए दाम–व्याल–कट नामक उन दैत्यों के भयभीत होकर चारों ओर भागने पर भागी हुई सारी दैत्य सेना आकाश से इधर–उधर ऐसे गिरने लगी, जैसे कि प्रलयकाल के प्रचण्ड वायु से उठाया गया तारा समूह आकाश में इधर–उधर चारों ओर गिरता है ॥२२,२३॥ सुमेरु पर्वत के कुंजों में, पर्वतों के शिखरों की चट्टानों पर, समुद्रों के तटों पर, मेघों की घटाओं में, सागर के भँवररूप गर्तों में, अन्यान्यगर्तों में, बाढ से बढ़ी हुई नदियों में, जंगलों में, जलते हुए दिशा के प्रान्त प्रदेशों में, जलते हुए वनों में, देवता और असुरों के बाणों से ध्वस्त हुए देशों में, ग्रामों और नगरों में, सिंह, व्याघ्र आदि के निवासभूत गहन अटवियों में, मरुभूमियों में, लोकालोकपर्वत के प्रान्त देशों में, पर्वतों में, तालाबों में, आन्ध्र, द्रविड़, कश्मीर और पारसीक नगरों में, नाना (卐) समुद्रों में जिनकी तरंगे गिरती हैं, ऐसे गंगाजल के मुहानों में, अन्यान्य द्वीपोंमें, मछलियों को पकड़ने के लिए फैलाए हुए जालों में, जम्बूखण्डनामक देशों की लताओं में, मतलब यह कि सब ओर पर्वत के आकारवाले वे दैत्य गिरे। उनमें किसी के शरीर और पैर छिन्न–भिन्न थे तो किसी के हाथ और भुजाएँ कट गई थी, किन्हीं के आँतड़ीरूपी ताँतें शाखाओं में लगी थी, और वे सब के सब शरीर से खून की धारा की वर्षा कर रहे थे उनके मस्तक के माला, आभरण आदि अस्त–व्यस्त हो गये थे, उनके चरण अत्यन्त कट–फट गये थे, आँखों से क्रोध टपक रहा था ॥२४–३०॥ वे लोग आयुधों से युक्त थे, सेनाओं ने माया द्वारा और बाणों द्वारा उनके कवच और आयुध नष्ट–भ्रष्ट कर दिये थे, दूर भागने से अस्त–व्यस्त हुए एक प्रकार के उनके अस्त्र और वस्त्रों की श्रेणियाँ गिर रही थी, गले में लटके हुए शिरस्त्राणों के चटचट शब्द से उन्हें बड़ा भय हो रहा था, सैकड़ों शिखाओं से, जिनके अग्रभाग में गाँठें थी, वे पर्वत की चोटियों की शिलाओं में गुँथे गये थे, अतएव उनके शरीर लटक रहे थे, काँटेदार सेमल के पेड़ों में जोर से गिरने पर चुभ रहे काँटों से वे बड़े संकटाकीर्ण हो गये थे, बड़ी–बड़ी शिलारूपी फलकों में टकराने से उनके मस्तक के सैकड़ों टुकड़े हो गये थे ॥३१–३३॥ जैसे वर्षाऋतु में जल में

(卐) गंगाजी हजार मुँहों से समुद्र में प्रवेश करती हैं, इसलिए एक भी समुद्र प्रदेशभेद से नाना कहा गया है।

धूलिकण नाश को प्राप्त होते है, वैसे ही इस प्रकार सभी असुरनायक सब शस्त्रों के समाप्त होने के अनन्तर ही दिशाओं में नाश को प्राप्त हो गये॥३४॥

उनतीसवाँ सर्ग समाप्त

तीसवाँ सर्ग

पाताल में यमराज से जलाये गये दाम आदि की काश्मीर देश में
मछली होने तक जन्मपरम्पराओं के वर्णन।

वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह दानवों के नष्ट हो जाने पर और देवताओं के सन्तुष्ट होने पर अत्यन्त खिन्न हुए दाम, व्याल और कट शम्बर के भय से व्याकुल हो गये ॥१॥ शम्बरासुर की सारी सेना नष्ट हो गयी थी, अतएव जल रही प्रलयकाल की अग्नि की तरह कुपित हुआ वह 'कहाँ गये' यों दाम, व्याल और कट के प्रति जल उठा ॥२॥ तदनन्तर दाम, व्याल और कट शम्बर के भय से अपने देश को छोड़कर सातवें पाताल में चले गये ॥३॥

वहाँ पर भी क्या उन्हें शम्बर का भय नहीं था ? इस शंका को दूर करने के लिए कहते हैं।

जहाँ पर नरकरूपी समुद्र की रक्षा करनेवाले यमराज के सेवक स्वेच्छा से रहते थे। वे काल की तरह औरों को भयभीत करने में समर्थ थे, अतएव वहाँ पर शम्बर का भय न था, यह भाव है ॥४॥ तदनन्तर भयरहित यमराज के सेवकों ने शरण में आये हुए उन तीनों को अभय देकर मूर्तिमती चिन्ताओं की तरह क्रम से तीन कन्याएँ दी ॥५॥ अनन्त कुवासनाओं को प्राप्त हुए उन दाम आदि ने वहाँ पर दस हजार वर्ष पर्यन्त शेष आयु यमराज के सेवकों के साथ बिताई ॥६॥

उन कुवासनाओं को ही विस्तार से दिखलाते हैं।

यह मेरी स्त्री है, यह मेरी कन्या है और यह मेरी प्रभुता है, इस प्रकार दुरूह स्नेह बन्धन से युक्त उनका समय बीता ॥७॥ तदुपरान्त किसी समय यमराज अपनी इच्छा से महानरकों के कार्य का विचार करने के लिए उस प्रदेश में आये ॥८॥ छत्र, चामर आदि चिह्नों को न देखने के कारण वे यमराज को नहीं पहचान सके, अतएव साधारण सेवक के समान उन तीनों असुरों ने अपने विनाश के लिए उन्हें प्रणाम नहीं किया ॥९॥ तदुपरान्त यमराज ने अपने एकमात्र भ्रकुटि चढ़ाने से ही उन्हें जलती हुई रौरवादि भीषण नरक भूमियों में पहुँचा दिया ॥१०॥ जैसे वनाग्नि द्वारा छोटे-छोटे वृक्ष जलाये जाते हैं, वैसे ही वहाँ पर करुण क्रन्दन करनेवाले वे अपने इष्ट मित्र, स्त्री, बन्धु-बान्धवों सहित रौरवादि नरकों की अग्निज्वालाओं से जलाये गये ॥११॥ तदनन्तर वध और बन्धनकर्म करनेवाले यम किंकरों के साथ सहवास होने के कारण वे उसी अपनी क्रूर वासना से वध और बन्धन कर्म करनेवालों के आकार के राजकिंकर किरात हुए ॥१२॥ किरात जन्म का त्याग करके गर्तों में कौए हुए, कौओं के जन्म के बाद उन्हें गीध का जन्म मिला, उसके बाद वे सुग्गे हुए, फिर त्रिगर्त देश में वे सूकर हुए और पर्वतों में मेघ हुए। तदनन्तर उन कुबुद्धियों ने मगध देश में कीटता धारण की ॥१३,१४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, अन्य विविध योनिपरम्पराओं का भोग कर अब वे काश्मीर देश के जंगल की तलैया में मछली बनकर स्थित हैं ॥१५॥ सूखे हुए कीचड़ से लथ-पथ शरीरवाले और वनाग्नि से खौलाया हुआ थोड़ा-थोड़ा कीचड़

के तुल्य गन्दा जल पीनेवाले वे न तो मरते हैं और न जीते ही हैं ॥१६॥ जैसे समुद्र में तरंगें हो होकर नष्ट हो जाती हैं वैसे ही विचित्र योनियों में भ्रमण का अनुभव कर पुनः पुनः हो होकर वे पुनःनष्ट हुए ॥१७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, संसाररूपी जलधि में पड़े हुए वे वासनारूपी तंतुओं से प्रेरित होकर देहरूप तरंगों से तृण की तरह चिरकाल तक विविध प्रदेशों में पहुँचाये गये। यहाँ भी वे अपरिच्छेद्य फलरूप शान्ति को प्राप्त नहीं हुए हैं। वासना की भीषण महाअनर्थरूपता को इसी दृष्टान्त से आप सर्वत्र देखिये ॥१८॥

तीसवाँ सर्ग समाप्त

इकतीसवाँ सर्ग

अहंकार से अर्थहानि और अनर्थ प्राप्ति कहकर दामादि की सत्ता और असत्ता का निराकरण।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : इसलिए हे महामति श्रीरामचन्द्रजी, आपको सरलता से समझाने के लिए दाम–व्याल–कट–न्याय आपका न हो, ऐसा मैं कहता हूँ ॥१॥ विवेक का अनुसन्धान न होने से चित्त इस प्रकार की आपत्ति को अनन्त जन्मरूपी दुःख के लिए अनायास ग्रहण करता है ॥२॥ कहाँ तो देवताओं का विनाश करनेवाली शम्बरासुर की सेनाओं का सेनापतित्व और कहाँ वनाग्नि के ताप से तपी हुई कीचड़राशि में जीर्ण–शीर्ण मलिनता ? भाव यह कि पहले की निरभिमानिता से पीछे के अभिमान में फलतः बड़ा अन्तर है ॥३॥ कहाँ देवताओं की सेना को भगानेवाला वह महान धैर्य और कहाँ किरात राज की क्षुद्र सेवकता ? ॥४॥ कहाँ निरहंकार चिन्मय सत्त्व की उदार धीरता और कहाँ मिथ्या वासना के आवेश से अहंकार की कुकल्पना ? ॥५॥ शाखाओं के विस्तार से गहन, चारों ओर फैली हुई, भौंरों से भरी हुई संसार रूपी यह विषलता अहंकाररूपी अंकुर से ही आविर्भूत होती है ॥६॥ इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप अपने अन्तःकरण से अहंकार को प्रयत्नपूर्वक हटा दीजिये। मैं कुछ भी नहीं हूँ, ऐसी भावना कर सुखी होइये। भाव यह कि जड़ दृश्य में सर्वत्र चिन्ता का ही दर्शन होता है, अतः उसमें अहन्त्व का योग नहीं है, अहंकार आदि सबके साक्षी द्रष्टास्वरूप में अभिमानरूप धर्म का सम्भव न होने से अहन्त्व हो नहीं सकता। द्रष्टा और दृश्य से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, इसलिए अहन्त्व का आश्रय कुछ भी नहीं है, ऐसी यथार्थ रूप से भावना कर सुखी होइये ॥७॥

अहंकार की अनर्थ हेतुता कह कर वह पुरुषार्थ का विघात भी करती है, ऐसा कहते हैं।

अहंकाररूपी मेघ से आच्छादित, आनन्दैकरस, तीनों तापों से रहित पुरुषार्थरूपी चन्द्रमण्डल अदृश्य हो गये है ॥८॥ माया के माहात्म्य से दानव बने हुए दाम, व्याल और कट ये तीनों यद्यपि जन्म–मरण प्रवाह की सत्ता से रहित थे तथापि अहंकाररूपी पिशाच से पीड़ित होकर जन्म–मरण प्रवाह की सत्ता को प्राप्त हुए ॥९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस समय वे काश्मीर देश में गहन वन की तलैया में सेवार के टुकड़ों के अभिलाषी मत्स्यरूप से स्थित हैं ॥१०॥

असन्तोऽपि गतास्सत्ताम् यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजी उसकी अनुपपत्ति की शंका करतें हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, असत् पदार्थ की सत्ता नहीं है और सत् का अभाव नहीं होता, यह प्रसिद्ध है। ऐसी स्थिति में असत् वे दाम आदि कैसे सत्ता को प्राप्त हुए, यह कृपाकर मुझसे कहिये ॥११॥

अपने विशेष अभिप्राय को कहने के लिए श्रीवसिष्ठजी पहले श्रीरामचन्द्रजी की शंका का स्वीकार कर उसका परिहार करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : महाबाहो, जैसा आप कहते हैं वैसा ही है। सत्य वस्तु कहीं कभी भी कुछ भी असत् नहीं हो सकती, किन्तु सत् ही सूक्ष्म आविर्भाव से बृहत् होता है, वही उसकी उत्पत्ति है। बृहत् तिरोभाव से सूक्ष्म हो जाता है, वही उसका विनाश है, यह भाव है ॥१२॥

भले ही ऐसा हो, पर ऐसी अवस्था में अनात्मवस्तुओं में सत्ता और असत्ता के विभाग का निरुपण ही करना कठिन हो जायेगा, ऐसा कहनेवाले श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी से पूछते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, कौन वस्तु सत् है अथवा कौन असत् है, यह बतलाइये, मैं भलीभाँति दृष्टान्त से ही आपको समझाऊँगा ॥१३॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, ये हम लोग सत् होकर ही स्थित है। असत् भी दाम आदि सत् है, ऐसा आप कहते हैं। भाव यह है कि हमलोगों की सत्ता प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से सिद्ध है। माया मात्र होने से दाम आदि की असत्ता स्वयं आपने ही कही है, फिर पूर्वापर विरुद्ध उनकी सत्ता आप कैसे कहते हैं, कृपया बतलाइये, आपका क्या अभिप्राय है ? ॥१४॥

यदि व्यावहारिक प्रमाणों के व्यवहारयोग्य होने के कारण हम लोगो के शरीरों की आप सत्ता मानते हैं, तो दाम आदि की भी वह सत्ता समान ही है। यदि तत्त्वज्ञान से बाध्य होने के कारण या दुर्निरूपणीय होने के कारण असत्ता कहते हैं, तो वह भी उनकी हमारे तुल्य ही है, इसलिए मेरे कथन में कुछ विरोध नहीं है, इस आशय से वसिष्ठजी उत्तर कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे दाम आदि मृगतृष्णा के जल के प्रवाह के सदृश मायामय होने से असत्य होते हुए भी सत्य के सदृश स्थित हैं वैसे ही देवता, असुर तथा दानवों के सहित ये हम लोग भी असत्य होते हुए ही बोलते हैं, जाते हैं और आते हैं ॥१५,१६॥ स्वप्न में अनुभूत अपना मरना जैसे अलीक (अवास्तविक) है, वैसे ही अनुभूत होता हुआ भी असद्रूप आपका भाव (राम शरीर भाव) अलीक ही है और मेरा भाव (वसिष्ठ शरीर भाव) भी अलीक ही है ॥१७॥ जैसे मरा हुआ अपना बन्धु स्वप्न में दृष्टिगोचर भी हो जाय, तो भी यह मर गया है, ऐसा यदि ज्ञान हो, तो वह असन्मय ही है वैसे ही अनुभूत यह जगत् भी असन्मय ही है ॥१८॥ जिसे जगत की सत्यता का पूर्ण निश्चय है, वह अत्यन्त मूढ़ है, उसके प्रति यह जगत की असत्यता का कथन सुशोभित होता ही नहीं। परमार्थ तत्त्व के विचार के अभ्यास के बिना 'जगत सत्य है' इस अनुभव का अपलाप उदित नहीं होता ॥१९॥

इसी प्रकार पूर्वोत्पन्न कुसंस्कारों का नाश शास्त्रार्थ तत्त्व के अभ्यास के बिना उदित नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

हृदय में आरूढ़ हुआ जो निश्चय प्राप्त हो गया, इस लोक में कभी किसी का भी वह निश्चय शास्त्राभ्यास के बिना नष्ट नहीं होता ॥२०॥

अतएव अनधिकारी पुरुष में उपदेशवचन उन्मत्त के प्रलाप के तुल्य होने से अज्ञ और अभिज्ञ दोनों के उपहास के योग्य होता है, ऐसा कहते हैं।

यह जगत असत्य है, ब्रह्म सत्य है, ऐसा जो अनधिकारी के प्रति कहता है, उन्मत्त और विमूढ़ पुरुष भी उसका उन्मत्त के तुल्य उपहास करता है ॥२१॥

यदि अज्ञों को उपदेश न दे और अज्ञोंके साथ अज्ञचेष्टा से ही ज्ञानी भी व्यवहार करे, तो वह भी अज्ञ ही हो जायेगा, ऐसी अवस्था में अज्ञ और ज्ञानी की एकता हो जायेगी, ऐसी आशंका पर कहते हैं।

जैसे मदिरा के नशे में मत्त और नशे से रहित पुरुषों की, अन्धकार और प्रकाश की एवं छाया और प्रकाश की एकता नहीं हो सकती वैसे ही बोध विषय में अज्ञ और ज्ञानी की भी एकता यहाँ नहीं हो सकती ॥२२॥

इसलिए भी अज्ञ को उपदेश नहीं देना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

जैसे शव अपने चरणों से भ्रमण नहीं कर सकता वैसे ही अज्ञ पुरुष को चाहे कितने ही अधिक प्रयत्न से क्यों न समझाइये, तथापि वह भीतर मन, बुद्धि आदि के भेद से और बाहर रूप, रस आदि के भेद से अनुभूत द्वैतरूप अर्थ का सत्य अधिष्ठान में 'नेति नेति' से बाध नहीं कर सकता और अध्यस्त पदार्थ के बाध के बिना अधिष्ठान तत्त्व का बोध नहीं किया जा सकता, इसलिए उसको बोध का उपदेश देना व्यर्थ है ॥२३॥

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन' इस श्रुति से ज्ञान में अधिकार की सिद्धि के लिए तप आदि का विधान है, इसलिए भी तप, उपासना आदि से असंस्कृत अज्ञ उपदेश के योग्य नहीं, ऐसा कहते हैं।

सम्पूर्ण जगत ब्रह्म है ऐसा उपदेश देने के लिए अज्ञ योग्य नहीं है, क्योंकि तप, विद्या आदि का अनुभव न होने पर यानी अनुभव प्रयुक्त संस्कार न होने पर इस अज्ञ ने संसारी देहात्मभाव का ही अनादिकाल से अनुभव किया है, कभी भी असंसारी आत्मभाव का अनुभव नहीं किया ॥२४॥

तब कहाँ पर उपदेश वचन सुशोभित होते हैं, इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह उपदेश वाणी अपने प्रबुद्ध के विषय में ही सुशोभित होती है। जो पुरुष पूर्ण प्रबुद्ध हो गया। उसको तो 'अस्मि' (मैं हूँ), इस प्रकार अहंकारास्पदरूप से परामर्श करने के लिए कुछ भी नहीं है, इसलिए वह भी उपदेश के योग्य नहीं है।

इस ग्रन्थ के आरम्भ में कहा भी है। 'नाऽत्यन्तमज्ञो नो तज्ज्ञः सोऽस्मिन् शास्त्रेऽधिकारवान्।' अर्थात् वह जो न अत्यन्त अज्ञानी है और न पूर्ण ज्ञानी है, वह इस शास्त्र में अधिकारी है ॥२५॥

'मैं हूँ', यह बोध करने की शक्ति न होने से जैसे 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्यार्थ बोध में पूर्ण ज्ञानी का अधिकार नहीं है वैसे ही निषेध्य वस्तु के न होने से नेति नेति इस अपह्नव वाक्यार्थ बोध में भी ज्ञानी का अधिकार नहीं है, ऐसा कहते हैं।

यह सब शान्त परम ब्रह्म ही है, ज्ञानी इस प्रकार अनुभव करता है। उसकी अपनी अनुभूति का अपलाप कौन कर सकता है ? ॥२६॥

यदि कोई शंका करे सुवर्ण में अँगूठी के अपलाप की तरह अहंकार का ही ब्रह्म में अपलाप ज्ञानी क्यों नहीं करता है ? तो इस पर कहते हैं।

आत्मा में परब्रह्म से अतिरिक्त स्वर्ण में अँगूठी आदि के समान प्रातीतिक भी अहंपद वाच्य ज्ञानी के लिए कुछ नहीं है, क्योंकि अद्वितीय आत्मा में अज्ञ आदमी के समान विशिष्टता भ्रान्ति से भी नहीं है, जिसमें विशेषण का अपलाप किया जाय ॥२७॥

ज्ञानी की दृष्टि से जगत की तरह अज्ञानी की दृष्टि से परमार्थ भी अत्यन्त असत् है, इसलिए उसे परमार्थ तत्त्व का अस्तित्व समझना कठिन ही नहीं, बल्कि असंभव है ऐसा कहते हैं।

मूढ़ पुरुष आत्मा में पंचभौतिक कार्यकारण मात्र से अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानता, इसलिए अँगूठी की बुद्धि में सुवर्ण की तरह अज्ञानी में परमार्थता नहीं है ॥२८॥

उक्त विषय को ही संक्षेप से स्पष्टतया कहते हैं।

मूढ़ मिथ्या अहंकारमय है और ज्ञानी एकमात्र सत्यतत्त्वमय है, इन दोनों के स्वभाव का अपलाप कहीं पर कोई भी नहीं कर सकता। जिसका जैसा स्वभाव रहता है, उसमें उसका अपलाप कैसे हो सकता है ? पुरुष का 'मैं घट हूँ' यह वाक्य उन्मत्त प्रलाप नहीं तो और क्या है ? ॥२९,३०॥

जिसे अन्य आत्मा का (संसारी देहात्मा का) निश्चय है उसे अन्य आत्मा का (असंसारी आत्मा का) उपदेश तो व्यर्थ है, इसमें दृष्टान्त देते हैं।

ये प्रत्यक्ष दिखलाई दे रहे वसिष्ठ, राम आदि देहरूप से प्रसिद्ध हम लोग एवं दाम आदि शास्त्र दृष्टि से भी सत्य नहीं है, वे और ये हम लोग विद्वदनुभव दृष्टि से भी सत्य नहीं है। हम लोगों का सम्भव है ही नहीं यानी यौक्तिकदृष्टि से भी हम लोग असत्य हैं ॥३१॥

तब क्या सत्य है ? उसे कहते हैं।

शुद्ध, सर्वगत, शान्त, निर्विकार चिदाकाश ज्ञान के समान शास्त्रदृष्टि से भी सत्य है, विद्वानों के अनुभव से भी सत्य है और यौक्तिकदृष्टि से भी वही अन्तरहित उदय से युक्त है ॥३२॥

सारा जगत उपरत हो गया।

शंका : क्या ऐसा उपरत हुआ कि शून्य ही शेष रह गया ?

समाधान : नहीं शून्यरहित उपरत हुआ।

शंका : तब उपरत कैसे हुआ ?

समाधान : सर्वशून्य की तरह (न कि शून्य ही) सन्मात्र पूर्णभाव से स्थित है।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस चिदाकाश में ये अपनी अन्यथा रूप से प्रथारूपी सृष्टियाँ शोभित होती हैं ॥३३॥ जैसे तिमिर रोग से पीड़ित आँखवाले पुरुष की स्वाभाविक ही दृष्टियाँ केशों के वर्तुलाकार गोलों की तरह मालूम होती हैं वैसे ही उसमें ये सृष्टियाँ शोभित होती है ॥३४॥ वह सत्यात्मा अपने आत्मा को जिस-जिस प्रकार से जानता है ठीक उसी प्रकार से एक क्षण में अनुभव करता है। इसलिए सत्यात्मा के दृष्टिबल से असत्य वस्तु भी एक क्षण भर में सत्य सी हो जाती है ॥३५॥

यदि सत्यात्मा के दृष्टि बल से असत्य भी सत्य हो जाता है, तो जगत का क्या स्वरूप है इस पर कहते हैं।

इसलिए तीनों जगतों में न कुछ सत्य है न असत्य है। चेतनरूप आत्मा जिसको जैसे जानता है, वह उस प्रकार उदित होता है। इसमें सन्देह नहीं ॥३६॥ जैसे दाम आदि उत्पन्न हुए हैं वैसे ही हम लोग भी उत्पन्न हुए हैं। उन्हींके प्रति सत्य असत्य की कल्पना क्यों ? यह अनन्त चिदाकाश सर्वगामी सर्वव्यापक और निराकार है। जो चिति अन्तःकरण में जैसे उदित होती है, वैसे ही वहाँ पर प्रतीत होती है। जहाँ पर संवित् दामादि के रूप से स्वयं ही विकास को प्राप्त हुई, वहाँ पर वह वैसे आकार के अनुभव से वैसी ही

बन गई ॥३७–३९॥ जहाँ पर हम लोगों के स्वरूप से संवित् स्वयं उदित हुई, वहाँ पर वह वैसे आकार के अनुभव से वैसी ही बन गई ॥४०॥ जैसे मरुस्थल की सूर्यकिरण के ताप की मृगतृष्णारूपता होती है वैसे ही अपने स्वप्न के तुल्य चिदाकाश के शून्य शरीर का चिदाकाश ने ही जगत यह नाम रख छोड़ा है ॥४१॥ जगत के विषय में जागरूक 'बाह्यपदार्थज्ञानरूप' जो चिदाकाश है, उसका उसीने दृश्य नाम रखा है, अद्वितीय प्रकाशरूप अपने आत्मा में सोया हुआ यानी बाह्य उपलब्धिरहित जो चिदाकाश है, उसका उसीने मोक्ष नाम रक्खा है। श्रुति भी है, 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्व मात्मैवाऽभूत तत्केन कं पश्येत्' (जिस अवस्थामें द्वैत–सा होता है, उस अवस्था में अन्य को अन्य देखता है, जहाँ पर सब इसका स्वरूप ही हो गया, उस अवस्था में कौन किसको किससे देखे ?) ॥४२॥

ये तो दूसरे को समझाने के लिऐ दो अवस्थाएँ सादृश्य की कल्पना से कही गई है, वास्तविक जो स्थिति है, उसे तो अब कहते हैं।

वह चिदाकाश न तो कभी सोया है और न कभी जागा है, चिदाकाश ही दृश्य जगत है, ऐसा आप निश्चय जानिये ॥४३॥

जब एकमात्र चिदाकाश ही दृश्य है, तब सृष्टि और मोक्ष का भेद ही न रहा ऐसा कहते हैं।

निर्वाण ही सृष्टि है तथा सृष्टि ही निर्वाण है। घट, कलश पर्याय शब्दों के समान इन दोनों शब्दों का अर्थ भिन्न नहीं है ॥४४॥ जैसे तिमिर रोग से पीड़ित नेत्र केशों का वर्तुलाकार गोला सा देखता है वैसे ही अज्ञानोपहित आत्मा स्वयं अपने परमार्थ और जगत यों दो रूप जानता है ॥४५॥ किन्तु वह केशों का वर्तुलाकार गोला कुछ भी नहीं है, वह दृष्टि ही वैसी स्थित है, इसी प्रकार यह दृश्य कुछ नहीं है, यह चिदाकाश ही इस प्रकार इस रूप से स्थित है। अध्यारोपदृष्टि में सर्वगामी चिदाकाश में सबका आरोप हो सकने से सर्वत्र यथानुभूत यह सब है। अपवाद दृष्टि में तो यह अनुभूत कहीं पर कुछ नहीं है। इस प्रकार पूर्वोक्त दोनों प्रकारों में यह जगत भेदरहित अतएव अद्वितीय सत् पूर्ण है, इसलिए आप भी शोक, भय और भेद का त्याग कर पूर्ण होइये ॥४६,४७॥ स्फटिक शिला के मध्य भाग के समान शून्याकार प्रतीत होता हुआ भी घन, शान्त, निर्मल महाचिति का यह रूप उसमें प्रतिबिम्बित वन, नगर, नदी आदि के स्वरूप के समान है। नहीं है, इस दृष्टि में तो कहीं नहीं है और जो प्रतिभानमात्र से है, वह चिद्रूप ही स्पष्टरूप से वैसा भासित होता है ॥४८॥

इकतीसवाँ सर्ग समाप्त

बत्तीसवाँ सर्ग

मछली ओर सारस के जन्म की प्राप्ति से वियुक्त हुए दाम आदि की राजमहल में मच्छर आदि के शरीरों में ज्ञान प्राप्त कर मुक्ति का वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिवर, बालकों के यक्ष और पिशाच की नाईं अज्ञानियों की दृष्टि से सत् होते हुए भी वास्तव में असत् दाम, व्याल और कट के दुःख का अन्त कब होगा ? ॥१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्री रामचन्द्रजी ! दाम, व्याल और कट के बान्धवरूप उन यम किंकरों ने उसी समय यम से विनती की। उनके विनय करने पर यम ने यह कहा, उसे सुनिये ॥२॥ जब ये दाम

आदि वियोग को प्राप्त होंगे और शम्बर की माया से कल्पित जीवभावरूपता तथा वासनारहित अद्वितीय चिन्मात्ररूपता की अपनी कथा को सुनेंगे, तब ये अपने यथार्थ तत्त्व को जानकर मुक्त हो जायेंगे ॥३॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, वे अपने इस वृत्तान्त को कहाँ, कब कैसे और किससे सुनेंगे ? इसे आप क्रम से कहने की कृपा कीजिये ॥४॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, काश्मीर देश में बड़ेभारी कमलों के तालाब के तीर की तलैया में बार-बार मछली की योनियों का भोग करके ग्रीष्म ऋतु में भैंस, सूअर आदि से जिनकी तलैया रौंदी गई थी, अतएव चंचल तथा समय पाकर काल के शिकार हुए वे उसी कमल के तालाब में सारस होंगे ॥५,६॥ वहाँ पर श्वेत कमल की पंक्तियों से युक्त भाँति-भाँति के कमलों की श्रेणियों में, सुन्दर सेवाल की लताओं में, तरंगों में, हिल रहे फूलरूपी झूलों से युक्त नील कमल की लताओं में तथा शीतल आवर्त्तों में स्थित अतएव जलबिन्दुओं को बरसा रही मेघपंक्तियों में विविध सरस भोगों को भोग कर बहुत दिनों तक खूब विहार कर शुद्ध हुए भुवनभूषण वे सारस जैसे विवेकदृष्टि से पर्यालोचित होने पर सत्त्व, रज और तम मुक्ति के लिये भेद को प्राप्त होते हैं वैसे ही विचारबुद्धि को प्राप्त हो स्वेच्छा से मुक्ति के लिये विवेक को प्राप्त कर विमुक्त होंगे ॥७-१०॥ उक्त काश्मीर देश के मध्य में पर्वतों और वृक्षों से सुशोभित बड़ा सुन्दर अधिष्ठान नाम का नगर होगा ॥११॥ जैसे कमल के बीच में कर्णिका होती है वैसे ही उस नगर के मध्य में प्रद्युम्न शिखर नाम का लाँघन योग्य छोटा शिखर होगा, उस पर्वत के शिखर पर अन्य घरों के राजा के समान कोई घर होगा, उसकी आकाश को छूनेवाली अट्टालिका होगी, अतएव वह पर्वत के शिखर पर स्थित दूसरे शिखर के समान होगा। उस घर के ईशान कोण में ऊँची दीवार की दरार में एक घोंसला है, निरन्तर बह रहे वायु से उसके आस-पास के तृण हिलाये जाते हैं, ऐसे अपने घोंसले में व्याल नामक दानव गौरिया बनेगा, जिसने पहले थोड़ा-सा शास्त्र पढ़ा हो, ऐसे ब्राह्मण के समान उसकी ची-ची कूची आदि ध्वनि अर्थ रहित होगी ॥१२-१५॥ उसी समय उस महल में स्वर्ग में दूसरे इन्द्र के समान श्रीयशस्कार नाम का राजा होगा ॥१६॥ दाम नाम का दानव उसी राजा के महल में विशाल स्तम्भ की पीठ के छेद में मृदु ध्वनिवाला मच्छर होगा ॥१७॥ उसी अधिष्ठान नाम के नगर के अन्दर उस समय रत्नावली विहार नाम का विहार (क्रीड़ागृह) भी होगा ॥१८॥ उसमें उस राजा का मन्त्री रहेगा, जो नरसिंह नाम से विख्यात होगा और जिसे बन्ध और मोक्ष श्रुति, युक्ति, गुरु उपदेश और अपने अनुभव से करामलक के समान निश्चय होगा ॥१९॥ मायामय असुर कट उस मन्त्री के घर में उसका क्रीड़ा साधन एक मैनारूप होगा, चाँदी के पिंजड़े में उसका निवास होगा ॥२०॥

राजमन्त्री वह नरसिंह श्लोकों से रची गई, दाम, व्याल और कट आदि की यह उत्तम कथा कहेगा ॥२१॥ उस मैनारूपधारी कट का, जिसे उस कथा को सुनकर अपरिच्छिन्न आत्मा का स्मरण हो जायेगा, शम्बर द्वारा कल्पित जीवरूप बाधित हो जायेगा, इस तरह वह आवागमनशून्य परम निर्वाण को प्राप्त होगा ॥२२॥ प्रद्युम्न नामक शिखर के एक प्रदेश में रहनेवाला गौरिया वहाँ पर रहनेवाले लोगों के मुँह से उक्त कथा को सुनकर परम निर्वाण को प्राप्त होगा ॥२३॥ राजमहल के स्तम्भरूप लकड़ी की दरार में रहनेवाला मच्छर भी प्रसंगवश लोगों द्वारा कही जा रही अपने पूर्वजन्म के वृत्तान्तों से युक्त ब्रह्मकथा को सुनकर शान्ति को प्राप्त होगा ॥२४॥ इस प्रकार हे

श्रीरामचन्द्रजी, प्रद्युम्न शिखर से गौरिया, राजमहल से मच्छर और रत्नावली विहारनामक क्रीड़ागृह से मैना ये तीनों मुक्त हो जायेंगे ॥२५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मैंने आपसे इस प्रकार यह दाम, व्याल और कट की कथा का क्रम सम्पूर्ण कहा। इस प्रकार संसार से शून्य होती हुई भी संसाररूप से अत्यन्त दैदीप्यमान यह माया ही मृगतृष्णा में जलबुद्धि की तरह ज्ञानवश पुरुषों को चक्कर में डालती है ॥२६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इससे मोहित हुए मूढ़ लोग दाम, व्याल औ कटकी नाईं अज्ञानवश अन्यान्य पदों की अपेक्षा उन्नत अपरिपक्व अज्ञानदशारूपी पद से नीचे गिरते हैं ॥२७॥

निर्वासनिकता से प्राप्त पूर्वजन्म के उत्कर्ष की अपेक्षा पीछे के मच्छर आदि जन्म का बड़ा भारी अन्तर दिखलाते हैं।

कहाँ भ्रुकुटि मात्र से मन्दिर और मेरु के घरों को चूर–चूर करना, कहाँ राजा के महल के स्तम्भ की दरार में मच्छररूप से रहना, कहाँ हाथ के थप्पड़ से सूर्य और चन्द्रमा के बिम्बों के गिराने की सामर्थ्य, कहाँ प्रद्युम्न नाम के शिखर में स्थित घर की दीवार की दरार में गौरिया बन के रहना, कहाँ फूल के समान चंचल हाथ से मेरु को तौलना, कहाँ पर्वत के शिखर पर नरसिंह के घर में मैना का बच्चा बनके रहना ? ॥२८–३०॥

अब राजस अहंकार से चिदाकाश के देहादि के आकार का अभिमान प्रकार दिखाते हैं।

चिदाकाश 'मैं' इस प्रकार रजोगुण से रंजित होता है, रजोगुण से रंजित होकर वह अपने स्वाभाविक स्वप्रकाशता का त्याग न करता हुआ ही अहंकार, प्राण, देह, इंद्रिय आदि को आत्मा समझता है ॥३१॥ असत्य होती हुई भी सत्य की तरह प्रतीत हो रही अपनी ही वासना की भ्रान्ति से मृगतृष्णा में जलबुद्धि के तुल्य जीव चिद्रूप से मानों भिन्नता को प्राप्त होता है ॥३२॥

इस समय उस भेद से पार पाने का उपाय कहते हैं।

जो लोग महावाक्यरूप शास्त्र से दृश्य 'आगन्तुक है' इस प्रकार निर्वाण में स्थित हैं, वे प्रत्यगात्मा में उन्मुख बुद्धि से ही संसार सागर को पार करते हैं ॥३३॥ जैसे जल गड्ढे की ओर जाते हैं वैसे ही जो नाना दुःख देनेवाले शुष्क तार्किक मतों की ओर जाते हैं, वे पारमार्थिक आत्मभाव में स्थिति रूप परमपुरुषार्थ प्राप्ति का विनाश करते हैं। इसलिए तर्क से ही उसका निर्णय हो जायेगा, महावाक्यों के अवलम्बन की क्या आवश्यकता है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, यह भाव है ॥३४॥

औपनिषद मार्ग के साथ अपने अनुभव का भी संवाद है, तार्किक मतों के साथ अनुभव का संवाद नहीं, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, अपने अनुभव से प्रसिद्ध श्रुति के अनुसारी मार्ग से परम गति को जा रहे लोगों का विनाश नहीं होता ॥३५॥

किससे तब पुरुषार्थ का विनाश होता है ? इस पर कहते हैं।

हे महामते, यह मेरे हो, यह मुझे प्राप्त हो, इस प्रकार की बुद्धिवाले पुरुष का अपनी दुर्भाग्य प्रयुक्त दीनता से नष्ट हुए पुरुषार्थ की भस्म भी शेष नहीं रहती ॥३६॥

इस प्रकार अभिलाषा की अनर्थकारिता कह कर वैराग्य की सर्वअनर्थनिवर्तकता कहते हैं।

जो उदार पुरुष त्रैलोक्य को भी नित्य तृण समझता है, उसे आपत्तियाँ इस प्रकार छोड़ देती है

जिस प्रकार कि साँप पुरानी केंचुल को छोड़ देते हैं ॥३७॥

विरक्त पुरुष को यदि थोड़ी भी ज्ञान कणिका प्राप्त हो, तो उसकी आपत्तियाँ तो दूर हुई, बल्कि सब देवता अपने आधारभूत ब्रह्माण्ड की तरह उसकी सदा रक्षा करते हैं, ऐसा कहते हैं।

जिसके अन्दर सदा सत्यस्वरूप ब्रह्म का चमत्कार स्फुरित होता है, उसका लोकपाल अखण्ड ब्रह्माण्ड के समान पालन करते हैं ॥३८॥ घोर आपत्ति में भी कुमार्ग में पैर रखना ही नहीं चाहिये। देखिये न, अनुचित रीति से अमृतपान करता हुआ भी महाबली राहु मृत्यु को प्राप्त हुआ ॥३९॥ जो पुरुष उपनिषदादि सत्शास्त्र और उनके अनुसार चलनेवाले साधु-सज्जन पुरुषों के सर्म्पकरूपी सूर्य का, जो कि परमात्मा के साक्षात्कार का हेतु है, अवलम्बन करते हैं, वे मोहरूपी गाढ़ अन्धकार के वशवर्ती नहीं होते ॥४०॥ जिसने गुणों के द्वारा यश प्राप्त किया, वश में न आनेवाले प्राणी भी उसके वशीभूत हो जाते हैं, सब आपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और अक्षय कल्याण प्राप्त हो जाता है। जिनका गुणों के विषय में सन्तोष (अहंबुद्धि) नहीं है, जिनका शास्त्र के प्रति अनुराग है और जो सत्य के व्यसनी हैं, वे ही वस्तुतः नर है, उनसे अतिरिक्त निरे पशु हैं। जिनके यशरूप चन्द्रमा की चाँदनी से प्राणियों का हृदयरूपी सरोवर प्रकाशित है, क्षीरसमुद्ररूप उनके शरीर में निश्चित भगवान हरि का निवास है ॥४१-४३॥

अब जगत के हितैषी पिता-माता से भी बढ़कर आप्त श्रीवसिष्ठजी अनादि संसार में पुनःपुनः सब अनर्थ परम्पराओं के फलों के साथ अनुभूत विषयों में और दृश्य कौतुकों में कुछ भी अपूर्व वस्तु अवशिष्ट नहीं है, यह दर्शाते हुए एवं वैराग्य और शास्त्रीय आचार में निष्ठा की ही प्रशंसा करते हुए उनकी ओर जनता को अभिमुख करते हैं।

भोक्तव्य सब वस्तुओं का भोग कर लिया, दृष्टव्य वस्तुएँ देख ली। आगे होनेवाले जन्मों में अपने विनाश के लिए फिर भी भोगों में लालच करना क्या ठीक है? ॥४४॥ अपने अधिकार के अनुसार, उक्त अधिकारी की चित्तशुद्धि के अनुकूल शास्त्र के अनुसार और पहले-पहले के आचार्यों से प्रवर्तित सम्प्रदाय के अनुसार, एक-एक भूमिका में जब तक भूमिका का परिपाक न हो तब तक स्थिति का त्याग न कर सब लोगों को रहना चाहिए। अवास्तविक भोग समूह का अपने हृदय से त्याग करना चाहिए ॥४५॥ स्वर्ग तक प्रसिद्ध हुए गुणों से प्राप्त हुई कीर्ति से साधु जनों के मुख से वाहवाही लेना चाहिए। ये कीर्ति और सज्जनों की वाहवाही मृत्यु से रक्षा करती हैं, तुच्छ भोग कभी भी मृत्यु से त्राण नहीं देते ॥४६॥ अप्सराएँ जिनके चन्द्रमा के समान शुभ्र यश का आकाश के समान सब देश और कालों में व्याप्त गीतों से गान करती हैं, वे लोग ही जीते हैं और सब मरे हैं ॥४७॥

किस प्रकार यश का सम्पादन किया जा सकता है? इस पर कहते हैं।

परमपौरुष-यत्न का अवलम्बन कर, सुन्दर उद्योग का ग्रहण कर उद्वेग के बिना शास्त्रानुकूल आचरण करता हुआ कौन पुरुष सिद्धि प्राप्त नहीं करता? ॥४८॥ शास्त्रानुसार कार्य कर रहे पुरुष को सिद्धियों के लिए त्वरा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि चिरकाल में परिपक्व हुई सिद्धि उत्तम फल देती है ॥४९॥ शोक, भय और क्लेश को त्याग कर शीघ्रता के आग्रह को छोड़कर शास्त्रानुसार व्यवहार करना चाहिए अपना विनाश नहीं करना चाहिए ॥५०॥ प्रचुर पदार्थों में आसक्तिवाले आप लोगों का

जीव इस समय इन्द्रियरूपी रस्सी से मानों मृत्यु को प्राप्त होकर संसाररूप अन्धे कुएँ में विनष्ट न हो ॥५१॥ इस समय से लेकर फिर नीचे से नीचे आप मत जाईये। सैकड़ों तीक्ष्ण बाणों से जिसमें हाथी काटे गये हैं, ऐसे युद्ध में शीघ्र प्राप्त हुए महाभय, मृत्यु आदि आपत्तियों का निवारण करनेवाले अस्त्ररूप इस मोक्षशास्त्र का विचार कीजिये ॥५२,५३॥ ग्रीष्म ऋतु में उबले हुए तालाब के दुर्गन्धपूर्ण कीचड़ के सदृश संसार में पुनःपुनः मरकर जीवित हुए बूढ़े मेढक के समान जीने की आशा क्या है ! यानी अति तुच्छ है, इसलिए हृदय से भोगवासना हटा देना चाहिए। भोग के उपायभूत धन की क्या आवश्यकता है, इसलिए हे श्रेष्ठ पुरुषों, इन सबका त्याग कर मोक्षशास्त्र का ही अवलोकन कीजिये ॥५४॥ विषयाकार वृत्ति में प्रतिबिम्बत चिदाभासों का अन्तःकरण अवच्छिन्न चैतन्य बिम्ब है और अन्तःकरणरूप उपाधि उपहित चिदाभास का तो शुद्ध ब्रह्म चैतन्य ही बिम्ब है। प्रतिबिम्ब और उसकी उपाधि असत्य हैं, बिम्ब तो सत्य है। अन्तःकरणरूप उपाधि के असत्य होने पर तदवच्छिन्न बिम्ब चैतन्य का और तत्समानाधिकरण चिदाभास के बिम्बभूत ब्रह्म चैतन्य का भेद मिथ्या ही है। इस प्रकार अखण्ड सत्यप्रत्यगभिन्न ब्रह्म चैतन्य ही अन्त में अवशिष्ट रहता है, ऐसा विचार करना चाहिये।

शंका : सांख्य, पातंजल, गौतम, बुद्ध, अर्हत् आदि अन्य वादी उक्त प्रतिबिम्बता प्रक्रिया को नहीं मानते, किन्तु अन्यथा-अन्यथा निरूपण करते हैं और उसी में लोगों को प्रेरित करते हैं। उनकी प्रेरणा भी क्या उपादेय है या नहीं ?

समाधान : दूसरे की प्रेरणारूप बुद्धि से पशुओं के समान मत चालिये। भाव यह है कि 'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्' (जैसे यह ज्योतिर्मय सूर्य स्वतः एक होता हुआ भी घटादिभेद से भिन्न जलों में अनुगमन कर रहा बहुत्व को प्राप्त होता है वैसे ही अद्वितीय यह आत्मा भी उपाधियो में बहुत्व को प्राप्त होता है।) इत्यादि स्वतन्त्र श्रुतिरूप प्रमाणों का अनुसरण करनेवाले लोगों को औरों की प्रेरणा से पशुओं के समान अनुगमन उचित नहीं है ॥५५॥

इस प्रकार शास्त्रार्थ के विचार का विधान कर अब जीवन, धन, पशु, पुत्र आदि सांसारिक विचार की और अन्य दर्शनों के विचार की त्याग के लिए निन्दा करते हैं।

परिणाम में दुर्भाग्य देनेवाली, विचार के समय कृपणता की हेतु होने के कारण निवेश कराने के कारण गाढ़ और दीर्घ महानिद्रारूप धन, जीवन आदि की विचारणा तथा अन्य दर्शनों की विचारणा छोड़ देनी चाहिये और बोधरूप आलोकप्राप्त करना चाहिये ॥५६॥ जैसे बूढ़ा कछुआ तालाब में सोया रहता है, वैसे सोये रहना ठीक नहीं है। जरा, मरण आदि दुःखों की निवृत्ति के लिए उद्योग करना चाहिये ॥५७॥ धनसम्पत्ति अनर्थों की जननी है और विविध भोग संसाररूपी रोग के हेतु हैं। आपत्तियाँ ही सब सम्पत्तियाँ हैं और सब वस्तुओं की अवहेलना ही विजय है ॥५८॥ लोकव्यवहारी पुरुषों के विचार से लोकव्यवहार के अविरोधी तथा शास्त्र और सदाचार के अनुकूल कर्म से सत्फल के लिए सदा उत्थान का अंगीकार करना चाहिए ॥५९॥ जिसका चरित्र सदाचार से सुन्दर है, बुद्धि विवेकशील है और संसार के सौख्यफलरूपी दुःखदशाओं में जिसे लालच नहीं है, उस पुरुष के यश, गुण और आयु ये तीनों लक्ष्मी के साथ ही सत्फल के लिए वसन्त ऋतु की लताओं के समान विकसित होते हैं ॥६०॥

बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

तैंतीसवाँ सर्ग

शुभ उद्यम, साधु और सत्शास्त्र के माहात्म्य का वर्णन तथा
अहंकार की बन्धकता और उसके त्याग से मुक्ति प्राप्ति का वर्णन।

आगे कहे जानेवाले शुभ उद्यम आदि के अभ्यास द्वारा वृद्धि को प्राप्त होने पर फल की अवश्यम्भाविता दिखाने के लिए साधारण न्याय दिखलाते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, सब साधनों का अतिशय अभ्यास सफल होता है, यह नियम है। अतः लोकदृष्टि कृषि, सेवा आदि साधनों में तथा शास्त्रीय मोक्ष-साधन में अपने-अपने अनुरूप फल अवश्य होता ही है, कदापि वे विफल नहीं जाते। इसलिए मोक्षलाभार्थी आप भी शुभ उद्यम को कदापि न छोड़िये ॥१॥

शास्त्र प्रतिपादित शुभ उद्यम का असाध्य तो कुछ भी नहीं है, यह दर्शाने के लिए नन्दीश्वरोपाख्यान आदि का संक्षेप से उल्लेख करते हैं।

इष्ट-मित्र और आत्मीय बन्धु-बान्धवों को आनन्द देनेवाले नन्दी ने तालाब के किनारे शिवजी को आराधना द्वारा प्राप्त करके मृत्यु पर भी विजय प्राप्त की थी (📖) ॥२॥ सेना और धन-धान्य से सम्पन्न बलि आदि दानवों द्वारा जैसे हाथियों द्वारा कमल के सरोवर कुचले जाते हैं वैसे ही कुचले गये देवता अतिशय प्रयत्न से सर्वोत्कृष्ट हो गये ॥३॥ राजा मरुत्त के यज्ञ में संवर्तनामक महर्षि ने ब्रह्मा की तरह सुर और असुरों से पूर्ण दूसरी सृष्टि की (🔥) ॥४॥ शास्त्रीय महान शुभ उद्योग से युक्त विश्वामित्रजी ने बार-बार की गई कठोर तपस्या से दुष्प्राप्य ब्राह्मणता प्राप्त की ॥५॥ रोने चिल्लाने आदि प्रयत्न से प्राप्त होने के कारण दुष्प्राप्य पानी में घोले हुए आटे को रसायन की तरह पी रहे, इस

(📖) उक्त कथा लिंग पुराण मे इस प्रकार वर्णित है : शिलाद नाम के एक मुनि थे। सर्वज्ञ पुत्र की इच्छा से उन्होंने भगवान शंकरजी को कठोर तपस्या द्वारा प्रसन्न किया। चिरकाल की तपस्या से प्रसन्न हुए भगवान शंकरजी उन्हें वरदान देने के लिए बोले : 'मुझसे अन्य तो कोई सर्वज्ञ हो नहीं सकता, इसलिए मैं ही अपने अंश से अवतार लेकर आपका पुत्र होऊँगा, किन्तु मेरे अंश से उत्पन्न हुआ वह आपका लड़का सोलहवें वर्ष में मर जायेगा। शिलाद ऋषि में भगवान के वचन को उलटने की शक्ति तो थी नहीं, अतएव भगवान की शरण में गये हुए उन्होंने 'ऐसा ही हो' यों भगवान के वचन का अनुमोदन किया। वरदान पाने के बाद शिलाद मुनि का नन्दी नामक सर्वज्ञ पुत्र हुआ। वह जब बालक ही था, अपने पिता से अपनी भावी मृत्यु को सुनकर तभी से उसने तपस्या द्वारा भगवान शंकर की आराधना करना प्रारम्भ कर दिया। तदनन्तर सोलहवें वर्ष में तालाब के किनारे शिवलिंग का पूजन करते समय मृत्यु ने पाशों से उसे बाँधा, वहीं पर आविर्भूत हुए भगवान शिव ने मृत्यु को लात मार कर तथा मृत्यु के फन्दे को काटकर उसे जरा-मृत्युरहित अपना अनुचर बना लिया।

(🔥) यद्यपि महाभारत में यह कथा यों प्रसिद्ध है - मरुत्त के यज्ञ में विघ्न डालने की इच्छा कर रहे देवताओं की सेना के साथ संवर्त ने अपने संकल्पमात्र से वशीभूत कर देवताओं के साथ यज्ञ का परिचारक बना डाला, तथापि दूसरे पुराणों में उनकी देवता और असुरों की दूसरी सृष्टि भी सुनी जाती ही है, दूसरे कल्प की कथा होने से महाभारत से इसका विरोध नहीं है।

प्रकार के भाग्यहीन उपमन्यु ने भी तपस्या से प्रसन्न हुए भगवान शंकर के प्रसाद से क्षीरसागर प्राप्त किया (इसकी कथा महाभारत में प्रसिद्ध है) ॥६॥ तीनों लोकों में महाबली रूप से विख्यात विष्णु, ब्रह्मा आदि देवाधिदेवों को भी तृण की नाईं निगल रहे काल को अत्यन्त दृढ़ भक्ति से श्वेत ऋषि ने अपने वश में कर लिया। (यह भी लिंग पुराण में प्रसिद्ध है) ॥७॥ राजकुमारी सावित्री ने पति के प्राणों का अनुगमन तथा स्तुति आदिरूप से प्रसन्नता के उपाय से यम को अपने वश में कर 'सत्यवान के प्राणों को छोड़कर और कोई वर माँगो' इस प्रकार के यम के वाक्य का सत्यवान से मेरे सौ लड़के हो, इस वर प्रार्थना रूप अपने वचन से सामंजस्य स्थापित कर अपने पति सत्यवान को परलोक से लौटा लिया ॥८॥ इस लोक में ऐसा कोई शास्त्रीय सुउद्योग का उत्कर्ष नहीं है, जिसका स्फुट फल हो।

शंका : विविध उद्योग आपने दिखलाये हैं, उसमें से मुझे किसमें अधिक प्रयत्नवान होना चहिए।

समाधान : अधिकारी आपको मूढ़ की नाईं क्षुद्र फलों की प्रार्थना से व्यर्थ नहीं होना चाहिए, किन्तु मन में फल के तारतम्य का विचारकर सबसे उत्कृष्ट फल की प्राप्ति से सर्वोत्कृष्ट शुभ प्रयत्न से सुशोभित होना चाहिये ॥९॥ आत्मज्ञान सम्पूर्ण सुख–दुःख, जन्ममरण आदि अवस्थाओं की भ्रमदृष्टियों का मूलोच्छेद करनेवाला है, इसलिए आत्मज्ञान में ही आपको शुभोद्योग का अभ्यास करना चाहिये ॥१०॥

पहले भोग, राग आदि की द्रष्टियों के विनाश के लिए तत् तत् विषयों में तो, दृष्टियों का अन्वेषण करना चाहिये। ऐसा कहते हैं।

क्षुधा, प्यास आदि आपत्ति से युक्त पुरुषों का विषय प्रदान द्वारा अनुग्रह करनेवाली भोगदृष्टि के नाश के लिए पहले उसकी विरोधिनी विषयदोष दृष्टियों का अवश्य अन्वेषण करना चाहिये।

शंका : भोगदृष्टि की विरोधिनी विषयदोषदृष्टियों का अन्वेषण करने पर विषय त्याग होने से तुरन्त दुःख होगा ?

समाधान : वैराग्य, अभ्यास आदि दुःख के बिना भूमानन्दरूप चैतन्य क्या कहीं पाया जा सकता है ? अर्थात् भूमानन्दस्वरूप चित् की प्राप्ति के लिए विषयत्यागरूप दुःख उठाना ही पड़ेगा ॥११॥

यदि कोई कहे, सम्पूर्ण विषय के दुःखपूर्वक त्याग का भी अंगीकार करके वैराग्य से राग आदि दोष का शमन अवश्य सम्पादनीय होता, यदि प्राप्त होनेवाला ब्रह्म शम के साथ ही पुरुषार्थ होता। ऐसा तो है नहीं, क्योंकि शम भी सात्त्विक चित्वृत्ति का भेद ही है, अतः अद्वितीय ब्रह्म में उसका संभव नहीं हो सकता। एकमात्र सुखरूप ब्रह्म से अतिरिक्त सब कुछ दृश्य ही है, इसलिए शम परम पुरुषार्थ के अन्तर्गत भी नहीं आ सकता। इस शंका को आधा स्वीकार करके परिहार करते हुए शम की आवश्यकता दिखलाते हैं।

ठीक है, यद्यपि शमरहित चिदात्मा ही परम ब्रह्म है, तथापि शम भी कारणसहित संसार की निवृत्तिरूप परम पुरुषार्थ है ही। यद्यपि इस प्रकार दोनों तुल्य हैं, यह प्राप्त हुआ, तथापि इस प्रशम को भूमानन्द ब्रह्मसुख देनेवाला जानिये। जिसमें सुख की अभिव्यक्ति नहीं होती, वह पुरुषार्थ नहीं हो सकता, इसलिए इसमें पुरुषार्थ की उपयोगिता अधिक है ॥१२॥

अब शम का उपाय कहते हैं।

अभिमान का त्याग कर, स्थिर शम का अवलम्बन कर और बुद्धि से मोक्ष के योग्य उत्तमकुल में जन्म आदिरूप अपनी श्रेष्ठता का विचार कर सज्जनों की सेवा करे ॥१३॥

चित्तशुद्धि के लिए किये गये तप आदि भी संत-साधुओं की सेवा द्वारा ही ज्ञानोपयोगी होते हैं, स्वतन्त्ररूप से ज्ञानोपयोगी नहीं होते हैं, इस आशय से कहते हैं।

संसाररूप सागर को पार करने के लिए सज्जन की सेवा के बिना न तो तप ज्ञानप्राप्ति के लिए समर्थ होते हैं, न तीर्थसेवन ज्ञानजनक होते हैं और न शास्त्राभ्यास ही ज्ञान उत्पन्न करा सकते हैं ॥१४॥

सज्जन का लक्षण कहते हैं।

जिसके सेवन से प्रतिदिन लोभ, मोह और क्रोध क्षीण होते हैं और जो अपने कर्मों में शास्त्रानुसार आचरण करता है, वह सज्जन है ॥१५॥

सदा सज्जन की सेवा में तत्पर पुरुष की कभी आत्मज्ञानी के साथ भी अवश्य संगति हो जाती है, जिससे ज्ञानप्राप्ति होती है, ऐसा कहते हैं।

सज्जनों की संगति से सज्जनसेवी पुरुष का आत्मज्ञानी के साथ संग होता है, जिससे इस दृश्य का अत्यन्तअभाव ही उसे दिखाई देता है ॥१६॥

उससे इसकी पुरुषार्थसिद्धि भी होती है, ऐसा कहते हैं।

दृश्य के अत्यन्त अभाव से तो एकमात्र परब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है, अन्य वस्तुओं का अभाव होने से उसीमें जीव शीघ्र लीन हो जाता है ॥१७॥

परब्रह्म ही केवल अवशिष्ट रहता है, ऐसा जो पहले कहा, उसका दृश्य के अत्यन्त अभाव की उपपत्ति द्वारा समर्थन करते हैं।

न तो यह दृश्य उत्पन्न हुआ है, न पहले था ही और न आगे होगा ही, अतएव वर्तमान में भी यह नहीं है, एकमात्र अखण्ड ब्रह्म ही है ॥१८॥

जैसे इस जगत के उत्पत्ति आदि नहीं हो सकते वैसे उत्पत्ति प्रकरण में भी अनेक युक्तियों द्वारा उपपादन किया जा चुका है और आगे भी उपपादन किया जायेगा ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार हजारों युक्तियों से जगत के जन्म आदि का अभाव पहले दिखाया जा चुका है, और दिखा भी रहे है। जैसे सब विद्वानों ने उसका अनुभव किया है वैसे मैं इस त्रिजगत संविद्रूपी चिदाकाश को इस समय आपके लिए दिखाऊँगा। यह त्रिजगत शान्त, निर्मल चिदाकाश ही है, यह चित्त परमार्थस्वरूप है, इसमें मायिक आकाश आदि का सम्भव कहाँ से और कैसे हो सकता है ? प्रश्न उठता है आकाश आदि की उत्पत्ति सत् से है अथवा असत् से हैं ? माया से है ? आदि के दो तो अविकारी हैं, इसलिए उनसे जगत की उत्पत्ति का सम्भव नहीं है, यदि माया से जगत की उत्पत्ति मानी जाय, तो भी मिथ्या ही होगी। इसलिए परिशेष से जगत का अनुत्पत्ति पक्ष ही स्थिर रहता है। छिद्ररहित कूटस्थ नित्यचिदात्मा में छिद्रस्वरूप आकाश का हजारों घनों से भी उत्पादन नहीं हो सकता, भाव यह है ॥१९,२०॥

यदि यह जगत उत्पन्न नहीं हुआ तो जगत नाम से सबको इसका बोध कैसे होता है ? इस पर कहते हैं।

निश्चल आत्मा में कल्पित चंचलता से चंचल, माया में प्रतिबिम्बित तन्मय जगत की जो सुन्दर कल्पना करता है, उसीको वही जगतरूप से जानता है ॥२१॥

यदि कोई शंका करे कि जगत्बोधरूपी चैतन्य सविकल्प है और ब्रह्मचैतन्य निर्विकल्प है, इस

तरह जगद्रूपी भेद को छिपाने के लिए तत्पर हुए आपका चैतन्य में भी भेद प्राप्त हो गया। इस पर कहते हैं।

तीनों लोकों में जितना द्वैत अनुभव है, वह सब ब्रह्मचैतन्य रूप सूर्य के किरण समूह की तरह है, अतएव वस्तुतः उससे भिन्न नहीं है। किरण समूह और किरणवान का भेद कैसे हो सकता है ? विकल्पों के मिथ्या होने पर त्रैलोक्य में जो द्वैत का अनुभव है, उसे भी निर्विकल्पक ही कहिये ॥२२॥ इस निर्विकल्पक चिद्वृत्ति का यानी चरम साक्षात्कार का जो उन्मेष है, वही जगत के अनुभव का अस्तमय है और जो इस चरम साक्षात्कार का जो निमेष अनादि भाव है, वही जगत अनुभव का उदय है ॥२३॥

इसलिए निमेष ही प्रत्यगात्मा का अविद्यारूपी मल है और उन्मेष निर्मलतारूपी मोक्ष है, इस आशय से कहते हैं।

अपरिज्ञात अहंकार चिदाकाश में अविद्यारूपी मल है। परिज्ञात अहमर्थ तो चिदाकाश हो जाता है ॥२४॥

यदि कोई शंका करे कि अहमर्थ अहंकार है, वह परिज्ञात होकर भी कैसे चिदाकाश होगा ? तो इस पर कहते हैं।

जब तक अहंकार का यथार्थरूप परिज्ञान नहीं होता, तभी तक वह अहंकार है। यथार्थभावरूप से उसके परिज्ञात होने पर तो वह निश्चय अहंकार नहीं रहता। जैसे जल के साथ जल एकता को प्राप्त हो जाता है वैसे ही वह चिदाकाशरूपी आत्मा के साथ एकता को प्राप्त हो जाता है ॥२५॥

दृश्य अहमादि जगत वस्तुतः है ही नहीं यानी बाधित है।

शंका : परिज्ञात होने पर अहमादि जगत का बाध हो जाता है, तो क्या रहता है ?

समाधान : यह अहं पदार्थ क्या है ? यों प्रमाणपूर्वक विचार करने से उत्पन्न हुए ज्ञान से वह चिदाकाश अवश्य ही परिशिष्ट रहता है, उसका बाध नहीं होता ॥२६॥

निर्मल बुद्धिवाले पुरुषों की अपिशाच में पिशाच बुद्धि बाधित हो जाती है। किन्तु जिनकी बुद्धि थोड़ी बहुत मार्ग में आई हो, ऐसे बालकों को तो हजारों बार यह पिशाच नहीं है, यह उपदेश देने पर भी संशय होता ही है। यह पिशाच नहीं है, ऐसा बोध नहीं होता ॥२७॥

जैसे बालकों का मोह ज्ञान का बाधक होता है वैसे ही प्रौढ़ पुरुषों का अभिमान भी ज्ञान निवर्तक है, इस आशय से कहते हैं।

जब तक अन्तःकरण में चैतन्यरूपी चाँदनी अहंकाररूपी मेघ से आवृत रहती है तब तक वह परमार्थरूपी कुमुदिनी को विकसित नहीं करती ॥२८॥

अहं इस अभिमान का विनाश होने पर भय, राग और मुमुक्षु से होनेवाले द्वेष और राग के विषयभूत नरक, स्वर्ग और मोक्ष की तृष्णा भी हट जाती है, ऐसा कहते हैं।

अहं पद तथा अहं पद के अर्थ के परिमार्जित होने पर अहंकार के बिना नरक, स्वर्ग और मोक्ष की तृष्णा की कल्पना ही कैसे हो सकती है ? ॥२९॥ जब तक हृदय में अन्धकाररूपी घनघटा आटोप के साथ बिराजमान रहती है तभी तक तृष्णारूपी कुटज की मंजरी विकास को प्राप्त होती है ॥३०॥ ज्ञान का आवरण कर अहंकाररूपी मेघ के सदा स्थित रहने पर अज्ञान की ही जड़ जमती है, ज्ञानालोक

कदापि स्थिरता को प्राप्त नहीं होता, बालक के भ्रम से कल्पित यक्ष के समान स्वयं भ्रान्ति से कल्पित अतएव असत् यह अहंकार दुःख के लिए ही है, इससे आनन्द कुछ भी प्राप्त नहीं होता ॥३१,३२॥ जैसे व्यर्थ कल्पित अहंभाव ने दाम, व्याल और कट में असंख्य जन्म-मरण देनेवाला मोह उत्पन्न किया था वैसे ही व्यर्थ ही कल्पित हुआ अहंकार अभिमान से दूषित अन्तःकरण अनन्त जन्म-मरण देनेवाले मोह को उत्पन्न करता है ॥३३॥

यह देह मैं हूँ, इस प्रकार का भ्रम सम्पूर्ण अनर्थों की जड़ है ऐसा कहते हैं।

यह देह मैं हूँ, इस प्रकार के प्रबल अज्ञान से बढ़कर अनर्थकारी दूसरा अज्ञान न इस संसार में हुआ और न होगा ॥३४॥ इस संसार में जो कुछ भी सुख-दुःखरूपी विकार प्राप्त होता है, वह अहंकाररूपी चक्र का मुख्य विकार है ॥३५॥ जिस पुरुष ने अहंकाररूपी दुष्ट वृक्ष के अंकुर को विचार से संस्कृत मनरूपी हल से जोतकर उखाड़कर फेंक दिया, उसके आत्मारूपी खेत में संसार का विनाश करनेवाला सैकड़ों शाखाओं से युक्त अतएव दुरुच्छेद्य ज्ञानरूपी सस्य (वृक्षों का फल) वृद्धि को प्राप्त होकर फलता है ॥३६॥ अहंकार ज्ञानरूपी कुठार के बिना कभी नष्ट न होनेवाले जन्मरूपी वृक्षों का अंकुर है और 'यह मेरा है', यह उनकी हजारों बड़ी-बड़ी शाखाएँ है ॥३७॥ वासना आदि पदार्थ बड़े ध्यान से सुनने योग्य शब्दवाले सेमल के पके हुए फलों के तुल्य कौओं के थोड़े उड़ने से भी नष्ट होनेवाले और तरंगों की सुन्दर पंक्तियों के तुल्य क्षणभंगुर हैं ॥३८॥ वस्तुतः आत्मा अहंभाव से वर्जित ही है, पर आत्मा का तिरोभाव करनेवाली अहंभावना से वह स्वयं ही संसाररूपी चक्र में भ्रमण को प्राप्त हुआ-सा प्रतीत होता है। जब तक जन्मरूपी अरण्य में अहंकारूपी अन्धकार अपना सिक्का जमाये रहता है तब तक चिन्तारूपी मत्त पिशाचिकाएँ इधर उधर दौड़ती रहती हैं ॥३९,४०॥ जिस अधम पुरुष को अहंकाररूपी पिशाच ने चंगुल में फँसा लिया, उसके अंहाकाररूप पिशाच को निवृत्त करने के लिए न शास्त्रों में सामर्थ्य है और न मन्त्रों में ही ॥४१॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, किस उपाय से अहंकार नहीं बढ़ता ? हे ब्रह्मन् संसाररूपी भय की निवृत्ति के लिए आप वह उपाय मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥४२॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त आत्मस्वभाव के सदा स्मरण से आत्मा को चिन्मात्र दर्पण की तरह निर्मल रखने पर अहंकार नहीं बढ़ता ॥४३॥ यह जगत रूपी इन्द्रजाल मिथ्या है मुझे इसमें स्नेह और वैराग्य से क्या प्रयोजन है, ऐसा मन में ध्यान करने से अहंकार उत्पन्न नहीं होता ॥४४॥ जिन पुरुष की आत्मा में अहंकार नहीं है और दृश्य शोभाएँ भी नहीं है ऐसी स्थिति से स्वयं ही निवृत्त हुए व्यवहार से अहंकार नहीं बढ़ता ॥४५॥ अन्दर 'अहं' बाहर जगत यों हेय-उपादेय की निमित्तभूत दृष्टियों का क्षय होने पर अविषमतारूप प्रसन्नता के प्राप्त होने पर अहंभाव नहीं बढ़ता ॥४६॥ मैं यानी द्रष्टा, चित् यानी दर्शन और जगत यानी दृश्य इस त्रिपुटी ज्ञान के, उसमें भी यह शत्रुभूत है यह मित्रभूत है इस सृष्टि के, क्षीण होने पर सर्वात्मकतारूप समता के सिद्ध होने पर अहंभाव नहीं बढ़ता ॥४७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे प्रभो, इस अहंकार का क्या आकार है और कैसे देहमात्र में अहंभावरूप तथा देह से अतिरिक्त बुद्धिमात्रोपाधिक अहंकाररूप इसका त्याग होता है एवं इसका त्याग होने पर क्या फल होता है ॥४८॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इस त्रिलोकी में तीन प्रकार के

अहंकार हैं, उनमें शास्त्रीय दो अहंकार यानी सूक्ष्मात्मविषयक और सर्वात्मविषयक अहंकार श्रेष्ठ हैं और तीसरा अशास्त्रीय अहंकार त्याज्य है, आप सुनिये, मैं उन्हें आपसे कहता हूँ ॥४९॥ 'मैं यह सब विश्व हूँ', इस प्रकार कार्यब्रह्मविषयक तथा 'मैं कभी च्युत न होनेवाला परमात्मा हूँ', इस प्रकार कारणब्रह्मविषयक अथवा तत्पद के वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ विषयक अहं से अतिरिक्त जगत में कुछ नहीं है, इस प्रकार का जो अहंकार है, उसे आप परम अहंकार जानिये। ये अहंकार जीवन्मुक्तपुरुष की मोक्षप्राप्ति के लिए हैं, बन्धन के लिए नहीं है। बाल के अग्रभाग का सौवाँ हिस्सा बनाया गया यानी शोधन द्वारा निरवयव किया गया मैं सबसे अतिरिक्त हूँ, इस प्रकार की जो बुद्धि है, वह दूसरा शुभ अहंकार है। वह भी छठी भूमिका में स्थित पुरुष के मोक्ष के लिए ही है, बन्धन के लिए नहीं है ॥५०–५२॥ जो लोग सप्तम भूमिका में स्थित हैं, उनमें अहंकार के बिना जीवन की अनुपपत्ति होने से अहंकार की केवल कल्पना होती है, वस्तुतः वह नहीं है, क्योंकि कल्पना करनेवाले और जाननेवाले जीवन्मुक्त पुरुषों द्वारा उसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता, इसलिए सर्वथा असत्य होने से अहंकार इस नाममात्र के शेष रहने से वह अहंकाराभिधान मात्र है।

तीसरे अहंकार को दर्शाते हैं।

यह हाथ–चरणादिरूप देह ही मैं हूँ, इस प्रकार का मिथ्याभिमान तीसरा अहंकार है, वह लौकिक एवं तुच्छ ही है। यह दुष्ट अहंकार अवश्य त्याग के योग्य है, क्योंकि वह पहले सिरे का शत्रु ही कहा गया है ॥५३,५४॥ विविध प्रकार की मानसिक दुश्चिन्ता आदि दुःख देनेवाले इस बलवान शत्रु से आहत हुआ जीव अपरिच्छिन्न स्वभाव से फिर आविर्भूत नहीं होता ॥५५॥ स्वभाव से ही चिरकाल से पीछे पड़ी हुई इस दुष्ट अहंकृति से दुर्वासनाओं द्वारा दुष्कर्मों में प्रवृत्त करने से पीड़ित हुआ पुरुष संकटों में ही मग्न रहता है ॥५६॥

किससे फिर जन्तु मुक्त होता है ? इस पर कहते हैं।

अवशिष्ट पूर्वोक्त शुद्ध अहंकारों से युक्त होकर जो पुरुष ममता से उत्पन्न हुए राग आदि दोषों को नष्ट करता हुआ इस सर्वात्मभावरूप अहंकार उसमें भी लोकप्रसिद्ध देहात्मभावरूप अहंकार की तरह दृढ़ होकर हिरण्यगर्भ या ईश्वर मैं हूँ, इस भावना से युक्त होता है, वह देहाहंभाव से मुक्त हो जाता है ॥५७॥

यही प्रणाली अन्य ब्रह्मनिष्ठ पुरुषों के भी अभिमत है, ऐसा कहते हैं।

देहात्मभावरूप अहंकार की तरह बद्धमूल हुए पूर्वोक्त दो अहंकारों को पहले स्वीकार कर 'मैं देह नहीं हूँ' यों विचार से भी निश्चय कर देह में आत्मभावरूप अहंकार का त्याग करना चाहिये, ऐसा प्राचीन महापुरुषों का मत है ॥५८॥

उक्त सिद्धान्त का ही फिर अनुवाद कर उपसंहार करते हैं।

देहात्मभावरूप अहंकार की तरह बद्धमूल हुए आदि दो अहंकारों का पहले अंगीकार कर तीसरी लौकिक अहंकृति का, जो अत्यन्त दुःखदायिनी है, त्याग कर देना चाहिये ॥५९॥

उसमें पूर्वोक्त उपाख्यान का भी दृष्टान्तरूप से उल्लेख करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस दुरहंकार से ही दाम, व्याल और कट उस दशा को प्राप्त हुए, जिसे कथा में भी सुनकर दुःख होता है ॥६०॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, इस तीसरे लौकिक अहंकार को

चित्त से हटाकर किस प्रकार की स्थितिवाला पुरुष अपने हित परम तत्त्व को प्राप्त होता है ? ॥६१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, यह तीसरा अहंकार त्यागने योग्य है, दुःख देनेवाले इस लौकिक अहंकार का त्याग कर सर्वाहंभाव से या शुद्धाहंभाव से श्रवण, गुरुसेवा आदि में तत्परता से ये सात भूमिकाओं में जिस जिस प्रकार से पुरुष स्थित रह सकता है वैसे वैसे स्वरूपसुख की अभिव्यक्ति के उत्कर्ष प्राप्ति से परम तत्त्व को प्राप्त होता है ॥६२॥

इसी बात को विशद करते हैं।

हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त प्रथम इन दो अहंकार दृष्टियों की भावना करता हुआ पुरुष यदि स्थित रहे, तो परमपुरुषार्थ प्राप्त हो जाता है ॥६३॥ तदनन्तर उन दो अहंकारों का भी त्याग करके सब अहंकारों से रहित होकर यदि स्थित रहे, तो वह अति उन्नत पद में आरूढ़ होता है ॥६४॥

पथ्य वचन सैकड़ों बार कहना चाहिए, इस न्याय से फिर देहात्मभावना के त्याग के गुणों को कहते हुए लौकिक अहंकार के त्याग की आवश्यकता दर्शाते हैं।

इस बुद्धि से तथा सदा सब प्रयत्नों से लौकिक दुष्ट अहंकार का परमानन्द के बोध के लिए त्याग करना चाहिये। शरीर में आसक्तिरूप जो दुष्ट अहंकार है, उसका त्याग अत्यन्त श्रेष्ठ कल्याण है और यही परमपद है ॥६५,६६॥ विचार से इस स्थूल लौकिक अहंकार का त्याग करके पुरुष चाहे चुपचाप बैठा रहे या लौकिक व्यवहार करे, फिर भी उसका अधःपतन नहीं होता ॥६७॥ हे महामति श्रीरामचन्द्रजी, जिस पुरुष का अहंकार नष्ट हो गया, उसको भोगरूपी रोग इस प्रकार स्वाद नहीं देते, जैसे खूब तृप्त पुरुष को विषमिश्रित षड्रस स्वाद नहीं देते ॥६८॥ भोगों के स्वाद न देने पर परम कल्याण पुरुष के सामने स्थित-सा हो जाता है, क्योंकि उसके प्रतिबन्धक की निवृत्ति हो जाती है। अन्धकार के तुल्य अग्रहण और अन्यथा ग्रहण में निमित्तभूत मन के अहंकार के नष्ट होने पर और क्या प्रतिबन्धक शेष रह जाता है, जिससे परमपद की प्राप्ति में विघ्न हो ? ॥६९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, अहंकार के स्मरण के त्याग से, धैर्य से और श्रवण आदि प्रयत्न से संसाररूपी सागर पार किया जाता है ॥७०॥ महात्मा पुरुष पहले सब मैं ही हूँ, ये सभी मेरे हैं, ऐसा समझ कर तदनन्तर देहादि मैं नहीं हूँ, देह के सम्बन्धी कुछ भी मेरे नहीं है, ऐसा विचार कर उससे सब प्रतिबन्धकों का नाश होने से प्रतिष्ठा को प्राप्त हुए, परम श्लाघनीय, पहले विस्तारपूर्वक कहे गये आत्मज्ञान को मन में प्राप्त होकर, क्रम से सात भूमिकाओं में स्थित होकर, अपरिच्छिन्न आत्मा स्वयं होकर विदेह कैवल्यरूप परमपद को प्राप्त होता है ॥७१॥

तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

चौंतीसवाँ सर्ग

भीम, भास और दृढ़ द्वारा छिन्न-भिन्न हुए देवताओं से प्रार्थित
भगवान हरि का शम्बर को मारना और वासनारहित उनका मुक्त होना।

ज्ञान और विवेक के अभाव में विद्यमान निर्वासनिकता भी दुरभ्यास से नष्ट हो जाती है। ज्ञान और विवेक की दृढ़ता में तो 'तस्य ह न देवाश्च नाऽभूत्या ईशते आत्मा ह्येषां स भवति' (देवता उसके अकल्याण के लिए समर्थ नहीं होते, वह उनका आत्मा हो जाता है) इस श्रुति में कही गई रीति से देवता

भी बन्धन में नहीं डाल सकते, इस विषय में भीम, भास और दृढ़ का न्याय दृष्टान्त रूप से दर्शाते हैं।

दाम आदि दानवों के चले जाने पर सम्पत्ति से मेरुपर्वत के तुल्य शम्बर के नगर में जो कुछ वृत्तान्त हुआ, उस विषय में मैं आपसे कहूँगा, आप सुनिये ॥१॥ पूर्वोक्त रीति से शम्बर की सारी सेना कि जिसकी स्थिति बिगड़ चुकी थी, आकाश से गिर कर शरत्काल के मेघों की घटा के समान नष्ट होने पर, देवताओं से जिसकी सेना जीती गई थी, ऐसा वह दानव कुछ वर्ष बिताकर फिर देवताओं के वध के लिए उद्यमशील हो विचार करने लगा। मैंने माया द्वारा जिन दाम आदि असुरों का निर्माण किया था, उन्होंने मूर्खतावश युद्ध में व्यर्थ ही दुष्ट अहंकार की भावना की ॥२-४॥ अब मैं माया से रचे हुए अन्य दानवों की सृष्टि करता हूँ और उन्हें अध्यात्मशास्त्र के ज्ञाता और विवेकशील बनाता हूँ। तत्त्वज्ञानी होने के कारण मिथ्याभावना से रहित वे अहंकार को प्राप्त नहीं होगें और उन देवताओं पर विजय प्राप्त करेंगे ॥५,६॥ दैत्यराज शम्बर ने बुद्धि से ऐसा विचार कर जैसे सागर बुद्बुदों को उत्पन्न करता है वैसे ही उस प्रकार के दानवों को माया से उत्पन्न किया, वे सर्वज्ञ थे, वेद्य आत्मतत्त्व उन्होंने जान लिया था, वे विरक्त और निष्पाप थे, जो कुछ प्रभु की आज्ञा होती थी एकमात्र उसीको करते थे, सदा आत्मनिष्ठ रहते थे, इस प्रकार के उत्तम वे दानव भीम, भास और दृढ़ इन नामों से युक्त थे। निर्मल आशयवाले वे तीनों जगत को तृण के तुल्य देखते थे ॥७-९॥ गरज रहे और अस्त्र रूपी बिजली से युक्त उन दैत्यों ने ऊपर के लोकों में आकर वर्षा ऋतु के मेघों की तरह आकाश को ढक दिया ॥१०॥ बहुत वर्षों तक देवताओं के साथ उन्होंने युद्ध किया फिर भी विवेकवश वे कभी अहंकार को प्राप्त नहीं हुए ॥११॥ उनके हृदय में यह मेरे है, ऐसी वासना जब भी उदित होती थी, तभी यह मैं कौन हूँ, इस प्रकार के विचार से वह असत्यता को प्राप्त हो जाती थी ॥१२॥

जिनसे डरना चाहिये और जिसके लिए डरना चाहिये, वे दोनों ही मिथ्या है, इस प्रकार से उनमें भय का उदय नहीं हुआ, ऐसा कहते हैं।

शरीर और देवता दोनों ही असत् हैं और मैं कौन हूँ, इस विचार से उनमें भय आदि की उत्पत्ति नहीं हुई ॥१३॥ असत् यह शरीर है ही नहीं, आत्मा में शुद्ध चित् स्थिर है, अहं नाम का कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, ऐसा निश्चय करके ही असुर लोग युद्धार्थ गये ॥१४॥ तदनन्तर अहंकाररहित, जरा-मरण से निर्भय, जो वस्तु प्राप्त हो उसे करनेवाले, वर्तमान का अनुसरण करनेवाले, धैर्यशाली, नित्य आसक्तिरहित बुद्धिवाले, दूसरों को मारकर भी हन्तृत्व का अभिमान न करने से हन्तृत्व से निर्मुक्त, अज्ञानी अपने प्रभु शम्बर की दृष्टि से यह कार्य करना चाहिये, यों युद्ध में सन्नद्ध हुए, राग-द्वेषशून्य, सदा सर्वत्र समदृष्टि, भीम, भास और दृढ़ आदि दानवों द्वारा जैसे भोक्ता पुरुषों से अपनी-अपनी खाद्य वस्तुओं की शोभा नष्ट होती है, उपभुक्त होती है, वैसे ही उसके द्वारा देवताओं की सेना नष्ट हुई, उपभुक्त हुई, हरी गई और जलाई गई ॥१५-१८॥ भीम, भास और दृढ़ से नष्ट की गई देवताओं की सेना हिमालय से गिरी हुई गंगा की तरह बड़े वेग से भागी। भागी हुई वह देवताओं की सेना जैसे वायु से छिन्न-भिन्न की गई मेघ पंक्ति पर्वत की शरण में जाती है वैसे ही क्षीरसागरशायी भगवान विष्णु की शरण में गई ॥१९,२०॥ जैसे व्यभिचारी पुरुषों के उपभोग से आक्रान्त अतएव भयभीत अकेली नायिका को नायक आश्वासन देता है वैसे ही भयभीत हुई उस देवसेना को भगवान श्रीहरि ने आश्वासन

दिया ॥२१॥ तदनन्तर वह देवसेना तब तक श्वेतद्वीप में रही। जब तक कि भगवान ने शम्बर के विनाश के लिए प्रयत्न किया ॥२२॥ तदनन्तर भगवान विष्णु और शम्बर का बड़ा दारूण युद्ध हुआ, जिसमें प्रलय की तरह अकाल में ही बड़े-बड़े कुलाचल (पर्वत) उड़े थे ॥२३॥ उस युद्ध में शम्बरासुर अपनी सेना, सवारी आदि के साथ शान्त (कालकवल) हो गया। नारायण के हाथ से मरा हुआ वह वैकुण्ठ को चला गया ॥२४॥ उस विषम संग्राम में वे भीम, भास और दृढ़ तो जैसे वायु से दीपक शान्त हो जाते हैं वैसे ही भगवान विष्णु द्वारा ही शान्त (विदेहमुक्त) किये गये ॥२५॥

यदि कोई कहे कि शम्बर की तरह भीम आदि का भी वैकुण्ठ आदि लोकान्तर में गमन क्यों नहीं हुआ ? तो इस पर उसका निषेध करते हैं।

वासनारहित वे शान्ति को प्राप्त हुए तब बुझ रहे दीपकों की तरह उनकी गति किसी को मालूम नहीं हुई। वासना ही लोकान्तरगमन का कारण है, 'तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिंगं मनो यत्र निषक्तमस्य' (इसलिए वासनायुक्त पुरुष, जो कर्मफल की आसक्ति से किया, उस कर्म के साथ फल को प्राप्त होता है, जिसमें कि इसका लिंगरूप मन पहले आसक्त हुआ।) ऐसी श्रुति है। वे वासनारहित थे, अतएव उनकी गति किसी को ज्ञात नहीं हुई, यह अर्थ है ॥२६॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वासना से युक्त मन बन्धन को प्राप्त होता है और वासनारहित मन मुक्ति को प्राप्त होता है, इसलिए आप विवेकपूर्वक निर्वासनिकता का अवश्य सम्पादन कीजिये ॥२७॥

निर्वासनिकता की प्राप्ति में जो उपाय है, उसे बतलाते हैं।

जैसे यथाभूत वस्तुविषयक सम्यग् दर्शन से रत्नतत्त्व का साक्षात्कार होता है वैसे ही चिरकाल के विचार और समाधि से जनित सत्य आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से वासना नष्ट हो जाती है। वासना के विलीन होने पर चित्त दीपक की नाईं नष्ट हो जाता है ॥२८॥

अब सम्यग् दर्शन का प्रकार दर्शाते हैं।

अत्यन्त परिपूर्ण परमार्थ सत्य चिदात्मा जो इस दृश्य की भावना करता है, वह कुछ भी सत्य नहीं है। इसलिए उस दृश्य का दर्शन भी है ही नहीं। इसलिए परिशेष से यह स्वप्रकाश चिन्मात्रदर्शन ही सम्यग् दर्शन है ॥२९॥ यह सम्पूर्ण जगत आत्मा ही है, इसलिए कौन किस वस्तु की कहाँ पर भावना करे ? भावना भी है ही नहीं, इसलिए स्वप्रकाश चिन्मात्र का ही दर्शन सम्यग् दर्शन है ॥३०॥ वासना और चित्त नाम के अर्थ युक्त दो शब्द जहाँ परमार्थ सत्य के दर्शन से विलीन हो गये, वह परम पद है ॥३१॥ वासना से युक्त चित्त यहाँ पर चित्तरूप से स्थिति को प्राप्त हुआ है। वही वासना से मुक्त होकर जीवन्मुक्त कहा जाता है। विविध घट, पट के आकारों से चित्त स्थिति को (सत्ता को) प्राप्त हुआ है। बालक के उदित हुए यक्ष के समान उसीका शीघ्र विनाश कर देना चाहिये ॥३२,३३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी,

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम्। आत्मन्येव भवेद् यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ॥

अर्थात् जैसे देहात्मज्ञान अज्ञानियों में बद्धमूल होता है वैसे ही बद्धमूल ज्ञान, जो कि देहात्मज्ञान का बाधक है, जिसकी आत्मा में उत्पन्न हो जाता है, वह मुक्ति की इच्छा न रहने पर भी मुक्त हो जाता है। इस न्याय से जैसे दाम, व्याल और कट की देहात्मभावना से उनका चित्त वासना से वासित हुआ था

वैसे ही ब्रह्मात्मभावना से भीम, भास और दृढ़ का न्याय आपके हृदय में अचल हो ।।३४।। हे रघुवर, आपको दाम, व्याल और कट का न्याय प्राप्त न हो । हे श्रीरामचन्द्रजी, यह दाम आदि का वृत्तान्त मेरे पिता ब्रह्माजी ने पहले मुझसे कहा था । चूँकि आप मेरे प्रिय शिष्य तथा अत्यन्त बुद्धिमान है, अतः यह वृत्तान्त मैंने आपसे कहा है । इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, दाम, व्याल और कट की स्थिति आपकी न हो । हे अनघ, आपकी सदा भीम, भास और दृढ़ की स्थिति हो ।।३५,३६।। पूर्वोक्त प्रकार से भीम, भास और दृढ़ की तरह व्यवहार कर रहे आपको सम्पूर्ण व्यवहारों में निरन्तर अनासक्ति से ही तत्त्व बोध परिपाकरूप ऐश्वर्य की प्राप्ति होने पर अविरल सुख और दुःखों से व्याप्त, जन्म–मरण परम्पराओं में त्रिविध तापों के भोग के लिए आपकी यह भवपदवी मूलोच्छेदपूर्वक नष्ट हो रही है अन्यथा नहीं ।।३७।।

चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त

पैंतीसवाँ सर्ग

चित्त की शान्ति के उपाय का और भोगेच्छा के त्याग का वर्णन,
जो कि सत्संगति, विवेक और आत्मबोध से उत्पन्न समाधि से प्राप्त होता है ।

उसमें मन का निग्रह ही मुख्य उपाय है और सब उपाय मन के निग्रह के लिये हैं, इस आशय से पहले मनोनिग्रह की ही प्रशंसा करते हुए सर्ग का आरम्भ करते हैं ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, वे साधुजन महाबली हैं और सबके वन्दनीय है, जिन्होंने अविद्या के विपुल विलासों से विषयों की ओर अभिमुख हुआ अपना मन अपने वश में कर लिया । विविध उत्पात देनेवाले दुःखरूपी इस संसार की अपने मन का निग्रहरूप एक ही चिकित्सा है ।।१,२।।

मनोनिग्रह के उपायों में भोगेच्छा का त्याग ही मुख्य उपाय है, ऐसा कहते हैं ।

ज्ञानसर्वस्व का श्रवण कीजिये और श्रवण कर उसे हृदय में धारण कीजिये । भोग की इच्छा ही बन्धन है और भोग की इच्छा का त्याग मोक्ष कहा जाता है ।।३।।

विषयों में दोषदर्शन से घृणा भोगेच्छा की भी चिकित्सा है, ऐसा कहते हैं ।

अन्य शास्त्र निबन्धोंसे क्या करना है, एकमात्र यही कीजिये । इस लोक में जो–जो वस्तु स्वादु है, उन सबको विष अग्नि के समान देखिये ।।४।।

विचार के बिना सहसा विषयों का त्याग दुःखदायी होता है । विचार कर गुरु और शास्त्र की आज्ञा के अनुसार विषयों का त्याग आरंभ में कटु होने पर भी परिणाम में महासुखदायी होता है, ऐसा कहते हैं ।

विचार के बिना विषयों के त्याग दुःखदायी होते हैं, इसलिए पुनः–पुनः विचार कर सहन के अभ्यासक्रम से भोगवासनाओं का त्यागकर सेवन किये जा रहे विषय सुखदायक होते हैं ।।५।।

भोगवासनाओं के रहने पर क्या हानि होती है ? ऐसा यदि कोई प्रश्न करे, तो उस पर कहते हैं ।

जिस भूमि में काँटे के बीज बिखरे हैं, वह भूमि जैसे काँटों को उत्पन्न करती है वैसे ही वासनाओं से युक्त बुद्धि बड़े–बड़े राग आदि दोषों को उत्पन्न करती है ।।६।। इसलिए जिस मति में वासनाओं के समूह का सम्बन्ध नहीं है, अतएव जिसमें राग और द्वेष दृष्टि नहीं हैं, इसीलिए जो जंजाल से रहित है, वह धीरे–धीरे परम शम को प्राप्त होती है ।।७।। शुभ मति जिनसे दुःख नहीं होता ऐसे शम, दम आदि

सद्गुणों से युक्त ज्ञान, समाधि और विश्रान्तिरूप मोक्ष फल देनेवाले अंकुरों को समय पर ऐसे उत्पन्न करती है, जैसे धरती धान आदि फलों को देनेवाले अंकुरों को समय पर उत्पन्न करती है ॥८॥

अब क्रम से दया, दाक्षिण्य, क्षमा आदि शुभ भावों के अभ्यास से लेकर समाधिपर्यन्त मन की विश्रान्ति के साधनों को कहते हैं।

शुभ भावों के अनुसन्धान से मन के प्रसन्न होने पर, मिथ्या–ज्ञानरूप घन मेघ के धीरे–धीरे शान्त होने पर, सौजन्य के शुक्लपक्ष में चन्द्रमा के समान दिन–पर–दिन बढ़ने पर, आकाश में सूर्य के तेज के समान पुनीत विवेक के फैलने पर, अन्तःकरण में इंद्रिय निग्रह से उत्पन्न धैर्य से बाँस में मोतियों के समान बढ़ने पर, हृदय में आत्मसुख की प्राप्ति से मन के बसन्त ऋतु में चन्द्रमा के समान कृतकृत्य होने पर, शीतल छायावाले सत्संगरूप फलदार वृक्ष के फलने पर और आनन्द से सुन्दर रसवाले समाधिरूपी सरल वृक्ष के मधु टपकाने पर मन निर्द्वन्द, निष्काम और निरूपद्रव हो जाता है। उसके चपलतारूपी अनर्थ, शोक, मोह और भयरूपी रोग शान्त हो जाते हैं। शास्त्रार्थ विषयक संदेह कट जाते हैं। सब कौतुक (विचित्र वस्तुओं को देखने की उत्कण्ठा) नष्ट हो जाते हैं। सब कल्पनाएँ हट जाती हैं। मोह नष्ट हो जाता है। उसमें वासना का लेप नहीं रहता। वह आकांक्षारहित, निन्दारहित, प्रवृत्युन्मुख अवस्था से रहित, दुश्चिन्ताओं से शून्य, शोकरूपी नीहार से रहित, आसक्तिरहित और ग्रन्थियों से विहीन हो जाता है ॥९–१५॥

इस प्रकार का मन क्या करता है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं।

आत्मा कौन है, किस तरह का है, किन साधनों से प्राप्त हो सकता है, ज्ञान से अथवा कर्म से, ज्ञान किस प्रकार का है, उसके साधन कौन हैं ? इस प्रकार विविधवादियों से अन्यान्य प्रकार से निरूपण करने के कारण बहुत प्रकार के सन्देहरूपी अविनीत पुत्रवाला, शाखाओं के तुल्य विविध मनोरथों से युक्त तथा तृष्णारूपी स्त्रियों और स्थूल देह से युक्त मन अपने स्वरूप का विनाश करके अपने ईश्वररूप प्रत्यगात्मा से सम्बन्ध रखने वाले जीवन्मुक्तिरूप परमपुरुषार्थ को सिद्ध करता है ॥१६॥

मन इस प्रकार अपने स्वरूप का विनाश करता है ऐसा यदि कोई कहता हो तो इस पर कहते हैं।

पहले मन विकल्पों में अपने उत्पादन के समान अपने विनाश में भी अपनी सामर्थ्य का विचारकर अपनी पुष्टि के हेतु शत्रु, मित्र, साधु, असाधु आदि विकल्पों का त्याग करता है। तदनन्तर देहाकार अपने कल्पितरूप का तृण के समान त्याग करता है। भाव यह है कि जब तक देह में अहंभाव से वासना युक्त मन देहाकार होता है तभी तक देह के अनुकूल और प्रतिकूल विषयों में राग और द्वेष आदि से होनेवाले हजारों विकल्पों से वृद्धि को प्राप्त होता है। उसके क्षीण होने पर क्षीण हो जाता है ॥१७॥

यदि कोई शंका करे, अपना नाश तो अभ्युदय है नहीं, प्रत्युत वह अनर्थ ही है, उसमें मन की प्रवृत्ति कैसे होगी ? तो उस पर कहते हैं।

मन का अभ्युदय नाश है और मनका नाश महान अभ्युदय है। भाव यह है कि मन की स्वतन्त्रता से कोई अभ्युदय नहीं चाहता, किन्तु आत्मरूप से सब अभ्युदय चाहते हैं। आत्मभाव का मनोभाव अनर्थ रूप ही है, मनोभाव का नाश तो सम्पूर्ण अनर्थों की हानि रूप होने से और निरतिशय आनन्दस्वरूप का परिशेष होने से अभ्युदय ही है। प्रत्यगात्मा का स्वरूपलाभ से महान अभ्युदय होता है। यह निर्विवाद है।

शंका : तो देहाहंकारमात्र का त्याग करना चाहिये, ब्रह्मात्मताज्ञान से क्या प्रयोजन है ?

समाधान : जिसे ब्रह्मात्मैक्यज्ञान हो गया है, उसका मन नष्ट हो जाता है और अज्ञानी का मन अज्ञानरूप मल के नष्ट न होने पर वृद्धि को प्राप्त ही है यानी फिर फिर उगता ही है, इसलिए ब्रह्मात्मैक्यरूप ज्ञान की आवश्यकता है ॥१८॥

फिर–फिर उगे, इसमें क्या हानि है ? ऐसा यदि कोई कहे, तो उस पर कहते हैं ।

मनोमात्र ही जगतों का समूह है, मन ही पर्वतों का मण्डल है, मन ही आकाश है, मन ही देवता है, मन ही मित्र है और मन ही शत्रु है । भाव यह कि मन के पुनः–पुनः उगने पर उक्त जगत की प्राप्ति ही नहीं है ॥१९॥

इस मन का क्या स्वरूप है जिसका कि अवश्य उच्छेद करना चाहिये । इस प्रश्न पर कहते हैं ।

चित्तत्त्व की विविध विकल्पों से कलुषित हुई जो स्वरूप विस्मृति है, वही मन शब्द से कही जाती है । वही विविध जन्म को देनेवाली वासना है । भाव यह कि आत्मस्वरूप की विस्मृति से होनेवाली विविध विकल्प वासनाएँ ही मन का स्वरूप है ॥२०॥

इस प्रकार का मन हो, पर उसके द्वारा बन्धन में डाले जानेवाले जीव का स्वरूप क्या है ? ऐसा यदि कोई पूछे तो उस पर कहते हैं ।

मन में विषय का वासनारूप से जो प्रवेश है, उससे परिच्छिन्न चिन्मात्र में स्थित अतएव विकल्पों की थोड़ी वासना से कलुषित चित्तत्त्व ही (ब्रह्म ही) जीव कहा जाता है ॥२१॥ विषयों में वासनारूप से गिरा हुआ तथा चिरकाल के अभ्यास से विषयों में ही दृढ़ आत्मत्वाभिमान वाले स्वरूप विस्मरण को प्राप्त हुआ जीवस्वरूप ही हजारों विकल्पों से गाढ़ मोह में पड़ने के कारण सारभूत सुखस्वभाव के हट जाने से जब अधिक निःसार होता है तब जीवोपकरण मनरूप से कल्पित होता है ॥२२॥

इस प्रकार जीव और जीव की उपाधि दिखलाकर उनसे रहित शुद्ध आत्मस्वरूप को दर्शाते हैं ।

आत्मा न तो वस्तुतः जीव स्वभाव है, न शरीर है और न रुधिर है । शरीर आदि सब जड़ हैं; किन्तु देही आकाश के समान निर्लेप है ॥२३॥

शरीर में जड़ता आदि को ही स्पष्टरूप से विशद करते हैं ।

शरीर के टुकड़े–टुकड़े करने पर रुधिर आदि से अन्य कुछ भी नहीं है, जैसे कि केले के खम्भे को काटने पर पल्लवों से बनी हुई छाल के अतिरिक्त और कुछ चीज नहीं रहती ।।२४॥ मन ही जीव है, वही जब साकार हो जाता है, तब उसे नर जानिये । वह अपने विकल्पों से कल्पित अपने स्वरूप का अपने आप ग्रहण करता है ॥२५॥ जैसे रेशम का कीड़ा अपने बन्धन के लिए जाल की रचना करता है वैसे ही जीव मन में विकल्प वासनाओं को उत्पन्न करके अपने बन्धन के लिए दृढ़ जाल की रचना करता है ॥२६॥

जीव की देहात्मकता के अभाव में युक्ति कहते हैं ।

जीव इस वर्तमान देह भ्रम का त्याग करके पुनः दूसरे देश और दूसरे काल में अन्य देह भाव को धारण करता है, जैसे कि अंकुर पल्लवता को धारण करता है ॥२७॥

शरीर वासनामय है, इसमें युक्ति कहते हैं ।

यह मन जैसी भावनावाला होगा, वैसा ही शरीर उत्पन्न होगा । चित्त जैसा होकर सोता है, रात के

समय स्वप्न में वही बनकर रहता है ॥२८॥

विषयों के वासना स्थापन में दृष्टान्त कहते हैं।

इमली का बीज शहद के रस से यदि सींचा जाय, तो अंकुर आदि के क्रम से वृक्ष बनकर फलने के समय भी शहद से अनुरंजित होकर मधुर होता है, वही बीज विष के प्रतिनिधिभूत धत्तूर, कंच आदि के रस से सींचा जाय, तो फलने के समय में भी कडुवा पैदा होता है, ऐसा लोक में प्रसिद्ध है ॥२९॥ महती शुभवासना से चित्त महान होता है। मनुष्य 'मैं इन्द्र हूँ' इस प्रकार का मनोरथ होने पर इन्द्रतारूपी स्वप्न से युक्त होता है ॥३०॥ क्षुद्र वासना से चित्त तुच्छ क्षुद्रता को देखता है। पिशाच की भ्रान्ति से मनुष्य रात्रि में पिशाचों को देखता है ॥३१॥

निर्मलता का सम्पादन करने पर भी फिर व्युत्थान होने पर द्वैत के दर्शन से मलिनता की प्राप्ति होगी, ऐसी यदि कोई शंका करे, तो उस पर कहते हैं।

जैसे अत्यन्त निर्मल तालाब में मलिनता को स्थान नहीं मिलता, वैसे ही अत्यन्त मलिन तालाब में स्वच्छता को स्थान नहीं मिलता। इस श्लोक के उत्तरार्ध से थोड़े विवेक आदि से निर्मलता की स्थिति की प्राप्ति का वारण किया गया है ॥३२॥ मन यदि अत्यन्त कलुषित हो, तो फल भी वैसा ही उत्पन्न होता है, उसी प्रकार मन यदि अत्यन्त निर्मल हो, तो फल भी निर्मल ही होता है ॥३३॥

यदि कोई कहे कि दुर्भिक्ष आदि देशोपद्रव से समाधि का भंग हो जाने पर फिर मलिनता की प्राप्ति होगी ? तो इस आशंका पर कहते हैं।

जैसे विरत उद्योगशील चन्द्रमा पूर्ण होने की आशा को नहीं छोड़ता वैसे ही दरिद्रता आदि से पीड़ित उद्योगशील उत्तम पुरुष भी समाधि आदि चित्तप्रसन्नता की गति को कभी नहीं छोड़ता ॥३४॥

अथवा तत्त्वज्ञान से बाधित होने के कारण ही हजारों उपद्रवों के रहते भी कलुषिता की प्राप्ति नहीं होती, इस आशय से कहते हैं।

न तो यहाँ बन्धन है, न मोक्ष है, न बन्धन का अभाव है और न बन्धनवत्ता है। यह माया इन्द्रजाल की लता की तरह मिथ्या ही उत्पन्न हुई है ॥३५॥ गन्धर्वनगर के समान, मृगतृष्णा के तुल्य एवं द्विचन्द्रभ्रम के तुल्य यह माया उदित हुई है। यह सब द्वैत और एकत्वरहित ब्रह्मसत्ता ही है, इस प्रकार की जो प्रतीति है, वह परमार्थता है। मैं असन्मय अतएव निःसार हूँ, मैं अपरिच्छिन्न नहीं हूँ अतएव क्षुद्र हूँ, इस प्रकार के दूषित निश्चय से उत्पन्न हुआ यह संसार परिस्फुरित हो रहा है। मैं अपरिच्छिन्न हूँ, अतएव सर्वशक्तिशाली हूँ, इस निश्चय से वह विलीन हो जाता है ॥३६-३८॥ सर्वव्यापक, स्वच्छ, आत्मा में 'मैं यह देह मात्र हूँ' इस प्रकार की जो भावना है, यह लोक में अपने विकल्पों से कल्पित उसका बन्धन है ॥३९॥ बन्धन-मोक्ष अवस्थाओं से रहित, द्वित्व-एकत्व से शून्य यह सब ब्रह्मसत्ता ही है, इस प्रकार की जो प्रतीति है, वह परमार्थता है ॥४०॥ निर्मलता की अधिकता से जिसे स्वविनाशप्रायः प्राप्त हो गया है, अतएव अमनस्ता को प्राप्त, सम्पूर्ण द्वैतद्रष्टियों में आसक्तिरहित मन इस अधिकारी शरीर में ही ब्रह्म का दर्शन करता है, अन्यथा नहीं कर सकता है ॥४१॥ समाधि के अभ्यास से उत्पन्न धर्मवृद्धि रूप जल से निर्मलता को प्राप्त हुआ मन इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्मदर्शन का ग्रहण करता है, जिस प्रकार सफेद वस्त्र रंग का ग्रहण करता है ॥४२॥ हे निष्पाप श्रीरामचन्दजी, सब कुछ मेरी आत्मा है, इस प्रकार

की सर्वात्मभावना से हेयोपादेयरूपी बल के विनष्ट होने पर बन्ध की अपेक्षा रखनेवाले मोक्ष का भी आप त्याग कीजिये ॥४३॥ शुद्ध मन का उत्तम स्फटिक मणि के तुल्य अधिकारी–अनधिकारी शरीररूप का अभिमान होने से पहले शरीररूप से, तदनन्तर सत्शास्त्रों के श्रवण का अभिमान होने से शास्त्ररूप से तथा वैराग्यरूप से, तदनन्तर आत्मबोध होने से बोधरूप से जो विविध प्रकाश है, वही संसार है ॥४४॥

द्वैतदर्शन के समय ही बन्धनप्राप्ति को और आत्मदर्शन के क्षण में तुरन्त मोक्षप्राप्ति को हाथ में स्थित आँवले के समान पृथक् करके दिखलाते हैं।

बाह्य पदार्थों के साथ एकता को प्राप्त मन आत्मा के साथ एकता को प्राप्त नहीं होता। बाह्य पदार्थों में एकता को आप क्षण में विनष्ट होनेवाली असत्य ज्ञानदृष्टि समझिये ॥४५॥ बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों के साथ सब दृश्य दृष्टि का त्यागकर जब मन स्थित होता है तब परम पद को प्राप्त हो उसमें लीन होकर स्थित होता है ॥४६॥ जो यह स्फुट दृश्य दृष्टि है वह अवश्य असन्मयी है, मन के स्वरूप को भी आप उक्त असत् दृश्यमय ही जानिये। दृश्य से अतिरिक्त मन का कोई स्वरूप नहीं है ॥४७॥

दृश्य और दृष्टि असन्मय कैसे हैं ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

आदि और अन्त में असद् होने के कारण मध्य में भी वह असन्मय ही है। इस प्रकार मन असद् है, ऐसा जिसने नहीं जाना, उस पुरुष की दुःखिता हाथ में स्थित ही है, उसको खोजने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं है, यह भाव है ॥४८॥

यह जगत आत्मा ही है, इस प्रकार के बोध के बिना यह दृश्य शोभा दुःखदायिनी है। उक्त बोध होने पर तो यह भोग–मोक्ष देनेवाली है ॥४९॥

लोकव्यवहार के समान ही शास्त्र में भी ज्ञानिता और अज्ञानिता का बोध करना चाहिये। वे कोई अपूर्व नहीं हैं, ऐसा कहते हैं।

जल पृथक् है और तरंग पृथक् है, इस प्रकार के नानात्व से अज्ञानिता होती है। जल ही तरंग है, इस प्रकार के एकत्व से ज्ञानिता होती है ॥५०॥

नानात्व का क्यों परित्याग करना चाहिये और एकत्व का क्यों ग्रहण करना चाहिये ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

हेयोपादेयरूपी जो नानात्व है, वह असत् है, इसीलिए वह जन्म–मरण आदि दुःख की ओर ले जाता है; अतः वह हेय है। नानात्व के न रहने से आत्मतत्त्व का ज्ञान होने के कारण अपरिच्छिन्न आत्मतत्त्व ही अवशिष्ट रहता है, अतः एकत्व उपादेय है, यह अर्थ है ॥५१॥

यदि कोई कहे, अत्यन्त प्रिय, मन बुद्धि आदि द्वैत के सत्य होने से और आत्मा के उपकरण होने से उनका नाश होने पर धनादिनाश के समान शोक ही होगा ? तो इस पर कहते हैं।

मन का स्वरूप संकल्प से कल्पित है, इसलिए वह असन्मय है। हे श्रीरामचन्द्रजी, भला बतलाइये तो सही, असन्मयवस्तु का नाश होने पर क्या कभी किसी को शोक हो सकता है ?॥५२॥

राग और द्वेष के रहने पर इष्ट वस्तु के वियोग से और अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति से शोक होता है। राग और द्वेष का त्याग करके उदासीन दृष्टि से तीनों देहों को देख रहे पुरुष को उनसे शोक प्राप्ति नहीं हो सकती, इस आशय से भी कहते हैं।

जिस बन्धु में स्नेह नहीं है, वह बन्धु जैसे रागद्वेषरहित बुद्धि से देखा जाता है वैसे ही आप पृथिवी आदि भूततत्त्वरूप अपने त्रिविध शरीर को राग–द्वेषरहित बुद्धि से देखिये ॥५३॥ जैसे स्नेह रहित बन्धु के मिलने से पुरुष को न तो सुख होता है और न उसके वियोग से दुःख होता है वैसे ही यथार्थरूप से ज्ञान होने के कारण भूतसमूहमात्र स्वभाववाले अपने देह पिंजर से पुरुष को न सुख होता है और न दुःख होता है ॥५४॥

जिस अधिष्ठान में मन का क्षय हो जाता है, उसका स्वरूप कहते हैं।

वह वस्तु अनादि नित्य निरतिशयआनन्दरूप द्रष्टा और द्रश्य का मध्य यानी दृग्रूप ज्ञान है। उस सत्य में मन वायु के नष्ट होने पर धूलि कणों के समान शान्त हो जाता है ॥५५॥

मन के नष्ट होने पर स्थूल देह भी असत् हो जाती है, ऐसा कहते हैं।

मनरूपी वायु के नष्ट होने पर स्थूलदेहरूपी धूलि भी नष्ट हो जाती है। फिर संसार के नगर के तुल्य अधिष्ठानभूत परमात्मा में कुहरे के समान आवरण करनेवाली अविद्या नष्ट होने के कारण कदम नहीं रखती ॥५६॥

अविद्या के क्षय के प्रकार का ही शरत्काल के रूपक से वर्णन करते हैं।

वासनारूपी वर्षा ऋतु का क्षय होने पर मन के स्वरूपस्थिति में विहार को प्राप्त होने पर हृदय को कँपानेवाली अज्ञानिताके हृदयको कँपानेवाले शैत्य से युक्त कीचड़ के समान नष्ट होने पर, तृष्णारूपी गड्ढों के सूखने पर, हृदयरूपी जंगल के रागादिरूपी झाड़ियों के छटने के कारण विरल और शान्त होने पर, इन्द्रियसमूहरूपी कदम्बवृक्षों के फलरहित होने पर तथा मिथ्याज्ञानरूपी मेघ के छिन्न–भिन्न होने पर मोहरूपी कुहरा प्रभात होने पर रात्रि के समान नष्ट हो जाता है। जैसे मन्त्र से हटाया गया विष न मालूम कहाँ चला जाता है वैसे ही वह जड़ता न मालूम कहाँ चली जाती है। देहरूपी पर्वत पर भयरूपी क्षुद्र नदियाँ बिलकुल नहीं बहती। चमकीले पंखवाले संकल्परूपी बड़े–बड़े मोर नहीं नाचते। संविद्रूपी आकाश अत्यन्त निर्मलता को प्राप्त होता है। अत्यन्त स्वच्छ अतएव महान अभ्युदय को प्राप्त हुआ जीवरूपी आदित्य अत्यन्त सुशोभित होता है, मेघरूपी निबिड़ अज्ञान से छोड़ी गई अतएव परम शुद्धता को प्राप्त हुई तृष्णारूपी महादिशाएँ समाधिरूपी सूर्योदयकाल में धूलि से अदूषित होकर प्रकाशित होती हैं। निर्मल पुण्यफल का अनुसरण करनेवाली चित्तवृत्ति रूप चित्ताकाश की मंजरी, जिसने दिग्मण्डलों को शीतल कर दिया, शरत्काल के आकाश में चाँदनी के समान खूब शोभित होती है। खूब परिशोधित विवेकरूपी भूमि सब विषयानन्दों को अपने में अन्तर्भूत करके परम आनन्द का प्रकाश करनेवाले आत्मरूपी फल से खूब सफलता को प्राप्त होती है ॥५७–६४॥ पर्वत और वनों की विशालता से युक्त भुवनान्तर के तुल्य शरीर आत्मप्रकाशरूपी सूर्य–चन्द्रमा से अत्यन्त सुन्दर, त्रिविध ताप से शून्य, चिदाभास की छाया से युक्त तथा अत्यन्त निर्मल हो जाता है ॥६५॥ परिच्छेद के हट जाने से विस्तारित, विवेकररूपी जल की वृद्धि से वृद्धि को प्राप्त किया गया, रजोगुणरहित हृदयरूपी कमलकोशवाला, स्फटिक की आकृति के तुल्य स्वच्छ हृदयरूपी सरोवर सुन्दर पुष्पों से युक्त हो जाता है यानी खिल जाता है। हृदयरूपी पद्माकाश से मलिन और चंचल अपना अहंकारूपी भ्रमर फिर दर्शन न देने के लिए ही न मालूम कहाँ चला जाता है ॥६६,६७॥ वासनारहित और शान्तचित्त हुआ अपने

देहरूपी नगर का अधिपति यानी जीव संकोचरहित, सर्वव्यापक और सबका अधिपति हो जाता है ॥६८॥

वासनाक्षय के फलों को विस्तार से कहकर उन्हीं से जीवन्मुक्ति की स्थिति दिखलाते हैं।

चित्त के सर्वथा विगलित होने पर अपने दोषों का तिरस्कार कर धीर हुई बुद्धि से युक्त तथा मृत्यु और जन्मों में पारलैकिक और इहलौकिक गतियों को नीरस देख रहा पुरुष विचार द्वारा आत्मरूपी दीपक पाकर जीवन्मुक्त और तापरहित होकर देहरूपी नगर में विराजमान होता है ॥६९॥

पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

छत्तीसवाँ सर्ग

अपने-आप स्थित असक्त ही चित् की सर्वत्र स्थिति है तथा
चित् की ही सर्वत्र स्थिति से संपूर्ण पदार्थों की स्थिति है, उनकी पृथक् स्थिति नहीं है, यह वर्णन।

अब जगत स्थितिरूप प्रकरण के मुख्य अर्थ को जानने के लिए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, विश्वातीत इस चिदात्मा में यह इस प्रकार विश्व, जिसका कि पहले वर्णन कर चुके हैं, जैसे स्थित है, उसे ज्ञानवृद्धि के लिए पुनः मुझसे कहिये ॥१॥

ब्रह्मसत्ता से ही जगत की स्थिति है, उसकी पृथक् सत्ता नहीं है। प्राणियों को पृथक् अपनी सत्ता से जो जगत की स्थिति प्रतीत होती है, वह ब्रह्मस्वरूप स्थिति के ज्ञात न होने के कारण ही है, यों समाधान करने के लिए श्रीवसिष्ठजी समाधानानुरूप दृष्टान्त कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे होनेवाली अनभिव्यक्त तरंगें जल में अभिन्नरूप से स्थित हैं, भिन्नरूप से उनकी सत्ता नहीं है वैसे ही चित्तत्त्व में ये सृष्टियाँ सद्रूप आत्मा से पृथक्रूप से स्थित नहीं हैं, क्योंकि उनकी स्वतः सत्ता नहीं है। उसकी सत्ता से ही स्थित है ॥२॥

जब आत्मस्थिति से ही सबकी स्थिति है, तो आत्मा का सर्वत्र दर्शन क्यों नहीं होता ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

जैसे सर्वव्यापक आकाश आदि भी सूक्ष्म होने के कारण दृष्टिगोचर नहीं होता वैसे ही निरवयव शुद्ध चेतन सर्वव्यापक होने पर भी नहीं दिखाई देता ॥३॥ जैसे मणि के अन्दर प्रतिबिम्ब भली-भाँति स्थित-सा चारों ओर प्रतीत होता है, वह न तो सत्य है और न असत्य है, वैसे ही आत्मा में यह सृष्टि है ॥४॥ जैसे अपने आधारभूत और अपने में स्थित मेघों से आकाश स्पृष्ट नहीं होता वैसे ही चित् में स्थित और अन्योन्याध्यासवश चित् की आधारभूत सृष्टियों से परम चित्त्व स्पृष्ट नहीं होता ॥५॥

यदि कोई कहे ऐसी अवस्था में सूक्ष्म चिति घट आदि की तरह देह में भी नहीं दिखाई देनी चाहिये; पर दिखाई देती है, इसमें क्या कारण है ? इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे जल में संयुक्त किरण स्पष्ट नहीं दिखाई देती, प्रतिबिम्बरूप से तो स्पष्ट दिखाई देती है वैसे ही पुर्यष्टकरूप (卐) देहों में ही चिति दिखाई देती है, घटादि में नहीं दिखाई देती ॥६॥

卐 भूतेन्द्रिय मनोबुद्धिवासनाकर्मवायवः। अविद्या चाष्टकं प्रोक्तं पुर्यष्टमृषिशत्तमैः॥
पुर्यष्टकशब्द से श्लोकोक्त भूत आदि आठ कहे जाते हैं।

उस चिति की प्रतिबिम्बता प्रतिबिम्बाधीन काम, संकल्प, नाम और रूप से युक्त होने के कारण वास्तविक नहीं है, ऐसा कहते हैं।

वह चिति सब संकल्पों से रहित, सब नामों से शून्य और अविनाशी स्वरूप है।

शंका : तब उसकी जीवादि संज्ञा किसके कारण हुई।

समाधान : उसके आधीन चेत्य तथा चिदाभास से ही उसकी जीवादि संज्ञा हुई है ॥७॥

चिति की सूक्ष्मता और स्वच्छता का विचार करने पर आकाश भी उसकी अपेक्षा सौगुना स्थूल और सौगुना मलिन प्रतीत होता है, इस प्रकार विद्वानों के अनुभव से कहते हैं।

ज्ञानियों के अनुभव में तो सारे संसारस्वरूप को निष्कल बनानेवाला, ऐकात्म्यदर्शनशील आकाश से भी सौगुना स्वच्छ वह चित्तत्त्व निष्कलरूपी ही है ॥८॥

इसीलिए उसमें भ्रान्ति से देखे गये भावों के विकार पृथक् नहीं हैं, ऐसा कहते हैं।

जैसे जलरूप सागर में तरंगादिमयी प्रचुर भिन्नता जल से अतिरिक्त विकारवाली नहीं है वैसे ही चिद्रूप सागर में त्वत्ता-अहन्तामयी प्रचुर भिन्नता चिन्मात्र से पृथक् नहीं ही प्रकाशित होती है ॥९,१०॥ चिति विषय की अभिवृद्धि करती है, ऐसा यदि मानते हो, तो चिति चिति की वृद्धि करती है, ऐसा समझो, क्योंकि चेत्य (विषय) कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है। इस प्रकार मनन करने से चिति का अपने में व्यापार न होने से यह चित्स्वरूप आत्मा में ही स्थित है कुछ अभिवृद्धि नहीं करता, ऐसा निष्कर्ष निकलता है, यह परमार्थ दृष्टि है। जो अज्ञानी होता हुआ भी अपने को ज्ञानी समझता है, उसीकी दृष्टि से सृष्टियों में चित् से अतिरिक्त प्राप्त हुआ था और है, ऐसी कल्पना है ॥११॥

उसी चिति को ज्ञानी और अज्ञानी की कल्पना से फिर विभाग करके कहते हैं।

अज्ञानियों में यह चिति असत्स्वभाव भीषण जन्म-मरणरूप संसार परम्पराओं को अपने गर्भ में धारण करनेवाली है। ज्ञानियों की दृष्टि में तो सब की एक आत्मा होकर प्रकाशरूप ही है ॥१२॥

वही चिति जगत को प्रकाश, भोग और जन्म देनेवाली है, ऐसा कहते हैं।

उस चित्तत्त्व का दूसरा नाम अनुभूति है, उक्त अनुभूति से ही वह सूर्य चन्द्रादि को प्रकाशित करता है, सब प्राणियों के विषयभोग में निमित्त है और संसार का भोग करनेवाले जीवों के जन्म आदि में भी वही निमित्त है, क्योंकि 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' ऐसी श्रुति है ॥१३॥

अज्ञानियों की दृष्टि से जन्म आदि की निमित्त होने पर ज्ञानियों की दृष्टि से वह कूटस्थ अपरिच्छिन्न एकरूप ही है, ऐसा कहते हैं।

उक्त चित्तत्त्व न तो नाश को प्राप्त होता है, न उदित होता है, न उत्थान को प्राप्त होता है, न स्थित होता है, न आता है, न जाता है, न यहाँ पर है और न यहाँ पर नहीं है, किन्तु सर्वत्र एक रूप से स्थित है ॥१४॥ यह निर्मल चिति स्वयं अपने स्वरूप में स्थित है। हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार जगतनामक प्रपंच से विवर्त रूप में स्थित है ॥१५॥

चिति का विवर्त भी परमार्थदृष्टि से चिद्रूप ही है, इस आशय से दो दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे तेज के पुजों से तेज ही स्फुरित होता है और जैसे जल के प्रवाहों से जल ही स्फुरित होता है वैसे ही अपने स्पन्दरूप सर्गभ्रान्तियों से चित्तत्त्व ही स्फुरित होता है ॥१६॥

स्वतः शुद्ध का अविद्या द्वारा सर्गभ्रमरूप से परिस्फुरण ही सृष्टि कर्तृत्व है, अन्य प्रकार की सृष्टिकर्तृता उसमें नहीं है, यह दर्शाने के लिए उसके उपयोगी दो रूप दिखलाते हैं।

व्यवहारतः सर्वव्यापक, आत्मरूप से उदित हुए अतएव परमार्थतः प्रकाशरूप, मैं नहीं जानता हूँ इस प्रकार के व्यवहार से अप्रकाश एवं परमार्थतः निरंश और व्यवहारतः अंशधारी, अविद्या में अपने प्रतिबिम्बरूप कृत्रिम वेष से अनन्त (परम अपरिच्छिन्न) स्वरूप का त्याग करते हुए 'यह मैं हूँ' इस अभिमान से शनैः शनैः जीवपद को प्राप्त हो रहे चित् नामवाले अपने स्वभाव से इस विभिन्नता के बद्धमूल होने पर, संसार के साथ–साथ यह है, यह नहीं है, यह ग्राह्य है, यह त्याज्य है, इस प्रकार के इष्ट और अनिष्टों के ग्रहण और त्याग के स्थानभूत देहात्मभाव की स्थिति को प्राप्त होने पर सैकड़ों शरीरों से विहित और निषिद्ध कर्मों से भोग्य जगत को वह चित्तत्त्व बनाता है और वस्तुतः नहीं भी बनाता है। वही चैतन्य पृथिवी के अन्दर स्थित अंकुरों के समूहरूप से वृद्धि को प्राप्त होता है ॥१७–२०॥

पृथ्वी के अंकुररूप से बढ़ने में अन्य आकाशादि भूतों के रूप से वही अनुकूलता का आचरण करता है, यह बतलाते हैं।

यदि आकाश सम्पूर्ण मूर्त पदार्थों के अविरोधी छिद्र को न दे, तो निरवकाश होकर अंकुर बाहर न निकले, इसलिए आकाशरूप से वह छिद्र देता है। स्पन्दात्मक वायुरूप से वह उसका आकर्षण करता है जिससे अंकुर बाहर निकलता है। जलरूप होकर रसरूप से अंकुर को स्नेह युक्त करता है, दृढ़ पृथिवीरूप से अपनी दृढ़ता को देकर वह अंकुर के ऊपर अनुग्रह करता है, तेजरूप से अपना रूप देकर अंकुर को प्रकट करता है, इसी प्रकार सकलजगतरूप से वह तत्–तत् कार्यों का स्थिति और अविद्या द्वारा अनुग्राहक है। हेमन्तादि कालरूप से भी वह जव आदि के अंकुरों के विरोधी दोषों की उत्पत्ति को रोकने और फल के अंकुरों की उत्पत्ति के अनुकूल होने से उनका अनुग्राहक है ॥२१,२२॥ पुष्पों में धीरे–धीरे केसर का संचय कर चित्तत्त्व ही गन्धता को प्राप्त होता है। मिट्टी के अन्दर स्थित रसस्वरूपता को प्राप्त हुआ चित्तत्त्व ही वृक्ष की वृद्धि द्वारा वृक्ष के मूल के तने के आकार को प्राप्त होता है ॥२३॥ मूल में स्थित सुन्दर रसभाव को प्राप्त हुआ चित्तत्त्व ही फलरूपता को प्राप्त होता है वैसे ही मूल में स्थित रस पल्लवों में प्रविष्ट हो रेखा बनकर पत्र आदि के रूप को प्राप्त होते हैं ॥२४॥ इन्द्रधनुष के वृक्षों में नवीनता का सम्पादन करता हुआ वह चित्तत्त्व ही अवयवों से और समूह से जो–जो भाव निरन्तर होते हैं उन पर अनुग्रह करता है ॥२५॥

ऋतु के रूप से भी चित्तत्त्व ही कार्यों पर अनुग्रह करता है, ऐसा दर्शाते हैं।

फूल और पल्लवों की राशियाँ वसन्त को प्राप्त होती हैं यानी वसन्त बनकर चित्तत्त्व ही फूल, पल्लव आदि की राशियों को उत्पन्न करता है। सूर्य के तेज की तापशक्तियाँ ग्रीष्म ऋतु को प्राप्त होती हैं यानी चिति ही ग्रीष्म ऋतु बनकर सूर्य की तापशक्तियों को उत्पन्न करती है। ऐसा ही आगे भी समझना चाहिए। नीली मेघघटाएँ वर्षा ऋतु चाहती हैं तथा सब धान आदि की फलराशियाँ शरद् ऋतु का अनुसरण करती हैं। हेमन्त ऋतु में दशों दिशाएँ हिम यानी बर्फ रूपी हारसे युक्त होती हैं और शिशिर ऋतु में शितल वायु जल को पत्थर बना देते हैं ॥२६–२८॥

वर्ष, युग आदिरूप से भी चित्तत्त्व ही सृष्टि आदि की मर्यादा रखता है, ऐसा कहते हैं।

वर्ष आदिरूप कालरूप से वही अपनी इस युगमयी मर्यादा को नहीं छोड़ता सृष्टियाँ नदियों की तरंगों के समूहों की तरह जाती हैं ॥२९॥

नियति आदिरूप से भी वही (चित्तत्त्व ही) जगत की मर्यादा का स्थापन करने वाला है, ऐसा कहते हैं ।

स्थिरता रूप चतुरता को करनेवाली नियतिरूप से वही स्थिति को प्राप्त होता है । उसी के कारण सब जनों की आधारभूत और धीर पृथिवी प्रलय तक स्थिर रहती है ॥३०॥ चौदह भुवनों के अन्दर चौदह प्रकार के प्राणी, जिनके विविध प्रकार के आचार–व्यवहार हैं और विविध रचनाएँ हैं, पुनः–पुनः लीन होते हैं और पुनः–पुनः उत्पन्न होते हैं । तत्त्वज्ञान से प्राणियों की जन्म–मरणप्रवाह परम्परा ऐसे दूर होती है, जैसे कि जल के बिना बुद्बुद ॥३१,३२॥

पूर्वोक्त अर्थ का ही विस्तारपूर्वक उपसंहार करते हैं ।

पूर्वजन्म के संकल्पों की वासनाओं के कारण उत्पन्न हुई विविध प्रकार की अभिलाषावाली अतएव मुग्ध इसलिए काल से विवश करोड़ों ब्रह्माण्डरूप और उनके अन्तर्गत प्राणीरूप बेचारी जनता उन्मत्त के समान इस लोक में जन्मों द्वारा आती है, परलोक में जाती है, स्थावर आदि अनेक जन्मों द्वारा यहाँ पर चारों ओर रहती है, भोगों की उत्कण्ठा से ऐहिक और पारलौकिक भोगों के उपायरूप धन, धर्म आदि स्वार्थों का उपार्जन करती है । इस प्रकार जन्म और नाशों से संसार में वह घूमती है ॥३३॥

छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

सैंतीसवाँ सर्ग

अविद्या, काम और कर्म से आत्मा के अनात्मभाव की प्राप्ति,
तदनन्तर ज्ञान का, मन का अभाव और निष्कर्मता से स्वरूपावस्थिति का वर्णन ।

चिद्रूपस्थिति ही जगत की स्थिति है, क्योंकि चित् का ही जगद्रूप से अवस्थान है, यह कहने के लिए पूर्वोक्त विषय का अनुवाद करते हैं ।

इस प्रकार चारों ओर स्थित, स्थिर आकारवाली, ब्रह्म की स्वभावभूत ये सब संसार पंक्तियाँ फिर आती और जाती हैं ॥१॥ परस्पर एक–दूसरे के प्रति कारणता को प्राप्त हुआ यह सारा जगत अधिष्ठान चैतन्य से ही उत्पन्न हुआ है, इसी प्रकार एक–दूसरे से परस्पर नष्ट होता हुआ यह अधिष्ठानचैतन्य में ही लीन हो जाता है । जैसे अगाध जल के मध्य में जल से अव्याप्त प्रदेश के न होने के कारण जल का स्पन्दन भी स्वतः अस्पन्दन ही है वैसे ही असत् और सत् यानी जड़ जगत और जीवरूप से यह चिति ही प्रतीत होती है ॥२,३॥ जैसे निराकार आकाश में धूप से मृग मरिचिका दिखाई देती हैं वैसे ही निराकार चित्तत्त्व में ये सृष्टियाँ दिखाई देती हैं । जैसे नशे के कारण चक्कर न खाता हुआ भी अपना आत्मा चक्कर खाता हुआ–सा प्रतीत होता है वैसे ही चित् होने के कारण चिन्मय वही वस्तु अचित्–सी स्थित हैं ॥४,५॥

पूर्वोक्त अर्थ को हृदयंगम करने के लिए जगत् की अनिर्वचनीयस्वभावता दर्शाते हैं ।

असत् से ही जगत अपना वेष धारण करता है; इसलिए उसकी असत्ता नहीं कही जा सकती । उसका बाध होता है, अतएव सत्ता भी नहीं कही जा सकती, इसलिए यह जगत न तो सत् है, और न

असत् है, किन्तु अनिर्वचनीय है। जैसे कि कटक आदि में सुवर्णता उनसे अतिरिक्त नहीं है और उनसे अतिरिक्त भी है ॥६॥

यदि कोई शंका करे कि जगत् ब्रह्म का विवर्त है, ऐसा सुना जाता है। प्रत्यक् चैतन्य का तो वह विवर्त नहीं सुना जाता, तो इस पर प्रत्यक् चैतन्य ही ब्रह्म है ऐसा दर्शाते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आपको जिससे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान होता है वही यह प्रत्यगात्मा परब्रह्म सबको व्याप्त करके स्थित है।

येन रूपंरसंगन्धं शब्दान्स्पर्शांश्चमैथुनान।
एतैनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते एतद्वै तत् ॥

(जिस देहादि व्यतिरिक्त अपरोक्ष साक्षिभूत आत्मा से रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और स्त्रीसंसर्गजन्य सुखविशेष को सब लोग स्पष्टरूप से जानते हैं, देह आदि से व्यतिरिक्त इसी आत्मा से देहादि लक्षण रूप आदिको भी जानते हैं। इस लोक में उस आत्मा से अतिरिक्त कौन वस्तु अवशिष्ट रहती है अर्थात् सभी वस्तु को आत्मरूप से समझना चाहिए। जिस आत्मा से अतिरिक्त कोई वस्तु परिशिष्ट नहीं रहती, वही परमपद है) इस काठक श्रुति में ब्रह्म ही प्रत्यगात्मा कहा गया है। यह भाव है ॥७॥

यदि कोई शंका करे, प्रत्यगात्मा बहुत हैं, ब्रह्म एक है, इसलिए उन दोनों की एकता कैसे ? तो इस पर नानात्व और एकत्व मिथ्या है, इसलिए उक्त शंका उचित नहीं है, ऐसा कहते हैं।

बहुत्व और एकत्व से परे, सर्वव्यापक, निर्मल आत्मा से अतिरिक्त कहीं कोई दूसरी कल्पना नहीं है। भाव यह कि नानात्व और एकत्व यदि सत्य होते, तो उनकी एकता न हो सकती। वे मायिक हैं, अतएव उक्त दोष नहीं है ॥८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, अन्य वस्तु का अस्तित्व और अभाव, शुभ और अशुभ सृष्टियाँ मायिक दृष्टि से अनात्मभूत माया में ही वासनावश कल्पित हैं अथवा परमार्थदृष्टि से एकमात्र आत्मा होने के कारण आत्मा में ही वासनावश कल्पित हैं ॥९॥

पूर्वोक्त पद्य में 'अथवाऽऽत्मनि' से जो दूसरा पक्ष कहा गया है, उसकी युक्ति और प्रयोजन द्वारा गद्यों से उपपत्ति करते हैं।

आत्मा से अतिरिक्त वस्तु के सिद्ध होने पर उसमें इच्छा होती है यानी जब आत्मरूप सृष्टि आत्मा में ही है यह पक्ष है, तब आत्मा से अन्य सृष्टि नहीं है। इच्छापूर्वक ही सृष्टि होती है, क्योंकि *'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय'* इत्यादि श्रुति है। आत्मा में आत्मा की इच्छा का होना असिद्ध है, आत्मा से पृथक् कोई वस्तु प्रसिद्ध नहीं है, जिसकी इच्छा से आत्मा सृष्टि करके भी किस फल के लिए आत्मा प्रयत्न करे और प्रयत्न करके भी क्या फल पाये ? ॥१०॥ इसलिए यह अभीष्ट है और यह अनिष्ट है, इस प्रकार के विकल्प आत्मा को स्पर्श नहीं करते। इसलिए इच्छा न होने पर आत्मा कुछ भी नहीं करता। करे भी कैसे ? कर्ता, करण और कर्म सभी एक ही हैं और न कहीं पर स्थित होता है, क्योंकि आधार और आधेय एक ही है। नैष्कर्म्य की सिद्धि भी कर्म का फल नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म की सिद्धि होने पर नैष्कर्म्य सिद्धिरूप फल होता है। इच्छारहित में कर्म की सिद्धि ही नहीं है, इसलिए इच्छारहित आत्मा का नैष्कर्म्य भी अभीष्ट नहीं है, क्योंकि कर्म आदि दूसरी कल्पना का अभाव है ॥११॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त प्रकारों से अन्य साफल्य आदि की कल्पना है ही नहीं। यही ब्रह्म संस्थिति है। यदि इसमें आप

अन्य कल्पना को जानते हैं, तो सब द्वन्द्वों से रहित और सब सन्तापों से शून्य होते हुए भी आप कर्ता (संसारी) बनिये, मैं आपको रोकता नहीं हूँ, यह भाव है ॥१२॥

अज्ञानितादशा में भी भौतिक शरीर ग्रहण द्वारा कर्तृत्व होने पर भूतों से भूतों का निर्माण कर भौतिक फल प्राप्त किये जाते हैं, असंग उदासीन आत्मरूप नहीं। ज्ञान दशा में तो कर्म और उसके फल का असंभव है, इसमें तो कहना ही क्या है ? इसलिए कर्तृत्व में आपकी आस्था होना उचित नहीं है, इस आशय से गद्यों में कहे गये अर्थ के समर्थन के लिए पद्य का अवतरण करते हैं।

हे रामचन्द्रजी, और भी सुनिये, आपको कर्तुत्व के आग्रह से बार-बार कार्य करके विषयों द्वारा देहभूतों के उपाय से अतिरिक्त क्या फल प्राप्तव्य है ? जो फल नित्य निरतिशयानन्दरूप आपके लिए उचित हो, उसे आप कहिये। इसलिए सब कर्तृत्वाभिनिवेश का त्यागकर स्वरूपोचित अकर्तृत्व से ही श्रुति और गुरु के वचनों से आत्मज्ञानी हुए तथा अधिकारयुक्त आपकी आस्था हो। इससे आप निर्वात सागर की तरह निश्चल और स्वच्छ हो आत्मस्वरूप में स्थित होइये ॥१३॥

विस्तारपूर्वक कहे गये अर्थ का ही संक्षेप से उपसंहार करते हैं।

जिस साधन से अपरिच्छिन्न सुखलाभ द्वारा पूर्णकामता प्राप्त होती है, वह साधन बड़े वेग से दिशाओं के अन्त तक भी घूमकर प्रचुर यत्न करनेवाले पुरुष को भी प्राप्त नहीं होता। ऐसा निश्चयकर आप मन से भी बाह्य पदार्थों की ओर कदम न उठाइये। इस प्रकार सब क्रियाओं का त्यागकर अपने स्थान में ही आपको परम पुरुषार्थ प्राप्त हो जायेगा, आप केवल पराग्रूप से पृथक् ही नहीं हैं वरन परमार्थरूप से दृष्ट पूर्णानन्द चिदात्मा परम पुरुष भी हैं ॥१४॥

सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

अड़तीसवाँ सर्ग

असंग आत्मा को जो नहीं जानता, उसके मन के संग से कर्तृत्व तथा
आत्मतत्त्वज्ञानी के अकर्ता और अभोक्ता होने से बन्ध के अभाव का वर्णन।

यदि कोई शंका करे कि तत्त्वज्ञानियों की भी लौकिक और शास्त्रीय कर्मों में कर्तृता देखी जाती है। वह अवश्य ही इष्ट और अनिष्ट के भोग को प्राप्त करायेगी, ऐसी अवस्था में अज्ञानी से तत्त्ववेत्ताओं में क्या अन्तर है ? इस पर कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, सुख-दुख और भोगदेनेवाले कर्मों में या समाधि की अभ्यास परिपाकरूप भूमिकाओं में तत्त्वज्ञानियों का यह कर्म दिखाई देता है, वह असत् है, मगर मूर्खों का वह असत् नहीं है, यही तत्त्वज्ञानी और मूर्खों में अन्तर है ॥१॥ पहले विचार करना चाहिये कि कर्तृत्व किसे कहते हैं। शारीरिक क्रिया तो कर्तृत्व है नहीं, क्योंकि जो चेष्टा अबुद्धिपूर्वक की जाती है उसमें 'मैं करता हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं होती। किन्तु पूर्व-पूर्व कर्तृत्व की वासना से अनुरक्त मनोवृत्ति से उत्पन्न हुई, यह कार्य है, इस प्रकार की चित्तवृत्तिरूप से परिणत मानसिक क्रिया ही कर्तृता है ॥२॥

भोक्तृत्व भी उक्त कर्तृत्व के अधीन चेष्टावश तत्-तत् वासनानुरूप फलास्वाद से उत्पन्न वासना ही है, ऐसा कहते हैं।

चेष्टावश वासनानुरूप फलभोक्तृत्व होता है, क्योंकि वासना के अनुसार ही पुरुष चेष्टा करता है और चेष्टा के अनुसार ही फल भोगता है। कर्तृत्व से फल भोक्तृत्व होता है, ऐसा सिद्धान्त है ॥३॥

उक्त अर्थ में श्लोक को उद्धृत करते हैं।

कहा भी है : पुरुष चाहे कार्य करे या न करे फिर भी उसका मन जिस प्रकार की वासना से युक्त होता है, उसका स्वर्ग अथवा नरक में अनुभव होता है ॥४॥

भले ही वासना ही कर्तृता और भोक्तृता हो, फिर भी ज्ञानी और अज्ञानी के अन्तर की सिद्धि कैसे हुई, इस पर कहते हैं।

इसलिए जिन पुरुषों को तत्त्वज्ञान नहीं हुआ, वे चाहे कर्म करें या न करें उनमें कर्तृता होती है, किन्तु जिन लागों को तत्त्व का परिज्ञान हो चुका, वासना रहित होने के कारण वे चाहे करें या न करें, उनमें कर्तृता नहीं होती ॥५॥

ज्ञानी में जो विशेषता पहले कही गई थी, उसीका उपपादन करते हैं।

जिस पुरुष को तत्त्व का परिज्ञान हो चुका, उसकी वासना शिथिल हो जाती है। अतएव वह कर्म करता हुआ भी कर्म के फल की आकांक्षा नहीं करता। आसक्ति रहित वह केवल चेष्टामात्र ही करता है। प्राप्त हुए कर्मफल को भी यह सब आत्मा ही है, यों अनुभव करता है। किन्तु भोग में आसक्त मनवाला अज्ञानी कर्म न करता हुआ भी कर्म करता है यानी कर्तृत्व से लिप्त होता है ॥६॥ मन जो करता है, वही कृत होता है। जो नहीं करता, वह कृत नहीं होता, इसलिए मन ही कर्ता है, देह कर्ता नहीं है ॥७॥ चित्त से ही यह संसार प्राप्त हुआ है, अतएव यह चित्तमय ही है। चित्तमय क्यों ? बल्कि केवल चित्तमात्र है तथा चित्त में ही स्थित है, ऐसा पहले विचारपूर्वक निर्णय किया जा चुका है। सब विषय और सब चित्तवृत्तियाँ ये दोनों जब शान्त होकर वासनारूप हो जाते हैं, तब वासना से उपहित जीव ही रहता है ॥८॥ उन जीवों में आत्मज्ञानियों का वह मन वर्षा ऋतु में मृग तृष्णा के जल की तरह विनष्ट होकर एवं तेज धूप में बर्फ के सदृश विलीन होकर तुरीय दशा को प्राप्त हो तुरीयारूप से स्थित रहता है, यह ज्ञानी में अज्ञानी की अपेक्षा विशिष्टता है ॥९॥

पूर्वोक्त मन की दशा का वर्णन करनेवाले श्लोक को उद्धृत करते हैं।

विद्वान लोग ज्ञानियों के मन को न तो विषयानन्द में आसक्त जानते हैं न स्वरूपानन्दशून्य, न चंचल, न पत्थर आदि के समान जड़, न स्थिर, न सत् न असत् और न उक्त आनन्द, निरानन्द, चल, अचल, सत्, असत् की सन्ध्यावस्थारूप ही जानते हैं, किन्तु उसे परिशेष एकमात्र भूमा आत्मसुखरूप जानते हैं ॥१०॥

ज्ञानी और अज्ञानियों की दूसरी विशेषता भी कहते हैं।

ज्ञानी पुरुष जैसे हाथी छोटी तलैया में नहीं डूबता वैसे ही वासनामय चेष्टा रस में मग्न नहीं होता। मूर्ख का मन तो विषय भोगों को ही देखता है, परमार्थतत्त्व को नहीं देखता ॥११॥

अज्ञानी के मन के दुर्वासना दुःख में मग्न होने में स्वप्न दृष्टान्त है, ऐसा कहकर उसका उपपादन करते हैं।

अज्ञानियों के दुर्वासना दुःख में निमग्न होने का यह दूसरा दृष्टान्त है। पुरुष गड्ढे में न गिरता हो,

शय्यारूप आसन पर स्थित हो, फिर भी उसका चित्त गर्तपतन की वासना से वासित हो, तो वह गड्ढे में गिरने के दुःख का अनुभव करता है, दूसरा पुरुष तो भले ही गड्ढे में गिर रहा हो, मगर उसका मन परमशान्ति को प्राप्त हो चुका हो, तो वह शय्यारूप आसन के सुख का अनुभव करता है। इसी प्रकार इन शय्या और गर्तपतनों में एक पुरुष गर्तपतन का अकर्ता होता हुआ भी चित्तवश कर्ता बन गया और दूसरा पुरुष गर्तपात का कर्ता होता हुआ भी अकर्ता हो गया। इसलिए जिस तरह का चित्त होता है, वैसा ही पुरुष हो जाता है, ऐसा सिद्धान्त है ॥१२॥ इसलिए चाहे आप कर्म कीजिये या न कीजिये। आपका चित्त कर्मों में सदा आसक्तिरहित हो। आत्मतत्त्व से अतिरिक्त कुछ भी नही है, जिसमें कि तत्त्वज्ञानी आपकी आसक्ति की संभावना हो। इस जगत में यह जो कुछ भी है, वह सब शुद्धचित् होने के कारण केवल चित् का आभास ही है, ऐसा आप जानिये ॥१३॥ इस प्रकार जिस पुरुष को ज्ञातव्य वस्तु का ज्ञान हो चुका, उस पुरुष का आत्मा सुख और दुखों का विषय नहीं होता, ऐसा निश्चय होने पर, आत्मा से अतिरिक्त आधार और आधेय दृष्टियाँ नहीं है, यह निश्चय होने पर, अकर्ता, अभोक्ता, सब पदार्थों से अतिरिक्त बालके अग्रभाग के हजारवें हिस्से की तरह सूक्ष्म मैं हूँ। ऐसा निश्चय होने पर अथवा जो कुछ यह सब है, वह सब मैं ही हूँ, यह निश्चय होने पर, मैं सब पदार्थों का प्रकाशक सर्वगामी स्थित ही रहता हूँ, ऐसा निश्चय होने पर मैं सुख-दुःखों का विषय नहीं हूँ, यह निश्चय होने पर इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट परिहार के चिन्तारूपी ज्वर से रहित होने के कारण चित्तवृत्ति आत्मा में ही प्रारब्ध भोग के लिए लीला प्रकट करती हुई व्यवहारों में स्थित रहती है ॥१४॥

इसलिए तत्त्वज्ञानी को संकटों में भी दुःख नहीं प्राप्त होता, प्रत्युत आनन्द ही रहता, ऐसा कहते हैं।

इसलिए तत्त्वज्ञानी की चित्तवृत्ति संकटों में भी आनन्दित ही रहती है। केवल चाँदनी की तरह भुवनता को अलंकृत करती है यानी जैसे चाँदनी भुवनता को अलंकृत करती है वैसे ही वह भी जीवभाव को अलंकृत करती है, क्योंकि चित्त के बिना ज्ञानी कर्म करता हुआ भी अकर्ता है। वह मन के लेपक न होने के कारण हस्त-पाद आदि के विक्षेपरूप प्रयत्न से किये गये कर्म के फल का भी अनुभव नहीं करता ॥१५॥

सब कार्य, मन, बुद्धि उनके विषय और उनकी गतियों का मन ही बीज है, इसलिए मन का त्याग होने पर सब संसार का त्याग सिद्ध हो जाता है, ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार मन सब कर्मों का, सब चेष्टाओं का, सब पदार्थों का, सब लोकों का और सब अवस्थाओं का बीज है। उसके चले जाने पर सब चेष्टाएँ चली जाती हैं। सब दुःख नष्ट हो जाते हैं। सब पाप-पुण्य कर्म लीन हो जाते हैं। मानसिक कर्म से और शारीरिक कर्म से भी ज्ञानी आक्रान्त नहीं होता, न विवश होता है। उसमें शारीरिक या मानसिक कर्म का रंग नहीं चढ़ता, क्योंकि परमार्थतः उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥१६॥

कृत के भी अकृतत्व में दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे बालक मन से नगर का निर्माण और निर्मित नगर का परिष्कार करता हुआ भी मन से किये गये नगर निर्माण का लीला से अकृत की तरह अनुभव करता है, उपादेयरूप से अनुभव नहीं करता। उनके सुख-दुःख का अनुभव करता हुआ भी यह दुःख नहीं है, यों जानता है, इसी प्रकार ज्ञानी करता हुआ भी परमार्थतः लिप्त होता ही नहीं है ॥१७॥

इस प्रकार कर्तृत्व का विचार करके दुःख के कारण का विचार करते हैं।

जगत में हेयता और उपादेयता द्वारा व्यवहार के विषय सब पदार्थों में दुःख का कारण क्या है ? हेय तो दुःख का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि त्याग उपादान पूर्वक होता है, हेय के उपादेय न होने से ही उससे दुख की प्राप्ति नहीं हो सकती इसलिये परिशेष से उपादेय ही दुःख का हेतु है, ऐसा मानना पड़ेगा। किन्तु उपादेय भी दुःख का कारण नहीं हो सकता। पहले यह बतलाइए, विनाशी उपादेय से दुःख होता है, या अविनाशी से ? पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि विनाशी अपनी रक्षा करने में समर्थ नहीं है, ऐसी अवस्था में वह किसी का कारण हो, यह सम्भव नहीं है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि उपादेय जगत में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो आत्मा से अतिरिक्त और अविनाशी हो।

अतोऽन्यदार्तम्' इत्याति श्रुति से आत्मा से अतिरिक्त सब विनाशी कहा गया है, भाव यह कि आत्मा हानि और उपादान के अयोग्य है और आत्मा से अतिरिक्त उपादेय नश्वर है। इस तरह भोग्य दुःख के कारण निरूपण न होने से आत्मा अकर्ता और अभोक्ता है। कर्तृत्व का अनुभव होता है, वह अवास्तविकरूप से अध्यारोपित है। उस कर्तृत्व का जीवित पुरुष से निवारण नहीं हो सकता यानी जीवित पुरुष में कर्तृत्व अवश्य रहेगा ही, क्योंकि : 'नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्य शेषतः' ऐसा भगवद्वाक्य है। उक्त कर्तृत्व सम्यग् ज्ञान के अभाव से है, वस्तुतः नहीं है। तत्त्ववस्तु के विचार से तो कर्तृत्व और भोक्तृत्व नहीं हैं। इन्द्रियों द्वारा इन्द्रियों के विषयों द्वेष, अभिलाषा आदि से एवं उसके निमित्तभूत पुण्य–पापरूप अदृष्टों से विवश बुद्धिवाले अज्ञानियों के ही वे (कर्तृत्व–भोक्तृत्व) देखे जाते हैं। इन्द्रियों के विषयों में द्वेष्य अभिलाषा आदि से तथा उनके निमित्तभूत पुण्य–पापरूप अदृष्ट से जिनकी बुद्धि विवश नहीं है, ऐसे ज्ञानियों के वे नहीं दिखाई देते ॥१८,१९॥

इसलिये तत्त्वज्ञानियों की मोक्ष कल्पना भी नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जिसका मन पूर्ण आत्मा में ही संलग्न है, उस ज्ञानियों की दृष्टि से संसार में मोक्ष नहीं है। आत्मा में जिनका मन संलग्न नहीं है, ऐसे देहाध्यासदृष्टि को प्राप्त लोगों की दृष्टि से तो यह बन्ध–मोक्ष आदि सब है ही ॥२०॥

ज्ञानी की दृष्टि तब क्या है। इस पर कहते हैं।

ज्ञानी की दृष्टि में केवल यथास्थित आत्मतत्त्व ही उल्लसित होता है।

शंका : यदि ज्ञानी की दृष्टि में आत्मतत्त्व ही उल्लसित होता है, तो उसकी व्यवहार सिद्धि कैसे होती है ?

समाधान : आत्मतत्त्व ही तत्त्वज्ञानी के जीवन आदि व्यवहार की सिद्धि के लिए द्वित्व–एकत्ववादियों की दृष्टि से सिद्ध द्वित्व और एकत्व को जीवन आदि के व्यवहारके समय करता है। सत्त्व और असत्त्व भी करता है तथा शक्ति समूह से अभिन्न सर्वशक्तिता भी दिखाता है ॥२१॥

अब पद्य द्वारा फलितार्थ कहते हैं।

न बन्धन है, न मोक्ष है, न बन्धन का अभाव है और न बन्धन के कारण काम–कर्म आदि हैं। तत्त्व के अज्ञान से ही यह दुःख है, ज्ञान से लीन हो जाता है ॥२२॥

उक्त पूर्णात्मनिष्ठा का उपसंहार कर रहे श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी के लिए उपदेश देते हैं।

जगत में संकल्पित मोक्षबुद्धि असत्य ही है, जगत में संकल्पित बन्धबुद्धि भी असत्य ही है, इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप बन्ध–मोक्ष आदि सबका त्यागकर अहंकारशून्य, आत्मनिष्ठ अतएव धीर बुद्धि से व्यवहार करते हुए भूलोक में स्थित होइये ॥२३॥

अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त

उनतालीसवाँ सर्ग

ब्रह्म की सर्वशक्तिता, श्रीरामचन्द्रजी के मोह का विस्तार,
उनके बोध के लिए श्री वसिष्ठजी के विचार आदि का वर्णन।

अज्ञदृष्टि में ही स्थित श्रीरामचन्द्रजी गुरुवचनों में विश्वास होनेके कारण परोक्षरूप से ही पूर्णता स्थिति का आलोचन करके परस्पर विरोध का अनुभव करते हुए शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, आपके कथनानुसार बन्ध–मोक्ष आदि का असंभव रहने पर और एकमात्र परब्रह्म के ही विद्यमान रहने पर आधार के बिना ही चित्ररूप इस सृष्टि का आगमन कहाँ से हुआ ? हे महात्मन्, उसे आप कृपापूर्वक मुझसे कहिये ॥१॥

क्या ये अज्ञदृष्टि में रहकर शंका करते हैं, अथवा थोड़ी बहुत अभिज्ञता को प्राप्त होकर अज्ञता–अभिज्ञता के मध्यवर्ती होकर शंका करते हैं, ऐसी परीक्षा करने के लिए श्रीवसिष्ठजी सर्वशक्तितावाद के स्वीकार द्वारा श्रीरामचन्द्रजी की शंका को दूर करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे राजकुमार, ब्रह्मतत्त्व का ही यह विवर्त है, वह ब्रह्म सर्वशक्ति है, कार्य से ही ब्रह्म में सर्वशक्तिता का अनुमान होता है ॥२॥

जिनमें शक्ति नहीं है, उन्हीं में विरोध होता है, सर्वशक्तिशाली में तो कोई विरोध नहीं है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

ब्रह्म में सत्त्व–असत्त्व, द्वित्व–एकत्व, अनेकत्व, आद्यत्व और अन्तत्व सब कुछ है, किन्तु वे उससे अतिरिक्त नहीं हैं। जैसे समुद्र का जलप्रवाह चन्द्रोदय आदि से हुए अपने उल्लास द्वारा विकसित होकर तरंग ही नृत्य से अपने नानाकारता को दिखलाता हुआ प्रकट होता है, वैसे ही चिद्घन ब्रह्म चित्तोपाधि जीवभाव का तथा उसके चिदाभासरूप से चित्त होने के कारण कर्म, वासनामयी, मनोमयी सब शक्तियों का एक–एक करके संचय करता है और संचितों को फल द्वारा प्रकट करता है, उपभोग द्वारा धारण करता है, पैदा करता है, तिरोभाव से विनाश करता है ॥३–५॥

उक्त अर्थ में श्लोकों को उद्धृत करते हैं।

सभी जीवों की, सभी चारों ओर की दृष्टियों की, सभी पदार्थों की ब्रह्म से ही निरन्तर उत्पत्ति होती है ॥६॥ सागर में तरंगों के समान परमात्मा से सब उत्पन्न होते हैं, उसी में लीन हो जाते हैं और चित् होने के कारण निरन्तर तन्मय ही हैं ॥७॥

इस प्रकार शक्तिवाद द्वारा श्रीरामचन्द्रजी की शंका का समाधान करने पर भी श्रीरामचन्द्रजी अग्नि में शैत्यशक्ति की तरह, जल में दाहशक्ति की तरह चिद्रूप ब्रह्म में विरुद्ध जाड्यशक्ति, अदृश्य ब्रह्म में दृश्य शक्ति तथा नित्यब्रह्म में अनित्यशक्ति की असम्भावना करते हुए फिर शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन् विरुद्ध होने के कारण आपके वाक्यार्थ का समझमें आना बड़ा कठिन है। अब तक भी मैं आपके वाक्यार्थ को नहीं समझ सका हूँ॥८॥ मन और इन्द्रियों की वृत्ति से परे ब्रह्मतत्त्व कहाँ ! उससे उत्पन्न हुई क्षणभंगुर पदार्थ शोभा से युक्त यह सृष्टि कहाँ ? यदि पदार्थ सृष्टि ब्रह्म से आई है, तो इसे ब्रह्म के सदृश ही होना चाहिए, विरुद्ध नहीं होना चाहिए ॥९॥ लोक में जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसके सदृश ही होता है, जैसे दीपक से दीपक, पुरुष से पुरुष तथा अन्न से अन्न। यदि यह ब्रह्म से अतिरिक्त है, तो निष्कलंक परमेश्वर की जो जगद्भावपत्ति आपने कही है, यह कलंकापत्ति की ही उक्ति कही जायेगी। यह सुनकर भगवान श्रीवसिष्ठजी ने कहा ॥१०–१३॥

तत्त्वदृष्टि से श्रीवसिष्ठजी जगत के चिद्भाव को एवं अविकारता को देखते हुए समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, यह ब्रह्म ही है, यहाँ पर मल नहीं है। सागर में तरंगसमूहरूप से जल ही स्फुरित होता है, धूलि तरंग समूहरूप से स्फुरित नहीं होती। हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे अग्नि में एकमात्र उष्णता के सिवा दूसरी कल्पना नहीं है, वैसे ही एकमात्र ब्रह्म के सिवा यहाँ पर दूसरी कल्पना है ही नहीं ॥१४,१५॥

अज्ञदृष्टि में ही स्थित श्रीरामचन्द्रजी सर्वथा एकमात्र आनन्दस्वरूप ब्रह्म की आनन्द विरुद्ध जगद्रूपता नहीं कही जा सकती है, यों जिद करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, ब्रह्म दुःखरहित तथा द्वन्द्वरहित है और उससे उत्पन्न हुआ जगत दुःखमय है, आपका यह अस्पष्टार्थ वचन मेरी समझ में नहीं आ रहा है ॥१६॥

इस प्रकार निरुत्तर हुए श्रीवसिष्ठजी का श्रीरामचन्द्रजी को समझाने के लिए उपाय का चिन्तन श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं।

वाल्मीकिजी ने कहा : हे वत्स, श्रीरामचन्द्रजी के ऐसा कहने पर मुनिश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी को उपदेश देने के लिए मन से विचार करने लगे कि अभी तक श्रीरामचन्द्रजी की बुद्धि पूर्ण विकास को प्राप्त नहीं हुई है। कुछ निर्मलता को प्राप्त हुई यह परमतत्त्व में प्राप्त कराई गई कही है ॥१७,१८॥ जो पुरुष जगत की जड़ता का परित्याग कर चिदेकरसता को देखने में समर्थ है, उस धीमान और ज्ञातज्ञेय (जिसने ज्ञातव्य तत्त्व जान लिया है) एवं विवेक से जो मोक्ष के उपायभूत वचनों का पार पा गया है, उसकी दृष्टि से किसी वस्तु का कुछ भी विरोध नहीं है, क्योंकि विरुद्धरूप जगत विज्ञानरूप आत्मा में कहीं पर भी नहीं है, हम जब तक श्रीरामचन्द्रजी को भली–भाँति उपदेश नहीं देंगे, तब तक श्रीरामचन्द्रजी विश्रान्ति को प्राप्त नहीं ही होंगे। इसलिए हमें इनको अवश्य उपदेश देना चाहिए, यह अर्थ है ॥१९,२०॥ परन्तु जिसकी मति पूर्णरूप से व्युत्पन्न नहीं हुई, उसको यह सब ब्रह्म ही है, यह पूर्वोक्त उपदेश नहीं भाता; क्योंकि यह अर्धव्युत्पन्न पुरुष दृश्यों को उपस्थित करनेवाली भोगदृष्टि से सदा ही दृश्यों की भावना करता हुआ तत्त्वबोध से च्युत हो जाता है ॥२१॥

तो कौन उस प्रकार के उपदेश का उपयुक्त पात्र है, ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

तत्त्वबोधरूप परमदृष्टि को प्राप्त हुए पुरुष को भोगेच्छा उत्पन्न नहीं होती। उसी पुरुष के लिए समय पर यह सब ब्रह्म ही है, ऐसा परिनिष्ठित उपदेश उपयोगी होता है ॥२२॥

अर्धव्युत्पन्न पुरुष को किस प्रकार उपदेश देना चाहिए, इस पर कहते हैं।

पहले शम, दम आदि गुणों से शिष्य को विशुद्ध करे, तदनन्तर शुद्ध तुम यह सर्वात्मक ब्रह्म हो, ऐसा ज्ञान कराये ॥२३॥ अज्ञ को या अर्धप्रबुद्ध को 'सर्वं ब्रह्म' (यह सब ब्रह्म है) ऐसा उपदेश दे, उसने उस अज्ञानी को महानरक जालों में डाल दिया ॥२४॥ जिसकी बुद्धि प्रबुद्ध हो गई है, भोगेच्छा क्षीण हो गई है और कामना मिट गई है, उस महात्मा में अविद्यारूपी मल नहीं है, अतएव उसके लिए यह सब ब्रह्म ही है, ऐसा उपदेश देना उचित है ॥२५॥

जिसे तत्त्वज्ञान नहीं है, वही अनधिकारी को उपदेश देने के लिए प्रवृत्त होता है । शिष्यों को ठगनेवाले उस अतत्त्वज्ञानी का नरकपतन उचित है, इस आशय से कहते हैं ।

जो अत्यन्त विमूढ़बुद्धि (अतत्त्वज्ञानी) शिष्य की परीक्षा किये बिना उपदेश देता है, वह प्रलयपर्यन्त नरक को प्राप्त होता है ॥२६॥ ऐसा विचारकर अज्ञानरूपी अन्धकार का विनाश करनेवाले अतएव भूमि में स्थित सूर्य के सदृश मुनिश्रेष्ठ भगवान श्रीवसिष्ठजी ने श्रीरामचन्द्रजी से कहा ॥२७॥ हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्म में कलंक है, अथवा नहीं, यह बात आप स्वयं जान जायेंगे । यदि स्वयं न जान सकेंगे, तो परिनिष्ठित उपदेश के समय यह मैं आपको बतलाऊँगा इस समय नहीं ॥२८॥

इस समय अर्धव्युत्पन्न पुरुष से कहने योग्य ब्रह्म की पूर्वोक्त सर्वशक्तिसम्पन्नता आदि और प्रत्यगात्मा के सबमें अहंभाव के दर्शन का पहले उपदेश देते हैं ।

ब्रह्म सर्वशक्तिसम्पन्न, सर्वव्यापक और सर्वगत है, प्रत्यगात्मा मैं ही सब हूँ, यों जानना चाहिए ॥२९॥

माया से ही ब्रह्म की सर्वशक्तिता और प्रत्यगात्मा की सर्वात्मकता है, इसका स्पष्टीकरण करते हैं ।

हे रामचन्द्रजी, ऐन्द्रजालिकों को आप देखते हैं, जैसे वे माया द्वारा विचित्र क्रियाओं को उत्पन्न करते हुए सत् को असत् बना देते हैं और असत् को सत् बना देते हैं वैसे ही यह आत्मा भी अमायामय होता हुआ भी परम ऐन्द्रजालिक की तरह मायामय होकर घट को पट बना देता है और पट को घट बना देता है । मेरु के सुर्वणमय तट पर नन्दनवन की तरह पत्थर पर लता पैदा कर देता है, कल्प वृक्षों पर रत्न के गुच्छों की तरह लता में पत्थरों को पैदा कर देता है । आकाशमें वन का आरोप कर देता है ॥३०॥

वस्तुव्यत्यय के समान देश-काल के व्यत्यय की भी माया शक्ति से ही संभावना करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं ।

गन्धर्वनगर में उद्यान की तरह गगन में आगे होनेवाले उस जगत में कल्पना से नगरता को उत्पन्न करता है । आकाश को, जिसकी छायारूपी नीलता मानों नष्ट हो गई, पृथ्वी तल बना देता है ॥३१॥

तो क्या आकाश को नीचे रखने के लिए भूतल को कहीं दूसरी ओर ले जाता है, ऐसी कोई शंका करे, तो उस पर नहीं ऐसा कहते हैं ।

गन्धर्वनगर के राजमहल में बहुत-सी महिलाओं की तरह भूतल में ही आकाश की स्थापना करता है ॥३२॥ जैसे पद्मराग मणि के महलों में आकाश का प्रतिबिम्ब आधार की लालिमा से ही लाल होता है, वैसे ही इस जगत में जो कुछ है, होगा और हुआ था, वह सब स्वतः असत् होता हुआ भी ब्रह्म की सत्ता से सत्-सा है, यह अर्थ है ॥३३॥ क्योंकि ईश्वर व्यक्तरूप हो विचित्रता को प्राप्त होकर अपने स्वरूप को दिखलाता है ॥३४॥

इस प्रकार एक वस्तु सब प्रकार से सब होती है, इसलिए इस विषय में असंभावना, हर्ष और क्रोध

आदि ठीक नहीं हैं, ऐसा कहते हैं।

चूँकि इस जगत में एक ही वस्तु सब जगह सब प्रकार से सब होती है, इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, हर्ष, क्रोध और आश्चर्य का अवसर ही कहाँ है ? ॥३५॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी की असंभावना का निरास कर पूर्वोक्त समता स्थिति का ही विधान करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, धैर्यशाली पुरुष को सदा समता से ही रहना चाहिए ॥३६॥

तभी हर्ष, क्रोध, आश्चर्य आदि का आत्यन्तिक विनाश होता है, इस आशय से श्लोक उद्धृत करते हैं।

समतारूपी कवच से परिवेष्टित तत्त्वज्ञानी पुरुष आश्चर्य, गर्व, मोह, हर्ष, क्रोध आदि विकारों को कभी प्राप्त नहीं होता है ॥३७॥ समता का पर्यवसान होने पर देश और काल से युक्त जगत में ये विचित्र दृश्यरचनारूप युक्तियाँ दिखाई देती हैं ॥३८॥

यह आत्मा सामग्रीयुक्त अवस्थाओं से युक्त सृष्टिरचना यत्न से करता है। उत्पन्न हुई उन रचनाओं का, जैसे सागर तरंगों का तिरस्कार नहीं करता, वैसे ही तिरस्कार नहीं करता ॥३९॥ तो दूध में घृत की तरह, मिट्टी में घड़े की तरह, तन्तुओं में वस्त्र की तरह और वट के बीज में वटवृक्ष की तरह आत्मा में ही स्थित प्रकटता को प्राप्त हुई शक्तियों का कथंचित व्यवहार होता है। यह व्यवहार दृष्टि एकमात्र कल्पना ही है। परमार्थतः तो जगत अविरचित ही है ॥४०॥ इस जगत में न कोई कर्ता है, न भोक्ता है, न यह जगत विनाश को प्राप्त होता है ॥४१॥ साक्षी निर्विकार केवल आत्मतत्त्व के नित्य अपने में समरूप से क्षोभरहित रहने पर ऐसा होता है ॥४२॥

वैसे परमार्थ के रहने पर भी जगत प्राप्ति में दृष्टान्त दर्शानेवाले दो श्लोकों का अवतरण किया गया है।

जैसे दीप के रहने पर प्रकाश स्वतः होता है और जैसे फूल के रहने पर सुगन्ध स्वतः होती है वैसे ही जगत स्वतः ही उत्पन्न होता है। वायु से स्पन्दन की तरह यह आभासमात्र ही दिखाई देता है, अतएव यह न सत् और न असत् है यानी अनिर्वचनीयरूप से अवस्थित है ॥४३,४४॥

इस प्रकार केवल अपनी सन्निधि से उत्पन्न हो रहे जगत के दोषों से लिप्त न हो रहा आत्मा ही जगत का कर्ता-सा, हर्ता-सा और नियन्ता-सा ऐसे प्रतीत होता है, जैसे कि आकाश तारारूपी पुष्पराशियों का कर्ता, हर्ता और नियन्ता प्रतीत होता है, ऐसा कहते हैं।

परमार्थरूप से निर्दोष के तुल्य ही स्थित होकर भगवान विनष्ट हुई जगत की दृष्टियों के पुनः कर्ता होते हैं और की गई जगत की दृष्टियों के नाशक होते हैं। जैसे केवल आकाश में तारारूपी फूल राशियाँ कभी प्रकट और कभी अप्रकट होती हैं, वैसे ही उसमें ये जगत की दृष्टियाँ कभी प्रकट होती हैं और कभी अप्रकट होती हैं ॥४५॥

इस प्रकार असत् जगत का असत्तात्मक विनाश स्वतः ही होता है और सत्तात्मिका उत्पत्ति और स्थिति ब्रह्मसत्ता से ही हैं, यों विभाग होने पर फलितार्थ कहते हैं।

जो वस्तु आत्मा की आत्मभूत नहीं है, वह वस्तु यहाँ पर नष्ट ही होती है। जो वस्तु आत्मा की

स्वरूपभूत है, वह कैसे नष्ट हो सकती है ? जो वस्तु आत्मा की स्वरूपभूत नहीं है, वह उत्पन्न होती ही नहीं है, जो वस्तु आत्मा की स्वरूपभूत है, वही उत्पन्न होती है और वही स्थित रहती है। 'जायते' यह स्थिति का भी उपलक्षण है। जो वस्तु आत्मा की आत्मभूत है, वह उससे कैसे उत्पन्न होगी इसलिए उसकी उत्पत्ति कल्पनामात्र है ॥४६-४८॥

आत्मसत्ता का जगत में अध्यास जगत का जन्म है, आत्मा का जन्म नहीं है, क्योंकि आत्मा में भेद नहीं है, इस आशय से पूर्वोक्त विषय का उपसंहार करते हैं।

इसलिए परमार्थसत्य चित्स्वरूप केवल ब्रह्म से सब पदार्थों की उत्पत्ति है ॥४९॥ उत्पन्न हुए उन पदार्थों की उत्पत्ति होते ही तुरन्त अविद्या उत्पन्न होती है, अभिमानलक्षण वह अज्ञान समय आने पर दृढ़ हो जाता है। तदनन्तर सैकड़ों, हजारों तनों से युक्त, विचित्र शुभ और अशुभरूप फलों से लदा हुआ, प्रचुर शाखा और प्रशाखाओं से युक्त संसाररूपी वृक्ष विशालता को प्राप्त होता है ॥५०॥

संसाररूपी वृक्ष का ही वर्णन करके उसके उच्छेद का उपाय बतलाते हैं।

उक्त संसाररूपी वृक्ष आशारूपी मंजरियों से युक्त है, सुख-दुःख आदि विविध फलों से लदा है, दारुण दुःख आदि भोगों से पल्लवित है, बुढ़ापारूपी फूल से युक्त है और तृष्णारूपी लता से दैदीप्यमान है। अपने बन्धनरूप इस संसार नामक वृक्ष को विवेकरूपी तलवार से काटकर स्तम्भ से खोले गये गजराज की तरह मुक्त हुए आप इस संसार में विहार कीजिए ॥५१॥

उनतालीसवाँ सर्ग समाप्त

चालीसवाँ सर्ग

विविध जीवों की उपाधियों द्वारा उत्पत्ति, जीवों तथा
उनकी उपाधियों के ब्रह्मभाव का विस्तार से वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे प्रभो, ब्रह्मपद से इन जीवों की उत्पत्ति कैसे हुई, वह कितनी और कैसी है ? यह विस्तारपूर्वक मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥१॥

यद्यपि जीवों की उत्पत्ति उत्पत्ति प्रकरण में विस्तार से कही गई है, तथापि आगे किये जाने वाले आक्षेप के उत्थान के लिए तथा विशेष ज्ञान की इच्छा से पुनः यह प्रश्न किया है, ऐसा समझना चाहिए।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे महाबाहो, भाँति-भाँति की भूतजातियाँ जैसे ब्रह्म से उत्पन्न होती हैं, जैसे नाश को प्राप्त होती हैं, जैसे मुक्त होती हैं, जैसे वृद्धि को प्राप्त होती हैं और जैसे ब्रह्म में ही अन्तर्हित होकर स्थित रहती हैं, उसे मैं संक्षेपतः आपसे कहूँगा, हे अनघ, आप सुनिये ॥२,३॥ परब्रह्म की निर्मल चित्शक्ति, जो सर्वशक्तिशालिनी है अपनी इच्छा से विविध कल्पना करती हुई स्वयं भावी देहादि के आकार का स्फुरणरूप चेत्य (विषय) हो जाती है ॥४॥ पूर्वोक्त देहादि के आकार का ही अच्छी तरह जो अहंभाव से स्फुरण है, उसके द्वारा घनता को प्राप्त हुई वह चित्शक्ति स्वयं जो कुछ भी संकल्प करती है, फिर उस भाव को प्राप्त हो जाती है। वही चित्शक्ति का घनीभाव मन तथा जीवोपाधि है ॥५॥ मन के संकल्पमात्र से दृश्य अहंकार आदि की कल्पना द्वारा वास्तविक दृग्रूपता का त्यागकर रही-सी चित्शक्ति क्षणमात्र में इस असत्यभूत दृश्य का गन्धर्व नगर की भाँति विस्तार करती हैं ॥६॥

इससे क्या हुआ ? यह कहते हैं।

यद्यपि चिद्रूप आत्मा स्वप्रकाश है, तथापि वह सर्वप्रथम अपने से निर्मित अपने से पृथक् शून्याकार से प्रतीत होता है। वही अवस्था सर्वजन प्रसिद्ध आकाश है ॥७॥

उस आकाश में ब्रह्मा आदि की स्थूल देह की और भुवनों की कल्पना दर्शाते हैं।

वह चित्तत्त्व ब्रह्मा का संकल्प करके ब्रह्मा के रूप को देखता है। तदनन्तर दक्ष आदि प्रजापति की कल्पना कर जगत की कल्पना करता है ॥८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, चौदह भुवनों में रहने के कारण चौदह प्रकार के अनन्त भूत समूहों के कोलाहल से युक्त यह सृष्टि इस प्रकार चित्त से निर्माण को प्राप्त हुई है ॥९॥

इस तरह उपाधि की उत्पत्ति के मिथ्या होने से उपाधि प्रयुक्त जीवों की उत्पत्ति भी मिथ्या है, इस आशय से कहते हैं।

एकमात्र चित्त से बनी हुई एकमात्र आकाश शरीरवाली अतएव शून्य प्रतीत हो रही जीवसृष्टि एकमात्र संकल्प नगरी के तुल्य केवल भ्रान्तिस्वरूप है ॥१०॥

उसमें शास्त्र के अधिकारी दुर्लभ हैं, यह दर्शाने के लिए जीवों का तीन प्रकार से विभाग करते हैं।

इन लोकों में कुछ भूतजातियाँ महामोह से युक्त हैं कुछ आत्मज्ञान को प्राप्त है, जैसे सनकादि। मध्य की दशाओं में स्थित कुछ जीवजातियाँ मोक्ष के लिए प्रयत्न करती हुई भी दृढ़ वैराग्य न होने के कारण बार–बार विघ्नों द्वारा ब्रह्मपद से पतित होती हैं ॥११॥

शास्त्र के अधिकार का प्रयोजक वैराग्य कहाँ सुलभ है ? उसको कहते हैं।

पृथिवी में सम्बन्ध रखनेवाली सभी प्राणिजातियों में ये भारत वर्ष में रहनेवाली जो नर जातियाँ हैं, वे ही आत्मज्ञान के उपदेश के योग्य हैं ॥१२॥

उनके वैराग्य होने में हेतु बतलाते हैं।

उन नरजातियों के मध्य में कुछ मनोव्यथा से पीड़ित, दुःखमय तथा मोह, द्वेष और भय से आतुर हैं, अतः तमोगुण प्रधान होने के कारण उनका शास्त्र में अधिकार नहीं है। उपदेश योग्य रजोगुण और सत्त्वगुणप्रधान जो जातियाँ है, उन्हें मैं बयालीसवें सर्ग में कहूँगा, यह अर्थ है ॥१३॥ जो अमृत, सर्वव्यापक, निरामय, भ्रमस्पर्शशून्य, अकारण और अनन्त नामवाला ब्रह्म है, वह जिस तरह चिदाभासता को प्राप्त हुआ, उसे भी उसी सर्ग में कहूँगा ॥१४॥ निश्चल समुद्र में चंचल तरंगों की चंचलता की भाँति स्पन्दनशून्य शरीरवाले उस परमात्मा का जो जीवभाव से स्पन्द है, वह जिस तरह घनता को प्राप्त होता है, उसे भी उसी सर्ग में कहूँगा ॥१५॥

'स्पन्दः सत्तैकदेशतः' यह जो कथन है, वह अयुक्त है, क्योंकि अखण्ड पूर्णसत्तैकरस ब्रह्म में सत्तावयव स्पन्दन की सम्भावना नहीं हो सकती, ऐसी शंका श्रीरामचन्द्रजी करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, अनन्त आत्मतत्त्व का एकदेश क्या कहलाता है, उसमें विकारिता कैसे होती है अथवा उसमें द्वित्व की भ्रान्ति कैसे होती है ? ॥१६॥

जीव–ब्रह्म की एकता की वास्तविकता के व्युत्पादन के लिए उत्पत्ति, स्पन्द और एकदेश आदि का व्यवहार शास्त्र में कल्पित है, इसलिए वास्तविक वृत्ति का आश्रय करके उसमें विरोध का उद्भावन उचित नहीं है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, यह जगत उस निमित्त से उत्पन्न है और उसी उपादान से पैदा हुआ है, यह वाणी की रचना शास्त्र के व्यवहार के लिए है वस्तुतः नहीं है ॥१७॥

वस्तुतः क्यों नहीं है ? इस पर कहते हैं।

प्रत्यक्ष उत्पद्यमानरूप से दिखाई दे रहे भी विकारिता, अवयविता, दिक्सत्ता, एकदेशता आदि क्रम सर्वेश्वर परमात्मा में सम्भावित नहीं हैं ॥१८॥

यदि उसमें इनका सम्भव नहीं है, तो जगत के किसी अन्य मूल की कल्पना कीजिए। इस पर कहते हैं।

उसके बिना अन्य कल्पना ही नहीं है और न होगी। भाव यह कि चित्तप्रकाश के बिना अन्य कल्पना भी अयुक्त है। कारण–कार्य में क्रम शब्दार्थ तथा व्यवहार की उक्तियाँ कहाँ से हो सकती है ? ॥१९॥ जो–जो कल्पनाएँ हैं, जो पदार्थ हैं, जो शब्द हैं और जो वाक्यार्थ हैं, वे सत् से उत्पन्न होने के कारण तथा सन्मय होने के कारण सद्वस्तु की ही तरह इष्ट हैं ॥२०॥

इस तरह सत्ता के भेद के अभाव से भेदप्रतीति मिथ्या ही है, ऐसा कहते हैं।

अग्नि से उत्पन्न हुई अग्नि की भाँति वही उससे जन्य होता है। यह जगत जन्य है, वह जनक है, यह भेद कल्पनामात्र है यानी मिथ्या है ॥२१॥

दीपक से दीपक की भाँति यह जगत उत्पन्न है, यह व्यवहार कैसे है ? इस पर कहते हैं।

यह इससे उत्पन्न है, यह जो जगत की स्थिति है, वह एक दीपक की दो रूपों के निर्माण की शक्ति में अतिशय की भाँति माया से एक ही आत्मा की दो रूपों के निर्माण की शक्ति में अतिशय है, वही जन्य–जनक दो रूपों में भासित होता है ॥२२॥ यह जगत भिन्न है, यह ब्रह्म भिन्न है, यह शब्द और अर्थ का व्यवहारश्रम वचनमात्र में है, परमात्मा में नहीं है, कारण कि 'वाचरम्भरणं विकारो नामधेयम्' ऐसी श्रुति है, क्योंकि परिच्छेद होने पर ही तो भेद प्रतीत होगा ॥२३॥ पूर्वोक्त क्रियाशक्ति से उत्पन्न हुई मनःशक्ति से ही स्वभावतः शब्दविभाग प्रवृत्त होता है, तदनन्तर उससे दृढ़भावना द्वारा अभीष्ट अर्थ सम्पन्न होता है ॥२४॥

पूर्वोक्त अर्थ को ही उदाहरण देकर दर्शाते हैं।

अग्नि की एक शिखा की दूसरी शिखा जनक है, यह कथन वैचित्र्यमात्र है, इस कथन में सत्यता नहीं है ॥२५॥ परमात्मा में जन्य–जनक आदि शब्दव्यवहार का सम्भव नहीं है। अनन्त होने के कारण जब वह एक ही है, तो किसे कैसे उत्पन्न करेगा ? ॥२६॥ यह उक्ति का स्वभाव है कि एक उक्ति के अनन्तर दूसरी उक्ति स्वाश्रयविरुद्ध भेद, द्वित्व आदि अर्थ युक्त हो जाती है ॥२७॥ समुद्र में तरंग–समूह की भाँति परब्रह्म में जो शब्द और अर्थ की कल्पना का आकार है, वह ब्रह्म ही है, ऐसा विद्वानों ने अनुभव किया है ॥२८॥ ब्रह्म ही प्रत्यगात्मा है, ब्रह्म ही मन है, विविध प्रकार की बुद्धिवृत्तियाँ भी ब्रह्म ही है, ब्रह्म ही पदार्थ है, ब्रह्म ही शब्द है, ब्रह्म ही ईश्वर है या साक्षी चेतन है या पदार्थानुभूति है, सब विषय भी ब्रह्म ही हैं ॥२९॥ सामने दीख रहा यह सब विश्व ब्रह्म ही है, वह ब्रह्मपद विश्व से परे है। वस्तुतः यह जगत है ही नहीं, सब कुछ केवल ब्रह्म ही है ॥३०॥ आत्माकाश में यह भिन्न है, यह भिन्न है, यह विभाग मिथ्याज्ञान के विकल्प से कथनमात्र है। इस कथन में क्या सत्यार्थता है ? ॥३१॥ जैसे अग्नि की शिखा

से दूसरी अग्नि की शिखा उत्पन्न हुई वैसे ही ब्रह्म से मन की संज्ञारूप शिखा उत्पन्न हुई है। चंचलता से उत्पन्न विकल्प संपत्ति नित्यसिद्ध कूटस्थ ब्रह्म में सिद्ध नहीं होती है ॥३२॥ तमस दृष्टि के क्षीण होने के कारण जैसे द्विचन्द्र ज्ञानदोष मिथ्या है, वैसे ही सत्य वस्तु विकल्प से युक्त है, यह विकल्प कथन मिथ्या ही है ॥३३॥ सर्वस्वरूप, सर्वव्यापक उस अनन्त ब्रह्मपद से अन्य कुछ नहीं उत्पन्न हो सकता है, जो कुछ उत्पन्न है, वह ब्रह्म ही है ॥३४॥ इस जगत में ब्रह्मतत्त्व से अतिरिक्त कुछ उत्पन्न नहीं होता, इसलिए यह सब ब्रह्म ही है, यही परमार्थता है ॥३५॥ हे मतिमान श्रीरामचन्द्रजी, जब आपका सिद्धान्त प्रायः ऐसा ही होगा, तभी हम सिद्धान्तअर्थ की उक्तियों के उदाहरणपूर्वक निर्वाणप्रकरण में उपपादन करेंगे ॥३६॥ इस परमार्थता में अविद्या आदि कोई इतर पदार्थ विद्यमान नहीं हैं। तत्–तत् वस्तुविषयक तत्तद् अज्ञान का क्षय हो जाने पर आप सम्पूर्ण पदार्थों को पूर्ण ब्रह्म भाव से जानेंगे ॥३७॥

पूर्वोक्त अर्थ में दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे अवस्तु यानी मल का क्षय होने पर वस्तु यथार्थरूप से प्रकट होती है और जैसे रात्रि के अन्धकार का क्षय होने पर यह दृश्य जगत दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही अज्ञान का क्षय होने पर जगत ब्रह्मभाव से प्रतीयमान होता है ॥३८॥

पूर्व में कहे गये सभी पदार्थों का उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आपकी अज्ञानदूषित दृष्टि से जो यह सम्पूर्ण जगत चारों ओर विस्तृत दिखाई देता है, अज्ञान के साथ उसका नाश होने पर निर्मल दर्पण के तुल्य, परमार्थभूत, निर्मल परमपद में वही एकमात्र परम पद स्थित होगा, इसमें कोई संशय नहीं है ॥३९॥

चालीसवाँ सर्ग समाप्त

इकतालीसवाँ सर्ग

अनिर्वचनीय, चिकित्सा के योग्य, अविचिन्त्य और
मिथ्या माया कलना आदि विशेष धर्मों का मूल है, यह वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, पूर्व सर्गों में सब जगह मन आदि द्वैत कल्पना का मूल कलना ही है, यह कहा गया है। अब निर्विकार, अद्वितीय आत्मा में कलना के निमित्त की भी असंभावना कर रहे श्रीरामचन्द्रजी उसको पूछने की इच्छा से गुरु श्रीवसिष्ठजी के सम्मानार्थ पहले कहे हुए वचन की प्रशंसा करते हुए अपने व्यामोह को प्रकट करते हैं।

क्षीरसागर के गर्भ के यानी चन्द्रमा के तुल्य अतएव शीतल, निर्मल कान्ति से पूर्ण, विचित्र तथा सब ओर से गम्भीर–सी आपकी उक्ति से वर्षा ऋतु में चंचल बादलों से युक्त तथा शान्त सूर्यप्रकाशवाले दिन के समान मैं क्षण भर में अन्धकारता को (व्यामोह को) तथा क्षण भर में प्रकाशता को प्राप्त हो रहा हूँ ॥१,२॥ अनन्त अतएव प्रमाण से अपरिच्छेद्य, पूर्ण, सदा स्वतः भासमान आत्मा को, जिसकी परमार्थस्वरूपप्रथा नष्ट नहीं हो सकती, परिच्छिन्न कलनात्मक विकार कैसे प्राप्त हुआ ? भाव यह है कि स्वयंप्रकाश, अद्वितीय पूर्णस्वभाव आत्मा में परिच्छिन्न कलनारूप विकार का वस्तुतः अथवा कल्पनासे सम्भव नहीं है, इसलिए उसकी प्राप्ति में क्या कारण है ? इसका प्रतिपादन कीजिए ॥३॥

आपका यह व्यामोह वाक्य के दोष से नहीं है, किन्तु आपके तात्पर्य में ध्यान न देने रूप मेरे कथन दोष से ही है, यह दर्शाते हुए श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरे सभी वचन यथाभूत वाक्यार्थ से युक्त हैं। वे पदों की आकांक्षा योग्यता आसत्तिरूप सामर्थ्य से हीन नहीं हैं। अवान्तर वाक्यार्थ महावाक्यार्थ के अपर्यवसायी नहीं हैं यानी अवान्तर वाक्यार्थ महावाक्यार्थ में ही पर्यवसित हैं और न तो उपक्रम और उपसंहार में परस्पर विरोध ही है ॥४॥

यदि श्रीरामचन्द्रजी कहे कि कब मुझे तात्पर्यज्ञान होगा ? तो इस पर कहते हैं।

ज्ञानदृष्टि के स्वच्छ होने पर और प्रबोध के उदय का विस्तार होने पर स्वरूप में स्थित आप मेरे वचनों की तथा उनसे प्राप्त तत्त्वदृष्टि की अन्य के वचनों और तत्प्रयुक्त दृष्टि की अपेक्षा प्रबलता यथार्थरूप से समझेंगे ॥५॥

यदि कोई कहे कि जैसे मेरी माता वन्ध्या है, मेरे मुख में जिह्वा नहीं है, मैं गूँगा हूँ, ये वाक्य बाधितार्थक हैं वैसे ही 'नेह नानाऽस्ति किंचन' 'एकमेवाऽद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतियाँ भी है, इसलिए कैसे विरोध का परिहार होगा ? इस पर कहते हैं।

शिष्यों के उपदेशार्थ शास्त्रार्थ के ज्ञान के लिए शब्द, अर्थ तथा वाक्य रचना का भ्रम है। आप तन्मय न होइए। भाव यह है कि असत्य स्वप्न आदि भी जैसे सत्य वस्तु के ज्ञान के उपाय होते हैं वैसे ही शब्द, अर्थ ओर वाक्यरचना का भ्रम भी सत्य शास्त्रार्थ का हेतु होता है, इसलिए व्यामोहवश आप भ्रममय न होइए ॥६॥

तो कब तक शब्द अर्थ और वाक्यरचना के भ्रम का अनुसरण करना चाहिए, इस पर कहते हैं।

जब उस सत्य, अत्यन्त निर्मल आत्मा का ज्ञान कर लेंगे, तब अवश्य ही आप वाच्य, वाचक और शब्दार्थ के भेद का त्याग कर देंगे। जब तक वाक्यार्थ का अपरोक्ष नहीं होगा, तब तक शब्द और अर्थ के भेद का अनुसरण करना चाहिए, यह अर्थ है ॥७॥

यदि कहें कि वाक्यार्थज्ञान कैसे होगा ? तो इस पर कहते हैं।

उपदेश देने के योग्य शिष्यों के उपदेशार्थ शास्त्रार्थ के ज्ञान के लिए यह भेदकृतवाक्प्रपंच उपदेश योग्य शिष्यों में कल्पित है ॥८॥ यह शब्दार्थरूप वाक् प्रपंच सद् उपदेश के विषय में अज्ञों में कल्पित है, न कि वाक्यार्थ को जाननेवाले पुरुषों में पारमार्थिकरूप से विद्यमान है ॥९॥ पूर्वोक्त कलना, उसके निमित्तभूत पूर्वसंस्कार तथा कर्मरूपी मल एवं अविद्या आदि कुछ भी आत्मा में विद्यमान नहीं हैं। वह परमब्रह्म रागहीन है और वही जगतरूप से स्थित है ॥१०॥ हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, सिद्धान्त के अवसर पर असंभावना के नष्ट हो जाने के बाद निर्वाण प्रकरण में अनेक तरह की युक्तियों से बहुत बार विस्तारपूर्वक मैं यह आपसे कहूँगा ॥११॥

तो इस समय में आपका वाक्प्रपंच किसलिए है, इस पर कहते हैं।

वाक्प्रपंच के बिना इस कारणीभूत अज्ञान तथा मूलअज्ञान का, जो परस्पर की सहायता द्वारा भ्रान्ति की सैकड़ों हजारों शाखा-प्रशाखाओं से उदित है, मूलोच्छेदन करने के लिए तथा उसके साधनों में यत्न करने के लिए आप समर्थ नहीं हैं ॥१२॥

उपदेशरूप वाक्प्रपंच और तज्जन्य ज्ञान अज्ञान के कार्य हैं। ऐसी अवस्था में वे अज्ञान के विराधी कैसे होंगे अथवा अज्ञान स्वविराधी ज्ञान को कैसे चाहेगा ? यदि कोई ऐसा कहे, तो उस पर कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, बहुत जन्मों से संचित सुकृत से विशुद्ध अन्तःकरण के आकारमें परिणत हुई अविद्या ही अपने नाश के उद्यम की इच्छा से सम्पूर्ण दोषों को दूर करनेवाली विद्या की इच्छा करती है। जैसे अपने शरीर से विरोध होने पर भी स्वात्महित होने के कारण विवेकिनी पतिव्रता पतिचितारोहण करती है वैसे ही उसे विद्या की इच्छा हो सकती है, यह भाव है ॥१३॥

परस्पर विरोध का उपपादन करते हैं।

अस्त्र अस्त्र से ही शान्त होता है, मल से (सज्जी से) ही मल साफ होता है, विष से ही विष की शान्ति होती है तथा शत्रु से ही शत्रु मारा जाता है ॥१४॥

वह स्वयं अपनी नाशक कैसे हो सकती है ? एक में कर्तृता तथा कर्मता का सम्भव नहीं हो सकता, यदि कोई ऐसी शंका करे, तो क्रिया में कर्मकर्तुभाव का विरोध होता है, न कि ज्ञान से अज्ञान के बाध में विरोध है, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह माया ऐसी है, जो अपने विनाश से हर्ष देती है। इसका कुछ भी स्वभाव लक्षित नहीं होता है, यह ज्ञानदृष्टि से विचारविषय होते ही नष्ट हो जाती है ॥१५॥

उसके असम्भावित अनन्त कार्य देखे जाते हैं, इसलिए भी विरोध की सम्भावना नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

यह अविद्या विवेक का आवरण करती है, जगत को उत्पन्न करती है; परन्तु यह कौन है, इस तरह ज्ञात नहीं होती। यह जगतरूपी आश्चर्य देखिए ॥१६॥ यह जब तक विचारगोचर नहीं होती, तभी तक स्फुरित होती है, विचारित होने पर नष्ट हो जाती है। जब तक इसके स्वरूप का परिज्ञान नहीं होता, तभी तक यह माया पराक्रम दिखलाती है ॥१७॥ ओह ! संसार को बाँधनेवाली यह माया सचमुच बड़ी विचित्र है। यद्यपि वह असत्य है, तथापि इसने अत्यन्त सत्य की भाँति अपना ज्ञान कराया है ॥१८॥ जिस कारणवश संसार माया अत्यन्त भेदरहित उस परम पद में विस्तृत भेद का विस्तार कर रही है, उसी कारणवश क्षर–अक्षर स्वरूप से अतीत यह आत्मा पुरुषोत्तम है ॥१९॥ यह माया वस्तुतः नहीं है, इस भावना के आचार्योपदेश, श्रुतिवाक्य, तर्क और स्वानुभव के अभ्यास द्वारा प्रदीप्त होने पर आप तत्त्वविद् होकर आत्मास्वरूप वास्तविक ज्ञेय तत्त्व को विस्मृत–कण्ठगत–स्वर्णाभरण की भाँति प्राप्तकर इस मेरी उक्ति के आशय को समझेंगे ॥२०॥

अभी तो मेरे वचन के विश्वास से परोक्ष के तुल्य मुख से कहे गये अर्थ का ग्रहण कीजिए, ऐसा कहते हैं।

जब तक आप प्रबुद्ध नहीं हुए हैं, तब तक आपको मेरे वचन से ही अविद्या नहीं है, ऐसा निश्चल दृढ़ निश्चय होना चाहिए ॥२१॥

पूर्वोक्त निश्चय को निश्चल करने में हेतु कहते हैं।

जो यह साक्षी से दृश्यता को प्राप्त मनोवृत्तिरूप सम्पूर्ण व्यवहार का कारण होने से विशाल मनन यानी अतीत और अप्राप्त अर्थ का अनुसंधान है, यह असन्मात्र है; क्योंकि केवल मन से ही

वृद्धि को प्राप्त हुआ है ॥२२॥

इस तरह मनन का निरास होने पर मन काष्ठरहित अग्नि की भाँति स्वयं शान्त हो जाता है, अतएव ब्रह्म का सन्मात्ररूप से परिशेष होने पर पूर्वोक्त निश्चय के निश्चल हो जाने से पुरुषार्थ की सिद्धि होती है, इस आशय से कहते हैं।

वह ब्रह्म सत्य है, यह निश्चय जिसके भीतर विद्यमान है, वही मोक्षभागी है।

पूर्वोक्त अर्थ को दृढ़ करने के लिए बाह्य अर्थ मनन दृष्टि की बन्धहेतुता का वर्णन करते हैं।

भावनाओं से बँधी हुई चंचल तथा अचंचल आकृतिवाली जो–जो दृष्टि है वह सम्पूर्ण जगत के प्राणीरूपी पक्षियों के बन्धन के लिए जाल है ॥२३॥ असत् यानी अतीत, सत् यानी वर्तमान यों दो रूपवाले मनन के विषय में 'यह सत्य ही है या यह असत्य ही है' इस एकरूप दृढ़ निश्चय से युक्त होकर जो आसक्तात्मा अधिकारी पुरुष जगत को स्वप्न की भूमि की भाँति भ्रान्तिमात्र देखता है, वह दुःख में निमग्न नहीं होता ॥२४॥

तो कौन निमग्न होता है, इस पर कहते हैं।

मिथ्याभूत देहेन्द्रियादि द्वैतभावनाओ में जिसकी अहंबुद्धि है, वही दुःख में है, इस आशय से कहते हैं। उस मिथ्यादर्शी पुरुष का अविद्या यानी आविद्यक दुःख में निमज्जन ही दंड है, इस आशय से कहते हैं।

मिथ्यादर्शी उस पुरुष के लिए एकमात्र अविद्या ही विद्यमान है, इस महात्मा परमात्मा में विकारिता आदि कोई दोष जल में धूल की भाँति विद्यमान नहीं है ॥२५,२६॥

ऐसा होने पर तो तत्त्ववेत्ता पुरुषों की पूर्वापरार्थविषयक भावना के अभाव से व्यवहार की सिद्धि नहीं होगी। ऐसी आशंका करके कहते हैं।

जगत में प्राप्त यह भावना यानी शब्द (नाम) और शब्दार्थों में (पदार्थों में) स्फटिक की भाँति अनुरंजना केवल व्यवहार के लिए उत्पन्न हुई है। यह आत्मा से अतिरिक्त नहीं है ॥२७॥ इस व्यवहार के बिना ये शास्त्रदृष्टियाँ तन्तुहीन पट की भाँति स्थिति को प्राप्त नहीं होती ॥२८॥

यदि अविद्या है ही नहीं, तो शास्त्र किसलिए है ? इस पर कहते हैं।

अविद्यारूपी नदी में बह रहा आत्मा इस संसार में आत्मज्ञान के बिना अनुभव गोचर नहीं होता। और वह आत्मज्ञान शास्त्र के तात्पर्यार्थ से ही प्राप्त होता है ॥२९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, परमात्मा की प्राप्ति के बिना अविद्यारूपी नदी का पार नहीं मिलता है। अविद्या नदी का पारभूत परमात्मा का लाभ ही अक्षय परम पद है ॥३०॥

यदि कोई कहे कि यह अविद्या परमात्मा में कहाँ से आई ? इस पर कहते हैं।

यह मलदायिनी अविद्या चाहे जहाँ कहीं से भी उत्पन्न हुई हो, यह अवश्य है तथा परमपद का अवलम्बन कर स्थित है ॥३१॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, यह अविद्या कहाँ से प्राप्त हुई, ऐसा विचार आप मत कीजिये। इसका कैसे नाश करूँ, यही विचार आप कीजिए ॥३२॥

तो क्या यह अनादि है अथवा सादि है। यदि अनादि है, तो आत्मा की तरह नित्य होगी। यदि सादि है, तो इसका कारण कहना चाहिए। इसी तरह यह सत्य है, अथवा असत्य है। यदि सत्य है, तो ज्ञान से इसकी निवृत्ति नहीं हो सकती। यदि असत्य है, तो संवादी व्यवहार का हेतुत्व ही अनुपपन्न हो जायेगा।

इस तरह की हजारों शंकाओं का नाश उसके नाश से ही हो जायेगा, इस आशय से कहते हैं।

हे रघुकुलदीपक श्रीरामचन्द्रजी, इस अविद्या के अस्त होने अतएव क्षीण होनेपर आप यह जहाँ से आई, जैसे आई और जैसे नष्ट हुई, यह सब अच्छी तरह समझ जायेंगे ॥३३॥

असत्य का सत्य के तुल्य विचार स्वाप्निक पुरुष के गोत्र की चिन्ता की भाँति व्यर्थ है, इस आशय से कहते हैं।

वस्तुतः यह है ही नहीं, विचार न करने पर ही यह भासित होती है। असत् की भ्रान्ति की सत्यरूपता कौन कैसे जान सकता है ? ॥३४॥ यह उत्पन्न होकर प्रौढ़ता को प्राप्त हुई है, इसने दोष के लिए ही अपने आकार का विस्तार किया है, इसका बलपूर्वक विनाश कीजिए, तब आप इसे जानेंगे ॥३५॥

तो स्वाप्निक पुरुष के वध के उद्योग की भाँति अविद्या की निवृत्ति में यत्नातिशय निष्फल है ? ऐसी आशंका करके उससे विलक्षण अनर्थप्रबलता का वर्णन करते हैं।

अत्यन्त बुद्धिमान तथा साथ ही साथ शूर भी ऐसे पुरुष तीनों लोकों में नहीं हैं, जो अविद्या द्वारा विवश न किये गये हों ॥३६॥ इसलिए रोग के तुल्य स्वभाववाली इस अविद्या के विनाश के लिए प्रयत्न कीजिए। इससे यह अविद्या फिर आपको जन्मयातनाओं में नियुक्त न करेगी ॥३७॥ सम्पूर्ण आपत्तियों की मुख्य सहचरी, अज्ञानरूपी वृक्ष की मंजरी तथा अनर्थसमूहों की जननी इस अविद्या को उखाड़ फेंकिए ॥३८॥

उक्तार्थ उपसंहार कहते हैं।

भय, विषाद, दुष्ट मनोव्यथा तथा विपत्तियों को देनेवाली, हृदय में स्थित आत्मदृष्टि के मोहरूपी अन्धकार के हेतु महापटलरूप शरीर, इन्द्रिय आदि की हेतुभूत इस अविद्या को बलपूर्वक अच्छी तरह हटाकर आप भवसागर के पार को प्राप्त होईए ॥३९॥

इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त

बयालीसवाँ सर्ग

अनन्तशक्ति ब्रह्म के, वासना की घनता के क्रम से, जीवभाव क्रम का वर्णन।

इस प्रकार अविद्यारूप व्याधि का वर्णन कर उसकी निवृत्ति के उपाय को अग्रिम बहुत से सर्गों से कहने के लिए श्रीवसिष्ठजी प्रतिज्ञा करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुवर, असत् अतएव विचारमात्र से नष्ट होनेवाली इस अत्यन्त प्रकोप को प्राप्त हुई अविद्यारूपी विस्तृत व्याधि की औषधि सुनिये ॥१॥

अब उसके लिए जीव के अवतरणक्रम का वर्णन करने के लिए चालीसवें सर्ग में 'तासां सम्यक् प्रवक्ष्यामि तावद्राजससात्त्विकीः' इससे जो प्रतिज्ञा की है, उसके अवशिष्ट अंश के वर्णन का यों स्मरण कराते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, मन के पराक्रम के विचारार्थ जिस राजस, सात्त्विक जीव जाति का वर्णन करने के लिए मैं यहाँ पर प्रस्तुत हूँ, उसे आप सुनिये ॥२॥ जिस भाँति सर्वव्यापक, निर्दोष, अनादि, अनन्त, भ्रम कलंकरहित, अमृत ब्रह्म जीवरूप हुआ, उसे भी आप सुनिये ॥३॥ स्पन्दनरहित उस ब्रह्म का जीवरूप चिदाभास चिद् ही है, जैसे सौम्य (निश्चल) सागर ही चलन से तरंग आदिरूप स्थूलता को

प्राप्त होता है वैसे वह भी औपाधिक एकदेश से घनता को प्राप्त होता है ॥४॥

शक्तियों की विचित्रता सत्त्व आदि गुणों की वृद्धि तथा ह्रास के परस्पर मिश्रण के तारतम्य से होती है और उपचय आदि राजस क्रियाशक्ति से होते हैं, इसलिए पहले क्रियाशक्ति की उत्पत्ति दिखलाते हैं।

जैसे समुद्र के अन्दर जल स्पन्द और अस्पन्दरूप से अवस्थित देखा जाता है यानी किसी स्थान में स्पन्द (गतिविशिष्ट) और किसी स्थान में अस्पन्द (गतिरहित) देखा जाता है, वैसे ही सर्वशक्ति ब्रह्म अस्पन्द भाव होते हुए भी किसी एक अंश में स्पन्दशक्तिरूप से आविर्भूत होता है ॥५॥

यद्यपि ब्रह्म स्वतः कूटस्थ है, तथापि उसमें आध्यासिक चलन का अविरोध दिखलाते हैं।

जैसे वायु आत्मरूप ही आकाश में अपने से गमन करता है वैसे ही सर्वशक्ति ब्रह्म अपने आत्मा में ही अपनी शक्ति से ही चंचलता को प्राप्त होता है ॥६॥

स्पन्दशक्ति का स्पन्दरहित प्रकाशशक्ति से भी विरोध नहीं है, इसमें दृष्टान्त देते हैं।

जैसे निश्चल दीपक अपनी ज्वाला की स्पन्दशक्ति से ही ऊपर को प्राप्त होता है, वैसे ही यह आत्मा भी अपने स्वरूप में ही प्रकाशित होता है ॥७॥ जैसे सागर शरद् ऋतु की धूप के सम्बन्ध से चमक रहे जल प्रदेश में ही चंचल सा प्रतीत होता है, वैसे ही सर्वशक्ति आत्मा अपने स्वरूप में ही स्पन्दरूप विलास से युक्त होता है ॥८॥

परमार्थतः अन्यरूप होते हुए भी कल्पित अन्यरूप से स्फुरणों में भी यही दृष्टान्त है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे शरद् ऋतु की धूप से चमक रहा पिघलाए हुए सोने के समान सागर स्फुरित होता है, वैसे ही चैतन्यरूपी सागर इन्द्रियजन्य प्रकाशों से आत्मा में ही स्फुरित होता है ॥९॥ जैसे अतीन्द्रिय आकाश में मोतियों की माला कभी-कभी लहराती हुई-सी दिखाई देती है, वैसे ही चिन्महाकाश में दैदीप्यमान चित्शक्ति भी प्रतीत होती है ॥१०॥ जैसे समुद्र में निर्मल तरंग समुद्र ही है, वैसे ही चिद्रूपी महासागर में कुछ क्षुभित रूपवाली उस जगतमयी चित्शक्ति के रूप से चिति ही स्फुरित होती है ॥११॥

ऐन्द्रियक चित्शक्ति परमार्थ चिति ही है, उसमें उत्पत्ति का आरोप केवल औपाधिक है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे आलोक कोटर में (सूचि आदि के छिद्र में) आलोक श्री रहती है, वैसे ही उपाधिपरवश होकर यह चित्शक्ति आत्मा से अभिन्न होती हुई भी भिन्न-सी हो स्थित होती है ॥१२॥

इसलिए उसके कालिक परिच्छेद तथा उक्त शक्तिमत्ता आदि रूप भेदप्रतीति की उपपत्ति होती है, ऐसा कहते हैं।

वह दैदीप्यमान चित्शक्ति अपनी उस सर्वशक्तिता से एक क्षणभर में स्फुरित होती है, जैसे चन्द्रमा की कला अपनी शीतलता का स्वयं अनुभव करती है वैसे ही वह अपनी शक्ति का स्वयं अनुभव करती है ॥१३॥

अन्यान्य शक्तियों की प्रवृत्ति चित्शक्ति के उदय के अधीन ही है, स्वतन्त्ररूप से उनकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं।

परमात्मा से उदित हुई यह प्रकाशरूप चित्शक्ति अपनी सखीरूप देशकाल क्रियाशक्तियों का

आकर्षण करती है यानी देशकालक्रियाशक्ति सखी के तुल्य उसका अनुगमन करनेवाली है ॥१४॥ इस प्रकार अपने स्वभाव को जानकर यह अनादि, अनन्तपद में स्थित होती है । अविचारित होती हुई पूर्वोक्त कल्पितरूप को भ्रमवश अपना स्वरूप जानकर 'मैं परिच्छिन्न हूँ', यों अपने स्वरूप की भावना करती है ॥१५॥ जभी उस परमसत्ता ने इस प्रकार के स्वरूप की भावना की, तभी तुरन्त नाम रूप भेद आदि जगत की सम्पूर्ण कल्पनाओं ने उसका पीछा किया ॥१६॥

इस प्रकार चित् में कल्पित सकल दृश्य का चिन्मात्रत्व ही परमार्थरूप है, यों फलित हुआ, ऐसा कहते हैं।

सद्रूप आत्मा से पृथक् कल्पना अवस्तु ही है, इसलिए जैसे महासागर से व्यतिरिक्त लहरी महासागररूप ही है, वैसे ही शीघ्र परमात्मा में प्राप्त हुई अनन्त कल्पना चित् ही है ॥१७॥ जैसे कटक-केयुरों से सुवर्ण का भेद विलक्षण है वैसे ही अंशकल्पना के अधीन सम्पूर्ण जगद्रूप अपने स्वरूप की भावना कर रहे चैतन्य का भेद विलक्षण है ॥१८॥ जैसे दीपक से उत्पन्न हुए दीपकों का देश, काल और कलामात्र से भेद है वैसे ही चित् का भी उपाधिस्वरूप से प्राप्त हुआ आत्मभेद है ॥१९॥ देश, काल और क्रिया की शक्ति से संदीपित हुआ चैतन्य संकल्प का अनुसरण करता हुआ कल्पना को प्राप्त होता है ॥२०॥

इसीलिए क्षेत्रोपाधिकल्पना के अधीन चैतन्य का क्षेत्रज्ञत्व प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

हे महाबाहो, विकल्पों से जिसने आकार का ग्रहण किया है एवं देश, काल और क्रिया के अधीन जो चैतन्य का रूप है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है ॥२१॥

शरीर क्षेत्र कहलाता है, उसको भली भाँति बाहर-भीतर सर्वतोभावेन वह जानता है, इसलिए वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है ॥२२॥

वासनाओं की कल्पना करता हुआ वह क्षेत्रज्ञ अहंकारता को प्राप्त होता है।

निश्चय करनेवाला अतएव अन्य कल्पनारूप कलंक से युक्त अहंकार ही बुद्धि कहलाता है । संकल्पयुक्त बुद्धि मन का स्थान ग्रहण करती है। प्रचुर विकल्पों से युक्त मन धीरे-धीरे इन्द्रियता को प्राप्त होता है, इन्द्रियों को ही विद्वान लोग, हस्त, पाद आदि रूप देह कहते हैं, यह शरीर लोक में जाना जाता है, उत्पन्न होता है और जीवित रहता है ॥२३-२५॥ इस प्रकार संकल्पवासनारूपी रस्सी से परिवेष्टित और विविध दुःखों से व्याप्त जीव ही क्रम से बाह्य पदार्थों के चिन्तन की सामर्थ्य को प्राप्त होता है ॥२६॥ जैसे फल पाकवश क्रमशः रूप, रसआदि गुणों के परिवर्तनसे ही अन्यरूपता को प्राप्त होता है, आकृति से (आम्रफल आदि जाति से) अन्यरूपता को प्राप्त नहीं होता वैसे ही क्षेत्रज्ञ भी अविद्यारूप मल के परिपाकवश विलक्षणता को प्राप्त होता है। अपरिणामी चित्तस्वभाव से विलक्षणता को प्राप्त नहीं होता ॥२७॥

इस प्रकार क्षेत्र सिद्धि कह कर जीव का अहंकार आदि क्षेत्र में तादात्म्यसंगर्ध्यासरूप बन्ध क्रम से कहते हैं।

जीव अहंकारता को प्राप्त होता है । अहंकार बुद्धिता को प्राप्त होता है । बुद्धि संकल्प-विकल्प जालों से पूर्ण चित्तता को प्राप्त होती है। चित्त स्त्री, पुत्र आदि के शरीराकार के ग्रहण में यानी तदाकार वृत्ति द्वारा संस्काररूप से धारण में तत्पर, संकल्प-विकल्पमय एवं सफल और विफल मनोरथों से

परिच्छिन्न तुच्छ विषयों में आसक्त होता है ॥२८,२९॥

उक्त विषयों में आसक्ति होने पर उन विषयों का पुनःपुनः स्मरण करता हुआ चित्तभाव को प्राप्त हुआ चैतन्य राग, द्वेष आदि दोषों से अभिभूत होता है, ऐसा कहते हैं।

जैसे गौएँ मदोन्मत्त साँड़ के पीछे पीछे दौड़ती हैं और जैसे नदियाँ सागर की ओर दौड़ती हैं वैसे ही इच्छा आदि शक्तियाँ दोष के लिए ही चित्त का अनुगमन करती हैं ॥३०॥ इस प्रकार राग, द्वेष आदि शक्ति सम्पन्न मन शाखा–प्रशाखारूप से अभिमान की वृद्धि होने के कारण घन अहंकारता को प्राप्त होकर रेशम के कीड़े के समान स्वेच्छा से बन्धन को प्राप्त होता है ॥३१॥ बंशी, जाल आदि फन्दों से अपने शरीर को मृत्यु के लिए प्राप्त कर रही मछली आदि की तरह अपने संकल्पों के अनुसंधान से कष्टकारी बन्धन को स्वयं प्राप्त होकर मन इस लोक में परिताप को प्राप्त होता है, 'मैं बँधा हूँ', इसे परमार्थ सत्य समझता हुआ, धीरे–धीरे पारमार्थिक आत्मरूप का त्याग करता हुआ यानी स्वप्न में भी आत्मरूप का विचार न करता हुआ वह जगद्रूपी जंगल की राक्षसी के तुल्य जन्म, मरण आदि रूप भ्रान्तिपरम्परा की उत्पत्ति करता है ॥३२,३३॥ स्वयं संकल्पित शब्द आदि विषयरूप इन्धन से युक्त राग आदि रूप ज्वालाओं के मध्य में स्थित मन श्रृंखलाओं से बँधे हुए सिंह के समान बड़ी विवशता को प्राप्त होता है। वासनावश विहित–निषिद्धरूप विविध कर्मों की कर्तृता का बड़े प्रयत्न से संपादन करता हुआ तथा नाना योनिरूप नरक आदि दुर्दशाओं को और आगे कही जानेवाली एकमात्र अपनी इच्छा से रचित मनन आदि दशाओं को प्राप्त हो रहा मन बड़ी विवशता को प्राप्त होता है ॥३४,३५॥

वही मनन आदि वृत्तियों के भेद से मन आदि शब्दों का भाजन होता है, अन्य नहीं, ऐसा कहते हैं।

कहीं पर वह मन कहा गया है, कहीं पर बुद्धि, कहीं पर ज्ञान तथा कहीं पर क्रिया कहा गया है। कहीं पर अहंकार, कहीं पर पुर्यष्टक, कहीं पर प्रकृति तथा कहीं पर माया नाम से उसकी कल्पना हुई है। कहीं पर वह मल कहा गया है, कहीं पर माया नाम से उसकी कल्पना हुई है। कहीं पर कर्मरूप से स्थित हैं, कहीं पर बन्धनाम से प्रसिद्ध है और कहीं पर चित्त नाम से पुकारा गया है। कहीं पर अविद्या नाम से और कहीं पर इच्छारूप से अवस्थित है ॥३६–३८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस लोक में तृष्णा और शोकसे व्याप्त, राग का विशाल आयतन, दुःखित यह चित्त ही आबद्ध है, आत्मा आबद्ध नहीं है। यही जरा, मरण, मोहरूप मानसिक भावनाओं से व्याप्त है, इहित और अनीहितों से ग्रस्त है, अविद्या–रूपी रंग से रँगा है, स्वेच्छा से इसका आकार क्षोभ को प्राप्त हुआ है, कर्मरूपी वृक्षराशियों का यह अंकुर है, अपनी उत्पत्ति के निमित्तभूत परमात्मतत्त्व को भली भाँति भूल चुका है, अनेक अनर्थकारी कल्पनाओं की इसने कल्पना कर रक्खी है, यह रेशम के कीड़े की तरह अपने–आप बन्धन को प्राप्त हुआ है, और शोकमय पद को प्राप्त हुआ है; रूप, रस आदि तन्मात्रा के समूहों से रचित है तथा अनन्त नरकों के दुःखों से व्याप्त है। यद्यपि यह अनात्मरूप से देखने के योग्य है तथापि दुर्विचारवश शाखाओं से भरपूर है एवं संसाररूपी विषमय फल का दुष्ट वृक्ष है। आशारूप पाशों का निर्माण करनेवाले इस समस्त संसार को जो कि पुरुषार्थों से हीन है, जैसे वट का बीज फल से रहित वटवृक्ष को धारण करता है, वैसे ही अपने भीतर धारण कर रहे, दुश्चिन्तारूपी अग्निज्वालाओं से झुलसे हुए, कोपरूपी अजगर से डँसे हुए, कामरूपी समुद्र की बड़ी–बड़ी तरंगों से विताड़ित, अपने आत्मस्वरूप मूल कारण को भूले हुए,

यूथ से बिछड़े हुए मृग के समान शोक से अचेत हुए, विषयरूपी अग्नि में पतंगे के समान ज्वालाओं से जले हुए, जिसकी जड़ कट गई हो, ऐसे कमल की तरह अत्यन्त म्लानता को प्राप्त हुए, अपने निवासभूत देह से मृत्यु द्वारा अपहरण करने पर तत् तत् देहों के अभिमान के विच्छेद से छिन्न–भिन्न अंगवाले, अतएव तत्–तत् देहों में आसक्ति से अत्यन्त पीड़ित एवं विषय, इन्द्रिय, देह आदिरूप भाँति–भाँति के रूप धारणकर अपने विनाश में तत्पर हुए शत्रुओं के मध्य में उन पर विश्वास करने के कारण स्थित, पहले कही गई संकटाकीर्ण इस अनन्त दशाओं में भटके हुए, जैसे पक्षी सागर में गिरा हो वैसे ही घोर दुःख में गिरे हुए, गन्धर्व नगर के तुल्य शून्य इस जगज्जाल में अपने बन्धन के हेतुभूत देह आदिपर अत्यन्त स्नेह करनेवाले, तत्त्वज्ञान और उसके साधने के अनादररूपी समुद्र में तैर रहे एवं विषय–वासना से पीड़ित मन का हे देवतुल्य श्रीरामचन्द्रजी ! कीचड़ से हाथी से समान, आप उद्धार कीजिए ॥३९–५०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, कामरूपी छोटी तलैया में बैल के समान खूब फँसे हुए तथा चिरकाल तक विषयभोगों से पुण्यक्षय होने पर परलोक जाने के साधनों का अभाव होने से कटे हुए तथा शिथिल हस्त, पाद आदि अवयववाले मन का आप प्रयत्न से उद्धार कीजिए ॥५१॥

पूर्वोक्त तत्त्वज्ञान और उसके साधनों में अनादर करनेवाले पुरुष की निन्दा द्वारा इस सर्ग का उपसंहार करते हैं।

मन के काम्य शुभकर्म और निषिद्ध कर्मों के आधिक्य से मलिन स्वरूपवाले एवं खूब प्रज्वलित हो रहे जरा, मृत्यु और विषादों से मूर्छित होने पर जिसको इस जगत में क्लेश नहीं होता वह मनुष्य नराकृति में छिपा हुआ राक्षस है ॥५२॥

बयालीसवाँ सर्ग समाप्त

तैंतालीसवाँ सर्ग

जीवों की कर्मगति का विस्तार से वर्णन एवं विवेक आदि के
अत्यन्त दुर्लभ होने से किन्हीं-किन्हीं की मुक्ति होती है, यह वर्णन।

इस प्रकार मन की स्वबन्धकता का प्रकार कह कर उस मन से उपहित चिद्रूप जीवों की जब तक मोक्ष न हो तब तक संसार स्थिति के प्रकार की विचित्रताओं का वर्णन करनेवाले श्रीवसिष्ठजी संगति प्रदर्शन के लिए पूर्वोक्तजीवोत्पत्ति का दूसरे प्रकार से अनुवाद करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी, इस प्रकार चित् के औपाधिक विभावरूप जीव संसारवासना से लाखों और करोड़ों की संख्या में प्रवाहित हैं। पूर्ववासना के अनुसार कल्पित आकारवाले ब्रह्म से पहले असंख्य जीव उत्पन्न हो चुके हैं। आज भी उत्पन्न हो रहे हैं और भविष्य में भी उत्पन्न होंगे, उससे वे यों उत्पन्न होते हैं जैसे झरने से जलबिन्दुओं की राशियाँ उत्पन्न होती है ॥१,२॥ अपनी वासनामय दशा के आवेश से वे आशा के वशवर्ती हुए हैं और इस अतिविचित्र दशाओं में स्वयं आबद्ध हुए हैं ॥३॥ निरन्तर हर एक दिशा में, प्रत्येक देश में, जल में और स्थल में जल में बुद्बुदों की तरह वे या तो उत्पन्न होते हैं या मरते हैं ॥४॥ किन्हींने इस कल्प में एक ही जन्म प्राप्त किया है और किन्हीं के सौ से भी अधिक जन्म हो गये हैं। किन्हीं के जन्मों की संख्या ही नहीं है, किन्हीं के दो या तीन जन्मान्तर

हुए हैं, किन्हींके जन्म आगे होनेवाले हैं यानी इस कल्प में अभी उत्पन्न ही नहीं हुए है, किन्हीं के जन्म बीत चुके है यानी जीवन्मुक्त है। किन्हीं के जन्म हो रहे हैं और कोई विदेहमुक्ति को प्राप्त हो गये है, कोई हजारों कल्पों से बारबार उत्पन्न हो रहे हैं, कोई एक ही योनि में स्थित है, कोई अन्यान्य योनियों को प्राप्त हो रहे हैं ॥५-७॥ कोई बड़े-बड़े क्लेशों को (नरकों को) सहते हैं, कोई अल्प सुखवाले (मनुष्य) हैं, कोई अत्यन्त प्रसन्न (देवगण) हैं और कोई मानों सूर्य से उदित हुए हैं यानी (सत्यलोकवासी) हैं ॥८॥ कोई किन्नर, गन्धर्व, विद्याधर तथा नागों की योनियों में हैं और कोई सूर्य, इन्द्र, वरुण हैं तथा कोई शिव, विष्णु, ब्रह्मा हैं ॥९॥ कोई कूष्माण्ड, वेताल, यक्ष, राक्षस पिशाचरूप से स्थित हैं तथा कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के समूहरूप से स्थित है ॥१०॥ कोई म्लेच्छ, चाण्डाल और किरात की योनि में उत्पन्न अधम जातियों में स्थित है, कोई तृण और औषधि के रूप में विद्यमान हैं और कोई फल, मूल तथा पतंगों के रूप में स्थित हैं ॥११॥ तो कोई भाँति-भाँति की लताओं, झाड़ियों, तिनकों और पर्वतों के रूप में चारों ओर विद्यमान हैं एवं कोई कदम्ब, नींबू, शाल, ताल और तमालरूप से स्थित हैं ॥१२॥ कोई अपने वैभव से संसार में भ्रमण करनेवाले मन्त्री, सामन्त और राजा के रूप में विद्यमान हैं, तो कोई वस्त्र न मिलने के कारण अथवा तपस्या के लिए वल्कल वस्त्रों से आच्छन्न हो मुनियों के मौन को प्राप्त है ॥१३॥ कोई साँप, अजगर, कीड़े, मकोड़े और चींटियों के रूप में स्थित हैं, कोई सिंह, भैंस, मृग, बकरे, चमरी, गाय और खरगोश के रूप में है ॥१४॥ कोई सारस, चकोर, बलाका, बतक, कोकिल के रूप में है, तो कोई तो कमल, कह्लार (श्वेतकमल), कुमुद और उत्पल के रूप में स्थित हैं ॥१५॥ कोई हाथी के बच्चे, हाथी, वराह, बैल, गदहे के रूप में है, तो कोई भँवर, मच्छर, डाँस की योनियों में उत्पन्न हुए हैं ॥१६॥ कोई बड़ी-बड़ी आपत्तियों से आक्रान्त हैं, तो कोई बड़े समृद्धिशाली हैं, कोई स्वर्ग में विराजमान हैं, तो कोई नरकों में पड़े हैं ॥१७॥ कोई तारा समूह में स्थित हैं, तो दूसरे वृक्षों के छिद्रों में बैठे हैं, कोई आवह, प्रवाह आदि वायुओं के अधिकार को प्राप्त हैं, तो कोई आकाश में अधिकार जमाये हैं ॥१८॥ कोई सूर्य की किरणों में (रस खींचने के अधिकार में) स्थित है, तो कोई चन्द्रमा की किरणों में (औषधि आदि की वृद्धि करने में) लगे हैं और कोई तृण, लता और झाड़ी का रस जहाँ पर स्वादू है, ऐसे पशु आदि के योग्य विषय लम्पटता में संलग्न हैं ॥१९॥ कोई मोक्ष के समुचित पात्र जीवन्मुक्त हो यहाँ पर भ्रमण करते हैं, कोई चिरकाल से मुक्त होकर स्थित हैं और कोई परमात्मभाव को प्राप्त करते हैं यानी विदेहमुक्त हैं ॥२०॥ किन्हीं कल्याण भाजन जीवों की चिरकाल में मुक्ति होनेवाली है, तो कोई जीव भोगलम्पट होकर आत्मा के कैवल्य का द्वेष करते हैं ॥२१॥ कोई विशाल दिक्पाल देवता हैं, तो कोई महावेगवाली नदियाँ हैं। कोई मनोहर नेत्रवाली स्त्रियाँ हैं, तो कोई नपुंसक हैं ॥२२॥ किन्हीं लोगों की बुद्धि अत्यन्त प्रबुद्ध है, ते किन्हीं का हृदय अत्यन्त जड़ है। कोई ज्ञान का उपदेश देनेवाले हैं, तो किन्हीं ने समाधि ले रक्खी है ॥२३॥

ये सभी जीव संसार की अनर्थकारिणी वासना से ही हुए हैं, इसलिए वासना का ही समूल उच्छेद करना चाहिये, इस आशय से उपसंहार करते हैं।

अपनी वासना के आवेश से विवश बुद्धिवाले जीव इन-इन उपरोक्त सभी अवस्थाओं में बद्धभावनावाले होकर स्थित हैं। इसमें कुछ तो पृथिवी में विहार करते हैं, कुछ नरक में गिरते हैं और

कुछ स्वर्ग में जाते हैं। सचमुच मृत्यु से निरन्तर आहत हुए इन लोगों की अवस्था हाथ से पुनः पुनः ताड़ित गेंद की तरह है ॥२४,२५॥ सैकड़ों आशारूप फन्दों से बँधे हुए, तथा वासनारूप भावी देहों को धारण करनेवाले जीव जैसे पक्षी एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर जाते हैं वैसे ही एक शरीर से दूसरे शरीर में जाते हैं ॥२६॥ अविद्या से, जो कि अनन्त विषयों में अनन्त संकल्प–कल्पनाओं की उत्पत्ति में हेतु है, इस जगद्रूप महान इन्द्रजाल का विस्तार कर रहे ये मूढ़ जीव जल में आवर्तों की तरह संसार में तब तक भटकते हैं, जब तक आनन्दित अपने स्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर लेते ॥२७,२८॥

यदि कोई कहे, विवेकी पुरुषों को आत्मसाक्षात्कार से क्या लाभ होता है ? इस पर कहते हैं।

आत्मसाक्षात्कार के अनन्तर असत् का त्यागकर सत्य ज्ञान को प्राप्तकर भूमिकाओं की दृढ़ता के क्रम से परम पद को प्राप्त होकर विवेकी पुरुष इस संसार में फिर उत्पन्न नहीं होते ॥२९॥

विवेक शून्य लोगों की जो गति होती है, उसे कहते हैं।

कोई अविवेकी लोग हजारों जन्मों का भोगकर विवेक को प्राप्त करके भी फिर इस संसाररूपी संकट में गिरते हैं। कुछ लोग देव, गन्धर्व, ब्राह्मण आदि उत्तम जन्म, उत्तम देश, उत्तम काल, उत्तम प्रतिभा, विनय, सत्संगति आदि सम्पत्ति को प्राप्त करके भी तुच्छ विषयों में लम्पटतावश अपनी बुद्धि से ही फिर तिर्यक् योनि को प्राप्त होते हैं और तिर्यक् योनियों से नरकों को भी प्राप्त होते हैं ॥३०,३१॥ कोई महामति सनक आदि महात्मा पुरुष ब्रह्मपद से उत्पन्न होकर उसी कल्प में एक ही जन्म द्वारा मोक्षरूप ब्रह्मपद में ही शीघ्र प्रविष्ट हो जाते हैं ॥३२॥ कोई जीवराशियाँ अपने उत्पत्तिस्थानरूप ब्रह्माण्डों से अन्य ब्रह्माण्डों में प्राप्त होती हैं, कोई अपने उत्पत्तिस्थानरूप ब्रह्माण्डों में ही उत्पन्न होती हैं, कोई हिरण्यगर्भ स्वरूपता को प्राप्त होती हैं और कोई शंकरस्वरूपता को प्राप्त होती हैं ॥३३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, कोई जीवराशियाँ तिर्यक् योनि को प्राप्त होती हैं, तो कोई देवत्व को प्राप्त होते हैं, कोई नागयोनि को प्राप्त होती हैं, तो कोई जैसे इस ब्रह्माण्ड में थी वैसे ही दूसरे ब्रह्माण्डों में भी होती हैं ॥३४॥ जैसे यह विशाल ब्रह्माण्ड है वैसे ही और विशाल ब्रह्माण्ड भी बहुत से विद्यमान है, पहले थे और आगे होंगे ॥३५॥ अन्यान्य विचित्र क्रम से और अन्यान्य विचित्र हेतुओं से उनकी विचित्र सृष्टियाँ आविर्भूत होती है और तिरोहित होती हैं ॥३६॥

इस ब्रह्माण्ड की तरह अन्यान्य ब्रह्माण्डों में भी कर्मों की विचित्रता से जीवों की गति विचित्र ही है, इस आशय से कहते हैं।

उन ब्रह्माण्डों में भी कोई गन्धर्व होता है, तो कोई यक्ष योनि में उत्पन्न होता है, कोई देवत्व को प्राप्त होता है, तो कोई दैत्यता को प्राप्त होता है ॥३७॥ इस ब्रह्माण्ड में लोग जिस मनुष्य आदि के उचित व्यवहार से स्थित है, उसी व्यवहार से अन्यान्य ब्रह्माण्डों में भी वे स्थित हैं। केवल अन्य द्वीपवासी लोगों के समान उनकी आकृति में विलक्षणता है ॥३८॥

यदि कहे भले ही ऐसा हो, फिर उत्तमता, अधमता आदिरूप से और परस्पर स्नेह, विरोध आदिरूप से उन जीवों का सृष्टि परिवर्तन कैसे होता है, इस पर कहते हैं।

जैसे परस्पर संघट्टन से नदी की लहरें परिवर्तित होती हैं वैसे ही सात्त्विक राजस, तामस आदि स्वभाव के कारण तत्तदनुकूल व्यवहार में आग्रह से प्रवृत्त हुए उन जीवों की किसी एक विषय में स्पर्धावश परस्पर

विमर्दन द्वारा सृष्टियों का परिवर्तन होता है ॥३९॥ जैसे नदीं की तरंगें आविर्भाव और तिरोभाव द्वारा उन्मज्जन और निमज्जन से परिवर्तित होती हैं वैसे ही रज का आविर्भाव होने पर सृष्टि का उन्मज्जन और सत्त्व तथा तम का निमज्जन होता है। तम के आविर्भाव से रज का तिरोभाव होने पर सृष्टि का निमज्जन और बीज में सत्त्व का आविर्भाव होने पर पालन द्वारा सृष्टि का परिवर्तन होता है ॥४०॥

सत्त्व आदि गुणों के अधीन अन्तःकरण आदि की सृष्टि से अन्तःकरणोपाधिकजीव के आविर्भाव की प्रसिद्धि है, इस आशय से कहते हैं।

उस परम पद से अनिर्देश्य और स्वसंवेद्य जीवराशियाँ निरन्तर आविर्भूत होती हैं और उसी में स्पष्टरूप से व्यवहार करती हैं ॥४१॥

इस विषय में श्रुति आदि में प्रसिद्ध दृष्टान्त कहते हैं।

दीप से प्रकाश की तरह, सूर्य से किरणों की तरह, तपे हुए लोहे से लोह कणों की तरह, अग्नि से चिन्गारियों की तरह, समय से विचित्र ऋतुओं की तरह, फूलों से सुगन्ध की तरह, वर्षा के परमाणुओं से तुषार की तरह और समुद्र से लहरों की तरह जीवराशियाँ बार-बार उत्पन्न हो-होकर चिरकालतक देह परम्परा को भोगकर प्रलय काल में बीजभूत शान्त पद में अपने-आप ही विलीन हो जाती हैं ॥४२-४४॥

पूर्वोक्त जीव-जगत की सृष्टि का संक्षेप से उपसंहार करते हैं।

यह त्रिभुवनरचना आदि की भ्रान्तिरूप माया समुद्र में लहरों की तरह परम पद में निरन्तर व्यर्थ ही विस्तृत है, बढ़ती है, परिणाम को प्राप्त होती है और नष्ट होती है ॥४५॥

तैंतालीसवाँ सर्ग

चौवालीसवाँ सर्ग

मुक्ति और प्रलय में समानता होने पर भी इन दोनों में विलक्षणता का कथन एवं विरंचिरूप जीव के शरीर-ग्रहण क्रम का कथन।

प्रलय में अपने-आप शान्त पद में जीवराशियाँ विलीन होती है, ऐसा जो कहा है, उसमें श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, 'उत्पत्योत्पत्य कालेन भुक्त्वा देहपरम्पराम्' इत्यादि आपके द्वारा उक्त क्रम से जिस जीव ने प्रलय में परम पद में अपनी स्थिति प्राप्त कर ली, वह मुक्त ही है, वह फिर अस्थिपिंजररूप देह को कैसे ग्रहण करता है ? भाव यह है कि परम पद को प्राप्त पुरुष को यदि पुनः संसारप्राप्ति हो, तो मुक्ति में भी लोगों की अनास्था हो जायेगी। यदि कहिये कि अज्ञानावृत प्राणी में बीजता प्रयुक्त विशेषता हो सकती है, तो ऐसा संभव नहीं है, क्योंकि सर्वथा बीजताशून्य वस्तु अज्ञान-आवरणमात्र से बीज नहीं हो सकती, अन्यथा पत्थर के टुकड़े जो बीज नहीं है, केवल अज्ञान के आवरण से अंकुरादि के प्रति बीज होने लगेंगे ॥१॥

यद्यपि अज्ञानावृत शिला के टुकड़ों में स्वसमान सत्तावाले (व्यावहारिक सत्तावाले) अंकुर के प्रति बीजता नहीं दिखाई देती है तथापि आवरणसमान सत्तावाले (प्रतिभासिक सत्तावाले) सर्प आदि के प्रति आवृत रज्जु आदि में कारणता दिखाई देती है, अतएव मिथ्या बीजता केवलमात्र आवरण से की गई है,

यह यद्यपि विशेषरूप से मैंने नहीं कहा, तथापि आपको अपनी बुद्धि से ही तर्क द्वारा समझ लेना चाहिये, इसके लिए प्रश्न की आवश्यकता नहीं है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी कहते हैं :

हे रामचन्द्रजी, जो आपने मुझसे पूछा है, उसका उत्तर मैं पहले ही कह चुका हूँ। आपकी समझ में क्यों नहीं आ रहा है, आपकी पूर्वापर के विचार में निपुण बुद्धि कहाँ चली गई है ? ॥२॥ जो यह शरीर आदि रूप स्थावर–जंगम जगत है, यह आभासमात्र ही (विवर्तमात्र ही) है, अतएव असत् स्वप्न के समान उदित हुआ है ॥३॥

यदि कोई कहे कि चिरकाल तक स्थिर रहनेवाले ब्रह्माण्ड, भुवन आदि आभासमात्र कैसे हो सकते है ? तो इस पर कहते हैं।

हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, यह प्रपंच दीर्घकालीन स्वप्न के समान, दो चन्द्रमाओं की भ्रान्ति के समान एवं घूमने के समय घूमते हुए पहाड़ के समान मिथ्या ही दिखाई देता है ॥४॥

अज्ञानी के बीज रहनेके कारण पुनः संसारदर्शन होने पर भी ज्ञानी को पुनः संसारदर्शन की प्राप्ति नहीं होती है, ऐसा कहते हैं।

जिस पुरुष की अज्ञानरूपी नींद नष्ट हो गई और वासनाएँ शान्त हो गई ऐसा प्रबुद्ध चित्तवाला पुरुष जीवन्मुक्त के व्यवहार के योग्य संसाररूपी स्वप्न को देखता हुआ भी परमार्थ–दृष्टि से नहीं देखता है ॥५॥

बीजभूत अज्ञान में भावी संसार मोक्ष होने तक सूक्ष्मरूप से रहता है, इस कारण भी बारबार जन्म की उपपत्ति होती है, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जीवों के स्वभाव से कल्पित संसार अज्ञानात्मा के अन्दर सदा ही विद्यमान रहता है, जिसकी मोक्ष होने तक लगातार प्राप्ति होती है ॥६॥

जैसे जल के भीतर आवर्त (भौंरी) रहता है, बीज के अन्दर अंकुर रहता है, अंकुर के अन्दर विशाल वृक्ष रहता है, वृक्ष में जैसे फूल रहता है और फूल के अन्दर जैसे फल रहता है वैसे ही जीव के अन्दर चंचल (विनाशी) शरीर रहता है।

शंका : जीव के अन्दर शरीर कैसे रहता है ?

समाधान : कारण कि मन के अन्दर कल्पनारूप देह सदा विद्यमान रहती है ॥७,८॥

मन के अन्दर देह की सम्भावना कैसे है, ऐसा यदि कोई कहे, तो उस पर कहते हैं।

मन की विविध रूपों से प्रसिद्ध, देहरूप की भी वासनारूप से उसमें सम्भावना हो सकती है।

शंका : यदि ऐसा है, तो बहुत से शरीर एक साथ क्यों नहीं उत्पन्न होते ?

समाधान : वासनारूप से बहुत से शरीरों के मन में स्थित होने पर भी जो एक ही शरीर परिपक्व हुए कर्मों से अभिव्यक्त होता है, वही विर्वतरूप शरीर इस जीव को प्रायः एक समय में प्राप्त होता है, सभी शरीर प्राप्त नहीं होते ॥९॥

यह मन ही देह होता है। उत्तम कर्मों का परिपाक होने पर उत्तम देह होती है, यह बात आदि सर्ग से लेकर दर्शाते हैं।

यह मन ही, जैसे मिट्टी का पिण्ड घट के रूप में परिणत हो जाता है वैसै ही, शीघ्र शरीर बन जाता है। पहले पूर्व सृष्टि में इसका प्रतिभासरूप उत्तम शरीर उत्पन्न हुआ, क्योंकि पद्मकोशरूपी घर में

स्थित विभु ब्रह्मा यह हुआ, तदनन्तर उसके संकल्प के क्रम से ही घन माया से माया की तरह आर–पार–रहित यह सृष्टि स्थिति को प्राप्त हुई है ॥१०,११॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, जीव मन पद को प्राप्त करके जिस प्रकार विरंचिपद को प्राप्त हुआ, उस प्रकार को आद्योपान्त विस्तारपूर्वक शीघ्र मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥१२॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे महाबाहो, ब्रह्मा के शरीर ग्रहण में जो क्रम है उसे आप मुझसे सुनिये, उसी को उदाहरण बनाकर आप जगत की सारी स्थिति को जान जायेंगे ॥१३॥ देश, काल आदि से अपरिच्छिन्न आत्मतत्त्व जब भी अपनी शक्ति से देश, काल से परिच्छिन्न शरीर को धारण करता है, तभी वह जीवनामक, वासनाओं के आवेश में तत्पर, विविध कल्पनाएँ करने में संलग्न, चंचल मन बन जाता है ॥१४,१५॥

विविध कल्पना करने में संलग्न, ऐसा जो ऊपर कहा है, उसी को स्पष्ट करते हैं।

कल्पना कर रही मन की शक्ति पहले एक क्षण में शब्दतन्मात्ररूप श्रोत्रेन्द्रिय में उन्मुख निर्मल आकाश भावना की भावना करती है। पूर्वोक्त आकाश भावना को प्राप्त करके घनता को (वृद्धि को) प्राप्त हुआ मन स्पन्दरूप घनता के क्रम से स्पर्श तन्मात्ररूप त्वगिन्द्रिय में उन्मुख वायुरूप से स्पन्द की भावना करता है ॥१६,१७॥ अपंचीकृत होने के कारण अत्यन्त सूक्ष्म होने से मनोवच्छिन्न चैतन्यरूप जीव से न देखे गये शब्द–स्पर्शरूप उन आकाश और वायु से बढ़ने और आघात होने के कारण रूपतन्मात्ररूप अग्नि उत्पन्न होती है ॥१८॥ तदनन्तर उनसे घनता को प्राप्त हुआ मन निर्मल आलोकवाली प्रकाशता की क्षण भर में भावना करता है, उससे आलोक की अभिवृद्धि होती है ॥१९॥ आकाश, वायु और तेज से वृद्धि को प्राप्त हुआ मन रसतन्मात्ररूप जल की शीतता को क्षणमात्र में प्राप्त करके जलनाम से प्रतीति योग्य होता है ॥२०॥ तदनन्तर पूर्वोक्त चारों के संघात को प्राप्त हुआ मन क्षणभर में गन्धयुक्त स्थूल स्वरूप की भावना करता है, जिससे पृथ्वी उत्पन्न होती है ॥२१॥ तदनन्तर इस प्रकार भूततन्मात्राओं से वेष्टित अपने सूक्ष्म शरीर का त्याग कर रहा मन आकाश में दैदीप्यमान आग की चिन्गारी के तुल्य अपने स्वरूप को देखता है ॥२२॥ जिस शरीर को देखता है, अहंकारकला से युक्त, बुद्धिरूप बीज से सम्पन्न, पंचभूतों के हृदयकमल का भ्रमररूप वह लिंग शरीर पुर्यष्टक कहा जाता है ॥२३॥

आगे कही जानेवाली देह की भावना से लिंग शरीर के ही पंचीकरण द्वारा घन होने पर स्थूल देह की उत्पत्ति होती है, ऐसा कहते हैं।

उसमें तीव्र वासना से स्थूल शरीर की भावना करता हुआ मन पाक से बिल्वफल के समान स्थूलता को प्राप्त होता है ॥२४॥ साँचे के अन्दर रखे हुए पिघले सोने के समान बाहर स्थूल भास्वर और अन्दर सूक्ष्म भास्वर वह तेज निर्मल आकाश में स्फुरित होकर स्थूल देह से युक्त आगे कहे जानेवाले अवयवों की रचना को अपने स्वभाव से ग्रहण करता है ॥२५॥

उसमें मन की विशेष कल्पनाभिनिवेशरूप शाखा–प्रशाखाओं की वृद्धि होती है, ऐसा कहते हैं।

तेजपुंजमय अपने अवयवसंनिवेश में ऊपर सिर और पीठवाली नीचे पैरवाली दोनों बगलों में हाथरूप अवयवों से युक्त और बीच में उदरयुक्त आकाश को व्याप्त करनेवाली निश्चित विशाल भावना को धारण करता है ॥२६,२७॥ तदनन्तर ज्वालाओं की पंक्ति के समान निर्मल आकारवाला,

प्रकट अवयववाला बालक यह (ब्रह्मा) मनोरथवश शरीर प्राप्त कर स्थित होता है। इस प्रकार अपना वासनाओं के आवेश से शरीर धारण किया हुआ मनरूपी मुनि (पूर्वोपासना के प्रकार का मनन करनेवाला) जैसे ऋतु अपने स्वभाव को बढ़ाती है, वैसे ही अपने शरीर को बढ़ाता है ॥२८,२९॥ समय पाकर वह प्रकट होता है। निर्मल शरीरवाला पिघले हुए सुवर्ण के तुल्य तथा परम ब्रह्मा से उत्पन्न हुआ सब लोगों का पितामह वही भगवान ब्रह्मा बुद्धि, सत्त्वगुण, बल, उत्साह, विज्ञान और ऐश्वर्य से सम्पन्न होता है ॥३०,३१॥ परमाकाशरूप ब्रह्म में अन्य रूपवाला यह जिस प्रकार की अपनी सत्ता से रहता है, उसी प्रकार की व्यवहार के योग्य सत्ता से अपने अज्ञान को ही, जो कि आत्मा में स्थित है, पंचीकृत स्थूल आकाश आदि के आगे कहे जानेवाले रूप से उत्पन्न करता है ॥३२॥

समयभेद से उसकी नाना प्रकार की कल्पनाओं को दिखलाते हैं।

कभी वह आर–पार–शून्य, आदि, मध्य और अन्तरहित केवल विशाल आकाश की कल्पना करता है कभी (प्रतिदिन के प्रलय के समय) केवल निर्मल जल की ही कल्पना करता है। कभी (कल्प के अन्त में दाह के समय) ब्रह्माण्ड को प्रलयकाल की अग्निज्वालाओं से प्रदीप्त करता है ॥३३॥ कभी (पृथिवी की सृष्टि के बाद और प्राणियों की सृष्टि के पूर्व) हरे रंग के वन की यानी वृक्षों से व्याप्त सारी पृथिवी की कल्पना करता है। कभी (पाद्मकल्प में) भगवान विष्णु की नाभि से उत्पन्न हुए काले कमल की कलिका की सृष्टि करता है ॥३४॥ यह प्रभु ब्रह्मा अपने हरेक जन्म में और–और भुवन, समुद्र, जीव–जन्तु आदिरूप अनेक आकारों की क्रीड़ा से रचना करता हुआ विष्णु आदि के रूप से स्वयं ही उनका पालन करता है ॥३५॥

प्रथम कल्प से लेकर प्रतिदिन सोकर उठे हुए उसके स्वदेह कल्पनाक्रम को दिखलाते हैं।

जब यह ब्रह्म पद से इस प्रथमरूप से (📖) अवतीर्ण हुआ, तभी से लेकर अज्ञानवश ब्रह्माण्डगर्भ में सुषुप्ति सुख से उपलक्षित अपने पूर्व वास्तविक स्वरूप के और देहव्यवहार आदि के अस्मरणरूप सुषुप्ति को प्राप्त हुआ ॥३६॥ गर्भनिद्रा के हटने पर वह अपने प्रकाशमय स्वरूप को जो प्राण, अपान, के प्रवाह से परिपूर्ण था, जो पंचमहाभूतों के स्वच्छ हिस्सों से मानों बना था उसे देखता है ॥३७॥ उसका उक्तस्वरूप करोड़ों रोमों से व्याप्त, बत्तीस दाँतों से युक्त, जंघाओं और रीढ़ की हड्डियों से तीन स्तम्भवाला, पाँच प्राणों से पाँच देवतावाला, नीचे भाग में पैरों से युक्त, हाथ, पैर, सिर, वक्षः स्थल और पेटरूप पाँच भागवाला, नेत्र, कान, नासिका आदि नौ द्वारवाला, त्वचारूपी लेपवाला, कोमल अवयववाला, बीस अंगुलियों से युक्त, बीस नखों से चिह्नित, दो बाहुवाला, दो स्तनवाला, दो नेत्रवाला, कभी–कभी इच्छा से बहुत नेत्र और भुजावाला था। वह चित्तरूपी पक्षी का घोंसला था, कामदेवरूपी सर्प का बिल था, तृष्णारूपी पिशाचिनी का आवास था, जीवरूप सिंह की गुफा था, अभिमान रूपी हाथी का बन्धनस्तम्भ था और हृदयरूपी कमल से सुशोभित था ॥३८–४१॥ तदनन्तर त्रिकालदर्शी भगवान ब्रह्मा ने अपने उत्तम और मनोहर रूप को देखकर विचार किया ॥४२॥ जिसका

📖 सब ब्रह्माण्डों का और उनके अभिमानी हिरण्यगर्भों का काल से अपरिच्छिन्न परब्रह्मपद से ही आविर्भाव हुआ है, अतएव उनका पौर्वापर्य नहीं है, इसलिए सभी प्रथम है; इस अभिप्राय से इस प्रथम रूप से कहा है।

आर–पार किसीके द्वारा नहीं देखा गया है, भौंरे के तुल्य श्यामता से युक्त इस विशाल आकाश कुहर में मेरी उत्पत्ति के पहले क्या था, ऐसा विचार करने के उपरान्त तुरन्त ब्रह्मा की दृष्टि निर्मल हो गई। उन्होंने अनेक अतीत सृष्टियाँ देखी ॥४३,४४॥ तदनन्तर क्रमशः सांगोपांग सब धर्मों का उन्हें स्मरण हुआ। जैसे वसन्त अपने पूर्वपरिचित फूलों को ग्रहण करता है वैसे ही पूर्वपरिचित वेदों को ग्रहण कर उन्होंने विचित्र संकल्पों से उत्पन्न हुई विविध प्रजाओं की गन्धर्वनगर में विविध आचार–विचारों के तुल्य लीला से कल्पना की ॥४५,४६॥ उनके स्वर्ग और मोक्ष के लिए धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि के लिए अनेक प्रकार के अनन्त शास्त्रों की कल्पना की ॥४७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे वसन्त से पुष्पशोभा का आविर्भाव होता है, वैसे ही ब्रह्मारूपधारी मनसे इस सृष्टि में यह दृष्टि यों स्थिति को प्राप्त हुई है ॥४८॥ हे रघुकुलदीपक, विविध प्रकार की रचनाओं से पूर्ण क्रियाविलासों से ब्रह्मा का रूप धारण करनेवाले चित्त ने ही अपनी कल्पना द्वारा यह सृष्टि शोभा इस जगत में सत्य और तुच्छ से विलक्षण होने के कारण अनुपम स्थिति को प्राप्त की है ॥४९॥

चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त

पैंतालीसवाँ सर्ग

मन का कार्य कभी सच्चा नहीं होता, कारण कि मनोरथ आदि में ऐसा देखा गया है; इसलिए मनोमय होने के कारण जगत असत् है, सत् ही सत् है, यह वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : यह जगत स्थित होता हुआ कुछ भी स्थित नहीं है, क्योंकि मन का विलासमात्र यह सम्पूर्णतया प्रतिभासमात्र ही स्थित है, प्रतिभास से अतिरिक्त यह शून्य ही है ॥१॥

प्रतिभास से अतिरिक्त वह शून्य कैसे है ? ऐसा यदि कोई कहे, तो उस पर कहते हैं।

इस परिच्छिन्न ब्रह्माण्ड से प्रतिभासरूप देश और काल व्याप्त नहीं हैं, क्योंकि अतीत, भावी बाहर स्थित अनेक ब्रह्माण्ड कोटियों का जैसे धूप में परमाणु घूमते हैं वैसे ही, प्रतिभास के अन्दर भ्रमण दिखाई देता है। और तो और जो आकाश परम महत्त्वरूप से प्रसिद्ध है उससे भी वे व्याप्त नहीं है, क्योंकि 'ज्यायानाकाशात्' ऐसी श्रुति है ॥२॥

पूर्व और उत्तर देश और काल से व्याप्ति तो दूर रही अपने आश्रयभूत (वर्तमान) देश और काल में भी अध्यस्त द्वारा अधिष्ठान का स्पर्श नहीं होता। इसलिए ब्रह्माण्ड द्वारा प्रतिभासरूप देश और काल की व्याप्ति नहीं हो सकती, इस आशय से कहते हैं।

जिस देश और काल में केवल संकल्पस्वरूप स्वप्न में देखे गये नगर के तुल्य यह जगत चित्त में भासित होता है, वहीं पर उसका अधिष्ठानरूप चैतन्य है। जगत से शून्य केवल आकाश ही स्थित है ॥३॥

अतएव यह गन्धर्वनगर के चित्र के तुल्य है, ऐसा हमने पहले कहा है। ऐसा कहते हैं।

रंगों से रचा गया फिर भी भित्तिरहित, देखा गया फिर भी असन्मय, नहीं रचा गया फिर भी रचा हुआ–सा यह आकाश में अद्भुत चित्र है ॥४॥

प्रत्येक स्मृति में मन हेतु होता है। मन से रचित यह जगत स्मृति के तुल्य ही है। इसलिए अपने स्थिति काल में भी यह सत् नहीं है, ऐसा कहते हैं।

सब देहादि तीनों भुवन मन से ही कल्पित हैं। जैसे देखने में चक्षु कारण है वैसे ही इनके स्मरण में मन कारण है ॥५॥

दीवारआदिरूप जगत सत् से अलग करके दिखलाया नहीं जा सकता। इसलिए भी सत् से पृथक्रूप से उसकी असत्ता है, ऐसा कहते हैं।

आभासरूप यह जगत घट, पट, गर्त के भ्रमों से आवर्तित होता है। दीवार आदि सद्रूप से पृथक् नहीं हैं। जैसे रेशम का कीड़ा अपने कोश की स्वयं रचना करता है वैसे ही मन ने अपने निवास के लिए इस शरीर की कल्पना की है ॥६,७॥

चित्त की संकल्पमात्र से असत्रचना प्राप्त करने की शक्ति प्रसिद्ध है, इसलिए भी पूर्वोक्त अर्थ की उपपत्ति होती है, ऐसा कहते हैं।

वह वस्तु नहीं है, जिस अर्थशून्य संकल्परूप वस्तु की मन रचना नहीं करता। ऐसी दुर्गम दुष्कर वस्तु भी नहीं है, जिसे मन प्राप्त नहीं करता ॥८॥ जिन शक्तियों से मन रूपी गुहाएँ अन्दर प्राप्त नहीं होती, वे शक्तियाँ सर्वशक्तिशाली जगदीश्वर में भी कोई हो सकती हैं ? ॥९॥

यदि सदा ही यह जगत असत् है तथा ब्रह्म सदा ही सत् है और उनका परस्पर स्पर्श नहीं है, तो जगत में सत्ता और असत्ता कादाचित्क (कभी होनेवाली) कैसे हो सकती हैं; इस पर कहते हैं।

हे महाबाहो, सर्वशक्ति विभूके रहते सब पदार्थों की सत्ता और असत्ता सदा ही हो सकती है। भाव यह है कि सत्ता और असत्ता कादाचित्क (कभी होनेवाली) नहीं हैं किन्तु सनातन है। उनकी परस्पर आविर्भाव द्वारा पारापारी से आवेश कल्पना ही अचिन्त्य मायाशक्ति द्वारा की जाती है ॥१०॥

वह यह ईश्वर की सर्वशक्ति है, इसका अपने मन में ही प्रत्यक्ष दर्शन किया जा सकता है, ऐसा कहते हैं।

मन ने अपने से उत्पन्न हुआ शरीर भावना से प्राप्त किया है, इस बात को आप देखिये। इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, उस मन की कल्पना को ज्ञानियों ने सर्वशक्तिसंपन्न बताया है। जगत में विचित्र पदार्थ शक्तियाँ भी सर्वशक्ति मन की कल्पना से ही हैं। यह भाव है ॥११॥

इसलिए देवादिशक्तियों द्वारा भी मुक्ति का प्रतिरोध नहीं किया जा सकता, ऐसा कहते हैं।

देवता, असुर, मनुष्य आदि सब अपने अपने संकल्प से किये गये हैं। अपने संकल्प की निवृत्ति होने पर तैलरहित दीप के समान वे शान्त हो जाते हैं ॥१२॥ हे महामते, इस सम्पूर्ण जगत को आकाश तुल्य, अपनी कल्पनामात्र से विकसित, उत्पन्न हुए दीर्घस्वप्न के तुल्य आप देखिये। हे सुमते इस जगत में कभी भी कुछ परमार्थ दृष्टि से न उत्पन्न होता है और न मरता है। मिथ्यादृष्टि से तो सब कुछ होता है। जो वस्तु कभी भी न कुछ वृद्धि को ही प्राप्त होती है और न ह्रास को प्राप्त होती है, उसमें खण्डन से (काटने से) क्या अपव्यय होगा ? और उसका खण्डन ही क्या है ? ॥१३–१५॥ अपने शरीर से मूँज से ईषिका की तरह पृथक् किये हुए भूमारूप को परमार्थदृष्टि से अपने अन्तःकरण में न देखते हुए आप परिच्छिन्न आत्मदर्शन से अज्ञ की नाईं क्यों मोह को प्राप्त हो रहे हैं ? ॥१६॥ जैसे मरुभूमि में सूर्य की किरणों से मृगजल दिखाई देता है वैसे ही मन के संकल्प से असत्य सब ब्रह्मा आदि दिखाई देते हैं ॥१७॥

मनोरथ की नाईं तथा दो चन्द्रमाओं के विभ्रम के तुल्य मिथ्याज्ञान से पूर्ण ये सब दृश्याकार राशियाँ

जगत में उत्पन्न हुई है ॥१८॥ जैसे नौका से यात्रा कर रहे लोगों की मिथ्या ही स्थाणु में चलन प्रतीति होती है वैसे ही दृश्य आकारों की परम्परा नित्य असत्य ही उदित हुई है ॥१९॥ माया से जिसका पिंजर रचा गया है, मन के मनन से ही जिसका निर्माण हुआ है, ऐसे इस दृश्य को आप इन्द्रजाल जानिये। यह सत् नहीं है, फिर भी सत्य के समान स्थित है ॥२०॥ यह सम्पूर्ण जगत ब्रह्म ही है। इसलिए भेद का प्रसंग किस प्रमाण से, किसके प्रकार का, कौन और कहाँ हो सकता है ? ॥२१॥ यह पर्वत है, यह स्थाणु है और यह उनके अन्तरालवर्ती आडम्बरों का विलास है। ये सब मन की भावना की दृढ़ता से असत् होते हुए भी सत्–से प्रतीत होते हैं ॥२२॥ विचारहीन पुरुष की काम तृष्णा मननरूप यह जगत स्वर्ग, नरक, तिर्यग् आदि योनियों में पतन का आरम्भक है। इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप विवेक से जगत का त्याग करके निष्प्रपंच आत्मा की भावना कीजिये ॥२३॥ जैसे बड़े–बड़े आरम्भों से पूर्ण स्वप्न भ्रम ही है, वास्तविक नहीं है वैसे ही चित्त द्वारा उत्पादित इस जगत को भी आप दीर्घ स्वप्न समझिये ॥२४॥ दृश्यमान अवस्थावाला बहुत विस्तीर्ण अतएव रमणीय–सा वस्तुतः तुच्छ आशारूपी सर्पों का बिलरूप इस संसाराडम्बर का त्याग कीजिये ॥२५॥ यह असत् है, यह जानकर इससे प्रेम न कीजिये। विद्वान पुरुष 'यह मृगजल है' यह जानकर उसके पीछे नहीं दौड़ते ॥२६॥ जो मूढ़ पुरुष अपने संकल्प से स्वरूपयुक्त हुई मनोरथमयी राजलक्ष्मी के तुल्य इस जगत का अनुसरण करता है, वह एकमात्र दुःख का ही पात्र होता है ॥२७॥

इसके अनुगमन से केवल अनर्थ ही प्राप्त नहीं होते, किन्तु पुरुषार्थ का नाश भी होता है, ऐसा कहते हैं।

यदि वस्तु न हो, तो ये लोग भले ही अवस्तु का अनुसरण करे, किन्तु जो वस्तु का परित्यागकर अवस्तु का अनुगमन करता है, वह पुरुषार्थ से च्युत हो जाता है ॥२८॥ जैसे रस्सी में सर्प का भय मन का व्यामोह ही है वैसे ही यह भी मन का व्यामोह ही है। एकमात्र भावनाओं की विचित्रता से यह जगत चिरकाल तक प्राप्त होता है ॥२९॥ जल के भीतर चन्द्रप्रतिबिम्ब के तुल्य क्षणभंगुर मिथ्या उदित हुए पदार्थों से इस लोक में बालक ही ठगा जा सकता है, आपके तुल्य तत्त्वज्ञानी पुरुष नहीं ठगा जा सकता है ॥३०॥ जो पुरुष शब्दादिगुणों के समूहरूप इस देह आदिकी भावना करता हुआ अर्थात् देह आदि में 'अहं, मम' ऐसा अभिमान करता हुआ सुखी होना चाहता है वह जड़ अपनी अग्नि की भावना से शीत को हटाता है ॥३१॥ यह जड़ संघात देह आदिरूप विशाल जगत हृदय में मन के संकल्प से निर्मित विशाल नगर के समान असत् ही है ॥३२॥

यदि यह ऐच्छिक संकल्प से उत्पन्न हुआ है, तो ऐच्छिक निवृत्ति के संकल्प से क्यों नहीं निवृत्त हो जाता है, ऐसा यदि कोई कहे, तो उस पर कहते हैं।

यह दृश्य प्रपंच मन की इच्छा से उपजता है और मन की अनिच्छा से राग का विनाश होने से ही विलीन हो जाता है। इस तरह का यह विशाल गन्धर्वनगर के तुल्य झूठ–मूठ ही दिखाई देता है ॥३३॥

इसलिए इसके विनाश या वृद्धि में शोक और हर्ष करना उचित नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस जगत के नष्ट होने पर कुछ भी नष्ट नहीं होता और इस जगत की समृद्धि होने पर कुछ भी समृद्ध नहीं होता ॥३४॥ हृदय में मन से कल्पित विशाल नगर के खण्डहर हो जाने पर

और वृद्धि को प्राप्त होने पर भला बतलाइये तो सही किसका क्या नष्ट हुआ और क्या बढ़ा ? ॥३५॥ जैसे खेल के लिए गुड़िया आदि द्वारा पुत्र, पशु, आदि व्यवहाराभास की कल्पना बालकों के मन में होती है वैसे ही यह जगत भी मन से ही निरन्तर उदित होता है, उसके लिए शोक करना उचित नहीं है ॥३६॥ जैसे इन्द्रजाल के जल के नष्ट-भ्रष्ट होने पर किसी का कुछ भी नष्ट नहीं होता ॥३७॥ जो असत् है, वह यदि अविद्यमान ही हो जाय, तो किसका क्या बिगड़ा ? अर्थात् कुछ भी नहीं। इसलिए संसार में हर्ष और शोक का विषय कुछ भी नहीं है ॥३८॥

इस प्रकार नाश के स्वीकार द्वारा शोक की अयोग्यता कहकर वस्तुतः नाश ही किसी का नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जो अत्यन्त असत् ही है, इसलिए उसका नाश ही क्या होगा ? जब नाश नहीं है तब हे महामते, दुःख का कौन अवसर है ? ॥३९॥

अध्यस्त दृष्टि से नाश के असंभव का उपपादन कर अधिष्ठान दृष्टि से भी उसका उपपादन करते हैं।

अथवा जो अत्यन्त सत् ही है उसका क्या नाश होता है ? यह सब जगत एकमात्र ब्रह्म ही है, तो सुख और दुःख किसके कारण उदित हों ! अर्थात् वे उदित है ही नहीं ॥४०॥

उत्पत्ति का खण्डन करने से वृद्धि आदि विकारों का भी खण्डन हो ही गया, इसलिए तन्निमित्तक हर्ष भी ठीक नही है, ऐसा कहते हैं।

जो अत्यन्त असत् है उसकी वृद्धि कैसी ? वृद्धि का अभाव होने पर तो हे महाबुद्धि श्रीरामचन्द्रजी, हर्ष का कौन अवसर है ? ॥४१॥

इष्ट पदार्थ की प्राप्ति में हर्ष होता है। मायामय जगत में इष्ट पदार्थ ही नहीं है, ऐसा कहते हैं।

सर्वत्र असत्यभूत, एकमात्र प्रपंचकारी इस संसार में क्या उपादेय है, जिसे विद्वान पुरुष चाहे ॥४२॥

इसी प्रकार जो पुरुष सबको आनन्दरूप से देखता है, उसको हेय भी कुछ नहीं है, ऐसा कहते हैं।

सर्वत्र सत्यरूप, ब्रह्मत्वमय इस त्रिभुवन में कौन पदार्थ हेय है, जिसका विद्वान लोग त्याग करें ॥४३॥ जिसकी दृष्टि में जगत असत्य है अथवा जिसकी दृष्टि में जगत सत्य है दोनों पक्षों में भी उसका विनाश न हो सकने के कारण वह पुरुष सुख और दुःख का अगम्य यही है। किन्तु मूर्ख तो पुत्र, मित्र आदि के विनाश से, जो कि अपनी भ्रान्ति से कल्पित है, दुःखी होता है ॥४४॥

असत् और सत् पक्षों में समान उपपत्ति दिखलाते हैं।

आदि और अन्त में जो नहीं है, वर्तमान में भी उसकी असत्ता ही है। हे श्रीरामचन्द्रजी, जो यह असत् है, इस पक्ष की इच्छा करता है, उसको असत्ता ही दिखाई देती है।

भाव यह है कि 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (सृष्टि से पहले यह असत् ही था) 'नैवेह किंचनाऽग्र आसीत्' (यहाँ पहले कुछ भी न था) इत्यादि श्रुतियों से आकाश, वायु, भुवन आदि के आगे पीछे असत्ता सुनी जाती है और घट आदि की असत्ता प्रत्यक्ष अनुभव से देखी जाती है। चिरकाल तक, आदि और अन्त में असत्ता, थोड़े काल के लिए एक बार सत्ता प्रत्येक व्यक्ति में प्रसिद्ध है। एक दूसरे का विनाशक होने के कारण सत्त्व और असत्त्व-दोनों एकवस्तु में एक के त्याग के बिना नहीं रह सकते,

इसलिए दोनों में से एक अवश्य त्याज्य है।

आदि और अन्त में चिरकाल तक असत्त्व की प्रसिद्धि होने से वर्तमान दशा में भी सब व्यक्तियों की असत्ता ही है यों असत्ता के पक्ष की इच्छा करनेवाले को श्रुति, युक्ति और अनुभवों द्वारा असत्ता ही दिखाई देती है ॥४५॥ आदि और अन्त में जो सत्य है, वर्तमान में भी वह सत् ही है, जिसकी सब सत् ही है, ऐसी मति हो, उसकी दृष्टि में सब सत् ही है। भाव यह है कि 'सदेवसोम्येदमग्र आसीत्, 'कथमसतः सज्जायेत' (हे सोम्य, सृष्टि के पूर्व यह सत् ही था, असत् से सत् कैसे हो सकता है) इत्यादि श्रुतियों से और प्रमाण की प्रवृत्ति के समय सत्-सत् यों सब वस्तुओं का अनुभव होने से आदि और अन्त काल में सत्ता की अनभिव्यक्ति अथवा तिरोभावमात्र कल्पना से 'असद्वा इदमग्र आसीत' इत्यादि श्रुति और युक्तियों की उपपत्ति होने से और सत्ता की श्रुति और युक्तियों की अन्यथा उपपत्ति न हो सकने से सब पदार्थों की सर्वकालिक और सार्वत्रिकी एक ही सत्ता युक्त है, क्योंकि इसी में लाघव है, यों सत्ता की एकता के सिद्ध होने पर आदि और अन्त में कारणभूत ब्रह्म की सत्ता से ही सब के सत्य होने से वर्तमान काल में भी वह सत्य ही है, यों सद्वादी को अखण्ड ब्रह्मसत्ता ही सर्वत्र दिखाई देती है ॥४६॥

देश और काल से परिच्छिन्न पदार्थों की सत्यता की कल्पना, जो जगत को सत् और असत् माननेवाले पूर्वोक्त दोनों रूपों से बहिष्कृत है और सब श्रुति और युक्तियों से विरुद्ध है। अन्धपरम्परा द्वारा सहस्रों मूर्खों ने जिसकी कल्पना कर रक्खी है और जो सम्पूर्ण अनर्थों की मूल है, उन्हीं मूर्खों के योग्य है। आपके योग्य नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जल के अन्दर के असत्य स्वरूप चन्द्रमा और आकाशतल आदि को अपने मन के मोह के लिए मूर्ख ही चाहते हैं, आप जैसे उत्तम लोग नहीं चाहते ॥४७॥ मूर्ख ही विशाल आकारवाले, अर्थशून्य सुखाभासों से अपने असीम दुःख के लिए सन्तुष्ट होता है, न कि सुख के लिए ॥४८॥ इसलिए हे कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी, आप मूर्ख मत बनिये। विचार करके अविनाशी नित्य और सुस्थिर पदार्थ का अवलम्बन कीजिये ॥४९॥

अब पूर्वदर्शित सत् और असत् पक्षों का द्वारभेद से एक प्रयोजन के अवसान में फलतः समुच्चय दिखलाते हुए उपसंहार करते हैं।

माया से मूढ़ हुए लोगों द्वारा आत्मरूप से कल्पित अहंकार के सहित यह सब जगत असत् ही है, यों श्रुति, गुरु, युक्ति और अपने अनुभव से निश्चय करके पुत्र, मित्र, धन आदि का विनाश होने पर आपको शोक नहीं हो और राग भी न हो। शोक, राग आदि के निरास द्वारा एकात्म्यदर्शन में प्रपंच असत् है 'यह पक्ष उपयोगी होता है। इस प्रकार अन्यार्थ असद्वाद के प्रस्ताव से जगत निस्तत्त्व ही है, ऐसा आपको नहीं समझना चाहिए, किन्तु सम्पूर्ण वह सत् है क्योंकि सत्त्व की प्रसिद्धि न होने पर उसके विरोधी असत्त्व की भी प्रसिद्धि नहीं हो सकती। यदि सत्त्व को प्रसिद्ध मानो, तो उसका विरोधी होने से असत् असिद्ध ही हुआ। इस प्रकार सब जगह सत्ता द्वारा निरस्त असत्ता निराधार ही है। कहीं पर किसी का वह परिच्छेद नहीं कर सकती। इसलिए एकमात्र अपरिच्छिन्न सत्त्व की सिद्धि होने पर घट, पट आदि परिच्छेदक आकारों के पृथक्रूप से शेष न रहने के कारण शोधित चिन्मात्रैकरस प्रत्यगात्मा से युक्त सत् ही मैं हूँ, यह विचार कर अपने आत्मा में स्थित आपको पुनः पुनः सांसारिक जन्म-मरण

आदि विषाद की प्राप्ति न हो ॥५०॥ श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : मुनि के ऐसा कहने पर दिन बीत गया। सूर्य अस्ताचल को चले गये। सभा मुनिजी को नमस्कार करके सायंकाल की सन्ध्या विधि के लिए स्नानार्थ चली गई। दूसरे दिन रात बीतने पर सूर्योदय के साथ–साथ फिर सभा लग गई ॥५१॥

पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

छियालीसवाँ सर्ग

जिन गुणों से संसार में विहार करता हुआ भी निमग्न नहीं होता और
जो जीवन्मुक्त लोगों में स्थित है, उन गुणों का श्रीरामचन्द्रजी के लिए उपदेश।

सब वस्तुओं में अनास्था द्वारा नष्ट की उपेक्षा और प्राप्त की अनाकांक्षारूप गुणों का पहले उपदेश देनेवाले श्रीवसिष्ठजी पूर्वोक्त प्रस्ताव का उसमें उपयोग दर्शाते हैं।

रम्य धन और स्त्री आदि के नष्ट होने पर शोर का अवसर ही क्या है ? इन्द्रजाल से दृष्ट वस्तु के नष्ट होने पर विलाप की बात ही क्या है ? ॥१॥ गन्धर्वनगर के पदार्थों के नष्ट–भ्रष्ट या भूषित होने पर और अविद्याजनित पुत्र आदि के नष्ट या सुशोभित होने पर सुख और दुःख का प्रकार ही क्या है ? ॥२॥ रमणीय धन और स्त्री, पुत्र आदि समृद्धि होने पर हर्ष का अवसर ही क्या है ? मृगतृष्णा के वृद्धि को प्राप्त होने पर क्या जल चाहनेवाले पुरुषों को आनन्द होता है ? ॥३॥ धन और स्त्री–पुत्र आदि के बढ़ने पर दुःखी होना ही उचित है और सन्तुष्ट होना उचित नहीं है। मोह–माया के बढ़ने पर इस संसार में कौन स्वस्थ रह सकता है ? धन, स्त्री, पुत्र आदि की वृद्धि होने पर संसाररूप रोगकी वृद्धि की संभावना से दुःख करना ही उचित है; हर्ष करना ठीक नहीं, यह अर्थ है ॥४॥ वृद्धि को प्राप्त जिन भोगों से मूर्ख को राग होता है, वृद्धि को प्राप्त उन्हीं भोगों से विद्वान पुरुष को वैराग्य होता है ॥५॥ नश्वर स्वभाववाले धन, स्त्री, पुत्र आदि के विषय में हर्ष का अवसर ही क्या है ? जो साधु पुरुष इसकी नश्वरता, नरक हेतुता आदि से परिणाम में कटुता का अवलोकन करते हैं, वे उनसे वैराग्य को प्राप्त होते हैं ॥६॥ इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, संसार के व्यवहारों में तत्त्वज्ञ आप जो–जो वस्तु नष्ट हो, उसकी उपेक्षा कीजिये और जो जो प्राप्त हो उसका उपभोग कीजिये ॥७॥ अप्राप्त भोगों की सच्ची अनिच्छा और प्राप्त भोगों का भोग यही पण्डित का लक्षण है ॥८॥ संसार में भटकानेवाले, मारने के लिए गुप्त छिपे हुए, विष, शस्त्र अग्नि आदि द्वारा मारने के लिए समीप में आनेवाले अतएव आततायी इस काम के विषय में, बोध के लिए अप्रमत्त हुए आप व्यवहार कीजिये जिससे आप मूढ़ता को प्राप्त न हों ॥९॥ प्रपंचरहित ब्रह्म में विवेक, वैराग्य, ज्ञान में अप्रमाद आदिगुणों के अर्जनक्रम से जो सम्यक् ज्ञानी हैं, वे इस संसाराडम्बर को नहीं देख पाते। जो कुबुद्धि हैं यानी उक्त गुणों से रहित हैं, वे तो नष्ट ही हैं ॥१०॥ जिस किसी भी युक्ति से जिस पुरुष का दृश्य से अनुराग चला गया, उसकी परमार्थ में अभिनिवेश रखनेवाली विमल मति मोहरूपी सागर में नहीं डूबती ॥११॥ जिसकी 'यह सत् है' यों सब वस्तुओं में आस्था निवृत्त हो गई, उस सर्वज्ञ को अवास्तविक अविद्या अपने वश (अंकगत) नहीं कर सकती ॥१२॥ मैं और यह सम्पूर्ण जगत एक ही है, ऐसी जिनकी बुद्धि आस्था और अनास्था का त्याग करके स्थित है, वह पुरुष निमग्न नहीं होता ॥१३॥ सत् और असत् में अनुगत सत्तामात्र प्रत्यगात्मरूप सत् का बुद्धि से

अवलम्बन करके बाह्य और आभ्यन्तर दृश्य का न तो ग्रहण कीजिये और न त्याग कीजिये ॥१४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, अत्यन्त वैराग्ययुक्त, आत्मनिष्ठ, सब प्रकार के निवासों से रहित आप अपने कार्य में तत्पर होकर भी रागरहित होकर आकाश के समान असंग होकर स्थित होइये ॥१५॥ कर्म कर रहे जिस ज्ञानी की कर्म में न तो इच्छा है और न अनिच्छा है उसकी बुद्धि जल से कमल के पत्ते के समान स्पर्श को प्राप्त नहीं होती ॥१६॥ बाधित वस्तु में अनुवृत्तिशील होने से गौण इन्द्रियों से युक्त आपका मन दर्शन, स्पर्शन आदि करे चाहे न करे, किन्तु आप आत्मवान् होकर इच्छा रहित होइये ॥१७॥

इन्द्रियार्थों में ममता त्यागरूप गुण का उपदेश देते हुए उसमें अनास्था का उपपादन करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इन्द्रियार्थों में असत्यभूत यह मेरा है, यों आपका मन निमग्न न हो, मग्न न होकर चाहे वह कर्म न करे चाहे करे ॥१८॥ हे रामचन्द्रजी, जब आपके हृदय में इन्द्रियार्थ सम्पत्तियाँ स्वादु नहीं लगेगी, तब आप ज्ञातज्ञेय और संसार सागर से उत्तीर्ण हो जायेंगे ॥१९॥ जिनको ऐहिक और पारलौकिक विषय अरुचिकर हों , ऐसे आप चाहे देह के भानवाले हो, चाहे समाधि द्वारा देह के भान से शून्य हों, आपके न चाहने पर भी मुक्ति अनायास प्राप्त हो गई ॥२०॥

जीवन्मुक्ति में वासनाओं से चित्त को बाहर करना ही मुख्य साधन है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जीवनमुक्तिरूप उन्नत पद प्राप्ति के लिए उत्कृष्ट बुद्धि द्वारा वासनाओं से विवेक, वैराग्य आदि से उत्कृष्ट चित्त को फूल से सुगन्ध की नाईं अलग कीजिये ॥२१॥ वासनारूपी जल से व्याप्त इस संसाररूपी समुद्र में जो लोग प्रज्ञारूपी नाव में चढ़े, वे पार हुए और जो प्रज्ञारूपी नाव में नहीं चढ़े, वे डूब गये ॥२२॥

वह प्रज्ञारूपी नाव कैसी है, ऐसा यदि कोई कहे, तो उसे दर्शाते हैं।

विवेक, वैराग्य आदि से तीक्ष्ण की गई अतएव छुरे की धारा के तुल्य, सुख, दुःख आदि द्वन्द्वों को सहने में परमधीर बुद्धि से आत्मतत्त्व का विचार कर उसके बाद आप अपने स्वरूप में प्रवेश कीजिये ॥२३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञान से उदार चित्तवाले तत्त्वज्ञानी प्राज्ञ पुरुष जिस प्रकार बर्ताव करते हैं वैसे ही आपको व्यवहार करना चाहिये, न कि मूढ़ों की नाईं॥२४॥ नित्यतृप्त, महाबुद्धि, जीवन्मुक्त महात्माओं का सदाचार से अनुसरण करना चाहिये, भोगलम्पट मूर्खों का अनुसरण नहीं करना चाहिये ॥२५॥ ब्रह्मतत्त्व और जगत्तत्त्व को जाननेवाले पुरुष न तो जगत के व्यवहार का त्याग करते हैं और न उसकी इच्छा करते हैं, किन्तु सबका ही अनुवर्तन करते हैं ॥२६॥

यदि कोई कहे, ज्ञानवानों की भी कहीं पर फललिप्सा हो सकती है, तो इस पर नहीं, ऐसा कहते हैं।

विद्या, तप और पराक्रम आदि के उत्कर्षरूप प्रभाव के, अभिमान के, निपुणता, कुल, शील आदि गुणों के, यश और सम्पत्ति के विषय में लोक में लोभ प्रसिद्ध है, तत्त्वदर्शी महात्मा पुरुष तो प्रभाव आदि के मिथ्या होने से कहीं पर भी लोभ नहीं करते ॥२७॥ महात्मा पुरुषों को सूर्य के समान सर्वनाश होने पर भी खेद नहीं होता, सम्पूर्ण अभिलाषाओं से परिपूर्ण नन्दनवन आदि में भी वे आसक्त नहीं होते और शास्त्रमर्यादा का कभी त्याग नहीं करते। सूर्य भी शून्य आकाश में खिन्न नहीं होते, नन्दनवन में आसक्त नहीं होते और अपने मार्ग की मर्यादा का त्याग नहीं करते ॥२८॥

महात्मा पुरुष इच्छारहित, जो व्यवहार प्राप्त हो उसके अनुसार बर्ताव करनेवाले, देहरूपी रथ में

बैठे हुए, आत्मनिष्ठ हो *'विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः'* (विज्ञानरूपी सारथिवाला, मनरूपी लगामवाला मनुष्य) इत्यादि श्रुति में कहे गये साधनों से सन्नद्ध हो घूमते हैं ॥२९॥

मुझमें वे गुण हैं या नहीं, इस प्रकार संदेह मे पड़े हुए श्रीरामचन्द्रजी को ढाढ़स देते हैं।

हे सुन्दर श्रीरामचन्द्रजी, आप भी इस विशाल विवेक को प्राप्त हो चुके हैं, इस प्रज्ञा के बल से ज्ञान में आप स्वस्थ हैं ॥३०॥ स्पष्ट दृष्टि का अवलम्बन करके मानरहित और मात्सर्यरहित आप इस पृथ्वी तल में विहार कीजिये, आप अवश्य ही परम सिद्धि को प्राप्त होगे ॥३१॥ हे निष्पाप, अपने स्वरूप में स्थित, सब इच्छाओं के त्याग से युक्त वासना विषयक कौतुक दर्शन की इच्छा जिसकी नष्ट हो गई, ऐसे होकर आप अपने हृदय में परम शीतलता का ग्रहण कर विहार कीजिये।३२॥

उपदिष्ट रहस्यों के, श्रीरामचन्द्रजी के हृदय में उनमें, आविर्भाव को दर्शाते हैं।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : निर्मल आशयवाले मुनि श्रीवसिष्ठजी की इस प्रकार की निर्मल वाणी से श्रीरामचन्द्रजी साफ किये हुए दर्पण के समान तुरन्त सुशोभित अतिमधुर ज्ञानामृत से विराजमान अन्तःकरण से युक्त हुए वे चन्द्रमा की तरह शीतलता को प्राप्त हुए ॥३३॥

छियालीसवाँ सर्ग समाप्त

सैंतालीसवाँ सर्ग

अतीत, भावी और वर्तमान करोड़ों ब्रह्मा और ब्रह्माण्डों का तथा
नियत और अनियत क्रमवाले देवता आदि का वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, आप सब धर्मों के तत्त्वज्ञ और सब वेद, वेदांगों के पारदर्शी हैं। आपकी स्वच्छ उपदेशवाणियों से जिसके सिर का बोझ हट गया, दूर मार्ग में चलने का एवं भूख का परिश्रम निवृत्त हो गया, ऐसे पुरुष के समान मैं बड़े आराम से स्थित हूँ ॥१॥ उपदेश दे रहे आपके उत्तम, विपुल अर्थवाले, वर्ण पद, वाक्य और प्रकरणों द्वारा स्फुट, विचित्र कथा, युक्ति के प्रतिपादन में निपुण, आत्मतत्त्व के प्रकाशक होने और हृदयकमल को प्रकाशित करने के कारण सूर्य आदि के समान उदित हुए, मनोहर वचनों को सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं होती ॥२॥

इस प्रकार प्रशंसा द्वारा गुरुजी को प्रोत्साहित कर प्रसंगप्राप्त ब्रह्मा आदि देवताओं के ऐश्वर्य को जानने की इच्छा करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं :

राजस, सात्त्विक जीवजातियों के उपदेश के समय आपने विविध प्रकार की सृष्टियों का प्रतिपादन करनेवाले श्रुति, पुराण आदि के वचनरूपी प्रमाणों से ब्रह्मा की जो उत्पत्ति प्रस्तुत की थी, उसका आप स्पष्टरूप से वर्णन कीजिये ॥३॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, अनेक लाख ब्रह्मा, अनेकों सौ शंकर और इन्द्र एवं अनेकों हजार नारायण बीत चुकें हैं ॥४॥ अन्य विचित्र प्रकार के ब्रह्माण्डों में एवं इस ब्रह्माण्ड में भी विधि आचार, विहार के हजारों देवता, असुर आदि के शरीर विचरण करते हैं ॥५॥ इसी प्रकार अन्यान्य कालों में उत्पन्न हुए अनन्त जगतों में अन्य बहुत से सुर, असुर आदि के शरीर प्रचुर मात्रा में एक ही समय उत्पन्न होंगे ॥६॥ हे महाबाहो, ब्रह्मा आदि उन देवताओं की ब्रह्माण्डों में उत्पत्तियाँ इन्द्रजाल में उदित हुई–सी हैं ॥७॥ कभी शंकरपूर्वक सृष्टियाँ होती है, कभी प्रथम उत्पन्न

हुए ब्रह्मा से सृष्टियाँ होती है, कभी विष्णुपूर्वक सृष्टियाँ होती हैं, कभी मुनि द्वारा निर्मित (卐) सृष्टियाँ होती है ॥८॥

ब्रह्मा आदि के आविर्भाव स्थान भी अनियत है, ऐसा कहते हैं।

कभी (पादकल्प में) ब्रह्मा कमल से उत्पन्न होते हैं, किसी कल्प में जल से उत्पन्न होते हैं, कभी अण्ड से उत्पन्न होते हैं और कभी आकाश से उत्पन्न होते हैं ॥९॥

इसी प्रकार सूर्य आदि पदाधिकारियों में भी अनियम है, ऐसा कहते हैं।

किसी ब्रह्माण्ड में शंकरजी मुख्य पदाधिकारी हैं तो किसी में सूर्य मुख्य पदाधिकार है। किसी में इन्द्र मुख्य पदाधिकारी हैं तो किसी में नारायण मुख्य पदाधिकारी हैं एवं किसी में एकमात्र शिवजी ही देवताओं के अधिकार में स्थित हैं ॥१०॥ किसी सृष्टि में पृथ्वी निबिड़ पेड़ों से व्याप्त हुई, किसी सृष्टि में मनुष्यों से निबिड़ हुई और किसी सृष्टि में पर्वतों से व्याप्त थी ॥११॥ कोई भूमि मृणमयी हुई, तो कोई पत्थरों से पूर्ण थी। कोई स्वर्णमयी थी, तो कोई ताम्रमयी थी ॥१२॥ इस ब्रह्माण्ड में ही कितने आश्चर्यमय जगत हैं और अन्यान्य ब्रह्माण्ड में भी अन्य प्रकारों से आश्चर्यमय जगत हैं किन्हीं जगतों में केवलमात्र सूर्य आदि के तुल्य प्रकाश है, तो कोई प्रकाश रहित भी हैं ॥१३॥ इस ब्रह्मतत्त्व महाकाश में अनन्त जगत सागर की तरंगों के समान उत्पन्न होते हैं और लीन होते हैं ॥१४॥ जैसे सागर में तरंग उत्पन्न होती है, जैसे मरुभूमि में मृगजल उत्पन्न होता हैं, जैसे आम में बौर उत्पन्न होते हैं, वैसे ही परब्रह्म में विश्व की सम्पत्तियाँ उत्पन्न होती है ॥१५॥ भले ही सूर्य की किरणों में चंचल त्रसरेणु गिने जा सकते हैं, पर ब्रह्म में चंचल ब्रह्माण्डों के समूह नहीं गिने जा सकते ॥१६॥ जैसे वर्षा आदि ऋतुओं मे बहुत से मच्छर आदि के समूह उत्पन्न हो-हो कर नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही ये लोक सृष्टियाँ उत्पन्न हो-हो कर नष्ट हो जाती हैं ॥१७॥

उन सृष्टियों के प्रवाह की अनादिता को कहते हैं।

किस समय से लेकर ये नित्य उत्पन्न और विनष्ट होनेवाली सृष्टि परम्पराएँ प्राप्त हुई, यह नहीं जाना जा सकता ॥१८॥ अनादि काल से सृष्टि परम्पराएँ तरंगों के समान निरन्तर स्फुरित होती हैं, पूर्व से पहले ये थी और वैसे ही उससे भी पहले विद्यमान थी ॥१९॥

देवता, असुर और मनुष्यों से युक्त ये सब भूत जातियाँ नदी की तरंगों की रीति से ही उत्पन्न हो-होकर लीन हो जाती हैं, जैसे यह ब्रह्माण्ड है वैसे ही जो हजारों ब्रह्माण्ड परम्पराएँ है, वे जैसे वर्षों में हजारों घड़ियाँ क्षीण हो जाती हैं वैसे ही क्षीण हो गई है और अन्य ब्रह्माण्ड पंक्तियाँ इस समय भी ब्रह्मोपलब्धि का स्थान होने से ब्रह्मपुरूष शरीर के एक स्थान में (हृदयकमल का रूप एकदेश में) स्थित अत्यन्त विस्तीर्ण ब्रह्म में वर्तमान शरीरवाली विद्यमान हैं, अतएव 'अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' (इस शरीर में आकाश और पृथिवी भीतर ही समाहित हैं) इत्यादि श्रुति है ॥२०-२२॥ ब्रह्मपुर से उपलक्षित हृदयाकाश की शोभारूप ब्रह्मनिर्मित अन्य ब्रह्माण्ड परम्पराएँ जैसे ध्वनि के भेद आकाश में हो-होकर नष्ट हो जाते हैं , वैसे ही हो-हो करके फिर ब्रह्म में नष्ट हो जाती हैं ॥२३॥ अन्य सृष्टि परम्पराएँ, जो कि आगे होगी, जैसे मिट्टी की राशि में घड़े स्थित है, जैसे अंकुर में पल्लव रहते हैं,

卐 यह अवान्तर सृष्टि के अभिप्राय से कहा गया है।

वैसे ही ब्रह्म में स्थित है, जब तक तत्त्वज्ञान से देखी जा रही ये कुछ भी नहीं है, ऐसा बाध होता है, उससे पहले तक विपुल आकारवाले विकारों से युक्त ये त्रिभुवनशोभाएँ चिदाकाश में होंगी ॥२४,२५॥ मूर्खों से अध्यस्त और विस्तार को प्राप्त की जा रही आकाश लताओं की तरह आविर्भूत और तिरोभूत होती हुई ये त्रिभुवनशोभाएँ न तो सत्य हैं और न असत्य ही हैं ॥२६॥ सभी अपने अन्तर्गत सृष्टि समष्टिरूप ब्रह्माण्डों की सृष्टियाँ तरंग के समान नश्वरतारूप धर्मवाली, देखते ही नष्ट होनेवाली और विचित्र आकारवाली प्राणियों की चेष्टाओं से युक्त हैं ॥२७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, सब ब्रह्माण्डों की विचित्र आकार-प्रकार के विकारों से युक्त विचित्र रूपवाली सृष्टियाँ एवं सभी सृष्टि द्रष्टियाँ तत्त्वज्ञ की दृष्टि में जल से वृष्टियों के समान अतिरिक्त नहीं है, और अतत्त्वज्ञ की दृष्टि से तो मेघ से वृष्टि की तरह तटस्थ ईश्वर से उत्पन्न होती है ॥२८,२९॥ परमार्थ दृष्टि से तो अज्ञ व तत्त्ववेत्ता सबकी दृष्टि से सब सृष्टियाँ जैसे जड़ों द्वारा खींचे गये द्रवरूप भूमि के जल को धारण करनेवाली नाड़ियाँ, त्वचा, पत्र, काँटें आदि सेमर से अतिरिक्त नहीं है, वैसे ही ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है ॥३०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, स्थूलभूतों से बनी हुई देहादि सृष्टियों में और सूक्ष्म भूतों से बनी हुई इन्द्रियादि सृष्टियों में परमाकाश से उत्पन्न हुए भूतसूक्ष्मनामक पंचतन्मात्ररूप मायामलरूपी सूत्र की-स्फटिक, रूद्राक्ष से गुँथी हुई- माला के समान सब पदार्थ हैं ॥३१॥

कभी पद्म से उत्पन्न हुए ब्रह्मा होते हैं ऐसा जो कहा उसमें यथा योग्य पंचीकरण के अनन्तर होनेवाले स्थूल आकाश आदि का प्रथम आविर्भाव क्रम ही नियामक है, ऐसा कहते हैं।

कभी आकाश पहले स्थूलतारूप से स्थिति को प्राप्त होता है, उससे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं, इसलिए आकाशज प्रजापति कहे जाते हैं ॥३२॥ कभी वायु पहले स्थूलता से स्थिति को प्राप्त होता है, उससे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं, इसलिए वे वायुज प्रजापति कहे जाते हैं ॥३३॥ कभी तेज पहले स्थूलतारूप से स्थिति को प्राप्त होता है, उससे सृष्टिकर्ता ब्रह्मा उत्पन्न होते है, इसलिए वे तैजस प्रजापति कहे जाते हैं ॥३४॥ कभी जल पहले स्थूलतारूप से स्थिति को प्राप्त होता है, उससे ब्रह्मा उत्पन्न होते है, इसलिए वे जलज प्रजापति कहे जाते हैं ॥३५॥ कभी पृथ्वी पहले स्थूलता को प्राप्त होती है, उससे ब्रह्मा उत्पन्न होते है, इसलिए वे पार्थिव ब्रह्मा कहे जाते हैं ॥३६॥

अब उक्त आकाश आदि के एक-एक करके प्रथम आविर्भाव में युक्ति कहते हैं।

इन चारों भूतों को अपने अंश को बढ़ाने से तिरोहित-सा कर पाँचवा जो ही भूत जब बढ़ता है, तब उससे उत्पन्न हुए ही ये ब्रह्मा उसके अनन्तर होनेवाली जगत की सृष्टि क्रिया को करते हैं ॥३७॥

सभी पंचभूतों के कार्य हैं, इसलिए सब में पंचात्मकता होने पर उनसे उत्पन्न हुए प्रजापति में 'एक भूत से उत्पन्न हुए है' ऐसा व्यवहार कैसे ? ऐसी यदि कोई शंका करे, तो उक्त भूत का अधिक अंश होने से उसमें एकभूतजत्व का व्यवपदेश होता है, ऐसा कहते हैं।

किसी समय जल के अथवा वायु के या तेज के अधिक भागवाले होने पर तदुपाधिक प्रजापति पूर्व उपासना के अनुसारी स्वभाव से वासित होकर जलज, वायुज, तैजस इत्यादि आकार से अकस्मात स्वयं संपन्न हो जाता है ॥३८॥

उसके देहावयवों से सृष्टि की प्रवृत्ति दिखाते हैं।

इसके अनन्तर कभी उसके मुँह से, कभी चरण से, कभी उसके अग्रभाग से, कभी पीठ से, कभी नेत्रों से और कभी बाहुओं से ब्राह्मण आदि शब्द अपने अर्थों के साथ यथा योग्य उत्पन्न होते हैं, अतएव 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' ऐसी श्रुति है ॥३९॥

कभी नारायण नामक पुरुष की नाभि में कमल उत्पन्न होता है, उसमें ब्रह्मा वृद्धि को प्राप्त होता है, कमल में जन्म होने के कारण वह पद्मज कहा जाता है ॥४०॥

सद्रूप से विद्यमान उसकी सत् से ही उत्पत्ति कैसे हो सकती है, यों पूछ रहे श्रीरामचन्द्रजी के प्रति कहते हैं।

मिथ्या ही इस चक्र की रचना करनेवाली, चंचल जल की भौंरी के समान सुन्दर यह भ्रान्ति के स्वप्न और मनोराज्य के समान माया है ॥४१॥ यदि सत् पुरुष का अपने नाभिकमल में जन्म नहीं हो सकता है, तो इस असंग अद्वितीय ब्रह्म में आपका यह जगद्रूप द्वैत कैसे हुआ, इसे आप बताइये, सद्रूप से विद्यमान सत् का जन्म कैसे हो सकता है, आपका यह प्रश्न बालक के मनोराज्य प्रश्न के समान ही है, भाव यह कि क्या कहीं बालक का मनोराज्य भी प्रश्न का विषय हो सकता है ? ॥४२॥

पद्मज की उत्पत्ति के समान व्योमज की उत्पत्ति भी मन की अचिन्त्य रचनाशक्ति का अवलम्बन करके ही होती है, यों समर्थन करते हैं।

किसी समय शुद्ध आकाश में मन की शक्ति से सुवर्ण का ब्रह्माण्ड अपने आप उत्पन्न होता है, जिसके गर्भ में ब्रह्मा रहते हैं ॥४३॥ कभी परम पुरुष जलमें बीज की सृष्टि करता है। उससे पद्म (भूकमल) अथवा विशाल ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है, उससे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। कभी पहले कल्प में सूर्य के अधिकार पर स्थित इस कल्प में ब्रह्मा होते हैं, कभी पूर्वकल्प में वरुण के अधिकार पर स्थित इस कल्प में ब्रह्मा होता हैं और कभी पूर्वकल्प में वायु के अधिकार पर स्थित इस कल्प में ब्रह्मा होते हैं ॥४४,४५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार प्रत्यगात्मा में अविद्यमान इन विचित्र सृष्टियों में ब्रह्मा की बहुत-सी विचित्र उत्पत्तियाँ बीत चुकी हैं ॥४६॥

एक का यह वर्णन स्थालीपुलाक न्याय से अन्यान्य सृष्टियों के भी दृष्टान्त के लिए है, ऐसा कहते हैं।

एक प्रजापति की उत्पत्ति सृष्टि के दृष्टान्त के लिए मैंने आपसे कही, उसमें कहीं पर नियम नहीं है ॥४७॥ यह संसार मन का विलासमात्र है, यह सिद्धान्त है। आपके सम्यग् ज्ञान के लिए मैंने यह सृष्टि क्रम कहा है ॥४८॥

पूर्ववर्णित सात्त्विक, राजस आदि जीव जाति भेद भी दृष्टान्तार्थ ही कहे हैं। ऐसा कहते हैं।

सात्त्विकी आदि जीवजातियाँ भी इस प्रकार उत्पन्न हुई है, यह कहने के लिए ही यह सृष्टिक्रम आपसे कहा गया है ।४९॥

जब तक इस मन का समूलोन्मूलन नहीं किया जाता, तब तक संसार परम्परा का कभी विराम नहीं होता, यह दर्शाते हैं।

फिर सृष्टि , फिर नाश, फिर दुःख, फिर सुख, फिर अज्ञानी, फिर ज्ञानी, फिर बन्ध और मोक्ष की अस्तित्व कल्पना होती है। फिर वर्तमान और आगामी प्रियजनों में तथा अतीत प्रियजनों में स्नेह

दृष्टियाँ, जो सृष्टि करनेवाली हैं, उजाला करनेवाले दीपों के समान पुनः पुनः शान्त होती है, पुनः–पुनः उत्पन्न होती हैं ॥५०,५१॥

यदि कोई कहे अल्पकालस्थायी दीपक दो परार्ध तक रहनेवाले ब्रह्मा आदि के शरीरों के उपमान कैसे हो सकते हैं, इस पर कहते हैं।

दीपों के और ब्रह्माओं के शरीरों की उत्पत्ति और विनाश में काल की अधिकता के अलावा इस विनाश में और कोई भेद नहीं है ॥५२॥ फिर कृत युग, फिर त्रेता, फिर द्वापर, फिर कलि इस प्रकार सारा जगत चक्र के भ्रमण की तरह पुनः–पुनः आता है ॥५३॥ फिर मन्वन्तरों के आरम्भ होते हैं, इस पर एक कल्प के बाद अनेकानेक कल्पों की परम्पराएँ फिर–फिर कार्यावस्थाएँ ऐसे होती है, जैसे हर रोज प्रातःकाल के बाद दिन होते हैं ॥५४॥ दिन–रात और कलाओं से (तीस काष्ठारूप यानी मुहूर्त के द्वादशभागरूप क्षण का तीसवाँ हिस्सारूप कलाओं से), जो कि प्राणियों के आयुकाल की कल्पनारूप है, परिच्छिन्न सब पदार्थों से युक्त यह सब जगत पुनः–पुनः होता है और पुनः–पुनःकुछ भी नहीं रहता है ॥५५॥ जैसे पत्थर आदि के आघात से रहित, तपाये हुए लोह–पिण्ड में आग की चिनगारियाँ स्थित रहती हैं वैसे ही ये सब पदार्थ चिदाकाश में मायारूप स्वभाव से नित्य स्थित हैं ॥५६॥ जैसे वृक्ष में विभिन्न ऋतुओं में होनेवाले फल–फूल आदि कभी अनभिव्यक्त रहते हैं, कभी प्रकट हो जाते हैं वैसे ही परमतत्त्व में यह सब जगत कभी अनभिव्यक्त रहता है, कभी प्रकट हो जाता है। सर्वात्मा रहता है, कभी प्रकट हो जाता है ॥५७॥ सर्वात्मा चिद्विवर्त ही सदा इस प्रकार की आकृतिवाला होता है, क्योंकि जैसे लोचनों से द्विचन्द्रत्व उत्पन्न होता है वैसे ही इससे यह सृष्टि उत्पन्न होती है ॥५८॥ जैसे चन्द्रमा से ही ये सब किरणें आती हैं, उसमें स्थित होती हुई भी उसमें अस्थित–सी प्रतीत होती हैं। ऐसे ये सब चारों ओर विस्तृत सृष्टियाँ चैतन्य से ही प्राप्त होती हैं और उसमें स्थित होती हुई भी अस्थित–सी प्रतीत होती हैं ॥५९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, यह संसार कभी भी सत् नहीं है, क्योंकि सर्वशक्ति चैतन्य में असंसार स्वभावता, (असंगाद्वितीयस्वभावता) सदा परमार्थतः विद्यमान है ॥६०॥ हे सज्जनशिरोमणे श्रीरामचन्द्रजी, यह जगत कभी भी असत् नहीं है, क्योंकि सर्वशक्ति चैतन्य में जगद्बीज मर्यादा विद्यमान है ॥६१॥ अधिष्ठान चैतन्य से दीप्त संसारिता और काल से उपलक्षित संसार महाकल्प तक रहता है, आगे नहीं रहेगा, यह व्यवहार इस समय उचित ही है ॥६२॥

यदि कोई शंका करे कि संसार की सत्ता और असत्ता परस्पर विरुद्ध है ? तो इस पर दृष्टिभेद होने से कोई विरोध नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे महामते श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानी की दृष्टि से यह सब कुछ ब्रह्म ही है, इसलिए यह संसार नहीं है, यह उपपन्न ही है ॥६३॥ अज्ञानी की दृष्टि से निरन्तर अविच्छिन्न संसार के रहने के कारण मिथ्या भी यह संसारमाया नित्य है, यह उपपन्न ही है ॥६४॥

इसीलिए मीमांसकों का जगत कभी भी असत् नहीं है, इस प्रकार जगत प्रवाह नित्य है, यह व्यवहार भी उपपन्न होता है, ऐसा कहते हैं।

हे रघुनन्दन श्रीरामचन्द्रजी, बार–बार होने के कारण यह जगत कभी भी असत् नहीं है, ऐसा जो मीमांसकों ने कहा है, वह भी पूर्वोक्त दृष्टि से असत्य नहीं है, क्योंकि वह 'उनके अभीष्ट कर्मकाण्ड के

प्रमाण्य का उपपादक है ॥६५॥

अज्ञानियों की दृष्टियों के विचित्र होने के कारण बुद्ध आदि द्वारा अपनी-अपनी प्रक्रिया के निर्वाह के लिए कल्पित क्षणिक, परमाणु आदि व्यवहार भी उक्त दृष्टि से उपपन्न होते ही हैं, ऐसा कहते हैं।

दिशाओं में उदित हुए विनाशी बिजली आदि सदा क्षणभंगुर स्वभाववाले देखे गये हैं, क्योंकि वैसी ही सर्वत्र लोगों ने कल्पना की है, उसी के अनुसार यह सम्पूर्ण जगत विनाशी है, यह बात क्या उपपन्न नहीं हो सकती ! ॥६६॥

इसी प्रकार चन्द्रमा और सूर्य के तेज प्रकाश से युक्त दिशाओं में पर्वत, भूमि, समुद्र आदि की स्थिरता देखने से जगत अपनी सत्ता से सदा सत् ही है, इस प्रकार की सांख्यआदि की कल्पना भी उपपन्न होती है, ऐसा कहते हैं।

सभी जगह जिनमें चन्द्रमा और सूर्य उदित हुए हैं, ऐसी दिशाएँ सर्वत्र स्थिर और निश्चल दिखाई देती हैं, इसलिए सारा जगत अविनाशी है, यह कथन भी सत्य-सा है ॥६७॥ ऐसा कोई संकल्पकल्पनाओं का समूह नहीं है, जो सर्वव्यापक, अद्वितीय, नामरूपरहित, परमतत्त्व में उत्पन्न न हो ॥६८॥

प्रसंगतः प्राप्त सब पदार्थों की उत्पत्ति की उपपत्ति कर प्रस्तुत सृष्टि के बार-बार होने का वर्णन करते हैं।

यह सब दृश्य पुनः पुनः होता है, जन्म और मरण फिर फिर होते हैं, फिर सुख होता है, फिर दुःख होता है, फिर कारण और कर्म होते हैं, फिर दिशाएँ होती है, फिर आकाश होता है, फिर सागर और पर्वत होते हैं। जैसे खिड़कीवाले घरों में एक ही सूर्य की प्रभा फिर फिर अनेकों तरह से प्राप्त होती है वैसे ही बार बार यह सृष्टि नानारूप से होती है ॥६९,७०॥ फिर दैत्य होते हैं, इधर देवता होते हैं, पुनः अन्यान्य लोकों का प्रसार होता है, पुनः स्वर्ग और अपवर्ग प्राप्त करने की चेष्टाएँ होती हैं, पुनः इन्द्र होते हैं, पुनः चन्द्रमा होते हैं, नारायण देव का भी पुनः प्रादुर्भाव होता है अनेक दानव भी पुनः उत्पन्न होते हैं, दिशाएँ फिर चंचल और सुन्दर चन्द्रमा, सूर्य, वरुण और वायु के प्रसार से युक्त होती है ॥७१,७२॥ सुमेरुरूप कर्णिका से मनोहर, सह्याद्रिरूपी केसर से सुशोभित, प्राणियों के पुण्यरूपी सुगन्ध से और भोगरूप मकरन्द से भरी हुई अन्तरिक्ष और पृथिवीरूपी कमलिनी फिर उत्पन्न होती है ॥७३॥ सूर्यरूपी सिंह व्योमरूपी वन में आक्रमण कर किरणरूपी नखों से अन्धकाररूपी गजघटाओं को छिन्न-भिन्न करने के लिए फिर उदित होता है ॥७४॥ चन्द्र भी चंचल और सफेद मंजरियों के समान सुन्दर अपनी किरणों से दिशारूपी वधू के मुख को अलंकृत करनेवाले और सब प्राणियों को सुख देनेवाले अमृतका पुनः संचय करता है ॥७५॥ पुण्यनाशरूपी वायु से उड़ाए गये पुण्यात्मारूपी पुष्पसमूह क्षत-विक्षत शरीर होकर स्वर्गरूपी वृक्ष से फिर इस लोक में गिरते हैं ॥७६॥ सृष्टिकालरूपी कपिंजल (पक्षी) क्रियारूपी पंखों से संसार निर्माणनामक कुछ घटपटरूप कार्य करके फिर चला जाता है ॥७७॥ पूर्व इन्द्ररूप भ्रमर के अपने अधिकार से निवृत्त होने पर नवीन, तत् तत् मन्वन्तर के अधिकारी अन्यान्य देवताओं से सन्नद्ध ऐरावत में बैठकर अपर देवेन्द्ररूपी भ्रमर पूर्व प्रदेशों से रहित स्वर्गरूपी कमल में पुनः प्राप्त होता है ॥७८॥ जैसे प्रलयकाल का वायु अपने भीतर सो रहे भगवान विष्णु के साथ समुद्र को कलुषित कर देता है वैसे ही सत्ययुग से पवित्र काल को कलि (अधर्म) पुनः दूषित करता है ॥७९॥ काल रूपी कुम्भहार से, जिससे प्राणी रूपी सकोरे

बनाए गए हैं, ऐसा कल्पनामक चक्र निरन्तर वेग से घुमाया जाता है ॥८०॥ शुभस्थिति से रहित जगत, जिसमें जिस विषय में पूर्व अभ्यास है उस विषय के अनुसार संकल्प है, सूखे हुए वन के समान फिर नीरसता को (धर्मरसहीनता को) प्राप्त होता है ॥८१॥ सूर्य समूहों के उदय होने पर सूर्यसमूहरूपी प्रदीप्त अग्नि से जिसमें अनन्त शरीर जलाये गये हैं एवं सब प्राणियों की हड्डियों से परिपूर्ण जगत फिर श्मशान बन जाता है ॥८२॥ कुलाचल के समान विपुल आकारवाले पुष्करावर्त नामक प्रलयकाल के मेघों की वृष्टियों से जगत फिर फिर एकमात्र सागरता को, जिसमें नाच रहे संहाररुद्र ही सफेद होने के नाते विशाल फेन के ढ़ेर–से प्रतीत होते हैं ॥८३॥ फिर जिसमें वायु और जल निश्चल हो गया है एवं सब वस्तुओं से रिक्त जगत अपूर्व आकाश के समान शून्यता को प्राप्त होता है ॥८४॥ समरस हृदयवाले आदि देव कितने ही वर्षों तक जीर्ण शरीर से जीवन का अनुभव कर फिर अपनी आत्मा में लीन हो जाते हैं। फिर दूसरे समय में मन शून्य में गन्धर्वनगर के समान उसी प्रकार जगतों का निर्माण करता है ॥८५,८६॥ फिर प्रलय होने के बाद सृष्टि समारम्भरूप सबकी उत्पत्ति होती है, हे श्रीरामचन्द्रजी, चक्र के समान फिर यह सब घूमता है ॥८७॥ दीर्घ भ्रमरूप इस महामाया के आडम्बर में 'यह सत्य है, यह असत्य है', इस प्रकार निश्चय करने के योग्य क्या कोई वस्तु है जो यहाँ पर कही जाय ? दाशूर की आख्यायिका के समान यह संसार चक्रकल्पना से रचित आकारवाले तथा वस्तुशून्य है, वास्तविक नहीं है ॥८८,८९॥ जब कि यह जगत अज्ञान से उत्पन्न हुए अतएव दो चन्द्रमाओं के भ्रम के तुल्य विकल्पों से निरन्तर व्याप्त है, अविद्यमान कर्ता से ही इसकी रचना हुई है एवं अधिष्ठानरूप ब्रह्म का इसने अनुसरण कर रक्खा है, तो यहाँ पर आपकी विमूढ़ता किस कारण से उत्पन्न हुई है। भाव यह कि जिस निमित्त को आप देखते हैं, वह है ही नहीं और जो परमार्थतः है, वह अभय ब्रह्म ही है, इसलिए आपको बिना किसी निमित्त के यह मोह होना उचित नहीं है ॥९०॥

सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

अड़तालीसवाँ सर्ग

भोग आदि की लालसा की निन्दा, दाशूर की उत्पत्ति और प्रसन्न हुए अग्निदेव से उनको वर प्राप्ति।

यदि यह संसार चक्र एकमात्र मन की कल्पना ही है, परमार्थतः यह ब्रह्म ही है; तो बुद्धि, प्रतिभा, निपुणता आदि से सम्पन्न महापुरुषों में कोई भी वैसा क्यों नहीं देखता, इसमें क्या कारण है ? ऐसी यदि कोई शंका करे, तो परमार्थ तत्त्व की ओर ध्यान न देना और उसके विरुद्ध भोग–ऐश्वर्य आदि की आसक्ति ही इसमें कारण है, ऐसा कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी, भोग और ऐश्वर्य से हतबुद्धि अतएव ऐहिक और पारलौकिक भोग, ऐश्वर्य के उपायभूत लौकिक और वैदिक विविध कर्मों से बढ़ी हुई अभिलाषावाले एवं स्वयं अपनी आत्मा और दूसरों की वंचना करनेवाले पुरुष जब सत्य तत्त्व की ओर ध्यान नहीं देते, तब वे उसे नहीं देखते ॥१॥

तब कौन देखते हैं, ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं।

जो पुरुष विवेकबुद्धि की चरम सीमा को पहुँचे हैं एव इन्द्रियों के वशीभूत नहीं है, वे इस जगत की माया एवं सत्य तत्त्व को हाथ में रक्खे हुए बेल के समान भली भाँति देखते हैं ॥२॥ जो विचारवान जीव

इस जगत की बाह्य माया और अहंकारमयी आभ्यन्तर माया को तुच्छ जानकर जैसे साँप केंचुल को छोड़ देता है वैसे ही माया का त्याग करता है तदनन्तर अनासक्ति को प्राप्त होकर जैसे अग्नि से जला हुआ बीज चिरकाल तक खेतों में रहता हुआ भी उत्पन्न नहीं होता वैसे ही वह भी चिरकाल तक देहों में स्थित होता हुआ भी फिर उत्पन्न नहीं होता ॥३,४॥ किन्तु अज्ञानी पुरुष आधि–व्याधि से घिरे हुए, प्रातःकाल या आज नष्ट होनेवाले शरीर के हित के लिए प्रयत्न करते हैं, आत्मा के हित के लिए प्रयत्न नहीं करते ॥५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आप भी अज्ञानियों की तरह जड़ शरीर के हित का दुःख के लिए सम्पादन न कीजिये, एकमात्र आत्मनिष्ठ होइये ॥६॥

पहले प्रस्तुत दाशूर की आख्यायिका को सुनने की इच्छावाले श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं :

हे प्रभो, यह विषयसुख को देनेवाला संसारचक्र दाशूर की आख्यायिका के तुल्य कल्पना द्वारा रचित आकारवाला एवं अवास्तविक है, ऐसा जो आपने कहा, वह कैसे है ? वह आख्यायिका जिस प्रकार की है, उसे वर्णन करने की कृपा कीजिये ॥७॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जगत की माया के स्वरूप के उदाहरण रूप से मेरे द्वारा कही जा रही दाशूर की आख्यायिका को आप सुनिये ॥८॥ इस पृथिवी तल में विचित्र फूलों के वृक्षों से परिपूर्ण मगध नाम से प्रसिद्ध बड़ा समृद्ध देश है, उसमें कदम्ब वन के विस्तार ने अनायास सब जंगलों को वेष्टित कर रक्खा है। भाँति–भाँति के पक्षियों के झुण्डों और आश्चर्यमय वस्तुओं से वह बड़ा रमणीय है। उसकी ग्राम सीमा की भूमियाँ धान आदि की खेती से व्याप्त हैं। नगर के उपवनों से वह सुशोभित है। उसकी सब नदियों के तट कमल, उत्पल और कह्लार से भरें हैं। उपवनों के झूलों में झूल रही महिलाओं के गानों से वह गुलजार है। निशा से उपभुक्त हुए–से मूर्झाए फूलों से वहाँ की सड़कें निबिड़ रहती हैं। उस देश में कनौल के वृक्षों से व्याप्त, केले की झाड़ियों से निबिड़, कदम्बों के वृक्षों से सुशोभित एक पर्वत तट था, जहाँ फूलों में बहने से वायु शब्द करता था, केसररूपी लालधूलि से जो व्याप्त था, जिस पर कलहंस तथा अनुरागयुक्त सारस शब्द करते थे। उस पुण्य पर्वत पर, जिसमें विचित्र पक्षी और वृक्ष थे, परम धर्मात्मा और महातपस्वी कोई मुनि निवास करते थे। उनका नाम दाशूर था। वे अत्यन्त कठिन तपस्या कर रहे थे। कदम्ब वृक्ष की चोटी पर वे रहते थे। उन्हें संसार की किसी वस्तु से अनुराग न था और वे महाज्ञानी थे ॥९–१६॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन, वे महातपस्वी वन में कदम्ब के विशालवृक्ष की चोटी पर किसके प्रभाव से और कैसे रहते थे ? ॥१७॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, शरलोमा नाम से विख्यात उनके पिता थे, वे दूसरे ब्रह्मा के सदृश थे, उसी पर्वत पर निवास करते थे ॥१८॥ देवगुरु बृहस्पति के पुत्र कच की तरह उनके यह एक पुत्र हुआ। उस पुत्र के साथ उन्होंने वन में सारी आयु व्यतीत की ॥१९॥ तदुपरान्त वे शरलोमा ऋषि यहाँ पर अनेक वर्षों का उपभोग करके जैसे पक्षी घोंसला छोड़ कर चला जाता है वैसे ही देह का त्याग कर स्वर्ग को चले गये ॥२०॥ दुर्भाग्य द्वारा दाशूर के पिता दाशूर से पृथक् किये गये थे, अतएव एकाकी (📖) वे कुरर पक्षी के सदृश करुण विलाप करने लगे ॥२१॥ माता और पिता के वियोग से शोक सन्तप्त वे हेमन्त में कमल के समान अत्यन्त म्लान हो गये। हे

📖 'एक एव' इस शब्द से ज्ञात होता है कि उनकी माता ने पिता का अनुगमन कर लिया था।

श्रीरामचन्द्रजी, अत्यन्त दीन उस बालक को वन देवता ने अदृश्य शरीर होकर इस प्रकार आश्वासन दिया ॥२२,२३॥ 'हे ऋषिपुत्र, हे महाप्राज्ञ, तुम अज्ञानी के समान क्यों रोते हो, तुम संसार के चंचल स्वरूप को क्या नहीं जानते ? ॥२४॥ हे सज्जन, संसार में चंचल सृष्टि सदा ऐसी ही है, वह पहले तो उत्पन्न होती है, जीवित रहती है और पीछे अवश्य विनष्ट हो जाती है ॥२५॥ हे मुने, व्यवहार दृष्टि में ब्रह्मा आदि यह जो कुछ भी वस्तु प्रसिद्ध है, उसका अवश्य विनाश हो जायेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है । इसलिए पिता के मरण के लिए तुम व्यर्थ विषाद मत करो । जैसे उदित हुए सूर्य अवश्य डूबते हैं वैसे ही उत्पन्न हुए का विनाश अवश्यम्भावी है ॥२६,२७॥

दाशूर के नेत्र मारे विलाप के लाल हो गये थे, वे ऐसी आकाशवाणी सुनकर जैसे मोर मेघ का गर्जन सुनकर धैर्य को प्राप्त होता है वैसे ही धैर्य को प्राप्त हुए ॥२८॥ उठ कर अपने पिता का और्ध्वदैहिक कर्म बड़ी आतुरता के साथ करके उत्तम सिद्धि प्राप्त करने के लिए उन्होंने तपस्या के लिए दृढ़ निश्चय किया ॥२९॥ वन में ब्रह्मोचित कर्म से तपस्या कर रहे उन्होंने अनन्त शुद्धि–अशुद्धि आदि कल्पनाओं से युक्त श्रोत्रियत्व प्राप्त किया, जिससे ज्ञेय तत्त्व का ज्ञान नहीं हुआ, ऐसी बुद्धिवाले उस श्रोत्रिय का चित्त उन–उन शुद्धि और अशुद्धि की कल्पनाओं से इस पवित्र पृथिवी पर विश्राम को प्राप्त नहीं हुआ । यद्यपि यह सारा भूमण्डल शुद्ध था, तथापि इसे केवल अशुद्ध सा देखते हुए वे कहीं पर विश्रान्ति को प्राप्त नहीं हुए ॥३०–३२॥ तदनन्तर अपनी कल्पना से ही उन्होंने विचार किया कि वृक्ष की चोटी ही पवित्र है, उसी पर मेरा रहना ठीक है ॥३३॥ इसलिए अब मैं तपस्या करूँगा, जिस तपस्या से वृक्षों, शाखाओं और पत्तों पर पक्षियों की तरह रह सकूँ ॥३४॥ ऐसा विचार कर खूब धधकती हुई आग जलाकर उसमें अपने कन्धों से नोच नोच कर मांस की आहुति देने लगे ॥३५॥ तदुपरान्त मैं देवताओं का मुख हूँ, इसलिए देवताओं के कण्ठ ब्राह्मणके मांस से भस्म न हो, ऐसा विचार कर दैदीप्यमान भगवान अग्निदेव उनके सामने, जैसे बृहस्पति के सामने सूर्य, प्रकट हुए ॥३६,३७॥ हे सज्जन, जैसे कोश के भीतर से कोशाधिपति पहले से स्थापित मणि को ग्रहण करता है वैसे ही हे कुमार, तुम्हारे अन्दर पहले से विद्यमान अभीष्ट वर तुम ग्रहण करो ।– ऐसा धीर वचन उन्होंने कहा । ।३८॥ जब अग्निदेव ने ऐसा कहा, तब ब्राह्मणकुमार ने अर्ध्य और पुष्प से सुशोभित स्तुतियों द्वारा अग्नि की पूजा कर उनसे कहा ॥३९॥

भगवन्, प्राणियों से चारों ओर ठसाठस भरी हुई पृथिवी पर पवित्र प्रदेश मुझे कहीं नहीं दिखाई दिया । इसलिए वृक्षों के ऊपर मेरी स्थिति हो ॥४०॥ मुनिपुत्र के ऐसा कहने पर सब देवताओं के मुखरूप अग्निदेव 'वृक्षों के ऊपर ही तुम्हारी स्थिति हो' ऐसा कहकर अन्तर्हित हो गये ॥४१॥ सायंकालीन कमल के समान अग्निदेव के क्षण भर में अन्तर्हित होने पर पूर्णकाम वह मुनिकुमार पूर्ण चन्द्रमा के समान सुशोभित हुआ ॥४२॥ अत्यन्त सन्तोष को प्राप्त हुए उस मुनिकुमार ने अभीष्ट वर की प्राप्ति द्वारा उत्पन्न हुई मुख की कान्ति से, जो मन्द हास्य से अधिक सुशोभित हो रही थी, सम्पूर्ण कला से युक्त चन्द्रमा को और विकसित कमल को फीका कर दिया ॥४३॥

अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त

उनचासवाँ सर्ग

शाखा, पल्लव, पुष्प, फल और पक्षियों से मनोहर कदम्ब वृक्ष का उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों से वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर उसने वन के मध्य में स्थित कदम्ब वृक्ष को देखा। वह इतना ऊँचा था कि मेघों को छूता था, मध्याह्न के समय थके हुए सूर्य के घोड़े उसके स्कन्ध-प्रदेश में विश्राम लेते थे, वह अपनी शाखारूपी बाहुओं से दिशाओं के मध्य भाग के समान विशाल वितान की रचना कर रहा था, फूले हुए फूलरूपी नेत्रों से मेरी शाखाओं के वितान से अनावृत बचा हुआ और कोई प्रदेश है या नहीं ? यों मानों दिशाओं को देख रहा था, तेज वायु बहने के कारण परागरहित होकर घूम रहे प्रचुर भँवर ही उसके केश थे, वह अपने पल्लवरूपी हाथों से दिशारूपी कान्ताओं का मुख पोंछ रहा था ॥१-३॥ गुडुच्छ लताओं की दन्त पंक्ति के समान स्थित स्वच्छ मंजरी के पुंजों से केसर युक्त हुए, ओस के बिन्दुओं को सीकररूप में परिणत कर देनेवाले पल्लवरूपी ताम्बूलयुक्त मुखों से मानों वह वनराजि का परिहास कर रहा था ॥४॥ लताओं की अत्यन्त शोभा से उल्लसित हो रहे फूलों के केसर में स्थित परागों से उसने मण्डलाकार वेश बना रखा था। दीप्ति से वह चन्द्रमा की तरह प्रतीत होता था। शाखाओं की परम्पराओं से, जिनकी लताओं से आवृत प्रदेशों में चकोर शब्द करते थे, वह व्याप्त था। ग्रह, नक्षत्र, तारा, विमान आदि से आवृत सिद्धमार्ग से उन्नतरूप से आश्रित ब्रह्माण्ड की तरह वह स्थित था, कन्धे और चोटी पर बैठे हुए मयूरों के लटक रहे मोरपंखों से और इन्द्रधनुष से युक्त मेघों से आकाश के समान सुशोभित था ॥५-७॥ प्रत्येक स्कन्ध प्रदेश में खोखलों में रहनेवाले, भीतर स्थित आधे शरीर से खोखले में निमग्न और बाहर निकले हुए आधे शरीर से उन्मग्न तथा क्षण में दिखाई देने और क्षण में नष्ट होनेवाले सफेद चमर मृगों से वह ऐसे पूर्ण था, जैसे कि चन्द्रमाओं से संवत्सर पूर्ण रहता है ॥८॥ कपिंजल नामक पक्षियों के जोर के चह-चहानेसे, कोकिलों के मधुर गुंजन से और चकोरों की दीर्घ ध्वनियों से मानों वह गा रहा था ॥९॥ अपने घोंसले में क्रीड़ा कर रहे कलहंसों के समूहों से वह ऐसे व्याप्त था जैसे स्वर्गरूप कोटर में विश्राम ले रहे सिद्धों से ब्रह्माण्ड आवृत रहता है ॥१०॥ जैसे पल्लव के समान चंचल सुन्दर हाथवाली और भँवर के समान नेत्रवाली अप्सराओं से स्वर्ग चारों ओर व्याप्त रहता है, वैसे ही कोंपलरूपी चंचल हाथवाली भँवररूपी सुन्दर नेत्रवाली मंजरियों से वह चारों ओर व्याप्त था ॥११॥ इन्द्रधनुष की सुन्दरतावाले कुमुद, नीलकमल, रक्तकमल आदि के तुल्य भाँति-भाँति के फूलों के परागों से युक्त, मंजरियों से पीला और पत्तों से चारों और हरा वह वृक्ष बिजलीवाले मेघ के समान दिखाई देता था ॥१२॥ वह हजारों भुजाओंरूपी शाखाओं से युक्त था और उसने आकाश और पृथिवी के मध्यभाग को भर दिया था, अतएव वह उद्धत नृत्यवाले, चन्द्रमा और सूर्यरूपी कुण्डलों को धारण करनेवाले विश्वरूप भगवान के तुल्य था ॥१३॥ उसके तलप्रदेश में गजराज बैठे रहते थे, आकाश में वह तारागणों से युक्त था तथा मध्यप्रदेश में लता-पुष्पमय था, अतएव जिसके तलप्रदेश (पाताल) में शेष आदि नागराज निवास करते हैं, ऊपर तारागण रहते हैं और जिसके मध्य में लता-पुष्पमयी पृथ्वी विद्यमान है, ऐसे दूसरे आकाशमण्डल के समान वह था ॥१४॥ पर्वत के समस्त वनों से शोभित हो रहा वह

कदम्बवृक्ष अपने द्वारा रचे गये सब प्राणियों, पर्वतों और वनों से शोभित हो रहे ब्रह्माजी के तुल्य था, पृथ्वी में फल, पल्लव और फूलों का वह एकमात्र निधान–सा था ॥१५॥ पल्लवों में फूलों के परागों से आच्छादित कलियों के समूहों को धारण कर रहा वह सूर्य की किरणों से आच्छन्न तारागणों से युक्त आकाश के समान प्रतीत हो रहा था ॥१६॥ चंचल पक्षियों से पूर्ण हजारों घोंसलों से व्याप्त स्कन्धों से परिवेष्टित वह लोगों से भरे हुए देशों से वेष्टित भूतल के समान था ॥१७॥ वह सब वनदेवियों के उत्तम अन्तःपुर के सदृश्य था, मंजरियाँ ही उसमें पताका थी, लताओं के मण्डपों से वह अलंकृत था एवं वह फूलरूपी मंकोल से (चूर्ण–विशेष से) सफेद, फूलों के समूहों से भरा हुआ, शब्द कर रहे चकोर, भँवर, शुक, कोयल, मैना से युक्त, इधर–उधर उड़ रहे पक्षियों से सुशोभित तथा छाया के सेवन करनेवाले मनुष्यों से सेवित (अन्तःपुर के पक्ष में परिचारक जनों से पूर्ण) था ॥१८–२०॥ गुन–गुना रहे भँवररूपी तरंगसमूहों से युक्त गिर रहीं पुष्पों की केसर राशियों से वह ऐसे विराजमान था, जैसे कि शब्द कर रही तरंगों से और फूलों की केसर परम्पराओं से युक्त गिर रही नदियों से पर्वत सुशोभित होता है ॥२१॥ मन्द–मन्द वायु से विलसित होनेवाले घूम रहे पत्र–पुष्पों के समूहों से, जो कि दिन–प्रतिदिन बढ़ते थे उसका स्कन्ध–प्रदेश इस प्रकार आच्छादित था जैसे सफेद मेघों से पर्वत आच्छादित होता है ॥२२॥ वनगज के गण्डस्थल से घिसे हुए अतएव अत्यन्त उन्नत ऊपर को जानू किये हुए पुरुष की जानू के समान निश्चल, पीठ के समान चौड़े विशाल मूल प्रदेश से वह ऐसे स्थित था जैसे कि नीचे की भूमि में उगे हुए वृक्षों से महापर्वत स्थित रहता है ॥२३॥ जैसे पार्षदों के समूह से भगवान विष्णु आवृत रहते हैं वैसे ही विचित्र रंग बिरंग के पंखवाले, कन्धों के खोखलों में रहनेवाले पक्षियों के समूह से वह व्याप्त था ॥२४॥ चंचल फूलों के गुच्छरूपी अंगुलियों से वह वन वायु से नाच रही लताओं को नृत्यक्रिया का मानों उपदेश दे रहा था ॥२५॥ मूल, कोटर, कन्धा, शाखा, पत्र, पुष्प आदि प्रदेशों में से मेरा कोई एक ही प्रदेश आश्रयप्रार्थी मनुष्य, मृग, पक्षी आदि का निवास नहीं है, किन्तु और भी सभी अंग उनके निवास के उपयोगी है, अहा ! परोपकार में मेरे सभी अंग सफल हैं, यों सन्तोष के कारण पत्र–पुष्पों से पूर्ण बहुत–सी लताओं की चंचलता से मानों वह नाचता था ॥२६॥ लतारूपी कान्ताओं का एकमात्र प्रिय होने के कारण श्रृंगार–रस से परिपूर्ण वह मत्त भँवर के शब्दरूपी अव्यक्त अपने मधुर शब्दों से मानों गा रहा था ॥२७॥ आकाश में चलनेवाले सिद्धों का वह आदरपूर्वक पुष्पवृष्टि कर कोयल और भ्रमरों की ध्वनियों से मानों स्वागत कर रहा था ॥२८॥ समीप में स्थित वट, गूलर, पाकड़, आम और पलाश नामक पाँच पवित्र वृक्षों के या उत्तर प्रदेश में (मेरु में) स्थित मन्दार आदि पाँच वृक्षों के लता–पुष्प, फल आदि के उल्लास का अपने स्वच्छ फूलों की कलियों की कान्ति से मानों उपहास कर रहा था ॥२९॥ ऊपर उड़नेवाले पक्षियों के झुण्डों से मानों पारिजात को जीतने के लिए खूब ऊँची गर्दन करके आकाश के मध्य में मानों वह दौड़ रहा था ॥३०॥ मध्यभाग में चमक रहे, भँवरों से युक्त, बड़ी–बड़ी निबिड़ पंक्तिवाले पुष्प गुच्छों से, जिनकी शोभा और संख्या में इन्द्र नेत्रों से अधिक होने के कारण उनसे तुलना नहीं की जा सकती, सहस्त्राक्षता को प्राप्त करके मानों इन्द्र को जीतने के लिए वह उद्यत था ॥३१॥ कहीं पर फूलों के गुच्छेरूप फणों में स्थित निर्मल मणियों से आवृत वह आकाश को देखने की इच्छा से पाताल से निकले हुए शेषनाग के समान स्थित

था ॥३२॥ पुष्पराग से उसका सारा आकार धूसरित था, अतएव वह धूलि धूसरित द्वितीय शंकर-सा था। भगवान शंकर तो केवल भक्तों का ही कल्याण करते हैं, किन्तु वह फल से सुशोभित होनेवाली छाया से सब लोगों का कल्याण करता था ॥३३॥ उस कदम्बवृक्ष को, जो घन पत्तों के समूहों में खिली हुई कलियाँवाले, पुष्पलताओं के नूतन मण्डपों से युक्त था और पक्षिराशिरूप नागरिकजनों से युक्त था, आकाश में निर्मित नगर की भाँति उसने देखा ॥३४॥

उनचासवाँ सर्ग समाप्त

पचासवाँ सर्ग

उस कदम्ब के वृक्षों की चोटी पर बैठे हुए दाशूर द्वारा देखी गयी
दिशारूपी वनिताओं का गुणों के साथ वर्णन।

तदनन्तर भूमि में अपवित्र बुद्धिवाले, आनन्द से प्रफुल्लितचित्त दाशूर फल-पल्लवों से शोभायमान पुष्परूपी पर्वत के सदृश, अन्तरिक्ष और पृथिवी के स्तम्भरूप उस कदम्बवृक्ष पर जैसे एकमात्र सागर में स्थित ऊँचे वट वृक्ष पर भगवान विष्णु चढ़ते हैं वैसे ही चढ़े ॥१,२॥ एकाग्र तप में स्थित वे वहाँ पर आकाश से सटी हुई शाखा की चोटी के पल्लव पर निःशंक होकर बैठे ॥३॥ तदनन्तर कोमल नव नव पल्वरूपी आसन पर बैठकर कौतुकवश चंचल दृष्टि होकर उन्होंने एकक्षण भर दिशाएँ देखी ॥४॥ वे नदी रूपी एकावली से रमणीय थी, पर्वतराज ही उनके स्तन थे, निर्मल आकाश ही उनकी केशराशि थी, चंचल नील मेघ ही उनके अलक थे, नीले (हरे-भरे) पल्लव ही उनके वस्त्र थे, पुष्पराशियाँ ही उनके अवतंस (कर्ण का भूषण या शिरोमाला) थे। सागररूपी भरे कलश उन्होंने हाथ में ले रक्खे थे और वे अनेक आभूषणों से भूषित थी ॥५,६॥ खिले हुए कमल के तालाब उन्होंने धारण कर रक्खे थे, उनके मुख के निःश्वास वायु सुगन्धित थे। भँवर, कोकिल आदि ध्वनियाँ ही उनके मधुर आलाप थे तथा झरनों के झर्झर शब्द ही उनके नूपुर थे ॥७॥ द्युलोक ही उनका मस्तक था, पृथिवी उनकी चरणरूप थी। वृक्ष पंक्तियाँ ही उनकी रोमराशियाँ थी, वन ही उनके विशाल नितम्ब थे, चन्द्रमा और सूर्य को उन्होंने अपने कुण्डल बना रक्खा था ॥८॥ धान आदि के कम्प से चंचल हो रहे खेत ही उनके अंगविलास थे, उनके ललाट चन्दन से पूर्ण थे, पर्वत शिखररूपी स्तनों में चारों ओर सटी हुई हिमराशि और सफेद मेघ ही उनके वस्त्र थे ॥९॥

महासागर की जलराशि ही नूतन अलंकारों को देखने के लिए उनके दर्पण थे। नक्षत्रपंक्तियाँ ही उनके स्वेदबिन्दु थे, भुवनका मध्य भाग ही उनका अन्तःपुर था ॥१०॥ तत् तत् ऋतुओं में उत्पन्न होनेवाले फूल, पल्लव आदि ही स्तन वस्त्र (चोली) थे, सूर्यकिरणरूपी कुंकुम उनमें लगे थे, विचित्र कुसुमों से वह युक्त थी और चाँदनी ही उनका सफेद चन्दन था ॥११॥ आकाश में फैली हुई शाखा के पत्तों पर बैठे हुए सन्तुष्ट दाशूर ने दस दिशाओं को देखा। विस्तृत वन, पृथिवी ओर मेघ ही जिनके कृत्रिमाकार के भेदक अलंकार थे, जो तीनों भुवनों में रहनेवाले लोगों की उपभोग्य होने के कारण त्रिभुवनवनिता रूप और फूलों से खूब सुशोभित थी ॥१२॥

पचासवाँ सर्ग समाप्त

इक्यावनवाँ सर्ग

मानसिक यज्ञों से दाशूर का आत्मबोध, वनदेवी में पुत्रोत्पत्ति और पुत्र के लिए ज्ञान प्रदान।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, तपस्वी के उस आश्रम में घोर तपस्या में अभिमुख वे दाशूर तब से लेकर कदम्बदाशूर नाम से प्रख्यात हुए ॥१॥ उस शाखा के पत्ते पर बैठकर, क्षणभर दिशाओं को देखकर, दृढ़ पद्मासन बाँधकर दिशाओं से परावर्तित, परमार्थ ज्ञानरहित केवल कर्मकाण्ड में अभिरुचिवाले, फलाभिलाषा से युक्त मन से उन्होंने यज्ञ किया ॥२,३॥ आकाश में फैली हुई शाखा के पत्ते पर बैठे हुए समाधिस्थ उन्होंने क्रमशः सब यज्ञ क्रियाएँ अपने मन से कर डाली ॥४॥ वहाँ पर उन्होंने दस वर्षों तक गोमेघ, नरमेघ, अश्वमेघ आदि विपुल दक्षिणावाले यज्ञों से देवताओं की मन से ही आराधना की ॥५॥ समय आने पर रागादि दोषों से शून्य हुए उनके विशाल चित्तमें प्रतिबन्ध का क्षय होने पर पूर्वजन्म में किये गये शास्त्रश्रवण आदि के संस्कार के उद्बुद्ध होने से अन्तःकरण की निर्मलता से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान उत्पन्न हुआ ॥६॥ ज्ञान होने के बाद उनका अज्ञानरूप आवरण छिन्न-भिन्न हो गया और वासना के हट जाने से वे निर्मल हो गये। उन्होंने एक समय उस शाखा के अग्रभाग में बैठी हुई, प्रकाशमान पुष्परूप वस्त्रों से आवृत विशालाक्षी वनदेवी को देखा। उसका मुख बड़ा सुन्दर था, मद से उसके नेत्र घूम रहे थे, नीलकमलों की सुगन्ध से वह सुगन्धित थी एवं उसका रूप अत्यन्त मनोहर था। निर्दोष अंगवाली कोकिला और फूलों के समूहों से झुकी हुई वनलता के समान नम्रमुखी उस कामिनी से मुनि ने कहा : हे कमलपत्राक्षी, अपनी कान्ति से कामदेव को भी क्षोभित करनेवाली तुम कौन हो, फूलों से लदी हुई शाखा को सखी की नाईं परखकर तुम क्यों खड़ी हो ? मुनि के ऐसा कहने पर मृग के समान नेत्रवाली, गौर और विशाल स्तनवाली वनदेवी ने मुनि से कोमल अक्षरों से युक्त यह मनोहर वचन कहा : भगवन्, इस पृथिवीतल में जो-जो दुष्प्राप्त वांछित है, वे सब महापुरुषों की ही प्रार्थना से शीघ्र प्राप्त होते हैं। हे ब्रह्मन्, लताओं से व्याप्त और आपके कदम्बवृक्ष से सुशोभित इस वन में रहने वाली मैं वनदेवी हूँ। लता निकुंज ही मेरे क्रीड़ागृह हैं। नन्दनवन में चैत्र शुक्लपक्ष की त्रयोदशी के दिन स्व के अभ्यास के लिए प्रवर्तित गाना, बजाना, नाचना, भोज आदि के उत्सव में जो वनदेवियों का सम्मेलन हुआ था। हे नाथ, वहाँ त्रैलोक्य की महिलाओं के समाज में मैं गयी ॥७-१५॥

उस मदनोत्सव में पुत्ररहित मैंने सब सखियों को पुत्रयुक्त देखा, इससे मैं अत्यन्त दुःखित हूँ ॥१६॥ सब पुरुषार्थों के विशाल कल्पतरूरूप आपके रहते हे नाथ, पुत्ररहित मैं अनाथ की नाईं क्यों शोक करूँ ? ॥१७॥ हे भगवन्, मुझे पुत्र दीजिये, नहीं तो मैं पुत्र के दुःखदाह की शान्ति के लिए देह को अग्नि के लिए आहुति कर देती हूँ ॥१८॥ उस देवी के ऐसा कहने पर दयायुक्त मुनिश्रेष्ठ ने मुस्कुराकर अपने हाथ में स्थित फूल उसको देकर कहा ॥१९॥ हे सुन्दरी, तुम जाओ, एक महीने में जैसे लता सुन्दर फूल को पैदा करती है, वैसे ही तुम भी पूजा योग्य, भँवरों के समान नेत्रवाले, सुन्दर पुत्र को पैदा करोगी। किन्तु प्राण संकट को प्राप्त करके आत्मघात के संकल्प से मेरे पास आई हुई तुमने मुझसे यह पुत्र माँगा, अतएव यह तत्त्वज्ञानी होगा, अन्य वनदेवियों के पुत्रों के समान यह भोगलम्पट नहीं होगा ॥२०,२१॥

ऐसा कह कर उस मुनि ने वरदान पाने से प्रसन्न मुखमण्डलवाली उस सुन्दरी को, जो मैं आपकी

सेवा करूँ, इस प्रकार की प्रार्थना करने के लिए उत्कण्ठित थी, विदा किया ॥२२॥ वह तो अपने घर चली गई और मुनि अकेले वहाँ रह गये। ऋतु, वर्ष आदि के क्रम से काल बीतने लगा। दीर्घ समय के अनन्तर वही कमल के तुल्य नेत्रवाली वनदेवी बारह वर्ष के पुत्र को लेकर मुनि के समीप उपस्थित हुई ॥२३,२४॥ जैसे भँवरी आम के वृक्ष के समीप जाकर मधुर ध्वनि से बोलती है, वैसे ही चन्द्रमा के समान मुखवाले मुनि को प्रणाम कर और उनके आगे बैठकर उसने मधुरवाणी से कहा : हे भगवन्, हम दोनों का पुत्र यह सुन्दर कुमार है। इसको मैंने सब कलाओं में दक्ष कर दिया है ॥२५,२६॥ हे प्रभो, केवल इसने मंगलमयी ब्रह्मविद्या, जिससे जीव इस संसारचक्र में फिर पीड़ित नहीं होते, प्राप्त नहीं की। हे प्रभो, कृपा करके इस समय इसे ब्रह्मविद्या का उपदेश आप ही दीजिये। कौन ऐसा पुरुष होगा जो अपने कुल में उत्पन्न हुए पुत्र को मूर्ख रक्खेगा। भाव यह है कि अन्य विद्याएँ तत्त्वविषयिणी नहीं है, अतएव वे अविद्या ही हैं उनसे मूर्खता की निवृत्ति नहीं हो सकती है ॥२७,२८॥

ऐसा कह रही उससे, 'हे अबले, उत्तम शिष्य के गुणों से सम्पन्न इस पुत्र को तुम यहीं रहने दो।' – ऐसा कहकर मुनि ने उसे बिदा कर दिया ॥२९॥ उसके चले जाने पर गुरुसेवारूप व्रत से स्थिर नियमवाला वह बुद्धिमान् बालक जैसे सूर्य के सामने अरुण रहता है वैसे ही अपने पिता के आगे स्थित रहा ॥३०॥ शुश्रूषा की व्रतचर्या आदि क्लेशों से पीड़ित होकर उपायभूत शास्त्रजन्य परोक्ष ज्ञान को प्राप्त कर चुके उन मुनि ने विविध प्रकार की उक्तियों से चिरकाल तक अपरोक्षज्ञान के लिए पुत्र को उपदेश दिया ॥३१॥ सैकड़ों आख्यायिका और आख्यानों से, सम्यक्दर्शन द्वारा स्वयंकल्पित दृष्टान्तों से महाभारत आदि इतिहासों के वृत्तान्तों से और वेद, वेदान्तों के निश्चयों से प्रत्यगात्मा में दृढ़ व्युत्पत्ति को जिस प्रकार पुत्र प्राप्त होता था, वैसे ही अनुभव से प्रसिद्ध कथा क्रमों से अनायास विस्तारपूर्वक पुत्र को नित्य उपदेश देते थे ॥३२,३३॥ आत्मबोध के चमत्कार से सब रसों से बढ़े हुए, परम पुरुषार्थरूप होने के कारण अवश्य बोधयोग्य अर्थवाले वचनों से वह महात्मा आगे स्थित पुत्र को वृक्ष के अग्रभाग में ऐसे प्रबुद्ध करते थे, जैसे कि श्रवणमात्र से मयूरों को आनन्द उत्पन्न करने के कारण अन्य रसों से बढ़ी-चढ़ी गर्जनाओं द्वारा मेघ आकाश में आगे स्थित मयूर को प्रबुद्ध करता है ॥३४॥

इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त

बावनवाँ सर्ग

संकल्प से कल्पित विश्व मिथ्या ही है यह सूचित करने की इच्छा से
खोत्थराजा चरित की कल्पना करके वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इसके बाद कभी आकाशमार्ग में स्थित और अदृश्यरूप से मैं उसी मार्ग से जिसमें दाशूर का कदम्ब वृक्ष पड़ता था, कैलासवासिनी मन्दाकिनी में स्नान करने के लिए गया ॥१॥ हे सुबुद्धे, मैं आकाश से, जिसका कि सप्तर्षिमण्डल एक भाग है निकलकर रात्रि में ऊँचे दाशूर के कदम्ब वृक्ष के पास पहुँचा ॥२॥ मैंने जंगल में शाखाओं के खोखले से मुकुलित कमल के अन्दर बैठे हुए भँवर की ध्वनि के समान सम्पूर्ण वचन सुना ॥३॥

जो वचन सुना उसीको कहते हैं।

हे महामते, हे पुत्र, सुनो, इस संसार की उपमानरूप इस एक आश्चर्यमयी आख्याकिया को मैं आपसे कहता हूँ ॥४॥ तीनों लोकों में विख्यात महापराक्रमी एक राजा है। उसका नाम खोत्थ है, वह बड़ा समृद्धिशाली और तीनों लोकों पर आक्रमण करने में समर्थ है ॥५॥ सब लोकों में ब्रह्मा, विष्णु आदि सभी प्रभु जैसे धनी शिरोरत्न को सिर पर धारण करते हैं वैसे ही इसकी आज्ञा को सिर पर धारण करते हैं ॥६॥ जो बड़े–बड़े साहसपूर्ण कार्य करने में एकमात्र रसिक है, विविध प्रकार के आश्चर्यमय स्थलों में विहार करता है, उस महात्मा को तीनों लोकों में किसी ने भी अपने वश में नहीं किया ॥७॥ जिसके सुख–दुःखप्रद हजारों कार्यों को सागर की तरंगों की तरह कौन गिन सकता है ? ॥८॥ जैसे कोई पुरुष मुट्ठी से आकाश को पराजित नहीं कर सकता वैसे ही जिस महाबली के बल का न शस्त्रों से और न अग्नि से कोई भी तिरस्कार नहीं कर सका ॥९॥ जिसकी लीला का, जो प्रयोजन थोड़ा होने पर भी हजारों कल्पनाओं से पूर्ण होने के कारण विशाल आरम्भवाली है और स्वप्न, मनोरथआदि के निर्माण से दैदीप्यमान है, इन्द्र, विष्णु और शंकर तनिक भी अनुकरण नहीं कर सकते हैं ॥१०॥

हे महाबाहो, उसके सब व्यवहाररूपी क्रीड़ा करने में सक्षम, उत्तम, मध्यम और अधम, सात्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार के शरीर जगत को आक्रान्त करके स्थित हैं ॥११॥ तीन शरीरवाला यह पक्षी के तुल्य अत्यन्त विशाल अव्याकृत आकाश में ही उत्पन्न हुआ है, वहीं पर रहता है, विधि–निषेधरूप शब्द के अनुसार चलता है। भाव यह है कि जैसे पक्षी आकाश में ही अण्डमय, पिण्डमय और पक्षमय तीन शरीरवाला क्रम से उत्पन्न होता है, सब ओर से उसे जान जोखिम की शंका रहती है, असार पीपल आदि के फलास्वाद में लोलुप रहता है, शब्दमात्र से उड़ता है, वास्तविक बात का विचार नहीं करता वैसे ही यह भी स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप तीन शरीरवाला है ब्रह्माकाश में उत्पन्न होकर चारों ओर से भय की शंका करता है, तुच्छ विषयों में आसक्त हो विधि–निषेधरूप शब्द के अनुसार चलता हुआ घूमता है ॥१२॥ उसी असीम आकाश में उसने ब्रह्माण्डरूपी नगर की, चौदह भुवन ही जिसके बड़े भारी रथों का समूह है या चौदह विद्यारूपी रथ्यामार्गों से जो विभक्त है, रचना कर रक्खी है और वह त्रिलोकरूप और वेदत्रयीरूप विभाग से विभूषित है ॥१३॥ नन्दन आदि वन और उपवनों की पंक्तियों से वह पूर्ण है, मेरु आदि क्रीड़ाशैलों से सुशोभित है, मोतियों की लताओं से व्याप्त समुद्ररूपी सात बावड़ियों से अलंकृत है, कभी न बुझनेवाले शीतल और उष्णरूप दो दीपकों से विराजमान है तथा शास्त्रीय सत् कर्मों से ऊर्ध्वगति और अशास्त्रीय निन्दित कर्मों से अधोगतिरूप व्यापारी मार्गों से वह भरा है ॥१४,१५॥ उसी अतिविशाल नगर में उक्त राजा ने विषयों के मोह में फँसे हुए, अपवरक (मध्यगृह) के समान आकाश के परिच्छेदक होने के कारण अपवरकरूप संसारी देवता, मनुष्य आदि देह समूहों की सृष्टि की ॥१६॥ कोई ऊपर रक्खे गये, कोई नीचे रक्खे गये और किन्हीं को उसने बीच में नियोजित किया। कोई चिरकाल में नाश को प्राप्त होनेवाले हैं, तो कोई शीघ्र विनष्ट होनेवाले हैं। वे काले केशरूपी तृणों से आच्छादित और आँख, कान, नाक, मुँह आदि नौ द्वारों से अलंकृत हैं। उनमें निरन्तर वायु बहता रहता है, वे रोमकूपरूपी अनेक खिड़कियों से युक्त है और पाँच ज्ञानेन्द्रियरूपी पाँच दीपकों से वे प्रकाशयुक्त हैं। जाँघ और रीढ़ ही उनके तीन स्तम्भ है, सफेद हड्डियाँ भी बाँस के स्थानापन्न हैं, चिकनी मिट्टी के स्थानापन्न चर्म से वे कोमल है, सड़करूपी बाहुओं से वे व्याप्त हैं। उस

महात्मा राजा ने उन देह समूहों में अभिमान द्वारा उनके रक्षक और स्वामीरूप अहंकारों की सृष्टि की। उक्त अहंकार आत्मविवेकरूपी प्रकाश से सदा भयभीत रहते हैं, क्योंकि उससे उनका विनाश हो जाता है ॥१७-२०॥ अहंकारों की सृष्टि करने के उपरान्त उन देव, मनुष्य आदि के देहसमूहों के व्यवहार करने पर संकल्पात्मा जीवरूपी वह राजा जैसे घोंसले में चिड़िया विविध प्रकार की क्रीड़ाएँ करती है वैसे ही विविध प्रकार की क्रीड़ाएँ करता है ॥२१॥

हे पुत्र, तीन प्रकार के अनन्त शरीरों के अन्दर उन यक्षों के साथ लीलाओं द्वारा अस्वाधीनरूप से निवास कर और निकल कर फिर चला जाता है ॥२२॥ हे वत्स, चंचल चित्तवाले उसकी कभी निश्चल इच्छा होती है कि अविद्यमान किसी स्वप्नादिजगद्रूप नगर में जाऊँ ॥२३॥ तदनन्तर वह भूताविष्ट की तरह निद्रा आदि के आवेश से जाग्रद् देहादि के अभिमान का त्याग कर दौड़ता है, तदुपरान्त गन्धर्वनगर के समान मिथ्याभूत उस नगर को प्राप्त होता है ॥२४॥ हे पुत्र, चंचल चित्तवाले उसकी कभी संकल्प के लय की अवस्थारूप सुषप्ति को प्राप्त होऊँ, ऐसी इच्छा उत्पन्न होती है, उससे वह शीघ्र विनष्ट हो जाता है ॥२५॥ फिर वह जल से तरंग के समान पूर्ण स्वभाव से ही तुरन्त फिर उत्पन्न हो जाता है। (क्योंकि वही मैं हूँ, ऐसा सोकर उठे हुए पुरुष को प्रत्यभिज्ञा होती है) और फिर विविध आरम्भों से परिपूर्ण व्यवहार करता है ॥२६॥ फिर अपने ही व्यवहार से कभी उसका पराभव होता है, 'मैं किंकर हूँ', 'मैं अज्ञानी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ', यों शोक करता है। कभी पूर्वानुभूत हर्ष का अतिक्रमण कर वर्षा ऋतु की कला के उल्लास के प्रवाह का अतिक्रमण कर नदी के वेग के समान वह स्वयं दीनता को प्राप्त होता है ॥२७,२८॥ हे पुत्र, अन्तर्गत आत्मज्योति से देदीप्यमान अतएव महामहिमाशाली वह राजा आँधी के झोंकों से अशान्त सागर के समान शत्रुओं का तिरस्कार करने की सामर्थ्य रहते शत्रुओं की ओर चलता है, विजय प्राप्त करता है, शब्द करता है, सम्पत्तियों को प्राप्तकर वृद्धि को प्राप्त होता है, दमकता है, स्वप्न और जाग्रत में प्रतीत होता है एवं सुषुप्ति, प्रलय, समाधि और मुक्ति में प्रतीत नहीं होता है ॥२९॥

बावनवाँ सर्ग समाप्त

तिरपनवाँ सर्ग

जगत संकल्प से कल्पित है, इस अर्थ में दृष्टान्तभूत
खोत्थ राजा के उपाख्यान के तात्पर्य का विस्तारपूर्वक वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, वहाँ जम्बूद्वीप में अर्धरात्रि के समय कदम्ब वृक्ष की चोटी पर कदम्ब के शिरोभूषण की तरह बैठे हुए पवित्र अन्तःकरणवाले पिता से पुत्र ने पूछा ॥१॥ हे तात, खोत्थनाम से प्रख्यात उत्तम आकृतिवाला कौन-सा वह राजा है ? आपने मुझसे यह क्या कहा ? इसे आप यथार्थरूप से कहिए ॥२॥

यथाश्रुत अर्थ मे तात्पर्य नहीं है, किन्तु अन्य अर्थ में तात्पर्य है, ऐसा तुमने कैसे जाना, ऐसा यदि कहें, तो 'पुरं भविष्यन्निर्माणं किंचिद् यामीति निश्चला' इस उक्ति में भविष्यत्व और वर्तमानत्व के यौगपद्य का विरोध होने से उसका अर्थ अन्वित नहीं दिखाई देता, यह कहते हैं।

कहाँ भविष्य में नगर का निर्माण और कहाँ वर्तमानकाल में उसकी गम्यता इन दोनों अर्थों के

विरुद्ध होने के कारण आपका वचन मेरे मोह के लिए हो रहा है ॥३॥

दाशूर ने कहा : हे पुत्र, सुनो, यथार्थ यह मैं तुमसे कहता हूँ, जिससे तुम इस संसारचक्र के तत्त्व को जान जाओगे ॥४॥ परमार्थसत्ताशून्य अज्ञान से उत्पन्न अतएव मायामय विस्तृत इस संसार की इस स्थिति का मैंने इस प्रकार परोक्षरूप से वर्णन किया है ॥५॥ परमाकाश से उत्पन्न हुआ संकल्प खोत्थ कहा जाता है, वह अपने संकल्प से उत्पन्न प्रवृत्ति की वासना के प्रादुर्भाव से ही उत्पन्न होता है और निवृत्तिवासना की दृढ़ता से स्वयं विलीन हो जाता है ॥६॥ यह विशाल सारा जगत उसका परिणाम है, क्योंकि संकल्प के उत्पन्न होने पर उत्पन्न होता है और संकल्प के नष्ट होने पर नष्ट हो जाता है ॥७॥

यदि कोई शंका करे ब्रह्मा, विष्णु आदि से जगत की उत्पत्ति हुई है, ऐसा सुना जाता है, फिर कैसे आप अन्य से उसकी उत्पत्ति कहते हैं ? तो इस पर कहते हैं।

जैसे लोग शाखाओं को वृक्षों के अवयव मानते हैं, जैसे शिखरों को पर्वतों के अवयव मानते हैं, वैसे ही ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, रुद्र आदि को संकल्प के ही अवयव जानते हैं ॥८॥ तीनों कालों में जगत के अभाव से युक्त ब्रह्म में उसने इस त्रिजगतरूपी घर को बना रक्खा है अचेतन संकल्प में जगन्निर्माण शक्ति कहाँ से आई, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अधिष्ठानभूत चैतन्य के अनुग्रह से उसने चेतन बिरंचि के स्वरूप को प्राप्त कर त्रिजगद्रूपी नगर को बनाया है, जिस त्रिजगद्रूप नगर में सूर्य आदि के प्रकाश से युक्त चौदह लोक है, जहाँ पर वन, उपवनों की मालाओं से युक्त उद्यान परम्पराएँ है, जहाँ पर सह्य, मन्दर, मेरु क्रीड़ा शैल है, जहाँ पर अग्नि के समान प्रकाशमान शीतल और उष्ण कान्तिवाले चन्द्रमा–सूर्यरूपी दीपक हैं ॥९–११॥ जहाँ पर सूर्य की किरणों से चमकती हुई चंचल तरंग ही बड़ी–बड़ी मुक्ता है, जहाँ पर ओस की सुन्दरमोतियों की मालारूप चंचल नदियाँ बहती है ॥१२॥ जहाँ पर ईख के रस, दूध आदिरूप जलवाले, मणि, रत्नरूपी भसींड़े के अंकुरों से युक्त, बड़वानलरूपी कमलों से भरे हुए सातमहासागर ही सात बावड़ियाँ है ॥१३॥

'ऊर्ध्वाधोगतिरूपेण वाणिंमार्गेण संकुलम्' (शास्त्रीय कर्मों से ऊर्ध्वगति होती है, अशास्त्रीय कर्मों से अधोगति होती है, इस प्रकार के व्यापारी मार्ग से परिपूर्ण) सा जो पहले कहा था, उसका अर्थ कहते हैं।

नीचे पृथ्वी पर तथा ऊपर आकाश में पुण्य और पाप ही जिनकी धन–सम्पत्ति है, उन कर्म और उपासना में अधिकारी श्रेष्ठ पुरुषों, देवताओं और म्लेच्छ देश में रहनेवाले कर्माधिकार से रहित पुरुषों के क्रय, विक्रय जिस पुर में होते हैं (♨) ॥१४॥ पूर्वोक्त इसी त्रिजगद्रूपी नगर में संकल्परूपी राजा ने अपनी क्रीड़ा के लिए भाँति–भाँति के देव, नर, तिर्यगादि के देहरूपी मध्यगृह बनाए हैं, कुछ देवनामवालों को ऊपर ही रक्खा है। नर, नाग आदि कुछ को नीचे ही रक्खा ॥१५,१६॥ उसने प्राणों के प्रवाह से चल रहे, मांसरूपी मिट्टी के बने हुए, सफेद अस्थिरूपी लकड़ीवाले, तेल, उबटन आदि से चिकने और निर्मल विविध प्रकार के जीव बनाए हैं। कोई चिरकाल में नष्ट होते हैं। कोई शीघ्र नष्ट होनेवाले हैं,

(♨) मनुष्य और देवताओं के 'देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः' इस भगवद्वाक्य से पुण्य और उसके फल से क्रय–विक्रय होते हैं। म्लेच्छों के, जो कर्माधिकार से बहिष्कृत हैं, पाप और उसके फल स्थावर, तिर्यगादि योनियों से क्रय–विक्रय होते हैं।

किन्हींकी केशरूपी तृणों की वृद्धि से आच्छादन शोभा बनाई गई है। कान आँख, नासिका आदि नौ द्वारों से युक्त हैं। निरन्तर बह रहे प्राणवायु से वे उष्ण और शीतल हैं ॥१७-१९॥ कान, नासिका, मुख, तालू, आदि बहुत-सी खिड़कियों से वे युक्त है, भुजा आदि अंगरूपी सड़कों से वे व्याप्त हैं और पाँच इन्द्रियाँ ही उनमें कुत्सित पाँच दीपक हैं ॥२०॥ हे महामते, उन देहरूपी मध्यगृहों में संकल्प ने माया से अहंकाररूपी महायक्षों की रचना रच रक्खी है। वे परमात्मा के दर्शन से भयभीत होते हैं, तात्पर्य यह है कि परमात्मा के दर्शन से हृदयग्रन्थिरूप अहंकार का विनाश सुना जाता है, अतएव वे परमात्मा के दर्शन से डरते हैं ॥२१॥ देहरूपी मध्यगृहों के अन्दर अहंकाररूपी महायक्ष, जो कि माया से उत्पन्न हुए हैं उनके साथ वह सदा खूब क्रीड़ा करता है ॥२२॥

यदि कोई कहे कि देह ही अहंकार है, अन्य अहंकार नहीं है, तो इस पर नहीं, ऐसा कहते हैं।

जैसे कोठिले में बिल्ली रहती है, जैसे धौंकनी में साँप रहता है और जैसे बाँस में मोती रहता है वैसे ही शरीर में अहंकार भी है ॥२३॥ जैसे सागर में तरंग क्षणभर में उदित होती है और क्षण भर में विलीन हो जाती है, वैसे ही देहरूपी घर में संकल्प की वृत्तियाँ क्षणभर में दीपक के समान उदित होती हैं और क्षणभर में नष्ट हो जाती हैं ॥२४॥

'तस्येच्छा जायते' इत्यादि के तात्पर्य का पुत्र द्वारा उक्त विरोध के परिहार से वर्णन करते हैं।

जब वह संकल्पित वस्तु को क्षण भर में ही देखने लगता है तब जिसका निर्माण आगे होनेवाला हो, ऐसे नगर को (स्वप्नजगत को) प्राप्त होता है ॥२५॥

'तेनाऽऽशु स विनश्यति' इसके तात्पर्य को कहते हैं।

अनेक करोड़ों जन्मों में दुःख का अनुभव करके भाग्यवश निर्वेद को प्राप्त होकर शास्त्र, आचार्य और समाधि के अभ्यास से आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होने पर संकल्प के अभावमात्र से वह शीघ्र नष्ट हो जाता है। संकल्प की वासनाक्षयप्रयुक्त शून्यभाव से जो अभिनिष्पत्ति है, वह परम कल्याण के लिए होती है ॥२६॥

पुनरुत्पद्यते' इसका तात्पर्य कहते हैं।

बालक के द्वारा कल्पित यक्ष के समान संकल्पमात्र स्वरूप वह स्वयं अनन्त आत्मदुःखों के लिए उत्पन्न होता है, आनन्द के लिए कभी उत्पन्न नहीं होता ॥२७॥ जैसे घन अन्धकार अपनी सत्ता से अंधत्व का विस्तार करता है और अपनी असत्ता से उसका विनाश करता है वैसे ही संकल्प अपनी सत्ता से ही विशाल जगद् दुःख का विस्तार करता है और अपनी असत्ता से उसका विनाश करता है ॥२८॥

'किंकरोऽस्म्यहमज्ञोऽस्मि' इत्यादि शोकोक्ति का तात्पर्य कहते हैं।

काष्ठ के बीच में जिसके अण्डकोश दब गये, उस कील उखाड़नेवाले बन्दर के समान दुःख देनेवाली अपनी करनी से ही वह रोता है ॥२९॥ जैसे गदहा अकस्मात गिरे हुए शहद की बूँदों का स्वाद लेता है, वैसे ही आनन्द लेश का संकल्प करनेवाला वह मारे हर्ष के ऊँची गर्दन करके स्थित रहता है। गदहा इस दृष्टान्त से यह सूचित किया कि जैसे गदहे के लिए शहद चाटना अत्यन्त दुर्लभ है वैसे ही उसके लिए विषयसुख भी अत्यन्त दुर्लभ है, मोक्ष सुख की तो कौन कहे ! ॥३०॥ बालक के समान संकल्प से ही वह स्वयं एक क्षण में विरक्त होता है, क्षण भर में स्वयं अनुराग को प्राप्त

होता है और क्षणभर में विकार को प्राप्त होता है ॥३१॥

खोत्थ की आख्यायिका के वर्णन का प्रयोजन कहते हैं।

हे पुत्र, बुद्धि इस संकल्प को सब बाह्य वस्तुओं से लौटाकर, समाधि के अभ्यास से और तत्त्वज्ञान से निर्वासनिक बनाकर, प्रत्यग्भूत ब्रह्म का अवलम्बन कर जिस प्रकार विश्रान्त हो, वैसा तुम करो ॥३२॥

पहले सर्ग में जो तीन शरीर कहे गए थे, उन्हींका विस्तार करते हैं।

उस संकल्पात्मक मन के सत्त्व, रज और तम नामक उत्तम, मध्यम और अधम तीन शरीर इस जगत स्थिति के कारण हैं ॥३३॥ तमोरूप संकल्प प्राकृत चेष्टा से (स्वाभाविक प्रवृत्ति से) नरकों में प्रसिद्ध परमदीनता को प्राप्त होकर कृमि–कीट योनि में प्राप्त होता है। यहाँ पर कृमि, कीट का ग्रहण स्थावर आदि योनियों का भी उपलक्षक है ॥३४॥ सत्त्वरूप संकल्प धर्म और ज्ञान में परायण होकर स्वराज्य को (हिरण्यगर्भ भावपर्यन्त देवताभाव को) प्राप्त होता है जिसमें मोक्ष सन्निहित है ॥३५॥ रजोरूप संकल्प मनुष्यरूप जन्म से मनुष्योचित व्यवहारवाला होता है, वह संसार में पुत्र, स्त्री आदि से अनुरंजित होकर रहता है ॥३६॥ हे महामते, तीन प्रकार के इस स्वरूप को त्याग कर संकल्पः आत्यन्तिक संकल्पोच्छेद होने पर मोक्षरूप परम पद को प्राप्त होता है ॥३७॥

संकल्प के क्षय में कौन उपाय है, ऐसा प्रश्न होने पर उसे कहते हैं।

हे पुत्र, सब बाह्य दृष्टियों का त्याग करके, मन से मन का नियमन करके तुम बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों के साथ संकल्पों का विनाश करो ॥३८॥

यदि कोई शंका करे कि संकल्प का विनाश दुष्कर है। अन्य किसी उपाय का मोक्ष के लिए उपदेश दीजिये, तो इस पर अन्य उपाय नहीं है ऐसा कहते हैं।

यदि हजारों वर्षों तक तुम घोर तपस्या करो, यदि अपने शरीर को शिला पर पटक कर चूर–चूर कर डालो, यदि अग्नि में प्रवेश करो अथवा बड़वानल में प्रवेश करो, गड्ढे में गिरो, यदि खड्गधारा के वेग में प्रवेश करो, यदि साक्षात् शिवजी तुम्हें उपदेश देनेवाले हों अथवा साक्षात् विष्णु उपदेश कहें या भगवान ब्रह्मा उपदेशक हो अथवा अत्यन्त दयालू श्रीदत्तात्रेय उपदेशक हो, चाहे तुम पाताल में रहो, चाहे पृथ्वी पर रहो, चाहे स्वर्ग में ही क्यों न रहो, तुम्हारे लिए संकल्प की शान्ति के सिवा दूसरा उपाय नहीं है ॥३९–४२॥

वह संकल्प की निवृत्ति ब्रह्मस्वरूप ही है, इस आशय से कहते हैं।

बाधरहित, अविकारी, परमपवित्र, सुखरूप संकल्प की निवृत्ति के लिए साधनचतुष्टय सम्पत्ति, श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन रूप परम यत्न पौरुष से करो ॥४३॥

यदि कोई शंका करे कि एकमात्र संकल्प के नष्ट होने पर संपूर्ण जगद्रूप बन्धन की निवृत्ति कैसे होती है, तो इस पर कहते हैं।

हे निष्पाप, सम्पूर्ण पदार्थ संकल्परूपी सूत्रमें गुँथे हुए हैं। संकल्परूपी सूत्र के टूटने पर छिन्न–भिन्न हुए पदार्थ न मालूम कहाँ चले जाते हैं। भाव यह है कि आरोपित पदार्थों की अधिष्ठान में प्रतीति होती है, उनके अन्यत्र गमन की प्रसिद्धि नहीं है ॥४४॥

यदि कोई शंका करे कि यह संकल्प आदि सब भावों की निवृत्ति असत् है या सत् है या सदसत् है।

यदि असत् है, तो मोक्ष की असिद्धि हो जायेगी। यदि सत् है, तो मोक्ष होने पर भी द्वैत की आपत्ति हो जायेगी। यदि सदसत् है, तो बन्ध और द्वैत की पाक्षिक अनुवृत्ति होगी, इसलिए मोक्ष में अक्षुण्णता की सिद्धि नहीं होगी, इत्यादि दोषों का एक उक्ति से परिहार करते हैं।

असत्, सत्, सदसत्–सब विकल्प संकल्प से ही पदार्थों के साथ उत्पन्न हुए हैं, वे संकल्प का ही सदसद्रूप से विकल्प करने के लिए समर्थ नहीं है। परमार्थ सत्यसंकल्प ब्रह्म का वे स्पर्श भी नहीं कर सकते, इसमें कहना ही क्या है ? कार्य जहाँ पर अपने से सम्बन्ध रखनेवाले आन्तर कारण में भी कुण्ठित होते हैं। वहाँ पर असंग परमात्मा में तो उनके कुण्ठीभाव का क्या कहना है ? ॥४५॥ जिस–जिसका जैसा संकल्प किया जाता है, वह क्षण भर में वैसा हो जाता है, इसलिए हे तत्त्वज्ञ, तुम कभी भी किसी भी वस्तु का संकल्प मत करो ॥४६॥ संकल्प से रहित हुए तुम जो व्यवहार जैसे प्राप्त हो, वैसे उसमें तत्पर होओ, क्योंकि संकल्प का क्षय होने पर चित् (जीव) चेत्य की (ब्रह्म की) ओर आकृष्ट हो जाता है ॥४७॥

मोक्ष का सम्पादन यदि न किया जाय, तो क्या क्षति है, ऐसा यदि कोई कहे, तो उस पर कहते हैं।

सत्य एकत्व स्वभाव ब्रह्म असत्य मायावश देवता, मनुष्य, तिर्यगादि चौरासी लाख योनियों द्वारा तत् तत् प्राणियों के रूप से उत्पन्न होकर व्यर्थ ही जगत्दुःख का अनुभव करता है। यह उसके स्वरूपानुरूप नहीं है ॥४८॥ हे निष्पाप, नाना योनियों में जन्म के लिए दुःखार्थ पुनः पुनः उस मरण से तुम्हें क्या लाभ है, जो दुःख के लिए नहीं होता, विद्वान लोग उसी का आश्रय ले लेते हैं, अन्य का नहीं लेते हैं ॥४९॥

तो मुझे क्या करना चाहिए, यदि ऐसा पुत्र की ओर से प्रश्न हो, तो उस पर कहते हैं।

सुषुप्त चित्तवृत्तिवाले होकर तत्त्वज्ञता को प्राप्त करके मूलोच्छेदपूर्वक सम्पूर्ण विकल्पों को दूर कर जो अद्वितीय मोक्ष नामक पद है, उसे निरतिशय आनन्द की प्राप्ति के लिए प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करो ॥५०॥

तिरपनवाँ सर्ग समाप्त

चौवनवाँ सर्ग

संकल्प की जैसे उत्पत्ति होती है, जैसे उसका स्वरूप है,
जैसे वह घनता को प्राप्त होता है और जिस उपाय से उसका उच्छेद होता है, इन सबका वर्णन।

पुत्र ने कहा : हे तात, यह संकल्प कैसा है ? हे प्रभो, यह कैसे उत्पन्न होता है, कैसे वृद्धि को प्राप्त होता है और कैसे नष्ट होता है ? ॥१॥ दाशूर ने कहा : हे पुत्र, अनन्त, सत्तासामान्यरूपी आत्मतत्त्वरूप चित् की जो विषयोन्मुखता है, उसी को संकल्परूपी वृक्ष का अंकुर कहते हैं ॥२॥ सूक्ष्मरूप से अस्तित्व को प्राप्त हुआ वह संकल्प ही मेघ की नाईं चित्ताकाश को चारों ओर से व्याप्त करके अधिष्ठान चैतन्य की चित्स्वभावता के तिरोधान द्वारा जड़ प्रपंचाकार की प्राप्ति के लिए धीरे–धीरे घनता को प्राप्त होता है ॥३॥

इस प्रकार समष्टिसंकल्प से जगत की उत्पत्ति कहकर उसी प्रकार बुद्धि, अहंकार, प्राण, इन्द्रिय, देह आदि के आकारवाले व्यष्टिसंकल्प की उत्पत्ति कहते हैं।

विषयों की अपने से अतिरिक्त की तरह भावना करता हुआ चेतन जैसे बीज अंकुरता को प्राप्त होता है वैसे ही संकल्परूपता को प्राप्त होता है ।।४।।

उस मूलअंकुर से शाखाअंकुरों की तरह बाह्यविषयाकार संकल्प परम्पराओं से संकल्पों की दुःखदायिनी वृद्धि कहते हैं ।

संकल्प से संकल्प स्वयं ही पैदा होता है और स्वयं ही दुःख के लिए वृद्धि को प्राप्त होता है, उसकी वृद्धि सुख के लिए नहीं होती ।।५।। जैसे समुद्र एकमात्र जलरूप है वैसे ही सारा संसार संकल्पमात्र ही है, संकल्प को छोड़कर दूसरी वस्तु संसारदुःख नहीं है, अर्थात् संकल्प ही संसाररूप दुःख है ।।६।।

यदि कोई शंका करे, निर्विकार अद्वितीय वस्तु में बिना बीज के जगत की उत्पत्ति कैसे हुई, तो उस पर कहते हैं ।

काकतालीय न्याय से यह संसार मिथ्या ही उत्पन्न हुआ है । विवर्तवाद के आश्रय से उक्त दोष का परिहार करना चहिए, इस आशय से कहते हैं – मृगजल और द्विचन्द्रत्व के समान यह असत्य ही वृद्धि को प्राप्त होता है ।।७।।

पूर्वानुभूत विषयवासनाओं के उद्‌बुद्ध होने से यह हेय जगद्‌भ्रान्ति हुई है, ऐसा कहते हैं ।

जिस पुरुष ने मातुलिंग का फल (फलविशेष, जो नेत्र के पित्त को बढ़ाता हुआ शुक्ल वस्तु में पीतभ्रम उत्पन्न करता है) निगल लिया, उसे जैसे सर्वत्र कनक प्रतीति होती है वैसे ही असत्य यह संकल्प तुम्हारे हृदय में स्वयं ही प्राप्त होता है ।।८।। असत्य ही तुम उत्पन्न हुए हो और असत्य ही स्थित हो, मेरे इस उपदेशरूप शास्त्र के ज्ञात होने पर असत्य का विलय हो जाता है ।।९।। यह जो वेदान्तों में प्रसिद्ध पूर्णात्मा है, वह मैं ही हूँ, मेरे ये सुख–दुःखमय जन्मादि विकार मिथ्या ही है, इस प्रकार की आस्था अज्ञानवश नहीं होती, इसी से तुम्हें अन्तःकरण में संताप होता है ।।१०।। इस जन्म आदि के सम्बन्धी तुम कभी न होते हुए भी भ्रान्ति से उत्पन्न हुए हो । तो विवेक पूर्णतारूप आत्मतत्त्व के स्फुरण से जन्म कहाँ ? संकल्पवश तुम व्यर्थ मूढ़ हुए हो ।।११।।

तब इस भ्रम की निवृत्ति के लिए कौन–सा उपाय है, ऐसा प्रश्न होने पर भ्रमनिवृत्ति का उपाय कहते हैं ।

संकल्प का संकल्प मत करो, पहले अनुभूत सुख–दुःखादि भाव का वर्तमान स्थिति में स्मरण मत करो । पूर्वभाव का स्मरण करने पर उनके ग्रहण और त्याग के लिए संकल्प का उदय होगा ही । केवल वर्तमान स्थिति में पूर्वानुभूत सुख–दुःखादि भावों की अस्मरणरूपी भावना से ही भव्य पुरुष भूति के लिए उन्मुख होता है ।।१२।।

संकल्प के क्षय से सब भयों का नाश हो जाता है और पूर्वभावों की भावना न करने से संकल्प का नाश हो जाता है, यह क्रम सिद्ध है, ऐसा कहते हैं ।

संकल्प के विनाश में यत्न करने से मनुष्य विविध भयों को प्राप्त नहीं होता । एकमात्र भावना के अभाव से संकल्प अपने आप क्षीण हो जाता है ।।१३।।

यह उपाय अत्यन्त सरल है, यों उसकी प्रशंसा करते हैं ।

शिरीष आदि फूलों को और कोमल पल्लवों को मसलने में थोड़ा बहुत प्रयत्न हो सकता है, किन्तु

भावना न करने मात्र से सिद्ध होनेवाले संकल्पनाश में उसकी भी संभावना नहीं है ॥१४॥ हे पुत्र, फूल को मसलने के लिए हाथ की चेष्टारूप यत्न का उपयोग होता है, लेकिन इस संकल्पविनाश में उतने भी यत्न का उपयोग नहीं है ॥१५॥ जिस पुरुष को संकल्प का विनाश करना हो, वह भावना के अस्मरण से आधे पलक में ही अनायास उसका विनाश कर डालता है ॥१६॥

संकल्प का क्षय होने से दुःखक्षय होने पर भी निरतिशय आनन्द की प्राप्ति किस उपाय से हो सकती है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं।

निरन्तर अपनी पूर्णानन्दात्मता के चिन्तनमात्र से प्राप्त हुई स्वात्मा में स्थिति को (स्वरूपाप्रच्युति को) प्राप्त होने पर जो वस्तु असाध्य है, वह भी साध्य हो जाती है।

शंका : जो वस्तु असाध्य है, वह साध्य हो जाती है, यह कथन तो विपरीत है ?

समाधान : वह स्वरूपस्थिति स्वतः सिद्ध है, कभी नष्ट नहीं होती, इस आशय से उसे असाध्य कहा और वह उत्पन्न होती है, इस आशय से उसे साध्य कहा। भावों की निवृत्ति दो प्रकार की है, दूसरे द्वारा अपहृत होने पर अथवा नाश से दूसरे जन्म की प्राप्ति होने पर।

हे पुत्र तुम्हारा आत्मा अन्य से अपहृत होता हुआ किसका होगा; क्योंकि अद्वितीय आत्मा से अतिरिक्त कोई वस्तु प्रसिद्ध नहीं है, अथवा नष्ट होता हुआ वह भला क्या वस्तु होगा ? घट तो नष्ट होता हुआ कपाल बनता है, पर आत्मा क्या होगा ? जो होगा वह नष्ट हुए आत्मा से देखा ही नहीं जा सकता। आत्मा से अन्य कोई द्रष्टा है ही नहीं, इसलिए निःसाक्षिक आत्मनाश सिद्ध हो ही नहीं सकता। इसलिए आत्मरूप मोक्ष स्वतःसिद्ध है न कि असत् ही उत्पन्न होता है ॥१७॥ हे मननशील पुत्र, संकल्प से ही संकल्प का और मन से ही अपने मन का उच्छेद करो यानी असंकल्पन के संकल्प से ही सब पदार्थों के संकल्प का और आत्मतत्त्व मननरूप मन से ही अपने मन का उच्छेद करके तुम स्वात्मनिष्ठ हो जाओ, ऐसा करने में कौन-सी कठिनाई है ? ॥१८॥ हे महामते, संकल्प के शान्त होने पर यह सारा संसारदुःख जड़ से उपशान्त हो जाता है। भाव यह कि पूर्वोक्त दो उपायों से संकल्प के मूलतः उपशान्त होने पर दुःख भी मूलतः उपशान्त हो जाता है ॥१९॥

संकल्प के शान्त होने पर भी जीव, चित्त, वासना आदि से दुःख होगा ही। ऐसी आशंका करके चित्त आदि का संकल्प में ही अन्तर्भाव कहते हैं।

संकल्प ही मन, जीव, चित्त तथा वासनासहित बुद्धि है। इनका नाम से ही भेद है। हे अर्थवेत्ताओं में श्रेष्ठ, अर्थतः इनमें भेद नहीं है ॥२०॥ संकल्प के सिवा यहाँ कहीं पर कुछ भी नहीं है, इसलिए हृदय से संकल्प को ही तुम दूर करो। व्यर्थ अन्य का शोक क्यों करते हो ? ॥२१॥

यदि कोई शंका करे, संकल्प ही यदि जीव और जगद्रूप है, तो उसका नाश होने पर नैरात्म्यरूप शून्यतापत्ति हो जायेगी, क्योंकि जीव से अन्य आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है, इस पर कहते हैं।

जैसे ही यह आकाश शून्य है वैसे ही यह जगत भी शून्य है, क्योंकि असन्मय विकल्प से उत्पन्न हुए ये दोनों विस्तृत हैं। भाव यह कि मरुमरीचिका का नाश होने पर भी मरुभूमि जैसे शून्य नहीं कही जाती वैसे ही जीव, जगद्रूप दृश्य का बाध होने पर भी दृग्रूप (दृष्टा) आत्मा शून्य नहीं कहा जा सकता। मरुमरीचिका और जगत ये दोनों समान ही हैं ॥२२॥

यदि कोई शंका करे कि एक बार बाधित होकर भी यह जगत भावना से पुनःहोगा इस पर कहते हैं।

यह सारा जगत असत् ही है, क्योंकि असत् संकल्प से ही इसका निर्माण हुआ है, इसलिए भावना कहाँ पर रहेगी ? भाव यह है कि बाधित पदार्थ में भावना का अवतरण ही नहीं हो सकता है ॥२३॥

इसलिए भावना के उच्छेद को चाहनेवाले पुरुष को सबसे पहले जगत मिथ्या है, ऐसा ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, यह कहते हैं।

(जगत में 'यह सत्य है' इस विश्वास के न होने पर भावना किसमें रहेगी ?) भावना के नाश से सिद्धि प्राप्त होती है। तदनन्तर प्राप्तव्य कुछ वस्तु अवशिष्ट नहीं रहती है। इसलिए अभ्यासवश दृढ़ हुए दृश्य के अनादर से इस समस्त जगत को असत् समझना चाहिये ॥२४॥ पुरुष दृश्य के अनादर से देह में आत्मत्व को अनुसन्धानवश होनेवाले सुखदुःखों से लिप्त नहीं होता। देहसम्बन्धी पुत्र, मित्र आदि भी अवास्तविक हैं, यह जानकर उनमें स्नेह से आदर नहीं होता है ॥२५॥ आदर का अभाव होने पर हर्ष, क्रोध तथा जन्म–मरण आदि नहीं होते हैं, इसलिए सुख, दुःख आदि की भ्रान्तियों से युक्त यह सब असत् ही है ॥२६॥ मन ही चित् के प्रतिबिम्ब से जीव होकर मनोरथ से कल्पित नगररूपी भूत, भविष्य और वर्तमान जगत की रचना करता हुआ, वृद्धि करता हुआ और विनाश करता हुआ खूब स्फुरित होता है ॥२७॥

कैसे पूर्वोक्त रीति से परिवर्तन करता हुआ स्फुरित होता है ? उस पर कहते हैं।

लोक में मन विषयों के सम्बन्ध से तत्–तत् विषयवासनाओं से आवृत और अधिष्ठानरूप चित् के सम्बन्ध से स्फुरण शक्तिवाला होकर स्थित है, इसलिए मलिन और चंचल होकर अपनी इच्छा से पूर्वोक्त रचना आदि की व्यवस्था करता है ॥२८॥

तब वह इष्ट वस्तु ही क्यों नहीं करता है, अनिष्ट वस्तु को क्यों करता है ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

हृदयरूपी वन का बन्दर जीव अपने स्वभाव के अनुरूप लीला करता है। बड़े आकार को प्राप्त कर क्षणमात्र में छोटा बन जाता है ॥२९॥

यह बड़े और छोटे आकार का कैसे हो जाता है ? इस पर कहते हैं।

संकल्परूपी जलतरंगों का नियन्त्रण किसी से नहीं किया जा सकता। विषयों के थोड़े दर्शन से उद्‌बुद्ध हुई वे बढ़ती हैं और विषयों के दर्शन और स्मरण का त्याग होने पर अपने परिवार के साथ ह्रास को प्राआप्त होती हैं ॥३०॥ जैसे अग्नि की चिनगारी केवल एक तृण से प्रदीप्त हो उठती है वैसे ही संकल्प तृणतुल्य अल्पविषय से भी प्रदीप्त होते हैं। जैसे बिजली की अग्नियों का आकार गुप्त रहता है, कभी चमक कर वे क्षणभर में नष्ट हो जाता है, ठुंठ आदि में चोर की भ्रान्ति उनसे होती है, मेघ स्थित जल में उनकी स्थिति रहती है वैसे ही संकल्पो का भी आकार गुप्त रहता है, वे प्रदीप्त होकर क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं। खम्भे आदि में चोर सब भ्रान्ति के हेतु हैं और जड़ विषयों में उनका निवास है।

इस प्रकार ''कीदृशस्तात संकल्पः'' (हे तात संकल्प किस प्रकार का है) इत्यादि प्रश्नों का उत्तर कहकर ''कथं चैषविनश्यति'' (किस प्रकार इसका विनाश होता है) इस अन्तिम प्रश्न का उत्तर कहने के लिए पूर्वोक्त संकल्प का निवारण कोई कठिन काम नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे पुत्र, जो भी वस्तु असन्मय (मिथ्या) है उसीका ज्ञान से शीघ्र निवारण किया जा सकता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। असत् वस्तु कभी सद् नहीं हो सकती है। यदि संकल्प परमार्थभूत होता, तो वह स्वतः ही अनिवार्य हो जाता ॥३१-३३॥

किन्तु यह असन्मय ही है, इसलिए इसका सुखपूर्वक निवारण किया जा सकता है।

जगत सत्य है, इस पक्ष में तो आत्मा भी जगत के तुल्य ही है, अतएव आत्मा में मलिन स्वभावता की प्राप्ति होने पर ज्ञान से सत्य का निरास ही सब प्रमाणों के विरुद्ध है, इससे अनिर्मोक्षप्रसंग हो जायेगा। विरुद्ध का (ज्ञान से सत्य के निरास का) भी यदि स्वीकार किया जाय, तो जैसे कोयले की कालिमा यदि कुछ बाकी रखकर धोई जाय तो कालिमा ही शेष रहेगी, यदि कुछ शेष न रखकर धोई जाय तो केवल शून्यता में पर्यवसान होगा, इसी दृष्टान्त से इस पक्ष में पुरुषार्थ का अस्तित्व ही मिट जायेगा, इस आशय से कहते हैं।

हे साधो, यदि संसाररूपी मल कोयले की कालिमा के समान सत्य हो, तो इसको धोने के लिए कौन दुर्बुद्धि प्रवृत्त होगा ? किन्तु यह चावलों में छिलकों की नाईं स्थित है, इसलिए इसका पौरुष प्रयत्न से विनाश हो जाता है।

हे पुत्र, प्राप्त हुआ अनादिभूत भी यह संसारमल तत्त्वज्ञानी के लिए तो अनायास ही उच्छेद्यरूप से विस्तृत है; क्योंकि अनादि अज्ञान से उत्पन्न, अतिविस्तृत भी रजत, स्वप्न आदि की भ्रान्ति का ज्ञानमात्र से उच्छेद दिखाई देता है, यह तात्पर्य है।

असंभावना, विपरीत भावना आदि मल का तो ज्ञान भूमिका अभ्यासरूप पुरुष प्रयत्न से भी विनाश होता है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे पुरुष प्रयत्न से धान का छिलका नष्ट हो जाता है और जैसे ताँबे की कालिमा नष्ट हो जाती हैं वैसे ही प्रयत्न से पुरुष के असम्भावना, विपरीत भावना आदिरूप मल अवश्य नष्ट हो जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं है, इसलिए तुम उसके लिए प्रयत्न करो ॥३४-३८॥ असत्य विकल्पों से युक्त मिथ्या संसार को इतने समय तक जो तुमने नहीं जीता, यह उपाय न जानने के कारण ही हुआ। तनिक भी उपाय के परिज्ञान से यह शीघ्र लय को प्राप्त होता है। भला बतलाइये तो सही, असत् वस्तु कहीं चिरकाल तक रहती है ? ॥३९॥ विचार से संसार स्वनिष्ठबाध को ऐसे प्राप्त होता है जैसे कि दीपक का प्रकाश होने पर अन्धकारवश क्षीण दर्शनशक्तिवाले पुरुष की अन्धता निवृत्त हो जाती है और जैसे भली-भाँति देखने से द्विचन्द्रता की निवृत्ति हो जाती है ॥४०॥ हे पुत्र, यह संसार न तो तुम्हारा सम्बन्धी है और न इसके सम्बन्धी तुम हो। तुम यह मेरा सम्बन्धी है या मैं इसका सम्बन्धी हूँ, ऐसी भ्रान्ति का त्याग करो। असत्य वस्तु को सत्य के तुल्य देखने पर इसकी भावना उचित नहीं है ॥४१॥ संसारी स्वभाववाले मेरे ये महासमृद्धियों से दैदीप्यमान भोगविलास सत्य है, ऐसा व्यर्थ भ्रम तुम्हारे अन्दर न हो। तुम और वे फैले हुए विलास तथा और भी जन्ममरणादिरूप जो दृश्य है इन सबके रूप से आत्मतत्त्व ही विलसित हो रहा है, दृश्यरूप कोई अतिरिक्त सत् नहीं है ॥४२॥

चौवनवाँ सर्ग समाप्त

पचपनवाँ सर्ग

पूजित श्रीवसिष्ठ का दाशूर के साथ वार्तालाप, कदम्ब शोभा का दर्शन और प्रातःकाल गमन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुकुलरूपी आकाश के चन्द्र श्रीरामचन्द्रजी, रात्रि में उन दोनों के वार्तालाप को इस प्रकार सुनकर मैं वहाँ पर वृष्टिजल के वेष से मेघ जैसे पर्वत की चोटी पर उतरा ॥१,२॥ वहाँ पर मैंने जैसे तेज से अग्नि युक्त रहती है वैसे ही बड़ी भारी तपस्या से युक्त और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने में शूरवीर दाशूर मुनि को देखा। देह से निकल रहे तेज से उन्होंने सारी पृथ्वी को सुवर्णमय बना रक्खा था, उस प्रदेश को वे ऐसे सन्तप्त कर रहे थे जैसे कि सूर्य भुवनों को प्रकाशित करता है ॥३,४॥ मुझे आया हुआ देखकर दाशूर ने आसन देकर अर्घ्य एवं फल, पत्र, पुष्प आदि से मेरी पूजा की ॥५॥

तदनन्तर उस दाशूररूपी सूर्य के साथ पहले से प्रस्तुत ब्रह्मचर्चा मैंने की जो उनके पुत्र को सम्यग् बोध करानेवाली और संसार से उद्धार करने में समर्थ थी ॥६॥

मैंने उस कदम्ब वृक्ष को देखा, जिसके खोखले कलियों से व्याप्त थे, और जो दाशूर की इच्छा से किसी को व्याकुल न कर रहे मृगों के समूहों से लताओं के मण्डल से मण्डित वन की नाईं सेवित था। वायु से उसके पल्लवरूपी होंठ हिल रहे थे, अतएव वह हँसने–से खिला हुआ–सा था। शाखाओं की चोटियों पर बैठे हुए, चन्द्रमा के समान सुन्दर, भटके हुए चमरमृगों से, सफेद–सफेद मेघ खण्डों से शरत्काल के आकाश के समान वह आवृत था ॥७–९॥ हिमकणों की पंक्तिरूपी मुक्तावली से वह अलंकृत था। निर्मल फूलों के समूह से उसका सर्वांग भरा हुआ था ॥१०॥ अपने परागरूपी चन्दन के लेप से वह जड़ से लकेर चोटी तक लिप्त था और अपने पल्लवों के विस्तार से प्रचुर एवं लाल रंग के धोती, दुपट्टा, अंगरखा, पगड़ी आदि से युक्त था ॥११॥ मानों विवाह के लिए पुष्पों के भार से भरे हुए, लतारूपी अंगना से संयुक्त उसने नागरिक वेष से अपनी उपमा कर रक्खी थी ॥१२॥ मुनियों से बनाई हुई पर्णशालाओं के आकार के तुल्य लतामण्डपों से वह विभूषित था तथा महोत्सव के समय पताकाओं से सुशोभित नगर के समान वह मंजरियों से सुशोभित था ॥१३॥ मृगों के खुजलाने से उत्पन्न कम्प से गिरी हुई पुष्पधुनियों से वह धूसरित था अपने विस्तार के आधिक्य से समीपवर्ती वन को उसने नीचा दिखा दिया था, अतएव वह युद्ध के लिए उद्यत हुए बड़े श्रेष्ठ वृषभ के समान था ॥१४॥ फूलों से गिरी हुई पुष्पधूलियों से लाल हुए मयूरों से वह ऐसा प्रतीत होता था मानों पर्वतों ने सन्ध्याकालीन मेघ खण्डों के बच्चे–से अपने केश धरोहररूप से उसमें रख दिये हैं ॥१५॥

अब 'अलिनेत्रेण भासिना' यहाँ तक के श्लिष्ट विशेषणों से विलासी पुरुषरूप से कदम्ब या वसन्त अथवा वनदेवियों का वर्णन करते हुए उनके निवासरूप से कदम्ब का वर्णन करते हैं।

पल्लवरूपी लाल हाथवाले, पुष्परूपी हास से सुशोभित मकरन्दरूपी मद से घूर्णमान, केसर से पूर्ण अतएव पुलकों की शोभा धारण करनेवाले, पुष्पों से अत्यन्त निबिड़ और वनवायु से चंचल, कुण्डलरूपी निद्रालू नेत्रवाले, स्तबकरूपी स्तनों का पल्लवरूपी करों से स्पर्श करनेवाले, पुष्पों की धूलि राशिरूपी कुंकुम से रक्तवस्त्रवाले, लताओं से रचित वितानरूपी घरों के झरोखों पर अनुराग रखनेवाले, चिकने रहे पत्तों से भरी हुईं पुष्पयुक्त लताओं के झूलों में कौतुकपूर्वक झूलने में विलासी

पुरुषरूप उसने पैर से लेकर मस्तक तक सब अवयव फूल, फल, पक्षी आदि आभूषणों के आश्रय बना डाले थे। वनदेवी के पक्ष में पल्लवों की तरह लाल हाथवाले, फूल की तरह निर्मल हास से शोभित होनेवाले, मद के नशे से घूर्णमान, केसर युक्त पुलक की कान्तिवाले, फूलों से खूब भरे हुए, वन की वायु से उल्लासयुक्त, कमल की तरह मुकुलित नेत्रवाले, स्तबकों की तरह स्तन धारण करनेवाले, पुष्पों की परागराशिरूप कुंकुम से अरुणवस्त्रवाले, लताओं से निर्मित वितानरूपी घरों के झरोखों पर बैठने में अनुरक्त, पत्तों से हरी-भरी फूली हुई लताओं के झूलो में झूलने के लिए विलासयुक्त, कोकिल की-सी मधुर ध्वनि से शोभित होनेवाले वनदेवियों के समूह ने उसके पैर से लेकर चोटी तक चारों और अपने-अपने निवास बना रक्खे थे। वसन्त के पक्ष में कदम्बपक्षोक्त विशेषणवाले वसन्त ने सदा उसके सर्वांग में अपना आलय बना रक्खा था। चमक रहे भँवरों के क्रम से लता और कदम्ब की मंजरियों में बैठने से क्या ये लता के नेत्र हैं अथवा कदम्ब के नेत्र हैं, यों सन्देहास्पद मंजरियों के जाल से वह युक्त था अथवा वनदेवियों के भँवरों के सदृश नेत्र वृन्दों से क्या ये वनदेवियों के नेत्र हैं अथवा भ्रमरयुक्त मंजरियाँ है, यों सन्देह में डालनेवाली मंजरियों से वह युक्त था ॥१६-२०॥

हिमकणों से जिनका रतिश्रम शान्त हो गया था, मद से अलसाए हुए, पुष्पों की धूलि से सने हुऐ, परस्पर खूब आलिंगित, पुष्पगर्भरूपी अन्तःपुर में बैठे हुए, प्रेमोचित कुछ शब्द कर रहे मत्त भँवरों के अनेक जोड़ों से वह आवृत था ॥२१,२२॥ उसने दिशाओं में नीली मक्खियों की सुन्दरध्वनियों से निवेदित हुए-से वनोपान्तरूपी नगरी के मृग, पक्षी आदि के शब्दरूपी घुंघुम को सुनने की इच्छा से मानों क्षणभर के लिए अपने कान ऊँचे कर रक्खे थे ॥२३॥

पल्लवों में, जो तकिये के तुल्य थे, निद्रावश अथवा चपलता से क्षण भर रक्खे हुए दर्शनीय सिरवाले अतएव चन्द्रमा की किरणों से आच्छादित, वनादिरूप अवयव समूहवाली भूमि को रात्रि के बीतने की प्रतीक्षा से देख रहे, वन स्थलियों के पुत्र रूप एवं पत्तों के जालों के अन्दर छिपे हुए और मुनि के प्रभाव से मूर्तिमान विनय की तरह स्थित बन्दरों से उसके अधोभाग और शाखादि अवयव शोभायमान थे ॥२४,२५॥ घोंसलों में साँस ले रहे पक्षी मुनि के प्रभाव से निःशंक होकर सोने के कारण नहीं दिखाई देते थे। पहले भँवरों से परिवेष्टित, दैववश पकने के कारण नीचे गिरे हुए फलों में समीप में बैठे हुए मृगादि प्राणियों की अँगरखे की भाँति चारों ओर से परिवेष्टित मण्डलियों से भक्षण और मर्दन आदि की आशंका से भँवर आदि वहाँ पर संदेहयुक्त और भय से मूक थे। तात्कालिक जप में रुद्राक्षमाला की तरह लटक रहे लता गुच्छों से उसने सारे वन को सुगन्धित कर दिया था। फूलों से आकाश को मानों मेघाच्छन्न कर दिया था ॥२६,२७॥ पल्लवों से सुशोभित घोंसलों से उसका सारा भाग काला हो गया था और जड़ की भूमि पर धूलिकदम्बों से उसकी फलराशियाँ मिश्रित थी ॥२८॥ बहुत क्या कहूँ, उस वृक्ष में ऐसा एक भी पत्ता न था, जिस पर कोई जीव न रहता हो और किसी के उपयोग में न आता हो। उस वृक्षराज के नीचे गिरे हुए प्रत्येक पत्ते पर मृग सोए थे, प्रत्येक स्थान पर मृग आराम कर रहे थे और पेड़ में स्थित प्रत्येक पल्लव पर पक्षी बैठे थे ॥२९,३०॥ इस प्रकार के गुणों से युक्त उस कदम्ब वृक्ष को दिव्यदृष्टि से देख रहे मेरी वह अँधेरी रात्रि महोत्सव के सदृश हो गई ॥३१॥ तदनन्तर मनोहर कथाओं से, जो विज्ञानरूपी आलोक से अधिक रमणीय थी, दाशूर के

उस पुत्र को पुनः परम ज्ञान का बोध करा दिया ॥३२॥ हम दोनों की आपस की विविध कथाओं से वह रात्रि इस प्रकार मुहूर्त की भाँति व्यतीत हुई, जैसे कि प्रेमयुक्त नायक–नायिकाओं की परस्पर की विविध कथाओं से रात्रि मुहूर्त की भाँति बीत जाती है ॥३३॥ प्रातःकाल अप्सराओं के अंगभाग की तरह सुशोभित, पुष्पशोभा के निबिड़ समूह के सदृश तारामण्डल के धीरे–धीरे विलय होने पर कदम्बवृक्ष के आकाशभाग तक पुत्र के साथ मुझे बिदा करने के लिए आये हुए दाशूर मुनि को उनके निवास स्थान के लिए लौटाकर मै आकाशगंगा गया ॥३४,३५॥ वहाँ अपने अभीष्ट स्थान को पाकर और आकाशतल में जाकर और आकाश में प्रविष्ट होकर मैं सप्तर्षियों के मध्य में स्वस्थ की तरह स्थित हो गया ॥३६॥ हे रघुनन्दन, यह दाशूर की आख्यायिका, जो सत्य–सी होती हुई भी जगत के प्रतिबिम्ब की तरह असन्मयी है, मैंने आपसे कही ॥३७॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जगत स्वरूप के निरूपण के सिलसिले में यह जगत दाशूर की आख्यायिका के तुल्य है, यह मैंने बोध के लिए आपसे कहा ॥३८॥ इसलिए ज्ञानी की दृष्टि से अवास्तविक, अज्ञानी की दृष्टि से चाहे यह वास्तविक ही क्यों न हो, इस जगत में अहं–मम इत्यादि आस्था का त्याग करके दाशूर से उपदिष्ट सिद्धान्त के अनुसार उदार दृष्टिवाले आप सदा आत्मवान होइये ॥३९॥ इसलिए विकल्प, उसके आश्रयरूप मन और उसके हेतुभूत अज्ञान को दूर करके आप निर्मल आत्मतत्त्व का दर्शन कीजिए। शीघ्र उस उत्तम पद को आप प्राप्त होंगे, जिसकी प्राप्ति से तीनों भुवनों में आप पूज्य हो जायेंगे ॥४०॥

पचपनवाँ सर्ग समाप्त

॥ दाशूरोपाख्यान समाप्त ॥

छप्पनवाँ सर्ग

जड़ की सत्ता और असत्ता का तथा शुद्ध चेतन के कर्तृत्व,
अकर्तृत्व का विचार कर दृश्य में तादात्म्य संसर्गाध्यासरूप आस्था का सर्वथा निवारण।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, यह जड़ जगत नहीं है, ऐसा निश्चय करके इसमें सब ओर से अहं, मम इत्यादि तादात्म्य संसर्गाध्यासरूप आस्था का आप त्याग कीजिए। जो वस्तु है ही नहीं, उसके प्रति विवेकी पुरुषों की आस्था ही कैसे हो सकती है ? ॥१॥

दृश्य सत् है अथवा सदसत् है या असत् ही है, इन तीनों पक्षों में उसमें अहं, मम इत्यादि तादात्म्य संसर्गाध्यास उचित नहीं है, ऐसा कहते हैं।

ये देहादि आपकी सत्ता से निरपेक्ष सत्ता को प्राप्त होकर स्थित है, ऐसा यदि आप मानते हैं, तो आप देहादि सत्ता से निरपेक्ष असंग उदासीन चिद्रूप स्वात्मा में स्थित होइये। आप निरपेक्ष देहादि में अध्यास द्वारा आत्मा को क्यों बाँधते है ? ऐसा करना तो आपके लिए उचित नहीं है ॥२॥ यह जगत सदसत् है, ऐसा यदि आपका निश्चय है, तो भी सत्ता और असत्ताके परस्पर नाशक होने के कारण अनियत स्वभाववाले दृश्य में पूर्वोक्त अध्यास कैसे हो सकता है ? ॥३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, यह जड़ जगत असत् है, ऐसा यदि आप मानते है, तो आपका बन्धन ही नहीं है। केवल स्वच्छ आत्मतत्त्व ही इस प्रकार चारों ओर विस्तृत ज्ञात हो गया, अतएव अन्य में रचना का (तादात्म्य

संसार्गाध्यास का) अवकाश ही नहीं रहा ॥४॥

इस जगत का कोई कर्ता है अथवा यह अकर्तृ है अथवा कर्ता और अकर्ता साधारण यह उदासीन आत्मा की सन्निधिमात्र से लभ्य है, तीनों पक्षों में आपकी उसके प्रति आस्था उचित नहीं है, ऐसा कहते हैं।

यह जगत कर्ता से निर्मित नहीं है और अकर्ता से किये गये क्रमवाला भी नहीं है, यह स्वयं ही कर्ता और अकर्तारूपी पद को प्राप्त हुआ प्रतीत होता है ॥५॥ यह जगत-जाल कर्तारहित हो अथवा सकर्तृक हो, आप इससे अन्योन्य तादात्म्याध्यासवश एकत्व को (देहाद्यात्मभाव को) देखते हुए बुद्धिउपाधिपरिच्छेद में स्थित न होइये ॥६॥

यदि कोई शंका करे, 'यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते', 'विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता' इत्यादि श्रुतियों से विरुद्ध यह अकर्तृत्वपक्ष कैसे उठा और कैसे आपने इसका निरूपण किया ? इस पर कहते हैं।

'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति'

इत्यादि श्रुतियों से असंग उदासीन होने के कारण जड़ पर्वत आदि के तुल्य, सम्पूर्ण इन्द्रियों से विहीन आत्मा मेरु सूर्य की परिधि करता है इसी तरह कर्ता की तरह जगन्मिथ्यात्वज्ञान के लिए उपहृत होता है यानी लक्षणया कर्ता माना जाता है। इस तरह जब कर्तृत्वप्रतिपादक श्रुतियों का तत्त्व ज्ञात हो गया तब जगत काकतालीय के समान अकर्तृक ही है, ऐसा मेरा विश्वास है। काकतालीय न्याय से अनिर्वचनीय ही वह उत्पन्न हुआ है। उसमें अहन्तादि के अभिमान से पुनः पुनः स्मृति मूर्ख को ही होती है, अन्य को नहीं होती ॥७,८॥

उसकी अनिर्वचनीयता को ही युक्ति से दिखलाते हैं।

यह जगत न तो कभी अत्यन्त अभावरूप शून्यस्वभाव था और न कभी प्रध्वंस प्रयुक्त शून्यस्वभाव था, कारण कि शून्य वस्तु का दर्शन नहीं होता, किन्तु जगत सदा प्रवाहरूप से दिखाई देता है एवं ध्वस्त वस्तु की उत्पत्ति में विरोध होता है किन्तु जगत पुनः पुनः उत्पन्न होता है, इसलिए यह जगत अत्यन्त अभाव एवं प्रध्वंस अभावरूप कभी नहीं था ॥९॥

तब तो वह आत्मवत् सदा सत्स्वभाव अथवा क्षणिक सत्तास्वभाव हो ? इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह जगत न कभी नित्यसत्तास्वभाव था और न क्षणिक सत्तास्वभाव था, क्योंकि प्रथम पक्ष यदि मानिए, तो प्रत्येक क्षण में परिणाम होने से इसके क्षणिकत्व का जो अनुभव होता है, उसके साथ विरोध होगा। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि अनादि, अनन्त पूर्व और उत्तर काल में असत् जगत् के वर्तमानरूप से अभिमत क्षण में भी असत् की सत्ता न होने के कारण असत्त्व का अनुमान होता है ॥१०॥

भले ही नियति से होनेवाली सृष्टि में परमात्मा की सन्निधिमात्र से कर्तृता हो पर यह मेरे सृष्टि करने योग्य वस्तु है, इस अभिमान से उसमें उसका खेद युक्त नहीं है ऐसा कहते हैं।

सम्पूर्ण इन्द्रियों से रहित और आयासशून्य परमात्मा यदि इसका कर्ता हो, तो सदा इसकी रचना करता हुआ भी कभी खेद को प्राप्त नहीं होता। इसी से भाव और अभाव अवस्थावाली यह प्रौढ़

नियतिशक्ति मिथ्या उदित हुई भी इस प्रकार की स्थिर और दीर्घ दिखाई देती है ॥११,१२॥ असीम काल का मनुष्य देह की परमावधिरूप सौ वर्ष कोई एक अंश है । पूर्व और उत्तर काल में कभी न रहने के कारण अत्यन्त असंभावित, केवल उतने ही काल के लिए मनुष्य देहात्मतारूप आश्चर्य से युक्त वह सम्पूर्ण इन्द्रियों से रहित आत्मा किसलिए उसका अनुसरण करता है ? उसका ऐसा करना सर्वथा अनुचित है ॥१३॥

जगत के पदार्थ यदि स्थिर है, तो स्थिर होने के कारण ही यानी त्याग और उपादान के लिए अयोग्य होने के कारण ही उनमें आस्था करना शोभा नहीं देता । *असंग शुद्ध चेतन का जड़ के साथ सम्बन्ध भी नहीं हो सकता, इसलिए भी उन पर आस्था करना अनुचित है, इस आशय से कहते हैं ।*

जड़ और चेतन का अन्योन्य सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? ॥१४॥ जगत के पदार्थ यदि अस्थिर हैं, तो भी उनमें आस्था करना शोभा नहीं देता, क्योंकि अस्थिर पदार्थ में आस्था कर रहे आपको दूध के फेन के सदृश अस्थिर पदार्थ का नाश होने पर वह आस्था दुःख ही दे सकती है । भाव यह है कि दूध के फेन में आस्था करने से उसका नाश होने पर यदि शोक उचित होता तो देहादि में आस्था करने से उनका नाश हाने पर भी शोक उचित होता ॥१५॥ हे महाबाहो श्रीरामचन्द्रजी, आत्मा की जगतस्वभावता यानी जन्म नाश आदि स्वभावता अन्योन्य तादात्म्य संसर्गाध्यासरूप आस्था बन्धन ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है । वह स्थिर और अस्थिर आत्मा और जगत का तादात्म्याध्यासरूप आस्था का बन्ध फेन और पर्वत के तादात्म्याध्यास की तरह शोभित नहीं होता ॥१६॥

यदि कोई शंका करें कि सकर्तृकत्वपक्ष में इसके प्रति अनास्था कैसे हो सकती है ? इस पर कहते हैं ।

यद्यपि आत्मा सर्वकर्ता है, तथापि वह अकर्ता के समान कुछ भी नहीं करता । जैसे दीपक आलोक के प्रति उदासीन है वैसे ही आत्मा इस जगन्निर्माण के प्रति उदासीन रहता है ॥१७॥ जैसे सूर्य सब प्राणियों के दिवस कृत्य का निर्वाह करता हुआ भी कुछ नहीं करता वैसे ही परमात्मा भी सबका निर्वाह करता हुआ भी कुछ नहीं करता । जैसे सूर्य अपने पद में स्थित होकर चलता हुआ भी नहीं चलता वैसे ही अपने स्वरूप में स्थिर आत्मा चलता हुआ भी नहीं चलता ॥१८॥

यदि कोई शंका करे कि सूर्य सब प्राणियों के दिन कृत्य के निर्वाह में निमित्त मात्र है, दिन कृत्य के कर्ता लोग तो उससे भिन्न दिखाई देते हैं, लेकिन जगत के निर्माण में दूसरे कर्ता नहीं हैं; यों दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में विषमता है, ऐसी आशंका करके कहते हैं ।

जैसे अरुणा नदी का तीर, जो स्वभावतः शिलाओं से विषम (ऊँचा–नीचा) है और जिसका जलप्रवाह भी निम्न गतिशील है, प्रवाह में विषमता पैदा नहीं करता, किन्तु उन दोनो की सन्निधि में उत्पन्न हुआ आवर्त आकस्मिक ही है, वैसे ही चित् और जड़ की सन्निधि में यह जगत भी अकस्मात ही उत्पन्न हुआ–सा दिखाई देता है । जगन्निर्माण के विषय में कर्तृता का भार किसी के सिर मढ़ा नहीं जा सकता, यह भाव है ॥१९॥

इस प्रकार विचार करने पर तो जगत में आस्था सुतरां उचित नहीं है, ऐसा कहते हैं ।

हे रामचन्द्रजी, ऐसा यदि आपने कुशलतापूर्वक निश्चय कर लिया और प्रमाण से शुद्ध चित्त से विचार कर लिया, तो हे साधो, आप पदार्थों के प्रति भावना करने के योग्य नहीं हैं। भला बतलाइये तो सही अलातचक्र (जलती हुई लकड़ी को गोल घुमाने से दिखनेवाला तेजोमय चक्र) में, स्वप्न में और भ्रान्ति में भावना कैसे सम्भव है ? ॥२०,२१॥ जैसे अकस्मात कहीं से आया हुआ अपरिचित प्राणी मैत्री का पात्र नहीं होता, वैसे ही भ्रम से उत्पन्न हुआ वह जगज्जाल भी आस्था का भाजन नहीं है ॥२२॥

असत्य होने से भी उसमें आस्था उचित नहीं हैं, ऐसा कहते हैं।

जैसे शीत से पीड़ित हुए आपको उष्णता की भ्रान्ति से प्रतीत चन्द्रमा में आस्था नहीं होती, जैसे ताप से पीड़ित आपको भ्रान्तिवश शीतल प्रतीत हो रहे सूर्य में आस्था नहीं होती और जैसे प्यास से आकुल आपको मृग-जल में आस्था नहीं होती, वैसे ही जगत-स्थिति में भी आपको आस्था नहीं करनी चाहिए ॥२३॥ जैसे आप मनोरथ से कल्पित पुरुष को, स्वप्न में देखे गये मनुष्य को और द्विचन्द्रत्वभ्रम को देखते हैं वैसे ही इन बाह्य दृश्य पदार्थों को भी देखिये ॥२४॥ स्त्री आदि वस्तुओं से सौन्दर्य की चिन्तनमयी आस्था का अपने अन्दर अच्छी तरह परित्याग कर, अकर्तृत्वपद और उसकी इच्छा को निगलकर जो आप परिशिष्ट हैं वही आप हैं, हे अनघ, इस प्रकार के आप इस जगत में लीला से विहार कीजिए। व्यवहार में उदासीनता से कर्तारूप, सब पदार्थों के अन्दर स्थित और सबसे अतीत आत्मरूप आपके सन्निधानमात्र से इच्छारहित यह नियति व्यवहार के आकार से प्रतीत होती है जैसे कि दीपक के सन्निधानमात्र से इच्छारहित प्रभा प्रकाशित होती है ॥२५-२७॥ जैसे मेघों के सन्निधानमात्र से कुटज के फूल अपने आप उत्पन्न होते हैं वैसे ही आत्मा की केवल सन्निधि से तीनों जगत स्वयं उत्पन्न होते हैं ॥२८॥ जैसे सब प्रकार की इच्छा से रहित सूर्य के आकाश में रहने पर सब लौकिक व्यवहार होते हैं, वैसे ही परमात्मा की सत्ता से सब व्यवहार होते हैं ॥२९॥

जैसे रत्न को इच्छा नहीं रहती है कि मुझसे प्रकाश हो, किन्तु उसके रहने पर जैसे प्रकाश होता है वैसे ही इच्छाशून्य परमात्मा के एकमात्र सत्तारूप से स्थित होने पर यह जगतों का समूह होता है ॥३०॥ इसलिए आत्मा में कर्तृत्व और अकर्तृत्व भी स्थित है, क्योंकि इच्छा रहित होने के कारण वह अकर्ता है और सन्निधिमात्र से कर्ता है ॥३१॥ सन्मयपुरुष सम्पूर्ण इन्द्रियों से अतीत होने के कारण कर्ता और भोक्ता नहीं है और इन्द्रियों के अन्तर्गत होने के कारण वही कर्ता और भोक्ता है ॥३२॥ हे पापरहित श्रीरामचन्द्रजी, आत्मा में कर्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों ही विद्यमान है, जिससे आप अपना कल्याण देखें, उसका अवलम्बन करके स्थिर होइये ॥३३॥ मैं सबमें स्थित और अकर्ता हूँ, इस दृढ़ भावना द्वारा प्रवाह से प्राप्त हुए कार्यों को करता हुआ भी पुरुष पुण्य-पाप से लिप्त नहीं होता ॥३४॥ चित्त की अप्रवृत्ति से जीव वैराग्य को प्राप्त होता है। जिस पुरुष को 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ' - ऐसा निश्चय है, वह भोग समूहों की कामनावाला होकर क्या कार्य करेगा अथवा क्या त्याग करेगा ? इसलिए नित्य 'मैं अकर्ता हूँ', - इस प्रकार की दीप्त भावना से अमृतनामक वह परम समता ही अवशिष्ट रह जाती है। यदि उस महाकर्तृता से 'मैं ही सब कुछ करता हूँ' - ऐसा यदि मानते हो, तो उस स्थिति को भी वृद्ध लोग उत्तम स्थिति कहते हैं।

प्रथम पक्ष में राग–द्वेष आदि की प्रसक्ति का अभाव दिखलाते हैं।

'इस समस्त जगत् भ्रम को मैं नहीं करता हूँ', – ऐसा यदि मानते हो, तो उस कल्प में अपने से अन्य का अत्यन्त अभाव होने के कारण राग–द्वेष का प्रसंग कहाँ है ?

दूसरे पक्ष में भी रागद्वेष आदि की प्रसक्ति का अभाव दिखलाते हैं।

अन्य ने जो शरीर को जलाया और अन्य ने जो पालन किया, वह भी हमारे द्वारा किया गया है, अतः उसमें खेद और हर्ष का कौन प्रसंग है ? मेरे सुख और दुःख का विस्तार करनेवाले जगज्जाल के नाश और अभ्युदय में मैं ही कर्ता हूँ, ऐसा हृदय में निश्चय करके स्थित हुए पुरुष के सुख और दुःख का कौन प्रसंग है ? इस आत्मकर्तृता द्वारा दुःख और हर्ष के विलास के अपने–आप विलीन होने पर एकमात्र समता ही शेष रहती है। सब भूतों में समता है, वही सत्य परम स्थिति है ॥३५–४२॥ उक्त समता में स्थित हुआ चित्त फिर तनिक भी जन्म भागी नहीं होता। अथवा हे श्रीरामचन्द्रजी, आत्मा की सर्वकर्तृता, अकर्तृता इन सबका त्याग करके मन का विलयकर जो आप अवशिष्ट रहें, वही आपका यथार्थस्वरूप है। आप स्थिर होइये ॥४३॥

इस दृष्टि की अपेक्षा पूर्वोक्त दृष्टियाँ स्वल्प महिमावाली है, ऐसा दर्शाते हैं।

'यह (इस देह में प्रसिद्ध) मैं हूँ, इसे मैं करता हूँ और इसे नहीं करता' – इस प्रकार के भावों का अनुसन्धान करनेवाली दृष्टि सन्तोष के लिए नहीं होती।

यदि वे सन्तोष के लिए नहीं है, तो क्यों आपने उनका उपन्यास किया ? ऐसी यदि शंका हो, तो सम्पूर्ण अर्थों के मूल देह में अहंभाव की निवृत्ति के उपाय रूप से उनका उपन्यास किया है, इस आशय से देह में अहंभाव की अनर्थरूपता और सर्वथा हेयता को दर्शाते हैं।

पूर्वोक्त दृष्टि कालसूत्र नरक की राह है, वही महावीचि नरकरूपी जाल है और असिपत्रवनों की (एक प्रकार के नरकों की) परम्परा है, जो कि देह में 'अहं' ऐसी प्रतीति है। उसका प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिये। यदि सर्वनाश भी उपस्थित होता हो तो भी भव्यपुरुषों को कुत्ते के मांस को ली हुई चण्डालिन के समान उसका स्पर्श नहीं करना चाहिये, विशुद्धात्मदृष्टि के लिए पटलरूप नेत्र दोष की परम्परा के समान आवरण और विक्षेप में हेतुभूत उस दृष्टि के दूर से त्याग कर देने पर बादलरहित चाँदनी के समान परम निर्मल आत्मदृष्टि उदित होती है, हे श्रीरामचन्द्रजी, उदित हुई जिस दृष्टि से भवसागर पार किया जाता है ॥४४–४८॥

अब उक्त तीनों दृष्टियों के इकट्ठा कर उनमें अपने अधिकार के अनुसार ऐच्छिक स्थिति की उपपत्ति करते हुए सर्ग का उपसंहार करते हैं।

'मैं कर्ता नहीं हूँ, कर्तृता का प्रयोजक देहादि भी नहीं हूँ', – ऐसा अपने हृदय में स्पष्ट जानकर अथवा 'सबका कर्ता मैं हूँ, सबका अधिष्ठानभूत ब्रह्माण्ड भी मैं ही हूँ' – यों निश्चय कर अथवा मैं यह प्रसिद्ध दृश्यरूप कुछ भी नहीं हूँ, किन्तु लोकप्रसिद्ध, परिच्छिन्न, जड़, दुःखस्वभाव संसार से विलक्षण पूर्णानन्द चिदात्मा मैं हूँ, ऐसा निर्णय करके आप सर्वोत्तम अपने स्वरूप में स्थित होइये, जिसमें कि ब्रह्मवेत्ता साधु पुरुष स्थित हुए हैं ॥४९॥

छप्पनवाँ सर्ग समाप्त

सत्तावनवाँ सर्ग

श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न का अनवसर,
वासना के त्याग का क्रम और एकमात्र वासनात्याग से प्रसिद्ध हुए लोगों की प्रशंसा।

आगे कहे जानेवाले प्रश्न की इच्छावाले श्रीरामचन्द्रजी श्रीवसिष्ठजी द्वारा कही गई पूर्वोक्त बातों के अनुवाद और प्रशंसा द्वारा उनका मुझे बोध हो गया यों दर्शाते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, सदुक्तियों से सुन्दर जो आपने पहले कहा, यह वास्तव में ठीक है। भूतों का निर्माण करनेवाले परमात्मा अकर्ता होते हुए भी कर्ता हैं और अभोक्ता होते हुए भी भोक्ता हैं। यद्यपि आपने परमात्मा की सर्वभोक्तृता और अभोक्तृता नहीं कही, तथापि अकर्तृता और सर्वकर्तृता के समान मैंने उसे भी जान लिया ॥१॥ सबके नियन्ता, सर्वव्यापक, चिन्मात्र, निर्मलपद, जैसे पृथिवी में जरायुज, उद्भिज आदि चार प्रकार के प्राणी शरीर रहते हैं वैसे ही सब भूत जिसमें निवास करते हैं और स्वयं जो सब भूतों का अन्तर्यामी है, हे प्रभो, ऐसा ब्रह्म इस समय मेरे हृदयंगम हो गया है। जैसे मेघों की मुसलधार वृष्टि से पर्वत ग्रीष्म के सन्ताप से रहित हो जाता है वैसे ही आपकी उक्तियों से मैं सन्तापरहित हो गया हूँ ॥२,३॥

परमात्मा के भोक्तृत्व और अभोक्तृत्व के अविरोध में भी उपपत्ति कर्तृत्व और अकर्तृत्व के अविरोध में कही गई उपपत्ति के तुल्य ही है ऐसा मैंने जान लिया, यह दर्शाते हैं।

परमात्मा उदासीन और इच्छारहित होने के कारण न भोगकर्ता है औ न सृष्टिकर्ता है। सम्पूर्ण लोकों का प्रकाशक होने के कारण प्रकाश स्वरूप वह परमात्मा भोगकर्ता और सृष्टिकर्ता भी है। किन्तु हे ब्रह्मन्, मेरे हृदय में यह निम्नलिखित महान सन्देह है, जैसे चन्द्रमा अपनी किरणों से अन्धकार को तहस-नहस कर देते हैं वैसे ही आप अपनी वाणी से इस सन्देह को छिन्न-भिन्न कर दीजिये ॥४,५॥

प्रश्न में उपयोगी होने के कारण पूर्वसर्ग में कही गई जगत की सत्ता और असत्तारूप दृष्टि के पक्ष का तथा व्यष्टि की अहन्ता के परित्याग से समष्टि में अहंभाव के पक्ष का अनुवाद करके श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं :

आपके कथनानुसार यह जगत सत् है या असत् है, यह प्रसिद्ध समष्टि ही मैं हूँ या एकमात्र व्यष्टि देह मैं नहीं हूँ, यह प्रपंच समष्टि दृष्टि से एक है या व्यष्टि दृष्टि से अनेक, इत्यादि अनियत बहुत कल्पनाओं से भरा हुआ विरोध अद्वितीय, स्वप्रकाश होने के कारण ही मोहान्धकारशून्य, निर्मल आत्मा में सूर्य में हिम के समान कैसे इस समय विद्यमान है ? यदि कहिये, पहले मायाशबल ब्रह्मा के अन्दर यह विद्यमान था, वही इस समय अभिव्यक्त हुआ है, तो उस पर प्रश्न होता है कि वह पहले भी कैसे था, क्योंकि उस समय भी उक्तविरोध समान ही है ॥६,७॥

श्रीरामचन्द्रजी के वचनों से ही उनको स्वप्रकाश प्रत्यगात्मा का दर्शन हो गया हैं, उनको सब शरीरों में एकता का ज्ञान और जगत की अनिर्वचनीयता का परिज्ञान हो गया है; किन्तु वासनाओं के क्षय न होने के कारण सब संशयों की कारण अविद्या का उच्छेद करनेवाला प्रत्यागात्मब्रह्मैक्यरूप अखण्डाकार अनुभव नहीं हुआ, ऐसा निश्चयकर पूर्वोक्त अखण्डाकारानुभव के उपायरूप से 'वासनोच्छेद के उपायों

को कहने की इच्छा से श्रीवसिष्ठजी पहले आपके प्रश्नों का उत्तर कहने के लिए यह अवसर नहीं है, ऐसा कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, सिद्धान्तकाल में (निर्वाण प्रकरण के उत्तरार्ध में पाषाणाख्यायिका आदि कहने के अवसर पर) इस प्रश्न का स्थिर उत्तर मैं आपसे कहूँगा। जिससे आप इसे तत्त्वतः जान जायेंगे ॥८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मोक्षोपाय के उपदेश के सिद्धान्त को यानी ब्रह्मनिष्ठारूप अखण्डाकार बोध को प्राप्त किये बिना आप इन प्रश्नों के उत्तर सुनने के लिए पर्याप्त योग्य नहीं होगे ॥९॥

इस समय यदि मैं आपसे कहूँगा भी, तो वह आपके चित्त में आरूढ़ नहीं होगा, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे युवा पुरुष प्रेयसी के गीतों का पात्र होता है वैस ही सम्पूर्ण कर्म फलों की अवधिरूप आत्मज्ञान वाला पुरुष इन प्रश्नों के उत्तर वाक्यों का भाजन होता है ॥१०॥ जैसे बालकों के विषय में प्रेम की कथाएँ व्यर्थ होती हैं वैसे ही अल्प ज्ञान वाले पुरुषों के विषय में मोक्षप्रद कथा निरर्थक है ॥११॥

इस प्रकार के प्रश्न भी तभी शोभा देते हैं, इस आशय से कहते हैं।

जैसे नारंगी, सुपारी, जम्बीर आदि वृक्षों के फल शरत्काल में ही शोभा देते हैं, वसन्त में शोभा नहीं देते हैं वैसे ही किसी समय में ही पुरुष की कुछ बातें शोभित होती हैं यानी आपका यह प्रश्न अभी शोभित नहीं होता है ॥१२॥ जैसे निर्मल वस्त्र में रंग लगता है वैसे ही आत्मज्ञानी, ज्ञान वृद्ध पुरुष में उदार विज्ञान कथाओं से युक्त उपदेश वाणियाँ सार्थक होती हैं ॥१३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रश्न का उत्तर मैंने भार्गवोपाख्यान में संक्षेप से कह दिया है; लेकिन आपको अनधिकारी देख कर उसे विस्तार से पूरा नहीं कहा। इसीलिए आपको स्पष्टरूप से वह परिज्ञात नहीं हुआ ॥१४॥

अखण्डार्थ का बोध होने पर मेरे उपदेश के बिना भी इस प्रश्न का उत्तर आप स्वयं जान जायेंगे, ऐसा कहते हैं।

यदि आप अपने–से उस आत्मा को जान लेते हैं, तो इस प्रश्न के उत्तर को अपने आप भलीभाँति जान जायेंगे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥१५॥ हे सज्जन शिरोमणे श्रीरामचन्द्रजी, सिद्धान्त काल में जबकि आपको आत्मज्ञान हो जायेगा, तब मैं प्रश्न और उत्तर का क्रम विस्तार से ही कहूँगा ॥१६॥

मेरा उपदेश तो द्वार प्रदर्शनमात्र है, आपको एकाग्रता से स्वयं आत्मदर्शन करना होगा, ऐसा कहते हैं।

संसारी आत्मा को भी आत्मा जानता है, क्योंकि आत्मा ने ही मालिन्यवश आत्मा को संसारी बनाया है। वह आत्मा ही आत्मज्ञान से निर्मल होकर वास्तविक पूर्ण आत्मा को प्राप्त होता है यानी तद्रूप हो जाता है ॥१७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आत्मा के कर्तृत्व और अकर्तृत्व का विचार भी इसी अखण्ड ब्रह्मज्ञान के उद्देश्य से मैंने कहा है। मेरे कहने पर भी उक्त अखण्डात्मता का आपको परिज्ञान नहीं हुआ, अतएव आपकी वासना क्षीण नहीं हुई है, ऐसी मैं संभावना करता हूँ ॥१८॥

अब बन्ध और मोक्ष का रहस्य दिखलाते हुए वासनाओं के उच्छेद में उपाय क्रम को दर्शाते हैं।

वासनाओं से बद्ध पुरुष बद्ध है और वासनाओं का क्षय मोक्ष है। आप वासनाओं का त्याग करके मोक्षार्थिता का भी त्याग कीजिये ॥१९॥

वासना के क्षय में वैराग्य की दृढ़ता ही पहली भूमिका है, ऐसा कहते हैं।

पहले विषयों द्वारा चित्त में स्थापित, तिर्यग् आदि योनि को देनेवाली तामसी वासनाओं का त्याग करके मैत्री, करुणा, मुदिता उपेक्षारूप भावना नामवाली निर्मल वासनाओं को स्वीकार कीजिये ॥२०॥ मैत्री आदि भावना नामवाली निर्मल वासनाओं का भी, चिन्मात्र से अतिरिक्त मैत्रीआदि नहीं हैं, इस ज्ञान से भीतर त्याग कर बाहर उनसे व्यवहार करते हुए भी आप, जिनकी कि अन्तःकरण में सब वासना शान्त हो गई, संप्रज्ञात समाधि के अभ्यास से चिन्मात्र ही मैं हूँ, इस प्रकार के दृढ़ वासनावाले होइये ॥२१॥ मन, बुद्धि आदि से युक्त उक्त मैत्र्यादि वासना का भी परित्याग कर आत्मा होने के कारण ही त्याग करने के अयोग्य होने से अवश्य शेष रहनेवाले प्रत्यक् तत्त्व में स्थिर विश्रान्तिवाले यानी असंप्रज्ञात समाधि में विश्रान्त हुए आप जिस कलना नामक द्वैत कल्पना के मूलस्तम्भरूप अहंकार से पूर्वोक्त सबका त्याग यानी सर्वत्र 'अहं मम' इत्यादि अभिमान का त्याग कर देते हैं, उसका भी त्याग कीजिये। उक्त त्याग अहंकार में भी शुद्ध चिन्मात्र रूप अहंभावरहित पूर्णात्मा के दर्शन द्वारा मूल अज्ञान का समूल उच्छेद होने से स्वयं ही हो जाता है, इसलिए उसमें अन्य कारण की अपेक्षा नहीं है, इसलिए अनवस्थादोष का अवसर नहीं हो सकता ॥२२॥ हे सुबुद्धे, प्राणस्पन्दनपूर्वक कलना, काल, प्रकाश, तिमिर आदि का एवं वासना और विषयों का, उनके द्वारभूत इन्द्रियों और समूल अहंकार का त्याग करके आकाश के समान निर्मल (विक्षेपरहित) एकमात्र ब्रह्मात्मअखण्डाकार बुद्धिवाले होकर जो चिन्मय आप हो रहे है, सर्वपूजित वही परमार्थरूप आप होइये ॥२३,२४॥

इस प्रकार की अवस्था को प्राप्त हुए पुरुष की पूज्यता ही प्रशंसा द्वारा दिखलाते हैं।

जो महामति पुरुष पूर्वोक्त सबका हृदय से परित्याग कर सब विक्षेपों के कारणभूत अभिमान से रहित होकर स्थित होता है, वह मुक्त है, परमेश्वर है ॥२५॥

इस प्रकार अभ्यास के दृढ़ होने से सातवीं भूमिका में पहुँचे हुए सिद्ध की कृतकृत्यता ही हो जाती है, उसका कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता, ऐसा कहते हैं।

जिसने पूर्वोक्त अभिमान अध्यास का हृदय से परित्याग कर दिया है, ऐसा उत्तम आशयवाला पुरुष समाधि और कर्म करे, चाहे न करे, वह मुक्त ही है ॥२६॥ जिसका मन वासनारहित हो गया हो, उसे न तो नैष्कर्म्य से प्रयोजन है, न कर्मों से और न समाधि और जप से ही उसे प्रयोजन है ॥२७॥

कुछ समय तक किये गये श्रवण, मनन और ध्यान से वासनाक्षय होने के पहले ही मैं कृतकृत्य हो गया हूँ, ऐसी भ्रान्ति से प्रयत्न से विमुख नहीं होना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

मैंने शास्त्र का खूब विचार किया और बड़े भारी परिश्रम से सब विद्वानों की सम्मति से यही मोक्ष शास्त्र का रहस्य है, यों निर्णय भी किया, किन्तु श्रुतियों में बाल्य और पाण्डित्य शब्दों से कहे जानेवाले श्रवण और मनन की दृढ़ता से उत्पन्न पूर्वोक्त निर्विकल्प असंप्रज्ञात समाधि के परिपाक पर्यन्त मुनिभाव के सिवा परम पद यानी परिनिष्ठित तत्त्वज्ञान नहीं है, अतः इससे विरत होना उचित नहीं है ॥२८॥

अतएव तत्त्वज्ञानी विरल और दुर्लभ है, ऐसा कहते हैं।

दसों दिशाओं में घूम-घूम कर सब दृश्य मैंने देखा, किन्तु तत्त्वज्ञानी लोग विरल ही देखे ॥२९॥

सब लोग बहिर्मुख हैं। बाहर इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के उपाय में ही लोगों की लगन

देखी, आत्मा के प्रति लगन नहीं देखी, ऐसा कहते हैं।

यहाँ पर जो कुछ दिखाई देता है, वह इष्ट और अनिष्ट से अतिरिक्त नहीं है। उससे अतिरिक्त जो अविषय आत्मतत्त्व है उसके लिए कोई भी पुरुष प्रयत्न नहीं करता; किन्तु इष्ट और अनिष्ट के लिए ही लोग प्रयत्न करते हैं ॥३०॥

अनात्मा में प्रयत्न एकमात्र अनात्म देह के लिए ही है, अतएव वह पुनः पुनः देह प्राप्ति रूप अनर्थ का हेतु है, इस आशय से कहते हैं।

मनुष्यों के जो कोई लौकिक गृह, महल आदि के निर्माण कार्य हैं और जो वैदिक यज्ञादि क्रियाएँ हैं, वे सब एकमात्र देह के लिए हैं, आत्मा के लिए उन का कोई भी उपयोग नहीं है ॥३१॥ पाताल में, ब्रह्मलोक में, स्वर्ग में, पृथिवी पर और अन्तरिक्ष में जिन्हें चिदेकरस का परिज्ञान हो गया ऐसे विरल ही पुरुष दिखाई देते हैं ॥३२॥ यह हेय है, यह उपादेय है, इस प्रकार अज्ञान से उत्पन्न हुए निश्चय जिस ज्ञानी के नष्ट हो गये, ऐसा पुरुष अति दुर्लभ है ॥३३॥

यदि कोई शंका करे कि संसार में उत्तम राज्यादि पद प्राप्त करने पर भी शान्ति दिखाई देती है फिर आत्मदर्शन का क्या प्रयोजन है ? इस पर नहीं, ऐसा कहते हैं।

प्राणी चाहे भुवन में राज्य करे, चाहे इन्द्रपद प्राप्ति द्वारा मेघ में प्रवेश करे अथवा वरुणपद प्राप्ति द्वारा जल में प्रवेश करे, पर आत्मलाभ के बिना उसे शान्ति नहीं मिल सकती ॥३४॥

तब विश्रान्ति चाहनेवाले पुरुष को किनकी उपासना करना चाहिये ? ऐसा प्रश्न होने पर उनके उपासनीय पुरुषों को कहते हैं।

जो महाज्ञानी सज्जन इन्द्रियरूपी शत्रुओं का दमन करने में शूर–वीर हैं, जन्मरूप ज्वर के नाश के लिए उन्ही महामतियों की उपासना करनी चाहिये ॥३५॥

उनकी उपासना से तत्त्वज्ञान होने पर भी फिर भोगों में अनुराग का निवारण कौन करेगा ? इस शंका पर कहते हैं।

सर्वत्र पाँच भूत है, छठा कुछ भी नहीं है, इसलिए कौन धीरबुद्धि पुरुष पाताल में, पृथिवी में और स्वर्ग में रति को प्राप्त होगा। भाव यह है 'अपागादग्नेरग्नित्वं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' इस श्रुति में कही गयी रीति से सब भौतिक पदार्थों के भूतमात्रतारूप मिथ्यात्व का बोध होने पर उनमें अनुराग का उदय ही नहीं होता ॥३६॥

तब भूत भी तो बहुत हैं, बचे हुए भूतों के भी अनन्त होने से उनसे उद्धार पाना संभव नहीं है। ऐसा यदि कोई कहे, तो ठीक है, अज्ञानियों की दृष्टि में ऐसा ही है, तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में तो 'अन्नेन सोम्य शुंगेनापो मूल मन्विच्छ' इस श्रुति में दर्शित युक्ति से सबके अधिष्ठानभूत ब्रह्म के दर्शन से भूतों में भी ये सत्य हैं, ये मिथ्या है, ऐसे निश्चय से भूतों से भी निस्तार पाना सुलभ ही है, इस आशय से कहते हैं।

युक्ति से व्यवहार कर रहे ज्ञानी का संसार गौ के खुर के समान अनायास तरने योग्य है, किन्तु जिसने युक्ति का दूर से परित्याग कर दिया है, ऐसे अज्ञानी का संसार प्रलय के महासागर के समान दुस्तर है ॥३७॥

अपरिच्छिन्न आत्मानन्द की दृष्टि में ब्रह्माण्ड कदम्ब गोलक के तुल्य है। इस सारे ब्रह्माण्ड के

प्राप्त होने पर भी वह ज्ञानी पुरुष को क्या देता है और क्या भोग करता है ! ॥३८॥

राज्यादि सुख युद्ध आदि अनर्थों द्वारा लाखों योद्धाओं के क्षय का कारण होता है, इसलिए दयालू तत्त्वज्ञानी द्वारा वह धिक्कार के योग्य ही है, सत्कार के योग्य नहीं है ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जिसके लिए अज्ञानी लोगों की महायुद्धादि क्रियाएँ होती हैं लाखों योद्धाओं के विनाश हेतु उस राज्य सुख को मैं धिक्कार के योग्य समझता हूँ॥३९॥

यदि कोई शंका करे कि महाकल्प तक चिरकाल भोगने योग्य ब्रह्मा के पद में (हिरण्यगर्भपद में) : उसकी रति होगी ? इस पर नहीं, ऐसा कहते हैं।

द्विपरार्ध अवधिवाले महाकल्पान्तरूप काल से नष्ट होने के कारण अत्यन्त कोमल उस पद में भी सब प्राणियों की प्रलय का निमित्त होने के कारण मानस व्यथा का निमित्तभूत नाश होता है, अतः वह पद मूढ़ों का ही स्पृहणीय है, तत्त्वज्ञानियों का स्पृहणीय नहीं हैं॥४०॥ तत्त्वज्ञानी आत्मा की दृष्टि से तो तीनों जगत सृष्टि आदि से तनिक भी उत्पन्न नहीं हुए, क्योंकि 'निरोधोनचोत्पत्तिः' इत्यादि श्रुति है। उन वन्ध्यापुत्र के समान तुच्छ तीनों जगतों के प्राप्त होने पर आत्मा क्या बलवान होगा, जिससे कि उनमें उसका अनुराग होगा ? ॥४१॥

असार अंश के अधिक होने से और उपयुक्त अंश के न्यून होने से भी सार्वभौम आदि पद स्पृहणीय नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

यह पृथ्वी इधर सैकड़ों पर्वतों से व्याप्त है एवं इस तरफ अनन्त जल राशियों से व्याप्त है। इस पृथ्वी का शरीर ही कितना बड़ा है, जिससे कि वह सबके त्याग से रिक्त हुए उस ज्ञानी के विशाल आशय को पूर्ण कर सके। भाव यह है कि भूमि सर्वांश उपयोग में नहीं आ सकती, इसलिए भी सार्वभौमिपद स्पृहणीय नहीं हो सकता ॥४२॥ पाताल और स्वर्ग सहित इस जगत में वह कार्य नहीं है, जो कि आत्मज्ञानी पुरुष को अवश्य कर्तव्य हो, क्योंकि सब कामनाओं की प्राप्ति से वह कृतकृत्य है ॥४३॥

जैसे मृग तृष्णा सूर्य के प्रकाश से उत्पन्न होती है, अतएव सूर्य की अपेक्षा करती है, किन्तु सूर्य मृगतृष्णा का निमित्त होता हुआ भी उसकी अपेक्षा नहीं करता है वैसे ही तत्त्वज्ञानी के चित्प्रकाश से उत्पन्न हुआ जगत ही तत्त्वज्ञानी की अपेक्षा करे, तत्त्वज्ञानी तो पूर्णानन्द में रमता है, अतएव कटाक्ष से भी जगत को नहीं देखता, जगत की अपेक्षा करना तो उसके लिए बहुत दूर है, ऐसा कहते हैं।

एकता प्राप्त हुए, आकाश के समान सब जगह व्याप्त, स्वस्थ, आत्मज्ञानी, आत्मनिष्ठ, मनरहित पुरुष का त्रिलोकीरूपी विशाल मृगतृष्णानदी का तट निवृत्त हुए सारे संसार से सुन्दर होकर आकाश के मध्य भाग के तुल्य ही मूर्तस्वरूपवाला नहीं है, यद्यपि शरीर आदि असत् हैं, फिर भी बाधित पदार्थों की अनुवृत्ति से प्रारब्ध कर्मों का नाश होने तक उनका आभास होता ही है; अतएव उक्त त्रिलोकी रूपी मृगतृष्णा नदी का तट शरीर समूहरूपी कुहरे से धूसर रंग का है ॥४४,४५॥

जगत को तत्त्वज्ञानी के आत्मप्रकाश की अपेक्षा है, इस बात को विस्तार से स्पष्ट करते हैं।

सभी कुल पर्वत विशाल ब्रह्मरूपी निर्मल सागर के फेन हैं; नदी, समुद्र आदि जलशोभाएँ चित्सूर्य की महाप्रभा में मृगतृष्णा हैं; सारी की सारी सृष्टियाँ आत्म तत्त्वरूपी महासागर की तरंगें हैं और शास्त्रदृष्टियाँ यानी श्रौत–स्मार्त धर्म और ब्रह्म तत्त्वप्रतिभास (ब्रह्मज्ञान) ब्रह्मरूपी मेघ की वृष्टि हैं।

यद्यपि लौकिक चाक्षुष आदि दृष्टि का प्रकाश रूप होने के कारण ब्रह्मरूपी मेघ की वृष्टि के सदृश ही हैं, तथापि सुन्दर उपजाऊ खेत में वृष्टि के समान शास्त्रदृष्टियों का ही पुरुषार्थ में उपयोग है, अतएव उन्हीं का उपादान किया है ॥४६,४७॥

अधिष्ठानरूप से आत्मप्रकाश की अपेक्षा कह कर जड़ पदार्थों के प्रकाश के लिए भी उसकी अपेक्षा है, ऐसा कहते हैं।

जब घड़े, काठ आदि के तुल्य चन्द्रमा, अग्नि और सूर्य चिद्रूप कान्ति के प्रकाशनीय है, तो मल कण के तुल्य पृथिवी के धातु उसकी अपेक्षा करते हैं, इसमें कहना ही क्या है ? भाव यह है कि जब निर्मल आदित्य आदि भी उसके प्रकाश की अपेक्षा करते हैं तब अत्यन्त मलिन होने के कारण मल कण के सदृश पार्थिव आदि धातु अपने प्रकाश के लिए उसकी अपेक्षा करते हैं, इसमें कहना ही क्या है ? ॥४८॥

'एतस्यैवानन्दस्वान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इस श्रुति से सब प्राणियों के जीवन के हेतु विषयानन्द के लिए भी उसकी अपेक्षा है, ऐसा कहते हैं।

देहरूप से जो परिच्छन्न होता है या अनुभूत होता है या नष्ट होता है, ऐसे आत्मावाले पुरुष, नर और असुर, जो संसाररूपी वन में विहार करनेवाले तथा काम भोगरूप तृणों के ग्रास में मृग के समान हैं, आनन्दपूर्वक विहार करते हैं ॥४९॥

मृगों को वनविहार में स्वातन्त्र्य है, किन्तु देहरूपी पिंजड़े में बँधे रहने के कारण नर, सुर और असुरों को अत्यन्त परतन्त्रता का दुःख ही है, इस आशय से कहते हैं।

ब्रह्मा द्वारा जगत के नर, सुर और असुर आदि के शरीर अनादि संसाररूपी महावन में जर्जर हुए जीवों के पर्याय क्रम से बन्धन के लिए रक्त और मांस के पिंजड़े बनाए गये हैं। हड्डी के टुकड़े ही उनके अर्गल (द्वार अवरोधक काष्ठ) हैं और सिर ही उनके ऊपर के ढकने हैं और नसें ही लोह की सिकड़ियाँ है ॥५०॥ इस प्रकार संसाररूपी देह के विवेक से शून्य, वनपंक्तियों की मृगरूपी मांस की पुतलियाँ, जिनके अन्दर जीव प्रविष्ट है, अपनी अपनी मूढ़बुद्धियों के भोगरूप किसलयों (कोंपलों) के ग्रास से विनोद करने के लिए तत्भोगभूमिरूप नगर संचार में ब्रह्मा द्वारा नियोजित हैं ॥५१॥

तत्त्वज्ञानी की भी देह देखी जाती है, अतएव वह भी क्या वैसा ही है, इस पर नहीं ऐसा कहते हैं।

सर्वत्यागी पूर्वोक्त महामतिवाला तत्त्वज्ञ पुरुष तनिक भी इस प्रकार का नहीं है। जैसे पर्वत मन्दवायु से विचलित नहीं होता वैसे ही भोगों के समूह से तत्त्वज्ञानी विचलित नहीं होता ॥५२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जिसमें चन्द्र और सूर्य के संचार का प्रदेश आकाश विपुल होता हुआ भी पृथ्वी के छिद्र के समान अल्परूप से भी स्थित नहीं है, उस महान पद में ज्ञानी स्थित होता है। भाव यह है कि उस प्रकार के महापद में स्थित हुए ज्ञानी की आकाश के मध्य के देश से परिच्छिन्न पदों में कैसे लगन हो सकती है ? ॥५३॥ जिस तत्त्ववेत्ता के चित्प्रकाश से ब्रह्मा आदि लोकपाल प्रकाशवाले होकर एवं चक्षु द्वारा बाहर और बुद्धि द्वारा भीतर सम्यग् व्यवहार के उचित बोधवाले होकर अज्ञान समुद्र में मग्न हो अपने आत्मा को अशरीर समझते हुए भी मूढ़ होकर अज्ञ जन की तरह देहात्मभाव से शरीरों की रक्षा करते हैं ॥५४॥ तत्त्वज्ञ पुरुष को, वैराग्य के दृढ़ होने के कारण भोगवासना का क्षय होने से जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, लोकपालों के भोग के योग्य भी त्रैलोक्य राज्यादि जगत के भाव पुनः पुनः अभ्यस्त होने पर भी

ऐसे रंजित नहीं करते जैसे कि आकाश को मेघ रंजित नहीं करते ॥५५॥ जैसे भगवती पार्वतीजी के नृत्य की इच्छा करनेवाले भगवान शंकर को नाचते हुए बन्दर अनुरंजित नहीं करते वैसे ही कोई भी जगत के पदार्थ तत्त्वज्ञ पुरुष को अनुरंजित नहीं करते ॥५६॥ जैसे घड़े से बाहर रहने की अवस्था में रत्न के भीतर दिखाई दे रही स्तम्भ, दीवार आदि के प्रतिबिम्ब की शोभा घड़े में स्थित रत्न को अनुरंजित नहीं करती वैसे ही ये कोई भी पदार्थ तत्त्वज्ञ पुरुष को अनुरंजित नहीं करते ॥५७॥

पूर्वोक्त अर्थ का ही संक्षेप से उपसंहार करते हैं।

जैसे राजहंस बगुले के खाने योग्य गन्दे शेवाल के टुकड़ों में रति को प्राप्त नहीं होते वैसे ही तत्त्वज्ञानी भी ब्रह्मलोकपर्यन्त समस्त जगत के वैभव का अज्ञानी की दृष्टि से अति दुर्भेद्य होने के कारण वज्र के तुल्य, विवेकी की दृष्टि से जल विलासों में उन्नत तरंग द्वारा अपने अग्रभाग में किये गये चन्द्र आदि के प्रतिबिम्ब के तुल्य अनिर्वचनीय और अस्थिर एवं तत्त्वज्ञानी की दृष्टि से अति तुच्छ जानकर अज्ञ के समान उनके अभीष्ट सुखों में अतिलालसा पूर्ण अनुराग को प्राप्त नहीं होते ॥५८॥

सतावनवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठावनवाँ सर्ग

पूर्ण पद में आरुढ़ हुए पुरुष के सर्वात्मत्व का बोध करानेवाली कच गाथा का
श्रीवसिष्ठजी द्वारा श्रीरामचन्द्रजी को उपदेश।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : इसी पूर्वोक्त वस्तु के विषय में कही गई पूर्वकाल की जो गाथा बृहस्पति के पुत्र कच ने गाई थी, हे श्रीरामचन्द्रजी, उसे आप सुनिये ॥१॥ मेरु के किसी वन में सुरगुरु के पुत्र कच रहते थे। कभी शुद्ध ब्रह्मविद्या के मनन-निदिध्यासन के परिपाक से वे आत्मा में विश्रान्ति को प्राप्त हुए ॥२॥ उनकी आत्मज्ञान के अमृत से परिपूर्ण वह मति पंचभूतों से निर्मित, अनादर के योग्य इस मिथ्या दृश्य प्रपंच में नहीं रमी ॥३॥ दृश्य में न रमने के कारण सद्रूप ऐकात्म्य से अतिरिक्त वस्तु को न देखते हुए, एकमात्र आत्मवस्तु का परिशेष होने से उदास हुए- से एकाकी उन्होंने हर्ष से गद्‌गद् हुई वाणी से यह कहा : मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किसका ग्रहण करूँ और किसका त्याग करूँ ? जैसे महाप्रलय के जल से संसार भरा होता है वैसे ही यह सारा विश्व आत्मा से भरा हुआ है ॥४,५॥

यदि कोई कहे, जीवात्मा के जो सुख साधन हैं, उन्हें करो, वे सुख साधन जहाँ प्राप्त हो वहाँ जाओ, सुख और सुख के साधनों का ग्रहण करो एवं दुःख के साधन और दुःख का त्याग करो, तो इस पर कहते हैं।

दुःख, दुःख का उपभोग करनेवाले जीव और जीव की अभिलाषा के योग्य सुख इत्यादि सारा जगत यदि मूल का अन्वेषण किया जाय, तो आकाशमात्र ही है, फिर भी दिशाओं से और मनोरथों से सुमहान वह आत्ममय है यानी आत्मा ही है, ऐसा मुझे ज्ञात हो गया, अतः उसी आनन्दैकरस आत्मा से मेरा सब दुःख नष्ट हो गया है, इसलिए किसी वस्तु के त्याग और किसी वस्तु के ग्रहण की मुझे आवश्यकता नहीं है ॥६॥ बाह्य (आधिभौतिक) और आभ्यन्तर (आध्यात्मिक) भावों से युक्त इस देह में ऊपर, नीचे और पूर्व आदि दिशाओं में इधर-उधर आत्मा ही है। अनात्ममय कहीं पर भी नहीं है। इस विषय में श्रुति

भी है : 'आत्मैवाऽधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वम्' ॥७॥ सभी जगह अधिष्ठानरूप से आत्मा स्थित है। विवर्तरूप कल्पित विकार के दर्शन से सब आत्ममय ही है। तत्त्वदर्शन से तो सब आत्मा ही है। इस दृष्टि से मैं परमार्थ आत्मा में ही सर्वदा स्थित हूँ॥८॥ जो चेतनरूप से प्रसिद्ध है और जो अचेतनरूप से प्रसिद्ध है, वह सब सन्मय, अपार आकाश को पूर्ण करनेवाला आत्मरूप मैं सर्वत्र स्थित हूँ॥९॥

आनन्दरूप एकमात्र सागर के तुल्य मैं सर्वत्र सुखपूर्वक स्थित हूँ, इस प्रकार मेरु पर्वत के निकुंज में भावना करते हुए वे स्थित रहे ॥१०॥

विशुद्ध आत्मा को उन्होंने किस प्रमाण से देखा, इस पर कहते हैं।

क्रमशः घण्टानाद की तरह ॐकार का उच्चारण करते हुए उन्होंने देखा।

श्रुति भी है :

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत्॥

अर्थात् प्रणव धनुष है, जीवात्मा बाण है, ब्रह्म लक्ष्य है। अप्रमत्त होकर उसका वेध करना चाहिये। वेधन करने के पश्चात बाण के समान तन्मय होना चाहिये।

यदि कोई शंका करे कि ॐकार में आकारादिमात्राएँ विराट् आदि की वाचक हैं। तुरीय तत्त्व को ॐकार के किस अंश से देखा ? इस पर कहते हैं।

पूर्व–पूर्व मात्राओं का विराटादि अर्थों के साथ उत्तरोत्तर मात्राओं में लय करके बाल के समान ॐकार के सिर पर दिखाई देनेवाला, अति सूक्ष्म और कोमल, सबसे पीछे के अर्धमात्ररूप कलामात्र की, जो सबके विषय का चरम सीमारूप तुरीयतत्त्व है, तुरीयात्मा से ही भावना करते हुए तुरीयभावापन्न होकर न तो आन्तरकारण में स्थित और न बाह्यभूत कार्य में वे आगे कहे जानेवाले प्रकार से स्थित हुए ॥११॥

उसी स्थिति को दर्शाते हुए उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, कल्पनारूपी कलंक से रहित अतएव शुद्ध एवं जिनका प्राणस्पन्दन हृदय में निरन्तर लीन हो गया, इसलिए जिससे मेघ हट गये, ऐसे शरत्काल के आकाश के समान निर्मल वे महात्मा कच गाते हुए स्थित रहे ॥१२॥

अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त

उनसठवाँ सर्ग

विषयों की निःसारता, ब्रह्मा के संकल्प से जगत की रचना,
ब्रह्मा की निर्वेद से विश्रान्ति और शास्त्र सृष्टि का वर्णन।

प्रसंग प्राप्त कच गाथा को समाप्त करके भोग तत्त्वज्ञों की इच्छा आदि के योग्य नहीं है, इस विषय का, जो प्रकृत है, उपपादन करते हुए श्रीवसिष्ठजी वैराग्य के उपदेश के लिए विषयों की निःसारता का विस्तार से वर्णन करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, इस संसार में अन्न-पान तथा स्त्रीरूप विषयों से जिह्वा, उपस्थ आदि इन्द्रियों का जो संसर्ग है, उसके सिवा उत्तम पुरुषार्थ रूप और कुछ भी नहीं है, यह बात श्रुति, स्मृति और पुरुषों के उपदेश से सिद्ध है, यह विचार कर परम पद में आरूढ़ पुरुष इन भोगों की भला क्यों कर वांछा करेगा ? भाव यह कि यहाँ पर वांछा के योग्य कुछ भी नहीं है ॥१॥

यदि कोई शंका करे कि मोक्ष के समान काम भी पुरुषार्थ ही है, उसकी भी वांछा करनी ही चाहिये। ऐसा कहनेवाले के प्रति कहते हैं।

जो मूढ़ असाधु पुरुष कृपणों के सर्वस्व तथा आदि, मध्य और अन्त में असत् भोगों से सन्तुष्ट होते है, वे निरे पशु-पक्षी ही हैं ॥२॥ जो पुरुष लोक में यह सत्य है, यों विश्वास को प्राप्त होते हैं, मनुष्यों में गर्दभ रूप उनसे कोई भी प्रयोजन नहीं है। इधर केश हैं तो इधर रक्त है, यही तो स्त्री का शरीर है, इससे जो सन्तोष को प्राप्त होते हैं, वे कुत्ते ही हैं मनुष्य नहीं। सारी पृथिवी मिट्टी ही है, सभी पेड़ काठ ही है और शरीर भी मांस के पुतले ही हैं। नीचे पृथिवी है, ऊपर आकाश ही है। भला बतलाइये तो सही सारभूत पदार्थ क्या है, जो सुख के लिए हो। सब लोक व्यवहार इन्द्रियों के स्पर्श के अनुसार होनेवाले, विवेक के तत्त्व में बाधित होनेवाले और बिना विचारे ही भले लगनेवाले हैं। जैसे ज्वाला के अन्त में काजल स्थित रहता है, वैसे ही सब सुखाशा का विषयों के लाभ से अथवा अलाभ से अन्त होने पर पाप, विषय आदि की कलुषता और वियोग, विषाद आदि से होनेवाला दुःख भी वर्तमान काल के सुख के समान ही रहता है। उत्पन्न और विनष्ट होनेवाली अतएव अनित्य मन और इन्द्रियों से उत्पन्न सब सम्पत्तियाँ गजराज से कुचली हुई लताओं के तुल्य क्षीण हो जाती है।

कान्ता आदि का भोग केवल अनित्य ही नहीं है, किन्तु अभेध्य नरकरूप भी है, ऐसा कहते हैं।

हड्डियों के समूह में देह नामवाला पुरुष रक्त और मांस की पुतली का यह मेरी प्रेयसी है, इस बुद्धि से सादर आलिंगन करता है यह मोहक काम का क्रम है। यह सब अज्ञानियों की दृष्टि में सत्य और स्थिर है, अतएव यह अज्ञानी की दृष्टि के लिए होता है, किन्तु हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानी की दृष्टि में अस्थिर और असत्य यह सब उनकी तुष्टि के लिए नहीं होता है। यह जो विषैली भोगतृष्णा है, वह भोग न करने पर भी विष के तुल्य मूर्च्छा पैदा करती है, भोग करने पर तो वह क्यों नहीं करेगी ? उस भोगास्था का त्याग करके स्वात्मैकत्वपद को प्राप्त होईये। जब यह चित्त अनात्ममयरूप से स्थिति को प्राप्त हुआ, तभी यह असन्मय जगज्जाल उत्पन्न हुआ ॥३-११॥

यदि शंका हो कि हमारे चित्त की स्थिति के अनुसार देहादि जगत उत्पन्न हुआ है, फिर आप कैसे कहते हैं कि ब्रह्मा के संकल्प से उत्पन्न हुए जगत को ब्रह्मा के मन का अनुसारी ही होना उचित है, इस पर कहते हैं।

जैसे सोने, चाँदी, नीलम आदि की दीवारों पर पड़ा हुआ सूर्य आदि का प्रकाश तत्-तत् आधार के अनुरूप अपने स्वरूप की कल्पना करता है वैसे ही ब्रह्मा के मन ने हम लोगों के वासना, कर्म आदि के अनुसार संकल्प करने से जगत की कल्पना कर रक्खी है ॥१२॥

प्रसंगवश श्रीरामचन्द्रजी ब्रह्मा के मन के जगत्कल्पनाक्रम को पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, हे महामते, पूर्व उपासक का मन पहले के व्यष्टि-अभिमान को

समष्टिआत्मता की अतिशय भावना से उत्पन्न दृढ़ संस्कार द्वारा छोड़ कर, समष्टिसिद्धिरूप विरंचि का पद प्राप्त कर, कार्यभूत ब्रह्म बनकर इस जगत को क्रमशः कैसे सुघन (चार प्रकार के प्राणियों के समूह से निबिड़) बनाता है ? ॥१३॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, कमलकोशरूप विस्तार से उठ करके सर्वप्रथम बालक ब्रह्माजी ने 'ब्रह्म' शब्द का उच्चारण किया, इसलिए वह ब्रह्मा कहे जाते हैं ॥१४॥ उत्थानरूप जाग्रत की कल्पना के बाद सकल संकल्पात्मक मनों के समष्टिरूप एवं अपने ही मन से चतुर्मुख आकृति की कल्पना किये हुए ब्रह्मा के संकल्प ने आगे की सृष्टि में उद्यम किया ॥१५॥

सूर्य आदि प्रकाश के अधीन सब व्यवहार हैं, अतः पहले आदित्य की सृष्टि को कहने की इच्छा से श्रीवसिष्ठजी सूर्य के उपादानभूत सारे आकाश में व्याप्त तेज की सृष्टि कहकर उसी तेज का वर्णन करते हैं।

तदनन्तर उन्होंने पहले अत्यन्त प्रकाश से युक्त तेज का संकल्प किया, जिसने शरत्काल के अन्त में बर्फ से सफेद हुई लताओं के समूह की तरह दिशाओं के मध्य भाग को परिवेष्टित किया था, जिसने पक्षियों के पंखों के सदृश दोनों पार्श्वों में तन्तुओं के फैलाने से कभी क्षीण न होनेवाले शून्य रूप आकाश को बहुत से तन्तुओं से युक्त–सा बनाया था, जिसने फैली हुई तेज की राशियों से आदि अन्त तक पहुँचे हुए लोकालोक पर्वत के शिखर के रंग–बिरंग धातुओं के संसर्ग से दिगन्तों को पीला कर दिया था, जिसने आकाश को स्वर्ण के समान चमकदार और अनावृत, अपरिच्छिन्न तथा प्रकाशमय होने के कारण ब्रह्मज्ञान के तुल्य बना दिया था, जिसने ब्रह्मा के कमल को विकसित करने के लिए पंखुड़ियों के अन्दर प्रविष्ट हुई किरणों से झरोखों पर बनाई गई सुवर्ण की झालरों की तरह चमकदार केसरों से जटायुक्त कर दिया था और जो एकमात्र समुद्र की तरंगों में प्रतिबिम्बत होने के कारण दैदीप्यमान तथा चलते हुए उपवनों के तुल्य किरणों से विभूषित था ॥१६–१८॥

उस तेज में अपने सदृश दूसरी मूर्ति की कल्पना द्वारा हिरण्यगर्भ का प्रवेश कहते हैं।

तेजोमण्डल की सृष्टि करने के अनन्तर चतुर्मुख शरीराकार से स्थित पूर्वोक्त मनने उस चमकीले तेजों सें दैदीप्यमान, पुराण आदि में प्रसिद्ध अपने आकारके तुल्य शरीर की कल्पना की ॥१९॥ तदनन्तर वह देव उस पिण्डीभूत तेज से आदित्य बनकर आज भी प्रत्यक्ष उदित होता है, वह प्रभा समूहरूप मण्डल के मध्य में स्थित और जलते हुए कनक कुण्डलों से युक्त है ॥२०॥ उसके चारों ओर जल रही ज्वालाओं की पंक्तियों को धारण करनेवाली धधकती हुई अग्नियाँ हैं और वह ज्वालाओं से विशालकाय है एवं उसने उक्त विशाल अवयवों से आकाशमण्डल को पूर्ण कर रक्खा है ॥२१॥

तदनन्तर मरीचि आदि प्रजापतियों की सृष्टि कहते हैं।

तदनन्तर विश्व की वृद्धि करनेवाले सर्वज्ञ चतुर्मुख ब्रह्मा ने जैसे सागर तरंगों को विभक्त करता है वैसे ही आदित्य आदि के निर्माण से बची हुई तेज की उन कलाओं को विभक्त कर जिनका नौ प्रकार से निर्माण किया, वे भी तेज के टुकड़े ब्रह्माजी के संकल्प से ही सब सिद्धियों को प्राप्त और ब्रह्मा के समान ही शक्तिवाले प्रजापति होकर संकल्पानुसार वस्तु को क्षणभर में ही अपने आगे देखकर प्राप्त करते थे ॥२२,२३॥

उनसे देव, दानव, यक्ष, राक्षस, मनुष्य आदि की सृष्टि का प्रवाह कहते हैं।

वे प्रजापति जिन–जिनका पुत्र, पौत्र आदि परम्परा से और देव, दानव आदि जाति भेदों से विविध प्रकार एवं व्यक्तिभेद से बहुत भूतगणों का संकल्प करते थे, उन–उन को प्राप्त करते थे।

उन भूतों में आगे मैथुन सृष्टि का प्रवाह दर्शाते हैं।

उन भूतों में बहुत से औरों का, उनमें औरों का, उनमें औरों का संकल्प करते हुए उनको प्राप्त करते थे ॥२४॥

तदन्तर यज्ञादि कर्मों की प्रवृत्ति दिखलाते हैं।

तदनन्तर वेदों का स्मरण कर फिर बहुत से यज्ञों के गुण और क्रम का स्मरण कर ब्रह्मा ने जगद्रूपी घर के लिए मर्यादा की कल्पना की ॥२५॥ इस प्रकार मन विशाल शरीरवाले ब्रह्मा का रूप धारण करके इस दृश्य सृष्टि का विस्तार करता है, जो प्राणियों की परम्परा से ठसाठस भरी है, समुद्र, पर्वत और वृक्षों से पूर्ण है, लोकोत्तर क्रम से युक्त है, मेरु, भूमण्डल, दिशा के मंडल से जिसका मध्य भाग जटिल है एवं जो सुख–दुःख, जरा, जन्म, मरण आदि शारीरिक क्लेशों से और मानसिक क्लेशों से भी यह संसार सर्वथा हेय है यह इस तरह बोधित हुई है, राग और द्वेषमय होने के कारण उद्वेगयुक्त है और सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों से रची गई है ॥२६–२८॥

यदि कोई शंका करे कि सब व्यवहार ब्रह्मा के मन से रचे गये हैं, ऐसी अवस्था में यज्ञ आदि शारीरिक कर्म हैं और उपासना आदि मानसिक हैं, इस व्यवस्था में क्या हेतु है ? तो इस पर कहते हैं।

ब्रह्मा से उत्पन्न हुई मनोवृत्तियों से अथवा हाथों से जो वस्तु जैसे देखने और प्राप्त करने योग्य पहले माया द्वारा कल्पित हुई, वह सब वैसे ही आज भी दिखाई देती है और पाई जाती है। ब्रह्मा के संकल्प अनुसार ही और लोगों की भी यह शारीरिक है और यह मानसिक है ऐसी कल्पना नियत है। उससे भिन्न अन्य की कल्पना नहीं हो सकती, यह भाव है ॥२९॥

समष्टिदृष्टि से सब भूतों में और व्यष्टिदृष्टि से अथवा एक जीववाद से कुछ लोगों में स्थित मन ही चित् में स्थित संसार का संकल्प करता है और पर ब्रह्म का साक्षात्कार भी करता है ॥३०॥ इस प्रकार का जगत सम्बन्धी मिथ्या मोह स्थिरता को प्राप्त हुआ है। संकल्प करनेवाले स्वयं मनने ही शीघ्र उसकी कल्पना की है ॥३१॥ संकल्प से ही सब जगत की क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं और संकल्पवश ही नियति के अधीन देवतालोग उत्पन्न होते हैं ॥३२॥

इस प्रकार सृष्टि के विस्तार का वर्णन करके सृष्टि की निवृत्ति और शास्त्र के निर्माण में कारण कहने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

अपने–अपने उत्कर्ष के लिए मनुष्यआदि प्रजाओं में धर्म और अधर्म की अभिवृद्धि के लिए प्रयत्न कर रहे इन्द्र विरोचन आदि देवता और असुरों के अधिपतियों द्वारा जबर्दस्ती सात्विकि, राजस और तामस वृत्तियों में लोगों को लगाने से वध, बन्धन, जन्म–जरा आदि हजारों क्लेशों से अतिपीड़ित जगत की सृष्टियों से विरक्त प्रजासमूहों को उत्पन्न करनेवाले ये पूर्वोक्त प्रभु कमलासन पर बैठे हुए ब्रह्मा निम्नलिखित विचार करते हैं ॥३३॥ मन के संकल्पमात्र से व्यष्टिजीवोपाधिभूत जो विचित्र चित्त उत्पन्न हुआ और जो उसके उपभोग के लिए व्यवहाररूप विकार से युक्त विशाल भुवन आदि की

सृष्टि, जो रुद्र, विष्णु और महेन्द्र से युक्त है, पर्वतों से और सागरों से व्याप्त है, जिसका मध्यभाग, पाताल, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, दिशा, और स्वर्ग मार्ग से आकीर्ण है, यह सब मैंने अपना संकल्पसमूह ही चारों ओर विस्तृत किया है। इस समय इस विकल्प के उल्लासन क्रम से मैं विरक्त हो गया हूँ, ऐसा विचार कर कल्पनारूपी अनर्थकारी संकट से विरत हो ब्रह्मा अनादि, आत्मरूपी परब्रह्म का अपने से स्मरण करते हैं॥३४–३७॥ उस परमात्मा को स्मरणमात्र से प्राप्त कर, जहाँ चारों ओर एकमात्र उन्हींका प्रकाश है, मानस व्यापाररहित यानी सप्तमभूमिका रूप उस पद में शान्त आत्मावाले ब्रह्मा सुखपूर्वक ऐसे स्थित होते हैं, जैसे थका हुआ पुरुष भली–भाँति बिछाये हुए बिछौने पर स्थित होता है॥३८॥ ममतारहित, अहंकारशून्य अतएव परमशान्ति को प्राप्त हुए क्षोभरहित ब्रह्मा निश्चल सागर की तरह अपनी आत्मा से आत्मा में स्थित होते हैं॥३९॥ किसी समय एकाकार वृत्ति की धारणा में आग्रहरूप ध्यान से भगवान ब्रह्मा स्वयं ऐसे विरत होते हैं, जैसे जल की निश्चलतारूप सौम्यता से समुद्र विरत होता है॥४०॥ तब वे सुख–दुख से युक्त सैकड़ों आशापाशों से बंधे हुए, राग, द्वेष और भय से पीड़ित संसार का विचार करते हैं॥४१॥ फिर दया से आक्रान्त चित्तवाले वे प्राणियों के कल्याण के लिए अध्यात्मज्ञान से भरे हुए गम्भीर अर्थवाले बहुत से शास्त्रों की रचना करते हैं। वेद, वेदांग के संग्रह की और पुराण आदि अन्यान्यशास्त्रों की भी सब जीवों की मुक्ति के लिए रचना करते हैं॥४२,४३॥ फिर पूर्वोक्त सप्तम भूमिकारूप परमपद को पाकर सृष्टि विक्षेपरूप परम आपत्तियों से छुटकारा पाये हुए ब्रह्मा मन्थनदण्डरूप मन्दराचल से छुटकारा पाये हुए सागर के समान स्वस्थ और शान्तात्मा होकर स्थित होते हैं॥४४॥ कमलासन में स्थित हुए ब्रह्मा जगत की चेष्टा को देखकर और जगत की मर्यादा को ठीककर फिर आत्मा में स्थित हो जाते हैं॥४५॥ किसी समय सब संकल्पों से हीन स्वेच्छामात्र से केवल लोगों के अनुग्रह के लिए ही लोक के सदृश कार्य करते हुए स्थित होते हैं॥४६॥

तब तो समाधिकाल में उनकी सरलता, सृष्टि, संहार आदि के समय उस सरलता का त्याग, देह आदि का ग्रहण, सृष्टि के रूप से अनेक होना, व्युत्थानकाल में चेतन होना, पद्म में स्थिति, अन्यत्र स्थिति यों विविध प्रकार के भावारम्भों से युक्त चित्त– वृत्तियों में अज्ञानी के तुल्य ही विषमता हुई। ऐसी आशंका कर क्रमशः उक्त शंकाओं का परिहार करते हैं।

ब्रह्मा को समाधिकाल में न ऋजुता होती है, न सृष्टि और संहारकाल में उसका त्याग होता है, न देहादि का ग्रहण होता है, न सृष्टिरूप से अनेकता होती है, न व्युत्थान के समय चेतनता होती है और न कमलपर स्थिति तथा अन्यत्र अस्थिति होती है॥४७॥ सब भावों का आरम्भ करनेवाले ब्रह्मा सब वृत्तियों में समान और परिपूर्ण सागर के समान आकारवाले मुक्तरूप होकर स्थित रहते हैं॥४८॥ किसी समय सम्पूर्ण संकल्पों से रहित अपनी स्वेच्छा से केवल लोगों के अनुग्रह के लिए ही वे प्रतिबद्ध होते हैं॥४९॥

हे महामते, जो मैंने आपसे कही, यह परम पवित्र ब्राह्म स्थिति है। प्रजापतियों की मानसिक सृष्टि पहला विध्यनीक (ब्रह्मा आदि का दल) है, क्योंकि प्रजापतियों को संकल्प से सिद्धियाँ प्राप्त हैं एवं ज्ञान और योगरूप ऐश्वर्य स्वयं ही उन्हें ज्ञात है। मैथुनसृष्टि में भी देव, गन्धर्व, यक्ष आदि के सात्त्विक होने के कारण एक बार के उपदेश से ज्ञानरूप ऐश्वर्य को प्राप्त हुआ देवानीक (देवता का दल) मध्यम

है। मनुष्य आदि तो रजोगुण और तमोगुण से ग्रस्त हैं हजारों प्रयत्नों से उन्हें ज्ञानरूप ऐश्वर्य प्राप्त हो सकता है, अतएव नरानीक (मनुष्यों का दल) अधम है।

यों तीन अनीकों का विभाग अपने मन में रखकर उनकी अपने कारण से प्राप्त चित्तशुद्धि के अनुरूप ज्ञान से ब्रह्म प्राप्ति को पृथक् पृथक् दर्शातें हैं।

पूर्वोक्त इस सात्त्विक ब्राह्म स्थिति को विध्यनीक और सुरानीक भी प्राप्त हो ॥५०॥

उन पूर्वोक्त तीन अनीकों में (दलों में) पहला अनीक मानस उपासना का फल होने के कारण एक मात्र मन से उत्पन्न होनेवाला है, अतएव सूक्ष्म होने से उसकी प्राप्ति में विशेषता कहते हैं।

चूँकि पहला दल चिद्रूप सब सृष्टियों के उपरमस्वरूप ब्रह्माकाश में ब्रह्मा के मन से कल्पित फल के समान मन का फल होकर पहले उत्पन्न होता है, अतः वही स्वतःसिद्ध ज्ञानरूप ऐश्वर्य से पहले ब्रह्मत्व को भली भाँति जानकर उसको प्राप्त करता है ॥५१॥

दूसरा दल औषधि पल्लवों के विकारभूत सोमरस, घृत, दूध से सिद्ध होनेवाले कर्म का फल है, अतः उनका परिणाम होने के कारण प्रथम दल की अपेक्षा स्थूल होने से उसे उपदेशमात्र से ब्रह्म प्राप्ति होती है, यों विशेषता दिखलाते हैं।

प्रजापतियों की और औषधियों की सृष्टि होने पर जो देवानीकरूप दूसरी पहले की अपेक्षा न्यून कल्पना उदित होती है, वह पहले चन्द्रमा की कलारूप से आकाश और वायु का अवलम्बन करके औषाधि पल्लवों में प्रवेश कर सोम, घृत और दूधरूप से अग्नि में हवन होने पर सूर्यमण्डल में अमृत के आकार से परिणत हो प्रजापति आदि से उपभुक्त होती है। उनके उपभोग के अनन्तर उनके वीर्यरूप से परिणत हुई मैथुन द्वारा कोई इन्द्र आदि सुरता, कोई कुबेर आदि यक्षयोनिता को प्राप्त होती है। वह सात्त्विकि होने से मनुष्य आदि की अपेक्षा पहले प्रजापतियों के अनुग्रहपूर्ण उपदेश आदि से ज्ञानैश्वर्यसम्पत्ति द्वारा अभ्युदित होती है, इसलिए पहले ही वह ब्रह्मत्व को प्राप्त होती है ॥५२,५३॥

तो क्या सब देवताओं की मुक्ति होती है ? इस पर नहीं, ऐसा कहते हैं।

देवताओं में अथवा मनुष्यों में उत्पन्न हुआ जो व्यक्ति ज्ञान–वैराग्य से सम्पन्न अथवा भोगलम्पट जिस जीव की मैत्री आदि से संगति करता है, वह उसकी संगति से शीघ्र वैसे गुणवाला हो जाता है। भोगलम्पट पुरुष से संसर्गवश स्वयं भी वैसा होकर उसी जन्म में बन्धन को प्राप्त होता है और ज्ञानैश्वर्यसम्पन्न पुरुष की संगति से स्वयं भी ज्ञान–वैराग्य सम्पन्न होकर उसी जन्म में मुक्त हो जाता है।

तब तीसरे अनीकरूप मनुष्यों को क्या करना चाहिए ? इस पर उनका कर्तव्य कहते हैं।

बन्ध और मोक्ष संगति के अनुसार होते हैं, इसलिए स्वयं ही अपने पौरुष प्रयत्न से साधुसंगति, सत् शास्त्रों के श्रवण आदि एवं इन्द्रिय और मन की जय के उपायों का, जब तक फल की प्राप्ति न हो तब तक अभ्यास करना चाहिये ॥५४॥

पूर्वोक्त सबका संक्षेप से उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, अधिक प्रकाशवाली उपासनाओं, सब लोगों में प्रसिद्ध यज्ञ आदि कर्मों और अनर्थ फल देनेवाले निषिद्ध और मिश्रित कर्मों से क्रम से प्राप्त तथा अनेक प्रकार के प्रारब्ध वेगों,

क्रीड़ा–कौतुकों तथा क्रोध, लोभ से बढ़े हुए व्यवहारों से क्रमशः दृढ़ स्थिति को प्राप्त हुई तीन अनीकरूप सृष्टि सर्गोन्मुख ब्रह्म में इस प्रकार पूर्वोक्त संकल्पकल्पना से ही सत्ता को प्राप्त होकर आविर्भाव को प्राप्त हुई है ॥५५॥

उनसठवाँ सर्ग समाप्त

साठवाँ सर्ग

ब्रह्मा से उत्पन्न हुए जीवों के देह ग्रहण के क्रम का और
प्रधानरूप से ज्ञान के भाजन सात्त्विक जीवों के देह ग्रहण के क्रम का वर्णन।

पूर्वोक्त तीन अनीकसृष्टियों का– 'सा व्योमानिलमाश्रित्य' इत्यादि से संक्षेप से कहे गये क्रम के विस्तार से वर्णन करने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

हे महाबाहो श्रीरामचन्द्रजी, सृष्टि की व्यवस्था करनेवाले पितामह भगवान ब्रह्मा के समाधि से व्युत्थित होने पर, इस जगद्रूपी जीर्ण घटीयन्त्र (रहट) के भरे हुए प्राणी रूपी घड़ों से युक्त रस्सी द्वारा पुनः पुनः देह ग्रहण से जीव और जल की तृष्णा से आरोह और अवरोह क्रम से चलने पर, ब्रह्मा से उत्पन्न हुए जीवों के संसाररूपी पिंजड़े में प्रवेश करने पर अन्यान्य मनों के मायाशबल ब्रह्मा के प्रथम उत्पन्न पुत्रभूत आकाश में वायु के झोंके से चंचल और आहत जलकणों से व्याप्त आवर्त की भाँति घूमने पर ब्रह्म में जीवों के समूह निरन्तर उपाधि के उत्पन्न होने के कारण अग्नि के विस्फुलिंग के समान बाहर निकलते हैं और कोई उपाधि के नष्ट होने से सुषुप्ति की तरह विश्रान्ति के लिए ब्रह्म में प्रवेश करते हैं ॥१–४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, अनादि अनन्त ब्रह्मरूपी पद से उत्पन्न हुए यानी कल्पना को प्राप्त हुए ये जीवसमूह समुद्र में तरंगों की भाँति ब्रह्म में स्थित हैं ॥५॥ जैसे प्रकाश की शोभा मेघ में प्रविष्ट होती है वैसे ही ये जीवसमूह भूताकाश में प्रवेश करते हैं। जैसे दूध और जल एकता को प्राप्त होते हैं वैसे ही ये जीवसमूह अध्यस्त आकाश और वायु के साथ ब्रह्म में एकता को प्राप्त होते हैं ॥६॥ तदनन्तर तेज, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति हो जाने पर प्रकाश को प्राप्त करके वे जीव शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धरूप तन्मात्राओं के सहित पूर्वोक्त वायु से और अपने उपभोग के हेतु अमुख्य और मुख्य दो प्रकार के प्राणवायु से ऐसे आक्रांत होते हैं, जैसे कि प्रचण्ड दैत्यों के समूह से देवता आक्रान्त होते हैं ॥७॥ इस प्रकार लिंगदेहता को प्राप्त हुए वे जीव प्राण के आत्मभाव के और भूततन्मात्रसहित वायु के साथ अन्न और जल के द्वारा अंडज आदि चार प्रकार के प्राणियों के प्राणवायु यानी अन्नग्रासक अपानवृत्ति भेद को प्राप्त करके शरीरों में प्रवेश करते हैं और वीर्यता को प्राप्त होते हैं ॥८॥

तदनन्तर जगत में पैदा होते हैं और अनभिव्यक्त ज्ञानैश्वर्यवाले प्राणी होते हैं।

तीसरे दल की सृष्टि का क्रम कह कर दूसरे दल की सृष्टि का क्रम कहते हैं।

अन्य कुछ इष्टापूर्तकारी (यज्ञ, कुएँ और बावड़ियाँ खुदवाना आदि कर्म) जीवराशियाँ श्रद्धापूर्वक अग्नि में दी गई आहुति से यानी तज्जन्य अपूर्व से परिवेष्टित होकर धुएँ के द्वारा सूर्यमण्डल में पहुँच कर सूर्य की किरणों द्वारा चन्द्रमण्डल में प्रवेश करने से धुम्र आदि मार्ग में प्रविष्ट हुई हैं। उन जीवपरम्पराओं का भी लिंगदेह प्राप्तिपर्यन्त क्रम पूर्वोक्त ही है ॥९॥

चन्द्रकलास्वरूपता को प्राप्त हुए वे भी जीवसमूह कल्पवृक्ष के फलों में रसरूप से प्रवेश द्वारा उपभोक्ता के वीर्यरूप से परिणत होकर देवगर्भ से उत्पन्न होते हैं, ऐसा क्रम बतलाते हैं।

पूर्ण भगवान चन्द्रमा जितनी किरणों से संसार को प्रकाशित करते हुए उदित होते हैं, चंचल, श्वेत वर्ण की उतनी किरणों से पूर्ण इसलिए क्षीरसागर के स्थानापन्नरूप पूर्वोक्त तन्मात्रास्वरूप लिंगदेहवाले आकाश में वह जीवपरम्परा स्थित होती है ॥१०॥ तदनन्तर उन चन्द्रकिरणों के नन्दन आदि वन में गिरने पर किरणों के साथ गिर रही वह जीवपरम्परा उस वन में जैसे दासी घर के कार्यों में व्यग्र रहती है वैसे ही व्यग्र हो पक्षी के तुल्य प्रवेश करती है ॥११॥ उस वन में फल चन्द्रमा की और सूर्य की किरणों के लगने से अपने रस से क्रमशः वृद्धि और मधुरता को प्राप्त होते हैं ॥१२॥ इस प्रकार पूर्वोक्त जीवपरम्परा चन्द्रमा की किरणों से गिर कर जैसे बालक दूध से भरे हुए माता के स्तनों में स्थिति करता है वैसे ही रस से भरे हुए उन फलों में स्थिति करती है ॥१३॥ वे फलों की पंक्तियाँ सूर्य की किरणों से पक जायेंगी। कश्यप आदि से उपभुक्त उन्हीं फलों में वीर्यता को प्राप्त होकर मूर्च्छितप्राय वे जीवजातियाँ रहती है ॥१४॥ जैसे अंकुर, शाखा, पत्ते जिसमें आविर्भूत नहीं हुए, ऐसा वट वृक्ष का बीज, शाखा, अंकुर, पत्ते और फल से युक्त वट वृक्ष में रहता है, जैसे काष्ठ में अग्नि स्थित रहती है और जैसे मिट्टी में घड़े स्थित रहते हैं वैसे ही जीवता, जिसकी वासनाएँ सुप्त रहती हैं, गर्भरूपी पिंजड़े में स्थित रहती है। केवल गर्भ में ही मूर्च्छित जीवपरम्पराओं का अन्य के आश्रय द्वारा तिरोधान नहीं होता, किन्तु प्रलय के समय उपाधि का नाश होने के कारण प्राप्त हुए अव्यक्त से निकल कर आकाशरूप में, लिंग शरीर के आरम्भ समय में और चन्द्रकिरण आदि में प्रवेश करने के समय में भी तिरोधान से स्थिति रहती है ॥१५,१६॥

इस प्रकार गर्भ में प्राप्त हुए जीवों के जन्म में निमित्तभेद होने से विशेषता दर्शातें है।

पूर्वजन्म में जिसने स्त्री, पुत्र आदि के शरीरों की शोभा नहीं देखी, जो मरने तक सर्वथा विरक्त होकर रहता है और जो राग आदि से और बहुत से कर्मकाण्ड आदि शास्त्रों से ऐहिक और पारलौकिक भोग के साधन लौकिक और वैदिक कर्मों में प्रेरित होता हुआ भी उनमें प्रवृत्त नहीं होता है, वह श्रेष्ठ पुरुष पूर्वोक्त क्रम से देवगर्भ में उत्पन्न होता हुआ अत्यन्त सात्त्विक जाति का होकर उस जन्म में ज्ञान प्राप्त करके उदार जीवन्मुक्तोचित व्यवहारवाला होता है। उसी जन्म से यदि वह मोक्षभागी हो, तो सात्त्विक कहा जाता है ॥१७॥

देवपद में अधिकार प्राप्ति के अनुकूल कर्म और उपासना करनेवालों के जन्म में विशेष भेद दिखलाते हैं।

इस देवयोनि को प्राप्त करके नष्ट की जा सकनेवाली जन्मपरम्परा को भोग लम्पटतावश उच्छेद न करता हुआ जो अपने अधिकार भोग की रक्षा के लिए ही जन्म प्राप्त करे, वह तमोयुक्त राजस सात्त्विक है।

अब प्रथम दल में (विध्यनीक में) उत्पन्न हुए केवल सात्त्विक लोगों का पुनर्जन्म नहीं होता है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी पुरुष के अन्तिम जन्म से जो नर और देवताओं के दल की (अनीक की) अपेक्षा प्रधान है, अर्थात् प्रजापति के अधिकार से संसार में आया हुआ केवल सात्त्विक विध्यनीक

जैसे मुक्त होता है, वैसा इस समय मैं आपसे कहूँगा। हे पुण्याकृतिवाले श्रीरामचन्द्रजी, प्रथम दल में यानी विध्यनीक में उत्पन्न हुआ पुरुष कोई भी और कभी भी पुनः उत्पन्न नहीं होता है यानी मुक्त ही हो जाता है ॥१८–२०॥

तब कौन उत्पन्न होते हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर उन्हें कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, राजस–सात्त्विक पुरुष यहाँ पर उत्पन्न होते हैं।

शंका : केवल सात्त्विक के पुनर्जन्म न होने में क्या कारण है ?

समाधान : केवल सात्त्विक पुरुष पूर्वजन्म में भी आत्मतत्त्व का श्रवण, मनन आदि उपायों से विचार कर केवल प्रतिबन्ध के क्षय के लिए प्रतिबन्धक्षययोग्य जन्म को प्राप्त हुए हैं। इस जन्म में भी उनकी बुद्धि से सदा आत्मतत्त्व ही मननीय है, इसलिए उनका पुनर्जन्म नहीं होता है ॥२१॥

अतएव वे दुर्लभ हैं, ऐसा कहते हैं।

जो जब परमात्मा से नर और सुर के अनीक की अपेक्षा प्रधानता से प्राप्त हुए हैं, हे श्रीरामचन्द्रजी, वे महागुणशाली पुरुष दुर्लभ हैं ॥२२॥

जो प्रजापति, सुर, और मनुष्य के अनीक से अन्य राक्षस, पिशाच, पशु–पक्षी आदि हैं वे पेड़, पत्थर के तुल्य हैं, ज्ञानाधिकार की चर्चा में उनकी योग्यता ही नहीं है, इसलिए उनका उल्लेख नहीं किया है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो और विविध प्रकार के तामस जातिवाले मूढ़, मूक जीव हैं, वे सब स्थावर पेड़, पत्थरों के समान हैं, उनका क्या विचार किया जाय ? ॥२३॥

तत्त्वज्ञान की दुर्लभता का ही उपपादन करते हैं।

क्रम से प्राप्त उत्तम जन्म में भी कुछ ही नर और सुर सांसारिक भोगरुचि को प्राप्त नहीं हुए हैं, अतः वैराग्य अत्यन्त दुर्लभ है। उन लोगों में मेरे तुल्य जन्म से लेकर शम, दम आदि सब गुणों की सम्पत्ति से खूब आत्मविचार योग्यता को प्राप्त हुए भी कुछ लोग निरन्तर समाधि सुख में विघ्नभूत राजकुलपौरोहित्य के कारण कुछ राजसयुक्त सात्त्विक ही है, शुद्ध सात्त्विक नहीं हैं। *(यह शुद्ध सात्त्विकता की अति दुर्लभता के सूचन के लिए निरभिमानतावश अतिशयोक्ति है)* ॥२४॥ मेरे सदृश आप भी वैराग्य, शम, दम आदि सम्पत्ति से पूर्ण हैं ही, किन्तु परमात्मपद का विचार न करने से आपकी इस प्रकार की संसार भ्रान्तिरूप महाआपत्ति विस्तीर्ण हुई है। परमात्मपद का यहाँ पर मेरे सामने आज ही आप शीघ्र विचार कीजिये। एकमात्र विचार करने से आप ही यहाँ पर अद्वितीय परम पद है ॥२५॥

साठवाँ सर्ग समाप्त

इकसठवाँ सर्ग

मुक्ति के योग्य राजससात्त्विक लोगों की प्रशंसा और उनके विवेक वैराग्य के क्रम का उपदेश।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जो विचारणा की योग्यता को प्राप्त पुरुष राजससात्त्विकी पूर्वजन्म की कर्मोपासना से पृथिवी मे उत्पन्न हुए हैं, वे महागुणशाली पुरुष जैसे आकाश में चन्द्रमा प्रकाशमान रहते हैं वैसे ही सदा प्रसन्न और प्रकाशमान रहते हैं ॥१॥ जैसे आकाश मेघों से

की गई मलिनता को प्राप्त नहीं होता वैसे ही वे भी मानसिक दुःख को प्राप्त नहीं होते हैं, जैसे सुवर्ण का कमल रात्रि में म्लान नहीं होता वैसे ही वे शारीरिक दुःख को प्राप्त नहीं होते हैं। जैसे स्थावर वृक्ष आदि प्रारब्ध भोग से अतिरिक्त कोई दूसरी चेष्टा नहीं करते हैं वैसे ही वे भी ज्ञान और ज्ञानसाधनों की सिद्धि के सिवा अन्य वस्तु नहीं चाहते हैं और जैसे वृक्ष अपने पुष्प, फल आदि से रमता है वैसे ही वे भी अपने सदाचारों से रमते हैं ॥२,३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, राजससात्त्विक पुरुष की बुद्धि शान्ति आदि सुधा के बढ़ने पर वृद्धि को प्राप्त हो जाती है, अतएव वह शुक्लपक्ष के चन्द्रमा के तुल्य सुन्दर हो जाती है, जिससे वह पुरुष मोक्ष को प्राप्त होता है ॥४॥ जैसे चन्द्रमा शीतलता का त्याग नहीं करता वैसे ही वे शीतलता के समान स्थित सौम्यता का आपत्ति में भी त्याग नहीं करते हैं। मैत्री आदि गुणों से मनोहर प्रकृति से ही वे ऐसे विराजमान रहते हैं जैसे कि नूतन गुच्छों से शोभित लता से वन के वृक्ष शोभित होते हैं। सब पर समान दृष्टि रखनेवाले, एकमात्र परमात्मा में अनुराग रखनेवाले, सदा सौम्य, साधुओं से भी बढ़कर साधु, समुद्र के तुल्य मर्यादा धारण किये हुए पुरुष आपके तुल्य हैं। इसलिए हे महाबाहो, आपत्तियों का अनधिकरण उनका जो स्थान वही गन्तव्य है। आपत्तियों के सागर में जाना उचित नहीं है। खेदरहित आपको इस जगत में वैसे बर्ताव करना चाहिये जैसे कि रजोगुणरहित सात्त्विक आत्मानन्द लाभ बढ़े एवं मूढ़ों के विचारणीय विषयों के परित्याग द्वारा बारम्बार सत् शास्त्रों का विचार करना चाहिये ॥५-९॥ इस प्रकार भावना करनेवाले पुरुष को अत्यन्त आदर के साथ सब वस्तुओं की विविध निमित्तों से उपपन्न होनेवाली अनित्यता का भी विचार करना चाहिये। हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार अनित्यता का विचार कर रहा विशुद्ध बुद्धिवाला पुरुष अज्ञान को बढ़ानेवाले मिथ्या असम्यग्दर्शन का त्याग कर पहले ऐहिक विषयों के उपभोग के योग्य लौकिक क्रिया की, मरने के बाद उपयोग में आनेवाली पारलौकिक क्रिया की और उन क्रियाओं के फल, पशु, पुत्र, धन, स्वर्ग विमान, अप्सरा आदि पदार्थों की, ये आपत्ति ही हैं, ऐसी भावना करें, ये सम्पत्ति है, ऐसी भावना कभी न करें ॥१०,११॥ आगे कहे जानेवाले विचाररूप ज्ञान का असीम परब्रह्मरूप वस्तु को प्राप्त करने के लिए साधु सतीर्थ्यों के साथ विधिवत् प्राप्त हुए सेवा आदि प्रयत्न द्वारा प्रसन्न किये हुए गुरु से 'हे प्रभो, मैं कौन हूँ', यह संसाराडम्बर कैसे उत्पन्न हुआ, इत्यादि सविनय प्रश्नपूर्वक विचारकर स्मरण करना चाहिए। कर्मों में निमग्न नहीं होना चाहिये और अनर्थकारी लोगों के साथ संगति भी नहीं करनी चाहिये ॥१२,१३॥ सब प्रिय वस्तुओं का विच्छेद संसारमात्र के लिए अवश्यंभावी है, ऐसा सदा विचार करना चाहिये। जैसे मयूर मेघों का अनुसरण करता है वैसे साधुओं का ही अनुसरण करना चाहिये ॥१४॥ आभ्यन्तर अहंकार के उससे बाहरी शरीर के, उससे भी बाहरी पुत्र, मित्र आदि संसार के, जो तीन सागर तुल्य हैं, नौकारूप आत्मविचार को पूर्ण करके सत्य का ही अवलोकन करना चाहिये ॥१५॥

सत्य का ही अवलोकन करना चाहिये, ऐसा जो कहा उसमें उपाय कहते हैं।

अस्थिर शरीर का और अहंकार का भी त्यागकर अत्यन्त कल्याणकारी, जिसने मोती की माला को व्याप्त कर रक्खा है, ऐसा मोती-माला के अन्तर्गत सूत के समान सब देह, अहंकार आदि के अन्तर्गत चिन्मात्र का ही अवलोकन करना चाहिए ॥१६॥ उस नित्य विस्तृत, सर्वत्र व्याप्त, सर्वभावित, कल्याणकारी परम पद में जैसे सूत में मणिराशियाँ पिरोई रहती हैं वैसे ही यह सारा जगत पिरोया हुआ

है ॥१७॥ जो चित् विशाल भुवन के भूषणरूप आकाश में स्थित सूर्य में है, वही चित् पृथिवी के विवर के मध्य में स्थित कीड़े में भी है ॥१८॥ हे अनघ, जैसे यहाँ पर घटाकाश और महाकाश का परमार्थतः भेद नहीं है वैसे ही शरीर में स्थित जीवों का भेद नहीं है ॥१९॥ तिक्त, कडुआ आदि रस के भेद को जाननेवाले सभी प्राणियों की अनुभूति एक ही होती है, अतः चिन्मात्र में भेद कैसे ? भाव यह कि जैसे एक पुरुष से आस्वादनीय तिक्त, कडुआ आदि रस का भेद होने पर भी उनके अनुभव का भेद नहीं है वैसे ही देहादि का भेद होने पर भी चिन्मात्र में भेद नहीं है ॥२०॥

चेतनों में जैसे चित् का भेद नहीं है, वैसे ही सब वस्तुओं में तत्स्वरूप का भेद नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जबकि एकमात्र सद्वस्तु ही सदा स्थित है, तब यह उत्पन्न हुआ, यह नष्ट हुआ, इस प्रकार की उत्पत्त्यादिविषयक मूढ़ जनसाधारण आपकी बुद्धि शास्त्रीय नहीं है ॥२१॥

तब शास्त्रीय बुद्धि कैसी है ? ऐसा प्रश्न होने पर उसे कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो उत्पन्न होकर विलीन हो जाती है, वह वस्तु नहीं है। वह आभासमात्र है, न वह सत् है और न असत् है ॥२२॥

वह न सत् है और न असत् है, ऐसा जो कहा, उसका उपपादन करते हैं।

चूँकि मोक्ष होने के पहले अभिव्यक्त और अशान्त चित्त सा भली–भाँति गृहीत हो रहा यह जगत अपने स्थिति काल में विद्यमान है, अतः असत् नहीं है। मोह की निवृत्ति होने पर तो मोक्षप्राप्ति से पहले भी जो यह है ही नहीं तो मोक्षकाल में यह सुतरां नहीं है, अतः सत् भी नहीं है ॥२३॥

ज्ञान की सार्थकता का विचार करने पर भी मोह आदि की सत्ता या असत्ता नहीं कही जा सकती, अतएव इसकी अनिर्वचनीयता ही सिद्ध हुई, ऐसा कहते हैं।

मोहजाल यदि अत्यन्त असत् है, तो भला बतलाइए, पुरुष ज्ञान द्वारा किसका निरास करेगा ? क्योंकि निरास करने योग्य वस्तु के अभाव में निरासक ज्ञान की सार्थकता नहीं हो सकती। यदि मोहजाल अत्यन्त सत् है, तो ज्ञान से किसका त्याग करेगा ? कारण कि ज्ञान सत्य वस्तु का निवर्तक नहीं देखा जाता, इसलिए अनिर्वचनीय अध्यासरूप संगति से रज्जुसर्प आदि के समान यह दृश्य समुदाय मोह में कारण है, ऐसा परिशेष से सिद्ध होता है ॥२४॥ यदि जगत असत् है, तो यहाँ पर मोह कैसे ? यदि वह सत् है, तो मोह का कारण कैसे ? इसलिए सदा शान्त हुए आप जन्म, मरण और स्थितिरूप संसार में आकाश के समान समदृष्टि होइए ॥२५॥

इकसठवाँ सर्ग समाप्त

बासठवाँ सर्ग

श्रीरामचन्द्रजी में शास्त्रोक्त सब गुणों–सी समृद्धि का कथन और
अधम पुरुष की भी सत्संग और पौरुष से उत्तम स्थिति का प्रतिपादन।

मूढ़ों के चिन्तन योग्य विषयों के परित्याग से बार–बार सत् शास्त्र का विचार करना चाहिए, ऐसा जो पहले कहा, उस पर कैसे उसका विचार करना चाहिए, ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं।

बाह्य और आभ्यन्तर द्वन्द्वों को सहनेवाला, ऊहापोह में कुशल पुरुष स्वयं ही *'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः' इत्यादि शास्त्र के अनुसार प्राप्त हुए,* तत्त्वज्ञानी और शिष्य के अपराध को सहनेवाले महामतिगुरु के साथ शास्त्र का पहले विचार करे ॥१॥ उत्तम कुल में उत्पन्न हुए, विषयतृष्णा शून्य, तत्त्वज्ञानी महापुरुष के साथ शास्त्र का विचारकर मन का नाश करनेवाली समाधि से परम पद प्राप्त किया जाता है ॥२॥ वेदान्त में उपयोगी अन्यान्य शास्त्रों के, सत्कर्म, सदाचार आदि के और सज्जनों की संगति, वैराग्य आदि के निरन्तर अभ्यास से संस्कृत हुआ पुरुष प्रत्यक्तत्त्व विषयक आत्मज्ञान का भाजन होकर आपके समान शोभित होता है ॥३॥

उक्तगुण आप में हैं ही, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप बाह्य और आभ्यन्तर द्वन्द्वों को सहन करने वाले, एवं विविधगुणों के आगार हैं, आपका आचार उत्तम है तथा आपके मन के सभी मल दूर हो गये हैं; अतः आप दुःखरहित परम पद में स्थित हैं ॥४॥

अब श्रीरामचन्द्रजी में ज्ञान से जीवन्मुक्तता की सम्भावना करते हुए कहते हैं।

सचमुच आप जिससे मेघ हट गये हों, ऐसे शरद् ऋतु के आकाश के तुल्य हैं। उत्तम ज्ञान से युक्त आप भावना से युक्त होइए ॥५॥

जीवन्मुक्ति की सम्भावना में बीजभूत मुक्त मन का लक्षण कहते हैं।

सब बाह्य पदार्थों की चिन्ता से रहित एवं भीतर परमात्मा के साथ क्षीर-नीर के तुल्य एकता होने से ब्रह्माकार परिणामरूप कुशलतावाली कल्पना से जो मुक्तों के अनुभव से सिद्ध है, स्थित और द्वैतरहित मन मुक्त ही है, इसमें कोई संदेह नहीं है ॥६॥ इस प्रकार मुक्त मनवाले आपकी चेष्टा का इस समय संसार में पूर्वोक्त जीवन्मुक्त पुरुष राग-द्वेषहीन पूर्वोक्त कल्पना द्वारा अनुसरण करेंगे ॥७॥ जो लोग बाहर लोकोचित आचारवाले होकर विहार करते हैं, ज्ञानरूपी नौका से युक्त वे बुद्धिमान पुरुष संसाररूपी सागर को पार करेंगे ॥८॥ जो सज्जन पुरुष आपके सदृश बुद्धिवाला और समदृष्टि है, वही सुदृष्टि पुरुष मुझसे कही गई ज्ञानदृष्टियों का भाजन है ॥९॥

तो क्या जीवन्मुक्त हुआ मैं शरीर का त्याग अथवा यथेष्ट आचरण करूँ ? इस पर नहीं ऐसा कहते हैं।

जब तक आपका शरीर है, तब तक आप बाहर धर्मशास्त्र और सदाचार के अनुसार आचारवाले और अन्दर सब एषणाओं का त्याग कर के राग-द्वेषहीन बुद्धि से स्थित रहिए ॥१०॥ जैसे और गुणी पुरुष शान्ति को प्राप्त हुए हैं वैसे ही आप परमशान्ति को प्राप्त होइए। जो स्वार्थ कुशलता से दूसरों को ठगनेवाले सियार सदृश हैं और बच्चों की तरह यथेष्ट आचारवाले हैं, वे मूढ़ पुरुष ही विचार योग्य नहीं हैं ॥११॥ शुद्ध सात्त्विक जन्मवाले जीवन्मुक्त पुरुषों के जो स्वाभाविक शम, दम आदि गुण हैं उनका उपार्जन कर रहा साधारण पुरुष भी क्रमशः ज्ञान प्राप्त करके अन्तिम जीवन्मुक्त शरीर को प्राप्त होता है ॥१२॥ क्योंकि पुरुष जिन्हीं जाति गुणों का सदा यहाँ सेवन करता है, दूसरी जाति में उत्पन्न होकर भी वह एक क्षण में उस जाति को प्राप्त होता है। भाव यह कि उत्कृष्ट जाति के गुणों का सेवन करने पर उत्कृष्ट जाति में जन्म पाता है और अधम जाति के गुणों का सेवन करने पर अधम जाति में जन्म पाता

है, यह नियम है ॥१३॥ कर्माधीनता को प्राप्त हुए जीव पुर्वजन्म के सब भावों को प्राप्त होते हैं, राजा की सेनाओं को और पर्वतों के वनों को क्रमशः नीतिशास्त्र के अनुसार पराक्रम से और काटने आदि से लोग जीत लेते हैं, इसलिए अधम पुरुष को भी मोक्ष के लिए ही अवश्य प्रयत्न करना चाहिए। जो पुरुष पौरुष से विरत नहीं होता, उसे फल सिद्धि अवश्यप्राप्त होती है, यह अभिप्राय है ॥१४॥ पुरुष चाहे, राक्षस, पिशाच, शूद्र आदि तामसी योनि में उत्पन्न हुआ हो, चाहे क्षत्रिय, वैश्य आदि राजस योनि को प्राप्त हुआ हो अथवा सत्त्व, तम से मिश्रित सर्प आदि योनि को प्राप्त हो, उसे कीचड़ से भोली-भाली गाय की तरह विषयों से बुद्धि का धैर्य के साथ उद्धार करना चाहिए ॥१५॥

पूर्वोक्त बात को ही विस्तार से कहते हैं।

अपने विवेक से ही सन्त लोग देवता आदि सात्त्विक योनि को प्राप्त होते हैं, इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, निर्मल चित्तरूपी मणि को जिस वस्तु का संसर्ग होता है, वह चित्तरूपी मणि तन्मय हो जाती है, इसलिए पौरुष ही प्रधान है। पौरुष प्रयत्न से ही बड़े उत्तम गुणों से अलंकृत मुमुक्षु पुरुष पाश्चात्य यानी जीवन्मुक्त उत्तम शरीरवाले होते हैं। न कोई ऐसी वस्तु पृथ्वी में है, न स्वर्ग में, न देवताओं के पास अथवा न अन्यत्र कहीं है, जिसे गुणवान पुरुष अपने पौरुष प्रयत्न से हस्तगत न कर ले। युक्ति के सहित ब्रह्मचर्य, धैर्य, वीर्य और वैराग्य के वेग के बिना आप उस अभीष्ट वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकते ॥१६-१९॥ सब प्राणियों के आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति से उपलक्षित, निरतिशय आनन्दरूप होने के कारण अत्यन्त हितकर इस उपदिष्ट आत्मतत्त्व को विशुद्ध सत्त्वगुणों की वृद्धि के उपाय में सावधान बुद्धि द्वारा आत्मरूप से स्थिर करके आप शोकरहित होइए। तदनन्तर आपके द्वारा उपदिष्ट क्रम से आपके ये और लोग भी मुक्त और शोकरहित हो जायेंगे ॥२०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, विवेक की विपुल महिमा से युक्त, बढ़े हुए शम, दम आदि गुणों से मनोहर इस अन्तिम जीवन्मुक्त शरीर के प्राप्त होने पर आप जीवन्मुक्त पुरुषों के सप्तम भूमिका रूप कर्म में स्थिति कीजिये। यह वैराग्य प्रकरण में कही गई सब लोगों में प्रसिद्ध संसार प्राप्ति से होनेवाली मोह चिन्ता आपमें स्थित न हो ॥२१॥

बासठवाँ सर्ग समाप्त

(श्रीयोगवासिष्ठभाषानुवाद में स्थिति प्रकरण समाप्त)

उपशम प्रकरण

पहला सर्ग

मध्याह्नकाल की शंखध्वनि से सभा के उत्थान का वर्णन तथा वसिष्ठजी का
आह्निककृत्य और रात्रि में विश्वामित्रजी के साथ स्थिति।

उत्पत्ति प्रकरण में सृष्टि की प्रतिपादक सब श्रुतियों के तात्पर्य को स्पष्ट करने के लिए सारी प्रपंच रचना मन के अधीन ही है, यह दर्शाया। स्थिति प्रकरण में भी जगत की स्थिति का प्रतिपादन करनेवाली सब श्रुतियों के तात्पर्य को दिखलाने के लिए सारी प्रपंच स्थिति मन के अधीन ही है, यह दिखलाया। अब 'या गार्ग्यमरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति' (हे गार्ग्य, जैसे अस्त हो रहे सूर्य की किरणें सर्वजनप्रत्यक्ष तेजोराशिरूप तेजोमण्डल में एकस्वरूपता को प्राप्त होती हैं। फिर वे मरीचियाँ दूसरे दिन सूर्य का उदय होने पर सब दिशाओं में संचार करती हैं, वैसे ही सब वागादि इन्द्रियाँ सब व्यवहारों के कारणभूत अन्तःकरण में स्वप्न के समय एकता को प्राप्त होती हैं।), 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने' (आनन्दभोग के समय सब विश्व विज्ञान के स्वकारण में लीन होने पर) 'यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (जिस कारणभूत ब्रह्म में विनाश के समय मरते हुए भूत प्रवेश करते हैं), 'यथा नद्यः स्पन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्तिनामरूपे विहाय' (जैसे बह रही नदियाँ अपने नाम और रूप का त्याग करके समुद्र में लीन हो जाती हैं), 'गताः कलाः पंचदशप्रतिष्ठानम्' (मोक्ष के समय ज्ञानी के प्राण, श्रद्धा, पाँच महाभूत, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म और लोभरूप पन्द्रह कलाएँ अपने कारण में प्राप्त हो जाती हैं) और 'एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायषाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति' (इस द्रष्टा की ये सोलह कलाएँ, जिनका पुरुष स्थान है, पुरुष को प्राप्त करके यानी पुरुषात्मभाव को प्राप्त होकर अस्त को प्राप्त होती हैं।) सुषुप्ति, प्रलय, समाधि, साक्षात्कार और विदेहकैवल्य में प्रपंच की निवृत्ति होने के कारण जीव की ब्रह्मरूपताप्राप्ति के प्रतिपादन द्वारा प्रत्यक्ब्रह्मैकरस अखण्ड वस्तु की लक्षक पूर्वोक्त इन श्रुतियों के भी मन का नाश होने से ही सारे प्रपंच की निवृत्ति द्वारा स्वरूप प्रतिष्ठा में तात्पर्य है, इस रहस्य का उद्‌घाटन करने के लिए उपशम प्रकरण का आरम्भ कर रहे श्रीवसिष्ठजी पूर्व और उत्तर प्रकरणों की संगति दर्शाते हुए विषय और प्रयोजन को दिखलाकर शिष्य को सुनने के लिए सावधान करते हुए कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, दृश्य की स्थिति का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों के तात्पर्य का वर्णन करने के उपरान्त आप इस उपशम प्रकरण को सुनिये जो समझ में आने से मोक्षकारी है ॥१॥

यहाँ पर स्थिति का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों के तात्पर्य का वर्णन करने के पश्चात उपसंहार बोधक श्रुतियों के तात्पर्य वर्णन की अवसर संगति है। 'ज्ञातं निर्वाणकारि यत्' से पूर्व प्रकरण का प्रयोजन ही इसका प्रयोजन है, जो दोनों की एक कार्यकारिता संगति भी दिखलाई, यह जानना चाहिये।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : वत्स भरद्वाज, जब देवता, ऋषि, मुनि, राजा आदि की सुन्दर सभा शरद् ऋतु में तारों से ठसाठस भरे हुए आकाश के तुल्य निश्चल थी, श्रीवसिष्ठजी इस प्रकार मन को आनन्द में डुबानेवाले पवित्र वचन कह रहे थे। वायुरहित अतएव निश्चल कमलवाले कमलों के तालाब

की नाईं सभा का मध्यभाग वसिष्ठजी के ज्ञानपूर्ण वचन सुनने में उत्सुकतावश मौन होकर बैठे हुए राजाओं से पूर्ण था, विलासिनियों के मद और मोह का बल शान्त हो गया था, वे चिरसंन्यासिनियों की तरह अन्तःकरण में परम शान्ति को प्राप्त हो रही थी। विलासिनी गण के कर कमलों में हंस–से मालूम हो रहे चँवर मानों वसिष्ठजी का उपदेश सुन लेने से श्रुत अर्थ में समाधि लगाकर लीन हो गये थे, वृक्ष की तरह सभा में पक्षियों ने अपना चह–चहाना बन्द कर दिया था, नासिका के अग्रभाग पर तर्जनी अंगुली के अग्रभाग को रख कर विचारवान राजा गण विज्ञानकला को विचार रहे थे प्रातःकाल में कमल की नाईं श्रीरामचन्द्रजी विकसित हो उठे थे। जब सूर्य के प्रकटकाल में आकाश अन्धकाररूपी आसन का त्याग कर चुका था। (अन्धकार भूमि में ही घन होता है अतएव ऊपर स्थित आकाश के आसनरूप से उसकी उत्प्रेक्षा की गई है। भाव यह है कि जैसे गुरुजनों के आने पर शिष्य उनका अभ्युत्थान करता हुआ आसन का त्याग करता है वैसे ही सूर्य के उदय होने पर आकाश ने अन्धकाररूपी आसन छोड़ दिया था), महाराज दशरथ जैसे मयूर वृष्टि के कारण हुई आर्द्रता से मेघ के शब्द सुनता है वैसे ही प्रेमार्द्रभाव से श्रीवसिष्ठजी के उपदेश वचन सुन रहे थे, बन्दर की तरह चंचल मन को सब विषय भोगों से हटाकर मन्त्री लोग बड़े प्रयत्न के साथ सुनने में लगे थे, श्रीवसिष्ठजी के उपदेश वचनों से लक्ष्मणजी के हृदय में ब्रह्म का स्फुरण हो रहा था, उन्हें आत्मतत्त्व का परिज्ञान हो चुका था तथा वे चन्द्रमा के खण्ड के समान निर्मल और शिक्षा बल से विचक्षण हो गये थे, शत्रुओं का संहार करनेवाले शत्रुघ्नजी चित्त से पूर्णता को प्राप्त हो चुके थे, पूर्ण आनन्द को प्राप्त वे पूर्णिमा के पूर्ण चन्द्रमा के समान स्थित थे, दुःखी मन के वशीभूत हो जाने पर सुमित्र मन्त्री का हृदय जैसे मानसरोवर में दुःख से चिन्तित सुन्दर सूर्य के उदय द्वारा प्रीतिकर होने पर प्रातःकाल के कमल विकसित हो उठते हैं वैसे ही विकसित हो उठा था ॥२–१२॥

उस समय वहाँ पर बैठे हुए अन्यान्य राजा और मुनि, जिनके चित्तरूपी रत्न भली–भाँति धुल गये थे, चित्त से उल्लसित–से हो गये। उस समय दशों दिशाओं को पूर्ण करती हुई, प्रलयकाल के मेघ के गर्जन के समान तेज और सागर के घोष के तुल्य गम्भीर मध्याह्नकाल के शंखों की ध्वनियाँ तिरोहित हो जाती हैं ॥१३–१५॥ तदुपरान्त मुनि ने सभा में अपनी उपदेश वाणियों का उपसंहार किया। जिस गुण का जनों को आह्लादित करनेवाला अंश अभिभूत हो गया हैं, उसे कौन गुणी पुरुष प्रकट करेगा ! भाव यह है कि मध्याह्नकालीन शंखों की ध्वनि से लोगों का मन चंचल हो उठा था, अतएव उन्होंने अपने उपदेश वचनों में लोगों की एकाग्रता न देखकर उसका उपसंहार किया। मध्याह्नकाल की शंखध्वनि सुनकर मुहूर्तभर विश्राम करके घन कोलाहल के शान्त होने पर श्रीवसिष्ठजी ने श्रीरामचन्द्रजी से कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, आज का इतना ही आह्निक मैंने कहा, हे शत्रुतापन, शेष वक्तव्य कल प्रातःकाल कहूँगा ॥१६–१८॥ मध्याह्न समय में करने योग्य द्विजातियों का नियमतः प्राप्त कर्तव्य कर्म नष्ट न हो; इसलिए उसका अनुष्ठान मुझे भी करना चाहिए ॥१९॥ हे सुन्दर, आप भी उठिए। हे आचारचतुर, स्नान, दान, अर्चन, पूजन आदिरूप सब सत्क्रियाओं का अनुष्ठान कीजिए ॥२०॥ ऐसा कह कर मुनिजी उठे। जैसे उदयाचल के शिखर से चन्द्रमा के साथ सूर्य उदित हों वैसे ही मुनिजी के साथ महाराज दशरथ सभासहित उठे ॥२१॥ उन दोनों के उठने पर मन्द मन्द वायु से कम्पित भँवररूपी

नेत्रवाली वह सारी सभा उठने के लिए चंचल हुई ॥२२॥ सिर की मालाओं से उठ रहे भँवरों के दलों से अलंकृत वह सभा अस्ताचल में (✍) चंचल सूँड़वाली गजसेना के सदृश उठी ॥२३॥

एक के शरीर के दूसरे के शरीर के साथ टकराने के कारण सभा में हजारों बाजू-बन्द चूर-चूर हो गये थे, अतएव वह जहाँ तहाँ रत्नों से भरी हुई थी, इसलिए उस सभा को देखने से लाल मेघों से युक्त सन्ध्या का स्मरण हो जाता था ॥२४॥ उड़ रहे और मालाओं से गुँथे हुए मुकुटों पर मँडरा रहे भँवरों ने घुंघुम ध्वनि से उस सभा को गुलजार बना रक्खा था और मुकुटों पर भाँति-भाँति के जड़े हुए रत्नों की प्रभा से उस सभा ने आकाश को इन्द्रधनुष बना डाला था ॥२५॥ कान्तारूपी लताओं के हाथरूपी पल्लवों में सुन्दर चँवररूपी मंजरीवाली वह सभा क्षुब्ध गजराजों के मण्डल से युक्त वन श्रेणी के तुल्य थी यानी जैसे वन श्रेणी में लताओं के पल्लवों में सुन्दर मंजरियाँ सुशोभित होती हैं और उसमें मदोन्मत्त गजराज क्षुब्ध रहते हैं वैसे ही उस सभा में महिलाओं के हाथों में चँवर शोभित थे और सभा से उठ रहे लोग ही विक्षुब्ध मत्त गजराज थे ॥२६॥ उस सभा ने चमक रही कड़ों की कान्तियों से सब के वस्त्र लाल कर दिये थे और परस्पर के आकर्षण फैला दिये गये थे, अतएव वह सभा वायु से जिसके फूल उड़ाये गये हो, ऐसी मन्दारवनराजि के तुल्य थी ॥२७॥ उस सभा ने इधर-उधर उड़ रहे कपूर के चूर्ण से और उसके सदृश हिम कणों से सफेद मेघ बना रक्खे थे, अतएव वह जिसकी सारी की सारी भूमि हिम, काश और फूल आदि से व्याप्त हो, ऐसा शरतकाल के दिक्तटों की पंक्ति के सदृश थी ॥२८॥ चंचल मस्तक मणियों के अग्रभाग से उस सभा के आकाश का मध्यभाग लाल हो गया था, अतएव वह जिसमें नीलकमल खिले न हों तथा दिन के कार्यों का उपसंहार करनेवाली सन्ध्या के तुल्य थी ॥२९॥ रत्नों के किरणरूपी जलप्रवाह में मुखरूपी कमलों से ठसा-ठस भरी हुई नूपुरों की ध्वनिरूपी सारसवाली और भँवरों से व्याप्त वह सभा कमलिनी के (कमल के तालाब के) सदृश थी। उसमें मणियों की किरणें ही जल प्रवाह के स्थानापन्न थी, लोगों के मुँह ही पद्मस्थानीय थे, नूपुरों की ध्वनियों ने ही सारसों का स्थान लिया था और भँवरे भी फूलों की मालाओं में मँडरा रहे थे; अतएव वह कमलिनी के तुल्य थी ॥३०॥ सैकड़ों राजाओं से व्याप्त, विस्तृत वह सभा सैकड़ों पर्वतों से व्याप्त प्राणियों की परम्पराओं से पूर्ण नूतन उत्पन्न हुई सृष्टि के समान थी ॥३१॥ तदनन्तर मणियों द्वारा इन्द्रधनुष के तुल्य बनाए गये राजा लोग राजा दशरथ को प्रणाम कर जैसे मणियों द्वारा इन्द्रधनुष के तुल्य बनाई गई तरंगें सागर से निकलती हैं वैसे ही राजमन्दिर से निकले ॥३२॥ सुमन्त्र और अन्यान्य मन्त्री, जो ब्रह्मरस और जल के विहारज्ञान में बड़े निपुण थे, श्रीवसिष्ठजी और राजा दशरथ को प्रणाम कर स्नान करने के लिए गये। वामदेव आदि और विश्वामित्र आदि अन्यान्य ऋषिगण श्रीवसिष्ठजी को आगे करके अनुज्ञा की प्रतीक्षा में खड़े रहे ॥३३,३४॥ तदनन्तर वहाँ पर शत्रुतापन राजा दशरथ मुनियों की पूजा करके मुनियों से आज्ञा पाकर अपने कार्य के लिए गये ॥३५॥ प्रातःकाल फिर आने के लिए वानप्रस्थ लोग वन को गये, गन्धर्व आदि व्योमचारी आकाश को गये और नागरिक लोग नगर को गये ॥३६॥ राजा दशरथ और वसिष्ठजी के बड़े विनय से प्रार्थना करने पर भगवान श्रीविश्वामित्रजी ने श्री वसिष्ठजी के निवास स्थान पर रात

(✍) यहाँ के मध्याह्न का समय अस्ताचल के सूर्योदय का समय है, वह हाथियों के उठने का समय है, इस आशय से सन्ध्याद्रौ (अस्ताचल में) कहा है।

बिताई ॥३७॥ जैसे देवताओं के समूह से अनुगत सर्वलोक नमस्कृत भगवान ब्रह्मा ब्रह्मलोक को जाते हैं, वैसे ही सब ब्राह्मण श्रेष्ठों, राजाओं और मुनियों के साथ राम आदि दशरथ के सब पुत्रों द्वारा उपासित श्रीवसिष्ठजी अपने आश्रम को गये ॥३८,३९॥

तदुपरान्त अपने आश्रम स्थान से उन्होंने अपने चरणों पर गिरे हुए राम आदि सब दशरथ पुत्रों को बिदा किया ॥४०॥ आकाश में रहनेवाले, भूमि में रहनेवाले और पाताल में रहनेवाले उन सबको, जो कि उत्तम–उत्तम गुणों से अलंकृत थे, यथा योग्य बिदा करके अपने घर में प्रवेश कर उदारचरित श्रीवसिष्ठजी ने द्विजातियों की दिवसोचित पंचयज्ञ क्रिया की ॥४१॥

पहला सर्ग समाप्त

दूसरा सर्ग

आह्निक कर्मानुष्ठान, श्रीरामचन्द्रजी का सुनी हुई वार्ताओं का चिन्तन तथा सुने हुए पदार्थों में स्थिरता के लिए बुद्धि आदि की प्रार्थना करना।

चन्द्रमा के तुल्य कान्तिवाले उन राजपुत्रों ने साथ साथ घर जाकर अपने अपने भवनों में भलीभाँति आह्निक कार्य किया ॥१॥ श्रीवसिष्ठजी, श्रीरामचन्द्रजी, अन्यान्य राजाओं, मुनियों और द्विजातियों ने अपने घरों में, गलियों में और बाहर करने योग्य अपने–अपने कार्य निम्नलिखित रीति से किये। कमल, कह्लार, कुमुद तथा उत्पलों से मनोहर और चक्रवाक, हंस तथा सारसों की पंक्तियों से युक्त जलाशयों में उन लोगों ने स्नान किया। गौ, भूमि, तिल, सुवर्ण, शय्या, आसन, वस्त्र, बर्तन आदि का दान ब्राह्मणों को दिया। सुवर्ण और मणियों से अद्भुत देवालयों में और अपने घरों में विष्णु, शंकर तथा अग्नि, सूर्य आदि देवताओं की पूजा की। तदनन्तर इन लोगों ने पुत्र, पौत्र, सखा, चाकर और बन्धु–बान्धवों के साथ अपने अनुरूप भोजन किया। उस समय उस नगर में केवल अष्टम भाग शेष रहने से दिन सूक्ष्म हो गया था, अतएव वह देखने में अच्छा मालूम पड़ता था। सायंकाल तक का समय उन्होंने तब तक उस समय के उचित पुराण, धर्मशास्त्र के अवलोकन आदि कर्म से बिताया, जब तक कि भगवान सूर्य अपनी किरणों के साथ अस्त नहीं हो गये ॥२–८॥ तदनन्तर उन्होंनें भलीभाँति सन्ध्यावन्दन किया, अघमर्षण मन्त्रों का जप किया, पवित्र स्तोत्र पढ़े और मनोहर गाथाएँ गाई ॥९॥ तदुपरान्त कान्त के संगम से कामिनियों के शोक का नाश करनेवाली तथा चन्द्रमा और तुषार को देनेवाली रात्रि क्षीरसागर से प्रकट हुई पूर्व दिशा के तुल्य आविर्भूत हुई। धीरे–धीरे श्रीरामचन्द्रजी आदि राजकुमार दीर्घ चन्द्रबिम्बके समान रमणीय बिस्तरों पर सोये जो फूलों से भरे थे और कपूर का चूर्ण जिन पर मुट्ठियों से बखेरा था ॥१०,११॥ तदुपरान्त श्रीरामचन्द्रजी को छोड़कर और लोगों की उस समय के उचित विषयभोग, निद्रा आदि व्यवहारवाली वह मनोहर रात्रि बिस्तरों पर मुहूर्त के समान धीरे–धीरे बीत गई। किन्तु श्रीरामचन्द्रजी जैसे हाथी का बच्चा अपनी माता का चिन्तन करता है वैसे ही श्रीवसिष्ठजी की पूर्वोक्त उदार और मधुर उपदेशवाणी का चिन्तन करते हुए बैठे रहे। यह संसार भ्रमण क्या वस्तु है, ये लोग क्या हैं, ये विचित्रभूत क्यों आते हैं और क्यों जाते हैं, मन का स्वरूप कैसा है, कैसे यह निवृत्त होता है, यह माया कहाँ से आविर्भूत हुई है और कैसे यह निवृत्त होती है ? ॥१२–१५॥ इस माया के निवृत्त होने से

क्या गुण होता है ? अथवा सम्पूर्ण भोग्य, भोक्ता और भोग की निवृत्ति होने से पुरुषार्थ विघातरूप दोष होता है ? आकाश से भी विस्तीर्ण आत्मा में यह संकोच (परिच्छेद) कहाँ से आया ? ॥१६॥ भगवान श्रीवसिष्ठजी ने मन के क्षय के लिए क्या साधन और फल कहा है अथवा आत्मा के विज्ञात होने पर क्या कहा है ? ॥१७॥ जीव, चित्त, मन, माया इत्यादि फैले हुए रूपों से आत्मा ही इस मिथ्याभूत संसार का विस्तार करता है एवं एकमात्र मन रूप तन्तु में बंधे हुए इनका क्षय होने से दुःखनिवृत्ति सिद्ध होती है। मायारूप ये सब हम लोगों के द्वारा कैसे भली-भाँति चिकित्सा योग्य होंगे ? विषयरूपी मेघों का (विषय ही संसाररूप से घन बन कर चित्ताकाश को आवृत करने के और दुःखों की हजारों धाराओं को वर्षाने के कारण मेघ के सदृश हुए) अनुसरण कर माला के समान घेरनेवाली अपनी बुद्धिवृत्तिरूपी इस बकपंक्ति को जैसे हंस जल से दूध का भाग अलग कर देता है वैसे ही मैं कैसे पृथक् करूँ ?॥१८-२०॥

यदि कोई शंका करे, विचार से क्या प्रयोजन है, भोगों का ही त्याग कीजिये तो इस पर कहते हैं।

भोगों का त्याग नहीं किया जा सकता और उनके त्याग के बिना हम विपत्तियों से निस्तार नहीं पा सकते, अहो यह बड़ा संकट आया। भाव यह है कि सर्वथा भोगों का त्याग करने से जीवन ही नहीं रह सकता। जीवन के लिए थोड़ा भी यदि भोग का उपादान किया जाय, तो वासनावृद्धि का संकट आ गया ॥२१॥

दूसरा संकट भी कहते हैं।

इस अवश्य प्राप्तव्य आत्मतत्त्व में मन ही प्रमाण है और यह बाहरी विषय समुदाय ही जिसकी सिद्धि में कारण और पुरुषार्थभूत है, ऐसा हमारा मन अपनी मूर्खतावश पहाड़ से भी बढ़-चढ़ कर भारी बन गया है। जैसे कि बालक द्वारा मूर्खता से कल्पित यक्ष पहाड़ के समान भारी हो जाता है। भाव यह है कि मन की सिद्धि विषयों के अधीन है अतएव विषयों से मन को निवृत्त करना संभव नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से उसकी निःस्वरूपतापत्ति हो जायेगी। विषयों से उसकी निवृत्ति किये बिना तत्त्वसाक्षात्कार में वह प्रमाण नहीं बनाया जा सकता, यह दूसरा संकट है ॥२२॥

यदि सब विषयों की निवृत्ति होने पर भी एकमात्र ब्रह्माकारता का अवलम्बन करके वासनारहित मन को स्थापित किया जा सके, तो इच्छित सिद्धि हो सकती है, ऐसा विचार करते हुए कहते हैं।

जिस युवती ने अपने पति को पा लिया, वह फिर दूसरे का स्मरण नहीं करती है वैसे ही संसारभ्रम से रहित ब्रह्माकारता को प्राप्त हुई हमारी मति परम शान्ति को प्राप्त करके दूसरे किसी का स्मरण नहीं करेगी ॥२३॥

उस दशा को प्राप्त करने के लिए उत्कण्ठा करते हैं।

कब मेरा मन क्रोधरहित, सम्पूर्ण अभिलाषाओं से शून्य, पापहीन, पवित्र और परमात्मा में विश्रान्त होगा ? सोलह कलाओं से सम्पूर्ण चन्द्रमा से भी शीतल परम पद में सप्तम भूमिकापर्यन्त भली भाँति विश्राम कर (जीवन्मुक्ति सुख को प्राप्त) मैं कब जगत में भ्रमण करूँगा ? जैसे जल में छोटी तरंग विलीन हो जाती है वैसे ही कल्पित असत्यरूप का त्यागकर आत्मा में लीन हुआ मन कब शान्ति को प्राप्त होगा ? तृष्णारूपी तरंगों से अशान्त, आशारूपी मगरों से भरे हुए संसार सागर को तैरकर मैं कब सन्तापरहित होऊँगा ? ज्ञानी और समदृष्टि होकर मैं उपशम से शुद्ध, मुमुक्षुओं को प्राप्त होने योग्य

पदों में शोक रहित होकर कब निवास करूँगा ? मेरा बड़ा भारी संसाररूपी ज्वर कब नष्ट होगा ? उसने मेरे सब अंगो को संतप्त कर रक्खा है एवं धातुओं के क्षय से जो भयंकर है। हे बुद्धे, व्यथारहित और तेज प्रकाश से परिपूर्ण मेरा चित्त निर्वात स्थान में रक्खे हुए दीपक की शिखा के समान कब शान्ति को प्राप्त होगा ? ॥२४–३०॥ गरुड़ जैसे सागर को अनायास पार कर जाता हैं, वैसे ही मेरी इन्द्रियाँ विषयों की अवहेलना से दुःखों को दूर करने के लिए दुष्ट अभिलाषा से होनेवाले विविध भावी शरीरों को कब पार कर जायेगी ? पशु, पुत्र, धन, अन्न, पान आदि की अप्राप्ति और वियोग से रो रहे मुझ मूढ़ में रोदन का कारणभूत यह देह ही वह प्रसिद्ध आत्मा मैं हूँ, इस प्रकार का पूर्व–पूर्व देहों की वासना और काम–कर्म परम्परा से उत्पन्न व्यर्थ भ्रम प्रबोधरूप विमलता की प्राप्ति होने पर शरत्काल में मेघ की तरह कब नाश को प्राप्त होगा ? ॥३१,३२॥

उत्कट मोक्षेच्छा से स्वर्ग भी मुझे तृण के समान मालूम पड़ता है, ऐसा कहते हैं।

नन्दनवन में जो सुखानुभव है, वह जिस परम पद में तृण के तुल्य नगण्य है, उस आत्मामय परम पद को मैं चाहता हूँ, उसको मैं कब प्राप्त होऊँगा ? ॥३३॥

अब विवेक ग्रहण के लिए मन आदि की प्रार्थना करते हैं।

हे मन, कहो तो सही, वीतराग पुरुषों द्वारा उपदिष्ट निर्मल ज्ञानदृष्टियाँ क्या तुममें स्थिति करेगी ? हे चित्त, मैं दुःखरूपी अजगरों का भोजन होकर हा तात, हा मातः, हा पुत्र – इन रोदनों का भाजन फिर न होऊँ॥३४,३५॥ हे बुद्धि, हे बहन (卐) मैं तुम्हारा भाई हूँ मेरी प्रार्थना को तुम जल्दी पूरी करो। हम दोनों दुःख से छुटकारा पाने के लिए मुनिजी की उपदेशवाणियों का चिन्तन करें॥३६॥ हे साध्वि, हे पुत्रि, (📖) हे सन्मते, हे भव्ये, तुम्हारे पैर पड़कर प्रेम से मैं प्रार्थना करता हूँ। मेरी प्रार्थना से संसार के उच्छेद से उपलक्षित पूर्णता की प्राप्ति के लिए तुम खूब सावधान होओ॥३७॥

इस प्रकार प्रार्थना द्वारा सावधान की गई बुद्धि को वैराग्य–प्रकरण आदि चार प्रकरणों के अर्थ के स्मरण में क्रमशः नियुक्त करते हैं।

हे मते, श्रीवसिष्ठ मुनि द्वारा मेरे मुख से कहलाई गई और स्वयं कही गई वैराग्यवाणियों का, तदनन्तर मुमुक्षुओं के आचार का, तदनन्तर उत्पत्तियों के क्रम का तदनन्तर दृष्टान्तों से सुन्दर और ज्ञानपूर्ण उपाख्यानों से सुबोध इस स्थिति –प्रकरण का तुम भली भाँति स्मरण करो॥३८,३९॥

यदि कोई शंका करे कि मन की पहले प्रार्थना की गई है, उसी से चारों प्रकरणों के अर्थ के अवधारण की सिद्धि हो गई फिर उससे पृथक् मति की क्यों प्रार्थना की जाती है ? तो इस पर कहते हैं।

मन से सैकड़ों बार जो वस्तु विचारित होती है, उसे यदि बुद्धि स्वीकार न करे, तो वह भलीभाँति विचारित हुई भी शरत्काल के मेघ के समान स्थिर नहीं रहती, अतः श्रवण द्वारा तत्त्व का विचार होने पर भी मनन द्वारा सम्पादित निश्चयात्मिका बुद्धि ही कर्तव्य सम्पादन में समर्थ होती है, इसलिए पुनः मति की प्रार्थना उचित ही है॥४०॥

दूसरा सर्ग समाप्त

卐 जीव और बुद्धि एक अविद्या के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं, इसलिए बुद्धि को भगिनी कहा और अपने को भाई कहा।

📖 शास्त्राभ्यास और सज्जनों के अनुग्रह से पीछे उत्पन्न होने के कारण सन्मति को पुत्री कहा।

तीसरा सर्ग

प्रातःकाल स्नानगृह में आये हुए श्रीरामचन्द्रजी आदि के साथ
श्रीवसिष्ठजी का सभा-गृह में जाना और सभा का आरम्भ।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : हे वत्स, जैसे सूर्योदय की आकांक्षा करनेवाले कमल की रात्रि व्यतीत होती है, वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी की वह रात्रि इस प्रकार की विस्तृत ज्ञानविषयक चिन्ता से व्यतीत हुई ॥१॥ कुछ अन्धकारवश पीले, कुछ लाल आकाश में विरल तारोंवाली दिशाओं को मानों बुहारी से छोड़ने पर प्रातःकाल के तुर्यशब्द के साथ चन्द्रमा के समान सुन्दर मुखवाले श्रीरामचन्द्रजी कमल के तालाब से सुन्दर कमल के समान उठे ॥२,३॥ प्रातः काल की स्नान विधि कर और सन्ध्या-वन्दन आदि कर्म से निवृत्त होकर भाईयों के साथ थोड़े से अपने परिजनों को भेजकर फिर स्वयं वसिष्ठजी के निवास स्थान पर गये ॥४॥ पहले ही स्नान, सन्ध्या आदि से निवृत्त होकर एकान्त में समाधि में बैठे हुए आत्मपरायण मुनि को श्रीरामचन्द्रजी ने सिर झुकाकर दूर से ही प्रणाम किया ॥५॥ विनययुक्त वे राजकुमार उन्हें प्रणाम कर जब तक अन्धकार भली-भाँति नष्ट नहीं हो गया, दिशाएँ साफ-साफ नहीं दिखाई देने लगी, तब तक उस आँगन में खड़े रहे। तदनन्तर राजा, महाराज, राजकुमार, ऋषि और ब्राह्मण ब्रह्मलोक में देवताओं के समान चुपचाप श्रीवसिष्ठजी के स्थान पर आये ॥६,७॥ श्रीवसिष्ठजी का वह निवास स्थान लोगों से ठसाठस भर गया। हाथी, घोड़े और रथों की भीड़ लग गयी। वहाँ राजाओं के उचित शिष्टाचार के रहने पर भी वह घर राजमहल के सदृश सुशोभित हो गया यानी विनय आदि राजोचित व्यवहार तो था ही, घर भी अब राजमहल के सदृश हो गया ॥८॥ एक क्षण में श्रीवसिष्ठजी समाधि से जाग उठे। उन्होंने विनय आदि व्यवहार से और प्रिय वचन आदि के उपचार से प्रणाम कर रहे लोगों के ऊपर अनुग्रह किया। विश्वामित्रजी के साथ मुनि श्री वसिष्ठजी, जिनके पीछे बहुत से मुनि चल रहे थे, जैसे ब्रह्मा कमलपर आरूढ़ होते हैं वैसे ही रथ पर शीघ्र आरूढ़ हुए ॥९,१०॥ जैसे सब देवताओं से परिवृत ब्रह्मा इन्द्र के नगर में जाते हैं वैसे ही विशाल वाहिनी परिवृत श्रीवसिष्ठजी महाराज दशरथ के घर गये ॥११॥ जैसे हंसों के झुण्ड से परिवेष्टित राजहंस कमल के तालाब में प्रवेश करता है वैसे ही विनीत लोगों से पूर्ण राजा दशरथ की मनोहर सभा में उन्होंने प्रवेश किया ॥१२॥ उनके सभा में प्रवेश करने के समय महाबली राजा दशरथ सिंहासन से शीघ्र उठकर वहाँ पर तीन कदम उनके स्वागत के लिए गये ॥१३॥ उस सभा में उन सब दशरथ आदि राजाओं, वसिष्ठ आदि मुनियों, ऋषियों, ब्राह्मणों, सुमन्त्र आदि मन्त्रियों, सौम्य इत्यादि विद्वानों, राम आदि राजकुमारों, शुभ आदि मन्त्रीपुत्रों, अमात्यों, प्रजाओं, सुहोत्र आदि नागरिकों, मालव आदि नौकर-चाकरों और माली आदि पुरवासियों ने प्रवेश किया ॥१४-१६॥ तदनन्तर जब वे सबके सब अपने-अपने आसनों पर बैठ गये और आसनों पर बैठे हुए वे श्रीवसिष्ठजी की ओर टकटकी लगाए हुए थे, सभा का कोलाहल शान्त हो चुका था, बंदीगण चुप हो गये थे, रात्रि में सुखपूर्वक रहने के सम्बन्ध की प्रश्नोत्तर रूप आपस की बातें समाप्त हो चुकी थी, उस सभा के मध्य में निश्चलता छा गई थी, कमलों के पराग कमल के गर्भ से निकलकर सभा में प्रवेश कर रहे थे एवं वायु से चंचल मोतियों की लरों में चंचलतापूर्वक भोगलम्पट हो रहे थे, चारों ओर

झूल रहे बड़े-बड़े फूलों के झूलों से खूब अधिक सुगन्ध लेकर मन्द-मन्द वायु बह रहा था, झरोखों पर लगे हुए कोमल बिछौनों पर, जिनमें फूल बिखेरे थे, बैठी हुई महिलाएँ देख रही थी, झरोखों से आई हुई सूर्य की किरणों से चकाचौंध होने के कारण चंचल नेत्रवाली मणियों की प्रभा से पीली और सुकुमारी, सफेद चँवर धारण करनेवाली वे चंचल नारियाँ चपलता का त्यागकर चुपचाप खड़ी थी, विविध प्रकार के रत्नों से जड़े हुए आंगनों के मोतियों के प्रतिबिम्ब के तुल्य सूर्य की किरणों के राग से युक्त मध्यवाले यानी नाना पुष्पों के आकार में चित्रित होने पर, ये फूल नहीं हैं किन्तु प्रातःकाल के धूप के प्रतिबिम्ब हैं, इस भ्रान्ति से भौंरे पुष्पराशि का ग्रहण नहीं कर रहे थे, अतएव पृथिवी का स्पर्श न होने से आकाश में मेघ के समान मँडरा रहे थे, उस सज्जनों के समाज में पूजनीयजन, पूर्वसंचित पुण्यों से श्रीवसिष्ठजी के मुख से निकला हुआ जो वचन सुना था, हृदय में उस वचन के विस्तार द्वारा बड़े आश्चर्य के साथ बहुत गुण-गणों से सुन्दर, कोमल पदावलियों से मनोहर अभीष्ट वाक्य आपस में कह रहे थे, दिशाओं से, नगर से, आकाश से और वन से आये हुए सिद्ध, विद्याधर, श्रेष्ठ मुनिगण और ब्राह्मणवृन्द श्रीवसिष्ठजी को चारों ओर से मौनपूर्वक प्रणामकर चुपचाप प्रवेश कर रहे थे, तदनन्तर जिनके साथ अवश्य सम्भाषण करना चाहिये, ऐसे गौरवशाली पुरुषों के साथ अतिमन्द स्वरसे कान के पास बातें कह रहे थे, खिले हुए रक्त कमलों के कोशों से निकले हुए, पहले उनके अन्दर डूबे हुए भौंरों, पुष्परस और पुष्पराग के रंग से कुछ पीले रंगवाले तथा घर में लगी हुई वायु के धक्के से चंचल घण्टियों के शब्द से जिसने घरों के अन्दर होनेवाले गीतों को तिरस्कृत कर दिया था, ऐसा वायु बह रहा था, चन्दन की सुगन्ध से मिश्रित, फूल के चंचल पराग से युक्त अतएव ताजे फूलों की उत्कट सुगन्ध से मेघों को सुगन्धित करनेवाले अगर और तगर के धुएँ, शामियानों में बँधे हुए कमलों की सुगन्ध के साथ जिस बहने में शब्द होने के कारण भँवरों की प्रतीति हाती थी, यों बह रहे थे ॥१७-२७॥

तीसरा सर्ग समाप्त

चौथा सर्ग

राजा दशरथजी का श्रीवसिष्ठजी के वाक्यों की प्रशंसा करना तथा
श्रीवसिष्ठजी के वचन से श्रीरामचन्द्रजी द्वारा चिन्तित पदार्थों का अनुवाद।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : वत्स, राजा दशरथ ने मेघ के गर्जन के तुल्य गंभीर वाणी से यह उनके उपदेश में अत्यन्त विश्वास प्रकट करनेवाली पदावलियों से सुन्दर निम्ननिर्दिष्ट वचन मुनिश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी से कहा ॥१॥ भगवन्, कल की उपदेश कथावली से उत्पन्न हुए तथा तपस्या के क्लेश से भी बढ़े-चढ़े श्रम से आप मुक्त हो गये हैं ? श्रोताओं को आनन्द देनेवाला जो विशद वचन समूह आपने कल कहा था, अमृत की वर्षा के तुल्य उसी वचन समूह से हम लोग आश्वासित हुए हैं। जैसे अमृत से निर्मल चन्द्रमा की किरणें अन्धकार को हटाकर अन्तःकरण को शीतल करती हैं वैसे ही अमृत की तरह निर्मल ये महात्माओं के विशद उपदेश अज्ञानान्धकार को हटाकर अन्तःकरण को सन्तापरहित कर देते हैं ॥२-४॥

अब चन्द्रमा की किरणों से भी महात्माओं की उपदेशवाणियाँ उत्कृष्ट हैं, ऐसा कहते हैं।

मनुष्य के आनन्द से लेकर हिरण्यगर्भ के आनन्दपर्यन्त विषयसुखों से भी अत्यन्त ऊँचे पद से

संबन्ध रखनेवाली जो महात्माओं की सूक्तियाँ हैं, वे अपूर्व आनन्द को देनेवाली और मोह को सर्वथा दूर करनेवाली हैं ॥५॥ आत्मरूप रत्न के प्रकाशन में एकमात्र दीपकरूप तथा सरस युक्तिरूपी लताएँ जिससे उदित होती है, वह सज्जनरूपी वृक्ष वन्दनीय है ॥६॥ जैसे चन्द्रमा की किरणें अन्धकारराशि को हटा देती हैं वैसे ही सज्जनों की सूक्तियाँ मन से जो बुरा विचार किया, शरीर से जो बुरा काम किया, उन सबको निवृत्त कर देती हैं ॥७॥ हे मुनिजी, जैसे शरत्काल में वर्षा ऋतु के मेघ क्षीण होने लगते हैं वैसे ही हम लोगों के संसार में बन्धन शृंखलारूप तृष्णा, लोभ आदि आपके उपदेश वचन से क्षीण होने लग गये हैं ॥८-१०॥ सिद्ध रस से बनाये गये सिद्ध अंजन से जिन्हें दृष्टि प्राप्त हो गई, ऐसे जन्मान्ध लोग जिस प्रकार सुवर्ण को देखने लगते हैं वैसे ही ब्रह्मरसरूपी अंजन से प्राप्त प्रत्यग् दृष्टि वाले हम लोग निर्दोष आत्मा को देखने के लिए उपयुक्त हो गये हैं। आपकी उक्तिरूपी शरद्‌ऋतु से हमारे हृदयरूपी आकाश में स्थित संसारवासना नामक कुहरा नष्ट होने लग गया है। हे मुनिजी, उदारबुद्धि पुरुषों की उपदेशवाणियाँ जैसे हृदय को आह्लादित करती हैं वैसे मन्दार के फूलों के गुच्छे अथवा अमृत सागर की तरंगें आह्लादित नहीं करती। हे रघुवर, जो-जो दिन महापुरुषों की पूजा से व्यतीत होता है, वही दिन प्रकाशयुक्त है, शेष दिन अन्धकार से आवृत्त हैं। हे कमल के समान विशाल नेत्रवाले श्रीरामचन्द्रजी, प्रस्तुत अविनाशी तत्त्व को प्रसन्नता में स्थित मुनि से पूछो ॥११-१३॥ राजा के यों कहने पर श्रीरामचन्द्रजी के सामने बैठे हुए, उदारबुद्धि भगवान श्रीवसिष्ठमुनि ने यों कहना आरम्भ किया ॥१४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, हे अपने रघुकुल के एकमात्र प्रकाशक चन्द्र, हे महामते, जो मैंने पूर्वापर विचारित वाक्यार्थ कहा था, क्या उसका आपको स्मरण हैं ? क्या आप मन के समान माया से जगत के वेश में स्थित ब्रह्मरूप, निष्प्रपंच ब्रह्मरूप, स्थूल, सूक्ष्म, सदा उदित परमात्मा के रूप का, जो हमने कहा था, स्मरण करते हो ? अथवा अपनी बुद्धि से दृश्य से अतिरिक्त उसे जानते हो ? ॥१५-१७॥ हे सज्जनशिरोमणे, हे साधुवादों के एकमात्र भाजन, सर्वशक्तिसम्पन्न ब्रह्म से ही जैसे यह विश्व उदित हुआ है, उसका क्या आप स्मरण करते हैं ? ॥१८॥ हे सन्मते, फैले हुए अविद्या के रूप का, जो काल के बल से नष्ट होनेवाला, संख्या से अनन्त और देश, कालादि से अन्तवाला है, क्या आप स्मरण करते हैं ? चित्त ही नर है, चित्त से अतिरिक्त नर नहीं है, ऐसा जो मैंने कहा था, उसका लक्षण आदि के विचार द्वारा क्या आप भलीभाँति स्मरण करते हैं ? ॥१९,२०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, क्या आपने कल के श्रवण के विषयभूत वाक्यार्थ को मनन द्वारा परिष्कृत किया और रात्रि में उसे हृदय में स्थापित किया ? ॥२१॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, बार-बार विचारा हुआ, मनन द्वारा हृदय में स्थापित तत्त्वचिन्तन मोक्षरूप प्रयोजन को देता है। किन्तु जिस नराधम ने उपदिष्ट पदार्थ की धारणा अनादर से नष्ट-भ्रष्ट कर दी उसे मोक्षरूप फल प्राप्त नहीं होता ॥२२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे विशाल वक्षःस्थलवाला पुरुष कण्ठ में जातिशुद्धि से शोभित होनेवाले सुन्दर मोतियों का भाजन होता है, वैसे ही विवेकयुक्त चित्तवाले आप विचारित, शुद्धि से शोभित होनेवाले उपदेश वचनों के भाजन हैं ॥२३॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : ब्रह्माजी के पुत्र महातेजस्वी श्रीवसिष्ठजी के इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी को कहने के लिए अवसर देने पर श्रीरामचन्द्रजी ने निम्नलिखित वाक्य कहा ॥२४॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, हे सब धर्मों के ज्ञाता, आपके ही प्रभाव का यह विस्तार है, जो कि मैं परम उदार होकर आपके वचन को समझ सका। जैसे आप आदेश देते हैं, वैसे ही वह सब मैंने किया, उससे विपरीत नहीं किया है। रात्रि में निद्रा का त्याग करके मैंने हृदय में वाक्यार्थ का चिन्तन किया। हे प्रभो, उपदेश योग्य अर्थ के प्रकाशन में सूर्यरूप आपने संसाररूप अन्धकार के विनाश के लिए जड़तारूप शीत को हटाने से सुख देनेवाला वाणीरूपी किरणों का समूह कल फैलाया था ॥२५–२७॥

हे उदारचरित, मनोहर, पुण्यमय और क्रमयुक्त वह सारा का सारा अतीत उपदेश सिलसिलेवार गुँथे हुए मनोहर और पवित्र रत्नों के समान मैंने अपने हृदय में स्थापित किया ॥२८॥

सब अनिष्टों की निवृत्ति करनेवाला, अत्यन्त मधुर, परमपुरुषार्थ का साधन और अनुल्लंघनीय होने के कारण आपका वचन अवश्य सिर से प्रणाम कर हृदय में धारण करने योग्य है, ऐसा कहते हैं।

भगवन्, आपका शासन हितकारी, मनोहर, पुण्य और आनन्द का साधन है, अतएव किन देवयोनि विशेष सिद्धों द्वारा अथवा स्वतःसिद्ध सनकादि द्वारा या योग, मन्त्र आदि से सिद्ध पुरुषों द्वारा सिर से धारण नहीं किया जाता ? संसाररूपी कुहरे के आवरण का निवारण कर रहे हम लोग आपके प्रसाद से वर्षा ऋतु के अन्त में दिवसों के समान प्रसन्न हो गये हैं यानी हम में आपका उपदेश व्यर्थ नहीं हुआ। आपका पवित्र उपदेश तीनों कालों में हितकारी है। श्रवण के समय वह मधुर है, मनन और निदिध्यासन के समय अन्तर्मुखता से होनेवाले शम आदि के सम्पत्ति सुख को बढ़ानेवाला है एवं उसका उत्तरकाल मोक्षरूप उत्तम फल से युक्त है। विकसित, सफेद, अम्लान एवं पुण्य, पाप और उनके फलों को एकमात्र आनन्द रूप बना देनेवाला आपका उपदेश रूपी कल्पवृक्ष पुष्प हम लोगों को कल्याणकारी फल देनेवाला हो ॥२९–३२॥

अब तीर्थरूप होने के कारण महानदरूप से गुरु का सम्बोधन कर अवशिष्ट उपदेश कहने के लिए प्रार्थना करते हैं।

हे देशकाल और शास्त्र के विचारों में विशारद, हे फैले हुए सदाचाररूपी पवित्र जलों के एकमात्र जलाशय, हे महाव्रत, हे निष्पाप मुनिजी, इस समय आप मेरे प्रति उपदेश वाणी के प्रवाह का पुनः प्रसार कीजिये। जलाशयपक्ष में सब शास्त्ररूपी हंस आदि पक्षियों के संचार से सुशोभित, मुनियों द्वारा जिसमें अपने व्रत विस्तृतरूप से किये गये हैं, स्नान करनेवालों के पापों का विनाश करनेवाले, फैले हुए पवित्र जल के एकमात्र आश्रय हे जलाशय तुम इस समय वाणी प्रवाहरूपी अपने प्रवाह का विस्तार करो ॥३३॥

चौथा सर्ग समाप्त

पाँचवाँ सर्ग

अविवेक से बढ़ी हुई मनोमात्ररूपी जगत-सृष्टि की निवृत्ति के उपाय का क्रम।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे मनोहर आकृतिवाले श्रीरामचन्द्रजी , उत्तम सिद्धान्तों से सुन्दर, मोक्षरूपी कल्याण देनेवाले इस उपशम प्रकरण को आप सावधान होकर सुनिये।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे सन्तर (उचित अन्तर पर स्थित) खम्भे गृहमण्डप को धारण करते हैं वैसे

ही राजस–तामस जीव इस विशाल संसारमाया को धारण करते हैं। जैसे साँप अपनी पुरानी केंचुली का त्याग करते है वैसे ही पूर्वोक्त लक्षणवाले, राजससात्त्विक और शुद्ध सात्त्विक आपके तुल्य गुणवान धीर पुरुष अवहेलना द्वारा इस तुच्छ माया का त्याग करते हैं ॥१–३॥

किस उपाय से उसका त्याग करतें हैं, ऐसे प्रश्न होने पर उस उपाय को कहते हैं।

हे साधो, शुद्धसात्त्विक जन्मवाले अथवा राजस–सात्त्विक जन्मवाले प्रज्ञ पुरुष ही जगत की मूल परम्परा का विचार करते हैं ॥४॥ शास्त्र के अभ्यास, सज्जनों की संगति और सत्कर्मों के आचरण से जिनके पाप नष्ट हो चुके, ऐसे महात्मा पुरुषों की सार वस्तु का अवलोकन करनेवाली दीपक के तुल्य बुद्धि उत्पन्न होती है ॥५॥ स्वयं ही विचार द्वारा अपने–आप अपने स्वरूप का विचार कर जब तक ज्ञान नहीं होता, तब तक ज्ञातव्य वस्तु प्राप्त नहीं होती ॥६॥

आप में तो उसकी प्राप्ति की योग्यता है ही, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानवान्, प्रवीणकुशल, धीर और राजस–सात्त्विक जन्मवाले सत्पुरुषों में आप मुख्य हैं ॥७॥ हे प्रज्ञ, संसाररूपी कार्यों में क्या वस्तु सत्य है अथवा क्या असत्य है, इस बात का निरीक्षण विचार से स्वयं कीजिए और सत्यपरायण होइए। जो वस्तु आदि और अन्त में नहीं है, उसकी सत्यता कैसी ? जो वस्तु आदि और अन्त में नित्य है, वही सत्य है, वह उससे अतिरिक्त असत्य स्वभाव कैसे हो सकती है, क्योंकि स्वभाव का विपर्यय नहीं हो सकता। जिसका मन आदि और अन्त में असन्मय वस्तु में सत्यबुद्धि से अनुरक्त है, उस मूढ़ पशुरूप जन्तु को विवेक किस उपाय से उत्पन्न किया जा सकता है ? ॥८–१०॥

मनोरथ से बनाए गये महल के तुल्य यह जगत एकमात्र मन का कार्य है, इस कारण भी इसमें सत्यत्व प्रसंग नहीं हो सकता, इस आशय से कहते हैं।

मन ही यहाँ पर जन्म लेता है, मन ही बढ़ता है और तत्त्वदर्शन से मन ही मुक्त होता है ॥११॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्राह्मन्, यह बात मुझे ज्ञात हो गई है कि इस त्रिभुवन में मन ही जरा, मरण का भाजन संसारी है, उसके तरने का जो सुनिश्चित उपाय है, उसे मुझसे कहिये। क्योंकि रघुवंशियों के हृदय के अज्ञानान्धकार का सूर्यरूप आप विनाश करते हैं ॥१२,१३॥

पहले शास्त्राभ्यास और सज्जनसंगति से वैराग्य आदि साधन चतुष्टय का सम्पादन करना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, पहले शास्त्राभ्यास, सज्जनसंग और उत्कृष्ट वैराग्य से मन को ज्ञानोदय के योग्य बनानेवाली विशुद्धि को प्राप्त कीजिए। जब निराभिमानता से युक्त मन वैराग्य को प्राप्त होता है, तब सब शास्त्रों के रहस्यज्ञान से अत्यन्त गौरवशाली और उपदेश देने की कुशलता से शिष्य को सुबुद्ध करने में समर्थ गुरुओं का विधिपूर्वक अनुगमन करना चाहिए ॥१४,१५॥ तदुपरान्त गुरु द्वारा उपदिष्ट मार्ग से पहले त्रिलोचन आदि सगुण परमेश्वर का ध्यान, भजन आदि करके क्रमशः साधक पुरुष जो परम पावन पद है, उसे प्राप्त करता है। स्वच्छ विचार द्वारा अपने आत्मा का शीतल चन्द्रमारूपी तेज से पूर्ण समस्त आकाश की तरह भीतर साक्षात्कार कीजिए ॥१६,१७॥ तब तक पुरुष संसाररूपी महासागर में तृण के समान बहता है, जब तक कि बुद्धिरूपी नाव से विचाररूपी

तट पर स्थिर नहीं हो जाता ॥१८॥ विचार से जिसने ज्ञातव्य वस्तु को जान लिया, उस पुरुष की बुद्धि जैसे स्थिर जल रेत के कणों को दबा देता है वैसे ही सब मानसिक चिन्ताओं को दबा देती है ॥१९॥ राख में छिपे हुए सोने को यद्यपि और लोग अलग नहीं कर सकते; तथापि सदा सुवर्ण का शोधन करने से उसे पृथक् करने में दक्ष स्वर्णकार को यह सोना है, यह भस्म है, यह जैसे साफ ज्ञात हो जाता है, उसके न मिलने से होनेवाला मोह उसे नहीं होता वैसे ही अज्ञानियों की दृष्टि से परिच्छिन्न यह जीव चिरकाल तक विचार द्वारा विवेक करके अपने स्वरूप का परिज्ञान कर लेने पर स्वतः कालादिपरिच्छेद शून्य हो जाता है, इसलिए मनुष्य को इसमें मोह का अवसर ही कहाँ ? ॥२०,२१॥ जिस पुरुष ने तत्त्व वस्तु का ज्ञान प्राप्त नहीं किया, उसका मन यदि मोह को प्राप्त होता है तो हो, किन्तु जिसे सार पदार्थ का परिज्ञान हो चुका है, उसकी मूढ़ता सम्भावित नहीं है, इसमें कोई संदेह नहीं है ॥२२॥

हे जनों, अपरिज्ञात (जिसका परिज्ञान नहीं हुआ) आत्मा आप लोगों की दुःखसिद्धि के लिए हैं, क्योंकि ''यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरे कुरुते अथ तस्य भयं भवति, तत्त्वेव भयं विदूषो मन्वानस्य'' (जब यह इस आत्मा में थोड़ा भी भेद करता है, तब इसे भय होता है, ज्ञान के अपरिपाकवश उपास्य–उपासक भाव को देख रहे विद्वान को भी भय होता है) ऐसी श्रुति है। परिज्ञात आत्मा तो अनन्त सुख और शान्ति के लिए है, क्योंकि 'रसह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति', 'सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत्' 'ज्ञात्वा तं मृत्युमत्वेति' 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' इत्यादि श्रुतियाँ हैं ॥२३॥

जिसने आत्मा का तिरोधान कर रक्खा है, ऐसे इस शरीर से मिले–जुले हुए से अपने अपने आत्मा का पंच कोशों के विवेक द्वारा साक्षात्कार कर आप लोग शीघ्र स्वस्थ होइये। हे लोगों, जैसे कीचड़ में गिरे हुए सोने का कीचड़ के साथ तनिक भी सम्बन्ध नहीं रहता वैसे ही इस निर्मल आत्मा का देह के साथ तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। जैसे कमलों के आधारभूत विपुल जल और कमल के पत्ते में स्थित जल की बूँदें उपाधि से ही भिन्न हैं; वस्तुतः उनमें भेद नहीं है वैसे ही ब्रह्म और जीव उपाधिवश ही पृथक्–पृथक् हैं ॥२४,२५॥

शंका : विपुल जल के कमल के पत्ते में बिन्दुरूप से आरूढ़ होने और परिच्छेद आदि में वायु आदि निमित्त प्रसिद्ध है। पूर्णात्मा के परिच्छेद द्वारा देह में आरूढ़ होने में कौन–सा निमित्त है ?

समाधान : ठीक है, मैं बार–बार भुजाएँ फैलाकर और गला फाड़कर इस बात की घोषणा कर चुका हूँ कि आत्मा के परिच्छेद द्वारा देह में आरूढ़ होने में एकमात्र कारण पापी मन ही है, इसलिए उसके नाश के लिए ही प्रयत्न करना चाहिये, पर मेरी बात को कोई सुनता नहीं है ॥२६॥

दुर्वासनारूपी पंकपूर्ण, गर्त में कछुए के समान छिपा हुआ और कठोर, भोग प्राप्ति में मार्ग के समान द्वार भी इन्द्रियों द्वारा विषयों में संलग्न, जड़ मन जब तक स्थित है, जिसने आत्मविचार को भुला दिया है, तब तक इस संसाररूपी अन्धकार का चन्द्रमा, अग्नि, नक्षत्र, मणि आदि सब तेजों के साथ बारहों सूर्य भी तनिक भी भेदन नहीं कर सकते। प्रबुद्ध मन जब अपनी पारमार्थिक स्थिति को असत्यभूत प्रपंच से पृथक् कर देखता है, तब हृदयस्थ अज्ञानान्धकार सूर्य का उदय होने पर रात्रि के अन्धकार के समान निवृत्त हो जाता है। देहादि तादात्म्य अध्यासरूप शय्या पर शयन किये हुए मन को उत्तम ज्ञान के लिए और संसार की निवृत्ति के लिए नित्य जाग्रत करे, क्योंकि संसार अत्यन्त दुःखदायी है। जैसे धूलि से

आकाश का सम्बन्ध होने पर भी धूलि से आकाश लिप्त नहीं होता और जैसे जल से कमल का सम्बन्ध होने पर भी जल से कमल लिप्त नहीं होता वैसे ही सम्बद्ध हुए शरीरों से आत्मा लिप्त नहीं होता है। जैसे पृथक् स्थित कीचड़ आदि का सुवर्ण के साथ संसर्ग होता है; किन्तु वह सुवर्णतादात्म्य आपत्तिरूप परिणति को वस्तुतः भीतर प्राप्त नहीं होता है वैसे ही जड़ शरीर का आत्मा के साथ संसर्ग तो होता है, परन्तु वह आत्मतादात्म्य आपत्तिरूप परिणाम को वस्तुतः प्राप्त नहीं होता है। जैसे आकाश में हजारों बिन्दुओं की आकृति और मलिनता असत्य ही प्रतीत होती है वैसे ही आत्मा में सुख और दुःख की अनुसारिता और अनुभवकर्तृता असत्य ही मूढ़ों को प्रतीत होती है। सुख और दुःख न तो देह के हैं और न सर्वातीत आत्मा के हैं। ये अज्ञान के ही हैं, अज्ञान का नाश होने पर किसी के भी नहीं हैं। न तो किसी का कुछ सुख है और न किसी का कुछ दुःख है। हे श्रीरामचन्द्रजी सबको आप अपनी ज्ञानदृष्टि से अनन्त आत्मा का विवर्त और नित्य प्रशान्त देखिये। जो ये विस्तृत सृष्टिदृष्टियाँ चारों ओर दिखाई देती है, वे जल में तरंगों की तरह और आकाश में पिच्छक की (卐) तरह आत्मा में ही हैं। जैसे मणि किसी प्रकार का व्यापार किये बिना अपने आप तेजोमय अपनी कान्तियों को फैलाती है वैसे ही यह आत्मा भी कार्यव्यापार के बिना अपने आप सृष्टियों का प्रसार करता है। हे सुमते, आत्मा और जगत न तो एक (अद्वितीय) हैं और न अनेक ही है, क्योंकि जगत का रूप असत् है, भाव यह है कि असत् से सत् का न अभेद कहा जा सकता है और न भेद ही कहा जा सकता है। अज्ञानकाल में यह इस प्रकार आभासमात्र ही स्फुरित होता है ॥२७-३८॥

वास्तव में तो भ्रान्ति का भी पृथक् निरूपण नहीं किया जा सकता, 'ब्रह्मैवेदं सर्वमात्मैवेदं सर्वम्' इस श्रुति में कही गई रीति से यह सब ब्रह्म ही है, ऐसा कहते हैं।

यह सब ब्रह्म ही है, इस प्रकार यह सब आत्मा ही फैला है। हे अनघ, मैं पृथक् हूँ और जगत पृथक् है, इस भ्रान्ति का आप परित्याग कीजिये। हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे सागर में सन्मय तरंगकल्पनाएँ नहीं हो सकती वैसे ही देशकृत परिच्छेद से शून्य, वस्तुकृत परिच्छेद से शून्य कालिक परिच्छेद से हीन आत्मा में कल्पनाएँ हो ही नहीं सकती हैं ॥३९,४०॥

वास्तविक एकत्व के विरोध से भी परमात्मा में द्वैत कल्पना नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं।

जैसे अग्नि में हिमकण का अस्तित्व नहीं है, वैसे ही अद्वितीय सर्वात्मक परमात्मवस्तु में दूसरी कल्पना है ही नहीं ॥४१॥

अब पूर्वोक्त आत्मा के परिचय से उसमें विश्राम पाने के लिए सदा उसकी भावना करना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

नीर-क्षीर के समान चिद्रूपता को प्राप्त हुए मन से ही चिन्मय आत्मा की भावना कर रहा जीव माया कौटिल्यरूप मालिन्य से रहित आत्मा में स्वयं प्रकाशित होता है यानी उसी रूप से स्वयं भासित होता है ॥४२॥

आत्मभावापन्न पुरुष की जीवन्मुक्तिरूप विश्रान्ति दिखलाते हैं।

卐 आँखें आधी बन्द करके सूर्य के सन्मुख सो रहे पुरुष को भ्रान्तिवश जो मयूर की पूँछ के सदृश दिखाई देता है।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस आत्मतत्त्व में न शोक है, न मोह है, न जन्म है और न कोई जन्मनेवाला है। यहाँ जो है, वही है। आप संतापरहित होइये ॥४३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप सुख-दुःख आदि शारीरिक द्वंद्वों के विक्षेप से रहित, नित्य सत्त्व में स्थित होने के कारण रजोगुण और तमोगुण से होनेवाले मानसिक विक्षेप से शून्य अतएव शारीरिक विक्षेप और मानसिक विक्षेप की निवृत्ति के उपायभूत योग, क्षेम की चिन्ता से विहीन आत्मवान्, अद्वितीय, शोकरहित और सन्तापरहित होइये ॥४४॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप सर्वत्र सम, अपने स्वरूप में स्थित, स्थिर बुद्धि, शोकरहित मनवाले मुनि, मौनी, सुन्दरमणि के समान निर्मल और सन्तापरहित होइये ॥४५॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप अविद्या और उसके कार्यों से विशुद्ध (अविद्या और अविद्या के कार्य से रहित) शान्त संकल्प (जिनका संकल्प निवृत्त हो गया है), धीरमति, स्वाधीनचित्त, जैसे मिला उसका अनुसरण करनेवाले और सन्तापरहित होइए ॥४६॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप विषयों के राग से रहित, क्लेशशून्य; निर्मल, निष्पाप, न ग्रहण करनेवाले और न त्याग करनेवाले एवं सन्ताप शून्य होइये ॥४७॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप संसारातीत पद को प्राप्त हुए, प्राप्तव्य वस्तु के प्राप्त होने से परिपूर्ण, पूर्ण सागर के समान क्षोभरहित और सन्ताप शून्य होइये ॥४८॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप विकल्पों की परम्पराओं से रहित, मायारूपी काजल से शून्य, अपने से अपने में तृप्त और सन्ताप शून्य होइये ॥४९॥

हे आत्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, आप संसार से भी विशाल शरीरवाले (सर्वव्यापक), पर्वतों के सिर के समान श्रेष्ठ यानी सुमेरु पर्वत के तुल्य धीर और सन्ताप रहित होइये ॥५०॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो कुछ मिल गया उसका भोग करने, सभी जगह अभिलाषा न करने तथा त्याग और ग्रहण का परित्याग करने से आप सन्ताप शून्य होइये ॥५१॥ पूर्ण सागर के समान अपने से ही अपने में पूर्णकामता का सेवन कीजिये। पूर्ण चन्द्रमण्डल के समान अपने से ही अपने में सब तापों की निवृत्ति के सुख का अनुभव कीजिये ॥५२॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह सारी प्रपंच रचना असत्य है। यह असत्य है, ऐसा जाननेवाला तत्त्वज्ञ पुरुष असत्य स्वरूप का अनुगमन नहीं करता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, आप तत्त्वज्ञानी है, आपकी कल्पनाएँ शान्त हो गई है, आप दोषरहित, नित्यप्रकाश और शोकरहित होइये ॥५३॥

यदि तत्त्वज्ञ पुरुष असत्य वस्तु का अनुसरण नहीं करता है, तो राज्य आदि से मेरा क्या प्रयोजन है, मेरे लिए तो संन्यास का ग्रहण कहना ही उचित है, इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी का आशय इंगित द्वारा समझ कर कहते हैं।

पिताजी द्वारा प्रदत्त एकच्छत्र राज्य का अपने गुणों से राजाओं और प्रजाओं को प्रसन्न कर आप समान दृष्टि से चिरकाल तक पालन कीजिये। प्रारब्ध होने के कारण अवश्य भोगयोग्य कर्मों और उनके फलों का न त्याग उचित है और न उनमें राग उचित है ॥५४॥

पाँचवाँ सर्ग समाप्त

छठा सर्ग

पहले कर्मगतियों को कहकर जीवन्मुक्तिरूप अन्तिम जन्मवालों की
जीवन्मुक्ति के लिए गुण प्राप्ति में साधारण क्रम का कथन।

आगे कहे जानेवाले गुणोपार्जन क्रम का प्रकृत में सम्बन्ध दिखाने के लिए प्रस्तुत अनासक्ति से किये गये अप्रतिषिद्ध कार्यों में प्रवृत्ति द्वारा जीवन्मुक्त पुरुष का लक्षण कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जो पुरुष 'मैं श्रुति, स्मृति और सदाचार से प्राप्त, सकल व्यवहार को अयस्कान्त मणि के समान केवल अपनी सन्निधि से करता हूँ', यों वासनारहित होकर कार्यों में प्रवृत्त होता है, अज्ञानी के समान कर्तृत्वाभिमानपूर्वक प्रवृत्त नहीं होता, वह मुक्त है, ऐसा मेरा विश्वास है ॥१॥

कर्मफलों में आसक्ति होने के कारण ही अज्ञानियों को अनर्थ की प्राप्ति होती है, ऐसा दिखलाते हैं।

मनुष्य शरीर को पाकर भी कोई मूढ़ अनासक्ति से कर्मानुष्ठानरूप इस क्रिया में रत नहीं होते, वे कामात्मा पुरुष स्वर्ग का भोग करके नरक में जाते हैं और नरक से फिर स्वर्ग में आते हैं ॥२॥ निषिद्धकर्म में निरत और सत्कर्म से विरत कोई लोग नरक से नरक, दुःख से दुःख और भय से भय को प्राप्त होते हैं । श्रुति भी है – विहितस्याऽननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात् । अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति ॥ (विहित कर्मों को न करने से, गर्हित कर्मों के आचरण से और इन्द्रियों की स्वच्छन्दता से मनुष्य का पतन होता है) ॥३॥ नरकों में उपभुक्त दुष्कर्म फलों के क्रम से तिर्यक् योनि में उत्पन्न हुए, अपने वासनारूप तन्तुओं से बँधे हुए कोई जीव तिर्यग् योनि से वृक्ष आदि स्थावर योनि को प्राप्त होते हैं, उनसे फिर तिर्यग् योनि को जाते हैं ॥४॥

राजस–तामस और शुद्धतामस जीवों को कह कर शुद्धसात्त्विक जीवों को कहते हैं।

कोई आत्मज्ञानी धन्य पुरुष, जिन्होंने मन के साक्षी आत्मा का विचार कर लिया और जिनकी तृष्णारूपी बन्धन श्रृंखला टूट गयी हो, वे कैवल्यरूप पद को प्राप्त होते हैं ॥५॥

राजस–सात्त्विकों को दिखलाते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, पहले उत्तरोत्तर उत्कृष्ट कुछ ही मनुष्य जन्मों को भोग करके जो इस जन्म में मुक्त हो गया, इसीलिए वह राजस–सात्त्विक है ॥६॥

उसकी शान्ति आदि गुणों से अभिवृद्धि कहते हैं।

उत्पन्न होकर वह पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान वृद्धि को प्राप्त होता है। जैसे वर्षा ऋतु में कुटज के वृक्ष को पुष्प शोभा प्राप्त होती है, वैसे ही उसे साधन चतुष्टय सम्पत्ति प्राप्त होती है ॥७॥ हे महामते श्रीरामचन्द्रजी, जिसका यह अन्तिम जन्म है, उसमें ब्रह्मविद्या की उपायभूत सब निर्मल विद्याएँ शीघ्र ऐसे प्रविष्ट होती हैं, जैसे उत्तम बाँस में निर्मल मोती प्रविष्ट होते हैं। जैसे अंगनाएँ अन्तःपुर का आश्रय लेती हैं वैसे ही पूज्यता, मनोहरता, मैत्री, सौम्यता, कृपा और अपरोक्ष ज्ञान नित्य उसका आश्रय लेते हैं। सब कार्यों को कर रहा जो पुरुष फल के बढ़ने या नष्ट होने पर सब कर्मों में सम होकर, न प्रसन्न होता है, न शोक करता है, उसमें दिन में अन्धकार राशि के समान सुख, दुःख आदि सब द्वन्द्व नष्ट हो

जाते हैं एवं जैसे शरद् ऋतु में मेघ स्वच्छ हो जाते हैं वैसे ही उसमें पहले मलिन भी धैर्य, श्रद्धा आदि सब गुण निर्मलता को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे वन में वायु से छिद्रों के पूर्ण होने के कारण मधुर ध्वनिवाले बाँस को सब मृग चाहते हैं वैसे ही कोमल आचार से मधुरतावाले उस पुरुष को सब लोग चाहते हैं। जैसे उत्पन्न होते ही मेघ के पीछे बक पंक्ति दौड़ती है, वैसे ही इस प्रकार की गुणशोभाएँ अन्तिम जन्मवाले पुरुष का बचपन से ही अनुसरण करती है ॥८–१३॥

इस प्रकार गुणों की सम्पत्ति होने पर गुरुमुख से श्रवण में अधिकार होता है। अपक्व चित्तवाले पुरुषों का गुरुमुख से श्रवण में अधिकार नहीं है, ऐसा कहते हैं।

तदनन्तर गुणों से परिपूर्ण वह जीवन्मुक्त पुरुष गुरु का ही अनुगमन करता है। गुरु उसे आत्मतत्त्व एवं अनात्मतत्त्व के विवेक में उपायों का उपदेश देकर अपनी बुद्धि से भी मननरूप पवित्र कार्य में प्रवृत्त करता है ॥१४॥

इस प्रकार के गुणों से परिपूर्ण पुरुष को ही गुरुपूर्वक श्रवण आदि से साक्षात्कार प्राप्ति होती है, ऐसा दिखलाते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर विचार–वैराग्यवाले गुणशाली चित्त से आनन्दैकरस निर्विकार स्वयं–प्रकाश आत्मा का वह साक्षात्कार करता है ॥१५॥ यह विचार से सुन्दर तथा शान्तचित्त से पहले आभ्यन्तर मनोमनन को ज्ञान के लिए बढ़ाता है। जो अन्तिम जन्मवाले जीवन्मुक्त पुरुष हैं, वे महागुणी पुरुष सोये हुए मनरूपी मृग को ऐसे बोधित करते हैं, जैसे वह निर्गुण ब्रह्म ही हो जाता है ॥१६,१७॥

पूर्वोक्त अर्थ का संक्षेप से उपसंहार करते हैं।

वे पूर्वोक्त गुणों से सम्पन्न अन्तिम जन्मवाले मनुष्य जिनके जीवन्मुक्तिरूप सुगुण प्रख्यात हैं, ऐसे सद्‌गुरुओं की प्रयत्न से सेवा कर उनसे प्रदर्शित युक्तियों से निर्मल हुई बुद्धि द्वारा चित्त के अन्तर्गत प्रत्यगात्मरूप रत्न का विचार कर, चित्त के अन्दर प्रकाशमान, प्रत्यगभिन्न ब्रह्म का चिरकाल तक साक्षात्कार कर उनके साक्षात्कार मात्र से ही ब्रह्मभाव आपत्तिस्वरूप निर्मल (माया और उसके कार्यरूपी मल से निर्मुक्त) परम पुरुषार्थरूप गति को अपने स्थान में ही प्राप्त करते हैं। उपासक के समान उत्क्रमणपूर्वक लोकान्तर में जाकर नहीं, यह मतलब है ॥१८॥

छठा सर्ग समाप्त

सातवाँ सर्ग

अपने विचार से कुछ व्युत्पन्न चित्तवाले पुरुष की
आकाश से फल पतन के समान ज्ञानप्राप्ति का वर्णन।

पूर्वोक्त साधारण क्रम का अनुवाद कर किसी बड़भागी पुरुष का पूर्वोक्त क्रम के बिना ही प्राप्त एकमात्र अपने विचार से ही सहसा सर्वगुण सम्पत्ति सहित ज्ञानोदय रूप विशेष दिखलाते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे कमलनयन, यह (पूर्वोक्त) सब देहधारियों का साधारण क्रम मैंने आपसे कहा। इस समय आप नीचे कहे जा रहे दूसरे क्रम को सुनिये। हे श्रीरामचन्द्रजी, इस संसाराडम्बर में उत्पन्न हुए देहधारी जीवों को मोक्षरूप फल देने में समर्थ ये (पूर्वोक्त और आगे कहा जा रहा) दो उत्तम

क्रम हैं। उनमें से एक तो यानी पूर्वोक्त क्रम गुरु के उपदेश के अनुसार आचरण करने से धीरे-धीरे एक जन्म से अथवा अनेक जन्मों से मोक्षरूप सिद्धि देनेवाला कहा गया है। दूसरा (आगे कहा जा रहा) क्रम है : दैववश प्राप्त जीव और जगत तत्त्व के विचारवाले लोगों को स्वयं ही शीघ्रता से आकाश से फल पतन के तुल्य ज्ञान प्राप्ति होती है ॥१-४॥

दूसरे क्रम में जनक की आख्यायिका का दृष्टान्त देनेवाले श्रीवसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं।

उक्त क्रम में आकाश से फल गिरने के तुल्य ज्ञानप्राप्ति के लिए इस प्राचीन वृत्तान्त को आप सुनिये, मैं आपसे कहता हूँ ॥५॥ हे सकलैश्वर्यसम्पन्न श्रीरामचन्द्रजी, अन्तिम जन्मवाले महानुभाव पुरुष, जिनके पूर्वसंचित पुण्य-पापरूप मोक्ष के प्रतिबन्ध नष्ट हो चुके हैं, निर्मल परम विवेक को जैसे आकाश से गिरे हुए फल के तुल्य प्राप्त करते हैं वैसी वक्ष्यमाण कथा को आप सुनिये ॥६॥

सातवाँ सर्ग समाप्त

आठवाँ सर्ग

वसन्त ऋतु में उपवन में विहार कर रहे श्रीजनकजी ने सिद्धों द्वारा गीत शुभ श्लोक सुने, यह वर्णन।

महाबली उदारमति श्रीजनकजी विदेह देशों के शासक थे उनकी सब आपत्तियाँ निवृत्त हो चुकी थी और दिन दूनी और रात चौगुनी सम्पत्ति बढ़ रही थी। वे याचकों के (मनोरथ पूर्ण करने के कारण) कल्पवृक्ष थे, इष्टमित्ररूपी कमलों के सूर्य के तुल्य विकासकारी थे, बन्धुबान्धवरूपी फूलों की वसन्त ऋतु के तुल्य अभिवृद्धि करनेवाले थे, स्त्रियों के कामदेव तुल्य रतिवर्द्धक थे, ब्राह्मणरूपी कुमुदों के लिए चन्द्रमा थे यानी चन्द्रमा के तुल्य उल्लासक थे, शत्रुरूपी अन्धकार के लिए भास्कर थे यानी भगवान सूर्य के तुल्य उसके निवर्तक थे, सौजन्यरूपी मणियों के सागर थे और भगवान के तुल्य पालन के लिए वे पृथिवी में स्थित थे ॥१-३॥ किसी समय फूली हुई छोटी-छोटी लताओं से बढ़ी हुई वसन्त ऋतु में, जो मतवाले के समान बढ़ रही थी, कोकिलों के गानों से मानों नाच रही थी और मंजरियों की राशियों से पीली थी, महाराज जनक जैसे देवराज इन्द्र सुन्दर नन्दनवन में जाते हैं वैसे ही, जिसका सारा भाग प्रफुल्लित था, सुन्दर विलासवाली लताओं और महिलाओं से भरा था उस सुन्दर उपवन में लीला से गये। उस मनोरम श्रेष्ठ उपवन में, जिसमें केसरों में स्थित पराग, सुगन्धि और मकरन्द के कणों को हरने में : न कि धूलि उड़ाने आदि में समर्थ उद्दाम यानी मन्द, सुगन्ध और शीतल वायु बह रहे थे, अनुचरों को दूर रखकर उन्होंने क्रीड़ाशैल के शिखरों पर उगे हुए लतागृहों में विचरण किया ॥४-६॥

हे कमलनयन, तदनन्तर उन्होंने किसी तमालवृक्ष की झाड़ी में छिपे हुए, सदा पर्वतों की गुफाओं में विचरण करनेवाले, एकान्त में निवास करनेवालो सिद्धों की अपने अनुग्रह के लिए कही गई तथा श्रुति, स्मृति, पुराण और इतिहासों से गीत आत्मतत्त्व की श्रवण मात्र से साक्षात् भावना करानेवाली निम्नलिखित गीताएँ सुनी ॥७,८॥

सिद्धों ने कहा : चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा विषयों के प्रमाता का स्त्रकचन्दन, वनिता आदि विषय के

साथ सम्बन्ध होने से उत्पन्न हुई विषयाकार बुद्धिवृत्ति में स्वयं प्रकाशमान जो आनन्दरूप निश्चय है, तद्रूप आत्मतत्त्व के परिशोधन द्वारा निरतिशय भूमारूप से आविर्भूत आत्मा का, निर्विकल्प समाधि द्वारा बाहरी और अन्तःकरण के स्पन्द का त्याग कर, हम निरन्तर (अनुभव) करते हैं। भाव यह कि विषयाकारवृत्ति में स्वयं प्रकाशमान आनन्द विषय कोटि में नहीं आ सकता, क्योंकि उसे विषय मानो तो वह जड़ हो जायेगा। कर्ता, करण और वृत्तिकोटि में भी नहीं आ सकता, क्योंकि वे कारक है। आनन्दरूप, साध्य का तदवयव (साधन का अंग) होना अनुभव विरुद्ध है। इसलिए वह साक्षिकोटि में ही आता है। साक्षी ही अविद्यारूपी आवरण से मन्द चिदानन्द स्वभाववाला होकर अन्य अहंकारात्मा की कल्पना कर मानों उसकी अंगता को प्राप्त हुआ–सा निरतिशय आनन्दरूप अपने आत्मा को नहीं जानता है; अतएव उसी स्वतत्त्व के विचार से आविर्भूत निरतिशयानन्दस्वभाव की समाधिस्थ मन से हम उपासना करते हैं। 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (इसी आनन्द की मात्रा का एक अंश का अन्य प्राणी उपजीवन करते हैं) इस श्रुति से ब्रह्मानन्द की ही अविद्या द्वारा विषयाकारवृत्ति के परिच्छेद से विषयानन्दत्व प्रतीति होती है ॥९॥

औरों ने कहा : द्रष्टा, दर्शन और दृश्य इस त्रिपुटी का वासना के साथ त्यागकर चक्षु, मानस आदि वृत्तियों के पहले ही उन वृत्तियों की उत्पत्ति में साक्षीरूप से भासमान आत्मा की हम लोग उपासना करते हैं। द्रष्टा आदि त्रिपुटी के त्याग से दो अवस्थाओं का (जाग्रत–स्वप्न का) त्याग कहा। 'वासना के साथ' इससे तो पूर्वोक्त दोनों अवस्थाओं की बीजभूत वासना से पूर्ण सौषुप्त अज्ञान का भी निरास कहा। 'चाक्षुष मानस आदि वृत्तियों के पूर्व ही उनकी उत्पत्ति में साक्षीरूप से भासमान' इससे पहले से सिद्ध त्रिपुटी का साक्षी सर्वानुभव सिद्ध है, यों पृथक् करके दर्शाया है। उसी बीजसहित त्रिपुटी के त्याग से तुरीय आत्मा की हम लोग उपासना करते हैं, यह अर्थ है ॥१०॥

दर्शन के (मानस–चाक्षुषवृत्ति के) पहले उनकी उत्पत्ति का साक्षीरूप जो तत्त्व है, उसके विषय में जो लोग अस्ति, नास्ति इस प्रकार का संदेह करते हैं, उनके प्रति भी दोनों (अस्ति–नास्ति) पक्षों के अविरुद्ध साक्षी को दर्शाते हुए दूसरे सिद्ध लोग कहते हैं।

जो लोग–मानस, चाक्षुष आदि वृत्तियों के पहले से ही सिद्ध उनकी उत्पत्ति का साक्षीभूत तत्त्व है, परन्तु वह भी जन्य ही है, नित्य नहीं है– ऐसा कहते हैं, उनके पक्ष में पूर्व–पूर्व के आभासों के स्वप्रकाशता अथवा स्वविषयता दोनों पक्षों में स्वमात्र के भान में परिक्षीण होने से वे पूर्वोत्तर विज्ञानों का स्पर्श नहीं कर सकते। इसलिए उनमें उनकी (पूर्वोत्तर विज्ञान की) उत्पत्ति आदि की साक्षिता नहीं हो सकती। स्वयं अपनी उत्पत्ति आदि का साक्षी तो हो नहीं सकता, क्योंकि अपनी उत्पत्ति के पहले वह स्वयं असिद्ध है, इसलिए कोई दूसरा ही साक्षी आवश्यक है, अतएव अस्ति पक्ष के मध्यगत और अविरुद्ध एवं जो लोग साक्षी नहीं है, ऐसा कहते हैं उनकी नास्तिकता भी साक्षीरहित होने के कारण असिद्ध ही है, अतएव उस पक्ष का साधक होने से उस पक्ष के मध्यगत और उसके अविरुद्ध तथा प्रकाश्यों का प्रकाशक जो नित्य आत्मा है, उसकी हम उपासना करते हैं ॥११॥

औरों ने कहा : जिसमें यह सब है, जिसका यह सब है, जिससे यह सब है, जिसके लिए यह सब है, जिसके द्वारा यह सब है। जो यह सब है उस सत्य की हम उपासना करते हैं।

औरों ने कहा : 'अ' सिर के समान जिसका प्रथम वर्ण है और 'ह' जिसके अन्त में है यानी अकारादि-हकारान्त समस्त वस्तुओं के प्रकाशक वेद-शास्त्र आदि शब्दसमूह के प्रकृतिभूत मस्तर्व का अक्षरसमाम्नाय में (आकारादि हकारान्त समुदाय में) निवेश होने से सम्पूर्ण जगत के आकारवाले सप्रपंच ब्रह्म में अनुगत, 'अह्मोतिव्याप्नोति' इस व्युत्पत्ति द्वारा अशेषाकार यानी आकाररहित निर्गुण ब्रह्म में भी स्थित तथा निरन्तर क्रियमाण स्वव्यवहारों में उच्चार्यमाण अहंपद के वाच्य स्वात्मभूत ब्रह्मात्मा की हम लोग निरन्तर भावना करते हैं ॥१२,१३॥

औरों ने कहा : हृदय गुहा में स्थित देदीप्यमान ईश्वर का त्याग कर जो लोग अन्य के पास जाते हैं, वे हाथ में आये कौस्तुभमणि का त्याग कर अन्य रत्नों की चाह करते हैं ॥१४॥

औरों ने कहा : सम्पूर्ण आशाओं का त्याग कर हृदय में स्थित ज्ञान का फलरूप यह ब्रह्म प्राप्त होता है, जिसके लाभ से वासनाजालों से जटिल हृदयग्रन्थि कट जाती है, जो विषवल्लियों की मूल परम्परा है ॥१५॥ औरों ने कहा : जो दुर्बुद्धि पुरुष भोग्य विषयों में अत्यन्त नीरसता को जानकर भी उनमें भोग तृष्णा करता है, वह नर नहीं है, वह गधा है ॥१६॥ औरों ने कहा : जैसे इन्द्र वज्र से पर्वतों के ऊपर प्रहार करते हैं वैसे ही पुनः पुनः उठे हुए इन इन्द्रियरूपी संगों पर विवेकरूपी दृष्टि से प्रहार करना चाहिये ॥१७॥ औरों ने कहा : पवित्र उपशम सुख को प्राप्त करे। शमवान पुरुष का विशुद्ध चित्त शान्ति को प्राप्त होता है। जिस पुरुष का चित्त उपशम को प्राप्त हो गया, उसकी निरतिशय सुखरूप अपने स्वरूप में चिरकाल तक उत्तम स्थिति होती है ॥१८॥

आठवाँ सर्ग समाप्त

नवाँ सर्ग

यह सुनकर निर्वेद से घर आये हुए राजा का अर्थों के मूल कारण के विचार से मन का निर्णय कथन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : सिद्धगणों से गाई गई इस गीताओं को सुनकर राजा जनक जैसे डरपोक आदमी रण के कोलाहल से दुःखी होता है वैसे ही शीघ्र दुःखी हुए ॥१॥ अपने परिवार को ले जा रहे वे अपने घर के प्रति ऐसे गये जैसे नदी का वेग अपने तीरवर्ती वृक्षों से अनुगत होकर सागर को जाता है। अपने सारे परिवार को अपने-अपने घर में छोड़कर जैसे सूर्य उदयाचल पर चढ़ते हैं वैसे ही वे अकेले ही उत्तम महल पर चढ़े। वहाँ पर उड़ने के लिए तत्पर पक्षियों के डैनों (पंखों) के समान चंचल लोकगति को देख रहे राजा ने व्याकुल होकर यह विलाप किया। बड़े खेद की बात है कि जीवों की जन्म, जरा, रोग, मरण आदि से चंचल अति कष्ट देनेवाली दशाओं में जो पत्थरों पर पत्थरों के समान जबर्दस्ती मैं लोट रहा हूँ। जिस काल का अन्त ही नहीं, उसका एक अतिसूक्ष्म अंश मेरा जीवन है, उस जीवन में मैं आशा रखता हूँ, मुझ जड़ को धिक्कार है। जीवितपर्यन्त रहनेवाला मेरा यह राज्य कितना है ? केवल इससे ही सन्तुष्ट होकर मैं मूर्ख के समान आनेवाले दुःखों के प्रतिकार की चिन्ता के बिना क्यों बैठा हूँ ? मैं आदि और अन्त में अनन्त हूँ। मध्य में तुच्छ थोड़ा-सा जीवनवाला हूँ। जैसे बालक चित्र में लिखे गये चन्द्रमा से ही आश्वासन को प्राप्त होता है, जो कि चन्द्रमा की बुद्धि से ज्ञात है, न कि वास्तविक चन्द्रमा है, वैसे ही आत्मरूप से ज्ञात इस देह से मैं व्यर्थ आश्वासन को क्यों प्राप्त हुआ ? किस ऐन्द्रजालिक ने

प्रपंचरहित इन्द्रजाल द्वारा मुझे मोहित किया ? ओह ! कष्ट है कि मैं अत्यन्त मोहित हो रहा हूँ। जो सत्य है, जो एकमात्र सुखरूप है, जो अपरिच्छिन्न है और जो अजन्य है, ऐसी कोई वस्तु इस संसार में है ही नहीं। मेरी बुद्धि कहाँ विश्रान्त हो ? ॥२–१०॥

यदि कोई शंका करे दूर देश में शायद कोई वैसी वस्तु प्रसिद्ध हो। इस पर नहीं ऐसा कहते हैं।

दूरस्थरूप से प्रसिद्ध भी जो कोई वस्तु है, वह वस्तुतः समीपस्थ ही है, क्योंकि वह मेरे मन में विद्यमान है। मन देह के बाहर दूर तो जाता नहीं है। यदि वह दूर जाये, तो दूर में ही उसकी प्रतीति का अनुभव होगा, न कि हृदय में। हृदय में ही सब लोग बाह्य वस्तु के बोध का अनुभव करते हैं, इसलिए भीतर भासमान दूर आदि की कल्पना भी वास्तविक नहीं है, किन्तु अनर्थ ही है, अतः दूर आदि की कल्पना त्याज्य ही है, उपादेय नहीं है, ऐसा निश्चय करके मैं बाह्य अर्थ की भावना का त्याग कर रहा हूँ।॥११॥ लोगों के भोग के लिए धनोपार्जन आदि में प्रवृत्तिरूप जो आवेग है, वह जल की भँवरी की तरह नश्वर तथा जन्म, मरणआदि दुःख हेतु प्रायः देखा गया है। इसलिए आज भी विषय–सुख के प्रति मेरी यह आस्था कैसी ? ॥१२॥ प्रतिवर्ष, प्रतिमास, प्रतिदिन, प्रतिक्षण जो दुःख से निबिड़ सुख हैं वह दुख ही हैं। इस संसार में कुछ काल तक देखे गये, तदनन्तर तुरन्त नष्ट हुए स्वराज्य आदि पद का अत्यन्त तुच्छ होने के कारण चिन्तन भी मैंने नहीं किया। सर्वोच्च जो ऐन्द्र, प्राजापत्य आदिपद हैं, उनका अच्छी तरह विचार किया, किन्तु जहाँ विवेकी पुरुषों की आत्यन्तिक विश्रान्ति होती है, वैसी कोई वस्तु यहाँ है ही नहीं॥१३,१४॥ आज जो बड़े लोगों के मस्तक पर विराजमान यानी महत्तम हैं, वे कुछ ही दिनों में नीचे गिर जाते हैं, हे दुष्ट चित्त भला बतलाओ तो सही महत्ता में (राज्य आदि के वैभव के उत्कर्ष में) मेरा क्या विश्वास हो ? ॥१५॥ मैं बिना रस्सी के ही बँधा हूँ। बिना पंक के ही कलंक से युक्त हूँ। सबसे ऊपर स्थित होकर भी नीचे गिरा हूँ। ओह ! स्वरूप में मेरी जो स्थिति है, वह नष्ट हो गई। यद्यपि मैं बुद्धिमान हूँ तथापि जैसे सूर्य के सामने प्रकाश को आच्छादित करनेवाला काला मेघ आता है, वैसे ही मेरे सामने आत्मप्रकाश को आच्छादित करनेवाला यह मोह कहाँ से आया ? ये महाभोग मेरे कौन हैं ? ये बन्धुगण मेरे कौन हैं ? जैसे बालक भूत के भय से व्याकुल हो उठता है वैसे ही मैं इसमें ममतारूप सम्बन्ध की कल्पना से व्याकुल हो गया हूँ। इस भोगों में जरा, मरण को प्राप्त करानेवाली एवं उद्वेग देनेवाली इस आस्था को मैं स्वयं ही क्यों बाँध रहा हूँ ? यह भोग और बान्धव आदि की सम्पत्ति भले ही अच्छी तरह से चली जाय या रहे, इसके प्रति मेरा क्या आग्रह है ? बुद्बुद् की शोभा की भाँति यह मिथ्या ही इस प्रकार प्राप्त हुई है॥१६–२०॥ पृथु, मरुत्त आदि चक्रवर्ती राजाओं के वे महाविभव, वे सुन्दर गुणवाले, स्नेहयुक्त बान्धव सभी इस समय जब स्मृति शेष हो गये हैं यानी वे विद्यमान नहीं है, तब फिर वर्तमान में भी क्या आस्था ? प्राचीन राजाओं के प्राक्तन धन कहाँ गये, पूर्वकल्पीय ब्रह्मा के प्राचीन जगत कहाँ गये, यानी सभी नष्ट हो गये, तो फिर धन आदि में मेरी क्या आस्था हो ? जैसे जल में बुद्बुद् काल से नष्ट हो जाते हैं वैसे ही लाखों इन्द्र काल द्वारा नष्ट कर दिये गये, इसलिए यदि मैं जीवन में आस्था बाँध रक्खूँ, तो विवेकी लोग हँसेंगे। करोड़ों ब्रह्मा नष्ट हो गये, सृष्टि परम्पराएँ बीत गई, धूलि की तरह राजा लोग मिट्टी में मिल गये। भला मेरे जीवन में क्या विश्वास है ? संसाररूपी रात्रि के दुःस्वप्नभूत, देहमय, अहंताममताव्यवहार भ्रम में यदि मैं आस्था रखता हूँ, तो

मेरी इस अविवेकिता को धिक्कार है। शरीर सन्निहित वस्तु में अपरोक्षता की कल्पना, शरीर विप्रकृष्ट वस्तु में परोक्ष की कल्पना और शरीर में आत्मता की कल्पना यह तीन प्रकार की कल्पना असत्यरूप ही है। अहंकाररूपी पिशाच के द्वारा मोहित हुआ मैं क्यों अज्ञ की नाईं इतने काल तक विचाररहित होकर स्थित हूँ ? मैं इस क्षण, निमेष, मुहूर्त आदिरूप फैली हुई कालरेखा से प्रतिक्षण नष्ट हो रही अपनी आयु को देख रहा हूँ फिर भी मैं न मालूम क्यों नहीं विचार करता हूँ ? जिन्होंने ब्रह्मा आदि उत्तम अधिकारियों को अपने चरणों पर झुका दिया एवं विष्णु आदि की देह को खेलने की गेंद की भाँति युद्ध आदि के समय आकाश में फेंक दिया, ऐसे कालरूपी रुद्र भी जब महाकाल द्वारा नष्ट कर दिये गये, तो हे जीवित आशा, मेरे अन्दर तुम क्यों नृत्य कर रही हो ? वे दिन निरन्तर अब भी आते हैं और इस अवस्था में भी व्यर्थ ही नष्ट हो जाते हैं। आज तक कोई भी दिन नहीं देखा, जिसमें नित्य, एक, निर्दोष और आन्दैकरस वस्तु प्राप्त हुई हो। जैसे तालाब में हंस स्फुरित होते हैं वैसे ही सम्पूर्ण मनुष्यों के चित्त में ये भोग ही स्फुरित होतें हैं; किन्तु प्रत्यगात्मभूत परमपद का साक्षात्कार स्फुरित नहीं होता। मैं कष्ट से भी अत्यन्त कष्ट को प्राप्त हुआ, दुःख से भी अत्यन्त दुःख को प्राप्त हुआ; परन्तु आज भी विरक्त नहीं हुआ। हा ! राग, लोभ आदि से दूषित होने के कारण अधम चित्तवाले मुझे धिक्कार है। जिन-जिन उत्तम विषयों में मैंने दृढ़ प्रीति बाँधी, उन-उन विषयों का भी विनाश जब देखा गया, तब भला इस संसार में उत्तम वस्तु क्या है ? मध्यकाल में जो मनोहर है यानी युवावस्था, परिणाम में जो मनोहर है यानी भ्रम एवं अविचार से जो मनोहर है यानी विषय, विनाशरूपी अशुद्धि से दूषित वैसे अपवित्र हैं। जिन-जिन पदार्थों में मनुष्य अपनी आस्था बाँधता है, उन-उन पदार्थों में उस मनुष्य के दुःख का प्रादुर्भाव बार-बार देखा गया है ॥२१-३४॥

बाद में भी अज्ञ पुरुष के सुख की आशा नहीं है, यह कहते हैं।

इस संसार में अज्ञ मनुष्य प्रत्येक दूसरे दिन राग और लोभ की अभिवृद्धि से अत्यन्त पापमयी, हिंसा आदि कर्मों में प्रवृत्ति द्वारा अत्यन्त क्रूर तथा फलकाल में खेद देनेवाली दशा को प्राप्त होते हैं। अज्ञ पुरुष, जो बाल्यावस्था में अज्ञान से पीड़ित रहता हैं, युवावस्था में काम से पीड़ित रहता है तथा शेष अवस्था में (वृद्धावस्था में) स्त्री के सहित कुटुम्ब के पालन-पोषण की चिन्ता से पीड़ित रहता है, कब अपने उद्धार का साधन करता है ? यानी कभी नहीं करता। दुर्मति पुरुष आदि और अन्त में अत्यन्त असत्य, भोगकाल में भी विरस, दरिद्र, रोग, वार्धक्य आदि दशाओं से दूषित तथा असार होते हुए भी सारबुद्धि से गृहीत इस संसार को, जो देख रहा है, वह किसलिए ? यानी संसारदर्शन का कुछ भी प्रयोजन नहीं है ॥३५-३७॥

यदि कोई शंका करे कि 'यन्न दुःखेन संभिन्नम्' इत्यादि श्रुति से (📖) बतलाये गये लक्षण से युक्त स्वर्ग क्या सारभूत नहीं है ? उस पर कहते हैं।

सुकृति पुरुष राजसूय, अश्वमेघ आदि सैकड़ों यज्ञों को करके महाकल्पपर्यन्त भोग्य भी स्वर्ग को

📖 यन्न दुःखेन संभिन्नं न च प्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तत्पदं स्वःपदास्पदम् ॥ अर्थात् जो दुःख से मिश्रित न हो, न किसी की अपेक्षा न्यून हो और बिना प्रयत्न के इच्छामात्र से प्राप्त हो, वह सुख स्वर्गपद से कहा जाता है।

प्राप्त होता है, जो महाकाल की दृष्टि से क्षणमात्र भोग्य अतएव अल्प ही है, किन्तु अधिक की (अपरिच्छिन्न अनन्त की) प्राप्ति उसे नहीं होती। इसलिए वह भी असार ही है, यह भाव है ॥३८॥

न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति।

(शरीरधारी प्राणी के प्रिय एवं अप्रिय का वारण नहीं होता है)

इस श्रुति के अनुसार तथा स्वर्गवासियों की भी असुर आदि से पीड़ा के श्रवण से स्वर्ग में दुःख का असम्बन्ध भी असम्भव है, इस आशय से कहते हैं।

भूमि अथवा पाताल में स्वर्ग नाम का कौन सा प्रदेश है, जहाँ दुष्ट भँवरियों की भाँति ये आपत्तियाँ अभिभूत नहीं करती ?॥३९॥

देह का अभिमान रहने पर आधि–व्याधि के दुर्निवार होने के कारण अज्ञ पुरुष को कहीं भी विश्रान्ति नहीं मिलती है, इस आशय से कहते हैं।

अपने चित्तरूपी बिल के सर्प जो आधियाँ हैं एवं शरीररूपी स्थल के पल्वल (छोटे जलाशय) जो व्याधियाँ है, इनका भला कैसे निवारण किया जा सकता है ? ॥४०॥

विनाशी एवं दुःखमिश्रित होने के कारण सम्पूर्ण दृश्य की अभद्रता दिखलाते हैं।

वर्तमानकालिक दृश्य के सिर पर विनाश, मनोहर पदार्थों के सिर पर अरम्यता एवं सुखों के सिर पर दुःख विद्यमान हैं। यानी वर्तमानकालिक दृश्य, मनोहर पदार्थ और सुख ये सभी क्रमशः विनाश, अरम्यता और दुःख से व्याप्त हैं। भला कौन ऐसी मुक्त वस्तु है, जिसका मैं आश्रय करूँ ॥४१॥ अज्ञान से विमोहित क्षुद्र प्राणी उत्पन्न होते हैं और मरते हैं। पृथ्वी इन्हीं लोगों से निबिड़ है। उत्तम महात्मा लोग दुर्लभ हैं ॥४२॥ नीलकमल के तुल्य मनोहर और भ्रमर के तुल्य चंचल नेत्रवाली, अतिशय प्रीतिरूप भूषण से युक्त (अत्यन्त अनुरागवाली) स्त्रियाँ भी क्षणमात्र में विनाशी होने के कारण उपहास के ही योग्य हैं ॥४३॥

यदि कोई शंका करे कि राजा होने के कारण निग्रह और अनुग्रह में समर्थ, उत्तम पुरुषरूप आपको विषयों में आश्वासन क्यों न प्राप्त होगा ? इस पर कहते हैं।

जिनके नेत्रनिमीलन और नेत्रोन्मीलन से प्रलय और सृष्टि होते हैं, वैसे पुरुष भी जब विद्यमान हैं, तो मेरी क्या गणना है ? भाव यह है कि ब्रह्मा आदि महापुरुषों को भी जब आश्वासन नहीं प्राप्त हुआ, तो मेरी क्या गणना है ? मनोहर से भी मनोहर एवं स्थिर से भी स्थिर पदार्थ हैं; परन्तु इन पदार्थों की शोभा का फल उपार्जन, रक्षण, वियोग आदि से चिन्तारूप ही है; इसलिए क्यों उसकी इच्छा करते हो ? विविध रत्न, घोड़े, हाथी, धन, स्त्री आदि के भेद से विचित्र सम्पत्तियाँ यदि चित्त से आदरणीय हें, तब वे भी बहुत प्रयत्नों से प्राप्त करने योग्य, दुःख से रक्षा करने योग्य अवश्य नष्ट होनेवाले होने के कारण महाआपत्तियाँ ही हैं, ऐसा मेरा मत है ॥४४–४६॥ इसी तरह यदि दरिद्रता, बन्धुनाश, राज्यनाश आदि आपत्तियाँ भी साधु संगति, तीर्थ तपस्या, ज्ञान आदि की प्राप्ति करा देने से विचित्र अतएव कल्याणकर ही हैं, यों मन में भान हो, तो वे भी विवेक, वैराग्यआदि महाआरम्भ से युक्त सम्पत्तियाँ ही है, यों मैं मानता हूँ ॥४७॥

इसलिए असत्यभूत जगत में ममता की अभिवृद्धि ही विपत्ति है, विवेक से ममता का परिक्षय ही

सम्पत्ति है, इस आशय से जगत में ममता की अयोग्यता दिखलाते हैं।

समुद्र में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा की भाँति क्षणविनाशी, मिथ्याभूत, एकमात्र मन के विवर्त जगत में 'मेरा यह है' यह अपूर्व पदवाक्यरूप अक्षर-पंक्ति किधर से आई ? यानी निरर्थक ही है ॥४८॥ काकतालीय न्याय से अकस्मात अविचार से सम्पन्न इस जगत स्थिति में भोग लम्पट इस मन ने व्यर्थ ही हेय और उपादेय की कल्पना की है ॥४९॥ जैसे परिच्छिन्न एवं सन्तप्त अग्निशिखाओं में पतंगे अनुरक्त रहते हैं वैसे ही देश, काल और वस्तु की सीमा से परिच्छिन्न, आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक तापों से संतप्त किन सुखनाम की दृष्टियों में मैं अनुरक्त हुआ हूँ ? ॥५०॥

अभ्यासवश निरन्तर दुःख का भोग सह्य भी हो सकता है; परन्तु सुख भोग से अभ्यास के विच्छिन्न हो जाने पर दुःख भोग दुःसह हो जाता है, ऐसा कहते हैं।

निरन्तर दाह से युक्त रौरव की अग्नि में लोटना अच्छा है, परन्तु विच्छिन्न सुख-दुःख के परिवर्तन से युक्त संसार की अवस्थाओं में स्थिति करना अच्छा नहीं है ॥५१॥

सुख सुख नहीं है; किन्तु दुःख विशेषरूप ही है, इसका युक्ति से उपपादन करते हैं।

संसार ही सब दुःखों की चरम सीमा है, उसके मध्य में जब देह गिर गई, तब कैसे सुख प्राप्त हो सकता है ? ॥५२॥ स्वाभाविक महादुःख से पूर्ण इस संसार में जो स्थित हैं; वे लोग जैसे तलवार के आघात की अपेक्षा कोड़े का आघात सुखकर मालूम होता है वैसे ही महादुःख की अपेक्षा कुछ अल्प दुःख को ही सुखकर मानते हैं। *संसार में आत्यन्तिक सुख की सत्ता है ही नहीं, यह भाव है*॥५३॥

यद्यपि मैं श्रुति, स्मृति आदि प्रमाणों में कुशल, मेघावी, विचार चतुर हूँ, तथापि छोटे-बड़े काष्ठ तथा लोष्ट के तुल्य स्थितिवाला होकर, जिन्होंने शास्त्र, लोक, प्रमाण तथा वस्तु का अच्छी तरह विचार नहीं किया है ऐसे मूर्खों की समानता को प्राप्त हुआ हूँ॥५४॥

अब अपनी प्रमाण कुशलता को संसार के मूलनिश्चय से सफल बनाते हैं।

सैकड़ों संकल्परूपी अंकुरों, देह और भुवनरूपी शाखाओं, विराटरूपी अवयवी (मोटी डाल), सुख-दुःखरूपी फलों और राग, लोभरूपी पल्लवों से शोभित हो रहे संसार वृक्ष का मूलभूत महांकुर मन है॥५५॥

मन का भी रहस्य मुझे ज्ञात है, यह कहते हैं।

मैं संकल्प को ही मन समझता हूँ, उस मन का संकल्प के उपशमन द्वारा शोषण करता हूँ, जिससे कि यह संसाररूपी वृक्ष शोष को प्राप्त होता है॥५६॥ आकारमात्र से रमणीय, नाश को प्राप्त करानेवाली मनरूपी बन्धन की चपलताओं के परिज्ञात हो जाने पर मैं आज से इनमें रमण नहीं कर सकता। सैकड़ों आशारूपी पाशों से ओत-प्रोत, अधोगति, ऊर्ध्वगति और दुःख को देनेवाली संसारवृत्तियाँ मैंने बहुत भोगी, अब मैं विश्राम लेता हूँ॥५७,५८॥

ओह ! मैं मारा गया, नष्ट हुआ, मरा, ऐसा जो मैंने बारम्बार शोक किया था, वह शोक मेरा बीत गया। अब मैं शोक नहीं कर सकता॥५९॥

क्यों अब शोक नहीं करते ? इस पर कहते हैं।

मैं प्रबुद्ध हूँ, प्रसन्न हूँ, अपने पारमार्थिक धन को चुरानेवाले मन-नामक चोर को मैंने पकड़ लिया,

इसे मारता हूँ। यह केवल चोर ही नहीं है, किन्तु वैरी भी है, क्योंकि इसने मुझे बहुत दिन तक मारा है। इतने दिन तक मेरा मनरूपी मोती विद्ध यानी लक्षित नहीं था। अब वह लक्षित होकर शम, दम आदिरूप सूत्र के योग्य हो रहा है। जैसे तुषारकणिका सूर्य के ताप से वायु में स्थिति प्राप्त करने के लिए लय को प्राप्त होती है वैसे ही मेरा मन विवेक से ब्रह्मतत्त्व में स्थिति प्राप्त करने के लिए बहुत शीघ्र लय को प्राप्त होगा। स्थिर महात्माओं ने मुझे विविध उपदेशों द्वारा अच्छी तरह बोध करा दिया है। अब मैं परमानन्दरूप आत्मा का अनुगमन कर रहा हूँ॥६०–६३॥

इसलिए मैं कभी भी परमात्मनिष्ठा का त्याग नहीं करूँगा, यह कहते हैं।

मैं आत्मरूपी मणि को पाकर एकान्त में उसी को देख रहा हूँ, मेरी अन्य वस्तु की इच्छा अत्यन्त शान्त हो गई है अतः मैं शरद् ऋतु में हिमालय आदि पर्वतों पर बादल की भाँति सुखपूर्वक स्थित होता हूँ॥६४॥

अब पूर्वोक्त विषय का ही संक्षेप से उपसंहार करते हुए विवेकरूपी गुरु को नमस्कार करते हैं।

यह देह मैं हूँ, यह धन, राज्यादि मेरा है, इस तरह स्फुरित हुए विस्तृत असत्यरूप का ज्ञानबल से नाश कर अत्यन्त बलवान अन्दर स्थित मनरूपी शत्रु को समाधि के अभ्यास से अच्छी तरह मारकर सप्तम भूमिका में विश्रान्तिरूप प्रशम को मैं प्राप्त हो रहा हूँ। हे विवेक, आपको नमस्कार है॥६५॥

नवाँ सर्ग समाप्त

दसवाँ सर्ग

मध्याह्न काल के कृत्यों में प्रवृत्त होने के लिए द्वारपाल द्वारा प्रार्थना करने पर भी राजा जनक का मौन होकर विचार करना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त प्रकार से विचार कर रहे राजा जनक के सामने जैसे सूर्य के रथ के आगे अरुण प्रवेश करते हैं वैसे ही प्रधान द्वारपाल ने प्रवेश किया॥१॥

प्रतीहार ने कहा : हे देव, आपके भुजारूपी स्तम्भ पर समस्त पृथ्वी का भार स्थित है, आप उठिये, राजधर्म के योग्य व्यवहारों का सम्पादन कीजिये॥२॥ फूल, कपूर और कुंकुम से (केसर से) मिश्रित जल के घड़ों से युक्त ये स्त्रियाँ मूर्तिमती नदियों की भाँति सज–धज कर स्नान भूमि में खड़ी हैं॥३॥ जहाँ पर कमल और श्वेतकमल के वन में भौंरे घूम रहे हैं एवं कमल से युक्त कमल के नाल की रस्सियों से जहाँ पर शामियाने सजाए गये हैं, ऐसी बनाई गयी ये कमलयुक्त तालाब की तीर भूमियाँ स्नान के समय में स्वागत करनेवाले लोगों के चामर, रथ, हाथी और घोड़ों के सहित छत्रों से प्रपूरित हैं। इससे ये तीरभूमियाँ हंस, सारस, नक्र, कमल आदि से युक्त कमलिनी के (कमल से युक्त तालाब के) तुल्य हैं, यह अर्थतः प्रतीत होता है। ये देवताओं के पूजागृह सब पुष्पों और आप्त चाकरों से पूर्ण एवं पक्वान्न और जौ के अंकुर आदि औषधियों से अलंकृत प्रान्तभोगों से सजाये गये हैं॥४–६॥ हे देव, स्नान के समय अघमर्षण मन्त्रों का जप करनेवाले अतएव दक्षिणा के योग्य ब्राह्मण लोग, जो स्नान कर चुके और पवित्रहस्त है, वे आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। राजन्, आपकी कान्ताओं ने भोजन भूमियाँ सजा रक्खी है, जो लेपन, चन्दन जल के सेंक आदि से परिष्कृत होने के कारण शीतल हैं, हे महाराज, वे हाथ में सुन्दर चँवर लेकर आपकी प्रतीक्षा कर रही हैं॥७,८॥

हे महाराज, आपका कल्याण हो, शीघ्र उठिये, नित्यकर्म का सम्पादन कीजिये। महापुरुष अपने कर्मों में काल का अतिक्रमण नहीं करते ॥९॥ प्रतीहार के इस तरह कहने पर भी राजा जनक वैसे ही विचित्र संसार की स्थिति का चिन्तन करते रहे ॥१०॥ सुखकररूप से स्थित यह राज्य कितना है ? यानी कुछ भी नहीं है। क्षणमात्र में नष्ट होनेवाले इस राज्य से मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। मिथ्याभूत माया के सभी आड़म्बर का परित्याग करके प्रशान्त समुद्र की भाँति शान्त होकर मैं एकान्त में ही स्थित रहता हूँ। इन असत्य भोगविस्तारों से मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। सभी कर्मों का परित्याग कर मैं केवल सुख से स्थित होता हूँ ॥११-१३॥ हे चित्त, तुम इस भोगाभ्यासरूपी दुर्भ्रम से सुखलव के आस्वाद की जो चतुरता है, उसका जन्म, वृद्धावस्था एवं जड़ता के समूहरूपी कीचड़ की शान्ति के लिए त्याग कर दो। हे चित्त, तुम विषयाभिलाषा, उनके लिए उद्योग, उनके उपभोग और उनके स्मरण आदिरूप जिन-जिन अपनी अवस्थाओं मे सुखलव के आस्वाद की भ्रान्ति अथवा उत्साह देखते हो, तुम उन्हीं अवस्थाओं से सम्पादित परम दुःख को प्राप्त होओगे ॥१४,१५॥ सब भोगभूमियों में बार-बार भोग की आशा से चिरकाल तक प्रवृत्त एवं भोग की शक्ति के कुण्ठित हो जाने से तथा लोक-शास्त्र के भय से चिरकाल तक निवृत्त हुआ चित्त तृप्ति को प्राप्त नहीं होता है। इसलिए हे पापी मन, इस तुच्छ भोगचिन्तन से कोई प्रयोजन नहीं है। यह कृत्रिम सुख अनर्थ का बीज है, इसलिए जिस हेतु से अकृत्रिम (स्वाभाविक) प्रीति उत्पन्न हो, उस हेतु को प्राप्त करो ॥१६,१७॥ ऐसा विचार कर राजा जनक चित्त की चपलता के शान्त होने के कारण चित्र में अंकित के तुल्य मौन हो गये ॥१८॥ राजाओं के चित्त के अनुवर्तन के विषय में अत्यन्त पटु उस द्वारपाल ने भी गौरव एवं भय से फिर कोई वाक्य नहीं कहा ॥१९॥ तदनन्तर राजा जनक ने क्षणमात्र चुप रह कर पुनः शमयुक्तमन से प्राणियों के जीवन में हेतुभूत तत्त्व का चिन्तन किया ॥२०॥ इस संसार में क्या उपादेय है, जिसको मैं प्रयत्न से सिद्ध करूँ। नाशरहित ऐसी कौन वस्तु है, जिसमें मैं आस्था बाँधूं ? मेरी क्रियातत्परता से क्या एवं मेरी निष्क्रियता से ही क्या ? ऐसा कोई कार्य नहीं है जो उत्पन्न हुआ हो, पर विनाशरहित हो; क्योंकि जन्यवस्तुमात्र विनाशी है, ऐसा नियम है। असत्यभूत उत्पन्न हुआ यह शरीर क्रियायुक्त रहे या क्रियारहित रहे, देह के चलन और अचलन दशा में समानरूप से स्थित, विशुद्ध, चिन्मात्र स्वभाव मेरी क्या क्षति है ? ॥२१-२३॥ मैं न तो अप्राप्त वस्तु की इच्छा करता हूँ और न प्राप्त वस्तु का त्याग ही करता हूँ। स्वस्थ होकर अपने स्वरूप में स्थित हूँ। जो मेरे प्रारब्ध से प्राप्त हैं, वही मुझे प्राप्त रहे और कुछ नहीं। यहाँ मेरा न तो कर्म से कोई प्रयोजन है और न कर्म की उपेक्षा से कोई अनर्थ ही है। क्रिया अथवा उसकी उपेक्षा से जो कुछ भी प्राप्त है, वह मायामय ही है यानी मिथ्या ही है। शास्त्रविहित एवं लोकप्राप्त क्रियाओं को कर रहे या न कर रहे मुझे इस संसार में कुछ भी अपेक्षित नहीं है, जो कि उपादेय हो। इसलिए यह शरीर उठकर पूर्व-पूर्व व्यवहार के क्रम से प्राप्त प्रस्तुत कर्मों को करे। निर्व्यापार अंगवाला हो करके यह शरीर सूख जाता है, यह क्या अच्छा है ? अर्थात् ऐसा करना उचित नहीं है। मन के निष्काम, राजहीन और शम होने पर शरीर के अवयवों से प्रारब्ध कर्मों द्वारा उत्पन्न हुए चेष्टा-अचेष्टारूप कार्य फल के लिए समान हैं अर्थात् उनसे पुण्य-पापरूप फल का उदय नहीं होता ॥२४-२८॥

यदि कोई कहे यह कैसे ? तो इस पर कहते हैं।

कर्म से उत्पन्न हुई फल सम्पत्तियों में कर्तृता और भोक्तृता मन से कल्पित हैं। मन के शान्त हो जाने पर मनुष्य का किया हुआ भी न किया हुआ एवं भोगा हुआ भी न भोगा हुआ हो जाता है। पुरुष के भीतर जैसे कर्तृता या भोक्तृता का निश्चय रूढ़ हो गया वह पुरुष सम्पूर्ण देह क्रियाओं में अपने निश्चय के अनुकूल तन्मय हो जाता है। इस समय मेरी बुद्धि कर्तृता और भोक्तृतारूपी रोग से शून्य आत्मपद के दृढ़ निश्चय से सम्पन्न नहीं है। इसलिए चित्त के भीतर कृत और अकृत कर्म के फल को अवश्य भोगने के लिए पुनर्जन्म आदि की शंका से उत्पन्न तथा इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट विघात से उत्पन्न अधीरता का अच्छी तरह त्याग करता हूँ॥२९,३०॥

दसवाँ सर्ग समाप्त

ग्यारहवाँ सर्ग

आह्निक कार्य को कर चुके राजा का रात्रि के अन्त में अनेकों विचित्र
विवेकों से अपने चित्त का प्रबोधन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त रीति से विचार कर राजा जनक जैसे सूर्य दिवस का सम्पादन करने के लिए उठते (उदित होता) हैं वैसे ही कर्तृत्व–भोक्तृत्वाभिमानरूप आसक्ति से रहित होकर यथा प्राप्त क्रिया का संपादन करने के लिए उठे। यह मेरा इष्ट है, यह मेरा अनिष्ट है, इस कल्पना में निमित्तभूत वासनाओं का स्वयं चित्त से त्याग कर उन्होंने जाग्रत अवस्था में ही सुषुप्त के समान (कारण कि स्थूल, सूक्ष्म देह आदि का अभिमान न होने पर जाग्रत और सुषुप्ति में कोई भेद नहीं रहता) यथा प्राप्त कर्म किया॥१,२॥ देवता, ब्राह्मण आदि पूजनीय लोगों का पूजा, दान आदि द्वारा सम्मान कर उस दिन का कार्य पूरा करके उसी ध्यानलीला से उन्होंने अकेले रात बिताई॥३॥

मन को, जिसका विषयभ्रम निवृत्त हो गया था, समाहित करके रात्रि व्यतीत होने पर उन्होंने अपने चित्त को इस प्रकार समझाया : हे चंचल चित्त, संसार तुम्हारे आत्मा के सुख के लिए नहीं है, तुम शान्ति को प्राप्त होओ। शान्ति से विक्षेपरहित सारभूत आत्मसुख प्राप्त होता है। जैसे–जैसे तुम विविध विकल्पों का संकल्प करते हो वैसे–वैसे तुम्हारे चिन्तन से यह संसार अनायास वृद्धि को प्राप्त होता है। जैसे वृक्ष जल से सैकड़ों शाखावाला हो जाता है वैसे ही हे शठ, तुम भी भोग की इच्छा से असंख्य व्यथाओं से युक्त होते हो। चूँकि जन्म तथा संसार सृष्टियाँ विषयचिन्ताओं के विकल्प से उदित हैं, इसलिए तुम विविध चिन्ताओं का त्याग कर उपशम को प्राप्त होओ॥४–८॥

हे सुन्दर, इस चंचल संसारसृष्टि और शान्तिसुख को तराजू में रखकर अपनी बुद्धि से कौन सारभूत है, इसकी परीक्षा करो। यदि तुम्हें संसारसृष्टि में सार प्रतीत हो, तो इसी संसारसृष्टि का अवलंबन करो। चूँकि यह संसारसृष्टि असार है, इसलिए तुम इसमें आदर का त्याग कर यह साररहित दृश्य दर्शन योग्य है, इस प्रकार की दर्शनलालसा से प्रिय का ग्रहण मत करो और अप्रिय का यह दर्शन के अयोग्य है, यों द्वेष से त्याग न करो; किन्तु प्रिय और अप्रिय दोनों के साक्षी एकमात्र आत्मा की इच्छा से आत्मकाम होकर इच्छापूर्वक विहार करो। पहले अविद्यमान यह दृश्य सुख–दुःख के साधनरूप से उदित हो अथवा इस समय विद्यमान यह नष्ट हो, किन्तु हे साधो, तुम इसके उदय और नाश से उदय नाश

प्रयुक्त हर्ष-विषादरूप विषमता को प्राप्त मत होओ ॥९-११॥

यदि कोई शंका करे कि दृश्य का सम्बन्ध रहते उससे होनेवाले वैषम्य का त्याग कैसे हो सकता है ? तो इस पर कहते हैं।

वत्स, तुम्हारा दृश्य वस्तु के साथ तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। जिसका स्वरूप विद्यमान नहीं हैं, ऐसे असद्रूप दृश्य से सद्रूप तुम्हारा सम्बन्ध ही कौन है ? ॥१२॥ हे मन, तुम असत् हो और यह दृश्य भी सत् नहीं है, इसलिए दोनों के ही वन्ध्यापुत्र और आकाशपुष्प के समान असत् होने पर निःस्वरूप स्थितिवालों का सम्बन्ध, ऐसी उक्ति अपूर्व (विस्मयकारिणी) ही है ॥१३॥

यदि कहते हो, मैं असत् नहीं हूँ। सत्य आत्मा ही मैं हूँ। दृश्य ही असत् है, तो भी दोनों का सम्बन्ध नहीं बन सकता, ऐसा कहते हैं।

हे सुन्दर, यदि यह दृश्य असत् है और तुम सत्य हो, तो भला बतलाओ तो सही, सदसद्रूप सदा मृत और जीवितों का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? ॥१४॥

दोनों सत् ही हैं। कोई भी असत् नहीं है, इसमें भी कभी इष्ट का वियोग न होने से हर्ष तथा विषाद का अवसर नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे चित्त, तुम और दृश्य दोनों ही यदि सन्मय और सदा रहनेवाले हो, तो हर्ष और विषाद का विस्तार ही कहाँ है ? इसलिए तुम महान विषाद का त्याग करो। आत्म-स्वरूप स्थिति में उत्साह को समाधि के अभ्यास से जगाओ, वह मौन होकर स्थित है। विक्षेपरूप सागर में आविष्ट हुई इस अमंगलमय स्थिति का त्याग करो। उत्सवों में लोगों के कौतुक के लिए बारूद आदि से बने हुए कन्दुकाकार अलात यन्त्र के (अनार यानी एक प्रकार की आतिशबाजी के) समान व्यर्थ अपने-आप जल रहे तुम मोहरूपी मल को प्राप्त होकर हे सन्मते, मन्दता को प्राप्त मत होओ ॥१५-१७॥ इस दृश्यवर्ग में जिसके प्राप्त होने से तुम परम परिपूर्णता को प्राप्त हो जाओ, ऐसी कोई भी उन्नत उत्तम वस्तु नहीं है, इसलिए अभ्यास और वैराग्य के बल से अति धीरता का अवलम्बन कर हे शठ मन, तुम चंचलता का त्याग करो ॥१८॥

ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

बाहरवाँ सर्ग

राजा जनक की जीवन्मुक्तिरूप से स्थिति का और
विचार तथा प्रज्ञा के विचित्र महात्म्य का विस्तार से वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे वत्स, वहाँ अपने राज्य में इस प्रकार विचार कर रहे धीरमति राजा जनक ने सब राजकार्य किये, किन्तु उन्हें पहले के समान अहन्ता ममता से मोह नहीं हुआ। उनका मन कहीं हर्ष स्थानों में उल्लास को प्राप्त नहीं हुआ ॥१॥ केवल सुषुप्ति के समान निर्विक्षेपरूप से सदा स्थित रहा। तब से लेकर उन्होंने न तो दृश्य का ग्रहण ही किया अथवा न त्याग ही किया, केवल तत्काल में उपस्थित दृश्य में वह निःशंक होकर स्थित रहे। जैसे धूलि से प्राप्त कलंक से आकाश कलंक को प्राप्त नहीं होता वैसे ही निरन्तर विचारवाले राजा जनक ने अनादि स्वभाव प्राप्त, रजोगुण से उदित अहं-मम अभिमानरूप कलंक पुनः प्राप्त किया ही नहीं ॥२-४॥ इस प्रकार आत्म-विवेक के अनुसन्धान से

राजा जनक का अपरिच्छन्न ब्रह्माकार सम्यक् ज्ञान अत्यन्त निर्मल हो गया। जैसे आकाश में सूर्य उदित होते हैं, वैसे ही उनके हृदयाकाश में चिदात्मा, उदित हो गया जिसके प्रकाश विक्षेपों से सम्पादित रंजनाभेदों से रहित हैं और जो दुःखों से शून्य है ॥५,६॥ अनन्त आत्मावाले, सब भूतों के आत्मा के भिज्ञ उन्होंने सब पदार्थों को चिदात्मा में अध्यस्त अतएव आत्मभूत देखा ॥७॥ वे न तो कहीं पर विशेषरूप से हर्षित हुए और न कहीं पर दुःखी हुए। माया के सर्वव्यवहाररूप होने के कारण असंग आत्मा से उसका स्पर्श न देखने से सदा ही वे समचित्त रहे। प्राणियों का सत्कार करनेवाले ज्ञानवृद्ध जनक, जिन्होंने लोक में परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लिया था, तब से लेकर जीवन्मुक्त हो गये। विदेह देशों का राज्य कर रहे, लोगों के प्राणों के समान, राजा जनक हर्ष और विषाद के अधीन होकर उनसे कभी भी सन्तप्त नहीं होते थे ॥८–१०॥ मानसिक गुण और दोषों के व्यापार से न तो स्वरूप के तिरोधानरूप अस्त को प्राप्त होते थे और न पुनः स्वरूप के आविर्भावरूप उदय को प्राप्त होते थे। बाहरी राज्य से उत्पन्न अर्थ और अनर्थों से न तो उन्हें हर्ष होता था और न खेद होता था। कर्म करते हुए भी वे कहीं पर कुछ भी नहीं करते थे। वे निरन्तर चित् के मध्य में सदा स्थित रहते थे।

सुषुप्त रूप से स्थित राजा जनक की राग, द्वेष, आदि सब वासनाएँ सब पदार्थों से सर्वथा निवृत्त हो गई थी। वे न तो भविष्य का अनुसन्धान करते थे और न अतीत की चिन्ता करते थे। वर्तमान क्षण का हँसते हुए अनुसरण करते थे भाव यह कि वासनावश पूर्वोत्तर का अनुसन्धान होता है, उससे पूर्व में अनिष्ट करनेवाले पदार्थों से द्वेष होता है और भावी प्रिय के लिए अनुराग होता है, तदनन्तर प्रवृत्ति होती है, यों सब अनर्थों की प्राप्ति वासना से ही होती है। एकमात्र वर्तमान का दर्शन करने में दुःख के प्रति द्वेष न होने से उसमें अप्रियता का अनुसन्धान नहीं होता, इसलिए वे स्वाभाविक आनन्द की अनुवृत्ति से हँसते हुए ही एकमात्र वर्तमान क्षण का अनुसरण करते थे ॥११–१४॥ हे कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी, एकमात्र अपने विचार से ही राजा जनक को प्राप्तव्य परम ब्रह्मरूप वस्तु निःशेषरूप से प्राप्त हुई यानी विस्मृत गले के सुवर्णहार की तरह ज्ञानमात्र से मिली, न कि अन्य इच्छा से ॥१५॥

जब तक फल की प्राप्ति न हो, तब तक विचार का त्याग नहीं करना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

तब तक अपने चित्त से आत्मतत्त्व का विचार करना चाहिये जब तक विचारों की सीमा का अन्त (आत्मज्ञानरूप फल) प्राप्त न हो ॥१६॥ सन्तों की संगति से निर्मलतारूप अभ्युदय को प्राप्त हुए, विचार से विशद चित्त से जो परम पद प्राप्त होता है, वह न तो गुरु के उपदेश से न शास्त्रार्थ के अनुशीलन से और न पुण्य से प्राप्त होता है। *(यहाँ पर साधनभूत गुरु, शास्त्रार्थ और पुण्य को परमपद को असाधन कहना विचार की प्रधानता के बोधन के लिए है जैसै कि गौ और अश्व से भिन्न अपशु हैं, गौ तथा अश्व पशु हैं, यहाँ पर गौ और अश्व की प्रधानता के द्योतन के लिए उनसे भिन्न को अपशु कहा है)*॥१७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, सत् शास्त्रों के अभ्यास और विचार से परिष्कृत तथा ऊहापोह में कुशल–अनुरागयुक्त सखी के सदृश–अपनी मति से उत्तम पद प्राप्त होता है, अन्य क्रिया से प्राप्त नहीं होता ॥१८॥ जिस पुरुष की पूर्वापर का विचार करनेवाली, कुशाग्र प्रज्ञारूपी दीपशिखा जलती है, उसे कभी भी अज्ञानरूपी अन्धकार क्लेश नहीं पहुँचाता ॥१९॥ हे महामते, जो विपत्तियाँ दुस्तर हैं और दुःखरूपी महातरंगों से भरी हैं, उन आपत्तिरूपी नदियों से प्रज्ञारूपी नौका द्वारा ही निस्तार होता

है ॥२०॥ जैसे कोमल वायु की लहर असार तृण को लथेड़ देती है वैसे ही प्रज्ञा से रहित मूढ़ पुरुष को छोटी-सी आपत्ति भी पीड़ित कर डालती है ॥२१॥ हे शत्रुतापन, प्रज्ञावान पुरुष के चाहे गुरु आदि सहायक न हों, शास्त्राभ्यास भी उसने न किया हो, फिर भी एकमात्र ज्ञान से बाधित होने के कारण अतिकोमल संसाररूपी सागर से वह निस्तार पा ही जाता है ॥२२॥

लोक में भी प्रज्ञावान मन्त्री आदि की अन्यबल से युक्त पुरुष की अपेक्षा प्रबलता प्रसिद्ध ही है, ऐसा कहते हैं।

प्रज्ञावान पुरुष चाहे सहायशून्य ही क्यों न हो, फिर भी वह कार्य में सफलता प्राप्त करता है, किन्तु प्रज्ञाविहीन पुरुष कार्य को प्राप्त कर बहुत सी सेना आदि के बल से प्रधान होकर भी नष्ट हो जाता है (卐) ॥२३॥

कोई कहे कि प्रज्ञा जब ऐसी वस्तु है, तब उसे किस उपाय से प्राप्त करना चाहिये ? इस पर कहते हैं।

जैसे फल प्राप्ति के लिए सिंचन, रक्षण करने आदि से लता बढ़ाई जाती है वैसे ही शास्त्राभ्यास और सज्जनों की संगति से पहले प्रज्ञा को बढ़ाना चाहिये ॥२४॥ जैसे चन्द्रमा का मण्डल संसार के अन्धकार को दूर करनेवाली चाँदनी को उत्पन्न करता है वैसे ही प्राक्तन शुभकर्मरूपी वृक्ष, जिसका प्रज्ञाबल ही महान मूल है, समय पर मूलअज्ञान की निवृत्ति में समर्थ आत्मज्ञान को उत्पन्न करता है ॥२५॥ बाह्य पदार्थों के अर्जन में लोग जैसे उद्योग करते हैं, प्रज्ञा की अभिवृद्धि के लिए पहले वैसा ही उद्योग करना चाहिए, उससे अधिक परिश्रम की आवश्यकता नहीं है, यह भाव है ॥२६॥ बुद्धि की मंदता, जो सब दुःखों की सीमा है, आपत्तियों का उत्तम भण्डार है और संसाररूपी वृक्षों का बीज है उस अज्ञान का विनाश करना चाहिए ॥२७॥

इसी प्रकार प्रज्ञाकोश भी सब सम्पत्तियों की चरम सीमा है, ऐसा दिखलाते हैं।

स्वर्ग से जो सुख मिलता है, पाताल से (📖) जो सुख मिलता है और राज्यों से जो सुख मिलता है, वह सारा सुख महात्मा को प्रज्ञाकोश से प्राप्त होता है ॥२८॥

आत्यन्तिक दुःखक्षय भी एकमात्र प्रज्ञा का ही फल है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, भयंकर इस संसार सागर से प्रज्ञा द्वारा ही निस्तार होता है, दानों से, तीर्थों से अथवा तपस्या से इस संसार से निस्तार नहीं मिलता। दान, तप आदि का फल छोटे-मोटे पापों का क्षय है, संसारसागर से निस्तार रूप महाफल नहीं है ॥२९॥

जो स्वर्गादि अन्य पदार्थ दानादि कर्मों के फल कहे गये हैं, वे भी प्रज्ञा के फल ही हैं, ऐसा कहते हैं।

卐 इस श्लोक का दूसरा अर्थ यों है - चरमसाक्षात्कारवृत्तिरूप प्रज्ञा से सम्पन्न असंग आत्मा सब कार्यप्रपंचों के बाध को और सब अवश्यकर्तव्य पुरुषार्थों की अवधिभूत परम पुरुषार्थ को प्राप्त होता है। किन्तु मोह सकल प्रपंच विस्ताररूप कार्य को पाकर उसका कारण होने से प्रधान होता हुआ ज्ञानमात्र से नष्ट हो जाता है।

📖 स्वर्लोकादपि रम्याणि पातालानीति नारदः। जगाद द्युसदां मध्ये पातालेभ्यः समागतः ॥ (पाताल लोकों से आए हुए श्रीनारदजी ने देवताओं की सभा में कहा कि पाताल स्वर्गलोक से भी रमणीय हैं) इस पौराणिक वचन से पाताल में भी सुखातिशय प्रसिद्ध है।

भूमिचर लोग भी आकाशगमन आदिरूप दैवी सम्पत्ति को जो प्राप्त हुए हैं, वह भी प्रज्ञारूपी पवित्र लता से उत्पन्न हुआ स्वादिष्ट फल है। जिन सिंहों ने अपने पंजों से मत्त गजेन्द्रों के कुम्भस्थल फाड़ डाले, वे भी प्रज्ञा से सियारों द्वारा ऐसे पराजित हुए हैं, जैसे सिंहों से हरिण पराजित होते हैं। साधारण से भी साधारण लोगों ने अपनी प्रज्ञा से राजगद्दी प्राप्त की है। इस लोक में प्रज्ञा में ही स्वर्ग और अपवर्ग की योग्यता दिखाई देती है। अतिभीरु भी सब वादीजन प्रज्ञा से ही अपने विकल्पों से शोभित होनेवाले प्रगल्भवादियों को जीत लेते हैं। विवेकी पुरुष के हृदयकोश में स्थित यह प्रज्ञा चिन्तामणि रूप है, यह कल्पलता की नाईं वांछित फल देती है। कुशल पुरुष प्रज्ञा से संसार से निस्तार पाता है और अधम पुरुष डूबता है। ठीक भी है, नौका चलाने की शिक्षा को प्राप्त हुआ केवट नौका से पार चला जाता है और नौका चलाने में अशिक्षित केवट पार नहीं पहुँचता। प्रज्ञा को नौका के समान यदि विवेक वैराग्य आदि सन्मार्ग में लगाई जाय, तो पार पहुँचाती है किन्तु राग, द्वेष, आदि असत् मार्ग मे लगाई गयी, संसार में भ्रमण करती हुई बुद्धि सागर में घूमती हुई नौका के समान मनुष्य को आपत्ति देती है ॥३०–३६॥ तृष्णा के वर्ग के लोभ, मोह, क्रोध, चिन्ता आदि से उत्पन्न हुए द्वेष, चिन्ता, अविद्या आदि दोष विवेकशील अतएव असंमूढ़ पुरुष को इस प्रकार पीड़ित नहीं करते, जिस प्रकार कि कवचयुक्त पुरुष को बाण पीड़ित नहीं कर सकते ॥३७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस लोक में प्रज्ञा से सारा जगत गुण–दोष तत्त्वविवेक के साथ भलीभाँति दिखाई देता है। परमार्थदृष्टिवाले पुरुष के पास न सम्पत्तियाँ आती हैं, न विपत्तियाँ ही आती है। जैसे सूर्य को आवृत करनेवाला जलरूप विस्तृत काला मत्त मेघ वायु से छिन्न–भिन्न हो जाता है वैसे ही परमात्मा को आवृत करनेवाला जड़रूप विस्तृत मलिन मत्त अहंकार प्रज्ञा से नष्ट हो जाता है ॥३८,३९॥ उन्नत अनुपम पद में पहुँचने की इच्छावाले पुरुष को पहले इस मति का ही क्रमशः विवेकशिक्षा द्वारा शोधन करना चाहिये। धान्य आदि की अभिवृद्धि चाहने वाला कृषक सबसे पहले पृथिवी को ही जोतता है ॥४०॥

बारहवाँ सर्ग समाप्त

तेरहवाँ सर्ग

जनक के विचार को उदाहरण बनाकर चित्त के
प्रशमन के उपायों का युक्तियों द्वारा विस्तारपूर्वक वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार जनक के समान अपने से आत्मा का विचार कर आप असम्भावना आदि प्रतिबन्धकों के निरास द्वारा ज्ञातज्ञेय (जिन लोगों को ज्ञातव्य वस्तु का, ब्रह्म का परिज्ञान हो चुका) लोगों के पद को पा जाओगे। जो लोग अन्तिम जीवन्मुक्ति जन्मवाले प्रज्ञावान और राजस–सात्त्विक हैं, वे लोग जनक के समान प्राप्य वस्तु को स्वयं पा जाते हैं। भाव यह कि रजोगुण से पौरुष प्रयत्न होने और सत्त्वगुण से चित्तप्रसाद की अभिवृद्धि होने के कारण राजस–सात्त्विक पुरुष ही अपने विवेक से आकाश से फल पतन के तुल्य ज्ञानप्राप्ति में अधिकारी हैं ॥१–२॥

वे प्राप्तव्य वस्तु को कैसे प्राप्त करते हैं, ऐसी शंका होने पर उसे कहते हैं।

सत्त्वगुण की अभिवृद्धि से जब आत्मा अपने से ही अपने में प्रसन्न होता है, तब रजोगुण की

विष्टम्भशक्ति (आवरणशक्ति) से इन्द्रियनामक शत्रुओं को पुनः-पुनः जीतकर वे स्वयं प्राप्तव्य वस्तु को प्राप्त करते हैं ॥३॥ प्रसन्न, सर्वव्यापक, इन्द्रियों को वश में करनेवाले, स्वयंज्योति परमात्मा के अपने-आप साक्षात्कृत होने पर सब दुःख दृष्टियाँ नष्ट हो जाती हैं ॥४॥ उस परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार होने पर अहन्ता-ममता प्रतीतिरूप हृदय ग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती हैं, जो दुर्वासनाओं की मुट्ठियाँ हैं यानी बीज की मुट्ठी की तरह अपने भीतर दुर्वासनाओं का दृढ़तापूर्वक ग्रहण करनेवाली और चित्तरूपी खेत में बोई जानेवाली हैं और आध्यात्मिक आदि विविध दुःखों की वृष्टियाँ हैं ॥५॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, अपनी विवेक बुद्धि से अपने को सम्पूर्ण जगत के उत्पत्ति आदि के अधिष्ठानभूत ब्रह्मरूप से जानकर राजा जनक के समान परम पुरुषार्थरूप शोभावाले आप सर्वोत्कृष्ट हो जाइये ॥६॥

अब आत्मप्रसाद के उपायों में विचार ही मुख्य है, ऐसा कहते हैं।

नित्य आन्तरिक विचारवाले और जगत को अनित्य देख रहे पुरुष का आत्मा राजा जनक के समान समय आने पर स्वयं प्रसन्न हो जाता है ॥७॥

विचार की जड़ भी पुरुष प्रयत्न ही है, इस आशय से कहते हैं।

संसार से भयभीत हुए पुरुषों का अपने प्रयत्न को छोड़कर न तो भाग्य शरण है, न कर्म शरण हैं, न धन शरण है और न बन्धु-बान्धव ही शरण हैं ॥८॥

यदि कोई शंका करे कि भाग्यवश स्वयं ही समय आने पर ज्ञान हो ही जायेगा ? हमारे प्रयत्न से क्या लाभ है ? तो इस पर कहते हैं।

जो लोग प्रयत्न, विवेक, वैराग्य, विचार आदि कार्यों में भाग्य के आधीन रहते हैं और भाग्य के प्रतिकूल होने पर अपने हजारों प्रयत्नों से क्या सिद्ध होगा, बहुत से लोग फल प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं, पर दैव से विनष्ट हुए उनका काम, क्रोध आदि से पतन देखा जाता है – इत्यादि कुकल्पनाएँ करते है, उनकी मन्द मति विनाश की ओर ले जानेवाली है, उनका अनुसरण नहीं करना चाहिए ॥९॥ परम विवेक का अवलम्बन कर आत्मा का अपने आप साक्षात्कार कर वैराग्य से वृद्धि को प्राप्त हुई (अनादिकाल से निमग्न आत्मा के उद्धार में समर्थ) बुद्धि से संसारसागर को पार करे ॥१०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जनक की आख्यायिका के उदाहरण से विस्तारित, आकाश से फलपतन के तुल्य यह ज्ञानसंप्राप्ति मैंने आपसे कही जो अज्ञानरूपी वृक्ष को उखाड़ फेंकनेवाली और निरतिशयसुख देनेवाली है ॥११॥ जैसे प्रातःकाल में कमल विकास को प्राप्त होता है, वैसे ही जनक के तुल्य सद्बुद्धि और स्वयं ही आत्मसाक्षात्कार करनेवाले पुरुष की देह के अन्दर हृदय में स्थित स्वयंज्योति परमात्मा विकास को प्राप्त होता है ॥१२॥ जैसे धूप से जिसकी शीतलता हर ली गयी, ऐसा हिमकण गलकर लीन हो जाता है, वैसे ही यह विचित्र संसार चिन्तन विचार से विलीन हो जाता है ॥१३॥

देह में अहंभाव का त्याग ही पूर्ण आत्मदर्शन में मुख्य साधन है, ऐसा कहते हैं।

यह देह ही मैं हूँ, इस रात्रि का विनाश होने पर अपने-आप सर्वव्यापक विशाल आत्मप्रकाश प्रकट होता है। 'यह देह ही मैं हूँ' इस परिच्छेद के विनष्ट होने पर अनन्तभुवनव्यापी विस्तार उत्पन्न हो जाता है ॥१४,१५॥ हे सद्बुद्धे, जैसे राजा जनक ने विचार कर अहंकारवासना का त्याग किया वैसे आप भी अपने हृदय में विचार कर अहंकारवासना का त्याग कीजिए ॥१६॥ अहंकाररूपी मेघ के नष्ट होने पर

सर्वव्यापक, निर्मल चिदाकाश में आत्मप्रकाशरूपी परम सूर्य अवश्य ही अत्यन्त प्रकाश को प्राप्त होता है॥१७॥ जो अहंकार की भावना है, वही तम का (अज्ञान का) मुख्य बल है, उसके शान्त होने पर प्रकाश उत्पन्न हो जाता है॥१८॥ न अहन्ता है, न अन्य है और न तो शून्य ही है, क्योंकि दोनों का साक्षी विद्यमान है, इस प्रकार से भावित मन शान्ति को प्राप्त होकर ग्रहण योग्य विषयों में मग्न नहीं होता ॥१९॥

उपादेय (ग्राह्य) विषयों में मन का अनुराग और हेय (त्याज्य) विषयों में मन का द्वेष ही पुरुष का बन्धन है, उससे अतिरिक्त बन्धन नहीं है, ऐसा कहते हैं।

मन का जो उपादेय वस्तुओं की ओर आकृष्ट होना है और जो हेय वस्तुओं का सर्वथा त्याग है, उसीको आप बन्धन समझिये, उससे अतिरिक्त बन्धन नहीं ॥२०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, हेय वस्तुओं के प्राप्त होने पर आप खिन्न न होइये और उपादेय वस्तुओं में अभिमान न कीजिये। हेय और उपादेय वस्तुओं में राग द्वेषात्मक वृत्तियों का त्याग कर उनके साक्षी में एकनिष्ठ होकर विक्षेप शून्य होइये ॥२१॥ जिन लोगों की, यह उपादेय है, यह हेय है, ऐसी अवस्था सर्वत्र अहेय आत्ममात्र के दर्शन से विलीन हो गई, वे पुरुष न तो किसी वस्तु की वांछा करते हैं और न किसी वस्तु का त्याग ही करते हैं ॥२२॥ जब तक चित्त से हेय और उपादेय की कल्पना क्षीण नहीं हई, तब तक जैसे मेघाच्छन्न आकाश में चाँदनी शोभित नहीं होती वैसे ही समता (अविषम ब्रह्मात्मता) शोभित नहीं होती ॥२३॥ यह वस्तु खराब है इसलिए त्याज्य है, यह वस्तु उत्तम है इसलिए ग्राह्य है, इस प्रकार जिसका मन चंचलता को प्राप्त हुआ, उस पुरुष में समता शाखोट वृक्ष में मंजरी के समान नहीं होती॥२४॥ यह वस्तु मेरे अनुकूल है अतः यह मुझे प्राप्त हो, इस प्रकार लाभ से विलासित होनेवाली और यह वस्तु मेरे प्रतिकूल है अतः यह मुझे कभी भी प्राप्त न हो, इस प्रकार द्वेष से विलासित होनेवाली एषणा जिस पुरुष में है, उसमें वैराग्य से उदित होनेवाली समता और स्वच्छता कहाँ ? ॥२५॥

उस पुरुष में समता और स्वच्छता की संभावना में क्या विरोध है, ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं।

अद्वितीय निर्दोष इस ब्रह्मतत्त्व के ही भेदाभेद कल्पना से विद्यमान रहने पर क्या अत्यन्त अयुक्त है ? और कहाँ पर युक्तता है ? भाव यह कि यदि सब पदार्थ असंग, अद्वितीय, आनन्दरूप और अभिन्न ही हैं तो आत्मरूप होने के कारण सब अनुकूल ही हैं, यदि भिन्न हैं तथापि आत्मा से उनका स्पर्श न होने से न अनुकूल हैं, न प्रतिकूल हैं, इसलिए भेद की अवस्था में भी अयुक्तता और युक्तता का अवकाश नहीं है। पूर्वोक्त पुरुष में तो युक्तता–अयुक्तता विद्यमान है, अतः उसमें स्वच्छता और समता की संभावना में विरोध है ही ॥२६॥ इच्छित, अनिच्छित की आशंकारूपी चंचल वानरियाँ जिस पुरुष के चित्तरूपी वृक्ष पर स्फुरित होती हैं। भला उस पुरुष को शान्ति कहाँ से प्राप्त हो सकती है ? ॥२७॥

अब जीवन्मुक्त पुरुष के लक्षणभूत पन्द्रह गुणों को कहते हैं।

निराशता, निर्भयता, नित्यता, समता, ज्ञाता, निरीहता, निष्क्रियता, सौम्यता, निर्विकल्पता, धैर्य, मैत्री, सन्तोष, मधुरता, मधु–भाषिता और मननशीलता ये हेय और उपादेय से रहित ज्ञानी में, वासना के बीज अज्ञान के नष्ट होने के कारण, वासनारहित रहते हैं ॥२८,२९॥

इस समय उक्त गुणों के अर्जन में उपाय का उपदेश देते हैं।

जैसे बह रहे जल को बाँध से रोकते हैं वैसे ही निकृष्ट विषयों में दौड़ रहे मन को विषयों से सब बाह्येन्द्रियों की परावृत्ति द्वारा जबर्दस्ती रोके ॥३०॥

बाह्यपदार्थों में आत्मत्वभ्रान्ति नहीं हो सकती है अतः उनका रत्न की तत्त्व-परीक्षा के समान सदा सब तरह विचार करना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

इन बाह्य पदार्थों का त्याग करके आप बैठते, चलते, सोते सदा सब आन्तरपदार्थों का भली-भाँति विचार कीजिए। वृद्धों ने कहा भी है-चलते, बैठते अथवा जागते, सोते जिसका मन विचारमग्न नहीं रहता वह मृतक कहलाता है। तृष्णारूपी मछली जिसमें फँसी है, मोहरूपी सेवार से जो मैला हुआ है, संसाररूपी जल में फैला है एवं जो चिन्तारूप तन्तुओं से निर्मित है, ऐसे वासनाजाल को जैसे आकाश में बह रही तेज आँधी से बादल छिन्न-भिन्न हो जाता है वैसे ही मेरे द्वारा उपदिष्ट इस तीखी बुद्धिरूपी कैंची से काटिये जो अत्यन्त विस्तीर्ण ब्रह्म की ओर उन्मुख है ॥३१-३३॥ हे सौम्य, चिर अभ्यास से दृढ़ हुए एकात्मस्थिरतारूप चित्त धैर्य से सम्पन्न अतएव अनादिकाल से संसारसागर में डूबे हुए आत्मा का उद्धार करने में समर्थ अपरोक्ष साक्षात्कार बुद्धि से संसाररूपी वृक्ष के मूल को, जो दोषरूपी अंकुरों की उत्पत्तिभूमि है, जैसे वृक्ष के अवयव काष्ठरूप कुल्हाड़े से वृक्ष काटा जाता है, वैसे ही मन से ही मन का विनाश कर शीघ्र ही परम-पवित्र स्थान को पाकर आप स्थिर होइये ॥३४,३५॥

यदि कोई शंका करे कि पहले से सिद्ध मन का उक्त उपाय द्वारा विनाश होने पर भी भावी मनोवृत्ति का कैसे विनाश होगा, तो इस पर कहते हैं।

वासनोच्छेदरूपी विस्मृति से उत्तरकाल में प्राप्त हुए वृत्ति रूप मन का विनाशकर वर्तमान मन का भी कतकरेणु न्याय से मन से ही विनाशकर आप संसार का विच्छेद कीजिये ॥३६॥

यदि कोई शंका करे कि ऐसी अवस्था में भी तत्त्वज्ञानी के जीवन की सिद्धि के लिए जीवन के मूलभूत अविद्यानामक मोह को अवश्य ही मानना पड़ेगा, वही फिर संसार को उत्पन्न करेगा, तो इस पर कहते हैं।

मोह संसार को भूल कर फिर फिर नहीं उत्पन्न होता, भाव यह कि वासनाक्षयरूप विस्मृति होने पर मोह में बीज शक्ति नहीं रह जाती।

शंका : तब संसार ही मोहक्षेत्र में अपने आप उगेगा ?

समाधान : संसार चित्त का विस्मरण कर फिर नहीं उगता। भाव यह कि चित्तसंस्कारोच्छेदरूप विस्मरण होने पर फिर संसार का उद्‌गम नहीं होता ॥३७॥

चित्त और चेत्य इन दोनों के विस्मरण में उनके ऊपर आस्था का त्याग ही उपाय है, ऐसा कहते हैं।

खड़े होते, चलते, सोते, जागते, रहते, उछलते, कूदते यह असत् ही है, ऐसा मन में निश्चय कर इसमें आस्था का परित्याग कीजिये ॥३८॥

आस्था का त्याग करने पर समता भी सिद्ध होती है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, समता का पूर्णरूप से अवलम्बन कर प्राप्त कार्य कर रहे और अप्राप्त कार्य का चिन्तन न कर रहे आप इस लोक में विहार कीजिये ॥३९॥ जैसे महेश्वर पृथ्वी आदि अष्टमूर्तिरूप लिंगों को शुद्ध चिन्मात्रदृष्टि से नहीं धारण करते और जगदाकार में विवर्तित माया के अधिष्ठान होने से

अपने संनिधानमात्र से उन्हें धारण भी करते हैं उससे सर्वकर्ता भी होते हैं वैसे ही आप भी राज्य आदि कार्यों को अन्यथा से केवल संनिधि–मात्र से कीजिये और आत्मा अकर्ता है, इस निश्चय से न भी कीजिये ॥४०॥ नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता। (इससे अन्य द्रष्टा नहीं है, इससे अन्य श्रोता नहीं है।) इत्यादि श्रुति सब शरीरों में आप ही अप्रच्युत स्वभाव हैं, परमार्थ सत् हैं, आप ही जन्मादिविकार शून्य अज है, आप ही सबकी आत्मा हैं एवं आप ही पूर्वोक्त महेश्वर हैं। इस प्रकार के आपने अपने अज्ञान से इस प्रकार इस प्रपंच का विस्तार किया है, दूसरे ने नहीं किया है ॥४१॥

यदि मैंने ही इसका विस्तार किया है, तो इसमें मेरे हर्ष–क्रोध से होनेवाले दोष क्यों होते हैं ? इस पर कहते हैं।

जिस तत्त्वज्ञानी ने सद्रूप आत्मदृश्य की परमार्थसन्मात्र भावना से चारों ओर अन्य कोई वस्तु है, ऐसी भावना का त्याग कर दिया, वह पुरुष हर्ष, क्रोध, विषाद आदिसे होनेवाले दोषों से आक्रान्त नहीं होता, इसलिए आप भी द्वैत की भावना का त्याग कीजिये। जो राग और द्वेष का त्याग कर चुका है, जिसके लिए ढेला, पत्थर और सोना समान है एवं जिसने संसार की वासनाओं का त्याग कर दिया है, ऐसा योगी युक्त कहा जाता है। वह जो कुछ करता है, जो भोजन करता है, जो देता है और जो मारता है, इन सबमें उस मुक्तबुद्धिवाले पुरुष की सुख–दुःख के विषय में समानता रहती है जो इष्ट और अनिष्ट भावना का त्याग कर यह प्राप्त कर्म कर्तव्य ही है, इस बुद्धि से कार्यों में प्रवृत्त होता है, वह कहीं पर भी निमग्न नहीं होता है। हे महामते, यह मैं और जगत चित्तसत्तामात्र ही है, इस प्रकार के निश्चयवाला मन, जिसने भोगचिन्ता का त्याग कर दिया है, शान्ति को प्राप्त होता है।

यह मैं और जगत चित्सत्तामात्र ही है, ऐसा जो ऊपर कहा है, उसका उपपादन करते हैं।

चूँकि मन स्वभावतः जड़ है, अतः स्वतः सिद्ध होने और दूसरे का (अपने विषय का) साधन करने के लिए स्वयं असमर्थ होने के कारण अपनी सिद्धि और अपने विषय के साधन के लिए स्वसाक्षिभूत, स्वप्रकाश, चिद्रूप पारमार्थिक वस्तु का अनुसरण करता है। जैसे कि अपने जीवननिर्वाह के लिए और अपने बच्चों के भरण–पोषण के लिए मांस की अभिलाषा से बिलाव वन में सिंह का अनुसरण करता है। जैसे सिंह का अनुगामी बिलाव सिंह के पराक्रम से प्राप्त मांस खाता है वैसे ही मन चित् के बल से प्राप्त दृश्य का (स्व और स्वविषय का) आश्रय लेता है ॥४२–४८॥ इस प्रकार मन असत्कल्प है, यह बात सिद्ध हुई, यह एक अद्वितीय आत्मा का विस्मरण कर, उसकी जगत के आकार से भावना कर स्वयं जगदाकार हो चित्तत्त्व की कृपा से जीता है, इसलिए आत्मस्मृति को प्राप्त कर फिर चित् भी हो जाता है यानी मनस्ता का त्याग करता है ॥४९॥

मन की प्रकाशशक्ति के समान स्पन्दनशक्ति भी चित् के अधीन है, ऐसा कहते है।

जो जड़ मन शव के तुल्य अचेतन है, वह चिद्रूप दीपिका के बल के बिना कैसे चेष्टा कर सकता है ? ॥५०॥

अतएव चित् में स्पन्दन कल्पना है, वही मन है, ऐसा विद्वानों का प्रतिवाद है यह कहते हैं।

यह शास्त्रज्ञ लोग चित्स्वभाव से सम्बद्ध असन्मय स्पन्दशक्तिरूप कल्पना को चित्त शब्द से कहते हैं ॥५१॥

स्पन्दशक्ति के ही विलास चित्त और चित्तवृत्तियाँ हैं, ऐसा कहते हैं।

जो चित्तरूपी साँप का फुफकारना है, वही यह कलना शब्द से कहा जाता है। मैं चित् ही हूँ, ऐसा जानकर वह कलना शुद्ध चिद्रूपता को प्राप्त होती है ॥५२॥

इससे सिद्ध हुआ कि चित् का चेत्य त्याग ही ब्रह्मतारूप से पर्यवसन्न होना है, ऐसा कहते हैं।

चेत्य से रहित जो यह चित् है, वह सनातन ब्रह्म है और चेत्यसहित जो यह चित् है, वही यह कलना है ॥५३॥

काल द्वारा मनन से यह कलना मन होती है, ऐसा कहते हैं।

जो सच्चिदानन्दरूप है, वही कलना बन कर सदा हृदय में सत् के समान स्थित संकल्प-विकल्प कल्पना होकर यह प्रसिद्ध मन बन जाता है ॥५४॥

नित्य अनुभवस्वभाव ब्रह्म का स्वरूपविस्मरण होने पर कलना ही स्मृतिता को और चित्तता को प्राप्त होती है, ऐसा कहते हैं।

चित्तरूप से प्रसिद्ध यह कलना जभी उदित होती है, तभी वह चित्त्व को भूलकर जड़ के समान स्थित हो जाती है ॥५५॥

अतीत विषयों के आकार की कल्पना से चित्तता के समान अनागत विषयों के आकार की कल्पना से संकल्प-विकल्प का अनुविधान करने के कारण मनस्ता को भी वह प्राप्त हुई है, इस आशय से कहते हैं।

इस तरह दो प्रकार से परिच्छेद को प्राप्त हुई, पूर्व जन्म के इष्ट-अनिष्ट-साधनों का निश्चय कर भावी इष्ट-अनिष्ट साधनता का संकल्प कर हेय-उपादेय धर्मवाली मुख्य वह चिति ही संकल्प को उत्पन्न करनेवाली कलना नामक होगी ॥५६॥ वह चिति ही अपनी मायाशक्ति से जगत्ता को मानों प्राप्त हुई है। जब तक गुरु, शास्त्र और विचारों से वह प्रबोधित नहीं की जाती है, तब तक वास्तविक पूर्णानन्द अद्वितीयरूप ब्रह्म नहीं जाना जाता है ॥५७॥ इसलिए शास्त्रविचार से, उत्कृष्ट वैराग्य से और इन्द्रियों के निग्रह से कलना को कलनारूप जो तीन अवस्थाएँ है, तद्रूप स्वप्न से लौटाये ॥५८॥ शास्त्रजन्यज्ञान से, शम आदि साधनयुक्त मनन और निदिध्यासनों से प्रबुद्ध हुई सब लोगों की कलना ब्रह्मता को प्राप्त होती है, अन्यथा संसार में भ्रमण करती है। रागरूपी मदिरा से मत्त, विषयरूपी गड्ढे में गिरी हुई और आत्मा के अज्ञान से सोई हुई कलना को ही प्रबुद्ध करना चाहिये ॥५९,६०॥

यदि कोई शंका करे कि कलना यदि सोई है, तो जगत को कैसे जानती है अथवा जानने पर प्रसिद्ध चित्स्वभाव से उसमें कौन अन्तर है ? तो इस पर कहते हैं।

जब यह अप्रबुद्ध रहती है, तब जगत का कुछ भी बोध नहीं होता, क्योंकि जगत एकमात्र अज्ञान का विलास है, दिखाई देती हुई भी जगत स्थिति भीतर सांकल्पिकप्रसाद कलना के समान असन्मयी है ॥६१॥

विषयांश का त्याग करने पर बची हुई कलना ही आत्मा है, ऐसा कहने पर वृत्तिज्ञान ही आत्मा है, ऐसा कोई न समझ जाय, इसलिए उसके साक्षी उसके अन्दर स्थित शुद्ध चित् को पृथक् करके दिखलाते हैं।

गन्धशक्ति से मंजरी के समान यह चित्तवृत्तिरूप कलना अन्दर स्थित उस सर्वसाक्षिणी परमदृष्टि से व्याप्त होकर अपने-अपने विषयों के प्रकाशन में समर्थ होती है स्वतः नहीं होती ॥६२॥

यदि वह सर्वसाक्षिणी है, तो तत् तत् अन्तःकरण धर्मों को ही क्यों प्रकाशित करती है, सबको क्यों नहीं प्रकाशित करती है ? तो इस पर कहते हैं।

जो यह नित्यबोधस्वरूप साक्षी चिति है, वह परिच्छिन्न वृत्तिरूप कलना की उपाधि के कारण थोड़ी ही है, इस तरह तीनों जगतों में उन–उन प्राणियों द्वारा वह संकल्पित है, इसलिए थोड़ा ही (तत्तत अन्तःकरणधर्मों को ही) नित्य जानती है ॥६३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, पाषाणतुल्य, जड़ कलना जैसे पद्मिनी धूप से प्रबोधित होती है वैसे ही परम चेतन से ही बोधित होती है ॥६४॥

जो नैयायिक आदि नित्य साक्षी को न जानते हुए पर प्रकाश्य अनित्य ज्ञान को ही अर्थप्रकाशक मानते हैं, उनका बहुत उदाहरणों से उपहास करते हैं।

जैसे पाषाणमयी कन्या को नाचने के लिए कितना भी कहा जाय, पर वह नाचती नहीं वैसे ही यह कलना शरीर में कुछ भी नहीं जानती ॥६५॥

अचेतन अन्तःकरणवृत्ति आदि में नित्यचित् की सन्निधि के अभाव में विषयोन्मुख प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती, उनकी प्रकाशता तो दूर रही, इस आशय से कहते हैं।

क्या कहीं चित्रलिखित राजाओं ने कोलाहल से भरा हुआ युद्ध किया ? क्या चन्द्रमा की किरणों द्वारा वनस्पतियाँ कहीं आप्यायित हुई हैं ? ॥६६॥ खून से लथपथ शरीरवाले मुर्दे कहाँ दौड़े, वन के पत्थर के टुकड़ों ने कहाँ मधुर गीत गाया ? पुरुषों द्वारा पाषाण आदि से निर्मित सूर्यों ने कहाँ रात्रि का अन्धकार दूर किया ? संकल्पमय आकाश वनों से कहाँ छाया की जाती है ? ॥६७,६८॥ पत्थर के तुल्य जड़, मिथ्या भ्रमों से उत्पन्न मृगतृष्णामय इन मनों से कहाँ क्रिया की जाती है ? ॥६९॥

नित्यचिदात्मा का यदि स्वीकार न किया जाय, तो कलना आदि के अध्यास की सिद्धि ही नहीं होगी, ऐसा कहते हैं।

जैसे तेज धूप के तपने पर मृगतृष्णानदी स्फुरित होती है वैसे ही आत्मा के रहने पर ही यह कलना खूब स्फुरित होती है ॥७०॥

चित् की परिच्छिन्न स्पन्दकल्पना ही मन है, ऐसा पहले कहा गया है, अब चित् और अचित् अंश का विवेक होने पर चिदांश के आत्ममात्र होने से जडांश स्पन्दकल्पना ही अवशिष्ट रहती है, इस प्रकार की स्पन्दशक्ति तो प्राण ही है, उसका निरोध करने पर मन नामक अन्य कोई निरोधयोग्य नहीं है, ऐसा कहने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

जो यह स्पन्दित है, उसी को स्वयं अपनी वंचना करनेवाले अज्ञानियों ने मन जाना, उसे आप अन्नमयकोश के अन्दर स्थित प्राणमय कोशरूप वायुओं की शक्ति जानिये ॥७१॥

पूर्वोक्त प्राणशक्ति संकल्प से उत्पन्न हुई है, संकल्परहित योगियों की चिदात्मरूप ही वह पृथक् विद्यमान है, ऐसा कहते हैं।

जिन लोगों की संवित् संकल्पलेशरूप निश्चयों से आक्रान्त नहीं है, उनकी यह संवित्, जिसने विषयाकार की कल्पना नहीं की, परमात्मा की प्रभारूप है ॥७२॥ वही 'यह मैं हूँ' 'यह मेरा है' इस प्रकार जब विषयों की कल्पना करती है, तब स्पन्द के बिना उसमें आक्षेप हो नहीं सकता, इसलिए स्पन्दरूप प्राणतत्त्व के और चिदात्मक आत्मतत्त्व के, जो पृथक्–से हो गये, विवेक न होने के कारण

फिर ऐक्य के अध्यास से जड़संवलितचिद्रूप कलना जीव नाम से कही जाती है ॥७३॥

इसी प्रकार और भी उसकी संज्ञाएँ प्रसिद्ध हैं, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, असत् संकल्प की बुद्धि, चित्त जीव ये संज्ञाएँ विद्वानों द्वारा कल्पित हैं। परमार्थतः वे नहीं हैं ॥७४॥

क्यों परमार्थतः नहीं हैं ? ऐसा यदि कोई कहे, तो इस पर कहते हैं।

चूँकि परमार्थतः न मन है, न यह बुद्धि है और न शरीर है यानी इनसे उपलक्षित दृश्यमात्र नहीं है, केवल एकमात्र आत्मा ही सदा विद्यमान है, क्योंकि दृश्य 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' 'अकायमव्रण–मस्नाविरम्' 'अस्थूलमनषु' इत्यादि सैकड़ों श्रुतियों, विद्वानों के अनुभवों और युक्तियों से बाधित है ॥७५॥

यदि आत्मा ही है, तो वह क्यों नहीं प्रतीत होता अथवा जगद्रूप से कौन प्रतीत होता है ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

आत्मा ही यह सम्पूर्ण जगत है और आत्मा ही कालक्रम है। आकाश से सूक्ष्म होने के कारण नहीं–सा प्रतीत हो रहा वह निर्मल ही है ॥७६॥

कैसे वह नहीं–सा है और कैसे है ही, यह निश्चय हुआ ? इस पर कहते हैं।

स्वच्छ होने के कारण चक्षु आदि की योग्यता में प्रयोजक स्थूलता, नीलता आदि के अभाव से वह असत्–सा प्रतीत होता है और चिद्रूप होने से स्वपरप्रकाशक होने के कारण वह सत् है, अतएव सर्वपदातीत आत्मा केवल अपने अनुभव से ही प्रतीत होता है न कि इन्द्रियों से ॥७७॥

स्थूलता आदि के अभाव से अन्य इन्द्रियाँ उसमें भले ही प्रवृत्त न हों ; पर मन तो सूक्ष्म होने के कारण अर्थनिर्णय हेतु रूप से प्रसिद्ध है, वह उसमें क्यों न प्रवृत्त होगा ? इस पर कहते हैं।

जहाँ पर परमात्मसंवित् है, वहाँ पर मन क्षीण हो जाता है। जहाँ पर प्रकाश रहता है, वहाँ पर अन्धकार क्षीण हो जाता है। भाव यह कि ठीक है मन उसमें प्रवृत्त होता, यदि उसके दर्शन के समय में ही वह स्वयं नष्ट न हो जाता। मन अज्ञान का कार्य है, अतः आत्मसाक्षात्कार की वृत्ति का उदय होते ही अविद्या के साथ वह तुरन्त नष्ट हो जाता है, अतः मन में आत्मदर्शन योग्यता नहीं है ॥७८॥

तब कहाँ पर मन की वृत्तिशक्ति है ? इस पर कहते हैं।

जिस अवस्था में अत्यन्त स्वच्छ आत्मरूप संवित् के बाह्य अर्थ संकल्पवश बाह्यविषयाकाररूप से उत्पन्न होने के कारण प्रकाश्यरूप से अभिमत होते हैं, वहाँ पर पारमार्थिक आत्मा का विस्मरण और चित्त से उत्पन्न हुआ मिथ्या पदार्थों का दर्शन प्रसिद्ध है ॥७९॥

अपनी उत्पत्ति का विरोधी होने से भी मन की आत्मदर्शन में शक्ति नहीं है, ऐसा कहते हैं।

परम पुरुष की जो संकल्पमयता है, वही चित्त शब्द से कही जाती है। असंकल्प से चित्त का अभाव होता है, उससे मुक्ति होती है। भाव यह है कि जिसकी उत्पत्ति संकल्पमयता के अधीन है, वह भला संकल्पों के क्षय से उपलक्षित मोक्षरूप आत्मा में कैसे प्रवृत्त होगा ? ॥८०॥

इसलिए संकल्प चित्त की उत्पत्ति में बीज है, यह हम बहुत बार कह आए है, ऐसा कहते हैं।

संसार की उत्पत्ति के लिए संकल्पता को प्राप्त हो रहे आत्मा का चित्स्वभाव से जो थोड़ा–सा

विचलन होना है, वही चित्त के जन्मका कारण है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥८१॥

पूर्वोक्त विषय को ही स्पष्ट करके कहते हैं।

निर्विकल्प चित्त से प्रच्युत हुई, संकल्परूप कलंक से कलंकित सत्ता कलना कही जाती है। जैसे स्त्री आदि की संकल्पना से पुंसत्व उद्‌बुद्ध होता है, वैसे ही उक्त कलना से मन जगत की उत्पत्ति के लिए प्रबुद्ध होता है ॥८२॥

'यदेतत्स्पन्दितं नाम' इत्यादि से जो विषय प्रस्तुत किया, उसका प्रयोजन कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे दर्पण आदि पदार्थ का प्रतिबिम्ब उसके नष्ट होने पर तुरन्त नष्ट हो जाता है वैसे ही प्राणशक्ति के निरुद्ध होने पर मन लीन हो जाता है, क्योंकि जैसे प्रतिबिम्ब दर्पण का प्रतिरूप है वैसे ही यह मन भी प्राणरूप ही है ॥८३॥

प्राणरूप ही मन है, यह कैसे ज्ञात हुआ ? इस पर कहते हैं।

जीवित पुरुष मन के दूर देशान्तर के अनुभव को हृदय में स्थित जानता है यानी उस दूर देश के अनुभव मेरे हृदय में है, ऐसा अनुभव करता है। मन के साथ दूर देश का सम्बन्ध स्पंद के बिना नहीं हो सकता और वेदनांश चित्सम्बन्ध के बिना नहीं हो सकता; अतएव स्पंदन और वेदन दो शक्तियों के योग से प्राण ही मन कहा जाता है ॥८४॥

इस प्रकार प्राण के निरोध से मनो–निरोध की सिद्धि के लिए दोनों की एकता का प्रतिपादन कर निरोध का उपाय बतलाते हैं।

वैराग्य से, प्राणायाम के अभ्यास से, समाधि से, चित्त के बाह्यविषयों में गमनरूप दुरभ्यास के विनाश से और परमार्थ–तत्त्व के ज्ञान से प्राणवायु का निरोध किया जाता है ॥८५॥

अब 'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणः' इस श्रुति के अनुसार भिन्न उपादानवाले प्राण और मन भिन्न हैं, इस पक्ष में भी मन में स्वतःस्पन्दशक्ति और चित्‌शक्ति का अभाव होने से वे दोनों प्राण और चिदात्मा के अधीन ही हैं, इसलिए प्राण का निरोध होने पर मन के निरोध की उपपत्ति हो गई। इस आशय से कहते हैं।

शिला में भी कदाचित् चलनशक्ति और ज्वलनशक्ति हो सकती है, किन्तु मन की स्पन्द में और वेदन में शक्ति नहीं है ॥८६॥

तब वे शक्तियाँ किसकी है, यह आशंका होने पर कहते हैं।

स्पन्दन प्राणवायु की शक्ति है, वह चलद्रूप और जड़ ही है। चित्‌शक्ति आत्मा की है, वह सर्वदा स्वच्छ और सर्वगामी है। चित्‌शक्ति और स्पन्दशक्ति का जो सम्बन्ध है, वही मन है। मिथ्या ही वह उत्पन्न हुआ है, अतएव मिथ्याज्ञान कहा जाता है। यही कार्य अविद्या है, यही माया शक्ति कही जाती है, यही संसारादिरूप विष देनेवाला वह परम अज्ञान है ॥८७–८९॥ चित्‌शक्ति और स्पन्दशक्ति की संगति में यह संकल्प–कल्पना निमित्त है, संकल्प–कल्पना यदि न की जाय, तो ये संसार भीतियाँ परिक्षीण हो जाती हैं ॥९०॥ वायु की जो स्पन्दशक्ति है, वह चित् से चेतन बनाई जाती है, चेत्यसहित वह चित् तभी संकल्प से चित्तता को प्राप्त हो जाता है ॥९१॥ चित्त की यह चित्तता बाल के यक्ष के समान मिथ्या कल्पित है, क्योंकि जिसमें अखण्डमण्डलाकार रूप स्पन्द नहीं है, ऐसा चित् ही परमार्थरूप

है। उक्त अखण्डपूर्णरूप यह चित्तस्वभावता चित् से अन्य किससे खण्डित होगी ? भला अखण्डशक्तिवाले इन्द्र का युद्ध किसके साथ हो सकता है ? ॥९२,९३॥ इसलिए सम्बन्धी न होने के कारण सम्बन्ध यहाँ नहीं है, सम्बन्ध के बिना मन किसका और कैसे सिद्ध हो ? भाव यह कि अचित् का चित् के साथ विरोध है, विरोध होने पर चित्सत्ता से बाधित स्थितिवाला होने से मन क्या पदार्थ होगा ? यदि जड़ मन भी अपनी सत्ता में अन्यनिरपेक्ष, स्वतः सिद्ध कहा जाय, तो उसका अनुभव करनेवाले उसके सम्बन्धी अन्य चेतन का अभाव होने से चित्सम्बन्ध के बिना वह मन किसका और कैसे सिद्ध होगा ? अनुभव में आरूढ़ न होने पर अलीक (झूठा)–पुष्प और मन का क्या अन्तर होगा ? ॥९४॥

इस प्रकार चित् और स्पन्द के भेद पक्ष में मन की अलीकता कह कर अभेद पक्ष में तो वह सुतरां अलीक है, ऐसा कहते हैं।

चित् और स्पन्द का अभेद होने पर तो मन नाम की वस्तु की सम्भावना ही क्या है ? भला बताइये, हाथी, घोड़े के सम्मर्द के बिना सेना ही क्या हुई ? ॥९५॥ इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, दोनों पक्षों में मन का सम्भव न होने से तीनों जगतों में दुष्टात्मा मन है ही नहीं। ऐसे निश्चय से ही मनोनाश होता है ॥९६॥ हे अनघ, अनर्थ के लिए व्यर्थ मन का संकल्प आप मत कीजिये। मन मिथ्या ही उदित हुआ है, परमार्थतः वह यहाँ पर है ही नहीं ॥९७॥ हे महामते, कहीं पर आप अपने मन में कुछ भी संकल्प न कीजिये, क्योंकि संकल्प करनेवाला मन यहाँ कहीं पर है ही नहीं ॥९८॥ हे मननशील श्रीरामचन्द्रजी, सम्यक् ज्ञान से आपके हृदयरूपी मरुभूमि में असम्यक् ज्ञान से उत्पन्न हुई मृगतृष्णारूपी कल्पना शान्त हो गई है ॥९९॥ जड़ होने से और स्वरूपहीन होने से मन सदा ही मरा है, मरे हुए मन से लोग मारे जाते हैं, यह चक्रवात घूमती हुई मूर्खता की परम्परा बड़ी ही विचित्र है ॥१००॥ जिसका न स्वरूप है, न शरीर है, न कोई आधार है और न जाति ही है वह इन सबको खा डालता है, यह बड़ा अद्भुत मूर्खतारूपी जाल है ॥१०१॥ जो पुरुष सब प्रकार की सामग्रियों से रहित मन से भी मारा जाता है, उसें मैं जिसका सिर नीलकमल की पँखुड़ियों से चूर–चूर किया गया, ऐसा समझता हूँ ॥१०२॥ जो पुरुष जड़, मूक और अन्धे मन से भी मारा गया, वह मूढ़ चन्द्रमा की किरणों से जलता है, ऐसी मेरी समझ है ॥१०३॥ विद्यमान और शत्रु को जीतने की सब सामग्री से सम्पन्न होने पर भी मूढ़ पुरुष अविद्यमान मन से अभिभूत होता है और विवेकी पुरुषों द्वारा वैराग्य आदि महाप्रयास– साध्य साधनों से और योग, ध्यान, समाधि–अभ्यास, साक्षात्कार के उपायों से अविद्यमान ही मन का नाश किया जाता है, यह सब कल्पना मिथ्या ही उदित हुई है, वास्तविक नहीं है। मिथ्या संकल्प से कल्पित, मिथ्या ही स्थिति को प्राप्त हुआ, खोजने पर भी जो दृष्टिगोचर नहीं हुआ, उसकी लोगों के ऊपर आक्रमण करने की क्या शक्ति है ? ॥१०४,१०५॥ महामायावी–रूप से प्रसिद्ध मयासुर का भी निर्माण करनेवाली यह माया अत्यन्त अद्भूत है, जिससे एक अत्यन्त चंचल चित्त से भी ये लोग अभिभूत हो रहे है ॥१०६॥ जब मूर्खता आती है, तब पुरुष सभी आपत्तियों का भाजन होता है, इसमें तनिक भी विवाद नहीं है, क्योंकि मूर्ख को कौन आपत्ति नहीं है, अर्थात् सभी आपत्तियाँ है, देखिये अज्ञानी ने ही मूर्खता दुष्कर्म आदि द्वारा इस सृष्टि को उत्पन्न किया है जो सब आपत्तियों की खान है ॥१०७॥ बड़े क्लेश की बात है, यह सृष्टि मन, देह आदि की दुर्बुद्धि करके मूर्खता के वशीभूत है यानी मूर्खता से पीड़ित है, फिर भी इस प्रसिद्ध जीव द्वारा असन्मार्गानुवर्तन से उत्तरोत्तरदुःख के लिए प्राप्त

की जाती है। भाव यह है कि अन्ध के तुल्य जड़ मन आदि की स्वभाविक मूर्खता से पीड़ित प्रपंच का पुनः उसके दुःख को जाननेवाले जीव से पीड़न अत्यंत अनुचित है॥१०८॥ यह मूर्खतामयी सृष्टि अविचारमात्र से सिद्ध है, अतएव एकमात्र विचार से इसका बाध किया जा सकता है, जैसे जल अपने द्वारा कल्पित तरंग के प्रवाह से छोटी–छोटी बूँदों में विभक्त होता है, यह भ्रान्ति विचार–मात्र से नष्ट होती है। वैसे ही यह सृष्टि की भ्रान्ति भी विचारमात्र से नष्ट होती है॥१०९॥ वही जल जहाँ पर भँवरी होती है, वहाँ पर नीलांजन के तुल्य वर्णवाला, बीच में छेद से युक्त, पीसने के यन्त्र से मानों चूर–चूर किया जाता है, फिर वही जल जहाँ पर काँपा है, वहाँ पर मण्डल से पूर्ण चन्द्रमा के किरण–स्पर्श से मानों उन्मत्त होता है, इस प्रकार की जैसे भ्रान्ति होती है, वैसे ही यह भी भ्रान्ति है॥११०॥ शत्रुओं से केवल देखा गया पुरुष नेत्रों से रची गई रस्सियों से मानों बाँधा जाता है और संकल्प–मात्र से रची गयी शूर–वीर सेनाओं से मानों वह रंजित होता है, इत्यादि भ्रान्ति के तुल्य ही यह भ्रान्ति है॥१११॥ इसलिए अत्यन्त कोमल होने के कारण यह सृष्टि कहीं पर भी स्थित नहीं हुए, व्यर्थ कल्पित, द्वितीय कृपण मन से नष्ट होती है। यह मूर्खलोकमयी सृष्टि असत् उदित हुए मन के सिवाय कुछ भी नहीं है। जो पुरुष उसको वश में करने के लिए समर्थ नहीं है, हे श्रीरामचन्द्रजी, वह आध्यात्मिक शास्त्र के उपदेश के योग्य नहीं है॥११२,११३॥ क्योंकि उस पुरुष की बुद्धि चारों ओर से विषयों में ही आरूढ़ है, उसीसे ही वह परिपूर्ण–सी स्थित है, अतएव वह प्रत्यक् नहीं होती, इसलिए सूक्ष्म पदार्थों के विचारों में वह समर्थ नहीं है, अतः अध्यात्मशास्त्र के उपदेश के योग्य नहीं है॥११४॥ वीणा की तन्त्री मधुर ध्वनि से भी यह डरती है। निद्रायुक्तबन्धु की भी मुखकान्ति से डरती है। भाव यह है कि धैर्य के हेतुओं का अभाव होने से वह सबसे डरती है। वंचक पुरुषों द्वारा 'यह तुम्हारा शत्रु आया', इस प्रकार ऊँचे स्वर से कहे गये अविद्यमान शत्रु से भयभीत होकर भागती है। बहुत क्या कहें अपने ही मन से भी यह विवश (भयभीत) की गई है, अन्य से तो कहना ही क्या है?॥११५,११६॥

अब पूर्वोक्त दुष्प्रज्ञा भले ही डरे, तथापि उसके कारण पुरुष का व्यामोह उचित नहीं है, इस प्रकार पूर्व प्रस्तुत ही उपसंहार करते हैं।

उक्त दुष्प्रज्ञा विषमिश्रित लड्डु के आस्वादलेशरूप विषयसुख लेश से मरणासन्न–सी विवश, शत्रु के समान प्रहार कर रहे हृदयगत चित्त से ही सन्तापित और विवेकबुद्धि से रहित है, अतः वह सत्य वस्तुको बिलकुल नहीं जानती। इस प्रकार की भी उस प्रज्ञा से पुरुष व्यर्थ ही मोहित हुआ है। भाव यह है कि स्वच्छ चित्तवाले और स्वजनों से संतप्त विवेकबुद्धिवाले और सत्य स्व–रहस्य को जाननेवाले शत्रु से मोह होना ठीक है, किन्तु उससे विपरीत दुष्प्रज्ञा से मोह होना ठीक नहीं है॥११७॥

तेरहवाँ सर्ग समाप्त

चौदहवाँ सर्ग

विविध योनियों में दुःख पा रहे, उपदेश के अयोग्य लोगों की उपेक्षा कर
उपदेश के योग्य लोगों के लिए मन के मार्जन के उपाय का वर्णन।

मन एवाऽसदुत्थितम्। यःशक्तो न वशीकर्तुं नाऽसौ रामोपदिश्यते। इस प्रकार पहले प्रस्तुत उपदेश के अनधिकारीजनों का ही उपेक्ष्यरूप से वर्णन करते हैं।

हे मान देनेवाले श्रीरामचन्द्रजी, संसाररूप सागर के निःसार कल्लोलरूप विषयसुखाभिलाषाओं से निरन्तर कर्म में प्रवृत्त की जा रही जिस जनता ने मन के निग्रह, विवेक, वैराग्य आदिके विषय में अपेक्षा न होने से विद्वानों को पाकर भी प्रश्न प्रार्थना आदि न कर मति की मूकता का ही अवलम्बन किया, वह जनता मेरे द्वारा आत्म-लाभ के उपायों से भरे हुए, उत्कृष्ट-कला से युक्त इन विचार वचनों से इस जगत में शास्त्र का उपदेश नहीं पा सकती ॥१,२॥ नेत्र के रहने पर भी जो दूरदृष्ट को, द्वेष आदि से सदा नहीं देखता, कौन दुर्मति पुरुष उसे विचित्र चिड़ियों से चित्रित वन को दिखला सकता है ? *(जो स्वयं नहीं देखता उसे दिखलाना अनुचित है, यह सूचन करने के लिए 'योऽन्यः' ऐसा कहने के बदले 'अत्यर्थं न पश्यति' यह कहा)* ॥३॥

कौन दुर्बुद्धि पुरुष कुष्ठरोग से छिन्न-भिन्न, घर्घर शब्द करनेवाली नासिका से युक्त पुरुष को विविध सुगन्धों की परीक्षा में सुगन्धतत्त्व का निर्णायक बनायेगा ? वैसे ही कौन अबुद्धि पुरुष आत्मोपदेश द्वारा मूर्ख को प्रामाणिक बनायेगा ? ॥४॥

कौन अबुद्धिपुरुष मदिरा के नशे से जिसकी आखें चढ़ी हो, अतएव जिसकी इन्द्रियाँ अपना कार्य करने में असमर्थ हों, ऐसे मत्तपुरुषको धर्म तत्त्व के निर्णय में साक्षीरूप से प्रमाणित करेगा ? ॥५॥ कौन पुरुष श्मशान में पड़े हुए शव से सन्देह होने पर जन-समूहों की सैकड़ों कथाएँ पूछेगा ? वैसे ही कौन मूर्ख को उपदेश देगा ! यानी मूर्ख को उपदेश देना श्मशान में पड़े हुए मुर्दे से जन समूहों से सम्बन्ध रखनेवाली कथा पूछने के तुल्य व्यर्थ है ॥६॥ जो हृदयरूपी बिल में स्थित मनरूपी गूंगे और अन्धे साँप को नहीं जीत सका, उस दुर्बुद्धि को किस प्रकार उपदेश दिया जा सकता है ? ॥७॥ वस्तुतः जो है ही नहीं, उस मन को आप जीता हुआ ही जानिये। जो शिला है ही नहीं, वह अपने निकट से सुतरां दूर निरस्त ही है ॥८॥ जिस दुर्बुद्धि पुरुष ने अविद्यमान मन पर विजय प्राप्त नहीं की, वह विष खाये बिना ही विष की मूच्र्छा से मरता है ॥९॥

'वस्तुतो यन्न विद्यते' ऐसा जो पहले कहा, उसकी उपपत्ति कहते हैं।

ज्ञानी आत्मा सदा ही देखता है, स्पन्द में प्राण -शक्तियाँ समर्थ हैं, इन्द्रियाँ अपने धर्मों में समर्थ हैं; हे श्रीरामचन्द्रजी, भला मन नामक वस्तु क्या कही जाती है। भाव यह कि क्या पदार्थों की प्रसिद्धि के लिए मन माना जाता है अथवा स्पन्द के लिए या ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के प्रयोजन की सिद्धि के लिए ? प्राणप्रेरित इन्द्रियों से समीप में लाये गये पदार्थों की प्रसिद्धि साक्षी से ही हो सकती है, इसलिए मन का कोई प्रयोजन नहीं है ॥१०॥

यदि कोई कहे सब शक्तियों से बँधा हुआ मन क्यों नहीं माना जाता ? तो इस पर यह उक्ति विवेक करने पर संगत नहीं होती, क्योंकि वीणा की मधु ध्वनि के समान शक्तियों के समुदाय से ही समुदित व्यवहार की सिद्धि हो सकती है, इस आशय से कहते हैं।

प्राणों की स्पन्दन शक्ति है, परमात्मा की ज्ञान-शक्ति है और इन्द्रियों की पृथक् पृथक् अपनी शक्तियाँ हैं भला उनसे यहाँ एक कौन बाँधा जाता है ? भाव यह है कि जैसे किसी समाज में स्नान, दान, गान, स्तुति, आदि नाना व्यवहार किसी एक सर्वशक्तिमान पुरुष से सम्पन्न नहीं होता, उसी तरह यहाँ भी सब व्यवहार एक-से ही नहीं हो सकता ॥११॥

यदि कोई कहे कि समुदाय किसी समुदायकर्ता अन्य के लिए ही होता है, ऐसा नियम है, अतः यहाँ पर भी कोई संघात–कर्ता अपेक्षित है ? तो इस संघात के भी जगद्रूप संघात के मध्यवर्ती होने के कारण सबकी सब व्यवहार शक्तियाँ सबके निर्माण– कर्ता आत्मरूप परमेश्वर की ही किरण रूप हैं। अतः यह संघात भी उन्हीं के लिए सिद्ध होगा, अचेतन मन के लिए नहीं, इसलिए प्रतिशरीर भिन्न चेतन मन की सिद्धि नहीं हुई, इस आशय से कहते हैं।

ये सब व्यवहारशक्तियाँ सर्वशक्तिमान परमात्मा की ही किरणें हैं। मन आदिशब्द वाच्यता एवं पृथक्ता आपकी कहाँ से उदित हुई ? ॥१२॥

अच्छा, चेतन जीव इसका अधिष्ठाता हो, वह चित्तरूप लगाम के बिना इन्द्रियरूपी घोड़ों को काबू में रखने के लिए समर्थ नहीं हो सकता, इसलिए चित्त भी सिद्ध हो ही गया, ऐसा यदि कोई कहे, तो उस पर कहते हैं।

जीवरूप से जो कहा गया है, उसको और जिसने इस जगत को अन्ध बना डाला है उस चित्त को भी आप असत् ही जानिये, उसकी कौन शक्ति है ? *भाव यह है कि 'जीवति' और 'चित्तमेव च' यों आपने जो दो कहे हैं, वे क्या है, क्या आत्मा से भिन्न कोई अन्य चेतन हैं या अचेतन हैं ? प्रथम पक्ष तो बन नहीं सकता, क्योंकि ' नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता इस श्रुति से ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य चेतन का निषेध है।* दूसरे पक्ष में अचेतन को चेतन पदार्थ की आवश्यकता होने से इन्द्रियों से उसमें कोई अन्तर नहीं रहा, अतः इन्द्रिय अधिष्ठानशक्ति उसमें नहीं हो सकती है। इस सब हेतुओं से आप उन दोनों को असत् ही जानिये ॥१३॥ अपने से कल्पित मन से जिनकी परमार्थ दृष्टि जल गयी है, उन लोगों की दुःख परम्परा को देखकर मेरी करुणा से सराबोर मति मानों व्यामोह (घबराहट) को प्राप्त हो जाती है क्योंकि उनकी दुःखनिवृत्ति का उपाय खोजने पर करोड़ों वर्षों में भी नहीं मिल सकता ॥१४॥

जिस दुःख का कोई निमित्त होता है, उस दुःख का, निमित्त के निवारण से, निवारण किया जा सकता है, मूर्खों का दुःख तो निर्मित है, अतः उसका निवारण नहीं हो सकता, इस आशय से कहते हैं।

यहाँ पर दूसरा कौन है ? जिससे मूर्ख को खेद होता है ? जिससे कि मूर्ख सन्तप्त होता है। गधे और मूर्ख दुःख के लिए ही उत्पन्न होते हैं इनके लिए शोक करना ठीक नहीं है, क्योंकि इनके सदृश असंख्य मूढ़ योनियाँ दिखाई देती हैं उनके समान ही ये भी उपेक्षणीय हैं ॥१५॥ निरन्तर पैदा होनेवाले जड़, पापी, दुर्बुद्धि सागर से बुद्बुदों की तरह विनाश के लिए ही विविधयोनियों में पैदा होते हैं ॥१६॥ देखिये, प्रत्येक देश में प्रतिदिन पशु हिंसा स्थान में नियुक्त लोगों द्वारा कितने पशु मारे जाते हैं, इसमें कौन–सी विलाप करने की बात है ? ॥१७॥ भूमि में उत्पन्न होनेवाले जीवों में से डाँसों और मच्छरों का प्रतिदिन वायु संहार कर डालता है, इसमें कौन–सा शोक है ? ॥१८॥ प्रत्येक दिशा में हर एक वन में बड़े–बड़े पर्वतों पर शबर आदि लाखों मृगों को मारते हैं, इसमें भला विलाप की क्या गुंजाइश है ? ॥१९॥ निर्दय बड़ी मछली जल में छोटे छोटे अनेक अनेक जलजीवों को अपने आहार के लिए काटती है। इसमें कौन–सा शोक है ॥२०॥

अब बलवानों द्वारा दुर्बलों के पीड़न का परम्परा द्वारा उपपादन करते हैं।

भूखी मक्खी परमाणु कण के समान सूक्ष्म लीख को खाती है, उसको भूखी मकड़ी खा जाती है,

चंचल मकड़ी को भी जंगली डाँस खा डालता है, उस डाँस को मेढक खा डालता है। मेढक को भी साँप निगल जाता है, भयंकर साँप को गरुड़ मार डालता है और नेवला काट डालता है, नेवले को बिलाव मार डालता है और बिलाव को कुत्ता काट डालता है, कुत्ते को भालू मार डालता है, भालू को बाघ मार डालता है, बाघ के ऊपर सिंह आक्रमण करता है और शरभ नाम का मृग सिंह को खा डालता है, गरज रहे मेघ के अपने ऊपर चलने पर उसको सहन न करने से उछलकर पत्थरों की चट्टानों पर गिरने के कारण मेघ द्वारा शरभ नाश को प्राप्त होता है, मेघ वायुओं से उड़ाये जाते हैं, वायु पर्वतों से जीते जाते हैं। पर्वत वज्र से चूर-चूर किये गये हैं, वज्र भी इन्द्र का वशीभूत है, इन्द्र को विष्णु बनाते हैं, विष्णु भी सुख-दुःख दशाओं से भरी हुई, जरा-मरण से अपने भोज्य अन्न के समान पालित जन्तुता को प्राप्त होते हैं और जन्तु भी, जो महाकाय है और विद्या तथा आयुधों से युक्त है, तथापि लीख, मच्छर, खटमल, मक्खी आदि शरीर में लगे हुए जीवों से खाये ही जाते हैं। इस प्रकार आधिभौतिक दुःखों से चारों ओर छिन्न-भिन्न, आध्यात्मिक और आधिदैविक दुःखों से जर्जरित जीव व्यर्थ मोहवश परस्पर खाया जाता है और आगे खाने के लिए कुछ अंश में रक्षित भी होता है। विविध भूतों की जातियाँ निरन्तर नष्ट होती हैं और निरन्तर लीखें, जुएँ, चीटियाँ आदि बहुत से जीव उत्पन्न होते हैं। जल में मछली, जलहाथी, मगर आदि जीव पैदा होते हैं, भूमि के अन्दर बिच्छू आदि कीड़ों के समूह उत्पन्न होते हैं, आकाश में भी आकाश पक्षी ( ) आदि उत्पन्न होते हैं एवं वन पंक्तियों में सिंह, व्याघ्र, मृग आदि पैदा होते हैं ॥२१-३१॥ प्रत्येक दिशा में प्राणियों के शरीरों में भी कीड़े, जुएँ आदि विचित्र जीव पैदा होते हैं, वृक्ष आदि स्थावर जीवों में घुन, भ्रमरी के आकार के अन्य काष्ठ जीव आदि उत्पन्न होते हैं, शिलाओं के अन्दर भी कीड़े, मेढक, घुन आदि जीव उत्पन्न होते हैं और विष्ठा में भी भाँति-भाँति के कीड़े उत्पन्न होते हैं ॥३२,३३॥ इस प्रकार असंख्य जन्मों और मरणों में करुणावान लोग सदा प्रसन्न होवें चाहे रोएँ। किन्तु इस संसाररूपी भ्रम में, जिसमें निरन्तर मृत्यु और निरन्तर उत्पत्ति है, न तो प्रसन्नता उचित है, न तो दुःखिता ही उचित है। भाव यह कि द्वेष न होने के कारण दूसरे की पीड़ा के अभिनन्दन की तरह स्नेह न होने के कारण दूसरे की पीड़ा के लिए रोदन भी ठीक नहीं है, किन्तु उपेक्षा ही उचित है। इस प्रकार प्राणियों की प्रचुर जन्मवाली ये पंक्तियाँ वृक्ष के पत्तों के तुल्य व्यर्थ ही उत्पन्न हो-होकर लीन हो जाती हैं ॥३४-३६॥ जो पुरुष दयालु बनकर कुबुद्धि लोगों के दुःख को दूर करने के लिए प्रवृत्त हुआ, वह सारे आकाश को अपने छाते से तापरहित करने के लिए परीश्रम करता है यानी कुबुद्धियों के दुःख को दूर करना अपने ऊपर ताने हुए छाते से सारे आकाश के ताप को दूर करने की तरह असम्भव है ॥३७॥

संसार में पशु-पक्षी सरीखे लोगों को उपदेश देना उचित नहीं है। भला वन में ठूँठ के निकट कथा का अर्थ कहने से कौन प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ? ॥३८॥ जिन्होंने अपने मन को विषयों में फैला रक्खा है, उन मनुष्यों और पशुओं में क्या अंतर है ? पशु रस्सी से खींचे जाते हैं और मूढ़चित्तवाले

( ) आकाश पक्षी : एक प्रकार के छोटे-छोटे पक्षी। वे सदा आकाश में ही घूमते हुए ही बच्चे देते हैं। उत्पन्न हुए अण्डे को नीचे गिरने के पहले ही तोड़कर निकले हुए बच्चे तुरन्त पंखवाले हो जाते हैं और वे भी आकाश में ही उड़कर घूमते हैं, यह लोक प्रसिद्ध है।

पुरुष मन से खींचे जाते हैं। अपने चित्तरूपी कीचड़ में फँसे हुए और अपने नाश के लिए कर्म का आरम्भ करनेवाले मूर्खों की आपत्तियों को देखकर पत्थर भी रोते हैं चेतनों की तो बात ही क्या है ? जिन लोगों ने अपने चित्त पर विजय प्राप्त नहीं की, उनकी सब देशों में सदा दुःख देनेवाली दशाएँ भरी हुई हैं, इसलिए बुद्धिमान पुरुष उनके मार्जन में प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि उनका मार्जन समस्त भूमि की धूलि के माजर्न के समान असम्भव है ॥३९–४१॥ हे श्रीरघुनन्दन, जिन लोगों ने अपने चित्त पर विजय प्राप्त कर ली है उनके दुःख को दूर करना सरल है, इसलिए ज्ञानी पुरुष दुःख मार्जन में प्रवृत्त हो ॥४२॥

प्रसंग प्राप्त अधिकारी विचार को समाप्त कर प्रस्तुत विषय का ही अनुसरण करते हुए कहते हैं।

हे महाबाहो, मन नहीं है, वृथा आप उसकी कल्पना न कीजिये। जैसे कल्पित वेताल से बालक मारा जाता है वैसे ही कल्पित मन से आप मारे जाते हैं ॥४३॥

यदि मन नहीं है, तो प्रतियोगी की असिद्धि होने से उसके निषेध का अवसर ही नहीं है। ऐसी यदि कोई शंका करे तो इस पर कहते हैं।

जब तक आत्मतत्त्व को भूले हुए आप मूढ़ हुए थे, तभी तक आपका मनरूप सर्प उदित हुआ था ॥४४॥ हे शत्रुनाशन, इस समय आप परमार्थ आत्मरूप को जान चुके हैं। संकल्प से चित्त की अभिवृद्धि होती है; इसलिए आप संकल्प का ही शीघ्र परित्याग कीजिये ॥४५॥

अब बन्ध और मोक्ष का रहस्य कहते हैं।

यदि आप इस दृश्य का अवलम्बन करते हैं, तो आप चित्त युक्त और बंधनवाले हैं। यदि आप इस दृश्य का त्याग करते हैं, तो आप चित्तशून्य और मोक्षवान हैं ॥४६॥

यदि कोई प्रश्न करे, यह दृश्यतत्त्व क्या है, तो इस पर कहते हैं।

इस त्रिगुणात्मक मायामय प्रपंच का आश्रय बन्धन के लिए ही है। यदि इसका त्याग किया जाय तो संसार के मोक्ष के लिए होता है। बन्धन और त्याग के विषय में जैसी आपकी अभिरुचि हो, वैसा कीजिये ॥४७॥ 'अहम्' यानी आन्तरदृश्य और 'इदम्' यानी बाह्य दृश्य है ही नहीं, इस प्रकार ध्यान कर रहे, अनन्त आकाश के तुल्य विशाल हृदयवाले, आत्मरूप आप पर्वत के समान निश्चल हो स्थित होइये। हे श्रीरामचन्द्रजी, आप आत्मा की और इस जगत की 'मैं' और 'यह' इस प्रकार की भेदमयी कलना का सर्वथा परित्याग कर ब्रह्मनिष्ठ हो स्थिर होईये ॥४८,४९॥

यदि कोई कहे, उन दोनों का कलना का त्याग करने पर कौन वस्तु अवशिष्ट रहती है, जिसमें आप स्थिति का उपदेश देते हैं, तो इस पर कहते हैं।

द्रष्टा और दृश्य दशाओं के मध्य में एवं आत्मा और जगत के मध्य में यानी त्रिपुटी में अनुस्यूत, सन्मात्ररूप, दर्शननामक त्रिपुटी के साक्षी स्वभाव में स्थित अपने स्वरूप की सर्वदा भावना कीजिये ॥५०॥

चाक्षुष त्रिपुटी की भाँति आसन आदि त्रुटियों में भी उस साक्षी का ही ध्यान करना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

आस्वाद्य और आस्वादक से परित्यक्त और स्वाद्य और स्वादक के मध्य में स्थित केवल स्वादन का ध्यान करते हुए आप सदा आत्ममय होइये ॥५१॥

अनुमति आदि अन्य अनुभवों में भी ऐसा ही समझना चाहिये, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, अनुभव करने योग्य और अनुभव-कर्ता के विषयभूत त्रिपुटी अंश से व्यतिरिक्त मध्य का (उसके साक्षी का) अपने हृदय में अवलम्बन करके आप स्वयं स्थित होइये। भव की भावना यानी संस्कारवश संसार के दर्शन (स्वप्नदशा से) शून्य, भावदशा (जाग्रत्दशा) और अभावदशा (सुषुप्ति) से रहित आत्मा का इस प्रकार भाव कर रहे आप स्वयं आत्मनिष्ठ होइये। हे श्रीरामचन्द्रजी, शुद्ध चिन्मात्र स्वभाववाली आत्मसत्ता का प्रमादवश त्याग कर रहे आप जो स्वयं चेत्य की भावना करते हैं, तब आप अतिदुःख देनेवाली चित्तता को प्राप्त होते हैं। हे महाबाहो, इस चित्तरूपी कड़ी को स्वरूपज्ञान युक्ति से तोड़कर चित्तरूप पिंजड़े से आत्मारूपी सिंह को मुक्त कीजिये। जब आप परमात्मदशा का त्याग कर तेजी से चेत्य की ओर गिरते हुए संकल्प को प्राप्त होते हैं, तब चेत्य को देखते हैं ॥५२-५६॥

कैसे चेत्य की ओर जीव गिरता है, उससे कैसे संकल्पों को प्राप्त होता है और कैसे संकल्प का क्षय होता है, ऐसा यदि कोई कहे, तो उस पर यह कहते हैं।

जब चित्त-पूर्व अनुभव से उत्पन्न दृश्य संसार के उद्‌बुद्ध होने पर चित्त ही कुछ स्थूलता को प्राप्त चित् है, इस ज्ञान से आत्मा से व्यतिरिक्त सिद्ध होता है तब पुनःपुनः मनन से दृश्य संकल्प करने में समर्थ हो मन होता है और वही दुःखी है। अपने से अतिरिक्त मन है, इस संवित् के त्याग से तो वह नष्ट हो जाता है ॥५७॥ यह सम्पूर्ण जगत आत्मा ही है, अन्दर ऐसे ज्ञान का उदय होने पर उपहित चित्तता कहाँ है ? उपाधिरूप चित्त कहाँ है ? चित्तवृत्ति से व्याप्त चेत्य कहाँ है और चित्त वृत्ति कहाँ है ? अर्थात् कुछ भी शेष नहीं रहते हैं ॥५८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मैं आत्मा हूँ, इस प्रकार अनुभव में आ रहे देह इन्द्रिय आदि से युक्त जीव हूँ, केवल इतना ही तुच्छ चित्त है, यह इस प्रकार अनादि और अनन्त दुःख का विस्तार करता है। मैं ब्रह्म ही हूँ, ब्रह्म से अतिरिक्त जीव नामक परमार्थ सत् कुछ कहीं नही हैं। यही चित्त का विनाश है, इसीको परमसुख कहते हैं। हे श्रीरामचन्द्रजी, आत्मा ही यह जगत है, ऐसा निश्चय होने पर चित्त की असत्ता अर्थतः सम्पन्न हो जाती है, इसमें कोई संदेह नहीं है ॥५९-६१॥

मनोनाश के उपाय का उपसंहार करते हैं।

परमार्थ तत्त्व का ज्ञान होने से यह जगत आत्मा ही है, ऐसा निश्चय स्थिर हो जाता है, तब आप मन को जैसे सूर्य की कान्ति से अन्धकार का विनाश होता है वैसे ही विनष्ट जानिये। जब तक मनरूपी साँप शरीर में है, तब तक महाभय रहता है, मनरूप सर्प को समाधि से हटा देने पर भय का अवसर कहाँ से हैं ? ॥६२,६३॥ हे अनघ, यह अतिबलवान चित्तरूप वेताल एकमात्र भ्रान्ति से उत्पन्न हुआ है, सम्यक्ज्ञानरूपी मन्त्र से उसका जबरदस्ती विनाश कर डालिये। देहरूपी घर के बलवानों में श्रेष्ठ चित्तरूप यक्ष के चले जाने पर आप मानसचिन्ताशून्य और व्याकुलतारहित होइये, आपको कोई भय नहीं है ॥६४,६५॥ आत्मलाभ से सब कामनाओं की प्राप्ति होने पर रागरहित अतएव बाह्य सुखों के साधनों के उपार्जन से हीन ही मैं हूँ, केवल इतने से ही आपकी चित्तसत्ता नष्ट हो गई है आप दुःखरहित उत्तम परमपद को प्राप्त हो गये हैं, इस प्रकार मुमुक्षा भी जिसके अन्तःकरण में शान्त हो गई ऐसे आप स्थित होईये ॥६६॥

चौदहवाँ सर्ग समाप्त

पन्द्रहवाँ सर्ग

चित्तता को प्राप्त हुआ आत्मा जिससे संसार में बँधता है,
अनर्थबीजों से पूर्ण उस विचित्र तृष्णा का वर्णन।

चित्त का नाश होने पर परमपुरुषार्थ प्राप्ति की ही गयी है, इस चित्त का अनुसरण करने पर तृष्णा की अभिवृद्धि से अनर्थों की परम्परा प्राप्त होती है, यह दर्शाने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, संसार की बीजकणरूप, जीवों के बन्धन के लिए जालस्वरूप अपवित्र इस चित्तसत्ता का अनुसरण कर रहे आत्मा जिसने अपना ब्रह्मात्मरूपता का त्याग कर दिया, अविद्या से आच्छन्न ज्ञान को, जिसकी अभिव्यक्ति इन्द्रियवृत्तियों की अधीन है, प्राप्त कर रहे चित्त के ही अनुरोध से चित्तकल्पित देहादि संघात ही मैं हूँ, ऐसा अनुसंधान करता है और चित्त से प्राप्त किये गये नाना विषयों की कल्पना से होनेवाले राग–द्वेषवासनारूप मल को धारण करता है ॥१,२॥

वह राग–द्वेषवासनारूप मल को धारण करे, उससे क्या ? ऐसा यदि कोई कहे, तो उस पर कहते हैं।

प्रतिदिन बढ़ रहे महामोह को देनेवाली, भय देनेवाली और हजारों मरण, मूर्छा और भ्रान्तियों की हेतु होने से विषलतारूप तृष्णा राग–द्वेषवासनारूपी मल को धारण करनेवाले आत्मा के लिए मूर्छा ही देती है, सुख का लेश भी नहीं देती ॥३॥ जैसे आकाश में मेघगर्जन, वृष्टि आदि अनेक विकार करनेवाली वर्षा ऋतु की अँधेरी रात जब–जब उदित होती है, तब–तब महामोहप्रद होती है, वैसे ही अनन्त आत्मा में विकार करनेवाली यह तृष्णा भी जब–जब उदित होती है तब–तब महामोह देती है ॥४॥ महादेव आदि देवता प्रलयकाल की अग्नि की ज्वालाओं के संताप को सहने के लिए समर्थ हैं किन्तु तृष्णारूपी अग्नि की ज्वालाओं के संताप को सहने के लिए समर्थ नहीं हैं। तीखी, काली, दीर्घ और घोर तृष्णारूपी तलवार, जो शीतल होती हुई भी उत्तरकाल में दुःख देनेवाली है, अपने अंग को सदा काटती है ॥५,६॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, संसार में जो ये दुर्निवार, दुःख से दूर करने के अयोग्य बड़े बड़े दुःख हैं, वे तृष्णारूपी लता के फल हैं ॥७॥ मनरूपी बिल में छिपी हुई यह तृष्णारूपी भेड़िया अदृश्य होकर ही मनुष्यों के शरीर से मांस, हड्डी, खून आदि खाती है ॥८॥ जड़ तृष्णा जलमय वर्षा ऋतु की नदी के समान क्षणभर में वृद्धि को प्राप्त होती है, क्षणभर में रिक्त हो जाती है और टीला, काँटे, जंगल आदि में प्रवेश करा कर पुरुष को काटती है ॥९॥

मूर्छा ही देती है, ऐसा जो पहले कहा था, उसी का विवरण करते हैं।

तृष्णा से पीड़ित पुरुष जो दीनता का भोगकर चुका, जिसका हृदय नष्ट हो गया एवं जिसका तेज चला गया, नीचता को प्राप्त होता है, घबराता है, रोता है और गिरता है ॥१०॥

तृष्णा का नाश होने पर सब दुःख निवृत्त हो जाते है, सब पुण्यों का उदय होता है, ऐसा कहते हैं।

जिस वृक्षरूपी पुरुष के खोखलेरूपी हृदय में काली साँपिनरूपी तृष्णा बैठी नहीं है, उस पुरुष के हृदयरन्ध्र में चलनेवाले प्राणवायु स्वस्थ रहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जिस पुरुष में तृष्णारूपी

अँधेरी रात अस्त हो गई, उसमें शुक्लपक्ष में चन्द्रमा के समान पुण्य बढ़ते हैं ॥११,१२॥ जो पुरुषरूपी वृक्ष तृष्णारूपी घुनों से घुन नहीं गया, वह सदा पुण्यरूपी फूलों से प्रफुल्लित दशा को प्राप्त होता है ॥१३॥ विवेकरहित पुरुषों के चित्तरूपी अरण्य में अनन्त व्याकुलतारूप कल्लोलों से युक्त और भ्रान्तिरूपी भँवरियों से ठसाठस भरी हुई तृष्णारूपी नदी बहती है। तृष्णा द्वारा ये सब लोग धागे से बँधे हुए पक्षी के तुल्य पहले धनप्राप्ति के लिए देश-विदेश में घुमाए जाते हैं, तदनन्तर धन की रक्षा, व्यय, नाश आदि की चिन्ता और शोक से जर्जरित किये जाते हैं और अन्त में मारे जाते हैं ॥१४,१५॥

निर्दय चित्त से कर्कश तृष्णा कुल्हाड़े की धार के समान शीघ्र गिरती हुई धर्म और ज्ञान के मूलों को तथा दया, विवेक आदि के छोटे-छोटे अंकुरों को भी काट डालती है। जैसे मृग कुएँ के ऊपर उगे हुए हरे तिनकों की ओर जाता हुआ अन्धे कुएँ में गिर पड़ता है, वैसे ही तृष्णा का अनुसरण करता हुआ मूढ़ पुरुष नरक में गिरता है ॥१६,१७॥ बुढ़ापा कितना ही जोर-शोर का क्यों न हो, पर वह नेत्रों को उतना अन्धा नहीं बनाता, जितना कि हृदय की पिशाचीरूप कृश तृष्णा अन्धा बनाती है ॥१८॥ हृदय में स्थित उल्लूरूप अमंगलभूत तृष्णा से, जो हृदय में घोंसला बना चुकी हो उससे, भगवान विष्णु तक वामनता को प्राप्त हुए ॥१९॥ ईश्वर से प्रयुक्त या देवभोग्य सुखलेश विषयिणी रज्जु की तरह हृदय में गुँथी हुई इस अलौकिक तृष्णा से ही प्रतिदिन सूर्य आकाश में घुमाए जाते हैं ॥२०॥ जिसका आकार सर्वदुःखमय है एवं जो जगत के सब लोगों के जीवन का नाश करती है, ऐसी तृष्णा का क्रूर साँपिन के समान मनुष्य को दूर से ही त्याग करना चाहिये ॥२१॥

सारा संसार व्यवहार तृष्णा से ही होता है, इस आशय से कहते हैं।

तृष्णा से ही वायु बहती है, तृष्णा से पर्वत खड़े हैं, तृष्णा से ही पृथ्वी जीवों का धारण करती है, सारा त्रैलोक्य तृष्णा से ही धारण किया गया है ॥२२॥ यह सारी लोक-यात्रा तृष्णारूपी रज्जु से बँधी हुई है, रज्जुबन्धन से तो लोग मुक्त हो सकते हैं, परन्तु तृष्णारूपी बन्धन से कोई मुक्त नहीं हो सकते ॥२३॥

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, संकल्प त्याग से आप तृष्णा का त्याग कीजिये। संकल्पहीन मन नहीं है अर्थात् संकल्प के अभाव में मन नहीं रह सकता, ऐसा युक्तियों से निर्णय किया गया है। मन ही जब नहीं रहेगा, तब तृष्णा कहाँ से होगी ? यह भाव है ॥२४॥

हे महाबाहो, पहले आप अपने चित्त में तुम, मैं, यह, इस दुराशा का अर्थात् सब दुराशाओं के निमित्तभूत तमोमय अभिमान का संकल्प न कीजिये ॥२५॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, यदि आप दुःख को उत्पन्न करनेवाली अनात्मा में आत्मभावना की भावना न करेंगे, तो आप तत्त्वज्ञानियों में गिने जायेंगे ॥२६॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस अपवित्र अहंभावमयी तृष्णा को अनहंभावरूप कैंची से काटकर आप सम्पूर्ण भूतों से होनेवाले भयों का तिरस्कार कर संसार की बाध भूमि ब्रह्म में स्थित होइए ॥२७॥

पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

सोलहवाँ सर्ग

ध्येय-ज्ञेयभेद से वासना त्याग का वर्णन, उससे जीवन्मुक्त और विदेहों के लक्षण का कथन।

जीवित पुरुष देह में अहंभाव का त्याग नहीं कर सकता और शिष्य के मरण में गुरुका तात्पर्य नहीं हो सकता, अतः 'एतामहंभावमयीं तृष्णां छित्त्वा' इत्यादिकथन के तात्पर्य के तात्पर्य को न समझ रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन , जो आप मुझसे कहते हैं कि अहंकार तृष्णा का ग्रहण तुम मत करो, आपका यह वचन स्वभावतः जटिल है ॥१॥ हे प्रभो, यदि मैं अहंकार का त्याग करूँ, तो मुझे देह नामक अवयव संनिवेश का पूर्णरूप से त्याग करना पड़ेगा। भाव यह कि प्राण और अहंकार की एकता स्वयं आप ही पहले कह आये हैं, अतः प्राणों को बचाकर अहंकार के त्याग का संभव नहीं, इसलिए अहंकार के साथ प्राण भी अवशिष्ट नहीं रहेंगे ॥२॥ जैसे जानु के तुल्य विशाल तने से वृक्ष धारण किया जाता है वैसे ही अहंकार से यह शरीर धारण किया जाता है ॥३॥ अहंकार का विनाश होने पर यह शरीर अवश्य नष्ट हो जाता है, जैसे कि तने के आरा द्वारा काटे जाने पर महान वृक्ष गिर जाता है ॥४॥ इसलिए मैं इस अहंकार का कैसे त्याग करूँ कैसे जीऊँ, हे वक्ताओं में श्रेष्ठ मुनिजी, इस विषय को खूब विचार कर मुझसे कहिए ॥५॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी, विद्वानों द्वारा ज्ञेय और ध्येय भेद से दो प्रकार का वासना त्याग सर्वत्र कहा जाता है। ज्ञेय यानी विद्वानों से समाधिकाल में या विदेहमुक्ति में ज्ञान से बाधित। ध्येय यानी अधिष्ठानमात्र परिशेषरूप। व्युत्थानकाल में वाक्यजन्य अखण्डाकार वृत्ति से वासनासहित अज्ञान का बाध होने पर भी जीवन्मुक्ति प्रतिपादक शास्त्र के अनुरोध से और प्रारब्ध फल भोग के शेष रहने से उन दोनों के निर्वाह के लिए बाधित अनुवृत्तिवाले अविद्यालेश के शेष का या विक्षेपांश के अबाध का स्वीकार करना पड़ता है एवं जिसमें अहंभाव का अध्यास नहीं, ऐसी देह से भोगहेतु व्यवहार की सिद्धि न होने से उसमें तात्कालिक अहंकारभासकी अनुवृत्ति विद्वानों के अनुभव से सिद्ध है, अतः व्युत्थानदशा में अहंकारबाध के अनुसन्धान प्रयत्न साध्य होने के कारण प्रायः ध्यानरूप है, इसलिए उक्त वासना त्याग ध्येय के समान होने के कारण ध्येय है।

उन दोनों में दूसरे पक्ष का उपपादन करते हैं।

विवेकियों की दृष्टि से दो अहंप्रतीति गोचर प्रतीत होते हैं। एक देह, इन्द्रिय, बुद्धि और मन की अपेक्षा करनेवाला और मित्र, पुत्र, स्त्री, धन आदि की ममतावाला संघातात्मा और दूसरा अखण्डैकस्वभाव, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं और मरण, मूर्छा, जन्मान्तर का साक्षी, विवेक करने पर अवशिष्ट चिन्मात्र स्वभाववाला ॥६॥

उनमें प्रथम के स्वरूप का पहले विचार कर निश्चय करना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

इस देह, इन्द्रिय आदि पदार्थों और उपभुक्त बाहरी अन्न, पान आदि पदार्थों का मैं संघात्मा हूँ, मेरे ये जीवित हैं यानी मेरे स्वरूप सिद्धि में निमित्तभूत है। अतएव इनके बिना मैं व्यवहार में कुछ भी नहीं हूँ और मेरे बिना ये कुछ नहीं है, ऐसा अन्तःकरण में प्रथम अहंपदार्थ का निश्चय करके मन के साथ उसके

पृथक् करने पर संघातात्मा को अत्यन्त असद्रूप ही जानकर दूसरी अखण्डैकरस आत्मा की चिद्रूप से मैं पदार्थ का संघातात्मा नहीं हूँ और ये पदार्थ मेरे जीवित नहीं हैं, ऐसे ज्ञान से तद्रूप भावना करने पर लीला से कार्य कर रही अन्तः शीतल बुद्धि से जो भावनारूप वासनात्याग है, उसे हे श्रीरामचन्द्रजी मैंने ध्येय वासना त्याग कहा है ॥७–९॥

प्रथम वासनाक्षय का उपपादन करते हैं।

सारे जगत को ब्रह्मरूप से जानकर भूमिका अभ्यास के क्रम से जो वासना त्याग को करके निरहंकार और निर्विकल्प समाधिस्थ है अथवा प्रारब्धक्षय द्वारा जो सर्वथा देह त्याग है, वह ज्ञेय वासनाक्षय कहा गया है ॥१०॥ अहंकारमयी वासना का त्याग कर जो लोकसंग्रहोचित व्यवहार से स्थित रहता है, ध्येय वासना त्यागवाला वह जीवन्मुक्त कहलाता है ॥११॥ हे रघुनंदन, मूल अज्ञान के साथ कलनारूप वासना का त्यागकर जो पुरुष शम को प्राप्त हुआ, उसे ज्ञेयत्यागमय (जिसके वासना सहित अज्ञान का नाश होकर चिन्मात्र का अवशेष है) मुक्त जानिये। पूर्वोक्त ध्येय वासना त्याग करके जीवन्मुक्त महात्मा, सज्जनशिरोमणि जनक आदि लोकसंग्रहोचित व्यवहार से स्थित रहते हैं ॥१२,१३॥ ज्ञेय वासना त्याग करके शान्ति को प्राप्त हुए विदेह मुक्त पुरुष परब्रह्म में ही स्थित रहते हैं ॥१४॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, ये पूर्वोक्त दोनों ही त्याग समान हैं, दोनों मुक्तपद में स्थित हैं। ये दोनों ही ब्रह्मता को प्राप्त हैं और दोनों सन्तापरहित हैं। हे अनघ युक्तमति (समाधि में आरूढ़), अयुक्तमति (व्युत्थान व्यवहारवाला) – ये दोनों ही अविद्या मलरहित ब्रह्म में ही केवल स्थित हैं। उनमें से एक यानी व्युत्थित पुरुष चंचल शरीरवाला स्थित रहता है और दूसरा शान्त देह रहता है ॥१५,१६॥ एक सदेह निर्मुक्त पुरुष सन्तापरहित स्थित रहता है, दूसरा शरीर त्याग करके मुक्त हुआ पुरुष वासना शून्य होकर रहता है। निरन्तर यथा समय सुख–दुःखों के आने पर जिसको न हर्ष होता है, न विषाद होता है, वह मुक्त कहा जाता है ॥१७,१८॥ जिस पुरुष को इष्ट और अनिष्ट वस्तुओं में इच्छा और द्वेष नहीं होते और जो पुरुष अज्ञानी की दृष्टि में इष्ट और अनिष्टरूप से सम्मत वस्तुओं में सुषुप्त पुरुष के तुल्य अनासक्त होकर व्यवहार करता है, वह मुक्त कहा जाता है ॥१९॥ शरीर में और शरीर के सम्बन्ध में 'अहम्' (मैं), 'मम' (मेरा) ऐसी हेयोपादेय कलना जिस पुरुष के अन्दर क्षीण हो गई है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥२०॥ हर्ष, रोष, भय, क्रोध, काम और कार्पण्य दृष्टियों का जिसके हृदय में स्पर्श नहीं होता, वह मुक्त कहलाता है ॥२१॥ जो पुरुष जिसकी पदार्थों में आस्था शान्त हो गई, ऐसे चित्त से युक्त होकर, जाग्रत में भी सदा सुषुप्त की तरह स्थित रहता है और जैसे पूर्ण चन्द्रमा स्वाभाविक प्रसन्नता से सेवित होते है वैसे ही जो स्वाभाविक हर्ष से सेवित होता है, वह इस लोक में मुक्त कहा जाता है ॥२२॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : मुनिजी के ऐसा कहने पर दिन बीत गया। सूर्य अस्त हो गया। मुनियों की सभा महामुनि को प्रणाम कर सायंकाल के कृत्य के लिए स्नान करने चली गई। रात्रि बीतने पर सूर्य की किरणों के साथ फिर मुनियों की उभा उपस्थित हो गई ॥२३॥

सोलहवाँ सर्ग समाप्त

सत्रहवाँ सर्ग

जिस प्रकार के निश्चयों से युक्त जीवन्मुक्त पुरुष बन्धन में नहीं पड़ता और
अज्ञ बंधन में पड़ता है, उनके विभाग का पुनः वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी के इंगितों से इन्हें विदेहमुक्त का लक्षण जानने की इच्छा है, यह ताड़कर एकरूप से उसके लक्षण आदि का अभाव होने से वहाँ पुरुषों के कुण्ठीभाव कथन से ही निरतिशय, स्वप्रकाश, भूमानन्द का परिशेष ही विदेहमुक्ति का स्वरूपलक्षण है, यह सूचित करते हुए जीवन्मुक्ति लक्षणों में ही अवश्य उपादेय विशेषों को कहने के लिए वसिष्ठजी प्रतिज्ञा करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जो लोग विदेह मुक्त हैं, वे वाणी के विषय हो ही नहीं सकते, इसलिए आप इस जीवन्मुक्ति को सुनिये ॥१॥

यदि कोई कहे, जीवन्मुक्तों में यदि तत्तद् वर्णाश्रम के उचित कर्मफलों में तृष्णा है, ते अज्ञानियों की तरह ही उन कर्मफलों के भोग के लिए उनको भी देहरूप बन्धन प्राप्त होगा। यदि उनमें तत्तद् वर्णाश्रम के उचित कर्मफलों में तृष्णा नहीं है, तो उनकी उन कर्मों में प्रवृत्ति ही नहीं होगी, क्योंकि 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' ऐसा न्याय है, इस दोष का परिहार करने के लिए ज्ञानी और अज्ञानी की कर्म में प्रवृत्ति करानेवाली शुद्ध और अशुद्ध तृष्णा की विलक्षणता का उपपादन करते हैं।

विषय के आस्वादन में उत्साहरहित जिस तृष्णा से तत्–तत् वर्णाश्रम के स्वभाव से प्राप्त किये गये ये कर्म किये जाते हैं, उस तृष्णा को जीवन्मुक्तता कहते हैं ॥२॥

संसार सत्य है, इस बुद्धि से जिसके द्वारा भोगों में उत्साह दृढ़ हो गया है, ऐसी तृष्णा से प्राणों की बाह्य पदार्थों में आस्था है, उसे आचार्य लोग दृढ़ संसार निगिड़रूप बन्धन कहते हैं ॥३॥

भोग्य पदार्थों में 'ये मिथ्या हैं' इस निश्चय से हृदय में भोगसंकल्परहित और एकमात्र लोक संग्रह के लिए बाह्य पदार्थों में विहार करनेवाली जो तृष्णा उदित होती है, वह जीवन्मुक्तों के ही शरीर में आश्रित है ॥४॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, बाह्य विषयों में जो लम्पटता से बढ़ी–चढ़ी तृष्णा है वह बद्ध कहलाती है। सम्पूर्ण पदार्थों में जो लम्पटता से रहित जो तृष्णा है वह मुक्त कहलाती है ॥५॥ विषयप्राप्ति के पहले और अन्त में रागविहार आदि के कारण तृष्णा की जो दुःख शून्यता थी, वही शून्यता यदि विषयप्राप्ति काल में भी निरन्तर रहे, तो वह तृष्णा विद्वानों द्वारा मुक्त कही गई है ॥६॥ हे महामते श्रीरामचन्द्रजी, यह मुझे प्राप्त हो, इस प्रकार की हृदय में जो भावना है, उसे आप तृष्णारूपी और कलनारूपी श्रृंखला जानिये। उस तृष्णा का सत् और असत् पदार्थों में सदा त्याग कर परम उदार और महामना पुरुष जीवन्मुक्ति पद को प्राप्त करता है। देह आदि बंधन की आशा का, देह आदि की निवृत्ति की आशंका, (*) सुख–दुःखदशा का और सत्–असत् की आशा का भी त्याग कर प्रशान्त महासागर

(*) बन्ध मिथ्या है, ऐसा निश्चय होने पर बन्ध की निवृत्ति के प्रार्थनीय न होने के कारण उसमें आशा त्याग स्वाभाविक है, क्योंकि जागता हुआ कोई पुरुष स्वप्न के निगड़बन्धन से छुटकारा पाने की आशा नहीं रखता।

की तरह आप स्थित होइये ॥७-९॥ हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, अजर, अमर आत्मा को जानकर आप जरा व मरण की शंका से मन को कलुषित न कीजिये ॥१०॥

आशा के त्याग में उपाय बताते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह पदार्थरूपी दृश्य आपका नहीं है और आप भी यह नहीं है, यह परमार्थतत्त्व से अन्य ही कुछ है और आप भी इससे अन्य ही हैं। असत् उदित हुए इस असत् विश्व के सत् की तरह स्थित होने पर और आपके उक्त विश्वता का अतिक्रमण करने पर तृष्णा का सम्भव ही कहाँ हो सकता है ? ॥११,१२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, विचारवान पुरुष के हृदयमें चार प्रकार का विस्तृत निश्चय होता है, उसे भी आप सुनिये। पैर से लेकर सिर तक मैं माता-पिता द्वारा निर्मित हूँ, इस प्रकार का एक निश्चय है, है श्रीरामचन्द्रजी, असत्दर्शन उक्त निश्चय बन्ध के लिए है। मैं देह, इन्द्रिय आदि सब पदार्थों से परे, बाल के अग्रभाग से भी सूक्ष्म हूँ, ऐसा दूसरा निश्चय सज्जनों के मोक्ष के लिए होता है ॥१३-१५॥ हे रघुवर, जगत के सब पदार्थों का स्वरूपभूत अविनाशी मैं ही सब कुछ हूँ इस प्रकार का तीसरा निश्चय भी मोक्ष का ही कारण है। मैं अथवा यह जगत सब आकाश के तुल्य सब शून्य ही है, इस प्रकार का यह चौथा निश्चय भी मोक्षसिद्धि के लिए होता है ॥१६,१७॥ इन निश्चयों में पहला निश्चय बन्धन के लिए कहा गया है, शुद्ध भावना से उत्पन्न हुए शेष तीन मोक्ष के लिए कहे गये हैं ॥१८॥

यदि कोई शंका करे, तृष्णा भेद के निरूपण के अवसर पर इस विभाग की क्या आवश्यकता है ? तो इस पर कहते हैं।

इनमें से पहला निश्चय बन्धन का हेतु है, इसके रहने पर ही तृष्णा बन्धक होती है। निर्दोष तृष्णावाले शेष तीन निश्चय स्वच्छ हैं। जीवन्मुक्त पुरुषों में ही वे विलास करते हैं ॥१९॥

उनमें तीसरे निश्चय का प्रयोजन कहते हैं।

हे महामते, सर्वात्मा मैं ही सब कुछ हूँ, इस प्रकार का जो निश्चय है, उसे प्राप्त कर मेरी बुद्धि फिर विषाद को प्राप्त नहीं होती है ॥२०॥ आत्मा की महिमा ऊपर-नीचे-तिरछे सर्वत्र है, सभी आत्मा है, इस प्रकार के उस आन्तरिक निश्चय से पुरुष बन्धन में नहीं पड़ता ॥२१॥ *(चौथा निश्चय शून्यवादी के मत में प्रविष्ट है, इस शंका का निवारण करते हुए कहते हैं।)* परिशिष्य, नित्य आत्मा ही वादियों द्वारा शून्य, प्रकृति, माया, ब्रह्म, विज्ञान, शिव, पुरुष, ईशान-इन शब्दों से कहा जाता है। अवस्तु इन शब्दों से नहीं कहा जाता है। यह सब सदा सत् ही है, यहाँ पर द्वित्व या अन्यत्व विद्यमान नहीं है। परमार्थ स्वरूप दृष्टि से सारा जगत व्याप्त है, भ्रान्तिबुद्धि से व्याप्त नहीं है। जैसे असीम सागर पाताल तक जल से भरा हुआ है वैसे ही ब्रह्मा से लेकर पेड़-पौधों तक सारा जगत आत्मा से पूर्ण है, इसलिए प्रमाण से बोधित ब्रह्मैक्य ही नित्य और सत्य है, उससे अतिरिक्त मिथ्या जगत कहीं नहीं है। जैसे कि सारा सागर जल ही है, तरंग आदि कहीं पर नहीं है, यह सिद्ध हुआ ॥२२-२५॥ जैसे कड़ा, बाजुबन्द, नूपुर आदि सुवर्ण से पृथक् नहीं है, वैसे ही वृक्ष, तृण आदि करोड़ों आकार आत्मा से भिन्न नहीं हैं ॥२६॥

तो जल-समुद्र आदिरूप जगत में भेदाभेद प्रतीति कैसे होती है ? इस पर कहते हैं।

परमात्ममयी अद्वैत शक्ति ही द्वैत और अद्वैतभेद से जगन्निर्माण लीला द्वारा अज्ञों के लिए विस्तार को प्राप्त होती है ॥२७॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, स्वकीय अथवा परकीय पुत्र–मित्र आदि सारे जगत के वृद्धि को प्राप्त होने पर अथवा नष्ट होने पर आप सुख–दुःख का ग्रहण कभी भी न कीजिये ॥२८॥

मुझे किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये, इस पर कहते हैं।

ब्रह्म के तुल्य ही आप परमार्थतः सत्ता द्वैतात्मक ही होकर व्यवहारकाल में भी भावना द्वारा अद्वैत का ही आश्रय कर तत्–तत् प्राणियों के कर्मफल देने के समय ब्रह्म के सदृश ही वर्ण–आश्रमधर्म व्यवस्थापन के विषय में द्वैत का सर्वथा अनादर कर सर्वथा व्यवहार करते हुए यथा योग्य द्वैत–अद्वैत परायण होइये, भाव यह है कि अद्वैत में कर्मों की ही सिद्धि न होने के कारण एकरूपता से सर्वत्र कथंचित अद्वैताचरण करने पर जगत की व्यवस्था तथा धर्मशास्त्र आदि का बाध होगा, इसलिए वहाँ पर द्वैत का आश्रय ही उचित है। हे श्रीरामचन्द्रजी, आप पदार्थों की विविध आँधी से भीषण उत्पातों से भरी हुई जन्म भूमियों में, उत्पातपूर्ण गर्तों में हाथी के समान, मत गिरिये ॥२९,३०॥ परमार्थतः द्वैत का सम्भव ही नहीं है, क्योंकि वह चित्त से कल्पित ही है वास्तविक नहीं है। अन्यवादियों ने भी द्वित्व की अपेक्षा बुद्धि से उत्पत्ति तथा उपेक्षाबुद्धि के नाश से नाश माना है। इसी प्रकार आत्मा में एकत्वनामक संख्या गुण भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह भी द्वित्व आदि के व्यावर्तकत्वरूप से ही कल्पित होने के कारण द्वित्व से ही उदित हुआ है अतएव अद्वैत, ऐक्य से भी रहित, अपनी सिद्धि में अन्य की अपेक्षा न रखने के कारण सदा उदित, सन्मात्र ब्रह्म ऐक्य के निरास से सर्वरूप है और द्वैत के निरास से कुछ भी नहीं है, क्योंकि 'तस्मात्तत् सर्वमभवत्' 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि श्रुतियाँ और उसके अनुभव करनेवाले ज्ञानी जन ऐसा कहते हैं ॥३१॥

न तो 'अहम्' है और न जगत ही है; किन्तु यह सब निर्विकार, विज्ञानमात्र ही है, उसके साक्षात्कारमात्र से शान्त हुए इस जगत को सदा न तो असत् और न सत् जानिये। परम, अमृत, अनादि, सब ज्योतियों को भासित करनेवाला, अजर, अज, अचिन्त्य, निष्कल, निर्विकार, सब इन्द्रियों से रहित, प्राण के भी प्राणन में निमित्तभूत, सब कलनाओं से रहित, कारणों के भी कारण, सदा उदित ईश्वर, फैले हुए चिदाकाश में स्थित, अनुभवों के बीजस्वरूप, स्वरूप स्थिति द्वारा उपदेश देने के योग्य, आन्तरानन्दैकरसब्रह्म ही तुम, मैं और जगत है उससे भिन्न कुछ नहीं है, इस प्रकार का निश्चय तुम्हारे हृदय में हो ॥३२–३४॥

सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठारहवाँ सर्ग

जिस स्थिति में स्थित पुरुष संसार में दुःखी नहीं होता,
उस स्थिति का विस्तारपूर्वक श्रीरामचन्द्रजी के लिए उपदेश।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे आजानबाहु श्रीरामचन्द्रजी, समाहित चित्तवाले, काम, लोभ आदि कुदृष्टियों से अदूषित, इस संसार में लीलापूर्वक विचरण कर रहे महात्माओं की यह स्थिति आप सुनिये ॥१॥ जीवन्मुक्त मनवाला मुनि इस संसार में विचरण करते हुए भी पहले जन्मादि दुःखों से, बीच में आध्यात्मिक आदि दुःखों से और अन्त में मृत्यु आदि दुःखों से विरस जगत की गतियों को 'ये

परिहास के योग्य हैं', यों तुच्छ समझ कर देखे ॥२॥ तत्-तत् समय में प्राप्त हुए सब उचित कार्यों में स्थित, शत्रु, मित्र आदि दृष्टियों में सम, पूर्वोक्त ज्ञेय और ध्येय भेद से वर्णित दो प्रकार के वासना त्यागों में से ध्येय वासनात्याग का अवलम्बन करके स्थित, सर्वत्र उद्वेगरहित, लोगों के अभिमत का पोषक यानी किसीका भी अप्रिय न करनेवाले, विवेकरूपी प्रकाश से आत्मसाक्षात्कारवान्, ज्ञानरूप उपवन में स्थित, सर्वातीत पद का यानी ब्रह्म का अवलम्बन करनेवाला, पूर्णचन्द्रमा के समान शीतल आशयवाला, न किसी से उद्वेग करनेवाला और न किसी से सन्तुष्ट होनेवाला पुरुष संसार में दुःखी नहीं होता ॥३-६॥ सब शत्रुओं में सम दृष्टि रखनेवाला, दया, दाक्षिण्यआदि गुणों से युक्त, गुरु आदि पूजनीय लोगों के समयोचित सेवा, परिपालन आदि कार्य करनेवाला पुरुष संसार में दुःखी नहीं होता। जो पुरुष प्राप्त प्रिय का न अभिनन्दन करता है, न अप्रिय का द्वेष करता है, न विनष्ट का शोक करता है, न अप्राप्त की आकांक्षा करता है, मितभाषण करता है और आवश्यक काम में आलस्य नहीं करता है, वह संसार में पीड़ित नहीं होता ॥७॥

जो पूछने पर प्रस्तुत विषय को कहता हैं, बिना पूछे मौन होकर खम्भे की तरह खड़ा रहता है, इच्छा और अनिच्छा से रहित वह पुरुष संसार में दुःखी नहीं होता ॥८॥ सबका प्रिय करनेवाला, अगर कोई आक्षेप करे तो चतुरतापूर्वक समाधान करनेवाला और प्राणियों के आशय को जाननेवाला पुरुष संसार में पीड़ित नहीं होता ॥९॥ यह युक्त है और यह अयुक्त है, इस प्रकार वैषम्य दृष्टि से ग्रस्त एवं आशय से जिसकी दृष्टि नष्ट है, ऐसे पुरुष से किये गये लोक दृष्टान्त को अपक्षपाती होने के कारण हाथ में स्थित बिल्वफल के समान वह जानता है। भाव यह कि यदि एकका पक्षपात होता तो उस पक्ष के दोष तथा दूसरे पक्ष के गुण राग-द्वेष से आच्छन्न होने के कारण स्पष्ट नहीं भासित होते, अपक्षपाती को दोनों स्पष्टरूप से भासित होते हैं ॥१०॥ परम पद में आरूढ़ होकर वह विनाश को प्राप्त होनेवाली जगत की स्थिति को अन्तःशीतल अपनी बुद्धि से उपहास करते हुए देखता है ॥११॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जिन लोगों ने अपने चित्त पर विजय प्राप्त कर ली है, जिन महात्माओं ने परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया है, उन लोगों का ऐसा स्वभाव मैंने आपसे कहा ॥१२॥

मुक्तों की स्थिति के समान बद्ध पुरुषों की स्थिति का उनके आशय के उद्धरण द्वारा आप वर्णन कीजिये, ऐसा यदि श्रीरामचन्द्रजी कहें, तो मूर्खों की मनोरथयुक्त भ्रान्तियाँ, उनसे प्रयुक्त दुश्चेष्टाएँ तथा उनके फलभूत दुःखों की विचित्रताएँ अनन्त हैं, अतएव उनका वर्णन नहीं किया जा सकता, इस आशय से कहते हैं।

जिन्होंने अपने चित्त पर विजय प्राप्त नहीं की एवं जो भोगरूप कीचड़ में डूबे हैं, ऐसे मूर्खों के अभिमत को कहने के लिए हमें परिज्ञान नहीं है। उन मूर्खों को नारियाँ, जो विवेक-बुद्धियों के अत्यन्ताभाव से, पूर्वसंचित पुण्यों के प्रध्वंसाभाव से और सम्भावित पुण्य, तप, संयम आदि के प्रागभाव के परिपालन से पैर से लेकर मस्तक तक अलंकृत है अतएव जो सुवर्ण की कान्ति के समान कान्तिवाली नरकाग्नियों की ज्वाला हैं, अभिमत हैं और अनर्थों से भरे हुए यानी उपार्जन, रक्षण, व्यय और नाश में बहुत आयास एवं अधर्म के निमित्तभूत, व्यर्थ अनर्थ प्रयोजक कलह, वैर आदि क्लेशों के कारण, संसारदुःख को देनेवाले तथा चारों ओर से आपत्तियों की वर्षा करनेवाले घन ईच्छित है ॥१३-१५॥

यदि कोई कहे, इस प्रकार के धन से भी यज्ञादि सत्कर्मों का आचरण होने से उनका निस्तार हो सकता है, तो इस पर 'नहीं', ऐसा कहते हैं।

मूर्खों के जो यज्ञादि कर्म हैं, वे भी फलाभिलाषा युक्त ही हैं और विविध प्रकार के दंभ, मान, मद, मात्सर्य आदि दुराचारों से पूर्ण हैं अतएव पुनर्जन्म आदि से होनेवाले सुख-दुःखों से भरे हुए हैं, इसलिए मूर्खों का कुछ भी निस्तार का हेतु हम नहीं कह सकते ॥१६॥

इसलिए आप भी विद्वच्चरित्र से ही विहार कीजिये, अन्य से नहीं, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ध्येयनामक वासनात्याग से विलसित होनेवाली पूर्ण दृष्टि का अवलम्बन करके स्वस्थ हुए आप जीवन्मुक्तरूप से विहार कीजिये ॥१७॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, भीतर सब आशाओं का त्याग कर वीतराग, वासनारहित हुए आप बाहर सब कर्म आचारों में अनुवर्तनशील होकर लोक में विहार कीजिए ॥१८॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उदार, मधुर आचारवाले, सबके (अज्ञानियों के भी) कर्म आदि आचारों में अनुवर्तनशील होकर लोक में विहार कीजिये ॥१९॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, सब संसार दशाओं और परमार्थस्वरूप में स्थिति रूप भिन्न-भिन्न भूमिका दशाओं का विचार करके जो परमार्थ सत्य परम पद है, उसी का भावना द्वारा अवलम्बन कर आप लोक में विहार कीजिये ॥२०॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, भीतर निराशता का ग्रहण कर और बाहर आशान्वित पुरुषों की सी चेष्टावाले अतएव धनादि नाश होने पर बाहर संतप्त के समान संतप्त किन्तु भीतर चारों ओर शीतल आप लोक में विहार कीजिये ॥२१॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, बाहर कृत्रिम आडम्बरवाले और हृदय में आडम्बरहीन, बाहर कर्ता और भीतर अकर्ता आप लोक में विहार कीजिये ॥२२॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, अप सब पदार्थों का व्यवहारतः और परमार्थतः सारासार तारतम्य जान चुके हैं, इसलिए आप जैसे चाहते हैं, वैसी दृष्टि से लोक में विहार कीजिये।

हे श्रीरामचन्द्रजी, कृत्रिमरूप से उल्लास और हर्ष में स्थित, कृत्रिमरूप से दुःख की गर्हा (निंदा) करनेवाले और कृत्रिमरूप से कार्य के आडम्बर से युक्त आप लोक में विहार कीजिये ॥२३,२४॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, अहंकार का त्याग कर चुके, स्वस्थ बुद्धिवाले और आकाश के सदृश सुन्दर एवं जिन्होंने कलंकरूपी चिह्न का ग्रहण नहीं किया, ऐसे आप लोक में व्यवहार कीजिये। चन्द्रमा रात्रि में केवल 'मैं ही प्रकाशक हूँ', यों अहंकारयुक्त, क्षयरोगी होने के कारण अस्वस्थबुद्धि तथा कलंक से लांछित भी है, आप वैसे नहीं है, इस तरह इस श्लोक द्वारा चन्द्रमा से श्रीरामचन्द्रजी में व्यतिरेक दर्शाया ॥२५॥

हे राघव, सैकड़ों आशारूपी पाशों से उन्मुक्त, सब वृत्तियों में सम, बाहर तत्तत वर्णाश्रम स्वभाव के उचित कार्यों में अथवा प्रजाओं के हितकर कार्यों में संलग्न आप लोक में विहार कीजिये ॥२६॥

सब वृत्तियों में सम, ऐसा जो ऊपर कहा है, उसका बन्ध-मोक्ष आदि विषमता के प्रतिषेध द्वारा उपपादन करते हैं।

देही का परमार्थतः न बन्ध है और न मोक्ष है। यह मिथ्या इन्द्रजाल के संसार में भ्रमण करानेवाली है ॥२७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे तेज धूप में जल की प्रतीति करानेवाला प्रचुर मृगजल भ्रमवश दिखाई देता है, वैसे ही अज्ञान से भ्रान्तिमात्र यह जगत दिखाई देता है ॥२८॥

देही का बन्धन क्यों नहीं है, ऐसा प्रश्न होने पर उसमें युक्ति दिखाते हैं।

असंग, एकरूप, सर्वव्यापक, आत्मा का बन्धन कैसे हो सकता है, जब वह बद्ध नहीं है, तो मोक्ष का किसके लिए विधान हो सकता है ? ॥२९॥ यह विशाल संसार भ्रान्ति अतात्त्विक ज्ञान से उत्पन्न हुई है, तत्त्वज्ञान से यह जैसे रज्जु में सर्पबुद्धि चली जाती है वैसे ही नष्ट हो जाती है ॥३०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आप अपनी एकाग्र सूक्ष्मबुद्धि से अपने तत्त्व को जान चुके हैं और अहंकाररहित हो चुके हैं, इसलिए आप आकाश के तुल्य निर्मल होकर स्थित होइये। आप इसी प्रकार साक्षी है, इसलिए मित्र, बन्धु, बान्धवों से सम्बन्ध रखनेवाली सब वासनाओं का त्याग कीजिये। जिनका स्वरूप ही विद्यमान नहीं हैं ऐसे बन्धु-बान्धवों की वासना कैसी ? ॥३१,३२॥ इस प्रकार वासना का त्याग होने पर वासनाओं से परिशिष्ट साक्षीरूप आपका परिशेषतः परमार्थसत्त्ववान्‌रूप से अनुमान होता है। वासनाओं के त्याग के पहले परम कारण ब्रह्म से प्रलय और सुषुप्ति में नित्य प्राप्त हुआ भी यह आत्मतत्त्व परिच्छिन्न, असत्यरूप ही प्राप्त हुआ; किन्तु परमार्थसत्यरूप प्राप्त नहीं हुआ। *इस प्रकार वासना त्याग ही आत्म प्राप्ति में हेतु है, अन्य हेतु नहीं है, यह भाव है* ॥३३॥

भोगों से, भोगसाधक बन्धुओं से, जगत के माला, चन्दन आदि पदार्थों से और उनकी प्राप्ति में निमित्तभूत शुभ-अशुभ कर्मों से आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर इनके लिए आप व्यर्थ ही शोक क्यों करते हैं ? ॥३४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मैं, जिसका केवल आत्मता ही एकमात्र परमानन्दसत्य है, ऐसा हूँ, इस प्रकार की जिन्हें बुद्धि प्राप्त हो गई, ऐसे आपका भय के कारणों से सम्बन्ध नहीं है, फिर आप जगत के भय से क्यों डरते है ? ॥३५॥ मिथ्या होने के कारण बन्धु के उत्पन्न होने पर उसके दुःख-सुख के भ्रमों से आपका कौन सम्बन्ध है ? जो आप इनके लिए शोक करते हैं ॥३६॥

इस प्रकार आत्मा के असंगत्व, अद्वितीयत्व के दर्शन से शोक को असम्भव कहा है। अब भले ही आत्मा संगी हो, तथापि वह नित्य है या क्षणिक है या प्रागभाव या घटादि के समान कालान्तर में नष्ट होनेवाला है। इन सभी पक्षों में बन्धु के लिए शोक करना उचित नही है, यों प्रगल्भता से समाधान करने की इच्छा से श्रीवसिष्ठजी पहला पक्ष लेकर कहते हैं।

आप यदि पूर्व जन्मों में हुए थे, भावी जन्मों में होंगे और इस समय इस जन्म में स्थित हैं, इस प्रकार के स्वभाववाले आत्मा को निश्चयरूप से जान चुके हैं, तो विद्यमान और निकट स्थित बन्धुओं के समान अतीत और बहुत-से प्राणों के समान प्यारे बन्धुओं का शोक क्यों नहीं करते हैं ? भाव यह कि विनिगमना विरह से सब में शोक न होने के कारण कहीं शोक करना उचित नहीं है ॥३७,३८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, पहले आप अन्य हुए थे, इस समय अन्य हैं और आगे भी अन्य होंगे इस प्रकार क्षणिक आत्मा को यदि आप जानते हैं, फिर भी आप सद्रूप का अवलम्बन करके क्यों शोक करते है, दूसरे क्षण में शोच्य और शोचिता का अभाव होने से शोक का अवसर ही नहीं है, यह दूसरा पक्ष है ॥३९॥

तीसरे पक्ष में कहते हैं।

पहले उत्पन्न होकर और इस समय उत्पन्न होकर फिर आप आगे नहीं उत्पन्न होंगे, तथापि अपने नष्ट होने के कारण क्षीण संसार (जिसका संसार क्षीण हो गया है) आप किसलिए शोक करते हैं ? ॥४०॥

जबकि आत्मा के जन्म आदि का संगी होने पर भी शोक युक्त नहीं है, तब फिर असंग, उदासीन, नित्य, कूटस्थ, स्वप्रकाश, पूर्ण, आनन्दैकरस आत्मा में शोक उचित नहीं, इसमें कहना ही क्या, इस आशय से उपसंहार करते हैं।

इसलिए मायिक जगत के क्रम में दुःखी होना उचित नहीं है; किन्तु स्वाभाविक सन्तोषवृत्ति ही उचित है तथा स्वाभाविक कार्यों का अनुवर्तन उचित है॥४१॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आप दुःखी न होइये और सुखी भी न होइये। सब जगह आप समता को प्राप्त होइये; क्योंकि परमात्मा सर्वव्यापक है। अनन्त, सत्स्वरूप आप व्यापक आकाश के समान हैं तथा ज्वालाओं के चारों ओर से प्रभा से व्याप्त मध्यभाग में अन्धकार का अवकाश नहीं है, वैसे ही आप में भी अज्ञान दुःख आदि का अवसर नहीं है, यह भाव है॥४२,४३॥

आप ही सबके अन्तरात्मा है, ऐसा कहते हैं।

जिनका स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं हुआ, ऐसे सूक्ष्म आप हारभूत मोतियों के एक दीर्घ तन्तु के समान सब जगत के पदार्थों के अन्दर स्थित है। यह संसार की स्थिति ही है कि अज्ञ को ही उत्पन्न होकर फिर उत्पन्न होना पड़ता है, ज्ञानी को नहीं। हे श्रीरामचन्द्रजी आप ज्ञानी है, आप सुखी होइये। हे श्रीरामचन्द्रजी, इस संसार का यह स्वरूप दुःखों से पूर्ण है, अज्ञान से ही यह विस्तार को प्राप्त होता है। हे सन्मते, आप ज्ञानवान हैं। भ्रम में एकमात्र भ्रम के सिवाय और दूसरा रूप क्या हो सकता है ? स्वप्न में एकमात्र स्वप्न को छोड़कर अन्य कौन क्रम हो सकता है ? भाव यह है कि अन्य भ्रान्तियों में वास्तविकता की प्रसिद्धि न होने के कारण इसमें भी कोई वास्तविकता नहीं है॥४४–४७॥

जो निस्तत्त्व हैं वह सत्यरूप से कैसे दिखाई देता है, ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, सर्वशक्ति की यह शक्ति है, जो कि भ्रममात्रतामय यह जगदाकार भान अतिस्फुट दिखाई देता है। *(जगत की भ्रममात्रता के प्रदर्शन के लिए उसकी अनित्य स्वभावता दिखलाते हैं।)* यहाँ पर कोई किसी का सुबन्धु नहीं है, कोई किसीका शत्रु भी नहीं है, सर्वेश्वर भगवान् की इच्छा से सब–सबके–सब (शत्रु, मित्र और उदासीन) होते हैं॥४८,४९॥ परस्पर निमित्तभूत और जर्जरित यह सारा जगत जल के तरंगों के समूह के समान सदा बहता है॥५०॥ इस चंचल संसार का चक्र नेमि के (पहिये के घेरे के) समान चारों ओर से नीचे का भाग ऊपर आता है और ऊपर का भाग नीचे आता है॥५१॥ स्वर्ग के लोग नरक में जाते हैं और नारकीय लोग स्वर्ग में जाते हैं। लोग एक योनि से दूसरी योनि में और एक द्वीप से दूसरे द्वीप में जाते हैं। धीर लोग दीनता को प्राप्त होते हैं और दीन धीरता को प्राप्त होते हैं। अधोगति, ऊर्ध्वगतिआदि सैकड़ों भ्रमों से प्राण परिस्फुरित होते हैं॥५२,५३॥ यह पदार्थ समूह एकरूप से स्थित, स्वच्छ और सन्तापरहित है। जैसे अग्नि में हिमकण प्राप्त नहीं होता वैसे ही यहाँ कुछ भी प्राप्त नहीं होता॥५४॥ जो–जो महाभाग्यशाली बहुत–से बान्धव हैं, वे सब कुछ ही दिनों में नष्ट हुए ही देखने में आते हैं। हे महाबाहो, परता, आत्मीयता, अन्यता, त्वत्ता, मत्ता इत्यादि भावनाएँ द्विचन्द्रदर्शन के समान सत्य नहीं हैं॥५५,५६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, यह बन्धु है, यह शत्रु है, यह मैं हूँ, यह आप हैं, इस प्रकार की आपकी मिथ्यादृष्टियाँ अब छिन्न–भिन्न हो जाय। क्रीड़ा के लिए व्यवहार में स्थित आप

भीतर अज्ञान और वासना के साथ छिन्न-भिन्न हुई, बाधित अनुवृत्तिवाली इन दृष्टियों से आनन्दपूर्वक बाहर व्यवहार कीजिये ॥५७,५८॥ हे सुव्रत श्रीरामचन्द्रजी, वासनाभारवान की यानी अज्ञानी की तरह जैसे आप श्रम से परिश्रान्त न हों, वैसे इस संसार मार्ग में आप विहार कीजिये। वासनाओं का क्षय करनेवाली यह विचारणा जैसे-जैसे आपमें उदित होती है वैसे-वैसे व्यवहार बन्द होते जाते हैं। यह बन्धु है, यह बन्धु नहीं है, ऐसी गणना संकुचित चित्तवाले पुरुषों में होती है, उदाराशय पुरुषों की तो बुद्धि आवरणशून्य (यही बन्धु है, इस प्रकार के परिच्छिन्नतारूप आवरण से रहित) यानी सर्वत्र समदर्शिनी है ॥५९-६१॥ वह वस्तु नहीं है, जहाँ पर मैं नहीं हूँ। वह वस्तु नहीं है, जो मेरी न हो, ऐसा निश्चय कर धीर पुरुषों की बुद्धि पूर्वोक्त आवरण से रहित ही होती है ॥६२॥ जो पुरुष महान है, वह चिदाकाश के समान न तो अस्त को प्राप्त होता है और न उदित होता है, जैसे आकाश में स्थित पुरुष भूतल को देखता है, वैसे ही वह स्वरूप में प्रतिष्ठित हो सबको देखता है ॥६३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, सभी भूतजातियाँ आपके बन्धु सम्बन्धी हैं, क्योंकि अनादि संसार में सब योनियों में बहुत बार आपने जन्म लिया है। ये सब आपकी बन्धुता के अत्यन्त असंबद्ध नहीं हैं, क्योंकि बारी-बारी से सब-के-साथ आपका सम्बन्ध है अथवा देहद्वारक परम्परा सम्बन्ध की अपेक्षा सब जीवों के साथ एकात्म्य सम्बन्ध अन्तरंग है, अतएव उस सम्बन्ध से अत्यन्त असम्बद्ध कोई नहीं है, यह भाव समझना चाहिये ॥६४॥ जहाँ विविध योनियों से विचित्र सैकड़ों जन्मों से यह भ्रम निहित है, ऐसे इस जगत में यह बन्धु है, यह बन्धु नहीं है, यह भेददर्शन भ्रम के सिवाय और कुछ नहीं है, वस्तुतः तो जीवभावदृष्टि में तीनों भुवनों के समस्त जीव अपने बन्धु ही हैं और ब्रह्मभावदृष्टि में तो स्वयं ही सब कुछ है, इसलिए त्रिभुवनस्थ सब जीव ही अबन्धु भी है ॥६५॥

अट्ठारहवाँ सर्ग समाप्त

उन्नीसवाँ सर्ग

पूर्वोक्त कथन की सिद्धि के लिए पुण्य और पावन के आख्यान का वर्णन,
जिसमें पुण्य ने पितृशोकार्त पावन को ज्ञानोपदेश दिया।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त विषय में ही मुनिपुत्र दो भाइयों के गंगाजी के तट पर हुए संवादरूप इस प्राचीन इतिहास को विद्वान लोग कहते हैं। हे श्रीरामचन्द्रजी, यह बन्धु है, यह बन्धु नहीं है, इस कथा के सिलसिले में मुझे इसका स्मरण हो आया है। आप इस पवित्र और अद्‌भुत इतिहास को सुनिये ॥१,२॥ इस जम्बूद्वीप के किसी पर्वत समूह के मध्य में महेन्द्रनामक पर्वत है, जिसकी वनराजियाँ महामुकुटभूत हैं, जिसके कल्पवृक्ष के वनों की छाया में मुनि और किन्नर विश्राम लेते है, जिसने अपने गगनचुम्बी शिखरों से विस्तृत आकाश को भी व्याप्त कर दिया है, जो ब्रह्मलोक के भीतर पहुँचे हुए शिखरों की गुफाओं में फैल रहे सामवेद की प्रतिध्वनियों के कोलाहलों से मानों गान करता है, जो शिखरों की चोटियों पर बिजली से सुशोभित नीले मेघों से सुशोभित होता है, जो लता के फूलों से गुँथे हुए केशों के समान दिखते हैं, जो उस समय तटों में उछलने के लिए उत्कण्ठित शरभों के विजृम्भणों (मुँह फाड़ने) से अपने गुहारूपी मुँहों द्वारा प्रलयकाल के मेघों का उपहास करता हुआ-सा

गर्जता है, इसने गुफाओं के अन्दर होनेवाले झरनों के कलरव से समुद्रजल कल्लोलों के विलास को सर्वथा जीत लिया है। उसके एकभाग में, रत्नमय, मनोहर, विस्तृत शिखर पर मुनियों ने स्नान, जलपान आदि के लिए आकाश गंगा को उतार लिया था ॥३–९॥ उस आकाशगंगा के दैदीप्यमान, सुवर्ण–से पीले तट पर, जहाँ फूले हुए वृक्ष थे और रत्नमयपर्वत के तट से प्रकाश जगमगाता था वहाँ ज्ञानवान्, तपस्या की राशिरूप, उदारबुद्धि दीर्घतपा नामक मुनि निवास करते थे, जो मूर्तिमान दूसरे तपरूप थे ॥१०,११॥ उस मुनि के चन्द्रमा के तुल्य सुन्दर पुण्य और पावन नाम के दो लड़के थे, यदि बृहस्पति के कच नाम के दो पुत्र होते, तो उनसे उनकी उपमा हो सकती ॥१२॥ दीर्घतपा मुनि उन दोनों पुत्रों और भार्या के साथ फल से लदे हुए वृक्षों से पूर्ण उस गंगातट पर निवास करते थे ॥१३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, समय बीतने पर उनके दो लड़कों में से पुण्य नामवाला बड़ा लड़का तत्त्वज्ञानी हुआ, जो अवस्था से ज्येष्ठ और गुणों से भी ज्येष्ठ था ॥१४॥ पावन प्रातःकाल की सन्ध्या के कमल के समान अर्ध प्रबुद्ध हुआ। मूर्खता से तो बाहर हो गया, किन्तु परमात्मवस्तु में प्राप्त नहीं हुआ, इसलिए उसकी स्थिति मध्य में दोलायमान थी ॥१५॥ तदनन्तर प्राणियों द्वारा आयु के क्षयरूप से लक्षित सौ संवत्सरकाल के 'जिसने उनकी दीर्घ देहरूपी लता और आयु जीर्ण कर दी थी' बीतने पर इस क्षणभंगुर प्राणियों से पूर्ण, जन्म, जरा, मरण, स्वर्ग से पतन, नरक आदि सैकड़ों वृत्तान्तों से भयंकर संसार का अनुराग त्याग कर जरा से जर्जरित जीवनवाले दीर्घतपा मुनि ने गिरि–गुफारूपी घर में कलनारूप चिड़िया के घोंसले रूप देह का, जैसे भारवाहक पुरुष घर में भार का त्याग करता है, वैसे ही त्याग किया ॥१६–१८॥

जैस फूल की सुगन्ध आकाश में जाती है, वैसे ही जिसमें कलना क्रिया शान्त है एवं चेत्य से रहित जो तत्तद् जीव चेतन हैं, उनके स्थानभूत रागरहित परम पद को वे प्राप्त हुए। तदनन्तर मुनि की पत्नी ने प्राण और अपान से रहित मुनि की देह को नालरहित कमल के समान गिरी हुई देख कर पति द्वारा सिखाई गई चिरकाल से अभ्यस्त योगक्रिया से अपने शरीर का, जो रोग, बुढापे आदि से जर्जरित नहीं हुआ था, ऐसे त्याग किया, जैसे भँवरी अम्लान कमलिनी का त्याग करती है। लोगों की अदृश्यता को प्राप्त उसने जैसे प्रभा आकाश में स्थित अस्त को प्राप्त हुऐ चन्द्रमा का अनुसरण करती है वैसे ही पति का ही अनुसरण किया। माता–पिता के चले जाने पर उनके और्ध्वदेहिक कर्म में पुण्य ही अव्यग्रता पूर्व स्थित रहा और पावन दुःख को प्राप्त हुआ। शोक से व्याकुल चित्तवाला वह पावन अरण्य भूमियों में घूमता हुआ अपने ज्येष्ठ भाई के समान धैर्य का अवलम्बन न कर विलाप करता था ॥१९–२४॥ तत्त्वज्ञानी पुण्य माता–पिता का और्ध्वदेहिक कर्म समाप्त कर वन में शोक से व्याकुल पावन के समीप आया ॥२५॥

पुण्य ने कहा : हे वत्स, जैसे वर्षा ऋतु अन्धता की एकमात्र कारण तथा भाप के समूह को धारण करनेवाली जल–सम्बन्धी गर्मी को मेघ बना देती है, वैसे ही तुम अन्धता के एकमात्र कारण तथा अश्रुओं की धारा धारण करनेवाले कमल सदृश नेत्र सम्बन्धी घोर शोक को निबिड़ बना रहे हो ॥२६॥

हे महाप्राज्ञ, तुम्हारे पिता तुम्हारी माता के साथ स्वरूपभूत, मोक्ष नामक परमात्मपदवी को प्राप्त हो गये हैं। वही सब जन्तुओं का उत्पत्ति आदि तीनों कालों में आधारभूत है। ब्रह्मवेत्ताओं का वह स्वरूप है। पिता के अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाने पर तुम क्यों शोक करते हो ? तुमने, यही मेरी माँ

है, यही मेरे पिता है, इस प्रकार की मोह से उत्पन्न हुई भावना यहाँ पर बाँध रक्खी है, जिससे शोक के अयोग्य पिता का भी तुम शोक करते हो। न वही तुम्हारी माता है, न वही तुम्हारे पिता हैं तथा असंख्य पुत्रवाले उनके न तुम्हीं पुत्र हो ॥२७-३०॥ हे वत्स जैसे प्रत्येक वन में जलप्रवाह के बहुत से गड्ढे होते हैं, वैसे ही तुम्हारे हजारों माता-पिता हो चुके हैं ॥३१॥ हे वत्स, असंख्य पुत्रवाले उनके तुम्हीं केवलपुत्र नहीं हो। नदियों की तरंगों के समान मनुष्यों की बहुत-सी पुत्र राशियाँ व्यतीत हो चुकी हैं। जैसे लता और शाखा के लाखों पत्ते, कोंपलें, डंठल व्यतीत होते है, वैसे ही हमारे माता और पिता के अनेक लाखों पुत्र बीत चुके हैं। जैसे महावृक्ष के प्रत्येक ऋतु में फल व्यतीत होते हैं वैसे ही जन्तु के प्रत्येक जन्म में मित्र, बान्धव आदि के वृन्द व्यतीत हुए हैं ॥३२-३४॥

हे वत्स, यदि माता, पिता, पुत्र आदि स्नेहवश शोक के योग्य हैं, तो निरन्तर अतीत हजारों माता-पिता पुत्र आदि का शोक क्यों नहीं किया जाता है ? ॥३५॥ हे महाभाग, जगत की कल्पना के निमित्तभूत मोह के होने पर ही यह प्रपंच दिखाई देता है। हे प्राज्ञ, परमार्थतः आपके मित्र, बन्धु-बान्धव है ही नहीं। हे भ्राता, चिरकाल से संतप्त महान मरुस्थल में जैसे जल बिन्दु नहीं रहते, वैसे ही ब्रह्मस्वभाव होने के कारण परमार्थ दृष्टि से यहाँ नाश नहीं है। ब्रह्मबोध होने पर तो कहना ही क्या है ? जो इन छत्र, चामरो ंसे चंचल राजसम्पत्तियों को तुम देखते हो, हे महाबुद्धे, यह तीन अथवा पाँच दिनों का स्वप्न ही है ॥३६-३८॥

हे वत्स, पारमार्थिक दृष्टि से तुम सत्य का विचार करो, न तो तुम हो और न हम हैं। तुम्हारे भीतर जो भ्रान्ति है, उसका तुम त्याग करो। यह गया, यह मर गया इत्यादि दुर्दृष्टियाँ अपने संकल्परूप सन्निपातभ्रम से उत्पन्न हुई सामने दिखाई देती हैं, परमार्थतः नहीं दिखाई देती है। अज्ञानरूप धूप से आच्छन्न मरुभूमि सदृश आत्मा में पुण्य-पापरूप प्रवाह से युक्त तरंगों से चंचल स्वसंकल्प वासना नामक यह असीम मृग जल परिस्फुरित होता है ॥३९-४१॥

उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

बीसवाँ सर्ग

पुण्य द्वारा पावन के तथा अपने नाना योनियों में जन्मों का शोक-मोह की निवृत्ति के लिए वर्णन।

शोक मोहमूलक है, मोह के निरास द्वारा ही इसका शोक दूर करना चाहिये, यों समझ रहे पुण्य शोक के विषयभूत पिता आदि के अनिर्वचनीय होने से उनका मिथ्यात्व की प्रतिज्ञा कर ज्ञान से उसकी निरसनीयता का वर्णन करते हैं।

पुण्य ने कहा : हे वत्स, कौन पिता है अथवा कौन मित्र है, कौन माता है और कौन बन्धु-बान्धव है, तत्त्वतः इन सभी का निर्वचन नहीं हो सकता है। अपनी भ्रमरूपी आँधी से ही ये जनरूपी धूलिकण उत्पन्न होते हैं अथवा अपनी विवेक बुद्धिरूप आँधी से ही ये स्वजनरूपी धूलिकण निवारित होते हैं ॥१॥ बन्धु, मित्र, पुत्र, स्नेह, द्वेष, मोहदशारूप रोग से युक्त यह प्रपंच अपने द्वारा किये गये संकेत से ही विस्तार को प्राप्त होता है ॥२॥

यह मेरा बन्धु है, यों बन्धुरूप में भावित पुरुष बन्धु होता है, यह मेरा शत्रु है, ये शत्रुरूप से भावित

पुरुष शत्रु होता है। विष और अमृत की दशा के समान यहाँ पर स्थिति भावमयी है। जैसे विष के कृमियों द्वारा विष की यह हमारा जीवन हेतु है, यों दृढ़ भावना करने से उनके प्रति वह अमृत हो जाता है और लोगों द्वारा यह हमारे मरण का हेतु हैं, यों भावना करने से उनके प्रति विष होता है, इसी प्रकार जगत की स्थिति भावनामयी है, यह भाव है ॥३॥

बन्धुओं की वास्तविकता का विचार जाने दीजिये, उनके प्रति शोक करनेवाले तुम यदि केवल स्वत्व का विचार करो, तो उसीसे उनका निरास हो सकता है, इस आशय से कहते हैं।

सब देहों में अग्निरूप से विद्यमान, सर्वव्यापी आत्मा की यह मेरा बन्धु है, यह मेरा शत्रु है, ऐसी कल्पना कैसे हो सकती है ? ॥४॥

यदि कोई शंका करे कि सम्पूर्ण देहों में मैं कैसे एक हूँ, तो इस पर अहंप्रत्यवेद्य का ही यह कौन पदार्थ है, यों विचार करो, इस आशय से कहते हैं।

हे वत्स, रक्त मांस आदि जड़ संघात अस्थिपंजररूप देह से अन्य चेतन स्वभाव मैं कौन हूँ, ऐसा अपने चित्त से स्वयं विचार करो ॥५॥ परमार्थदृष्टि से न पावन शब्द वाच्य तुम कोई हो अथवा न पुण्य शब्द वाच्य मैं ही कोई हूँ, यह मिथ्या ज्ञान (देहात्मभ्रम) ही पुण्य-पावन शब्द से प्रसिद्ध होता है ॥६॥

इस प्रकार पिता आदि का शरीर भी भ्रान्ति से अतिरिक्त कुछ भी नहीं ठहरता, यह कहते हैं।

कौन तुम्हारी माता है, कौन तुम्हारे पिता हैं, कौन मित्र है अथवा कौन शत्रु है। जरा बतलाओ तो सही, अनन्त विलासवाले चिदाकाश का कौन स्वभिन्न है और कौन स्व है ? भाव यह है कि यदि देहादि उपाधि से पृथक् किया गया चिदाकाश ही मैं, तुम और पिता आदि हैं, ऐसा समझते हो, तो 'मेरे पिता, मेरा भाई' इत्यादि भेदयुक्त स्वत्व आदि सम्बन्ध नहीं घट सकता ॥७॥

यदि लिंग शरीर ही अपार मेरे बन्धु हैं, ऐसा मानो, तो इस पर सुनो, ऐसा कहते हैं।

यदि तुम मुझसे पृथक् लिंगात्मा हो, तो व्यतीत अनेक जन्मों में तुम्हारे जो बंधु और जो धन, सम्पत्ति आदि थे, उनके लिए भी तुम शोक क्यों नहीं करते ? ॥८॥ उन भूली हुई वनस्थलियों में तुम्हारे मृग योनियों में उत्पन्न बहुत से मृग बन्धु हुए थे, उनके लिए तुम शोक क्यों नहीं करते ? ॥९॥ कमल के वनों में और नदियों के तटों पर हंसरूप तुम्हारे हंस बन्धु हुए थे... उनके लिए तुम शोक क्यों नहीं करते ? ॥१०॥ अन्य जन्मों में बड़ी विचित्र वनपंक्तियों में तुम्हारे बहुत से वृक्ष अत्यन्त बन्धु हुए थे, उनके लिए तुम शोक क्यों नहीं करते ? ॥११॥ बड़े ऊँचे-ऊँचे पर्वत-शिखरों पर तुम्हारे बहुत सिंह बान्धव हुए थे, उनके लिए तुम शोक क्यों नहीं करते ? ॥१२॥ नदियों, तालाबों और पोखरों में तुम्हारे बहुतसे मत्स्य बन्धु हुए थे, उनके लिए तुम शोक क्यों नहीं करते ? ॥१३॥

अब योगबल से देखे गये भाई के विविध जन्मों का विशेषरूप से स्मरण कराते हुए कहते हैं।

हे वत्स, तुम दर्शार्ण देश में कपिल वनवानर हुए थे, तुषार देश में राजपुत्र हुए थे और पौण्ड्र देश में जंगली कौवा हुए थे। हैहय देश में हाथी हुए थे त्रिगर्तदेश में गधा हुए थे, शाल्व प्रदेश में कुत्ता हुए थे और वहीं चीड़ के पेड़ पर पक्षी हुए थे। विन्ध्याचल में पीपल होकर, बड़े भारी वट के वृक्ष में घुन होकर और मन्दराचल में मुर्गा होकर मन्दराचल की ही गुफा में तुम ब्राह्मण हुए थे। कोशल देश में ब्राह्मण होकर, बंग देश में तीतर होकर और तुषार देश में घोड़ा होकर तुम पुष्कर में प्रसिद्ध ब्रह्मा के यज्ञ में पशु हुए थे।

जो पहले विन्ध्य के वन में ताड़ के वृक्ष की जड़ के भीतर कीड़ा हुआ था, जो गूलर के फूल में मच्छर हुआ था और जो बगुला हुआ था, हे वत्स, वह तुम अब मेरे भाई हुए हो। हिमालय की कन्दरा में भोजपत्र के वृक्ष की पतली त्वचा के भीतर छः मास तक जो चींटा हुआ था, वही तुम मेरे अनुज हुए हो। स्वदेश सीमा के अन्त में जो छोटा-सा गाँव है, वहाँ के कंडों के ढेर में जो छः महीने तक बिच्छूरूप से स्थित रहा, हे साधो, वही तुम मेरे भाई हो। जो वन में शबरी के बच्चे का जन्म पाकर जैसे पद्मों में भ्रमर लीन होता है वैसे ही शबरी के स्तनों के ऊपर छिपा, वही तुम मेरे भाई हो ॥१४-२१॥ हे वत्स, इन अन्यान्य बहुत सी जीवयोनियों में इसी जम्बू द्वीप में पहले सैकड़ों, हजारों बार तुम उत्पन्न हो चुके हो। मैं तत्त्वज्ञान से विशुद्ध सूक्ष्म बुद्धि से तुम्हारे और अपने पूर्व जन्मों के वासना क्रम को इस प्रकार देखता हूँ।

भाई के जन्मों के कथन का उपसंहार कर अपने बहुत जन्मों का कहना आरम्भ करते हैं।

मेरी भी अज्ञान से जड़ बहुत-सी योनियाँ बहुत बार बीत चुकी हैं। आपको मैं ज्ञान से उत्पन्न दृष्टि से उनका स्मरण करता हूँ। त्रिगर्त देश में सुग्गा होकर, नदी के तट पर मेढक होकर, वनों में लवा (एक प्रकार का छोटा पक्षी) होकर मैं इस वन में उत्पन्न हुआ हूँ। विन्ध्याचल में शवरयोनि का भोगकर, बंग देश में वृक्षयोनि का भोगकर, विन्ध्याचल में ही ऊँट की योनि का भी भोगकर इस वन में उत्पन्न हुआ हूँ। जो हिमालय में चातक हुआ, जो पौण्ड्र देश में राजा हुआ और जो सह्याचल की झाड़ियों में व्याघ्र हुआ, वही मैं तुम्हारा बड़ा भाई हूँ। जो दस वर्ष तक गीध, जो पाँच महीने तक मगर और जो सौ वर्ष तक सिंह रहा, वही मैं इस जन्म में तुम्हारा अग्रज हुआ हूँ। आन्ध्र ग्राम में चकोर एवं तुषारप्रदेश में राजा के समान विराजमान होनेवाला, साामन्तरूप, श्री शैलाचार्य का पुत्र मैं अपुण्यात्मा होता हुआ भी लोगों की वंचना के लिए पुण्यनाम से प्रख्यापनरूप दम्भ से युक्त होकर यह कह रहा हूँ। अनेक जन्मों की भ्रान्ति के प्राक्तन सभी विलासों का मैं स्मरण करता हूँ, वे विविध संसारवाले और विविध आचारों से युक्त चेष्टावाले हैं ॥२२-३०॥ ऐसी अवस्था में जगत में उत्पन्न हुए सैकड़ों माता, पिता, भाई, बन्धु और मित्र चले गये। उनमें से किनका शोक करें, किनका शोक न करें एवं उन बन्धुओं का अतिक्रमण कर यहाँ किनका शोक करें, इसलिए किन्हीं का भी शोक हम नहीं करते क्योंकि ऐसी जगत की गति है। वन के वृक्षों के पत्तों के समान संसारी पुरुषों के अनन्त पिता जाते हैं, अनन्त माताएँ जाती हैं। इसलिए हे वत्स, यहाँ पर दुःख-सुख की क्या अवधि है ? अतः सबका त्याग कर स्वच्छता को प्राप्त हुए हम लोग स्थित हैं ॥३१-३४॥

हे भद्र, मन में अहंरूप से स्थित प्रपंच भावना का त्याग कर उस गति को प्राप्त होओ, जिस गति को आत्मज्ञानी लोग प्राप्त होते हैं। सुबुद्धि लोग यहाँ पर अधोगति, ऊर्ध्वगतिरूप आवेग एवं विश्रामरहित निरन्तर भ्रमण का शोक नहीं करते केवल निरभिमानिता से चिरकाल तक व्यवहार करते हैं ॥३५,३६॥ हे वत्स, व्यग्रतारहित होकर तुम आत्मा को भाव-अभाव से रहित एवं जरा मरणविहीन समझो, विमूढ मनवाले न बनो। न तुम्हें दुःख है, न तुम्हारा जन्म है, न तुम्हारी माता है और न तुम्हारे पिता हैं। हे सद्बुद्धे, तुम आत्मा ही हो। अनात्मभूत देह आदि कोई भी तुम नहीं हो। नटों के समान विविध अभिनय करनेवाले अज्ञानी लोग ही इस संसारयात्रा में यही परम पुरुषार्थ है, ऐसी बुद्धिवाले होते हैं। स्वस्थ और यथाप्राप्त वस्तु का दर्शन करनेवाले तत्त्वज्ञ पुरुष तो उदासीन दर्शक ही हैं; अतएव वे साक्षी धर्म में

स्थित हैं। जैसे दीपक रात्रि आने पर प्रकाशन क्रिया में सन्निधिमात्र से कर्ता होते हुए भी व्यापार न करने के कारण अकर्ता ही हैं, वैसे ही यहाँ तत्त्वज्ञानी पुरुष लोकव्यवहार स्थिति में कर्ता होते हुए भी अकर्ता ही हैं ॥३७–४१॥

अब दूसरा दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे हाथ में स्थित दर्पण, रत्न आदि प्रतिबिम्ब की उपाधिभूत वस्तुएँ बिम्बभूत अपनी सारी देह में स्थित सब धर्मों के साथ भी स्वदेह में रचित प्रतिबिम्ब में बिम्ब के अन्य धर्मों के समान स्वयं निविष्ट नहीं दिखाई देती वैसे ही स्वात्मा में अध्यस्त कार्यों के कर्ता होते हुए भी महामति पुरुष स्वयं उनमें अभिनिवेशवाले नहीं होते। हे वत्स, सब एषणामय कलंकों से रहित अतएव मननशील, अपने से ही अपने हृदयकमल में स्वस्थ आत्मरूप से साक्षात्कृत एवं संसार भ्रम का सर्वथा त्यागकर परिशिष्ट हुए इस आत्मा से ही सन्तोष को प्राप्त होओ ॥४२,४३॥

बीसवाँ सर्ग समाप्त

इक्कीसवाँ सर्ग

तृष्णारूपी पाश का क्षय ही मोक्ष है, आशा से चित्तवृत्तियाँ होती हैं,
निराश और अपने से पूर्ण पुरुष की स्वतःमुक्ति होती है, यह वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार उस पुण्य द्वारा प्रबोधित पावन जैसे प्रातःकाल भूतल प्रकाशता को प्राप्त होता है, वैसे ही परिनिष्ठित आत्मनिश्चय को प्राप्त हुआ ॥१॥ ज्ञान और विज्ञान में पारंगत, सिद्ध और आनन्दित वे दोनों ही प्रारब्ध कर्मों का नाश होने तक उस वन में भ्रमण करते थे। तदनन्तर समय पाकर कभी तेलरहित दीपकों के समान शान्ति को प्राप्त हुए वे दोनों विदेह होकर निर्वाण पद को प्राप्त हो गये ॥२,३॥

पूर्वोक्त आख्यानका उपसंहार कर प्रस्तुत प्रसंग में उसकी योजना करते हैं।

हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार पहले जन्मों में देहधारण कर चुके लोगों के मित्र, बन्धु और बान्धवों का समूह अनन्त है, भला बतलाइये तो सही, उनमें से कौन किसका ग्रहण करते हैं और कौन किसका त्याग करते हैं ? ॥४॥ हे रघुनन्दन, इसलिए सब शोकों की मूलभूत, प्रत्येक विषय में अनन्त तृष्णाओं का एक–मात्र त्याग ही उनकी निवृत्ति में उपाय हैं। विषयों के उपार्जन द्वारा उनका वर्धन उपाय नहीं है। जैसे लकड़ी से आग बढ़ती है वैसे वैसे ही चिन्तन से चिन्ता बढ़ती है, जैसे लकड़ी के बिना अग्नि बुझ जाती है वैसे ही चिन्तन के अभाव से वह नष्ट हो जाती है ॥५,६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, उठिये और पूर्वोक्त ध्येय वासना त्यागरूपी रथ में बैठे हुए आप सब भूतों के ऊपर कृपा से उदारदृष्टि द्वारा दीन लोगों को देखते हुए प्रकृत व्यवहार का अनुष्ठान कीजिये ॥७॥ हे महाबाहो, यह स्वच्छ, कामनारहित, निर्दोष ब्राह्मी स्थिति है, इसे प्राप्तकर व्यवहार में अकुशल पुरुष भी मोह को प्राप्त नहीं होता। केवल एक विवेकरूपी मित्र को एवं एकमात्र बुद्धिरूपी प्रिय सखी को लेकर विहार कर रहा पुरुष संकटों में मोह को प्राप्त नहीं होता। जिसने सब धनसम्पत्तियों का त्याग कर दिया और भीतर स्नेह न रहने के कारण अपने बन्धु–बान्धवों को मानों गलहस्त देकर निकाल दिया, ऐसे अपने विवेक के सिवाय

संकट से कोई उद्धार नहीं कर सकता। वैराग्य से, शास्त्र से अथवा महत्त्व आदि गुणों से बड़े प्रयत्न के साथ आपत्तियों को दूर करने के लिए स्वयं ही मन को उन्नत बनायें। तीनों भुवनों के ऐश्वर्य से वह फल प्राप्त नहीं हो सकता और रत्नों से भरे हुए कोश से भी वह फल प्राप्त नहीं हो सकता, जो फल तुच्छ विषयों की अनिच्छा द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त हुए मन से प्राप्त हो सकता है। इस जगत के मध्य में अधोगति, ऊर्ध्वगति और मनुष्यलोक में ही जन्मपरम्परा द्वारा भ्रमणों से जो पुरुष गिरते हैं, उनका मन सदा ही संतप्त रहता है, कभी विश्रान्त नहीं होता॥८-१३॥

यदि कोई शंका करे कि सन्ताप के कारणभूत आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक, रोग, वर्षा, धूप, चोर, सर्प आदि के रहते कैसे मन की एक मात्र शान्ति से सब सन्तापों की निवृत्ति हो सकती है ? इस पर कहते हैं।

मन के पूर्ण होने पर सारा जगत सुधारस से पूर्ण हो जाता है, जिसके पैर जूते से ढके हुए रहते हैं, उसके लिए सारी भूमि चमड़े से ढकी हुई ही है। भाव यह है कि आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक भेद से तीनों प्रकार के सन्तापों की जड़ मनोदोष ही है। मन के विशुद्ध ब्रह्मामृतरस से पूर्ण होने पर सारा जगत आनन्दपूर्ण ही प्रतीत होता है। जैसे कि मुलायम जूतों से जिसका पैर सुरक्षित है, उसे कुश और काँटों से भरी हुई सारी पृथिवी भी मुलायम चमड़े से ढकी हुई ही प्रतीत होती है॥१४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मन वैराग्य से पूर्णता को प्राप्त होता है, आशा के वश में चलनेवाला मन पूर्णता को प्राप्त नहीं होता। जैसे शरत्काल से तालाब रिक्तता को प्राप्त होता है वैसे ही आशा से मन सूखे हुए सागर के गर्त के समान रिक्त हो जाता है। जिन लोगों का मन आशा से विवश रहता है, उन लोगों का हृदय, जिसने भीतर के गर्त को प्रकट कर दिया है, अगस्त्य ऋषि से पीये गये सागर के समान शून्यता को प्राप्त होता है। भाव यह है कि जैसे समुद्र के रिक्त हो जाने पर उसके गर्त के प्रकट हो जाने से भीतर मगर, साँप आदि स्पष्टरूप से प्रकाशित हो रहे थे, वैसे ही मन के रिक्त होने पर उसके गर्त के प्रकट हो जाने से भीतर के लोभ, दैन्य, आदि सभी दोषों का प्रकाश हो जाता है। जिसके धर्म, ज्ञान, वैराग्य, शम, दम आदिरूप पुष्प, फल, पल्लव आदि से समृद्ध विशाल चित्तरूपी वृक्ष पर तृष्णारूपी चंचल वानरी नहीं घूमती, उस पुरुष का मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त इन चार प्रकार के वृक्षों से भरा हुआ अन्तःकरणरूपी विशाल वन खूब सुशोभित होता है। जिनके चित्त में स्पृहा नहीं है, उन लोगों के लिए त्रैलोक्य भी कमलगट्टे के कोश के समान अत्यन्त छोटा है, योजन समूह गोपद है और महाकल्प आधा पलक है, भाव यह कि अपरिच्छिन्न ब्रह्मसुख की दृष्टि से देश-काल से परिच्छिन्न आधिपत्यवैभव भी अत्यल्प ही है। जो शीतलता निःस्पृह लोगों के मन में विराजमान रहती है, वह शीतलता न चन्द्रमा में है, न हिमालय की गुफा में है और न वह केले और चन्दन के वृक्षों की श्रेणी में है। निःस्पृह मन जैसे शोभित होता है वैसे न पूर्ण चन्द्रमा शोभित होता है, न क्षीरसागर शोभित होता है और न लक्ष्मी का रमणीय मुख ही शोभित होता है। जैसे मेघपंक्ति चन्द्रमा को मलिन कर देती है और जैसे काजल का लेप चूने के लेप को दूषित कर देता है, वैसे ही आशारूपी पिशाचिनी मनुष्यों को मलिन कर देती है। चित्तरूप वृक्ष की आशानामक शाखाओं ने दिशाओं के तटों को व्याप्त कर रक्खा है, उनके कट जाने पर चित्तरूपी महावृक्ष ब्रह्मरूपता को प्राप्त हो जाता है। तृष्णारूपी महाशाखाएँ जिसकी कट गई, ऐसे

चित्तरूपी ठूँठ के रहने पर बढ़ने में रुकावट डालनेवाले कुवृक्ष के कट जाने के बाद उसके नीचे उगे हुए उस वृक्ष के समान धैर्य सैकड़ों शाखाओंवाला हो जाता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्त के क्षीण होने पर बढ़े हुए वैराग्य, जितेन्द्रियता, द्वन्द्व सहिष्णुता आदि धैर्यवाला पुरुष उस परम पद को प्राप्त होता है, जहाँ पर फिर नाश नहीं है। हे श्रीरामचन्द्रजी, उत्तम आशयवाले आप यदि चित्तवृत्तिरूपी इन आशाओं को पुनः पनपने के लिए अवसर नहीं देंगे, तो आपको जन्म आदिका कोई भय नहीं है। वृत्तिरहित आपका चित्त भी अचित्तता को प्राप्त हुआ हो, तभी आप अपने अन्दर मोक्षमयी उस पूर्ण सत्ता को प्राप्त होते हैं ॥१५–२६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्त में प्रविष्ट हुई उल्लू–पक्षीरूपी क्षुब्ध तृष्णा से भीतर में अमंगल खूब विस्तार को प्राप्त होते हैं। भाव यह कि जब कभी घर में उल्लू का प्रवेश होता है, तो मरण, दरिद्रता, आदि अनेक अमंगल होते हैं, ऐसा ज्योतिष आदि शास्त्रों में प्रसिद्ध है। वह जब देह के अन्दर चित्त में निरन्तर प्रविष्ट होकर सब व्यवहारों में क्षुब्ध होकर स्थित हो, तब उससे सभी अमंगल खूब विस्तार को प्राप्त होते हैं, इसमें कहना ही क्या है ? ॥२७॥

यदि कोई शंका करे, एकमात्र आशा के त्याग से कैसे चित्त की शान्ति हो सकती है ? संकल्प, सन्देह, धृति, अधृति आदि अन्य वृत्तियों से भी चित्त का पनपना नहीं रोका जा सकता ? तो इस शंका का सब वृत्तियों की जड़ आशा ही है, यह दिखलाते हुए परिहार करते हैं।

समाधि के समय बाह्य कारण रुके रहते हैं, अतएव चाक्षुष आदि वृत्तियाँ नहीं होती, इसलिए उस समय केवल चिन्तन ही चित्त की वृत्ति अवशिष्ट रहती है। यह सिद्धान्त हम पहले कह आये हैं और चिन्तन में भी चित्त आशा से ही प्रवृत्त होता है, क्योंकि आशा आदि विषयों में ही पुरुषों का चिन्तन देखा जाता है, इसलिए आशानामक चित्तवृत्ति का त्यागकर आप निश्चिंतता को प्राप्त होइये ॥२८॥

जाड़ा और उष्णता का नाश होने पर अग्नि के उपशम के समान वृत्ति का नाश होने पर मन का उपशम सिद्ध होता है, ऐसा कहते हैं।

जो जिस वृत्ति से जीवित रहता है, उस वृत्ति के सर्वथा निरोध से वह अपक्षय क्रम से नष्ट हो जाता है। इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप चित्त के उपशम के लिए चित्तवृत्ति का नाश कीजिये ॥२९॥

पूर्वोक्त अर्थ का ही संग्रह करके उपसंहार करते हैं।

हे महात्मन्, आप पुत्र, धन, लोक आदि की सम्पूर्ण एषणाओं का त्याग कर आशानामक संसार बन्धन को दूर कर जीवन्मुक्त होइये, क्योंकि मन में स्थित कुत्सित आशाएँ आत्मा की हथकड़ियाँ हैं, उनके नष्ट होने पर कौन मुक्त नहीं होगा यानी सभी मुक्त हो जाते हैं ॥३०॥

इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त

बाईसवाँ सर्ग

बलि के आख्यान के सिलसिले में पाताल का वर्णन तथा बली के राज्य का और वैराग्य से मेरु के शिखर पर विचार का वर्णन।

अब 'पद्मक्षकोशं त्रिजगत' इत्यादि से विवेक होने पर त्रैलोक्य का ऐश्वर्य भी अत्यल्प है, ऐसा जो पहले कहा था, उसके उपपादन के लिए बलि का उपाख्यान कहने की इच्छा से भूमिका बाँधते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुवंशरूपी आकाश के पूर्ण चन्द्र श्रीरामचन्द्रजी, अथवा आप अकस्मात विचार के उदय से बलि के समान निर्मल ज्ञान प्राप्त कीजिये।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, हे सब धर्मों के ज्ञाता गुरुजी, आपके प्रसाद से मैंने पाने के योग्य सर्वात्मक ब्रह्म को हृदय में प्राप्त कर लिया है और उसी निर्मल पद में मैंने विश्राम किया है ॥१,२॥ हे विभो, जैसे शरद् ऋतु में आकाश से विशाल मेघ चला जाता है, वैसे ही मेरे चित्त से तृष्णा नामक वह महातम हट गया है। अमृत से पूरित, आकाश में स्थित, शीतलस्वरूप, महाकान्तिवाले सायंकाल में पूर्ण चन्द्रमा के समान मैं अमृत से लबालब भरा हुआ, चिदाकाश में स्थित, सन्तापशून्य चित्तवाला, महाकान्ति से युक्त और अन्तःकरण में आनन्द से पूर्ण हो स्थित हूँ। परन्तु हे सब सन्देहरूपी मेघों के निवारण के लिए शरद् ऋतु के तुल्य, मुनिवर आपके इन वचनों से मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ॥३-५॥ हे विभो, फिर आप मेरी ज्ञानवृद्धि के लिए बलि की बोधप्राप्ति प्रकार को कहिये। गुरुजनों को शिष्यों को उपदेश देने में कभी खेद नहीं होता ॥६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुवर, मैं आपसे बलि का उत्तम वृत्तान्त कहूँगा, आप उसे सुनिये। जिसके श्रवण से आप नित्य, तत्त्वरूप आत्मस्वरूप बोध को प्राप्त हो जायेंगे। इस ब्रह्माण्ड में किसी दिग्रूप छोटे निकुंज में भूमि के नीचे विद्यमान पाताल नाम से प्रसिद्ध लोक है। कहीं पर वह क्षीरसागर में उत्पन्न हुई अतएव वहाँ उत्पन्न अमृत के द्रव से मानों लिप्त अतिसुन्दरी दानव कन्याओं से ठसाठस भरा है। कहीं पर वह दो से लेकर दो हजार तक संख्यावाली जिह्वाओं से औरों की अपेक्षा व्याकरण, छन्दःशास्त्र आदि का दुगुना व्याख्यान करने से तेज शब्दवाले अतएव चंचल जिह्वा से युक्त हजारों सिरवाले साँपों से भरा है। कहीं पर अपने शरीररूपी पर्वत से सारे संसार को व्याप्त करनेवाले और धर्म या यज्ञ के हविष्य को जबर्दस्ती छीन कर खानेवाले दानवों से वह आच्छन्न है, जो चल रहे मेरु पर्वत के समान विशालकाय हैं। कहीं पर जिनके मस्तकरूपी शिखर की चोटियों पर भूमण्डल का मध्यभाग विश्रान्त है और जो दाँतरूपी वृक्षों के पर्वत के तुल्य आश्रयभूत हैं, ऐसे दिग्गजों ने उसको अपना निवास स्थान बनाया है ॥७-१२॥

कहीं पर बड़े कट-कट शब्दों से जिनमें भू-राशियाँ भयभीत हैं और जो दुर्गन्धरूप से नारकीय जीवों के कर्म भासित हो रहे हैं, ऐसे नरकमण्डलों से सबसे नीचे वह व्याप्त है। कहीं पर नीचे के नरक-प्रदेश से लेकर ऊपर हम लोगों के भूतल तक सात पुओं में पिरोई गई लोह ही सींक के समान सात पातालों में पिरोए गये रत्नों के आकाररूप मेरू आदि पर्वतों से वह व्याप्त हैं एवं कहीं पर छिद्रों की तरह अत्यन्त संकुचित पाताल के अवयवों से व्याप्त है। कहीं पर वह जिसकी चरणकमल की धूलि सुर और असुरों के मस्तकों पर सुप्त की भाँति विश्राम ले रही है, ऐसे त्रिलोकवन्दित भगवान कपिलमुनि द्वारा पवित्र बनाया गया है। कहीं पर असुर स्त्रियों से तैयार किये गये विविध उपकरणों से पूजा और क्रीड़ा के अभिलाषी भगवान हाटकेश्वर से पह पालित है। उस पाताल में, जहाँ पर असुरों के बाहुस्तम्भों से महान राज्यभार धारण किया जा रहा है, विरोचन के पुत्र बलिनामक दानव राजा हुए। सब देवता, विद्याधर और नागों के साथ रोदनयुक्त देवराज इन्द्र ने जिसके पैर दबाने की जबर्दस्ती इच्छा की ॥१३-१८॥

उसकी ऐसी सामर्थ्य कैसे हुई, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं।

त्रैलोक्यरूपी रत्नों की कोश के समान अपने उदर में रक्षा करनेवाले, सब जीवों के पालक, तीनों लोकों का पालन करनेवाले इन्द्र, मनु, शेषनाग आदि के आधारभूत भगवान श्रीहरि जिसके पालक थे। जिसका नाम सुनने से ऐरावत के गण्डस्थल मयूर के शब्द से साँपों के हृदय शिराओं की तरह सूख जाते थे और भय से स्वेदयुक्त, हो जाते थे। क्रुद्ध आकृतिवाले जिस बलि के प्रताप की दुःसह गर्मी से सातों महासागर शोष को प्राप्त होकर प्रलयकाल की तरह केवल गर्त संख्या से ही सात रहे, जलादि प्रवाह से सात नहीं रहे यानी सभी सूख गये। जिसके अश्वमेघ आदि श्रेष्ठ यज्ञों के धुएँ से उत्पन्न हुई मेघपंक्तियाँ जलग्रहण के लिए समुद्र को घेरी हुई अतएव इस ब्रह्माण्डरूपी कोटर की कवच बन गई। जिसके तिरछे देखने से जिनके आधारभूत कुलाचल विचलित हो उठते थे, ऐसी सब दिशाएँ फलभार से नमित हुई लताओं के समान झुकने लगती हैं। लीला से जिसने सब भुवनों के भूषणभूत इन्द्र आदि पर भी विजय प्राप्त की थी, ऐसे उस दैत्यराज ने दस करोड़ वर्ष तक राज्य किया। तदनन्तर जल के भँवर के समान घूमनेवाले बहुत से युगों के बीतने पर, सुर–असुरों के बड़े भारी समूह के उन्नत और अवनत होने पर एवं त्रैलोक्य में अत्यन्त उत्कृष्ट बहुत से भोगों के निरन्तर भोगे जाने पर दानव राजा बलि को विषय भोग विरस प्रतीत होने लगे। मेरु पर्वत के शिखरपर रत्ननिर्मित घर के झरोखे पर बैठे हुए उसने एक बार संसार स्थिति का स्वयं विचार किया। अकुण्ठित शक्तिवाले मुझे अब इस लोक में कितने समय तक यह साम्राज्य करना होगा और तीनों लोकों में विहार करना होगा ? तीनों लोकों को आश्चर्य में डालनेवाले, प्रचुर भोगों से अत्यन्त मनोहर इस महान राष्ट्रके उपभोग से मेरा क्या प्रयोजन हैं ? अविचारमात्र से मधुर लगनेवाला और अवश्य विनष्ट होनेवाला यह सम्पूर्ण भोग मेरे लिए क्या सुखावह होगा ? ॥१९–३०॥

पुनः दिन की एकमात्र कल्पना, पुनःरात्रि की स्थिति, फिर वे ही स्नान, भोजन, शयन आदि कार्य, अभिनव कुछ भी कर्म या सुख नहीं है, इसलिए उनमें लम्पटता महापुरुषों की लज्जा के लिए ही है, न कि सन्तोष के लिए है। पुनः कान्ता का आलिंगन किया जाता है, पुनः उपभोग किया जाता है यहाँ पर यह बालकों की क्रीड़ा महान पुरुषों की लज्जा के लिए ही है। एक बार भोग करने से विरस हुए उन्हीं व्यापारों को प्रतिदिन पुनः–पुनः कर रहा प्राज्ञ पुरुष क्यों नहीं लज्जित होता ? फिर दिन, फिर रात्रि, फिर कार्य परम्पराएँ, प्राज्ञ पुरुष की दृश्य यह विडम्बना पुनः–पुनः किये गये क्रम के अनुकरण के समान उपहास की हेतु है, ऐसा मैं समझता हूँ। जैसे जल फिर तरंगता को प्राप्त कर फिर निस्तरंग हो जाता है वैसे ही यह जन उस–उस क्रिया को प्राप्त करता है यानी व्यर्थ ही उन पूर्वकृत क्रियाओं का अनुकरण करता है। उन्मत्त की चेष्टा की तरह यह पुनःपुनः की जानेवाली क्रिया, जो बाललीला की तरह है, प्राज्ञ पुरुष को बार–बार हँसाती है यानी उसे देखकर प्राज्ञ पुरुष बार–बार हँसता है। नित्य की गई भी इस निष्प्रयोजन क्रिया से कौन ऐसा प्रयोजन सिद्ध होगा, जिसके प्राप्त होने पर फिर कर्म नहीं रहता है यानी कृतकृत्यता हो जाती है। अथवा कितने समय तक यह बड़ा भारी आडम्बर (दृष्ट और अदृष्ट फल के लिए कर्मसंघात) हमें करना पड़ेगा, उससे हमें क्या प्राप्त होगा ? वस्तुतः वस्तु शून्य ही यह अनन्त शिशु क्रीड़ा दुःखपरम्परा चाहनेवाले पुरुषों द्वारा ही बार–बार की जाती है। जिसके प्राप्त होने पर कोई

भी अन्य कार्य कर्तव्य नहीं रहता, वैसे महाउदार अद्वितीय फल को (पुरुषार्थ को) यहाँ मैं कुछ भी नहीं देखता। क्षणिक, तुच्छ विषयसुख के सिवाय दूसरा नित्य वह उत्तम सुख क्या है, ऐसा मैं विचार करता हूँ, यह सोचकर राजा बलि शीघ्र ध्यानमग्न हो गये ॥३१-४१॥

ध्यान से संस्कार जाग्रत होने के कारण राजा बलि पहले स्वयं पूछे गये पिता के उपदेश की स्मृति को विमर्श के साथ दिखलाते हैं।

स्मृत अर्थ का मन में ही भौंह चढ़ाकर विचार करते हुए दैत्यराज क्षण भर में बोले कि मुझे स्मरण हो आया। प्राचीन समय में आत्मतत्त्वज्ञानी तथा लोक के विविध व्यवहारों को देख चुके अपने पिता भगवान विरोचन से मैंने पूछा था ॥४२,४३॥

हे महामते, संसार सीमा की अवधि वह कौन कहा जाता है, जहाँ पर सब दुःखों और सुखों के सम्बन्ध के सब भ्रम शान्त हो जाते हैं ? मन का मोह कहाँ पर शान्त है, सब एषणाएँ कहाँ पर बीत चुकी हैं, हे तात, पुनरावृत्तिरहित चिरविश्राम कहाँ पर है ? पुरुष किसको प्राप्त होकर इस लोक से ब्रह्मलोकपर्यन्त प्राप्त होनेवाले सब सुखों के विषय में तृप्तिमान हो जाता है। हे तात, किसके दर्शन करके फिर अन्य फल की अभिलाषा नहीं रहती ? अत्यन्त प्रचुर भी ये भोग सुखावह नहीं हैं, ये सन्त पुरुषों के मन को भी क्षुब्ध करते हैं और मोह में डालते हैं। इसलिए हे तात, अविनाशी आनन्द से सुन्दर कोई वैसा पद मुझसे कहिये, जहाँ पर स्थित होकर मैं चिरकाल तक विश्रान्ति को प्राप्त होऊँ। प्राचीन काल में चन्द्रमा की किरणों के साथ सौन्दर्य, अमृतरसपूर्णता आदि गुणों की अधिकता होने के कारण स्पर्धा करनेवाले फूल और फलों के गुच्छों से गिर रहे फूलों और फलों के समूह से आच्छन्न मूल प्रदेशवाले, स्वर्ग से जबरदस्ती लाकर अपने आंगन में लगाये गये कल्पवृक्ष के नीचे बैठे हुए मेरे पिता विरोचन ने पूर्वोक्त प्रश्न को सुनकर उस कल्पवृक्ष के प्रचुर रसायनरूपी आसवों के तुल्य मधुर जो वचन मेरे अज्ञान के निवारण के लिए कहा, उसका मुझे स्मरण हो आया ॥४४-४९॥

बाईसवाँ सर्ग समाप्त

तेईसवाँ सर्ग

चित्त-जय कहने के लिए राजमन्त्री के उपाख्यान का और मन्त्री के अप्रतिद्वन्द्व विपुल बल का वर्णन।

चित्तं वृत्तिविहीनं ते यदा यातमचित्तताम्। तदा मोक्षमयीमन्तः सत्तमाप्नोषि तां तताम्॥

इससे मोक्ष चित्त जय के आधीन है, यह कहा। चित्त जय का भी आत्यन्तिक आशा त्याग ही उपाय कहा गया है। उक्त आशा त्याग आत्मदर्शन के बिना नहीं हो सकता, क्योंकि – विषया विनिवर्तन्ते निहारस्य देहिनः। रसवर्जंरसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा विवर्तते॥

ऐसा भगवान का वचन है और आत्मदर्शन भी मन पर विजय पाये बिना सम्पन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार अन्योन्याश्रयता को प्राप्त हुआ यह आत्मदर्शन अशक्य ही है, ऐसी आशंका को दूर करने के लिए दो साधनों केएक साथ अभ्यास आदिरूप उपाय को कहने के लिए बलि के उपाख्यान के बीच में राजमन्त्री का उपाख्यान विरोचन के मुख से प्रस्तुत करते हैं।

हे पुत्र, अत्यन्त विस्तृत, विशाल मध्यभागवाला मोक्षनामक देश है, जिसमें अनेकों हजार त्रैलोक्य

समा सकते हैं, जहाँ पर न जलाशय हैं, न समुद्र हैं, न पर्वत हैं, न वन हैं, न तीर्थ हैं, न नदियाँ हैं, न तालाब हैं, न पृथ्वी है, न आकाश है, न अन्तरिक्ष है, न वायु आदि है, न चन्द्रमा और सूर्य हैं, न लोकपाल हैं, न देवता हैं, न दानव हैं, न भूत, यक्ष और राक्षस हैं, न झाड़ियाँ हैं, न वन की विविध शोभाएँ हैं, न स्थावर और जंगमरूप काठ, तृण और प्राणी हैं, न जल है, न अग्नि है, न दिशाएँ हैं, न ऊर्ध्वभाग है, न अधोभाग है, न लोक हैं, न आलोक है, न धूप है और न विष्णु, इन्द्र, शिव आदि हैं। वहाँ पर अकेला वही महातेजस्वी राजा (आत्मा) है। वह सर्वकर्ता, सर्वव्यापक और कूटस्थ है। उसने सब सन्मन्त्रणाओं में तत्पर मन्त्री का (मन का) संकल्प किया, वह आत्मा की अत्यन्त असंभव संसारिता का भी शीघ्र निर्माण करते हैं। आत्मा की अत्यन्त उपपन्न पूर्णानन्दैकरसता भी नहीं प्रतीत होती हैं, यों अपलाप करता है। स्वयं जड़ होता हुआ भी केवल राजा के लिए सब कुछ सदा करता है, वह कुछ भी भोग नहीं करता और कुछ भी नहीं जान सकता। उस राजा के सब कार्यों का एकमात्र कर्ता वही है, राजा तो केवल अद्वितीय स्वभाव में स्वस्थ होकर ही स्थित रहता है ॥१–९॥ बलि ने कहा : हे महामते, आधि–व्याधि से रहित वह देश कौन है, कैसे वह मिलता है और हे प्रभो किसको वह मिला है ? पूर्वोक्त प्रकार का वह मन्त्री कौन है और वह महाबली राजा कौन है, जिसे कि हम लोग भी जीत न सके जिन्होंने अनायास तीनों लोकों को छिन्न–भिन्न कर डाला। हे देवताओं को भय देनेवाले, पिताजी, यह अपूर्व आख्यान मुझसे कहिये और मेरे हृदयरूपी आकाश में से संशयरूपी मेघ को दूर कीजिये ॥१०–१२॥

विरोचन ने कहा : हे पुत्र, यदि देवता और असुर मिलकर लाख गुने भी हों, तो भी वहाँ पर उस बलवान मन्त्री के ऊपर तनिक भी आक्रमण नहीं कर सकते ॥१३॥ हे पुत्र, वह मन्त्री न तो इन्द्र है, न कुबेर है, न कोई देवता है और न असुर है, जो कि तुमसे जीता जा सके ॥१४॥

क्यों मेरे पास आयुध अथवा योद्धा नहीं है, जो मैं उस पर विजय प्राप्त कर सकूँ ? ऐसा यदि बलि की ओर से प्रश्न हो, तो उस पर भले ही तुम्होरे पास आयुध और योद्धा हों; पर वह उनका विषय नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं।

जैसे पत्थर पर कमल का आघात कुण्ठित हो जाता है, वैसे ही उस पर तलवार, मूसल, भाले, वज्र, गदा आदि आयुध कुण्ठित हो जाते हैं ॥१५॥

तुम उस पर क्या विजय प्राप्त करोगे, बल्कि उसीने तुम्हारे जैसे बहुत से लोगों पर विजय प्राप्त की है, ऐसा कहते हैं।

वहाँ तक अस्त्र–शस्त्रों की पहुँच नहीं है, योद्धाओं के पराक्रमपूर्ण कर्मों की भी वहाँ पहुँच नहीं है, बल्कि उसी ने सब देवता और असुर सदा ही अपने वशीभूत कर रक्खे हैं ॥१६॥

हमारे पूर्वज आदि को भी उसीने अपने वश में कर विष्णु द्वारा मरवाया है, इस आशय से कहते हैं।

यद्यपि वह विष्णु नहीं है, तथापि उसने इस लोक में हिरण्याक्ष आदि असुरों को ऐसे गिराया, जैसे कि प्रलयकाल का वायु मेरुपर्वत के कल्पद्रुम को गिराता है ॥१७॥ सबको विवेक का उपदेश देनेवाले नारायण आदि देवताओं को भी उसने भृगु आदि के शाप के निमित्त के उद्घाटन द्वारा उन पर आक्रमण कर अपने इच्छानुसार गर्भरूपी गर्तो में प्रविष्ट कराया। केवल पाँच बाणवाला कामदेव उसीके प्रसाद से इन तीनों लोकों पर बड़े आटोप के साथ आक्रमण कर सम्राट के समान समृद्ध हो रहा है ॥१८,१९॥

क्रोध ने यद्यपि सुर और असुरों के समूह को स्वतन्त्र नहीं छोड़ा, उसमें कोई गुण भी नहीं हैं आकृति भी अच्छी नहीं है एवं बुद्धि भी उसकी अच्छी नहीं है, फिर भी वह उस मन्त्री के प्रसाद से समृद्ध हो रहा है। हजारों देवता और असुरों का जो बार-बार युद्ध होता है, वह मन्त्र जाननेवाले उस मन्त्री के बाएँ हाथ का खेल है ॥२०,२१॥ हे पुत्र, उसी प्रभु द्वारा यदि वह मन्त्री जीता जाता है; तो सुजेय होता है। अन्यथा तो वह पर्वत के समान अचल है। बहुत से पुण्यों के परिपाक से विवेक के उदय के समय में अपने उस मन्त्री को जीतने की उसी प्रभु की यदि इच्छा होती है, तो यत्न के बिना उसके ऊपर विजय प्राप्त होती है। तीनों लोकों में जितने बलवान हैं, उन्हें अपने बल से जीतनेवाले और तीनों लोकों को मर रहे जन्तु के समान उच्छवासित कर देनेवाले उसे जीतने की यदि तुम में शक्ति है, तो तुम निश्चित पराक्रमशाली हो ॥२२-२४॥

उसमें सबको जीतने की केवल शक्ति ही नहीं है, किन्तु त्रैलोक्य को उत्पन्न करने की शक्ति भी है, ऐसा कहते हैं।

सूर्य रूपी उस मन्त्री का उदय होने पर ये त्रिलोकरूपी कमल-तलाब विकास को प्राप्त होते हैं और उसके अस्त होने पर विलीन हो जाते हैं। व्यामोहरहित एकाग्र बुद्धि से उसे इस प्रकार जीतने के लिए यदि तुम समर्थ हो तो हे सुव्रत, तुम धीर हो। उसके ऊपर विजय प्राप्त होने पर अजित लोग भी विजित हो जाते हैं। यदि उस पर विजय प्राप्त न हुई, तो जो चिरकाल से विजित हैं, वे लोग भी अविजित ही हैं। इसलिए मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के लिए और अक्षय सुख के लिए श्रम से होनेवाली सर्वत्याग आदि चेष्टा द्वारा भी उस पर विजय पाने के लिए यत्नवान् होओ। अतिबलशाली उसने अनायास ही देवता, दानव, नाग और यक्षों के समूहों से युक्त तथा मनुष्य, सर्प और किन्नरोंसहित सारे त्रैलोक्य को चारों ओर से अपने वश में किया है ॥२५-२९॥

तेईसवाँ सर्ग समाप्त

चौबीसवाँ सर्ग

राजा के दर्शन में उपायभूत वैराग्य आदि के साथ उस दुष्ट मन्त्री पर विजय प्राप्ति के उपाय का वर्णन।

बलि ने कहा : हे तात, उस बलवान मन्त्री पर किस उपाय से विजय प्राप्त की जा सकती है तथा महाबलशाली वह कौन है ? कृपा करके यह सब शीघ्र मुझसे कहिये।

विरोचन ने कहा : हे पुत्र, यद्यपि वह मन्त्री नित्य अजेय स्थितिवाला है, तथापि उसको सुख से जीतने का उपाय मैं तुमसे कहता हूँ, जिससे उस पर विजय प्राप्त की जा सकती है, उसे तुम सुनो ॥१,२॥ हे पुत्र, युक्ति से पकड़ा गया वह एक क्षण में वशीभूत हो जाता है। युक्ति के बिना तो वह दुर्दान्त साँप के समान दाह उत्पन्न करता है। जो लोग बालक की नाईं उसे थोड़े से विषय प्रदान और बार-बार विषय दोष प्रख्यापन द्वारा वंचित कर राजयोगनामक युक्ति से वश में करते हैं, वे उस राजा का साक्षात्कार कर राजा के पद को प्राप्त करते हैं। उस राजा का साक्षात्कार होने पर मन्त्री वश में होता है। उस मन्त्री के वशीभूत होने पर राजा का साक्षात्कार होता है। जब तक राजा का साक्षात्कार नहीं होता तब तक मन्त्री पर विजय प्राप्त नहीं हो सकती, जब तक मन्त्री पर विजय प्राप्त न हुई, तब तक राजा

का साक्षात्कार नहीं होता। राजा का साक्षात्कार न होने पर वह दुष्ट मन्त्री अत्यन्त दुःख के लिए राग–द्वेष आदि पैदा करता है और मन्त्री पर विजय न होने पर वह राजा सर्वथा अदृश्यता को प्राप्त हो जाता है। इसलिए अभ्यास से राजदर्शन और मन्त्री पराजय इस दोनों का एक साथ आरम्भ करना चाहिये। पौरुष प्रयत्नरूप सुन्दर अभ्यास से धीरे–धीर उक्त दोनों का प्रयत्न से सम्पादन कर तुम उस शुभ मोक्षरूप देश को प्राप्त हो रहे हो। अभ्यास के सफल होने पर यदि तुम उस देश को प्राप्त होओगे, तो हे दैत्येन्द्र, तुम्हें फिर तनिक भी शोक नहीं रहेगा। जिन लोगों के सब आयास शान्त हो गये हैं जिनका आशय सदा के लिए प्रफुल्लित हो उठा है और जिनके सब सन्देह शान्त हो चुके हैं, ऐसे साधुजन उस शुभ देश में निवास करते हैं॥३–११॥

अब गूढ़ोक्ति का विवरण करते हैं।

हे पुत्र कौन वह देश है, यह सब मैं तुमसे प्रकट करता हूँ, सुनो सम्पूर्ण दुःखों का नाश करनेवाला मोक्ष ही मैंने देश नाम से तुमसे कहा है॥१२॥ हे महामते, वहाँ पर मनुष्य आदि के आनन्द से लेकर हिरण्यगर्भ के आनन्दपर्यन्त सम्पूर्ण पदों का अतिक्रमण करनेवाले, वाणी और मन के अगोचर, भगवान आत्मा ही राजा हैं। उन्होंने सब प्रज्ञाओं के समष्टिभूत मन को अपना मन्त्री बनाया। जैसे मिट्टी का पिण्ड घटरूप से तथा धूम्र बादल के रूप से स्थूलता को प्राप्त होता है, वैसे ही यह विश्व वासनात्मक सूक्ष्मभाव से मन में स्थित होकर ही स्थूलता को प्राप्त हुआ है। उस मन्त्री के विजित होने पर सब जीतने के योग्य पदार्थ जीत लिए जाते हैं तथा सब प्राप्त करने के योग्य पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं। उसे अत्यन्त दुर्जय जानना चाहिए, वह युक्ति से ही जीता जाता है॥१३–१५॥

बलि ने कहा : हे भगवन्, उस चित्त की विजय में जो युक्ति हो, उसे आप स्पष्ट रूप से कहिये, जिससे कि मैं उस दारुण मन को जीतूँगा॥१६॥

विरोचन ने कहा : हे पुत्र, सभी विषयों के प्रति जो यह अत्यन्त अस्पृहा है, वही मन की विजय के लिए युक्ति हैं। यही परम युक्ति है, इसी के द्वारा महामदमत्त अपने मनरूपी मत्त हस्ती का शीघ्र दमन किया जाता है॥१७,१८॥ हे महामते, यह युक्ति अत्यन्त दुष्प्राप्य है और सहज में प्राप्त होनेवाली भी है। अगर इस का अभ्यास न किया जाय, तो अत्यन्त दुष्प्राप्य है। भलीभाँति यदि अभ्यास किया जाय, तो अनायास प्राप्त होती है॥१९॥ हे पुत्र, इन विषयों में विरक्ति का यदि क्रम से अभ्यास किया जाय, तो यह जैसे सेंक से सींची गई लता चारों ओर से स्फुटता को प्राप्त होती है वैसे ही शान्ति आदि रूप शाखा–प्रशाखाओं के विस्तार से व्यक्तता को प्राप्त होती है॥२०॥ हे पुत्र, जैसे बोये बिना धान नहीं मिलते वैसे ही यदि विरक्ति का अभ्यास न किया जाय, तो भोगों में लुब्ध पुरुष कितना ही इसे क्यों न चाहे, पर यह नहीं मिलती, इसलिए इसको अभ्यास से स्थिर करो। संसाररूपी गर्त में निवास करनेवाले ये जीव तब तक विविध दुःखो में भटकते हैं, जब तक विषयों में वैराग्य को प्राप्त नहीं होते। जैसे अत्यन्त बलवान देही भी गमन न करे तो अन्य देश को प्राप्त नहीं होता, वैसे ही अभ्यास के बिना कोई भी जीव जाहे वह कितना ही बलवान क्यों न हो, विषयों में विरक्ति को प्राप्त नहीं होता। इसलिए निरन्तर पूर्वोक्त जीवन्मुक्ति के हेतु भी ध्येय वासना त्याग की अभिलाषा कर रहे देहधारी को अभ्यास से भोगों में विरक्ति ऐसे बढ़ानी चाहिए जैसे कि सेंक आदि से लता बढ़ाई जाती है। अकस्मात (या एक

साथ) सब विषयों का त्याग नहीं किया जा सकता; किन्तु क्रम से एक-एक विषय का चिरकाल तक त्याग कर पुनः कभी-कभी थोड़ा-थोड़ा सेवन करता हुआ पुरुष क्रम से वैराग्य की दृढ़ता होने पर सबका त्याग करे ॥२१-२४॥

वैराग्य की दृढ़ता में हर्ष, क्रोध, चंचलता आदि की प्राप्ति का निवारण करनेवाली पौरुष दृढ़ता आवश्यक है, इस आशय से कहते हैं।

हे पुत्र, पुरुषार्थ के सिवाय हर्ष क्रोध से रहित क्रियाफल को प्राप्त करने के लिए अनुकूल शुभ साधन यहाँ पर प्राप्त नहीं होता ॥२५॥

यदि कोई कहे दैव से ही उसकी प्राप्ति क्यों न हो जायेगी ? तो इस पर कहते हैं।

यद्यपि संसार में लोग दैव कहते हैं; तथापि दैव कोई देहधारी वस्तु नहीं है, किन्तु अवश्यभावितव्यतानामक जो नियति प्रयुक्त अपनी शुभाशुभ क्रिया है, वह मानुष दृष्टिवाले पुरुषों से ही दैव कही जाती है, न कि दिव्य शास्त्रीय दृष्टिवाले पुरुषों से; अतः दैव भी पुरुषप्रयत्न ही है, उससे भिन्न नहीं है।

शंका : प्रयत्न के बिना भी दैव से ही किन्हीं को हर्ष और क्रोध की शान्ति दिखाई देती है, सो कैसे ?

समाधान : हर्ष और क्रोध के हेतुभूत कर्म का क्षय होने पर जब जहाँ जिसका जो ही हर्ष और क्रोध के विनाश के लिए सम्पन्न हुआ, वही यहाँ दैव शब्द से कहा जाता है। जैसे मृगतृष्णाभ्रम मरुभूमि के तत्त्वज्ञान से जीता जाता है, वैसे ही नियतिरूप दैव वैराग्य दृढ़ता अभ्यास आदिरूप पौरुष से थोड़े ही समय में जीता जाता है ॥२६-२९॥

यदि दैवनामक नियति पौरुषनामक नियति से जीती जाती है, तो नियति के फल में नियम न होने के कारण अनियम हो जायेगा। ऐसा यदि कहो, ते इष्टापत्ति है, क्योंकि मन के संकल्प से उत्पन्न सब पदार्थों में यदि कोई बाधक न हो, तो प्रमाणों से फलवत्ता गृहीत है, अतः मनःसंकल्पजन्य पौरुष फलवत्तता द्वारा सुखप्रद है, ऐसा ही नियम माना गया है, ऐसा कहते हैं।

जिस-जिस वस्तु का जैसे संकल्प किया जाता है, वह वैसे ही प्रमाणों से फलवत्ता के गृहीत होने पर पौरुष से फलवत्ता के द्वारा सुखप्रद होता है ॥३०॥ हमारे मत में कर्ता भी मन ही है, वह यहाँ पर जिस वस्तु की जैसी कल्पना करता है, वह वैसे ही होती है। वह जैसे नियति का संकल्प करता है, वह वैसे ही होती है ॥३१॥

पूर्वोक्त कथन का ही उपपादन करते हैं।

चित्त स्वभावतः नियत फलवाले, अपवाद विषयों में अनियत फलवाले व्यावहारिक पदार्थों को एवं अत्यन्त अनियत फलवाले प्रातिभासिक पदार्थों का भी निर्माण करता है, इसलिए यह चित्त नियति का भी उपपादक है ॥३२॥

इसलिए वस्तु के पारमार्थिक होने पर तद्विषयक बोध में नियत फलता ही है। दैव के अथवा कर्म के समान नियतफलता नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

यह चित्तरूप जीव कभी (मोक्षाधिकारी जन्म में) नित्य नियत एक स्वभाववाले परमात्मा में प्रत्यक् परमार्थ विषयक साक्षात्कार नामक निर्विकल्प समाधि करता हुआ जैसे वायु आकाश में स्फुरित होता

है, वैसे ही इस जगत्कोश में स्फुरित होता है यानी स्वस्वभाव में प्रकाशित होता है ॥३३॥ कभी (उत्थानकाल में) शास्त्ररूप नियम से विहित वर्णाश्रमोचित कर्म करता हुआ, अज्ञानी लोगों के बोधन के लिए 'ये याज्ञिक एवं सदाचार के प्रवर्तक हैं', इत्यादि रूप से लोक में प्रख्यात नियतिशब्द से युक्त वह जैसे पर्वत का शिखर स्वयं निश्चल होता हुआ भी वायु के वेग से वृक्षों के चंचल होने पर चंचल–सा और वृक्षों के स्थिर होने पर स्थिर–सा उदित होता है, वैसे ही नियति के अनुसार चंचल व स्थिर होता है ॥३४॥ इसलिए जब तक मन है, तब तक न दैव है न नियति है। मन के अस्त होने पर जो होता है, वह वैसे ही रहे ॥३५॥ पुरुष कर्म और ज्ञान के अधिकारी शरीर को प्राप्त होकर पौरुष से जिस पदार्थ का जैसे संकल्प करता है, वह वैसे होता है, उससे विपरीत नहीं होता ॥३६॥

संकल्प के स्वाधीन होने पर पौरुष द्वारा वैराग्य आदि साधनों का सम्पादन कर परम पुरुषार्थरूप ब्रह्मात्मभाव का ही संकल्प करना चाहिये, देहात्मभाव का संकल्प नहीं करना चाहिये, इस अभिप्राय से कहते हैं।

हे पुत्र, पुरुषार्थ के सिवाय यहाँ पर कुछ भी नहीं है, इसलिए पुरुष परम पौरुष का अवलम्बन कर भोगों के प्रति वैराग्य करे। जब तक संसार का विनाश करनेवाली भोगों में विरक्ति नहीं होती, तब तक विजय देनेवाली परम विश्रान्ति प्राप्त नहीं होती। जब तक मोह में डालनेवाली विषयों में रति रहती है, तब तक संसार दशारूपी झूला चंचल आन्दोलनवाला रहता है। हे पुत्र आभ्यास के बिना भोगरूपी साँपों के समूहों से भरी हुई दुःखदायिनी दुराशा कभी निवृत्त नहीं होती ॥३७–४०॥

बलि ने कहा : हे सब असुरों के अधिपति, नित्यात्मभावरूप स्थिति देनेवाली भोगों में अरति ही जीव के अन्तःकरण में कैसे स्थिर होती है ?॥४१॥

विरोचन ने कहा : हे पुत्र मोक्षरूप फलवाली आत्म–साक्षात्कार रूप लता भोगों में जीव की रति इस प्रकार स्पष्टरूप से पैदा करती है, जैसे कि अंगूर आदि की महालता शरद् ऋतु में कच्चे फल पैदा करती है ॥४२॥ जैसे लक्ष्मी कमल के अंदर निवास करती है, वैसे ही यह विषयों में उत्तम अरति आत्म–साक्षात्कार के हृदय में निवास करती है ॥४३॥ इसलिए पुरुष प्रज्ञारूप मणि की कसौटी, अति उत्तम विचार से परब्रह्म परमात्मा का दर्शन करे और साथ ही साथ भोगों के प्रति अनुराग को हटावे ॥४४॥

चित्त के परिपाक के अनुसार भूमिका भेदों के कहने की इच्छावाले विरोचन पहली भूमिका कहते हैं।

अव्युत्पन्न चित्त के सन्मार्ग के आरम्भ में दिन के दो भागों को एकमात्र देह के भोगोपायों से पूर्ण करें, एक भाग को शास्त्र–श्रवण से पूर्ण करें और एक भाग को गुरु सेवा से पूर्ण करें ॥४५॥

प्रथम भूमिका पर विजय प्राप्त होने के अनन्तर उसके आगे की भूमिका कहते हैं।

कुछ व्युत्पत्तियुक्त चित्त के सन्मार्ग के आरम्भ में दिन के एक भाग को भोगों से पूर्ण करें, दो भागों को गुरु सेवा में बितायें; क्योंकि अधिक समय तक गुरु के सान्निध्य में रहने पर समय–समय पर गुरुओं से अपना सन्देह होने पर पूछा जा सकता है और एक भाग को शास्त्रार्थ के चिन्तन में बितायें ॥४६॥

द्वितीय भूमिका पर विजय प्राप्त होने पर उसके आगे की भूमिका कहते हैं।

व्युत्पत्ति को (रत्नतत्त्व के समान चिरकाल की परीक्षा से यथार्थ निश्चय को) प्राप्त हुए चित्त के सन्मार्ग के आरम्भ में दिन के दो भागों को शास्त्र और वैराग्य से और दो भागों को ध्यान और गुरु–पूजा

से पूर्ण करना चाहिये ॥४७॥

पूर्वोक्त चारों प्रकार के क्रमों में शुद्ध चित्त पुरुष ही अधिकारी है, ऐसा कहते हैं।

साधुता को (शुद्धचित्तता को) प्राप्त हुआ पुरुष ही ज्ञान कथा के आरम्भ में योग्य है। निर्मल वस्त्र ही उत्तम रंग को ग्रहण करता है, मलिन ग्रहण नहीं करता ॥४८॥

थोड़े मलिन चित्त का ज्ञान कथा क्रम में कैसे अधिकार है ? इस पर कहते हैं।

दुःख के अन्वय–व्यतिरेक के प्रदर्शन और पवित्र श्रुति, स्मृति और गुरु के वचनों से धीरे–धीरे चित्त का लालन करना चाहिये। शास्त्रार्थ में चित्त के चिरपरिशीलन द्वारा आँवले के मुरब्बे के समान मधुरैकरसता के परिणाम से चित्त का पालन करना चाहिये। परम ज्ञान में परिणत हुआ चित्त, जिसका बाह्य मलिन जड़ाकारग्रहण शिथिल हो गया हो वह चाँदनी से युक्त स्फटिक के समान शीतल हो कर विराजमान होता है ॥४९,५०॥ जिसमें भेद से विषमतारूप कुटिलता नहीं रह गई, ऐसी सरल उत्कृष्ट प्रज्ञा से वह इन्द्रिय, विषय और उनकी वृत्तियों के, उनके स्वामी जीव के और भोगायतन देह के समानरूप से अधिष्ठानभूत ब्रह्म को शीघ्र देखे, जो सच्चिदानन्द अद्वितीय एकरस है ॥५१॥

विचार का फल तृष्णा का आत्यन्तिक त्याग भी तभी होता है, इस आशय से कहते हैं।

हे पुत्र प्रज्ञा द्वारा विचार करने से आत्मदर्शन और तृष्णा का त्याग इन दोनों को एक ही काल में करे ॥५२॥

विचार का फल पुरुष अपराधनिवृत्ति और ज्ञान का फल मूल अविद्यानिवृत्ति पृथक् सिद्ध नहीं होते, ऐसा कहते हैं।

परमात्मा का दर्शन होने पर निस्पृहता होती है और निस्पृहता होने पर परमात्म दर्शन होता है। जैसे अग्नि की प्रभावस्था और दीपकारावस्था अन्धकार और तेल इन दोनों की निवर्तिका होकर परस्पर एक काल में स्थित हैं वैसे ही ये दोनों दृष्टियाँ परस्पर एक काल में स्थित हैं। भोगों के समूह के रसरहित होने पर और परमोत्कृष्ट परब्रह्म देव का दर्शन होने पर कभी नष्ट न होनेवाली असीम विश्रान्ति प्राप्त होती है ॥५३,५४॥

किन्तु जो लोग भोगास्वाद में लम्पट हैं, उन्हें तो आत्मानन्द की प्राप्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

विषयों में ही सारभूत आनन्द समझकर उनका आस्वादन करनेवाले जीवों को इस जगत में कभी आत्मश्रवण के बिना असीम निरतिशयानन्द प्राप्त नहीं होता। यज्ञ, दान, तप और तीर्थ सेवन से अदृष्ट द्वारा विषय सुख ही होता है; किन्तु स्वात्मा के अवलोकन के बिना तप से, दान से और तीर्थों से भी प्राणी की विषयों में विरति नहीं होती। हे पुत्र, अपने प्रयत्न के बिना पुरुष की बुद्धि किसी भी युक्ति से अपने कल्याण के लिए आत्मावलोकन में प्रवृत्त नहीं होती। हे पुत्र, भोगों के त्याग से प्राप्त हुए परमार्थ के बिना परम ब्रह्मपद विश्रान्ति सुख नहीं मिलता। जैसा स्वात्मरूप से अभिव्यक्त परमकारण परमात्मा में विश्राम किया जाता है, वैसा विश्राम ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त इस जगत में कहीं पर भी नही मिलता। पौरुष प्रयत्न का अवलम्बन कर दैव का दूर से त्याग कर प्राज्ञ पुरुष मुक्ति द्वार के मजबूत अर्गल सदृश भोगों की निंदा करे। भोगों की निंदा के प्रौढ़ होने पर विचार उत्पन्न होता है। जैसे कि वर्षा ऋतु के धान आदि की फसल से वृद्धि युक्त होने पर धानों की फल सम्पत्ति से सुशोभित निर्मल

शरत्काल उत्पन्न होता है ॥५५–६२॥ भोगों की निंदा से विचार उत्पन्न होता है और विचार से भोगों की निंदा उत्पन्न होती है, ये दोनों जैसे समुद्र किरणों द्वारा मेघों को भरता है और मेघ वृष्टि द्वारा समुद्र को भरते हैं वैसे ही परस्पर एक दूसरे को पूर्ण करते हैं। भोग निंदा, विचार और अविनाशी आत्मदर्शन ये तीनों जैसे परस्पर अत्यन्त प्रीतिवाले मित्र एक दूसरे के प्रयोजन को सिद्ध करते हैं वैसे ही परस्पर एक दूसरे की वृद्धि करते हैं। पहले दैव का अनादर कर पौरुष प्रयत्न से दाँतों से दाँतों को पीसकर भी भोगों में विरक्ति प्राप्त करे ॥६३,६४॥ देश और आचार से अविरुद्ध, बन्धु–बन्धवजनों से सम्मत पौरुष से पहले क्रमशः धनोपार्जन करे। धन से कुलीन गुणशाली सज्जनों की आराधना कर उन्हें वशीभूत करे, उनके सत्संग से भोगों में विरक्ति होती है ॥६५,६६॥ तदनन्तर विचार होता है, विचार के बाद विचाररहित वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। उसके बाद गति सामान्य न्याय के आलोचन से सब श्रुतियों के अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य का निर्णय होता है। तदनन्तर क्रम से परमपद प्राप्त होता है ॥६७॥ विषयों का त्याग करने में यदि इस समय असमर्थ हो, तो यौवन आदिकाल के बीतने पर जब विषयों से विरत होओगे, तभी विचारवश परम पद को पाओगे, इस समय नहीं। तब अत्यन्त पवित्र आत्मा में पूर्ण विश्रान्ति प्राप्त करोगे, फिर दुःख के लिए कल्पनारूपी पंक में नहीं गिरोगे ॥६८–६९॥ हे शुद्ध तुम्हारी आस्था भोगों में स्थित भी नहीं है, जिससे कि तुम्हें अन्य काल की प्रतीक्षा करनी पड़े। अतएव तुम सदाशिव ही हो। अतः ब्रह्मभूत तुमको नमस्कार है (यहाँ पर पुत्र दृष्टि से नमस्कार अनुचित है तथापि ब्रह्म दृष्टि से उचित है, यह समझना चाहिये) ॥७०॥

पूर्वोक्त अर्थ का संक्षेप कर उपसंहार करते हैं।

देश और आचार से अविरुद्ध क्रम से धन का उपार्जन करो। उस धन से अत्यन्त तुच्छ भोग की गर्हणा द्वारा यानी भोग के लिए धन व्यय न कर ब्रह्मवेत्ताजनों को नमस्कार से, अन्न–वस्त्रदान आदि सम्मान द्वारा अपनी ओर आकृष्ट करो तदनन्तर सत्संगति से उत्पन्न हुए विषयों के अनादर से साधन चतुष्टय सम्पत्ति से उत्पन्न अध्यात्मशास्त्र के सम्यक् विचार वैभव से तुम्हें आत्मलाभ कण्ठस्थित–विस्मृत सुवर्ण के लाभ के समान होगा ॥७१॥

चौबीसवाँ सर्ग समाप्त

पचीसवाँ सर्ग

सन्देह की निवृत्ति के लिए शुक्राचार्य के चिन्तन की इच्छा से बलि के हृदय में विवेकरूपी चन्द्रमा के शुभोदय का वर्णन।

बलि ने कहा : सुन्दर विचारवाले मेरे पिता ने यह पहले मुझसे कहा था। इस समय भाग्य से मुझे इसका स्मरण हो गया है; इससे मैं प्रबुद्ध हो गया हूँ। आज मेरी भोगों के प्रति यह विरक्ति स्पष्टरूप से उत्पन्न हो गई है। बड़े हर्ष की बाता है कि मैं अमृत के समान शीतल, निर्मल शान्तिसुख में प्रविष्ट हूँ ॥१,२॥ पुनः पुनः अपनी आशा को पूर्ण कर रहा, पुनः पुनः धन बटोर रहा एवं पुनः पुनः प्रिया को प्रार्थना आदि द्वारा अपने अनुकूल कर रहा मैं सम्पत्ति के परिपालन के विषय में संतृप्त हो गया हूँ। अहा, अत्यन्त शीतल यह शान्ति भूमि बड़ी रमणीय है। शान्तिगुण में सभी सुख–दुःख दृष्टियाँ नष्ट हो जाती

हैं। शान्ति में स्थित मैं शान्ति को प्राप्त हो रहा हूँ, चन्द्रबिम्ब में रक्खे हुए की तरह मैं सन्तापरहित हो रहा हूँ। सुखपूर्वक स्थित हूँ एवं मेरा अन्तःकरण अत्यन्त हर्षित हो रहा है। जिसमें भोगों की उत्कण्ठा से इधर–उधर तेजी से नाच रहे मन के वेग से विशाल शरीर जलाया जाता है और जिसमें निरन्तर क्षोभ भरा रहता है वह धनोपार्जन, दुःखरूप ही है ॥३–६॥

अब धनोपार्जन के फलरूप स्त्री आदि का भोग भी असार है, ऐसा विचार कर उनके लिए शोक करते हैं।

पहले मैं स्त्री के अंगो से अंग का, मांस से मांस का संमर्दन कर जो प्रसन्न हुआ था वह मेरा अज्ञान विलास ही था। सब भावों के दृष्टान्तभूत महावैभव मैंने स्वयं देखे, बेरोक–टोक राज्यादि भोगों का भोग किया, सब प्राणियों को अपने सामर्थ्य से झुका दिया, फिर भी अविनाशी सुख क्या उत्पन्न हुआ ? भाव यह कि अनादि संसार में सभी का कभी ऐसा वैभव रहा होगा और मेरी भी अनेकों बार हजारों दुर्दशाएँ हुई होगी और आगे भी हो सकती हैं, फिर यह वैभव कौन–सा शोभन है ? ॥७,८॥

नया चमत्कार न दिखाई देने और चर्वितचर्वण रूप होने से भी ऐहिक और पारलौकिक भोगों में सार नहीं है, ऐसा कहते हैं।

स्वर्ग में, इस लोक में अथवा अन्य नागलोक आदि में पुनः–पुनः पूर्वानुभूत वे ही वस्तुएँ इधर उधर स्थित हैं, कुछ भी नया नहीं है। इसलिए सभी का परित्याग कर और बुद्धि से स्वयं परिहार कर प्राप्त हुए स्वरूपबोध से पूर्ण की तरह स्थित मैं आत्मा में स्वस्थ होकर स्थित हूँ ॥९,१०॥

जो कुछ भोग अज्ञानियों की दृष्टि में सारभूत प्रतीत होता है, वह भी नश्वर होने से अन्त में दुःखदायी होता है। अतएव उनकी दृष्टि में भी वह असार ही है, इस आशय से कहते हैं।

पाताल में, भूतल में, स्वर्ग में, स्त्रियाँ, रत्न, मणियाँ आदि जो सार पदार्थ हैं, उन्हें भी तुच्छ काल शीघ्र निगल जाता है। पहले इतने समय तक तुच्छ जगत के आधिपत्य की इच्छा से देवताओं के साथ द्वेष करता हुआ मैं अत्यन्त मूर्ख ही हुआ था। एकमात्र मन के निर्माणरूप जगदाधिपत्यनामक इस महामानसिक दुःख का त्याग न करने से कौन पुरुषार्थ है और महात्मा का उनमें राग ही क्या है ? भाव यह है कि अनुराग होने पर उसमें पुरुषार्थता बुद्धि हो सकती है, पर महात्मा का उसमें अनुराग नहीं होता। कष्ट की बात है, अज्ञानरूपी मद से मत्त अपने मृत्युभूत स्वयं ही मैंने बहुत समय तक अनर्थ का पुरुषार्थ बुद्धि से सेवन किया ॥११–१४॥ अत्यन्त चंचल तृष्णा वाले अज्ञानी मैंने इस त्रिजगत में इतने पश्चात्ताप की अभिवृद्धि के लिए क्या नहीं किया ? ॥१५॥

अथवा बीते हुए के लिए शोक करने से क्या प्रयोजन है ?

अब मैं वर्तमान मोह चिकित्सा द्वारा पुरुष जन्म की सफलता के उपाय का चिन्तन करूँ, ऐसा कहते हैं।

इसलिए इस तुच्छ अतीत की चिन्ता से मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ? वर्तमान मोह के प्रतीकार से पुरुषजन्म सफलता को प्राप्त होता है ॥१६॥ जैसे अपरिच्छिन्न स्वरूप ब्रह्म के साथ अभेद स्थिति से आत्मा में चारों ओर से पूर्ण सुख क्षीरसागर में अमृतमंथन से रसायन के समान आविर्भूत होता है वैसे मैं आज शुक्राचार्यजी से पूछता हूँ ॥१७॥ यह प्रपंच क्या है ? अहंप्रत्ययवेद्य जीव तत्त्व क्या

है ? इस आत्मदर्शन के उपाय को मैं अज्ञान की शान्ति के लिए अपने कुलगुरु हाने से कुल के ईश्वर शुक्राचार्यजी से पूछता हूँ। मैं योगसिद्ध होने से सब अभिलाषाओं के अधिपति, आश्रित जनों पर सदा प्रसन्न रहने वाले शुक्राचार्यजी का चिन्तन करता हूँ। उनके द्वारा वाणी से उपदिष्ट अनन्त वैभवशाली आत्मा में स्वयं अपने से स्थित होऊँगा, क्योंकि महात्माओं की उपदेशवाणियाँ अक्षय वस्तु को उत्पन्न करती हैं, कभी भी विफल नहीं होती ॥१८,१९॥

पचीसवाँ सर्ग समाप्त

छब्बीसवाँ सर्ग

स्मृति से बलि के समीप गये हुए शुक्राचार्य के बलि के प्रति
तत्त्वज्ञानोपदेश का और तदनन्तर आकाशगमन का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, बलवान बलि ने ऐसा सोचकर, आँखें बन्द कर कमलनयन शुक्राचार्य का ध्यान किया जिनका ब्रह्माकाश ही विश्रान्ति स्थान है। तदनन्तर नित्य ध्यान परायण शुक्राचार्यजी ने सबके अन्तर्यामी ब्रह्मरूप होने के कारण सबमें स्थित अपना चिन्तन कर रहे अपने चित्त में स्थित शिष्य बलि को अपने नगर में तत्त्वजिज्ञासा से गुरुदर्शन के लिए इच्छुक जाना ॥१,२॥ तदनन्तर भगवान शुक्राचार्यजी, जो सर्वगत अनन्त चिदात्मा हैं, देहसहित अपने को बलि के रत्नमय झरोखे के प्रति ले आये ॥३॥ बलि, जिनका शरीर गुरु की देहप्रभा से सुशोभित था, जैसे प्रातःकाल में सूर्य की किरणों से विकसित कमल उद्बुद्ध होता है, वैसे ही उठ खड़े हुए ॥४॥ वहाँ पर बलि ने रत्नमय अर्घ्य के प्रदान से, मन्दार वृक्ष के फूलों की राशियों से और पादाभिवन्दन से शुक्राचार्यजी की पूजा की। बलि ने रत्नमय अर्घ्य से पूर्ण शरीरवाले, मन्दारपुष्पों के शिरोभूषण से विभूषित और बहुमूल्य आसन पर बैठे हुए गुरु से कहा ॥५॥

हे भगवन्, जैसे सूर्य की प्रभा सन्ध्यावन्दन आदि कार्य करने के लिए लोगों को प्रेरित करती है, वैसे ही आपकी प्रसन्नता से उत्पन्न हुई मेरी यह प्रतिभा मुझे आपके सामने कहने के लिए प्रेरित करती है ॥६,७॥ भगवन्, महामोह देनेवाले भोगों के प्रति मैं विरक्त हूँ, जो अपने ज्ञानमात्र से महामोह का नाश करे, ऐसे तत्त्व को जानना चाहता हूँ। इस भोगजाल के उत्कर्ष की अवधि कितनी बड़ी है, इसकी प्रकृति क्या है, मैं क्या हूँ और ये भोग्य लोक क्या हैं ? यह सब आप मुझसे शीघ्र कहने की कृपा कीजिये ॥८,९॥ शुक्राचार्यजी ने कहा : हे सर्वदानवराजेन्द्र, इस विषय में बहुत कहने से क्या लाभ है ? मैं आकाश में जाने के लिए तत्पर हूँ, इसलिए संक्षेप से तुम सारभूततत्त्व को सुनो। इस जगत में अन्यनिरपेक्ष सिद्धिवाला चैतन्य ही है। चैतन्य के अधीन सिद्धिवाले इन भोगों के उत्कर्ष की विधि चित् ही है, क्योंकि 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इस श्रुति से पूर्ण चैतन्य ही सब आनन्दों के उत्कर्ष की अवधिरूप से कहा गया है। चित् में ही वेदवैचित्र्य का अध्यास होने से यह सब चिन्मय ही हैं, क्योंकि 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' ऐसी श्रुति है एवं 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्माऽस्मि', 'एष ब्रह्मैष इन्द्रः', 'नाऽन्योऽतोऽस्तिद्रष्टा' इत्यादि सैकड़ों श्रुतियों से भोक्तृत्त्व भी चिन्मात्र ही है। इसी प्रकार भोग्य समूहरूप ये लोक भी परमार्थतः चित् ही है, क्योंकि 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' ऐसी

श्रुति है। यह सिद्धान्त का संक्षेप से संग्रह है। यदि तुम श्रद्धालु और विवेकी हो, तो इस निश्चय से तुम सब कुछ प्राप्त कर सकोगे। यदि श्रद्धालु और विवेकी नहीं हो, ते तुमसे बहुत कहा गया भी राख में हवन के तुल्य निष्फल है ॥१०-१२॥ चित् की जो चेत्याकार कल्पना है, वही बन्ध है, उससे मुक्ति मोक्ष कहलाता है। चेत्याकाररहित चित् पूर्ण आत्मा है, यह सब सिद्धान्तों का संग्रह है। ऐसा निश्चय कर यदि तुम स्वयं अखण्डाकारवृत्ति से आत्मा का अनायास दर्शन कर सकोगे, तो तुम अनन्त पद को प्राप्त होओगे ॥१३,१४॥ मैं देवलोक में जाता हूँ, यहीं पर सप्तर्षि मुझे मिले थे, वहाँ पर किसी देवकार्य से मुझे जाना है ॥१५॥

यदि बलि की ओर से यह प्रश्न हो कि आप मुक्त हैं, अतएव कृतकृत्य हैं, यदि आप वहाँ पर न जायें, तो आपकी क्या क्षति है ? तो इस पर कहते हैं।

हे राजन्, जब तक यह शरीर है, तब तक मुक्तपुरुषों को भी यथाप्राप्त क्रिया का त्याग स्वभावतः अच्छा नहीं लगता।

तदनन्तर यह कह चुके शुक्राचार्यजी ग्रहों से व्याप्त अतएव पुष्प पराग से लिप्त भँवरे के समान कर्बुरित आकाश के मध्य में स्पष्ट मेघ और समुद्र के ऊपरी मार्ग से चंचल तरंग के समान बड़े वेग से उड़े ॥१६,१७॥

छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त

सत्ताईसवाँ सर्ग

शुक्राचार्यजी द्वारा उपदिष्टमार्ग से विचार कर रहे बलि की
चैतन्य पूर्णानन्द में विश्रान्ति से चिरकाल तक स्थिति का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, सुर और असुरों की गोष्ठी में अत्यन्त प्रशंसनीय शुक्राचार्यजी के चले जाने पर बुद्धिमानों मे श्रेष्ठ बलि ने अपने मन से विचार किया कि भगवान श्रीशुक्राचार्यजी ने ठीक ही कहा। ये तीनों जगत चित् ही हैं, मैं चित् हूँ, ये लोक चित् ही हैं, दिशाएँ चित् ही हैं और यह क्रिया चित् है। परमार्थरूप से बाहर भीतर सर्वत्र सब चित् ही हैं, चित् से अतिरिक्त यहाँ पर कहीं कुछ नहीं है। यह सूर्य आदित्यरूप से यदि चित् द्वारा चेतित न होता, तो सूर्य और अन्धकार का भेद कैसे उपलब्ध होता ? यह भूमि है, इस प्रकार यह भूमि चित् से यदि प्रकाशित न होती, तो भूमिका भूमित्व यानी जलादि से व्यावृत्तरूप जो केवल भूमि में ही निरूढ़ता को प्राप्त है, क्या होता ? यदि दिशाएँ ये दिशाएँ हैं, यों चित् द्वारा चेतित न होती, तो दिशाओं का दिशात्व क्या होता ? इसी प्रकार यदि शैल ये शैल हैं, यों चित् द्वारा चेतित न होते, तो शैलों की शैलता क्या होती ? यदि जगत यह जगत है, यों चित् द्वारा चेतित न होता, तो जगत की जगत्ता (मूर्तत्ता) क्या होती और आकाश की अमूर्तता क्या होती ? यह स्थूल शरीर चित् से यदि चेतित न होता, तो प्राणियों के शरीर की शरीरता क्या होती ? इन्द्रियाँ चित् हैं, शरीर चित् है, मन चित् है, मन की अभिलाषा चित् है, भीतर चित् है, बाहर चित् है, असत् चित् है, असत् से विलक्षण सत् पदार्थ चित् हैं, सत् और असत्य पदार्थ के सम्बन्ध से व्यवहार की जगत सत्ता चित् है। मैं भोगेच्छापूर्वक सब शब्द आदि विषयों के भोग चित् से ही करता हूँ,

शरीर से कुछ नहीं करता, क्योंकि अचेतन शरीर भोक्ता नहीं हो सकता ॥१–१०॥

जब मैं शरीर से कुछ नहीं करता, तब शरीराभिमान वृथा ही है, इसलिए वह त्याज्य ही है, ऐसा कहते हैं।

काठ और ढेले के समान इस जड़ शरीर से मेरा क्या प्रयोजन है ? चेतनरूप मैं सकल जगद्रूप चित् ही हूँ। आकाश में चिद्रूप मैं हूँ, सूर्यादि के तेज में चिद्रूप मैं हूँ और अवशिष्ट तीनों भूतों में भी चिद्रूप मैं हूँ, सुर–असुरों में और स्थावर जंगमों में चिद्रूप मैं हूँ। यहाँ पर केवल चित् ही है, दूसरी कल्पना ही नहीं है। लोक में द्वित्व का संभव न होने से कौन शत्रु है अथवा कौन मित्र है ? ॥११–१३॥

देहादि द्वैत भले ही हो, तथापि उसकी क्षति से असंग, पूर्ण, चिन्मात्ररूप मेरी कोई क्षति नहीं है, ऐसा कहते हैं।

बलिनामधारी शरीर के प्रकाशमान सिर के कटने पर सब लोकों को पूर्ण करनेवाले चैतन्य का क्या कटा ? ॥१४॥

भले ही चित् का ही छिन्न हो, तथापि छेद्य, छेदन आदि भाव और अभाव और तद्विषयक राग, द्वेष आदि भी, चित् के आधीन ही उनकी कल्पना होने से चित् से अतिरिक्त नहीं हैं, अतएव चित् के प्रतिकूल कुछ नहीं हुआ, ऐसा कहते हैं।

चित् से यह द्वेष है यों संकेतित होने से द्वेष, द्वेष होता है, अन्यथा द्वेष नहीं होता; इसलिए द्वेष आदि सब भाव और अभाव चैतन्यरूप ही हैं। बहुत विचार करके भी चित् से पृथक् इस विशाल त्रिभुवन के मध्य से कुछ भी वस्तु प्राप्त नहीं होती है। अतिशुद्ध चेतनरूप मुझमें न द्वेष है, न अनुराग है, न मन है और न मन की वृत्तियाँ ही हैं। ये हों भी कैसे ? भला अतिशुद्ध चिन्मात्र में विकल्प कल्पना कैसे हो सकती है ? सर्वत्र जाननेवाला, सर्वव्यापक, नित्य आनन्दमयरूप, विकल्प–कल्पना से शून्य, द्वैत अंश से रहित मैं चित् ही हूँ। नामरहित चित् का जो 'चित्' यह नाम है, वह नाम नहीं है, यह सर्वत्र जानेवाली सब नाम–रूप कल्पना की अधिष्ठानभूत चित्–शक्ति ही नाम शब्द की तरह स्फुरित होती है ॥१५–१९॥

इसी प्रकार 'कोऽहम्' (मैं कौन हूँ) इस प्रश्न का उत्तर भी स्वयं मुझे ज्ञात हो गया है, ऐसा कहते हैं।

मैं दृश्य–दर्शन से रहित केवल अद्वितीय निर्विकार स्वरूपवाला, नित्य उदित, भ्रान्तिरहित साक्षी परमेश्वर हूँ। इस प्रकार के प्रकाशमात्र स्वरूपवाले मुझमें नित्य स्वात्मा के अवभास से शून्य जल अथवा केशों के अग्रभाग में प्रतिबिम्बित चन्द्रकला के सदृश स्वकल्पनारूपी अपरिच्छिन्न जीवभाव जो उदित हुआ है, वह एकमात्र भ्रान्ति ही है, वास्तविक नहीं है, इसलिए उस जीवभाव को मैं चरम साक्षात्कार वृत्ति से प्रदीप्त हुए स्वरूप से ही अभिभूत करता हूँ। चेत्य के सम्बन्ध से शून्य, विमुक्त महात्मा प्रत्यक्चेतनरूप स्वरूपभूत ब्रह्म को नमस्कार है ॥२०–२२॥

अपना आत्मा ही परमेश्वर है जिसने जीवभाव पर विजय प्राप्त कर ली, इसलिए उसे नमस्कार करते हैं।

चेत्य से रहित चिद्रूप, साक्षात्कार के योग्य मनन–निदिध्यासनरूप युक्ति–से–युक्त, सब पदार्थों के प्रकाशन में दीपक प्रत्यग्रूप ब्रह्म को नमस्कार है। मैं जिसमें सब ज्ञातव्य वस्तुएँ शान्त हो चुकी,

चेत्य से रहित चित्‌रूप, सर्वत्र विश्व को पूर्ण करनेवाला, सर्वव्यापक एकमात्र सच्चिदानन्दरूप हूँ। सर्वत्र व्याप्त मैं आकाश के समान अनन्त हूँ और अणु से भी अणु हूँ, इसलिए ये सब सुख-दुःख दशारूपी दृष्टियाँ मुझे प्राप्त नहीं कर सकती हैं ॥२३-२५॥ वर्तमान में असंवेद्य (चक्षु आदिवृत्तियों की व्यावृत्ति के लिए असंवेद्य कहा है) संवेदनरूप और अचेत्य (अतीत और अनागत के विषय में स्मृति आदि वृत्तियों की व्यावृत्ति के लिए अचेत्य कहा है) चेतनरूप सर्वव्याप्त मुझको ये जगत के भाव और अभाव देशतः, कालतः अथवा वस्तुतः परिच्छिन्न नहीं कर सकते हैं, बल्कि ये भाव और अभाव ही साक्षी से परिच्छेद्य हैं, यह भाव है ॥२६॥

यदि कहिये कि हम इयत्ता (सीमा) में स्थापन को परिच्छेद नहीं कहते हैं, किन्तु तत्त्वावधारण को परिच्छेद कहते हैं, तत्त्वज्ञान के अनुकूल प्रमाण आदि जगत के भाव वास्तव में आत्मा का उक्त परिच्छेद करते ही हैं, इस पर कहते हैं।

अथवा ये जगत के पदार्थ मुझे परिच्छिन्न करें, इस प्रकार का परिच्छेद मुझे अभिमत ही है, किन्तु इतने से ये मुझसे पृथक् नहीं हो सकते। मद्रूप ही हो जाते हैं, यह भाव है ॥२७॥

इनसे परिच्छेद होने पर बाएँ हाथ में रखे गये धन का दाहिने हाथ से ले जाने, हरने अथवा लौटाकर देने से दोनों हाथों से अभिन्न देहरूप देवदत्त की जैसे धन क्षति नहीं होती है वैसे ही मेरी कोई क्षति नहीं है, ऐसा कहते हैं।

यदि अपने स्वरूपभूत वस्तु-से-वस्तु ले जाई जाती है, हरी जाती है अथवा वापस लेकर दी जाती है, तो किसका क्या नष्ट हुआ ? ॥२८॥

वस्तुतः तत्त्वबोध से पहले भी जगत मैं ही था, इसलिए पहले भी न तो कुछ उत्पन्न हुआ था और न विनष्ट हुआ था, इस आशय से कहते हैं।

मैं ही सदा सब कुछ सबका कर्ता और सर्वगत था। यह चेत्य भी मैं ही हूँ। नया कुछ भी उदित नहीं हुआ ॥२९॥ मैं एकमात्र यह चित् हूँ, चिद्रूप मेरा संकल्प और विकल्प से क्या बढ़ा और क्या विनष्ट हुआ ? अपने अज्ञान से मैं संक्षोभ को प्राप्त होता हूँ और तत्त्वज्ञान से पवित्र आत्मा में विश्रान्ति को प्राप्त होता हूँ। ऐसा विचार कर रहा परम ज्ञानी दैत्यराज बलि ओंकार से स्थूल और सूक्ष्म के संक्षोभ एवं उनके हेतुभूत अज्ञान से युक्त चैतन्य को बोधित कर रही अकार आदि तीन मात्राओं का त्यागकर तुरीय की आत्मरूप से भावना करता हुआ समाधिस्थ होकर स्थित रहा। उस महान पद को प्राप्त हुए बलि के सब संकल्प विलीन हो गये, सब कल्पनाएँ नष्ट हो गई, ध्याता, ध्येय और ध्यान से रहित होने के कारण उसने चेत्य, चिन्तक और चिन्तन का त्याग कर दिया। वह निर्मल और वासनाशून्य हो गया, इसलिए निर्वात स्थान में रक्खे हुए दीपक की प्रभा के समान निश्चल हो गया। शान्त मनवाला राजा बलि उस रत्ननिर्मित झरोखे पर पत्थर पर गढ़ी हुई मूर्ति के सदृश रहा। राजा बलि जिसने तीनों एषणाओं को शान्त कर दिया अतएव परिपूर्ण तथा विषयों के चिन्तनरूपी दोषदशा से शून्य इस निर्मल ब्रह्मभावप्राप्तिरूप सत्ता से ऐसे सुशोभित हुआ जैसे मेघरहित शरत् कालीन आकाश निर्मलता से सुशोभित होता है ॥३०-३५॥

सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठाईसवाँ सर्ग

बलि को निश्चेष्ट देखकर दुःखित हुए दानवों द्वारा शुक्राचार्यजी का स्मरण और उनका बलि की स्थिति कहकर दानवों का शोक दूर करना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर बलि के अनुचर वे दानव लोग स्फटिक के बने हुए बलि के निवासभूत ऊँचे राजमहल पर एक क्षण में चढ़ गये। वे अनुचर थे – डिम्ब आदि धीर मन्त्री, कुमुद आदि सामन्त, सुर आदि राजा, वृत्त आदि सेनापति, हयग्रीव आदि सैनिक, चाक्राज आदि बान्धव, लड्डुक आदि मित्र, बल्लुक आदि प्रीतिकारी, कुबेर, यम, इन्द्र आदि भेंट देनेवाले देवता, सेवा करने का अवसर चाहनेवाले यक्ष, विद्याधर और नाग, चँवर डुलानेवाली रम्भा, तिलोत्तमा आदि अप्सराएँ, सागर, नदियाँ, पर्व, दिशाएँ, विदिशाएँ (दिशा और विदिशाओं के देवता और उनमें अधिकारी रूप से नियुक्त लोग) उस समय बलि की सेवा के लिए उस स्थान पर आ पहुँचे। इनके अतिरिक्त त्रैलोक्य के मध्य में निवास करनेवाले बहुत से सिद्ध भी आए। सबने, जिनकी मुकुटों की पंक्तियाँ झुक रही थी, बड़े आदर के साथ बलि को, जो ध्यान और मौन से समाधि में बैठा था और चित्र में लिखित चित्र के समान निश्चल था, प्रणाम किया ॥१–७॥

राजा बलि का दर्शन कर अवश्य कर्तव्य प्रणाम आदि कर चुके वे महाअसुर बलि के प्राणों का सन्देह होने से विषादवश गम्भीर हुए, उसी प्रसन्नता और आनन्द देखने से विस्मत हुए, रोमांच आदि आनन्द के चिह्न न देखने से आनन्दित और अपना रक्षक न देखने से भयभीत हुए। दानव मन्त्रियों ने यहाँ पर क्या करना चाहिये, यह विचार कर सब ज्ञाताओं में श्रेष्ठ गुरु शुक्राचार्य का स्मरण किया ॥८,९॥ चिन्तन के पश्चात दैत्यों ने कल्पित (✍) दैदीप्यमान भार्गव का शरीर प्राप्त हुए गन्धर्वनगर के समान देखा। असुरों द्वारा पूजे जा रहे और गुरु के उच्च आसन पर स्थित शुक्राचार्यजी ने ध्यान से चुपचाप बैठे हुए दानवराज बलि को देखा। दानवों पर प्रेम करनेवाले श्रीशुक्राचार्यजी ने क्षण भर विश्राम करके ध्यान से देखकर विचार करते हुए बलि को संसारभ्रमरहित (जिसका संसार रूपी भ्रम क्षीण हो गया था) जाना। तदनन्तर प्रकाशित करनेवाली अपने शरीर की सैकड़ों किरणों से क्षीरसागर को भी नीचा दिखा रहे–से गुरु ने हँसते हुए सभा में स्थित लोगों से यह वाक्य कहा ॥१०–१३॥

हे दैत्य लोगों, सिद्ध हुआ यह ऐश्वर्यशाली बलि अपने विचार से ही विमल पद को प्राप्त हुआ है। यह विश्रान्तिसुख का अतिशय है ॥१४॥ हे दानवश्रेष्ठों, इसलिए यह ऐसे ही समाधि में स्थित होकर निरतिशयआनन्दरूप आत्मा में चिरस्थिति को प्राप्त हो और निर्विकार पद का साक्षात्कार करे ॥१५॥ चिरकाल से थका हुआ–सा यह चित्त भ्रान्तिरहित होकर विश्राम को प्राप्त हो रहा है। इसका संसाररूपी कुहरा शान्त हो गया है। इससे आप लोग भाषण न कीजिये ॥१६॥ जैसे पृथिवी पर रात्रि के अन्धकार, निद्रा आदि के शान्त होने पर दिन को सूर्य का किरणसमूह प्राप्त होता है, वैसे ही अज्ञानरूपी संकट के दूर होने पर अपना ही प्रकाश इसको प्राप्त हुआ है ॥१७॥ समय आने

(✍) शुक्राचार्यजी के द्वारा ही, जो सप्तर्षियों की सभा में गये हुए थे, योगबल से बलि के महल में प्राप्त होने के कारण उस शरीर की कल्पना की गई थी, अतः उसे 'कल्पित' कहा।)

पर यह स्वयं ही प्रबोध को ऐसे प्राप्त होगा, जैसे कि बीज के सम्पुट से 'मैं अंकुर हूँ' इस प्रबोध से सुप्त मूर्त अंकुर प्रबोध को प्राप्त होता है ॥१८॥ हे दानवनायकों, आप सब लोग राज्य-कार्य करो, बलि एक हजार वर्ष में समाधि से प्रबुद्ध होगा ॥१९॥

गुरु के ऐसा कहने पर जैसे वृक्ष सूखी हुई मंजरी का त्याग करते हैं वैसे ही वहाँ पर दैत्यों ने दर्प, कोप और दुःख से उत्पन्न हुई चिन्ता का त्याग किया। तदनन्तर पहले जैसी राज्य की व्यवस्था स्थापित कर रक्खी थी, उसीके अनुसार बलि के राज्यव्यवहार क्रम को स्थिर करके सब असुर अपने-अपने व्यापार में निरत हुए ॥२०,२१॥

उस समय बाहर से आये हुए मनुष्य नागादि ने क्या किया ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं।

मनुष्य पृथिवी को गये, नागराज आदि रसातल को गये, ग्रह अन्तरिक्ष को गये, देववृन्द स्वर्ग को, कुलाचल आदि पर्वतों में अधिकृत देवता और दिक्पाल अपनी-अपनी दिशाओं को, ऋक्ष, वानर आदि यूथपति किष्किन्धा आदि कन्दराओं को व गरुड़, संपाति, जटायु आदि आकाशचारी आकाश को गये ॥२२॥

अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त

उन्तीसवाँ सर्ग

जीवन्मुक्त बलि की राज्यसम्पत्ति और पाताल में बन्धन का वर्णन एवं
श्रीरामचन्द्रजी के लिए बलि के समान पूर्णपद में स्थिति का उपदेश।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी, तदनन्तर पूरे एक हजार दिव्य वर्षों के बाद असुरश्रेष्ठ महाऐश्वर्यशाली बलि देवताओं की दुन्दुभियों की तुमुल ध्वनि से समाधि से जागा। बलि के समाधि से जागने पर उस समय वह बलि का नगर ब्रह्माजी के निवासभूत आकाश में सूर्य की किरणों के उदित होने पर जैसे कमल का तालाब विकास शोभा से सुशोभित होता है वैसे ही सुशोभित हुआ ॥१,२॥ जागते ही बलि ने जब तक दावन उसके निकट नहीं आये तब तक समाधि भवन में क्षण भर विचार किया ॥३॥ अहा ! यह पदवी बड़ी रमणीय, शीतल और पारमार्थिक है। मैं इस पदवी में एक क्षण (✍) स्थित होकर विश्रान्ति को प्राप्त हुआ हूँ ॥४॥ इसलिए इसी पदवी का अवलम्बन करके मैं विश्रान्ति सुख को प्राप्त करूँ। बाह्य विभूतियों के उपभोग से मेरा क्या होगा ? यानी उनसे इस प्रकार का कुछ भी विश्रान्तिसुख मुझे नहीं मिलेगा ॥५॥ समाधि के परिपाक से उत्पन्न आनन्दराशि मेरे अन्तःकरण को जैसे सन्तुष्ट कर रही है, चन्द्रमा के बिम्बों में आनन्द लहरियाँ भी वैसा सन्तुष्ट नहीं कर सकती ॥६॥ यों सोचकर विषयों से व्यावृत्त मन को फिर भी विश्रान्ति सुख के लिए लगा रहे बलि को चारों ओर से दैत्यों ने ऐसे घेर लिया जैसे चन्द्रमण्डल को मेघ घेर लेते हैं ॥७॥ उनके प्रणामों से बलि की दृष्टि आकुल हो गई। कुलाचलों के तुल्य विशाल शरीरवाले दैत्यों से घिरे हुए उसने उन्हें देखकर फिर यह विचार किया ॥८॥ चैतन्यरूप मेरा, जिसका विकल्प नष्ट हो गया, कौन-सा पदार्थ उपादेय है ? उपादेय बुद्धि

✍ समाधि-सुख में निमग्न बलि के दिव्य हजार वर्ष भी क्षण के तुल्य बीते, इसलिए 'एक क्षण स्थित होकर' कहा ।

से ही बाह्य पदार्थों को देखने पर मन उनकी ओर आकृष्ट होने के कारण रागितारूप मल को प्राप्त होता है, केवल दर्शनमात्र से नहीं ॥९॥

यदि कोई शंका करे कि मोक्ष की इच्छा से समाधि ग्रहण में ही आपका आग्रह हो, तो उस पर कहते हैं।

मैं किससे मोक्ष की इच्छा करता हूँ ? पहले मैं बँधा ही किससे हूँ ?

भाव यह कि ज्ञान से अज्ञान और अज्ञान के कार्य का त्रैकालिक बाध होने पर बन्ध का दर्शन ही नहीं है। बद्ध न होता हुआ भी मैं मोक्ष चाहता हूँ, यह मूर्खों की चेष्टा का अनुकरण नहीं तो और क्या है ? न मेरा बन्धन है, न मेरा मोक्ष है। मेरे अज्ञान का विनाश हो चुका। ध्यान करने से ही मेरा क्या होगा अथवा ध्यान न करने से ही क्या होगा ? ॥१०,११॥

ध्यान और अध्यान की भ्रान्ति का त्याग करके प्रत्यग्रूप आत्मतत्त्व अपने द्रष्टा स्वभाव से ही बाहर उदासीनता से देखता हुआ जिस वस्तु के प्रति आता है, वह स्फुरित हो। उतने से ही अज्ञों के तुल्य देहादि तादात्म्याध्यास से देहादि के वृद्धि और क्षय से होनेवाले वृद्धि और क्षय मेरे नहीं हो सकते, जिससे अनर्थ हो ॥१२॥ मैं न ध्यान की इच्छा करता हूँ और न ध्यान के अभाव की इच्छा करता हूँ। न भोगों की इच्छा करता हूँ और न अभोग की ही इच्छा करता हूँ, किन्तु सन्ताप रहित होकर समरूप से स्थित होता हूँ ॥१३॥ न परमतत्त्व की मुझे अभिलाषा है और न जगत की स्थिति की मुझे वांछा है। न तो ध्यान दशा से मेरा कोई प्रयोजन है और न धन–सम्पत्ति से ही मेरा कोई कार्य है ॥१४॥ देह सम्बन्ध का अभाव होने से मैं मरा भी नहीं हूँ और प्राण का सम्बन्ध न होने से मैं जीवित भी नहीं हूँ। न मैं मूर्त हूँ, न अमूर्त हूँ और न मैं सन्मय हूँ। ये देह, लोक आदि मेरे नहीं हैं। अन्य देह और अन्य लोक आदि भी मेरे नहीं हैं। प्रत्यक्‌चैतन्रूप मुझको नमस्कार है। मैं महान हूँ। यह जगत साम्राज्य मेरा हो, इसमें स्थित होकर मैं बैठा हूँ अथवा यहाँ पर जगत साम्राज्य मेरा न हो, मैं सन्तापरहित हो आत्मा में स्थित हूँ। ध्यानदृष्टि से मेरा क्या काम है ? राज्य, वैभव–सम्पत्ति से मेरा क्या प्रयोजन है ? जो आता है, वह आये। न वह मैं हूँ और न वह मेरा है ॥१५–१७॥ यदि इस समय कर्तव्यत्व की आस्था से मेरा कुछ भी करणीय नहीं है, तो यह प्रस्तुत राज्यपालनरूप कुछ कर्म मैं किसलिए न करूँ ? ज्ञानवानों में श्रेष्ठ पूर्णात्मा बलि ने ऐसा निर्णय कर जैसे सूर्य कमलों को देखता है वैसे ही दैत्यों को देखा। यथायोग्य दृष्टिपात कर दैत्यराज बलि ने जैसे वायु फूलों की सुगन्ध ग्रहण करता है वैसे ही सब दानवों के प्रणाम ग्रहण किये ॥१८–२०॥ तदनन्तर बलि ने वहाँ पर ध्येय त्यागमय मन से सभी राजकार्य किये। ब्राह्मणों, देवताओं और गुरुओं की पाद्य, अर्घ्य आदि से उसने पूजा की एवं मित्र, बन्धु, सामन्त और सज्जनों का उनके उचित दान, समादर आदि द्वारा सम्मान किया। नौकर–चाकर और याचकों को धन से परिपूर्ण किया और भाँति–भाँति के विभवों के समर्पण द्वारा ललनाओं को प्रसन्न किया ॥२१–२३॥ राजा बलि देवता, असुर आदि सब पर शासनरूप राज्य में राज्यांग आदि की अभिवृद्धि को प्राप्त हुआ। तदनन्तर कभी उसकी अश्वमेघ यज्ञ करने की इच्छा हुई। उसने शुक्राचार्य आदि प्रधान पुरुषों के साथ अश्वमेघ नामक महायज्ञ किया जिसमें तीनों भुवनों के लोग तृप्त किये गये थे और सब देवता तथा ऋषि पूजे गये थे ॥२४,२५॥ सिद्धि देनेवाले भगवान श्रीहरि 'बलि संसारी विविध भोगों का अभिलाषी नहीं है' ऐसा

निर्णय कर बलि की अभिलाषा की सिद्धि के लिए उस यज्ञ में आये ॥२६॥ एकमात्र भोग में आसक्त होने के कारण कृपण अतएव शोचनीय तथा अवस्था में ज्येष्ठ इन्द्र को जगद्रूपी जंगल का भाग देने के लिए अपने मायाबल से तीन लोकों को अपने पग से नाप रहे कार्यकुशल श्रीहरि ने बलि को ठगकर जैसे कोई भूगर्भ में बने हुए पृथिवी के अन्दर स्थित घर में बन्दर को बाँधे वैसे ही पाताल में बलि को बाँध दिया। अब भी जीवन्मुक्त शरीरवाला, निर्विकल्प समाधि में बुद्धिरहित और नित्य आत्मनिष्ठ बलि पाताल में पुनः इन्द्रत्वप्राप्ति के हेतुभूत प्रारब्ध से युक्त होकर स्थित है ॥२७-२९॥ पातालरूपी गर्त में स्थित जीवन्मुक्त गतिवाला बलि आपत्ति और सम्पत्ति को समान रूप से ही देखता है। जैसे उदय और अस्त से रहित स्थिर किरणवाला चित्रलिखित सूर्यमण्डल न तो अस्त को प्राप्त होता है और न उदित होता है वैसे ही उसकी प्रज्ञा भी सुख और दुःख में न तो अस्त होती है और न उदित होती है ॥३०,३१॥

जीवन में आदर रखनेवाले भोगलंपट पुरुषों के विभव और जन्मों के हजारों बार आविर्भाव और तिरोभाव चिरकाल तक देखकर बलि का मन भोगों में वैराग्य को प्राप्त हो गया। दस करोड़ वर्ष तक लगातार तीनों लोकों का शासन करके अन्त में वैराग्य को प्राप्त हुआ बलि का मन शान्त हो गया। सुख और दुःखों के हजारों बार आगमन और विनाश सैकड़ों संपत्ति और विपत्तियाँ बलि ने देखी। इसलिए कहाँ पर बलि आश्वासन को प्राप्त हो यानी किस विषय में बलि को आश्वासन मिले। परिपूर्ण चित्तवाला बलि भोगों में अभिलाषा का त्यागकर नित्य आत्मनिष्ठ होकर पाताल के मध्य में यानी रसातल में जबतक विपत्ति का क्षय नहीं होता, तब तक स्थित है ॥३२-३५॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, फिर इस बलि को सारे जगत का इन्द्ररूप से बहुत वर्षों तक शासन करना होगा। बलि को इन्द्रपद की प्राप्ति से न संतोष है और न अपने पद से च्युत होने का दुःख ही है। सब भावों में सम तथा सदा ही सन्तुष्टचित्त बलि प्रारब्ध से प्राप्त वस्तु का उपभोग करता हुआ आकाश के समान स्वस्थ है ॥३६-३८॥

अब बलि के चरित्र का उपसंहार कर श्रीरामचन्द्रजी को उपदेश देते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, बलि की यह ज्ञानप्राप्ति मैंने आपसे कही। इस दृष्टि का अवलम्बन कर आप भी जीवन्मुक्तिरूप अभ्युदयवाले होओ ॥३९॥

हे रघुवर, आप बलि के सदृश अपने विचार से 'मैं नित्य हूँ' इस प्रकार के निश्चय से पौरुषपूर्वक अद्वैत पद को प्राप्त कीजिये। दस करोड़ वर्ष तक लगातार तीनों लोकों पर शासन कर अन्त में असुरश्रेष्ठ बलि भी वैराग्य को प्राप्त हुआ ॥४०,४१॥

हे शत्रुतापन, इसलिए अन्त में अवश्य दुःखदायी सभी भोगों का त्यागकर आप सत्य आनन्दरूप दुःखरहित परम पद को प्राप्त होओ ॥४२॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, विविध प्रकार की विकृतियों की सृष्टि करनेवाली इन दृश्य दृष्टियों को जैसे दूर से पर्वत शिलाएँ रमणीय मालूम पड़ती हैं वैसे रमणीयरूप से नहीं जानना चाहिये। पामर पुरुषों के व्यवहारों में प्रवृत्त हुए इस लोक और परलोक में दौड़ रहे इस मन को बाँधकर हृदयरूपी कोठरी में स्थिर कीजिये ॥४३,४४॥

यदि कोई शंका करे कि शत्रु और मित्र में समदृष्टि कैसे हो सकती है ? तो इस पर कहते हैं।

आदित्य के समान सबको प्रकाशित करनेवाले चैतन्यरूप आप ही सारे जगत में स्थित हैं ऐसी अवस्था में शत्रु की देह में भी प्रकाशक आत्मरूप आप ही हैं, इसलिए वैषम्यदृष्टि होने का कोई कारण नहीं है, कौन आपका शत्रु है और कौन आपका आत्मीय है ? क्यों वृथा आप यह शत्रु है, यह मित्र है ऐसी भूल करते हैं ? ॥४५॥

यदि श्रीरामचन्द्रजी को शंका हो कि मैं जीव हूँ, मेरी ईश्वरात्म समदृष्टि कैसे हो सकती है, तो इस पर कहते हैं।

हे महाबाहो, आप अनन्त हैं, आदिपुरुषोत्तम भी आप ही हैं, अनन्त पदार्थों के आकार से चैतन्यरूप आप ही वृद्धि को प्राप्त हुए है ॥४६॥ जैसे सूत में मणियाँ पिरोई होती हैं वैसे ही सदा प्रकाशमान शुद्ध–बुद्ध–ज्ञानरूप आपमें यह सारा चराचर जगत पिरोया हुआ है ॥४७॥

कालकृत वैषम्य भी आप में नहीं है, यह कहते हैं।

अज, पुरुषविराट्‌रूप आप शुद्ध चैतन्य ही हैं। न तो आप उत्पन्न होते हैं और न मरते हैं। आपको जन्ममरण भ्रान्तियाँ न हों ॥४८॥ तृष्णा बढ़ने पर जन्म आदि रोगों की प्रबलता और तृष्णा के कम होने पर जन्म आदि रोगों की दुर्बलता होती है, इस बात को अन्वय–व्यतिरेक से जानकर भोगों की तृष्णा का त्यागकर आप एकमात्र भोग साक्षी ही होइये ॥४९॥

आपके चैतन्य बल से ही यह जगत सिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

चिदादित्यरूप सदा प्रकाशमान जगत के अधिपति आपके स्थित होने पर ही यह संसाररूपी स्वप्न आभासित होता है ॥५०॥ आप व्यर्थ विषाद मत करो, आपको सुख और दुःख की अभिलाषा नहीं है, आप शुद्धचित्त, सबके आत्मा और सब वस्तुओं के प्रकाशक हैं ॥५१॥

यदि आप अशुद्ध चित्त ही है, तो उसकी सिद्धि के लिए क्रम से उपाय सुनिये ऐसा कहते हैं।

जो–जो वस्तु मन को प्रिय है वह अनर्थ साधन है और जो तप, क्लेश, इंद्रिय संयम, प्राणायाम आदि मन को अप्रिय हैं वे सब मेरे लिए आवश्यक हैं, ऐसी कल्पनाकर सप्तम भूमिका–का परिपाक होने तक उसके अभ्यास से मन के ऊपर विजय प्राप्त होने पर उस कल्पना का भी तदनन्तर त्याग कीजिये ॥५२॥ इष्ट और अनिष्टदृष्टि का त्याग करने पर अक्षय समता उत्पन्न होती है। अभ्यास से हृदय में स्थिर हुई समता से फिर प्राणी उत्पन्न नहीं होता ॥५३॥

बालक की नाईं जिन–जिन प्रदेशों में मन निमग्न होता है उन–उन प्रदेशों से लौटाकर मन को अधिष्ठान चिन्मात्र में लगायें भगवान ने भी कहा है : यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत ॥ इस प्रकार अभ्यास को प्राप्त हुए मनरूपी मत्त हाथी को सब प्रयत्नों से बाँधकर परम कल्याण प्राप्त होता है ॥५४,५५॥ जो लोग शरीर को ही परमार्थ जानते हैं, मिथ्यादृष्टि से जिनका हृदय दूषित है और जो भोग संकल्पों के अधीन हैं, ऐसे धूर्त मूर्ख पुरुषों की समता को आप प्राप्त न होइये ॥५६॥

जो लोग पराधीन बुद्धि है, स्वयं विचार नहीं कर सकते, उनका अज्ञान ही महाअनर्थ है, ऐसा कहते हैं।

आत्मतत्त्व के निर्णय में विवेक वैराग्य आदि उपायों से दरिद्र, पर वंचक मूर्खों के कथन पर अवलम्बित

अज्ञान से बढ़कर इस लोक में अधिक दुःखदायी और कोई नहीं है ॥५७॥ हे महामते, आप हृदयरूपी आकाश में उदित हुए इस अविवेकरूपी मेघ को विवेकरूपी वायु से शीघ्र दूर कीजिये। जब तक स्वयं श्रवण, वैराग्य आदि पुरुष प्रयत्न से आत्मसाक्षात्कार में यत्न नहीं किया जाता, तब तक विचारोदय नहीं होता ॥५८॥

वैराग्य, विचार, श्रवण आदि के रहते हुए भी बहिर्मुख दृष्टिवाले पुरुषों को ज्ञान नहीं होता, इसलिए आन्तरदृष्टि भी आवश्यक है, इस आशय से कहते हैं।

जब तक प्रत्यक्‌तत्त्व का दर्शन नहीं होता तब तक वेद-वेदान्त शास्त्रों के अर्थ और तर्कों की दृष्टियों से भी यह आत्मा प्रकट नहीं होता ॥६०॥

यदि कोई कहे, तब तो एकमात्र प्रत्यक्‌तत्त्वदृष्टि ही ज्ञान के लिए पर्याप्त हो, गुरु के उपदेश का क्या प्रयोजन है ? तो इस शंका पर कहते हैं।

हे श्रीरामचन्दजी, आत्मा में अपने से ही स्थित हुए आप विस्तृत बोध को प्राप्त हुए हैं। मेरा उपदेश होने पर ही आपको बोध हुआ है ॥६१॥ विकल्प के अंश से रहित चैतन्यरूप सूर्य परमात्मा की यह विस्तृत व्याप्ति (देशतः, कालतः और वस्तुतः अपरिच्छिन्नता) मेरे उपदेश से ही आपको गृहीत हुई है। आपके सब संकल्प नष्ट हो गये हैं, सन्देह भ्रम शान्त हो गये हैं, कौतुकरूपी तुषार हट गया है, आप सन्तापशून्य हो गये हैं ॥६२,६३॥ हे मननशील श्रीरामचन्द्रजी, जब आप आत्मतत्त्व के आवरण और विक्षेप से रहित होंगे तब आप जो प्राप्त ही हैं ऐसे ज्ञान और ज्ञान के साधन (विचार, गुरु शास्त्रोपदेश आदि का) मोक्ष के लिए जो स्वीकार करते हैं, जो विवेक वैराग्य आदि की यत्न से रक्षा करते हैं; जो आलस्य, प्रमाद आदि दोषों पर यत्न से विजय प्राप्त करते हैं, जो समाधि सुखरूपी अमृत को पीते हैं, जो उत्तरोत्तर भूमिका में आरूढ़ होने से आश्चर्य करते है और जो सप्तम भूमिका में विश्रान्ति से पूर्व-पूर्व अवस्था से अधिक सुख के उत्कर्ष से अभ्युदय को प्राप्त होते हैं, वह सब आपको न हो, किन्तु ब्रह्मस्वरूप ही आप स्थित रहे ॥६४॥

उन्तीसवाँ सर्ग समाप्त

तीसवाँ सर्ग

हिरण्यकशिपु का पराक्रम, प्रह्लाद आदि पुत्रों की उत्पत्ति,
नृसिंह द्वारा वध और शोकपूर्वक औध्र्वदैहिक क्रिया।

इस प्रकार केवल काकतालीय न्याय से प्रवृत्त हुए तथा शास्त्र और आचार्य के उपदेश से परिपुष्ट अपने विचार से ज्ञानोदयके प्रकार का वर्णन करने के लिए प्रह्लादोपाख्यान कहने की इच्छावाले श्रीवसिष्ठजी उसके सुनने में रामचन्द्रजी को सावधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञान की निर्विघ्न प्राप्ति में इस उत्तम प्रकार को आप सुनिये। जैसे कि दैत्यराज प्रह्लाद अपने-आप सिद्ध हो गया ॥१॥ नारायण के समान पाताल में पराक्रमी हिरण्यकशिपु नाम का दैत्य था। उसने अपने पराक्रम से देवता और असुरों को पराजित कर दिया था ॥२॥ जैसे रात्रि में भ्रमर के निवासभूत और प्रातःकाल में फूलने से विकसित पत्रवाले कमल को

राजहंस भ्रमर से छीनकर ले लेता है वैसे ही उसने तीनों भुवनों पर आक्रमण कर इन्द्र से तीनों लोकों का ऐश्वर्य छीन लिया ॥३॥ जैसे हाथी हंसों को हटाकर कमलिनी में भ्रमरों का राज्य करता है वैसे ही उसने देवता और असुरों के अधिपतियों पर विजय प्राप्त कर तीनों लोकों का राज्य किया। तदुपरान्त तीनों भुवनों पर शासन कर रहे उस दैत्यराज ने समय आने पर जैसे वसन्त ऋतु बहुत से अंकुर उत्पन्न करती है वैसे ही बहुत से पुत्र उत्पन्न किये ॥४,५॥ जैसे तेज में बढ़ी–चढ़ी और अवस्था में नयी, आकाश में फैलने से शोभित होनेवाली सूर्य की हजार किरणें शीघ्र वृद्धि को प्राप्त हो जाती है वैसे ही तेज में बढ़े–चढ़े अवस्था से बालक से स्वर्ग में आक्रमण करने से शोभित होनेवाले वे शीघ्र ही युवा हो गये ॥६॥ जैसे बहुमूल्य मणियों में कौस्तुभ मणि प्रधान है वैसे ही उनके बीच में प्रह्लाद नाम का पुत्र प्रधान हुआ ॥७॥ जैसे सब प्रकार की सुन्दरता से युक्त बसन्त से वर्ष सुशोभित होता है वैसे ही उस पुत्र से हिरण्यकशिपु अत्यन्त सुशोभित हुआ ॥८॥ तदनन्तर पुत्रों की सहायता, सेना और धनसम्पत्ति से युक्त वह दैत्य साठ वर्ष के हाथी के समान मदोन्मत्त हुआ ॥९॥ जैसे प्रलय के बारह सूर्य बढ़ रहे ताप से और अपनी प्रखर किरणों से तीनों जगतों को सन्तप्त करते हैं वैसे ही दिन–पर–दिन बढ़ रही आक्रमणजनित पीड़ा और करग्रहणजनित नित्य नई–नई संपत्ति से उसने तीनों जगतों को सन्तप्त किया ॥१०॥ जैसे दुलार से बिगड़े हुए बालक के मर्यादा के उल्लंघन से बन्धु–बान्धव दुःखी होते हैं वैसे ही उसके आक्रमणजनित सन्ताप से सूर्य, चन्द्र आदि देवता खिन्न हुए ॥११॥

तदनन्तर उन्होंने दैत्यराजरूपी गजराज के वध के लिए ब्रह्माजी से प्रार्थना की। ठीक ही है, बार–बार किये गये अपराध को महापुरुष भी सहन नहीं कर सकते ॥१२॥ तदनन्तर भगवान हरि ने नरसिंह शरीर धारणकर जैसे हाथी घोड़े को कटकट शब्द के साथ काट डालता है वैसे ही उसे विदीर्ण कर दिया। वह नरसिंह शरीर प्रलयकाल में ढह रहे जगत के समान घर्घर शब्द कर रहा था, उसमें दिग्गजों के दाँतों के सदृश नख वज्र आदि के तुल्य बढ़े थे, उसकी दन्त पंक्तियाँ स्थिर विद्युत्लता के तुल्य चमकीली थी, दस दिशारूपी कोटरों में घूम रही जलती अग्नियाँ ही उसके कुण्डल थे, उसका उदर सब कुलाचलों की पिण्डाकार स्थिति के समान भीषण था, उसके बाहुरूपी वृक्षों के हिलने–डुलने से उठा हुआ ब्रह्माण्डरूपी खप्पर विदीर्ण हो रहा था, मुख द्वारा पेट से निकले हुए उसके श्वास वायुओं से पर्वत एक स्थान से दूसरे स्थान पर हटाये गये थे, तीनो जगतों को जलाने के लिए तत्पर कोपरूपी प्रलयाग्नि से वह अत्यन्त गर्वीला था, अयाल से भयंकर विशाल कन्धों के कम्प से उसने सूर्य को विचलित कर दिया था, उसके रोमकूपों में दैदीप्यमान अग्निराशि से पर्वत पिघल गये थे, उसमें उखाड़े गये कुलाचलों से बड़ी भारी दीवार की रचना में मानों दिक्तट उद्धत थे और उसके सब अवयवों से पट्टिश, प्रास, तोमर आदि विविध आयुध उत्पन्न हुए थे ॥१३–१९॥ जैसे सब प्राणियों के प्रलय के अन्त में अग्नि सम्पूर्ण जगतों को जला डालती है वैसे ही इस प्रकार के नरसिंह शरीर को धारण किये हुए भगवान ने निकल रहीं नेत्रअग्नियों से असुरों के नगर में रहनेवाले सब जीवों और सब सामग्री को जला दिया ॥२०॥ प्रलयकाल के संवर्त नामक मेघों के गर्जन से व्याकुल जलप्रलय के समान मेघ गर्जन के तुल्य घनघोर ठोकने से उस नृसिंहरूपी वायु के अत्यन्त क्षोभ को प्राप्त होने पर दिशाओं में जल रहे मच्छरों के समान दानवों के झुण्ड के झुण्ड भाग गये और कान्तिवाले दीपकों के समान अदृश्य हो गये।

तदनन्तर पाताल, जहाँ से दैत्यनायक भाग गये थे और सब अन्तःपुर जल गये थे, प्रलय में बरबाद हुए जगत के तुल्य हो गया। अकाल के प्रलय के तुल्य भीषण युद्ध में हिरण्यकशिपु को मारकर स्वस्थ हुए देवताओं द्वारा बड़े आदर के साथ पूजित भगवान नृसिंह के धीरे-धीरे वाणी के अगोचर अपने पद को जाने पर मरने से बचे हुए दानव प्रह्लाद के संरक्षण में जैसे पक्षी सूखे तालाब में जाते हैं वैसे ही अपने उस जले हुए देश में गये। वहाँ पर आत्मीय बन्धु-बान्धवों का नाश प्रयुक्त समयोचित विलाप कर मरे हुए बन्धुओं का उन्होंने और्ध्वदैहिक सत्कार किया। जिनके बन्धु-बान्धव मारे जा चुके थे और अधिकांश बन्धु-बान्धव जीते-जी जलाये गये थे, ऐसे मरने से बचे हुए आत्मीयजनों को उन्होंने धीरे-धीरे आश्वासन दिया। चिन्तावश निश्चेष्ट अतएव चित्रलिखित के तुल्य दुःखित आकृतिवाले दीन-मलिन चित्त अतएव तुषार से नष्ट-भ्रष्ट किये गये कमलों के सदृश शोक सन्तप्त अन्तःकरणवाले वे प्रह्लाद आदि असुरनायक, जिनके शाखा, पत्ते आदि जल गये हो, ऐसे वृक्षों के समान निश्चेष्ट हो गये। (ठुंठ वृक्षों का वायु से न हिलना प्रसिद्ध ही है।) ॥२१-२८॥

तीसवाँ सर्ग समाप्त

इकतीसवाँ सर्ग

प्रह्लाद का श्रीहरि के पराक्रम का चिन्तन,
आत्मीयों के कल्याण का विचार और भगवद्भक्ति से भगवद्भाव का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर पातालगर्त में, जहाँ दानवों का विनाश किया गया था वहाँ दुःखसन्तप्त अतएव मौनी प्रह्लाद ने विचार किया। हमारा कौन सहायक हो ? सम्पत्तिरूपी पल्लवों को उत्पन्न करने में समर्थ जो भी असुररूपी वृक्ष का अंकुररूप तेजस्वी यहाँ पर पैदा होता है, उसी को श्रीहरि रूपी बन्दर खा डालता है। जैसे हिमालय में विकसित कमल कभी स्थिर नहीं होते वैसे ही पाताल में वज्रदण्डशाली बलवान दैत्य कभी भी अंकुरित होकर स्थिर नहीं हुए। समुद्र की तरंगों के समान प्रखर आकृति और गर्जनवाले सब दैत्य उत्पन्न हो होकर विलीन हो जाते हैं, उनका तनिक विकसित कार्य नष्ट कर दिया जाता है ॥१-४॥ बड़ा खेद है, बाहरी और भीतरी सब सम्पत्तिरूपी प्रकाशों को हरनेवाले अद्भुत अन्धकार के तुल्य हमारे शत्रु उन्नति के शिखर पर पहुँच चुके हैं ॥५॥ हमारे मित्ररूपी अर्धरात्रि के कमल तड़ाग, जिनके हृदय अन्धकार से पूर्ण हैं, और जिनकी पंखुड़ीरूपी संपत्ति दिन-पर-दिन संकुचित हो रही है, कैद को प्राप्त हो रहे हैं। जो प्रणाम के समय मेरे पिताजी के चरण-कमल का स्पर्श करते थे द्वेष से कलुषित देवताओं ने, हमारा देश ऐसे आक्रान्त कर दिया है जैसे सिंह मृग के वन को आक्रान्त करें। जो अपना हृदयवर्ती महादुःख सबके आगे कहते फिरते हैं उद्यमरहित, कान्तिहीन तथा दीनहीन हमारे बान्धव, ग्रीष्म ऋतु में जिनकी पंखुड़ियाँ झुलस चुकी हो ऐसे कमलों के समान शोभित नहीं होते हैं ॥६-८॥ आजकल शूरवीर असुरों के घरों में निरन्तर बहनेवाले उत्पात वायुओं से उड़ाये जा रहे भस्मरूप कुहरे पहले की धूप की धूम्रराशि के समान प्रतीत हो रहे हैं। जिनके चौखट और किवाड़ देवता हर ले गये हैं ऐसी दैत्यों के अन्तःपुर की दीवारों पर, समृद्धिकाल की मरकतप्रभा के समान इस समय जौ के अंकुर उगे हैं। जो दानव पहले सुमेरुरूपी कमलिनी के मर्दन में मदोन्मत्त

हाथी के सदृश थे, वे भी आज देवताओं के सदृश दीनता को प्राप्त हुए हैं। अहो, भाग्य के लिए क्या असाध्य है ? ॥९–११॥ जैसे गाँव में गई हुई भयभीत मृगियाँ तनिक पत्ते के फड़कने पर भी डरती हैं वैसे ही दैत्यों की स्त्रियाँ, जिनको शत्रुभय का अनुभव हो चुका है, तनिक पत्तों के फड़कने पर भी डरती हैं। असुर नारियों के कर्णफूल बनाने के लिए लगाये गये रत्नों के गुच्छेवाले फूले हुए दिव्य वृक्ष नरसिंह के हाथों से तहस–नहस होकर ठुंठ बन गये हैं ॥१२,१३॥ देवताओं ने उस नन्दनवन में दिव्यवस्त्रों से युक्त लता और पत्तेवाले रत्नों के गुच्छों से लदे हुए कल्पवृक्ष फिर से लगा लिये हैं ॥१४॥ पहले असुरों ने देवताओं की बन्दी नारियों केसुन्दर मुख प्रशंसा के साथ देखे थे, लेकिन अब असुरों की बन्दी नारियों के मुख देवताओं द्वारा देखे जाते हैं ॥१५॥

मालूम पड़ता है, देवताओं की ऐरावत आदि हाथियों के गण्डस्थल में बह रही मदधारारूपी महानदियाँ शैल शिखरों पर बह रही नदियों के समान हो जायेगी ॥१६॥ मद के दाह से उत्पन्न हुई राख हमारे हाथियों के सूखे हुए गण्डस्थलों में सूखे हुए मरुस्थलों की धूलि के समान प्रतीत होती है ॥१७॥ फूले हुए सफेद मन्दार के परागयुक्त मकरन्दों से रंगे हुए वायु जिनका अंगस्पर्श करते थे, अतएव जो मारे हर्ष के मेरुशिखरों के तुल्य थे, वे दैत्य दुर्लभ हो गये हैं ॥१८॥ पहले दानवों के अन्तःपुर में अभ्यस्त (चिरकाल तक निवास कर चुकी) देवता और गन्धर्वों की सुन्दरियाँ आज वृक्ष पर मंजरियों के समान मेरु पर निवास करती हैं ॥१९॥ बड़े खेद की बात है, मेरे पिताजी की पटरानियों के सूखे हुए कमलों की तरह नीरस विलासों की अप्सराएँ नृत्यों में अनुकरण द्वारा भर्त्सना करती हैं ॥२०॥ पहले जो चँवर मेरे पिता पर डुलाये गये थे, बड़े खेद की बात है, वे ही आज स्वर्ग में इन्द्र पर डुलाये जाते हैं। जिनका पराक्रम स्मरण भी दुःखदायी है, ऐसे उन एकमात्र भगवान श्रीहरि के प्रसाद से हम जैसे महाप्रतापशाली लोगों को भी ये आपत्तियाँ प्राप्त हैं। जैसे हिमालय के शिखर कभी सन्तप्त नहीं होते वैसे ही उन विष्णु भगवान की बाहुओं की निबिड़ छाया में विश्रान्त देवताओं को कभी सन्ताप प्राप्त नहीं होता।

जैसे पर्वत या वृक्ष की चोटी पर बैठे हुए बन्दर बलवान कुत्तों को भी तंग करते हैं वैसे ही भगवान विष्णु के पराक्रमरूपी पर्वत या वृक्ष की चोटी के अवलम्बन से समृद्ध हुए देवता लोग हम बलवानों को भी पाताल में ढकेल रहे हैं ॥२१–२४॥ भगवान के पराक्रम से अलंकारों को भी अलंकृत करनेवाले असुरनारियों के मुखारविन्द पर कमलिनियों के मुखभूत कमल पर हिम के समान आँसू सदा बने रहते हैं ॥२५॥ जगद्रूपी जीर्ण–शीर्ण मकान की जीर्ण–शीर्ण, टूटी–फूटी दीवारें गिर रही है, उसे नीलमणि के स्तम्भरूप भगवान की भुजाओं द्वारा सम्हाला जाता है ॥२६॥ जैसे क्षीर सागर के मध्य में डूबे हुए मन्दराचल के धारणकर्ता कच्छप भगवान हैं वैसे ही विपत्तिरूप सागर में डूब रही देवसेना के वह भगवान ही धारणकर्ता हैं। उन्होंने ये मेरे पिता आदि सब असुरश्रेष्ठ को ऐसे गिरा डाले जैसे कि क्षुब्ध हुआ प्रलयकाल का वायु कुलाचलों को गिराता है। केवल एक उन्हीं भुजारूप अग्नि हम लोगों का संहार करने में समर्थ हैं देवताओं के गुरु श्रीमान मधुसूदन हम लोगों के द्वारा आक्रान्त नहीं हो सकते। दैत्यों के बाहुदण्ड के लिए कुठारभूत उन श्रीहरि भगवान के पराक्रम से पराक्रमशाली होकर इन्द्र जैसे बन्दर बालकों को छेड़ता है वैसे ही दैत्यों को छेड़ रहा है। यदि भगवान शस्त्रास्त्र का त्याग कर दें, तो भी उन पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकती। वज्र से भी कठिन वे शस्त्रास्त्रों के आघातों से छिन्न–भिन्न नहीं

किये जा सकते हैं ॥२७-३१॥ उन्होंने हमारे बाप-दादों के साथ बहुत से भयंकर युद्ध कौशलों का अभ्यास किया है जिनमें परस्पर पर्वत फेंके गये थे। उन अतिभीषण और विशाल शत्रुपंक्तियों में जो भयभीत नहीं हुआ था, वह इस समय भयभीत होगा, इसमें तो कहना ही क्या है ?॥३२,३४॥

क्यों दूसरा प्रतीकार का उपाय नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जगत में सब वस्तुओं के स्वभाव से सब प्रकार की बुद्धियों से और सब प्रकार के कर्मों के उद्योगों से शरणार्थी लोगों के लिए एकमात्र भगवान ही शरण है, अन्यथा गति नहीं है ॥३५॥

और लोग शरण क्यों नहीं हो सकते ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

तीनों लोकों में उनसे बढ़कर कोई भी नहीं हैं। सृष्टि, प्रलय, और संहार के एकमात्र हेतु हरि ही हैं ॥३६॥

ऐसा विचारकर सर्वात्मना उनकी शरणागति का संकल्प करते हैं।

इस क्षण से मैं सदा अजन्मा नारायण की शरण में प्राप्त हुआ हूँ। सब देश, सब काल और सब वस्तुओं में मैं नारायणमय हूँ। निरन्तर भगवान की शरणागति, धारणा, स्मरण और जप के साधनभूत उनके श्रौत मन्त्र का स्मरण कर निरवच्छिन्न उसके जप का संकल्प करते हैं। जैसे आकाश से वायु कभी नहीं हटता वैसे ही सब पुरुषार्थों का साधक 'नमो नारायणाय' (卐) यह मन्त्र मेरे हृदयकोश से दूर न हो।

सब देश, सब काल और सब वस्तुओं मे मैं नारायणमय हूँ, ऐसा जो कहा था, इसका स्पष्टीकरण कहते हैं।

हरि दिशा हैं, हरि आकाश हैं, हरि पृथ्वी हैं, हरि जगत हैं और अप्रमेयात्मा हरि मैं हूँ। मैं भावनावश प्रायः विष्णु हो गया हूँ॥३७-३९॥

यदि कोई कहे कि किसलिए तुम ऐसी कल्पना करते हो, तो इस पर कहते हैं।

स्वयं विष्णु हुए बिना विष्णु की पूजा करता हुआ पुरुष पूजा का फल-भागी नहीं होता है। अतः विष्णु बनकर विष्णु की पूजा करनी चाहिये, इसलिए मैं विष्णुरूप से स्थित हुआ हूँ, क्योंकि 'नाविष्णुः पूजयेद्विष्णुं' नाशिवः पूजयेच्छिवम्' ऐसी विधि है। जो हरि है वही प्रह्लादनामक है। प्रत्यगात्मा से अन्य हरि पृथक् नहीं है ऐसा मन में निश्चयवाला मैं सर्वव्यापक हूँ॥४०,४१॥ *अब श्रीहरि के वाहन, अस्त्र, आभरण, शरीर आदि की अपने रूप से कल्पना करते हैं।* इस असीम आकाश को व्याप्त करके स्थित यह सुवर्ण के समान वर्णवाला गरुड़ मेरे अंगों का आसन बन गया है। जिनके हाथों के अवयवों पर सब चक्र, गदा, खड्ग आदि अस्त्ररूपी पक्षी नित्य निवास करते हैं, नखकान्तिरूपी मंजरियों से जो व्याप्त हैं, कोमल-कोमल मन्दार के फूलों की मालाओं से जिनके मूल प्रदेश सुगन्धित हैं एवं मन्दराचल से जिनके बाजुबन्ध घिसे गये हैं, महामरकत मणि के वृक्षरूप ये मेरे चार बाहु है। चंचल चन्द्रकला की राशि के समान सुन्दर चँवर धारण करनेवाली क्षीर सागर के मध्य से उत्पन्न यह लक्ष्मी मेरी एक बगल में स्थित है। अनायास तीनों भुवनों को जिसने प्रलोभित कर दिया है, त्रैलोक्ययरूपी वृक्ष की मंजरी के

卐 प्रणवयुक्त 'नमो नारायणाय' यह मन्त्र पवित्र देश में ही जपने योग्य है, निरन्तर जपने योग्य नही है, इसलिए प्रणव रहित युक्त मन्त्र का उपादान किया। श्लोक में 'हृत्कोशात' यह कथन मानस जप की मुख्यता के द्योतन के लिए हैं।

समान विराजमान यह हरि की निर्मल निश्चल कीर्ति मेरे समीप में स्थित है ॥४१–४६॥ निरन्तर अनेक जगतों का नूतन निर्माण करनेवाली अपने इन्द्रजाल से शोभित होनेवाली यह विष्णु की माया मेरे समीप में स्थित है। जिसने अनायास त्रैलोक्य की वृक्षराशियों पर विजय प्राप्त की है, ऐसी कल्पवृक्ष की लता के तुल्य यह लक्ष्मी की सखी जया मेरी दूसरी बगल में विराजमान हो रही है। नित्य शीतल और नित्य उष्ण चन्द्रमा और भास्कर ये दो देवता मेरे मुँह में मेरे दो लोचन हैं, जिन्होंने संसार को प्रकाशित कर रक्खा है। मेरी नील कमल के समान श्यामल, मेघ के समान सुन्दर, फैल रही यह देहकान्ति है, इसने दिशाओं को श्मामल बना रक्खा है। यह पाँचजन्य शंख मेरे हाथ में है, जो मूर्तिमान आकाश के समान शब्दरूप है, क्षीरसागर के समान शुभ्र है और जिससे सदा ध्वनि निकलती है ॥४७–५१॥ यह सुन्दर कमल मेरी हथेली पर विद्यमान है, जो मेरी नाभि से उत्पन्न हुआ है और जिसकी कर्णिका के मध्य में ब्रह्मारूपी भ्रमर छिपा है ॥५२॥ यह रत्नों से चित्र–विचित्र शरीरवाली अतएव सुमेरु के शिखर के तुल्य, सोने से मढ़ी हुई मेरी भारी गदा है, जो दैत्य और दानवों का संहार करती है ॥५३॥ यह सूर्य के समान चमकीला मेरा सुदर्शन चक्र है, जिससे सदा किरणें बाहर फूट रही हैं और जो चारों ओर ज्वालारूपी जटाओं से व्याप्त है। इसने चारों ओर दिक्तटों को पटल के समान लाल कर दिया है ॥५४॥ यह धूम्रयुक्त अग्नि के समान सुन्दर काला और चमकीला मेरा अन्दकनामक खड्ग है। यह दैत्यरूपी वृक्षों के लिए कुठारभूत है और देवताओं को आनन्द देनेवाला है। यह बाणरूपी वृष्टिधाराओं को वर्षाने में पुष्करावर्त मेघ के तुल्य और शेषनाग के सदृश विशाल शारंग नामक धनुष है, जो विविध मणियों से विचित्र होने के कारण इन्द्रधनुष के समान सुन्दर है ॥५५,५६॥

मैं उत्पन्न होकर नष्ट हुए अतीत और वर्तमान इस अनेक जगतों को अपने उदर में चिरकाल तक धारण करता हूँ। पृथिवी मेरे चरण है, आकाश मेरा सिर है, तीनों जगत मेरे शरीर है, दिशाएँ मेरे उदर हैं। मैं नील मेघ के मध्य के समान श्यामल कान्तिवाला, गरुड़रूपी पर्वत पर आरूढ़ तथा शंख–चक्र–गदाधारी साक्षात् विष्णु हूँ। ये सब दुष्ट चित्तवाले जीव जैसे चंचल तृणराशियाँ वायु से उड़ती हैं वैसे ही मुझसे भाग रहे हैं। यह नील कमल के समान श्यामल कान्तिवाला, पीताम्बरधारी, हाथ में गदा लिया हुआ, गरुड़ पर आरूढ़ और लक्ष्मीयुक्त मै स्वयं ही अच्युत हो गया हूँ ॥५७–६१॥ कौन मेरा विरोधी होकर त्रैलोक्य को भस्म करने में समर्थ मेरे प्रति युद्ध के लिए आता है ? जो आता है, वह क्षुब्ध हुई कालाग्नि के प्रति शलभ (तीड़) जैसे अपने नाश के लिए आता है वैसे ही स्वविनाश के लिए आता है। ये मेरे सामने खड़े हुए सुर और असुर जैसे कमजोर नेत्रवाले लोग सूर्य की प्रभा को नहीं सह सकते वैसे ही मेरे तेज की ज्वालाओं को नहीं सह सकते। ब्रह्मा, इन्द्र, अग्नि, शिवआदि देवता बहुत से मुखों से निर्गत वेदवाणी से इस ऐश्वर्यशाली विष्णुरूप मेरी स्तुति करते हैं। विपुल ऐश्वर्यवाला मैं विष्णु की आकृतिवाला हो गया हूँ और परमार्थ स्वभाव से सब द्वन्द्वों से अतीत हो गया हूँ। जिसके उदर में त्रिभुवनरूपी भवन स्थित है ऐसी मूर्तिवाला, सब दुष्ट प्राणियों को छिन्न–भिन्न कर चुका, मेघ, पर्वत, तृण, वन आदि सब वस्तुओं के अधिष्ठानरूप से स्थित और सब भयों को दूर करनेवाला विराट्रूप परब्रह्मात्मक मैं ही हूँ। उसे मैं प्रणाम करता हूँ ॥६२–६६॥

इकतीसवाँ सर्ग समाप्त

बत्तीसवाँ सर्ग

प्रह्लाद का विष्णु की मानसपूजा और असुरों के साथ बाह्य पूजा करना और उसे सुनकर आश्चर्य में पड़े हुए देवताओं का भगवान विष्णु से पूछना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, प्रह्लाद ने यह विचार कर और भावना द्वारा अपने शरीर को नारायणरूप बनाकर भगवान विष्णु की पूजा के लिए फिर विचार किया। मुझसे कल्पित इस वैष्णव शरीर से अन्य समष्टिरूप अथवा व्यष्टि देवतारूप मूर्ति न हो, किन्तु यह मद्रूप विष्णु ही, जो गरुड़ पर बैठे हुए क्रिया, ज्ञान, इच्छा, अनुग्रहरूप चार शक्तियों से सम्पन्न, हाथ में शंख, चक्र और गदा लिये हुए, श्यामल शरीर, चतुर्बाहु, चन्द्र-सूर्य रूपी नेत्रवाले, सुन्दर नन्दननामक खड्ग से अपने भक्तों को प्रसन्न किये हुए महाकान्तिवाले और संकर्षण, प्रद्युम्न आदि व्याह और पार्षदों से युक्त हैं, हृदय से पुष्पांजलि भावना द्वारा बाहर आवाहित होकर पूजा की समाप्ति तक अन्य की तरह स्थित हों। इनकी मैं सब सामग्रियों से रमणीय मानसिक पूजा करता हूँ॥१-५॥ इन पूजनीय देवाधिदेव की बाहरी उपकरणों से विस्तृत तथा बहुत रत्नों से पूर्ण पूजा से फिर बाह्य पूजा करूँगा॥६॥ प्रह्लाद ने ऐसा विचारकर विविध पूजा-सामग्रियों से पूर्ण मन से लक्ष्मी के पति भगवान विष्णु की पूजा की। रत्नों के समूहों से जटित विविध पात्रों के प्रान्तों द्वारा किये गये अभिषेकों से, चन्दन आदि के विलेपनों से, धूप, दीप और विविध प्रकार के विभववाले आभूषणों से, मन्दार की मालाओं के वेष्टनों से, सुवर्ण-कमलों की राशियों से, कल्पवृक्ष की लताओं के गुच्छों से, रत्नों के गुच्छों से और कल्प वृक्ष आदि देव वृक्षों के पल्लवों से, विविध प्रकार के फूलों की मालाओं से, किंकिरात, अगस्ति, कुन्द, चम्पा, नीलकमल, रक्तकमल, कुईं, काश, खजूर, आम, पलाश, अशोक, मैनफल, बिल्व, कनैर, किरातक, कदम्ब, मौलसिरी, मनीम, सेन्दुआर, जूरी, बकायन, गुगुलि, बिन्दुक आदि फूलों के समूहों से, मेंहदी, पाटल, आम, अमड़ा, गव्य और हर्रे बहेड़ों के फूलों से, शाल, ताल और तमालों के लता, फूल और पल्लवों से, कोमल-कोमलकलियों से, काश्मीर केसरयुक्त आम के बौरों से, केवड़े, कमल और इलायची की मंजरियों से, इनके अतिरिक्त धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, दर्पण, छत्र चँवर, आरती, पुष्पांजलि, प्रदक्षिणा, नमस्कार आदि सौन्दर्ययुक्त सब उपचारों से स्वयं अपने अर्पण द्वारा भी जगत में जो जो विभव प्रसिद्ध हैं उपकरण बनाये गये उनसे भव्यभक्ति से प्रह्लाद ने अपने अन्तःपुर में मन से अपने स्वामी भगवान की पूजा की॥७-१६॥ तदुपरान्त दानवराज प्रह्लाद ने उस देवगृह में बाह्य समामग्री से पूर्ण पूजा से भगवान विष्णु की पूजा की। इसी मानस पूजा में कहे गये क्रम से बाह्य पदार्थों से परमेश्वर की बार-बार पूजा कर दावनराज प्रह्लाद को अत्यन्त संतोष हुआ। तदुपरान्त तभी से लेकर प्रह्लाद प्रतिदिन पूर्वोक्त पूर्ण भक्ति से भगवान की पूजा करने लगा॥१७-१९॥ तदनन्तर उस नगर में सभी दैत्य विष्णुभक्त और सदाचारी हो गये। राजा आचार का हेतु है, यदि राजा धर्मात्मा होता है, तो प्रजा भी धार्मिक होती है और राजा दुराचारी होता है तो प्रजा भी दुराचार निरत हो जाती है। हे शत्रुतापन, तदुपरान्त यह समाचार दूतों द्वारा अन्तरिक्ष और स्वर्गलोक में पहुँचा कि दैत्य भगवान विष्णु का द्वेष करना छोड़कर उनके भक्त बन गये है। हे श्रीरामचन्द्रजी, मरुतों सहित इन्द्र आदि सब देवताओं को

बड़ा आश्चर्य हुआ कि दैत्यों ने किस हेतु विष्णु भगवान की भक्ति अपनाई है ? आश्चर्य में डूबे हुए देवता अमरावती का त्यागकर क्षीर सागर में शेषशय्या पर विराजमान युद्धविजयी श्रीहरि के समीप गये। वहाँ पर देवताओं ने श्रीहरि को यह वृत्तान्त कहा और शेषशय्या पर बैठे हुए भगवान से यह अपूर्व अद्भुत आश्चर्य पूछा ॥२०–२४॥

भगवन् यह क्या बात है, जो दैत्य सदा ही आपके विरुद्ध रहनेवाले आपके भक्त हो गये हैं। मालूम होता है यह माया है। कहाँ तो अत्यन्त दुष्ट दानव, जिन्होंने आपके भक्तों, देवता और मुनियों के निवासभूत पर्वत तक तोड़–फोड़ डाले थे और कहाँ अन्तिम उत्तम जन्म में प्राप्त होने वाली भगवान जनार्दन की भक्ति। हे भगवन्, पामर पुरुष गुणवान हो गया यह कथा औत्पातिकी अकाल पुष्पमाला के समान सुख के लिए और उद्वेग के लिए भी है। जैसे काँचों के बीच में बहुमूल्यमणि शोभित नहीं होती वैसे ही जो जहाँ पर उचित न हो वह वहाँ शोभित नहीं होता ॥२५–२८॥

यदि कहिये कश्यप ऋषि के वंशधर होने के कारण वे भी तुम्हारे सदृश ही हैं, तो गुणों में वैषम्य होने के कारण ऐसी बात नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

जो–जो जैसे गुण का प्राणी होता है, वह उसी तामसी, राजसी या सात्त्विकी स्थिति को प्राप्त होता है, यही बात उचित है। यद्यपि बकरे कुत्ते के सदृश ही हैं फिर भी कुत्ता उनके बीच में शोभित नहीं होता। शरीर में चुभती हुई वज्र की सुइयाँ वैसे दुःख नहीं देती जैसे की अनौचित्य से संबद्ध ये वस्तु दृष्टियाँ दुःख देती है। जो जहाँ पर क्रम से प्राप्त हो, उचित हो और अनिन्दित हो, वही वहाँ पर सुशोभित होता है। देखिये न, कमल जल में ही शोभित होता है, स्थल में नहीं। कहाँ तो पामरोचित कार्य करनेवाला, सदा निन्दित कर्मों में निरत और तामस योनि अधम शोचनीय दानव (प्रह्लाद) और कहाँ भगवान विष्णु की भक्ति ? ॥२९–३२॥ कमलिनी सन्तप्त ऊषर भूमि में स्थित है, यह कथा जैसै श्रोताओं को सुख नहीं देती वैसे ही हे भगवन्, दिति की सन्तति भी भगवान में भक्ति करती है यह अधम पुरुष का अवलंबन करनेवाली कथा भी हमारे लिए सुखदायी नहीं है ॥३३॥

बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

तेंतीसवाँ सर्ग

हरिभक्ति से प्रह्लाद के विवेक आदि गुणों का उदय और प्रसन्न हुए हरि को अपने आगे देखकर स्तुति।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, अनुचित देखने से कुपित हुए अतएव पूर्वोक्त रीति से जोर से चिल्लाकर पूछ रहे देववृन्द से शत्रुओं का विनाश करनेवाले भगवान जैसे मयूरों के झुण्ड से बादल बोलता है वैसे ही निम्न निर्दिष्ट वाक्य बोले। श्रीभगवान ने कहा : हे देववृन्द, प्रह्लाद भक्तिमान हो गया है, यह जान कर आप लोग दुःखी न हो। यदि कहो कि पहले दैत्य स्वतः ही बलवान हैं, आपकी भक्ति से और बलवान हो जायेंगे, अतः हम विषाद क्यों न करें, तो आपका यह तर्क ठीक नहीं है, कारण कि शत्रुतापन प्रह्लाद मोक्ष योग्य है, अतएव आप लोगों के समान तुच्छ राज्य सुख को वह नहीं चाहता है। उसका यह अन्तिम जन्म है ॥१,२॥ जैसे जला हुआ बीज अंकुर पैदा नहीं कर सकता, वैसे ही इसके बाद इस दानव को मातृगर्भनिवास नहीं करना होगा ॥३॥

देवताओं ने जो उसकी भगवद्भक्ति को अनुचित दोषरूप ठहराया था, उसका परिहार करते हैं।

यदि गुणवान पुरुष गुणहीन हो जाय, तो इसे विद्वान लोग पुरुषार्थ का विघात करनेवाला क्रम कहते हैं। यदि निर्गुण गुणवान हो जाय, तो इसे सिद्धिदायक क्रम कहते हैं ॥४॥ हे देवश्रेष्ठों, आप लोग अपने-अपने अद्‌भुत लोकों को जाइये। प्रह्लाद की यह भक्ति आदि गुणवत्ता आप लोगों के अमंगल के लिए नहीं है ॥५॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, भगवान देवताओं से यह कह कर वहाँ क्षीरसागर की लहरों में तटवर्ती तापिच्छ वृक्ष के गुच्छों की तरह अन्तर्हित हो गये ॥६॥ जैसे पहले आकाश से समुद्र में गिरा हुआ जलकणसमूह मन्दराचल से कम्पित सागर से फिर आकाश में चला जाता है वैसे ही पहले आकाश से आये हुए वे देवता भी स्तुति द्वारा भगवान की पूजा कर फिर आकाश में चले गये ॥७॥ तबसे प्रह्लाद के प्रति देवताओं की मित्रता हो गई। जिस पुरुष या विषय में अपने पूजनीय पिता, आचार्य आदि उद्विग्न नहीं हुए, उसमें बालकों का भी मन विश्वासी हो जाता है, यह प्रसिद्ध है ॥८॥ इस प्रकार के भक्तिमान प्रह्लाद ने देवाधिदेव भगवान विष्णु की प्रतिदिन मन, कर्म और वचन से पूजा की। तदनन्तर भगवत्पूजा में परायण प्रह्लाद के समय पाकर विवेक, आनन्द, वैराग्य, विभव आदि गुण बढ़ गये। जैसे सूखे हुए वृक्ष की ओर किसी का आकर्षण नहीं होता है वैसे ही उसकी भोगों की ओर अभिरुचि न थी और जैसे मृग जनाकीर्ण भूमि में प्रसन्न नहीं होता वैसे ही वह कान्ताओं में नहीं रमता था। शास्त्रार्थ कथन के सिवा अशास्त्रीय लोकवृत्तों में वह नहीं रमता था ॥९-११॥ स्थल में जैसे कमलिनी का प्रेम नहीं होता वैसे ही दर्शन योग्य समाज, उत्सव आदि कौतुको में उसका प्रेम न था ॥१२॥ जैसे न गुंथा हुआ मोती निर्मल मोती पर स्थिर नहीं रह सकता वैसे ही भोगरूपी रोगों के विषयरूपी अपथ्य के सेवन द्वारा अनुकूल आचरण में उसका चित्त स्थिर नहीं होता था ॥१३॥

यदि कोई पूछे कि तब कैसा उसका चित्त था, तो इस पर कहते हैं।

उसके चित्त ने भोग आदि की कल्पना का त्याग कर दिया था, किन्तु विश्रान्ति सुख को वह प्राप्त नहीं हुआ था, अतएव वह झूले में लटकाये हुए की तरह बीच में लम्बमान स्थित रहा। भगवान् विष्णु ने प्रह्लाद की उस स्थिति को क्षीर सागर से सब में विद्यमान अपनी परम रमणीय बुद्धि से जान लिया ॥१४,१५॥ तदनन्तर भक्तों को आह्लादित करनेवाले भगवान् विष्णु पाताल मार्ग से पूजा देवगृह में प्रह्लाद के सामने आये। भगवान् पुण्डरीकाक्ष को आये हुए जानकर दैत्यराज प्रह्लाद ने दुगुनी सामग्री से दैदीप्यमान पूजा से आदरपूर्वक उनकी पूजा की ॥१६,१७॥ परम प्रसन्न हुए प्रह्लाद ने पूजागृह में आये हुए नेत्रों के सामने स्थित भगवान् श्रीहरि की मारे हर्ष के विकास को प्राप्त हुई वाणी से स्तुति की ॥१८॥

प्रह्लाद ने कहा : मैं त्रिभुवन की सुरक्षित स्थिति के अनुकूल सुन्दर कोश गृहरूप, बाह्य और आभ्यान्तर अन्धकार का विनाश करनेवाले, स्वयंज्योतिस्वरूप, अनाथों के रक्षक, शरण के योग्य, सर्वशक्तिसम्पन्न, रजोगुण से ब्रह्मा, सत्त्वगुण से अच्युत और तमोगुण से शिवरूप, सब दुःखों का हरण करनेवाले हरि के शरणागत होता हूँ ॥१९॥ नीलकमल और नीलमणि के समान कान्तिवाले, और शरत्कालीन निर्मल आकाश के मध्यभाग के तुल्य श्यामल, भ्रमर, अन्धकार, काजल और अंजन के समान कान्तिवाले, कमल, चक्र और गदा धारण करनेवाले आपकी शरण में मैं प्राप्त होता हूँ ॥२०॥

जिनका शरीर भौंरों की राशि के समान कोमल है, जिनका शुभ्र शंख सफेद कमल के कुण्डल के समान सुशोभित होता है, श्रुति ही जिनका गुंजन है ऐसे ब्रह्माजी जिनके नाभि कमल के भ्रमर हैं एवं जो अपने भक्तों के हृदयकमल में निवास करते हैं, ऐसे भगवान् की मैं शरण लेता हूँ ॥२१॥ सफेद नखरूपी तारे जिसमें बिखरे हैं, मन्द–मन्द हास से प्रकाशमान मुख ही जिसमें पूर्ण चन्द्रबिम्ब है एवं कौस्तुभ मणि की किरणराशि ही जिसमें आकाश गंगा है, इस प्रकार के विस्तृत हरिरूपी शरत्कालिन आकाश की मैं शरण लेता हूँ। रची गई घनी सृष्टि जिनमें बिना किसी संकोच के निविष्ट है, सत्त्व आदि मायागुणों से होनेवाले अनन्त कल्याण गुणगणों से जिनकी चिरन्तन मूर्ति रमणीय है, प्रलयकाल में वटपत्र पर सोनेवाले बालकरूप अविनाशी, अज, अविकारी, सर्वव्यापक, भगवान् की शरण मैं जाता हूँ ॥२२,२३॥ ताजे फूले हुए नाभिकमल के पराग से वक्षःस्थल में पीलेवर्णवाले, प्रकाशमान लक्ष्मी के शरीर से विभूषित वामांगवाले, सायंकाल के समय के समान अरुण अंगरागवाले एवं सुवर्ण के समान चमकदार पीताम्बर से सुन्दर भगवान् की शरण में मैं जाता हूँ ॥२४॥

दैत्यरूपी नलिनी के लिए हिमपातरूप, देवरूपी नलिनी केलिए सदा उदित सूर्यमण्डलरूप, ब्रह्मारूपी नलिनी के तड़ागरूप एवं हृदयकमल में निवास करनेवाले विष्णु की मैं शरण लेता हूँ ॥२५॥ त्रिभुवनरूपी कमलिनी के लिए सूर्यरूप, अन्धकार के सदृश आच्छादक अज्ञान के लिए श्रेष्ठ दीपरूप, नित्यस्वप्रकाश, अजड़, चिदात्मतत्त्वरूप, जगत् की सब पीड़ाओं को दूर करनेवाले भगवान् की मैं शरण लेता हूँ ॥२६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : इस प्रकार के विविध गुणों से युक्त स्तुतिवचनों से पूजित असुरों का विनाशकरनेवाले नीलकमल के सदृश श्यामल भगवान् श्रीहरि, जिनका कण्ठ श्रीलक्ष्मीजी से आलिंगित था, प्रसन्न होकर जैसे मेघ मयूर के प्रति बोलता है वैसे ही दैत्यराज प्रह्लाद के लिए बोले ॥२७॥

तेंतीसवाँ सर्ग समाप्त

चौतीसवाँ सर्ग

श्रीहरि के वर से सुविचार को प्राप्त कर तथा अनात्मवर्ग का त्याग कर प्रह्लाद का अपने अद्वितीय सच्चिदात्मस्वरूप का दर्शन।

श्रीभगवान ने कहा : हे दैत्यकुल के चूड़ामणिरूप, हे गुणसागर, पुनः जन्म रूपी दुःख की निवृत्ति के लिए तुम अभीष्ट वर माँगो ॥१॥

प्रह्लाद ने कहा : हे प्रभो, आप सब संकल्पों का फल देनेवाले हैं और सब प्राणियों के हृदय में स्थित हैं, अतएव जिस वस्तु को आप सर्वोत्तम समझते हों, उसीको मुझे देने की कृपा कीजिये ॥२॥

इस प्रकार प्रार्थना करने पर भगवान् विष्णु अपने विचार से उत्पन्न आत्मतत्त्व साक्षात्कार के बिना आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति नहीं हो सकती, यह समझकर वर देते हैं।

श्रीभगवान् ने कहा : हे पापरहित, सब सन्देहों की निवृत्ति के लिए और मुक्तिरूपी सर्वोत्तम फल के लिए तुम्हारा ब्रह्मसाक्षात्कार–पर्यन्त विचार हो ॥३॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, दैत्यराज प्रह्लाद से यह कहकर जैसे कलकल ध्वनि करके

समुद्र की लहर छिप जाती है वैसे ही भगवान् विष्णु अन्तर्हित हो गये ॥४॥ भगवान विष्णु के अन्तर्हित होने पर प्रह्लाद ने पूजा में मणि-रत्नों से सुशोभित अन्तिम पुष्पांजलि देकर, सुन्दर आसन पर बैठकर, पद्मासन लगाकर स्तोत्रपाठ करने के समय बड़े हर्ष से अपने अन्तःकरण में विचार किया। जन्ममरणरूपी संसार से छुटकारा देनेवाले भगवान् ने तुम विचारवान् ही होओ, ऐसा मुझे उपदेश दिया है। इसलिए मैं अपने अन्तःकरण में आत्मविचार करता हूँ ॥५-७॥

सारा दृश्य आत्मा के लिए है, इसलिए आत्मा ही प्रधान है, यह निश्चय कर वह आत्मा कौन है, ऐसा विचार करते हैं।

जो इस संसाररूपी आडम्बर में बोलता हूँ, चलता हूँ, बैठता हूँ और सब उद्योगों से विषयों का उपभोग करता हूँ वह मैं कौन हूँ, यही विचार पहले मुझे करना चाहिये ॥८॥

देह से बाह्यवस्तु तो आत्मा हो नहीं सकती, ऐसा कहते हैं।

वृक्ष, तृण, पर्वत आदि से युक्त यह सारा जगत् तो आत्मा हो नहीं सकता, क्योंकि जो बाहरी और अत्यन्त जड़ है, वह मैं कैसे हो सकता हूँ ॥९॥

देह भी मैं नहीं हूँ, ऐसा कहते हैं।

वस्तुतः असत् होता हुआ भी उदित, जड़ होने के कारण ही बोलने में असमर्थ, प्राणवायुओं द्वारा केवल अपने संचार के समय में ही संचालित, थोड़े समय में नष्ट होनेवाला यह अचेतन शरीर भी मैं नहीं हूँ ॥१०॥

इस प्रकार शब्द आदि विषय भी मैं नहीं हूँ, ऐसा कहते हैं।

जड़ (अचिद्रूप) कर्णच्छिद्र द्वारा अति दीर्घ, गम्भीर, पद वाक्य आदि भेदों से कल्पित क्षणभर में नष्ट होनेवाला, क्षयी होने के कारण ही शून्याकार, आकाश से उत्पन्न होनेवाला अचेतन शब्द भी मैं नहीं हूँ ॥११॥ क्षण में नष्ट होनेवाली त्वगिन्द्रिय से प्राप्त करनेवाला (चेतन के अधीन सिद्धिवाला) अचेतन स्वरूप स्पर्श भी मैं नहीं हूँ। अनित्य, चंचल जिह्वा से संबद्ध स्वभाववाला यानी रसनेन्द्रिय के अधीन सिद्धिवाला, द्रव्य में रहनेवाला, अचेतन तुच्छ रस, जिह्वा के अग्रभाग से लेकर कण्ठ तक जिसके आस्वाद का प्रसार है, मैं नहीं हूँ। क्षणविनाशी पदार्थ और चक्षु इन दोनों के अधीन सिद्धिवाला अतएव विनश्वर तथा केवल द्रष्टा में अविद्यमान अचेतन रूप मैं नहीं हूँ। गन्धवती, जड़, नष्ट होनेवाली नासिका (घ्राणेन्द्रिय) द्वारा कल्पित, (दूसरे क्षण में अन्य गन्ध का प्रादुभार्व होने से) अनियत आकारवाला और अचेतन तुच्छ गन्ध भी मैं नहीं हूँ ॥१२-१५॥

शब्द आदि विषयों को अनात्म कहना वचन, ग्रहण आदि में भी समान होकर सर्वत्र त्रिपुटियों के अनात्मत्व का उपलक्षक है, क्योंकि सर्वत्र न्याय समान है, इससे अहंकार, मन, बुद्धि, चित्त त्रिपुटी का भी अनात्मरूप से निरास होने पर शुद्ध चिन्मात्र ही आत्मा परिशिष्ट रहता है, इस आशय से कहते हैं।

'मम' इस प्रकार के अभिमान से रहित, मननरूप मन के व्यापार से शून्य माया के सम्बन्ध से रहित, पंचेन्द्रियों के भ्रम से शून्य (पंचेन्द्रियतादात्म्य भ्रान्तिरहित) शान्त शुद्ध चेतन ही मैं हूँ।

चेतन पद से चेतनावान जड़ांश का भी ग्रहण न हो, उसके शोधन के लिए कहते हैं।

स्वयं ज्योति, सबका प्रकाशक, बाह्य और आभ्यन्तर सर्वत्र व्यापक, अखण्ड निर्मल, सन्मय यह

मैं चेत्यरहित चिन्मात्र ही हूँ ॥१७॥

इस प्रकार परिशुद्ध त्वंपदार्थ का विचारकर उसके द्वारा ही तत्पदार्थ का भी शोधन करके उसको समझाने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

अन्य निरपेक्ष होने के कारण उत्तम तेजरूप इस चेतनरूप दीपक से ही घट–पट आदि सूर्यपर्यन्त ये सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं ॥१८॥ हाँ, इस सारे सत्य का मुझे अब स्मरण हो आया है। आकाश आदि विकल्पों से रहित चिद्रूप प्रकाश सर्वव्यापक यह आत्मा मैं हूँ ॥१९॥ भीतर प्रकाशमान तेजरूप इसी से इन विचित्र इन्द्रियवृत्तियों का स्फुरण होता है जो कि भीतर प्रकाशमान तेज से अग्निभूत अंगारकण पंक्तियों का स्फुरण होता है ॥२०॥ जैसे ग्रीष्म ऋतु से मरुमरीचिकाओं का (मृगतृष्णाओं का) स्फुरण होता है वैसे ही सर्वव्यापक इस चेतन से ये विचित्र इन्द्रिय पंक्तियाँ स्फुरित होती है ॥२१॥

सब पदार्थों की स्फूर्ति के समान सत्ता भी इसके अधीन ही है, ऐसा कहते हैं।

जैसे वस्त्रों का अपना शुक्लादिगुणत्व दीपक से प्रतिपादित होता है वैसे ही पदार्थों की यह अपनी सत्ता इसी से प्रतिपादित होती है ॥२२॥ जैसे ग्रहण सब प्रतिबिम्बों का विश्रान्ति स्थान है। उसी एक विकल्परहित चिद्रूपी दीपक के प्रसाद से सूर्य गर्म, चन्द्रमा शीतल, पर्वत ठोस और जल तरल है। भाव यह है कि विभिन्न पदार्थों के विविध विचित्र स्वभावों की सिद्धि उसीके अधीन है ॥२३,२४॥ 'आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल' इत्यादि क्रम से श्रुति और प्रत्यक्ष द्वारा अनुभूत सब पदार्थों की जगत् में उत्पत्ति आदि की व्यवस्था में सद्रूप से सब कार्यों में व्यक्त यही आदिकारण है, इसका कोई कारण नहीं है ॥२५॥

पूर्वोक्त नैरन्तर्य क्रम से अनुभूत सब पदार्थों का जैसे ग्रीष्म ऋतु के सूर्य के सन्ताप से भूमि आदि की अत्यन्त सन्तप्तता उत्पन्न होती है वैसे ही इसी से प्रसिद्ध आकाश आदि पदार्थत्व होता है। जैसे बर्फ से शीतलता उत्पन्न होती है वैसे ही वस्तुतः निराकार यानी कारणत्व आदि आकार से शून्य और विद्या से कारणभूत सब कारणों के कारण इससे यह दृश्य उत्पन्न हुआ है। जगत् में उत्पत्ति आदि की व्यवस्था में कारणभूत ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र और रुद्र का यही आदिकारण है। इसका कोई कारण नहीं है। चित्, चेत्य, द्रष्टा, दृश्य आदि नामों से वर्जित स्वरूपवाले स्वयं नित्य स्वप्रकाश इस मुझ प्रत्यक् चैतन्य को बार–बार नमस्कार है ॥२६–२९॥

कारण होने से जैसे यह हरि का हेतु है वैसे ही पालन और संहार का हेतु भी है, ऐसा कहते हैं।

निर्विकल्प चैतन्यस्वरूप सब प्राणियों के अधिष्ठाता इसमें गुणों की नाई अभिन्न सत्तावाले सब भूत स्थित रहते हैं और प्रवेश भी करते हैं। भाव यह कि 'यतो व इमानि भूतानिजायन्ते' इत्यादि श्रुति में कहे गये ब्रह्मलक्षण का इसमें समन्वय है ॥३०॥

कारण में सूक्ष्मरूप से स्थित इस समय वर्तमान भी जिसका इस चेतन अन्तरात्मा ने यह उत्तर क्षण में उत्पन्न हो, ऐसा संकल्प किया वही सर्वत्र उत्तर क्षण में उत्पन्न होता है, अन्य नहीं ॥३१॥ जिस वस्तु को चेतन ने अपनी सत्ता और स्फूर्ति के प्रदान द्वारा उज्जीवित किया, वही अपने 'घट है ' इत्यादि व्यवहारपद को प्राप्त होता है और जिसको चेतन ने अपनी सत्ता और स्फूर्ति के प्रदान द्वारा उज्जीवित नहीं किया, वह असत्त्वरूप नाश को प्राप्त हुआ है। ये घटपटाकार जगत् के सैकड़ों पदार्थ विशाल

दर्पणरूप इस चिदाकाश में प्रतिबिम्बित हैं ॥३२,३३॥

इसी प्रकार वृद्धि आदि भावविकार भी इसी में अध्यस्त हैं, ऐसा कहते हैं।

जैसे प्रतिबिम्बित सूर्य में क्षय और वृद्धि प्रतिबिम्बरूप से स्थित सूर्य में ही अध्यस्त होकर अन्य वृत्तियाँ प्रतीत होती हैं वैसे ही यह भी विशाल पदार्थ में विशाल, विनष्ट होनेवाले पदार्थ में विनाशी और सत्–असत्‌रूप से स्थित है। सब अज्ञानी प्राणियों के दर्शन के अयोग्य जिनका चित्त विलीन हो चुका, ऐसे महात्माओं को प्राप्त होने योग्य यह अति निर्मल परमाकाश सत्पुरुषों द्वारा देखा जाता है ॥३४,३५॥

जो लोग कारण के एक देश में परिणामरूप जगत् है, ऐसी कल्पना करते हैं, उनकी कल्पना भी इसी परमाकाश में है अन्य में नहीं है, इसी आशय से कहते हैं।

आचाररूपी भौंरों से वेष्टित यह विविध दृश्यरूपी सुन्दर मंजरी इसी कारणरूप वृक्ष से उत्पन्न होती है। जैसे विविध प्रकार के वृक्ष , झाड़ी और लताओं द्वारा वेष्टित वनपंक्ति पर्वत से उत्पन्न होती है वैसे ही यह चंचल विशाल संसार रचना इसी से उत्पन्न होती है ॥३६,३७॥

इसी में कल्पना है, यह कैसे जाना ? ऐसी यदि कोई शंका करे, तो जगत् की स्फूर्ति इससे भिन्न है, इससे जाना, ऐसा कहते हैं।

त्रैलोक्य मध्यवर्ती ब्रह्मा से लेकर तिनके तक सब पदार्थों का प्रकाशक यह स्वयं ज्योति चिदात्मा सबसे भिन्न है ॥३८॥ जन्म और विनाश रहित सर्वव्यापक यह एक मैं सब चराचर भूतों के अन्दर स्वानुभवरूप स्थित हूँ। इस मेरे स्थावर और जंगम बहुत शरीर है, जिनकी संख्या गणना, काल की सीमा और देश की सीमा नहीं हो सकती ॥३९,४०॥ अनुभूति स्वरूप एक यह अपना अनुभूतिवश स्वयं सर्वद्रष्टा, सर्वद्रश्य और सर्वदर्शन एवं हजारों लोचन और हाथवाला है ॥४१॥ यह प्रत्यक्ष ईश्वरभूत मैं सुन्दर सूर्यरूप होकर आकाश में विचरण करता हूँ एवं वायु रूप होकर अन्य वायु देह से भी आकाश में विचरण करता हूँ ॥४२॥ मेरा शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाला यह श्यामल शरीर, जो सब सौभाग्यों की चरम सीमा है, इस संसार में व्यवहार करता है ॥४३॥ इस जगत् में सदा पद्मासन आसीन होकर निर्विकल्प समाधि में स्थित परम सुख को प्राप्त मैं ब्रह्मारूप से उत्पन्न हुआ हूँ ॥४४॥ मैं तीन नेत्रवाली आकृति से श्रीपार्वतीजी के मुखकमल का भ्रमर बनकर जैसे कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है वैसे ही इस जगत् का प्रलयकाल में संहार करता हूँ। जैसे तपस्वी गुरुपरम्परा प्राप्त अपने मठ की रक्षा करता है वैसे ही इन्द्ररूप से मैं मन्वन्तरक्रम से प्राप्त हुए इस सारे त्रिलोक का पालन करता हूँ॥४५,४६॥

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वंचसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥

इस श्रुति का अपने अनुभव द्वारा अपने में समन्वय करते हैं।

यह मैं ही स्त्री हूँ, मैं ही पुरुष हूँ, कुमार भी मैं ही हूँ, देहधारी होने से मैं जीर्ण हो गया हूँ और मैं ही सर्वतोमुख विराट् पुरुष हूँ ॥४७॥ मैं जीवसाररूप से स्थित होकर तृण, लता, झाड़ी आदि के समूह को चिद्रूप भूमि से ऐसे उत्पन्न करता हूँ जैसे जलरूप से स्थित जीर्ण कूप अपने अन्दर लता को उत्पन्न करता है ॥४८॥ सुन्दर बालकरूप मैंने इस सुन्दर जगद्रूपी आडम्बर का मिट्टी के खिलौने के समान अपनी क्रीड़ा के लिए विस्तार किया है ॥४९॥ मुझसे कारणरूप से यह जगत् व्याप्त किया जाता है।

मुझे ही प्राप्त होकर यह सत्ता को प्राप्त होता है। अपने तत्त्वदर्शन द्वारा मुझसे परित्यक्त हुआ यह जगत् जीवन्मुक्त व्यवहार में विद्यमान होता हुआ भी कुछ नहीं है ॥५०॥ मुझ विशाल चिद्रूपी दर्पण में जो प्रतिबिम्ब प्राप्त हुआ है, वह मुझसे पृथक् नहीं है, क्योंकि इस संसार में मुझसे अतिरिक्त कोई वस्तु है ही नहीं ॥५१॥

अब ईश्वररूप अपने विभूति विस्तार का वर्णन करते हैं।

मैं फूलों में सुगन्ध हूँ, फूलों की पंखुड़ियों में मैं कान्ति हूँ। कान्तियों में रूपकला हूँ और रूपों में भी मैं अनुभव हूँ। चराचर जगद्रूप में कुछ यह दृश्य है, वह सब सर्व संकल्प रहित परम चिदात्मतत्त्व मैं ही हूँ। रसमयी आदि शक्ति यानी रस तन्मात्रा जिससे सागर, नदी, तालाब, कूप आदि जलाशय विस्तृत है, वही जलभूत शक्ति जैसे वृक्षों में शाखा, पल्लव आदि की उत्पत्ति में हेतुरूप से और दीवारों में इनके, जौ के अंकुर आदिकी उत्पत्ति में हेतुरूप से फैली है वैसे ही मैं सब वस्तुओं में तत् तत् कार्यों की उत्पत्ति में हेतुरूप से फैला हूँ। मैं अपनी इच्छा से सब पदार्थों की उस परम अन्तर्यामिता को प्राप्त करके ज्ञान वैचित्र्य का विस्तार करता हूँ। जैसे दूध के अन्दर घी रहता है और जल के अन्दर रसशक्ति रहती है वैसे ही चित्शक्तिरूप मैं सब पदार्थों में स्थित हूँ। जैसे तृण, काष्ठ, लोष्ठ आदि वस्तुएँ पृथ्वी पर स्थित हैं वैसे ही अतीत, वर्तमान और भविष्य यह जड़ जगत् चिद्रूप मुझमें व्यवस्थित है। सब दिशाओं के मध्य को जिसने पूर्ण कर रक्खा है, संकोचभ्रम का जिसने त्याग कर दिया है, सबमें स्थित सबका रचयिता और व्यष्टिभेद से शोभित होने वाला एवं समष्टि रूप से शोभित होनेवाला मैं हूँ ॥५२-५८॥

इन्द्र से बढ़कर राज्य की प्राप्ति हुए बिना आपकी सम्राटता कैसी ? ऐसी यदि कोई शंका करे, तो उस पर कहते हैं।

यह विस्तृत अपूर्व जगद्राज्य, जिसमें इन्द्र का बन्धन नहीं किया गया और अस्त्र-शस्त्रों के द्वारा देवताओं का संहार नहीं किया गया, बिना प्रार्थना के मुझे प्राप्त हुआ है। इन्द्रराज्य की प्राप्ति के लिए बड़े कष्ट उठाने पड़ते हैं शस्त्रास्त्रों द्वारा देवताओं का संहार करना पड़ता है तथा इन्द्र को बाँधना पड़ता है। वह अपूर्व भी नहीं है, अनेकों द्वारा उपभुक्त है, यह उससे विलक्षण होने से श्रेष्ठ है, यह भाव है ॥५९॥

अहो, मैं तो विस्तृत आत्मावाला हूँ, अतएव मैं अपने आप अपने आत्मा में, कोठिले में धानों की भाँति, ऐसे नहीं समा रहा हूँ जैसे प्रलयकाल की घोर आँधी से उछलता हुआ प्रलय सागर पहले के सागर के घेरे में नहीं समाता है ॥६०॥ जैसे कुण्ठित गतिवाला साँप क्षीरसागर में चलता हुआ उसका अन्त नहीं पाता वैसे ही अपने ही अन्दर निरतिशय आनन्दरूप से स्वाद में आ रहे स्वस्थ आत्मा में मैं अन्त नहीं पाता हूँ। यह जगन्नामक ब्रह्माण्ड, जिसका भीतर का भाग संकुचित है, बड़ा छोटा है, इसलिए जैसे बेल के फल के अन्दर हाथी नहीं समा सकता वैसे ही मेरा विशाल शरीर इसमें नहीं समा सकता है ॥६१,६२॥ उत्तर-उत्तर दस गुने विशाल पृथिवी, जल आदि आवरणों से आवृत ब्रह्माण्ड रूप ब्रह्मा के घर से आगे सांख्य, वैष्णव आदि के शास्त्रों में प्रसिद्ध चौबीस तत्त्वों के और शैव, पाशुपत आदि के अभिमत छत्तीस तत्त्वों के अन्त में भी घूम रहा मेरा स्वरूप आज भी घूमता ही है, वापिस नहीं होता है। यह देह आदि मैं हूँ, इस प्रकार की निराधार यह कल्पना, इतने दिनों तक मेरे हृदय में कहाँ से हुई ? जिसकी आकृति का आर-पार नहीं है, ऐसी मेरी यह स्वल्पता कैसे हुई ? ये आप हैं, यह मैं हूँ, यह

मिथ्या भ्रान्ति ही है। कौन शरीर है ? शरीर ही जब प्रसिद्ध नहीं है, तो अशरीर भी कौन है ? कारण कि वन्ध्या के पुत्र की नाईं वन्ध्यापुत्र को मारनेवाली अप्रसिद्ध ही है। इसी प्रकार कौन मरा ? प्राण ही जब प्रसिद्ध नहीं हैं, कौन उससे वियुक्त हुआ और कौन जीता है यानी प्राण धारण करता है ? ॥६३-६५॥

अब असत्य साम्राज्य में आसक्त हुए अपने पिता, पितामह आदि पूर्वजों के लिए शोक करते हैं।

मेरे पिता, पितामह आदि बेचारे मन्दमति थे, जो इस साम्राज्य का त्याग कर भवभूमि में अनुरक्त हुए। कहाँ ब्रह्मा से बढ़ी हुई पूर्ण यह महादृष्टि और कहाँ साँपों की नाईं भयंकर आशाओं से भीषण राज्य विभूतियाँ। यह शुद्ध चिन्मय दृष्टि, जिसमें अनन्त आनन्द का भोग प्राप्त होता है और जो परम शान्ति देनेवाली है, सब दृष्टियों से बढ़कर है। सब पदार्थों के अन्दर विद्यमान चेत्यरहित चिदात्मारूप प्रत्यक् चेतनस्वरूप मुझको बार-बार नमस्कार है। चूँकि चिरभुक्त अन्न के समान जिसने संसार सरणि को जीर्ण कर दिया है, ऐसा मैं आज हो गया हूँ। अतएव चारों ओर से चेत्य के जय के फलरूप सर्वअनर्थनिवृत्ति को प्राप्त हो गया हूँ और प्राप्त सब सुखों को प्राप्त हुए मेरा जीवन सफल हो गया है, अतएव मैं सर्वोत्कृष्टरूप से विराजमान हूँ। नित्यबोधरूप इस उत्तम साम्राज्य का त्यागकर अरमणीय राज्य के विविध दुःखों में मुझे आनन्द नहीं मिलता॥६६-७१॥ भूतल में, जहाँ पर वनदुर्ग में लकड़ियाँ, जलदुर्ग में जल और गिरिदुर्ग में पत्थर विपत्तियों के समय शरण होते हैं, स्वामित्व के अभिमान से जो सतृष्ण हुआ उस अज्ञानी बेचारे कुदानवरूपी कीड़े को धिक्कार है। एकमात्र अविद्यात्मक अन्न पान आदिपदार्थों से अविद्यामय गर्हित शरीर को तृप्त कर रहे अज्ञानी हमारे पिता ने क्या किया ? कुछ वर्षों तक इस जगद्रूपी सम्पत्तियुक्त छोटे से मठ को पाकर हिरण्यकशिपु ने क्या कश्यप के कुल में जन्म के अनुरूप परमपुरुषार्थ प्राप्त किया ? इस आत्मरूप आनन्द का आस्वाद न लेकर यहाँ सैकड़ों जगद्राज्यों का आस्वाद ले रहे पुरुष को कुछ भी आस्वाद नहीं मिला॥७२-७५॥

एक की प्राप्ति से ही विषय के बिना ही सब विषयसुखों की प्राप्ति होती है, ऐसा कहते हैं।

जिसे कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ, इस परम अमृत को पाकर पूर्ण अन्तःकरणवाले हुए उसको यह सब निरन्तर प्राप्त हो गया। मूर्ख इस परमपद को त्यागकर परिमित पदार्थ को प्राप्त होता है ज्ञानी नहीं। ऊँट ही सुन्दर लता का त्यागकर काँटों की ओर जाता है अन्य नहीं। इस परम दृष्टि का त्याग कर इस गर्हित राज्य में किसको प्रीति होगी ? कौन बुद्धिमान् पुरुष ईख के रस का त्याग कर नीम के पत्तों का कड़वा रस पीयेगा ? सचमुच मेरे पिता, पितामह सब मूर्ख ही रहे, जिन्होंने इस दृष्टि का त्यागकर राज्यरूपी विपत्ति में प्रीति की। कहाँ फूली हुई नन्दनवन सी स्थलियाँ, कहाँ सन्तप्त मरुभूमियाँ, कहाँ शान्त ये ज्ञानदृष्टियाँ और कहाँ भोगायतन शरीरादि में आत्मबुद्धि ? त्रैलोक्य में राज्य को प्राप्तकर कुछ भी सुख नहीं मिलता है फिर भी उसे ही पुरुष चाहता है, किन्तु चित्त तत्त्व में तो सब कुछ निहित है, उसका ज्ञान क्यों नहीं करता ? सबमें स्थित, स्वस्थ और सम, निर्विकार, सर्वरूप चित् से सदा सब जगह सुख के साधन खुशी से प्राप्त होते हैं। तेज की भासनशक्ति, चन्द्र की अमृतप्राप्ति, हिरण्यगर्भ की सर्वमान्यता, इन्द्र की सर्वोत्कृष्ट त्रैलोक्यराजता, शिवजी की निरतिशय ज्ञान, ऐश्वर्य, आनन्द शक्ति पूर्णता, विष्णु की जयलक्ष्मी, मन की शीघ्रगतिता, वायु की बलवत्ता, अग्नि की दाहकता, जलकी आप्ययकता, भृगु आदि मुनियों की महातपःसिद्धि, बृहस्पति की विद्या, विमानों की आकाशगति,

पर्वतों की स्थिरता, समुद्र की गम्भीरता, मेरु पर्वत की महोन्नतता, बौद्ध सिद्धान्त में सिद्ध शून्यतारूप सर्व उपद्रव शान्ति या ब्रह्मसाक्षात्कार सम्बन्धिनी सर्व अनर्थनिर्वाणशक्ति, मदिरा की मदचंचलता, वसन्त ऋतु की पुष्पमयता, वर्षा ऋतु की मेघशब्दता, यक्षों की मायामयता, आकाश की निर्मलता, हिम की शीतलता, ग्रीष्म ऋतु की तप्तता ये और इनसे अतिरिक्त अन्यान्य बहुत–सी देश, काल और क्रियारूप नाना आकार विकारों से उत्पन्न, भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों लोकों के अन्दर स्थित विचित्र शक्तियों का स्वस्थ, सम निर्विकार परमचैतन्य द्वारा, जो तत्–तत् शक्ति के कार्य के अनुसन्धान से युक्त है, निर्माण किया जाता है ॥७६–९०॥

विचित्र पदार्थों की विचित्र प्रभा दिखाई देती है, ऐसी अवस्था में चित् की समता कैसे ? इस पर कहते हैं।

जैसे सूर्य की प्रभा वृत्ति से किये गये स्थाणु, पुरुष इत्यादि विकल्पों से रहित हो सब पदार्थों में समान रूपसे गिरती है वैसे ही सब वृत्तियों में प्रविष्ट चित् भी चित्तवृत्ति में स्थित विकल्पों से रहित होकर सैकड़ों पदार्थो में समानरूप से गिरती है ॥९१,९२॥

दिशा और काल के भेद से उत्पन्न वैषम्य भी उसमें नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे सूर्य की प्रभा सब दिशाओं के मध्य में स्थित तीनों कालों में चेष्टा से युक्त प्रचुर पदार्थराशि को एक क्षण में प्रकाशित करती है वैसे ही यह निर्मल चिति सारे संसार की विशाल दृश्य शोभा को, जो तीनों कालों में स्थित है, एक क्षण में प्रथित कर देती है ॥९३॥

देश और काल के भेद स्वप्नदेश और स्वप्नकाल की दीर्घता के तुल्य अभिन्न कालवाले चैतन्य से ही भासित होते हैं, ऐसा कहते हैं।

अखण्ड ही शुद्ध चिति अभिन्नकाल से सम्बद्ध होती हुई ही अतीत, अनागत आदि तीनों कालों की सैकड़ों कल्पनाओं से भिन्न–सी और प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान आदि अनन्त प्रमाण, प्रमेय और पुरुषों के भेद से भिन्न कलेवरवाली–सी प्रतीत होती है ॥९३,९४॥

अतएव कालभेद और वृत्तिभेद होने पर उसके साक्षी चैतन्य का भेद नहीं है, इसलिए उसमें पूर्णता ही है, ऐसा कहते हैं।

चैतन्य की, जिसे तीनों कालों का परिज्ञान है और जिसमें अनन्त वृत्तियाँ देखी गई हैं, पूर्णता ही, जिसका दूसरा नाम समता है, अवशिष्ट रहती है ॥९५॥

अतएव दो मधुर रसों का अथवा दो तीखे रसों का एक ही समय स्वाद लेने पर विषय का भेद रहने पर भी अनुभव का भेद नहीं होता, इसलिए विषय आदि का भेद चित् के भेद का प्रयोजक नहीं है, ऐसा कहते हैं।

शहद और नींबु आदि प्रत्येक की अनुभूति के समान एक काल में अनुभूत तुल्य रसवाले दो मधुर रसों से और दो कडुवे रसों से भी चिति समता को ही प्राप्त होती है यानी उनसे चिति में भेद नहीं होता है ॥९६॥ घट, पट आदि विचित्र पदार्थ शोभा भी अन्योन्य के व्यावर्तक भेद संकल्पकला का त्याग की हुई, सूक्ष्म, सर्वगत, एकमात्र सत्ता अद्वैतरूप चिद्व्यवस्था एक ही समय में अनुभूयमान होती हुई समता से अनुभूत होती है विषमता से नहीं यानी विषयआदि का भेद चित् का भेदक नहीं

है, यह दोनों का अर्थ है ॥९७,९८॥

भेदसंकल्पकला के त्याग का उपाय कहते हैं।

चित्त से वाचारम्भण श्रुति द्वारा, 'नेति नेति' इत्यादि श्रुति द्वारा और आचार्योपदेश, स्वविचार आदि से भी सब दृश्य के अभाव का आश्रय कर वह चित्तरूप भाव शोक, मोह आदि के परिणामरूप दुःखता का तुरन्त त्याग करता है। फिर भी राग आदि के संस्कारों की दुष्टता से समयान्तर में शोक आदि की पुनः उत्पत्ति हो सकती है, अतएव सर्वदृश्यप्रतिषेधरूप अभाव से परमार्थ सद् अद्वैतानन्दस्वभाव आत्मा का दर्शन कर वह चित्तरूप भाव राग आदि दुष्टता का भी त्याग कर देता है, क्योंकि 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' ऐसा भगवान् का वचन है, इसलिए बीज (राज आदि) के अभाव से भेद-संकल्पकला का त्याग सिद्ध हो जाता है, यह अर्थ है ॥९९॥

उक्त अर्थ का प्रकारान्तर से उपपादन करते हैं।

वर्तमान चेत्य की (दृश्य की) उपेक्षा करनेवाले, अतीत चेत्य के वासनारूपी बन्धनों से शून्य और चेत्य के आधारभूत तीनों कालों का दर्शन न कर रहे चैतन्य के भावी चेत्ययोग की भी भावना नहीं की जा सकती, अतएव समता ही अवशिष्ट रहती है ॥१००॥ उक्त चिति वाणी व्यवहार के अगोचर होने से शाश्वत असत्ता को प्राप्त-सी होती है। नैरात्म्यसिद्धान्तदशा को (शून्यवादी की सिद्धान्तावस्था को यानी शून्यरूपता को) प्राप्त हुई सी स्थित होती है, चूँकि स्थित है, इसलिए वस्तुतः नैरात्म्यसिद्धान्तदशा को प्राप्त नहीं हुई है कारण कि सत् असत् नहीं हो सकता ॥१०१॥ जो (चित्) स्थित है वह शास्त्रीय व्यवहार में प्रत्यक् होने के कारण आत्मा है तथा बृहत् होने से ब्रह्म है, परमार्थ दृष्टि से तो उसमें वाणियों की प्रवृत्ति का अभाव होने से कुछ भी नहीं है। यदि प्रवृत्ति निमित्त की कल्पना से शब्द प्रवृत्ति कही जाय, तो संकोच हेतु का अभाव होने से सब प्रवृत्ति निमित्तों की कल्पना होने से वह सब है, क्योंकि 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' और 'स्मात् तत्सर्वम भवत्' इस श्रुति में दोनों प्रकारों का निरूपण है। सब दृश्यों का परम उपशम होने पर उनकी अवधि होने से लय को प्राप्त न हुई वह चिति परम समता 'मोक्ष' नाम से कही जाती है ॥१०२॥

इस प्रकार भेदसंकल्प की कल्पना का त्याग उपायपूर्वक कहा। एवं कल्प की कल्पना में चिति की मन्दता के प्रसार के क्रम को कहते हैं।

संकल्प से कल्पित तो यह चिति पटलरूप आवरण से युक्त दृष्टि के समान मन्दाभास (मन्दप्रकाश) होने के कारण इस जगत् को परमार्थरूप से नहीं देखती है। जो चिति इष्ट-अनिष्ट संकल्परूप मलों से भीतर ओतप्रोत है वह जैसे जाल में बँधी हुई चिड़िया आकाशमार्ग से उड़ने में समर्थ नहीं होती वैसे ही सारे आकाश को व्याप्त करने में समर्थ नहीं होती है ॥१०३,१०४॥ जो कोई भी ये नेत्रविहीन पक्षियों की तरह मोहरूपी जाल में पड़े हैं, वे सब संकल्प कल्पना से ही पड़े हैं। विविध संकल्पों से परिवेष्टित अतएव विषयरूपी गड्ढों में गिरनेवाले मेरे पिता, पितामह आदि पूर्वजों ने यह दुःख शून्य अपरिच्छिन्न आत्मपदवी नहीं देखी। अपरिच्छिन्न आत्मपदवी के अदर्शन से गड्ढों में मच्छरों के तुल्य पृथिवी पर सुशोभित हुए वे बेचारे मेरे पिता, पितामह आदि कुछ ही दिनों में नष्ट हो गये। दुर्बुद्धि अतएव भोगरूपी दुःख की चाह वाले वे लोग यदि आत्मतत्त्व को जान गये होते, तो भाव और अभावरूपी अन्धे कुएँ में न

गिरते। सब जीव इच्छा–द्वेष से उत्पन्न द्वन्द्व मोह से यानी सुख–दुःख, शीत–उष्ण आदि के उपार्जन और प्रतीकार के अभिनिवेश से छिद्र में छिपे हुए कीड़ों के तुल्य हो गये हैं। जिसकी इष्ट और अनिष्टकल्पनारूपी मृगतृष्णा सत्यज्ञानरूपी मेघ से (द्वन्द्वताप की शान्ति द्वारा) शान्त हो चुकी है, उसका जीवन सार्थक है ॥१०५–११०॥

केवल सत्यज्ञान से इष्टानिष्ट कल्पनारूप मृगतृष्णा का कैसे नाश हो सकता है ? ऐसा यदि कोई कहे, तो उस पर उसके असत् होने से ही उसकी शान्ति होती है, ऐसा कहते हैं।

चाँदनी की मन्दोष्ण एवं कलंकयुक्त (काली) छबि की तरह निरन्तर निर्मल आकारवाली इस शुद्धचित् की कल्पनाएँ कहाँ से हो सकती है ? अब अखण्डवाक्यार्थ का साक्षात्कार कर अखण्ड वाक्यार्थरूप से स्थिति प्राप्त हुए अत्यन्त दुर्लभ आत्मा को प्रेम से नमस्कार करते हैं। हे लोगों के ज्ञानप्रकाश में हेतुभूत मणिरूप, हे देव, आप चिरकाल में प्राप्त हुए हो। अविच्छिन्न चिदात्मरूप मुझ आत्मा को नमस्कार है ॥१११,११२॥ हे भगवन्, चिरकाल तक मैंने आपका विचार किया है, आपको प्राप्त किया है, अपने पारमार्थिकरूप से अभिव्यक्त किया है और विकल्पों से आपका उद्धार किया है, आप जो है वह है आपको नमस्कार है। मुझ रूप आप अनन्त को, मुझरूप आप शिवदेवाधिदेवपरम परमात्मा को नमस्कार है। मेघरूपी आवरण से शून्य परिपूर्ण चन्द्रबिम्ब के तुल्य कलनारूपी आवरण से रहित अपने ही रूप को, जो आनन्दैकरस स्वात्मा में स्वयं (अन्य किसी आधार के बिना) अपने पारमार्थिकरूप से स्थित, स्व–प्रकाश स्वाधीन आनन्दवाला है, अभिन्नरूप मैं प्रणाम करता हूँ ॥११३–११५॥

चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त

पैंतीसवाँ सर्ग

साक्षात्कृत आत्मा का मन में विचारकर और प्रणाम कर उसके बल से जीते गये बन्धनों का अनुसन्धान कर प्रह्लाद का प्रसन्न होना।

प्रह्लाद ने कहा : 'ओमिति ब्रह्म (ॐ ब्रह्म है), ओमितीदं सर्वम् (ॐ यह सब है)।

एतद्वै सत्यकाम परमचापरं च ब्रह्म यदोंकारः' (हे सत्यकाम, यह पर और अपर ब्रह्म है, जो यह ओंकार है।) इत्यादि श्रुतियों से सबके अध्यारोपवाले ब्रह्म का बोधक और सबके अपवाद से परिशिष्ट ब्रह्म का बोधक 'ॐ' ही जिसका स्वानुरूप अभिधान है और विकारों से रहित यह आत्मा ही जो कुछ इस जगतीतल में स्थित है वह सब कुछ है ॥१॥

यह आत्मा एकमात्र देह के अन्तर्गत है, यह बाह्य सूर्य आदि सब कुछ कैसे हो सकता है ? ऐसी यदि कोई शंका करे, तो सूर्य आदि बाह्यपदार्थों का प्रकाशक होने से, ऐसा कहते हैं।

यह चेतन मेदा, अस्थि, मांस, मज्जा और रक्त आदि रूप देहपरिमित नहीं है, किन्तु उससे अतीत है। सूर्य आदि के अन्दर स्थित दीपकरूप यह सूर्य आदि को प्रकाशित करता है ॥२॥

केवल उससे प्रकाश्य होने के कारण सब कुछ तदात्म कैसे है ? ऐसी यदि किसी को शंका हो, तो उस पर कहते हैं।

चूँकि अग्नि आदि की उष्णस्वभावता चित् के अधीन उष्णता के भान के अधीन है, इसलिए चिदात्मा ही स्वसत्ता से अग्नि को उष्ण करता है एवं जल को, जो अपनी सत्ता से ही सत्तावाला है, रसरूप से प्रगट करता है। इसी प्रकार जैसे राजा भोगों को भोगते हैं वैसे ही वह अन्यान्य इन्द्रियानुभावों का भोग करता है ॥३॥ सदा निष्क्रिय रहता भी वह बैठे हुए की तरह गति आदि व्यापार से विरत नहीं है, क्योंकि वायु और सूर्य रूप से सदा गतियुक्त है। कालरूप से सदा चलता हुआ भी कुलाल के चक्र के समान एक तिल भर भी इधर-उधर नहीं जाता, व्यवहार रहित होने पर भी सब व्यवहार में स्थित है, कर्म करता हुआ भी उनके फल से लिप्त नहीं होता।

(यदि कोई शंका करे कि पूर्वजन्म के कर्मों से इस समय सुख-दुःख से लिप्त होता है और इस समय यहाँ पर किये गये कर्म से परलोक में सुख-दुःख से लिप्त होगा) ॥४॥

ऐसी परिस्थिति में 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' ऐसा कैसे कहते हैं ? तो इस पर कहते हैं।

पूर्वजन्म में, आज और इस समय इस लोक में, पर लोक में तथा इसलोक की सन्धिरूप स्वप्न में शास्त्र से अनिषिद्ध (विहित) शुभ कर्म के फलों का भोग करता हुआ और शास्त्रनिषिद्ध अशुभ कर्मों के फलों का भोग करता हुआ भी यह सब भोगवृत्तियों में सम ही रहता है। भाव यह कि दृश्य भोगों से द्रष्टा में विकार का संभव नहीं है ॥५॥

यदि कोई कहे कि भोग यदि भोक्ता का स्पर्श नहीं करते हैं, तो भोगों से कर्मों की सफलता कैसे होगी ? तो इस पर कहते हैं।

वस्तुतः भयरहित यह आत्मा ही तत् तत् कर्मों के अनुरूप स्वयं होता है और उत्पन्न हुआ ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त भोक्ता और भोगों तथा उनके आधार चौदह भुवनों को केवल अपनी सन्निधि से घुमाता रहता है। वही इसका कर्मफल है ॥६॥

यदि कोई शंका करे कि आत्मा में यदि स्पन्दन ही नहीं है, तो वह जगत् को कैसा घुमायेगा, तो इस पर कहते हैं।

नित्य आत्मसत्ता ही स्पन्दसत्ता है, इसलिए वह सदा चलनेवाले देवरूपवायु से भी नित्यस्पन्दमय है। नित्यस्थाणु से भी बढ़कर निष्क्रिय है और नित्य आकाश से भी बढ़कर लेपरहित है ॥७॥

यदि कोई कहे कि मन अथवा इन्द्रियाँ ही देहादि को कर्म में प्रवृत्त करती हैं, आत्मा नहीं करता, तो इस पर कहते हैं।

जैसे वायु पल्लवों में हलचल पैदा करता है वैसे ही यह आत्मा मन में क्षोभ पैदा करता है। जैसे सारथि घोड़ों को हाँकता है वैसे ही यह अपनी इन्द्रियों को तत्-तत् कार्यों में प्रवृत्त करता है ॥८॥ भोगों का भोग करनेवाले विभु आत्मा सम्राट् के समान अपना आत्मा में स्वस्थ होकर स्थित होता हुआ भी अतिदुर्दशाग्रस्त पुरुष के समान देहरूपी घर में सदा कर्मनिरत रहता है। इसीका सदा अन्वेषण करना चाहिये, इसीकी स्तुति करना चाहिये और इसीका ध्यान करना चाहिये। खोजे गये इसीसे पुरुष जरामरणरूपी संसार से पार होकर परमपद को प्राप्त होता है। सभीके शरीररूपी पद्मगर्भ में भ्रमररूप यह केवल ज्ञान से प्राप्त होने के कारण अत्यन्त सुलभ है। अत्यन्त आप्त बन्धु के समान केवल स्मरणमात्र से ही वश में हो जाता है ॥९-११॥ दूरदेशवर्ती मित्र आदि का जोर से चिल्लाकर पुकारने से और

नजदीक में स्थित मित्र का केवल पुकारनेमात्र से लाभ हो जाता है। किन्तु यह तो बिना जोर से पुकारे अपने शरीर से ही प्राप्त हो जाता है तथा केवल प्रणव के उच्चारण से थोड़ा स्मरण करने पर क्षणभर में सन्मुख हो जाता है ॥१२॥ जैसे सेवित होने पर सर्वसम्पत्तिशाली धनी को अभिमान या गर्व हो सकता है वैसे सेवन किये जा रहे सर्वसम्पत्तिशाली इसको तनिक भी मान या गर्व नहीं होता ॥१३॥

कैसे यह देह में विद्यमान रहता है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं।

फूलों में सुगन्ध की तरह, तिलों में तेल की तरह और रसों में माधुर्य की तरह वह सब शरीरों में स्थित है ॥१४॥ जैसे चिरकाल से पहले न देखा गया और तत्काल आगे देखा गया पिता आदि बन्धु परिज्ञान में नहीं आता है वैसे ही सदा हृदय में विद्यमान भी यह चेतन अविचारवश ज्ञात नहीं होता ॥१५॥ जैसे प्रिय बन्धुजन के प्राप्त होने पर परम आनन्द होता है वैसे ही विचार के द्वारा इस परमेश्वर के ज्ञात होने पर परमानन्द होता है ॥१६॥ अतिशय आनन्द देनेवाले इस परमात्मरूप परम बन्धु के दर्शन होने पर वे दृष्टियाँ प्राप्त होती हैं, जिनसे मरणादि विच्छेद नहीं होता। सब ओर से स्नेह आदि पाश टूट जाता हैं, काम आदि सब शत्रु नष्ट हो जाते हैं और तृष्णाएँ जैसे दुष्ट चूहे घरों को छिन्न–भिन्न करते हैं वैसे मन को छिन्न–भिन्न नहीं करती ॥१७,१८॥

एकमात्र उसके विज्ञान से सर्वविज्ञान होता है, ऐसा कहते हैं।

इस परमात्मा का दर्शन होने पर सारा जगत् दृष्ट होता है, इसके सुनने पर सब सुना जाता है, इसका स्पर्श होने पर सारे जगत् का स्पर्श हो जाता है तथा इसके रहने पर जगत् स्थित होता है यानी जगत् उसकी सत्ता के अधीन सत्तावाला है ॥१९॥

'एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।' इस श्रुति का अवलम्बन करके कहते हैं।

सोये हुए लोगों के बीच में यह जाग्रत् रहता है, अविवेकियों के ऊपर प्रहार करता है, दुःखियों की आपत्ति दूर करता है और जो महात्मा नहीं हैं, उनको मनोवांछित देता है। जगत् स्थिति में यह आत्मा ही जीव होकर लोकों में विचरण करता है, भोगों में विलास करता है और वस्त्र, आभूषण, समान, उत्सव आदि वस्तुओं में शोभित होता है ॥२०,२१॥

असाधारण जीवभेदभ्रमदशा में भी इसकी साधारण एकात्म्यस्फूर्ति की क्षति नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

अतः जैसे मिरचों में तीक्ष्णता रहती है वैसे ही शान्तात्मा से आत्मा का ही अनुभव करता हुआ यह सब देहों में स्थित है ॥२२॥ चेतना (पूर्वकाल और उत्तरकाल का अनुसन्धान) और कलना (वर्तमान दर्शन) रूपी, बाह्य और आभ्यन्तर चेतनोपाधियों में स्थित यह जगत् पदार्थों के संभार में तो अधिष्ठान सत्ता सामान्य स्वभाव को प्राप्त हुआ है ॥२३॥ आकाश में यह शून्यता है, वायु में यह स्पन्दन है, तेज में यह प्रकाश है, जल में यह मधुर रस है, पृथिवी में काठिन्य है, अग्नि में यह उष्णता है, चन्द्रमा में यह शीतलता है और सब जगतों में यह सत्ता है ॥२४,२५॥ काजल में जैसे कालिमा है, हिमकण में जैसे शीतलता है, पुष्पों में जैसे सुगन्ध है वैसे ही देह में देहपति (आत्मा) प्रकाशित होता है ॥२६॥

इसकी मन, इन्द्रिय आदि से व्यावृत्त सर्वक्षेत्र साधारण प्रकाशता को ही दिखलाते हैं।

जैसे सत्ता सर्वगत है, जैसे काल सर्वगत है और जैसे राजा की प्रभुशक्ति सर्वदेश में व्याप्त होती है

वैसे ही नेत्र आदि के व्यापारों और मानसिक व्यापारों से युक्त जो बाहरी और भीतरी प्रकाश है, वह आत्मा का ही कार्य है यानी वह प्रकाशैकस्वभाव है। इसी प्रकार सूर्य-चन्द्रादि सब देवताओं का भी बोधक यह प्रसिद्ध महादेव मैं ही हूँ। मेरी दूसरी कल्पना ही नहीं है ॥२७,२८॥ जैसे अत्यन्त सूक्ष्म रेणु से आकाश का सम्बन्ध नहीं होता, जैसे जल से कमल दल का सम्बन्ध नहीं होता और जैसे पाषाण का भय, कम्प आदि से सम्बन्ध नहीं होता वैसे ही मेरा अन्यों से सम्बन्ध नहीं है ॥२९॥ तुम्बी के ऊपर जलधाराओं के तुल्य देह में सुख-दुःख गिरें अथवा न गिरें उससे तुम्बी के आकाश के तुल्य हम लोगों की कौन क्षति है ? ॥३०॥ दीपक के अंगभूत तेल, बत्ती, बर्तन आदि का अतिक्रमण करके निकला हुआ दीप प्रकाश जैसे रस्सी से नहीं बाँधा जाता वैसे ही सब पदार्थों से अतीत मैं बद्ध नहीं होता हूँ। काम, भाव, अभाव और इन्द्रियों से हमारा क्या सम्बन्ध है ?। भला बतलाइये तो सही आकाश किससे बाँधा जाता है और मन किससे विनष्ट किया जाता है। भाव यह कि अमूर्त होने से जैसे आकाश का बाँधना सम्भव नहीं है, मन का ताड़न सम्भव नहीं है वैसे ही काम, भाव, अभाव और इन्द्रियों से हमारा कोई सम्बंध नहीं है ॥३१,३२॥ शरीर के सैकड़ों टुकड़े होने पर शरीरी के (आत्मा के) कौन खण्ड खण्ड होते हैं, घड़ा चाहे टुटे, फूटे या ध्वस्त हो जाय, पर घटाकाश की क्या क्षति हुई ? ॥३३॥ अदृश्य पिशाच के समान यह मिथ्या मन उदित हुआ है, ज्ञान से (मन से अतिरिक्त आत्मा के ज्ञान से) जड़ मन का विनाश होने पर हमारी क्या क्षति हुई ? पहले (अज्ञानावस्था में) जिसकी सुख-दुःखमयीवासना है, इस प्रकार का मेरा मन हुआ था, अब तो मेरी एकमात्र अपरिच्छिन्न सुख विश्रान्ति हो गई है ॥३४,३५॥ अन्य भोग करता है, अन्य ग्रहण करता है, अन्य की अनर्थगति होती है, यह देखता है इस भोक्ता आदि की एकता के कारण अध्यासरूप मूर्खता किस जादूगर की चक्की के समान घुमाने की चातुरी है ॥३६॥ प्रकृति भोग करती है, मन ग्रहण करता है, देह को क्लेश प्राप्त होता है, आत्मा प्रवृत्ति आदि से दुष्ट (दोषारोपित) होता है। विचार करने पर केवल आत्मा में कुछ भी मूर्खता नहीं है, इसलिए कोई क्षति नहीं है ॥३७॥ न मेरी भोग भोगने की अकांक्षा है और न भोगों के त्याग में मेरी वांछा है जो आता है वह आये और जो जाता है वो जाये ॥३८॥ सुखों की मुझे अपेक्षा नहीं है और दुःखों में मेरी उपेक्षा नहीं है। सुख-दुःख चाहे आये अथवा जाये मैं इनमें मौन हूँ ॥३९॥ विविध वासनाएँ मेरे शरीर में चाहे अस्त को प्राप्त हों चाहे उदित हों, न इस वासनाओं में मैं हूँ और न ये मेरी कोई है ॥४०॥ अत्यन्त विनष्ट हुए विवेकरूप सर्वस्व को दूरकर इतने समय तक अज्ञानरूपी शत्रु ने मुझे क्लेश पहुँचाया, किन्तु इस समय उत्पन्न हुए सर्वांग सुन्दर श्रीविष्णुप्रसाद से परम तत्त्व का ज्ञान पाकर मैंने इसका त्याग कर दिया है ॥४१,४२॥ इस समय परम ज्ञानरूपी मन्त्र से इस अहंकाररूपी पिशाच को शरीररूपी वृक्ष के खोखले से मैंने निकाल दिया है ॥४३॥ अहंकाररूपी यक्ष से विहीन यह मेरा शरीररूपी महान वृक्ष अत्यन्त पवित्रता को प्राप्त होकर प्रफुल्लित वृक्ष के समान सुशोभित हो रहा है ॥४४॥ दुराशारूपी दोष का नाश होने पर विवेकरूपी धन समृद्धि को प्राप्त कर मेरी मोहरूपी दरिद्रता नष्ट हो चुकी है, अतएव मैं परमेश्वररूप से स्थित हूँ ॥४५॥ मैंने ज्ञातव्य सब कुछ जान लिया है तथा द्रष्टव्य सब कुछ देख लिया है। इस समय मुझे वह वस्तु प्राप्त हो चुकी है, जिससे कुछ भी अप्राप्त नहीं रहता है। मैं ऊँची और विस्तृत पारमार्थिक भूमिका को प्राप्त हो चुका हूँ, जिसमें अनर्थों का नाम-निशान नहीं है, विषरूपी

साँप नहीं रह गये हैं, आशारूपी मृगतृष्णा शान्त हो चुकी है, मोहरूप कुहरा नष्ट हो गया है, जिसकी चारों दिशाएँ रजो गुण (धूलि) से रहित है और जिसमें शीतल शान्तिरूपी वृक्ष है। विष्णु भगवान् की स्तुति से, प्रणाम से, प्रार्थना से, शम और नियम से मैं भगवान् आत्मा को पा चुका हूँ और मैंने इसे भलीभाँति जान लिया है। भगवान् विष्णु के अनुग्रह से विनाशी ब्रह्मरूप भगवान् आत्मा, जो अहंकार से शून्य है, चिरकाल से मेरे स्मृति पटल पर आरूढ़ हो गये हैं। वासनारूपी घोर वनों में, जहाँ पर इन्द्रियरूपी साँपों के अनेक बिल हैं, मरणरूपी बड़े-बड़े गड्ढे हैं, तृष्णारूपी करंजकुंज (करंजों की झाड़ियाँ) हैं, जो काम कोलाहल से पूर्ण हैं, जिनमें दुःखरूपी वनाग्नियाँ धधकती हैं तथा दुःखदायी वनाग्नि के सदृश क्रूर पर धन-प्राण हरनेवाले (चोर) हैं, अहंकार रूपी शत्रु ने नीचे गिरने और ऊपर चढ़ने के तुल्य लोकों की विपत्ति और सम्पत्तियों से, अधोगति और उत्तमगतियों से, आविर्भाव और तिरोभावोंसे एवं आशा-पाशों की विविध चेष्टाओं द्वारा मुझे ऐसे ही सर्वस्व हरण द्वारा पीड़ित किया, जैसे कि रात्रि के समय अल्प बलवाले पुरुष, को जंगल में पिशाच पीड़ित करता है। किन्तु इस समय मैंने प्रसन्न हुए विष्णु भगवान के बहाने अपनी ही क्रिया-शक्ति से स्वयं विवेक को उद्दीप्त कर लिया है। उक्त विवेक से परमेश्वर आत्मा के प्रबुद्ध होने पर मैं उस अहंकाररूपी पिशाच को ऐसे ही नहीं देख रहा हूँ जैसे कि सूर्य के उदित होने पर अन्धकार नहीं दिखाई देता है। जैसे बुझे हुए दीपक की गति ज्ञात नहीं होती यानी वह कहाँ चला जाता है यह मालूम नहीं होता वैसे ही मनरूपी बिल में निवास करनेवाले उस अहंकररूपी पिशाच की गति को परमेश्वररूप मैं नहीं जानता हूँ। जैसे सूर्योदय होने पर चोर भागने की तैयारी करता है वैसे ही ईश्वररूपी आपका साक्षात्कार होते ही मेरा अहंकार भागने के लिए तत्पर हो गया। पिशाच की नाईं भ्रान्तिवश मिथ्या उदित हुए अहंकार के चले जाने पर मैं जिससे अजगर भाग गया हो उस बगीचे के तुल्य स्वस्थ होकर बैठा हूँ। इस जगत् में ज्ञानवान् मैं अहंकाररूपी चोर से छुटकारा पा चुका हूँ और चिरकाल से निवृत्त हुआ हूँ यों सोचकर मैं विश्रान्ति को प्राप्त हो रहा हूँ और निर्वाण को प्राप्त हो रहा हूँ। वर्षा ऋतु की जलराशि से सींचे गये अतएव वनाग्नि की लपटों से रहित पवन के समान मैं हृदय में शीतलता को प्राप्त हो गया हूँ। मेरी आशारूपी मृगतृष्णा शान्त हो चुकी है। आत्मतत्त्व के विचार से अहंकार के परिमार्जित होने पर क्या मोह है, क्या दुःख है, क्या तुच्छ आशाएँ हैं और क्या मानसिक चिन्ताएँ हैं यानी ये कुछ भी नहीं रहते हैं। जैसे चित्रनिर्माण की चेष्टा दीवार में ही होती है आकाश में नहीं होती वैसे ही अहंकार के रहते ही नरक, स्वर्ग, मोक्ष आदि भ्रम होते हैं। जैसे वस्त्र के मलिन होने पर उसमें कुंकुम का रंग शोभित नहीं होता है वैसे ही चित्त में अहंकारावेशरूप पित्तज उन्माद के रहने पर ज्ञान चमत्कार शोभित नहीं होता है। अहंकारूपी मेघ से शून्य, तृष्णारूपी मूसलाधारवृष्टि से रहित चित्तरूपी शरत्कालीन आकाश में आत्मरूपी चन्द्रमा के प्रकाश से शोभित होनेवाली निर्मलता शोभित होती है। हे आत्मन्, अहंकाररूपी कीचड़ से हीन, अत्यन्त प्रसन्न आनन्द के सरोवर प्रत्यगात्मरूप तुमको (ब्रह्म) बार बार नमस्कार है ॥४६-६६॥ हे आत्मन्, जिसके इन्द्रियरूपी भयंकर मगर शान्त हो गये हैं, जिसका चित्तरूपी बड़वानल नष्ट हो गया ऐसे आनन्द के सागर प्रत्यगात्मरूप तुमको (ब्रह्म) बारबार नमस्कार है। जिससे अहंकाररूप मेघ चला गया है और आशारूपी वनाग्नि जिसमें शान्त हो चुकी ऐसे निश्चल आनन्द पर्वतरूप प्रत्यगात्म ब्रह्म को पुनः पुनः नमस्कार है ॥६७,६८॥ हे आत्मन्,

जिसमें आनन्दरूपी कमल खिले हैं और चिन्तारूपी लहरें शान्त हो चुकी हैं ऐसे सुन्दर मानसरोवररूप प्रत्यगात्मभूत तुमको पुनः पुनः नमस्कार है। बुद्धि और उसकी वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही जिसके पंख है, जो हृदयरूपी कमल के मध्य में निवास करता है और जो मानसरोवर में हंस के समान सबके मन का हंसरूप है ऐसे आत्मा को बारबार नमस्कार है ॥६९,७०॥

हे पूर्णात्मन्– 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इत्यादि श्रुति में कही गई सत्रह कलाओं से अथवा 'षोडशकलः सोम्यपुरुषः' इस श्रुति में दिखलाई गई सोहल कलाओं से जिसने अपने रूप की कल्पना है, वस्तुतः जो निरवयव है, सदा उदित अमृतरूपी चन्द्ररूप (✎) आपको नमस्कार है। सदा उदित, सन्ताप न पहुँचानेवाले, हृदय के अन्धकार (अज्ञान) का नाश करनेवाले, सर्वव्यापी होने पर भी अदृश्य, चैतन्यरूपी सूर्य को पुनः पुनः नमस्कार है ॥७१,७२॥ तेलरहित, परम प्रेम को उद्दीप्त करनेवाले, वृत्ति द्वारा निष्क्रमणरूप बत्ती से युक्त सब वस्तुओं के स्वभाव के आधाररूप बुद्धिप्रकाशक चैतन्यरूप दीपक को बार-बार नमस्कार है ॥७३॥

अब मेरा पौरुष सफल है, यों उसका अभिनन्दन करते हैं।

जैसे लोहे के घन से तपा हुआ लोहा टूट जाता है वैसे ही शम, दम आदि से युक्त मन से कामाग्नि से सन्तप्त मन को मैंने जबरदस्ती नष्ट कर दिया है। प्रत्यगात्मोन्मुख चक्षु आदि इन्द्रियों से बाह्य पदार्थोन्मुख इन्द्रियों को नष्ट कर, प्रत्यगात्मोन्मुख मन से बाह्य पदार्थोन्मुख मन का उच्छेद कर और प्रत्यगात्मोन्मुख अहंकार से बाह्यपदार्थोन्मुख अहंकार उच्छेदकर अवशिष्ट चिन्मात्र मैं सर्वोत्कृष्ट रूप से स्थित हूँ। श्रद्धा से अश्रद्धा का उच्छेद कर, अतृष्णा से तृष्णा का त्याग कर, विचारवती बुद्धि से अविचार, सन्देहादि रूप अप्रज्ञा का विनाशकर ज्ञातृत्वाभिमानशून्य ज्ञानमात्रस्वभाव ही तुम हो, ऐसे प्रत्यक्चैतन्यरूप तुमको नमस्कार है। मन से उच्छिन्न मन के निरहंकार होने पर तथा ब्रह्महंभाव से देहादि में अहंभाव के विनष्ट होने पर केवल स्वच्छ चिन्मात्रस्वभाव मैं रहता हूँ। भावना में हेतुभूत बुद्धि से रहित, अहंकाररहित, मनरहित, इच्छा हेतुभूत चित्त से शून्य मेरा शरीर एकमात्र प्राणनक्रिया से शुद्धस्वरूपवाले जीवन्मुक्त आत्मा में ही स्थित है। लीला से ही भोग-ऐश्वर्यदान द्वारा अपने अनन्त भक्तों पर अनुग्रह करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु आदि से भी उत्कृष्ट निरतिशयानन्द विश्रान्ति, जो परम शान्ति से युक्त है, मुझे प्राप्त हो गई। मेरा मोहरूपी वेताल शान्त हो चुका है, अहंकाररूपी राक्षस मुझको छोड़कर चला गया है और कुत्सित आशारूपी पिशाचिनी से मैं छुटकारा पा चुका हूँ, अतएव मैं सन्तापरहित हो गया हूँ। तृष्णारूपी रस्सी को तोड़कर दुरहंकाररूपी चिड़िया मेरे शरीररूपी पिंजर से उड़कर न जाने कहाँ चली गई है। निबिड़ अज्ञानरूपी घोंसले को ज्ञानाभ्यासवश चूर-चूर करके उठा देने पर अहंभावरूपी पक्षी मेरे शरीररूपी वृक्ष से उड़कर न मालूम कहाँ चला गया है। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि दुराशाओं से और लम्बे अरसे से दुष्ट देह आदि में आत्मतत्त्व के अभिमान से मलिन और भयरूपीसर्पों के लिए हितैषी बहुत-सी मेरी दुर्वासानाएँ समाधि से उच्छिन्न हो गई हैं ॥७४-८३॥

अब नींद टूटने पर स्वप्न की दुर्दशा की तरह अपना पहले की अहंकार दशा का स्मरणकर

✎ चंद्रमा के पक्ष में प्रसिद्ध सोलह कलाओं से जिसका रूप बना हुआ है, कला से अतिरिक्त देवतारूप और अमृतस्वरूप, ऐसा अर्थ करना चाहिये।

आश्चर्य करते हैं।

इतने समय तक मैं कौन हुआ ? इससे यह मैं मिथ्या ही दृढ़ अहंकार को प्राप्त हुआ, ऐसा आश्चर्य है। आज मैं अनुभव में आ रहे निरतिशयानन्द स्वभाववाला हो गया हूँ। मेरी साक्षात्कारवृत्ति अपरिच्छिन्न ब्रह्माकार हो गई है, क्योंकि अहंकाररूपी काले बादल ने मेरा सर्वथा त्याग कर दिया है। मैंने भगवान् आत्मा का वाक्य प्रमाण से दर्शन कर लिया है और उनका मनन से ज्ञान भी कर लिया है। समाधि में मन से श्लेषपूर्वक उन्हें पा लिया है और समाधि में उनका अनुभव कर लिया है। अपने शरीर के समान सदा अनुभूति में उनका नियोग भी कर लिया है। कहा भी है : देहात्मज्ञानवज्जानं देहात्मज्ञानबाधकम्। आत्मन्येव भवेद् यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते॥ (देहात्मज्ञान के समान जिसे देहात्मज्ञान का बाधक ज्ञान हो जाता है, वह मुक्ति न चाहता हुआ भी मुक्त हो जाता है) ॥८४-८६॥

अब दोष और विक्षेपरहित मेरा मन शान्त हो गया है, ऐसा कहते हैं।

विषयरहित, अतएव मनन और एषणारहित, अहंकारभ्रमों से सर्वथा मुक्त अतएव निश्चेष्ट, रागों के सम्पर्क से रहित और भोगोत्कण्ठा से शून्य मेरा मन ईंधनरहित अग्नि के समान शान्ति को प्राप्त हो गया है ॥८७॥

मन की शान्ति से ही सब आपत्तियों की निवृत्ति और निरतिशय आनन्दरूप आत्मा की प्राप्ति का निर्देश करते हुए उपसंहार करते हैं।

विविध योनियों में जन्मपरम्पराओं और काम, लोभ, मोहादि दोषों को देनेवाली, चिरकाल तक एकमात्र दुःखरूप, क्षण-प्रतिक्षण में विचित्र दुःखरूप, असह्य, दुस्तर बड़ी-बड़ी आपत्तियाँ नष्ट हो गई है और चैतन्यघन अद्वितीय पूर्णानन्द आत्मा प्राप्त हो गया है, कारण कि प्रत्यगात्मा में अज्ञानजाड्य ज्ञान से बाधित हो चुका है ॥८८॥

पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

छत्तीसवाँ सर्ग

दुर्लभ आत्मा को प्राप्तकर बारबार प्रणाम कर रहे प्रह्लाद का आत्मा की स्तुति, अभिनन्दन और जैसे प्रिया प्रिय के साथ एकान्त में रमण करती है वैसे ही आत्मा के साथ एकान्त में रमण करना।

प्रह्लाद ने कहा : मानुष आनन्द से लेकर हिरण्यगर्भ के आनन्दपर्यन्त सब सुखोत्कर्ष के स्थानों से भी बढ़कर आनन्दरूप प्रत्यगात्मा चिरकाल से मेरे स्मृतिपट पर आरूढ़ हुआ है। हे भगवान्, तुम भाग्य से मुझे प्राप्त हुए हो। अपरिच्छिन्न स्वभाववाले तुमको नमस्कार है। दर्शन कर प्रणाम करके चिरकाल तक समाधि में क्षीर-नीर की तरह सम्मिलित रूप से मेरे द्वारा आपका आलिंगन किया जाता है। हे भगवान्, तीनों भुवनों में तुम्हारे सिवा मेरा कौन परम प्रिय होगा ? जब तक तुम मिलते नहीं, तुम्हारे दर्शन नहीं होते तब तक मृत्यु होकर तुम अभक्तों का नाश करते हो और भक्तों की रक्षा करते हो, उपासना आदिकर्मों से आराधित होकर वरदान देते हो, स्तुतिकर्ता आदि के रूप से स्तुति करते हो, गमनकर्ता के रूप से चलते हो और सर्वरूप से व्यवहार करते हो। मैंने तो यह नित्य अपरोक्ष स्वभाव आत्मा को पा लिया है और देख लिया है। अब मेरे प्रति क्या करते हो अथवा कहाँ जाते हो ? *भाव यह*

कि तुम इस समय पहले की नाईं अन्यत्र नहीं जा सकते और कुछ कर नहीं सकते ॥१-३॥

हे विश्वजनीन, आपने अपनी सत्ता से सकल विश्व को भर रक्खा है, अतः नित्य सब जगह आप दिखाई देते हैं। अब इस समय आप कहाँ भागते हो ? हम दोनों का बहुत से जन्मों से व्यवहित अज्ञान व्यवधायक था। आज उसका नाश होने से अत्यन्त अभेदरूप समीपता पैदा हो गई है। हे बान्धव, बड़े भाग्य से मैं आपको देख पाया हूँ। आप कृतकत्य हैं, कर्ता हैं, सबका भरणपोषण करनेवाले हैं, आपको बारंबार नमस्कार है। आप संसाररूपी पत्ते के वृन्तरूप, नित्य और निर्मल हैं, आपको नमस्कार है। हाथ में चक्र और कमल धारण करनेवाले (विष्णुरूप) आपको नमस्कार है। अर्धचन्द्र धारण करनेवाले शिवरूप आपको नमस्कार है। देवताओं के अधिपति (इन्द्ररूप) आपको नमस्कार है। कमलयोनि (ब्रह्मारूप) आपको नमस्कार है ॥४-७॥ व्यवहार दृष्टि से हम दोनों का लहर और लहर के जल के समान जो यह भेद है, वह व्यवहारदृष्टि या भेद असत्य कल्पना ही है। प्रवाह से अनादि, भाव और अभावों से विकसित होनेवाली, अनन्त वस्तुओं की विचित्रता से पूर्ण स्वरूपवाली अनन्त कल्पना से आप ही विस्तार को प्राप्त हुए हैं। पहले स्रष्टव्य (सृष्टि करने योग्य) पदार्थों का दर्शन करनेवाले आपको नमस्कार है तदनन्तर स्रष्टव्य पदार्थों की सृष्टि करनेवाले आपको नमस्कार है और सृष्टि करके अनन्तरूपों से विकास को प्राप्त होनेवाले आपको नमस्कार है अतएव सर्वस्वभाव और अधिष्ठानरूप से सर्वव्यापी आपको नमस्कार है ॥८-१०॥

इतने समय तक मेरे स्वरूप से आप ही मेरे अभिप्रायानुकूल चलने से श्रान्त हो गये हैं, इस समय आपने ही अपने को विश्राम के लिए प्राप्त कर लिया है, ऐसा कहते हैं।

मद्भाव को (जीवभाव को) प्राप्त हुए त्वत्स्वरूप मैंने, जो अपने कामादिदोषों, के अनुसार उपदिष्ट असन्मार्ग में प्रवृत्त होने के कारण नष्ट हुआ अतएव तिरोहित आत्मभाववाला तथा दीर्घ दुःख का भाजन हुआ, प्रत्येक जन्म में चिरकाल तक ऊपर, नीचे और मध्य लोको में बहुत से संसारभ्रम देखे तथा उनमें विवेक के अनुकूल दृष्टान्त दृष्टियाँ देखी। उस बहिर्लोक के दर्शन से आपने अपने को प्राप्त नहीं किया। तीनों लोको के दर्शन से तनिक भी पुरुषार्थरूप प्राप्त नहीं हुआ। यह सारा जगत् मिट्टी, काष्ठ, पत्थर और जलमात्र है। हे देव, जिसकी प्राप्ति होने पर पुरुषार्थेच्छा पूर्ण होती है, ऐसी वस्तु आपके सिवा इस जगत् में दूसरी नहीं है ॥११-१३॥

हे देव, आज यह तुम मुझे मिल गये हो, मैंने तुम्हें देख लिया है और मुझे तुम्हारा स्वरूप परिज्ञात हो गया है। मुझे तुम्हारी प्राप्ति हो गई है, तुमको मैंने ग्रहण कर लिया है, तुम मोहशून्य हो गये हो, तुमको नमस्कार है ॥१४॥

कैसे मैं देखा गया, ऐसा यदि कहो, तो चाक्षुष आदि सब वृत्तियों के प्रकाशन रूप से 'प्रतिबोधविदित् मतम्' (ब्रह्म प्रत्येक बोध में ज्ञात होता है) इस श्रुति में प्रदर्शित उपाय से मैंने तुम्हें देखा, ऐसा कहते हैं।

हे देव, अन्तःकरण के चक्षु द्वारा घटादिदेश निर्गमन में घटावच्छिन्न चैतन्यरूप जो नेत्र की पुतली कि किरणों से ओतप्रोत शरीर होकर स्थित है, वह यहाँ पर दर्शन रूप से कैसे नहीं दिखाई देता है ? जो त्वचा और उष्णत्व आदि स्पर्श को स्पर्शवृत्ति से व्याप्त करता हुआ जैसे तिल के अन्तर्गत तेल तिल से मिले हुए पुष्पों की सुगन्ध ग्रहण करता है वैसे ही शीत आदि स्पर्श को व्याप्त करके प्रकाशित करता है,

वह कैसे अनुभूत नहीं होता ? जो शब्द सुनने से शब्दशक्ति को (गायन, काव्य आदि के गुण चमत्कार को) प्रकाशित करता हुआ शरीर में रोमांच पैदा करता है, वह दूरवर्ती कैसे हो सकता है ? जिह्वारूपी पल्लव में लगी हुई मीठी, खट्टी आदि वस्तुएँ स्वादरसिक प्रेम के विषयभूत जिसे पहले ही स्वादित हो जाती है, वह किसको सुखरूप से स्फुरित नहीं होता है ? हाथ के समान वस्तु के ग्रहण में कारणभूत घ्राणेन्द्रिय से गले में डाली हुई माला के फूलों की सुगन्ध ग्रहण कर जो माला से अलंकृत अपने शरीर को प्रसन्नता से देखता है, वह किसको हाथ में स्थित की तरह स्पष्ट प्रत्यक्ष नहीं है ? ॥१५–१९॥ वेद–वेदांत के सिद्धान्त, तर्क, पुराण के गीत आदि से जिनका वर्णन हुआ वह विज्ञात आत्मा कैसे विस्मृति को प्राप्त होता है ? स्वच्छ परब्रह्म परमात्मरूप आपका साक्षात्कार होने पर वे ही सुन्दर देह के भोग आज मुझे यह पहले के समान अच्छे नहीं लगते ॥२०,२१॥

'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' इस श्रुति के अनुसार भी कहते हैं।

निर्मल दीपरूप तुमसे सूर्य प्रकाशता को प्राप्त हुआ है, शीतल हिमरूप तुमसे चन्द्रमा शीतलता को प्राप्त हुआ है, ये पर्वत तुम्हारे द्वारा ही गुरु (भारयुक्त) किये गये हैं, ये वायु आदि आकाशचारी तुमसे धारण किया गया है, यह पृथिवी तुम्हारे द्वारा ही अचल है और यह आकाश तुम्हारे द्वारा ही अवकाश देनेवाला है। बड़े भाग्य की बात है तुम मत्स्वरूपता को प्राप्त हो गये हो और भाग्य से मैं त्वत्स्वरूपता को प्राप्त हो गया हूँ। हे देव, मैं तुम हूँ और तुम मैं हो। बड़े भाग्य की बात है हम लोगों का भेद नहीं रहा ॥२२–२४॥

अब अखण्डार्थ में प्रमाणरूप से सम्पन्न अहं और त्वं शब्दों को नमस्कार करते हैं।

लक्ष्य महात्मा के बाधन में पर्यायरूप, कारणोपाधि विशिष्ट वाच्यार्थ तुम्हारे अथवा कार्योपाधिविशिष्टवाच्यार्थ मेरे शाखा के समान एकदेश भूतउपाधि द्वारा भेदकल्पना से संयुक्त त्वम और अहं शब्दों को पुनः पुनः नमस्कार है। अनन्त मुझ प्रत्यगात्मरूप को नमस्कार है, अत्यन्त सम स्वरूप को नमस्कार है, अहंकार रहित तथा रूपरहित मुझ प्रत्यगात्मा को नमस्कार है ॥२५,२६॥ सम, निर्मल निराकार साक्षिभूत, दिशा काल आदि से अनवच्छिन्न स्वात्मरूप मुझ प्रत्यक्स्वभाव में ही आप रहते हैं कभी भी पराक्स्वभाव में नहीं रहते ॥२७॥

यदि कोई प्रश्न करे कि प्रत्यक् स्वभाव में ही रहते हैं, यह कैसे जाना ? तो इस पर कहते हैं।

आपसे प्रेरित मन क्षोभ को प्राप्त होता है, आपकी प्रेरणा से चक्षु आदि इन्द्रियों की वृत्तियाँ स्फुरित होती है, प्राण और अपान में प्रवाहित होनेवाली प्रचुर शक्ति उल्लास को प्राप्त होती है। 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः।' इत्यादि श्रुति में प्रदर्शित मन आदि की चुम्बक के समान प्रेरणा से हमें यह ज्ञात हुआ, यह अर्थ है ॥२८॥

आशारूपी रस्सी से खींचे गये, चर्म, मांस और हड्डियों से व्याप्त मनरूपी सारथि से युक्त शरीररूपी यन्त्र आपसे प्रेरित होकर चलते हैं ॥२९॥

तो क्या आप प्राण आदिशक्ति हैं अथवा देह में स्थित अहंकार आदि हैं, ऐसी आशंका होने पर नहीं, ऐसा कहते हैं।

यह न मैं चित् देह ही हूँ, न तो मैं कोई प्राण आदि शक्ति हूँ और न देह में स्थित अहंकार आदि ही हूँ।

प्रश्न : तब आपको देह से क्या मतलब है ?

उत्तर : कुछ भी नहीं। देह अपनी इच्छानुसार चाहे गिरे चाहे उदित हो, उससे मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है ॥३०॥ मैं चिरकाल से 'मैं' हुआ हूँ, चिरकाल से मुझे मेरा स्वरूप लाभ हुआ है। जैसे प्रलय के अन्त में प्रलयाग्नि में शान्ति होती है वैसे ही चिरकाल से भ्रम शान्ति को प्राप्त होता है। चिरकाल से संसार में भ्रमणशील होने के कारण इतने काल तक दीर्घ संसार मार्ग में थका हुआ मैं इस समय जैसे प्रलय के अन्त में प्रलयाग्नि श्रान्त होकर विश्राम को प्राप्त होती है वैसे ही विश्राम को प्राप्त हुआ हूँ। सबसे परे सर्वरूप त्वत्स्वरूप मुझको नमस्कार है। जो गुरु अथवा वेदान्त तुमको मद्रूप कहते हैं, उनको भी नमस्कार है। जिससे अनन्त भोग प्रकाश्य हैं, फिर भी जो प्रकाश्यों की दोष वृत्तियों से स्पृष्ट नहीं है और जिसमें अभिनिवेश नहीं है (जो उदासीन है) ऐसी परमात्मा की साक्षिता सर्वोत्कृष्टरूप से विद्यमान है ॥३१-३४॥ हे आत्मन्, फूलों में सुगन्ध की तरह, धौंकनी में वायु की तरह तथा तिलों में तेल की तरह इस शरीर में सब जगह आप ही सार रूप हैं ॥३५॥

सर्वकर्ता भी तुम्हीं हो, ऐसा कहते हैं।

निरहंकाररूप होते हुए आप दुष्टों का नाश करते हैं, सज्जनों की रक्षा करते हैं, भक्तों को वरदान देते हैं, गर्जते हैं और व्यवहार करते हैं, यह आपकी मायावत्ता बड़ी विचित्र है। सृष्टि के समय में चिदात्मरूप आपसे बाहर-भीतर पदार्थों के प्रकाश द्वारा प्रदीप्त हुआ मैं जीवरूप से प्रवेश कर नाम-रूपात्मक सम्पूर्ण जगत् को रचता हुआ तुम्हारे ही स्वरूप से वशीभूत वस्तुतः रच करके पालता हूँ। प्रलयकाल में उपरत-व्यापार होकर मैं फिर जगत् का उपसंहार करता हुआ तुम्हारे स्वरूप से ही उसका विनाश करता हूँ। जैसे वट के बीज के अन्दर वटता पहले थी, है और होगी वैसे ही परमाणुरूप के अन्दर यह संसार मण्डल था, है और होगा जैसे आकाश में बादल घोड़े, हाथी और रथों के आकार में दिखाई देता है वैसे ही हे देव, आप भी सैकड़ों पदार्थों के रूप से दिखाई देते हैं ॥३६-३९॥

अब स्वयं मुक्त होकर अपने से अभिन्न बद्धात्मा के मोक्षोपाय का उपदेश देते हैं।

बहुत प्रकार के विकारपूर्ण स्वभाववाले पदार्थों के बाध के लिए और निरतिशयानन्दस्वरूप के आविर्भाव के लिए असंगात्मदर्शन द्वारा भाव और अभावों से रहित होकर असंगतात्मभाव से ही सदा विमुक्त होओ, फिर बन्ध को प्राप्त मत होओ ॥४०॥

उसके उपाय भूत पूर्व पीठिका का उपदेश देते हैं।

मान, महाकोप, कलुषता और कुटिलता का त्याग कीजिये। महापुरुष प्राकृतिक गुण संकट में नहीं गिरते। मैं कौन हूँ, क्या हो गया, ऐसा विचार कर मोतियों के कणों के समान सफेद हँसी हँसते हुए अपनी पूर्वजन्मों की दीर्घ दुरात्मा दशा का बार-बार स्मरण करके उसका त्याग कर दीजिये। वे कार्य बीत चुके, वे बुरे दिन चले गये, जिनमें आप चिंतारूप अग्नि की अनेक ज्वाला से आक्रान्त हुए थे ॥४१-४३॥ आप देहरूपी नगर में विफल मनोरथवाले राजा के समान स्थित हैं। जैसे आकाश मुष्टियों से नहीं पकड़ा जाता वैसे ही आप दुःखों से गृहीत नहीं होते ॥४४॥ आप जिन्होंने मनरूपी हाथी पर विजय प्राप्त कर ली हैं, आज इन्द्रियरूपी दुष्ट घोड़ों को जीतकर भोगरूपी शत्रु को चारों ओर से चूर्ण-विचूर्ण कर साम्राज्य सिंहासन पर स्थित है। अपार आकाश के पथिक आप जिनसे निरन्तर जगत् का उदय और अस्त होता

है, नित्य बाहर और भीतर प्रकाश करनेवाले सूर्य हैं। सूर्य भी अपार आकाश के पथिक हैं और नित्य उनका उदय और अस्त होता है तथा वह प्रकाशक भी हैं ॥४५,४६॥

यदि ऐसा है, तो सर्वत्र मैं आपको क्यों नहीं देखता हूँ, ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

हे विभो, आप सर्वदा, सुप्त हो, जैसे कामिनी द्वारा भोगालोकन लीला के लिए कामुक प्रबोधित होता है वैसे ही भोक्ता का अदृष्ट शक्ति से भोगालोकन क्रीड़ा के लिए केवल उतने प्रबोध को आप प्राप्त होते ही पूर्णात्मरूप से प्रबोध को प्राप्त नहीं होते। इन्द्रियवृत्तिरूपी मधुमक्खियों द्वारा दूर से अतीत तथा नेत्ररूपी झरोखे पर बैठी हुई चित्-शक्ति से स्वीकृत उपाधिरूप शहद आपके द्वारा पिया जाता है ॥४७,४८॥

योगियों के उत्क्रमण के समय सुषुम्नादि मार्ग का प्रकाश भी तुम्हारे आधीन ही है, ऐसा कहते हैं।

प्राण और अपान के निरोध में तत्पर योगियों द्वारा ब्रह्म-प्राप्ति का स्थान होने के कारण ब्रह्मपुररूप देह में प्रतिक्षण अभ्यस्त हृदय में एकत्र प्राणों को निकालकर परकायप्रवेश, अन्य स्थान में संचार आदि के अनुकूल विविध नाड़ी मार्गों में गमनागमन द्वारा (संचार द्वारा) अन्य ब्रह्माण्ड में जाने के लिए अथवा अर्चिरादि मार्गों से सूर्यमण्डल में जाने के लिए ब्रह्मरन्ध्र के सम्बन्धी सुषुम्ना आदि मार्ग के पूर्व स्वयं ज्योति आपके द्वारा देखे जाते हैं।

हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतनेनैष आत्मा निष्क्रामति।

इस श्रुति के अनुसार यद्यपि सब लोगों के मरण में नाड़ी के द्वार का प्रकार आत्मज्योति के अधीन ही है तथापि अयोगियों में पीड़ा परवशता आदि द्वारा उसकी अवधानशक्ति न रहने के कारण और योगियों के मरण समय में या अभ्यासकाल में सावधान रहने के कारण वे ही कहे गये हैं ॥४९॥

आप देहरूपी फूलमें सुगन्ध हैं, देहरूपी चन्द्र में परमार्थ सत्यभूत अमृत हैं, देहरूपी शाखा में रागादिरूपी पल्लवों की उत्पत्ति में निमित्तभूत रस हैं और देहरूपी हिम में शीतलता हैं। सब प्राणियों के शरीर में गर्व का निमित्तभूत जो स्नेह है, वह शरीररूप दूध के घी के सदृश सारभूत आप ही है। जैसे काष्ठ में अग्नि स्थित रहती है वैसे ही देह के अन्दर आप स्थित है। आप ही सर्वोत्तम स्वाद (अति मधु अमृतस्वरूप) हैं। सूर्यादि ज्योतियों के भी प्रकाश निमित्त आप ही हैं। पदार्थों के ज्ञाता तथा चक्षु आदि इन्द्रियों के अवभासक आप ही हैं ॥५०-५२॥

आप सब वायुओं के स्पन्दरूप हैं, मन रूपी हाथी के मद के तुल्य भ्रान्ति के निमित्त हैं, ज्ञानरूपी अग्निशिखा के प्रकाश निमित्त और उष्णता निमित्त हैं। यह आत्मीय वाणी भी आपके उपसंहार से ही मरण, मूर्च्छा और स्वप्न में दीपक के समान लीन हो जाती है फिर देहान्तर में कहीं से उदित हो जाती हैं। जैसे सुवर्ण में कड़ा, बाजूबन्द आदि आभूषण आविर्भूत होते हैं वैसे ही संसार में स्थित पदार्थ राशियाँ आप में ही उदित होती हैं। आप ही क्रीड़ा के लिए स्वयं अपने से अपनी आप, यह, तुम, मैं आदि शब्दों से स्तुति करते हैं और कहते हैं यानी आप ही अपने में त्वम्, अहं आदि शब्दों से व्यवहार करते हैं आपसे अन्य कोई नहीं है। जैसे मन्द वायु से हिलाया जा रहा मेघ हाथी, घोड़े, मनुष्य आदि आकारों से दिखाई देता है वैसे ही आप विविध जीवों के आकारों से दिखाई देते हैं। जैसे अग्नियों में ज्वाला हाथी और घोड़े के आकार से शोभित होती है वैसे ही पृथिवी में विविध सृष्टियों में आप अपने

से अभिन्न जीवों के आकार में दिखाई देते हैं। आप ब्रह्माण्डरूपी मोतियों के अविच्छिन्न दीर्घ तन्तु और भूतरूप धान्यों के चैतन्यरूपी रसायन से सींचे हुए क्षेत्र हैं। अनभिव्यक्त अतएव असत्यप्राय विद्यारूप बीज के अन्दर स्थित स्रष्टव्य पदार्थों का वह प्रसिद्धस्वरूप आप से सृष्टि द्वारा ऐसे प्रकाशित किया जाता है जैसे कि पकने से मांसों की आस्वादन के योग्य स्वादुता प्राप्त होती है। जैसे कि अन्धे के लिए वनिता की विद्यमान रूपलावण्य सत्ता भी विद्यमान नहीं रहती वैसे ही आपके स्थित न होने पर विद्यमान भी वस्तु शोभा स्थित नहीं रहती ॥५३-६१॥ जैसे दर्पण आदि में प्रतिबिम्बित अपने मुख का सौन्दर्य कान्ताओं के चुम्बन आदि अर्थक्रिया प्रयुक्त तृप्ति के लिए पर्याप्त नहीं होता, वैसे ही वस्तुभूत आपसे रहित विद्यमान भी पदार्थ अर्थ क्रिया के लिए समर्थ नहीं होता। जैसे अन्धेरी रात में सूर्य के बिना वृक्ष, पर्वत आदि की ऊँचाई विद्यमान होती हुई भी भान न होने के कारण असत्प्राय रहती है वैसे ही आपके बिना काष्ठ लोष्ठ के तुल्य यह शरीर पृथिवी पर पड़ा रहता है। जैसे सूर्य के प्रकाश को पाकर अन्धकार नष्ट हो जाता है अथवा जैसे सूर्य के तेज को पाकर हिम नष्ट हो जाता है वैसे ही आपको प्राप्त कर यह सुख-दुःख क्रम नष्ट हो जाता है। जैसे प्रातःकाल में सूर्य के आलोकन से शुक्ल आदि वर्ण स्थिति को प्राप्त होते हैं वैसे ही आपके आलोकन से ही ये सुख आदि स्थिति को प्राप्त होते हैं। चूँकि आपके आलोकन से ही उत्पन्न हुए वे सुख आदि चरमसाक्षात्कार से दीप्त हुए आपके सम्बन्ध समय में ही नष्ट हो जाते हैं, परन्तु आपके द्वारा देखे गये ही वे दूर होते हैं अन्य उपाय से नहीं। दीपक के अभाव में स्फुटता को प्राप्त हुई अन्धकार की अन्धकारता दीपक के प्रकाश के सम्बन्ध के समय अपने धर्मी से वियुक्त होकर नष्ट हो जाती है। उसका धर्म तो सन्मात्रस्वभाव है, जो नष्ट नहीं होता ॥६२-६७॥

दृष्टान्त में कथित की दार्ष्टान्तिक में योजना करते हैं।

हे देव, इस प्रकार सुख-दुःख निर्दोष आपको देखकर ही उत्पन्न होते हैं। पूर्वोक्त रीति से उत्पन्न होते ही बीजभाव के साथ नष्ट हो जाते हैं। जैसे निमेष के लाखवें हिस्से के रूप से प्रसिद्ध अतिसूक्ष्म काल-कला स्वतः ही नष्ट हो जाती है वैसे ही सुख-दुःख भी विषयों के हटने के कारण स्वतः भंगुर होने से इस नित्य निरतिशय आनन्द प्रकाशरूप आत्मा में क्षणभर भी रह नहीं सकते। इसी प्रकार अतिसूक्ष्म काल होने के कारण न दिखाई देनेवाली और गन्धर्वनगरी के समान मिथ्याभूत भी सुख-दुःखादि की भावना अज्ञात आपके प्रसाद से सत्य-सी प्रतीत होती है, किन्तु आपका साक्षात्कार होने पर विलीन हो जाती है। अज्ञात आपके प्रकाशरूप दुष्ट चक्षु से उत्पन्न हुई और सुज्ञात आपके प्रकाशरूप चक्षु से क्षीण हुई यह सुख-दुःखादि की भावना मर कर स्वप्न में फिर उत्पन्न हुई-सी स्वप्न में उत्पन्न होकर जाग्रत में फिर मरी हुई-सी किसके द्वारा देखी जा सकती है ? ॥६८-७१॥

मिथ्याभूत वस्तुओं की क्षणस्थायिता भी नहीं घट सकती, ऐसी अवस्था में उन्हें अर्थक्रियाकारी कहना महाआश्चर्य हैं, ऐसा कहते हैं।

क्षणभर भी स्थिर न रहनेवाली वस्तु कैसे अर्थक्रियाकारी हो सकती है ? कमलबुद्धि से कल्पित आकारवाले तरंगों से माला कैसे देखी जाती है ? ॥७२॥

यदि कोई शंका करे, बौद्धदर्शन के समान यहाँ पर भी क्षणिक पदार्थों से अर्थ क्रिया क्यों न होगी,

तो इस पर कहते हैं।

जब उत्पन्न होते ही नष्ट हुई वस्तु अर्थक्रिया करेगी, तो यह लोक बिजलियों से माला बनाकर आनन्द करेगा। भाव यह है कि बौद्धलोग भी क्षणिक पदार्थों से प्रामाणिक अर्थक्रिया सिद्ध नहीं कर सकते ॥७३॥ उक्त रीति से अत्यन्त दुर्घट भी सुख–दुःखादि संपत्ति को सुख–दुःख आदि की दुर्घटता जाननेवाले विवेकी जनों के हृदय में स्थित हुए आप ग्रहण करते हैं, किन्तु सम स्थिति का त्याग नहीं करते, यही अविवेकियों से विवेकियों में अन्तर है ॥७४॥

तब अविवेकियों में मैं कैसा हूँ, ऐसा प्रश्न होने पर तो कोई उत्तर नहीं है, क्योंकि अविवेकियों की कल्पनाएँ अनन्त और अनियत हैं, ऐसा कहते हैं।

हे सहजात्मन्, अविवेकियों में आकस्मिक विविध वासनाओं के उदय से आप जो हो, हे अनन्तरूपों और नामों के आस्पद, उनके स्वरूपकथन में मेरी वाणी समर्थ नहीं हैं ॥७५॥

आपकी अनन्तरूप और नामों की आस्पदता में कर्तृत्वाध्यास ही मूल है, ऐसा कहते हैं।

चेष्टारहित, निरवयव, निरहंकार, मूर्त स्थूल देहोपाधिवाले अथवा अमूर्त सूक्ष्म देहोपाधिवाले आपने कर्तृता का स्वीकार किया है ॥७६॥

अब विवेकी और विवेकियों में प्रसिद्ध दो रूपों से परमात्मा की स्तुति करते हैं।

हे ब्रह्माण्ड आदि अतिविस्तृत आकारवाले, आपकी जय हो, हे शान्तिपरायण, आपकी जय हो, हे भगवान्, आप सब प्रमाणों से परे हैं आपकी जय हो; हे भगवान, आप सब प्रमाणों से वेद्य है आपकी जय हो, हे जात (उत्पन्न हुए), आपकी जय हो; अजात (अजन्मा), आपकी जय हो, हे क्षत, हे अक्षत, आपकी जय हो। हे भाव, आपकी जय हो, हे अभाव, आपकी जय हो, हे जय, आपकी जय हो, हे अजेय, आपकी जय हो। मैं उल्लास को प्राप्त हो रहा हूँ, निर्वाण को प्राप्त हो रहा हूँ, स्थित हूँ, ज्ञाततत्त्व हूँ, आविद्यकरूप पर जय पाने के कारण मैं जयी हूँ। प्रारब्ध शेष के भी जय के लिए जी रहा हूँ। प्रत्यगात्मरूप मुझको नमस्कार है, ब्रह्मरूप तुम्हें नमस्कार है ॥७७–७९॥

त्वत्स्वरूप से स्थित होने पर मेरी सर्व अनर्थनिवृत्ति सिद्ध हो गई है, यों उपसंहार करते हैं।

मेरे दोषरहित आत्माराम रागरंजना से शून्यत्वत्स्वभाव होने पर मेरा बन्धन कहाँ, विपत्तियाँ कहाँ, सम्पत्तियाँ कहाँ और जन्म–मरण कहाँ ? अतः मैं शाश्वत सुख विश्रान्ति को प्राप्त होता हूँ ॥८०॥

छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

सैंतीसवाँ सर्ग

प्रह्लाद के पुनः समाधिस्थ होने पर नायकरहित,
अतएव दस्युओं द्वारा क्षत-विक्षत दानवनगर की दुर्दशा का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी, शत्रुनाशक प्रह्लाद पूर्वोक्त आत्मा का चिन्तन करते–करते निर्विकल्प परमानन्दपूर्ण समाधि को प्राप्त हो गया ॥१॥ निर्विकल्प समाधि में स्थित स्वरूपसाम्राज्य को प्राप्त प्रह्लाद चित्रलिखित की तरह निश्चल अतएव पर्वत से गढ़कर बनाया हुआ–सा शोभित हुआ ॥२॥ अपने घर में समाधि में स्थित हो रहे प्रह्लाद का भुवन के बीच में स्थित मेरु की

तरह बहुत समय बीत गया। असुरश्रेष्ठों द्वारा जगाने पर भी वह महामति जैसे बहुत सेक करने पर भी अकाल में बीज से अंकुर नहीं निकलता वैसे ही समाधि से विचलित नहीं हुआ॥३,४॥ इस प्रकार पत्थर पर गढ़े हुए सूर्य के समान निश्चल ब्रह्मस्वरूप वह शान्त असुरपुर में हजार वर्ष तक बाह्य दृष्टि शून्य होकर स्थित रहा॥५॥ उस भूमा की दशा में अत्यन्त परिणति से प्रह्लाद जिसमें आनन्द का लेश नहीं और परमात्मा का आभास नहीं ऐसी मरणावस्था को प्राप्त हुआ-सा लोगों को प्रतीत हुआ॥६॥ तदनन्तर इस बीच में वह पातालमण्डल अराजक और प्रबल मात्स्यन्याय से (बलवान् सजातीयों और विजातीयों द्वारा दुर्बलों के तिरस्कार, वध आदि से) पीड़ित हुआ॥७॥ हिरण्यकशिपु के मर जाने और उसके पुत्र प्रह्लाद के समाधिस्थ होने पर पाताल में कोई दूसरा राजा न रहा॥८॥ असुरों के अधिपति की चाहवाले उन दानवों के बड़े प्रयास से भी प्रह्लाद समाधि से प्रबुद्ध नहीं हुआ॥९॥ जैसे रात्रि में भ्रमर जिसकी पंखुड़ियाँ विकसित हो रही हों ऐसे कमल को नहीं पा सकते वैसे ही असुरों ने उस स्वामी को समाधि से बोध-युक्त नहीं पाया॥१०॥ जैसे जिससे सूर्य अस्त हो गये हों, ऐसी भूमि के अन्दर सोये हुए पुरुषों की स्नान, दान, गमन, धावन आदि चेष्टाएँ नहीं होती वैसे ही चित्तरहित उसके अन्दर प्रबोध का लेश भी ज्ञात नहीं हुआ॥११॥

तदनन्तर पहले भयभीत हुए निर्बल दैत्यों के अपने अभीष्ट देशों को चले जाने पर और बलवान् दैत्यों के दस्युओं की भाँति अराजक नगर में यथेच्छ लूट-पाट व्यवहार करने पर उक्त अराजकता से सारा पाताल चिरकाल तक बलवानों द्वारा दुर्बलों के उत्पीड़नरूप मात्स्यन्याय से अस्त-व्यस्त और मर्यादारहित हो गया॥१२,१३॥

मत्स्यन्याय का ही उपपादन करते हैं।

उसमें बलवानों द्वारा दुर्बलों के नगर छीने गये थे, मर्यादा, या क्रम का कहीं नाम-निशान न था, वनिताएँ सब लोगों से पीड़ित थी, नगर का मध्य भाग खण्डहर में परिणत हो गया था, सब पुरुष प्रलाप और रोदन से आक्रान्त थे, परस्पर एक दूसरे के वस्त्र हरते थे, बगीचे और नगर के वृक्ष ढह गये थे, व्यर्थ अनर्थों से सारा पाताल पीड़ित था, सब के सब असुर चिन्ताग्रस्त थे, अन्न, फल और बन्धु-बान्धवों का अभाव हो गया था, अनवसर के उत्पात से सारा पाताल विवश था, दिशाओं के मुख धूलि से व्याप्त थे, देवताओं के बच्चे भी उसका तिरस्कार करते थे, चाण्डाल, कुत्ते, सियार, राक्षस, पिशाच आदि तामस प्राणियों से वह आक्रान्त हो गया था, यहाँ के आदिनिवासी भद्र प्राणियों से वह शून्य हो गया था, उसकी शोभा नष्ट हो चुकी थी और सब अटारियाँ भग्न प्रायः हो चुकी थी॥१४-१७॥ वह असुर मण्डल चारों ओर से भयोद्विग्न हो गया था, उसमें स्त्रियाँ, धन, मन्त्र, तन्निमित्तक युद्ध अनियत (नियमरहित) हो गये थे। जिनकी धन-सम्पत्ति और स्त्रियाँ हरी गई थी, उन लोगों के विलाप से वह कोलाहल युक्त था, अतएव कलियुग के समय में दूसरों के धन हरने में शूरवीर क्रूर दस्युओं के तुल्य था॥१८॥

सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

अड़तीसवाँ सर्ग

जगत् की व्यवस्था की सिद्धि के हेतु दैत्यकुल के रक्षार्थ
प्रह्लाद के प्रबोधन के लिए हरि की चिन्ता का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, तदनन्तर क्षीरसागररूपी नगर में शेष शय्यारूप सिंहासन पर बैठे हुए अरिमर्दन भगवान् हरि ने, समस्त जगतों के नियमों का पालन ही जिनकी क्रीड़ा है, वर्षा ऋतु की निद्रा टूटने पर देवताओं के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए किसी समय अपनी बुद्धि से तीनों लोकों की तात्कालिक स्थिति का निरीक्षण किया ॥१,२॥ वे स्वर्ग का अवलोकन कर, भूलोक के निवासियों के शुभाशुभ आचरण का अवलोकन कर अपने मन से दैत्यों द्वारा पालित पाताल में शीघ्र गये यानी उन्होंने अपने मन से पाताल की स्थिति का निरीक्षण किया ॥३॥ पाताल में दानवराज प्रह्लाद के निश्चल समाधि में स्थित होने पर इन्द्र के नगरभूत स्वर्ग में संपत्ति को अतिवृद्धि को प्राप्त हुई देखकर पहले क्षीरसागर में सोये हुए तदनन्तर जाग कर शेषशय्या पर स्थित वहाँ पर भी पद्मासन लगाकर बैठे हुए हाथ में शंख, चक्र और गदा धारण किये हुए भगवान् विष्णु के मन ने त्रिलोकरूपी कमल के महा भ्रमररूपी अपने दैदीप्यमान शरीर से यह विचार किया ॥४–६॥

प्रह्लाद के समाधि से साम्राज्य में विश्रान्त होने से और पाताल के नायकरहित होने पर यह सृष्टि प्रायः दैत्य शून्य हो गई है, यह कम कष्ट की बात नहीं है ॥७॥ दैत्यों के न रहने पर प्रतिस्पर्धा से रहित पद को प्राप्त हुए देववृन्द जैसे अनावृष्टि के समय में नदी सूख जाती है वैसे ही रागद्वेष रहित हो जायेंगे ॥८॥ जैसे जल से रहित लता शुष्कता को प्राप्त होती है वैसे ही अभिमानशून्य होने के कारण स्वर्ग सुख से विमुख देवता राग–द्वेष के अभावरूप शम से शीत–उष्ण आदि द्वन्द्वों के उपद्रव से रहित मोक्ष नामक उस परमपद को प्राप्त होंगे ॥९॥

देववृन्द के शान्ति को प्राप्त होने पर–

मुक्तेश्च बिभ्यतो देवा मोहेनापिदधुर्नरान्।
तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मुष्या विद्युः।
तस्मादेतेसूरा विघ्नमाचरन्ति शपन्ति च।

(मनुष्यों की मुक्ति से भयभीत देवता उन्हें मोह से आच्छन्न करते हैं, इसलिए देवताओं को यह प्रिय नहीं हैं कि मनुष्य ज्ञानी हों, वे मनुष्यों के मुक्तिमार्ग में विघ्न डालते हैं और उन्हें शाप देते हैं।)

प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः।
संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते देवसंदूषिताशयाः ॥

(संन्यासी भी आलसी, विषयवासना युक्त, चुगलखोर, झगड़ालू देखे जाते हैं, क्योंकि उनका मन देवताओं द्वारा दूषित रहता है) – इत्यादि श्रुति, स्मृति, वार्तिक आदि से सिद्ध मनुष्यों की देवदूषित चित्तता की असिद्धि से मनुष्यों में भी शमआदि की प्राप्ति होने से पृथिवी में सब यज्ञ आदि क्रियाएँ देवत्वरूप फल से रहित होकर उच्छेद को प्राप्त होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥१०॥

यज्ञ आदि क्रियाओं के उच्छिन्न होने पर कर्मभूमि व्यर्थ हो जायेगी और कर्म के व्यर्थ होने पर

संसार का उच्छेद हो जायेगा ॥११॥

कर्म का उच्छेद हो, इससे आपकी क्या क्षति होगी ? ऐसा कोई कहे, तो इस पर कहते हैं।

प्रलयपर्यन्त रहनेवाले तीनों भुवन, जिनका मैंने निर्माण किया है, अकाल में ही जैसे धूप में हिमकण नष्ट हो जाता है वैसे ही नाश को प्राप्त हो जायेंगे ॥१२॥ इस प्रकार इन जगतों के विलीन होकर नष्ट होने पर अपनी लीला का नाश करने वाले मुझसे क्या उचित किया गया अर्थात् कुछ भी नहीं ? ॥१३॥ अपनी लीला का नाश होने से मैं भी जिसमें चन्द्रमा, सूर्य और तारे नष्ट हो गये ऐसे इस शून्य जगत् में लीला के लिए गृहीत अपने शरीर का उपसंहार कर फिर संसार की अनुत्पत्ति के लिए उस पूर्ण आत्मपद में स्थित हो जाऊँगा ॥१४॥ इस प्रकार अनवसर में ही जगत के नष्ट होने पर देव, मनुष्य आदि जीव वर्ग का मैं कल्याण नहीं देखता यह बात नहीं है मैं कल्याण देखता ही हूँ। क्योंकि 'वैराग्यात्प्रकृतौ लयः' इस स्मृति के अनुसार प्रकृति में लय होने पर सुषुप्ति की तरह सर्व दुःख निवृत्तिरूप श्रेय की सिद्धि है ही, किन्तु, 'तमेवेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' 'अनेक जन्म संसिद्धस्ततो यातिपरांगतिम्' इत्यादि श्रुति-स्मृति से सिद्ध अनेक जन्मों में किये निष्काम कर्म से होनेवाली विविदिषा द्वारा तत्त्वसाक्षात्कार न होने से मूलअज्ञानरूप आवरण की निवृत्ति न होने के कारण बीज के रहते फिर आवृत्ति की आशंका हो सकती है। निरतिशयानन्द प्राप्ति रूप श्रेय किसी को भी नहीं हो सकता, इसलिए क्रमशः सबका उक्त श्रेय की प्राप्ति के लिए दानव जीयें ॥१५॥ दैत्यों के उद्योग से देवता जिगीषु (उद्यमी) बनेंगे, देवताओं के कारण यज्ञ, तप आदि क्रियाएँ होगी, उससे संसार की स्थिति होगी, संसार नियम अन्यथा नहीं होगा ॥१६॥ इसलिए पाताल में जाकर जैसे वसन्त आदि ऋतु वृक्ष को फिर पूर्ववत् स्थित करती है वैसे ही मैं दानवराज प्रह्लाद को अपने कर्म में पूर्वस्थापित करता हूँ ॥१७॥ यदि मैं प्रह्लाद को छोड़ दूसरे को दानवराज बनाऊँ, तो वह निश्चय देवताओं पर चढ़ाई कर देगा ॥१८॥ प्रह्लाद का तो यह शरीर परम पवित्र और अन्तिम है। इस देह से वह कल्प पर्यन्त रहेगा ॥१९॥ देहधारी प्रह्लाद को कल्प पर्यन्त यहीं रहना होगा, इस प्रकार की परमेश्वर की नियति दैवी नियम से निश्चित है ॥२०॥ इसलिए जैसे गर्ज रहा मेघ पर्वत नदी के तट पर सोये हुए मयूर को जगाता है वैसे ही पाताल में जाकर दैत्यराज प्रह्लाद को ही जगाता हूँ ॥२१॥ जैसे मन की चेष्टा से रहित मणि अपने में संनिहित वस्तु के प्रतिबिम्ब को धारण करती है वैसे ही जीवन्मुक्तों की अनासक्तिरूप समाधि में स्थित प्रह्लाद दानवाधिपत्य को ग्रहण करे ॥२२॥ इस प्रकार सुर और असुरों के साथ यह सृष्टि नष्ट नहीं होगी तथा सुर और असुरों का द्वन्द्व युद्ध होगा ॥२३॥ यद्यपि स्रष्टव्य जगत् के सृष्टि और संहार ये दोनों मेरे लिए समान ही हैं तथापि यह पूर्वोक्त सृष्टि के अनुसार हो अन्य से मेरा क्या मतलब है ॥२४॥

यदि कोई शंका करे, योगनिद्रा द्वारा स्वरूपसुख गमन का त्यागकर दैत्यपुर गमन आपके लिए उचित नहीं है, तो इस पर कहते हैं।

आसक्ति के अभाव से जो गमन आदि प्रयत्न है, वह योगगमन ही है वह अन्य और गमन नहीं है, क्योंकि योगनिद्रा से प्राप्त होनेवाला जो सुख है, वह गमनयत्न की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति में समान है और गमन प्रयत्न आदि की स्थिति और नाश में समान है ॥२५॥ इसलिए मैं पाताल में जाता हूँ और असुरराज प्रह्लाद को जगाता हूँ। चलता हुआ भी मैं निश्चलता को ही प्राप्त होता हूँ, कारण कि मैं अज्ञ

के समान संसारलीला नहीं करता ॥२६॥ हम मर्यादारहित दस्युओं के अनाचार से भयानक पाताल में जाकर जैसे सूर्य कमल को विकसित करता है वैसे ही प्रह्लाद को समाधि से जगाते हैं, उससे सम्पूर्ण जगत् को पूर्वोक्त रीति से स्थिरता को प्राप्त करते हैं, जैसे कि वर्षा ऋतु चंचल मेघराशि को पर्वत पर स्थिर करती है ॥२७॥

अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त

उनतालीसवाँ सर्ग

पाताल में जाकर शंखध्वनि से प्रबोधित प्रह्लाद से भगवान् का कल्पपर्यन्त राज्य करने के लिए कहना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी, ऐसा विचारकर सर्वात्मा भगवान् क्षीरसागररूप अपने नगर से अपने परिवार के साथ अपने शिखरों के साथ पर्वत की नाईं चले ॥१॥ भगवान् उसी क्षीरसागर के तले के छेद से जिसका जल रोक दिया गया था, द्वितीय इन्द्रनगर के तुल्य प्रह्लाद नगर में गये। वहाँ पहुँचने पर भगवान् श्रीहरि ने प्रह्लादनगर में सुवर्णमय गृह के अन्दर स्थित असुरराज प्रह्लाद को पर्वत की गुहा में बैठे हुए समाधिस्थ ब्रह्मा के समान देखा ॥२,३॥ वहाँ पर विष्णु भगवान् के तेज से वे सबके सब दैत्य धूलि के समान उड़ गये और सूर्य की प्रखर किरणों से भयभीत हुए उल्लूओं की भाँति दूर चले गये ॥४॥ दो या तीन मुख्य-मुख्य असुरों के साथ परिवारयुक्त भगवान् श्रीहरि ने जैसे तारों से परिवेष्टित चन्द्रमा आकाश में प्रवेश करता है वैसे ही असुरगृह में प्रवेश किया ॥५॥ भगवान् गरुड़रूपी आसन पर बैठे थे, श्रीलक्ष्मीजी उन पर चँवर डुला रही थी, शंख, चक्र, गदा, आदि आयुध आदि उनके परिवार थे और देवर्षि और मुनि उनकी स्तुति कर रहे थे ॥६॥ इस प्रकार के विष्णु भगवान् ने 'हे महात्मन्, जागो', यह कहते हुए और दिक्मण्डल को मुखरित करते हुए अपना पाँचजन्य शंख बजाया ॥७॥ भगवान् विष्णु के बल से उत्पन्न हुए उस महान् शब्द से, जिसका वेग एक साथ क्षुब्ध हुए प्रलयकाल के मेघ और सागर के शब्द के समान था, भयजनित मूर्च्छा को प्राप्त होकर आसुरी जनता भूमि पर गिर पड़ी, जैसे कि मत्त नील मेघ के शब्द से राजहंसावली भूमि पर गिर पड़ती है ॥८,९॥ किन्तु जैसे मेघ के शब्द से कुटज वृक्षों की पंक्ति खिल उठती है वैसे ही भयरहित वैष्णवी जनता आनन्द को प्राप्त होकर हर्षित हुई ॥१०॥ वर्षा ऋतु में वन में फूले हुए कदम्ब की तरह दानवराज प्रह्लाद धीरे-धीरे प्रबुद्ध हुआ ॥११॥

तदनन्तर जैसे गंगाजी धीरे-धीरे सारे सागर को भर देती है वैसे ही ब्रह्मरन्ध्र में उदित हुई प्राणशक्ति ने प्रह्लाद को पूर्ण कर दिया ॥१२॥ क्षणभर में जैसे उदय के अनन्तर सूर्य की प्रभा भुवन के मध्य को पूर्ण कर देती है वैसे ही प्राणों ने चारों ओर से प्रह्लाद को पूर्ण कर दिया ॥१३॥ तदनन्तर इन्द्रियों के नौ छिद्रों में प्रवृत्त होने पर उसकी चेतनाशक्ति लिंगदेह रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर विषयोन्मुख हो गई ॥१४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, चेतनीय विषयोन्मुखी चित् चेत्याकार संस्कार का उद्‌बोध होने से चेत्य-सी होकर चिज्जड़ उभयतारूप मनस्ता को प्राप्त हुई, जैसे कि दर्पण पर पड़ी हुई मुखश्री द्वित्व को प्राप्त होती है ॥१५॥ चित्त के कुछ अंकुरित होने पर जैसे प्रातःकाल में नीलकमल विकसित होने लगते हैं वैसे ही उसके नेत्र विकसित होने लगे ॥१६॥ जैसे वायु से प्रेरित कमल में स्पन्द होता है वैसे ही भीतर प्रविष्ट

प्राण और अपान से उद्‌बोधित चारों ओर नाड़ी विवरो में जो संवेदन हुआ उसमें स्पन्द हो गया ॥१७॥ जैसे पूर्ण जल में तरंग होती है वैसे ही केवल एक निमेष में प्राणों से पूर्ण उसमें मन स्थूलता को प्राप्त हो गया ॥१८॥ जैसे सूर्य के आधे उदित होने पर तालाब में कमलों में स्फुरण हो जाता है वैसे ही उसके भी नेत्र, मन, प्राण और शरीर विकसित हुए ॥१९॥ इस बीच में जैसे ही भगवान् श्रीहरि ने 'जागो', यह कहा वैसे ही मेघ के गर्जन से मयूर के समान वह प्रबुद्ध हो गया ॥२०॥ त्रिलोकाधिपति भगवान् कल्प के आदि में जैसे नाभिकमल स उत्पन्न ब्रह्मा से कहते हैं वैसे ही प्रफुल्लनयन प्रह्लाद से, जिसे मैं प्रह्लाद हूँ, यह प्रत्यभिज्ञा हो चुकी थी और जिसकी पूर्वावस्था की स्मृति दृढ़ हो चुकी थी, कहा ॥२१॥ 'हे साधो, तुम महती दैत्यराज्यश्री का और अपनी आकृति का स्मरण करो। तुम देह के विस्मरण से अनवसर में ही देह का अवसान किसलिए करते हो ? ॥२२॥

यदि – 'न वै सशरीरस्यप्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति' (सशरीर पुरुष के इष्ट और अनिष्ट का विनाश नहीं होता) इस श्रुति से तथा सब लोगों के अनुभव से देह का स्मरण अनर्थ का कारण है, ऐसी शंका हो, तो उस पर कहते हैं।

हेयोपादेय के संकल्प से रहित तुम्हारे शरीर में स्थित प्रिय आरै अप्रिय से क्या प्रयोजन है, इसलिए तुम इस समय अवश्य उठो। भाव यह कि हेयोपादेय संकल्प का त्याग होने से देह के रहने पर भी प्रिय और अप्रिय से तुम्हें कोई अनर्थ की प्राप्ति नहीं होगी ॥२३॥ हे वत्स, तुम्हें कल्पपर्यन्त इस देह से यहाँ पर रहना होगा। हम तुम्हारे यथार्थ और अगर्हित आयु के नियम को जानते हैं ॥२४॥ यहाँ पर राज्य सिंहासन पर ही स्थित हो रहे जीवन्मुक्तरूप तुमको कल्पतक इस शरीर को बिना किसी उद्वेग के व्यवहार में प्रेरित करना चाहिए ॥२५॥ हे निष्पाप, जैसे घड़े के फूटने पर घटाकाश महाकाश में समा जाता है वैसे ही इस शरीर के कल्पान्त में विनष्ट होने पर तुम्हें आत्मभूत निरतिशय महत्ता में निवास करना होगा ॥२६॥ तुम्हारा यह शरीर, जो कल्पान्त तक रहनेवाला है, लोक के विविध व्यवहारों को देख चुका है और जीवन्मुक्ति से सुशोभित है, शुद्ध हो गया है ॥२७॥

तो क्या कल्पान्त निकट है ? ऐसी आशंका होने पर नहीं, ऐसा कहते हैं।

हे सज्जनशिरोमणे, अभी प्रलयकाल में उदित होनेवाले बारह सूर्य उदित नहीं हुऐ हैं, हिमालय आदि पर्वत मटियामेट नहीं हुए हैं और जगत् जला नहीं है, तुम व्यर्थ क्यों शरीर का त्याग करते हो ? ॥२८॥ अभी तीनों लोकों की राख से धूसर तथा देवताओं की चंचल खोपड़ियाँ जिसकी चिह्नभूत हैं, ऐसी प्रलयकालीन प्रखर वायु नहीं बहती है, तुम क्यों शरीर को छोड़ते हो ? ॥२९॥ अशोक के वृक्षों पर मंजरियों की नाईं इस समय ब्रह्माण्ड में पुष्करावर्तनामक प्रलयकालीन मेघों पर बिजलियाँ नहीं चमकती हैं फिर तुम व्यर्थ क्यों शरीर का त्याग करते हो ? ॥३०॥ जल रही भूमि के प्रकम्प से विदीर्ण होने के कारण जिसमें पर्वत शब्द कर रहे हों और अग्नि के जलने से जो उज्जवल हो ऐसी दिशाएँ विशीर्ण नहीं हुई हैं, व्यर्थ में तुम शरीर का क्यों त्याग करते हो ? ॥३१॥ यह वक्त, जिसमें प्रलयकाल के मेघ वृद्धि को प्राप्त हुए हों ऐसा नहीं हुआ है और जिसमें ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र नामक तीन देवता शेष रह गये हों, ऐसा नहीं हुआ है; इसलिए तुम व्यर्थ शरीर का त्याग क्यों करते हो ? ॥३२॥ यहाँ पर दिशाएँ जर्जरित नहीं हुई हैं जिनके भेद का अनुमान लोकालोक पर्वत के शिखरों से होता है, जो भूमिरूपी

कमल की पँखुड़ियों के सदृश हैं, तुम व्यर्थ शरीर का त्याग क्यों करते हो ? ॥३३॥ आकाश में बारहों आदित्यों की तोड़े जा रहे मेरु के टंकार की तरह ध्वनिवाली किरणें नहीं घूमती हैं और प्रलयकाल के मेघ नहीं गरजते हैं फिर तुम व्यर्थ शरीर का त्याग क्यों करते हो ? ॥३४॥ मैं गरुड़ पर सवार होकर अण्डज आदि चार प्रकार के प्राणियों से व्याप्त तथा सूर्य आदि के प्रकाश से युक्त दसों दिशाओं में विहार करता हूँ, ऐसी स्थिति में तुम शरीर का परित्याग मत करो। भाव यह कि इस समय तुम्हारा मरना शोभा नहीं देता है ॥३५॥ ये हम लोग हैं, ये पर्वत हैं, ये प्राणी हैं, यह तुम हो, यह जगत् है, यह आकाश है, इसलिए तुम प्रलयपर्यन्त स्थायी शरीर का त्याग मत करो ॥३६॥

तो किसका मरना उचित है, ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं।

जिसके व्याकुल मन को घन अज्ञान के सम्बन्ध से विविध दुःख छिन्न-भिन्न करते हैं, उसका मरना शोभा देता है; क्योंकि 'अत्यन्त पीड़तो जीवः स्थूलदेहंविमुंचन्ति' इस स्मृति से सिद्ध उसके मरण का हेतु उपपन्न है ॥३७॥ मैं कृश हूँ, मैं अत्यन्त दुःखी हूँ और मैं मूढ़ हूँ ये या इनसे अन्य भावनाएँ जिसकी मति को नष्ट करती हैं, उसका मरना शोभा देता है ॥३८॥ जो भीतर अनेक आशारूप पाशों से बँधा है और चंचल मनोवृत्ति द्वारा इधर उधर ले जाया जाता है, उसका मरना शोभा देता है ॥३९॥ जैसे मूढ़ पुरुष महान् फल देनेवाले धान के अंकुर आदि को उसे खानेवाले पशु आदि के लिए काट देते हैं वैसे ही तृष्णाएँ जिसके हृदय को भग्न कर देती हैं, जिन्होंने विवेकरूपी अंकुर को हर लिया, उसका मरना शोभा देता है ॥४०॥ जिसके ताड़ वृक्ष के समान राग आदि की उन्नति से (अभिवृद्धि से) सम्पन्न मनरूपी वन में चित्तवृत्तिरूपी लता सुख-दुःखरूपी फलों से युक्त है, उसका मरना उचित है ॥४१॥ जिसके इस देहरूपी दुष्ट वृक्ष को, जिसमें रोमराजीरूपी शाखाओं का समूह है, काम आधि अनर्थरूपी जोर की आँधी दूर हर ले जाती है, उसका मरना शोभा देता है ॥४२॥ आधिव्याधिरूपी वनाग्नियाँ जिसके चंचल अंगरूपी लतावाले स्वदेहरूपी वन को जलाती हैं, उसका मरना उचित है ॥४३॥ जैसे सूखे हुए वृक्ष के खोखले में अजगर फुफकारता है वैसे ही काम क्रोधरूपी अजगर जिसके शरीर में फुफकारते हैं उसका मरना शोभा देता है ॥४४॥

मरणस्वरूप का पर्यालोचन करने पर भी तत्त्वज्ञानी का मरण संभव नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जो यह देह का परित्याग है वह लोक में मरणनाम से प्रसिद्ध है। वह त्याग तत्त्वज्ञानी का सत् आत्मा से नहीं किया जा सकता, असत् देह से भी उसका सम्पादन नहीं हो सकता, क्योंकि सत् आत्मा के निष्क्रिय होने से उसमें त्याग क्रिया का सम्बन्ध नहीं है और असंग आत्मा का देह संग प्रसिद्ध नहीं है एवं असत् देह से भी स्वपरित्याग असंभव है।

यदि कोई शंका करे कि देह की असत्ता में क्या कारण है ? तो उस पर कहते हैं।

प्रमाणों द्वारा अवश्य वेदनार्ह (जानने योग्य) आत्मा का ज्ञान ही देह आदि की असत्ता में कारण है, क्योंकि देहादि के सद्भाव की प्रतीति अज्ञाननिबन्धन है ॥४५॥

किसका जीवन शोभित होता है, ऐसा प्रश्न होने पर जिसका जीवन सफल है, उसे कहते हैं।

जिसकी बुद्धि स्वात्मतत्त्व के विचार से उचटती नहीं, उस यथार्थदर्शी तत्त्वज्ञानी का जीवन शोभित होता है। भाव यह है कि देह से प्राणों का उत्क्रमण मरण नहीं है किन्तु आत्मतत्त्व से मति का उत्क्रमण

ही मरण है। उक्त मरण ज्ञानी का कदापि नहीं हो सकता, इसलिए सदा ही उसका जीवन शोभा देता है। अज्ञानी की तो मति आत्मतत्त्व से सदा उत्क्रान्त रहती है, अतएव वह नित्यमृतस्वरूप है ॥४६॥ एक देह में अभिमान होने पर उसका त्याग मरण है, जिसका किसी देह में अहंभाव नहीं है और जिसकी बुद्धि देह के प्रिय और अप्रिय से लिप्त नहीं होती वह सब भावोंमें (देहों में) और विषयों में सम है उसके मरण का संभव न होने से सदा उसका जीवन ही शोभित होता है ॥४७॥ जो राग–द्वेष से रहित अन्तःशीतल बुद्धि से साक्षी के समान इस जगत् को देखता है, उसका जीवन शोभा देता है ॥४८॥ असार जानकर हेय और उपादेय का त्याग कर रहे जिसने चित्त के विरामभूत साक्षी में अपने चित्त का समर्पण कर दिया है, उसका जीवन शोभित होता है ॥४९॥ जिसने शुक्ति, रजत आदि के सदृश वस्तु के समान भासमान बाह्यार्थकल्पना रूप मल में अनासक्त चित्त को ब्रह्म में ही लीन कर दिया, उसका जीवन शोभा देता है ॥५०॥ जो सत्य दृष्टि का अवलम्बन करके इस जगत्–व्यवहार को बिना वासना के लीला से करता है, उसका जीवन शोभा देता है ॥५१॥ जो लोकव्यवहार करता हुआ भी दुःखहेतु पदार्थ की प्राप्ति होने पर न तो उद्वेग को प्राप्त होता है और न सुखहेतु वस्तु की प्राप्ति होने पर मन में प्रसन्न होता है, उसका जीवन शोभा देता है ॥५२॥

तालाब से हंसों के समूह के समान जिससे गुणों का (शान्ति, क्षमा, माधुर्य आदि का) समूह चला जाता है, जिसके तत्त्वज्ञानी ही आत्मीय है और स्वयं शुद्ध है, उसका जीवन शोभित होता है ॥५३॥ जिसके गुण आदि के श्रवणगोचर होने पर, दर्शन होने पर और स्मरण होने पर प्राणियों को बड़ा आनन्द होता है, उसका जीवन सफल है ॥५४॥ हे दनुजेश्वर, जिसकी सम्पत्ति (उदय) होने पर जीवरूपी भ्रमर से युक्त जीवरूपी कुमुद हृदय से आनन्दित होते हैं, क्षयरोगरहित चन्द्रमा की पूर्णता के समान उसी का जीवन शोभित होता है अन्य का (अज्ञानी का) नहीं ॥५५॥

उनतालीसवाँ सर्ग समाप्त

चालीसवाँ सर्ग

सदेह होता हुआ भी विदेह और कर्मपरायण होता हुआ भी
कुटस्थ ज्ञानी जिस क्रम से व्यवहार करे, उस क्रम का प्रतिपादन।

यद्यपि प्रह्लाद जीवन्मुक्त था तथापि उसके लिए केवलसंनिधि से राज्यपालन के निर्वाह के उपाय का उपदेश देने की इच्छावाले भगवान् श्री हरि देह के रहते भी उसके साथ सम्बध न रहने से पूर्वोक्त जीवन और मरण गौण ही हैं। मुख्य नहीं है यह कहने के लिए जीवन और मरण के लोकप्रसिद्ध स्वरूप को कहते हैं।

दृष्ट देह की स्थिरता को लोग जीवन कहते हैं फिर द्वितीय देह के ग्रहण के लिए पूर्व देह का त्याग (उत्क्रमणपूर्वक गमन) मरण कहा गया है ॥१॥ हे महामते, इन दोनों (स्थिरता और प्राणोत्क्रमण) पक्षों से तुम मुक्त हो, अतएव यहाँ तुम्हारा क्या मरना है *अथवा क्या जीवन है, क्योंकि 'अशरीरं शरीरेषु' 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते'* ऐसी श्रुतियाँ है ॥२॥

यदि मेरे जीवन और मरण नहीं हैं, तो आपने तुम्हारा जीवन शोभित होता है तुम्हारा मरना शोभित

नहीं होता, ऐसा क्यों कहा ? यदि प्रह्लाद की ओर से यह प्रश्न हो, तो उस पर कहते हैं।

हे शत्रुतापन, मैंने दृष्टान्त के लिए यानी ज्ञानी और अज्ञानियों के गुण और दोषों के प्रख्यापन के लिए यह सब कहा था। हे सर्वज्ञ, न तो तुम कभी जीवित हो और न कभी मरते हो ॥३॥ जैसे आकाश में स्थित भी वायु संगरहित (संबन्ध शून्य) होने के कारण आकाश शून्य होता है ऐसे ही देह दृष्टि शून्य तुम भी देह में स्थित होते हुए भी देहरहित होने के कारण अदेह हो ॥४॥

मेरी देह में स्थिति कैसे ज्ञात होती है ? इस पर कहते हैं।

हे सुव्रत, देह में शीत, उष्ण आदि स्पर्श के वेदन का निमित्त होने से और अन्यत्र उसके अदर्शन से देह में ही तुम हो। यदि कहो कि स्पर्श के संवेदन में असंग आत्मा कैसे कारण है, तो इस पर दृष्टान्त सुनो, जैसे वृक्ष के बढ़ने में कारण है वैसे ही असंग आत्मा स्पर्श के संवेदन में कारण है ॥५॥

यदि प्रह्लाद पूछे कि मेरी अदेहता कैसे ? तो इस पर कहते हैं।

तुम्हें तत्त्वज्ञान हो चुका है, अतएव तुम प्रबुद्ध हो गये हो, बोध होने पर सर्वद्वैत से रहित पुरुषों का शरीर यहाँ कहाँ रहता है, स्वप्न की निवृत्ति होने पर स्वप्न शरीर नहीं रहता। यह एक परिच्छिन्न देहरूप यद्यपि असंभाव्य है तथा अज्ञानियों में ही स्थित है ॥६॥

यदि अज्ञानी भी देह में रह कर देही है, तो स्पर्श के संवेदन से देह में स्थित मैं देही क्यों न रहूँगा ? इस पर कहते हैं।

प्रकाशक होने के कारण तुम्हारी सब वस्तुओ में स्थिति तुल्य है, इसलिए एकमात्र परमात्मा में बुद्धिवृत्तिवाले प्रकाशस्वरूप तुम सब कुछ हो, अज्ञानी के समान देह मात्र नहीं हो। कौन वस्तु तुम्हारी देह होगी, जिसका कि तुम अहंबुद्धि से ग्रहण करो और अदेह भी कौन होगी, जिसका कि तुम अनहंबुद्धि से त्याग करो ॥७॥

यदि कोई कहे कि जिसकी वृद्धि से अपने हर्ष की वृद्धि हो और जिसके विनाश निमित्त के दर्शन से विषाद हो वह देह है और उससे अन्य अदेह है इस प्रकार का भेद क्यों न होगा ? तो इस पर ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि तत्त्वज्ञानी के हर्ष और विषाद के हेतु का कही संभव नहीं है, ऐसा कहते हैं।

चाहे वसन्त ऋतु का उदय (आगमन) हो चाहे प्रलयकाल की घनघोर आँधी बहे तथापि अप्रिय और प्रिय से शून्य आत्मा का क्या आया ॥८॥ पर्वतों के ढहने पर भी, प्रलयाग्नियों के धधकने पर भी और उत्पातवायुओं के बहने पर भी तत्त्वज्ञानी आत्मा में स्थित रहता है ॥९॥ सब भूत चाहे रहे चाहे सब कुछ चला जाय अथवा सबका नाश हो जाय या सब वृद्धि को प्राप्त हों, किन्तु तत्त्वज्ञानी आत्मनिष्ठ ही रहता है उससे विचलित नहीं होता ॥१०॥ इस देह के विनष्ट होने पर परमात्मा का विनाश नहीं होता है, इसके बढ़ने पर परमात्मा नहीं बढ़ता और इसके चेष्टा करने पर चेष्टा नहीं करता ॥११॥ देह के सम्बन्धी में 'अहं' इस प्रकार तादात्म्याध्यासरूप देही हूँ' तद्धर्मसंसर्गाध्यासरूप चित्त भ्रम के नष्ट होने पर मैं त्याग करता हूँ अथवा त्याग नहीं करता, इस प्रकार की निरर्थक कल्पना कैसे उद्यत हो सकती है ? ॥१२॥ हे तात, इस कार्य को करके मैं इस कार्य को करता हूँ, इसका त्यागकर के इसका त्याग करता हूँ, तत्त्वज्ञानियों के इस प्रकार के संकल्प सर्वथा नाश को प्राप्त हो जाते हैं ॥१३॥ ज्ञानी पुरुष इस संसार में सब कुछ करते हुए भी कुछ भी नहीं करते हैं। कर्म के कभी–भी न करने पर वे सदा

अकर्तारूप से स्थित रहते हैं ॥१४॥ जब वे कर्ता नहीं हैं तब अभोक्तृत्व सहज ही उनमें प्राप्त हो गया। भला बतलाइये तो सही, धान आदि के बीज बोये बिना तीनों लोकों में कौन धान आदि का संग्रह करता है ? ॥१५॥ कर्तृत्व और भोक्तृत्व के शान्त होने पर एकमात्र निर्विक्षेपता ही अवशिष्ट रहती है। कर्तृत्व के मूलोच्छेद से बद्धमूल हुई निर्विक्षेपता ही विद्वानों द्वारा मुक्ति कही जाती है ॥१६॥ ज्ञानवान्, चैतन्यस्वरूप परमात्मस्वरूप के आविर्भाव से सब कुछ का तिरस्कार करके स्थित हुए शुद्धात्मापुरुष पहले प्राप्त न हुए किस ऐहिक फल को ग्रहण करें या पहले से गृहीत किस फल का त्याग करें ? ॥१७॥ ग्राह्य, ग्राहक और तत्संबन्धरूप अज्ञानावस्था में यथार्थरूप से प्रतीत क्रिया और कारक के संबन्ध से बने हुए अवान्तर वाक्यार्थरूप अवयवि क्रमवाले महावाक्यार्थ के अवयवों से यानी अंग–प्रधानक्रियाकलापरूप विकारों से रहित कूटस्थ आत्मा किसका ग्रहण करे और किसका त्याग करे ? ॥१८॥ ऐहिक और पारलौकिक इष्ट और अनिष्टों के साधनों के त्याग और उपादान के निमित्त ग्राह्यग्राहक संबन्ध के नष्ट होने पर रागादिविक्षेपों की शान्ति उत्पन्न होती है। वही रागादि के मूलोच्छेद स्थिरता को प्राप्त होकर मोक्षनाम से पुकारी जाती है ॥१९॥

इस प्रकार से स्थित हुए जीवन्मुक्त लोगों को भी जब तक प्रारब्ध का क्षय नहीं होता तब तक व्यवहार सिद्धि में दृष्टान्त कहते हैं।

उक्त निर्विक्षेपतारूप शान्ति में सदा स्थित हुए तुम्हारे जैसे शान्त पुरुष गाढ़ निद्रा में सोये हुए पुरुष के अवयवों की चेष्टाओं के तुल्य व्यवहार करते हैं ॥२०॥ परब्रह्म के ज्ञान से वासनारहित हुए तुम इस जगत् में आत्मनिष्ठ बुद्धि से अर्धसुषुप्त के समान इस राज्यपालन आदि व्यवस्था को देखो ॥२१॥ जिनका चित्त स्वात्मा में ही संलग्न है ऐसे ज्ञानी पुरुष, रमणीय अनात्म पदार्थों में सुख का अनुभव नहीं करते और केवल स्वात्मा में ही जिन्हें रसायन के समान मधुर सुख का आस्वाद होता है, वे आत्मा का स्पर्श न करनेवाले दुःखों के उपस्थित होने पर उद्विग्न नहीं होते ॥२२॥

यदि कोई कहे कि ज्ञानियों को जब सुख और दुःख हैं ही नहीं तब वे सुख की प्राप्ति और दुःख के परिहार के लिए कर्म क्यों करते है ? तो इस पर कहते हैं।

नित्यप्रबुद्ध असंग पुरुष, यथाप्राप्त इन कार्यों को जैसे दर्पण बिम्बों को ग्रहण करते है वैसे ही अनास्था से ग्रहण करते हैं। संसार स्थिति में सोये हुए आत्मनिष्ठ पुरुष स्वात्मा में ही जागरूक रहते हैं। सुषुप्त के सदृश आशयवाले वे बालकों की नाईं व्यवहार करते हैं ॥२३,२४॥ हे महात्मन्, भीतर भगवान विष्णु की पदवी को प्राप्त हुए तुम ब्रह्मा के एक दिन तक इस पाताल में ही विविध गुणों से युक्त राज्यलक्ष्मी का उपभोगकर विदेह कैवल्य नामक च्युतिरहित परम पद को प्राप्त होओ ॥२५॥

चालीसवाँ सर्ग समाप्त

इकतालीसवाँ सर्ग

भगवान् का स्वाज्ञावर्ती दैत्यराज प्रह्लाद से सपरिवार पूजा ग्रहण कर
दैत्यराज्य में अभिषेकपूर्वक उसे वर देना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, प्रलय में जगद्रूपी रत्नों को अपने अन्दर समेट लेने के

कारण जगद्रूप रत्नों के सन्दूकरूप और सृष्टिकाल में त्रैलोक्यरूपी अद्भुत पदार्थ का दर्शन करनेवाले भगवान् विष्णु चाँदनी के समान शीतल वाणी से पूर्वोक्त बातें कहने पर पूर्वोक्त प्रह्लाद नामक देह ने, मारे आनन्द के जिसके नेत्रकमल विकसित थे और जिसने मनन ग्रहण कर लिया था, प्रसन्नता से निम्न निर्दिष्ट वचन कहे ॥१,२॥ प्रह्लाद ने कहा : भगवान्, असुरों का क्या हित है और देवताओं का क्या अहित है, इस विचार से और सैकड़ों राज्यकार्यों से मैं अत्यन्त थक गया था, अतएव एक क्षण के लिए मैंने विश्राम लिया ॥३॥ हे देवाधिदेव, आपके प्रसाद से तत्त्वबोध द्वारा स्वरूपावस्थिति मुझे भली–भाँति प्राप्त हो गई है। मैं समाधि और असमाधिमें तथा सदेह और विदेह मुक्तियों में पारमार्थिक रूप से सदा समान ही हूँ॥४॥ हे महादेव, मैंने निर्मल अखण्ड मानस साक्षात्कार वृत्ति से चिरकालतक आपके दर्शन किये हैं। इस समय फिर चर्म चक्षु से भी बड़े भाग्यवश ये आप मेरे दृष्टिगोचर हो रहे हैं ॥५॥ हे महेश्वर, मैं सब संकल्पों से निर्मुक्त इस अनन्त अन्तर दृष्टि में निर्मल आकाश में आकाश की तरह न शोक से, न मोह से, न वैराग्य चिन्ता से, न देहत्याग के कार्य और न संसार भय से ही स्थित था। भाव यह कि शोक, मोहआदि निमित्तों से मैं समाधि में स्थित नहीं था, जिससे मेरे देह त्याग का प्रसंग आता ॥६,७॥

यदि कहें कि पिता के राज्य आदि के नाश आदि शोक के हेतु तो तुमने देखे ही है, उनका अपलाप कैसे करते हो ? तो इस पर कहते हैं।

एक तत्त्ववस्तु के विद्यमान रहते कहाँ से शोक, कहाँ से नाश और कहाँ से शरीर होगा ? कहाँ पर संसार, कहाँ पर स्थिति और कहाँ पर भय और अभय होंगे ? भाव यह है कि सचमुच यहाँ पर मैंने शोक के हेतु पिता के राज्यादिनाश आदि देखे, पर अद्वैत आत्मा में शोक हेतु नहीं है, इसलिए मेरी यह समाधि शोक हेतुक नहीं है ॥८॥

तब तुम्हारी समाधि का हेतु क्या है ? ऐसा यदि प्रश्न हो तो विचार से उत्पन्न विश्रान्ति की इच्छा ही मेरी समाधि में हेतु है, ऐसा कहते हैं।

अपने–आप उत्पन्न हुई निर्मल यथेच्छा से ही देहत्याग आदि के संकल्प के बिना ही विस्तृत पावन पद में मैं स्थित हुआ हूँ॥९॥

यदि कोई कहे 'न च वैराग्यचिन्तया' इस अंश से वैराग्य का निराकारण उचित नहीं है, क्योंकि विचारपूर्वक समाधि में वैराग्य अनुकूल ही है ; प्रतिकूल नहीं है, तो इस पर कहते हैं।

हे ईश्वर, हाय ! मैं विरक्त हूँ, संसार का त्याग करता हूँ, इस प्रकार की अज्ञानियों की चिन्ता हर्षशोकरूपी विकार देनेवाली है ॥१०॥

वैराग्य के समाधिकारण होने पर रागयुक्त देह में भी दुःख हेतुत्व का अनुभव होगा, अतः उसका त्याग भी समाधि में निमित्त होगा, वह भी अज्ञानियों का ही अभीष्ट है मेरा अभीष्ट नहीं है, ऐसा कहते हैं।

देह का अभाव होने पर दुःख नहीं रहते, देह में दुःख रहते हैं, इस प्रकार चिन्तारूपी विषैली नागिन मूर्ख को ही डँसती है, ऐसा मेरा विश्वास है ॥११॥

इसलिए सुख प्राप्ति की इच्छा से अथवा दुःखनिवृत्ति की इच्छा से मैंने समाधि नहीं ली, ऐसा कहते हैं।

यह सुख है, यह दुःख है, यह मेरा है और यह मेरा नहीं है इस प्रकार दोलायमान चित्त मूढ़ को ही

नष्ट करता है, पण्डित (ज्ञानी) को नहीं ॥१२॥

तब भेदवासना के क्षय की इच्छा से तुमने समाधि ली होगी, ऐसा यदि कोई कहे, तो उस पर कहते हैं।

मैं अन्य हूँ और यह अन्य है, इस प्रकार की वासना उन्हीं अज्ञानी जीवों को होती है, जिन्होंने तत्त्वज्ञान को बहुत दूर फेंक दिया है, तत्त्वज्ञानियों को ऐसी वासना नहीं होती ॥१३॥

संसार के त्याग के लिए अथवा मोक्ष की प्राप्ति के लिए तुमने समाधि ली होगी, ऐसा यदि कहें, तो उस पर कहते हैं।

यह त्याज्य हैं और यह ग्राह्य है इस प्रकार का दुर्बुद्धियों का मिथ्या मनोभ्रम अज्ञानी की तरह ज्ञानी को उन्मत्त नहीं बनाता ॥१४॥ हे कमलनयन, सब में आत्मरूप आपके व्याप्त होने पर हेयोपादेय पक्ष में स्थित दूसरी कल्पना कहाँ से हो सकती है ? ॥१५॥ भ्रान्तिज्ञान में सीप में रजत के समान भासित होनेवाले परमार्थरूप से भासित न होनेवाला यह सारा जगत् आत्मा और माया के अन्योन्यतादात्म्याध्यास रूप मिथुनीकरण से उत्पन्न हुआ है। यहाँ पर क्या वस्तु हेय और क्या वस्तु उपादेय है, जिसका कि त्याग अथवा ग्रहण किया जाय ॥१६॥

इसलिए मेरी तत्त्व विचार विश्रान्ति ही समाधि हो गई, ऐसा कहते हैं।

अपने स्वभाव से केवल द्रष्टा और दृश्य का विचार कर रहे असीम परमात्मरूप मैंने अपने आप में क्षणभर विश्राम लिया ॥१७॥ समाधिकाल में मैं इष्ट और अनिष्ट (प्रिय और अप्रिय) से रहित हेयोपादेय से विहीन था। इस समय (व्युत्थान काल में) यों (आपसे आज्ञप्त पदार्थों के ग्रहण की योग्यता से) स्थित हूँ ॥१८॥ वह अपने स्वभाव को प्राप्त हुआ मैं मेरे द्वारा स्वकर्तव्यता से प्राप्त किये गये आपसे आज्ञप्त सब कार्य करता हूँ, अपने राग से नहीं, किन्तु आपकी इच्छा का वशवर्ती होकर ॥१९॥

जैसे आपके द्वारा आज्ञप्त राज्य को, जो मुझे स्वभावतः प्राप्त है, मैं स्वीकार करता हूँ वैसे ही आप भी मेरे द्वारा की गई पूजा को, जो सर्वेश्वर होने के कारण आपको नियमतः प्राप्त है, ग्रहण कीजिये, ऐसा कहते हैं।

ये आप पुण्डरीकाक्ष हैं, तीनों जगतो में पूज्य हैं, इसलिए मुझसे शास्त्र और लोकप्रसिद्धि से प्राप्त पूजा को आप ग्रहण कीजिये ॥२०॥ ऐसा कहकर दानवराज प्रह्लाद ने क्षीरोदशायी भगवान् के आगे शैलराज जैसे पूर्ण चन्द्रमा को उपस्थित करता है वैसे ही अर्घपात्र उपस्थित किया ॥२१॥ प्रह्लाद ने अपने शंख, चक्र आदि आयुधों से युक्त, अप्सराओं द्वारा परिवेष्टित, देवताओं से परिवृत, पक्षिराज गरूड़ से युक्त, उदर के अन्दर स्थित त्रैलोक्य सहित, अपने सामने स्थित भगवान् विष्णु की, जिनके बाहर रोमकूप आदि में और भीतर वस्ति, उदर, हृदय आदि में लोक घूम रहे थे, पूजा की। पूजा करके खड़े हुए प्रह्लाद से कहा ॥२२,२३॥ 'हे दानवराज उठो, सिंहासन पर बैठो, मैं स्वयं अपने हाथों से शीघ्र तुम्हारा राज्याभिषेक करता हूँ ॥२४॥ पाँचजन्य शंख की ध्वनि सुनकर जो ये सिद्ध, साध्य और देववृन्द आये हैं वे तुम्हारा मंगल करे।'ऐसा कह कर भगवान् मेरु के शिखर पर मेघों के समान योग्य उस दानव को सिंहासन पर बैठाया ॥२५,२६॥ इसके बाद अप्रमेय भगवान् ने श्रीहरि ने विद्याधर और लोकपालों से परिवृत होकर बुलाये गये क्षीरोद आदि महासागरों, गंगा आदि जलप्रवाहों और सब तीर्थ

के जलों से, सब विप्र ऋषियों और सब सिद्धगणों के साथ असुरराज प्रह्लाद का दैत्यराज्य में ऐसे ही अभिषेक किया जैसे कि पहले स्वर्ग में देववृन्दों से इन्द्र का अभिषेक किया था ॥२७–२९॥ सुर और असुरों से स्तूयमान भगवान् श्रीहरि ने राज्य में अभिषिक्त, सुर और असुरों से प्रह्लाद से यह कहा ॥३०॥ हे अनघ, तुम जब तक पृथिवी और जब तक चन्द्र–सूर्य मण्डल हैं तब तक अखण्डित गुणों से प्रशंसनीय राजा होओ ॥३१॥ अनुराग, भय और क्रोध से रहित तुम, इष्ट और अनिष्ट फल का त्यागकर समबुद्धि से राज्य का पालन करो ॥३२॥ तुम निरतिशयानन्द भूमि देख चुके हो, अतएव तुम्हें सब भोगों से परिपूर्ण राज्य में अरतिरूप उद्वेग नहीं करना चाहिये और अपने पिता–पितामहों की भाँति स्वर्ग अथवा भूलोक में उद्वेग उत्पन्न नहीं कराना चाहिये ॥३३॥ प्रजा, शत्रु आदि के ऊपर निग्रह, अनुग्रह आदि ? यथा प्राप्त दृष्टियों में तत्–तत् पुरुषों के अनुरूप देश, काल और क्रिया से अपने ऊपर प्राप्त वध, बंधन आदि कार्य करो । राग, द्वेष आदि विषमता का त्यागकर रहो । देह से अतिरिक्त आत्मा ही इस भाव से लाभ और हानि में समानरूप से इदन्ता और ममता से वर्जित कार्य कर रहे तुम सुख–दुखों से पीड़ित नहीं होगे ॥३४,३५॥ तुम संसार के व्यवहार को देख चुके हो, अनुपम उस परम पद का भी तुम्हें अनुभव हो चुका है, इसलिए सर्वत्र सब कुछ तुम जानते हो । तुम्हारे लिए अधिक क्या उपदेश किया जाय ? अर्थात् व्यवहार और परमार्थ में तुम कुशल हो तुम्हारे लिए उपदेश की आवश्यकता नहीं है ॥३६॥ अनुराग, भय और क्रोध से रहित तुम्हारे राजा होने पर अब असुरों में दुःख रूपी दुर्ग्रन्थि नहीं रहेगी और देवताओं में स्थित वह दुःख दुर्ग्रन्थि मेरे द्वारा असुरों का संहार नहीं करायेगी ॥३७॥ अब जैसे वर्षा ऋतु में बढ़ी हुई बड़ी–बड़ी तरंगवाली नदी वनस्थली को प्लावित कर देती है वैसे ही आंसुओं की धारा असुरनारियों की कर्णमंजरियों को प्लावित नहीं करेगी ॥३८॥ आज से लेकर देव–दानवों के युद्ध से वंचित जगत् स्पन्दरहित सागर के समान स्वस्थ–सा हो जायेगा । देवता और असुरों की नारियाँ एक दूसरे के पतियों से बन्दी न होकर अपने ही अन्तःपुरों और पतियों के विश्वास को प्राप्त हों ॥३९,४०॥ हे दानव, तुम कृष्णपक्ष की रात्रियों में गाढ़ निद्रा और अन्धकाररूप अज्ञानान्धकार को दूर कर सदा उदित, स्वप्रकाश ब्रह्मात्म स्फूर्तिवाले होकर असुरों की स्त्रियों के विलासों से रमणीय तथा काम आदि शत्रुओं से अपराभूत राज्यलक्ष्मी का चिरकाल तक उपभोग करो ॥४१॥

इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त

बयालीसवाँ सर्ग

भगवान् विष्णु का पुनः क्षीरसागर में गमन,
आख्यान का उत्तम फल और समाधि से जीवन्मुक्तों के व्युत्थान में हेतु का वर्णन ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐसा कह कर सुर, नर और किन्नरों के सहित भगवान् पुण्डरीकाक्ष, जो सुर, नर और किन्नरों से युक्त होने के कारण ही दूसरे संसार के समान विस्तृत थे, असुरगृह से चले ॥१॥ प्रह्लाद आदि द्वारा पीछे से छोड़ी गई पुष्पांजलियों की राशि से, जो पक्षिराज गरुड़ के पीछे के पंखों पर राशिभूत हो गई थी, आच्छन्न किये जा रहे भगवान् क्रम से क्षीरसागर में पहुँचकर तदनन्तर सुरवृन्द को विदाकर जैसे सफेद कमल पर भ्रमर बैढता है वैसे ही शेषशय्या पर

स्थित हुए ॥२,३॥ इस प्रकार शेषनाग के शरीररूपी आसन पर भगवान् विष्णु, स्वर्ग में देवताओं के साथ इन्द्र और पाताल में असुरराज प्रह्लाद तीनों ही सन्तापरहित होकर स्थित हुए ॥४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, यह अवशेष पापों को दूर करनेवाली प्रह्लाद की ज्ञानप्राप्ति मैंने आपसे कही, जो चन्द्रमा के अमृत के समान शीतल है ॥५॥ उसको जो मनुष्य , चाहे वे बड़े पातकी ही क्यों न हों, संसार में बुद्धि पूर्वक विचार करेंगे, वे शीघ्र परमपद को प्राप्त होगे ॥६॥ सामान्य विचार से भी जब पाप का नाश हो जाता है तब वेदान्त वाक्यों के विचार से कौन परम पद को प्राप्त न होगा ? ॥७॥ अज्ञान पाप कहलाता है, वह विचार से नष्ट होता है, इसलिए पाप की जड़ उखाड़ फेंकनेवाले विचार का परित्याग नहीं करना चाहिये ॥८॥ प्रह्लाद की इस सिद्धि का विचारकर रहे लोगों के सात जन्मों के पाप नष्ट हो जाते है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥९॥

विदेह मुक्त के साथ समाधि मुक्त के विश्रान्ति सुख की समता होने पर फिर उसके व्युत्थान में हेतु जानने की इच्छा कर रहे रामचन्द्रजी पूछते हैं :

भगवान्, महात्मा प्रह्लाद का परम पद में परिणत मन पाँचजन्य शंख की ध्वनि से कैसे प्रबुद्ध हुआ ? भाव यह है कि मन का विलय होने पर पाँचजन्य शंख ध्वनि का श्रवण ही दुर्लभ है, फिर इससे वह कैसे प्रबुद्ध हुआ ? ॥१०॥

प्रारब्ध शेष से उद्‌बोधित शुद्धवासना सहित भगवद् इच्छा ही समाधिमुक्त के प्रबोध में हेतु है यों विदेहमुक्त से समाधिमुक्त का अन्तर कहने के लिए संदेह औरै विदेह मुक्तियों का विभाग दिखलाते हैं ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे निष्पाप आकृतिवाले श्रीरामचन्द्रजी, लोक में दो प्रकार की मुक्ति होती है, एक सदेह मुक्ति और दूसरी विदेह मुक्ति । उसका यह विभाग है, उसे आप सुनिये ॥११॥ जिस अनासक्त मतिवाले पुरुष का इष्ट और अनिष्ट कर्मों के त्याग और ग्रहण में राग नहीं है, उसकी स्थिति को आप जीवन्मुक्ति जानिये ॥१२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, वही देह धारण में हेतुभूत प्रारब्ध शेष का भोग द्वारा क्षय होने पर पुनर्जन्म से रहित विदेह मुक्ति कही गई है । विदेह मुक्ति में स्थित भुने हुए बीजों के सदृश अतएव पुनर्जन्म रूपी अंकुर से रहित पुरुष देहदृश्यता को प्राप्त नहीं होते, किन्तु जीवन्मुक्त पुरुषों के हृदय में शुद्ध, पवित्र, तृष्णा, कार्पण्य आदि से रहित, आत्मध्यानमयी शुद्धसत्त्वानुपातिनी वासना ऐसे ही रहती है जैसे कि सुषुप्त पुरुष के हृदय में रहती है ॥१३–१५॥ हे रघुवर, देह धारण हेतु प्रारब्ध के शेष रहने पर हजारों वर्षों के बाद भी हृदयमें स्थित उसी वासना से वे प्रबोध को प्राप्त होते हैं ॥१६॥ हे महाबाहो, प्रह्लाद हृदय में स्थित अपनी शुद्धसत्त्वमयी वासना से, जो शंख ध्वनि से उद्‌बुद्ध हुई थी, प्रबोध को प्राप्त हुआ था ॥१७॥

यदि किसी को शंका हो कि श्रोत्रेन्द्रिय के विलीन होने पर शंख ध्वनि का भी ग्रहण नहीं हो सकता, अतः शंख ध्वनिमात्र से कैसे प्रबोध हुआ ? तो उसका परिहार करते हुए कहते हैं ।

भगवान् हरि सब प्राणियों के आत्मा हैं उनको जैसा भान होता है वह सब शीघ्र वैसा ही हो जाता है, क्योंकि वे सत्य संकल्प हैं ॥१८॥ भगवान् वासुदेव ने जब प्रह्लाद प्रबोध को प्राप्त हो, ऐसा विचार किया तभी पलक भर में ऐसा हो गया ॥१९॥ स्वयं अकारण यानी शुद्धरूप भूतों के कारण यानी अव्यक्त

उन्होंने काम, कर्म आदि निमित्तों से अपने में ही जगत् की सृष्टि के लिए वासुदेवमयरूप से शरीर ग्रहण किया है, ऐसी ही श्रुति, स्मृति और पुराणों में प्रसिद्ध है ॥२०॥

इसीलिए उनके शरीर का दर्शन होने पर आत्मदर्शन होता है और आत्मदर्शन होने पर उनका दर्शन सुलभ हो जाता है, ऐसा कहते हैं।

आत्मदर्शन से शीघ्र भगवान् का दर्शन हो जाता है और भगवान् की आराधना से शीघ्र अपने–आप आत्मा का दर्शन हो जाता है ॥२१॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस सृष्टि का अवलम्बन करके आप शीघ्र आत्मदर्शन के लिए प्रयत्न करें। विचारत्मा आप नित्यपद को प्राप्त होंगे ॥२२॥ हे रामचन्द्रजी, दुःखरूपी मुसलाधार वृष्टिवाली संसाररूपी वर्षा ऋतु, जो चारों ओर व्याप्त है, विचाररूपी सूर्य को न देख रहे लोगों को परम अज्ञान देती है ॥२३॥ यह अत्यन्त दैदीप्यमान माया विष्णुरूप आत्मा के प्रसाद से धीर पुरुषों को ऐसे ही पीड़ित नहीं करती जैसे मन्त्रसिद्धपुरुषों को पिशाची पीड़ित नहीं कर सकती ॥२४॥ जैसे अग्नि की ज्वाला वायु के कारण ही निबिड़ता को प्राप्त होती है और अन्त में क्षीणता को प्राप्त हो जाती है वैसे ही संसार जाल रचनारूप यह विष्णुमाया आत्मा की इच्छा से ही देहादिरूप निबिड़ अनर्थता को प्राप्त हुई है। निश्चय भक्ति, ध्यान आदि से आराधित आत्मा की इच्छा से ही विवेक , विचार आदि के जन्म के समय क्षीणता को प्राप्त हो जाती है, अतएव ईश्वरप्रसाद से उत्पन्न विचार आदि से ही अवश्य ज्ञान लाभ होता है, यही इस उपाख्यान का तात्पर्य है ॥२५॥

बयालीसवाँ सर्ग समाप्त

तैंतालीसवाँ सर्ग

यद्यपि ज्ञान ईश्वर के प्रसाद से लभ्य है तथापि ईश्वर पर भार देना ठीक नहीं। अपने पौरुष द्वारा इन्द्रियों को वश में करने से ज्ञान प्राप्त होता है, यह वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे सब धर्मों के ज्ञाता, हे भगवान्, जैसे चन्द्रमा की किरणों से औषधियाँ आह्लादित होती हैं वैसे ही स्फटिक के समान शुद्ध आपके वचनरूपी किरणों से हम आह्लादित हुए हैं ॥१॥ जैसे कर्ण भूषण के लिए कानों द्वारा वांछित, गुरु, देवता आदि की प्रसन्नता से पाप दूर करने के कारण पवित्र और कोमल फूल ग्रहण करने पर सुख देते हैं वैसे ही कानों को भले लगनेवाले पवित्र और कोमल आपके वचन हम लोगों द्वारा गृहीत होने पर सुख देते हैं ॥२॥ भगवान्, यदि पौरुष प्रयत्न से ही सब कुछ प्राप्त होता है, तो प्रह्लाद भगवान् के वर के बिना भी अपने ही पौरुष से क्यों प्रबुद्ध नहीं हुआ है ? इससे अपने पौरुष से ही सर्वत्र ज्ञान लाभ होता है, ऐसा जो नियम पहले कहा था उसका भंग हो गया, यह भाव है ॥३॥

अपने पौरुष से सिद्ध होनेवाली पुरुषार्थ सिद्धि में भगवान् का वर भी द्वार विशेष ही है स्वतन्त्र नहीं है, इसलिए पूर्वोक्त नियम भंग नहीं हुआ , इस आशय से संक्षेप में उत्तर देते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, महात्मा प्रह्लाद ने जो कुछ प्राप्त किया वह सब अपने पौरुष से ही उसने प्राप्त किया, दूसरे से नहीं ॥४॥

अथवा विष्णु से प्रह्लादात्मा का भेद न होने के कारण आत्मप्रयत्न से प्राप्त वह प्रह्लाद प्रयत्न से ही

बोध को प्राप्त हुआ, ऐसा यहाँ पर परिहार हो सकता है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे तिलों के अन्तर्गत और तिलों से निकाला हुआ तेल भिन्न नहीं है वैसे ही आत्मा और नारायण भिन्न नहीं है। जैसे शुक्लता (कपास) और वस्त्र भिन्न नहीं हैं वैसे ही आत्मा और नारायण भिन्न नहीं हैं और जैसे फूलों का सार सुगन्ध है वैसे ही जीवों का परमार्थ सार विष्णु हैं, इसलिए भी उनमें अभेद जानना चाहिये ॥५॥

अथवा कार्य और कारण उपाधि का त्याग करने पर विशिष्ट चिन्मात्र का अभेद है ही। इस प्रकार लक्ष्यपरक विष्णु और आत्मा शब्द की पर्यायता ही है, ऐसा कहते हैं।

जो विष्णु है वही आत्मा है और जो आत्मा है वही विष्णु है। जैसे विटप और पादप शब्द पर्याय हैं वैसे ही विष्णु और आत्मशब्द पर्याय हैं। भाव यह कि विटपवत्व (शाखावत्व) और पादकरणकपान कर्तृत्वरूप उपाधि का भेद होने पर भी खण्ड वृक्ष स्वरूप में जैसे विटप और पादप शब्दों की पर्यायता है वैसे ही कार्य और कारणरूप उपाधि का भेद होने पर भी परिशिष्ट चिन्मात्र स्वरूप में आत्मा और विष्णु शब्दों की पर्यायता ही है ॥६॥ पहले प्रह्लाद नामक आत्मा ही स्वयं अपने द्वारा अपनी परम शक्ति से विष्णु भक्ति में नियोजित हुआ ॥७॥ स्वात्मभूत विष्णु से ही प्रह्लाद ने स्वयं इस वर का उपार्जन किया। अपने मन को स्वयं ही विचारयुक्त बनाकर अपने आत्मा का उसने स्वयं ज्ञान प्राप्त किया ॥८॥ कभी स्वात्मभूत विष्णु द्वारा ही आत्मा अपने प्रयत्न से किये गये विचार के बल से स्वयं प्रबुद्ध किया जाता है और कभी भक्तिरूप प्रयत्न से प्राप्त होनेवाले विष्णु देह द्वारा बोधित होता है ॥९॥

अन्वय से प्रदर्शित अर्थ को व्यतिरेक के दर्शन द्वारा भी दृढ़ करते हैं।

चिरकाल से आराधित भी परम प्रसन्न हुए भी ये भगवान् अविचारशील पुरुषों को ज्ञान नहीं दे सकते ॥१०॥

'तुम्हें आत्मज्ञानपर्यन्त विचार प्राप्त हो' इस प्रकार वर दे रहे भगवान् हरि को पुरुष प्रयत्न से उत्पन्न विचार ही मुख्यरूप से अभिमत है वर मुख्यरूप से अभिमत नहीं। अन्यथा तुम्हें ज्ञान हो, ऐसा ही वरदान देते, इस आशय से कहते हैं।

आत्म-साक्षात्कार में पुरुष प्रयत्न से उत्पन्न हुआ विचार मुख्य कारण है, वर आदि गौण हैं, इसलिए तुम मुख्य हेतु में संलग्न होओ ॥११॥ *(जिस विषय में प्रयत्न करने से विचारोदय होता है, उसे दर्शाते हैं।)* इसलिए दसों इन्द्रियों को जबरदस्ती अपने वश में कर अभ्यास करते हुए सब प्रयत्नों से मन को विचारवान् बनाओ ॥१२॥ कहीं पर किसी के द्वारा जो कुछ भी पाया जाता है वह अपने यत्न से प्रयुक्त शुभाचरण से ही पाया जाता है, दूसरे से कहीं पर भी नहीं ॥१३॥ पौरुष प्रयत्न का अवलम्बन कर इन्द्रियरूप पर्वत को लाँघकर संसाररूप सागर को पार कर परम पद को प्राप्त होओ ॥१४॥ यदि पौरुष प्रयत्न के बिना भगवान् विष्णु का दर्शन हो, तो ये भगवान् मृग और पक्षियों का क्यों नहीं उद्धार करते यानी आत्मतत्त्व का साक्षात्कार क्यों नहीं कराते ? ॥१५॥

गुरुजी शिष्य के प्रयत्न के बिना ही शक्तिपात आदि द्वारा शिष्य का उद्धार करते हैं यह योगशास्त्र आदि में प्रसिद्ध है, इसमें व्यभिचार आयेगा, ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

अपना पौरुष किये बिना यदि गुरु अज्ञानी का उद्धार करते हैं, तो ऊँट अथवा बैल का उद्धार

क्यों नहीं करते हैं ? गुरुभक्ति आदि प्रयत्न ही वहाँ पर भी ज्ञानोत्पत्ति में गुरुकृपा को द्वार बनाते हैं, यह भाव है ॥१६॥

ज्ञान की दृढ़ता से बाधित मनवाले अपने आत्मा से जो परमपुरुषार्थरूप परमपद प्राप्त किया गया, वह न तो भगवान् विष्णु से कुछ प्राप्त किया जा सकता है, न गुरु से और न धन से ही प्राप्त किया जा सकता है ॥१७॥ अभ्यास और वैराग्य से युक्त आत्मा से जिसने इन्द्रियरूपी साँपों को अपने वश में कर लिया है, उससे जो परम पुरुषार्थ प्राप्त किया जा सकता है, वह तीनों जगतों से भी प्राप्त नहीं किया जा सकता ॥१८॥ हे वत्स, तुम अपने आत्मा को यह उत्कृष्ट है, यह समझकर श्रवण आदि से अपने–आप सिद्ध करो तथा सिद्ध हुए उसका अपने–आप निरन्तर अनुसन्धान द्वारा पूजन करो, अपने आत्मा का अपने आप तत्त्वतः साक्षात्कार कर उसीमें अपने–आप भली भाँति स्थित होओ ॥१९॥

यदि अपने प्रयत्न से उत्पन्न विचार से ही ज्ञान उदय होता है, तो शास्त्रों में विष्णु भगवान् की आराधना का विधान किसलिए है ? ऐसी कोई शंका करे, तो उस पर कहते हैं।

विषयों में आसक्ति की प्रबलता के कारण अध्यात्मशास्त्रों से, इन्द्रियजय आदि प्रयत्नों से और विचारों से दूर भागनेवाले मूर्खों की कथंचित् शुभ मार्ग में प्रवृत्ति के लिए विष्णु की भक्ति की कल्पना की गई है ॥२०॥

पूर्वोक्त अर्थ को युक्तियों से दृढ़ करते हैं।

शास्त्र में अभ्यास और प्रयत्न पहले मुख्य विधि कही गई है। उनके अभाव में पूज्य पूजारूप विधि गौण है ॥२१॥ यदि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली गई, तो पूजनों से क्या फल प्राप्त है ? यदि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं हुई, तो पूजनों से क्या फल प्राप्त है, यानी कुछ भी नहीं ॥२२॥ विचार और उपशम के बिना पूर्णानन्द आत्मा स्वतन्त्ररूप से तत्त्वतः प्राप्त नहीं होता। विचार और उपशम से रहित (विषयासक्त) पुरुष का ईश्वर भी क्या अप्रिय कर सकता है ? ॥२३॥ विचार और उपशम से युक्त अपने चित्त को प्रसन्न करो। उसके प्रसन्न होने पर आप परम पुरुषार्थरूप सिद्धिता को प्राप्त हो जाओगे। नहीं तो आप जंगली गदहे के सदृश हो ॥२४॥ जैसे विष्णु आदि देवताओं की विनय प्रार्थना स्वयं की जाती है, वैसे ही अपने ही चित्त की प्रणय प्रार्थना क्यों नहीं की जाती है ? ॥२५॥ इन सभी लोगों के अन्दर भगवान् विष्णु स्थित हैं। उनका परित्याग करके जो बाह्य आराधना करते हैं, वे नराधम हैं। भाव यह कि मनोभक्ति ही मुख्य विष्णु भक्ति है बाह्यभक्ति मुख्य नहीं है ॥२६॥ हृदयरूपी गुहा में निवास करनेवाला चित्–तत्त्व ही आत्मा का (विष्णु का) मुख्य शाश्वत स्वरूप है। हाथ में शंख, चक्र, गदा धारण किया हुआ आकार गौण है ॥२७॥ जो मुख्य आकार का त्याग कर गौण रूप का अनुसरण करता है वह, सिद्ध अमृत का त्याग कर साध्य धान आदि को कृषि द्वारा उत्पन्न करता है ॥२८॥

तब बाह्य विष्णु भक्ति का अधिकारी कौन है ? ऐसा प्रश्न होने पर उसे कहते हैं।

हे वत्स रघुनन्दन, जो उन्मत्त मनवाला पुरुष आत्मज्ञान के चमत्कार में कदापि स्थिति को प्राप्त होता ही नहीं, आत्मविवेकलाभ से शून्य और अन्तगर्त अज्ञ मन का वशीभूत हो वह शंख–चक्र–गदाधारी परमेश्वर की पूजा करे ॥२९,३०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, परमेश्वर के पूजन से, वैराग्यकारी क्लेशप्रद तपस्या से उसका चित्त बहुत समय में निर्मलता को प्राप्त होता है ॥३१॥ नित्य के अभ्यास

और विचार से चित्त बहुत जल्दी निर्मल हो जाता है। आम ही धीरे-धीरे पुष्प, फल आदि में अतिसुगन्धिरूप दशा को प्राप्त होता है ॥३२॥ हे शत्रुतापन, शास्त्र में विष्णु पूजाक्रमरूप निमित्त से जो फल कहा गया है उसे भी अपने ही संकल्प से प्राप्त करता है ॥३३॥ जो अमित तेजवाले विष्णु से वरदान पाता है। उसने भी अपने ही अभ्यास रूपी वृक्ष का वह फल प्राप्त किया ॥३४॥ जैसे धान आदि बीजों के अंकुर का उद्गम स्थान खेत होता है वैसे ही सब श्रेष्ठ पुरुषार्थों के आग्रहों तथा सब चिरकाल के लिए भोग्य सम्पत्तियों का उद्गम स्थान अपना मनोनिग्रह ही है ॥३५॥ निधि, रत्न आदि के लाभ के लिए पृथ्वी खोदेने के लिए उत्सुक पुरुष का या अश्वमेध के अश्व को खोजने के लिए उत्सुक सगर लड़कों का अथवा मन्दराचल को खींच रहे देवता, असुर आदि का अपने मन के निग्रह के सिवा दूसरा कोई भी उपाय नहीं है यानी मन की एकाग्रता के बिना महाकार्यों की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती है ॥३६॥ तब तक मनुष्य हजारों जन्मों तक संसार में भटकते रहते हैं जब तक कि मनरूपी मत्त महासागर प्रशान्त नहीं हो जाता ॥३७॥

ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, रुद्रादि देवाधिदेव चिरकाल तक पूजित हों और दया भी करते हों, फिर भी वे मनोव्याधि के उपद्रवों से बचा नहीं सकते ॥३८॥ बाह्य इन्द्रियों से अनुभव में आनेवाले और अन्तःकरण से अनुभव में आनेवाले भयानक विषयरूप का त्यागकर जन्मक्षय के लिए जन्मादि विकारशून्य सन्मात्र का अखण्डाकार चिन्तन कीजिये ॥३९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आप बाह्य और आभ्यन्तर विषयों से निर्मुक्त, निरामयैकसंविन्मय, स्वयं निरतिशयानन्दरूप से भासित होनेवाले अनन्तरूप सन्मात्र का, जो सबका सार है, निरन्तर तदाकारवृत्ति से आस्वाद लीजिये। यों उसका आस्वाद ले रहे आप जन्मरूप नदी के उस पार पहुँच जाओगे ॥४०॥

तैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

चौवालीसवाँ सर्ग

मन की निराशता की सिद्धि के लिए दृश्य की
व्यर्थ दुःखस्वरूपता का गाधि के आख्यान में विस्तार से प्रदर्शन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, संसार नाम की यह माया अपरिमित भ्रान्ति की हेतु हैं। यह अपने चित्त पर विजय पाने से ही क्षय को प्राप्त होती है। अन्यथा नहीं ॥१॥ हे अनघ, जगन्मायाप्रपंच की विचित्रता के ज्ञान के लिये इस इतिहास को मैं आपसे कहूँगा। आप ध्यान देकर सुनिये ॥२॥ मेरु पर्वत पर कल्पवृक्ष वन के समान इस पृथिवी तल में कोशलनामक विविध रत्नों का भंडार भूत देश है ॥३॥ वहाँ पर गाधि नाम से प्रख्यात कोई गुणवान ब्राह्मण हुआ। वह परम श्रोत्रिय, धीमान् और मूर्तिमान् धर्म-सा था ॥४॥ जैसे निष्कलंक निर्मल आकाश में भुवन विराजमान् होता है वैसे ही बाल्यावस्था से विरक्त निष्कलंक निर्मल चित्त से वह विराजमान था ॥५॥ किसी अभीष्ट तपस्यारूप कार्य को अपना लक्ष्य बनाकर वह बंधुओं के समूह से हटकर तपस्या करने के लिए वन में चला गया ॥६॥ वहाँ पर जैसे चन्द्रमा अतिदर्शनीय अश्विनी आदि तारों से मण्डित और प्रसन्न-निर्मल आकाश को प्राप्त होता है वैसे ही वह विप्रराज फूले हुए कमलों से युक्त तालाब को प्राप्त हुआ ॥७॥ जब तक

भगवान विष्णु का दर्शन न मिले तब तक तपस्या करने के लिए वर्षाकाल के कमल के समान गले तक जल में डूबा हुआ वह ब्राह्मण उस तालाब में प्रविष्ट हुआ ॥८॥ तालाब के जल में डूबे हुए तथा निवास स्थानभूत तालाब के कमलों का सूर्य के वियोग से संकोच होने पर उनके सहवास स्नेह से तनिक मलिन मुखकमलवाले उसके आठ मास व्यतीत हो गये ॥९॥ तदनन्तर एक समय जैसे वर्षा ऋतु में ग्रीष्म से संतप्त पृथिवी तल पर काला मेघ आता है, वैसे ही तपस्या से कृश उसके पास श्यामलकान्तिवाले भगवान श्रीहरि आये ॥१०॥

श्रीभगवान् ने कहा : हे विप्र, जल के मध्य से उठो, मनमाना वर लो । तुम्हारा नियमरूपी वृक्ष अभीष्ट फल से युक्त हो गया है ॥११॥ ब्राह्मण ने कहा : भगवान्, असंख्य ब्रह्माण्डों में विद्यमान प्राणियों के हृदयकमल मध्य में स्थित भ्रमररूप और त्रिजगत् रूपी कमलिनी के तालाबरूप भगवान् विष्णु को नमस्कार है ॥१२॥ हे भगवान्, आपसे रचित इस संसार नामक माया को, जो परमात्मा में अध्यस्त है और जीवों को अन्धा बनानेवाली है, मैं देखना चाहता हूँ ॥१३॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, 'इस माया को तुम देखोगे और देखने के बाद इसका त्याग करोगे' ऐसा ब्राह्मण से कहकर भगवान् गन्धर्वनगर के समान अदृश्य हो गये ॥१४॥ भगवान् विष्णु के चले जाने पर वह उत्तम ब्राह्मण शीतल और निर्मल मूर्ति होने के कारण क्षीरसागर से चन्द्रमा के समान जल से उठा ॥१५॥ वह चन्द्रमा के दर्शन और स्पर्श से विकसित कमल की भाँति त्रिलोकी के अधिपति भगवान् के दर्शन से बहुत प्रसन्न हुआ ॥१६॥ तदनन्तर हरि भगवान् के दर्शन से आनन्द में मग्न हुए उसके वन में कितने ही दिन ब्राह्मणोचित तप, स्वाध्याय, अतिथि पूजा आदि से व्यतीत हुए ॥१७॥ एक समय जैसे महर्षि योगबल से अतीत और अनागत को देखने के विमान सरोवर में चिन्तन करते हैं वैसे ही विष्णु भगवान् के वचन का चिन्तन कर रह उसने फूले हुए कमलवाले तालाब में स्नान करना आरम्भ किया ॥१८॥ तदनन्तर स्नानविधि में सब पापों की निवृत्ति के लिए (अघमर्षण के लिए) उसने जल के भीतर कुशयुक्त अपने हाथ से आवर्त–सा किया ॥१९॥ जल में डूबकी लगा कर प्रणव आदि मन्त्रों के स्मरणरूप उस अघमर्षण विधि में जल के मध्य में स्थित उसके मन्त्र, ध्यान आदि विस्मृत हो गये और ज्ञान विपरीत ग्रहणोन्मुख हो गया । उसने अपने घर पर अपने को वायु वेग से कन्दरा के बीच में गिरे हुए वृक्ष के समान मृत और शोचनीयता को प्राप्त हुआ देखा । उसने अपने को प्राण और अपान वायुओं के प्रवाह से मुक्त, नाश को प्राप्त हुआ, निर्वात स्थान में गिरे हुए कदली के वृक्ष आदि के समान प्रशान्त अवयव चेष्टावाला, पीले मुँहवाला, वृक्ष के सूखे हुए पत्ते के समान मुरझाया हुआ, शव हुआ–सा, जिसकी नाल कट गई हो ऐसे कमल के समान कुम्हलाया हुआ, प्रातःकाल जिससे तारे अस्त हो गये ऐसे आकाश के समान अस्त नेत्र वाला देखा । वह अनावृष्टि से ग्रस्त ग्राम के समान चारों ओर धूलि से धूसरित था, करूण विलाप करनेवाले दुःखी दीन बन्धुओंसे, जिनका मुँह बाष्पधारा से आर्द्र था, वह ऐसे परिवृत था जैसे कुरर नामक पक्षियों से वृक्ष आवृत होता है । बाँध के टूट जाने से बह रहे जल से जिसका मुखरूप कमल हरा जा रहा हो, ऐसी कमलिनी के तुल्य भार्या ने उसके चरण परड़ रक्खे थे । ऊँचे गूँज रहे (रोदन कर रहे) भौंरों के समान प्रलाप और दीर्घ स्वर के आलाप में आसक्त माँ ने उसकी ठुड्डी, जो नूतन मूँछ–दाढ़ी से युक्त थी, पकड़ रक्खी थी ॥२०–२७॥ जैसे ओस बहा रहे सूखे पत्तों से वृक्ष परिवेष्टित होता है वैसे ही

पास में बैठे हुए दुःखी अश्रु धारा बहा रहे अन्यान्य लोगों से वह परिवेष्टित था ॥२८॥ वियोग के भय से मानों संयोग का त्याग कर रहे अतएव दूर हटे हुए हाथ, पैर आदि अंगों से अनात्मीयजनों की भाँति वह आवृत था ॥२९॥ परस्पर न सटे हुए ओठों से और कुछ मलिन सफेद दाँतों से अपने जीवन को इतने समय तक वृथा गया यों हँस रहे विरक्त पुरुष, के समान मौन ध्यान को प्राप्त हुआ-सा, पंक से बनाया हुआ-सा, फिर न जागने के लिए सोया-सा, दीर्घ विश्राम कर रहा-सा था ॥३०,३१॥ बान्धवों के रोने पीटने के कोलाहल से मिली हुई वाणियों को, किसका मेरे प्रति अधिक स्नेह और किसका कम यों विचार करने के लिए, मानों, यत्न से सुन रहा था ॥३२॥ तदनन्तर उस समय राशिभूत निरन्तर प्रलापों से व्याकुल चेष्टा वाले छाती पीटने के साथ मूर्च्छा से उत्पन्न नेत्र के जलप्रवाह से सराबोर दुःखी आत्माओं द्वारा, जो दीर्घ विलाप आदि के घर्घर शब्द से पूर्ण थे, उसका अमंगल शव फिर न देखने के लिए घर से बाहर निकाला गया और श्मशान में ले जाया गया। वह श्मशान माँस, आँतें और चर्बी के पंक से दूषित, सूखे और ताजे खून से तर तथा सैकड़ों कंकालों से व्याप्त था, चील-गीधरूपी मेघों से उसमें सूर्य की किरणें आच्छन्न थी, चिता की अग्नि से अन्धकार न था, सियारों के मुख से निकली हुई अशुभ ज्वालाओं से उसमें पृथ्वी पल्लवयुक्त-सी प्रतीत होती थी, वहाँ पर बह रही खून की नदियों में कोई सफेद चील और कौए स्नान करते थे और कोई डूब गये थे, खून से तर आँतों के समूहरूपी जाल में बूढे पक्षी बँधे हुए थे। वहाँ पर उन बन्धुओं ने प्रदीप्त अग्नि में जैसे समुद्र बड़वानल में अपने जलप्रवाह को भस्म करते हैं वैसे ही उसे भस्म किया ॥३३-३८॥

सूखे हुए इन्धनों से खूब बढ़ी हुई ज्वालाराशिरूपी जटाओं से युक्त उस चिता ने चट-चट शब्दों से शव को शीघ्र जला दिया ॥३९॥ अग्नि ने, जिसने बढ़ रहे कट-कट शब्दों से और छोड़ी गई दुर्गन्ध से मेघमण्डल को व्याप्त कर दिया था, उसकी अस्थि राशि को, जिससे बढ़े हुए रस निकल चुके थे, जैसे हाथी सूराखवाले बाँस के समूह को चारों ओर विदलित कर देता है वैसे ही विदलित कर दिया ॥४०॥

चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त

पैंतालीसवाँ सर्ग

गाधि का भिलनी के गर्भ में जन्म, किरात स्थिति और कीरपुर में राज्य प्राप्ति का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इसके बाद जल के भीतर स्थित हुए गाधि ने मानसिक दुःखों से भरी हुई अपनी बुद्धि से निर्मल आत्मा में अन्तरात्मा से अपने को भूतमण्डल नामक देश की सीमा के गाँव के नजदीक रहनेवाले चाण्डालों की स्त्री के गर्भ में स्थित अतएव आकुल देखा ॥१,२॥ गर्भवास के दुःखों से वह पीड़ित था, उसके कोमल अंग थे और वह अपनी विष्टा के समान चाण्डाली के हृदय में सोया था, अतएव व्याकुल था ॥३॥ क्रमशः परिपक्व होने के कारण जैसे वर्षा ऋतु काले मेघ को समय पर पैदा करती है वैसे ही समय पर चाण्डाली से उत्पन्न किया गया वह काली कान्तिवाला तथा मलमूत्र आदि से वेष्टित था ॥४॥ चाण्डालों के घर में उत्पन्न हुआ और चाण्डालों का अत्यन्त प्रिय शिशुरूप इधर-उधर चल रहा वह यमुना प्रवाह में गिरे हुए कर्णभूषणरूप नील कमल के समान था ॥५॥ बारह वर्ष की अवस्था को प्राप्त हुआ, तदनन्तर सोलह वर्ष की अवस्था में स्थित, स्थूल कन्धावाला,

विशालकाय, उदीयमान मेघ के समान था ॥६॥ शिकार खेलने के लिए कुत्तों से परिवृत होकर एक वन से दूसरे वन में विहार कर रहा, लाखों मृगों को मार रहा वह व्याधों की अवस्था को प्राप्त हुआ था ॥७॥ तदनन्तर तमाल की लता के समान चाण्डाल कन्या से उसने विवाह कर लिया था। वह स्तनरूप स्तवकों से सुशोभित थी, नूतन पल्लव के समान उसके हाथ थे। दाँत साफ न करने के कारण मलिन और स्वाभाविक शुक्लता के कारण निर्मल उसकी दन्तपंक्ति थी और वह स्वयं श्याम थी। नव पल्लवों का अनुकरण करनेवाले बहुत से विलासों से उसके अंग पूर्ण थे ॥८,९॥ जैसे काली भँवरी के साथ काला भौंरा पुष्पों की समृद्धि से पूर्ण वनान्तों में विहार करता है वैसे ही श्यामवर्ण वाला वह नूतन होने के कारण ही अभीष्ट श्यामवर्णवाली उसके साथ पुष्पों की समृद्धि से पूर्ण वन प्रान्तों में विहार करता था ॥१०॥ वन की पर्णलताओं के (ताम्बूल लताओं के) पत्ते में निवास कर रहा व्यसनों से आतुर वह पुरुष का आकार धारण किये हुए विन्ध्याचल के समान भीषण था ॥११॥ वह वन के कुंजों में विश्राम करता था, पर्वत की गुफाओं में सोता था, पत्तों की ओट में छिपा रहता था, बड़ी–बड़ी झाड़ियों को उसने अपना निवास स्थान बना रक्खा था ॥१२॥ वह किंकिरात की मंजरियों के कर्ण भूषणों से अलंकृत रहता था, जूही की मालाओं से विभूषित रहता था, केवड़े के कर्णपूरों से बड़ा सुन्दर लगता था और आम के बौरों की माला से आच्छन्न रहता था ॥१३॥ फूलों की सेजों पर लेटा रहता था, पर्वत के तटों पर घूमता था, वनों के विषय में असाधारण ज्ञान रखता था और मृगों का शिकार करने में पण्डित था ॥१४॥ तदनन्तर जैसे खैर काँटों को पैदा करता है वैसे ही उसने वनों में अपने कुल के अंकुररूप पुत्रों को, जिनके चरित्र अत्यन्त विषम (श्रवण के भी अयोग्य) थे, उत्पन्न किया ॥१५॥ पहले वह स्त्री–पुत्र आदि परिवारवाला हुआ, उसके बाद उसका यौवन क्षीण हो गया, तदनन्तर वृष्टि रहित भूमि की तरह धीरे–धीरे जर्जर हो गया ॥१६॥ तदुपरान्त भूतमण्डल नामक देश की अपनी जन्मभूमि में जाकर दूर पर्ण कुटी बनाकर मुनीश्वर के समान रहने लगा ॥१७॥ वह जरा से अत्यन्त जर्जरता को प्राप्त हो गया। अपने शरीर के समान प्रमाणवाले उसके लड़के थे, वह गड्ढे में उत्पन्न सुखे हुए तमाल वृक्ष के सदृश था ॥१८॥ वह बड़ा प्रौढ़ था, चाण्डाल की गृहस्थी कर रहा था, उसके बहुत से बन्धु बान्धव थे, नाम, कर्म और वचन बड़े क्रूर थे और वह बहुत बड़ी कुटुम्ब वृद्धि को प्राप्त हुआ था। उसने अपने को इस प्रकार देखा ॥१९॥ तदनन्तर अन्य चाण्डालों से वृद्ध, अपने पूर्वोक्त भ्रम का अनुसरण कर रहे कुटुम्बी गाधि ने अपना जितना कुटुम्ब था उसे मृत्यु द्वारा आवृत कर जैसे वृष्टि–जल का प्रवाह वन में गिरे हुए सूखे पत्तों को ले जाता है वैसे ही गया देखा ॥२०,२१॥ दुःख से पीड़ित वह झुण्ड से बिछुड़े हुए मृग के समान एकाकी ही वन में रोता था। उसके नेत्र आँसुओं से भीगे रहते थे और उसका कोई अवलम्बन न था ॥२२॥ शोक से व्याकुल बुद्धिवाले उसने कुछ दिन वहाँ बिताकर जैसे सूखे कमलवाले सरोवर का हंस आदि त्याग कर देते हैं वैसे ही स्वदेश का त्याग कर दिया ॥२३॥ अवलम्बनरहित और शोकपीड़ित वह किसी दूसरे के द्वारा प्रेरित हो रहे की नाईं वायु से उड़ाये गये बादल की भाँति बहुत देशों में भटकता फिरा ॥२४॥ एक समय आकाश में सुन्दर विमान के समान आकाश में विचरण करनेवाला वह कीर लोगों के निवासभूत देश में श्रीमती पुरी में पहुँचा ॥२५॥ वह स्वर्ग मार्ग के तुल्य राजमार्ग के मध्य में पहुँचा जहाँ पर रत्नों और वस्त्रों से आच्छादित मार्ग स्थित वृक्ष, लताएँ और अंगनाएँ नाच रही

थी, टखनों तक फूल बिखरे हुए थे, अधीन राजाओं, ललनाओं और नागिरक लोगों से जो ठसाठस भरा था और चन्दन तथा अगर से सुशोभित था ॥२६,२७॥ वहाँ पर उसने चलने से चंचल हुऐ सुमेरु पर्वत के, जिसमें श्रेष्ठ मणियों से देवताओं के मन्दिर बने थे, तुल्य श्रेष्ठ रत्नों के झूले से अलंकृत मंगल हाथी को देखा ॥२८॥ जैसे रत्न परीक्षा में कुशल पुरुष चिन्तामणि को देखने की इच्छा से रत्न के लिए विहार करे वैसे ही राजा के मरने पर राजा के लिए वह इधर-उधर विहार कर रहा था ॥२९॥ उस चाण्डाल ने कौतूहल से विस्फारित दृष्टि से स्पन्दयुक्त पर्वत के तुल्य उस हाथी को चिरकाल तक देखा ॥३०॥ उस हाथी ने देख रहे उस चाण्डाल को अपनी सूँड़ से पकड़कर जैसे मेरू अपने तट पर सूर्य को संलग्न करता है वैसे ही बड़े आदर के साथ उसको अपने गण्डस्थल पर चढ़ाया ॥३१॥ जैसे प्रलयकाल के मेघ के आकाश में आरूढ़ होने पर सागर गरजते हैं वैसे ही उसके गण्डस्थलपर आरूढ़ होने पर चारों ओर विजय के नगारे बजने लगे ॥३२॥ मनोरथों को पूर्ण करनेवाला राजा सुशोभित हुआ। तदनन्तर जागे हुए पक्षियों की ध्वनि के समान राजा की जय हो, इस प्रकार की जनध्वनि उत्पन्न हुई, जिसने दिशाओं को भर दिया था ॥३३॥ इसके बाद सागरों की, जिनका जल तटों से टकराया हो, ध्वनि के समान बन्दिवृन्दों का तुमुल कोलाहल हुआ ॥३४॥ क्षीरसागर के मन्थन से जनित क्षोभ से घूम रही लहरियों ने जैसे मन्दराचल को परिवेष्टित किया था वैसे ही सुन्दर-सुन्दर ललनाओं ने, अलंकृत करने के लिए, उसे घेर लिया ॥३५॥ जैसे वेलाएँ, जिनमें सूर्य नाना प्रकार के मणियों में प्रतिबिम्बित होने के कारण तत्-तत् प्रभाओं से सुशोभित रहता है, अपने तटवर्ती पर्वत को पूरित करती हैं वैसे ही उन्होंने सूत्रों में गुँथे हुए रत्नों से उसे परिपूर्ण किया ॥३६॥ जैसे वृष्टियाँ जल प्रवाहों से वन मध्य में स्थित उत्तम शिखर को विभूषित करती है वैसे ही हिम के समान शीतल स्पर्श वाले हारों से उन युवतियों ने उसे विभूषित किया ॥३७॥ जैसे चंचल कररूपी पल्लववाली बसन्तशोभा वनको फूलों से वेष्टित करती है वैसे ही विचित्र वर्ण और सुगिन्ध वाले फूलों से स्त्रियों ने उसे परिवेष्टित किया ॥३८॥ जैसे पर्वत मेरु आदिधातुओं की प्रभाराशियों से मेघ को लिप्त करता है वैसे ही विविध रंग, रस और सुगन्धिवाले विलेपनों से उन्होंने शीघ्र उसका लेप किया ॥३९॥ जैसे मेरु सन्ध्याकाल के मेघ, तारे, चन्द्रमा और आकाश गंगा से व्याप्त आकाश को ग्रहण करता है वैसे ही रत्न और सुवर्ण के भूषणों से भूषित उसने उनके हर चित्त को हर लिया ॥४०॥ भाँति-भाँति के विलासों से युक्त ललनारूपी लताओं से परिवेष्टित और मणि और सुवर्ण के आभूषणों से विभूषित वह विलास युक्त छोटी-छोटी लताओं से परिवृत रत्नरूपी पुष्प और वस्त्रों से सुशोभित कल्पवृक्ष के समान सुशोभित हुआ ॥४१॥ इस प्रकार के उसके पास जैसे फूले हुए मार्ग के वृक्ष के समीप पथिक जाते हैं वैसे ही परिवार युक्त सब प्रकृतियाँ आई ॥४२॥ उन्होंने जैसे देवता ऐरावत हाथी पर इन्द्र का अभिषेक करते हैं वैसे ही उसी हाथी पर उसका सिंहासन में अभिषेक किया ॥४३॥ जैसे कौआ परिपुष्ट, प्राणविहीन जंगली हरिण को पाता है वैसे ही उस चाण्डाल ने कीरनगर के मध्य में इस प्रकार राज्य प्राप्त किया ॥४४॥ कीरदेश की नारियों के करकमलों से जिसके चरण दबाये जाते थे, सर्वांग में कुंकुम के लेप से जो सन्ध्याकाल के समान सुन्दर था, इस प्रकार का वह नागरिक ललना जनों से युक्त होकर जैसे फूले हुए वन में सिंहिनियों के झुण्ड से युक्त सिंह सुशोभित होता है वैसे ही कीरनगर में सुशोभित हुआ ॥४५,४६॥ जैसे तालाब में सूर्य की किरण और मद से

सन्तप्त हुआ हाथी जल के प्रवाहों से क्रीड़ा करता है वैसे ही सिंहों से विदीर्ण किये गये हाथियों के कुम्भों से गिरे हुए मोतियों से विभूषित शरीरवाला और चिन्ता एवं विषाद से शून्य वह सज्जनों के साथ भोगों से आनन्द लेता था ॥४७॥ चारों ओर उसकी राज्यशक्ति व्याप्त थी, अतएव सब दिशाओं में उसकी आज्ञा चलती थी। कुछ दिनों में स्वेच्छा से ही उसकी सारी राज्यव्यवस्था सिद्ध हो गई थी। प्रकृतियों ने ही उसके समस्त अधीनस्थ राजाओं का भार वहन किया था, इस प्रकार का वह गवल इस नामसे प्रसिद्ध होकर वहाँ पर राजा हुआ ॥४८॥

पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

छियालीसवाँ सर्ग

उसे दूसरे चाण्डाल से चाण्डाल जानकर लोगों के
अग्नि में प्रवेश करने पर उसका भी अग्नि में भस्म होना और गाधि का प्रबुद्ध होना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, वह विलासवती सुन्दरियों से परिवृत मन्त्रिमण्डल द्वारा सन्मानित, सब सामन्तों द्वारा वन्दित, छत्र और चँवरों से लालित अप्रतिहत आज्ञावाला तथा सुन्दर आकृतिवाला था। उसे राज्य के सब गुण ज्ञात थे। उसकी प्रजाओं के शोक, भय, क्लेशआदि नष्ट हो गये थे। निरन्तर स्तुतिमंगल और आनन्दपूर्ण वृत्ति से, आसवों से अत्यन्त उन्मत्त हुए पुरुष की नाईं, वह अपने स्वभाव को भूल गया ॥१–३॥ कीरदेश में उस चाण्डाल ने आठ वर्ष तक राज्य किया। तब तक उसने दया, दाक्षिण्य, शौचादि सद्वृत्तियों को पूर्णरूप से धारण किया ॥४॥ तदनन्तर एक समय वह अपनी इच्छा से भूषणरहित अतएव अन्धकार सा तारे चन्द्रमा, सूर्य के तेज और मेघों से रहित आकाश के तुल्य स्थित था ॥५॥ वह हार, बाजूबन्द कड़े आदि आभूषणों का बहुत आदर न करता था क्योंकि प्रभुता से परिपूर्ण चित्त को कृत्रिम आभूषण आदि भले नहीं लगते ॥६॥ जैसे अस्त को प्राप्त होता हुआ सूर्य मुख्य आकाशरूपी आँगन से आकाश के अन्तिम भाग को जाता है वैसे ही वह मुख्यजनों से आश्रित भीतर के आँगन से साधारण लोगों से सेवित बाहरी आँगन में पूर्वोक्त वेष से अकेला ही गया। वहाँ पर उसने वसन्त में उत्पन्न हुए कोकिलों के समूह की नाईं मधुर गा रहे काले और स्थूलदेहवाले चाण्डालों के संघ को देखा ॥७,८॥ वह जैसे भ्रमर पंक्ति, जिसके पंख शब्द कर रहे हों, वृक्ष को कम्पित करती है वैसे ही करपल्लव की लीला से वीणा के तारों को मधुर स्वर के साथ बजा रहा था ॥९॥ उनमें से एक बूढ़ा चाण्डालों का नेता उठा जिसके लालनेत्र थे और जो हिमसे आच्छन्न पर्वत के काँचमय श्रृंग के समान वृद्धावस्था से सफेद हुए केशों से आच्छन्न काले शरीर का था ॥१०॥ उसने 'कटंज' इस पूर्वनाम से कीर देश के अधिपति गवल का सहज संबोधन करते हुए कहा : जैसे श्रृंगारी पुरुष मधुरकण्ठवाले कोकिल का सम्मान करता है वैसे ही यहाँ पर राजा गानविद्या में कुशल मधुर कण्ठवाले आपका सम्मान करता है क्या ? जैसे वसन्त फल और पुष्पों की राशियों से आम के वृक्ष को पूर्ण कर देता है, वैसे ही घर, वस्त्र, आसन आदि के दान से राजा आपको पूर्ण करता है क्या ? आपके दर्शनों से सूर्योदय से कमल के समान तथा चन्द्रमा के उदय से औषधियों के समान मैं परम आनन्द को प्राप्त हुआ हूँ। बंधुओं का दर्शन सब आनन्दों को, बड़े–बड़े लाभों की और अनन्त विश्रामों की चरम सीमा है।

चाण्डाल के ऐसा कहने पर राजा ने उस काल में उत्पन्न हुई विभिन्न चेष्टाओं से ही उसका तिरस्कार किया। उसी समय झरोखे में बैठी हुई स्त्रियों और अमात्यआदि प्रकृतियाँ यह चाण्डाल है यह जानकर अत्यन्त उदास हुई ॥११-१६॥ जैसे तुषार से भरनेवाली वृष्टि से कमल शोभित नहीं होते और जैसे उत्पातों से युक्त ग्राम शोभित नहीं होते और जैसे वनाग्नि से भरे हुए पर्वत शोभित नहीं होते वैसे ही वे नागरिक शोभित नहीं हुए ॥१७॥ जैसे वृक्ष की चोटी पर बैठी हुई बिल्ली के फुफकार का सिंह तिरस्कार करता है वैसे ही राजा ने चाण्डाल के संभाषण का तिरस्कार किया ॥१८॥ उसने तुरन्त जैसे राजहंस अनावृष्टि से जिसके कमल म्लान हो रहे हों ऐसे तालाब में प्रवेश करता है वैसे ही आनन्दरहित अन्तःपुर में प्रवेश किया ॥१९॥ जिसके तने के बड़े खोखले में अग्नि लगी हो ऐसे सेमल आदि का वृक्ष जैसे म्लानता को प्राप्त होता है वैसे ही वह सब अवयवों में भीनी हुई म्लानता को प्राप्त हुआ ॥२०॥ वहाँ पर चूहे ने जिसकी जड़ खा डाली हो ऐसे कुंकुम के फूलों की झाड़ी के समान सब लोगों को उसने उदास देखा ॥२१॥ तदनन्तर उन मन्त्री, नगरवासी और नारियों ने जैसे घर में ही स्थित शव का लोग स्पर्श नहीं करते वैसे ही उसका स्पर्श नहीं किया ॥२२॥ जैसे दुःखी अत्यन्त स्नेहवाली ललनाएँ शव का दूर से ही त्यागकर देती हैं ऐसे ही सेवकों ने असत्कृत उसका दूर से ही त्याग कर दिया ॥२३॥ उसके मुँह पर आनन्द की रेखा भी न थी, शरीर काला पड़ गया था, शोभा ने तो उसका सर्व त्याग कर दिया था, इसलिए वह श्मशान भूमि के समान था। दुःखी नागरिकों ने उसका कुछ भी सम्मान नहीं किया ॥२४॥ उसका शरीर धुएँ के समान मैला था। जैसे पर्वत के शिलामय प्रदेश के समीप अग्नि नहीं जाती वैसे ही परिताप दशावाली जनता उसके समीप नहीं गई ॥२५॥

अपनी आज्ञाशक्ति से उसने जनता को क्यों वशीभूत नहीं किया ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

योद्धाआदि के समुदाय से उपेक्षित मन्दोत्साह हुई उसकी आज्ञा, भस्म में जलबिन्दुओं के समान, आज्ञापन योग्य पुरुष को प्राप्त न कर सकी ॥२६॥ जैसे लोग राक्षस से भयभीत होकर भागते हैं वैसे ही क्रूर कार्यकारी आकारवाले तथा संगति से अशुभ फल देनेवाले उससे भयभीत होकर लोग विशेषरूप से भागते थे ॥२७॥ यद्यपि वह बहुत से लोगों के बीच में रहता था तथापि जैसे परदेश में धन आदि गुणों से रहित पथिक बहुत बड़े जनसमुदाय के बीच रहता हुआ भी अकेला ही रहता है वैसे ही वह भी अकेला ही हुआ ॥२८॥ जैसे पथिक वायु के कारण शब्द कर रहे तथा मोतियों की राशि से युक्त भी कीचकनाम के विशेष बाँसों को वचन नहीं देते हैं यानी उनसे बातें नहीं करते वैसे ही खूब पुकार रहे एवं मोतियों के हारों से अलंकृत भी उसे नगरवासियों ने प्रतिवचन नहीं दिया ॥२९॥ इसके अनन्तर हम सब लोग चिरकाल तक चाण्डाल के स्पर्श से दूषित हैं, प्रायश्चितों से हमारी शुद्धि होगी नहीं; अतएव हम लोग अग्नि में प्रवेश करते हैं, ऐसा निश्चयकर नगर में सब नागरिक तथा मन्त्रियों ने सूखी हुई लकड़ियों से बढ़ाई हुई चिताएँ चारों ओर बनाई ॥३०,३१॥ तब आकाश में तारों के समान चारों ओर उसमें चिताओं के प्रज्वलित होने पर सारे नगर के लोग विलाप करने लगे ॥३२॥ करुण विलाप करनेवाला और आँसुओं की धारा वर्षानेवाली नारियों द्वारा नगर व्याप्त था तथा वहाँ जल रहे कुण्डों के आस-पास लोग किंकर्तव्यविमूढ़ होकर रो रहे थे ॥३३॥ जैसे वायुओं से अरण्य दृढ़तर शब्द करता है वैसे ही अग्निकुण्डों में प्रविष्ट हुए मंत्रियों के सेवकों के रोदन द्वारा सारा नगर खूब आँसू बहा रहा था और विलाप कर रहा

था ॥३४॥ चिताओं में जले हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणों के मांस से अधिक गन्धवाली उत्पात की आँधी द्वारा मिट्टी के ढेरों से उठे हुए धूलि कणों से ऐसा प्रतीत होता था मानों उस पर तुषार की वृष्टि हुई हो ॥३५॥ वायु से दूर–दुर तक फैली चर्बी की गन्ध से दूर से लाये गये पक्षियों और पिशाच आदि के मण्डलों से छिन्न सूर्यवाला वह नगर बादलों से जिसमें सूर्य आच्छन्न हो ऐसे आकाश की नाईं हुआ ॥३६॥ वायु से उड़ाई गई चिताओं की अग्नि से उस नगर का आकाश मण्डल जल रहा था तथा उड़े हुए अग्नि कणों के संघातरूपी तारों से दिशाएँ कर्बुरित हो गई थी ॥३७॥ वहाँ पर उन्मत्त चोर लुटेरों द्वारा आभूषण आदि के हरण के समय बालक और कुमार रो और काँप रहे थे, भयभीत नागरिकों ने अपने जीवन और नाम का त्याग कर दिया था एवं किसी प्रकार की मर्यादा नहीं रह गई थी ॥३८॥ उस नगर में घर नहीं दिखाई देते थे, चोरों ने सब धनसंचय लूट लिया था, लोगों ने अपने पुत्र–कलत्र का त्याग कर दिया था और मरने के लिए सब नगरवासी व्यग्र थे ॥३९॥ इस प्रकार इस कष्ट पर विधिविपर्यय के, जिससे सारी जनता की पूर्ण प्रलय के समान स्थिति थी, प्रवृत्त होने पर शोक से व्याकुल चित्तवाले गवलने, राज्य के सज्जनों के संसर्ग से जिसकी धीर बुद्धि पवित्र हो गई थी, विचार किया। मेरे ही कारण यह अनर्थ, जो अकाल प्रलयमय और सब नेताओं का नाशकारी है, इस देश में उत्पन्न हुआ है। मेरे जीवन के क्लेश से क्या प्रयोजन है मेरे लिए मरना ही महोत्सव है। लोकनिन्दनीय दुष्ट जीव का जीवन की अपेक्षा मरण अच्छा है ॥४०–४३॥ ऐसा विचार कर गवल ने अपने शरीर को पतंग की नाईं बिना किसी उद्वेग के प्रज्वलित अग्नि में आहुति बना दिया ॥४४॥ गवल नामक उस देह के निर्वेदवश अग्नि में गिरने और अवयवों से व्याकुल होने पर अपने अंगों के दाहवश हिलने–डुलने के कारण जल के अन्दर अघमर्षण कर रहे गाधि तुरन्त बोध को प्राप्त हुए ॥४५॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : मुनि महाराज के ऐसा कहने पर दिन बीत गया, सूर्य भगवान् अस्ताचलावलम्बी हो गये और सभा मुनिजी को नमस्कार कर सायंकाल की विधि के लिए स्नानार्थ चली गई और दूसरे दिन रात्रि बीतने पर सूर्य की किरणों के साथ फिर आ गयी ॥४६॥

छियालीसवाँ सर्ग समाप्त

सैंतालीसवाँ सर्ग

अतिथि से अपना पूर्वोक्त कीरराज वृत्तान्त सुन कर,
स्वयं वहाँ जाकर, देखकर और पुनः पुनः पूछ कर गाधि का विस्मित होना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्र, तदनन्तर श्रीगाधिजी जैसे समुद्र का अति संक्षुब्ध तटवर्ती आवर्त शान्त होता है ऐसे पूर्वोक्त संसार भ्रम से शान्त हुए ॥१॥ जैसे प्रलय के समय ब्रह्माजी जगत् की रचना से विरत होते हैं वैसे ही मन की रचनारूप मोह से वे विरत हुए ॥२॥ जैसे मदिरा आदि के मद के शान्त होने पर स्वच्छ चित्त हुआ पुरुष' मैं अमुक हूँ' इस बोध को प्राप्त होता है वैसे ही निद्रारहित बुद्धिवाले शान्त हुए गाधि धीरे–धीरे पूर्वोक्त गाध्य अहंभाव बोध को प्राप्त हुए ॥३॥ जो स्नान के लिए जल में उतरा था वह गाधि मैं हूँ यह अवशिष्ट स्नान, तर्पण आदि कृत्य मेरा कार्य है यह पहले देखा गया चाण्डाल राज्यआदि मेरा कार्य नहीं है यह उन्होंने वैसे ही देखा जैसे कि रात्रि के बीतने पर अन्धकारावरण

के क्षीण होने पर लोग देखते हैं ॥४॥ जैसे शिशिर ऋतु के अन्त में वसन्त कमल को, जिसका मुकुलरूपी मुख उत्पन्न हो चुका हो, जल के अन्दर से बाहर करता है वैसे ही गाधि ने, जिन्हें अपने स्वरूप का स्मरण हो चुका था, जल से पैर बाहर किया ॥५॥ पूर्वानुभूत जल, दिशा और आकाशवाली इस पृथिवी को फिर अन्य-सी देख वे परम विस्मय को प्राप्त हुए ॥६॥ मैं कौन हूँ क्या देखता हूँ, मैंने क्या किया यों क्षण भर भ्रूभंगपूर्वक अन्दर विचार करते हुए स्थित रहे ॥७॥ थके हुए मैंने उस थकावट से ही क्षणभर में ही भ्रम देखा। ऐसा विचारकर वह जैसे उदयाचल से सूर्य निकलते हैं वैसे ही जल से बाहर निकले ॥८॥ उठकर उन्होंने विचार किया मेरी वह माता कहाँ है और वह स्त्री कहाँ है ? जबकि मैं माता और पत्नी के बीच में मृत्यु को प्राप्त हुआ ॥९॥ जैसे वायु से उड़ाये गये पत्ते का माता-पिता स्थानीय लताप्रधान वृक्ष तलवार से नष्ट हो जाता है वैसे ही मुझ मन्दभाग्य के माता और पिता, जब मैं बालक ही था तभी, मृत्यु से नष्ट हो गये थे ॥१०॥ मैं अविवाहित हूँ जैसे ब्राह्मण चित्त में क्षोभ पैदा करनेवाली दुष्ट मदिरा के रस को नहीं जानता वैसे ही मैं क्षोभकारिणी स्त्री का स्वरूप भी नहीं जानता ॥११॥ मेरे जन्मभूमि के अमात्य बन्धु-बान्धव मुझसे बहुत दूर है, जिनके बीच में मैंने प्राण त्यागे थे, वे न मालूम कौन थे ? ॥१२॥ इसलिए उत्पन्न हुए ये विविध प्रकार के पदार्थ और जन्म आदि का अभिमान गन्धर्वनगर के समान मैंने क्या देखा ? ॥१३॥

स्वप्न के समान बाध होने के कारण उसकी असत्यता का निश्चय कर उसकी उपेक्षा करते हैं।

यह बन्धुओं के बीच में मृत स्थिति रहे इस मायाजनित मोह में यह कुछ भी सत्य दृष्टिगोचर नहीं होता ॥१४॥ जैसे मदोन्मत्त सिंह वनराजियों में घूमता है वैसे ही यह प्राणियों का चित्त अनन्त भ्रान्तियों में नित्य घूमता है ॥१५॥ इस प्रकार गाधि ने चित्त में उस मोह का विचार कर उसी अपने आश्रम में कुछ दिन बिताये ॥१६॥ वहाँ एक समय गाधि के पास कोई प्रिय अतिथि ब्रह्मा के पास दुर्वासा की तरह आया। श्रान्त हुए उसने वहाँ पर विश्राम लिया। जैसे वसन्त फल, पुष्प, रस आदि से वृक्ष को परम प्रसन्नता को प्राप्त कराता है वैसे ही गाधि ने फल, पुष्प, रस और भोजन से उस अतिथि को प्रसन्नता को प्राप्त कराया ॥१७,१८॥ एकान्त में दोनों ने सन्ध्यावन्दन और जप किया। दोनों ही क्रम से कोमल पल्लवों के शयनों पर आकर बैठे ॥१९॥ तदनन्तर उन दोनों तपस्वियों की अपने तप, ध्यान आदिकर्मों के अनुरूप शान्तरस प्रधान कथा ऐसी ही प्रवृत्त हुई जैसे कि भगवान् सूर्य का उत्तर दिशा से सम्बन्ध होने पर वसन्त में वसन्त ऋतु के अनुरूप पुष्पशोभा प्रवृत्त होती है ॥२०॥ गाधि ने बातचीत के सिलसिले में उस अतिथि से पूछा कि ब्रह्मन्, आप क्यों कृश हैं और क्यों थके हैं ? ॥२१॥ अतिथि ने कहा : भगवान्, मेरी अत्यन्त कृशता और श्रम का कारण सुनिये। हम लोग असत्यवादी नहीं हैं, जो वास्तव बात है, उसे मैं आपसे कहता हूँ ॥२२॥ इस भूतल में उत्तर दिशारूपी निकुंज है, उसमें कीर नाम से विख्यात समृद्ध और विशाल देश है ॥२३॥ उसमें पुरवासी लोगों से सन्मानित हो रहा और विविध प्रकार के आत्मा को अच्छे लगनेवाले भोगों में तृष्णायुक्त और चित्तरूपी वेताल से मोहित मैं एक मास रहा ॥२४॥ वहाँ पर कहीं एक समय एक ने कथा के सिलसिले में मुझसे कहा : हे द्विज, यहाँ पर आठ वर्ष चाण्डाल राजा हुआ ॥२५॥ तदनन्तर गाँव में पूछे गये सब लोगो नें आठ वर्ष तक यहाँ पर चाण्डाल राजा हुआ, यह कहा ॥२६॥ वह अन्त में जाना गया और शीघ्र अग्नि में प्रविष्ट हो गया। उससे सैकड़ों

ब्राह्मणों ने यहाँ पर अग्नि में प्रवेश किया ॥२७॥ हे विप्र, उनके मुख से यह सुनकर उस देश से बाहर निकलकर मैंने शुद्धि के लिए प्रयाग में प्रायश्चित्त किया ॥२८॥ आज तीसरे चान्द्रायण के बाद पारणा करके मैं यहाँ आया हूँ, इसी कारण मैं थका हूँ और अत्यन्त कृश हूँ ॥२९॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जब गाधि ने यह सुना तब उन्होंने ब्राह्मण से फिर पूछा। उन्होंने यही बात कही इससे विपरीत बात नहीं कही ॥३०॥ इसके बाद आश्चर्य को प्राप्त हुए गाधि ने उस रात्रि को वहाँ पर बिताकर जगद्रूपी घर के महादीपस्वरूप सूर्य के उदित होने पर और प्रातःकाल स्नानविधि कर चुकने पर पूछकर अपने अतिथि के चले जाने पर विस्मय से भरी हुई बुद्धि से यह विचार किया ॥३१,३२॥ 'जो बात मैंने भ्रान्ति दशा में देखी वही मेरे अतिथि ने सत्य कही। मेरा इस प्रकार का रूप शाम्बरी माया है क्या ? ॥३३॥ जो मैंने बन्धुओं के बीचमें अपना वह मरण देखा वह तो निःसन्देह माया ही है उसमें संवाद अर्थात् सत्यत्व देखा नहीं जा सकता, किन्तु अवशिष्ट जो अतिथि के चान्द्रायण में निमित्तभूत अपना चाण्डाल वृत्तान्त है, उसे मैं देखूँगा ॥३४॥ मैं अपने उस चाण्डाल वृत्तान्त को देखने के लिए खेदरहित होकर भूतमण्डल देश की सीमा में स्थित ग्राम में शीघ्र जाता हूँ' ॥३५॥ ऐसा विचार कर रहे गाधि मण्डलान्तर को जाने के लिए उद्यत होकर जैसे सूर्य मेरु के पार्श्वभाग को देखने के लिए उदित होते हैं वैसे ही उठे ॥३६॥ उद्योगी बुद्धिमान् पुरुष, मनोराज्य को भी पा जाता हैं। गाधि ने जाकर स्वप्न में देखा हुआ ज्यों का त्यों पाया ॥३७॥ उद्योग से दुष्प्राप्त भी सब कुछ प्राप्त होता है। देखिये, न जगन्माया को स्वप्न में देख रहे गाधि उसे नेत्रगोचर करने को तत्पर हुए ॥३८॥ गाधि घर से निकल कर मार्ग में वर्षा ऋतु के जल प्रवाह के वेग से त्वरायुक्त हुए। उन्होंने वाततुरंगम के (वायु ही जिसका वाहन है यानी मेघ के) तुल्य बहुत से देशों को लाँघ डाला ॥३९॥ जैसे काँटों को चाहनेवाला अकेला ऊँट बबूल के वन में जाता है वैसे ही गाधि एकाकी ही पूर्वोक्त प्रकार के आचार–विचारवाले उक्त भूतण्डलनामक देश में पहले गये ॥४०॥ फिर वहाँ पर बुद्धि में स्थित (स्मृति पथ में आरूढ़ हो रहे) अवयव संनिवेश से (आकार प्रकार से) गन्धर्व नगर के तुल्य किसी एक गाँव को उन्होंने देखा ॥४१॥ उस गाँव के छोर पर गाधि ने भुवन के नीचे पाताल में नरक मण्डल के समान उसी चाण्डाल गृह को देखा ॥४२॥ गन्धर्व के समान गाधि ने जिसमें जन्म आदि के विस्तार का चित्त में विचार किया था और जो गृह आदि में प्रचुर आसक्तिवाला था इस तरह अपना चाण्डालत्व चिह्नों से देखा ॥४३॥ पहले देखे गये चाण्डाल गृह ने अपने उसी आकार–प्रकार से गाधि के मन को अपूर्व वैराग्य में पहुँचा दिया ॥४४॥ वह चाण्डालगृह वर्षाऋतु की मूसलाधार वृष्टि से छिन्न–भिन्न हो गया था, उसकी दीवारों पर जौ के अंकुर जमे थे, उसका आधा छप्पर अस्त–व्यस्त हो गया था एवं उसमें कुछ–कुछ शयन के भग्नावशेष दृष्टिगोचर हो रहे थे। वह दारिद्र्य के समान कठोर था, दुर्भाग्य के समान दीवारमात्र अवशिष्ट गृहाकार था, चौर्य आदि दौरात्म्य के समान उसके अवयव शिथिल हो गये थे और दुर्दशा के समान उसका एक भाग खण्डित हो गया था ॥४५,४६॥ गाधि ने दाँतों से चबाई हुई गाय, घोड़े, भैंस आदि की सफेद हड्डियों से, जो मानों गवाही देने के लिए वहाँ पर पड़ी थीं, चारों ओर व्याप्त, जिनमें उसने पहले भोजन और पान किया था, वर्षा के निश्चल जल से भरे हुए अतएव ऐसा मालूम पड़ता था आसव आदि से भरे हैं ऐसे खप्परों से आवृत, तृष्णाओं के समान लम्बी लम्बी सूखी हुई उन्हीं आँतों से लता के समान स्तम्भ आदि

के वेष्टनों द्वारा परिवेष्टित उस प्राक्तन अपने घर को शुष्क शवप्राय हुए प्राक्तन देह के समान बड़ी त्वरा से चिरकाल तक देखा ॥४७-५०॥ गाधि को बड़ा आश्चर्य हुआ वह जैसे पथिक म्लेच्छनगर को लाँघकर आर्यों के देश में जाता है वैसे ही उसके समीपवर्ती कुग्राम में गये ॥५१॥ वहाँ पर उन्होंने लोगों से पूछा : हे सज्जन, क्या आपको इस गाँव के छोर पर पहले हुए चाण्डाल वृत्तान्त का स्मरण है। सभी धीमान् पुरुष चिरकाल की घटनाओं को भी हथेली में रक्खे हुए आँवले के समान स्पष्टरूप से देखते है, ऐसा मैंने सज्जनों के मुँह से सुना है ॥५२,५३॥ हे सज्जन, यहाँ पर एकान्त में निवास करनेवाले अतिवृद्ध चाण्डाल का, जो दुःखों की मूर्ति के समान था, क्या आपको स्मरण है ? हे साधो, यदि आप उसको जानते हैं, तो यथार्थरूप से मुझसे कहिये। हे पथिक, सन्देह को निवृत्त करने में बड़ा पुण्य कहा गया है ॥५४,५५॥ गाधि नाम के ब्राह्मण ने ग्रामीण लोगों से अत्यन्त आश्चर्य और प्रश्नोद्योग के साथ बार-बार पूछा जैसे कि आतुर पुरुष अत्यन्त आश्चर्य और प्रश्नोद्योग के साथ चिकित्सक से पूछता है ॥५६॥ ग्रामीणों ने कहा : हे ब्रह्मन्, जैसे आप कहते हैं वह ठीक वैसे ही है, उसमें कुछ भी हेर-फेर नहीं है। यहाँ पर क्रूर आकृतिवाला कटंजनाम का चाण्डाल हुआ ॥५७॥ जिसका वृक्ष के पत्र समूह की नाईं पुत्र, पौत्र, सुहृद, चाकर और बन्धु-बान्धवों का संघ अति विस्तृत हुआ ॥५८॥ जैसे वनाग्नि पर्वत के पुष्पफल से पूर्ण वन को नष्ट कर देती है वैसे ही काल ने जिस वृद्ध के सारे कुटुम्ब को नष्ट कर दिया ॥५९॥ तदनन्तर जो देश का त्याग कर कीरप्रदेश में गया, वहाँ पर बिना किसी उद्वेग के आठ वर्ष तक राजा हुआ ॥६०॥ वहाँ यथार्थ वृत्तान्त जानकर लोगों ने जिसे ऐसे ही दूर कर दिया जैसे कि लोग अनर्थ की राशि को दूर कर देते हैं और जैसे ग्राम में विष वृक्ष को दूर कर देते हैं ॥६१॥ तदुपरान्त लोगों के अग्नि में प्रवेश करने पर आर्यों के संसर्ग से आर्यता को प्राप्त हुआ वह स्वयं अग्नि में प्रविष्ट हुआ ॥६२॥ हे प्रभो, आप इतने प्रयास से चाण्डाल को क्यों पूछते हैं, क्या वह आपका बन्धु था या आप स्वयं उसके बन्धु हो गये ? ॥६३॥ इस प्रकार कह रहे ग्रामीणों से फिर-फिर पूछ रहे गाधि वहाँ पर सब प्रान्तों में पूरा एक महीना रहे ॥६४॥ जिस प्रकार गाधि ने चाण्डालता का अनुभव किया था उसी प्रकार सभी ग्रामीणों ने ज्यों-का-त्यों सारा वृत्तान्त कहा ॥६५॥ सब प्राणियों के मुँह से सत्य वचन सुनकर स्वयं भी अबाधित प्रत्यभिज्ञा से जैसे अनुभूत हुआ था वैसे देख कर लज्जा से गूढ़ आकृतिवाले गाधि चन्द्रमा के कलंक की नाईं अपने हृदय में उत्पन्न हुए परम विस्मय को प्राप्त हुए ॥६६॥

सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

अड़तालीसवाँ सर्ग

गाधि का कीरनगर में जाकर आश्चर्यपूर्वक देखकर तपस्या से
भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना तथा विष्णु का यह सब माया है, यह कहना।

वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, चाण्डालों के घर में चिरकाल से आसक्त गाधि का मन फिर आश्चर्य में पड़ गया, क्योंकि अद्भुत दृश्य को देखने से गाधि का मन तृप्त नहीं हुआ ॥१॥ वहाँ गाधि ने प्रलयकाल के उपद्रव से नष्ट हुए त्रिलोक को जिस तरह ब्रह्मा देखते हैं उसी तरह बहुत से स्थानो और घरों को देखा ॥२॥ जैसे पिशाच सूखी हड्डियों की मालाओं से परिवेष्टित श्मशान के वृक्ष पर अपने

आप कहता हैं, वैसे ही जंगल में खण्डहर में उसने अपने मन में कहा कि परिखा में खाई में गाड़ी हुई ये मरे हुए हाथियों के दाँतों की मालाएँ आज भी प्रलयकाल को लक्ष्य करके मेरु की चोटियों के समान स्थित हैं ॥३,४॥ यहाँ पर पहिले मैंने मद्य पीकर उन्मत्त हुए अपने चाण्डाल भाईयों के साथ बंदरियों का मांस पके हुए बाँस के अंकुरो के साथ खाया था ॥५॥ हाथियों के मद से तीखा मद्य पीकर मैं चाण्डाल तरुणी का सिंहचर्म पर आलिंगन कर यहाँ पर सोया था ॥६॥ यहाँ पर मैंने मांस और खल से पुष्ट हुई कुत्तियाँ मृत हाथियों के दांत रूपी खूँटों पर रस्सियों से बाँधी थी ॥७॥ यहाँ पर हाथियों के मोतियों की तीन उखाओं के (थालियों के) परिमाणवाला हाथियों के दाँतों का पात्र था, जो काले मेघ की शोभा को धारण किये हुए भैंसे के चर्म से ढका हुआ था ॥८॥ ये वे भूमिस्थल हैं जहाँ पर आम के पत्तों पर कोकिलों के समान चाण्डाल बालकों के साथ चिरकाल तक मैंने धूलि–क्रीड़ा की थी ॥९॥ यहाँ पर उन बालकों के साँस से बजते हुए बंसी के ताल स्वर के समान गान किया था, कुत्ती का रुधिर पीया था और मुर्दे को सजानेवाली वस्तुओं से सबकी सजावट की थी ॥१०॥ यहाँ पर विवाहों में अपने सब कुटुम्ब के साथ कुटुम्बवाले मैंने जैसे सागरमें कल्लोल ध्वनिपूर्वक नृत्य करते हैं वैसे ही उत्कृष्ट ध्वनिवाला नृत्य किया था ॥११॥ यहाँ पर दूसरे दिन के भोजन के लिये पकड़े हुए काक, भास आदि पक्षियों का जो उड़ने के कारण चंचल थे; बाँस का पिंजड़ा बनाया था ॥१२॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, इस तरह की पहिले हुई चाण्डालों की क्रियाओं का (कुकर्मों का) स्मरण करते हुए गाधि, जिनका सिर आश्चर्य से काँप रहा था, विधाता की विचित्र लीलाओं का विचार करने लगे ॥१३॥ कर्तव्य को जाननेवाले गाधि उस देश से बहुत काल के बाद चले एवं क्रम से भूतमण्डल नामक देश को छोड़कर दूसरे देश में पहुँचे ॥१४॥ तदनन्तर बहुत–सी नदियों, पर्वतों, देशों तथा जंगलों का उल्लँघन करके हिमालय पर्वत के मध्य में रत्न के समान श्रेष्ठ पूर्वदृष्ट कीर देश में पहुँचे ॥१५॥ वहाँ पर गाधि, जिस प्रकार संसार की यात्रा करने से थके हुए नारदजी स्वर्ग को प्राप्त करते हैं वैसे ही रत्नों से समृद्ध पर्वत के समान ऊँचे महलोंवाले राजनगर में पहुँचे ॥१६॥ उसके बाद अपने उपभोग में आये हुए अपने महल, देखे हुए दूसरों के मकान और पूर्व में अपने आनन्द के साधनभूत बाग बगीचों को और नगर के बहुत से स्थानों को देखते हुए गाधि नागरिक लोगों से पूछने लगे : हे सज्जनों, क्या आप लोगों को स्मरण है कि यहाँ का राजा चाण्डाल था, यदि आप जानते हैं, तो इस विषय विधिपूर्वक शीघ्र वर्णन कीजिये ॥१७,१८॥

नागरिक लोगों ने कहा : हे द्विज, यहाँ आठ वर्ष तक चाण्डाल राजा हुआ, जिसको मंगल हस्ती ने राजा बनाया था अन्त में स्वरूप ज्ञात होने पर अग्नि में जल गया। हे तपस्विन्, आज इस बात को हुए बारह वर्ष बीत गये हैं ॥१९,२०॥ इस प्रकार कुतूहल से भरे हुए गाधि जिस–जिस मनुष्य को देखते थे उस–उस मनुष्य से पूछते थे और उसी के मुख से सुनते थे और आस्वादन करते थे ॥२१॥ इसके अनन्तर गाधि ने उस नगर में बल–वाहन के साथ (सेना अश्वादि के सहित) राजमहल से बाहर निकले हुए राजा के रूप में चक्रधर भगवान् विष्णु को देखा ॥२२॥ उड़ती हुई धूलिरूपी मेघों द्वारा आकाश को आच्छादित करती हुई सेना को देखकर अपनी पूर्वराज्यावस्था का स्मरण करके अत्यन्त विस्मय को प्राप्त हुए गाधि ने कहा ॥२३॥ ये वे ही कीर देश के नृप की कामिनियाँ हैं, जिनकी त्वचाएँ कमल के

मध्यभाग की तरह कोमल हैं और जिनका रंग पिघले हुए सुवर्ण की भाँति सुन्दर है और जिनके नेत्र चंचल नीलकमल के सदृश हैं ॥२४॥ ये चन्द्रमा की किरणों की राशि के सदृश श्वेत, निश्चल निर्झर के समान, तथा आकाशों के फूलों की राशि के समान चँवरों का समूह सामने है ॥२५॥ मनोहर ललनाएँ इन चँवरों को डुला रही हैं, मानों वन की लताएँ खिले हुए पुष्पों की समृद्धि कँपाती हो ॥२६॥ कल्पवृक्ष से युक्त मेरु पर्वत की शिखर परम्परा के समान ये वे सब दिशाओं के भागों में उन्मत्त हाथियों के जम घर हैं ॥२७॥ ये वे इन्द्र के यम आदि लोकपालों के समान राजा के यम, वरुण, कुबेर के समान तेजस्वी अधीन देशों के राजा लोग हैं ॥२८॥ ये कल्पवृक्ष लताओं के कुंजों की तरह सुन्दर, सब अभीष्ट वस्तुओं को देनेवाली एवं हर एक वस्तुओं से भरी हुई घरों की पंक्तियाँ विस्तृत हैं ॥२९॥ यह वही कीर जनता का राज्य है, जिसका मैंने पहले उपभोग किया था और जिसका आज अपने पूर्वजन्म के चरित्र की भाँति मुझे प्रत्यक्ष हुआ है ॥३०॥ यह बिलकुल सत्य है कि यह समाचार पहले स्वप्न की तरह देखा गया फिर जाग्रद्‌भूत होकर सामने खड़ा है, न मालूम किससे, क्यों और किसलिये इस माया का बार–बार आविर्भाव होता है ॥३१॥ कष्ट की बात है, जैसे विस्तार को प्राप्त हो रहे जाल से पक्षी विवश हो जाता है वैसे ही मैं फैल रहे मन के दीर्घ मोह से विवश हो गया हूँ ॥३२॥ हा ! बड़े खेद की बात है, अप्रबुद्ध और वासना से नष्ट हुआ मेरा मन नन्हें से बालक के मन की नाईं विस्तृत विविध भ्रमों को देखता है ॥३३॥ यह बड़ी माया पहले तपस्या से प्रसन्न किये गये विष्णु भगवान् ने भली–भाँति मुझे दिखाई है। अब मुझे अच्छी तरह सारा वृतान्त का स्मरण हो गया है ॥३४॥ इसलिए अब पर्वत की गुफा में जाकर ऐसा यत्न करूँगा, जिससे इस मिथ्या ज्ञान की उत्पत्ति के निमित्त का और इसकी स्थिति के निमित्त का मुझे ज्ञान हो जाय ॥३५॥ ऐसा सोचकर गाधि उस नगर से चले गये और पर्वत की गुफा में जाकर थके हुए सिंह की तरह बैठ गये ॥३६॥ वहाँ उस बड़े भारी तेजस्वी गाधि ने डेढ़ वर्ष तक चुल्लूभर पानी पीकर विष्णु भगवान् को प्रसन्न करने के लिए कठिन तपस्या की ॥३७॥ इसके अनन्तर जल की तरह स्वच्छ मूर्तिवाले, कमल नेत्र एवं नीलकमल की तरह श्यामवर्णवाले विष्णु भगवान् शरत् काल में जलस्वरूप एवं नीलकमलों से श्यामवर्णवाले बड़े भारी सरोवर की नाईं गाधि पर प्रसन्न हो गये ॥३८॥ गाधि के निवासभूत पर्वतराज की उस गुफा में भगवान् उनके पास आये और आकाश में मेघ के समान विशुद्ध श्याम कान्तिवाले भगवान् वहाँ खड़े हो गये ॥३९॥

श्रीविष्णु भगवान् ने कहा : हे गाधि, क्या तुमने मेरी गुरुतर माया को देखा और संसाररूपीजाल के कार्य को भी देखा जिसमें भाग्य ही निमित्त है ? ॥४०॥ हे गाधि, मनोवांछित इस मायादर्शन के प्राप्त होने पर पर्वतभूमि में तपस्या करके निष्कलंक हुए तुम और क्या चाहते हो ? ॥४१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार कह रहे विष्णु भगवान् के दर्शन कर द्विजों में श्रेष्ठ गाधि ने पुष्पों की राशि से भगवान् के चरणों की पूजा की ॥४२॥ पुष्पों को बिखेरते हुए गाधि ने अर्घ्य देकर और प्रदक्षिणा के साथ शीघ्र प्रणाम कर जैसे चातक मेघ से कहता है वैसे ही विष्णु भगवान् से यह वाक्य कहा ॥४३॥ हे भगवान्, यह जो आपने अत्यन्त अन्धकारमय माया दिखाई है, उसको आप जिस प्रकार सूर्य प्रातःकाल में पृथिवी को प्रकट करते हैं उसी प्रकार प्रकट कीजिये ॥४४॥ हे देव वासनारूपी मल से मलिन मन जिस भ्रम को स्वप्न की नाई देखता है, वह जाग्रदवस्था में भी क्यों

दिखाई देता है ? ॥४५॥ हे अविद्यादिमल से रहित प्रतिष्ठावाले, मुझे जल के अन्दर क्षणभर के लिए स्वप्न की तरह उपलब्ध हुआ यह भ्रम अधिक काल तक दृष्टिगोचर क्यों हुआ ? ॥४६॥ मेरे चाण्डाल विषयक मिथ्या ज्ञान से कल्पित समयकी दीर्घता एवं अल्पता तथा चाण्डाल शरीर का जन्म और नाश मन में ही क्यों न स्थित रहे वे बाहर कैसे स्थित हैं ? ॥४७॥

श्रीभगवान् ने कहा : हे गाधि, जिस संसाररूपी भ्रम को तुम देखते हो यह सब जिसको तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है, अतएव वासनारूपी व्याधि से जो ग्रस्त है उस मनोभाव को प्राप्त हुए आत्मा का स्वरूप है, वस्तुतः कुछ नहीं है ॥४८॥

यदि कहो है, तो मन में ही है बाहर कुछ नहीं है, ऐसा कहते हैं।

आकाश, पर्वत, समुद्र, पृथ्वी, दिशा आदि कुछ भी बाहर नहीं हैं। ये सब अंकुर में पत्तों के समूह की नाईं अपने चित्त में ही हैं ॥४९॥ जिस प्रकार अंकुर से फल, पुष्प आदि बाहर प्रकट होते हैं उसी प्रकार पृथिवी, आकाश आदि पदार्थ भी मनोभाव को प्राप्त हुए आत्मा से बाहर प्रकट होते हैं ॥५०॥ यह सत्य है कि पूर्वोक्त पृथिवी आदि चित्त में स्थित हैं बाहर कभी नहीं रहते हैं, क्योंकि यह देखा गया है कि पल्लव अंकुर में स्थित है और फल की शोभा पल्लवाधीन है ॥५१॥ वर्तमान विषय में चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा रूपालोक प्रत्यय, भावी विषय में मनस्कार प्रत्यय, (अर्थात् भावी काल में विषय का मन से समर्थन किया जाता है, अतः भावी विषय में मनस्कार प्रत्यय होता है) एवं अतीत विषय में तत्ता प्रत्यय होता है, क्योंकि अतीत स्मृति का विषय होता है अतः तीनों प्रत्ययोंके ज्ञापक तीन काल हुए और कालों की व्यंजिका सूर्य की क्रिया है। इसलिए सबका पर्यवसान क्रिया में ही हुआ। इस क्रियात्मक वस्तुओं का उपसंहार और सृष्टि मन स्वयं ऐसे ही करता है जैसे कि कुम्हार घट का नाश और सृष्टि करता है ॥५२॥ इस पूर्वोक्त बात का सब बालक, वृद्ध और वनिताएँ स्वप्न, भ्रम, मद, आवेग, राग, रोग आदि की बुद्धियों में अनुभव करते हैं अर्थात् स्वप्नभ्रमादि सब चित्त के ही धर्म हैं ॥५३॥ जैसे जड़ों से (मूलों से) पृथिवी को आक्रान्त किये हुए वृक्ष में लाखों फल और पुष्प रहते हैं, उसी प्रकार वासनाओं से युक्त चित्त में लाखों (पृथ्वी आदि) वृत्तान्त रहते हैं। भाव यह है कि सदधिष्ठान के अवष्टम्भ के बल से चित्त संसार को धारण करता है ॥५४॥ जैसे पृथिवी से उखाड़े गये वृक्ष में पत्ते आदि नहीं रहते वैसे ही वासना रहित जीव के जन्म आदि नहीं होते हैं ॥५५॥ जिस चित्त में सदधिष्ठान के अवलम्बन से अनन्त जगत्–रूपी जाल फँसा है उस चित्त में यदि चाण्डालत्व प्रकट हो गया, तो इसमें क्या आश्चर्य है ? अर्थात् कुछ आश्चर्य नहीं है ॥५६॥ जिस प्रकार प्रचुर वेगवाली तथा विविध प्रकार के मानसिक चिन्तारूपी विकार को पैदा करनेवाली चाण्डालता प्रतिभास के द्वारा (अज्ञान के द्वारा) तुम्हें ज्ञात हुई है उसी तरह एक ब्राह्मण अतिथि आया, उसने भोजन किया, वह सोया और उसने कथा कही' यह भी सब तुमने भ्रमात्मक ही देखा है ॥५७,५८॥ उसी प्रकार 'मैं उठ कर जाता हूँ, मैंने भूतमण्डल नाम के ग्राम को प्राप्त किया, ये भूत हैं, ये ग्राम हैं' यह भी तुमने भ्रमात्मक ही देखा है ॥५९॥ उसी प्रकार कटंजनाम के चाण्डाल का यह नष्ट हुआ प्राक्तन घर है, यों मनुष्यों से कहे गये कटंज के गृहरूप भ्रम को तुमने देखा ॥६०॥ उसी प्रकार 'मैंने कीर देश को प्राप्त किया और कीरदेश के वासियों ने मुझसे चाण्डाल के राजा होने की कथा कही' यह सब भी तुमने भ्रम ही देखा ॥६१॥ हे द्विजोत्तम, इस प्रकार तुमने यह सब

मोहजाल देखा है, जिसको तुम यह सत्य है, यों जानते हो और जिसको यह असत्य है, यह भी तुम जानते हो ॥६२॥ वासनाओं से ओतप्रोत चित्त अपने भीतर क्या नहीं देखता, वर्ष भर में सिद्ध (पूरा) होनेवाले कार्य को भी स्वप्न में सिद्ध हुआ देखता है ॥६३॥ न अतिथि है, न वे कीर हैं, न वे भूत हैं और न वह नगर है। हे महाबुद्धिवाले, यह सब तुमने व्यामोह से (अज्ञान से) देखा है ॥६४॥ तुम भूतदेश और कीर देश को अभी भी नहीं गये, किन्तु अतिथि का वाक्य सुनकर भूतदेश को जाते हुए तुमने रास्ते में थकावट के कारण किसी पर्वत की गुफा में विश्राम किया और वहीं श्रम से विमूढ़ चित्त होने के कारण स्वप्न की तरह यह वह भूतमण्डल है, यह चाण्डाल का घर हैं इत्यादि सब तुमने भ्रमात्मक देखा है, परमार्थतः नहीं देखा है ॥६५,६६॥ हे द्विज, उसी प्रकार वहीं पर कीरनगर भी भ्रमात्मक देखा है और दूसरे दिन अघमर्षण के समय भी सब मायापूर्ण वस्तुएँ (या कार्य) देखी हैं ॥६७॥ हे मुनि, केवल ये ही पूर्वोक्त भ्रम तुमने नहीं देखे प्रत्युत सब कालों में समस्त दिशाओं में मदोन्मत्त की नाईं घूम रहे तुमने मन से विशिष्ट भ्रम देखा है ॥६८॥ इसलिए उठो और शान्त बुद्धि होकर अपना ब्रह्मचर्याश्रमोचित अग्निहोत्रादि एवं स्वाध्याय आदि कर्म करो, क्योंकि यहाँ मनुष्य अपने कर्म किये बिना कल्याण को प्राप्त नहीं होते हैं ॥६९॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे वत्स, तीनों लोकों के तपस्वियों से पूजित एवं भगवान् के चरण स्पर्शादि से पवित्र हाथोंवालो पंडित और मुनियों के समूह से घिरे हुए पद्मनाभ भगवान्, इस प्रकार कह कर अपने स्थान क्षीर सागर को चले गये ॥७०॥

अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त

उनचासवाँ सर्ग

गाधि का भूतमण्डल और कीर देश में पुनः जाकर पुनः-पुनः
श्रीहरि से पूछ कर तथा यह सब माया है यह निश्चयकर क्रम से जीवन्मुक्त होना।

भगवान् के वाक्य के अर्थ को असंभावना और विपरीत भावना की दृढ़ता से न समझ रहे गाधि जगत् के अधिष्ठानभूत आत्मतत्त्व के साक्षात्कार के बिना ही पूर्वदृष्ट देशआदिका बाध हो सकता है या नहीं यह परीक्षापूर्वक अनुभव करनेकी इच्छा से फिर भूतमण्डल आदि देशों में भटके, ऐसा कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, तदुपरान्त भगवान् विष्णु के चले जाने पर फिर गाधि स्वयं अपने मोह के विचारके लिए भूतमण्डल आदि देशों में आकाश में मेघ की नाईं क्रम से भटके ॥१॥ तदनन्तर लोगों के मुँह से अपने चाण्डलत्व आदि के वृत्तान्त को पूर्वानुभूत के तुल्य ही सुनकर और चिह्नों से देखकर फिर पर्वत की गुफा में जाकर उन्होंने श्रीहरि भगवान् की आराधना की ॥२॥ तदुपरान्त थोड़े ही समय में भगवान् श्रीहरि उनके पास आये। भगवान एक बार थोड़ी-सी आराधना से ही बन्धुता को प्राप्त हो जाते हैं ॥३॥ जैसे मेघ मयूर के प्रति बोलता है वैसे ही प्रसन्न हुए भगवान् गाधि के प्रति बोले : हे गाधि, तपस्या से तुम फिर क्या चाहते हो ? ॥४॥

गाधि ने कहा : हे देवदेव, मैंने छः महीने तक भूमण्डल और कीरराज्यमें भ्रमण किया। वहाँ पर जनप्रवादों में भी मेरे वृत्तान्त में व्यभिचार नहीं आया यानी वह ज्यों-का-त्यों सुना गया ॥५॥ हे प्रभो,

आपने मुझसे तुमने माया से भूतमण्डल देखा, ऐसा क्यों कहा ? महात्माओं का वचन मोह के नाश के लिए होता है न कि मोह की वृद्धि के लिए। माया से दृष्ट पदार्थ कालान्तर में अवश्य व्यभिचरित होते हैं, किन्तु ये तो अव्यभिचरित हैं, अतः ये माया है, ऐसा कैसे समझा जा सकता है ? यह भाव है ॥ ६॥

मायिक पदार्थ भी जनप्रवादों में अव्यभिचरित हो सकते हैं, इसमें उपपत्ति कहते हैं।

श्री भगवान् ने कहा : गाधे, काकतालीय न्याय से प्रसिद्ध भूतमण्डल देश के और कीरदेश के लोगों के मन में, तुम्हारे मन की नाईं, कटंज चाण्डाल की स्थिति अपरोक्ष रूप से भ्रान्तिवश प्रतिबिम्बित है ॥७॥

वे भी अपनी भ्रान्ति से ही वैसा कहते हैं, इसलिए उनके वचन का संवाद सत्यता का आपादक नहीं है, ऐसा कहते हैं।

इसलिए वे तुम्हारे वृत्तान्त को जैसे का तैसा कहते हैं। बाधक ज्ञान के बिना प्रतिभास (भ्रम) अभ्रमता को प्राप्त नहीं होता ॥८॥ किसी चाण्डाल द्वारा गाँव के छोर पर बनाया गया मकान, जो कि यह पहले मैंने बनाया था यों तुम्हारे भ्रान्तिजनित आग्रह का विषयीभूत है और अब ईंटों के टुकड़ों के रूप में परिणत हो गया है, तुमने देखा था ॥९॥ कभी भ्रान्ति रूप प्रतिभास बहुतों का भी एक–सा ही होता है। कौए की ताड़ के पेड़ के नीचे स्थिति के समान मनोगति बड़ी विचित्र है ॥१०॥ देखो न बहुत से लोग एक ही स्वप्न देखते हैं जैसे कि निद्रा के समान भ्रमप्रद मदिरा के मद से मत्त चित्तवाले बहुत से समानरूप से घूम रही–सी दिशाओं को देखते हैं ॥११॥ एक ही नीली वनस्थली में मृग के बच्चों के समान बहुत से बालक एक ही बालू आदि से बनाये हुए गृह, हल, दुर्ग आदि की भ्रमलीला में खेलते हैं ॥१२॥ वध, बन्धन, पराजय, पलायन आदि विविध आकारवाले अपने प्रारब्धफल पाक के प्राप्य होने पर भी बहुत से सैनिक आदि लोग एक ही समय एक तरह के जय, लाभ, भोग आदि प्रयोजनों की भ्रान्ति से उनके लोभ से युद्ध आदि द्वारा यत्न करते हैं, यह प्रसिद्ध है ॥१३॥

यदि मानस कल्पना ही जगत् है, तो हेमन्त आदि समय धान आदि के अंकुरों का प्रतिबन्धक और जौ आदि के अंकुरों का सहायक है, इस लोक प्रसिद्धि का बाध होगा, क्योंकि मानस कल्पना का बाह्य काल सहायक नहीं हो सकता है, गाधि की इस शंका का निवारण करते हुए कहते हैं।

काल प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा (स्वीकृति) का दाता है ऐसा जो लोकप्रवाद है, उसमें विरोध नहीं आता है क्योंकि प्रतिबन्ध और अनुज्ञा का हेतुभूत काल भी संकल्प मात्र ही है। यानी दिशा विशेष से अवच्छिन्न सूर्य की क्रिया को देखकर मन ही शास्त्रानुसार मास, ऋतु आदि भेदों की कल्पना करता है।

शंका : तब अकल्पितकाल कौन है ?

समाधान : जो अकल्पित अखण्डकाल (परमात्मा) है, वह स्वात्मा में स्थित रहता है, किसी के लिए न तो प्रतिबन्धक होता है और न किसी को अभ्युज्ञा ही देता है ॥१४॥

इसी अर्थ को स्पष्ट करते हैं।

अमूर्त जो भगवान काल है, उसे तो पण्डित लोग जन्मादि विकार रहित ब्रह्म ही कहते हैं। वह न तो कभी किसी का कुछ भी त्याग करता है और न कभी किसी का कुछ भी ग्रहण करता है ॥१५॥

प्रथम काल की संकल्परूपता सिद्ध करते हैं।

वर्ष, कल्प, युगरूप जो यह लौकिक काल है, वह जन्यमात्र के कालरूप उपाधिजन्य होने के कारण सुर्य क्रिया, चन्द्र पिण्ड आदि पदार्थ समूहों द्वारा संकल्पित होता है और उस काल द्वारा प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञावश सब पदार्थों के समूह उनकी क्रिया फल आदि की व्यवस्था संकल्पित होती है ॥१६॥

प्रासंगिक शंका का खण्डन कर प्रस्तुत का अवलम्बन कर कहते हैं।

उन भ्रान्तचित्तवाले भूतदेश के और कीर देश के लोगों ने सदृश प्रतिभास से उत्पन्न भ्रम को वैसे ही देखा ॥१७॥

तब मुझे क्या करना चाहिये ? यह पूछने पर कहते हैं।

हे साधो, स्वव्यापार में तत्पर होकर यानी अपने वर्ण और आश्रम के आचरण में तत्पर होकर आप बुद्धि से अपने आत्मा का विचार कीजिये तथा मोहरहित होकर यहीं रहिये, मैं जाता हूँ ॥१८॥

ऐसा कह कर सबके अधिपति भगवान् विष्णु अन्तर्हित हो गये और चिन्ता से व्याप्त बुद्धि से युक्त गाधि कन्दरा में जा बैठे ॥१९॥ तदनन्तर पर्वत पर कुछ महीनों के बीतने पर वहीं उस गाधि ने पुण्रीकाक्ष भगवान् की पुनः आराधना की ॥२०॥ एक समय उन्होंने आये हुए प्रभु को देखा, प्रणाम किया, मन, वचन और कर्म से उनकी पूजा की तथा प्रश्न की अनुज्ञा के वाक्य से पूछा ॥२१॥

गाधि ने कहा : हे भगवन्, अपनी इस चाण्डाल स्थिति का चित्त से स्मरण कर रहा और इस जन्म, मरण आदि अनर्थ प्रचुर संसार माया का स्मरण कर रहा मैं अत्यन्त मोह को प्राप्त हो रहा हूँ ॥२२॥ इसलिए महामोह की निवृत्ति के लिए उपाय कह कर झटपट न चले जाइये, किन्तु संशय से उत्पन्न मोह का नाश होने तक स्थित होइये और मुझे एक ही निर्मल कर्म में नियुक्त कीजिये ॥२३॥

श्री भगवान् ने कहा : हे ब्रह्मन्, यह जगत् मायारूपी महाशम्बरासुर का आडम्बररूप है। इसमें आत्मतत्त्व के विस्मरण से यानी आवरण के निमित्तभूत अज्ञान से सब आश्चर्यमय कल्पनाएँ होती हैं ॥२४॥

माया में हजारों अघटित घटनाएँ हो सकती हैं, ऐसा कहते हैं।

तुमने भूतमण्डल और कीरनगर में जो वैसा देखा, वह सब संभव ही है, क्योंकि निद्रा आदि में असंभावित पदार्थों का भ्रम लोगों को दिखाई ही देता है ॥२५॥ भूतदेशवासियों और कीरदेशवासियों ने तुम्हारी ही तरह मिथ्या होते हुए भी सत्य की तरह वैसा भ्रम देखा, क्योंकि समान संकल्प से समान काल आदि का संभव है ॥२६॥ मैं तुम्हारे चाण्डाल निन्दा सम्बन्ध को प्रगटानेवाले यथार्थ विषय को कहूँगा, तुम इसे सुनो, इससे मार्गशीर्ष की लता के तुल्य तुम्हारी चिन्ता नष्ट हो जायेगी ॥२७॥ जो यह कटंज नाम का चाण्डाल भूतमण्डल में पहले हुआ, वह तुम्हारे द्वारा देखे गये उसी आकार-प्रकार से वैसे ही युक्त पहले हुआ। वैसे ही कलत्र रहित होकर दूसरे देश में गया, कीरदेश का अधिपति हुआ और तदनन्तर अग्नि में प्रवेश कर गया ॥२८,२९॥

यदि उस प्रकार का अन्य पुरुष हुआ, तो उसका वृत्त मेरे अनुभव पथ में कैसे आरूढ़ हुआ। इस प्रकार की आशंका होने पर कहते हैं।

तब जल के अन्दर डूबे हुए तुम्हारे मन में उस प्रकार की कटंज के आचार की स्थिति भ्रान्ति से केवल प्रतिभासित हुई, क्योंकि ऐसा ही तुम्हारा संकल्प था ॥३०॥

जो वस्तु कभी न देखी गई हो, दूसरे देश में हो और बीत चुकी हो, उसका सामने वर्तमान रूप से

दर्शन कैसे हो सकता है ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

जैसे द्रष्टा पुरुष कभी अनुभूत वस्तु को भी बिलकुल भूल जाता है वैसे ही चित्त कभी न देखी गई वस्तु को भी पूर्वदृष्ट के समान देखता है ॥३१॥ हे गाधे, जैसे स्वप्न से मनोरथ, संनिपात के भ्रम होते हैं वैसे ही जाग्रत् में भी मन से स्वयं भ्रम देखे जाते हैं ॥३२॥ जैसे त्रिकालदर्शी योगी की दृष्टि से भविष्यत् वस्तु भी उसके उत्तर काल में होनेवाले दृश्यमान पदार्थों की अपेक्षा भूतकालस्थ होती है वैसे ही हे गाधे, अतीत कटंज का चरित भी वर्तमान प्रतिभा को प्राप्त होता है ॥३३॥

यदि कहो आत्मभिन्न कटंज में और अनात्मीय उसके घरबार, स्त्री–पुत्र आदि में मेरा वही मैं हूँ, तदीय ही वह (गृह आदि) मेरा है, यों मज्जन कैसे हुआ ? तो इस पर थोड़ा कहा जाता है। अतत्त्वज्ञ सभी लोगों का अनात्मा देह में और अनात्मीय गृह, कलत्र आदि में 'अहम्' 'मम ऐसा अभिमान दिखाई देता है, केवल आत्मवित् का ही उनमें मज्जन नहीं होता, इस अभिप्राय से कहते हैं।

यह देह मैं हूँ तथा ये घर–द्वार आदि मेरे हैं, यों आत्मज्ञानी निमग्न नहीं होता। यह देह मैं हूँ तथा ये घर–द्वार आदि मेरे हैं, यों अनात्मज्ञानी निमग्न होता है ॥३४॥

सबमें अहंभावना से भी तत्त्वज्ञानी का उनमें मज्जन नहीं होता है, क्योंकि परिच्छिन्न अहंभाव ही मज्जन का हेतु है, ऐसा कहते हैं।

सब कुछ मैं ही हूँ ऐसी भावना से तत्त्वज्ञानी दुःखी नहीं होता, वह पदार्थों में भेदरूप अनर्थ भावना का ग्रहण नहीं करता है। इसी कारण वह सुख, दुःख से युक्त भ्रमों में जल में तुम्बी के समान निमग्नप्राय होता हुआ भी (卐) नहीं होता ॥३५,३६॥

तब मैं कैसा हूँ, ऐसा पूछने पर तुम अन्तरालवर्ती (मध्यवर्ती) हो, ऐसा कहते हैं।

विविध वासनाओं से ग्रस्त चित्तवाले, चेतनारहित तुम जिसकी महाव्याधि कुछ शेष रह गई हो, उस रोगी के सदृश हो, जैसे किंचित् अवशिष्ट महाव्याधिवाला पुरुष स्वास्थ्य को प्राप्त नहीं होता वैसे ही तुम भी स्वरूप में अवस्थित आत्मा को प्राप्त नहीं हुए हो ॥३७॥ जैसे गृह रचना या गृह प्रवेश आदि सम्यग् प्रयत्न से रहित पुरुष वृष्टि का निवारण करने में समर्थ नहीं होता वैसे ही ज्ञान के परिपूर्ण न होने के कारण तुम मनोभ्रम का निवारण करने में समर्थ नहीं हो ॥३८॥ जो ही तुम्हारे चित्त में सहसा प्रतिभासित होता है ऊँचे पुरुष से वृक्ष के समान क्षणभर में उसी से तुम आक्रान्त हो जाते हो यानी उसके अभिमान से तिरस्कृत हो जाते हो ॥३९॥ यहाँ पर इस माया चक्र का मध्यभूत चित्त चारों ओर घूमता है। यदि पुरुष उस चित्त आत्मा में प्रविलापन द्वारा तिरस्कार करके स्थित हो जाय, तो वह माया चक्र कुछ भी पीड़ा नहीं पहुँचाता है ॥४०॥ तुम उठो, पर्वत के कुंज में दस वर्ष तक अखिन्न बुद्धि होकर चित्त निरोध का अभ्यास करो। तदनन्तर तुम अनन्त ज्ञान प्राप्त करोगे ॥४१॥ ऐसा कहकर भगवान् श्रीहरि वायु में लीन मेघ की नाईं, बुझे हुए दीपक की भाँति और यमुना की तरंग की भाँति एक क्षण में वहीं पर अन्तर्हित हो गये ॥४२॥ जैसे शरद् ऋतु के बाद (पतझड़ में) वृक्ष पत्तों से रहित हो जाता है (विरसता को प्राप्त हो जाता है) वैसे ही गाधि विवेकवश उत्पन्न हुए वैराग्य को प्राप्त हुए ॥४३॥ गाधि

卐 सर्वोहंभावना में भी अहंकारता है, इसलिए निमग्नप्राय कहा है।

ने, जिनकी मति घूम रही भ्रमराशि से उन्मुक्त हो चुकी थी, प्राक्तन कर्म रूप दैवकी योग्य चाण्डाल भाव प्रदर्शनरूप विचित्र चेष्टा की थोड़ी निन्दा की ॥४४॥ जैसे गीला मेघ पर्वत पर जाता है वैसे ही करुणा से आर्द्र चित्तवाले गाधि कल्याणकारी चित्तनियमन के अभ्यास के लिए तथा सर्वश्रेष्ठ पद में विश्रान्ति के लिए ऋष्यमूक पर्वत पर गये ॥४५॥ वहाँ पर सब संकल्पों का त्यागकर गाधि ने दस वर्ष तक तप (मन तथा इन्दियों का संयम) किया, उससे उन्होंने आत्मज्ञान प्राप्त किया ॥४६॥ आत्मज्ञान प्राप्ति के उपरान्त महात्मा गाधि अपनी पारमार्थिक सत्ता प्राप्त कर भय–शोक रहित हो तथा निरन्तर उदित जीवनमुक्त स्वरूपवाले अतएव अपरिच्छिन्न स्वानन्द मद से आघूर्णित और पूर्ण चित्तवाले हो षोड़श कलाओं से पूर्ण चन्द्रमा के समान अपरिच्छिन्न ब्रह्माकाश में विहार करने लगे ॥४७॥

उनचासवाँ सर्ग समाप्त

पचासवाँ सर्ग

चित्त के आक्रमण केउपायों का, उत्तम ज्ञान के माहात्म्य का तथा
चित्तरूपी सर्प के स्थूलतारूपी दोष के हेतुओं का वर्णन।

पूर्व सर्गों में वर्णित गाधि के वृत्तान्त की प्रस्तुत कथा में योजना करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुनन्दन, इस प्रकार अत्यन्त फैली हुई यह महामोहमयी विषम माया अचिन्तनीय है, एकमात्र परमात्मा ही इसका आश्रय और विषय है ॥१॥

दुर्ज्ञानता को ही तीन प्रकारों से दर्शाते हैं।

कहाँ दो मुहूर्त के भ्रम से लोकदर्शन, और कहाँ अनेकों वर्षों में मुक्त होनेवाला चाण्डाल का भ्रम, कहाँ भ्रमावस्था में प्राप्ति और कहाँ प्रत्यक्ष दर्शन, कहाँ निसन्देह असत्यता और कहाँ सत्य में परिणत होना ? इसलिए मैं कहता हूँ, हे महाबाहो, यह विषम माया असावधान मनवाले पुरुष को प्रति दिन संकट में डालती है ॥२–४॥

चितंनाभिः किलाऽस्येह मायाचक्रस्यसर्वतः। स्थीयतेचेत्तदाक्रम्यतन्न किंचित् प्रबाधते॥

इस प्रकार भगवान् ने जो अन्त में गाधि को उपदेश दिया, उसके उपाय को जानने की इच्छा से श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं :

हे ब्रह्मन्, अधिकारी लोग परिपूर्ण आनन्दस्वरूप आत्मा को परिच्छिन्न समझनारूप अंगच्छेद के हेतुभूत तथा वेग से बह रहे इस मायाचक्र का निरोध कैसे करें ? ॥५॥

भगवान् द्वारा उपदिष्ट माया चक्र को रोकने के प्रकार का पहले विस्तार करने के लिए उक्त का अनुवाद करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुवर, आप चित्त को घूम रहे और भ्रान्ति देनेवाले इस संसारूपी मायाचक्र महानाभि (पहिये के बीच का भाग) जानिये ॥६॥ पुरुष प्रयत्न से बुद्धि द्वारा उस चित्तरूपी महानाभि के (पहिये के बीच के हिस्से के) रुकने पर मायाचक्र, जिसकी नाभि पकड़ ली गई है, भ्रमण से रुक जाता है ॥७॥ जैसे रस्सी के रोकने पर रस्सी में लपेटा हुआ काँसे आदि का बनाया हुआ क्रीड़ाचक्र (लट्टू) नहीं चलता है वैसे ही मोहचक्र, जिसकी मनरूपी नाभि रोक दी गई है, नहीं चलता ॥८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी,

आप चक्रयुद्धों में मुख्य तथा उनको रोकने और घुमाने आदि में कुशल है, इसलिए आप उक्त दृष्टान्त को क्यों नहीं जानते हैं ? नाभि में रोका गया चक्र वश में आता है, अन्यथा नहीं ॥९॥ हे रामचन्द्रजी, इसलिए प्रयत्न से चित्तरूपी नाभि को रोककर संसाररूपी चक्र को आत्मा को जन्मपरम्परा की प्राप्ति कराने से रोकिये ॥१०॥ इस चित्तनिरोधरूपी उपाय के बिना आत्मा को अनन्त दुःख प्राप्त हुआ है। इस दृष्टि के प्राप्त होने पर उस दुःख को क्षण भर में नष्ट हुआ ही जानिये। यदि मेरे कथन में संशय हो, तो आप वैसा करके देखिये, यह अर्थ है ॥११॥

इससे अतिरिक्त अन्य उपाय नहीं है, ऐसा कहते हैं।

केवल चित्तवशीकरणरूप परम औषधि के सिवा यह संसाररूपी महारोग प्रयत्न से भी शान्त नहीं होता ॥१२॥ इसलिए हे राघव, तीर्थस्नान, दान, तपस्या आदि कर्मों का मार्ग छोड़कर परम कल्याण के लिए भीतरी चित्त को ही वश में कीजिये ॥१३॥ जैसे घड़े के अन्दर घटाकाश रहता है वैसे ही चित्त के अन्दर ही संसार है। जैसे घड़े के नष्ट होने पर घटाकाश नहीं रहता वैसे ही चित्त का नाश होने पर संसार नहीं रहता ॥१४॥ जैसे घटाकाश में रोका गया मच्छरादि जिसमें दुःखपूर्वक संसरण है ऐसे आकाश कोटर को भाग्यवश घड़े के विनाश से नष्ट कर, अनुपम महाकाश में प्रवेश कर बन्धन रहित ही सुखी होता है वैसे ही आप भी चित्त के नाश से चित्तरूपी घटाकाश का विनाश कर अतुलित ब्रह्माकाश में प्रवेश कीजिये ॥१५॥

चित्त के नाश का क्या उपाय है ? इस पर कहते हैं।

बाह्य बुद्धि से वर्तमान क्षण का अनायास भजन कर रहा और भूत तथा भविष्यत् का भजन न कर रहा चित्त अचित्तता को प्राप्त होता है। भूत, भविष्यत् विषयों के अनुसन्धान के त्याग से ही क्रमशः चित्त का क्षय होता है, यह अर्थ है ॥१६॥ हे राघव, यदि आप भावी विषयों के संकल्प का और उसके अंशभूत पदार्थों का अनुसन्धान त्याग प्रत्येक क्षण में सावधानी से कीजिये, तो आप पवित्र अचित्तता को प्राप्त ही हैं ॥१७॥ जब तक संकल्प कल्पना है तब तक चित्त विभूतियाँ रहती हैं तथा जब तक मेघ का विस्तार रहता है तब तक वृष्टि के (आकाश जल के) बिन्दु रहते हैं ॥१८॥

इसी प्रकार चित्त के रहने पर संकल्पों का भी वारण नहीं किया जा सकता, ऐसा कहते हैं।

जब तक चेतन (चिदात्मरूप) चित्त सहित है तब तक अवश्य संकल्पों की कल्पना होगी, जब तक जगत् चन्द्रमा के किरणों से युक्त रहेगा तब तक ओस की बूँदें अवश्य होंगी ॥१९॥ यदि चेतन चित्त से पृथक् है यानी कूटस्थ है, यों भावना की जाय, तो अपने सार के मूलों को (काम, कर्म, वासना आदि को) मूलाज्ञाननाश के साथ महासिद्ध के समान जले हुए ही जानिये ॥२०॥

यदि कोई शंका करे कि भले ही मूल अज्ञान के साथ संसारमूलों का दाह हो, तथापि चेतन में फिर कल्पनारूपी मल के कारण चित्त आदि की उत्पत्ति क्यों नहीं होती है ? इस पर कहते हैं।

चित्त से पृथक् हुआ चेतन प्रत्यक्चेतन (आत्मा) कहा जाता है। वह स्वभावतः मनरहित है। उसमें कल्पनारूपी मल का संभव नहीं है ॥२१॥

चित्तरहित जो चेतनस्वरूप है, वही परमार्थ सत्यता है, वही निरतिशय आनन्दरूपता है, वही परमात्स्वभावभूत अवस्था है, वही सर्वावभासक चिद्रूपा है और वही परमार्थ दृष्टि है, किन्तु जिस

अवस्था में दुष्ट मन है वह वैसी नहीं है ॥२२॥

निन्द्यता के बीजों को दिखलाते हैं।

जहाँ पर मन रहता है वहीं पर जैसे श्मशान के समीप कौए आते है वैसे ही सदा विविध आशाएँ और सुख-दुःख समीप में आते हैं ॥२३॥

यदि कोई शंका करे कि ज्ञानियों के भी मन है फिर उनमें आशा आदि क्यों उत्पन्न नहीं होते ? तो उस पर कहते हैं।

ज्ञानियों का मन है यह बात ठीक है तथापि उनके मानस संकल्प में आशा आदि सब भावों की व्यवस्थापिका संसाररूपी लता के वासनारूपी बीज ही नहीं उगते, क्योंकि वे तत्त्वज्ञान से बाधित हो जाते हैं ॥२४॥

जो पदार्थ पहले वास्तविक रूप से ज्ञात हों उनका किस उपाय से अवस्तुत्वज्ञान रूप बाध होता है, ऐसा प्रश्न होने पर उसे कहते हैं।

शास्त्र और सज्जनसंगति के निरन्तर अभ्यास से जगत् के पदार्थों की अवास्तविकता ज्ञात होती है ॥२५॥ चित्त को अविवेक से हटाकर उद्यम के (पुरुषप्रयत्न के) साथ अवश्य इसी जन्म में ज्ञान प्राप्त करूँगा, इस तरह के दृढ़ निश्चयों से शास्त्रों और सत्संगति में जबरदस्ती लगाना चाहिये ॥२६॥

किस मुख्य कारण का अवलम्बन करके शास्त्र आदि से भी आत्मा का अन्वेषण करना चाहिए ऐसा यदि कोई कहे, तो स्वयंज्योतिरूप प्रत्यगात्मा का ही अवलम्बन करके आत्मा का अन्वेषण करना चाहिए, क्योंकि उससे वेद्य पदार्थों की विलक्षणता से उसी की स्वतः प्रथिति होती है, इस आशय से कहते हैं।

परमात्मा के दर्शन में मुख्य कारण आत्मा ही है, देखिये न अगाध जल में गिरा हुआ रत्न रत्न से ही (प्रकाशमान् अपने स्वरूप से ही) देखा जाता है ॥२७॥

पूर्व श्लोक में उक्त मुख्य कारणता को स्पष्ट करते हैं।

चूँकि अपना आत्मा ही अपने से अनुभूतदृश्य वस्तुएँ दुःख ही हैं, यों विवेकसे उन्हें छोड़ना चाहता है, अतएव अपने आत्मा के अवलोकन में दृश्य प्रतिकूल स्वभाववाली आत्मा ही स्वयं एक मुख्य कारण कहा गया है। यदि आत्मा स्वयं भी असुख जड़स्वभाव होता, तो दृश्य के प्रतिकूल न होता, यह भाव है ॥२८॥

इसलिए आप आत्मा के लाभ के लिए सदा आत्मा में तल्लीन होइये, ऐसा कहते हैं।

बात कर रहे, त्याग कर रहे, ग्रहण कर रहे, आँखें खोल रहे, बन्ध कर रहे भी आप मनन से (मन के व्यापार से) रहित अनन्त चिन्मात्र में परायण (तल्लीन) होइये ॥२९॥ उत्पन्न हो रहे, जी रहे, मर रहे तथा अन्यान्य कर्मों में निरत हुए आप शोधन द्वारा निर्मलता को प्राप्त हुए संवित्मात्रांशरूपस्वात्मा में स्थिर होइये। उत्पत्ति और मरण का ग्रहण उनके तुल्य सुख, दुःख तथा अन्यान्य दुर्दशाओं में भी आत्मपरता के अविस्मरण के विधान के लिए हैं, यह समझना चाहिये ॥३०॥ यह (सन्मुख स्थित), वह (दूर देश में स्थित) मेरा है, यह प्रत्यभिज्ञायमान देह मैं हूँ, इस प्रकार की वासनाओं का भली-भाँति त्याग कर एकाग्रता से भीतर स्थित संवित्मात्र में तत्पर होइये ॥३१॥ वर्तमान स्थिति (बाल्यावस्था)

और भविष्य स्थिति (यौवन, राज्य आदि की स्थिति) इन दोनों में जब तक देह रहे तब तक एक बुद्धि होकर स्वसंवित् से ध्यान ओर समाधि में तत्पर रहिये ॥३२॥ बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था में, सुखों में, दुःखों में, जाग्रत् अवस्था में, स्वप्नावस्था में और सुषुप्ति अवस्था में स्वसंवित् में (चिन्मात्र में) तल्लीन होइये ॥३३॥ बाह्य विषयरूपी मल का त्यागकर मन को खूब गला रहे आप आशापाशरूपी मल को छिन्न–भिन्न कर स्वसंवित् में परायण हो जाइये ॥३४॥ अपने संकल्प से किये गये शुभ और अशुभरूप संकेतों में जिनकी आशारूपी विषूचिका शान्त हो गई है, अतएव जिनकी यह इष्ट है और यह अनिष्ट है, यह दृष्टि नष्ट हो चुकी है ऐसे आप संवित् रूपी सार–पदार्थ में संलग्न होइये ॥३५॥ कर्ता (विज्ञानमय), कर्म (बाह्यविषय) और करणों (इन्द्रियों) सहित तथा अपना स्पर्श न करनेवाले इस प्रकार के संसारों का जैसे मणि अपने अन्दर प्रतिबिम्बों का विस्तार करती है वैसे ही अपने विस्तार कर रहे, विकल्परहित तथा आलम्बन रहित आप स्वचिन्मात्र परायण होईये ॥३६॥

जाग्रत् अवस्था में ही सुषुप्त की–सी निर्विकल्प तथा अत्यन्त स्थिर स्थिति की भावना कर रहे आप 'मैं सब हूँ' यह विचार करेक मात्र सत्तारूप होइये ॥३७॥ नाना दशा (जाग्रत् और स्वप्नदशा) और अनानादशा (सुषुप्ति दशा) से मुक्त अथवा सृष्टि और प्रलय दशा से मुक्त, मुक्तरूप से सम में (ब्रह्म में) संलग्न तथा सबकी नाना बुद्धिवृत्तियों के दीप के तुल्य प्रकाशक आप स्वचिन्मात्रपरायण होइये ॥३८॥ आत्मता (स्वता) और परता (अन्यता) का त्यागकर जगत् की स्थिति में द्वैतज्ञानशून्य आप आत्मा का अवलम्बन कर वज्र के स्तम्भ की नाईं स्थिर होइये ॥३९॥ एक मात्र धैर्यधर्मवाली उदार बुद्धि से आशा रूप मानसिक जालों का भीतर उच्छेद कर धर्माधर्म रहित होइये ॥४०॥ आत्मज्ञान सम्पन्न एवं तत्त्व का आस्वाद ले रहे पुरुष के लिए हलाहल विष भी अमृत बन जाता है। भाव यह है कि सबके अमृत होने पर विष की भी अमृतता अर्थात् (सहज) सिद्ध हो गई ॥४१॥ जब निर्मल और अखण्ड चैतन्य का अज्ञान होता है तब संसाररूपी भ्रम का कारणरूप महामोह उदित होता है ॥४२॥ जब निर्मल और अखण्ड स्वसंवित् में (चित्त में) स्थिति होती है तब संसार भ्रम का कारणभूत मोह नष्ट हो जाता है ॥४३॥ अपने स्वरूप को प्राप्त हुए एवं आशारूपी महासागर को पार किये हुए आपकी बुद्धि सूर्य की किरणों के समान चारों ओर फैलेगी ॥४४॥

मुक्त पुरुष की अन्यत्र आशा की संभावना तो दूर रही, बल्कि अमृत आदि रसायन के आस्वाद में भी आत्मानन्द के आस्वाद में विघ्न की संभावना से विष की नाईं हेयता बुद्धि हो जाती है, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, अपनी अद्वितीयानन्दस्वरूपता का दर्शन कर रहे अद्वितीय आनन्दरूप ब्रह्म में स्थित पुरुषों को स्वादिष्ट अमृत आदि रसायन भी प्रतिकूल विष के समान लगता है ॥४५॥ जो लोग हमारे प्रत्यगात्मभाव को प्राप्त हुए हैं यानी जीवन्मुक्त पुरुष हैं जन्म को सार्थक करने से, पुरुषार्थ साधन से तथा सफल पौरुषवाले होने से उन श्रेष्ठतम पुरुषों के साथ हम सदा मैत्री करते हैं। अन्य लोग तो पुरुषार्थ के उपयोगी पौरुष से हीन होने के कारण नाममात्र के पुरुष हैं, पुरुष शब्द के अर्थ का उनमें नामनिशान भी नहीं है, इसलिए लम्बी बाहुवाले वे गदहों के समान उपेक्षा के ही पात्र हैं, दर्शन आदि के योग्य भी नहीं है ॥४६॥

इस प्रकार अन्य महान् योगी और उपासक भी जगत् में हैं ही, उनसे भी तत्त्वज्ञानी में ही कौन उत्कर्ष (श्रेष्ठता) है ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

अपनी संवित् से सबसे उन्नत स्थितिवाले अतएव उत्कर्ष की परम सीमा में पहुँचे हुए तत्त्वज्ञानी के सामने योगी आदि ज्ञानप्राप्ति के लिए उन-उन महापुरुषों के पास जाते हैं। वे जैसे हाथी मेरु आदि पर्वत के सामने एक निकटवर्ती क्षुद्र पर्वत से दूसरे पर्वत पर जाते हैं वैसे ही जाते हुए प्रतीत होते हैं। मेरु के समान सर्वोन्नत दृढ़रूप से विश्रान्त नहीं मालूम पड़ते हैं ॥४७॥

अपनी संवित् से उन्नत स्थिति का उपपादन करते हैं।

स्वसंविद्रूपी दिव्य चक्षुवाले तत्त्वज्ञानी के, जिसकी सीमाएँ पहले किसी के द्वारा नहीं देखी गई, वर्तमान समय में व भविष्य में भी देखने योग्य नहीं हैं, अन्तःकरण का कल्पित सूर्य आदि सभी तेज उपकार नहीं करते हैं। इसलिए स्वसंवित् से ही उसकी उन्नत स्थिति है, यह अर्थ है ॥४८॥

ये सूर्य आदि केवल उपकार ही नहीं कर सकते, सो बात नहीं है, किन्तु तत्त्ववेत्ता के सन्मुख अवस्तुता को ही प्राप्त होते हैं, ऐसा कहते हैं।

विद्या से जिसने आत्मतत्त्व का ज्ञान पा लिया है, ऐसे तत्त्ववेत्ता के सन्मुख ये महाप्रकाशवाले सूर्य आदि मध्याह्न के दीपकों की नाईं अवस्तुता को प्राप्त होते हैं ॥४९॥ तेज के कार्य प्रकाशनों में, योगसिद्धि के वशित्व आदि प्रभावों में, शारीरिक बलवानों में, ऐश्वर्य, आयु आदि से श्रेष्ठों में तथा वाग्मता आादि उन्नति से युक्त सबमें तत्त्वज्ञानी परम उन्नत है। सब उन्नतियाँ तत्त्वज्ञानी में अध्यस्त हैं, यह अर्थ है ॥५०॥ तत्त्वज्ञानी श्रेष्ठ पुरुष जिस जगदीश्वर की दीप्ति से सूर्य अग्नि, चन्द्रमा, मणि और तारा दीप्त होते हैं, उसके तुल्य सुशोभित होते हैं ॥५१॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जिन लोगों को तत्त्वज्ञान नहीं हुआ वे पृथिवी के बिलों में रहनेवाले कीड़ों से, गदहों से और पशु-पक्षियों से भी गये गुजरे कहे गये हैं। तत्त्वज्ञान का अभाव होने पर उससे भी अधम करोड़ों योनियों की प्राप्ति होती है, यह भाव है ॥५२॥ तभी तक अज्ञान रूपी वेताल है जब तक देहधारी सत् भी आत्मा की अज्ञान से असत्ता मानने के कारण अनात्मवान् है अतएव वह अचेतन है, इसलिए आत्मज्ञानी ही चेतन से संयुक्त है, ऐसा विद्वानों का कथन है ॥५३॥ जो आत्मतत्त्व को नहीं जानता, उसकी सबकी-सब चेष्टाएँ दुःख के लिए ही हैं। वह भूतल में इधर-उधर चलता फिरता हुआ भी शवरूप से ही भ्रमण करता है, केवल आत्मज्ञानी ही सचेतन है, ऐसा पण्डित लोग कहते हैं ॥५४॥ जैसे चारों ओर से घने मेघ के उदित होने पर प्रकाश शोभा दूर चली जाती है वैसे ही चित्त के स्थूल होने पर आत्मज्ञता, जो थोड़ी बहुत उपार्जित भी हो चुकी हो, दूर भाग जाती है ॥५५॥ इसलिए मन को प्राप्त भोगों के (विषयों के) सेवन के तिरस्कार द्वारा और अप्राप्त भोगों की अभिलाषा के त्याग द्वारा समय से अजीर्ण पत्र के समान धीरे-धीरे कृश बनाना चाहिये ॥५६॥

मन की स्थूलता के हेतु कौन हैं ? जिनके त्याग से मन में कृशता हो, ऐसी आशंका होने पर मन की कृशता के हेतुओं को कहते हैं।

अनात्मा में (देह, इन्द्रिय आदि में) आत्म भाव से, इस देहमात्र में आस्था से, पुत्र, कलत्र और कुटुम्ब से चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है ॥५७॥ अहंकार के विकास से, ममतारूपी मल में आसक्ति

से तथा यह शरीर मेरा आत्मा या भोग स्थान है, इस भाव से चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है ॥५८॥ जरा–मरणरूपी दुःख से पूर्ण, व्यर्थ ही दिन–पर–दिन बढ़े हुए दोषरूपी साँपों के विषरूप पूर्वोक्त 'इदं मम' इस भाव से चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है ॥५९॥ आधि (मानसिक व्यथा) और व्याधि (शारीरिक व्यथा) की अभिवृद्धि से, संसार की रमणीयता, चिरस्थायिता आदि के विश्वास से और यह हेय है यह उपादेय है इस प्रयत्न से चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है ॥६०॥ स्त्री, पुत्र आदि के प्रति स्नेह से तथा मणि और स्त्रियों के लोभ से, जो आपततः रमणीय प्रतीत होता है, उत्पन्न हुए धन के लोभ से चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है ॥६१॥ दुराशारूपी दुग्ध के पान से, भोगरूपी पवन के बल से, आदरप्रदान से तथा नाना विषयों में संचार से चित्तरूपी सर्प स्थूलता को प्राप्त होता है ॥६२॥ विष से जैसी दाह, मूर्च्छा और व्याकुलता होती है वैसी दाह, मूर्च्छा और व्याकुलता को सूचित करनेवाले भीषण भोगों के सेवन से, जिसके स्वरूप और स्वभाव आवागमनवाले हैं, चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है ॥६३॥ शरीररूपी बुरे गड्ढे में चिरकाल से उगे हुए इस अद्भुत चित्तरूपी विष वृक्ष को विचाररूपी मजबूत आरे से जबरदस्ती निःशंक काट डालो। विविध चिन्ताएँ ही जिसमें लम्बी–लम्बी मंजरियाँ हैं, जो जरा, मरण और व्याधिरूपी फलों के समूह से लदा है, कामोपभोगों के समूह ही जिसमें खिले हुए फूल हैं, आशा ही बड़ी–बड़ी शाखाएँ हैं, विकल्प ही पत्ते हैं और जो पर्वत के तुल्य अचल है ॥६४,६५॥

इस समय उसी चित्त का गजरूप से वर्णन करते हैं।

हे रघुवर, हे राजाओं में सर्वश्रेष्ठ, आप चित्तरूपी हाथी को अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धिरूपी नखराशियों से चीर डालिये। उक्त चित्तरूपी हाथी के आगम, अनुमान रूपी नेत्र आत्मतत्त्व विवेक में प्रमाद करनेवाले हैं, वह एक बहिर्मुखरूप संसारपर्वत तट पर बैठता है, अतएव अन्तर्मुख विश्रान्ति सुख का अनुभव करने में असमर्थ है, द्वेष, ईर्ष्या आदि से भीषण होने के कारण उग्र है, सज्जनों द्वारा गृहीत होनेवाले शम, दम, तितिक्षा आदिरूप कमलवन के अवलोकन में उत्कण्ठित तो है, पर अत्यन्त क्रोधी है यानी उसके रक्षण में अयोग्य है, सुख और दुःख ही उसके शीतल और गर्म बाष्प वाले मद को बहानेवाले गण्ड स्थल हैं, वह शरीररूपी भीषण वन में रहता है और बड़े–बड़े काम आदि विकार ही उसके दाँत हैं, अतएव वह धैर्य आदि क्रिया का उच्छेदरूप कार्य करता है ॥६६,६७॥

स्त्री चिह्न आदि कुत्सित स्थानों में नित्य आसक्ति को प्राप्त, शरीररूपी मांस के ग्रसन के तुल्य अन्तर्भाव के आपादन से पुष्ट, पर मर्मभेदनरूपी दुष्कर्म में कठोर चोंचवाले, केवल स्वार्थ में ही दृष्टि रखनेवाले, वृद्धि को प्राप्त हुई तामस वृत्तियों से मलिन, वहन करनेवाले आत्मा के भारभूत, दुष्ट चेष्टावाले, कठोर शब्दकर रहे तथा दुर्वासनाओं से आविर्भूत अपने चित्तरूपी कौए को (✍) दोषों की शान्ति के लिए शरीर रूपी घोंसले के अन्दर से दूर हटाइये ॥६८,६९॥

उसी चित्त का पिशाचरूप से वर्णन कर उसे न हटाने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

✍ कौए के पक्ष में श्मशान आदि गर्हित स्थानों में सदा आसक्त, मांस के ग्रसन से पुष्ट शव आदि के मर्मस्थानों को नोचने में कठोर चोंचवाले, एक आँखवाले, गाढ अन्धकार के भागों के समान काले, वृक्ष आदि के भारभूत, दुष्ट चेष्टाएँ करनेवाले, कर्णकठोर काँव–काँव शब्द कर रहे दुर्गन्धि से चले हुए कौए को, यों अर्थ करना चाहिए।

अज्ञानरूपी महान् वटवृक्षों पर बैठे हुए, तृष्णारूपी पिशाचिनी द्वारा सेव्यमान्, चित्त के हटने पर चेतनरहित अनन्त कोटि देहरूपी अरण्य में चिरकाल तक भटके हुए इस चित्तरूपी पिशाच को चिदात्मा के गृहभूत हृदय से जब तक विवेक, वैराग्य, गुरुसमीप गमन, पुरुषप्रयत्न आदि स्वतन्त्र मन्त्रों द्वारा पुरुष नहीं हटाता तब तक यहाँ पर आत्मसिद्धि कैसे हो सकती है ? ॥७०,७१॥

अब मन का सर्परूप से निरूपण करते हुए उसका त्याग कराते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्तरूपी साँप को, जिसकी शुभ और अशुभ रूप दो दाढ़ हैं, जो एक–दो नहीं अनेकानेक मनुष्यों की हत्या कर चुका है, चिन्ता ही जिसका विष है शरीर ही गर्हित केंचुल है, निरन्तर श्रम आदि दोषों से रहित प्राण वायु ही जिसका भोजन है, जो सबको विविध भय और मृत्यु देता है एवं हृदयकमल रूपी सेमर के पेड़ के खोखले में स्थित है, चिदेकरस ब्रह्मरूपी गरुड़ के बोधक 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म' इत्यादि मन्त्रों के अमोघ प्रभाव से मूलअज्ञान के साथ नष्ट कर भय को सर्वथा मिटा कर निर्भय होइये ॥७२,७३॥ शरीररूप शवराशियों के निरन्तर अनुसन्धान से (दूसरे पक्ष में भक्षण से) अमंगल आकार को धारण करनेवाला, विविध दिशाओं में भ्रमण से उत्पन्न श्रम से पीड़ित, अपमान, व्यय, शोक, भय आदि से (दूसरे पक्ष में कौए, चील आदि के चोंचों के प्रहारों से) क्षत–विक्षत शरीर से सुषुप्ति में श्मशान–वृक्ष के तुल्य सुप्त देह का (श्मशान–वृक्ष का) सेवन करनेवाला, भोगों की अभिलाषावश दिशाओं में इधर–उधर दौड़ रहा, ऊपर को गर्दन किया हुआ एवं अधीर और बढ़ी–चढ़ी अभिलाषावाला चित्तरूपी गिध्ध यदि आपके देह वृक्ष से उड़कर चला जाय, तो आपकी खासी जीत है ॥७४,७५॥

अब उसी मन का बन्दर के रूप से निरूपण करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, भला चाहनेवाले, चंचल तथा व्याकुल अंग–प्रत्यंगवाले मनरूपी महामर्कट, जो वनप्रान्तों में दिशाओं के मध्यों में खूब भटका है, एक जन्मरूपी भूमि से दूसरी जन्मरूपी भूमि में गया है, चिन्ता और उसके संसार बन्धन का अपनी चेष्टाओं द्वारा अनुकरण कर रहा है तथा आँख और नाक जिसके फूल हैं, भुजा आदि जिसकी शाखाएँ हैं और चंचल अंगुलियाँ जिसके पत्ते हैं, ऐसे देहरूपी वृक्ष पर उल्लास को प्राप्त हो रहा है, उसको सिद्धि के लिए चारों ओर से घेरकर भीतर ही भीतर मार डालिये ॥७६,७७॥

अब उसी चित्त का मेघ के रूपक से वर्णन करते हैं।

परमार्थ सुखरूप सत्फल के (मेघ पक्ष में पकी हुई फसल) नाश के लिए असमय में उपस्थित हुए, हृदयरूपी आकाश में स्थित चित्तरूपी मेघ, जिसके मुखसदृश बहिर्मुखवृत्ति के अग्रभाग में प्रतिबिम्बन द्वारा बिजली के सदृश चिदाभास प्रकाशसंक्रान्त है, जो अनर्थ समूहरूपी मूसलाधार वृष्टि कर रहा है। वासनारूपी आँधी ने जिसे भीतर चक्कर में डाल रक्खा है, उसका संकल्पों के बार–बार समर्थनों के त्यागरूप मन्त्रों के प्रभाव से उत्साहपूर्वक उच्छेद कर जीवन्मुक्तिरूप महान्पद पाकर नित्य मुक्तात्मा ही होइये ॥७८,७९॥

अब उसी मन का जाल के रूपक से निरूपण करते हैं।

जिसका आत्मा ही उपादान कारण है ऐसी कल्प की आदि सृष्टि से लेकर आज तक किये गये

पुण्य–पाप कर्मों से निरन्तर गाँठ देने से मजबूत बनाये गये, मन्त्रों द्वारा छिन्न–भिन्न नहीं हुए, अग्नि से जलाये न गये, आत्मा में महती पीड़ा की कल्पना करे, अतएव सब विविध योनियों के विविध जन्मों के क्रमशः बन्धन के लिए लम्बी रस्सी के समान स्थित चित्तरूपी जाल को, जिसमें असंख्य शरीर पंक्तियाँ गुँथी गई हैं, असंकल्परूप शस्त्रों से जबरदस्ती काटकर आप स्वयं पुनर्जन्म शंकारहित होकर सुखपूर्वक विहार कीजिये ॥८०,८१॥

अब मन के संकल्प का अजगर के रूपक से वर्णन कर रहे श्रीवसिष्ठजी उसके वध का उपाय कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप संकल्परूपी घोर अजगर को, जिसने क्रोध आदि रूप सविष (विषैले) फुफकार से दक्षिण–उत्तर मार्ग से जानेवाले जीवों को जला डाला है, जिसके फुफकार पर तत्त्व का बोध तो अत्यन्त दुर्लभ है, जो अत्यन्त विषैला है, अतएव अपने विष से जिसने सब भुवनों को संतप्त कर दिया है, तृष्णारूपी मुँह को खोलकर विषयरूपी भोग्य वस्तुओं के लिए चार प्रकार के शरीररूपी दण्ड को जिसने कँपाया है, जो मोक्ष के उद्योग में आलसी होने के कारण मन्दगतिवाला है और देहरूपी गुहा में सोया है, शीघ्र परम वैराग्य नामक महाअग्नि से जबर्दस्ती भस्म करके आप अपने स्वरूप में पूर्णानन्द वैभववाले होइये ॥८२,८३॥

वैराग्य से संकल्प पर विजय पाने से चित्त शुद्धि होने पर उसी प्रकार ज्ञान और समाधि के क्रम से चित्त पर विजय भी हो जाती है, ऐसा कहते हैं।

हे साधु शिरोमणे, जैसे अस्त्र के प्रयोग से घोर अस्त्र का शमन किया जाता है वैसे ही शुद्ध चित्त से चित्त का शीघ्र शमन कर आप बन्दर से छुटकारा पाये हुए वृक्ष जिसकी शोभा नष्ट–भ्रष्ट नहीं हुई उसके समान चिरकाल तक चंचलता को त्याग कीजिये ॥८४॥ पूर्वोक्त रीति से और पूर्व में उपदिष्ट तत्त्वबोध से प्रत्यगात्मा में उपशम को प्राप्त हुए मन को राग आदि मलों से शून्य बनाकर निर्मल चित्त से स्थूल, सूक्ष्म और कारण देहपर्यन्त सब दृश्य समूह को हेयदृष्टि से तिनके के टुकड़े से भी तुच्छ (स्वप्न शरीर आदि के समान अत्यन्त उपेक्षा के योग्य) समझकर संसार से पार हुए आप प्रारब्ध शेष के भोगार्थ 'आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' इस श्रुति में प्रदर्शित लीला से लोक संग्रह के लिए सोम आदि का पान कीजिये, ऋत्विक् आदि के साथ यज्ञों में विहार कीजिये तथा शास्त्र से अविरुद्ध लौकिक विषय में रमण कीजिये। उससे आपको पुनर्बन्धन की प्राप्ति नहीं होगी ॥८५॥

पचासवाँ सर्ग समाप्त

इक्यावनवाँ सर्ग

शान्त परम पद में विश्रान्ति की इच्छा कर रहे उद्दालक मुनि के
मन के विविध दोषों से विक्षेप का बहुत प्रकार से वर्णन।

श्रवण और मनन से आत्मतत्त्व का निर्णय होने पर भी चित्तविश्रान्ति के बिना विक्षेपरहित जीवन्मुक्त सुख की प्राप्ति नहीं होती, इसलिए विक्षेपशून्य जीवन्मुक्ति सुख के लिए समाधि के अभ्यासों में तत्परता के साथ बोध वृद्धि की अत्यन्त आवश्यकता है, यों उद्दालक–चरित्रवर्णन के

द्वारा उपदेश देने की इच्छावाले श्रीवसिष्ठजी उद्दालक चरित्र के वर्णन के लिए पहले चित्त के चरित्रों में अविश्वसनीयता कहते हैं ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐहिक, पारलौकिक और दूर स्थित विषयों में आसक्ति होने के कारण बड़े लम्बे, वासनाप्रचुर हाने के कारण अत्यन्त महीन, प्रमाद कर रहे पुरुष के तुरन्त ही समाधि सुख के विच्छेद के हेतु होने के कारण अत्यन्त तीक्ष्ण, आत्मा के प्रतिबिम्ब के ग्रहण में योग्यतारूप निर्मलता होने के कारण सफेद अतएव छूरे की धार के तुल्य चित्त के चरितों में प्रमादवश विश्वस्त मत रहिये ॥१॥ हे नीतिशास्त्र के मर्मज्ञ, सत्कूलरूपी खेत में उत्पन्न हुई देहरूपी लता में चित्तशुद्धि, श्रवण आदि (देहरूपी) उपायों से यह परमात्म ज्ञानरूप आपकी बुद्धि लता चिरकाल में उत्पन्न हुई है । इसे आप विवेकरूपी जल के सेक से बढ़ाइये ॥२॥

वह बाल्यावस्था से यदि सींची जाय, तो बढ़ती है । वृद्धावस्था आदि से देहरूपी लता के मुरझाने पर उसके गिरने की शंका से उसका उद्धार भी नहीं हो सकता उसकी मंजरियों को बढ़ाना तो दूर की बात रही, ऐसा कहते हैं ।

जब तक कालरूपी सूर्य से यह देहरूपी लता मुरझाती नहीं तभी तक पृथ्वी पर न गिरी ही इस देह लता का गुरुसेवा, श्रवण आदि से उद्धार कर बुद्धिरूपी लता का पालन कीजिये ॥३॥

आगे कहे जानेवाले आख्यानरूप मेरे वाक्य के अर्थ का श्रवण पूर्वक बार-बार मनन करना विवेक सेक है । उसीमें सब मनन युक्तियाँ विद्यमान हैं, ऐसा कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप मेरे वाक्यार्थों के एकमात्र तत्त्वज्ञ हैं । जैसे मयूर मेघ के गर्जन की भावना से सुख को प्राप्त होता है वैसे ही मेरे वाक्यों के अर्थों की एकमात्र भावना से आप भी सुख को प्राप्त होते हैं ॥४॥

उक्त आख्यायिका का अवतरण कर उसके अर्थ विचार कर्तव्यता को कहते हैं ।

'तत्' और 'त्वम्' आदिपदार्थ के शोधन में तत्पर बुद्धि से 'अन्नेन सोम्य शुंगेनापो मूलमन्विच्छ' इस श्रुति में प्रदर्शित युक्ति द्वारा कारण से अतिरिक्त कार्यांकुर के अपलाप से देह आदि के आरम्भक और बाह्य प्रपंच के आरम्भक पाँच महाभूतों को उद्दालक मुनि के समान छिन्न-भिन्न और मूल अविद्या के तहस-नहस होने से शिथिलकर उनके अधिष्ठानभूत सन्मात्र के अन्वेषण में धीरों से भी धीर बुद्धि से मन में विचार कीजिये ॥५॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवान्, उद्दालक मुनि ने किस क्रम-से-उन पंचमहाभूतों को छिन्न-भिन्न कर अपने अन्तःकरण में विचार किया ? ॥६॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस प्रकार प्राचीन काल में उद्दालक मुनि ने पंचमहाभूतों के विचार से अकुण्ठित परम दृष्टि प्राप्त की । उस प्रकार को आप सुनिये ॥७॥ इस जगत्‌रूपी जीर्ण-शीर्ण घर के किसी विस्तृत कोने में, जो पर्वतरूपी उल्टे करके रक्खे हुए बर्तनों से भरा है और भूमि की आग्नेयी दिशा में गन्धमादन नाम से शैलराज पर एक अद्‌भुत भूमि भाग है । उसके ऊपर खूब फूल बिखरे रहते हैं, फूले हुए पेड़ ही कपूर के तुल्य सफेद पराग और केसरों से चारों ओर से व्याप्त होने के कारण उसके कर्पूर-केसर हैं; उस पर भाँति-भाँति के पक्षी रहते हैं, नाना प्रकार की लताएँ सुशोभित रहती हैं, उसके तट वनपशुओं के झुण्डों से भरे रहते हैं, फूलों के केसरों से उसकी शोभा कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी है, उसके किसी प्रदेश पर विशाल महारत्न हैं

तो कहीं पर चंचल कमल खिले हैं, कहीं पर सरोवररूपी दर्पण उसकी शोभा बढ़ाये रहते हैं, तो कहीं पर कुहरारूपी केशों से वह व्याप्त रहता है ॥८–११॥ उस गन्धमादन पर्वत के भूमि भाग पर किसी एक उठे हुए शिखर पर, जिसमें सीधे वृक्ष हैं, टखनों तक फूल बिखरे रहते हैं और घनी ठण्डी छायावाले महावृक्ष हैं वहाँ पहले उद्दालक नाम के एक मौनी मुनि रहते थे। वे यत्न से मैं अवश्य पुरुषार्थ का साधन करूँगा ऐसा अभिमान रखते थे और शास्त्र, अनुमान आदि प्रमाण में कुशल थे। उनका मन महा उदार था और वे बड़े तपस्वी थे। अभी उन्हें युवावस्था प्राप्त नहीं हुई थी ॥१२,१३॥ पहले तो वे अल्प प्रज्ञावाले, अविचारवान्, परमपद में विश्रान्ति को अप्राप्त, अप्रबुद्ध तथा प्रबोध के अनुकूल पुण्यपूर्ण अन्तःकरणवाले थे ॥१४॥ तदनन्तर क्रमशः तपस्या से शास्त्रार्थ के नियमों के अभ्यास परिपाक से क्रमों से उन्हें विवेक प्राप्त हुआ जैसे कि भूतल को वसन्त ऋतु प्राप्त होती है ॥१५॥ तदनन्तर एकान्त में ही निवास कर रहे, संसाररूपी रोग से भयभीत बुद्धिवाले, पवित्र, मनवाले उन्होंने किसी समय निम्ननिर्दिष्ट रीति से विचार किया ॥१६॥ प्राप्त करने योग्य पुरुषार्थों में से प्रधान मोक्षरूप पुरुषार्थ क्या है ? इसमें विश्रान्ति होने पर फिर शोक नहीं होता तथा जिसे प्राप्त करके फिर जन्म से सम्बन्ध नहीं होता ॥१७॥ जैसे मेरु पर्वत के शिखर पर मेघ चिरकाल तक विश्राम को प्राप्त होता है वैसे ही जिसमें मन के व्यापारों का त्याग हो चुका हो ऐसे परम पावन पद में मैं, चिरकाल तक कब विश्रान्ति को प्राप्त होऊँगा ? ॥१८॥ जैसे चंचल (अशान्त) कल्लोलों की ध्वनि के समान ध्वनिवाली तरंगें समुद्र में शान्त हो जाती हैं वैसे ही मेरे अन्दर भोग तृष्णाएँ, जिनकी ध्वनि शान्त कल्लोलों की ध्वनि के समान गंभीर है, कब शान्त होगी ? ॥१९॥ मुझे यह कार्य करके यह भी दूसरा कार्य कर्तव्य है, इस कल्पना का मैं परमपद में विश्रान्त बुद्धि से अपने अन्दर कब उपहास करूँगा ? ॥२०॥ जैसे कमल के पत्ते में स्थित जल भी स्पर्श न होने के कारण कमल के पत्ते में नहीं लगता वैसे ही केवल आभास से मेरे चित्त में स्थित होते हुए भी उपेक्षा करने के कारण सम्बन्धरहित विविध विकल्प मेरे चित्त में कब न लगेंगे ? ॥२१॥ मैं बहुत–सी बड़ी–बड़ी तरंगों से भरी हुई तथा अविवेक से खूब बढ़ी हुई तृष्णारूपी नदी को विवेकबुद्धिरूपी नौका से कब पार कर जाऊँगा ? ॥२२॥ मैं जगत् के प्राणियों से की जा रही असन्मयी तथा चित्त को व्यग्र करनेवाली इस बाह्यप्रवृत्ति का बालकों की क्रीड़ा के तुल्य कब उपहास करूँगा ? ॥२३॥ जैसे जिसका उन्माद रूपी वात रोग निवृत्त हो चुका हो ऐसे पुरुष की विक्षिप्तता शान्त हो जाती है वैसे ही विकल्पों से विक्षिप्त, झूले के समान अशान्त मेरा मन कब शान्ति को प्राप्त होगा ? ॥२४॥ आविर्भूत हुए स्वरूप के प्रकाश के छिटकने से जगत् की विविध गतियों का उपहास कर रहा मैं ब्रह्माण्ड शरीरवाले (सर्वव्यापक) आत्मा के समान परिपूर्ण बुद्धि होकर कब अन्तःकरण में सन्तोष को प्राप्त होऊँगा ? ॥२५॥ जैसे मंथन से उत्पन्न विक्षेप से मुक्त हुआ क्षीरसागर समाधिस्थ भगवान् श्रीविष्णु से सुशोभित आकारवाला, प्रशान्त और मंथन से निकली हुई अमृत, कौस्तुभ आदि वस्तुओं में निस्पृह हो शान्ति को प्राप्त होता है वैसे ही परमात्मा से एकरस आकारवाला सौम्य, धर्म, अर्थ तथा कामरूप त्रिवर्ग में स्पृहारहित हो मैं कब अन्तःकरण में शान्ति को प्राप्त हूँगा ? ॥२६॥ सैकड़ों आशापाशरूपी इस अचल–अटल सारी दृश्यशोभा को सन्मात्ररूप से देख रहा मैं कब अपने अन्दर अपरिच्छिन्नता को प्राप्त होऊँगा ? ॥२७॥ जिसकी कल्पनाएँ शान्त हो गई ऐसी बुद्धि से बाहरी और भीतरी सारे प्रपंच को चिन्मात्र देख रहा मैं कब उस की

भावना से स्थिर होऊँगा ? ॥२८॥ जिसका चित्त शान्त हो गया है ऐसे स्वरूपवाला अतएव उत्तम चिदेकरसता को प्राप्त हुआ मैं जन्मान्धता के सदृश अनादि मूलअज्ञान के हटने से कब परम आलोक को प्राप्त होऊँगा ? ॥२९॥ अभ्यास से प्राप्त होने योग्य सुन्दर चैतन्यरूपी प्रकाश से बाधितानुवृत्तिरूप होने के कारण तुच्छ (थोड़ी बची हुई) आयुशेषरूप काल कला को आत्मा से सम्बन्ध न होने के कारण दूर से ही कब देखूँगा ? ॥३०॥ इष्ट और अनिष्टों से निर्मुक्त हेय और उपादेय से रहित एवं स्वयंज्योति परम पद में स्थित हुआ मैं कब अन्तःकरण में सन्तोष को प्राप्त होऊँगा ? ॥३१॥ दुराशारूपी उल्लूओं से भरी हुई, जिसने मूर्खता से (दूसरे पक्ष में बर्फ से) हृदयरूपी कमल को जीर्ण-शीर्ण कर दिया है तथा मेरी यह अविद्या अन्धकाररूपी काली रात्रि कब नाश को प्राप्त होगी ? ॥३२॥ पर्वत की गुफा में निर्विकल्प समाधि से शान्त मनोव्यापारवाला (चिदेकरसता से मनोवृत्तिरहित हुआ) मैं कब शिला की समता को प्राप्त होऊँगा ? ॥३३॥ मेरा अहंकाररूपी हाथी, जिसकी स्वांशभूत अभिमान वृत्तियाँ ही बड़े मदप्रवाह हैं, परमार्थ सन्मात्र के ज्ञानरूप सिंह के द्वारा निहित होकर कब नाश को प्राप्त होगा ? ॥३४॥ निर्विकल्प ध्यान में मग्न हुए मौन व्रतधारी मेरे मस्तक पर वनधूर्णिकाएँ (एक प्रकार की चिड़ियाँ) कब तिनकों का घोंसला बनायेगी ? ॥३५॥ ध्यान में स्थिर बुद्धिवाले अतएव पर्वत के ठूँठ के समान निश्चल स्थितिवाले मेरे वक्षःस्थल पर लम्बमान जटाओं के अग्रभाग में बनाये गये घोंसले में चिड़ियाँ कब निःशंक होकर विश्राम लेगी ? ॥३६॥ तृष्णारूपी कंजे के वृक्षों से चारों ओर व्याप्त, काम आदिरूपी मृगों से जर्जर जन्मरूपी झाड़ियों से भरे हुए संसाररूपी जंगली तालाब का त्यागकर मैं कब जाऊँगा ? ॥३७॥ इस प्रकार की चिन्ताओं से परवश हुए उद्दालक नाम के ब्राह्मण ने बार-बार ध्यान में बैठते हुए वन में ध्यानाभ्यास किया ॥३८॥ किन्तु विषयों से हरे जा रहे अतएव बन्दर के समान चंचल चित्त में प्रसन्नता प्रदान करने वाली समाधि स्थिरता उन्हे नहीं मिली ॥३९॥ किसी एक समय बाह्य विषयों के संबन्ध के त्याग के अनन्तर उनका चित्तरूपी वानर सात्त्विक देवता आदि से भोग्य विषय में या सात्त्विक वृत्ति के सुखास्वाद में मनोरथों द्वारा चंचलता को प्राप्त हुआ ॥४०॥ किसी समय उनका मनरूपी वानर चंचलतावश अन्दर होनेवाले समाधि सुख-सम्बन्ध का त्याग कर जैसे विष से मरा हुआ पुरुष जठराग्नि सम्बन्धी देह की उष्णता का त्यागकर अन्य लोक में जाता है वैसे ही विषयों को प्राप्त हुआ ॥४१॥ हे कमलनयन, कभी उनका मन हृदयाकाश में उदित हुए सूर्य के सदृश तेज को (📖) देखकर विषयों में उन्मुख हो गया ॥४२॥ कभी उनका मन हृदयवर्ती गाढ़ अज्ञानरूपी अन्धकार का थोड़ी-बहुत ब्रह्म की

📖 इस विषय में श्रुति है : नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्। एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे॥ यानी योगी की पहले तुषार के समान चित्तवृत्ति होती है, उसके बाद धुएँ के समान चित्तवृत्ति होती है, तदनन्तर सूर्य के समान चित्तवृत्ति होती है, तदुपरान्त भीतर का वायु बाह्य वायु के समान क्षुभित होता है, तत्पश्चात् जुगनू के समान चित्तवृत्ति होती है, तदुपरान्त बिजली के तुल्य, तदुपरान्त स्फटिक के समान, तदनन्तर पूर्ण चन्द्र के सदृश चित्तवृत्ति होती है। इस तरह तुषार धुआँ, सूर्य, अग्नि, वायु, जुगनू, बिजली, स्फटिक और पूर्णचन्द्रमा के रूप के सदृश ये बुद्धि के रूप योगियों के अनुभव सिद्ध है। योग करने पर ब्रह्म की अभिव्यक्ति के द्योतक ये पूर्वरूप (चिह्न) आविर्भूत होते हैं।

अभिव्यक्ति से त्याग कर (कुछ शमन कर) उसी समय विषय वासना के जागने से विषय लम्पट होकर भयभीत पक्षी के समान उड़कर चला जाता था ॥४३॥ कभी उनका मन बाह्य स्पर्शों का (विषयों के सम्बन्धों का) और आभ्यन्तर स्पर्शों का (समाधिसुख–सम्बन्धों का) त्यागकर तम (अज्ञान) और तेज (आत्मज्योति) के अन्‌ तराल में (सन्धि में) लीन होकर निद्रारूपी शाश्वती (चिरकाल तक चलनेवाली) स्थिति को प्राप्त होता था ॥४४॥ जैसे वायु द्वारा तटवर्ती जल में डूबाया गया और तट की लहरों से हिलाया जा रहा वृक्ष बड़े संकट में स्थित रहता है वैसे ही बड़ी–बड़ी गुफाओं में ध्यानमग्न मनवाले उद्दालक पूर्वोक्त रीति से ध्यानवृत्तियों में व्याकुल मन के मध्य में तुच्छ तृष्णारूपी तीर तरंगों से दोलायित शरीरवाले होकर बड़े संकट में स्थित रहे ॥४५,४६॥ तदनन्तर व्याकुल मनवाले मुनि जैसे सूर्य प्रतिदिन महामेरु में अकेले ही भ्रमण करते हैं वैसे ही पर्वत पर भ्रमण करते थे ॥४७॥ एक समय वे सब प्राणियों से दुष्प्राप्य एवं सबके संचार से रहित कन्दरा में ऐसे ही पहुँचे जैसे मुनि सबके संचार से रहित मोक्षदशा को प्राप्त होता है ॥४८॥ उस कन्दरा में वायु द्वारा विक्षेप–व्याकुलता न थी, कोई मृग–पक्षी वहाँ कभी नहीं पहुँचे थे, देवता ओर गन्धर्वों तक को उसका दर्शन कभी नहीं मिला था और वह परमाकाश के (ब्रह्म के) समान शोभायमान थी ॥४९॥

पुष्पों की राशियों से वह कन्दरा चारों ओर आच्छन्न थी, नरम हरी घास से ढकी होने से बड़ी भली लगती थी, अतएव मालूम होता था कि मानों ज्योतिरूप रस के (चन्द्रमा के) पत्थरों के साथ यानी चन्द्रकान्त मणियों के साथ जोड़ी हुई मरकत मणियों से बनाई गई है ॥५०॥ उसके दरवाजे पर बड़ी मीठी और ठण्डी छाया थी, रत्नरूपी दीपकों से वह जगमगाती थी ओर वनदेवियों के अन्तःपुर की कुटी के समान बड़ी गुप्त थी ॥५१॥ उसके दरवाजे पर केवल शीत निवारण करनेवाले आलोक फैलते थे, शरद् ऋतु के प्रातःकालीन सूर्य की प्रभा के समान न वह अति उष्ण थी और न अति शीतल थी। सुवर्ण के समान पीला उस का रंग था ॥५२॥ वह गुफा बाल सूर्य से सूखी हुई थी (इससे यह व्यक्त होता है कि उसका मुँह पूर्व की ओर था) उसमें बिना शब्द का मन्द–मन्द पवन बहता था (इससे यह व्यक्त होता है कि पश्चिम की ओर उसमें खिड़कियाँ थी) और मंजरियों से लदे हुए वृक्षों से वह युक्त थी (इससे उसमें सुगन्धि व्यक्त होती है)। वह स्वयंवर के लिए तत्पर अतः हाथ में वरमाला ली हुई राजकन्या के समान थी ॥५३॥ वह गुफा कमल के मध्यभाग के समान कोमल थी, अतएव ब्रह्मा के विश्राम के योग्य थी, चारों ओर फूलों की राशियों से कोमल और बड़ी मनोहर थी तथा उपशम पदवी के समान सदा ही आश्रय लेने के अनुरूप थी ॥५४॥

इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त

बावनवाँ सर्ग

गुहा में आसनस्थित, समाधि में प्रवेश करने की इच्छावाले
मुनि द्वारा चिन्तित चित्त प्रबोधन के उपायों का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीराममचन्द्रजी, जैसे भ्रमर बहुत प्रकार के भ्रमण से मिले हुए कमल गर्भ में प्रवेश करता है वैसे ही वे धर्मात्मा मुनि बहुत प्रकार के अन्वेषण से मिली हुई पद्मगर्भ के समान

मनोहर गन्धमादन गुफा में प्रविष्ट हुए ॥१॥ जैसे सृष्टि–रचना से वैराग्य होने पर सत्यलोक में स्थित अपराजिता नाम की अथवा भगवन्नाभिकमल रूप अपनी नगरी में प्रवेश कर रहे ब्रह्माजी विराजमान होते हैं वैसे ही समाधिप्रविणता से उस गुफा में प्रवेश कर रहे वे विराजित हुए ॥२॥ (✍) वहाँ पर उन्होंने जैसे इन्द्र मेघ को जिसके मध्य में बिजलियाँ स्वगुच्छ के समान फैली रहती हैं, राशिभूत करते हैं वैसे ही ताजे (न मुरझाये हुए) पत्तों से कोमल आसन बनाया, जिसमें उनका शरीर ही गुच्छ के समान शोभित हो रहा था ॥३॥ जैसे सुमेरु नील रत्नमय अपने तट पर आकाश को, जिसमें तारे ही बहुमूल्य रत्न हैं, बिछाता है वैसे ही उन्होंने उस आसन के ऊपर सुन्दर मृगचर्म बिछाया ॥४॥ जैसे मेघ वृष्टि से अपने जाड्य का (जलता का) त्याग कर सफेद और गर्जन रहित होकर पर्वत के शिखर पर बैठता है वैसे ही शुद्ध अन्तःकरणवाले वे चित्त की वृत्तियों को जड़ विषय के त्याग से लघु बनाते हुए उस पर बैठे ॥५॥ प्रबुद्ध (ज्ञानी) कपिल आदि के समान दृढ़ सिद्धासन (卐) बाँधकर एड़ी से वृषणों को (अण्डकोशों को) दबाकर उत्तर की ओर मुँह किये हुए उन्होंने ब्रह्मा आदि गुरु–परम्परा के लिए प्रणामांजलि की ॥६॥ समीप में (विषयों में) दौड़े हुए मनरूपी मृग को वासनाओं से हटाकर उन्होंने निर्विकल्प समाधि के लिए यह विचार किया ॥७॥ अरे मूर्ख मन, तुम्हारा संसार वृत्तियों से क्या मतलब है ? बुद्धिमान् लोग अवसान में (अंत में) दुःख देनेवाले कर्म का सेवन (आचरण) नहीं करते हैं ॥८॥ जो शान्तिरूपी रसायन का त्यागकर विषय भोगों की ओर दौड़ता है, वह मन्दार वन का त्याग कर विष वृक्षों से भरे हुए जंगल में जाता है ॥९॥ चाहे तुम पाताल में जाओ चाहे ब्रह्मलोक में भी चले जाओ, किन्तु शम रूपी अमृत के बिना उस निरतिशय सुख में विश्रान्ति को प्राप्त नहीं हो सकते ॥१०॥ हे मन, तुम सैकड़ों भोग आशाओं से पूर्ण होने पर पूर्वोक्त रीति से सब दुःख देते हो । अब तुम भोगाशाओं का त्यागकर दुःखस्पर्शरहित निरतिशय आनन्दरूप होने के कारण अत्यन्त सुन्दर परम कल्याण को (निर्वाण को) प्राप्त होओ ॥११॥ भाव (इष्ट वस्तु का सम्पादन) और अभावमय (अनिष्ट का निवारण) ये विचित्र विषय तुम्हारे उत्कट दुःख के लिए ही हैं, ये सुख के लिए कभी नहीं हो सकते हैं ॥१२॥

हे मूर्ख चित्त, मेढकी जैसे मेघ में शब्दादिक व्यर्थ वृत्तियों से भ्रमण करती है वैसे ही तुम शब्द आदि इन गर्हित वृत्तियों से क्यों निरन्तर भ्रमण करते हो ? ॥१३॥ हे मनरूपी मेढकी, जरा बतला तो सही, इतने समय तक व्यर्थ भुवन में (मेढकी के पक्ष में जल में) त्वरा से भटक रही अन्धी तूने क्या फल पाया ? ॥१४॥ हे चित्त, जिससे मन और वाणी का अगोचर विदेह कैवल्य सुख तुम्हें मिले, जिसमें तुम्हें जीवन्मुक्ति विश्रान्ति सुख मिले, उस सकलवृत्ति के शमरूप समाधि में उद्योग क्यों नहीं करते हो ? ॥१५॥

शब्द आदि विषय दुःख के लिए ही है 'ऐसा जो पूर्व में कहा है, उनमें से प्रत्येक का दृष्टान्तों के उदाहरणों द्वारा विस्तार करते हैं।

✍ 'पद्मकूटीमिव' इससे वहाँ पर प्रविष्ट हुए उनको निरतिशय आनन्द रस–पान से विश्रान्ति मिलेगी, यह अभिव्यक्त होता है ।

卐 पद्मासन का ग्रहण सिद्धासन का उपलक्षण है, क्योंकि एड़ियों से वृषणों को दबाना उसी में घट सकता है ।

हे मूर्ख, व्यर्थ बहिर्मुखतारूप उत्थान से बढ़ी हुई श्रोत्रेन्द्रिय तादात्म्यापत्तिरूप श्रोत्रता को प्राप्त कर ('प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति वदन् वाक् पश्यंश्चक्षुः श्रृण्वन् श्रोत्रम्' इत्यादि से श्रवण आदि के समय आत्मा के श्रोत्रादि भाव का श्रवण है।) व्याध के गीत और घंटा की ध्वनि से मोहित मृग के समान शब्दनुसारिणीवृत्ति से नाश को प्राप्त मत होओ ॥१६॥ हे मूर्ख मन, उस स्पर्शोन्मुखता से (स्पर्शार्ह सुखानुभव की इच्छा से) केवल दुःख के लिए त्वगइन्द्रियता को प्राप्त होकर तू हाथिनी पर लोलुप हाथी के समान बंधन को मत प्राप्त हो। पीलवान लोग सिखाई हुई हथिनी से बन गज को लुभाकर गर्त की ओर लाकर गर्त में गिराने आदि से बाँधते हैं, यह प्रसिद्ध है ॥१७॥ अरे अन्धे मन, दुष्ट अन्नों की अभिलाषा से रसनेन्द्रियता को प्राप्त होकर बंसी में बँधे हुए मांस के टुकड़े पर (चारे पर) लोलुप मछली के समान तू नाश को प्राप्त मत हो ॥१८॥

हे मूढ, तू कान्ता सम्बन्धी नाना प्रकार के रूपों में तत्पर चक्षुरिन्द्रियता के प्राप्त होकर प्रकाश में लोलूप पतंगे के समान दाह को प्राप्त मत हो ॥१९॥ गन्ध के अनुभव की इच्छा से घ्राणेन्द्रियता का आश्रय लेकर हाथी द्वारा मसले गये कमल के अन्दर स्थित भँवरे के समान शरीर रूपी कमल के अन्दर बन्धन को प्राप्त मत हो ॥२०॥ अरे मूर्ख ! मृग, भँवरा, पतंगे, हाथी और मत्स्य एक –एक शब्द आदि विषय से विनष्ट हुए यानी मृग एकमात्र शब्द से, भँवरे एकमात्र गन्ध से, पतंगे एकमात्र रूप से, हाथी एकमात्र स्पर्श से और मछलियाँ एकमात्र रस से विनष्ट हुई; संमिलित सब अनर्थों से व्याप्त हुए तुम्हें कहाँ से सुख हो सकता है ? ॥२१॥ हे चित्त, जैसे क्षुद्र रेशम का कीड़ा अपने स्वाभाविक लार के फेन का अपने बन्धन के लिए कोशरूप से प्रसार करता है वैसे ही तुमने भी वासनाजाल की अपने कुवितर्क से रचना की है ॥२२॥

तब प्रमाद से प्राप्त हुए इस बन्धन पर कैसे विजय प्राप्त हो सकती है ? ऐसा कोई पूछे, तो इस पर कहते हैं।

पहले कर्म, उपासना आदि से शरत्कालीन मेघ के समान शुद्धि को जिसमें संसाररूपी दोष का सर्वथा त्याग हो चुका हो उसे प्राप्त होकर श्रवण, मनन आदि का परिपाक होने के कारण ज्ञानोदय से यदि वासनाजाल का सर्वथा उच्छेद कर शान्त होते हो, तो तुम्हारी असीम विजय है ॥२३॥

सारे वक्तव्य का संकलन कर एक उक्ति से कहते हैं।

यदि तुम जगत्–प्रवृत्ति को जन्म तथा मरणकी एवं बल आदि और दरिद्रता आदि अवस्थाओं का पालन करनेवाली (धात्रीरूप), मरने के बाद भी नरक, स्थावर आदि गतियों में संताप देनेवाली जानते हुए भी नहीं छोड़ोगे, तो विनष्ट हो जाओगे ॥२४॥

अथवा अपने वैरी चित्त को उपदेश नहीं देना चाहिए, किन्तु जबरदस्ती उसे बाँध कर विचार द्वारा उसका उच्छेद ही कर डालना चाहिये, इस आशय से कहते हैं।

अथवा हे अनघ, मैं तुम्हें यह हित उपदेश क्यों दूँ ? आत्मा से पृथक् चित्त नाम की क्या कोई वस्तु है ? यों विचार कर रहे पुरुष का चित्त ही नहीं है ॥२५॥

अथवा चित्त के उच्छेद के लिए पृथक् प्रयत्न करने की भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह मूलअज्ञान के अन्वय व्यतिरेक का अनुसरण करता है यानी मूलअज्ञान के अस्तित्व से उसका अस्तित्व है और

मूलअज्ञान के अभाव से उसका अभाव है। अतएव मूलअज्ञान के उच्छेद से ही उसका उच्छेद करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

जब तक निबिड़ अज्ञान है तब तक घनीभूत चित्त है, जब तक वर्षा ऋतु के मेघ रहेंगे तब तक अवश्य प्रचुर कुहरा रहेगा। जितना अज्ञान क्षीण होता जायेगा उतना ही चित्त भी कृश होता जायेगा। जितना वर्षा ऋतु का विनाश होगा उतना ही कुहरा क्षीण होगा। विचार से शुद्ध हुआ चित्त वासनाक्षय से जितनी सूक्ष्मता को प्राप्त हुआ (शरत्काल के मेघ की तरह) मैं उसको उतना क्षीण हुआ भी समझता हूँ ॥२६-२८॥

अविवेकी का चित्त उपदेश के अयोग्य ही है, किन्तु विवेकी का चित्त भी चाहे वह नष्ट हो रहा हो चाहे नष्ट हो चुका हो सुतरां उपदेश के अयोग्य है, इस आशय से कहते हैं।

असत् अथवा नाश को प्राप्त हो रहे चित्त का जो यह उपदेश किया जाता है, यह आकाश के, जल के और वायु के ताड़ने के समान व्यर्थ है ॥२९॥

उक्त का ही अनुवाद द्वारा उपसंहार करते हैं।

चूँकि तुम दिन पर दिन क्षीण हो रहे हो, इसलिए क्षीयमाण होने के कारण असन्मय तुमको मैं त्यागता हूँ। विद्वान् जन परित्याज्य को उपदेश देना भारी मूर्खता ही कहते हैं ॥३०॥

अपना उससे असम्बन्ध देखना ही उसका त्याग है, इस आशय से कहते हैं।

हे असन्मयचित्त, मैं अहंकारवासना से रहित निर्विकल्प स्वयं ज्योति चैतन्य हूँ। अहंकार के बीजभूत तुमसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है ॥३१॥

मुझसे कौन अपराध हुआ ? जिससे विनाश के लिए आप मेरा त्याग करते हैं, ऐसा यदि मन की ओर से प्रश्न हो, तो देहआदि में अहंकाररूपी दुर्दृष्टि का अवलम्बन ही तुम्हारा अपराध है, ऐसा कहते हैं।

तुमने यह, वह, मैं यों व्यर्थ दुर्दृष्टि का अवलम्बन किया है। वह दुर्दृष्टि शंका विष से हुई विषूचिका के समान मिथ्या हेतुक होती हुई भी मूढ़ों के विनाश के लिए होती है, यही तुम्हारा अपराध है, यह अर्थ है ॥३२॥ जैसे हथिनी और हाथी की बिल्व के अन्दर स्थिति नहीं हो सकती है वैसे ही अपरिच्छिन्न आत्मतत्त्व की इस प्रकार के परिच्छिन्न मन के अन्दर परिच्छिन्न स्थिति (देहआदि में अहंकार भाव से स्थिति) नहीं हो सकती है ॥३३॥

चित्त की त्याज्यता में दूसरा भी हेतु कहते हैं।

हे चित्त, खेद की बात है कि तुमने बड़े भारी जीर्ण कुएँ आदि के समान अगाध तथा काम, क्रोध, लोभ आदिरूप साँप, बिच्छू, पिशाचआदि के निवासभूत होने के कारण दुःखदायी इस वासना को ही अपने निवासस्थान के रूप में अपनाया है, किन्तु मैं तो इसका अनुसरण नहीं करता हूँ। इसलिए उसके अनुगामी तुम्हारा त्याग करता हूँ, यह भाव है ॥३४॥ यह (देह) वह (आत्मा) मैं हूँ ऐसी भ्रान्ति की जो तुमने अहन्ता से कल्पना की है, वह अविचारशील बालकों के तुल्य व्यर्थ मोह है। मैं तो विचारशील हूँ, मुझको वह मोह कहाँ ? यानी कुछ भी नहीं है, यह भाव है ॥३५॥

'अहम' की नास्तिता को ही विचारकर विशद करते हैं।

पैर के अँगूठे से लेकर सिर तक मैंने तिल-तिल पर विचार किया। यह 'अहम्' नाम का पदार्थ मुझे

नहीं मिला। 'अहम्' रूप से स्थित कौन होगा ? ॥३६॥

यदि अहंपदार्थ है ही नहीं, तो तुम कौन हो ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं।

तीनों जगतों में जिसने सब दिशारूपी कुंजों को भर रक्खा है यानी जो दिशाकृत परिच्छेद से रहित है, एक यानी वस्तुकृत परिच्छेद से रहित है, ज्ञेय क्रम से भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीन अवस्थारूप काल से किये गये परिच्छेद से शून्य है, अतएव सब प्रकारों में वस्तु अवान्तर स्वरूपशून्य है इस प्रकार का ज्ञानरूप ही मैं हूँ॥३७॥ जिसका परिच्छिन्न रूप नहीं है, जिसकी नाम की कल्पना नहीं है, एकत्व संख्या नहीं है, न जिसकी अन्यता है, न महत्ता है और न अणुता है, वह ज्ञानरूप मैं हूँ॥३८॥ हे चित्त, चूँकि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, इसलिए साक्षीभूत अपने ज्ञेय दुःखकारण तुमको, जो चारों ओर फैले हो, देखता हूँ। दुःख के कारण होने से ही तुम आगे कहे जानेवाले विवेक का उपार्जन कर विवेक से उत्पन्न बोध द्वारा मुझसे मारे जाते हो॥३९॥

विवेचन का प्रकार दिखलाते हैं।

देह में यह मांस है, यह रक्त है, ये हड्डियाँ हैं, ये श्वासवायु है, यह 'अहम्' रूप से स्थित कौन है ? भाव यह कि इदन्ता से गृहीत हो रहे मांस आदि में वह अहंशब्दार्थ कोई भी नहीं है क्योंकि इदन्ता और अहन्ता का परस्पर विरोध है॥४०॥ स्पन्दनांश सारा का सारा प्राणवायुओं का है, ज्ञानांश परमात्मा का है, बुढ़ापा और मरण देह के धर्म हैं, यह 'अहम्' रूप से स्थित पदार्थ कौन है ? ॥४१॥

हे चित्त, मांस अहं पदार्थ से पृथक् है, रक्त भी उससे अतिरिक्त है, हड्डियाँ भी 'अहम्' से भिन्न हैं, बोध (ज्ञानेन्द्रियव्यापार) उससे अन्य है, स्पन्दन भी उससे अतिरिक्त है फिर 'अहम्' रूप से स्थित पदार्थ कौन है ? भाव यह कि मांस अदि तो आत्मा से भिन्नरूप से प्रतीत हो रहे हैं, अतः उनमें अहन्ता उपपन्न नहीं हो सकती॥४२॥ यह नासिका है, यह जिह्वा है, यह त्वचा है, ये दो कान हैं, यह चक्षु है, यह स्पन्द है (कर्म की हेतु कर्मेन्द्रियाँ हैं), फिर यह 'अहम्' रूप से स्थित पदार्थ कौन है ? भाव यह कि नासिका आदि भी इदन्ता से प्रतीत होने के कारण अहंशब्दार्थ नहीं हैं॥४३॥ परमार्थरूप से विचार करने पर मन 'अहम्' नहीं है, तुम (चित्त) 'अहम्' नहीं हो, वासना भी 'अहम्' नहीं है। शुद्ध चित्प्रकाश यह आत्मा तो अहन्ता से रहित ही विलसित होता है यानी आत्मा तो अहन्ता से सर्वथा अस्पृष्ट है, यह भाव है॥४४॥ उक्त आत्मा में यदि अध्यारोप दृष्टि हो, तो मैं ही सर्वत्र अधिष्ठान हूँ, इसलिए सब कुछ मैं ही हूँ अथवा यदि अपवाद दृष्टि हो, तो यहाँ मैं कुछ भी नहीं हूँ, ऐसी जो दृष्टि है वही वास्तविक है। एक देहमात्र में सीमित अहंभावरूप दूसरा अहंकार क्रम नहीं है। भाव यह कि इस जगत् में सर्वत्र प्रतीयमान मैं ही हूँ अथवा यहाँ पर प्रतीयमान कुछ भी मैं नहीं हूँ, ऐसी जो दृष्टि है, वही वास्तविक है। दूसरा परिच्छिन्न विषय में अहंप्रतीतिरूप क्रम वास्तविक नहीं है॥४५॥ अज्ञानरूपी धूर्त ने वंचना द्वारा स्वरूपवियोग से चिरकाल तक ऐसे ही मुझे क्लेश पहुँचाया जैसे कि मस्त भेड़िया जंगल में मृग के बच्चे को क्लेश पहुँचाता है॥४६॥ बड़े सौभाग्य का विषय है कि अब मैं अज्ञानरूपी चोर को पहचान गया हूँ। अपने वास्तविक स्वरूपरूपी धन को हरनेवाले इसको फिर नहीं अपनाऊँगा॥४७॥

परस्पर विरोधी स्वभाववाले हम दोनों का कोई सम्बन्ध भी नहीं है, एकता की बातें तो दूर रही, इस अभिप्राय से कहते हैं।

जैसे पर्वत पर स्थित मेघ पर्वत का कोई नहीं होता वैसे ही दुःखरहित मैं दुःख के भाजन उसका सम्बन्धी नहीं हूँ और वह मेरा सम्बन्धी नहीं है ॥४८॥

यदि तुममें अहंकार आदि सर्वथा नहीं है, तो तुम वचन आदि से कैसे व्यवहार करते हो ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

नट के समान तात्कालिक तद्भाव की कल्पना द्वारा अहंकार बनकर यह (तुम्हें उपदेश आदि) कहता हूँ, नेत्र आदि से जानता हूँ, बैठता हूँ तथा चलता हूँ। वास्तव में आत्मदर्शन से मैं अहंकारशून्यता को प्राप्त हो गया हूँ ॥४९॥ मुझे इसका पूरा निश्चय है कि वास्तव में ये चक्षु आदि मैं ही हूँ। यदि ये मुझसे भिन्न हैं, तो जड़ हैं चाहे मेरे शरीर में रहें अथवा जायें। ये मेरे कोई नहीं हैं ॥५०॥ बड़े खेद की बात है, जगत्रूपी बालक का वेतालरूपी तथा ताड़ के पेड़ से भी लम्बी और अनूठी आकृतिवाला यह 'अहम्' कौन है ? किसने और कैसे इसकी कल्पना की है ? ॥५१॥

अब अपनी पूर्वावस्था की अविचारदशा के लिए शोक करते हैं।

जैसे तृण-हीन खराब पर्वत में हरिण दीर्घकाल तक व्यर्थ इधर-उधर लुढ़कता है वैसे ही मैं इस संसाररूपी गड्ढे में इतने दीर्घकाल तक वृथा लुढ़कता रहा ॥५२॥

अब प्रत्येक इन्द्रिय के विषय से सम्बद्ध अहं प्रतीति के भाजन का अन्वेषण करते हैं।

यदि चक्षु अपने लिए आलोकन में प्रवृत्त हुआ, तो संसार में 'अहम्' नामक कौन है जो मोहित हुआ ? ॥५३॥ यदि त्वचा अपने विषय में स्पर्श के लिए तत्पर हुई, तो यह 'अहम्' नामक दुष्ट पिशाच के तुल्य कौन उदित हुआ ? ॥५४॥ रसनेन्द्रिय के अपने विषय रसों में प्रवृत्त होने पर मैं मीठा भोजन करनेवाला हूँ, इस प्रकार का गर्हित भ्रम कहाँ से आता है ? ॥५५॥ श्रवणतृष्णा से विवश बेचारी श्रोत्रेन्द्रियाँ के शब्दरूप विषय को प्राप्त होने पर निर्बीज अहंकार दुःख की प्राप्ति कैसी ? ॥५६॥ अपनी नासिका की अभिलाषावश अपने गन्ध को प्राप्त होने पर 'मैं सूँघनेवाला हूँ' ऐसे जिसे अभिमान होता है, उस चोर को मैं जानता ही नहीं हूँ ॥५७॥ पूर्वोक्त स्थलों में प्रसिद्ध यह अहन्ता की कल्पना मृगतृष्णा के समान व्यर्थ होती है। उस अहन्ता की कल्पना के निर्विषय होने पर यह (देह) 'अहम्' (मैं) हूँ, इस प्रकार का जो भाव है, वह भ्रान्ति ही है, इसलिए देह में अहंभाववासना का सर्वथा त्याग करना चाहिये ॥५८॥

यदि कोई कहे कि वासना के अभाव में बाहरी प्रवृत्तियाँ सर्वथा विरत हो जायेगी, इसलिए पुरुष का जीवन ही न रहेगा, तो उस पर कहते हैं।

यह शरीर वासनाहीन होने पर भी अपने जीवन के हेतु कर्म में चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा स्वतः बाहर प्रवृत्त होता है। इस प्रवृत्ति में वासना कारण नहीं है। दाम, व्याल और कट की, जो वासनारहित थे, पहले युद्धादि प्रवृत्तियों का वर्णन किया जा चुका है ॥५९॥

यदि वासना के बिना भी शरीर बाहर प्रवृत्त होता है तो प्रवृत्ति प्रयुक्त दुःख भी अवश्य होगा ही, ऐसी अवस्था में वासना के त्याग से क्या लाभ हुआ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

हे चित्त, यदि वासनारहित कर्म किया जाय, तो तात्कालिक भोगाभास में मैं दुःखी हूँ, यह अभिमान नहीं होता, भावी (आगे होनेवाले) सुख-दुःखों का अनुभव नहीं होता, इसलिए उनसे होनेवाले शोक,

मोह, भय, विषाद, चिन्ता, उद्वेग आदि सब संतापों की शान्ति ही इसका गुण है, यह भाव है ॥६०॥

अब इन्द्रियों को सम्बोधित कर इस अर्थ का विचारपूर्वक उन्हें उपदेश देते हैं।

इसलिए हे मूर्ख इन्द्रियाँ, भीतर अपनी वासना का त्यागकर तुम सब कर्म करो, उससे तुम्हें दुःख प्राप्त नहीं होगा ॥६१॥ जैसे बालक पहले मिट्टी के खिलौने बनाते हैं फिर उनके विनाश से उन्हें पश्चात्ताप होता है वैसे ही तुमने (इन्द्रियों ने) भी विषयों के उपार्जन और उनके विनाश में केवल दुःख के लिए ही अज्ञ आत्मा में भोगवासना की व्यर्थ स्थापना की है ॥६२॥

अतएव विद्वानों की वासना आदि सब दृष्टियाँ अज्ञान से बाधित होकर अपने कार्य राग आदि के साथ शुद्धात्मा ही हो गई, इसलिए उनका पृथक् अस्तित्व नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे निष्पाप, ज्ञानी की ही दृष्टि में जैसे तरंग, बुद्बुदे, फेन आदि जल से पृथक् नहीं हैं वैसे ही वासना आदि सब दृष्टियाँ आत्मा से पृथक् नहीं हैं। अज्ञानी की दृष्ट में तो उनकी पृथक् सत्ता है ॥६३॥

अतएव अज्ञानियों ने तृष्णा से ही इन्द्रियों का विनाश किया है, ऐसा कहते हैं।

हे इन्द्रियरूपी बालकों, जैसे रेशम के कीड़े अपने से उत्पन्न हुए तन्तु से नष्ट हो जाते है वैसे ही तुम लोग भी स्वतः उत्पन्न हुई तृष्णा से ही नष्ट हुए हो ॥६४॥ जैसे पर्वत के पथिक पर्वत के शिखर पर जाते–जाते पित्तवश घूम रही दृष्टि से गिरकर विषम गर्तमय भूभाग में गिरते हैं वैसे ही जरा, मरण आदि क्लेशों से पूर्ण इस संसाररूपी पत्थर कंकड़ पूर्ण भूमि में तुम लोग तृष्णा से ही लुढ़क रहे हो ॥६५॥ जैसे छेदे हुए मनकों में (मनियों में) गुँथी हुई दीर्घ डोरी मोतियों के बन्धन में कारण होती है वैसे ही आप लोगों के एक जगह बन्धन में वासना ही हेतु है ॥६६॥ एकमात्र भ्रान्ति से बनाई हुई यह (वासना) वस्तुतः सत्य नहीं है। हँसिये से पत्तों के समान एकमात्र असंकल्प से ही यह काटी जाती है ॥६७॥ जैसे वायु का झोंका दीपकों के तथा चमक रहे उल्का, बिजली आदि तेजों के विनाश के लिए होता है वैसे ही बढ़ रही यह (वासना) आप लोगों के ही विमोहन और क्षय के लिए (मरण आदि दुःख के लिए) है ॥६८॥ इस कारण सब इन्द्रियों के कोश केतुल्य आधारभूत हे चित्त, तुम सब इन्द्रियों के साथ ऐकमत्य को प्राप्त होकर निश्चय अपने को असत्स्वरूप (मिथ्याभूत) जानकर केवल निर्वाणरूप निर्मल बोध मात्र होकर स्थित होओ, फिर चित्तरूप का ग्रहण मत करो ॥६९॥ हे चित्त, सकल शास्त्रतत्त्वज्ञाताओं के अभिमत द्वैत वासना परिहाररूप (अभिमत विषयत्यागरूप) मन्त्र युक्ति से असंख्य दुःखवाली अहंकारवासनारूपी विषम विष तुल्य अज्ञान से पैदा हुई विषूचिका का भली–भाँति त्यागकर संसार शून्य हो मरण आदि सब भयों के स्थान परिपूर्णानन्दात्मा ही तुम होओ, यह अर्थ है ॥७०॥

बावनवाँ सर्ग समाप्त

तिरपनवाँ सर्ग

वासनाओं तथा अहंकार से आत्मा की अस्पृष्टता तथा शरीर और मन का वैर इत्यादि का वर्णन।

उद्दालक ने कहा : परिच्छिन्न तिल आदि फूल आदि से वासित होते हैं आत्मचित् तो आर–पाररहित (असीम) है। स्थूल पृथिवी, जल, तेज, वायु कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थों से वासित होते हैं, चित् तो परमाणु से, अपंचीकृत आकाश से और अव्याकृत आकाश से सूक्ष्मतम है, अतएव

उसका तनिक भी स्पर्श करने के लिए वासना आदि समर्थ नहीं हैं। साक्षात् उसके स्पर्श में असमर्थ होने पर भी उसके चैत्य के स्पर्श द्वारा वासना आदि उसका स्पर्श करेंगे। ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह चैत्य रहित है ॥१॥

यदि कोई प्रश्न करे कि चैत्यन्यरूप तुम्हारे द्वारा अप्रकाशित विषय में वासना का उदय नहीं दिखाई देता, अतः तुम्हीं से ये वासना आदि विस्तारित हैं इस पर ये तुम्हारा स्पर्श न करनेवाले कैसे हैं ? तो इस पर कहते हैं।

मैंने उनका विस्तार नहीं किया है, किन्तु बुद्धि में और अहंकार में चित् के प्रतिबिम्बवश जड़ इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषयों की सूक्ष्म अवस्थारूप अतएव शून्य (असत्–रूप) होती हुई भी वेतालों के समान त्रास देने में उद्यत विस्तृत वासनाओं का मन अनुभव करता है ॥२॥ जाग्रत् अवस्था में बुद्धि और अहंकार से बहुत बार किये गये विषय विचारों से और मन से अनुभूत विषयों से मेरा संपर्क नहीं है, क्योंकि लेप रहित चित् ही मैं हूँ, मन आदि का संघातरूप नहीं हूँ। श्रुति ने भी कहा है : 'स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसंगो ह्ययं पुरुषः' वह (स्वप्नदर्शी पुरुष) वहाँ (स्वप्न में) जो कुछ देखता है, उससे असंस्पृष्ट होता है, क्योंकि यह पुरुष असंग है ॥३॥

एवं स्थूल शरीर से किये गये पाप–पुण्यरूप कर्म से भी उसका सम्बन्ध नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

देह अपनी दुश्चेष्टाओं से वृद्धि को प्राप्त हुई संसारस्थिति का चाहे ग्रहण करे, चाहे त्याग करे, किन्तु मैं तो उसकी दोनों अवस्थाओं में निर्लेप चित् ही हूँ ॥४॥

अतएव जन्म–मरण भी मेरे नहीं हैं, ऐसा कहते हैं।

चित् के जन्म–मरण नहीं हैं, क्योंकि वह सर्वव्यापक और चित्रूप है। अतएव क्या जीव मरता है और क्या किसी के द्वारा मारा जाता है यानी जीव का मरना और मारना दोनों असंगत हैं ॥५॥

अविनाशी अद्वितीयात्मा का दर्शन होने पर वध्य–घातक बुद्धि ही नहीं रह जाती है, अतएव आत्यन्तिक अभय सिद्धि हो जाती है, यह आशय है। जिसको जीवन से प्रयोजन है, उसे मरने से भय होता है, किन्तु चित् का जीवन से कोई प्रयोजन नहीं है, ऐसा कहते हैं।

चित् का जीवन से कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि सर्वात्मा चित् ही सब वस्तुओं का जीवन है। यदि सब देश, काल और वस्तुओं में फैली हुई स्वरूपभूत चिति ही इसका जीवन है, तो उस जीवन से कब क्या दूसरी अप्राप्त वस्तु प्राप्य होगी, जिसके लिए उसकी इच्छा होगी ? ॥६॥

मरण और जीवन केवलमात्र मन की कल्पनाएँ हैं, इस कारण भी मरण और जीवन में द्वेष और वांछा की प्राप्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

जीता है और मरता है, इस प्रकार की कल्पना, जो कुविकल्पों की मालाओं से भरी हुई है, मनों की ही है, निर्मल स्वरूप आत्मा की नहीं हैं ॥७॥ जो देह में अहंभावता को प्राप्त है, वह देह के भाव और अभावरूप जन्म मरणों के फन्दे में पड़ता है। आत्मरूप तुममें देहाहंभाव नहीं है; इसलिए तुम्हारे भाव और अभावरूप जन्म–मरण कहाँ से होंगे ? ॥८॥

देह में अहंभावना क्या अहंकार की है अथवा मन की है या पदार्थ समूह की है ? इनमें से पहले के दो (अहंकार और मन) प्रमाण वेद्य नहीं हैं, इसलिए असत्स्वरूप हैं। पदार्थ भी अत्यन्त जड़ हैं,

अतएव वे भी अभिमान योग्य नहीं हैं, इसलिए अहंभावना का न तो कोई विषय है और न आश्रय है, ऐसा कहते हैं।

अहंकार व्यर्थ मोहरूप है, मन मृगतृष्णारूप है तथा पदार्थ समूह जड़ है; अतः अहंकार भावना किसे हो ? ॥९॥

उक्त अर्थ को ही प्रकारान्तर से विस्तारपूर्वक कहते हैं।

देह रक्तमांसमय है, मन विचार से नष्ट हो चुका और चित्त आदि सब जड़ हैं। फिर देह में अहंभावना कैसे हो ? ॥१०॥ सब इन्द्रियाँ नित्य स्वस्वविषय व्यापाररूप केवल स्वोदरपूरण में ही लगी हैं अहंकारपुष्टिरूप परोपकार में नहीं लगी है, सब पदार्थ पदार्थस्वरूप में स्थित हैं, अतः अहंभाव भावना कैसे हो ? ॥११॥ सत्त्व आदि गुण गुणों के प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहरूप अपने व्यापार में स्थित हैं, प्रकृति (प्रधाननाम की माया) गुणसाम्यावस्थारूप स्वभाव में स्थित है और सत् (ब्रह्म) स्वात्मभूत सत्स्वभाव में विश्रान्त है, अतः अहंभावना कैसे और किसको हो ? ॥१२॥

इस देह में जो चिदात्मा है, वह भी सर्वगामी (सर्वव्यापक), सब देहों में स्थित, सर्वकालमय महान् अद्वितीय परमात्मा ही मैं हूँ, यों निश्चय कर स्थित है, वह भी अहंकारास्पद नहीं है, यह अर्थ है ॥१३॥ ऐसी अवस्था में 'अहम्' रूप से जो केवल इस देह का अभिमानी है, उसकी कैसी आकृति है, (क्या जाति है, अथवा कैसी अंगों की बनावट है) वास्तव में कौन है, किस रूप से निर्दश के योग्य है, किस हेतु से बनाया गया है, कैसी उसकी रूपरेखा है और किसका विकार है ? अहंभाव से मैं किसका ग्रहण करता हूँ अथवा अहंभाव के अभाव से मैं किसका त्याग करता हूँ ॥१४॥

अतः निर्वचन के अयोग्य होने से अहंकार मिथ्या ही है, इसलिए आत्मा से उसका सम्बन्ध नहीं है, ऐसा कहते हैं।

इसलिए अपने अस्तित्व और अभाव में उपपत्ति रखनेवाला 'अहम्' नाम का कोई पदार्थ यहाँ पर नहीं है। अतः निरहंकारस्वरूप मेरा किसके साथ और कैसे सम्बन्ध हो सकता है ॥१५॥ अहंकार का सर्वथा अभाव होने पर किसका किससे कौन सम्बन्ध ? सम्बन्ध का अभाव सिद्ध होने पर 'त्वम्' 'अहम्' ऐसी द्वैत कल्पना विलीन हो जाती है ॥१६॥

इस प्रकार सद्वस्तु से व्यतिरिक्त इदं पदार्थ का अन्वेषण करने पर भी उसका मिथ्यात्व ही अन्त में सिद्ध होता है, यों सद् ब्रह्मअद्वैत का साम्राज्य प्रतिष्ठित हुआ। शोक का अवकाश ही कहाँ है ? ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार जो कुछ भी इस जगतीतल में स्थित है, वह सब ब्रह्मस्वरूप ही है। मैं 'सत्' (ब्रह्म) ही हूँ, मैं 'तत्' (ब्रह्म) ही हूँ, व्यर्थ शोक क्यों करता हूँ ? ॥१७॥

सत्–अद्वैत की सिद्धि के बल से भी अहंकार का निरास किया जा सकता है इस आशय से कहते हैं।

सर्वव्यापक एक ही निर्मल पद के रहने पर अहंकार रूप कलंक का कैसे और कहाँ से उदय हो सकता है ? ॥१८॥ पदार्थ शोभा बिलकुल है ही नहीं, एकमात्र सर्वव्यापक आत्मा ही है अथवा पदार्थ शोभा भले ही हो फिर भी उसका किसी के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है ॥१९॥

सम्बन्ध का उपपादन करते हैं।

मन अपने अवयवरूप से कल्पित सब इन्द्रियों से मन में ही स्वप्न के समान उल्लास को प्राप्त होता है। बाह्य विषयों का स्पर्श करने के लिए समर्थ नहीं होता; किन्तु चित् तो इन्द्रियों और बाह्यविषयों से अलिप्त स्वरूप (असंगस्वभाव) है। ऐसी अवस्था में किसका किसके साथ सम्बन्ध कैसे और किसके द्वारा हो सकता है ? ॥२०॥

सम्बन्धाभाव में दृष्टान्त देते हैं।

जैसे एक स्थान पर देखे गये भी पत्थर और लोहे की शलाकाओं का (सींकों का) परस्पर सम्बन्ध नहीं होता वैसे ही एक स्थान पर देखे गये भी देह, इन्द्रिय, मन और चित् का परस्पर सम्बन्ध नहीं है ॥२१॥

यदि कोई कहे कि तब लौकिक पुरुषों का 'यह मेरा धन है' ऐसा व्यवहार कैसे होता है ? तो इस पर कहते हैं।

अहंकाररूपी भ्रम के अज्ञानवश उदित होने पर यह सारा जगत् 'यह मेरा है और यह इसका है' यों वृथा भ्रान्त हुआ है ॥२२॥ यह अहंकार चमत्कार आत्मतत्त्व के अज्ञान से उत्पन्न हुआ है। तत्त्वज्ञान होने पर तो जैसे सूर्य के ताप से हिम–कणिका गल जाती है वैसे ही यह गल जाता है ॥२३॥ आत्मा से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, सब ब्रह्म ही है, इस प्रकार का मेरा अनुभव सिद्ध जो सत्त्व है, उसकी मैं भावना करता हूँ ॥२४॥

अब अहंकार के मार्जन के उपायों को कहते हैं।

मैं आकाश की नीलिमा के समान उत्पन्न हुए इस अहंकाररूप महाभ्रम का जिससे पुनः कभी स्मरण न हो ऐसा विस्मरण ही उत्तम समझता हूँ ॥२५॥ चिरकाल से आरूढ़ हुए अहंकार भ्रम का समूल परित्याग कर शान्तात्मा हुआ मैं जैसे शरत् काल का आकाश अपने निर्मल स्वभाव में स्थित रहता है वैसे ही निर्मल आत्मा में स्थित हूँ ॥२६॥

अहंकार भ्रम के रहने पर क्या हानि है ? ऐसा यदि कोई कहे, तो इस पर कहते हैं।

देहआदि में वृद्धि को प्राप्त हुआ अहंभाव अनर्थों की परम्पराओं की सृष्टि करता है, पाप का विस्तार करता है और सन्ताप की वृद्धि करता है ॥२७॥ दुर्वासनारूपी जल से भरे हुए हृदयरूपी आकाश में अहंकाररूपी मेघ के विकास को प्राप्त होने पर शरीररूपी कदम्ब वृक्षरूपी आकाश में अहंकाररूपी मेघ के विकास को प्राप्त होने पर शरीररूपी कदम्बवृक्ष पर दोषरूपी मंजरियाँ चारों ओर से विकसित हो उठती है ॥२८॥ मरणादि पारलौकिक दुःख पुनर्जन्म तक रहता है एवं जीवन आदि ऐहिक दुःख मरण पर्यन्त रहता है और भोग्यवर्ग नाश से खण्डित होता है, यह दुःख वेदना बड़ी कष्टकारिणी है ॥२९॥ जैसे ग्रीष्म ऋतु में सूर्यकान्त मणियों की अग्नि शान्त नहीं होती है वैसे ही दुर्बुद्धियों की 'यह मुझे मिल गया, इसको मैं प्राप्त करूँगा' इस प्रकार की सन्तापप्रद पीड़ा कभी शान्त नहीं होती ॥३०॥ जैसे जल की आश्रयभूत (जल से भरी हुई) मेघमाला गुरुतर पर्वत पंक्ति की ओर दौड़ती है वैसे ही 'यह है यह नहीं है' इस प्रकार की चिन्ता, जिसका आश्रय अज्ञ पुरुष है, जड़ अहंकार की ओर अग्रसर होती है ॥३१॥ अहंकार के क्षीण होने पर सूखा हुआ संसाररूपी वृक्ष रागरूपी अंकुर की उत्पादनशक्ति से रहित अतएव पत्थर के तुल्य होकर फिर अंकुर को उत्पन्न नहीं करता है, पनपता नहीं है ॥३२॥ अपनी तृष्णारूपी काली नागिनें, जिन्होंने देहरूपी वृक्ष में अपना बिल बनाया है,

विचाररूपी गरुड़ के आने पर न मालुम कहाँ चली जाती हैं ॥३३॥ इसलिए विश्व के मिथ्याभूत अज्ञान से उत्पन्न अतएव अध्यास से ही सन्मय और असन्मय व्यवहारवाला होने पर 'त्वम्' (तुम) 'अहम्' (मैं) इस प्रकार का भेदव्यवहार भी क्या है ? ॥३४॥

भाव यह कि विश्व के असत्य सिद्ध होने पर उससे होने वाला सारा का सारा भेदव्यवहार भी असत्य है, जब यह भेदव्यवहार असत्य हो गया तब 'त्वम्' 'अहम्' यह भेद व्यवहार भी कहाँ सत्य रहा ?

अतएव सत्य प्रयोजन से सर्वथा रहित ही यह जगत् पहले कारणत्व के अयोग्य अज्ञान से उदित होता है। जो वस्तु बिना कारण के उत्पन्न हुई वह 'सत्' कैसे कही जा सकती है ? ॥३५॥

इस रीति से उत्पत्ति से पहले देहआदि की जैसे स्थिति थी वैसी ही सर्वदा रहती है, यह सिद्ध हुआ, ऐसा कहते हैं।

सृष्टि से पूर्व अनादि अनन्तकाल में मिट्टी में घटरूप आकार के समान ब्रह्म में हीं शरीर था, वैसे ही इस समय भी है और आगे भी वैसे ही होगा ॥३६॥

उक्त अर्थ में दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे जल, जो कि पूर्व और उत्तर कालमें तरंग आदि से अविकृत केवल मात्र जलरूपसे स्थित रहता है, मध्य में कुछ समय के लिए चंचल होकर पूर्व और उत्तर काल में प्रसिद्ध सौम्यता का त्याग कर तरंगरूप होकर जल ही रहता है दूसरी वस्तु नहीं होता वैसे ही देह आदि भी तीनों कालों में ब्रह्म ही हैं, उससे अतिरिक्त नहीं हैं ॥३७॥ इस देह में जो केवल एक क्षण के लिए चेष्टा युक्त है, और भंगोन्मुख (जिसका भंग तुरन्त होना ही चाहता है) तरंग में जिन्होंने अहंरूप से विश्वास किया वे मन्दमति उसके नाश से नष्ट हो गये यानी भंगोन्मुख तरंग के समान क्षण विनश्वर तथा जीवनरूप एक क्षण के लिए चेष्टायुक्त शरीर में अहंरूप से आस्था मन्दमतियों की ही हो सकती है, अन्यों की नहीं ॥३८॥

देश से परिच्छिन्न होने के कारण भी देह आदि वस्तुओं में आस्था उचित नहीं है, ऐसा कहते हैं।

उत्पत्ति के पूर्व और नाश के पश्चात् सर्वत्र देहआदि सब वस्तुएँ नहीं हैं। अपने आधार वित्तेभर या हाथ भर प्रदेश में उनकी विद्यमानरूप से प्रतीति होती है। यदि विकल्पपूर्वक यह विचार किया जाय कि उनकी उक्त सकल प्रदेश में प्रतीति होती है या उस एक देश में, तो यह निर्वचन करना कठिन हो जायेगा। उनमें भी हतरूपिणी यह आस्था कौन है ? यानी अनुचित है ॥३९॥

उक्त न्याय को लिंगदेह में भी दिखलाते हैं, वह भी सत् से व्यतिरिक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं।

चित्त (चित्तउपलक्षित लिंग शरीर) अपनी उत्पत्ति से पूर्व समय में और पूर्व प्रदेश में स्वसाक्षी चिन्मात्र स्वभाव ही था। उत्तरकाल और अन्य प्रदेश में नष्ट हुआ देश से परिच्छिन्न भी आकाश में लीन हुए की भाँति अत्यन्त तिरोहित हुआ वह सत् है या असत् है यह नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार का तुम्हारा चित्त (लिंगदेह) वर्तमान समय में और इस प्रदेश में सत् से व्यतिरिक्त क्या उदित हुआ यानी कुछ भी नहीं ॥४०॥

यदि कोई पूछे कि स्थूल, सूक्ष्म देह आदि यदि असत् ही हैं, तो उनका भान कैसे होता है, इस पर कहते हैं।

जैसे स्वप्न के विकारों में असत्य भी स्वशरीरोच्छेद आदि सत्य–सा प्रतीत होता है, जैसे बाघ, चोर

आदि की भयदृष्टियों में बाघ आदि के न रहने पर भी सर्वत्र बाघ आदि की शंका होती है, मदिरा आदि के नशे में न घूमती हुई पृथिवी भी, घूमती हुई-सी प्रतीत होती है अथवा जैसे नाव की सवारी से हुए भ्रम में पृथिवी पेड़ आदि के न चलने पर भी वे चलते हुए-से प्रतीत होते हैं, जैसे वात, पित्त आदि के संनिपात में भय आदि के हेतु के न रहने पर भी भय आदि होते हैं, जैसे नेत्र आदि इन्द्रिय के दोष दूषित होने पर द्विचन्द्रत्वभ्रान्ति होती है, जैसे अतिप्रियतम के लाभ आदि से होनेवाले आनन्द में और विधुरों की काम आदि दोषावेश दशाओं में भाव और अभाव का रूप चंचल यानी केवल प्रतीतिकाल में ही स्थायी रहता है कुछ कामिनी आदि का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है शीघ्र ही बाध होने से नष्ट हो जाता है वैसे ही यह स्थूल, सूक्ष्म देह आदिरूप जगत् की भ्रान्ति भी है। अन्तर केवल इतना ही है कि स्वप्न आदि थोड़े समय तक रहते हैं और जगत् भ्रम मोक्ष पर्यन्त रहता है यों समय में न्यूनता और अधिकता के सिवा उनमें विशेषता नहीं है ॥४१-४३॥ हे चित्त, जैसे पुत्र, आदि के न मरने पर भी वंचक पुरुष के कथन से उत्पन्न हुई उनके मरण की बुद्धि तथा उससे कल्पित वियोग दुःख रागी पुरुष को मार डालते हैं वैसे ही वह समय में न्यूनता और अधिकता तुम्हें पीड़ित करती हैं जिसे तुमने व्यवहारिक वस्तुओं में सत्यता के भ्रम से वियोग और संयोगवश नित्य सुख और दुःख के उदय में निमित्त बना रक्खा है ॥४४॥ अथवा यह तुम्हारा अपराध नहीं है, किन्तु तुममें अहंभाव के अभ्यासवाले मेरा ही यह अपराध है। यहाँ पर असद्रूप तुममें अहंभाव के अभ्यास से मैं मृगतृष्णा के तुल्य मिथ्या तुमको सत्-सा देखता हूँ। इसीसे तुम्हारे द्वारा किया हुआ यह सब मेरा किया हुआ हो गया है ॥४५॥

अतएव तुम्हारे विवेकज्ञान से ही मेरे अपराध रूप तुम्हारी शान्ति होती है, ऐसा कहते हैं।

जो कुछ भी यह विशाल दृश्यमण्डल है, वह सबका सब अवास्तविक ही है, ऐसा निर्णय करके मन के मननरूप व्यापार से शून्य निर्वाण पद को प्राप्त होता है ॥४६॥

तुम्हारे कारण हुई भोगवासनाओं का भी उसी से क्षय हो जाता है, ऐसा कहते हैं।

यह अवास्तविक है, ऐसा मन में दृढ़ निश्चय होने पर हेमन्तऋतु में वृक्षों की मंजरियों की नाईं भोगवासनाएँ क्षीण हो जाती हैं ॥४७॥ अथवा चित् के प्रतिबिम्ब के ग्रहण से चिद्रूप होने के कारण रागरहित हुआ (विरक्त हुआ) अतएव संकल्प और विकल्परूप व्यसन का त्याग कर चुका तथा चरम साक्षात्कारवृत्ति से आत्मसाक्षात्कार कर चुका, मन ही स्वयंस्वस्थ (मोक्षविश्रान्तिमान्) होता है, मैं नहीं, क्योंकि मैं तो सदा एकरूप हूँ, सदा अद्वितीय ब्रह्म रूप हूँ, फिर मेरी मोक्षविश्रान्ति प्राप्ति कैसी ? ॥४८॥ चित्त अपने-आप बाहर प्रवृत्त हुए अपने अवयवरूप इन्द्रिय आदि का संवरण कर तत्त्वबोध द्वारा परामात्मरूप अग्नि में प्रक्षिप्त होकर चित्त-स्वरूप को जला कर अत्यन्त शाश्वत परम शुद्धि को प्राप्त होता है ॥४९॥ जैसे वीर पुरुष युद्धभूमि में स्थित अपने शरीर को स्वर्गगामी अपने से भिन्न देखकर और उस शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले घर, खेत, धन आदि की वासना का त्यागकर अपने नाश तक को स्वीकार करके ब्रह्मलोक को जीतता है वैसे ही चित्त देह को अपने से भिन्न जानकर, विषय-वासना का त्यागकर और अपने विनाश तक को स्वीकार कर ब्रह्मलोक पर विजय पाता है यानी मोक्षविश्रान्ति को प्राप्त होता है ॥५०॥ मन शरीर का शत्रु (संतापक) है और शरीर मन का रिपु (संतापक) है। जैसे आधार और आधेयरूप जल और घड़े का कार्यभूत संयोग दोनों में से एक के नष्ट

होने पर नष्ट हो जाता है वैसे ही इन दोनों में से एक की वासना के विनाश से ये दोनों नष्ट हो जाते हैं ॥५१॥ जैसे परस्पर एक–दूसरे के पोषक होने के कारण अनुरागवाले, परस्पर संतापक होने के कारण द्वेषवाले बाघों के रहते वन के हिरण को सुख नहीं होता वैसे ही पूर्वोक्त रीति से परस्पर प्रबल विरोध रखनेवाले इन दोंनों के (शरीर और मन के) रहते बेचारे जीव को सुख नहीं होता, किन्तु इनका मूलअज्ञान के द्वारा विनाश ही परमसुख है ॥५२॥

यदि कोई शंका करे कि मरण से भोगायतन देह का नाश होने के कारण ही सब दुःखों का परिहार क्यों न होगा ? तो उस पर कहते हैं।

इन दोनों में से देह का विनाश होने पर भी एक के (मन के) रहने पर पुनः देहकल्पना अवश्य होगी, अतः मरण की बात आकाश में जा रही स्त्री ने भूमि निगल डाली इस कथा के समान असंभावित है (✍) ॥५३॥

यदि कोई प्रश्न करे कि मन और देह के रहने पर जीव की क्या क्षति है ? तो उस पर कहते हैं।

स्वाभाविक विरोधवाले ये दोनों जहाँ पर इकट्ठे होते है वहाँ पर जैसे लड़ रहे दो योद्धाओं के मध्य में स्थित पुरुष के शरीर पर तलवार और बाणों की बौछार गिरती है वैसे ही अनर्थों की परम्पराएँ अवश्य ही गिरती है ॥५४॥ परस्पर विरुद्ध देह और मन जहाँ पर संघटित होते है उस वैषयिक सुखभोग में जो मूर्ख अनुराग रखता है उसे आवरणरहित (खुले हुए) बड़वानल में, जिसमें निरन्तर समुद्र का जल गिरता है, फेंक देना चाहिये। वह वहाँ पर भी अनुराग करेगा। वैषयिक सुख भोग बड़वानल से कम भीषण नहीं है। वैषयिक सुखभोग में अनुराग करनेवाला बड़वानल में भी अवश्य अनुराग करेगा, यह भाव है ॥५५॥

'रागद्वेषवतोः' ऐसा जो पहले कहा है, उसमें मन के देह में राग–द्वेष के अंशों को दिखलाते हैं।

जैसे बालक अपने संकल्प से यक्ष की कल्पना करता है वैसे ही मन अपने संकल्प से शरीर की कल्पना कर इसके लिए आयु पर्यन्त भोजन की कल्पना कर पुष्ट बना कर अपने अभिनिवेश से होनेवाले सब दुःखों को इसे देता है ॥५६॥

मन में देह के द्वेषांश को उसके निमित्त के साथ दिखलाते हैं।

तदनन्तर उन दुःखों से तापित शरीर मन को मारने की इच्छा करता है अर्थात् दुर्विषयों के सेवन से मन में राग–द्वेष, शोक, मोह, पाप आदि के जनन द्वारा मन को पीड़ित करना चाहता है। मन से उत्पन्न हुआ अतएव मन का पुत्ररूप शरीर पितृ स्थानीय मन को कैसे मारना चाहता है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि आततायी बने हुए (पीड़ाप्रद) पिता को पुत्र भी मारता ही है ॥५७॥

उसकी शत्रुता का लोकप्रसिद्ध न्याय से उपपादन करते हैं।

प्रकृति से ही कोई किसी का शत्रु नहीं है और प्रकृति से ही कोई किसी का कभी मित्र भी नहीं है। जो सुख देता है वह मित्र कहा गया है और दुःखदायी शत्रु कहे गये हैं ॥५८॥ विविध दुःखों का अनुभव कर रहा शरीर अपने मन का विनाश करने की इच्छा करता है एवं मन क्षण भर में शरीर को अपने दुःखों का

(✍) 'व्योम्न्ययःस्त्रियाँ' इस पाठ में लोहे की स्त्री प्रतिमा ने आकाश में भूमि निगल डाली, इस कथा के समान है, यह अर्थ है। लोहे की प्रतिमा का आकाश में जाना और वहाँ पर भूमि को निगलना जैसे अत्यन्त असंभावित है वैसे ही मन के रहते मरण भी अत्यन्त असंभावित है, यह आशय है।

स्थान (भोगायतन) बना लेता है ॥५९॥

इस प्रकार परस्पर एक दूसरे को दुःख देनेवाले तथा स्वभाव से ही अत्यन्त विरुद्ध इन मन और शरीर के संगत होने पर सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? ॥६०॥

मन का विनाश होने पर तो देह को फिर दुःख प्राप्ति नहीं होती है, ऐसा कहते हैं।

मन का ही विनाश होने पर शरीर दुःख का भाजन नहीं होता है, इसलिए शरीर भी मन के विनाश में उत्कण्ठित होने के कारण ज्ञान और उसकी प्राप्ति के उपायों में नित्य यत्न करता है ॥६१॥

यदि कोई कहे, तब मन भी देह के विनाश के लिए क्यों यत्न नहीं करता है ? तो, इस पर कहते हैं।

जिस मन को आत्मविवेक नहीं हुआ उसके द्वारा शरीर चाहे नाश को प्राप्त किया गया हो चाहे न किया गया हो वह आपत्तियों का स्थान बनकर अनर्थों की ही सृष्टि करता है, इसलिए शरीर के नाश में मन की इष्टसिद्धि नहीं होती है, यह अर्थ है ॥६२॥ जैसे शरीर से जलरूप मेघ और तालाब परस्पर एक दूसरे से पुष्टि को प्राप्त होते हैं, वैसे ही शरीर से जड़रूप ये मन और शरीर परस्पर के अनुग्रह से पुष्टि को प्राप्त हुए हैं ॥६३॥

यदि कोई पूछे कि परस्पर विरुद्ध इन दोनों की एकत्र स्थिति किसलिए है ? तो अन्नपाक के लिए परस्पर विरुद्ध जल और अग्नि की एकत्र स्थिति के समान पुरुष के भोग और मोक्ष के उपायों के व्यवहार के लिए ही इनकी एकत्र स्थिति है, ऐसा कहते हैं।

विरुद्ध होने के कारण दो प्रकार से स्थित भी ये अन्योन्यतादात्म्याध्यास से एकरूप होकर दुःखों का भोग करने के लिए एक साथ भोग और मोक्ष के व्यवहार साधन में तत्पर हुए हैं, जैसे कि लोक में परस्पर विरुद्ध होने के कारण पृथक्-पृथक् स्थित भी जल और अग्नि अन्नपाक के लिए एकरूप होते हैं ॥६४॥

देह को जो चित्त के अधीन कहा, उसका फल कहते हैं।

विनाशी चित्त के क्षीण होने पर देह उन्मूलित हो जाता है और चित्त के बढ़ने पर वृक्ष के समान सैकड़ों शाखाप्रशाखावाला होता है ॥६५॥ मन के क्षीण होने पर शरीर क्षीण वासनावाला होकर क्षीण हो जाता है। देह के क्षीण होने पर मन क्षीण नहीं होता, इसलिए मन को ही क्षीण करना चाहिए ॥६६॥ संकल्परूपी वृक्षों से भरे तृष्णारूपी लतावाले मनरूपी वन को छिन्न-भिन्न कर विस्तृत मुक्तिरूपी भूमि को प्राप्तकर मैं सुखपूर्वक विहार करता हूँ ॥६७॥ संकल्प का नाश होने पर क्षीण हो रहा अतएव मन में (मनःस्वभाव में) स्थित न हुआ यह मन वासनाजाल से रहित होकर वर्षा ऋतु के अन्त में मेघ के समान नष्ट हो जायेगा ॥६८॥ त्वचा, रक्त, मांस, मेदा, हड्डी, मज्जा और शुक्र नाम की धातुओं का संघातरूप यह देहनामक मेरा शत्रु मन के क्षीण होने पर चाहे नष्ट हो जाय, चाहे रहे मेरी कोई भी क्षति नहीं है ॥६९॥

देह के न रहने पर दुःख क्यों नहीं रहेगा, ऐसा यदि कोई प्रश्न करे, तो देह सम्बन्ध के हेतुभूत मन के नाश से देह का संबन्ध नहीं है, दुःखप्राप्ति तो दूर गई, इस आशय से कहते हैं।

जिसके लिए भोगेच्छु अपनी देह की इच्छा करता है वह मेरा सम्बन्धी नहीं है और न मैं ही उसका सम्बन्धी हूँ। मेरे सुखलेश से क्या प्रयोजन है ? ॥७०॥ मैं देह नहीं हूँ, इस अवश्य ज्ञातव्य अर्थ में युक्ति

को सुनिये। यदि देह मैं (आत्मा) होऊँ, तो सब अंगों के रहने पर भी शव (मुर्दा) क्यों व्यवहार नहीं करता ? इससे सिद्ध हुआ कि देह आत्मा नहीं है ॥७१॥ शव में बोध आदि के अदर्शन से यह सिद्ध हुआ कि मैं देह से अतिरिक्त हूँ, नित्य हूँ, मेरी ज्योति कभी अस्त नहीं होती। जो व्यापक होने के कारण सूर्यमण्डल में भी स्थित होने से सूर्य से संगत होकर आकाश में सूर्य को जानता हूँ, वही चिद्रप मैं हूँ ॥७२॥ न तो मैं अज्ञानी हूँ, न मुझे दुःख है, न अनर्थ है और न मुझमें दुःखिता है। मेरा शरीर रहे चाहे न रहे मैं सन्ताप शून्य होकर स्थित हूँ ॥७३॥

भूमा में (सर्वव्यापक ब्रह्म में) मन आदि की प्राप्ति ही नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे राजा के निकट पामर लोग नहीं रह सकते वैसे ही जहाँ पर आत्मा है वहाँ न मन रहता है, न इन्द्रियाँ रहती है और न विविध वासनाएँ ही रहती हैं ॥७४॥ मैं उस परमपद को प्राप्त हो चुका हूँ। मैं सजातीय विजातीय और स्वगत भेद रहित हूँ, मैं सबसे उत्कृष्ट ब्रह्मरूप हूँ, तीनों तापों की शान्ति से निर्वाणरूप हूँ, परिपूर्ण होने के कारण अंशरहित हूँ, आप्तकाम होने के कारण मुझे किसी वस्तु की अभिलाषा नहीं है अतएव मैं निरीह हूँ ॥७५॥ जैसे तिलों से पृथक् किये गये तेल का पेरे हुए तिलों से कोई संबन्ध नहीं रहता वैसे ही मन, देह, इन्द्रिय आदि से अब मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रारब्ध शेष के भोग के लिए इस स्वात्मरूप श्रेष्ठ पद से व्यवहाराभास में अवतीर्ण हुए पूर्व वासना से पृथक्कृत मतिवाले मेरा यह देहेन्द्रिय आदि परिवार परिजन की भाँति विनोद हेतु है ॥७६,७७॥

पूर्वोक्त प्रारब्ध शेष भोगलीला में स्वच्छता आदि गुण सम्पत्तियाँ मेरी हृदयंगम कान्ताएँ हैं, यों उनका निरूपण करते हैं।

स्वच्छता, पूर्णकामता, सत्ता (सद्रूपता), सर्वप्रियता, सत्यता (अबाध्यता), ज्ञानिता, आनन्दस्वरूपता, निर्विकारता, सदा मृदुभाषिता, पूर्णता, निर्लोभता, अबाधित स्वभावता, कान्तिमत्ता, एकतानता, सर्वात्मकता, निर्भयता, द्वित्वादिविकल्पअभावना आदि ये मेरी नित्य उदित हुई स्वस्थ, सम, सुन्दरी तथा सुन्दर उदयवाली कान्ताएँ हैं, जो एकमात्र आत्मनिष्ठ मुझे सदा प्रिय हैं ॥७८–८०॥ सबमें सब कुछ सदा सर्वथा कल्पना से संभव है, अतः सब विषयों के प्रति मेरे राग–द्वेष और उनके फल सुख–दुःख क्षीण हो गये हैं ॥८१॥ इसलिए मैं शरत् –ऋतु में आकाश में मेघखण्ड के समान शीतल (त्रिविधताप शून्य) आत्मा में दृश्यभाव का त्याग करके विश्राम लेता हूँ, क्योंकि मेरा मोह मिट चुका है, मेरा मन क्षीण हो गया है, अतएव चित्त के संकल्प विकल्प भी मुझमें नहीं रह गये हैं ॥८२॥

तिरपनवाँ सर्ग समाप्त

चौवनवाँ सर्ग

जलाने, जलप्लावन आदि द्वारा अपने शरीर में विष्णु शरीर की भावना कर रहे
उद्दालक मुनि का विकल्पों को हटाकर समाधि में विश्राम लेना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, विशुद्ध तथा विशाल बुद्धि से इस प्रकार निर्णय कर पद्मासन लगाकर और नेत्रों को आधे मीच कर मुनि बैठ गये ॥१॥ जिसने ॐकार का उच्चारण किया, उसको परमपद अवश्य प्राप्त हो गया, क्योंकि ॐ यह अक्षर परब्रह्म का प्रधान नाम और अन्तरंग

प्रतीक है, अतः यह अक्षर परब्रह्म ही है ऐसा निश्चय कर उद्दालक मुनि ने घण्टे के अधोभाग में लटके हुए लोहेके जीभ के आकार के लटकन को अच्छी तरह ताड़न करने से घण्टे के आकाशभाग में उत्पन्न नाद की तरह ॐकार का, जिसका ऊँचा स्वर था तथा ध्वनि ऊपर को गई थी, उच्चारण किया ॥२,३॥ उद्दालक मुनि ने तब तक ॐकार का उच्चारण किया जब तक उनकी उस प्रकार से उच्चारित प्रणव ध्वनि मूलाधार से उठकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त परिव्याप्त न हुई और उनके संवित्तत्त्व (ॐकाराकारबुद्धि-तत्त्व) और जीवतत्त्व (जीवाख्यचैतन्य यानी अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य) अर्द्धमात्रा के उच्चारण के बाद यानी अर्धमात्रोच्चारण का उपशम होने पर जो निरंश कूटस्थ चैतन्य (ब्रह्मचैतन्य) अनुभूति में अभिव्यक्त होता है, उसी ब्रह्मचैतन्य के अभिमुख न हो गये ॥४॥

निर्विकल्प समाधि की स्थिति की योग्यता की सिद्धि के लिए पहले उसी प्रणव द्वारा स्थूल देह का शोषण (सुखाना), दहन (जलाना), दुष्ट भस्मांशका निरसन (दूर करना), आप्लावन (क्षालन), दूसरे दिव्य शरीर का निर्माण आदि प्रणव भावना से सम्पन्न हुआ, यह कहते हैं।

अर्धमात्रा सहित अकार, उकार, मकाररूप तीन अववयवाले प्रणव के प्रथम अंश उदात्त 'अकार' का उच्च स्वर से तारभाव अभिव्यक्त होने पर बाहर निकलने के लिए उद्यत प्राणों द्वारा मूलाधार से लेकर ओष्ठ पुट तक शरीर को ध्वनित करने पर रेचक नामवाले प्राण निकलने के क्रम ने जिस प्रकार अगस्त्य ऋषि ने जल पीकर समुद्र को रिक्त कर दिया था उसी प्रकार समस्त शरीर को खाली कर दिया अर्थात् उद्दालक मुनि ने रेचन द्वारा शरीर को सुखा दिया ॥५,६॥

मुनि का रेचित प्राण वायु कहाँ ठहरा, इस पर कहते हैं।

जिस प्रकार पक्षी घोंसले को छोड़कर आकाश में घूमता है उसी प्रकार उनका रेचित प्राणवायु शरीर का त्यागकर ब्रह्म की भावना से अभिव्यक्त हार्दरस से भरे हुए बाह्याकाश में स्थित हुआ ॥७॥

निरन्तर ब्रह्मभावना से क्या हुआ यह कहते हैं।

प्राणों के निष्क्रमण और संघर्ष से हृदय में भावना द्वारा उत्पन्न हुई जलती ज्वालाओंवाली अग्नि ने, जिस प्रकार उत्पात पवन से पैदा हुई दावाग्नि शुष्क वृक्षों को जला देती है उसी प्रकार उनके सारे शरीर को जला दिया ॥८॥ इस प्रकार प्रणव के प्रथम अंश में जितनी यह पूर्वोक्त अवस्था हुई, सब भावना से ही हुई, हठ से नहीं हुई, क्योंकि हठयोग से अर्थात् बलात्कार से प्राणों को बाहर निकालने में मूर्छा, मरण आदि का भय रहता है ॥९॥ इसके अनन्तर दूसरे 'उकार' अंश के अनुदात्स्वरसे गंभीर उच्चारण के समय प्रणव की समस्थिति होने पर प्राणों का निश्चल कुम्भक नाम का क्रम हुआ ॥१०॥ वे प्राण न बाहर थे, न भीतर थे, न अधोभाग में थे, न ऊर्ध्वभाग में थे और न दिशाओं में थे, बाँध में रुके हुए जल की तरह संक्षुब्ध थे ॥११॥ अग्नि शरीररूपी नगर को जलाकर बिजली की तरह क्षण भरमें शान्त हो गई, बरफ की तरह सफेद रंगवाली शरीर की भस्म दिखाई दी ॥१२॥ जिस अवस्था में शरीर की निश्चल एवं श्वेत हड्डियाँ मानों कपूर के चूर्ण से सुसज्जित शय्या में उचित सुख से सोई हुई-सी भावना से मालूम पड़ी ॥१३॥ आँधी से उड़ाई हुई हड्डियों से युक्त वह भस्म श्री महादेवजी के भस्मधारणरूपी व्रतवाले की नाईं प्रचण्ड वायु ने तपस्या से कृश शरीर की तरह अभक्ष्य अपने शरीर में लगाई अर्थात् उड़ाई ॥१४॥

प्रचण्ड वायु से उड़ाई हुई वह हड्डियों से मिली हुई भस्म क्षण भर आकाश को ढक, कर शरद् ऋतु की बदली की तरह कहीं चली गई ॥१५॥ इस प्रकार यह जितनी भी अवस्था प्रणव के दूसरे अंश में (कुम्भक क्रम में) हुई सब भावना द्वारा ही हुई हठ से नहीं हुई, क्योंकि हठयोग दुःखद होता है जैसे कि पूर्वक्रम में बताया गया है ॥१६॥ इसके अनन्तर प्रणव के उपशान्तिप्रद तृतीय मकार क्रम में अर्थात् मकारोच्चारण के समय में पूरण करने के कारण प्राणों का 'पूरक' नाम का क्रम उत्पन्न हुआ। (यद्यपि रेचक, कुम्भक और पूरक समग्र प्रणव के ही साधन सिद्ध है तथापि रेचक में प्रथम भाग का ही विस्तार किया जाता है कुम्भक में मध्यभाग का और पूरक में चरम भाग का (अन्तिम भाग का), क्योंकि कण्ठ से निकलते हुए प्राणवायु से कण्ठ स्थानीय अकार भागकी ही अभिव्यक्ति होती है, संकुचित हो रहे ओष्ठों के उकार भाग की और ओष्ठों के सम्पुटित होने पर मकार भाग की अभिव्यक्ति होती है। मकार भागकी अभिव्यक्ति के समय प्राणवायु यद्यपि पुनः प्रवेश करता है, तो भी उसमें प्रणव के संस्कार का ही अनुवर्तन होता है, इसलिए तत्–तद् भाग के अवसर विभाग की उक्ति है, ऐसा समझना चाहिये) ॥१७॥ इस तृतीय अवसर में, जीव चैतन्य में (जीवचित् में) अर्थात् जीवात्मा में भावना द्वारा भावित अमृत के (ब्रह्म के) मध्य में गये हुए प्राणों ने हिम के स्पर्श की तरह सुन्दर शीतलता प्राप्त की ॥१८॥ इस प्रकार गगन कोष में स्थित कुहरा शीतल मेघ भाव को प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार आकाश के मध्य में स्थित प्राण क्रम से चन्द्रमण्डलता को प्राप्त हुए ॥१९॥ अमृतमय कलाओं के समूह से भली भाँति पूर्ण एवं धर्ममेघाख्यसमाधि की तरह प्रह्लाद से भरे हुए, रसायन महासागररूपी उस चन्द्रमण्डल में प्राणवायु जिस प्रकार गवाक्ष में झरोखे में गई हुई चन्द्र किरणें स्फटिक दण्डाकार हो जाती है उसी तरह अमृतमय किरणों की धारा बन गये ॥२०,२१॥ जिस प्रकार महादेवजी के सिर पर अमृतमय गंगा की धारा गिरती है उसी प्रकार प्राणों की वह अमुतमय धारा शेष बचे हुए शरीर की भस्म पर आकाश से गिरी ॥२२॥ जिस प्रकार मंथन करने से चंचल मन्दराचलवाले समुद्र से पारिजात वृक्ष उत्पन्न हुआ था उसी प्रकार उक्त अमृतमय धारा से चन्द्रबिम्ब की तरह कान्तिवाला चार भुजाओं से युक्त शरीर उत्पन्न हुआ ॥२३॥ नारायणरूप से प्रादुर्भूत एवं कमल की तरह खिले हुए नेत्र एवं प्रसन्न मुखवाला अतएव कान्ति से मनोहर उद्दालक का शरीर अत्यन्त सुशोभित हुआ ॥२४॥ जिस प्रकार जल का समुदाय सरोवर को एवं वसन्त ऋतु में कोमल पत्तों को पैदा करनेवाले पार्थिव रस वृक्ष को सर्वांगपूर्ण बना देते हैं उसी प्रकार अमृतमय प्राणों ने उनके शरीर को सर्वांगपूर्ण बना दिया ॥२५॥ जिस प्रकार चक्राकार भँवरों से बह रही श्री गंगाजी को जल पूर्ण करते हैं उसी प्रकार प्राणों ने अन्दर कुण्डलिनी को पूर्ण किया ॥२६॥

दहन, प्लावन आदि द्वारा विष्णु शरीररूप से उनकी उत्पत्ति कहने का प्रयोजन कहते हैं।

जिस प्रकार शरद ऋतु में अन्तिम वृष्टि से धुला हुआ और शीघ्र सूखा हुआ रास्ता वर्षाकाल के कीचड़ बगैरह के नष्ट हो जाने पर निर्मल हो जनता के यातायात आदि कार्य के योग्य हो जाता है उसी प्रकार उक्त ब्राह्मण का शरीर भी दहन, प्लावन आदि की भावना से कलुषिता रहित होकर प्रकृत समाधिरूप कार्य में स्थित हो गया ॥२७॥ इसके बाद पद्मासन लगाकर उस भावमय शरीर में दृढ़ता से स्थित होकर उद्दालक मुनि ने जिस प्रकार बन्धन स्तम्भ में हाथी को बाँधते हैं उसी प्रकार देह में पाँचों इन्द्रियों को बाँधकर निर्विकल्प समाधि के लिए तथा मन को, जिसमें प्राणायाम द्वारा प्राणवायुरूपी मृग

शान्त हो चुके थे और जो आशा, लोभ, तृष्णा, उत्कण्ठा, प्रतीक्षा आदि के पीछे-पीछे दौड़नेवाला था उसे स्वच्छ बनाने के लिए ऐसे उद्योग किया जैसे कि शरत्काल शान्त मृगवाले तथा दिशाओं में फैले हुए अपने निर्मल स्वभाव को स्वच्छ करने के लिए उद्योग करता है। परन्तु इस अवस्था में जिस प्रकार ढीले गढ़े हुए अश्व आदि बाँधने के घँटे को अश्व आदि से खींची गई रस्सी उखाड़ कर खींच लेती है उसी प्रकार पूर्वानुभूत घर, खेत, पुत्र, मित्र आदि की चिन्ता ने उनके मन को दूर आकृष्ट किया ॥२८-३०॥ जिस प्रकार अति शीघ्रता से बह रहे जल को पुल अर्थात् बाँध रोक देता है उसी प्रकार उन्होंने गृह, पुत्र, मित्र आदि क्षुद्र विषयो में भागते हुए उन्मत्त व्याकुल मन को विवेकबल से निर्मल बनाकर रोक दिया ॥३१॥ जिस प्रकार संध्याकाल निश्चल आँख की पुतली के सदृश भ्रमरों से युक्त कमलों को संकुचित कर देता है उसी प्रकार उन्होंने निश्चल पुतलियों से मनोहर एवं दोनों पलकों के मिलने से सघन केशों से युक्त पक्ष्मोंवाले नेत्रों को आधा मींच लिया ॥३२॥ जिस प्रकार चक्रवर्ती का प्रशस्त जन्म समय जगत् का कल्याण सूचित करने के लिए शीतल, मन्द और सुगन्ध वायु उसके जन्म देश में सम अर्थात् न अतिवेग से और न अति मन्द चाल से बहता है उसी प्रकार उक्त ऋषि ने मौनी होकर प्राण, अपान के वेग को मुख में क्षोभ, वैषम्य आदि से रहित कर दिया ॥३३॥ जिस प्रकार कछुआ अपने रंगों एवं इन्द्रियों को विषयों से इस प्रकार पृथक् कर देता है। जिस प्रकार तिलों से तेल पृथक् किया जाता है ॥३४॥ जिस प्रकार छोटे कुण्डे से सहसा ढँकी हुई मणि दूर तक फैली हुई किरणों को छोड़ देती है उसी प्रकार समस्त बाह्य स्पर्शों को (बाह्य विषयों के) उस धीर बुद्धिवाले ने सहसा दूर छोड़ दिया ॥३५॥ जिस प्रकार वृक्ष पत्रों के कोश में स्थित रस को (जल को) मार्गशीर्ष में नष्ट कर देता है उसी प्रकार उन्होंने समस्त वस्तुओं का दर्शन छूट जाने से मनोवासना रूप आभ्यन्तरिक विषयों को आकर्षण द्वारा बाध होने से अधिष्ठानतत्त्व में विलीन कर दिया ॥३६॥ इसके बाद जिस प्रकार मुख में कसकर बाँधा हुआ जलपूर्ण औंधा (अधोमुख) बेड़ा अन्दर वायु के प्रवेश के बिना दूसरे छिद्रों से जल के न चूने से इतर रन्ध्र कोशों को रोकता है, उसी प्रकार उन्होंने मूलाधार के अवरोध से एड़ी द्वारा मलद्वार के संकोच से नवद्वार के (नौ द्वारों से निकलनेवाले) वायुओं को रोक दिया ॥३७॥

जैसे मेरु अपने रत्नों के प्रकाश से पूर्ण एवं कल्पवृक्षों के पुष्पों से सुशोभित अतएव विशद शिखर को धारण करता है वैसे ही उस धीर ने अपने आत्मरूपी रत्न के प्रकाश से प्रकाशित तथा प्रसन्न मुखरूप कमलपुष्प से सुशोभित एवं रजोगुण तथा तमोगुण से अनावृत कन्धे को धारण किया ॥३८॥ जैसे हाथी पकड़नेवाले लोग विन्ध्याचल के गड्ढे में युक्तियों से वश में किये हुए उन्मत्त हाथी को पकड़ लेते हैं, उसी प्रकार उन्होंने एक विषय में धारणा-ध्यान-समाधिरूप संयम के प्रति उन्मुख (आकृष्ट) एवं प्रत्याहाररूप उपायों से वश में किये हुए मन को हृदयाकाश में धारण किया ॥३९॥ जिस प्रकार शरद् ऋतु में आकाश निर्मल सौम्यता को प्राप्त करता है उसी प्रकार उन्होंने क्षोभ आदि विहीनता प्राप्त करके निर्वात एवं परिपूर्ण समुद्र की अचल शोभा को हर लिया। भाव यह है कि धारणा द्वारा आत्म ध्यान में पूर्ण विश्रान्ति प्राप्त की ॥४०॥ जिस प्रकार सामने उड़ते हुए मच्छरों को वायु दूर उड़ा ले जाता है उसी प्रकार ब्रह्माकार चित्तवृत्ति में विक्षेप करने के लिए विपरीत भावना से उठे हुए विकल्पों को उन्होंनें दूर भगा दिया अर्थात् नष्ट कर दिया ॥४१॥ जिस प्रकार शूरवीर पुरुष सामने आये हुए शत्रुओं

को रण में तलवार से काट डालता है उसी प्रकार आत्मज्ञानी उद्दालक ने अपनी इच्छानुसार बार–बार आ रहे विपरीत भावनाजन्य (मिथ्यावासना से उत्पन्न) विकल्पों को दृढ़ मन के द्वारा नष्ट कर दिया ॥४२॥ विकल्पों के समूह का उच्छेद हो जाने पर उन्होंने अपने हृदयाकाश में चंचल, काजल की तरह काले तमोगुण की अधिकता से उत्पन्न अन्धकार को देखा, जिसने विवेकरूपी सूर्य को आच्छन्न कर दिया था ॥४३॥ उन्होंने पवन से काजल के समान सत्त्वगुण के उद्रेक से उदित ज्ञानरूपी प्रकाशवाले अन्तःकरणरूपी सूर्य से उस तमोगुणरूपी अन्धकार को भी शीघ्र अच्छी तरह नष्ट कर दिया ॥४४॥ जैसे रात्रि सम्बन्धी अन्धकार के शान्त हो जाने पर कमल उदित हो रहे सूर्य से युक्त प्रातः सन्ध्या को देखता है, वैसे ही उद्दालक ने तमोगुणरूपी अन्धकार के शान्त हो जाने पर मनोहर तेज के समूह को देखा अर्थात् उन्हें सत्त्वगुण के अनुरूप तेजःपुंज का भ्रम हुआ ॥४५॥ जिस प्रकार हाथी का बच्चा स्थल कमलों के वन को छिन्न–भिन्न कर देता है उसी प्रकार उन्होंने उस भ्रम को नष्ट कर दिया।

शंका : उन्होंने उक्त भ्रम को सत्त्वगुण के विरोधी रजोगुण आदि से नष्ट कर दिया अथवा और किसी से ?

समाधान : जिस प्रकार पिशाच बर्तन में भरे हुए रक्त को अत्यन्तवेग से क्षणभर में पी जाता है उसी तरह वे तेजःपुंजात्मक भ्रम को शीघ्र पी गये अर्थात् अधिष्ठान तत्त्व का साक्षात्कार होने से उसका बाध हो गया, रजोगुणादि द्वारा तेजःपुंज का नाश नहीं हुआ ॥४६॥ जिस प्रकार सूर्य के अस्त होने पर रात्रि में तालाब की तरंगों से चंचल कमल बन्ध हो जाता है अथवा जिस प्रकार उन्मत्त घूरता हुआ शराबी रात्रि में नशे से निद्रा को प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार उस मुनि का चंचल और घूरता हुआ मन तेजःपुंज के उपरत होने पर विषय का लाभ न होने से निद्रा में डूब गया ॥४७॥ जिस प्रकार वायु मेघ पंक्ति को, दुष्ट हाथी नीलकमलिनी को और सूर्य रात्रि को छिन्न–भिन्न कर देता है उसी प्रकार उस मुनि ने उस निद्रा को भी शीघ्र छिन्न–भिन्न कर दिया ॥४८॥ जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश की ओर दृष्टि लगाये हुए पुरुष को आकाश में बालों के गोले, मयुर आदि के पुच्छ की तरह चमचमाहट प्रतीत होती है उसी प्रकार उनके मन ने निद्रा का नाश होने पर आकाश विविधरूपवाले है ऐसी भावना की ॥४९॥ जिस प्रकार मेघ तमाल पुष्प को, वायु कुहरे को और दीपक अन्धकार को नष्ट कर देता है उसी प्रकार मुनि ने स्वच्छ स्वभाववाले आकाश में देखे हुए नाना रूपों को भी नष्ट कर दिया ॥५०॥ जिस प्रकार निद्रा–भंग हो जाने पर शराबी विक्षिप्त–सा (पागल–सा) हो जाता है उसी प्रकार आकाश के पूर्वोक्त भ्रमात्मक ज्ञान का नाश होने पर उस मुनि का मन मूढ़ अर्थात् मोहाक्रान्त हो गया ॥५१॥ जिस प्रकार सूर्य संसार से रात्रि द्वारा उत्पन्न अन्धकार को हटा देता है उसी प्रकार इस विवेकी ने उस मोह को मन से हटा दिया ॥५२॥ इसके अनन्तर तेज अन्धकार, निद्रा, मोह आदि से रहित मन किसी अनिर्वचनीय अवस्था को प्राप्त करके क्षण भर के लिए शान्त हो गया ॥५३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, नहर द्वारा खेत में पहुँचाया गया सरोवर का जल खेत को भरकर पुल अर्थात् बाँध से रुककर जिस प्रकार नहर द्वारा लौट कर उलट प्रवाह से फिर स्थान पर सरोवर में आ जाता है उसी प्रकार मन क्षणभर विश्रान्त होकर पुनः शीघ्र बाह्यप्रपंचाकार वृत्ति को प्राप्त हो गया ॥५४॥ उसके अनन्तर, सुवर्ण जिस प्रकार नूपुर भाव को प्राप्त करता है अर्थात् नूपुराकार में परिणत हो जाता है उसी

प्रकार पूर्व में ध्यानादि से चिरकाल तक किये गये अनुसन्धानवश और समाधि में किये गये अनुभव द्वारा रसास्वाद के कारण फिर वहीं आकृष्ट हुआ चिदाकारवृत्ति को प्राप्त हो गया, अर्थात् चिदंशप्रधान सविकल्प समाधि के रूप में परिणत हो गया ॥५५॥

इस प्रकार सविकल्प समाधि से क्रमशः इन्धनशून्य अग्नि की तरह दिन पर दिन क्षीण हो रहा उनका मन क्षीर नीर के समान चिदेकरस बन गया, ऐसा कहते हैं।

इसके अनन्तर जिस प्रकार घड़े में स्थित पंकिल जल का पंक जल के सूख जाने पर घट भाव को प्राप्त करता है अर्थात् घट से सम्बद्ध हो जाता है उसी प्रकार अपने चित्तत्व को छोड़कर आत्मतत्त्वरूप एकरसता को प्राप्त हुआ उनका चित्त पूर्ववस्था से अन्य ही हो गया अर्थात् अधिष्ठान चित्तत्त्व में लीन हो गया ॥५६॥

चित्त के चित्तत्व के निवृत्त होने पर उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य की बिम्बचैतन्य में एकता हो गई, ऐसा कहते हैं।

एक रसाकार बुद्धिवाला वह जिस प्रकार तरंग आदि के भेद को छोड़ता हुआ समुद्र जलसामान्यरूप को प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार प्रतिबिम्ब वृत्त्याकार को छोड़ कर शुद्ध चित् (स्वप्रकाशात्मक ब्रह्म) सर्वसाक्षिचित्सामान्यरूप को प्राप्त हो गया ॥५७॥

इस प्रकार निर्विकल्प समाधि में प्रतिष्ठित उद्दालक को समाधि के परिपाक से तत्त्वसाक्षात्कार और उसका फल 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है) इस श्रुति में प्रदर्शित ब्रह्मभाव प्राप्त हुआ, यह दर्शाते हैं।

उसके अनन्तर उस समाधि से तत्त्वज्ञान को प्राप्त हुए उद्दालक द्वैत के प्रतिभास से रहित होकर जगत् के अधिष्ठानभूत शुद्धस्वरूप महत् चिदाकाश हो गये ॥५८॥ इसके अनन्तर अमृत के गृहस्वरूप समुद्र की नाईं उद्दालक ने बाह्य प्रपंच के दर्शन से रहित होकर ब्रह्मादि उत्तम प्रकृतिवालों से आस्वादित निरतिशय आनन्द वहाँ प्राप्त किया ॥५९॥ उद्दालक ऋषि शरीर से पृथक् होकर शुद्ध हुए की नाईं अनिवर्चनीय अवस्थिति को प्राप्त करते हुए सन्मात्रस्वभावरूप होकर आनन्द के सागर हो गये ॥६०॥ जैसे शरद् ऋतु के स्वच्छ आकाश में समस्त कलाओं से परिपूर्ण चन्द्रमा स्थित होता है। वैसे ही द्विजचेतनात्मा उद्दालक आनन्दरूपी सरोवर में हंस की तरह स्थित हो गये ॥६१॥ वह उद्दालक ऋषि निर्वात दीपक के सदृश कान्तिवाले, चित्रलिखित के सदृश अनन्यमनस्क, निस्तरंग समुद्र के गम्भीर, एवं पूर्व में जो वृष्टि कर चुका हो बाद में निर्जल और मूक (गर्जन शून्य) हो गया हो ऐसे मेघ की स्थिति के समान स्थितिवाले हो गये ॥६२॥ इसके अनन्तर इस महालोक में (परम पद में) चिरकाल तक स्थित हुए अथवा इस महाप्रकाश में चिरकाल तक स्थित हुए उद्दालक ऋषि ने आकाश में चलनेवाले बहुत से सिद्ध और देवताओं को देखा ॥६३॥ वहाँ उनके चारों ओर इन्द्रपद और सूर्य पद देनेवाले और अप्सराओं से निबिड़ सिद्धियों के बहुत से विचित्रगण भी आ गये ॥६४॥ जैसे गंभीर बुद्धि उदारपुरुष बच्चों के विलास के साधन खिलौनों का आदर नहीं करता वैसे ही क्षोभरहित गम्भीर बुद्धिवाले उद्दालकने उन सिद्धिगणों का आदर नहीं किया ॥६५॥ उत्तरायण के आधारभूत दिग्भाग में सूर्य जिस प्रकार छःमास तक रहता है उसी प्रकार उद्दालक उस आनन्द-मन्दिररूप समाधि में सिद्धियों के गणों का

अनादर करके छः महीने तक स्थित रहे ॥६६॥ जब सर्वोत्कृष्ट सप्तम भूमिका में स्थिति रूप जीवन्मुक्तपद को प्राप्त हुए तब वहाँ उनके पास सिद्ध, सुर, गणदेवता, ब्रह्मा, महादेव आदि सब उपस्थित रहे॥६७॥ उस आनन्द में चित्त का रसास्वादलक्षण परिणाम न होने से वह उद्दालक 'अनानन्द' पद को प्राप्त हो गये, अतः उनका संविदात्मचैतन्य विषयी मनुष्यों की नाईं न क्षुद्र आनन्द में रहा और न दुःख में ही रहा, किन्तु स्वप्रकाशैकरसपूर्ण रहा ॥६८॥ जिस पुरुष ने स्वर्ग देख लिया उसका प्रेम पृथिवी पर किसी भोगसमाग्री में नहीं होता उसी प्रकार मन क्षणभर अथवा हजार वर्ष तक उक्त स्थिति को प्राप्त कर भोगसामग्री में प्रेम नहीं करता ॥६९॥ वह सर्वोत्कृष्ट पद है, वही सर्वोत्कृष्ट शान्त गति है, वही शाश्वत कल्याण कर है, वह शिव है, वहाँ पर विश्रान्ति को प्राप्त हुए मनुष्य को भ्रम फिर बाधा नहीं पहुँचाता ॥७०॥ जैसे जो पुरुष चैत्ररथ (कुबेर का उद्यान) प्राप्त कर चुके हो वे खदिर के (खैर के) उद्यान में नहीं जाते हैं वैसे ही सन्तपुरुष ब्रह्मसाक्षात्कार करके इस बाह्य प्रपंचात्मक दृष्टि को फिर प्राप्त नहीं करते हैं॥७१॥ जिस प्रकार राजा लोग दीनता को कुछ नहीं गिनते उसी प्रकार श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि द्वारा परिष्कृत चित्त–से महाआनन्द पदवी को प्राप्त करके जीव दृश्य का आदर नहीं करते॥७२॥ हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, उस पद में विश्रान्ति को प्राप्त हुआ अतएव बोध को प्राप्त हुआ चित्त षष्ठम भूमिका में दूसरों के महाप्रयत्न से समाधि व्युत्थानदशा के प्रति बोध को प्राप्त करता है या सप्तम भूमिका में उसको भी प्राप्त नहीं करता है॥७३॥ जिस प्रकार सूर्य चैत्र मास में नीहार पटल (कुहरे) से दूर रहता है उसी प्रकार उद्दालक ऋषि सिद्धियों से दूर रहे। समाधि में छः महीने वास करके समाधि से जागरूक उन्होंने परम तेजस्विनी, प्रणाम करने की लालसावाली तथा चन्द्रबिम्ब के सदृश शरीर को धारण की हुई स्नेह युक्त रमणियों को देखा एवं गौर मन्दारपुष्पों की धूलि से धूसरित भ्रमरों से (भौंरों से) और चँवरो से युक्त फहराती हुई पताकाओं के समूहवाली दिव्यविमानों की पंक्तियों को देखा॥७४–७६॥ करकमल में कुशा की पवित्री के चिह्नवाले हमारे जैसे मुनियों को और विद्याधरियों सहित विद्याधरों के अधिपतियों को भी देखा ॥७७॥

उन सबने उन महात्मा उद्दालक मुनि से कहा : हे भगवान्, आप हमारे प्रणाम से अनुग्रह पूर्ण दृष्टि से हमको देखिये ॥७८॥ हे भगवान्, आइये और इस विमान पर चढ़कर देवताओं के नगर को चलिये (स्वर्ग को चलिये), क्योंकि संसार के उपभोगों की अन्तिम सीमा स्वर्ग ही है॥७९॥ हे विभो, प्रलयपर्यन्त अपने वांछित और उचित भोग्य पदार्थों का उपभोग कीजिये क्योंकि समस्त तपस्याएँ स्वर्गादिरूप फल के भोगने के लिए होती हैं ॥८०॥ जिस प्रकार हाथियों के चारों ओर हथिनियाँ उसकी उपासना करती है उसी प्रकार हार एवं चँवरों को धारण की हुई गन्धर्व ललनाएँ आपकी उपासना करती हुईं खड़ी हैं, कृपया इनको देखिये ॥८१॥ हे भगवान्, धर्म और अर्थ दोनों का सार काम है और काम का सार सुन्दर युवतियाँ है। ये वारांगनाएँ वसन्त में मंजरी के समान स्वर्ग में ही होती हैं ॥८२॥ इस प्रकार कह रहे इन सब अतिथियों की यथोचित पूजाकर के वे मुनि मिथ्यात्व आदि के निश्चय से (स्वर्ग और स्वर्ग के विविध भोग मिथ्या हैं इस निश्चय से) बिना किसी प्रकार के कौतूहल से बैठे रहे ॥८३॥ उस धैर्य पूर्ण बुद्धिवाले मुनि ने गन्धर्व ललनाएँ आदि विभूति का न तो अभिनन्दन ही किया और न त्याग ही किया अर्थात् उनसे उदासीन रहे और हे सिद्धों, आप लोग जाइए, ऐसा कहकर फिर अपने समाधिरूप व्यापार

में लग गये ॥८४॥ इसके अनन्तर अपने धर्म में निरत अतएव भोगों में प्रेम न करते हुए उद्दालक मुनि की चिरकाल तक प्रतीक्षा, प्रणाम, प्रशंसा आदि द्वारा उपासना कर सिद्ध लोग कुछ दिनों में स्वयं चले गये ॥८५॥ जीवन्मुक्त वह मुनि वनों में और मुनियों के आश्रमों में सुखपूर्वक यथेच्छ विहार करते रहे ॥८६॥ मेरु, मन्दराचल, कैलास, हिमालय और विन्ध्याचल की चोटियों पर और द्वीप, उपवन, दिशा, कुंज, जंगल और अरण्यभूमि इन सबमें यथेच्छ विहार करते रहे ॥८७॥ उस समय से उद्दालक द्विज पर्वतों की भीतर की गुफाओं में ध्यानरूपी लीला से परमपद प्राप्ति पूर्वक रहने लगे ॥८८॥ समाधि में बैठे हुए मुनि कभी एक दिन में, कभी एक महीने में, कभी एक वर्ष में और कभी कई वर्षों में समाधि से जागते थे ॥८९॥ उस समय से उद्दालक मुनि व्यवहारकाल में भी चिद्भावरूप एकत्व को प्राप्त हो समाहित चित्त ही रहते थे। अज्ञ के समान विक्षिप्तचित्त नहीं रहते थे। अर्थात् व्यवहारिक दशा में भी ध्यानस्थ ही रहते थे ॥९०॥ जिस प्रकार पृथिवी पर सूर्य का तेज सर्वत्र सम रहता है उसी प्रकार अन्तःकरणवृत्ति के अनुगत और उसके साक्षी चिद्मात्र के निरन्तर साक्षात्काररूपी समाधि के अभ्यास से अपरिच्छिन्न चिद्भाव को प्राप्त करके वह मुनि सर्वत्र राग-द्वेष को छोड़ देने से और करुणा से अविषम ब्रह्मभाव के दर्शन से सम रहे ॥९१॥ वह मुनि चित्सामान्य के निरन्तर अभ्यास के कारण सत्तासामान्य को प्राप्त करके अर्थात् दृश्य और उसके संस्कार का मूलोच्छेद होने पर उसके प्रथनरूप चित्त्वव्यवहार का उपरम होने से स्वप्रकाशात्मक निरतिशय आनन्दसन्मात्र भाव का परिशेष होने के कारण सत्ता समान्य को प्राप्त करके चित्रस्थ सूर्य के समान इस दृश्यप्रपंच में न आविर्भाव को (उदय को) प्राप्त करते थे और न तिरोभाव को (अस्त को) प्राप्त रहते थे ॥९२॥

इस प्रकार उक्त स्थिति को दिखाते हुए उपसंहार करते हैं।

सब विक्षेपों के उपशमन होने के कारण तथा परमपद की प्राप्ति से शान्त चित्त जन्ममरणरूपी पाशों का विनाश कर चुके और संशय रहित उस मुनि ने शरद् ऋतु के आकाश के समान शान्त, अपरिच्छिन्न, अतितेजस्वी, स्फुट अर्थात् निरावरण होने के कारण प्रकाशमय, प्राक्तनदशा का अत्यन्त विस्मरण होने के कारण चित्तरहित ब्रह्मस्वभावापन्न शरीर को धारण किया पहले की नाईं उद्दालक शरीर को धारण नहीं किया। अर्थात् ब्रह्मस्वरूप हो गये ॥९३॥

चौवनवाँ सर्ग समाप्त

पचपनवाँ सर्ग

सत्ता समान्य का लक्षण, उद्दालक का युक्ति से देहत्याग क्रम तथा
त्यक्त देह से चामुण्डा का स्वभूषण निर्माण।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवान्, आप आत्मज्ञानरूपी दिन के लिए सूर्य स्वरूप हैं, मेरे संशयरूपी तिनकों के लिए अग्निरूप हैं एवं अज्ञान से होनेवाले तापत्रय सन्ताप के लिऐ चन्द्रमा स्वरूप हैं; अतः कृपापूर्वक बतलाइये कि सत्तासामान्य क्या है अर्थात् सत्तासामान्य का क्या लक्षण है भाव यह है कि अज्ञानरूपी अन्धकार का विनाश करने में, ज्ञान प्रयुक्त संशयविपर्यय का उच्छेद करने में तथा संशय-विपर्यय प्रयुक्त सब दुःखों के उच्छेद में केवल आप ही समर्थ हैं, अतएव

सत्तासामान्य का लक्षण बताने की कृपा कीजिए ॥१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जब चित् पूर्ण शुद्ध है, उसमें कुछ नहीं है, ऐसी भावना से यानी तीनों कालों में भी दृश्य वस्तुतः नहीं है यों श्रुति, युक्ति और अनुभव से निरन्तर अनुसन्धान करने से चैत्य संस्कारों का मूलोच्छेद होने पर चित्त भली भाँति क्षीण हो जाता है तब जड़ और चेतन सबमें अनुगत स्वतःसिद्ध सत्तामात्र ही सत्तासामान्य होता है। छठी भूमिका में चित्त के अवान्तर भेदों का परिमार्जन कर चित् सामान्यभूत चैत्याभाव की अत्यन्त भावना करने से चैत्यसंस्कारों का आत्यन्तिक उच्छेद होने पर जब चित्त क्षीण हो जाता है तब स्वमात्रसत्तासे स्वतःसिद्ध हो रही परिशिष्ट चित्–अचित् दोनों में अनुगत सत्ता ही सत्तासामान्य होती है, अर्थात् विक्षेप के हेतुभूत चित्त का अभाव होने से आत्मा की स्वरूपसत्ता ही अवशिष्ट रहती है, यह भाव है ॥२॥ समस्त वृत्तियों में प्रतिबिम्बित चैतन्य जब सकल प्रपंच का बाध होने पर अन्तःकरण की वृत्तियों और वृत्ति के विषयों से रहित होकर स्वात्मा में अर्थात् बिम्ब चैतन्य में लीन होता है तब उस बिम्ब की असत् रूप की नाईं (जिसमें रूप नहीं हैं यानी आकाश की नाईं) स्वच्छ सत्तासामान्यता समझना चाहिये ॥३॥ चित्त की वृत्तियों में अभिव्यक्त हुआ अखण्ड चैतन्य जब बाह्य एवं आभ्यन्तर का जो कुछ है इन सबका अपलाप कर (यह कुछ नहीं है, ऐसा निश्चय कर) स्थित होता है तब सत्तासामान्यता समझनी चाहिये ॥४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जब चित्त की वृत्तियों में अभिव्यक्त हुआ अखण्ड चैतन्य समस्त भूतप्रपंच का अपलाप कर के अपने पारमार्थिक स्वरूप से स्वप्रकाशात्मक सत्ता सामान्यात्मक, केवल चित्स्वरूप होता है तब सत्तासामान्यता समझनी चाहिये ॥५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस प्रकार कछुआ अपने–आप ही अपने में अंगों को लीन कर लेता है उसी प्रकार जब दृश्य प्रपंच को किसी भावना आदि प्रयत्न के बिना ही आत्मा अपने से अपने में लीन कर देता है तब सत्तासामान्यता समझनी चाहिए ॥६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, चूँकि यह उक्त सप्तम भूमिका रूढ़दृष्टि तुर्यातीत पद के समान है, इसीलिए सदेहमुक्त और विदेहमुक्त दोनों को सदा होती ही है यानी सदेहमुक्त और विदेहमुक्त दोनों की समानस्वरूपस्थिति में भेद नहीं है ॥७॥ हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, यह बोध से उत्पन्न दृष्टि पंचमादि भूमिकाओं में भी समाधिस्थ ज्ञानी को होती है, सप्तम भूमिका में तो व्युत्थित को भी अर्थात् जो समाधिस्थ नहीं है उसको भी होती है, केवल अज्ञ को कभी नहीं होती है ॥८॥ जिस प्रकार पृथिवी पर प्रसिद्ध पारदादि (पारा आदि) रस एवं आकाशरूपी गली में वायु किसी वस्तु से स्पृष्ट नहीं होते उसी प्रकार इस दृष्टि में स्थित गम्भीर स्वभाववाले सब जीवन्मुक्त लोग किसी भी ऐहिक अथवा पारलौकिक भोग की तृष्णा रूपी धूलि से स्पृष्ट नहीं होते ॥९॥

उसीका उदाहरण देते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आस्मत्प्रभृति अर्थात् हमारे सदृश्य मनुष्य लोक में इस दृष्टि में स्थित है, आकाशरूपी वीथी में नारदादि मुनिगण इस दृष्टि में स्थित हैं और उससे भी ऊर्ध्वलोक में ब्रह्मा, विष्णु, महादेह आदि इस दृष्टि में स्थित हैं ॥१०॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, समस्त भय का नाश करनेवाली इस पदवी का अवलम्बन करके वे उद्दालक प्रारब्धकर्मों का क्षय होने तक संसाररूपी घर में रहे ॥११॥ इसके अनन्तर बहुत काल के बाद उद्दालक की यह दृढ़ बुद्धि हुई कि मैं इस देह को छोड़कर विदेह मुक्त हो जाऊँ ॥१२॥ हे

श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार चिन्तित अर्थ में दृढ़ निश्चयवाले वे उद्दालक ऋषि बद्ध पद्मासन होकर आधी आँखें मींचकर पर्वत की गुफा में पत्तों के आसन पर बैठ गये ॥१३॥ मलद्वार के अवरोध से नव द्वारों का संयम कर शब्द-स्पर्शादि विषयक वृत्तियों को बदरी फल की तरह एक-एक चुनकर हृदय में उनका निवेश करके फिर उनके पारमार्थिकस्वरूप की अपने अंग के समान भावना कर अर्थात् स्वात्मा के साथ ऐक्य स्थापित कर चिदात्मा एवं सैन्धवघन के समान एक रस हुए उद्दालक ने चित्सामान्य को प्राप्त किया ॥१४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, प्राणवायुओं को रोकते हुए, समरूप से स्थित कण्ठवाले, तालू के मूलतल में फाटक के समान लगे हुए जिह्वामूल से उन्नत हुए-से सुन्दर मुँहवाले, न बाहर न भीतर, न नीचे, न ऊपर, न रूपादि विषयों में, न शून्यआकाश में कहीं भी मन और दृष्टि को संयुक्त न कर रहे एवं दाँतों से दाँतों का स्पर्श न कर रहे तथा प्राणों के प्रवाहों के अवरोध से सम यानी उनकी क्रियाओं से उत्पन्न हुए शरीर, मन और इन्द्रियों के चांचल्य से शून्य, प्रसन्नवदन, चिद्रूप ब्रह्मानन्द के अनुभव से सीधे खड़े हुए रोंगटों से पुलकित शरीरवाले वे उद्दालक ऋषि अन्तःकरण के एकदेशभूतवृत्तिभेदों में प्रतिबिम्बित चित् के निरन्तर अनुसन्धान से स्वोपाधिभूत वृत्ति भेदों के विलयाभ्यास के कारण बिम्भभूत चित् सामान्य को प्राप्त हो गये एवं उन्होंने बिम्बभूत चिन्मात्र के अनुसन्धान अभ्यासवश हृदय में सर्वोत्कृष्ट आनन्द प्रवाह का अनुभव किया ॥१५-१८॥

उस उद्दालक ऋषि का पूर्ववत् सत्तासामान्य अनुप्रवेश कहते हैं।

जब तक निरतिशय आनन्द का आस्वाद प्राप्त नहीं होता तभी तक चित्त अपनी वृत्तियों के निरोध से उत्पन्न क्लेश को सहन न करता हुआ बाह्यविषयों में प्रवृत्त होता है। आनन्द का आस्वादन करने पर तो 'गुड़पिपीलिका' न्याय से वहीं पर आसक्त हुआ चित्त अपने स्वरूप को भी भूलकर अपने में अनुगत चित्सामान्य को निरतिशय स्वप्रकाश सत्तासामान्य को प्राप्त करा देता है, इसी को चित्सामान्यावस्थाक्रम का लय और सत्तासामान्य प्राप्त कहते हैं। यही बात कही गई है। उद्दालक ने आनन्द के आस्वादन से चित्सामान्य दशाक्रम के लयवाले, विश्वम्भर, अनन्त, परिपूर्ण, सत्तासामान्य को प्राप्त किया ॥१९॥ विक्षेप-वैषम्य से सर्वथा रहित स्वभाववाले एवं अनुपम आनन्द से अत्यन्त मनोहर मुखकान्तिवाले वे उद्दालक ऋषि सर्वोत्कृष्ट आनन्दपदवी को प्राप्त हो बैठ गये ॥२०॥

आनन्द के आविर्भाव के द्योतक रोमांच चिह्नों की भी क्रम से उपरति दिखलाते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, शान्त रोमांचोंवाले तथा मनन, निदिध्यासन आदि द्वारा चिरकाल में जिनका जगद्विषयक भ्रम क्षीण हो चुका था, ऐसे उद्दालक ऋषि जीते हुए ही निर्वाण पद को प्राप्त करके प्रारब्ध भोग के हेतुभूत शेष दोषों के क्षय के कारण विशुद्ध हो गये ॥२१॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, वे महात्मा उद्दालक चित्रलिखित के समान अनन्यचित्त एवं अचल होकर समस्त कलाओं से परिपूर्ण शरद्ऋतु के स्वच्छ आकाश के चन्द्रमा के समान विशुद्ध हो गये ॥२२॥

'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते' इस श्रुति में कहे गये प्रकार के अनुसार उन्हीं में उनके प्राणों का तप्त जल की उष्णता के समान क्रम से उपशमन हुआ, इस आशय से कहते हैं।

धीरे-धीरे कुछ दिनों में वह उद्दालक ऋषि जिस प्रकार हेमन्त ऋतु में वृक्षों का रस निर्मल सूर्य किरणों के तेज में शान्त हो जाता है उसी प्रकार जन्म-मरण से छुटकारा पाकर अपने प्राप्त करने

योग्यस्थान शुद्ध आत्मा में शान्त हो गये अर्थात् उद्दालक ने अपने प्राणों को स्वात्मा में लीन कर दिया ॥२३॥

प्राणों के उपशमन होने पर उनके परिशिष्ट स्वरूप को कहते हैं।

समस्त संशयों का विनाश हो जाने से निःसन्देह अतएव विकाररहित एवं समस्त तुच्छ विषयों में आसक्त हुई अन्तःकरणवृत्तियों से रहित स्वभाववाले अतएव अभिराम (मनोहर) वे उद्दालक ऋषि हिरण्यगर्भपदपर्यन्त सब विषयसुख अग्नि से चिन्गारियों की तरह जिससे बाहर निकले थे, ऐसे वाणी के अगोचर उस सुख को प्राप्त हो गये, जिस सुख को प्राप्त करके इन्द्रलक्ष्मी भी (इन्द्र का ऐश्वर्य भी) समुद्र में तृण के समान समझी जाती है ॥२४॥ वह उद्दालक ब्राह्मण प्रति ब्रह्माण्ड के भेद से अनन्त आकाशों को व्याप्त करनेवाली दिशाओं को भी व्याप्त करनेवाला अर्थात् देशकृत परिच्छेद से रहित, सर्वदा समस्त वस्तुओं में पूर्ण, सकल वस्तुओं के आधारभूत भुवनों का धारण–पोषण करनेवाला (✍) बड़े भाग्यों से और उत्तम जनों से सेवा करने योग्य, वाणी के अगोचर, अनन्त, आद्य अर्थात् काल से अपरिच्छिन्न, पारमार्थिक सत्तावाले, सबको ब्रह्मरूप एक रस में मस्त करनेवाले सर्वोत्कृष्ट भूमाख्य परम सुखस्वरूप ही हो गये ॥२५॥ इसके अनन्तर उद्दालक के जीवात्मा के निर्मलस्वरूप आद्य पद को प्राप्त होने पर उस उद्दालक ब्राह्मण का शरीर छःमास तक वहीं पड़ा हुआ सूर्य की किरणों से तप्त होकर सूख गया और बह रहे वायु की टक्कर से उत्पन्न हुए भयंकर शब्द से रमणीयता को प्राप्त करता हुआ बाल वृक्षरूपी भुजाओं की बजाने योग्य शिरातन्त्रियों से पर्वत के विलास के लिए वीणा हो गया ॥२६॥ जिसके अनन्तर चिरकाल बाद उस पर्वतभूमि पर, जहाँ उद्दालक का शव पड़ा हुआ था, पर्वत के न्याय के साथ पीले केशोंवाली ब्राह्मी आदि सब माताएँ किसी भक्त की अभिमत फलसिद्धि के लिए इस प्रकार आई जिस प्रकार पीली ज्वालाओं की पंक्तियाँ अग्नि के पास आती हैं ॥२७॥

उन माताओं में से समस्त पण्डितों की एवं देवताओं की भी पूज्य रात्रि के समय नूतन–नूतन आभूषणों के वैचित्र्य से एक–से–एक सुन्दर नये–नये लास्यादि वृत्तान्तवाली चामुण्डा नाम की माता ने सूर्य की किरणों से सूखे हुए उस ब्राह्मण के शव को अति शीघ्र ही उद्यत तलवार और खट्वांग के (शस्त्रविशेष के) मध्य में स्थित अपने मुकुट का भूषण बना दिया ॥२८॥

जिसका मूढ़दृष्टि लोगों से कल्पित, मलमांसादि से निर्मित स्थूल शरीर भी तीनों लोकों से वन्दनीय देवी के सिर का भूषण बनकर सर्वोत्कर्ष पा गया, उस विषय में विशेष क्या कहा जाय, यों ज्ञान के महत्त्व का उत्कर्ष दिखलाते हुए कहते हैं।

इस प्रकार उद्दालक ऋषि का वह तुच्छ शरीर महाभगवती चामुण्डा के लीला विलास के लिए बने हुए शिराभूषणों की उस माला में आनन्द के साथ सो गया जिस माला में मोरों के (मयूरों के) मनोहर पुच्छरूपी चंचल मेघखण्ड विराजमान थे और जो मालानूतन–नूतन मन्दार पुष्पों से परिवेष्टित थी और जिसके अग्रभागों में पुष्पों का गुच्छा था अतएव वेणी के (चोटी के) छल से पीछे आ रहे लता–जाल पर मानों भौंरा (भ्रमर) आनन्द से लेटा हो, ऐसा वह शव मालूम हुआ ॥२९॥

उक्त उद्दालक के आख्यान का उपसंहार करते हुए उस आख्यान का परिशीलन करनेवाले मनुष्यों

✍ इससे उसकी सर्वाधिष्ठानता अभिव्यक्त हुई, अतः कोई वस्तु उससे भिन्न नहीं है।

के संसाररूपी ताप उपशमन और परम पुरुषार्थ का लाभ दिखलाते है ं।

समस्त दृश्य पदार्थों के विवेक में स्फूर्ति को प्राप्त हुए आनन्दरूपी विकसित पुष्पोंवाली, पूर्वोक्त प्रकार से प्रदर्शित उद्दालक के विदेहकैवल्य प्राप्ति पर्यन्त चरित्र की आदर एवं निरन्तर अभ्यास से हुई शिक्षारूपी कल्पवल्ली (कल्पलता) जिस पुरुष के हृदयरूपी वन में उत्पन्न होकर उत्तरोत्तर भूमि में आरूढ़ होकर फैल गई, वह पुरुष तीनोंतापरूप (आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों तापरूपी) सूर्य से व्याप्त व्यवहाररूपी कानन में विहार करता हुआ भी सत्य, शान्ति, दान्ति आदिगुणों से सुगन्धित, शीतल व सहज संतोषस्वरूप छाया से कभी भी वियुक्त नहीं होता। अपितु सर्वोत्कृष्ट मोक्षफल के साथ 'न स पुनरावर्तते' इस श्रुति के अनुसार पुनरावृत्तिरहित स्वात्मभाव से सम्बन्ध को प्राप्त करता है। इसलिए ऐसी लता का हृदय में आरोप करके विस्तार करना चाहिये ॥३०॥

पचपनवाँ सर्ग समाप्त

छप्पनवाँ सर्ग

मायारूपी अन्धकार से शून्य वासनारहित
प्रबुद्ध पुरुष व्यवहाररत होने पर भी समाधिस्थ है, यह वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त विचार, वैराग्य और समाधि के अभ्यास के क्रम से विहार कर रहे आप अपने आत्मस्वरूप का विचारकर भूमाख्य परम पद में विश्रान्ति को प्राप्त होइये ॥१॥ शास्त्र के श्रवण से, पदार्थ तत्त्व के परीक्षण से, गुरुवचनों पर विश्वास से तथा अपने चित्त के शोधन से तब तक विचार करना चाहिये जब तक सब दृश्य के बाध के अभ्यास से परमपद प्राप्त न हो जाय ॥२॥ वैराग्य के अभ्यास, शास्त्रर्थविचार, प्रज्ञा, गुरु-उपदेश और यमनियमों के क्रम से पुण्य पद प्राप्त होता है अथवा केवल प्रज्ञा से ही पुण्य पद प्राप्त होता है ॥३॥ सम्यक् प्रबोधयुक्त तीक्ष्ण और दोषरहित मति अन्यान्य सब सामग्रियों से विहीन होती हुई भी जीव को परम पद प्राप्त करा देती है ॥४॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवान्, हे भूत और भविष्यत् के ज्ञाता, कोई प्रबुद्ध पुरुष व्यवहार करता हुआ भी समाधिस्थ के तुल्य विश्रान्त रहता है; कोई एकान्त में आश्रय ले कर समाधि में स्थित रहता है। इन दोनों में से कौन श्रेष्ठ है, यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥५,६॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस मायिक विश्व को अनात्मरूप (मिथ्या) देख रहे पुरुष की जो यह अन्तःशीतलता यानी ज्ञान प्रतिष्ठा की फलभूत पूर्णकामता है, वही समाधि कही जाती है, क्योंकि पूर्णकामता के प्राप्त होने पर विक्षेपों का प्रसंग ही नहीं रहता। मन के रहने पर दृश्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध होता है, जो विक्षेप का हेतु है, किन्तु मेरा मन नहीं है, ऐसा निश्चय कर पूर्णकाम हुआ कोई पुरुष व्यवहारनिरत होता है और कोई ध्यान में निरत होता है। यदि अन्तःकरण शीतल हो, तो ये दोनों ही सुखी हैं। जो अन्तःकरण की शीतलता है, वह अनन्त तपस्याओं का फल है ॥७-९॥

यदि समाधि स्थान में स्थित पुरुष का चित्त अपनी वृत्ति से चंचल हो, तो उस पुरुष की वह समाधि उन्मत्त पुरुष के ताण्डव के तुल्य है। पुरुष का चित्त वासनाविहीन हो तो उसकी उन्मत्त चेष्टा ब्रह्म-समाधि के तुल्य है। जो प्रबुद्ध व्यवहाररत है और जो प्रबुद्ध वनवासी है, ये दोनों ही समान हैं, क्योंकि

दोनों ही सब सन्देहों का उच्छेद करनेवाले परमपद में प्रतिष्ठित हैं ॥१०–१२॥

व्यवहार निरत और अरण्यवासी दोनों ही समान कैसे हो सकते है ? व्यवहारी पुरुष को कर्तृत्वप्रयुक्त बन्धन क्यों नहीं होगा ? ऐसी यदि कोई शंका करे, तो उस पर कहते हैं ।

जैसे कान्ता आदि की कथा के श्रवण में अन्यत्र आसक्त मनवाला पुरुष कथा श्रवण करता हुआ भी राग आदि विकारों का उदय न होने से रागादिप्रयुक्त दोषों से बद्ध नहीं होता, वैसे ही वासनारहित यह मन व्यवहार करता हुआ भी अकर्ता ही है यानी कर्तृत्वप्रयुक्त दोषों से बद्ध नहीं होता ॥१३॥ जैसे स्वप्न में निश्चल देहावयववाले सुषुप्त पुरुष का मन भी गर्तपात और उसमें निवास का कर्ता बनता है वैसे ही प्रचुरवासनावाला चित्त कर्म न करता हुआ भी कर्ता के तुल्य होता है यानी कर्तृत्वप्रयुक्त दोषों से बद्ध होता है ॥१४॥ चित्त का जो अकर्तृत्व है वह उत्तम समाधि है, उसी को आप केवलीभाव जानिये और वही श्रेष्ठ परम सुख विश्रान्ति है ॥१५॥ चित्त चंचलता और अचंचलता से समाधि में और असमाधि में परम कारण कहा गया है, इसलिए उसी को आप अंकुररहित यानी वासनारहित कीजिये ॥१६॥ वासनारहित मन स्थिर कहा गया है, वही ध्यान है, वही केवलीभाव है और वही सदा शान्तता है ॥१७॥ स्वल्पवासनावाला यानी चतुर्थी आदि भूमिकाओं में क्षीणवासनावाला मन अकर्ता है। उससे सप्तम भूमिका प्रतिष्ठारूप पद प्राप्त होता है ॥१८॥ प्रचुर वासनावाला यह मन कर्तृत्व–भाजन (कर्ता) है। कर्ता होने के कारण ही सब दुःख देता है, इसलिए वासना को क्षीण बनाना चाहिये ॥१९॥ जिससे आत्मा देह दृश्य में अहंताममताअभिनिवेश से रहित होता है, शोक, भय और एषणाओं से शून्य होता है और स्वस्थ (स्वरूपस्थित) होता है, वह 'समाधि' कही जाती है ॥२०॥ सब पदार्थों में अहंताममताअध्यास का मन से त्यागकर अपनी अभिरुचि के अनुसार आप चाहे पर्वत पर समाधिस्थ होकर बैठिये अथवा घर में व्यवहाररत होकर बैठिये ॥२१॥ भलीभाँति समाहित चित्तवाले अहंकार आदि दोषों से रहित गृहस्थों के लिए घर ही निर्जन (एकान्त) वनभूमि है ॥२२॥ नित्य अपरोक्ष प्रत्यगात्मा में स्थित, समाहित मन और दृष्टिवाले आप लोगों के आकाश आदि महाभूतों के तुल्य वन और घर समान हैं ॥२३॥ हे राजपुत्र, जिसका चित्तरूपी महामेघ शान्त हो चुका यानी जो शरत् के आकाश के तुल्य निर्मल है, उस पुरुष के लिए जनरूपी ज्वालाओं से उज्जवल नगर भी शून्य (निर्जन) वन ही हैं ॥२४॥ हे शत्रुतापन, राग आदि वृत्तिवाले चित्त से मत्त हुए पुरुष के लिए निर्जन वन भी प्रचुर लोगों से संकीर्ण नगर हैं ॥२५॥ यह राग आदि से विक्षिप्त हुआ चित्त विविध विषयभ्रम का अन्दर लय होने से फिर सैकड़ों व्युत्थानों की बीजभूत सुषुप्ति को प्राप्त होता है। राग आदि की वासनाओं से रहित चित्त मोक्ष को प्राप्त होता है। आप जैसे चाहे वैसा करें ॥२६॥

यदि कोई कहे कि पहले व्यवहार निरत और तत्त्वज्ञानी इन दोनों की समाधि तुल्य कैसे कही ? तो इस पर कहते हैं ।

जो सर्वभावपदातीत अथवा सर्वभावात्मक आत्मा को सदा देखता है वह समाहित कहा जाता है। तत्त्वज्ञानी समाधि में सर्वभावपदातीत तत्त्व को देखता है और व्यवहार में सर्वभावात्मक तत्त्व को देखता है यों केवल एक पिण्ड में अहंकार न होने से उसमें राग आदि की प्रसक्ति नहीं होती है, यह भाव है ॥२७॥ जिस विस्तृत स्वरूप के अन्दर राग–द्वेष क्षीण हो चुके हों और जिसके लिए सब भाव समान हैं वह समाहित

कहा जाता है ॥२८॥ हे जनेश्वर, उसका मन जैसे स्वप्न में वैसे ही जाग्रत् में भी इस दृश्य को सत्‌रूप से सद् ही देखता है। जगत् को (सद् से व्यतिरिक्त रूप को) नहीं देखता है ॥२९॥

प्रशान्त चित्तवाले के लिए नगर भी शून्य (निर्जन वन) है, ऐसा जो पहले कहा था, उसकी उपपत्ति कहते हैं।

जैसे बाजार में इकट्ठे हुए बहुत से लोग अपने-अपने व्यवहार करते हुए भी उदासीन (जो न शत्रु हैं और न मित्र हैं) के लिए कुछ भी उपकारक न होने से सब प्रकार से असत् ही हैं, क्योंकि उनके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है वैसे ही ग्राम भी ज्ञानी के लिए, ग्रामवासी जनों के साथ सम्बन्ध न होने से, अरण्य तुल्य ही हैं यानी विक्षेप हेतु नहीं है ॥३०॥ जिसका मन सदा अन्तर्मुख है यानी बहिर्मुख नहीं है वह पुरुष चाहे सोया हो, चाहे जागा हो, चाहे चलता हो वह नगर, देश और ग्राम को अरण्य के समान देखता है ॥३१॥ नित्य अन्तर्मुख स्थितिवाले पुरुष के लिए पृथिवी आदि महाभूतों से व्याप्त यह सारा जगत् बाधित होने के कारण सर्वथा अनुपयोगी होने से शून्यता को प्राप्त हो जाता है ॥३२॥ अन्तःशीतलता (ज्ञान प्रतिष्ठा की फलभूत पूर्णकामता) प्राप्त होने पर तो ज्वररहित पुरुषों के तुल्य सारा का सारा जगत् जीवनपर्यन्त शीतल हो जाता है। भीतर तृष्णा से सन्तप्त लोगों का जगत् वनाग्नि सन्तापमय होता है, क्योंकि भीतर सभी जीवों का चित्त जैसे तप्त या शीतल होता है वही बाहर जगत् के रूप से स्थित होता है ॥३३,३४॥ द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ अन्तःकरण तत्त्व के बाहरी भागों के तुल्य स्थित हैं ॥३५॥ वट के फल के अन्दर वट बीजों के समान जो सदा अपने अन्दर रहता है, वही दैदीप्यमान होकर विकास होने पर पुष्प की गन्ध के समान बाहर प्रकट होता है ॥३६॥

आरोप दृष्टि से कहकर अपवाद दृष्टि से कहते हैं।

कोई वस्तु न तो बाहर है और न कहीं पर भीतर है, तो जगदाकार का भान कैसे होता है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जिस वस्तु का पूर्व वासना के बल से विकास हुआ उसके वेष से परमार्थ तत्त्व ही उदित हुआ है ॥३७॥ आत्मतत्त्वरूप जो आन्तर वस्तु है वही बाह्यरूप होकर जगद्रूप से प्रतीत होती है। जैसे डिब्बे में रक्खा हुआ कपूर गन्धरूप से विकसित (अधिक प्रदेश में विस्तृत) होता है वैसे ही वह तत्-तत् उपाधियों के अनुसारी संकोच होने पर भी विकसित होता है ॥३८॥ आत्मा ही जगद्रूप से और अहन्ता से बाह्यत्वेन और आन्तरत्वेन खूब स्फुरित होता है। वस्तुतः वह न तो चक्षु आदि से अदृश्य अहंकाररूप है और न उससे दृश्य बाह्य स्थूल रूप है, किन्तु विभु यानी दोनों में अनुस्यूत सन्मात्ररूप है ॥३९॥ अतएव यह आत्मा अपने चित्त को ही पूर्व-पूर्व अनुभव के अनुसार बहिर्मुख चक्षु आदि द्वारा बाह्य (जगदाकार) देखता है। अन्दर स्थित जाग्रत्-वासना आदि से हृदय में स्थित स्वप्न को देखता है ॥४०॥

न कोई वस्तु बाह्य है और न कोई आन्तर है, ऐसा जो पहले कहा उसका युक्ति से अनुभव कराते हैं।

बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार का जगत् दोनों अनुस्यूत सत् आत्मा से पृथक् होकर असत् ही है अतःशान्त ही है यानी मृत ही है, किन्तु पृथक्करण के अभाव में उसकी सत्ता से ही बाह्य और

आभ्यन्तर भेद के रहने पर उसमें अहंताममता का अध्यास होने से उसका नाश होने पर बड़े भारी नाश का भय होता है ॥४१॥

बड़े भारी नाश के भय का ही उपपादन करते हैं।

तत्–तत् मानसी व्यथाओं से हतात्मा पुरुष के द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश पर्वत, नदियाँ, दिशाएँ आदि सब पदार्थ तीनों तापों की ज्वालाओं से ज्वलित होकर प्रलयारम्भकाल ही हो जाते हैं ॥४२॥

सन्मात्र आत्मा का साक्षात्कार होने पर तो कर्मेन्द्रियों द्वारा व्यवहार करने पर भी अभिमान न होने से हर्ष शोक आदि जनित तनिक भी विक्षेप नहीं होता, इसलिए सदा समाधिस्थ पुरुष की समानता ही रहती है अर्थात् व्यवहाररत भी ज्ञानी पुरुष समाधिस्थ के तुल्य ही होता है, इस आशय से कहते हैं।

जो पुरुष अन्दर एकमात्र आत्मरति होकर कर्मेन्द्रियों से क्रिया करता हुआ हर्ष और शोक के वशीभूत नहीं होता, वह समाधिस्थ कहा जाता है ॥४३॥ सर्वगत आत्मा का साक्षात्कार कर रहा अतएव शान्तधी जो पुरुष न शोक करता है और न ध्यान करता है, वह समाधिस्थ हो जाता है। जगत् की गति को उत्पत्ति और विनाश युक्त देखता हुआ जो पुरुष मूढ़ जनों में प्रसिद्ध अहंता, ममता आदि दृष्टियों पर उपहास करता है वह समाधिस्थ कहा जाता है ॥४४,४५॥

क्यों उपहास करता है, ऐसा यदि कोई कहे तो अहन्ता–ममता आदि दृष्टियों के विषय अभिमान और अभिमन्तव्यरूप अहन्ता और जगत् आश्रय के सिद्ध न होने से मिथ्या हैं, इसलिए उपहास करता है, ऐसा कहते हैं।

उन्हें (अहन्ता और जगत् को) सर्वानुभवसिद्ध प्रत्यक्स्वभाव मेरे आश्रित मानेंगे अथवा श्रुति सिद्ध ब्रह्मभाव के आश्रित मानेंगे। मुझमें तो उनका संभव नहीं है, क्योंकि द्रष्टा दृश्य का आश्रय नहीं हो सकता। परब्रह्म में भी उनका संभव नहीं है, क्योंकि असंग अद्वितीय, कूटस्थस्वरूप समब्रह्म अहन्ता और जगत् के जन्म आदि विभ्रमता का आधार नहीं हो सकता है। जैसे शरद ऋतु की धूप से मिश्रित दूर से दिखाई दे रही लहरियों में द्रवीभूत रजत के समान स्फुरित हो रही पुंजीभूतकान्ति लहरियों के अन्दर नहीं है, क्योंकि समीप में जाने पर और लहरियों में डूबकर खोजने पर वह दिखाई नहीं देती और न उनके अन्दर और बाहर स्थित आकाश में है, क्योंकि आकाश में प्राप्य आदि चार प्रकारों की क्रियाओं के फल का दर्शन नहीं होता अतएव लहरों की क्रिया से उत्पन्न फल का वह आश्रय हो यह संभव नहीं है। अतः उस कान्ति के समान अहन्ता और जगत् निराश्रय होने के कारण मिथ्या ही हैं ॥४६॥

अहन्ता और जगत् के भेद का निराकरण कर उनके द्रष्टा के भेद का निराकरण करते हैं।

जिस ज्ञानी का आभ्यन्तरप्रत्यगात्मरूप अहन्तारहित हो गया, जिस ज्ञानी के दृश्य जगत् विभाग आदि नहीं हैं, मन नहीं है और मन के अधीन कल्पनावाले चेतनत्व और अचेतनत्व नहीं हैं, वह एक सर्वात्मा है उससे अतिरिक्त जन (चेतन) नहीं है, क्योंकि भगवती श्रुति भी कहती है: *'नाऽन्योऽतोऽस्ति द्रष्टा'* यानी उससे अतिरिक्त द्रष्टा नहीं है ॥४७॥

उसके लक्षणों को कहते हैं।

जो आकाश के समान स्वच्छ है, बाह्यचेष्टाओं का भली–भाँति (शास्त्र और शिष्टाचार के अविरोध से) आचरण करता है और हर्ष, क्रोध आदि विकारों में काठ और ढेले के समान शान्त स्वभाववाला है,

सब जीवों को अपने समान और परद्रव्य को ढेले के समान स्वभाव से ही न कि भय से देखता है वही सम्यक् दर्शनवान् है ॥४८,४९॥

तत्त्वज्ञानी ही समदर्शी होता है, इसमें युक्ति कहते हैं।

मूढ़ पुरुष महान् (हिरण्यगर्भ के ऐश्वर्यपर्यन्त) अथवा अल्प (कौड़ी भर) स्वर्ण, कामिनी आदि विषय को मिथ्या नहीं देखता और उसके अधिष्ठान सद्रूप का उसने अनुभव नहीं किया, इसलिए सन्मात्रस्वभाव से भी उसे नहीं देखता, किन्तु तत्त्वज्ञानी ही उसे पूर्वोक्त रीति से देखता है, इसलिए दोनों प्रकार से उसमें समदर्शिता की उपपत्ति होती है, यह भाव है ॥५०॥

जिसके आशय में समदर्शिता बद्धमूल हो गई वह सब जगत् और सब अवस्थाओं में हर्ष, विषाद आदि से लिप्त नहीं होता है, ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार आशयवाला ब्रह्मपद को प्राप्त हुआ पुरुष चाहे निष्किंचन रहे चाहे ऐश्वर्य आदि अभ्युदय को प्राप्त हो, चाहे पुत्र, बन्धु-बान्धवआदि की मृत्यु को प्राप्त हो, चाहे पूर्वोक्त अभ्युदय स्थिति को प्राप्त न हो। चाहे उत्तमोत्तम भोग्य पदार्थों से परिपूर्ण और बन्धु-बान्धवों से भरपूर घर में रहे, चाहे सब प्रकार के भोगों से शून्य विशाल अरण्य में रहे। चाहे मदिरापान में निरत होकर प्रबल कामवेदना के साथ नाचे, चाहे सब आसक्ति का त्याग कर निर्विकार हो पर्वत पर तपस्या के लिए जाय, चाहे चन्दन, अगर और कपूर से शरीर का लेप करे, चाहे धधकती हुई ज्वालाओं से प्रचुर विस्तारवाली अग्नि में गिरे, चाहे महापाप करे, चाहे प्रचुर पुण्य करे, चाहे आज ही मृत्यु को प्राप्त हो, चाहे अनेक प्रलयों के बाद मरे, यह (समदर्शी) महात्मा कुछ (अहन्ता का आश्रय मरण, दुःख आदि विकारों से युक्त देह, मन आदि) नहीं होता है, अतएव उस महात्मा ने वह कुछ भी नहीं किया। जैसे कीचड़ में गिरा हुआ सुवर्ण कलंकित नहीं होता वैसे ही वह कलंक को प्राप्त नहीं होता है ॥५१-५६॥

अज्ञ जनों में किसको कलंक होता है यानी कौन कलंकी है, ऐसा प्रश्न होने पर उसका निर्देश करते हैं।

शास्त्रों द्वारा जिनकी अभ्यनुज्ञा (स्वीकृति) प्राप्त नहीं है, ऐसे विषयों के सेवन से दूषित वासनारूप ऐन्द्रिक संवित्,उनके आयतन देह और उनके भोग्य शब्दार्थरूप विषयों से, जो शुक्ति रजत के समान हैं, अहंकार प्रधान लिंगात्मा कलंकित होता है ॥५७॥

किस उपाय से कलंक की शान्ति होती है, ऐसा प्रश्न होने पर उसे कहते हैं।

वस्तु स्थितिका भली-भाँति ज्ञान होने से सब वस्तुओं के प्रशमन होने के कारण चित्त का कलंक बाधवश असत्ता से स्वतः शान्त हो जाता है ॥५८॥

तब संसार दुःख प्राप्ति का क्या कारण है ? ऐसी शंका होने पर संसार दुःख प्राप्ति का उपाय कहते हैं।

अहंकार के अध्यास से वासनारूपी अनर्थों के उद्बुद्ध होने से पुरुष के जन्म में विचित्र सुख-दुःख होते हैं ॥५९॥

अतएव अहन्ता की शान्ति होने से संसारदुःख की निवृत्ति हो जाती है, ऐसा कहते हैं।

जैसे रज्जू में सर्पभ्रान्ति के शान्त होने पर 'यह साँप नहीं है,' - यों निर्भय प्रयुक्त आह्लाद होता है

वैसे ही अहन्ता की शान्ति होने पर चित्त में सर्वदुःख वैषम्यशून्यतारूप समता प्राप्त होती है ॥६०॥

पाप के फल की तरह पुण्य का फल भी ज्ञानी को नहीं होता, यों उसके सब कर्मों की क्षति हो जाती है, ऐसा कहते हैं।

ज्ञानी जो कुछ काम करता है, जो भोजन करता है, जो देता है अथवा जो यज्ञ में हवन आदि करता है वह ज्ञानी का नहीं है न उनमें ज्ञानी निरत ही रहता है। वह चाहे करे, चाहे न करे उनके फल से वह लिप्त नहीं होता है ॥६१॥ ज्ञानी का न तो कर्म से कोई प्रयोजन है और न कर्मत्याग से ही उसका कोई प्रयोजन है। अपने यथार्थ स्वरूप के ज्ञान से वह आत्मा में ही स्थित है ॥६२॥

फल की इच्छा से उसके उपायभूत कर्म में पुरुष की प्रवृत्ति होती है, किन्तु ज्ञानी पूर्णकाम है, अतएव उसको उक्त फलेच्छा ही उदित नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

जैसे पत्थर से मंजरियाँ उत्पन्न नहीं होती वैसे ही ज्ञानी पुरुष से इच्छाएँ उत्पन्न नहीं होतीं। कदाचित् इच्छाएँ उत्पन्न होती भी हैं, वे जल में तरंगों के समान तद्रूप (उससे अभिन्न) ही हैं यानी कभी वासनाभ्यास वश उदित हुई इच्छाएँ भी परमार्थदृष्टि से उसकी स्वात्मभूत ही हैं ॥६३॥

ज्ञानी की सर्वात्मता को और सबकी तदात्मता को (ज्ञानिरूपता को) दृढ़ करते हुए दोनों की निष्प्रपंच चिन्मात्रता ही परमार्थतः फलित हुई, यह दर्शाते हैं।

ज्ञानी सब जगद्रूप हैं और अखण्ड जगत् ज्ञानीरूप है, क्योंकि इस जगत् में विभागिता (त्रिविध परिच्छेदशालिता) कुछ भी नहीं हैं। भेदकार्य कारणोपाधियों के तत् तत् साक्षिचिन्मात्र होने पर वह (तत्त्वज्ञानी) सर्वजगत् का अधिष्ठान सन्मात्र ही है, कारण कि वह परम, पूर्ण होने से पुरुष और सब दोषों से अस्पृष्ट होने से पावन जो परमात्मा है एकमात्र तद्रूप ही है। इस रीति से सब द्वैतबन्धनों से निर्मुक्त सत्स्वरूपमात्र परिशिष्ट वह नित्यमुक्त हो गया ॥६४॥

छप्पनवाँ सर्ग समाप्त

सत्तावनवाँ सर्ग

अज्ञात स्वस्वरूप चैतन्य द्रष्टा होने के कारण जिस
दृश्य स्वरूपता को धारण करता है वह चित् ही है उससे अन्य नहीं है, यह वर्णन।

इस प्रकार सारे जगत् का चित् से अभेद परमार्थरूप से सिद्ध होने पर व्यवहार अवस्था में भी जगत् वैचित्र्य तत्–तत्रूप चित्स्वरूप ही है, ऐसा फलितार्थ हुआ, यह कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, आत्मरूपी मीर्च के (आत्मा ही हुआ स्वप्रकाशरूप तीक्ष्णता से युक्त मिर्चा, उसके) अन्दर चेतन होने के कारण तीक्ष्णताप्रथितिरूप जो अनुभव है, वही स्वरूपज्ञान का अभाव होने के कारण मैं, तुम आदिरूप घट, दीवार भेद आदिरूप और उसके आधार देश–कालरूप जगत् है। यह चित् का अभेद होने से फलितार्थ हुआ ॥१॥ आत्मरूपी लवण के (नमक के) अन्दर चित् होने के कारण लवणता प्रथितिरूप (प्रसिद्ध) जो वेदन है, वह अहं, त्वम् आदि; घट, दीवार भेद आदिरूप और उसके आधार देश, काल आदि से युक्त जगद्–रूप से स्थित है ॥२॥ आत्मारूपी ईख के अन्दर चित् होने से जो स्वतः माधुर्यवेदन है, वह तत् तत् आकारों से अभिव्यक्त अहन्ता, त्वन्ता आदिरूप

और घट, दीवार भेद आदिरूप जगत् हैं ॥३॥ आत्मरूप पाषाण का चित् होने से जो स्वतः काठिन्य प्रथितिरूप वेदन है वह अहन्ता, त्वन्ता आदिरूप, घट, दीवार भेद आदिरूप और देश, कालादि रूपता को प्राप्त हुआ है ॥४॥ आत्मरूप पर्वत का चेतन होने से जो स्वतः गुरुता प्रथितिरूप वेदन है वह अहन्ता, त्वन्ता आदिरूप, घट, दीवार भेदादिरूप भुवनरूप से स्थित है ॥५॥ आत्मरूपी जल का चित् होने से जो स्वतः द्रवत्व आदि में वर्तन है वह आवर्त आदि, अहन्ता त्वन्ता, आदि घट, दीवार भेद आदि तत्-तत् आत्मसत्ता के समान स्थित है ॥६॥ आत्मरूप वृक्ष चित् होने से जो शाखादिरूप से प्रथितिरूप वेदन है वह अहन्ता, त्वन्ता आदिरूप, घट, दीवार भेद आदिरूप भुवन आदि के समान वर्तमान और भासमान है ॥७॥ आत्मरूपी आकाश का चित् होने से जो शून्यता प्रथितिरूप वेदन है वह अहन्ता, त्वन्ता आदिरूप, घट, दीवार भेद आदिरूप भुवन आदि है, ऐसी कल्पना है ॥८॥ आत्मरूपी आकाश का चित् होने से जो मूर्त पदार्थों के अन्दर छिद्रता प्रथितरूप वेदन है वह अहन्ता, त्वन्ता भेद और शरीर आदि रूपसे प्रदीप्त हैं ॥९॥ आत्मरूप दीवार का जो स्वतः निरन्तर निबिड़ताप्रथितिरूप का अनुभव है वह अहन्ता आदि भेद से दृश्य होने से चित् से व्यतिरिक्त-सा (भिन्न-सा) बाहर स्थित है ॥१०॥ आत्मसत्ता का चित् होने से जो स्वतः एकमात्रसत्ता के रूप से वेदन है वह अहन्तादि, भेदआदि चिदाभास के तुल्य स्थित है ॥११॥ आत्मप्रकाश का जो स्वतः अवभासन है वही अहन्ता त्वन्ता आदि की और वृत्ति भेद से भिन्न चिदाभासों में अनुगत सामान्य की कल्पना करता है वह जीव है ॥१२॥ आत्मरूपचन्द्रमा के अन्दर जो चिद्रूप चिदमृत है उसके द्वारा स्व-प्रकाश रूप से स्वतः आस्वादित वह अहन्ता आदिरूप से आविर्भूत हुआ है ॥१३॥ परमात्मरूपी गुड़ के अन्दर जो चित् स्वादुरूप है उसी का वह अपने में ही अहन्तारूप से स्वतः आस्वादन करता है ॥१४॥ परमात्मारूप मणि का चित् होने के कारण जो अन्दर स्वयं स्फुरण होता है उसीकी चेतनारूप स्वरूप में वह 'अहम्' इत्यादिरूप से कल्पना करता है ॥१५॥

मायिक जगदाकार का जो अभाव हैं, वह केवल स्वप्रकाश स्वात्मानुभव स्वरूप ही है, इसका भलीभाँति परिज्ञान कराने के लिए ही 'पश्यति', 'वेत्ति', 'आस्वादयति', 'आस्वाद्यते' (देखता है, जानता है, स्वाद लेता है, आस्वादित होता है) इत्यादि कर्मकर्तुभाव से व्यवहार होता है, न कि तथोक्त जगदाकार अनुभव स्वप्रकाश स्वात्मानुभव से भिन्न है, यों उनके भेद का साधन करने के आशय से वैसा व्यवहार होता है, यों कहते हैं।

यह आत्मा यहाँ पर परमार्थतः जानने योग्य वस्तु का अभाव होने के कारण जानने योग्यवस्तु का अपने अन्दर न अनुभव करता है और स्वाद लेने योग्य वस्तु का अभाव होने के कारण न तो आस्वाद्य वस्तु का स्वाद लेता है ॥१६॥ यह आत्मा विकार होने योग्य वस्तु का अभाव होने पर अपने भीतर विभिन्न जीवादि चैतन्य रूप से कुछ भी विकार नहीं करता है और प्राप्त वस्तु के न रहने से उसकी प्राप्ति नहीं करता है ॥१७॥ असत् जगदाकार का अधिष्ठानभूत ही अनन्त आत्मा, जिसका कि स्वरूप परिपूर्ण है, सर्वदा एकरूप होकर अपने स्वरूप में ही महान् पर्वत के समान अवस्थित है ॥१८॥

तब 'यदात्ममरिचस्य' इत्यादि कथन का क्या अभिप्राय है ? इस प्रश्न पर उसका अभिप्राय कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी, इस वचोभंगी से यानी 'यदात्ममरिचस्य' इत्यादि वाक्यों से मैंने आपको इसका

दिग्दर्शन कराया कि अहंतादि (जीवभाव आदि) एवं जगत्तादिका (जगद्भाव आदि का) तनिक भी भेद नहीं है ॥१९॥ न चित्त है, न प्रमाता है और न जगदाकार आदि विभ्रम है, पहले वर्षाकाल में बरस चुकने के कारण बाद में शरत्–काल में शब्दशून्य हुए मेघ के समान शुद्ध अर्थात् अधिष्ठान–सदात्मरूप से परिशिष्ट बाधित जगत् शान्त हुआ ही शान्ति को प्राप्त होता है ॥२०॥ जैसे द्रवस्वभाव होने के कारण जल ही जल में आवर्त आदि भाव को प्राप्त होता है, वैसे ही मायावी सर्वज्ञ ही अपनी माया से संयुक्त ज्ञप्तिरुप आत्मा में अहंतादिरूपको यानी जीव और जगत् के रूप को प्राप्त होता है ॥२१॥ जैसे जल में द्रवत्व रहता है, जैसे सदा गमन करनेवाले वायु में स्पन्द रहता है, वैसे ही परमार्थरूप से केवल ज्ञप्तिस्वरूपवाले सर्वज्ञ परमात्मा में अहंता, देश काल आदि रहते हैं ॥२२॥

यदि जीव का स्वरूप और जगत् का स्वरूप दोनों ज्ञप्ति से भिन्न नहीं है, तब ज्ञप्ति के जीव और ईश्वरभाव में परस्पर क्या भेद रहा ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

ईश्वर अपने शरीर भाव में निरतिशय आनन्दरूप स्वरूपज्ञान को ज्ञान की अभिवृद्धिसे यानी समग्र आवरण और परिच्छिन्नतासे शून्य ज्ञान की अभिवृद्धि से सदासर्वदा ही जानता है और अहंकार एवं स्थूल–देहस्वरूप जीवभाव में तो चेतनरूप होता हुआ भी जीवन के हेतुभूत प्राण, इन्द्रिय और विषयों के साथ अनेकविध अध्यासों के कारण 'मैं जीव आदिस्वरूप वही आत्मा हूँ' यों जानता है, तात्त्विक ज्ञान उसे नहीं रहता, यही उनमें भेद है ॥२३॥

इसलिए जीव की ज्यों–ज्यों भ्रान्ति होती जाती है, त्यों–त्यों ईश्वर का विवर्त (उपादान की सत्ता से विषम सत्तावाला परिणाम) होता जाता है। यह कहते हैं।

जिस–जिस कारण और कर्मों की वासना से जिस प्रकार के विषय परिज्ञान से अज्ञानी जीवात्मा को जिस दर्शन, लाभ और उपभोग के वैचित्र्य से जिस–जिस तरह के प्रिय, मोद, प्रमोद आदि विभिन्न विभिन्न प्रकार के उपभोगों का आविर्भाव होता है अथवा वह अनन्य स्वरूप में जैसी भोक्ता, भोग्य और भोग की विचित्रतारूपी अन्यता का अनुभव कर लेता है, उस–उस जीव की काम आदि की वासना से वह परमेश्वर वैसे–वैसे अपने अंगों को विवर्तित करता है यानी वैचित्र्य धारण करता है ॥२४॥ जब इसने (जीव ने) सत्–शास्त्रों से और सद्–गुरुओं के उपदेशों से यह जान लिया कि इस भोग्य जगत् का जीवन (सार) या परमार्थ स्थिति अधिष्ठानसन्मात्ररूप स्फूर्ति ही है और भोक्ता का जीवन (सार) जिसके अधीन समस्त जीवों के जीवन है ऐसा आनन्दस्वरूप जीवन ही है, तब भोग्य और भोक्ता दोनों के अधिष्ठानों की चिद्रूपता ही अवशिष्ट रह गई, ऐसी स्थिति में जीव और ईश्वर का कभी भी भेद नहीं है ॥२५॥

जीव और ईश्वर का भेद करनेवाले अज्ञान के विनष्ट हो जाने पर प्राज्ञ और तुरीय का भेद भी निवृत्त हो जाता है, अतः अखण्डपूर्णानन्दैकरस चिन्मात्र का साम्राज्य सिद्ध हुआ, यह कहते हैं।

जैसे वास्तव में जीव और ईश्वर का भेद नहीं है, वैसे ही इस प्राज्ञ और तुरीय दोनों का भेद भी नहीं है। श्रीरामजी, असलियत में आप उन सबको शान्त अखण्ड पूर्णानन्दैकरस ब्रह्मरूप ही जानिये ॥२६॥

निचोड़ अर्थ का अनुवादपूर्वक उपसंहार करते हैं।

समस्त जगत् पूर्णस्वप्रकाशस्वरूप, आनन्दैकरस, विषय एवं अपने भेदक धर्मों से शून्य, एक,

आदि–मध्य से शून्य, प्रशान्त ब्रह्मस्वरूप ही है। ऐसी स्थिति में 'सर्वं प्रशान्तम्' (सब प्रशान्त ब्रह्मरूप है) इत्यादि तात्कालिक शब्दमयी दृष्टिपदों से बोधित होनेवाले अर्थों के अभेदसंसर्ग का उल्लेख करनेवाली आहार्य (बनावटी) भेददृष्टि साक्षात् प्रयोजन न होने के कारण मिथ्या ही है, क्योंकि विरोधका भान होने पर भागत्याग–लक्षणा का आश्रय ले कर लक्ष्यार्थ अखण्ड का बोध कराना ही उसका प्रयोजन है। उक्त वाक्य से बोध्य अखण्डरूप अर्थ तो ॐकार से लक्षित जो विशुद्ध चैतन्य है, वहीं है, अतएव यह सब ॐकार स्वरूप है, यही कहना चाहिए। ॐकार से विशुद्ध चैतन्य यों लक्षित होता है – ॐकार, जगत् और ब्रह्म का एकीकरण कर तदनन्तर विराट्, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत और तुरीयस्वरूप अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा यों ॐकार के चार तरह पादों का विभाग कर पूर्व पूर्व पादों का उत्तरोत्तर पादों में उपसंहार कर लेने के अनन्तर चतुर्थ आधी मात्रा से असंसृष्ट अद्वय पूर्णानन्दएकरस नित्य–अपरोक्ष प्रत्यक्–चिन्मात्रस्वरूप ब्रह्म बोधित होता है ॥२७॥

सतावनवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठावनवाँ सर्ग

किरात देश के सुरघु के वैराग्य का वर्णन तथा उसके प्रति मांडव्य का उपदेश।)

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, पहले के मुनि इसी विषय में यानी शब्दरूपा भेददृष्टि केवल बोध के लिए है, इस कहे गये अर्थ में ही प्राचीन इतिहास का, जिसमें भीलों के राजा सुरघु का अत्यन्त विस्मय करानेवाला वृत्तान्त है, उदाहरण देते हैं ॥१॥

सुरघु के निवास देश को बतलाने के लिए उसके पास के हिमालय के शिखर का वर्णन करते हैं।

यहाँ हिमालय की चोटी कैलास नाम का पर्वत है, वह क्या है ? उत्तरदिशा का सार है, भूमि से निकले हुए कपूर का समूह है, शिवजी का कल्याणमय हास्य है, विशुद्ध चन्द्रमा का तेजःपुंज है अथवा उत्तर दिशा का सार, शिवजी का हास्य और चन्द्रमा का प्रकाश ये सब पृथ्वी में आकर मानों एक कपूर का ढेर बन गये हैं। पर्वतों में श्रेष्ठ हिमालय के द्वारा धारण की गई शिखरो की परम्परारूप मोतियों की माला का सुमेरु मणि है अथवा यों कहिये कि वह शैलों में विहार करनेवाले हाथियों से निकले हुए मुक्ता समुदाय का नायक संग्रहक राशि है। भगवान् विष्णु के क्षीर सागर की तरह सुरपति इन्द्र के स्वर्ग की तरह और ब्रह्मा के आशय विष्णु नाभिकमल की तरह वह शशिमौली पार्वती पति का तो घर अर्थात् ससुर द्वारा निर्मित निवास स्थान है ॥२–४॥ दिव्यांगनाएँ जिस पर आरूढ़ है, ऐसे अतिचंचल रत्नों की शलाकाओं से युक्त रुद्राक्ष वृक्षों में लटक रहे झूलों से वह ऐसे शोभता है, जैसे समुद्र चंचल रत्न रूपी शलाकाओं से युक्त लहरियों से शोभता हो ॥५॥ जहाँ प्रमत्त प्रमथगणों की अंगनाओं के चरणों से विताड़ित विलासी शोकरहित पुरष ऐसे भले लगते हैं, जैसे अशोक वृक्ष ॥६॥ उस शिखर पर जिन–जिन दिशाओं में भगवान् शंकर का विचरण होता है उन–उन दिशाओं में (मस्तक में धारित चन्द्रमा की ज्योत्सना के सम्पर्क से) चन्द्रकान्त मणि के द्रवों से प्रपात स्थानों में झरने बह रहे हैं और जिन दिशाओं में उनका विचरण नहीं होता, उन दिशाओं में बहते हुए झरने भी रुक जाते हैं ॥७॥ अनेक ब्रह्माण्डों के आधार ब्रह्म की नाईं जो लताओं, वृक्षों, गुल्मों, बावड़ियों, तालाबों, नदियों, नदों, पशुओं, हरिणों

और भूतों का आधार है अथवा उन लता आदियों से वह समस्त ब्रह्माण्ड की तरह आच्छादित है ॥८॥ उस हिमालय के शिखरभूत कैलास के मूल देश में हेमजट (सुवर्ण के सदृश पीत जटावाले) नाम के किरात उस भाँति निवास करते थे, जिस भाँति वटवृक्ष के मूल देश में चींटियाँ निवास करती है ॥९॥ कैलास पर्वत के नीचे पर्वतों के अरण्यों में उत्पन्न होनेवाले रुद्राक्ष और अन्यान्य वृक्षों के फल, पुष्प, कन्दमूल आदि से वे क्षुद्र किरात अपना जीवन व्यतीत करने के कारण उल्लू के समान निकट–जीवी होकर रहते थे ॥१०॥ उन किरातों का एक राजा था, वह उदारचेता और शत्रुओं के दुर्गों का जीतनेवाला था, विजयलक्ष्मी तो मानों उसके हाथ थी। प्रजा के पालन में दक्ष था, उसका नाम था–सुरघु, वह अत्यन्त बली था, बड़े–बड़े शत्रुओं के दर्प को देवों के समान मिनट भर में विचूर्णित कर देता था, पराक्रम में वह सूर्य के सदृश था, गति में शरीरधारी वायु के तुल्य था। अपने अनेकविध राज्य वैभवों से तथा विविध धन संपत्तियों से उसने गुह्यकों के नायक कुबेर को मात कर दिया था। उच्च आत्मज्ञान के कारण सूराधीश इन्द्र के गुरु बृहस्पति के और रस, अलंकार आदि से परिपूर्ण काव्यों की विविध रचनाओं के कारण असुर देश के शुक्राचार्य के ऊपर उसने विजय पा रक्खी थी ॥११–१३॥ जैस सहस्रांशु दिवाकर (सूर्य) किसी प्रकार की अंगों में थकावट का अनुभव किये बिना क्रमशः एक के पीछे एक अनेक दिवसों का निर्माण करते हैं, ठीक उसी तरह वह सुरघु नाम का राजा अंगों में किसी प्रकार की थकावट का अनुभव किये बिना जिस समय जो राजकार्य प्राप्त होते गये, उनको निग्रह और अनुग्रह की व्यवस्था से करता था ॥१४॥ अनन्तर निग्रहानुग्रह–व्यवस्था से किये जानेवाले उन राजकार्यों से उत्पन्न सुख और दुःखों के कारण उसकी पारमार्थिक गति ऐसे लुप्त हो गई जैसे कि फंदे में फँसे पक्षी की गति लुप्त हो जाती है ॥१५॥

दुःख से जनित चिन्ता और शोक को दिखलाते हैं।

कोल्हूयन्त्र में जैसे तिल पीसे जाते हैं, वैसे इन दुःखी प्रजाजनों को बलपूर्वक मैं क्यों पीसता हूँ यानी दुःख दे रहा हूँ ? सभी प्राणियों को वैसे ही दुःख होता है, जैसे कि मुझे होता है ॥१६॥

कर्तव्य के संशय में प्रथम कोटि को दिखलाते हैं।

इसलिए इन दुःखीजनों को मैं धन दूँ, इनके ऊपर निग्रह करना व्यर्थ है जैसे धन मिलने पर मैं आनन्दित होता हूँ, वैसे ही सम्पूर्ण मनुष्य धन से ही आनन्दित होते हैं ॥१७॥

अब दूसरी कोटि बतलाते हैं।

अथवा धर्मशास्त्र ने जिस पुरुष के लिए जैसा निग्रह यानी वध, बन्धन आदि दण्ड योग्य ठहराया हो, उसे वैसे ही दण्ड दूँ, क्योंकि बिना दण्ड दिये यह प्रजा अपनी–अपनी मर्यादा में ऐसे प्रवृत्त नहीं होती, जैसे कि जलके बिना नदी प्रवृत्त नहीं होती ॥१८॥ वध और बन्धन आदि से यह मेरा दण्डनीय है, यह पुरस्कार आदि से सदा अनुकम्पनीय है, भाग्यवश आज सुखी हूँ तो दुर्भाग्यवश आज दुःखी हूँ, यह सब परिशेष में कष्ट ही है, हा कष्ट ! ॥१९॥ जैसे सोये हुए प्यासे पुरुष का बहुत काल की तृष्णा से युक्त मन जल के बड़े बड़े आवर्तों में घूमकर कहीं एक जगह विश्राम नहीं पाता, वैसे ही भूमि पति सुरघु का उपर्युक्त विकल्पों से चंचल हुआ मन कहीं एक जगह विश्राम को प्राप्त नहीं हुआ ॥२०॥ किसी एक समय जैसे देवर्षि नारद इन्द्र के घर आते हैं वैसे ही जिन्होंने समस्त दिशारूपी मण्डलों में भ्रमण किया

है, ऐसे महर्षि माण्डव्य उस राजा के घर पर आये ॥२१॥ इस राजा ने सम्पूर्ण शास्त्रों के विज्ञाता, सन्देहरूपी दुष्ट वृक्ष–स्तम्भ के छेदन में कुठारस्वरूप उन महामुनि माण्डव्य का पूजन किया और पूछा ॥२२॥ सुरघुने कहा : हे महामुने, जैसे भूमि पर वसन्त ऋतु के अथवा विष्णु के आने पर लोक परम सुखी होते हैं, वैसे ही आपके शुभागमन से मैं अत्यन्त सुखी हुआ ॥२३॥ भगवान्, आज मैंने पुण्यवान् जनों में धर्मतः प्रथम स्थान प्राप्त किया, क्योंकि कमल को विकसित करनेवाले सूर्य के समान आपने मेरे ऊपर कृपादृष्टि की है ॥२४॥ सम्पूर्ण धर्मों के जाननेवाले हे भगवान्, आप परम पद में चिरकाल से ही विश्रान्ति पा चुके हैं, अतः जैसे सूर्य अन्धकार को काट डालता है, वैसे ही मेरे इस संशय को काट दीजिये ॥२५॥ महाराज बड़ों के संसर्ग से भला किसको दुःख से छुटकारा नहीं होता ? दुःख के स्वरूप को भली–भाँति जाननेवाले विज्ञ जन सन्देह को ही महान् दुःख कहते हैं ॥२६॥ जैसे सिंह के नख हाथी को उत्पीड़ित करते हैं, वैसे ही मेरे शत्रु, मित्र आदि के शरीरों के विषय में मेरे द्वारा किये गये निग्रह और अनुग्रह से जनित चिन्ताएँ मुझे अत्यन्त उत्पीड़ित कर रही हैं ॥२७॥ हे भगवान्, इसलिए सूर्य की किरणों के समान मेरी बुद्धि में सर्वदा सम दृष्टि का उदय जैसे हो और विषमदृष्टि का उदय जैसे न हो, वैसा कृपापूर्वक कीजिये ॥२८॥ माण्डव्य ने कहा : राजन, जैसे (धूप से) कुहरा नष्ट हो जाता है, वैसे ही वैराग्य, त्याग आदि स्वयत्न से तथा आत्मसाक्षात्कार होने तक निरन्तर अनुष्ठित श्रवण, मनन आदि आत्मा के अभिव्यंजक उपायों से यह मन की मृदुता यानी हर्ष, विषाद आदि कण्टकों से होनेवाली छेदन योग्यता विनष्ट हो जाती है ॥२९॥ हे राजन्, जैसे शरत्–काल के आगमन मात्र से बड़े–बड़े मेघमण्डल विलीन हो जाते हैं, वैसे ही केवल अपनेपन का विचार करने से ही मन का भीतरी संताप शीघ्रातिशीघ्र विलीन हो जाता है ॥३०॥ हे राजन्, अपने ही मन से भीतर विचार कीजिये कि जो अपने सम्बन्धी शत्रु, मित्र आदि, अपने शरीर में रहनेवाली इन्द्रियाँ तथा बुद्धि आदि वस्तुएँ है, वे तत्त्वतः कौन है एवं युक्ति से उनका प्रकार क्या है ? ॥३१॥ मैं कौन हूँ ? कैसा हूँ ?, यह दिखाई देनेवाला जगत् क्या है ? कैसे जन्म और मरण होते हैं ?, इसका भी अन्दर से विचार कीजिये, यों विचारने से आप महत्ता को (अविचार से भासनेवाली मिथ्या परिच्छिन्नता के निकल जाने के कारण अपरिच्छिन्नता को) अनायास प्राप्त हो जायेंगे ॥३२॥ जब तथोक्त विचार से अपने सत्स्वरूपभूत स्वभाव को आप जान जायेंगे, तब आपके निश्चल मानस को हर्ष, अमर्ष आदि अवस्थाएँ उत्तोलन नहीं कर पायेगी अर्थात् उन्नमन और आनमन के हेतु पदार्थों से तराजू की स्थिति जैसे अनियत (असंतुलित) हो जाती है, वैसे आपके अन्तःकरण की स्थिति अनियत नहीं होगी ॥३३॥ जैसे तरंग अपने उत्तंग स्वरूप को छोड़ पूर्वसिद्ध जलस्वभाव होकर शान्त हो जाता है, वैसे ही चिन्ताज्वर से मुक्त हुआ आपका मन अपने संकल्प विकल्पात्मक स्वरूप को छोड़ पूर्वसिद्ध ब्रह्मस्वभाव हो कर शान्ति को, निर्विक्षेपता को प्राप्त हो जायेगा ॥३४॥

तब क्या मन की सत्ता ही विनष्ट हो जायेगी ? नहीं, ऐसा कहते हैं।

जैसे पहले मनु के बाद कलिकाल को प्राप्तकर अनेकविध पापों से आक्रान्त हुआ भूमण्डल फिर दूसरे मनु की गति में विद्यमान रहता हुआ ही पापों से छुटकारा पाता है, वैसे ही जीवन्मुक्त के व्यवहार में समर्थ होने से मन भी विद्यमान रहता हुआ ही पहले के अपने रूप को छोड़ देता है ॥३५॥

केवल दुःखनिवृत्ति ही तत्त्वज्ञान का फल नहीं है, किन्तु जिस साम्राज्य में ब्रह्मा आदि देवताओं के ऊपर भी अनुकंपा की जाती है, वैसा निरतिशयानन्द साम्राज्य भी फल है, ऐसा कहते हैं।

जैसे लोक में प्रजाजन पालन करनेवाले सन्तुष्ट पिता की कृपा के पात्र होते हैं, वैसे ही वे विभव सम्पन्न ब्रह्मा आदि बड़े देवता भी विदित तत्त्व अतएव सन्तुष्ट आपकी कृपा के पात्र होंगे ॥३६॥

जब आकाश आदि की भी महत्ता उसकी सत्ता के अधीन है, तब उसकी सर्वातिशायिनी (सभीसे बढ़ी चढ़ी) महत्ता में तो कहना ही क्या ? इस आशय से कहते हैं।

हे राजन्, विवेक जनित ज्ञानरूप दीप से आत्मतत्त्व को जान लेने पर आप मेरू, समुद्र और आकाश को भी उत्तम अर्थ देनेवाली महत्ता पायेंगे ॥३७॥ हे साधो, जैसे गाय के खुरमात्र जल में हाथी नहीं डूबता, वैसे ही महत्त्व प्राप्त कर लेने पर आपका अन्तःकरण संसारिक वृत्तियों में नहीं डूबेगा ॥३८॥ राजन्, जैसे शिथिल शरीरवाला मच्छर गाय के खुरमात्र जल में डूब जाता है, वैसे ही काम, कार्पण्यआदि दोषों से दूषित मन तुच्छ कार्य में भी मोह को प्राप्त हो जाता है ॥३९॥ केवल दृश्य का अवलम्बन करनेवाली अन्तःकरण की वासनारूपी उक्त अपनी दीनता से कीड़े की भाँति आप कीचड़ में फँस रहे हैं ॥४०॥

तब किन किन विषयो में या कितने समय तक वैराग्य करना चाहिए ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

हे महाबाहो, जब तक स्वयंज्योति परमात्मा का ही अवशेषरूप से अनुभव नहीं किया जाता जब तक समस्त प्रपंच का स्वयं परित्याग करना चाहिए ॥४१॥

अनेक तरह की श्रुतियों और शास्त्रों का पर्यालोचन करना चाहिए। अनेक तरह की श्रुतियों और शास्त्रों का पर्यालोचन भी तब तक करना चाहिए, जब तक कि आत्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार न हो, ऐसा कहते हैं।

जैसे जिस धातु में सुवर्ण का अस्तित्व है, उस धातु का तब तक शोधन किया जाता है, जब तक केवल सुवर्ण अवशिष्ट नहीं रह जाता, वैसे ही तब तक समस्त अध्यात्म आदि शास्त्र देखे (बिचारे) जाते हैं, जब तक कि केवल आत्मा प्राप्त नहीं हो जाता है ॥४२॥ सर्वात्मक बुद्धि से सर्वदा सभी प्रकारों से सब देशों में सभी दृश्यों का परित्याग कर पूर्णात्मा अपने आप से ही प्राप्त होता है। एकाध बार, किसी एक जगह, किसी प्रकार कुछ विषयों का परित्याग करनेमात्र से वह प्राप्त नहीं होता, यह तात्पर्य है ॥४३॥

कहे गये ही अर्थ को व्यतिरेक से भी दृढ़ करते हैं।

जब तक सम्पूर्ण दृश्यों का परित्याग नहीं होता, तब तक आत्मा का लाभ नहीं होता यानी साक्षात्कार नहीं होता, क्योंकि सभी अवस्थाओं का परित्याग करने पर जो शेष रहता है, वही आत्मा कहा जाता है ॥४४॥ साधो, व्यवहार में भी जब तक विरोधी वस्तु को नहीं छोड़ते तब तक सामान्य गाय, धन आदि वस्तु भी जब प्राप्त नहीं की जा सकती, तब असाधारण आत्मा के लाभ की तो कथा ही क्या ? ॥४५॥ राजन्, अन्यान्य सब कार्यों को छोड़कर जिस विषय की प्राप्ति के लिए आत्मा स्वयं सब प्रकार से प्रयत्न करता है, उसी को प्राप्त करता है, दूसरे को नहीं ॥४६॥ इससे आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए सभी विषयों का परित्याग करना चाहिए सबका परित्याग करने पर जो कुछ (जिसे छोड़ नहीं सकते, ऐसा तत्त्व) दिखाई देगा, वही परम पद है ॥४७॥ मणियों में सूत की नाईं सम्पूर्ण कार्य और कारणों की परम्परारूप जगत् में अनुगत सद्रूप वस्तु में केवल अपनी कल्पना से अभिव्यक्त मिथ्याभूत

सद् से भिन्न वस्तुओं का निःशेष परित्याग कर, अनन्तर अपने (मन के) स्वरूप का भी मूलअज्ञान का नाश होने से बाध–द्वारा प्रविलापन कर मन जिस सच्चिदानन्दैकमात्र वस्तु को प्राप्त होता है, वही पर ब्रह्म का स्वरूप है ॥४८॥

अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त

उनसठवाँ सर्ग

एकान्त में बाह्य और आभ्यन्तर दृश्यों का परित्याग कर रहे
राजा सुरघु को विचार से स्वात्मलाभ हुआ, यह कथन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, पूर्वोक्त प्रकार से इस सुरघु राजा को उपदेश देकर भगवान् माण्डव्य अपने सुन्दर मुनियों के रहने योग्य देश की ओर चले गये ॥१॥ तत्त्वद्रष्टा उक्त मुनि के चले जाने पर उस राजा ने एकान्त और अनिन्दित स्थान में जाकर बुद्धि से विचार किया कि स्वयं मैं कौन हूँ ? ॥२॥

राजा पहले बाह्य दृश्यों में आत्मता और आत्मीयता का विचार से निरास करते हैं।

मैं न मेरु पर्वत हूँ और न मेरा मेरू पर्वत है, मैं न जगत् (ऊपर और नीचे के लोक) हूँ और न मेरा जगत् है, मैं न पर्वत हूँ और न मेरे पर्वत हैं, मैं न पृथ्वी हूँ और न मेरी पृथ्वी है। मेरा न तो यह किरातमण्डल है और न मैं ही किरातमण्डल हूँ, केवल अपने संकेत से यानी सब लोगों की संमति से पट्टाभिषेक आदि के द्वारा मैं राजा बनाया गया हूँ, यों अपनी कल्पना से ही मेरा केवल देश ही है। मैंने यह कल्पना छोड़ दी, मैं न देश हूँ और न मेरा यह देश है, अब नगर बचा, पर इस नगर के विषय में भी कल्पना त्याग से यही निश्चय निकलता है–ध्वजाओं और बागोंकी पंक्तियों से युक्त सेवक और उद्यानों से भरी, हाथियों, अश्वों और सामन्तों से युक्त नगरी न तो मैं हूँ और न तो नगरी मेरी है। मिथ्याभूत कल्पना से सम्बन्ध रखनेवाला तथा कल्पना का विनाश होने पर नष्ट हो जानेवाला यह भोग समुदाय तथा भार्या आदि कुटुम्ब परिवार मैं नहीं हूँ और न तो वह सब मेरा ही है ॥३–७॥ एवं सेवकों, सेनाओं, वाहनों और अन्य नगरों से युक्त राज्य मैं नहीं हूँ और मेरा राज्य नहीं है, क्योंकि घुँघची और कर्षापण के सम्बन्ध की नाईं यह सम्बन्ध अनादि अन्ध परम्परा के व्यवहार से केवल कल्पित है ॥८॥

केवल कल्पना के त्यागरूप उपाय से बाह्य विषयों के साथ अपने सम्बन्ध का निरास कर अब अचेतन होने के कारण देह, इन्द्रिय आदि के साथ भी आत्मा के सम्बन्ध का निरास करने के लिए आरम्भ करते हैं।

हाथ, पैर आदि अवयवों से युक्त केवल देह मैं हूँ, ऐसा हो सकता है अतः इस विषय में भी मैं अपने भीतर पूर्णरूप से शीघ्र विचार करता हूँ॥९॥ इस शरीर में विद्यमान मांस और अस्थि मैं नहीं हूँ, क्योंकि वे अचेतन हैं, मेरे सम्बन्ध को भी वे (माँस और अस्थि) प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि जल में कमल की भाँति मैं असंग हूँ॥१०॥ मांस जड़ है, अतः मांस मैं नहीं हूँ, (रक्त जड़ है, अतः) वह भी मद्रूप होने में समर्थ नहीं है। हड्डियाँ भी जड़ हैं, अतः हड्डियाँ भी मैं नहीं हूँ और न किसी हालत में वे मांस आदि मेरे हैं ॥११॥ कर्मेन्द्रियाँ (हाथ, पैर, मुख, गुदा और उपस्थ) मैं नहीं हूँ और मेरी कर्मेन्द्रियाँ नहीं हैं। इस

देह में जो कुछ जड़ पदार्थ है वह मैं नहीं हूँ, क्योंकि मैं चेतन हूँ ॥१२॥ भोग मैं नहीं हूँ और भोग मेरे नहीं है, मेरी ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं हैं और जड़ एवं असत् स्वरूपवाली ज्ञानेन्द्रियाँ मैं नहीं हूँ ॥१३॥ संसाररूपी दोष का मूल कारण मन मैं नहीं हूँ, क्योंकि वह अचेतन है। अनन्तर अब दृष्टात्मक (जाने जाते हैं, इसलिए दृष्टात्मक) बुद्धि और अहंकार भी मैं नहीं हूँ और वे मेरे नहीं हैं क्योंकि अन्तःकरण की अवस्थारूप होने के कारण वे तो जड़ हैं ॥१४॥ जिसका स्वरूप अति चपल है, ऐसा शरीर से लेकर मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि तक जो स्थूल–सूक्ष्म भूतों का समूह है, वह भी मैं उक्त रीत से नहीं हूँ। अब जो कुछ बचा है उसे भी देखकर विचारता हूँ ॥१५॥ अब बाकी तो प्रमाता जीव है, वह विषयों के साथ जब प्रकाशता है, तब 'मैं इसे जानता हूँ' यों त्रिपुटी–साक्षात्कार से बोधित होनेवाला यह प्रमाता आत्माका तात्त्विक स्वरूप कैसे हो सकता है ? ॥१६॥ इसी युक्ति से साक्षिसंवेद्य प्रमिति और प्रमेयको छोड़ता हूँ, क्योंकि चेत्य नहीं हूँ, यह निश्चित है। (इतने विचार के अनन्तर अब) इस निश्चय पर आरूढ़ हुआ कि समस्त विकल्पों से शून्य, विशुद्ध साक्षीरूप शेष आत्मा मैं हूँ ॥१७॥

'हार कहीं खो गया' इस भ्रम से यत्र तत्र खोज रहे पुरुष को अपने गले में ही उसे दिख जाने पर हार प्राप्ति जैसे आश्चर्यभूत होती है, वैसे ही उस साक्षी के केवल दर्शन से ही सुरघु को आत्मप्राप्ति आश्चर्यभूत हुई, उसे दिखलाते हैं।

अहो अत्यन्त आश्चर्य का विषय है अनादि काल से लेकर प्रयत्न कर रहा लब्धात्मा भी मैं आज ही परम पुरुषार्थस्वरूप फलका भाजन हुआ, (क्योंकि आज तक मैं अज्ञान में डूबा हुआ था) यह मैं तत्पदबोध से असीम आत्मरूप हूँ, इस परम आत्मा का कहीं पर अन्त नहीं है ॥१८॥

अपने अनुभव के साथ 'एष ब्रह्मैष इन्द्रः' (यह ब्रह्मा है, यह इन्द्र है) इत्यादि श्रुतियों का संवाद देते हैं।

जैसे मोतियों में अनुस्यूत रूप से सूत अवस्थित रहता है, वैसे ही ब्रह्मा, इन्द्र यम, वायु और समस्त प्राणियों के समूह में यह निखिल ऐश्वर्यों से परिपूर्ण तत्पदबोध से आत्मा अनुस्यूतरूप से अवस्थित है ॥१९॥ उस प्रकार की यह चितिशक्ति समस्त मलों से परे हैं, विषयों के आमय से (बीमारी से) वर्जित है, समस्त दिशाओं के मण्डलों को परिपूर्ण यानी व्याप्त कर लेनेवाली है और अज्ञानियों के भय की हेतु होने से भयंकर आकार धारण करनेवाली है ॥२०॥ यह चितिशक्ति समस्त मानसिक वृत्तियों में निवास करती है, (क्योंकि 'प्रतिबोधविदितं मतम्' यानी जब समस्त वृत्त्यात्मक बोधोंमें पड़े हुए चित्प्रतिबिम्बों के स्वरूप से ब्रह्म विदित होता है, तभी ब्रह्म ज्ञात होता है, यह श्रुति है) सूक्ष्म यानी इसका परिज्ञान करना साधारण खेल नहीं है, अत्यन्त कठिन है, उत्पत्ति और विनाश दोनों से रहित है, पाताल से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त समस्त भुवनों के भीतर निवास करती है एवं समस्त शक्तियों की मंजुषा (पिटारी) है ॥२१॥ यह चिति निरतिशयानन्दरूप सर्व सौन्दर्य से परिपूर्ण है , समस्त प्रकाश–योग्य पदार्थों को प्रकाशित करनेवाली दीपिका है और सम्पूर्ण संसाररूपी मोतियों की मालाको गुहने के लिए विशाल सूत्र है ॥२२॥ यह चिति शक्ति सम्पूर्ण आकार और विकारों से युक्त है, समस्त विकारों से रहित है तथा सब भूतों के समूह की रूपता को प्राप्त हुई इस चितिशक्ति ने सदा सर्वभाव को प्राप्त किया है ॥२३॥ यही चिति शक्ति चौदह भुवनों के भेद से चौदह प्रकार के भूतों के संगों को उनके अन्दर

धारण करती है। अनुभवात्मक जगत् की यह कल्पना भी इस चितिशक्ति को छोड़कर दूसरा कुछ भी नहीं है ॥२४॥ सुख और दुःख की अवस्था का जो परिज्ञान होता है, वह तो केवल मिथ्या अवभास है और नाना प्रकार के आकारों से अवभासमान जो आत्मा है, वह सब कुछ परा चिति ही है ॥२५॥ यही चिति समस्त जगत् में अनुगत मेरी आत्मा है, जो मेरी बुद्धि का साक्षी है, वह यही चिति है। वहाँ यह चितिशक्ति द्रष्टा और दृश्य के भेद से काल्पनिक शरीरवाली होकर 'मैं राजा हूँ' ऐसा भ्रम पैदा करती है यानी ज्ञानदशा के पहले उसी ने 'मैं राजा हूँ' यह भ्रम पैदा किया था, यह भाव है ॥२६॥ शरीररूपी रथ पर आरूढ़ हुआ मन इसी चितिशक्ति के प्रसाद से अनेक तरह के संसारों की लीलाओं में जाता है, दौड़-धूप करता है और नृत्य करता है ॥२७॥ वास्तव में ये मन, शरीर आदि वस्तुएँ कुछ भी नहीं हैं। तुच्छ मन आदि के नष्ट हो जाने पर भी इस आत्मा का कुछ बिगड़ने नहीं पाता ॥२८॥ चित्तरूपी नटों द्वारा बनाया गया जगज्जालरूपी यह नाटक इसी एक साक्षी रूपी बुद्धि से, जो कि दीपक की शिखा की नाईं है, देखा जाता है ॥२९॥ अत्यन्त दुःख की बात है कि निग्रह और अनुग्रह की स्थिति में मुझे देहविषयिणी चिन्ता व्यर्थ ही हुई, क्योंकि यहाँ परमार्थ में यह कुछ भी नहीं है ॥३०॥ अहो, अब तो मैं जाग गया हूँ, मेरा असद्विचार नष्ट हो गया, जो दृष्टव्य था, उसे समग्ररूप से मैंने देख लिया और यह जो प्राप्तव्य था, उसे प्राप्त कर लिया ॥३१॥ जगत् में जो यह सब कुछ दृश्य दिखाई देता है, वह चिन्निष्पन्दांश मात्रांश से चित् का निष्पन्द यानी माया से जीवभाव का विभ्रम, उसका अंश है पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन और बुद्धि इन सत्रह अवयवों से युक्त लिंग शरीर का भ्रम, इसकी मात्राएँ हैं -बाह्य और अन्तःकरण के अभेद विभ्रम, इनका अंश है - जाग्रत् और स्वप्न के दृश्यों का विभ्रम, निष्कर्ष यह निकला कि माया से होनेवाले चित् के जीवभ्रम के अंशभूत सत्रह अवयवोंवाले लिंग शरीर के मात्राभूत बाह्य और अन्तःकरण के अभेद विभ्रमों के अंश जाग्रत् और स्वप्नों के दृश्यों के विभ्रम से) भिन्न दूसरा स्थायी यानी त्रिकालाबाध्य कुछ भी नहीं है ॥३२॥

पूर्वोक्त प्रणाली से जब जगत् मिथ्या सिद्ध हुआ, तब निग्रह और अनुग्रह तथा उनके हेतु हर्ष और अमर्ष भी निराश्रय, प्रकाररहित, विषयरहित और स्वरूप-रहित ही सिद्ध हुए, ऐसा कहते हैं।

लोक में वे निग्रह और अनुग्रह कहाँ है, किस तरह के हैं, किस मैं रहते हैं, उनका रूप क्या है, इसी तरह उनके हेतु हर्ष और अमर्ष की परम्परा भी कहाँ है अर्थात् सभी व्यर्थ यानी मिथ्या ही हैं ॥३३॥

आत्ममोह के निकल जाने पर सुख और दुःख की प्राप्ति भी नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

क्या सुख है ? और क्या दुःख है ? यानी काल्पनिक सुख और दुःख दोनों ही मिथ्या हैं। यह सब कुछ व्यापक परब्रह्म स्वरूप ही है। पहले मैं व्यर्थ ही मूढ़ बन कर बैठा था, अब भााग्यवश अपने वास्तव स्वरूप में अवस्थित हुआ हूँ ॥३४॥ जिसका आनन्दैकरस पूर्वस्वभाव से अनुभव होता है, ऐसा ब्रह्मरूप आलोक में क्या शोक है, क्या मोह है, क्या प्रेक्षण है, क्या कार्य है, क्या अवस्थान है और क्या गमन है अर्थात् शोक आदि की तनिक भी संभावना नहीं है ॥३५॥ अलौकिक चमत्कार से परिपूर्ण यह चिदाकाश नाम की वस्तु सबका अतिक्रमण कर यानी सबसे परे अपना अस्तित्व रखती है। हे निरतिशयानन्दरूपी सौन्दर्य से परिपूर्ण, निःशेषतत्त्वरूप निर्गुण चिदाकाश, आपको मेरे बार-बार नमस्कार हैं, प्रबल सौभाग्य से मैं आपको देख सका हूँ ॥३६॥ अहो, निश्चितरूप से मैं प्रबुद्ध हो चुका हूँ जो ज्ञातव्य था उसे भली-

भाँति पूर्णरूप से मैंने जान लिया। सम्यक्–ज्ञान होने पर जिसका आविर्भाव होता है अथवा जो

सम्यक्–ज्ञानरूपी अभ्युदय है, उस अनन्त आत्मरूपतत्त्व को नमस्कार है ॥३७॥ राग, द्वेष आदि दोषों के निकल जाने के कारण मेरी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूपी तीनों अवस्थाएँ चली गई हैं। तथा निश्चल सुषुप्ति कला से उपाधियों के हट जाने के कारण मैं परब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त हुआ हूँ, इसलिए मैं संसार भ्रम से रहित अतएव आकाश आदि अध्यारोपरूपी राग से शून्य प्रत्यक्–ब्रह्म में परम समता से (आत्यन्तिक अभेद से) निवास करता हूँ, अब कभी मैं फिर विषमता को प्राप्त नहीं होऊँगा, यह भाव है ॥३८॥

उनसठवाँ सर्ग समाप्त

साठवाँ सर्ग

जीवन्मुक्त उस सुरघु के देह विनाशपर्यन्त असंगरूप से आचरण तथा
देह विनाश के बाद आकाश के समान अवस्थान का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामजी, जैसे विश्वामित्र ने अपने तपोबल से ब्रह्मत्व प्राप्त किया था, वैसे ही उक्त प्रकार से हेमजट नामक भीलों के राजा सुरघु ने विवेक के अध्यवसाय से (निश्चयात्मक ज्ञान से) परमपद को प्राप्त किया ॥१॥ पुनः पुनः दिवस मालाओं का निर्माण करनेवाले भगवान् सूर्य की नाईं वह राजा बार–बार धर्म, अर्थआदि की प्राप्ति की हेतुभूत क्रियाओं का अनुष्ठान करता था, दैवात् उन क्रियात्मक चेष्टाओं से दुःख–पर्यवसित फलों के होने पर भी वह दुःखी नहीं होता था ॥२॥ तभी से लेकर वह राजा चिन्ता ज्वर से मुक्त होकर अपने राजोचित निग्रह और अनुग्रहरूपी कार्यों में वैसे अटल बना रहता था, जैसे प्रबल प्रवाह के सामने नदी के मध्य में रहनेवाला पर्वत अटल बना रहता है ॥३॥ हर्ष और विषाद रहित होकर प्रतिदिन अपने आय, व्यय आदि कार्यों को करते हुए उस उदार और गम्भीर आकृतिवाले राजा ने समुद्र की सुन्दरता चुरा ली यानी समुद्र की शोभा पर विजय पाई ॥४॥ जैसे प्रकाशमयी कम्पनशून्य अपनी शिखा से दीपक अत्यन्त शोभित होता है, वैसे ही वह राजा सुषुप्ति के समान निश्चल प्रकाश–मयी चित्तवृत्ति से अत्यन्त शोभित होता था। वह न निर्दयी था, न दयालु था, न द्वन्द्वों से युक्त था, न मत्सरवाला था, न बुद्धिमान् था, न बुद्धिरहित था, न अर्थी था और न अनर्थी था। भीतर शान्ति पहुँचानेवाली तथा निश्चलता के कारण अत्यन्त धीर समदर्शनात्मक वृत्ति से वह ऐसे शोभित होता था, जैसे परिपूर्ण समुद्र और चन्द्रमा शोभित होते हैं ॥५–७॥ चूँकि यह सब जगत् केवल चित्तत्त्व की कलना ही है, यों निश्चय करने के कारण उसकी बुद्धि भौतिक सुख–दुःखात्मक विकारों से रहित अतएव परिपूर्णरूप से प्रकाशित हो रही थी, इसलिए प्रबुद्ध तथा चित् में लय को प्राप्त वह राजा शरीर से उल्लसित होते, चित्त से विकसित होते, पूर्णरूप से अवस्थित रहते, जाते, बैठते और सोते सदा सर्वदा पर ब्रह्म की समाधि में ही स्थित रहता था ॥८,९॥ कमल की भाँति जिसके नेत्र थे और जिसके शरीर में तनिक भी वार्धक्यादि का विकार प्राप्त नहीं हुआ था, ऐसा वह सुरघु राजा आसक्तिरहित राज्य करते हुए सैकड़ों वर्ष पर्यन्त इस भूमण्डल में विद्यमान रहा ॥१०॥ उसके बाद जैसे बरफ का कण गर्मी से शोषित होकर स्वकीय मूर्तस्वरूपका अपने आप परित्याग कर देता है, वैसे ही उस राजाने इस

देह नामधारी पंचात्मक अवयव–संनिवेश का अपने आप ही परित्याग कर दिया ॥११॥ जैसे नदियों का जल दो किनारों से पार होते ही पानी परिच्छिन्नता का परित्याग कर परिपूर्ण यानी परिच्छिन्नता से रहित असीम समुद्र में प्रविष्ट हो जाता है, वैसे ही वह राजा ब्रह्म साक्षात्कारात्मक वृत्ति की सामर्थ्य से (जन्म आदि के प्रतिबीजभूत अविद्यारूपी आवरण का तिरोधान हो जाने के कारण) समस्त हिरण्यागर्भादि कारणों के नियन्ता तथा सृष्टि और प्रलय के हेतु परब्रह्म परमात्मा में प्रविष्ट हो गया ॥१२॥

उस परम पद में प्रवेश कर सुरघु किस प्रकार का हुआ, इसे कहते हैं।

जैसे घटाकाश घट के फूट जाने पर महाकाश के साथ एकीभूत हो जाता है वैसे ही यह महात्मा सुरघु जिसने कि ब्रह्मसाक्षात्कारात्मक प्रज्ञा से विमल आनन्दैकरस तथा स्वप्रकाशात्मक तेजको स्वात्मरूप से प्राप्त कर लिया था और जन्म आदि विकारों से रहित अवस्था को प्राप्त कर लेने के कारण जिसके समस्त शोक शान्त हो चुके थे–पूर्णरूप से पर स्वरूप ही हो गया यानी परमात्मा के साथ एकीभूत हो गया। यही इसका निर्वाण था, यह भाव है ॥१३॥

साठवाँ सर्ग समाप्त

इकसठवाँ सर्ग

अद्वितीय पर ब्रह्म में स्वाभाविक चित्तैकाग्रयात्मक समाधि के
स्वरूप के ज्ञान के लिए सुरघु और परिघ के संवाद का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : कमल के समान नेत्रोंवाले हे राघव, राजा सुरघु के समान आप भी हर्ष, शोक आदि के निमित्त पापों का तत्त्वज्ञान से समूल उच्छेद होने पर द्वन्द्वरहित परम पद को प्राप्त कीजिये और उत्तम मोक्षरूपी विभूति के लिए शोक का परित्याग कर दीजिये ॥१॥ जैसे घोर अन्धकार मे ंबैठा हुआ बालक प्रकाश को प्राप्त कर खिन्न नहीं होता, वैसे ही गाढ़ अज्ञानरूपी अन्धकार में डूबा हुआ मन इस बोधात्मक दृष्टि का अवलम्बन लेकर प्रकाश को प्राप्त कर सन्तप्त नहीं होता ॥२॥

जैसे कुएँ में गिर रहे प्राणी को मजबूत तृणसमुदाय के अवलम्बन से विश्रान्ति–सुख मिलता है, वैसे ही मोहरूपी गहरे कुएँ में गिर रहे मन को सुरघु के प्रकरण में दर्शाई गई विवेकावस्था से विश्रान्ति सुख मिलता है ॥३॥ हे श्रीरामजी, आपने समस्त भूमण्डल को सुशोभित किया है। अब आप इस परम पवित्र दृष्टि को बार–बार परिशीलन के द्वारा अत्यन्त दृढ़ बनाइये, दूसरों को उसका उपदेश भी दीजिये और सदा सर्वदा एक ब्रह्म की समाधि में ही तत्पर हो जाइये ॥४॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिश्रेष्ठ, जैसे वायु के द्वारा हिलाया गया मोर का पंख अत्यन्त चपल होता है, वैसे ही यह मन अति चपल है, अतः भला बतलाइये कि यह अति चंचल मन किस तरह और किस रूप से एक वस्तु में स्थिर रह सकता है ? ॥५॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र, जिस समय सुरघु आत्मसाक्षात्कार कर लेने के अनन्तर प्रबुद्ध हो चुके थे, उसी समय उसी तत्त्वज्ञ सुरघु राजा और राजर्षि पर्णाद का (इसीका 'परिघ' यह दूसरा भी नाम है) परस्पर इस विषय में अत्यन्त अद्भुत संवाद हुआ था, इसका आप श्रवण कीजिये ॥६॥ हे रामजी, उन दोनों ने अपने अपने मन को, जो बोध को प्राप्त हुआ था, एक समाधान में ही लगा रक्खा था, मैं यह

उनका परस्पर का सुन्दर संवाद आपसे कहता हूँ ॥७॥ रथ के अक्ष–दण्ड की (धुरे की) नाईं आधारभूत अथवा रथ में परिघ नामक शस्त्र शत्रुदल के शूर–वीरों का विदलन करने में जैसे अत्यन्त विख्यात है, वैसा अत्यन्त विख्यात पारसीक देश का एक राजा हुआ। वह बड़े–बड़े शूरवीर शत्रुओं का विनाश कर देता था। उसका नाम था–परिघ ॥८॥ हे रघुनंदन, जैसे नन्दनवन में रहनेवाले कामदेव का वसन्त मित्र है, वैसे राजा परिघ सुरघु का परम मित्र था। किसी समय जैसे प्रलयकाल के प्राप्त होने पर संसार में बड़ी भारी अनावृष्टि होती है, वैसे ही इस राजा के राष्ट्र में बड़ी भारी अनावृष्टि (वर्षा का अभाव) हुई। उसमें कारण राजा का दोष नहीं था, किन्तु कारण था – प्रजाओं का पापरूपी दोष। जंगल में प्रज्वलित अग्नि में जैसे प्राणियों की पंक्ति–की–पंक्तियाँ नष्ट भ्रष्ट हो जाती हैं, वैसे ही अनावृष्टि से वहाँ की बहुत सी जनता क्षुधा से गतप्राण होकर नष्ट भ्रष्ट हो गई। प्रजा का कष्ट देखकर राजा परिघ अपार विषाद से ग्रस्त हुआ। जैसे बटोही जले गाँव को छोड़ देता है, वैसे ही उसने अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक अपना सारा राज्य छोड़ दिया। प्रजा जनों को विनाश से बचाने के लिए उसने अनेक उपाय किये, उन्हें कुछ भी लाभ नहीं हुआ, अतः अपने राज्यसे विरक्त होकर मृगचर्मधारी बड़े बड़े मुनियों की नाईं अरण्य में तप करने के लिए चला गया। जिसे नागरिक नहीं जानते थे, ऐसे किसी दूर अरण्य में विरक्तात्मा होकर ऐसे रहने लगा जैसे दूसरे परलोक में रहता हो ॥९–१४॥ जिसकी बुद्धि शान्त हो चुकी थी तथा जिसने अपना दमन किया था, ऐसा पर्वत के गुहा मन्दिर में तपश्चर्या कर रहा वह राजा परिघ वहाँ स्वयं शुष्क और जीर्ण–शीर्ण पत्तों का भक्षण करता था। *(यहाँ 'कन्दरमन्दिरे' इस शब्द से उसकी अत्यन्त विरक्ति सूचित होती है, क्योंकि उसने पर्णकुटी का भी परित्याग कर केवल पर्वत की गुफा का आश्रय लिया था)* ॥१५॥ बहुत काल तक उसने अग्नि की नाईं केवल सुखे पत्तों का ही भक्षण किया, इसलिए बड़े–बड़े तपस्वियों के बीज में इसने अपना 'पर्णाद' नाम प्राप्त किया ॥१६॥ तभी से लेकर जम्बूद्वीप में पर्णाद नाम का यह उत्तम राजर्षि मुनियों के मण्डल में अत्यन्त विख्यात हुआ ॥१७॥ तदनन्तर एक हजार वर्ष की दारूण तपश्चर्या से अभ्यासवश अन्तःकरण की परमशुद्धि तथा ईश्वर के अनुग्रह से जनित आत्मज्ञान उसने प्राप्त किया। वह द्वन्द्वों से परे हो गया था, उसकी समस्त विषयाभिलाषाएँ निकल चुकी थी,उसका अन्तःकरण प्रसन्न था,उसका विषयराग हट गया था, वह आक्षेपों से वर्जित था तथा जीवन्मुक्त एवं प्रबुद्ध–मति था ॥१८,१९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे हंसों के साथ भ्रमर कमलिनी में विहार करते हैं वैसे ही यहाँ जिर्ण पर्णाद अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी समय सिद्ध (तत्त्वज्ञान पा चुकनेवाले) तथा साध्य (तत्त्वज्ञान की इच्छावाले) मुनिवरों से परिवृत होकर इस त्रिलोकीरूपी मठिका में विहार करता था ॥२०॥ किसी समय यत्र–तत्र विचर रहे राजर्षि पर्णाद उस स्वर्णजट नामक, देश के अधिपति राजा सुरघु के सदन में (निवास स्थान में) प्राप्त हुआ जो कि रत्नों से विनिर्मित तथा सुमेरूपर्वत के दूसरे शिखर के समान ऊँचा था ॥२१॥ पहले से ही वे मित्र थे, वहाँ उन्होंने परस्पर एक दूसरे का पूजन किया। वे पूर्ण थे, दोनों ही ज्ञातव्य तत्त्व जान चुके थे संसार से परे यानी जीवन्मुक्त हो गये थे। अनन्तर उन दोनों ने एक दूसरे से यह कहा : अहो, निश्चित मेरे कल्याणमय पावन सत्कर्मों का यह फल है, जो कि मैंने आपको पाया। एक दूसरे का शरीर से आलिंगन कर परस्पर आनन्दित आकृतिवाले वे दोनों एक पर्वत के ऊपर चन्द्र और सूर्य की नाईं एक आसन पर बैठे ॥२२–२४॥

परिघ ने कहा : हे सुरघो, आपके दर्शन से मेरा चित्त अत्यन्त आनन्द को प्राप्त हुआ और चन्द्रबिम्ब में गोता लगानेवाले मन की नाईं मेरा मन अत्यन्त शीतलता को प्राप्त हुआ । चितिशक्ति की प्रधानता होने पर आनन्द का आविर्भाव होता है मनन शक्ति की प्रधानता होने पर सन्ताप शान्त हो जाता है ॥२५॥ तालाब के किनारे पर अवस्थित छिन्न आशावाले वृक्ष के समान सहज आनन्द का समर्पण करनेवाला स्वाभाविक प्रेमवियोगावस्था में सैकड़ों शाखा–प्रशाखाओं को प्राप्त होता है ॥२६॥ साधो, विश्वास गर्भित उन पहले की सुखदुःख की कथाओं, लीलाओं तथा व्यापारों का बार–बार स्मरण कर मैं आनन्द से परिपूर्ण हो जाता हूँ ॥२७॥ राजन्, जैसे आपने महामुनि माण्डव्य के प्रकाश से परम तत्त्व जाना वैसे ही मैंने तप से आराधित परमात्मा के प्रसाद से यह ज्ञान पाया है ॥२८॥ महाराज, क्या आप समस्त दुःखों से छुटकारा पा चुके हैं ? और जैसे कोई भूमण्डल का स्वामी उत्तरोत्तर पर्वतों का अतिक्रमण कर मेरु के ऊपर विश्रान्ति करे, वैसे ही क्या आप परम कारणरूप (विवर्तापादानत्व से उपलक्षित) परब्रह्म में उत्तरोत्तर भूमिकाओं के परिपाक से विश्रान्ति कर चुके हैं ? ॥२९॥

हे परमकल्याण, जैसे शरत्–काल में तालाब के जल में धूल आदि का आवरण न होने के कारण उसमें प्रसन्नता (स्वच्छता) उत्पन्न होती है, वैसे ही क्या आपके चित्त में आत्मारामता के कारण प्रसन्नता, रजोगुण और तमोगुण अनावरणरूपता उत्पन्न होती है ? ॥३०॥ हे सौभाग्यसम्पन्न राजन्, सुप्रसन्न एवं गंभीर समदृष्टि से क्या आप समस्त जनों के हित के साधन अवश्य कर्तव्य कर्मो को करते हैं ? ॥३१॥ राजन्, शारीरिक और मानसिक पीड़ाओं से रहित, धीर तथा धन–धान्यों से सम्पन्न जनता समस्त चिन्ताओं से निर्मुक्त होकर क्या आपके देश में निवास करती है ? ॥३२॥ महाराज, उत्कृष्ट सस्यआदि फलों से सम्पन्न, विविधफलों से विनम्र कल्पलता की नाईं पृथिवी क्या आपकी प्रजाओं का समय समय पर तत् तत् ईच्छित फलों की पूर्तियों द्वारा सदा सर्वदा पोषण करती है ? ॥३३॥ राजन्, चन्द्रमा की अनेक किरणों की नाईं समस्त दिशाओं में तुषार के समूह के सदृश आपका क्या पवित्र यश फैला है ? ॥३४॥ महात्मन्, जैसे तालाब का जल अपने अन्दर रहने वाली कमल के नाल की भूमि को भर देता है, वैसे ही क्या आपने–अपने प्रशस्त गुण–गणों से दिशाएँ भर दी हैं ? ॥३५॥ क्या धान की क्यारियों के कोने में अवस्थित अतिप्रसन्न कुमारियाँ प्रत्येक गाँव में आपके आनन्दवर्धक यशोगान कर रहीं हैं ? धान्य, धन, विभव, सेवक, स्त्रीजन, पुत्र, परिवार और नगरादि सर्वत्र स्थानो में कुशल तो है न ? ॥३६,३७॥ शारीरिक और मानसिक पीड़ाओं से रहित यह आपकी देहरूपी लता ऐहिक फल के साधनरूप से विहित का शरीरी आदि और पारलौकिक फल के साधन रूप से विहित ज्योतिष्टोम आदि क्रियाओं से होनेवाली पुण्यरूपी जो फल है, उनको करती तो हैं न ? ॥३८॥ हे जितेन्द्रिय, ऊपर–ऊपर से रमणीय दिखाई देनेवाले, पर असलियत में आत्मतत्त्व में भारी प्रतिबन्धक होने के कारण महान् वैरी इन विषयरूपी सर्पों में आपका अन्तःकरण वैराग्य धारण करता तो है न ? ॥३९॥ अहो, अपने दोनों को एक दूसरे से अलग हुए बहुत काल व्यतीत हुआ, परन्तु वसन्त ऋतु और पर्वततट की नाईं समय प्राप्त होने पर फिर मिल गये ॥४०॥ प्रियवर, इस जगदीतल में इष्ट और अनिष्ट जनों के संयोग एवं वियोग से होने वाली वे सुख और दुःख की अवस्थाएँ हैं ही नहीं, जो देहधारी प्राणियों के द्वारा अनुभूत न होती हैं ॥४१॥ इसी तरह हम लोग इन अत्यंत दीर्घकालिक सुख और दुःख की अवस्थाओं में चिरकाल तक

वियोगी थे, परन्तु फिर भी इस समय हम लोग एक दूसरे से मिल गये हैं, क्योंकि प्राणियों के कर्मों के अनुसार होनेवाली भगवदिच्छा का विलास अद्‌भुत है यानी कुछ और ही है ॥४२॥

परिध द्वारा कहे गये अर्थ का अनुमोदन करते हुए सुरघु उसी अर्थ को कहते हैं।

सुरघु ने कहा : भगवन्, भगवान् की इच्छारूपी इस नियति की सर्पगति के समान गम्भीर और विस्मयकारक गति को कौन जान सकता है ? अर्थात् कोई नहीं जान सकता ॥४३॥ प्रियवर, विधि ने इस प्रकार आप और हमलोग दोनों को देशतः अत्यन्त दूर तथा कालतः भी अधिक समय तक अलग रखकर आज फिर संघटित किया है। अहो, भला बतलाइये विधि के लिए क्या असाध्य है ? ॥४४॥

महात्मन्, आज तो हम लोग अत्यन्त सुखी होकर अवस्थित हैं, आपके आगमनरूपी पुण्यों से हम अत्यन्त पवित्र हो गये हैं। महानुभाव देखिये आपके आगमन से क्षीण पाप हुए हम लोगों के पुण्यरूपी वृक्षों ने वह चित्त– समाधानरूपी फल दिया जिससे कि हम लोग सम्पूर्ण व्याकुलताओं से विमुक्त होकर कृतकृत्य हो गये ॥४५,४६॥ राजर्षि, नगर में अवस्थित हम लोगों की सम्पूर्ण सम्पत्तियाँ आज आपके शुभागमन से चारों ओर फलोन्मुखता को प्राप्त हो गई ॥४७॥ हे महानुभाव, आपके पुण्य वचन और दर्शन चारों ओर से मानों अमृतों की मधुर राशि बरसा रहे हैं, क्योंकि सज्जन पुरुषों का समागम मोक्षसुख की प्राप्ति सदृश होता है ॥४८॥

इकसठवाँ सर्ग समाप्त

बासठवाँ सर्ग

अज्ञानरूपी आवरण के हट जाने पर नित्यचित्-स्फुरण की अवस्था से
विद्वानों की सदा सर्वदा अद्वितीय ब्रह्म में ही समाधि होती है, यह वर्णन।

महर्षि श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, तदनन्तर चिरकाल तक करीब करीब उस तरह की प्राचीन प्रेम से ओतप्रोत विश्वासपूर्ण कथालापों से सुरघु के सुन्दर सदन में विश्रान्ति लेकर राजा परिघ, जिसका शस्त्रविशेष का नाम के सदृश नाम है, कहने लगे ॥१॥

क्या यह राजा सुरघु मेरे पूछने पर व्यवहार और समाधि दोनों दशाओं में तत्त्व में तत्त्ववित् पुरुष के सुख का उत्कर्ष और अपकर्षरूप तारतम्य कहेगा या नहीं, इसकी परीक्षा करने के लिए पहले अपने अनुभव का उद्‌घाटन करते हैं।

परिघ ने कहा : राजन्, इस संसाररूपी जाल में रह कर जो जो कर्म किये जाते हैं, वे समाहित चित्तवाले ज्ञानी के लिए तो सुखकारक हैं, पर उससे भिन्न अज्ञानी के लिए सुखकारक नहीं हैं ॥२॥

इस तरह अपने अनुभव का प्रकाशन कर वह युक्त है या अयुक्त इस विषय में दूसरे के अनुभव की जिज्ञासा कर रहे राजा परिघ मानों समाधि में ही अधिक विश्रान्ति है, यों दिखलाते हुए प्रश्न करते हैं।

हे राजन्, समग्र संकल्पों से शून्य, विश्रान्ति के सबसे उत्तम स्थानरूप, विक्षेपात्मक दुःखो के उपशम में परम साधन तथा सांसारिक सुखों की अपेक्षा अधिक प्रशस्त समाधि का क्या आप अनुष्ठान करते हैं ? ॥३॥

जबकि आपका यह अनुभव है। समाहित चित्तवाले पुरुष के सभी कर्म सुख के लिए हैं और आपके

इस अनुभव के साथ मेरा भी अनुभव संवाद रखता ही है, तब समाधि में अधिक विश्रान्ति का प्रदर्शन तथा व्यवहार और समाधि का भेद मानकर किया गया प्रश्न दोनों आपके अयुक्त ही हैं, इस आशय से तत्त्वज्ञ राजा सुरघु : 'संकल्परहित विक्षेपात्मक दुःखों का परम उपशम और सांसारिक सुखों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ, इस अंश का आत्मरूपता में भी संभव होने के कारण तन्मात्र का स्वीकार करते हुए विश्रान्ति स्थान समाधि का अनुष्ठान करते हैं ?' यह प्रश्नांश असंभव है क्योंकि अविश्राम के हेतु मन का तो बाध हो ही चूका है यों मानकर आक्षेप करते हैं।

सुरघु ने कहा : भगवान, युक्त होने के कारण आप मुझसे यही कहिये कि सम्पूर्ण संकल्पोंसे रहित निरतिशय उपशमरूप (आत्मा) सांसारिक सुखों की अपेक्षा प्रशस्त है, परन्तु यह आप मुझसे क्यों कहते हैं कि समाधि का अनुष्ठान करना चाहये ॥४॥ महात्मन्, जो तत्त्वज्ञ पुरुष है, वह चाहे चुप-चाप ही सदा व्यवहार करे चाहे अव्यवहार करे, तो भी उसका समाहित चित्तता को छोड़ कर और क्या स्वरूप हो सकता है ? क्योंकि अनावृत-स्वभाव होने के कारण कभी भी असमाहित चित्तवाला नहीं हो सकता ॥५॥

यदि आत्मस्वरूप में अटल अवस्थित रहना ही समाधि है, यह आपका मत है, तो वह सदा है ही, फिर कुछ भी करने को बाकी नहीं रहता, ऐसा कहते हैं।

जिनका चित्त प्रबुद्ध हो गया है, ऐसे तत्त्वज्ञ मुनि सदासर्वदा जगत् के व्यवहार को करते हुए भी आत्मरूप अद्बितीय चित्त्व में परमनिष्ठा वाले होने के कारण सदा समाधि सम्पन्न ही है ॥६॥

यदि आप मुझे अज्ञानी मानते हैं, तो भी समाधि का उपदेश अयुक्त है ऐसा कहते हैं।

जिसका अन्तःकरण परमशान्तिरूपी विशुद्धता को प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसा पुरुष चाहे पद्मासन लगावे चाहे परब्रह्म को हाथ जोड़े तो भी उसको किसी भी उपाय से किसी तरह की समाधि नहीं लग सकती, क्योंकि जहाँ चित्त का लगाना है उसको वह जानता ही नहीं, यह भाव है ॥७॥ भगवन्, चुपचाप बैठे रहना समाधि नहीं कहलाता, किन्तु समस्त आशारूप तृणों के लिए अग्निरूप जो आत्मतत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार है, वही समाधि कहलाता है, क्योंकि *'सम्यक् आधानम्समाधिः'* सम्यक् यानी समस्त ईच्छित विषयों का समूल बाध से पारमार्थिक स्वरूप में चित्त का जो आधान अवस्थान है, वह समाधि है यों समाधि शब्द की व्युत्पत्ति है यह भाव है ।।८॥

महात्मन्, मनीषी लोग समाधि शब्द का एकाग्र, सदासर्वदा, तृप्त, सत्य अर्थ का ग्रहणकरने वाली परा प्रज्ञा ही (अबाधित आत्मा का अपरोक्ष साक्षात्कारात्मक विज्ञान) अर्थ कहते हैं ॥९॥

उसीका फलतः वर्णन करते हैं।

क्षोभ से रहित, अहंकार से शून्य, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों में न गिरनेवाली और सुमेरु से भी अधिक स्थिर आकारवाली प्रज्ञा समाधि शब्द से कही गई है ॥१०॥ चिन्ता से वर्जित, अभीष्ट पदार्थ को प्राप्त हेय और उपादेय से रहित तथा परिपूर्ण जो मानसिक वृत्ति है, वह समाधि शब्द से कही गई है ॥११॥

वैसी समाधि तो मुझको पहले से ही सिद्ध है, उसके अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

जिस समय से लेकर मन का तत्त्वज्ञान के साथ अत्यन्त (सर्वदा के लिए) सम्बंध हो जाता है, उस समय से लेकर महात्मा विद्वान् की समाधि लगातार बनी ही रहती है, कदापि विच्छिन्न नहीं होती ॥१२॥ जैसे क्रीड़ा कर रहे बालक के हाथ से दूर खींचा गया कमल का तन्तु टूट जाता है, वैसे प्रबुद्ध अन्तःकरणवाले ज्ञानी की समाधि लगकर पुनः टूट नहीं जाती, यहाँ व्यतिरेकी दृष्टान्त है ॥१३॥

यदि शंका हो कि तत्त्ववेत्ता को भी ब्रह्माकारवृत्ति का विच्छेद होने पर व्युत्थानावस्था में समाधि का भंग हो जायेगा, तो इस पर कहते हैं।

जैसे सूर्य सारे दिन प्रकाश से विराम नहीं करता, अपितु प्रकाशपूर्ण ही रहता है, वैसे ही तत्त्वज्ञानी की प्रज्ञा जीवनपर्यन्त यानी विदेह मुक्ति पर्यन्त तत्त्व के अवलोक से विराम नहीं करती, अपितु दृढ़ संस्कार के कारण सदा सर्वदा अनुवर्तन करती ही रहती है ॥१४॥

आत्मस्वरूप को आवृत करनेवाले अज्ञान का एक बार उदित हुई ब्रह्माकार वृत्ति से समूल नाश हो जाता है तो फिर वह आवरण करने की शक्ति ही नहीं रखता, इसलिए तत्त्ववेत्ता को स्वरूपावरणरूप समाधि भंग का प्रसंग ही नहीं है इस आशय से कहते हैं।

जैसे नदी निरन्तर जल के प्रवाह से क्षणमात्र भी रुक नहीं सकती, वैसे तत्त्ववित् की आत्मतत्त्वसाक्षात्कारात्मक दृष्टि स्वरूपज्ञान से क्षणमात्र भी रुक नहीं सकती यानी तत्त्वज्ञ का साक्षात्कारात्मक बोध किसी आवरण से आवृत नहीं होता ॥१५॥

अथवा परम प्रेम का भाजन होने से एक बार भी प्राप्त हुए तत्त्वज्ञान का विस्मरण नहीं होता, इस आशय से कहते हैं।

जैसे काल अपनी कलाओं की गति का कभी भी विस्मरण नहीं करता, वैसे ही तत्त्ववित् पुरुष की बुद्धि अपने आत्मस्वरूप का कभी भी विस्मरण नहीं करती। जैसे सर्वत्र सदा–गतिस्वभाव वायु अपनी गतिका विस्मरण नहीं करता, वैसे ही तत्त्ववित् ज्ञानी की प्रज्ञा निश्चय करने योग्य चितिमात्र का कभी विस्मरण नहीं करती ॥१६,१७॥

जिसका आवरण विनष्ट हो चुका है, ऐसा आत्मा स्वाकारवृत्तियों को लगातार उत्पन्न करता ही स्थित रहता है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे काल के मूर्तिरूप सूर्य आदि अपनी गति को बटोरते हुए (निरन्तर गति सम्पन्न होते हुए) ही सदा स्थित रहते है, वैसे ही विषयों से विनिर्मुक्त (अनावृत) चैतन्य स्फूर्ति भी अपनी गतियों को यानी स्वाकार वृत्तियों को बटोरती हुई (निरन्तर आत्माकार–वृत्तियों से सम्पन्न होती हुई) ही रहती है ॥१८॥

अथवा तत्त्वज्ञ के जीवनकाल का आत्मावबोध असाधारण धर्म है, अतः उससे तत्त्वज्ञ का कभी भी वियोग नहीं होता, इस आशय से कहते हैं।

जैसे घट आदि पदार्थ सत्ता से (अस्तित्व से) विहीन होकर कभी भी उपलब्ध नहीं होते, ऐसे ही तत्त्वज्ञानी का समय आत्मज्ञान से विहीन होकर कभी भी उपलब्ध नहीं होता ॥१९॥

अथवा जैसे अग्नि का उष्णत्व स्वभाव है, वैसे ही तत्त्वज्ञ का आत्मबोध स्वभाव है, इसलिए तत्त्वज्ञ का आत्मबोध से विच्छेद नहीं होता, इस आशय से कहते हैं।

जैसे संसार में उष्णत्व आदि स्वाभाविक गुणों से युक्त अग्नि आदि गुणवान् पदार्थ कभी भी उक्त

गुणों से विहीन नहीं रहते, वैसे ही आत्मा की पहचानकर चुकनेवाला आत्मवान् ज्ञानी कभी भी आत्मज्ञान से विहीन नहीं होता ॥२०॥ मैं सदा-सर्वदा ही आत्मज्ञान से सम्पन्न हूँ, सदा-सर्वदा ही निर्मल-स्वभाव हूँ, सदा-सर्वदा ही शान्तात्मा हूँ और सदा-सर्वदा ही समाधियुक्त हूँ। मेरा समाधि से विच्छेद किससे और कैसे हो सकता है ? क्योंकि मेरी समाधि आत्मस्वरूप से भिन्न नहीं है, अतः उसका अस्तित्व सदा सर्वदा बना हुआ ही है ॥२१,२२॥

यदि आप यह मानते हैं कि मन है, तो वह सदा सर्वदा समाहित ही है और यदि यह मानते हैं कि मन नहीं है, तो समाधि भी है ही नहीं क्योंकि विक्षेप का हेतु ही नहीं रहा, इस आशय से सुरघु उपसंहार करते हैं।

इसलिए यदि मेरा मन है तो वह किसी भी समय समाधि से वर्जित नहीं और यदि नहीं है, तो मन किसी भी समय समाधि से युक्त नहीं है, अर्थात् समाधि करने की आवश्यकता ही नहीं रहती, क्योंकि विक्षेपकारण के न रहने से अद्वितीय आत्मतत्त्व की एकरूपता का ही सदा सर्वदा संभव है ॥२३॥ चूँकि यह जो कुछ दिखलाई पड़ता है, वह सभी कुछ सदा सब प्रकार सर्वव्यापक आत्मस्वरूप ही है, इसलिए यह समाधि क्या होगी और असमाधि भी क्या कही जायेगी ? अर्थात् उन दोनों के स्वरूप के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता ॥२४॥ उत्तम महात्मन्, जिनकी बुद्धि से भेद का विघटन हो गया है यानी जिनकी बुद्धि में तनिक भी भेद के लिए स्थान नहीं है अतएव जो कार्यों के परिणामों में यानी सुख-दुःख आदि विकारों से होनेवाली भेद-भावनाओं से विनिर्मुक्त हो चुके हैं ऐसे बड़े-बड़े तत्त्ववित् सदा सर्वदा एक ही स्वरूप से समदृष्टि होकर स्थित रहते हैं, इसलिए समाहित और असमाहित के भेद को मानकर प्रवृत्त हुआ आपका वह वाणी का प्रपंच किस अर्थ का बोधक होगा ? किसी अर्थ का नहीं अर्थात् आपकी वाणी का विलास मिथ्या ही है, यह भाव है ॥२५॥

बासठवाँ सर्ग समाप्त

तिरसठवाँ सर्ग

राजा परिघ के द्वारा परीक्षण के अनन्तर जिसकी स्तुति की गई है,
ऐसे तत्त्ववित् सुरघु का अपनी सजग स्थिति का सविस्तार वर्णन।

परिघ ने कहा : राजन्, आप निश्चितरूप से तत्त्व को जान चुके हैं और उस उत्तम परम पद की प्राप्ति भी कर चुके हैं, अत्यन्त शीतल अन्तःकरण से युक्त होने के कारण आप ऐसे सुशोभित (प्रकाशित) हो रहे हैं, जैसे कि शीतलात्मा परिपूर्ण चन्द्रमा ॥१॥ हे महाराज, स्नेह के कारण अत्यन्त मधुर, सुशीतल, आनन्दरूपी पुष्परस से परिपूर्ण, उत्तम श्री से सम्पन्न आप कमल के समान अत्यन्त भले लगते हैं ॥२॥ जैसे तट के झंझावात के झकोरों से निर्मुक्त तथा निर्मलत्व आदि गुणों से युक्त विस्तृत समुद्र सुशोभित होता है, वैसे ही निर्मल अतएव विस्पष्टरूप से दिखाई देनेवाले आशय से, अन्तःकरण से (समुद्र-पक्ष में अन्तःप्रदेश से) युक्त, गम्भीर, पूर्ण, व्यापक स्वरूप तथा संसाररूपी वायु के झकोरों से निर्मुक्त आप सुशोभित हो रहे हैं ॥३॥ हे तत्त्वज्ञ, स्वच्छ, आनन्द से परिपूर्ण, अहंकाररूपी काले बादलों से शून्य, विस्पष्ट, विस्तीर्ण और अति गम्भीर होने के कारण आप ऐसे शोभते हैं, जैसे शरत् काल का

आकाश ॥४॥ हे राजन्, आप सभी इष्ट और अनिष्ट विषयों में एक–से दिखाई देते हैं, सभी विषयों में आप सन्तुष्ट रहते हैं, सभी विषयों में आसक्ति से वर्जित है, अतएव सर्वत्र सुशोभित हो रहे हैं ॥५॥ महाराज, आपने अपनी उत्तम बुद्धि से क्या सार है एवं क्या असार है, इसका विचारपूर्वक निर्णय किया है और उसके पारंगत हो गये हैं एवं यह भी जानते हैं कि यह दृश्यमान समस्त प्रपंच एकरूप से अवस्थित अखण्ड परब्रह्मस्वरूप ही है ॥६॥ सत् और असत् के निर्णय के तत्त्व को जाननेवाले हे राजन् प्रसन्न चित्त से युक्त तथा आरोह और अवरोह की हेतु (संसार में आवागमन की हेतु) भोगासक्ति से होनेवाली लालच से शून्य आपका शरीर अवस्थित है ॥७॥ हे भाग्यवान्, जैसे समुद्र फेन अन्दर में अवस्थित अमृत से तृप्त रहा करता है, वैसे ही जिसकी अपेक्षा संसार में दूसरी परमार्थ वस्तु है ही नहीं, ऐसी स्वात्मरूपी वस्तु से ही आप पुनः संसार–प्राप्ति में अहेतुभूत अपनी महिमा में ही परितृप्त रहते हैं ॥८॥

परिघ द्वारा कथित अर्थ का सभी युक्तियों से समर्थन और अनुमोदन कर रहे सुरघु कहते हैं।

सुरघु ने कहा : हे मुने, संसार में वह वस्तु ही नहीं है, जो कि हम लोगों के लिए उपादेय हो, जो कुछ यह दृश्य है, वह सब कुछ भी नहीं है यानी मिथ्या ही है ॥९॥ उपादान करने योग्य वस्तु का अभाव होने के कारण कुछ भी हेय यानी त्याज्य नहीं है, क्योंकि जिस वस्तु का ग्रहण कर लिया हो, उसका परित्याग ही तो होना है, ऐसी स्थिति में अब आप बतलाइये कि त्याग के विरोध और त्याग से हट जानेवाले ग्रहण के (उपादान के) बिना 'यह हेय है' ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? अर्थात् कभी नहीं कहा जा सकता ॥१०॥

यदि शंका हो कि जो तुच्छ है, वह हेय और जो अतुच्छ है, वह उपादेय क्यों नहीं होगा ? तो इस पर कहते हैं।

महाराज, देश और कालवश सभी पदार्थ तुच्छ और अतुच्छ हो जाते हैं, इसलिए दीर्घकाल से मेरी तुच्छ और अतुच्छ विषयक मानस स्थिति नष्ट हो चुकी है। इसी विषय में दृष्टान्त है सम्पूर्ण भूमण्डल का राजा मुक्त हो जाने पर एक छोटे से गाँव में भी, जो कि पहले तुच्छ था, सन्तुष्ट रहता है और पहले के विस्तृत राज्य को भी तुच्छ समझता है, अतः समयवश ही तुच्छत्व और अतुच्छत्व की बुद्धि होती है ॥११॥ संसार में देश और काल के प्रभाव से तुच्छ में अतुच्छत्व और अतुच्छ में तुच्छत्व भावना हो जाती है, इसलिए पण्डितों को तुच्छ और अतुच्छ बुद्धि से किसी की निन्दा या स्तुति नहीं करनी चाहिए ॥१२॥ लोक में निन्दा और स्तुति दोनों राग से होते हैं और राग इच्छा को कहते हैं, जिसकी बुद्धि निर्मल है, ऐसा पुरुष अत्यंत उदार आत्मवस्तु की ही इच्छा करता है, क्योंकि वहाँ स्तुति और निन्दा की प्रसक्ति ही नहीं है ॥१३॥ इस त्रिलोकी में स्त्रियाँ, पर्वत, समुद्र, वनपंक्तियाँ आदि भूत सत्यता से रहित हैं, वास्तव में यहाँ कुछ भी सारभूत वस्तु नहीं है ॥१४॥ इस मांस और अस्थिमय अध्यात्म जगत में तथा काष्ठ, मृत्तिका और शिलामय अधिभूतजगत् में, जो कि जर्जर, वांछनीय तथा शून्यात्मक है, क्या चाहा जाय ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥१५॥ राजन्, जैसे दिवस–शोभा का विनाश हो जानेपर तदनुगामी प्रकाश और ताप दोनों का विनाश हो जाता है, वैसे ही इच्छा का विनाश हो जानेपर तदनुगामी राग और द्वेष दोनों का विनाश हो जाता है यानी राग–द्वेषमूलक प्रवृत्ति और निवृत्ति का निरास हो जाता है ॥१६॥

यदि सभी वस्तुएँ असारभूत हैं, तो आश्रय करने योग्य सारभूत वस्तु कौन है ? इस प्रश्न पर

सारभूत वस्तु बतलाते हैं ।

मित्रवर, अब इस विषय में अधिक वाक्यों का प्रयोग करना व्यर्थ है। यदि अन्तःकरण चारों ओर से रागमुक्त होकर तथा समस्त विक्षेपरूपी विषमता से रहित होकर अपने आत्मस्वरूप में ही परितृप्त रहे, तो वही सबसे उत्तम विश्रान्ति है। सर्वातिशायी सुख के लिए केवल इसी एक दृष्टि का सदा सर्वदा आश्रय करना उचित है ॥१७॥

तिरसठवाँ सर्ग समाप्त

चौसठवाँ सर्ग

उपायों का परिज्ञान रखनेवाला पुरुष जिन उपायों द्वारा मानस दोषों से विचलित नहीं होता और अपनी आत्मा का संसार दुःख से उद्धार करता है, उन उपायों का कथन।

श्रीवसिष्ठ महाराज ने कहा : भद्र श्रीरामजी, तत्त्वज्ञ सुरघु और राजा परिघ दोनों पूर्व वर्णित प्रकार से जगत्–विभ्रम का विचार कर अत्यन्त प्रसन्न हुए, उन्होंने परस्पर एक दूसरे का विशिष्ट पूजन किया और अपने–अपने कार्यों में तत्पर हो यथा स्थान प्रस्थान किया ॥१॥ हे राघव, उस वर्णन किये गये संवादरूपी उत्तम बोध–हेतु का श्रवण कर किया गया निश्चय ही बोध के लिए पर्याप्त है। अतः इसी सुरघु और परिघ के संवाद के श्रवण से जनित निश्चयात्मक ज्ञान से आप प्रत्यक्ष–रीति से प्राप्त पद हो जाइये। क्योंकि परमपद की प्राप्ति के लिए उतना सुप्रतिष्ठित बोध ही पर्याप्त है ॥२॥ पण्डितों के साथ विचार करने के कारण या अपने निश्चल विचार के कारण अत्यन्त तीव्र हुई उत्तम प्रज्ञा से हृदयाकाश में अहंकाररूपी काले मेघ के निःशेष गल जाने पर; समस्त लोगों से अनुमोदित, फलात्मक बोध से युक्त (शरत्–पक्ष में सस्यादि फलों से युक्त), अतएव प्रसन्नता बढ़ानेवाले, राग आदि मलों से रहित (शरत्–पक्ष में पंक आदि मलों से शून्य), विस्तृत चित्तरूपी शरत्काल के उपस्थित होने पर; जो ध्यान करने योग्य, समग्र अनर्थों के नाशक, आत्मरूपता के कारण सुगम, सम्पूर्ण आनन्दों की निधि, अत्यन्त प्रसन्न परमात्मारूपी चिदाकाश में अवस्थित रहता है और जो सदा केवल आत्मा के विचार में निरत, सदा बाह्य आसक्ति से शून्य, सुखी तथा पुनःपुनः आदर से केवल चिन्मात्र वस्तु में आस्वाद लेनेवाला है, वह मानसिक शोकों से कभी विचलित नहीं होता ॥३–६॥ रामजी, जैसे जल में रहनेवाला कमल कीचड़ आदि कलंकों से कलंकित नहीं होता, वैसे ही तत्त्वज्ञ व्यवहार में निरत अतएव अज्ञानी जनों द्वारा 'यह राग और द्वेष से भरा है' यों कल्पित हो रहे भी राग, द्वेष आदि भीतरी कलंकों से कलंकित नहीं होता ॥७॥ जैसे हाथियों से सिंह पराभव को प्राप्त नहीं होता, वैसे ही जो सम्यक् ज्ञान से युक्त, निर्मल, भीतर से प्रसन्नमन मुनि है, वह कभी भी मन से पराभव को प्राप्त नहीं होता ॥८॥ जैसे नन्दनवन में विषैले काँटों से युक्त वृक्ष नहीं होते, वैसे ही ज्ञानी पुरुष का केवल विषयोपभोगों में शरण लेनेवाला अतएव अत्यन्त दीनता से युक्त मन नहीं होता, क्योंकि उसका चित्त बड़ा है यानी क्षुद्र विषय सुखों की अभिलाषा से वर्जित है ॥९॥ जैसे विरक्तपुरुष, कामुकपुरुष के समान पत्नी आदि का मरण होने पर दुःखी नहीं होता, वैसे ही जिसने चारों ओर से विचारकर विषय, इन्द्रिय, शरीर आदि समस्त दृश्यरूप मिथ्याभ्रान्ति का परिज्ञान कर लिया है, ऐसा तत्त्वज्ञ पुरुष का अन्तःकरण दुःखी नहीं होता ॥१०॥

विज्ञाता पुरुष को भावी दुःखों के हेतु पापों का भी सम्बन्ध नहीं होता, यह कहते हैं।

हे साधो, जैसे धूली आकाश तल को स्पर्श नहीं कर सकती, वैसे ही विचारपूर्वक मनोमोह का स्वरूप भली भाँति जान लेनेवाले पुरुष को पाप, जिनका स्वरूप जगत् में मिथ्याभूत कर्तृत्वाभिमान से उत्पन्न हुआ है वे (पाप) स्पर्श नहीं कर सकते ॥११॥ हे श्रीरामजी, जैसे अन्धकाररूपी रोग का महान् औषध दीपक है, वैसे ही जगदाकार में फैले हुए इस अज्ञानरूपी रोग का सबसे बड़ा औषध 'यह जगत् अविद्यामात्र है' इस प्रकार का विचारजनित ज्ञान ही है ॥१२॥ जैसे यह स्वप्न है, इस प्रकार जाने गये स्वप्न से स्वाप्निक भोग भूमि का सदा सर्वदा के लिए विनाश हो जाता है, वैसे ही ज्यों ही यह अविद्या है, इस प्रकार अविद्या का स्वरूपज्ञान हो गया, त्यों ही उसका सदासर्वदा के लिए विनाश हो जाता है ॥१३॥ जैसे जल मछलियों के नेत्रों को स्पर्श नहीं करता (यदि जल मछलियों के नेत्रों को स्पर्श करेगा, तो नेत्रों के बन्ध हो जाने के कारण जल में उनके देखना आदि व्यवहार ही लुप्त हो जायेंगे), वैसे ही व्यवहार में निरत हुए भी साधु पुरुष को, जो कि अद्वितीय परब्रह्म में बुद्धि रखता है और भीतर से आसक्ति वर्जित है, अविद्यारूपी पाप स्पर्श नहीं करता ॥१४॥ हे श्रीरामजी, दैदीप्यमान चिद्रूपी प्रकाश का उदय हो जाने पर अज्ञानरूपी रात्रि सदा के लिए विलीन हो जाती है और परमानन्द को प्राप्त हुई ज्ञानी की प्रज्ञा प्रकाशित रहती है ॥१५॥ शास्त्ररूपी सूर्य से बोधित हुआ पुरुष अज्ञानरूपी निद्रा का विनाश होने के बाद उस विज्ञान को प्राप्त करता है, जिसकी प्राप्ति से मनुष्य को फिर कभी मोह नहीं होता ॥१६॥

अब विद्या की स्तुति करते हैं।

वे ही दिन जीवनपूर्ण हैं और वे ही क्रियाएँ आनन्द से युक्त हैं, जिन दिनों और क्रियाओं में सदा सर्वदा हृदयरूपी आकाश में आत्मारूपी चन्द्रमा से उदित हुई चिद्रूपिणीज्योत्सना खिल रही हो या प्रकाश रही हो ॥१७॥ जैसे चन्द्रमा अपने अमृत से भीतर शीतलता को प्राप्त करता है, वैसे ही मोह का अतिक्रमण कर लेनेवाला पुरुष निरन्तर आत्मचिन्तनरूपी अमृत से अपने भीतर शीतलता को प्राप्त करता है ॥१८॥ वे ही मित्र मित्र है, वे ही शास्त्र शास्त्र हैं और वे ही दिन दिन हैं, जिनके कारण वैराग्यरूपी उल्लास से युक्त आत्माकार वृत्तिरूपी चित्त का अभ्युदय विस्पष्ट रीति से सिद्ध होता है ॥१९॥ पाप के विनाश से वर्जित अतएव जिन मनुष्यों की आत्मा को जानने में उपेक्षा हैं वे जन्मरूपी जंगल के पौधे हैं, दीन हैं और चिरकाल तक संसार दुःखों से दुःखित होकर शोक किया करते हैं ॥२०॥ हे श्रीरामजी, विषयाभिलाषारूपी सैकड़ों बन्धों से बँधे, भोगरूपी तिनकों में अत्यन्त लालच कर रहे, बुढ़ापे के कारण जर्जर आकार को प्राप्त हुए, शोकजनित उच्छवास से विड़म्बित हो रहे; दुःखरूपी भारी बोझ को ढो रहे, जन्मरूपी जंगल में जी रहे, कुकर्मरूपी कीचड़ से चारों ओर चुपड़े गये, मोहरूपी स्वल्प जलाशय में सो रहे; रागरूपी दाँतों की पंक्तियों से चबाये गये, तृष्णारूपी चर्ममयी नासारज्जू से (नाथ से) खींचे गये, मनरूपी बनिये की आज्ञा में स्थित रहे, बान्धवरूपी बन्धनों के कारण चलने फिरने में अशक्त हुए; पुत्र और स्त्री की शिथिलता से जनित जीर्णतारूपी गोबर में बार–बार डूब रहे, सदा थके हुए, विश्रान्ति से वर्जित, आवागमन के दीर्घ मार्गों में भग्न; आवागमन के कारण चारों ओर से क्षीण, संसाररूपी अरण्य में चक्कर काट रहे, शीतल छाया को प्राप्त नहीं हुए, तीव्र विषय संसर्ग जन्य तापों से संतापित; केवल बाहरी आकार से सुन्दर पर भीतर से दीन, बाह्यचक्षु आदि इन्द्रियों से प्रभावित, काम्य कर्मों में

रुचि बढ़ानेवाले अर्थवादरूपी घण्टानादों से भ्रमित, पापरूपी कोड़ों के आघातों से पीड़ित; जन्म-मरणरूपी गाड़ी के बोझ से लदे हुए, अज्ञानरूप विकट अटवी में लुठित अतएव भग्न-शरीर; अपने अनर्थ में ही सर्वदा निमग्न, दुःखी, दीन, जड़ीभूत शरीर, कर्मों के बोझ से सदा करुण क्रन्दन कर रहे इस जीवरूपी बैल का संसाररूपी स्वल्प तालाब से दीर्घकाल तक उत्तम प्रयत्न करके ज्ञानरूपी बल से उद्धार करना चाहिए ॥२१-२९॥

उद्धार कर चुकने पर जीव के फिर कीचड़ में फँसने की शंका का निवारण करते हैं।

हे रघुवीर, तत्त्वसाक्षात्कार से चित्त के क्षीण हो जाने पर जीव संसार में फिर कभी भी जन्म-ग्रहण नहीं करता और वह चित्त की क्षयदशा में ही संसार-सागर से पार हो जाता है ॥३०॥

उद्धार के उपायों का ज्ञान तो सद्गुरुओं के समीप जाने से मिलता है, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामजी, बड़े बड़े सत्-पुरुषों के समागम से संसाररूपी समुद्र का उल्लघंन करने की युक्ति उस प्रकार प्राप्त होती है, जिस प्रकार समुद्र का उल्लघंन करने के लिए नाविक से नौका प्राप्त होती है ॥३१॥ हे श्रीरामजी, मरुभूमि की नाईं जिस भूमि में मोक्षरूपी फल को देनेवाला और मानसिक शान्तिरूपी शीतलछाया को करनेवाला तत्त्वज्ञ सत्-पुरुषरूपी वृक्ष विद्यमान न हो, वहाँ विद्वानों को नहीं रहना चाहिए ॥३२॥ श्रीरामचन्द्रजी, मनोहर और तापोपशामक शीतलवचन ही जिसके पत्ते हैं, परोपकार परायणता ही जिसकी उत्तम छाया है और मुसकुराहट ही जिसके पुष्प हैं, ऐसे सत्पुरुषरूपी चम्पा के वृक्ष के नीचे मनुष्य को क्षणभर में ही आत्यन्तिक विश्रान्ति (आत्मलाभरूप विश्रान्ति) प्राप्त हो जाती है ॥३३॥ जिसको तनिक भी विवेक हुआ हो, ऐसे बुद्धिमान् पुरुष को इस संसार में स्वल्प भी निद्रा नहीं लेनी चाहिए, जहाँ कि स्वात्मप्राप्ति रूप विश्रान्ति का अभाव है और जो महामोह से जनित संताप रूपी संपत्ति को देनेवाला है ॥३४॥ आत्मा ही आत्मा का मित्र है, इसलिए इन साधुसमागम आदि उपायों से अपने आप ही अपना उद्धार कर लेना चाहिए, न कि देहाभिमान के गर्व से जन्म कीचड़ के समुद्र में अपने को फँसा देना चाहिए ॥३५॥ बुद्धिमान् व्यक्तियों को अपनी बुद्धि, शास्त्र और सज्जनों की सहायता लेकर प्रबल प्रयत्न से इस देहाधीन दुःख के विषय में विचार करना चाहिए कि यह क्या है ? कैसे आया ? इसका मूल क्या है ? और इसका विनाश किससे हो सकता है ? ॥३६॥ अज्ञान में डूबी हुई अपनी आत्मा का उद्धार करने में मनुष्यों को धन, मित्र, अनात्मशास्त्र और बान्धव ये कुछ भी उपकार नहीं करते ॥३७॥

तब कौन उपकार करता है, इस प्रश्न पर कहते हैं।

सदा सर्वदा ही साथ रहनेवाले विशुद्धमनरूपी मित्र के साथ कुछ परामर्श करने से आत्मा संसार सागर से पार हो जाता है ॥३८॥ वैराग्य और अभ्यासरूपी प्रयत्नों के द्वारा किये गये आत्मविचार से उत्पन्न आत्मतत्त्व साक्षात्कार रूपी बड़े जहाज से यह भवसागर पार किया जाता है ॥३९॥ अनेक मनुष्यों के द्वारा प्रतिदिन शोक को प्राप्त हो रहे तथा दुष्ट आशाओं के द्वारा दाह को प्राप्त हो रहे आत्मा की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, किन्तु अत्यन्त आदर से इसका उद्धार करना चाहिए ॥४०॥ अहंकार ही जिसका मजबूत आलान (हाथी बाँधने का खूँटा) है, तृष्णा ही जिसको बाँधने की रस्सी है, मन ही गण्डस्थल से झरनेवाला जिसका मद है और जन्मरूप कीचड़ में जो फँस गया है, ऐसे जीवरूपी हाथी

का उद्धार करना चाहिए ॥४१॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस आत्मा की इतने ही यत्न से रक्षा की जा सकती है, जितने यत्न से अपने अज्ञान को दूर कर अहंकार निकाल दिया जाय ॥४२॥ मन के द्वारा रची गई बाह्य और आध्यात्मिक आसक्तियों का निरसन कर जो अहंकारभाव काट दिया जाता है, बस उतने काटनेमात्र से ही परमात्मा का ज्ञान होने तक अनुष्ठित विचार में आत्मा पूर्णरूप से विस्पष्ट–रीति से प्रकट भाव को प्राप्त हो जाता है ॥४३॥

उसमें भी दुस्त्यज देहाभिमान का परित्याग ही मुख्य है, इस आशय से कहते हैं।

काठ और मिट्टी के ढेले की तरह यह देह है, इस प्रकार का जो देखना है, उतने मात्र से ही देवाधिदेव परमात्मा जाना जाता है ॥४४॥ अहंकाररूपी मेघ के विनष्ट हो जाने पर पहले चैतन्यरूपी सूर्य दिखाई देता है, तदनन्तर उस परमात्मदर्शन की भूमिका का परिपाक हो जाता है और उससे परमपद प्राप्त हो जाता है ॥४५॥ जैसे अन्धकार का उच्छेद हो जाने पर प्रकाश का परिज्ञान स्वतः हो जाता है, वैसे ही अहंकार का विच्छेद हो जाने पर आत्मा का परिज्ञान स्वतः हो जाता है ॥४६॥ अहंकार के विनष्ट हो जाने पर जो निरतिशयानन्द विश्रान्ति की स्वरूपभूत निर्विकल्प अवस्था आविर्भूत होती है, वह परिपूर्ण अवस्था है, उसीका उत्तम प्रयत्न से सेवन करना चाहिए ॥४७॥

उसी निर्विकल्प अवस्था का वर्णन करते हैं।

परिपूर्ण समुद्र की तरह असीम वह निर्विकल्प अवस्था न तो सब लोगों के मन की विषय है, न तो किसी उपमान से उपमित की जा सकती है और न विषयों के सम्बन्धों को प्राप्त करती है ॥४८॥ यदि चेतन के प्रकाशात्मक अंश से गृहीत स्थिरता को प्राप्त तुरीय दृष्टि प्राप्त हो, तो उसी तुरीय दृष्टि से निर्विकल्प अवस्था का (परमेश्वर–स्वरूपाविर्भाव–दशा का) सादृश्य कहा जा सकता है, दूसरे का नहीं ॥४९॥

किस तरीके से तुर्यावस्था की संभावना होगी ? तो इस पर कहते हैं।

तुर्यावस्था में स्थित निर्विक्षेपत्व अंश को लेकर सुषुप्ति के पास पहुँचा हुआ जो सादृश्य है, उस सादृश्य से सुषुप्ति अवस्था के समीप तुर्यावस्था संभावित होती है यानी यदि सुषुप्ति अवस्था में अज्ञानरूपी आवरण न होता, तो वह तुर्यावस्था ही होती, इस रीति से सुषुप्त अवस्था से उसकी संभावना की जा सकती है। वह निर्विकल्प परमात्मभावावस्था सम्पूर्ण आकारों से परिपूर्ण तथा आकाश–कोश की नाईं सर्वत्र व्याप्त है ॥५०॥

घट का विनाश होने पर जैसे घटाकाश महाकाशस्वरूप हो जाता है, वैसे ही मन, अहंकार आदि उपाधियों का विनाश होने से त्वं पद से लक्षित होनेवाले आत्मा के स्वरूपभूत हो जाता है, ऐसा कहते हैं।

मन और अहंकार का विलय होने पर समस्त पदार्थों के भीतर रहनेवाली जिस निरतिशयानन्दात्मक परमात्मस्वरूपावस्था का आविर्भाव होता है, उस अवस्था का, जो स्वयं समाधि से सिद्ध, तथा सुषुप्त अवस्था के साथ पूर्वोक्तरूप से किसी अंश में मिलती जुलती है, वाणी से परिज्ञान नहीं होता, केवल अपने इस हृदय में ही उसका अनुभव होता है, अपने अनुभव के सिवा उसका दूसरा परिचायक नहीं है, यह भाव है ॥५१,५२॥ जैसे साधारण खांड आदि के स्वरूप का अपने अनुभव के सिवा और किसी दूसरे प्रमाण से परिज्ञान नहीं होता, वैसे ही आत्मा के स्वरूप का भी अपने अनुभव के सिवा और किसी दूसरे प्रमाण से परिज्ञान नहीं होता ॥५३॥

यह सब सर्वव्यापक आत्मस्वरूप ही है। यदि यह सब आत्माका ही स्वरूप है, तो उसका किस तरह अनुभव होता है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

जब चित्त बाह्य विषयों से उपरत हो जाता है और प्रत्यगात्मा में क्षीरोदक के समान एकरसरूप से उसका निश्चल परिणाम हो जाता है, तब चर और अचरों के स्वरूपभूत तथा चक्षु आदि इन्द्रियों का साक्षीरूप से प्रकाश करनेवाला आत्मा स्वयं ही अनुभूत हो जाता है, इस विषय में तनिक भी संशय नहीं करना चाहिए ॥५४॥ उस प्रकार चतुर्थ भूमिका में आत्मा का अनुभव होने के अनन्तर पाँचवी भूमिका में विषयवासनाओं का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है, उसके बाद छठी भूमिका में किसी तरह के प्रयत्न के बिना ही शुभ परम पुरुषार्थरूप अपने आत्मा का स्फुट प्रकाश यानी सदा ही पूर्णता का अनुभव सिद्ध होता है। उसके बाद सातवीं भूमिका में समाधि और असमाधि की समता के कारण विषमता का अत्यन्त निरास हो जाने से, समुद्र के भीतर विलीन नमक के समान स्व-स्वरूप में सुखैकरसता स्वरूप से परिणमन होता है अर्थात् अपने में ही परमात्मभाव हो जाने से स्वरूपनिष्ठा सिद्ध हो जाती है। इस परिणमन के तत्त्व का ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवता भी इयत्तारूप से परिज्ञान नहीं कर सकते, क्योंकि 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि श्रुतियाँ है, यह भाव है ॥५५॥

चौसठवाँ सर्ग समाप्त

पैंसठवाँ सर्ग

सह्याद्रि पर्वत का, वहाँ स्थित अत्रि ऋषि के आश्रम का तथा महर्षि अत्रि के आश्रम मे स्थित विलास और भास नाम के दो तपस्वियों के जन्म, कर्म और शोक का वर्णन।

आत्मदर्शन के उपायों की उपेक्षा करने पर शोक, मोह आदि दुःखों की परम्परा हट नहीं सकती, इस विषय में भास और विलास की आख्यायिका का अवतरण करनेवाले महर्षि वसिष्ठजी कहते हैं :

कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी, 'पुत्र आदि मेरे हैं, यह देह आदि मैं हूँ' इत्यादि अभिमान का परित्याग कर शास्त्र आदि से संस्कृत मन से ही संकल्पात्मक चित्त का छेदन कर यदि आत्मा का साक्षात्कार नहीं किया जाय, तो चित्र में लिखित सूर्य के समान जगत्-रूपी दुःख का कभी भी अस्त नहीं होता। प्रत्युत महान् समुद्र की नाईं असीम संसाररूपी विपत्ति अनन्तता को प्राप्त करती ही रहती है ॥१,२॥

जल के तरंगों की क्रीड़ाओं की हेतु, मेंघों से और तज्जनित नील अन्धकारों से श्याम तथा दुःख-कारण संसाररूपी वर्षा ऋतु बार-बार आती रहती है ॥३॥ इसी विषय में सह्याद्रि के शिखर पर रहनेवाले भास और विलास नाम के दो विशुद्धात्मा मित्रों के संवादरूपी इस प्राचीन इतिहास का उदाहरण देते हैं ॥४॥ अपनी ऊँचाई से आकाश का अतिक्रमण कर लेनेवाला, उपत्य का भाग से (तराई या पर्वत के पास की भूमि से) पृथ्वी का अतिक्रमण कर लेनेवाला और भूमि के भीतर प्रविष्ट मूलभाग से पाताल का अतिक्रमण कर लेनेवाला तीनों लोकों में विजयी एक पर्वत है। उसका नाम है - सह्य, उसमे भाँति-भाँति के असंख्य फूल हैं, असंख्य निर्मल झरने बह रहे हैं, गुह्यकों (देव विशेषों) द्वारा वहाँ की धन-सम्पत्तियों की चारों ओर से रक्षा की गई है, वहाँ के रत्नों की दीप्तियों से मनुष्यों की दृष्टि चकाचौंध हो जाती है। मोतियों के समूह से भरे तथा मानसिक आदि रत्नों की दीप्तियों से प्रकाशित हो रही दीवारों

से युक्त सुवर्णमय नितम्ब देश से वह गण्डस्थल से एरावत की नाईं बड़ा भला लगता है। उस पर्वत पर कहीं अनेक तरह के पुष्पों के समूह के समूह मिलकर प्रवाहित हो रहे हैं, कहीं हरिताल, गौरिक आदि धातुएँ भरी पड़ी हैं, कहीं विकसित कमलों से सुशोभित सरोवर हैं, कहीं रत्नों से युक्त शिलाएँ हैं। उस पर्वत पर किसी स्थान में झरनों की गुनगुनाहट हो रही है, कहीं वायु प्रवेश से बाँसों के मधुरशब्द हो रहे हैं, कहीं गुहाओं से निकला वायु सनसनाहट कर रहा है, कहीं भ्रमरों का मंजुल घुंघुम शब्द हो रहा है। उसके शिखर पर अप्सराएँ कहीं गान गा रही हैं, उसके वनप्रदेश में मृग और पक्षियों के सुन्दर शब्द हो रहे हैं। उसके ऊपरी प्रदेश में मत्तों की नाईं मेघ गर्ज रहे हैं और आकाश प्रदेश में पक्षियों के शब्द हो रहे हैं ॥५–१०॥ उस पर्वत की गुहाएँ विद्याधरों से आश्रित हैं, जिनमें भँवरों के मधुर गीत हो रहे हैं, ऐसे कमलों का वह आगर है, उसके नीचे देश में किरात अपना निराला गीत गा रहे हैं, वनों के वृक्षों में पक्षियों का मधुर कलनाद हो रहा है। सारे संसार का मानों यह दूसरा घर है, क्योंकि उस पर्वत का ऊपरी हिस्सा देवों से भरा है, नीचे का हिस्सा मनुष्यों से भरा है और पृथ्वी के भीतर का हिस्सा नागों से भरा है। उसकी छोटी छोटी कन्दराओं में सिद्ध लोग रहते हैं, भीतरी भागों में अनेक निधियाँ गड़ी हैं। चन्दन–वृक्षों में सर्प रहते हैं और शिखरों की चोटियों पर सिंह रहते हैं ॥११–१३॥ उस पर्वत का शरीर नीचे गिरे हुए पुष्परूपी अभ्रों से आच्छादित, तत्क्षण गिरे हुए पुष्पों का अन्तरिक्षस्थ धूलिरूपी अभ्र से धूलीमय, गिर रहे (उड़ रहे) पुष्पों के झंझावातरूपी भ्रम से भ्रान्त–हृदय तथा पुष्पों के वृक्षों से धवलवर्ण है। वह अनेक तरह की धातुओं की धूलिरूपी अभ्रों से कपिलवर्ष और रत्नों की शिलाओं के ऊपर अवस्थित मन्दार वृक्ष के (कल्पवृक्ष विशेष के) ऊपर आरूढ़ सिद्ध स्त्रियों की नाईं मनोहर नगर कि अंगनाओं का चारों ओर से आश्रय–स्थान है ॥१४,१५॥ उप पर्वत में जिन्होंने मेघरूपी नील वस्त्रों का परिधान किया है और मूक रत्नों को धारण करने से अत्यन्त शोभित हो रही है, ऐसी सुवर्णमयी शिलारूपी सुन्दरियाँ शिखररूपी पुरुषों का आलिंगन करने के कारण अभिसारिकाएँ बनी हुई है ॥१६॥

उस पर्वत में उत्तर किनारे के शिखर पर जहाँ फलों से लदे विनम्र वृक्ष हैं, रत्नमयी अनेक बावड़ियों से जल के झरने बह रहे हैं और जो आम्रवृक्ष की शाखाओं के द्वारा ऊपर की ओर विस्तारित फूलों के गुच्छों से तन्तुर यानी ऊँचे दाँतों से युक्त होकर स्थित है, तथा जिसकी दिशाओं के तटों में विकसित कोलक, पुन्नाग (श्वेत कमल) और नील कमल विद्यमान हैं, जिस पर सूर्य लताओं के विस्तार से ढक जाता है, जो रत्नों के दीप्ति समूहों से अत्यन्त प्रकाशित हो रहा है, बह रहे जम्बूरसों से पूर्ण है और स्वर्ग स्थान की नाईं अत्यन्त आनन्द देनेवाला है : महान्, सिद्धों का श्रम हरनेवाला, ब्रह्मलोक के सदृश, स्वर्ग की नाईं रमणीय, शिवजी के नगर की उपमावाला अत्यन्त सुन्दर महामुनि अत्रि का आश्रम है ॥१७–२०॥ उस बड़े विस्तीर्ण आश्रम में आकाशमार्ग में रहनेवाले बृहस्पति और शुक्र की नाईं शास्त्रों को जाननेवाले विद्वान् तपस्वी, जिनके नाम भी बृहस्पति और शुक्र थे, रहते थे ॥२१॥ किसी समय की बात है वहाँ पर एक ही आश्रम में रहनेवाले उन दोनों तपस्वियों के विशुद्ध स्वरूपवाले दो पुत्र ऐसे उत्पन्न हुए जैसे कि तालाब में दो कमलों के पौधों में फूलों की प्रकृति कलियाँ उत्पन्न होती हैं ॥२२॥ उनके नाम थे – विलास और भास। पिताओं के स्थान में ही वे दोनों क्रमशः लता और वृक्ष के दीर्घ पल्लवों की नाईं बढ़ने लगे ॥२३॥ वे दोनों एक दूसरे के प्रति अत्यन्त स्नेह रखते थे, परस्पर

प्यार करते थे और मित्र थे। जैसे तिलों में तेल और पुष्पों में सुगन्ध एक दूसरे से मिलेजुले रहते हैं, वैसे ही वे दोनों एक दूसरे से मिलजुल कर रहते थे ॥२४॥ जैसे पुत्र के लिए मिले हुए अनुरक्त पति-पत्नी एक दूसरे से अलग नहीं होते, वैसे ही वे दोनों कभी भी एक दूसरे से अलग नहीं होते थे, उन दोनों के मन समान होने के कारण ऐसा मालूम पड़ता था कि एक ही मन ने मानों दो भागों में बँट कर दो स्वरूप धारण कर लिये है ॥२५॥ अत्यन्त मनोहर शरीरवाले वे दोनों बालक कमल में दो भँवरों की नाईं एक दूसरे से मुदित होकर मुनियों से विराजित उसका सुन्दर आश्रम में उसी प्रकार प्रेमयुक्त होकर निवास करते थे ॥२६॥ अल्पकाल में ही बाल्यावस्था का अतिक्रमण कर नवीन प्रिय उन दोनों ने उदय को प्राप्त सूर्य और चन्द्रमा के समान युवावस्था प्राप्त की ॥२७॥ तदनन्तर जैसे अपने खोते से उड़कर दो पक्षी अन्यत्र चले जाय, वैसे ही वृद्धावस्था से पीड़ित उन दोनों के वे दोनों पिता (शुक्र और बृहस्पति) शरीर को छोड़ परलोक चले गये ॥२८॥ पिताओं के मर जाने पर पानी से निकाले गये कमल की भाँति वे दोनों चेहरे से दीन, शरीर से सन्तप्त और उत्साह से रहित हो गये ॥२९॥ हे रामजी, उक्त बालकों ने अपने पिताओं की दाह आदि क्रिया कर अत्यन्त विलाप किया, क्योंकि बड़े-बड़े विद्वान् भी लौकिक स्थिति का उल्लघंन करने में असमर्थ होते हैं ॥३०॥

श्रीरामजी, तदनन्तर और्ध्वदेहिक (मरण के बाद की) क्रिया कर व्यथाग्रस्त उन दोनों ने शोक से निकली करूणापूर्ण दीन वाणी से (पिताओं के विषय में) अत्यन्त विलाप किया, उनकी समस्त सचेष्टाएँ निकल गई, वे मरे नहीं, पर विलाप के कारण एका-एक अशून्य हृदय हो गये यानी मूर्छित हो गये और उस समय चित्र में लिखित मनुष्यों की नाईं उनकी स्थिति हुई ॥३१॥

पैंसठवाँ सर्ग समाप्त

छासठवाँ सर्ग

तत्त्वज्ञान से रहित भास के वचनों से उसके दुःखसागर में पर्यावर्तन का विस्तारपूर्वक वर्णन।

महामुनि श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, ग्रीष्म के प्रचण्ड ताप से तथा दावाग्नि के ताप से सर्वांगीण सूखे हुए अरण्य में उत्पन्न दो वृक्षों के समान अत्यन्त शोक से पराजित पिता के वियोगजन्य संताप से सर्वांगीण सूखे हुए वे दोनों दृढ़ तपस्वी अवस्थित थे ॥१॥ घर, खेत, धन, आदि पदार्थों में अत्यन्त विरक्ति को प्राप्त हुए वे दोनों ब्राह्मण, झुण्ड से अलग हुए दो मृगों की नाईं, अलग अलग होकर जंगल में अपना-अपना कालक्षेप करते थे ॥२॥ तदनन्तर उसी अवस्था में क्रमशः उनके दिन, मास और वर्ष बीतते चले और वे दोनों, गड्ढे में उत्पन्न दो वृक्षों की नाईं, बूढ़ापे को प्राप्त हुए ॥३॥ बहुत समय बीत जाने पर एक समय प्रारब्धवश से कुछ समय बिछुड़े हुए वे दोनों जर्जर तपस्वी, जिन्हें विशुद्ध ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था, एक दूसरे से फिर मिल गये और परस्पर यह कहने लगे ॥४॥

विलास ने कहा : हे मेरे उत्तम जीवनरूपी वृक्ष के फल, हे मेरे हृदय में सदा सर्वदा रहनेवाले अमृत के सागर (चन्द्रमा) और हे इस जगत् के महाबन्धो भास ! आपका स्वागत हो ॥५॥ प्रियवर, मुझसे अलग होकर तुमने इतने दिन कहाँ व्यतीत किये ? यह बतलाओ। क्या तुम्हारी तपश्चर्या सफल हुई ? ॥६॥ हे साधो, क्या तुम्हारी बुद्धि संसाररूपी अग्नि से जनित संताप से रहित हो गई ? क्या

तुमने तत्त्वज्ञान से आत्मा प्राप्त कर लिया ? क्या तुम्हारी विद्या सफल हो गई ? अच्छा, कहो तुम कुशल तो हो ? ॥७॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र, उस प्रकार प्रश्न पूछनेवाले तथा संसार से उद्विग्न हुए अपने मित्र (भास) अत्यन्त आदरपूर्वक वक्ष्यमाण प्रकार से स्पष्ट कहने लगा ॥८॥ भास ने कहा : हे माननीय साधु पुरुष, मेरा तो आज ही आगमन शुभ हुआ क्योंकि उत्तम भाग्यवश मुझको तुम्हारा दर्शन हो गया। पर भैया, इस दुःखमय ससार में चक्कर काट रहे हम लोगों की कुशलता कैसे हो सकती है ? ॥९॥ प्रिय बन्धो, जब तक ज्ञातव्य वस्तु का ज्ञान नहीं हो जाता, जब तक मन में उत्पन्न होनेवाला काम, संकल्प आदि नष्ट नहीं हो जाते और जब तक इस संसार के पार नहीं लग जाते, तब तक मैं कुशल कैसे हो सकता हूँ ? ॥१०॥ जैसे लताओं के बन्धन सरोते आदि से काटे जाते हैं, वैसे ही जब तक चित्त में उत्पन्न हुई आशाएँ पूर्णरूप से काटी नहीं जाती, तब तक हमें कुशलता कहाँ ? जब तक आत्मज्ञान (शोधित 'त्वम्' और 'तत्' पदार्थ का परिज्ञान) प्राप्त नहीं हो जाता, जब तक समभाव का उदय नहीं होता और जब तक अखण्ड वाक्यार्थ–बोध नहीं हो जाता, तब तक हम लोगों की कुशलता कहाँ ? ॥११,१२॥ हे साधो, आत्मा की प्राप्ति के बिना और ज्ञानरूप महान् औषध के बिना यह संसाररूपी दुष्ट महामारी पुनः पुनः उत्पन्न होती ही रहती है ॥१३॥

प्रिय मित्र, यह संसाररूपी दुष्ट वृक्ष जो पहलें अंकुरित होने पर शैशवरूप विकार टहनीरूपी विकास को पाता है, तदनन्तर उसका अतिक्रमण कर यौवनरूपी पत्ते धारण करता है और तदनन्तर जरारूपी कुसुम से कुसुमित होता है वह बार–बार प्राप्त होता ही रहता है ॥१४॥ इस शरीररूपी जीर्ण शीर्ण वृक्ष से मरणरूपी मंजरी (बौर), जिस पर बान्धवों के आक्रन्दनरूपी भँवरों के गुंजार शब्द होते रहते हैं और वृद्धावस्थारूप पुष्प लगते हैं, बार–बार उत्पन्न होती रहती है ॥१५॥ जिनमें कर्मों का उपभोग किया जा चुका है, ऐसी वसन्त आदि ऋतुओं से सारहीन, प्राचीन दिवसों से पूरित अतएव प्रायः नीरस यह संवत्सरों की परम्परा पुनः व्यर्थ ही बिताई जाती है। भाव यह है कि यदि प्राणी का दुष्ट प्रारब्ध हुआ तो उसको मरण के बाद नरक, स्थावर भाव या पशु आदि निकृष्ट योनियो में जन्म प्राप्त हो जाता है और यदि अच्छा प्रारब्ध हुआ तो स्वर्ग प्राप्त होता है। मरण के अनन्तर यदि नरक आदि मिले, तो वहाँ पर वसन्त आदि ऋतुओं में जिनमें कि ठंडी, गर्मी, वायु, वर्षा, सर्प, मच्छर आदि दुःखदायी असंख्य प्रतिबन्धक भरे पड़े हैं दुष्कृत कर्मों का उपभोग करना ही पड़ता है, अतएव इस ऋतुओं में सरसता कहाँ रही, इन्हीं के कारण वसन्त आदि छः ऋतुओं के मिलने पर हुआ वर्ष भी विरस ही होगा और सुतरां वर्ष परम्परा भी, इस अभिप्राय से 'भुक्तकर्मर्तुविरसा' यह 'संवत्सरावली' का विशेषण है।

अच्छे प्रारब्ध से मरण के बाद यदि स्वर्ग मिला, तो वहाँ पर गया हुआ प्राणी दूसरे पुण्य का साधन कर नहीं सकता, क्योंकि स्वर्ग में केवल भोग ही भोग होता है, पुण्य का संचय नहीं होता, जो पहले का संचित पुण्य होगा, उसका तो व्यय ही होगा। दूसरी बात यह है कि स्वर्ग में अपने अपने पुण्यों के अनुसार ऊँचे नीचे फलों का उपभोग कर रहे दूसरे जीवों को देखकर प्राणी को हर्ष, असूया आदि होते है, ऐसी स्थिति में हर्ष, अमर्ष, असूया, काम आदि दोषों की अधिकता से शम, दम आदि का अनुष्ठान न हो सकने के कारण आत्मज्ञान की प्राप्ति भी स्वर्ग में दुर्लभ है। अतः विषयानुरक्ति से जिन–जिन विषयों का वहाँ पर बैठकर प्रतिदिन उपभोग किया जाता है, उन सबका पहले अनेक बार उपभोग किया

जा चुका है, नवीन विषय तो कोई है नहीं, अतः प्राचीन अनुभूत विषयोपभोग से दिन भी प्राचीनप्राय हुए। वर्षात्मक काल दिवसों से पूर्ण है, अतः 'एवंविध प्राचीन दिनों से पूरित' एतदर्थक 'पुराणदिवसोम्भिता' यह दूसरा विशेषण 'संवत्सरावली' का है ॥१६॥

यदि दैवात् मरण के बाद फिर मनुष्य का शरीर मिला, उसमें भी अत्यन्त दुर्लभ ब्राह्मण आदि का शरीर मिले, तो भी वर्तमान शरीर के मिलने पर केवल विषयासक्ति के कारण हो रहा भ्रमण जैसे दुर्वार है, वैसे ही उसमें भी भ्रमण दुर्वार ही होगा, इस आशय से कहते हैं।

फल ही विषयोपभोग ही जिनमें भयंकर सर्प रहते हैं, हजारों विषयोपभोगों की तृष्णाएँ ही जिनमें उत्पन्न काँटे भी हैं, ऐसी देहरूपी पर्वत की महान् भीषण गुफाओं में यानी गुफाओं के सदृश देहस्थ छिद्रों में अवस्थित इन्द्रियों की आसक्तियों में तथा ऐहिक एवं पारलौकिक भोगों की हेतुभूत लौकिक और वैदिक क्रियाओं में ही जीव सदा सर्वदा लुढ़कता रहता है, अतः उनमें भी आत्मा और अनात्मा के विवेक की संभावना नहीं है, यह भाव है ॥१७॥ जिनमें सुख के लेशमात्र आकार ही है, ऐसे चिरकाल और अल्पकाल तक भोग्य होने के कारण दीर्घ एवं अदीर्घ पुण्य-पापात्मक कर्मरूपी दुःखों से कभी समाप्त न होनेवाले आगम और अपगमसे युक्त रात्रियाँ (कालमात्र) समस्त जन्मों में आती और जाती रहती हैं ॥१८॥ जिनके फल मिथ्या ही हैं, तथा जो कुत्सित आशाओं के आवेश से पल्लवित हैं, ऐसे तुच्छ कर्मों के द्वारा मिथ्या आचरण करनेवाले पुरुष अपनी आयु यों ही नष्ट कर डालते हैं ॥१९॥

जनमों-जनम विवेक के विरोधियों की प्रबलता और विवेक के सहायकों की दुर्बलता है, इसका सविस्तार वर्णन करते हैं।

जिसने परमात्मा में बन्धन के हेतु विवेकरूपी आलान को उखाड़ फेंका है और जिसने तृष्णा विषयरूपी हथिनी में कामासक्त होने के कारण निद्रा खो दी है, ऐसा मनरूपी मदोन्मत्त हाथी दूर-दूर चारों ओर दौड़ता रहता है ॥२०॥ जिससे परम पुरुषार्थ का हेतुभूत आयुरूप चिन्तामणि तथा विवेकरूप चिन्तामणि व्यर्थ गिर रहा है, ऐसे शरीर वृक्ष के ऊपर अवस्थित हृदयरूपी बड़े घोंसले में रहनेवाला जीभ की चंचलता में संलग्न अत्यन्त प्राचीन स्वादु अन्न आदि में अभिलाषारूपी गीध बढ़ता ही रहता है ॥२१॥ जीर्ण-शीर्ण पत्ते के सदृश, रसशून्य, सुख से वर्जित दिवसों से परिच्छिन्न यह तुच्छ शरीर लता जिसके अवयव क्षय, दुर्बलता, रोग आदि से कार्य में असमर्थ हो गये हैं वह नष्ट हो जाती है ॥२२॥ जैसे कुहरे से आहत (आक्रान्त) कमल धूसर (मटमैला) हो जाता है, वैसे ही वृद्धावस्था में पुत्र, चाकर आदि के द्वारा जनित अपमानरूपी धूलि से आहत, शारीरिक शोभा से वर्जित मुख धूसर हो जाता है ॥२३॥ जैसे सूख रहे सरोवर से राजहंस तत्क्षण भाग जाता है, फिर कभी नहीं लौटता, वैसे ही यौवनरूपी जल जिसमें से नष्ट हो रहा है, ऐसे सुख रहे शरीररूपी सरोवर से आयु भाग जाती है, पुनः कभी नहीं लौटती ॥२४॥ कालरूपी पवन के द्वारा बलपूर्वक कँपाए गये जर्जर जीवनरूपी वृक्ष से भोगरूपी फूल और दिवसरूपी पत्ते नीचे गिरते जाते हैं यानी विनष्ट हो जाते हैं ॥२५॥ जिनमें भोग ही बड़े-बड़े सर्प रहते हैं और जिन्होंने आन्तर दुःखात्मक मेढकों को धारण किया है, ऐसे मोहों के अन्धकूपों में अवस्थित जल-प्रवाहो में मन डूबता रहता है ॥२६॥ अनेक तरह के अनुरागों में लगी हुई यह तरल तुच्छ तृष्णा, देवमन्दिरों के ऊपर लगी पताका की नाईं, ऊँची ही चढ़ी रहती है ॥२७॥ इस संसाररूपी

तन्त्र के (ताँतों के) जीवन आशा से भरे आयुरूपी तन्तु को महान् कालरूपी बिल में रहनेवाला मृत्युरूप चूहा सदा कतरता रहता है ॥२८॥ जिसमें यौवन ही बड़े–बड़े तरंग हैं; चल रही चंचल तलवार के सदृश काम, क्रोध, द्वेष, भय आदि ही जिस में फेन हैं तथा लोभ, तृष्णा आदि से यत्र–तत्र होने वाले परिभ्रमण ही जिसमें बड़े–बड़े आवर्त हैं, ऐसी जीवितरूपी दुष्ट नदी व्यर्थ ही जा रही है ॥२९॥ शिल्प, तर्क, नीतिशास्त्र आदि कौशलों से व्याप्त जगत् के व्यवहाररूप तरंगों से परिपूर्ण, क्षुब्धतारूपी कोटरों से युक्त यह प्रवृत्तिरूपा नदी, जिसका पारावार ही नहीं है, प्रत्येक जन्म में ऐसे ही निरर्थक बहती रहती है ॥३०॥ ये बन्धुजनों के समूहरूपी असंख्य नदियाँ गम्भीर कोटरवाले विशाल काल सागर में निरन्तर गिरती रहती हैं ॥३१॥ हे प्रियवर, जनम–जनम में यह नहीं जाना जाता है कि परमपुरुषार्थ की साधनभूता यह देहरूपी रत्नशलाका विनाशरूपी कीचड़ से पूर्ण सागर के पेट में किस जगह समा गई है ॥३२॥ चिरकाल से चिन्तारूपी चक्र में बँधा हुआ तथा दुष्ट क्रियाओं के अनुष्ठान में निरत यह चित्त, समुद्र के छिद्रवाले बड़े आवर्त में घूम रहे तृण की नाईं, घूमता रहता है ॥३३॥ असंख्यकायरूपी तरंगों में बह रहा तथा चिन्तारूपी ताण्डव नृत्य से युक्त चित्त क्षणभर भी विश्रान्ति नहीं पा रहा है ॥३४॥ मैंने यह किया, यह करता हूँ और यह करूँगा, इस प्रकार की कल्पनाओं के जाल में फँसकर मतिरूपी पक्षिणी अत्यन्त मोहित हो जाती है ॥३५॥ मित्र, जैसे मत्त हाथी नील कमलों का उच्छेदन कर देता, वैसे ही यह मेरा मित्र है, यह मेरा शत्रु है, इस प्रकार के द्वन्द्वरूपी मदोन्मत्त हाथी मेरे मर्मस्थानों का भेदन कर रहा है ॥३६॥ भद्र, चिरकालिक चिन्ता नदी के समान् आवर्त में, जिसमें तरंगों के समूह भरे पड़े हैं, अत्यन्त चपल मनरूपी मत्स्य क्षण भर में ही महती वृद्धि को प्राप्त हो जाता है ॥३७॥ आत्मा का तनिक भी स्पर्श नहीं करनेवाले तथा अनात्मभूत देह आदि की ही शरण लेनेवाले उस प्रकार के असंख्य दुःखों को देहात्मबुद्धि से बटोरकर पुरुष दीनता को प्राप्त करता है ॥३८॥

सब जन्मों में दुःख के स्थान अनेक हैं, यों बतला रहे महानुभाव भास प्रकृत विषय का उपसंहर करते हैं।

अनेकविध सुख और दुःखों के बीचमें पड़ा हुआ, विशाल जरामरणरूपी आँधी से बार–बार मर्दित हुआ तथा जगत्–रूपी उदयाचल पर लोट रहा यह प्राणी सुखे पत्ते की नाईं जर्जरता को प्राप्त होता है ॥३९॥

छासठवाँ सर्ग समाप्त

सड़सठवाँ सर्ग

देह और आत्माका सम्बन्ध नहीं है, इसका समर्थन करने के लिए बन्धन अन्तःकरण की आसक्ति से होता है और अन्तःकरण की आसक्ति के त्याग से उसका विनाश हो जाता है, यह कथन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामचन्द्रजी, उन दोनों ने उस प्रकार संसार की असारता के विचार से ओतप्रोत कुशल प्रश्न एक दूसरे से किया। तदनन्तर समय आने पर विशुद्ध ज्ञान पाकर वे दोनों मुक्त हो गये ॥१॥ हे महाबाहो, इसलिए मैं कहता हूँ कि जाल के समान बन्धन के हेतुओं से परिपूर्ण चित्त को संसार–तरण में यथार्थ आत्मज्ञान के सिवा और दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥२॥

जैसे साधारण तुच्छ पक्षी के लिए दुस्तर सागर गरुड़जी के लिए गाय के खुरमात्र के समान है, वैसे ही पहले जिस दुःख का वर्णन किया जा चुका है, वह यद्यपि असीम है, तथापि भव्यमति (विवेकी) पुरुष के लिए वह अत्यन्त कोमल है यानी वह उसका उच्छेद अनायास कर सकता है ॥३॥

स्थूल और सूक्ष्म दो देहों में होनेवाले अभिमान का परित्याग ही संसार के उच्छेद का उपाय है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे तटस्थ दर्शक पुरुष दूर से ही जनसमूह को देखता है, वैसे ही देहाभिमान से रहित, चिन्मात्र स्वरूप अपनी आत्मा में निष्ठा रखनेवाले महात्मा लोग दूर से ही देह को देखते रहते हैं ॥४॥ भले ही देह दुखों से अत्यन्त क्षुब्ध हो जाय, उससे हमें (आत्मा में) कौन सी क्षति पहुँची ? रथ के घुरारहित होने पर या तुट जाने पर सारथियों को कौन सी क्षति पहुँचती है ? ॥५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मन के क्षुब्ध हो जाने पर चित्स्वभाव आत्मा के पूर्णत्व–स्वरूप में क्या क्षति हुई ? क्या तरंगों के रूप में जल का विस्तार हो जाने पर पूर्णस्वभाव समुद्र में विपरित्य यानी पूर्णतास्वरूप की हानि पहुँचती है ? ॥६॥

अहन्ता का त्याग होने पर किसी को भी कहीं पर भी ममता की प्राप्ति नहीं होती, इस अभिप्राय से कहते हैं।

भला बतलाईये कि हंस जल के कौन और पाषाण जल के कौन होते हैं और शिलाएँ काष्ठों की कौन होती हैं ? अर्थात् कोई नहीं होती, वैसे ही भोग परमात्मा के कौन होते हैं ? अर्थात् अचेतन और असंग चित्त में कभी भी ममता नहीं हो सकती, यह भाव है ॥७॥

श्रीरामजी, जिस प्रकार बीच–बीच में अनेक पर्वतों से व्याप्त होने पर भी उत्तर पर्वत और दक्षिण समुद्र का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही परमात्मा और संसार का भी पस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। क्या कहीं आकाश रज्जू से बाँधा जा सकता है ? ॥८॥ अपनी गोद में धारण किये गये कमल भी जल के कौन होते है ? अर्थात् जैसे कोई नहीं हैं, वैसे ही यहाँ आत्मा के शरीर भी कोई नहीं हैं ॥९॥ जैसे काठ और जल के अन्योन्य आघात से बड़े बड़े उत्तंग कण आदि उत्पन्न होते हैं, वैसे ही देह और आत्मा के तादात्म्यअध्यास से सुख, दुःख आदि चित्त वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं ॥१०॥

आत्मा का देह के साथ सम्बन्ध आध्यासिक है, इसमें दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे जल और काष्ठ के केवल सान्निध्य से ही जल में काठ के प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं, वैसे ही (अध्यासिक सम्बन्ध से) आत्मा में शरीर दिखाई देते हैं ॥११॥ जैसे दर्पण, तरंग आदि में पड़े हुए प्रतिबिम्ब वास्तव में न सत्य हैं और न असत्य हैं, किन्तु अनिर्वचनीय हैं, वैसे ही आत्मा में प्रतीयमान शरीर भी न सत्य है और न असत्य हैं, किन्तु अनिर्वचनीय हैं ॥१२॥ जैसे परस्पर आहत होने पर काठ, जल और पत्थर कभी भी दुःखित नहीं होते, वैसे ही पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाशरूपी पाँच भूतों के, जो देह आदि के स्वरूप में परिणत हुए हैं वे कोड़ा, चन्दन आदि से संयुक्त अथवा स्त्री, पुत्र आदि से वियुक्त होने पर कभी दुःखित नहीं होते ॥१३॥ जैसे काठ के साथ सम्बन्ध को प्राप्त जल से कम्प, शब्द आदि क्रियाओं की उत्पत्ति होती है, वैसे ही सामीप्य संसर्ग से चैतन्य के द्वारा अधिष्ठित होकर चारों ओर से बोधित इस देह से कम्प, शब्द आदि क्रियाएँ होती हैं ॥१४॥

भासमान सुख, दुःख आदि के अनुभव किसको होते हैं ? इस शंका पर किसी को नहीं होते, ऐसा

समाधान कहते हैं।

शुद्ध चैतन्य और जड़ देह को ये सुख, दुःख आदि के अनुभव नहीं होते, उक्त केवल अज्ञान को ही होते हैं, जब अज्ञान नष्ट हो जाता हैं, तब हम लोगों की केवल शुद्ध चिति ही अवशिष्ट रह जाती है ॥१५॥ जैसे काठ और जल का सम्पर्क होने पर उनमें से किसी को सुख और दुःख का अनुभव नहीं होता, वैसे ही देह और और देहाभिमानी आत्मा का सम्बन्ध होने पर उनमें से किसी को भी सुख, दुःख आदि का अनुभव नहीं होता है ॥१६॥

तब तत्त्वज्ञ और अतत्त्वज्ञ दोनों में समानता ही रही, इस पर कहते हैं।

अज्ञानी पुरुष जिस रूप से इस संसार को देखता है, इसको उस रूप से सत्य ही मान लेता है और ज्ञानी पुरुष जिस रूप से इस संसार को देखता है उसको उस रूप से सत्य नहीं मानता ॥१७॥

तब ज्ञानी पुरुष को अपने प्रारब्ध के अनुसार होनेवाले भोगानुभव किस तरह के रहते हैं ? इस पर कहते हैं।

जैसे पत्थर और जल के सम्बन्ध भीतर के अनुप्रवेश से वर्जित होते हैं, यानी जल के भीतर न पत्थर का प्रवेश होता है और न पत्थर के भीतर जल का प्रवेश होता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष को आसक्ति वर्जित मानसिक वृत्तियों के होने पर जायमान बाह्य विषयों के अनुभव भीतरी संग से (अभिमान से) रहित होते हैं ॥१८॥ जैसे जल और काठ का सम्बन्ध भीतर के सम्बन्ध से रहित होता है, वैसे ही देह और देही आत्मा का सम्बन्ध भी भीतर के सम्बन्ध से (परमार्थ सम्बन्धसे) रहित होता है ॥१९॥ जैसे जल और काठ का तथा प्रतिबिम्ब और जल का सम्बन्ध अन्तःसंग से रहित यानी तादात्म्य सम्बन्ध से शून्य होता है, वैसे ही देह और देही का भी सम्बन्ध अन्तःसंग से रहित यानी तादात्म्य सम्बन्ध से शून्य ही होता है ॥२०॥

पूर्वश्लोक में जल और काठ का दृष्टान्त संसर्गाभाव के बोधन केलिए और यहाँ तादात्म्य के अभाव के बोधन के लिए दिया गया है, इसलिए पुनरुक्ति नहीं समझनी चाहिए। शंका हो कि यदि सुख, दुःख आदि के ज्ञान का निषेध करते हैं, तो उनके ज्ञान को छोड़कर इस संसार में दूसरे ज्ञान का अभाव होने के कारण शून्यता ही प्रसक्त हो जायेगी ? तो इस आशंका पर कहते हैं।

वेद्य विषयों से रहित शुद्ध संवेदन ही सर्वत्र अवस्थित है, द्वैत से कलंकित दूसरी संवित् है ही नहीं, क्योंकि द्वैत विषय का निरूपण ही नहीं हो सकता ॥२१॥

जो असत् है, उसका भी भ्रान्तिवश अस्तित्वरूप से भान होता है, यह कहते हैं।

जैसे वेतालरूप से भावना करने पर अवेताल वस्तु भी विशाल वेताल स्वरूप हो जाती है, वैसे ही दुःखशून्य चैतन्यरूप आत्मा भी अन्तःकरण में दुःख भावना करने से स्पष्ट दुःखित्वरूप से भासने लगता है ॥२२॥ जैसे वास्तव में सम्बन्ध न होने पर स्वाप्निक अंगना के साथ क्रीड़ा आदि व्यापार में आध्यासिक सम्बन्ध हो जाता है अथवा जैसे वेतालरूप न होने पर ठूँठ अँधेरे में आध्यासिक सम्बन्धवश वेतालरूप हो जाता है, वैसे ही आत्मा के साथ वास्तव में देह आदि का सम्बन्ध न होने पर भी मन की भावना से उसके साथ देहादि का आध्यासिक सम्बन्ध हो जाता है ॥२३॥ जैसे जल और काठ का परस्पर सम्बन्ध असत्–प्राय (मिथ्यारूप ही) है वैसे ही शरीर और परमात्मा का सम्बन्ध भी मिथ्या ही

है ॥२४॥ जैसे भीतरी सम्बन्ध का (अहन्ता के अध्यास का) अभाव होने के कारण काष्ठों के पतनों से जल पीड़ित नहीं होता, वैसे ही देह आदि के अध्यासों से शून्य आत्मा शारीरिक दुःखों से पीड़ित नहीं होता ॥२५॥ विद्वानों का यह निश्चित मत है कि चूँकि देह में अहंभावना करने से ही आत्मा देह के दुःखों से दुःखित है, इसलिए देह भावना का परित्याग करने से ही पुरुष मुक्त हो जाता है ॥२६॥ हे प्रिय श्रीरामचन्द्रजी, छोटे तालाब में गिरे हुए पत्ते, जल, मल और काष्ठ एक दूसरे से यद्यपि सम्बद्ध है, तथापि अहन्ताध्यास से रहित होने के कारण जैसे दुःखी नहीं होते, ऐसे ही आत्मा, देह, इंद्रिय और मन एक दूसरे से यद्यपि पर्याप्तरूप से सम्बद्ध है, तथापि अहन्ताध्यास का वास्तव में अभाव होने के कारण वे परमार्थतः दुःख से रहित ही सदा सर्वदा रहते हैं ॥२७,२८॥ हे श्रीरामजी, संसार में अहन्ताध्यास ही समस्त प्राणियों के जरा, मरण और मोहरूपी वृक्षों का उपादान कारण यानी मूल कारण है ॥२९॥ जो जीव अहन्ताध्यास युक्त है, वह इस संसाररूपी सागर में डूबा हुआ है और जो अहन्ताध्यास से निर्मुक्त है, वह संसाररूपी सागर से पार हो चुका है ॥३०॥ अहन्ताध्यास से युक्त मन, काम आदि वृत्तियों की असंख्यता के कारण, अनन्त शाखा-प्रशाखाओं से युक्त वृक्ष के सदृश कहा जाता है और अहन्ताध्यास से वर्जित मन विलीन चित्त कहा जाता है ॥३१॥ श्रीरामजी, आप मुझसे यह जान लीजिए कि जैसे भीतर से खण्डित हुए स्फटिक निर्मित लिंग आदि पूजा के लिए अपावन यानी अयोग्य हो जाते हैं, वैसे ही विषयासक्त हुआ यह मन अपवित्र हो जाता है और जैसे खण्डित न हुए स्फटिक आदि से निर्मित लिंग आदि पवित्र रहते हैं, वैसे ही विषयों में आसक्ति से वर्जित यह मन सदा सर्वदा पवित्र ही रहता है ॥३२॥ विषयों की आसक्ति से वर्जित और विक्षेप आदि मलों से रहित चित्त संसारी होता हुआ भी निःसंशय मुक्त ही है और विषयो में आसक्त चित्त चिरकालिक तपश्चर्या से युक्त होता हुआ भी अत्यन्त बन्धन से ग्रस्त ही है ॥३३॥ अहन्ता आदि अध्यास से युक्त मन संसाररूपी बन्धन से बँधा है और अहन्ता आदि अध्यास से रहित मन संसाररूपी बन्धन से छुटा हुआ है, अकेला अहन्ता अध्यास ही बन्ध और मोक्ष में कारण है ॥३४॥ जैसे बड़े बड़े काष्ठ भारों को पार उतारनेवाली जलस्थ नौका स्वयं लकड़ी की होती हुई भी लकड़ी के छेदन, भेदन, दहन आदि गुण-दोषों से तथा जल के चलन, परिवर्तन, निर्मलपन, गन्देपन आदि गुण-दोषों से गुण-दोषवती नहीं होती, वैसे ही अहन्ता आदि अध्यास से निर्मुक्त पुरुष शरीरयात्रार्थ सब कुछ करता हुआ भी, कर्ता नहीं होता ॥३५॥ जैसे स्वप्न में, जो सुख और दुःख दोनों से भरा है, वास्तव में कुछ न करने पर भी स्वप्नावस्थायुक्त जीव को बाघ आदि से जनित भय, पलायन आदि में व्याकुलता हो जाती है, वैसे ही वास्तव में कर्ता न होने पर भी जीव अहन्ता आदि के अध्यासवश कर्ता हो जाता है ॥३६॥ जैसे स्वप्नावस्था में देह की चेष्टा न होने पर भी चित्त की कर्तृता से आत्मा में कर्तृत्व विद्यमान है, वैसे ही पुत्र, सेवक आदि को देख रहे जाग्रदवस्था युक्त आत्मा में देह की चेष्टा न होने पर भी स्पष्टरूप से चित्त की कर्तृता से कर्तृत्व विद्यमान है; यह कर्तृत्व भी मुख्य कर्तृत्व के सदृश ही एक तरह से हैं, क्योंकि विक्षुब्ध को (चंचल चित्त को) सुख दुःख देखे जाते हैं ॥३७॥ मन के कर्तृत्व न होने पर आत्मा का अकर्तापन स्पष्टरूप से सिद्ध हो जाता है, क्योंकि शून्यचित्त पुरुष कर्ता होते हुए भी अभिमान नहीं करता ॥३८॥ श्रीरामजी, चित्त से जो किया गया है, उसीका आप फल पाते हैं और चित्त से जो नहीं किया गया है, उसका फल नहीं पाते हैं। देह

कहीं कर्म के प्रति कारण नहीं है क्योंकि चित्त में कर्तृत्व शक्ति नहीं है, यह बात नहीं है, अतएव चित्त की कर्तृत्वशक्ति से ही सब कर्मों की स्थिति हो जायेगी, फिर देह में कर्तृत्व मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ॥३९॥ यद्यपि मन भले ही कुछ करे, तथापि यदि वह उसमें आसक्त नहीं है, तो वह अकर्ता के सदृश ही है। आसक्ति वर्जित मन कर्मों के फलों का भोक्ता नहीं होता, यों तत्त्वज्ञ महानुभाव कहते हैं ॥४०॥ दूर देश में अवस्थित कान्ता में जिस पुरुष का मन आसक्त है, वह पुरुष जैसे सामने के कार्यों से (शीत, उष्ण आदि के अनुभवरूप कार्यों से) लिप्त नहीं होता, वैसे ही आसक्ति वर्जित पुरुष ब्रह्महत्या, अश्वमेघ आदि के पुण्य–पापों से लिप्त नहीं होता ॥४१॥ अहन्ता आदि अनात्म अध्यासों से विनिर्मुक्त जीव विक्षेपों से शून्य सुखों का पूर्ण अनुभव करता है। वह बाहर से कुछ करे या कुछ न करे, पर सर्वथा कर्तृत्व और भोक्तृत्व से रहित ही है ॥४२॥

आसक्ति का त्याग करने से ही सभी जीवन्मुक्त पुरुष के गुण मन में सिद्ध हो जाते हैं, इस आशय से कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी, जो अन्तःकरण भीतरी आसक्तियों से शून्य होगा, वह न कर्ता होगा, न बद्ध होगा, न अयुक्त होगा और न लिप्त होगा अर्थात् अकर्ता, विमुक्त, प्रशान्त, युक्त और अलिप्त ही होगा ॥४३॥

उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामजी, इससे सबके भीतर रहनेवाले आत्मा से भिन्न बाहर से लगे हुए पाँच कोशों का तथा भोग्यवर्गरूप बन्धनों में डालनेवाले समस्त पदार्थों का निरास करने में यही एक मुख्य उपाय निश्चित हुआ कि अखिल दुःखों को देनेवाली क्रूर आसक्ति का परित्याग करना चाहिए यानी इतने विचार से यही निश्चित हुआ आसक्ति परित्याग ही बन्धन के निरास में हेतु है, यह तात्पर्य है ॥४४॥

हे राघव, तीक्ष्ण धारवाले तलवार आदि शस्त्र के समान नीले यमुना जल में मिश्रित हुआ स्फटिक मणि की नाईं अति स्वच्छ गंगाजल जैसे (उसके साथ) एकरूपता को प्राप्त हो जाता है; वैसे ही आसक्ति दोष से रहित, अतएव संसारदशा से प्राक्तन प्रत्यक्–तत्त्व को, जो आकाश के सामन निर्मल कान्तिवाला है, प्राप्त हुआ मन समस्त प्रपंच के उपशमरूप मलों से शून्य परमात्मा के साथ एकरूपता को प्राप्त हो जाता है ॥४५॥

सड़सठवाँ सर्ग समाप्त

अड़सठवाँ सर्ग

संसक्ति और असंसक्ति के लक्षण, वन्ध्या–अवन्ध्याविभाग तथा फल का वर्णन।

श्रीरामजी ने कहा : भगवान्, संग किस प्रकार से होता है ? किस तरह का संग मनुष्यों को बन्धन में डालता है ? कैसा संग मोक्ष का कारण हैं ? और संग की चिकित्सा (निवृत्ति) कैसे की जा सकती है ? ॥१॥

वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, शरीर (क्षेत्र) और शरीरी (क्षेत्रज्ञ) आत्मा का जो विभाग है यानी शरीर जड़ है और आत्मा चेतन है, यों जो उनकी विरुद्ध स्वभावता है, उसका भली प्रकार केवल पर्यालोचन न करने से ही एक दूसरे में एक दूसरे का तादात्म्य और एक दूसरे में एक दूसरे के धर्मों का विनिमय होता है। इसी विनिमय भावना से शरीर में उत्पन्न हुआ जो आत्माभिमान है यहीं संग कहलाता है और इसी

संग से संसाररूपी बन्धन उत्पन्न होता है ॥२॥

संग के अन्यान्य लक्षण कहते हैं।

आत्मा का स्वरूप असीम है यानी उसका काल से, देश और वस्तु से किसी तरह परिच्छेद नहीं हो सकता, अज्ञानवश उसमें उक्त त्रिविध परिच्छिन्नता का निश्चय हो जाने पर जीव का अपना अपरिच्छिन्न सुखस्वभावता का विस्मरण हो जाता है, इस प्रकार के उक्त विस्मरण से इधर उधर के तुच्छ विषयों से वह आभ्यन्तर सुख चाहने लगता है, अतः जो वैषयिक सुखार्थिता है, यही बन्धन की हेतु संग कहलाती है ॥३॥

बन्धन हेतु आसक्ति की विरोधिनी असंग स्थिति का लक्षण कहते हैं।

श्रीरामजी, यह दिखाई दे रहा समस्त प्रपंच आत्मस्वरूप है, इसलिए मैं उसमें से किसको चाहूँ और किसको छोड़ दूँ, इस प्रकार की परिपक्व विचारणा से जनित जीवन्मुक्त के शरीर की जो अवस्था है, उसे आप असंग-स्थिति जानिए ॥४॥ मैं अहंकार से परिच्छिन्न (स्वल्पता को प्राप्त) नहीं हूँ, मेरे सिवा दूसरा कोई नहीं है, इसलिए मिथ्याभूत शरीर में विषयों से जनित सुख हों चाहे न हों, मैं तो देहादिक के साथ कभी संग को प्राप्त न होनेवाले स्वभाव से युक्त हूँ, इस प्रकार जिसका भीतर से दृढ़ निश्चय है, वह मनुष्य मुक्ति का अधिकारी कहलाता है ॥५॥ हे श्रीरामजी, जो अपने सर्वकर्मत्याग की यत्र तत्र बड़ाई नहीं करता, जो फल के उद्देश्य से कर्मों में अभिनिवेश नहीं करता, जो फल की सिद्धि और असिद्धि में सदा एक-सा रहता है और जो ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्मफलों का परित्याग कर देता है, वही पुरुष असंसक्त कहलाता है ॥६॥ सदा सर्वदा केवल आत्मस्वरूप में निष्ठा रखनेवाले जिस महात्मा का अन्तःकरण हर्ष और क्रोध के वश में नहीं होता, वही लोक में असंसक्त और जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥७॥ जो पुरुष, अत्यन्त कुशलतापूर्वक सम्पूर्ण कर्म और तज्जनित फल आदि केवल मन से ही, न कि कर्म से, परित्याग करता है, वह असंसक्त कहलाता है साधारण लोगों को अच्छे अच्छे कर्मों में प्रवृत्त कराने के लिए बाहर से तो वह कर्म आदि का अनुष्ठान करता रहता है, पर भीतर से उनमें आसक्ति नहीं रखता। यह 'न कर्मणा' इस वाक्य से बतलाया ॥८॥

तीन प्रश्नों का समाधान कर चतुर्थ प्रश्न का समाधान करते हैं।

हे राघव, संसक्ति के अभाव से अनेक तरह के फलानुरागों द्वारा उत्पन्न हुई निखिल दुष्ट चेष्टाएँ विनष्ट हो जाती हैं और श्रवण आदि शुभ चेष्टाएँ निर्विघ्नतापूर्वक कल्याण का सम्पादन करती रहती हैं ॥९॥

अब आसक्ति से होनेवाले परिणामों का विस्तारपूर्वक निरूपण करते हैं।

भद्र, आसक्ति से विस्तार को प्राप्त हुई समस्त दुःखराशियाँ गड्ढे में उत्पन्न काँटेवाले वृक्षों की नाईं हजारों शाखा-प्रशाखाओं में फैल जाती हैं ॥१०॥ जिसका नाक नाथ से खींचा गया हो, ऐसा गदहा भयभीतात्मा होकर जो अपनी गति से मार्ग में भार ढोता है, वह आसक्ति के फल का ही एक विस्तार है। किसी देश में गदहे को भी नाथ लगाते हैं। अथवा 'गर्दभ' शब्द को बैल आदि भारवाहक ग्राम्य पशुओं में उपलक्षण मान लेना चाहिए ॥११॥

वृक्ष एक स्थान में चुपचाप खड़ा होकर अपने स्थावर शरीर से ठंड, वायु और धूप के क्लेश को जो

सहता (अनुभव करता) रहता है, वह भी आसक्ति के फल का ही विस्तार है ॥१२॥ भूमि के बिल में पड़ा हुआ अतएव अपने अंगों में पीड़ा का अनुभव कर रहा बेचैन कीट जो काल काट रहा है, वह भी आसक्ति के फल का विस्तार है ॥१३॥ क्षुधा से जिसकी पाँख कृश हो गई है तथा जिसकी बुद्धि बाण, पत्थर, मिट्टी के ढेले आदि के अभिघात से भय ग्रस्त हो गई है, ऐसा वृक्ष की शाखाओं पर शयन कर रहा पक्षी अपनी आयु को जो खपाता है, वह आसक्ति के फल का विस्तार है ॥१४॥ दूब, कोंपलों और तिनकों का आहार करनेवाला मृग भीलों के बाणों की पीड़ा से अपनी देह को जो छोड़ देता है, वह भी आसक्ति के फल का विस्तार है ॥१५॥ पुण्य और पाप के अधिकारी ये जन–समूह ध्वस्त–विध्वस्त होकर बार बार जन्म धारण कर रहे कृमि और कीट भाव को जो प्राप्त होते हैं, वह संसृति के फल का विस्तार है ॥१६॥ जलाशय में तरंगों की नाईं ये असंख्य भूत (प्राणी) उत्पन्न हो होकर जो विलीन हो जाते हैं, वह भी संसक्ति के फल का विस्तार है ॥१७॥ लता और तिनकों के समान शक्तिहीन दशा को प्राप्त अतएव चलने–फिरने की शक्ति से शून्य मनुष्य पुनः पुनः जो मर जाते हैं, वह संसक्ति के फल का विस्तार है ॥१८॥ भूमि के अन्दर स्थित जल को अपने अपने मूलों से पीकर तृण, गुल्म, लता आदि अपने अपने विजातीय स्वरूप को जो उत्पन्न करते हैं, वह भी संसक्ति के फल का विस्तार है ॥१९॥ अपनी अनर्थ परम्पराओं के अनुरूप वियोग, भ्रान्ति, पतन आदि हजारों विक्षेपों के हेतु असंख्य बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों से परिपूर्ण यह संसाररूपी नदी जो बढ़ने पाई है, वह भी संसक्ति के फल का विस्तार है ॥२०॥ हे श्रीरामजी, आसक्ति दो प्रकार की कही गई है एक वन्द्या (वंदनीय) यानी प्रशस्त और दूसरी वन्ध्या यानी पुरुषार्थ फल से शून्य। इनमें पहली वन्द्या आसक्ति खुद तत्त्वज्ञ महात्माओं की है और दूसरी वन्ध्या सर्वत्र प्रसिद्ध समस्त अज्ञानियों की है ॥२१॥ आत्मतत्त्वज्ञान से रहित, देह आदि असत्य वस्तुओं से जनित जो अत्यन्त दृढ़ यानी चिरकाल से भावित पुनः पुनः संसार में आसक्ति है, वह वन्ध्या आसक्ति कही जाती है ॥२२॥ आत्मा के स्वरूपज्ञानरूप हेतु के द्वारा यथार्थ और अयथार्थ वस्तु के (नित्यानित्यवस्तु के) विवेक से उत्पन्न हुई, अबाध्य आत्मतत्त्व का अवलम्बन करनेवाली जो पुनःसंसार से शून्य आसक्ति है, वह वन्द्या आसक्ति कही जाती है ॥२३॥

सर्वोत्कर्षत्व की सम्पादक यही वन्द्या आसक्ति है, ऐसा कहते हैं।

श्रीरामजी, जिनके हाथों में शंख, चक्र गदा है, ऐसे भगवान् विष्णु इसी वन्द्या संसक्ति के प्रभाव से विविध मत्स्य आदि अवतारों में की गई लीलाओं द्वारा तीनों लोकों का पालन करते हैं ॥२४॥ इसी वन्द्या संसक्ति की सामर्थ्य से भगवान् सुर्यनारायण आकाशमार्ग में किसी प्रकार का अवलम्बन लिए बिना प्रतिदिन निरन्तर संचरण किया करते हैं॥२५॥ हे राघव, जिसने प्राकृत प्रलय में विदेह–कैवल्यरूप परम शान्ति के लिए दो परार्ध वर्ष पर्यन्त हरि आदि की कल्पना की है, ऐसा हिरण्यगर्भ का शरीर वन्द्या संसक्ति की ही सामर्थ्य से व्यवहार करता है ॥२६॥ केवल लीला से गौरीरूपी आलान (बन्धन–स्तम्भ) में आसक्त तथा भस्म से अत्यन्त सुशोभित महादेवजी का शरीर इसी वन्द्या संसक्ति की सामर्थ्य से अवस्थित है॥२७॥ जिन्होंने आत्मतत्त्व के विज्ञान में दृढ़ प्रतिष्ठा पाई है, ऐसे सिद्ध, लोकपाल तथा अन्यान्य देवता जो इस जगत् के प्रांगण में स्थित रहते हैं, वह भी वन्द्या संसक्ति की सामर्थ्य है ॥२८॥ तीन लोकों से भिन्न अन्यान्य भुवन (महः, जनः, तपः आदि लोकों में रहनेवाले तत्त्वज्ञ

महात्मा लोग) मरण से रहित शरीर के यन्त्रों के समूहों को जो धारण करते हैं, वह भी वन्ध्या संसक्ति की सामर्थ्य है ॥२९॥

वन्ध्या संसक्ति में वन्ध्यात्व (निष्फलत्व) ही है, इसका उपपादन करते हैं।

माँस के टुकड़ों में गीध की नाईं विषयों में झूठमूठ रम्यत्व की कल्पना कर जो मन झपटता है, वह वन्ध्यासंसक्ति की सामर्थ्य है ॥३०॥

मुक्त और अमुक्त दोनों के सारे व्यवहार संसक्ति से ही होते हैं, यों विस्तारपूर्वक बतलाते हैं।

संसक्ति के प्रभाव से वायु समस्त भुवनों के कोटरों में बहता है, पाँच भूत अपने अपने स्वरूप में रहते हैं और यह जगत्–स्थिति चलती है ॥३१॥ संसक्ति के प्रभाव से ब्रह्माण्डरूपी गूलर के फल में मच्छरों की नाईं अपना अपना व्यवहार कर रहे देवता स्वर्ग में, मनुष्य पृथ्वी में, सर्प और असुर पाताल में अवस्थित हैं ॥३२॥

हे रामजी, समुद्र में तरंगों की नाईं ये असंख्य भूत जो उत्पन्न होते हैं, मरते हैं, गिरते हैं उठते हैं, यह भी संसक्ति का विलास है ॥३३॥ झरनों के जलकणों के समान उड़–उड़ कर विरसतापूर्वक ये भूत जो विलीन हो जाते हैं, वह भी संसक्ति का प्रताप है ॥३४॥ मछली के सदृश एक दूसरे के अंगों को निगल रहे, जड़ता से जर्जर तथा भ्रमग्रस्त ये जनसमूह आकाश में शीर्ण शुष्क पत्ते के समान जो भ्रमण कर रहे हैं, वह भी संसक्ति का प्रताप है ॥३५॥

प्रिय रामजी, वृक्ष के ऊपर मच्छरों की पंक्ति की नाईं पाताल में जल–प्रवाह के सदृश आवर्त वृत्ति धारणकर आकाश में जो नक्षत्र चक्र घुम रहा है, वह भी संसक्ति की सामर्थ्य है ॥३६॥ कभी उदय तो कभी अस्त, कभी वृद्धि तो कभी ह्रास, कभी उत्थान तो कभी पतन इस विविध दशाओं से सदा ही शिथिल; कालरूपी बालक के गेंद रूप; जड़तायुक्त; जलमय तथा अनेकविध कलंकों से म्लान चन्द्र का शरीर यद्यपि इन बहुविध दोषों के कारण परित्याग करने योग्य है, तथापि आज तक जो वह नहीं छोड़ता, यह संसक्ति का ही परिणाम है ॥३७॥ अनेक तरह के अपार युगावर्तों के दुःखानुभव से कठोर हुए मनोरूपी छेदनयोग्य व्रणविशेष के दुःख से दुःखी इन्द्र आदि देवगण भी जो उच्छेदन द्वारा उसकी चिकित्सा नहीं करता, वह भी संसक्ति का फल है ॥३८॥

केवल आत्मा और अनात्मा के विवेक से उत्पन्न ज्ञान से ही संसक्ति का उच्छेद हो सकता है, इसका दिग्दर्शन कराने के लिए आसक्ति का विषय जगत् केवल वासना से ही कल्पित है, यह कहते हैं।

हे राघव, वासना के वश से किसी ने सर्वोत्कृष्ट चिदाकाश में इस विचित्र जगत्रूपी चित्र की रचना की है, उसे आप देखिए ॥३९॥ श्रीरामजी, शून्य आकाश में केवल मन के असंगरूपी रंग से बनाया गया जो जगद्रूपी विचित्र चित्र है, वह कभी भी सत्य नहीं हो सकता ॥४०॥ जैसे अग्नि की ज्वाला तिनकों को खा डालती है, वैसे ही तृष्णा इस संसार में आसक्त मनवाले व्यवहारी जीवों के शरीरों को खा डालती है ॥४१॥

आसक्ति दोष से प्राप्त हुए तथा तृष्णा के द्वारा खाये गये शरीर असंख्य हैं, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, भला बतलाइये कि समुद्र की बालु और त्रसरेणुओं की गिनती करने के लिए कौन समर्थ हो सकता है ? अर्थात् जैसे कोई नहीं हो सकता, वैसे ही चारों ओर से विषयों में आसक्त

मतिवाले जीव के शरीरों की गिनती करने के लिए कौन समर्थ हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं हो सकता ॥४२॥ चोटी से लेकर मूल तक मेरु पर्वत का अवलम्बन करनेवाली मोतियों की लतारूपी गंगा के तरंगरूपी मोतियों की गणना कदाचित् कोई कर सकता है, पर आसक्त चित्तवाले जीवों के शरीरों की गणना तो कोई नहीं कर सकता ॥४३॥ जिनका चित्त संसारमें आसक्त है, उन्हीं जीवों के लिए ये रम्य अन्तःपुर की पंक्तियाँ, जिनके नाम रौरव, अवीचि, कालसूत्र आदि हैं, किसी कारीगर ने बनाई हैं ॥४४॥ श्रीरामजी, आसक्त चित्तवाला अतएव दुःखों से सूखा हुआ पुरुष जल रही नरकरूपी अग्नियों के लिए एक तरह से इन्धन का संग्रह (समूह) है, यह आप जानिए, क्योंकि नरकरूपी अग्नियाँ उसी काष्ठ–संचय से जलती हैं ॥४५॥ इस जगती–तल में जो कुछ भी दुःखजाल है, वह सब आसक्तचित्त पुरुषों के लिए ही कल्पित है ॥४६॥ जैसे जल के तरंगों से संवलित बड़ी–बड़ी नदियाँ समुद्र के प्रति जाती हैं, वैसे ही सम्पूर्ण दुःखों की परम्पराएँ आसक्त चित्तवाले पुरुष के प्रति जाती हैं ॥४७॥ चिति–शक्ति ही जिसका स्वरूप है, जिसने भारभूत शरीर को धारण किया है और जो जीव के लिए जन्म और मरण की अवस्था चाहती है, उस अविद्या ने ही इस समस्त प्रपंच का विस्तार किया है ॥४८॥ हे श्रीरामजी, जैसे वर्षाकाल में बड़ी–बड़ी नदियाँ महान् विस्तार को प्राप्त होती हैं, वैसे ही विषयोपभोगों में आसक्ति न करने से सम्पूर्ण विभूतियाँ महान् विस्तार को प्राप्त होती है ॥४९॥ हे रामजी, भीतरी आसक्ति शरीरों के लिए अंगारे है और भीतरी आसक्ति का परित्याग अंगों के लिए उत्तम रसायन है, यह आप जानिए ॥५०॥ अवलम्बन के लिए तृणविशेषों को चाहनेवाली लता जैसे अवलम्बित तृणों से जनित अग्नि से दग्ध हो जाती है, वैसे ही अन्दर में अवस्थित संसक्तिरूपी अग्नि से प्रकृतिभूत जीव भी दग्ध हो जाता है ॥५१॥

यहाँ प्रकृति के कार्य देह आदि के साथ जीव का सम्बन्ध होने के कारण जीव 'प्रकृति' कहा गया है ।

आसक्ति से शून्य अतएव आकाश के समान निर्मल–स्वरूप से अवस्थित, चारों ओर से शान्त, असत् के सदृश, सत् के समान भासमान मन सर्वत्र सुख का ही हेतु है ॥५२॥ विद्या विषय में उत्तम उदय हो प्राप्त हुए यानी प्रबुद्ध हुए अविद्या विषय में (प्रपंच में) क्षय को प्राप्त हुए यानी अनुसन्धान से शून्य हुए तथा सर्वत्र दृश्यवस्तुओं में आसक्ति से वर्जित हुए अपने अन्तःकरण से जो पुरुष सदा–सर्वदा अवस्थित रहता है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है ॥५३॥

अड़सठवाँ सर्ग समाप्त

उनहत्तरवाँ सर्ग

सम्पूर्ण अर्थों में आसक्ति के त्याग से मन चिन्मात्रस्वरूप में सुस्थिर तथा चिन्मात्रशेष जिस क्रम से हो जाता है, उस क्रम का कथन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी, विवेकी विद्वान् पुरुष भले ही सर्वदा तत् तत् समय के योग्य समस्त व्यवहारों में निरत रहे, भले ही तत्–तत् व्यवहार में उचित सभी प्रिय, पुत्र आदि के साथ रहे, भले ही निषिद्ध लौकिक एवं शास्त्रीय समस्त कार्यों में व्यस्त रहे, तथापि उसे अपने मन को वैसा बनाना चाहिऐ, जैसे मैं अभी आगे जाकर कहूँगा। अथवा एक काल, एक देश और एक सेवक आदि के सहभाव

से कतिपय कर्मों में तत्परता–संपादक परिच्छिन्न संसक्ति का परित्याग करने के लिए पहले सम्पूर्ण देश, काल आदि समस्त उपकरण सामग्री से निखिल जगत् के व्यवहाररूप कर्मों में स्वयं निरत हो कर भी पीछे से अपने मन को वैसा बनाना चाहिए जैसे मैं आगे वर्णन करूँगा ॥१॥ न साध्य पदार्थों की चेष्टाओं में, न अतीत काल की वस्तुओं की चिन्ताओं में, न वर्तमान कालीन वस्तुओं में, न आकाश में, न नीचे, न मध्य में, न दिशाओं में और न लताओं में मन को आसक्त करना चाहिए ॥२॥ न आधिभौतिक भार्या, चाकर आदि विषयों में, न उनके उपभोग की इन्द्रियवृत्तियों में, न आध्यात्मिक वस्तुओं में और न प्राण, मूर्धा तथा तालू में – जो योग शास्त्र में वर्णित काम्य सिद्धि अनुकूल धारणा के स्थानस्वरूप हैं – मन को कभी आसक्त करना चाहिए ॥३॥ न भौंहों के बीच में, न नासिका के मध्य में, न मुख में, न दक्षिण नेत्र की कनीनिका में, न अन्धकार में, न प्रकाश में और न इस हृदयरूपी आकाश में मन को आसक्त करना चाहिए ॥४॥ न जाग्रत् में, न स्वप्न में, न सुषुप्ति में, न शुद्ध सत्त्वगुण में, न तमोगुण में, न पीतरक्त आदि रजोगुण में और न गुणों के समाहार में मन को आसक्त करना चाहिए ॥५॥ न कार्य वर्ग में, न स्थिरकारण अव्यक्त में, न सृष्टि के आदि काल में, न मध्य काल में, न अन्तकाल में, न दूर में, न समीप में, न सामने, न नामरूपात्मक पदार्थ में और न जीव में मन को आसक्त करना चाहिए ॥६॥ न रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द में; न विषयाभिलाषा की परवशतारूपी मोह में, न विषयोपभोग–फलरूपी आनन्दवृत्तियों में; न खेचरी आदि सिद्धियों में, न अतीत–अनागत वस्तुओं का परिज्ञान होना, दीर्घजीवी होना आदि सिद्धियों में मन को आसक्त करना चाहिए ॥७॥ निश्चल बुद्धि की साक्षिभूता चिति में केवल विश्रान्ति कर परिपूर्ण भूमानन्द से युक्त अतएव सर्वत्र दृश्य पदार्थों में नीरस–सा होकर अवस्थित होइये ॥८॥

'इव' शब्द से यह दिखलाया कि मन की इस प्रकार की स्थिति भी मिथ्या ही है।

उस प्रकार चिति में विश्रान्ति पाकर अवस्थित हुआ जीव समस्त संगों से रहित होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। ब्रह्मभाव को प्राप्त हुआ यह जीव इन समस्त व्यवहारों को चाहे करे, चाहे न करे, उससे कुछ भी उसका बिगड़ने नहीं पाता ॥९॥ जैसे आकाश मेघों के साथ तनिक भी सम्बन्ध प्राप्त नहीं करता वैसे ही अपने स्वरूप में निरत जीव, क्रियाओं का (विहित या निषिद्ध कर्मों का) अनुष्ठान करे चाहे न करे, पर क्रियाजनित फलों के यानी स्वर्ग, नरक आदि के साथ तनिक भी सम्बन्ध प्राप्त नहीं करता ॥१०॥ अथवा पूर्वोक्त सात्विक बुद्धि का भी परित्याग कर निर्विकार चित्–स्वरूप जीव अपने स्वरूप में उस प्रकार शान्त होकर अवस्थित रहे, जिस प्रकार कि प्रदीप्त हो रहा मणि अपने स्वरूप में शान्त होकर अवस्थित रहता है ॥११॥ हे रामचन्द्रजी, जिसने अपने स्वरूप में परम विश्रान्ति प्राप्त कर ली है, जिसका अन्तःकरण आत्म–साक्षात्काररूप महान् उदय को प्राप्त कर चुका है एवं जिसकी व्यवहार और तत् सम्बन्धी फलों में तनिक भी इच्छा नहीं रह गई है, ऐसा जीव भले ही लोक–दृष्ट्या व्यवहार करे, तथापि वह कर्मजनित फलों का स्वल्प भी सम्बन्ध प्राप्त नहीं करता, क्योंकि वह सम्बन्ध की हेतु अविद्या, काम और कर्म की वासनाओं से शून्य है, हाँ, उस समय वह तब तक देह भार को सहता रहता है, जब तक कि प्रारब्ध का क्षय नहीं होता ॥१२॥

श्रुति भी कहती है 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये।'

उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

सत्तरवाँ सर्ग

असंग सुख में परम शान्ति को प्राप्त कर रहा पुरुष व्यवहार से उत्पन्न
दोषों से जिस प्रकार से दुःखी नहीं होता, उस प्रकार सयुक्तिक उपपादन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र जो असंग से उत्पन्न सुख के निरन्तर आस्वाद में संलग्न हैं और जिनके अन्तःकरण अत्यन्त विशाल हैं, ऐसे जीवन्मुक्त महानुभाव, चाहे व्यवहार करें, तो भी सदा–सर्वदा निर्भय और शोक शून्य ही होकर अवस्थित रहते हैं ॥१॥

उनकी वैसी स्थिति होती है, यह आपने किस प्रमाण से जाना ? इस प्रश्न पर प्रमाण कहते हैं।

हे श्रीरामजी, यद्यपि पुत्र और धन का विनाश तथा बन्धन, मान, अपमान आदि क्षोभ के (घबड़ाहट के) हेतुओं से साधारण लोगों को क्षुब्ध शरीर–सा मालूम पड़नेपर भी वास्तव में क्षुब्धशरीर से शून्य जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञ महाविद्वान् की चित्त वृत्ति सदा–सर्वदा परमार्थ सुख में ही संलग्न रहती है। उससे तनिक भी उसका वियोग नहीं होता, अतएव वह अन्दर से परिपूर्ण रहता है तथा उसके मुख में पूर्ण–चन्द्रमा की नाईं परम शोभा दीख पड़ती है, यही दीख पड़नेवाली पूर्णचन्द्र की शोभा ही तत्त्वज्ञ की पूर्वोक्त अवस्था में प्रमाण है। चन्द्रपक्ष में ज्योतिश्चक्र और रथादि की गति से क्षुब्ध शरीर से शून्य पूर्ण चन्द्र पूर्णिमा की रात्रि में संमुख होने से सूर्य की विषमता न होने के कारण भीतर अमृत से परिपूर्ण रहता है। उसके वदन सदृश बिम्ब में उत्तम शोभा दीख पड़ती है ॥२॥

जिस तत्त्ववित् के अनुग्रह से दूसरे भी जब क्षोभरूपी मलिनता से निर्मुक्त हो जाते हैं, तब उस तत्त्ववित् की क्षोभशून्यता में तो कहना ही क्या ? इस आशय से कहते हैं।

जिस महात्मा का अन्तःकरण इन्द्रियों की आसक्तियों से वर्जित, केवल चैतन्य मात्र का अवलम्बन करनेवाला तथा समस्त चिन्ता ज्वरों से निर्मुक्त है, उस महात्मा से सम्पूर्ण जन, निर्मली से जल की भाँति, प्रसन्न (विशुद्ध) हो जाते हैं ॥३॥ सदा सर्वदा आत्मदृष्टि में निमग्न रहनेवाला तत्त्ववित् बाहर से चंचल होते हुए भी अपने स्वरूप से तनिक भी टस से मस नहीं होता, अतएव साधारण जनों द्वारा यह जो क्षुब्ध–सा देखा जाता है, वह जलगत सूर्य–प्रतिबिम्ब की क्षुब्धता के दशर्न के समान मिथ्या ही है ॥४॥ स्वस्वरूप में निरन्तर रमण करनेवाले तथा परम मोक्षरूपी उदय को प्राप्त हुए तत्त्ववित् महात्मा साधारण लोगों को ऊपर ऊपर से मोर के पंख की नाईं चपल मालूम पड़ते हैं, परन्तु भीतर से मेरु पर्वत की नाईं अटल हैं ॥५॥

विक्षोभ के प्रतीत होने पर भी वस्तुतः तत्त्ववित् में क्षोभ नहीं रहता, इस विषय में दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे रंजक जपाकुसुम (फूल) आदि उपाधियों से चिकना स्फटिक मणि (वास्तव में) रंग से युक्त नहीं होता, वैसे ही आत्मस्वरूप को प्राप्त हुआ तत्त्ववित् का अन्तःकरण (उपाधियों से) सुख–दुःख से रंग से युक्त नहीं होता ॥६॥ जैसे जल रेखा कमल को रंजित नहीं कर सकती, वैसे ही जिसने जीव और ईश्वर के स्वरूप को भलीभाँति जान लिया है अतएव जो परम निरतिशयानन्दरूप परम अभ्युदय को प्राप्त हुआ है, ऐसे तत्त्ववित् के चित्त को संसारिक दृष्टि रंजित नहीं कर सकती ॥७॥

जब तक जीव भीतर भली प्रकार आसक्ति से वर्जित नहीं होता, तब तक उसका बाहर की आसक्ति से वर्जित होना दुर्लभ है, इस आशय से असंसक्त का लक्षण कहते हैं।

जब यह जीव परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर समस्त कल्पनाओं के हेतुभूत मलों से वर्जित होता हुआ ध्यानाभाव–दशा में भी आत्म ध्यान की तरह निरतिशय सुख में निमग्न रहता है, तब 'स्वसक्त' कहलाता है । तत्त्ववित् को स्वभावतः निरतिशयानन्द आत्मा का स्फुरण (प्रकाश) होने के कारण वह निर्विकल्प समाधि की नाईं सदा–सर्वदा आत्मध्यान में ही लगा हुआ रहता है, अतएव बाह्यध्यान–व्यापारों के न रहने पर भी तथोक्त स्फुरण की सामर्थ्य से निरतिशानन्द सुखसमुद्र में अवगाहन करनेवाला यह 'स्वसक्त' शब्द से व्यवहृत किया जाता है, यह तात्पर्य है ॥८॥

ज्ञान की परिपक्व अवस्था के उत्कर्ष से आत्मसक्तिमें भी क्रमशः उत्कर्ष बढ़ता जाता है और तदनुसार संग भी क्षीण होता जाता है, यह कहते हैं।

केवल आत्मा में विश्रान्ति होने से ही जीव संसार में असंगभाव को प्राप्त करता है। केवल आत्मा के ज्ञान से ही विषयसंग क्षीणता को प्राप्त होता है, दूसरे किसी प्रकार से नहीं ॥९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त स्वरूपवाली असंसक्त दृष्टि में परिणत, प्रियाप्रिय आदि द्वन्द्वों से शून्य तथा नित्य कभी अस्त न होनेवाले उदय से युक्त जीव जाग्रत अवस्था में ही सुषुप्ति में अवस्थित हो जाता है ॥१०॥ स्वसंसक्तिरूपी दृष्टि में अभ्यास क्रम से परम प्रौढ़ता को प्राप्त हुआ जीव पवित्र सूर्यभाव को (परम पावनस्वप्रकाश आत्मस्वरूपता को) ऐसे प्राप्त होता है, जैसे क्रमशः अपनी कला के क्षय से जलमय मण्डल में पड़ा हुआ सूर्य प्रतिबिम्बस्वरूप चन्द्रमा अमावस्या में सूर्यरूपता को प्राप्त होता है ॥११॥

जाग्रत् अवस्था में ही सुषुप्तस्थ है, यह जो पहले कहा था, उसे विशद करते हैं।

चित्त के विषय सम्बंधिनी वृत्तियों से शून्य हो जाने पर क्षीण वृत्तिवाले अन्तःकरणों की जो वासनाओं से निर्मुक्त प्रशान्त स्थिति है, वही जाग्रत्–में सुषुप्ति कही जाती है ॥१२॥ हे श्रीरामजी, उक्त सुषुप्त–दशा को प्राप्त होकर जी रहा तथा व्यवहार कर रहा पुरुष सुख–दुःखरूपी रस्सों से कभी भी आकृष्ट नहीं होता ॥१३॥ जो पुरुष जाग्रत् में ही सुषुप्तस्थ होकर जगत् के व्यवहाररूपी कार्यों को करता है, निरंहभाव के सादृश्य से नर्तक प्रतिमा के तुल्य शरीरवाले उस पुरुष को सुख–दुःख का अनुभव प्राप्त नहीं होता ॥१४॥ चित्त में चोट (पीड़ा) पहुँचानेवाली अहंकाररूपा ही शक्ति है, क्योंकि वह इष्ट और अनिष्ट के संयोग और वियोग से संताप देती है। परन्तु जब चित्त आत्मरूपता को प्राप्त हो गया, तब वह चित्त में क्या और कैसे चोट पहुँचा सकती है ? ॥१५॥ पूर्व से ही यानी साधन अवस्था से ही लेकर अभिनिवेश का परित्याग कर कर्मों का अनुष्ठान कर रहा निर्विकार बुद्धिवाला जीव जीवन्मुक्त–स्वरूप से अवस्थित रहता है और उन कर्मों के फलों से बद्ध नहीं होता ॥१६॥ हे अनघ, सुषुप्ति की विकारशून्य वृत्ति का अवलम्बन लेकर आप वर्णाश्रम–स्वभाव के अनुसार प्रारब्ध परिपाक से प्राप्त हुए लौकिक या शास्त्रीय कर्मों का चाहे अनुष्ठान करिये चाहे मत करिये, उससे कुछ होनेवाला नहीं है ॥१७॥

आश्रमोचित कर्मों का भी परित्याग कर देना चाहिए, ऐसा जो लोग मानते हैं, उसके प्रति कहते हैं।

ज्ञानी पुरुष को कर्म का अनुष्ठान या परित्याग कुछ भी नहीं भाता, किन्तु जिन्होंने आत्मतत्त्व को जान लिया है, ऐसे महात्मा जिस समय जो प्राप्त हो जाता है, तदनुसार अनुवर्तन करते हुए अवस्थित रहते हैं ॥१८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आप सुषुप्ति अवस्था में रहनेवाली निर्विकार बुद्धि से युक्त यानी तत्त्वज्ञ होकर कुछ करते हैं तो भी अकर्ता ही हैं और यदि उस बुद्धि से शून्य यानी अतत्त्वज्ञ होकर आप

कुछ नहीं करते हैं, तो भी कर्ता ही हैं, ऐसी परिस्थिति में आपकी जैसी इच्छा हो, वैसा कीजिये ॥१९॥

हे राघव, जैसे किसी प्रयोजन की अभिलाषा न रखकर केवल लीलावश ही बालक पलंग के ऊपर स्पन्दन क्रीड़ा करता है, वैसे ही आप भी किसी प्रयोजन की अभिलाषा न करते हुए कर्मों का अनुष्ठान कीजिये ॥२०॥ विषय सम्बन्ध से शून्य चैतन्यरूप परम पद में प्रतिष्ठित हुआ अतएव बाह्य इन्द्रियों के व्यापाररूप जाग्रत्–दशा में भी सुषुप्त निर्विकार वृत्ति में समारूढ़ लब्धात्मा तत्त्वज्ञ जो जो कर्मानुष्ठान करता है, उसमें वस्तुतः उसका कर्तृत्व नहीं रहता ॥२१॥ सुषुप्ति की विकारशून्य अवस्था को प्राप्त कर और अपने चित्त में समस्त वासनाओं से रहित होकर ज्ञानी भीतर से ऐसी शीतलता को प्राप्त करता है जैसे चन्द्रमा अमृत से अपने भीतर शीतलता को प्राप्त करता है ॥२२॥ जैसे छह ऋतुओं में अविकृत स्वभाव होने के कारण पर्वत एक सा रहता है वैसे ही पूर्णचन्द्र के बिम्ब की नाईं महान तेजस्वी पूर्णात्मा निर्विकार अवस्था में प्रतिष्ठित तत्त्वज्ञ समस्त आपत्तियों की अवस्थाओं में सदा सर्वदा एक सा रहता है ॥२३॥ जैसे वायु से बाहर के वृक्ष, तृण आदि में कंपन होने से ऊपर–ऊपर से पर्वत के प्रस्पन्दित (प्रकम्पित) होने पर भी वास्तव में पर्वत का भीतरी प्रकम्पन नहीं होता, वैसे ही सुषुप्ति दशा में अवस्थित धीरात्मा तत्त्वज्ञ लौकिक या वैदिक क्रियाओं के होनेपर यों ही ऊपर से चंचलता को प्राप्त हुआ प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में उसके भीतर कुछ भी कंपन (चांचल्य) नहीं होता ॥२४॥

जैसे क्रियाओं में उसकी निर्विकारता है, वैसे ही मरण और जीवन में भी उसकी निर्विकारता है, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामजी पूर्वोक्त निर्विकार सुषुप्त अवस्था में स्थित होकर तथा समस्त चित्तविक्षेप आदि पापों से निर्मुक्त होकर इस शरीर को गिरा दीजिए अथवा पर्वत के समान भीतर से निष्कम्प होकर दीर्घकाल तक उसको धारण कीजिये ॥२५॥

तत्त्वज्ञों को सदा सर्वदा ही तुरीयावस्था होती है, यही कहना युक्तिसंगत हो सकता है, परन्तु यह कहना युक्तिसंगत नहीं हो सकता कि तत्त्वज्ञों को सुषुप्ति में ही वह तुर्य स्थिति होती है, इस प्रकार की आंशका को मन में रखकर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, यही सुषुप्ति–स्थिति अभ्यास योग से जब दृढ़ता को प्राप्त हो जाती है, तब तत्त्वज्ञ महात्माओं के द्वारा तुर्य स्थिति कही जाती है अतः उक्त शंका का अवसर नहीं हो सकता ॥२६॥

तब सुषुप्ति स्थिति कहने का अभिप्राय क्या है ? इस प्रश्न पर वैसा कहनेका अभिप्राय कहते हैं।

सुषुप्ति अवस्था में आनन्दमय प्रत्यागात्मा में अशेष दुःखों का अभाव तथा निरतिशय सुख की परिपूर्णता रहती है, अतः तत्त्वज्ञ को दुःख शून्य निरतिशय सुख समृद्धि है, इसे विस्पष्ट रूप से बतलाने के लिए सुषुप्ति स्थिति का निर्देश किया गया है।

इस निर्विकार सुषुप्ति स्थिति में तत्त्वज्ञ भीतर से निरतिशयानन्द से ही परिपूर्ण रहता है, उसके समस्त दोष प्रक्षीण होकर रहते हैं, मन आत्यन्तिक विनाश को प्राप्त हुआ रहता है और महान जीवन्मुक्ति लक्षण के उदय से परिपूर्ण रहता है ॥२७॥

निर्विकार सुषुप्ति अवस्था में स्थित तत्त्वज्ञ को जगत् का अनुभव कैसे होता है ? उसे बतलाते हैं।

उक्त सुषुप्ति अवस्था में सदा सर्वदा रहनेवाला ज्ञानी अत्यन्त प्रमोद से परिपूर्ण और निरतिशय

आनन्दरूपी मद से मत्त होकर इस जगत् की रचना को सदा एक तरह की मानों लीला ही देखता रहता है ॥२८॥

यदि शंका हो कि उस प्रकार की लीला का अनुभव कर रहा ज्ञानी उस जगत् में फिर आसक्त भी तो हो जायेगा ? तो नहीं ऐसा प्रकार समाधान करते हैं।

हे श्रीरामजी, जिसके शोक, भय एवं अन्यान्य सांसारिक मिथ्या प्रपंच सदा के लिए निवृत्त हो गये हैं तथा जो संसाररूपी विभ्रम से वर्जित है ऐसा तुर्यावस्था में सदा-सर्वदा आसीन हुआ आत्मज्ञानी फिर इस संसार चक्र में कभी भी गिरता नहीं है ॥२९॥

क्यों संसार में नहीं गिरता ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

पर्वत पर चढ़ा हुआ धीर पुरुष पर्वत को हरा भरा यानी दूर से पर्वत को अत्यन्त सुन्दर समझनेवाले भ्रमग्रस्त नीचे के प्रदेश में अवस्थित पुरुष को देखकर जैसे हँसता है, वैसे ही वह ज्ञानी अपनी पुण्यमयी तुर्य स्थिति को प्राप्त कर जैसे यह भ्रमित जगत् है, उसको दोष दृष्टि से देखकर हँसता है, पुरुषार्थ बुद्धि से नहीं ॥३०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, पहले अनानन्द को यानी अवस्थात्रय पद को प्राप्त हुआ ज्ञानी इस तुर्यावस्था में तो सदा-सर्वदा केवल आनन्द में ही नियतरूप से लीन होने के कारण विनाश शून्य स्थिति को (महानन्दपद को) प्राप्त कर अवस्थित रहता है ॥३१॥

इस प्रकार जीवन भर ज्ञानी की तुर्यावस्था रहती है, यह कह कर अन्त में विदेह अवस्था को प्राप्त हुए ज्ञानी की तुर्यातीत अवस्था होती है, यह कहते हैं।

अनानन्दपद की (अवस्थात्रयपद की) अपेक्षा महत् होने से तुर्यपद महानन्द कहलाता है, यह महानन्दपद जीवन्मुक्त पुरुष को सदा सर्वदा ही रहता है। विदेह मुक्ति में तत्त्वज्ञ को अनानन्दपद का स्मरण नहीं होता, अतः उसकी अपेक्षा महत् का भी आकलन न होने से अनानन्द और महानन्द दोनों से अतीत हो गया है, इससे भी मुक्त योगी तुर्यातीत अवस्था को प्राप्त हुआ ऐसा कहा जाता है ॥३२॥

उक्त स्थिति का ही वर्णन करते हुए उपसंहार करते हैं।

श्रीरामजी, जैसे जल में डाला हुआ सैन्धव नमक का टुकड़ा जलमय हो जाता है, वैसे ही जिसका सम्पूर्ण जन्म हेतु काम और कर्मों की वासनारूप फाँसी छिन्न भिन्न हो गई है और अखिल अज्ञाननिमित्तक देह, इन्द्रिय आदि में अहम् अभिमान नष्ट हो गया है, ऐसा महात्मा योगी परमानन्दरूपीपरमार्थ स्थिति को प्राप्त होता है ॥३३॥ सत्तरवाँ सर्ग समाप्त

इकहत्तरवाँ सर्ग

पर चित्-वस्तु व्यवहार विषय न होने के कारण शरीर आदि के निरास के द्वारा केवल तुर्य का वर्णन।

तुर्यातीत पद वाणी आदि का विषय नहीं है, इसे बतलाने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुश्रेष्ठ, जितने अंशमें तुर्यावस्था का (📖) साक्षात् अनुभव होता है,

---

📖 जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति रूपी तीनपादों का परामर्श कर अनन्तर जाग्रत् आदि अवस्थाओं के साक्षी चिन्मात्र में उनके प्रविलापन-क्रम से जो केवल चैतन्य-परिशेषात्मना अवस्थिति प्राप्त होती है, वह तुर्यावस्था कहलाती है।

उतने ही अंश में कैवल्यपद (केवल चिन्मात्र में अवस्थित– स्वरूप कैवल्यपद) जीवन्मुक्त और वेदवचनों का विषय होता है यानी जीवन्मुक्तों का अधिकृत तथा श्रुतिवाक्यों का प्रतिपाद्य विषय होता है क्योंकि वाक्यजन्य अखण्डाकार वृत्ति का उतने ही अंशमें पर्यवसान है, यह भाव है ॥१॥

हे महाबाहो, जैसे वायु–प्राप्य आकाश पुरुषों का प्राप्य विषय नहीं है, वैसे ही इससे ऊपर का तुर्यातीत पद यद्यपि विदेह मुक्तों का प्राप्य है, तथापि जीवन्मुक्त और वेदवचनों का अधिकृत या प्रतिपाद्य विषय नहीं है, क्योंकि विषयता के सम्पादक मन का उस अवस्था में विनाश हो चुका है ॥२॥ जैसे आकाशवीथी (मार्ग) वायुओं को प्राप्त है, वैसे ही दूर से भी अति दूर यानी अत्यन्त दुरधिगम्य उक्त विश्रान्तिस्थान (तुर्यातीतपद) विदेहमुक्त पुरुषों का प्राप्य है ॥३॥

इससे सदेहमुक्त पुरुषों की पंचम भूमिका से लेकर सप्तम भूमिका तक ही स्थिति रहती है, यह कहते हैं।

निरतिशयानन्दरूपी मद से मत्त महाज्ञानी कुछ समय तक पूर्वोक्त निर्विकारात्मक सुषुप्त अवस्था से जगत्स्थिति का अनुभव कर उसके बाद तुर्यावस्था को प्राप्त होता है ॥४॥

तुर्यातीत पद में जब तक विश्रान्ति प्राप्त न हो जाय, तब तक ज्ञान की दृढ़ता करनी चाहिए, न कि केवल मध्यवर्ती भूमिकाओं में विश्रान्ति प्राप्त हो जाने तक ज्ञान की दृढ़ता करनी चाहिए, यों कहते हैं।

हे रघुनायक, जिस प्रकार तुर्यातीत पद का परिज्ञान रखनेवाले आत्मतत्त्वज्ञानी महात्मा तुर्यातीत पद को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार आप भी सुख–दुःखादि द्वन्द्वों से विनिर्मुक्त होकर उस परम पद को प्राप्त कीजिए ॥५॥

उसमें भी पहले पंचम भूमिका का ही शास्त्रीय व्यवहारों के निर्वाह के लिए अभ्यास करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

हे शत्रुसंतापक श्रीरामजी, निर्विकार सुषुप्ति अवस्था को (पंचमभूमिकात्मिका को) प्राप्त कर आप उसी से शास्त्रीय आदि व्यवहारों में निरत होइये, यों व्यवहार करने से चित्र में विद्यमान चन्द्रमा का जैसे कलाक्षय या राहू के साथ सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही आपका क्षय (मरण) या तज्जनित उद्वेग (भय) नहीं होगा ॥६॥

यदि शंका हो कि देह का विनाश हो जाने पर संवित् का विनाश अवर्जनीय होने के कारण संवित्–स्वरूप मेरा विनाश क्यों नहीं होगा, तो इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, शरीररूपी घर का विनाश होता है या नहीं होता ? इस प्रकार के सन्देह चक्र में आप मत पड़िये, क्योंकि यह मेरा शरीर है, इत्यादि जो अनुभव है, वह केवल भ्रम है ॥७॥

यदि देहानुभव भ्रम है, तो वही नष्ट हो जाय, इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, चाहे देह विनष्ट हो जाय, चाहे वह विनष्ट न हो जाय यानी स्थिर रहे, उससे आपको क्या प्रयोजन है ? आप तो केवल आत्मज्ञान की स्थिरता में प्रयत्नशील हो जाइये, यह देह जैसे है, वैसा भले ही बना रहे ॥८॥

स्वात्मबोध में सन्देह का निराकरण करते हैं।

भद्र, आप जगत् के अधिष्ठानभूत सत्यतत्त्व को जान गये हैं, सुषुप्ति आदि तीन अवस्थाओं के

अधिष्ठान को भी जान गये है और अखण्ड वाक्यार्थ के स्वरूप को भी प्राप्त हो चुके हैं, इसलिए आप तुर्यातीतरूपी महान् उदय के लिए शोकशून्य हो जाईये ॥९॥ श्रीरामजी, अभीष्ट और अनभीष्ट विषयों को छोड़कर आप शीतल साक्षात्कार रूपी आलोक की शोभा से ऐसे सुशोभित हो रहे हैं, जैसे कि अन्धकार और मेघमण्डल से विनिर्मुक्त शरत्पूर्णिमा की रात्रि का आकाशमण्डल सुशोभित हो रहा हो ॥१०॥ जैसे योग, मन्त्र और तप की सामर्थ्य से आकाशगमन की सिद्धि को प्राप्त हुआ योगी आकाश को छोड़कर पृथ्वी पर नहीं दौड़ता, वैसे ही आत्मज्ञान से सम्पन्न मन भी निम्नकोटि के विषय सुखों के पीछे भागता नहीं ॥११॥

हे श्रीरामजी, समस्त ब्रह्माण्ड में देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से शून्य विशुद्ध चैतन्य की ही सत्ता है, दूसरे की नहीं, इसलिए आपको 'यह, वह, मैं, यह शरीर और वह पुत्र आदि मेरे हैं' इत्यादि विविध भ्रमों में नहीं पड़ना चाहिए ॥१२॥

जब केवल विशुद्ध चित् ही है, तब उससे भिन्न 'आत्मा' यह दूसरा नाम कैसे हुआ ? इस पर कहते हैं ।

सर्वत्र व्यापक चैतन्य का 'आत्मा' यह नाम केवल व्यवहार के लिए ही कल्पित है, नाम, रूप आदि भेद तो इस चैतन्य से अत्यन्त दूर ही है ॥१३॥ जैसे समुद्र जलस्वरूप ही है, उससे भिन्न तरंग आदि कुछ भी नहीं हैं, वैसे ही यह सब जगत् आत्मस्वरूप ही है, उससे भिन्न पृथ्वी, जल आदि कुछ भी नहीं हैं ॥१४॥ जैसे समुद्र में पूर्ण जल के सिवा दूसरा कुछ भी प्राप्त नहीं होता, वैसे ही जगद्रूप से विस्तृत आत्मा के सिवा दूसरा कुछ भी प्राप्त नहीं होता ॥१५॥ हे प्राज्ञ श्रीरामजी, यह देहादि, वह धनादि और मैं आदि की व्यवस्था आप किसमें करते हैं ? देह आदि भावो में से जो आप हैं और जो आपके साथ सम्बन्ध रखते हैं, उनका स्वरूप क्या है ? और जिनमें आप हैं, और जो आपके नहीं हैं, उसका स्वरूप क्या है ? अधिष्ठान–दृष्टि से किसी के साथ भवद्रूपता और भवत्सम्बन्धिता नहीं हो सकती । हाँ, अध्यास दृष्टि से वैसा हो सकता है, पर वह तो तात्त्विक नहीं है, यह भाव है ॥१६॥

परमार्थ में भेद है ही नहीं, इसलिए भेदाधीन देह, देह के साथ सम्बन्ध और देह ग्रहण आदि कलंकों की संभावना ही नहीं है, ऐसा कहते हैं ।

जैसे भगवान् भास्कर में अन्धकारपट से किसी प्रकार के कलंक की सम्भावना नहीं हो सकती, वैसे ही भेदाधीन कलंक की आत्मा में भी किसी प्रकार से सम्भावना नहीं हो सकती, क्योंकि वास्तव में आत्मा में न तो भेद है, न देह है और न उनका सम्बन्ध ही है ॥१७॥

कथंचित् भेद मान लिया जाय और देह आदि भी सत्य मान लिये जाय, तो भी उनके साथ आत्मा का सम्बन्ध हो ही नहीं सकता, यों प्रौढ़ि बतलाते हुए कहते हैं ।

हे शत्रुनिषूदन, भेद का अंगीकार करने पर भी और देह आदि को सत्य मान लेने पर भी व्यापक आत्मा का उनके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता, यह आपसे मैं कहता हूँ ॥१८॥ जैसे छाया और धूप विस्तार का तथा प्रकाश और अन्धकार का परस्पर सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही शरीर और आत्मा का भी परस्पर सम्बन्ध नहीं होता ॥१९॥ हे श्रीरामजी, जैसे सदा–सर्वदा परस्पर विरुद्ध रहनेवाले शीत और उष्ण का एक दूसरे से सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही चैतन्य और जाड्य धर्मों से परस्पर अत्यन्त

विरुद्ध देह और आत्मा का भी (एक दूसरे से) कभी सम्बन्ध नहीं हो सकता ॥२०॥

यदि शंका हो कि देह और आत्मा का संयोग या तादात्म्य सम्बन्ध भले ही न हो, परन्तु समवाय तो हो सकता है, तो इस पर कहते हैं।

जो कि समवाय सम्बंध अयुतसिद्ध पदार्थों का है, वह इन जड़ देह और चेतन आत्मा का कैसे अनुभूत हो सकता है, अर्थात् उनका समवाय सम्बन्ध है, यह अनुभव नहीं हो सकता ॥२१॥

श्रीरामजी, दावाग्नि में समुद्र है, यह उक्ति जिस प्रकार दुरवबोधार्थ है, उस प्रकार चिन्मात्रस्वरूप आत्मा का देह के साथ सम्बन्ध है, यह जो उक्ति है, वह भी असम्भवार्थक है। यदि देह को चैतन्य का आश्रय माना जाय, तो विषय न हो सकने के कारण उसका स्मरण ही नहीं हो सकेगा। यदि देह को आत्मा का विषय मानेंगे, तो आश्रय न हो सकने के कारण समवाय आदि असिद्ध हो जायेंगे और विषयतासम्बन्ध तो मिथ्यावस्तु में भी रहता है, ऐसी स्थिति से उसमें सत्यत्व रह नहीं सकता, इसलिए तथोक्ति दुरवबोधार्थ है, यह भाव है ॥२२॥

तब अध्यस्त ही सम्बन्ध हो ? इस पर कहते हैं।

जैसे सूर्य की किरणों में प्रतीत हुआ समुद्र विभ्रम किरणों के यथार्थ साक्षात्कार से विनष्ट हो जाता है, वैसे ही अधिष्ठान आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से यह देह और आत्मा का परस्पर हुआ सम्बन्ध विभ्रम भी विनष्ट हो जाता है ॥२३॥

'शुद्धमपापविद्धम्' (आत्मा निर्मल और समस्त पापों से विवर्जित है) इत्यादि श्रुतियों से निश्चित स्वाभाविक विशुद्धि के साथ विरोध होने से भी आत्मा अशुद्ध देह आदि के साथ तनिक भी स्पर्श नहीं करता, ऐसा कहते हैं।

चिदात्मा समस्त मलों से विवर्जित, अविनाशी, स्वप्रकाश एवं समस्त विकारों से रहित है और देह विनाशी एवं समस्त मलों से परिपूर्ण है, ऐसी स्थिति में विशुद्धि आदि गुणों से युक्त आत्मा अविशुद्धि आदि से उपप्लुत शरीर के साथ कैसे सम्बद्ध हो सकता है ? ॥२४॥

यदि शंका हो कि देह का आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं है, तब देह में क्रिया आदि कैसे हो सकते हैं, क्योंकि आत्मसम्बन्ध से शून्य मृत देह में क्रिया आदि देखने में नहीं आते, तो इस पर कहते हैं।

श्रीरामजी, प्राणवायु से अथवा प्राण स्थिति के प्रयोजक अन्न आदि भूतों से प्राप्त बल होकर ही देह स्पन्दन को प्राप्त करती है, इसलिए आत्मा के साथ देह का स्वल्प भी सम्बन्ध नहीं है। तात्पर्य यह निकला कि देहगत स्पन्द में प्राण अथवा बल ही प्रयोजक है, आत्मा नहीं ॥२५॥

पूर्वोक्त रीति से द्वैत को सत्य मानने पर भी जब आत्मा के साथ देहादि का सम्बन्ध नहीं हो सकता, तब उसको असत्य मानने पर आत्मा के साथ देह आदि का सम्बन्ध नहीं है, इसमें तो कहना ही क्या ? यों प्रौढिवाद का उपसंहार कर रहे श्रीवसिष्ठजी कहते हैं।

हे धीमन्, जब द्वैत की सत्यता मानने पर भी आत्मा के साथ (पूर्वोक्त प्रणाली से) देहादि का सम्बन्ध नहीं हो सकता, तब द्वैत की असत्यता में इस प्रकार सम्बन्ध की कल्पना ही कैसे हो सकती है, अर्थात् नहीं हो सकती, यह भाव है ॥२६॥

द्वैत की असिद्धि ही कैसे है ? ऐसी आशंका कर शरीर और आत्मा के सम्बन्ध में दर्शाई गई दूषण

युक्ति का वहाँ पर (द्वैत की असिद्धि में) भी अतिदेश करते हैं।

हे श्रीरामजी, यदि कोई द्वैत में सत्यता की आशंका करे तो उसमें पूर्वोक्त इन्हीं युक्तियों का आश्रय करना चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि द्वितीय वस्तु की सिद्धि होने पर ही द्वैत की सिद्धि हो सकती है। यदि द्वितीय वस्तु चित् है, तो उसमें भेदक का अभाव होने से द्वैतसिद्धि की आशा करना ही व्यर्थ है। यदि द्वितीय वस्तु जड़ है, तो छाया और धूप की नाईं चित् और जड़ का परस्पर विरोध होने से पूर्वसिद्ध चित् के विरुद्ध जड़ पदार्थ सिद्ध ही नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि चित् अपने से असम्बद्ध अर्थ का साधन करता है, तो उससे भी कुछ मतलब सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि दावाग्नि में सागर है, इस कथन के सदृश ही तथोक्त कथन असंभवार्थक है। यदि द्वैत को अध्यस्त माना जाय, तो वह चित्साक्षात्कार से विलीन हो जायेगा। निर्मलत्व आदि आत्म स्वभाव से विरुद्ध, मलिन देहादि जड़ पदार्थों की असंग आत्मा से सिद्धि कैसे हो सकती है इत्यादि पूर्वोक्त युक्तियों का प्रकृत में भी साम्य होने के कारण उपन्यास करना चाहिए, इसलिए द्वैतभ्रम का परित्याग कर अद्वितीय चिन्मात्र में ही आप निष्ठा कीजिये। उसमें न तो किसी का कभी बन्धन होता है और न किसी का कभी मोक्ष होता है यानी उक्तावस्था में बन्ध, मोक्ष आदि की शंका ही नहीं हो सकती ॥२७॥

वह कौन-सी स्थिति है, जो मुझे प्राप्त करनी है, इस प्रश्न पर उस स्थिति को कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, पहले से ही शान्त हुआ यह समस्त बाह्य और आभ्यन्तर जगत् आत्मस्वरूप ही है, इस प्रकार के स्पष्ट अनुभव को सभी अवस्थाओं में आप दृढ़ बनाइये ॥२८॥

विरुद्ध दृष्टि का परित्याग करने पर ही सर्वत्र आत्मदृष्टि दृढ़ होती है, इस आशय से कहते हैं।

श्रीरामजी, बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ताओं के द्वारा 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं मूर्ख हूँ' इत्यादि प्रत्ययों का दुर्दृष्टि शब्द से व्यवहार किया गया है, यदि आप इन प्रत्ययों में वस्तुबुद्धि रखते हैं, तो अवश्य आप दीर्घकालीन दुःख की ही अभिलाषा रखते हैं, यह मुझे कहना पड़ेगा ॥२९॥

यदि शंका हो कि देह, दुःख आदि का अनुभव प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से होता है और आत्मा का भी अनुभव श्रुति और तदनुकूल युक्तियों से होता है, इसलिए जब दोनों अनुभव प्रमाण-जनित होने के कारण समान ही हैं, तब ऐसा कौन विशेष है कि जिसके आधार पर आप यह कहते हैं : आत्मदृष्टि अवलम्बन कर देहादि दृष्टि का परित्याग कर देना चाहिए, तो इस शंका पर कहते हैं।

श्रीरामजी, पर्वत और तिनके में तथा रेशम और पत्थर में जो विशेष कहा जाता है, वही विशेष परमात्मा और शरीर की समानता के प्रति कहा जा सकता है। भाव यह है जैसे पर्वत और तिनका इन दो के मध्य में दूर से चक्षु के द्वारा पर्वत पर ही दृष्टि पड़ती है, क्योंकि पर्वत बड़ा और स्थिर है, इसलिए उसमें अनायास दृष्टि सरल हो जाती है। तिनका अतिचंचल और तुच्छ है, अतः दूर से चक्षु के द्वारा तृण-दृष्टि दुष्कर हो जाती है। इसी प्रकार रेशम और पत्थर के बीच में भी मृदु और सुख स्पर्श होने के कारण त्वचाइन्द्रिय से रेशम का स्पर्श ही उपादेय होता है, कठोर और दुःखद होने के कारण पाषाण का स्पर्श उपादेय नहीं होता, प्रत्युत हेय ही होता है, बस इसी प्रकार परमात्मा और देहादि अनात्मा के बीच में भी अपरिच्छिन्न, सदा-सर्वदा स्वप्रकाश और आनन्दरूप होने के कारण परमात्मदृष्टि उपादेय एवं सुकर है और तुच्छ, अस्थिर और मन आदि से सापेक्ष होने के कारण देहादि अनात्मदृष्टि हेय और

दुष्कर है, यों आत्मा और अनात्मा की दृष्टि में महान् वैषम्य होने से साम्य नहीं हो सकता ॥३०॥

विरोध होने से भी शरीर और आत्मा के संबन्ध की नाईं सादृश्य भी निरस्त किया जा सकता है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जैसे परस्पर अत्यन्त विरुद्ध तेज और तिमिर का एक दूसरे से सम्बन्ध और सादृश्य नहीं हो सकता, वैसे ही परस्पर अत्यन्त विरुद्ध आत्मा और शरीर का भी एक दूसरे से सम्बन्ध और सादृश्य नहीं हो सकता ॥३१॥

विरोध होने से ही देह और देही के परस्पर तादात्म्य की शंका भी नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं।

जैसे शीत और उष्ण का ऐक्य वाणी के विलास में भी कहीं नहीं दिखाई पड़ता, वैसे ही जड़ और प्रकाशस्वरूप देह और आत्मा का भी संयोग नहीं हो सकता। जब आत्मा और अनात्मा का संयोग ही असम्भव है, तब उनका ऐक्य तो दूरतः ही निरस्त है, यह भाव है ॥३२॥ यह देह प्राणवायु से ही चलती है, उसी से आती और जाती रहती है एवं देह की नाड़ियों में विलास करनेवाले प्राणवायु से ही शब्द करता है। पहले आत्मा के साथ संयोगादि सम्बन्ध के बिना भी प्राणवायु से देह चेष्टा होती है इसका प्रतिपादन किया था और इस समय आत्मा के साथ ऐक्य न होने पर देह–चेष्टा प्राण से हो सकती है यह प्रतिपादन किया, इसलिए पुनरुक्ति की शंका नहीं करनी चाहिए ॥३३॥ जैसे छिद्रयुक्त बाँसों से वायु के द्वारा शब्द उत्पन्न होते हैं वैसे ही शरीर के कण्ठरूप छिद्र से उद्गत प्राणवायुओं से *(जबकि वे कण्ठ, तालू आदि स्थानो में जिह्वा आदि के द्वारा अभिघात से निकाले जायेंगे, तब)* क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग आदि शब्द प्रकट होते हैं, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है ॥३४॥

इसी युक्ति से चक्षु आदि सम्पूर्ण इन्द्रियों का स्पन्द भी वायु से ही होता है आत्मा का तो कार्य केवल संवित् ही है, दूसरा नहीं, यह कहते हैं।

विषय–प्रदेश में होनेवाले चक्षुःस्पन्द में हेतुभूत कनीनिका का परिस्पन्द भी केवल प्राण–वायु से ही होता है, यों समस्त इन्द्रियों के स्फुरण से उत्पद्यमान उक्त स्फूर्तिरूपा संवित् ही केवल आत्मा से होती है, दूसरा कुछ भी नहीं होता ॥३५॥

यद्यपि वह सर्वगत और नित्य है, तथापि चित्त और उसकी वृत्तियों में ही अभिव्यक्त होती है, अन्यत्र नहीं ऐसा कहते हैं।

यद्यपि आकाश, पत्थर, दीवार आदि सर्वत्र स्थानों में आत्मा की स्थिति (सत्ता) विद्यमान है, तथापि दर्पण में प्रतिबिम्ब की नाईं इस चित्त में ही वह दीखाई पड़ती है ॥३६॥

अतएव चित्त के गमन से ही आत्मा का परलोक में गमन आदि व्यवहार भी होता है, ऐसा कहते हैं।

शरीररूपी आलय को छोड़कर जहाँ चित्तरूपी पक्षी अपनी वासना के अनुसार जाता है, वहीं पर आत्मा अनुभूत होता है ॥३७॥ जहाँ पुष्प रहता है, वहीं पर जैसे गन्ध की संवित् (ज्ञान) रहती है, वैसे ही जहाँ चित्त होता है, वहीं पर आत्मा की संवित् रहती है ॥३८॥ जैसे सर्वत्र अवस्थित आकाश दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही सर्वत्र अवस्थित आत्मा चित्त में दिखाई पड़ता है ॥३९॥ जैसे पृथ्वी में नीचे का स्थान जलका आश्रय स्थान होता है, वैसे ही अन्तःकरण ही चैतन्य–प्रतिबिम्बि का आश्रय स्थान है ॥४०॥ जैसे सूर्य की प्रभा आलोक का विस्तार करती है, वैसे ही अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित्

आत्मसंवित् व्यावहारिक और प्रातिभासिक जगत्–स्वरूप का विस्तार करती है ॥४१॥ अतः भूतोंकी उत्पत्ति में (संसृति में) अन्तःकरण यानी समष्टि आत्मा हिरण्यगर्भ ही कारण है, आत्मा तो समस्त पदार्थों से परे है, इससे प्रतिबिम्ब द्वारा भूतोत्पत्ति में कारण होते हुए भी आत्मा स्वतःकारण नहीं है ॥४२॥

तब अन्तःकरण का कारण कौन है ? इस प्रश्न पर उसका कारण कहते हैं।

प्रखर बुद्धिवाले विद्वान लोग यह कहते हैं कि संसार की सृष्टि में विचार, अज्ञान और मूढ़ता ही सारभूत है और यही अन्तःकरण में हेतु है ॥४३॥ अन्यथाग्रहण के संस्कारों की सामर्थ्यरूप मोह से विभ्रमों की बीज घनीभूत सत्ता का (चित्तपरिणाम का) अन्तःकरण ने ग्रहण किया है, जैसे मोह से असम्भावित अन्धकार सूर्य से दिखाई देता है, वैसे ही सम्मोह से ही असंभावित जन्मादि परम्परा आत्मा में दिखाई देती है। अथवा जैसे सूर्य से ही उसको ग्रसनेवाला राहुरूप तम दिखाई देता है, वैसे ही तथोक्त कारण से चित्त परिणाम को ग्रहण करनेवाला अज्ञान 'मैं अज्ञ हूँ' यों प्रत्यक्षरूप से आत्मा में सभी पुरुषों को दिखाई पड़ता है ॥४४॥

तब चित्त विनाश किस कारण से होता है ? इस प्रश्न पर चित्त विनाश में कारण कहते हैं।

हे रामजी, जैसे दीप से अन्धकार तत्क्षण ही असत्ता को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही अबाधित आत्मा के केवल स्वरूप–ज्ञान से ही चित्त तत्क्षण असत्ता को पूर्णरूप से प्राप्त यानी नष्ट हो जाता है ॥४५॥ इसी चित्त के कारण से संसार का कारणभूत अज्ञान प्राप्त हुआ है, अतः अधिकारी जन को स्वयं उसके विषय में विचार करना चाहिए अथवा इससे संसार के कारणभूत चित्त के विषय में विचार करना चाहिए, जिसके कि जीव, अन्तःकरण, चित्त, मन आदि अनेक नाम हैं ॥४६॥

श्रीरामजी ने कहा : मान्यतम हे भगवान्, चित्त के ये नाम किस योग से यानी किस व्युत्पत्ति से योगरूढ़ि को प्राप्त हुए हैं, हे ब्रह्मन्, उसी को मुझसे इसलिए कहिए कि जिससे आपके द्वारा प्रतिपादित पूर्वोक्त विचारों की सिद्धि हो जाय ॥४७॥

उसमें पहले रूढ़ि और योगांश से जीव नाम का निर्वचन करने के लिए महाराज वसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं।

वसिष्ठजी ने कहा : हे रामजी, जैसे तरंगों के समूह केवल जल से ही उत्पन्न होते हैं, वैसे ही ये समस्त पदार्थ, जो आत्मतत्त्व के साथ ऐक्याध्यास होने के कारण आत्मतत्त्वरूप प्रतीत होते हैं, केवल चित्त से (समष्टि चित्त से) ही सदा उत्पन्न होते हैं ॥४८॥

उत्पन्न पदार्थों के स्थावर–विभाग में हेतु बतलाते हैं।

जैसे समुद्र का जल चंचल तरंगों में स्पन्दात्मा होकर अवस्थित रहता है, वैसे ही आत्मा चित्त से उत्पन्न उन पदार्थों में कहीं–कहीं पर केवल स्पन्दरूपात्मा होकर अवस्थित रहता है ॥४९॥ जैसे तरंगभाव को प्राप्त हुए जलों में जल अस्पन्दस्वरूप होकर रहता है, वैसे ही उन पदार्थों में कहीं पर परमात्मा अस्पन्दन स्वरूपात्मा होकर अवस्थित रहता है ॥५०॥ उन भावों में अचंचल (स्थिर) पत्थर आदि पदार्थ तो अपने स्वरूप में अवस्थित हैं और सुरा के फेन की नाईं अत्यन्त उत्कट स्पन्द से युक्त पुरुष चंचल हैं यानी अपने स्वरूप में अवस्थित नहीं हैं ॥५१॥ उसमें उन–उन शरीरों में सर्वशक्ति तत्–तत् पदार्थ–स्वरूपापन्न आत्मा के द्वारा कल्पित अज्ञान की कलना प्रसिद्ध है,

इसलिए स्वयं आत्मा ही उक्त स्वकल्पित अज्ञानस्वरूप होकर सुषुप्ति और प्रलय में अवस्थित रहता है ॥५२॥ प्रतिबिम्ब भाव को संप्राप्त अनन्त आत्मा के द्वारा भासित–सा होकर प्रस्फुरित हुआ उक्त अज्ञान ही रूढ़ि अंश को लेकर जीव कहा जाता है । वही इस संसार में महामोहरूपी माया के पिंजड़े में फँसा हुआ हाथी है ॥५३॥

उसमें योगांश को कहते हैं ।

हे श्रीरामजी, सभास अज्ञान ही प्राण–धारण करने से 'जीव' यों कहा गया है, अहन्ता होने से यानी सर्वप्रथम 'अहम्' (मैं हूँ) यों व्यवहार करने के कारण अहंभाव से (अहंनाम से), निश्चय करने के कारण बुद्धि नाम से और संकल्प करने के कारण मन नाम से कहा गया है ॥५४॥ जीव मन आदि की प्रकृति (कारण) होने से प्रकृति, उपचित (बृद्धिगत) होने से देह, अज्ञान अंश की प्रधानता से जड़ और चैतन्य की प्रधानता से चेतन कहा जाता है ॥५५॥ अज्ञान और ज्ञान के साक्षी दोनों के बीच में रहनेवाला साभास मन ही तत् तत् नाना–रूपता को प्राप्त होकर जीव, बुद्धि, मन, चित्त, अहंकार आदि अनेक नामों से व्यवहृत होता है ॥५६॥

परमात्मा का ही उपाधि में प्रवेश हो जाने से उसके अनेक नाम हो जाते हैं, इसमें श्रुतियों का प्रमाण रूप से प्रदर्शन करते हैं ।

हे अनघ, उस प्रकार के जीव के स्वरूपों का बृहदारण्यक आदि अनेक वेदान्त ग्रन्थों में अनेक तरह से (📖) निश्चितरूप से कथन किया गया है ॥५७॥

(📖) 'स एष इह प्रविष्टः आनखाग्रेभ्यः' (यह आत्मा ब्रह्मा से लेकर तृण तक के देहों में नखाग्रपर्यन्त प्रविष्ट है यानी जल में सूर्य की नाईं प्रतिबिम्बित है), इसका उपक्रम कर 'प्राणन्नेव प्राणो भवति वदन्वाक् पश्यँश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामधेयानि' (प्राणन क्रिया को कर रहा आत्मा प्राण नामवाला, वदन क्रिया को कर रहा वाक् नामवाला, दर्शन क्रिया को कर रहा चक्षु नामवाला, श्रवण क्रिया को कर रहा श्रोत्र नामवाला, मनन क्रिया को कर रहा मन नामवाला होता है, आत्मा के ये सब नाम कर्मकृत हैं), इसी प्रकार 'स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्र मति मृत्यो रूपाणि' (स्वप्रकाश आत्मा संनिहित्वादि से बुद्धि के सदृश होकर अन्योन्य धर्म आदि का अध्यास होने पर प्राप्त और प्राप्तव्य दोनों लोकों में संचरण करता है, बुद्धि का ध्यान व्यापार होने पर आत्मा मानों ध्यान करता हुआ–सा, प्राणादि वायुओं के चलने पर चलता हुआ–सा प्रतीत होता है । स्वप्नाकार में परिणत बुद्धिवृत्ति के अवभासक रूप से स्वप्नाकार होकर जाग्रत्–व्यवहाररूप इस लोक का अतिक्रमण करता है यानी उसका अभिमान छोड़ देता है । अज्ञानरूपी मृत्यु के अहमभिमान आदि स्वरूपों का अतिक्रमण करता है), इसी प्रकार 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः ।', 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ।', 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् ॥' (संकल्प आदि बुद्धि के गुणों से तथा जरा, मृत्यु आदि शरीर के गुणों से ज्ञानरूप व्यापक आत्मा आरे के अग्रभाग की नाईं दिखाई पड़ता है,' 'केश के अग्रभाग के सौ बार किये गये भाग का पुनः सौ बार किया गया जो विभाग है, उसकी नाईं जीव को सूक्ष्मातिसूक्ष्म जानना चाहिए, वह जीवस्वरूप से अनन्त हो जाता है, जगत् की सृष्टि कर उसीमें आत्मा ने

अतएव वैदिक मार्ग का अनुसन्धान न करनेवाले कुतार्किकों द्वारा की गई विरुद्ध विरुद्ध जीवस्वरूपकी कल्पनाओं का समादर नहीं करना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

अज्ञानी मूढ़ों ने, जो कुत्सित कल्प विकल्पों की सिद्धि के लिए दुष्ट तर्क–वितर्क करने में निपुण हैं, इस जीवादि संज्ञाओं में केवल मोह के लिए व्यर्थ ही अभिनिवेशों की कल्पना कर रक्खी है ॥५८॥

इस युक्ति–प्रयुक्तियों से यह सिद्ध हुआ कि न तो शुद्ध आत्मा संसारी है और न देह ही संसारी है, किन्तु मध्यवर्ती जीव ही संसारी है, इस आशय से कहते हैं।

हे महाबाहो, इस प्रकार यह जीव ही संसार का कारण है, विचार वाणी आदि से शून्य यानी जड़ देह ने इसमें किया ही क्या ? अर्थात् जड़ शरीर से संसार स्थिति नहीं हो सकती, यह भाव है ॥५९॥

अतएव देह का विनाश होने पर भी जीव का विनाश नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

जैसे आधार (घट) और आधेय (जल) इन दो में से किसी एक का विनाश होने पर दूसरा नष्ट नहीं होता, वैसे ही शरीर आदि का नाश होने पर आत्मा नष्ट नहीं होता ॥६०॥ जैसे एक पत्ते के रस का विनाश होने पर भी वृक्षव्यापी रस का विनाश नहीं होता, किन्तु अन्य पत्ते में उसकी सत्ता रहती ही है, वैसे ही देह का विनाश होने पर भी देहव्यापी आत्माका विनाश नहीं होता, किन्तु यदि वह वासनायुक्त है, तो शरीरनाश के बाद वासना में स्थित रहता है एवं जैसे क्षीण हुआ पत्ते का रस सूर्य की किरणों में चला जाता है, वैसे ही यदि वह वासनाशून्य है, तो ब्रह्माकाश स्वभाव में स्थित रहता है ॥६१,६२॥ जिस महामूर्ख को इस प्रकार भ्रम हो कि शरीर के नष्ट होने पर मैं नष्ट हो गया, तो उस मूर्ख के लिए मैं यों मानता हूँ कि माता के स्तन से उसके लिए वेताल का समुत्थान हो गया है ॥६३॥

तात्पर्य यह है कि 'अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः'(शरीर सम्बन्ध से रहित हुए आत्मा को सुख या दुःख कुछ भी स्पर्श नहीं करते) इस श्रुति से देह विनाश भय का अहेतु प्रतीत होता है, ऐसी अवस्था में अभय हेतु शरीर–विनाश में ये हेतुत्व का मिथ्या परिज्ञान रखनेवाले महामूर्ख को अपनी माता के स्तन से भी वेताल के समुत्थान की संभावना हो सकती है और उस सम्भावना से स्तन्यपान न हो सकने से उसका जीवन भी दुर्लभ हो जायेगा।

यदि शंका हो कि देह जीव से भिन्न है, इसलिए देह के विनाश से जीव को भय न हो, तो भले ही मत हो किन्तु चित्त जीवस्वरूप है, इसलिए चित्त के नाश से जीव को भय हो सकता है तो इस पर कहते हैं।

यदि उस उपाधि का आत्यन्तिक नाश होगा, जो कि वज्र की बेड़ी के समान अत्यन्त दृढ़ बन्धनभूत

अनुप्रवेश किया, उसमें प्रवेश कर आत्मा पृथ्वी आदि मूर्त और आकाश आदि अमूर्त स्वरूप हो गया।), 'सं एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत.........तस्मादिदन्द्रो नाम । यदेतद्हृदयं मनश्चैतत्संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानम्', (उस परमेश्वर ने मूर्धा के मध्य भागरूप सीमा प्रदेश में छिद्र कर उसीके द्वारा शरीर में प्रवेश किया, ...इससे इन्द्र नाम हुआ, संकल्प आदि साधनभूत मन और बुद्धि है, वह संज्ञान है, आज्ञप्ति, विज्ञान और प्रज्ञान है) तथा 'त्वमेकोऽसि बहूननुप्रविष्टः ।', 'एको देवो बहुधा विचारः', 'एक सन् बहुधा विचारः', (तुम एक अद्वितीय हो, अनेक में प्रविष्ट हो, एक आत्मदेव बहुत प्रकार से विचरण करता है) इत्यादि श्रुति या इस तरह के आत्मा के अनेकविध नामों में प्रमाण हैं ।

है, तो यह जीव अपनी ब्रह्मस्वरूपता का स्मरण कर निरतिशयानन्दरूपी अभ्युदय को प्राप्त हो जायेगा, क्योंकि आप चित्त के नाश से जीव–विनाश की जो सम्भावना करते हैं, वह शास्त्रों में जीव के लिए मोक्ष कहा गया है ॥६४॥ 'मैं नष्ट हो गया, मैं मर गया' यों लोगों द्वारा विनाशित्व आदि से विशिष्ट जो जीव कहा जाता है, उसे निश्चितरूप से मैं मिथ्या और असत् मानता हूँ, क्योंकि देश और काल से व्यवहित होकर यानी पूर्व शरीर–त्यागने के बाद विभिन्न–विभिन्न देश और काल में जाकर वह अन्य देह को ग्रहण करके पुनःपुनः अनुभूत होता है ॥६५॥ इस संसार में मरण नाम की नदियों में, तरंगों के भीतर तृण के सदृश, प्रतीत होने वाले जीवों के द्वारा देश और कालवश तिरोहित स्वरूपों से उक्त प्रकार के भावों की 'मर गया, नष्ट हो गया उत्पन्न हुआ' आदि पदार्थों की भ्रान्तिवश से कल्पना की जाती है ॥६६॥

कल्पना की विलक्षणता में वासना की विलक्षणता हेतु है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे बन्दर वन के एक वृक्ष को छोड़ कर दूसरे वृक्ष पर चला जाता है, वैसे ही वासना में आरूढ़ जीव एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर पर चला जाता है ॥६७॥ हे राघव, जिस शरीर पर वह चला गया, उस शरीर को भी छोड़कर दूसरे विस्तृत देश और दूसरे काल में दूसरे शरीर पर भी थोड़े ही समय में चला जाता है ॥६८॥ जैसे आसक्त उपमाता बालकों को इधर–उधर ले जाती है, वैसे ही अपनी ही वंचक वासना, जिसका कि जीवों का यथार्थ स्वरूप आवृत कर जीना ही स्वभाव है, बहुत काल तक इधर–उधर जीवों को ले जाती है ॥६९॥ अपने अपने कार्यों की सिद्धियों में एक दूसरे का परस्पर उपयोग करने के कारण जो एक दूसरे के जीवन के उपाय यानी साधन हैं, ऐसे वासनारूपी रज्जु से बँधे हुए जीव पहले से ही जीर्ण तो हैं ही, फिर भी पर्वतों की कुक्षियों में यानी पर्वततुल्य जड़ शरीर में अत्यन्त दुःखपूर्वक प्राणों को क्षीण कर रहे हैं ॥७०॥ श्रीरामजी, जीर्णों से भी अधिक जीर्ण होकर जिन्होंने दरिद्रता, रोग, वियोग आदि से जनित दुःखों के बोझों को ढोया है तथा अनेक योनियों में दुर्दशाग्रस्त परिणामों से जर्जर यानी दुःखों से शिथिल हुआ जिनका जीवन है, ऐसे जीव हृदय में उत्पन्न वासनाओं की परम्परा से नरकों में दीर्घकाल तक निवास करते हैं, आश्चर्य है कि वासनादोष से जनित दुर्दशा असीम है, यह भाव है ॥७१॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : मुनि वसिष्ठ महाराज के ऐसा कहने पर दिन बीत गया, सूर्य भगवान् अस्ताचल की ओर चले गये और सभा मुनिजी को नमस्कार कर सायंकालीन विधि के लिए चली गई और रात्रि बीतने पर सूर्य की किरणों के साथ फिर दूसरे दिन आ गई ॥७२॥

इकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

बहत्तरवाँ सर्ग

शरीर भौतिक है, अतः वह शोक, मोह के योग्य नहीं है,
इसका तथा दृग–दृश्य के सम्बन्ध और विशुद्ध साक्षी का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे महाभाग श्रीरामजी, आप देह के उत्पन्न होने पर न तो उत्पन्न होते हैं और न देह के विनष्ट होने पर नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि अपने स्वरूप में आप किसी तरह के कलंक से कलंकित नहीं हैं यानी निज स्वरूप से आप विशुद्ध हैं, अतः आपकी देह कोई चीज नहीं है ॥१॥

'मैं गोरा हूँ', 'मैं मोटा हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण से आत्मा में देहरूपता का साक्षात् अनुभव होता है, अतः देह का विनाश होने पर आत्मा की स्थिति कैसे हो सकती है ? तो इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जो कुण्ड और बदर का (बेर के वृक्ष या फल का) न्याय है और जो घट और आकाश की मर्यादा है, वही यहाँ पर भी (देह और आत्मस्थल में भी) समझनी चाहिए। (तात्पर्य यह है कि जैसे 'कुण्डे में बेर', 'घटाकाश' इत्यादि व्यवहारों में कुण्डे और बेर का तथा घट और आकाश का सम्बन्ध प्रतीत होता है, पर उनका तादात्म्य प्रतीत नहीं होता, वैसे ही' मैं गोरा हूँ' इत्यादि व्यवहार से शरीर और आत्मा का तादात्म्य सम्बन्ध प्रतीत होता है, पर वास्तव में वह नहीं हैं।) ऐसी स्थिति में एक कुण्ड या घट के नष्ट हो जाने पर कुण्ड और बदर तथा घट और आकाश दोनों भी नष्ट हो गये, ये इस प्रकार मूर्खों की व्यर्थ कल्पना है ॥२॥ नश्वर-स्वभाववाले इस देह के नष्ट हो जाने पर आत्मा अपनी सहज स्थिति को प्राप्त हो जाता है, ऐसी हालत में 'देह का विनाश होने पर मैं नष्ट हो जाता हूँ' इस प्रकार की भावना से जो दुःखी होता है, उस मन्द बुद्धि को धिक्कार है ॥३॥

यदि आत्मा का देह के साथ तादात्म्य नहीं है, तो जैसे शाखा के कम्पनों सें वृक्ष में कम्पन होता है, वैसे ही देह की प्रवृत्ति से आत्मा संसार का भागी क्यों होता है ? इस पर कहते हैं।

जिस प्रकार घोड़े आदि की लगाम और रथ का सम्बन्ध प्रीति और द्वेष की योग्यता से रहित है, उसी प्रकार चिति का भी देह, चित्त, इन्द्रिय आदि के साथ सम्बन्ध प्रीति और द्वेष की योग्यता से रहित है ॥४॥ हे श्रीरामजी, जैसे सरोवर, तद्गत पंक और निर्मल जल का सम्बन्ध किसी प्रकार के परस्पर के अनुराग से युक्त नहीं है, वैसे ही देह, इन्द्रिय और आत्मा का सम्बन्ध किसी प्रकार के परस्पर के अनुराग से युक्त नहीं है ॥५॥ जैसे मार्ग पथिकों के संयोग और वियोग की अवस्था में आस्था (अहन्ता और ममता के अभिमान) एवं परिवेदन से यानी उसके वियोग से जनित (विलाप से) वर्जित है, वैसे ही देह और देही का संयोग और वियोग अहन्ता-ममता अभिमान एवं वियोग-जनित विलाप से वर्जित हैं ॥६॥

वैसे क्यों है ? इस पर कहते हैं।

जैसे कल्पित वेताल के कराल वदन, दाँत आदि विकारों से जनित प्राथमिक भय के पुनः पुनः स्मरण से बालक को मोहनेवाली भीतियाँ मिथ्या ही हैं, वैसे ही ये कल्पित स्नेह, सुख आदि मिथ्या ही हैं ॥७॥ जैसे एक ही वृक्ष से विलक्षण विलक्षण पुतलियाँ (भीतियाँ) बनाई जाती हैं, वैसे ही पाँचभूतों के संघात से विभिन्न विभिन्न जनसमूह बनाये गये हैं ॥८॥ जैसे लकड़ियों के बोझे में लकड़ियों के सिवा और कुछ नहीं दिखाई पड़ता, वैसे ही पृथ्वी, जल, तेज आदि पाँच भूतों के शरीर में पाँच भूतों के पिण्ड के सिवा और कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता ॥९॥ हे मनुष्यों, तुम लोग पाँच भूतों का क्षोभ, नाश और उत्पत्ति होने पर हर्ष, अमर्ष और विषाद के वश में क्यों हो जाते हो ? ॥१०॥

अपनी देह में स्नेह आदि की अयोग्यता बतलाकर अब स्त्री आदि के शरीरों में भी स्नेह आदि की अयोग्यता है, यह बतलाते हैं।

जिसका स्त्री नाम यह दूसरा अभिधेय (वाच्य) है, ऐसे तुच्छ भूतों के समूह में यानी स्त्री-शरीरात्मक पाँच भूतों के पिण्ड में पुरुषों को ऐसी क्या विशेषता प्रतीत होती है, जिससे कि उनकी अग्नि में पतंगे की नाईं, विषयाग्नि में व्यामोह और राग से दृश्यमान गिरने की चेष्टा युक्तिसंगत कही जाय ॥११॥

सुकुमार और सुन्दर अवयव–सन्निवेश ही स्त्री के शरीर में अतिशय है, तो इस पर कहते हैं।

सुकुमार और सुन्दर अवयवों के संनिवेश अंश को लेकर विलक्षणता का जो उपपादन करते हैं, वह तो केवल अज्ञानियों के लिए ही सन्तोष का विषय हो सकता है, पर जो तत्त्वज्ञ हैं, उनको तो उसमें उपस्थित पाँचभूतों का ही दर्शन होता है ॥१२॥

भाई आदि में राग का निवारण करते हैं।

जैसे एक पत्थर से उत्पन्न हुई दो पाषाण–प्रतिमाओं के परस्पर आलिंगित होने पर भी राग नहीं होता, वैसे ही चित्त और शरीर के आलिंगित होने पर भी राग नहीं होता ॥१३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मिट्टी से बनाई गई प्रतिमाओं का समागम होने पर भी जिस प्रकार उनका परस्पर ममता आदि से शून्य भाव होता है, उसी प्रकार बुद्धि, इन्द्रिय, आत्मा और मन का समागम होने पर भी आपका ममता आदि से शून्य ही भाव हो ॥१४॥ जैसे पत्थर की बनाई गई प्रतिमाएँ अन्योन्य स्नेह–सम्बन्ध के भाजन नहीं है, वैसे ही देह, इन्द्रिय, आत्मा और प्राण भी अन्योन्य स्नेह सम्बन्ध के भाजन नहीं है अतः उनमें से किसके विषय में यहाँ शोक करना चाहिए ? ॥१५॥ जैसे यत्र यत्र भिन्न भिन्न प्रदेशमें उत्पन्न हुए तिनकों को तरंगें पर्याप्त रूप से एकत्र करती हैं, वैसे ही आत्मा भिन्न भिन्न प्रदेश में उत्पन्न भूतों को एकत्र करता है ॥१६॥ जैसे समुद्र के जल में तृण एक दूसरे से मिल जाते हैं और पृथक् हो जाते हैं, वैसे ही रागाभिमान से विनिर्मुक्तिपूर्वक ही पुत्र, पशु आदि प्राणी अथवा पृथ्वी आदि भूत स्वनिर्मित देह में या स्वाधिष्ठान आत्मा में एक दूसरे से मिल जाते हैं और पृथक् हो जाते हैं ॥१७॥ जैसे सागर आवर्ताकार की कल्पना से वृद्धिगत आकार को प्राप्त कर तृण, काठ आदि पदार्थों को बटोरता हुआ रहता है, वैसे ही आत्मा भी चित्ताकृति को प्राप्त कर देह, भूत आदि को बटोरता हुआ रहता है ॥१८॥

तब किस उपाय से आत्मा भूतसम्बन्ध के हेतुभूत चित्तभाव से मुक्त होता है ? इस प्रश्न पर उस उपाय को बतलाते हैं।

जैसे जल अपनी स्पन्दन क्रिया से ही मलिनता का परित्याग कर स्वयं ही स्वच्छता को प्राप्त करता है, वैसे ही आत्मा प्रबोध से विषयरूपता का परित्याग कर स्वयं ही आत्मरूपता को प्राप्त करता है ॥१९॥ तदनन्तर प्रबोधकालमें ही मन के द्वारा सम्पादित भूताश्लेष से विनिर्मुक्त होकर अपने देह को उस प्रकार देखता है, जिस प्रकार कि वायु के कन्धे पर चढ़े हुए देव आदि भूमण्डल को देखते हैं ॥२०॥

दर्शन का फल बतलाते हैं।

भूतसमूह को अपने से पृथक् देखकर अविनाशी आत्मा देहातीत हो जाता है और जैसे सूर्यकान्ति दिवसमें परम प्रकाश को प्राप्त करती है, वैसे ही वह परम प्रकाशको प्राप्त करता है ॥२१॥ तदनन्तर जैसे मद्य के मद से मत्त हुआ पुरुष मद के निकल जाने पर भीतर अपने पूर्व विज्ञान का स्मरण करता है, वैसे ही आत्मा अपने ही से अपने प्रमाण प्रमेयरूपी विकारों से विनिर्मुक्त स्वरूप को जान लेता है ॥२२॥ जिस प्रकार समुद्र में तरंगरूपी कणों के कल्लोलों से असीम जल प्रस्पन्दित होता है उसी प्रकार आत्मा ही समस्त वस्तुओं से मानों उदित हुए विश्व के रूप से प्रस्पन्दित होता है ॥२३॥ हे श्रीरामजी, जिनका समस्त राग विनष्ट हो गया है, जिनके पाप दूर हो गये हैं तथा जो परब्रह्मपद को प्राप्त हो चुके हैं ऐसे जीवन्मुक्त पुरुष उसी प्रकार के विशिष्ट विज्ञान से युक्त होकर इस संसारमण्डल में विचरण करते

हैं ॥२४॥ जैसे समुद्र की ऊर्मियाँ विविध श्रेष्ठ रत्नों से सम्बद्ध होने पर भी उनमें अनासक्ति के कारण सिल्लियों (एक प्रकार के पत्थरों) के टुकड़ों की भाँति ही व्यवहार करती है, वैसे ही वासना वर्जित उत्तम महात्मा लोग भी चित्त के व्यवहारों से सम्बन्ध होने पर भी उनमें अनासक्ति के कारण ऊपर ऊपर से ही व्यवहार करते हैं ॥२५॥ जैसे तीर और काष्ठों से समुद्र म्लान (दीन) नहीं होता तथा जैसे रजःकणों से आकाश म्लान नहीं होता, वैसे ही जिसने अपनी आत्मा को भली प्रकार पहचान लिया है, ऐसा आत्मवान् (आत्मज्ञानी) पुरुष इस संसार में निजी लौकिक व्यवहारों से म्लान नहीं होता ॥२६॥ जैसे समुद्र को गत, आगत, स्वच्छ, चपल, मलिन एवं जड़ तरंगों से राग और द्वेष नहीं होता, वैसे ही तत्त्वज्ञानी को गत, अभ्यागत, स्वच्छ, मलिन, जड़ एवं चंचल भोगों से राग और द्वेष नहीं होता ॥२७॥

तत्त्वज्ञ को क्यों अनुराग नहीं होता ? इस शंका पर कहते हैं।

चूँकि तत्त्वज्ञ पुरुष इस जगत् में मन, मनन (संकल्प) जो सब कुछ विद्यमान है, वह सब विषयोन्मुखता को प्राप्त चित्तत्त्व के विलास का एक उल्लास है, यों जानते हैं, इसलिए उनको किसी से राग या द्वेष नहीं होता ॥२८॥

जो अहम्, भूत आदि तथा तीनों कालों में उत्पन्न होनेवाली वस्तुएँ दृश्य और दर्शन के सम्बन्धों से दिखाई पड़ती हैं, वह सब केवल मन का ही विस्तार है, मन की कल्पना के सिवा और कुछ नहीं है ॥२९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस जगत् में दो पदार्थ हैं एक दृश्य और दूसरा द्रष्टा इन दो पदार्थों के बीच में केवल दृष्टि के यानी दृष्टि स्वरूप साक्षीभूत आत्मा के द्वारा सिद्ध हुआ जो दृश्य पदार्थ है, वह असत् है या सत् है ? इस विषय का अभी तक निर्णय न हो सकने के कारण दृश्य हर्ष और शोक के लिए अयोग्य ही है और दूसरा स्वतःसिद्ध जो साक्षीरूप आत्मा है, वह तो असंग है, इसलिए उत्पन्न हुए भी हर्ष और शोक से वह सम्बद्ध नहीं होता, ऐसी स्थिति में दृक् और दृश्य दोनों को सत् या असत् मानने पर भी हर्ष-शोक की संभावना नहीं हो सकती, यह तात्पर्य है ॥३०॥

क्या असत्य वस्तु के विषय में हर्ष और शोक होते है ? या सत्य वस्तु के विषय में ? या सत्यासत्य वस्तु के विषय में ? इन तीन विकल्पों में भी हर्ष और शोक की योग्यता नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो असत्य वस्तु है, उसके विषय में हर्ष-शोक करना व्यर्थ ही है, क्योंकि वह तो असत्य ही ठहरा। जो सत्य वस्तु है उसके विषय में भी हर्ष-शोक करना अनुचित है, क्योंकि सत्य वस्तु सदा-सर्वदा प्राप्त ही है, इसलिए ऐसी वस्तु के विषय में लाभ-प्रयुक्त हर्ष और हानि-प्रयुक्त शोक ये कैसे हो सकते हैं ? अब तृतीय विकल्प बचा, वह भी अयुक्त है, क्योंकि सत्य-असत्य एक वस्तु हो ही नहीं सकती, कारण कि एक वस्तु में सत्यत्व और असत्यत्व ये दो विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते। ऐसी परिस्थिति में यह तृतीय विकल्प प्रथम विकल्प के सदृश हो जाने से प्रथम विकल्पोक्तदूषण ही इसमें आ गया। जब ऐसी वास्तव में स्थिति है, तब जगत् में हर्ष-शोक-योग्य किसी वस्तु के न रहने से उसके लिए आपको शोक करना व्यर्थ ही है ॥३१॥ हे सुन्दरनेत्रवाले श्रीरामजी, मिथ्या दर्शनरूपी भ्रम को छोड़कर आप यथार्थ वस्तु का अवगम करिये। जब मनुष्य यथार्थ ज्ञान से युक्त होकर प्रौढ़ बन जाता है, तब इस संसारमें कहीं पर भी वह मोह को प्राप्त नहीं होता ॥३२॥

भोग-सुख के लिए सभी लोग विषय और इन्द्रियों का सम्बन्ध मानते हैं, उस सम्बन्ध की अवस्था

में अभिव्यक्त होनेवाला जो सुख है, उसका स्वतः प्रकाश होने के कारण वह अनुभूतिस्वरूप है, वृत्तिरूप उपाधि के बल से प्रतीयमान भेद, तारतम्य आदिके निरास से अखण्ड के साथ ऐक्य होने पर वह सुख ब्रह्मस्वरूप ही है, पृथक् नहीं है, ऐसा कहते हैं।

रम्य विषय और इन्द्रियजनित वृत्तियों का परस्पर सम्बन्ध होने पर अपनी आत्मा में उत्पन्न जो परमात्मस्वरूपसुख है, वह रम्य विषय और इन्द्रियों के परस्पर सम्बन्ध के विस्तार से अभिव्यक्त (प्रकाशित) होता है। इसलिए अनुभूत–स्वरूप सुख ब्रह्म ही कहा जाता है ॥३३॥

विषय और इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर सर्वोत्तम जो सुखानुभूति होती है, वह अज्ञानी पुरुष को संसार प्रदान करती है और तत्त्वज्ञ ज्ञानी पुरुष को सर्वोत्तम सदा उदयस्वरूप मोक्ष प्रदान करती है यानी विषयाकार वृत्ति से आस्वादित सुख विषयों में राग आदि दोषों का उद्भावन कर संसार देता है और विषयों का विवेककर अखण्ड अद्वितीय आत्मभावसे गृहीत सुख मोक्ष देता है, यह भाव है ॥३४॥

रम्य विषयों का और इन्द्रियवृत्तियों का परस्पर सम्बन्ध होने पर उत्पन्न होनेवाला जो सुख है, वह आत्मस्वरूप ही है, ऐसा महात्मा लोग कहते हैं।

वह सुख विषयसंग से युक्त होने पर संसार कहलाता है और विषय संग से विनिर्मुक्त होने पर मुक्ति कहलाता है ॥३५॥ दुःखरूपी बीमारी से वर्जित दृश्य और ऐन्द्रियक वृत्तियों के सम्बन्ध से जनित सुखानुभव, यदि क्षय और अतिशय से यानी पुण्य के तारतम्यसे जनित वृत्तिनाश और वृत्ति वैशद्य के उत्कर्ष से होनेवाले क्षय और अतिशय से शून्य हो जाय, तो वह मुक्तिस्वरूप हो जाता है, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ॥३६॥ दृश्य और दर्शन के सम्बन्ध से होनेवाली जो अखण्ड पूर्णानन्द स्फुरण–स्वरूप दृश्य और दर्शन से वर्जित सुखानुभूति होती है, उसका अवलम्बन करने से संसार की अनुत्पत्ति होती है ॥३७॥ उक्त प्रकार की दृष्टि का अखण्ड–पूर्णानन्द–स्फुरणात्मक सुखानुभूति का) अवलम्बन करने पर आत्मस्वरूप को आवृत करनेवाली सुषुप्ति दृष्टि का विच्छेद हो जाता है और आत्मस्वरूप–दृष्टि प्रकाशित रहती है। उसी एकमात्र दृष्टि का अवलम्बन करने पर ही तुर्यावस्था प्राप्त होती है और उसीके अवलम्बन से मुक्ति कही जाती है ॥३८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जब दृश्य और दर्शन के सम्बन्ध से निर्मुक्त और परम बुद्धि से युक्त यह स्वरूप दृष्टि होती है, तब दृश्य और दर्शन के सम्बन्ध के असली तत्त्व को जानकर पुरुष तुर्यावस्था को प्राप्त होता है। *(तुर्यस्वरूपा मुक्तिमें आत्मा का जो स्वरूप रहता है, उसे बतलाते हैं)* हे श्रीरामजी, तुर्यतारूप मुक्तिमें आत्मा न तो स्थूल रहता है, न अणु रहता है, न प्रत्यक्षात्मक वृत्ति का विषय रहता है, न अविषय रहता है, न चैतन्य युक्त रहता है, न जड़ रहता है, न असत् ही रहता है, न अस्तित्वरूप भावविकार से युक्त रहता है ॥३९,४०॥ उक्त अवस्था में आत्मा न अहंरूप रहता है, न अन्य स्वरूप रहता है, न एकत्व संख्या से युक्त रहता है, न अनेकत्व से यानी एकत्व संख्या के अभाव से युक्त रहता है, न समीप में रहता है, न दूर में रहता है, न सत्ताश्रय रहता है और न सत्ताश्रयत्व के अभाव से युक्त रहता है ॥४१॥ तुर्यावस्था में आत्मा न तो प्राप्य है, न अत्यन्त अप्राप्य है, न सर्वात्मक है, न व्यापक है, न पदों का वाच्य है, न तो पदों का अवाच्य है, (क्योंकि तुर्यत्वादि पदों से लक्षित होता है), न पाँच भूतों का आत्मा (स्वभाव) है और न पाँच भूतों के स्वरूपभूत ही है ॥४२॥

उक्त अर्थ में युक्ति कहते हैं।

मन के साथ जो चक्षु आदि छः इन्द्रियाँ है, उनका विषय जो यह दृश्यत्व को प्राप्त यानी जगत् है, उसका अतिक्रमण करनेवाला जो पद होगा, वह इस जगत् में विद्यमान किसी दृश्य पदार्थ का स्वरूप नहीं हो सकता, किन्तु स्वस्वरूप हो सकता है ॥४३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस प्रकार का यह जगत् है, उस प्रकार के इस जगत् को भलीभाँति जाननेवाले पुरुष के लिए यह समस्त विश्व आत्मस्वरूप ही है, कहीं भी आत्मस्वरूप से वर्जित वस्तु नहीं है ॥४४॥

तब क्यों भूमि आदिभूत दिखाई देते हैं ? इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, यह आत्मा ही अपने स्वरूप में काठिन्य, द्रवता, स्पन्द, आकाशरूपी अवकाश और प्रकाश के अवलोकनों से क्रमशः पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और तेजरूप जगत्-भावों में विद्यमान है यानी नट के समान अवस्थित है, यह भाव है ॥४५॥

यह आपने कैसे निश्चय किया कि आत्मा ही उस प्रकार से अवस्थित है ? इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, चूँकि वस्तुओं की जो-जो सत्ता है, वह आत्मा के प्रकाश के सिवा दूसरी वस्तु नहीं है, इसलिए जो कोई यह कहे कि मैं आत्मप्रकाश से व्यतिरिक्त हूँ, तो उसका वैसा कहना उन्मत्त की नाईं बकवासमात्र ही है, यह आप जानिये ॥४६॥

जो कुछ पहले कहा, उस सबको एकत्र कर उपसंहार करते हैं।

श्रीरामजी, समस्त काल और असीम कालक्रमों के बीच में प्रविष्ट अनेक जगत् तथा उन अनेक जगतों में जीव के अनैकविध संसार यह सब एक आत्मा ही है, इसको छोड़ और कोई दूसरी कला की गणना है ही नहीं, अतः हे महानुभाव, आप पहले इस प्रकार की बुद्धि से युक्त होकर उक्त बुद्धि से यानी तत्त्वदर्शन से इस संसार से अपना छुटकारा पा जाइये ॥४७॥

बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

तिहत्तरवाँ सर्ग

दो तरह की अहंभावना ग्रहण करने योग्य है, तीसरी अहंभावना त्याग करने योग्य है,
तीनों अहंभावनाओं के त्याग से मुक्ति की इच्छा नहीं होती, यह कथन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे चिन्तामणि के स्वरूप को जाननेवाले देवता चिन्तामणि को प्राप्त कर लेते हैं वैसे ही पूर्वोक्त विचारात्मक दृष्टि से द्वैत का परित्याग कर आत्मा के स्वरूप को जाननेवाले तत्त्ववित् महात्मा स्वरूपावस्थितिरूप मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं ॥१॥

सर्वत्र अहंभाव-दृष्टि को बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं।

हे श्रीरामजी, अब आप इस द्वितीय दृष्टि का श्रवण कीजिये, इसका श्रवण करने से आप अविचल अपने आत्मा का साक्षात्कार कर लेंगे और दिव्य दृष्टि से सम्पन्न हो जायेंगे ॥२॥ मैं आकाश हूँ, मैं आदित्य हूँ, मैं दिशाएँ हूँ, मैं अधः हूँ, मै ऊर्ध्व हूँ, मैं दैत्य हूँ, मैं देव हूँ, मैं लोक हूँ और मैं चन्द्र आदि की प्रभा हूँ। मैं अन्धकार हूँ, मैं मेघ हूँ, मैं पृथ्वी हूँ, मैं समुद्र आदि हूँ तथा रेणु, वायु, अग्नि एवं यह समस्त जगत् मैं ही हूँ ॥३,४॥ तीनों लोकों में सब जगह जो स्वरूपभूत आत्मा अवस्थित है, वह मैं हीं हूँ। इस

सर्वात्मक स्वरूप से भिन्न परिच्छिन्न मैं कौन हूँ ? अर्थात् मैं कभी परिच्छिन्न नहीं हो सकता हूँ। देहादि भी मुझसे भिन्न कौन हैं ? एक अद्वितीय वस्तु में द्वित्व (स्वरूपगतभेद) किस प्रकार हो सकता है ? ॥५॥ हे रामजी, यों विचारकर आप निश्चयात्मक ज्ञान से युक्त हो जाइये, तदनन्तर आत्मा के भीतर रहनेवाले जगत् को स्वस्वरूप भूत देखिये। यों जगत् को स्वस्वरूपभूत देखने के अनन्तर आप हर्ष और विषाद से पराजित नहीं होगे॥६॥ हे कमलनयन पापशून्य श्रीराघव, इस समस्त जगत् के आत्मस्वरूप से अवस्थित हो जाने पर क्या अपना और क्या पराया रहेगा ? यह आप मुझसे कहिये अर्थात् अपना और पराया कुछ भी नहीं रहेगा ॥७॥ तत्त्वज्ञ से भिन्न ऐसी कौन वस्तु है, जो उसे यदि प्राप्त हो जाय तो वह तन्निबन्धन हर्ष और विषाद से ग्रस्त हो जाय। यदि उसका ऐसी वस्तु के आ जाने से विषाद दिखलाई पड़े तो वह तत्त्वज्ञ ही नहीं है, किन्तु अतत्त्वज्ञ ही है, क्योंकि ऐसा पुरुष जगन्मय ही होता है चिन्मय नहीं, यह जानना चाहिए ॥८॥ ये आगे कही जानेवाली दो अहंकार की दृष्टियाँ सात्त्विक और अत्यन्त निर्मल हैं, उनकी तत्त्वज्ञान से प्रवृत्ति होती है, वे मोक्ष को देनेवाली तथा पारमार्थिक है॥९॥ हे रघुकुलतिलक उन दो अहंकार–दृष्टियों में पहली सबसे परे आकाश की नाईं स्थूल स्वभाव वर्जित, जाग्रत् आदि तीन अवस्थाओं से युक्त तथा दृश्यों से शून्य 'मैं हूँ' इस प्रकार की है और दूसरी 'सभी कुछ मैं हूँ' इस प्रकार की है ॥१०॥ हे पापशून्य रामजी, इन दो से पृथक् एक तीसरी अहंकारदृष्टि स्वभावतः ही , न कि शास्त्रतः चली आ रही है। इसका स्वरूप है –'देह मैं हूँ' । इस दृष्टि को आप केवल दुःखदायक ही जानिये, न कि विश्रान्तिदायक ॥११॥ अब आप इन तीनों अहंकारों को भी छोड़कर जो अवशिष्ट रहनेवाला अहंभावनाशून्य पूर्ण चित्स्वभाव है, उसका अवलम्बन कर उसी अवलम्बन योग्य वस्तु में निरत होकर अवस्थित रहिए॥१२॥ यद्यपि आत्मा शोधन द्वारा अखिल प्रपंच स्वरूप से निर्मुक्त तथा बाध के द्वारा समस्त पदार्थों की सत्ता का अतिक्रमण करनेवाला है; तथापि जगत् के बोध स्वरूप उपाय के द्वारा निखिल जगत् को पूर्ण करनेवाला सबका प्रकाशक यह आत्मा है ॥१३॥

युक्ति, शास्त्र और गुरुवचन ये तो केवल दिशामात्र का सूचन करने के लिए हैं, उसका परिचय तो केवल अपने अनुभव से ही होता है, इस आशय से कहते हैं।

हे तत्त्वज्ञश्रेष्ठ, अपने ही अनुभव से शीघ्र देखिये कि आप सदा–सर्वदा उदित स्वभाव तत्–पदलक्ष्य परब्रह्म स्वरूप ही है अतः आप देह आदि की वासनाओं से युक्त अहंकार तादात्म्याध्यास का परित्याग कर दीजिये ॥१४॥

'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (उपनिषद के प्रमाण–गम्य उस पुरुष के विषय में पूछता हूँ) इत्यादि श्रुति से यह ज्ञात होता है कि धर्माधर्म के सदृश श्रुति और श्रुत्युक्त युक्तियों में केवल विश्वास रखने से ही अलौकिक आत्मा का परिज्ञान होता है, ऐसी स्थिति में आप यह कैसे कहते हैं कि आत्मा केवल अपने अनुभव से ही वेद्य है ? तो उस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, आत्मा न तो अनुमान से (युक्ति से) स्फुट होता है और न आप्त वचन आदि से स्फुट होता है, किन्तु वह सर्वदा सब प्रकार से केवल अनुभव से ही प्रत्यक्ष यानी स्फुट होता है। धर्म आदि के समान अत्यन्त परोक्ष आत्मवस्तु का प्रतिपादन करने के लिए श्रुति आदि की प्रवृत्ति नहीं है, किन्तु सबके अनुभव से सिद्ध सत्तावाले आत्मा का विवेचन करने के लिए ही उनकी प्रवृत्ति है ॥१५॥

सबको आत्मा प्रत्यक्ष है, इसका उपपादन करते हैं।

बाह्य और आन्तर विषयों में अन्तःकरणकी वृत्ति के सम्बन्ध से अभिव्यक्त होनेवाला जो अर्थप्रकाशरूप साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान प्रसिद्ध है और जो अनुमिति, उपमिति और शाब्द ज्ञान आदि भी प्रसिद्ध हैं, वह सब, विषय और अन्तःकरण वृत्तिरूप उपाधि के परित्याग से अपरोक्ष आत्मरूप से ही अवशिष्ट रहते हैं। श्रुति भी कहती है। 'प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते' ॥१६॥

आत्मा प्रत्यक्ष और परोक्ष वेद्य, व्यक्त एवं अव्यक्त दोनों से विलक्षण है, इस कथन से दृश्य और दर्शन दोनों से भी वह निर्मुक्त है, इसका उपपादन करते हैं।

यह प्रकाशात्मक आत्मदेव न तो सत् है और न असत् है, न अणु है और न महान् है, न सत् और असत् की दृष्टि के मध्य में यानि सत्यासत्य है, किन्तु वही द्योतनात्मक देव इस दृश्यमान समस्त जगत् का स्वरूपभूत है ॥१७॥

इस प्रकार वाग् आदि कर्मेन्द्रियों की प्रवृत्ति में निमित्त होने के कारण वागादि से व्यवहृत न होनेवाले आत्मा का परिचय देकर अब वागादि और उनके (वागादि के) विषयों का उसमें बाध करके उसीका परिशेष करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

आत्मा ही इस प्रकार बोलता है, परन्तु वह कहा नहीं जा सकता। ये वाक् आदि और उनसे व्यवहृत होनेवाले पदार्थ आत्मा से अन्य नहीं हैं, हे रामजी, आप आत्मा को अनामय (अविकारी) ही देखिए ॥१८॥

आत्मा और अनात्मा, यह नाम-रूप जो विभाग है, उसकी भी उसी आत्मा ने अपनी ज्ञानशक्ति से यानी मायाशक्ति से कल्पना कर रक्खी है, अतः बाध्यत्व की उपपत्ति है, इस आशय से कहते हैं।

यह आत्मा है और यह आत्मा नहीं है, यों जो संज्ञाभेद है, इसकी स्वयं आत्मा ने ही अपने में अपनी सर्वगत शक्ति से (मायाशक्ति से) कल्पना कर रक्खी है ॥१९॥

हे श्रीरामजी, वह प्रकाशमान परमात्मा तीनों कालों में सब जगह अवस्थित है, वह यद्यपि सदा नित्य स्वप्रकाश, पूर्ण एवं अपरोक्ष स्वभाव है, तथापि सूक्ष्म और व्यापक होने के कारण स्थूल-विषयों में आसक्त बुद्धिवाले पुरुष उसका परिज्ञान नहीं कर सकते है ॥२०॥

स्थूल-विषयों की आसक्ति में तो मोहवश पुर्यष्टकरूप उपाधि में (पाँचभूत, कर्म, वासना और विद्या इन आठ वस्तुओं से बने हुए लिंग शरीर में) प्रतिबिम्ब पड़ने से आत्मा की जायमान जीवभावापत्ति निमित्त है, इस आशय से कहते हैं।

सर्ग के क्रम से उत्पन्न भोग्य और भोगायतन आदि अनेक पदार्थों में पुर्यष्टकरूपी दर्पण में अपनी मायावश स्वतः आत्मा ही जीवरूप से प्रतिबिम्बित होता है।२१॥ जैसे पंखे आदि के संयोग से आकाश में सर्वदा सर्वत्र स्थित वायु अभिव्यक्त किया जाता है, वैसे ही पुर्यष्टक के उदय से ही सदा सर्वत्र स्थित स्वयं आत्मा 'अहम्' इस रूप से अभिव्यक्त किया जाता है ॥२२॥ जैसे सब पदार्थों का अस्तित्व सर्वत्र विद्यमान है, वैसे ही महेश्वर चित्स्वरूप परमात्मा भी सर्वत्र विद्यमान है तथा व्यापक है, वह कहीं एक जगह पर ही यानी किसी एक देह में ही रहता है, ऐसी बात नहीं है ॥२३॥

परिच्छिन्न अहंस्वरूप से परमात्मा के स्फुरण में तो पुर्यष्टक हेतु है, ऐसा कहते हैं।

जैसे वायु होने पर रजःकण प्रस्फुरित होते हैं अथवा जैसे दीपक होने पर दर्शन प्रस्फुरित होता है,

वैसे ही पुर्यष्टक के होने पर ही उसमें जीव प्रस्फुरित होता है, न कि पत्थर में प्रस्फुरित होता है ॥२४॥ जैसे आकाश में सूर्य के रहने पर ही सब मनुष्यों को तत्–तत् क्रिया से होनेवाले फलों की अभिलाषा प्रस्फुरित होती है, वैसे ही पुर्यष्टक में परम प्रेमास्पद निरतिशयानन्दात्मक स्वात्मा के रहने पर ही यह स्वेच्छाप्रीति और विचित्र भोगों की इच्छा प्रस्फुरित होती है ॥२५॥

यद्यपि आत्मा सब व्यवहारों से दूर है, तो भी 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' इत्यादि श्रुति से आत्मा ही प्रिय और अप्रिय का निर्वाहक है, यह भाव है।

वैसा भले ही हो, उससे क्या हुआ ? इस पर कहते हैं।

आकाश में सूर्य स्थित होने पर तत्–तत् इच्छाफल में अनुरूप स्थिति रखनेवाला यह व्यवहार यदि विनष्ट हो जाता है, तो उससे सूर्य में क्या आया ? अर्थात् कुछ नहीं ॥२६॥ स्वप्रकाश स्वरूप आत्मा के अवस्थित होने पर आत्मसत्ता से अपनी स्थिति को प्राप्त करनेवाली देह यदि नष्ट हो जाती है, तो उससे आत्मा में क्या हुआ ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥२७॥

तब आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप कैसा है ? तो उस पर कहते हैं।

सबका यह आत्मा किसी समय न तो उत्पन्न होता है, न मरता है, न कुछ ग्रहण करता है, न कुछ चाहता है, न मुक्त होता है और न बद्ध होता है ॥२८॥

इसलिए आत्मा को अज्ञान से ही अनर्थ की भ्रान्ति हुई है, यह कहते हैं।

आत्मा के प्रबोध से उत्पन्न, आत्मशून्य वस्तु में आत्मभाव को प्राप्त हुई, रज्जु में सर्प भ्रम के सदृश, भ्रान्ति केवल दुःख के लिए ही है ॥२९॥

प्रबोध होने पर आत्मा किस प्रकार का रहता है ? उसे कहते हैं।

यह आत्मा कभी भी उत्पन्न नहीं हुआ, क्योंकि इसका कोई आदि कारण नहीं है, और यह नष्ट भी नहीं होता क्योंकि उसकी उत्पत्ति नहीं हुई है। वह आत्मभिन्न वस्तु की कभी भी अभिलाषा नहीं करता है, क्योंकि आत्मा से भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं ॥३०॥ यह आत्मा दिशा या काल से परिच्छिन्न नहीं है , अतः कभी यह बद्ध नहीं होता, जब बन्ध ही नहीं है, तब मोक्ष कहाँ से होगा, इससे वास्तव में आत्मा का अमोक्ष ही स्थित है ॥३१॥ हे राघव, मैंने पहले जो आत्मा के गुण बतलाये हैं, उन गुणों से युक्त ही यह आत्मा सबका है, इसलिए यह सब लोग अविचार से जनित मोह को प्राप्त होकर चारों ओर रो रहे हैं ॥३२॥ हे सुमते, मेरे वचनों से आपने जगत् की पूर्वापर रचना का निःशेषरूप से भली–भाँति परिज्ञान कर लिया है, अतः मूर्खता को प्राप्त हुए मनुष्यों की नाईं आप शोक मत कीजिये ॥३३॥ जैसे गेहूँ आदि को पीसने के लिए विनिर्मित जल–चक्की आदि यन्त्र के द्वारा गेहूँ आदि का पीसना प्रवृत्त होने पर पुरुष केवल संनिधिमात्र से उक्त कार्य को करता हुआ–सा पर स्वतः तो काम आदि व्यापारों से शून्य होकर स्थित रहता है, वैसे ही विद्वान् को मोक्ष और बन्धरूपी दोनों ही कल्पनाओं का परित्याग कर तथा स्वतः समस्त व्यापारों से शून्य होकर देह आदि से व्यवहार करना चाहिए ॥३४॥ मोक्ष न तो आकाश की पीठ के ऊपर है, न तो पाताल में है और न भूमि के तल पर है, किन्तु सम्यक् ज्ञान से चिन्मात्र–स्वरूपता को प्राप्त निर्मल चित्त ही मोक्ष है ॥३५॥ इच्छा करने योग्य विषयों में अनासक्ति करने से अन्तःकरण का जो बोधात्मक वृत्ति से स्वयं क्षय हो जाता है, वही आत्मतत्त्व को जाननेवाले तत्त्वज्ञों

द्वारा मोक्ष शब्द से कहा जाता है ॥३६॥ हे श्रीरामजी, जब तक निर्मल आत्मा का प्रबोध उदित नहीं हुआ है, तब तक मूर्खतायुक्त कार्पण्य से पुरुष नित्य-प्राप्त आत्मा में अप्राप्ति की कल्पना कर मोक्ष प्राप्ति की इच्छा करता है ॥३७॥ सर्वातिशायी नित्य आत्मा के ज्ञान को प्राप्त कर जब चित्त पारमार्थिक चिन्मात्रस्वरूप को प्राप्त हो जाता है, तब चाहे दस मोक्ष रहें, तो भी यह उनकी इच्छा नहीं करता, फिर स्वल्प एक मोक्ष को चाहेगा ही कैसे ?॥३८॥ हे अभव (संसार शून्य), यह मोक्ष है और यह बन्ध है, इस प्रकार की तुच्छ कल्पना का परित्याग कर महात्मा होकर उस मोक्ष रूप आप ही हो जाइये ॥३९॥

हे श्रीरामजी, समस्त कल्पनाएँ जिसमें से निर्मूल हो गई है, ऐसी अवस्था को प्राप्त होकर आप सगर के पुत्रों द्वारा खोदी गई पृथिवी की मेखला तक यानी समुद्रपर्यन्त पृथिवी-मण्डल का दीर्घ काल तक पालन कीजिये, क्योंकि आप समस्त आसक्तियों से परे हो चुके हैं तथा आपकी आत्मज्योति उदित हो चुकी है, इसलिए राज्य आदि का पालन आपके लिए किसी तरह से दोष का हेतु नहीं हो सकता ॥४०॥

तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

चौहत्तरवाँ सर्ग

प्रमाद से संसार-भ्रान्ति, प्रबोध से सदा पूर्णता तथा जीवन्मुक्त के गुणों का वर्णन।

'ये मूढ़ लोग अविचार से ही रोते हैं', यह जो पहले कहा था, उसी का आरम्भ में सविस्तार विचार करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, जैसे रम्य रमणी, पुत्र आदि के मुख को न देख रहे विरही पुरुष के हृदय में म्लानता (दीनता), कृशता आदि विकृत स्वरूप को उत्पन्न करनेवाली उदासीनता निरन्तर उत्पन्न होती है, वैसे ही प्रलय और सुषुप्ति में अज्ञान से आवृत होने के कारण निरतिशयानन्दस्वरूप अतएव परम प्रेमास्पद अपने स्वरूप को न देख रहे आत्मा में काम-कर्मों की वासना के परिपाक क्रम से सृष्टि और जाग्रतकाल में चिद्विलास से सूक्ष्म, स्थूल, समष्टि और व्यष्टि शरीर उत्पन्न होते हैं ॥१॥ जैसे मदिरा के स्वाद से मद की महाशक्ति प्राप्त होती है, वैसे ही अहन्ताध्यास से जीव स्थूल और सूक्ष्म शरीर के अधीन हो जाता है और उससे यह निरतिशय निबिड़ स्नेह से भरी अनर्थ रूपा माया यानी मिथ्याभूत माया प्राप्त हुई है, जो कि राग, लोभ, मोह आदि मद की महाशक्ति है ॥२॥ जैसे मरुभूमि में सूर्य किरणों के ताप से जल प्रतीत हो जाता है, वैसे ही उक्त स्वरूपवाली इस रागादि की शक्ति स्वरूपा महामाया से, जो प्रवृत्ति, भोग, पुण्य, पाप, वासना अनर्थ परम्परारूप विकारों से युक्त है तथा जिसने परमात्मा के अन्यथा भाव से अपना अस्तित्व बना रक्खा है यह समस्त जगत् प्रतीत हो रहा है ॥३॥ मन, बुद्धि, अहंकार, वासना और इन्द्रिय इस प्रकार के नाम और रूप की कल्पना करनेवाले स्वस्वरूपरूपी जलों से आत्मारूप समुद्र प्रस्फुरित होता है ॥४॥

अनर्थप्राप्ति के प्रकार को बतलाकर अब उसके उच्छेदन का उपाय बतलाने के लिए जैसे एक ही वृक्ष अंकुर, काण्ड, मूल और शाखाओं आदि के प्ररोह क्रम से चारों ओर फैलकर अवस्थित होता है, वैसे ही एक ही अन्तःकरण पहले चिन्तन करने से चित्त, तदनन्तर मनन करने से मन, तदनन्तर निश्चय करने से बुद्धि और तदअनन्तर निश्चयाभिमान से अहंकार यों नामों को धारण कर चारों ओर फैलकर

अवस्थित है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, चित्त और अहंकार यों दो प्रकार का व्यवहार केवल वाणी में ही है, वास्तव में नहीं है, क्योंकि जो चित्त है, वही अहंकार है और जो अहंकार है, वही चित्त है ॥५॥ जैसे बर्फ से भिन्न शुक्लत्व की कल्पना की जाती है, पर वास्तव में बर्फ और शुक्लत्व में परस्पर कोई पार्थक्य नहीं है, वैसे ही चित्त और अहंकार की कल्पना व्यर्थ ही की जाती है, वास्तव में उनका परस्पर कोई भेद नहीं है ॥६॥

चित्त और अहंकार की एकता की उक्ति का फल कहते हैं।

भद्र श्रीरामचन्द्रजी, जैसे पट का विनाश होने पर पट (वस्त्र) और शुक्लत्व दोनों का विनाश हो जाता है, वैसे ही मन और अहंकार इन दोनों के बीच में से किसी एक का विनाश हो जाने पर मन एवं अहंकार दोनों का विनाश हो ही जाता है ॥७॥

अब उसके उच्छेदन का उपाय कहते हैं।

'मुझे मोक्ष मिले' इस प्रकार की तुच्छ मोक्षेच्छा, सांसारिक बन्ध बुद्धि तथा अन्यान्य इच्छाओं का परित्याग कर अपने वैराग्य और आत्मा–अनात्मा के विवेक से केवल मन को ही विनष्ट कर देना चाहिए ॥८॥

मोक्षेच्छा का त्याग क्यों करना चाहिए, इस पर कहते हैं।

हे रामभद्र 'मुझे मोक्ष मिले' इस प्रकार की यदि भीतर इच्छा उत्पन्न हो गई, तो मन सबल हो गया, यह जान लेना चाहिए। मनन की ओर मन के एक दम उत्कण्ठित हो जाने पर वही मन शरीर के आकार में परिणत हो जाता है और फिर बहिर्मुखता का सम्पादन कराकर केवल दोष को ही उत्पन्न करता है। अतः किसी पदार्थ की इच्छा करनी ही नहीं चाहिए। चाहे वह पदार्थ मोक्ष हो, चाहे सांसारिक वस्तु हो। पदार्थ की इच्छा ही तुच्छ है ॥९॥

मन का परिच्छिन्न शरीर के आकार में परिणत होना ही दोष है, न कि शुद्ध आत्मा के आकार में परिणत होना दोष है, इस आशय से कहते हैं।

सम्पूर्ण परिच्छन्न वस्तुओं से परे अथवा समस्त भूतगणों में व्याप्त आत्मा में क्या बंध है और क्या मोक्ष है ? इसलिए हे श्रीरामजी, आप परिच्छिन्नता–मनन का ही निर्मूलन कर दीजिए ॥१०॥

प्राण आदि वायुओं से होनेवाले चलन आदि धर्मों से युक्त देह इत्यादि से आत्मा विलक्षण है यह बतलाते हैं।

वायु स्पन्दनरूप धर्म से युक्त है, अतः जब वह इस तुच्छ देह में चलता है, तब हाथ, पैर और रसनारूपी पल्लवों की पंक्ति चलने लगती है ॥११॥ जैसे वायु वृक्ष में पल्लवों की पंक्ति को चलाता है, वैसे ही प्राणादि वायु देह में अंगों की पंक्तियों को पर्याप्तरूप से चलाता है ॥१२॥ सब पदार्थों को व्याप्त कर लेनेवाली अतिसूक्ष्म चिति न तो स्वतः चल है और न किसी से चलायमान होती है, जैसे अचल मेरूपर्वत वायुओं से कम्पित नहीं होता, वैसे ही यह चिति भी प्राण आदि वायुओं से कम्पित नहीं होती ॥१३॥

शुद्ध आत्मभाव में आत्मा का संचलन नहीं होता तो भले ही न हो, पर सर्वात्मरूपता के भाव में तो उसका वैसे संचलन हो सकता है, जैसे शाखा के संचलन से वृक्ष का संचलन होता है, इस पर कहते हैं।

जैसे अपने प्रकाश के द्वारा दीपक घट आदि पदार्थों को प्रकाशित कर देता है, वैसे ही बोध के द्वारा

अपने स्वरूप में अवस्थित चिद्रूपी आत्मा, जिसमें समस्त अर्थ प्रतिबिम्बित हुए हैं, इन अखिल ब्रह्माण्डों को प्रकाशित कर देता है। निष्कर्ष यह निकला कि जैसे स्फटिक की शिला चल रहे अनेक पदार्थों के प्रतिबिम्बों की स्वरूपता को प्राप्त होती हुई भी स्वयं अचल रहती है, वैसे ही आत्मा चल रहे पदार्थों की स्वरूपता को प्राप्त होता हुआ भी स्वयं अचल ही रहता है ॥१४॥ आत्मा और देह की तनिक भी समानता नहीं है, यह जब वस्तु स्थिति है, तब दुर्बुद्धियों को 'यह देह ही मैं हूँ, हाथ आदि अंग मेरे हैं तथा स्त्री, पुत्र आदि मेरे हैं' इत्यादि अत्यन्त दुःखप्रद व्यर्थ मोह नहीं है, तो फिर है क्या ? ॥१५॥ आत्मा और शरीर का अत्यन्त वैधर्म्य होने पर भी देह में ज्ञातृत्व और आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि विरुद्ध धर्म अविद्या के कल्लोलरूपी रागादि से उपहित तथा देह आदि के साथ तादात्म्य और संसर्गाध्यास से जनित होने के कारण अनित्य मिथ्या भ्रान्ति से ही सदा प्रतीत होते हैं ॥१६॥

उपलब्धि के अनुसार ही उत्तरोत्तर भ्रान्ति की बीजभूत वासना भी बढ़ती जाती है यों कहते हैं।

उसमें 'यह मैं आगन्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं कर्ता हूँ' इस प्रकार की वासना, ऐसी व्यर्थ उत्पन्न होती है, जैसे तूलाज्ञान से आवृत मरुभूमिस्थ धूप से मृगतृष्णा उत्पन्न होती है ॥१७॥ असलियत में असत्य ही है, तथापि असत्यत्वरूप से अज्ञात अतएव सत्य-सी दीखाई पड़नेवाली यह अज्ञतारूपा वासना (अविद्या) मनरूपी मत्त मृग को, जो विषयों की तृषा से आक्रान्त है, उस प्रकार खींचती है, जिस प्रकार जल की तृषा से आक्रान्त मृग को मृगतृष्णा खींचती है ॥१८॥ हे रामजी, जैसे जिसका स्वरूप जान लिया गया हो, ऐसी चाण्डाल-कन्या ब्राह्मणों की पंक्ति में से भाग जाती है, वैसे ही जिसका तात्त्विक स्वरूप जान लिया हो, ऐसी अविद्यारूपी वासना भाग जाती है और नष्ट हो जाती है ॥१९॥ हे रामभद्र, जैसे 'यह मृगजल है' इस प्रकार तात्त्विक स्वरूप से जाना गया मृगजल प्यासे मृग को अपनी ओर नहीं खींचता, वैसे ही 'यह अविद्या है' इस प्रकार तत्त्वतः जानी गई अविद्या मनरूपी मृग को नहीं खींचती ॥२०॥

श्रीरामजी, जैसे दीपक से अन्धकार नष्ट हो जाता है और प्रकाश आ जाता है, वैसे ही परमार्थरूप आत्मा के अवबोध से वासनामूल नष्ट हो जाता है और अपरिच्छिन्न आत्म प्रकाश आविर्भूत हो जाता है ॥२१॥ जैसे ताप से तुषार कणिका गल जाती है, वैसे ही 'अविद्या का अस्तित्व किसी तरह नहीं है', इस प्रकार शास्त्र और तदनुकूल युक्ति से दृढ़ निश्चय हो जाने पर अविद्या तत्क्षण गल जाती है ॥२२॥ इस जड़ देह के लिए भोगों से क्या प्रयोजन है ? इस प्रकार के निश्चय से युक्त तत्त्वज्ञ पुरुष इच्छाओं के हेतुभूत मल को (अज्ञान को) ऐसे छिन्न भिन्न कर देता है, जैसे सिंह पींजड़े को छिन्न भिन्न कर देता है ॥२३॥ हे श्रीरामजी, अपने हृदय से इच्छाओं के परिवारभूत देहाभिमान आदि का निश्चितरूप से परिहार हो जाने पर पुरुष चन्द्रमा की नाईं सौन्दर्य से परिपूर्ण हो जाता है और अत्यन्त प्रसन्नता को प्राप्त करता है ॥२४॥ हे मर्यादापुरुषोत्तम, जैसे वृष्टि से धोया गया पर्वत परम शीतलता को प्राप्त करता हैं, वैसे ही उक्त देहाभिमान का विनाश हो जाने पर पुरुष निरतिशय शीतलता को प्राप्त करता है। जैसे राज्य मिल जाने पर दरिद्र परम विश्रान्ति को धारण करता है, वैसे ही वह परम विश्रान्ति को धारण करता है ॥२५॥ जैसे शरद्काल में निर्मलत्व आदि शोभा से आकाशतल अत्यन्त सुशोभित होता है, वैसे ही वह तत्त्वज्ञानरूपी उत्तम शोभा से सुशोभित होता है और जैसे कल्प के अन्त में (महाप्रलय में) समुद्र अपनी सीमा में नहीं समाता, वैसे ही वह अपने में नहीं समाता यानी उस समय

किसी से परिच्छिन्न नहीं होता ॥२६॥ जैसे मेघ वर्षाकाल में बरस चुकने के कारण शरत्काल में गर्जन आदि से शून्य हो जाता है, वैसे ही तत्त्ववेत्ता उक्त दशा में समस्त अभिनिवेशों से शून्य हो जाता है और जैसे प्रशान्त समुद्र अपने स्वरूप में स्थित रहता है, वैसे ही वह अपने स्वरूप में ही अवस्थित रहता है ॥२७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे अचल मेरु स्थिरता और धीरता को ग्रहण करता है, वैसे ही अचल तत्त्ववेत्ता स्थिरता और धीरता को ग्रहण करता है यानी न तो किन्हीं विषयों से हर्षित होता है और न भयस्थानों से प्रकम्पित होता है। ईंधनों के शान्त हो जाने पर अग्नि की नाईं अति स्वच्छ कान्ति से विराजित होता है ॥२८॥ तत्त्ववेत्ता मुनि अपने ही स्वरूप में ऐसे उत्तम शान्ति से समन्वित रहता है, जैसे वायुरहित प्रदेश में दीपक अपने स्वरूप में शान्त रहता है। और परम तृप्ति को ऐसे प्राप्त करता है, जैसे अमृत पी जानेवाला पुरुष परम तृप्ति को प्राप्त करता है ॥२९॥ जैसे मध्यदीपवाला घट, मध्यज्वालावाला अग्नि और प्रस्फुरित कान्तिवाला मणि अपने भीतर प्रकाश को प्राप्त करते हैं, वैस ही तत्त्ववेत्ता पुरुष अपने भीतर परमप्रकाशस्वरूपता को प्राप्त करता है ॥३०॥

तत्त्ववित् महानुभाव सब भूतों के आत्मस्वरूप, सर्वत्र सत्तावाले, सबके नियन्ता, सबके नायक, व्यवहार–दशा में सर्वाकार और परमार्थ दशा में निराकार अपने आत्मा को देखता है ॥३१॥ आत्मतत्त्व स्वरूप को पहचान लेनेवाला महात्मा भूतपूर्व उन तुच्छ दिवसों की पंक्तियों का स्मरण कर हँसता है, जिनमें काम–बाणों की परम्पराओं से चंचल चित्त विद्यमान था ॥३२॥ तत्त्ववेत्तापुरुष विषयी पुरुषों के संग और विषयों के अनुरंजन से वर्जित, मान और मानसिक चिन्ताओं से शून्य, आत्मविषय में आसक्त, परिपूर्ण और विशुद्ध अन्तःकरण युक्त होता है ॥३३॥ आत्मज्ञानी कामरूपी कीचड़ के लेप से रहित, बन्धन स्वरूप आत्मभ्रम से शून्य, सुख–दुःख आदि द्वन्द्वों से उन्मुक्त तथा संसाररूपी सागर से तरा हुआ रहता है ॥३४॥ तत्त्वज्ञ विद्वान् सबसे उत्तम सार्वभौम शान्ति को, साधारण जीवों के लिए अत्यन्त दुर्लभ परमपद को तथा संसारताप में पुनः पुनः सन्ताप–स्वरूप आवृत्ति से वर्जित यानी अनावृत्तिपद स्वरूप साम्राज्य को प्राप्त हुआ रहता है। समस्त लोगों के द्वारा कर्म और वाणी से उस महाविद्वान् का सुन्दर परम पावन चरित्र चाहा जाता है, पर वह कुछ भी नहीं चाहता। सभी मनुष्य उसके चरित्र फलों का अनुमोदन करते हैं, पर वह किसी का अनुमोदन नहीं करता यानी उदासीन रहता है ॥३५,३६॥

तत्त्वज्ञ न तो कुछ देता है, न किसी का ग्रहण करता है, न किसी की स्तुति करता है, न किसी की निन्दा करता है, न अपने स्वरूप के तिरोधान को प्राप्त होता है, न उदय को प्राप्त होता है यानी फिर स्वरूप के आविर्भाव को प्राप्त नहीं होता, न सन्तुष्ट होता है और न शोक करता है ॥३७॥ समस्त आरम्भों का (लौकिक, वैदिक कर्मों का) परित्याग करनेवाला, समस्त उपाधियों से वर्जित तथा समस्त आशाओं को तिलाजंलि देनेवाला पुरुष जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥३८॥

महाराज वसिष्ठ श्रीरामभद्र को जीवन्मुक्त के लक्षणों की शिक्षा देते हैं।

हे श्रीरामजी, जैसे जल धाराओं का निःशेषरूप से परित्याग कर मेघ परिपूर्णरूप से प्रशान्त हो जाता है, वैसे ही आप भी समस्त अभिलाषाओं का परित्याग कर अन्तःकरण से मौन हो जाइये यानी प्रशान्त हो जाइये ॥३९॥

अभिलाषा के परित्याग की प्रशंसा करते हैं।

हे श्रीरामभद्र, जिस प्रकार चन्द्र–बिम्ब की नाईं अत्यन्त शीतल नैराश्य अपने अन्तरात्मा को सुख–शान्ति पहुँचाता है, उस प्रकार अंग में आलिंगित वरवर्णिनी (अपने पति में अनन्य भाव रखनेवाली अति कमनीय कान्ता) पुरुष के अन्तरात्मा को सुख–शान्ति नहीं पहुँचाती है ॥४०॥ हे राघव, जिस प्रकार सम्पूर्ण जगत् को सुशीतल करनेवाला नैराश्य अन्तरात्मा को सुख पहुँचाता है, उस प्रकार कण्ठ में संलग्न चन्द्रमा भी अन्तरात्मा को सुख नहीं पहुँचाता ॥४१॥ श्रीरामजी, जिस प्रकार नैराश्य से सम हुए अन्तःकरण से युक्त उदारमति मौनी तत्त्वज्ञ सुशोभित होता है, विकसित कुसुमों से परिपूर्ण एवं नूतन लताओं से विराजित कुसुमाकार उस प्रकार सुशोभित नहीं होता ॥४२॥ श्रीरामजी, नैराश्य से जैसी शीतलता प्राप्त होती है, वैसी शीतलता न तो हिमालय से, न मोतियों से न कदली काण्डों से, न चन्दन से और न हिमांशु से प्राप्त होती है ॥४३॥ पुरुष को न तो राज्य से, न तो स्वर्ग से, न तो चन्द्रमा से, न तो वसन्त से और न कान्ता के कमनीय संसर्ग से वैसा उत्तम सुख मिलता है, जैसा निराशा से उत्तम सुख मिलता है यानी राज्य आदि की अपेक्षा निराशा ही सबसे बढ़ चढ़ कर सुख है ॥४४॥ हे साधो, जिस मोक्षनामक परम सुख के लिए तीनों लोकों की सम्पत्तियाँ तिनके की नाईं कुछ भी उपकार नहीं कर सकती, वह मोक्षात्मक निरतिशय सुख नैराश्य से ही प्राप्त होता है ॥४५॥ हे रघुकुलकमलदिवाकर, आपत्तिरूपी करंज (करंजुवे) वृक्ष के लिए परशुरूप, परम निरतिशय विश्रान्ति सुख के स्थानस्वरूप, शान्तिरूपी वृक्ष के फूलों के गुच्छ स्वरूप नैराश्य का आप आश्रय लीजिये ॥४६॥

हे श्रीरामजी, नैराश्य से अलंकृत आकृतिवाले महात्मा की दृष्टि में पृथ्वी गाय के खुर की तरह, सुमेरु पर्वत स्थाणु की तरह (काटे गये वृक्ष के अवशिष्ट भाग की तरह), दिशाएँ साधारण पिटारियों की तरह और सारा त्रिभुवन तृण की तरह प्रतीत होता है ॥४७॥ भद्र, इस जगत् में जो लौकिक और शास्त्रीय दान, आदान यानी धन आदि का स्वीकार, समाहार यानी संग्रहवृत्ति से कोश आदि का बढ़ाना, विहार यानी धनव्यय से पुत्र के साथ क्रीड़न, विभव यानी वस्त्र, अलंकार आदि सम्पत्ति इत्यादि क्रियाएँ हैं, वे आशावर्जित महापुरुष के द्वारा हँसी जाती हैं, क्योंकि उनके लिए प्रयत्न तो अत्यन्त करना पड़ता है, फिर उनसे जो फल होते हैं, वे अत्यन्त तुच्छ होते हैं और परिणाम में अनर्थ के सम्पादक है, परन्तु मूढ़ पुरुषों का उनमें वैसा ग्रह नहीं है, इसलिए वे हँसी के पात्र हैं, यह भाव है ॥४८॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आशा जिसके हृदय में अपना स्थान कभी नहीं जमा सकती, ऐसे सम्पूर्ण त्रिभुवन को तृण के सदृश समझनेवाले उस महात्मा की उपमा किससे दी जा सकती है ? ॥४९॥ भद्र, 'मुझे यही होना चाहिए और यह नहीं होना चाहिए' इस प्रकार की इच्छा जिसके चित्त में नहीं होती, ऐसे स्वाधीन चित्तवाले या सर्वेश्वरस्वरूपवाले विद्वान् की मनुष्य किस प्रकार तुलना कर सकते है ? ॥५०॥ श्रीरामभद्र, समस्त संकटों के पारभूत, संकट और मल से वर्जित, सुखात्मक तथा बुद्धि की परम सार्थकतास्वरूप नैराश्य का आप अवलम्बन कीजिये ॥५१॥

हे श्रीरामजी असलियत में आप में (आत्मा में) न तो आशाओं का अस्तित्व है और न आपका (आत्मा का) आशाओं से किसी तरह का सम्बन्ध ही है। इस जगत् को अज्ञानवश से उत्थित मिथ्या भ्रममात्र उस प्रकार जानिये, जिस प्रकार दौड़ रहे रथ के ऊपर अवस्थित पुरुष को दोनों ओर बगल की दिशाओं में विद्यमान तरु, गुल्म आदि में पहियों के परिभ्रमण से भ्रमवश परिभ्रमण होता दिखाई पड़ता

है। अथवा हे श्रीरामजी, आप आशाओं का अवलम्बन मत कीजिये। आशाएँ एक तरह की चोर हैं, क्योंकि आत्मा और अनात्मा के विवेक विज्ञानरूपी धनसम्पत्ति का अपहरण कर वे पुरुषों को आत्मसुख से वंचित कर देती हैं। जगत् का वैषयिकसुख मूढ़ पुरुषों से ही सैकड़ों तरह की अभिलाषाओं के द्वारा चाहा जाता है। जैसे दौड़ रहे रथ में लगे हुए पहियों के ऊर्ध्व और नीचे प्रदेश में होनेवाला घुमाव नेमी का आश्रय करनेवाले पिपीलिका इत्यादि जीवों के पतन, पेंषण (कुचला जाना) आदि अनर्थ का कारण होता है, वैसे ही मिथ्या भ्रममात्र जगत् भी उसका आश्रय करनेवाले यानी भ्रान्तिरूप जगत् में सत्यत्वमति रखनेवाले जीवों के जन्म, मरण आदि अनर्थों का कारण है यानी अनर्थों के लिए ही जगत् समुत्थित है, यह जानिए।

अथवा उत्तम सुख की अभिलाषा से निम्न कोटी के सुखों की अभिलाषा का अपहरण करने के लिए उत्तरोत्तर अन्य अन्य आशाओं का परिग्रह करना पड़ेगा, ऐसी स्थिति में आशाओं की अभिवृद्धि ही होगी, आशा का विनाश नहीं होगा, इस प्रकार की श्रीरामचन्द्रजी की आशंका को ताड़कर महाराज वसिष्ठजी कहते हैं।

हे श्रीरामजी, उत्कृष्ट आशाएँ निकृष्ट आशाओं की अपहर्त्री हैं, इस अभिप्राय से नैराश्य का कथन मैंने नहीं किया है, ऐसा आप जानिये, क्योंकि जगत् तो मिथ्या भ्रम है, यानी मिथ्याभूत वस्तुओं में अभिलाषाओं की परम्परा का उत्पादन कर वह पुरुषों को चक्कर में डालता है। और जैसे दौड़ रहे रथ में स्थित पुरुष को दिक्चक्रो में क्रमशः भ्रमण उत्पन्न होता है अथवा दौड़ रहे रथ के वेग से दिक्मोह उत्पन्न होता है, वैसे ही भ्रान्तिवश जगत् उत्पन्न है, अतः इस प्रकार के मिथ्या भ्रमणशील जगत् में उत्कर्षप्रयुक्त अपकर्ष कथा ही अप्रसिद्ध है। अथवा आशाएँ आशाओं की चोरी नहीं करती, अतः आत्मवेत्ता किसी की भी चाहना नहीं करता, क्योंकि जगत् भ्रममात्र है, इस जगत् में ऐसी कोई पुरुषार्थस्वरूप वस्तु नहीं है, जो चाहने योग्य हो, अतः आप आशाओं से कुछ भी सम्बन्ध मत रखिये, इस पक्ष में शेष अंश पूर्व की तरह समझ लेना चाहिए ॥५२॥

आशाओं के आत्यन्तिक निरास के हेतु का अन्वेषण करने पर उसका परिज्ञान न होने के कारण मोह को प्राप्त हुए–से श्रीरामजी को देखकर पूर्वोक्त देह आदि में अहम्भाव और ममता का परित्याग ही आत्यन्तिक नैराश्य में हेतु है, इसका आग्रहपूर्वक स्मरण करा रहे महाराज वसिष्ठजी कहते हैं :

हे महाबाहो, बोधित होने पर आप देह तथा देह–सम्बन्धी जरा आदि मेरे हैं, पूर्वोक्त काल में प्रसिद्ध और वर्तमान काल में प्रत्यक्ष देह मैं ही हूँ, इत्यादि रूप से मूर्खों की नाईं क्यों भ्रम में पड़े हुए हैं ? ॥५३॥

आपका वैसा कहना यद्यपि उचित है, तथापि आशारूपी दुःखकी निवृत्ति किस प्रकार से होगी ? तो इस पर कहते हैं।

श्रीरामजी, यह सम्पूर्ण जगत् आत्मस्वरूप ही है, यहाँ विविधरूपता है ही नहीं, जगत् को अद्वितीय परमात्मस्वरूप जानकर धीर महात्मा तनिक भी खिन्न नहीं होते ॥५४॥ हे राघव, इन पदार्थों के समूहों का जो यथार्थ आत्मभूत स्वरूप है, उसको जानने से ही पुरुष बुद्धि के परम विश्रान्तिस्वरूप नैराश्य को प्राप्त होता है ॥५५॥

समस्त पदार्थों का यथार्थ स्वरूप किस प्रकार का है ? इसे कहते हैं।

उत्पत्ति, विनाश और विकल्पों से विनिर्मुक्त, आदि और अन्त में स्थित जो स्वरूप है वही पदार्थों का स्वरूप है, ऐसी भावना कर आप अपनी स्थिति कीजिये ॥५६॥ श्रीरामजी, जैसे वीर केसरी के पास से हिरनी पलायन कर भाग जाती है, वैसे ही समस्त विकल्पों के परित्यागरूपी महावैराग्यसे वीरता को प्राप्त हुए अन्तःकरण से युक्त पुरुष के पास से यह मोहकारी संसरणशील माया पलायन कर भाग जाती है ॥५७॥

इसी प्रकार काम आदि दोष भी भाग जाते हैं, इस आशय से कहते हैं।

जिसकी बुद्धि धीर है, ऐसा तत्त्ववित् महात्मा वनलता की नाईं अतिचपल उन्मत्त कामातुर कान्ता को जर्जर प्रस्तर की मूर्ति के तुल्य देखता है ॥५८॥ हे अंग, जैसे वायु पर्वत को न आनन्द दे सकता है, न खेद दे सकता है और न धैर्य से प्रच्युत कर सकता है, वैसे ही तत्त्ववित् पुरुषों को विषयोपभोग न तो आनन्द पहुँचा सकते हैं, न तो आपत्तियाँ भीतर खेद पहुँचा सकती हैं और न दृश्य सम्पत्तियाँ धैर्य से च्युत कर सकती हैं ॥५९॥ भद्र जिसके विषय में बाल अंगनाएँ अनुरक्त हैं, ऐसे भी तत्त्वज्ञ मुनि के अन्तःकरण में उदार बुद्धि के कारण कामदेव के बाण छोटे-छोटे टुकड़े होकर धूलिरूपता को प्राप्त हो जाते हैं ॥६०॥ आत्मा के तत्त्व को पहचान लेनेवाले अपराधीन (इन्द्रियों के अवशीभूत) विद्वान् को राग और द्वेष अपनी ओर आकृष्ट नहीं करते। श्रीरामजी, इस प्रकार महाविद्वान् में उनके द्वारा जब तनिक-सा स्पन्दन भी नहीं हो सकता, तब उनके द्वारा आक्रमण की तो कथा कैसे हो सकती है ? ॥६१॥ जैसे पथिक मरुभूमि में रमण या विश्राम नहीं करता, वैसे ही विद्वान, जो लता और वनिता में एक-सी दृष्टि रखता है तथा जिसका पर्वत की नाईं विकार शून्य निष्कम्प आकार है, वह इन तुच्छ विषयोपभोगों में रमण नहीं करता ॥६२॥

तब क्या विद्वान् खाना, पीना आदि का परित्याग कर देता है ? तो इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जैसे लोचन आसक्त न होकर आलोक का उपभोग करता है वैसे ही जिसका अन्तःकरण किन्हीं भोग्य पदार्थों में आसक्त नहीं है ऐसा तत्त्वज्ञ मुनि अयत्न से प्राप्त अनिषिद्ध अन्न, पान आदि सब भोग्यजात का केवल देहमात्र के धारण के अनुकूल चेष्टा से (व्यापार से) उपभोग करता है ॥६३॥

जो तत्त्वज्ञ गृहस्थ है, वह अपने स्त्री आदि के लिए उपभोग का आस्वाद होने पर भी रागी पुरुष की नाईं भ्रमग्रस्त नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे भद्र, काकतालीय की नाईं प्राप्त हुई ललना आदि भोगपंक्तियाँ आस्वादित होने पर भी तत्त्वज्ञ धीर पुरुष को न दुःख के लिए तथा न तुष्टि के लिए होती है ॥६४॥ जैसे दो वीचियाँ शैलेन्द्र मन्दराचल को क्षोभ नहीं पहुँचा सकती, वैसे ही जिसने प्रत्यक्-दृष्टि के मार्ग का भली प्रकार परिज्ञान कर लिया है, ऐसे तत्त्वज्ञ महापुरुष को सुख-बुद्धि और दुःख बुद्धि दोनों तनिक भी क्षोभ नहीं पहुँचा सकती ॥६५॥ अवहेलना से यानी असत्यत्वबुद्धि से विषयों को देख रहा मृदु, दमनशील तथा समस्त चिन्ता आदि ज्वरों से विनिर्मुक्त तत्त्ववित् सब भूतों में अन्तरात्मस्वरूप से स्थित आत्मपद का ही अवलम्बन कर अवस्थित रहता है ॥६६॥ अनेक भुवनों को उत्पन्न कर रहे अपनी आत्मा में परम विश्रान्ति लेनेवाले हिरण्यगर्भ की ही नाईं तत्-तत् कालोचित क्रियाओं में व्याप्त होने पर भी देहादियुक्त तत्त्ववेत्ता किसी प्रकार से विक्षेप से युक्त नहीं रहता यानी विक्षेपशून्य ही रहता है ॥६७॥ जैसे वसन्त आदि ॠतुओं के

आने पर पर्वत किसी प्रकार का क्षोभ प्राप्त नहीं करता, वैसे ही कालानुसार, देशानुसार एवं क्रमानुसार आपत्तियों के तथा सुख–दुःखों के आने पर भी तत्त्ववित् क्षोभ को प्राप्त नहीं होता ॥६८॥ हे श्रीरामजी, वाक् आदि कर्मेन्द्रियों के व्यापारों के विषयों में डूब रहे भी आत्मज्ञ विद्वान् का कुछ भी विनष्ट नहीं होता, वह सदा–सर्वदा अनासक्त मन से युक्त है ॥६९॥

भीतरी आसक्ति ही दोष की उत्पादक है, ऊपर ऊपर की बनावटी आसक्ति दोष की उत्पादक नहीं है, इस विषय में दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे सुवर्ण भीतर के कलंक से ही कलंकित कहा जाता है , ऊपरी पंक आदि के लेपनरूपी कलंक से कलंकित नहीं कहा जाता, वैसे ही प्राणी भावासक्ति से यानी भीतरी आसक्ति से ही समासक्त कहा जाता है, ऊपरी बनावटी आसक्ति से आसक्त नहीं कहा जाता ॥७०॥

आन्तर आसक्ति के त्याग से देहदुःख आदि की भी प्रसक्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

शरीर से पृथक् यानी भिन्न आत्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार कर रहे नित्यानित्य विवेक के विज्ञान सम्पन्न ज्ञानी के भले ही अंग काटे जायें, तथापि उसका कुछ भी काटा नहीं जाता ॥७१॥

देह से अतिरिक्त आत्मा का विस्मरण होने पर तो फिर दुःख होगा ? इस आशंका पर कहते हैं।

जैसे एक बार प्रिय बन्धु का परिज्ञान हो जाने के अनन्तर फिर वह अज्ञात नहीं हो जाता, वैसे ही विमल प्रकाशस्वरूप जो आत्मा है, उसका कभी यदि ज्ञान हो गया, तो वह सदा ज्ञात ही रहता है, फिर उसका विस्मरण नहीं होता ॥७२॥

विस्मरण की अप्राप्ति में दृष्टान्त और उपपत्ति से युक्त हेतु बतलाते हैं।

जैसे पर्वत के तट से छू रही वर्षाकालीन नदी वर्षा की निवृत्ति हो जाने पर फिर नहीं छूती, वैसे ही सर्पभ्रान्ति की निवृत्ति हो जाने पर रज्जु में फिर सर्पभावना नहीं होती ॥७३॥

निष्कर्ष यह निकला कि आत्म भ्रान्ति की निवृति हो जाने पर आत्मा का विस्मरण फिर नहीं होता।

जैसे अग्नि के ताप से जिसके अंग विशुद्ध हो चुके हैं तथा जो निःशेषरूप से अपने स्वभाव को यानी केवल सुवर्णस्वरूपता को प्राप्त हुआ है, ऐसा कीचड़ में निमग्न हो रहा सुवर्ण भी फिर मल को ग्रहण नहीं करता, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिए ॥७४॥ हे श्रीरामजी, अपने हृदय की ग्रन्थि का उच्छेद हो जाने पर फिर देहादि के गुणों से आत्मा का बन्धन नहीं होता, क्या वृक्षस्थ वृन्त से यानी डंठली से टूट गये फल को कोई भी समर्थ पुरुष पुनः डंठल के साथ पूर्ववत् जोड़ सकता है ? अर्थात् नहीं जोड़ सकता ॥७५॥ पत्थर का छेदन और मणि के तात्त्विक स्वरूप का विचार इन दोनों की सहायता से जो मणि का अंश नहीं है, उस अंश को काटकर पत्थर के अन्तर्गत मणि की प्राप्ति की जाती है। इस प्रकार प्राप्त हुई मणि का पुनः पूर्ववत् पाषाण के साथ सन्धान करने के लिए कौन पुरुष सामर्थ्य रख सकता है अर्थात् कोई नहीं रख सकता ॥७६॥ अविद्या का असली स्वरूप जान लेने के अनन्तर कौन बुद्धिमान् पुरुष फिर उसमें डूबता है यानी फँसता है ? चाण्डालों के उत्सव विशेष का परिज्ञान हो जाने के अनन्तर कौन द्विजन्मा उस उत्सव में संमिलित होने की प्रतीक्षा करेगा ? ॥७७॥ जैसे विशुद्ध सलिल में हुई दुग्ध भ्रान्ति दुग्ध स्वरूप का विचार करने के अनन्तर विनिवृत्त हो जाती है, वैसे ही संसारिक वासना बुद्धिस्थ आत्मा का स्वरूप का विचार करने के अनन्तर

विनिवृत्त हो जाती है ॥७८॥ इस लोक में श्रेष्ठ श्रेणी के ब्राह्मण लोग तब तक जलबुद्धि से मद्य पी लेते हैं, जब तक उसका असली स्वरूप नहीं जान लेते। असली स्वरूप को जान लेने पर तो उसका परित्याग कर देते हैं ॥७९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, तत्त्ववेत्ता पुरुष रूपलावण्ययुक्त कामिनी को भी चित्र में लिखित कान्ता की प्रतिमा की नाईं ही देखते हैं, क्योंकि वह द्रव्यमात्र समारम्भ है यानी उसका तात्त्विक स्वरूप पंचभूतात्मक द्रव्यमात्र ही है ॥८०॥ हे श्रीरामजी, जैसे चित्र में चित्रित कामिनी के केश, ओष्ठ आदि अवयव मषी, कुंकुम आदि रंगस्वरूप पाँच भूतों को छोड़कर और कुछ भी नहीं हैं, वैसे ही रूप और लावण्य से युक्त जीवित कामिनी के भी केश, ओष्ठ आदि पांच भूतोंके स्वरूप से अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं है, इसलिए कान्ता–प्रतिमा और जीवित कान्ता में तत्त्वतः समानता होने के कारण जीवित–कान्ता की क्या उपादेयता हो सकती है ? ॥८१॥

यदि शंका हो कि जैसे स्त्री आदि विषयों का अनुभूयमान जो स्वरूप है, उससे विपरीत ही उनका तात्त्विक स्वरूप है, वैसे ही स्वात्मानुभव का भी परम प्रेमास्पदत्वरूप से अनुभूयमान जो आनन्दस्वरूप है, उससे विपरीत ही क्यों नहीं होगा? तो इस पर कहते हैं।

जैसे गुड़ के अनुभूत स्वाद मधुर रस का अनुभूत गुड़, अनुभवकरण जिह्वा तथा अनुभव करनेवाले देवदत्त आदि के दाह, कर्तन आदि सैकड़ों प्रयत्नों से भी 'यह माधुर्य का अनुभव नहीं है, किन्तु तिक्तता आदिका अनुभव है' यों–अन्यथा नहीं कर सकते, वैसे ही आत्मा के तात्त्विक आनन्दानुभव को भी अन्यथा नहीं कर सकते ॥८२॥

अतएव जब एक बार अनुभूत पदार्थ को भी अन्यथा नहीं कर सकते, तब केवल उसी एक वस्तु में व्यसनी पुरुष के द्वारा सदा–सर्वदा अनुभूयमान पदार्थ को अन्यथा नहीं कर सकते, इसमें तो कहना ही क्या है ? इस आशय से कहते हैं।

परपुरुष में व्यसन (आसक्ति) रखनेवाली नारी, घर के कार्य में व्यग्र रहने पर भी, उसी परपुरुष सम्बन्धरूपी रसायन का अपने अन्दर आस्वाद लेती है ॥८३॥ हे श्रीरामजी, इस प्रकार विशुद्ध परब्रह्मतत्त्व में उत्तम विश्रान्ति को प्राप्त हुआ धीर तत्त्वज्ञ पुरुष इन्द्र के साथ हजारों देवताओं से भी विचलित नहीं किया जा सकता ॥८४॥ भद्र, भला बतलाइये तो सही कि ऐसा कौन बलिष्ठ स्वामी है, जिसने परपुरुष के संग में व्यसन रखनेवाली अपनी पत्नी को उसके संकल्प में अवस्थित परकान्तसंगमरूपी महोत्सव का विस्मरण कराया हो ॥८५॥ हे राघव, सांसारिक विभिन्न विषयानन्दरूपी जो अनेक पुण्यरस हैं, वे सब जिसमें शहद के छत्ते की नाईं एक रस हो जाते हैं, ऐसे स्वात्मानन्दचिदालोक के निरन्तरास्वादनधारा को प्राप्त हुए ही तत्त्वज्ञ महात्मा की मति का विस्मरण कौन करा सकता है ? इस विषय में शिवधर्मोत्तर में भी कहा गया है :

ज्ञानामृतरसो येन सकृदास्वादितो भवेत्। विहाय सर्वकार्याणि मनस्तत्रैवधावति ॥

यानी एक बार भी जिसने ज्ञानामृतरूपी रस का आस्वाद ले लिया हो, उसका मन समस्त व्यापारों को छोड़कर उसीमें अनुधावन करता है ॥८६॥

समग्र सुख और दुःख से युक्त व्यवहारों को यानी घरके कामों को विधिपूर्वक कर रही पति, सास और ससुर के द्वारा पीड़ित भी कुलजनों के आश्रित वधु, जो पर संग में आसक्ति रखनेवाली है, जिस

प्रकार संकल्प कान्त से आनन्दविभोर होती है और दुःखों से पीड़ित नहीं होती, उसी प्रकार जिस महात्मा की अविद्या निवृत्त हो गई है, जिसकी भली प्रकारकी दृष्टि यानी तत्त्वबुद्धि है तथा जो सुन्दर आचरणों से युक्त है, ऐसा महात्मा पर्याप्तरूप से व्यवहार में निरत होने पर भी अपने अन्तरात्मा से प्रसन्नता को प्राप्त करता रहता है ॥८७–८९॥

उसमें भी जो तत्त्वज्ञ सप्तम भूमिका में आरूढ़ है, उसकी अत्यन्त स्थिरता रहती है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, सप्तम भूमिका में समारूढ़ योगी छिन्नांग हुआ भी छेदित नहीं होता, गिर रहे अश्रुओं से युक्त होता हुआ भी रोता नहीं है, दग्ध होता हुआ भी दग्ध नहीं होता, विनष्ट देह होता हुआ भी नष्ट नहीं होता ॥९०॥

हे राघव, मन के विनाशपर्यन्त भूमिका में सुप्रतिष्ठित पुरुष धीर तत्त्वज्ञ यद्यपि पूर्वकालिक प्रारब्धफलरूपी कर्म से विधुर भोगशून्य दरिद्र–अवस्था में या माण्डव्य की नाईं शूलाधिरोहण (शूली पर चढ़ाना) रूपी संकटावस्थाओं में या उत्तम नगरस्थ सदन में या भयंकर अटवी में या तपोवन में भले ही रहे, तथापि वह सदा–सर्वदा सुख दुःख के संनिपात से दूर ही रहता है, तनिक भी संसारिक हर्ष, शोक के साथ उसका सम्बन्ध नहीं होता, यह भाव है ॥९१॥

चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

पचहत्तरवाँ सर्ग

बड़े–बड़े अधिकारों में भी हर्ष, शोक आदि के साथ सम्बन्ध रखनेवाले अनेक मुक्त देवता, असुर, मनुष्य आदि का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे राघव, अपने राज्य में समयोचित तत्–तत् व्यवहार में तत्पर होते हुए भी राजा जनक निखिल मानसिक चिन्तारूपी ज्वर से रहित तथा भीतर आकुल मति से वर्जित होकर ही सदा–सर्वदा अवस्थित हुए ॥१॥ आपके पितामह महाराज दिलीप ने अनेक तरह के उचित सांसारिक कर्मों में सर्वदानिरत होने पर भी भीतर आसक्ति से वर्जित होकर ही दीर्घकाल तक पृथ्वी का उपभोग किया ॥२॥ राग आदि की कालिमा से शून्य होने के कारण आत्मज्ञान को प्राप्त हुए महाराज मनु ने चिरकाल तक प्रजाओं का पालन करते हुए तथा सर्वदा जीवन्मुक्त स्वरूप होकर राज्य का संरक्षण किया ॥३॥ विचित्र सैन्य तथा बाहुबल का जिनमें उपयोग होता था, ऐसे युद्धों में तथा अनेक व्यवहारों में दीर्घकाल तक स्थित रहे महाराज मान्धाता आखिर परम पद को प्राप्त हुए ॥४॥ पाताल की पीठ पर आसीन होकर बलिराज यथार्थ–से व्यापार को करते हुए भी सदा त्यागी, सदा अनासक्त और जीवन्मुक्तरूप से स्थित हैं ॥५॥

'दिवस स्थितिम्' ऐसा यदि पाठ हो, तो 'पाताल में निवास करने के लिए भगवान् के द्वारा नियमित दिवसों का परिपालन करते हुए महाराज बलि जीवन्मुक्त होकर अवस्थित हैं' ऐसा अर्थ करना चाहिए।

दानवों का अधिपति नमुचि सदा–सर्वदा देवताओं के साथ युद्ध या मर्यादा व्यतिक्रम में तथा अनेकविध देव और दानवों के आचरण एवं विचार–विमर्शों में तत्पर होता हुआ भी भीतर से सन्तप्त (खिन्न) नहीं होता था ॥६॥ इन्द्र के युद्ध में अपने शरीर का परित्याग करनेवाले मानी वृत्रासुर ने,

जिसका अन्तःकरण अत्यन्त उदार था, भीतर प्रशान्त मन होकर ही देवताओं के साथ युद्ध किया ॥७॥ पाताल तल का परिपालन करनेवाले दानवोचित कर्मों का अनुष्ठान कर रहे भक्त प्रवर प्रह्लाद अविनाशी, वाणी के अगोचर परम सुख को (मोक्ष को) प्राप्त हुए ॥८॥ हे श्रीरामजी, यद्यपि केवल माया में ही निरत रहता था तथापि हृदयस्थ चिदाकाश एकरूपता से आविर्भूत शम्बरासुर ने इस संसाररूपी माया का परित्याग कर दिया ॥९॥ दानवों की कार्य सिद्धि के लिए भगवान् नारायण के साथ युद्ध कर रहे कुशल शम्बरासुर ने अथवा कुशल नाम के एक अन्य दानव ने परम तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर इस संसार का परित्याग कर दिया ॥१०॥ समस्त देवताओं का मुखस्वरूप अग्नि क्रिया समूह में तत्पर होता हुआ भी यज्ञीय लक्ष्मी का चिरकाल तक उपभोग करता हुआ परन्तु मुक्त होकर ही इस त्रिभुवन में रहता है ॥११॥ जैसे पैरों से आक्रमण करने पर आकाश सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होता, वैसे ही समस्त देवताओं के द्वारा पीयमान सोम, जिसके भीतर ब्रह्मात्मक रसायन यानी (पुनरुज्जीवन का अमृत) विद्यमान है, सुख, दुःख आदि के संसर्ग को प्राप्त नहीं होता ॥१२॥ पत्नी के लिए चन्द्रमा के साथ जिन्होंने युद्ध किया था, ऐसे देवताओं के गुरु बृहस्पति स्वर्ग लोक में देवताओं के पौरोहित्याधिकार की विचित्र चेष्टाओं को कर रहे भी मुक्त होकर यहाँ अवस्थित है ॥१३॥ आकाशतल में चमकनेवाले, विद्वान तथा नीतिशास्त्र रचना के द्वारा समस्त अभिमत अर्थों का परिपालन करनेवाले असुरदैशिक शुक्राचार्य निर्विकार बुद्धि होकर ही काल बिताते हैं ॥१४॥ ऊपर के लोकों का और प्राणिसमूहों के अंगों का चिरकाल से संचरण करा रहा वायु भी मुक्त ही स्थित है, जो सदा सर्वदा सर्वत्र संचरण करता है ॥१५॥ हे श्रीरामजी, नैकविधप्राणियोंके समूह के अत्यन्त वेगवूर्वक ऊपर, नीचे और मध्यलोक की गतियों से होनेवाले निरन्तर आवर्तन एवं उनसे जनित उद्वेगों के स्वरूप का परिज्ञान रख रहे ब्रह्मा भी अखिन्न बुद्धि तथा सममन होकर अपने दो परार्धवर्षपर्यन्त अतिविस्तृत आयुष्य को बिताते हैं ॥१६॥ भगवन् श्रीहरि यद्यपि नित्यमुक्त हैं तथापि जरा, मरण, युद्ध आदि द्वन्द्वों की युद्धलीला से इस संसारमण्डल में बहुत काल तक संचरण करते हैं ॥१७॥ जैसे कोई कामुक कामिनी को धारण करे, वैसे ही नित्यमुक्त, भगवान् त्रिनेत्र शंकरजी सौन्दर्य तरु की मंजरीरूपा भगवती गौरी को अपने देहार्ध में परिधारण करते हैं। भगवान् त्रिनेत्र न तो कामुक हैं और न भगवती गौरी कामिनी ही हैं, किन्तु एक ब्रह्म और दूसरी ब्रह्मविद्या है, यह ध्वनित किया है ॥१८॥ मुक्त होते हुए भगवती गौरी ने भी त्रिनेत्र धूर्जटि को चन्द्रमा की कला की नाईं अति स्वच्छ अत्यन्त धवलवर्ण मोतियों के हार के सदृश अपने गले में लगाया है ॥१९॥ जिसकी विचित्र दुरवगाह बुद्धि थी यानी साधारण बुद्धिवाले लोग जिन पदार्थों को समझ नहीं सकते उन पदार्थों को शीघ्र समझ लेने की तीव्रातितीव्र बुद्धि जिसमें थी और जो वीर था, ऐसे ज्ञानरूपी रत्न के एकमात्र समुद्र स्वामी कार्तिकेय ने मुक्त होते हुए भी तारकासुर आदियों से रण क्रीड़ा की ॥२०॥ हे श्रीरामजी, ध्यानरूपी सलिल से धोई गई, धीर मुक्त बुद्धि से ही भृंगीश ने (शिवजी के गणविशेष ने) अपनी माता को अपने रुधिर और मांस का प्रदान किया था। *(इस विषय में पुराणों में उल्लेख है कि जब भृंगीश गण भगवती देवी का अनादर कर केवल शिवजी की आराधना में तत्पर हुआ, तब कुपित देवी ने माता और पिता के भागस्वरूप रुधिर और मांसरूप देह में से अपने मातृभाव को लौटाने की याचना की, इस याचना के अनुसार उसने शिवजी के प्रति एकनिष्ठभक्ति के प्रकाशनार्थ अनायास माता के द्वारा अपने*

देह में आये हुए रक्त, मांस आदि को नोचकर उनको प्रदान कर दिया) ॥२१॥ महामुनि नारदजी यद्यपि मुक्त स्वभाव हैं, तथापि इस जगत्‌रूपी जंगल के खण्ड में कलह कौतुक को प्रवृत्त करनेवाली शान्त बुद्धि से यत्र तत्र विचरण करते हैं ॥२२॥ भद्र श्रीरामजी, समस्त भुवनों में अत्यन्त मान्य, समर्थ यह विश्वामित्र महर्षि यद्यपि जीवन्मुक्त मानस हैं, तथापि वेदशास्त्र में विहित यज्ञादि क्रियाओं का अनुष्ठान किया करते हैं ॥२३॥ जीवन्मुक्त होकर ही सहस्रमुख, नागराज शेष पृथ्वी को धारण करते हैं, सूर्य भगवान् दिवसों की परम्पराओं का निर्माण करते हैं, यमराज धर्माधर्म विचारपूर्वक लोगों का नियमन करते हैं ॥२४॥ इस पूर्वोक्त महानुभावों के सिवा दूसरे भी सैकड़ों महात्मा, राक्षस, मनुष्य और देवता इस त्रिभुवन में विमुक्तस्वरूपता को प्राप्त होकर संसार में अनासक्तस्वरूप से अवस्थित हैं ॥२५॥ विचित्र शोक, मोह अनर्थों के उत्पादक तथा पुत्र, स्त्री, धन–सम्पत्तिआदि का संग्रहकर युद्ध, वध, बन्धन आदि आचारों से युक्त भी इन सांसारिक राज्यादि व्यवहारों में संस्थित कुछ पुरुष भीतर शान्ति से समन्वित यानी मुक्त रहते हैं और कुछ मूढ़ तो शिला के सदृश रहते हैं, यानी अज्ञान में फँसे रहते हैं ॥२६॥ कुछ महानुभावों ने उत्कृष्ट आत्मज्ञान का सम्पादन कर चित्तविक्षेप की निवृत्ति के लिए तपोवन का आश्रय लिया। जैसे भृगु, भरद्वाज, विश्वामित्र, शुक आदि ॥२७॥ कुछ तत्त्वज्ञ महात्मा आत्मज्ञान प्राप्तकर राज्यकर्म में ही छत्र, चाामर आदि से रक्षित होकर रहते हैं। जैसे जनक, शर्याति, मान्धाता, सगर आदि ॥२८॥ कुछ तत्त्वज्ञ आकाश में ग्रह, नक्षत्र आदि के आधारभूत ज्योतिश्चक्र के मध्य में अवस्थित हैं। जैसे बृहस्पति, शुक्राचार्य, चन्द्र, सूर्य, सप्तर्षि आदि ॥२९॥ कुछ तो देवताओं के पद को प्राप्त होकर विमानों की पंक्तियों के ऊपर आरूढ़ होकर स्थित हैं। जैसे अग्नि, वायु, वरुण, यम, तुम्बरु, नारद आदि ॥३०॥ कुछ महानुभाव पाताल की कन्दरा में जीवन्मुक्त होकर सुस्थित हैं। जैसे बलि, सुहोत्र, अन्ध, प्रह्लाद आदि ॥३१॥ तिर्यक् योनियों में भी सदा कृतबुद्धि महात्मा रहते हैं जैसे गरुड़, हनुमान, जाम्बवान् आदि और देवयोनियों में भी मूर्खबुद्धिवाले बहुत से महामूढ़ विद्यमान हैं ॥३२॥

यदि शंका हो कि जितने सात्त्विक हैं उन सबमें देवता अधिक सात्त्विक हैं, अतः जिनकी ज्ञान और ऐश्वर्य शक्ति स्वभावतः ही अभिव्यक्त होती है, ऐसी देवयोनियों में मूर्खों की संभावना कैसे हो सकती है ? तो यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि सर्वशक्ति ईश्वर की सर्वभाव से सर्वत्र सब प्रकार से सदा स्थिति होने से तथा सर्वस्वरूप आत्मा में स्वप्नादि अवस्थाओं में सैकड़ों असंभावित वस्तुओं का भी दर्शन होने के कारण कहीं पर किसी की भी असंभावना नहीं करनी चाहिए ऐसा कहते हैं।

जिसका अत्यन्त व्यापक स्वरूप है, ऐसे सर्वस्वरूप आत्मा में सब कुछ सर्वभाव से सर्वत्र सब प्रकार से सदा ही सम्भावित हो सकता है ॥३३॥

पूर्वोक्त अर्थ को ही स्पष्टरूप से कहते हैं।

विधि की नियति, अनन्त कार्यों के आरम्भ में निरत है और विचित्र है, अतः संनिवेशांश के वैचित्र्य से सब कुछ सब जगह दिखाई पड़ता है ॥३४॥

विधि कौन है ? इसे कहते हैं।

ब्रह्मा, दैव, विष्णु, हिरण्यगर्भ, शिव, ईश्वर आदि परमात्मा के नामों से हम सब लोगों का प्रत्यक् चेतनरूप आत्मा ही कहा जाता है ॥३५॥

जहाँ पर अत्यन्त असंभावित भी वस्तु और अवस्तु दोनों एक दूसरे के भीतर संभावित हो जाती हैं, वहाँ पर दूसरा क्या असंभावित हो सकता है ? इस आशय से कहते हैं।

अवस्तु में भी भीतर वस्तु रहती है, जैसे बालू में सुवर्ण तथा वस्तु में भी अवस्तु रहती है, जैसे सुवर्ण के कणों के भीतर मालिन्य ॥३६॥ हे श्रीरामजी, जो युक्त नहीं है उसमें युक्ति से विमर्श करने पर युक्तता दिखाई पड़ती है, क्योंकि युक्ति से विचार करने पर फलतः भीषण होने से अत्यन्त युक्त पाप में भी पुरुष को धर्म में प्रवृत्त कराने का मनन गुण दिखाई पड़ता है ॥३७॥ हे साधो, असत्य में भी फलतः शाश्वती सत्यता दिखाई पड़ती है, क्योंकि शून्यात्मक ध्यान-योग से शाश्वत (अविनाशी) पद की प्राप्ति होती है ॥३८॥ असलियत में जो नहीं है, उसका भी देश और काल के विलास से शीघ्र प्रादुर्भाव हो जाता है, जैसे ऐन्द्रजालिक सृष्टि में सींगवाले खरगोश भी दिखाई पड़ते हैं ॥३९॥ जिनका विनाश कभी भी संभावित नहीं था, ऐसे सुदृढ़ पदार्थ भी कल्प के अन्त में क्षय को प्राप्त हुए दिखाई पड़ते हैं। जैसे चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी, समुद्र, देवता आदि ॥४०॥

असंभावित का भी संभव है, इसका प्रासंगिक जो उपादान हुआ, उसका भी प्रकृत ही फल है, यह दिखलाते हुए उपसंहार करते हैं।

हे महाबाहो, इस प्रकार के भाव-अभावात्मक संसृतिक्रम को देख रहे आप हर्ष, अमर्ष विषाद और अभिलाषाओं का परित्याग कर समभाव को प्राप्त हो जाइए ॥४१॥ इस संसार में जो असत् है, वह सत् भी प्रतीत होता है और जो सत् है, वह असत्-रूप भी प्रतीत होता है, इसलिए आस्था और अनास्था का परित्यागकर आप शीघ्र ही समता प्राप्त कीजिए ॥४२॥

यदि शंका हो कि ऐसा होने पर विदेह मुक्ति में भी फिर संसार प्राप्ति की संभावना हो जायेगी, तो इस पर कहते हैं।

हे राघव, मुक्ति हो जाने पर फिर इस संसार में किसी प्रकार जीवत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि करोड़ों मनुष्य असंसारी आत्मा के विवेक की यानी तत्त्वज्ञान की अप्रवृत्ति में ही अज्ञान-दशा में अत्यन्त असंभावित करोड़ों अनर्थों की संभावनारूपी भ्रम में निमग्न रहते हैं, मुक्ति में नहीं, क्योंकि संसारनिमज्जन के हेतु अज्ञान का विनाश हो चुका है ॥४३॥

मुक्ति नित्य-प्राप्त आत्मस्वरूप है, इससे भी उसके विनाश की आशंका नहीं हो सकती। विस्मृत गले के हार की नाईं आत्मा का आत्म अनात्मा के केवल विवेक से ही लाभ हो जाता है, ऐसा कहते हैं।

हे राघव, चूँकि इस संसार में आत्मस्वरूप मुक्ति की सदा ही प्राप्ति है, इसलिए आत्मा अनात्मा के विवेक-विज्ञान की उपलब्धि होने पर करोड़ों मनुष्य विमुक्त हो चुके हैं ॥४४॥ हे श्रीरामजी, विवेक और अविवेक से मुक्ति सुलभ और असुलभ हो जाती है, इसलिए आप मनोविनाश को प्राप्त कर विवेक का प्रदीपन कीजिए ॥४५॥

हे श्रीरामजी, जिसको मुक्ति की अभिलाषा हो, उसे आत्मा के अवलोकन में यत्न करना चाहिए। समस्त दुःखों का शिरोच्छेद आत्मा के अवलोकन से ही होता है ॥४६॥

यदि शंका हो कि पहले के महात्माओं की जीवन्मुक्ति का संभव होने पर भी वर्तमान काल के महात्माओं की जीवन्मुक्ति का संभव नहीं है, तो इस पर कहते हैं।

राग से शून्य, अभिनिवेशों से रहित तथा उत्तम मेघा से सम्पन्न सुहोत्र, जनक इत्यादि की नाईं इस वर्तमान काल में भी अनेक जीवन्मुक्त विद्यमान हैं ॥४७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इसलिए आप भी वैराग्य और विवेक से उदित धीरबुद्धि से समन्वित मिट्टी के ढेले में पत्थर और कांचन में समदृष्टि तथा जीवन्मुक्त होकर विहार कीजिये ॥४८॥ हे राघव, इस लोक में देहधारी जीवों की दो प्रकार की मुक्ति है एक तो सदेह–मुक्ति और दूसरी विदेह मुक्ति। अब आप उनका विभाग सुनिये ॥४९॥

उसमें पहले सदेहमुक्ति और विदेह मुक्ति इन दोनों मुक्तियों में घटनेवाले मुक्ति शब्द के अर्थ का निर्वचन करते हैं।

हे पापशून्य आकृतिवाले श्रीरामजी, पदार्थों के (विषयों के) असंग से जो मन की शान्ति होती है, वह विमुक्तता यानी मुक्ति शब्दार्थ है। विमुक्तता देह के अस्तित्व और नास्तित्व दोनों अवस्थाओं में होती है ॥५०॥ भद्र उसमें स्नेह बन्धन का विनाश ही यानी देहादि में आत्मस्वरूपत्व के विभ्रम से हुई प्रीति का विनाश ही उत्तम कैवल्य (मुक्ति) है, ऐसा तत्त्वज्ञ विद्वान् कहते हैं। वह कैवल्य देह की सत्ता रहे चाहे न रहे, दोनों अवस्थाओं में होता है ॥५१॥ जो विद्वान् विषय–स्नेह से रहित होकर जीता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है, जो विषय स्नेह से समन्वित होकर जीता है, वह बद्ध कहलाता है और इन दोनों से जो परे हैं, वह तीसरा मुक्त कहलाता है ॥५२॥ भद्र, मोक्ष के लिए शम, दम आदि चार साधनों के मध्य में यत्न के द्वारा पूर्वपूर्व की सिद्धि हो जाने पर उत्तरोत्तर पर विजय पाने के लिए युक्तिपूर्वक (प्रमाणों का तात्पर्य और प्रमेय के स्वरूप का अवधारण करने के लिए अनुकूल जो तर्क है, तत्पूर्वक) प्रयत्न करना चाहिए। जो युक्तिपूर्वक प्रयत्न से वर्जित है, ऐसे पुरुष के लिए गाय का खुर मात्र प्रदेश भी अलंघ्य हो जाता है ॥५३॥

तथोक्त युक्तिपूर्वक प्रयत्न का अनुष्ठान वहाँ तक करना चाहिए, जहाँ तक कि आत्मा के स्वरूप का अवधारण न हो जाय, जब कि आत्मा का अध्यवसान हुआ हो, तब सहसा बीच में ही विरक्ति से प्रयत्न का उपराम कर उसे (आत्मा को) पुनः अनर्थ के वश में नहीं कर देना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

केवल मोह का अवलम्बन कर अध्यवसाय के न होने पर प्रयत्न के अनादर से असीम स्वरूपवाले आत्मा को दुःख के लिए परवश नहीं करना चाहिए ॥५४॥

कथित अर्थ को ही स्पष्टरूप से कहते हैं।

हे रामजी, बड़े धैर्य का अवलम्बन कर फल की प्राप्ति तक अनुष्ठित सतत प्रयत्न से जनित दृढ़ निश्चय से युक्त मन से चिरकालिक सिद्धि के लिए यानी प्रतिबन्ध होने पर अनेक जन्मों से होनेवाली मोक्षात्मक सिद्धि के उद्देश्य से अपने द्वारा ही अपना विचार करना चाहिए। जो निरन्तर अध्यवसाय करनेवाला पुरुष है, उसके लिए जगत् गाय का खुरमात्र हो जाता है ॥५५॥

सुगम यानी बुद्ध और प्रकृति पुरुष भिन्नत्वरूप शोभन विवेक को प्राप्त हुए महामुनि कपिल इन दोनों ने खूब विचार करके भी अध्यवसाय करने की समार्थ्य न होने के कारण आत्मतत्त्व से विच्युत होकर क्षणिक विज्ञानों के सन्तानरूप और सत्त्वादि गुणत्रय की साम्यअवस्थारूप प्रधानपद को प्राप्त किया, एवं किसी यानी वेद का निन्दक होने के कारण जिसका नाम लेना समुचित नहीं है ऐसे अर्हद नाम के क्षत्रिय राजा ने भी असली ब्रह्मतत्त्व से विच्युत होकर आत्मा को चित्स्वभाव मानकर भी देह के तुल्य

परिमाणवाला मानने से हाथी, मच्छर आदियों के शरीरो में प्रवेश करने में अवयवों का उपचय प्राप्त होने के कारण अध्रुव ही माना है, इसलिए ये तीनों अनुत्तम मिथ्यापद में ही निमग्न हैं और जो वेद के रहस्य में निष्णात हैं, ऐसे महानुभावों ने तो उत्तम सत्यादिस्वरूप परमपद को यथार्थरूप से प्राप्त किया है, वह वेदोक्तमार्ग से प्राप्त किया गया पद प्रयत्न लक्षण कल्पतरू का महान् फल है, इसलिए उसी प्रकार दूसरे भी प्रयत्न करे ॥५६॥

पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

छिहत्तरवाँ सर्ग

संसाररूपी जलधि, स्त्रीरूपी तरंग, उसके तरण का उपाय और
तरने के अनन्तर सुखपूर्वक विचरण का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे राघव, ये समस्त जगत् अविज्ञात ब्रह्म से ही आविर्भूत होते हैं, आत्मा और अनात्मा के अविवेक से वे स्थिरता को प्राप्त होते हैं और विवेक से प्रशान्त (विनष्ट) ही हो जाते हैं ॥१॥ ब्रह्मरूपीसमुद्र में जगत्-समूहरूपी जल के तरंगों की गिनती कौन कर सकता है ? क्या कोई सूर्य किरणों से सम्बन्ध रखनेवाले त्रसरेणुओं की गिनती कर सकता है ? ॥२॥ हे रामजी, आत्मा का यथार्थ ज्ञान न होना ही जगत् की स्थिति में कारण है और आत्मा का यथार्थ ज्ञान ही संसार के विनाश में कारण है, यह आप जानिये ॥३॥ हे श्रीरामजी, यह संसार-सागर ऐसा घोर है कि इसके पार हो जाना अत्यन्त दुष्कर है, युक्ति और प्रयत्न के सिवा इसका तरण नहीं किया जा सकता ॥४॥

उसी संसार-सागर का वर्णन करते हैं।

जिसके मोहरूपी जल से भरा गया, पूर्ण यह संसाररूपी सागर जो कि मरणरूपी अगाध आवर्त से और बड़े बड़े तरंगों से व्याप्त कोटरों से युक्त है और जिसमें चक्कर काट रहे पुण्यरूपी फेन हैं, धधकता हुआ नरकरूपी बड़वानल है, और तुष्णारूप चंचल लहरियाँ हैं तथा जल में उत्पन्न हुआ मनरूपी जल-हाथी हैं, जिसमें जीवितरूपी नदियाँ लीन हो जाती हैं, एवं जो विषयोपभोगरूपी रत्नों की पिटारी है, क्षुब्ध रोगरूपी सर्पों से आक्रान्त है, जिसमें इन्द्रियरूपी मगरों की घर-घर ध्वनि होती है। श्रीरामजी देखिये तो सही, इसमें अत्यन्त चपल, बड़े-बड़े शिखरों की नाईं धीर महानुभावों का आकर्षण करने की क्षमता रखनेवाली मुग्ध अंगनारूपी विस्तृत बीचियाँ है, ये बीचियाँ दन्तच्छेदों की शोभा से पद्मराग मणियों से समन्वित, नेत्ररूपी नीलकमल से व्याप्त, दाँतरूपी मुकुलों से युक्त, स्मितरूपी फेन से सुशोभित, केशरूपी इन्दुनील मणि से वेष्टित, भौरों के विलासरूपी तरंगों से तरंगित, नितम्बरूपी पुलिन से स्फीत, कण्ठरूपी शंखों से विभूषित, ललाटरूपी मणिपट्टों से (रत्नफलकों से) आढ्य, विलासरूपी मगरों से युक्त, कटाक्षों की चपलता के कारण अतिगहन, देहकान्तिरूपी सुवर्ण बालुका से युक्त हैं, इस प्रकार की अतिचंचल लहरियों के कारण जो अत्यन्त भयंकर है उस में निमग्न हुआ पुरुष यदि बाहर हो जाय, तो यह परम पुरुषार्थ ही होगा ॥५-१२॥ प्रज्ञारूपी बड़ी नौका और विवेकरूपी नाविक के रहने पर यदि इस संसार रूपी सागर से जो पार

नहीं हुआ, तो उस पुरुष को धिक्कार है ॥१३॥

हे श्रीरामजी, अपारावार यानी असीम संसार समुद्र का आत्मतत्त्व के दर्शन से बाध कर उसको चारों ओर से प्रमेय ब्रह्मस्वरूप बनाकर जो प्रवेश करता है यानी प्रत्यग् आत्मा को भी जो तद्रूप प्राप्त करता है, वही पुरुष कहा जाता है ॥१४॥

हे श्रीरामजी, आर्य यानी बड़े–बड़े तत्त्वज्ञों के साथ ब्रह्म का विचारकर तथा वैसी बुद्धि से संसार–सागर का अवलोकन कर तदनन्तर यानी तत्त्वज्ञान के अनन्तर ब्रह्मरूपता को प्राप्त हुए जगत् में क्रीड़ा शोभित होती है, अन्यथा नहीं ॥१५॥ हे साधो, इस संसार में आप धन्य हैं, क्योंकि विचारप्रवीण बुद्धि से आप इसी बाल अवस्था में धन्यता के कारण ही इस संसार के विषय में विचार करते हैं ॥१६॥

हे श्रीरामजी, आपकी नाईं संसार का विचारप्रवीण आदि उत्तम बुद्धि से पहले विचारकर जो अधिकारी पुरुष ब्रह्म में अवगाहन करता है वह कभी संसार में फँसता नहीं है ॥१७॥ हे श्रीरामजी, जैसे गरुड़जी के द्वारा अमृत लाने के पहले सर्पों की उपेक्षा की गई थी, फिर माता के शापविमोचन के अनन्तर उनका निःशेष उपभोग किया जाता है, वैसे ही सबसे पहले इस प्रकार के समान भय देनेवाले भोगों के स्वरूप का बुद्धि से विचारकर उनकी उपेक्षा करनी चाहिए, और फिर उनका उपभोग करना चाहिए ॥१८॥

लोक में भी राजकीय विभूति के उपभोग में यह न्याय प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

विचारपूर्वक राजप्रसाद और राज–अनुग्रह आदि रहस्य का प्रत्यक्षकर जिन राज–विभूतियों का उपभोग किया जाता है, वे जन्तु को महान् मोक्षात्मक उदय देनेवाली होती हैं और बाकी की केवल दुःख के लिए हैं ॥१९॥

तत्त्वज्ञान के बाद ही भोगजरणोपपादक विशेषण सम्पत्ति प्राप्त होती है उसके पूर्व नहीं ऐसा कहते हैं।

जिसने तत्त्व को जान लिया है, ऐसे पुरुष के बल, बुद्धि और तेज उस प्रकार बढ़ते हैं, जिस प्रकार वसन्त ऋतु से युक्त वृक्ष के सौन्दर्य आदि गुण बढ़ते हैं ॥२०॥

श्रीरामचन्द्रजी को भोगजरण की सामर्थ्य नहीं है, इस आशंका का परिहार करने के लिए तत्त्वबोध–सम्पत्ति दिखलाते हैं।

हे विदिततत्त्व श्रीरघुनन्दन तुम रसायन से परिपूर्ण, सुशीतल यानी त्रिविध तापों से शून्य, निर्मल, सम और विस्तृत श्री से पूर्णचन्द्र की नाईं अत्यन्त विराजित हो रहे हो ॥२१॥

छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

सतहत्तरवाँ सर्ग

मन्दारमाला की नाईं विद्वानों को मस्तक और
गले में धारण करने योग्य माला का जीवन्मुक्तों के गुणों से वसिष्ठजी द्वारा गुम्फन।

श्रीरामजी ने कहा : हे मुनिवर, जिसने ब्रह्मतत्त्वरूप चमत्कार का अपरोक्ष साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे तत्त्वज्ञ विद्वान का उदार चरित्र आप हमसे समासतः (यानी यत्र–तत्र जहाँ कहीं कहा गया है, उसका

संग्रहकर) कहिए, क्योंकि आपके वचन में तृप्ति किसको हो सकती है ? ॥१॥ महाराज वसिष्ठ ने कहा : हे महाबाहो, अनेक बार मैंने आपसे जीवन्मुक्त के लक्षण कहे हैं, फिर भी मै जो यह संग्रहकर आपसे पुनः कह रहा हूँ, उसे सुनिये ॥२॥ भद्र जिसकी समस्त एषणाएँ यानी विषयाभिलाषाएँ निकल गई है, ऐसा आत्मवान् (तत्त्ववित्) पुरुष इस दृश्यमान अखिल जगत् को सर्वत्र सुषुप्त की नाईं यानी व्यवहार दृष्टि से सुषुप्त के समान तमःस्वरूपमात्र सदा देखता है और परमार्थ दृष्टि से बाधित की केवल अनुवृत्ति होने के कारण असत् की नाईं अनासक्तिपूवर्क देखता है ॥३॥ जिसने आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया है, ऐसा आत्मज्ञानी पुरुष कैवल्य को प्राप्त हुआ–सा चारों ओर प्रसुप्त मन से युक्त–सा तथा घूर्णमान आनन्दवान्–सा अवस्थित रहता है ॥४॥ तत्त्वज्ञ पुरुष पहले चक्षु आदि से देखे गये और पीछे हाथ आदि से परिगृहीत हुए भी अन्न, वस्त्र आदि वस्तुओं का बुद्धि से ग्रहण नहीं करता वह अन्तर्मुख होने के कारण अत्यन्त उदार और समस्वरूप है ॥५॥ श्रीरामजी जो शान्त बुद्धि से सम्पन्न विद्वान् है, वह अन्तरात्मा में लीन दृष्टि से यह जनता का व्यवहार असंग, उदासीन आत्मा की केवल सन्निधि से प्रवृत्त होने के कारण काष्ठनिर्मित जड़ प्रतिमा के संचार के सदृश है, ऐसा जानकर हँसता रहता है ॥६॥ तत्त्ववित् भविष्य की न अपेक्षा करता है, न वर्तमान में अवस्थिति यानी समासक्ति करता है, न भूतकालीनवस्तु का स्मरण करता है, और सब कुछ करता भी है ॥७॥ व्यावहारिक वस्तुओं के विषय में सुप्तप्राय होता हुआ भी अपनी आत्मा में जाग्रत रहता है।

भगवान् ने गीता में कहा भी है – या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यानी अज्ञजीवों के प्रति सर्वथा अज्ञात होने के कारण उनके लिए निशास्वरूप जो आत्मा है, उस में ज्ञानी पुरुष जागता रहता है।

सब कुछ कर्म करता है, तथापि भीतर से कुछ नहीं करता। तात्पर्य यह हुआ कि व्यवहार में अत्यन्त कुशल भी वह प्रसुप्त ही रहता है, अतः व्यवहार कौशल से जनित फल से सम्बद्ध नहीं होता ॥८॥

इसलिए उसकी स्थिति सदा ही एक–सी रहती है, ऐसा कहते हैं।

अपने भीतर सम्पूर्ण वस्तुओं का परित्याग करनेवाला तथा सदा भीतर इच्छाओं से वर्जित तत्त्ववेत्ता बाहर से यानी ऊपर–ऊपर से उन्मना होकर कार्यों को कर रहा भी एकरूप से ही स्थित रहता है ॥९॥ जिसने बाहर से समस्त वस्तुओं की इच्छा की है, जो समयानुसार प्राप्त हुए तत्–तत् देह, वर्ण और आश्रमों के उपयोगी कर्मों में तथा पिता, पितामह आदि क्रमपरम्परा से प्राप्त हुए राज्यादिकाम, बन्धुओं के कार्य तथा दान, मान आदि कर्मों में केवल अनुवृत्ति रखनेवाला, समस्त सुख भोगों का जो आत्मस्वरूप समझनेवाला अथवा समस्त सुख भोगों का स्वयं ही आत्मस्वरूप है, इसीलिए अज्ञानियों की दृष्टि में भोगकाल में समस्त विषयाभिलाषाओं में अवस्थित तत्त्ववेत्ता समस्त कर्मों को करता है, परन्तु उसने कर्तृत्वाभिमान का परित्याग कर रक्खा है ॥१०,११॥ प्रकृत तत्त्वज्ञ उदासीन पुरुष की नाईं अवस्थित रहता है। परम्पराक्रम से सम्प्राप्त कर्मों में प्राप्त हुए इष्ट और अनिष्ट फलों को न चाहता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है और न प्रसन्न होता है ॥१२॥ जो तत्त्वज्ञ है, वह अनुकूल और प्रतिकूल आचरण में तत्पर प्राणी के ऊपर अनासक्त चित्त से, भक्त के विषय में भक्त के आचरण से और शठ के विषय में शठ के सदृश स्थित है ॥१३॥ बालकों में बालक, वृद्धों में वृद्ध, धीरों में धैर्यवान्,

यौवनवृत्तिवालों में युवा और दुःखितों में दुःखी–सा रहता है ॥१४॥

पूर्वोक्त बालादि के सदृश आचरण करनेवाले तत्त्वज्ञो में जो विशेष है, उसे कहते हैं।

तत्त्वज्ञ मुनि जब–जब अपने मुख से वाणी को प्रवृत्त करते हैं, तब पवित्र कथाओं को ही कहते हैं बालक आदि की नाईं व्यर्थ भाषण नहीं करते। उनका अन्तःकरण दीनता से वर्जित रहता है। वे धीरबुद्धिवाले, उदित आनन्द से युक्त तथा दक्ष रहते हैं और लोक में उसके पुण्य चरित्रों का वर्णन होता है ॥१५॥ प्राज्ञ, प्रसन्न और मधुर रहता है, अपनी प्रतिभा के उदय में पूर्ण, खेदरूपी दुर्गति से रहित तथा समस्त मनुष्यों में स्निग्ध बन्धुभाव रखनेवाला होता है ॥१६॥ तत्त्वज्ञ उदार चरित और उदार आकार से युक्त है, सम है, सौम्य सुख का समुद्र है, सुस्निग्ध है उसका स्पर्श सर्वविध संताप का अपहरण करनेवाला है और वह पूर्णचन्द्र की नाईं पूर्ण उदय से समन्वित है ॥१७॥ तत्त्वज्ञ महात्माओं को पुण्य कर्मों के अनुष्ठान से न कोई प्रयोजन है और न भोगों से एवं लौकिक कर्मों से प्रयोजन है। न निषिद्ध कर्मो से, न भोगों के परित्याग से और न बन्धुओं से ही प्रयोजन है ॥१८॥ उसका न आवश्यक कार्यों के और ऐहिक और पारलौकिक फल के हेतु कर्मों के आरम्भ से प्रयोजन सिद्ध होता है एवं न कर्मों के अभाव से, न बन्ध से, न मोक्ष से, न पाताल से और न स्वर्ग से ही उसको प्रयोजन है ॥१९॥ तत्त्वज्ञ महानुभाव ने जब समस्त जगत की स्वरूपभूत अद्वितीय आत्मरूप यथार्थ वस्तु का भली प्रकार परिज्ञान कर लिया, तब उसका मन सांसारिक सुख और दुःख एवं दुःखकारणों की निवृत्ति–स्वरूप मुक्ति इन दोनों के बीच में कहीं भी कार्पण्य से युक्त नहीं होता ॥२०॥ सम्यक्–ज्ञानरूपी अग्नि से जिसके सन्देहरूपी जाल (पिंजड़े) विनष्ट हो गये हैं, उस महात्मा का चित्तरूपी पक्षी निःसंशय पर्याप्त रूप से उड़ जाता है, ऐसी स्थिति में तत्त्वज्ञ के मन में कार्पण्य की संभावना ही नहीं है ॥२१॥

जिसका अन्तःकरण भ्रान्ति से विनिर्मुक्त होकर ब्रह्मस्वरूप हो गया हो, वह आकाश की नाईं सभी दृष्टियों में न अस्त को प्राप्त होता है और न उदय को प्राप्त होता है ॥२२॥

मन का यदि अभाव है, तो शरीर चेष्टा आदि की उपपत्ति कैसे हो सकती है? तो इस पर कहते हैं।

दोलारूपी सुखशय्या में उपविष्ट बालक का अन्तःकरण जैसे अंगोंकी आवली के अनुसन्धान से वर्जित होकर चेष्टा करता है, वैसे ही तत्त्वज्ञ का अन्तःकरण भी किसी प्रकार के बाह्यों के अनुसन्धान से वर्जित होकर चेष्टा करता है अर्थात् तत्त्वज्ञ का अंगचलन स्वानन्द के आविर्भाव के उल्लास से ही होता है, श्रुति भी है : 'तद्यथा महाराजो वा महाब्राह्मणो वा महाकुमारो वा अतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीत' (जैसे छोटा बालक, स्वाधीन प्रकृतिवाला महाराज एवं विद्याविनय–सम्पन्न शास्त्रोक्त कर्मानुष्ठान करनेवाला विद्वान् दुःख विनाशक आनन्द की अवस्था प्राप्त कर सोता है, वैसे ही यह विज्ञानमय तत्त्ववेत्ता समस्त संसार–धर्मों से वर्जित होकर सोता है) ॥२३॥ जिसका पुनर्जन्म मन्द हो गया है, ऐसा आनन्द–सागर में निमग्न तत्त्ववेत्ता, घूर्णमान शराबी की नाईं, अनुपादेय बुद्धि से कृत का (किये गये कर्मों का) और अकृत का स्मरण नहीं करता, क्योंकि अनुपादेय बुद्धि से उसकी नियमतः कृताकृत की स्मारक क्रियाफलोपादेयता–बुद्धि नष्ट हो गई है ॥२४॥ श्रीरामजी, जिसके समस्त अर्थ अनुपादेय हो गये हैं, ऐसा तत्त्ववेत्ता सब प्रकार से समस्त वस्तुओं का ग्रहण भी करता है और परित्याग भी करता है, यों बालक के सदृश उसकी चेष्टा रहती है ॥२५॥ देश और काल के अनुसार प्राप्त हुए क्रियाकलापों

एवं तत्–तत् कार्यों में स्थित हुआ भी वह कामनाओं से जनित सुख और दुःखों से तनिक भी अभिभूत नहीं होता ॥२६॥ तत्त्वज्ञ ऊपर–ऊपर से समस्त अर्थों को करता है, पर भीतर किसी प्रकार की इच्छा न रहने के कारण बाह्य अर्थों में सत्यता–बुद्धि से किसी तरह की आस्था नहीं करता और न उससे जनित फलों की चाहना ही करता है ॥२७॥ सन्निहित भी दुःखावस्था की उपेक्षा नहीं करता और न सुखावस्था की अपेक्षा ही करता है। कार्यों के सफल होने पर न हर्ष करता है और न कार्यों के विनष्ट होने पर खिन्न होता है ॥२८॥ यदि सूर्य शीतल प्रकाशवाला हो जाय चन्द्रमा का मण्डल तपने लग जाय, अग्नि की ज्वाला नीचे की ओर हो जाय यानी अधोमुख होकर अग्नि जलने लगे, तो भी तत्त्वज्ञ को आश्चर्यबुद्धि नहीं होती ॥२९॥

क्यों आश्चर्य–बुद्धि नहीं होती ? तो इस पर कहते हैं।

चूँकि तत्त्ववेत्ता पुरुष यह जानता है कि परब्रह्म चिदात्मा की असीम ये मायाशक्तियाँ इस प्रकार प्रस्फुरित हो रही हैं, इसलिए सैकड़ों आश्चर्यजनक घटनाओं के होने पर भी उसको आश्चर्य नहीं होता ॥३०॥ तत्त्वज्ञ मुनि दया और दीनता का परिग्रह नहीं करता, न क्रूरता का आश्रय लेता है, न लज्जा का अनुसन्धान (अनुभव) करता है और न निर्लज्जता का अनुभव करता है ॥३१॥ वह कभी भी दीनतायुक्त स्वरूपवाला नहीं होता, कभी उद्धत स्वरूपवाला नहीं होता। और न कभी प्रमत्त न खिन्न न उद्विग्न और न हर्ष युक्त ही होता है ॥३२॥ शरत्कालिक आकाश की नाईं अत्यन्त निर्मल, विस्तृत इसके चित्त में उस प्रकार कोप आदि उत्पन्न नहीं होते, जिस प्रकार आकाश में धान के अंकुर उत्पन्न नहीं होते ॥३३॥ जिसमें प्राणी अविरत मरते और उत्पन्न होते हैं, ऐसी जगत् की स्थिति में कहाँ, किस प्रकार और कौन यह सुखिता और दुःखिता होगी ? 'किम्' शब्द का तीन बार विभिन्न रूप से उपयोग इसलिए किया गया है कि देश–काल से, प्रकार से और स्वरूप से असंभावितत्व का लाभ हो ॥३४॥

जो कहा गया है उसका दृष्टान्त से समर्थन करते हैं।

जल में तरंगजनित फेनों के वेगपूर्वक भ्रमण में तथा प्राणियों की परम्परा में यह स्थिरता कहाँ और कैसे हो सकती है ? इसलिए सुख–दुःख का प्रसंग क्या हो सकता है ? ॥३५॥ प्रातिभासिक जगत् की दृष्टिरूपी सृष्टि में सक्षम नर यानी 'मैं ही अपनी आत्मा में जगद्रूप माया का सर्जन करता हूँ' इस प्रकार अनुभव कर रहे जीवन्मुक्त महापुरुष न निरन्तर प्राणियों से जनित असीम भाव एवं अभावों से नष्ट और खिन्न होते हैं तथा न उत्पन्न और प्रसन्न ही होते हैं ॥३६॥

'प्रतिक्षणविपरिणामिनो हि सर्वे भावाः' (समस्त घट आदि पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तनशील है) इस न्याय से हर एक क्षण में रूपान्तर को प्राप्त होनेवाले जगत् के धर्मों में अनुवर्तमान स्थायी सत्स्वरूप आत्मा, स्वप्न की नाईं, स्वस्वरूप में ही छः प्रकार के भाव–विकारों से युक्त दृश्य पदार्थों की प्रतिक्षण कल्पना कर रहा अनुभव करता है, यही जीवन्मुक्तों का निश्चय होने के कारण उनको हर्ष आदि की प्राप्ति कैसे हो सकती है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे रात्रि में निमेष–निमेष में यानी क्षण क्षण में होनेवाली भिन्न–भिन्न स्वप्न दृष्टियाँ क्षणभर में उत्पत्ति और विनाश से युक्त होती हैं, वैसे ही ये लोकदृष्टियाँ भी क्षण–क्षण में उत्पत्ति और विनाश से युक्त होती है ॥३७॥

जो निरन्तर उत्पत्ति और निरन्तर विनाश से समन्वित है ऐसे दग्ध संसार में कारुण्य और आनन्द का क्या प्रसंग हो सकता है ? ॥३८॥

यदि शंका हो कि प्रसिद्ध शुभ कर्मों के फलों के विद्यमान रहते उनके विरोधी पुत्र–वियोगजनित दुःख आदि भी अपना अस्तित्व रख सकेंगे, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि जीवन्मुक्तपुरुषों को शुभ कर्मों का अभाव होने से उन दोनों की प्रसक्ति ही नहीं है, ऐसा कहते हैं।

शुभ कर्मों का अभाव होने से सुखाभाव में स्थिति को प्राप्त होने पर शुभ फलों से विलक्षण दुःखसंविद् कैसी, किस प्रकार की और कहाँ प्राप्त हो सकती है ? ॥३९॥ जो दुःखदशा सुखानुभव के बाद अपना अस्तित्व प्राप्तकर अपने कार्य शोक, मोह आदि कर्मों का विस्तार करती है, वह दुःखदशा शुभ कर्मों का अभाव होने से सुख के शान्त हो जाने पर खुद भी शान्त ही हो जाती है, इसलिए बिना कारण के अस्तित्व से वह कैसे हो सकती है, यों पूर्वोक्त अर्थ का ही स्पष्टीकरण किया गया है ॥४०॥ सुख, दुःख दोनों के क्षीण हो जाने से हेय और उपादेय दोनों का भी विनाश तथा शुभ और अशुभ का विनाश हो जाता है, ऐसी स्थित में इष्ट और अनिष्ट कहाँ रहेंगे ? ॥४१॥

उससे क्या हुआ ? इस पर कहते हैं।

रम्य और अरम्य दृष्टि के निरास से भोग अभिलाषा के निवृत्त हो जाने तथा नैराश्य के निरन्तर प्रौढ़ हो जाने पर अन्तःकरण हिम की नाईं गल जाता है ॥४२॥

मन का भले ही विनाश हो जाय, इससे भी क्या हुआ ? इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, तिलों के अत्यन्त दग्घ हो जाने पर तेल की कल्पना ही कैसे हो सकती है ? इसी प्रकार मूल पर्यन्त मन के क्षीण हो जाने पर संकल्प की कथा ही कैसे हो सकती है ? ॥४३॥ हे श्रीरामजी, आत्मा से पृथक् कुछ भी पदार्थ नहीं है, इस प्रकार की दृढ़ भावना के कारण यानी निश्चल निश्चय के कारण समस्त दृश्य पदार्थों के संकल्पविकल्प के त्यागपूर्वक व्यापक ब्रह्मैकस्वभाव महात्मा तत्त्ववित् नित्यतृप्त तथा अपने निरतिशयानन्द–स्वरूप से आनन्दवान् होकर जाग्रत और स्वप्न में यथा प्राप्त अर्थों के आलोचनमात्ररूप चित्त के प्रति स्थित रहता है, उसका विलय होने पर सुषुप्ति में सोता है और जब तक प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं होता, तब तक जीवित रहता है ॥४४॥

सतहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

अठहत्तरवाँ सर्ग

चित्त के स्पन्दन से होनेवाली जगत् की भ्रान्ति,
चित्तस्पन्दन के स्वरूप और उसके निरोध में हेतुभूत योग का भली प्रकार वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, जैसे रात्रि में जलती हुई लकड़ी को गोल घुमाने से असत् ही अग्निमयचक्र सत्–सा दिखाई पड़ता है, वैसे ही चित्त के प्रस्पन्दन से असत् जगत् सत्–सा दिखाई पड़ता है ॥१॥ हे श्रीरामजी, जैसे जल के परितः स्पन्दन से (भ्रमण से) जल के पृथक् वर्तुल (गोल) नाभि आकार का आवर्त (भँवरा) दिखाई पड़ता है, वैसे ही चित्त के स्पन्दन से जगत् दीखाई पड़ता है ॥२॥ जैसे आकाश में सूर्यताप के संमुख नेत्रों के परिस्पन्दन से यानी ईक्षण से असत् पिच्छाकार

(मोर के पंख) और दूसरी ओर उनके स्पन्दन से असत् मौक्तिक मण्डल सत्य–सा दिखाई पड़ता है, वैसे ही चित्त के स्पन्दन से असत् जगत् सत्य–सा दीखाई पड़ता है ॥३॥ श्रीरामजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, जिस स्वभाव विशेष से चित्तप्रस्पन्दित होता है और जिस उपाय विशेष से वह वैसा प्रस्पन्दित नहीं होता है, उसे मुझसे कहिए, जिससे कि आपके दर्शित मार्ग से मैं उस चित्त को स्पन्दरहित बनाऊँ ॥४॥

चित्त के स्पन्दनस्वभाव को चित्त से अलग नहीं कर सकते, इसलिए दृष्टान्तों के ही द्वारा उसका दिग्दर्शन कराते हैं।

वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, जैसे शुक्लत्व और हिम, जैसे तिल और तेल का अंश, जैसे कुसुम और सुगंध तथा जैसे अग्नि और उष्णत्व परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध और अभिन्नरूप हैं, वैसे ही हे राघव, चित्त और स्पन्दन परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध और अभिन्नरूप हैं, उनके भेद की केवल मिथ्या कल्पना की गई है। सर्वत्र गुण–गुणी आदि स्थलों में अविचार से भेद सहिष्णु अभेद ही संश्लेष (सम्बन्ध) है, विचार करने से वहाँ पर भेदांश मिथ्या और अभेदांश वास्तव है, यह 'अभिन्नौ' इससे बतलाया ॥५,६॥

अभेदांश ही कल्पित क्यों नहीं है ? इस आशंका का परिहार कर रहे महाराज वसिष्ठजी 'येन न स्पन्दते तथा' (जिस उपाय से मन वैसे स्पन्दित नहीं होता) इस प्रश्नांश का उत्तर देते हैं।

चित्त और चित्त–परिस्पन्द इन दो पक्षों मे से एक पक्ष का संशय होने पर जो स्वयं गुण और गुणी इस रूप से कारणात्मा विकल्पित है, उस रूप से स्थित होकर ही दोनों गुण–गुणी नष्ट हो जाते हैं, इस विषय में संशय नहीं करना चाहिए, तात्पर्य यह है कि जो गुण और गुणी शब्द से स्वयं कारण कल्पा गया है, उसी कारण के स्वरूप से स्थित होकर ही गुण और गुणी दोनों विकल्पों का भी विनाश मानना चाहिए, न कि निरन्वय विनाश मानना चाहिए। ऐसी स्थिति में केवल कारणस्वरूप से स्थिति पाकर ही गुण और गुणी के भेद का विनाश अनुभूत होने से भेदांश ही कल्पित है, अभेदांश नहीं, यह सिद्ध होता है और मन एवं मन स्पन्द इन दोनों में से एकतरफे विनाश के अधीन आत्यान्तिक उभय निवृत्ति से ही स्पन्दन का निवारण नहीं किया जा सकता, यह भी सिद्ध होता है ॥७॥

अतएव स्पन्द के निरोध के द्वारा दोनों का नाश करने के लिए ज्ञानरूप उपाय शास्त्र में दिखलाया गया है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, चित्त के विनाश के लिए दो उपाय शास्त्रों में दिखलाये गये है– एक योग और दूसरा ज्ञान। चित्तवृत्ति का निरोध योग है और आत्मा का सम्यक् अपरोक्ष साक्षात्कार ज्ञान है ॥८॥

उन दो में से पहले प्रथम उपाय की जिज्ञासा कर रहे श्रीरामजी पूछते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, किस समय और कैसी प्राण और अपान के निरोध रूप योग नाम की युक्ति से मन असीम सुख को देनेवाली शान्ति को प्राप्त करता है ॥९॥

इस सर्ग की समाप्तिपर्यन्त इसी प्रश्न के उत्तर का वर्णन करनेवाले महाराज वसिष्ठ चित्तस्पन्द प्राण–स्पन्दन के अधीन है, यह बतलाने के लिए पहले प्राण के स्वरूप को कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, जैसे जलस्यन्दनमार्गभूत पृथ्वी के विवरों में जल चारों ओर व्याप्त होकर प्रस्फुरित होता है, वैसे ही इस देह में विद्यमान हजारो नाड़ियों में चारों ओर जो वायु

प्रस्फुरित होता है, वह प्राणवायु है ॥१०॥

यदि शंका हो कि प्राण वायु तो बाहर ही जाता है, हृदय में तो अन्य अपान आदि वायु संचरण करते हैं ? तो इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, स्पन्दनवश से भीतर क्रिया के वैचित्र्य को प्राप्त हुए उसी प्राणवायु के अपान आदि नामों की विद्वानों ने कल्पना की है, अतः अपान आदि प्राण के ही वृत्तिभेद है, उससे अन्य नहीं हैं, यह भाव है ॥११॥ जैसे आमोद का (सौगन्ध्य का) पुष्प तथा जैसे शुक्लत्व का हिम आश्रय है, वैसे ही चित्त का यह प्राण, जो चित्त के साथ अभिन्नता को प्राप्त हुआ है, आश्रय है ॥१२॥

(वारिदृष्टान्त की उपपत्ति के लिए 'रस' यह विशेषण दिया गया है। श्रुति भी कहती है : 'आपोमयः प्राणः', 'एतमेवांगिरसं मन्यन्ते प्राणो वा अंगानां रसः (प्राण जलमय है और प्राण को ही अंगिरस मानते हैं, क्योंकि वह (प्राण) अंगो का रस है। कोश की नाईं चारो ओर संश्लिष्ट होने से चित्त के साथ मानों अभिन्नता को प्राप्त हुआ प्राण चित्त का आश्रय होता है। श्रुति भी कहती है : 'प्राणबन्धनं हि सोम्यमनः' (हे सौम्य, मन प्राण के आधीन है)।

इसीलिए प्राणस्पन्द चित्तस्पन्द का हेतु है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, भीतर प्राण के परिस्पन्दन से संकल्प के (वृत्तिमात्र के) आकलन में उन्मुख जो संवित् उत्पन्न होती है, वही चित्त कहलाती है, यह आप जानिये ॥१३॥ प्राण के स्पन्दन से चित्त का स्पन्दन होता है यानी चिदाभास से व्याप्त वृत्तिविशेष, उत्पन्न होता है और चित्त के स्पन्दन से ही संवित् यानी तत् तत् विषयाकार प्रथन उस प्रकार उत्पन्न होता हैं, जिस प्रकार जल के स्पन्दन से चक्र की तरह वर्तुल आकार की रचना करनेवाली उर्मियाँ उत्पन्न होती हैं ॥१४॥

चित्त का परिस्पद प्राण परिस्पन्द के अधीन है, यह बात बड़े–बड़े महर्षि, जो 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' इत्यादि वेदों का रहस्य जानते हैं, कहते हैं। अतः प्राण का निरोध करने पर मन अवश्य उपशान्त यानी निरुद्ध हो जाता है ॥१५॥

भले ही ऐसा हो, उससे प्रकृत में क्या हुआ, इस पर कहते हैं।

मन के स्पन्दन की विश्रान्ति हो जाने पर यह संसार उस प्रकार विलीन हो जाता है, जिस प्रकार सूर्य के प्रकाशरूप स्पन्दन की विश्रान्ति हो जाने पर व्यवहार विलीन हो जाता है ॥१६॥ श्रीरामजी ने कहा : महाराज, देहरूपी अपने घर में स्थित हृदयादि स्थानों में विद्यमान बहत्तर हजार नाड़ीरूपी छिद्रों में निरन्तर संचरण कर रहे तथा मुख, नासिका आदि छिद्रोंरूपी बाह्य आकाशों में निरन्तर गमनशील प्राण आदि वायुओं का परिस्पन्दन कैसे रोका जा सकता है ? ॥१७॥

प्राणवायु की चंचलता के निरोध में निरालम्बन और सालम्बन आदि राजयोगरूपी उपायों का उपदेश देने के लिए महाराज वसिष्ठ उपक्रम करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामजी, अध्यात्मशास्त्र का उपदेश, ब्रह्मवित् पुरुषों का संसर्ग, विषयों में अनास्थारूपी वैराग्य तथा समाधि के प्रयोजक यम, नियम आदि नियमों के अभ्यास इन उपायों से हृदय में पूर्वाभ्यस्त सांसारिक व्यवहारों में अत्यन्त अनादररूपी अनास्था के दृढ़ हो जाने पर प्राण का परिस्पन्दन निरुद्ध हो जाता है ॥१८॥

सबसे पहले स्थूल शिखर में, चन्द्रबिम्ब में, मणि, देवता की मूर्ति आदि स्थलों में अथवा जहाँ कहीं भी मन रमण करता हो, वहीं पर चित्त का निरोध करने के लिए अभ्यास करना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

चिरकालपर्यन्त एकाग्ररूप से (एक-प्रकार-स्वरूप से) उत्पन्न यानी एकाग्र रूप परिणाम को प्राप्त कर उदित हुए अभिवांछित ध्यान से (जहाँ कहीं भी सरसवाहिनी इच्छा हुई, उसी पदार्थ के ध्यान से) जो एक वस्तु के स्वरूप का निरन्तर पुनः-पुनः अनुसन्धान होता है, उसी अनुसन्धान से प्राण का स्पन्दन (प्राणवायु का चांचल्य) निरुद्ध हो जाता है ॥१९॥

अथवा पूरक, कुम्भक और रेचक के क्रम से प्राणवायु का निरोध करके दुर्दान्त मन का निरोध करना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

दृढ़तापूर्वक पुनः-पुनः परिशीलनरूप अभ्यास लक्षण हेतु से प्रयास के बिना अनायास उत्पन्न हुए कुम्भक की सिद्धिपर्यन्त पूरक आदि के द्वारा किये गये अपने प्राण के नियमन से होनेवाले एकान्त ध्यानयोग से (नित्यानित्य वस्तु का यथार्थ रूप से विवेक कर नित्य अद्वितीय वस्तु में प्रवर्तित ध्यानयोग से) प्राणवायु की समग्र चंचलता निरुद्ध हो जाती है ॥२०॥ उच्चस्वर से प्रणव का उच्चारण होने पर प्रान्त में (अन्त्य में) जो शेष तुर्यमात्रा रूप शब्दतत्त्व अनुभूत होता है, उसका अनुसन्धान करने से बाह्य विषयों के विज्ञान का (बहिर्मुख चित्तवृत्ति का) जब आत्यन्तिक उपराम हो जाता है, तब प्राणवायु का स्पन्दन रुक जाता है ॥२१॥

अब रेचक और पूरक इन दो में से किसी एक के द्वारा श्वास और प्रश्वास का जब शिथिलीकरण हो जाता है तब दीर्घकाल तक तथा अभिवर्धन सहित ध्यान का अभ्यास होता है, इससे भी प्राणस्पन्दन का निरोध होता है, यह कहते हैं।

रेचक का दृढ़ अभ्यास करने से, विच्छिन्न मेघों की आकाशरूपता की नाईं, विपुलीभूत प्राणवायु की शून्यरूपता हो जाती है और उससे जब नासिका के छिद्रों को प्राणवायु का स्पर्श नहीं होता, तब प्राणवायु का स्पन्दन रुक जाता है ॥२२॥ पूरक का दृढ़ अभ्यास होने पर, पर्वत के ऊपर मेघों की नाईं, शरीर के आभ्यन्तर विद्यमान हजारों नाड़ियों के भीतर प्राणवायु तब तक धीरे-धीरे बढ़ता जाता है, जब तक वह सर्वत्र व्याप्त होकर निश्चल नहीं हो जाता, इस प्रकार प्राणसंचरण शान्त हो जाने पर प्राणस्पन्दन रुक जाता है ॥२३॥

पूर्ति के अनन्तर पूर्ण कुम्भ की नाईं कुम्भक के अनन्त काल तक स्थित होने पर और अभ्यास से प्राण का निश्चल स्तम्भन हो जाने पर प्राण वायु से स्पन्दन का निरोध हो जाता है। (रेचक, पूरक और कुम्भक इन त्रिविध प्राणायामों के विषय में पतंजलि निर्मित योगशास्त्र में विस्तार से वर्णन किया गया है 'तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः' (आसन के ऊपर विजय पा जाने पर श्वास (बाह्य वायु का आयमन-भीतर प्रवेश), प्रश्वास (कौष्ठ्य वायु का निःसारण), इन दोनों की गति का विच्छेद ही प्राणायाम है यानी श्वास और प्रश्वास दोनों का अभाव ही प्राणायाम है, उसे करना चाहिए)। इस प्राणायाम के अवान्तर भेद भी हैं – 'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।') जहाँ प्रश्वासपूर्वक गतिनिरोध होता है, वह बाह्य है यानी बाह्यवृत्ति रेचक है। जहाँ श्वासपूर्वक गतिनिरोध होता है, वह आभ्यन्तर है यानी आभ्यन्तर वृत्ति पूरक है। जहाँ पर श्वास और

प्रश्वास दोनों का अभ्यासनिरपेक्ष एक बार के प्रयत्न से गतिनिरोध होता है, वह स्तम्भवृत्ति है यानी कुम्भक है। इस कुम्भक में जैसे तप्त पत्थर के ऊपर प्रक्षिप्त जल चारों ओर से संकुचित हो जाता है, वैसे ही श्वास, प्रश्वास दोनों की भी गति एक साथ निरुद्ध होकर स्तम्भित हो जाती है। ये तीनों प्राणायाम देश परिदृष्ट हैं यानी इनका बाहर तूललव के स्पन्द आदि से और आभ्यन्तर नाभि आदि के स्पन्दन आदि से इतना देश विषय होता है, ऐसा निर्धारण किया गया है। काल से परिदृष्ट हैं – यानी क्षणों की इयत्ता के अवधारण से परिच्छिन्न हैं। संख्याओं से परिदृष्ट है यानी इतनी संख्यावाले श्वास–प्रश्वास कालों तक पहला प्राणायाम, दूसरा प्राणायाम और तीसरा प्राणायाम, यों उद्बोधित है। इसी प्रकार मृदु, इसी प्रकार मध्य और इसी प्रकार तीव्र हैं। यह प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म है यानी दीर्घता और सूक्ष्मता युक्त प्राणों से दीर्घ और सूक्ष्म हो जाता है। 'अभ्यासात् स्तम्भिते प्राणे' इस वाक्य से यह सूचित किया कि रेचकादि तीन प्रकारों से पृथक् चतुर्थ भी एक प्राणायाम का प्रकार है। यह चतुर्थ प्रकार महर्षि पतंजलि ने यों बतलाया है : बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः। पूर्वोक्त रेचक, पूरक के ऊपर विजय पा जाने से उनका आक्षेप करनेवाला यानी उन दोनों का अतिक्रमण कर स्वयं ही वर्तमान प्राण गति के अभाव रूप चतुर्थ प्राणायाम है। प्राणायाम की प्रतिष्ठा का फल भी कहा गया है : ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। धारणासु च योग्यता मनसः' (प्राणायाम के अभ्यास से योगियों का विवेकज्ञान को आवृत करनेवाला कर्म क्षीण हो जाता है, प्राणायाम के अभ्यास से धारणा में मन की योग्यता होती है)। इन सूत्रों के भाष्य में लिखा है : तपो न परमं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य। (प्राणायाम से बढ़कर तप नहीं है, प्राणायाम से मल शुद्ध हो जाते हैं और ज्ञान की दीप्ति होती है) ॥२४॥

जिह्वामूल के ऊपरी हिस्से में विद्यमान मुखान्तर्गत जो दो भाग है, उन्हें तालू कहते हैं। उन दो तालुओं के मध्यभाग में रहनेवाली घंटिका को (मुख बाने पर जिह्वा के मूलभाग में स्तन की नाईं लटक रही दृश्यमान इन्द्रयोनि को) प्रयत्न विशेष के द्वारा यानी वर्धनाभ्यास आदि यत्नों से भीतर प्राण के संचरण मार्गभूत मूर्धरन्ध्र में प्रवेशित जिह्वा से नीचे की ओर करने से जब प्राण ऊर्ध्वरन्ध्र में (ब्रह्मरन्ध्र में अर्थात् कपालकुहर में जो सुषुम्ना के ऊपरी भाग का द्वार कहा जाता है) प्रविष्ट हो जाता है, तब प्राणवायु की चंचलता निरुद्ध हो जाती है। इसका प्रकार विशेष भगवान् स्कन्द ने इन शब्दों से प्रकाशित किया है :

रसनां तालुविवरे निधायोर्ध्वमुखोऽमृतम् । धयन्निर्जरतां गच्छेदाषण्मासान्न संशयः ॥
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः । मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ॥
आकाशं च मरीचिवारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रस्थितं यन्नाथेन सदाशिवेन सहितं शान्तं हकाराक्षरम् ।
प्राणं तत्र विलीय पंचघटिकं चित्तान्वितं धारयेदेषा मोक्षकवाटपाटनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा ॥

(तालुछिद्र में जिह्वा को धारण कर ऊर्ध्वमुख योगी अमृत पी रहा छः महीनों के भीतर युवा बन जाता है। जिह्वा को ऊँची करके स्थिर हो कर जो सोमपान करता है, वह आधे ही मास में मृत्यु के ऊपर विजय पा जाता है, इसमें संशय नहीं करना चाहिए। मरीचिवारि के सदृश, ब्रह्मरन्ध्र में अवस्थित, शान्त, हकार अक्षरवाला स्वामी सदाशिव से समन्वित जो आकाश है, उसमें पाँच घड़ी पर्यन्त प्राण का विलयकर चित्त को धारण करे, तो वह मोक्ष द्वार को खोलने में समर्थ नभोधारणा कही जाती है।) मुख

को फैलाने पर गले के अन्दर लटक रहीं माँस का टुकड़ारूप जो घण्टी है, उसे इन्द्रयोनि कहते हैं, इसमें श्रुति प्रमाण है : 'अन्तरेण तालुके य एष स्तन इवालम्बते सेन्द्रयोनिः' (तालुओं के बीच में जो स्तन की नाईं लटकती है, वह इन्द्रयोनि है (इसीसे लम्बिका योग की भी सूचना होती है : जो 'खेचरी' शब्द से भी कही जाती है। कहा भी है :

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा। भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥

(तालू के बीच में कपाल कुहर नाम की एक गुफा है, उसी में जीभ को विपरीत भाव से पहुँचा कर भ्रुयुगल के मध्य में अवलोकन करने से खेचरी मुद्रा होती है) इत्यादि योगशास्त्र में सविस्तार निरूपित है, यह लघुयोगवासिष्ठ की टीका के कर्ता का मत है ॥२५॥ समस्त विकारों से वर्जित अतएव किसी भी नाम से शून्य सूक्ष्म आकाश में यानी हृदयाकाश में बाह्य और आंतर संवेदन वृत्तिमात्र के निर्विकल्प समाधि से विलीन हो जाने पर प्राणवायु का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है ॥२६॥

नासिका के अग्रभाग से उपलक्षित बारह अंगुलमात्र से परिमित बाह्य आकाश में चक्षु और मन का निरोध होने से भी प्राणस्पन्दन निरुद्ध हो जाता है, यह कहते हैं।

नासिका के अग्रभाग में बारह अंगुलपर्यन्त यानी नासिका के अग्रभाग से लेकर बारह अंगुल परिमित निर्मल आकाश भाग में नेत्रों की लक्ष्यभूत संविद्दृष्टि के (वृत्तिज्ञान के) विलीन हो जाने पर प्राण का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है ॥२७॥

लम्बिकायोग से असमुच्चित अन्य उपायों से भी अभ्यस्त पूर्वोक्त नभोधारणा योग से प्राण स्पन्दन रुक जाता है, ऐसा कहते हैं।

अभ्यास से यानी योगशास्त्रों में दर्शित पवननिरोध के अभ्यास से ऊर्ध्वरन्ध्र के द्वारा (सुषुम्नामार्ग से) तालू के ऊपर जो ब्रह्मरन्ध्र है, उसमें स्थित प्राणवायु जब गलितप्राय हो जाता है, तब प्राणवायु का स्पन्दन रुक जाता है। ('तालूर्ध्वद्वादशान्तगे' इस प्रकार के लघुयोगवासिष्ठकार के पाठ के अनुसार उक्त रीत्या प्राणवायु के तालू (विशुद्ध नाम का षोडशार चक्र), ऊर्ध्व (ब्रह्मरन्ध्र) और द्वादशान्त (अनाहत नामक द्वादशार चक्र) इनमें से किसी भी एक में चले जाने पर जब बहिर्मुख संवित् गलित हो जाती है, तब प्राणवायु का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है, यह अर्थ है) ॥२८॥

इसी प्रकार खेचरी मुद्रा भी प्राण स्पन्दन के निरोध में हेतु है, यह कहते हैं।

चिरकाल तक निरोध करने पर चक्षु की कनीनिकाओं के आलोक का यानी चक्षुरिन्द्रिय का उपराम हो जाने से तथा पूर्वोक्त रीति से कपाल कुहर में प्रवेश करने से जिह्वा के अग्रभाग के और प्राण के द्वादशान्त में प्राप्त हो जाने पर जब संकेतात्मक भ्रूमध्य यानी अविमुक्तस्थानात्मक चिन्मात्रस्वरूप परमेश्वर का आत्मस्वरूप से ज्ञान हो जाता है तब प्राण का स्पन्दन रुक जाता है ॥२९॥

गुरु या ईश्वर के अनुग्रह से काकतालीय न्याय से झटिति ज्ञान के उद्बुद्ध हो जाने पर तत्क्षण ही चित्तविकल्प के उपशम से प्राण का निरोध होता है, ऐसा कहते हैं।

ईश्वर या गुरु के अनुग्रह से झटिति उत्पन्न हुए आत्मज्ञान के दृढ़ीभूत तथा समस्त विकल्पांशों से विनिर्मुक्त हो जाने पर प्राण का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है ॥३०॥

('अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः') (उत्तम, मध्यम

अधिकारी के प्रति ब्रह्मज्ञान हेतुभूत शरीर में यह प्रसिद्ध छोटा कमलसदृश हृदयरूपी घर है, इसके अन्दर सूक्ष्म आकाश है) इत्यादि श्रुति से प्रसिद्ध दहराकाश में चिरकाल तक चित्त को लगाने से ब्रह्मसाक्षात्कार के होने पर भी प्राणस्पन्दन रुक जाता है, ऐसा कहते हैं।

हे मननशील रामजी, हृदय में चिरकालपर्यन्त श्रुति प्रतिपादित दहराकाश की नियत भावना से जनित विषयवासना वर्जित चित्त से होनेवाले ध्यान से प्राण का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। पांतजलयोग सूत्र में भी कहा है : 'हृदये चित्तसंवित्', '...स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम्' (दहराकाश में संयम से सवासन चित्तसाक्षात्कार होता है, चित्स्वभाव में संयम करने से पुरुष का साक्षात्कार होता है।)॥३१॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, इस जगत् में प्राणियों का वह हृदय क्या है ? महाआदर्शस्वरूप जिसमें यह सब, दर्पण में प्रतिबिम्ब की नाईं, स्फुरित होता है। हृदय शब्द का तीन जगह प्रयोग होता है एक तो पुण्डरीकाकार मांसखण्ड में, दूसरा मन में और तीसरा परमात्मा में। इन विभिन्न स्थानों में प्रयोग होने के कारण सन्देह को प्राप्त हुए भगवान् का प्रश्न उचित ही है॥३२॥

वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, इस जगत् में प्राणियों के दो प्रकार के हृदय है – एक उपादेय और दूसरा हेय। अब आप इनका विभाग सुनिये॥३३॥

मांसखण्डरूप हृदय और मनरूप हृदय परिच्छिन्न होने के कारण उन दोनों को एक मानकर दो विभाग यहाँ बतलाये हैं, यह समझना चाहिए।

हे श्रीरामजी, इयत्तारूप से परिच्छिन्न इस देह में वक्षःस्थल के भीतर शरीर के एक देश में अवस्थित जो हृदय है, उसे आप हेय हृदय जानिये॥३४॥ संवित्–मात्रस्वरूप से स्थित हृदय तो उपादेय कहा गया है। *(यदि शंका हो कि आत्मा के लिए जो हृदय शब्द का प्रयोग होता है वह गौण है, क्योंकि हृदय में स्थिति करने के कारण ही तो आत्मा हृदय कहा जाता है, इस पर कहते हैं।)* यह आत्मा सबके भीतर और बाह्य है और भीतर एवं बाह्य नहीं भी है॥३५॥ वह उपादेय हृदय प्रधान हृदय है, उसीमें यह समस्त जगत् विद्यमान है, वही समस्त पदार्थों का आदर्श है और वही सम्पूर्ण संपत्तियों का कोष है, क्योंकि 'अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' (इसमें भीतर आकाश और पृथ्वी से उपलक्षित समस्त वस्तुजात विद्यमान हैं) यह श्रुति है॥३६॥

हे श्रीरामजी, संवित् ही सभी प्राणियों का हृदय कहा जाता है, न कि जड़ और जीर्ण पत्थर के सदृश देह के अवयव का एक अंश हृदय कहा जाता है॥३७॥ इसलिए संवित्–स्वरूप विशुद्ध हृदय में वासनाओं से वर्जित होकर बलपूर्वक चित्त को लगाने से प्राण का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है॥३८॥ इन पूर्वोक्त उपायों से तथा सम्प्रदाय क्रम से चले आ रहे अन्यान्य आचार्यों के मुख उपदिष्ट नाना संकल्पों से कल्पित उपायों से प्राण स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है॥३९॥

सहसा हठयोग में प्रवृत्ति का निरास करने के लिए कहते हैं।

ये जो पूर्वोक्त योगात्मक युक्तियाँ कही गई हैं, वे अभ्यास के द्वारा ही भव्यमति के लिए संसार के उच्छेदन करने में निराबाध उपाय हो सकती हैं, जबर्दस्ती निरोध करने पर तो रोग आदि की संभावना हो जायेगी॥४०॥ वैराग्यरूपी लांछन से समन्तात् लांछित यानी संसारासक्ति से वर्जित तथा अभ्यास से दृढ़ता को प्राप्त प्राणायाम वासना के अनुसार,सफल होता है यानी जिस समय जैसी जैसी वासनाएँ

होती हैं,उस समय उन-उन वासनाओं का निरोध करके सफल होता है अथवा मुमुक्षा की वासना होने पर मोक्षरूप फल से और भोग की वासना होने पर तत्-तत् विचित्र फलभोग सिद्धिरूप फल से सफल होता है ॥४१॥

अतएव तत्-तत् सिद्धिरूप फलभेद के लिए पातंजल शास्त्र में भ्रूमध्य आदि स्थानभेद से धारणाओं के भेद बतलाये गये हैं, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जैसे पर्वत का झरना दूर जाकर वहीं पर लीन हो जाता है, वैसे ही भ्रू, नासिका, तालू-संस्थान तथा कण्ठाग्र प्रदेश से लेकर बारह अंगुलिपरिमित प्रदेश में अभ्यासवश से प्राण लीन हो जाता है। पतंजलि ने कहा भी है- 'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्', 'कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः', 'कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्', 'मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्' (नाभिचक्र में प्राण का संयम करने से कायव्यूह का कायस्थ वातादि पदार्थ का परिज्ञान होता है, कण्ठ के नीचे कूपप्रदेश में प्राण के संयम से क्षुधा और पिपासा की निवृत्ति हो जाती है, कूप के नीचे वक्षःस्थल में कूर्माकार नाड़ी होती है, उस कूर्मनाड़ी में प्राण का संयम करने से स्थिरपद प्राप्त हो जाता है, कपालमध्य प्रभास्वर मूर्धज्योति में संयम करने से स्वर्ग और पृथ्वी के अन्तरालवर्ती सिद्धों का दर्शन होता है) ॥४२॥

'जिह्वयाऽऽक्रम्य घण्टिकाम्' यह जो पहले कहा गया था, उसमें उपाय कहते हैं।

पुनः-पुनः चिरकालिक अभ्यास से यदि जिह्वाप्रान्त के द्वारा घण्टिका आक्रान्त हो जाय, तो उससे प्राण अधिक गति नहीं कर सकता ॥४३॥

ये जो समाधिभेद बतलाये गये हैं, उनका तत्-तत् सिद्धि-फलों में विकल्पों का बाहुल्य होने पर भी निष्काम पुरुष के लिए परम विश्रान्तिरूप फल में उनकी विकल्पस्वरूपता का अवसर नहीं है, ऐसा कहते हैं।

यद्यपि ये समाधियाँ विकल्प प्रचुर है, तथापि निष्काम पुरुष के प्रति अपने अभ्यास के कारण परम विश्रान्ति के लिए झटिति (चटपट) विकल्प अभावरूपता को प्राप्त हो जाती है ॥४४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, अभ्यास से ही पुरुष आत्मा में रमण करनेवाला, वीतशोक, भीतरी सुख से पूर्ण होता है, अन्य उपाय से नहीं, इसलिए आप अभ्यासवान् हो जाइए ॥४५॥ श्रीरामजी, अभ्यास के द्वारा प्राणवायुओं का जब चांचल्य विनष्ट हो जाता है तब मन विश्रान्ति को प्राप्त करता है और निर्वाण (मोक्ष) अवशिष्ट रह जाता है ॥४६॥ हे श्रीरामजी, वासना से युक्त मन शरीर को ग्रहण करता है, तदनन्तर उसमें अभिमान से प्राण का ग्रहण करता है और वासना से रहित मन मोक्ष ग्रहण करता है, इसलिए आपकी जैसी इच्छा हो, वैसा कीजिए ॥४७॥ चूँकि प्राणवायु का स्पन्दन मन का स्वरूप है और उससे संसाररूपी भ्रम उत्पन्न होता है, इसलिए तथोक्त अभ्यास से प्राण स्पन्दन का ही विनाश हो जाने पर संसाररूप ज्वर खण्डित हो जाता है यानी चिकित्सित हो जाता है ॥४८॥ हे श्रीरामजी, प्राणी का विकल्पांश विनष्ट हो जाने पर केवल वह पद (ब्रह्मपद) अवशिष्ट रह जाता है, जिस पद से अनैकविधकल्पनाओं से समन्वित शब्द निवृत्त हो जाते हैं ॥४९॥ वह पद ऐसा है कि उसमें यह समस्त जगत् विद्यमान है, उससे यह सब उत्पन्न हुआ है, वह समस्त जगत् का स्वरूपभूत है और वह इस जगत् के चारों और विद्यमान है। परमार्थ दशा में उसमें न तो यह दृश्यमान समस्त जगत् विद्यमान है, न तो उससे उत्पन्न हुआ है और

न उसके स्वरूपभूत ही जगत् है। वास्तव में दृश्यमान इस प्रकार का जगत् है ही नहीं ॥५०॥

यहाँ पर वसिष्ठजी 'इदं दृश्यं यत्र न' इस वाक्य से आधेयतारूप से, 'यतो न' इससे उपादेयतारूप 'यन्न' इससे तादात्म्य सम्बन्ध से जगत् में सच्चिदानन्दात्म सम्बन्ध का निषेध करने से किसी अंश से भी जगत् और ब्रह्म का सादृश्य नहीं है, यह सूचित हुआ। अतएव विनाशित्व आदि धर्मों से युक्त जगत् में कोई भी ब्रह्म का दृष्टान्त नहीं है, ऐसा कहते हैं।

यह जगत् विनाशी, विकल्पस्वरूप तथा अनेकविध गुणों से युक्त है, इसलिए समस्त गुणों से वर्जित उस आत्मा का इस जगत् में कोई भी सदृश दृष्टान्त दिखाई नहीं पड़ता ॥५१॥

यदि शंका हो कि इस जगत् में ब्रह्म का कोई भी सदृश दृष्टान्त नहीं है, तो उसका परिचय कैसे होगा ? तो इस पर कहते हैं।

नित्य उदित स्वरूप यह चितिरूपी चन्द्रिका समस्त शालियों का (अन्नों का) आस्वाद देखनेवाली, सूर्यादि समस्त तेजों की दीपिका (प्रकाशिका) और आभ्यन्तर समस्त कामों की कल्पनात्मिका है। निष्कर्ष यह निकला कि रूप, रस आदि को विषय करनेवाली बाह्य वृत्तियों की त्रिपुटी की तथा आभ्यन्तर कामादि वृत्तियों की त्रिपुटी की भासक होने से इस चितिरूपी चन्द्र का परिचय करना चाहिए ॥५२॥

'फलमत उपपत्तेः' (इष्ट, अनिष्ट आदि कर्मों का फल ईश्वर से प्राप्त होता है क्योंकि इसी अर्थ में युक्ति है) इस न्याय से तथा विचित्र कर्मफलों के उदय और क्षय के प्रति निमित्तरूप होने से भी उसका परिचय करना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

कल्पवृक्ष स्वरूप उसी आत्मा से ये अनेक संसारफलों की पंक्तियाँ, जो अनेक प्रकार के रसों से परिपूर्ण हैं, निरन्तर उत्पन्न और विनष्ट होती हैं ॥५३॥

उसका परिचय होने पर पुरुषार्थ सिद्धि को बतला रहे महाराज वसिष्ठ प्रकृत विषय का उपसंहार करते हैं।

हे भद्र श्रीरामजी, निखिल सीमाओं के अन्तभूत उस पद का अवलम्बन कर जो महात्मा स्थित रहता है, वह निश्चलबुद्धि, तत्त्वज्ञ और जीवन्मुक्त कहलाता है ॥५४॥

हे श्रीरामजी, जिस महात्मा की समस्त कामोपभोग की इच्छाएँ निवृत्त हो गई हैं, जिसकी कामोपभोग की उत्कण्ठाओं के अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थों में हित अहित वासनाएँ निवृत्त हो गई है तथा जिसका अन्तःकरण समस्त हितअहित व्यवहारों के होने पर भी हर्ष और विषाद से वर्जित हो गया है, वह मुक्त अन्तःकरण महात्मा सब पुरुषों मे श्रेष्ठ और साक्षात् नारायण हो जाता है ॥५५॥

अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

उन्नासीवाँ सर्ग

चित्त के विनाश के लिए जिन योग और ज्ञानरूपी दो उपायों का उपक्रम किया था, उनमें से पहले का पूर्व सर्ग में परिज्ञान हो जाने से द्वितीय का वर्णन।

श्रीरामजी ने कहा : हे भगवान्, पूर्व सर्ग 'द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य' इत्यादि से उपक्रान्त दो उपायों में से आपने योगयुक्त पुरुष के चित्त का विनाश–प्रकार ही निरूपित किया है। अब आप अनुग्रह कर

मुझसे सम्यक् ज्ञान कहिये यानी सम्यक् ज्ञान निरूपण कीजिए ॥१॥

लक्षण, स्वरूप एवं साधन आदि से सम्यक् ज्ञान का निरूपण करनेवाले महाराज श्रीवसिष्ठजी पहले 'आत्मा के परिचय से किया गया जगत् का बाध ही सम्यक् ज्ञान है, यों उसका (सम्यक् ज्ञान का) लक्षण करते हैं।

वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, इस जगत् में आदि और अन्त से रहित अवभास स्वरूप परमात्मा का ही केवल अस्तित्व है, इस प्रकार का असाधारण एवं अपरिच्छिन्न आकारवाला जो निश्चय है, विद्वान् लोग उसी निश्चय को सम्यक् ज्ञान कहते हैं ॥२॥

इसी प्रकार जगत् का बाध कर आत्मा का परिचय करना भी सम्यक् ज्ञान का लक्षण है, ऐसा कहते हैं।

ये जो घट, पट आदि आकारों से युक्त पदार्थों की सैकड़ों पंक्तियाँ हैं, वे सब आत्मस्वरूप ही हैं, उससे भिन्न अन्य कुछ नहीं है, इस प्रकार का निश्चय सम्यक् ज्ञान है ॥३॥

सम्यक् ज्ञान में मोक्ष देने की सामर्थ्य है, ऐसा कहते हैं।

श्रीरामजी, आत्मा का यथार्थ ज्ञान न होने से जन्म होता है और आत्मा के यथार्थ ज्ञान से मोक्ष होता है। रज्जु का यथार्थ ज्ञान न होने से रज्जु सर्परूप हो जाती है और उसका यथार्थ ज्ञान होने से रज्जु सर्परूप नहीं होती यानी सर्पभाव से रज्जु का मोक्ष हो जाता है, यह भाव है ॥४॥

तब मुक्ति में क्या बच जाता है ? उसे बतलाते हैं।

इस मुक्ति में संकल्पांशों से विनिर्मुक्त, समस्त संवेद्यों से (विषयों से) वर्जित तथा केवल स्वप्रकाशस्वभाव से ही चारों ओर प्रकाशमान केवल चिति ही बच जाती है, उससे अन्य कुछ भी नहीं बचता ॥५॥

हे श्रीरामजी, विद्वानों के द्वारा समस्त मलों से विनिर्मुक्त वह संवित् जब विज्ञात हो जाती है, तब परमात्मा कही जाती है और स्वतः निखिल मलों से वर्जित होने पर भी जब अध्यासवश भीतर से अशुद्धरूप होती है, तब अविद्या कही जाती है ॥६॥

ऐसी स्थिति में ज्ञान और विषय में अविज्ञानजनित ही भेद है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, संवित्ति (ज्ञान) ही संवेद्य (विषय) है, वास्तव में इन दोनों की तनिक भी भेद–कल्पना नहीं है, आत्मा ही आत्मा का चयन करता है यानी आत्मा ही अज्ञान से आत्मा को नानारूप बना देता है और ज्ञान से आत्मा की एकरूपता का परिचय कर लेता है, आत्मा से पृथक् कुछ भी नहीं है ॥७॥

सम्यक् ज्ञान का निचोड़ स्वरूप कहते हैं।

इस तीनों लोकों में यथार्थ आत्मदर्शिता इतनी ही है कि यह सब जगत् आत्मस्वरूप ही है, ऐसा निश्चय करके पुरुष पूर्णता को प्राप्त करे ॥८॥ हे श्रीरामजी, यह सब आत्मस्वरूप ही है, कौन भाव और अभाव अलग कर निरूपित हो सकते हैं ? वे कहाँ रह सकते हैं ? बन्ध और मोक्ष की कल्पना कहाँ हो सकती ? आत्मा को छोड़ कर ऐसी कौन वस्तु है ? जिसके विषय में मूढ़ लोग शोक करते हैं ॥९॥ आत्मा से भिन्न न तो चेत्य है और न चित्त है, दृश्य रूप यह सब ब्रह्म ही शोभित हो रहा है, समस्त ब्रह्माण्ड अद्वितीय चिदाकाशस्वरूप ही है, अतः क्या मोक्ष है और किसको बन्ध है ? ॥१०॥ जितने

बड़े–से–बड़े पदार्थ हैं, उन सबसे भी बड़ा ब्रह्म है। माया से नट की नाईं अपनी आत्मा में ही बढ़े हुए आकार से युक्त यह जगत्–रूप दृश्य अवस्थित है। आत्मा के ज्ञान से जागतिक द्वित्व तत्क्षण विलीन हो जाता है अतः आप अपने से ही आत्मस्वरूप हो जाइए ॥११॥ जैसे काष्ठ, पाषाण और वस्त्रों के तात्त्विक स्वरूप का भलीभाँति परिज्ञान हो जाने पर उनमें तनिक भी भेद नहीं रह जाता, वैसे ही अधिष्ठान भूतसन्मात्रस्वरूप का परिज्ञान हो जाने पर तनिक भी भेद नहीं रह जाता, ऐसी स्थिति में आप संकल्प और विकल्प के उन्मुख कहाँ है ? यानी हेय और उपादेय की एकरूपता होने पर संकल्प और विकल्प का प्रसंग ही हो नहीं सकता ॥१२॥ हे राघव, आदि और अन्त में अविनाशी, पूर्ण शान्त जो स्वरूप है, वही प्रसिद्ध आत्मरूपत्व है, चूँकि आत्मा का वैसा स्वरूप है, इसलिए आप उसी स्वरूपवाले हो जाइए ॥१३॥

हे राघव, यह निखिल स्थावर और जंगमात्मकजगत् निरतिशयानन्दात्मक चिदाकाशस्वरूप ही है, अतः सुख और दुःख की प्रसक्ति कहाँ होगी अर्थात् कहीं नहीं होगी, इसलिए आप समस्त चिन्ता ज्वरों से निर्मुक्त हो जाइए ॥१४॥ जैसे जल विचित्र तरंगों से प्रस्फुरित होता है, वैसे ही द्वैत और अद्वैत विकल्पों से समुद्भूत जन्म, मरण और विभ्रम स्वरूप आत्माओं से आत्मा ही अज्ञानियों के लिए प्रस्फुरित होता है ॥१५॥ जो महात्मा शुद्ध आत्मा का आलिंगन कर अन्तःस्थ बुद्धि से सदा–सर्वदा अवस्थित रहता है, उस तत्त्वज्ञ आत्माभिलाषी को कौन भोग बाँधने के लिए समर्थ हो सकते हैं ? ॥१६॥ जैसे मन्द पवन पर्वत का भेदन नहीं कर सकते, वैसे ही जिस विद्वान् ने प्रकाशमान आत्मा का पूर्णरूप से विचार कर लिया है, ऐसे तत्त्वज्ञ के अन्तःकरण को काम आदि छः शत्रु तनिक भी भेदन नहीं कर सकते ॥१७॥ जैसे जल से निर्गत अथवा स्वल्प जल में स्थित मत्स्य को बगुले निगल जाते हैं, वैसे ही इस संसार में आशाओं में निरत, मूढ़, अज्ञानी और अविचारी पुरुष को दुःख निगल जाता हैं ॥१८॥ हे श्रीरामजी, समस्त जगत् आत्मस्वरूप ही है, कहीं पर भी अविद्या नाम की कोई वस्तु है नहीं, इस प्रकार की दृष्टि का अवलम्बन कर आप सम्यक् स्वरूपवाले होकर स्थित हो जाइए ॥१९॥ हे श्रीरामजी, जैसे अनेकविध सरोवरों में जल, फेन आदि जल से पृथक् नहीं हैं, वैसे ही (दृश्य ब्रह्म से पृथक् नहीं हैं) केवल कल्पनाओं में यानी विकल्पात्मक बुद्धि में ही नानात्व है, वास्तव में नानात्व नहीं है, इस प्रकार विवेकपूर्वक भली प्रकार अर्थ को जान लेनेवाला उक्त एकविध निश्चय प्रधान पुरुष आत्यन्तिक चित्त विनाश के कारण विमुक्त है, ऐसा कहा जाता है ॥२०॥

उन्नासीवाँ सर्ग समाप्त

अस्सीवाँ सर्ग

जिस विचार के सुदृढ़ होने पर संमुख स्थित भी
दिव्य भोगों में इच्छा उत्पन्न नहीं होती, उस विचार का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी अपने हृदय में विचार (आगे कहा जानेवाला विचार) कर रहे विवेकी आत्मा को सर्वदा संमुख स्थित भी दिव्य भोगों में अभिरुचि उत्पन्न ही नहीं होती ॥१॥

उसमें पहले जिस स्थल में चक्षु के द्वारा इष्ट एवं अनिष्ट विषय गृहीत होने पर चक्षु में अहन्ता के

अभिमान से जीव को सुख–दुःख अनुभूत होते हैं; उस स्थल में चक्षु के प्रति जीव की स्वामिता ही है, अहन्ता नहीं है, ऐसा विचार करने से जीव को दुःख आदि की प्राप्ति नहीं हो सकती, ऐसा दिखलाते हैं।

नेत्र केवल रूप देखने में ही निमित्त है और चक्षु का स्वामी जीव तो केवल चक्षु में अहन्ता के अभिनिवेश से सुख–दुःख का भोक्ता होता है। जैसे बैल बोझा ढोने के लिए ही है, उस ढोये हुए द्रव्य का उपभोग करनेवाला तो द्रव्य का स्वामी है ॥२॥

जीव का स्वामित्व केवल चक्षु पर ही नहीं है, किन्तु कार्यकारणसमूह, काम, कर्म, वासना तथा उसके अनेक विध फल भेदों पर भी है। इस स्थिति में अहंकार, बुद्धि, मन एवं प्राण की परम्परा से किसी तरह से स्वत्वकोटि में प्रविष्ट एक चक्षु का कभी अनिष्टरूप के साथ सम्बन्ध प्राप्त हुआ भी तो उसकी गणना ही क्या है और उससे जीव को दुःख की प्रसक्ति ही कैसे हो सकती है, इस आशय से कहते हैं।

नेत्र के अनिष्टरूप में निमग्न होने पर जीव को क्षोभ ही कैसे ? सेना के अन्तर्गत धोबी का गदहा अल्प जलाशय में यानी छोटे तालाब में डूबा, तो उससे सेनापति की क्षति ही क्या हुई ? ॥३॥

जीव का नेत्र पर स्वामित्व रहने से ही वह उसे रूप–मग्न होने से रोक सकता है, यह बतलाते हैं।

हे मूढ़तम नेत्र, स्त्री, पुत्र आदि के सौन्दर्यस्वरूपात्मक कीचड़ का तुम आस्वाद मत करो, यह तथोक्त रूप क्षण में ही नष्ट हो जायेगा और तुम्हें भी नष्ट कर डालेगा ॥४॥

शंका हो कि तब किस प्रकार का प्राज्ञ कहाँ निबद्ध होता है, तो उस पर कहते हैं।

तेज बुद्धिवाला प्राज्ञ पुरुष तो भीतर निवास कर रहे जिस चिदात्मा से बाह्य और आभ्यन्तर विषयों का उनके सम्बन्ध द्वारा प्रकाश होता है, तथा जिस तथोक्त चिदात्मा से अनात्मभूत पाँच कोशों की परम्परा का आत्मा के तादात्म्य आरोप से अनुभव होता है, उस चिदात्मा के उदासीन तथा यथाप्राप्त पदार्थों के प्रकाशनरूप चरित्रों से अभ्यासवश सम्बद्ध होता है, मूर्खों की नाईं तथाविध सौन्दर्यरूपी रूपकर्दम के आस्वादनरूप कर्मों से सम्बद्ध नहीं होता। तात्पर्य यह निकला कि श्रीरामजी, आप भी अपने उदासीन सत्स्वरूप का प्रकाशन कीजिए, उसका आस्वादन मत कीजिए ॥५॥

हे नेत्र, जो उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाता है और जो केवल ऊपर–ऊपर से ही रमणीय प्रतीत होता है, ऐसे असत्–स्वरूप रूप का(सौन्दर्य का) उस अवश्यम्भावी मृत्यु के मुख में प्रवेश करने के लिए आश्रय मत करो ॥६॥ हे नेत्र, जब किसी की अपेक्षा किये बिना समस्त अर्थों के प्रकाशन में सदा समर्थ परमात्मा रूप आदि विषयो में उदासीनस्वरूप से स्थित है, तब कालवश से यानी किसी समय दीप आदि के प्रकाश को पाकर प्रकाशन कर रहे तुम अकेले ही क्यों सन्तप्त होते हो ? ॥७॥

इसलिए तुम भी साक्षी की तरह स्थित सद्रूप को देखो, यह भाव है।

सम्प्रति चक्षु के द्वारा भ्रान्ति से रूप के देखे जाने पर भी चित्त को उसमें अभिनिवेश करने में कोई हेतु नहीं है, यह कहते हैं।

हे चित्त, नदी आदि के जल में दृश्यमान नाना प्रकार के विचित्र अनियत तरंगों की नाईं अनियत, आकाश में सूर्य के संमुख अश्रुसहित नेत्रवाले पुरुष को दिखाई पड़नेवाली मयूर पिच्छिका की (मोर के पंख की) नाईं मिथ्याभूत एवं 'यह घोड़ा है', 'यह गाय है', 'यह स्त्री है' इस तरह की अनेक अच्छी–बुरी जातियों

के विकल्पों से जनित यह नाना प्रकार की रूपदृष्टि (सौन्दर्यानुभूति) चक्षु को स्फुरित होती है, ऐसी परिस्थिति में तुम्हें क्या मिला, जिससे कि तुम उसमें अनुरक्त होते हो और वृथा सन्तप्त होते हो ? ॥८॥

चक्षु के द्वारा दृष्ट पदार्थाकार वृत्ति चित्त में भले ही हो, तथापि उसमें अभिनिवेश के हेतु अहंकार के होने में कोई हेतु नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे चित्त, प्रलयकालीन जल में मछली की नाईं स्फुरण धर्मवाले चित्त में स्वयं रूप आदि विषयाकार का यदि स्फुरण होता है, तो वह भले ही हो,परन्तु अहंकाररूप से तुम किस निमित्त को लेकर उत्थित हुए हो ? ॥९॥ हे चित्त, आधारआधेयभूत तथा जड़स्वरूप प्रकाश और रूप के परस्पर स्फुरित होने पर तुम निरर्थक ही व्याकुल हो रहे हो। तात्पर्य यह है कि स्त्रीशरीर आदि रूप सूर्य आदि के प्रकाश का आश्रय लेकर स्फुरित होते हैं और सूर्यादि प्रकाश उक्त स्त्री–शरीरादिभूतरूप में आश्रित होकर स्फुरित होते हैं, यों परस्पर एक दूसरे का सम्बन्ध होने पर सुन्दरता की भ्रान्ति से कामादि दोष द्वारा चित्त में व्याकुलता होती है, यह प्रसिद्ध है। परन्तु प्रकाश और रूप का चित्त के साथ सम्बन्ध न होने के कारण वह व्यर्थ ही है ॥१०॥

प्रकाश और रूप के साथ चित्त का सम्बन्ध ही नहीं है , इस विषय को दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं।

जैसे वास्तव में परस्पर एक दूसरे से असंबद्ध मुख,दर्पण और प्रतिबिम्ब परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं, वैसे ही वास्तव में परस्पर एक दूसरे से असम्बद्ध रूप, प्रकाश और मन एक दूसरे से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। चक्षु के द्वारा बाहर रूप का अवलोकन होता है और मन के द्वारा भीतर संकल्पादि मनस्कार ज्ञात होते हैं, यों भिन्न देशता होने के कारण वास्तव में उनका सम्बन्ध नहीं हो सकता। यह भाव है ॥११॥

वास्तव में असम्बद्ध होने पर भी जो सम्बद्धत्व भ्रान्ति होती है, उसमें ज्ञान ही निमित्त है, ऐसा कहते हैं।

हे चित्त, ये पूर्वोक्त रूपादि अज्ञानरूपी जंतु के (लाख के) द्वारा ही निरन्तर एक दूसरे से परस्पर सम्बद्ध हुए हैं, जब अज्ञानरूपी जंतु अज्ञान के ताप से पिघल जाता है, तब एक दूसरे से असम्बद्ध और बाधित होकर अधिष्ठान सन्मात्ररूप में अवस्थित रहते हैं ॥१२॥ जैसे दो काठ लाख से एक दूसरे से श्लिष्ट हो जाते हैं, वैसे ही ये रूप, प्रकाश और संकल्प आदि मनस्कार परस्पर चित्त की कल्पना से एक दूसरे से संश्लिष्ट हो जाते हैं ॥१३॥ मकड़ी के जाले के समान आप ने ही बन्धन में हेतुभूत अपने चित्त के संकल्प विकल्पात्मक तन्तु मन्द और मध्यम अधिकारी के लिए वैराग्य, शम, दम, विरोध आदि रूप मनोभ्यास से यत्नपूर्वक किये गये विचार से विनष्ट हो जाता है। और उत्तम अधिकारी के लिए सहसा उत्पन्न नित्य अनित्य विज्ञान से उस तन्तु के विच्छिन्न हो जाने पर स्वभावतः ही अज्ञान भावना प्रवृत्त नहीं होती ॥१४॥ अज्ञान के विनाश से क्षीण हुए मन में फिर ये रूप, प्रकाश और मनस्कार परस्पर एक दूसरे से कोई भी संघटित नहीं होते ॥१५॥

पहले यत्न से तो चित्त का उच्छेद कर देना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

चित्त ही सभी इन्द्रियों का भीतर से प्रबोध (प्रेरणा) करता है, इसलिए जैसे मन्दिर से पिशाच का उच्छेद कर देते हैं, वैसे ही चित्त का उच्छेद कर देना चाहिए ॥१६॥

अब ललकार कर चित्त को ही बोधित करते हैं।

हे चित्त, तुम मिथ्या ही प्रलाप करते हो, मैंने तुम्हारे उच्छेद के लिए उपाय ढूँढ़ निकाला है। तुम आदि और अन्त दोनों में नितान्त तुच्छ (असत्) हो, इसलिए वर्तमान काल में भी असत् ही हो। पूर्व उत्तरकाल में असत् वन्ध्यापुत्र वर्तमान काल में सत् नहीं हो सकता ॥१७॥ हे चित्त, तुम इन्द्रियों से सम्बद्ध शब्द आदि पाँच आकारों के द्वारा अपने भीतर क्या गरजते हो, जो तुम्हारा अभिमान करनेवाला प्रमाता तुम्हें 'यह मेरा है' इस रूप से जानता है, उसी के विषय में तुम उपकरणरूप से गरज सकते हो, परन्तु असंग, उदासीन, चिदेकरस मेरे विषय में तुम नहीं गरज सकते ॥१८॥ हे दुष्ट चित्त, तुम्हारा गर्जन मेरे लिए तनिक भी हर्ष और विषाद के लिए नहीं है, ऐन्द्रजालिक माया से जनित मन के अनेक तरह की विषयदर्शनाकार चेष्टाओं की नाईं तुम अनेकविध विषयाकार वृत्तियों में क्यों निरर्थक दग्ध हो रहे हो ? ॥१९॥ हे चित्त, तुम रहो चाहे जाओ, तुम न तो मेरे हो और न तुम जीते हो। अपने मिथ्यास्वभाव से तुम सदा मृतक (निरात्मक) ही हो और विचार से उस प्रकार स्मृत तुम अत्यन्त असत् हो ॥२०॥ हे चित्त, तुम तत्त्वरहित जड़, भ्रान्त और शठ हो, तुम्हारा आकार अत्यन्त असत् है, अज्ञानस्वरूप तुम्हारे द्वारा अज्ञानी पुरुष को ही बाधा पहुँच सकती है, न कि विचारवान् ज्ञानी पुरुष को ॥२१॥ हे चित्त 'तुम तत्त्वशून्य हो' यह आज तक हम लोगों ने नहीं जाना था। आज आत्मतत्त्वदर्शन के प्रभाव से हम लोगों ने यह जान लिया कि तुम तत्त्वरहित ऐसे हो, जैसे दीपों के लिए अन्धकार ॥२२॥ हे चित्त, तुम शठ के द्वारा दीर्घकाल तक अवरुद्ध मेरा सम्पूर्ण देहरूपी घर शम, दम, विचार, प्रबोध आदि साधुओं के संसर्ग से वर्जित हुआ था ॥२३॥ हे चित्त, प्रेत के सदृश आकारवाले जड़ तुम्हारे मनरूपी शठ के चले जाने पर मेरा देहरूपी यह घर शम, दम आदि समस्त साधुओं के द्वारा सेवा करने योग्य हो गया ॥२४॥

हे जगत्‌रूपी चित्तवेताल, शठरूप तुम पहले ही नहीं थे, वर्तमानकाल में भी नहीं हो और आगे भी नहीं रहोगे, इस प्रकार तीनोंकालों में निषिद्ध किये गये भी तुम इस समय जो अपनी स्थिति बनाये रक्खे हो, उसके लिए तुम्हें क्या लज्जा नहीं आती, आश्चर्य है तुम्हारी निर्लज्जता का ॥२५॥

यदि तुम को लज्जा है तो तुम मेरे घर से बाहर निकल जाओ, ऐसा कहते हैं।

हे चित्तरूपी वेताल, तृष्णारूपी पिशाचिनियों के तथा क्रोध आदि गुह्यकों के साथ तुम मेरे शरीररूपी घर से बाहर निकल जाओ ॥२६॥ हे चित्त, भाग्यवश केवल आत्मा और अनात्मा के विवेकमात्र से तुम प्रमत्त चित्तरूपी वेताल मेरे देहरूपी मन्दिर से ऐसे निकल गये हो जैसे गुफा से दुष्ट क्रूर भेड़िया ॥२७॥

चित्त के द्वारा ठगे गये पुरुषों के विषय में शोक करते हैं।

बड़े आश्चर्य की बात है कि महान् जड़ एवं एकक्षणमात्र में विनष्ट हो जानेवाले शठ मन के द्वारा यह समस्त जनसमूह विवशता को प्राप्त हो गया है ॥२८॥ हे चित्त, मनुष्यों के बीच में मरनेवाले देह में आत्मबुद्धि रखनेवाले स्वतः मृत मनुष्य के प्रति यदि तुम गरजते हो तो तुम्हारा क्या पराक्रम है, क्या बल है और क्या समाश्रय है ? यदि एक अद्वितीय आत्मतत्त्वस्वरूप को समझनेवाले मेरे प्रति आकर तुम गरजो, तो मैं तुम्हारा पराक्रम, बल और समाश्रय समझूँ ॥२९॥ हे अज्ञानी गरीब चित्त, मैं आज तुमको मारता नहीं हूँ यानी तुम्हारा वध नहीं करता, क्योंकि तुम पहले से ही मर चुके हो, यह मैंने जान लिया है। यही तुम्हारा वध है ॥३०॥ हे चित्त, इतने काल तक तुम्हारा अस्तित्व (स्वरूपसत्ता) जीवित की

नाईं था, यह जानकर चिरकाल तक संसार रात्रियों में तुम्हारे साथ तादात्म्यभाव को प्राप्त हुआ था ॥३१॥ चित्त निस्तत्त्व है, अतः उसका अस्तित्व हो ही नहीं सकता– यह मैंने आज जान लिया, इसलिए तुम्हारी आशा का परित्याग कर केवल अपने स्वरूपभूत आत्मा में स्थित रहता हूँ ॥३२॥ भाग्यवश चित्त निस्तत्त्व है, यह मैंने आज स्वयं जान लिया।

बोध के अनन्तर जीवन्मुक्तों को चित्तशून्य होकर ही अवशिष्ट आयु का क्षेपण करना उचित है, यह कहते हैं।

अतः शठ मन के साथ अपने समस्त जीवन का क्षेपण नहीं करना चाहिए ॥३३॥ काम, क्रोध, लोभ आदि शठों के उत्सवभूत मन को देहरूपी घर से क्षणभर में निकालकर मैं वैताल से शून्य होकर भीतर से स्वस्थ होकर अवस्थित रहता हूँ ॥३४॥ चिरकाल तक चित्तरूपी वेताल के द्वारा ठगे गये उसके स्वरूपभूत मैंने अनेक तरह के विकारों को उत्पन्न किया; अब मैं स्वयं पदार्थभूत होकर उन विकारों का स्मरण कर हँसता हूँ ॥३५॥ भाग्यवश बहुत काल के अनन्तर अब विचाररूपी तलवार से मर्दित चित्तरूपी वेताल को, जो तालवृक्ष के सदृश उत्तंग ऊँचाई से युक्त है, हृदय मन्दिर से हटा दिया ॥३६॥ चित्तरूपी वेताल के शान्त हो जाने पर और काम आदि मलों का अभाव होने से पवित्र पदवी के यानी इन्द्रियों के द्वारभूत मार्ग को प्राप्त करने पर अब उत्तम भाग्य से शरीररूपी नगर में केवल मैं सुखपूर्वक अवस्थित हूँ ॥३७॥ विचाररूपी मन्त्र से मन मर गया, चिन्ता मर गई और अहंकाररूपी राक्षस भी मर गया, अब समस्त विषमताओं से रहित तथा स्वस्थ होकर केवल मैं ही स्थित हूँ ॥३८॥ कौन मेरा मन है ? कौन मेरी आशा है और कौन मेरा अहंकार है ? भाग्य से मेरा निरर्थक यह पोष्यवर्ग शेषरूप से विनष्ट हो गया ॥३९॥

अब अवशिष्ट निरतिशयआनन्दैकरसस्वरूप आत्मा को श्रद्धातिशय से नमस्कार करते हैं।

एक, कृतकृत्य, अविनाशी, विमलस्वरूप तथा निर्विकल्प चैतन्यनामधारी मद्रूप ही आत्मा को बार–बार नमस्कार हैं ॥४०॥ मुझे न तो शोक है और न मोह है न मैं अहम्अभिमान प्रधान जड़–अंशस्वरूप ही स्वयं हूँ। मैं अहंकार यानी प्रत्यक् चिदात्मस्वरूप नहीं हूँ, ऐसा नहीं है, किन्तु प्रत्यक्–चैतन्यस्वरूप हूँ। मैं भेद का आश्रय नहीं हूँ यानी अद्वितीय हूँ। मद्रूप ही आत्मा को बार–बार नमस्कार करता हूँ ॥४१॥ न मुझे इच्छा है, न मेरे कर्म हैं, न मेरा संसार है, न मुझमें कर्तृत्व हैं, न मुझमें भोक्तृत्व है और न मेरी देह है। मद्रूप ही आत्मा को नमस्कार हैं ॥४२॥ मैं आत्मा यानी आत्मशब्दजन्य प्रतीति का विषय नहीं हूँ, मैं अनात्मा भी नहीं हूँ, तत्त्वदष्टि से अतिरिक्त ऐसे किस पदार्थ की संभावना की जा सकती है, जो मेरे स्वरूप हो सके, इसी प्रकार अहंशब्दजन्य प्रतीति का विषय और उससे भिन्न मैं नहीं हूँ, ऐसी स्थिति में मुझसे अन्य की अप्रसिद्धि होने से स्वयं ही मैं सर्वस्वरूप और सर्वात्मक ही हूँ, यह अर्थ है; ऐसे मद्रूप ही आत्मा को नमस्कार है ॥४३॥ मैं ही आदि यानी भुवनों का कारण हूँ, मैं ही धाता यानी धारणकरनेवाला हूँ, मैं चित्तस्वरूप हूँ, मैं भुवनस्वरूप हूँ, मेरा त्रिविधपरिच्छेद नहीं हो सकता, ऐसे मद्रूप आत्मा को ही बार–बार नमस्कार है ॥४४॥ विकारशून्य, नित्य, अंशशून्य, विशालतम, सर्वस्वरूप तथा सर्वकालात्मक यानी सनातन मद्रूप आत्मा को ही बार–बार नमस्कार है ॥४५॥ रूपशून्य, नामशून्य, प्रकाशरूप, महदाकृति तथा स्वयं एक आत्ममात्र में स्थिति रखनेवाले मद्रूप आत्मा को ही बार–बार नमस्कार है ॥४६॥ मैं सर्वत्र समरूप, सर्वत्र व्यापक, सूक्ष्म और जगत् को एकमात्र प्रकाशित

करनेवाली सत्ता को भीतर से प्राप्त हुआ हूँ, ऐसे मद्रूप प्रत्यगात्मा को ही नमस्कार है ॥४७॥ पर्वत, समुद्र, पृथ्वी, नदी इनसे युक्त प्रसिद्ध यह वर्तमान दृश्य श्री मद्रूप है ही नहीं, इसी प्रकार अतीत, अनागत पदार्थों से परिपूर्ण यह जगत् भी मद्रूप है ही नहीं। अथवा उक्त सभी मद्रूप ही है, ऐसे मद्रूप प्रत्यगात्मा को बार-बार नमस्कार है ॥४८॥ चूँकि मन के समस्त विकल्प विनष्ट हो चुके हैं, इसलिए सम और अत्यन्त अभिराम, समस्त विश्व का आविर्भाव करनेवाले, स्वतः विश्ववर्जित अनन्त, स्वरूप, अजन्मा, जरारहित, समस्त गुणों से शून्य तथा अविनाशी ईश्वर के स्वरूप को मैं प्रणाम करता हूँ ॥४९॥

अस्सीवाँ सर्ग समाप्त

इक्यासीवाँ सर्ग

पूर्व में अनेक प्रयत्नों से देहरूपी घर से निर्वासित हुए
चित्तरूपी वेताल की असत्ता का अनुभव और युक्ति से उपपादन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे महाबाहो, पूर्वोक्त प्रकार से भली प्रकार विचार के द्वारा भीतर से तत्त्वज्ञान को प्राप्तकर 'आत्मा ही अवश्य ज्ञातव्य है' इसलिए विचार तत्त्व को जाननेवाले महात्मा लोग फिर चित्त के विषय में वक्ष्यमाणरीति से विचार करते हैं ॥१॥ जिस चित्त के द्वारा 'यह समस्त जगत् आत्मस्वरूप ही है' इस प्रकार के परोक्ष साक्षात्कार से जगत् परिमार्जित किया गया है, वह चित्त कहाँ से उत्पन्न हुआ ? यह अत्यन्त आश्चर्य है, क्योंकि जगत् के अवस्तुस्वरूप होने से उसके अन्तर्गत हुआ चित्त भी स्वयं अवस्तुस्वरूप ही है ॥२॥

चित्त अवस्तुरूप ही है, इसका साधन कहते हैं।

जैसे आकाशवृक्ष भ्रमवश अन्यरूप से प्रतीत होता है, वास्तव में वह विशुद्ध आकाशस्वरूप ही है, उससे पृथक् आकाशवृक्ष नहीं है यानी असत् ही है, वैसे ही चित्त जड़, चित्त अन्तर से शून्य और माया का कार्य होने से निश्चयरूप से असत् ही है, वह केवल विशुद्ध आत्मस्वरूप ही है ॥३॥ जैसे नौका में अवस्थित अज्ञानी बालक को तटवर्ती स्थाणु में प्रतीत होनेवाला गति आदि परिस्पन्द केवल भ्रान्ति से ही दिखाई पड़ता है, वैसे ही यद्यपि अज्ञानी को चित्त दीखाई पड़ता है तो भी आत्मज्ञानी तत्त्वज्ञ की दृष्टि में वह है ही नहीं, किन्तु असन्मय ही है ॥४॥ मूर्खताप्रयुक्त मोहरूपी भ्रम के शान्त हो जाने पर हम लोगों को चित्त का वैसा अनुभव नहीं होता, जैसे तेल या गन्ने को पेरने के यन्त्र के ऊपर आरोहण करने से उत्पन्न परिभ्रमण के बाद आरोही को पर्वत में परिभ्रमण का अनुभव नहीं होता ॥५॥ उक्त युक्तियों से चित्त का अस्तित्व है ही नहीं, चित्तात्मक केवल ब्रह्म का ही अस्तित्व है, चूँकि बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों की भावनाएँ असदात्मक चित्त से ही विस्तार को प्राप्त होती है, इसलिए असत्स्वरूप उनका मैंने परित्याग कर दिया ॥६॥ मेरे समस्त सन्देह शान्त हो चुके हैं, समस्त चिन्ता ज्वरों से वर्जित होकर मैं अवस्थित हूँ, जिस पारमार्थिक स्वभाव से मैं अवस्थित रहता हूँ, उसी पारमार्थिक स्वभाव से इस समय स्वानुभव से भी इच्छाओं से निर्मुक्त होकर स्थित हूँ॥७॥ जैसे प्रकाश का उपराम हो जाने पर विभिन्न-विभिन्नरूपों का प्रकाशन करनेवाली चक्षुआदि से जनित संवित्तियाँ विनष्ट हो जाती हैं, वैसे ही चित्त का उपराम हो जाने पर चंचल तृष्णा आदि दुर्गुण विनष्ट हो गये ॥८॥ चित्त मर गया, तृष्णाएँ चली गयीं,

मोहरूप पंजर भली प्रकार क्षीण हो गया, अहंभावना विशीर्ण हो गयी और इस अहंरूप आत्मा के अज्ञानरूपी निद्रा से वर्जित होने पर मैंने अपने स्वाभाविक स्वरूप को जान लिया ॥९॥ जगत् शान्त होकर अद्वितीय परब्रह्मस्वरूप ही हो गया और भेदवस्तु सत् है ही नहीं, इसलिए मैं दूसरे किस विषय का विचार करूँ ? इस असत् अर्थों की कथा से मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है ॥१०॥ चिदाभासस्वरूप, जीवस्वरूप से वर्जित, आदि और अन्त से शून्य, परमपावन पद को मैं प्राप्त हुआ हूँ। मैं सौम्य, सर्वत्र व्यापक, अतिसूक्ष्म, सनातन आत्मस्वरूप से स्थित हूँ ॥११॥ इस लोक में व्यवहार दृष्टि से और श्रुतिदृष्टि से क्रमशः चित्त आदि एवं आत्मा आदि जो अस्तित्वरूप से प्रसिद्ध वस्तुरूप पदार्थ हैं तथा रज्जु–सर्प आदि एवं वन्ध्या पुत्र आदि जो नास्तित्वरूप से प्रसिद्ध अवस्तुरूप पदार्थ हैं, वह सब आकाश से भी अत्यन्त निर्मल, स्वप्रकाश, शान्त, असीम, व्यापकस्वरूप ब्रह्मात्मक ही है, क्योंकि उसी में सत् असत्रूप विकल्पों का आरोप होता है ॥१२॥ चित्त रहे या न रहे, वह भीतर से मर जाय या जिन्दा रहे, उसके विषय में विचार करने से मेरा कौन–सा प्रयोजन है ? क्योंकि मैं तो चिरकाल से समरूप से उदित आत्मस्वरूप हूँ ॥१३॥ मैं तो इतने समय तक मूर्खतावश नित्यअनित्य वस्तु के विषय में किसी प्रकार का विचार न कर रहा केवल परिच्छिन्न देहादि के स्वभाव से युक्त होकर वर्तमान था। सम्प्रति विचार से परिच्छिन्न आत्मस्वभाव होकर विचार करनेवाला मैं कहाँ चला गया, इसका निरूपण करने में असमर्थ हूँ ॥१४॥ मन के मर जाने पर 'विचार करनेवाला है या नहीं' इस प्रकार की निरर्थक विकल्प श्री भी मनरूपी वेताल के पुनर्जीवन के लिए क्यों उत्पन्न होती है, इसलिए उस विकल्प श्री का मैं परित्याग करता हूँ ॥१५॥ तथोक्त इस भीतरी संकल्प–कलना का परित्याग करता हूँ, इस प्रकार का निश्चयकर ॐकार के लक्ष्यभूत तुरीय आत्मा में मौन की नाईं शान्तात्मा होकर स्थिर रहता हूँ ॥१६॥

किये गये विचार का उपसंहार कर रहे महाराज वसिष्ठजी उस की निरन्तर कर्तव्यता को कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, खाते, जाते, सोते और स्थित रहते सदा सर्वदा सर्वत्र उस प्रकार की प्रज्ञा से युक्त चित्त से तत्त्वज्ञानी पुरुष प्रतिदिन भली प्रकार विचार करे ॥१७॥ आत्मस्वरूप में अवस्थित, स्वस्थ अपने चित्त से भली प्रकार विचार करके सत्पुरुष अपने–अपने वर्ण और आश्रमों के अनुसार प्राप्त हुए कर्मों में किसी प्रकार का उद्वेग किये बिना स्थित रहते हैं ॥१८॥ जिनका मान और मद गलित हो चुका है,जिनका अन्तःकरण प्रमुदित है, जिनकी शरद् ऋतु से समन्वित चन्द्रमा की नाईं प्रसन्न मुख कान्ति है और जो प्राप्त हुए शास्त्रानुमोदित व्यवहारों में विहार करनेवाले हैं,ऐसे असीम बुद्धिवाले महापुरुष इस संसार में सुखपूर्वक विचरण करते हैं ॥१९॥

इक्यासीवाँ सर्ग समाप्त

बयासीवाँ सर्ग

आत्मा की एकाग्रता की सिद्धि के लिए निरर्थक चेष्टादि हेतुओं से
देह, इन्द्रिय और मन को वीतहव्य के द्वारा बोधन।

पूर्व में किया गया विचार साम्प्रदायिक है, इसे बतलाते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, पहले आपके सामने मैंने जिस विचार का दिग्दर्शन किया

है उस विचार को पहले विद्वान् संवर्त ने (बृहस्पति के छोटे भाई ने) किया था। विन्ध्याचल पर्वत के ऊपर उसी आत्मतत्त्वज्ञ संवर्त ने उक्त विचार को मुझसे कहा था॥१॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, विचारप्रचुर बुद्धि से इसी दृष्टि का अवलम्बन कर आप इस संसारसागर के उत्तरोत्तर चित्त की विश्रान्ति के प्रकर्ष–परिपाक से जनित भूमिका आरोहण क्रम से पार हो जाइये॥२॥ हे श्रीरामजी, अब आप इस दूसरी इन्द्रिय और मन की बोधरूपिणी दृष्टि का श्रवण कीजिए, जो परमपद को प्रदान करनेवाली है, इसी से महामुनि वीतहव्य ने निःशंक परमपद को प्राप्त किया था॥३॥ पहले महान् तेजस्वी वीतहव्य मुनि अरण्य में समाधि के लिए अनुकूल विन्ध्य पर्वत की विस्तृत गुफा को खोजते हुए उस प्रकार परिभ्रमण कर रहे थे, जिस प्रकार सहस्रांशु (सूर्य) मेरु पर्वत की गुफाओं को खोजते हुऐ परिभ्रमण कर रहे हो॥४॥

वीतहव्य को समाधि की इच्छा कैसे हुई इसे कहते हैं।

किसी समय की बात है कि संसाररूपी भ्रम को देनेवाले तथा घोर आधि और व्याधिमय आकारवाले इस सांसारिक क्रियाकलापों से महामुनि वीतहव्य उद्विग्न हो उठे॥५॥ केवल निर्विकल्प समाधि से प्राप्त होनेवाले उदार परब्रह्म को जानने की इच्छा से ही उक्त महामुनि ने जगत्–रूपी जीर्ण–शीर्ण अपने व्यापारों की परम्परा का उपसंहार कर लिया यानी उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया॥६॥ उसके बाद जैसे भ्रमर नीलकमल में प्रवेश करता है, वैसे ही महामुनि वीतहव्य ने कदली–पत्रों से विनिर्मित अपनी पर्णकुटी में प्रवेश किया, जिसमें कदली द्वारा श्वेत कपूर की रचना की गयी थी अतएव जो सुगन्ध से पूर्ण थी॥७॥ महामुनि वीतहव्य नें उस पर्णकुटी में अपने द्वारा बिछाये गये सम और शुद्ध मृगचर्म के आसन के ऊपर उस प्रकार विश्रान्ति ली, जिस प्रकार बरस चुका मेघ तापशून्यपर्वत के ऊपर विश्रान्ति लेता है॥८॥ पद्मासन बाँधकर, पैर के तलवों के मूल के ऊपरी भाग पर हाथ की अँगुलियों को रखकर तथा अपनी ग्रीवा को ऊँची तान कर उस प्रकार निश्चल होकर बैठे, जिस प्रकार निश्चल श्रृंग (शिखर)॥९॥ जैसे सायंकाल के समय मेरुपर्वत की कन्दरा में प्रवेश कर रहा भानु अपनी दीप्तिकिरणों का अपने में उपसंहार कर लेता है, वैसे ही महामुनि वीतहव्य ने इन्द्रियालोकरूपी कारण से दिशाओं में बिखरे हुए मन का उसके निग्रह के उपायों से धीरे–धीरे यानी आगे कहे जानेवाले प्रबोधन से अपने हृदय में उपसंहार कर लिया॥१०॥ तदनन्तर बाह्य और आभ्यन्तर स्पर्शों का यानी बाह्य इन्द्रियों के तथा भीतरी मन के विषयरूपी स्पर्शों का परित्याग कर रहे उस महामुनि ने पापशून्य मन से क्रमशः यह (आगे कहा जानेवाला) विचार किया॥११॥ अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि यह मन इतना चंचल है। क्षणमात्र के लिए किसी एक निश्चित विषय में लगाया हुआ भी उस प्रकार स्थिरता को प्राप्त नहीं होता, जिस प्रकार तरंगो के द्वारा बहाया गया पत्ता स्थिरता को प्राप्त नहीं होता॥१२॥ निरंकुश चक्षुआदि इन्द्रियों से सम्बद्ध संभ्रमरूप अनेकविध विषयस्वरूपों को लेकर मन निरन्तर उस प्रकार नृत्य करता है, जिस प्रकार करतल से विताड़ित गेंद नृत्य करता है॥१३॥

इन्द्रियों के द्वारा वर्धित मन पूर्व–पूर्व वृत्तियों का त्याग करते ही उत्तरोत्तर तदनुसारिणी इन वृत्तियों को ग्रहण कर लेता है और जिस विषय से उसको हटाया जाता है, उसी विषय में अत्यन्त उन्मत्त की नाईं दौड़ता है॥१४॥ मन घट से पट के ऊपर और पट से उत्कट शकट के ऊपर कूद जाता है यों यह चित्त अर्थों के ऊपर उस प्रकार दौड़ता है, जिस प्रकार वृक्षों के ऊपर बन्दर दौड़ता है॥१५॥

यों चित्त के दोषों की समालोचना करके मुनि वीतहव्य ने उसके निर्गमन के द्वारों की समालोचना की, यह कहते हैं।

अतिनिन्दित इन्द्रिय नामवाले ये चक्षु आदि मन के पांच द्वार है अब मैं उनके विषय में भली भाँति विचार करता हूँ ॥१६॥

अब इन्द्रियों को ही भर्त्सनापूर्वक बोधन करते हैं।

सागर के तरंगों की नाईं अतिचंचल हे हतभाग्य इन्द्रियगण, इस जन्म में समाधि के द्वारा आत्मदर्शन के लिए अभी तक तुम्हें अवसर प्राप्त नहीं हुआ क्या ? ॥१७॥ हे चंचल स्वभाववाले इन्द्रियगण, अब तुम लोग अनर्थ के लिए चंचलता मत करो, अपने दुःखदायक भूतकालीन कर्मों का तुम बार–बार खूब स्मरण कर लो ॥१८॥

हे इन्द्रियगण, तुम लोग मन ही के अलग–अलग द्वार के रूपों में कल्पित हो, अतएव निश्चित अधम और जड़ ही हो, हम जानते हैं कि जड़ में प्रवृत्ति और जल में तरंगरूपी प्रवृत्ति का आश्रयत्व मृगतृष्णा की नाईं मिथ्या है ॥१९॥

अनृत (असत्य) स्वरूपवाले आप लोगों की दुर्विनय से आत्मज्ञानशून्य कुमार्ग में जो प्रवृत्ति है, वह अन्धों की ही उपमा के लिए हो सकती है यानी अमार्ग में दौड़ रहे अन्धों के कूप–पतन की उपमा हो सकती है, यह भाव है ॥२०॥

यदि हम लोग जड़ हैं, तो कौन दर्शन आदि से सब व्यवहारो को करता है ? इस पर कहते हैं।

चिदात्मा भगवान्–स्वरूप मैं साक्षीरूप सब कुछ करता हूँ। हे जघन्य इन्द्रियवृन्द, तुम क्यों निरर्थक व्याकुल हो रहे हो ॥२१॥ हे चक्षुआदि इन्द्रियगण, सत्य स्वरूप से विरहित तुम लोग मेरे प्रति मिथ्या ही गरज रहे हो, तुम लोग अलातचक्र के सदृश और रज्जु में सर्प–भ्रम के सदृश मिथ्यारूप ही हो ॥२२॥ जिस सर्वावभासक साक्षीस्वरूप प्रत्यगात्मा ने चक्षु आदि इन्द्रियों के स्वरूप का भली प्रकार परिज्ञान कर लिया है, उस प्रत्यगात्मा के साथ उनका तनिक भी वैसे समबन्ध नहीं है, जैसे स्वर्ग और पाताल तल में विद्यमान पर्वतों का परस्पर सम्बन्ध नहीं है अथवा पाताल के पर्वतों के साथ स्वर्ग का सम्बन्ध नहीं है ॥२३॥ जैसे सर्पों से डरा हुआ पथिक उनसे दूर रहता है चाण्डालों से डरा हुआ ब्राह्मण चाण्डालों से दूर रहता है, वैसे ही चिदेकरसस्वरूप दोषशून्य प्रत्यगात्मा इन्द्रियों से दूर रहता है ॥२४॥

तब क्यों इन्द्रियों के व्यापारों में आत्मा की कारणता प्रसिद्ध है, इस पर कहते हैं।

हे इन्द्रियगण, केवल चैतन्यसत्ता की सन्निधि से ही तुम लोगों की परस्पर चेष्टा उस प्रकार पूर्णरूप से रहती है, जिस प्रकार आदित्य के रहने पर श्राद्ध और कृषि आदि कर्म करनेवाले पुरुषों के उनके इच्छानुसार तत्–तत् कर्म रहते हैं ॥२५॥

अब ललकार कर चित्त को प्रबुद्ध करते हैं।

हे चित्तरूपी चारण (इन्द्रियों की बहिर्मुखता के प्रचार में हेतुभूतः), हे चार्वाक (देह में आत्माभिमान करनेवाले), हे चारों दिशाओं में उदर भरण के लिए भिक्षा माँगनेवाले, तुम इस जगत् में कुत्ते की नाईं निरर्थक अनर्थ के लिए इस प्रकार विचरण मत करो ॥२६॥ हे शठ, 'मैं चेतनधर्मा हूँ' इस प्रकार की तुम्हारी वासनारूपी भ्रान्ति मिथ्या और निरर्थक है, क्योंकि परस्पर एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न धर्मवाले

चित् और मन की एकता नहीं हो सकती ॥२७॥ हे चित्त, 'मैं ही जीता हूँ' इस प्रकार की यह तुम्हारी अहंकाररूपी दुर्बुद्धि दुःख के लिए मिथ्या ही उत्पन्न हुई है। वह सत्य नहीं है, क्योंकि वह परमात्मस्वरूप से वर्जित है। निष्कर्ष यह है कि अहंकार के अधीन जीवन सत्यभूत नहीं हो सकता, क्योंकि उसके (अहंकार के) न रहते हुए भी सुषुप्ति में जीवन देखने में आता है। अहंबुद्धि मिथ्यास्वरूप ही है, क्योंकि सत्यभूत परमात्मा का तनिक भी उसमें सम्बन्ध नहीं है। इस विषय में श्रुति भी है : न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ (मरणधर्मा न प्राणों से और न अपान से जीता है, प्रत्युत दूसरी वस्तु से ब्रह्म से ही जीता है, जिसमें ये प्राण और अपान समाश्रित हैं) ॥२८॥

हे चित्त, अहंकार का यानी अभिमानरूप तुम्हारे परिणाम का जब आविर्भाव होता है, तब 'कार्य-कारण संघातरूप मैं ही हूँ' इस प्रकार का जो तुम अभिमान करते हो, उसे छोड़ दो। हे मूर्ख, तुम कुछ भी नहीं हो, इसलिए क्यों व्यर्थ चंचल हो उठते हो ॥२९॥

जब तुम्हारा स्वरूप ही दुर्लभ है, तब तुम्हारा अभिमान के द्वारा दूसरों की रक्षा करना तो दूरतः ही निरस्त है, इस आशय से कहते हैं।

संविद्रूपी चैतन्य अनादि और अनन्त है, संविद् से दूसरा कुछ भी नहीं है, इसलिए हे महामूर्ख, इस शरीर में चित्त नामवाले तुम कौन हो ? ॥३०॥ हे चित्त, दुःख का विषय है कि भोग के उत्तरक्षण में विषय में पर्यवसित होनेवाली और भोगकाल में अमृत के समान उत्थित यह तुम्हारी कर्तृत्व, भोक्तृत्व की आशंका (अभिमानिता) व्यर्थ ही है ॥३१॥ हे मूर्ख चित्त, चक्षु आदि इन्द्रिय-गणों का आश्रय लेकर तुम उपहास के पात्र मत होओ। तुम न तो कर्ता हो और न भोक्ता हो, किन्तु जड़ हो। तुम दूसरे साक्षी के द्वारा बोधित होते हो ॥३२॥

भोगानुभव की सामर्थ्य से वर्जित, जड़ एवं मिथ्याभूत तुम्हारी भोगाभिलाषा निरर्थक ही है, ऐसा कहते हैं।

हे चित्त, तुम भोगों के कौन होते हो अथवा भोग तुम्हारे कौन होते हैं ? जड़स्वरूप तुम्हारा जब स्वरूप (अस्तित्व) ही नहीं है, तब बन्धु, मित्र आदि तुम्हारे कैसे हो सकते हैं ॥३३॥ जो जड़स्वरूप है, उसका अस्तित्व है ही नहीं। जैसे जपा कुसुम की लालिमा से स्फटिक में लालिमा दिखाई पड़ती है, वैसे ही परमात्मा के अस्तित्व से जड़ में अस्तित्व दिखाई पड़ता है। स्वयं तो असत्ता से समन्वित है, ज्ञातापन, कर्तापन,भोक्तापन और पूर्वापर अनुसन्धान का कर्तापन ये सब चैतन्य के बिना नहीं हो सकते ॥३४॥

जब ऐसी स्थिति है, तब मैं (चित्त) प्रत्यक्-चेतनस्वरूप ही क्यों न कहा जाऊँ ? ऐसी आशंका होने पर तब तो तुम्हारी निर्विकल्प ही स्थिति युक्तियुक्त है, दुःखप्रद कर्तृत्व-भोक्तृत्व भावअभावरूपा विकल्पमयी स्थिति युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे चित्त, 'प्रत्यक्चेतनस्वरूप ही मैं हूँ' इस प्रकार तुम अपने को प्रत्यक् चेतनरूप मानते हो, तो तुम्हारा स्वरूप आत्मा ही हुआ, ऐसी स्थिति में दुःखप्रद भावअभावमयी तुम्हारी सत्ता कैसी ? ॥३५॥

निखिल विकल्पों का त्याग हो जाने पर तुम्हारी चित्तस्वरूपता हो नहीं सकती, यह भाव है। यदि तुम अपने को अचेतनरूप मानोगे, तो अनायास ही कर्तृत्व आदि का परिमार्जन कर सकते हो, यह कहते हैं।

हे चित्त, तुमने जिस रीति से जिन मिथ्या कर्तापन और भोक्तापन दोनों को जान लिया है, उनका मैं युक्ति से किस प्रकार परिमार्जन कर देता हूँ, उसे धीरे से सुनो ॥३६॥ हे चित्त, यह तुम अपने आप ही जड़भूत हो, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। भला बतलाओ तो सही, जड़ में कैसे कर्तापन रह सकता है ? क्या यहाँ पत्थर की मूर्तियाँ भी किसी प्रकार नाच सकती है ? ॥३७॥ हे चित्त, यदि तुम यह कहो कि पत्थर की प्रतिमा किसी अन्य चेतन के व्यापार से नाच करती हुई देखी जाती है, तो इस पर मैं तुम्हें यह सदुपदेश देता हूँ कि तुम भी उस ईश्वर के चिदाभासरूपी अंश से दीर्घकाल तक अपना जीवन–निर्वाह करो, स्वतः तुम अपना जीवन निभा नहीं सकते। ऐसी स्थिति में प्रतिमा के नर्तनरूपी फल का उपभोक्ता जैसे चेतन ही है, प्रतिमा नहीं है, वैसे ही तुम्हारे द्वारा किये गये जीवन आदि फलों का उपभोक्ता चिदात्मा ही है अतः तुम जीवन, अभिलाषा, हनन, गमन और गर्जन के लिए वृथा ही दौड़–धूप करते हो ॥३८॥ जिसकी शक्ति से जो किया जाता है, वह उसी के द्वारा किया हुआ होगा। पुरुष की शक्ति से हँसुआ काटता है, पर काटनेवाला पुरुष कहलाता है ॥३९॥ जिसकी शक्ति से जिसका हनन किया जाता है, वह उसी के द्वारा हत कहा जायेगा, पुरुष की शक्ति से तलवार हनन करती है, हनन करनेवाला पुरुष ही कहा जाता है ॥४०॥ जिसकी शक्ति से जो पिया जाता है, वह उसी के द्वारा पिया गया कहा जायेगा, पात्र के द्वारा जल आदि पिये जाते हैं, पर जो मनुष्य है, वही पीनेवाला कहा जाता है, पात्र नहीं ॥४१॥ हे मेरे प्यारे चित्त, तुम स्वभाव से ही जड़ हो, पर उसी सर्वज्ञ साक्षी के द्वारा बोधित होते हो, क्योंकि आत्मा ही अपना अपने से भोक्ता, भोग्य, कारण, उपकारण आदि जगत् के रूप से स्वप्न की नाईं सर्जन करता है ॥४२॥ हे चित्त, आत्मारूपी परमात्मा ही निरन्तर तुम्हें चिदाभास–व्याप्ति से बोध प्रदान करते हैं, क्योंकि सैकड़ों बार आवृत्ति करके भी पण्डित लोगों को मूर्खों को बोध देना ही चाहिए ॥४३॥

इसलिए बोधसत्ता के अधीन ही तुम्हारा नाम और रूप से स्वरूप–लाभ है, ऐसा कहते हैं।

हे चित्त, चूँकि इस ब्रह्माण्ड में केवल बोधमात्रस्वरूप आत्मसत्ता ही स्फुरित होती है, इसलिए उसी आत्मसत्ता से तुमने नाम और अर्थ को प्राप्त कर अपना अस्तित्व बना रक्खा है ॥४४॥

इस स्थिति में हे चित्त, आत्मा ही अपने ज्ञान से तुम्हारे जैसा हुआ है और अपने ज्ञान से तुम्हारे भाव से मुक्त हो जाता है, ऐसा कहते हैं।

हे चित्त, इस प्रकार तुम अज्ञानरूपी आत्मशक्ति से ही प्राप्त हुए हो। ज्ञान होने पर तुम ऐसे गलित हो जाते हो, जैसे तीव्र धूप में हिम ॥४५॥ इससे तुम तत्त्व रहित हो, तुम मूढ़ हो और परमार्थ दशा में तुम्हारा अस्तित्व ही नहीं है। इसलिए तुम्हे 'मैं तत्स्वरूप हीं हूँ' ऐसा निरर्थक तादात्म्य अध्यास, जन्म आदि दुःख के लिए, मत होवे ॥४६॥ ऐन्द्रजालिक लता की नाईं चित्त की कल्पना मिथ्या है। इस ब्रह्माण्ड में विज्ञान मात्रस्वभाव ब्रह्म का ही स्वरूप सर्वोपरि विराजित है ॥४७॥ ब्राह्मीशक्ति से यानी चितिशक्ति से युक्त माया ही मनुष्य, देवता और समस्त जगत्रूपों से आविर्भूत है। और तत्–तत् रूपों से वह ऐसी गरजती है, जैसे समुद्र के तरंगों के कलोलों से संवलित तट गरजता हो ॥४८॥

हे मूढ़ यदि तुम आत्मतत्त्व के परिज्ञान से चिन्मय हो जाओगे, तो चिद्भेद सम्पादक कारण के न रहने से तुम उस परम पद से निरन्तर अव्यतिरिक्त स्वरूपवाले ही हो जाओगे, फिर किस विषय में तुम

शोक करते हो ॥४९॥

उस समय अप्राप्त विषयों का अभाव होने के कारण विषयशून्य शोक की संभावना हीं नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

हे अज्ञानी चित्त, वह परम पद सर्वत्र जानेवाला, अतीत एवं अनागत सब पदार्थों में स्थिति रखनेवाला यानी काल कृत परिच्छेद से शून्य और सबका स्वरूपभूत है, उसकी प्राप्ति हो जाने पर सर्वदा सभी कुछ प्राप्त हो जाता है ॥५०॥ हे चित्त, इस समय ब्रह्म से न तो तुम पृथक् हो और न देह ही पृथक है, किन्तु व्यापक एवं प्रकाश स्वभाव ब्रह्म रूप ही सब हैं। चूँकि यहाँ 'अहम्', 'त्वम्' इस प्रकार का व्यवहार क्रियारहित ब्रह्म में स्फुरित होता है, इसलिए किसको क्या दुःख होगा ॥५१॥

कहे गये दोनों कल्पों को फिर स्पष्ट कहते हैं।

हे चित्त, तुम यदि आत्मस्वरूप हो जाओगे, तो तत्स्वरूप ही रहोगे, क्योंकि इस संसार में सर्वत्र व्यापक केवल आत्मा का ही अस्तित्व है, उससे भिन्न दूसरे किसी का अस्तित्व नहीं है। यदि कहो कि जड़ का अस्तित्व है, तो वह पृथक् तत्त्व ही नहीं है, परन्तु ब्रह्मरूप ही है। समस्त तीनों जगत् आत्मस्वरूप ही हैं, आत्मा से भिन्न दूसरा कुछ भी नहीं है। इसलिए यदि तुम आत्मा से पृथक् किसी वस्तु के रूप में अपने को मानोगे, तो तुम कुछ भी नहीं हो यानी तुम परमार्थ रूप हो ही नहीं ॥५२,५३॥ हे चित्त, मैं बाल शरीर हूँ, मैं वृद्ध शरीर हूँ, बाल शरीर के सम्बन्धी क्रीड़ा के उपकरण आदि और वृद्ध शरीर के सम्बन्धी पुत्र, पौत्र आदि मेरे हैं इस प्रकार निरर्थक इच्छा क्यों करते हो, क्योंकि आत्मस्वरूप हो जानेवाले की दृष्टि में देह पारमार्थिक नहीं रहती, क्या असत्–शरीर यानी असत् स्वरूपवाला कहीं प्रस्फुरित होता है ? यदि कहो कि हाँ, तो बतलाओ कि कौन खरगोश के सींग के द्वारा मारा गया ॥५४॥

तब चित् और अचित् से पृथक् तृतीय स्वरूपवाला ही मैं क्यों न होऊँ, तो इस पर कहते हैं।

हे शठ, जैसे इस जगत् में छाया और धूप इन दो के बीच में से किसी एक का ही अनुरंजन (सम्बन्ध) सब पदार्थों में रहता है, तीसरे किसी का अनुरंजन नहीं रहता है, वैसे ही चित् और जड़ इन दो अंश–कलनाओं को छोड़कर भिन्न तीसरी कोई कलना ही नहीं रहती ॥५५॥

तब मेरा तात्त्विक स्वरूप क्या है ? ऐसी चित्त की आशंका होने पर 'अन्तिम आत्मसाक्षात्कारात्मक वृत्ति से अविद्या के साथ तुम्हारी जड़ता और तुम्हारे अन्दर रहनेवाले चिदाभासका क्षय हो जाने पर चरम साक्षात्कार से आविर्भूत जो स्वप्रकाश पूर्णात्मा का स्वरूप है, वही तुम्हारा तात्त्विक स्वरूप है, वही तुम हो, ऐसा कहते हैं।

त्रिकाल में बाधित न होनेवाले आत्मा के साक्षात्कार से चित्त और उसकी जड़ता का क्षय हो जाने पर उससे (चरम यथार्थ साक्षात्कार से) आविर्भूत स्वसंवेदनमात्र स्वरूप है, वही चित्त का तात्त्विक स्वरूप है ॥५६॥ हे मूढ़, इस कारण तुम्हारे में न तो कर्तृत्व है और न भोक्तृत्व ही है। तुम उक्त परब्रह्मस्वरूप ही हो, इससे मूर्खता का परित्याग करो और आत्मवान् हो जाओ ॥५७॥

यदि मैं आत्मस्वरूप ही हूँ, तो 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' (मन से ही आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए), 'मनसैवेदमाप्तव्यम्' (मन से ही इसको प्राप्त करना चाहिए) इत्यादि श्रुतियों में मुझको आत्म–प्राप्त का उपकरण क्यों बतलाया गया है ? तो इस पर कहते हैं।

अज्ञान दशा में ही आत्मशास्त्र और आचार्य के द्वारा किये गये उपदेशों के प्रयोजन की सिद्धि के लिए कारणरूप से कल्पित तुम्हारे द्वारा आत्मा शुद्धस्वरूप अपने तत्त्व को अन्तिम साक्षात्कार का विषय करता है, यह उक्त श्रुति द्वारा कहा जाता है। जैसे अपने मुख के स्वरूप को देखने की इच्छा करनेवाला पुरुष दर्पणरूप उपाधि के ऊपर अधिरूढ़ अपने मुखरूप ही करण से मुख को देखता है, वैसे ही प्रकृत में समझना चाहिए ॥५८॥

यदि तुम करणों का स्वभाव ही अपना स्वभाव मानते हो, तो चलने में भी तुम्हारी स्वतः सामर्थ्य नहीं है, इसलिए तुम्हारा कर्तृत्व–अभिमान व्यर्थ ही है ऐसा उपपादन करते हैं।

स्वतःस्पन्दन–शक्ति से रहित, असत्–स्वरूपवाला तथा अवलम्बन वर्जित जड़रूप करण चैतन्य के द्वारा सम्पादित कर्तव्यार्थ–प्रकाश के बिना स्पन्दन नहीं कर सकता ॥५९॥ कर्ता के द्वारा अधिष्ठित न हुए इस करण में किसी प्रकार की शक्ति नहीं रह सकती, काटनेवाला यदि न हो तो क्या हँसुए में कुछ करने की शक्ति रह सकती है ॥६०॥ हे चित्त, खड्ग प्रहार और तदुत्तरभावी छेदन क्रिया के लिए पुरुष में ही शक्ति है। अत्यन्त जड़ तलवार में मूल से लेकर समस्त अवयवरूप उपकरणों के होते हुए भी उक्त शक्ति नहीं रह सकती ॥६१॥ हे मित्र, तुम कर्ता नहीं हो, इसलिए निरर्थक दुःखभागी मत होओ। हे मूर्ख, पामर के सदृश प्रकृति के कार्यों में दूसरे के लिए क्लेश सहन शोभा नहीं देता ॥६२॥

यदि शंका हो कि मोह से जीवरूपता को प्राप्त हुए अशनाया आदि से पीड़्यमान ईश्वर की मैं उपेक्षा कैसे कर सकता हूँ अतः उसके लिए अनेक प्रयत्नों से संघटित हो रहा मैं ईश्वर के विषय में शोक करता हूँ, तो इस पर कहते हैं।

जो तुम्हारे सदृश होगा, उसी के लिए तुम्हें शोक करना चाहिए, ईश्वर तो तुम्हारे सदृश है नहीं, अतः उसका क्या शोक करोगे। क्योंकि न तो उसका कोई कृत कर्म से ही यहाँ प्रयोजन है और न कोई अकृत अकर्म से ही प्रयोजन है ॥६३॥ हे चित्त, कार्यकारणसंघात केअभिमान से 'इस आत्मा का मैं उपकार करता हूँ' इस भ्रम से तुम परिच्छिन्न बुद्धि को पीड़ित करते हो संघात में रहनेवाले पाँच प्राँण, मन, बुद्धि और दस इन्द्रिय सभी अचेतन होने के कारण उनका भोगों से कुछ प्रयोजन नहीं है, इसलिए किसी का किसी के लिए कुछ भी उपयोग नहीं होता, यह भाव है ॥६४॥

अतः परिशेष से ईश्वर के लिए ही तुम्हें प्रवृत्ति कहनी चाहिए, पर उसका तो उत्तर कहा ही गया है, ऐसा कहते हैं।

हे चित्त, यदि तुम्हारा यह अभिप्राय है कि भोग के स्वामी कर्ता परमात्मा के लिए मेरी तथोक्त प्रकार की अर्थों में प्रवृत्ति है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि भोग के स्वामी परमात्मा की कुछ भी इच्छा नहीं है, कारण कि वह सदा ही तृप्त है ॥६५॥

परमात्मा परिपूर्ण और अद्वितीय है, अतः उसको इच्छा नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं।

स्वभावतः प्रकाशस्वभाव, सर्वत्र व्यापक, अद्वितीय चैतन्यात्मा ने ही इस समस्त ब्रह्माण्ड को व्याप्त कर रक्खा है, इसलिए दूसरी कोई कल्पना ही नहीं है ॥६६॥

समस्त जगत् की परमात्मा ने ही अपने स्वरूप में कल्पना की है, अतः कोई वस्तु अलभ्य न होने से परमात्मा को जगत् में किसी प्रकार की इच्छा नहीं है, ऐसा कहते हैं।

अविद्याप्रयुक्त एक और अनेक के प्रकाशक समस्तस्वरूप आत्मा ने अपनी ही आत्मा के अन्दर जगत् का निर्माण किया है, ऐसी स्थिति में सब कुछ प्राप्त होने से अन्तरात्मा किसकी इच्छा करेगा ॥६७॥

यदि सभी कुछ ईश्वर का ही है, तो उसमें मेरी इच्छा कैसे हुई ? इस पर कहते हैं।

हे चित्त, तुम्हारे जैसे मूर्खों की दृष्टि से ही इस जगत् में व्यर्थ क्षोभ उस प्रकार उत्पन्न होता है, जिस प्रकार राजा की स्त्री को देखकर मूर्ख युवा को मदमयी अवस्था उत्पन्न होती है ॥६८॥

तब उस परमात्मा के ही साथ सम्बन्ध स्थापन कर मैं उसके अनुग्रह से भोगों को प्राप्त करूँगा। इस पर कहते हैं।

(आत्मा के साथ सम्बन्ध बाँधने की इच्छा के कारण) हे सुन्दर चित्त, तुम आत्मा के साथ अपना सम्बन्ध करने की इच्छा रखते हो, परन्तु तुम उसके सम्बन्धी यानी सम्बन्ध के योग्य उसी प्रकार नहीं हो सकते, जिस प्रकार कुसुम के सम्बन्ध के योग्य फल नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि कुसुम से उत्पन्न हुआ भी फल कुसुम से बहिर्मुख होने के कारण कुसुम में रहनेवाले सुगन्धि आदि के उपभोग हेतु सम्बन्ध के योग्य नहीं होता, क्योंकि फल की अभिवृद्धि होने पर कुसुम का तिरोभाव हो जाता है, इसी प्रकार यहाँ भी समझ लेना चाहिए ॥६९॥

सम्बन्ध की अयोग्यता का उपपादन करने के लिए मुख्य सम्बन्ध का लक्षण कहते हैं।

हे चित्त, एक पदार्थ की क्रिया से या उभय पदार्थों की क्रियाओं से एक पदार्थ के दूसरे पदार्थ मे मिल जाने से एक का दूसरे में जो अन्तर्भाव हो जाता है या उस अन्तर्भाव से जो ऐक्य हो जाता है, वही सम्बन्धफलतः लक्षण है, यों सम्बन्धलक्षण विद्वानों के द्वारा कहा गया है। वैसा सम्बन्ध द्वैतावस्था में ही हो सकता है,पर अब द्वैत है नहीं, किन्तु अद्वैत है, अतः सम्बन्ध कैसे ? ॥७०॥ हे चित्त, तुम उक्त मुख्य सम्बन्ध में हेतु नहीं हो यानी मुख्य सम्बन्ध के लिए अयोग्य हो, क्योंकि तुम स्वतः एक प्रकार के नहीं हो, तुम्हारे कार्य भी नाना प्रकार के हैं और नाना प्रकार की विहित और निषिद्ध क्रियाओं की ओर झुकी हुई तुम्हारी सुख-दुःख दशाएँ भी चारों ओर से प्रसिद्ध हैं ॥७१॥ जो सम हैं, उनका यानी क्षीर और क्षीर का, जो अर्धसम हैं, उनका यानी क्षीर और नीर का भी परस्पर सम्बन्ध देखा गया है। परन्तु जो विलक्षण हैं यानी अग्नि और जल की नाईं अत्यन्त विरुद्ध हैं, उनका सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि विरोधियों का जमघट होने पर तो एक का विनाश ही देखा जाता है, सम्बन्ध का अवस्थान नहीं देखा जाता ॥७२॥

यदि शंका हो कि शब्द, स्पर्श, रूप आदि परस्पर विरुद्ध गुणवाले भी सूक्ष्म भूतों का पंचीकरण द्वारा जैसे सम्बन्ध होता है, वैसे ही मेरा आत्मा के साथ सम्बन्ध क्यों नहीं होगा ? तो इस पर कहते हैं।

शब्द, स्पर्श आदि विरुद्ध गुणवान् पदार्थों में परस्पर विरुद्धता नहीं है, क्योंकि दूसरे द्रव्यों के गुण भी परस्पर मेल मे पंचीकृत द्रव्यों का आश्रय करते हैं।

जैसे कहा है :

शब्दैकगुणमाकाशं शब्दस्पर्शगुणो मरुत्। शब्दस्पर्शरूपगुणैस्त्रिगुणं तेज उच्यते ॥
शब्दस्पर्शरूपरसगुणैरापश्चतुर्गुणाः । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धैः पंचगुणा मही ॥

आकाश केवल शब्द गुणवाला है, वायु शब्द और स्पर्श गुणवाला है, तेज शब्द, स्पर्श और रूप – इन तीन गुणों से तीन गुणवाला कहा जाता है, जल शब्द, स्पर्श, रूप और रस इन चार गुणों से युक्त है

और पृथ्वी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँच गुणों से युक्त है। प्रकृत में संवित् और जड़ता का विरोध होने से जड़रूप तुम्हारे द्वारा यदि संवित् च्युत हो जायेगी तो साधक के भाव से जड़ अंश सिद्ध ही नहीं होगा, ऐसी स्थिति में तुम्हारी ही असिद्धि का प्रसंगरूप दुःख प्राप्त हो जायेगा। यदि संवित् के द्वारा तुम च्युत हो जाओगे तो तुमने अपने ही विनाश के लिए आत्मसम्बन्ध की इच्छा की, यह प्राप्त होगा। इसलिए आत्मा के साथ सम्बन्ध चाहनेवाले तुम दोनों प्रकार से भी संवित् से च्युत न हो, यह तात्पर्य है ॥७३॥ अथवा आत्मज्ञान से तुम्हारे जैसे दुःखप्रद दृश्यों का उच्छेद हो जाने पर दुःखशून्य निरतिशय आनन्दात्ममात्र का परिशेष रह जाता है। यदि इतने से तुम सन्तुष्ट रह सकते हो, तो एकाग्र ध्यान से दीर्घकाल तक विच्छिन्न समाधि से युक्त होकर आत्मदर्शी हो जाओ ॥७४॥

तुमको समाधि में ही सुख है, न कि संकल्पोन्मुखता में, क्योंकि शिला के ऊपर गिरा हुआ झरने का जल जैसे शिला से टकराकर अनेक तरह विभक्त हो जाता है, वैसे ही संकल्पों के द्वारा देह आदि के ऊपर गिरी हुई संवित् इन्द्रियों के दरवाजों से अनेक तरह विभक्त होकर विशीर्ण–सी हो जाती है, अतः वही दुःख है, ऐसा कहते हैं।

पाषाण के सदृश जड़ मन, देह, इन्द्रिय आदि में संकल्पोन्मुखता को तुम दुःखप्रद संवित् की च्युति समझो ॥७५॥

यदि शंका हो कि मैं संकल्प नहीं करता, किन्तु कर्तृत्वस्वभाव से आत्मा ही संकल्प करता है, तो यह शंका युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे चित्त, कल्पनारूपी पंक से वर्जित तथा संकल्पादि मनन के ध्वंसरूप आत्मा में कर्तृता कैसी, क्या कहीं आकाश में पुष्प किसी तरह उत्पन्न हो सकता है ? ॥७६॥ जैसे आकाश में हाथ, पैर आदि अंग हो ही नहीं सकते, वैसे ही आत्मा में कर्तृत्व हो ही नहीं सकता। हे चित्त, तुम्हारे ही द्वारा कल्पित अनेकरूपता और एकरूपता से यह आत्मा अपने में केवल स्फुरित ही होता है, कल्पना नहीं करता ॥७७॥ जैसे समुद्र अपने अन्दर जलस्वरूप फेन, बुद्बुद् और तरंगों से स्फुरित होता है, वैसे ही आभासमात्र स्वरूप सर्वात्मक इस चिदात्मा में जगत् स्फुरित होता है ॥७८॥ जैसे समुद्र में तप्त अंगार नहीं रह सकता, वैसे ही आत्मा में दूसरी कोई कल्पना ही नहीं रह सकती, इस प्रकार जब आत्मदेव में कल्पना का अभाव है तथा मन एवं देह जड़ हैं, तब विवेक दृष्टि से यह अन्य है, यह अन्य नहीं है, यह शुभ है, यह अशुभ है 'इत्यादि असत् कल्पनाएँ कल्पक के भाव से ही नहीं रह सकती। ऐसी स्थिति में हे सुन्दर चित्त, संवेद्य से निर्मुक्त संवित् ही सारभूत वस्तु है, दूसरी नहीं ॥७९,८०॥ हे चित्त, जैसे आकाश में अरण्य नहीं है, वैसे ही पूर्वोक्त सत् कल्पनाएँ आत्मा में हैं ही नहीं, संवेद्य से वर्जित केवल संवित् ही इस जगत् के रूप में विस्तृत हुई है, इसलिए उसमें यह मैं हूँ, यह अन्य है' इस प्रकार की असत् कल्पनाओं का अवसर ही कैसे हो सकता है ? ॥८१॥ हे चित्त, अनादि रूपवर्जित, सर्वगामी और व्यापक आत्मा में कल्पनाओं का कौन आरोप कर सकता है ? क्या आकाश में ऋग्वेद आदि लेख्यमात्र को कोई लिपी बद्ध कर सकता है ? ॥८२॥

हे चित्त, अपने निर्मल स्वभाव से तुमने जब असंदिग्ध और प्रत्यक्ष रूप से यह जान लिया कि वस्तुरूप से प्रसिद्ध तथा पद और अर्थों में सारभूत केवल संवित्स्वभाव आत्मा ही समस्त दिशाओं को

पूर्ण कर स्थित है, तब मेरे सुख-दुःखों के लेश उस प्रकार क्षीण हो गये, जिस प्रकार मृगतृष्णा में प्रतीत जल, रज्जु में प्रतीत सर्प और शुक्तिसीपी में प्रतीत रजत सत्यज्ञान से क्षीण हो जाते हैं, क्योंकि निश्चय ही पूर्वोक्त सुख-दुःख प्रत्यय भ्रान्तिरूप है, यथार्थ नहीं हैं ॥८३॥

बयासीवाँ सर्ग समाप्त

तिरासीवाँ सर्ग

चित्त और इन्द्रियों के रहते समस्त दोषरूपी अनर्थों की प्राप्ति होती है और उनके अभाव में समस्त गुणरूपी सुख की प्राप्ति होती है, यह वर्णन।

श्री वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, मुनियों में श्रेष्ठ धीर उस वीतहव्य मुनि ने विशुद्ध धारणा से समन्वित बुद्धि से एकान्त में स्थित होकर पुनः अपनी इन्द्रियों को सुन्दर रीति से यह बोधन किया ॥१॥ हे श्रीरामजी, इन्द्रियों के लिए उक्त मुनि वीतहव्य ने एकान्त में स्थित होकर जो बोध-प्रदान किया था, उसको मैं आप से स्पष्ट कहता हूँ , उसे श्रवण कीजिये। श्रवण करने से आप उस भावना को प्राप्त होकर मुक्त हो जाइए ॥२॥ हे इन्द्रियवृन्द, आप लोगों की यह जो विचार दृष्टि से प्रसिद्ध आत्मसत्ता है यानी अपना अस्तित्व है, वह जीवनकाल में अनर्थरूप दुःख का हेतु है और उसके बाद फिर-फिर मृत्यु, नरक आदि को देनेवाला है, इसलिए पूर्व में प्रदर्शित सद्विचार से आप लोग अपनी उक्त मिथ्याभूत सत्ता का परित्याग कर दीजिए ॥३॥ मेरे पूर्व में किये गये आत्मतत्त्व के उपदेश से आप लोगों की यह मिथ्याभूत सत्ता विनाश को प्राप्त ही हो गई, ऐसा मैं मानता हूँ, क्यों कि आप अज्ञान से उत्पन्न हुए हैं, अतः उपदेश से अज्ञान का विनाश हो जाने पर सत्ता को प्राप्त नहीं कर सकेंगे ॥४॥

अब चित्त के प्रति भी वैसा उपदेश देते हैं।

हे तुच्छ चित्त, तुम्हारी अपनी सत्ता केवल तुम्हारे दुःख के लिए ही स्पष्टरूपता को उस प्रकार प्राप्त होती है, जिस प्रकार जलते समय तप्त कांचन की नाईं प्रज्वलित होकर शब्द करनेवाली अग्नि में की गई क्रीड़ा बालक और पक्षियों के पार्श्वभाग के दाह के लिए होती है ॥५॥

चित्त और इन्द्रिय समुदाय की सत्ता से हुई अनर्थ-परम्परा को दिखलाते हैं।

हे चित्त, तुम देखो कि तुम्हारा अस्तित्व होने पर भ्रमणशील मूर्खों के राग, द्वेषादि तरंगों से व्याप्त संसारूपी नदियों का समूह कालरूपी विशाल समुद्र में प्रविष्ट हो रहा है ॥६॥ देखिए, परस्पर एक दूसरों के अहंकारों से होनेवाले एक दूसरों के वध, पराजय, उत्पीड़न आदि की चिन्ताओं से युक्त दुःख की पंक्तियाँ कहीं से उस प्रकार गिर रहीं है, जिस प्रकार महावृष्टि की धाराएँ गिर रही हों ॥७॥ असीम, हृदय का उन्मूलन करने में उद्यत, भीषण क्रन्दन करानेवाली तथा क्रूर संपत्ति-विपत्तिरूपी महामारी चारों ओर से प्रस्फुरित हो रही है ॥८॥ इस शरीररूपी जर्जर वृक्ष के ऊपर निर्मल तथा प्रकाशमान जरा-मरणरूपी मंजरी विकसित हो रही है, जिसमें कास-श्वास (खाँसी) रूपी गूँज रहे भ्रमर विद्यमान हैं॥९॥ मनोरथों के तरंगरूपी सर्पों से वेष्टित, निहाररूपी यानी निबिड़ जड़तारूपी इन्द्रियों के छिद्ररूपी द्वारों से युक्त शरीर के कोटर में (हृदय में) जालनिर्माण में व्यग्र, चपल चिंतारूपी मकड़ी अपने भीतर घूम रही है ॥१०॥ लोभरूपी अपने विलासों से शब्द कर रहा चित्तरूपी पक्षी सुख-दुःखरूप तीक्ष्ण

चोंच से शम, दम, धर्मादि फलों के पुष्परूपी गुण समूहों को कतर रहा है ॥११॥ अपवित्र, दुष्ट आचरण करनेवाला कामरूपी कर्कश मुर्गा राग आदि वासनाओं से व्याप्त मनरूपी कूड़े के ढेर को इधर–उधर विस्तृत कर देता है यानी बार–बार अपने पैरों से फैला देता है ॥१२॥ मोहरूपी महारात्रि में भयावह अज्ञानरूपी उल्लू हृदयरूपी वृक्ष के ऊपर श्मशान में वेताल की नाईं चारों ओर से गरज रहा है ॥१३॥ हे इन्द्रियगण, आप लोगों के विद्यमान रहते ये और इनसे दूसरी भी बहुत सी अशुभ–श्रियाँरात्रि में पिशाचिनियों की नाईं गरजती रहती हैं ॥१४॥

अब चित्त और इन्द्रियगणों के न रहने पर समस्त गुणों की सम्पत्ति दिखलाते हैं।

हे साधो चित्त, तुम्हारे विद्यमान न रहते सम्पूर्ण शुभश्रियाँ (आगे कही जानेवाली गुणरूपीश्रियाँ) विवेकरूपी प्रकाश से युक्त उस प्रकार पूर्णरूप से विकसित होती है, जिस प्रकार प्रातःकाल में कमलिनियाँ ॥१५॥ मोहरूपी तुषार से वर्जित, निर्मल विवेक प्रकाश से समन्वित तथा मनरूपी रजोगुण से शून्य अब हृदयाकाशरूप ब्रह्म शोभित हो रहा है ॥१६॥ किसी प्रकार की आशंका के बिना आकाशमण्डल में पतित और वायु आदि से आकुलित वृष्टि धाराओं की नाईं विक्षेपों के हेतु विकल्प–समूह अब नहीं गिरते हैं ॥१७॥ सबको आनन्द देनेवाली, शान्त, परम पवित्र (सब भूतों में) मैत्री हृदय में ऐसे उत्पन्न होती है, जैसे तरुवर में मनोहर मंजरी उत्पन्न होती है ॥१८॥ भीतर से छिद्रवाली यानी अपूर्णता से युक्त तथा जड़ता से भरे मूर्खों में विद्या, कौशल आदि गुणों का सम्बन्ध करानेवाली चिन्ता उस प्रकार सूख रही है, जिस प्रकार हिमदग्ध कमलिनी ॥१९॥ अज्ञान का विनाश होने पर हृदय में अपने ज्ञान का प्रकाश उस प्रकार प्रकटरूपता को प्राप्त हो रहा है, जिस प्रकार शरत्काल में मेघों के शान्त हो जाने पर आकाश में सूर्यमण्डल प्रकटरूपता को प्राप्त होता है ॥२०॥ वायु के शान्त होने पर समुद्र जैसे समता को प्राप्त करता है, ऐसे ही प्रसन्न, विशाल गाम्भीर्य से युक्त, क्षोभशून्य तथा विषमता के सम्पादक हेतुओं से पराजित न हुआ मन समता को प्राप्त करता है ॥२१॥ आत्मारामरूपी अमृत–प्रवाह से पूर्ण तथा अविनाशी आनन्द से प्रचुर पुरुष शीतलता से युक्त होकर भीतर उस प्रकार स्थित रहता है, जिस प्रकार शीतल चन्द्रमा ॥२२॥ अज्ञान का विनाश हो जाने पर आत्माकार वृत्तियाँ भीतर से पूर्णता के सम्पादक विकास को प्राप्त करती है और उससे समग्र चराचरयुक्त जगत् बाधित होकर केवल संविदंशमात्र में विश्रान्त हो जाता है ॥२३॥ केवल संविन्मात्र में विश्रान्ति हो जाने पर आत्मस्वरूप का, जो निरतिशय आनन्द से व्याप्त है, पूर्णरूप से अनुभव होता है, परन्तु यह अनुभव आशारूपी फाँसी को उत्पन्न करनेवाले प्राण–सम्बद्ध देह आदि विद्यमानता–दशा में नहीं होता , अथवा संविदेक–विश्रान्ति हो जाने पर शरीर ब्रह्मानन्द के आविर्भाव से मन्थर (भारी) होकर मानों अमृत के प्राशन से भरिताकार (पूर्णरूप) अनुभूत होता है, परन्तु यह अनुभव अन्न, पान आदि आशारूपी पाशों का निर्माण करनेवाले आसक्ति–प्रयोजक प्राण आदि पापों की विद्यमानता–दशा में नहीं होता ॥२४॥ दावाग्नि से जिन वृक्षों के पत्ते और रस दग्ध हो गये हैं, उन वृक्षों मे वर्षा होने पर पुनः पल्लव और रसों का जिस प्रकार आविर्भाव हो जाता है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि से जिनका संसार, जरा और जन्मों से उपलक्षित महामार्ग नष्ट हो गया है, उन तत्त्वज्ञों में भी आरोग्य, तुष्टि, पुष्टि, कान्ति आदि गुणों का पुनः आविर्भाव हो जाता है ॥२५॥

निरतिशय आनन्दरूपी आत्मा में पुनरावृत्तिशून्य विश्रान्ति ही समस्त गुणों की अवधि है, उसके प्रसंग से तत्त्वज्ञ महापुरुष में दूसरे भी अनन्त गुण आ जाते हैं पर उनका वर्णन नहीं किया जा सकता, इस आशय से उपसंहार करते हैं।

तत्त्वज्ञ पुरुष फिर जन्म न हो, इसलिए आत्मारूपी वृक्ष के ऊपर चिरकाल तक विश्रान्ति करता है। (हे चित्त, तुम्हारा विनाश हो जाने पर) इस तरह की एवं अन्य तरह की अनेक शुभ गुणों की सम्पत्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं ॥२६॥ हे सर्वभक्षक चित्त, समस्त आशारूपी क्षयरोग को आश्रय देनेवाले तुम्हारे अस्तित्व के मिट जाने पर (सर्वविध गुण प्राप्त हो जाते हैं, यह बात निश्चित हुई) हे चित्त, अब तुमसे कहता हूँ कि इन दो पक्षों में से यानी आत्यन्तिक आत्मभाव से स्थिति और आत्यन्तिक निरात्मत्व का स्वीकार इन दोनों पक्षों में से तुम जिस किसी पक्ष से अपना कल्याण देखो उसीका क्षण भर में आश्रय ले लो ॥२७॥ मैं तो यह मानता हूँ कि हे मानियों में श्रेष्ठ चित्त, आत्यन्तिक आत्मभाव से स्थित ही तुम्हारे लिए सुख प्रद है। अतः हे चित्त, तुम उसी अभाव की (भावान्तर शून्य आत्म स्थिति की) भावना करो, क्योंकि सुख का त्याग करना महामूर्खता है ॥२८॥

यदि शंका हो कि चेतन का अपने अन्दर अन्तर्भाव करनेवाले पूर्वसिद्ध मनोरूप से मेरा जीवन तुम क्यों नहीं चाहते और मेरा आत्यन्तिक अभाव क्यों चाहते हो, तो इस पर कहते हैं।

हे चित्त, तुम्हारा अन्तर्भावित चेतनस्वरूप जो प्रसिद्धरूप है, वह यदि सत्य होता, तो उस रूप से जी रहे तुम्हारा अभाव कौन चाहता। हे सुन्दर, परन्तु तुम उस रूप से नहीं हो, यानी असत् हो, यह मैं श्रुति, शास्त्र आदि के अनुभव से विचार कर तुमसे कहता हूँ, ऊपर ऊपर से नहीं कहता हूँ; *(इस आत्यन्तिक आत्मभाव से अवस्थान तुम्हारे लिए हितकारक भी है, ऐसा कहते हैं)* हे चित्त, इससे 'मैं जीता हूँ' इस प्रकार की मिथ्या आशा से तुम फूलो मत। जब तुम पहले से ही कल्पित हो, तुम्हारी सत्ता है ही नहीं, तब जो तुम्हारा अस्तित्व है, वह भ्रममूलक ही सिद्ध होता है। हे चित्त,अब वही भ्रान्ति विचार से आत्यन्तिक विनाश को प्राप्त हो गई॥२९-३१॥ हे साधो, तुम्हारा स्वरूप इतना ही है कि आत्मस्वरूप का विचार न करना। आत्मा और अनात्मा का भली प्रकार विचार करने पर तुम्हारे स्वरूप की सन्मात्ररूप तथा विक्षेपात्मक विषमता से शून्य स्थिति हो जाती है॥३२॥ विचार न करने पर तुम उस प्रकार उत्पन्न होते हो, जिस प्रकार प्रकाश के न रहने पर अन्धकार। हे चित्त, विचार से तुम्हारा स्वरूप उस प्रकार शान्त हो जाता है, जिस प्रकार प्रकाश से अन्धकार का स्वरूप ॥३३॥ हे सखे, इतने समय तक तुम्हारे स्वरूप के विषय में बहुत कम विवेक रहा, इसलिए तुम्हारे स्वरूप का अल्प विवेक होने के कारण ही दुःख की हेतु तुम्हारी मोटाई उस प्रकार उत्पन्न हुई, जिस प्रकार मोहजनित संकल्पमात्र से बालक के शरीर में वेताल उत्पन्न होता है, तुम्हारे मोटेपन से सुख-दुःख आदि द्वन्द्व, जो ब्रह्माजी के द्वारा किये गये पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश के संकल्प से संकल्प समय में ही नश्य सिद्ध हो जाने के कारण विनाशी हैं। जिस विवेक के प्रसाद से ज्ञानोदय क्षण में अविद्याजनित प्राक्तन अपने स्वरूप का विनाश होने पर नित्य यानी आदि और अन्त से शून्य आत्मा के स्वरूप का आविर्भाव हुआ उस विवेक को बार-बार नमस्कार हैं ॥३४-३६॥ हे तुच्छ चित्त, बहुत करके तुम स्वयं भी अब प्रबुद्ध हो चुके हो और शास्त्र से ही बोधित हो गये हो। चित्तता के विनष्ट होने पर तुम परमेश्वर स्वरूप हो। पूर्व में भी परमेश्वर स्वरूप

ही थे, वर्तमान काल में भी कल्याण के लिए बोध से तुम्हें अपना वास्तविक स्वरूपविलास (परमेश्वरस्वरूपत्व) प्राप्त हुआ है, इसलिए समस्त वासनाओं से मुक्त तुम साक्षात् महेश्वर ही हो, दूसरे नहीं हो ॥३७,३८॥ जिसकी अविवेक से उत्पत्ति होती है, उसका विवेक से विनाश हो जाता है। प्रकाश से अन्धकार विनाश को प्राप्त होता है और प्रकाश का अभाव होने पर अन्धकार हो जाता है ॥३९॥ हे साधो, तुम्हारे परिच्छिन्न रहने पर भी विचार के दृढ़ होने पर सुख की सिद्धि के लिए तुम्हारा चारों ओर से यह विनाश प्राप्त हुआ ॥४०॥ इसलिए सिद्धान्तभूत युक्तियों से यह निर्णीत हुआ कि तुम असत् ही हो। हे इन्द्रियों के स्वामी चित्त, तुम संसार से पार हो जाओ, तुम्हारा कल्याण हो ॥४१॥

चित्तेन्द्रिय के स्थान में यदि 'वित्वेन्द्रिय' यह पाठ हो तो सिद्धान्तभूत युक्तियों से अपने असली स्वरूप को प्राप्त कर संसार से पार हो जाओ, यह अर्थ करना चाहिए। मन की तीनों कालों में सत्ता नहीं है, यह कहते हैं।

पहले जो कभी भी नहीं था, वर्तमान में भी जो असत् है, उत्तरकाल में भी जिसकी होने की सम्भावना नहीं है, ऐसे हे स्वकीय मन, तुम्हारा कल्याण हो ॥४२॥

चित्त की असत्ता से ही पुरुषार्थ सिद्धि बतलाते हैं।

सौभाग्यवश मैं समस्त चिन्ता-ज्वरों से निर्मुक्त हुआ हूँ, शान्त हुआ हूँ, और चारों ओर से तृप्त हो गया हूँ, तुरीयपद में स्थित मैं अपनी आत्मा में स्थित हो गया हूँ ॥४३॥ इसलिए इस संसार में जिसकी स्थिति हो ही नहीं सकती, वह चित्त है ही नहीं, है ही नहीं। आत्मा तो अवश्य ही है, अवश्य है ही, आत्मा को छोड़ कर और कुछ भी उससे भिन्न नहीं है ॥४४॥

यह आत्मा है, मैं तत्स्वरूप ही हूँ, मुझसे पृथक् दूसरा कुछ भी कहीं नहीं है। प्रकाशमान चित्स्वरूप बोधात्मा मैं ही सदा सर्वत्र रहता हूँ ॥४५॥

शुद्धचिदेकरस आत्मा में 'यह आत्मा है' इस प्रकार की जब कल्पना ही नहीं हो सकती, तब दूसरी कल्पनाओं के विषय में तो कहना ही क्या ? इस आशय से कहते हैं।

सर्वविध मलों से वर्जित आत्मा के अन्दर 'यह आत्मा है' इस प्रकार की कल्पना ही नहीं हो सकती, यह मैं मानता हूँ, क्योंकि यह एक अद्वितीय आत्मा में प्रतियोगी के भेद से होनेवाली यानी अन्य वस्तु की सत्ता से होनेवाली कल्पना कैसे हो सकती है ॥४६॥

इसलिए परमात्मा वाणी का भी अविषय है, ऐसा कहते हैं।

उसी कारण से यानी अद्वितीय वस्तु में कोई कल्पना नहीं हो सकती, इस कारण से 'मैं यह आत्मा हूँ' इस प्रकार कल्पना के अभिव्यंजक शब्दों का उच्चारण न करता हुआ मैं मौनी होकर उस प्रकार अपने स्वरूप में स्थित रहता हूँ, जिस प्रकार जल में तरंग ॥४७॥ मैं अपने हृदय में जड़ अंश से शून्य, जडांश की हेतु अविद्या का भी बाध हो जाने के कारण वासना से वर्जित, चिदाभास के भी पृथक् न रहने से चेतनांशता के आश्रय से वर्जित उसके अधीन क्रियाशक्ति का भी उपराम होने के कारण प्राण संचरण से शून्य, भेदक का अभाव होने के कारण भेदांश से शून्य, एकरस, चिन्मात्र स्वरूप, जगत् के बाध के आश्रयरूप से परिशिष्ट संविदंश को प्राप्त कर मन की चेष्टा और वाणी के व्यापार से शून्य होकर विश्रान्ति लेता हूँ ॥४८॥

तिरासीवाँ सर्ग समाप्त

चौरासीवाँ सर्ग

वीतहव्य महामुनि की समाधि का, पृथ्वी के विवर में स्थिति का तथा उसके
हृदय में विद्याधरत्व, इन्द्रत्व,गणत्व आदि के अनुभव का वर्णन।

वसिष्ठजी ने कहा : भद्र उस प्रकार निर्णय कर वह मुनि वीतहव्य समस्त वासनाओं को छोड़कर विन्ध्याद्रि के गह्वर कोटर में समाधि लगाकर उसमें अटल रहे ॥१॥ उस समय महामुनि वीतहव्य किसी प्रकार के क्षोभ से शून्य परिपूर्ण संवित् प्रकाशरूप आनन्द युक्त होने के कारण अत्यन्त सुन्दर मालूम पड़ते थे, उनका मन अत्यन्त विलीन हो गया था, अतएव ऐसे भले लगते थे, जैसे प्रशान्त समुद्र भला लगता है ॥२॥ इस महामुनि का क्रमशः प्राणसंचार भीतर हृदय में ही उस प्रकार शान्त हो गया, जिस प्रकार इन्धन के जल जाने पर अग्नि में ज्वालाओं के समूह का संचरण शान्त हो जाता है ॥३॥

महामुनि वीतहव्य के, अर्धउन्मीलित नेत्रों का वर्णन करते हैं।

महामुनि वीतहव्य के चंचलताशून्य दो नेत्र अत्यन्त अन्तर्निष्ठ निमीलित नहीं थे अर्थात् आधे मूँदे हुए थे। (इससे उनके नेत्र बाह्य विषयों में लगे होंगे, यह भी नहीं) बाह्य विषयों में भी लगे नहीं थे, शेष यानी उन्मीलित अंश से अतिरिक्त अंशों से उनके नेत्रों ने भीतर स्थिति प्राप्त की थी यानी अन्तर्मुख-स्थिति प्राप्त की थी ॥४॥ महामुनि वीतहव्य के दोनों नेत्र ऐसे लक्षित होते थे मानों उनका स्वल्प से भी स्वल्प प्रकाश नासिका के अग्रभाग में दोनों ओर बराबर फैला हुआ है। इससे वे आधे विकसित पद्मों के सदृश शोभा को प्राप्त कर रहे थे ॥५॥ महाबुद्धि वीतहव्य ने अपने आसनबन्ध में शरीर, शिर और ग्रीवा को समानरूप से रक्खा था, इसलिए वे ऐसे मालूम पड़ते थे, जैसे पर्वत से खोदी गई अथवा चित्र में लिखी गई मूर्ति हो ॥६॥ श्रीरामजी, विन्ध्याद्रि के किसी झरने के समीपस्थ प्रदेश के कोटर में उस प्रकार की समाधि का अनुष्ठान कर रहे उक्त महामुनि के तीन सौ संवत्सर आधे मुहूर्त की नाईं व्यतीत हो गये ॥७॥ आत्मवान् ध्याननिमग्न उस मुनि ने जीवन्मुक्तता के कारण इतने काल को कुछ भी नहीं समझा और अपने उस शरीर का त्याग भी नहीं किया ॥८॥ योग के रहस्य को जाननेवाले परमभाग्यशाली वह मुनि महान् मेघों के चारों ओर फैलनेवाले शब्दों से भी; बरस रही वृष्टि की धाराओं के सम्पात से जनित घरघर शब्दों से भी, शिकार खेलने के समय आये हुए समीपस्थ प्रदेशों में रहनेवाले सामन्तों के मतवाले हाथियों के गर्जनों से भी, पक्षी और वानरों की किलकिलाहटों से भी, जंगल के हाथियों मातंगों के (परस्पर संघट्टन से जनित) अव्यक्त शब्दों से भी, सिंहों के क्रोधपूर्वक गर्जनों से भी, झरनों की दिग्व्यापी घर्घराहट ध्वनि से भी, भयंकर वज्रपातों से भी, मनुष्यों के घन कोलाहलों से भी, प्रमत्त गेंडों के भयंकर शब्दों से भी, भूकम्प के द्वारा छिन्न भिन्न हुए पर्वत-तटों के आस्फालनों से भी, वन दाहों के समय अग्नि के संयोग और उससे उत्पन्न शब्दों से भी, जल-प्रवाहों से आहत पशु आदि के आस्फालनों एवं गर्जनों से भी, बड़े-बड़े पर्वत तटों के आघातों से भी, जलप्रवाहों के आन्दोलनों से प्राप्त धरणीतल से फिसले हुए मिट्टी से मिले जल के शैत्य से भी तथा अग्नि की नाईं कर्कश ग्रीष्म आदि के तापों से भी, उतने समय तक समाधि से जागे नहीं ॥९-१३॥ श्रीरामजी, प्रयोजन के बिना केवल अपनी इच्छा के अनुसार समय के बीतने पर और जल में तरंगों की नाईं एक-के पीछे एक यों अनेक बार वर्षाओं के

बरसने पर थोड़े ही समय में उक्त पर्वत की कन्दरा में वर्षा के ओघ से भी प्राप्त हुए कीचड़ ने इस महामुनि को पृथ्वी के भीतर यानी भूगर्भ में कर दिया अर्थात् प्रवेशित कर दिया। तात्पर्य यह हुआ कि वर्षा से बहाया गया कीचड़ इनके शरीर के चारों ओर ऐसा घना जम गया था, जिससे कि वे बाहर से नहीं दिखाई पड़ते थे, पृथ्वी के भीतर प्रविष्ट हो गये थे ॥१४,१५॥ जिसके भीतर अनेक संकट भरे पड़े थे, ऐसे उक्त कोटर की भूमि में यह मुनि कीचड़ से संश्लिष्ट कन्धे से युक्त होकर उस प्रकार रहते थे, जिस प्रकार पर्वत के अन्दर शिला ॥१६॥ तदनन्तर तीन सौ वर्षों के बीत जाने पर पृथ्वी के कोटर में संश्लिष्ट वे स्वयं ही निग्रहानुग्रहसमर्थ तथा आत्मस्वरूपता को प्राप्त हुए महामुनि समाधि से जाग गये ॥१७॥

उस प्रकार संकटों के बीच में रहनेवाले उक्त मुनि का जीवन कैसे रहा ? इस पर कहते हैं।

इस महामुनि वीतहव्य की पृथ्वी से दबी हुई देह को जीवनादृष्ट से प्राप्त लिंग शरीर में प्रतिबिम्बित संवित् ने ही ग्रहण कर पालन किया, प्राण–वृत्तिरूप स्पंदन ने पालन नहीं किया, क्योंकि वह सूक्ष्म था, इसलिए प्राण–संसरण नहीं हो सकता था ॥१८॥

तीन सौ वर्षों के बाद उनका जो व्यवहार रहा, उसे कहते हैं।

तीन सौ वर्षों की समाधि के अनन्तर उसकी जीवरूपा संवित् ने अवशिष्ट प्रारब्ध के भोग के लिए हृदय के भीतर उन्मेष–क्रम से स्थूलता को प्राप्त कर अपने मन की स्वरूपभूत होकर आगे कहे जानेवाले समस्त विषयों का कल्पना के द्वारा हृदय में ही अनुभव किया ॥१९॥

उन्होनें जिसका अनुभव किया, उसे ही कहते हैं।

कमनीय कैलास पर्वत के कानन में एक कदम्बवृक्ष के नीचे सौ वर्षों तक उन्होंने अपने हृदय में मुनित्व का अनुभव किया जो जीवन्मुक्त आत्मा के कारण विमल था ॥२०॥ सौ वर्षों तक उन्होंने मानसी व्याधि से वर्जित विद्याधरत्व का अनुभव किया और पाँच युगों तक देवताओं एवं चारणों से वन्दित देवराजत्व का अनुभव किया ॥२१॥ श्रीरामजी ने कहा : हे मुने, उन इन्द्रत्व आदि के अनुभवों में देश और काल का नियम और अनियम कैसे हुआ, क्योंकि देश और काल की नियति को अन्यथा नहीं कर सकते। तात्पर्य यह है कि : 'कैलासकानने' इत्यादि से देश का नियम, 'युगपंचकम्' इत्यादि से काल का नियम तथा थोड़े ही समय में और हृदय प्रदेश में ही उक्त अनुभव होने से देशकाल का अनियम यह कैसे हो सकता है, क्योंकि देश और काल के नियम का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता, इस प्रकार का प्रश्नार्थ है ॥२२॥

असर्वात्मकत्वरूप से ज्ञात चिति में स्वल्प–देश और काल में अन्य विस्तृत देश और काल की कल्पना करने में नियति का विरोध होता ही है, पर सर्वात्मकता और सर्वशक्तिसम्पन्नतारूप से परिज्ञात चिति में उक्त विरोध नहीं होता, इस आशय से कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामजी, यह सर्वात्मक चितिशक्ति जहाँ पर जिस जिस प्रकार से उदित होती है, वहाँ पर उसी प्रकार की शीघ्र हो जाती है, क्योंकि सर्वात्मकत्व का अनुभव करनेवाले अनुभविता की चिति का उक्त प्रकार से बन जाना एक स्वभाव ही है ॥२३॥

अपनी बुद्धि से अनुभूयमान देशकाल में ही संकोच और वैपुल्य के नियम और अनियम परस्पर विरुद्ध होते हैं, पर अनअनुभूयमान के साथ अनुभूयमान के वे विरुद्ध नहीं होते, क्योंकि अत्यन्त

अल्प नाड़ी छिद्रों में स्वल्प समय में ही विस्तृत देश–कालवाले स्वप्न का अनुभव होता है, इस आशय से कहते हैं ।

जहाँ पर जिस समय बुद्धि में जिस प्रकार का अनुभव होता है, वहाँ पर उस समय वैसा नियम रहता है, क्योंकि देश, काल आदि के नियमों के क्रम बुद्धिमय आत्मा में अध्यस्त हैं ॥२४॥ उन्हीं दो हेतुओं से समस्त वासनाओं से वर्जित इस महामुनि वीतहव्य ने हृदयस्थ संविदाकाश में अनेक तरह के लोकों का अनुभव किया ॥२५॥ हे श्रीरामजी, सम्यक् ज्ञानवान् पुरुषों की यह वासना (देवराजत्व आदि अनुभव की हेतु वासना) वासना ही नहीं है, क्योंकि ज्ञानरूप अग्नि से अपनी शक्ति खो देने के कारण दग्ध और दिखाई पड़ने के कारण दग्घ हुए बीज की बीजता ही क्या होगी ? ॥२६॥ महामुनि वीतहव्य ने एक कल्प तक चन्द्रमौलि महादेवजी के गणता यानी शिवजी के गणों की स्वामिता की, जो शेष विद्याओं में निपुण और तीनों कालों में ज्ञानपूर्ण थी ॥२७॥

जीवन्मुक्त भी उस मुनि के भोगप्रद प्रारब्ध कर्मों से उद्बोधित दृढ़ संस्कार ही विलक्षण देहभोग आदि के अनुभव में कारण था, यह कहते हैं।

जो जिस विषय के दृढ़ संस्कार से युक्त होता है, वह उस विषय को एक उसी प्रकार का देखता है, क्योंकि उस प्रकार के दृढ़ संस्कार से ही जीवन्मुक्त होकर मुनि वीतहव्य ने उन–उन वस्तुओं का अनुभव किया था ॥२८॥

श्रीरामजी ने कहा : हे मुनिवर, ऐसी स्थिति होने पर तो जीवन्मुक्त पुरुष के अन्तःकरण में भी बन्ध और मोक्ष की दृष्टियाँ होती है , यह मानना पड़ेगा, जैसे कि मुनि वीतहव्य के अन्तःकरण में हुई ॥२९॥

दग्धपट के दृष्टान्त से असत् पदार्थ का प्रारब्ध शेष से प्रतिभास बाधित की अनुवृत्तिमात्रस्वरूप है, बन्ध–स्वरूप नहीं है , इस आशय से कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, जीवन्मुक्तों की दृष्टि में जिस प्रकार का यह जगत् विद्यमान है, वह प्रशान्त,आकाश की नाईं अत्यन्त निर्मल ब्रह्मस्वरूप ही है , फिर उनको बन्ध और मोक्ष की दृष्टियाँ कैसे हो सकती हैं ॥३०॥ जिस जिस स्थल में जिस जिस प्रकार से संविद्रूपी आकाश भासता है उस उस स्थल में उस–उस प्रकार से उतने उतने रूपों में व्याप्त होकर वह प्राप्त–सा हो जाता है ॥३१॥

जैसे ईश्वर को हमारे जगत् का प्रतिभास बन्धन का हेतु नहीं होता है, वैसे ही मुनि वीतहव्य को भी तत्–तत् स्वरूप का अनुभव बन्धन का हेतु नहीं हुआ, इस आशय से कहते हैं।

हे राघव, महामुनि वीतहव्य ने सब भूतों में आत्मभाव होने के कारण अनेक लोकों का ब्रह्मरूप से अनुभव किया और वर्तमान समय में कर भी रहे हैं ॥३२॥

महामुनि वीतहव्य का हृदय (हृदय से उपलक्षित आत्मा) हम लोगों के समस्त आत्माओं के स्वरूपभूत था, इसलिए सम्पूर्ण प्राणियों को होनेवाले जगत् के अनुभव भी उन्हीं के अनुभव हैं, ऐसा भी कहने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

हे राघव, ब्रह्माण्ड के एक कोने में अवस्थित महामुनि वीतहव्य की आत्मरूपता को प्राप्त हुए वास्तविक स्वरूपसत्ता से वर्जित और भ्रान्तिवश अत्यन्त विशाल मालूम पड़ने वाले उन अंसख्य भुवनों में, जाकर आत्मा के तत्त्वज्ञान से वंचित अज्ञानी इन्द्र हुआ था, वही आज 'दीन' नाम के देशों में राजा

होकर इस समय भी जंगल में शिकार खेलने में प्रवृत्त हुआ है ॥३३,३४॥ पितामह के पाद्मकल्प के समय, जबकि मुनि वीतहव्य शिवजी के गणों के अधिपति थे, उनकी क्रीड़ा के लिए आत्मबोध से शून्य जो हंस था, वही इस समय निषादों का राजा होकर स्थित है ॥३५॥ इसी प्रकार उस समय पृथ्वी के सौराष्ट्र प्रदेश में जो आत्मज्ञान से रहित राजा था, वही आज आन्ध्रदेश के एक गाँव में अवस्थित है, जहाँ अनेकविध वृक्ष हैं ॥३६॥

गुरु महाराज वसिष्ठजी की उक्ति का अभिप्राय सर्वात्मता के प्रतिपादन में है, इसको न समझ रहे मनुष्यों को, उनकी शंका के उद्‌घाटन द्वारा गुरुमुख से ही बोध करानेवाले श्रीरामजी पूछते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : गुरुवर, मुनि वीतहव्य की यह सृष्टि तो मानससृष्टि है, उस सृष्टि में विद्यमान देही यदि भ्रान्ति स्वरूप है, तो वे इन्द्र, हंस आदि देहों के आकारवाले चेतन युक्त कैसे हुए ? ॥३७॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, महामुनि वीतहव्य का वह जगत् यदि केवल भ्रान्तिस्वरूप ही आपको मालूम पड़ता है, तो फिर आपका यह प्रसिद्ध जगत् किस हेतु से यथार्थरूप से भासित हो सकता है ? तात्पर्य यह हुआ कि सम्पूर्ण जगत् मन ही का कार्य और केवल भ्रान्तिस्वरूप ही है, यह तत्–तत् स्थल में अनेक बार कहा गया है, इसलिए यह आपका प्रसिद्ध जगत् वीतहव्य की मानसी सृष्टि के सदृश भ्रान्तिमात्र स्वरूप ही ठहरा, ऐसी स्थिति में आप ही बतलाइए कि आपका भी यह जगत् चेतनों से भरा कैसे प्रतीत हो रहा है ? ॥३८॥

दोनों सृष्टियों की समानता बतलाते हैं।

हे श्रीरामजी, आपका यह जगत् भी मनोमय भ्रमतुल्य एवं परमार्थ दशा में जिस प्रकार से चिन्मात्रस्वरूप है, उसी प्रकार से महामुनि वीतहव्य का भी वह जगत् मनोमय, भ्रमतुल्य एवं परमार्थ–दशा में व्योमरूपी चिन्मात्रस्वरूप है ॥३९॥ हे श्रीरामजी, वास्तव में तो वह (मुनि वीतहव्य का) जगत् न तो आपके इस जगत् के सदृश है और न इस जगत् से विलक्षण ही है, क्योंकि वस्तु की समानता और असमानता वस्तु की सिद्धि के बिना नहीं हो सकती, आपके भी जगत् की सत्ता नहीं है, केवल ब्रह्म ही जगत् के रूप में भासता है ॥४०॥ जैसे यह भूत, भविष्यत् और वर्तमान् जगत् है, वैसे ही दूसरा भी जगत् है। समस्त दृश्यभूत जगत् संविन्मात्ररूप से अवशिष्ट जो मन है, तत्स्वरूप ही है अतिरिक्त नहीं है ॥४१॥ हे श्रीरामजी, जब तक इस प्रकार के जगत् को संविन्मात्र स्वरूप नहीं जान लेते, तब तक वह वज्रसार की नाईं अत्यन्त दृढ़ रहता है। और ज्ञात हो जाने पर त्रिकालाबाधित परम चिदाकाश–स्वरूप हो जाता है ॥४२॥ अज्ञान से यह मन ही उत्पत्ति और वृद्धि आदि परिणामों से जगत् के रूप में ऐसा विकसित होता है, जैसे समुद्र में जल ॥४३॥

हे श्रीरामजी, अविकृत चिदाकाश स्वभाव से अवस्थित ब्रह्म माया से 'मैं किसी को मानों चेतन करनेवाला हूँ' यों अपनी कल्पना कर चित्तरूप हो जाता है, तदनन्तर उसी का पुनः पुनः मनन करने से मन नामवाला हो जाता है। उसीसे यह विशाल जगत् प्राप्त हुआ है, इसीलिए इस प्रकार यह दृश्य जगत् विस्तृत है। वास्तव में कुछ भी विस्तृत नहीं है ॥४४॥

चौरासीवाँ सर्ग समाप्त

पचासीवाँ सर्ग

वीतहव्य मुनि की सूर्य के पिंगलनामक गण में प्रवेशकर
अपनी देह की उद्धृति, जीवन्मुक्त स्थिति और अन्त समाधि का वर्णन।

श्रीरामजी ने कहा : भगवन्, अब कृपापूर्वक मुझसे यह बतलाइए कि महामुनि वीतहव्य ने उस भूगर्भ में स्थित अपनी देह का कैसे उद्धार किया ? उसका प्रकार क्या था ? उसके बाद उनकी दिनचर्या क्या रही और देहमुक्ति में अवशिष्ट उनका स्वरूप कैसे था ? ॥१॥ वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, तदनन्तर समाधि में उक्त मुनि ने अपनी वीतहव्य नामक मन को आत्मा का एक चमत्कारमात्र और परिच्छिन्न ब्रह्मस्वरूप समझ लिया ॥२॥ जब वह महादेवजी के गण थे, तब किसी समय चिदात्मा का ध्यान करते समय उनकी यह इच्छा हुई कि मैं पहले अपने समस्त जन्मों का अवलोकन करूँ ॥३॥ तदन्तर उन्होंने कुछ नष्ट हुई और कुछ नष्ट न हुई अपनी समस्त देहों को प्रत्यक्ष देखा। देखने के बाद जो शरीर नष्ट नहीं हुए थे उनके मध्य में तत्-तत् कोटर में अवस्थित यही तत्-तत् अनष्ट देहों के हृदय कोटर में जीवट के उपाख्यान में कही जानेवाली रीति के अनुसार अपनी कल्पना से ही अवस्थित वीतहव्य शरीर का उद्धार करने के लिए अकस्मात् ही उनकी इच्छा हुई ॥४॥ वहाँ पर पृथ्वी के उदर-कोटर में पीड़ित उस वीतहव्य नामक शरीर को कीचड़ में स्थित कीड़े की नाईं देखा। वह वर्षा के प्रवाह से कुछ दूर बहाया गया था, उसके पृष्ठभाग पर कीचड़ का स्तर जम गया था और उनके त्वचा, हाथ आदि अवयव तथा पीठस्थ मिट्टी ये सब काश आदि घासों के समूहों से व्याप्त हो गये थे। 'पीठस्थ' शब्द से यह सूचित होता है कि वे जलप्रवाहों से उलटे मुँह गिराये गये थे ॥५,६॥

महान् तेजस्वी वीतहव्य ने इस प्रकार धरा के विवर में पीड़ित अपनी देह को देखकर उत्तम बोध से युक्त बुद्धि से पुनरपि विचार किया ॥७॥ सम्पूर्ण अवयवों में पीड़ा होने के कारण प्राणवायु से यानी प्राण-संचारों से निर्मुक्त मेरी देह चलने-फिरने में तथा कुछ करने में तनिक भी समर्थ नहीं है ॥८॥ इसलिए उद्धार के उपाय को जानकर मैं परकीय शरीर में प्रवेश के लिए योग शास्त्र में उपदिष्ट मार्ग से सूर्य के शरीर में प्रवेश करता हूँ। उसमें प्रवेश करने से सूर्य का सेवक पिंगल नाम का गण उनकी आज्ञा से मेरे शरीर का उद्धार कर देगा ॥९॥

उनकी दूसरी चिन्ता बतलाते हैं।

अथवा इस प्रपंच से मेरा क्या प्रयोजन है ? मैं इस शरीर से निर्विघ्नतापूर्वक विदेह मुक्ति के द्वारा शान्त हो जाता हूँ। मैं निर्वाण को प्राप्त कर लेता हूँ। अपने पद को जाता हूँ। देह लीला से मेरा कौन प्रयोजन है ? ॥१०॥

हे महामते उस प्रकार मन से विचार कर महामुनि वीतहव्य क्षणभर भूतल में चुपचाप बैठकर फिर विचार करने लगे ॥११॥ मुझे देह का त्याग न तो उपादेय (अपेक्षणीय) है और न देह का आश्रय ही उपादेय है, क्योंकि जैसे देह का परित्याग है, वैसे ही देह का समाश्रय है, दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं है ॥१२॥ इसलिए जब तक यह शरीर है और जब तक वह अणु परमाणु रूप नहीं बन जाता, तब तक मैं इसका आश्रय कर कुछ विहार कर लूँ ॥१३॥ सूर्य सेवक पिंगल नामक गण के द्वारा अपने शरीर का

उद्धार करने के लिए आकाश में स्थित सूर्य के शरीर में मैं उस प्रकार प्रवेश करता हूँ, जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब ॥१४॥ उस प्रकार विचार कर वायुरूपधारी यानी सूक्ष्म स्वरूप मुनि वीतहव्य ने पूर्व में व्याख्यात पुर्यष्टक शरीर होकर सूर्य में उस प्रकार प्रवेश किया, जिस प्रकार भस्त्राकाश में (चमड़े की धौंकनी के अन्तर्गत आकाश में) वायु प्रवेश करे ॥१५॥ उदार बुद्धिवाले भगवान् मननशील सूर्य ने भी हृदय में प्रविष्ट उक्त मुनिनायक को देखा और उनके कार्य को तथा पूर्वापर शरीरों को देखा। तदनन्तर विन्ध्यपर्वत के भूगर्भ के अन्तर्गत तृण और पत्थर से चारों ओर ढके हुए तथा मृतप्राय मुनि वीतहव्य के शरीर को देखा ॥१६,१७॥

उसके बाद सूर्य ने क्या किया ? उसे कहते हैं।

आकाश के मध्य में संचरण करनेवाले सूर्य भगवान् ने मुनि वीतहव्य के अभीष्ट को जानकर पृथ्वी से मुनिशरीर का उद्धार करने के लिए अपने अग्रगामी पिंगलनाम के गण को आदेश दिया ॥१८॥

सूर्य के हृदय में प्रविष्ट हुई मुनि वीतहव्य की संवित् ने क्या किया ? उसे कहते हैं।

मुनि वीतहव्य की पुर्यष्टकरूपी वायुमय उक्त संवित् ने पूजनीय भगवान् भास्कर को अन्तःकरण से तुरंत प्रणाम किया ॥१९॥ सूर्य के द्वारा अत्यन्त मानपूर्वक आज्ञा को प्राप्त हुए उक्त वीतहव्य मुनि ने विन्ध्याद्रि की गुफा की ओर जा रहे अग्रगामी पिंगलनामक गण के शरीर में प्रवेश किया ॥२०॥ सूर्य भगवान् के गण पिंगल ने आकाश का परित्याग कर लतागृह और कुंजर से सुन्दर तथा वर्षाकाल में मत्त मेघों से युक्त आकाश की नाईं दैदीप्यमान विन्ध्याचल के अरण्य को प्राप्त किया ॥२१॥ जिसने अपने नखों से भूतल को खोद दिया है, ऐसे पिंगल ने भूगर्भ से मुनि वीतहव्य के कलेवर को उस प्रकार उद्धृत किया, जिस प्रकार सारस पक्षी कीचड़ से मृणाल (कमलनाल) को उद्धृत करता है ॥२२॥ तदनन्तर मुनि वीतहव्य–सम्बन्धी पुर्यष्टक शरीर पिंगल के शरीर से निकलकर अपने शरीर में उस प्रकार प्रविष्ट हुआ, जिस प्रकार आकाशतल में चारों ओर परिभ्रमण करनेवाले पक्षी अपने घोंसले में प्रवेश करता है ॥२३॥ प्राप्त मूर्ति वीतहव्य तथा आकाशगामी पिंगल दोनों ने परस्पर प्रणाम किया। तदनन्तर तेज के निधि वे दोनों अपने अपने कार्यों में ही तत्पर हो गये ॥२४॥ पिंगल आकाश की ओर चले गये और मुनि वीतहव्य निर्मल सरोवर की ओर, जो कुमुदरूपी ताराओं से युक्त तथा बाल सूर्य के राग से रंजित जल से युक्त था, स्नानार्थ चले गये ॥२५॥

विकसित कमलों से युक्त उस सरोवर में मुनि वीतहव्य ने तुरंत उस प्रकार मज्जन किया, जिस प्रकार कीचड़ से भरे तालाब में क्रीड़ा के अनन्तर हाथी का बच्चा वन में मज्जन करता हो ॥२६॥ उसमें स्नानकर तदनन्तर जपकर और उसके बाद सूर्य की पूजाकर मनन आदि व्यवहारों से युक्त शरीर से पुनः पूर्ववत् सुशोभित हो गये ॥२७॥ पूर्वोक्त समान शीलों में मैत्री, एकरूप सर्वातिशायीशान्ति, सुन्दर प्रज्ञा, मुदित कृपा तथा उत्तम श्री से युक्त मुनि वीतहव्य ने, सकलसंगों से निर्मुक्त चित्तवाले होकर विन्ध्याचल में नदी के तट पर केवल एक ही दिन रमण किया यानी समाधि से प्रच्युत होकर स्थित रहे ॥२८॥

पचासीवाँ सर्ग समाप्त

छियासीवाँ सर्ग

मुनि वीतहव्य की छः रात्रि तक पुनः समाधि, चिरकाल तक जीवनमुक्त स्थिति,
राग आदि को तिलांजलि और मुक्ति में समाधि का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, दिन की समाप्ति के बाद उक्त मुनि ने पुनः भी मन की एकाग्रतारूप समाधि के लिए किसी अतिविस्तृत पूर्वपरिचित विन्ध्याद्रि की गुफा में प्रवेश किया ॥१॥ लोक में क्या सार है और क्या असार है , इसका भली प्रकार परिज्ञान रखनेवाले महामुनि वीतहव्य उसी आत्मा के अनुसन्धान का परित्याग न करते हुए इन्द्रियों के साथ अन्तःकरण से विचारने लगे ॥२॥

उन्होंने क्या विचार किया ? उसे कहते हैं।

मैंने पहले से ही इन्द्रियों का भली प्रकार परित्याग कर लिया है, अब फिर उन के विषय में अधिक चिन्ता करने से मेरा कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होनेवाला है ॥३॥

अस्ति और नास्ति यों दो प्रकार दृश्य कल्पनाओं का, कोमल लता की नाईं, विनाश कर उन दो कल्पनाओं के साक्षीरूप से अवशिष्ट चैतन्यमात्र का अवलम्बन कर शरीर, शिर और ग्रीवा को समानरूप से रखकर दृढ़ासन होकर मैं उस प्रकार अचल बैठता हूँ, जिस प्रकार पर्वत का शिखर ॥४॥ मैं यद्यपि सदा उदित स्वभाव (प्रकाश स्वभाव) हूँ, तथापि अज्ञ दृष्टि से अन्धकार को प्राप्त हुआ-सा हूँ एवं यद्यपि सदा जीवित-स्वभाव हूँ, तथापि अज्ञदृष्टि से मृत-सा हूँ। तत्त्वदृष्टि से तो उससे विपरीत निर्मल स्वभाव को प्राप्त हुआ एकरस चिन्मात्रस्वरूप होकर अवस्थित हूँ ॥५॥ मैं यद्यपि प्रबुद्ध यानी उत्तमज्ञान से सम्पन्न जाग्रत् अवस्था से युक्त हूँ, तथापि सुषुप्ति में ही स्थित रहता हूँ। क्योंकि घट आदि द्वैत पदार्थों को अब मैं नहीं देख रहा हूँ। इसी प्रकार यद्यपि मैं सुषुप्ति में स्थित रहता हूँ। तथापि जाग्रत् अवस्था से युक्त ही हूँ, क्योंकि मुझे अपने स्वरूप का सदा स्पष्टरूप से अनुभव हो रहा है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण से निर्मुक्त तुर्य पद का अवलम्बन कर अचल स्थितिवाला होकर शरीर के भीतर रहता हूँ ॥६॥ मन से परे यानी मन के अविषय चारों ओर अवस्थित, पूर्ण सत्तासामान्यरूप परम साम्यभूत परमात्मा में विकारमुक्त होकर स्थाणु की तरह मैं स्थित हूँ ॥७॥ इस प्रकार विचार कर वह ध्यान में छः दिन तक फिर बैठ गये। तदनन्तर उस प्रकार प्रबोध को प्राप्त हुए, जिस प्रकार क्षणभर में सोया हुआ पथिक प्रबोध को प्राप्त होता है ॥८॥ तदनन्तर उस समय व्युत्थान दशा में भी समाहित स्थितिवाले सिद्ध, महान् तपस्वी, भगवान् वीतहव्य ने जीवन्मुक्त स्वरूप से चिरकाल तक यत्र-तत्र विचरण किया ॥९॥ ये महामुनि वीतहव्य न तो गुण दृष्टि से किसी वस्तु की स्तुति करते थे और न दोषदृष्टि से किसी की निन्दा भी कभी करते थे। वे न तो कभी उद्वेग को प्राप्त होते थे और न कभी हर्ष को प्राप्त होते थे ॥१०॥ चलते-फिरते उठते-बैठते चित्त से शून्य हुए उस वीतहव्य मुनि के हृदय में अपने मन के (बाधित-अनुवृत्त मन के) साथ विनाश के लिए इस प्रकार की कथा यानी वक्ष्यमाण विचारात्मक कथा हुई ॥११॥ विषयों के उपभोग से सामर्थ्य के व्यय से रहित, इन्द्रियों के स्वामी हे मन, देखो कि शम से समन्वित तुमने किस प्रकार के समस्त जगत् को आनन्द देनेवाले व्यापक सुख को अथवा निरतिशय आनन्दरूपी सुन्दर ब्रह्मरूप आकाश को प्राप्त किया है ॥१२॥ हे चंचल पदार्थों में

सर्वश्रेष्ठ मन, इसलिए तुमको आगे भी इस रागशून्य दशा का ही अवलम्बन करना चाहिए और अपनी चंचल वृत्ति का परित्याग कर देना चाहिए ॥१३॥ हे इन्द्रिय नाम को धारण करनेवाले चोर और हे नष्ट आशावृन्द, यह मेरे द्वारा अनुभूयमान आत्मा तुम्हारा नहीं है और तुम लोग आत्मा के नहीं हो ॥१४॥ हे इन्द्रियगण, इस प्रकार आत्मा के साथ सम्बन्ध न होने के कारण अब तुम लोग अवशिष्ट अपने असत्त्व स्वरूप को ही प्राप्त हो जाओ। तुम्हारी समग्र अभिलाषाएँ निष्फल कर दी गई है। अब विनष्ट आश्रयवाले तुम लोग मेरे ऊपर आक्रमण करने में समर्थ नहीं हो ॥१५॥

तब पहले हम लोगों में तुम्हारे ऊपर आक्रमण करने की सामर्थ्य कहाँ से थी ? तो आत्मा के साथ तादात्म्य आदि के अध्यास से थी, ऐसा कहते हैं।

हे इन्द्रियगण, 'हम आत्मा हैं' इस प्रकार की जो यह तुम लोगों को वासना हुई थी, वह आत्मतत्त्व की विस्मृति से उस प्रकार उत्पन्न हुई , जिस प्रकार रज्जु तत्त्व की विस्मृति से रज्जु में सर्पवासना उत्पन्न होती है ॥१६॥ उक्त यह वासना अनात्मा में आत्मत्वरूपा भ्रान्ति और वस्तु में अवस्तुत्वरूपा भ्रान्ति थी। वह आत्मा के अविचार से उत्पन्न हुई थी और आत्मा के विचार से विनाश को प्राप्त हो गई ॥१७॥

इस प्रकार विवेकज्ञान हो जाने पर किसी को भी आपके द्वारा उत्पन्न दोषों के साथ सम्बन्ध नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

हे इन्द्रियगण, करणस्वरूप आप लोग दूसरे हैं, अभिमान करनेवाले हम लोग दूसरे हैं, अद्वितीय ब्रह्म दूसरा है , प्राण हेतुक क्रिया कारणता दूसरी है, चिदाभासरूपी भोक्ता दूसरा है और ग्रहण करनेवाला मन दूसरा है, ऐसी स्थिति में किस का किस प्रकार कौन–सा दोष हो सकता है ? ॥१८॥

यदि ऐसी बात है, तो व्यवहाररूपी कार्य की सिद्धि किस रीति से होगी ? तो काकतालीय न्याय से होगी, यों गृहदृष्टान्त से कहते हैं।

अरण्य से लकड़ी उत्पन्न हुई, बाँसों की त्वचा से लकड़ी के बोझ को बाँधने की पूर्ति रज्जु हुई, वसुला, कुठार आदि लोहे से उत्पन्न हुए और बढ़ई अपने उदर की पूर्ति के लिए ही प्रवृत्त हुआ, न कि घर की सिद्धि के लिए ॥१९॥ यों इस लोक में अपने–अपने भिन्न–भिन्न प्रयोजन के लिए अवस्थित पदार्थों की यानी क्रिया–कारकरूप पदार्थों की सामग्री से अर्थतः उत्पद्यमान दृढ़ गृहाकृति जैसे काकतालीय ही है यानी काकतालीय न्याय से ही सिद्ध होती है, वैसे ही प्रकृत कार्यकरणसंघात स्थल में भी काकतालीय न्याय से ही दर्शन, श्रवण, आदान आदि अपनी–अपनी शक्तियों से नियत ज्ञान–कर्मेन्द्रियों से समन्वित तत्–तत् उस प्रकार की व्यवहाररूप कार्यकलिका चंचलतापूर्वक उत्पन्न हुई है, उसमें किसी की क्या क्षति है अर्थात् किसी को कोई क्षति नहीं है ॥२०,२१॥ अब अविद्या दूर से ही विस्मृत हो गई, आत्मविद्या विस्पष्टरूप से अनुभूत हो गई, जो सत् था वही सत् रहा, असत् असत् ही रहा, विघ्न क्षीण हो गया और जो स्थिति के योग्य था, वही स्थित रह गया ॥२२॥ हे श्रीरामजी, इस प्रकार के विचार से युक्त होकर उन महान् तपस्वी मुनि श्रेष्ठ भगवान वीतहव्य ने अनेक बरसों तक इस लोक में अपनी स्थिति की ॥२३॥ श्रीरामजी जिस पद के प्राप्त होने पर पुनर्जन्म के लिए चिन्ता विनष्ट हो जाती है और मूढ़ता कोसों दूर भाग जाती है,उस परम पूर्णानन्द स्वप्रकाशरूप पद में निरन्तर ये मुनि अवस्थित थे ॥२४॥ किसी समय भ्रान्ति से चित्र–विचित्र पदार्थों के समूह के दर्शन से प्राप्त हुए यथास्थित

आत्मभूत वस्तु में अविश्वास का वारण करने के लिए बार-बार ध्यान में विश्वास का अवलम्बन कर वह सुखानुभव को प्राप्त करते हुए सदा स्थित रहते थे ॥२५॥

शेष प्रारब्ध का विनाश हो जाने पर मुनि वीतहव्य का मन किस प्रकार का रहा, उसे कहते हैं।

त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य पदार्थों की प्राप्ति हो जाने पर भी त्याग और ग्रहण की बुद्धि का क्षय हो जाने के कारण महामुनि वीतहव्य का अन्तःकरण इच्छा और अनिच्छा का अतिक्रमण कर गया था ॥२६॥ देहापगम दशा में एक अद्वितीय रूप से स्थित, जन्म और कर्मों की अवधि के अवसानरूप तथा प्रतिभासमात्र से भी अवस्थित देह आदि संसार के संग का त्याग हो जाने पर परिशेष में रहनेवाली ब्रह्मरसरूपी मकरन्द में उनको उत्कण्ठा हुई और उसके बाद उन्होंने उसी इच्छा के साथ सह्य पर्वत की सुवर्णकन्दरा में प्रवेश किया ॥२७॥ फिर देह आदि के साथ संगति न हो, इसलिए शीघ्र जगत्‌रूपी जाल का भली प्रकार अवलोकन कर वे महामुनि पद्मासन लगाकर बैठ गये और तदनन्तर वहाँ अपने आप ही अपने अन्दर कहने लगे ॥२८॥

स्वाभाविक शत्रुभूत राग, द्वेष आदि में भी द्वेषअभावरूपता और मैत्री की भावना करते हुए मोक्षपद को जानने की इच्छावाले-से होकर हित का उपदेश कर रहे प्रणाम करके उनको संबोधित करते हैं :

हे राग, अब तुम नीरागस्वरूप हो जाओ। हे द्वेष, तुम द्वेषअभावरूप हो जाओ। आप दोनों ने इस लोक में मेरे साथ दीर्घकाल तक क्रीड़ा की है ॥२९॥ हे भोग, मैं आप लोगों को प्रणाम करता हूँ। आप लोगों ने मेरा इस लोक में सौ करोड़ों वर्ष तक उस प्रकार लालन-पालन किया है, जिस प्रकार प्यार करनेवाले पिता आदि ने बालक का लालन-पालन किया हो ॥३०॥ सबसे पुण्यतम इस मोक्षपद का भी जिसने मुझको विस्मरण कराया था, उस अंशरूप विषयसुख को मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ ॥३१॥ हे दुःख, तुम्हारे द्वारा सन्तप्त हुए मैंने अत्यन्त आदर से आत्मा का अन्वेषण किया है, इसलिए इस मोक्षमार्ग का तुमने ही मुझको उपदेश दिया। अतः मेरा तुम्हें प्रणाम हो ॥३२॥ हे दुःख के तत्त्वभूत सुखद आत्मन्, तुम्हारी ही अनुकम्पा से मैंने यह अत्यन्त शीतल पदवी (निरतिशयसुखरूप मोक्ष पदवी) प्राप्त की है, अतः दुःख नामधारी तुम्हें मेरा प्रणाम हो ॥३३॥

अब ज्ञान के प्रादुर्भाव में उपकारक देह की प्रार्थना कर उसको संबोधित करते हैं।

संसार में सारहीन जीवनवाले हे मित्र देह, तुम्हारा कल्याण हो, क्योंकि तुम्हारी ही कृपा से हम अपने स्थान को जा रहे हैं। हे देह, यह अपने लोगों की वियोग की अवस्था आज की नहीं है, किन्तु अनादि नियति का यही स्वभाव है, कारण कि जो संयोग होता है, उसका अन्त में वियोग में ही पर्यवसान होता है ॥३४॥ आश्चर्य है कि प्राणियों के स्वार्थों की अत्यन्त विषम गति है, क्योंकि वस्तु की प्राप्ति के लिए घनिष्ठ मित्र आदि स्वजनों को भी छोड़कर पुरुष दूर-दूर दौड़ जाते हैं। इसी न्याय के अनुसार सैकड़ों जन्म तक साथी रहकर मैं भी आज अपने प्यारे मित्र शरीर से अलग हो रहा हूँ ॥३५॥ हे मित्र देह, चिरकाल से बन्धुरूप तुम मेरे द्वारा जो त्यागे जा रहे हो वह एक स्वार्थ की ही लीला है। (*यह मेरा अपराध नहीं है, किन्तु तुमने अपना ही नाश करने के लिए मेरा उपकार किया है, यों मानों शोक कर रहे कहते हैं।)* हे देह, तुमने ही अपने लिए आत्मज्ञानवश उस प्रकार की क्षति उठा ली है ॥३६॥ तुमने आत्मा के विज्ञान की प्राप्ति कर अपना विनाश किया है, अतः हे देह, तुम्हारे द्वारा ही यह तुम्हारा

विनाश किया गया है, दूसरे के द्वारा नहीं किया गया है ॥३७॥

अब तृष्णा की प्रार्थना करते हैं।

हे मातृरूप तृष्णे, मैं अब जा रहा हूँ। मेरे जाने पर तुम अकेली, शुष्क और दीन हो जाओगी, पर दुःख मत करना ॥३८॥ हे काम भगवान्, तुम्हारे ऊपर विजय पाने के लिए मैंने तुम्हारे विरोधी वैराग्य–सेवन आदि दोष किये थे, उन दोषों के लिए मुझे क्षमा–प्रदान कीजिए। अब मैं उत्तम विश्रान्ति की ओर जा रहा हूँ। मेरी मंगल कामना करिए ॥३९॥

अब फिर पुनरावृत्ति के द्वारा तृष्णा के मुख का दर्शन न हो, इसलिए उसका निवारण कर रहे मुनि वीतहव्य कहते हैं।

हे मातृरूप तृष्णे, अब से लेकर अपने दोनों का संयोग के दोष से ही सदा के लिए वियोग हो रहा है। इसलिए मैं तुम्हें यह आखिरी प्रणाम कर रहा हूँ ॥४०॥ हे पुण्यदेव, आपको मैं प्रणाम करता हूँ, आप ही ने पहले मेरा नरकों से उद्धार कर स्वर्ग के साथ सम्बन्ध करवाया था ॥४१॥ निषिद्ध आचरणरूपी खेत में उत्पन्न हुए, नरकरूपी बड़ी–बड़ी शाखाओं को धारण करनेवाले और यातनारूपी पुष्प–समूह से युक्त पापरूपी वृक्ष को मेरा नमस्कार हो ॥४२॥ जिसके साथ मैंने दीर्घकाल तक प्रकृत योनियों का उपभोग किया था, आज तक प्रत्यक्ष नहीं हुए उस मोहस्वरूप को मैं प्रणाम करता हूँ ॥४३॥ शब्द कर रहे बाँस जिसके मधुर शब्द हैं और शीर्ण पत्ते ही जिसके पहनने के लिए वस्त्र हैं, समाधि में प्रेयसी स्त्री के सदृश व्यवहार करनेवाली उस गुहारूपी तपस्विनी को मैं प्रणाम करता हूँ ॥४४॥ हे सखी गुहातपस्विनि, संसाररूपी महामार्ग में खिन्न हुए मेरे लिए तुम ही अकेली आश्वासन देने में समर्थ, अत्यन्त स्नेह से समन्वित, पूर्ण आत्मा में विश्रान्ति–प्रदान द्वारा समस्त लोभों को नाश करनेवाली तपस्या (मित्र) हुई ॥४५॥ अनेक दुःखों से खिन्न तथा दोषों से (समाधि के विघ्नों से) द्रवीभूत हुए मैंने शोक का विनाश करने के लिए उत्तम सखीभूत तुम अकेली का ही आश्रय किया ॥४६॥

अब दण्डकाष्ठ के गुणोंका वर्णन कर उसको नमस्कार करते हैं।

कुत्ते, सर्प आदि से होनेवाले भयों में, विषम प्रदेशों में तथा गड्ढे और कुंजो में हाथ को अवलम्बन देनेवाला, वृद्धावस्था के एकमात्र मित्र दण्डरूप काष्ठ तुम्हें मैं प्रणाम करता हूँ ॥४७॥

अब सम्पूर्ण देहभाग देह को ही समर्पण करते हैं।

हे देह, के अस्थिपंजर और दूसरा रक्त तथा आँतरूपी सूत्र बस इन्हीं दो तत्त्वों से समन्वित तुम्हारा असाधारण विभाग है, इस अपने विभाग को लेकर तुम अपनी प्रकृति की ओर चले जाओ ॥४८॥ हे देह, तुम्हारे मल, दुर्गंध, स्वेद आदि के द्वारा दूषित हो जाने के कारण हुए जो जलके अपराध हैं, उनके प्रकार–विशेष–स्वरूप तुम्हारी विशुद्धि का सम्पादन करनेवाले स्नानरूप उपायों को भी मैं प्रणाम करता हूँ तथा तुम्हारे भोजन, अलंकरण आदि व्यवहारों को एवं भोजनादि सामग्री के सम्पादन के लिए इतस्ततः दौड़धूप करने की प्रवृत्तियों को मैं प्रणाम करता हूँ ॥४९॥ हे पुराने सजग मित्ररूप प्राण, आज मैंने मित्रों की नमस्कार–परम्परा में आप लागों को भी ऊँचा बना दिया है यानी आप लोगों को भी नमस्कार किया है, आपका कल्याण हो, मैं जा रहा हूँ ॥५०॥

पहले के मित्र भाव का वर्णन करते हैं।

हे प्राणवृन्द, आप लोगों के साथ मैंने चित्र-विचित्र अनेक योनियों में विश्राम किया और पर्वत के कुंजों में तथा लोकान्तरों में भी विश्राम किया था ॥५१॥ आप लोगों के साथ ही मैंने नगरों में और सिद्धों के क्षेत्रों में क्रीड़ा की, पर्वतों में निवास किया, कार्यों के विलासों में स्थिति की और विविध प्रकार के मार्गों में प्रस्थान किया ॥५२॥ हे प्राणवृन्द, संसार के कोश में ऐसा कोई भी नहीं है, जिसको आप लोगों के साथ मैंने अपने हाथों से न किया हो, न अपहृत किया हो, न दिया हो, और जो पैरों से न गत हुआ हो और मन से जो अवलम्बित न हुआ हो ॥५३॥ हे प्रिय प्राण-समुदाय, आप अपनी प्रकृति में जाइये और मैं ब्रह्म में जाता हूँ, आप लोग यह शंका न करें कि हम लोगों का प्रकृति में प्रविलाप क्यों कराते हैं ? कार्यकरणसंघातरूप से ही स्थित होकर भोग्यसमुदाय को ही पहले के समान प्राप्त किये जाय, क्योंकि जितने भोग्य समूह हैं, वे अन्त में नाशवान हैं, और जितने उन्नत हैं, वे अन्त में पतनशील हैं। संसार-मार्ग में जितने संयोग है वे सब अन्त में वियोग को ही प्राप्त होते हैं ॥५४,५५॥

अब प्रत्येक इन्द्रिय आदि के द्वारा प्राप्त करने योग्य प्रकृति को विभागपूर्वक बतलाते हैं।

यह चक्षु का प्रकाश आदित्य मण्डल में प्रवेश करे। सुगन्धिहेतुक आनन्दज्ञान की करण घ्राणेन्द्रिय गन्ध की आश्रय पृथ्वी में प्रविष्ट हो जाय ॥५६॥ शब्दों की श्रवणशक्ति यानी श्रोत्रेन्द्रिय आकाश कुक्षि में प्रविष्ट हो जाय और रसना की रसग्रहणशक्ति यानी रसनेन्द्रिय चन्द्रमण्डलरूपी जल में प्रविष्ट हो जाय ॥५७॥

उस प्रकार उपाधिभूत आप लोगों के अपनी-अपनी प्रकृतियों में प्रविष्ट हो जाने पर आपमें प्रतिबिम्बित चिदाभासस्वरूप मैं जीवात्मा भी अपने बिम्बरूप प्रणव की चतुर्थ अर्धमात्रा से लक्षित ब्रह्मात्मा में प्रविष्ट हो जाता हूँ यानी विश्रान्ति लेता हूँ, यों कहते हैं।

मन्दराचल के अभाव में समुद्र की नाईं, सूर्य के अभाव में दिन की नाईं, शरत् कालमें अपने उपादान कारण में विलय को प्राप्त हुए मेघ की नाईं, इन्धनों के दग्ध होने पर अग्नि की नाईं तथा स्नेह (तेल) के अभाव में दीपक की नाईं ओंकार की अन्तिम अर्धमात्रा से लक्षित परब्रह्मस्वरूप अपने में अपने आपसे ही मैं आत्यन्तिक मनःशान्तिपूर्वक विश्रान्ति लेता हूँ ॥५८,५९॥

सम्पूर्ण कार्यों की परम्परा से शून्य,समस्त दृश्यों की अवस्था को अतिक्रमण कर स्थिति रखनेवाला, दीर्घ उच्चारित प्रणव की ब्रह्मरन्ध्र में विश्रान्ति का अनुसरण कर ब्रह्माकारता की प्राप्ति से उपरत बुद्धि तथा प्रारब्ध से प्रतिबद्ध अवशिष्ट अविद्यारूपी मल से रहित यह मैं पूर्णरूप से अवस्थित हूँ ॥६०॥

छियासीवाँ सर्ग समाप्त

सत्तासीवाँ सर्ग

ॐकार की अन्तिम मात्रा का अवलम्बन कर जिस क्रम से
महामुनि वीतहव्य विदेहमुक्ति को प्राप्त हुए, उस क्रम का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, आगे कहे जानेवाले प्रकार से अत्यन्त उच्च स्वर से प्रणव का धीरे-धीरे दीर्घता के सम्पादन द्वारा उच्चारण कर रहे महामुनि वीतहव्य ने मनन (संकल्प) और एषणाओं से (पुत्र आदिकी अभिलाषाओं से) क्रमशः वर्जित होकर छठी या सप्तम भूमिका को

प्राप्त कर अपने हृदय में ब्रह्म का लाभ किया ॥१॥

'ओमित्येतदक्षरं सर्वम्' इत्यादि माण्डूक्य श्रुति में प्रदर्शित क्रम से अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा से कल्पित स्थूल, सूक्ष्म, अव्याकृत और तुरीयरूप पादों के भेद से ॐकार का स्मरण कर रहे महामुनि संन्यासी वीतहव्य पंचीकरण– प्रक्रिया में बतलाये गये विराट्, हिरण्यगर्भ और अव्याकृतरूप पादोंका पहले तुर्य में 'जागरितस्थानों' इत्यादि श्रुति–प्रदर्शित रीति के अनुसार अध्यारोप और तदनन्तर 'नान्तःप्रज्ञम्' इत्यादि श्रुति–प्रदर्शित रीति के अनुसार अपवाद कर तीन लोकों की रचना के लिए किये गये ब्रह्माजी के संकल्प से कल्पपर्यन्त कल्पित बाह्य और आभ्यन्तर विभाग से युक्त स्थूल,सूक्ष्म और कारण स्वरूप पदार्थों का भी परित्याग कर अविनाशी विशुद्ध ब्रह्मस्वरूप का अपरोक्ष साक्षात्कार कर इन्द्रिय और तन्मात्राओं का परित्याग कर दिया ॥२,३॥ जिस प्रकार क्षोभशून्य चिन्तामणि अपने स्वरूप में रहता है, वैसे ही क्षोभशून्य आकारवाले महामुनि वीतहव्य अपने स्वरूप में ही स्थित थे, वे पूर्णचन्द्र की नाईं परिपूर्ण थे तथा मन्थनरहित मन्दराचल की नाईं स्थिर विश्रान्ति से युक्त थे ॥४॥ भ्रमण से रोकने पर कुम्हार के घर में चक्र जिस प्रकार अक्षुब्ध आकारवाला रहता है, वैसे ही ये मुनि अक्षुब्ध आकारवाले थे और शान्त अत्यन्त निर्मल समुद्र की नाईं परिपूर्ण थे ॥५॥ (उस प्रकार के अनेक शुभ विशेषणों से सम्पन्न महामुनि वीतहव्य ने पूर्वोक्त रीति से अध्यारोप और अपवाद से समस्त कल्पनाओं का परित्याग कर विशुद्धि आदि गुणों से युक्त तथा) तेज और तम दोनों के समूह से रहित; सूर्य, चन्द्र और ताराओं से शून्य; धूम्र, अभ्र और धूलि से वर्जित; शरत्कालीन आकाश के समान अत्यन्त स्वच्छ; असीम ब्रह्मात्मा का साक्षात्कार कर प्रणव के अग्रभाग के दीर्घनादरूपी सूत्र के साथ ही इन्द्रिय और शब्दादि तन्मात्राओं के जाल को उस प्रकार त्याग दिया, जिस प्रकार वायु ने गन्ध को त्याग दिया हो ॥६,७॥ तदनन्तर आकाश–मण्डल में चक्षु द्वारा दिखाई पड़नेवाले तमो भाग की नाईं चिदाकाश में साक्षी के द्वारा सिद्ध तथा प्रकाशित हो रहे तमोमात्र को (अविद्या के तामस वृत्ति–विशेष को) ऐसे त्याग दिया, जैसे बुद्धिमान् क्रोधांश को त्याग देता है ॥८॥ तदनन्तर आधा क्षण विचार कर उक्त मुनि ने प्रकाशित हो रहे तेज का भी (अविद्या के सात्त्विक वृत्तिविशेष का भी) परित्याग कर दिया। तम और तेज दोनों का परित्याग करने से वे मुनि न तम और न प्रकाशरूप थे यानी तम और प्रकाश दोनों से शून्य अवस्था को प्राप्त हुए थे ॥९॥ अनन्तर तम और प्रकाश से शून्य अवस्था को प्राप्त कर मुनि वीतहव्य ने कल्पना के हेतुभूत मनरूपी तृण को, जो किंचित् प्रकाशित भी था, आधे निमेष में मन से ही काट दिया ॥१०॥ हे श्रीरामजी, तदनन्तर वायुशून्य प्रदेश में स्थित दीपक की नाईं विस्पष्ट प्रकाश को प्राप्त हुए अपने स्वरूप में स्थित संवित् का, जो तत्क्षण उत्पन्न हुए बालक के ज्ञान के सदृश वासनादि से वर्जित थी, अवलम्बन कर चिति की चेत्यदशारूप कल्पना को उसकी उत्पत्ति के पहले ही समर्थ मुनि वीतहव्य ने निमेष के चतुर्थ भागात्मक काल में ही उस प्रकार परित्याग कर दिया, जिस प्रकार वायु स्पन्दन शक्ति का परित्याग कर देता है ॥११,१२॥ श्रीरामजी, तदनन्तर इस रीति से साक्षिमात्र के परिशेषस्वरूप 'पश्यन्ती' पद को प्राप्तकर अनन्तर 'पश्यन्ती' पद ही आकाश आदि के बाधाश्रय रूप से अवशिष्ट सत्तामात्र स्वरूप कारणतत्त्व होने के कारण तद्भाव में स्थितिरूप सुषुप्त स्थान को प्राप्त कर मुनि वीतहव्य पर्वत की नाईं अचल होकर स्थित हो गये ॥१३॥

तदनन्तर समर्थ मुनि वीतहव्य पहले उक्त सुषुप्त स्थान में किंचित् किंचित् स्थित होकर अनन्तर उसमें स्थिरता को प्राप्तकर तुर्य रूप में लीन हो गये। 'तुर्यरूप मुपाययौ' इस वाक्य से पहले सदेहावस्थ छठी और सप्तम भूमिका को बतलाकर साक्षी की सदेकरसता सिद्ध हो जाने पर निरतिशय अखण्ड आनन्द के आविर्भाव से अवशिष्ट प्रारब्ध के साथ जगत्-प्रतिभास का आत्यन्तिक विनाश आरै तदनन्तर विदेह कैवल्य की प्राप्ति बतलाई गई है ॥१४॥

तदनन्तर उनका स्वरूप कैसा था ? इस चतुर्थ प्रश्न का उत्तर देते हैं।

जैसे रात्रि में देखनेवाले उल्लू आदि को अन्धकार ही प्रकाशरूप होता है, वैसे ही उस तुर्य अवस्था में वे मुनि विषयप्रयुक्त आनन्द से वर्जित होते हुए भी स्वरूपभूत आनन्द से युक्त थे, स्वभिन्नसत्ता से शून्य होते हुए भी स्वरूपतः सत्तारूप थे, स्वभिन्न वस्तुस्वरूप से अकिंचिद्रूप होते हुए भी स्वतः किंचिद्रूप थे ॥१५॥ वे चेत्य का अभाव होने से अचिन्मय और स्वतः चित्स्वरूप थे। तदनन्तर 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतियों से बोधित जो अद्वैत तत्त्व है और जो वाणी का भी अगोचर है, उस तत्त्व को ये मुनि प्राप्ति हो गये ॥१६॥ इसके अनन्तर ये मुनि समस्त पदार्थों में अवस्थित, समस्त भावों से वर्जित, निरतिशय समता से पूर्ण प्रकाशमान परम पवित्र पदस्वरूप हो गये ॥१७॥

इससे समस्त वादियों के द्वारा अनैकविध विकल्पों से अपने-अपने सिद्धान्त रूप से विकल्पित जो पद है, वही पद वीतहव्य का था, ऐसा कहते हैं।

जो शून्यवादी बुद्धों का शून्यरूप प्राप्य पद है, जो ब्रह्मज्ञानियों का ब्रह्मरूप श्रेष्ठ प्राप्त पद है, जो विज्ञानवादी बौद्धों का विज्ञानरूप निर्मल प्राप्य पद है, उस पदरूप होकर ही ये मुनि वीतहव्य स्थित थे ॥१८॥ कपिलमुनि-निर्मित सांख्यशास्त्र में प्रतिपादित पुरुषरूप, पतंजलि निर्मित योगशास्त्र में प्रतिपादित क्लेश आदि से वर्जित पुरुष विशेषात्मक ईश्वररूप, चन्द्रचिह्नवाले महादेवजी के अनुयायी पाशुपत मत में प्रदर्शित शिवरूप और काल ही एक तत्त्व है – इस प्रकार प्रतिपादन करनेवाले कालवादियों के मत में प्रदर्शित कालरूप जो तत्त्व है, तत्स्वरूप होकर ये महामुनि वीतहव्य अवस्थित थे ॥१९॥ आत्मा के स्वरूप को भली प्रकार जाननेवाले आत्मवादियों के मत में जो आत्मतत्त्व है, सौत्रान्तिक और वैभाषिक मत में प्रतिपादित स्थायित्व से अभासमान क्षणिक विज्ञानरूपी जो नैरात्म्यतत्त्व है, चित् और चित् के बीच में शून्यात्मक तत्त्व है, जीवन्मुक्त महापुरुषों के मत में परिपूर्ण ब्रह्मात्मक जो तत्त्व है, तत्स्वरूप होकर ही ये महामुनि अवस्थित थे। शून्यवादियों से उपक्रम कर सर्ववादियों से उपसंहार इसलिए किया गया है कि उनकी परिच्छिन्नता और अपरिच्छिन्नता-वाद में परम अवधि है और अन्यान्य मध्यपतित मतों में उभय का संमिश्रण है तथा तारतम्य से उनका उत्थान हुआ है, यह द्योतन हो ॥२०॥ जो तत्त्व समस्त शास्त्र का सिद्धान्तभूत है, जो सबके हृदय में अनुगत है, जो सर्वात्मक है और जो सबका स्वरूप है, तत्स्वरूप होकर ये मुनि अवस्थित थे ॥२१॥ जो सर्वथा स्पन्दन क्रिया से रहित है, जो समस्त प्रकाशमान सूर्य आदि तेजों का भी भासक बनकर प्रकाशित हो रहा है तथा जो केवल अपने अनुभव के स्वरूपभूत है, तत्स्वरूप होकर ये मुनि विराजित थे ॥२२॥ जो तत्त्व वास्तव में अद्वितीय होने के कारण एक और मायावश अनेक भी है, जो आचार्य-वाक्य से गम्य होने के कारण व्यवहार में अविद्या से युक्त तथा परमार्थ दशा में स्वतः प्रकाश होने के कारण विद्या से रहित भी है, जो सर्वात्मक होने से सर्वस्वरूप तथा प्रपंचातीत

होने से असर्वात्मक भी है, तत्स्वरूप होकर ये मुनि अवस्थित थे ॥२३॥ वह वीतहव्य मुनि उक्त क्रम से मुक्त लोगों की दृष्टि में आकाश के स्वरूप की अपेक्षा निर्मल स्थितिवाले होकर उत्पत्ति शून्य, जरारहित, कारणवर्जित, अद्वितीय, मल से रहित एवं अवयवरहित पद स्वरूप होकर अवस्थित थे और बद्ध लोगों की दृष्टि में क्षण में ईश्वर होकर अपने कार्यों के भेद से अनेक और अवयवयुक्त होकर अवस्थित थे ॥२४॥

सत्तासीवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठासीवाँ सर्ग

वीतहव्य के विमुक्त होने पर हृदय में उनके प्राणों का लय हुआ,
कारण में देह का लय और कलाओं का लय हुआ, यह वर्णन ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामजी उक्त रीति से संसार की अवधि के अन्तिम स्थानभूत पर ब्रह्म को प्राप्त करने के अनन्तर दुःखसागर के पार को प्राप्त हुए महामुनि वीतहव्य आत्यन्तिक मनोनाश होने पर परम विश्रान्त हो गये ॥१॥ महामुनि वीतहव्य के उस प्रकार परम विश्रान्त होने पर निरतिशयसुखात्मक मोक्ष को प्राप्त हो जाने पर तथा समुद्र में जलकण की नाईं अपने पद में प्रतिष्ठित हो जाने पर उसी प्रकार अवस्थित हो रहा क्रियाशून्य वह देह भीतरी विरसता को प्राप्त होकर उस प्रकार म्लान हो गया, जिस प्रकार हेमन्त–ऋतु में कमल म्लान हो जाता है (कुम्हला जाता है) ॥२,३॥

समस्त देह में व्याप्त होकर रहनेवाले प्राणों का हृदय में उपसंहार कहते हैं।

देहरूपी वृक्ष के भीतर अवस्थित, पक्षी की नाईं आचरण करनेवाले उसके तत्–तत् नाड़ी स्थान का परित्याग कर हृदयरूपी घोंसले की ओर उस प्रकार आ गये, जिस प्रकार यन्त्रों से उन्मुक्त शिलाएँ। यहाँ 'देहरूपी वृक्ष के अन्दर अवस्थित हृदयरूपी नीड़ का परित्याग कर प्राण बाहर आ गये' ऐसा अर्थ नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (तत्त्वज्ञ के वाक् आदि प्राण जाते नहीं है, यहीं लीन हो जाते हैं, वह जीवित दशा में ही ब्रह्मरूप होकर ब्रह्म को प्राप्त करता है) इत्यादि श्रुति के साथ विरोध होगा और समस्तकर्म और तज्जनित वासनाओं का क्षय हो जाने के कारण उस प्रकार के उत्क्रमण में कोई बीज या प्रयोजन नहीं है ॥४॥

'इति तु पंचम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादाय' इत्यादि श्रुति के अनुसार तथा 'तदनन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' इत्यादि बादरायणसूत्र के अनुसार पहले के जन्मों में अनुष्ठित अग्निहोत्र आदि कर्मों में समवायी अप्शब्दवाच्य सोम, आज्य, पय आदि भूतमात्राओं से युक्त ही लिंगशरीर की – जो चन्द्रमण्डल में आरूढ़ है, भोग के अन्त में आकाशादि क्रम से पृथ्वी में व्रीही, यव, पुरुष और योषित्–रूपी अग्नि में प्रवेश करने से पुरुषाकारता की प्राप्ति का अवगम होने से उन भूतमात्राओं का कारण में अनुप्रवेश कहते हैं।

प्राण से लेकर नाम पर्यन्त सोलह कलाओं से युक्त भूत पृथ्वी आदि महाभूतों में ही लीन हो गये और जो पिता और माता के मल से उत्पन्न स्थूल अंश स्वरूप मांस, अस्थि और आँत–रूपी देह था, वह अरण्य में पृथ्वीतल में मिल गया ॥५॥ लिंग शरीर में प्रतिबिम्बित जीवभूता चिति स्वबिम्बभूत चैतन्य–समुद्र में जा मिली। त्वचा–असृक्, मांस आदि धातु अपने उपादानभूत धातु में मिल गये।

महामुनि के विश्रान्त हो जाने पर सब अपने-अपने उपादानों में ही अवस्थित हो गये ॥६॥

उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, महामुनि वीतहव्य की यह सैकड़ों विचारों से समन्वित विश्रान्ति कथा आपसे मैंने कही, अब आप अपनी प्रज्ञा से इसका विवेचन कीजिए ॥७॥ हे राघव, इस प्रकार की रमणीय अपनी उत्कृष्ट विचारधारा से तत्त्व का अवलोकन कर उक्त सार का ग्रहण कीजिए और तैयार हो जाइए ॥८॥

अब भगवान् वसिष्ठजी कृपा के आधिक्य से कहे गये, कहे जा रहे और कहे जानेवाले ग्रन्थ का; चिरायु और सर्वदर्शी हम लोगों के द्वारा सब प्रकारों से अनेक बार किये गये विचारों का; लोक, शास्त्र, श्रुति तथा अन्वय और व्यतिरेक से परीक्षा करके किये गये पुनः-पुनः दर्शन को एकात्म्यदृष्टि को अवलम्बित कर ज्ञानप्रतिष्ठा प्राप्त करना ही फल है, इससे अधिक और कुछ पुरुष को सम्पादन करने का नहीं है, यह निर्णीत हुआ, यों विश्वास को दृढ़ करने के लिए कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जिसका आपके सामने मैंने वर्णन किया, जिसका वर्णन कर रहा हूँ और जिसका वर्णन करूँगा, त्रिकाल को प्रत्यक्षरूप से देख रहे तथा चिरकाल तक जीनेवाले हम लोगों ने उसके विषय में विचार किया है और पूर्णरूप से उसको स्वयं देखा भी है ॥९,१०॥ हे महामते, इस निर्मल दृष्टि का अवलम्बन कर उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करो, क्योंकि ज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त की जाती है ॥११॥ हे श्रीरामजी, ज्ञान से ही मनुष्य दुःख के अभाव को प्राप्त होता है, ज्ञान से अज्ञान का विनाश हो जाता है, ज्ञान से ही परम सिद्धि मिलती है, वास्तव में वह दूसरे किसीसे नहीं मिलती ॥१२॥ ज्ञान से समस्त आशाओं का चारों ओर से खण्डन कर महामुनि वीतहव्य अपने चित्तरूपी पर्वत को निःशेषरूप से खण्डन कर अवस्थित थे ॥१३॥

महामुनि वीतहव्य ने अपने हृदय में संकल्पमय जगत् का और उसमें गणत्व का अनुभव किया, ऐसा पहले कहा गया है, ऐसी स्थिति में उन्होंने उस संकल्पमय जगत् के अन्तर्गत सूर्य में प्रवेश कर वहाँ के पिंगल नामक गण के द्वारा इस दृश्यमान जगत् के भूभाग में अवस्थित अपनी देह का उद्धार किस प्रकार किया ? क्योंकि स्वप्न के कुदालों से जाग्रत् की निधियों का खनन नहीं देखा जाता है, इस प्रकार की श्रीरामजी की शंका को चिन्हों से ताड़कर वसिष्ठजी कहते हैं।

उस वीतहव्यात्मिका संवित् ने अपने हृदय से उपलक्षित ब्रह्म में हम लोगों के साधारण दृश्य को ही अपना संकल्प जगत् है, ऐसा अनुभव किया, दूसरे अपूर्व जगत् का अनुभव नहीं किया ॥१४॥

इससे भी यही वह जगत् था, ऐसा कहते हैं।

हम लोगों के चक्षु आदि से दिखलाई पड़ रहे मुनि वीतहव्य हम लोगों के मनोमात्रस्वरूप ही हैं, क्योंकि हम लोगों का मन ही 'अहम्' और 'त्वम्' के रूप में मानों बसता है, मन ही यह समस्त जगत् है, अतः उसमें अन्यत्व और अनन्यत्व क्या होगा ? वन्ध्या के भेद से उसके पुत्रों में कहीं भेदन हो सकता है ? नहीं हो सकता ॥१५॥

इस प्रकार श्रीरामजी की शंका का समाधान कर प्रकृत अर्थ का ही उपसंहार करते हैं।

जिन्होंने परम प्रयोजनस्वरूप आत्मतत्त्व का ज्ञान कर लिया था, जिनके राग आदि दोष क्षीण हो चुके थे, जो समस्त अविद्या,काम, कर्म आदि मलों से, तत्प्रयुक्त इन्द्रिय-विकारों से, देहत्रयरूप

उपाधियों से तथा इन उपाधियों से होनेवाले प्रियादि–संगों से रहित थे, वह विवेकी वीतहव्य मुनि चिरकाल तक चित्तशुद्धि के शोकशून्य उपायों के अनुष्ठानों से यानी श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप साक्षात्कार प्रयोजक समाधि भूमिका के अभ्यासों से अपने हृदय में अनुसृत यानी अनुसरण द्वारा साक्षात्कृत अपने स्वभावभूत, निर्मल असीम मोक्षपद को प्राप्त हुए ॥१६॥

अट्ठासीवाँ सर्ग समाप्त

नवासीवाँ सर्ग

जिनका मोह शान्त हो चुका है, ऐसे महात्माओं को आकाशगमन आदि सिद्धियों की इच्छा नहीं होती तथा उनके शरीरों को व्याघ्र आदि हिंसक प्राणी घर्षित नहीं कर सकते, यह कथन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामजी, महामुनि वीतहव्य की नाईं अपने को तत्त्वज्ञानी बनाकर आप राग, भय और उद्वेग से वर्जित होकर सदा स्थित रहिए ॥१॥ हे राघव, इस ब्रह्माण्ड में तीस हजार वर्षों तक महामुनि वीतहव्य ने शोकवर्जित होकर सुखपूर्वक विहार किया था, आप भी उसी प्रकार शोकशून्य होकर सुख पूर्वक विहार कीजिए ॥२॥ हे दीप्ति सम्पन्न महामते, जिस प्रकार अन्य महामति विदित वेद्य मननशील महात्मा निवास करते थे, उसी प्रकार आप भी अपने राष्ट्र में निवास कीजिए ॥३॥

हे महाबाहो, यद्यपि आत्मा सर्वत्र व्यापक है, तथापि सुख–दुःखों की परम्परा से कभी भी वह पराभूत नहीं होता, अतः आप निरर्थक क्यों शोक कर रहे हैं ? ॥४॥ हे प्रिय श्रीरामजी, आत्मस्वरूप को जान लेने वाले बहुत से महात्मा इस लोक में विचरण कर रहे हैं, परन्तु उनमें से कोई भी आपकी नाईं दुःख के अधीन नहीं होते ॥५॥ हे श्रीरामजी, आप अपने ही स्वरूप में स्थित हो जाइए, भीतर से सम्पूर्ण वस्तुओं का त्याग करनेवाले हो जाइए, सर्वत्र समबुद्धि हो जाइए और सुखी हो जाइए। आप सर्वत्र व्यापक है, आप आत्मस्वरूप ही है, आपका पुनः जन्म नहीं हैं ॥६॥ जैसे मयुरों के वश में सिंह नहीं हो जाते, वैसे ही आपके सदृश जीवन्मुक्त कोई भी महानुभाव हर्ष, अमर्ष आदि विकारों के वश में नहीं हो जाते ॥७॥

श्रीरामजी ने कहा : भगवन्, इसी प्रसंग से मुझको यह एक संशय हुआ है, उसको आप मेघ को शरत्काल की नाईं नष्ट कर दीजिए ॥८॥ हे आत्मज्ञानियों में श्रेष्ठ, जीवन्मुक्त शरीरवाले महात्माओं की आकाशगमन आदि शक्तियाँ यहाँ क्यों नहीं दिखलाई पड़ती हैं ? ॥९॥

'शरीराणाम्' इस शब्द से प्रारब्ध होने पर वीतहव्य मुनि को अपने में जैसे विद्याधरत्व आदि का साक्षात्कार हुआ, वैसे ही मानसिक सिद्धियाँ भी हो ही सकती हैं, यह आशय है।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे रघुकुलभूषण, जो ये देवताओं की आकाशगमन आदि सिद्धियाँ प्रमाणों से उपलब्ध होती है, वे अग्नि में ऊर्ध्व ज्वलन की नाईं स्वभावतःसिद्ध हैं ॥१०॥ हे श्रीरामजी, जो चित्र विचित्र आकाशगमन आदि क्रियाकलाप दिखाई पड़ता है या प्रमाण से उपलब्ध होता है, वह तत्–तत् योनियों में उत्पन्न देह का स्वभाव है, क्योंकि मच्छर आदि में भी आकाशगमन शक्ति दिखाई पड़ती है। इसलिए वह आत्मतत्त्वज्ञों को वांछित नहीं है ॥११॥

तब मनुष्यों को योग की सिद्धि के द्वारा आकाशगमन आदि की प्राप्ति कैसे होती है ? इस पर कहते हैं।

हे राघव, आत्मतत्त्वज्ञान से शून्य प्राकृत अमुक्त जीव भी मणि, औषध आदि द्रव्यों की शक्ति से, योगाभ्यास आदि क्रियाओं की शक्ति से, उसके परिपाक प्रयोजक काल की शक्ति से आकाशगमन आदि किसी समय प्राप्त कर सकता है। जैसे कि चींटी ग्रीष्म की समाप्ति में कालशक्ति के प्रभाव से पंख-प्रादुर्भाव द्वारा आकाशगमन प्राप्त करती है ॥१२॥ तुच्छ होने के कारण आकाशगमन आदि सिद्धियाँ आत्मज्ञ विद्वान् की अभिलाषा की विषय नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मस्वरूप ज्ञानी स्वयं आत्मा को प्राप्त कर चुका है। इसलिए वह अपनी आत्मा में ही तृप्त रहता है, अतः अविद्यामय फलवाले पदार्थों की ओर नहीं दौड़ता ॥१३॥ संसार में जो कोई भी पदार्थ हैं, उन सबको आत्मज्ञ अविद्यामय ही मानते हैं, इसलिए अविद्या से वर्जित तत्त्वज्ञ उनमें कैसे डूब सकता है ॥१४॥ जो योगाभ्यास आदि सैकड़ों परिश्रमों से अविद्या को भी आकाशगमन आदि सिद्धियों के द्वारा सुखसाधन बना लेते हैं, वे आत्मतत्त्वज्ञ हैं ही नहीं, क्योंकि आकाशगमन आदि सिद्धियाँ अविद्यामय ही हैं ॥१५॥

तब क्या तत्त्वज्ञ पुरुषों में आकाशगमन आदि सिद्धियों को सम्पादन करने की सामर्थ्य है ही नहीं ? इस शंका पर 'नहीं' ऐसा उत्तर देते हैं।

तत्त्वज्ञ हो चाहे अतत्त्वज्ञ हो, जो कोई भी चिरकालिक प्रयत्नपूर्वक द्रव्य कर्मों से शास्त्रोक्त उपाय का अनुष्ठान करता है, वह आकाशगमन आदि सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है ॥१६॥ यहाँ धन आदि की अभिलाषाओं से वर्जित आत्मस्वरूपज्ञ पुरुष सबसे अतीत हो जाता है, वह अपने ही स्वरूप में सदा सन्तुष्ट रहता है, इसलिए न कुछ चाहता है और न कुछ करता है ॥१७॥ आत्मज्ञ पुरुष को न तो कोई आकाशगमन से, न सिद्धि से, न तुच्छ भोगों से, न निग्रह अनुग्रह सामर्थ्य से, न अपने उत्कर्ष के ख्यापक (घोषणा करनेवाले) अभिमानों से और न आशा, मरण तथा जीवन से ही प्रयोजन है ॥१८॥ सदा सन्तुष्ट, प्रशान्तस्वरूप, रागवर्जित, वासनाशून्य तथा आकाश के सदृश निर्मल आकारवाला तत्त्वज्ञ विद्वान् अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है ॥१९॥ अपने जीवन और मरण की आसक्ति से वर्जित तत्त्वज्ञ पुरुष आकस्मिक प्राप्त हुए सुख और दुःख से अपनी स्वाभाविक तृप्ति का परित्याग नहीं करता ॥२०॥ जैसे समुद्र नदी-प्रवाह और नदी-प्रवाह से प्राप्त तृण, काष्ठ आदि के अपने भीतर प्रवेश से उपचयापचयरूप विकृति प्राप्त नहीं करता, वैसे ही तत्त्वज्ञ प्रारब्ध क्रम के अनुसार प्राप्त हुए अनुकूल और प्रतिकूल वस्तुओं से भी किसी प्रकार की विकृति प्राप्त न कर अपने आत्मा की अखण्डाकारवृत्तिरूपी पुष्पों से पूजा करता हुआ ही अपने स्वरूप में स्थित रहता है ॥२१॥ तत्त्वज्ञ को यहाँ न तो कृत कर्म से (विधियुक्त अनुष्ठान से) ही प्रयोजन (पुण्य) है और न अकृत कर्म से ही (विहिताकरण से ही) प्रयोजन (प्रत्यवाय-प्राप्ति) है, क्योंकि ज्ञानवान् को ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक सब भूतों में कोई भी पदार्थ प्रयोजन के लिए आश्रय योग्य नहीं है ॥२२॥ जो आत्मज्ञान से शून्य है, वह भी आकाशगमन आदि सिद्धियों को चाहता है और वह तथाविध सिद्धियों के साधक द्रव्यों से क्रमशः उन्हें सिद्ध करता है ॥२३॥ मणि, मन्त्र आदि युक्तियों से ही इस प्रकार की आकाशगमन आदि सिद्धि हो सकती है। तत्-तत् शास्त्रों में प्रसिद्ध नियति के क्रम को (स्वभाव की सामर्थ्य को) तत्-तत् नियति का विधान करनेवाले त्रिनेत्र आदि श्रेष्ठ देवता भी व्यर्थ नहीं कर सकते ॥२४॥

जो देवता आदि की स्वतः आकाशगमन आदि सिद्धियाँ है, यह वस्तु स्वभाव ही है, अतएव उनमें वे

उत्पत्ति से लेकर जीवनपर्यन्त ही हैं, ऐसा कहते हैं।

देवता आदि में जो आकाशगन आदि सिद्धियाँ हैं, वह वस्तुस्वभाव ही है। दूसरे किसी से वे नहीं आती। जैसे चन्द्रमा शीतलता का परित्याग नहीं करता, वैसे ही नियति का (स्वभावका) परित्याग कोई नहीं कर सकता ॥२५॥ चाहे सर्वज्ञ हो, चाहे बहुज्ञ हो, चाहे भगवान् लक्ष्मीपति हों, चाहे उमापति हों, कोई भी नियति को अन्यथा करने में समर्थ नहीं है ॥२६॥ हे श्रीरामजी, मणि आदि द्रव्य, काल, योगाभ्यास आदि क्रिया और मन्त्र प्रयोगों में उक्त प्रकार की शक्तियाँ, जो आकाशगमन आदि शब्दों से कही जाती हैं, स्वभावतः सिद्ध हैं ॥२७॥

जैसे विष को हरण करनेवाले औषध आदि द्रव्यों की शक्ति अपने कार्य में समर्थ है, वैसे मणि, मन्त्र आदि की शक्ति भी अपने-अपने कार्य में समर्थ है, ऐसा कहते हैं।

जैसे विषघ्न मणि, मन्त्र आदि द्रव्य की शक्तियाँ विष का विनाश कर देती हैं, जैसे मदिरा मत्त कर देती है, जैसे माक्षिक मधु अथवा मदनफल खाने पर वमन करा देता है, वैसे योगादि उपायों में कुशल पुरुषों द्वारा प्रयुक्त मणि आदि द्रव्य, काल, क्रिया आदि उपाय स्वभाववश से सिद्धियों को अवश्य उत्पन्न करते हैं ॥२८,२९॥ हे पापशून्य राघव, द्रव्य-काल-क्रियाक्रमस्वरूप आविद्यक विषयों से परे तथा अज्ञान को बाधित कर देनेवाले आत्मज्ञान में आकाशगमन आदि सिद्धियों के प्रति कारणता और विरोधिता नहीं है ॥३०॥

जैसे क्रिया-फल स्वर्गादि में आत्मज्ञान का उपयोग नहीं है, वैसे ज्ञानफलमुक्ति में द्रव्य, देश, क्रिया आदि का भी उपभोग नहीं है, ऐसा कहते हैं।

आत्मतत्त्वज्ञान के फलभूत परमात्मा के पद के लाभ में यानी मोक्ष में द्रव्य, देश, क्रिया, काल आदि युक्तियाँ कोई भी उपकार नहीं कर सकती ॥३१॥ यदि आकाशमन आदि की किसी पुरुष को इच्छा होती है, तो वह उसकी सिद्धि का साधन पूर्णरूप से करते हैं। आत्मज्ञानी पूर्ण है, अतः उसको कहीं इच्छा नहीं होती ॥३२॥

आत्मज्ञानी को इच्छा क्यों नहीं होती ? इसे कहते हैं।

हे निष्कलंक श्रीरामजी, जो आत्मा की प्राप्ति होती है, वह सब इच्छाओं की शान्ति होने पर ही होती है, अतः आत्मज्ञ को आत्मलाभ की विरोधिनी इच्छा कैसै और किससे हो सकती है ? ॥३३॥

यद्यपि तत्त्ववेत्ता इच्छा से वर्जित है, तथापि वह यदि कौतुकवश यत्नानुष्ठान करे, तो उसे आकाशगमन आदि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती ही हैं, इस आशय से कहते हैं।

चाहे तत्त्वज्ञ हो चाहे अतत्त्वज्ञ हो, जिसकी जिस प्रकार इच्छा उदित होगी, वह उस प्रकार से उसी इच्छा से यत्न करता है और समय आने पर वह उस सिद्धि को प्राप्त करता है ॥३४॥

तब वीतहव्य को क्यों सिद्धियाँ नहीं हुई ? तो इस पर कहते हैं।

आत्मज्ञान की इच्छावाले वीतहव्य ने सिद्धियों की इच्छा से किसी प्रकार का यत्न नहीं किया और ज्ञान की इच्छा से तो उसने शीघ्र यत्न किया था। जैसे कि इसने अरण्य में ज्ञानाभ्यास के लिए उद्योग किया था, यह पहले वर्णित हो चुका है ॥३५॥

इस प्रकार क्रिया, कर्म और द्रव्यरूपी युक्तियों के स्वभाव से उत्पन्न होनेवाली क्रम प्राप्त सिद्धियाँ

अपनी इच्छा के ही अनुसार सिद्ध हो जाती हैं ॥३६॥

सिद्धि के विषय में या ज्ञान के विषय में अनुपरत प्रयत्न ही अवश्य फलवान् है, इसका मुमुक्षु-व्यवहार प्रकरण में सविस्तार वर्णन किया जा चुका है, इस आशय से कहते हैं।

श्रीरामजी, जो-जो आकाशगमन आदि सिद्धिनामक फलो की पंक्तियाँ जिस पुरुष के द्वारा प्राप्त की गई देखी जाती हैं, वे उस पुरुष के द्वारा अपने प्रयत्नरूपी वृक्ष से ही प्राप्त की गई हैं ॥३७॥ जिन्होंने अपना अन्तःकरण पवित्र कर लिया है, जो आत्मतत्त्व-ज्ञान से सम्पन्न है, जो सदा सन्तुष्ट हैं तथा जो सबके द्वारा वांछित परमप्रेमास्पद आत्मसुख को प्राप्त हुए हैं, उन महात्माओं के लिए सिद्धियाँ कुछ भी उपकार नहीं करतीं ॥३८॥

श्रीरामजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, मुझे यह एक संशय हो रहा है कि महामुनि वीतहव्य की वह देह हिंसक बाघ आदि द्वारा भक्षित क्यों नहीं हुई और पृथ्वी में कीचड़ आदि के क्लेद से विशीर्ण क्यों नहीं हुई ॥३९॥ भगवान्, अरण्य-स्थित ये वीतहव्य मुनि उसी समय (जब पृथ्वी में ढक गये थे, उसी समय) तत्काल विदेहमुक्त क्यों नहीं हुए ? इन दो प्रश्नों का यथार्थ उत्तर मुझसे कहिए ॥४०॥

प्रथम प्रश्न का उत्तर देने के लिए महाराज वसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, जो ज्ञानी की संवित् राग आदि मलों से दूषित वासनारूपी ('देह ही मैं हूँ' इस प्रकार देह में अहंभाव की वासनारूपी) तन्तु से बँधी हुई रहती है, वही यहाँ देह के छेदन-भेदन से जनित सुख-दुःख दशारूपी दाह की आश्रय होती है ॥४१॥ देहाभिमान-वासना से विनिर्मुक्त जीवन्मुक्त महात्मा की देह बाधित होने से अधिष्ठानभूत विशुद्ध संवित्-स्वरूप रहती है, अतः उसके छेदन में कोई भी हिंसक प्राणी समर्थ नहीं होते, क्योंकि 'अच्छेद्योऽयम अदाह्योऽयम अक्लेद्योऽशोष्य एव च' (यह आत्मारूपा संवित् न छेद्य है, न दाह्य है, न क्लेद्य है और न शोष्य है) इत्यादि भगवान् का वाक्य है ॥४२॥ *उपपत्ति बतलाने के अनन्तर अब वक्तव्य के लिए प्रतिज्ञा करते हैं।*

हे महाबाहो, अब आप यह सुनिये कि किस युक्ति से योगी हजारों बरसों तक भी शरीरच्छेदन आदि विभ्रमों के द्वारा आक्रान्त नहीं होता ॥४३॥ श्रीरामजी, चित्त जिस-जिस पदार्थ में जब-जब गिरता है यानी आसक्त होता है, तब-तब उस-उस पदार्थ में आसक्त होकर वह तत्काल ही तद्रूप हो जाता है ॥४४॥ जैसे जब मन शत्रु को देख लेता है, तब वह उस शत्रु के द्वेष के प्रतिबिम्ब से युक्त-सा होकर द्वेष आदि विकार प्राप्त कर लेता है और जब मित्र को देख लेता है, तब वह उसके हृदय के प्रेम के प्रतिबिम्ब से युक्त-सा होकर उत्तम प्रीति को प्राप्त कर लेता है, यह विषय सब लोगों को प्रत्यक्षरूप से अनुभूत है ॥४५॥

इसीलिए यदि एक राग-द्वेष से शून्य रहता है, तो दूसरे में भी राग-द्वेष आदि अनुभूत नहीं होते, यह कहते हैं।

राग और द्वेष से वर्जित पथिक यानी उदासीन पुरुष का, वृक्ष और पर्वत के विषय में तो मन राग और द्वेष से रहित होता है, यह भी सबको अनुभूत है ॥४६॥

इसी प्रकार अचेतन भोज्य आदि पदार्थों के विषय में भी प्रीति, अप्रीति और उदासीनता ये सब उनमें रहनेवाले गुण-दोष और गुण-दोष दोनों के अभाव का मन में प्रतिबिम्ब पड़ने से ही प्रसिद्ध है,

इस आशय से कहते हैं।

सरस स्वादु पदार्थ के विषय में यह मन लालची बन जाता है, नीरसस्वादु पदार्थ के विषय में स्पृहारहित हो जाता है और कटुपदार्थ के विषय में विरस हो जाता है, यह स्वयं सब लोग अनुभव करते हैं ॥४७॥

वैसा मन भले ही हो, उससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

हे भद्र जो हिंसक जन्तुओं का मन है, वह जब राग, द्वेष एवं विषमता से रहित संवित् के (चैतन्य के) विलास से नितान्त समन्वित योगी की देह में गिरता है, तब तत्काल ही योगी के चैतन्य की समता का प्रतिबिम्ब पड़ने से मानों समता प्राप्त कर लेता है, इसलिए उनके द्वारा हिंसा की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥४८॥

इस विषय में पतंजलि मुनि ने हिंसा प्रतिष्ठा का उपक्रम कर कहा है : 'तत्संनिधौ वैरत्यागः' (अहिंसा-सिद्ध होने पर योगी की संनिधि में हिंसक प्राणी वैर का त्याग कर देते हैं।)

हिंसक प्राणी समदर्शी यति के संसर्ग से द्वेष आदि से मुक्त हो जाता है, इसलिए वह किसी की भी हिंसा करने में उस प्रकार प्रवृत्त नहीं होता, जिस प्रकार पथिक गाँव के समीपस्थ वन में उत्पन्न लता आदि के छेदन में प्रवृत्त नहीं होता ॥४९॥ योगी के शरीर के समीप से हिंसक प्राणी जब अन्यत्र चला जाता है, तो वहाँ जाकर द्वेष आदि से भरा जैसा जैसा जन्तु-समूह मिलता है, वैसा वैसा तदनुरूप वह हिंसक भाव को प्राप्त कर लेता है ॥५०॥ हे श्रीरामजी, इन्हीं दो कारणों से हिंसक मृग, बाघ, सिंह, कीट और सर्पों ने भूगर्भ में प्रकाशित हो रही महामुनि वीतहव्य की देह को क्षत-विक्षत नहीं किया ॥५१॥

'कथं क्लिन्ना न भूतले' (वीतहव्य की देह पृथ्वी में सड़ क्यों नहीं गई) इसका उत्तर देते हैं।

काष्ठ, लोष्ट (मिट्टी का ढेला), पत्थर आदि सर्वत्र स्थानों में मूक बालक के समान सामान्यरूप से संवित्-सत्ता अवस्थित रहती है ॥५२॥

तब पुर्यष्टकों में (सूक्ष्म शरीरों में) ही वह क्यों उपलब्ध होती है ? इस पर कहते हैं।

जैसे जल में सूर्यादि का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है, वैसे ही असमाहित चित्त से संयुक्त पुरुषों को वह संवित् सत्ता केवल पुर्यष्ट कें में ही हजारों विषम परिणामोंवाली, परिच्छिन्न तथा तैर रहे पदार्थ की नाईं चपल दिखाई पड़ती है ॥५३॥

हे राघव, उस वीतहव्य-सम्बन्धी पुर्यष्टक ने तत्त्वज्ञान और तदनुकूल समाधि से अविषम स्वभाव को प्राप्त की गई पृथ्वी, जल, वायु और तेज की संवित् के द्वारा उक्त मुनि-शरीर को समस्त विकारों से शून्य ब्रह्मभाव प्राप्त कराया था, इसलिए वह विकृत नहीं हुआ, यह भाव है ॥५४॥

हे श्रीरामजी, इस विषय में मुझसे आप दूसरी भी युक्ति सुनिए। वह यह है कि स्पन्दन ही नाश में कारण है और यह स्पन्द चित्त से जनित अथवा वात से जनित एक प्रकार का विकार है, यह बात लौकिक व्यवहार में प्रसिद्ध है ॥५५॥ प्राणन-वृत्ति ही प्राण-वायुओं का स्पन्द है। हे राघव, चूँकि वीतहव्य की देह में धारणा द्वारा उक्त प्राणन-वृत्ति के शान्त हो जाने पर वे प्राण पत्थर की नाईं दृढ़ होकर स्थित थे, इसलिए मुनि की वह देह नष्ट नहीं हुई ॥५६॥ जिस महामति के हाथ, पैर तथा प्राण आदि से युक्त शरीर में चित्तजनित अथवा वातजनित स्पन्दन नहीं रहता, उसके शरीर में वृद्धि आदि तथा क्षय आदि विकार उत्पन्न नहीं होते ॥५७॥

हे तत्त्वज्ञ-शिरोमणे, हाथ आदि बाह्य और प्राण आदि आन्तर अवयवों से युक्त शरीर में स्पन्दन-वृत्ति के प्रशान्त हो जाने पर त्वचा आदि धातुएँ अपनी पूर्वावस्था का कभी भी परित्याग नहीं करतीं ॥५८॥ इसी तरह चित्तजनित और वातजनित देह-स्पन्दन के शान्त हो जाने पर त्वचा आदि धातुएँ अपने चंचल स्वरूप से भलीभाँति स्तम्भित होकर मेरु पर्वत के सदृश दृढ़ स्थिरता धारण करती हैं ॥५९॥ इसीलिए प्राणस्पन्द के शान्त हो जाने पर काष्ठ के सदृश योगियों के शरीरों में दृढ़ स्थिति और मुर्दे में कम्पन-शून्यता लोक में देखी जाती है ॥६०॥ इस युक्ति से हजारों बरसों तक योगियों के शरीर इस लोक में मेघों की नाईं न तो क्लिन्न (गीले) होते हैं और न भूगर्भस्थित शिला की नाईं विशीर्ण होते हैं ॥६१॥

अन्तिम प्रश्न का अनुवादपूर्वक उत्तर देते हैं।

हे श्रीरामजी, अब आप यह सुनिये कि जिन उपायों से ब्रह्म ज्ञात होता है, उस उपायों से समन्वित बड़े महात्माओ में सर्वश्रेष्ठ यह महामुनि वीतहव्य उसी समय अपनी देह का उत्सर्जन कर मुक्त क्यों नहीं हो गये ? ॥६२॥ हे भद्र, जो विषयअभिलाषाओं से वर्जित, अज्ञानग्रन्थि से निर्मुक्त तथा विदित वेद्य महामति महात्मा हैं, वे सब अपनी देह के विषय में स्वतंत्र होकर स्थित रहते हैं यानी देह को रखना या छोड़ना उनकी इच्छा की बात है। क्योंकि श्रुति भी है 'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते आत्मा ह्येषां स भवति' (तत्त्वज्ञ महाविद्वान् का देवता अभूति के लिए यानी सर्वात्मक ब्रह्मभाव-प्राप्ति के निराकरण के लिए समर्थ नहीं होते, क्योंकि वह देवताओं के आत्मस्वरूप हो जाता है) ॥६३॥

अब योगियों की स्वतन्त्रता का ही उपपादन करते हैं।

हे श्रीरामजी, दैव (पूर्व के अनुष्ठित कर्मों का फल देनेवाले ईश्वर), कर्मों की प्रधानतावाद में प्रतिपादित प्राक्तन या वर्तमान कर्म और वासना ये सब उन योगियों के चित्त को, जो अवशिष्ट प्रारब्ध कर्मों का उपभोग करने के लिए प्रवृत्त है, अन्यथारूप से प्रवृत्त करने में समर्थ नहीं हैं ॥६४॥

हे प्रीतिपात्र श्रीरामजी, इसलिए तत्त्वज्ञों का अन्तःकरण काकतालीय की नाईं अकस्मात् जिस क्षण में जिस किसी की यानी प्रारब्ध प्राप्त जीवन या मरण की भावना करता है, उसी क्षण में उस को ठीक रूप से कर डालता है ॥६५॥ काकतालीय न्याय से वीतहव्य की संवित् ने उस समय जीने की भावना की और उसी को तत्काल स्थिर कर डाला ॥६६॥ प्रारब्ध की समाप्ति हो जाने पर जब वीतहव्य की प्रतिभा (संवित्) विदेहमुक्तता की ओर झुक गई यानी उसने विदेहमुक्ति की भावना की, तब वह विदेहमुक्त हो गये, क्योंकि यह मुनि अपने जीने आदि में स्वतन्त्र थे ॥६७॥

उक्त अर्थ का ही संक्षेप से उपसंहार करते हैं।

श्रीरामजी, समस्त वासनाओं से विनिर्मुक्त तथा अज्ञानरूपी बन्धन से वर्जित होने के कारण तत्काल ही अन्तःकरणउपाधिक वीतहव्य का जीव पारमार्थिक आत्मस्वभाव उदित हुआ। चूँकि वह सकल शक्तियों के निधि महेश्वर ही थे, अतः जो चाहते थे, उसी समय वह हो जाता था। कहा भी है :

तुषेण बद्धो व्रीहिः स्यात् तुषाभावे तु तण्डुलः। पाशबद्धः सदा जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः ॥

जैसे छिलकों से युक्त चावल धान कहा जाता है और छिलकों के अभाव में यानी शुद्ध तंदुल कहा जाता है, वैसे ही अज्ञानरूपी पाश से युक्त चेतन सदा जीव कहा जाता है और अज्ञानपाश से वर्जित चेतन शुद्ध सदा शिव कहा जाता है ॥६८॥ नवासीवाँ सर्ग समाप्त

नब्बेवाँ सर्ग

मैत्री आदि गुणों से उपेत तथा निष्कल भाव को प्राप्त दो प्रकार के चित्त-नाश का विस्तारपूर्वक वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : महाभाग, वीतहव्य का चित्त जब विचार से, भूँजे बीज की नाईं, अंकुरशक्ति से रहित हो गया था और प्रतिभास से रहित नहीं हुआ था, तब उसमें मैत्री आदि गुणों का आविर्भाव हो गया ॥१॥

श्रीरामजी ने कहा : भगवन्, आत्मा और अनात्मा के विचार से महामुनि वीतहव्य के बाधित हुए अन्तःकरण-स्वरूप में मैत्री आदि गुण उत्पन्न हुए, आपके इस कथन का क्या अभिप्राय है ? ॥२॥ हे वाग्मियों के शिरोमणि, जब चित्त ब्रह्म में बाध हो गया, तब किसमें मैत्री आदिगुण उत्पन्न होंगे और कहाँ वे प्रस्फुरित होंगे, यह आप मुझसे कहिए। तात्पर्य यह है कि उस परिस्थिति में यह शंका होती है कि क्या जिसका बाध हुआ है, उसमें मैत्री आदि गुण उत्पन्न हुए ? या क्या जिस अधिष्ठान में बाध हुआ है, उसमें मैत्री आदि गुण उत्पन्न हुए एवं उक्त गुण क्या चिदाभास में प्रस्फुरित होते हैं अथवा बिम्बभूत चैतन्य में ? इनमें से किसी भी पक्ष की उपपत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि बाधित मृगतृष्णा नदी में या उसके अधिष्ठान मरुभूमि में शैत्य आदि गुण उत्पन्न होते नहीं देखे जाते। इसी प्रकार वहाँ उनका भासक कोई पदार्थ भी उपलब्ध नहीं होता ॥३॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, चित्त का विनाश दो प्रकार का होता है – एक सरूप विनाश दूसरा अरूप विनाश, सारांश यह है कि स्फटिक आदि स्वच्छ पदार्थों में पड़े हुए अपने प्रतिबिम्ब में जिस प्रकार अन्य पुरुष के भ्रम का आभास होता है, उस प्रकार चित् में पड़े हुए चित्त प्रतिबिम्ब में चिदन्तरत्व (अन्य चित् का) का आभास होता है, उस भासमानरूप से युक्त एक चित्तविनाश होता है और दूसरा तादृश रूप से शून्य चित्त विनाश होता है। पहला सरूप विनाश तो जीवनमुक्ति होने से होता है और दूसरा अरूप विनाश विदेहमुक्ति से हो जाता है ॥४॥ इस संसार में चित्त का अस्तित्व (चित्तदर्शनपूर्वक आत्मा का अदर्शन) दुःख का कारण है और चित्त का विनाश (चित्तअदर्शनपूर्वक आत्मदर्शन) सुख का कारण है। अतः पहले चित्त की अस्तिता का विनाश कर तदनन्तर चित्त का विनाश कर देना चाहिए ॥५॥

तब किस तरह की चित्त सत्ता है ? उसे कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जिसका बाध नहीं हुआ है, उस अज्ञान से उत्पन्न हुई वासनाओं से व्याप्त जो जन्मकारण मन है, वही विद्यमान मन है, यह आप जानिए। वह विद्यमान मन केवल दुःख का ही कारण है ॥६॥ प्राक्तन अनादि अध्यास से सिद्ध देह, इन्द्रिय, विषय आदि के धर्मों में आत्मा के संसर्गाध्यास से ममता होती है और उससे 'वे मेरे हैं' यों जीव घना अभिमान कर लेता है। इसी एकमात्र अभिमान से जो आत्मतत्त्व को न पहचाननेवाला दुःखग्रस्त अज्ञानी चित्त है, वही जीव कहा जाता है ॥७॥ जब तक मन का अस्तित्व है, तब तक दुःख का विनाश कैसे ? जब मन अस्त हो जाता है, तब प्राणी का संसार भी अस्त हो जाता है ॥८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस अज्ञानी जीव में ही वासनारूपी अंकुरों के समूहों से दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित हुआ विद्यमान मन ही दुःखरूपी वृक्ष का मूल है, यह आप जानिए। दुःखरूप वृक्षों के जंगल के अंकुर उसी मन से उत्पन्न होते हैं ॥९॥

श्रीरामजी ने कहा : ब्रह्मन्, किस महात्मा का मन विनष्ट हुआ था ? विनाश को प्राप्त हुए मन का स्वरूप किस प्रकार का होगा ? चित्त का नाश कैसा है ? और नाश को प्राप्त हुए मन की व्यवहार क्षमता का लक्षण क्या है ? ॥१०॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे प्रश्नवेत्ताओं में श्रेष्ठ रघुकुलवाहक श्रीरामजी, मैंने 'तामसैर्वासना-जालैः' इत्यादि पूर्व वाक्य से चित्त की सत्ता का स्वरूप बतलाया है। अब आप इसके विनाश का स्वरूप सुनिए ॥११॥ हे श्रीरामजी, जैसे निःश्वास वायु पर्वतराज को अपने स्वरूप से विचलित नहीं करते, वैसे ही बाह्य और आभ्यन्तर सुख-दुःख दशाएँ जिस धीर पुरुष को सम-स्वभाव तथा पूर्णानन्दैकरस स्वात्मनिष्ठा से विचलित नहीं करती, विद्वान् लोग उस महात्मा के चित्त को नष्ट चित्त कहते हैं ॥१२॥ 'यह सात बित्ते का शरीर ही प्रसिद्ध मैं हूँ, यह उससे अतिरिक्त घट आदि सब मैं नहीं हूँ', इस प्रकार की तुच्छ भावना जिस पुरुष को भीतर से संकुचित नहीं करती, विद्वान् उस पुरुष के चित्त को नष्ट चित्त कहते हैं ॥१३॥ जिस नररत्न को आपत्ति, कार्पण्य यानी दरिद्रता, उत्साह यानी पुत्रादि प्राप्ति प्रयुक्त हर्ष, मद, मन्दता (अपटुता) और महोत्सव यानी विवाह आदि विरूपता की (विकारिता की) ओर नहीं ले जाते, विद्वान् लोग उसके चित्त को नष्ट चित्त कहते हैं ॥१४॥

लक्षण की उक्ति का उपसंहार करते हैं।

हे साधो, इस लोक में यही चित्त का विनाश है और इसीको नष्ट चित्त भी कहते हैं। यही जीवन्मुक्त महानुभाव की चित्त नाश-दशा है ॥१५॥

हे निष्पाप श्रीरामजी, मनस्ता (परमार्थरूपता की भ्रान्ति से घटादिदृश्य पदार्थों का मनन करना) ही मूढ़ता है, यह आप जानिए। जब उसका विनाश हो जाता है, तब चित्त विनाश नामक शुद्ध सत्स्वभावता का भली प्रकार उदय होता है ॥१६॥

हे राघव, उस विशुद्ध सत्स्वभावत्वरूप चित्त विनाश का, जो जीवन्मुक्त स्वभावात्मक है, किन्हीं लोगों ने चित्त नाम रक्खा है ॥१७॥ हे पापशून्य रामजी, जीवन्मुक्त मन मैत्री आदि शुभ गुणों से सम्पन्न उत्तम वासनाओं से युक्त तथा पुनर्जन्म से शून्य होता है ॥१८॥ हे श्रीरामजी, ब्रह्माकार वासना से ओतप्रोत, पुनर्जन्म से निर्मुक्त जो जीवन्मुक्त मन की सत्ता है, वह सत्त्वनाम से व्यवहृत होती है ॥१९॥

भद्र, व्युत्थानकाल में ही प्रतिभासरूप से अनुभूत होने से मानों साकार स्वरूप को प्राप्त तथा सन्मात्रस्वभाव की प्राप्ति होने के कारण देह आदि-परिच्छेद के संस्पर्श से शून्य जो जीवन्मुक्त का स्वरूप है, यह मननीय विषय के न रहने से उसका सरूप मनोनाश है ॥२०॥

इससे 'सत्ता नाशस्य कीदृशी' इस प्रश्नांश का समाधान हुआ, यह समझना चाहिए। इसीलिए मैत्री आदि गुणों की भी वहाँ प्रतिभासित रूप से उपपत्ति हो सकती है, यह कहते हैं।

तदनन्तर जिस प्रकार चन्द्रमा में प्रसन्न ज्योत्सनाएँ रहती है, वैसे ही जीवन्मुक्त मनोविनाश में प्रसन्नता, मैत्री आदि गुण सदा सब तरह से रहते हैं ॥२१॥ संतोषरूपी शीतलता के आश्रय, सत्त्वनामक जीवन्मुक्तस्वरूप मनोनाश-दशा में गुणरूपी सम्पत्तियाँ उस प्रकार प्रस्फुरित होती है, जिस प्रकार हिमालय में वसन्त ऋतु में मंजरियाँ प्रस्फुरित होती हैं ॥२२॥

दूसरे अरूप मनोनाश का दिग्दर्शन कराते हैं।

हे रघुकुलभूषण, जो मैंने पहले अरूप मनोनाश कहा था, वह विदेहमुक्त का ही विषय है तथा अवयवादि विकारों से वर्जित है ॥२३॥ श्रीरामजी, परम पवित्र विदेहमुक्तिरूपी निर्मल पद में समस्त श्रेष्ठ गुणों का आश्रय भी प्रातिभासिक मन विलीन हो जाता है ॥२४॥ भद्र, विदेहमुक्त महात्माओं के प्राप्य विषय उस सत्त्वविनाशरूप अरूप चित्तनाश दशा में किसी भी दृश्य पदार्थ का अस्तित्व नहीं रहता, क्योंकि 'यत्र नाऽन्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' (जिस परब्रह्म पद की प्राप्ति–दशा में न दूसरा दिखाई पड़ता है, न दूसरा सुनाई पड़ता है, न दूसरा ज्ञात होता है, वह भूमा है) इत्यादि श्रुति है ॥२५॥

कथित अर्थ का ही विस्तार करते हैं।

वहाँ यानी अरूप चित्त विनाश दशा में न मैत्री आदि गुण है, न गुणाभाव यानी मनोदोष हैं, न श्री (गुणसमृद्धि) है, न श्री का अभाव (दोषसमृद्धि) है, न चपलता है, न उदय है, न अस्त है, न हर्ष है, न अमर्ष है और न पृथक् तदीय परिज्ञान है ॥२६॥ न तेज (मायिक सत्त्ववृत्ति) है, न कुछ तम (मायिक तमोवृत्ति) है, न सन्ध्या है, न दिन है, न रात है, न दिशाएँ हैं, न आकाश है, न नीचा प्रदेश है और न अनर्थरूपता है ॥२७॥ न कोई वासना है, न किसी प्रकार की रचना है, न इच्छा है, न अनिच्छा है, न राग है, न भाव है, न अभाव है और न उक्त पद साध्य है ॥२८॥ वह परमपद तम और तेज से शून्य; तारे, चन्द्र, सूर्य और वायु से वर्जित; सन्ध्या, रजःकरण और सूर्यकान्ति से रहित शरत्कालीन स्वच्छ आकाश के सदृश अत्यन्त निर्मल है ॥२९॥ जिस प्रकार वायु का विशाल आकाश प्रतिष्ठा स्थान है, वैसे ही वह विशाल पद उन लोगों का प्रतिष्ठा स्थान है, जो लोग संसार के कारण चित्त और तज्जनित निरन्तर भ्रमण से परे हो गये हैं ॥३०॥ विविध दुःख से निर्मुक्त, स्वयं चैतन्यरूप होता हुआ ही सुप्त पुरुष, की नाईं उन्मेष आदि क्रियाओं से शून्य, ब्रह्मानन्द से परिपूर्ण तथा रज और तम से रहित जो पद है , उस पद में वे महात्मा अपुनरावृत्ति से स्थिरता पूर्वक रहते हैं, जो प्रतिभासिक चित्तांश से भी शून्य, विदेहमुक्त (स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों से रहित) एवं आकाश कोश के सदृश सूक्ष्म (इन्द्रिय अगम्य) हो गये हैं ॥३१॥

नब्बेवाँ सर्ग समाप्त

इक्यानबेवाँ सर्ग

संसाररूपी लता का कारण शरीर है,
शरीर का कारण मन है तथा मन के कारण प्राण स्पन्द और वासना ये दो हैं, यह वर्णन।

परब्रह्म में अध्यस्त चौदह भुवन–स्वरूप जगत् में विस्तृतरूप से फैली हुई जीव सृष्टिरूपी लता के बीजों की परम्परा की सीमा कहाँ तक है ? इसको मूल का उच्छेद करने में उपाय जानने की अभिलाषा से पूछने की इच्छावाले श्रीरामजी पहले जगत् का वन के रूप में वर्णन करते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : महाराज, (यह जगत् एक तरह का बड़ा भारी वन है, वहाँ पर) निर्विशेष पर ब्रह्म का साक्षात्कार करने में पर्वत की नाईं प्रतिबन्धक होने से पर्वत तुल्य अव्याकृत में उत्पन्न चित्रविचित्र

पृथक् पृथक् ब्रह्माण्ड ही वृक्ष हैं, उन वृक्षों पर तारागण ही फूल लगे हैं, देवता और असुर पक्षी हैं। विद्युत्–रूपी मंजरियों से समन्वित दिशारूपी शाखाओं के अग्रभागों में नील आदि वर्णवाले मेघ ही पल्लव हैं। वह सब ऋतुओं में सुन्दर चन्द्रमा और सूर्यरूपी विकास–रमणीय पुष्पों से उन्नत दाँत से युक्त होकर हँसता हुआ–सा स्थित है, सात समुद्ररूपी बावड़ियों से वेष्टित है, सैकड़ों नदियों से मनोहर है, लोकभेद से चौदह प्रकार के और व्यक्तिशः असंख्य भूतगणों से उपजीवित है यानी उनके जीवन का साधन है ॥१–३॥ हे ब्रह्मन्, इस प्रकार के जगत्–रूपी महाअरण्य का आक्रमण करके यानी वासना–प्रतानों (विस्तारों) से चारों ओर संवेष्टन करके जालरचनापूर्वक स्थित हुई जीवसृष्टिरूपी द्राक्षलता, – जिसका विस्तृत आकार है, जरा और मरण ही जिसकी पर्व–काण्ड–ग्रन्थियाँ (पोर) हैं, जिस पर सुख–दुःखरूपी फलों की पंक्तियाँ लगी हैं, माया ही जिसका दृढ़ मूल है, मोह ही जिसकी सिंचन–साधन जलों की अंजलियाँ है उसका बीज क्या है ?। उस बीज का भी बीज क्या है, उस बीज के बीज के बीज क्या है और तृतीय बीज का भी बीज क्या है ॥४–६॥ हे वाग्मियों में सर्वश्रेष्ठ, संक्षेप से इन चार प्रश्नों का मुझको उत्तर दीजिए, जिससे कि फिर मुझमें ज्ञान की अभिवृद्धि हो और ज्ञानरूप तत्त्वांश की सिद्धि हो ॥७॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : राघव, लिंगदेह में प्रच्छन्न (छिपे हुए) चित्र विचित्र अनन्त कार्यों के उत्पादक शुभाशुभ कर्म ही जिसके बड़े–बड़े अंकुर हैं, वह शरीर ही जीव–सृष्टिरूपी लता की बीज है, यह आप जानिए ॥८॥ जिस प्रकार शरत्–काल में शाखाओं के विस्तारों से गहन तथा फल और पल्लवों से शोभित होकर पृथ्वी शस्य–सम्पत्ति से (हरियाली से) बढ़ जाती है, वैसे ही यह जीव–संसृतिलता उससे यानी उक्त शरीर से अत्यन्त बढ़ जाती है ॥९॥

'तस्य किं बीजमुच्यते' (उस शरीर का बीज क्या है ?) इस द्वितीय प्रश्न का उत्तर देते हैं।

वैभव की वृद्धि और क्षति इन दो दशाओं के निधिभूत तथा विविध दुःखरूपी रत्नों की पिटारीस्वरूप चित्त उक्त शरीर का बीज है, जो कि आशाओं का वश में रहनेवाला एक तरह से अनुचरभूत है ॥१०॥ एकमात्र तथोक्त सर्वोपरि चित्त से ही यह वर्तमान, भूत और भविष्यत् के शरीर समूह उत्पन्न हुए हैं। और यह बात सबको स्वप्न के भ्रमों में स्वयं अनुभूत होती है ॥११॥ हे रघुश्रेष्ठ, जिस प्रकार मुमूर्षु मरणासन्न पुरुष के उत्पात प्रदर्शनसंकल्प से युक्त चित्त से ही झरोखे आदि से युक्त तथा सुन्दर आकारवाला गन्धर्व नगर उत्पन्न होता है, वैसे ही तत्–तत् शरीरसंकल्प से युक्त चित्त से ही तत्–तत् शरीर उत्पन्न होते हैं ॥१२॥

इस प्रतिपादित अर्थ की असंभावना करना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि समस्त जगत् हिरण्यगर्भ का एकमात्र मनोविकाररूप है, यह सब श्रुति और पुराणों में प्रसिद्ध है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, सम्पूर्ण उपचारों से परिपूर्ण जो मिथ्या जगत् का स्वरूप दृश्यता को प्राप्त है, वह चित्त से उस प्रकार उत्पन्न होता है, जिस प्रकार मृत्तिका से घट आदि स्वरूप उत्पन्न होते हैं ॥१३॥

तदनन्तर उसका भी बीज क्या है, इस तृतीय प्रश्न का उत्तर देते हैं।

राघव अनेक तरह की वृत्तियाँ धारण करनेवाले चित्त रूपी वृक्ष के दो बीज हैं एक प्राण परिस्पन्द और दूसरा दृढ़ वासना ॥१४॥

प्रथम बीज का उपपादन करते हैं।

जब हृदय की नाड़ियों में संचरण के लिए उद्युक्त होकर प्राण वायु अपना व्यापार करने लगता है, तब चेतनविकार–प्रायः (वृत्तिज्ञान प्रचुर) चित्त तत्काल ही उत्पन्न होता है ॥१५॥ जब बाह्य पदार्थों के अनुभव से जिन संस्कारों का उद्बोधन होने के कारण बहत्तर हजार नाड़ी मार्गों के छिद्रों में प्राण अपना व्यापार छोड़ देता है, तब उससे चित्त अन्दर उत्पन्न नहीं होता ॥१६॥

हिरण्यगर्भ की चिति की जगदाकारता भी समष्टि–प्राण के परिस्पन्दन से ही युक्त होती है, यह बात अपने चित्त के स्पन्दन के दृष्टान्त से लक्षित होती है, यह कहते हैं।

यह प्राण–प्रस्पन्दन–स्वरूप ही इस प्रकार का जगत् नामधारी पदार्थ चित्त के द्वारा उस प्रकार लक्षित होता है, जिस प्रकार आकाश में नीलत्व आदि लक्षित होते हैं ॥१७॥ समष्टि प्राणस्पन्दन के विषय में उपरत उस चिति की शान्ति यानी निष्क्रियता ही शान्ति अर्थात् जगत्–प्रलय या मोक्ष कहा जाता है, प्राण के स्पन्दन से संवित् करतल से विताड़ित गेंद की नाईं, ऊपर नीचे होती रहती है ॥१८॥ श्रीरामजी, प्राण –स्पन्दन से बोध को प्राप्त हुई संवित् देहों में चक्राकार आवर्तों से उस प्रकार प्रस्फुरित होती है, जिस प्रकार करतल से विताड़ित गेंद आँगन में चक्राकार आवर्त से प्रस्फुरित होता है ॥१९॥ जिस प्रकार सूक्ष्म से सूक्ष्म–स्वरूपवाली गन्धलेखा वायु से बोधित होती है, वैसे ही सूक्ष्म से सूक्ष्मतर आकारवाली सत्स्वरूपिणी सर्वगता संवित् प्राण प्रस्पन्दन से बोधित होती है ॥२०॥

हे राघव, संवित् की विक्षिप्तता न होने पर मोक्षरूप सर्वातिशायी कल्याण प्राप्त होता है, यह आप जानिए। क्षोभ हेतु प्राण स्पन्दन का जहाँ पर प्राणायाम के अभ्यास से विनाश हो जाता है, वहाँ पर क्षोभ होता ही नहीं है ॥२१॥

संवित् का संरोध करने से क्या फल है ? और संवित् यदि चित्ताकार हो जाय तो कौन दोष है ? इस पर कहते हैं।

भली प्रकार उदित हुई संवित् तत्काल ही बाह्य विषयों की ओर राग वश चली जाती है, तदनन्तर उनके उपभोग के संवेदन से चित्त को अनन्त दुःख उत्पन्न होते हैं ॥२२॥ जब संवित् बाह्य विषयों में उदासीन होकर आत्मबोध के लिए उद्युक्त होती है, तब प्राप्त करने योग्य वह निर्मल मोक्षरूप पद प्राप्त हो जाता है ॥२३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इसलिए जिस प्रकार मूढ़ पुरुष प्राण–परिस्पन्दों से तथा रागातिशय के द्वारा वासनाओं के उत्पादनों से संवित् को विस्तृतत्वप्रयुक्त मनस्त्व की संपत्ति से युक्त करते हैं, उस प्रकार यदि आप संवित् को विस्तृत नहीं करते हैं, तो जन्म आदि समस्त विकारों से शून्य होकर मुक्त ही हो जायेंगे ॥२४॥ श्रीरामजी, संवित् की स्थूलता को (मोटेपन को) आप चित्त जानिये, संवित् के स्थूलतारूपी उसी चित्त ने इस अनर्थ जाल का विस्तार किया है, जिसने कि मनुष्य जीवों को खण्डित और जर्जर कर डाला है ॥२५॥ योगी लोग चित्त की शान्ति के लिए योगशास्त्र में बतलाये गये प्राणायाम, ध्यान तथा सद्गुरु के सम्प्रदाय आदि से सिद्ध युक्ति–कल्पित शान्तिकारक उपायों के अभ्यास से प्राण का निरोध करते हैं ॥२६॥

फल की एकता के रूप से प्राण के संरोधन की ही प्रशंसा करते हैं।

हे श्रीरामजी, बड़े बड़े विद्वान लोग प्राण–निरोध को ही चित्त–शान्ति रूप फल का दाता, उत्तम

समता का हेतु, छः प्रकार के ऐश्वर्यों से युक्त तथा संवित् की स्वस्थता कहते हैं ॥२७॥

चित्त के अन्य बीज का वर्णन करने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं।

हे राघव, ज्ञानी पुरुषों के द्वारा भली प्रकार उपदिष्ट तथा स्वयं अनुभूत वासनाओं से जीवन पर्यन्त उज्जीवित इस चित्त की दूसरे प्रकार से उत्पत्ति सुनिए ॥२८॥

उसमें पहले वासना का स्वरूप कहते हैं।

पहले के जन्मों की दृढ़ भावना से देह आदि जड़ पदार्थों का जो 'अहम्' 'मम' इत्यादि संस्काररूप से आदान (ग्रहण) होता है, वह यदि पूर्वापर विचार से शून्य हो जाता है तो वह वासना शब्द से व्यवहृत होता है 'वासयति भावयति इति वासना' व्युत्पत्ति से आत्मा को देह आदि भावों में भावित करनेवाला संस्कार वासना कहा जाता है। पूर्वापर के विचारों से युक्त जीवन्मुक्त महात्माओं का देह आदि संस्कार वासना नहीं है, क्योंकि विरोधी पूर्वापर विचारों से समन्वित होने के कारण उनको उक्त संस्कार देहादि भावों में भावित नहीं कर सकता, यह भाव है ॥२९॥

अज्ञानी आत्माओं को तो वह संस्कार, किसी प्रकार का विरोध न होने के कारण, तीव्र संवेग और भावना की दृढ़ता के देहादिभाव में भावित कर सकता है, इस आशय से कहते हैं।

हे महाबाहो, तीव्र संवेग से आत्मा के द्वारा जिस पदार्थ की भावना की जाती है, तत्काल ही वह महात्मा अन्य संस्मरणों को छोड़कर तद्रूप ही हो जाता है ॥३०॥

वह भावना जिस प्रकार देह में आत्मता दीखलाती है, उसी प्रकार बाह्य अर्थों में सत्ता भी दीखलाती है, ऐसा कहते हैं।

वासना के द्वारा अत्यन्त वशीकृत उस भावना से भावित वह पुरुष, जिस किसी को देख लेता है, उस सबको वह यह सत्–वस्तु है, इस प्रकार मोह कर लेता है ॥३१॥ वासना के वेग से पुरुष अपने रूप को छोड़ देता है और जिस प्रकार मदिरा के मद से दुष्टदृष्टि होकर वासना के द्वारा उपस्थापित समस्त भ्रान्त जगत् के रूप को देखता है ॥३२॥ आत्ममिथ्याज्ञान से युक्त हुए पुरुष भीतरी वासनाओं से वशीकृत होकर, विष से वशीकृत पुरुष की नाईं, अनेक मानसी आपत्तियों से विकल रहता है ॥३३॥

वही चित्त की चित्तता के रूप से वासना प्रयुक्त उत्पत्ति है, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जिससे अनात्म–वस्तु में आत्मत्वबुद्धिरूप अयथार्थ ज्ञान और अवस्तु में वस्तुत्व–रूप अयथार्थ ज्ञान होता है, उसको आप चित्त जानिए ॥३४॥

हे भद्र, दृढ़ अभ्यास के कारण देह आदि पदार्थों में 'अहम्, मम' आदि आत्माध्यासरूप एकमात्र वासना से ही जन्म, जरा और मरण में हेतुभूत अतिचपल चित्त की उत्पत्ति होती है ॥३५॥

इसीलिए वासना के विनाश से चिति की स्वस्थतारूप मुक्ति होती है, ऐसा कहते हैं।

जो कुछ भी हेयस्वरूप और उपादेय स्वरूप वस्तु है, वह जब अस्तित्व प्राप्त नहीं करती और सबका परित्याग कर अवस्थित रहती है, तब चित्त उत्पन्न नहीं होता ॥३६॥ हे श्रीरामजी, निरन्तर वासना का अभाव होने से जब मन मनन नहीं करता, तब अमनस्ता का उदय होता है, जो निरतिशय मोक्षस्वरूप शान्ति प्रदान करती है ॥३७॥ आकाश में मेघ की नाईं संविदाकाश में जब कुछ भी स्फुरित नहीं होता, तब आकाश में कमल की नाईं चिदाकाश में चित्त उत्पन्न नहीं होता ॥३८॥ जब जगद्रूप

वस्तु में किसी पदार्थ की भावना नहीं होती, तब शून्य हृदयाकाश में चित्त कैसे उत्पन्न होगा ? ॥३९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, बस, इतना ही चित्त का स्वरूप मैं मानता हूँ कि राग से जगत्–रूपी वस्तु के अन्दर आत्मरूप वस्तुत्व से भावना करना ॥४०॥ हे श्रीरामजी, इस कारण कोई भी दृश्य युक्तियों से समर्थन करने योग्य नहीं है, इस प्रकार की भावना कर रहे तथा आकाशकोश की नाईं अति स्वच्छ आत्मपदार्थ में चित्त का उदय कैसे होगा ? ॥४१॥

अब अचित्तत्व का लक्षण कहते हैं।

हे श्रीरामजी, बाह्यवस्तुओं से अस्मरणरूप निरोधयोग का अवलम्बन करने से समस्त दृश्यों के परिमार्जन–स्वरूप अभाव का सम्पादक पारमार्थिक आत्मदर्शन से जो स्वरूप आविर्भूत होता है, वह अचित्त कहा जाता है ॥४२॥

तब वृत्ति से विशिष्ट चित्त के रहने पर जीवन्मुक्त अचित्त कैसे ? इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, भीतर से सब कुछ का परित्याग कर सुशीतल ब्रह्मरूप आशय में लगा हुआ जो चित्त है, वह कदाचित् वृत्ति से युक्त हो गया, तो भी वह असत् स्वरूप ही है ॥४३॥

दग्धपट के अवभास से सत्यपटरूपता नहीं कही जा सकती, किन्तु असत्यपटरूपता ही कही जा सकती है, यह तात्पर्य है।

हे श्रीरामजी, जिस महामति पुरुष को संस्कार से जनित विषयरसास्वाद के संस्मरण से विषयानुरक्ति उत्पन्न नहीं होती, उस महामति पुरुष का चित्त अचित्तरूपता को तथा विशुद्ध सत्त्व को यानी पटभस्म की नाईं अवशिष्ट अधिष्ठानभूत सत्ता को प्राप्त हुआ है, ऐसा कहा जाता है ॥४४॥

तब जीवन्मुक्त पुरुष व्यवहार क्यों करता है ? इस शंका पर कृतकार्य कुम्हार के चक्रभ्रमण की नाईं वह व्यवहार करता है, ऐसा समाधान देते हैं।

जिस महापुरुष में पुनर्जन्म की उत्पादक वासना है नहीं, वह चक्र की भ्रमि के सदृश जगत् के व्यवहार में निरत होता हुआ भी जीवन्मुक्त और सत्त्वस्थ है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कुम्हार के व्यापार के अभाव में भी चक्र का भम्रण तब तक होता रहता है, जब तक कि उसमें संस्कार (वेग) रहता है, उसी प्रकार अविद्या के क्षीण होने पर भी संस्कार के अवशिष्ट रहने से जीवन्मुक्त शरीर और उसका व्यवहार दोनों प्रारब्ध भोगपर्यन्त विद्यमान रहते हैं ॥४५॥ इन महानुभावों की वासना भूँजे बीज के सदृश पुनर्जन्म से शून्य और रस से वर्जित यानी विषयानुरक्ति से रहित है, वे महानुभाव जीवन्मुक्त होकर अवस्थित रहते हैं ॥४६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जिनका चित्त सत्त्वरूपता प्राप्त कर चुका है, ऐसे ज्ञान के पारंगत हुए वे महात्मा 'अचित्त' शब्द से व्यवहृत होते हैं। प्रारब्ध का क्षय हो जाने पर वे चिदाकाशस्वरूप हो जाते हैं ॥४७॥

वासना के बीज का विनाश होने पर अन्य बीज से चित्त की उत्पत्ति क्यों नहीं होगी ? तो इस पर कहते हैं।

हे रामजी, चित्त के दो कारण है, एक प्राणस्पन्दन और दूसरा वासना। उन दो कारणों में से किसी एक का विनाश हो जाने पर तत्काल दोनों नष्ट हो जाते हैं ॥४८॥ हे श्रीरामजी, जैसे घटाकाश के द्वारा जल का स्वीकार करने में घट और जलाशय दोनों मिलकर कारण होते हैं। वैसे ही चित्त की उत्पत्ति में

ये दोनों परस्पर मिल कर ही कारण होते हैं, एक कारण नहीं होता ॥४९॥ श्रीरामजी, केवल एक मात्र घनीभूत वासना ही बलपूर्वक पुनर्जन्म उत्पन्न नहीं करती। *'उसका भी क्या बीज है' इस चतुर्थ प्रश्न का भी, अनवस्था का परिहार करते हुए, उत्तर देते हैं।* ये प्राणस्पन्दन और वासना दोनों, तिलो में तेल की नाईं, एक दूसरे के भीतर स्थित हैं और बीजांकुरन्याय से काल की अपेक्षा रखनेवाले क्रम से युक्त होकर एक दूसरे का कारण है ॥५०॥

इसी प्रकार चित्त की भी उन दोनों के प्रति और ऐन्द्रियक सुख-दुःख आदि के प्रति कारणता है, ऐसा कहते हैं। संवित्-स्वरूप यह चित्त सबको यथाक्रम से यानी पहले प्राण को, तदनन्तर इन्द्रियों को और तत्-प्रयुक्त आनन्द को उत्पन्न करता है, इसी प्रकार पूर्व में उपभुक्त विषयानन्द और तात्कालिक जीवनस्वरूप पवनस्पन्द में वासनारूप से भी चित्त की उत्पादकता है, ऐसा कहते हैं।

जब आनन्द और पवन दोनों वासनास्वरूप हो गये, तब उन्होंने साथ मिल कर ही चित्त का उत्पादन किया। वे पुष्प में सुगंधि तथा तिल में तेल के समान व्यवस्थित हैं, इसलिए एक दूसरे का एक दूसरा आश्रय और एक दूसरा का एक दूसरे हेतु हो सकता है, अनावस्था दोष का प्रसंग नहीं हो सकता ॥५१,५२॥

हे श्रीरामजी, चित्तरूप बीज में वासना से ही प्राण स्पन्दन होता है प्राण-स्पन्दन से वासना होती है और उससे बीज का अंकुरक्रम उत्पन्न होता है ॥५३॥

दोनों में चित्तउत्पादकता है, इसका प्रकार बतलाते हैं।

वासना का ऊर्ध्वगति स्वभाव होने से वह संवित् के क्षोभकारक कर्म से प्राण प्रस्पन्दन का उद्बोधन करती है उससे चित्त उत्पन्न होता है ॥५४॥ स्पन्दनधर्मवान् होने से हृदयगत राग आदि गुणों की प्रेरणा करनेवाला प्राण संवित् का उद्बोधन करता है और क्रम से चित्तरूपी बालक उत्पन्न होता है ॥५५॥ हे श्रीरामजी, उस प्रकार वासना और प्राणस्पन्द दोनों चित्त के कारण हैं, उनमें से किसी एक का क्षय हो जाने पर दोनों का और उनके कार्य चित्त का विनाश हो जाता है ॥५६॥

चित्त का वृक्षरूप से वर्णन कर रहे महाराज वसिष्ठजी वासना के क्षय से चित्त विनाश होता है, यों कहते हैं।

हे श्रीरामजी, सुख और दुःख के मननात्मक स्पन्दन से उक्त, शरीररूपी महान् फल से समन्वित, कार्यरूपी पल्लवों से पूर्ण आकार को धारण करनेवाला, तृष्णारूपी काले साँपों से वेष्टित, राग तथा रोग रूपी बगुलों का आश्रय, अज्ञानरूपी दृढ़ मूल से संयुक्त, इन्द्रियरूपी पक्षियों से आक्रान्त चित्तरूपी वृक्ष को क्षीणता-प्राप्त वासना उस प्रकार गिरा देती है, जिस प्रकार काल से परिपक्व फल को वायु प्रवाह गिरा देता है ॥५७-५९॥

उसी चित्त का आँधी से उड़ाये गये धूलि के ढेर के रूप में वर्णन करते हुए, जिस प्रकार पवन के निरोध से धूलिपटल का नाश हो जाता है, उसी प्रकार प्राणस्पन्दन के निरोध से मनरूपी धूलि-पटल का विनाश हो जाता है, यों कहते हैं।

हे श्रीरामजी, समस्त दिशाओं को मलिन करनेवाली, पूर्ण चैतन्य रूपी (पक्ष में सर्वजननेत्ररूपी) अखिलदर्शन को ढक देनेवाली, चंचलमेघ के सदृश आकारवाली, अज्ञानरूपी झाड़ु से आविर्भूत,

तृष्णारूपी तृणखण्डों से व्याप्त, स्तम्भ के सदृश आकारवाली देह से (पक्ष में वात्यासंस्थान से यानी धूलिस्तम्भ से) युक्त, प्रस्फुरित हो रहे स्वल्प स्वल्प वृत्तियों से (पक्ष में विभिन्न दिशाओं से आनेवाले वायुओं के झुंडों से) क्षुब्ध, सब दिशाओं में उड़ने में दक्ष और भीतर में स्थित ब्रह्म के (पक्ष में सूर्य के प्रकाश के) प्रत्यक्षीकरण में असमर्थ पवन से उड़ाई गई चित्तरूपी धूलि प्राणस्पन्दन के निरोध से अनायास क्षणभर में विलीन हो जाती है ॥६०–६२॥

अब दूसरे बीज का निर्वचन करते हैं।

हे श्रीरामजी, वासना और प्राणस्पन्दन इन दोनों का संवेद्य यानी प्रिय और अप्रिय शब्द आदि विषय बीज है, क्योंकि उन्हीं से वे दोनों प्रस्फुरित होते हैं ॥६३॥ हृदय में प्रिय और अप्रिय शब्द आदि विषयों का स्मरण करके ही प्राणस्पन्द और वासना दोनों आविर्भूत होते हैं, इसलिए संवेद्य ही उन दोनों का बीज है ॥६४॥ हे भद्र, जिस प्रकार मूल के उच्छेद से वृक्ष तत्काल नष्ट हो जाता है,उस प्रकार संवेद्य का (प्रिय–अप्रिय विषय का) परित्याग करने से प्राणस्पन्दन और वासना दोनों ही तत्काल समूल नष्ट हो जाते हैं ॥६५॥

संवित् के साथ अभेद–भावना ही संवेद्य का परित्याग है, ऐसा कहते हैं।

हे राघव, संवित् ही अपनी धीरता का परित्याग कर संवेद्यस्वरूप–सी बनकर चित्त बीजरूप हो जाती है, यह आप जानिए, जिस प्रकार तिल तेल से रहित नहीं है,उस प्रकार संवित् से रहित कोई भी संवेद्य पदार्थ प्रसिद्ध नहीं है ॥६६॥ न बाहर और न तो भीतर कोई भी संवेद्य संवित् से अलग रहता है, अपने संकल्प से संवित् ही प्रस्फुरित होती हुई स्वयं संवेद्य को देखती है ॥६७॥ जिस तरह स्वप्न में अपना मरण और भिन्न देश में स्थिति दोनों अपने चमत्कार के योग से ही होते है, उसी तरह जाग्रत्कालीन संवेद्य भी संवित् के चमत्कारमात्र से ही होते हैं ॥६८॥ हे रघुनन्दन जिस विवेक अवस्था में अपने पारमार्थिक स्वरूप का अनुभव होता है, वह स्वस्वरूपानुभव भी अपने संकल्प से जनित स्वप्न के सदृश ही है, क्योंकि अद्वय परमात्मा में स्वस्वरूपानुभव और विवेक आदि परमार्थतः नहीं हो सकते हैं ॥६९॥

हे राघव, जैसे बालक को अपने संकल्प से जनित भ्रम से ही वेताल का उद्भव होता है अथवा जैसे स्थाणु में पुरुषरूपता होती है, वैसे ही संकल्पजनित भ्रम से ही संवित की संवेद्यरूपता होती है ॥७०॥ जैसे खिड़की आदि छिद्रों में से प्रविष्ट चन्द्र या सूर्य की किरणों की दण्डाकारता और उसके भीतर घूम रहे त्रसरेणुओं की आकाररूपता प्रतीत होती है अथवा जैसे नौका में अवस्थित पुरुष को पर्वत आदि अचल पदार्थों में स्पन्दन दिखाई पड़ता है, वैसे ही संवित् से संवेद्य प्रतीत होता है ॥७१॥ श्रीरामजी, यह भ्रान्तिज्ञान मिथ्यारूप है, उसका यथार्थ आत्मज्ञान से उस प्रकार विलय हो जाता है, जिस प्रकार रज्जु और चन्द्र के निर्दोष दर्शन से रज्जु में सर्पभ्रान्ति और एक चन्द्र में दो चन्द्ररूपता की भ्रान्ति का विलय हो जाता है ॥७२॥

तब यथार्थ ज्ञान किस तरह का है, उसे कहते हैं।

हे श्रीरामजी, ये जो तीन लोक हैं, वे विशुद्ध संवित्–स्वरूप ही हैं, उससे पृथक् नहीं है, इस प्रकार का भीतरी जो दृढ़ ज्ञान है, वही यथार्थ ज्ञान है, ऐसा पण्डित लोग कहते हैं ॥७३॥

उस यथार्थ ज्ञान से जिसका मार्जन करना है, उसे बतलाते हैं।

पहले देखा गया या नहीं देखा गया पदार्थ इस संवित् को जो भासता है, उसका इस यथार्थ ज्ञान से विद्वान को परिमार्जन कर देना चाहिए ॥७४॥ उक्त प्रतिभास का मार्जन न करना ही बड़े भारी संसार के साथ आत्मा का संसर्ग करना है और उसका परिमार्जन करना ही मोक्ष है, यह अनुभवसिद्ध बात है ॥७५॥ श्रीरामजी, प्रिय–अप्रिय शब्द आदि विषयों का अनुभव जन्मरूप अनन्त दुःख का हेतु है और चिदेकरसस्वभाव में प्रतिष्ठित असंवित्ति यानी विषयों का अदर्शन पुनर्जन्म से वर्जित नित्य आत्मस्वरूप सुख का हेतु है ॥७६॥ हे रघुद्वह, इसलिए आप भी शब्द आदि प्रिय–अप्रिय विषयों के दर्शन से विमुख होकर जड़तारहित, एकरसस्वरूप तथा पूर्णानन्दात्मक हो जाइए। जो असंवेद्य भी स्वतः प्रबुद्ध आत्मा है, तद्रूप ही आप हो जायेंगे, अन्यरूप नहीं हो जायेंगे ॥७७॥ श्रीरामजी ने कहा : भगवन्, एक ही पदार्थ अजड़ भी और असंवित्तिरूप भी कैसे हो सकता है ? असंवित्तिरूप होने पर वह जड़ता कैसे निवृत्त होगी ? तात्पर्य यह है कि जड़ता का परित्याग होने पर संवेदन का शेष अवश्य रहेगा और संवेदन का परित्याग होने पर जड़ता का शेष अवश्य रहेगा, ऐसी स्थिति में एक ही पदार्थ अजड़ और असंवित्ति रूप – यों विरुद्ध स्वभाववाला कैसे हो सकता है ? यह आप मुझसे कहिए ॥७८॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, संवित्–शब्द का एक अर्थ है – बाह्य अर्थों को सत्यरूप से जानना। इस अर्थ को लेकर बाधित अर्थों के अनुभवों से व्यवहार आभास को दिखला रहा भी जीवन्मुक्त महात्मा समस्त वर्तमान विषयों में आस्था नहीं रखता एवं वासना का क्षय हो जाने के कारण भूत और भविष्यत् की वस्तुओं में भी कहीं आस्था नहीं रखता, इसलिए किसी भी वेद्य को सत्यरूप से न जानने के कारण उतने अंश को लेकर काष्ठ–लोष्ट की नाईं असंवित् रूप और स्वतः तो स्वप्रकाश चिदेकरस से पूर्ण होने के कारण अजड़रूप कहा जाता है, यह तात्पर्यार्थ है ॥७९॥

संवित्–शब्द का पूर्वोक्त अर्थ बतलाते हुए कथित भाव का ही समर्थन करते हैं।

श्रीरामजी, सत्यत्व बुद्धि से चिति का बाह्य अर्थों का अवलम्बन करना ही संवित् कहा जाता है, उक्त प्रकार की संवित् जिस महापुरुष को नहीं होती, वह असंवित् अजड़ कहा जाता है, फिर वह सैकड़ों कार्यों में व्यस्त ही क्यों न हो ? इससे *'सर्वत्रानवस्तास्थः'* इस पद का तात्पर्य प्रकट किया ॥८०॥

'विश्रान्तास्थो न कुत्रचिद्' इस अंश का भी अतीत विषयों में तात्पर्य खोलते हुए उसे ही कहते हैं।

हे श्रीरामभद्र, जिस महात्मा की बुद्धि प्रिय और अप्रिय शब्द आदि विषयों से तनिक भी आसक्त नहीं होती, वही अजड़ संवित् और जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥८१॥

उक्त वाक्य का अनागत विषयों में भी तात्पर्य खोलते हुए उसे कहते हैं।

वासना वर्जित होने के कारण अपनी आत्मा में जब किसी भविष्यत् पदार्थ की भावना नहीं की जाती और बालक एवं मूक के विज्ञान के सदृश स्थिर होकर स्थिर रहता है, तब जड़ता से विनिर्मुक्त, विशाल एवं स्वच्छ विज्ञान का अवलम्बन हो जाता है, इससे प्राज्ञ पुनः लिप्त नहीं होता ॥८२,८३॥

शंका का समाधान कर अब प्रकृत विषय का समर्थन कर रहे महात्मा वसिष्ठ जी कहते हैं :

समस्त वासनाओं के त्याग के अनन्तर होनेवाली निर्विकल्प समाधि से असीम आनन्द उस प्रकार प्रतीत होता है, जिस प्रकार आकाश से असीम नीलापन प्रतीत होता है ॥८४॥ श्रीरामभद्र, संवेदन से रहित (घटादि आकार वृत्तियों से वर्जित) योगी लोग उसी असीम आनन्द में स्थित रहते हैं।

यदि शंका हो कि अन्याकार संवेदन का अभाव होने पर भी ब्रह्माकार वृत्तिरूप संवेदन का समाधि में तो निवारण नहीं कर सकते, ऐसी स्थिति में असंवित्त्व कैसे ? तो इस पर कहते हैं :

आनन्दमय ध्येयरूप होने से अपरिच्छिन्न ब्रह्माकार वह संवेदन भी अपने द्वारा प्रदीप्त ब्रह्मरूप ज्योति से बाधित होकर उसी के अन्दर लीन हो जाता है ॥८५॥ इसलिए वह घटादि आकार वृत्तियों का त्याग करनेवाला योगी चलते, बैठते, स्पर्श करते और सूँघते इन सब अवस्थाओं में भी अजड़, आनन्द से पूर्ण और सुखी कहा जाता है ॥८६॥ हे असीम गुणों के सागर श्रीरामजी, प्राणायाम आदि परिश्रम से साध्य यत्नपूर्वक चेष्टा से इस जाड्यरहित संविद्रूपी दृष्टि का अवलम्बन कर आप दुःख सागर के पार तैर जाइए ॥८७॥

चिदात्मा स्वयं ही अपने मिथ्याभूत बन्ध और मोक्ष की कल्पना करता है, ऐसा कहते हैं।

जैसे काल पाकर बीज महान् वृक्ष होकर आकाश को व्याप्त कर लेता है, वैसे ही यह अपने संकल्प से ही उत्पन्न हुआ असत् विषय–समूह काल पाकर चिदाकाश को व्याप्त कर लेता है ॥८८॥

कब किस प्रकार उत्थित हुआ ? उसे कहते हैं।

बार–बार संकल्प करके जब संवित् अपना संकल्पमय स्वरूप प्राप्त कर लेती है, तब वही इस जन्मजात की बीजता को प्राप्त हो जाती है ॥८९॥ हे राघव, अपने आपसे अपना उत्पादन कर और अपने आपसे ही अपने को बार–बार मोहित कर तदनन्तर हृदयस्थ आत्मतत्त्व को जान रही संवित् स्वयं अपने को मोक्ष की ओर ले जाती है, यह बात विद्वानों के अनुभव से प्रसिद्ध है ॥९०॥ हे श्रीरामजी, यह संवित् जिसकी भावना करती है, तत्काल ही तद्रूप हो जाती है।

तब उसी समय सब प्राणियों की संवित् अपने स्वरूप की भावना से अपने स्वरूपभूत मोक्ष को यथेच्छ क्यों प्राप्त नहीं होती, तो इस पर कहते हैं।

राग आदि की भूमिकाओं से मुक्त नहीं हुई संवित् दीर्घ–काल होने पर भी अपना स्वरूप प्राप्त नहीं कर सकती ॥९१॥

इसीलिए देव, गन्धर्व आदि स्वरूप भी इसके कल्पित वेष ही है, वास्तव नहीं है, ऐसा कहते हैं।

न यह देव है, न सुर है, न राक्षस है, न यक्ष है, न किन्नर है और न तो मनुष्य ही है, किन्तु आदि सिद्ध विलासिनी अपनी माया से आत्मा जगत् रूपी नाटक खेलता है जैसे मायावी नट ॥९२॥

जैसे कोशकारकृमि अपने आपको बाँधता हुआ तथा छुड़ाता हुआ देखा जाता है, वैसे ही प्रकृत आत्मा के विषय में भी जानना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

जैसे कोवे का निर्माण करनेवाला रेशम का कीट अपने आपको स्वभाववश से बाँधकर और दुःखभोग कर दीर्घकाल के अनन्तर केवलता प्राप्त करता है, वैसे ही संवित् भी अपने आपको संसार में बाँधकर और दुःखभोग कर दीर्घकाल के अनन्तर स्वभाववश से स्वयं ही बन्धन आदि से निर्मुक्त होकर केवलता

प्राप्त करती है ॥९३॥ जगत्‌रूपी समुद्रों का संवित् ही पर्याप्त जल है, यही अपूर्व दिशाओं का मण्डल है और यही पर्वत आदि भावों को प्राप्त होकर प्रस्फुरित होती है ॥९४॥ हे श्रीरामजी, संवित्-रूपी जलसंतति के द्युलोक, पृथ्वी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ, दिशाएँ ये सब तरंग हैं ॥९५॥

हे भद्र, जगत् केवल संविन्मात्रस्वरूप ही है, उससे पृथक् दूसरी कोई कल्पना ही नहीं है, इस प्रकार के ज्ञान से ही संवित् अद्वयरूपता प्राप्त करती है ॥९६॥

कब संवित् को सम्यक् ज्ञान होता है, इस पर कहते हैं।

जब संवित् कुछ विषय प्राप्त नहीं करती, जब साधारण चलन और असाधारण कम्पन नहीं करती एवं जब अपने स्वरूप में अवस्थान करती है, तब वह लिप्त नहीं होती ॥९७॥

पूर्वोक्त प्रणाली से भली प्रकार शोधन करने के अनन्तर परिशेषरूप से अवशिष्ट हुई संवित् अन्तःकरण में संवित्-प्रतिबिम्बस्वरूप ही है, इस प्रकार की श्रोतृ-वर्ग की भ्रान्ति का निरास कर रहे श्रीवसिष्ठ महाराज अग्निविस्फुलिंगन्याय से प्रतिबिम्ब की बीजभूत सन्मात्रस्वरूप ब्रह्मसंवित् ही उक्त संवित् है, यों दिखलाते हैं।

हे श्रीरामजी, इस संवित् का सन्मात्रस्वरूप ब्रह्म ही बीज कहा जाता है। जिस प्रकार सूर्य आदि तेज से प्रभा उदित होती है, उस प्रकार यह प्रतिबिम्बभूत संवित् बिम्बभूत संविन्मात्रस्वरूप ब्रह्म से ही उदित होती है ॥९८॥

जो पहले श्लोक में 'सन्मात्ररूप ब्रह्मबीज है' ऐसा कहा गया है, वहाँ पर घट, पट आदि में रहनेवाली अर्थक्रियाकारित्वरूप व्यावहारिक सत्ता ही उसकी बीज है, ऐसा किसीको भ्रम न हो, इसलिए व्यावहारिक सत्त्व से विलक्षण सत्त्व बतलाने के लिए पहले सत्ता की द्विविधता बतलाते हैं।

श्रीरामजी, सत्ता के दो रूप स्थित हैं – एक तो अनेक आकारवाला होकर स्थित है और दूसरा एकरूप होकर स्थित है। अब उनका विभाग सुनिए ॥९९॥ घटादिरूपों के विभाग से जो घटत्व, पटत्व, त्वत्त्व, मत्त्व आदि उपाधिभूत सत्ता कही जाती है, वह नानाकृति सत्तास्वरूप है ॥१००॥

घटत्व, पटत्व आदि उपाधियाँ, जो अर्थक्रियाओं का भेद होने पर स्वरूपयोग्यतारूप है, वे व्यावहारिक सत्तारूप ही है, यह आशय है।

विभाग का परित्याग कर सत्तारूप से व्याप्त समस्त जगत् के अधिष्ठान स्वरूप साधारण स्वभाव से जो सत्ता का रूप विद्यमान है, वह एकरूप कहलाता है ॥१०१॥

विशेषांश का परित्याग कर सन्मात्रस्वरूप जो लिप्त न करनेवाला सत्ता का एक रूप स्वरूप है, वही व्यापकरूप और वस्तुतत्त्व है, ऐसा विद्वान कहते हैं ॥१०२॥

व्यावहारिक सत्ता तो वास्तव नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, सत्ता का रूप नाना आकार के रूप में कभी नहीं है, चूँकि तद्‌घटत्व आदिरूप कपाल,चूर्ण, धूलि आदि अवस्थाओं में असंवेद्य होकर अनुवर्तमानता के रूप से दिखाई नहीं पड़ता है, अतः वह सत्यरूप नहीं हो सकता ॥१०३॥

समस्त अवस्थाओं में अनुगत सद्रूप तो वैसा नहीं है, ऐसा कहते हैं।

सत्ता का जो विमलात्मा एकरूप स्वरूप है, वह कभी भी नाश प्राप्त नहीं करता और न कभी

विस्मृति प्राप्त करता है, अर्थात् सदा प्रकाशमान–रूप होने से वह नित्य चैतन्यैकरसस्वरूप हैं ॥१०४॥ हे श्रीरामजी, यह कालसत्ता है और यह वस्तुसत्ता है, इस प्रकार की भी विभागकल्पना का परित्याग कर आप एकमात्र सत्स्वरूप में ही आश्रित हो जाइए। तात्पर्य यह है कुछ लोग कहते हैं कि अतीत और अनागत वस्तुओं में 'अस्ति' इस प्रकार का व्यवहार न होने के कारण वर्तमान काल ही सब वस्तुओं की सत्ता है यानी सब पदार्थों की सत्ता वर्तमानकाल–सत्ता है। कुछ लोग कहते हैं कि समूह बन कर अवयव ही अवयवी के रूप में स्फुरित होते हैं अतः कला ही परमाणुरूप अवयव ही जगत् की सत्ता है, और कुछ लोग यह कहते हैं कि अवयवी पदार्थों में भी अनुगत सत्ता जाति है, इसी प्रकार अन्यान्य लोग भी अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार अन्यान्य सत्ताओं की कल्पना करते हैं, हे श्रीरामजी इस तरह की तत्–तत् मत में कल्पित विभाग कल्पना का त्याग कर आप समन्मात्रस्वरूप एकमात्र ब्रह्म का ही अवलम्बन कीजिए, इसी से आपके मनोरथों की सिद्धि हो जायेगी ॥१०५॥ हे भद्र, जिस प्रकार अध्यस्त भेद का परित्याग करने पर अधिष्ठान सन्मात्र के परिशेष से समस्त जगत् उत्तम सत्तास्वरूप है, वैसे ही अध्यस्त भेदकल्पना का परित्याग करने पर यद्यपि कालादि सत्ता भी उत्तम सत्तास्वरूप ही हो जाती है, तथापि वह विभक्त रूप से बाधयोग्य होने के कारण पारमार्थिक नहीं है ॥१०६॥ जहाँ विभिन्न–विभिन्न पदों को देनेवाली विभाग कल्पना नानारूपता का कारण देखी जाती है, वहाँ वह पावन पद कैसे हो सकता है ? ॥१०७॥ हे श्रीरामजी, एकमात्र सामान्य सत्तात्मक ही समस्त जगत् है, इस प्रकार की भावना करते हुए आप परिपूर्ण आनन्द से युक्त तथा सब दिशाओं और उनमें स्थित पदार्थों को व्याप्त करनेवाले हो जाइए ॥१०८॥ हे विज्ञ जनों में श्रेष्ठ श्रीरामजी, सामान्य सत्तामात्र की परम अवधिभूत जो सत्ता है, वही इस जगत् की और प्रतिबिम्ब चित् की बीजरूप हुई है और उसी से यह समस्त जगत् प्रवृत्त हुआ है ॥१०९॥ हे श्रीरामभद्र, समस्त सत्ताओं की चरम अवधि में जो कल्पनाओं से निर्मुक्त पद है, वही पद आदि (उत्पत्ति) और विनाश से शून्य हैं, उसका कोई बीज है नहीं ॥११०॥ जिस पद में सद्धर्मता भी लीन हो जाती है और जो निर्विकाररूप से अवस्थित है, उस पद में अपना दृढ़ स्थान कर लेनेवाला पुरुष कभी इस दुःखमय संसार में आता नहीं है और वही असलियत में पुरुष है, दूसरा तो स्त्रीप्राय है, यह भाव है ॥१११॥

परम पुरुषार्थरूपता बतलाने के लिए उसीकी प्रशंसा करते हैं।

वही पद समस्त हेतुओं का हेतु है, उसका कोई दूसरा हेतु नहीं है, वही सम्पूर्ण सारों में सारभूत है, उससे बढ़कर दूसरी सारभूत वस्तु नहीं है ॥११२॥ श्रीरामजी, जैसे तालाब में तटस्थ वृक्ष प्रतिबिम्बित होते हैं,वैसे ही उस प्रत्यक् रूप असीम ब्रह्मात्मक दर्पण में ये सब वस्तुदृष्टियाँ प्रतिबिम्बित होती हैं ॥११३॥ उसी प्रत्यक्रूप ब्रह्म में अध्यस्त होने के कारण ये सब पदार्थ इन्द्रियप्रीति उत्पन्न करते हैं। जिस प्रकार जीभ से छः रस स्फूर्ति या सत्ता प्राप्त करते हैं, वैसे ही आनन्द के सागर उसी ब्रह्म से सभी प्रकार के आनन्द स्फूर्ति या सत्ता प्राप्त करते हैं ॥११४॥ चूँकि अस्वादु पदार्थ भी आनन्दसमुद्र ब्रह्म के संसर्ग से इन्द्रिय–प्रीति उत्पन्न करते हैं, इसलिए वह चिदाकाश का पद यानी स्वरूप स्वादु और प्रिय पदार्थों के बीच में सबसे बढ़ चढ़ कर आनन्दरूप और प्रियतम है ॥११५॥

'आनन्दाद्धयेव खल्विमानि' (आनन्दात्मा ब्रह्म से ही ये सब भूतपदार्थ उत्पन्न होते हैं, उसीसे उत्पन्न

होकर उसीसे जीवित रहते हैं और उसी की ओर जाकर उसीमें लीन हो जाते हैं) इत्यादि श्रुति से प्रतिपादित जगत् के जन्म आदि के कारणत्वरूप ब्रह्म–लक्षण का समन्वय भी उसी में है, यह दिखलाते हैं।

हे प्रिय श्रीरामजी, उसी आनन्दाब्धि ब्रह्म में सब जगतों के समूह उत्पन्न होते हैं, स्थित रहते हैं, वृद्धिगत होते हैं, विपरिणाम से युक्त होते हैं, अपक्षयोन्मुख रहते हैं और लीन हो जाते हैं ॥११६॥

यह भारी है, यह हलका है, इत्यादि वैचित्र्य का वही सामान्यात्मक पद निर्वाहक है, ऐसा से कहते हैं।

वह ब्रह्म भारी पदार्थों में अत्यन्त भारी, हलके पदार्थों में अत्यन्त हलका स्थूलों में अत्यन्त स्थूल (मोटा) और सूक्ष्मों में अत्यन्त सूक्ष्म प्रसिद्ध है ॥११७॥ वह दूरवृत्तियों में अत्यन्त दूरतम, समीप वृत्तियों में अत्यन्त समीपतम, छोटों में अत्यन्त छोटा, और बड़ों में अत्यन्त बड़ा भी है ॥११८॥ हे प्रिय श्रीरामजी, वह सूर्य आदि तेजों का भी तेज, अन्धकारों का भी अन्धकार, वस्तुओं का भी वस्तु और दिशाओं का भी पर दिशारूप है ॥११९॥ वह ब्रह्मात्मक पद लोक में प्रसिद्ध कोई वस्तुरूप नहीं है और स्वल्प से भी स्वल्पतर प्रसिद्ध वस्तुरूप भी है, वह सत्ताश्रय (भावात्मक) और असत्ताश्रय (अभावात्मक) भी है, वह दृश्यरूप और अदृश्यरूप भी है, वह अहंरूप और अहंरूप नहीं भी है ॥१२०॥ हे निष्पाप श्रीरामजी, सम्पूर्ण प्रयत्नों से उस परम पावन पद में जिस प्रकार आप स्थित हों, उस प्रकार यत्न कीजिए ॥१२१॥

हे श्रीरामजी, उक्त सत्तासामान्यकोटि में (शोधित तत्पदार्थ की चरमावधि में) स्थित वह पद निर्मल और विकारवर्जित है, वही आत्मा का पारमार्थिक स्वरूप है, उसका साक्षात्कार करने पर चित्त बाधित हो जाता है। इसलिए ज्यों ही आप एकमात्र व्यापक उक्त स्वरूप अवगत कर लेगें, त्यों ही चिरकालिक अपुनरावृत्ति के लिए संसाररूप भय से निर्मुक्त परम पद स्वरूप ही हो जायेंगे ॥१२२॥

इक्यानबेवाँ सर्ग समाप्त

बानबेवाँ सर्ग

पूर्वोक्त स्थितिविशेषों में यत्न के गौरव और लाघव का तथा
वासना आदि के प्रक्षयपूर्वक ज्ञान के सहाभ्यास का वर्णन।

श्रीरामजी ने कहा : मान्यतम, आपने ये जो पूर्वोक्त जीवसृष्टि–लता के बीज बतलाये, उनमें से किस बीज की निवृत्ति करने से परमपद प्राप्त किया जा सकता है ? यह तो एक अर्थ हुआ। दूसरा अर्थ इस प्रकार है : हे भगवान्, आपने ये जो अभी मोक्ष के 'अथाऽस्याः संविदो राम' इत्यादि से भूमिका विशेषरूप बीज बतलाये, उनमें से किस बीज का अवलम्बन करने से परम पद प्राप्त किया जा सकता है ? यह कृपाकर मुझसे कहिए ॥१॥

श्रीरामजी के इस प्रश्न पर महाराज वसिष्ठजी पहले अर्थ के अनुसार उत्तर देते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र , मैंने आपसे इन दुःखों के बीजों के विषय में जो–जो उत्तर दिया है उस उस की निवृत्ति करने से तत्काल ही पुरुष परम पद प्राप्त करता है ॥२॥

अब द्वितीय अर्थ के अनुसार उत्तर देते हैं।

हे रामभद्र, शोधित तत्पदार्थरूप सत्ता सामान्य की पराकाष्ठा में स्थित पद में यानी चैतन्यरूप

शोधित त्वंपदार्थ का अभेद होने के कारण अखण्ड एकरससरूप पद में यदि आप बलपूर्वक वासना का परित्याग कर पुरुष प्रयत्न से क्षणभर के लिए भी स्थिति–चित्त की निश्चलता बाँधे, तो हे तत्त्वज्ञ, आप उसी क्षण में उक्त उत्तम पद को पूर्णरूप से प्राप्त कर लें ॥३,४॥

यदि वैसी स्थिति बनाने की शक्ति न हो, तो भी कहते हैं।

हे प्रिय श्रीरामजी, अथवा यदि सत्तासामान्यरूप शोधित जगत्कारणात्मक तत्त्व में आप स्थिति (चित्त की निश्चलता) करते हैं, तो कुछ अधिक प्रयत्न से यहाँ उक्त आत्मपद प्राप्त कर लेंगे। अखण्डऐक्य के बोध में यत्न की कुछ अधिक आवश्यकता होती है, इससे 'अधिकेन यत्नेन' कहा ॥५॥

हे अघशून्य श्रीरामजी, शोधित त्वंपदार्थरूप संवित्–तत्त्व में ध्यानसम्पन्न होकर यदि स्थित रहते हैं तो और कुछ ऊँचे अधिक प्रयत्न से उक्त पद प्राप्त करेंगे ॥६॥

यदि शंका हो कि शोधन से संवित्–अंश का त्याग होने पर एकमात्र संवेद्यांश का ध्यान भी उपाय क्यों नहीं होगा, तो नहीं, क्योंकि वह अशक्य है, ऐसा उत्तर देते हैं।

हे राघव, केवल संवेद्य के विषय में यानी केवल विषय में ध्यान ही नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वत्र सब अवस्थाओं में इसी संवित् का ही संभव है यानी विषयों से पहले प्रस्फुरित हो रही संवित् का तिरोधान अशक्य है और उसका यदि तिरोधान हो जायेगा, तो विषय की स्फूर्ति न होने से उसका ध्यान ही नहीं हो सकेगा ॥७॥

चिन्तन, चिन्तनीय आदि जो पदार्थ हैं, उस सबकी सिद्धि संवित् के अधीन है यह दिखलाते हैं।

हे श्रीरामजी, जो आप चिन्तन करते हैं, जाते हैं, स्थित रहते हैं और करते हैं वहाँ वहाँ स्थित संवित् ही वह सब कुछ करती है, अतः चिन्तन, चिन्तनीय आदि सभी संवित्स्वरूप हैं, क्येंकि सभी का तत्त्व संवित् ही है, यह भाव है ॥८॥

अन्य उपाय भी कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप यदि वासना के परित्याग में प्रयत्न करते हैं, तो आपकी सम्पूर्ण आधि–व्याधियाँ क्षण भर में विनष्ट हो जायेगी ॥९॥

क्या यह उपाय पहले बतलाए गये उपायों से सरल है ? 'नहीं' यह कहते हैं।

श्रीरामजी, पूर्व में प्रदर्शित प्रयत्नों की अपेक्षा यह प्रयत्न अत्यन्त कठिन कहा गया है, क्योंकि वासना का परित्याग सुमेरु पर्वत के उन्मूलन से भी अधिक दुष्कर है ॥१०॥

असौकर्य का उपपादन करने के लिए परस्पराधीनत्व का उपपादन करते हैं।

जब तक मन नष्ट नहीं होता, तब तक वासनाका विनाश नहीं होता और जब तक वासना विनष्ट नहीं होती, तब तक चित्त की शान्ति नहीं होती ॥११॥

इसी प्रकार इन की तत्त्वज्ञान के साथ भी परस्पराश्रयता है, यह कहते हैं।

जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता, तब तक चित्त की शान्ति कहाँ ? और जब तक चित्त की शान्ति नहीं होती, तब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता ॥१२॥ जब तक वासना का नाश नहीं होता, तब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता। जब तक वासना का नाश नहीं होता, तब तक तत्त्वज्ञान कहाँ से होगा ? और जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता, तब तक वासना का क्षय नहीं होगा ॥१३॥ तत्त्वज्ञान, मनोनाश और

वासनाक्षय ये तीनों की एक दूसरे के प्रति कारणभाव को प्राप्त होकर अवस्थिति है अतः अत्यन्त दुःसाध्य हैं ॥१४॥

तब कौन ऐसा उपाय है, जिससे उनकी सिद्धि हो सके ? इस प्रश्न पर 'वैराग्यपूर्वक एक साथ तीनों का अभ्यास ही उनकी सिद्धि में उपाय है', ऐसा उत्तर देते हैं ।

हे राघव, विवेक से युक्त पौरुष प्रयत्न से भोगेच्छा का दूर से ही परित्याग कर इन तीनों का आश्रय करना चाहिए ॥१५॥ हे श्रीरामजी, जब तक उन तीन उपायों का साथ में भली प्रकार बार बार प्रयास न किया जाय, तब तक सैकड़ों बरसों तक भी परमपद की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥१६॥ हे महामुने, वासनाक्षय, आत्मविज्ञान और मनोनाश इन तीनों का एक साथ दीर्घकाल तक अभ्यास जब किया जाता है, तब वे मननशील महात्मा के लिए फलप्रद होते हैं ॥१७॥ श्रीरामजी, जिस प्रकार मन्त्रशास्त्रोक्त मूर्च्छा, मरण आदि प्रतिबन्धकों से प्रतिबद्ध मन्त्र फलप्रद नहीं होते, वैसे ही उन तीनों में से एक का चिरकाल तक अभ्यास यद्यपि किया जाय, तो भी वे फलप्रद नहीं हो सकते ॥१८॥ जैसे पारितोषिक आदि से स्वाधीन बनाकर दीर्घकाल तक तत्–तत् कार्य में प्रेरित भी सेना के वीर योद्धा लोग एक एक करके अपने स्वामी राजा के अभिमुख जाने में समर्थ नहीं होते, वैसे ही बुद्धिमान् पुरुष के द्वारा दीर्घकाल तक सेवा आदि से स्वाधीन कर तत्–तत् कार्यों में योजित भी ये वासनाक्षय आदि एक एक करके अपने स्वामी परमात्मा के पास जाने में समर्थ नहीं होते ॥१९॥ बुद्धिमान् पुरुष के द्वारा एक साथ तत्–तत् कार्यों में योजित हुए वासनाक्षय आदि संसाररूपी सागर को उस प्रकार विशीर्ण कर देते हैं, जिस प्रकार जलप्रवाह पर्वततट को विशीर्ण कर देते हैं ॥२०॥ हे प्रिय श्रीरामजी, वासनाक्षय, आत्मविज्ञान और मनोनाश इन तीनों का एक साथ प्रयत्नपूर्वक आपको सेवन करना चाहिए, उस सेवन से आप लिप्त नहीं होंगे अर्थात् लिप्त नहीं करनेवाले स्वभाव में स्थित हो जायेंगे ॥२१॥

जिस प्रकार कमलनाल के उच्छेदन से बिसतन्तु टूट जाते हैं, वैसे ही भली प्रकार उन तीनों का चिरकाल तक अभ्यास करने से अत्यन्त दृढ़ हृदयग्रन्थियाँ (अन्तःकरण एवं उसके धर्म आदि के अध्यास) निःशेषरूप से टूट जाती हैं ॥२२॥

वासनाक्षय आदि तीनों का भी चिरकाल तक अभ्यास क्यों करना चाहिए ? इस पर कहते हैं ।

हे श्रीरामजी, यह संसार की स्थिति सैकड़ों जन्मान्तरों से मनुष्यों के द्वारा अभ्यस्त है, अतः उन उपायों का चिरकाल तक अभ्यास किये बिना कहीं पर भी वह नष्ट नहीं हो सकती ॥२३॥ हे भद्र, जाते, श्रवण करते, स्पर्श करते, सूँघते, स्थित रहते, जागते, सोते सब अवस्थाओं में उत्तम मोक्षरूपी कल्याण के लिए इन तीन उपायों के अभ्यास में ही आप निरत हो जाइए ॥२४॥

तीनों के साथ चतुर्थ प्राणायाम का भी अभ्यास करना चाहिए, ऐसा कहते हैं ।

हे रामभद्र, तत्त्वज्ञों का मत है कि वासनाओं के परित्याग के सदृश प्राणायाम भी उपाय है । इसलिए वासना परित्याग के साथ साथ प्राणनिरोध का भी अभ्यास करना आवश्यक है ॥२५॥ वासनाओं का भली प्रकार परित्याग करने से चित्त अचित्तरूप हो जाता है । और प्राणवृत्तियों का परित्याग करने से भी चित्त अचित्तरूप हो जाता है, इसलिए आप जैसे चाहें वैसा कीजिए ॥२६॥

चिरकाल तक प्राणायाम के अभ्यासों से, योगाभ्यास में कुशल गुरुजी के द्वारा दी गई यानी उपदिष्ट युक्ति से तथा स्वस्तिक आदि आसनों के जय और हित, मित एवं पवित्र पदार्थों के भोजन से प्राण–स्पन्दन रुक जाता है ॥२७॥ हे श्रीरामजी, यथाभूत अर्थ के यानी त्रिकाल में बाधित न होने वाले अर्थ के साक्षात्कार से वासना अपने कार्य के लिए प्रवृत्त नहीं होती। आदि, मध्य और अन्त में कभी भी पृथक् न होनेवाला सत्तामात्र स्वरूप जो पदार्थ सर्वत्र स्थित रहता है, वही सत्यभूत अर्थ है, उसको भलीभाँति जान लेना ज्ञान कहलाता है। यही ज्ञान वासना का विनाश कर देता है ॥२८॥ भद्र, केवल बाह्य विषयों में आसक्ति रखनेवाले मनुष्यों का संसर्ग छोड़कर या संकल्प छोड़कर समय अनुसार प्राप्त हुए व्यवहारों के अनुष्ठान से, सांसारिक मनोरथों के त्याग से तथा शरीर में विनाशित्वबुद्धि से वासना प्रवृत्त नहीं होती ॥२९॥ जिस प्रकार पवन–स्पन्द के शान्त हो जाने पर आकाश–तल में धूलि नहीं उड़ती, वैसे ही वासनारूपी धनसम्पत्ति का विनाश हो जाने पर लज्जावश चित्त यत्र तत्र उड़ता नहीं है ॥३०॥ जो प्राणवायु का व्यापार है, वही चित्तस्पन्दन है, उसी से समस्त जगत् उस प्रकार उत्पन्न होते हैं, जिस प्रकार धूलि आदि के ढेर से रज उत्पन्न होती है ॥३१॥

हे श्रीरामजी, बुद्धिमान् पुरुष को एकाग्र चित्त से एकान्त में बैठकर प्राणवायु के स्पन्दन पर विजय पाने के लिए बार बार खूब यत्न करना चाहिए ॥३२॥

हठयोग के अभ्यास की यदि शक्ति न रहे, तो राजयोग का अभ्यास करना चाहिए, यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, अथवा इस उपाय को छोड़कर अन्य उपाय से यदि आप चित्त के ऊपर आक्रमण करना चाहते हैं, तो बहुत काल के अनन्तर उस पद को प्राप्त करेगें ॥३३॥ अध्यात्मविद्या और साधुसंगति इन दो उपायों से युक्त प्रदर्शित दो प्रकार के योगों को छोड़कर अन्य किसी उपाय से दुर्दान्त मन का जय उस प्रकार नहीं कर सकते, जिस प्रकार मदमत्त दुष्ट हाथी का अंकुश के बिना दूसरे उपाय से जय नहीं कर सकते ॥३४॥

उसीका दिग्दर्शन करते हैं।

अध्यात्मविद्या की प्राप्ति, साधुसंगति, वासना का परित्याग और प्राणस्पन्दन का निरोध ये ही युक्तियाँ चित्त के ऊपर विजय पाने के लिए निश्चित रूप से पुष्ट उपाय हैं। इनसे तत्काल ही चित्त उस प्रकार विजित हो जाता है, जिस प्रकार जलधाराओं से भूमि की धूलि विजित हो जाती है ॥३५,३६॥ इन सुन्दर युक्तियों के रहते जो पुरुष हठयोग से चित्त को वशीभूत करना चाहते हैं, उनके लिए मेरा यही मत है कि वे दीपक का परित्याग कर अंजनों से अन्धकार का निवारण करना चाहते हैं। (एक बात यहाँ यह जान लेनी चाहिए, वह यह कि पहले बतलाया गया प्राणनिरोध भी दुर्दान्त मन के दमन में हेतु होने से एक तरह का हठरूप उपाय ही है, तथापि सत्–शास्त्र और सद्गुरु से बोधित मार्ग से शून्य जो दूसरे उपवेशन, शयन, शरीरशोषण, मन्त्र, यन्त्र श्मशानसाधन आदि साहसस्वरूप हठात्मक उपाय है, उन्हींका यहाँ निवारण किया गया है) ॥३७॥ जो मूढ़ पुरुष हठयोग से चित्त का जय करने के लिए उद्योगशील रहते हैं, वे उन्मत्त नागेन्द्र को मानों कमलतन्तुओं से बाँधने के लिये उद्यत हैं ॥३८॥ बतलाई गई इन चार युक्तियों का त्यागकर जो पुरुष चित्त या चित्त के निकटवर्ती अपने शरीर को स्थिर करने के लिए दूसरा यत्न करते हैं उन पुरुषों को ज्ञानमार्ग

के साम्प्रदायिक लोग वृथा परिश्रमी कहते हैं ॥३९॥

सत्–शास्त्रोक्त मार्ग से भ्रष्ट होने के कारण उन्हें अनर्थ परम्परा ही प्राप्त होती है, चित्त जय प्राप्त नहीं होता, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, वे वृथाश्रमी लोग, एक भय से दूसरा भय, एक दुःख से दूसरा दुःख प्राप्त करते हैं। भाग्यहीन पापी जन्तुओं की नाईं वे कहीं भी उत्तम धैर्यरूपी विश्रान्ति प्राप्त नहीं करते ॥४०॥ पर्वत–प्रान्तों में फल और पत्तों का भक्षण कर रहे वे अत्यन्त मुग्धबुद्धि एवं भीरु होकर बिचारे हरिणों की नाईं इधर–उधर परिभ्रमण किया करते हैं ॥४१॥ जिस प्रकार गाँव में आई हुई मृगी किसी का विश्वास नहीं करती, वैसे ही उन पुरुषों की चारों ओर से छिन्न, शीर्ण तथा तुच्छ अंगवाली बुद्धि किसी पदार्थ में विश्वास नहीं करती ॥४२॥ उनका तरंगसदृश अतिचपल मन, जल में तरंगों की नाईं, भयस्थानों में ही उत्तरोत्तर जाता रहते हैं और पर्वत की चोटी से गिर रही प्रबल प्रवाह से युक्त नदियों में गिरा हुआ तृण जिस प्रकार अति दूर बह जाता है, वैसे ही उनका विषयानुपातिस्वभाव चित्त राग आदि से बलपूर्वक अति दूर खिंच जाता है ॥४३॥

अब मोक्षरूप फल जिसका निश्चित है, उस धर्ममेघनामक (आत्मविवेक ज्ञान–प्रवाहरूप) समाधि का परित्याग कर यज्ञ, दान आदि का, जिनके अनुष्ठान में क्लेश अधिक, फल कम तथा मोक्षफलकत्व में सन्देह है, अनुष्ठान भी केवल क्लेशमय ही है, यों प्रकृत विषय की प्रशंसा के लिए कहते हैं।

जिस प्रकार मृग कालक्षेप करते हैं, वैसे ही यज्ञ, तप, दान, तीर्थ, देवार्चन आदि भ्रमों के कारण असंख्य मानस पीड़ाओं से युक्त होकर मनुष्य वृथा कालक्षेप करते हैं ॥४४॥

श्रीरामजी, राग आदि सैकड़ों दोषों से झुलस गये वे आत्मस्वरूप नहीं जान पाते और उनमें से कोई लोग ही कभी दैववश आत्मस्वरूप जान पाते हैं ॥४५॥ उत्पत्ति एवं विनाशशील, एकत्र स्थिर न रहनेवाले तथा स्वर्ग, नरक और मनुष्य के भोगविशेषों के कारण, गेंद की नाईं, निपतन और उत्पतनकारक शरीर वाले होकर वे मरण आदि से पीड़ित हो जाते हैं ॥४६॥ जिस प्रकार तालाब में तरंगें आती जाती रहती हैं, वैसे ही वे इस मृत्युलोक से नरक की ओर जाते हैं, तदनन्तर वहाँ से स्वर्ग की ओर आते हैं और फिर यहीं मृत्युलोक में आते हैं, यों सैकड़ों आवर्तनों से घूमते रहते हैं ॥४७॥

हे रघुनन्दन, इसलिए आप वर्णित हठादिरूप दुष्टबुद्धि का परित्याग कर शुद्ध संवित्ति का आश्रय (परिज्ञान) कर रागशून्य होकर सुस्थिर हो जाइए ॥४८॥ इस संसार में ज्ञानी ही सुखी है, ज्ञानी ही जीवित है और ज्ञानी ही बलवान् है, इसलिए आप ज्ञानप्रचुर बन जाइए ॥४९॥ हे महात्मन्, विषयों से शून्य, अति–उत्तम, समस्त पदार्थों के हेतु तथा विकल्पों से वर्जित अद्वितीय संवित्–पद की भावना करते हुए तथा चित्त के संकल्प–विकल्पों से विमुख यानी चित्त की बहिर्मुखता से शून्य होकर आप ब्रह्मस्वरूप में स्थित हो जाइए। और व्युत्थानकाल में तो विहित कर्मों का अनुष्ठान करते हुए भी असंग एवं शम से प्राप्त हुई जीवन्मुक्त–गुण–सम्पत्ति से राजित होकर अकर्तापद की प्राप्ति करके स्थित होइए ॥५०॥

बानबेवाँ सर्ग समाप्त

तिरानबेवाँ सर्ग

विचार की प्रौढ़ता, वैराग्य एवं सद्‌गुणों से तत्त्वज्ञान होने पर विषयों से
घर्षित न होने के कारण ज्ञानी की एकरूप स्थित होती है, यह वर्णन।

उसमें पहले थोड़े से भी विचार और मनोनिग्रह का रुचि के उत्पादन और प्रवृत्ति के द्वारा क्रमशः मोक्ष में पर्यवसान होता है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, थोड़े से भी विचार से जिसने अपने चित्त का तनिक भी निग्रह कर लिया, उसने जन्म का फल पा लिया। इससे यह ध्वनित हुआ कि मनुष्य जन्म पाकर जो आत्मविचारपूर्वक मनोनिग्रह नहीं करता, उसका जन्म निष्फल है ॥१॥

विचार एवं चित्तनिग्रह का जन्म की सफलता में उपयोग बतलाते हैं।

श्रीरामजी, यदि हृदय में पूर्वोक्त इस विचाररूपी कल्पवृक्ष का कोमल अंकुर प्रस्फुरित हो जाय, तो वही अंकुर अभ्यासयोग से सैकड़ों शाखाओं में फैल जाता है ॥२॥ जिसने वैराग्यपूर्वक कुछ प्रौढ़-विचार कर लिया है, उस नररत्न का तो पूर्वोक्त शम, दम आदि शुद्ध गुण उस प्रकार आश्रय करते हैं, जिस प्रकार जल से परिपूर्ण सरोवर का पक्षी और मत्स्य आश्रय करते हैं ॥३॥ श्रीरामजी, भली प्रकार आत्म-विचार से युक्त तथा स्वस्वरूप परब्रह्म का अवलोकन करना ही जिसका स्वभाव है ऐसे मेधावी विद्वान् को प्रचय और प्रकर्ष से विख्यात भी हिरण्यगर्भपद आदि अविद्याकार्यरूप वैभव लुब्ध नहीं करते ॥४॥ आत्मा के यथार्थ ज्ञान से जिसकी बुद्धि परिष्कृत हो गई है, उस महात्मा को यहाँ विषय, मानसिक वृत्तियाँ, आधि और व्याधि ये सब कौन विकार उत्पन्न कर सकते हैं अर्थात् कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकते, क्योंकि वह निर्विकार आत्म-स्वरूप है ॥५॥

हिरण्यगर्भ आदि के वैभव वीतराग महात्मा को लुब्ध करने में समर्थ नहीं हैं, इसी विषय को अन्योक्तियों से दृढ़ करते हैं।

हे भद्र श्रीरामजी, भला बतलाइए तो सही कि खूब चल रहे पवनों से व्याप्त तथा विद्युत्-समुह से श्वेतरक्त प्रलय काल का पुष्करावर्तनामक मेघ का बालकों की मुष्टियों से कहीं ग्रहण हुआ है ? ॥६॥ श्रीरामजी, भला बतलाइए कि क्या विकासरम्य रात्रि-कमलों से अपने नेत्रों का पराभव हो जायेगा, इस शंका से मुग्ध अंगनाओं ने सुन्दर मणिमय पिटारियों में कमल-विकास में हेतुभूत गगन-मध्यगत चन्द्रमा कहीं बद्ध किया ? ॥७॥ श्रीरामजी, भला बतलाइए कि गण्डस्थलों से चलायमान भ्रमरमण्डलरूप नील कमल जिनके मस्तकों में हैं, ऐसे हाथियों का मुग्ध अंगनाओं के श्वासों के द्वारा गजवध के लिए प्रेरित होने के कारण उत्साहरम्य मच्छरों ने कहाँ मन्थन किया ? ॥८॥ अपने से विदारित हुए मत्त गजों के मुक्ताफलों की कान्तियों से सुशोभित हो रहे जिनके नखपंजर है, ऐसे युद्ध में निपुण सिंह हरिणों के द्वारा कहीं मर्दित हुए हैं ? ॥९॥ विष की अधिकता के कारण अपने आप निकलनेवाले रस के सदृश स्वयं निकलनेवाले बड़े-बड़े विष-बिन्दुओं से अरण्यवृक्ष जिन्होंने दग्ध किये हैं, ऐसे क्षुधित अजगरों को कहीं क्षुद्र मेढ़कों ने निगल लिया ? ॥१०॥ जिसने चतुर्थ, पंचम आदि भूमिका प्राप्त कर ली है और जिसने ज्ञेय तत्त्व जान लिया है, ऐसा विवेकी वीर विद्वान्,

जो आगे की भूमिकाओं के ऊपर विजय पाने के लिए प्रयत्नशील है, विषय तथा इन्द्रियरूपी चोरों के द्वारा कहीं पर अभिभूत हो सकता है ? ॥११॥

अतः जिनका चित्त परिपक्व नहीं हुआ है, वे पहले की भूमिकाओं में ही विघ्नों से आक्रान्त होते हैं, आगे की भूमिकाओं में जा ही नहीं पाते, ऐसा कहते हैं ।

विषयरूपी शत्रु अप्रौढ़ विचारबुद्धि का उस प्रकार अपहरण कर डालते हैं, जिस प्रकार प्रचण्ड पवन छिन्नवृन्त (छिन्नआश्रय) लता का अपहरण कर डालते हैं ॥१२॥ जिस प्रकार अवान्तर कल्पों के क्षोभों में महान् धीर होकर रहनेवाले मेरु आदि पर्वतों का उच्चाटन करने में मन्द पवन समर्थ नहीं होते, उस प्रकार प्रौढ़ताप्राप्त विवेक के लवमात्र का भी विनाश करने में दुष्ट राग आदि वृत्तियाँ समर्थ नहीं होती ॥१३॥ श्रीरामजी, जिसने दृढ़मूल ग्रहण नहीं किया है, ऐसे विचाररूपी पुष्प वृक्ष को चिन्तारूपी झंझावात कँपा देते हैं, परन्तु चारों ओर की सुदृढ़ स्थिति से भली प्रकार सुस्थित हुए विचाररूपी पुष्पवृक्ष को नहीं कँपाते ॥१४॥

अतएव विचार के विच्छेद काल में प्रमाद से राग आदि रूप मृत्यु से यह आक्रान्त होता है, इस आशय से कहते हैं ।

जिस पुरुष का अन्तःकरण जब जाते या बैठते, जागते या सोते, इन सभी अवस्थाओं में आत्मविचार से ओतप्रोत नहीं रहता, तब वह मृत कहा जाता है ॥१५॥ श्रीरामजी, इस जगत् का स्वरूप क्या होगा ? इस देह का स्वरूप क्या होगा यों निरन्तर धीरे-धीरे एकान्त में या स्वयं अकेले या गुरु, सज्जन महात्मा आदि के साथ अध्यात्मदृष्टि से विचार कीजिए ॥१६॥

विचार करने से फल अवश्य होता है, यह कहते हैं ।

प्रमादरूपी अन्धकार का अपहरण करनेवाले आत्मविचार से तत्काल ही सर्वातिशायी निर्मल ब्रह्मरूप पद उस प्रकार दिखाई पड़ता है, जिस प्रकार प्रकाशमान दीपक से घटादि वस्तु दिखाई पड़ती है ॥१७॥

ज्ञान से दो फल होते हैं, यह कहते हैं ।

श्रीरामजी, आत्मस्वरूप के विज्ञान से समस्त दुःखों का विनाश उस प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार प्रकाश के द्वारा मनोरंजन करनेवाले सूर्य से अंधकार का विनाश हो जाता है ॥१८॥ जब ज्ञान अपनी प्रकाशरूपता प्राप्त कर लेता है, तब ज्ञेय ब्रह्म का पूर्ण रूप से उदय उस प्रकार स्वतः हो जाता है, जिस प्रकार सूर्य का अभ्युदय हो जाने पर भूभाग पर विमल प्रकाश का उदय स्वतः हो जाता है ॥१९॥

ज्ञान का स्वरूप बतलाते हैं ।

श्रीरामजी, जिस शास्त्रसम्बन्धी विचार से ब्रह्मस्वरूप अवगत हो जाता है, वही शास्त्रीय भाषा में ज्ञान कहा जाता है । ज्ञेय ब्रह्म का आकाररूप और भेद का बाधरूप होने के कारण ज्ञेय ब्रह्म से वह अभिन्न ही बनकर दृढ़ प्रतिष्ठित रहता है ॥२०॥ हे भद्र, पण्डित लोग आत्मविचार से उत्पन्न आत्मविज्ञान को ही ज्ञान कहते हैं । उसी ज्ञान के अन्दर ज्ञेय उस प्रकार प्रच्छन्न रहता है, जिस प्रकार दूध के अन्दर माधुर्य प्रच्छन्न रहता है ॥२१॥ जैसे मैरेय (मदिराविशेष) पी लेनेवाला पुरुष

सदा मदप्रचुर रहता है, वैसे सम्यक् ज्ञानरूपी सुंदर प्रकाश से युक्त पुरुष स्वयं अनुभूयमान ब्रह्मानंद से प्रचुर रहता है ॥२२॥ जिसका स्वरूप सैन्धव घन की नाईं एकरस है, ऐसा निर्मल पर ब्रह्म ही ज्ञेय कहा जाता है । वह ज्ञेयरूप ब्रह्मज्ञान के आविर्भावमात्र से ही स्वयं समस्त अविद्या और उसके कार्यरूपी मलों से निर्मुक्त हो जाता है ॥२३॥ ज्ञानसम्पन्न तथा आनन्द प्राप्त विद्वान् किसी भी विषय में लिप्त नहीं होता । समस्त संगों से निर्मुक्त एवं जीवन्मुक्त वह ज्ञानी, राजाधिराज सम्राट् की आत्मा की नाईं, परिपूर्ण मनोरथ होकर स्थित रहता है ॥२४॥

रागीजनों द्वारा स्पृहणीय भावों में उस विद्वान की अनासक्ति बतलाते हैं ।

श्रीरामजी, जो तत्त्वज्ञ पुरुष है, वह वीणा, बाँसुरी की मधुरध्वनि आदि मनोहर शब्दों में, कामिनियों के शृंगाररस मिश्रित कमनीय गीतों में; वसन्तकाल में मदमत्त हुए भ्रमरों की गुंजार ध्वनियों में, वर्षा के विस्तार से जनित पुष्पों में, मेघों के गर्जनों में; मयूरों के ताण्डव नृत्यों तथा उनकी मधुर कूकध्वनियों में, शब्द किये हुए मेघों के खण्डों में, सरोवरस्थ सारस पक्षियों के श्रवणप्रिय, शब्दों में; करताल आदि वाद्यविशेषों में, चमड़े से मढ़े गये गम्भीर मृदंग आदि वाद्यों में, तन्त्री से निर्मित वीणा आदि, भीतर के छिद्र से युक्त बाँसुरी आदि तथा चित्र विचित्र कांस्यताल आदि वाद्यों की ध्वनियों में; कहीं पर भी चित्त नहीं लगाता, श्रीरामजी, चाहे ध्वनि रूक्ष हो चाहे मधुर, कहीं भी यह उस प्रकार प्रेम नहीं करता, जिस प्रकार कमलों में चन्द्रमा प्रेम नहीं करता ॥२५–२९॥ भद्र, आसक्तिवर्जित ज्ञानी पुरुष कोमल कदली के स्तम्भों की पल्लवपंक्तियों से युक्त तथा देवता एवं गन्धर्वों की कन्याओं के अंगों के सदृश अतिकोमल अवयववाली लताओं से युक्त नन्दनवन की क्रीड़ाओं में कहीं किसी समय भी चित्त नहीं लगाता । हे श्रीरामजी, जिस प्रकार हंस मरुभूमि में भोग की इच्छा नहीं करता, उसी प्रकार स्वाधीन विषयों में भी आसक्ति नहीं रखनेवाला धीर तत्त्वज्ञ किसी भी विषय में भोग की इच्छा नहीं करता ॥३०,३१॥ ज्ञानवान् पुरुष पिण्डखजूर (एक प्रकार की खजूर) कदम्ब, कटहल, द्राक्ष, खरबूजा, अखरोट, बिम्ब (कुँदरू) तथा नारंगी आदि जाति के फलों में; मद्य, मधु, मैरेय, माध्वीक, आसव आदि मद्यविशेषों में; दही, दूध, घी, आमिक्षा (गर्म दूध में दही डालने से पिंडीभूत द्रव्य), मक्खन, ओदन (भात) आदि भोज्य पदार्थों में; लेह्य, पेय आदि विलास–पूर्ण चित्र–विचित्र छः प्रकार के रसों में; अन्यान्य फल, कन्दमूल, शाक एवं मांस आदि पदार्थों में कहीं पर चित्त नहीं लगाता । वह तृप्तस्वरूप एवं असक्तमति है, अतः वह भोग्य पदार्थों में उस प्रकार प्रवृत्त नहीं होता, जिस प्रकार आस्वादन में प्रेम रखनेवाला ब्राह्मण अपने शरीर के टुकड़ों में प्रवृत्त नहीं होता ॥३२–३४॥ श्रीरामजी जो ज्ञानी श्रीमान् महात्मा है, वह यमराज, चन्द्र, इन्द्र, रुद्र, सूर्य और वायु के स्थानों में; मेरु, मन्दराचल, कैलास, सह्याद्रि तथा दर्दुर पर्वत के पल्लव समूहों से युक्त शिखरों में; चन्द्रबिम्ब की कला आदि में, दिव्य शरीरसम्पत्ति से क्रियमाण क्रीड़ाओं से युक्त कल्पवृक्षों के निकुंजों में; रत्नयुक्त सुवर्णभित्ति से निर्मित मोति और मणिप्रचुर सुन्दर घरों में; तिलोत्तमा, ऊर्वशी, रम्भा, मेनका आदि अंगलताओं में कहीं पर भी असक्तमति होने के कारण दृष्टिपात नहीं चाहता, वह परिपूर्ण, मौनी एवं शत्रुओं के विषय में अचल है यानी द्वेष से कम्पित नहीं होता ॥३५–३९॥ जो समबुद्धि, प्रिय, अप्रिय सब स्थानों में समदृष्टि रखनेवाला

तथा अप्रिय में क्षोभशून्य ज्ञानवान् पुरुष है, वह कनेर, मन्दार , कल्हार, कमल आदि में; कुईं, नील कमल, चंपा, केतकी, अगर, जाति (मालती) आदि पुष्पों में; कदम्ब, आम्र, जामुन, पलाश एवं अशोक वृक्षों में; जपा, माधवी, बेर, बिम्ब, पाटल तथा चमेली आदि में; चन्दन, अगर, कपूर, लाह एवं कस्तुरी में; केसर, लवंग, एला, कंकोल (शीतल चीनी के वृक्ष का भेद), तगर आदि अंगरागों में से किसी की सुगन्ध में प्रेम उस प्रकार नहीं करता, जिस प्रकार मदिरा की गन्ध में श्रोत्रिय द्विज प्रेम नहीं करता ।।४०–४३।।

इसी प्रकार भयजन्य ध्वनियों में उसको भय नहीं होता, ऐसा कहते हैं ।

गड़गड़ाहट ध्वनि से युक्त सागर , प्रतिध्वनिरूप आकाशजनित शब्द के, पर्वत में सिंहों के गर्जनों के होने पर ज्ञानी तनिक भी क्षुब्ध नहीं होता ।।४४।। शत्रुओं के नगारे आदि के शब्दों से, डमरू के शब्द से, कर्ण कटु धनुष के टंकार से ज्ञानी तनिक भी भयभीत नहीं होता ।।४५।। मदोन्मत्त हाथियों के चिंघाड़ने के शब्द, वेतालों की कलह आदि ध्वनि तथा पिशाच एवं राक्षसों का सिंहनाद होने पर ज्ञानी पुरुष जरा भी कम्पित नहीं होता ।।४६।। जो परब्रह्म में ध्यान लगानेवाला विद्वान् है, वह वज्र के भयावह शब्द से, पर्वत के विस्फोट से एवं ऐरावत के चिंघाड़ने से कम्पित नहीं होता ।।४७।। ज्ञानी पुरुष चल रहे आरे के घर्षण से, चमचमाती हुई तलवार के विदलन से, बाण एवं वज्र के सम्पात से अपनी स्वरूपस्थितिरूप समाधि से विचलित नहीं होता ।।४८।। ज्ञानी पुरुष वाटिका में न आनन्द प्राप्त करता है और न तो खेद । एवं मरुभूमि में न खेद प्राप्त करता है और न तो आनन्द ।।४९।। भस्म से रहित उज्जवल अंगारों के सदृश असह्य बालू से युक्त मरुप्रदेशों में, पुष्पों के समूहों से आच्छादित मृदु घासमय भूमियों में, तीक्ष्ण छुरे की धारों में, नवीन कमलों से निर्मित शय्याओं में, उन्नत पर्वत के प्रदेशों में, कुओं के अन्दर की निम्न भूमियों में सूर्यकिरणों से प्रतप्त शिलाओं में, कोमल ललनाओं में, संपत्तियों में, उग्र विपत्तियों में, क्रीड़ाओं में तथा उत्सवों में विहार कह रहा भी ज्ञानी न उद्वेग प्राप्त करता है और न तो आनन्द प्राप्त करता है । वह भीतर से सदा मुक्त और बाहर से कर्मकर्ता की नाईं स्थित रहता है ।।५०–५३।। ज्ञानी पुरुष महर्षि माण्डव्य की नाईं प्रारब्ध कर्मों से प्राप्त हुई अंगों को संकुचित करनेवाली नरक की अरण्यभूमियों में, जहाँ पर एक दूसरों के द्वारा अनेक बर्छी तोमर आदि शस्त्रविशेषों की वृष्टि हो रही है, न भयभीत होता है, न व्याकुल होता है और न तो दीन होता है, परन्तु वह सम, स्वस्थमन, मौनी और धीर होकर पर्वत की नाईं अटल रहता है ।।५४,५५।। ज्ञानी पुरुष अपवित्र, अपथ्य, विषयुक्त, गोमय आदि मल, आर्द्र तथा रसवर्जित पदार्थों को खाकर भी तत्क्षण उस प्रकार पचा देता है, जिस प्रकार साधारण मनुष्य परिष्कृत अन्न को खाकर पचा देता है ।।५६।। श्रीरामजी, जिसके अन्तःकरण में किसी प्रकार की विषयासक्ति नहीं है, वह तत्त्वज्ञ तत्क्षण बुद्धि का विनाश करनेवाला बिम्ब का फल (कुन्दरू का फल), विषप्राय सब ओर से कषाय लगनेवाला फल, क्षीर, इक्षुरस, जल और ओदन इन सब विषयों के आस्वादन में सम यानी तुल्यचित्त रहता है ।।५७।।

राक्षस, पिशाच आदि में भी जीवन्मुक्त हो सकते है, इसलिए उनका भी संग्रह करने के लिए तत्साधारण कहते हैं ।

मैरेय (मद्यविशेष), मदिरा, क्षीर, रक्त, चरबी, आसव, रुक्ष हड्डी, तृण और केश इन सबसे ज्ञानी न प्रसन्न होता है और न तो कुपित ही होता है ॥५८॥

तत्त्वज्ञ की शत्रु और मित्र में समदृष्टि रहती है, ऐसा कहते हैं ।

जीवन का विनाश करनेवाला तथा जीवन का दान देनेवाला इन दोनों पुरुषों को ज्ञानी पुरुष प्रसन्नता एवं मधुरता से शोभित दृष्टि से यानी समदृष्टि से देखता है ॥५९॥ ज्ञानवान् चिरस्थायी देवशरीर तथा कुछ काल तक स्थायी मर्त्य शरीर, एवं उनके भोग्य रमणीय तथा अरमणीय वस्तु इन सबके विषय में न हर्ष करता है और न तो ग्लानि करता है, क्योंकि उसकी समता की भावना सदा प्रदीप्त रहती है ॥६०॥ श्रीरामजी, अपने चित्त में आसक्ति का अभाव तथा विषयस्वरूप का भलीप्रकार ज्ञान हो जाने के कारण जगत की स्थिति में ज्ञानी आस्था नहीं रखता एवं मिथ्या विषय आस्था के अयोग्यरूप होने से ज्ञानी साधु पुरुष किसी भी समय किसी इन्द्रिय को विषयप्रवृत्ति के लिए अवसर नहीं देता, क्योंकि उसकी बुद्धि समस्त मानस पीड़ाओं से निर्मुक्त हो चुकी है ॥६१,६२॥

तब इन्द्रियाँ किसको निगल जाती हैं, इस पर कहते हैं ।

जिस प्रकार हरिण पल्लव निगल जाते हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ तत्त्वज्ञान से शून्य विश्रान्ति से वर्जित, अप्राप्त– आत्मा तथा स्थिति शून्य मनुष्य को तत्काल निगल जाती है ॥६३॥ संसार–समुद्र में बह रहे, वासनारूपी वीचियों (गतिशील तरंग) से वेष्टित अतएव निरन्तर महान् क्रन्दन करने में तत्पर उस अज्ञानी को इन्द्रियरूपी मगर निगल जाते हैं ॥६४॥

लोभ आदि विकल्प भी आत्मज्ञ को विचलित नहीं करते, ऐसा कहते हैं ।

जैसे जल प्रवाहों से पर्वत बहाया नहीं जा सकता, वैसे ही विचारवान्, एकमात्र ब्रह्मरूप पद में समासीन तथा आत्मा में बुद्धि की विश्रान्ति लेनेवाला महामति लोभ आदि विकल्प समूहों से बहाया नहीं जा सकता ॥६५॥ समस्त संकल्पों की सीमा के अन्तभूत परम पद में जो महानुभाव विश्रान्ति कर चुके हैं, उस प्राप्त स्वरूप महात्माओं की दृष्टि में मेरु पर्वत ही तृण के सदृश है ॥६६॥ श्रीरामजी, जिन महात्माओं का चित्त परिपूर्ण आत्माकार के प्रतिफलन से विशाल हो गया है, उनकी दृष्टि में जगत्, जीर्ण तिनके का टुकड़ा, विष, अमृत, क्षण और हजारों कल्प ये सभी समानरूप हैं ॥६७॥ जगत् चिन्मात्रस्वरूप है, यों जानकर ये प्रमुदितमति तथा समस्त जगत् में आन्तर प्रत्यगात्मरूपता के अवलोकन से अन्तःस्थ जगत्–वाले महात्मा संविन्मय होकर सर्वत्र विहार करते हैं ॥६८॥ संविन्मात्र के परिस्पन्दनस्वरूप जगत् के पिंजड़े में क्या हेय और क्या उपादेय हो सकता है ? अर्थात् न कुछ हेय है और न कुछ उपादेय है, यह तत्त्वज्ञों का मत है ॥६९॥ हे पापशून्य श्रीरामजी, यह समस्त जगत् संवितात्मक ही है, अतः आप अन्यता–भ्रान्ति का परित्याग कर दीजिए। जो प्रकाशात्मक चित्प्रचुर स्वरूपवाला तत्त्व है, वह क्या त्यागेगा और क्या ग्रहण करेगा ? ॥७०॥ भूतकालीन पदार्थों में किसी की इच्छा नहीं होती, अतः अज्ञानीरूपी हरिणों के द्वारा वर्तमानकालीन जो कुछ भूमि से पल्लवांकुरप्राय पदार्थ उत्पन्न होते है और भविष्यत्कालीन जो कुछ भूमि से पल्लवांकुररूप पदार्थ उत्पन्न होनेवाले हैं, ये ही स्पृहणी हैं, उन सबका जैसे तत्त्वज्ञ की दृष्टि से संविद्रूप से प्रथन होता है, वैसे ही आकाशादि तत्त्वों के अंकुर की नाईं स्थित शब्द, स्पर्श आदि

अन्य विषयों का भी तत्त्वज्ञ की दृष्टि से संविद्रूप से ही प्रथन होता है ॥७१॥

प्रतिपादित अर्थ की सिद्धि में युक्ति बतलाते हैं ।

श्रीरामजी, जिसकी आदि और अन्त में अस्तिता है नहीं; उसकी यदि वर्तमान काल में यानी बीच में कुछ–काल तक सत्ता देखी जाय तो वह संवित् का एक भ्रम ही है ॥७२॥ श्रीरामभद्र, इस उक्त अर्थ का युक्तिपूर्वक मनन से दृढ़ीकरण कर तथा 'यह भावरूप है और यह अभावरूप है' इस प्रकार विकल्पयुक्त मति का त्यागकर भाव के बाधस्वरूप ब्रह्म में प्राप्त होकर आप संगशून्य प्रकाशमान संविद्रूप हो जाइए ॥७३॥ शरीर, मन, बुद्धि तथा आसक्ति दोष से वर्जित इन्द्रियों से व्युत्थानकाल में चाहे कर्म करे या समाधिकाल में चाहे न करे, ज्ञानी असंग होने के कारण कर्म या अकर्म किसी से लिप्त नहीं होता ॥७४॥ हे महाबाहो, जिस प्रकार कोई भी मनोराज्य की संपत्तियों के नष्ट होने या न होने पर, तज्जनित सुखदुःखों से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष संगरहित मन से कर्मानुष्ठान करे, चाहे न करे, तज्जनित सुख दुःखों से लिप्त नहीं होता ॥७५॥ आत्मा में अकर्तापन और अभोक्तापन का अनुभव हो जाने के कारण बुद्धि को वीतसंग बना रहा तथा शरीर आदि उपकरणों से व्यवहार निरत हो रहा भी ज्ञानी सुखदुःखात्मक अनुकूल प्रतिकूल भावों से उस तरह लिप्त नहीं होता, जिस तरह मनोराज्य के वैभवों के आगमापायों से अज्ञानी लिप्त नहीं होता ॥७६॥ विषयों के साथ संसर्ग से शून्य अन्तःकरणवाला महात्मा चक्षु से विषयों को देख रहा भी उन्हें नहीं देखता, क्योंकि उसका चित्त तो अन्यत्र परब्रह्म में लगा हुआ है । जिसका चित्त अन्यत्र रहता है, वह विषय नहीं देखता, यह बात बालक को भी ज्ञात है ॥७७॥ विषयसंग से शून्य मनवाला प्राणी सुनता हुआ भी नहीं सुनता, स्पर्श करता हुआ भी स्पर्श नहीं करता । इस अर्थ की प्रतिपादक श्रुति भी है – 'अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्' (अन्यत्र मना था, अतएव मैंने नहीं देखा, अन्यत्रमना था, अतएव मैंने नहीं सुना) ॥७८॥ यह अन्यत्रमना योगी भली प्रकार सूँघ रहा भी नहीं सूँघता, नेत्र उन्मीलित कर रहा भी उन्मीलित नहीं करता, पदार्थों में यानी अपने अपने विषयों में संस्कारवश कर्मेन्द्रियों के संसृत होने पर भी यह संसृत नहीं होता ॥७९॥ भद्र जिनका मन अन्यत्र चला गया है, ऐसे अपने घर में रहनेवाले मूर्ख एवं अप्रौढ़मति बालक, पशु आदि इस विषय का यानी देख रहा भी नहीं देखता आदि उक्त अर्थ का अनुभव करते हैं, इस विषय में उनको किसी प्रकार का विवाद नहीं है ॥८०॥

इन पूर्वोक्त वाक्यों से यह निष्कर्ष निकला कि आसक्तिपूर्वक पदार्थों का अनुभव करना ही बन्धन में हेतु है, वह आसक्तिशून्य ज्ञानी को होता नहीं, इस आशय से कहते हैं ।

आसक्ति ही संसार की कारण है, आसक्ति ही समस्त पदार्थों की हेतु है, आसक्ति ही रम्य विषयों की अभिलाषाओं की जनक है और आसक्ति ही समस्त विपत्तियों की उत्पादिका है ॥८१॥ हे निर्मल श्रीरामजी, संगपरित्याग मोक्ष (वर्तमान देह आदि से सम्बन्ध की निवृत्ति) है, यह महर्षियों का मन्तव्य है । संगत्याग से जन्म (भावी देहादिबन्धन) छूट जाता है, अतः आप पदार्थों का संसर्ग छोड़ दीजिए और जीवन्मुक्त हो जाइए ॥८२॥ श्रीरामजी ने कहा : अखिल संशयरूपी कुहरे के लिए शरत्काल के वायुरूप हे महामुने, संग किसे कहते हैं ? हे प्रभो, यह मुझसे कहिये ॥८३॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, इष्ट एवं अनिष्ट पदार्थों की प्राप्ति तथा अप्राप्ति होने पर हर्ष और विषादरूप विकार उत्पन्न करनेवाली मलिन जो यह रागादि वासना है, वही संग है, ऐसा मुनि कहते हैं ॥८४॥ जीवन्मुक्त स्वरूपवाले तत्त्ववेत्ताओं को पुनर्जन्म न देनेवाली हर्ष एवं विषाद दोनों से निर्मुक्त शुद्ध वासना होती है ॥८५॥ रामभद्र, उस शुद्ध वासना का दूसरा नाम असंग है, इसे आप जानिये। वह तब रहती है, जब तक अवशिष्ट प्रारब्ध कर्मों का विनाश नहीं हो जाता। उस वासना से जो कुछ किया जाता है, वह पुनःसंसार का कारण नहीं होता ॥८६॥ जो जीवन्मुक्त स्वरूप से सम्पन्न नहीं है एवं जो दीन एवं मूढ़मति हैं, उनकी वासना हर्ष तथा विषाद इन दोनों से मिली हुई रहती है, यह वासना बन्ध (संसार) देनेवाली होती है ॥८७॥ श्रीरामजी, इसी बन्धकारक वासना का दूसरा नाम संग है, यह पुनर्जन्म प्रदान करती है, इस वासना से जो कुछ किया जाता है, वह केवल बन्धन का ही हेतु होता है ॥८८॥ श्रीरामजी, अपनी आत्मा में विकार पैदा करनेवाले उक्त स्वरूप के संग का त्यागकर यदि आप स्वस्थ होकर स्थित रहें, तो व्यवहार में व्यस्त होते हुए भी आप उससे लिप्त नहीं होंगे ॥८९॥ हे राघव, यदि हर्ष, अमर्ष एवं विषाद से आप अन्यरूपता प्राप्त नहीं करेंगे, तो राग, भय, और क्रोध से वर्जित होकर असंगरूप हो जायेंगे, यह निश्चित है ॥९०॥ हे राघव, यदि दुःखों से ग्लानि नहीं करते, सुखों से फूल नहीं जाते,तो आशाओं की परवशता का परित्याग कर असंग ही हो जायेंगे ॥९१॥ व्यवहारों एवं सुख-दुःख की अवस्थाओं में विचरण करते हुए भी आप यदि ब्रह्मैकरसता छोड़ते नहीं, तो आप असंग ही हैं ॥९२॥ हे राघव, संवेद्य पदार्थ चित्स्वभाव ही है, ज्ञान होने पर वह यदि आपको एकरूप लक्षित होता है और यदि आप जिस समय जैसे व्यवहार प्राप्त हुआ, तदनुसार वर्तन करते हैं, तो आप असंग हैं ॥९३॥ हे अनघ, असंगता ही बिना परिश्रम से सिद्ध हुई सुदृढ़ जीवन्मुक्त की अवस्था है, अतःउसका अवलम्बन कर आप एकरूप, स्वस्थ और वीतराग हो जाइए ॥९४॥ जीवन्मुक्तों के ज्ञान से सम्पन्न, मौनव्रतधारी और इन्द्रियरूपी पाशों को वश में रखनेवाला ज्ञानवान् आर्यपुरुष मान, मद और मात्सर्य से रहित तथा चिन्ताज्वर से शून्य होकर स्थित रहता है ॥९५॥ श्रीरामजी, भोग, विक्षेप आदि के हेतुभूत प्रचुरतर पदार्थों के सदा रहते हुए भी सबमें समानभाव रखनेवाला तथा बाहर एवं भीतर इच्छा एवं याचना आदि दीनता से शून्य अन्तःकरणवाला यह महात्मा एकमात्र अपने वर्णाश्रमोचित स्वाभाविक क्रम-प्राप्त व्यापार से पृथक् दूसरा कुछ भी व्यापार नहीं करता ॥९६॥ जो कुछ भी वर्णाश्रमानुसार परम्परा-प्राप्त अपना कर्तव्य रहता है, यह ज्ञानी उसी का क्रियाभिनिवेश और लाभ की अभिलाषा से वर्जित बुद्धि से खेद छोड़कर अनुष्ठान करता हुआ अपनी आत्मा में रमण करता है ॥९७॥ जिस प्रकार मन्दराचलपर्वत से मणित क्षीरप्रचुर वारिसमुद्र अपना स्वाभाविक शुक्लपन नहीं छोड़ता, उस प्रकार आपत्ति पाकर अथवा उत्तम सम्पत्ति पाकर महामति तत्त्वज्ञ अपना पूर्वसिद्ध शम, दम, प्रसन्नता, समदर्शन आदि स्वभाव नहीं छोड़ता ॥९८॥ जैसे चन्द्रमा कलाओं की वृद्धि और कलाओं के ह्रास या उदय एवं अस्तमय काल में एकरूप रहते है, वैसे ही ज्ञानी साम्राज्य और दरिद्रता आदि आपत्ति तथा सर्पादि योनि अथवा देवताओं की स्वामिता प्राप्त कर खेदशून्य तथा हर्षशून्य होकर एक रूप से स्थित रहता है ॥९९॥

बतलाये गये लक्षणों से युक्त जीवन्मुक्तिरूपी सुख की प्राप्ति राग, द्वेष और भेदवासना के विनाश तथा ज्ञान के अभ्यास से युक्त आत्मविचार ही उपाय है, इसलिए उसी का श्रीरामचन्द्रजी, को उपदेश दे रहे महर्षि वसिष्ठजी उपसंहार करते हैं ।

श्रीरामजी, मन में दीनता को त्याग आप क्रोध, आत्मा और अनात्मा के भेद व नानाफलक तुच्छस्वरूप कर्मों के त्यागपूर्वक आत्मा का विचार कीजिए, जिससे उत्तम कार्य निष्ठ हो जाय यानी अवश्य संपादन करने के लिए योग्य अंतिम पुरुषार्थ में स्थित हो जाय ॥१००॥ श्रीरामजी, उक्त आत्मविचार के द्वारा प्राप्त समाधि के विलास से समस्त वासनाओं का विनाश हो जाने से अतिस्वच्छ, समाधिगत आत्मतत्त्वरूप अवश्य दृष्टव्य पदार्थ से युक्त तथा विद्या और अविद्याकार्य के विनाश में समर्थ होने के कारण दीप्त बुद्धि से दुःखवर्जित निरतिशयात्मक सुखस्वरूप परमपद का अवलंबन कर आप अवस्थित हो जाइए ।

परमपद का अवलम्बन करने से पुनरावृत्ति की शंका नहीं रह जाती, ऐसा कहते हैं ।

भद्र, आप फिर इस संसार में जन्मों के बंधनों से बद्ध न होंगे । इससे एकमात्र तत्त्वसाक्षात्कार से ही अविद्या और उसके कार्यरूप समस्त अनर्थों के उपशम के अनंतर नित्य निरतिशयआनंदस्वरूप में प्रतिष्ठा होती है, यह सिद्ध हुआ ॥१०१॥

तिरानबेवाँ सर्ग समाप्त

इति श्री योगवासिष्ठ हिन्दीभाषानुवाद में उपशम प्रकरण समाप्त ।

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

आदिकवि श्रीमद्वाल्मीकिमहामुनिप्रणीत

श्री योगवासिष्ठ महारामायण

परमहंस श्रीमद् आनंद बोधेन्द्र सरस्वती प्रणीत

'श्रीवासिष्ठ महारामायण' (तात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्यासहित) का हिन्दी अनुवाद

निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्ध

पहला सर्ग

ममता, अहंकार एवं संकल्प-विकल्प से रहित जीवन्मुक्त पुरुष जैसा जीवनयापन और आचरण करते हैं वैसा निर्वचन करने के लिए युक्ति का कथन।

इस निर्वाण-प्रकरण के पूर्वार्ध में श्रीरामजी की समाधि के प्रदर्शनव्याज से यह दर्शाया गया कि जो उत्तमअधिकारी पुरुष हैं उनके बार-बार किये गये श्रवण का जब परिपाक हो जाता है तब आत्मसाक्षात्काररूप ज्ञान का आविर्भाव होकर परमपद में तत्काल ही उनकी विश्रान्ति हो जाती है। अब ऐसे जो उत्तमअधिकारी हैं उनकी किसी प्रारब्ध के बल से कदाचित् समाधि टूट भी जाय, तो भी जिस रीति से उस परम पद में निरन्तर विश्रान्ति अनायास सिद्ध हो जा सकती है उस रीति से उत्तरोत्तर की भूमिकाओं में उन्हें चढ़ाने के लिए इस उत्तरार्ध प्रकरण का आरम्भ किया जाता है। इस प्रकरण में सबसे पहले 'अहं ममेति संविदन्' (卐) यह जो पूर्व प्रकरण के अन्त में कहा गया है उसको लेकर – हे महाराज, कल्पनाजनित देह-धारण आदि व्यवहार सब कल्पनाओं का परित्याग कर देने पर कैसे सिद्ध हो सकता है, ऐसी श्रीरामचन्द्रजी आशंका करते हैं।

श्रीरामभद्र ने कहा : हे ब्रह्मन्, देह, प्राण आदि में जब पुरुष अहन्ता, ममता आदि कल्पनाएँ छोड़ देता है तब सब तरह की क्रियाओं की शान्ति हो जाने के कारण देह को ठीक-ठीक रखनेवाली तथा उसकी पोषक प्राण आदि चेष्टाएँ उस पुरुष में रहेगी ही नहीं। ऐसी दशा में उसका शरीर तत्काल ही गिर जायेगा, अतः आपने सर्वकल्पनात्यागी पुरुष के लिए जो व्यवहार आदि हमें बतलाये, वे कैसे हो सकते हैं ? ॥१॥

पुरुष का जीवन कल्पनाधीन नहीं है, जिससे कि कल्पनात्याग से शरीर त्याग का प्रसंग हो जाय, किन्तु जीवन भोगजनक प्रारब्ध के अधीन है। असल में विचार किया जाय, तो कल्पनात्याग ही जीवन के अधीन है, इसलिए अपने उपजीव्य जीवन का कल्पनात्याग कैसे बाध कर सकता है ? ऐसी दशा में कल्पनात्याग होने पर जीवन का न रहना ही विरुद्ध है, इस आशय से महाराज वसिष्ठजी समाधान करते हैं।

(卐) अहं ममेति संविदन्न दुःखतो विमुच्यते। असंविदन् विमुच्यते यदीप्सितं तदाचर।। नि.पू.१२६।१०२

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जो पुरुष जीवनसम्पन्न है उसीका कल्पनात्याग हो सकता है। जो जीवनसम्पन्न नहीं है उसका नहीं हो सकता। इस कल्पनात्याग का स्वरूप जिस प्रकार से जीवनविरुद्ध नहीं है उसी प्रकार से मैं वर्णन करने जा रहा हूँ, उसे आप सुनिये। वह कानों के लिए अत्यन्त ही मधुर है ॥२॥ भद्र, आत्मा को शरीर आदि के-जैसा छोटा जो मान बैठता है उसे ही कल्पना के स्वरूप को जाननेवाले विद्वान् कल्पना कहते हैं और आत्मा को आकाश के सदृश अपरिच्छिन्न जानकर अपने पारमार्थिक स्वरूप का निरन्तर जो अनुसन्धान करना है, उसे कल्पनात्याग कहते हैं ॥३॥ कल्पना के स्वरूप को जाननेवाले विद्वान आत्मा की परिच्छिन्न पदार्थों के सदृश भावना को ही कल्पना कहते हैं और आकाश के सदृश अपरिच्छिन्न परमार्थ स्वरूप की भावना को संकल्पत्याग कहते हैं ॥४॥ उत्तम महानुभाव लोग यह सम्पूर्ण देहादि दृश्य वस्तु परमार्थसत्य है- इस अभिमान को ही कल्पना कहते हैं और चूँकि दृश्य आकाश के कार्य भूतचतुष्टय का विकार है, इसलिए तत्त्वतः अकेला आकाशरूप अर्थ ही स्फुरित होता है, यों अर्थ के पर्यालोचन को संकल्प का त्याग कहते हैं। ये दोनों ही भ्रान्तपुरुष के अनुभव के विरुद्ध होने पर भी जीवन के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि जी रहे पुरुष की ही भ्रान्ति की निवृत्ति देखी जाती है, यह तात्पर्य है ॥५॥ हे रामजी, विषयों के स्मरण को आप संकल्प जानिये तथा यह भी जान लीजिये कि विषयों के अस्मरण को विद्वान् लोग शिवस्वरूप समझते हैं। वह स्मरण अनुभूत और अनुभूत यों दो तरह का कहा जाता है अर्थात् भूत और भावी दोनों तरह के विषयों का स्मरण होता है ॥६॥ हे महामते, अनुभूत व अननुभूत दोनों तरह की स्मृतियों का विस्मरण कर तथा अननुमिति आदि अन्य सब वृत्तियों का भी शीघ्र विस्मरण कर अपरिच्छिन्न ब्रह्माकार में लीन होकर आप काष्ठ के तुल्य दृढ़ और निश्चल बनकर चिरकाल तक जीवित रहिये ॥७॥

व्यवहारकाल में तो स्मृतिमात्र का निरोध करना चाहिए, यह कहते हैं।

सब पदार्थों के विस्मरण से युक्त होकर प्रारब्ध प्राप्त कार्यों में आप स्थित रहिये, क्योंकि पूर्वजन्म के दृढ़ अभ्यासमात्र से होनेवाले स्तनपान आदि कर्मों से अर्धसुप्त बालक के स्पन्दन के सदृश पूर्वापर-स्मृति की आवश्यकता नहीं रहती ॥८॥ संकल्पशून्य प्रवाह से यानी किसी प्रयोजन एवं उद्देश्य के बिना ही एकमात्र पूर्व के संस्कार से कुम्हार का चक्र कृतकार्य होने पर भी जब तक वेग नष्ट नहीं हो जाता तब तक जैसे भ्रमण किया ही करता है, वैसे ही हे पापशून्य श्रीरामजी, आप भी अपने कर्मों में पूर्वजन्म के संस्कार के वश से चेष्टा करते रहिये ॥९॥ क्षीण चित्त से युक्त अतएव वासनाशून्य मन के संस्कार के वेग से अनुगत होकर हे श्रीरामजी, आप प्रवाहपतित ही अपने कर्मों में चेष्टा करते रहिये ॥१०॥ मैं ऊपर हाथ उठाकर बार-बार ऊँचे स्वर से चिल्लाकर यह कह रहा हूँ लेकिन कोई उसे सुनता ही नहीं कि संकल्पत्याग ही परम श्रेय का सम्पादक है अतः उसकी भावना तुम लोग अपने हृदय में क्यों नहीं करते ? ॥११॥ अहो, इस मोह का माहात्म्य तो देखो कि

यह सम्पूर्ण दुःखों को छुड़ानेवाला विचारनामक चिन्तामणि हृदय में स्थित रहते हुए भी सब मनुष्यों से त्यक्त हो रहा है ॥१२॥ दृश्य–दर्शन से निर्मुक्त जो आत्मतत्त्व है वही मुख्य असंकल्प है। हे श्रीरामजी, आप तन्मय ही हो जाइये। यही परम श्रेय है, इसका आप स्वयं अनुभव कर लीजिये ॥१३॥

हे श्रीरामजी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि संकल्प की चेष्टा छोड़कर एकमात्र चुपचाप स्थित रहने से ही वह परम पद प्राप्त हो जाता है, जहाँ पर यह सम्पूर्ण हिरण्यगर्भ तक का भी साम्राज्य तृण की नाईं तुच्छ बन जाता है ॥१४॥

प्राक्तन संकल्पप्रयुक्त क्रियाओं के वेग से ही वेगक्षयपर्यन्त जो व्यवहार की सिद्धि होती है, उसमें पहले कहे गये दृष्टान्त को फिर कहते हैं।

अपने एकमात्र गन्तव्यस्थान गृह आदि की ओर जाने के लिए तत्पर पथिक के पैर में स्पन्दन बिना संकल्प के ही प्रतिक्षण होते रहते हैं यानी उस पथिक के पैर अपने अभीष्ट स्थान की ओर जाने के लिए संकल्परहित ही होकर बे–रोक–टोक उठते जाते हैं, वैसे ही हे श्रीरामजी, आप भी संकल्पशून्य होकर ही अपने कर्मों में स्पन्दन करते चलिये ॥१५॥

'अवेदनमसंकल्पस्तन्मयेनैव भूयताम्' यह जो ऊपर कहा गया है उसका व्यवहारकाल में भी उपपादन करते हैं।

हे श्रीरामजी, समस्त कर्म और उनके विस्तृत फलों को, सोये हुए की नाईं, बिलकुल भूलकर प्रवाहपतित (प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए) कर्म के लिए संकल्पशून्य होकर स्पन्दन करते चलिये ॥१६॥ जैसे स्वतः संकल्प से निर्मुक्त एक छोटा–सा तृण वायु आदि के प्रवाह में पड़कर दूसरे तृण आदि के साथ संयोग और वियोगरूप कार्य में स्पन्दनशील बनता है वैसे ही हे श्रीरामजी, आप भी सुख और दुःख की कुछ भी भावना न करते हुए संकल्पनिर्मुक्त होकर प्रवाहपतित अपने कार्य में चेष्टाशील बने रहिये ॥१७॥ दूसरों के कौतुक के लिए नृत्य आदि कर रही–सी स्थित कठपुतली को जैसे नट के समान श्रृंगार आदि रस की भावना नहीं होती, वैसे ही प्रारब्धप्राप्त कर्म कर रहे आपको भी हृदय के भीतर कार्यों में, विषयसुख में मूर्ख की नाईं, रस की भावना (कौतुक बुद्धि) बिलकुल न हो ॥१८॥ समस्त इन्द्रियों के द्वारा विषयों के अनुभव आपको ऐसे नीरस मालूम पड़े, जैसे कि हेमन्त ऋतु में सिर्फ अपने आकारमात्र से दिखाई दे रही लताएँ ॥१९॥ बोधरूपी सूर्य जिसके रसका (भावना का) पान कर गया है, ऐसी पंचकोश संवलित चिदाभास, मनसहित प्राणवर्ग, ज्ञानेन्द्रियवर्ग, कर्मेन्द्रियवर्ग, ज्ञानकर्मेन्द्रियवर्ग सहित अन्तःकरण और शरीर– इन छः स्पन्दनयुक्त षट्वर्गों की सत्ता से युक्त आप यन्त्रगत स्पन्दन के समान ऐसे स्थित रहिये, जैसे लता से वेष्टित शिशिर ऋतु में नीरस वृक्ष स्थित रहता है ॥२०॥

भला नीरस षड्वर्ग का जीवन कैसे रह सकता है, इस आशंका पर कहते हैं।

आवरणशून्य भूमानन्दस्वरूप चिति ही षड्वर्ग का जीवन की पुष्टि आदि में हेतुभूत आन्तरिक

रस है। स्वभावतः बाह्य विषय-रसों के आस्वाद में प्रवृत्त हुए भी षड्वर्गों को उधर से अपने यत्न से हटाकर उन्हें अपने जीवन की पुष्टि में हेतुभूत चितिरूपी आन्तरिक रस की ओर ले जा करके ऐसे जिलाये रहिये, जैसे हेमन्तऋतु बाहरी जल के अभाव में भी अपने आन्तरिक रस से ही वृक्षों को जिलाये रहती है ॥२१॥

इन्द्रियवृतियों को विषयों की ओर जाने से न रोकने में तथा उन्हें सरस बनाये रखने में क्या होगा ? इस आशंका पर कहते हैं।

यदि आपकी इन्द्रियवृत्तियाँ बाह्य विषयों की ओर लगी रहेगी तथा आप उन्हें सरस बनाये रखेंगे, तो चाहे आप विषयों का उपभोग करें या न करें, किन्तु आपका यह संसार के अनर्थों का समूह तो कभी भी शान्त न होगा ॥२२॥ संकल्पशून्य होकर यदि आप वायु, अग्निज्वाला, यन्त्र और जल के समान स्पन्द करते रहेंगे, तब तो आप अत्यन्त श्रेय के लिए समर्थ हो सकेंगे ॥२३॥ जन्मरूपी ज्वर के निवारण के लिए यही सबसे बढ़कर उत्तम उपाय है कि अपने कर्मों में जो कर्तृत्व अभ्यस्त हो, वह वासनारहित हो ॥२४॥ वासनाओं और संकल्पों से शून्य होकर प्रारब्ध-प्राप्त कार्यों के अनुसार बर्ताव कर रहे आप चाक के ऊपर भ्रमण करनेवाले सन्निवेश (घटादि रचना विशेष) की नाईं धीरे-धीरे उत्तरोत्तर उपशमशील होते हुए अपने कर्मों में स्पन्द करते रहिये ॥२५॥ कर्मफल में आपकी आसक्त बुद्धि न हो और कर्मों के त्याग में भी आपकी आसक्ति (कर्मत्याग के फल में आसक्ति) न हो। इन दोनों का आप त्याग कर दीजिये या आप इन दोनों का आश्रय कीजिये । फल में आसक्ति न करने पर कर्म करने या छोड़ देने में कुछ भी विशेषता नहीं रहती ॥२६॥

हे श्रीरामजी, अब इस विषय में और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है । संक्षेप में यही कह देता हूँ कि संकल्प ही मन का बन्धन है और उसका अभाव ही मुक्ति है ॥२७॥ यहाँ पर न कहीं कोई कार्य है और न कहीं कोई अकार्य (त्याज्य) है, किन्तु सब अज, शान्त, अनन्त तथा शिवस्वरूप ब्रह्म ही है, इसलिए हे श्रीरामजी आप जैसे हैं वैसे ही स्थित रहिये ॥२८॥ सांसारिक सब कार्य निष्क्रिय ब्रह्मरूप हैं और निष्क्रिय ब्रह्मभाव में स्थिति अवश्य करना चाहिए - यों देखते हुए आप परमार्थ चैतन्यरूप होकर सुखपूर्वक शान्त बैठे रहिये ॥२९॥ हे श्रीरामजी, विषयों के विस्मरण को ही चित्त का क्षय तथा जीवब्रह्मैक्यरूप योग कहते हैं, इसलिए आप उसमें अत्यन्त तन्मय होकर जैसे हैं वैसे ही स्थित रहिये ॥३०॥

स्पन्दशून्य होकर चुपचाप बैठे रहना तो एकमात्र दुःखदायक ही होगा, जैसे कि आम-वात से जड़ बना दिया गया शरीर दुःखदायी होता है, इस शंका का वारण करते हैं।

सम, शान्त, शिव, सूक्ष्म, द्वैत एवं ऐक्य से वर्जित, व्यापक, अनन्त और शुद्ध परब्रह्म की प्राप्ति हो जाने पर कौन किसलिए खिन्न हो सकता है ? ॥३१॥ मरुभूमि में अंकुर की नाईं आपमें

संकल्प का उदय न हो तथा पत्थर के उदर में लता की नाईं आप में इच्छा भी उदित न हो ॥३२॥ संकल्पशून्य शान्त पुरुष को जीवित रहते या न रहते इस संसार में किये या न किये गये लौकिक या वैदिक कर्मों से इस लोक या परलोक के लिए कोई भी फल नहीं होता ॥३३॥

क्यों नहीं होता, इस शंका पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, चूँकि आप कर्म और अकर्म इन दोनों के बाध की अवधि हैं यानी ये दोनों आपमें एकरूप से मिल चुके हैं, इसलिए कर्म अकर्मात्मक हुए सदा अभेदरूप आपके प्रातिभासिक कर्मरूप से विवर्तमान होने पर भी वस्तुतः आपमें कर्मता नहीं है और प्रातिभासिक कर्तारूप से विवर्तमान होने पर भी वस्तुतः कर्तृता नहीं है । मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्य को कर्म और कर्तृत्व आदि में सत्यत्वबुद्धि रहती है उसीको कर्मफल मिलते हैं, सो तो आपमें है ही नहीं ॥३४॥

यही कारण है कि देहादि में 'अहं, मम' इस तरह का ज्ञान रखनेवाले को ही विधि और निषेध शास्त्रों के अधिकार से कर्मकृत बन्धन होता है, दूसरे को नहीं, यह जो पहले कहा जा चुका है, उसे ही फिर कहते हैं।

हे श्रीरामजी,'अहं', 'मम' (यह मैं हूँ, यह मेरा है) यह भावना कर रहे आप सांसारिक दुःखों से छुटकारा नहीं पा सकते तथा 'अहं', 'मम' यह भावना न कर रहे आप मुक्ति पा सकते हैं, अतः इनमें जो आपको अच्छा लगे वही कीजिये ॥३५॥

हे श्रीरामजी, 'अहं', 'मम' यह सर्वथा नहीं है। जो है सो केवल परम शिव ही है। भूमानन्द शिव से अन्य यह दृश्यरूप प्रातिभासिक जगत तो अनिर्वचनीय (अवस्तु) ही है ॥३६॥

इसीको स्पष्टरूप से कहते हैं ।

हे रामभद्र, जो कुछ यह जगत् दिखाई दे रहा है, वह सुवर्ण की कटक अंगद आदि रूपता के सदृश केवल प्रतीतिमात्र है, उसकी पृथक् सत्ता नहीं है। आत्मा से भिन्न इसका अनुभव न करना ही इसका नाश है। आत्मा के अज्ञान का नाश होने के अनन्तर अवशिष्ट दृश्य–बाध का अधिष्ठान तो ज्ञान का अविषय ही है। इसी को अनुभवी लोग सत्य, एक और परम पुरुषार्थ कहते हैं ॥३७॥

पहला सर्ग समाप्त

दूसरा सर्ग

सम्पूर्ण जगत् में शिवमयरूपता बतलाने के बाद कर्म के बीज का
अन्वेषण करके उसका समूल निवारण किया जाता है, यह वर्णन ।

'सर्वं शिवमयं शान्तमनन्तं प्राग्वदास्यताम्' (सब अज, शान्त, अनन्त तथा शिवमय ब्रह्म ही है, इसलिए हे श्रीरामजी, आप जैसे पहले थे वैसे ही स्थित रहिये) यह जो कहा गया है, उसका यहाँ उपपादन करने के लिए पहले प्रतिज्ञा करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी, द्वैतता और एकता से रहित, मननशून्य, शान्त आत्मा ही अपने पारमार्थिक स्वभाव में तत्त्व–दृष्टि से अवस्थित है। जिस तरह मिट्टी की सेना मिट्टीमय है उसी तरह शिव का यह सारा संसार शिवमय है ॥१॥

जो–जो चिति से भास्य है वह सब चिति का विवर्त होने से चिन्मय–चिति–स्वरूप–ही है, उसे चार अन्तःकरणों में क्रमशः दर्शाते हैं।

काल, आकार, क्रिया, नाम और अर्थ से समन्वित मन, अहंकार, चित्त और बुद्धि आदिरूप सब चिति से भास्य होने के कारण चिन्मय ही (🕭) है ॥२॥

इस प्रकार बाह्य इन्द्रिय, इन्द्रियों से जनित ज्ञान तथा ज्ञान के जो विषय हैं उनमें भी चिद्व्याप्तिप्रयुक्त ही अपरोक्ष प्रकाश है, इसलिए उनमें भी विवेकी पुरुष शिवरूपता का ही अवलोकन करते हैं, इस आशय से कहते हैं।

बाह्य रूप, रस, शब्द, स्पर्श आदि के आलोचन तथा मनके क्रम यानी बाह्य सविकल्पक ज्ञान और उपादान बुद्धियाँ एवं उनके विषय सबके सब शिवरूपी पंकमय हैं।

यों सभी पदार्थों को शिवरूप देखने पर सम्पूर्ण त्रिपुटीरूप से एकमात्र शिव ही दिखाई देता है, शिव से अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु इस संसार में देखने में नहीं आती, यह कहते हैं।

चूँकि इस संसार की सभी वस्तुएँ अनन्त शिवस्वरूप पंक ही हैं, इसलिए कौन किससे प्रकाशित होता है ? ॥३॥

इसीको फिर स्पष्टरूप से बतलाते हैं।

हे श्रीरामजी, प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण, देश, काल, दिशा आदि तथा भाव और अभाव आदि विवर्त, ये सबके सब शिवपंकमयात्मक ही हैं ॥४॥

'अहं' और 'मम' (मैं और मेरा) इन दो रूपों से ही सम्पूर्ण विवर्तों का संग्रहकर फिर 'ये सभी वस्तुएँ चिति से व्याप्त हैं' इस तरह से उनमें चिति–व्याप्ति की भलीभाँति आलोचना करने पर एकमात्र चिति के ही साररूप से बच जाने के कारण उसमें स्थिति सुलभ हो जाती है, इसी अभिप्राय से कहते हैं।

चूँकि हे श्रीरामचन्द्रजी, सारभूत परमेश्वर से भिन्न 'अहं' 'मम' इत्यादि विवर्त कुछ भी नहीं है,

---

(🕭) सबसे पहले यह जान लेना चाहिए कि चिति का चेत्य (विषय) की ओर उन्मुख होनेरूप जो मनन है वह चिति से व्याप्त ही है। तदनन्तर विषयों का अभिमान, अध्यवसाय, स्मरण, काम और संकल्प आदि जो वृत्तियाँ उदित होती हैं वे भी चिति से व्याप्त ही उदित होती हैं, यह सर्वानुभवसिद्ध है तथा चिति और चेत्य का सम्बन्धरूप काल,विषयों का आकार, उसकी क्रिया–इस प्रकार नाम और अर्थ के सहित जो सम्पूर्ण अन्तःकरण का संसरण है वह भी साक्षात् साक्षी से वेद्य होने के कारण शिवमय ही है, यह प्रत्येक विद्वान् को जान लेना चाहिए।

इसलिए संसक्तमति न होते हुए यानी स्त्री, पुत्र आदि विषयों में तनिक भी आसक्ति न रखते हुए आप शिला के उदर में प्रसिद्ध वाणी आदि चेष्टाशून्य मौन के समान स्थित (📖) रहिये ॥५॥

अनन्त कोटि जन्मों के संचित पाप और पुण्यरूपी कर्मों का अपरोक्षरूप से भान न होने के कारण शिवमयताअवलोकन द्वारा बाध सिद्ध तो हो नहीं सकता, इसलिए अन्ततोगत्वा जब तक मृत्यु न हो जाय तब तक चेष्टाशून्य होकर रहनारूप ही उनका त्याग एकमात्र उनके निवारण में उपाय है, क्योंकि ज्ञानी पुरुष को कर्म करने से न तो कोई फल मिलने की अपेक्षा है और न नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों के त्याग से प्रत्यवाय लगने की ही आशा है, जिससे कि चुपचाप स्थित रहना उससे न हो सकेगा, ऐसी सम्भावना करके श्रीरामजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे प्रभो, 'अहं' 'मम' इत्यादि दृश्यसमूह की असद्रूप से भावना कर रहे ज्ञानी पुरुष को कर्मों के त्याग से क्या अशुभ होता है तथा उनके अनुष्ठान से क्या शुभ होता है ? ॥६॥

सचमुच आपका नैष्कर्म्य सिद्ध हो जाय, यदि अज्ञानरूप मूल के साथ आप कर्मों का त्याग कर सकें। परन्तु मूल का त्याग करना तो अत्यन्त ही कठिन है, यह दिखलाने के लिए महाराज वशिष्ठजी–श्रीरामचन्द्रजी मुझसे 'कर्मों का मूल क्या है' इसका निश्चय कर पूछ रहे हैं या यों ही पूछ रहे हैं– इसकी परीक्षा करने के लिए हे श्रीरामजी, आपने कर्मों का स्वरूप कैसे निश्चित किया है, उनका फलात्मक विस्तार कैसा है, उनका मूल क्या है, उनमें नाश योग्य अंश और उसका उपाय आपने कैसा निश्चित किया है– यह पूछतें हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे निष्पाप श्रीरामजी, मैं आपसे पूछ रहा हूँ उसे शीघ्र कहिये। यदि वास्तव में आप जानते हों, तो कहिये, कर्म किसे कहते हैं ? ॥७॥ कर्म का विस्तार कैसा है, उसका मूल क्या है और उसके किस अंश का नाश किया जाता है ? यानी उसका नाशनीय अंश कौन है ? और वह किस तरह नष्ट होता है। यह भी अच्छी तरह कहिये ॥८॥

श्रीरामजी ने कहा : हे भगवान्, जो नाशनीय अंश है, उसका भलीभाँति मूलोच्छेदपूर्वक नाश कर देना चाहिए, केवल शाखा आदि को कतरकर नहीं ॥९॥

कर्म का स्वरूप और उसके नाश का प्रकार, जो अपने को अभिप्रेत है, श्रीरामजी बतलाते हैं।

बुद्धिमान् पुरुष को उचित है कि वह अपने पुण्य और पापरूप कर्मों को नष्ट कर दे और मूल उखाड़कर नाश कर देने से वे बिलकुल नष्ट भी हो सकते हैं ॥१०॥

तीसरे प्रश्न का उत्तर कहते हैं।

हे ब्रह्मन्, कर्मरूपी वृक्ष के मूल मैं आपसे कहता हूँ, आप सुनिये। जिनको उखाड़ फेंकने से

(📖) क्योंकि अपरोक्ष चिति की व्याप्ति के द्वारा ही नाम और रूपात्मक समस्त प्रपंच शिवस्वरूप है, ऐसा निर्णय कर बाध द्वारा उस स्वरूप में अनायास अवस्थिति हो सकती है।

निर्मूल होकर यह वृक्ष फिर नहीं पनपता ॥११॥

इस लोक के कर्म का मूल शरीर ही पूर्वजन्म के कर्म का विस्ताररूप भी होता है, इस दूसरे प्रश्न का भी शरीर का ही कर्मवृक्षरूप से वर्णन करके समाधान देते हैं।

हे ब्रह्मन्, संसाररूपी जंगल में रोपा गया यह शरीर ही कर्मवृक्षरूप से उत्पन्न है । यह कर्मरूपी वृक्ष विचित्र हाथ, पैर आदि अंगरूपी शाखाओं से विराजमान है ॥१२॥ सुख-दुःखरूपी नानाविध फलों की पंक्तियों से समन्वित इस वृक्ष का पूर्व जन्म में किया गया भला या बुरा कर्म ही बीज है । क्षणिक तरूण अवस्था से यह कमनीय दिखाई देता है और वृद्धावस्थारूपी फूलों से हँसता है ॥१३॥ प्रत्येक क्षण में कालरूपी उग्र बन्दर हर्ष, विषाद, रोग, जरा आदि विकार की चेष्टाओं के द्वारा इसकी आकृति को नष्ट करता है । निद्रारूपी हेमन्त ऋतु के जठर में इसके स्वप्नरूपी पत्तों के निर्गम संकुचित हुए रहते हैं ॥१४॥ अपनी वृद्धावस्थारूपी शिशिर ऋतु के अन्त में इसके चेष्टारूप पत्तों के समूह शान्त और शीर्ण हो जाते हैं । जगत्-रूपी जंगल में उत्पन्न हुए इस वृक्ष के समीप में स्त्री, पुत्र आदि पोष्यवर्गरूपी बहुत-से तृण पैदा हुए हैं ॥१५॥ हाथों और पैरों के पिछले हिस्से तथा ओष्ठ, कान और जीभ आदि इसके लाल-लाल कोमल पल्लवरूप अवयव हैं और हाथों एवं पैरों के तलवे कुछ कठोर होने से कम लालिमा लिये हुए इसके कुछ गोल तथा सुन्दर रेखाओं से युक्त चंचल पत्ते हैं ॥१६॥ भीतर में स्थित नाड़ियों तथा हड्डियों से लिप्त होने के कारण सुन्दर, कोमल और चिकनी मूर्ति लाल अंगुलियाँ ही इसके वायु से कम्पित हो रहे बाल पल्लव हैं ॥१७॥ काटने पर भी पुनः पुनः उत्पन्न होनेवाली कोमल, चिकनी, तीक्ष्ण अग्रभागों से युक्त दूज की चन्द्रकला के आकारवाली इसकी नख पंक्तियाँ ही गोल-गोल कलियाँ है ॥१८॥ इस तरह देह वृक्षरूप से उत्पन्न हुए पूर्व जन्म के कर्म की कर्मेन्द्रियाँ ही मूल है । *(इनमें वृक्षमूल के धर्म दिखलाते हैं)* इनमें जो छिद्रों से युक्त हैं, वे तो आसंग-कामादिरूपी साँपों से डँसे गये हैं और जो बिना छिद्रों के हैं उनमें भी बड़ी-बड़ी गाँठें पड़ गई हैं ॥१९॥

हे भगवान्, दृढ़ हड्डियों की गाँठों से बँधी, नाड़ियों में भरे गये अन्नरसों में डूबी हुई, वासनारूपी रस को पी जानेवाली तथा अपने रक्तरूप रस से परिपूर्ण; एड़ी के ऊपर की गाँठ से युक्त, दृढ़ अंगोंवाली, सुन्दर त्वचाओं से समन्वित और चिकनी उन कर्मेन्द्रियों के भी मूल आप ज्ञानेन्द्रियों को जानिये ॥२०,२१॥ ज्ञानेन्द्रियाँ देह से बाहर बहुत दूर विषय प्रदेशों में जाकर भी विषयों को पकड़ लेने में अत्यन्त समर्थ हैं, नेत्रगोलक आदि पांच तरह के स्थानों में वे आश्रित हैं और अपने-अपने विषय-वासनारूपी कीचड़ में निमग्न अतएव वासनायुक्त हैं तथा उन्हें निगृहीत करना शक्य नहीं है - काबू के बाहर है ॥२२॥ उन ज्ञानेन्द्रियों का भी महान् स्तम्भयुक्त मूल यह मन है, इसने तीनों लोक को व्याप्त कर रक्खा है तथा यही अनन्त

रूपादि रसद्रवों को पांच ज्ञानेन्द्रियों के स्रोतरूपी नाड़ियों के द्वारा खींचकर उनका उपभोग कर लेने के बाद फिर उन्हें फेंक देता है ॥२३॥

हे भगवान्, उस मन का मूल तत्त्वज्ञानी लोग चेत्य (विषय) की ओर उन्मुख हुए चिदात्मक जीव को (चिदाभास को) कहते हैं। चेत्यांश का मूल अविद्याशबल (मायाशबल) चिति है। उस चिदाभासरूप चिति का भी मूल बिम्बभूत ब्रह्म है, जो सब मूलों का एक कारण है। हे ब्रह्मन्, चूँकि वह अशब्द, अनन्त, शुद्ध और सत्यस्वरूप है, इसलिए उस ब्रह्म का कोई दूसरा मूल नहीं है ॥२४,२५॥

हे महर्षे, इस तरह सम्पूर्ण कर्मों का मूल विषयों की ओर उन्मुख हुई चिति ही है। वह अहंकारादि के साथ तादात्म्यापन्न होकर 'मैं ही सब कुछ करती हूँ' यों कर्ता के स्वरूप की भावना करके क्रियात्मक स्पन्द बनकर उसके फल के लिए प्रवृत्त होती है ॥२६॥ हे मुने, सब कर्मों का आदि बीज यह जीव चेतन ही है, क्योंकि उसके रहने पर ही यह बड़ी–बड़ी टहनियोंवाला शरीररूपी सेमल का वृक्ष पैदा होता है ॥२७॥ यह जीवचैतन्य जिस समय अहंकार आदि से युक्त 'मैं ही चेतन कर्ता हूँ' इस तरह की उद्बुद्ध हुई शब्दार्थभावना से समन्वित होता है उसी समय कर्मों की बीजता को प्राप्त होता है, अन्यथा यह अपने सत् परम पदरूप से ही स्थित रहता है ॥२८॥

फिर इसीको स्पष्टरूप से कहते हैं।

यह जीवचेतन जब चेतनशब्दार्थ की भावना से यानी चैतन्यात्मक 'मैं ही सब कुछ करता हूँ' इस तरह की भावना से वेष्टित होता है तब कर्मों की बीजता को प्राप्त होता है, अन्यथा अपने परम सद्रूप पद से स्थित रहता है ॥२९॥

उक्त अर्थ की प्रामाणिकता की सिद्धि के लिए गुरुवाक्य को ही प्रमाणरूप से उपस्थित करते हुए श्रीरामचन्द्रजी अब उपसंहार करते हैं।

इसलिए हे मुनीश्वर, अपने शरीर आदि में अहंरूपता के आकार की भावना ही इस संसार में सब कर्मों की कारण है। यह जो मैंने कर्मों का मूल आपसे कहा है, सो आपने ही पहले मुझसे कहा था, अतः आपके वचन का अवलम्बन करके ही मैंने यह सब आपसे कहा है ॥३०॥

हे श्रीरामजी, यह जो आपने कर्मों का मूल मुझे सुनाया है, इसका त्याग चुपचाप बैठे रहने या देह का त्याग कर देने से नहीं हो सकता है और न तो कर्मों की निवृत्ति ही आपके द्वारा दिखलाये गये मार्ग से हो सकती है, इस अभिप्राय से महाराज वसिष्ठजी कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे राघव, जब तक देहरूप उपाधि उपस्थित है तब तक वेदनात्मक इस सूक्ष्म कर्म का क्या त्याग और क्या अनुष्ठान हो सकता है ? ॥३१॥

देह के विद्यमान रहते बाह्य और आभ्यन्तर दृश्यों के अध्यास को दूर करना अत्यन्त ही कठिन है, यह कहते हैं।

देह रहते बाह्य और आभ्यन्तर जिस–जिस की यह जीवचेतन भावना करता है उसी रूप

का यह शीघ्र हो जाता है, चाहे वह सत्याकार हो या विभ्रम से भरा हुआ बिलकुल असत्य ही क्यों न हो ? ॥३२॥ यदि भावना नहीं करता, तो यह अच्छी तरह इस संसार के भ्रम से मुक्त हो जाता है । वह भ्रम सत्य हो या असत्य इस विचार से क्या प्रयोजन है ? ॥३३॥ यह जीवचेतन ही वासना, इच्छा, मन, कर्म, संकल्प आदि नामवाले औपाधिक उत्पन्न भ्रमों से अपने अन्दर संसाररूप से विकसित होता है ॥३४॥

तब तो प्रतिबिम्ब की हेतु चित्तरूप उपाधि का ही प्रबोध से निरास करना चाहिए, इस शंका पर कहते हैं ।

देहरूपी घर के भीतर स्थित प्रबुद्ध हुए या अप्रबुद्ध हुए इस जीव का देहपर्यन्त चित्त रहेगा ही, उसका त्याग हो नहीं सकता ॥३५॥ जीवन धारण कर रहे प्राणियों के चित्त का भला कैसे त्याग हो सकता है । इसलिए चुपचाप बैठे रहने या देह के त्याग से सब कर्मों का कभी त्याग नहीं हो सकता, किन्तु यथा प्राप्त सब व्यवहारों को करते समय भी 'असंग, अद्वितीय, कूटस्थ चिन्मात्रस्वरूप मैं कुछ भी नहीं करता', इस निष्क्रिय आत्मस्वभाव की स्थिति से कर्मशब्दार्थ की भावना के उत्पन्न न होने पर यत्न के बिना भी कर्म और अकर्मरूपता का विकल्प छूट जाने से यह कर्म-त्याग स्वयं ही हो जाता है ॥३६॥

इससे भिन्न किसी दूसरे मार्ग से कर्म का त्याग अत्यन्त कठिन है, यह कहते हैं ।

इससे अन्य दूसरे कर्म त्याग का संभव न होने पर जो केवल अपने शरीर से कर्तव्यता त्यागरूप (शास्त्रविहित या लौकिक कर्मों को छोड़कर चुपचाप बैठनारूप त्याग) करता है, उसके द्वारा यह कुछ भी नहीं किया गया समझना चाहिए ॥३७॥ बोध होने के बाद दृश्य-प्रतिभास का स्वयमेव लय होने से जो जगत् का अत्यन्तअभाव होता है उसी को असंग त्याग और मोक्ष भी कहते हैं ॥३८॥

बोध से तो वेद्य का ही बाध होता है, वेदन का नहीं, फिर उसका बाध कैसे कहते हैं, यदि यह कोई आशंका करे, तो उस पर कहते हैं ।

वेद्य (विषयों) के रहने पर ही वेदन होता है । किन्तु यदि सृष्टि के आदि में ही वेद्यदृष्टि उत्पन्न नहीं हुई, तो फिर वह वर्तमानकाल में तो है ही नहीं । इसलिए क्या और कहाँ वेदन है (📖) ? ॥३९॥ चिदाभासतारूप वेद्योन्मुखता का परित्याग कर जो वेदन का शुद्ध चिदात्मकरूप अवशिष्ट रहता है वह द्वैतवेदन नहीं है, क्योंकि वह कर्म-क्रिया नहीं है, जिससे कि 'विद्' धातु से भाव में 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर जो 'विद्' धातु का अर्थ होता है वह हो । किन्तु वह शांत ब्रह्म ही है, ऐसा तत्त्वज्ञानी लोग कहते हैं ॥४०॥ चिदाभासात्मक जो चेतन है वह तो कर्म-क्रियारूप ही कहा गया है, क्योंकि बुद्धि आदि व्यापार द्वारा जल आदि में प्रतिबिम्बित आकाश

(📖) तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में वेद्यदृष्टि (विषयदृष्टि) न तो उत्पन्न हुई है और न विद्यमान ही है, क्योंकि उपाधि का बाध होने पर चिदाभास की अलग स्थिति नहीं रहती, यह भाव है ।

की नाईं वह विकास को प्राप्त हुआ है । यही कारण है कि अनुभवी विद्वान लोग मोक्ष को चिदाभासशून्य ही कहते हैं। उन लोगों की विवेकी शिष्य के प्रति इसी तरह की उपदेशवाणी सुनाई देती है ॥४१॥

इस तरह यह सिद्ध हो गया है कि जब तक यह शरीर खड़ा है तब तक सुखपूर्वक व्यवहार होता ही रहेगा, इसी आशय से कहते हैं।

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, जब तक यह शरीर खड़ा है तब तक कर्मों का त्याग नहीं हो सकता । जो लोग कर्मों की पूजा करते हैं वे लोग उसके मूल को नहीं छोड़ते ॥४२॥ अपने कर्म का मूल वासनात्मक मन सम्बन्धी चिदाभास संवित् ही है । उसका उच्छेद जब तक यह शरीर है तब तक ज्ञान के बिना हो नहीं सकता ॥४३॥

हे श्रीरामजी, यही चिदाभाससंवित् भीतर अन्य कर्मों के मूल काम, वासना आदि को पैदा करने में तत्पर और श्रेष्ठ है ॥४४॥

इसलिए मेरे द्वारा कहा गया ही सबसे बढ़िया कर्मत्याग में उपाय है, इस आशय से कहते हैं।

जो तत्त्वज्ञानी चिदाभासरूपी संवित् को मूल अज्ञान के साथ अपने यत्न से तत्त्व को समझकर स्वरूप से च्युत कर देता है वह उससे उत्पन्न तत्-तत् दृश्यदर्शनरूप वृत्तिअवच्छिन्न चिदाभासात्मक सूक्ष्म संवित् को अप्रतिसन्धानरूप मूलबाधक अपने यत्न से ही काट देता है अर्थात् उसे काटने के लिए पृथक् प्रयत्न की अपेक्षा नहीं है ॥४५॥ जो चिदाभास को शुद्ध आत्मदृष्टि से विचारकर विचलित कर देता है वह संसाररूपी वृक्ष का तत्त्वज्ञान के द्वारा सर्वबाधरूपी मूलोच्छेद कर डालता है ॥४६॥

हे श्रीरामजी, चूँकि चिति के अभाव से रहित, सजातीय और विजातीय भेदों से शून्य, दृश्य पदार्थों से हीन जो एक आकाश है वह तत्त्वदृष्टि से ब्रह्मरूप ही है । इसलिए ब्रह्मज्ञानी लोग उसी को हम सब चेतनों का सार (पारमार्थिक रूप) कहते हैं ॥४७॥

दूसरा सर्ग समाप्त

तीसरा सर्ग

द्वैत का अत्यन्त बाध हो जाने पर विद्वानों को जिस उपाय से आत्मतत्त्व अवेदनरूप और निष्क्रिय सिद्ध होता है, उस उपाय का वर्णन ।

'अवेदनं विदुर्मोक्षम्' इत्यादि पूर्ववचन से जो कहा गया है उस विषय में श्री रामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : हे मुनीन्द्र, जो वेदन(ज्ञान) पदार्थ है उसे अवेदनरूप कैसे बनाया जा सकता है ? न तो असत्वस्तु की सत्ता हो सकती है और न सद्वस्तु का अभाव हो सकता है ॥१॥

(यद्यपि 'वेद्योन्मुखत्वं संत्यज्य' इत्यादि से अवेदन शब्दार्थ का निरूपण हो जाने से श्रीरामभद्र

को यह शंका नहीं होनी चाहिए, तथापि 'येन संविदसंवित्या' इस कथन से वेदन नाश ही असंवेदन कहा गया है यह बात 'तच्छान्तं ब्रह्म कथ्यते' इस वाक्य द्वारा प्रतिपादित अवेदन की ब्रह्मरूपता नहीं घटती, क्योंकि सत् असत् नहीं हो सकता, इसलिए शंका का अवसर है।)

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, जिस समय यह सिद्धान्त मान लिया जाय कि असत् वस्तु की उत्पत्ति और सद्वस्तु का विनाश नहीं होता, उस दशा में वेदन को अवेदन बनाना स्वयं ही सुलभ हो जाता है ॥२॥ संसारदशा में प्रसिद्ध यह वेदन शब्द और इसका अर्थ ये दोनों एक तरह से रज्जूसर्पभ्रम के सदृश मिथ्या हैं। मिथ्यासामग्री से मिथ्यारूप उत्पन्न हुए हैं और मृगजल के सदृश ये केवल दिखाई देते हैं ॥३॥ हे राघव, वेदनशब्द और उसके अर्थ का न जानना उत्तम है तथा उनका ज्ञान होना दुःख है, इसलिए आप अविनाशी तटस्थ आत्मस्वरूप को जानिये और त्रिपुटीभान के अन्तर्गतवृत्ति से युक्त चेतन के आभास को आत्मरूप मत समझिये ॥४॥ प्राणी के लिए सबसे बढ़कर दुःख पैदा करनेवाला वेदनशब्द और उसका अर्थ जानना है, इसलिए वेदनशब्द और उसके अर्थ का परिज्ञान समूल नष्टकर अपने असलस्वरूप में अवस्थित रहिये ॥५॥

व्यवहारकाल में उसका उच्छेद किस तरह करना चाहिए, इस पर कहते हैं।

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप त्रिपुटीभान जिस समय होता है, उस समय व्यावहारिक ज्ञानरूप शब्द और उसका अर्थ प्राप्त होता है उन दोनों की यथायोग्य सर्वार्थरूप कुटस्थ चैतन्य तथा सर्वशब्दरूप 'ओम्' शब्द में लक्षणाकर कूटस्थ चैतन्यमात्र ही आत्मा है और यही मोक्ष का आविर्भाव है, यों सुदृढ़ निश्चय कर ज्ञानी पुरुष समस्त विक्षेपात्मक प्रपंचों का परित्याग कर व्यवहार करे ॥६॥

इस प्रकार के ज्ञानरूप व्यवहार से ही ज्ञानी को पूर्वोत्तर शुभाशुभ कर्मों का सम्बन्ध नहीं होता और उनका विनाश भी हो जाता है, यह कहते हैं।

विवेकी पुरुष को अपना शुभाशुभ कर्म विनष्ट कर देना चाहिए। यह विनाश 'शुभाशुभ कर्मों का आत्मा के साथ तनिक भी किसी समय सम्बन्ध नहीं है', इस प्रकार के बोधरूप तत्त्वज्ञान से स्वयं सिद्ध हो जाता है ॥७॥

मूलसहित कर्मों का विनाश करने से संसार अशेषरूप से शान्त हो जाता है। जब कि आत्मतत्त्व भलीभाँति विचारित एवं प्रत्यक्ष किया जाता है तब समूल कर्मों का विनाश हो जाता है ॥८॥ जैसे बिल्व की मज्जा भीतर बीज आदि का निर्माण करती है, परन्तु बीज आदि जैसे बिल्व से भिन्न नहीं रहते, वैसे ही चिद्रूप आत्मा भी अपने भीतर चित्तसंज्ञा एवं क्रिया, कारक आदि त्रिपुटी का निर्माण करता है, पर चित्त आदि उससे तनिक भी भिन्न नहीं है ॥९॥ भूलोक की रचना के अन्तर्गत जम्बूद्वीप आदि की रचना जैसे भूमि से पृथक् नहीं है, वैसे ही चिदाकाश के अन्तर्गत सब भूत और भुवन आदि सन्मात्र परब्रह्म चिदाकाश से तनिक भी पृथक् नहीं हैं ॥१०॥ जो जल है वही उसके अन्तर्गत द्रवत्व भी है। इसी तरह से चिति के अन्तर्गत विद्यमान चित्त्व एवं चित्त चिति से

पृथक् नहीं है, क्योंकि चित्त्व और चित्त शब्द के जो अर्थ हैं, वे केवल चैतन्यवाचक चितिधातु के ही अर्थ हैं ॥११॥ जैसे जल में द्रवत्व और तेज में प्रभा ग्रहकत्व–स्मर्तृत्व धर्मों से शून्य है, वैसे ही ब्रह्म में चित्त्व और चित्त ग्रहकत्व एवं स्मर्तृत्व धर्म से शून्य है ॥१२॥

चित्त्व और चित्त ग्रहकत्व और स्मर्तृत्व धर्म से शून्य कैसे है ? यह कहते हैं ।

'चेतयति इति चित्' (जो प्रकाशन करता है वह चित् है) इस व्युत्पत्ति से अर्थ का प्रकाश चिति का कर्म ही मालूम पड़ता है । परन्तु यह कूटस्थ चैतन्य में निर्मूल भ्रमसिद्ध यक्ष के समान किसी कारण के बिना मिथ्यारूप ही प्रतीत होता है, इसलिए चिति में उसकी उत्पत्ति ही नहीं है और न उसका अस्तित्व ही है ॥१३॥

इस रीति से चिंतनक्रिया के चेतन से पृथक् न सिद्ध होने पर विषय भी चेतन से पृथक् सिद्ध नहीं है, यह कहते हैं ।

वायु और उसके स्पन्दन की नाईं जब चेतन और उसकी अर्थप्रकाशनरूप क्रिया अहेतुक है, तब स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में होनेवाला वह अर्थप्रकाश आत्मचेतनरूप ही है, भिन्न नहीं है ॥१४॥ सम्पूर्ण कर्मों का विस्तार यह देह ही है, उसका मूल अहंकार है और शाखाएँ संसार है । अचेतनरूप (चिदाभासरूप क्रिया से शून्य) मूलोच्छेदक अनहंकार से शाखाओं के सहित यह ऐसे शान्त हो जाता है, जैसे स्पन्दनशून्य वायु ॥१५॥

यह नहीं समझना चाहिये कि चिदाभास के उच्छेद से जीव का स्वरूप नष्ट हो गया, किन्तु उसने तो ब्रह्मस्वरूप से अनन्तात्मा होकर अपने अनर्थरूप संसार का मूलोच्छेद कर परम पुरुषार्थ का सम्पादन कर लिया, यह कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, चिदाभासात्मक क्रिया का उच्छेद करके पत्थर के समान निश्चल अनन्त परब्रह्म परमात्मरूप होकर संसार के मूल को ऐसे उखाड़ फेंकिये, जैसे वराह के मुख का अग्रभाग मोथा को समूल उखाड़ फेंकता है ॥१६॥ पूर्वोक्त रीति से ही कर्मबीज से मूल का त्याग किया जाता है, दूसरी रीति से नहीं । इसलिए हे राघव, आपके हृदय में सदा स्थित रहनेवाला वेदनात्मक कर्ममूल शान्त हो जाय ॥१७॥ इस कर्मबीज का मूल जब त्याग दिया जाता है तब जीव के लिए न चिदाभास की सत्ता रहती है और न दृश्यप्रपंच की ही सत्ता रहती है । ऐसी स्थिति में विदिततत्त्व शान्त ब्रह्मज्ञानी न किसी वस्तु का ग्रहण करते हैं और न किसी वस्तु का परित्याग ही करते हैं, क्योंकि उस समय उन्हें त्याग और ग्रहण का परिज्ञान ही नहीं रहता । अनन्तर वे आकाश के सदृश निर्मल एवं विशद हृदय से युक्त होकर ज्ञानी पुरुष मानसिक विकल्पों से शून्य होकर जैसी उनकी मूल स्थिति है उसी रीति से अवस्थित रहते हैं । जो कुछ प्राप्त हो जाता है उसे करते हैं और नहीं भी करते हैं ॥१८–२०॥ जैसे नदी के प्रवाह में पतित तृण, काष्ठ आदि सब कुछ स्पन्दित होता है । वैसे ही ज्ञानियों की कर्मेन्द्रियाँ किसी प्रकार के मनोविकार के बिना अर्धसुप्त या बालक की नाईं

स्पन्दित होती हैं ॥२१॥ सबसे बढ़े-चढ़े ब्रह्मानंद के प्राप्त हो जाने पर भोगलम्पट करणवृत्तियाँ भी नीरस होकर अपने-अपने विषयों के प्रकाशन में असमर्थ-सी बनकर भीतर या बाहर कुछ भी नहीं कर पाती ॥२२॥ वह पूर्वोक्त विज्ञान ही सम्पूर्ण कर्मों का परित्याग है और यह त्याग आत्मबोध से स्वतः सिद्ध हो जाता है। इतर देहादि के स्पन्दनरूप कर्म के करने से या न करने से प्रयोजन ही क्या ? ॥२३॥ विषयों से विनिर्मुक्त, वासनाओं से शून्य, सुदृढ़रूप से स्थित, शान्त, एकरूप, कृत और अकृत के अनुसन्धान से रहित जो अवेदन है वही कर्मत्याग कहा जाता है ॥२४॥ दीर्घकाल से भूले गये कर्मों के सदृश विषयों का भलीभाँति पुनः-पुनः स्मरण न होना ही कर्मत्याग कहा जाता है। वह विस्मरण निरन्तर खम्भे के पेट के सदृश ठोस और एकरूप का होना चाहिए ॥२५॥ जो मिथ्या ज्ञानी पुरुष मूलत्याग के बिना केवल इन्द्रिय संयममात्ररूप करते हैं, उन अज्ञानी पशुओं को कर्मत्यागरूप पिशाचिका खा जाती है ॥२६॥ मूलसहित कर्मत्याग के द्वारा जो ज्ञानी शान्ति प्राप्त कर बैठे हैं उन्हें यहाँ कृत-अकृत कर्म से कोई मतलब नहीं रहता ॥२७॥ पूर्वोक्त रीति से चूँकि ज्ञानी-पुरुष कर्मबीजरूपी अंशों का समूल भलीभाँति उच्छेदकर निरन्तर एकमात्र निर्विकल्प समाधि में स्थित रहते हैं, इसलिए वे सुख का उपयोग करते हैं ॥२८॥ ज्ञानी पुरुष प्रारब्ध प्राप्त कार्य में कुछ प्रवृत्त हुए-से दिखाई देते हैं, परन्तु ये घूर्णमान शराब के नशे में उन्मत्त पुरुष के सदृश तथा यन्त्र से संचालित काठ की मूर्तियों के सदृश उसके अभिमान से रहित रहते हैं ॥२९॥ विविध विषय-विलासों से परिपूर्ण मोक्षलक्ष्मी से ज्ञानी पुरुष ऐसे अपने देह आदि के भान को भूले रहते हैं, जैसे अत्यन्त आसक्तिरूप व्यसन से साधारण पुरुष अपने देह आदि के भान को भूले रहते हैं और किसी अनिर्वचनीय पंचम आदि भूमिकाओं में प्राप्त होकर अर्धसुप्त एवं अर्धप्रबुद्ध के सदृश रहते हैं ॥३०॥ जो मूलोच्छेदपूर्वक छोड़ा जाता है वही छोड़ा गया कहा जाता है और जो मूलोच्छेद के बिना त्याग है, वह शाखाच्छेदन के सदृश ही है ॥३१॥ मूल के छेदन के बिना केवल शाखाग्र से काटा गया कर्मरूपी वृक्ष फिर हजारों शाखा-प्रशाखाओं के विस्तार से दुःख के लिए बढ़ता ही रहता है ॥३२॥ हे भद्र, पूर्वोक्त अवेदनस्वरूप से ही कर्मत्याग सिद्ध होता है, दूसरे से नहीं, इसलिए बतलाये गये क्रम से उसी के अभ्यास में तत्पर रहिये ॥३३॥ श्रीरामजी, जो कोई पुरुष उस प्रकार का कर्मत्याग न कर दूसरे अत्यागरूपी त्याग को करने में प्रवृत्त रहते हैं वे मानों गगन ताड़ने के लिए ही उद्यत रहते हैं ॥३४॥ आत्मबोध से कर्मत्याग स्वयं ही सिद्ध हो जाता है। इच्छारहित जीवन्मुक्तों की बड़ी-बड़ी आडम्बरपूर्ण क्रियाएँ भी अक्रियारूप ही हैं, क्योंकि उनका मूलभूतबीज जल चुका है। जिसके तन्तु जल चुके हैं ऐसा वस्त्र वस्त्र के सदृश दिखाई दे रहा भी वास्तविक वस्त्र नहीं है ॥३५॥ भोगासक्तिरूप रस की भावना से ही बुद्धिसहित इन्द्रियों के द्वारा निष्पादित कर्म ऐसे सफल होता है, जैसे रस्सी के द्वारा कूपकाष्ठ जल निकालना, सींचना आदिरूप रसभावना से धान पैदा कर सफल होता है। वह काष्ठ वृथा चेष्टा से जैसे व्यर्थ है वैसे ही अन्य शारीरिक

चेष्टारूप स्पन्द भी निष्फल है ॥३६॥ ज्ञान से कर्मत्याग के सिद्ध हो जाने पर वासनाशून्य जीवन्मुक्त पुरुष चाहे घर में रहे या जंगल में, धनादि सम्पत्ति के नाश से दरिद्र हो या धनादि सम्पत्ति की वृद्धि से अभ्युदय को प्राप्त हो, किन्तु है वह रहता सर्वत्र एक–सा ही ॥३७॥ शान्त पुरुष के लिए घर ही निर्जन दूरस्थ जंगल है तथा अशान्त पुरुष के लिए निर्जन महान् जंगल भी जनसमुदाय से ठसाठस भरी नगरी है ॥३८॥ परिशान्तमति तत्त्वज्ञानी पुरुष के लिए स्वप्न में भी निर्जन, निर्मल, विस्तृत और अति मनोहर वन भूमि हृदय के अन्दर ही विराजमान है ॥३९॥ ज्ञानाग्नि से दग्ध हुए दृश्य प्रपंचवाले तत्त्वज्ञानी के लिए यह संसार ही स्पन्दन से शून्य, आकाशमयी, अशेष–विशेष पदार्थों से शून्य महाटवी है ॥४०॥ अनन्त संकल्पोंवाले तथा जगत् की स्थिति को हृदय में रखनेवाले अज्ञानी के लिए सम्पूर्ण सागरों सहित सारी पृथिवी हृदय के अन्दर ही विराजमान है ॥४१॥ अज्ञानी दीन मनुष्य के लिए विविध द्वन्द्वों से भरी हुई, अनेकविध कार्यों के आरम्भ से युक्त तथा अनेक तरह के आकारों से समन्वित ग्रह मण्डली हृदय के भीतर ही विराजमान है ॥४२॥

हे श्रीरामजी, अज्ञानी पुरुष के लिए विविध आवश्यक कार्यों से यानी धनोपार्जन, धनव्यय, दूरदेश में प्रवास, कलह आदि से सर्वदा ही लोभ, मोह, शोक, भय, आसक्ति आदि विकारों से पूर्ण छोटे–छोटे कसबों, बड़े–बड़े नगरों तथा देश–देशान्तरों एवं पर्वतों से युक्त यह सारी पृथिवी मलिन हृदय में जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बित हो, वैसे प्रतिबिम्बित होती ही है ॥४३॥

तीसरा सर्ग समाप्त

चौथा सर्ग

अहन्ता ही संसार का मूल है। इसका आत्मबोध से अनहंभाव की भावना करने पर त्याग हो जाता है, यह वर्णन।

सम्पूर्ण दृश्यों का त्याग ही दृष्टा आत्मा का मोक्ष है। तेल खतम हो जाने पर दीप–निर्वाण के समान तत्त्वज्ञान से सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच के मूल अज्ञान का निर्वाण (नाश) हो जाने पर ही वह सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं, यह कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, चेतन आत्मरूप तत्त्वबोध हो जाने पर जब अहन्तादि के सहित जगत् शान्त हो जाता है तब तेल समाप्त हो जाने पर जैसे दीप बुझ जाता है वैसे ही सब दृश्य प्रपंचों का त्याग सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं ॥१॥ कर्मों का त्याग वस्तुतः त्याग नहीं कहा गया है, बोध ही मुख्य त्याग कहा गया है। जिसमें जगत् का प्रतिभास नहीं है ऐसा परिशिष्ट मुख्य एक आत्मा ही सर्वत्यागरूपी मोक्ष है, यह अविनाशी तथा अहन्तादि विकारों से रहित है ॥२॥ 'पामरजन तक प्रसिद्ध यह देहादि दृश्य प्रपंच ही मैं हूँ' तथा 'देहादि से सम्बध्ध यह भोग्य जगत् मेरा है', इस तरह के तादात्म्याध्यास और संसर्गाध्यास रूप दो बन्धनों के, तेलरहित दीपक की नाईं, समूल शान्त हो जाने पर सर्वोत्तम बोध ही (एकमात्र चैतन्य ही आत्मा है, इस प्रकार का ज्ञान ही) शेष रह

जाता है, इसीका नाम परमनिर्वाण यानी मोक्ष है ॥३॥

उक्त अर्थ को व्यतिरेक से भी दृढ़ करते हैं।

'यह देहादिरूप मैं हूँ तथा स्त्री–पुत्र आदि मेरे हैं' इस प्रकार का अध्यासरूप संसार जिसका शान्त नहीं है उसे न ज्ञान है, न शान्ति है, न त्याग ही है और न निवृति यानी मोक्षरूप सुख ही है ॥४॥ यह स्त्री, पुत्र, धन आदि सब मेरे हैं , यह शरीर, इन्द्रिय आदि मैं हूँ, सिर्फ इतने अध्यास की जो निवृत्ति है वह अध्यस्त पदार्थों के बाध का अधिष्ठानरूप होने से बोधरूप तथा सर्वथा शान्त शिवस्वरूप है, उससे भिन्न और कुछ भी नहीं है ॥५॥ तत्त्वबोध के द्वारा अहमंश के क्षीण हो जाने पर *(हे श्रीरामजी, यह आप समझ लीजिए कि)* ममता का आधार सारा संसार ही विनाश को प्राप्त हो गया। *(सब जगत् का नाश होने पर सर्वस्व नाश की आशंका से डरे हुए पुरुष के प्रति समाधान देते हैं।)* और सच पूछिये तो यथार्थ में कहीं कुछ भी नष्ट नहीं हुआ। क्योंकि सर्वत्र आनन्दघन एक आत्मा ही स्थित है ॥६॥

अहंबुद्धि को नष्ट करने में बिलकुल सरल उपाय बतलाते हैं।

अहंकार की भावना करनेवाला जीव एकमात्र अहंकार की भावना न करने से ही बिना किसी विघ्न के (☙) शान्त हो जाता है। और यह मुक्ति सिर्फ इतने ही साधन से सिद्ध हो जाती है, इसके लिए अनेक साधनों के सम्पादन में व्यर्थ क्लेश क्यों किया जाय ? ॥७॥

अनहंबुद्धि भी तो अहंबुद्धि की नाईं द्वैतरूप होने के कारण अध्यास ही है, फिर वह किससे शान्त होती है, यदि यह पूछिये,तो इसका उत्तर यह है कि पंक के साथ कतकधूलि की नाईं अहंबुद्धि के साथ वह भी अपने–आप चिदात्मा में शान्त हो जाती है, यह उपपत्तिपूर्वक कहते हैं।

मैं देहादि नहीं हूँ, किन्तु चिन्मात्ररूप ही हूँ, इस बुद्धि को भी यदि आप द्वैतभ्रमबुद्धि ही कहें, तो यह परमार्थचित्स्वभाव को छोड़कर और कुछ नहीं है। क्योंकि चितिस्वरूप तो आकाश के समान विशद है, इसलिए इसमें भ्रम की स्थिति ही कहाँ रह सकती है ॥८॥

भ्रम, भ्रमसाधन, भ्रमफल एवं उनके आश्रय सभी ज्ञानमात्र के परिणाम हैं, इसलिए अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर उनका पृथक् अस्तित्व नहीं है, यह कहते हैं।

न भ्रम है, न भ्रम का साधन है,न भ्रम का फल है और न भ्रम का आश्रय ही है, जो कुछ है, वह सब अज्ञान ही है, इसलिए जब आपको तत्त्वज्ञान हो जायेगा तब उसी से आप में उनकी सत्ता नहीं रहेगी ॥९॥ हे श्रीरामजी, यह जो प्रपंच दिखाई दे रहा है, वास्तव में उसे चिन्मात्र ही समझिये। स्वरूपतः विस्तृत प्रपंच असत् खरगोश के सींग के सदृश ही है, इसलिए आप जगत् के विषय में समस्त वाग्व्यवहार को छोड़कर चुपचाप बैठे रहिये, क्योंकि पूर्वोक्त प्रणाली से सब कुछ परिशिष्ट आत्मस्वरूप ही है ॥१०॥

(☙) अर्थात् 'नेदं रजतम्' (यह रजत नहीं है) इस बुद्धि से रजत के अध्यासबाध में जैसे कोई विघ्न नहीं है।

जब–जब अहंभाव का उदय प्राप्त हो तब–तब उसी समय में अहंभाव विरोधिनी अनहंभावबुद्धि पैदा करना चाहिए, यह कहते हैं।

जिस कारणसामग्री से निमेषमात्र में शीघ्र अहंबुद्धि उत्पन्न होती है उस सामग्री से विरुद्ध तत्काल अनहंभाव का उत्पादन कर पुरुष किसी प्रकार के शोक से सन्तप्त नहीं होता ॥११॥

भद्र, इस तरह निरन्तर अत्यन्त सावधानी से पैदा किये गये अनहंभाव अहंभाव को शीघ्र आकाशपुष्प के सदृश निर्वचनीय बनाकर रण में धनुष चढ़ाये गये अर्जुनबाण के सदृश अपरांमुख हो ब्रह्मरूप लक्ष्य का दृढ़ अवलम्बन कर निरन्तर आप अवस्थित रहिये ॥१२॥

हे रामभद्र, इस रीति से निरन्तर अहन्ता की आकाशपुष्प आदि के सदृश भावना कर रहे आप समस्त सांसारिक भावनाओं से निर्मुक्त होकर संसारसागर से पार हो जाइये ॥१३॥ भद्र, स्वाभाविक अज्ञानजनित अहंभाव के ऊपर विजय पाने में जिसकी स्वयं वीरता नहीं है उस पशु की उत्तमपद प्राप्ति के लिए कोई चर्चा ही क्या हो सकती है, यह कहिये ॥१४॥ जिस उत्तम ज्ञानी पुरुष ने सबसे पहले काम, क्रोध आदि छः शत्रुओं के ऊपर विजय पा ली है, वही बड़े–बड़े अर्थों का भाजन हो सकता है; दूसरा मनुष्यरूपी गदहा नहीं ॥१५॥ जो पुरुष अपने अन्दर की मनोवृत्ति को जीत रहा है या जो जीत चुका है वह पुरुष विवेकज्ञान का पात्र गिना जाता है और वही 'पुरुष' इस शब्द से कहा जाता है यानी उसी पुरुष ने अपना जन्म सफल बनाया है ॥१६॥ भद्र, समुद्र में शिला के सदृश जो–जो विषय आपके लिए प्रारब्धवश प्राप्त हो जाये, उन सब विषयों से आप 'वह विषय मैं नहीं हूँ' इस प्रकार की भावना करते हुए अपना सम्बन्ध ही हटा दीजिये ॥१७॥ 'मैं देहादि विषयरूप नहीं हूँ', ऐसा जानते हुए और अनेक तरह की युक्तियों से ज्ञानरूप सुख का अच्छी तरह अनुभव करते हुए भी क्यों आप अज्ञानी के सदृश मोह में फँसते हैं अर्थात् नहीं ही फँसना चाहिए ॥१८॥ युक्ति से विचारने पर जैसे सुवर्ण में कटक आदिरूपता केवल भ्रान्ति को छोड़कर कोई भी दूसरी वस्तु नहीं है वैसे ही इस आत्मा में युक्ति से विचारने पर देहादि ज्ञेय वस्तु भ्रान्ति को छोड़कर दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है। आपकी वैसी भ्रान्ति केवल विषयों के विस्मरण से ही नष्ट हो जायेगी ॥१९॥

हजारों युक्तियों के प्रदर्शन से कोई प्रयोजन नहीं है केवल 'देहादि मैं नहीं हूँ' अकेली इस भावना का अभ्यास कर लेने पर ही सब भ्रान्तियाँ निकल जायेगी, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, वायु में क्रिया के सदृश आपके भीतर जो–जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन–उन भावों के आप 'मैं भावरूप नहीं हूँ' इस तरह की भावनावृत्ति से अपने को अनाश्रय बना दीजिये ॥२०॥ जिस पुरुष ने सबसे पहले अहंभाव का त्यागकर लोभ, लज्जा, मद और मोह के ऊपर विजय नहीं पाई, वह पुरुष नास्तिकता, यथेष्टाचरण आदि के उत्पादक इस आध्यात्मशास्त्र का अनधिकारी है। उसे इसमें प्रवृत्त नहीं होना चाहिए यदि वह प्रवृत्ति करेगा, तो नास्तिक एवं स्वेच्छाचारी ही बन

जायेगा ॥२१॥ पवन में स्पन्दन के सदृश आपमें जो अहन्ता स्थित है वह आपके परमात्मस्वरूप बन जाने पर वायु में स्पन्दन के सदृश आपसे पृथक् नहीं रह सकती ॥२२॥ कूटस्थ अद्वितीय चैतन्यमात्र के ज्ञान से परमात्मा में जब संसार एकरूप से मिल जाता है तब वह बहुत ही भला लगता है। ठीक ही है कि माला में भ्रान्ति से कल्पित सर्प आदि भयंकर अर्थ जब माला के ज्ञान से मालास्वरूप हो जाते है तब मालारूप से कण्ठ में धारण करने पर सुन्दर लगते ही है ॥२३॥

यदि आत्मज्ञान से जीव और जगत् की परमात्मरूप अवयवी के रूप में उत्पत्ति आपने मान ली, तो उसके बाद दूसरे भावविकार भी उत्पन्न होंगे ही, ऐसी स्थिति में उन विकारों से तथा जीवभाव, जगद्भाव एवं उनके ध्वंस आदि को लेकर द्वैतापत्ति भी होगी, इस शंका पर कहते हैं।

वस्तुतः परमात्मा न तो कभी उदित (उत्पन्न) होता है और न कभी अस्त ही और जब इस परमात्मा से भिन्न कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, तब उससे भिन्न कौन भाव रहा और कौन अभाव रहा, कहने का तात्पर्य यह कि बाध से कल्पित की जो अधिष्ठानरूपता है, वह न तो उत्पत्तिरूप है और न नाशरूप है, किन्तु नित्यसिद्ध आत्मरूप है। और विकार आदि में हेतु तो क्रिया ही रहती है, ज्ञान नहीं, इसलिए जीव की परमात्मरूपता के बाद द्वैत कभी भी नहीं हो सकता ॥२४॥ तत्त्वज्ञान से ज्ञाता, ज्ञेय ज्ञानरूप त्रिपुटी का बाध हो जाने पर त्रिपुटीजनित जीव का विनाश हो जाता है। इससे यही बात निकली कि 'त्वं' पद का लक्ष्य, पूर्ण, शान्त, शिवस्वरूप परब्रह्म जो 'तत्' पद के लक्ष्य पूर्ण, शान्त, शिवस्वरूप स्वभाव में पहले से स्थित है, इसीका तत्त्वज्ञान विस्तार कर देता है, अपूर्व किसीका भी उत्पादन नहीं करता ॥२५॥

दीप के निर्वाण के समान आभास सहित अविद्या का फल निर्वाण अपूर्व ज्ञान का उत्पन्न हुआ। यह अवश्य ही मानना होगा, अन्यथा ज्ञान निष्फल हो जायेगा। इस पर कहते हैं।

ठीक है, यद्यपि निर्वाण ज्ञान का फल है तथापि वह अपूर्व उत्पन्न हुआ। यह कहना अत्यन्त अप्रसिद्ध है, क्योंकि अन्धकारशून्य सूर्य में अन्धकारनिवृत्ति के समान प्रपंचशून्य ब्रह्म में प्रपंच-निवृत्ति और नित्यशान्त में शान्ति कही गयी है। अतः अनर्थ निवृत्तिरूप ज्ञान का कोई अपूर्व फल नहीं हुआ। इसी तरह नित्यसिद्ध निरतिशयानन्द शिव में आनन्दप्राप्तिरूप फल भी कोई अपूर्व पदार्थ नहीं है। इस तरह ज्ञान का फल मानने पर द्वैतापत्ति नहीं आ सकती। यदि प्रत्यक् में (जीवात्मा में) बन्ध और ब्रह्म में आकाशादि पदार्थ सत्य होते, तो उनका निर्वाण दीपनिर्वाण के समान अपूर्व होता, लेकिन ऐसा है नहीं। रज्जु में सर्पनिर्वाण के समान प्रत्यगात्मा के बन्ध का निर्वाण भी वास्तव में अनिर्वाणरूप ही है। ब्रह्म भी वास्तव में आकाशादि सत्य पदार्थों से युक्त नहीं रहता, इसलिए उनकी निवृत्ति द्वैत को सिद्ध नहीं कर सकती ॥२६॥

अनहंभावना असह्य है, इसका खण्डन करते हैं।

जब शस्त्रों के आघात सहे जाते हैं, जब व्याधियों की पीड़ाएँ सही जाती है तब ' मैं नहीं हूँ' इतनी भावना को सहने में कौन–सा क्लेश हो रहा है ? ॥२७॥

जितने जगत् के पदार्थ है, उन सबका अविनाशी कारण देहादि में अहंभाव रखना ही है। ज्ञान द्वारा उसका निर्मूलन हो जाने पर यह जगत् तो अपने आप उखड़ जाता है ॥२८॥ निःसार भी मुख के बाष्प से जैसे परम स्वच्छ दर्पण मलिन हुआ प्रतीत होता है वैसे ही परमात्मारूपी दर्पण अहंकाररूपी निःसार भी मुखबाष्प से सारवत् मलिन हुआ प्रतीत होता है। अहंकाररूप निःसार बाष्प के शान्त होने पर तो परमात्मा निर्मल हो जाता है ॥२९॥ परमात्मारूप वायु में अहंकाररूप स्पन्द है। उसे शान्त होने पर अनिर्देश्य, अनाभास, अज और अविनाशी अद्वय चिदाकाशमात्र शेष रहता है ॥३०॥

बाह्य अनर्थों के अवलोकन में भी अहंकार ही हेतु है, यह कहते हैं।

अहंकार सामने उपस्थित द्रव्यों का चिति में प्रतिबिम्ब प्रदान करता है। उस अहंकार के शान्त हो जाने पर वह चिति निराभास, अनन्त, अज और अविनाशी परमात्मस्वरूप ही रह जाती है ॥३१॥ अहंकाररूपी मेघ के छिन्न–भिन्न हो जाने पर परमार्थरूप शरत्काल का आकाश, सर्वोत्तम, स्वच्छ असीम चिति लक्ष्मी से खूब सुन्दर भासित होने लग जाता है ॥३२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जो विशुद्ध सुवर्णरूप चिरकालिक चैतन्य है, वह अहंकाररूप मल के सम्पर्क से जीवरूपी ताम्रभाव को प्राप्त हुआ है, परन्तु श्रवणादि उपायरूपी अग्नि में तपकर जब अहंकाररूपी मल से निर्मुक्त हो जाता है तब वही परमप्रकाशमय कान्तिमान् ब्रह्मरूपी सुवर्ण (♨) बन जाता है ॥३३॥

यदि आप यह कहें कि अहंकार की निवृत्ति हो जाने पर किस नाम से मेरा उपदेश होगा, तो इस पर मेरा कहना यह है कि समुद्र में विलीन सैन्धव आदि पदार्थों की तरह तत्–तत् नाम की निवृत्ति से जैसी अव्यपदेश्यता होती है वैसी ही आपकी भी अव्यपदेश्यता होगी। उस समय आप अनिर्वचनीय ब्रह्मस्वरूप हो जाओगे, यह कहते हैं।

जैसे समुद्र में विलीन हुए पदार्थों का स्वरूप अव्यपदेश्यता को प्राप्त हो जाता है वैसे ही अनहन्ता से ब्रह्म में विलीन हुई अहन्ता भी अव्यपदेश्यता को प्राप्त हो जाती है, क्योंकि उस समय वह ब्रह्मरूप बन जाती है ॥३४॥

अहंकार निवृत्ति के बाद ब्रह्म आदि नाम से जो जीव का व्यवहार होता है वह भी अन्य पद के अर्थ की नाईं उसमें (जीवमें) अहंकाररूप अल्पत्व (छोटेपन का) नाशरूप जो बृहत्व (बड़प्पन) है, तत्स्वरूपप्रवृत्तिनिमित्त की कल्पना करके ही होता है, वस्तुतः नहीं होता, यह कहते हैं।

तरंग आदि धर्मों से शून्य अपने स्वाभाविक स्वरूप से स्थित हुआ जल जैसे पूर्व के तरंग आदि रूप से भीतर सत्य–सा प्रतीत होकर तरंग आदि नामों से व्यवहृत होता है और

(♨) देखिये यह श्रुति : 'परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ।'

स्वाभाविक जलरूप से स्थित हुआ तरंग आदि नामों से व्यवहृत नहीं होता, वैसे ही अपने स्वरूप में स्थित आत्मा किसी नाम से व्यवहृत नहीं होता, परन्तु जब अहन्ता रहती है,तब वह अन्य पदार्थों के सदृश नामवाला सा बनकर स्थित रहता है और उन-उन लाक्षणिक नामों की कल्पना से व्यवहृत होता है ॥३५॥ अहंकार ही जन्ममरण रूप इस संसार का बीज है। भावना के मूल अज्ञान के नाश से जब यह अहंकाररूपी बीज दग्ध हो जाता है तब जगत् और बन्ध इत्यादि की कल्पना ही क्या रहती है ? ॥३६॥

इस संसार का बीज अहंकार ही है, इसका उपपादन करने के लिए 'यह कैसे उदित होता है' यह बतलाते हैं।

सत्, ब्रह्म, शिव, आत्मा, यानी त्रिकालअबाधित, अपरिच्छिन्न, निरतिशयानन्द अपरोक्ष चिदेकरस इन स्वभावों से युक्त परमात्मा में सत् आदि चारों स्वभावों के संकोचरूप नाम से कलंकित यानी मालिन्ययुक्त, समष्टि-अहन्ता ऐसी उदित होती है जैसी घटाकारपरिच्छेद से मिट्टी की स्वभाव विस्मृति ॥३७॥ इसलिए अहंकाररूपी बीज से यह दृश्यप्रपंच की सत्तारूपी बिम्ब लता उदित हुई है। जिसमें व्यष्टिभाव से अनन्त जगत्‌रूपी फल उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं ॥३८॥

इसीका विस्तृतरूप से वर्णन करते हैं।

इस अहमर्थरूपी मिर्च के बीज के भीतर पर्वतों, समुद्रों, पृथिवी और नदियों के सहित तथा बाह्य इन्द्रियों से होनेवाले पदार्थों के पर्यालोचन एवं मन के भीतर रहनेवाली काम-संकल्प आदिवृत्तिरूप एषणारूपी चमत्कृति उदित होती है ॥३९॥ अन्तरिक्ष, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ ये सबके सब अहमर्थरूपी विकसित कुसुम की सुगन्ध हैं ॥४०॥ सुमेरु के परभाग में सद्रूप दिन उदित होते ही सद्रूप पदार्थ का प्रकाश और मनन जैसे करता है वैसे ही आत्मा में उदित होते ही यह अहंकार जगत् को प्रकट करता है ॥४१॥ प्रारम्भ होते ही दिन जैसे पदार्थों को प्रकाशित करता है वैसे ही प्रारम्भ होते ही अहंकारभावना क्षण भर में असत् जगत् का निर्माण कर देती है ॥४२॥ ब्रह्मरूपी जल में अहंकाररूपी तेल का बिन्दु पड़ते ही जो चारों ओर फैल जाता है वही शीघ्र यह त्रिलोकीरूपी चक्र बनकर स्थित हो जाता है ॥४३॥ जिस तरह खराब आँखें खुली रहकर असद्रूप जगत् को सत्यरूप से खूब अनुभव करती है। किन्तु बन्द हो जाते ही नहीं करती; अहो, उसी तरह उन्मेष मात्र से यह अहन्ता असद्रूप जगत् को सत्यरूप से अनुभव करती है ॥४४॥

इसीको दृढ़ करने के लिए फिर कहते हैं।

जैसे आँख की पुतली सुषुप्ति, मरण या मूर्च्छा में जब तिरोहित हो जाती है या जब मोक्ष में पूर्णतया विलीन हो जाती है अथवा समाधि में साक्षात्कार द्वारा जब नष्ट हो जाती है तब

सांसारिक पदार्थों का अनुभव नहीं कर पाती; वैसे ही अहमर्थ के प्रसृत होने पर ही यह संसार अनुभूत होता है, अन्यथा नहीं ॥४५॥ नित्य परमात्मज्ञान से अहमंश के बिलकुल निःशेष कर दिये जाने पर यह संसाररूपी मृगजल पूर्णरूप से शान्त हो जाता है ॥४६॥

साधन और फल दोनों अतिसुलभ हैं, यह दिखलाते हैं ।

स्वप्रकाश चिदात्मा की एकमात्र भावना से साध्य (☬) स्वतःसिद्ध (卐) आत्मरूप इस श्रेष्ठ वस्तु की प्राप्ति में हे श्रीरामजी, आप निरंकुश खेद या अहंभावादि भ्रान्ति को प्राप्त न हों ॥४७॥

किसी दूसरे पुरुष आदि बाह्य साधन की अपेक्षा न होने से भी इसको अतिसुलभ बतलाते हैं ।

हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, किसी दूसरे सहायक आदि साधन के बिना स्वयत्नमात्र से साध्य अनहंभावना के सिवा मैं दूसरा आपका कोई कल्याणकारण नहीं देखता ॥४८॥

सम्पूर्ण उपदेश सिद्धान्तों का सार संक्षेपरूप से दिखलाते हुए अब उपसंहार करते हैं ।

हे श्रीरामजी, सबसे पहले व्यष्टि–अहंभाव को भूलकर चारों ओर से पर्वत, अंतरिक्ष, पृथिवी, समुद्र, वायु तथा उसके मार्ग आकाशरूप होकर सारे संसार को परिपूर्ण बना करके अपने विभव का विस्तार करते हुए आप समष्टिभाव से स्थित हो जाइये । तदनन्तर स्थावर–जंगम सारा संसार ब्रह्मरूप ही है, इस तरह के ज्ञान से समस्त प्रपंचों का बाध करके प्रपंचशून्य, इन्द्रियों, अन्तःकरण के मलों तथा कलाओं से वर्जित होते हुए स्वस्थ, शान्त, विशोक और निर्मलात्मा होकर स्थित हो जाइये, क्योंकि इस तरह अध्यारोप तथा अपवाद न्याय से निष्प्रपंच आत्मरूप से अवशिष्ट रह जाना ही सम्पूर्ण वेदान्त सिद्धान्तों का सार है ॥४९॥

चौथा सर्ग समाप्त

पाँचवाँ सर्ग

जितेन्द्रिय पुरुषों में ही शास्त्रों का उपदेश सफल होता है, अजितेन्द्रियों में नहीं,
इस विषय में भुशुण्ड द्वारा कथित विद्याधर कथा का वसिष्ठजी द्वारा वर्णन ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे रामजी,सबसे पहले मन के सहित इन्द्रियों के स्वभाव को (विषयों की ओर उन्मुख हो रही प्रवृत्ति को) जीतकर पीछे नित्यानित्य वस्तु के विवेक आदि साधनों में जो मनुष्य प्रवृत्त होता है उसीके लिए शास्त्र के और आचार्य के उपदेश का सारा फल

(☬) जड़ पदार्थों की नाईं इसमें फलव्याप्ति की अपेक्षा नहीं है, अतः इसके साधन में अतिसुलभता है, यह इससे दिखलाया गया ।

(卐) इससे फल में भी उत्पादन आदि किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता न होने से अतिसुलभता दिखलाई गई है ।

शीघ्र सिद्ध होता है, दूसरे के लिए नहीं ॥१॥ जिस दग्धबुद्धि ने अपने भीतर विषयों की ओर दौड़नेवाली अपनी इन्द्रियों के स्वभाव को नहीं जीत लिया उसको परमपद की प्राप्ति ऐसे दुर्लभ है, जैसे बालू में से तेल निकालना दुर्लभ है। तात्पर्य यह है कि बालू निचोड़ने का श्रम जैसे निष्फल है, वैसे ही चिरकाल से अभ्यस्त हुए भी, इन्द्रियों के स्वभाव को जीते बिना श्रवण, मनन आदि बिलकुल निष्फल है ॥२॥ शुद्ध निर्मल वस्त्र आदि में तेल बिन्दु की नाईं शुद्ध विमल चित्तवाले मनुष्य में थोड़ा भी उपदेश प्रविष्ट हो जाता है और साधन चतुष्टय से रिक्त चित्तवालों में ऐसे नहीं प्रविष्ट हो पाता जैसे दर्पण के भीतर मोती नहीं प्रविष्ट हो पाता ॥३॥ इस विषय में विद्वान लोग इस प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं। भुशुण्डजी ने बहुत दिन पहले मुझसे मेरु पर्वत के शिखरपर यह कहा था ॥४॥ बात बहुत पुरानी है, कभी मेरु शिखर के एकान्त कोटर में किसी अध्यात्म कथा के प्रस्ताव में श्रीभुशुण्डजी से मैंने यह पूछा था ॥५॥ मैंने भुशुण्डजी से पूछा था कि हे प्रिय, यह बतलाओ कि इस संसार में मुग्धबुद्धि तथा आत्मज्ञानशून्य दीर्घजीवी तुम किसे स्मरण करते हो ? हे श्रीरामजी, मेरे पूछने पर उन्होंने यह कहा ॥६॥

भुशुण्डजी ने कहा : हे भगवन्, लोकालोकान्तर पर्वत की चोटी पर बहुत दिन पहले एक विद्याधर रहता था। वह अजित इन्द्रियों से अत्यन्त खेद को प्राप्त अतएव विश्रान्तिरस से हीन, आत्मज्ञानशून्य, विचारवान् तथा आयुवृद्धि के हेतुभूत सदाचार से सम्पन्न था ॥७॥ अनेक तरह के तप, यम और नियम से अक्षीणायु (परिपूर्ण आयु) होकर पूर्व कालमें वह चार कल्पों तक स्थित रहा ॥८॥ तदनन्तर चौथे कल्प के अन्त में चिरकालतक तप, नियम आदि के अनुष्ठान से उसको ऐसे विवेक उदित हुआ। जैसे बादल के उदय से विदूरभूमि में वैदुर्यमणि ॥९॥

विवेकस्वरूप दिखलाते हैं।

पुनः-पुनः जन्म, पुनः-पुनः मृत्यु तथा पुनः-पुनः वृद्धावस्था न हो, क्योंकि इसका विचार करते हुए मैं लज्जित हो रहा हूँ। अतः जहाँ ये बिलकुल न हों, ऐसी एक स्थिर कौन-सी वस्तु हो सकती है ? ॥१०॥ यों विचार करके पांच प्राण, दस इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा स्थूल देह इन अठारह अवयवों से युक्त अपनी पुरी को चिरकाल तक धारण करने से श्रान्त तथा संसार के रससे विरक्त वह महात्मा मेरे पास कुछ पूछने आया ॥११॥ मेरे समीप आकर बड़े आदर के साथ उसने नमस्कार किया। मैंने भी सत्कार से उसे बैठाया। अनन्तर प्रश्न का अवसर पाकर उसने यह अनिन्दित वचन कहा ॥१२॥

अपने खेद के हेतुभूत इन्द्रियादिकों के दोषों का विस्तार से आगे चलकर वर्णन करने की इच्छा कर रहे विद्याधर भूमिका बाँध रहे हैं।

विद्याधर ने कहा : हे भगवान्, अपने-अपने विषयों में शीघ्रानुप्रवेशी होने के कारण अत्यन्त कोमल, प्रवेश के बाद अत्यन्त परितापी और तदनन्तर उनका हिलाना-डुलाना अशक्य होने से

पत्थर से भी अधिक दृढ़ और बलवान्, छेदन और भेदन में दक्ष अपने शरीर के अन्दर प्रविष्ट हुए बाण आदि शस्त्र और इन्द्रियाँ तुल्य हैं ॥१३॥ हे मुने ये इन्द्रियाँ हृदय में रूढ़ हैं, तमोमय हैं, अन्धकार से भरे सघन जंगल के तुल्य हैं, काम आदि वानरों से व्याप्त हैं एवं प्राण,मन, देह और हृदयस्थ भूख आदि दुःखरूपी छः तरंगों से युक्त हैं । तरंगों से युक्त होती हुई भी दैवात् कहीं अंकुरित हुए शम-दमादि गुणरूपी जंगल की दाहक होने से ये विपत्ति देनेवाली तथा मलिन हैं । अतः इस तरह की इन्द्रियों को एवं उनके आश्रय मन को जीतकर प्राणी सुखी हो सकता है, सांसारिक इन भोगों से कदापि सुखी नहीं हो सकता । अतः मुझे विद्याधरों के भोगरूपी इन पदार्थों से कोई मतलब अब नहीं हैं । हे भगवन्, यही कारण है कि विरक्त जिज्ञासु होकर मैं आपकी शरण में आया हूँ ॥१४॥

पाँचवाँ सर्ग समाप्त

छठा सर्ग

चिरकाल तक दिव्य भोग को भोगे हुए विद्याधर के द्वारा परीक्षित विषयों में उन्मुख इन्द्रियों की नीति का वर्णन ।

अतः चार साधनों से सम्पन्न मुझ ब्रह्मजिज्ञासु को हे ब्रह्मन्, आप ब्रह्मोपदेश दीजिये, यह कहते हैं ।

विद्याधर ने कहा : हे भगवन्, आप मुझे उस परमपावन पद का शीघ्र उपदेश दीजिये । जो पूर्णरूप से कृपणता का निवर्तक, दुःखरहित तथा निरतिशयानन्दरूप होने से अति उदार है, आयासहीन तथा क्षय एवं अतिशय से शून्य है, आदि और अन्त से रहित है ॥१॥ *(हे भगवान्, मैं त्रिविधताप से अत्यन्त सन्तप्त हूँ । अतएव सागर में डूबने की इच्छा कर रहे सन्तप्त सिरवाले पुरुष की नाईं अब मुझसे विलम्ब सहा नहीं जाता ।)*

यदि तुम्हारी ऐसी स्थिति है, तो फिर पहले ही क्यों नहीं आये ? इस पर कहते हैं ।

हे मुने, इतने काल तक जडात्मा बनकर मैं गाढ़ निद्रा में सोया हुआ था । अब मन की तीव्रतर वैराग्यरूपी प्रसन्नता से जाग गया हूँ ॥२॥ हे भगवन्, मैं मन के महाभयंकर रोग काम से पीड़ित हूँ, अज्ञान की वृत्तियों दुर्वासनाओं से क्षुब्ध हूँ । मेरे समस्त कर्म दुरुच्छेद्य हैं । अतः अनात्मा में आत्माभिमानाकार से स्थित मोह से मेरा शीघ्र उद्धार कीजिये ॥३॥

विद्याधर तो सम्पूर्ण विद्याओं के आश्रय होने से अपने विद्याबल से ही समस्त दुःखों को दूर करने में समर्थ होते हैं, क्योंकि मणि-मन्त्र-रसायनादि की सिद्धियों तथा अणिमादि ऐश्वर्यों से वे युक्त रहते हैं, यह सुना जाता है, तो फिर यों श्रीसम्पन्न तुममें कामादि दुःख यातनाएँ तथा कातरता और कार्पण्यादि दोष क्यों आकर गिर पड़े ? जिससे कि श्रेष्ठ देवयोनि में उत्पन्न होने से अत्यन्त सबके मान्य होते हुए भी तुम आज निकृष्ट काकयोनि में पैदा हुए भी मेरी शरण आये हो

और मोह से अपने उद्धार का कारण मुझसे पूछ रहे हो ? इस आशंका पर कह रहे हैं।

सम्पूर्ण विद्याओं तथा अनेकविध सिद्धियों आदि श्रीसम्पत्तियों एवं अनेक प्रकार के गुणों से युक्त रहते विद्याधरों में भी अजितेन्द्रिय होने के कारण आत्मज्ञानशून्य होने से काम, क्रोध, ईर्ष्या, असूया आदि दुःख यातनाएँ और कायरता दोष ऐसे शीघ्र गिरते हैं, जैसे लक्ष्मी के आधार विष तन्तुओं से युक्त उग्र पत्तोंवाले कमल के ऊपर तुषार गिरते हैं ॥४॥

ज्ञान का अभाव रहने पर धर्मानुष्ठान में अधिकार न होने से देवयोनियाँ मच्छरआदि योनियों के तुल्य ही हैं। यह सूचित करते हुए अपने वैराग्य के कारणभूत सर्वत्र दोषदर्शन का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

जीर्ण-शीर्ण जीव निरन्तर उत्पन्न होते और मरते रहते हैं। विषयलोलुप वे जीव कमल में मच्छरों के समान न तो धर्म के लिए कोई यत्न करते है न मोक्ष के लिए ही ॥५॥ अत्यन्त तुच्छ सुख के लिए हजारों बार पहले उपभुक्त हुए शब्दादि विषयों से धोखे की टट्टीरूप (ऐसी चीज जो दूसरों को धोखा देकर फँसाने के लिए हो) विषय-इन्द्रियसम्बन्ध द्वारा बार-बार ठगे गये हम बहुत दिनों से दुःखी हैं ॥६॥ कहीं एक जगह मन को स्थिर किये बिना मरुस्थल के सदृश क्षणभंगुर इन भोगों में भ्रमण कर रहे मेरे इस संसारपथ की न तो कहीं चरमसीमा है और न कहीं स्थिरता ही है ॥७॥ भोग की भूमियाँ आरम्भ में आपाततः रमणीय प्रतीत होती हैं। क्षण में ही विलीन हो जाती हैं, उनसे अनेक तरह के संसार उत्पन्न होते हैं, तत्काल ही उनमें विकार पैदा हो जाता है तथा उनका भीषण परिणाम होता है ॥८॥

बहुत अधिक पुण्यों से प्राप्त विद्याधर सम्पत्ति से ही तुम्हें विश्रान्ति क्यों नहीं मिल रही है ? इस आशंका पर कहते हैं।

हे तात, मैं इस तुच्छ विद्याधर सम्पत्ति से सन्तुष्ट नहीं हो रहा हूँ। मैं इसके साथ रमण करना नहीं चाहता, क्योंकि मान और अपमान ही इसमें बड़ी वस्तुएँ हैं। दुष्ट अहंकार से ग्रस्त जीवों के लिए ही यह अच्छी है और विवेकी पुरुषों के लिए सदा प्रतिकूल है ॥९॥

भुक्तभोगी होने के कारण सर्वत्र नीरसता दिखलाते हैं।

जहाँ कल्पवृक्ष-वल्ली द्वारा अनेक तरह की विभव-सम्पत्तियाँ प्रदान की जाती है, वैसी कुसुम के सदृश अत्यन्त कोमल चैत्ररथ की उद्यानभूमियाँ भी मैंने देख ली, यानी वहाँ के समस्त भोगों का उपभोग कर लिया। हे भगवन्, मेरु के कुंजों तथा विद्याधरों के नगरों में मैंने खूब विहार कर लिया। इतना ही नहीं, मैंने सर्वोत्तम अनेक जाति के विमानों एवं वायु के स्कन्धों की भूमियों में यानी शीतल-मन्द सुगन्ध हवा में भी इच्छानुसार विहार कर लिया। हे भगवन्, देवताओं की सेनाओं में, सुन्दर स्त्रियों की भुजलताओं में तथा हारादि से विभूषित कमनीय नायिकाओं के मनोहर विहारचमत्कारों से युक्त लोकपालों की नगरियों में चिरकालतक विश्राम भी मैंने खूब किया। हे तात, मैंने अब यह

भलीभाँति जान लिया कि इनमें कोई भी पदार्थ सुखदायक नहीं है। मानसिक दुःखरूपी विष की उष्णता से सबके सब दग्ध होकर भस्म हुए–जैसे मुझे प्रतीत हो रहे हैं ॥१०–१३॥

किस तरह के विवेकज्ञान से किस–किसका कैसे–कैसे परिज्ञान किया, इसको पहले चक्षु आदि इद्रियों में दिखलाते हैं।

रूप देखने में अति चपल, स्त्रियों के मुख देखने की स्पृहा रखनेवाले तथा बाह्य और आभ्यन्तर प्रकाशयुक्त नेत्र ने अपने विषयों के सम्बन्ध द्वारा मन को दूषित करने के लिए मुझे भारी दुःख में ढकेल दिया है ॥१४॥ स्त्री के शरीर के यह वस्त्र, आभूषण सिन्दूर आदि ही सौन्दर्य उत्पन्न करनेवाले हैं, रक्त–मांस आदि नहीं, इस तरह के विवेचन के बिना ही एकमात्र रूप के पीछे–पीछे दौड़ने का स्वभाव होने के कारण नेत्र अवस्तु में भी दौड़ जाता है ॥१५॥ तत्–तत् विषयों में आसक्ति रखने से दूषित हुआ रागान्ध यह चित्त, दीपक के रूप से मोहित प्रेमी पतंग की नाईं सर्वोत्कृष्ट मरण आदि अनर्थ के लिए अपने ईच्छित दुर्व्यसनों की ओर झुककर जब तक नानाविध वध, बन्धन, नरक आदि आपत्तियों के वश में पड़ा रहता है तब तक इसे कहीं भी शान्त नहीं मिलती ॥१६॥

नेत्रों में कहे गये भेदों को घ्राण आदि इन्द्रियों में भी दिखलाते हैं।

हे तात्, इस संसार में अनेकविध अनर्थों के लिए चारों ओर खूब दौड़ रहे इस घ्राण को अश्व की नाईं रोकने में मैं समर्थ नहीं हो रहा हूँ ॥१७॥ अतिदोषयुक्त कोई प्रबल शत्रु जबर्दस्ती पकड़कर जैसे किसी पुरुष को दुर्गन्धपूर्ण जल बहानेवाले नगर के बड़े पनाले में 'तुम इसी में बराबर घूमते रहो' ऐसा आदेश देकर नियुक्त कर देता है, वैसे ही श्लेष्मादि दुर्गन्ध भरे जल बहा रहे अपने बिल में मुखश्वासानुसारी इस घ्राणेन्द्रिय ने मुझे नियुक्त कर दिया है ॥१८॥ तथा बहुत दिनों से भक्ष्याभक्ष्य के विचार से हीन इस जिह्वा ने पशुओं में सबसे बलवान् हाथियों और सबसे बुद्धिमान् सियारों से सुरक्षित दुःखों के पहाड़ों पर मुझे पर्याप्तरूप से घायल कर रक्खा है ॥१९॥ भगवन्, त्वगिन्द्रिय की स्पर्शलम्पटता को मैं ऐसे रोक नहीं सकता, जैसे ग्रीष्मकाल के प्रदीप्त सूर्य के ताप को ॥२०॥ हे मुने, सुन्दर शब्द का आस्वाद लेने की अभिलाषावाली श्रवण की शक्तियाँ मुझे विषम परिस्थिति में ऐसे ढकेल देती हैं, जैसे कोमल तृण खाने की इच्छाएँ हरिण को तृणों से ढके भयंकर कूप में ढकेल देती हैं ॥२१॥

तो क्या रूप से लेकर शब्दपर्यन्त सभी विषय तुम्हें दुर्लभ थे, जिससे कि उनके लिए तुम्हें अनर्थ प्राप्त हुआ। इस प्रकार नहीं यह कहते हैं।

मुनिवर, आनन्दजनक, नम्र सेवकजनों से प्रेरित, अतएव प्रणतप्राय वाद्य और गाने के शब्दों से मिली–जुली अनेक शुभ शब्दों की शोभाएँ सुन चुका हूँ ॥२२॥ अपने विषयों से सबका मन हरनेवाली तथा मनोहर शब्दोंवाले मणियों के आभूषणों से युक्त श्री, स्त्री, दिशाएँ और समुद्रों एवं

पर्वतों के मैंने अनेक तट देख लिये हैं ॥२३॥ विनीत स्त्रियों द्वारा लाये गये,मधुर आदि रसों के अनेक चमत्कारों से मनोरम, यथायोग्य मिलाने तथा पकाने आदि के चातुर्य के कारण गुणयुक्त सम्पादित षड्रसों का मैंने चिरकाल तक खूब स्वाद चखा है ॥२४॥ रेशमी मुलायम वस्त्रों, सुन्दर कान्ताओं, अनेक तरह के हारों, पुष्पशय्याओं तथा शीतल-मन्द-सुगन्ध युक्त पवन का भी मैंने भोगभूमियों में सर्वत्र निर्विघ्नतापूर्वक खूब स्पर्श किया है ॥२५॥ हे मुने, सुन्दर स्त्रियों के मुख, चन्दन, खस, अगुरु आदि औषधियाँ अनेक तरह के फूल तथा ढेर-के-ढेर कपूर,कस्तूरी आदि के मिश्रण इन सबकी मन्द-मन्द बह रही वायु से प्रेरित गन्धों का मैं बहुत अनुभव कर चुका हूँ ॥२६॥ हे मुने, मैंने शब्दादि विषयों का खूब श्रवण, स्पर्श और अवलोकन किया। विविध रसों का खूब आस्वाद लिया, तरह-तरह के फूलों को खूब सूँघा। महर्षे, पुनः पुनः इन विषयों का उपभोग करने से ये सबके सब विषय मेरे लिए सूखे काठ की नाईं बिलकुल नीरस हो चुके हैं। ऐसी स्थिति में ये विषय तो मेरे लिए एक तरह से वान्ताशनप्राय (वमन को खाने के सदृश) बन गये हैं, अतः हे भगवन् मुझसे शीघ्र कहिये, अब मैं किसका सेवन करूँ ? ॥२७॥ तृण, गुल्म आदि से लेकर ब्रह्मापर्यन्त के परिणाम में दुःखदायक विषयों का मैंने हजारों वर्षों तक अच्छी तरह भोग किया, लेकिन हे भगवन्, फिर भी मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ॥२८॥ चिरकाल तक निष्कपट राज्य करके, अनेक सुन्दरियों का भोग करके तथा शत्रुओं के सैन्य को खूब चूर्ण-चूर्ण करके भी हे भगवन्, मनुष्य अपूर्व कौन-सा पदार्थ पा जाता हैं ? मेरी समझ में तो उसे नई कोई चीज नहीं मिलती ॥२९॥ भगवन्, जिन हिरण्यकशिपु आदि राजाओं ने तीनों लोक का चिरकाल तक लगातार मनमाना भोग किया तथा जिनके विनाश का साधन इस संसार में कुछ नहीं था, वे सब भी शीघ्र ही भस्मपद को प्राप्त हो गये नामावशेष हो गये ॥३०॥

ऐसी स्थिति में मनुष्य को क्या करना चाहिये, यह कहते हैं।

जिसके प्राप्त हो जाने से फिर कोई दूसरा प्राप्त करने योग्य पदार्थ अवशिष्ट नहीं रह जाता, हे मुने, सो कष्टपूर्ण चेष्टा से भी उसकी प्राप्ति में मनुष्य को सदा प्रयत्नशील बनना चाहिये ॥३१॥

चिरकाल तक अनेकविध बड़े-बड़े भोगों का भोग करनेवाले पुरुषों में भी भोगकाल समाप्त हो जाने पर जिन लोगों ने भोग नहीं किया है ऐसे अन्य पुरुषों की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं दीखती, यह कहते हैं।

जिन-जिन पुरुषों ने अत्यन्त रमणीय भोगों का चिरकाल तक इस संसार में खूब भोग किया, उन सब पुरुषों के मध्य में किसी के भी मस्तक के ऊपर पैदा हुआ कल्पतरु वृक्ष आज तक किसी से नहीं देखा गया, जिससे कि वह पुरुष उस कल्पतरु की छाया में सदैव पूर्णकाम होकर विश्राम करता रहे और न उसके पैर में आकाश में उड़नेवाला विमान आदि ही कोई पैदा हुआ देखा गया, जिससे कि वह सदा ही सर्वत्र विहार करता रहे ॥३२॥ दुःख से त्याज्य होनेवाली इस विषयरूपी

महाजंगल की पंक्तियों में बहुत दिन पहले ही इन इन्द्रियों ने मुझे ऐसे ठग लिया है, जैसे धूर्त बड़े–बड़े लड़के सुशील छोटे बच्चे को ठग लेते हैं ॥३३॥ शब्दादि विषयरूप भूत ही मन को बाहर खींचकर अपने–अपने भोगों के लिए श्रोत्र आदि भाव से स्थित हैं। इन कष्टदायक इन्द्रियनामवाले अपने विषयरूपी शत्रुओं को आज मैंने अच्छी तरह पहचान लिया। ये विषय और इन्द्रियरूपी शठ शिकारी शून्य संसाररूपी जंगल में सन्तप्त नररूपी मुझ मृग को धोखे से फँसाकर बार–बार आश्वासन दे देकर मार रहे हैं ॥३४,३५॥ जिनकी तालू के अन्दर भयंकर विष भरा रहता है ऐसे इन विषय और इन्द्रियरूपी साँपों से जो नहीं डँसे गये हों, ऐसे दो–तीन मनुष्य भी आज तक इस संसार में मुझे नहीं दीख पड़े ॥३६॥

इन्हें अवश्य जीतना चाहिये, यह दिखलाने के लिए इन्द्रियों का ही शत्रु की सेनारूप से वर्णन करते हैं।

हे तात, इस दुष्ट इन्द्रियरूपी सेना को जीतने के लिए कमर कसकर जो खड़े है वे ही इस संसार में सर्वोत्कृष्ट योद्धा हैं। यह दुष्ट इन्द्रियरूपी सेना भोगरूपी भयंकर हाथियों से युक्त है, तृष्णारूपी चंचल वागुरा (हिरन फँसाने का जाल) से युक्त है, लोभरूपी उग्र तलवारों से पूर्ण है, कोपरूपी बरछियों से अंकित है, शीतोष्णादि द्वन्द्वसमूहरूपी रथों से व्याप्त है, अहंकररूपी सेनापति से सुरक्षित है, चेष्टारूपी घोड़ों से यह भरी है, कामरूपी कोलाहलों से युक्त है और यह शरीररूपी नगर के सीमान्त को चारों ओर से आक्रान्त कर स्थित है ॥३७–३९॥ मतवाले ऐरावत का मस्तक फाड़ देना बिलकुल सरल है, लेकिन हे मुनीश्वर, कुमार्ग में प्रवृत्त अपनी इन्द्रियों को रोक रखना सरल नहीं है ॥४०॥ हे साधो, तत्त्वज्ञानियों की भी अपने पौरुष, महत्त्व, महाधैर्य और विश्रान्तिसम्पत्ति की अवधि इन्द्रियों के ऊपर विजय प्राप्त करना ही है ॥४१॥ मनुष्य तभी तक देवताओं की भी मान्यता को प्राप्त करता है जब तक कि तृण की नाईं अपनी कृपण इन्द्रियों से विषयों की ओर खींच नहीं लिया जाता ॥४२॥ हे भगवन्, जो मनुष्य जितेन्द्रिय और महासत्त्व सम्पन्न हैं वे ही पृथिवी के ऊपर मनुष्य हैं। शेष इन पुरुषों को तो मैं चलते–फिरते मांस के अनेक यन्त्र समझता हूँ ॥४३॥ हे मुने, मनरूपी सेनापति की इन्द्रियपंचकरूपी इस सेना को जीतने का यदि कोई उपाय हो, तो कृपाकर बतलाइये, ताकि मैं भलीभाँति इसे जीत सकूँ ॥४४॥

मुझे तो एक ही उपाय मालूम है, इसे कहते हैं।

भोगों की आशा के त्याग के सिवा इन इन्द्रियरूपी भयंकर रोगों की शान्ति के लिए न तो कोई औषधियाँ हैं, न कोई तीर्थ हैं और न कोई मन्त्र ही दीखते हैं ॥४५॥ विषयों की ओर दौड़ रही इन इन्द्रियों ने मुझे परम खेद में ऐसे पहुँचा दिया है, जैसे महाभयंकर जंगल में अकेले जा रहे पथिक को चोर खेद में पहुँचा देते हैं ॥४६॥

इसके बाद तुल्य विशेषणों द्वारा पल्वल आदि के साम्य से इन्द्रियों का वर्णन करते हैं।

कीचड़ों से पूर्ण, मलिन, महादुर्भाग्ययुक्त, दुर्गन्धसहित शेवालों तथा उसके तुल्य गन्दे पदार्थों से कुत्सित ये छोटी–छोटी तलैया और इन्द्रियाँ एक–सी हैं ॥४७॥ दुरतिक्रमणीय जाड्य और हिमों से गहन तथा अनेक तरह का आतंक पैदा करनेवाले ये जंगल और इन्द्रियसमुदाय एक–से हैं ॥४८॥ पंक से उत्पन्न तथा पंक के उत्पादक, छिद्रयुक्त, अत्यन्त दुर्लक्ष्य गुण (वासना और तन्तु) वाले, गाँठों से समन्वित और जड़ अंगोंवाले ये कमलनाल और इन्द्रिय समुदाय तुल्य हैं ॥४९॥ रुक्ष रत्नलुब्ध, तरंगों से युक्त और दुर्ग्रह ग्राहों से भयंकर, लवणसागर के जल और ये इन्द्रियसमुदाय एक – से हैं (☙) ॥५०॥ बान्धवों को उद्वेग पहुँचानेवाले, अन्य शरीर धारण करानेवाले और करुणा से क्रन्दन करानेवाले ये मरण और इन्द्रियसमुदाय समान हैं ॥५१॥ अविवेकियों के शत्रु और विवेकियों के मित्र, गहन, निरवधि तथा जनविश्रान्तिशून्य ये कानन और इन्द्रियगण तुल्य हैं ॥५२॥ घन आस्फोटवाले असार, मलिन, जड़ और विद्युत् प्रकाशवाले (🔔) ये भयंकर मेघ और इन्द्रियसमुदाय तुल्य हैं ॥५३॥ क्षुद्र प्राणियों से गृहीत, महात्माओं से वर्जित तथा रज और तम से अभिभूत (卐) अपनी ये इन्द्रियाँ और कुपथ समान हैं ॥५४॥ नीचे गिराने में अत्यन्त निपुण, दोषाशीविषवाले (🕮) तथा रूखे लाखों कण्टकों से (⛼) युक्त जीर्ण गड्ढों के मुख और ये इन्द्रियाँ तुल्य हैं ॥५५॥ हे महामुने, अपने पेट पालने में प्रवीण, अनार्य, एकमात्र साहस में निरत और अन्धकार में विचरणशील ये राक्षस और इन्द्रियाँ तुल्य ही हैं ॥५६॥ भीतर में खोखले, असार, वक्र, गाँठयुक्त, एकमात्र जलाने में उपयोगी जीर्ण बाँस आदि की लकड़ियाँ और इन्द्रियाँ एक–सी है ॥५७॥ घनीभूत मोहादि के द्वारा चौर्य, कलह, द्यूत आदि दुर्व्यसनों में प्रबन्धनशील, दुष्टकूपों से गहन तथा महाअवकरों से (❀) तुच्छ असज्जनों के नगर और ये इन्द्रियाँ समान हैं ॥५८॥ अनन्त घटादि पदार्थों में

(☙) सुख स्पर्शवाला न होने के कारण लवणसागर का जल रुक्ष है तथा निष्ठुर होने के कारण ये इन्द्रियाँ भी रुक्ष हैं । रत्नों के लिए लोभी ये इन्द्रियाँ हैं तथा रत्नों से युक्त लवणसागर के जल हैं। काम, क्रोध आदि छः तरंगों से युक्त ये इन्द्रियाँ है तथा अपने तरंगों से युक्त लवणसागर के जल हैं। जिन्हें पकड़ लेना सहज नहीं है, ऐसे अनेक ग्राहों से भयंकर तो लवणसागर के जल है तथा दुराग्रहरूपी ग्राहों से भयंकर ये इन्द्रियाँ हैं ।

(🔔) बिजली के समान क्षणभर के लिए सुख का प्रकाश करनेवाली इन्द्रियाँ है तथा बिजली से जहाँ क्षण भर के लिए प्रकाश हो जाता है ऐसे तो ये हैं मेघ ।

(卐) धूलि और अन्धकार से अभिभूत कुपथ हैं और रजोगुण तथा तमोगुण से अभिभूत इन्द्रियाँ हैं।

(🕮) भुजाओं के समान लम्बे-लम्बे विषधरोंवाले जीर्ण गड्ढों के मुख हैं तथा अनेकविध दोषरूपी साँपोंवाली ये इन्द्रियाँ हैं ।

(⛼) विषयरूपी लाखों रुक्ष काँटों से व्याप्त ये इन्द्रियाँ भी हैं ।

(❀) ढेर-के-ढेर कतवारों (कूड़ा-करकटों) से परिपूर्ण होने के कारण असज्जनों के नगर

कारणभूत, भ्रमण और कीचड़ से युक्त ये कुम्हार के चाक और इन्द्रियाँ दोनों समान हैं ॥५९॥

हे आपत्ति से उबारनेवाले भगवन्, इस तरह इन्द्रियों के कारण आपत्ति के सागर में डूबे हुए इस मुझ अकिंचन शरणागत का आप दया करके उपदेश से उद्धार कीजिये, क्योंकि इस संसार में आपके जैसे जो कोई दयावान् बड़े तत्त्वज्ञानी रहते हैं उनकी शरणागति परमशोक नाशक होती है, यों सभी शास्त्र तथा सभी लोग बतलाते है ॥६०॥

छठा सर्ग समाप्त

सातवाँ सर्ग

ब्रह्म की ही सत्ता है, जगत्रूपी दुःख की सत्ता है ही नहीं, यह सारा जगत् अज्ञान के कारण प्रतीत हुआ है तथा अहंकाररूपी बीज से यह जगद्रूपी वृक्ष उत्पन्न हुआ है- इन सबका वर्णन।

भुशुण्ड ने कहा : हे ब्रह्मन्, तदनन्तर विद्याधर के उन पवित्र वचन को सुनकर प्रश्न के अनुसार मैंने सुस्पष्ट पदों से युक्त वाणी से यह उत्तर दिया ॥१॥ हे विद्याधराधीश, हर्ष का विषय है कि आज तुम कल्याण के लिए भाग्यवशात् जाग गये हो चिरकाल के बाद संसाररूपी अन्धकारपूर्ण कूपकुहर से आज तुम निकलने की चाह कर रहे हो ॥२॥ जिस तरह अग्नि से व्याप्त सुवर्ण द्रव–सन्तति अत्यन्त सुन्दरता से युक्त होकर शोभने लगती है, उसी तरह विवेक से निबिड़रूप को व्याप्त हुई तुम्हारी यह पवित्र बुद्धि किसी अनिर्वचनीय सौन्दर्य से शोभित हो रही है ॥३॥ अतः मुझे विश्वास है कि यह तुम्हारी बुद्धि मेरी उपदेशवाणी के अर्थ का बिना किसी प्रयत्न के अवश्य ही आनन्दपूर्वक ग्रहण कर लेगी, क्योंकि निर्मल दर्पण में पदार्थों का प्रतिबिम्ब बिना यत्न के ही पड़ता है ॥४॥ मैं जो कुछ यह कहूँगा, उन सबका तुम 'हाँ' कह करके ग्रहणकर लेना, तुम ग्रहण करने में ही समर्थ हो । मैंने इस विषय में चिरकालतक खूब अन्वेषण किया है, इसमें कुछ भी तुम विचार मत करो ॥५॥

सम्पूर्ण दृश्यप्रपंच का विवेक हो जाने पर साक्षिरूप शुद्ध ब्रह्म ही एकमात्र अवशिष्ट रहता है, यही सम्पूर्ण वेदान्तों का रहस्य है, इस बात का संक्षेपरूप से पहले उपदेश देते हैं।

जो कुछ अहंकार आदि तुम्हारे हृदय में दृश्यरूप से प्रकाशित हो रहा है वह सब तुम नहीं हो। 'दृश्यों में ही कोई आत्मा है उसीको ढूँढ़कर मुझे प्राप्त करना चाहिए' इस तरह अपने हृदय में विचारकर आत्मा का चिरकालतक यदि तुम अन्वेषण करोगे, तो भी तुम आत्मा को प्राप्त नहीं करोगे, इसलिए दृश्यमात्रस्वरूप अज्ञान को छोड़कर तुम दृश्य प्रपंच के साक्षी आत्मा अपने को समझो ॥६॥

जैसे तुच्छ बने रहते हैं वैसे ही ये इन्द्रियाँ भी विषय-वासनारूपी कतवारों से परिपूर्ण होने के कारण अतितुच्छ बनी हैं ।

यह समझना अनुचित होगा कि द्रष्टा और दृश्यरूप सम्पूर्ण प्रपंच का त्याग हो जाने पर शून्यतापत्ति आ जायेगी, क्योंकि सुख-दुःख के वैषम्य के प्रयोजक कल्पित दोषांश की निवृत्ति से वास्तविक परम कल्याणस्वरूप ब्रह्मभाव से परिपूर्ण सभी पदार्थ अवस्थित रहते ही है, इस आशय से कहते हैं ।

न मैं हूँ, न तुम हो और न तो यह सारा संसार ही है, यदि ऐसा तुम निश्चय कर लेते हो, तो बस यह समझ लो कि यह समस्त दृश्यप्रपंच शिवस्वरूप है और न यह तुम्हारे सुख के लिए है और न दुःख के लिए है ॥७॥

ऊपर में जो दृश्यमात्र को अबोधस्वरूप बतला आये हैं, अब उसी का उपपादन करते हैं ।

क्या सुषुप्ति में अहंकारादिभाव से घनीभूत प्रसिद्ध जो अज्ञान है, उसीसे जाग्रत् और स्वप्न स्वरूप यह संसार सारा उत्पन्न हुआ है अथवा पिघले हुए कठिन लोह के समान विलीन हुए जाग्रदादिरूप इस संसार से सुषुप्तिकाल का अज्ञान उत्पन्न हुआ है, इसका बहुत विचार करने पर भी कोई विनिगमक हेतु न होने से कार्यकारणभाव की व्यवस्था हम नहीं समझ रहे हैं । अतः काठिन्य और द्रवावस्था में घृत के एकत्व की नाईं इन दोनों में एकत्व होने से सब कुछ एकमात्र अज्ञानस्वरूप है, यही हमने आखिर में निश्चय किया है ॥८॥

यह सारा जगत् ब्रह्म का विवर्त है, इस तरह इस जगत् में ब्रह्मविवर्तता का अवलोकन ही त्याग है । बाधित हुए जगत् को तुच्छ समझने से तो कोई भी ब्रह्मस्वरूप सिद्ध नहीं होता है, किन्तु अधिष्ठानरूपतापत्ति की भावना करने पर तो सम्पूर्ण पदार्थ ही ब्रह्मरूप सिद्ध हो जाते हैं; यह कहते हैं ।

मृगजल के समान यह सारा विश्व अवस्तुरूप होने के कारण सद्रूप से प्रतीत होने पर भी असद्रूप है । जो कुछ भी भासित हो रहा है वह सब ब्रह्मरूप ही है अथवा यों कह सकते हैं कि यह सारा दृश्यप्रपंच कुछ भी नहीं है या कुछ है ही ॥९॥

उक्त अभिप्राय को विशदरूप से बतलाते हए उसके प्रतिभास का भी खण्डन करते हैं ।

मृगजल के समान यह सारा विश्व कुछ भी नहीं है अथवा कुछ है ही । प्रतिभास्य के अभाव से यहाँ प्रतिभास भी नहीं है (卐) अतः एकमात्र शिवस्वरूप ही यह सारा विश्व स्थित है ॥१०॥

इस अनन्तरूप जगत् का प्रातिस्विकरूप से निरास न हो सकने से उसके बीज के दाह से ही उसका निरास हो सकता है, यह कहने के लिए अहंकार का जगद्रूपी वृक्ष के बीजरूप से वर्णन करते हैं ।

हे विद्याधर, इस अहंकार को तुम विश्व का बीज समझो । क्योंकि एकमात्र इस अहंकार से ही

(卐) तात्पर्य यह है कि जैसे घट का अभाव रहने पर प्रकाश के रहते हुए भी घटप्रकाश नहीं रहता, वैसे ही प्रतिभास्य का अभाव रहने पर प्रतिभास भी नहीं रह सकता ।

पर्वत, सागर, पृथ्वी, नदी आदि के सहित यह जगद्रूपी पुराना वृक्ष उत्पन्न होता है ॥११॥ सूक्ष्म अहंकाररूपी बीज से वह जगद्रूपी वृक्ष उत्पन्न होता है और इन्द्रियों के विषयों में आसक्तिरूपी रस से परिपूर्ण नीचे के वन उस वृक्ष के मूल हैं ॥१२॥ अश्विनी आदि सत्ताईस तारे इसकी प्रधान कलियाँ हैं, अन्य तारों के समूह इसके अन्य कलियों के समूह हैं, प्राणियों की धर्मादिवासनाएँ इसके फूलों के गुच्छों के समूह हैं और पूर्ण चन्द्र फलका गुच्छा है ॥१३॥ महान् लोगों के स्वर्ग आदि लोकवर्ग इसके महान् शाखा समूहों के गर्भप्रदेश है। मेरु, मन्दर, सह्य आदि पर्वत इसकी पत्तों की पंक्तियाँ हैं ॥१४॥ सातों समुद्र इसके आलबालपरिखा (चारों ओर के थाले) हैं, पाताल इसका मूल कोटर है, सत्ययुग आदि चारों युग इसके घुणसमूह (संधि स्थान) हैं तथा प्रत्येक युग के वर्ष, ऋतु और मास आदि इस वृक्ष के पोर (कीड़े) हैं ॥१५॥ अज्ञान ही इसकी उत्पत्ति की भूमि है, अनेक जीव इसके करोड़ों पक्षी हैं, भ्रान्तिज्ञान ही इस वृक्ष का स्तम्भ है यानी सम्पूर्ण शाखाओं के आधारभूत मध्यभाग है तथा तत्त्वबोध से प्रपंचनिवृत्तिरूपी मोक्ष ही इसे जलाने के लिए दावाग्नि है ॥१६॥ इन्द्रियों से अर्थों की उपलब्धि यानी विषयों का साक्षात्कार एवं मन से होनेवाले संकल्प और विकल्प आदि इस वृक्ष के अनेक तरह के सुगन्धप्रसार हैं। अव्याकृत आकाश इसका विपुल वन है तथा नेत्र, ओष्ट आदिका विकार ही इसके शुक्तिजाल–जैसे फूलों का खिलना है ॥१७॥ सब ऋतुएँ इसकी विचित्र शाखाएँ हैं, दसों दिशाएँ उपशाखाएँ हैं, आत्मसंवित् इसके जीवन के लिए रस की धारा है और सूत्रात्मा ही इसका वात स्पन्द है ॥१८॥ प्रतिदिन उदय और अस्त में तत्पर चन्द्र और सूर्य की चंचल किरणें ही इसकी रम्यकुसुम मंजरियाँ हैं और सूर्य के साथ भ्रमण कर रहा अन्धकार ही भ्रमण कर रहे भ्रमर हैं ॥१९॥ इस तरह का यह संसाररूपी वृक्ष मूल से (जड़ से) पाताल को, मध्य से सभी दिशाओं को और अपने मस्तक से अन्तरिक्ष को परिपूर्ण करके वस्तुतः असद्रूप होने पर भी सद्रूप–सा स्थित है। उस अनहंभावरूपी अग्नि से उसका अहंकाररूपी बीज भुन दिये जाने पर जब तक इस शरीर का पतन नहीं हो जाता तब तक जीवन्मुक्तिभोग के लिए प्रतिभास के विद्यमान रहते हुए भी इसके संसाररूपी वृक्ष का जन्मादि के द्वारा पुनः प्ररोह नहीं हो सकता यानी फिर यह अंकुरित नहीं हो सकता ॥२०॥

सातवाँ सर्ग समाप्त

आठवाँ सर्ग

इस संसाररूपी वृक्ष का ज्ञान से उच्छेद तथा यह संसार संकल्पमण्डप के सदृश है, इसका वर्णन।

पूर्वोक्त संसाररूपी वृक्ष का पुनः वर्णन करते हैं।

भुशुण्डीजी ने कहा : हे विद्याधर, जिसका मूलभाग नीचे के सात लोकसहित यह पृथिवी है, इसकी आलबालसहित वेदि लोकालोकान्तर पर्वतों की कन्दराएँ हैं और जो दसों दिशाओं और

आकाश में तिरछे शाखाओं के विस्तार तथा उसकी ओर शाखाओं के प्रसार से एवं तत्-तत् स्थानों में प्राणियों के जहाँ-तहाँ घूमने से अतिचंचल है, इस तरह का यह संसाररूपी वृक्ष अहंकाररूपी बीज से उत्पन्न होता है । ज्ञानरूपी अग्नि से बीज के दग्ध हो जाने पर कुछ भी उत्पन्न नहीं होता ।।१,२।। रत्न की परीक्षा की नाईं तत्त्वदृष्टि से यह क्या है, इसका अच्छी तरह विचार करके 'यह केवल ब्रह्म ही है' यह निश्चय करने पर वह अहंकार कदापि कहीं नहीं रहता, बस यही वह ज्ञान है । इसीसे अहंकार दग्ध होता है ।।३।। शरीर आदि में अहंभावना करने से संसार का बीज अहंकार रहता है सर्वत्र अहंभाव करने से वह नहीं रहता, यही सर्वोत्तम ज्ञान है ।।४।।

सत् या असत् से जिसकी उत्पत्ति की ही संभावना नहीं है उसकी स्थिति ही कहाँ से हो सकती है, वह तो बहुत दूर कहीं भगा दी गई है, ऐसा कहते हैं ।

वस्तुतः जब सृष्टि के प्रारम्भ में ही इस सृष्टि के अभाव का योग है तब कहाँ से अहन्ता, कहाँ से त्वन्ता और कहाँ से हो सकता है द्वित्व एकत्व का भ्रम ?।।५।।

यह संसार तीनों काल में वस्तुतः है ही नहीं, इस पूर्वोक्त अर्थ को दृढ़ करने के लिए संकल्पद्यूतमण्डप का आगे चलकर वर्णन करने की इच्छा कर रहे भुशुण्डजी महाराज पहले भूमिका बाँधते हैं ।

आगे चलकर वर्णित होनेवाले तथा पूर्व में वर्णित हो चुके मूलसहित संकल्प का त्याग करने के लिए उसका उपायक्रम बतलानेवाले गुरु के वाक्य सुन उस गुरु द्वारा कहे गये क्रम से जो अपने प्रयत्न द्वारा स्वयं यत्न करते हैं वे तत्त्वज्ञानप्राप्ति के बाद संकल्परहित कैवल्यनामक परमपद को जीत लेते हैं ।।६।। जैसे पाचक अपने पाक शास्त्र का भलीभाँति अभ्यास कर लेने पर उस पाक शास्त्र में वर्णित विधि से ही नाना प्रकार के भक्ष्य-भोज्य पदार्थों एवं नाना तरह के रसायनों का पाक बनाने से क्षुधा, तृष्णा, रोग, जरा आदि के ऊपर विजय प्राप्त करता है वैसे ही विवेकी पुरुष गुरु-शास्त्रोक्त मार्ग से अपने प्रयत्न द्वारा ही कैवल्यपद को प्राप्त करता है, दूसरी रीति से नहीं ।।७।।

यह सारा संसार स्वप्न एवं इन्द्रजालादि के सदृश अज्ञात चिति का चमत्कारमात्र है, इस चिति से बाहर कुछ भी नहीं है, यह कहते हैं ।

हे विद्याधर, इस संसार को तुम यहाँ एकमात्र चितिका चमत्कार ही समझिए, उससे भिन्न कुछ नहीं । यह न तो दिशाओं में है, न बाहर है और न भीतर ही कहीं है ।।८।।

यह सारा प्रपंच चिति का एकमात्र चमत्कार ही है, इसका उपपादन करते हैं ।

संकल्प के एकमात्र आविर्भाव से ही यह संसाररूपी चित्र दिखाई देता है और उसके अभाव से इस तरह विलीन हो जाता है, जिस तरह कि चित्रकार के चित्त में चित्र ।।९।।

यह सारा संसार संकल्पमात्र कल्पित है, इस कथन को दृढ़ बनाने के लिए संसार में संकल्पद्यूतमण्डप के आकार की कल्पना करते हैं ।

हे विद्याधर, यह संसार मुक्ता और मणियों से विनिर्मित बड़े-बड़े खम्भों से युक्त तथा सुन्दरसुवर्ण से चित्रित लाखों योजन में बहुत दूर तक विस्तृत संकल्पकल्पित एक महामण्डप है ॥१०॥ यह हजारों मणिमय खम्भों से घिरा है, जिसके अग्रभाग में नीचे मुँह करके पिरोये गये सुमेरु की नाईं गुग्गुल लगे हुए हैं। यही कारण है कि कहीं-कहीं हजारों इन्द्रधनुष से व्याप्त-जैसा तथा कहीं-कहीं प्रलयकालीन संध्या के मेघों जैसा यह सुन्दर दिखता है ॥११॥ जिसके भीतर इधर-उधर निवास कर रहे स्त्री, बालक तथा पुरुषों की क्रीड़ा के लिए पाताल, स्वर्ग एवं अन्य लोकों के आकार की पिटारियाँ स्थापित की गई है, जो बीच-बीच में जहाँ-तहाँ अनेकविध नदियों, पर्वतों, जंगलों, हाथियों, घोड़ों, देवताओं, पक्षियों तथा मनुष्यों आदि की तरह-तरह की रचनाओं से युक्त है, वे पिटारियाँ कहीं प्राणियों तथा उनके उपभोग की वस्तुओं से ठसाठस भरी हैं, कहीं अन्धकार के विघातक मणियों, प्रदीपों, सूर्य और चन्द्र आदिकों के द्वारा व्यवहार चलने से शब्दयुक्त हैं एवं कहीं अन्धकारों तथा कहीं प्रकाशों से उनकी विचित्र तरह-तरह की संज्ञाएँ पड़ी हैं ॥१२,१३॥ क्रीड़ा लक्ष्मी के आकारभूत जिस मण्डप के भीतर स्त्रियों के श्रृंगार के लिए कर्णफूल आदि अलंकार प्रदान करनेवाले, सुगन्ध से रमणीय, चंचल मेघपंक्तिरूपी पल्लवों से युक्त अनेक कल्पवृक्ष लगाये गये हैं ॥१४॥ छोटे-छोटे बच्चों के निःश्वास से भी उड़ जानेवाले जहाँ पर कुलपर्वत गेंद बनाये गये हैं और शरत्काल के मेघ ही जिनके हाथ में चँवर धरा दिये गये हैं ॥१५॥

हे विद्याधर, जिस मण्डप में कल्प के अन्तकाल के मेघों ने पंखों के स्थान दखल कर लिये हैं। जहाँ यह सम्पूर्ण भूतल जुआँ खेलने का एक मेज है, जहाँ तारों के सहित आकाश चाँदनी है ॥१६॥ जिस मण्डप के भीतर आकाशरूप चौक में जहाँ संसार के आविर्भाव और तिरोभाव प्रतिरूप दाँव लगाये जा रहे हैं और खेलनेवाले ब्रह्मादि मण्डपस्वामियों के जिस जुएँ में चार प्रकार के जीवसमुदायोंरूपी शारिफलों (शतरंज के मोहरों) का बार-बार जन्म-मरण आदि के द्वारा भ्रमण हो रहा है तथा सूर्य, चन्द्र आदि नवग्रह ही जहाँ पाशे है ॥१७॥ इस तरह संकल्प करनेवाले का संकल्प ही अन्तःकरण में चिरकाल की भावना से जैसे सामने स्थित दृश्य के तुल्य एक तरह से सत्यता को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही विधाता के संकल्पों से सुसमुत्थित यह जगद्रूपी मण्डप चिति का एकमात्र चमत्कारस्वरूप चित्रकार के चित्त में बनाये गये चित्र के तुल्य है ॥१८,१९॥ जो कुछ यहाँ स्फुरित हो रहा है वह सब असत्यरूप ही है। वह प्रतिभास से सत्य प्रतीत हो रहा है, परन्तु परमार्थरूप से तो बिलकुल है ही नहीं। यह असत् ही उत्पन्न हुआ है; न जाने कहाँ से माया के हाथी, घोड़े की नाईं यहाँ उत्पन्न हो गया है ॥२०॥ जैसे सुवर्ण में कटक आदि है वैसे ही जिसने अपने उदरकोटर में संसार को धारण कर रखा है ऐसा यह चिति का चमत्कार ही सब कुछ है तथा संकल्प-विकल्प न करने से ही इसका नाश होता है ॥२१॥ इस तरह इस संसार की उत्पत्ति और नाश तत्त्वज्ञानियों की अपनी इच्छा के अत्यन्त

ही अधीन है यानी तत्त्वज्ञानियों के अपने ऐच्छिक विकल्पों से इसका आविर्भाव तथा अविकल्पों से तिरोभाव होना अत्यन्त ही अपने अधीन है इसलिए हे विद्याधर, जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा ही करो। जो पुरुष अन्न पानादि ऐहिक भोगसामग्रियों में तथा दान, यज्ञ आदि पारलौकिक भोगसामग्रियों में फलों की अनभिसन्धि को प्राप्त हो चुका है यानी जो पुरुष इसलोक तथा परलोक के कर्मफलों की इच्छा से शून्य हो चुका है वह कर्मों का कभी त्याग नहीं करता यानी फलप्राप्ति की इच्छा से शून्य होकर वह कर्म करता ही चलता है। हे विद्याधर, ऐसे उस पुरुष का यह अन्तिम जन्म समझिए ॥२२॥

विवेकज्ञानप्राप्ति से ही तुम्हें मुक्ति अवश्य मिल सकती है, ऐसा मैं अनुमान करता हूँ, यों पुनर्जन्मादि की संभावना से भयभीत हुए उस विद्याधर को आश्वासन देते हैं।

हे शुद्धबुद्धे, अपने पतन के हेतुभूत अविवेक पद की अपेक्षा न करके तीनों जगत् को पवित्र करनेवाली इस दूसरी पुण्यमय विवेक पदवी को तुम प्राप्त हो चुके हो, अतः इस मन से तो तुम फिर अधःपतन में नहीं गिर सकते हो, ऐसा मैं अनुमान करता हूँ। इसलिए तुम वाणी और मन की चेष्टा से शून्य निर्मल चिन्मात्रपद का अवलम्बन करके मन आदि इस दृश्यसमूह का परित्याग कर दो ॥२३॥

आठवाँ सर्ग समाप्त

नौवाँ सर्ग

चिति के अधीन जगत् का उदय, ध्वंस, सत्ता, स्फूर्ति तथा परिवर्तन है और
यह सारा विश्व चिन्मात्र चिति का स्फुरण है – यह वर्णन।

'हेम्नीव कटकादित्वं संसारोदरकोटरः'। चिच्चमत्कार एवायमविकल्पन संक्षयः॥ (नि.प्र.उत्त. सर्ग ८।२१) यह जो कहा गया है सो, इन दोनों का अनुभव कराने की इच्छा कर रहे भुशुण्डजी अविकल्प की रीति का सबसे पहले उपदेश दे रहे हैं।

हे निष्पाप विद्याधर, विषयों तथा विषयों में रहनेवाले क्रिया, गुण, दोष आदि के प्रकाशक चिद्रूप का तनिक भी स्मरण न करते हुए तुम निर्मल जल में प्रविष्ट सूर्य की किरणों की नाईं सर्वविध तापशून्य प्रकाशमात्रावशेष होकर बैठे रहो ॥१॥

'संसारोदरकोटरः' चिच्चमत्कार एवायम्' इसका भी उपपत्तिपूर्वक अनुभव कराते हैं।

जाड्यदुःखपरिणामित्वादिरूप अपना चिति का असादृश्य रहने पर भी तत्सदृश यह सारा दृश्य प्रपंच चेतना के कारण ही चेतन के भीतर, समुद्र में अग्नि के सदृश विद्यमान है, अन्यत्र नहीं। तात्पर्य यह है कि यदि अन्यत्र यह विद्यमान होता, तो उससे असम्बद्ध चेतना के द्वारा इसका प्रकाश कभी नहीं होता और ऐसा कोई पदार्थ है नहीं, जो अचेत्यमान सिद्ध हो सके तथा चेतना सक्रिया भी

नहीं है, इससे कि अन्यत्र विषयों में जाकर चैतन्य प्रदान कर सके। यदि वह चेतना सर्वगत मान ली जाती है, तब तो हे विद्याधर, हमारी प्रतिज्ञा सिद्ध हो चुकी, यह तुम समझ लो ॥२॥

इस तरह सम्पूर्ण दृश्यप्रपंच की देशतः स्थिति चिति के अन्दर सिद्धकर अब उसे कालतः सूचित करते हुए चिति की कार्यता सिद्ध करते हैं।

चिति अपनी चेतनाशक्ति से सचेतन और अचेतन पदार्थों की पूर्व के ही समान हेतु (विवर्तोपादान) ऐसे हैं, जैसे कि अग्निज्वाला के विनाश और उत्पत्ति का हेतु पवन है। तात्पर्य यह है कि चिति का विवर्त ही चिति का चमत्कार है ॥३॥

इसमें 'अहम्' इस सचेतनांश के त्याग द्वारा ही सचेतन और अचेतन दोनों अंशों के त्याग की सिद्धि हो जाने से चिन्मात्र की अवस्थिति सिद्ध हो जाती है, यह कहते हैं।

अहम्पदार्थ कुछ नहीं है, यों अहंकार के आस्पद अंश का बाध करके प्रत्यक् चिद्रूप को शेष रखकर विकल्प के हेतुओं के क्षय से ही विकल्पनिर्मुक्त पूर्णचिति में तुम्हारी विश्रान्ति हो जाय। शेष बचे प्रारब्ध का क्षय होने पर तो जिस रूप से स्थित रह सकते हो, उसी रूप से तुम स्थित रहो ॥४॥

जल से पूर्ण दूध का जल नष्ट हो जाने पर भी जो रूप शेष रहता है उसी के समान तुम्हारा अनुपम ब्रह्मरूप ही शेषरूप रहता है, यह कहते हैं।

जैसे स्वच्छ जलसमूह के बाहर और भीतर सब जगह जल–ही–जल दीखता रहता है वैसे ही समस्त पदार्थों के बाहर और भीतर चिद्रूप से तुम्हीं स्थित दीखते हो ॥५॥

हे विद्याधर, यह अहंपदार्थ बिलकुल नहीं है, यों अहंकार का त्यागकर यदि तुम्हारा चिद्रूप चिति में पूर्ण ऐक्य को प्राप्त हो जाय, तो बताओ तो सही, तुम्हारे सिवा भला ऐसी प्रकाशित कौन–सी दूसरी वस्तु है, जिससे कि किसी अन्य के साथ ब्रह्मरूप तुम्हारी उपमा दी जाय ? ॥६॥ सुर और असुरों से व्याप्त पाताल, पृथिवी और स्वर्ग की नाईं स्थित एवं प्रीति, हर्ष, क्रोध, युद्ध, जय, पराजय आदि नाना भावों से तथा पलायन, अनुधावन आदि अत्यन्त वेगपूर्वक दौड़ने आदि भावों से व्याप्त तत्–तत् अनुरूप क्रियाकाल से व्याकुल हुआ–सा रंगमय चित्र में लिखित जगत्, दीवार में लिखित मुनिशरीर की नाईं, जैसे व्यापारशून्य ही स्थित रहता है वैसे ही मायाशबल चितिरूपी चित्रकार के द्वारा विरचित यह जगद्रूपी चित्र भी शुद्ध चिदाकाशरूपी दीवार में विकारशून्य अद्वयात्मरूप से ही संस्थित है, जगत्भाव से नहीं ॥७,८॥ अचेतन या चेतन (मिथ्या जगद्रूप या परमार्थ सद्ब्रह्मरूप) जो ही अपने–आप चिति में चित्रित होता है वही सब चेतनरूप हो जाता है। ये दोनों तुम्हारे अधीन हैं, अब इनमें जो तुम चाहो, सो करो–तुम्हारी इच्छा हो, तो समाधि लगाओ या न हो, तो उससे विरक्त हो जाओ ॥९॥ अज्ञानियों की अपेक्षा तत्त्वज्ञानियों में सिर्फ यही विशेषता रहती है कि जैसे मरुस्थल में महानदी आदि के रूप से दिखाई दे रही सूर्य की किरणें मज्जन, मरण आदि का भय उत्पन्न हो जाने पर उनको तैर जाने का कोई समुचित उपाय न सूझने

से मरुस्थल का ज्ञान न रखनेवालों को तट के इधर ही रोक रखती हैं, जिन महापुरुषों को मरुस्थल का असली ज्ञान हो चुका है उन्हें नहीं। उन्हें तो स्वच्छ भासती हैं; वैसे ही एक के विज्ञान से तत्त्वतः सबका विज्ञान हो जाने पर तत्त्वज्ञानियों को, चिदाकाश में स्फुरित हो रही ये चिति की चमत्कृतियाँ कुछ भी बाधा नहीं पहुँचाती। उन्हें तो बिलकुल स्वच्छ मालूम पड़ती हैं, किन्तु अज्ञानियों को तो अवश्य ही बाधा पहुँचाती हैं ॥१०॥

अज्ञानियों को तो बाधा पहुँचाती ही हैं, इस आशय से कहते हैं।

तिमिर रोग से आक्रान्त नेत्रोंवाले पुरुषों को आकाश में जैसे केशोण्ड्रक आदि स्फुरित होते हैं, वैसे ही संसार में ही अवस्थित रहनेवाले अज्ञानी पुरुषों को यह जगद्रूप स्फुरित होता है *(ज्ञानी पुरुषों को नहीं, वे तो सबको ब्रह्मरूप से ही देखते है)* ॥११॥

मरुस्थल में सूर्य की किरणों की नाईं यह जो ऊपर का दृष्टान्त बतलाया गया है उसका दूसरी रीति से भी वर्णन करते हुए उपसंहार करते हैं।

हे विद्याधर, यों 'तुम और मैं' इत्याकरक अवबोधस्वरूप यह जगत् आभासमात्र यानी पूर्ववर्णित चिति का एकमात्र चमत्कार ही है, अतः यह अज्ञानियों की दृष्टि से ही उत्पन्न हुआ है, ज्ञानियों की दृष्टि से नहीं। एकमात्र सूर्य की किरणों से जिसकी रचना हुई है ऐसे गन्धर्वनगर के समान इस व्यवहारभूमि में दीवारआदि जगत् है। जगद्रूप से तो यह सब आकाश में लता की नाईं बिलकुल सत्य नहीं है। *(अतः यह जगत् चिति का निरोधक नहीं है। हे विद्याधर, मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि इस तरह चिति की अपरिच्छिन्नता सिद्ध हो चुकी है)* ॥१२॥

नौवाँ सर्ग समाप्त

दसवाँ सर्ग

निर्विकार और कारणशून्य ब्रह्म ही यह सब स्थित है,यह जगत् कभी कहीं नहीं था, यह वर्णन ।

ब्रह्म में जगत् का अपलाप सिद्ध करने के निमित्त उसकी जड़ता का खण्डन करने के लिए जड़रूप से अभिमत जगत् की चिद्रूपता का अनुभव कराते हैं।

हे विद्याधर,चेतन से भिन्न माने गये इस जगत् के स्फुरण को तुम चेतन से ही उत्पन्न जानो क्योंकि चेतनता स्फुरणरूप ही होती है (🕭)। जैसे जल में प्रतिबिम्बित अग्नि जल से भिन्न नहीं है वैसे ही यह जगत् भी चेतन से भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं है। अतः चैतन्य और जाड्य ये दोनों तनिक भी भिन्न नहीं हैं यानी जल की शीतलता से अलग प्रतिबिम्बभूत अग्नि की गरमी की नाईं चैतन्य से तनिक भी अलग जाड्यनाम की कोई दूसरी वस्तु नहीं है ॥१॥

(🕭) तात्पर्य यह है कि यदि वह जगद्रूप स्फुरित होता है, तो फिर वह चेतन ही है, चेतन से इतर नहीं है ।

एकमात्र जाड्य के अपलाप से ही जगत् का अपलाप सिद्ध करके विक्षेपशून्य होकर स्थित रहो, यह कहते हैं।

इसलिए हे विद्याधर, ज्ञान और अज्ञान में अभेद होने से परिच्छेदशून्य चित्रकार के चित्त में बने हुए चित्रस्थ उसके ज्ञान या गन्धर्वनगर के अधिष्ठान आकाश के मध्य के समान स्वस्थ स्थित रहो ॥२॥

'प्रलयकाल में भी अचिद्रूप जगत् सूक्ष्मरूप से ब्रह्म में स्थित रहता ही है' जो श्रुति और स्मृति में वचन मिलते हैं वे मायाशबल के सर्वशक्ति सम्पन्न होने के कारण असत्यपदार्थों में भी ब्रह्मसत्ता की आरोप दृष्टि से ही व्यवहृत हुए मिलते हैं, जैसे कि भविष्य में उत्पन्न होनेवाले जल के स्वल्प फेन में वर्तमानकाल में उपस्थित जल की सत्ता से सत्ताव्यवहार मिलता है, इसी अभिप्राय से कहते हैं।

सम्पूर्ण शक्तियों से सम्पन्न होने के कारण ब्रह्म में अचित्त्व उसी तरह रहता है, जिस तरह अक्षुब्ध निर्मल जल में भविष्यत् फेनलव ॥३॥

वास्तविक दृष्टि से तो माया के असत्त्व होने के कारण निर्विकार अद्वितीय वस्तु में किसी तरह का क्षोभ और उसका हेतु न होने से जड़ सृष्टि की उत्पत्ति की संभावना ही नहीं है, यह कहते हैं।

कारण के बिना जैसे जल में फेन का लेश उदित नहीं होता, वैसे ही कारण के बिना ब्रह्म से सर्ग आदि भी उदित नहीं होता ॥४॥ तथा इस सृष्टिरचना में अकारण ब्रह्म में कोई कारण नहीं है। जगत् आदि कुछ भी इससे न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट ही होता है ॥५॥ कारण का अत्यन्त अभाव होने से जगत् आदि कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। मरुस्थल में जल की नाईं सामने देखा गया भी यह जगत् सर्वथा है ही नहीं ॥६॥ अज, शान्त और अनन्त ब्रह्म ही सब कुछ है, अंतःकरण का अभाव होने से यह निश्चित हो गया है कि सर्गबुद्धि भी नहीं है। चूँकि यह जगत् इत्यादि कुछ भी नहीं है, इसलिए यह सिद्ध है कि एकमात्र अखण्डित ब्रह्म ही सब कुछ है ॥७॥ इसलिए हे विद्याधर, तुम शिला के उदर के समान तथा आकाशकोश के सदृश हो। ब्रह्मैकघनस्वरूप होने के कारण तुम अज और अवयवरहित भी हो ॥८॥ हे विद्याधर, तुम ज्ञानरूप हो, किसी एक विशेषरूप का निश्चय न होने से सबमें अनुगत सत्तासामान्यस्वरूप होने के कारण तुम किंचिद्रूप तो अवश्य ही हो तथा विशेष का बाध होने पर सत्तासामान्य की भी निवृत्ति हो जाने से एवं एकरूप का निश्चय हो जाने से किंचिद्रूप भी नहीं हो। हे विद्याधर, बुद्धि तथा चिदाभासशून्य इस आत्मा में अपने-आप शान्त हो जाओ ॥९॥

प्रयोजन की अपेक्षा न चाहने से भी यह सृष्टि नहीं है, यह कहते हैं।

अज परमात्मा के नित्यानन्दस्वरूप होने के कारण कार्यसम्पादन करनेवाला कोई कारण नहीं है क्रिया निमित्त कोई फल नहीं है। इसलिए सृष्टि आदि का संभव न होने पर जो कुछ है, वह सब अज शिवस्वरूप ही है ॥१०॥

इस तरह तत्त्वदृष्टि से नित्यमुक्तता की सिद्धि का उपपादन करके इसका स्वीकार न करने पर मूर्खों में नित्यबद्धता की प्रसक्ति अनिवार्य होगी यानी मूर्ख सब नित्यबद्ध अवश्य रहेंगे, इसमें सन्देह नहीं, यह कहते हैं।

अपनी मूर्खता में विलास करनेवाले जिन जीवों की दृष्टि में अजन्मा चिद्रूप नहीं है उनके लिए सृष्टि के नाश या उत्पत्ति के विषय में क्या विचार किया जाय। तात्पर्य यह है कि अनिर्मोक्ष दोष की सत्ता बनी रहने से उनके विषय में मोक्षोपाय की चिन्ता बिलकुल व्यर्थ है ॥११॥

अर्धप्रबुद्ध पुरुषों की दृष्टि से जैसी संसार की स्थिति रहती है, उसे कहते हैं।

जहाँ-जहाँ पर ब्रह्म है वहाँ-वहाँ जगत् के शब्दार्थरूप से शून्य इस तरह अनेकों जगत् हैं ही ॥१२॥ तृण, काष्ठ, जल और दीवार में सर्वत्र ही परब्रह्म स्थित है तथा सभी जगहों में सृष्टि का समूह परस्पर गुँथा हुआ स्थित है ॥१३॥

तब तो ऐसी दशामें ब्रह्म का मिथ्यासर्ग ही स्वभाव कहिये, हानि क्या है इस आशंका पर 'नहीं' यह कहते हैं।

ब्रह्म का क्या स्वभाव (*) है, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनन्त परम ब्रह्मतत्त्व में स्वत्व और अस्वत्व दोनों का रहना अत्यन्त असंभव है ॥१४॥

व्यावर्तक में 'स्व' शब्द का असंघटन कहकर 'भाव' शब्द का असंघटन भी दिखलाते हैं।

अभाव की अपेक्षा रखनेवाले 'भाव' का भी सम्भव न होने से अनन्त परब्रह्म में स्वभाव आदि दुरुक्तियाँ अपना पैर नहीं जमा सकती ॥१५॥

व्यावर्त्य पदार्थ की प्रसिद्धि न रहने से भी 'स्व' और 'अभाव' इन दोनों पदों का संघटन नहीं बैठता, यह कहते हैं।

नित्य, अनन्त परब्रह्म में अस्वत्व और अभाव इन दोनों का अत्यन्त सम्भव न होने से स्वतःसिद्ध अव्यावर्तक स्वत्व और भावों में व्यवहृत स्वभाव शब्द का प्रयोग लोक में नहीं बैठता। कहने का तात्पर्य यह है कि स्वभाव शब्द का जो तात्त्विक अर्थ है वह लोक में बिलकुल नहीं घटता ॥१६॥

जिस तरह ब्रह्म में सृष्टि आदि की सिद्धि न होने से वह अद्वय सिद्ध होता है उसी तरह प्रत्यगात्मा जीव में भी अहन्ता आदि की सिद्धि न होने से वह अद्वय सिद्ध होता है, यों दोनों तरह से विचार होने पर अखण्डता ही सिद्ध होती है, इस आशय से कहते हैं।

हे साधो, बुद्धि से विचारकर देखने पर तो अहन्ता कहीं उपलब्ध नहीं होती है। बच्चे के सामने वेताल के सदृश असद्रूप ही यह कहीं से आ टपकी है ॥१७॥ अहन्ता के शब्दार्थों से मुक्त जो

(*) अपना जो व्यावर्तक धर्म है उसे स्वभाव कहते हैं। उस स्वभाव की धर्मता अस्वभाव के व्यावर्तकरूप से ही कहनी पड़ेगी, इसलिए यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्म का क्या स्वभाव है, क्योंकि उसमें स्वत्व-अस्वत्व नहीं है।

उपलब्ध होता है वह परब्रह्म ही है तथा अहन्ता के शब्दार्थों से युक्त जो उपलब्ध होता है वह शास्त्र और आचार्य के अुनभव से परीक्षा करके तत्त्वदृष्टि से देखने पर तो विलीन हो जाता है ॥१८॥

इस दृष्टि से जैसे जाड्य चित्स्वभाव को प्राप्त है वैसे ही जीव और जगत् का भेद भी अभेदस्वरूपता को ही प्राप्त है, यही दिखलाने के लिए सुवर्ण और कटक में अभेद दृष्टान्त पहले अनेक बार कहे जा चुके हैं, इसी अभिप्राय से अब उपसंहार भी करते हैं।

जगत् और ब्रह्मदृष्टि में जो भेद प्रतीत हो रहा है वास्तव में वह अभेद ही है। जगत् और ब्रह्म ये दोनों पर्यायशब्दों के अर्थविलास के तुल्य हैं। 'राहू का सिर' इस व्यपदेश के सदृश संकल्पमात्र ही इस भेद को विद्वानों ने कहा है, सत्य नहीं कहा है। जैसे सुवर्ण और कटक में अभेद है, वैसे ही जगत् और ब्रह्म इन दोनों में अभेद है ॥१९॥

दसवाँ सर्ग समाप्त

ग्यारहवाँ सर्ग

इन्द्रियों को जीतकर पूर्ण ब्रह्म परमात्मा में मन की स्थिति तथा
देह आदि दृश्य पदार्थों में अनात्मभावना दृढ़ करनी चाहिए, यह वर्णन ।

भुशुण्डजी ने कहा : हे विद्याधर, वस्त्रों से न ढके अपने शरीर में लगे हुए शस्त्रों के आघात और तरुणी के स्तन आदि अंगों का अनुभव करके भी जो बुद्धिमान् पुरुष बिलकुल समभाव में स्थित है वही परमपद में स्थित है। तात्पर्य यह कि जब तक वैसी स्थिति नहीं आ जाती तब तक मनुष्य को इन्द्रियों के ऊपर विजयप्राप्त करने की दृढ़ चेष्टा और आत्मनिष्ठा से विरत नहीं होना चाहिए ॥१॥

इसी अर्थ को स्पष्टरूप से कहते हैं।

बड़े धैर्य के साथ अपने पुरुष प्रयत्न के द्वारा मनुष्य को तब तक इन्द्रियों के ऊपर विजय प्राप्त करने का अभ्यास निरन्तर करते रहना चाहिए, जब तक कि शस्त्र और कान्ता, आदि बाह्य पदार्थों से उत्पन्न हो रहे विकारों को मिथ्यात्व बुद्धि से दूर फेंककर एकमात्र स्वात्मसुख विश्रान्तिरूप सुषुप्तता नहीं उदित हो जाती ॥२॥

मानसिक पीड़ाओं का संस्पर्श न होना ही दृढ़ तत्त्वज्ञान का लक्षण है, यह कहते हैं।

यथार्थ परमात्मतत्त्व को जाननेवाले पुरुष को सामने उपस्थित भी मानसिक पीड़ाएँ (卐) तनिक भी ऐसे नहीं लिप्त कर पाती जैसे कमल को जल नहीं लिप्त कर पाते ॥३॥ आकाश के सदृश स्वच्छ विविध प्रकार के चमकते हुए शस्त्रों तथा देदीप्यमान अनेक स्त्रियों के असंवित् में – शरीर में खूब संलग्न हो जाने पर भी (चिपक जाने पर भी) उन्हें असंलग्न–सा जो

(卐) जैसे कि शुक्ति में यह रजत नहीं है, किन्तु शुक्ति ही है, यह यथार्थ ज्ञान हो जाने पर उस शुक्ति में रजत के लाभ या हानि जनित किसी तरह की मानसिक पीड़ा नहीं देखी जाती, यह भाव है ।

शान्तात्मा देखता है, वही यथार्थ में देखता है यानी उसीको सचमुच यथार्थ में साक्षात्कारी ज्ञानवान् समझना चाहिए ॥४॥ जैसे विष अपने ही स्वरूप में घुण (कीड़ा) आदि विकारभाव को प्राप्त होता है और वह घुणता भी विष से अन्य कोई पदार्थ नहीं होती, वैसे ही अपने स्वरूप का परित्याग न करते हुए ब्रह्म भी स्वतत्त्व के एकमात्र परिज्ञान से नष्ट हो जानेवाली जीवरूपता को यानी जीवाकार विवर्तन को प्राप्त होता है। कहने का मतलब यह कि जीवता कोई ब्रह्म से भिन्न पदार्थ नहीं है ॥५,६॥ अमरणस्वभाव जड़ विष अपने विषस्वभाव को न छोड़ते हुए ही जैसे मरणस्वभाव कीटरूप जीव होता है वैसे ही ब्रह्मचिति भी अपने रूप का त्याग न करती हुई मरणस्वभाव जड़रूप को प्राप्त हो जाती है ॥७॥

घुण की नाईं उत्पन्न हुए जीव की तरह यह सारा संसार भी उत्पन्न हुआ है यह कहते हैं।

विष में कीट के समान ब्रह्म में ब्रह्म से अनन्य होते हुए भी उससे अन्य सदृश भासमान यह सृष्टिरूप दुष्ट घुण भी कहीं से आविर्भूत हुआ है। यद्यपि यह उसी में स्थित उसी का रूप है तथापि उससे अन्य और उसमें स्थित नहीं सा भासता है ॥८॥

कृमि में जैसे विषस्वभावदृष्टि से जन्म और मरण नहीं होते, परन्तु आत्मस्वभावदृष्टि से तो होते ही हैं, वैसे ही जीव में भी ब्रह्मस्वभावदृष्टि से जन्म और मरण नहीं होते, किन्तु जीवस्वभावदृष्टि से तो होते ही हैं, यह कहते हैं।

जैसे विष अपने विषरूपी स्वभाव को न छोड़कर ही अपने अन्दर क्रमशः कृमि होता है तथा विषदृष्टि से न जन्म लेता है और न मरता ही है, किन्तु कृमिदृष्टि से मरता है, जन्म भी लेता है, वैसे ही यह आत्मा ब्रह्म भी ब्रह्मस्वरूप से न जन्म लेता है और न मरता है, किन्तु जीवस्वभाव से जन्म लेता और मरता भी है ॥९॥ देह, इन्द्रिय आदि विषय पदार्थों में अहन्ता-ममता की आसक्ति से अपने स्वरूप को तिरोहित न करके मनुष्य श्रवण, मनन आदि प्रयत्न द्वारा निष्पादित आत्मसाक्षात्कार ज्ञान के प्रयोजनभूत अपने से ही इस भवसागर को गाय के खुर के समान तैर जाता है, न कि मुझे इस संसारसागर से दैव (प्रारब्ध) पार लगायेगा, इस प्रयत्न की उपेक्षा करके ॥१०॥

सम्पूर्ण दृश्य पदार्थों का बाध हो जाने पर परिशिष्ट बचे परम दरिद्ररूपी एक आत्मस्वरूप में भला विश्रान्ति सुख की संभावना ही कैसे ? इस प्रसक्त अवहेलना का निवारण करते हैं।

सम्पूर्ण भावों को मात कर देनेवाली समस्त पदार्थों की सार सुखरूपावस्था तथा सांसारिक सभी तापों की निवृत्ति हो जाने से आन्तरिक शीतलता जिसमें विद्यमान है ऐसे परिपूर्ण आत्मस्वरूप में हे विद्याधर, किस तरह की अवहेलना हो सकती है ? ॥११॥

जीव के मन, अहंकार आदि कलंक की निवृत्ति में उपाय बतलाते हैं।

जागतिक सम्पूर्ण पदार्थों की सत्ता के भीतर सन्मात्रब्रह्मरूप से भावित निर्मल आत्मा में मन,

अहंकार, बुद्धिआदिरूप भला कौन–सा कलंक रह सकता है ? ॥१२॥ जैसे घट, पट आदि पदार्थों को तुम तटस्थरूप से देख रहे हो, वैसे ही हे विद्याधर, अहन्ता आदि का अभिमान छोड़ करके शरीर को पहले तटस्थरूप से देख लेने के बाद तुम अहन्ता, मन, बुद्धि और ज्ञान आदि को भी तटस्थरूप से ही देखते रहो ॥१३॥ तदनन्तर हे विद्याधर, सर्वसाक्षिस्वरूप होकर तुम बाह्य जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों तथा आन्तरिक मन, बुद्धि आदि का अनुभव न करते हुए अपनी स्वाभाविक स्थिति से बैठे रहो ॥१४॥

उस स्थिति में सम्पूर्ण गुण, दोष आदि के विक्षेपों के हेतुओं की शान्ति रहती है, यह कहते हैं ।

उस ज्ञानरूप अवस्था में सम्पत्ति या विपत्ति तथा उससे उत्पन्न सुख या दुःख किसी कारण से भी इस संसार में किसी को कभी भी कोई गुण या दोष उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि उस दशा में कर्तृता के न रहने से भोक्तृता भी नहीं रहती (📖) ॥१५॥

ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

बारहवाँ सर्ग

अहंभाव भ्रान्तिमात्र है, जगत् का भ्रम चिति का विवर्त है,
उसकी मूल अविद्या है तथा अविद्या के नाश का क्रम क्या है–इन सबका वर्णन ।

अविद्या ही अहंभावरूपी सूक्ष्मप्रपंचभाव है । उसी की स्थूलरूपता होती है । इस रीति से समस्त विकल्पों के चिति का विवर्तमात्ररूप होने से सबमें एकता दिखलाते हैं ।

भुशुण्डजी ने कहा : हे विद्याधर, आकाश में ही दूसरा आकाश उत्पन्न हुआ यों अपने मन से एक दूसरे आकाश की कल्पना कर लेना ही जैसे एक ही आकाश में भेद की भ्रान्ति है, वैसे ही अज्ञात आत्मा में सूक्ष्मप्रपंचात्मक सद्रूप अहंभाव की कल्पना करना एकमात्र भ्रान्ति है ॥१॥

दृष्टान्त में कल्पना करनेवाला तो कोई तीसरा ही पुरुष प्रतीत होता है वह तीसरा कौन है, यह पूछने पर उसे बतलाते हैं ।

आकाश में ही दूसरा आकाश उत्पन्न हुआ है । इस भ्रान्तिका कल्पक जैसे अहंभाव है वैसे ही अविद्या से आच्छादित होने से असत्–सा प्रतीत हो रहा अतएव शब्दादि से अव्यहार्य आत्मरूप सद्वस्तु ही कल्पक है ॥२॥ जैसे आकाश में अद्वितीय आकाशात्मा ही है, दूसरे आकाश को तो कल्पक पुरुष का संकल्पअवच्छिन्न चिद्रूप अपने संकल्पात्मक शरीर की ही उस रूप में कल्पना करके जानता है वैसे ही चूँकि अविद्या उपहित चिदात्मा अपने अविद्या रूप शरीर की 'मैं और यह' इत्यादि अभिमन्ता और अभिमन्तव्यरूप से कल्पना करके अवभासता है । इसलिए अज्ञान से अन्य न अहंभाव है और न अनहंभाव ही है ॥३॥ इसलिए हे विद्याधर, प्रत्येक को यह समझ लेना चाहिए

(📖) देखो यह श्रुति क्या कह रही है – 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' ।

कि वह चिद्रूप ऐसा है कि जहाँ परमाणु के आगे महामेरु की नाईं आकाश भी अति स्थूल है। सम्पूर्ण कल्पनाओं का अधिष्ठानभूत वह ब्रह्म परमसूक्ष्म है। उसी अतिसूक्ष्म ब्रह्मचिति की कल्पना आकाशादि यह स्थूल जगत्-रूप है ॥४॥

उस ब्रह्म की परम सूक्ष्मरूपता का उपपादन करते हैं।

आकाश से भी अत्यन्तसूक्ष्म अज्ञानरूपी अनादि विवर्त है, जो कि आत्मचिति अत्यन्त स्थूल है उस तरह का परमसूक्ष्म चेतन ही 'मैं, 'यह' इत्यादिरूप अनादि वासना से उत्तरोत्तर स्थूल हुए अपने स्वभाव की कल्पना करके जो सब पदार्थों को जानता है वही यह सब सृष्टिरूप से स्थित है ॥५॥ जैसे आवर्त आदि विकार जलद्रव के प्रसार हैं, वैसे ही आत्मा में अहन्ता आदि आध्यात्मिक तथा आकाश आदि आधिभौतिक यह जगत् आत्मचेतन विस्तृत विवर्तरूप है ॥६॥ चिति के विवर्त का अभाव ही प्रलय है, जो निश्चल जलद्रव की नाईं, स्पन्दनशून्य पवन के आकार के सदृश तथा आकाशहृदय के तुल्य है ॥७॥ इस तरह देश, काल आदिजगत् तथा इसके अवान्तर हजारों कार्यरूपी प्रसारों में भी एकमात्र घन, शून्य और निराभास चिति के विवर्त के सिवा अन्य कोई पारमार्थिकरूप उपपन्न नहीं है ॥८॥

इसमें उपपत्ति दिखलाते हैं।

चिति का ही विवर्त होने से काल, आकाश, नौका,जल, स्थल, निद्रा, जाग्रत् और स्वप्न में यह जगत् उदित के सदृश भासता है ॥९॥

चिति का जगत् के आकार में परिणामस्वरूप वास्तविक प्रसार क्यों नहीं है, इस पर कहते हैं।

आकाश से भी अत्यन्त अधिक स्वच्छ होने तथा संचलन आदि सब तरह विकारों से शून्य होने से चिति का विस्तार और संकोच वास्तव में नहीं होता *(अतएव इस संसार की उत्पत्ति और नाश एकमात्र ज्ञान से ही सिद्ध है)* ॥१०॥

सुख-दुःख आदि भोगों के अनुभवरूप तथा देह आदि में अहंभावरूप विकार तो चिदात्मा में दिखाई देते हैं, यदि यह कोई आशंका करे, तो उस पर कहते हैं।

ज्ञानस्वरूप आत्मा विषयजनित सुख-दुःख आदि भोगों का अनुभव नहीं करता और न इस आत्मा में यह तथा 'मैं' यह व्यवहार ही रहता है। किन्तु जल में द्रवत्व के समान अद्वितीय आत्मा भीतर अपने कूटस्थ स्वभाव में स्थित हैं। तात्पर्य यह है कि भोगादि विभ्रम चिदाभास को ही होते हैं, कूटस्थ आत्मा को नहीं होते ॥११॥ संकल्पशून्य आत्मा चिन्ता, लज्जा, हर्ष, भय, स्मृति, कीर्ति तथा इच्छा आदि मन की वृत्तियों के हेतु बाह्य विषयों को ऐसे नहीं देखता, जैसेकि अन्धकार में साँप के पैर ॥१२॥ हे विद्याधर, ब्रह्मरूपी चन्द्रबिम्ब से स्फुरित जीव चिदाभासरूपी ज्योत्सना के अंशभूत चाक्षुष आदि ज्ञानमय अमृत का द्रवरूपी जो यह सर्ग है वह परमेश्वर से भिन्न नहीं है, क्योंकि इस सृष्टि के आधारभूत दिशा (देश) और काल इन दोनों का निरवयव

और निष्क्रिय ब्रह्म में रहना संभव नहीं है। दिशा के रहने पर ही मूर्तद्रव्य की क्रिया से सर्गकाल की कल्पना की जा सकती है और वह क्रिया पहले से तो उपस्थित है नहीं। एवं काल के रहने पर ही दिशा आदि की उत्पत्ति की कल्पना की जा सकती है, लेकिन प्रलय में वह भी नहीं है, कारण कि क्रिया के अतिरिक्त उसका कोई साधक नहीं है। पूर्ण कूटस्थ में तो क्रिया का योग है ही नहीं। ऐसी स्थिति में उन दोनों के अभाव में किसी अन्य का अवकाश नहीं है, इस तरह यह सिद्ध है कि ब्रह्म से अतिरिक्त किसी पदार्थ की सिद्धि नहीं है ॥१३॥ इस तरह भगवान् परमेश्वर के अपने से अभिन्न जगत् के आकार में सर्वसाधारण सच्चिदानन्दात्मरूप ने खूब चमकते हुए स्फुरित होने पर देह आदि किसी एक स्थान में विशेष अभिमान करके उसके अनुकूल या प्रतिकूल हेय या उपादेय कल्पना द्वारा अहंकारात्मा ही अन्य की नाईं स्फुरित होता है। इस तरह जल में आवर्तसमूह की नाईं यह सम्पूर्ण जगत्, जीव, बन्ध मोक्ष आदि की कल्पना जो कि एकमात्र भ्रान्त चित्त ही है, अणुमात्र भी और कुछ नहीं है ॥१४॥

दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक इन दोनों का रूपक द्वारा एकीकरण करके उपपादन करते हैं।

मज्जन और उन्मज्जन के शब्दों से तथा विवर्तावर्तरूपी भ्रमणों से पूर्ण बराबर बह रही यह सृष्टिरूपी मृगजल की नदी स्फुरित हो रही है, जो कि तत्त्वसाक्षात्कार से शीघ्र ही चिरकाल के लिए क्षीण हो जाती है। तात्पर्य यह है कि जैसे मृगतृष्णा की नदी मरुभूमि के साक्षात्कार से शीघ्र नष्ट हो जाती है वैसे ही यह सृष्टि भी परमात्मतत्त्व के साक्षात्कार से शीघ्र ही सदा के लिए क्षीण हो जाती है ॥१५॥ जैसे आवर्तों से जल या दूर से धूमसमूह निबिड़ मेघरूप से भासता है वैसे ही ब्रह्म और मन इन दोनों के मध्य में तीसरी यह सृष्टि विषयरूप होने से जड़ और सत्यरूप से स्फुरित होने के कारण अजड़रूप से भासती है ॥१६॥ आरी से लकड़ी चीरने पर जैसे आवर्त आदि भासते हैं वैसे ही देश–कालादि से शून्य परमात्मा में यह सृष्टि जड़ और अजड़रूप से भासती है ॥१७॥ मिथ्या होने से अपने स्वरूप से अत्यन्त कोमल तथा अधिष्ठान सत्ता से पत्थर की नाईं अति दृढ़ इस संसार रूपी कदलीस्तम्भ का स्फटिकशिला में प्रतिबिम्बित कदलीस्तम्भ से तनिक भी असाम्य विवेकदृष्टि से देखने पर नहीं मिलता। यदि कुछ मिलता भी है तो सिर्फ वह संकल्पकल्पित पल्लव विलक्षणता ही। कहने का तात्पर्य यह कि संकल्पकल्पित विलक्षण पल्लव के सिवा और कुछ तनिक भी वैसा दृश्य इन दोनों में नहीं मिलता ॥१८॥

पट के ऊपर विरचित चित्रगत राज्य के सादृश्य से अब इस जगत् का वर्णन करते हैं।

हे विद्याधर, यह रमणीय सारा संसार पट के ऊपर विरचित चित्रगत महाराज्य के सदृश्य प्रकाशयुक्त, सुन्दर और विकल्प से विस्फूर्जित है। हे विद्याधर, चित्रगत महाराज्य के सदृश ही यह भी परामर्श को न सहनेवाला (卐) है। इसके अन्दर हजारों पैर, मस्तक, नेत्र, हस्त,

(卐) परामर्श यानी विचार, इसको नहीं सहनेवाला यह संसार है अर्थात् विचार करनेपर तनिक भी

मुख तथा इनसे इच्छित और वितर्कित वस्तुएँ एवं नाना प्रकार के पर्वत, चतुर्विध प्राणियों के शरीर, दिशाएँ और अनेक नदियाँ परमात्मा के माप से प्रदेशमात्र के समान परिच्छिन्न हैं। अनेक प्रकार के रंजक द्रव्यों से रंजित चित्रगत महाराज्य की नाईं यह सारा संसार भी अनेक प्रकारके कामादि रूप रंगों से रंजित है। विरुद्ध वर्णवाले मार्जनद्रव्य से परिमार्जन कर देना ही एकमात्र जिसका नाश है ऐसे चित्रलिखित महाराज्य की नाईं यह सारा संसार भी केवल तीव्र वैराग्यमात्र से ही परिमार्जित होता है। हे विद्याधर, सुर, असुर, गन्धर्व, विद्याधर तथा बड़े नाग आदि से युक्त जड़ात्मक पवन स्पन्दनशील तथा द्रष्टाचेतन से चेतित चित्रलिखित महाराज्य की नाईं यह सारा संसार भी सुर, असुर, गन्धर्व आदि से युक्त सूत्रात्मा से स्पन्दनशील तथा ब्रह्मचेतन से चेतित है ॥१९-२२॥ अर्थशून्य तथा बाध्य होने से असत्यस्वरूप स्पन्दनात्मक विकल्पांश में यानी विकल्पात्मक वृत्ति जिसमें उदित होती है ऐसे मन में प्रतिबिम्बभाव से पतित संवित् भ्रान्ति में ऐसे प्रसरणशील होती है, जैसे जल में तैलबिन्दु ॥२३॥

कैसे प्रसरणशील होती है, यह कहते हैं।

मन को क्षोभित करनेवाले कामवासना आदि जालसमूहों से निबद्ध, सम्पूर्ण आवर्तरूप विकारों से समन्वित पुत्र, स्त्री आदि में फैल रहे स्नेह से मिश्रित मिथ्या होने के कारण उत्पन्न न हुए ही इन शब्द-स्पर्श आदि विषयों के बार-बार आस्वादनों के द्वारा जो संवित् प्रसरणशील होती है चित्रगत महाराज्यरूप से वर्णित यह संसार है ॥२४॥ इस रीति से यह आदिचिति ही अहंभावादि विकल्पों से बहिर्मुखी हो जीवभाव को प्राप्त करके भी परमात्मा से तनिक भी ऐसे भिन्न नहीं है, जैसे कि जलरूपता से भिन्न तोयता (जलत्व) नहीं है। तात्पर्य यह है कि भेदक उपाधियों के विकल्पमात्र होने से 'जीव' और 'ब्रह्म' शब्द का 'जल' और 'तोय' शब्द की नाईं एक अर्थ में पर्यवसान है ॥२५॥

उपाधि के अनुप्रवेश द्वारा नाम और रूपों का व्याकरण करनेवाले अहमर्थ जीव के ब्रह्ममात्र होने से जीव का भोग्य सर्गशब्दार्थ भी एकमात्र ब्रह्म ही है, यह कहते हैं।

यह चिद्रूपी सूर्य स्वात्मा ही है। यह उपाधि में प्रवेश द्वारा 'अहम्' इत्यादि नाम को प्राप्त होकर 'सर्ग' इस नाम से कहा जाता है। इसलिए यह सिद्ध है कि वास्तव में चेतन से अन्य न कोई सृष्टि है और न कोई इस सृष्टि का रचयिता ही है ॥२६॥

'राहु का सिर' यहाँ पर जैसे राहु और उसके सिर में अभेद सिद्ध है यानी जो राहु है वही तो उसका सिर है, इसी तरह जगत् और चित् में अभेद सिद्ध है। इन दोनों में एकमात्र अविद्याके कारण ही भेद की प्रतीति हो रही है। इसका दृष्टान्त देकर उपपादन करते हैं।

जैसे स्पन्दरूप अपनी सत्ता में वस्तुतः जलद्रव स्पन्दरहित ही है उसमें स्पन्द की प्रतीति तो

टीक नहीं सकता तथा चित्र भी दूसरे द्वारा हुए उपमर्दन को नहीं सह सकता।

एकमात्र विकल्प ही है, (☙) वैसे ही आकाशादि प्रपंच की रचना में चिदात्मा न आकाशादिरूप से स्थित है, न इन सबका कर्ता है और न आकाशादि पदार्थों को अपने से भिन्न समझता ही है ॥२७॥

जलद्रव की भेदकल्पना में देश और कालका भेद नियामक है । पूर्वकाल और पूर्व–देश में स्थित जल उत्तरकाल और उत्तरदेश में उपलब्ध होता है । उत्तरदेश की प्राप्ति भी क्रियापूर्वक ही बाण आदि में देखी गई है, इसी तरह जल में भी द्रवणक्रियाभेद की कल्पना कर सकते हैं । परन्तु अद्वितीय ब्रह्म में तो देश और काल किसी का भेद नहीं है, अतः आकाश आदि भेदक कल्पना में कोई निमित्त न होने से जलद्रव का साम्य बहुत दूर चला गया यदि यह कोई शंका करे, तो उसका समाधान देते हैं ।

सृष्टिरूप होने से, देश, काल आदि के निर्माणपूर्वक ही चिदात्मा के आकाशादि विकल्पज्ञान का हम वर्णन कर रहे हैं, इसलिए जलद्रव का साम्य कहीं दूर चला गया, यह कोई नहीं कह सकता । (☙) ॥२८॥

इस तरह विकल्पों के मन, अहंकार और बुद्धि आदि से साध्य होने के कारण आकाश आदि सृष्टिभेद के विकल्प समय में इनके असिद्ध होने से विकल्प की कल्पना ही कैसे की जा सकती है ? यह आशंका भी अनुपपत्ति आदि हजारों दोषों से पूर्ण एकमात्र अविद्या का स्वीकार कर लेने से ही अनायास परिहृत हो सकती है, इस आशय से कहते हैं ।

(☙) जलं स्पन्दते' (जल स्पन्दित होता है) इस स्थल पर थोड़ा विचार किया जाय । क्या जल ही स्पन्दरूप से स्थित रहता है या अन्य कुछ ? जल से भिन्न अन्य कोई स्पन्दनरूप से स्थित रहता है, यह तो कह नहीं सकते, क्योंकि अन्य किसी की यहाँ उपलब्धि नहीं होती । यदि यही मान लिया जाय कि वहाँ कोई अन्य ही स्पन्दित होता है तब तो उस स्पन्दन को जल की ही अपेक्षा है, यह नियम नहीं रह सकता । अतः दूसरा ही स्पन्दित होता है, यह प्रतीति होने लगेगी और साथ-साथ यह भी नहीं कह सकते कि वह नियम समवाय के बल पर सिद्ध है, क्योंकि सम्बन्ध की अनवस्था होने से उसकी सिद्धि नहीं हो सकती । अब रही बात प्रथम पक्ष की । इस पक्ष में जलस्पन्द का कर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि स्पन्दात्मा स्पन्द नहीं करता, कारण कि यदि वह स्पन्द करे, तो उस स्पन्द में कर्तृत्वापत्ति आ जायेगी । इसलिए यह सिद्ध है कि जल द्रव अपनी स्पन्दात्मिका सत्ता में स्पन्दशून्य ही स्थित रहता है ।

(☙) आकाश आदि सृष्टि के विकल्प की असंभावना के ऊपर जो आक्षेप किया जा रहा है, सो क्या आकाश आदि की सर्गात्मकदशा में आक्षेप किया जा रहा है या ब्रह्मदशा में ? यदि यह कहा जाय कि ब्रह्मदशा में आक्षेप किया जा रहा है तब तो यह आपत्ति में इष्ट है, क्योंकि ब्रह्मभाव में हम किसी तरह का कोई विकल्प स्वीकार करने को तैयार नहीं है । यदि यह कहा जाय कि सर्गात्मकदशा में आक्षेप किया जा रहा है, तो इस पर हमारा यह कहना है कि सर्गात्मकदशा में तो यह कहना ही पड़ेगा कि वह सृष्टिकाल प्रलयकाल से पूर्व है । इस तरह कालविभाव और संसारासंसार देश भेद का भी कल्पना द्वारा निर्माण करके हम चिदात्मा के

हे विद्याधर, मन, अहंभाव, बुद्धि आदि जो कुछ भी विकल्पज्ञान है उस सबको तुम एकमात्र अविद्या ही समझो, जो पुरुषप्रयत्न से शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥२९॥

किस-किस पौरुष से वह कितनी नष्ट होती है, यह बतला रहे हैं।

विनय, प्रणाम, दान, सम्मान आदि के द्वारा वशीभूत हुए तत्त्वज्ञानियों के साथ परस्पर आध्यात्मिक बातचीत करने के कारण प्रथम भूमिकापर्यन्त अभ्यस्त हुई उत्कट वैराग्य आदि चार साधनों की सिद्धि से पुत्र, स्त्री, धन आदि में ममताभ्यास के हेतुभूत इस अविद्या का आधा भाग नष्ट हो जाता है, श्रवण, मनन आदि शास्त्रविचारों से इस अविद्या का विक्षेप शक्तिरूप चौथा अंश-जो प्रमाण और प्रमेय की सम्भावना आदिरूप तथा देहादि में अहन्तारूप है-नष्ट हो जाता है तथा ब्रह्मात्मसाक्षात्कार से उसका बचा हुआ आवरणशक्तिरूप चौथा भाग भी सूर्योदय के बाद अन्धकार की नाईं धीरे-धीरे क्रमशः नष्ट हो जाता है ॥३०॥ पूर्वोक्त रीति से भूमिकाओं के अभ्यास द्वारा समकाल में और क्रमशः चार भागों में विभक्त अविद्या के नष्ट कर दिये जाने पर जो अवशिष्ट रहता है वह नामरूपरहित सन्मात्र ही परमपुरुषार्थ है ॥३१॥

संक्षेप से कही गई बात को विस्तार से सुनने की इच्छा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : महर्षे, अविद्या का आधा भाग आत्मज्ञानी विद्वानों के साथ परस्पर आध्यात्मिक बातचीतों से, एक चतुर्थांश शास्त्रों के विचारों से एवं दूसरा चतुर्थांश आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से कैसे नष्ट हो जाता है ? कृपाकर कहिये ॥३२॥ तदनन्तर हे मुनिनाथ, 'समकाल में' और 'क्रमशः' यह क्यों कहा जाता है ? तथा 'वह नामार्थरहित सन्मय ही है' - यहाँ पर यमयट्' प्रत्यय से असदंश को लेकर सत् और असत् जो कहा गया है, उसमें असदंश क्या है, सो दयाकर कहिये ॥३३॥

प्रश्नक्रम के अनुसार महाराज वसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, संसारसागर को तैर जाने की इच्छा रखनेवाले विरक्त सज्जन पुरुष को आत्मज्ञानी विद्वान् तथा अन्य मुमुक्ष के साथ अपनी बुद्धि से यह विचार करना चाहिए कि यह संसार क्या है इसका परिणाम, मूल और सार क्या है तथा इसे तैर जाने का कौन-सा उपाय है ? ॥३४॥ संसारसागर से पार हो जाने की इच्छा रखनेवाले विद्वान् को चाहिये कि वह जहाँ-कहीं से विरक्त, मत्सररहित, आत्मज्ञानी सज्जन पुरुष को यत्नपूर्वक ढूँढ़कर उसकी आराधना करे ॥३५॥ हे वेत्ताओं में सर्वश्रेष्ठ श्रीरामजी, यह आप भलीभाँति जान लीजिये कि सज्जन पुरुष का समागम हो जाने पर अविद्या का आधा भाग

आकाशादि विकल्पज्ञान का वर्णन कर रहे हैं, अतः किसी को सन्देह करने का तनिक भी स्थान नहीं है कि जलद्रव का साम्य बिलकुल कहीं दूर चला गया। इस विषय में वार्तिककार की यह उक्ति भी स्मरणीय है : अविद्यास्तीत्यविद्यायामेवासित्वा प्रकल्प्यते। ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं न कथंचन युज्यते॥

तो अन्य सब भूमिकाओं में ज्येष्ठ तथा साधनचतुष्टय सम्पत्ति से श्रेष्ठ शुभेच्छानामक प्रथम भूमिका प्रतिष्ठा के उदय से ही क्षय को प्राप्त हो गया ॥३६॥ हे श्रीरामजी, अविद्या का आधा भाग तो सिर्फ सज्जन पुरुषों के सम्पर्क से ही नष्ट हो जाता है । बाकी बचे दो चतुर्थ भागों में से एक भाग को बुद्धिमान् पुरुष को शास्त्रार्थों के पर्यालोचन से तथा दूसरे को अपने आत्म–साक्षात्काररूप यत्न से नष्ट कर देना चाहिए ॥३७॥ संसारबन्धन से मुक्त होने की कहीं एक उत्कट इच्छा उत्पन्न हो गई, तो उस मुमुक्षु पुरुष को वैराग्य आदिसम्पत्ति ही भोगों तथा उनके साधनों से दूर हटा देती है और भोगों के नष्ट होने से अविद्या का चतुर्थ अंश अपने यत्न से ही नष्ट हो जाता है ॥३८॥ सज्जनों की संगति, शास्त्रों की चर्चा और अपने प्रयत्न–इन सबकी एक साथ प्राप्ति होने पर समकाल में यानी एक ही कालमें तथा एक–एक की प्राप्ति होने पर क्रमशः अविद्यारूपी मल क्षीण हो जाता है ॥३९॥ अविद्या का क्षय हो जाना ही जिसका एकमात्र अपना स्वरूप है ऐसा जो अविद्या के नाश के बाद अकिंचिद्रूप या किंचिद्रूप शेष रहता है वह परमार्थभूत नामार्थरहित, असत् और सत् भी (♣) कहा गया है ॥४०॥

हे श्रीरामजी, यह परिशिष्टवस्तु, आनन्दैकघन, जरादिविकारशून्य अनन्त, एक ब्रह्म ही है। जीव और जगद्रूप तो विकल्प का स्फुरण होने से सर्वथा अविद्यमान ही है । इसलिए हे श्रीरामजी, आप अपने को परमात्मतत्त्वरूप जानकर प्रमाण, प्रमेय आदि त्रिपुटी के मोह से शून्य होते हुए ब्रह्म ही होकर के सर्वातिशायी बृहत् होने से सब ओर से व्याप्त होकर विहार करते हुए शोकशून्यस्थित रहिये ॥४१॥

बारहवाँ सर्ग समाप्त

तेरहवाँ सर्ग

माया के कार्य में देश आदि की अपेक्षा का अभाव तथा
परमाणु के उदर में इन्द्र के राज्य की कल्पना का विस्तार-यह वर्णन ।

'देश कालादि निर्माणपूर्वकं वेदनं विदुः' इत्यादि जो पूर्व सर्ग में कहा गया है, उसका उपपादन करने के लिए इन्द्र–त्रसरेणु आख्यान कहने के पहले भूमिका बाँधते हैं ।

भुशुण्डजी ने कहा : हे विद्याधर, इस मायिक विस्तृत जगद्रूप के धारण में देश और काल की अपेक्षा इस तरह नहीं है, जिस तरह आकाश में फैले हुए प्रकाश के धारण में खम्भों की अपेक्षा नहीं है ॥१॥ शान्त, पवन के अन्दर स्थित सुगन्ध या प्रकाश से भी अति सूक्ष्म, लघु और स्वच्छ यह त्रिलोकी मन के मनन की रचनामात्र है ॥२॥ हे साधो, चिति के चमत्कारमात्ररूप से दृढ़ इस जगद्रूपी अणु की अपेक्षा वायु के अन्तर्गत सौरभ भी मेरु की नाईं स्थूल है, इसमें तनिक भी सन्देह

(♣) अर्थक्रियाव्यवहार के योग्य न रहने से वह 'असत्' तथा अबाध्य परम पुरुषार्थरूप होने से वह 'सत्' कहा गया है ।

नहीं है। क्योंकि वायु के अन्दर स्थित सुगन्ध या सौरभ का तो अन्य पुरुष भी अपनी घ्राण आदि इन्द्रियों के द्वारा अनुभव करते हैं, परन्तु यह संसार की सृष्टि तो जिस पुरुष के मन में उदित होती है वही इसका ऐसे अनुभव करता है, जैसे मनोराज्य के पदार्थ का मनोराज्य साक्षी द्वारा या अपने स्वप्न का स्वप्नद्रष्टा पुरुष स्वयं अनुभव करता है ॥३,४॥ पूर्वसिद्ध देश और काल की अपेक्षा न रखनेवाले तथा दूसरे के अनुभव में न आने से परम सौम्यरूप इसी विषय का एक बहुत पुराना इतिहास विद्वान लोग उदाहरणरूप में कहा करते हैं जो कि त्रसरेणु के उदर में बहुत दिन पहले इन्द्र को अनुभूत हुआ था ॥५॥ कभी कहीं किसी एक कल्पवृक्ष में (सब तरह की कल्पनाओं के आधारभूत मायाशबलब्रह्म में युग की सन्धिरूप शाखा में) ब्रह्माण्डरूप गूलर का फल पैदा हुआ ॥६॥

उस फल का वर्णन करते हैं।

वह फल अन्य फलों से विलक्षण था। वह सुर और असुर आदि अनेक विविध भूतों के समूहरूपी मच्छरों की भनभनाहट से युक्त था तथा अनेक शैलरूपी कीलों से जड़ित दृढ़ पाताल स्वर्ग और भूमण्डलरूप दुर्घर्ष कपाटों से समन्वित था ॥७॥ वह फल चिति की चमत्कृति रूप विचित्र रचनाशक्ति से सुन्दर, बहुत बड़ा, वासनारूपी रस से स्थूल, अनेकविध शब्दादि विषयोंके अनुभवरूपी सुगन्ध से समन्वित तथा चित्त के आस्वाद से मनोहर था ॥८॥ पूर्वोक्त महान् ब्रह्मरूपी कल्पतरु में आविर्भूत सूक्ष्म जगत्की सत्तारूपी करोड़ों लताओं के अन्तर्गत वह फल लगा था और अहंकाररूपी महान् वृंत से युक्त वह फल साक्षी चेतन से उज्ज्वल था ॥९॥ ज्ञानरूपी विकसित मुखवाला, अनेक नदी और समुद्ररूपी नाड़ियोंसे आवृत पंचतन्मात्ररूपीकोश में स्थित, ऊपर में तैर रहे नक्षत्रोंरूपी हिमकणों से परिपूर्ण, महाकल्प के अवसान में पककर गिरने में उन्मुख, तदनन्तर मूर्खरूपी कौवों या विवेकी जनरूपी कोकिलों से भक्ष्यमाण गिरने पर शान्ति को प्राप्त तथा कहीं पर वासनामात्र शेषस्वरूप नाश या ब्रह्मभाव को प्राप्त होनेवाला वह फल था ॥१०,११॥ उस गूलर के भीतर तीनों भुवन का स्वामी देवताओं का ईश इन्द्र ऐसे रहता था, जैसे क्षौद्रकुम्भ के भीतर स्थित मधुमक्खियों का स्वामी ॥१२॥ अपने अन्तःकरण में आत्मा का निरन्तर विचार करनेवाला पूर्वापरवेत्ताओं में श्रेष्ठ वह महात्मा गुरु के उपदेश तथा अपने अभ्यास से अविद्यारूपी आवरण से रहित हो गया था ॥१३॥ इसके बाद अपने पराक्रम से सुशोभित नारायण आदि जब कहीं क्षीर-सागर में शयन कर रहे थे तब अकेले उस सुरेश्वर ने शस्त्रों की ज्वालारूपी अग्नि को धारण करनेवाले बड़े-बड़े पराक्रमी असुरों के साथ युद्ध किया और बाद में उनसे पराजित होकर वह शीघ्र युद्धभूमि से भागा ॥१४,१५॥ और शत्रु उसके पीछे-पीछे दौड़ने लगे। शत्रुओं के पीछा करने पर दसों दिशाओं में बड़े वेग से भागते हुए उसने कहीं पर भी अपने विश्राम का स्थान ऐसे नहीं प्राप्त किया जैसे पापी पुरुष उत्तम परलोक नहीं प्राप्त करता ॥१६॥ इसके पश्चात् जब उसके शत्रुओं की दृष्टि इधर-उधर कहीं थोड़ी देर के लिए भ्रान्त हो गयी तब अपने छिपने का किंचित्

अवसर पाकर वह अपने स्थूलाकार संकल्प को अपने अन्तःकरण के अन्दर ही सूक्ष्मभूत में विलीन करके अत्यन्त अणु बनकर बाहर सूर्य की किरणों के कोश में स्थित किसी एक त्रसरेणु के भीतर अपने संविद्रूप प्रवेश संकल्प से ऐसे प्रविष्ट हो गया, जैसे पद्मकोश के भीतर मधुकर प्रविष्ट हो जाता है ॥१७,१८॥ वहाँ जाते ही वह शीघ्र विश्राम करने लगा । चिरकाल के बाद उसने वहाँ शान्ति प्राप्त की । तदनन्तर बहुत दिनों तक वहीं पड़े रहने के कारण वह अपने संग्राम को भूल गया, जिससे बाहर निकलने की उसकी स्मृति भी समाप्त हो गई । वहाँ पर उसने अपने रहने के लिए एक घर की कल्पना की और तत्काल ही उसका अनुभव किया । उस अपने कल्पित घर के भीतर पद्मासन के ऊपर बैठकर उसने ऐसे रमण किया, जैसे कि अपने स्वर्गलोक में स्थित प्रसिद्ध सिंहासन के ऊपर बैठकर रमण करता था ॥१९,२०॥ उस गृह के भीतर स्थित इन्द्र ने एक ऐसा कल्पित नगर देखा, जहाँ पर चहारदीवारियों से घिरे मणि–मुक्ता और प्रवालों से विरचित अनेक मन्दिर चमचमा रहे थे ॥२१॥ उसके बाद उस नगर के भीतर पहुँचकर इन्द्र ने एक देश देखा, जिस देश के भीतर अनेक प्रकार के पर्वत, ग्राम, गौशालाएँ, नगर और बहुत–से जंगल विराजमान थे ॥२२॥ इसके अनन्तर उसी तरह के संकल्प से युक्त इन्द्र ने भूलोक का अवलोकन किया जो, अनेक पर्वतों, समुद्रों, भूमियों, नदियों, राजाओं तथा उनकी राज्यसीमाओं से युक्त और क्रिया एवं काल आदि की कल्पनाओं से समन्वित था ॥२३॥ इसके पश्चात् वैसे ही संकल्प से युक्त इन्द्र ने तीनों जगत् का अनुभव किया, जो पाताल, पृथिवी, आकाश, स्वर्ग, सूर्य, पर्वत आदि अनेक पदार्थों से युक्त था ॥२४॥ तदनन्तर अनेक तरह के भोगों से परिपूर्ण वह इन्द्र देवताओं के अधीशपन के पद पर देवलोक में अधिष्ठित हो गया और कुछ काल बीत जाने के बाद उसे कुन्द नामक एक महापराक्रमी पुत्र पैदा हुआ ॥२५॥ तत्पश्चात् अनिन्दित वह इन्द्र जीवन के अन्त में इस पांचभौतिक शरीर का त्याग कर, तैलरहित दीपक की नाईं, निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त हो गया ॥२६॥ उसका पुत्र कुन्द तीनों लोक का राजा हुआ और पुत्र उत्पन्न करके समय से जीवन का अन्त आने पर वह भी परम पद को प्राप्त हो गया ॥२७॥ उस कुन्द का भी लड़का अपने पिता के ही समान बहुत वर्षों तक राज्य करके अपने पुत्र को राज्यसिंहासन पर बैठाकर जीवन के अन्त में परमपावन पद को प्राप्त हो गया ॥२८॥ हे सुन्दर, इस तरह उस सुरेश के हजारों पुत्र–पौत्र आदि हो गये । आज भी उनके उस राज्य में अंशक नाम का राजा राजसिंहासन पर स्थित है ॥२९॥

हे विद्याधर, इस रीति से जैसा कि मैंने तुमसे वर्णन किया, सूर्य प्रकाश से पवित्र उस त्रसरेणु के आकाश प्रदेश में कहीं, क्षत, गलित, हत या सर्वथा नष्ट हो जाने पर भी इन्द्र के संकल्पित त्रसरेणु के अन्दर स्थित जगत् में उस अमरेश्वर का वंश ही इन्द्र के राज्य का अब भी पालन कर रहा है ॥३०॥

तेरहवाँ सर्ग समाप्त

चौदहवाँ सर्ग

उस कुल में उत्पन्न इन्द्र की बिस तन्तु में जगत् की रचना तथा सब तरह के विचारकर देखने पर ब्रह्मदृष्टि आकाश की इन्द्रता का वर्णन।

भुशुण्डजी ने कहा : हे विद्याधर, पूर्वोक्त उस इन्द्र के कुल में उत्तम गुणों से पूर्ण श्रीसम्पन्न कोई इन्द्र हुआ । उस देवलोक में उसका वह अन्तिम शरीर था ॥१॥ कुछ दिनों के बाद उस देवलोक में इन्द्र के वंश में उत्पन्न हुए लड़के को बृहस्पति की उपदेशवाणी से आत्म-तत्त्वसाक्षात्कार ज्ञान की प्राप्ति हुई ॥२॥ तदनन्तर वेद्यवस्तु का ज्ञान प्राप्त करानेवाले तथा प्रारब्धानुसार प्राप्त कार्यों का सम्पादन करनेवाले देवताओं के उस अधीश्वर ने समस्त जगत् का राज्य किया ॥३॥ उसने दानवों के साथ युद्ध किया, अपने शत्रुओं को जीता तथा अज्ञान को पार कर चुके मनवाले उस राजा ने सौ अश्वमेध यज्ञ किये ॥४॥ उसने अपने किसी कार्यवश कमलदण्ड के कोमलतन्तु के अन्दर चिरकाल तक निवास किया । उस बिसतन्तु के भीतर कल्पित ब्रह्माण्ड में राज्य करना तथा युद्ध में जय-पराजय प्राप्त करना आदि भिन्न-भिन्न सैकड़ों वृत्तान्तों का भी उसने खूब अनुभव किया, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥५॥ ज्ञान-बल युक्त उस राजा को कभी अचानक ऐसी इच्छा उत्पन्न हुई कि मैं भलीभाँति ध्यान लगाकर मायाशबलित ब्रह्म का स्वभाव देखूँ ॥६॥ इसके बाद उसने एकान्त में स्थित होकर बाहर और भीतर के सम्पूर्ण विक्षेप कारणों के त्याग से शान्तबुद्धि होते हुए समाधि लगा करके सर्वविध शक्तियों से सम्पन्न, सर्ववस्तुमय, सर्वत्र व्याप्त, सब तरह से सर्वदा सर्वरूप और सबके साथ, सर्वगामी परब्रह्म को देखा, जो अनेक हाथ और पैरों से युक्त था, चारों तरफ जिसकी आँखें, मस्तक और अनेक मुख थे, सभी ओर अनेक श्रोत्रेन्द्रियों से युक्त तथा लोक में सबको आवृत करके जो स्थित था ॥७-९॥ वह सम्पूर्ण इन्द्रियों के गुणों से निर्मुक्त होता हुआ भी उनके रूप आदि गुणों के ग्रहण करने की शक्तियों से समन्वित था । परमार्थ में सबसे अलग रहता हुआ भी वह व्यवहार में सबको धारण किये हुए था । निर्गुण रहने पर भी वह सम्पूर्ण गुणों का भोक्ता था ॥१०॥ समस्त प्राणियों के बाहर-भीतर स्थित अचर तथा चर, सूक्ष्म होने से अविज्ञेय एवं दूरस्थ होने पर भी वह समीप में ही स्थित था ॥११॥ सर्वत्र चन्द्र-सूर्यमय, सर्वत्र पृथिवीमय,सर्वत्र पर्वतमय, सर्वत्र सागरमय, सर्वत्र चित्सार, गुरुरूप, सर्वत्र आकाशमय, सर्वत्र संसृतिमय,सर्वत्र जगन्मय, सर्वत्र मोक्षरूप, सर्वत्र आद्यचिन्मय, सर्वत्र सर्वपदार्थमय तथा सर्वत्र वह सबसे रहित था ॥१२-१४॥ घट, पट, वट, शकट, दीवार, वानर, तेज, गृह, आकाश, वृक्ष, पर्वत, वायु, जल और अग्नि आदि सब पदार्थों में तथा परमाणु के एक अंशमात्र में भी नानाप्रकार के प्राणियों के शारीरिक आचारों तथा मानसिक विचारों से युक्त एवं स्वर्ग, नरक आदि के गमनागमनादि से समन्वित उसने तीनों जगत् को देखा ॥१५,१६॥ मिर्च के भीतर तीक्ष्णता तथा आकाश के भीतर शून्यता की नाईं तीनों जगत् सदसद्रूप (आविर्भावकालात्मक एवं तिरोभावकालात्मक) चिन्मय परमात्मा में विद्यमान हैं ॥१७॥ इस तरह जीवभाव से शून्य शुद्ध

ज्ञान से देखता हुआ वह इन्द्र पूर्ववासना कल्पित उसी शरीर से क्रमशः वैसे ही ध्यानवान् हो गया ॥१८॥ महामति उदारबुद्धि उस इन्द्र ने ध्यान लगाकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को मायाशबलितब्रह्म में देर तक देखते हुए हम लोगों के द्वारा अनुभूयमान इस ब्रह्माण्ड को देखा ॥१९॥ तदनन्तर हम लोगों के इस ब्रह्माण्ड में पाताल, भूमि आदि लोकों के क्रम से इन्द्र–लोक के भीतर मन से विचरण करता हुआ वह इन्द्र के समीप पहुँचा। वहाँ इन्द्र को देखते ही 'मैं इन्द्र हूँ' इस संस्कार के उद्बुद्ध होने तथा पूर्व में किये गये सैकड़ों वृत्तान्तों से शोभित अनेक भुवनों का राज्य किया ॥२०॥

हे विद्याधर कुलाधीश, इस रीति से उस त्रसरेणु के अन्तर्गत इन्द्र के कुल में उत्पन्न वह इस ब्रह्माण्ड में भी देवों का राजा बनकर स्थित है, यह तुम जान लो ॥२१॥ इस ब्रह्माण्ड का इन्द्र बन जाने के बाद, उसने हृदय में बीज के सदृश संस्काररूप से स्थित पूर्वकाल के ज्ञानयोगाभ्यासरूप योग से बिसतन्तु के भीतर स्थित अपने प्राक्तन वृत्तान्तों का स्मरण किया ॥२२॥

सर्वशक्ति सम्पन्न ब्रह्म में सर्वत्र सबका सद्भाव होने से इस तरह के सैकड़ों इन्द्र विद्यमान हैं, यह कहते हैं।

त्रसरेणु के उदर में बिसतन्तु के भीतर अपना निवास बनाकर कान्तिमान् जैसे यह इन्द्र कहा गया है, वैसे ही इधर–उधर उस तरह के सैकड़ों हजारों व्यवहार चिदाकाश में हो चुके हैं और हो भी रहे हैं ॥२३,२४॥ हे विद्याधर, जब तक आत्मसाक्षात्कार नहीं होता, तब तक प्रबल यह दृश्यरूप नदी अविच्छिन्नरूप से चिरकाल तक बहती ही रहती है और चौथी भूमिका से लेकर छठी भूमिकाओं तक उस ब्रह्मपद के अर्धरूढ़ तथा अर्ध अनारूढ़ होनेपर बहुत दूर तक लम्बी–चौड़ी फैली हुई यह माया–मायारूप से अनुभव में आ जाती है। एकमात्र विलास में ही तत्पर रहनेवाली यह माया केवल सत्य परमात्म साक्षात्कार से विलय को प्राप्त होती है ॥२५,२६॥

चूँकि यह माया है, इससे इसके वैचित्र्य में कोई विशेष हेतु ढूँढ़ने की जरूरत नहीं है, यह कहते हैं।

हे अनघ, यह माया जिस किसी कारण से जहाँ कहीं यथा कथंचित् उत्पन्न हुई दिखाई देती है, अतः इसकी विचित्रताओं के विषय में विशेष चिन्ता नहीं करना चाहिए ॥२७॥

अथवा एकमात्र अहंकाराध्यास ही इसके वैचित्र्य में निश्चित हेतु है, यह कहते हैं।

मेघ से वृष्टि के सदृश अहंभावरूप चमत्कार से कुहरे के जैसी यह माया उत्पन्न होती है और आत्मा के साक्षात्कार मात्र से क्षण भर में ही शीघ्र नष्ट हो जाती है ॥२८॥ चूँकि सर्वसाक्षिब्रह्म का रूप परमार्थतः समस्त विकल्पों से रहित ही है, इसीलिए अहंकार के वश से विस्तृत हुए मानस विकल्पों तथा द्रष्टा, दर्शन, दृश्यह्लइस त्रिपुटीरूप इन्द्रिय के विकल्पों से मुक्तस्वभाव (जाग्रदावस्था से शून्य) होने के कारण वासनामय स्वाप्निक पदार्थों से रहित है। शून्यरूप एकमात्र आकाश की तरह पूर्ण अवभासवाला एक चिद्रूप आत्मतत्त्व ही परिशिष्ट है ॥२९॥

चौदहवाँ सर्ग समाप्त

पन्द्रहवाँ सर्ग

जगत् की भ्रान्ति का बीज तथा स्वरूप अहंभाव है, इसके परिमार्जन से जगत् के अभाव द्वारा शुद्ध परमात्मा के शेष रह जाने से कृतार्थता सिद्ध हो जाती है, यह वर्णन ।

'अहंभावचमत्कारमात्राद्वृष्टिरिवाम्बुदात्' यह जो ऊपर कहा गया है, इसमें उपपादकरूप से इन्द्र और त्रसरेणु की आख्यायिकाकी योजना करते हैं ।

भुशुण्डजी ने कहा : हे विद्याधर, जहाँ पर अहन्ता रहती है वहाँ पर जगत् पहले ही से (📖) आकर ऐसे बैठा रहता है, जैसे त्रसरेणु के भीतर परमाणु के अन्दर इन्द्र का साम्राज्य आदि प्रपंच ॥१॥ आकाश के वर्ण के सदृश आविर्भूत इस जागतिक भ्रम का अभिमानकर्ता अहंभाव ही आद्य मूल कहा गया है ॥२॥ वासनारूपी रस से सींचे गये अहंभावरूपी बीजकण से ब्रह्मरूपी पर्वत के ऊपर अव्याकृत आकाशरूपी जंगल में यह त्रिलोकरूपी वृक्ष उत्पन्न होता है ॥३॥ इस वृक्ष के सभी तारे पुष्प समूह हैं, मेघमिहिकारूपी वन से ढके समस्त पर्वत इसके पल्लव हैं, गंगा आदि सब नदियाँ इसकी नाड़ियों के प्रवाह हैं तथा हे विद्याधर, वासनारूपी बीजांशों से परिपूर्ण अनेकविध भोग ही तो इसके सुन्दर फल हैं ॥४॥

अब अहंकार का महाजलरूप से तथा जगत् का उसके कार्यभूत तरंग आदि रूप से वर्णन करते हैं ।

हे विद्याधर, यह जगत् अहंकाररूपी जल का स्पन्द (विलास) कहा गया है । चिति के वैषयिक सुखरूपी माधुर्य से परिपूर्ण वासनाओं का प्रसार ही इसका द्रव है ॥५॥ तारों के समूहरूपी सीकरों की मूसलाधार वृष्टि करनेवाला तथा आकाश के कारण अनन्त सरोवरों से परिपूर्ण यह जगत् अहंकाररूपी महाजल का विलास है । नाना प्रकार के अनेक पर्वतोंरूपी तरंगों से समन्वित इसमें सम्पत्तियों और विपत्तियों के अनेक आवर्त उठते-रहते हैं ॥६॥ इसमें चित्रलिखित रेखाओं की नाईं तीनों लोक के जनसमूहरूपी रेखाएँ आविर्भूत हो रही हैं तथा सूर्य और चन्द्र आदि के प्रकाशों के कारण वह फेनयुक्त हो गया है । इसमें अनेकों ब्रह्माण्डरूपी बुलबुलों के उद्भेद उपस्थित है तथा कपाट की नाईं मोक्षद्वार को रोक रखनेवाले मोह से यह अभिवृद्ध है ॥७॥ भूपीठरूपी दृढ़ समुद्रफेन के पिण्ड से युक्त, अनेक जीवों के कारण जलकाकों से समन्वित तथा उनके नाना प्रकार के वेगपूर्वक ऊपर, नीचे, तिरछे भ्रमणों के कारण यह मज्जन और उन्मज्जनरूप है ॥८॥ यह जरा-मरण और मोहादिरूपी तरंगों के समूहरूप चमत्कार से परिपूर्ण है तथा उत्पत्ति और विनाशशील देहादि पदार्थरूपी बिन्दुओं के वृन्द से अत्यन्त सुन्दर है ॥९॥

(📖) अभिनव स्वप्नप्रपंच में भी मैं पूर्वसिद्ध जगत् को ही देख रहा हूँ । यह सबको अनुभव भी है, इस अभिप्राय से 'पूर्वमागत्य तिष्ठति' यह उक्ति है ।

अब दूसरी रीति से जगत् का वर्णन करते हैं।

हे विद्याधर, तुम इस जगत् को अहंकाररूपी पवन का स्पन्द समझो तथा यह भी जान लो कि यह जगत् अहंकाररूपी कमल की सुगन्ध है ॥१०॥ पवन तथा उसके स्पन्द, जल और उसके द्रवत्व एवं अग्नि तथा उसकी उष्णता के सदृश यह अहंकार और जगत् सदा अभिन्नरूप है ॥११॥

परस्पर बीजता का वर्णन करते हैं।

हे विद्याधर, अहंकार के अन्दर यह जगत् तथा उस जगत् के अन्दर अहंकार स्थित है । ये दोनों परस्पर एक दूसरे को उत्पन्न करनेवाले तथा परस्पर एक दूसरे के अधीन स्थितिवाले हैं ॥१२॥

यही कारण है कि अहंकार के परिमार्जन से जगत् का परिमार्जन हो जाता है, यह कहते हैं।

जो मनुष्य जगत् के बीज इस अहंकार को अनहंभावरूप ज्ञान से नष्ट कर देता है मानों वह मल से परिपूर्ण जगद्रूपी चित्र को उसी ज्ञानरूपी जल से बिलकुल धो डालता है ॥१३॥

तत्त्वदृष्टि से अहंकार को असद्रूप देखना ही इसका परिमार्जन है।

इसलिए हे विद्याधर, परमार्थ में यह अहंभाव कुछ नहीं है। अवस्तुरूप होने से खरगोश के सींग के समान बिना कारण ही यह उदित है ॥१४॥

यह कैसे, इस पर कहते हैं।

सर्वत्र, व्याप्त, अनन्त, संकल्पों के उल्लेखों से शून्य ब्रह्म में अहंकार का कोई कारण ही नहीं है, अतः वह कभी भी सद्रूप नहीं है ॥१५॥ कारण रहते भी लोक में अवस्तु के लिए वह कुछ नहीं कर सकता, प्राकृत सर्ग आदि में तो कारण का संभव ही नहीं है । इसलिए वन्ध्या स्त्री के पुत्र की नाईं अहंभाव आदि कहीं पर हैं ही नहीं ॥१६॥ अहंभावादिरूप बीज के अभाव से यह जगत् भी नहीं है और इस जगत् के अभाव से कैवल्यरूपी निर्वाण ही चिन्मात्र अवशिष्ट है । अतः हे विद्याधर, शान्त ब्रह्मस्वरूप होकर तुम सुखपूर्वक बैठे रहो ॥१७॥ इस प्रकार उपपत्ति में प्रतिष्ठित जगत् और अहंकार के अभाव से बाह्यरूप, आलोक आदि संसार तथा आभ्यान्तर मानसिक संसार सब तुम्हारे शान्त हो चुके । इन तीनों से अतिरिक्त हेय कोई दुःख अब तुम्हें नहीं है, अतः हे विद्याधर, तुम शान्त बैठे रहो ॥१८॥ जो नहीं है वह तो सर्वथा नहीं है ही अतः विक्षेपादि दुःखरहित शान्त ब्रह्मरूप ही तुम हो । हे विद्याधर, इसमें सन्देह नहीं कि अब तुम अच्छी तरह प्रबुद्ध हो चुके हो, अब फिर तुम निर्मूल भ्रान्ति को मत अपनाओ ॥१९॥ बाह्य और आभ्यन्तर दृश्यप्रपंच के कल्पनारूपी कलंक से शून्य अतएव शुद्ध, शिव, शान्त, नित्य ईश्वररूप ही तुम हो । हे विद्याधर, अध्यारोपदृष्टि से आकाश भी पर्वत के सदृश होता है तथा अपवाददृष्टि से तो ब्रह्माण्ड भी परमाणुरूप आकाश ही हो जाता है ॥२०॥

पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

सोलहवाँ सर्ग

इस उपदेश को सुनकर विद्याधर की समाधि में लीनता तथा अनहंभाव की प्रशंसा द्वारा कथा की समाप्ति का वर्णन ।

भुशुण्डजी ने कहा : हे मुने, मैं यों कह ही रहा था कि उस विद्याधर नायक का समस्त दृश्यज्ञान शान्त हो गया नीर क्षीर के समान समाधिरूपी चित्त के परिणाम से युक्त हो गया यानी समाधि में लीन हो गया ॥१॥ तदनन्तर बार-बार मैंने उसे इधर-उधर से जगाया, लेकिन परम निर्वाणपद को प्राप्त वह फिर शब्दादि विषयों की ओर न गिरा ॥२॥ हे महर्षे, मुख्य अधिकारी होने के कारण मेरे सिर्फ उतने उपदेश से ही प्रबोधवान् होकर वह परमपदरूप स्थान को प्राप्त हो गया। श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि किसी और अधिक अतिशयशाली यत्न से नहीं ॥३॥

अब महाराज वसिष्ठजी अपने पूर्वोक्त अर्थ में विद्याधर के चित्त का उदाहरण देकर वर्णन में शीघ्रता होने के कारण भुशुण्डजी की उक्ति को छोड़ करके भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के प्रति कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसीलिए पहले मैंने आपसे कहा था कि शुद्ध चित्त में उपदेश ऐसे फैलता है, जैसे कि जल में तैलबिन्दु ॥४॥

वह कौन-सा उपदेश है ? यह पूछने पर उसको कहते हैं।

हे श्रीरामजी, आपके चिदेकरस प्रत्यगात्मा में अहंकार का अंश बिलकुल नहीं है, अतः आप अपनी शान्ति के लिए असद्रूप इसकी भावना कभी मत कीजिये, बस यही मेरी सर्वोत्तम सारसंग्रहभूत उपदेश वाणी है और कुछ अन्य नहीं ॥५॥ यही अभव्य पुरुष के चित्त में पड़कर ऐसे नहीं ठहर पाती, जैसे कि उलटे चिकने साफ दर्पण में निर्मल मुक्ताफल नहीं ठहर पाता ॥६॥ परन्तु भव्य शान्तपुरुष के मन में जाकर शीघ्र लग जाती है और खूब चिपक जाती है तथा उसके अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर यह सम्पूर्ण मोहरूपी जंगल को जलाने में समर्थ विचारनामक अग्निशिखा ऐसे पैदा करती है, जैसे कि सूर्यकान्त मणि के भीतर प्रविष्ट होकर सूर्य की किरण अग्निशिखा पैदा करती है ॥७॥ इस संसार के दुःखरूपी सेमर के वृक्ष का महान् बीज अहंभावना ही है तथा उस अहंभावना के समान ही 'यह मेरा है' यह भावना भी इस वृक्ष की मूल है, क्योंकि रागादिरूपी शाखाओं के प्रसार की कारण वही है ॥८॥

उसीको बतला रहे हैं।

बीजावस्था के स्थान में तो अहंभाव, इसके कार्यभूत वृक्ष के स्थान में ममभाव (यह मेरा है, यह भाव) तथा इस वृक्ष की शाखाओं के स्थान में इच्छा प्रवृत्त होती है, जो कि इदमर्थरूप अनेक अनर्थों तथा संसार को प्रदान करनेवाली है ॥९॥

इस तरह अपने पूर्वकथन का प्रकृत सम्मति से समर्थन करके फिर भुशुण्डीजी की कथा का ही

अनुसरण करते हुए महाराज वसिष्ठजी विद्याधर की कथा का उपसंहार करते हैं।

हे मुनिश्रेष्ठ, इस तरह मूढ़ भी कभी–कभी चिरंजीवी होते हैं, अतः दीर्घायु का कारण तत्त्वज्ञान है, यह कोई नियम नहीं है ॥१०॥

परन्तु शुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुष के ज्ञान में चिरकालिक अभ्यास ही कारण है, यह नियम तो है ही, इस आशय से कहते हैं।

चिरकाल के अभ्यास से जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, वे महानुभाव तो थोड़ा भी उपदेश पाकर अभयप्रद परम पद को (ज्ञान को) प्राप्त कर लेते हैं ॥११॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरु पर्वत के शिखर पर इस तरह मुझसे कहकर विहंगों के अधिपति मुक्तात्मा भुशुण्डीजी ऐसे चुप हो गये, जैसे कि ऋष्यमूक पर्वत के ऊपर मतंग ऋषि के आश्रम में उनके शाप के भय से मूक होकर मेघ चुप हो जाते हैं ॥१२॥ हे श्रीराम, तदनन्तर उस सिद्ध भुशुण्डीजी से पूछकर उनकी आज्ञा से मैं उस विद्याधर के पास उक्त संवाद के विषय में पूछताछ करने के लिए चला गया। वहाँ से सारी बातें ठीक–ठीक जानकर मैं फिर मुनिमण्डलमण्डित अपने आश्रम में आ गया ॥१३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आज मैंने आपसे काकभुशुण्डीजी के द्वारा कही गई कथा से प्रतिपादित विद्याधर की परम विश्रान्ति, जो तत्त्व ज्ञान के कारण तत्काल ही उत्पन्न हुई थी, सुनाई। हे रामचन्द्रजी, इस वर्णित मेरे विहंगेन्द्र भुशुण्डजी के समागम के अनन्तर इस कल्प के ग्यारह दिव्य युग बीत चुके हैं ॥१४॥

सोलहवाँ सर्ग समाप्त

सत्रहवाँ सर्ग

अनहंभावरूप अग्नि से अहंभावरूप बीज के दग्ध हो जाने पर
देहादिसंसार का पूर्णरूप से बाध हो जाने के बाद यह संसार बिलकुल मिथ्या भासने लगता है, यह वर्णन।

सम्पूर्ण संसृति का मूल काम ही है, इसलिए अनहंभाव द्वारा सबसे पहले उसी की निवृत्ति कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, इस तरह अनहंभाव के ज्ञान से शुभ और अशुभ फल देनेवाली तथा संसाररूप फल से परिपूर्ण इच्छा अन्तःकरण में ही शान्त हो जाती है, यह निश्चित है ॥१॥

काम का उपरम हो जाने पर लोभ आदि दोषों के क्षय से वैराग्य आदि सम्पत्ति द्वारा सम्पूर्ण मानसिक दुःखों का क्षय हो जाता है, यह कहते हैं।

अनहंभावज्ञान के अभ्यास से ढेला, पत्थर और सुवर्ण को एक–सा समझनेवाला मनुष्य सांसारिक पीड़ाओं से शान्त होकर फिर किसी की इच्छा नहीं करता ॥२॥

साधन सम्पन्न पुरुष को श्रवण आदि के द्वारा ज्ञानोदय होने पर ब्रह्म से अतिरिक्त अहमर्थ का, बाधसे असत्त्व ही पर्यवसित होता है, इस आशय से कहते हैं।

श्रवण आदि के द्वारा ज्ञाननिर्मथन के अभ्यास से अहन्तारूप प्रमातारूपी यन्त्र के पुटक से अग्निज्वाला की नाईं आविर्भूत परब्रह्म साक्षात्काररूपी बोध के बल से फेंका गया अहमादि दृश्य पदार्थरूपी पाषाण, अग्नियन्त्र द्वारा फेंके गये पाषाण की तरह, उड़कर शीघ्र ही न जाने कहाँ चला जाता है ॥३॥

अन्तिम साक्षात्कारवृत्ति में आरूढ़ हुआ ब्रह्म ही अज्ञान, अहंकार आदि के निरास में समर्थ है, इस आशय से कहते हैं।

अहन्तारूप प्रमातारूपी यन्त्रपुटक से आविर्भूत ब्रह्मसाक्षात्काररूपी वीर के बल से फेंका गया अहमादि दृश्यपदार्थरूपी पाषाण न जाने कहाँ शीघ्र उड़कर चला जाता है ॥४॥

अज्ञान और अहंकार की नाईं व्यष्टिसमष्टिरूप स्थूल देह का भी निवर्तक ब्रह्म ही है, इस आशय से कहते हैं।

अहन्तारूप प्रमातारूपी यन्त्रपुटक से आविर्भूत हुए ब्रह्मसाक्षात्काररूपी वीर के बल से फेंका गया शरीरयन्त्ररूपी पाषाण उड़कर न जाने कहाँ शीघ्र चला जाता है ॥५॥

अथवा अनहंभावनावृत्ति में प्रतिफलित चिति से ही अहन्ता का नाश होता है, यही पक्ष रहे, इस आशय से कहते हैं।

अहमर्थरूप हिम अनहंभावात्मक चितिरूपी अग्नि से भीतर विलीन होकर मानों उड़ करके न जाने कहाँ शीघ्र चला जाता है ॥६॥ अनहंभावात्मक चितिरूपी अग्नि की ज्वाला से ब्रह्मविद्या के अधिकारी उत्कृष्ट ब्राह्मण आदि वर्ण तथा परिपाक के कारण पाण्डुवर्ण शरीररूपी पत्ते से अहंभावरूप रस अन्तःकरण में ही गल कर न जाने शीघ्र कहाँ चला जाता है ॥७॥

अथवा बाधित अहन्तादि की शून्यता नहीं है, किन्तु ब्रह्मता ही है, इस आशय से कहते हैं।

शरीररूपी पत्ते से भलीभाँति पिया गया अहंभावरूपी रसासव अनहन्तारूपी सूर्य की किरण द्वारा अपने कारणभूत सूक्ष्मरूपता को प्राप्त हो जाता है ॥८॥

तत्त्वज्ञान के बिना तो कहीं कभी किसी अवस्था में भी देह या अहंकार का आत्यंतिक उच्छेद नहीं हो सकता, क्योंकि परस्पर एक दूसरे के बीज होने के कारण परस्पर में उनकी भीतर सत्ता है, अतः जगद्भाव से इन दोनों की सर्वत्र उत्पत्ति है, यह कहते हैं।

तत्त्वज्ञान के बिना स्थूल, सूक्ष्म, निराकार, रूपान्तर को प्राप्त सुप्त, प्रबुद्ध, भस्मीभूत, घृत, आनीत, निमग्न, दूरस्थ या निकट में रहकर शयन, कर्दम, शैल, गृह, आकाश, स्थल तथा जल में जहाँ–तहाँ कहीं भी स्थित शरीररूपी वटधाना (बटबीज), जिसके भीतर अहंभावरूपी नवीन अंकुर उद्भूत है, क्षणभर में ही शीघ्र सम्पूर्ण दिशाओं में व्याप्त हो जानेवाले इस संसाररूपी

शाखासमूह का विस्तार कर देती है ॥९–११॥

इस तरह अहंभावरूपी वटबीज के भीतर शरीररूपी महान् वृक्ष भी स्थित है, यह समझना चाहिए, यह कहते हैं।

अहन्तारूपी वटबीज के भीतर महान् शरीररूपी वृक्ष स्थित होकर जहाँ–तहाँ संसाररूपी शाखासमूह का खूब विस्तार करता रहता है ॥१२॥

वटादिबीज के दृष्टान्त से ही पूर्वोक्त अर्थ का अनुभव कराते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह प्रसिद्ध है कि जैसे बीज के भीतर सैकड़ों शाखाओं से विराजमान दलों, पुष्पों और फलों से समन्वित वृक्ष हैं, क्योंकि उसके रहने से ही तो अंकुरादि के रूप में निकलते हुए उसे सब लोग अपनी आँखों से देखते हैं वैसे ही अहंकाररूपी सूक्ष्म बीज के भीतर समस्त दृश्यों से युक्त यह देह है, इसे सूक्ष्मबुद्धिरूपी अपनी आँखों से विद्वान् पुरुषों ने ही देखा है ॥१३॥

इस तरह अविचार के फल सर्वत्र अनिर्मोक्ष को बतलाकर अब विचार के फल मोक्ष को बतलाते हैं।

श्रवण आदि विचारों से तत्त्वबोध होने पर चिदाकाशमात्र शरीरधारी जीवनमुक्त पुरुष के अहन्ता को न प्राप्त किये हुए विद्यमान भी शरीर से या निरतिशयानन्द पद में प्रतिष्ठित हुए विदेहयुक्त पुरुष के बोधरूपी महाग्नि से दग्ध हुए असद्भूत अहन्तारूपी बीज के जठर से यह संसाररूपी वृक्ष फिर कहीं नहीं पैदा होता ॥१४॥

सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

अठारहवाँ सर्ग

सर्वत्र आकाश में पवन द्वारा उड़ाये जा रहे मृत जीव के मन में स्थित अनन्त जगत् का वर्णन ।

'देहोऽस्त्यहन्त्वकणिकान्तरशेषदृश्यसंवित्परीत इति बुद्धिदृशैव दृष्टम्' यह जो ऊपर कहा गया है, उसमें कैसे और किस तरह की बुद्धिदृष्टि है ? इन दोनों का मृत जीव के वासनामय अनन्त जगत् के व्युत्पादन द्वारा समर्थन करने के लिए भूमिका रचते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, पामर मन ही, बुद्धि, अहंकार आदि समस्त वस्तुओं के नाश को मरणरूप से समझते हैं, वह वास्तव में मरण स्वरूप नहीं है। यदि वैसा मान लिया जाय, तो कृतहानि आदि दोषों की प्राप्ति अवश्य होने लगेगी। किन्तु मनुष्यादि शरीरों में आत्मभाव के कारण प्रारब्ध का क्षय होने पर उसके अनुरूप संकल्प के तिरोभाव के बाद देवादिशरीर में अहंभावादि के जनक कर्म की उत्पत्ति हो जाने पर उसके अनुरूप अपने दूसरे संकल्प का, उसके भोजक अदृष्ट क्षयपर्यन्त स्थिर रहना ही, मरण कहलाता है यानी अपने सम्पूर्ण संकल्पों का रूपान्तर में स्थित रहना ही मृत्यु है ॥१॥

ठीक है, ऐसा ही सही, इससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, इस तरह तत्-तत् जीवों के संकल्प से कल्पित जगत् के भीतर स्थित हुए भी ये मन्दराचल और सुमेरु आदि दिशाओं में वायु द्वारा सर्वत्र इधर-उधर उड़ाये जा रहे, नदियों में प्रतिबिम्बित पर्वतों की नाईं, मेरे आगे दिखाई दे रहे हैं, आप भी देखिये न ॥२॥ केले के स्तम्भ के भीतर-भीतर छील-छीलकर देखने से प्राप्त दल के समान एक दूसरे के ऊपर-ऊपर स्थित हुए समान अदृष्टवाले जीवों के परस्पर मिले हुए तथा भिन्न अदृष्टवालों के न मिले हुए भी आकाश में अनेक संसार अवस्थित दिखाई देते हैं ॥३॥

उक्त अर्थ की असंभावना करते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिनायक, 'पश्यमे पुरः उह्यन्त' इस वाक्य का पूर्ण अर्थ मैं कुछ भी नहीं जान रहा हूँ। अतः कृपाकर मुझे ठीक-ठीक समझाइये ॥४॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, यह तो लोक और वेद में सब जगह प्रसिद्ध ही है कि मृत प्राणियों के प्राण आकाश में उत्क्रमण करते हैं। तो ऐसी दशा में यदि प्राण हैं, तो उनके भीतर चित्त और चित्त के भीतर विविधाकार जगत् भी ऐसे विद्यमान हैं, जैसे कि बीज के अन्दर वृक्ष *(इसकी आप संभावना कर सकते हैं)* ॥५॥

ठीक है, रहें, किन्तु वे दिशाओं में वायु द्वारा इधर-उधर कैसे पहुँचाये जाते हैं ? इस पर कहते हैं।

पुरुष के मर जाने पर उसके शरीर से उत्क्रान्त हुऐ प्राणवायु बाह्याकाश में पूर्ण पवनों के साथ ऐसे मिल जाते हैं, जैसे स्वरूपतः द्रुत होने के नदियों के जल समुद्र के साथ मिल जाते हैं ॥६॥ अतः आकाशवायु से विशेषतः आकृष्ट हुए उन प्राणों के अन्तर्गत एकमात्र संकल्परूप से स्थित अनेक जगत् भी इधर-उधर खूब भ्रमण करते हुए जो दिखाई दे रहे हैं वे ही मानों वायु द्वारा इधर-उधर उड़ाये जा रहे प्रतीत हो रहे हैं ॥७॥ स्फुरित हो रहे संकल्पों से परिपूर्ण प्राणवायु के सहित पवनों से इन सब दिशाओं को मैं चारों ओर से परिपूर्ण देख रहा हूँ ॥८॥ यहाँ मैं देख रहा हूँ कि इस संकल्प कल्पित आँगन में मेरे सामने ये अनेक मन्दराचल और सुमेरु पर्वत उड़ रहे हैं । हे श्रीरामजी, आप भी अपनी बुद्धिदृष्टि से देखिये ॥९॥ आकाश में विद्यमान वायु के भीतर मृत प्राणियों के प्राण, उन प्राणों में उनका मन और उसी मन में जगत् को हे श्रीरामजी आप ऐसे स्थित जानिये, जैसे तिल में तैल स्थित रहता है ॥१०॥

इतने बड़े वजनदार ये जगत् भला वायु द्वारा कैसे उड़ाये जा रहे है, इस पर कहते हैं।

आकाशवायु के द्वारा आकाशवायु के समान (लघु) मनोमय प्राण जैसे उड़ाये जा रहे हैं वैसे ही मन के अंगभूत ये अनेक जगत् भी उड़ाये जा रहे हैं ॥११॥ चार प्रकार के प्राणियों के तथा आकाश, पृथिवी आदि समूहों के सहित अप्रतिष्ठित ये तीनों लोक भी एक देश से

दूसरे देश में ऐसे सर्वत्र मेरे सामने उड़ाये जा रहे हैं, जैसे कि गन्ध ॥१२॥ हे रघुनन्दन, अपने स्वप्न में देखे गये नगरसमूह के तुल्य ये संकल्पकल्पित जगत् बुद्धिचक्षु से ही सामने दिखाई देते हैं, चर्मचक्षु से नहीं ॥१३॥ आकाश से भी अत्यन्त सूक्ष्म संकल्पकल्पित ये मनोमय जगत् सब जगह सर्वदा ही हैं और कल्पनामात्र सार होने से तनिक भी कहीं नहीं पहुँचाये जाते हैं ॥१४॥ यद्यपि वे सब कल्पनामात्रसार होने से असत्यरूप ही हैं, अतः कहीं इधर उधर नहीं उड़ाये जाते, तथापि वे उन तत्-तत् जीवों के भोग्यरूप अपने अपने स्वर्ग, नरक, पृथिवी आदि लोकों में उनका दृढ़भाव होने के कारण एवं सुख, दुःख आदि भोगों की क्रिया में समर्थ होने के कारण सत्यरूप ही है क्योंकि उनकी सत्यता के सम्पादक अधिष्ठान चिदंश तो सर्वगामी ही है। इसलिए हे रघुनन्दन, जिस तरह मेरी दृष्टि से श्रवण आदि अर्थक्रिया में समर्थ मेरे सामने आप सत्यरूप दिखते हैं उसी तरह ये भी दिखते हैं ॥१५॥ सामने स्थित प्राणरूप नदी में वेग में प्रतिबिम्बित नगरों की ही नाईं वासनामात्र होने से अनाविर्भूत तथा आविर्भूत हुए ये अनेक जगह इधर-उधर पहुँचाये जाते हैं और नहीं भी पहुँचाये जाते ॥१६॥ हे राघव, जैसे वायु में स्थित सुगंध इधर-उधर ले जायी जाती हैं वैसे ही प्राणवायु में स्थित आकाशात्मक जगत् भी इधर-उधर ले जाये जाते हैं ॥१७॥

यही कारण है कि तीनों जगत् के भ्रमरूप से चित्त में स्पन्दन और भेद रहने पर भी आत्मा में स्पन्दन और भेद नहीं है, यह कहते हैं।

घट को देशान्तर में पहुँचा देने पर भी जैसे घट के अन्तर्गत आकाश में कोई भेद नहीं है, वैसे ही स्पन्दनमय चित्त में तीनों जगत् का भ्रम रहने पर भी आत्मा में स्पन्दन और भ्रम नहीं है ॥१८॥ जैसे मृत प्राणियों के प्राण में स्थित जगत् संकल्पमात्र होने से असद्रूप है, इसी तरह हे श्रीरामजी, आपका भी यह जगत् असद्रूप ही है। एकमात्र भ्रान्ति ही उदित हुई-सी है। परमार्थ में तो वह भ्रान्ति भी न तो नष्ट होती है और न उदित ही होती है। अर्थात् तत्त्वदृष्टि से देखने पर तो वह भ्रान्ति भी एकमात्र ब्रह्मरूपिणी ही है ॥१९॥

व्यवहार दृष्टि से जगत् और इसकी भ्रान्ति दोनों यदि वायु के भीतर उड़ते हुए ही उदित हैं, तो फिर हम लोग इस पृथिवी को निश्चलरूप से कैसे देख रहे हैं ? इस आशंका पर कहते हैं।

जगत् और इसकी भ्रान्ति ये दोनों उदित नहीं हैं, यह तो परमार्थ में निश्चित ही है। अथवा व्यवहार दृष्टि से यदि उदित हैं, तो भी वायु द्वारा किये गये इस पृथिवी के तत्-तत् भ्रमण, परिवर्तन आदि को इसके भीतर बैठे हुए हम लोग ऐसे नहीं देख रहे हैं, जैसे कि नौका में उत्पन्न हो रहे स्पन्द को उसके भीतर बैठे हुए मनुष्य नहीं देखते ॥२०॥

इसीको पुनः स्पष्टरूप से बतलाते हैं।

जैसे अंग में संलग्न नौका के भीतर स्थित मनुष्यों तथा उसमें जटित कील आदिकों को उसकी

गति लक्षित नहीं होती, वैसे ही पृथिवी के भीतर स्थित पार्थिव देहादिमय होते हुए भी हम लोगों को इसकी गति लक्षित् नहीं होती ॥२१॥

इस तरह 'पश्येमे पुरः उद्यन्त इव मन्दरमेरवः' इस अपनी उक्ति का श्रीरामचन्द्रजी से उपपादन करके, उपर्युपर्यन्तरन्तः कदलीदलपीठवत्' इस उक्ति में भी छोटे में बड़े के समावेश को पहले बड़े में अल्पत्व की कल्पना करके दिखलाते हैं।

छोटे-से वृक्ष स्तम्भ में विचित्र व्यूहरचनापूर्वक निर्माण करने के लिए प्रयत्नशील शिल्पकार की बुद्धि से अल्पत्व की कल्पना द्वारा जैसे योजनों दूर तक विस्तीर्ण हुआ घर अनुभूत होता है, वैसे ही भीतर-भीतर अत्यन्त सूक्ष्म भी परमाणु में यह संसार बुद्धि से कल्पना द्वारा अनुभूत होता है ॥२२॥

अथवा परमाणु आदि में बृहद्रूप की कल्पना करके उसमें बृहत् जगत् के समावेश का अनुभव नहीं करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

तुच्छ विचारवान् पुरुष छोटी-सी भी वस्तु को बहुत बड़ी मान बैठता है, जैसे कि रत्नों के भण्डार में प्रविष्ट हुई धनसम्बन्धशून्य मूषिकाएँ (चूहियाँ) रत्नों को बहुत नहीं मानतीं, किन्तु सिर्फ एक अंजलीभर अन्न को ही वहाँ अपने बड़े भाग्य से प्राप्त हुआ बहुत समझती हैं अथवा छोटे-छोटे बच्चे पहने हुए अपने बहुमूल्य आभरणों को भी अधिक आदर की दृष्टि से नहीं देखते, किन्तु मृग या पक्षी के आकार के बने हुए नवीन नानाविध रंगों से रंगें गये चमकते हुए मिट्टी के पिण्ड को ही अपने खेलने की बहुत बड़ी चीज समझते हैं जिससे कि वे उस मिट्टी के खिलौने से लुब्ध होकर अपने बहुमूल्य आभरणों को भी उसके बदले में दे डालते हैं ॥२३॥

छोटे में बड़े का समावेश वस्तुतः नहीं हो सकता, भ्रान्ति से तो हो ही सकता है, इस आशय से कहते हैं।

अज्ञान से आवृत चिति के जगन्नामक भ्रम में असद्रूप ही पदार्थ में जीवित को यह लोक, मृत को परलोक तथा उनमें धर्माधर्म फल की जो कल्पना है वह वृद्धिदशा को प्राप्त चित्त की संकल्परूप एकमात्र भावना ही है। इसका तात्पर्य यह है कि भावना को वस्तु का अन्यथा भाव रोक नहीं सकता ॥२४॥

मूर्खों को भीतर-भीतर जगद्भ्रम की भावना बनी रहे, कोई हानि नहीं, परन्तु आप-जैसे सर्वज्ञ महानुभावों को भला भीतर-भीतर एक जगत् के पीछे दूसरा जगत् विद्यमान है, यह भ्रान्ति कैसे, इस शंका पर कहते हैं।

यह वस्तु हेय है और यह वस्तु उपादेय है, इस तरह की भेदभरी अज्ञता जिसके अन्दर उपस्थित है, सर्वज्ञ होते हुए भी उस पुरुष की, व्यवहार चलाने के लिए जब तक प्रारब्ध का बिलकुल क्षय नहीं हो जाता तब तककुछ-न-कुछ, मूढ़ता उसके पीछे लगी ही रहती है ॥२५॥

यही कारण है कि सर्वज्ञ रहते हुए भी समष्टिजीवात्मक हिरण्यगर्भ को अपने अवयवों की नाईं

भीतर में ही तीनों जगत् का दर्शन होता है, यह कहते हैं।

जैसे सचेतन लौकिक व्यष्टिपुरुष अपने हाथ, पैर आदि अवयवों का अपने भीतर ही अवलोकन करता है, वैसे ही समष्टिजीवात्मक हिरण्यगर्भ भी अपने ही भीतर व्याप्त तीनों जगत् का अवलोकन करता है ॥२६॥

परन्तु माया उपहित ईश्वर ही इस तरह देखता है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, संविदात्मक, परमाकाश अनन्त, अज एवं अविनाशी ईश्वर है। उसी माया उपहित परमाकाशरूप ईश्वर के अवयवस्वरूप ये समस्त जगत् है ॥२७॥

प्रलयकाल में ईश्वर अपने अन्तर्गत समस्त जगत् को कैसे देखता है। इस आशंका पर कहते हैं।

यदि लोहे का गोला सचेतन हो, तो वह भी अपने अन्दर सूक्ष्मरूप से स्थित छूरे, सुई, कैंची आदि अपने भावी विकार को जैसे देख सकता है, वैसे ही समष्टिजीवात्मक ईश्वर भी अपने में लीन किये समस्त संस्कारों से समन्वित होकर तीनों जगत् के भ्रम को देखता है ॥२८॥ अधिष्ठान सद्रूप की प्रधानता से चिति या आरोपित मिट्टी आदिरूप के प्राधान्य की विवक्षा से अचितिरूप मिट्टी का पिण्ड सकोरा आदि को जैसे अपना अंग मानता है वैसे ही सृष्टिजीवरूप ईश्वर भी जगत् को अपना अंग मानता है ॥२९॥ उपहित के प्राधान्य से चिति या आरोपित मिट्टी आदिरूप के प्राधान्य से अचितिरूप अंकुर अपनी देह में जैसे वृक्षत्व मानता है, वैसे ही वृक्ष शब्दार्थ से रहित ब्रह्म इन तीनों लोकों को अपने में ही बाधित मानता है (卐) ॥३०॥

परिणामदृष्टि से जीव और ईश्वर के सृष्टि और सृष्टि के अभावकाल में जगत् के अवलोकन में दृष्टान्त कहकर विवर्तदृष्टि से भी कहते हैं।

जैसे चिति या अचितिरूप दर्पण बिम्बित या प्रतिबिम्बित नगर को अपने भीतर जानता है वैसे ही ब्रह्म भी तीनों जगत् को जीव और ईश्वर की उपाधि से उपहित दृष्टि से जानता है तथा अनुपहित शुद्ध दृष्टि से नहीं भी जानता है (☬) ॥३१॥

इस तरह श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्नों का समाधान देकर प्रासंगिक सभी बातें समाप्तकर, नाहन्त्वजगती भिन्ने पवनस्पन्दने यथा' इस पूर्व प्रस्तुत अर्थ का प्रकारान्तर से समर्थन करने के लिए अनुसन्धान करते हैं।

हे श्रीरामजी, देश, काल, क्रिया तथा द्रव्यरूप ही ये तीनों जगत् हैं और अहंकार भी इन देश,

---

(卐) विशेषता यही है कि जीवसंस्कारउपहितरूप से वृक्षशब्दादिसहित ब्रह्म अपने को मानता है तथा जीवसंस्कार से अनुपहित ईश्वररूप से वह अपने को वृक्ष शब्दादि के अर्थ से रहित यानी अनादि सिद्ध विद्या से बाधित मानता है।

(☬) देखिये श्रुति–'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्यादि।

कालादि के साथ अभेद सम्बन्धाभिमान रखने के कारण देश, कालादि रूप ही है, अतः देश-कालादिरूप जगत् और अहंकार इन दोनों में भेद नहीं है ॥३२॥

इसीका अनुभव कराने के लिए श्रुति और मैंने मिट्टी के पिण्ड और लोहे के गोले आदि दृष्टान्त यद्यपि अचेतन है, तथापि उनमें चेतनत्वका आरोप करके एक देश के साम्य से उनका उपन्यास किया है, यह कहते हैं।

कल्पित जडात्मक लोहे आदि के उपमानरूप से जो मैंने उपदेश दिया है, वहाँ उपमा के केवल एक अंश से उपमेय के साथ सधर्मता, समानता है ॥३३॥ जो कुछ यह स्थावर-जंगमरूप जगत् दिखाई दे रहा है वह सब अपनी वास्तविक ब्रह्मभावरूप परमसूक्ष्मता का त्याग न कर रहे जीव का विवर्तरूप स्थूल शरीर ही है ॥३४॥

यही कारण है कि अधिष्ठानदृष्टि से समस्त विवर्तों का ज्ञान से बाध होने पर सब ओर शुद्धात्मा का प्रसार करनेवाले पूर्ण पद में किसी तरह से तनिक भी जीव जगत् का भेद नहीं है, यह कहते हैं।

सम्पूर्ण पदार्थ का ज्ञान से बाध होने पर शुद्ध संस्पन्दन प्रदान करनेवाले आत्मपद में निःसंग पाषाणकोष की नाईं तनिक भी भेद नहीं है ॥३५॥

परन्तु ज्ञान से समस्त पदार्थों का बाध न होने पर तो सर्वदा सर्वत्र सम्पूर्ण विकल्पों के रूप से ही चिति विवर्तित होती है, यह कहते हैं।

अबाध दशा में जो-जो विकल्पांश जहाँ-तहाँ जैसे-जैसे जब-जब जिस-जिस रूप से मूढ़ों से दिया जाता है वह उसी रूप से चिति ही विवर्तित होती है ॥३६॥

मन में भी चिति का अनुप्रवेश रहने से ही विचित्र संकल्पों की सामर्थ्य होती हैं, स्वतः नहीं, इसलिए यह निश्चित है कि चिति में ही सम्पूर्ण विवर्त की स्वतन्त्रता निहित है, यह कहते हैं।

आकाश में अंकुर की नाईं चिति का अभाव रहने पर मन में किसी तरह का संकल्प नहीं उठता। चिति के उसमें अधिष्ठित रहने से ही नाना प्रकार से संकल्प मन में उठते रहते हैं, इसलिए हे श्रीरामजी, आप यह जान लीजिये कि इस संसार में जितनी कल्पनाएँ मन में उदित होती हैं वे सबकी सब चिति स्वरूप ही है ॥३७॥ अज्ञानी के हृदय में जो-जो विकल्पश्री उदित होती है वह सब चिदाकाश के सर्वगामी और अनन्त होने से सद्रूप नहीं है ॥३८॥ अज्ञानी में जिस तरह विकल्पश्री उदित होती है उस तरह प्रबुद्ध में वह उदित नहीं होती, यह निश्चित है। चिदाकाश के सर्वव्यापक तथा देश, काल और वस्तुकृत परिच्छेद से शून्य होने के कारण वह सद्रूप नहीं है ॥३९॥

यदि विकल्पश्री असद्रूप ही है, तो फिर बाल-गोपाल तक सभी को सत्य-सी इसकी प्रतीति कैसे होती है, इस आशंका पर कहते हैं।

जाग्रत काल की कल्पनाएँ ही सत्य प्रतीत होती हैं, यह बात नहीं है, किन्तु स्वप्नकाल आदि

की भी सभी कल्पनाएँ सत्यरूप प्रतीत होती हैं। यह बात बालक तक जानते हैं। परन्तु हे श्रीरामजी, स्वप्न में भ्रान्ति आदि में उपलब्ध हुए गज, रजत आदि पदार्थ किसी के भी द्वारा अपने भीतर सत्यरूप से गृहीत नहीं होते ॥४०॥

सत्यस्वरूप यह संसार भला असत्यरूप कैसे होगा ? इस आशंका पर कहते हैं।

जाग्रत् और स्वप्न के संकल्प, वासनामय सुषुप्ति तथा इन दोनों में प्रतिबिम्बित चिद्रूप भोक्ता जीव–ये दोनों पदार्थ सत्यकूटस्थ चिति के द्वारा अपने स्वरूप में चित्र की नाईं चित्रित हुए हैं, इसलिए चित्र संसार के सदृश यह संसार अधिष्ठानसत्ता से सत्यस्वरूप अनुभूत होता हुआ भी असत्यरूप जीव की ही दृष्टि में सत्यरूप हैं, अधिष्ठान सत् की दृष्टि में नहीं, क्योंकि उसके साथ तो उसका स्पर्श नहीं है। तात्पर्य यह कि जैसे चित्र में प्रतिबिम्बित या स्वप्न में देखे गये घोड़े, चित्र या स्वप्न के पुरुषों के ही चढ़ने के काम में आते हैं, इन दोनों के बाहर रहनेवाले सत्य पुरुष के चढ़ने के काम नहीं आते वैसे ही असत्पुरुष के लिए ही यह असद्रूप संसार भी है, सत्पुरुष के लिए नहीं है ॥४१॥ अथवा 'ब्रह्म वा इदमग्र् आसीत्' इत्यादि श्रुति से सत्यपुरुष में ही यह असद्रूप संसार, अपने अबोध के कारण, भले ही बना रहे, तथापि वह पुरुष तो नित्यमुक्त ही कहा गया है क्योंकि जिस तरह तत्त्वज्ञान के पहले सत्यस्वरूप वह ब्रह्म अपनी सत्यता को जगत् में संक्रमितकर स्वयं सत्यत्वनाम को प्राप्त होता है, वैसे ही तत्त्वज्ञान के बाद भी वह बाधित हुए जगत् से अपनी सत्ता को अपने ही में उपसंहार करके उसके असत्य नाम को भी स्वयं प्राप्त होता है। इसीलिए यह निश्चित है कि अधिष्ठानमात्र के परिशेष से अन्य दूसरी कोई प्रपंच की असत्यता कदापि नहीं कही जा सकती, क्योंकि आतिवाहिक देह के सहित अकेले एकमात्र अपने ज्ञान का परिक्षय होने पर पूर्णतारूप विकास से युक्त प्रत्यगात्मा ही शिवस्वरूप शेष रह जाता है ॥४२॥

यही कारण है कि अज्ञानदृष्टि से ही ये जगत् इधर–उधर उड़ाये जा रहे है, तत्त्वदृष्टि से नहीं यह जो पहले कहा है, उसका अब उपसंहार करते हैं।

इसलिए सेमल की रुई के समान आकाश में ये जगत् इधर–उधर वायु द्वारा उड़ाये जा रहें हैं, यह उक्ति भी अज्ञानियों की दृष्टि से ही है। परमार्थ में तो कल्पनामात्र होने से न तो ये जगत् हैं और न पत्थर की तरह इधर–उधर वायु द्वारा उड़ाये जा रहें हैं ॥४३॥ इस वर्णित रीति से अखिल पदार्थ–समूहों का ज्ञेयभूत अज्ञात प्रत्यगात्मरूप, परमार्थतः सर्वत्र व्याप्त तथा शून्याकाश के सदृश चिदाकाश में अविद्या द्वारा अनन्त जगत् स्थित हैं। वे कितने तो कुछ जीवों के भोजक अदृष्ट का साम्य होने पर जाग्रतअवस्था में ब्रह्माण्ड की एकता से परस्पर मिले हुए रहते हैं एवं अदृष्ट का वैषम्य होने पर तो ब्रह्माण्डभेद और स्वप्नावस्था में परस्पर मिले हुए नहीं भी रहते हैं ॥४४॥

उन्हींको विशेषरूप से कहते हैं।

ब्रह्म के सर्वशक्तिसम्पन्न होने के कारण गुण, वस्तु, क्रिया और जात्यादि से अनन्तरूप,

नानाविध कार्यों का आरम्भ किये हुए दिगन्तों में संस्थित जनों से परिपूर्ण, चंचल जलाशय के भीतर प्रतिबिम्बित नगर के समान क्षणभंगुर अतएव अपने अन्तःकरण में स्थित, सम्पूर्ण सामग्रियों से भरे देव, गंधर्व आदि के नगरों के समान ये सब संसार हैं ॥४५॥ अनुवृत्त वस्तु के (ब्रह्म के) स्वरूप से निरन्तर स्थैर्ययुक्त भी व्यावृत्तभावविकारों के कारण क्षणभंगुर एवं जाग्रत्‌अवस्था में व्यक्ताक्ष (इन्द्रियों से प्रकट हुए) भी निमीलित (तत्त्वतः अप्रकट) तथा आत्मज्योति से प्रकाशयुक्त होने पर भी उसके अज्ञानरूपी तम से आवृत होने के कारण चारों ओर अन्धकार से आवृत हुए ये संसार चिद्रूपी समुद्र के तरंगों के विवर्तनरूप हैं ॥४६॥

पृथक्‌रूप से स्थित हुए इनके एकत्र मिलकर रहने में तथा एकत्र मिले हुए इनके पृथक्‌रूप से स्थित रहने में क्रमशः दो द्रष्टान्त कहते हैं।

जैसे नदीरूपी पात्र में पृथक्‌रूप से स्थित हुए भी जल सागर में बिलकुल मिले हुए रहते हैं तथा आकाश में एक ही समय में उदित हुए भी सब तारों के प्रकाश 'यह इसका प्रकाश है' इस तरह से विवेचन करने में अशक्य होने के कारण एक में सर्वथा मिले हुए भी एक के चलने पर दूसरे के न चलने में पृथक् स्थित हुए रहते हैं, वैसे ही पृथक्-पृथक्‌रूप से स्थित हुए भी ये सब संसार आत्मा में एकरूप से स्थित हैं ॥४७॥

अठारहवाँ सर्ग समाप्त

उन्नीसवाँ सर्ग

जीव का स्वरूप, उसका तत्त्व, समष्टि-व्यष्टि शरीरों की कल्पना तथा
स्थान एवं कारणों की भिन्नता से भोग भेद - इन सबका वर्णन।

श्रीरामजी ने कहा : हे मुने, जीव का जो स्वरूप है यानी शास्त्रीय व्यवहार में उपयोगी तथा जैसा पारमार्थिक उसका रूप है, उसकी स्थूल देह की जैसी कल्पना होती है, जिस रीति से उसकी परमात्मरूपता है तथा जो उसका स्थान हो, वह सब हमसे कहिए ॥१॥

मोक्षशास्त्र में जो समष्टिजीव प्रसिद्ध है, उसका परिशोधन हो जाने पर वह ब्रह्म के साथ अभिन्न बन जाने में योग्य हो जाता है, यह पहले बतलाते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, अनन्त व्यापक जो चेतन ब्रह्म है, वही अपने संकल्प से प्राण द्वारा 'जीव' (📖) यों व्यवहृत होकर तथा चक्षु आदि द्वारा दूसरा 'चित्' नामवाला होकर

(📖) 'हन्ताहमिमास्तिस्रमो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरणवाणि' इत्यादि श्रुति में प्रदर्शित निजी संकल्प द्वारा अपने से प्रकाशित होनेवाले सूक्ष्म भूतरूप उपाधि में प्रवेश से उसके स्तम्भक प्राणों के धारण से तथा 'जीव प्राणधारणे' इस धातु के अर्थ के अनुगम से प्राण के द्वारा परब्रह्म का जीवशब्द से व्यवहार किया गया है, यह भाव है।

जीवशब्द से कहा जाता है ॥२॥

उसका पारमार्थिक स्वरूप बतलाते हैं।

भद्र, जो परम अणुरूप नहीं है, जो स्थूल नहीं है, जो न शून्यस्वरूप है, जो शून्य आकाश के अन्तर्गत है, जो चिन्मात्र, अनुभवस्वरूप है और सर्वत्र व्यापक है, वही जीव कहलाता है ॥३॥ जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तुओं से भी सूक्ष्म है, जो गुरुतर वस्तुओं में सबसे बढ़-चढ़कर गुरुतर (स्थूलतम) है, जो तुच्छरूप नहीं है और जो सर्वात्मक है, उसीको पण्डित लोग जीव कहते हैं ॥४॥

जीव की सर्वव्यापकता को अनुभव पर चढ़ाते हैं।

जिस-जिस पदार्थ का जो असाधारण स्वरूप है, उस-उस पदार्थ में उस-उस रूप से स्थित उसी जीव को ही आप जानिए, इसलिए उस-उस पदार्थ के रूप में जीव ही भासमान होता है क्योंकि बार-बार देखने पर तत्-तत् पदार्थों के आकार में ही उसका अनुभव होता है, यह अकाट्य नियम है। तात्पर्य यह है कि घट और चक्षु का सम्बन्ध होने पर चक्षु के द्वारा निकला हुआ अन्तःकरण स्ववृत्ति में सम्बद्ध घटावच्छिन्न जीवचैतन्य को ही 'यह घट प्रकाशित होता है' इस रूप से घटस्वभाव के तादात्म्यरूप से ही अनुभव कराता है ॥५॥ हे श्रीरामजी, अतएव समष्टिजीव जहाँ पर जिस रूप से संकल्प करता है, वहाँ पर उस रूप का हो जाता है, क्योंकि समष्टिजीव जो संकल्प करता है, वह सत्य ही होता है और व्यष्टिजीव जैसा रहता है, वैसा ही संकल्प करता है ॥६॥

ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकला कि जो चित्रविचित्र समस्त वस्तुओं का समष्टिजीव को भास होता है, वह भासरूप सर्ग पवन के स्पन्द की नाईं समष्टिजीव का स्वानुभव सिद्ध स्वभाव है, न कि बालक की यक्षभ्रान्ति के सदृश उपदेशाभ्यास से उत्पन्न है, यह कहते हैं।

जैसे पवन की संचलन क्रिया स्वभाव सिद्ध है, वैसे ही समष्टिजीव का चित्रविचित्र वस्तुओं का अनुभवात्मक सर्ग (संसार) स्वभाव ही है, यह अपने अनुभव से निर्णय कर लेना चाहिए, बालक की यक्षभ्रान्ति के सदृश इसका इस उपदेश से साधन करना नहीं चाहते ॥७॥

इसलिए मुक्ति, सुषुप्ति और महाप्रलय-काल में बाह्य आभ्यन्तर सभी पदार्थ चेतन में, जीवभाव के रहते भी, शान्त हो जाते हैं, यह कहते हैं।

जैसे संचलन क्रिया के न होने से अपना अस्तित्व रहते भी वायु असद्रूप बन जाता है, वैसे ही चित्र-विचित्र पदार्थों का प्रकाश न होने से मुक्ति आदि अवस्थाओं में अपना अस्तित्व रहते भी जीव ब्रह्मरूप बन जाता है ॥८॥

अब जीव किस-किस तरह के आकारों को ग्रहण करता है, इसको बतलाने के लिए सबसे पहले अनेक प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न होकर उत्पन्न हुए तथा समस्त कल्पनाओं के मूलस्तम्भस्वरूप समष्टि अहंकार के अध्यास का दिग्दर्शन कराते हैं।

जो समष्टिजीव है, वह असल में चैतन्यघन का ही स्वरूपभूत है और 'अहम्' रूप से स्फुरित होता है, इसी से देश, काल, क्रिया और द्रव्य की असीम शक्ति का निर्माण (आविर्भाव) कर वह अवस्थित रहता है ॥९॥

अब सूक्ष्मभूतों के संस्कारों की उत्पत्तिरूप समष्टिचित्त की कल्पना बतलाते हैं।

अनन्तर देश, काल, क्रिया और द्रव्य से युक्त (संस्काररूप से थोड़ा-सा आविर्भाव होने के कारण युक्त) एवं उनसे अयुक्त (स्थूलरूप से भलीभाँति आविर्भाव न होने के कारण अयुक्त) स्वयं असत्य होती हुई भी सत्य वस्तु के सदृश स्फुरित हो रही, केवल असत्य स्वरूपवाली समष्टिचित्तरूपता के कारण तथा सूक्ष्मतम जल का सम्बन्ध होने के कारण हिम परमाणु के सदृश, असदाकार परमाणुरूपता का आत्मा में अवलोकन करता है यानी आत्मा को परिच्छिन्न समझ बैठता है। अपनी आत्मरूपता के विषय में, स्वप्न में अपने मरण के सदृश तथा स्वप्न में बाघ आदि रूपता के दर्शन से प्रतीयमान अपने हाथ, पैर आदि अवयवों की अन्यरूपता के सदृश उसकी (समष्टि चित्तरूप विष्णुरूपता की) भावना करता हुआ चेतन सत्ता को भूलकर उसी की कल्पना के पीछे-पीछे दौड़ता रहता है ॥१०-१२॥ अनन्तर इस तरह का जाना गया उक्त चेतन अपने स्वरूप में तत्काल स्थूलरूपता का (पंचीकरण से स्थूलता सम्पादन कर स्थूल समष्टि विराट्रूप होकर स्थूलरूपता का) अनुभव करता है और उसमें अपने समष्ट्यात्मक द्रवस्वभाव मन को चन्द्रबिम्ब के सदृश समझने लग जाता है, यही उसकी बुद्धिसमष्टिरूप ब्रह्मरूपता है ॥१३॥

विराट् देह में उसके भोग की उपपत्ति के लिए समष्टिरूप मन से आदित्यादि रूप पाँच इन्द्रियों और उनके स्थलभेद की कल्पना को कहते हैं।

अनन्तर चन्द्रबिम्बस्वरूप अपने स्वरूप में काकतालीय न्याय के सदृश अकस्मात् उत्पन्न हुई भिन्न-भिन्न पांच इन्द्रियों के रूप में यह स्वयं प्रकाशित होने लगता है ॥१४॥ इसके बाद पाँच इन्द्रियों के अलग-अलग पांच स्थानों के रूप में यह अपना अनुभव करता है और उनके स्थानभूत अलग-अलग रूप आदि के उपभोगद्वारों का भी अनुभव करता है ॥१५॥ पीछे आदित्य, दिशा, जल, वायु और पृथिवीरूप पाँच इन्द्रिय-स्थानरूप अवयवों से युक्त होकर रूप आदि पाँच विषयों का उपभोग कर रहा विराट पुरुष बन जाता है, यह विराट् पुरुष अनेक मानसिक विकल्पों के कारण अनन्त आकार की कल्पनाओं द्वारा अनन्त आकारों के विज्ञान से युक्त रहता है, इसका स्वरूप अव्यक्त है तथा समस्त विकारों से शून्य है ॥१६॥

उनके मनोमयरूप होने पर भी स्वतःसिद्ध ज्ञानैश्वर्य से एवं सब शक्तियों से सम्पन्न होने के कारण वह जीव और ईश्वर दोनों रूप है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

यह मनोमयरूप से उदित हुआ हिरण्यगर्भ सर्वप्रथम परब्रह्म से आविर्भूत है, अतः आकाश के समान विशद, शान्त, नित्य, आनन्दस्वरूप एवं प्रकाशमय है ॥१७॥ समस्त प्राणियों का

समष्टिरूप अद्वय विराट् पुरुष परम परमेश्वररूप है और पंचभूतात्मा न होने पर भी पंचभूतात्मा के सदृश भासमान है ॥१८॥

ईश्वररूप होने से वह अपने आविर्भाव और तिरोभाव में बिलकुल स्वतन्त्र है, यह कहते हैं।

सर्वशक्ति-सम्पन्न होने से वह शीघ्र ही स्वयं आविर्भूत होता है, स्वयं विलीन हो जाता है, स्वयं विस्तार को प्राप्त होता है तथा स्वयं ही संकोच को भी प्राप्त हो जाता है ॥१९॥ अपने संकल्प से कल्पित अनेक कल्पों में तथा क्षणभर में वह अपनी इच्छा के अनुसार स्वयं उदित होता है तथा पुनः पुनः उदित हो होकर वह फिर-फिर शान्त भी हो जाता है ॥२०॥ केवल मनोमात्रस्वरूपात्मक यह जीव ही सबके उपादानभूत ईश्वररूप प्रकृति का शरीर है और यही व्यष्टिरूप से सब जीवों का पुर्यष्टक (सूक्ष्म) शरीर भी कहा गया है ॥२१॥ यही अव्यक्त अनन्त आकाशात्मा परमेश्वर पिपीलिकादि सूक्ष्म देहों में सूक्ष्म, स्थूल पदार्थों में स्थूल, सबके बाहर और भीतर व्यक्तअव्यक्त, परमार्थ में किंचिद्रूप न होने पर भी व्यवहार में किंचिद्रूप यानी परिच्छिन्नरूप है ॥२२॥ हे श्रीरामजी, मूर्त एवं अमूर्तस्वरूप पंचज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रियसहित प्राण, षष्टेन्द्रिय मन और अहंकार ये आठ उस पुरुष के अंग हैं ॥२३॥ उसीने अपने चार मुखों से शब्दार्थों की कल्पना से युक्त इन चारों वेदों का गान किया है। उसीने शास्त्रीय सदाचार आदि की मर्यादा इस ढंग से स्थापित की है कि आज भी ज्यों-की-त्यों व्यवस्थितरूप से चली आ रही है ॥२४॥ अनन्त आकाश इस पुरुष का मस्तक है, पृथिवी इसके पैर का तलवा है, मध्याकाश इसका उदर (♟) है तथा यह ब्रह्माण्ड इसका शरीर है ॥२५॥ अनन्त लोक इस विराट् पुरुष के पार्श्व के अवयव हैं, जल रक्त हैं, समस्त पर्वत मांसपेशियाँ हैं और निरन्तर बह रही ये नदियाँ इसकी नाड़ियाँ हैं ॥२६॥ ये सब समुद्र रक्तसंचय की पेशियाँ हैं, सभी द्वीप छः कोशों के वेष्टन हैं, दिशाएँ बाहु हैं और ये चमकते तारे (📖) रोमसमूह हैं ॥२७॥ आवह, प्रवह आदि उनचास पवन इसी प्राणवायु, मार्तण्डमण्डल इसकी क्रूर आँखें और बडवानल इसका चित्त है ॥२८॥ चन्द्रमण्डल ही इस विराट् पुरुष का जीव, श्लेष्मा, वीर्य, बल, चर्बी और संकल्पात्मक मन है तथा ब्रह्म ही साररूप आत्मा है ॥२९॥

बीजादिभाव भी मन का ही होता है, यह कहते हैं।

चन्द्ररूपी मन ही शरीररूपी वृक्ष का मूल, कर्मरूपी वृक्ष का बीज तथा सम्पूर्ण भाव पदार्थों का उत्पादन करने एवं अन्नादिरूप से वर्धन करने से आनन्द का कारण है ॥३०॥

वही विराट् शरीर में जीव है, क्योंकि अन्नरूप उसी से समष्टि प्राणों का धारण होता है, इस

(♟) देखिये यह श्रुति-'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ'।

(📖) यद्यपि छान्दोग्य श्रुति में 'लोमानि बहिः' यह कहा गया है तथापि दूसरी श्रुति के अनुरोध से यहाँ 'तारका' यह उक्ति हैं।

आशय से कहते हैं।

जो यह चन्द्रमण्डल है वही सम्राट जीव कहलाता है। अन्नमय व्यष्टि शरीरों का वह बीज है, प्राणहेतुक सम्पूर्ण कर्मों का मूल है और व्यष्टि मन का वही कारण (१) है ॥३१॥

उसीको फिर स्पष्टरूप से कहते हैं।

इस चन्द्ररूपी विराट् जीव से इन तीनों लोकों में सब जीव कर्म, मन, विषयभोग तथा मोक्ष प्रवृत्त होते हैं ॥३२॥ इस चन्द्ररूपी विराटजीव के संकल्पस्वरूप ही ये ब्रह्मा (२) विष्णु और भगवान् शंकर आदि देवता हैं तथा उसी के चित्त के चमत्काररूप ये सुर, असुर और पक्षी आदि नाना प्रकार के जीव-समुदाय हैं ॥३३॥

चित्तउपहित चिति के विवर्तरूप से चित्त की चमत्कारता को प्रकट करते हैं।

सृष्टि के आदि में चन्द्रमा की अत्यन्तसूक्ष्म अमृत कलात्मता को साक्षीरूप से जान रहा विराट् प्रजापति जब देवतादि के शरीराकार का संकल्प करता है, तब शीघ्र वह चतुर्मुखादि शरीरभाव में ही स्वयं सिद्ध की नाईं स्थित हो जाता है, तात्पर्य यह कि वह सत्यसंकल्पवाला होने से शीघ्र संकल्पितरूप में ही परिणत हो जाता है ॥३४॥ इसलिए, हे रघुद्वह, इस चन्द्रमण्डल को ही आप सम्पूर्ण जीवसमष्टिरूप विराट् जीव का स्थान और अपंचीकृत पंचभूतावयवयुक्त शरीर समझिये इसी का जाग्रदवस्थारूप से सबको अनुभव होता है ॥३५॥

चन्द्ररूपी विराट् जीव से व्यष्टि जीव का प्रसार जो पहले कहा गया है उसका उपपादन करते हैं।

चन्द्रमारूपी विराट्जीव से प्राणियों के जीवन के साधनभूत अन्न आदि सब पदार्थ, जो औषधियों में चन्द्रकलाओं के प्रसाररूप हैं, सर्वत्र प्रसृत होते हैं ॥३६॥ वे ही जीवित प्राणियों के शरीरों में जीव होकर जीते हैं और मन हो करके अनेक जन्मों के कारणभूत कर्म किया करते हैं ॥३७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह नानाविध आचारों से युक्त असंख्य विराट् के शरीर तथा असंख्य महाकल्प बीत चुके हैं, आगे चलकर होंगे और इस समय हैं भी ॥३८॥ हे श्रीरामजी, ब्रह्म से अभिन्न, अतएव अवधिशून्य एवं महान् व्यष्टि और समष्टि के देहसम्बन्ध से युक्त इस अनुभवरूप अधिष्ठान-सत्ता से ही 'तद्विवर्तो विराट् पुरुषः' इस वर्णित रीति से सब देश और सब कालों में परम विराट पुरुष इस मायावृत ब्रह्म में अवस्थित रहता है ॥३९॥

उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

---

(१) इसमें 'चन्द्रमा मनसो भूत्वा हृदयं प्राविशत्' यह श्रुति प्रमाण है।

(२) ब्रह्मा आदि के शरीर भी चन्द्ररूपी अमृत के परिणाम ही हैं। देखिये इस विषय में श्रुति क्या कह रही है - सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः। जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ॥

बीसवाँ सर्ग

वासना, कर्म और इच्छा के अनुसार संकल्पों के सर्जन से व्यष्टिजीवों की समष्टि के साथ समता का वर्णन ।

ब्रह्म विराट् पुरुष के सत्यसंकल्प के अनुसार ही विवर्त धारण करता है, यह कहते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, पंचभूतात्मा विराट् पुरुष स्वयं जिस-जिस तरह की कल्पना करता है, उस-उस तरह से ब्रह्मरूप आकाश भी विवर्तभाव को धारण कर लेता है ॥१॥ चूँकि ब्रह्म पूर्व की उपासना से मिश्रित वासना से सृष्टि के आरम्भ में पंचभूतात्मक विराट्-स्वरूप बनकर उपासना के फलभूतपंचमहाभूतात्मक विषय-समष्टि का उपभोग करने में तत्पर हुआ है, अतः विद्वान् पुरुष समस्त जगत् को विराट् पुरुष का एक संकल्प ही मानते हैं ॥२॥ अतः मिट्टी आदि हेतुओं से उत्पन्न सकोरे आदि मिट्टी के स्वभाव से ही ओत-प्रोत रहते हैं, यह देखा गया है, अतः समस्त जगत् के पदार्थों का कारण विराट् होने से जगत् भी विराट् के स्वभाव से ओत-प्रोत है ॥३॥ जैसे विराट् पुरुष (समष्टिजीव) समस्त जगत् का निर्माण करता है, वैसा ही व्यष्टिजीव भी अपने में समस्त जगत् का निर्माण करता है क्योंकि मानसिक वृत्ति के अनुसार जब व्यष्टि जीव को बाह्याकार विज्ञान उत्पन्न होता है, तब व्यष्टिजीव भी समष्टिजीव के अनुसार तत्-तत् पदार्थों के स्वरूपज्ञान से युक्त रहता ही है ॥४॥ भद्र, तुच्छ से तुच्छ कीटादि तक और बड़े से बड़े रुद्र तक इस तरह का जगत्-रूपी भ्रम जो उत्पन्न हुआ है, वही यह सृष्टि है । जैसे छोटे से बीज में बड़ा वृक्ष उत्पन्न होता है, वैसे ही छोटे से छोटे अणुरूप आत्मा में यह विशाल पर्वतरूप भ्रम उत्पन्न हुआ है ॥५॥

ऐसा भले ही हो, इससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं ।

कीट तक और रुद्र तक जितने व्यष्टिजीव हैं, वे सब अपने में जगत् का निर्माण करते हैं और ये सब परम सूक्ष्म शरीर के रहते भी अनन्त आत्मस्वरूप को समझकर ही, न कि समझे बिना निर्माण करते हैं ॥६॥ जैसे विराट् आत्मा में इस समस्त जगत् का विस्तार कल्पनावश हुआ है, वैसे ही सभी इन मच्छर आदि सूक्ष्म भूतों में जगत् का विस्तार हुआ है ॥७॥ भद्र, परमार्थतः न स्थूल है और न कुछ कहीं सूक्ष्म ही है, परन्तु भ्रान्ति से जहाँ कहीं जो कुछ बन जाता है, वहाँ वह तत्क्षण ही अनुभूत हो जाता है ॥८॥

व्यष्टिमन और व्यष्टिमन से उपहित जीव - इन दोनों का तो विराट् कारण है, अतः उनकी समानता कैसे ? इस पर कहते हैं ।

मन चन्द्रमा से उत्पन्न हुआ है और मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ है, समष्टि जीव से व्यष्टिजीव उत्पन्न हुआ है अथवा समष्टिजीव और व्यष्टिजीव दोनों की सत्ता एक ही है, अतः भेद का अवसर ही नहीं है, इसलिए उसमें कारणत्व का प्रसंग कैसे हो सकता है ? ॥९॥

इस तरह उपाधिरूप मन की कारणता का निरास कर अब उपहितजीव के प्रति कारणता का निरास करने के लिए उपाधि का स्वरूप बतलाते हैं।

सबसे पहले हिमकण के सदृश तथा शुक्र (वीर्य) रूप उपाधि से युक्त जीव होता है, यह मुनियों का मत है। इस शुक्रोपहित जीव से ही माता-पिता के मैथुन काल में अचल पूर्णानन्द ब्रह्म का भोगाकार वृत्ति में प्रतिबिम्ब पड़ने से रतिरूप आनन्द प्रवृत्त होता है, इसी आनन्द की एक मात्रा को लेकर दूसरे प्राणी अपने-अपने आनन्द का निर्वाह करते हैं। इस अर्थ की प्रतिपादक श्रुति भी इस विषय में प्रमाण है ॥१०॥ उसी ब्रह्म के आभासरूप आनन्द का, जो शुक्रयुत जीवात्मक चैतन्य में स्थित् है, वीर्यरूप स्वभाव के द्वारा अनुभव करता है, उसी में तादात्म्याध्यासरूप तन्मयता धारण कर चिति तद्रूप बन जाती है ॥११॥ अनन्तर यह जीव चिति उस वीर्य में पंचभूतात्मक देहरूपता को धारण करती है, यही इसकी उपहितता है, ऐसी स्थिति में उसमें न तो कोई कारणता है और न कोई कार्यरूपता ही है ॥१२॥

यदि उपाधियुक्त स्वरूप में कोई भी कारण नहीं है, तो वह जीवों का अनागन्तुक स्वरूप स्वभावरूप ही माना जायेगा, स्वभाव तो किसी का चला जाता नहीं, ऐसी स्थिति में जीवों की मुक्ति ही नहीं होगी, इस प्रकार की आशंका कर कहते हैं।

आप जो इस औपाधिक रूप के विषय में कहते हैं कि वह अनागन्तुक जीव का स्वभाव ही है, वह आपका कथन किसी अर्थ से पूर्ण नहीं है यानी वह कोई मूल्य ही नहीं रखता, क्योंकि स्व और स्वभाव में कोई प्रतियोगी और व्यवच्छेद है ही नहीं। सारांश यह है कि स्वशब्दार्थ से युक्त जो भाव है, यही तो स्वभावशब्द का अर्थ है, यहाँ स्वशब्द का अर्थ यदि शुद्धआत्मा मान लिया जाय, तो शुद्ध वस्तु अद्वितीय है, अतः न तो वह प्रतियोगी है और न उसका कोई व्यवच्छेद ही है, इसलिए अव्यावर्तक (किसी से भिन्नता न करनेवाले) स्वशब्दार्थ से भिन्न भावशब्दार्थ का निरूपण न हो सकने के कारण स्वशब्दार्थविशिष्ट भावशब्दार्थ का (स्वभावार्थ का) साधन करना ही नहीं बन सकता ॥१३॥

यदि स्वशब्द का अर्थ उपाधि से युक्त आत्मा मान लिया जाय, तो भी यह स्वशब्दार्थ से पृथक् भावशब्दार्थ नहीं पा सकता, जिससे कि स्वशब्दार्थ से भावशब्दार्थ में कोई विशेष बात आ जाय, यह कहते हैं।

उपाधि से युक्त जीव भी स्वयं उपहित-स्वरूप ही है, क्योंकि उसमें जीवत्वरूप उपहितरूपता ही विराजमान है अतः उपहितरूप को छोड़कर और कोई दूसरारूप, जो कि भावशब्द का अर्थभूत तथा स्वविशेष्यता के लिए योग्यता रखता हो, भीतर या बाहर यहाँ दृष्टिगोचर नहीं होता। यही रूप-जैसे 'वायु बहती है' यहाँ पर क्रियारूप ही वायु का विकल्पवृत्ति से भेद मानकर 'बहती है' कहा जाता है वैसे ही 'जीवो जीवत्वम्' आदि द्वारा - धर्मधर्मिभावरूप भेद मानकर कहा जाता है ॥१४॥

यदि नित्य या अनित्य स्वभावभूत जीवस्वरूप नहीं है, तब वह है क्या चीज, जो संसार में फँस जाती है ? यदि यह कोई प्रश्न करे, तो इस प्रश्न का उत्तर यही है कि वह चीज अनिर्वचनीय अज्ञान से आवृत ब्रह्म ही है यानी अपने विपरीत स्वरूप का अवलोकन ही उक्त चीज है और यही संसार में फँसती है, यह कहते हैं ।

जैसे कुहरे से आच्छादित वस्तु का स्वरूपतः ज्ञान न होकर विपरीत ज्ञान होता है, वैसे ही नीहार के सदृश स्वरूप–आच्छादन करनेवाले अज्ञान से आवृत आत्मा का भी स्वरूपतः ज्ञान न होकर जो विपरीत अवलोकन है, वही जीव का स्वरूप है, इसी से विषयात्मक वस्तुओं की ओर उसकी प्रवृत्ति झुकी हुई रहती है। जड़ इन्द्रिय आदिरूप अपने को मानकर जैसे जन्मान्ध पुरुष मार्ग को नहीं देखता, वैसे ही वह अपने स्वरूप को नहीं देखता ॥१५॥ जगत् के रूप में वर्धित अविद्याशक्ति के प्रभाव से तिरस्कृत अतएव अपनी एकता की द्वैतरूप में (द्रष्टा–द्रश्यरूप में) कल्पना कर उसीमें अभिनिवेश करके जीवात्मा बैठा रहता है । इसीलिए पवन जैसे अपनी स्पन्दनशक्ति नहीं देखता, वैसे ही अविद्याशक्ति से आवृत वह आत्मा अपने स्वरूप को नहीं देखता ॥१६॥

इसीलिए विद्या से अविद्या का विनाश सम्भव होने के कारण अनिर्मोक्ष दोष नहीं आ सकता, यह कहते हैं ।

मिथ्या विषयरूप, असत् तथा 'अयम्' रूप अज्ञानरूपी सबसे बड़ी गाँठ का जो भेदन है, वही मोक्ष है, यह मुनियों द्वारा कहा गया है ॥१७॥ इसलिए हे श्रीरामजी, सबसे पहले आप अज्ञानरूप घनमेघ से छुटकारा पाये हुए चैतन्य प्रकाशरूप बन जाइए, फिर अपने को अहंकार की उपाधि से परिच्छिन्न न समझिए यानी शोधित त्वंपदार्थरूप हो जाइए, फिर मूर्त, अमूर्त और मूल अज्ञान के बाध से युक्त निरन्तर उदितस्वभाव होकर नामशून्य, आनन्दैकरसघन एकमात्र चेतनरूप (शोधित तत्पदार्थरूप) हो जाइए और इस प्रकार होकर आप चारों ओर से पूर्ण बनकर स्थित रहिए ॥१८॥

बीसवाँ सर्ग समाप्त

इक्कीसवाँ सर्ग

शुभ और अशुभ दो तरह की ज्ञानबन्धुता है, इनमें शुभ ग्राह्य है और अशुभ हेय है, इसका यत्नपूर्वक लक्षणों द्वारा वर्णन ।

इन दोनों में पहले हेय ज्ञानबन्धुता का वर्णन करने के लिए भूमिका रचते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, मनुष्य को सदा ज्ञानी (卐) ही होना चाहिए, ज्ञानबन्धु (☙) नहीं होना चाहिए । मैं अज्ञानी को अच्छा समझता हूँ, परन्तु ज्ञानबन्धुता को

(卐) ज्ञानी का लक्षण आगे चलकर बतलाया जायेगा ।

(☙) ज्ञान के बहाने सत्कर्मों में श्रद्धा के त्याग से भोगों में लम्पट बनाकर जो अपने को और दूसरे को अनर्थों के द्वारा बाँध देता है, वह ज्ञानबन्धु कहा गया है ।

अच्छा नहीं समझता ॥१॥

श्रीरामजी ने कहा : हे मुने, ज्ञानबन्धु किसे कहते हैं और ज्ञानी कौन कहा जाता है तथा ज्ञानबन्धु होने में कौन फल मिलता है और ज्ञानी होने में कौन फल मिलता है, यह सब आप कृपाकर मुझे बतलाइए । प्रश्न करने का मेरा आशय यह है कि किस स्वरूप को प्राप्त करके मनुष्य ज्ञानबंधु होता है और किस स्वरूप को प्राप्त करके ज्ञानी कहा जाता है तथा इन दोनों के फल क्या हैं ? यह सब भलीभाँति मुझे बतलाइये ॥२॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, जो शास्त्रों को केवल अपने भोग के लिए शिल्पी की तरह पढ़ता और उसकी व्याख्या करता है, परन्तु स्वयं जो ज्ञान के उपायभूत साधनचतुष्टय के सम्पादन और मनन आदि में प्रयत्न नहीं करता वह पुरुष ज्ञानबन्धु कहा जाता है ॥३॥ जिसका शास्त्राभ्यासजनित शाब्दिक बोध भोग–व्यवहारों में वैराग्योपरम आदि फलों से फलित नहीं दीखता वह तत्त्वकथाओं द्वारा दूसरों को ठगने के लिए चातुर्यपूर्ण बोधरूपी शिल्पकारी से अपना जीवन–निर्वाह करनेवाला होने से ज्ञानबन्धु कहा गया है ॥४॥ एकमात्र भोजन, वस्त्र आदि से सन्तुष्ट होकर भोजन आदि की प्राप्ति को ही जो शास्त्राध्ययन का फल मानते हैं, उस शास्त्रार्थ कथा का अभिनय करनेवालों को नटादि शिल्पियों के समान ही समझना चाहिए ॥५॥

शुभानामक दूसरी ज्ञानबन्धुता को लक्षण बतलाकर दिखलाते हैं ।

जो शास्त्रार्थज्ञान के उचित, किये जानेवाले वेदान्तश्रवण में चित्तशुद्धि द्वारा अनुकूल निष्काम अग्निहोत्र आदि धर्मों में अथवा श्रुतिबोधित अपने अधिकार और कुलाचार आदि के उचित (📖) सत्कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है वह तत्त्वज्ञान का निकटवर्ती होने के कारण ज्ञानबन्धु कहा जाता है ॥६॥

अनात्मशास्त्रों के अभ्यास में तत्पर हुए भी पुरुष तत्–तत् अर्थज्ञानों से सम्बद्ध होते दिखाई देते हैं, उनके तुल्य ये श्रीरामचन्द्रजी न हों, इसलिए आत्मज्ञान में विशेषता दर्शाते हैं ।

आत्मज्ञान को ही ज्ञान कहते हैं, आत्मज्ञान से भिन्न जो अन्य ज्ञान हैं वे सब जगत् और जीव के अधिष्ठानभूत ब्रह्म के बोधरूप न होने से ज्ञानावभास ही हैं ॥७॥

अतएव उस तरह के ज्ञानावभास की प्राप्ति से सन्तुष्ट रहनेवालों में अशुभ ज्ञानबन्धुता ही है, यह कहते हैं ।

दुष्ट अभिमान आदि दोष तथा पारलौकिक अनर्थरूप फल के लिए कष्ट चेष्टापूर्वक कर्म करते हुए जो आत्मज्ञान को न प्राप्त कर अन्य ज्ञानलेश की प्राप्ति से सन्तुष्ट रहते हैं वे अशुभज्ञानबन्धु कहे गये हैं ॥८॥

इसलिए जब तक सप्तमभूमिका की स्थिरता नहीं हो जाती तब तक मुमुक्षु को सन्तुष्ट होकर नहीं बैठे रहना चाहिए, यह कहते हैं ।

(📖) इसमें 'विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा' इत्यादि श्रुति प्रमाण है ।

बाह्य और आभ्यन्तर विषयों की अनेक वृत्तिरूप अज्ञान, इन वृत्तियों के कारण एवं आश्रय प्रमाता तथा इनके शब्दादि विषय और इन विषयों के प्रकाश–इन सबकी आत्यन्तिक शान्ति से होनेवाली पूर्णानन्दैकरस, स्वप्रकाश, ब्रह्मात्मैक्य की प्रतिष्ठा के बिना सिर्फ अवान्तर भूमिकाओं के लाभ से ''अब मैं कृतार्थ हो गया हूँ' इस तरह सन्तुष्टबुद्धि होकर उत्तरोत्तर भूमिकाओं में पहुँचानेवाले प्रयत्नों से मुमुक्षु पुरुष को यहाँ शिथिल नहीं हो जाना चाहिए । हे श्रीरामचन्द्रजी, आप सम्पूर्ण विद्याओं में कुशल होते हुए भी अध्यात्मशास्त्र को छोड़ करके अन्य शास्त्रों में चातुर्यपूर्ण आसक्ति से ज्ञान की उपेक्षा द्वारा या अनधिकारी पुरुषों में ज्ञानोपदेश देने के कौशल के प्रदर्शन के द्वारा ज्ञानबन्धुता को प्राप्तकर उस ख्यातिलाभ आदि के द्वारा भोगरूपी सांसारिक रोगों में रमण न कीजिये ॥९॥

तब मुमुक्षु को किस तरह रहना चाहिए, इस पर कहते हैं ।

इस संसार में मुमुक्षु पुरुष को अपने आहार की (हित, मित और मेध्य भोजन की) प्राप्ति के लिए श्रुति–स्मृति तथा शिष्ट पुरुषों द्वारा अनुमोदित अनिन्द्य कर्म करना चाहिए तथा वह आहार भी अपने प्राणों के धारण के लिए ही करना चाहिए एवं प्राणों का धारण तत्त्वजिज्ञासा के लिए करना चाहिए और ऐसे तत्त्व की जिज्ञासा करनी चाहिए, जिससे कि फिर जन्म, मरण आदि दुःख की प्राप्ति न हो ॥१०॥

इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त

बाईसवाँ सर्ग

सबसे पहले अनेक युक्ति-प्रयुक्तियों से ज्ञानियों के लक्षणों का वर्णन तथा
प्रसंग से जीव, जगत् और ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन ।

निष्क्रिय ज्ञान और उसका फल पहले बतलाया गया है, अब 'ज्ञानी चैव किमुच्यते', 'ज्ञानित्वेऽपि च किं फलम्' (ज्ञानी किसे कहते हैं और ज्ञानी बन जाने पर क्या फल होता है) इन प्रश्नों का उत्तर कहने के लिए सबसे प्रथम ज्ञानी के लक्षण कहते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, क्रमशः एक–एक के पीछे दूसरी–तीसरी भूमिकाओं के ऊपर चढ़ने से परिपक्व हुए तत्त्वज्ञान से ज्ञातव्य ब्रह्ममात्र में दृढ़ निष्ठा हो जाने के कारण जो पुरुष प्रारब्ध फल को भोग करते हुए भी शब्द आदि विषयों को और शब्दादि विषयाकारों मे एवं काम–संकल्पादि वृत्तियों में परिणत अन्तःकरण को वस्तुसत् नहीं समझता, *(क्योंकि तत्त्वज्ञान से बाधित हो जाने के कारण उनकी केवल अनुवृत्तिमात्र ही रहती है)* वह ज्ञानी कहलाता है ॥१॥ जो ज्ञानी पुरुष अन्तःकरण के भोग्य विषयों में तथा उसकी चक्षु आदि द्वारा निर्गत ज्ञानात्मक वृत्तियों में साक्षीरूप से स्थित चैतन्यमात्र को यथार्थरूप जानकर बाधित दृश्य को वासनात्मना भी नहीं

देखता वह ज्ञानी है अथवा जिस तत्त्व के ज्ञात होने से चित्त की समस्त वासनाएँ निकल जाती हैं, उस तत्त्व को भलीभाँति जानकर स्थित हुए जिसकी सब प्राणियों के यथेष्ट व्यवहारों में भी अनुज्ञा (सम्मति) ही देखी जाती हो अर्थात् अपना धन आदिका अपहरण करनेवाले चोरों की प्रवृत्ति का भी जो अनुमोदन करता हो, वह ज्ञानी है ॥२॥ स्वाभाविक एकमात्र स्वात्मलाभ से युक्त जिस पुरुष की व्यवहारों में भीतर से शीतलता बुद्धिमानों द्वारा अनुभूत होती है वह ज्ञानी कहा जाता है ॥३॥

पुनर्जन्म का कारण जो अनादि अज्ञान है उसका निवर्तक तत्त्वज्ञान है, दूसरा नहीं, यह कहते हैं।

जो बोध पुनर्जन्म का हेतु नहीं है वही ज्ञानशब्द के लिए योग्य है, इसको छोड़कर दूसरा जो शब्दज्ञान का चातुर्य है वह केवल अन्न-वस्त्र प्रदान करनेवाला है, इसलिए इस तरह का ज्ञान शिल्पज्ञान के सदृश 'जीविका' शब्द के लिए योग्य है, न कि ज्ञान शब्द के लिए ॥४॥ प्रारब्ध के प्रवाह में जो भी कार्य आ जाय, उसके लिए जो मनुष्य काम और संकल्प को छोड़कर तत्पर रहता है और शरत्काल के आकाश के सदृश जिसका हृदय आवरणशून्य प्रकाशमान रहता है वही ज्ञानी कहा जाता है ॥५॥

ये जो ज्ञानी के लक्षण बतलाये गये हैं उनकी युक्तिपूर्णता बतलाने के लिए तत्त्वज्ञान सम्पूर्ण द्वैतवासनाओं की निवृत्ति कर देता है, इसका समर्थन करते हैं और इसी समर्थन के लिए असत्य अविद्यारूपता ही आखिर में बच जाने के कारण जगत् में न तो किसी तरह की हेतुता है और न सत्ता ही है, यह बतलाते हैं।

ये जो जगत् के नानाविध पदार्थ हैं वे किसी तरह के कारण के बिना ही उत्पन्न होते हैं और चूँकि कारण के अभाव रहते भी उत्पन्न हैं, इसलिए उनका अस्तित्व है ही नहीं। ये सब अविद्यमान ही विद्यमान की नाईं स्थित हैं ॥६॥

आगे के वृद्धि आदि भावविकारों में भी कारण के न रहने से ही असत्त्व समझना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

कारण के न रहने से अविद्यमान भी वे आविर्भाव, तिरोभाव, सत्ता, असत्ता, उत्पत्ति, नाश आदि विकारों से युक्त होकर विद्यमान-से हुए स्थित हैं, पीछे सृष्टिकाल में कारण के व्यापारों से वे परस्पर कारणता को प्राप्त होते हैं। यह बात सृष्टि के प्रारम्भ में नहीं हो सकती, क्योंकि प्रलय में बीज और अंकुर दोनों का भी अभाव है ॥७॥

इस समय दिखाई दे रहा भी बीज सद्रूप अंकुर का कारण है या असद्रूप अंकुर का कारण है ? सद्रूप अंकुर का कारण तो वह हो नहीं सकता, क्योंकि सत् को कारण की अपेक्षा ही नहीं रहती, असद्रूप का भी कारण नहीं हो सकता, यह कहते हैं।

खरगोश के सींग आदि तथा मृगतृष्णा जल के समान विचार से अलभ्य इस जगत् का कारण

कैसा होगा ? जो पुरुष असत् खरगोश के सींग आदि के कारण की खोज करते हैं, वे वन्ध्यापुत्र के या उसके पौत्र के कन्धे के ऊपर मानों आरोहण करते हैं ॥८,९॥

द्वैत का निष्कारण अस्तित्व मानने पर अनिर्मोक्ष–प्रसक्ति एवं मोक्षशास्त्र में अप्रमाण्य आ जायेगा, इसलिए इन दोनों दोषों की निवृत्ति करने के लिए किसी कारण की अवश्य कल्पना करनी चाहिए, यदि यह कहिए, तो इस पर यही समाधान हो सकता है कि एकमात्र ज्ञान से निवृत्त होनेवाला मिथ्याभूत अज्ञान ही कारण है, यही कल्पना करना चाहिए, दूसरे किसी सद्रूप की नहीं, क्योंकि सद्रूप वस्तु की ज्ञान से निवृत्ति न हो सकने के कारण आपका अनिर्मोक्ष–प्रसंग ज्यों–का–त्यों बना रहेगा, इस आशय से कहते हैं।

भद्र, मिथ्याभूत जो पदार्थ हैं उनका यही एकमात्र कारण है, जिसका कि नाम अनावलोकन यानी अज्ञान है और इस अज्ञान का ज्ञान–क्षण में तत्काल ही विनाश हो जाता है ॥१०॥

संसार अज्ञान का कार्य है और तत्त्वसाक्षात्कार क्षण में ही वह विनष्ट हो जाता है, इन दोनो बातों का अनुभव कराते हैं।

हे श्रीरामजी, यह जीव–जड़ अहंकार, देह आदि को स्वभिन्न जानकर तत्काल ही तद्रूपत्व के अध्यास–संस्कारों के उद्बोध से उनको आत्मा समझ बैठता है, वह यही इसका संसार है और जब अपने को सभी उपाधियों से विनिर्मुक्त चैतन्य–स्वरूप समझता है तब यही जीव सम्पूर्ण जगत् के सारभूत निरतिशय आनन्दरूप होकर बैठ जाता है, यही इसका मोक्ष है (📖) ॥११॥

उपर्युक्त श्लोक के पूर्वार्ध का विवरण करते हैं।

पूर्वोक्त रीति से अचेतन को यानी अहंकारादि शून्यरूपता को ही अपनी आत्मा में जान रहा यह जीव जागरूक होकर परमात्मरस के आवेश से परमात्मरूपता को ऐसे प्राप्त हो जाता है, जैसे कि हेमन्त ऋतु में एक तरह से सोया हुआ आम वसन्त ऋतु में रसावेश के कारण पल्लवित एवं पुष्पित होने के बाद प्रबुद्ध–सा होकर सहकारशब्दवाच्यता को प्राप्त होता है ॥१२॥

उत्तरार्ध का भी विवरण करते हैं।

(📖) अथवा अचेतन यानी बुद्धि, स्थूल देह और चिदाभास इन तीनों से रहित कूटस्थ अद्वितीय चैतन्मात्रस्वरूप अपने को समझकर जीव ब्रह्मस्वरूप बनकर स्थित रहता है और अपने को चेतनरूप यानी बुद्धि, स्थूल देह एवं चिदाभासरूप समझकर तो जीव ही बनकर बैठता है यानी पूर्णभाव को प्राप्त नहीं करता। चेतन शब्द के जो तीन अर्थ (बुद्धि, स्थूल देह और चिदाभास हैं, वे व्युत्पत्तिभेद से किये गये हैं - (१) जीवः चेत्यते अनेन, (२) जीवः चेत्यते अस्मिन् और (३) चेत्यते इति चेतनम्। अथवा यह जीव अचेतनरूप घटादि विषयों में चक्षु आदि की वृत्तियों से जनित फलसम्बन्ध से शून्य होकर अपने को स्वप्रकाशचैतन्यरूप समझता हुआ परमात्मा बन जाता है और उससे शून्य न हुआ जीव ब्रह्मभावापन्न नहीं होता।)

परन्तु चेतन को अपनी आत्मा में जानता हुआ यह जीव तो जीव ही बनकर जीवनों से जीर्ण बन जानेवाले नानाविध योनियों के जन्मों में जर्जर होकर अवस्थित रहता है ॥१३॥

यही कारण है कि तत्त्ववेत्ताओं की चेष्टाएँ अभिमानरहित होने से अस्पन्दरूप ही हुआ करती हैं, यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, यह आप जान लीजिये कि जो पराद्रष्टि को प्राप्त हो चुके हैं उनकी दृश्य-दर्शनाभिमानशून्य चेष्टाएँ, जल के नीचे की ओर बहने की नाईं प्रारब्ध कर्म का एकमात्र अनुसरण करनेवाली, अतः वे सदा अस्पन्दरूप ही रहती हैं ॥१४॥

जैसे दग्ध पट का दर्शन पटदर्शनरूप कभी नहीं होता किन्तु भस्मदर्शनरूप ही होता है, वैसे ही बाधित दृश्य श्री का दर्शन दृश्यातीत ब्रह्मदर्शनरूप ही होता है, अतः उनको द्वैतवेदन नहीं होता, इस आशय से कहते हैं।

दृश्य-सौंदर्य के पारदर्शी जो परादृष्टि को प्राप्त हो चुके हैं उन्हें विद्यमान भी विस्तृत दृश्य प्रपंच का ज्ञान नहीं होता ॥१५॥

दृश्यदर्शन के अभाव में भी जल दृष्टान्त दिये गये हैं, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जो यहाँ ब्रह्मरूपी सर्वोत्कृष्ट दृष्टि को प्राप्त हो चुके हैं, उनका स्पन्दन भी, जलकी नाईं, दृश्यप्रपंच का ज्ञान होने से स्पन्दनशून्य ही रहता है ॥१६॥

इसीलिए उन्हें कर्मबन्धन के सम्बन्ध का अभाव रहता है, यह कहते हैं।

चूँकि दृश्यदर्शन के अभिमान से वेष्टित वे नहीं होते, इसीलिए मुक्तबन्धन वृषभ के समान वे सांसारिक कर्मबन्धन के सम्बन्ध से शून्य रहते हैं। तत्त्वज्ञानी पुरुष प्रारब्धानुसार प्राप्त कर्मों में ऐसी चेष्टा किया करते हैं, जैसे वृक्षों के पत्तों में पवन ॥१७॥

पारलौकिक कर्मों की अपेक्षा तो उनसे बहुत दूर ही रहती है, इस आशय से कहते हैं।

जो इस संसार के पारदर्शी महानुभाव सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मदृष्टि को प्राप्त हो चुके हैं, वे कर्मों की उस तरह प्रशंसा नहीं किया करते, जिस तरह गंगाजी के तट पर निवास करनेवाला कूप की प्रशंसा नहीं करता ॥१८॥

अज्ञ पुरुषों के लिए तो एकमात्र कर्म ही शरण है, यह कहते हैं।

हे निष्पाप श्रीरामजी, जो मूर्ख सांसारिक विषयवासनाओं में बँधे हुए रहते हैं, वे श्रुति एवं स्मृति से प्रतिपादित उचित कर्म की प्रशंसा किया करते हैं तथा तत्त्वज्ञान के अभाव से उसी कर्म के द्वारा फल का भोग पाते हैं ॥१९॥

क्या उनके लिए एकमात्र कर्म ही शरण है, इस आशंका पर कहते हैं।

अज्ञानियों की इन्द्रियाँ अधःपतन (卐) के हेतुभूत अर्थों के ऊपर इस प्रकार गिरती हैं, जिस

(卐) तात्पर्य यह कि सत्कर्म का अवलम्बन न रहने से अज्ञानियों का इन्द्रियों के द्वारा

प्रकार नीचे गिरे हुए मांस के ऊपर गीध गिरता है। इसलिए हे श्रीरामजी, विद्वान् को चाहिए कि वह अपनी उन सभी इन्द्रियों का मन से निग्रह करके आत्मज्ञान के समापन में लग जाय और उसीमें सदा तत्पर हो अवस्थित रहे ॥२०॥

जले हुए तथा न जले हुए पट में अवयवसाम्य की नाईं बाधितअबाधित जगत् के अवयवसाम्य का भान अज्ञानियों की तरह यद्यपि तत्त्वज्ञानियों को भी होता रहे, तथापि तत्त्वज्ञानियों के लिए तो वह एकमात्र ब्रह्मरूप ही है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे कटक, केयुर आदि रचनाविशेषरूप अर्थों से भिन्न सुवर्ण नहीं रहता, वैसे ही सृष्टिरूप अर्थ से रहित ब्रह्म भी नहीं रहता यों ज्ञानी–अज्ञानी को मान–साम्य है। किन्तु तत्त्वज्ञानी को सृष्टि आदि शब्दार्थ से रहित एकमात्र शिवरूप ही वह भासित होता है ॥२१॥

सृष्टिशब्दार्थ से रहित होने में प्रलय दृष्टान्त है, यह कहते हैं।

जिस तरह कल्प के अन्त में एकमात्र अंधकार के रहते ब्रह्मघन में निर्विभाग और निराभास ही सृष्टि रहती है उसी तरह तत्त्वज्ञानियों को असद्रूप भी यह जगत् सद्रूप ब्रह्म ही भासता है ॥२२॥

प्रलय में स्पन्दन की सत्ता नहीं है, यों असम्भावना करनेवाले के प्रति दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे आकाश में इधर–उधर चल रहे मेघों के उदर में उदर के अवयवों की अविभाग से उनकी अस्पन्दमयी तथा दिशाओं के विभाग से स्पन्दमयी–स्वानुभव चैतन्यरूप ही सत्ता, विरुद्ध धर्मों का एक काल में सम्भव होने के कारण, मानी जाती है वैसे ही प्रलयकाल में भी भूतों की ईश्वर की स्पन्दमयी सत्ता है, यह सम्भावना करना चाहिए ॥२३॥

वहाँ पर चिदाभास का स्पन्दन है, इसमें भी दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे तालाब आदि के भीतर स्थित तरल जल तथा उसके अंशों का स्पन्दन द्वैताद्वैतमय है, क्योंकि तरलता के कारण भेद और अभेद का निर्वचन करना अत्यन्त कठिन है, वैसे ही ब्रह्म में तत्–तत् जीवरूप आभास भी ब्रह्मसंविदात्मक ही है ॥२४॥

निरवयव ब्रह्म में अवयवयुक्त जगत् के सद्भाव में भी दृष्टान्त देते हैं।

जैसे निरवयव आकाश में दिशाभेदरूप आकाश के अवयवों की अभिन्न सृष्टि भासती है, वैसे ही अवयवरहित ब्रह्मरूप आत्मा में यह द्वैताद्वैत सृष्टि भी अभिन्न रूप से विद्यमान है ॥२५॥

इसी रीति से पूर्वोक्त अहंकार और जगत्–ये दोनों एक–दूसरे के अन्दर स्थित हैं, यह समझ लेना चाहिए, यह कहते हैं।

इसी रीति से जगत् के अन्तर्गत अहंकार और अहंकार के अन्तर्गत जगत् ये दोनों परस्पर एक दूसरे में, केले के पत्तों के स्तर के समान, वेष्टित हैं ॥२६॥

अधःपतन हो ही जाता है। देखिये श्रुति क्या कहती है :

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

अहंकारात्मक जीव अपने भीतर स्थित जगत् को बाहर देखता है, इसमें भी दृष्टान्त देते हैं।

जैसे हिमालय पर्वत अपने छिद्रों से निकले हुए जल को बाहर मानसरोवर आदि रूप में स्थित देखता है वैसे ही यह जीव भी अपने अन्तर्गत जगत् को इन्द्रियों तथा मानसिक वृत्तियों से बाहर स्थित–सा देखता है ॥२७॥ जैसे आपाततः भ्रान्ति से सुवर्णपिण्ड में भूत और भावी कटक, केयूर आदि आकार दिखाई पड़ते हैं, किन्तु सुवर्णमात्र दृष्टि करने पर दिखाई नहीं पड़ते, वैसे ही यह जीव बिना कारण के यानी एकमात्र भ्रान्ति से अपने को जगद्रूप से देखता है ॥२८॥

यही कारण है कि जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानियों की जन्म–मरणादिरूप सांसारिक स्थितियाँ अन्य दृष्टि से विद्यमान रहती हुई भी नहीं ही रहती हैं, यह कहते हैं।

इस जगत् के पारावारदर्शी जीवन्मुक्त महापुरुष जीवन धारण करते हुए भी वस्तुतः जीवन धारण नहीं करते एवं मरे हुए नहीं रहते भी वे मरे हुए–जैसे तथा उपस्थित रहते हुए भी नहीं–से रहते प्रतीत होते हैं ॥२९॥ जैसे घर के अन्दर स्थित भी पुरुष गोशाला आदि में आसक्तचित्त हो गृह कार्यों को नहीं देखता, वैसे ही ब्रह्म में आसक्तचित्त तत्त्वज्ञानी पुरुष देहयात्रा के निर्वाह के लिए कर्मों को करते हुए भी उन्हें नहीं देखता ॥३०॥

प्रासंगिक बातें समाप्तकर अब प्रस्तुत का अनुसन्धान कर रहे हैं।

जैसे ब्रह्माण्ड के हृदय में विराट्जीव चन्द्रमा स्थित है, वैसे ही प्रत्येक व्यष्टिदेह में हिमकण के सदृश वीर्यरूप जीव स्थूल में स्थूल एवं लघु में लघु रूप से स्थित है ॥३१॥

उस जीव के देहधारण का प्रकार बतलाते हैं।

पिता के हृदय में वीर्यरूप से अवस्थित अहंकारात्मा जीव माता की त्रिकोणाकार योनि में पिता के द्वारा निषिक्त होकर त्रिकोणाकार परिच्छिन्न कल्पना को प्राप्त होता है। तदनन्तर उस योनि में स्थित रक्त से मिल करके कललबुद्बुद् तथा पिण्ड आदि आकार–क्रम से आविर्भूत हो असद्रूप शरीर में सद्आकार 'अहम्' इत्याकारक अभिमान को चेतन होने के कारण मानने लग जाता है ॥३२॥ इस प्रकार त्रिकोणाकारोपलक्षित माता के गर्भ में, एकमात्र शुक्र ही, जिसमें सत् यानी अस्थि, स्नायु आदि कठिनांशरूप से स्थित रहता है ऐसे अपने कर्मों द्वारा निर्मित शरीर में कोशाकार कृमि की नाईं बद्ध होकर 'मैं जीव हूँ' इत्याकारक अभिमान से युक्तगत इस तरह अवस्थित रहता है, जिस तरह फूलों में सुगन्ध ॥३३॥

उसमें भी, चन्द्रकलाओं के चन्द्रबिम्ब की नाईं, हृदय में स्थित वीर्यकणों के भीतर अहंभाव की स्फुर्तियों की विशेषरूप से व्याप्ति होती है और उसके द्वारा सारे शरीर में सामान्यतः अहंभाव का विस्तार होता है, यह सब अपने एकमात्र अनुभव से ही सिद्ध है, यह कहते हैं।

वीर्य कणों के अन्दर स्थित संवित् पैर से लेकर मस्तक तक सारे शरीर में अहंभावरूप से इस प्रकार व्याप्त हो जाती है, जिस प्रकार सारे ब्रह्माण्डमण्डप में चन्द्रमा की किरण ॥३४॥

उसके बाह्य पदार्थों के अवलोकन में द्वार बतलाते हैं ।

इन्द्रियों के छिद्ररूपी पनाले से बाहर निकला हुआ आभाससहित अन्तःकरणात्मक ज्ञानरूपी जल तीनों लोकों में स्थित सन्निकृष्ट बाह्य पदार्थों को ऐसे व्याप्त कर लेता है जैसे धूम्र मेघरूप से सारे आकाश को ॥३५॥

समस्त देह की अपेक्षा वीर्य में इसका विशेषाभिमान अनुभवसिद्ध है, यह बतलाते हैं ।

यद्यपि समस्त शरीर में बाहर और भीतर सर्वत्र वह ज्ञान रहता है, तथापि इस वीर्य में इसको सबसे अधिक अहमभिमान रहता है ॥३६॥

यही कारण है कि हार्दिक संकल्पपूर्वक ही सम्पूर्ण बाह्य पदार्थों के व्यवहार प्रवृत्त होते हैं यह कहते हैं ।

इसी हेतु से संकल्पात्मक यह जीव हृदय के अन्दर रहकर जिस किसी वस्तु का संकल्प करता है, शीघ्र उसी रूप से बाहर स्पष्ट प्रसृत होने लग जाता है ॥३७॥

और इसी कारण से उस जीव का वह अहंभाव चित्त की ब्रह्माकार स्थिति के बिना हजारों अन्य उपायों से भी शांत नहीं होता, यह कहते हैं ।

यथास्थित यानी स्वभावसिद्ध चित्तवर्जित स्थिर ब्रह्मैकरसस्थितिरूपी ज्ञानदशा को छोड़कर और किसी भी दूसरी स्थिति से 'अहम्' इत्याकारक भ्रम शांत नहीं होता ॥३८॥ इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी मनन, निदिध्यासन आदि के द्वारा निरंतर चिंतन की जा रही भी अपनी ब्रह्मचिंता अहंभाव की आत्यंतिक शांति के लिए उत्तरोत्तर भूमिकाओं में निर्विकल्प समाधि के परिपाक क्रम से चरम भूमिका तक आकाश के समान आपको बना देनी चाहिए । अतः इतने से ही संतुष्ट होकर आप बैठ मत जाइये ॥३९॥

तो क्या आप जैसे महानुभावों को भी वह वैसी ही सम्पादनीय है, इस पर नहीं यह कहते हैं ।

ब्रह्मज्ञानी लोग इस संसार में बाह्य तथा मानसिक दृश्य–दर्शन के अभिमान से शून्य कर्मेन्द्रियों के व्यापारों से रहित एवं भाव्य और भावन से वर्जित ऐसे व्यवहार करते है, जैसे काष्ठ के पुरुष ॥४०॥ जिसके अंदर तुच्छ प्रपंच की भावना नहीं है, वह जीते–जी आकाश के समान विशाल, श्रृंखला आदि के बंधन से निर्मुक्त हुए की नाईं, स्पष्ट रूप से मुक्त कहा जाता है ॥४१॥

शुक्रांश के सम्बंध के वश से ही समस्त शरीर में अहंभाव का सम्बंध भी रहता है यह कहते हैं ।

वीर्यकणों के अंदर स्थित संवित् पैर से लेकर मस्तक तक समस्त शरीर में अहंभाव रूप से इस प्रकार व्याप्त हो जाती है, जिस प्रकार सारे ब्रह्माण्ड में सूर्य की प्रभा ॥४२॥

चक्षु आदि इन्द्रियों के रूप से तत्–तत् स्थानों में सम्बंध भी शुक्रात्मभूत ही जीव का रहता है, यह कहते हैं ।

चक्षु इन्द्रिय और चक्षुगोलक, स्वादेन्द्रिय और जिह्वास्थान, श्रवणेन्द्रिय और श्रवणस्थान–

इत्यादि सब वीर्य में स्थित वह संवित् ही होती है, इसीलिए स्त्री आदि का दर्शन, स्पर्शन, श्रवण आदि होने पर पहले की रूपादि पाँच वासनाएँ बांध कर समस्त इन्द्रियों के द्वारा जननिक कामोद्दीपन से उनमें निमग्न हो जाती है ॥४३॥ अज्ञानावृत चिति की विपरीत भावना ही सबसे पहले मन बनती है, फिर वीर्य में अहंभावरूप एक देश के द्वारा सारे शरीर में व्याप्त होकर तत्-तत् इन्द्रियभाव से इस तरह उदित होती है, जिस तरह पृथिवी में सर्वगामी भी रस अंकुर के रूप से वसन्त ऋतु में उदित होता है ॥४४॥

इसीलिए उसके प्रतिकूल यथार्थ भावना के बिना उस जीव के दुःखों का उपरम नहीं होता, यह कहते हैं।

जो पुरुष इस संसार में उत्पन्न मन, अहंकार, देहादि जगत्-पदार्थों में 'वाचारम्भणं विकारो नामघेयम् नेह नानास्ति किंचन, अथात आदेशो नेति नेति' इत्यादि श्रुतियों द्वारा दिखलाई गई अभावरूप की भावना नहीं करता, फिर मोक्ष के अनुकूल यत्न से रहित उस पुरुषरूपी गदहे के जन्मादि अनन्त दुःखों की शान्ति कभी नहीं होती ॥४५॥

सारे सांसारिक पदार्थों में ब्रह्मरूप की भावना कर रहे पुरुष को तो बाह्य सर्वस्व का त्याग होने पर भी प्रारब्ध के कारण आकृष्ट हुए मनुष्यों के द्वारा भोजन, वस्त्र आदि के मिल जाने से तथा अपने भीतर स्वानन्दामृत-तृप्ति रहने से वैराजपद तक साम्राज्य सुख है ही, यह कहते हैं।

जिस किसीके द्वारा वस्त्र आदि से ढक दिया गया, जिस किसी के द्वारा खिला दिया गया तथा जहाँ कहीं सो जानेवाला तत्त्वज्ञानी पुरुष सम्राट् के समान शोभित होता है ॥४६॥ समग्र ब्रह्माकार वासनाओं से अथवा जले हुए वस्त्रों के तन्तुओं के आकार के सदृश जागतिक समस्त वासनाओं से युक्त हुआ भी तत्त्वज्ञानी पुरुष वासनारहित ही रहता है तथा अन्तःशून्य होता हुआ भी परिपूर्णात्मा वह आकाश के सदृश प्राणवायु से समन्वित रहता है ॥४७॥ षष्ठ आदि भूमिकाओं में प्रविष्ट होने के कारण आसन, शयन या यान में स्थित, निर्वाणदशा को प्राप्त अतएव मानसिक चिन्ताओं से सर्वथा अलग हुआ तत्त्वज्ञानी पुरुष निद्रालु की नाईं, अनेक तरह के यत्नों से जगाने पर भी नहीं जागता ॥४८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, सर्वत्र व्याप्त भी संविन्मात्र वह पुरुष शरीर के स्फुटसार में (वीर्य में) इस तरह अवस्थित रहता है, जिस तरह पद्मकोश में गन्ध ॥४९॥

इस तरह व्यष्टि और समष्टि जीव-भावादि के वर्णन को परम प्रस्तुत विषय में संयोजित करके अपने उपदेशरूप सर्वस्व को संक्षिप्त करते हुए महाराज वसिष्ठजी कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, संविद्मात्र ही जीव कहा गया है और उसी के विस्तार को तत्त्वज्ञानी लोग 'जगत्' समझते हैं यानी यह जो जगत् है, वह एकमात्र संविद्रूप जीव का विस्तार ही है। जब यह जीव आत्मनिष्ठ हो जाता है तब अजगद्रूप अपने परम पद को प्राप्त हो जाता है, बस यही सर्वोत्कृष्ट उपदेशस्थिति है ॥५०॥

दृढ़ वैराग्य होना ही साधन–रहस्य है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, समस्त सांसारिक विभव आदि भाव पदार्थों में विरक्त हो जाइये तथा पाषाण के समान अपने हृदय को बना करके ऐश्वर्य–प्राप्ति के लिए आप जिसरूप से तैयार हो रहे हैं वैसा ही सन्नद्ध रहिये ॥५१॥

'पाषाण के समान अपने हृदय को बना करके' यह जो ऊपर कहा है, उसे और साफरूप से कह रहे हैं।

हे साधो, राघव, जैसे अचित्त्वशरीर पत्थर के हृदय का पोलापन अचिद्रूप होने से ही चिति के निवेश के लिए अवकाशअभावरूप अपोलापन प्रसिद्ध है वैसे चिन्मात्रशरीर आपका दहराकाशरूप हृदय सौर्षिय (हृदय पोलापन) चिद्रूप होने से ही अचिति के निवेश के लिए अवकाशअभावरूप चिति से निबिड़ित (सघन) अपोलापन की नाईं हो जाय (🕭) ॥५२॥

यही कारण है कि स्फटिक पत्थर में प्रतिबिम्बित मनुष्यों के व्यवहार कर्मों के सदृश ज्ञानी और अज्ञानी दोनों में प्रतीति साम्य रहने पर भी सत्यत्व वासनाभावकृत विशेष है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, तत्त्वज्ञानी और अज्ञानी– दोनों के सम्पूर्ण भाव और अभाव रूप कर्मों में एकमात्र वासनाभाव के सिवा और कोई दूसरा विशेष नहीं रहता ॥५३॥ और इस तरह स्फटिक पत्थर में द्रष्टापुरुष की दृष्टि की नाईं चैतन्य की जो सत्ता है वही वासनाओं से दीपित होकर जगद्रूप हो जाती है और वासनाओं के अभाव से निमिषित यानी शान्त हो करके तो अपरिच्छिन्न परमतत्त्व– मोक्षरूप हो जाती है, जिसका दूसरा कोई नाम ही नहीं है ॥५४॥

इसलिए एकमात्र चिति की सत्ता ही नित्य है, यह कहते हैं।

यह सारा दृश्य प्रपंच पहले नष्ट होता है और नष्ट होकर फिर पुनः उत्पन्न होता है । परंतु हे श्रीरामचन्द्रजी, जो न तो कभी नष्ट हुआ, न उत्पन्न ही हुआ और सद्रूप है वही आप हैं ॥५५॥ हे श्रीरामजी, इस तरह के बोध से मूलअज्ञान का नाश होने पर अन्वेषण करने पर भी कहीं जगत्भ्रान्ति अस्तित्व नहीं रखती, और मृगतृष्णा जैसे जल प्रदान नहीं करती, वैसे ही यह संसार में अंकुर नहीं प्रदान करती ॥५६॥ आत्मपदार्थ के साक्षात्कार से काटी गई अहंभावना दिखाई देने पर भी भीतर में संसार को इस तरह उत्पन्न नहीं कर पाती, जिस तरह दग्ध कर दिया गया बीज अंकुर उत्पन्न नहीं कर पाता ॥५७॥

(🕭) अथवा हे साधो श्रीरामचन्द्रजी, आज तक चिदात्मा के अभिमान से शून्य होने के कारण अचित्त्व शरीर हुए आपका–अचिद्रूप अज्ञान से स्फटिक पत्थर के अन्दर कल्पित आकाश की नाईं– करोड़ों घनादिरूप भोग सामग्रियों के लाभ से भी परिपूर्ण नहीं हो रहा कामरूपी मन–छिद्र अब नित्यनिरतिशयानन्द पूर्णात्मा के लाभ से पूर्ण काम हो जाने के कारण, बाधित हुए वास्तविक स्फटिकछिद्र की नाईं, एकमात्र आनन्दघन हो जाय, यह आशय है ।

इसीलिए विहित कर्मों का अनुष्ठान करने या न करने पर तत्त्वज्ञानियों के लिए कोई विशेष बात नहीं निकलती, यह कहते हैं।

वीतराग, मानसिक विकारों से रहित तत्त्वज्ञानी पुरुष चाहे कर्म करे या न करे, इससे उसमें कोई नयी बात नहीं आती, वह तो सर्वदा ही संकल्पशून्य एवं नित्यमुक्त होकर अपनी आत्मा में ही स्थित रहता है ॥५८॥

मनयुक्त हठयोगी लोग शान्ति आदि गुणों के कारण अपनी आत्मा में क्यों नहीं स्थित रहते ? इस आशंका पर कहते हैं।

जो हठयोग से शान्त बने योगी लोग रहते हैं वे भी चित्त की उपशान्ति हो जाने पर ही भलीभाँति शान्त हो पाते हैं, अन्यथा नहीं क्योंकि उनकी भोगवासनाएँ बिलकुल मूल से छिन्न हुई नहीं रहतीं, इसमें कारण यह पड़ जाता है कि सम्पूर्ण वासनाओं का आधारभूत उनका चित्त तो बना ही रहता है ॥५९॥

चित्त, देह आदिरूप से जीव की जो एकरूपता है, वही ब्रह्म से जीव को भिन्न बनानेवाली और उसको संताप देनेवाली है और उसके अभाव में तो यह जीव ब्रह्म से अभिन्न एवं संतापशून्य ही बना रहता है, यह कहते हैं।

जीव ज्ञानी (शोधित त्वंपदार्थ), मूर्तिशून्य, (चित्त, देह आदि स्वरूप न हुआ) एवं शुद्ध चैतन्यप्रकाशरूप बनकर ही परमात्मा के साथ एकता प्राप्त करने के लिए योग्य हो जाता है। वही जीव अन्य होता हुआ भी उस परमात्मा से ऐसे अनन्य है, जैसे मध्याह्नकाल में सूर्य का प्रकाश सूर्य से अनन्य है ॥६०॥

आत्मा के उसी मूर्तिशून्य केवल चिदालोकस्वरूप का अनुभव कराते हैं।

पुरुष के शरीर से बहुत दूरी पर स्थित सूर्य, चन्द्र आदि मण्डलतक चक्षु आदि के द्वारा गये हुए चित्त की जो वृत्ति है, उसका मध्य में विच्छेद न रहने के कारण देह से लेकर सूर्यादिमण्डल पर्यन्त अविच्छिन्नरूप से अपरोक्ष चिति उसमें अभिव्यक्त है ही। यह वृत्ति देहप्रदेश तथा चन्द्रप्रदेश में यद्यपि विषयसहित है, तथापि मध्यभाग में उसका निर्विषयक जो रूप प्रसिद्ध है उसी रूप को परमात्मा का पूर्ण रूप समझना चाहिए (📖) ॥६१॥

निर्विषयक चिति का ही यह जगत् एक मायिक चमत्कार है, यह कहते हैं।

असीम और अनभिव्यक्त सुन्दर चिदाकाशरूप कपूर जो अपने भीतर स्वयं चमत्कार करता है, उसी को वह जगद्रूप से जानता है ॥६२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह से यह संसार तत्त्वज्ञानी पुरुष को सांसारिक भ्रम के दूर हो जाने से प्रकाशमय, उपेक्षित दीप की नाईं, निर्वाण को प्राप्त अक्षय (परिपूर्ण) ब्रह्मरूप ही भासता है और अज्ञानी को तो परमार्थतः आकाश के उदर में स्थित

(📖) देखिये यह श्रुति – 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्'।

भी यह संसार सर्वनियन्ता परमेश्वर की समस्त नियन्त्रण व्यवस्थाओं से तथा भोगप्रीतियों से अनुगत ही भासता है। कहने का तात्पर्य यह कि यह जगत् भिन्न-भिन्न दृष्टिरूप ही है ॥६३॥

बाईसवाँ सर्ग समाप्त

तेईसवाँ सर्ग

मरुभूमि के महावन में महाराज वसिष्ठ के साथ मंकिनामक ब्राह्मण का समागम तथा वैराग्य आ जाने से तत्त्वजिज्ञासु हुए उसका उपदेश, यह वर्णन।

'नीरसो भव भावेषु सर्वेषु विभवादिषु' इससे जो वैराग्य की दृढ़ता के लिए आवश्यकता बतलाई गई है उसको खूब स्थिर करने के लिए मंकि ब्राह्मण का उपाख्यान आरम्भ करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, भलीभाँति आँखों के सामने दिखाई दे रहे इस स्वाभाविक अज्ञानादिरूप संसार से तत्त्वबोध द्वारा निकलकर आप मंकि के सदृश उत्तम लक्षणों से युक्त और वैराग्य की वासना से समस्त सांसारिक वासनाओं से निर्मुक्त होकर निर्वाण पद को प्राप्त हो जाइये ॥१॥ बहुत दिन पहले की बात है, प्राचीन काल में एक उत्तमव्रती मंकि नामक ब्राह्मण हुए थे, हे श्रीरामचन्द्रजी उन्होंने मेरे उपदेश देने पर कैसे निर्वाण पद की प्राप्ति की, उसे आप सुनिये ॥२॥ किसी समय पहले आपके पितामह अज ने किसी यज्ञादि रूप कार्य से मुझे निमन्त्रण दिया था, इसलिए आकाशमण्डल से इस पृथिवी पर मैं आया ॥३॥ आपके पितामह की नगरी अयोध्या में आ रहा मैं पृथिवी पर विचरते हुए महान् आतपों से युक्त किसी एक बड़े महाजंगल में पहुँच गया ॥४॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वह महाजंगल अविच्छिन्नरूप से धूलि उड़ने के कारण धूसर हो रहा था, वहाँ पर तप्त हुई रेत खूब चमक रही थीं, उसका और छोर कहीं नहीं दिखाई दे रहा था तथा वह कहीं-कहीं निकृष्ट ग्रामों से चिह्नित था ॥५॥ धूलि आदि के उड़ने से अक्षुब्ध हुए आकाश, झंझावात, धूप, मृगतृष्णा के जल और तप्त हुई पृथिवी की शान्ति से शोभायमान, विस्तृत, शून्य तथा दुर्गम होने के कारण जानेवालों के द्वारा किये गये महान् प्रयत्नों से युक्त निर्मल ब्रह्म सत्ता की नाईं वह महाजंगल था ॥६॥ मोह पैदा करनेवाली मृगतृष्णा-सी अविद्या के सदृश, भ्रम के कारण जड़ता को प्राप्त, बहुत दूर तक फैला हुआ, प्राणियों के संचार से शून्य तथा दिग्भ्रमरूपी कुहरा से वह व्याप्त था ॥७॥ उस महाजंगल में पहुँचने के बाद ज्यों ही मैं इधर-उधर विहार करने में प्रवृत्त हो रहा था, त्यों ही श्रम के मारे एक पथिक को कुछ कहते देखा ॥८॥

वह पथिक कह रहा था : अहो, जैसे दुर्जन पापी का समागम परिताप के लिए ही होता है वैसे ही प्रचण्ड तापयुक्त यह सूर्य भी अत्यन्त खेद पहुँचाने के लिए ही उदित हुआ है ॥९॥ सभी अंग एक तरह से गलते जा रहे हैं, इस ताप में मानों अग्नि प्रदीप्त हो रही है तथा संकुचित हो रहे

पल्लवोंवाली वनराजियाँ सन्तप्त हो रही हैं ॥१०॥ इसलिए छोटे-से इस अगले गाँव में प्रविष्ट होकर कुछ देर तक रहूँ। यहीं पर जल्दी थकावट मिटाकर फिर शीघ्रगामी मैं अपना रास्ता पकड़ लूँगा ॥११॥ ऐसा विचारकर जब वह आगे स्थित किरातों के एक छोटे-से गाँव में प्रवेश करने की इच्छा कर रहा था, तब तक मैंने उससे यह बात पूछ दी (☙) ॥१२॥ हे अकिंचन पुरुषों के संचारयोग्य मार्ग का परिज्ञान न रखनेवाले मरुमार्ग के, महाजंगल के पथिक, हे शुभकृते मेरे मित्र, *(यहाँ मेरे दर्शन से सभी दुःखों के मूल का क्षय हो जाने के कारण)* तुम्हारा स्वागत हो ॥१३॥ हे निम्नमार्ग के पथिक (🔔) पूर्व के गाँवों में अन्न-पान-आश्रय आदि के लाभ द्वारा कुछ विश्रान्तिसुख पा जाने पर भी अतिथियों का सत्कार करनेवाले पुरुषों से शून्य गाँव में रहकर इस मनुष्यदेहरूपी देश में आगे चलकर चिरकाल तक विश्रान्ति नहीं प्राप्त कर सकोगे (卐) ॥१४॥ पामरजनों के निवासस्थान गाँव में (📖) विश्रान्तिसुख नहीं मिलता। हे श्रीरामजी, यह निश्चित है कि नमक का पानी (🔥) पीने से तृष्णा और बढ़ती जाती है, उससे प्यास नहीं बुझती ॥१५॥ ये सब पुलिन्द जाति के जन्तु लोग जंगली एक छोटे-से गाँव में रहते हैं, जनपद के स्पन्द से बहुत डरते हैं तथा उटपटांग मार्ग मे इधर-उधर मृगों की तरह घूमते-फिरते हैं (⚐) ॥१६॥ पत्थर की बनी मूर्तियों की नाईं वे विचारों में स्फुरित नहीं होते यानी मूढ़ होते हैं, अनुभूतियों में खूब जलते हैं तथा दुराचार से वे कतई नहीं डरते (☟) ॥१७॥ काम और अर्थ में ही इनका सम्पूर्ण पौरुष परिनिष्ठित रहता है तथा मुग्ध बुद्धि वे आपातरमणीय कर्मों में ही रमण किया करते हैं ॥१८॥ दोनों कुल की

(☙) अर्थात् मैंने उसका भाग्योदयकाल जानकर उसके सम्पूर्ण श्रम का मूलोच्छेद करने के लिए आगे कही जानेवाली बातें पूछ दीं।

(🔔) हे अधराध्वग, इस सम्बोधन से उस समय महाराज वसिष्ठजी का आकाशमार्ग से गमन सूचित होता है।

(卐) यह ऊपरी अर्थ है। इसका मनोगत अर्थ यह है - हे अधरकर्म के पथिक, कर्मोपासना से लब्ध होनेवाले इस दक्षिणायन-उत्तरायन मार्गरूपी पथमें, स्वर्ग आदि भूमियों में कुछ-कुछ विश्रान्ति को प्राप्त करते हुए भी जन्मसमूहरहित मोक्ष की नाईं चिरकाल तक विश्रान्ति न प्राप्त कर सकोगे।

(📖) वास्तविक अर्थ यह है : कामद्वेष, आदिकों के निवासस्थान कर्तृ-करण संघात के आलय देव-मनुष्य आदि देह में विश्रान्तिसुख नहीं मिलता।

(🔥) नमकीन विषयों के सेवन से विषयाभिलाषा और बढ़ती जाती है। सुनिये ययाति ने क्या कहा है-'न जातुकामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥'

(⚐) वास्तविक अर्थ यह है- ये काम आदि पल्लव की नाईं स्नेह-राग से युक्त है, विवेक स्पन्द से सदा डरते हैं तथा अशास्त्रीय मार्ग में खूब घूमते हैं।

(☟) विवेकज्ञान होने पर वे काम आदि स्फुरित नहीं होते, तत्त्वज्ञान का अनुभव हो जाने पर ये जलने लगते हैं तथा दुराचार से कभी तनिक भी भय नहीं करते।

विशुद्धता से विस्तृत, शीतल, उदार, ब्रह्मानन्दैकरसशालिनी प्रज्ञा इन लोगों में ऐसे विश्वास नहीं करती, जैसे मरुस्थल में मेघ माला ॥१९॥ अन्धकारावृत गुहा में अजगर होना अच्छा है, पत्थर के भीतर कीट होना अच्छा है तथा मरुस्थल में पंगु मृग होना अच्छा है, परन्तु ग्रामीणजन का (📖) साथ अच्छा नहीं है ॥२०॥ निमेषमात्र के लिए आस्वाद में मधुर, क्षणभर में ही बिगाड़ कर देनेवाले तथा प्राण लेने में सदा तैयार रहनेवाले ये ग्रामीणजन, मधुमिश्रित विषकण के समान हैं ॥२१॥ धुलिधूसर, तृण, पर्ण तथा वन में व्यग्र गाँव में होनेवाले ये अधार्मिक जनरूपी पवन जीर्ण–शीर्ण घरों में संचार करते हैं ॥२२॥

हे अनघ श्रीरामजी, इस तरह मेरे कहने के बाद मेरा आशय जानकर 'ये मेरा अवश्य उद्धार करेंगे' इसलिए मेरे वाक्य से भलीभाँति आश्वासन पाकर अमृतरूपी जल से स्नान किये हुए के सदृश उस मंकि ने मुझसे यह कहा ॥२३॥

उस पथिक ने कहा : भगवन्, आप कौन हैं ? आप पूर्णात्मा आत्मज्ञानी कोई महात्मा प्रतीत हो रहे हैं, क्योंकि आप अनाकुल होकर इस लोक को ऐसे देख रहे हैं, जैसे कोई पथिक ग्रामयात्रा को देखता हो ॥२४॥

पूर्णात्मा को ही हेतुओं के वितर्क द्वारा प्रकट करते हैं।

भगवान् क्या आपने अमृत का पान किया है या आप सम्पूर्ण लोकों के ईश्वर है अथवा विराट् पुरुष है ? आप सब अर्थों से रिक्त होते हुए भी परिपूर्ण चन्द्रमा की नाईं शोभते हैं ॥२५॥ सांसारिक दोष दुःखों से शून्य हैं, निरतिशयानन्द होने से आप जीवन्मुक्तों के गुणों से परिपूर्ण हैं, देह आदि का कुछ भी अनुसन्धान न रहने से आप मदघूर्णित से मदोन्मत्त के समान है, आप स्थिर–से हैं, समष्टि में अपवाद तथा अध्यारोप दृष्टि से आप सब कुछ होते हुए भी नहीं है एवं व्यष्टि में अपवाद और अध्यारोप दृष्टि से आप सब कुछ नहीं होते हुए भी सब कुछ हैं ही ॥२६॥

इस प्रकार का मैं हूँ, यह तुमने कैसे जाना, यदि यह कहिये, तो इसका उत्तर यह है कि 'आपके रूप के अवलोकन से ही', यह सूचित करते हुए कहते हैं।

हे मुने, शान्त, रमणीय, प्रदीप्त, प्रतिघातरहित, सर्वथा निवृत्त तथा समस्त सामर्थ्ययुक्त जो रूप (✍) रहता है वैसा यह आपका रूप क्यों भासता है ? ॥२७॥ आप पृथिवी पर स्थित हुए भी समस्त लोकों के ऊपर आकाश में स्थित–से हैं। आस्थाशून्य रहते हुए भी आप मेरे समान लोगों का उद्धार करने में सघन आस्था से युक्त–से मुझे प्रतीत हो रहे हैं ॥२८॥ चन्द्रमा की नाईं विशुद्ध आपका अमृतमय मन चन्द्रमा की किरणों की तरह पदार्थों में प्रसृत नहीं है और न औषधि, वनस्पति, सोम, घी, दूध, अन्न आदि पदार्थों के रूप से उपभोग के योग्य

(📖) अज्ञानीजन का - यह तात्पर्यार्थ है ।

(✍) इसमें यह श्रुति प्रमाण है–'रूपमेवास्यैतन्महिमानं व्याचष्टे'।

हैं जिससे नष्ट हो जायेगा । अतः आपका मन सदा ही परिपूर्ण स्थित है । तात्पर्य यह कि चन्द्रमा से भी बढ़कर आपका मन है ॥२९॥

और दूसरा भी चन्द्रमा के साथ साम्य तथा विशेषता बतलाते हैं ।

मुने, आप कलावान्, कलंकशून्य, भीतर से शीतल, प्रकाशमय, समरूप तथा रसायनप्रवाह पूर्ण , पूर्ण चन्द्रमा के सदृश भासते हैं (♨) ॥३०॥

इसी तरह हिरण्यगर्भ के साथ आपका सादृश्य तथा उससे बढ़कर आपमें विशेष गुण है, यह कहते हैं ।

अंकुर में काण्ड आदि फलपर्यन्त स्थित वृक्ष के रूप की नाईं हे भगवान्, सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमानता आदि गुणों से सम्पन्न आपकी आत्मा में ही यह संसारमण्डल सृष्टि योग्यरूप से स्थित मैं देखता हूँ। परन्तु इस संसारमण्डल की सृष्टि के लिए सत् और असद्भाव को मैं आपकी इच्छा में ही स्थित जानता हूँ। यदि आप चाहें तो आप भी संसार की सृष्टि अवश्य कर सकते हैं, परन्तु आप चाहते नहीं, बस यही तो आपमें हिरणयगर्भ से बढ़कर एक विशेष गुण है ॥३१॥

इस तरह प्रशंसा द्वारा अभिमुख किये गये महाराज वसिष्ठजी को अपनी वैराग्य आदि साधनसम्पत्ति से उपदेशयोग्यता दर्शाने के लिए अपने गोत्र, नाम आदि का बखान करता है ।

हे महाभाग, मैं शाण्डिल्य गोत्र में उत्पन्न मंकि नामधारी ब्राह्मण हूँ । तीर्थयात्रा करने की इच्छा से बहुत दूर तक जाकर मैंने अनेक तीर्थों के दर्शन किये । अनन्तर अब मैं बहुत देर से अपने घर को जाने के लिए उद्यत हूँ ॥३२,३३॥ हे मुने, इस ब्रह्माण्ड के उदर में बिजली की चमक के समान क्षणभंगुर भूतों को देखकर विरक्तमन मुझे घर जाने की इच्छा नहीं होती ॥३४॥ भगवन्, इस दीन के ऊपर दया करके अपना नाम, गोत्र आदि कथनपूर्वक ठीक-ठीक इसे परिचय दीजिये (♧) क्योंकि महात्माओं के चित्तरूपी सरोवर गम्भीर और निर्मल रहते हैं ॥३५॥ अपने दर्शन से ही मित्र बना लेनेवाले (आपके सदृश) महात्माओं के सामने सभी प्राणी, कमलों की नाईं, विकसित और आश्वासित हो जाते हैं ॥३६॥ कुछ विवेकसम्पन्न हुआ भी मेरा यह मन अज्ञानजनित प्रबल सन्देह बना रहने से बिना गुरुउपदेश के सिर्फ एकमात्र अपने विचारकौशल से संसार के भ्रम से उत्पन्न दुःख को समूल नष्ट करने में समर्थ नहीं है, यह मैंने बार-बार मनन करके निश्चय कर लिया, इसलिए पूर्ववर्णित मेरा उद्धार करने में सामर्थ्य रखनेवाले आप रहस्यज्ञान के अनुकूल उपदेश की अनुकम्पाओं से मोहजनित मेरे संशयों का उच्छेद कर दुःखनाश करने योग्य इस मेरे मन को बना दीजिये ॥३७॥

(♨) पूर्ण चन्द्रमा में भी कलंक रहता है, परन्तु आप कलंकशून्य हैं, यह एक आपमें अधिक गुण है ।

(♧) कृपया सत्य आत्मा का मुझे उपदेश दीजिये, यह वास्तविक अर्थ है ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे महाबुद्धे, मैं ब्रह्मलोकवासी वसिष्ठमुनि हूँ। राजर्षि अज के याजनादिरूप किसी काम से आ रहा मैं इस मार्ग में उपस्थित हूँ ॥३८॥ हे पथिक, विषाद मत करो, तुम मनीषियों के रास्ते पर अब आ गये हो, लगभग तुम संसारसागर के दूसरे किनारे लग चुके हो ॥३९॥

मैं मनीषियों के रास्ते पर आ गया हूँ, इसमें कौन-सा मेरा परिचायक चिह्न है ? इस पर कहते हैं।

ज्ञानाधिकार प्राप्ति के भाग्य से हीन मनुष्य की वैराग्यविभव से उदार ऐसी मति, उक्ति तथा शान्तस्वरूप आकृति नहीं हो सकती ॥४०॥ जैसे धीरे-धीरे शाणपर घिसने से मणि निर्मलरूपता को प्राप्त होती है वैसे ही काषायों के परिपाक से चित्त विवेकता को प्राप्त होते हैं ॥४१॥ हे विप्र, तुम क्या जानना चाहते हो और कैसे संसार को छोड़ना चाहते हो, क्योंकि शिष्य गुरु से उपदिष्ट अर्थ को बार-बार परिशीलन करके ज्ञातांश को फिर प्रश्नावधारण आदि कर्मों से चूँकि सफल बनाता है, वह मैं समझता हूँ, अतः तुम्हें जो अपना अज्ञात और जिज्ञासितांश हो, वह कहो ॥४२॥ चूँकि शिष्य रागादिमलशून्य वासना से युक्त रहता है, इसीलिए वह उत्तम वैराग्य आदि तीन साधनों से सम्पन्न मानस तथा नित्यअनित्य एवं सारअसार के विवेक में निपुण मति युक्त होता है। वही गुरुजनों के उपदेशरूपी तेज से शोकशून्य आत्मतत्त्व पद प्राप्त करने के योग्य है, दूसरा नहीं। इसलिए जन्मादि सम्पूर्ण दुःखों से तैर जाने की इच्छायुक्त बुद्धिवाले तुमसे सम्भाषण आदि करके मैंने अच्छी तरह समझ लिया है कि तुम मेरे उपदेश के अधिकारी अवश्य हो, इसीलिए मैं तुमसे कहता हूँ। अतः तुम अपना पूर्वोत्तर वृत्तान्त मुझसे बतलाओ ॥४३॥

तेईसवाँ सर्ग समाप्त

चौबीसवाँ सर्ग

देह, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि आदि के दोषों के सहित सांसारिक अपने दुःखसमूह का मंकि द्वारा वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, यों मेरे कहने पर उस ब्राह्मण मंकि ने मेरे चरणों पर लोटकर आनन्दजलपरिपूर्ण आँखों से युक्त हो मुझे मार्ग में ले चलते हुए यह कहना आरम्भ किया ॥१॥ मंकि ने कहा : हे भगवन्, संशय के उच्छेद के लिए उपदेश देने में कुशल साधु पुरुष के अन्वेषण में तत्पर हो मैंने दसों दिशाओं में, दृष्टियों की नाईं, खूब भ्रमण किया, परन्तु संशय का विनाशक कोई सज्जन पुरुष मुझे न मिला ॥२॥ आज आपको पा जाने से सुर, असुर, पशु, पक्षी आदि समस्त देहों के सारभूत ब्राह्मणदेहों में श्रेष्ठ अपने इस ब्राह्मण शरीर का फल ज्ञानाधिकारसम्पत्ति से मैंने पा लिया। हे भगवन्, दोषप्रद सांसारिक दशाओं को देखते-देखते खिन्न हो गया हूँ ॥३॥

हेतुओं के साथ खेद का ही विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

बार-बार जन्म और बार-बार मरणरूप संसार सदा दुःख के भ्रम से युक्त है ॥४॥

सदा दुःखभ्रमयुक्त ही यह संसार है, यह कैसे ? क्योंकि सुख भी तो संसार में अनुभूत होते हैं, इस आशंका पर कहते हैं।

संसार के सभी सुख भी आखिर में अवश्य दुःखदायी होने से अत्यन्त दुःसह दुःखरूप ही है । इसलिए हे मुने, मैं सांसारिक सुखों की अपेक्षा दुःखों को ही अच्छा समझता हूँ। जलचरों से जल की शीतलता जैसे निरन्तर अभ्यास के कारण सह ली जाती है वैसे ही अविच्छिन्न दुःखपरम्परा भी सुख के अभाव के अधिक अभ्यास के कारण दुःखपूर्वक मनुष्यों से सह ली जाती है, यह भाव है ॥५॥

अथवा अत्यन्त प्रबलदुःख का अनुबन्धी होने के कारण कोदो (एक प्रकार का मोटा अन्न) खाकर जीवन धारण करने में मनुष्यों को जो दुःख है उसकी अपेक्षा विष मिले हुए मिष्ठान्न भोजन के आस्वादजनित सुखो में कम दुःख है । विष मिले हुए उपभोगजनित सुखों में बुद्धिमान् को अधिक द्वेषबुद्धि रखना ही उचित है, यह कहते हैं।

हे सौम्य, आखिर में दृढ़ दुःखदायी होने से ये सुख ही मुझे ऐसे दुःखदायी हो रहे हैं, जैसे कि मानों मेरे लिए दुःख ही सुख हो गया हो । दाँत, केश और नाड़ियों के साथ अब मेरी अवस्था भी जीर्ण हो गयी ॥६॥ उत्तरोत्तर भोगों के उत्कर्ष स्थान में अभिलाषाएँ बाँधकर बैठी हुई मेरी बुद्धि परम पुरुषार्थ के साधन में किसी तरह का अभी उद्योग नहीं कर रही है तथा मेरा मन भी उत्तरोत्तर बढ़ रहे रागरूपी पल्लवों से पल्लवित तथा अतीतकाल के करोड़ों बीत चुके भोगों के लिए शोक, मोह आदि कुत्सित संकल्पों के उपस्थित रहने से विवेकज्ञानशून्य हो गया है, यही कारण है कि वह अपने-अपने दोषादि के साक्षी के विवेक द्वारा प्रकाशित नहीं होता ॥७॥

इसमें दृष्टान्त बतलाते हैं।

हे मुने, मेरा यह मन पीपल आदि के उड़ रहे सूखे पत्तों आदि के संचय से गन्दे गाँवों के मध्य भाग की नाईं हो गया है तथा मेरी जीविका भी नानाविध भोगवासनारूपी दुर्गन्धों को अपने अंग में धारण करनेवाली गीधतुल्य इन इन्द्रियों द्वारा निकृष्ट गन्दे गाँव की स्थिति-सी हो गयी है ॥८॥ करंज आदि काँटेदार वृक्षलता के समान मेरी बुद्धि महाभयानक तथा कुटिल है एवं आयासयुक्त अज्ञानान्धकार से आच्छादित निरन्तर विषयों की चिन्ता से ब्रह्मसाक्षात्काररूपी प्रकाश के बिना ही मैंने अपनी सारी आयु व्यर्थ में ऐसे गँवा दी, जैसे दीपक आदि के प्रकाश को प्राप्त किये बिना अन्धकार से आवृत रात को आँखें व्यर्थ में गँवा देती हैं। हे मुने, शुष्कलता के सदृश यह तृष्णा न फूलती है, न फलती है और न विवेकरूपी रस को ही कुछ ग्रहण करती है, बार-बार व्यर्थ होने से यह नष्ट होकर भी नष्ट नहीं होती ॥९,१०॥

तुम्हारा कर्मों से ही उद्धार क्यों नहीं हो सकता, इस आशंका पर कहते हैं।

जो कुछ मैंने नित्य-नैमित्तक कर्म किया है वह पूर्वजन्म के दुष्कर्म की राशि में निमग्न हो

गया तथा भोगवासनारूपी बीज तो उत्तरोत्तर अनर्थ के हेतुभूत काम्यनिषिद्ध कर्म में ही मुझे प्रवृत्त करता है ॥११॥ पुत्र, कलत्र, बान्धव, चाकर आदि में आसक्ति रखने से यह जीवन भी जीर्ण हो चला, परन्तु हे भगवन्, मैं संसारसागर के पार न पहुँचा तथा भयदायिनी मेरी भोगों की आशा दिनों–दिन बढ़ती ही जाती हैं ॥१२॥ गड्ढे में उत्पन्न हुए कण्टक वृक्ष की नाईं, पुत्र, मित्र, पशु, धन आदि से कभी पूर्ण और कभी अपूर्ण स्वरूप घर में चिन्तारूपी ज्वर से विकार पैदा करनेवाली लक्ष्मी से समुत्पन्न महाविपत्तियाँ मैंने निःसन्देह गँवा दीं ॥१३॥ प्रचुर धन आदि से सम्पन्न तथा शस्त्र आदिकों के द्वारा घायल न हुए पुरुष को भी यह लक्ष्मी बार–बार लुभाकर बहुत दूर तक खींच जाकर के शत्रुओं तथा चोरों आदि के अधीन में पहुँचाती हुई सारी सम्पत्तियों के नाश एवं अस्त्र–शस्त्रों के आधातादि के द्वारा आखिर में दुःखप्रद बनकर धोखा देने में ऐसे समर्थ रहती है, जैसे सर्प के मस्तकमणि से प्रकाशमय हो रहा अन्धकारयुक्त गड्ढा, हृदय के भीतर रत्न लेने की स्फुरित हुई अभिलाषावाले तथा अपने अन्दर स्थित सर्प को न देखनेवाले पुरुष को अपने भीतर घुसाकर साँप के डँसने आदिरूप धोखा देने में समर्थ रहता है ॥१४॥ यह मेरा चित्त हजारों आशारूपी तरंगों से अस्वच्छ, चारों ओर इधर–उधर खूब दौड़–धूप लगाने पर भी अर्थ प्राप्ति से शून्य है, इसी से सूखे समुद्र के सदृश दुष्कर होने से भाग्यहीन तथा एकमात्र इन्द्रियों के वशीभूत हुए मुझे विवेकी लोग अपने समीप नहीं फटकने देते – मेरी उपेक्षा करते हैं ॥१५॥

इसमें दृष्टान्त देते हैं।

कण्टकयुक्त, अपवित्र स्थान में रहनेवाला भीलावा के वृक्ष के समान असत् होने पर भी बड़े – बड़े कर्मों का आरम्भ करनेवाला, अर्जुनवात के समान सदा ही भ्रमणकारी मेरा यह मन मेरे अनेक बार मर जाने पर भी मरण को प्राप्त नहीं हुआ यानी इच्छितार्थ शून्य हो एकमात्र दुःख के लिए ही दौड़ता–फिरता है ॥१६॥

शास्त्रों तथा सज्जनों की संगति आदि उपायों से मन को रोक रखो, यदि ऐसा कहें, तो इस पर मेरा यह कहना है कि ज्ञानफलविवेकरूपी सूर्य के उदय से अज्ञानरूपी रात जब तक बीत नहीं जाती, तब तक शास्त्र तथा सज्जनों के सम्पर्करूपी चन्द्रमा एवं तारे आत्यन्तिक मनका भ्रम दूर करने में समर्थ नहीं हो सकते, इस आशय से कहते हैं।

हे मुनिवर, शास्त्र एवं सज्जन महानुभावों की संगतिरूप चन्द्रमा और तारों को धारण करनेवाली, अहंकाररूपी उल्लसित हो रहे बालकल्पित यक्ष से युक्त यह मेरी अज्ञानरूपी रात अभी तक क्षीण नहीं हुई है, क्योंकि अज्ञानान्धकाररूपी मतवाले हाथी के लिए सिंह तथा कर्मरूपी तृण के लिए अग्नि एवं वासनारूपी रात का विनाशक विवेकरूपी सूर्य का अर्थात् वासनारूपी रात के लिए सूर्यरूप विवेक का अभी उदय नहीं हो पाया है ॥१७,१८॥ हे भगवन्, यही कारण है कि चित्तरूपी

मतवाले हाथी ने अवस्तु को ही वस्तुवत् मान लिया है। हे मुने, ये इन्द्रियाँ मुझे काट खा रही हैं, न जाने मेरी क्या दशा होगी ? ॥१९॥ सेवादि के द्वारा वश में लाये गये प्राज्ञों या अन्यान्य उपायों से मैंने भवसागर तैर जाने के लिए जिस शास्त्रदृष्टि का आश्रय नहीं किया, वह शास्त्रदृष्टि भी वासना में आसक्त करानेवाली होकर दृष्टिविघात की नाईं मुझे अन्धा बनाने के लिए ही है ॥२०॥ इसलिए इस तरह चारों ओर से अनर्थों के कारण भयंकर भारी मोह में फँसे मेरे लिए संसारसागर से उद्धार पाने में कल्याणकारक जो कर्तव्य हो, सो कृपाकर कहिये, मैं आपसे विनयपूर्वक पूछ रहा हूँ ॥२१॥ हे भगवन्, शरत्काल के सदृश निर्मल, स्वच्छज्ञान, विवेकादि ज्योतिर्गणमण्डित साधु गुरु के प्राप्त होने पर आकाशतुल्य शिष्य के मोहरूपी कुहरे शान्त हो जाते हैं तथा सारी दिशाएँ-जैसे आशाएँ (मनोरथ) धूलि आदि मलों-जैसे रागादि-मलों से रहित हो जाती हैं, यह लोक में प्रसिद्ध साधुजनों के द्वारा कही गयी वाणी संसार के शान्तिदायक आपके उपदेश से मेरे लिए सत्य हो ॥२२॥

चौबीसवाँ सर्ग समाप्त

पचीसवाँ सर्ग

अविद्या से उत्पन्न संवेदन आदि चार संसार के बीज हैं और
परमात्मा का तत्त्वज्ञान ही संसार और उन बीजों का विनाशक है, यह वर्णन।

इस तरह मंकि मुनि ने अपने संसाररूपी अनर्थ का वर्णन कर जब उसके निरास का उपाय पूछा तब 'उसके बीजों को जाने बिना संसार निरास के उपाय प्राप्त नहीं किये जा सकते' इस अभिप्राय से संसार के चार बीजों का महाराज वसिष्ठजी उपदेश देते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे मुने, संवेदन, भावन, वासना और कलना ये चार ही इस संसार में अनर्थ पैदा करनेवाले हैं। ये जितने शब्दों के अर्थ हैं, वे मिथ्याभूत अर्थों का ही अवलम्बन करते हैं और स्वयं भी मिथ्या हैं, इसलिए वे सब एकमात्र अविद्या में ही स्फुरित होते हैं। पहले पहले इन्द्रियों से जो विषयों का उपभोग होता है, यह उपभोग ही संवेदन कहलाता है, विषयों को जानने पर उनका जो बार-बार चिन्तन होता है, वह चिन्तन 'भावन' कहलाता है, बार-बार चिन्तन करने पर चित्त में एक तरह का जो दृढ़ विषयलांछन उत्पन्न हो जाता है, वही विषयलांछन वासना कहलाती है और उस वासना से मरणकाल में भावी शरीर के लिए जो स्मरण होता है, उसको कलना कहते हैं ॥१॥

जो ये चार संसार के बीज हैं, उनमें आदि के दो तो अत्यन्त अनर्थरूप है और अन्तिम के दो उनके पीछे-पीछे चलने के कारण अनर्थरूप हैं, यह कहते हैं।

मुनिवर, वेदन और भावन- ये दो तो समस्त दोषों के आश्रय हैं यानी अत्यन्त ही अनर्थरूप हैं, तथापि भावन में तो उस प्रकार सब आपत्तियाँ विद्यमान रहती हैं, जिस प्रकार पुष्प, पल्लव आदि से

समृद्ध लताएँ मधुमास के लतारस में विद्यमान रहती हैं ॥२॥ यह अतिगहन जो संसारमार्ग है, उस पर वासना के आवेश से चल रहे जीव के प्रति ही चित्र–विचित्र अर्थों के समूह से परिपूर्ण टेढ़े–मेढ़े अनेक वृत्तान्त आते–जाते रहते हैं ॥३॥

इसीलिए विवेकी पुरुष का विषयों में दोषभावना और ब्रह्मभावना से इन बीजों का विनाश हो जाने पर वासना के साथ–समस्त संसार नष्ट हो जाता है यह कहते हैं।

विवेकी पुरुष का संसारसम्भ्रम तो, वसन्त के अन्त में पृथिवी के रस के सदृश, धीरे–से वासना के साथ नष्ट हो जाता है ॥४॥

वासना ही आगे का संसार भी बनाती है, यह कहते हैं।

जिस प्रकार वसन्त ऋतु की रसलेखा वन में फैलनेवाली कदली का विस्तार करती है, उसी प्रकार इस संसाररूपी कण्टकपूर्ण गुल्म का वासना ही विस्तार करती है ॥५॥ जैसे पृथ्वी में मधुमास का रस वन बनकर स्थित रहता है, वैसे ही चिति में (अज्ञानाश्रय जीव–चैतन्य में) वासनारूपी रस संसाररूप अन्धकार बनकर उदित होता है ॥६॥

परमार्थ वस्तु का अपलाप करनेवाले अज्ञान को बतलाने के लिए पहले परमार्थ वस्तु का कथन करते हैं।

द्वैतरहित निर्मल चैतन्यमात्र वस्तु को छोड़कर दूसरा कुछ भी पदार्थ जगत् में नहीं है, क्योंकि चैतन्य की सत्ता और चैतन्यप्रकाश इन दोनों से ही जगत् की सत्ता और जगत् का प्रकाश होता है, यह सर्वानुभव सिद्ध बात है। जैसे आकाश शून्यरूपता को छोड़कर दूसरी कोई वस्तु प्रसिद्ध नहीं है, वैसे ही असीम आत्मा में स्वतः सत्ता–स्फूर्ति को छोड़कर दूसरी कोई चीज प्रसिद्ध नहीं है ॥७॥ इस तरह चारों ओर निरन्तर प्रकाशित हो रहा 'चिन्मात्ररूप वेदनात्मा देह–इन्द्रिय आदि से भिन्न नहीं है, इस प्रकार उसकी सत्ता का भान न करानेवाली अनादि जो प्रतिभारूप भ्रान्ति है, वह भ्रान्ति ही आवरणशक्ति की प्रधानता से अविद्या, विक्षेपशक्ति की प्रधानता से भ्रम और फलरूप से वस्तुतः संसाररूप हुई है ॥८॥

अविद्या से साधित वस्तु का परिणाम दिखलाते हैं।

बालक को वेताल की तरह, सत् की नाईं भासित हो रहा असद्रूप यह संसार परमात्मतत्त्व के अज्ञान से सिद्ध है। अतः वह परमात्मतत्त्व के ज्ञानरूप प्रकाश से ही क्षणभर में नष्ट हो जाता है ॥९॥

भेद पैदा करनेवाली दृश्यरूप उपाधियों का बाध हो जाने पर सभी ज्ञानों में एकता आ जाती है, यह दिखलाते हैं।

भेद पैदा करनेवाली दृश्यरूप उपाधियों का आत्मतत्त्व के ज्ञान से बाध हो जानेपर सम्पूर्ण दृश्य, पदार्थों के ज्ञान बोधरूप से ऐसे एकता को प्राप्त हो जाते हैं, जैसे धरातल के सम्पूर्ण नदियों

के प्रवाह सागर में जाकर समुद्ररूप से एकता को प्राप्त हो जाते हैं ॥१०॥

'चिन्मात्रादमलाच्छून्याद्दते किंचिन्न विद्यते' यह जो कहा है इसका दृष्टांतों से उपपादन करते हैं।

जैसे मिट्टी के बर्तन मिट्टी से शून्य उपलब्ध नहीं हो सकते, वैसे ही सत्‌चिन्मात्रमय सांसारिक विषय भी चिति से शून्य उपलब्ध नहीं हो सकते ॥११॥

विचार करने पर चिन्मयरूप से स्फुरित हो रहे पदार्थों की चिदैकरसता ही अन्त में चलकर प्राप्त हो जाती है, इस आशय से कहते हैं।

जो वस्तु तत्त्वज्ञान से ज्ञात होती है वह ज्ञानस्वरूप ही कही जाती है, क्योंकि विरुद्धरूप होने से ज्ञान का अभाव ज्ञानरूप से नहीं जाना जाता। इसलिए ज्ञेय और ज्ञान, ये दोनों एकरूप हैं ॥१२॥

यदि द्रष्टा आदि त्रिपुटी के बोध से आध्यासिक अभेद कोई कहे, तो उसके मिथ्याभूत होने से एकमात्र अधिष्ठान ज्ञानैकरसता ही उसमें सिद्ध हो सकती है, इस आशय से कहते हैं।

द्रष्टा, दृश्य और दर्शन इन तीनों में प्रत्येक में एकमात्र बोध (ज्ञान) ही सार है, इसलिए उससे अन्य, आकाश में फूल की नाईं, कुछ भी नहीं है ॥१३॥

जो एक जाति के पदार्थ हैं, वे ही एक दूसरे में मिल जाने पर एकरूप हो जाते हैं, यह बात जल के साथ जल के मिल जाने पर देखी गई है, इस स्थिति में जगत् जब जगदनुभवरूप है और सभी अनुभव जब एकरूप हैं, तब तो अन्त में चैतन्य की एकता ही सिद्ध हुई, यह कहते हैं।

जल आदि एक जाति के पदार्थ अपनी जाति के दूसरे जल आदि के साथ मिल जाने पर एकता को प्राप्त करते हैं, यह बात सिद्ध है। इसलिए अनुभव भी परस्पर मिल जाने से एकरूप हो जा सकते हैं, अतः चिदेकत्व निश्चय सिद्ध है ॥१४॥

काष्ठ आदि दृश्य पदार्थों का स्फुरण के साथ अभेद न मानने पर खरगोश के सींग के समान उनका अत्यन्त असत्त्व ही हो जायेगा, यह कहते हैं।

यदि लकड़ी, पत्थर आदि को बोधरूप न माना जाय, तो उनका खरगोश के सींग के सदृश, कभी ज्ञान ही, नहीं हो सकेगा ॥१५॥

अपने सिद्धान्त में तो दोष नहीं है, यह कहते हैं।

यद्यपि अपने सिद्धान्त से यह दृश्यप्रपंच एकमात्र बोधरूप अतएव बोध से अनन्य ही सिद्ध है, तथापि अज्ञान के कारण अन्य के सदृश होकर बोध से प्रकाशित होता है ॥१६॥

ऐसी स्थिति में 'जगत् बोधरूप ही है, बोधानतिरिक्त (बोधरूप) प्रकाशवाला होने से जो जिससे अनतिरिक्त (अभिन्न) प्रकाशवाला होता है, वह तद्रूप ही होता है, जैसे वायु का स्पंदन वायुरूप होता है' यह अनुमान फलित हुआ, यह कहते हैं।

जैसे वायु स्पन्दनरूप है और समुद्र जलरूप है, वैसे ही समस्त जगत् में स्थित यह समस्त विस्तृत दृश्य भी बोधरूप ही है ॥१७॥

यदि यह शंका हो कि क्रिया और क्रियावान् एवं अवयव और अवयवी इन दोनों का तो समवायसम्बन्ध से केवल सम्मेलन ही मात्र होता है, न कि उनकी आत्यन्ति एकता होती है, तो इसका समाधान यह है कि लाख और लकड़ी का बाहर से मिश्रण करने पर भी भेद के अनुभव में मिश्रण दिखाई नहीं देता और इस स्थल में मिश्रण दिखाई पड़ता है इसलिए दोनों में विषमता है और समवायसिद्ध भी नहीं है, इस आशय से कहते हैं ।

इन लाख, लकड़ी आदि के परस्पर मिश्रित हो जाने पर भी जैसे भेद का अनुभव होने के कारण उनकी एकता नहीं है, वैसे यहाँ पर नहीं है, क्योंकि इनमें परस्पर ऐक्यरूप मिश्रण दिखाई देने से इनमें ऐक्य ही मानना चाहिए ॥१८॥ दूध और जल की नाईं अन्योन्य एक रूप बन जाना ही एकता है । द्रष्टा और दृश्य पदार्थों का भी अन्योन्य ज्ञानरूप ऐक्य विद्यमान है ही लाख और काठ की नाईं अन्योन्य संयोगमात्र नहीं है ॥१९॥

उपर्युक्त युक्तियों से जब यह सिद्ध हो चुका कि सब दृश्य चिन्मात्रस्वरूप हैं और तत्पदार्थ चिति अपरिच्छिन्न (व्यापक) होने के कारण नित्य मुक्त है, तब त्वंपदार्थ की अहंरूप से परिच्छिन्न बुद्धि ही संसार की कारण और परिच्छिन्न बुद्धि का परित्याग मुक्ति का कारण फलित हो जाता है, यह कहते हैं ।

भद्र, 'अहम्' बुद्धि ही बन्धरूप संसार को पैदा करती है और अहम्बुद्धिका अभाव मुक्ति को पैदा करता है । जब इतने बन्धन को अपने अधीन रख सकते हैं, तब भला अशक्ति ही किस बात की ? ॥२०॥

इसी विषय का उपपादन करते हैं ।

एक चन्द्र में दो चन्द्रमा की बुद्धि या मृगतृष्णा में जलबुद्धि के समान यह असत् अहंकार क्या उत्पन्न हुआ है ? उत्पन्न हुआ ही नहीं है ॥२१॥

अहन्ता त्याग होने पर ममता स्वयं ही त्यक्त हो जाती है, यह कहते हैं ।

'यह मेरा है' यह ममता ही बन्धन प्रदान करती है और 'मैं नहीं हूँ' यह ममता का अभाव मुक्ति प्रदान करता है । जब इतनी वस्तु अपने अधीन हो जाय, तब अज्ञान ही कहाँ रहा ? ॥२२॥

असल में असत्य अहंकार अन्दर बैठ कर सत्य आत्मा को वैसे नहीं ढक सकता, जैसे कि (भीतर बैठकर बैर) कुण्ड को ढक सकता है या वैसे न परिच्छिन्न बना सकता है, जैसे कि घड़ा आकाश को परिच्छिन्न बना सकता है, इसे कहते हैं ।

जो कुण्डबदरन्याय है यानी जैसी कुण्डे (प्याले) की और बैर की स्थिति है या जैसी घट और आकाश की स्थिति है, तात्पर्य यह है कि जिस सम्बन्ध से बैर कुण्डे के अन्दर प्रविष्ट होकर उसको दबा सकता है या घड़ा आकाश को छोटा बना सकता है वह सम्बन्ध भी आत्मा के साथ नहीं है, जो कि अत्यन्त भिन्न अहंकारकल्पना की सामर्थ्य रखता है, ऐसी स्थिति में वास्तविक ऐक्य ही है,

वह ऐक्य अन्योन्य वेदनरूप है यानी चन्द्र में द्वैतपन की नाईं भेद से अविद्या द्वारा कल्पित भेदरूप आत्मा का जो स्वप्रकाश के बल से स्फुरण है, वह अन्योन्य वेदन-सा हो जाता है ॥२३॥ जड़ और ज्ञान की वास्तविक एकता है और वही आत्मरूप है, यों जो जैमिनिमतावलम्बी लोग मानते हैं, उनके मत में भी वह ऐक्य जड़वस्तुगत जड़ और ज्ञानगत अजड़ होगा, यों किसी एक रूप को वह कभी छोड़ ही नहीं सकता, ऐसी स्थिति में जड़ अंश में उसका स्फुरण न होते हुए भी चिदंश में स्फुरित हो रहा वह अन्योन्यवेदनरूप निर्विषयक ऐक्य आ ही जाता है ॥२४॥

क्यों किसी एक रूप को नहीं छोड़ता ? इस पर कहते हैं।

जो अजड़ वस्तु है, वह जड़ता कभी धारण नहीं कर सकती, क्योंकि धर्म (स्वभाव) कभी भी छुटनेवाले होते नहीं। जो आत्मतत्त्व अजड़ है उसे आपने जड़रूप अंशान्तर से देखा, पर वह तो कोई दूसरी ही चीज है, उसकी अजड़ के साथ एकता है ही नहीं, ऐसी स्थिति में जड़ और बोध की एकता कैसे हो सकती है ? ॥२५॥

जब ऐसी ही स्थिति है, तब आत्मवादी लोग एक दूसरे के विरुद्ध तरह-तरह के आत्मा के स्वरूप क्यों मानते हैं, इस पर कहते हैं।

सैकड़ों कुत्सित विकारों से, वासनाओं से तथा अभिमानों से भरे लोग बाह्यदृष्टियों से ही आत्मतत्त्व की समीक्षा करते-करते ऐसे नीचे-से-नीचे की ओर दौड़ते हुए जाते हैं जैसे पर्वत से च्युत हुई पाषाण शिला नीचे से नीचे की ओर दौड़ती हुई जाती है ॥२६॥ इसीलिए स्व-स्व वासनारूपी वायुओं द्वारा इधर-उधर उड़ाये गये उपनिषद्दृष्टि से च्युत पुरुषरूपी तिनकों के ऊपर वे सब दुःख गिरते हैं, जो कि लोक में तथा शास्त्रों में वर्णित हैं। कितने गिरते हैं, इस विषय में कोई कह ही नहीं सकता ॥२७॥

उसीका वर्णन करते हुए उपसंहार करते हैं।

अपनी वासना और अपने-अपने अभिमान के अनुसार राग आदि रसों से रंगे गये लोग करतल से ताड़ित गेंद के सदृश इधर-उधर खूब घूम-फिरकर नरकों में गिरते हैं वहाँ पर दीर्घकाल तक तरह-तरह की यातनाओं के क्लेशों से सब ओर से जर्जर होकर कालान्तर में स्थावर, कृमि, कीट आदि जन्म लेकर अन्य-से हो जाते हैं, फिर मनुष्यजन्म उनके लिए दुर्लभ ही बना रहता है ॥२८॥

पचीसवाँ सर्ग समाप्त

छब्बीसवाँ सर्ग

भावनाजनित रागादि दोषों से अनर्थों का आना तथा
विवेकजनित तत्त्वज्ञान से रागादि दोषों के विनाश द्वारा उनका निकल जाना : यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, स्थावर आदि योनिरूप संसारमार्ग में गिरे हुए जीव के ऊपर, मेघ के आने पर लाखों कीटों के आगमन के सदृश, छेदन, भेदन, दहन, क्षुधा आदिरूप

लाखों बातें आती–रहती हैं ॥१॥

इन सारे वृत्तान्तों में एकमात्र भावना ही मूल है, यह कहते हैं।

ये जितने संसार के पदार्थ हैं, वे सब एक दूसरे से सम्बन्ध कुछ नहीं रखते, जैसे कि जंगल में बिखरे हुए पत्थर के टुकड़े। परन्तु उन सबको मिलानेवाली (गुँथने में हेतु) जंजीर के सदृश भावना ही है ॥२॥

भावना में मूल कारण रागादि दोषों से दूषित, पक्की वासनाओं से भरा विवेक शून्य चित्त है, यह आशय लेकर कहते हैं।

लोक में यह चित्त एक तरह से वसन्तकाल का भयंकर अरण्य है, अनेक तरह के वृत्तान्तरूपी वृक्षों को लेकर अन्धकार पैदा करने के लिए गहन–सा बन स्थित है, राग आदि दोषरूपी जल से सींचा भी गया है ॥३॥ अहो, महान् आश्चर्य है कि वासना के बल से पराधीन होकर ये अज्ञानी भूत सब चित्रविचित्र सुख–दुःखों का जन्मों में अनुभव करते हैं ॥४॥ अहो, यह वासना अतिविषम है,जिसके वश से मनुष्य मिथ्याभूत द्रष्टा आदि त्रिपुटीरूप अर्थों से अपने भीतर यह संसारभ्रम का अनुभव करने लग जाते हैं॥५॥

यही कारण है कि संसार–भ्रम को तैर गये तत्त्ववेत्ता पुरुष सुखी रहते हैं, यों उनकी प्रशंसा करते हैं।

भद्र, ज्ञानी और चन्द्र इन दोनों में क्या अन्तर है ? कुछ भी नहीं, क्योंकि ज्ञानी पुरुष भी आह्लाद देनेवाला है, अमृत से पूर्ण है, शुद्ध है, ज्ञानरूप प्रकाश करता है और सभी अर्थों में शान्त है ॥६॥

अविवेकी की निन्दा करते हैं।

अज्ञानी (मूर्ख) और बालक में क्या अन्तर है ? अर्थात् कुछ भी नहीं, क्योंकि जो अज्ञानी है, वह पूर्वापरका (आगे–पीछे का) कुछ भी विचार किये बिना जिस किसी की भी इच्छा करने लगता है, उसकी कोई मर्यादा ही नहीं है ॥७॥ भद्र, कहो मछली और मूर्ख (अज्ञानी) में क्या अन्तर है ? ये दोनों मरणपर्यन्त पकड़े हुए अभिलाषारूपी विषयों को नहीं छोड़ते, *(मछली के पक्ष में बंसी में लगाया गया आमिष और मूर्ख के पक्ष में रागादिविषयरूप आमिष समझना चाहिए)* चाहे वह शुभ हो या अशुभ ॥८॥ शरीर, नारी, धन, आदि जितने ये पदार्थ हैं, वे सब शुष्क बालू से बनाये गये कसोरे के सदृश जल्दी ही नष्ट हो जानेवाले हैं ॥९॥

अब श्रोता के चित्त को लक्ष्य कर कहते हैं।

हे चित्त, ब्रह्मा से लेकर गुल्म (एक प्रकार का पौधा) तक सैकड़ों योनियों में कल्पपर्यन्त घूम रहे तुम्हें शम को प्राप्त किये बिना शान्ति नहीं मिल सकती ॥१०॥ केवल विवेकमात्र से संसार की गन्ध ऐसे निकल नहीं सकती जैसे केवल अपने पैर रखने की जगह पर दृष्टि रखनेवाला गमनकर्ता पुरुष मार्ग की विषमता नहीं निकाल सकता ॥११॥ यदि तुम्हारा चित्त विवेक और अवधान से युक्त नहीं है, तो उसे कामरूप पिशाच अपने वश में कर लेगा। परन्तु जो सावधान और सदा जागरुक

है, उसके चित्त का वह कामरूप पिशाच क्या करेगा ? ॥१२॥

अहंकारयुक्त जगत् केवल विवेक और अप्रमाद से शून्य ज्ञान का विस्तारमात्र है, दूसरा कुछ नहीं, यह कहते हैं।

जैसे चक्षु का प्रसरणरूप व्यापार केवल रूपका अवलोकनमात्र ही है, इससे भिन्न दूसरा कुछ नहीं है, वैसे ही अहंकारयुक्त जगत अविवेक और प्रमादयुक्त संवित का प्रसरणरूप व्यापारमात्र ही है, दूसरा कुछ नहीं ॥१३॥ हे कामादि शत्रुओं के नाशक, जैसे आँख का आवरण सभी रूप के प्रकाश की शान्ति है, वैसे ही बहिर्मुख ज्ञान का आवरण यानी बाह्य ज्ञानों को आत्माकी ओर लगाना समस्त दृश्यों की शान्ति है॥१४॥ भद्र, जैसे पवन शीघ्र स्पन्दन का विस्तार करता है, वैसे ही विशुद्ध संवित् अविवेकजनित कुछ साधारण स्फुरणरूप व्यापार से अज्ञातस्वस्वरूप चिदाकाश में अहंकारयुक्त असद्रूप जगत का विस्तार करती है ॥१५॥ यह जगत असल में असत्य है, परन्तु सत्य की नाईं प्रतीत होता है, वास्तव में ब्रह्मचिति अन्यका निर्माण न करती हुई यों ही जगत-रूप में स्फुरित होती है। जगत् असत्य है, इसमें दृष्टान्त यही है कि जैसे मिट्टी या सोने में कल्पित घड़ा या कड़ा मिट्टी या सोने से अलग करके प्राप्त नहीं किया जा सकता, वैसे ही आत्मा में कल्पित यह जगत् आत्मा से अलग करके प्राप्त नहीं किया जा सकता। यदि जगत् सत्य होता, तो आत्मा से अलग होकर उपलब्ध होता॥१६॥

जो अलग हो प्राप्त नहीं होता, उसकी अलग सत्ता नहीं रहती, यह सोने आदि में नियम बताते हैं।

जैसे आकाश शून्यमात्र है, जैसे वायु स्पन्दनमात्र है, जैसे तरंग आदि जलमात्र हैं, वैसे ही यह जगत् भी संविन्मात्र है ॥१७॥ जैसे जल में प्रतिबिम्बित पर्वत या पर्वततुल्य तरंग जलरूप ही है, वैसे ही आत्मा में प्रतीत ये तीनों जगत् शान्त, आकाशरूप तथा सभी तरह के भेदों से शून्य संवित्स्वरूप (आत्मस्वरूप) ही हैं ॥१८॥

इस प्रकार जगत् के स्वरूप को जान रहे ज्ञानी को सांसारिक सन्ताप की प्राप्ति कभी नहीं होती, यह कहते हैं।

सभी तरह के विकारों से निर्मुक्त अतएव परमशान्त ज्ञानी पुरुष के अन्दर ऐसी सबसे उत्तम शीतलता उत्पन्न हो जाती है, जिसकी तुलना में ये अनेक चन्द्रमा भी प्रदीप्त अग्नि के कणों के सदृश प्रतीत होने लगते हैं ॥१९॥

उसमें दूसरे किसी अन्य प्रकाश की प्रसक्ति भी नहीं है, यह कहते हैं।

जब यह जगत् अत्यन्त शान्त व्यापक प्रकाशरूप शिवस्वरूप शून्य हो गया, तब उसमें दूसरा प्रकाश ही कौन ? वह किस क्रिया या साधन से कैसे उत्पन्न किया जा सकता है ? ॥२०॥

वही सब पदार्थों का किसी काल में बाधित न होनेवाला स्वरूप है, यह कहते हैं।

ब्रह्मशब्द से जो सत्ता कही जाती है, वह सत्ता ही सब पदार्थों का निजी स्वरूप है, उसमें किसी तरह की बाधा नहीं है और समस्त जगत् तन्मय है अतएव वह अव्ययरूप है ॥२१॥

तब कौन स्वरूप बाधित होता है, इस शंका पर कहते हैं।

जो ये नाम–रूपात्मक पदार्थ हैं, उनमें बाध देखा जाता है, परन्तु उनका बाध या उनकी उत्पत्ति आदि विकृतियाँ जो दिखाई देती है, उनके विषय में विचार करने पर भी आकाशपुष्प के सदृश हमें कुछ नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि वे तुच्छ हैं॥२२॥

असली बात यह है कि वह सब रूप केवल मन की कल्पना है, अतः मनके शान्त हो जानेपर वह स्वयं अपने–आप विलीन हो जाता है, इसलिए तुम चुपचाप बैठे रहो, यह कहते हैं।

जैसे बड़ा पत्थर अपने स्थान में चुपचाप शान्तिपूर्वक बैठा रहता है, वैसे ही तुम भी मन को हटाकर चुपचाप शान्तिपूर्वक अपने प्रमातारूप में स्थित रहो। मन के चले जाने पर प्रमातारूप आत्मा नहीं चला जाता, क्योंकि उस मन के चले जाने पर नामरूपात्मक मनन (विकल्प) एवं चक्षु आदि प्रमाण चले जाते हैं, परंतु प्रमातारूप आत्मा न मनन है और न चक्षु आदि प्रमाणरूप ही है, वह तो असीम, अज और अविनाशी ब्रह्मरूप है ॥२३॥ भद्र, आकाश के सदृश निर्मल आत्मा के अन्दर मन को विलीन कर स्थित हुए योगी को नाम और रूप की प्रतीति ही नहीं होती, क्योंकि नामरूपकी प्रतीति तो अपने स्वरूप में स्थिति के लिए अभ्यास जब दृढ़ नहीं रहता, तब स्वप्न के सदृश मन में उत्पन्न होती है॥२४॥

जगत् केवल मन का ही संकल्प है, यह किस तरह जाना जा सकता है ?

भद्र, यह जो हिरण्यगर्भ का मन है, वही जगद्रूपी चित्र का निर्माण करता है, इसके पास न रंग है, न चित्रनिर्माण की कूँची है और न तो कोई चित्र का आधार ही है । इतना होने पर भी उस चित्र को अपने–आप देखने लग जाता है। क्या कहीं किसीने स्वप्न में मन के सिवा किसी दूसरे को कर्ता और कार्य देखा है ? ॥२५॥ मनोराज्य के सदृश मन जिस किसीका निर्माण करता है, वहाँ सर्वत्र उन–उन वस्तुओं की प्रतीति बनकर स्वयं ही स्थित हो जाता है। इस प्रकार नामरुपात्मक प्रपंच के : मन से भिन्न कोई अन्य चीज–न होने से कौन, कहाँ किस प्रकार जगत् का निर्माण कर सकता है ? ॥२६॥

यों सुख–दुःख या उनके साधनभूत पार्थिव आदि विषय कल्पना का विनाश हो जानेपर शून्यरूप या आत्मरूप हो जाते हैं, यह कहते हैं।

'मैं सुखी हूँ' इस तरह भासमान सुख, 'मैं दुःखी हूँ' इस तरह भासमान दुःख या उनके साधनभूत पार्थिव आदि विषय सब मनकी कल्पना के शान्त हो जाने पर आत्मरूप हो जाते हैं या शून्यरूप बन जाते हैं॥२७॥

स्वप्नपर्वत की नाईं पार्थिव विषय भी पार्थिवरूप नहीं है, यानी मिथ्या हैं यों भावना करनी चाहिए, यह कहते हैं।

जितने पदार्थ हैं, वे सब यद्यपि परमार्थ में चिदाकाशरूप ही हैं, तथापि उनमें स्वप्न के पदार्थ के सदृश पार्थिवरूपता मिथ्या ही स्थित है॥२८॥

ऐसी स्थिति में जो निष्कर्ष निकला, उसे बतलाते हैं ।

अहन्ता की लकीर जब ब्रह्मसत्ता में आ जाती है, तभी संसारभ्रमरूप विकार पैदा करती है और जब वह लकीर हट जाती है, तभी वह शान्ति प्रदान करती है तथा अपनी स्वरूपावस्था को प्राप्त हो जाती है॥२९॥ जैसे सुवर्णनिर्मित कटकशब्दार्थ यानी कड़ा तुम्हें सुवर्ण से पृथक् भासता है, पर वह सत्य नहीं है, वैसे ही आत्मा से जनित अहन्ता शान्तात्मा परमात्मा से पृथक् भले ही भासे, पर वह सत्य नहीं है ॥३०॥ कर्तारूप आत्मा वास्तव में चारों ओर से जब परिपूर्णभाव से लक्षित हो जाता है, तब शान्त ही रहता है । उसमें किसी प्रकार का उपद्रव नहीं है वह शून्य, मोक्षरूप, मनरहित, मौनी, अकर्तारूप और शीतल है ॥३१॥ जैसे किसी यन्त्र से बनाई गयी प्रतिमा वासनाशून्य होने के कारण स्पन्दनशून्य है, यानी स्पन्दन के अभिमान से रहित है, वैसे ही आत्मा भी वास्तव में वासनाशून्य होने के कारण स्पन्दनशून्य ही है । अतः व्यवहार कर रहा भी ज्ञानी अपने असलरूप में ही स्थित रहता है ॥३२॥

शरीर की चहल-पहल दशा में भी आत्मा में चहल-पहल नहीं होती, इस बात की संभावना में दूसरा दृष्टान्त देते हैं ।

जैसे झूले में सोये हुए बालक के अंग चहल-पहल करते ही नहीं, वैसे ही आत्मतत्त्वदर्शी विद्वान् में अपने स्वरूपानुभव के सिवा चहल-पहल कोई है ही नहीं ॥३३॥

ज्ञानी का निरन्तर चल रहा जो स्व-स्वरूप ज्ञान है, वही देह आदि का ज्ञान है, यह क्यों न माना जाय, इस पर कहते हैं ।

भद्र, आशा, चेष्टा, स्नेह और प्रार्थना आदि से शून्य तथा बाह्यवृत्तियों से रहित जो अखण्ड स्व-स्वरूप परिज्ञान है, वह शान्त अनन्त आत्मस्वरूप ही है, अतः उसे शरीर आदि का परिज्ञान कहना कैसे संभव है ? ॥३४॥

उक्त स्वस्वरूपानुसन्धान में द्रष्टा, दृश्य आदि त्रिपुटी रहती ही नहीं, इसलिए भी उसको शरीर का परिज्ञान नहीं होता, यह कहते हैं ।

समस्त अभिलाषाओं से मुक्त ज्ञानी पुरुष को, जो द्रष्टा, दृश्य और ज्ञानरूप त्रिपुटीरहित निराकार वस्तु को देख रहा है, शरीर का अनुसन्धान कैसे हो सकता है ? ॥३५॥ सर्वान्वित अपेक्षा यानी सभी विषयों की अभिलाषा ही दृढ़ बन्धन है और सभी तरह की इच्छाओं का परित्याग ही मुक्ति है । ऐसी स्थिति में जो पूर्णकामता में विश्रान्त हो चुका है, वह क्या चाहेगा ? ॥३६॥ इस शरीर की पार्थिवरूपता होने पर भी यह अपने स्वप्न में शरीरांगों के सदृश असत् और केवल भ्रममात्रस्वरूप ही है, अतः अपने शरीर के लिए भी किस बुद्धिमान् को कहाँ,

किससे, किसकी इच्छा हो सकती है ? ॥३७॥

अब उपसंहार करते हैं।

ज्ञानी पुरुष केवल अपने स्वरूप में ही स्थिति रखता है, इस स्थिति में उसकी सारी इच्छाएँ विलीन हुई रहती हैं, सारी उत्कण्ठाएँ चली गयी रहती है और शरीर का भान भी नहीं रहता ॥३८॥

मुख्य अधिकारी होने के कारण सिर्फ एक बार उपर्युक्त विषयों के श्रवण से ही मंकि की मोहनिवृत्ति हो गई, यह कहते हैं।

इस तरह के मेरे उपदेश को सुनते ही उस मंकि ब्राह्मण ने अपने असीम महान मोह को भी उसी समय, पूर्णरूप से ऐसे छोड़ दिया, जैसे सर्प अपनी केंचुल को छोड़ देता है ॥३९॥ प्रारब्धवश से जो कुछ भी समय-समय पर कर्तव्य आ जाता था, उसे वह वासना छोड़कर करता हुआ सौ वर्षों के बाद उसी पर्वत पर समाधि में स्थित हो गया ॥४०॥ आज भी उस पर्वत पर पाषाण के सदृश निश्चल होकर वह स्थित है। उसके चक्षु आदि समस्त करण शान्त हो चुके हैं। कदाचित् दूसरों द्वारा जगाये जाने पर वह योगी समाधि से बाहर भी हो जाता है ॥४१॥

हे श्रीरामभद्र, आप इस मंकि ब्राह्मण द्वारा स्वीकृत उपाय का अवलम्बन कर ज्ञान में उन्नतिशील विवेकी मन से स्वात्मानन्द में विहार करने के लिए शान्ति प्राप्त कीजिए। आपकी बुद्धि रागयुक्त बनकर, जलरहित शरत् के मेघों के सदृश, विवेक रहित हो दीन न बन जाय ॥४२॥

छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त

सत्ताईसवाँ सर्ग

चित्त का स्पन्दन होने पर आत्मा में स्पन्दन का भ्रम हो जाता है,
इससे जगत् की सारी विभूतियाँ उत्पन्न होती है, चित्त की शान्ति से आत्मा में
स्पन्दनभ्रम की शान्ति होती है और इससे अपने असली स्वरूप में अवस्थान होता है – यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, आप लौकिक पचड़ों से परे हो जाइए, अपनी आत्मा को शान्त बनाइए और जो कुछ भी प्राप्त हो जाय उसका अनुसरण करते चलिए। हे सौम्य, जैसे स्फटिक पत्थर से बनाया गया चाँदनी में स्थित प्रतिमापुरुष सत् है तो भी उसमें दृष्टि का निरोध न होने से असत् के तुल्य ही रहता है वैसे ही आप सत् होते हुए भी आत्मा की अद्वैतदृष्टि का निरोध न करने के कारण असत् के सदृश ही बने रहिए ॥१॥ यह जो असीम आत्मा है, वह जब तक ज्ञान नहीं रहता, तब तक स्वयं एक होता हुआ भी सबके रूप में यानी अनेक रूपों में स्थित है, परन्तु ज्ञान हो जाने पर न तो वह एक है और न सर्वात्मक अनेक है यानी न वह व्यष्टिरूप है और न समष्टिरूप ही है, क्योंकि ज्ञानकाल में सभी बाधित हो जाते हैं, ऐसी स्थिति में उसमें अनेकरूपता की कल्पना ही कहाँ रही ? ॥२॥

प्रत्येक शरीर की उत्पत्ति और विनाश तथा सात बित्ते के नाप से आत्मा का नाप अनुभव में आता है, अतः आत्मा की नानारूपता मान ली जाय, इसमें कौन-सी आपत्ति है ? इस पर कहते हैं ।

जो चेतन आत्मवस्तु है, वह परिपूर्ण, आदि-अन्त से रहित, व्यापक तथा आकाश के तुल्य निर्मल है, इसलिए शरीर की उत्पत्ति एवं नाश होने पर उसकी उत्पत्ति या विनाश कैसे हो सकता है ? उसका क्या बन-बिगड़ सकता है ? ॥३॥ भद्र, चिति के चमत्काररूप इस चंचल मन की एकमात्र चपलता के कारण ही ये सब जड़ संसार के खेल स्फुरित होते हैं और उसकी चंचलता न रहने से आत्मा में ऐसे दिखाई पड़ते हैं, जैसे जल में तरंग ॥४॥ भद्र, शुभ्र मेघों में कल्पित वस्त्ररूपता वस्तुतः जैसे पहनने के काममें नहीं आती, वैसे ही इस देह में कल्पित आत्मरूपता भी वस्तुतः कुछ काम में नहीं आती ॥५॥ श्रीरामजी, आप अनेक तरह के प्रपंच को देनेवाली अवस्तु में यानी मिथ्या पदार्थों में डूबिये मत। मुख्य भव्य अनन्त वस्तु की मुक्तिरूप अनन्तसुख के लिए उपासना कीजिए ॥६॥

वह कौन वस्तु है, जिसकी भावना करनी चाहिए, इस पर कहते हैं ।

चित्रूपी अनन्त आकाश ही असली वस्तु है, उसका किसी तरह नाप नहीं हो सकता । जिनका आत्मा एकरूप बन गया है, उनके लिए यही सबसे बढ़-चढ़कर उत्तम वस्तु है। श्रीरामजी, इसी एक वस्तु में आपका चित्त सदा रमण करे ॥७॥

उसका क्या फल है, इस पर कहते हैं ।

इस प्रकार के निश्चय से युक्त हुए आप ही अज्ञानरूप बन्धन से निर्मुक्त निरंजन हैं। उक्त निश्चय ध्याता, ध्यान और ध्येय से शून्य (त्रिपुटीशून्य) है, त्रिकाल में बाधित होनेवाला नहीं है। ध्याता, ध्यान और ध्येय-इनमें कोई भी सत्य नहीं है यानी त्रिकालाबाधित नहीं है ॥८॥

दर्शनादि त्रिपुटी उसकी बाधक कैसे ? क्योंकि वह त्रिपुटी भी ध्यान-त्रिपुटी के ही समान है, इस शंका पर कुछ विशेष कहते हैं।

द्रष्टा, दृश्य और दर्शन चित्त की ही विभूतियाँ है, तात्पर्य यह कि दर्शन प्रमाण से उत्पन्न तथा वस्तु के अधीन है, पुरुष के अधीन नहीं, इसलिए वृत्ति से अभिव्यक्त परमार्थ चिति की उसमें प्रधानता तथा अज्ञान की बाधकता (निवर्तकता) ही विद्यमान है, इस परिस्थिति में द्रष्टा आदि परमार्थ भी चैतन्य की ही विभूति ठहरी । ध्यान न तो प्रमाणजन्य है और न वस्तु के ही अधीन है, किन्तु पुरुष की इच्छा का अनुसरण करनेवाला है । इस स्थिति में ध्यान आदि क्रियाविशेषरूप होने के कारण अविद्या की विभूतिरूप ही हैं, अतः ध्याता आदि बाधित हो जाते हैं । दूसरी बात यह है कि जो जो जड़ वस्तु है, वह सब ज्ञान से भिन्न (पृथक्) दिखाई नहीं देती अतः जितने दृश्य हैं, वे सब दर्शन का ही अनुसरण करनेवाले हैं । ध्येय तो ध्यान के

बिना भी अलग रहता है, अतः वह ध्यानानुसारी नहीं होता, यह विशेष है ॥९॥

सबसे विशेष तो यह है कि ज्ञान निर्विकारी है, यह कहते है।

जैसे प्रतिपदा के चन्द्रमा के उदित होने पर समुद्र क्षुब्ध होता है और जैसे प्रलयकाल की वायु बहने पर समुद्र सूख जाता है, वैसे आत्मतत्त्व न क्षुब्ध होता है और न सूख जाता है, वह सदा एकरूप और सौम्य रहता है ॥१०॥

तब चिति की विभूति द्रष्टा आदि त्रिपुटी कैसे ? इस प्रश्न पर एकमात्र विवर्तभाव से यह उत्तर देते हैं।

जैसे नाव पर यात्रा कर रहे पुरुष को तीरस्थ स्थिर वृक्ष, पर्वत आदि कम्पित हो रहे–से प्रतीत होते हैं अथवा जैसे शुक्ति में रजत–बुद्धि होती है, वैसे ही चिति में यह देह आदि अन्तःकरण को प्रतीत होते हैं ॥११॥

इस रीति से देहदृष्टि चित्त की कल्पना करती है, देह और चित्त की दृष्टि जीव की कल्पना करती है और जीवदृष्टि देह–चित्त की कल्पना करती है, यों सभी शुद्ध चैतन्य में ही विवर्त हैं, यह कहते हैं।

जैसे देह आदि चित्त के हैं वैसे ही चित्त भी देहादि का है, इसी तरह जीव भी है, इस परिस्थिति में परम ब्रह्मपद में द्वैत ही कहाँ रहा ? ॥१२॥

ब्रह्मदृष्टि से तो सब एक ही हैं, यह कहते हैं।

आत्मतत्त्व के ज्ञान से तो यह सब केवल शान्त ब्रह्मस्वरूप ही है, दूसरा जगत् आदि पदार्थ कुछ भी नहीं है, और न कोई दूसरी भ्रान्ति ही है ॥१३॥ हे श्रीरामजी, जैसे आकाश में अरण्य नहीं रहता अथवा जैसे बालू में तेल नहीं रहता या जैसे चन्द्रबिम्ब में बिजली नहीं रहती, वैसे ही चित्त में देह आदि कुछ नहीं रहते ॥१४॥ हे सत्यज्ञानियों में श्रेष्ठ श्रीरामजी, यह जगत् की भ्रान्ति अविद्यमान ही है, अतः इससे आप भय मत कीजिये। यही बात परम सत्य है, यह आप जानिये ॥१५॥ भद्र, अभी तक जो आपको भ्रम रहा कि जगत्–वस्तु की ही सत्ता है और ब्रह्म सत्ता है ही नहीं, वह आज ही मेरे उपदेश से शान्त हो गया। अब दूसरा बन्धन देनेवाला क्या रहा अर्थात् कुछ नहीं ॥१६॥ थाली, पुरवा, घड़ा आदि जैसे केवल मिट्टी ही है, वैसे ही यह जगत् केवल चित्त ही है। यह विचार से तो क्षीण हो चुका है ॥१७॥ हे श्रीरामजी, अब आप मेरे सौम्य उपदेश से अहंकार से पहले अलग हो जाइए, फिर सम्पत्तियों में इच्छा, हर्ष और आपत्तियों में विषाद से रहित हो जाइए, वैभवों के उत्कर्ष और अपकर्ष में (बढ़ने–घटने पर) भी एक–से रहिए। कभी भी मेरे उपदेश का विस्मरण कर यानी अपने स्वरूपस्थिति की दृढ़ता का परित्याग कर स्थिर मत बैठिये ॥१८॥

तत्त्वज्ञान के बाद यदि प्रमाद हो जाय या प्रबल प्रारब्ध रह जाय, तो उससे हर्ष–शोक भी होते रहेंगे और उनके कारण फिर संसार भी होगा ही ? इस पर नहीं, यह उत्तर देते हैं।

हे अपने कुलरूप आकाश के चन्द्रमा श्रीरामजी, यदि आप ब्रह्मात्मा की एकतारूप वस्तु को भलीभाँति जानकर अवस्थित हैं, तो चित्त में सन्ताप पहुँचानेवाले हर्ष शोक, इच्छा आदि दोषों को छोड़कर रहिये या उनका अनुसरण करते रहिये, आपको फिर संसार आ ही नहीं सकता ॥१९॥

सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठाईसवाँ सर्ग

बीजरूप और कार्यरूप तथा जन्म के हेतुभूत पुरुषकर्मों के,
जो अदृष्टरूप निमित्त से सम्बद्ध हैं, स्वरूप का पुनः वर्णन।

श्रीरामभद्र ने कहा : हे विभो, बीजरूप तथा कार्यरूप पुरुष के कर्मों का, जो जन्मरूप संसार अनर्थ के उत्पादक तथा दैव से (अदृष्ट) सम्बद्ध हैं, स्वरूप मुझसे फिर कहिए यानी यद्यपि आपने इन कर्मों का तत्त्व पहले यत्र–तत्र कहा है परन्तु फिर भी एक साथ मिलाकर कहिए ॥१॥

सबसे पहले दैव का तत्त्व कर्म है, कर्म का तत्त्व पुरुष है, पुरुष का तत्त्व मनोरूप चितिस्पन्दन है और चितिस्पन्दन का तत्त्व चिदात्मा है । यही चिदात्मा प्राथमिक संकल्परूप चितिस्पन्दन से समष्टि–व्यष्टि मनरूप बन जाता है, जिसका कि 'बहुस्यां प्रजायेय' इस श्रुति में उल्लेख है । इसके बाद लोक में देहाकार के अध्यास से (भ्रम से) पुरुष हो जाता है । फिर कर्म करते–करते पुण्य – पापरूप अदृष्टात्मक दैवरूपता प्राप्तकर पुण्य–पाप का भोग करने के लिए घट आदि रूप एवं घटादिगत गुणक्रियारूप से घटत्वादिसामान्यरूप बन जाता है, इसी से जगत्–रूप विवर्त में आ जाता है, इन सब बातों से सार यह निकला कि दैव, कर्म आदि कारणशब्दरूप और घट से लेकर घटत्वधर्मपर्यन्त कार्यरूप जो कुछ है, वह सब तत्त्वदृष्टि से चितिस्पन्द के ही अलग–अलग नाम हैं, इस अभिप्राय को लेकर भगवान् वसिष्ठजी कहते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, घट से लेकर घटत्वतक कार्यरूप और दैव, कर्म आदि कारणरूप जो कुछ भी है वह सब चिति का स्पन्दन ही है, और यही लोक में पुरुषरूप बन गया है ॥२॥ भद्र, संवित् के (चिति के) स्पन्दन के बिना पुरुष का रूप और कर्म कैसे हो सकता है ? संवित् का स्पन्दन ही घट, पट, वट आदि का स्वरूप है । इसी ने समस्त जगत् को उत्पन्न किया है ? यही कारण है कि पुरुष के कर्म आदि और घट–पटादि के अस्तित्व या परिज्ञान आदि चिति के अस्तित्व और प्रकाश के ही बदौलत होते हैं, यह सभी को विदित है । यदि इन सबको संवित् का यानी चिति का विवर्त न माना जाय, तो न उनका अस्तित्व मालूम पड़ सकता है और न उनका प्रकाश ही हो सकता है, ऐसी स्थिति में उनका स्वरूप कैसा होगा ? अर्थात् असत् ही होगा, यह भाव है ॥३॥

यद्यपि सभी पदार्थ चिति के स्पन्दनरूप ही हैं तथापि उनके वैचित्र्य में और विनाश में कारण कहते हैं ।

सारे जगत् की यह विचित्र शोभा वासनायुक्त संवित् के स्पन्दन से उत्पन्न होती है और वासना से निर्मुक्त हुए संवित् के स्पन्दन से निवृत्त होती है ॥४॥ महात्माओं का यह निश्चय है कि संवित्ति का (चितिका) स्पन्दन यदि वासनारहित है, तो वह अस्पन्दन ही है । लोक में स्पन्दनशील भी तरंग आदि जब भँवर आदि के द्वारा अपने अन्दर समाविष्ट कर लिये जाते हैं, तब उनमें स्पन्दन का परिज्ञान नहीं होता, फलतः उनकी अस्पन्दनशीलता ही तर्कित होती है ॥५॥

अतएव चिति का स्पन्दन ही पुरुष आदि आकाररूप है और चितिमें स्पन्दन की निवृत्ति ही निराकारता है, ऐसी स्थिति में विमर्श करने पर स्पन्द और पुरुष में कोई भेद नहीं है, यह कहते हैं ।

श्रीरामजी, इस सृष्टि में संवित् और संवित्–स्पन्दमय पुरुष एवं कर्म (स्पन्द) दोनों में कल्पानांश को छोड़कर तनिक भी भेद नहीं है ॥६॥ भद्र, जैसे संकल्प से जनित जल और तरंग का भेद वास्तविक नहीं है, वैसे ही संकल्पजनित पुरुष और कर्म का (संवित्स्पन्दनका) भेद नहीं है ॥७॥ हे श्रीरामजी, कर्म ही पुरुष है और पुरुष में ही कर्मरूपता है, आप इन दोनों की हिम और शीतता की नाईं अभिन्नरूपता ही जानिए ॥८॥ भद्र, जो हिम है वही जैसे शीतता है और जो शीतता है, वही जैसे हिम है, वैसे ही जो कर्म है वही पुरुष है और जो पुरुष है वही कर्म है, इसलिए किये जानेवाले पुण्य–पाप भावि देह और उस देह से जो भोग्य होनेवाला है इन दोनों की पूर्वावस्था है ॥९॥

एवं यह जो कहा गया था कि दैव, कर्म आदि एक ही वस्तु के भिन्न नाम हैं, यह सिद्ध हो गया, यह कहते हैं ।

दैव, कर्म, पुरुष आदि संवित् के स्पन्दनरूप रस के ही पर्यायवाची शब्द हैं, इसलिए संवित्स्पन्दन से पृथक् कर्म आदि तनिक भी अपना पृथक् अस्तित्व नहीं रखते ॥१०॥ स्पन्दन के कारण ही संवित् जगत् की बीज हो जाती है और स्पन्दन के प्रभाव से अबीजरूप हो जाती है । उसीके अन्दर सूक्ष्मरूप से अंकुर श्री भी स्थित है, अतः वही बाहर निकलकर स्थूल अंकुररूप हो जाती है ॥११॥ असीम चित्स्वभाव ही ऐसा है कि कहीं पर अपने स्वभाववश देश–काल क्रम में स्थित स्पन्दन से शून्य हो जाता है और कहीं पर स्पन्दनरूप बन जाता है ॥१२॥ यद्यपि संवित् का स्पन्दन वास्तव में अकारण है, तथापि यहाँ वासना से युक्त होकर देह आदि अंकुरों का वह कारणरूप बीज बन जाता है ॥१३॥

अवान्तर बीजों के रूप में स्थित वही संवित्–स्पन्दन सर्वत्र कारण है, उसी स्पन्दन की विशेष–विशेष कार्यों की व्यवस्था के लिए अवान्तर बीजों के रूपों में स्थिति है, इस आशय से कहते हैं ।

अन्यान्य अवान्तर तृण, वल्ली, लता, गुल्म आदि के बीजों की जो व्यवस्थित अंकुर आदि कार्य

करने की प्रवृत्ति है, उसमें भी वही संवित्स्पन्द कारण है, उसका अन्य कोई बीज नहीं है ॥१४॥

यदि बीज के अन्दर रहनेवाली शक्ति ही अंकुर है, यों मानें, तो भी शक्ति और शक्तिमान् में कोई भेद नहीं है, यह कहते हैं।

बीज और अंकुर में, अग्नि और उष्णता के सदृश, कोई भेद नहीं है। हे श्रीरामजी, आप बीज को ही अंकुर जानिये और कर्म ही को मानव जानिये ॥१५॥ स्पन्दनशील हो रही चिति ही भूमि में वट आदि वृक्षों के अंकुर को स्थूल पदार्थ, सूक्ष्म पदार्थ, कठिन पदार्थ एवं मृदु पदार्थ जल में बुलबुलों की नाईं बनाती है ॥१६॥ चिति के बिना ऐसा कौन शक्तिमान् है, जो इस पृथ्वीतल से, अत्यन्त मृदु अंकुर से वज्र के सदृश दृढ़ प्रवाल आदि को निकाल सके ॥१७॥

यही न्याय रजवीर्य से शरीर सम्पादन में भी लगाना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

जैसे लता में स्थित रस पुष्प और फल का विस्तार करता है, वैसे ही यह चिति प्राणियों के वीर्यरस में स्थित होकर इन असीम जंगम वस्तुओं का विस्तार करती है ॥१८॥ श्रीरामजी, भला, बतलाइये तो सही कि यदि सर्वत्रस्थित यह संवित् अत्यन्त बलवती न होती तो, इन देव, असुर एवं राजाओं के निर्माण में कौन शक्तिशाली होता ? ॥१९॥ भद्र, स्थावर तथा जंगम पदार्थों का यही एक आदिम संवित्स्फुरण कारण है। और इसका कोई कारण नहीं है ॥२०॥ बीज, अंकुर आदि विकल्पों का परस्पर; क्रिया, पुरुष एवं दैव का परस्पर तथा ऊर्मि, वीचि और तरंगों का परस्पर तनिक भी भेद नहीं है एवं अधिष्ठान में भी कुछ भेद नहीं है ॥२१॥

इस तरह के वेदसंमत अभेद को जो पुरुष नहीं देखता, उसकी निन्दा करते हैं।

भद्र, ऐसा होने पर भी पुरुष और कर्म में तथा बीज और अंकुर में जिस पुरुष को भेद वास्तविक भासता हो, उस महान् पण्डितपशु को निरन्तर नमस्कार ही करना चाहिए ॥२२॥

वासना के सम्बन्ध से जनित संसारबीजता वासना के विनाश से नष्ट हो जाती है, यह कहते हैं।

जन्म के कारण संवित्स्पन्दन में जो भीतर का वासनारस है, वही बाहर अंकुर फेंकता है, इसलिए उस वासनारस को असंगरूप अग्नि से आप जला दीजिये ॥२३॥ पण्डित लोग कहते हैं कि पुरुष कुछ करे चाहे कुछ भी न करे, परन्तु उसका शुभ-अशुभ कार्यों में मन से जो आसक्त न होना है, वही असंग है ॥२४॥

यदि वासना ही संग है और वासना का उच्छेद ही असंग है, यह मानें, तो तत्त्वज्ञान के अभ्यास से ही वासना को जला दीजिए, यह कहते हैं।

भद्र, अथवा वासना का उच्छेद ही असंग है, यह भी पण्डितों का मत है, इसलिए आप उसी का (वासनोच्छेदरूप असंग का ही) जिस किसी युक्ति से भीतर सम्पादन कीजिए ॥२५॥ वह युक्ति चाहे पहले कही गई राज-योगरूपा हो या हठयोगरूपा हो, परन्तु पुरुष प्रयत्न से दीर्घकालतक

वह अभ्यस्त होनी चाहिए। आप अपनी वासना का उच्छेद जिस युक्ति से सरल समझते हों, उसी से उसका उच्छेद कर डालिए क्योंकि यह वासनांकुर का उच्छेद ही परम कल्याण है ॥२६॥

समस्त वासनाओं का चिद्ग्रन्थिरूप अहंकार ही मूल है, अतः उसी का आप विनाश कीजिए, यह कहते हैं।

श्रीरामभद्र, पुरुष प्रयत्न से आप जिस तरह की युक्ति जानते हों, उस तरह की दृढ़ अभ्रान्त युक्ति से अहंकाररूपी अंश का त्याग कर दीजिए, क्योंकि यह अहंकारांश का त्याग ही वासना का क्षय है ॥२७॥ वासनाक्षयनामक इस निरहंकाररूप संसारतरण में अपने पुरुषार्थ के सिवा दूसरी कोई गति है ही नहीं ॥२८॥

अनादि अनन्त प्रत्यगात्मरूप चैतन्य की सत्ता से ही बीज, अंकुर आदि की सत्ता है, स्वतः नहीं, यह कहते हैं।

असल में यहाँ सबसे मुख्य तो संवित् की ही एकमात्र सत्ता है, वही अंकुर है, वही बीज है, वही कर्म है, वही पुरुष है और वही पुण्य–पापरूप दैव है ॥२९॥ सबसे प्रथम न तो कोई चिति के सिवा दूसरा बीज है, न अंकुर है, न पुरुष है, न कर्म है और न दैव आदि ही कुछ है, केवल चिति का ही यह सब कुछ विलास है ॥३०॥

जब बीज आदि की स्वतः सत्ता स्थिर नहीं होती, तब यही निष्कर्ष निकलता है कि एकमात्र चिदात्मा ही असत्यभूत बीजादि के आकारों में जगद्रूप बनकर विलास करता है, यह कहते हैं।

हे साधो, न तो कोई बीज है और न कोई अंकुर ही है। इसी तरह न तो कोई कर्म है और न कोई पुरुष ही है। जैसे नाटक का पात्र समय–समय पर देव, नर, दानव आदि नामों की शोभा धारण कर नृत्य करता हैं, वैसे ही एकमात्र चित्स्वभाव ही इन बीज, अंकुर आदि नामों की शोभा धारण कर विलास करता है ॥३१॥ हे अविकार श्री रामचन्द्रजी, उक्त प्रकार के निश्चय को अपने मन में स्थिर कर पुरुष, कर्म आदि मिथ्या विचार–जनित शंका का बिलकुल परित्याग कर वासनाशून्य, समस्त विकल्पों से रहित एवं चैतन्यमय बन जाइए। फिर आप अपनी अभिमत इच्छा के अनुसार समाधिस्थ होकर या व्यवहाररत होकर स्थित रहिए। इससे आपका कुछ भी बिगड़ेगा नहीं, यह सार है ॥३२॥

इसीका स्पष्टीकरण करते हुए उपसंहार करते हैं।

हे रामभद्र, सब इच्छाओं से निर्मुक्त एवं अशेष शंका से रहित होकर सब कर्म करते हुए भी आप चैतन्यमात्र में स्थित रहिए। एकमात्र अपनी आत्मा में ही रमण कीजिए। समस्त कामनाओं से परिपूर्ण होकर आप निर्भय हो जाइए और परमशान्ति का अवलम्बन कर सब ओर चमकने लग जाइये ॥३३॥

अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त

उनतीसवाँ सर्ग

व्यवहारकाल में जो भी कुछ कर्तव्य आ जाय उसे निभाते हुए अपने स्वरूप में सदा स्थिर रहना चाहिए, यों रामजी के प्रति महाराज वसिष्ठजी का उपदेश।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्री रामभद्र, शत्रु, मित्र आदि सबके लिए प्रारब्ध से जो कुछ कार्य आ जाय, उसे यथायोग्य करते हुए भी आप निरन्तर अन्तर्मुख ही रहिए। राग छोड़ दीजिए, वासनाओं से परे हो जाइए और सर्वत्र निर्मल शान्त चैतन्यमात्र की भावना कीजिए ॥१॥ भद्र, आकाश के सदृश विशद हो जाइए। प्राज्ञ बनिए। एक चिन्मात्र में अपनी दृढ़ स्थिति (निष्ठा) बनाइए। सम, सौम्य एवं पूर्णानन्द से युक्त हो जाइए तथा अपने अन्तःकरण को ब्रह्मसदृश आनन्दरस में सराबोर कीजिए ॥२॥ रामजी, प्रारब्धवश प्राप्त हुए छोटे–बड़े शोक, आपत्ति, घोर संकट, अवट (गर्त) आदि सभी प्रसंगों में भीतर दुखी होकर देशधर्मों के अनुसार एवं क्रमानुसार रुदन–अश्रुपात आदि पर्यन्त दुःखों का और शीतोष्ण आदि से युक्त वस्त्रादिभोगरूप सुखों का अनुभव करते चलिए ॥३,४॥

संक्षेप से जिस अर्थ को कहा, उसी को विस्तारपूर्वक कहते हैं।

कमनीय (रमणीय) विषयों की प्राप्ति के अवसरों में, उत्सवों में एवं उदयकाल में आप सौम्य (शान्त) मूर्ति होकर ऐसे आनन्द मनाइए, जैसे कि भोगवासनाओं से आक्रान्त कर्मठ मूढ पुरुष ॥५॥ वासनाओं से आक्रान्त मूढ़ पुरुषों के सदृश अधार्मिक प्राणियों को मृत्यु के हेतु संग्राम आदि में डालकर जैसे तृण को अग्नि जला डालती है वैसे जला दीजिए ॥६॥ प्रारब्ध कर्मों के अनुसार प्राप्त हुए धर्मअविरोधी धन आदि के उपार्जन आदि कार्यों का बगुले के सदृश ऐसे अखिन्न होकर चिन्तन और अर्जन कीजिए, जैसे वासनायुक्त कर्मठ पुरुष ॥७॥ हे शत्रुनाशक श्रीरामजी, वासनायुक्त मूढ़जन के सदृश आप बलपूर्वक समस्त शत्रुओं का ऐसे विनाश कर दीजिए, जैसे वायु जलशून्य बादलों का विनाश कर देती है ॥८॥ वासना से आक्रान्त कर्मकुशल मनुष्यों के सदृश करुणापात्र जनों में उदारता का और महात्माओं के विषय में निन्दा न करने का अवलम्बन कीजिए तथा अपनी आत्मा में मन को रमने दीजिए ॥९॥ हर्ष करने योग्य स्थानों में हर्षित होइए, दुःख करनेयोग्य स्थानों में दुःखी बनिये, दीनों पर दया कीजिए और वीरों में वीर बनकर रहिए ॥१०॥

कुछ करने पर मूढ़जनों को तो दोष लगता है, परन्तु ज्ञानी पुरुष को कुछ करने पर दोष नहीं लगता, यह कहते हैं।

हे अनघ, जो पुरुष अपनी वृत्तियों को आत्मा के अन्दर लगाकर स्थित रहता है, सदा आनन्द में मग्न रहता है, अपनी आत्मा में ही आराम करता है तथा जो शान्ति और औदार्य से युक्त है, वह कर्ता नहीं होता, इसलिए पूर्वोक्त विषयों में आप कभी कर्ता नहीं होंगे और न उनसे आपको दोष ही लगेगा ॥११॥ हे साधो श्रीरामजी, आत्मा की भावना से निरन्तर अन्तर्मुख वृत्ति बना कर स्थित

हुए आपके ऊपर यदि इन्द्र की भी वज्रधारा गिर जाय, तो भी वह व्यर्थ हो जायेगी ॥१२॥

समस्त संकल्प–विकल्पों से निर्मुक्त अपनी संविन्मात्ररूप अन्तरात्मा में, स्वेच्छा से जो स्थित रहता है, वह आत्मारामी महान् ईश्वर ही है ॥१३॥ ऐसे पुरुष को शस्त्र छेदते नहीं, अग्नि जलाती नहीं, जल भिगाते नहीं और पवन सुखाता नहीं ॥१४॥ जिसमें चित्त भलीभाँति प्रकाशित होता है, ऐसे नित्य निरतिशयानन्दरूप, जन्मशून्य, जरा–मरणरहित, स्वात्मा का दृढ़ खम्भेवाले मन्दिर की नाईं अवलम्बन कर निश्चल होकर स्थित रहिए ॥१५॥ हे रामभद्र, जगद्रूपी वृक्ष के पदार्थरूपी पुष्पों की सुगन्धशोभा के सदृश सारभूत स्वस्थ ब्रह्मसंवित्ति का (आत्मज्ञानका) अवलम्बन कर समस्त बाह्यवृत्तियों को सदा अन्तर्मुख बनाकर स्थित रहिए ॥१६॥ अन्तर्मुखता से निरन्तर बाहर के कार्यों का सम्पादन कर रहे भी प्राणियों में वासना ऐसे उत्पन्न नहीं होती, जैसे कि पत्थरों में नहीं होती ॥१७॥ भद्र, कछुए के अंगों के सदृश भीतर और बाहर के सब वृत्तियों से विरत होकर सारे कर्म करते हुए भी आप अपने मन को भीतर लीन कर दीजिए ताकि फिर वह बाहर न निकलने पावे ॥१८॥ अन्दर की सुख–दुःखादिवृत्ति से शून्य, बाहर की घटादिवृत्ति से युक्त–से तथा प्रायः आधे जगे हुए चित्त से आप कार्य करते चलिए ॥१९॥ जैसे बालक एवं मूक आदि का विज्ञान अंदर की वासना से रहित होता है, वैसे ही अन्दर की वासना से शून्य अतएव आकाश के सदृश निर्मल हुआ चित्त कार्य कर रहे आपको बन्धनकारक नहीं होगा ॥२०॥ भद्र, आप समस्त चिन्ताओं को तिलांजलि देकर ऐसे चित्त से युक्त रहिए, जो कि निर्विकल्प समाधि के अभ्यास से बाधित हो चुका हो, कुछ कुछ बाहर की ओर प्रतिभासरूप से निकल सकता हो तथा भीतर से मर गया हो ॥२१॥ हे निष्पाप रामजी, ज्ञान से चित्त का विनाश हो जाने पर बची हुई संकल्परूपी कलंक से निर्मुक्त विशुद्ध ब्रह्मचिति में बैठकर आप कुछ कीजिये या न कीजिये दोनों एक–से हैं ॥२२॥ जागते हुए, व्यवहार करते हुए या जाते हुए भी आप सोये हुए पुरुष के सदृश वृत्ति के कारण न तो अभीष्ट का ग्रहण करें या न अनिष्ट का परिहार ही करें ॥२३॥ जाग्रत की अवस्था में भी यदि आप सब प्रकार की उपाधियों का विलयकर सुषुप्ति अवस्थावाले हो जाते हैं तो सुषुप्ति अवस्था में भी आप जाग्रत अवस्थावाले ही हैं क्योंकि अज्ञान आवरण उस समय रहेगा ही नहीं । जाग्रत और सुषुप्ति को अलग करनेवाले अज्ञान और अज्ञानकार्य का बाध हो जाने पर ये दोनों अवस्थाएँ एक हो जाती हैं और एकता हो जाने पर जो सन्मात्ररूप बच जायेगा, वही निर्विकार सन्मात्र–स्वरूप आप हैं ॥२४॥ इस तरह धीरे–धीरे अभ्यास के द्वारा आप आदि–अन्त से रहित ऐसा पद प्राप्त कीजिए, जो समस्त शीत–उष्ण आदि द्वन्द्वों से रहित तथा सब वस्तुओं से परे हैं ॥२५॥ न तो द्वैतात्मक जगत् है और न एकात्मक ही जगत् है, इस तरह के निश्चय से युक्त होकर आप आकाश के सदृश विशद् आशय (मन) वाले होकर परम विश्रान्ति प्राप्त कीजिए ॥२६॥

समस्त द्वैत का अपलाप हो जाने पर तो आपका भी अहंकार (वसिष्ठजी का अहंभाव) रहेगा

नहीं, इस स्थिति में आपके वक्तापन आदि व्यवहार कैसे, इसी आशय से श्री रामभद्र पूछते हैं।

श्री रामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिशार्दूल गुरुवर, यदि ऐसी बात है, तो अहम्भावरूप वसिष्ठनाम के आप ही यहाँ स्थित है क्या ? यानी आपके व्यवहार कैसे, यह कहिये, क्योंकि द्वैत के अपलाप से आपमें भी अहम्भाव तो रहा नहीं ।।२७।।

वसिष्ठजी को तो अहम्भाव आदि हैं ही नहीं, परन्तु हमारी और श्रोताओं की अज्ञान–दृष्टि के ही कारण उन्होंने उसका अवलम्बन किया था, जब सबको तत्त्वज्ञान हो चुका तब तो मेरे प्रश्न का मौन ही उत्तर है, इस आशय से वसिष्ठजी की चुपचाप स्थिति कहतें हैं।

वाल्मीकि मुनि ने कहा : जब श्रीरामजी ने ऐसा प्रश्न किया, तब वक्ताओं में अग्रणी महाराज वसिष्ठजी आधे मुहूर्त तक चुपचाप स्थित रहे। उनकी ऐसी चेष्टा स्पष्ट विदित हो रही थी ।।२८।। महाराज वसिष्ठजी तो मौन धारणकर स्थित रहे और इधर सभ्य महाजन अब क्या होगा, इस संशय–सागर में पड़ गये, यह देखकर श्रीरामभद्र फिर कहने लगे ।।२९।।

अब गुरुजी के पास उत्तर देने की युक्ति रही ही नहीं, यों मान रहे श्रीरामभद्र कहते हैं।

भगवन्, मेरे–जैसे आप चुपचाप क्यों स्थित हैं ? जगत् में शिष्यों का ऐसा कोई तर्क ही नहीं है, जो विद्वान गुरुओं के लिए उत्तरयोग्य न हो ।।३०।।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे अनघ, मुझमें कहने की शक्ति नहीं है, इसलिए उत्तर–युक्ति न रही, यह बात नहीं है, किन्तु यह प्रश्न चरम सीमा का होने के कारण चुपचाप स्थित रहना ही इसका उत्तर है ।।३१।।

प्रश्न की चरम सीमा बतलाने के लिए भूमिका बाँधते है।

भद्र, प्रश्नकर्ता दो तरह के होते हैं एक तो तत्त्वज्ञ और दूसरे अज्ञानी। इनमें अज्ञानी प्रश्नकर्ता को अज्ञ बनकर उत्तर देना पड़ता है और ज्ञानी को ज्ञानी बनकर ।।३२।। हे महामते, इतने समय तक तो आप तत्पद को (ब्रह्मात्मा को) जानते ही नहीं थे, इसलिए आप सविकल्प उत्तरों के ही पात्र रहे ।।३३।। अब तो आप तत्त्वज्ञ बन गये और परम पद में स्थिति भी आपने प्राप्त कर ली, इसलिए स्पष्ट है कि विकल्पवाले उत्तरों के योग्य नहीं रहे ।।३४।। हे वक्ताओं में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, यह जितना वाणीरूप भाषण है, वह चाहे सूक्ष्म अर्थवाला हो, चाहे परम अर्थवाला हो, चाहे थोड़ा हो अथवा अधिक हो, परन्तु हे साधो, वह सब प्रतियोगी, भेद, संख्या, मुख्यभूत अर्थ, साधन, वाचन बोध, प्रमाण आदि की कल्पनाओं से ऐसे मिला–जुला रहता है जैसे जालों के अंदर सूर्यकिरणें त्रसरेणुओं से (सूक्ष्म रजकणों से) मिली–जुली रहती है ।।३५,३६।। हे मनोरम, जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है, उसके लिए कलंकपूर्ण उत्तर होता नहीं, क्योंकि जितनी वाणियाँ हैं, वे सब कलंकपूर्ण ही हैं, आप तो तत्त्वज्ञ बनकर स्थित हैं ।।३७।। हे भद्र, ज्ञानी शिष्य के सम्मुख मुझे जो यथावत् सत्य है, उसे ही कहना चाहिए, परन्तु समस्त कलंकों से निर्मुक्त यथावत् सत्य तो काठ की तरह मौन

ही है ॥३८॥ भद्र, जो परमपद है, वह तत्त्वज्ञान के पूर्व अज्ञान से उपदेशवाणी के योग्य है, वह कल्पनाकर ससंकल्प बनता है यानी वाणी के व्यवहाररूप संकल्प का विषय हो जाता है और विचार से ज्ञात हो जाने पर मौन यानी वाणी का अविषय हो जाता है, यों विद्वानों का निश्चय है, इसलिए तत्त्वज्ञानी हुए आपको अब यह मौन ही मैंने सुन्दर उत्तर दिया ॥३९॥ हे प्रिय, वक्ता पुरुष जिस रूप का होता है, उसी रूप का कथन करता है, मैं तो तत्त्वसाक्षात्कार से बोधित होनेवाली जो वस्तु (ब्रह्मरूप) है, तन्मय बनकर वाणी से परे परमपद में स्थित हूँ ॥४०॥ जो वाणी से अतीत पद में बैठा है, वह वाणीरूप मल को कैसे ग्रहण करेगा ? इसलिए मैं अवाच्य (कहने के अयोग्य वस्तु) नहीं कहता, क्योंकि वाणी संकल्परूप कलंक से युक्त ही रहती है ॥४१॥

श्री रामजी ने कहा : भगवन्, वाणी में जो–जो भिन्नता, विरोधिता आदि से होनेवाले दोष प्रवृत्त होते हैं, उनका अनादरकर यानी उनमें तात्पर्य न रखकर भागत्यागलक्षणा द्वारा मुझसे कहिए कि आप कौन हैं ? ॥४२॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे राघव, हे तत्त्वज्ञों में श्रेष्ठ, जब आप भागत्यागलक्षणा से कुछ कहलाने के लिए उद्यत हैं, तब आप यथार्थरूप से स्थित इस विषय को सुनिये कि आप कौन है, मैं कौन हूँ और यह जगत् क्या है ॥४३॥ हे तात, जो 'अहम्' यह वस्तु है, वह यह निरामय (विकारशून्य चैतन्याकाश) ही है । वह बाह्य एवं आभ्यन्तर विषयों से रहित है और समस्त कल्पनाओं से परे हैं ॥४४॥ मैं स्वच्छ चिदाकाशरूप हूँ, आप चिदाकाशरूप हैं और सम्पूर्ण यह जगत् भी आकाशरूप ही है, अधिक क्या कहें, समस्त केवल आकाश ही है ॥४५॥ विशुद्ध ज्ञानमय आत्मा में मैं विशुद्ध साक्षीरूप आत्मा ही हूँ, मुझमें भेदज्ञान की दृष्टि ही नहीं है और न प्रत्यागात्मा से भिन्न कुछ अणुमात्र भी कहने की इच्छा रखता हूँ ॥४६॥

तब अज्ञानियों को बोध देने के लिए तथा प्रतिवादियों पर विजय पाने के लिए निरहंकारी विद्वानों की प्रवृत्ति कैसे होगी, इस पर कहते हैं ।

शिष्यों का सन्देह दूर करने के लिए या प्रतिवादियों पर विजय पाने के लिए उद्यमशील विद्वान श्रुति, युक्ति आदि प्रमाणों के द्वारा अपने पक्ष के समर्थन में तत्पर होकर बाधित का भी आहार्यारोप कर अहन्तारूप एक ही आत्मा को बढ़ाते हैं और उनका अनेक शाखाओं में विस्तार करते हैं, परन्तु अज्ञानी के सदृश मोहित नहीं होते ॥४७॥

इतनी बात से विद्वानों का पाण्डित्य बतलाना ही परमपद है, यह नहीं जानना चाहिए, किन्तु कोई दूसरा ही है, यह कहते हैं ।

यद्यपि जी रहा है और यद्यपि व्यवहार भी कर रहा है, तथापि परम शान्तिरूप ब्रह्म में विश्रान्त पुरुष की मुर्दे के सदृश जो स्थिति है, वही परमपद कहलाती है ॥४८॥

परमपद का ही विशेषरूप से वर्णन करते हैं ।

भद्र, जो बाहर के साधनों से निर्मुक्त है, जो अन्दर के साधनों से शून्य है, जो कर्तापन एवं भोक्तापन से रहित है, जो सुखरूप नहीं है, जो दुःखरूप नहीं है, जो अन्यरूप नहीं है, जो शान्त और सम है तथा जो सबका आदि है, वही स्वप्रकाश-निरतिशय आनन्दरूप शिवपद है ॥४९॥

परमपद को स्वप्रकाशस्वरूप क्यों मानना चाहिए, उसे विषयसुख के सदृश भोग्य ही क्यों न माना जाय, इस पर कहते हैं।

यह जो अहम्भाव है, वह मुक्ति का अभाव है अर्थात् मुक्ति का पूर्वकालिक अभाव है। इसलिए अहम्भाव से मुक्ति की भावना कहाँ होगी ? अभाव से किसी प्रतियोगी का अनुभव तो हो नहीं सकता। मुक्तरूपता द्वारा भी मुक्ति की भावना नहीं हो सकती, क्योंकि मुक्तरूपता और मुक्ति तो एक ही है, इसलिए दोनों पक्षों में जन्मान्ध पुरुष चित्र देखता है, यही न्याय आ जाता है ॥५०॥

वृक्ष, मृग आदि में चहल-पहल हो या न हो, पर पर्वत की शिला निश्चल स्थित होने से जैसे जड़ है, वैसे ही अहंकार प्राण आदि में चहल-पहल हो या न हो, पर परमपद निश्चल स्थित है, अतः उसे जड़ क्यों न माना जाय, इस पर कहते हैं।

अहंकारादि का स्पन्दन (चहल-पहल) या अस्पन्दन होने पर भी जो पाषाण के सदृश जिसका निश्चल अवस्थान है, वह अजड़ का ही है, जड़ का नहीं है, यह आप जानिए। वही परमपद, अजर (क्षीणता आदि दोषों से रहित) मोक्ष है ॥५१॥

अतः अन्तिम स्थिति में वह स्वप्रकाशरूप ही फलित होता है, यह कहते हैं।

जैसे लौकिक आत्मा में प्रसिद्ध ज्ञातापन लोकैषणावर्जित ज्ञातापुरुष के द्वारा स्वयं ही अनुभूत होता है, वैसे ही परमप्रकाशरूप निर्वाणपद स्वतः ही अनुभूत होता है, दूसरे के द्वारा नहीं ॥५२॥ वहाँ पर (परमपद में) न अहन्ता है, न त्वत्ता है, न अहन्ता का अभाव है, न अन्यरूपता है। वह निर्वाणपद केवल विशुद्ध शिवरूप कैवल्य ही है ॥५३॥

उसका दूसरे से प्रकाश होना ही संसार है, यह कहते हैं।

इस चेतन का यानी निर्वाणरूप स्वप्रकाशपद का विषयों की ओर झुक जाना ही परप्रकाश (विषयसम्बन्धरूप क्रिया) कहा गया है और यही संसार है, यह भयानक महान् कष्ट को देनेवाला बन्धन है ॥५४॥

विषय सम्बन्ध के अभाव से प्राप्त अचेतनता तो मोक्ष में इष्ट ही है, यह कहते हैं।

चेतन की विषयों की ओर प्रवृत्ति न होना ही अचेतनता है, इसी को आप मोक्ष जानिए। मोक्ष ही अविनाशी शान्त परमपद है ॥५५॥

मोक्ष में विषयों की स्थिति का निवारण करते हैं।

भद्र, देश, काल आदि से अपरिच्छिन्न, शान्तस्वरूप ही जब मोक्ष स्थित है, उस शान्तरूप में चेत्य की सम्भावना ही नहीं हो सकती, ऐसी स्थिति में कौन किसका, किस तरह प्रकाश करेगा ? ॥५६॥

इस तरह केवल अन्तर्मुखतामात्र से स्वतः सिद्ध मुक्ति का उपपादन कर अब बर्हिमुखतामात्र से ही जगत् का विस्तार होता है, इसका उपपादन करते हैं।

हे श्रोतागण भूपसमूह, जैसे स्वप्न के संसार में चेतनगत तत्–तत् वासनानुसारी संकल्प चेतनरूप होता हुआ भी चेतनरूपताका परित्याग कर चेतनभिन्न प्रतीत होता है, वैसे ही यह आत्मा जब बहिर्मुख होता है, तब वही प्रपंचरूप होकर अन्य जड़ के सदृश भासने लग जाता है ॥५७॥ इसी तरह ये जो मन, बुद्धि, अहंकार आदि हैं, वे सब अन्तर्मुखदशा में चेतनरूप हैं और मन, बुद्धि आदि शब्दार्थों में भावना करने पर यानी बहिर्मुखदशा में चेतनभिन्न जड़रूप हैं ॥५८॥

इसी रीति से आन्तर और बाह्य जितना जगत् है, वह सब चैतन्यैकरस ही सिद्ध हो जाता है, ऐसी स्थिति में चिति की बहिर्मुखतारूप जो भेदबुद्धि है, वही केवल व्यर्थ और अनर्थ की हेतु है, इसे कहते हैं।

यह विस्तृत जितना बाह्य–आभ्यन्तर जगत् है, वह सब सम, स्वच्छ एवं अभिन्न संविद्रूप ही है, इसमें जो भेदबुद्धि की जाती है, वह अनर्थ के लिए ही विकसित होती है ॥५९॥

समस्त दृश्यों का विनाश हो जाने पर अन्त में बच जानेवाला संविन्मात्रस्वरूप जो आत्मा है, वह शून्यरूप नहीं है, किन्तु निरतिशयानन्दरूप ही है, यह विद्वानों का अनुभव है, यह कहते हैं।

अन्त में अवशिष्ट विशुद्ध संविन्मात्रस्वरूप आत्मा में और शून्य में क्या अन्तर है, यह हम लोग नहीं जान सकते। जो अन्तर है, उसे तो विद्वान् कहते हैं कि वह वाणी का विषय नहीं है, स्वानुभववेद्य है अर्थात् निरतिशयानन्दरूप है, उसका वर्णन कैसा कर सकते हैं ? ॥६०॥

तब विवेकियों की यौक्तिक दृष्टि से जगत् कैसा है। इसे कहते हैं।

जैसे आँख के प्रणिधानरूप (एकाग्रता) प्रयत्न से अन्धकार में कुछ सद्–असद्रूप आभास दिखाई देता है, वैसे ही ब्रह्म में जो आभास दिखाई देता है वह आभास ही यह जगत् है ॥६१॥ यह मैं चिदाकाशस्वरूप ही हूँ, इस प्रकार निश्चयकर वासनानिर्मुक्त हो उत्तमशान्ति से सम्पन्न हो गया हूँ। आप भी यदि वासना को कहीं न बाँध लें, तो चिदाकाशरूप ही होकर स्थित हैं ॥६२॥ यह चिदाकाशरूप ही मैं हूँ, इस प्रकार के निश्चय से युक्त जो भी दूसरा पुरुष है वह तत्त्वज्ञ ही है। वह व्यवहार से अज्ञानी के सदृश विद्यमान होता हुआ भी चैतन्यस्वरूप ही है और देहादि की स्थिति होने पर भी उन्हें असत्–सा मानकर स्वयं शान्त ही रहता है ॥६३॥

क्या जीवों की अविद्या को चिदात्मा नष्ट कर देता है या जड़ ? प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि चिदात्मा तो अविद्या का साधक है, इसलिए उससे विरोध ही नहीं। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि सारा जड़ अविद्या का कार्य है, इसलिए अविद्या का जड़ भी विरोधी नहीं है, इस आशंका पर कहते हैं।

'मैं अज्ञानी हूँ', इस प्रकार का साक्षी ज्ञान ही अज्ञान की सिद्धि करता है। यद्यपि जीवों

की संसाररूप अविद्यात्मक अग्नि 'मैं संसारी हूँ' इस तरह से साक्षिज्ञान से रक्षित अज्ञानरूप वायु से जलती रहती है तथापि 'मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ' इस तरह के प्रबुद्ध जीवों की अन्तिम साक्षात्कार वृत्तिरूप में परिणत साक्षि-रक्षित अज्ञानवायु से मानों नष्ट हो जाती है, तीसरे किसी की अपेक्षा नहीं करती ॥६४॥

क्या मुक्त पुरुष जगत् को जानते हैं या नहीं ? यदि जानते हैं, तो संसारी और मुक्त दोनों में कोई विशेष नहीं रहा । दूसरे पक्ष में यानी नहीं जानते हैं, तो इस पक्ष में एक आत्मा के अज्ञान का परिहार करते हुए आपने जगत् के अनन्त अज्ञान स्वीकृत कर लिये । सूखे काठ के जैसे स्थित उन पुरुषों में मुक्तत्व ही कैसा ? इस पर कहते हैं ।

अनावृत स्वप्रकाश निरतिशयानन्द आत्मा के स्वरूपभूत हुए उन मुक्त पुरुषों की सांसारिक ज्ञानों से रहित दुःखरूप क्षोभ से शून्य जो स्थिति है वही मोक्ष है और वही अविनाशी पद है । इनमें अनन्त अज्ञानों की आपत्ति भी नहीं है, क्योंकि एक ही के विज्ञान से सभी का ज्ञान हो जाने के कारण उनमें किसी तरह के अज्ञान की प्राप्ति ही नहीं है और भ्रमात्मक ज्ञान का अभाव भी आत्मरूप ही है, इसलिए उसमें तत्त्वज्ञान से कोई विलक्षणता ही नहीं रही ॥६५॥

जब मूलअज्ञान रहता है तभी उसके बल से बाह्य अर्थों के अज्ञान मूर्खता के सम्पादक होते हैं । मूलअज्ञान का नाश हो जाने पर तो बाह्य अर्थों के अज्ञान मुनित्व के सम्पादक हो जाते हैं, इस आशय से कहते हैं ।

आत्मज्ञान के द्वारा सांसारिक पदार्थों का अज्ञान प्राप्तकर पुरुष मुनि बन जाता है, परन्तु आत्मा के अज्ञान द्वारा सांसारिक पदार्थों का अज्ञान प्राप्त कर पुरुष पशु तथा वृक्ष बन जाता है ॥६६॥

ब्रह्मज्ञान और जगद्भ्रम सभी अज्ञानरूप ही हैं, परन्तु अज्ञाननिवृत्ति तो अज्ञान नहीं है, जिससे मुक्ति न हो, इस आशय से कहते हैं ।

'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार का ब्रह्मज्ञान तथा यह जगत् सब अविद्यामय असत्य भ्रम है । यह ब्रह्माकार अखण्डवृत्ति से, दीपक से अन्धकार की नाईं, निकल जाता है ॥६७॥

तब जीवन्मुक्तों की मुक्तता ही न रही, क्योंकि उन्हें चक्षु आदि इन्द्रियों से बाह्य पदार्थों का विज्ञान होता है, यही दृष्ट है, इस पर कहते हैं ।

जो तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त पुरुष है उसकी समस्त इन्द्रियाँ हैं पर वे संकल्पशून्य हैं और सविकल्प ज्ञान से रहित हैं । इसलिए शान्तबुद्धि यह महात्मा बाह्य और आन्तर किसीका अनुभव नहीं करता ॥६८॥ जिस तरह सुषुप्ति अवस्था में स्वप्न का विलय हो जाता है उसी तरह तत्त्वज्ञान होने पर समाधि में समस्त दृश्य विलीन हो जाता है और भीतर केवल आत्मा ही लक्षित होता है ॥६९॥

समस्त दृश्य क्यों विलीन हो जाता है इस प्रश्न पर वे भ्रान्तिरूप है, यह उत्तर देते हैं ।

जैसे आकाश में नीलरूप विलीन हो जाता है । वैसे ही पृथिवी आदि रूप समस्त दृश्य आत्मा

में विलीन हो जाता है। जैसे आकाश में नीलरूप केवल भ्रान्ति छोड़कर दूसरा कुछ नहीं है उसी तरह आत्मा में पृथिवी आदिरूप भ्रान्ति छोड़कर और कुछ नहीं है, इसलिए नीलरूप जैसे आकाश है वैसे ही पृथिवी आदिरूप के प्रति आत्मा है ॥७०॥

अतएव बाधित अर्थ की वासना वासना ही नहीं है, ऐसी स्थिति में ज्ञानी वासनारहित ही है, यह कहते हैं।

जिस पुरुष को यह बुद्धि रहती है कि यह सब असत् ही है वह वासना से युक्त होता हुआ भी समस्त वासनाओं से रहित ही है ॥७१॥

चित्र–विचित्र भुवन, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, विहित, निषिद्ध अनेक कर्म एवं विहित निषिद्धकर्मफलों की भोगस्थिति तथा ईश्वर इन सबका जहाँ पर अस्तित्व है ऐसे इस अद्भूत जगत् को आप कैसे असत्, अनृत और संकल्पस्वरूप पूर्वोक्त युक्तियों से मानकर खण्डित करते हैं ? संकल्प, मनोरथ आदि स्थलों में तो उस तरह के पदार्थ है नहीं, ऐसी आशंका कर वहाँ पर भी (संकल्प आदि स्थलों में भी) अद्भूत अर्थसत्ता का दिग्दर्शन कराते हैं।

हे भव्य श्रीरामजी, संकल्पजनित पदार्थों में स्वप्न, माया, इन्द्रजाल जैसे चित्रविचित्र अद्भुत अर्थ विद्यमान हैं, वैसे ही ये सब संसार अद्भुत ही हैं। प्रत्यक्षतः दिखाई देनेवाले स्वप्न आदि अर्थों में क्या आस्था बाँधकर बैठे रहना अच्छा है एवं संसार में भी आस्था बाँधकर बैठे रहना क्या अच्छा है ? ॥७२॥

जब आत्मा में कर्तृत्व–भोक्तृत्व की सत्ता हो, तब तो समस्त सुख–दुःख के भोग के लिए पुण्य–पाप की व्यवस्था हो सकती है। आत्मा में जब कर्तृत्व–भोक्तृत्व का संभव ही नहीं, तब पुण्य–पाप की व्यवस्था ही क्या ? इस पर कहते हैं।

कर्तृत्व और भोक्तृत्व का ही जब आत्मा में असम्भव है तब न दुःख है, न सुख है, न पुण्य है, न पाप है और न किसी का कुछ बिगड़ा ही है ॥७३॥ जिस अहंकार में हम लोगों को यह ममताबुद्धि होती है उसका भी कहीं अस्तित्व नहीं है। इसलिए समस्त शून्यरूप अवलम्बनरहित एवं दो चन्द्रमा या स्वप्ननगर के सदृश मिथ्या है ॥७४॥ भद्र, समस्त द्वैत से शून्य तत्त्ववेत्ता पुरुष चाहे व्यवहार में रहे या काष्ठपाषाण के सदृश निश्चल होकर समाधि में स्थित रहते हुए, चाहे लकड़ी के सदृश मौन धारण करे। सभी स्थिति में वह ब्रह्मरूपता प्राप्त करता ही है ॥७५॥

इस तरह मायिक विवर्तवाद के सिद्धान्त को लेकर आरोपित जगत् के अपवाद से तत्त्ववेत्ता पुरुष की परमपुरुषार्थ में निष्ठा बतलाई, परन्तु दूसरे तार्किक जो जुदे–जुदे सिद्धान्त की कल्पना करते हैं उनके पास जगत् के उत्पत्ति आदि व्यवहार में एवं परम पुरुषार्थरूप परमार्थ में कोई युक्ति नहीं है, यह कहते हैं।

भद्र, यह शिवस्वरूप जो अन्तरात्मा है वह प्राण, बुद्धि, मन, देह आदि के साथ एकरूप

बनकर अनेकरूप भिन्न स्वभाव तथा संसार के अनेक अर्थों से आक्रान्त प्रत्यक्षतः दिखाई देता है, इस आत्मा में दिखाई दे रही अनेकरूपता, भिन्न स्वभावता आदि का निराकरण कर दुःखरहित निरतिशय अद्वितीय आत्मा में आनन्दरूपता बचानी है । इसमें अध्यारोप अपवादप्रणाली को छोड़कर दूसरी कोई युक्ति है नहीं । कल्याणरूप अन्तरात्मा को सदा शान्तस्वरूप माना जाय, तो भी निर्विकार अन्तरात्मा का-संचलन एवं परिच्छिन्न स्वभावयुक्त चित्तस्वरूपता धारणकर देह, इन्द्रिय आदि अनेक-अनेक तरह के भावों द्वारा-जो संसार में आना है, इसमें अध्यारोप अपवादप्रणाली को छोड़कर किसी के पास और कोई युक्ति नहीं है । इन सब बातों को सिद्ध करने के लिए आत्मा को परिच्छिन्न, परिणामी एवं सावयव मान लिया जाय, तो भी इस आत्मा को जिन अवयवों को लेकर सावयव स्वीकार करेंगे, इसमें कोई युक्ति नहीं मिलेगी, क्योंकि यदि अवयवों को चेतनरूप मानेंगे, तो कभी उनका एकमत न होगा, ऐसी स्थिति में अवयवों का विच्छेद हो जाने के कारण अवयवी का विनाश ही प्राप्त है । यदि अवयवों को जड़ मानेंगे, तो अवयवी भी जड़ हो जायेगा । ऐसी स्थिति में अनित्य आत्मा पूर्व के पुण्य-पापों का भोग कैसे करेगा ? इसी तरह आत्मा को जगत् का कारण मानकर शान्त एवं निर्विकार कोई मान ले, तो भी इसकी जगत् बनाने में अनुकूल संकल्पात्मक चित्तरूपता आदि में अध्यारोप अपवाद को छोड़कर और कौन-सी युक्ति हो सकती है ? इसलिए विवर्तदृष्टि ही एकमात्र सब वादियों के लिए शरण है ॥७६॥

यद्यपि स्वभावतः आत्मा शान्त ही है तथापि प्रलय के बाद चित्तत्व, एकत्व, अनेकत्व, सावयवत्व आदि विलक्षण-विलक्षण धर्मों से युक्त पदार्थों का आर्विभाव होगा ही, क्योंकि प्रलय के समय ब्रह्म में सारे पदार्थ लीन होकर बैठे हैं । इसलिए उन पदार्थों का अपना-अपना जो विचित्र स्वभाव है वह तो ब्रह्म में से कहीं गया नहीं, इस पर कहते हैं ।

श्रीरामजी, अर्थों की विचित्रता का कारणभूत जो स्वभाव है वह परमात्मा में अर्थों के कारण आया है या स्वतःसिद्ध है ? अर्थों के कारण आया है, यह तो कह नहीं सकते, क्योंकि दूसरे स्थान से आनेवाले अन्याधीन धर्म को दूसरे का स्वभाव माना नहीं जा सकता । दूसरी बात यह है कि जो स्वभावतः असंग और अद्वय है, ऐसे निर्मल परमात्मा में दूसरे का विचित्र स्वभावरूप मल किसी तरह सम्बद्ध हो ही नहीं सकता । जितने ये पदार्थ हैं वे प्रलयकाल में स्वतन्त्ररूप से अपना अस्तित्व नहीं रखते, जिससे कि प्रलय के बाद अपने-अपने स्वभाव के बल से ही चित्र-विचित्ररूप में आविर्भूत हो सकें, इसलिए इस स्वभाव को अनागन्तुक ही कहना चाहिए । परन्तु यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि इस पक्ष में ब्रह्म के सर्वगत होने के कारण सब पदार्थ सभी तरह की विचित्रताओं से परिपूर्ण होने लगेंगे ब्रह्म के सर्वगत होने पर 'इस वस्तु का यही स्वभाव है' इसकी व्यवस्था करनेवाला कौन रहेगा ? प्रत्येक वस्तु में सभी तरह की विचित्रताओं को मान लेंगे, तो इस संसार

से विचित्रता का नाम ही उठ जायेगा। सर्वसाधरण धर्म में न तो विचित्रता रहती है और न वह किसी का पार्थक्यकारक ही होता है। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण जगत् की एकरूपता हो जायेगी ॥७७॥

सबके अनुभव पर चढ़ी हुई जगत्-विचित्रता का यदि युक्ति के अभाव में आप खण्डन करते हैं, तो ज्ञान का भी आप खण्डन क्यों नहीं करते, क्योंकि ज्ञेय के बिना ज्ञान तो कहीं होता नहीं। ऐसी स्थिति में शून्यवाद ही आ गया, इस पर कहते हैं।

विषयों के खण्डन के प्रसंग में जो पुरुष यह कहता है कि ज्ञान का भी अस्तित्व नहीं है, वह अत्यन्त तुच्छ है, क्योंकि ज्ञान के अस्तित्व का खण्डन करनेवाला जो पुरुष है, वह अपने आपका ज्ञान रखता है, इसलिये ज्ञान की सत्ता नहीं है, यह कैसे कह सकते हैं ? और खण्डन करनेवाला पुरुष अपने से भिन्न ज्ञान और विषय का खण्डन करेगा, अपना तो करेगा नहीं, जब सभी ज्ञान उसी की आत्मा है, तब स्वभिन्न विषय का खण्डन करते हुए वह ज्ञान को आखिर बचा ही लेता है। जो निषेध किया जाता है वह किसी आधार पर ही किया जाता है, निराधार निषेध नहीं किया जाता है। इससे ज्ञान करनेवाला एवं जानने योग्य विषय दोनों का स्वयंप्रकाश, ज्ञाता और ज्ञेय से शून्य आधारभूत आत्मा में ही निषेध करना चाहिए, यही उसकी आत्मा है। ऐसी स्थिति में अविनाशी स्वात्मा में ही ग्राह्य-ग्राहकदृष्टि के असम्भवप्रतिपादन में पर्यवसान से खण्डनकर्ता के मत में समस्त प्रतिषेधों के आधारभूत कोई अज वस्तु सिद्ध हो गई और यही वस्तु परब्रह्म है ॥७८॥

हे श्रीरामजी, आप ब्रह्मज्ञानियों द्वारा प्रेमपूर्वक सेवित तथा छोड़ने लायक नहीं जो अज, अविनाशी, कल्याणरूप, परमार्थसत्यभूत, नित्यसिद्ध, निर्मल, शान्त, सम शिवपद है, तद्रूप ही बनकर स्थित हो जाइये। व्यवहार में साधारणजनों के सदृश यद्यपि आप खाइये, पीजिये, खेलिये, तो भी आप मुक्त ही हैं, क्योंकि आपको दृश्य प्रपंचरूप बन्धन है ही नहीं ॥७९॥

उनतीसवाँ सर्ग समाप्त

तीसवाँ सर्ग

जिस दृष्टि से अविद्याजनित नानात्वभ्रान्ति की शान्ति द्वारा
धीर पुरुष परमब्रह्म में स्थिर हो जाता है, उस दृष्टि का वर्णन।

जब तक अहम्भाव परित्यक्त नहीं होता, तब तक ब्रह्मविचार भी नहीं हो सकता, फिर ब्रह्मलाभ तो दूर ही है, इस आशय से कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, अहम्भाव ही सब अविद्याओं की मूलभूत अविद्या है, यही मोक्षस्थान को आवृत करनेवाली है। जो मूढ़ पुरुष हैं, वे उसी अविद्या से परमपद की अन्वेषणा करते हैं, यही उनकी उन्मत्तों की-सी चेष्टा है ॥१॥ भद्र, जैसे धूम्रज्ञान अग्निज्ञान का हेतु पर्याप्त

है, वैसे ही अज्ञान से उत्पन्न अहन्ता ही अज्ञान की सत्ता में हेतु पर्याप्त है, जो तत्त्वज्ञानी शान्तपुरुष है, उसे ममता या अहन्ता नहीं रहती ॥२॥ हे श्रीरामजी, इस अहन्तारूपी मल का सर्वथा त्यागकर निर्मल हो चिदाकाश की नाईं मोक्षस्वरूप ज्ञानी पुरुष सांसारिक सर्वविध सन्तापों से शून्य स्थित रहता है। चाहे वह सदेह रहे या बिना देह का ॥३॥

अहन्ता के दूर चले जाने से ज्ञानी पुरुष निर्मल और विक्षेपशून्य परिपूर्ण हो जाता है, यह वर्णन करते हैं।

जैसा अहन्ता से रहित ज्ञानीपुरुष सुशोभित होता है वैसा न तो शरत्काल का आकाश, न प्रशान्त सागर और न परिपूर्ण चन्द्रमा का मध्यभाग ही शोभित होता है ॥४॥ जैसे चित्रलिखित युद्ध में परस्पर प्रहार कर रही भी सेनाएँ क्षुब्ध-सी प्रतीत होने पर भी अक्षुब्ध ही रहती है, वैसे ही व्यवहार में निरत भी ज्ञानी पुरुष में समता (अक्षुब्धता) ही रहती है ॥५॥ जो ज्ञानी पुरुष है उसकी वासना वासना ही नहीं है, क्योंकि वह निर्वाण स्वरूप बन गया है। जैसे जले हुए वस्त्र में तन्तुओं की रेखाएँ प्रतीत होती हैं, परन्तु असल में तन्तुओं की रेखाएँ हैं ही नहीं, वैसे ही व्यवहार से ज्ञानी में अनुमित वासना बाधित होने के कारण वासनारूप नहीं है। जैसे समुद्र के तरंग जल से अन्य कुछ नहीं हैं वैसे ही परमात्मा से इतर कुछ भी नहीं है ॥६॥ जैसे तैर रहे तरंगों से युक्त समुद्र पूर्णरूप से जल ही है, वैसे ही दृश्य से वर्द्धित ब्रह्माण्ड भी ब्रह्म ही है, दूसरा कुछ नहीं ॥७॥

ज्ञानी पुरुष में भीतर-बाहर सबकी वासनाएँ बाधित हो चुकी हैं, इसमें क्या प्रमाण ? इस शंका पर अक्षोभ, शम आदि ही प्रमाण हैं, इस आशय से कहते हैं।

जो पुरुष भीतर के मानसिक तरंगों से क्षुब्ध नहीं होता और बाहर के तरंगों से भी क्षुब्ध नहीं होता, जो शान्ति से शोभित है और जो सदा प्रसन्न रहता है, वह मुक्त कहा जाता है ॥८॥ ज्ञानस्वरूप अज्ञात आत्मा में अहन्ता की सृष्टि के रूप से ज्ञानरूप आत्मा ही ऐसे भासित होता है जैसे जल में जल तरंगरूप से भासित होता है, इसलिए इस अनेकता का रूप ही क्या ? ॥९॥ जैसे आकाश में स्फुरित हो रहे नीहारधूम्र के हाथी, रथ आदि आकार दिखाई देते हैं, परन्तु वे आकार नीहारधूम्र से पृथक् नहीं हैं, वैसे ही परमपद में ये सर्ग भी हैं अर्थात् परमपद से भिन्न यह सृष्टि नहीं है ॥१०॥

अब महाराज वसिष्ठजी सभी श्रोताओं को सम्बोधित कर कहते हैं।

हे उपस्थित विद्वानों, आप लोग किसी तरह का विषाद न करें, किन्तु मेरे कथन के अनुसार विषाद के हेतु सम्पूर्ण प्रपंच संवित् की एकमात्र भ्रान्ति (विवर्त) है, यों विचारकर भ्रान्ति और उसके विषय की तत्त्वतः परीक्षा करने पर निःस्वरूप सिद्ध होने के कारण उनकी किसी तरह प्राप्ति न हो सकने से तेजस्वी होते हुए आप लोग सबके ऊपर अपना स्थान जमाइये। क्योंकि मेरे उपदेश से सचमुच आप लोग वस्तुतत्त्व को जान गये हैं। तात्पर्य यह है कि आप लोगों

में अब अज्ञता नहीं रही ॥११॥

किस तरह की वह संविद्-भ्रान्ति अज्ञानियों द्वारा अनुभूत होती है, यह कहते हैं।

जैसे अंकुर अपनी आत्मा में ही वासनात्मक वृक्ष, पत्र, फल आदि का अनुभव करता है, वैसे ही अज्ञानी पुरुष वस्तुतः आत्मस्वरूप होता हुआ भी आकाश के सदृश स्वच्छ और विशाल अपनी आत्मा का जगत् और अहंकाररूप से भलीभाँति अनुभव करता है ॥१२॥

उसमें किस तरह का विचार होता है, यह कहते हैं।

बाह्य रूपालोक की सत्ता तथा आन्तरिक मन की सत्ता ये सब अधिष्ठानरूप से सत्य होती हुई भी अपने स्वरूप से ऐसे सत्य नहीं हैं, जैसे भ्रमणशील हो रहे अलात की ज्वालार्चि में दण्डचक्रादिरूपता या विधुर पुरुषों के चित्त में कल्पित कामिनी महिलाएँ अपने स्वरूप से सत्य नहीं हैं ॥१३॥ इसलिए हे श्रोताओं, यह सारा संसार जैसे उत्पन्न होता है, जैसे स्थित है, जैसे अपने कार्यों का आरम्भ करता है, जैसे सुख-दुःख का अनुभव करता है, जैसे नष्ट होता है और जिस तरह के इसके देश-काल हैं इन सब बातों का उत्पत्ति-स्थिति आदि प्रकरणों में कही गयी युक्तियों से निश्चय कर यानी ये सब मिथ्या हैं, यह निश्चय कर अजर होते हुए शान्तरूप से आप लोग स्थित रहिये ॥१४॥ इष्ट और अनिष्ट वस्तुओं की प्राप्ति के लिए व्यवहार कर रहा भी मुक्त पुरुष मुर्दे के सदृश अन्यता का अनुभव नहीं करता, किन्तु अपनी आत्मा में चित्त का समर्पण कर स्वस्वरूप का ही अनुभव करता है ॥१५॥ जो जीवन्मुक्त पुरुष हैं उनकी अहन्ता मनोजनित वासना से रहित ही है। वह अहन्ता देहनाश-पर्यन्त जो जगत् धारण करती है और उसका भोक्ता जब तक जीवन धारण करता है, वह सब चिद्रूप जीव ही है उसमें तनिक भी जड़ता नहीं है, यही परमपद है ॥१६॥

इन सब बातों से निष्कर्ष यही निकला कि जीव जगत् की जड़रूप से सत्ता मान लेना ही अनर्थ है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे समुद्र में जहाजों के भार-वहन के लिए आधारभूत जलसत्ता ही केवल कारण है वैसे ही संसाररूपी फन्दे से बँधे गये मनुष्यों को दुःखरूपी भार ढोने के लिए जीव-जगत् की जड़रूपसत्ता ही कारण है ॥१७॥ जो मृत पुरुष के द्वारा प्राप्त किया जानेवाला स्वर्ग है, वह क्या जीवित पुरुष द्वारा किसी तरह प्राप्त किया जा सकता है ? अर्थात् मृत पुरुष लभ्य स्वर्ग जैसे जीवित पुरुष का जीवन अपराध से मानों आश्रय नहीं लेता, वैसे ही मोक्ष सत्ता अज्ञानी पुरुष का अज्ञानगत जड़तानुभव के अपराध से मानों आश्रय नहीं लेती ॥१८॥

मोक्षरूप परमपुरुषार्थ मानने की आवश्यकता क्या है ? सांकल्पिक स्वर्ग आदि फलों मे से किसी एक को नित्य पुरुषार्थ रूप मान लीजिये, इस पर कहते हैं।

जो-जो पदार्थ संकल्प से सिद्ध होता है, वह सब संकल्प से हीन नष्ट भी होता है।

इसलिए जहाँ इस संकल्प का सम्भव नहीं है, वही अक्षय पद मोक्ष सत्य है ॥१९॥ न तो अन्य कोई है और न मैं ही हूँ, इस तरह की अनहंभावना से आप निर्भय हो जाइये। अज्ञदृष्टि यद्यपि इस अनहंभावना को भयावह समझकर ग्रहण नहीं कर सकती, तथापि परमार्थ दृष्टि उसे सत्य अमृतरूप समझकर ग्रहण ऐसे कर सकती है, जैसे अज्ञदृष्टि से भयंकर विष समझकर छोड़े गये अमृत को परमार्थ दृष्टि ग्रहण करती है ॥२०॥

इसमें सत्यता का उपपादन करते हैं।

जड-देहादि से लेकर चित्तपर्यन्त सम्पूर्ण शरीर विचारकर देखने से अहंरूप उपलब्ध नहीं होता। अतः जड़ देहादिरूप 'मैं नहीं हूँ' एकमात्र यही सत्यता है ॥२१॥

यही कारण है कि सम्पूर्ण शान्ति की सीमारूपी मोक्षता अहंकार की शान्ति ही है। जैसे जमे हुए घी के पिघल जाने पर घी का कुछ नाश नहीं होता, वैसे ही अहन्ता का नाश होने पर आत्मा का अणुमात्र भी कुछ नाश नहीं होता। अहन्ता के नाश से सर्वनाश हो जायेगा, यों विचारकर भय नहीं करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

विचार करने से जिन पुरुषों के सम्पूर्ण विशेष शान्त हो चुके हैं उनके लिए अहन्ता का नाश करनेवाली केवल मुक्तता उदित होती है। उनका वस्तुतः कुछ भी नष्ट नहीं होता ॥२२॥ इस मुक्ति में, भोगों का त्याग, विचार, इन्द्रिय, तथा मनका निग्रहरूप पौरुष इन तीनों के सिवा और कोई दूसरा उपयोगी नहीं है, यह निश्चय करके हे अज्ञ, मुमुक्षुओं, आत्मभिन्न सबका त्यागकर शीघ्र अपनी आत्मा की ही शरण में जाओ ॥२३॥ इस प्रकार अहन्ता के नाशक सम्पूर्ण द्वैतनाशपूर्वक जो ब्रह्मभाव से मन की स्थिति है, उसी को श्रुतियाँ और विद्वान् लोग मोक्ष कहते हैं और वह मोक्ष तत्त्वज्ञान के बिना कभी भी नहीं होता। सर्वोत्तम ज्ञान भी यही है कि यह जगद्भ्रम परमार्थ कभी नहीं हो सकता, यह मोक्षशास्त्र में प्रसिद्ध है। तात्पर्य यह कि यह जगत् तो एकमात्र भ्रम है, सद्रूप आत्मा ही परमार्थ है। चूँकि इस ज्ञान में 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि श्रुति से कराया जा रहा भी विश्वास पुरुष के प्रबल रागादि दोष के कारण तथा जगत् में दृढ़ सत्यत्वभ्रम हो जाने के कारण जम नहीं पाता, इसीलिए चिरकाल तक जीव को संसारबन्धन बार-बार हुआ करता है ॥२४॥ इसलिए शास्त्रों में दृढ़ विश्वास करके 'जगत् और अहन्ता-ये दोनों असत् हैं, इसको' श्रवण, मनन आदि के अभ्यास द्वारा भलीभाँति जानकर अपने धन, जन, स्त्री तथा शरीर आदि में आसक्तिशून्य हो परमार्थ तत्त्व को जानकर उपाधि से परिच्छिन्न चिदाकाश जीव और जगत् चिन्मात्रस्वरूप हो जाता है। वही इस जीव की मुक्ति है, यही इसका उपाय है। इस ज्ञान से भिन्न किसी दूसरे ज्ञान से इसकी मुक्ति कभी नहीं हो सकती ॥२५॥

तीसवाँ सर्ग समाप्त

इकतीसवाँ सर्ग

अचिद्रूप वस्तु असत् हो या सत्, सभी चिति से ग्रस्त है, इसलिए कुछ भी नष्ट नहीं होता, इस विषय में निर्वाण की स्थिति का वर्णन।

नित्य निरतिशयानन्द से पूर्ण अद्वय चिदाकाशरूप निर्वाणस्थिति का अनुभव कराने के लिए दृश्यानुभव दृश्यभावना के अभ्यास के अधीन है, इस पूर्वोक्त का स्मरण कराते हैं।

महराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, अपने भीतर जिस किसी असद्रूप वस्तु या अवस्तु की भावना की जाती है, तत्काल उसीका सर्वात्मक चिदाभास में अनुभव होने लग जाता है ॥१॥ वही बाह्य पदार्थों के अनुभवरूप से दृढ़ अभ्यास होने के पहले बाहर में जगत् के रूप से मानों स्फुरित होता है, इस विषय में अपना स्वप्न ही दृष्टान्त है ॥२॥

ठीक है, ऐसा ही रहे, किन्तु इससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

यह सारा संसार चिति का ही रूप (कल्पित आकार) है। वह चिति आकाश से भी स्वच्छ है। चूँकि घृत जैसे अपनी आत्मा में ही काठिन्य को धारण करता है वैसे ही चिति जगत्-रूप आकार को धारण करती है, इसलिए यह सब चिद्रूप ही है। चिति से भिन्न और कुछ भी कहीं नहीं है ॥३॥

ऐसा ही सही, इससे भी प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

न तो नाश है, न अस्तिता है, न अनर्थ है, न जन्म है, न मरण है, न आकाश है, न शून्यता है और न अनेकता ही है, किन्तु अधिष्ठानरूप से सब कुछ एकमात्र ब्रह्म ही है, उससे भिन्न और कुछ भी नहीं है ॥४॥

जगत् तथा अहंकार आदि के जड़ांश का तत्त्वज्ञान द्वारा हुआ नाश तो सभी को इष्ट है ही, फिर उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है ? इस पर कहते हैं।

इस जगत् और अहन्ता आदि का नाश इष्ट होने पर भी वस्तुतः कुछ भी नहीं बिगड़ता, क्योंकि असद्रूप स्वप्नादि का भी तो नाश इष्ट है, उससे क्या बिगड़ सकता है ? क्योंकि नाश का स्वरूप ही क्या रहा ? ॥५॥ मिथ्या अवभासित हो रहे असत् संकल्प नगर का नाश ही क्या (मिथ्या) है ? ठीक इसी तरह असद्रूप जगत् और अहंकार आदि का नाश ही क्या ? असत् का वस्तुतः नाश नहीं है ॥६॥ यदि यह जगत् असद्रूप है, तो फिर अनर्थरूप से इसका वर्णन करके इसकी निन्दा तथा हेयरूप से इसका निर्णय शास्त्रों में क्यों किया जाता है ? यदि यह आप आशंका करें, तो यह आपकी आशंका एक तरह से ठीक ही है, क्योंकि अवस्तुभूत पदार्थों के विषय में न तो किसी प्रकार की निन्दा की और न उनके फल, विचार या किसी तरह के निर्णय की ही सम्भावना है। कहिये, आकाश के फलों की कोई कभी निन्दा या उसके विषय में किसी तरह का निर्णय करता है ? बस, ठीक इसी तरह इसे भी जान लीजिये ॥७॥

तब क्या वे शास्त्र सब व्यर्थ है ? इस पर 'नहीं' यह कहते हैं।

स्वाभाविक स्वरूपस्थिति की सिद्धि के लिए असद्रूप होते हुए भी सत् की नाईं कल्पना करके निन्दा आदि के द्वारा शास्त्रों में वैराग्य एवं विवेक से लेकर तत्त्व साक्षात्कार पर्यन्त उपायों की कल्पना की गई है – यही सब शास्त्रों में निर्णय है, इसलिए हे श्री रामजी, जो ये सब वस्तुएँ सत्-सी प्रतीत हो रही हैं, इन्हें सद्रूप से भावना न करते हुए यानी इन्हें आप मिथ्या समझते हुए शास्त्र और (ज्ञान) सम्प्रदाय के अनुसार भूमिकाओं के क्रम का अभ्यास करके पाषाण के समान स्थित रहिये ॥८॥

ठीक है, आत्मतत्त्व के विषय में यह निर्णय ऐसा ही रहे, किन्तु स्वर्ग आदि जगत् के स्वरूप के विषय में कौन-सा सफल निर्णय हुआ है ? उसे कहते हैं।

हे श्रीरामजी, पूर्वोक्त स्थिति में सांसारिक पुरुषार्थाभासयुक्त आपका एकमात्र संकल्पस्वरूप यह जगत् एक क्षण में ही पूर्णतः नष्ट हो जाय, बस इतना ही इस सृष्टि के विलास में सफल निर्णय हुआ है ॥९॥

सुषुप्ति और प्रलय में सर्ग तो अपने आप ही नष्ट हो जाते है, अतः उसमें ब्रह्मरूपता के परिज्ञान से कौन-सा लाभ हुआ ? इस शंका पर कहते हैं।

जगत् में ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से उसका मूलोच्छेदपूर्वक अर्थात् पुनः उत्पन्न न होना, क्षय है। इसके विपरीत कोई दूसरे मार्ग से वैसा क्षय नहीं होता, क्योंकि प्रलय और सुषुप्ति आदि में जो क्षय होता है उसमें यह सृष्टि बीजरूप से रहती है, कार्यरूप से नहीं रहती अथवा ऐन्दव आख्यान की रीति से प्रलय में भी कार्य बने ही रहते हैं ॥१०॥

तब सृष्टि के रहते भला प्रलय व्यवहार कैसे ? इस पर कहते हैं।

स्वप्नपुरुष के तुल्य जिन असत् पुरुषों की दृष्टि में यह सृष्टि है, वह सृष्टि तथा वे पुरुष मृगतृष्णाजल के तरंग के समान हैं। तात्पर्य यह है कि प्रलय का संकल्प करनेवाले की दृष्टि से उन सबकी सत्ता न होने के कारण अपने संकल्पित सम्पूर्ण जगत् के नाश से ही उसका प्रलय व्यवहार होता है ॥११॥

यही कारण है कि जीव और जगद्रूपों के विषय में कोई निर्णय न हो सकने से अनिर्वचनीयता कही गई है, यह कहते हैं।

जो लोग असत्पदार्थों का ही सद्भाव-सा मानते हैं, वन्ध्या-पुत्र की वाणी की तरह हम लोग उनका कोई निर्णय नहीं जानते। कहने का तात्पर्य यह है कि जीव और जगद्रूप अनिर्वचनीय ही है ॥१२॥

इसीलिए तो तत्त्वज्ञानी पुरुष-सादा ही अद्वितीय चिदानन्द से परिपूर्ण रहते हैं यह कहते हैं।

परिपूर्ण समुद्र के समान तत्त्वज्ञानियों में कोई अपूर्व ही अद्वितीय चिदानन्द की परिपूर्णता रहती है, क्योंकि वे द्रष्टा और दृश्यांश की दृष्टि में गिरते नहीं ॥१३॥ वे ज्ञानी लोग पर्वत के समान अकम्पनीय, वातरहित स्थान में स्थित दीपक की नाईं सदा समप्रकाशयुक्त तथा

आचारशून्य होते हुए भी आचारयुक्त स्वस्थ ही बने रहते हैं ॥१४॥ तत्त्वज्ञानी पुरुष के हृदय के भीतर उदित हुई परिपूर्ण समुद्र के समान कोई अनिर्वचनीय ही पूर्णता रहती है तथा ज्ञानरूपा भीतरी शीतलता भी कोई अपूर्व ही लक्षित होती है ॥१५॥

तब अज्ञपुरुष का स्वरूप क्या है, इस पर कहते हैं।

इस संसार में अज्ञानी पुरुष तो वासनारूप ही है। तत्त्वदृष्टि से विचार कर देखने पर तो वह वासना कुछ है ही नहीं। कोई भी विचार कर उसे देखता नहीं है और इसी से यह संसार उपस्थित हुआ है ॥१६॥ जिस पदार्थ की प्रतीति प्रकाश की अस्फूर्ति से सिद्ध है यानी प्रकाश के बिना जिस पदार्थ की प्रतीति होती है वह पदार्थ प्रकाश से विद्यमान नहीं रहता। इस विषय में बिलकुल स्पष्ट दृष्टान्त तो प्रकाश की उपस्थिति में अन्धकार और उसमें अपना काम करनेवाले चोर आदि की उपलब्धि का अभाव ही है ॥ १७॥

प्रकाश के बिना प्रतीत हो रहे पदार्थों की स्थिति किस तरह के प्रकाश में विद्यमान नहीं रहती ? इस पर वह कहते हैं।

देह, मांस आदि स्थूल शरीर पंचीकृत भूतमय, असद्विभ्रम से युक्त एवं जड़रूप है तथा मन, बुद्धि आदि सूक्ष्म शरीर भी पंचीकृत भूतों के विकारभूत ही हैं, अन्य नहीं ॥१८॥

ठीक है, ऐसा ही सही, परन्तु इससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते है।

उस बुद्धि आदि घटित सूक्ष्म शरीर में अहंभाव से प्रविष्ट हुआ चिदात्मा उसके द्वारा स्थूल देह को भी अविद्या के कारण 'यह मैं ही हूँ' ऐसा मानता है। विवेक द्वारा बुद्धि, अहंकार और चित्त की भूतादिरूपता को 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इस श्रुति में दिखलाये गये उपाय से छोड़कर यदि उसकी स्वप्रकाश चिन्मात्रस्वभाव से स्थिति हो जाय, तो फिर मुक्तता भी आविर्भूत हो ही गई, यह समझ लेना चाहिए। उसीको मैंने आलोक कहा है, यह तात्पर्य है ॥१९॥

इस प्रकार आत्मप्रकाश के प्रसृत होने पर वासना भी बाधित हो जाती है, इसलिए उस वासना से भी संसारबन्ध की प्रसक्ति नहीं हो सकती, यह कहते हैं।

विषयों की ओर उन्मुख होने के कारण चिति लिंग शरीररूपी उपाधि में यदि मिलित है, तो उसकी वासना भी उस लिंग शरीर के सदृश ही मिथ्या है, अतः मुक्तता–अवस्था में उसका बाध होने से वह वासना कैसी, कहाँ से, कहाँ पर और किस स्वरूप की हो सकती है? ॥२०॥

तत्त्वज्ञान होने पर बद्ध जीव की ही जब उपलब्धि नहीं होती, तब भला किसके द्वारा किसके बंधन की प्रसक्ति ? यह कहते हैं।

जिस जीव को इस संसार का भ्रम है, वह असत् ही है जो असत् होता है, वह तत्त्वदृष्टि से देखनेपर मृगतृष्णा जल की नाईं लक्षित ही नहीं होता, इससे किसको कहाँ से कौन–सा संसार ? ॥२१॥

आत्मप्रकाश के मन्द पड़ जाने पर तो फिर चित्त का उदय हो जाने से संसार हो ही सकता है, इसलिए आत्मप्रकाश को तब तक दृढ़ बनाये रखना चाहिए जब तक कि संसार की बिलकुल विस्मृति न हो जाय यानी उसकी पुनःस्मृति का अवसर न आने पाये, यह कहते हैं।

इससे इस तरह आत्मज्ञान के लिए प्रवृत्त हुए पुरुष के विषयों का स्मरण करने से जो पुनः चित्त का उदय होगा, वही फिर संसाररूप से प्रवृत्त हो जायेगा ॥२२॥ इसलिए हे श्रीरामजी, सबको छोड़कर आकाश के समान निर्मल आत्मा की ही एकमात्र आप उपासना कीजिये। विषयों का पुनः स्मरण न होना ही श्रेय है, अतः भूमिकाओं के अभ्यास द्वारा एकमात्र सांसारिक विषयों की विस्मृति को ही इस व्यावहारिक जगत् में सिद्ध करना मुमुक्षु पुरुषों का परम कर्तव्य है ॥२३॥

भूमिकाओं के अभ्यास में तत्पर मुमुक्षु किस तरह देखे, यह बतलाते हैं।

न द्रष्टा है, न भोक्ता है, न अस्तिता है और न नास्तिता है, किन्तु सदा समुद्र के समान परिपूर्ण, प्रारब्ध प्राप्त बाधित व्यवहार के निमित्तभूत, एक, शान्तस्वरूप यथास्थित यह सब ब्रह्म ही है॥२४॥ यह सारा दृश्य जगत सद्रूप ब्रह्म ही है, ऐसा स्पष्ट ज्ञान हो जाने पर बिम्ब और बिम्बी यानी चिदाभास और उसकी उपाधि दोनों के नाश से जल सूखने से बिम्बरूपता की नाईं, एकमात्र शिवस्वरूपता ही उदित होती है ॥२५॥ परमपद में विश्रान्त समदर्शी तत्त्वज्ञानी की समाधि या राग-द्वेष से शून्य व्यवहार दोनों ही प्रतीत होते हैं ॥२६॥

अथवा निर्वाणरूप सप्तम भूमिका में प्राप्त इस ज्ञानी की शान्तरूपता ही अवशिष्ट रहती है, क्योंकि वासनारहित मुनि कैसे व्यवहार कर सकता है ॥२७॥ जब तक उस ज्ञानी की सप्तम भूमिका में विश्रान्ति परिपोषता को यानी दृढ़ता को प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक राग-द्वेष और भय के उदय से रहित हो वह व्यवहार करता है ॥२८॥ सप्तम भूमिका में प्राप्त ज्ञानी राग-द्वेष भय और क्रोध से शून्य, निर्वाणरूप, शान्तमन पर पत्थररूप न बना हुआ भी पत्थर की नाईं नित्य निश्चल स्थित रहता है ॥२९॥

इस तरह ब्रह्म में स्वाभाविक भावना के अनुसार जगद्रूप है तथा शास्त्रीय तत्त्वभावना के अनुसार तात्त्विकरूप भी है, इसलिए अपनी इच्छा के अनुसार मनुष्य अनर्थ या पुरुषार्थ दोनों प्राप्त कर सकता है, उसके लिए दोनों ही सुलभ हैं, इस आशय से कहते हैं।

जैसे कमल के बीज कोष के अन्दर ही अभिन्नरूप से सम्पूर्ण कमलिनियाँ स्थित है, वैसे आत्मा में ही सवप्नभ्रान्ति रूप यह जगत अनन्य होकर स्थित है, आत्मा को छोड़कर अन्यत्र नहीं ॥३०॥

'बाहर है' यह प्रतीति आत्मा में बाह्यरूपता की भावना से ही है, न कि इसका दूसरा कोई आधार होने से यह कहते हैं।

आत्मा ही बाह्यरूपता की भावना से बाह्यरूप हो जाता है तथा आत्मतत्त्व की भावना करते रहने से आत्मरूप ही रहता है, इसलिए परब्रह्मतत्त्व में तत्-तत् भावना ही बाह्यत्व और

आभ्यान्तरत्व है ॥३१॥

यही कारण है कि स्वप्न और जाग्रदवस्था में प्रतीति से कोई भेद नहीं है, यह कहते हैं।

जो अन्तःकरण में भीतर स्वप्न की विभ्रान्ति है वही यह बाह्य–जगद्रूप से उदित हुई है। दो पात्रों में स्थित दूध के समान स्वप्न तथा जाग्रदवस्था में तनिक भी भेद नहीं है ॥३२॥

जाग्रत और स्वप्नावस्था के पदार्थों में स्थिरता और चंचलतारूप भेद तो प्रत्यक्ष ही उपलब्ध होता है, उसकी क्या दशा होगी, यदि यह आशंका करें, तो उस पर कहते हैं।

एवं जाग्रदवस्था के पदार्थों में स्थिरता तथा स्वाप्निक पदार्थों में जो अस्थिरता प्रतीत होती है वह भी एकमात्र विस्तृत भ्रान्ति ही है तथा जाग्रतकालीन शरीर में आधारता और स्वप्न में आधेयता की जो प्रतीति होती है वह भी जल और तरंग के तुल्य ही है ॥३३॥

जैसे स्वप्नकाल के पदार्थों में जब तक एकमात्र आत्मरूपता का अनुसन्धान नहीं होता, तभी तक उनका भान होता है। आत्ममात्रस्वरूपता का अनुसन्धान होने पर तो जागरणरूप बोध से आत्मैक्यता ही सिद्ध होती है वैसे ही जाग्रदवस्था के पदार्थों में भी समझना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

जैसे स्वप्नकाल के पदार्थों में आत्मा के अन्यत्वज्ञान से अन्यरूपता का भान होता है। आत्मैक्यता का अवबोध होने पर तो उससे अन्य कुछ भी नहीं भासित होता, वैसे ही जाग्रदवस्था के पदार्थों में भी जब तक शुद्ध आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं होता तभी तक पदार्थों में अन्यत्व भासता है। शुद्ध आत्मा का ज्ञान हो जाने पर तो वे सब के सब पृथक् आविर्भाववाले ही नहीं होते एकरूप ही अवभासित होते हैं ॥३४॥

इसीलिए वास्तविक भी ब्रह्मभाव अपनी भावना के अधीन ही है, यह जो कहा गया है वह सिद्ध हो गया, यह कहते हैं।

कल्पनाओं से रहित, शान्त जो परमात्मा का रूप है वह तत्–तत् रूपों में परिणत हो जाता है तथा भावना न करने से तत्–तत् रूपों में परिणत नहीं होता ॥३५॥ स्वप्नादिज्ञान के शान्त होने पर जो विशुद्ध ईश्वर का रूप अवशिष्ट रहता है वह 'अस्तिता' के निरूपक काल और देश आदि के आधार का अभाव रहने से 'वह है' यह नहीं कहा जा सकता तथा स्वरूप का बाध न रहने से 'वह नहीं है' यह भी नहीं कहा जा सकता। इसलिए वह वाणी का विषय कदापि नहीं है ॥३६॥

तब वाणी के द्वारा गुरु लोग उसका उपदेश कैसे देते हैं, इस आशंका पर कहते हैं।

भ्रम का आत्यन्तिक लय हो जाने पर समाधि में स्थित योगी लोग ही अपने एकमात्र अनुभव से उसका स्वरूप जान पाते हैं। कान्तासम्भोगसुख की नाईं, दूसरे के प्रति वह उपदेश का विषय नहीं है। वह विद्वानों के अनुभव का ही विषय है। उसमें श्रोता की बुद्धि को प्रवृत करना ही उपदेश का फल है ॥३७॥

इसलिए हे श्रीरामजी, अहंकार छोड़कर भय, मान, विषाद, लोभ, मोह, आत्मा, देह, मन, इन्द्रिय, चित्त, जड़ता से शून्य, शान्त, समस्त भेदों से रहित अविनाशी, निर्वाणस्वरूप एकमात्र ब्रह्म होकर सर्वदा ही समाधि में स्थित रहना ही युक्त है, व्यवहार विषयों में पड़ना उचित नहीं है ॥३८॥

इकतीसवाँ सर्ग समाप्त

बत्तीसवाँ सर्ग

साधुओं के समागम और सत् शास्त्रों का विचार करनेवाले पुरुष को मोक्ष अवश्य ही होता है, इसलिए मोक्ष स्वाधीन है, इसका युक्ति पूर्व कथन ।

यदि मनुष्य के पास विद्या या अविद्या है, तो उसके लिए मोक्ष या संसार स्वाधीन है, यह वर्णन करने की इच्छा रखनेवाले महाराज वसिष्ठजी पहले अविद्या से चित्त का विस्तार और फिर उससे स्वाधीन संसार को दिखलाते है ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, जब यह चितिशक्ति स्पन्दित होती है, यानी अविद्या से विषयों की ओर झुकने के लिए उसमें हलचल पैदा होती है, तब अहम्भावरूप जगत् का भ्रम उत्पन्न-सा हो जाता है, जो कि असद्रूप ही है । स्पन्दन से भी तो वायुरूपता उत्पन्न-सी हो जाती है, यद्यपि वह कुछ भिन्न नहीं है ॥१॥ श्रीरामजी, भले ही वह जगद्भ्रम उत्पन्न-सा हो जाय, परन्तु उसमें ब्रह्मरूपता का ज्ञान यदि कर लिया जाय, तो किसी तरह से भी वह खेद का कारण नहीं होता । यदि उसमें जगद्रूपता का ही ज्ञान कर लिया जाय, तो अवश्य ही वह महान् खेद का कारण होगा ॥२॥ जैसे आँख अपनी चहल-पहल से रूप का अनुभव प्राप्त करती है, वैसे ही चिति चहल-पहल से ही जगत् का भ्रम प्राप्त करती है ॥३॥

उत्पन्न होते हुए भी संसारभ्रम खेद का कारण नहीं है, यह जो कहा गया है, उसका उपपादन करते हैं ।

भद्र, जो यह चिति शक्ति है, वह तो स्वाभवतः ही सत्यरूप है, अतः वह विषयों की ओर जो झुकती है, वह व्यर्थ ही है, क्योंकि विषयों की सत्यरूपता तो है ही नहीं । ऐसी स्थिति में असत् विषयों की ओर वह झुकती है, यह कैसे हो सकता है ? क्या कहीं वन्ध्या का पुत्र नृत्य करता है ? निष्कर्ष यह निकला कि विषयों की तीनों काल में सत्ता न होने के कारण अज्ञान से ही चिति की विषयों की ओर प्रवृत्ति है, वह जब ज्ञान से बाधित हो जाती है, तब विषय खेद के कारण हो ही नहीं सकते ॥४॥ यह जो चिति का बाह्य पदार्थों की ओर प्रसरण है, वह तो अनुभव से ही सिद्ध है, विद्या से जब उसका बाध हो जाता है, तब असत्य अर्थ का पुरुष को अनुभव नहीं होता, उस समय यह अनुभव करता है कि इतने काल तक मैं व्यर्थ ही, बालक जैसे असत्य यक्ष का अनुभव कर स्थित रहता है वैसे ही, असत् अर्थ का अनुभव कर स्थित रहा ॥५॥

कथित न्याय भीतर के अहम्भाव में भी समान ही है, यह दिखलाते हुए बन्ध और मोक्ष में स्वाधीनता सिद्ध हो गई, यह कहते हैं।

भद्र, जब भीतर अहम्भाव ज्ञान होने लग जाता है, तब उससे अहम्भाव भी दुःख का ही कारण होता है और जब अहम्भाव का परिज्ञान नहीं होता तो वह दुःख का कारण नहीं होता, अतः बन्धन और मुक्ति अपने ही अधीन है ॥६॥

अब मोक्ष में स्वाधीनता का उपपादन करते हैं।

वही ध्यान और समाधि है, जो कि विद्या से मूलभूत जड़ता के हट जाने के बाद चिदात्मा के साथ एकरस हो जाने के कारण अजड़ मन, बुद्धि आदि पदार्थों की पत्थर के सदृश निश्चय वेद्यवेदन निर्मुक्त स्थिति है। सम, शान्त और निर्विकार यही स्थिति मुक्ति है ॥७॥

यही सिद्धान्त एकमात्र शान्ति का कारण है, दूसरी-दूसरी कल्पनाओं में तो केवल वादियों का कलहमात्र होने के कारण मिथ्या कण्ठशोषण ही है, इस आशय से उन वादियों को लक्ष्य कर कहते हैं।

हे पण्डितमानी वादिगण, आप मूर्खों के सदृश द्वैत, अद्वैत आदि अनेक तरह के संकल्पों से तरह-तरह के कलहरूप वचनों का विचार कर दुःख के लिए व्यर्थ के कण्ठशोषण रूप विषाद को मत प्राप्त कीजिये। परम पुरुषार्थ के हेतुभूत इसी सिद्धान्त का आप अवलम्बन कीजिए॥८॥

जिस पुरुष की वृत्ति बहिर्मुख है, वह पुरुष उस तरह असत् भी दुःख का निवारण नहीं कर सकता, जिस तरह असत् रूपादि के अनुभव का निवारण नहीं कर सकता अर्थात् उस पुरुष के लिए दुःख दुर्निवार ही है, परन्तु जिस पुरुष की अन्तर्मुख वृत्ति है, वह पुरुष तो प्रारब्ध प्राप्त दुःख का अनुभव करते हुए भी अपने आत्मानन्द में ही मस्त रहता है, अतःआत्मानन्द के अनुभव से आच्छादित हुआ दुःख भोगा जा रहा भी उसके लिए अभुक्त-सा ही रहता है, यह कहते है।

भद्र, दृढ़ वासना से युक्त पुरुष स्वप्न के सदृश असत् दुःख का उस तरह अनुभव करता है, जिस तरह संकल्प से रचित असत् रूपालोक तथा मानसिक दुःख आदि का यानी बाह्य एवं आभ्यन्तरिक पदार्थों का अनुभव करता है ॥९॥ जिस पुरुष की वासना हट गई है, वह पुरुष तो नींद ले रहे पुरुष के सदृश प्रारब्ध प्राप्त दुःख का भी अनुभव उस तरह नहीं करता, जिस तरह संकल्पशून्य रूपालोक तथा मानसिक दुःख आदि का अनुभव नहीं करता ॥१०॥

उपर्युक्त सिद्धान्त से यही झलका कि वासनाओं की वृद्धि से जैसे संसार का अनुभव होता है, वैसे ही वासनाओं के ह्रास से ही देशकाल के क्रम से मुक्ति का अनुभव सिद्ध होता है, यह कहते हैं।

अत्यन्त ह्रास को प्राप्त हुई वासना ही देश, काल और क्रिया के सम्बन्ध से मुक्ति को ऐसे प्राप्त होती है, जैसे पदार्थ में भावना पदार्थ रूपता को प्राप्त होती है ॥११॥ अत्यन्त तनुता को (क्षीणता को) प्राप्त वासना ही ऐसे मुक्तिरूप बन जाती है, जैसे आकाश में मेघ, कुहरा आदि

अत्यन्त सूक्ष्म बनकर आकाशरूप बन जाते हैं ॥१२॥

वासना के उच्छेद में कौन उपाय है ? इस प्रश्न पर कहते है ।

जैसे पण्डितों के संसर्ग से बढ़े हुए अभ्यास से मूढ़ता क्षीण होकर विद्वत्ता के रूप में परिणत हो जाती है, वैसे ही 'अहं ब्रह्मास्मि' की भावना से दिन–पर–दिन अत्यन्त क्षीणता को प्राप्त हुई वासना ही मुक्ति के रूप में परिणत हो जाती है ॥१३॥

कहाँ तक आत्मा के ज्ञान को बढ़ाना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि जब तक आत्मा का ज्ञान दृढ़ न बन जाय, तब तक, इस अभिप्राय को लेकर दृढ़ बोधका (दृढ़ आत्मज्ञान का) लक्षण कहते हैं ।

भद्र, मेरी युक्ति का अवलम्बनकर यानी 'मैं' ब्रह्मस्वरूप हूँ' इस प्रकार की दृढ़ अभ्यस्त ब्रह्मभावना का अवलम्बनकर इस संसार में जीवित या परलोकगत योगी के अन्दर 'अहंशब्दार्थ जीव नहीं है' यह जो शमात्मक निश्चय उत्पन्न होता है, वही रूढ़ बोध कहा गया है ॥१४॥ वायु में कल्पित द्रव्य और क्रिया की नाईं इस आत्मा में यह सब जगत् जीव आदि कल्पित ही है। वह सब 'मैं कौन हूँ ' यह कैसे उत्पन्न हुआ इस विचार से नष्ट हो जाता है ॥१५॥ अहंकार आदि की सत्ता का त्रैकालिक अभाव ही मोक्ष है, अतः इतने को लेकर मूढ़ता का अवलम्बन क्यों किया जाय ? इसका परिज्ञान सत्संग और अभ्यास से तत्काल ही किया जा सकता है ॥१६॥ जैसे प्रकाश से अन्धकार नष्ट हो जाता है, जैसे दिवस से रात्रि नष्ट हो जाती है, वैसे ही तत्त्वज्ञानी के सत्संग से अहम्भावरूपी बन्धन तत्काल ही नष्ट हो जाता है ॥१७॥ भद्र, मैं कौन हूँ यह प्रपंच किस तरह आया, जीव कौन है, प्राणधारणरूप जीवन का क्या स्वरूप है इन सबका तत्त्वज्ञ के संग से जीवनपर्यन्त विचार करना चाहिए ॥१८॥

वह विचार गुरुजी की सेवा करने से सफल हो जाता है, यह कहते हैं ।

श्रीरामजी, जो तत्त्वज्ञरूपी सूर्य है उसका सेवन (संग) करने से यह सारा ही जगत् ज्ञान से प्रकाशमान हो जाता है, सब पदार्थों का स्वरूप ढँक देनेवाला अहम्भावरूप अन्धकार नष्ट हो जाता है, वस्तु का असली स्वरूप एक ही क्षण में भासने लग जाता है, अतः तत्त्वज्ञरूपी सूर्य की आप सेवा (संगति) करें ॥१९॥

जब अनेक विद्वान् और अनेक तार्किक पुरुषों की मण्डली जुट जाय, तब मैं यह कैसे जान सकता हूँ कि यह विद्वान् है और यह तार्किक है ? इस पर कहते हैं ।

हे भद्र, जो–जो अपने से अधिक ज्ञानवान् हों उन–सबकी अलग–अलग संगति कीजिये । उनका संगम होने पर परस्पर विरुद्ध युक्ति का जब कथन होगा, तब उससे वादरूपी पिशाचिनी उत्पन्न होगी ॥२०॥

भले ही वादरूप पिशाचिनी उत्पन्न हो, इसमें क्या दोष है ? इस पर कहते हैं ।

जब वादरूपी यक्ष उत्पन्न होगा, तब बालक के सदृश ज्ञानी श्रोता को भी तर्कयुक्त यानी तार्किकों के द्वारा प्रतिपादित हो रहा आत्मा का स्वरूप ही मुख्य है और वही मुख्य मेरे लिए पर्याप्त है, ऐसा भ्रम हो जाता है, अन्धगोलांगूल न्याय से उसका अवलम्बन करना अनर्थ का ही कारण होगा ॥२१॥ इसलिए प्रत्येक पण्डित के पास जाकर एकान्त में बुद्धिमान् पुरुष को उसकी सेवा करनी चाहिए, प्रश्न करना चाहिए और फिर उनके द्वारा कथित अर्थों को मिलाकर अपनी बुद्धि से विचार करना चाहिए ॥२२॥ पण्डितों की उक्तियों के (वचनों के) अर्थों की अपनी बुद्धि द्वारा श्रुति, युक्ति स्वानुभव एवं अन्य विद्वानों के अनुभवों को मिलाकर बुद्धि की शुद्धि के लिए खूब बार–बार परीक्षा करनी चाहिए। अनन्तर समस्त संकल्पों से निर्मुक्त जो वस्तु प्राप्त हो जाय, उसीका अवलम्बनकर तन्मय बन जाना चाहिए ॥२३॥

इसीसे तत्त्वज्ञान का उदय और उससे अज्ञान का उच्छेद हो जाता है, यह कहते हैं।

तत्त्वज्ञानियों के सम्बन्ध से बुद्धि को अत्यन्त तीक्ष्ण बनाकर केवल उस अज्ञानरूपी लता को खूब छोटे–छोटे कणों में बना दीजिए ॥२४॥

मेरे कहे गये वचनों में आप असम्भव की शंका न करें, यह कहते हैं।

हे रामभद्र, मैंने जो कुछ अर्थ कहा है, वह सब सम्भव ही है, असम्भव नहीं, इसीलिए मैंने इस अपने अनुभूत अर्थ का आपसे वर्णन किया है। यह आप ध्यान रखिए कि हम लोग असम्बद्ध कहनेवाले बालक नहीं है ॥२५॥

जो समस्त कल्पनाओं से परे है, वही असली तत्त्व है, असली वस्तु की तन्मयता बन जाने पर सारे जगत् का व्यवहार करें, तो भी उससे ज्ञानी के लिए किसी इष्ट वस्तु की क्षति या अनिष्टवस्तु की प्राप्ति नहीं होती, यह कहते हैं।

हे राघव, जैसे आकाश में मेघ या कुहरे आदि का ढेर हो जाय अथवा जल में अनेक तरह के तरंगों का आविर्भाव हो जाय, तो भी उनसे आकाश या जल में किसी इष्ट की क्षति या अनिष्ट की प्राप्ति नहीं होती, ठीक इसी तरह सम्पूर्ण संकल्पों से निर्मुक्त हुए ज्ञानी पुरुष को सभी तरह के व्यवहारों से, न तो किसी इष्ट की क्षति होती है और न किसी अनिष्ट की प्राप्ति ही होती है ॥२६॥

आकाश एवं समुद्र स्थल में द्वैतपन रहता है, इसलिए उनमें इष्ट क्षति एवं अनिष्ट प्राप्ति की किसी तरह शंका हो भी सकती है, परन्तु विद्वान् पुरुष तो कूटस्थ अद्वय परमात्मरूप हो गया है, अतः उसमें इन भ्रमात्मक पदार्थों से इष्टक्षति एवं अनिष्ट प्राप्ति की शंका ही नहीं हो सकती, इस आशय से कहते हैं।

समस्त विकारों से शून्य एवं परिपूर्णस्वरूप आत्मा का जब विचार कर लिया यानी तत्त्वज्ञान हो गया, तब यह सारा जगत् और अहम्भाव मृगतृष्णा जल के सदृश अस्तित्व रख ही नहीं

सकता, ऐसी स्थिति में इस तत्त्वज्ञ पुरुष में मनन आदि भ्रान्ति कहाँ से आ सकती है या कहीं पर क्यों रह सकती है ? ॥२७॥

बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

तैंतीसवाँ सर्ग

संवित् की बाह्यमुखता के वारण से भ्रान्तिरूप कल्पना की प्रतिकल्पना (भ्रान्तिकल्पना के निवर्तक शास्त्रीय उपाय) और परलोक की चिकित्सा का वर्णन।

सबसे पहले प्रतिकल्पना को बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, सत्समागम से विकास को प्राप्त स्वबुद्धि रूप अपना ही पुरुषार्थ यदि पुरुष को तत्त्वज्ञान प्राप्त करा दे, तो फिर भिन्नतारूप कोई संसार का कारण रहता ही नहीं ॥१॥ ये जितने कल्पना से बने हुए तथा कल्पना के कारण अविद्या, वासना आदि अशास्त्रीय पदार्थ हैं, वे सब अपनी शास्त्रीय प्रतिकल्पना से बन्धन हेतुता छोड़कर मोक्षोपयोगी ऐसे बन जाते हैं, जैसे कि स्वभावतः मरणहेतु विषय रसायनशास्त्रों में दर्शित उपायरूप प्रतिकल्पना से विषपने को छोड़कर अमृतरूप बन जाता है ॥२॥

कब तक प्रतिकल्पना करनी चाहिए, इस पर 'समस्त कल्पनाओं की निवृत्ति जब तक न हो, तब तक' यह कहते हैं।

अतः आत्मा की मुक्तता कल्पना से शून्य है, अतः सब कल्पनाओं की निवृत्ति जब तक न हो जाय, तब तक प्रतिकल्पना करना चाहिए। यह कल्पनाशून्य मुक्तता पहले तो भोगत्याग से यानी वैराग्य और संन्यास से ही सिद्ध होती है, दूसरे किसी अन्य उपाय से नहीं। इससे वैराग्यरूप और संन्यासरूप प्राथमिक प्रतिकल्पना अत्यन्त आवश्यक है ॥३॥

अनन्तर श्रवण, मनन से आत्मतत्त्व का निश्चय कर वाणी और मन का निरोधरूप प्रतिकल्पना करनी चाहिए, यह कहते हैं।

अनन्तर वाणी और मन से शब्द और शब्दार्थों की भीतर भावना न करते हुए जो स्थित रहता है, उसकी कल्पना धीरे-धीरे शांत होती जाती है ॥४॥

अनन्तर अनहम्भावरूप प्रतिकल्पना करनी चाहिए, यह कहते हैं।

एकमात्र अहम्भाव को छोड़कर दूसरी कोई अविद्या है ही नहीं, इसलिए समस्त भावनाओं को दूर कर देनेवाले तत्त्वसाक्षात्कार से इस अहम्भाव के बाधित हो जाने पर दूसरा कोई मोक्षनामक पदार्थ प्राप्त करने लायक रहता ही नहीं यानी अहम्भाव का नाश ही मोक्ष है ॥५॥ भद्र, तत्त्वसाक्षात्कार हो जाने के बाद भी यदि आप पहले के जगत्-जीवरूप संसार में रुचि रखकर स्थूलदेह के विनाशकाल तक कुछ थोड़े-से अहम्भाव का आश्रय करेंगे, तो अपरिच्छिन्न

आत्मा के विस्मरण से संसारताप से अवश्य तपेंगे और यदि अहम्भाव का त्याग कर देंगे, तो समस्त दुःखों से छुटकारा पा जायेंगे तथा नित्य निरतिशयानंद स्वभाव से सिद्ध हो जायेंगे ॥६॥ पत्थर के सदृश अचल जिसको बहिर्मुखवृत्ति के अज्ञान से यह सब जगत् असद्रूप होता हुआ भी शान्त सत् की नाईं स्थित है, उस महात्मा को प्रणाम है ॥७॥ परब्रह्म अशेषरूप से विलीनचित्त का – पत्थर के सदृश बाहर का परिज्ञान न होने से और भीतर चितिरूपता की भावना होने से शून्यरूप संज्ञा को प्राप्त कर यह सब द्रश्य प्रपंच शान्त हो जाता है ॥८॥

सुख और दुःख के लिए विषयों की सत्ता या असत्ता उपयोगी नहीं है किन्तु विषयों का दर्शन या अदर्शन उपयोगी है, इसलिए विषयप्रकाश के लिए प्रवृत्ति करनेवाले चित्त का ही प्रथम निरोध करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

यह दृश्य रहे चाहे न रहे, परन्तु प्रकाशित दृश्य यानी दृश्यदर्शन ही दुःख की वृद्धि का कारण है। अचेतित दृश्य यानी विषय का अदर्शन तो सुखका कारण है। पर विषयों का अदर्शन चित्तक्रिया के निरोध से जब तक ब्रह्माकारता की सिद्धि न हो जाय, तब तक की प्रतिकल्पना से होता है ॥९॥

परलोक की चिकित्सा का वर्णन करने के लिए उपक्रम करते हैं।

शरीरधारियों के लिए महाभयंकर दो व्याधियाँ हैं – एक तो यह लोक और दूसरा परलोक। क्योंकि इन्हीं दोनों के कारण पीड़ित होकर मनुष्य आध्यात्मिक आदि भावों से अनेक दुःख भोगता है॥१०॥ इस लोक में अज्ञानी पुरुष क्षुधा, तृष्णा आदि व्याधियों के लिए अन्न, पान आदि भोगरूप निकृष्ट औषधियों का अवलम्बनकर जीवनपर्यन्त यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं, परन्तु परलोक में नरक आदि व्याधियों के लिए भोगों से कुछ भी चिकित्सा नहीं होती ॥११॥ जो उत्तम पुरुष हैं, वे परलोक की महाव्याधि की चिकित्सा के लिए शान्ति, सत्संगति तथा आत्मविचाररूप अमृततुल्य उपायों से प्रयत्न करते हैं ॥१२॥ जो पुरुष परलोक की चिकित्सा के लिए सावधान यानी अपथ्य भोगों के त्याग और सत्समागम आदि औषध के सेवन में सावधान रहते हैं, वे मोक्षमार्ग की महती इच्छा में अपने शमगुण की बड़ी शक्ति के कारण सर्वदा विजयी होते हैं ॥१३॥

परलोक की चिकित्सा परलोक में जाकर ही करेंगे, यहाँ पर उसकी चिन्ता करने से क्या फल ? इस पर कहते हैं।

जो पुरुष यहीं पर नरकरूप व्याधि की चिकित्सा नहीं करता, वह व्याधिग्रस्त पुरुष औषधरहित नरक आदि प्रदेश में जाकर क्या चिकित्सा करेगा ? ॥१४॥ हे अज्ञानीजनों, तुम लोग इस लोक की चिकित्सा में निरत होकर अपना जीवन क्षीण मत करो, परन्तु आत्मज्ञान के औषधों से परलोक की चिकित्सा करो ॥१५॥ आयु तो ऐसी क्षणभंगुर (एक क्षण में नष्ट हो जानेवाली) है जैसा कि वायु से कम्पित हो रहा पत्ते का छोटा टुकड़ा और जल कण । इसलिए बड़े यत्न से परलोकरूप महाव्याधि की शीघ्रातिशीघ्र चिकित्सा करने में तत्पर हो जाओ ॥१६॥

इस लोक की व्याधि की चिकित्सा के लिए दूसरे यत्न की आवश्यकता नहीं है, यह कहते हैं।

परलोकरूप व्याधि की यत्नपूर्वक तत्काल ही चिकित्सा करने पर इस लोक की व्याधि स्वयं अपने–आप ही शान्त होने लग जाती है ॥१७॥

परलोक की व्याधि के लिए यद्यपि तपश्चर्या, तीर्थाटन, यज्ञ आदि चिकित्सा बतलाई गई है, तथापि उनसे उक्त व्याधि निर्मूल नष्ट नहीं होती, किन्तु आत्मज्ञान से ही निर्मूल नष्ट होती है। आत्मज्ञान तो श्रवणादिपूर्वक समाधि के अभ्यास से यानी चिति की बहिर्मुखता के निरोध से होता है, इस आशय से आत्मज्ञान का उपाय बतलाने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

जितने जन्तु हैं, वे सब संविन्मात्ररूप (आत्मा के ही स्वरूप) हैं, इस संवित् की बहिर्मुखता ही जगत् है। यह सारा जगत् एक छोटे से परमाणु के उदर में भी सैकड़ों पर्वतों के विस्तार में विद्यमान है, क्योंकि वहाँ पर भी संवित् बैठी ही है ॥१८॥ जो आत्मचिति का बहिर्मुखता से विस्तार है, वही बाह्य विषय और भीतरी विषय (काम, संकल्प आदि) हैं। ये चिदाकाश में ही अनुभूत होते हैं, इसलिए जगत् का भ्रम कभी सत्य नहीं हो सकता ॥१९॥

जगत् का रूप मिथ्या ही है, इसलिए हजारों प्रलयों से भी वह नष्ट नहीं होता या हजारों सृष्टियों से अपना अस्तित्व भी नहीं रखता। यदि नष्ट होता है, तो आत्मा के ज्ञान से ही, इस आशय से कहते हैं।

देखे गये प्रलयों में भी जगत्–भ्रम का न विनाश ही होता है या न देखी गई सृष्टियों में उसकी उत्पत्ति ही होती है, क्योंकि उसका असलीरूप एकमात्र भ्रान्ति ही है ॥२०॥

आत्मज्ञान सम्पादन में कौन–कौन उपाय है ? इस प्रश्न पर वैराग्य ही पहला उपाय है, यह कहते हैं।

यदि पुरुष अपने पौरुषरूप चमत्कार से भोगरूप कीचड़ में फँसी हुई अपनी आत्मा का उद्धार नहीं करता, तो फिर दूसरा कोई भी उपाय उसके उद्धार का रहता ही नहीं ॥२१॥ जिसने अपने मन के ऊपर विजय पाई नहीं है, भोगरूपी कीचड़ में फँसा हुआ वह मूढ़ पुरुष आपत्तियों का ऐसे पात्र बन जाता है, जैसे जलों का समुद्र ॥२२॥ जैसे आयु की सबसे पहली सीढ़ी बाल्यावस्था दिखाई पड़ती है, वैसे ही मोक्ष की पहली सीढ़ी रागों से शान्ति देनेवाला भोग त्याग ही है ॥२३॥

'राग से शान्ति देनेवाला' यह जो विशेषण कहा गया है, उसका तात्पर्य ज्ञानी और अज्ञानी की आयुरूप नदी की विलक्षणता वर्णन से दिखलाते हैं।

जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है, उसकी आयुरूप नदी कल–कल ध्वनि करती हुई (प्रारब्ध प्राप्त अनेक प्रवृत्तिरूप तरंगों से युक्त होती हुई) भी जगत्भ्रमों से शून्य है। अतएव चित्र में चित्रित जलशून्य नदी के सदृश एकरूप एवं सौम्य (उपद्रवरहित) होकर बहती–रहती है ॥२४॥ और जो अज्ञानी हैं, उनकी आयुरूप नदियाँ तो अनेक तरह की दुःख क्रन्दनों की ध्वनियों से अत्यन्त

भयंकर रहती हैं । बाह्यवृत्तियों से उत्पन्न अनेक विक्षोभरूप कल्लोल ही उनके साथ–साथ बहनेवाले आवर्त रहते हैं ॥२५॥

अज्ञानियों को अविचार से ही सृष्टि के प्रतिभासरूप विक्षेप उत्पन्न होते हैं, यही संविति की एक बहिर्मुखता है, यह कहते हैं।

अज्ञानियों के लिए चिति की बहिर्मुखता के एक लेशमात्ररूप अनेक तरह के सर्ग ऐसे निकलते–रहते हैं, जैसे दो चन्द्रमा, बालवेताल, मृगतृष्णा के जल तथा स्वप्नमोह – ये अज्ञान से निकलते–रहते हैं ॥२६॥ भद्र, संवित्–रूपी जल के तरंग ही हजारों सृष्टियों के रूपों में भासते हैं। जब उनके विषय में विचार किया जाता है, तब वे असत्य बन जाते हैं और जब विचारित नहीं होते तब अज्ञानियों के अनुभव से सत्य भासने लग जाते हैं ॥२७॥ आत्मा की बहिर्मुखता के भ्रम से ही आकाश में भी अनेक तरह के गन्धर्वनगर आदि जगत् सत्य–से भासने लगते हैं, परन्तु विचार करने पर वे सत्य नहीं ठहरते ॥२८॥ आत्मा की बर्हिमुखतारूप जो जल है, उसी का यह जगत्भ्रम एक तरह से बुदबुद है और उसमें जो रूप है, वह अहंकार आदि सद्रूप भावविकारों के आधारों से ही आया है ॥२९॥ आत्मा की बहिर्मुखता न होना ही समस्त जगत् की निवृत्ति है और आत्मा की बहिर्मुखता ही सम्पूर्ण जगत् है। वास्तव में न कुछ भीतर है, न बाहर है, न असत्य है, न सत्य है। जो कुछ है, वह सर्वात्मक ब्रह्म ही है ॥३०॥ चिद्रूप, अज, अव्यक्त, एक, अविकार, ईश्वर, स्वत्व और भावत्व से रहित ब्रह्म ही सर्वत्र है, वह आकाश से भी अत्यन्त शान्त है ॥३१॥

आत्मा की जो बहिर्मुखता है, वह मिथ्याभूत अविद्या का ही विलास है, न कि सत्यरूप ब्रह्म के स्वभाव से उत्पन्न है, यह कहते हैं।

हे भद्र, जिसमें किसी तरह का कोई स्वभाव ही नहीं है, उस ब्रह्म में अपने को सृष्टि का जो ज्ञान होता है, उसमें पवन के स्पन्दन की नाईं, कोई कारण ही नहीं है, केवल अज्ञान ही है ॥३२॥ जैसे आत्मा में स्वप्न का अनुभव भ्रान्ति है, वैसे ही ब्रह्मरूपी समुद्र में अविद्याजनित सर्गरूपता ब्रह्म की तरंगें भी भ्रान्तिरूप ही हैं और कुछ नहीं। वस्तुतः आत्मा में न स्वप्न है एवं न सर्गरूपता ही है ॥३३॥

परमार्थदशा में ब्रह्म का स्वरूप क्या है ? इसे कहते हैं।

ब्रह्म एक ही है, उसमें न कोई आभास है, न कोई चित्तस्वरूप दूसरा धर्म है, न जड़ता है, किन्तु समता है। वह न सत् है, न असत् है, न सत्–असत् उभयरूप है। केवल इतना ही कह सकते हैं कि वह अविकार है और दूसरे से रहित है ॥३४॥

इस प्रकार के ब्रह्मरूप की प्राप्तिकर स्थित रहना ही योगियों के लिए बहिर्मुखता का अभाव और मौन (मननित्व) है, यह कहते हैं।

भद्र, जिस तरह की मैंने स्थिति बतलाई, उस तरह की स्थिति से ही स्थित रहे जिस महामति को बाह्यविषयों का अज्ञानरूप आत्मशमन उत्पन्न हो गया है, उसीको सब मनुष्यों में उत्तम मुनि

कहते हैं ॥३५॥ उसी महात्मा को उत्तम मुनि कहते हैं, मिट्टी की मूर्ति के सदृश जिसका शरीर रहते भी विषयवेदनाशून्यरूप जीवभाव के साथ जगत् नष्ट हो गया है ॥३६॥

असंकल्प ही जैसे संकल्परूप सृष्टि का निवारण है, वैसे ही अदृष्टि ही दृष्टिसृष्टि का निवारण है, यह कहते हैं।

जैसे संकल्पजनित नगर सृष्टि असंकल्प से लीन हो जाती है, वैसे ही विषयवेदन से जनित अहंकाररूप समस्त जगत्सृष्टि अवेदन से चिति में लीन हो जाती है ॥३७॥ स्वभाव को छोड़कर यानी सब जड़ वस्तुओं में अनुगत जड़तारूप मूल अविद्या को छोड़कर जितने नाम–रूपात्मक पदार्थ हैं, उन सभी के प्रति वह मूल अविद्या ही कारण है, परन्तु मूल अविद्या का जो साक्षीरूप से कारण है, उसका अनुभव करना यानी अपने में तद्रूपता का अनुसन्धान करना ही मुक्ति है ॥३८॥ परमार्थ में तो किसी पदार्थ का यहाँ कोई स्वभाव ही नहीं है, जितने ये अनुभव हैं, वे सब महाचितिरूप जल के द्रवस्वरूप हैं ॥३९॥ ये सभी अनुभव महाचितिरूपी वायु के स्पन्दन ही हैं, इसलिए वे सब अनुभव ब्रह्मरूप गगन की शून्यरूपता का ही सेवन करते हैं, यह आप जानिये ॥४०॥ भद्र, जैसे वायु और वायु के स्पन्दन में कोई भिन्नता विद्यमान नहीं है, वैसे ही ब्रह्म और ब्रह्म की सृष्टि में भी कोई भिन्नता नहीं है। अपने स्वरूप की भ्रान्ति हो जाने पर ही उनमें विभिन्नता भासती है, पर वह स्वप्न में स्वमरण के सदृश असत्यरूप है ॥४१॥

कब तक वह भ्रान्ति रहती है, इस पर कहते हैं।

जब तक तत्त्वार्थ का विचार विस्पष्ट नहीं हो जाता, तब तक ही यह भ्रान्ति रहती है और जब विचार स्पष्ट हो जाता है, तब तो यह सारी भ्रान्ति ब्रह्मरूपता को ही प्राप्त कर लेती है ॥४२॥

भ्रान्ति कैसे ब्रह्मरूपता को प्राप्त कर लेती है, इस पर कहते हैं।

भ्रान्ति तो असत्य और अवस्तुरूप ही है, अतः विचार करने पर भी खरगोश के सींग की नाईं वह प्राप्त नहीं की जा सकती। ऐसी स्थिति में अतिनिर्मल ब्रह्म ही बच जाता है। तात्पर्य यह निकला कि भ्रान्ति में जो सत्ता स्फूर्तिरूप अंश है, वही ब्रह्मरूपता को प्राप्त करता है, दूसरी चीज तो कोई है नहीं, अतः दूसरे अंश के अभिप्राय से भ्रान्ति ब्रह्मरूपता को प्राप्त करती है, यह नहीं कहा जा सकता है ॥४३॥

समस्त भ्रमों का जब बाध हो चुका, तब आखिर में बचे हुए ब्रह्मरूप को बतला रहे श्रीवसिष्ठजी श्रीरामजी को ब्रह्मरूपता की स्थिति में स्थापित करते हैं।

हे श्रीरामजी, देह के सम्बन्ध से प्राप्त हुई सभी जरा, मोह, विकार आदि भारस्वरूप भ्रान्तियों को छोड़कर आप अब उस ब्रह्माकाशरूपता को प्राप्त कर लीजिए, जो आदि, मध्य और अन्त से शून्य है, अनन्त, स्वच्छ, सम, शिव, नित्य एवं अद्वितीय ही है ॥४४॥

तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

चौंतीसवाँ सर्ग

दृष्ट पदार्थों की सृष्टि ही जगत् है, यह जगत् अदर्शन से ही नष्ट हो जाता है,
इस प्रस्तुत विषय में युक्तियों का वर्णन।

'यह अहंकारात्मक जगत् दृष्टिरूप वेदन से उत्पन्न हुआ है, अतः अदृष्टिरूप अवेदन से ब्रह्मचिति में लीन हो जाता है, यों जो पहले कहा गया था, उसमें युक्तियों को दिखलाने की इच्छा से महाराज वसिष्ठजी सबसे पहले विनाशशील दुःखादि त्रिपुटियों से अलगकर अविनाशशील आत्मा को दिखलाते हुए 'सम्पूर्ण शास्त्रों की सफलता आत्मा के दर्शन से ही है' यह कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामचन्द्रजी, सुख-दुःखों के आने पर जो नष्ट हो जाता है वही नष्ट होता है और जो नष्ट नहीं होता, वही यह अविनाशी आत्मा है, बस, इससे और अधिक शास्त्रों का उपदेश करना व्यर्थ ही है ॥१॥

जो इच्छावाला है, वह नित्य दुःखी है और न वह आत्मा ही है, किन्तु इच्छा त्याग आदि उपायों का अवलम्बनकर प्रतिकार करने योग्य संसाररूपी रोग की कोटि में प्रविष्ट कोई दूसरा ही है, इस आशय से कहते हैं।

जिस प्राणी को इच्छा आदि विद्यमान हैं, उसीको सुख आदि अवश्य होते रहते हैं। यदि सुख आदि रोगों की भलीभाँति चिकित्सा करना अभीष्ट है, तो सबसे पहले इच्छा का ही परित्याग कर देना चाहिए ॥२॥

जो अविनाशी आत्मा है, उसमें इच्छा आदि का अभिमानी और अभिमान का विषय जगत् दोनों की सम्भावना नहीं करनी चाहिए, यह कहते हैं।

अहंकार और यह जगत् दोनों तरह की भ्रान्ति परम पद परमात्मा में है ही नहीं, यह तो शान्त, निरालम्बन (आश्रयरहित), सर्वात्मक विनाशशून्य मोक्षरूप ही है ॥३॥

ऐसी स्थिति में वह 'अहम्' आदि शब्दों का विषय ही नहीं है, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, 'अहम्', ब्रह्म और जगत्' यह जो शब्दजालरूप भ्रम है, इसकी सर्वात्मक, शान्त चिदाकाश में किसने कल्पना की ? यह बड़ा भारी आश्चर्य है ॥४॥

जब शब्द की गति ही नहीं है, तब कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि की तो कथा ही क्या ? यह कहते हैं।

परमार्थ में तो, न अहम् है, न जगत् है और न ब्रह्म आदि शब्द ही हैं, क्योंकि जो शान्त अद्वितीय वस्तु है, वह तो सर्वात्मकरूप है। ऐसी स्थिति में उसमें कर्तृता और भोक्तृत्व कैसी और कहाँ से रह सकते हैं ? ॥५॥

सब कुछ का बाध करने पर उपदेश आदि का भी बाध हो ही जायेगा, इस परिस्थिति में आपत्ति यह आ जायेगी कि आत्मज्ञान का कोई उपाय ही न बच पायेगा, यह शंका यदि हो, तो भले ही हो,

इससे कुछ बिगड़ेगा नहीं, क्योंकि एक तो जिसका हमें उपदेश करना है, उस ब्रह्म का तो बाध होता ही नहीं, दूसरी बात यह है कि ब्रह्म में बाधित होनेवाले समस्त अनर्थों की अपेक्षा त्रिकालाबाधित सत्य प्रत्यगात्मरूप अतिशय है और तीसरी बात यह है कि बाधोपाय से आत्मज्ञान हो जाने के बाद उपदेश आदि की आवश्यकता ही नहीं रहती, इस आशय से कहते हैं।

उपदेश्य ब्रह्म में दूसरे अर्थों की अपेक्षा त्रिकालाबाधित्वरूप अतिशय है, इससे सबका बाध होने पर यह आत्मा सत्यस्वरूप ही किया जाता है, ऐसी स्थिति में बाध से वही तुम्हारा यह अहंरूप आत्मा विशिष्टरूप (परिशिष्टरूप) एवं सर्वातिशायी ही सिद्ध किया जाता है ॥६॥

यह ठीक है, परन्तु अदर्शनमात्र से दृश्य की शान्ति कैसे हो सकती है ? इस पर कहते हैं।

जैसे सामने ही रहनेवाले, परन्तु अन्तर्धानशक्ति से अदृष्ट बड़े-बड़े सिद्ध पुरुषों का एवं पिशाचों का व्यवहार आदि भयंकर होता हुआ भी दिखाई नहीं पड़ता अथवा जैसे एक ही शयन पर सोये हुए दो पुरुषों मे एक को स्वप्न में जोर से हुए मेघगर्जन को दूसरा पुरुष नहीं जान पाता यानी वह हम लोगों की दृष्टि से है ही नहीं, वैसे ही यहाँ पर भी जान लीजिये। अर्थात् चूँकि अपनी दृष्टि में नहीं आता, इसलिए पुरुष सामने स्थित सिद्ध व्यवहार को नहीं देख पाता, क्योंकि सभी का यह स्वभाव है कि अपनी दृष्टि में आनेवाले पदार्थ का सब अनुभव करते हैं ॥७,८॥

इससे अपनी इन बातों में क्या आया, इस प्रश्न पर कहते हैं।

ज्ञप्ति पदार्थ भी आत्मरूप ही है, अतः जो कुछ दीखता है, वह तद्रूप ही दीखता है। इससे अहंकार के सहित सम्पूर्ण जगत् परमात्मा से अभिन्न है ॥९॥ संकल्प और स्वप्न के सदृश ही ज्ञप्ति जगत् के रूप से भासती है। और वह यद्यपि अनेक अवयवोंवाली नहीं है, परन्तु जल ऊर्मियों के रूप से जैसे अनेक अवयववाला भासता है, वैसे ही अनेक अवयवोंवाली भासती है ॥१०॥ अनेकरूप-सा होकर आया हुआ एक आत्मा ही दृष्टि के अज्ञान से विवर्तरूप उदय है यानी संसार है। यह संसार स्वयं अवस्तुरूप होने के कारण तत्त्वदृष्टि से भलीभाँति देखा गया भी प्राप्त नहीं किया जा सकता ॥११॥ जैसे यह जीव अवयवरहित होता हुआ भी हाथ, पैर आदि अपने अवयवों की कल्पना कर स्वप्नमनोरथ आदि में अवयववाला हो जाता है, वैसे ही सदा से अवयवशून्य, स्वभावतः शान्त यह ब्रह्म ही जगद्रूप अवयव से अवयववाला बन जाता है ॥१२॥ यह चितिरूपी कुलाली जब स्मरण करती है, तभी जगत् को देखने लगती है और अपने भीतर लाखों की संख्या में बड़े-बड़े बर्तन धारण करने लग जाती है ॥१३॥ भद्र, चितिरूप होने के कारण यह ब्रह्म ही अपनी सत्ता से सुन्दर जगत् के रूप में ऐसे भासता है, जैसे द्रवरूप होने के कारण सागर तरंगों के रूप में भासता है॥१४॥ जिस-जिसका अपने अध्यास से प्रकाश करता है, उस उस को ब्रह्म मानों देखता है। यद्यपि ब्रह्म अरूप है, तथापि उसे अपना रूप मान बैठता है और अपने अन्दर जिसका अध्यास नहीं करता उसे नहीं देखता ॥१५॥ ब्रह्म में चेतनता और अचेनता को लेकर जो कुछ वचन प्रयोग

किया जाता है, वह तो मायाशबल होने से सर्वशक्ति सम्पन्न होने के कारण ब्रह्म के विषय में नहीं है, किन्तु स्वदेहभूत माया के ही विषय में है यानी चेतनत्व अचेनत्व मायागत ही है। वह वचन केवल उपदेश देने के लिए ही कहा जाता है, वह वस्तुतः परमार्थ विषयक नहीं है, ब्रह्म का कुछ भी स्पर्श नहीं करता है ॥१६॥ भद्र, जगत् न सत् है और न असत् है, केवल चितिशक्ति में बहिर्मुखवृत्ति के कारण भासता है। यदि बहिर्मुखवृत्ति का त्याग हो जाय, तो वह भासता ही नहीं, इसलिए हम लोगों को इन विषयों के लिए आग्रह ही क्या ? ॥१७॥

ऐसा भले ही हो, इससे हुआ क्या, इस पर कहते हैं।

आत्मा का चेतनत्व और अचेतनत्व स्वाधीन है, इसमें किसी यत्न की आवश्यकता नहीं है, जैसे अपने स्वरूप में स्थित स्फटिक पत्थर के सैकड़ों बिम्ब–प्रतिबिम्बरूप स्पन्दन और अस्पन्दन स्वाधीन है, इनमें किसी दूसरे प्रयत्न या श्रम की आवश्यकता नहीं रहती, वैसे ही आत्मा के चेतनअचेतन के विषय में भी जानना चाहिए ॥१८॥

समस्त कल्पनाओं के मूलभूत एक अहंकार की ही परीक्षा कर लेने से मिथ्यात्व का निश्चय हो जाने पर समस्त जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है, इस आशय से कहते हैं।

ठीक–ठीक देखने पर जिसकी सत्ता नहीं मिलती, जिसका आधारभूत कोई नहीं और जिसका कोई कारण नहीं है, वह 'अहम्' रूप यक्ष कहाँ से उत्पन्न हुआ, यह जाना नहीं जा सकता ॥१९॥ जिस अहंकाररूप यक्ष की वस्तुतः सत्ता ही नहीं है, उसीने इन आप सब लोगों को पराधीन बना डाला है, यह बड़ा भारी आश्चर्य है ॥२०॥ ब्रह्म में काकतालीय न्याय से अकस्मात् ही भ्रान्त यह अहंकार ऐसे भासता है, जैसे कि दृष्टि की भ्रान्ति होने पर आकाश में अपना ही रूप केशोण्ड्रक के रूप में भासता है ॥२१॥

पूर्वोक्त वचनों से जो निष्कर्ष निकला, उसे बतलाते हैं।

मैं और यह जगत् दोनों ब्रह्मरूप ही हैं, अतः इस दशा में जगत् की उत्पत्ति एवं नाश दोनों कहाँ से ? इससे हर्ष और विषाद का स्थान ही क्या और किस तरह से ? ॥२२॥

वर्णित दृष्टिसृष्टि कल्पनाओं का अनुवाद कर फलित कहते हैं।

सर्वेश्वर होने के कारण यानी माया शबल होने के कारण ही ईश में प्रचेतित (दृष्ट) हुआ यह संसार भासता है और अचेतित (दृष्टि न हुआ) नहीं भासता है। इसलिए आपको यह जगत् सदा अचेतित ही रहे ॥२३॥ बतलाई गई रीति से यह जगत् भी चिद्रूप है, अतः ब्रह्माकाश ही उस रूप से स्वप्ननगर या संकल्पनगर के सदृश अकस्मात् काकतालीय की नाईं भासता है वस्तुतः वह जगत् ब्रह्म से किस तरह अलग हो सकता है ? यदि ब्रह्म से अलग मान लिया जाय, तो सत्ता का लाभ न होने से अलीक (अत्यन्त असत्) ही हो जायेगा ॥२४॥ जैसे शान्त जल में अप्रकाश्य तरंग आदि हैं, या न खोदे गये काठ में अदृश्य कठपुतलियाँ हैं अथवा भूमि

में अदृश्य घट आदि हैं, वैसे ही ब्रह्म में यह सृष्टि का रूप है ॥२५॥ जिसका कोई आकार नहीं है, जो अवयवों से रहित है और स्वच्छ है, उसमें जो कुछ दिखाई देता है, वह तद्रूप ही होता है, इसलिए यह उत्पन्न हुआ अहंकार क्या है और ये जगत् ही क्या है ? ॥२६॥

अलग सत्ता न होने से भी वह वही है, यह कहते हैं।

जैसे पवन का स्पन्दवैचित्र्य पवनसत्ता के ही अधीन है, वैसे ही अविद्यारहित ब्रह्म के अहम् आदि और जगत् आदि उसकी सत्ता के अधीन हैं ॥२७॥ जैसे आकाश में वृक्ष, हाथी, घोड़े आदिका रूप दिखाई पड़ता है, वैसे ही अवयव एवं आकाररहित ब्रह्म में सृष्टि एवं अहंकार का रूप दिखाई पड़ता है ॥२८॥ हे श्रीरामभद्र, परब्रह्म में यह सारा जगत् वृक्षशाखा के सदृश भासता है। वट आदि वृक्षरूप कार्य एवं उसके बीज आदि कारण के सदृश जैसे लोक में सूक्ष्म अर्थों के लिए सादृश्य प्रसिद्ध हैं वैसे ही संसार और ब्रह्म का सादृश्य जानिये ॥२९॥ हे श्रीरामजी, आप भीतर से शान्त, प्रयत्नों से निर्मुक्त, उपाधि से रहित, भ्रम से शून्य होकर आकाश के समान निर्विक्षेप हो स्थित रहिये, क्योंकि वर्णित रीति से आपसे भिन्न कोई दूसरा जगत् है ही नहीं ॥३०॥ न आप हैं, न हम हैं, न जगत् हैं, न आकाश आदि हैं, किन्तु अशेषरूप से परिपूर्ण सर्वोपद्रववर्जित अपरोक्ष ब्रह्म ही स्थित है ॥३१॥

हे भद्र, चैतन्य से अतिरिक्त किसी भी अन्य स्वरूप का निरूपण न हो सकने से सभी पदार्थ जब एकरूप ही सिद्ध हुए, तब विशेष विभ्रम को छोड़कर उक्त परमार्थ सत्यस्वरूप चितिशक्ति ही मैं हूँ, ऐसी मोक्ष के लिए तत्काल ही भावना करनी चाहिए ॥३२॥ भद्र, बाह्य पदार्थों के ज्ञान को बन्धन और बाह्य पदार्थों के अज्ञान को मोक्ष जानिये। इसलिए आप भूमिका के अभ्यासरूप विद्वानों के आचरण का उल्लंघन न कर यथास्थित शान्त अवेदनरूप हो जाइये ॥३३॥

तत्त्वज्ञान की दृढ़ता होने पर जड़ अर्थ चेतनरूप ही नहीं होते, यह कहते हैं।

द्रष्टा कभी दृश्य रूप नहीं होता और चितिशक्ति चेत्यरूप नहीं होती चेत्य के अभाव से जगत्-शून्य ब्रह्म में कौन, क्या और किस प्रकार चेतित (प्रकाशित) होगा ? ॥३४॥ हे भद्र, द्रष्टा, दृश्य की दशा न रहने से जाग्रदवस्था में ही सुषुप्ति के सदृश तथा शरदाकाश के सदृश शून्य की तरह आप स्थित रहिये ॥३५॥ जैसे अज्ञान से पवन और स्पन्दन में भेदप्रतीति होती है वैसे ही अद्वितीय ब्रह्मचैतन्य में अज्ञान से भेद प्रतीत होता है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि चिति और अचिति का भेददर्शन ही सृष्टि है तथा ब्रह्मैक्यदर्शन मोक्ष है ॥३६॥ जहाँ ब्रह्मरूप वायु से चिति का स्पन्दन होता है वहीं पर सर्ग नाम पड़ जाता है अतः यहाँ जब चिति का स्पन्दन नहीं होगा, तभी वह निर्वाण कहा जायेगा ॥३७॥

द्वैतदर्शन ही सृष्टिरूप है, यह दृष्टान्तों से प्रतिपादन करते हैं।

जैसे बीज अपने भीतर पल्लव आदि स्वरूप का परिज्ञान करता है, वैसे ही महाचैतन्यरूप ब्रह्म अपने भीतर सृष्टिरूप स्वरूप का अनुभव करता है ॥३८॥

ज्ञानकाल में ही ब्रह्मभावनिष्ठा हो जाती है, इसमें भी ये ही दृष्टान्त हैं, यह कहते हैं।

जैसे पत्र आदि के ज्ञान से बीज पत्र आदिरूप से स्थित हो जाता है, वैसे ही परमचैतन्यरूप ब्रह्म सृष्टिज्ञान से सृष्टिरूप हो जाता है ॥३९॥

वृक्ष के छः भावविकार भी यहाँ दृष्टान्त हैं, यह कहते हैं।

जैसे चैतन्य के आश्रित भावविकारों के क्रमिक प्रतिभास ही सृष्टिरूप हैं, वैसे ही सभी बीज दृष्टान्त हैं, अतः बीज आदिरूप से स्थित चैतन्य के ही विकाररूप होने के कारण सृष्टियाँ तन्मय हैं ॥४०॥ हे श्रीरामजी, निर्विकार परब्रह्ममय ही यह सब जगत् है, अतः विकाररहित, आदि–अन्त शून्य निरामय चिति ही सब कुछ है, यह आप जानिये ॥४१॥ संकल्पनगर के सदृश यह द्वैत–अद्वैतात्मक जगत् केवल अपना संकल्परूप ही है, अतः अपना संकल्प जब नष्ट हो जाता है, तब यह भी नष्ट हो जाता है ॥४२॥ भद्र, शून्यता और आकाश का भेद जैसा आपने तुच्छ जाना, ब्रह्म और जगत् का भी भेद वैसा ही तुच्छरूप जानिये ॥४३॥ पूर्वसिद्ध महाचैतन्यरूप जो ब्रह्म की सत्ता है, वही अज्ञानसे 'मैं मनुष्य हूँ' इस आकार को धारण कर अहंकार के रूप से एवं जगत् के रूप से विवर्तित हो जाती है ॥४४॥ इस जगत्–रूप ब्रह्म में कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। जल तरंग के सदृश उत्पन्न हुआ भी वास्तव में उत्पन्न नहीं होता है और नष्ट हुआ भी वास्तव में वह नष्ट नहीं होता है ॥४५॥ पदार्थों के रूप से या ब्रह्मरूप से अपने स्वरूप में ब्रह्म ही स्थित है। जैसे कि अपने अवयवों में अवयवी (वृक्ष आदि), आकाश में आकाश और जल में जल स्थित रहता है ॥४६॥

चिति की वास्तविक स्थिति तो निर्विषयक ही है, यह कहते हैं।

एक निमेष के अर्धभाग से एक देश से देशान्तर की स्थिति में जो मध्य में ज्ञान की स्थिति है, उस स्वभाव की ही आप उपासना कीजिए ॥४७॥ हे श्रीरामजी, शास्त्रज्ञ विद्वान् संवित् का एकरूप तो संक्षुब्ध यानी अज्ञानियों के अनुभव से सिद्ध विवर्तवाला है, यह कहते हैं और दूसरा अक्षुब्ध यानी विवर्तरहित कूटस्थ पूर्णानन्दैकरस है, यों कहते हैं। इन दोनों रूपों में आप अपना कल्याण जिससे चाहते हों, उसमें एकनिष्ठ हो जाइये। बिना परीक्षा किये किसी का ग्रहण कर अविवेकी मत बन जाइए ॥४८॥

चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त

पैंतीसवाँ सर्ग

प्रपंचसहित तथा प्रपंचरहित ब्रह्मतत्त्व की अखण्ड एक दृष्टि के लिए सत्य और असत्य दोनों तरह के भासमान ब्रह्म के स्वरूप का विस्तारपूर्वक वर्णन।

विरोधाभासोक्तियों से संक्षुब्ध और अक्षुब्ध दो रूपों से युक्त ब्रह्म का विस्तारपूर्वक वर्णन करने की इच्छा रखनेवाले महाराज वसिष्ठजी पूर्वोक्त उपाय से परिचित अक्षुब्धरूप का उसमें

अपनी दृढ़ स्थिति बनाने के लिए पहले स्मरण कराते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, क्षणभर में ही क्रमशः एक देश से दूसरे अत्यन्त दूर देशतक प्राप्त संवित् का (ज्ञान का) दोनों देशों के बीच में जो निर्मल निर्विषयकरूप है वही परब्रह्म परमात्मा का वह सर्वोत्कृष्ट अक्षुब्धरूप है ॥१॥ हे श्रीरामजी, निरामय होने के लिए यानी निर्वाणपद की प्राप्ति के लिए चलते, सुनते, स्पर्श करते, सूँघते, जागते तथा हँसते हुए आप इसी निर्विषय नित्य चिद्रूप में अवश्य तन्मय हो जाइये ॥२॥ जीवन्मुक्तों की स्थिति तथा अपने कुल के आचार के अनुसार सब व्यवहार करते हुए उसी निराभास, सत्य तथा वासना और इच्छादि से शून्य चितिस्वरूप से सुमेरु पर्वत के समान, कदापि चलायमान न होना ही अर्थात् उसमें दृढ़ स्थित रहना ही विद्या है ॥३॥

आगे कही जानेवाली बातों में उपयोगी होने के कारण उस विद्या के विरुद्ध अविद्या का निरूपण करते हैं।

हे श्रीरामजी, अविद्या का एकमात्र यही स्वरूप है कि प्रमाणों द्वारा भलीभाँति विचारपूर्वक देखने से वह कहीं उपलब्ध न हो और विचारपूर्वक देखने से यदि उपलब्ध हो, तो फिर वह परा विद्या ही है ॥४॥ अविद्या के न रहने से चिति और चेत्य (विषय) के भेद का संभव कहाँ ? और भेद न रहने से वह चिति अपने भीतर किस को कैसे प्रकाशित करे ? इसलिए विचारकर देखने से यही प्रतीत होता है कि शान्त, विषयशून्य चिन्मात्रस्थिति ही बलात् उदित है ॥५॥

विद्या और अविद्या दोनों से मिले-जुले रहने के कारण मध्य की भूमिका में आरूढ विवेकी पुरुष की दृष्टि से नियत एक रूपवाला होते हुए भी वह ब्रह्म अनियत-विरुद्ध नाना स्वभाव से युक्त-सा स्थित रहता है, इस तरह के अनेक विरोधाभासों तथा प्रमाण, युक्ति और अनुभव आदि से सर्ग समाप्ति पर्यन्त उसका विस्तृत वर्णन करते हैं।

ब्रह्म और जगत् परमार्थतः एक ही है, परन्तु अज्ञान के कारण अनेक-सा यानी विरुद्ध रूप से स्थित भासता है एवं सर्वत्रव्याप्त, परिपूर्ण और शुद्ध होने पर भी ब्रह्म अपूर्ण और अशुद्ध-सा अज्ञान के कारण ही भासता है ॥६॥ अशून्य होने पर भी प्रलय में शून्य के समान तथा शून्य होने पर भी सृष्टि-काल में अशून्य के समान वह स्पष्ट भासता है। देश और काल से अपरिच्छिन्न होने पर भी वह परिच्छिन्न के सदृश तथा अविस्फारित (विशाल देश, काल आदि से शून्य) होने पर भी वह विस्फारित (विशाल देशकालादि) के समान सद्रूप स्थित है ॥७॥ विकारशून्य होने पर भी वह विकारी के समान, शान्त और समरूप होने पर भी वह अज्ञान के कारण अशान्त तथा असम के समान सा, सत् होने पर भी वह चक्षु आदि से देखने के अयोग्य होने के कारण असत् के सदृश एवं तद्रूप होने पर भी वही ब्रह्म अतद्-रूप-सा उदित जान पड़ता है ॥८॥ विभागशून्य होने पर भी वह भागसहित के तुल्य, जाड्यरूपता को न प्राप्त होने पर भी वह जड़ के समान, विषयों से शून्य होने

पर भी वह विषयभाव को प्राप्त हुए के समान, अंशशून्य होने पर भी वह अंशयुक्त के समान सुशोभित दीखता है ॥९॥ अहंकाररहित होने पर भी अहंकारसहित के समान, अविनाशी होने पर भी नाशवान् के सदृश, कलंकशून्य होने पर भी कलंकयुक्त के समान, विषयरहित होने पर भी विषयसहित के तुल्य वह ब्रह्म भासता है ॥१०॥ स्वप्रकाश होने पर भी सघन अन्धकारयुक्त के समान, पुरातन होने पर भी नवीन के समान, परमाणु से भी सूक्ष्म तथा अनेक जगत् को अपने उदर के भीतर धारण किये हुए वह ब्रह्म स्थित है ॥११॥ सर्वात्मक होने पर भी जिसने यज्ञ, दान, तप, चित्तशुद्धि, वैराग्य, श्रवण, मनन आदि महान् कष्टस्वरूप अपने पुरुष प्रयत्न से सम्पूर्ण दृश्यसमूह का त्याग कर दिया है तथा सांसारिक प्रपंचजाल से शून्य होने पर भी जो सांसारिक प्रपंचजाल से बँधे हुए के समान है एवं अनेक तरह से स्थित होने पर भी जो द्वितीय परिशेषशून्य है ॥१२॥ मायारहित होने पर भी जो मायारूपी किरणसमूह का निर्मल सूर्य है । जलों के स्वामी सागर की नाईं वेदनमात्रस्वरूप होने पर भी जो सम्पूर्ण वेदनों का मानों स्वामी है सर्वज्ञ है । हे श्रीरामजी, उसी को आप ब्रह्म जानिये ॥१३॥ ब्रह्माण्डात्मना जगद्रूप रत्नों का महाकोश अर्थात् अत्यन्त वजनदार होने पर भी विवेक की तराजू पर तौलने से रुई से भी अत्यन्त लघु (हलका) तथा मायारूपी किरणजाल का चन्द्रमा होने पर भी वह ब्रह्म ईक्षणगोचर (दृष्टिका विषय) नहीं है ॥१४॥ काल और देश से अनन्त तथा अपार होने पर भी कहीं एक नियत स्थानपर स्थित न रहनेवाला एवं शून्यस्थान में भी वनविन्यास तथा पर्वत आदि की रचना में तत्पर वह ब्रह्म है ॥१५॥ अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थों में वह अत्यन्त सूक्ष्म है, स्थूल पदाथों में वह सबसे अत्यन्तस्थूल है, वजनदार पदार्थों में वह सबसे बढ़कर वजनदार है तथा श्रेष्ठ जितने पदार्थ हैं उन सबमें भी वह सबसे बढ़कर श्रेष्ठ है ॥१६॥ कर्ता, कर्म और करण से रहित, कारणशून्य, कारक तथा अन्तःशून्य होने के कारण ही यह ब्रह्म चिरकाल से कर्ता आदि से परिपूर्ण स्थित है ॥१७॥ जगद्रूपी रत्नों की पिटारी होने पर भी नित्य जंगल के समान शून्य तथा अनन्त पर्वतों के तुल्य कठिन होने पर भी आकाश के लेश से भी बढ़कर कोमल वह ब्रह्म स्थित है ॥१८॥ प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक कालस्वरूप होने पर भी प्रायः सबसे रहित, पुराण होने पर भी कोमल और नूतन, स्वयंप्रकाशस्वरूप होने पर भी अन्धकार के सदृश तथा जगत् का तिरोभाव करनेवाला होने के कारण अन्धकारस्वरूप होने पर भी स्वयंप्रकाश सर्वत्र व्याप्त वह ब्रह्म स्थित है ॥१९॥ प्रत्यक्ष होने पर भी वह इन आँखों से दुर्लक्ष्य तथा परोक्ष होने पर भी वह साक्षीरूप से सामने स्थित है । चिद्रूप भी जड़ यानी जगद्-रूप से विवर्तित तथा जड़ जगत् आदि के रूप से भासित हो रहा भी वह ब्रह्म वस्तुतः शुद्ध चिन्मात्रस्वरूप ही स्थित है ॥२०॥ अनहंभाव (युष्मदर्थ का विषय) होने पर भी अहंभावरूप तथा अहंभावरूप से भासित होने पर भी वह अनहंभावरूप एवं इदमर्थ का विषय अन्यरूप होने पर भी वह आत्मरूप ही है तथा अहंरूप (आत्मरूप) होने पर भी वह ब्रह्म अन्य के समान स्थित है ॥२१॥ इस परिपूर्ण चिद्-रूप सागर के

भीतर ये त्रिभुवनरूपी तरंगें द्रवतारूप स्वभाव से स्फुरित हो रही-सी अवस्थित हैं ॥२२॥ जैसे तुषार अपने अंग में शुक्लता धारण करता है, वैसे ही यह चेतन स्थावर-जंगमात्मक सारी सृष्टि को अपने भीतर धारण करता है। जैसे तुषार से शुक्लता सुशोभित होती है, वैसे ही इस चेतन से ही यह सारी सृष्टि शोभित हो रही है ॥२३॥ देश-कालादि के अवयवों से रहित भी यह चिद्रूप देव-रात-दिन असद्रूप जगत् का ऐसे विस्तार करता-रहता है, जैसे कि जल तरंगों का ॥२४॥ इस विस्तृत आकाशरूपी जंगल में प्रसार को प्राप्त हो रहे पंचभूतरूप पत्तों के सहित ये जगद्रूपी पुरानी मंजरियाँ विकसित हो रही हैं ॥२५॥ अत्यन्त निर्मल आकारवाला चिद्रूप यह परमात्मा स्वयं अपना प्रतिबिम्ब (वर्णित जीवजगत् स्वरूप दूसरा आकार) देखने की इच्छा से दर्पणरूपता को प्राप्त हो गया है ॥२६॥ अपरिच्छिन्न ब्रह्मसंवित् में आकाशरूपी गूलर के वृक्ष के फल के सदृश इस ब्रह्माण्ड के अपनी इच्छा से कल्पित तीनों लोक के अवयव में देदीप्यमान सूर्य-चन्द्र आदि अपने से उदित हो रहे चक्षु आदि इन्द्रिय तथा किरणजाल को जीवभूत आत्मा के रूपादिदर्शन में उपकरण बनकर चमत्कृत करते हैं ॥२७॥ वह परमात्मा ही भीतर स्थित वासनामय प्रपंच से बाहर स्थित जगत्स्वरूप से, जाग्रत्-स्वप्न में नानारूप से और सुषुप्ति में एकरूप से भाव और अभाव की यानी आविर्भाव और तिरोभाव की भावना करके स्वयं अपनी आत्मा में ही बाहर और भीतर भासता है, इससे भिन्न अणुमात्र भी दूसरा कुछ नहीं भासता ॥२८॥

अब इसीका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

इस चितिरूप आत्मा में इस चिति की ही इच्छा से चितिरूप पदार्थों की शोभा अपने ही लिए ऐसे चमत्कार कर रही है, जैसे जीभ अपने मुखरूप कोटर में ॥२९॥ इस चितिरूपी जल का जो द्रवत्व है वही यह जगत् है, जिस जगत् के संवित् से ही स्वादपूर्वक उपलब्ध हो रहे रूप, रस आदि एक अंग हैं तथा भुवनरूप आवर्त की जिसमें अनेक वृत्तियाँ हैं ॥३०॥ सूर्य, चन्द्र, अग्निकण आदि सभी प्रकाशों की रूपादि पदार्थशोभा इसी चितिरूपी सूर्य में सुषुप्ति और प्रलय में शान्त हो जाती है तथा जाग्रत् और स्वप्न में, सूर्य आदि के तेज से अपने प्रभामण्डल की नाईं, इसीसे उदित होती है ॥३१॥ तुषार में शुक्लता की नाईं यह ब्रह्म ही सम्पूर्ण जगत् है। अतः इसी चितिरूपी ब्रह्म से ये समस्त पदार्थों की शोभाएँ, चन्द्रमा से किरणों की नाईं, प्रवृत्त होती है - विस्तार को प्राप्त होती हैं ॥३२॥ इसी निरवयव चितिरूप रंग से चित्रित यह सम्पूर्ण जगत्स्वरूप चित्र स्थित है। इसलिए हे श्रीरामजी, इस जगत् को आप जन्मादि भावविकारों तथा स्वगत विचित्रताओं से शून्य एवं शान्त चिन्मय ही जानिये ॥३३॥

इसी चितिरूप जंगलीवृक्ष से आकाशरूप आँगन में उत्पन्न लता अनेक जगज्जालरूपी गुच्छों से सुशोभित ये सब दृश्यप्रपंचरूपी शाखाएँ प्रसृत हो रही हैं ॥३४॥ इसी चितिरूपी अचल पर्वत के ऊपर वृद्धि तथा ह्रास से युक्त एवं नाना प्रकार के भिन्नतारूपी अनन्त फूलों से सुशोभित

दृश्यरूपी नदी बह रही है । हे श्रीरामजी, आप इसमें तनिक भी सन्देह न कीजिये ॥३५॥ इसी चिदाकाशरूपी रंगभूमि में भुवन की रचनारूप अभिनय के भ्रमों से युक्त निरन्तर कार्यारम्भ कर रही नियतिरूपी नर्तकी कल्पभेदरूप वासनाओं तथा नित्य महोत्सव के दिनों से नृत्य कर रही है ॥३६॥ जिसके नेत्रों के उन्मेष और निमेष में अनेक ब्रह्माण्डों के महाप्रलय और अवान्तर प्रलय हुआ करते हैं ऐसे कालरूपी अपने बालक को ब्रह्मरूपी रंगभूमि के मायामण्डप के भीतर यही नियतिरूपी नर्तकी बार–बार उपसंहार तथा पुनः–पुनः उत्पन्न कर नाच रही है ॥३७॥ उत्पन्न हो रहे अनेक ब्रह्माण्डों के रहते हुए भी यह चिद्–रूपी परमात्मा इच्छादि विकारों से शून्य शान्त ही ऐसे स्थित रहता है, जैसे सैकड़ों प्रतिबिम्बों के उदित होते हुए भी दर्पण ॥३८॥ जैसे भौतिक सृष्टियों के कारण पंचभूत हैं, वैसे ही स्वयं कारणशून्य यह चिद्–रूप परमात्मा भूत,भविष्य एवं वर्तमान सृष्टियों का कारण है ॥३९॥ इस परब्रह्म परमात्मा का उन्मेष ही जगत् का सौन्दर्य है तथा निमेष ही प्रलय का आगम है । हे श्रीरामजी, सच पूछिये तो, जिसके उन्मेष और निमेष वस्तुतः एक–से हैं वह परब्रह्म परमात्मा अपने स्वरूप में ही अवस्थित रहता है ॥४०॥ परिणामतः महान होते हुए भी जो काल, देश और वैभव आदि से भी महान् हैं उन अनेक महामहाब्रह्माण्डों के तथा उनके भीतर अनेक तरह के पदार्थों की सृष्टि, स्थिति और प्रलय एवं उनके भीतर प्राणियों के जन्म बाल्य, यौवन आदि अवस्थाएँ, जाग्रतादि दशाएँ तथा उत्कर्ष और अपकर्ष की दशाएँ–ये सबके सब इस चिदाकाश में उदित होते–रहते हैं । वे सभी अपरिच्छिन्नस्वरूप इस चिदाकाश के ही रूप हैं, जैसे कि वायु के सभी स्पन्दन वायुरूप ही है, वायु से भिन्न किसी दूसरी वस्तु के स्वरूप नहीं हैं । हे श्रीरामजी, ऐसे समझकर आप शान्त स्थित रहिये ॥४१॥

पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

छत्तीसवाँ सर्ग

इच्छारहित तुच्छ पुरुष का भोग बन्धन के लिए नहीं होता,
एकमात्र इच्छा ही बन्धन है तथा इसका त्याग मुक्ति है, इन सबका वर्णन ।

इस संसार में जितने पदार्थ हैं वे सभी एक दूसरे से विरुद्ध और अनेक रूपवाले हैं, परन्तु अविरुद्ध और एकरूप से भासित होते हैं । इनमें इनका प्रथम रूप तो राग–द्वेष आदि के उदय से दुःख का हेतु होने के कारण अनर्थरूप है । परन्तु द्वितीय रूप राग–द्वेष आदि के उपशम द्वारा मोक्ष में अत्यंत उपयोगी है, यह दिखलाते हैं ।

सांसारिक जितने पदार्थ हैं, वे सबके सब, जल में आवर्त की नाईं, भिन्न–भिन्न स्वरूप के होकर पहले चमत्कार पैदा करते हैं यानी इच्छाओं के उत्पादन द्वारा चित्त को भ्रम में डाल देते है । उसके बाद वे राग–द्वेष आदि की उत्पत्ति होने से नरक आदि के रूप में पर्यवसित हो जाते हैं । जैसे

सभी तरंग एकमात्र जलस्वरूप हैं, वैसे ही सम्पूर्ण पदार्थ वस्तुतः एक स्वभाव के हैं और एकरूप के होते हुए ये न तो किसी तरह का भ्रम पैदा करते हैं और न किसी तरह का अनर्थ ही पैदा करते हैं ॥१॥

उसका वह अविरुद्ध रूप क्या है, जिस रूप से वे एक स्वभाव के होते हैं, यह दिखलाते हैं।

इस सम्पूर्ण विश्व की सत्तामात्ररूप परमाकाशता ही उनका रूप है। और वह सम्पूर्ण विषयरूप ज्ञेय पदार्थों से निचोड़कर जो सन्मात्र ज्ञेय वस्तु रहती है उसी रूप की है। यही कारण है कि वह परम समाधिरूपी उपशम से ही लक्षित होती है ॥२॥

प्रसिद्ध आकाश में बालबुद्धिवेद्य यक्ष, पिशाच आदि का भीषणरूप तथा बुद्धिमान् पुरुषों की बुद्धि से वेद्य शुद्ध रूप दृष्टान्तरूप से प्रसिद्ध ही है यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, बालक के चिंतन से कल्पित यक्ष, पिशाच आदि का रूप जैसे सामने आकाश में प्रौढ़ विद्वान् की दृष्टि में कुछ भी नहीं है वैसे ही मुझ विद्वान् की दृष्टि में तत्त्वतः यह सारा विश्व कुछ भी नहीं है। परन्तु यही संसार अज्ञानियों की दृष्टि में सत्य प्रतीत होता है ॥३॥ पत्थर में खुदी गई चित्रगत सेना की नाईं यह सारा विश्व बाह्य आन्तर विषय से रहित है। अतः विद्वानों की दृष्टि से यहाँ विश्वता कैसी ? परन्तु अज्ञानियों की दृष्टि से तो यहाँ रूपालोक, मनन आदि सब कुछ भासते ही हैं ॥४॥

रूपालोक और मनन आदि का यानी बाह्य और आभ्यन्तर सबका तत्त्वतः विचार करने पर जब चिन्मात्र से अतिरिक्त रूप ही दुर्लभ है तब इनसे विश्वता की सिद्धि तो बहुत दूर ही है, यह कहते हैं।

विचार कर देखने से रूपालोक और मनस्कार अर्थात् बाह्य एवं आभ्यन्तर सब पदार्थों का सार चिन्मात्र ही है। क्योंकि चिन्मात्र से अतिरिक्त, द्वितीय आकाश की नाईं, वह उपलब्ध नहीं होता। इसलिए यहाँ विश्वता (संसारता) ही कहाँ ? ॥५॥ इसलिए ज्ञाता पुरुष का जगत् को जगद्रूप से जानना ही जगत् की भ्रान्ति है तथा जगत् को जगद्रूप से न जानना ही सारे भ्रमों की शान्ति है। अतः हे श्रीरामजी, स्मृति और विस्मृति जैसे आपके अधीन है, वैसे ही इस संसार को जानना और न जानना भी आपके अधीन है ॥६॥

यह जो ऊपर कहा गया है, इसको विशदरूप से कहते हैं।

विस्तृत आकारवाले चिदाकाश के परमाकाशरूप होने से उसके स्वभाव में किसी तरह का कोई परिवर्तन कहीं पर भी संभव नहीं है। इसमें कारण यह है कि चिति कदापि जड़ नहीं हो सकती और न आकाश ही मूर्तिमान् हो सकता है ॥७॥

चूँकि यह जगत् ब्रह्मसाक्षात्कार से बाध्य है, इसलिए भी यह ब्रह्म का विकार नहीं हो सकता, यह कहते हैं।

चिन्मय इस विश्व की स्वभावविकारिता कुछ भी नहीं है, क्योंकि जो विकारिता विचारदृष्टि से

देखने पर भी दिखाई नहीं पड़ती, वह इसकी क्या हो सकती है ? ॥८॥

जिस न्याय से अभिमन्तव्य के विकार का निरास किया गया है, उसी न्याय से अभिमन्ता के विकार का भी निरास करना चाहिए, यह कहते हैं।

जो कुछ 'तुम, मैं' इत्यादिरूप यह संसार दिखाई दे रहा है, वह सब सद्रूप चिदाकाश ही है। इस चिदात्मा में अहंकार आदि विकार और बाध कुछ भी नहीं है, इसलिए चिति से व्यतिरिक्त कोई पदार्थ कहीं उपलब्ध नहीं हो सकता ॥९॥ त्वत्ता और अहन्तादि सब विभ्रम शान्त, शिव तथा शुद्ध ब्रह्मरूप ही हैं अतः आकाश में उत्पन्न जंगल की तरह उन्हें मैं कुछ भी नहीं देखता ॥१०॥ हे श्रीरामजी, इस तरह जो मेरा उपदेश वचन है उसे भी आप संविदाकाशरूप शून्य ही समझिये, क्योंकि यह मेरा वचन आपकी संविदाकाशरूप आत्मा में ही स्वयं स्थित रहता है, जड़स्वरूप में नहीं ॥११॥ इस तरह प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता–इन तीनों के चिन्मात्ररूप सिद्ध होने पर, चित्र, में स्थित पुरुष के तथा पाषाण के भीतर खुदे गये पुरुष के आसन की तरह, इच्छा और विषय आदि के अभाव से इच्छा के उदय के बिना जो अवस्थान है उसी को ब्रह्मरूप परमपद कहते हैं ॥१२॥

इच्छा के अभाव में भी जीवन के हेतुभूत व्यवहार की सिद्धि बतलाते हैं।

वही विश्रान्तचित्त जीवन्मुक्त मुनि है, जिसकी चेष्टा प्रारब्ध प्राप्त कर्मों में इच्छाशून्य तथा बिना व्याकुलता के, कठपुतली के समान होती रहती है ॥१३॥

इस तरह के व्यवहार से जीवन–धारण कर रहे ज्ञानी पुरुष को जगत् की प्रतीति कैसे होती है, यह कहते हैं।

जीवन्मुक्त ज्ञानी को बाहर और भीतर से शून्य, रसहीन, वासनारहित; बाँस की नली के सदृश, इस जगत् का जीवन भासता है ॥१४॥ जिसे यह दृश्यप्रपंच नहीं रुचता और चिन्मात्र अदृश्य ब्रह्म ही अपने हृदय के भीतर रुचता है वह बाह्य और आभ्यन्तर से शान्तमुनि संसार सागर से मानों पार हो गया ॥१५॥ प्रस्तुत प्रारब्धशेषक्षय के अनुपयोगी शब्दों के उच्चारण से रहित, व्यवहारों में तथा उन व्यवहारों के अंगभूत देहादि में अहन्ता, ममता के सम्बन्ध से रहित, माधुर्यरस से परिपूर्ण, बाँसुरी की ध्वनि के समान, वासनात्यागपूर्वक आप लोग वाणी से शब्दों का उच्चारण करते रहें ॥१६॥ नट, भट, वेश्या आदिकों के निवासगृह के समान इच्छारहित, मन के उदय से शून्य, वासनारहित तथा अक्षुब्ध हो आप लोग प्रारब्धप्राप्त स्रक्, चन्दन, वनिता आदि स्पर्शनीय विषयों का स्पर्श करते चलें ॥१७॥ इच्छा, भय और एषणाओं से शून्य तथा राग और अभिलाषाओं से रहित हो आप लोग दर्वी (कलछी) के तुल्य अनेक तरह के प्रारब्ध प्राप्त रसों का आस्वाद लेते रहे ॥१८॥ पुनः हे श्रोताओं, आप लोग इच्छारहित, वासनाओं से शून्य तथा अभिमान से रहित हो, वासनाशून्य चित्रगत नेत्र के सदृश, प्राप्त रूपसमूहों का अवलोकन करते रहें ॥१९॥ इच्छा और वासनाओं से रहित होकर घ्राणेन्द्रिय के नजदीक ले जाकर गन्धप्रचुर पुष्पों को, वनवायु के

सदृश, त्याग के लिए सूँघते रहें ॥२०॥ इस रीति से न कहे गये भी कर्मेन्द्रियों से प्राप्त विषयों में पहले की नाईं निःसाररूप से मन को बोधित करके भोगरूपी रोगों की यदि चिकित्सा न की गई, तो फिर दुःख-निवृत्ति की कथा ही क्या है ? बल्कि अनर्थ परम्परा की उत्पत्ति होती ही रहेगी ॥२१॥ जो मनुष्य भोगरूपी विष का आस्वाद लेते हुए प्रसन्नता को प्रतिदिन प्राप्त होता है वह प्रज्वलित हो रही अग्नि में अपनी मूर्तिरूपी तृणपुंज को निरन्तर फेंकता रहता है ॥२२॥

अतः भोगेच्छा का त्याग ही मन की शान्ति में मुख्य हेतु है, यह कहते हैं।

भोगों की इच्छा के त्याग को ही आगमालंकारों ने (वेदान्तवेत्ताओं ने) समाधि कही है। इच्छा के त्याग से जैसा मन शान्त होता है वैसा सैकड़ों उपदेशों से भी शान्त नहीं होता ॥२३॥ इच्छा के उदय से जैसा दुःख होता है वैसा दुःख नरक में भी प्राणी को नहीं होता और इच्छा की शान्ति से जैसा सुख मिलता है वैसा ब्रह्मलोक में भी अनुभूत नहीं होता। (📖) ॥२४॥ इच्छामात्र को दुःखदायक चित्त कहते हैं और इच्छा की शान्ति ही मोक्ष कहलाता है। एकमात्र इसी में सकल शास्त्र, तप, नियम और यम पर्यवसित हैं ॥२५॥ जितनी-जितनी और जैसे-जैसे जन्तु को इच्छा उदित होती है, उतनी ही उतनी दुःखों की बीजमुष्टि बढ़ती जाती है ॥२६॥ जैसे-जैसे विवेकज्ञान द्वारा जन्तु की इच्छा सूक्ष्म होती-जाती है, वैसे-वैसे दुःखों की चिन्तारूप विषूचिका (हैजा) भी शान्त होती जाती है ॥२७॥ और जैसे-जैसे मनुष्य की भोगों में इच्छा रागतः सघन बनती-जाती है वैसे-वैसे दुःखों की चिन्तारूपी विषैली तरंगें बढ़ती ही जाती हैं ॥२८॥

उसकी चिकित्सा के लिए धैर्यरूपी पुरुष प्रयत्न ही एकमात्र औषध है और दूसरा कुछ नहीं, यह कहते हैं।

यदि अपने पौरुष प्रयत्नरूपी ओषध से धैर्यपूर्वक इच्छारूपी व्याधि की चिकित्सा न की जा सकती, तो यह मैं अच्छी तरह समझता हूँ कि व्याधि से छुटकारा पाने के लिए दूसरा कोई भी उत्तम औषध इस संसार में विद्यमान नहीं है ॥२९॥ यदि एक ही काल में सभी इच्छाओं का पूर्णरूप से त्याग न किया जा सके, तो फिर थोड़ा-थोड़ा करके उसका धीरे-धीरे त्याग करना चाहिए, क्योंकि सन्मार्ग का पथिक कभी दुःख नहीं पाता ॥३०॥ जो नराधम, अपनी भोगों की इच्छा को सूक्ष्म बनाने में यत्न नहीं करता, वह प्रतिदिन मानों अपनी आत्मा को अन्धकूप में फेंकता है ॥३१॥

भोग की इच्छा का आत्यन्तिक नाश तो ज्ञान द्वारा उसके मूल का नाश होने से ही हो सकता है, यह कहते हैं।

दुःखरूपी पुष्प और फूल आदि से सुशोभित संसाररूपी लता का बीज इच्छा ही है। वह आत्मज्ञानरूपी अग्नि से भलीभाँति दग्ध हो जाने पर फिर नहीं अंकुरित होती ॥३२॥ इच्छामात्र ही

(📖) सुनिये, इस विषय में ययाति ने क्या कहा है :

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्। तृष्णाक्षयस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

यह संसार है और इच्छा का अवेदन असत्त्वापादन यानी अभाव ही निर्वाण है। इसलिए भोगों की इच्छा उत्पन्न न हो, इसमें आप लोग यत्न करें और दूसरे नानाविध यत्नों से क्या ? मतलब इधर–उधर भटकते–फिरना बेकार है ॥३३॥

इच्छा की शान्ति में यत्न न होने पर शास्त्रादि के उपदेश भी सब व्यर्थ ही है, यह कहते हैं।

यदि आपकी इच्छा की शान्ति नहीं हुई है, तो फिर शास्त्रों के उपदेश और गुरुओं की प्रतीक्षा निरर्थक क्यों कर रहे हैं ? इच्छा के अभावरूप चित्त को शान्त करने के उपाय का आश्रय आप लोग क्यों नहीं कर रहे हैं ? ॥३४॥ जिसको अपने विवेक से सिर्फ इच्छा का अनुसन्धान न करना दुःसाध्य हो रहा है, उसके लिए गुरुओं के उपदेश तथा शास्त्र आदि सब निरर्थक है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥३५॥ जैसे व्याघ्र आदि से भरे जंगल में हरिणी की मृत्यु निश्चित है वैसे ही नानाविध दुःखों का विस्तार करनेवाली इच्छारूपी विषके विकार से युक्त इस संसार में मनुष्यों की मृत्यु बिलकुल निश्चित है ॥३६॥ यदि इच्छा से यह मनुष्य लड़कों–जैसा चंचल न बना दिया जाय, तो उसे आत्मज्ञान के लिए बहुत थोड़ा ही प्रयत्न करना पड़ता है। इसलिए आप लोग भलीभाँति इच्छा की उपशान्ति ही कर डालें, उसी से वह परमपद ज्ञान प्राप्त होता है ॥३७॥ इच्छा का न होना ही निर्वाण है और इच्छासहित रहना ही मनुष्य के लिए बन्धन है, इसलिए यथाशक्ति इच्छा के ऊपर आप लोग विजय प्राप्त करें। सिर्फ इतना करने में कौन–सी कठिनाई है ? ॥३८॥ जरा, मरण, जन्मादिरूप करंज और खैर की पंक्तियों का बीज इच्छा ही है। उसको अपने भीतर अभ्यस्त शमरूपी अग्नि से आप लोग जला डालें ॥३९॥ जहाँ–जहाँ इच्छा का अभाव है वहाँ–वहाँ मुक्ति है ही। जब तक विवेक वैराग्य आदि उपायों की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक अपने में जितना धैर्य और बल हो, उसके अनुसार उठी हुई इच्छा का नाश करते चलें ॥४०॥ जहाँ–जहाँ इच्छा है वहाँ–वहाँ पुण्य–पापमय दुःखों की राशि तथा निरन्तर फैल रहे करुण क्रन्दन से युक्त बन्धन के पाश हैं ही ॥४१॥ यदि साधु पुरुष का एक क्षण भी भोगों की इच्छा के अभाव के बिना बीत गया, तो चोरों से जिसका सर्वस्व अपहृत हो गया है ऐसे मनुष्य के समान, उसे चिरकालतक रोते रहना ठीक ही है ॥४२॥ जैसे–जैसे इस पुरुष, की इच्छा शान्त होती–जाती है, वैसे–वैसे मोक्ष के लिए कल्याणदायक साधन चतुष्टय उसका बढ़ता ही जाता है ॥४३॥। विवेकशून्य आत्मा की इच्छा को भलीभाँति भोगों के द्वारा जो पूरण करना है वही संसाररूपी विषैले वृक्ष को सींचना है ॥४४॥ हृदयरूपी वृक्ष से यानी आश्रयभूत लकड़ी से उत्पन्न तीक्ष्ण अग्रभागवाली इच्छारूप दुष्कृत अग्नि की शिखाएँ हृदय के अन्दर स्थित चिदाभासस्वरूप जीवरूप पशु को, उनके आश्रयभूत हृदय में किये गये पुण्य–पाप से अर्थात् उनके आश्रय में किये गये दोषअपराध से ही उत्पन्न मानों वैर के कारण, मोहरूपी धुएँ से अन्धा बनाकर तथा स्नेहपाशों से खूब बाँधकर नीचे पटक करके उसके सुख–

दुःखों के कुत्सित बीजों के पात्रभूत अण्डकोशों को चारों ओर से बैंगन की तरह खूब पकाती हैं। पकाते समय उससे छांय-छांय शब्द निकलता है ॥४५॥

छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

सैंतीसवाँ सर्ग

भोगों की इच्छा जिससे उत्पन्न ही न हो या उत्पन्न होने पर वह केवल ब्रह्मरूप ही समझी जाय, उस ज्ञानयोग का युक्तियों से वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, इच्छारूपी विष का विकार दूर करनेवाले स्पष्टरूप से पहले वर्णित हुए भी योगनामक उपाय को इच्छामूलक सम्पूर्ण अनर्थों की शान्ति के लिए आप फिर सुनिये ॥१॥ हे श्रीरामजी, यदि आत्मा से भिन्न कोई पदार्थ यहाँ हो, तो आप उसकी बेरोक-टोक इच्छा कीजिये *(उसके लिए हम आपको कुछ नहीं कहते परन्तु आत्मा से भिन्न जब किसी दूसरे पदार्थ की सत्ता ही नहीं है, तो भला बतलाइये तो सही)* आप अपनी इस आत्मा से भिन्न किसकी इच्छा कर रहे हैं ? कहने का तात्पर्य यह कि जब तक आत्मतत्त्व का भलीभाँति ज्ञान नहीं हो जाता, तभी तक द्वितीय वस्तु में सत्यता की भ्रान्ति से इच्छा का उदय होता है, इसलिए हे श्रीरामजी आत्मज्ञानयोग ही उसकी निवृत्ति में एकमात्र उपाय है।

यह जगत् सत्य ब्रह्मरूप ही है, मिथ्या नहीं है, यदि ज्ञान से आप ऐसा मानते हों, तो भी ब्रह्म और जगत् इन दोनों में अत्यन्त अभेद होने से त्रिपुटीघटित इच्छा की कभी सिद्धि नहीं हो सकती, यह कहते हैं।

त्रिपुटी के विभाजक उपाधियों के भेद तथा विभक्त होनेवाले अवयवों के भेद से रहित, सूक्ष्म और आकाश से भी अत्यन्त शून्यरूप जो चिति है, सत्यस्वरूप वही अहमाकार तथा जगदाकार से स्थित है। तो फिर आप उससे भिन्न किसकी इच्छा कर रहे हैं ॥३॥ वह चिति आकाशरूप है। आकाश ही आकाशरूप विषय और उसका ज्ञाता है। यह जगत् का आभास भी आकाशरूप ही है, तब भला इसमें इच्छा का विषय ही कौन है ?॥४॥

ज्ञान से विषयों के गृहीत न होने पर इच्छा का उदय न होने के कारण, ग्राह्य और ग्राहक के सम्बन्ध के अभाव में ग्रहण की भी सिद्धि न हो सकने से ज्ञानियों को इच्छा होती ही नहीं, यह कहते हैं।

अज्ञानियों की दृष्टि में प्रसिद्ध ग्राह्य और ग्राहक का सम्बन्ध प्रशान्तचित्त हम लोगों की दृष्टि में किसी भी निमित्त या प्रमाण से विद्यमान नहीं है। इसलिए भी हे श्री रामजी, बतलाइये आप किसकी इच्छा कर रहे हैं ? जिन अज्ञानियों की दृष्टि में वह है, उन्हें भी मैं आत्मा से अलग नहीं जानता, तात्पर्य यह कि सत्त्वदृष्टि से वे भी अत्यन्त अप्रसिद्ध हैं ॥५॥ यदि किसी तरह ग्राह्य-

ग्राहक सम्बन्ध को स्वनिष्ठ (आत्मनिष्ठ) भी मान लिया जाय, तो भी वह उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि असत् का लाभ कैसे हो ? आज तक किसने चन्द्रमा को काले वर्ण का देखा है ? ॥६॥ तात्त्विक आत्मा में जो अविश्रान्ति है यानी आत्मा में परायण न होना है, बस यही एकमात्र ग्राह्य–ग्राहक आदि त्रिपुटियों की सत्ता है। अशास्त्रीय दृष्टि की अपेक्षा से वे ग्राह्य–ग्राहक अदि सत्य होते हुए भी शास्त्रीय तत्त्वदृष्टि का उदय होने पर न जाने कहाँ चले जाते है ॥७॥ और तत्त्वज्ञान का भी यही स्वभाव है कि असत्यरूप अहन्ता आदि अपना तत्त्व जानकर उस आत्मा में ही चले जाते हैं – लीन हो जाते हैं। द्रष्टा और दृश्य का वह सम्पूर्ण नाश ही विशिष्ट निर्वाण है॥८॥

दृश्यादि और निर्वाण – इन दोनों का परस्पर असहभाव भी स्वभावतः ही है, यह कहते हैं।

निर्वाण में दृश्य आदि नहीं हैं और दृश्य आदि में निर्वाण नहीं है। छाया और धूप की नाईं इन दोनों का परस्पर अनुभव यानी सहानुभव नहीं है॥९॥

क्यों सहानुभव भी नहीं है ? इस पर कहते हैं।

यदि ये दोनों साथ होते, तो परस्पर द्वारा बाधित हो जाने से दोनों असत्य हो जाते। असत्य में निर्वृति नहीं है, क्योंकि विद्वानों को निर्वाण अजर, अमर तथा दुःखशून्य अनुभूत होता है॥१०॥

तब तो सर्वजनप्रसिद्ध दृश्यादि महाकौतुक निर्वाण में दुर्लभ ही होगा, इसका परिहार करते हुए कहते हैं।

दृश्य आदि भ्रमभूत है एवं यहाँ वह कभी सुखप्रद नहीं है। इसलिए हे श्रीरामजी, असत् और अनर्थरूप दृश्यादि की आप भावना न कीजिये, अब निर्वाण में स्थित रहिये ॥११॥ शुक्तिका में चाँदी के समान, विचारकर देखने से जो कुछ उपलब्ध नहीं होता, वह पुरुषार्थ का सम्पादक कभी नहीं है। इस तरह के दृश्य में अपह्नव से क्या हुआ ॥१२॥ दृश्य के सद्भाव में महादुःख है और असद्भाव में महान् सुख है। निदिध्यासन से मननसहित अभाव शब्दज्ञानकृत बाध दृढ़ता को प्राप्त हो जाता है ॥१३॥

अब परम कारुणिक भगवान् वसिष्ठजी दृश्य कौतुक में आसक्त अधम अधिकारियों की, जो श्रोता हैं, बलात् भर्त्सना कर उनकी दृश्यासक्ति का त्याग कराने की इच्छा से कहते हैं।

हे अधम प्राणियों, सम्पूर्ण विकारों की अनाश्रयरूप परमार्थ वस्तु के स्वप्रकाशस्वरूप होने के कारण शास्त्रों एवं आचार्यों के उपदेश से हाथ में स्थित आमलक के समान स्पष्ट स्फुरित रहते उसका अदर्शन क्यों पाते हो, दर्शन क्यों नहीं करते ? क्या अपनी आत्मा को बन्धन में डालने के लिए ही उस दृश्यसमूह को भस्मीभूत नहीं करते ? ॥१४॥ जब कार्यकारणभावादि सब ब्रह्म ही है, तभी तो देहादिपरिच्छिन्न पदार्थों के बाध से विस्तार को प्राप्त चिन्मात्रात्मक प्रत्यगात्मा में ब्रह्मता सिद्ध होती है ॥१५॥ अतएव आकाशस्वरूप सर्वात्मक परिपूर्ण ब्रह्म में कार्य–कारण आदि दृश्य सत्ता को स्वीकार कर जो लोग ब्रह्मज्ञान के लिए अनेक साधन ढूँढ़ते–फिरते हैं उन तार्किक मृगों या

शिष्य मृगों से हमें कोई प्रयोजन नहीं है ॥१६॥ तथा कार्यकारण से परिपूर्ण उक्तियों में ही सर्वस्वभावस्वरूप अविद्या के सिवा और दूसरा क्या हेतु है ? जो वायु के स्पन्दन में हेतु है तथा जो हेतु जल के स्पन्दन में तथा आकाश की शून्यता में है वही हेतु, हे सौम्य, चिदात्मा के सृष्टि आदिरूप होने में है ॥१७॥

यही कारण है कि विद्वान् महानुभावों को, आगे चलकर उसका बाध हो जाने से, सृष्टि आदि के हेतु के निरूपण में निर्लज्ज बनना पड़ता है, यह कहते हैं।

जब कार्यकारण भावादिरूप सब ब्रह्म ही है, तो फिर ब्रह्म में सृष्टियों की कारणता का प्रतिपादन करना निर्लज्जता है ॥१८॥ न तो दुःख है और न सुख है, किन्तु शान्त शिवमय यह जगत् है। जब चिन्मात्रता से भिन्न कुछ है ही नहीं, तब भला इच्छा का उदय कहाँ से ? ॥१९॥ जैसे मिट्टी की देहवाली योद्धाओं की सेना में एकमात्र मिट्टी से अन्य कुछ नहीं है वैसे ही सदात्मक जगत् और अहन्तादिरूप दृश्य में सत् ब्रह्म से इतर और कुछ नहीं है ॥२०॥

यदि सब कुछ ब्रह्म ही है, तो फिर उसकी इच्छा भी तो ब्रह्म ही ठहरी, उसकी उत्पत्ति मानने में क्षति क्या है, यों विद्वानों की दृष्टि से श्रीरामचन्द्रजी आशंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनीश्वर, यदि बात ऐसी है, तो फिर इच्छा का उदय हो या न हो, (कोई हानि नहीं है,) क्योंकि वह भी तो ब्रह्म ही ठहरी । इसकी विधि और निषेध में कौन-सा मतलब सिद्ध होगा ? (यह कहिये) ॥२१॥

'इच्छानुत्पादने यत्नः क्रियताम् किं वृथा भ्रमैः' (इच्छा उत्पन्न न हो, इसी में यत्न कीजिये, व्यर्थ भ्रमों से कौन-सा मतलब है), इस पूर्वोक्त यत्न में विधि और निषेध का निवारण रहते हुए भी सचमुच तत्त्ववेत्ताओं की इच्छा का उदय होने पर भी कोई हानि नहीं है। परन्तु विद्या से बाधित उस इच्छा का उदय होना ही दुर्लभ है, यह कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, आत्मतत्त्व का ज्ञान हो जाने पर संप्रबुद्ध हो जाने पर इच्छा ब्रह्मस्वरूप ही ठहरी है, ब्रह्म से अन्य नहीं । जैसा आपने समझा है, वह सब बिलकुल सत्य है, किन्तु फिर भी आप यह सुन लीजिये कि ॥२२॥ जब-जब आत्मतत्त्वज्ञान उदित होता है तब-तब सांसारिक विषयोपभोग की इच्छा शान्त हो जाती है ॥२३॥ क्योंकि यही वस्तु का स्वभाव है । सूर्य के उदित होने पर जैसे रात बिलकुल शान्त हो जाती है, उदित नहीं होती, वैसे ही ज्ञान का उदय होने पर इच्छा आदि सब शान्त हो जाते है ॥२४॥ जैसे-जैसे ज्ञान का उदय होता है, वैसे-वैसे द्वैत की शान्ति और वासना का विलय होता है, तब भला इच्छा का उदय कैसे हो ? ॥२५॥

मूल का उच्छेद होने से भी तत्त्ववेत्ताओं की इच्छा के उदय का संभव नहीं है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

सम्पूर्ण दृश्य पदार्थों में वैराग्य आ जाने से जिस पुरुष की इच्छा कहीं उदित नहीं होती,

उसकी यह सांसारिक अविद्या शान्त हो गयी और निर्मल मुक्ति उदित हो गयी ॥२६॥ उस पुरुष को न तो इन दृश्य पदार्थों में वैराग्य उत्पन्न होता है और न उसको राग ही उदित होता है। केवल स्वभाव से ही द्रष्टा और दृश्य की शोभा उसे नहीं रुचती ॥२७॥ काकतालीय योग से यानी आकस्मिक घटना से या अन्य किसी की प्रेरणा से यदि कदाचित् कुछ इच्छा करता भी है, तो फिर वह देहमात्रधारण में साधनभूत शास्त्रों से अनिषिद्ध अन्न आदि की कुछ इच्छा करता है या नहीं भी करता है ॥२८॥ ऐसी परिस्थिति में उस आत्मतत्त्वदर्शी की वह इच्छा या अनिच्छा दोनों ब्रह्मस्वरूप ही है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। अथवा बात यह है कि उस तत्त्वज्ञानी को अभिनवभोग चमत्कार विषयक इच्छा अवश्य नहीं उदित होती या पूर्वकाल में अभ्यस्त हुए लोगों का अनुसरण करने के कारण उसकी स्थिति नियत है ॥२९॥ भद्र, यदि किसी जीव को तत्त्वज्ञान प्राप्त हो गया, तो उसकी इच्छा तत्काल ही निवृत्त हो जाती है, क्योंकि प्रकाश और अन्धकार के सदृश तत्त्वज्ञान और इच्छा दोनों की स्थिति एक जगह हो नहीं सकती ॥३०॥

इसीलिए रागप्राप्त विधिनिषेध शास्त्रों में वह इच्छाशून्य तत्त्वज्ञानी अधिकृत नहीं होता, यह कहते हैं।

भद्र, तत्त्वज्ञानी पुरुष कहीं पर भी विधि–निषेध शास्त्रों का अधिकारी नहीं है, क्योंकि समस्त इच्छाओं से शून्य उस तत्त्वदर्शी को किस प्रयोजन की सिद्धि के लिये कौन क्या उपदेश दे सकता है ? क्या कहीं अन्ध पुरुष देखनेवाले को 'कूप में नहीं गिरना चाहिए', ऐसा उपदेश दे सकता है ? ॥३१॥

बाह्य इच्छा की निवृत्ति और स्वात्मानन्दानुभव में तृप्ति ये दोनों आत्मज्ञान की प्राप्ति के चिह्न हैं, यह कहते हैं।

सब इच्छाओं का सर्वथा निरास होना और सब लोगों को अभयदान द्वारा प्रसन्न रखना एवं अपने आत्मानन्दानुभव में स्थित रहना तत्त्वज्ञान का चिह्न है ॥३२॥ जब सारा प्रपंच नीरस हो जाता है तब कहीं पर भी तत्त्वदर्शी स्वाद नहीं लेता, तब इच्छा भी बढ़ती नहीं और तभी उसकी मुक्ति भी रहती है ॥३३॥ तत्त्वज्ञान से एकता और अनेकता के झगड़े को छोड़कर जो पुरुष चुपचाप स्थित हो जाता है उस पुरुष के इच्छा, अनिच्छा आदि सभी भाव परब्रह्मस्वरूप ही हो जाते हैं॥३४॥ तत्त्वज्ञान से जिसकी द्वैतबुद्धि नष्ट हो गई है एवं द्वैतनाशरूप वस्तु तथा एकत्वसंख्या से रहित होकर जो पुरुष स्वच्छ, व्यग्रतारहित और शान्त होकर अपने स्वरूप में स्थित रहता है उस पुरुष को यहाँ न तो किसी कर्तव्य से प्रयोजन है और न अकर्तव्य से ही प्रयोजन है एवं न तो सब भूतों में किसी प्रयोजन की प्राप्ति ही है ॥३५,३६॥ न तो इच्छा से, न अनिच्छा से, न सद्वस्तु से, न असद्वस्तु से, न अपने से, न दूसरे से और न इन जीवन–मरणों से तत्त्वदर्शी को किसी भी

समय अर्थ का लाभ होता है ॥३७॥ अपना मुक्तस्वरूप जाननेवाले तत्त्वदर्शी को कभी इच्छा ही उत्पन्न नहीं होती। यदि उत्पन्न होती है, तो उसकी वह इच्छा अविनाशी ब्रह्मरूपिणी ही रहती है ॥३८॥ न दुःख है और न सुख ही है, किन्तु यह सारा जगत् अज, आनन्दस्वरूप, शान्त परब्रह्म ही है, इस तरह के निश्चय से जो अपने भीतर पत्थर के सदृश अटल रूप से रहता है उसी को पण्डित लोग तत्त्वज्ञ कहते हैं ॥३९॥ भद्र, पूर्ववर्णित आत्मतत्त्व का निश्चय कर दुःख को निरतिशयानन्दरूप आत्मा की भावना से, विष को अमृत की नाईं, सुखस्वरूप बना रहा धीरात्मा योगी ही प्रबुद्ध कहा जाता है ॥४०॥

तत्त्वबोध के अनुसार जो स्थिति है वही समस्त वस्तुओं की अभ्रान्त स्थिति है, ऐसी स्थिति अज्ञानियों में प्रसिद्ध नहीं हैं, यह कहते हैं।

जब ब्रह्म में जगत् स्थित हो जाता है, तब आकाश में आकाश, शान्त में शान्त, शिव में शिव, शून्य में शून्य, और सत् में सत् स्थित हो जाता है, विपरीत रूप से कोई पदार्थ किसी में स्थित नहीं रहता ॥४१॥ उक्त रीति से जगत् नहीं है, इस भावना से जब व्यापक विषयशून्य संविद्-रूप आकाश स्थित हो जाता है, तब सबमें एकरूप से रहनेवाला सौम्य शान्त आनन्दमय आत्मा में अहन्ताभ्रम नष्ट हो जाता है ॥४२॥ भद्र, जो यह कुछ स्थावर-जंगमात्मक जगत् दिखाई दे रहा है शान्त आकाशात्मक ब्रह्मरूप ही है और जो कुछ दिखाई दे रहा है वह दूसरे के मनोराज्य नगर के सदृश तुच्छ है ॥४३॥ अन्य पुरुष के मनोराज्य के कल्पित नगर में तुम्हें भीतर जाने-आने में जैसे किसी प्रकार की रुकावट नहीं होती, वैसे ही इस जगद्रूप भ्रम में किसी प्रकार की रुकावट तत्त्वज्ञ को नहीं होती ॥४४॥ चूँकि समुद्र, आकाश, पृथिवी, नदी, पर्वत आदि से शून्य आत्मा में द्रष्टा का अन्तःकरण ही समुद्र आदि की शोभा के रूप में परिणत हो जाता है, इसलिए पूर्वोक्त बात सिद्ध है। *(इस विषय में दृष्टान्त है-मृगतृष्णा जलतरंग)* क्योंकि तृषार्त एवं श्रान्त पुरुष का नेत्ररूप करण ही जलशून्य सामने के प्रदेश में मृगतृष्णा-जलतरंगरूप में परिणत हो जाता है ॥४५॥ जो कुछ यह दिखाई दे रहा है वह स्वप्न में बने हुए नगर के सदृश एवं बालक द्वारा कल्पित उन्नत वेताल के सदृश मिथ्या ही है। ऐसी स्थिति में उसमें असत्य को छोड़कर दूसरा सत्यत्व ही क्या है ? ॥४६॥

भ्रान्तिग्रस्त पुरुष स्वयं मिथ्या है, इससे भी भ्रान्ति में मिथ्यात्व है, यह कहते हैं।

चूँकि सत्यभूत ब्रह्म ही 'अहम्' 'इदम्' इत्यादिरूप से असत्य होकर ही भासता है, इसलिए भ्रान्तिग्रस्त पुरुष के बिना ही यह भ्रान्ति भासती है, अतः भ्रान्ति असत्य (मिथ्या) है ॥४७॥ यह जो जगत् है, वह न सत् है और न असत् तथा न तो सत्-असत् उभयरूप है, इसका तत्त्व भी किसी इन्द्रिय से निर्धारित नहीं किया जा सकता, यह अनिर्वचनीय ही है, इस रूप का होने पर भी गन्धर्वनगर आदि से क्षुब्ध आकाश के सदृश प्रतीत होता है। सारांश यह है कि यदि जगत् को अत्यन्त ही असत् मान लिया जाय, तो शून्यवादियों के मत में ही अपनी गिनती होने

लगेगी, यदि अत्यन्त सत् मान लिया जाय, तो श्रुति और तत्त्ववेत्ताओं के अनुभव के साथ विरोध होगा । यदि सत्–असत् उभयरूप मान लें, तो विरोध होने के कारण एक वस्तु में सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्म कैसे रह सकते हैं, इस सब बातों से अन्त में यही निष्कर्ष निकलता है कि जगत् का स्वरूप अनिर्वचनीय ही मानना होगा ॥४८॥ हे श्रीरामभद्र, यद्यपि तत्त्वबोध के बल से ही भलीभाँति शान्त हो रहे विषयों की इच्छा या अनिच्छा दोनों तत्त्वज्ञानी के लिए समान हैं यानी दोनों का फल समान है, तथापि अनिच्छा का उदय ही विक्षेपशून्य सुखाभिव्यक्ति का हेतु होने से कल्याणकारक है, यह मेरा मन्तव्य है ॥४९॥ भद्र, आकाश में आकाश की नाईं अविकृत चिदाकाश में ही 'आकाशाद् वायुः' (आकाश से वायु) इत्यादि श्रुति–दर्शित क्रम के अनुसार 'अहं जगत्' इत्याकारक चिदात्मा की कलना स्थित है, इसमें वायु में स्पन्दन की नाईं दूसरे किसी कारण की खोज नहीं करना चाहिए ॥५०॥

इन सब बातों से निष्कर्ष यह निकला कि चिति की बहिर्मुखता ही इच्छा, चित्त और संसार है तथा अन्तर्मुखता ही मुक्ति है, यह कहते हैं।

भद्र, चिति की जो बाह्यविषयों की ओर उन्मुखता है, वही चित्त है, वही संसार है और वही इच्छा है तथा बाह्य विषयों की ओर से उन्मुखता को जो हटा देना है, वही मुक्ति है, इस युक्ति को जानकर आप शान्त हो जाइए ॥५१॥

इस स्थिति में सृष्टि या प्रलय दोनों अवस्थाओं में जैसे ईश्वर को कोई हानि या लाभ नहीं होता, वैसे इच्छा या अनिच्छा दोनों अवस्थाओं में तत्त्वज्ञ को कोई हानि या लाभ नहीं होता, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, इच्छा हो या अनिच्छा हो, सृष्टि हो या प्रलय हो, इससे यहाँ किसीकी कुछ भी न क्षति है या न कुछ फल है ॥५२॥

उसमें युक्ति बतलाते हैं।

इच्छा–अनिच्छा, सत्–असत्, भाव–अभाव तथा सुख–दुःख ये सब कल्पनाएँ उस तत्त्ववेत्ता के स्वरूपभूत चिदाकाश में कुछ हो ही नहीं सकती ॥५३॥ भद्र, जिस महामति को दिन–पर–दिन समस्त इच्छाओं की कमी होती जाती है, विवेक–शम से सन्तुष्ट उस महामति को ही तत्त्वज्ञलोग मोक्षभागी कहते हैं ॥५४॥ इच्छारूपी छुरी से विद्ध हुए हृदय में ऐसी वेदना उत्पन्न होती है कि जिसके लिए ये प्रसिद्ध मणि–मन्त्र आदि महौषध सब कुण्ठित हो जाते हैं ॥५५॥ ब्रह्माजी ने प्राणियों के दुःखों की चिकित्सा करने के लिए जिन औषध, मन्त्र, यन्त्र आदि कार्य–करणों का निर्माण किया है उनकी परीक्षा के लिए पहले ही मैंने विचारपूर्वक प्रयत्न किया, परन्तु उनको मैंने मिथ्याभ्रान्ति के भार से आक्रान्त पुरुष की चिकित्सा करने में समर्थ नहीं पाया ॥५६॥

यदि शंका हो कि भ्रमसिद्ध किसी उपाय से ही भ्रम की चिकित्सा करेंगे, तो इस पर कहते हैं।

यदि यह कहिये कि भ्रान्तिसिद्ध यानी हमारी भ्रान्ति से सिद्ध अवस्तुरूप किसी उपाय से अन्य भ्रान्तिसिद्ध दुःख आदि का निवारण आदि व्यवहार हम कर लेंगे, तो इस पर हमारा यही उत्तर है कि हम लोगों के मनोरथ से सिद्ध अत्यन्त विस्तृत मुख से दूसरे के स्वप्न में सिद्ध विस्तृत पर्वत क्यों नहीं निगला जाता ? ॥५७॥

भ्रान्तिसिद्ध वस्तु असल में असत् होने के कारण पारमार्थिक दुःखनिवारण में सामर्थ्य नहीं रखती, यह कहते हैं।

जिसका विचारमात्र से विनाश हो जाता है, ऐसे भ्रान्तिसिद्ध असत् पदार्थ से यदि व्यवहार मान लें, तो खरगोश के सींग से आकाश क्यों नहीं आच्छादित होता, इससे तत्त्वज्ञानाभिव्यक्त पारमार्थिक ब्रह्म ही सर्वविध भ्रमों के निवारण का उपाय है, दूसरा नहीं, यह भाव है ॥५८॥

अमूर्त मन की भ्रान्तिमात्र यह जगत् मूर्त देहादिभाव को कैसे प्राप्त हो जाता है, इस पर कहते हैं।

जिस प्रकार जाड्यातिशय के कारण यानी अत्यन्त शीतलता के कारण जल पाषाणरूप (बर्फ) को प्राप्त हो जाता है वैसे ही चिदाकाश मन के कारण देहाकारहंभाव से अर्थात् देहादि में अहन्ता के अभिमान से देहाकारता को प्राप्त हो जाता है ॥५९॥ जड़ देहरूप होने पर भी वस्तुतः चितिशक्ति अक्षत ही रहती है, विनष्ट नहीं होती, यही कारण है कि चिद्रूप होने से इस असत्य ही देहिता का वह ऐसे अनुभव करती है, जैसे स्वप्न में अपनी मृत्यु का ॥६०॥

प्रातिभासिक जड़ता का अस्तित्व प्रतिभास के अधीन है, इसलिए प्रातिभासिक जड़ता अनिर्वचनीय है, यह कहते हैं।

जैसे आकाश में नीलत्व अवस्तुरूप होने से असत् है, प्रतिभास के कारण सत्य-सा भासता है, परन्तु वस्तुतः सत्य ही नहीं है वैसे ही इस परमात्मा में यह सृष्टि सत्य-सी भासती है, वस्तुतः वह न तो सत्य है और न असत्य ही है, किन्तु अनिर्वचनीय है ॥६१॥

यही कारण है कि जगत् और ब्रह्मसत्ता के एकरूप होने से इन दोनों में कोई भेद नहीं है, यह कहते हैं।

जैसे आकाश और शून्यता में एवं जैसे स्पन्दन और वायु में कोई भेद नहीं है वैसे ही एकरूप ब्रह्म और सृष्टि में भी कोई भेद नहीं है ॥६२॥

स्वप्नादिक पदार्थों की नाईं प्रतिभास से अतिरिक्त प्रातिभासिक पदार्थों की उत्पत्ति आदि कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है, यह कहते हैं।

इस परमात्मा में वस्तुतः जगत् आदि कुछ भी न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट ही होता है। किन्तु केवल निद्राग्रस्त प्राणी के स्वप्न के सदृश भासता है ॥६३॥

इसलिए इसके त्याग और ग्रहण में मनुष्य को अभिनिवेश रखना युक्त नहीं है, यह कहते हैं।

चिदाकाश में पृथिवी आदि के अविद्यमान रहते तथा सृष्टि के एकमात्र प्रतिभासस्वरूप सिद्ध होने पर मनुष्य को उसके त्याग और ग्रहण में भला कौन–सा आग्रह ?॥६४॥

देह के लिए तो पृथिवी आदि का त्याग और ग्रहण हो सकता है, परन्तु जब वे ही दोनों (पृथ्व्यादि और देह) एकमात्र प्रतिभासस्वरूप होने से असत् हैं, तब तो वे त्याग और ग्रहण भी असत् ही ठहरे, इस आशय से कहते हैं।

पृथिवी आदि कारण सहित यह देह भी एकमात्र प्रतिभासस्वरूप होने से है ही नहीं, केवल चिन्मात्र ब्रह्म ही अपनी आत्मा में स्थित है ॥६५॥ इसी प्रकार बुद्धि आदि में अपने प्रतिभासक चैतन्यात्मा की अपेक्षा से भेद और अभेद का संभव न होने के कारण 'इससे यह किया जाता है' इस तरह के व्यवहार की असत् भी कारणता आखिर में परमार्थ वस्तु को ही प्राप्त करती है, क्योंकि एकमात्र उसीका संभव है ॥६६॥ इस चिति में कल्प, महाकल्प एवं उनमें होनेवाली सब क्रियाएँ अहेतुक तथा अक्रमिक हैं और वे ऐसे भासित होते हैं, जैसे स्वप्न में क्षणभर में ही अहेतुक तथा अक्रमिक जन्म–मरण आदि शीघ्र भासित होते हैं ॥६७॥

इसका फलितार्थ यह हुआ कि सब चिदाकाश ही है, यह कहते हैं।

चूँकि चिति को सृष्टि का संवेदन अपनी ही आत्मा में होता है और दूसरी जगह नहीं, इसलिए यह सारी पृथिवी चिदाकाशस्वरूप ही है, ये पर्वत सब चिदाकाशरूप हैं, ये अत्यन्त दृढ़ दीवारें और ये सब लोक चिदाकाशरूप ही हैं एवं स्पन्द भी चिदाकाश ही है ॥६८॥ चिदाकाशरूप दीवार में जगद्रूपी महान् चित्र चितिरूपी रंग से ही व्याप्त है। न तो यह चित्र उदय को प्राप्त होता है, न अस्त को प्राप्त होता है, न तो शान्त होता है और न मलिनता को ही प्राप्त होता है ॥६९॥ जगद्रूपी महातरंगों से युक्त द्रवशील चितिरूपी जल में कौन–सा पदार्थ कैसे उत्पन्न हुआ या कौन–सा पदार्थ कब कैसे शान्त ही हुआ ?॥७०॥

तब तो जगत्–रूप से चिति के ही उदय और अस्त होते रहें, हानि क्या है, इस पर 'नहीं' ऐसा कहते हैं।

जब विषयों का सर्वथा असंभव होने से जगत् ही नहीं है, तो फिर जगत् की शून्यता से शोभित, शान्त, महाचिदाकाश में जगद्रूप से चिति के उदय और अस्त ही कैसे सिद्ध हो सकते हैं ? ॥७१॥

परन्तु यदि मायाविलास दृष्टि से देखते हैं, तो फिर सभी पदार्थों में सर्वरूपता की यथेच्छ उपपत्ति हो जाती है, यह कहते हैं।

ब्रह्मा के सृष्टिरूप में विवर्तित होने पर संवेदन के प्रयोग से यानी विचित्र वासनाओं के अनुसार उत्पन्न संकल्प से तो पर्वत भी आकाशरूप में परिणत हो सकते हैं और आकाश भी पर्वत बन सकते हैं ॥७२॥ संविद्रूप सिद्धौषधचूर्ण के प्रयोग से तो योगीजन आधे निमेष में जगत् को आकाशरूप और आकाश को तीनों जगत् के रूप में कर डालते हैं ॥७३॥ जैसे इस प्रसिद्ध आकाश में असंख्य

सिद्ध संकल्पों से कल्पित नगर परस्पर असंलग्न एवं अन्तर्हित हैं, वैसे ही चिदाकाश में (ब्रह्म में) हजारों वे सृष्टियाँ हैं ॥७४॥

इसमें दृष्टान्त बतलाते हैं।

जैसे महासमुद्र में अनेक आवर्त परस्पर मिले हुए भी पृथक्-से अवस्थित हैं, वास्तव में वे जल से अतिरिक्त नहीं हैं, वैसे ही महाचिति में असंख्य बड़ी-बड़ी सृष्टियाँ यानी ब्रह्माण्ड परस्पर मिले हुए भी पृथक्-से अवस्थित हैं। पर वास्तव में वे उससे अलग नहीं हैं ॥७५,७६॥ परस्पर छिपे हुए सिद्धों के भिन्न-भिन्न लोकों के अवलोकन के लिए इच्छा से प्रबुद्ध योगी की पहले अपनी उपाधि का मूल चेतन में प्रविलापनकर फिर दूसरे के चित्त में प्रवेश कर उसके लोक में जो अनुप्रवेशरूप प्राप्ति है, वही एक सृष्टि से दूसरी सृष्टि के अवलोकन के लिए भी है, यह विद्वान् लोग (卐) बतलाते हैं ॥७७॥

इस तरह सम्पूर्ण प्राणियों एवं उनके भोग्य सृष्टियों की विवर्तरूप स्थिति शाश्वत ब्रह्म में ही है, यह कहते हैं।

अविनाशी परम शिव में ये सभी भूत स्थित हैं। उसी में ये सारी सृष्टियाँ बेरोक-टोक ऐसे स्थित हैं, जैसे आकाश में शून्यता के उल्लास ॥७८॥ परमार्थ चिदाकाश के अपने आमोदरूप स्वाभाविक ये सृष्टि के विभ्रम हैं। ये स्फटिकमणि के भीतर दिखाई दे रही रेखाओं की नाईं न तो उत्पन्न होते हैं और न नष्ट ही होते हैं ॥७९॥ पुष्पों की गन्ध और सिद्धों की भूमि जैसे परस्पर मिली हुई रहने पर भी मिली हुई नहीं रहती, वैसे ही चिदाकाशरूप ये सृष्टियाँ भी हैं ॥८०॥

यही कारण है कि स्थूल संकल्प और मोहवाले पामरजनों की दृष्टि से इस प्रपंच की स्थूल अनुभव के समान स्थिति है तथा सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम संकल्प एवं मोहवाले योगियों की दृष्टि से सूक्ष्मादिभाव से इस प्रपंच की स्थिति है। ऐसी स्थिति में सबको अनुभव एक-सा न होने के कारण अपने-अपने अनुभव के अनुसार सबकी उक्तियाँ सत्य ही हैं, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रपंच की स्थिति संकल्पाकाशरूप होने से जिसका जैसा अनुभव है वैसी ही है। इसलिए सूक्ष्म संकल्प एवं मोहवाले योगियों की मननपूर्वक जगत् के विषय में जो कुछ उक्तियाँ हैं, वे बिलकुल सत्य हैं ॥८१॥

अतएव भिन्न-भिन्न वादियों की जो नाना प्रकार की कल्पनाएँ हैं वे भी तत्-तत् वासनाओं से परिपूर्ण संकल्पों के अनुसार ही सत्य हैं। सबके संकल्पों के अनुसार या परमार्थरूप से वे सत्य नहीं हैं, यह भिन्न-भिन्न वादियों को सम्बोधित कर कहते हैं।

न तो विज्ञानवादी बौद्धों की आन्तर विज्ञानमात्र परमार्थवादिता (✍) सत्य है और न वैशेषिक

(卐) इस तरह का वर्णन लीलोपाख्यान में हो चुका है।

(✍) विज्ञानवादी बौद्धों का सिद्धान्त है कि एकमात्र आन्तर विज्ञान ही परमार्थ वस्तु है और कुछ नहीं।

की बाह्यअनर्थवादिता (♤) ही सत्य है, किन्तु आप लोगों के संकल्प के अनुसार ये सभी ज्ञान फलीभूत होते हैं ॥८२॥

तब इनमें कौन-सा पक्ष प्रामाणिक है, उसको बतलाते हैं।

वस्तुतः चिति में जो चित्त्व है यानी त्रिपुटी प्रकाशन की (📖) शक्ति है, वही भीतर भावित होने पर 'जगत् रूप से भासती है। इसलिए चिति और जगत् में भेद ऐसे उपपन्न नहीं होता, जैसे जल और द्रवत्व में ॥८३॥

कहे हुए का अनुवाद कर प्रकृत में उसकी योजना करते हुए उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, सर्वाधारकाल, उसके अन्तर्गत ब्रह्माण्ड, उसके अन्तर्गत चौदह भुवन, उन भुवनों के अन्तर्गत अहम् तथा त्वम् आदि भोक्ता, भोक्ताओं के भोगों के उपकरणभूत इन्द्रियसमूह, शब्द, स्पर्श आदि भोग्य विषय और उनमें विचित्र भोग यह सब कुछ ईश्वरात्मक यानी मायिक सर्वज्ञता, सर्वशक्ति आदि से सम्पन्न और परमार्थतः शान्त, एक, अज, अविनाशी चिदाकाशरूप ही है। ऐसा निश्चय होने पर राग आदि किसी का भी सम्भव नहीं है ॥८४॥

सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

अड़तीसवाँ सर्ग

चित् और चेत्य (विषय) दोनों के सम्बन्धभ्रम के निरास द्वारा उत्तम युक्तियों से चेतन ही जगत् है यह वर्णन।

चेत्यरूप समस्त जगत् चेतनस्वरूप ही है, इस विषय का उपपादन करनेवाले महाराज वसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, अपने में मिथ्या ज्ञान से यानी अब्रह्मरूपता के भ्रम से विक्षिप्त हुई चिति जगत् को उस प्रकार देखती है, जिस प्रकार मायादर्शन हेतु अंजन से युक्त आँख आकाश में पर्वतरूपता को और पर्वत के शिखर, वन, हाथी आदि को देखती है ॥१॥

भ्रान्ति से कल्पा गया यह संसार चित्रसृष्टि के सदृश केवल मन की कल्पना से ही क्षुब्ध-सा भासता है, वस्तुतः नहीं, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, ब्रह्मसृष्टि और चित्तसृष्टि दोनों समान ही मानी जाती हैं, क्योंकि दोनों सृष्टियाँ असल में परमार्थ ब्रह्म से न भिन्न हैं और न उनमें किसी तरह का क्षोभ ही है ॥२॥

वैसा भले ही हो, इससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

जैसे दीवार में रहनेवाला चित्र वास्तव में दीवार से अलग नहीं है, परन्तु भ्रान्तपुरुषों के अनुभव से अलग-सा भासता है, वैसे ही ज्ञान में कल्पा गया संसार वास्तव में ज्ञानरूप होने

(♤) वैशेषिकों का मत है कि दुःख के हेतुभूत द्रव्य, गुण, कर्म आदि सात बाह्य ही सत्य हैं।
(📖) ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तथा प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय के प्रकाशन की।

के कारण ज्ञान से अलग नहीं है, किन्तु भ्रान्त पुरुषों के अनुभवरूप से अलग-सा भासता है। जब यही असली स्थिति है, तब बाह्यअर्थरूपता को भी, ज्ञान की सत्यता के कारण, ज्ञानरूप से सत्यरूप ही मानना चाहिए, यह आप जानिये ॥३॥ ऐसी स्थिति में हम लोगों के मत से बाह्य अर्थवाद और विज्ञानवाद में कोई विरोध नहीं होता, क्योंकि बाह्यार्थवाद और विज्ञानवाद दोनों की उक्तरीति से एकता ही है। किसी भी समय चेतन से भिन्न असत् बाह्य प्रपंच की सत्ता हो ही नहीं सकती, यह अकाट्य सिद्धान्त है ॥४॥

जब सम्पूर्ण प्रपंच चिदेकरस है, चिति निरन्तर ही अक्षुब्ध है और समस्त विशेषणों से निर्मुक्त है, तब क्षुब्ध हुए आकाश आदि पंचभूतों की भी शान्ति अर्थतः सिद्ध हो जाती है, इससे अन्त में पूर्णब्रह्मरूपता ही बच गई, यह कहते हैं।

क्षोभशून्य तथा आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी से शून्य एवं पूर्णशान्ति से विराजमान, बड़े-बड़े आरम्भों से युक्त, वास्तव में शून्यरूप ब्रह्मसत्ता ही चारों ओर विस्तृत है ॥५॥

यों समस्त क्रियाकारक फलरूप ब्रह्मीभूत जगत् को ही प्रणाम करते हैं।

यह सब कुछ ब्रह्म के लिए ही है, उसीसे सब कुछ उत्पन्न हुआ है। वही सर्वरूप है, वही चारों ओर व्याप्त होता है, वही सबमें ओत-प्रोत है, नित्य भी वही है, ऐसे सर्वात्मक ब्रह्म को नमस्कार है ॥६॥

व्यवहारकाल में भी चिति के साथ ऐक्यप्राप्ति के बल से ही विषयों का अस्तित्व और प्रकाशन होता है, किसी दूसरे तरीके से नहीं, यह कहते हैं।

चिन्मय होने के कारण ही घटादिरूप विषय जब प्रमातारूप चैतन्य के साथ वृत्ति द्वारा एक हो जाते हैं, तभी दृश्यरूप देहवाली उस चिति के बल से ही इन घट आदि पदार्थों का प्रकाशन होता है, अन्यथा नहीं ॥७॥ इस तरह द्रष्टा, दृश्य और दर्शन-ये सभी, चिति की एकता के बल से ही जब सिद्ध होते हैं, तब ये चिन्मात्रस्वरूप ही हैं, ऐसी स्थिति में सब जगत् का स्वरूप केवल अनुभवमात्र ही परमार्थ से सिद्ध होता है, यह अर्थ निकलता है ॥८॥

द्रष्टा और दृश्य की एकता में अनुकूल तर्क बतलाते हैं।

द्रष्टा और दृश्य यदि चिदात्मक साक्षी में एकता प्राप्त नहीं करते, तो ईख खाने में प्रवृत्त पुरुष ईख देखकर और चूसकर भी पत्थर के सदृश उसके स्वाद या माधुर्य का अनुभव नहीं करता, क्योंकि जड़ तो रस का अनुभव कर नहीं सकता और न जड़ रस ही उसके प्रति प्रकाशित हो सकता है ॥९॥ जब द्रश्य और द्रष्टा को चिन्मय मानते हैं, तब अनुभव करनेवाली चिति में ही चेत्य (विषय का) अनुभव होगा। जल में गिरा हुआ जलबिन्दु जैसे जल में प्रवेशकर डूब जाता है, वैसे ही चिति में विषय प्रवेश कर डूब जाता है, इसी से 'ईख का माधुर्य चखता हूँ' इस त्रिपुटी का चेतन में प्रवेश होकर ही अनुभव होता है इस प्रकार को छोड़कर दूसरा प्रकार हो ही नहीं सकता, क्योंकि

जड़ होने पर दो काठ के सदृश अनुभव नहीं होगा ॥१०॥

'दो काठ के सदृश' यह जो व्यतिरेक दृष्टान्त दिया है, उसकी समानता दार्ष्टान्तिक में बतलाते हैं ।

एक काठ दूसरे काठ को, अपना जातीय होने पर भी, चेतन की एकता न होने पर जैसे नहीं जान सकता, वैसे ही द्रष्टा भी चेतन की एकता से शून्य दृश्य को नहीं जान सकता ॥११॥

द्रष्टा और दृश्य की जड़ता मान लेने पर कोई भी दो काठ की अपेक्षा उनमें कुछ अधिकता नहीं जान सकते, यह कहते हैं ।

काठ की जैसी स्थिति अपने सामने है, वही उनका जड़ रूप है, इससे अतिरिक्त दूसरे किसी रूप को कोई नहीं जानते। अतः कथित तर्क के आधारपर समस्त दृश्य और द्रष्टा चिद्रूप से ही चिद् अभिन्न है, यह सिद्ध हो गया ॥१२॥

यों द्रष्टा और दृश्य जब चेतनरूप सिद्ध हुए, तब दृश्यात्मक जगत् में पृथिवी, वायु, जल आदि का भेद निकल गया और द्रष्टा में स्पन्दन, बुद्धि आदि का भेद निकल गया, इस स्थिति में समस्त जगत् की ब्रह्म के साथ एकता ही सिद्ध हो गई, यह कहते हैं ।

दृश्यों में जल, वायु, पृथिवी, पत्थर आदि तथा द्रष्टा में जो स्पन्दन, बुद्धि आदि एवं प्राण जीव आदि भेद हैं, वह महाचेतनरूप से है ही नहीं, क्योंकि महाचेतन में उनका तीनों काल में अस्तित्व नहीं है ॥१३॥

भावनामात्र से कल्पित होने के कारण प्राण आदि भेद मिथ्या हैं, यह कहते हैं ।

भद्र, प्राण, बुद्धि आदि जो कुछ अपना अस्तित्व रखते हैं, वह केवल भावना के बल पर ही। भावना तो एक चिति का चमत्कार है, वह इच्छा के अनुसार उदित होता है, अतः भावनामूलक प्राण आदि मिथ्या हैं ॥१४॥ जगत्–रूप से एवं सुषुप्ति–प्रलयरूप से ब्रह्मसत्ता ही स्थित है। आत्मा ही प्रसवशक्ति से आक्रान्त होकर वीर्य और वटबीजरूप में मानों बन गया है अर्थात् सभी भेद ब्रह्म के विवर्तरूप ही हैं, अतः वे मिथ्या हैं ॥१५॥

वट के बीज में प्रसवशक्ति से युक्त सूक्ष्म अविकृत ब्रह्मसत्तावालाभाग और उसमें वटादिविवर्त दिखलाते हैं ।

सबके सारभूत अत्यन्त सूक्ष्म भाग से सम्पन्न बीज में जो–जो सारभूत अति सूक्ष्म वस्तु है, वह सब परमात्मा ही है। इसी सारभूत वस्तु से शाखा आदि में तत्–तत् उत्तरोत्तर कार्य में अग्रस्थानीय बीज होता है और वह अपने स्वरूप में स्थित रहता है ॥१६॥

जो–जो जिससे सूक्ष्म होकर कारणरूप से प्रसिद्ध है, वह सब तो ब्रह्मकोटि में है और जो स्थूल होकर कार्यरूप से प्रसिद्ध है, वह मायाकोटि में है तथा मिथ्या है, यह जानना चाहिए, यह कहते हैं ।

ब्रह्म ही सबसे परमअणुरूप है, इसलिए जो–जो जिस–जिस अर्थ से अत्यन्त अणु है, वह सब

तत्-तत् सूक्ष्मवस्तु है, ऐसी स्थिति में सर्वत्र ब्रह्मवस्तु ही स्थित है ॥१७॥

जैसे घट आदि एक-एक द्रव्य अगल-बगल से, ऊपर से नीचे से यानी सभी ओर से द्रव्य रूप ही है, उससे तनिक भी भिन्न पदार्थ नहीं है, वैसे ही सभी पदार्थ यानी जगत् जिस पुरुष के द्वारा जिस किसी रीति से परीक्षा द्वारा देखा गया वह सब सन्मात्ररूप ब्रह्मरूप ही देखा गया, दूसरे रूप का नहीं ॥१८॥

अविकारिता में दृष्टान्त कहते हैं।

सैकड़ों सुवर्ण के रूपों में जैसे सुवर्णत्व ही रहता है, दूसरा नहीं, वैसे ही शान्त ब्रह्म के सैकड़ों जगद्भाव और जीवभावों में शान्त ब्रह्मरूपत्व ही रहता है ॥१९॥

सत् ब्रह्म का सर्गरूप विवर्तों से अलोप नहीं होता, यह बतलाते हैं।

समीपस्थ पुरुष के स्वप्न के मेघ जैसे आपके कुछ नहीं हैं यानी उनसे आपका कुछ लोप नहीं होता, वैसे ही चिदाकाशरूप मेरे सृष्टि, प्रलय आदि महाआरम्भ कुछ भी नहीं हैं, यानी आत्मा में कुछ भी उनसे नहीं होता ॥२०॥ आकाश में कल्पित मलिनता और उसी में कल्पित गन्धर्वपुत्रों की सेना जैसे आकाशरूप ही है, वैसे ही ब्रह्म में कल्पित यह सारा जगत् एकमात्र शान्त ब्रह्मरूप ही है ॥२१॥ जैसे जल से भूमितल में आर्द्र वट आदि का बीज महान् वट आदि के वृक्षों के रूप में परिणत हो जाता है, वैसे ही हृदय के भीतर संकल्परूप भ्रम ही पहले पुष्प बनकर फिर बाहर जगत्-रूप फल बनकर स्थित हो जाता है ॥२२॥

यदि परम सूक्ष्म ब्रह्म है और ब्रह्मभाव में स्थिति ही मोक्ष है, तो अणिमा आदि सिद्धियों के सदृश ही मोक्ष हुआ, इस शंका पर कहते हैं।

अहन्ता आदि प्रतिबन्धकों के दूर हो जाने पर आविर्भूत हुए निरतिशयानन्दरूप, एक स्वभावापन्न, सत् ज्ञानी की दृष्टि में ये सब अणिमा आदि सिद्धियाँ जीर्ण-शीर्ण तृण के टुकड़े के सदृश भासती हैं ॥२३॥ तीनों लोकों में देवता, असुर और मनुष्य से युक्त ऐसी किसी वस्तु को मैं नहीं देखता, जो एक रोमांश के सदृश सारे विश्व को समझनेवाले महात्मा के लोभ के लिए हो ॥२४॥ जिस किसी तरह की स्थिति करनेवाले तथा जहाँ कहीं जानेवाले आत्मतत्त्ववेत्ता पुरुष को किसी तरह के द्वैत संकल्प होते ही नहीं ॥२५॥ जिस महामति की दृष्टि में सारा विश्व ही चिदाकाशरूप तथा शून्यात्मक है, ऐसे भोगादिनिमित्त से शून्य तत्त्वज्ञ को किस निमित्त से किसकी इच्छा उत्पन्न होगी ? ॥२६॥ जिसको अशेष विशेषों से शान्ति हो चुकी है तथा जो इच्छाओं से रहित हो गया है, ऐसे वैभव एवं दरिद्रता दोनों को समान देखनेवाले ब्रह्मज्ञानी की महिमा कौन जान सकता है ? ॥२७॥

भाई, पुत्र आदि के मरणजीवन से उसको हर्ष या शोक नहीं होता, इस आशय से कहते हैं।

ज्ञानवान न मरण-साधनों से मरता है और न जीवन-साधनों से कुछ जीता है। परन्तु

विशुद्ध संवित्स्वरूप, आत्मप्रकाश सम्पन्न तथा चिदाकाशस्वरूप हुए इस महात्मा के असत् भी मरण–जनन अज्ञानीजनों की ही भ्रान्ति से मृगतृष्णा नदी के तटों के सदृश भ्रान्त आत्मा में भासते हैं ॥२८,२९॥ उत्तम परीक्षा कर लेने के बाद, न तो भ्रान्ति रहती है, न परीक्षक रहते हैं और न जन्म–मरण ही रहते हैं, केवल कुछ रहता है, तो वह अविनाशी प्रशान्त ब्रह्म ही रहता है॥३०॥

तत्त्वज्ञानी परीक्षक के उपस्थित रहते आप कैसे कहते हैं कि परीक्षक नहीं रहते ? इस पर कहते हैं ।

जो शान्त आत्माराम सम्पूर्ण दृश्यप्रपंच से वैराग्य को प्राप्त होकर उपशम को प्राप्त हो गया है, संसारसागर से पार हुआ वह ब्रह्मभाव से विद्यमान भी देह इन्द्रिय आदि से युक्त परीक्षकरूप से असत् के ही (अविद्यमान के ही) समान भासता है ॥३१॥ जिसके मन की गति अस्त हो चुकी है और जो आत्मा में शान्त है उसके ब्रह्मरूप से विद्यमान रहते हुए भी विद्वान् लोग दीपनिर्वाण की नाईं उसको निर्मल निर्वाण समझते हैं ॥३२॥

इसीलिए उसको यह संसार नहीं रुचता, यह कहते हैं ।

बुद्धि आदि से लेकर सम्पूर्ण यह जगत् दृश्य जिसे स्वतः नहीं रुचता आकाश के सदृश शान्त उस पुरुष को उत्तम लोग मुक्त कहते हैं ॥३३॥

यदि आप तत्त्वज्ञ हैं, तो दीपनिर्वाण के सदृश आप निर्वाणस्वरूप है, आप वसिष्ठरूप से कैसे हैं ? इस आशंका पर कहते हैं ।

अविचार से अहं है, विचार से अहं नहीं है । तात्पर्य यह कि अविचार से मैं वसिष्ठरूप से प्रतीत हो रहा हूँ, विचार से कदापि नहीं । अहंभाव के अर्थ का अभाव होने से कहाँ यह जगत् और कहाँ जन्ममरण आदिरूप संसृति ? ॥३४॥

अहमर्थ का अभाव कैसे ? इस आशंका पर कहते हैं ।

वस्तुतः चिदाकाश ही अपने स्वरूप के अन्यथा ज्ञान से ही बुद्धि आदि के आकार से युक्त हो स्थित है और वही रूपालोकमनोरूप (बाह्य एवं आभ्यन्तर) जगत् को जानता है ॥३५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरे ही समान यथार्थवस्तु के ज्ञान से भ्रान्ति का नाश हो जाने पर आपका मन भी जब सम्पूर्ण पदार्थों से शून्य हो जायेगा, तब सद्रूप सर्वात्मक आपको भी यह सम्पूर्ण आचरण सर्वात्मक शिवस्वरूप ही (निर्वाणरूप ही) अवभासित होगा ॥३६॥

समस्त आचरण का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं ।

जो कुछ आप कर्म करते हैं, जो कुछ भक्षण करते हैं, जो कुछ हवन करते हैं, जो दान देते हैं, जो तप करते हैं और जो हनन–गमन करते हैं, उन सबको आप अविनाशी शिवरूप ही समझिये ॥३७॥

आचारग्रहण समस्त जगत् का उपलक्षण है, यह कहते हैं।

जो मैं हूँ, जो तुम हो, जो इच्छाएँ और दिशाएँ हैं, जो-जो काल, क्रिया और आकाश आदि हैं तथा जो लोकालोक आदि पर्वत हैं, वे सब शिवस्वरूप चिदाकाशरूप ही हैं ॥३८॥ जो कुछ बाह्य और आन्तर विषय हैं, जो भूत आदि तीन काल है तथा जो जरा, मरण, पीड़ा आदि हैं, वे सब महाचैतन्यरूप शिवमय आकाशरूप ही हैं ॥३९॥ दुःखशान्ति के उपायों के अन्वेषण से रहित, भ्रमशून्य, इच्छारहित, मन वर्जित, मुनि एवं अहंभावरहित होकर जिस प्रकार से मोक्षरूप बनकर आपसे स्थित रहा जा सकता है, उस तरह से स्थित रहिए ॥४०॥ हे श्रीरामभद्र, जिस तरह पवन का स्पन्दन और अस्पन्दन के द्वारा व्यवहार या अव्यवहार होता है, उसी तरह आपका भी इच्छा-मनन से रहित, शान्त, अनन्त ब्रह्म में स्थित तथा भावनारहित ही व्यवहार हो या न हो ॥४१॥ भद्र, जैसे काठ की पुरुषोचित चेष्टा का यन्त्ररूपी घोड़े से निर्वाह होता है और वह जैसे वासनाशून्य, संकल्पशून्य एवं उपद्रवरहित होती है, उसी तरह शास्त्ररूपी घोड़े से आपकी वैसी ही पुरुषोचित चेष्टा का निर्वाह हो ॥४२॥ हे श्रीरामजी, माता, पिता, बन्धुजन आदि के साथ होनेवाला आपका बाह्य-व्यवहार न तो अत्यन्त स्नेह से पूर्ण हो या न एकदम स्नेह से रहित ही हो, किन्तु वह व्यवहार ऐसा हो कि देखनेवालों को यह पता न लगे-है या नहीं, यानी अनिर्वचनीय हो । आप चित्रदीप के सदृश रहिए। चित्रगत दीप चित्रगत तेज से पूर्ण है, परन्तु परमार्थतः तेल से पूर्ण नहीं है, अतः उसका प्रकाश स्नेह (तेल) से पूर्ण है या नहीं, इसका निर्वचन नहीं किया जा सकता ॥४३॥

उपसंहार दर्शाते हैं।

भद्र, जिसकी वासना मिट चुकी है, जिसको वर्तमान भोगों में कुछ रस नहीं रहा और जिससे भावी भोगों की तृष्णा भी निकल गई – ऐसे विद्वान् के लिए उत्तम शास्त्र के सिवा दूसरा कौन-सा पदार्थ आत्मसुख में विश्रान्ति देनेवाला हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं। शरीरधारण तक अंततोगत्वा प्राप्त होनेवाले आवश्यक व्यवहार-काल में उत्तम शास्त्रों का अनुसरण ही चित्तदोषनिवारण तथा विवेकादि के उद्बोध द्वारा तत्त्वज्ञान में प्रतिष्ठाकारक है । इसलिए इच्छाशून्य निर्मल तत्त्ववेत्ता का प्रारब्धप्राप्त व्यवहारिक प्रसंगों में वर्णाश्रमोचित आचरण करना एवं शम-दमादि साधनों में भलीभाँति लगा रहना ही – असाधारण चिह्न है, न कि यथेष्टाचरण ॥४४॥

अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

आदिकवि श्रीमद्वाल्मीकिमहामुनिप्रणीत

श्री योगवासिष्ठ महारामायण

परमहंस श्रीमद् आनंद बोधेन्द्र सरस्वती प्रणीत

'श्रीवासिष्ठ महारामायण' (तात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्यासहित) का हिन्दी अनुवाद

निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्ध

उनतालीसवाँ सर्ग

प्रबुद्ध आत्मा में विश्रान्त तत्त्वज्ञानी का जो स्वरूप रहता है उसका तथा जगत् जिस रूप का रहता है, उसका वर्णन।

यदि तत्त्वज्ञ के ऊपर शास्त्रानुसरण का नियन्त्रण रक्खा जाय, तो उसमें शास्त्रानुसरण का संकल्प भी उठने लगेगा, ऐसी आशंका कर कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, जिसे संसार को क्षीण कर देनेवाला सत्य अर्थ का स्वाभाविक प्रत्यक्ष हो गया है, वह पुरुष शास्त्रीय व्यवहार में भी संकल्परहित होकर ही स्थित रहता है, क्योंकि तत्-तत् व्यवहारों को अपनी आत्मा समझकर वह ज्ञानवान संकल्प को पृथक् जानता ही नहीं, ज्ञान के बिना तो किसी का अस्तित्व माना नहीं जा सकता, अतः संकल्पाभास असत् ही है ॥१॥

'ज्ञानवान संकल्प नहीं जानता' इस उक्ति का विवरण करने के लिए 'तत्त्वद्रष्टा में समस्त संकल्प का बीजभूत अहन्ताध्यास भी बाधित हो गया है, इससे भी उसको संकल्प नहीं उठता', यह कहते हैं।

तत्त्वज्ञान के पहले किसी अनिर्वचनीय कारण से (अविद्या से), दर्पण में श्वास से उत्पन्न मलिनता के सदृश, आत्मा में अहन्ता स्थित थी, परन्तु वह तत्त्वज्ञानी में बिना कारण ही नाश को प्राप्त हो गई। बहुत अन्वेषण करने पर भी वह कहीं प्राप्त नहीं हो रही है ॥२॥

दूसरी बात यह है कि कामना से संकल्प उठते-रहते हैं, वह तो तत्त्वदर्शी में है नहीं, क्योंकि उसकी सभी कामनाएँ पूर्ण हो चुकी हैं, यह कहते हैं।

जिसके आवरण का स्वरूप क्षीण हो चुका है तथा जिसकी समस्त इच्छाएँ नष्ट हो गई हैं, निरतिशय आनन्दामृत से पूर्ण स्वरूपवाला वह तत्त्ववेत्ता पुरुष केवल निरतिशय आनन्दस्वरूप की सत्ता से ही शोभित होता है ॥३॥

जैसे एक वस्तु के लाभ से सब वस्तुओं का लाभ हो जाने से फिर लाभयोग्य वस्तु के लिए संकल्प नहीं होता, वैसे ही एक वस्तु के विज्ञान से सब वस्तुओं का विज्ञान हो जाने से ज्ञातव्य विषय में भ्रम आदि दोष रहते नहीं हैं, इससे भी तन्निमित्तक संकल्प तत्त्वज्ञ को नहीं होता, यह कहते हैं।

जैसे पूर्णचन्द्र से आकाश जगमगाता रहता है, वैसे ही सर्वविध आवरणों से रहित प्रकाशमय बुद्धिवाले तथा समस्त सन्देहरूप कुटिल अन्धकारात्मक ओस के लिए वायुस्वरूप उक्त तत्त्वज्ञ से

सारा देश जगमगाता रहता है ॥४॥ संसारशून्य, सन्देहनिर्मुक्त, आत्मप्रकाश प्राप्त कर लेनेवाला, आवरणात्मक अज्ञान से शून्य तथा शरदाकाश के सदृश अत्यन्त विशद तत्त्वज्ञ ज्ञेयरूप आत्मा ही है, यह श्रुतियों में जाना जाता है ॥५॥ संकल्पमुक्त, पराधीनता से रहित, भीतरी शीतलता से युक्त शान्त तत्त्वदर्शी की प्रणाम, शुश्रुषा आदि द्वारा संगति करने से वह पुरुषों को ऐसे पवित्र (निष्पाप) कर देता है जैसे ब्रह्मलोक से आया हुआ पवन ॥६॥

'तत्त्वज्ञ संकल्प नहीं जानता' इस पूर्वोक्त अंश का स्पष्टीकरण करके अब 'तेनासदेव सः' इस बचे अंश का स्पष्टीकरण करने के लिए असद्वस्तु की प्राप्ति का स्वरूप बतलाते हैं।

प्रत्येक पुरुष में जो सद्रूप वस्तु के अज्ञान हैं, उनके स्वभाव का वास्तविक स्वरूप स्वप्नज्ञान और वन्ध्यापुत्रज्ञान की तरह असत् सृष्टि के ज्ञान को उत्पन्न कर देना ही है ॥७॥ यह जगत् तो वास्तव में असत् ही है, परन्तु उसकी जो उपलब्धि होती है, यही सद् आत्मस्वरूप के अज्ञान का असली स्वभाव है ॥८॥

स्वप्नज्ञान और वंध्यापुत्रज्ञान की तरह यह जो दृष्टांत दिया गया है, इसकी समानता बताते हैं।

असत्यरूप ही संसार में अर्थ रहे, यदि यह मान लिया जाय, तो इस पर प्रश्न यह है कि वह किस से उत्पन्न होगा ? अर्थात् क्या सत्य वस्तु से या असत्य वस्तु से । पहला पक्ष तो युक्त नहीं, क्योंकि सत्य वस्तु कूटस्थ है, अतः उससे अर्थ की उत्पत्ति हो नहीं सकती । यदि असत्य वस्तु से मान लिया जाय, तो असत्य से जो असत्य की उत्पत्ति होगी, वह भी असत्य ही होगी । इस स्थिति में उक्त अर्थ का आधार कोई हो ही नहीं सकता, क्योंकि सत्यकूटस्थ है और असत् आश्रय नहीं है । इससे संसार के असत्यभूत होने से जब बन्ध और मोक्ष शब्द ही वन्ध्यापुत्र सदृश हैं, तब उनके अर्थों की सिद्धि की तो कथा ही क्या ? ॥९॥ भद्र, यह जगत् ब्रह्मरूप से सत्य है, वह न तो उत्पन्न हुआ है, न भावना का विषय है और न किसी आधार में स्थित ही है । जगत् को यदि ब्रह्मरूप से सत्य न माना जाय, तो न मैं ही सत्य ठहर सकता हूँ और न देखा गया यह जगत् ही सत्य ठहर सकता है ॥१०॥

सत्-रूप वस्तु के अज्ञान का स्वभाव बतलाकर अब आत्मज्ञान में प्राप्त विश्रान्ति का जो असली चिह्न है, उसे बतलाते हैं।

अहंभाव आदि, सृष्टि आदि तथा दुःख आदि का ज्ञान न होना ही यानी अहम्भाव आदि की निर्विषय चैतन्यमात्ररूपता ही आत्मा के स्वभाव में प्राप्त हुई विश्रान्ति का असली चिह्न है ॥११॥ शाखा आदि प्रदेश से लेकर चन्द्रप्रदेश तक के लाखों योजनपर्यन्त विस्तृत प्रदेश में जब चक्षु के द्वारा चाक्षुष वृत्ति का चैतन्य क्षणभर में चला जाता है तब मार्ग के बीच में व्याप्त चिति का-अनावृत, स्पन्दशून्य वायु की तरह निष्क्रिय, आकाश को जगमगानेवाला, चिन्मय, शान्त, लताविकास के सदृश सुन्दर जो सभी प्राणियों के अनुभव से सिद्ध-विषयशून्य स्वभाव है, उस स्वभाव को, तत्त्वज्ञ लोग जानते ही

है, उस स्वभाव में स्थित विवेकी का सृष्टिज्ञान चूर-चूर हो जाता है ॥१२-१४॥

सुषुप्ति और स्वप्न में जैसे एक दूसरे की विषयता नहीं है, वैसे ही तुरीय में भी जाग्रत आदि की विषयता नहीं है, ऐसी सम्भावना की जा सकती है, यह कहते हैं।

सुषुप्ति में स्वप्न की बुद्धि नहीं है और स्वप्न में सुषुप्ति की बुद्धि नहीं है, यह जैसे सबको ज्ञात है, वैसे ही सृष्टि में मोक्षबुद्धि और मोक्ष में सृष्टिबुद्धि नहीं है यानी सुषुप्ति और स्वप्न की बुद्धि के सदृश सर्ग और मोक्ष की बुद्धि है अर्थात् तुरीय मोक्ष में चिति की सर्गादिविषयता रह ही नहीं सकती ॥१५॥

सुषुप्ति आदि विभाग भी भ्रान्तिमूलक ही है, इसलिए वह परमार्थ नहीं हो सकता, यह कहते हैं।

यह स्वप्न, सुषुप्ति आदि विभाग भी भ्रान्ति का ही एक स्वभाव है, इसलिए न तो स्वप्न, न सुषुप्ति, न सृष्टि और न मुक्ति ही है, किन्तु अशेष विभागों से शान्त परब्रह्म ही असली तत्त्व है ॥१६॥

स्वप्नादि क्यों नहीं हैं, इस पर कहते हैं।

जो भ्रान्ति है उसका असली स्वरूप असदात्मक ही है, विचार करने पर यदि उसका सीपी में चाँदी के सदृश लाभ नहीं होता, तो स्वप्नादि असत्य पदार्थ कैसे प्राप्त किये जा सकते हैं ? ॥१७॥

भ्रान्ति का अर्थ यद्यपि भ्रान्ति से भले ही न प्राप्त किया जा सकता हो, परन्तु दूसरे किसी उपलम्भ से तो प्राप्त किया जा सकता है, इस पर कहते हैं।

जो किसी काल में लब्ध नहीं होता वह है ही नहीं, इसलिए भ्रान्ति का तीनों काल में अस्तित्व नहीं है। भ्रान्ति का अर्थ भ्रान्तिभिन्न किसी अन्य उपलम्भ (ज्ञान) से प्राप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा उपलम्भ प्रमारूप ही होगा, परन्तु वह किसी भ्रान्तिविषय अर्थ के साक्षी के स्वभाव को छोड़कर दूसरा नहीं हो सकता ॥१८॥

ऐसी स्थिति में खूब विचार करने पर अकेला साक्षिस्वभाव ही अपने में त्रिपुटी की कल्पना कर प्रकाशित होता है दूसरा कुछ भी नहीं, यह कहते हैं।

स्त्री के लिए उसका स्वभाव ही निरन्तर उत्तम प्रेम का भाजन बनकर प्रकाशित होता है। इसीसे एक ही वस्तु वह अनेक-सी भासती है। इसलिए अनेक वादों से समर्थन ही क्या किया जाय ? ॥१९॥

उसको स्वभावभिन्न मानना ही संसाररूप दुःख है और कल्पनारहित अपनी आत्मा में स्थित रहना मोक्षरूप सुख है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, साक्षिस्वभाव से अतिरिक्त की कल्पना करने पर ही संसारात्मक महान् दुःख है और साक्षिस्वभाव में निरन्तर स्थिति रखना मोक्षरूप सुख है। इसलिए आप अपनी बुद्धि से अपनी आत्मा में विचारकर जिसे अपना इष्ट समझें, उसे ग्रहण करें ॥२०॥

इष्ट वस्तु के ग्रहण में उपाय क्या है ? इस प्रश्न पर अध्यस्त संसार में आत्मरूपता का अवलोकन ही उपाय है, इस आशय से सृष्टि के आरम्भ से ही सृष्टि और आत्मा की अभिन्न सत्ता बतलाते हैं।

बाहर बड़ा जो वृक्ष दिखाई पड़ता है, वह सूक्ष्मभूत बीज में है, ऐसा मानने में जैसे प्रत्यक्षतः

युक्ति है, ठीक इसी तरह अमूर्तिमान् शिवरूप आत्मा में भी मूर्त जगत् है, ऐसा मानने में वेदादि शास्त्र और मुनियों की उक्ति है ॥२१॥

इस तरह प्रत्यगात्मा में विद्यमान आध्यात्मिक भावों की भी पृथक् सत्ता नहीं है, इसका अपने में ही सब अनुभव करते हैं, यों कहते हैं।

जैसे जल में विद्यमान जलरूप द्रवत्व है, वैसे ही परब्रह्म में विद्यमान बुद्धि अहन्ता आदि विषय जो हैं, वे सब आत्मरूप तथा चिदाकाशस्वरूप ही हैं ॥२२॥ जैसे अवयवी (घटादि) अपने सदृश यानी अपने अस्तित्व से अलग अस्तित्व न रखनेवाले अवयवों से ही क्रिया करता है, वैसे ही स्वरूपभूत पृथ्वी आदि भूतों से ही यानी अपनी सत्ता से अलग सत्ता न रखनेवाले भूतों से ही चिदाकाश यह सब कुछ करता है, वास्तव में तो वह सत् और अकर्ता ही है ॥२३॥

अर्थव्यवहार के सदृश शब्दप्रयोग आदि व्यवहार भी आत्मसत्ता से पृथक् सत्ता न रखकर ही चेतनाधिष्ठित देह, वाक् आदि से होता है, यह कहते हैं।

हम लोगों के शरीर, जीभ आदि जड़ होने के कारण किसी तरह का व्यवहार करने के समर्थ नहीं हो सकते, इसलिए उनसे 'अहमादि' अर्थों का प्रकाशक जो शब्द जीभ आदि के व्यापार से होगा, वह चेतन से अधिष्ठित जीभ आदि से ही होगा, यह उस तरह मानना चाहिए, जिस तरह नर्तकी के पैरों का संचालन एवं तालों के दृढ़ ज्ञाता वादक पुरुष से अधिष्ठित मृदंग आदि में से शब्द होता है ॥२४॥

उक्त रीति से सम्पूर्ण व्यवहार का चैतन्य के साथ अभिन्नता से जब निर्वाह किया जा सकता है, तब वह अभेद आत्यन्तिक ही मानना चाहिए, अविचार सिद्ध जड़तारूप भेद मानने से फायदा ही क्या, यह कहते हैं।

जो यह आपाततः देखा जाता है, वह विचार से उत्पन्न तत्त्वज्ञान से निरन्तर के लिए अस्तित्व ही खो देता है। इसलिए जड़तारूप जो जगत् का रूप है, वह स्वरूपरहित है, इस स्थिति में ब्रह्म आत्मा ही अपने स्वरूप में स्थित है, यही स्वरूपावस्थिति है ॥२५॥

असंसारी ब्रह्म अपने स्वभाव में भले ही रहे, इससे संसारियों को क्या लाभ पहुँचा, इस तरह की आशंका कर उनकी पुरुषार्थ चिन्ता, वन्ध्या को अपने पुत्र के लिए राज्यप्रप्ति की चिन्ता करने के सदृश मिथ्या है, इस आशय से कहते हैं।

जिनकी दृष्टि में जगत्-रूप स्वप्न भासता है, उन पुरुषों का एक दूसरे की भ्रान्तिपूर्ण दृष्टि से भी, जाग्रत और स्वप्न में तत्-तत् स्वरूप में अस्तित्व रहता ही नहीं और एक दूसरे के आत्मस्वरूप हुए हम लोगों में तो आकाशकुसुम के सदृश उनका सर्वथा अस्तित्व नहीं है ॥२६॥

हम लोगों में ऐसे पुरुष और उनके व्यवहार जड़ अंश को लेकर तो आकाशपुष्प के सदृश हैं और सच्चिद् अंश को लेकर तो हम लोगों में ब्रह्मस्वभावता से विद्यमान हैं, यह कहते हैं।

वायु के स्पन्दन के सदृश अपने से अभिन्न उन-उन स्वकीय व्यवहारों के साथ वे

स्वप्नपुरुष हममें विद्यमान हैं, क्योंकि ऐसे पुरुष और उनके व्यवहार ये दोनों शान्त परब्रह्मैकरूप ही हैं और वह ब्रह्म प्रत्यगात्म–स्वभाव मुझमें है ॥२७॥

दूसरा विशेष बतलाते हैं।

जैसे स्वप्नवालों को स्वप्न सन्मय प्रतीत होता है, वैसे ही अज्ञानियों की दृष्टि से मेरी देह भी सन्मय प्रतीत होती है। परन्तु ज्ञानियों की दृष्टि से वे उस प्रकार असद्रूप हैं, जिस प्रकार सुषुप्तिस्थ पुरुष, की दृष्टि में स्वप्न ॥२८॥ अनुग्रह, उपदेश आदि जो मेरा व्यवहार उनके साथ होता है, वह मेरी दृष्टि में स्वस्वरूप में स्थित परब्रह्मस्वरूप ही हैं। वे जो कुछ देखते हैं, उसे भले ही देखें, उनसे हमें किसी तरह के प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती ॥२९॥ भद्र, मैं वसिष्ठादिभाव में नहीं हूँ, किन्तु स्वस्वरूप से परब्रह्म परमात्मा में ही हूँ। आपके लिए यह वसिष्ठ आदि के आकार से व्यापक ब्रह्मसत्ता मानों उदित हुई है। यह मेरी वाणी आदि भी आपके लिए ब्रह्मसत्ताविवर्तरूप ही है, परन्तु मेरी दृष्टि से तो बिलकुल कुछ है ही नहीं ॥३०॥ सभी वस्तुओं में आनन्दैकरसात्मता के दर्शन से विरुद्ध दुःखादि पदार्थ भी जिसको अविरुद्ध प्रतीत होते हैं ऐसे शुद्ध ब्रह्मस्वरूप तत्त्वज्ञानी के हृदय में न तो भोगों की इच्छा उठती है और न मोक्ष ही स्फुरित होता है ॥३१॥ मनुष्यों का बन्धन से जो यह मुक्तिक्रम है वह तो केवल अपने अधीन है, फिर भी मोह से (अविरुद्ध निरतिशयानन्दात्मा के अपरिज्ञान से ही) यह संसार पीड़ा उत्पन्न हुई है। आश्चर्य है कि गौ के खुर में ही समुद्र का भ्रम हो रहा है ॥३२॥ असत् दुःखों के उपशमरूप तथा सुखरूप आत्मसाधनभूत मोक्ष में न तो धन उपकार कर सकते हैं और न मित्र एवं न क्रियाएँ ही कुछ उपकार कर सकती हैं ॥३३॥ जैसे तेल का बिन्दु जल में गिरकर नाना वर्णों के चक्ररूप में परिणत हो जाता है वैसे ही विषयों के संकल्प में स्थित चिति तत्काल ही जगद्रूप में परिणत हो जाती है ॥३४॥

ज्ञान से बाधित हुआ संसार तो स्वप्न की तरह स्मृति की एकमात्र लकीर बन जाता है, यह कहते हैं।

जाग्रत्काल में स्वप्न में भासित वृत्तान्त की स्थिति जिस तरह की स्मृति रहती है, उसी तरह की स्थिति विवेकी को भी अज्ञानकाल में भासित अहंकार के साथ समस्त जगत् की ज्ञानदशा में होती है ॥३५॥ उक्त भूमिका के अभ्यासरूप योग से वह जगत्–जाल ऐसे क्षीणता को प्राप्त करता है, जैसे कि फिर न अहंकार और न संसार ही उत्पन्न हो सकता है, केवल शान्त ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है ॥३६॥

तत्त्वदृष्टि से परीक्षा करने पर इस समय भी उसका विनाश और बाध जाना जा सकता है, इस आशय से कहते हैं।

जब–जब आत्मारूप सूर्य अपने पूर्ण प्रकाशरूप में स्थिति करता है, तब–तब यह संसाररूप अन्धकार बाधित हो जाता है, उसका अस्तित्व रहने पर भी परिज्ञान नहीं होता ॥३७॥

भोगान्धकार की (संसारान्धकार की) निवृत्ति हो जाने पर बुद्धि आदि करणों का दल अज्ञानरूप आवरण से एवं स्थूल अध्यास से (भ्रान्ति से) रहित बन जाता है तथा ब्रह्माकारवृत्ति से चमके हुए बोध से चमकिला बन जाता है। यही कारण है कि उस समय स्फुरण से, दीप के प्रकाश के सदृश, चारों ओर व्याप्त होकर ब्रह्मभूत होकर भासने लग जाता है ॥३८॥

उनतालीसवाँ सर्ग समाप्त

चालीसवाँ सर्ग

न तो संसारदशा में ब्रह्म का भान होता है और न ब्रह्मदशा में संसार का ही भान होता है, परन्तु जीवन्मुक्ति में क्रमशः दोनों का भान होता है, यह वर्णन।

तत्त्वज्ञों का यह अनुभव है कि स्वतः स्वरूप से शून्य बाह्य और आभ्यन्तर वस्तुओं का वास्तविक स्वरूप उसका साक्षिचैतन्य ही है, यह कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, बाह्य और आभ्यन्तर विषय तथा बुद्धि आदि इन्द्रियों के प्रकाशक निर्मल साक्षी चैतन्य को ही विद्वान् लोग स्वरूपशून्य जगत्-वस्तु का स्वरूप समझते हैं ॥१॥

उसमें अन्वय-व्यतिरेकरूप युक्ति बतलाते हैं।

जब अपरिच्छिन्न वस्तु (ब्रह्म) स्वभाव की स्थिति अविद्याकृत परिच्छेद से तथा उसके शरीररूप से उदित हो जाती है, तब (卐) यह सृष्टि भ्रम के सदृश प्रतिभासित होने लग जाती है ॥२॥

अब व्यतिरेक दिखलाते हैं।

जब आत्मस्वरूप के ज्ञान से शान्तिरूप आत्म-विश्रान्ति अपनी स्थिति प्राप्त करती है अर्थात् ब्रह्मस्वरूप में जब शान्तिरूप विश्रान्ति प्राप्त हो जाती है, तब यह जगद्-रूप दृश्य ऐसे शान्त हो जाता है, जैसे सुषुप्ति में स्वप्न ॥३॥

यही कारण है कि ब्रह्मस्वरूप में विश्रान्ति के विरोधी भोग आदि सबके सब अनर्थरूप ही हैं, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ये जितने भोग हैं वे सबके सब संसाररूप महारोग है, बन्धु लोग दृढ़ बन्धन हैं तथा यह सारी अर्थसम्पत्ति तो महान् अनर्थ की कारण है। इसलिए अपने-ही से अपनी आत्मा में शान्ति लीजिये ॥४॥ ब्रह्मस्वरूप से विरुद्ध भावना करना सृष्टि है तथा स्वभावात्मक ब्रह्मरूप की प्राप्ति कल्याण है। इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप परम चिदाकाशरूप हो जाइये, शान्ति प्राप्त कीजिये ॥५॥

अब महाराज वसिष्ठजी अपने अनुभव का अभिनयकर पुरुष की स्वायत्तता दिखलाते हैं।

(卐) यह अन्वयोक्ति है।

हे श्रीरामचन्द्रजी, मैं अपने को यानी द्रष्टा आदि त्रिपुटी के भीतर सर्वप्रथम वसिष्ठसंज्ञक जीव को नहीं जानता और न दृश्य तथा इस जगत्‌के भ्रम को ही जानता हूँ। मैं शान्त ब्रह्म में प्रविष्ट हो चुका हूँ। हे श्रीरामजी, मैं निर्विकार ब्रह्म ही हूँ ॥६॥ हे श्रीरामजी, 'तुम वसिष्ठ हो' इस 'त्वम्' शब्द के अर्थ से घटित त्वन्ता को ही 'त्वम्' शब्दार्थघटित आप ही देख रहे हैं, और मैं तो सबको केवल शान्त, परम चिदाकाशरूप ही देख रहा हूँ ॥७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, वायु में स्पन्दन की नाई, परम चिदाकाशरूप ही ब्रह्म में ये शब्दार्थादिरूप बाह्य एवं आभ्यन्तर सब पदार्थ आपमें भी विभ्रमस्वरूप ही उत्पन्न हैं, परमार्थतः वे उत्पन्न नहीं हुए हैं, किन्तु उत्पन्न हुए–से प्रतीत हो रहे हैं ॥८॥

द्वैत के साथ विद्वेष होने के कारण मुझे द्वैत का अदर्शन है, ऐसी कोई बात नहीं है, किन्तु द्वैतदर्शन और द्वैत का अदर्शन दो एक साथ नहीं हो सकते, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्मस्वरूप में स्थित पुरुष सृष्टि को नहीं जानता और सृष्टि में स्थित पुरुष ब्रह्मस्वरूप को नहीं जानता। जैसे कि सुषुप्त पुरुष स्वप्न को नहीं जानता तथा स्वप्न में स्थित पुरुष सुषुप्ति को नहीं जानता ॥९॥

जिसका कभी दर्शन नहीं होता, ऐसे पदार्थ के विषय में उपदेश की प्रसिद्धि कैसे ? इस शंका पर कहते हैं।

तत्त्वज्ञानी प्रशान्तचित्त जीवन्मुक्त पुरुष ब्रह्म और जगत् के प्रकाशस्वरूप रूप को क्रमशः ऐसे जानता है, जैसे जाग्रत् और स्वप्न के द्रष्टा पुरुष क्रमशः उनका रूप जानते हैं, इसीलिए वह उपदेष्टा होता है ॥१०॥

वह भी उत्तरोत्तर भूमिकाओं में क्रमशः द्वैत के अदर्शन से आगे चलकर बिलकुल प्रशान्त हो जाता है, यह कहते हैं।

जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण जगत् को यथास्थित ही जानता है। तथा शरत्काल के मेघ के तुल्य शुद्धात्मा हो बिलकुल शान्त हो जाता है ॥११॥

जीवन्मुक्त ज्ञानी की दृष्टि से द्वैत उत्तरोत्तर निर्बल होता जाता है, यह दो दृष्टान्तों से कहते हैं।

जैसे किसीके कहने पर स्मृति या कल्पना में स्थित युद्ध भासता है वैसे ही विवेकी पुरुष को सत् और असत् की एकमात्र भ्रान्तिरूप अहन्ता आदि जगद्–भ्रम भासता है ॥१२॥ जो भलीभाँति दिखाई दे रही जगत् की माया परमार्थसत्यरूप आत्मा में तथा अत्यन्त असद्रूप शून्य में नहीं है एवं जिसका द्रष्टा कोई जीव भी नहीं है, ऐसी शून्य और अशून्य से विलक्षण यह भ्रान्ति अनिर्वचनीय ही भासती है ॥१३॥

चालीसवाँ सर्ग समाप्त

इकतालीसवाँ सर्ग

अविद्या के स्वभाव से त्रिलोकीरूपी कठपुतली के नृत्य तथा एकमात्र आत्मत्वभाव से निर्वाण की प्राप्ति का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, अविद्या-स्वभाव से युक्त हुआ यह आत्मा ही सम्पूर्ण जगत् का रूप धरकर अहंकार आदि को जाननेवाला बन जाता है। इस तरह अनिर्वाण-स्वरूप हुए इस आत्मा को आप स्वयं ही शास्त्रीय उपायों द्वारा उत्पन्न हुई विद्या से आविर्भूत अद्वितीय, स्वप्रकाश पूर्णानन्दस्वरूप आत्मा के स्वभाव से निर्वाण-स्वरूप बना दीजिये ॥१॥

वह विद्या तो तत्त्वज्ञों के साथ निरन्तर समागम रखने से उत्पन्न विवेकज्ञान जनित वैराग्य से ही सिद्ध होती है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे जहाँ सूर्य होंगे वहाँ प्रकाश अवश्य होगा, यह जैसे अकाट्य सिद्धान्त है, वैसे ही जहाँ विषयों से पूर्णतया वैराग्य होगा, वहाँ अवश्य तत्त्वज्ञानरूप प्रकाश होगा ॥२॥

वैराग्यसिद्धि के लिए 'अविद्यास्वभाव से ही शुद्ध ब्रह्म में जगत्-रूपी चित्र का अध्यास होता है', यह वर्णन करते हैं।

कर्ता, कर्म तथा करण आदि सामग्री से शून्य, द्रष्टा, दर्शन एवं दृश्य आदि से रहित और उपादेय पदार्थों से शून्य यह जगत्-रूप चित्र बिना दीवार आदि आधार के ही आविर्भूत है ॥३॥

विद्या-स्वभाव से उस जगत्-रूपी चित्र का खण्डन करके अब निर्वाण का स्वरूप दिखलाते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी जिस रूप से स्थित यह दृश्य चित्र है, वह ब्रह्म में न तो कभी कुछ उत्पन्न ही हुआ और न शान्त ब्रह्म में शान्त ही हुआ। असल में वह निर्विकार सत्य, अविनाशी परब्रह्मरूप ही है ॥४॥

त्रिजगत्-रूपी नाच रही पुतलियों के रूप में मुख्य अविद्या-स्वभाव का वर्णन करते हैं।

चिति के एकमात्र चमत्कारस्वरूप जीवों में संकल्पात्मक नृत्यमण्डपों में शृंगार आदि नाना रसों से परिपूर्ण जगत्-चित्र की पुतलियाँ चिदाकाश में नाच रही हैं। हे श्रीरामजी, इनकी गणना कौन कर सकता है ? ॥५॥ शृंगार आदि रसों से रति आदि स्थायिभावों तथा कम्प, स्वेद आदि संचारिभावों से परिपूर्ण नये-नये अभिनयों से परमाणु की मात्राओं के भी अन्दर विद्यमान चिदाकाश में चिदाकाशरूप पुतलियाँ प्रायः नृत्य कर रही हैं ॥६॥ सभी ऋतुएँ इनके सिर के आभूषण हैं, जिन्हें ये धारण किये हुई हैं, दिशारूपी बाहुलतिकाओं से वे सुशोभित हैं, पाताल इनकी पादलतिका हैं, ब्रह्मलोक इनकी कन्दराएँ हैं, चन्द्र और सूर्य इनकी चंचल आँखें हैं, तारों के समूह इनके रोम समूह हैं, सातों लोक इनकी अंगलतिका है, सभी ओर से अत्यन्त निर्मल आकाश ही तो इनकी सफेद साड़ी है, सभी द्वीप तथा समुद्र ही इनके हाथ के सुन्दर कंकण हैं, लोकालोक पर्वत इनकी करधनी है,

भौतिक शरीरों के धारण–पोषण आदि निमित्त से चल–फिर रहे जीव ही इनके बह रहे प्राण मारूत हैं, वन तथा उपवनों की विचित्र रचनारूपी हारों और केयूरों से ये खूब भूषित हैं, पुराण और वेद ही तो इनके वचन हैं तथा तत्–तत् क्रियाओं के फलरूप सुख और नानाविध दुःख ही इनके विलास हैं। हे श्रीरामजी, इस तरह की त्रिलोकीरूपी पुतलियों का जो नृत्य आपके सामने दिखाई दे रहा है वह ब्रह्मरूपी जल का द्रवत्व या ब्रह्मरूपी वायु का संचलन ही है ॥७–११॥ सुषुप्ति के अवसर में सुषुप्ति–स्वभाव में स्थित न हुई चिति स्वप्न की जैसे कारण बन जाती है वैसे ही अस्वभाव में (अविद्या में) स्थित हुई यह चिति ही इस नृत्य की कारण बन गयी है। हे श्रीरामचन्द्रजी, इसी तरह का कारणात्मक ब्रह्म श्रुतियों में प्रसिद्ध है ॥१२॥

इस तरह अविद्या के स्वभाव का वर्णन करके अब ब्रह्मात्मैक्यस्वभाव से निर्वाणरूप बनाने में उपाय बतलाते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, सांसारिक व्याकुलता छोड़कर आप पारमार्थिक स्वभाव की भावना करते हुए, जाग्रत्काल में भी असुषुप्त–सुषुप्त पद में यानी अज्ञान के नाश से असुषुप्तरूप तथा सम्पूर्ण द्वैत का उपसंहार से सुषुप्तरूप जो तुर्यपद है उसमें स्थित हो जाइये, इस जगद्रूपी स्वप्न का आश्रय मत कीजिये ॥१३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, तत्त्वज्ञान से जाग्रत् काल में जो राग तथा वासना से शून्य सुषुप्ति–अवस्था प्राप्त होती है, उसीको तत्त्वज्ञानी लोग ब्रह्मस्वभाव कहते हैं तथा उसी स्वरूप में भलीभाँति परिनिष्ठित हो जाने को मुक्ति कहते हैं ॥१४॥

ब्रह्मस्वरूप में निष्ठा होने पर व्यवहारकाल में भी ज्ञानी पुरुष को यह सारा जगत् चिदेकरसरूप ही भासता है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्मरूप में भलीभाँति निष्ठा प्राप्त हो जाने पर ज्ञानी पुरुष को व्यवहारकाल में जगत्–रूप से स्थित कर्ता, कर्म और करण से शून्य दृश्य, दर्शन, और द्रष्टा से रहित तथा बाह्य और आभ्यन्तर विषयों से रहित ब्रह्मरूप ही है ॥१५॥ उस अवस्था में ज्ञानी को प्रकाशमान वस्तु में स्थित प्रकाशमान वस्तु ही पूर्ण में स्थित पूर्ण वस्तु ही तथा द्वित्व और एकत्व से रहित (शोधित) प्रत्यगात्मा में द्वित्व–एकत्व रहित (शोधित) ब्रह्मरूप वस्तु ही अखण्ड एकरसरूप से ही भासित होती है ॥१६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, वस्तुतः सृष्टिरूप में स्थित होने पर भी आकाशकोश के सदृश शान्त एवं सत्य आत्मा ही अपने सत्यस्वरूप में पत्थर के उदर के सदृश स्वयं स्थित है ॥१७॥

पत्थर के उदर के सदृश, ऐसा कहने से उसमें अप्रकाशस्वभावता की जो भ्रान्ति हो रही है, उसका खण्डन करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, वह सुन्दर रत्नशिला के उदराकृति सदृश प्रकाशमय है, घन होने पर भी आकाश की तरह है, जगत्–प्रतिबिम्ब को पाकर क्षुब्ध–सा स्थित होने पर भी वस्तुतः वह अक्षुब्ध है तथा जगद्–रूप से असत् प्रतीत होने पर भी वह सत्स्वरूप ही स्थित रहता है ॥१८॥ भविष्य

में जिस नगर का नवीन निर्माण करना होता है, उसका पहले चित्त में ही कल्पनारूप से अस्तित्व रहता है, इस तरह का नगर जैसे चित्तस्वरूप है, वैसे ही सामने स्थित यह जगत् पूर्ण प्रकाशात्मक अपने स्वरूप में ब्रह्मरूप ही है, जिसमें कि मन को एकरस बना दिया गया है ॥१९॥ जैसे संकल्प का नगर संकल्प से भिन्न नहीं है, वैसे ही यह जगत् का आभास भी परमार्थरूप परब्रह्म से भिन्न नहीं है ॥२०॥ जिसमें भविष्य में होनेवाली अनेक तरह की नूतन-नूतन रचनाएँ विद्यमान हैं ऐसे चौकोन (चतुष्कोण) सुवर्णपिण्ड के समान अनेक तरह के विस्तारों से परिपूर्ण दिखाई दे रहा भी यह जगत् शान्त अविनाशी ब्रह्मरूप ही है ॥२१॥ यह निरन्तर नाश और उत्पत्ति से पूर्ण रहते हुए भी नाश और उत्पत्ति से वर्जित है, अनेक-सा भासित हो रहा भी एकरूप है यानी अजर, भास्वर तथा परब्रह्म परमात्मरूप से स्थित है ॥२२॥ हे श्रीरामजी, जब तत्त्वज्ञान हो जाता है, तब यह उदित सृष्टिरूप वस्तु उत्पत्ति-विनाश से रहित हो जाती है यानी तत्त्वज्ञ को उस समय यह भान होता है कि सृष्टि न तो कभी उत्पन्न हुई और न नष्ट ही हुई। उस दशा में उसे पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति हो जाती है और अकेला आनन्दघन ब्रह्म ही अपने अद्वैतस्वभाव के प्रभाव से भासने लग जाता है। जैसे आकाश में भ्रमवश प्रतीत हो रहे केशोण्ड्रक, गन्धर्वनगर, तलमलिनता आदि के स्वभाव का जब बाध हो जाता है, तब पुरुष को हठात् वह शून्यस्वभाव से भासने लग जाता है, ऐसे ही यहाँ पर भी समझना चाहिए ॥२३॥

इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त

बयालीसवाँ सर्ग

पुनः विश्व और विश्वेश्वर की एकता का विस्तारपूर्वक वर्णन तथा
स्वात्मभूत परमेश्वर ही विवेक द्वारा पूजनीय हैं, यह कथन।

'जगत् ब्रह्मस्वरूप ही है, इस पूर्वोक्त का अनुभव कराने के लिए जगत् की भिन्नता-प्रतीति में हेतुभूत चित्त तथा चिति के भेद का निरास करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, शान्त कूटस्थ आत्मा में जो चित्त-सा प्रकाश होता है वह उस प्रकाशरूप चिदात्मा से भिन्न नहीं है, अतः जगत् आदि किसीका कहीं संभव नहीं है। यदि कहिये क्यों ? तो इसका उत्तर यही है कि वह अव्याकृत और निर्मल है। सार यह है-नाम और रूपों के भेद से ही तो इस संसार में भेद की प्रसिद्धि है। परन्तु यह भेद नाम और रूपों के निर्माण के पहले ही उत्पन्न हुए जीवभाव के उपाधिभूत चित्त में हो नहीं सकता, क्योंकि वह उस समय बना ही नहीं है। सूक्ष्म तेज, जल तथा पृथ्वीरूप लिंग-सृष्टि के अनन्तर 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इस श्रुति में उसका निर्माण सुना जाता है। चित्त के निर्मल होने के कारण भी उसका चितिसे भेद नहीं है। चिदात्मा और चित्त दोनों निर्मल

हैं। प्रभा और आकाश में जैसे कोई प्राणी भेद नहीं दिखा सकता, वैसे ही निर्मल इन दोनों में कोई भी प्राणी भेद नहीं दिखा सकता, ऐसी स्थिति में चिति एवं चित्त का भेद ही कहाँ ? ॥१॥

इसीको स्पष्टरूप से कहते हैं।

कूटस्थ प्रत्यगात्मारूप आकाश में जो बाह्य और आभ्यन्तर विषयों का प्रकाशन होता है, वह एक तरह से मानों जलरूप द्रव की लहरें हैं, वे मृगतृष्णा जल की नाईं मिथ्या ही भासित होती हैं। चित्तरूपी सूर्य के अस्त हो जाने पर वे भी विलीन हो जाती हैं ॥२॥

जगत् को अपनी सत्ता में चिति से अतिरिक्त दूसरे किसी कारण की अपेक्षा ही नहीं है, इससे भी यह जगत् चितिरूप ही है, इसका दृष्टान्तों से उपपादन करते हैं।

किसी कारण की अपेक्षा किये बिना जैसे वायु में स्पन्दन होता है या जैसे सूर्य में प्रभा का प्रसार होता है, वैसे ही परब्रह्म परमात्मा में यह जगत् है ॥३॥ हे श्रीरामजी, जैसे जल में द्रवत्व, आकाश में शून्यता और वायु में स्पन्दता है, वैसे ही परब्रह्म परमात्मा में यह कोई अनिर्वचनीय आत्मा का विवर्तरूप जगत् है ॥४॥

जाग्रत् और स्वप्न अवस्था में जैसे चित्त आदि का आत्मा में हुआ प्रकाश आत्मा से अभिन्न है, वैसे ब्रह्म में मायाधीन आकाशादि का हुआ प्रकाश भी ब्रह्म से अभिन्न है, इस आशय से उन्हीं उपर्युक्त दृष्टान्तों के द्वारा फिर अभेद का उपपादन करते हैं।

महाचिद्रूप महाकाश में जो यह जगत् भासता है वह चिद्रूप ही, मणिमें निर्मलता की नाईं, स्फुरित होता है ॥५॥ जैसे जल में द्रवता, आकाश में शून्यता, वायु में स्पन्दता है, वैसे ही महाचिति में यह जगत् है ॥६॥

स्फुरण में भी चिति से अतिरिक्त किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है, इसलिए भी उसका चिति से अभेद है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे वायु स्पन्दन को स्वस्वरूप जानती है वैसे ही चिति भी जगत् को अपना स्वरूप ही समझती है। इसलिए द्वैत और ऐक्य आदि भेदों का यहाँ तनिक भी अवसर नहीं है ॥७॥ हे श्रीरामजी, यह सारा संसार अविवेक से चमकीला तथा विवेक से नश्वर है। परमार्थ वस्तु का बोध हो जाने पर तो न यह चमकीला दीखता है और न विनश्वर ही प्रतीत होता है। उस समय तो यह एकमात्र सद्रूप परब्रह्म ही बनकर अवशिष्ट रह जाता है ॥८॥

तत्त्वज्ञान से जो निर्णीत हुआ, उसका वर्णन करते हैं।

ज्ञानमात्र, शुद्ध, आदि-मध्य और अन्त से रहित महाचिन्मात्ररूपी परब्रह्म के सिवा और कुछ दूसरा रहता ही नहीं, यह तत्त्वज्ञान से निर्णीत हुआ है ॥९॥

उस स्वरूप के विषय में वेदों का अनुसरण करनेवाले और न करनेवाले विचारशील वादियों की यथार्थ और अयथार्थरूपों से अनेक कल्पनाएँ हैं, यह कहते हैं।

वह किसी के मत में शान्त शिव, किसी के मत में शाश्वत ब्रह्म, किसी के मत में शून्यतारूप और किसी के मत में वह ज्ञानरूप है ॥१०॥

उसीमें अनादि अविद्या आदि दृश्यप्रपंच का अध्यास होता है, यह कहते हैं।

अनन्तस्वरूपचेतनात्मक वही अपने आपको विषयस्वरूप-सा समझता हुआ यानी भावना करता हुआ स्वस्वरूप में स्थित ही विषयरूप एवं अज्ञानी-सा बन जाता है ॥११॥ जितने पदार्थ अध्यास से प्रतीत होते हैं उनका प्रकाश अधिष्ठानभूत चैतन्य के बल से ही होता है, इसलिए विषयों की सत्ता अधिष्ठानभूत चेतन के बिना नहीं हो सकती और सत्ता के बिना विषयात्मक चित्तरूपता नहीं हो सकती, जैसे शून्यस्वरूप कूटस्थ आकाश के बिना दूसरा कोई वायु का कारण नहीं है और वायु के बिना स्पन्दनों का दूसरा कोई कारण नहीं है, ठीक ऐसे ही यहाँ भी बात है ॥१२॥ तथा महाचैतन्य के संकल्प से जायमान एवं निरन्तर ब्रह्मसत्ता के बल पर अपनी सत्ता रखनेवाले सृष्टि-भ्रमों में महाधिष्ठानभूत ब्रह्म की अपेक्षा से सदा सत्ता है और स्वरूपतः असत्ता है। इस तरह का निरूपण 'सदेव सोम्येदम.' इत्यादि श्रुति में है। इस विषय में दूसरे किसी तर्क की अपेक्षा नहीं है॥१३॥ चित् और जड़ का द्वैत एवं द्वैत का कारण एकत्व इनका स्वतः अस्तित्व तथा इसी अस्तित्व के आधार पर सृष्टि-भ्रमों का अस्तित्व मानना चाहिए, यह बात मानी जा सकती है, परन्तु इसमें कोई युक्ति नहीं है, क्योंकि कूटस्थ अद्वितीय चिदाकाश में द्वित्व-एकत्व का कोई समर्थन करनेवाला नहीं है और जड़ वस्तुओं में तो वैसा समर्थन करनेवाला कोई हो ही नहीं सकता। *(इन सब तर्कों से निचोड़ यह निकला कि आकाश के द्वैत की अप्रसिद्धि के सदृश तथा स्पन्दन एवं वायु के भेद की अप्रसिद्धि के सदृश विश्व और विश्वेश्वर के भेद की भी अप्रसिद्धि है, यह कहते हैं।)* सम्पूर्ण विश्व असीम, एक परमात्मा का स्वरूपभूत ही है ॥१४॥ जैसे वायु और स्पन्दन का भेद शब्दमात्र है, वास्तविक नहीं है, वैसे ही विश्व और विश्वेश्वर का भेद शब्दमात्र है, वास्तविक नहीं, असल में असदात्मक ही है ॥१५॥ जिसमें द्वैत की संभावना नहीं है, जो तीनों काल में सत्स्वरूप ही है और महाचेतनरूप है,वही विश्व के रूप में भासता है, असल में न विश्व है और न विश्व का कोई स्वरूप ही है ॥१६॥

अथवा ब्रह्मदृष्टि से असत्य भी विश्व की उसके कार्यभूत छोटे-छोटे देश काल की अपेक्षा बड़े-बड़े देश-काल के सम्बन्ध से सत्ता है, इस आशंका का परिहार करते हैं।

कोई लोग कहते हैं कि कार्यरूप से भिन्न कटकरूप की अपेक्षा अधिक देश काल के सम्बन्ध से सुवर्ण में जैसे कादाचित्क (कभी होनेवाली) सत्यता है, वैसे ही कार्य की अपेक्षा अधिक देशकाल के सम्बन्ध से विश्व में भी सत्यता हो सकती है ॥१७॥

परन्तु यह तब होता, जब कि कार्य और कारण का भेद सिद्ध होता, लेकिन वही सिद्ध नहीं है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, द्वित्व और ऐक्य के ही असम्भव से यहाँ न कोई कार्यरूप है और न कोई कारणरूप ही है । *(यदि काल्पनिक कार्यकारणभेद मान लिया जाय, तो भी काल्पनिक भेद से सत्यता का निर्वाह नहीं हो सकता, यह कहते हैं ।)* यदि काल्पनिक कार्यकारणभेद मान लें तो भी परमात्मा से भिन्न यह संसार एकमात्र काल्पनिक ही सिद्ध होगा, इससे उस परमात्मा से भिन्न दूसरी वस्तु सिद्ध नहीं होगी ॥१८॥ जैसे कि आकाश में शून्यता है और जैसे जल में द्रवत्व है वैसे ही इस परब्रह्म परमात्मा में विश्व है । *(अत्यन्त अभेद में भी जैसे 'आकाश में आकाश की रेखा है' इस तरह की भेदकल्पना देखी जाती है वैसे ही इस जगत् के विषय में भी होगी, यह कहते हैं ।)* अत्यन्त अभेद होने पर भी जैसे आकाश में आकाश की रेखा अज्ञानदृष्टि से देखी जाती है वैसे ही इस परब्रह्म परमात्मा में जगदादि का रूप अज्ञानियों की दृष्टि से देखा जाता है ॥१९॥ ब्रह्म का जो रूप है वही रूप जगत् का भी है, इससे द्वैत और ऐक्य की यहाँ आपत्ति ही नहीं हो सकती । आकाश से भिन्न–सी कल्पित शून्य आकाश की रेखा जिस रूप की रहती है यानी रेखाशब्द से वाच्य आकाश जिस रूप का रहता है, ठीक उसी रूप का यह सारा जगत् भी ब्रह्म से भिन्न–सा कल्पित है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐसी स्थिति में एकात्मा, व्यापक, स्वच्छ चिन्मात्र, सर्वस्वरूप परब्रह्म परमात्मा के, पत्थर में खुदी गई सेना के सदृश पत्थर रूप से स्थित रहते, कार्यकारण की विचित्रता कहाँ कैसे संभव हो सकती है ? द्वितीय का संभव न होने से चिदाकाश में उससे पृथक् किसी दूसरी वस्तु की संभावना नहीं हो सकती ॥२०–२२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, प्रतिभारूप ही यह सृष्टि प्रतिभारूप से महाचेतन में ऐसे भासती है, जैसे पाषाण में खुदी हुई प्रतिमा पाषाणरूप होने के कारण पाषाणमय भासती है । हे साधो, यथार्थभूत वास्तविक ब्रह्म का तत्त्वज्ञान हो जाने से इस विश्व का विलय हो जाता है और बाह्य तथा आभ्यन्तर सब चेष्टाओं से शून्य अवस्था के द्वारा स्फुरित हो रहा ब्रह्म ही सम्पूर्ण संसारभ्रम को नष्ट करके अवशिष्ट रह जाता है ॥२३,२४॥

भावना रूप मन की एकमात्र कल्पना से उत्पन्न संसारभ्रम भावनात्याग एवं कल्पनारहित स्थिति से ही विनष्ट हो जाता है, यह कहते हैं ।

यद्यपि न तो कुछ वस्तु है और न कोई सामने पदार्थ ही है, तथापि एकमात्र भावना के बल पर आँखें बन्द कर पड़े हुए पुरुष को स्वप्न के जाग्रत्काल में जैसे बाह्य और आभ्यन्तर विषयों का भ्रम होता है वैसे ही यद्यपि न कुछ वस्तु है न सामने कोई पदार्थ ही है तथापि भावना के बल पर आँखें खुली रखकर बैठे हुए पुरुष को जाग्रद्रूप स्वप्न में बाह्य एवं आभ्यन्तर विषयों का भ्रम होता है ॥२५,२६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, भावना को शान्त करके पाषाण के समान निश्चल होकर तथा चिदेकरस होने से शिला से विलक्षण भीतर के अशिलाभूत यथास्थित आत्म

स्वभाव का अवलम्बन करके एकरूप से स्थित रहिये ॥२७॥

उस तरह की स्थिति बनाने के लिए अनुकूल विवेक-वैराग्य आदि साधनों का अभ्यास ही आत्मरूप परमेश्वर की सर्वश्रेष्ठ पूजा है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामभद्र, पूर्णविवेकरूप उपहार से पूजनसाधन प्रारब्धप्राप्त अर्थों के द्वारा बोध के लिए बुद्धिपूर्वक आत्मस्वभावरूप परमेश्वर की पूजा कीजिये ॥२८॥ विवेक से पूजित स्वात्मभूत परमात्मा तुरत ही पूजा करनेवाले को निरतिशय आनन्दरूप प्रदान करता है । इस पूजा में रुद्र, उपेन्द्र आदि की पूजा तो, जीर्ण-शीर्ण तिनके के टुकड़े के सदृश, हलकी पड़ जाती है ॥२९॥ विचार, शम और सत्संगरूपी बलिदान-पुष्पों से पूजित हुआ परमेश्वर शीघ्र मोक्षफल प्रदान करता है । हे साधो, यह स्वात्मा ही परमेश्वर है ॥३०॥ केवल यथार्थ अवलोकनरूप अकेली पूजन सामग्री से जिसकी पूजा की गई हो, ऐसा सर्वोत्तम फल प्रदान करनेवाला यह ईश्वररूप आत्मा जहाँ उपस्थित हो, वहाँ भला ऐसा कौन मूर्ख होगा, जो किसी दूसरे का *(अनात्मभूत तटस्थ ईश्वर का (♨))* आश्रय करेगा ? ॥३१॥

पूजन द्वारा प्रसन्न हुआ तटस्थ ईश्वर तो इस जीव की शस्त्र, सर्प, अग्नि आदि से भलीभाँति रक्षा कर सकता है, परन्तु कूटस्थ आत्मा भला क्या कर सकता है ? इस आशंका पर कहते हैं।

सत्संग, शम, सन्तोष और विवेक द्वारा जिसने आत्मा की पूर्ण रीति से पूजा की है ऐसे पुरुष के लिए शस्त्र, सर्प, विष और अग्नि ये सब शिरीण (सिरस) के फूल बन जाते हैं ॥३२॥

अविवेकियों द्वारा किये गये देवतापूजन आदि सत्कर्मों में अपराध होने की अवश्य संभावना है, ऐसी स्थिति में वे निष्फल या अनर्थ देनेवाले हो जाते हैं। दूसरी बात यह है कि उन कर्मों में देश, काल, पात्र, द्रव्य, कर्ता आदि की विशुद्धि तथा उनके परिज्ञान, श्रद्धा, भक्ति, शान्ति आदि की यदि आवश्यकता पड़ जाती है, तो सर्वविध क्लेशों से रहित महाफलवाले आत्मदर्शन में ही उनका उपयोग क्यों न किया जाय ? यह कहते हैं।

जिनको देश, काल, पात्र आदि का विवेक नहीं है, ऐसे दुरात्माओं द्वारा अत्यधिक किये गये देवपूजन, तप, तीर्थाटन, दान आदि सबके सब तत्त्वशून्य होने के कारण भस्मीभूत हो जाते हैं। इसलिए यदि सब विवेक से सफल किये जाय, तो अपने अन्तःकरण में विवेक की ही स्पष्टरूप से साधना क्यों नहीं की जाय ? ॥३३,३४॥

वह कौन-सा विवेक है, जिसकी आप साधना बतला रहे हैं, इस पर उसे कहते हैं।

वास्तविक पदार्थ के विज्ञान के अनन्तर वासना के आत्यन्तिक उच्छेद में जो प्रयत्न है, वही विवेकशब्द का अर्थ है, यह निष्काम यज्ञ तथा दान किया गया आदि कर्मों से जनित चित्त

(♨) देखिये श्रुति क्या कहती है :
अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेध स देवानाम् ।

की प्रसन्नता से ही होता है। वैराग्य आदि सब साधन रूप ही यह यत्न है ॥३५॥ अपने भीतर शमरूपी अमृत से विवेक को ऐसे धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए, जैसे कि विषयभ्रान्तियों से वह फिर नष्ट न होने पावे ॥३६॥ मनुष्य देह की सत्ता का अनादर कर उसमें स्थित तात्त्विक वस्तु का प्रत्यक्ष करें, फिर उससे होनेवाले लज्जा, भय, विषाद, ईर्ष्या, सुख, दुःख आदि के ऊपर बराबर विजय प्राप्त करें ॥३७॥

देह की सत्ता के अनादर में उपायभूत विचार दिखलाते हैं।

शरीर का कारण जगत् और जगत् का भी कारण पहले ही नहीं रहा, फिर आज वह कहाँ से रहेगा ? यदि कहो कि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इस श्रुति में बतलाया गया ब्रह्मात्मक कारण तो पहले से ही है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर कार्य यदि कारण का ही रूप है, तो आखिर में वह ब्रह्मरूप ही सिद्ध होता है, अन्यरूप नहीं ॥३८॥ समस्त विकल्पों से निर्मुक्त विशुद्ध प्रतिभामात्र ही ब्रह्म का स्वरूप है। विकल्प प्रतिभा भी चिदाभासरूप ज्ञानरूपा ही है, इसलिए ज्ञान से पृथक् घट आदि का अस्तित्व नहीं है, किन्तु समस्त जगत् ज्ञानरूप ही है ॥३९॥ जिसमें आत्मतत्त्वरूप श्री प्रतिबिम्बित है ऐसी ज्ञप्ति यानी चिदाभासरूप ज्ञान तब होता है, जब कि आत्मा का तत्त्वज्ञान पहले नहीं रहता, इसलिए उसको प्रत्यगात्ममात्रस्वरूप जान लेने पर वह स्वयं नष्ट हो जायेगी, क्योंकि उस समय आत्मतत्त्व से अलग करनेवाली कोई उपाधिभूत वस्तु अलग नहीं रहेगी। ठीक ही है, दर्पण में देखी गई मुखशोभा दर्पण के हट जाने पर स्वयं ही शान्त हो जाती है। जब उपाधि शान्त हो जाती है तब ज्ञप्ति का स्वरूप नहीं कहा जाता। उस समय सदा स्थायी शिवस्वरूप एकमात्र आत्मा ही अवशिष्ट रहता है। यह शिवस्वरूप वस्तु शरीर आदि अवयवों से रहित जगद्रूप से निर्मुक्त पूर्ण, शान्त, ज्ञान, ज्ञेय एवं ज्ञप्तिरूप त्रिपुटी से शून्य, पत्थर की चट्टानों के सदृश वाणी के व्यापारों से वर्जित है और यह सारा प्रपंच तद्रूप ही है ॥४०,४१॥

आप सब लोगों को वह शिवस्वरूप स्थिति ही प्राप्त करनी चाहिये, यह कहते हैं।

इसलिए आप लोग जैसे पाषाण-प्रतिमाएँ शान्त रहती हैं, वैसे ही अपने अन्तःकरण को शान्त बनाकर स्वस्थ होइए एवं सांसारिक सब व्यवहारों को करते तथा कराते हुए भी ज्ञानी के रूप में ही स्थित रहिये ॥४२॥ ज्ञेय और ज्ञान से शून्य सद्रूप, सत् और असत् के सारभूत, आकाशगोलक के समान विशद तथा संसार के अकारणभूत आप लोग हो जाइये ॥४३॥ ज्ञानी पुरुष अपनी इच्छा के अनुसार जहाँ चाहे स्थित रहते हैं और जहाँ जाने की इच्छा होती है, बड़े आनन्द से वहाँ चले जाते हैं। वे एकमात्र प्रारब्धप्राप्त अपना कर्म करते हुए परब्रह्म परमात्मा के स्वरूपभूत बन जाते हैं ॥४४॥

अथवा निरन्तर समाधि में ही स्थित रहिये, यह कहते हैं।

अथवा समस्त इच्छाओं के उत्तम त्याग से शान्त हुए अन्तःकरण से युक्त होकर आप लोग, चित्रकर्म में लिखित मूर्तियों के सदृश, निश्चलवृत्ति हो एकान्त स्थानों में ही स्थित रहिये ॥४५॥ भद्र, संकल्प की शान्ति हो जाने पर जैसे संकल्पनगर शान्त हो जाता है अथवा जाग्रत्-पुरुष के लिए स्वप्न नष्ट हो जाता है वैसे ही समाधि और व्यवहार दशा में निरन्तर आत्मज्ञान से सम्पन्न पुरुष के लिए सम्पूर्ण जगत् सदा के लिए ही विनष्ट हो जाता है ॥४६॥

वही तत्त्वज्ञान निर्वाण में उपयोगी है, जो नेत्रवाले पुरुष को हुए रूपानुभव के सदृश प्रत्यक्ष एवं पूर्णानन्दानुभव तक स्थिर रह सकता है, जन्मान्ध पुरुष की रूपकल्पना के सदृश परोक्ष-सा तत्त्वज्ञान निर्वाण में उपयोगी नहीं है, यह कहते हैं।

कुछ वेदान्तवाक्यों के श्रवण से ही 'मैं तत्त्वज्ञ हो गया' इस प्रकार के भ्रम में पड़कर मोक्ष का वर्णन कर रहा अज्ञानी पुरुष, देखनेवाले पुरुष को हुए रूपानुभव का वर्णन कर रहे जन्मान्ध पुरुष के सदृश, अपने भीतर मान-अपमान आदि दुःखों से सन्तप्त रहता है। तत्त्वज्ञ के सदृश भीतर सुख का अनुभव नहीं करता ॥४७॥

अन्धगोलांगूल न्याय से असत् उपदेश से ठगे गये पुरुषों में भी कृतार्थता की भ्रान्ति होती है, यह लोक में प्रसिद्ध है, यह कहते हैं।

अविद्यास्वरूप जिस-किसी काल्पनिक उपदेश से कोई पुरुष 'मैं कृतार्थ हूँ' यों यदि मानता है, तो वह अज्ञानी होने के कारण असल में अकृतार्थ ही है। अपने में कृतार्थता जान रहा वह मूर्खता से अत्यन्त मोहित है। ऐसा पुरुष दूसरे क्षण में अनेकविध यातनाओं के कारण अपनी अकृतार्थता ही जान पायेगा ॥४८,४९॥

इससे कल्पनात्मक ज्ञान मोक्ष का उपाय नहीं है, तत्त्वज्ञों के इस अनुभव को लेकर उपसंहार करते हैं।

जो काल्पनिक उपाय है वह निमेषभर में ही भाव, अभाव तथा इच्छा भ्रमों से दुःखदायी होने के कारण मोक्ष का उपाय नहीं है, यह तत्त्वज्ञों का मत है ॥५०॥

इसलिए पूर्वोक्त तत्त्वज्ञान को ही वासनाविनाशपर्यन्त दृढ़ करना चाहिये। वही तत्त्वज्ञान निर्वाण रूप बन जाता है, इस आशय से कहते हैं।

जगद्रूप भ्रम का अच्छी तरह ज्ञानकर जो वासनाशून्य स्थिति होती है वही निर्वाण कहा जाता है, हिरण्यगर्भस्थान तक के समस्त विषय उसकी अपेक्षा नीरस हैं ॥५१॥ इसलिए हे श्रीरामभद्र, मैंने जिस अर्थ का उपदेश दिया है उसे लौकिक या पौराणिक कथार्थ के सदृश कल्पनामात्ररूप बहिर्मुखवृत्ति से जानकर आप कृतार्थ मत होंगे, किन्तु एकमात्र वासनाओं की भयंकर बाढ़ से चारों ओर बह रहे जगद्रूपी अचित् जल को ही देखेंगे तभी मोक्ष में स्थित रहेंगे यानी कृतार्थ होंगे ॥५२॥

उसीको दृढ़ करते हुए कहते हैं।

हे भद्र, उपदेशवचनों से जन्मान्ध पुरुष के रूपानुभव के सदृश परोक्षरूप यदि आपने जाना, तो वह आपका न जानना ही है यानी अज्ञान ही है,क्योंकि अपरोक्ष वस्तु के विषय में हुआ परोक्षज्ञान केवल भ्रमात्मक ही होता है। इसलिए ऐसे ज्ञान को तिरस्कृत कर प्रत्यगात्मस्वरूप इस नित्य अपरोक्ष आत्मज्ञान में पड़कर आप जन्मादिशून्य आत्मानुभवरूप ही बन जाइये, यही निर्वाण है ॥५३॥

बयालीसवाँ सर्ग समाप्त

तैंतालीसवाँ सर्ग

अज्ञानकल्पित यक्षनगर जैसे इस जगत् का शुद्ध तत्त्वज्ञान से
विनाश हो जाने पर एकमात्र ब्रह्म में ही स्थिति हो जाती है यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामभद्र, भोक्ता और भोग्यरूप यह जो सम्पूर्ण आन्तर अहन्तादि और बाह्य जगत् है वह सब तत्त्वज्ञान से (जगदनुभवरूप भोग के स्वरूपज्ञान से) असत्य बन जाता है। जो भोग होता है उसका अवसाद चिति से ही होता है। वह भोक्ता और भोग्य के सम्बन्ध का अनुभव है। उसी अनुभव से मोह के द्वारा आत्मा और अनात्मा के धर्मों को एक दूसरे में समझनेवाले यानी भोक्ता में ही आत्मबुद्धि रखनेवाले मूढ़ों को बाह्य जगत् का भोग होता है, स्वतः नहीं। इसलिए परमार्थदशा में बाह्य और आभ्यन्तर जगत् का अनुभव ब्रह्मरूप ही है ॥१॥

इसीलिए तत्त्वज्ञानियों को भोग्यवर्गों में रुचि नहीं होती, यह कहते हैं।

जो पुरुष अज्ञान से भलीभाँति मुक्त हो गया है तथा जिसकी आत्मा बोध से शीतल हो चुकी हैं, ऐसे महानुभव का यही चिह्न है कि उसे भोगजल रुचता नहीं ॥२॥

इस प्रकार भोग्यवस्तुओं से जो विरक्त हो गये हैं उनके लिए भोक्ता में अहंकाररूपी अंश का एकमात्र त्याग कर देने से विशुद्ध चिन्मात्ररूप से अवशिष्ट निर्वाण सिद्ध हो जाता है, यह कहते हैं।

भद्र, नामरूपात्मक विषयों के भ्रमस्वरूप दूसरे–दूसरे ज्ञानों का सम्पादन करना निरर्थक ही है। केवल अहंबुद्धि का अभाव ही मोक्ष है, यह आप जानिये ॥३॥

भोगजल नहीं रुचता, यह जो कहा गया है, उसी को पुनः विशदरूप से कहते हैं।

जैसे स्वप्न में दृष्टिगोचर हुए पदार्थ जगे हुए पुरुष को किसी तरह का आनन्द प्रदान नहीं करते और न उसकी दृष्टि में वे अपना अस्तित्व ही रखते हैं वैसे ही 'मैं' 'यह जगत्' इत्यादि भ्रम में देखे गये पदार्थ न तो तत्त्वज्ञानी को आनन्द प्रदान करते हैं और न उसकी दृष्टि में अपना अस्तित्व ही रखते हैं ॥४॥

इस विषय में गन्धर्व–मायाकल्पित नगर दृष्टान्त है, यह कहते हैं।

जैसे यक्ष अपनी भावना से वृक्ष में अपने स्वजन से युक्त असत्य नगर को देखता है वैसे ही

जीव अपनी अविद्या से असत्य ही इस विशाल संसार को देखता है ॥५॥ यद्यपि भ्रान्तिकल्पित भोक्तारूप होने से विभ्रमरूप यक्ष तथा भ्रान्तिकल्पित भोग्यस्वरूप होने से उसका नगर भी नहीं है, तथापि परस्पर उपभोगरूप अर्थक्रियाकारी होने से जैसे वे दोनों सद्रूप की तरह स्थित हैं वैसे ही मिथ्या अहन्ता और जगत् का भ्रम भी स्थित है ॥६॥

दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनों में असत् के भी सत्यरूप से प्रतिभास में आवरणशून्य साक्षी का अध्यास ही निमित्त है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे जंगल में यक्ष आदि विभ्रमरूप ही स्फुरित होते हैं वैसे ही आवरण न रहने से ये चौदह भुवन भी स्फुरित होते हैं। तात्पर्य यह कि आवरणरहित साक्षी में अध्यास के कारण ही ये चौदह भुवन स्फुरित होते हैं ॥७॥

यक्ष के अपने कल्पित देह, नगर आदि के उपसंहार की तरह जगद्रूप के बाध में भी उसे एकमात्र मिथ्यारूप देखना ही हेतु है, यह कहते हैं।

जैसे यह सब कुछ एकमात्र मेरा भ्रम है, और कुछ नहीं यों विचार करता हुआ यक्ष अयक्ष हो जाता है वैसे ही अहमादि सब जगत् मिथ्या ही है यों जानकर यह चित्त चिद्रूप तात्त्विकभाव को प्राप्त हो जाता है ॥८॥ सम्पूर्ण कल्पनाओं तथा आशंकाओं से रहित, त्याग तथा ग्रहण से शून्य, बहुत दूर तक जानेवाली समस्त इच्छाओं से रहित तथा शान्त होकर हे श्रीरामजी, जैसे आप स्थित हैं, स्थित रहिये ॥९॥

विचारपूर्वक देखने से यह दृश्य एकमात्र द्रष्टारूप या तुच्छरूप ही पर्यवसित होता है, यह कहते हैं।

यह सब दृश्य द्रष्टारूप ही व्याप्त है अथवा सत्ता की उत्पत्ति से शून्य द्रष्टारूप भी यह नहीं है, क्योंकि सत् परमार्थ चिद्रूप द्रष्टृतत्त्व जो अवाच्य है वह क्या तुच्छ दृश्यरूप स्थापित हो सकता है ? कदापि नहीं। कोई भी सत् को असत्-रूप नहीं बना सकता, यह तात्पर्य है ॥१०॥

द्रष्टा के दृश्यस्वरूप न होने पर भी व्यवहार में दृश्यसत्ता की स्फूर्ति का निर्वाहक द्रष्टा हो सकता है, यह दृष्टान्त द्वारा दिखलाते हैं।

जैसे वसन्त ऋतु के रस का प्रवाह ही वृक्ष, गुल्म आदिरूप है वैसे ही एकमात्र अपने स्वरूप से ही परिपूर्ण बना देनेवाली आत्मसंवित् ही सृष्टि है ॥११॥

परन्तु परमार्थ में तो द्रष्टा के साथ ऐक्य की सम्भावना भी नहीं है, यह कहते हैं।

जो यह जगत् का आभास है वह सब विशुद्ध चिन्मात्र वेदनरूप ही है। इसमें क्या एकत्व या क्या द्वित्व हो सकता है। इसलिए हे श्रीरामजी, आप पूर्णरूप से निर्वाणस्वरूप से स्थित रहिये ॥१२॥

अब भगवान् वसिष्ठजी सबके प्रति दया से हितकारक बातें उद्घोषित करते हुए उपदेश देते हैं।

हे सज्जनों, आप सबके सब चिन्मय आकाश हो जाइये, परम रस का निरतिशयानन्द का पान कीजिये तथा निर्वाणरूप नन्दनवन में सभी आशंकाओं से शून्य हो स्थित रहिये ॥१३॥ हे मनुष्यों, आप सबके सब बिलकुल शून्य इस संसाररूपी महाजंगल की मरुभूमियों में भ्रान्तचित्त मृगों की नाईं क्यों भटकते–फिरते हैं ? ॥१४॥ हे त्रिलोकीरूपी मृगतृष्णाजल से ठगे गये अतएव नष्टबुद्धि जीवों, आप लोग तृष्णा से चंचलहृदय होकर व्यग्रतापूर्वक इधर–उधर मत दौड़ते फिरें ॥१५॥ हे बाह्य तथा आभिमानिक भोगरूपी मृगतृष्णाजलका पान करनेवाले मृगों, तुम लोग व्यर्थ का परिश्रम उठाकर अपनी आयु मत गँवाओ, मत गँवाओ ॥१६॥ हे सभ्यपुरुषों, जगद्‌रूपी गन्धर्वनगर में विवेक को नष्ट कर देनेवाले गर्व से आप लोग नष्ट न हो जायें। अपने को नष्ट कर देने के लिए ही स्थित इन सुखस्वरूप सांसारिक पदार्थों को आप लोग दुःखरूप ही देखें ॥१७॥ जगद्–रूपी केशोण्ड्रक की भ्रान्ति के लिए ब्रह्माकाश के मध्य में अज्ञानरूपी नीलिमा का आप लोग अवलोकन न करें, किन्तु अभ्रान्त अपने स्वरूप में परिणत हो जायें – विश्राम करें ॥१८॥ हे मनुष्यों, ऊँची शाखाओं में स्थित पीपल के पत्तों पर गिरे तथा वायु द्वारा कम्पित हुई ओस की बूँदों के सदृश क्षणभंगुर मनुष्य शरीरोंवाली इन संसाररूपी अन्धकारपूर्ण गर्भशय्याओं पर आप शयन मत करें ॥१९॥ आदि और अन्त से शून्य पारमार्थिक ब्रह्मभाव में आप लोग शान्त हो निरन्तर स्थित रहें। द्रष्टा और दृश्य इत्यादि विरुद्ध स्वभावरूपी दोष से नष्ट न हो जायें ॥२०॥ अज्ञानीजन ही इस संसार को सत्य समझते हैं। वस्तुतः वह कुछ भी नहीं है। अवशिष्ट जो सत्यवस्तु है उसका तो नाम भी नहीं है ॥२१॥ तृष्णारूपी लोहे की श्रृंखला से वेष्टित संसाररूपी पिंजरे को आत्मज्ञान के बल से जबर्दस्ती तोड़कर सिंह के समान सबके ऊपर स्थित रहिये ॥२२॥ 'मैं' और 'मेरा' इस अभिमानरूप भ्रान्ति की एकमात्र शान्ति ही मुक्ति है। इसके सिवा और कोई दूसरी वस्तु मुक्ति नहीं है। तथा जिस किसी रूप से स्थित योगी की वह अपनी सत्ता ही है ॥२३॥

अपार संसारमार्ग में निरन्तर चलते रहने के कारण खिन्न हुए पथिकों के लिए वही विश्रान्ति का एक अलग स्थान है, वह विश्रान्ति का स्थान है, यों उसीकी कल्पनाकर कहते हैं।

इस संसाररूपी मार्ग में लगातार जलते रहने से खिन्न हुए पथिक के लिए निर्वाणता, वासनाशून्यता और उत्कृष्ट त्रिविधतापशून्यता ये तीनों ही शान्त विश्राम की भूमिका हैं ॥२४॥ परस्पर कथन के अयोग्य अर्थों से भरे ये जगत् के पदार्थ हैं। इन्हें तत्त्वज्ञ जैसा समझते हैं वैसा मूर्ख नहीं समझते और मूर्ख जैसा समझते हैं वैसा तत्त्वज्ञ नहीं समझते ॥२५॥ जैसे महासमुद्र से वेष्टित हो समुद्ररूप से स्थित हुई गंगा, गोदावरी और नर्मदा आदि नदीरूप आकृति समुद्रवासियों को उपलब्ध नहीं होती, वैसे ही भ्रान्ति की निवृत्ति हो जाने पर यह संसार की आकृति भी ज्ञानियों को उपलब्ध नहीं होती ॥२६॥

फिर इसीको स्पष्टरूप से कहते हैं।

भ्रम के शान्त हो जाने पर सांसारिक स्वरूप से स्थित ही जीवन्मुक्त ज्ञानी के लिए यह संसाररूप भी उपलब्ध नहीं होता। उसके लिए तो अपने स्वरूप में स्थित एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही विद्यमान रहता है ॥२७॥ जैसे खूब जला दिये गये तृणों की भस्म का ढेर वायु से उड़कर न जाने किस जगह पर चला जाता है, वैसे ही आत्मस्वरूप में विश्राम करनेवालों की संगति से ज्ञान प्राप्तकर सज्जन पुरुषों का यह जगत् न जाने कहाँ चला जाता है ॥२८॥ ब्रह्मपद का जो बृंहणरूप (वर्द्धनशील) अर्थ है उसी का आकारविशेष जगत् है। वह आकारविशेष यदि ब्रह्मशब्द का मुख्यार्थरूप आत्मा ही यानी निर्विकल्प-स्वप्रकाश-निरतिशयानन्द प्रत्यगात्मा ही है, तब तो वह 'जगत्' शब्द का अर्थ बहुत उत्तम है। किन्तु 'गच्छति-षड्विधविकारैः परिवर्तते - इति जगत्' यानी छः तरह के विकारों से जो सदा परिवर्तित होता है उसे जगत् कहते हैं। इस तरह की व्युत्पत्ति से 'जगत्' शब्द का अर्थ यदि विकारात्मक कार्यों का भागी किया जाता है, तो फिर वह अर्थ उत्तम नहीं है ॥२९॥

इस संसार के निर्विकल्प का अनुभव बच्चे को भी होता है, उसका साम्य दिखलाते हैं।

जिस बच्चे को अभी विशेष ज्ञान नहीं हुआ है उसको ये संसार के पदार्थ जिस तरह के भासते हैं, ठीक उसी तरह के ये सभी संसार के पदार्थ वासनाशून्य स्थित विद्वान् को भासते हैं ॥३०॥

इन सांसारिक पदार्थों का अनुभव तत्त्वज्ञानियों को जैसा होता है वैसा मूर्खों को नहीं और मूर्खों को जैसा होता है वैसा तत्त्वज्ञानियों को नहीं 'यह जो ऊपर कहा गया है, उसका गीता में प्रतिपादित भगवान् श्रीकृष्ण के वचन से मेल दिखलाते हैं।

भद्र, आत्मा का यथार्थ ज्ञान अज्ञानियों के लिए एक तरह की रात ही है, क्योंकि जैसे अन्धेरी रात प्रकाशरूप नहीं रहती, वैसे ही अज्ञानियों के प्रति आत्मा का ज्ञान भी प्रकाशरूप नहीं रहता। इस तरह की जो आत्मविद्यारूपी रात है उसमें जितेन्द्रिय तत्त्वज्ञ पुरुष जागता रहता है यानी आत्मविद्या के लिए तत्त्वज्ञ पुरुष निरन्तर ऐसे सावधान रहता है कि उसमें से क्षणभर के लिये भी च्युत नहीं होता। और जिस द्वैतबुद्धिरूप अज्ञानदशा में प्राणी व्यवहार करते हैं वह तत्त्वज्ञ मुनि के लिए रात है, क्योंकि ज्ञानी के प्रति उसका प्रकाश ही नहीं रहता ॥३१॥

इसीकी व्याख्या करते हैं।

चूँकि अज्ञानरूप अन्धकार से सभी प्राणी आवृत हैं, इसलिए सुषुप्त की तरह स्थित आत्मतत्त्व ही इस तत्त्वज्ञानी पुरुष के लिए अविरत जागरणरूप है, इसी दृष्टि से या 'निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी' यह कहा गया है और चूँकि मूढ़ जनों में जाग्रद्रूप से प्रसिद्ध शब्दादिविषयास्वाद चित्र में देखे गये युद्धादि की तरह सामने स्थित रहते हुए भी इस तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में नहीं रहते इसलिए 'यस्यां जागर्ति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः' यह कहा गया है ॥३२॥

उत्तरार्ध की पुनः व्याख्या करते हैं।

जन्मान्ध पुरुष को हुए रूपों के अनुभव के सदृश ज्ञानी पुरुष को जगत् का अनुभव यदि होता है, तो वह रात्रिस्वप्नवत् होता है और यदि नहीं होता, तो निशासुषुप्त के समान होता है ॥३३॥ मूढ़ पुरुषों को दुःखरूप से प्रसिद्ध ये तीनों जगत् उन्हीं के लिए हैं, तत्त्वज्ञानी के लिए नहीं, क्योंकि ये सत् नहीं है । *(यदि ज्ञानी के लिए विषयोपभोग नहीं है, तो फिर वह ज्ञानी किससे तृप्त होकर जीवित रहता है, इस पर कहते हैं ।)* स्वप्नरूप से स्वप्न का ज्ञान हो जाने पर स्वप्न के बाह्य और आभ्यन्तर विषय जागे हुए पुरुष को जैसे नहीं रुचते, वैसे ही यद्यपि जाग्रत्–स्वप्न के भोग नहीं रुचते, फिर भी वह सारे भेदों से रहित, सबके विश्वास के, श्रद्धा के भाजन परम ऐक्य को प्राप्त, निर्वाणस्वरूप होकर सर्वदा मन में पूर्ण शान्ति का अवलम्बन कर ही अवस्थित रहता है । भोगों की वासनाओं द्वारा चित्त का बाहर आकर्षण न होने के कारण ज्ञानी की स्थिति ध्यान के चित्तनिरोध के लिए किये जानेवाले प्रयत्न के बिना भी समान ही रहती है *(इसका दृष्टान्त द्वारा उपपादन करते हैं ।)* ठीक ही है नाली आदि निम्नमार्ग के बिना तालाब आदि के जल की प्रवाह आदि क्रिया कुछ हो नहीं सकती ॥३४–३६॥

बाह्य अर्थों का बाध होने पर बाह्य इन्द्रियों का निरोध हो सकता है, परन्तु मन का निरोध कैसे हो सकता है, यह कहते हैं ।

अर्थ (विषय) ही मन है और मन ही अर्थ है । जो बाह्य और आभ्यन्तररूप विषयाभास है, वह मन ही है ॥३७॥ जैसे नदियों के जल जब तक समुद्र में नहीं पहुँचते तब तक नदी, प्रवाह आदि नानाविध आकारों में भासित होते हैं, किन्तु जब वे समुद्र में जाकर मिल जाते हैं, तब तो एकमात्र जलरूप ही भासते हैं, वैसे ही बाह्य और आभ्यन्तर सम्पूण अर्थ तथा अनर्थों का समुदाय जो स्फुरित होता है वह सब सर्वत्र व्याप्त मन ही स्फुरित होता है, उसी से अर्थों का निर्भास होता है । मन तथा संसार के पदार्थों में भेद ऐसे नहीं है, जैसे जल और तरंगों में भेद नहीं है । *(ठीक है, ऐसा ही सही, किन्तु इससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं ।)* इसलिए मन तथा सांसारिक पदार्थ इन दोनों में से किसी एकका बाध हो जाने पर दोनों का ही बाध हो जाता है, जैसे कि पवन तथा उसके स्पन्दन का । इसलिए इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि परमार्थदृष्टि से निःसार इस जगत् में एकरूप होने के कारण अर्थज्ञ और मन दोनों ही किसी एक की शांति से शान्त हो जाते हैं । इससे तत्त्वज्ञान से जब अर्थ का बाध हो जाता है तब मन भी बाधित हो ही जाता है ॥३८–४१॥ संसार के सब अर्थ संकल्परूप ही हैं, बुद्धिमान् व्यक्ति को उसकी कभी भी इच्छा नहीं करना चाहिए, मन की भी यही स्थिति है, इसलिए तत्त्वज्ञान से अर्थों की एवं मन की निवृत्ति अवश्य हो जायेगी ॥४२॥

संसार के पदार्थों और मन का जो यह बाध है वह स्वप्न में हुए व्याघ्रनाश के समान अनष्ट का ही नाश है, यह कहते हैं ।

भद्र, ज्ञानी पुरुष के अर्थ और मन अनष्ट ही नष्ट हो जाते हैं अर्थात् जब अर्थ और मन की

कभी उत्पत्ति ही नहीं हुई, तब उनका नाश ही क्या ? इसलिए वे अनष्ट ही हैं। जैसे कि किसी एक मिट्टी की मूर्ति में भ्रान्ति से कोई एक पुरुष अपने शत्रु की कल्पना कर लेता है, किन्तु ज्ञान से जब उसको मिट्टी की मूर्ति मालूम पड़ जाती है, तब वह मूर्ति न शत्रुरूप ही रहती है और न शत्रुजनित भय की कारण ही होती है, बस वही स्थिति यहाँ पर भी है ॥४३॥ ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में अर्थ और मन दोनों पारमार्थिक ब्रह्म-स्वभाव से ही स्थित हैं। वे जिस सांसारिक मिथ्यारूप से स्थित थे उस रूप से विलक्षण पूर्णानन्दात्मक पारमार्थिक सत्स्वरूप से ही स्थित हैं ॥४४॥ तत्त्वज्ञ की दृष्टि से सुखादि भोग एवं जगत् को कार्य-कारणरूप से जुटा देने में समर्थ काल, कालकृत जन्मादिविकार, भोगकर्ता एवं अज्ञों के शब्दादि विषय-ये सब ऐसे असत् हैं, जैसे समीप में सोये हुए पुरुष का स्वप्न ओर अधीर बालक को सामने भास रहा यक्ष ॥४५॥ जैसे धीर-वीर पुरुषकी दृष्टि में पिशाचबुद्धि अस्तित्व नहीं रखती, ऐसे ही ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में अज्ञानियों के समस्त जगत् भी अस्तित्व नहीं रखते। अज्ञानी पुरुष ज्ञानी को भी बहुतकाल तक अज्ञानी समझता है। ठीक ही है, अज्ञानी की दृष्टि से तो वन्ध्या भी पुत्र-पौत्र आदि परम्परा से बढ़ती-रहती है ॥४६॥

तब तत्त्वज्ञानी पुरुष जगत् का स्वभाव कैसा मानते हैं, इस पर कहते हैं।

तत्त्वज्ञानी लोग तो ज्ञेयरूप न होते हुए भी स्वप्रकाशस्वरूप होने से ही अर्थाभास की तरह स्थित यानी भासमान (ज्ञेयरूप) तथा आदि और अन्त से शून्य ब्रह्मरूप बोध को संसार का असली स्वभाव कहते हैं ॥४७॥

बाह्य अर्थों में कहे गये जानने के प्रकार को आभ्यन्तर मानसिक अर्थों में और समझना चाहिए, यह कहते हैं।

और मन के शब्दार्थ से रहित (मानसिक ज्ञान के अविषय) कालादि विभागकृत परिच्छिन्नता से वर्जित बोधरूपी जल मन एवं बुद्धिरूपी तरंगों से युक्त-सा प्रतीत होता है, परन्तु वह निर्मल ही ही है और इसीको प्रपंचगत स्वभाव समझते हैं ॥४८॥

इस तरह विस्तार के साथ अज्ञानी और तत्त्वज्ञानियों के जगत्-ज्ञान के जो दो प्रकार दिखलाये गये हैं, उनमें यथार्थरूप होने के कारण द्वितीय प्रकार ही उपादेय है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, शुद्ध आत्मा के भीतर संसार के पदार्थों तथा मन का संभव कहाँ है अथवा वे हैं ही क्या ? इस मन तथा जगत् के विषय में उत्पन्न हुई भ्रान्ति बिलकुल निरर्थक है। इसलिए आपसे यही कहना है कि आप ब्रह्मस्वभाव में स्थित रहिये ॥४९॥

अपनी असली स्थिति जब सुदृढ़ हो जाती है, तब जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाएँ एकमात्र तुरीय बोधरूप बन जाती हैं तदनन्तर मन को मनन करनेका कोई विषय ही नहीं रह जाता, इससे मन भी शान्त हो जाता है, यह कहते हैं।

शरत्काल के कमलों, तारों या मनुष्यों को आकाश की नाईं शुद्धज्ञानस्वरूप ब्रह्मस्वभाव में

स्थित पुरुषों को जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से मन का अनुभव नहीं होता ॥५०॥ जिसमें अनन्त नानात्व (भेद) उपस्थित है, ऐसे सम्पूर्ण ज्ञेय का विधूनन करके हे श्रीरामचन्द्रजी, रज्जू में अध्यस्त सर्प का विधूनन कर अपने स्वरूप में स्थित रज्जू की नाईं आप भी अपने चिद्घन स्वभाव में स्थित हो जाइये ॥५१॥ बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों के स्वरूप को ज्ञप्ति ही धारण करती है, जैसे कि बीज शाखा तथा फल आदि के स्वरूप को धारण करता है । अतः हे श्री रामचन्द्रजी, बतलाइये तो सही, ऐसी स्थिति में अर्थ और मन कहाँ रहे ? ॥५२॥ ज्ञेय पदार्थों के अभाव से ज्ञप्ति (बुद्धि या वृत्ति) भी अनिर्वचनीय पदको प्राप्त हो चुकी है। इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, सम्पूर्ण विशेषों से शून्य स्वयंप्रकाश सद्रूप आत्मा ही शेष है ॥५३॥

पदार्थ और मन दोनों का निरूपण एक–दूसरे के अधीन होने से इनमें कोई भेद न रहने पर आखिर में एकमात्र भ्रान्ति ही इनमें सिद्ध होती है, यह कहा है।

अर्थ ही मन है और वह अभावरूप भ्रम है तथा मन ही जगत् के पदार्थ रूप से परिणत होता है और वह भी अभावरूप भ्रम ही है ॥५४॥

तब ऐसी दशा में जगत् के पदार्थ और मन वे दोनों तत्त्वतः क्या है। इस पर कहते हैं।

ब्रह्म के सम्पूर्ण वस्तुओं की आत्मा होने से कारणशून्य इस मनरूप से वही भासता है और भ्रम के अनुभव से पदार्थ भी मिथ्या ही भासता है ॥५५॥ हे श्रीरामजी, जैसे कारणरहित अर्थों का प्रकाश होता है वैसे ही कारण रहित ही मन भी भासता है । बिजली की चमक के तुल्य अस्थिर यह मन इधर–उधर अपनी चंचलता प्रकट करता है ॥५६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, एकमात्र मन का स्वरूप होकर आप भी इस संसार में भ्रान्त–से हो रहे हैं । एक आत्मस्वभाव का यदि आप परिज्ञान कर लेते हैं, तब तो आप न मनरूप हैं और न भ्रान्त–से ही हो रहे हैं ॥५७॥ यह निश्चित है कि मन से ही यह संसार उत्पन्न होता है और आत्मज्ञान से शान्त हो जाता है । सीप में चाँदी के भ्रम के आकार का मनुष्य झूठ–मूठ में दुःख उठाता है ॥५८॥ परन्तु ज्ञान ही परमात्मा का असली स्वरूप है और संसार का अभाव भी ज्ञानरूप ही है । निर्वाण से भिन्न 'अहम्' यह भ्रमरूप सत्ता तो एकमात्र दुःख के लिए ही है ॥५९॥

तब निर्वाण से भिन्न 'अहम्' यह भ्रमरूप सत्ता किस उपाय से शान्त होती है, वह उपाय बतलाते हैं ।

मृगतृष्णाजल के सदृश इस अहंकार का रूप असत् और शून्य ही है, इस तरह के आत्मा के परिज्ञान से यह अहंकार बिलकुल शान्त हो जाता है ॥६०॥

ऐसा कैसे होगा ? इस पर कहते हैं।

सृष्टि के प्रारम्भ में ज्ञानमय ब्रह्मा सर्वज्ञ होने के कारण सृष्टि करने योग्य सभी पदार्थों को आत्मस्वरूप ही जानकर स्वयं उस तरह के ज्ञानयुक्त हिरण्यगर्भ होकर उसके संकल्प के अनुसार

बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थरूपता को अपने शुद्ध आत्मस्वरूप का परित्याग न करते हुए ही ऐसे प्राप्त हो गये, जैसे तरंगरूपता को जल ॥६१॥

ठीक है, ऐसा ही सही, किन्तु इससे प्रकृत में क्या आया, इस पर कहते हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि मूल से लेकर शाखा के अग्रभाग तक वृक्ष की जैसे एक ही सत्ता है वैसे ही ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूप जगत् में भी अत्यन्त निर्विकारभाव को प्राप्त ज्ञेयपर्यन्त एक ही ज्ञप्ति की (ज्ञानस्वरूप ब्रह्म की) सत्ता सर्वत्र भास रही है, दूसरी सत्ता नहीं है ॥६२॥

सत्ता की एकता में दूसरा दृष्टान्त देकर उसका उपपादन करते हैं।

जैसे लाखों योजनपर्यन्त दूर एक ही निर्मल आकाश भासता है, वैसे ही ज्ञेयपर्यन्त एक ही अखण्डित निर्मल ज्ञान भासता है ॥६३॥

ज्ञान की निर्मलता में भी यही दृष्टान्त है, यह कहते हैं।

जैसे सर्वत्र विद्यमान एक आकाश शून्यरूप होने से निर्मल है, वैसे ज्ञान–ज्ञेयदशा में भी विद्यमान ब्रह्म निर्मल है, यह जानकर स्थित रहिये ॥६४॥ जैसे घनीभूत होकर घी अपने को पाषाणरूप कर लेता है ऐसे ही चेतन विषयरूप होकर अपने को चित्तरूप करता है ॥६५॥ बोधरूप आत्मा के अज्ञान से ही देश, काल आदि सामग्री के बिना यह अज्ञानी आत्मा चित्तरूप बन गया है। वस्तुतः उक्त तर्कों से यह आत्मा एक ही स्थित है ॥६६॥ शुद्ध चिदात्मा में यद्यपि अज्ञान आदि का कोई संभव नहीं है, तथापि अज्ञानकाल में एक दूसरों को बोध देने के लिए यह सब कल्पना की जाती है ॥६७॥

चूँकि अविद्या आदि का स्वरूप सर्वथा असंभव है, इसलिए तत्त्वज्ञान का उदय हो जाने पर अविद्या के साथ सब पदार्थ गल जाते हैं। इस तरह उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, तत्त्वज्ञान से मूलअज्ञान के शान्त हो जाने पर महानुभाव लोग अभिमानरहित हो घी की तरह अपने स्वरूप में ही गलित हो जाते हैं तथा गल जाने से वे निरतिशयानन्दपूर्णभाव से शान्त होते हुए विक्षेपरहित हो निरन्तर समाधिरूपी विश्रान्ति में तत्पर होते हैं ॥६८॥

तैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

चौवालीसवाँ सर्ग

समाधिरूपी कल्पद्रुम को हर तरह से बोना चाहिये, ताकि उसके नीचे जीव का श्रान्त मनरूपी मृग अच्छी तरह विश्रान्ति पा सके, यह वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुने, समाधिरूपी वृक्ष की सत्ता का (स्थिति का) क्रमशः वर्णन कीजिये, जो विवेकी पुरुषों के जीवन के उपयोगी सब तरह के फलों से सुशोभित है तथा जो लता, पुष्प आदि से युक्त मनरूपी मृग को विश्रान्ति प्रदान करनेवाली है ॥१॥ महाराज वसिष्ठजी ने

कहा : हे श्रीरामजी, सुनिये, मैं आपसे ऐसे समाधिरूपी वृक्ष का वर्णन कर रहा हूँ, जो विवेकीजनरूपी जंगल में पैदा हुआ है, जिसकी ऊँचाई अभी भी बढ़ती ही जा रही है, जो अपने पत्र, पुष्प एवं फलों से खूब लदा है और जो विवेकी पुरुषों को सब तरह से जीवन प्रदान करनेवाला है ॥२॥

शत्रुओं तथा सगे–सम्बन्धियों द्वारा हुए अपमान आदि से जन्य दुःख से या भाग्यवशात् अपने–आप अथवा साधुओं या मित्रों आदि के उपदेश से या और किसी दूसरे निमित्त से तात्पर्य यह कि जिस किसी तरह से उत्पन्न हुआ जो संसाररूपी वन में परम वैराग्य है, उसीको विद्वान् लोग समाधिरूपी वृक्ष का बीज कहते हैं ॥३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्त को ही विद्वान लोग इस बीज का खेत बतलाते हैं, जो शुभकर्मसमूहरूपी हलों से खूब जोता गया है, शान्ति आदि जल से रात–दिन खूब सींचा गया है तथा निरन्तर बह रहे प्राणायामरूपी नहर से जो युक्त है ॥४॥ यह संसार का परम वैराग्यरूप समाधि का बीज विवेकीजनरूपी जंगल में विवेकज्ञान से परिष्कृत चित्तरूपी भूमि में अपने ही आप जाकर गिरता है ॥५॥ अपनी चित्तरूप भूमि में गिरे हुए पूर्वोक्त वैराग्यरूपी समाधिबीज को बढ़ाने की इच्छा से दृढ़ बुद्धि रखनेवाले खेदशून्य पुरुष को निम्नलिखित जलों से प्रयत्नपूर्वक निरन्तर उसे सींचते रहना चाहिये ॥६॥

सर्वप्रथम बुद्धिमान पुरुष को सज्जनों की संगतिरूपी नवीन क्षीर से, तद्नन्तर शास्त्ररूपी अमृत से उसे सींचना चाहिये, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि वह शुद्ध, स्नेहयुक्त, पवित्र, मधुर और आत्मा के लिए हितकारक, चन्द्रमा के अमृत के सदृश सत्संगरूपी नूतन क्षीर से समाधि के बीज को सबसे पहले सींचे। उसके बाद 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतियों द्वारा सम्पूर्ण द्वैत के निषेध से अन्तःकरण को सांसारिक पदार्थों से शून्य बना देनेवाले, पूर्ण, स्वच्छ, सब तरह के तापों की शान्ति हो जाने से अमृत की तरह स्वादिष्ट और शीतल तथा अमृत प्रवाह के नहर के तुल्य तत्त्वज्ञान के द्वारभूत श्रवण–मननादिरूप शास्त्रार्थों के निर्मल जलों से समाधि के बीज को सींचे ॥७,८॥ संसार को त्याग देने की प्रबल इच्छारूप समाधिबीज को अपनी चित्तरूपी भूमि में गिरे जानकर बुद्धिमान् पुरुष को उसकी अनेक यत्नों से रक्षा करनी चाहिये ॥९॥

वे यत्न कौन हैं, इस पर कहते हैं।

कायिक, वाचिक तथा मानसिक तप एवं दान से और अभिमान आदि से शून्य पदार्थों के संघटन से समर्थित पुण्यमय तीर्थ स्थानों में निवासरूपी वृत्ति के विस्तार की नानाविध कल्पनाओं से इस बीज की रक्षा करना चाहिए ॥१०॥ इस तरह सींचने आदि के बाद बीज में जब अंकुर पैदा हो जाय, तब इसकी रक्षा के लिए अत्यन्त निपुण सन्तोषनामक पुरुष को उसकी मुदितानामक प्रियपत्नी के साथ संरक्षक बना देना चाहिये ॥११॥ तदनन्तर पूर्ववासनाओं में स्थित आशारूपी विहंगों, आत्मा से भिन्न पुत्र, मित्र, आदि में अनुरागरूपी पक्षियों तथा ध्यानांकुर के नाश के लिए

झपट रहे काम, गर्व धन आदिरूप गीध को इसी सन्तोषनामक रक्षक द्वारा दूर भगा देना चाहिए ॥१२॥ अहिंसाप्रधान होने से अत्यंत कोमल, यम, नियम, प्राणायाम, ईश्वरोपासनादि सत्क्रियारूपी झाड़ुओं से इस अंकुर के खेत से रज को (रजोगुण को) दूर फेंक देना चाहिये तथा इसी तरह अचिन्त्य ब्रह्मलोकपद विवेकरूपी धूप से अज्ञानरूपी अन्धकार को भी दूर भगा देना चाहिये ॥१३॥ भोगों द्वारा क्षणभंगुर तथा तरंगों के समान चंचल, दुष्कृतरूपी मेघों से प्राप्त सम्पत्ति और प्रमदारूपी अनेक वज्र इस अंकुर के ऊपर गिरते हैं ॥१४॥ इसलिए धैर्य, औदार्य तथा दया आदि यत्नों से एवं जप, स्नान, तप और दम आदि के द्वारा प्रणव के अर्थरूप त्रिशूल को धारण करके उन वज्रपातों का निवारण करना चाहिए ॥१५॥ इस तरह से रक्षित इस ध्यान के बीज से विवेकनामक नवीन अंकुर उत्पन्न होता है, जो अत्यन्त पुष्ट और सौन्दर्य की अधिकता से उन्नत एवं श्रीसम्पन्न रहता है ॥१६॥ जैसे अभिनव चन्दमा से आकाश सुन्दर प्रतीत होता है वैसे ही उस विवेक नामक नवीन अंकुर से आत्मप्रकाशयुक्त विकासशालिनी चित्तभूमि आलोक रहने से सुन्दर प्रतीत होती है ॥१७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, उस अंकुर से दो पत्ते अपने-आप निकलते हैं। जिनमें एक का नाम तो वेदान्तशास्त्रों का विचार और दूसरे का नाम साधुपुरुषों का समागम है ॥१८॥ आगे चलकर यह अंकुर सन्तोषरूप त्वचा से वेष्टित तथा वैराग्यरूपी रससे रंजित हो काण्ड, दृढ़मूलता और अपनी ऊँचाई को ग्रहण करता है ॥१९॥ शास्त्रार्थरूपी वर्षा का जल पाकर वैराग्यरूपी रस से जब इसकी आत्मा खूब पुष्ट हो जाती है तब यह अंकुर अपने थोड़े से ही समय में परम उन्नति को प्राप्त हो जाता है ॥२०॥ वेदान्तशास्त्रों के विचार, साधुओं की संगति तथा वैराग्यरूपी रस से जब यह खूब मोटा हो जाता है तब राग-द्वेषरूपी बन्दरों के हिलाने-डुलाने से तनिक भी कम्पित नहीं होता ॥२१॥ तदनन्तर विज्ञान से अलंकृत आकारवाले उस विवेक से आत्मरस से विलास करनेवाली एवं बहुत दूर देश तक जानेवाली (卐) ये लताएँ प्रादुर्भूत होती हैं ॥२२॥ स्वात्मतत्त्व का स्पष्ट आविर्भाव, एकमात्र उसीकी सत्यता, आत्मस्वरूप में स्थिति, धीरता, निर्विकल्पता, समता, शान्तता, मैत्री, करुणा, कीर्ति और आर्यता ये सब लताएँ उसी एक विवेकरूपी अंकुर से निकलती हैं ॥२३॥ यशरूपी पुष्पों तथा शान्ति आदि गुणरूपी पत्तों से शोभित इन लताओं से परिपुष्ट ध्यानरूप वृक्ष संन्यासी के लिए पारिजात-सा बन जाता है कल्पवृक्ष हो जाता है ॥२४॥ हे श्रीरामजन्द्रजी, लता, पल्लव तथा पुष्पों से सुशोभित इस तरह का यह उत्तम ज्ञानरूपी वृक्ष (समाधिरूपी वृक्ष) दिन-पर-दिन भविष्यत् काल में मूलअज्ञान के उच्छेदक ब्रह्मसाक्षात्काररूपी ज्ञान का प्रदाता होता है, जिससे कि सप्तम भूमिका तक विश्रान्ति प्राप्त हो जाय ॥२५॥ यशरूपी पुष्पों के गुच्छों से भरा, गुणरूपी पत्तों के विलास से भूषित, वैराग्यरूपी रससे विस्तार को प्राप्त तथा प्रज्ञारूपी मंजरियों से अलंकृत यह

(卐) शाखा-प्रशाखाओं के रूप में फैलकर बहुत दूर देशतक जानेवाली यह साधारण अर्थ है। इसका विशेष अर्थ 'अपरिच्छिन्न आत्म-प्रदेश में जानेवाली' है।

समाधिरूपी वृक्ष सारी दिशाओं को ऐसे शीतल कर देता है जैसे कि वर्षा ऋतु में मेघ, एवं सांसारिक ताप को ऐसे शान्त कर देता है, जैसे कि सूर्य के ताप को चन्द्रमा ।।२६,२७।। जैसे मेघ छाया का विस्तार करता है वैसे ही यह भी शमतारूपी छाया का विस्तार करता है और शम भी चित्त की स्थिरता को ऐसे बढ़ाता हैं, जैसे पूर्वी हवा बादल को ।।२८।। आत्मज्ञान के मूलबन्ध को यह अपने से ही ऐसे बाँध देता है, जैसे कुलाचलपर्वत स्थित अपने मूल को । हे श्रीरामजी, यह वृक्ष, अपने ऊपर कैवल्यनामक फल देनेवाले शान्ति आदि मांगलिक गुच्छों की शोभा रचता है ।।२९।। पुरुष के दृश्यरूपी जंगल में छाया के वितान से वेष्टित इस विवेकरूपी कल्पवृक्ष के दिन-दिन बढ़ने पर हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्तरूपी भूमि के आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक तापों का हरण करनेवाली उल्लसित हो रही बुद्धिरूपी लता से तुषारगर्भ के समान एक सुन्दर शीतलता प्रवृत्त होती है ।।३०,३१।। अनेक जन्मों के नानाविध दुःखों से जीर्ण, दैवात् सन्मार्ग प्राप्त हो जाने पर भी नाना वादियों के कोलाहल से व्यग्र होकर उस मार्ग से भ्रष्ट एवं विभिन्न संसारप्रान्तों में घूमते रहने से श्रान्त यह मनरूपी पथिक मृग इसी वृक्ष की शीतल छाया में आकर विश्राम करता है ।।३२।। एकमात्र सत्ता ही जिसकी आत्मा है ऐसे पुरुषरूपी चमड़े का अपहरण करने के लिए काम, क्रोध आदि छः व्याध इसके पीछे पड़े हैं । अनेक प्रकार के असार शरीर आदि रूप कण्टकों के कुंजों में बार-बार छिपकर यह अपने को बचाने की चेष्टा करता है । यहाँ तक कि उन कुंजों में बार-बार छिपने की कोशिश करने से इस मृग का मुख उस शरीर के अन्दर वर्तमान नाना प्रकार के दोषरूपी काँटों से जर्जर हो गया है ।।३३।। वासनारूपी पवन से प्रेरित संसाररूपी जंगल में दौड़ रहा यह मृग अहन्तारूपी मृगतृष्णा की ओर सदा दौड़ते रहने से अन्तःकरण के तृष्णारूपी विषके दाह से अत्यन्त व्याकुल हो गया है ।।३४।। यह मनरूपी मृग अनेक प्रकार के भोगों में आदर रखनेवाला है, थोड़े में कभी सन्तुष्ट नहीं रहता । यही कारण है कि चाहे कितना ही दूर क्यों न हो, लेकिन वहाँ भी उपजे हुए हरे-हरे तृणरूपी विषयों में बराबर दौड़ते रहने से इसका शरीर बिलकुल जर्जर हो गया है । (क्या कहा जाय ?) यह तो पुत्र, पौत्र आदिकों के रात-दिन परिपालन की चिन्ता में ही व्यस्त रहने के कारण आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक तीन तरह के तापों से अनर्थरूपी गड्ढे में जा गिरा है ।।३५।। सम्पत्तिरूपी लताओं में पैर फँस जाने से जब यह उठकर भागना चाहता है तब पुनः लड़थड़ाकर गिर पड़ता है, इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, शत्रु, चोर तथा राजा आदि इसे शीघ्र पकड़कर बाँध ले जाते हैं, खूब पीटते हैं तथा नाना प्रकार के दण्ड लगाते है । इन सब संकटों से इसका शरीर अत्यन्त कुण्ठित हो गया है । किसी काम का नहीं रह गया है । तृष्णारूपी सुन्दर नदी का अवगाहन करनेवाला यह, क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह आदिरूप तरंगों से दूर फेंक दिया जाता है ।।३६।। अनेक व्याधिरूपी दुष्ट व्याधों के दुःखों से पलायन में तत्पर यह मृग दैव की संभावना से रहित है । व्याधों के आगमन से मानों इसने अपने आकार को संकुचित कर लिया

है ॥३७॥ नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों के आस्वाद के विषय गीतों, घण्टा के शब्दों तथा जव आदि अंकुरों के निमित्तभूत व्याधों के खेत आदि से उत्पन्न दुःखरूपी बाणों से शंकित, काम, क्रोध आदि शत्रुओं के आक्रमण से व्यग्र तथा पत्थरों के प्रहारों के तुल्य पूर्व-पूर्वकाल के दुःखों के अनुभवरूप संस्कारों से युक्त यह मनरूपी मृग है ॥३८॥ स्वर्ग, नरक आदिरूप ऊँचे-नीचे स्थानों में क्रमशः चढ़ने-गिरने से इसके मस्तक में चक्कर आ गया है तथा काम, क्रोध आदिरूप पत्थरों की निरन्तर चोट खाने से यह चूर्ण-चूर्ण हो गया है ॥३९॥ तृष्णारूपी सुन्दर लताओं में छिपते रहने से इसका शरीर घावयुक्त हो गया है। इसने अपनी बुद्धि से अनेक तरह के आचारों की कल्पना कर रक्खी है। हे श्रीरामचन्द्रजी, यह परमात्मा की माया के विषय में अशिक्षित है ॥४०॥ यह इन्द्रियरूपी गाँव में आकर भागने में तत्पर है। जिसको वश में कर लेना कोई लड़कों का खेल नहीं है ऐसे कामरूपी गजेन्द्र की भयानक गर्जना से यह मर्दित हो चुका है ॥४१॥ विषयरूपी अजगरों के भयानक विषरूपी फुफकार से यह मूर्च्छित हो गया है तथा कामिनीरूपी भूमि में कामुक यह मनरूपी मृग विषयरस से प्रायः मर्दित हो गया है ॥४२॥ क्रोधरूपी दावाग्नि से यह जल गया है । यही कारण है की इसकी पीठ पर मानों फोड़ा हो जाने से इसे बाहर दाह हो रहा है। और हे श्रीरामजी, विषयों में बार-बार भ्रमण करते रहने से अनेक तरह के चिन्तारूपी दुःखों से इसके भीतर भी भारी दाह उठ रहा है ॥४३॥ अपनी आत्मा में संलग्न अनेक अभिलाषारूपी मच्छर इसे काट-खाते हैं और यह भी उनके भय से वेगपूर्वक आगे भाग रहा है ॥४४॥ यह तो अपने ही कर्म और कर्तृता के फर में पड़कर उद्भ्रान्त हो गया है, फिर भी एक दारिद्रयरूपी व्याघ्र इसके पीछे लगा है। स्त्री, पुत्र आदि में आसक्ति रूपी व्यामोहमिहिका से अन्धा बना देनेवाले कुहरे से अन्धा होकर कपटरूपी पर्वत की चोटियों पर चढ़ते समय नीचकृत्यरूपी गड्ढों में गिर जाने से इसका शरीर भग्न हो गया है ॥४५॥ मानरूपी सिंह के समुल्लास से इसके हृदय में उत्कम्पन हो रहा है इसकी छाती धड़क रही है, और उससे यह आतुर हो गया है तथा प्रसिद्ध मृत्युरूपी व्याघ्र से प्रहार करते समय अगस्त वृक्ष के पुष्प की नाईं सुखपूर्वक विदीर्ण करने योग्य यह दृष्ट है ॥४६॥ निर्जन जंगल में गर्वरूपी अजगर इसको शीघ्र निगल जाने के लिए चिरकाल से प्रतीक्षा कर बैठा है। नानाविध कामनाओं की सिद्धि के लिए चारों ओर अपनी दीनता प्रकटकर भीख माँगने के निमित्त इसने दाँतों रूपी मानों जव के अंकुर फैला रक्खे हैं ॥४७॥ स्त्री के लिए बने हुए युवावस्थारूपी प्रियमित्र ने क्षणभर इसका आलिंगन कर इसे फिर छोड़ दिया है। झंझावात के सदृश कुपित इन्द्रियों ने दुर्गम नरक लोक तथा स्थावर आदि योनिरूप अनेक जंगलों में ले जाकर इसे बार-बार फेंक दिया है ॥४८॥ हे राजन्, इस तरह का यह मनरूपी मृग अनेक जन्मों के संचित पुण्य के उदय से कभी अधिकारी शरीर में शम आदि साधनों से युक्त होने पर इस पूर्वोक्त समाधिरूपी वृक्ष के नीचे विश्रान्तिसुख को ऐसे प्राप्त करता है, जैसे रात में शीत तथा अन्धकार से पीड़ित प्राणी सूर्य का उदय होने पर ॥४९॥

हे श्रोताओं, ताली, तमाल, बकुल आदि वृक्षों के मूल के नीचे प्राप्त होनेवाले विश्रामों के सदृश भूलोक से लेकर सत्यलोकपर्यन्त के निवासों में प्रचुर फूलों के विलासरूपी हासों के सदृश अनित्य भोगआभासों के निमित्त यानी उनमें फँसे रहने के कारण जिस निरतिशय भूमानामक सूख का नाम भी आत्मज्ञान–शून्य लोग नहीं जानते, ऐसे पुनर्जन्म से शून्य मोक्षनामक विश्रान्तिसुख को आपका अपना मनरूपी मृग उस ध्यानरूपी कल्पवृक्ष के ही नीचे आकर प्राप्त कर सकता है, जिसका मैंने अभी आप लोगों से वर्णन किया है ॥५०॥

चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त

पैंतालीसवाँ सर्ग

ध्यानरूपी वृक्ष के ऊपर मन को चढ़ाने का क्रम तथा उत्तरोत्तर भूमिकाओं में आरूढ़ हो रहे मन का सुखोत्कर्ष यह वर्णन ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे शत्रुनाशक श्रीरामजी, इस तरह ध्यानरूपी कल्पवृक्ष के ऊपर विश्रान्ति ले रहा मनरूपी हरिण उसी वृक्ष पर प्रेम करने लग जाता है, दूसरे वृक्ष पर नहीं जाता ॥१॥ अनन्तर कुछ समय के बाद वह विवेकपूर्ण ध्यानवृक्ष पाँच कोशों के भीतर स्थित पारमार्थिक आत्मस्वरूपभूत मोक्षफल को धीरे–धीरे पूर्णरूप से प्रकट करता है यानी प्रत्यक्ष कराता है ॥२॥

चतुर्थ भूमिका में असंभावना दोष का थोड़ा विनाश रहता है और मन्द अन्धकार में घट आदि की जैसी संभावना होती है, वैसी उसमें भी आत्मतत्त्व की संभावना होती है, इससे पहले चतुर्थ भूमिका का द्वार बतलाते हैं ।

उस उत्तम ध्यानरूप वृक्ष के नीचे विश्रान्ति ले रहा यह अपना मनरूपी मृग उस मोक्षरूप ध्यानवृक्षफल को देखता है, जो शाखा के आगे लगा हुआ है ॥३॥ बड़े भारी अध्यवसाय (प्रयत्न) से भरा तथा अपने सब धर्मों को छोड़ देनेवाला यानी परमविरक्त पुरुष उक्त फल का स्वाद लेने के लिए उस वृक्ष पर चढ़ता है ॥४॥

कैसे चढ़ता है, इसे कहते हैं ।

जो अध्यवसायी जड़ता है, वह सबसे पहले विवेक वृक्ष के ऊपर अपना पैर दृढ़ जमा लेता है, फिर पहले की संसारवृत्तियों का एकदम त्याग कर देता है । ऐसा करने पर वह ऐसे ऊँचे स्थान पर अपना स्थान बना लेता है कि फिर कभी नीचे नहीं गिरता ॥५॥ उक्त उत्तम फल की इच्छा से विवेकरूपी वृक्ष पर चढ़ा हुआ पुरुष अपने पहले के संस्कारों को उस तरह छोड़ देता है, जिस तरह साँप अपनी केंचुल को छोड़ देता है । संस्कारों का त्याग कर देने से पहले का कुछ भी स्मरण नहीं होता, यह भाव है ॥६॥ यदि उसे कुछ पहले का स्मरण हुआ, तो भी वह जोर से हँसने लग जाता है और अपने को ऊँचे विवेकवृक्ष के ऊपर चढ़ा देखकर विचारता है कि इतने समय तक मैं विषय–

सुखों की लालच से कितना दीन बना था ॥७॥ सम्पूर्ण भूतों पर करुणा आदिरूप (♨) इस वृक्ष की शाखाओं में भ्रमण कर रहा यानी व्युत्थानकाल में विहार कर रहा यह मनरूपी मृग लोभ आदिरूप व्यालों को नीचे करके पूर्णकाम सम्राट् की तरह शोभित होता है ॥८॥ सद्बुद्धिरूपी चन्द्रमा को निगल जानेवाली अमावस्या की पंक्तिभूत तथा दुःखरूपी चन्द्रमा में अनेकत्व की भ्रान्ति पैदा कर देनेवाली तिमिररोग की पंक्तिरूप लोहे की निर्मित शृंखला-सी प्राणियों के बन्धन की हेतु तृष्णा दिन पर दिन (卐) इसको छोड़ती जाती है ॥९॥ यह न तो प्राप्त वस्तुओं की उपेक्षा करता है और न अप्राप्त वस्तुओं की अभिलाषा करता है, बल्कि सम्पूर्ण वृत्तियों में चन्द्रमा की नाईं सौम्य तथा शीतल अन्तःकरण से युक्त होकर स्थित रहता है ॥१०॥ अध्यात्मशास्त्र से अतिरिक्त शास्त्रों के अनुसार प्रवृति होने पर प्राणियों को ब्रह्मलोकपर्यन्त उन्नत स्थान प्राप्त होते हैं तथा स्वाभाविक प्रवृत्ति होने पर नरकपर्यन्त निम्न श्रेणी के स्थान प्राप्त होते हैं इस तरह संसार की उन्नत और अवनत दशाओं को अज्ञानावस्था में देख रहा यह अध्यात्मशास्त्र के विषय शम, दम, सन्तोष आदि रूप पल्लवों में ही अपने स्वरूप को छिपाकर अवस्थित रहता है ॥११॥ भयंकर विषवृक्षलताओं में विकसित विषमय पुष्पसमूहरूपी दाँतों से युक्त अपनी पूर्वोक्त सातों अज्ञान की भूमिकाओं को भीतर देख रहा यह, उस हीन अवस्था को हँसता है ॥१२॥ उस ध्यानरूपी वृक्ष के उन स्कन्धप्रदेशों में यानी उत्तरोत्तर भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में आरूढ़ हो रही (🔔) मनोहारिणी चित्तवृत्ति से यह राजा की तरह शोभता है ॥१३॥ पुत्र, स्त्री, मित्र तथा धन आदि सभी पदार्थों को यह जन्मान्तर में प्राप्त किये गये या स्वप्न में पैदा हुए के समान देखता है ॥१४॥ दूसरों को खुश करना ही जिसमें प्रधान कार्य है ऐसी राग, द्वेष, भय, उन्माद, मान तथा मोह की महत्ता से नट के व्यवहार की नाईं शीतल तथा निर्मल चित्त इस ज्ञानी के सब व्यवहार दिखाई देते हैं ॥१५॥ उन्मत्त के चेष्टित के समान आकारवाली, सामने स्थित भी तरंग के समान क्षणभंगुर आधारवाली संसाररूपी मृगतृष्णा की नदी की गति को मिथ्या समझकर वह हँसता है ॥१६॥ अपूर्व पद में विश्रान्त जीवन धारण कर रहा भी मृतक के सदृश वह योगी स्त्री, पुत्र आदि सांसारिक किसी पदार्थ की चिन्ता नहीं करता ॥१७॥ किन्तु केवल शुद्ध बोधमय, महाउन्नत उस एक आत्मज्ञान रूप फल में ही एकमात्र अपने चित्त को लगाकर पंचमभूमिकादि स्थानों में आरूढ़ होता है ॥१८॥ अपनी पूर्वावस्था की आपत्तियों का

(♨) आदिपद से यहाँ 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः' इत्यादि दैवी सम्पत्तियों का ग्रहण है ।

(卐) जिस दिन शुभेच्छा उत्पन्न होती है उस दिन से लेकर प्रतिदिन निरन्तर क्षीण होती जा रही यह तृष्णा चतुर्थ भूमिका में पहुँचकर बिल्कुल साथ छोड़ देती है । 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' ऐसा भगवान् ने भी कहा है ।

(🔔) अर्थात् चिड़ियों की नाईं एक शाखा से उड़कर दूसरी पर जा बैठ रही ।

बार–बार स्मरण करके सन्तोषरूपी अमृत से परिपुष्ट होकर अनर्थरूपी अर्थों के (धनों के) नाश में भी सन्तुष्ट ही होता है ॥१९॥ जैसे सोया हुआ पुरुष किसी से जगा दिये जाने पर निद्रासुख के विच्छेद से उद्वेग को प्राप्त हो जाता है वैसे ही भोगदायक अवश्य कर्तव्य व्यवहारों में भी वह योगी दूसरों के द्वारा समाधिरूपी निद्रा से जगा दिये जाने पर समाधिसुख के विच्छेद से अत्यन्त उद्वेग को प्राप्त हो जाता है ॥२०॥ बहुत दूर का रास्ता तय करनेवाले पथिक की तरह चिरकालतक के मूर्खता प्रयुक्त अनेक जन्म–मरण–परम्पराओं में चक्कर लगाते रहने से उत्पन्न श्रम के कारण अत्यन्त थका हुआ यह पुरुष अति उदार निरन्तर बाधित आत्मविश्रान्ति चाहता है ॥२१॥ प्राणधारणमात्र से अन्य पुरुषों के समान भी यह अपने भीतर अहंभाव के अभिमान से बिलकुल शून्य हो पूर्ण आत्मा में ऐसे शान्त हो जाता है, जैसे निःश्वास से बोधित होने पर भी बिना इन्धन की अग्नि ॥२२॥ पूर्वाभ्यास के बल से धीरे–धीरे बाह्य पदार्थों में हो रही विरक्ति का, यथाप्राप्त भोगों पर पड़ी दृष्टि की नाईं, यह निराकरण नहीं कर सकता ॥२३॥ परमार्थरूप फल प्रदान करनेवाली उस महापदवी के ऊपर चल रहा यह ज्ञानी पुरुष वाणी के भी अगोचर छट्ठी भूमिका में प्राप्त हो जाता है ॥२४॥ बिना प्रयत्न किये ही कहीं से यानी दूसरों के प्रयत्न से दैववशात् प्राप्त हुए भोगों में यह ऐसे विरक्त हो जाता है, जैसे मरुभूमि में पथिक ॥२५॥ संसार की वृत्तियों में सुप्त, क्षीण उन्मत्त की तरह आनन्दयुक्त तथा भीतर में पूर्ण मनवाला यह मौनी पुरुष किसी अनिर्वचनीय स्थिति को प्राप्त हो जाता है ॥२६॥ वह ज्ञानी पुरुष उस तरह के स्वरूप में पहुँचकर क्रमशः मोक्षरूप परमार्थफल के निकट ऐसे प्राप्त हो जाता है, जैसे सिद्धयोगी मेरु के शिखर पर ॥२७॥

उस योगी की सप्तमभूमिका में कैसी स्थिति रहती है, यह बतलाते हैं।

तदनन्तर सप्तमभूमिका में प्राप्त आकाश के सदृश वह योगी सम्पूर्ण बुद्धि का (卐) परित्याग कर निरतिशय भूमानन्द ब्रह्मभावरूप फल ग्रहण करता है, उसका स्वाद चखता है, उसका भोग लगाता है और उसी से तृप्त होता है (☙) ॥२८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, संकल्पित पदार्थों के परित्याग से दिन–पर–दिन जो विस्तृत शुद्ध आत्मस्वभाव में विश्रान्ति होती है वही परमार्थ की प्राप्ति कही जाती है ॥२९॥ त्रिपुटीरूपी अपने अर्थ को विलीन कर भेदबुद्धि अभेदरूप में ही जो अवशिष्ट रह जाती है यानी त्रिपुटीभेद का साक्षी चेतन ही अपने अर्थों का विलय कर जो शेष रह जाता है, उसीको विद्वान् लोग आदि और अन्त से रहित शुद्ध एक ब्रह्म कहते हैं ॥३०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी

(卐) 'अखिलां बुद्धिं विहाय' इससे इस योगी की आत्यन्तिक वासना का क्षय और मन का नाश दिखलाया गया है।

(☙) आवरण का भंग होने से ग्रहण करता है, विक्षेपशून्य स्फुरण होने से स्वाद चखता है, एकमात्र उसी में वृत्ति के स्थित रहने से उसका भोग लगाता है और पूर्णस्थिति होने से तृप्त होता है इस तरह चतुर्थी आदि भूमिकाओं के फलों का 'गृह्यादि' इत्यादिपदों से लाभ दिखलाया गया है।

लोक-एषणा, स्त्री-एषणा और धन-एषणा (🔔) से शून्य जो पुरुष है वही उस ब्रह्मपद में विश्राम पाता है ॥३१॥ दृश्य तत्त्व के शोधन से सन्मात्र परमार्थ और द्रष्टा के तत्त्व के शोधन से चिन्मात्र परमार्थ के अखण्डैक्यरूप निरतिशयानन्दात्मभूत परमसाक्षात्कारवृत्तिरूप परिणाम से भेद बुद्धि ऐसे नष्ट हो जाती है, जैसे ताप से हिम की लेखा ॥३२॥

खींचकर छोड़ देने के पश्चात् धनुष की स्थिति की तरह चित्त की अखण्डाकार वृत्ति का उपरम हो जाने पर पुनः उसकी पूर्वावस्था की स्थिति कदापि नहीं आ सकती, यह आशंका कर कहते हैं।

आत्म-साक्षात्कार कर चुके योगी के चित्त की स्थिति, खींचकर छोड़ देने के बाद धनुष आदि कठोर वस्तुओं की उपमा से रहित अत्यन्त कोमल फूलों की माला की तरह होती है, किसी दूसरी स्थिति का संभव नहीं है। पृथ्वी पर पड़ी फूल की माला सीधी-टेढ़ी चाहे जिस किसी तरह से स्थापित हो जाने पर वह वैसी ही ज्यों-की-त्यों स्थित रहती है। धनुष की तरह उसकी पूर्वावस्था नहीं आती। धनुष तो खींचकर छोड़ देने के बाद ज्यों-का-त्यों हो जाता है, यह तात्पर्य है॥३३॥ जैसे पत्थर या काठ के स्तम्भ में स्थित अप्रकटित अंगोवाली मूर्ति न तो सद्रूप है और न असद्रूप ही है वैसे ही परमात्मा में इस विश्व की स्थिति है ॥३४॥ इस तरह यह निश्चित है कि बोध होने के पहले यानी अज्ञानदशा में प्रपंचसहित ब्रह्म में निष्प्रपंच ब्रह्मस्वभाव का अज्ञान होने से उसका ध्यान नहीं किया जा सकता। और यह उपयुक्त है भी नहीं। ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर तो स्वयं ब्रह्मस्वरूप होकर तत्वज्ञानी पुरुष उस ब्रह्म में ही अवस्थित रहता है *(तब भला उसका ध्यान वह कैसे कर सकता है ?)* कहने का तात्पर्य यह कि सोता या जागता हुआ कोई भी पुरुष अपने में यह ध्यान नहीं करता कि मैं सो रहा हूँ या मैं सुषुप्त हूँ ॥३५॥

सोकर उठने के बाद जैसे पुरुष को स्वाप्नित पदार्थों में तुच्छ बुद्धि होने से आत्यन्तिक विरक्ति रहती है वैसे ही तत्त्वज्ञानी पुरुष इन सांसारिक प्रपंचों में आत्यन्तिक विरक्ति कर सकता है, इस आशय से कहते हैं।

दृश्य पदार्थों में जिस पुरुष की आत्यन्तिक विरक्ति देखी जाती है वही तत्त्वज्ञानी है, क्योंकि दृश्य प्रपंचों के त्याग में अज्ञानी समर्थ नहीं है ॥३६॥

यदि ध्यान नहीं है, तो फिर ध्यान के विषय ब्रह्म में समाधि कैसे ? क्योंकि धारणा, ध्यान और समाधि- इन तीनों का विषय एक ही निश्चित है। देखिये भगवान् पतंजलि के सूत्र- 'देशबन्धश्चित्तस्य

(🔔) जनता में प्रसिद्धि प्राप्त करने की अभिलाषा का नाम लोकैषणा है, मुझे सुन्दर स्त्री प्राप्त होवे इस इच्छा का नाम दारैषणा है तथा मैं इस संसार में खूब धनी हो जाऊँ इस अभिलाषा नाम धनैषणा है। पुत्रप्राप्ति की अभिलाषा स्त्रीप्राप्ति के अधीन है, अतः उसका पृथक् ग्रहण नहीं है। यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि स्त्री-अभिलाषा के परित्याग से पुत्रप्राप्ति की अभिलाषा का त्याग तो अर्थतः लब्ध है। इन तीन एषणाओं में ही सबका अन्तर्भाव है।

धारणा', 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्', 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' 'त्रयमेकत्र संयमः' । इस पर कहते हैं।

प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण स्वरूप या ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानस्वरूप जगत् का एकमात्र साक्षिस्वरूपज्ञानरूप से जो बोध है वही यथार्थ स्वभाव में उत्तम स्थिति का कारण होने से 'सुष्ठु–सम्यग् आधानं समाधिः'– ऐसा विग्रह करने से 'समाधान' शब्द से कहा जाता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, उस तरह के बोधस्वभाव से ही यह सारा प्रपंच शाश्वत होता है ॥३७॥

'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यं समाधिः' भगवान् पतंजलि के इस वचन का भी दृष्टा और दृश्य को एक बनाकर उसके द्वारा मन के विलय में ही तात्पर्य है, इस आशय से कहते हैं।

द्रष्टा आदि त्रिपुटी का लय होने से अखण्ड एक आत्माकार में जब मन की वृत्ति स्थित हो जाती है, तब वह ज्ञानी एक आत्मसमाधि में स्वयं विश्रान्त हो जाता है ॥३८॥ दृश्य पदार्थों में जो विरक्तिभाव है यानी जड़ता आदि दुःखों के त्यागपूर्वक एकमात्र चिदानन्दैकरस की स्थिति है वही तत्त्वज्ञानी का अपना ब्रह्मस्वभाव है । दृश्य पदार्थों के स्पन्दन को ही – दृश्य पदार्थों की ओर चेष्टाशील बनने को ही ज्ञानी महानुभाव लोग अतत्त्वज्ञता (अज्ञान) कहते हैं ॥३९॥ अज्ञानी को ही संसार के पदार्थ रुचिकर प्रतीत होते हैं, तत्त्वज्ञानी को नहीं । क्योंकि जो अमृतपान कर चुका है, उस प्राणी को कटु मद्य नहीं रुचता ॥४०॥

यदि बार–बार अपने स्वरूप के अनुसन्धान को (स्मरण को) ही आप ध्यान समझते हैं, तो वह जागरूक पुरुष के जाग्रतात्मा में हुए स्वरूप अनुसन्धान की तरह विद्वान् महानुभावों को सहज–सिद्ध है, यह कहते हैं।

तृष्णारहित, आत्मनिष्ठ होने के कारण तीनों एषणाओं का त्याग कर चुके तत्त्वज्ञानी योगी का ध्यान इच्छा न रहने पर भी अपने–आप स्वयं होता रहता है ॥४१॥

'वितृष्णस्य' (तृष्णारहित) इस विशेषण का तात्पर्य खोलते हैं।

आत्मस्वरूपानुसन्धानरूपी ध्यान तो तृष्णादिविक्षेप के कारण ही स्फुरित होता है यह सर्वत्र प्रसिद्ध है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है । किन्तु जिस तत्त्वज्ञानी को तृष्णा ही नहीं है उसके स्वरूप को छोड़कर उसका वह कौन ध्यान कैसे कहाँ रहता है ? ॥४२॥ अथवा ज्ञानी की तृष्णा भी अनन्त है, क्योंकि यह स्वयं विभागरहित अपरिच्छिन्न आत्मस्वरूप से ही उदित है । इसलिए चिन्तनीय बाह्य पदार्थ का जैसा बोध हो, उसे वह चाहे समाधि में लगावे या व्यवहार में, किन्तु उसकी तृष्णा की पूर्ति में वह समर्थ नहीं है ॥४३॥ पंखरहित पर्वत की स्थिति की तरह बाह्य पदार्थों में तृष्णारहित उस ज्ञानी का अनुभवरूप अनन्त ध्यान स्वयं प्रवृत्त होता है, किसी यत्न की उसे अपेक्षा नहीं होती॥४४॥ एकमात्र यही कारण है कि जब तक शुद्ध बोधस्वरूप आत्मा का उदय नहीं हो पाता, तभी तक समाधि के लिए यत्न की अपेक्षा रहती

है। शुद्ध बोधस्वरूप आत्मा के साक्षात् अनुभूत होने पर तो ज्ञानी हो जाने से समाधि के यत्न की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती, यह तत्त्वज्ञानी महानुभावों की उक्ति है। ठीक ही है, अग्नि के प्रज्वलित हो जाने पर उसमें घृतबिन्दु की स्थिति कभी नहीं रह सकती ॥४५॥

विक्षेप पैदा करनेवाले रागादि दोषों का जो आत्यन्तिक विनाश है, उसीको समाधि कहते हैं, यह तो तत्त्वज्ञ पुरुषों में ही संभव है, अतः उन तत्त्वज्ञ महानुभावों को नमस्कार करना चाहिए, यह कहते हैं।

विषयों से जो आत्यन्तिक विरक्ति है, अर्थात् बाह्यपदार्थों की तृष्णा का जो आत्यन्तिक विनाश है, वही समाधि कही गई है। जिसको सांसारिक पदार्थों में अत्यन्त वैराग्य हो गया है, उस ब्रह्मरूपी मनुष्य को नमस्कार है ॥४६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि विषयों से वैराग्य के अत्यन्त दृढ़ हो जाने पर मनुष्य के आत्मध्यान को इन्द्र के सहित सुर और असुर भी नहीं हटा सकते ॥४७॥

वज्र के समान दृढ़ विषयों से विरक्ति भी ध्यान ही है, अतः उसकी प्रशंसा करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, विषयों में उत्पन्न हुए अत्यन्त दृढ़ वैराग्य को ही आप वज्र के समान दृढ़ ध्यानरूप बना लीजिये, क्योंकि आत्मज्ञान से भेद के नष्ट हो जाने पर तृण के तुल्य दूसरे पदार्थों के ध्यान से कौन-सा मतलब सिद्ध होगा ? ॥४८॥

यही कारण है कि तत्त्वज्ञ पुरुषों के लिए विश्व शब्द किसी अर्थ को नहीं रखता इसका अर्थ बाधित है, यह कहते हैं।

संसारशब्द का अर्थ मूर्खों के लिए ही है, तत्त्वज्ञानियों के लिए नहीं। इसलिए हे पण्डितों, जिस भूमानन्द ब्रह्म में संसार के विशेषज्ञान और अज्ञान, तत्त्वज्ञानी और मूर्ख एवं संसार और संसार के प्रभु परमेश्वर का अभेदरूप से भान होता है उसी में आप लोग विश्राम करें ॥४९॥ क्योंकि मनन आदि बोधरूप भूमियों में आरूढ़ हो रहे विवेकियों या आत्मसाक्षात्कारादि भूमियों में आरूढ़ हो चुके सिद्ध महानुभावों में से किसी ने भी पदार्थों में आत्मा से अतिरिक्त सत्ता या असत्ता या द्वैतता या एकता का इस संसार में आज तक निर्णय नहीं किया है ॥५०॥

आत्मस्वरूप में विश्रान्त होने के उपाय बतलाते हैं।

इस आत्मस्वरूप में विश्रान्ति का प्रथम उपाय निरन्तर अध्यात्मशास्त्र का अभ्यास और दूसरा साधु पुरुषों की संगति है तथा तीसरा उपाय इस निर्वाण में ध्यान है। सज्जनों, इनमें उत्तरोत्तर उपाय श्रेष्ठ हैं ॥५१॥ नित्य अपरोक्ष, अपरिच्छिन्न यही ब्रह्मचिति जीव नामक अपने प्रतिबिम्ब के दर्पणस्वरूप अन्तःकरणभूत उपाधि के कारण परस्पर भिन्न-भिन्नरूप को ग्रहण करती है। प्रिय तथा अप्रिय विषयों का संघटन करनेवाले ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त शेष विशेष पदार्थों से सम्बन्ध पाकर अपने-अपने कर्मों की विचित्रता के कारण सम और विषम भिन्न-

भिन्न शरीरों में उदित होती है ॥५२॥ इस तरह अनादि काल से इस संसार में चक्कर लगा रहे जीवों के बीच में भाग्यवशात् किसी एकको ज्ञान प्राप्त करने योग्य जन्म मिल जाने पर शास्त्रों के निरन्तर अभ्यास तथा महात्माओं की संगति से उपायप्राप्ति द्वारा पूर्वापर सम्पूर्ण जन्मभ्रमणरूप जगद्रूपी शतरंज खेलने की बिसात की (🕭) जानकारी हो जाने से उस पुरुषश्रेष्ठ को ज्ञान और वैराग्यरूपी दो दीपकों में से किसी एक की सिद्धि हो जाने पर दोनों ही सिद्ध हो जाते हैं ॥५३॥ तब ज्ञानरूपी अग्नि से भस्मीभूत हुई जगत्–रूपी सब रुई बुद्धिरूपी झंझावात से शीघ्र उड़कर परम शान्त चिदाकाश में न जाने कहाँ चली जाती है ॥५४॥

भ्रान्ति के निवारण में समर्थ जो बोध है वही मूलअज्ञानरूप जड़ता के विनाश में हेतु है, न कि ऊपरी ज्ञान, यह कहते हैं।

जिस ऊपरी ज्ञान से निर्मूल भी जगत् की भ्रान्ति शीघ्र नष्ट नहीं हो जाती उस ज्ञान से मनुष्य का अज्ञान ऐसे शान्त नहीं होता, जैसे कि चित्रलिखित अग्नि से मनुष्य का जाड़ा (ठंड) ॥५५॥ अज्ञानी के अभिनिवेशरूपी अज्ञान से जैसे संसार की भ्रान्ति प्रतिदिन की अभिवृद्धि से बढ़ती ही जाती है वैसे ही तत्त्वज्ञानी के परिज्ञान की दिन–प्रतिदिन अभिवृद्धि से उत्तरोत्तर भूमिकाओं में अज्ञान भी नित्यप्रति अधिक दग्ध होता जाता है ॥५६॥

अज्ञान के दग्ध होते समय तत्त्वज्ञानी को जगत् का भान कैसा होता है ? यह कहते हैं।

अज्ञानी को जैसा जगत् का ज्ञान स्थित रहता है उस अज्ञानी के जगत्–ज्ञान शब्दार्थ से रहित ही स्वस्वरूप में स्थित, चित्र में लिखित–जैसा, सुप्त पुरुष के द्वारा निर्मित के सदृश एकमात्र शून्यरूप से विरचित ही तीनों जगत् का भान तत्त्वज्ञानी पुरुष को होता है ॥५७,५८॥ ज्ञानी पुरुष के चित्त में जगत् की ज्ञप्ति तथा अभिलाषा आदि चित्प्रकाशस्वरूप ही भासता है। इसमें सन्देह नहीं कि बोध होने पर ज्ञानी का न तो अहंकार रहता है और न जगत् की स्थिति ही रहती है ॥५९॥ ज्ञानी को तो परमप्रकाशस्वरूप इस संसार की कोई अपूर्व स्थिति भासती है। और अर्धज्ञानी पुरुष का चित्त सूखे तथा गीले काठ के तुल्य बोध और अबोधरूप से स्थित रहता है ॥६०॥ बोध होने के कारण वह अर्धज्ञानी पुरुष, नानाविध भावपदार्थों से परिपूर्ण इस जगत् को एक आत्मतत्त्वरूप समझता है तथा जड़ता के विद्यमान रहने से वह इस जगत् को एक आत्मरूप से स्थित नहीं भी देखता है। चूँकि उसमें दोनों स्वभाव उपस्थित रहते हैं, इसलिए जब उसमें बोध की अधिकता होती है तब वह सभी प्राणियों में अत्यन्त मित्रता का बर्ताव करने लग जाता है–अपने ही समान उन्हें भी सुख–दुःख से युक्त समझने लगता है और जब उसमें अज्ञानांश की अधिकता होती है तब वह परस्पर विवाद करने लगता है ॥६१॥ ज्ञान और अज्ञान इन दोनों में जो भाग इसका प्रबल पड़ता है तद्रूप होकर यह रहता है, किन्तु जिसका ज्ञान

(🕭) शतरंज या चौपड़ आदि खेलने के कपड़े या बिछौने की, जिस पर खाने बने रहते हैं।

परिपक्व हो चुका है वह तो जगत् की सत्ता ओर असत्ता की यथार्थता बिलकुल ऐसे नहीं जानता ॥६२॥ जैसे कि सप्तम भूमिका में आरूढ़ पुरुष जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति को नहीं देखता। *(ध्यानरूपी वृक्ष के नीचे मनरूपी हरिण को विश्रान्ति प्राप्त होती है, इसी को दूसरे रूपसे परमपुरुषार्थफल की प्राप्ति बतलानी चाहिए, लेकिन यह न कहकर मनके नाश को ही मोक्षरूपी पुरुषार्थ कैसे कहते हैं, यदि यह कोई आशंका करे, तो इस पर कहते हैं।)* हे श्रीरामचन्द्रजी, वह वासना ही मनरूपी मृग है और यह अपने विचार से ही नष्ट होता है ॥६३॥ इस मन के अवस्तुरूप होने से इसके विद्यमान रहते मोक्ष नहीं होता, किन्तु इसके स्वरूप का नाश होते ही वह प्राप्त होता है (☙) ॥६४॥

इसका सारांश यह निकला कि यह मन का नाश ही मनरूपीमृग के बहाने वर्णित हुए आत्मा का मोक्ष है। अब इस वर्णन का उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामजी, अंकुर, काण्ड, शाखा, पल्लव, पुष्प तथा फलपर्यन्त परिणामरूप परिपाक होने से अपने समय से स्वयं बढ़े हुए ज्ञानरूपी फल को प्राप्त किये हुए इस ध्यानरूपी वृक्ष से दूसरे सर्वप्रथम परम रसायन अखण्डाकार वृत्तिअभिव्यक्त परमानन्दरूपी बोधफल का मुक्त होने की चाह कर रहा यह मनरूपी मृग आस्वाद लेकर इस संसाररूपी बन्धन से मुक्त हो जाता है ॥६५॥

पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

छियालीसवाँ सर्ग

ध्यानरूपी कल्पद्रुम के फल का आस्वाद लेने पर मन की जैसी स्थिति होती है तथा विषयों से जैसा दृढ़ वैराग्य उत्पन्न होता है वह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, परमार्थफल के साक्षात् अनुभूत होने तथा मुक्ति की दृढ़ स्थिति होने पर परम साक्षात्कारवृत्तिरूप बोध भी अपने उपादानभूत अज्ञान के बाध से शीघ्र असद्रूप हो जाता है तथा मनरूप यह मृग भी परमपुरुषार्थरूप आत्मारूप ही हो जाता है ॥१॥ तेलरहित दीपक के तुल्य पूर्वकाल की इसकी मृगता यानी विषयरूपी तृणों के अन्वेषण की स्वभावता न जाने कहाँ चली जाती है। उस समय तो हे श्रीरामचन्द्रजी, अनन्त आत्मस्वरूप का प्रकाश करनेवाली एकमात्र परमार्थदशा ही अवशेष रह जाती है ॥२॥ ध्यानरूपी वृक्ष को परमार्थरूप फल की प्राप्ति हो जाने पर बोधरूपता को प्राप्त यह मन वज्र के समान दृढ़ स्थिति ऐसे धारण कर लेता है, जैसे पंखशून्य पर्वत ॥३॥ बाह्य पदार्थों के विषय में मननस्वभावता न मालूम कहाँ चली जाती है और निर्बाध, विभागशून्य, परिपूर्ण सर्वथा विशालरूप सद्रूप एकमात्र स्वच्छ चिन्मात्रता ही

(☙) इससे सिद्ध है कि कल्पित मनरूपी मृग के बहाने आत्मा की ही अनर्थनिवृत्तिरूपी विश्रान्ति का वर्णन यहाँ प्रस्तुत है।

अवशिष्ट रह जाती है ॥४॥ जड़ देहादि के अविवेक से जड़ बनी हुई-सी जो चित्त की पहले सत्ता थी, वही अब देहादि का ठीक-ठीक परिज्ञान हो जाने के कारण निर्मलस्वरूप से स्थित हो मानों बोधरूप से उदित हुई है, क्योंकि वह आदि और अन्त से शून्य, स्वच्छ आत्मप्रकाशरूपी फल प्रदान करनेवाली है ॥५॥ उस समय समस्त इच्छाओं से शून्य रहने के कारण कोई दूसरी गति न होने से वह आदि-अन्तशून्य आत्म-ध्यान ही परिशेष में अगवत होता है ॥६॥

कब तक वह ध्यान रूप से अवगत नहीं होता, यह कहते हैं।

जब तक उसे ब्रह्मज्ञान नहीं होता तथा जब तक वह परम पद में विश्रान्त नहीं हो जाता, तब तक विषयों के मननरूप से वह मन आत्मध्यानरूप से अवगत नहीं होता ॥७॥ परमार्थ स्वरूपता को प्राप्त करके तो वह मन न जाने कहाँ चला जाता है। उस समय वासना कहाँ रहती है, कर्म कहाँ रहते हैं तथा हर्ष और क्रोध आदि की वृत्तियाँ कहाँ रहती हैं इसका कुछ भी पता नहीं चलता ॥८॥ ऐसी दशा में योगी एकमात्र ध्यानैकनिष्ठ दिखाई देता है। वज्र के तुल्य दृढ़ समाधि में यह ऐसे स्थिर हो जाता है, जैसे पंखशून्य पर्वत ॥९॥

ध्यान के समान ही उस योगी की समाधि भी अनायास सिद्ध हो जाती है, यह कहते हैं।

सम्पूर्ण भोगों से शून्य, इन्द्रियों की वृत्तियों को शान्त किये हुए, सम्पूर्ण दृश्य पदार्थों में अभिरुचि न रखनेवाले, एकमात्र अपनी आत्मा में ही रमण करनेवाले, क्रमशः अपनी वृत्तियों को गलाये हुए तथा बिना किसी प्रयास के विश्रान्ति प्राप्त कर चुके योगी की समाधि अर्थतः सिद्ध हो जाती है, इस विषय में जब वह ब्रह्मस्वरूप हो गया तब विचार ही करने कौन चलता है ? ॥१०,११॥

उस योगी को परम वैराग्य भी अर्थतः सिद्ध हो जाता है, यह कहते हैं।

निर्मल अन्तःकरणवाले योगी लोग विषयों में नीरसता की अनायास ही भावना करने लग जाते हैं। वे उन सभी सांसारिक भोंगों को ऐसे नहीं देखते, जैसे कि चित्रगत मनुष्य चित्र में लिखित पुरुषों को ॥१२॥ वासनाशून्य होने के कारण सांसारिक पदार्थों को न देख रहा आत्मज्ञानी योगी तो वज्र के तुल्य अभेद्य समाधि में अन्य पुरुष के द्वारा मानों जबर्दस्ती नियुक्त किया जाता है ॥१३॥ वर्षाकाल में नदी के प्रवाह के तुल्य एकमात्र आनन्दरस का आविर्भाव करानेवाली जो समाधि प्रथम वृत्ति में उपस्थित होती है उसकी गुडपिपीलिका न्याय के द्वारा (📖) वस्तुस्वभावबल से ही एकाग्रता को प्राप्त हो, आस्वाद लेता हुआ मन उससे फिर इधर-उधर चलायमान नहीं होता ॥१४॥ सम्पूर्ण अर्थों की शान्ति देनेवाली हठात् प्राप्त हुई ध्यानदशा में ज्ञानबल से जबर्दस्ती जो विषयों के भीतर वैराग्य आ जाता है वही समाधि है, दूसरी नहीं। रागादि के कारण खूब जल रहे चित्त में तो कभी

(📖) मिठास के लोभ से जब चींटी गुड़ में जाकर चिपट जाती है तब फिर उससे अलग नहीं होती। ठीक वही दशा योगी के मन की है। आनन्दैकरस का आविर्भाव करानेवाली समाधि का आस्वाद लेकर योगी का मन पुनः उससे पृथक् नहीं होता यह तात्पर्य है।

भी किसी की समाधि नहीं देखी गयी है ॥१५॥

इस तरह ध्यान की उपपत्ति भी विषयों से विरक्ति होने पर ही होती है, अन्यथा नहीं, यह कहते हैं ।

विषयों से जो दृढ़ वैराग्य है वही ध्यान कहा गया है और खूब परिपक्व हो जाने से वही वज्र के तुल्य अत्यन्त दृढ़ हो जाता है ॥१६॥

ऐसी स्थिति में वैराग्यरूपी बीज ही जब अंकुरित अवस्था में स्थित रहता है तब ध्यान और जब प्ररूढ़ हो जाता है तब समाधिनाम से कहा जाता है, यों भेद में भी अभेद-व्यवहार हो सकता है, यह कथन फलित हुआ, यह कहते हैं ।

भद्र, विषयों से जो वैराग्य है वह अंकुरित होने पर ध्यान कहा जाता है और जब पीठ बन्ध से यानी काण्डजनन आदि द्वारा दृढ़ बन्ध से सुन्दर बद्ध हो जाता है तब वही समाधि नाम से कहा जाता है ॥१७॥

साक्षात्कारात्मक वृत्ति से आविर्भूत ब्रह्म ही अविद्या का उच्छेदक होने के कारण ज्ञान कहा जाता है, वासना का उच्छेदक होने के कारण निर्वाण कहा जाता है, यह कहते हैं ।

साक्षात्कारात्मक वृत्ति में प्रतिबिम्बित ब्रह्म ही अविद्योच्छेदरूप होने से, निरन्तर परित्यक्त वासनारूप होने से तथा आनन्दपद को प्राप्त होने से सम्यक् ज्ञान, ध्यान ओर निर्वाण रूप कहा जाता है ॥१८॥

यह जो कुछ कहा वह सब विषय-वैराग्य से ही हो सकता है, दूसरे किसी प्रकार से नहीं, इसलिए विषय-वैराग्य को दृढ़ करने के लिए कहते हैं ।

यदि पुरुष में भोगों के प्रति विराग विद्यमान है, तो ध्यानरूप दुःखसाध्य बुद्धि से कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा ? और यदि विराग नहीं है, तो भी ध्यानात्मक दुःखसाध्य बुद्धि से कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा ? ॥१९॥ भद्र, जो पुरुष विषयों के स्वाद से मुक्त है एवं विवेकज्ञान से सम्पन्न है उस महामुनि को निर्विकल्प समाधि निरन्तर लगी रहती है ॥२०॥ जिसको विषय नहीं रुचता, उसीको तत्त्वज्ञ लोग ज्ञानी कहते हैं जब पुरुष को भोग नहीं रुचते तभी उसे सम्यक् ज्ञान उदित होता है ॥२१॥

पूर्ण अद्वय स्वभाव से विरुद्ध भोग उसी समय में हो सकता है, जिस समय में अज्ञान के कारण आत्मा का असली स्वरूप विपरीत प्रतीत होता है । जब अज्ञान का नाश हो जाता है तब, यह बात नहीं रहती, यह कहते हैं ।

जिस महामुनि की अपने आत्मस्वभाव से स्थिति हो चुकी उसे भोग कैसे ? क्योंकि आत्मविरुद्ध स्वभाव ही भोग है, वह विरुद्ध स्वभाव के क्षीण हो जाने पर कैसे रह सकता है ? ॥२२॥

अभ्यासकाल में समाधि से उठे हुए पुरुष को क्या करना चाहिए और कब समाधि लगानी

चाहिए, इस विषय में क्रम बतलाते हैं ।

भद्र, पहले गुरु, सहपाठी आदि के साथ वेदान्तश्रवण करे, उपनिषदों की आवृत्ति करे, फिर प्रणवजप करे, इतना सब कर लेने के बाद समाधि में तत्पर हो जायें और समाधि टूट जाने पर समाधिश्रान्त वह पुरुष फिर श्रवण, आवर्तन एवं प्रणव जप करे ॥२३॥

यह सब होने पर भी समाधि की ओर प्रधान लक्ष्य रखना चाहिए, इस आशय से उपसंहार करते हैं ।

हे श्रीरामजी, अपने भीतर एकमात्र निर्वाणरूप समाधि की ओर लक्ष्य रख करके स्थित रहना चाहिए, किसी प्रकार का खेद नहीं करना चाहिए, सारी शंकाओं को तिलांजलि दे देनी चाहिए । यही समाधि अतिरमणीय, सुषुप्ति के सदृश परमशान्त, शरत्कालीन विस्तृत बादलों के सदृश निर्मल है । इसी अवस्था में चित्त एकरूप और प्रशान्त रहता है ॥२४॥

छियालीसवाँ सर्ग समाप्त

सैंतालीसवाँ सर्ग

विस्तार से प्रस्तुत मुक्ति का साधनों के क्रम में
दृढ़ वैराग्य की प्राप्ति तक के जितने साधन हैं, उन सबका पुनः वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामजी, जो जीव इस संसार के भार को ढोते–ढोते थक गया है तथा मरण, मूर्च्छा आदि संकट समय को झेलकर जिसका शरीर जर्जर हो गया है, वह विश्रान्ति अवश्य चाहता है । परन्तु उसके लिए जो खास क्रम है यानी विश्रान्ति पाने के लिए प्राप्त किये जानेवाले उन–उन साधनों से उत्तम गुणों के लाभ का जो क्रम है, उसे आप सुनिये ॥१॥

सबसे पहले विवेकरूपी अंकुर का उदय होने पर जिन गुणों की प्राप्त होती है, उन्हें बतलाते हैं ।

कारण विशेष से यानी ऐहिक यज्ञ, दान, तप आदि पापक्षय के हेतुभूत सत्कर्मों से या अकारण से यानी पूर्वजन्मार्जित यज्ञ आदि सत्कर्मों से जभी अपने हृदय में पहले संसार से विरक्ति पैदा करनेवाली विवेक की मात्रा उत्पन्न हो जाती है, तभी उत्तम छाया देनेवाले तथा साधुता के रूप से चारों ओर फैले हुए गुणों का संसार ताप से तप्त पुरुष ऐसे आश्रय लेते हैं, जैसे सूर्य के ताप से तपे हुए पुरुष मार्ग की थकावट हरनेवाले मार्ग के वृक्षों का आश्रय लेते हैं ॥२,३॥

ऐसा होने पर पहले अज्ञानियों के संसर्ग का त्याग, यज्ञ–दान आदि में तत्परता तथा देवता की आराधना आदि गुण उत्पन्न होते हैं, यह कहते हैं ।

ऐसा पुरुष पहले तो अज्ञानियों को उस तरह दूर से ही छोड़ देता है, जैसे पथिक यज्ञयूप को दूर से ही छोड़ देता है । स्नान, दान, तप, यज्ञ आदि का अनुष्ठान करता है और निरन्तर तत्त्वज्ञों

का पदानुसरण करता है॥४॥ जिस तरह चन्द्रमा का बिम्ब लोगों को आनन्द देनेवाला अमृत धारण करता है, उसी तरह तत्त्ववेत्ता कोमल, अनुरूप, परिणाम में लोगों के लिए हितकारक तथा आनन्ददायी कृत्रिम व्यवहार धारण करता है ॥५॥ ऐसा तत्त्ववेत्ता अपने पक्ष में न अनुराग रखता है और न लोभ या अभिमान ही रखता है, सदा पर के हित में निरत रहता है, इसीसे परप्रज्ञानुग कहा जाता है। वह सभी जनों का प्रिय होता है, पवित्र शास्त्रानुकूल कर्मों में रसिक बना रहता है तथा इन गुणों के कारण सबसे ऊँचा होकर वह विचरण करता रहता है ॥६॥ ऐसे महापुरुष की पहली संगति ही पुरुष को सुख पहुँचाती है, उसकी संगति मक्खन के आश्रय दही के सदृश स्वच्छ होती है तथा स्नेह से भरपूर, कोमल, मनोहर और स्वादु रहती है ॥७॥ विवेकी पुरुषों के चन्द्रमा की किरणों के सदृश चरित्र अत्यन्त पवित्र और शीतल रहते हैं, इसलिए प्रत्येक पुरुष के भीतर अत्यन्त ठंडक पहुँचाते हैं ॥८॥ जैसी साधु पुरुष के समागम से निर्भय शान्ति मिलती है, वैसी शान्ति मनोहर पुष्पों के ढेरों से भरे उद्यानखण्डों में भी नहीं मिलती है ॥९॥ जैसे भगवती भागीरथी के निर्मल जल पाप धो डालते हैं और शुद्धता प्रदान करते हैं, वैसे ही विवेकियों के समागम भी पुरुषों के पाप धो डालते हैं और शुद्धता प्रदान करते हैं ॥१०॥ संसार पार पाने की इच्छा रखनेवाले विरक्त विवेकी पुरुषों का समागम होने पर पुरुष ऐसी शीतलता प्राप्त करता है, जैसी हिम एवं पुष्पहारों से निर्मित घरों में वास करने पर ॥११॥ भद्र, जैसी उदार प्रीति विवेकी पुरुष में रहती है, वैसी उदार प्रीति देवता, गन्धर्व और मानव की कन्याओं में भी नहीं रहती ॥१२॥ क्रम से किये गये उचित निष्काम कर्म से बुद्धि का मल हट जाता है, बुद्धि का मल हट जाने पर आत्मजिज्ञासा का आविर्भाव हो जाता है और गुरुजी के मुख से सुना गया शास्त्र का अर्थ मनुष्य के हृदय के भीतर ऐसे पैठ जाता है, जैसे दर्पणतल के भीतर प्रतिबिम्ब पैठ जाता है ॥१३॥ विवेक से पूर्ण हृदय में शास्त्रार्थरस से पूर्ण होकर उत्तम प्रज्ञा ऐसे बढ़ने लग जाती है, जैसे महावन में मूलप्ररोहादि के विस्तार से कदली बढ़ने लग जाती है ॥१४॥ दर्पण के सदृश, निर्मलता से शोभित बुद्धि अपने भीतर प्रतिबिम्बित समस्त वस्तुओं का अपने अन्दर ही मन के विलास के रूप में पूर्ण अनुभव करती है ॥१५॥ साधुओं के समागम से शुद्धबुद्धि हुआ तथा शास्त्र के अर्थों से परिमार्जित हुआ प्राज्ञ (विवेकी) पुरुष अग्नि से निकाले गये विद्युत्पुंज के सदृश चमकदार वस्त्र रत्न की नाईं भासता है ॥१६॥ विवेकी पुरुष चमकीले सुवर्ण के सदृश चमक रहे तथा निर्मल प्रकाश करनेवाले अपने आत्मप्रकाश से सूर्य की नाईं समस्त भुवन को प्रकाशित कर देता है ॥१७॥ विवेकसम्पन्न तत्त्वज्ञ पुरुष अभ्यास द्वारा शास्त्र का और सेवा आदिवृत्ति से गुरुसमागम का वैसा निरन्तर अनुसरण करता है, जिससे कि गुरु के उपदिष्ट अर्थ में अत्यन्त आसक्ति के कारण स्वप्न में भी शास्त्र एवं गुरु के चिन्तन तथा सेवन में निरत होकर उन्हीं दोनों का (शास्त्र और गुरुसमागमका) अनुभव करता है ॥१८॥ क्रमशः राग आदि दोषों का विनाश एवं मैत्री आदि गुणों का संचय कर वह निर्दोष और गुणवान् बनकर शास्त्र में,

उपनिषद् में कहे गये अर्थों की भावना से पूर्ण भावुक बन जाता है। फिर पिंजड़े से छुटकारा पाये हुए के सदृश स्वतन्त्र होकर तथा भोगों का तिरस्कार कर प्रकाशने लग जाता है ॥१९॥ भद्र, व्यसनी बनकर विषयों के प्रति दौड़ना बड़ा भारी दुर्भाग्य है, इस दुर्भाग्य का दिन पर दिन त्याग कर रहे उस विवेकशील पुरुष के द्वारा उसका वंश उस तरह चमकने लग जाता है, जिस तरह चन्द्रमा के द्वारा तारों का समूह चमकने लग जाता है ॥२०॥ इस विवेकी के मुख में भोगलम्पटता से निर्मुक्त कोई अनिर्वचनीय अपूर्व ही कान्ति ऐसे जगमगाने लग जाती है, जैसे राहु से छुटकारा पा जाने पर चन्द्रमा में कान्ति जगमगाने लग जाती है ॥२१॥ जिन लोगों ने तीनों जगत् को भी तृणरूप समझ लिया है, उन महान् आत्माओं द्वारा यह ऐसे प्रशंसापद को प्राप्त होता है, जैसे स्वर्ग में देवताओं द्वारा कल्पवृक्ष ॥२२॥ भद्र, विवेकी को जो कुछ भोगसाधन प्राप्त होते हैं, उनका परित्याग कर वह सन्तुष्ट तो होता है, परन्तु कुछ लज्जाग्रस्त बना रहता है, क्योंकि उसके मन में इस बात की शर्म रहती है कि मैंने सभी से जब द्वेष छोड़ दिया तब भोगों के प्रति द्वेष क्यों कर रहा हूँ और यदि भोगसाधन विषय उसे प्राप्त ही नहीं हुए, तो वह अत्यन्त सन्तुष्ट रहता है, क्योंकि इस अवस्था में उसे द्वेष करने का मौका ही नहीं मिलता ॥२३॥ यदि अधम चाण्डाल आदि को दैववशात् अपनी पूर्वजन्म की उच्च जाति का स्मरण हो गया, तो वह अपनी इस जन्म की जाति को जैसे मन में धिक्कारता है, वैसे ही विवेकी पुरुष भी पहले की राग आदि से प्रौढ़ तथा भोग की उत्कण्ठा से तरल हुई अपनी क्रियाओं का स्मरण कर खेद से कुछ हँसमुख होकर अपने भीतर उनको धिक्कारता है ॥२४॥ इस तरह के पुरुष को एक तरह से पृथ्वी में उदय को प्राप्त चन्द्रमा ही समझना चाहिए, इसे देखने के लिए केवल परम प्रेम से ही विस्मय से प्रफुल्ल नेत्रोंवाले सिद्ध पुरुष आते हैं ॥२५॥ सदा ही भोगों के प्रति वह आदर नहीं रखता, इसीलिए उन सिद्ध महात्माओं के द्वारा अत्यन्त प्रसन्नता से दिये गये अनिषिद्ध सिद्धि आदि विषयों को भी श्रेष्ठ नहीं समझता उनकी ओर कुछ भी अधिक आस्था नहीं रखता ॥२६॥ उन भोगों के प्रति उसे जो अधिक आदर नहीं होता, इसमें कारण यह है कि गुरु और शास्त्र के समागम से भोगों के प्रति पहले से ही उसके मन में नीरसता पैदा हो जाती है तथा उसकी जड़ता भी जीर्ण-शीर्ण ऐसे हो जाती है, जैसे शरद् ऋतु का पौधा पाक से जीर्ण-शीर्ण हो जाता है ॥२७॥ अनन्तर जैसे स्वास्थ्य चाहनेवाला पुरुष वैद्य की शरण लेता है, वैसे ही अपने भावी अधिक कल्याण के लिए स्वयं ही वह सज्जनों की शरण लेता है ॥२८॥ सज्जनों के समागम से उसकी बुद्धि बड़ी उदार हो जाती है, उदारबुद्धि होकर वह उपनिषद् के महावाक्यार्थों के विचार में ऐसे डूब जाता है, जैसे अत्यन्त प्रसन्न सरोवरों में महान् हाथी डूब जाता है ॥२९॥ क्योंकि सज्जन का यह स्वभाव है कि वह अपने पास स्थित प्राणी को बड़ी-बड़ी आपत्तियों से उबार कर सम्पत्तियों में ऐसे सम्बन्ध करा देता है, जैसे सूर्य अन्धकार से उबारकर अपनी प्रकाशमय दीप्तियों में सम्बन्ध करा देता है ॥३०॥ जो विवेकी है उसकी बुद्धि

पहले से ही दूसरे का धन लेने से विरत बनी रहती है और अपने ही अर्थों से उसे सन्तोष बना रहता है ॥३१॥ दूसरे के धनग्रहण से विरत तथा सन्तोषरूपी अमृत से निर्भर विवेकी पुरुष क्रम से उत्तरोत्तर अपने स्वार्थों की भी उपेक्षा करने की इच्छा करता है, ऐसी स्थिति में वह दूसरे का धन तो चाहेगा ही कैसे ? ॥३२॥ उसके पास जो कोई याचक आ जाय, उसे कण, पिण्याक (तिल या सरसों की खली), शाक आदि जो कुछ भी हो दे देता है, उसी अभ्यासयोग के प्रभाव से याचकों को अपना मांस भी दे डालता है ॥३३॥

विवेक के अनुसरण से जिनका चित्त लीन हो गया है उनका दिन पर दिन ज्ञान बढ़ता ही जाता है और अज्ञान क्षीण होता जाता है, यह कहते हैं।

विवेक के पीछे-पीछे दौड़ रहे तथा चित्त की विलयदशा को प्राप्त हुए पुरुषों का अज्ञान ऐसे तुच्छ हो जाता है, जैसे दौड़ रहे घोड़ों के लिए बड़ा भारी गड्ढा भी गोपद की नाईं तुच्छ यानी अनायास उल्लंघन योग्य हो जाता है ॥३४॥ विवेकी को सबसे पहले प्रयत्नपूर्वक दूसरे का धन लेने से निवृत्त हो जाना चाहिए और इसका भली प्रकार अभ्यास कर फिर अपने विवेक से स्वार्थों से भी विरक्ति ग्रहण करनी चाहिए ॥३५॥ इसके बाद भोगनिवृत्ति के साथ-साथ अपने स्वार्थों को भी क्रमशः तिलांजलि दे देनी चाहिए, क्योंकि तत्त्वज्ञ लोग उत्तम शान्ति के लिए यही काम किया करते हैं ॥३६॥ श्रीरामजी, यह बात आप निश्चित मानिये कि जीवनपर्यन्त जैसा अर्थोपार्जन के लिए झेला गया दण्डरूप ऐहिक पारलौकिक दुःख है, वैसा दूसरा दुःख इस जगत् में करोड़ों नरकों में भी विद्यमान नहीं है ॥३७॥

जो मूढ़ पुरुष हैं, उनको पारलौकिक दुःखों का स्मरण भले ही न हो, पर ऐहिक दुःखों का तो उन्हें स्मरण करना ही चाहिए यह कहते हैं।

भद्र, आसन के लिए, शयन के लिए,सवारी के लिए, जाने के लिए, आनन्द मनाने के लिए तथा अपने जन के लिए पुरुषों को कितनी बड़ी मानसिक चिन्ता बनी रहती है, इसलिए अज्ञानियों को उसे अवश्य स्मरण करना चाहिए कि अर्थोपार्जन के लिए यहाँ कितना दुःख है ॥३८॥ भद्र, यदि विवेक से विचारा जाय, तो ये अर्थ बड़े भारी अनर्थरूप, सम्पत्तियाँ महान् विपत्तिरूप और भोग संसार के महान् रोगरूप ही सिद्ध होते हैं। परन्तु मोह के कारण प्राणी उनको वैसा नहीं समझता ॥३९॥ जब तक पुरुष निन्दनीय ऐहिक या पारलौकिक अर्थों के लिए महान दुःख रूप अनर्थ झेलने की इच्छा नहीं करता, तभी तक पुरुष चिन्तित अर्थों के कारण उत्पन्न सन्तापों से नहीं सूखता ॥४०॥ जिस पुरुष को मोक्ष का सुख ही सदा के लिए सबसे बढ़-चढ़कर जँचता हो, वह पुरुष धन को यह समझे कि वह जगत्-रूपी तिनके के अग्रिम हिस्से के सदृश अत्यन्त तुच्छ है और यह समझकर उससे शान्ति ग्रहण करे यानी उसे प्राप्त करने के लिए अनर्थ के फन्दे में न फँसे ॥४१॥

धन में तुच्छता दृढ़ करने के लिए बार-बार उसकी निन्दा करते हैं।

भद्र, यह जो धन है, उसको मुनियों ने यह कहकर याद किया है कि वह चिन्ता, शोक आदि भावविकारों का, जरा, मरण के जनक दुष्ट कर्मों का तथा दीनता, दुष्टता, जलन आदि का ढेर है ॥४२॥

सन्तोष ही वैराग्य में बैठाकर पुरुष को सब दुःखों से छुटकारा दिलाता है, इसलिए अब सन्तोष की स्तुति करते हैं।

इस जगत् में बुढ़ापा और मरण से आक्रान्त जन्तुओं को अजर और अमर बनाने के लिए सन्तोष ही एक रसायन (अमृत) है ॥४३॥

सभी प्रकार के सुखों का कारण भी वही है, यह कहते हैं।

सुख के साधन एक ओर तो वसन्त, नन्दनवन, चन्द्रमा और अप्सराएँ कही गई हैं और एक ओर पूर्ण सन्तोषरूपी अमृत कहा गया है यानी अकेला सन्तोषरूपी अमृत सुख देने की जितनी सामर्थ्य रखता है उतनी वसन्त आदि सब मिलकर भी नहीं रखते ॥४४॥ जैसे सरोवर अपने भीतर की परिपूर्णता वृष्टि से कर सकता है, वैसे ही पुरुष भी अपने भीतर परिपूर्णता सन्तोष से ही कर सकता है। सज्जन पुरुष गम्भीर, शीतल, मनोहर, प्रसन्न और रसपूर्ण ओजस्विता को सन्तोष के ही द्वारा प्राप्त कर सुन्दर पुष्पों से युक्त वन के सदृश होकर ऐसे शोभित होने लगता है, जैसे वसन्त से वृक्ष ॥४५,४६॥ जो पुरुष सन्तोष धारण नहीं करता और अर्थों के लिए लालायित रहता है, उसकी प्रकृति ठीक उस कीट की तरह दीन बन जाती है, जो कीट जूतों से पहले आहत होकर रगड़ खा गया है। इस तरह का असन्तुष्ट जीव एक दुःख से दूसरे दुःख की ओर जाता ही है, दुःखों से छुटकारा नहीं पाता ॥४७॥ धन के लोभी जीवों की आकृतियाँ (आकार) विकृत ही रहा करती है और वे अपनी स्वस्थ स्थिति ऐसे प्राप्त नहीं कर सकते, जैसे कि क्षुब्ध समुद्र में गिरे हुए तथा तरंगों से विकल हो उठे पुरुष ॥४८॥ अर्थसम्पत्ति और प्रमदा–ये दोनों वस्तुएँ तरंगों के सदृश थोड़ी ही देर में नष्ट हो जानेवाली हैं और वे सर्प के फनरूप छत्र की छाया ही हैं, अतः कौन विद्वान उनसे खेल करेगा ? ॥४९॥ धन के उपार्जन और रक्षण में जो भारी यातनाएँ होती हैं, उनको जानकर भी जो धन की इच्छा करता है, वह मूढ़ और नरपशु है उसे छूना तक नहीं चाहिए ॥५०॥ जो पुरुष सन्तोषरूपी हँसिये से एक साथ बाहर की इन्द्रियों के बर्ताव को और भीतर के संकल्प आदि को काट डालता है, उसका खेत यानी ज्ञानबीज की उत्पत्ति का स्थान हृदय प्रकाशने लगता है ॥५१॥

दृढ़ वैराग्य की प्राप्ति तक के जितने गुण अभी–अभी पीछे बतलाये गये हैं वे भलीभाँति अभ्यस्त होने पर ही ज्ञान की स्थिति बना देते हैं, ऊपर–ऊपर से अभ्यस्त होने पर नहीं, इस आशय को लेकर उपसंहार की इच्छा से कहते हैं।

भद्र, अज्ञानियों से सम्बन्ध रखनेवाली जगत् की जो विचित्रता है, वह साक्षी आत्मा में सत्यता रखती ही नहीं, यों जान रहा भी ज्ञानी जगत् में सत्य अर्थ समझनेवाले अज्ञ के सदृश जो अपरिपक्व ज्ञान के कारण व्यवहार करता है, वह प्रस्तुत वैराग्यादि के अनभ्यास का ही परिणाम

है ॥५२॥ पुरुष को सबसे पहले संसार में विरागदशा प्राप्त करनी चाहिए, फिर सत्समागम और शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिए, अनन्तर 'तत्त्वमसि' आदि शास्त्रों के अर्थों की दृढ़ भावना कर भोगों से विरक्त हो जाना चाहिए, इतना करने के अनन्तर अभी कहे गये वैतृष्ण्य की यानी सन्तोष की दृढ़ता बन जायेगी और फिर अपने असली स्वरूप को वह अवश्य प्राप्त हो जायेगा ॥५३॥

सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

अड़तालीसवाँ सर्ग

उत्तम वैराग्य दृढ़ होने पर पुरुष की जिन लक्षणों से स्थिति होती है तथा ज्ञान में निष्ठा हो जाने पर जिन लक्षणों से स्थिति होती है, उनका वर्णन।

सबसे पहले वैराग्य की दृढ़ता हो जाने पर पुरुष के जो चिह्न होते हैं, उन्हें बतलाते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, जब पुरुष को संसार से विरक्ति उत्पन्न हो जाती है, जब साधु पुरुषों का समागम प्राप्त हो जाता है, जब 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का अर्थ बुद्धि द्वारा भावित हो जाता है, जब भोगों की तृष्णा चली जाती है, जब विषय नीरस बन जाते हैं, जब साधुता का उदय हो जाता है, जब प्रकाशमय आत्मा सामने आ जाता है तथा जब हृदय में अपने उदय की पूर्ण भावना हो जाती है, तब वह विवेकी पुरुष धनों को ऐसे नहीं चाहता, जैसे अन्धकारों को और यदि वे पास में विद्यमान हों, तो उनका ऐसे त्याग कर देता है, जैसे घर में से एकदम सूखे उच्छिष्ट पत्तलों का ॥१-३॥ उपयोगी भी बर्तन आदि ढो ले जाने में असामर्थ्य रखने के कारण जैसे पथिकों की दृष्टि से वे केवल भारभूत ही देखे जाते हैं, वैसे ही विवेकी पुरुष की दृष्टि से स्त्री, बन्धु आदि भी भारभूत देखे जाते हैं। परन्तु सहसा उनका त्याग वह नहीं करता, यथाशक्ति और यथासमय धीरे-धीरे उनका उपचार करता ही जाता है यानी छोड़ता जाता है ॥४॥ इन्द्रियों में बार-बार लगे हुए भी भोगरूप इन्द्रियों के विषयों का वह अनुभव नहीं करता, क्योंकि उसका मन अत्यन्त शान्त हो चुका रहता है ॥५॥

उसीका विस्तार करते हैं।

विवेकी जीव, एकान्त स्थानों में, दिगन्तों में, सरोवरों में, जंगलों में, उद्यानों में, पवित्र देशों में, अपने ही घरों में, मित्रों की विलासपूर्ण क्रीड़ाओं में, सुन्दर बाग आदि के भोजनों में, शास्त्रों के तर्कपूर्ण विचारों में अज्ञानी की तरह दीर्घकाल तक आस्था बाँधकर नहीं रहता या आसक्ति न होने के कारण दीर्घकालतक स्थित नहीं रहता है ॥६,७॥ अथवा कदाचित् प्रारब्धवश उन स्थानों में रह गया, तो भी वहाँ रहकर तत्त्ववेत्ता पुरुष की ही खोज करता है, क्योंकि वह पूर्णशान्त, दान्त, अपनी आत्मा में रमनेवाला, मौनी और एकमात्र विज्ञानरूप ब्रह्म की कथा में निरत रहता है ॥८॥

यों निरन्तर अन्वेषण करने पर अवश्य आत्मा का दर्शन होता है और इससे शान्ति मिलती है,

यह कहते हैं।

इस तरह अभ्यास के बल से शान्त विवेकी पुरुष स्वयं ही जल में निम्न (नीचे के) भाग के सदृश परम पद में विश्रान्ति प्राप्त कर लेता है ॥९॥

वह परमपद कैसा है ? जहाँ पर विवेकी विश्रान्ति पाता है और किस तरह का निश्चय विश्रान्तिरूप बन जाता है ? इस पर कहते हैं।

एकमात्र अज्ञान ही इन बाह्य और आभ्यन्तर दृश्य पदार्थों के रूप में परिणत हो गया है, अज्ञान कोई अलग पदार्थ है नहीं, इसलिए अज्ञान की शान्ति ही परमपद है, यह आप जानिए अथवा बाह्य और आभ्यन्तर जितने अर्थ दिखाई पड़ते हैं, वे आत्मा से अतिरिक्त कुछ नहीं है, इस प्रकार का अन्तिम साक्षात्कारात्मक जो निश्चय है, वह यदि अपने स्वरूपभूत आत्मा में दग्ध लकड़ी की आग के सदृश शान्त हो गया, तो वही परमपद है ॥१०॥ बोधरूप आत्मा के सिवा न तो अर्थों का ज्ञान हो सकता है और न शून्य ही सिद्ध हो सकता है, इस प्रकार के भीतरी अनुभव में विद्यमान सर्व बाधों की अवधिभूत जो वस्तु है, वही परम पद है ॥११॥ परमपदरूप जो वस्तु है, वह न बोधरूप है, न शून्यरूप है और न तो अर्थरूप ही है, यह आप जान लीजिए, क्योंकि समस्त वस्तुएँ अद्वय बोध के साथ एकरस होकर ही परिणत हैं। तात्पर्य यह निकला कि यदि बोध के विषय पदार्थ होते, तो उनको लेकर बोधरूपता कह सकते, परन्तु बोध विषय कोई पदार्थ तो त्रिकाल में भी नहीं है, इसी तरह अर्थ न होने के कारण अर्थरूपता भी नहीं है। अर्थों की शून्यता को लेकर परमपद में शून्यता कैसे हो सकती है ? ॥१२॥

परमपद में विश्रान्ति पा जाने पर विषयों की विरक्ति सिद्ध हो जाती है, यह कहते हैं।

मनशून्य (मन की विलयदशा को प्राप्त) तथा आत्मतत्त्वसाक्षात्काररूप परमपद में विश्राम किये हुए महात्माओं को विषय ऐसे अच्छे नहीं लगते, जैसे मनशून्य पत्थरों को दूध ॥१३॥ निरोधपद को प्राप्त यानी बहिर्मुख पुरुषों को आत्मनिष्ठा में रुकावट डालनेवाले तथा अन्तर्मुखपुरुषों को बाह्यनिष्ठा में रुकावट डालनेवाले परमपद में प्राप्त हुआ, मन से रहित, मुनि के धर्मों से पूर्ण, शारीरिक कार्यों में शिथिल आत्मज्ञानी महात्मा अपने स्वभाव में ऐसे निश्चल होकर स्थित रहता है, जैसे चित्र में अंकित पुरुष ॥१४॥

उस समय उसका मन किस तरह का रहता है ? इस पर कहते हैं।

भद्र, अवश्य जानने लायक आत्मवस्तु को जाननेवाले उस महात्मा का मन अर्थरहित है, और सम्पूर्ण अर्थों से पूर्ण भी है, क्योंकि तत्त्वतः सभी तद्रूप हो गये है। अपरिच्छिन्न ब्रह्मरूप हो जाने के कारण महान् ही है और दुर्लक्ष्य होने के कारण परमाणुरूप भी है, अशून्यरूप होता हुआ भी शून्यात्मक है, कारण कि अहन्ता, जगत् की इच्छा आदि, दिशा (देश) और काल की कल्पना आदि तथा ज्ञाता के ज्ञान आदि जितने पदार्थ हैं, वे सब उसी से तो हुए हैं, अतः तद्रूप होने के

कारण शून्यरूप नहीं हो सकता और शून्य आदि भी उसी से हुए हैं, अतः अशून्यरूप भी नहीं है। ऐसी स्थिति में तत्-तद्रूप से स्थित हुआ भी नहीं है, यह कहा जा सकता है ॥१५,१६॥ सम्पूर्ण मलों से रहित आत्मपद में स्थिति करनेवाला ज्ञानी अपने हृदय में स्थित अज्ञानरूपी अन्धकार को तथा बाहर के अन्धकार को एवं राग, द्वेष, भय आदि को, दीपक की तरह निकाल देता है ॥१७॥ भद्र, ऐसे पुरुषरूपी भास्कर को (सूर्य को) प्रणाम करना चाहिए, जिसका कि समस्त अंश रजोगुण से शून्य है, सत्त्वगुण के प्रभाव से जो अज्ञानसागर से पार पा चुका है और जिसमें तमोगुण का सर्वथा अभाव है ॥१८॥ श्रीरामजी, मैं आपसे क्या कहूँ, जब भेद हट जाता है, चित्त अदृश्य बन जाता है, तब ज्ञानी की जो स्थिति हो जाती है उसका वाणी से कथन हो ही नहीं सकता ॥१९॥ हे महाबुद्धे, रात-दिन की उत्तम भक्ति से चिरकाल के बाद प्रसन्न किया गया परमात्मा वर्णित परमपदरूप निर्वाण देता है, दूसरा नहीं। तप के प्रभाव से यह ईश्वर के प्रसाद से मोक्ष मिलता है, ऐसी श्रुति की उक्ति भी है ॥२०॥ श्रीरामजी ने कहा : हे तत्त्वज्ञों में श्रेष्ठ मुनिवर, कौन ईश्वर है ? और वह भक्ति से कैसे प्रसन्न किया जाता है, यह बात मुझसे आप ठीक-ठीक कहिए ॥२१॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे महामते, ईश्वर न तो दूरी पर ही है और न अत्यन्त दुर्लभ ही है, महाबोधरूप, एकरस अपनी आत्मा ही परमेश्वर है ॥२२॥

ईश्वर उसे कहते हैं, जो सबका नियन्त्रण करने में स्वतन्त्र हो, इस तरह स्वतन्त्र सबके प्रति सभी प्रकार से अपनी आत्मा ही है, इस विषय में युक्ति कहते हैं।

सब कुछ आत्मा के लिए ही है। रथ, घर, महल आदि जितने अचेतन पदार्थ हैं, वे सब चेतन के लिए ही हैं, आत्मा से अतिरिक्त कोई चेतनवस्तु है नहीं, इसलिए सर्वभोक्तृतारूप स्वतन्त्रता आत्मा में ही आ गई। उसी से सब कुछ हुआ है यानी सबका कर्ता वही है, वही सब कुछ है यानी आत्मा ही सबका उपादान और अधिष्ठान हैं, सभी ओर जहाँ दृष्टि डालें वहाँ पर वही नजर में आता है यानी सम्पूर्ण शक्तियाँ उसी में है। वही भीतर है यानी सूक्ष्म है, वही सर्वमय सर्वगत है, वही सनातन है, उस आत्मरूप परमात्मा को नमस्कार हो ॥२३॥

इसीलिए श्रुति में बतलाई गई जन्मादिकारणता उसमें है, यह कहते हैं।

यद्यपि वास्तव में आत्मा कारण नहीं है, तथापि कारणरूप हुए उसी आत्मा से, पवन से पवन-गतियों की नाईं, ये सृष्टि, प्रलय आदि विकार उत्पन्न होते हैं ॥२४॥

सबका आराध्य भी आत्मा ही है, यह कहते हैं।

ये जितने स्थावर-जंगम पदार्थ हैं और ये जितने प्राणी हैं, वे सब अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार उपहार सामग्री प्रदानकर उसी आत्मा का निरन्तर पूजन करते हैं ॥२५॥ जब अनेक जन्मों तक यह आत्मा यथाभिमत इच्छा से पूजित होता है, तब वह उससे प्रसन्न हो जाता है ॥२६॥

जब अनेक सत्कर्मों से वह महादेव, महेश्वररूप आत्मा स्वयं प्रसन्न हो जाता है, तब पूजक के

पास बोध देने के लिए अपना पवित्र दूत तत्काल भेजता है ॥२७॥

श्रीरामजी ने कहा : हे मुने, परमेश्वररूपी आत्मा कौन दूत भेजता है, और वह आकर बोध कैसे देता है, इसको मुझसे कहिए ॥२८॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, आत्मदेव के द्वारा भेजा गया दूत, जिसका नाम विवेक है और सदा आनन्द देनेवाला है, उक्त पुण्यवान् अधिकारी की हृदयगुहा में आकर, आकाश में चन्द्रमा की नाईं, स्थिर हो जाता है ॥२९॥ यही विवेक नामक दूत क्रमशः वासनारूप प्राणी को बोध देता है और अविवेकी को इस संसार–सागर से पार कर देता है ॥३०॥ समस्त जगत् का प्रकाश करनेवाला ज्ञानरूप अन्दर का आत्मा ही सबसे बड़ा परमेश्वर है, वासनारूप आत्मा नहीं। इसी परम परमेश्वर का बोधक वेदसम्मत प्रणव (ॐ) है ॥३१॥ जप, होम, तप, दान वेदपाठ, यज्ञ और क्रियाक्रमों से निरन्तर इसी आत्मा को नर, नाग, देवता और दानव प्रसन्न करते हैं ॥३२॥ इसी परमपिता परमात्मा का द्यौ मस्तक है, पृथ्वी पैर है, तारे रोम हैं, भूत अस्थि हैं, आकाश हृदय है और यही सबका अन्तरात्मा है ॥३३॥ चैतन्यात्मा होने से यही सब जगह जाता है, जागता है और देखता है, इसलिए यही आत्मा लाखों, हाथ, पैर, कर्ण, चक्षु और पैरों का चारों ओर से धारण करता है ॥३४॥ विवेकरूपी दूत को जगाकर और चित्तरूपी पिशाच का विनाशकर यही चिदात्मा जीव को अपनी दिव्य अनिर्वचनीय स्थिति पैदा करा देता है ॥३५॥ भद्र, समस्त संकल्प–विकल्पों का, विकारों का और अर्थसंकटों का परित्याग कर अपने ही पुरुषार्थ से अपनी आत्मा को स्वयं ही प्रसन्न कर लेना चाहिए ॥३६॥ जिसमें मनरूपी पिशाच घूम रहा है, काम, क्रोधरूपी काले मेघों से जो सदा व्याकुल रहता है, ऐसे संसार रात्रि के घने अन्धकार में अपना आत्मा ही पूर्ण चन्द्रमा है ॥३७॥

विवेक ही पार कर देनेवाला है, इस बात को बतलाने के लिए संसार का समुद्ररूप से वर्णन करते हैं।

अगाध एवं मरणरूप भँवरों के कल्लोलों से व्याकुल कोटरों से युक्त तृष्णारूपी तरंगों से तरल, अपने मनरूपी झंझावातों से युक्त स्थावर आदि बड़े–बड़े भूतरूप जलकणों से व्याप्त, संसाररूपी बड़ा विषम सागर इन्द्रियरूप मगरों से अतिगहन है, उसको पार करने के लिए विवेक ही एक बड़ा भारी जहाज है ॥३८,३९॥

कहे गये प्रश्न–उत्तरों का संक्षेप कर उपसंहार करते हैं।

पूर्व वर्णित शास्त्रविहित पूजन से प्रसन्न हुआ आत्मा परम विवेकरूप परम पवित्र दूत भेजकर सत्संग, शास्त्र और परमार्थ वस्तु के उत्तम उपदेश द्वारा जीव को अद्वितीय, निर्मल और सर्वोच्च पद प्राप्त कराता है ॥४०॥

अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त

उनचासवाँ सर्ग

दृढ़ विवेकज्ञान सम्पन्न पुरुषों की जैसी महिमा होती है तथा जैसा उनको संसार भासता है, उन सबका वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जिनका विवेकज्ञान परिपुष्ट हो गया है ऐसे वासनारूपी मल का परित्याग कर रहे महात्माओं के अन्दर कोई अपूर्व ही महत्ता उत्पन्न होती है ॥१॥

उसी महत्ता का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

औदार्य की सर्वश्रेष्ठ अवधिभूत तथा गाम्भीर्य गुण से अति सुन्दर महात्माओं की बुद्धि को चौदह भुवन तथा उनके सभी प्राणी एवं वहाँ की सारी सम्पत्तियाँ भी लुब्ध नहीं कर सकतीं ॥२॥ यह सारा संसार चित्त की एकमात्र भ्रान्ति है, ऐसी सज्जनों को दृढ़ प्रतीति हो जाने पर बाहर शब्दादि विषयों के लिए उत्पन्न होनेवाला तथा भीतर संकल्प विकल्पादि रूपों से भ्रमण करनेवाला अतएव हृदय के भीतर और बाहर दोनों जगह संचार करने में समर्थ मनसहित इन्द्रियों का समूहरूपी एक तरह का मगर तथा उसका मूलभूत अज्ञान एवं वासना, काम, कर्म आदि ये सबके सब शान्त हो जाते हैं ॥३॥

जब तक भ्रान्तियों में सत्यत्व का अभिमान रहता है तभी तक भोगों की वासना की बुद्धि भी रहती है। भ्रान्तियों का भ्रान्तिरूप से स्फुरण होने पर यानी ये जगत् की सारी भ्रान्तियाँ वस्तुतः भ्रान्तिरूप ही हैं, ऐसा ज्ञान हो जाने पर तो मूल का उच्छेद हो जाने के कारण उन वासनाओं का भी उच्छेद लोक में प्रसिद्ध ही है, यह दृष्टान्त देकर दिखलाते हैं।

दो चन्द्रमा के तुल्य, मृगतृष्णा के जल के समान तथा आकाश में केशोण्ड्रक के सदृश जगत् की भ्रान्ति वस्तुतः भ्रान्ति है, ऐसा तत्त्वबोध द्वारा स्फुरित हो जाने पर तत्त्वज्ञानी पुरुष को वासना की प्रतीति भला कहाँ से हो सकती है ? ॥४॥ वासना की प्रतीति (वृत्ति) का नाश होने पर शून्य चिदाकाश ही शेष रह जाता है और वह वासना की शून्यावस्था भी मन के न रहने पर ही सिद्ध होती है। अतः वासनाशून्य मनरहित जो अवस्था सप्तम भूमिका में विवेकी पुरुष से प्राप्त है उसका भला त्याग कैसे किया जा सकता है ? इसके त्याग में कोई हेतु नहीं दीखता, यह भाव है ॥५॥ जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये जो तीन अवस्थाएँ है ये तो सभी को भलीभाँति ज्ञात हैं। परन्तु इन तीनों से शून्य जो चौथी अवस्था है वह तो दर्शन आदि व्यवहारों के मूल का बाध हो जाने पर सांसारिक पदार्थों को न देखती हुई भी एकमात्र जीवन के हेतुभूत प्रारब्ध के शेष रह जाने से देखती हुई-सी अन्य की दृष्टि में अवभासती है। तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में तो वह परमावस्था ही कहलाती है ॥६॥ सप्तम भूमिका में स्थित तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में यह जगत् व्युत्थानकाल में भी नहीं भासता और न आत्मा, न धन तथा पृथ्वी आदि से घटित कोई पदार्थ ही भासता है, बल्कि विचित्र तरह का एक

रत्नों का किरण–जाल–सा निबिड़ित प्रभापुंज–सा आभासमात्र भासता है ॥७॥ तत्त्वज्ञानी महानुभावों की दृष्टि में यह सारा जगत् रूपों का आलोकमात्र, आकाश में विचित्र मणिसमूह के किरणजाल–सा उत्थित, एकमात्र शून्यस्वरूप ही स्थित है ॥८॥ इस संसार में न तो ये सब नाना प्रकार के जीव सत्य हैं, न यह जगत्–रूप सत्य है और न कहीं शून्यता ही है, किन्तु ब्रह्मनामक रत्नेश का प्रभाजाल ही सर्वत्र प्रसारित है उसीका चारों ओर विलास हो रहा है ॥९॥ चूँकि अनेकता नहीं है, अतः ब्रह्म की सृष्टियाँ भी नहीं हैं। चूँकि विनाशिता नहीं है, अतः प्रलय भी नहीं हैं, किन्तु मूर्तिशून्य कल्पनारूपी अनेक सूर्यों की ही किरणें एकत्रित होकर यहाँ भासित हो रही हैं ॥१०॥

मनोराज्य आदि में संकल्पकल्पित मूर्ताकारपदार्थों की तो शून्यता ही प्रसिद्ध है, पिण्डरूप से उनका ग्रहण प्रसिद्ध नहीं है, यह कहते हैं।

सच पूछिये तो इस प्रकार कल्पना ही मूर्तिमान् जगद्रूप से भासती है। वास्तव में यहाँ घनीभूत कोई पिण्डग्रहण नहीं है, क्योंकि जैसे आकाश में एकमात्र शून्यता अवगत होती है। वैसे ही संकल्प–कल्पित मनोराज्य आदि में एक मात्र शून्यता ही अवगत होती है ॥११॥

शून्यता प्रसाधन का फल कहते हैं।

अवस्तुभूत उस शून्यता में विवेकी पुरुष को अहन्ता, ममता, राग–द्वेष आदि भावों का बन्धन भला कैसे हो, क्योंकि भविष्यत् आकाशरूपी वृक्ष में किस पक्षी ने विश्रान्ति प्राप्त की है ॥१२॥

इस तरह संसार में पिण्डत्वादि का खण्डन हो जाने पर साररूप से सन्मात्र ही शेष रह जाता है, यह कहते हैं।

इन सांसारिक जीवों की कोई पिण्डता नहीं है। वस्तुतः कोई मूर्ति नहीं है और न शून्यता ही विद्यमान है। यही कारण है कि चित्त भी अस्त हो चुका है और एकमात्र सद्रूप ही शेष रह गया है, उसका किसी तरह अपलाप नहीं हो सकता वह सदा स्थित है ॥१३॥

यही कारण है कि तत्त्वज्ञानी पुरुष जाग्रत अवस्था में भी सुषुप्ति में ही स्थित रहता है, क्योंकि उस समय भी उसे भासित हो रहे पदार्थों की अनेकता सन्मात्र आत्मा में ही लीन हुई रहती है, यह दृष्टान्त देकर बतलाते हैं।

जाग्रतअवस्था में नाना प्रकार के रूपों से सम्पन्न होने पर भी तत्त्वज्ञानी पुरुष एकरूप हो समानभाव से सुषुप्ति में ही स्थित रहता है, क्योंकि उसकी अनेकता सन्मात्र आत्मा में ऐसे लीन हुई रहती है, जैसे नाना प्रकार के सुवर्ण के आभूषण सुवर्ण के पिण्ड में ॥१४॥

ज्ञानी का वह अवशिष्ट सन्मात्र चित्तरूप ही क्यों नहीं होगा, क्योंकि चित्त के रहने पर ही चिति की अभिव्यक्ति प्रसिद्ध है, चित्त का नाश होने पर उसकी स्थिति नहीं रहती, यह आशंका कर कहते हैं।

यदि अन्यथा स्वभाव जाड्य में स्थित ज्ञानी का अहंकार सहित सारा विश्व और चित्त विलीन

हो जाता, तब तो वह ज्ञानी जड़सन्मात्ररूप से अवशिष्ट रह जाता किन्तु यह बात नहीं है। यहाँ तो बात यह है कि यथाभूत चिदेकस्वभाव में स्थित ज्ञानी का अहंकार सहित सारा संसार और चित्त तत्त्वज्ञान से विलीन हो जाता है इसलिए वह सत्स्वरूप से ही अवशिष्ट रह जाता है। उस समय ज्ञानी का परिशिष्ट चिदेकरस अचिद्रूप है, यह नहीं कहा जा सकता अतः उस समय चिदेकरस सन्मात्र को परिशेष की ही सिद्धि हो जाती है ॥१५॥

यदि सन्मात्ररूप सबका स्वरूप है, तो फिर वह सबको सुलभ क्यों नहीं है ? यदि यह आशंका हो, तो उसका उत्तर यही है कि ऊँच-नीच विषयों में बुद्धि की चंचलता के कारण स्थिरता का अभाव होने से ही वह स्वरूप सबको सुलभ नहीं है, यह कहते हैं।

ऊँच-नीच विषयों की ओर दौड़ने से बुद्धि क्लेश पाती है, इसलिए वह सन्मात्र स्वरूप सबको सुलभ नहीं है। हाँ, धीरे-धीरे युक्ति का अभ्यास करने से सत्य अर्थ अवगत हो जाता है ॥१६॥

वह कौन-सी युक्ति है, यह दिखलाते हुए उस युक्ति का फल ज्ञान है, यह बतलाते हैं।

जिस अधिकारी पुरुष ने भूत, भविष्य और वर्तमान इस जगद्रूपी अंग के जन्म को कार्य-कारणता आदि से विचार कर वाचारम्भण श्रुति में दिखलाये न्याय द्वारा स्थूल और सूक्ष्म प्रपंच से रहित परिशिष्ट सन्मात्र अखण्ड बोधरूप से जान लिया है वही सचमुच तत्त्वज्ञानी है तथा उस द्वैतशून्य उपशान्त ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में यह संसार है ही नहीं ॥१७,१८॥

सभी उपदेशों का, जो तत्-तत् असंभावनांश के व्यावर्तक हैं, उस तरह के अनुभव में ही पर्यवसान है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त ये सभी मेरे विशेष रूप से उपदेश, साधु पुरुषों की कथा की तरह, ज्ञानी के अनुभव में स्वतः आ जाते हैं ॥१९॥

दूसरी युक्ति बतलाते हैं।

चार तरह के प्राणिसमूहों तथा पृथिवी आदि महाभूतों का एक-एक अवयव तथा एक-एक गुण से विवेचन करके देखने पर इन दृश्य पदार्थों की, परमाणुभाव में विश्रान्ति न होने से इन सभी जीवों में न तो पिण्डता है और न प्रत्यक्षादि के असंभाव से शून्यता ही है अर्थात् न तो इन सब जीवों की कोई मूर्ति है और न ये सब शून्यरूप ही हैं। इन दोनों के न रहने से सम्पूर्ण विकल्पों का नाश हो जाने के कारण विकल्पों के अधीन स्थितिवाला मन भी नहीं है। इसलिए निर्विकल्प सन्मात्ररूप स्फुरण ही अवशेष है। हे श्रीरामचन्द्रजी, वही आपका पारमार्थिक रूप है और वही आपकी अन्तिम स्थिति हैं ॥२०॥

अन्य युक्ति बतलाते हैं।

इस प्रत्यगात्मा का (साक्षी चेतन का) विषयों की ओर उन्मुख होना ही संसाररूप से बोध है। यह अनर्थ के लिए ही उदित होता है, कल्याण के लिए उदित नहीं होता ॥२१॥

यह अनर्थ के लिए कैसे उदित होता है, यह कहते हैं।

संसाररूप से उदित हुआ वह बोध बाह्यरूपता को प्राप्त करता है और बाद में स्वयं संवेदन के कारण वह साकारपिण्डरूपता को ऐसे प्राप्त हो जाता है, जैसे जड़ता के कारण जल ही जम करके पत्थररूपता को प्राप्त हो जाता है ॥२२॥ वह चिदात्मा ही अपने स्वरूप के ज्ञान से स्वप्नकाल के पदार्थों के समान पिण्डरूपता को यानी पदार्थों के मूर्तिमान् आकार को धारण करता है तथा उसके ग्राहकरूप से चित्त बनकर फिर शरीर धारण कर लेता है ॥२३॥

इस तरह के हजारों विवर्तों से भी चिति में अणुमात्र भी विकार नहीं आता, क्योंकि वे सभी नाममात्र के ही रहते हैं, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इन सभी अवस्थाओं में चिदात्मा अपने स्वरूप से अन्यभाव को तनिक भी प्राप्त नहीं होता। शब्दमात्र की केवल कल्पना से ही भेद ही कल्पना की गई है ॥२४॥ स्वप्न में मन से पदार्थों का अवलोकन होने पर मन के ही बाहर–भीतर सर्वत्र विद्यमान रहने से एकमात्र मन ही जैसा विकृतरूप से भासता है, वैसा विकृतरूप से यह बोधात्मा अर्थदृष्टियों से बाहर–भीतर भासमान होने पर नहीं भासता ॥२५॥

आत्मा विकृत क्यों नहीं होता, इस पर कहते हैं।

आकाश के सदृश होने से चिदात्मा भी आकाश ओर काल के समान अविकृत ही रहता है तथा उसका शरीर भी काल और आकाशरूप ही है। सभी पदार्थ चिदाकाशस्वरूप है। वह चिदाकाशस्वप्न के समान अर्थाकार से परिणत नहीं होता ॥२६॥

जड़स्वरूप बाह्य पदार्थों के आकार से चिति भले ही विकृत न हो सके, किन्तु जड़ का तो विकार हो सकता है। तत्त्वबोध केवल भीतर स्थित चिदाकाररूप से वह विकृत क्यों न हो जाय, इस पर कहते हैं।

जैसे जड़ बाह्य पदार्थों के आकार से चिति विकृत नहीं हो सकती वैसे ही जड़ बाह्यपदार्थता भी तत्त्वबोधवश भीतर स्थित चिदाकाररूप से विकृत नहीं हो सकती, क्योंकि सर्वथा असदृश जड़ पदार्थ कहीं भी बोधरूप नहीं हो सकता ॥२७॥ चिदात्मा दृश्यदशा को प्राप्त नहीं होता अथवा विवर्तवश उस दृश्य स्थिति को यदि प्राप्त हो जाता है, तो भी वह अविकृत ही बना रहता है। तनिक भी अन्यरूपता को नहीं प्राप्त होता ॥२८॥ सर्वथा शुद्धबोधस्वरूप एक आत्मा का सप्तम भूमिका में परिणतिरूप उदय हो जाने पर बोध और अबोधरूपी अर्थ और शब्द का भी श्रवण समाप्त हो जाता है ॥२९॥

जिस मन की भावना से यह सारा दृश्यप्रपंच दृढ़ हो जाता है उसी मन की भावना से यह सारा दृश्यप्रपंच शिथिल भी हो जाता है, यह कहते हैं।

मन की दृढ़ भावना से ही चित्तस्वरूप सूक्ष्म शरीरों की स्थूलदशा प्राप्त हो जाती है यानी दृढ़

भावना से ही चित्तरूप लिंग शरीरों में आधिभौतिकरूपता का बोध होता है ॥३०॥ आकाश के सदृश विशद इन सूक्ष्म चित्तों के द्वारा यह मिथ्या आधिभौतिकरूपता ऐसे भावित हुई है, जैसे कि पिशाचवेष का अभिनय करने के लिए नटों द्वारा मिथ्या पिशाचरूपता भावित होती है। तात्पर्य यह कि पिशाचवेष का अभिनय करने के लिए जैसे मिथ्या पिशाचवेष को नट धारण करते हैं वैसे ही इन चित्तों ने यह मिथ्या भौतिकरूप धारण किया है ॥३१॥ अभ्रमता के अभ्यास से यानी सत्यस्वरूप के अभ्यास से भलीभाँति स्वरूपतः ज्ञात हुई यह सांसारिक भ्रान्ति ऐसे शान्त हो जाती है, जैसे कि 'मैं उन्मत्त नहीं हूँ' इस दृढ़ ज्ञान से उन्मत्त पुरुष की निःसन्देह उन्मत्तता शान्त हो जाती है ॥३२॥ भ्रान्ति का परिज्ञान होने से वासना स्वयं निवृत्त हो जाती है। ठीक ही है, स्वप्न का स्वप्नरूप से ज्ञान हो जाने पर भला किस पुरुष को स्वाप्निक पदार्थों में सत्यत्व की वासना हो सकती है ? ॥३३॥ एकमात्र वासना के क्षय से ही यह संसार उपशान्त हो जाता है। यह वासना ही महायक्षिणी है। विवेकी महानुभाव लोग इसके नाश में लगे हुए रहते हैं ॥३४॥ पुरुषों के अभ्यास से अज्ञानप्रयुक्त उन्मत्तता जैसे उत्पन्न हुई रहती है वैसे ही ज्ञान हो जाने पर अपने उस ज्ञान के अभ्यास से धीरे-धीरे समय पाकर वह नष्ट भी हो जाती है ॥३५॥ जैसे भावना के बल से यह सूक्ष्म शरीर स्थूलरूपता को प्राप्त होता है वैसे ही विवेकी पुरुष अभ्यास द्वारा दृढ़ की गई स्थिति के प्रसाद से इस सूक्ष्म शरीर को ब्रह्महंभाव की एकमात्र वासना में पहुँचा देते हैं॥३६॥ तथा इस सूक्ष्म शरीर को भी ब्रह्महंभाव की एकमात्र वासना में ले जा करके वहाँ से जीवरूपता को प्राप्त करा देते हैं और फिर उस जीव को भी अपने दृढ़बोध के अभ्यास से ब्रह्मस्वरूप में पहुँचा देते हैं ॥३७॥

ज्ञानी महानुभाव लोग कैसे इस सूक्ष्म शरीर को जीवरूपता तथा ब्रह्मरूपता प्राप्त करा देते हैं, यह कहते हैं।

उत्पन्न हुए बाह्य तथा आध्यात्मिक भावों के प्रति जो आत्मा का अतिवहन करता है उस वासनासमूह का नाम अतिवाह है तथा उससे उत्पन्न हुआ जो लिंग शरीर है उसको 'आतिवाहिक' कहते हैं। समस्त भाव पदार्थों के प्रथम विकार का नाम उत्पत्ति है। वह यदि विचार के बाद कूटस्थ बोधमात्रस्वरूपिणी ज्ञात हो जाय, तो फिर वह सूक्ष्म शरीर विषयक बुद्धि कैसी है, यह भी ठीक-ठीक ज्ञान हो जाय (*) ॥३८॥

(*) परन्तु कूटस्थ बोधस्वभाव से अलग किसी भाव पदार्थ की उत्पत्ति का निरूपण हो नहीं सकता। देखिये, विचार कीजिये क्या वह उत्पत्ति पहले स्वयं उत्पन्न होकर भावों को अपने से विशिष्ट बनाकर स्थित होती है या बिना स्वयं उत्पन्न हुए ही। इसमें यदि आप दूसरा पक्ष स्वीकार करते हैं, तो उस पक्ष में हमारा आपसे यह कहना है कि तब तो सींग भी खरगोश को अपने से विशिष्ट बना सकता है। रह गया पहला पक्ष। इसमें तो यह समझ लीजिये कि स्वयं उत्पत्ति आदि से विशिष्ट हुई वह भाव पदार्थरूप ही होगी, न कि भावविकार। इसी तरह उसकी उत्पत्ति भी समझ लीजिये। इस रीति से

इसी रीति से 'तत्' और 'त्वं' पदार्थ का शोधन होने पर सम्पूर्ण महावाक्य अखण्ड अर्थ के बोधन द्वारा सम्पूर्ण सन्देहों के ग्रन्थि भेदन में समर्थ होते हैं। अन्यथा वे भूत–प्रेतों को भगाते समय पढ़े जा रहे मन्त्रों के भीतर आये हुए 'हूं' 'फट्' आदि पदों की तरह बिलकुल अनर्थक सिद्ध होंगे। वे सभी महावाक्य एकमात्र श्रवण के बल से प्राणी को इस संसार से छुटकारा दिला देते हैं, ऐसी हमें कल्पना करनी चाहिए, यह कहते हैं।

यदि ऐसी बात न हो, तो फिर ब्रह्मप्रतिपादक महावाक्यों के अर्थ से संसार की ग्रन्थि निवृत्त हो जाती है, यह कहना भी वैसे ही बिना अर्थ का सिद्ध होगा, जैसे कि भूत–प्रेतादि को दूर भगानेवाले मन्त्रों के अन्तर्गत 'हुं', 'फट्' आदि पद ॥३९॥ 'तत्' पदार्थ के शोधन के लिए पहले 'वाचारम्भण' न्याय से जगत् तथा इसके कारणभूत ईश्वर के स्वरूप की एकता जान करके उसके बाद 'त्वं' पदार्थ के शोधन के लिए 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्' इस श्रुति द्वारा दिखलाये गये मार्ग से प्रत्यक् चैतन्य को भी असंग अद्वय समझना चाहिए। *(कब तक इन दोनों पदार्थों के शोधन में मनुष्य को लगे रहना चाहिए, इस पर कहते हैं।)* जब तक इन दोनों पदार्थों के अखण्डैकरस वाक्यार्थरूप अत्यन्त परिणाम द्वारा वह अखण्डाकार वृत्ति भी नहीं जान ली जाती, तब तक साधक मनुष्य को इन दोनों पदार्थों के शोधन में तत्पर रहना चाहिए ॥४०॥ बाह्य तथा आभ्यन्तर चित्त के बिलकुल शान्त हो जाने पर अपनी चित्स्वभावता प्रकाशित होती है, इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, प्रत्येक पुरुष को चाहिए कि वह आकाश की नाईं पूर्ण स्वच्छ तथा शीतल उसी चित्स्वभावता का आश्रय कर शान्त होवे ॥४१॥

वही मुख्य 'विश्वजित्' नामक ज्ञानयज्ञ है, यह कहते हैं।

ज्ञानी पुरुष ज्ञानरूपी यज्ञशाला में उपस्थित होकर ध्यानरूपी अत्यन्त दृढ़ और लम्बे यज्ञस्तम्भ को नीचे दूर तक जमीन खोदकर गाड़ता है तथा सारे संसार को जीतकर सर्वत्यागरूप मुख्य दक्षिणा दे करके सबसे उत्कृष्ट बनकर विराजता है ॥४२॥

उसके सर्वोत्कर्ष का 'समस्त विपत्तियों में अकम्पितरूप से' पहले वर्णन करते हैं।

चाहे भले ही अंगारों की वृष्टि हो, प्रलयकाल की वायु बहे या यह भूतल आकाश में उड़कर चला जाय, किन्तु हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानी पुरुष अपने स्वरूप में ही समरूप से स्थित रहता है ॥४३॥

वज्र की तरह दृढ़ वैराग्य एवं शान्ति सुखोत्कर्ष की स्थिरता से भी उसका वर्णन करते हैं।

अनवस्थादोष मानने पर तो निर्विकार भावों की अनवस्था ही बनी रहेगी, अतः यह निश्चित है कि किसी के उत्पत्ति आदि विकारों का कोई भी विद्वान् किसी तरह से निरूपण नहीं कर सकता। इसलिए जब यों ज्ञान हो गया कि जितने भाव पदार्थ हैं वे सबके सब कूटस्थ बोधरूप ही हैं तब कहिये, कौन किसके लिए किसका अतिवहन करे या वह अतिवहन भी किस रूप का हो अथवा कौन–सी उसकी अन्य बुद्धि है ? वह भी तत्त्वतः ज्ञात हो ही जाती है, यह तात्पर्य है।

पूर्ण वैराग्य से सर्वथा शान्त मन तथा पूर्ण निरोध को प्राप्त पुरुष की वज्रतुल्य, दृढ़ समाधि के अतिरिक्त कोई दूसरी स्थिति नहीं उपपन्न होती ॥४४॥

शान्ति आदि साधनों में वैराग्य को ही सर्वोत्कृष्ट साधन बतलाते हैं।

बाह्य पदार्थों से वैराग्य होने पर जैसा मन पूर्णरूप से शान्त होता है, वैसा वह शास्त्रों के विचार, उपदेश, तप या इन्द्रियों के निग्रह से भी नहीं होता ॥४५॥ 'सारी सम्पत्तियाँ आपत्तिरूप हैं' इस तरह की भावना से मनरूपी महातृष्णा के बीच में सर्वत्यागरूप पवन से विबोधित सब पदार्थों से उत्पन्न वैराग्यरूपी अग्नि परमब्रह्मसाक्षात्कार ज्वालारूप से प्रज्वलित होकर बाहर और भीतर सर्वत्र प्रसिद्ध जो मोहान्धकार तथा मोहान्धकारप्रयुक्त जो चोर, यक्ष आदि की कल्पना के तुल्य ब्रह्माण्ड का भूत-भौतिक मूर्तरूपी पिण्ड है यानी ब्रह्माण्ड का साकार ज्ञान है एवं चक्षु आदि इन्द्रियों से रूप, रस आदि पदार्थों का जो अनुभव है, वहाँ सब चिदात्मा ही है यों एकमात्र अखण्ड-अद्वय स्वभाव सबको बनाकर ऐसे देदीप्यमान होती है, जैसे कि वज्रादिमणि अपने प्रतिबिम्बित हुई वस्तुओं को अपने स्वरूप में बिलकुल मिलाकर उन्हें प्रकाशित करते हुए स्वयं देदीप्यमान होती हैं ॥४६,४७॥ मनुष्य, नाग तथा असुर एवं उनके स्थान पर्वत तथा गुफा आदि के रूपों से वह चिति ही नाना प्रकार के वैचित्र्य को वैसे प्राप्त है, जैसे आकाश में मेघों के रूप से धूआँ ॥४८॥

ब्रह्माण्ड के पात्र के अन्तर्गत सभी वस्तुओं में चिद्व्याप्ति के अधीन स्पन्दन होने से चिद्विवर्तमात्रता है, इस आशय से कहते हैं।

चित्-रूप द्रवता के कारण ब्रह्माण्डरूपी जडपात्र के अन्दर चली गई तथा जीवरूप प्राणशक्ति से सरस बनी हुई ये चिद्विवर्तस्वरूप सम्पूर्ण प्राणियों की देहरूपी नदियाँ निरन्तर बह रही हैं ॥४९॥

इन चार प्रकार के शरीररूपी चिति के विवर्तस्वरूप नदियों के अन्दर रहनेवाली जीवरूपी मछलियाँ मोहजाल में फँस जाने के कारण स्वतत्त्व का स्मरण नहीं करती, यह कहते हैं।

चिदाकाशरूपी जल में विहार करनेवाली बेचारी जीवरूपी जीर्ण मछली मोहजाल में फँस जाने के कारण अपनी आत्मा में स्थिति का स्मरण नहीं करती ॥५०॥ अपने स्वरूपभूत आकाशरूपी आँगन में अपने से ही घनीभूत हुई यह चिति मानों मेघ बनकर स्थित हो पृथिवी आदि मूर्ताकार नाना पदार्थों के रूप से स्फुरित हो रही है ॥५१॥

सभी जीवों का स्वभाव एक-सा रहने पर भी वासना की विचित्रता से उन्हें सांसारिक दुःख भी विचित्र प्रकार के ही प्राप्त होते हैं और कोई दूसरा कारण नहीं है, यह कहते हैं।

वासना वैचित्र्य के सिवा, अन्य अंश में सभी जीव समान हैं। विषय वासना रहने से ही सूखे पत्तों की नाईं उड़-उड़कर वे विचित्र तरह की स्वर्ग, नरक आदि भोगभूमियों में जा गिरते हैं, स्वतः नहीं। क्योंकि वायु भरे बाँस जैसे अंगुलि व्यापार के बिना भी विचित्र ध्वनि पैदा करने में समर्थ होते हैं वैसे ही सबमें बराबर जडोपाधि के कारण वासना के बिना भी जड़ पदार्थ प्राणयुक्त रहने पर

विचित्र तरह के शब्द करने में समर्थ होते ही हैं ॥५२॥

इसलिए वज्रतुल्य वासनारूपी पिंजडे को तोड़ देने के लिए मनुष्य को आलस्यशून्य होकर अपने पौरुषप्रयत्न को बढ़ाना चाहिए, उसीसे परमपुरुषार्थ की सिद्धि होती है, इसी अभिप्राय से अब उपसंहार करते हैं।

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, सर्वप्रथम अपने पौरुषबल का यानी श्रवण, मनन आदिरूप साधनचतुष्टय का सम्पादन कर तदनन्तर ध्यान में विघ्नस्वरूप तन्द्रा को आसन, प्राणायाम आदि के अभ्यास द्वारा जीतकर संप्रज्ञात समाधि से उठ करके निर्विकल्प असंप्रज्ञात समाधि में प्रवेश के बाद अपने पूर्वजन्म के संचित वासनासमूहभूत संसारपाशरूपी मजबूत पिंजड़े को तत्त्वसाक्षात्कार द्वारा शीघ्र ही तोड़कर चारों ओर से पूर्णानन्दैकरस ब्रह्मरूप से आपको उदित होना चाहिए, अज्ञानी के समान संसार के भीतर आपको पड़े नहीं रहना चाहिए ॥५३॥

उनचासवाँ सर्ग समाप्त

पचासवाँ सर्ग

वासना की दृढ़ता और शिथिलता के कारण जीव सात प्रकार के हो जाते हैं, यह बोधार्थ वर्णन।

'वासना यदि न रहे तो सब जीव एक ही हैं' इस उक्ति से अन्त में जो एकमात्र विचित्रवासना के प्रभाव से जीवों के सात प्रकार बतलाये गये हैं, उनका लक्षणों से निरूपण करने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामचन्द्रजी, ये जो दसों दिशाओं में नर, हाथी, देवता, वृक्ष, इन्द्र, गन्धर्व आदि नाम धारणकर तत्–तत् विचित्र देह से जीव दिखाई पड़ते हैं, वे कोई तो स्वप्नजाग्रत् (स्वप्न को जाग्रत् समझनेवाले), कोई संकल्प को जाग्रत् समझनेवाले, कोई केवल जाग्रत् में स्थिति रखनेवाले और कोई दीर्घकालिकी जाग्रत में स्थिति रखनेवाले हैं। कोई घनीभूत जाग्रत् में स्थित हैं, कोई जाग्रत् ओर स्वप्न में स्थित हैं, कोई क्षीण जाग्रत् अवस्था में स्थित है, यों सात तरह के विभागों से उनका परिगणन किया गया है ॥१–३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, जैसे क्षीरसागर आदि सात समुद्रों में क्षीर आदि के रस से युक्त जल ही सात तरह के हैं, वैसे ही सात प्रकार के रूपों को धारण कर रहे इन जीवों का जो स्वरूप है, वह जानने के लिए मुझसे कहिए ॥४॥

पहले जीवट की आख्यायिका में प्रदर्शित रीति को लेकर उनका लक्षण कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामजी, किसी एक पूर्वकल्प में किसी एक जगत् में कहीं पर कोई जीव सुषुप्ति अवस्था में ही स्थित थे, वे जीव अपनी–अपनी देहों के कारण जीवित ही रहे, मरे हुए नहीं थे ॥५॥ गाढ़ी नींद में सोये हुए उन जीवों में जो जीव स्वप्न देखते हैं, उन्हींका

स्वप्न यह जगत है, यह आप जानिए । उन्हींका नाम स्वप्नजाग्रत कहा जाता है ॥६॥ कहीं पर सोये हुए उन जीवों को जो स्वप्न हुआ है, वही जब समान-कर्म-वासना के कारण हम लोगों का विषय बन जाता है, तब हम उनके स्वप्ननर बन जाते हैं ॥७॥ दीर्घकाल के प्रभाव से जब उनका स्वप्न जाग्रत्-रूप बन जाता है, तब उनके स्वप्न के वे जीव स्वप्न जाग्रत् कहे जाते हैं, वास्तव में वे उन्हींके स्वप्न में ही स्थित हैं ॥८॥

'उनके हम स्वप्ननर हैं' यह जो बात कही गई, इसका उपपादन करते हैं।

हमारा देहादि प्रपंच यदि वासनारूप से उस सोये हुए के चित्त में होता तो हमारा देहादिप्रपंच उसके चित्त में उत्पन्न हो जाता और हम लोग उसके स्वप्न के मनुष्य होते, परन्तु यह तो संभव नहीं है, इस तरह का कोई यदि प्रश्न करे, तो उसका वैसा प्रश्न करना ठीक नहीं है, क्योंकि सबको सत्ता देनेवाला मायाशबल ब्रह्म सर्वत्र रहता है और वह सर्वज्ञ है, इसी हेतु से सब जगह रह सकता है, अतः हम लोग उनके स्वप्ननर हैं यानी वासनारूप से उन्हीं के अन्तःकरण में स्थित हैं और वासना की समानता के कारण उनके स्वप्न में एक साथ अभिव्यक्त हो गये हैं ॥९॥

महाराज, ठीक है, देश को लेकर सब वस्तुओं की सर्वत्र स्थिति भले ही हो जाय, पर काल को लेकर नहीं हो सकती, क्योंकि भूतकाल की वस्तु वर्तमानकाल में कैसे रह सकती है, यदि भिन्न-भिन्नकाल की वस्तुओं की स्थिति एक काल में मानी जाय, तो सब कल्प एक साथ ही होने लग जायेंगे और उनका पार्थक्य भी नहीं रह जायेगा, इस आशय से श्रीरामजी प्रश्न करते हैं।

श्रीरामभद्र ने कहा : गुरुवर, जिन कल्पों में हम लोगों के प्रपंचों से स्वप्नों के द्रष्टा उन जीवों ने जन्म धारण किया था, उन कल्पों की कल्पनाएँ यदि उनके शरीरों के साथ इस समय नष्ट हो चुकीं, तो इस वर्तमान स्वप्न से जागे हुए उन लोगों की भूतकाल के कल्प में स्थिति नहीं हो सकती । जो आज नींद से जागा है, वह पूर्व दिन का जागरण जब नहीं जान सकता, तब पूर्वकल्प की तो बात ही क्या ? ॥१०॥

यदि वे जीव प्रपंचात्मक स्वप्न में दैववश तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लें, तो वे मुक्त हो ही जायेंगे, ऐसी स्थिति में आपका दोष नहीं हो सकता । यदि उन्होंने तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं किया, तो उनका अवशिष्ट कल्प तो व्यतीत हुआ नहीं है, इसलिए कुछ समय के बाद तत्त्वज्ञान हो ही जायेगा । जो व्यतीत हो चुके हैं, वे तो दूसरे की कल्पना से कल्पित पदार्थ हैं । उनके मन में तो प्रत्येक का कल्पशेष एन्दव आख्यान की पद्धति से विद्यमान ही है, इस आशय से महाराज वसिष्ठजी समाधान करते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, इसी स्वप्न के प्रपंच में यदि ज्ञान हुआ तो वे तत्त्वज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाते हैं। यदि न हुआ, तो निद्रा प्राप्त कर वे संकल्पानुसार उसी प्रकार की दूसरी ही देह प्राप्त करते हैं ॥११॥ उसी प्रकार का कल्पित दूसरा जगत्-कल्प देखते हैं, क्योंकि

कल्पनाभासरूपी आकाश की कहीं निरवकाशता नहीं रहती ॥१२॥

स्वप्नजाग्रत जीवों का उपसंहार करते हुए अब संकल्पजाग्रतों का निरूपण करते हैं।

भद्र, यह तो मैंने स्वप्नजाग्रत जीवों का निरूपण आपसे किया, जो संकल्परूप जगदात्मक जीर्ण उदुम्बर वृक्ष के कीट हैं, अब आप संकल्पजाग्रत जीवों के विषय में सुनिये। इस प्रकार के जीव किसी एक पूर्वकल्प में किसी एक जगत् में कहीं पर अपने भीतर तनिक भी निद्रा न लेकर एकमात्र संकल्प में तत्पर होकर स्थित हैं ॥१३,१४॥ जीवट आख्यान में वर्णित भिक्षु के समान ये जीव ध्यान से विचलित होकर स्थित हैं। मनोराज्य के वश में पड़कर उसके पीछे दौड़ते हैं। दृढ़ संकल्प धारण करते हैं और पूर्वावस्था की स्मृति से शून्य हैं ॥१५॥ जिन जीवों का जाग्रतअभिमान दीर्घकाल के अभ्यास से घनीभूत संकल्प में है और जिनकी संकल्पजनित अर्थों में ही पूर्वापरस्मरण से रहित मन की चेष्टा है, ये ही स्वप्नजाग्रत जीव कहलाते हैं ॥१६॥ वे संकल्प का विनाश हो जाने पर फिर पूर्व के व्यवहार को उससे विलक्षण बनाकर करने लग जाते हैं। उनकी दृष्टि से ये हम उन्हीं के शरीर में संकल्पपुरुष ही स्थित हैं, क्योंकि समानसंकल्प से उत्पन्न हैं ॥१७॥ भद्र, संकल्प के ऊपर निर्भर रहनेवाले ये संकल्पजाग्रत जीव हमने आपसे कहे। ये दृश्यमान जीव उन्हींके संकल्पजीवन में प्रवेश करते हैं और हम लोगों के लोक भी ऐसे ही हैं। यानी उनका यदि संकल्प है, तो दृश्यमान जीव हैं और हम लोगों के लोक भी हैं। अब आप केवल जाग्रत जीवों को सुनिए ॥१८॥ सृष्टि का संकल्प करने के कारण हलचल से युक्त हुए, आगे कहे जानेवाले ब्रह्मा के रूप से वे जीव इस कल्प में पहले से ही शरीरधारी होकर रहते हैं और उस जन्म में स्वप्न न होने के कारण केवल जाग्रत कहे जाते हैं चूँकि वे पहले के उत्पत्ति विकासरूप स्वप्न से रहित हैं और पहले का जाग्रत्संस्कार भी जाग्रत–स्थिति को उत्पन्न कर स्वयं नष्ट हो गया है, इसलिए इस कल्प में वह स्वप्न का कारण हो भी नहीं सकता ॥१९॥ फिर ये जीव जब उत्तरोत्तर जन्म परम्परा लेते–जाते हैं और जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति में विचरण करते–रहते हैं, तब वे ही चिरजाग्रत कहे जाते हैं ॥२०॥

पाँचवें प्रकार के जीवों को कहते हैं।

पापरूप दुष्कर्मों के आवेश से जड़–स्थावररूप होकर तथा जाग्रत् अवस्थाओं में भी घन अज्ञान से पूर्ण होकर वे चिरजाग्रत जीव ही घन जाग्रत् कहे जाते हैं। भाव यह है कि स्थावर जीवों को भी स्वप्न आदि में मनुष्यभाव आदि का अपने में परिज्ञान होता है ॥२१॥

अब अवशिष्ट जो दो प्रकार है, वे दोनों ही जीवन्मुक्तों में है, यह बतलाने की इच्छा रख रहे महाराज वसिष्ठजी, छठे प्रकार के जीवों का उल्लेख करते हैं।

चतुर्थ, पंचम और छठी भूमिका में अवस्थित जो जीव हैं, वे शास्त्रार्थ एवं सत्संग के द्वारा उपदेश ग्रहणकर तत्त्वज्ञान को प्राप्त करके जाग्रत् को स्वप्न के सदृश देखते हैं, वे जाग्रत्स्वप्न

कहलाते हैं ॥२२॥

सातवीं भूमिका में आरूढ़ हुए पुरुष ही सातवें प्रकार के जीव हैं, यह कहते हैं।

जिन महापुरुषों को ज्ञान प्राप्त हो चुका है और परमपद में विश्रान्ति ले रहे हैं, वे क्षीण जाग्रत् जीव कहलाते हैं, ये जीव सप्तम भूमिका में स्थित हैं ॥२३॥ भद्र, समुद्रों की तरह सात प्रकार के जीवों का भेद मैंने आप से कहा। आप इनका भलीभाँति परिज्ञान करके कल्याणरूप वस्तु में तत्पर हो जाइए ॥२४॥ हे श्रीरामजी, आप भ्रम छोड़ दीजिए, यही भ्रम जगत् का द्वैतादिवस्तुबुद्धि से ज्ञान कराता है, क्योंकि अब आप ज्ञानरूप आत्मभाव से एकरस बन गये हैं, द्वैत और ऐक्य से मुक्त शरीर होकर आप शून्यत्व और अशून्यत्व धर्म से रहित हो गये हैं तथा सब कल्पनाओं के पूर्ववर्ती अधिष्ठानभूत हो गये हैं ॥२५॥

पचासवाँ सर्ग समाप्त

इक्यावनवाँ सर्ग

ब्रह्मदृष्टि में कभी भी उत्पन्न नहीं हुआ और आत्मदृष्टि में
मिथ्या उत्पन्न जगत् तत्त्वज्ञान से जिस तरह निवृत्त हो जाता है, उस तरह का वर्णन।

पहले के सर्ग में एक यह बात कही गई है कि ब्रह्म से पहले उत्पन्न जीव केवल जाग्रत जीव हैं। इस विषय में यह शंका होती है वैसा कहना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि कूटस्थ अद्वय ब्रह्म पहले जीवभाव धारण कर उत्पन्न हो ही नहीं सकता, ऐसा करने में न तो उसको कोई प्रयोजन है और न कोई बीज है अपितु काम, कर्म आदि की वासनाएँ जीव स्वभाव के बाद ही होती हैं, इस प्रकार की आशंका श्रीरामभद्र करते हैं।

श्रीरामभद्र ने कहा : ब्रह्मन्, कूटस्थ अद्वय परब्रह्म से केवल जाग्रत नाम के जीव अर्थ और बीज के बिना, आकाश से वृक्ष की नाईं, कैसे उत्पन्न होते हैं ? ॥१॥

श्रीरामजी, आपकी शंका तो बहुत ही साधारण है कि कूटस्थ अद्वय ब्रह्म से केवलजाग्रत जीव तो उत्पन्न हो नहीं सकते, क्योंकि अन्य जीवों की और जगत् की भी उत्पत्ति तन्मूलक नहीं हो सकेगी, इसलिए कूटस्थ ब्रह्म में जीव और जगद्भाव का अपलाप किये बिना ठीक-ठीक उपदेश नहीं हो सकता, अतः उपदेशार्थ ही ब्रह्म में जीव-जगद्भाव की कल्पना श्रुति, स्मृति आदि में की गई है, ऐसा उत्तर महाराज वसिष्ठजी देते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : महामते, कोई भी कार्य किसी कारण के बिना उपलब्ध नहीं हो सकता, यह निश्चित है, इसलिए केवल जगत् का यहाँ कोई संभव ही नहीं है ॥२॥ कूटस्थ से उसका यदि संभव है, तो उससे अन्य जीव सजीव हो सकते हैं, परन्तु कारण के अभाव से वे सब निरस्त हो जाते हैं ॥३॥ भद्र, यहाँ न तो कुछ उत्पन्न होता है और न कुछ नष्ट ही होता है, केवल

उपदेश और उपदेशयोग्य वस्तु के लिए शब्दार्थ की एकमात्र कल्पना की गई है ॥४॥

यह आपकी बात हम मानते हैं, पर भोग के आधार शरीरादि का कर्म आदि द्वारा या साक्षात् कोई निर्माण करनेवाला तो अवश्य मानना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक कार्य कर्ता द्वारा ही बनता है। अतः उस देह में जीव को बैठाकर विषयों से मोहित करनेवाला कोई दूसरा रहना ही चाहिए, क्योंकि मोहित करनेवाले को छोड़कर चेतन में मोह हो नहीं सकता। ऐसी स्थिति में मोहित होनेवाला और मोहित करनेवाला यों दो भिन्न-भिन्न जीव एवं ईश्वरनामक चेतन सृष्टि आदि की प्रतिपादक श्रुतियों के आधार पर मानना चाहिए। इस प्रकार फिर रामजी शंका करते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : भगवन्, मन, बुद्धि चेतन आदि से युक्त इन शरीरों की रचना करनेवाला कौन है और प्राणियों को स्नेह, राग आदि बन्धनों के द्वारा कौन मोहित करता है ? यह हमसे कहिए ॥५॥

हाँ, यह बात ठीक होती, यदि शरीरादि का कर्ता, मोहित होनेवाला, मोहक आदि-ये सब श्रुति आदि प्रमाणों से सत्यरूप ठहरते, परन्तु 'वाचारम्भणम्' आदि श्रुतियों के द्वारा वे सब मिथ्या ही सिद्ध होते हैं, ऐसी स्थिति में प्रतिभासमात्र स्वरूप उन सबका कूटस्थ ब्रह्म के द्वारा विवर्तमात्र से भी निर्वाह हो सकता है, इसलिए उनकी आवश्यकता नहीं है, यह कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, कोई कभी भी शरीर आदि की रचना नहीं करता और न कभी कोई प्राणियों को मोहित ही करता है ॥६॥ अनादि, अनन्त अवभासस्वरूप जो बोधात्मा है, वह अपने ही स्वरूप में स्थित होकर ऐसे नाना पदार्थों के रूप में भासता है, जैसे अपने स्वरूप में स्थित जल तरंग आदि के रूपों में ॥७॥

बाह्य पदार्थ कैसे भीतरी चेतन के विवर्त हो सकते हैं, क्योंकि दोनों के आधार अलग-अलग हैं, इस शंका पर कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी, असल में तो बाहर के कोई पदार्थ ही नहीं हैं, ज्ञानरूप आत्मा ही बाहर के सदृश भासता है, वह बोधरूप हृदय से ही बाहर ऐसे उदय को प्राप्त होता है, जैसे बीज से बड़ा वृक्ष ॥८॥

बीज से वृक्ष बाहर निकलता है, यह दृष्टान्त विषम है, इस प्रकार की आशंका कर समान दृष्टान्त बतलाते हैं। अथवा यदि विश्व भीतर ही उत्पन्न होता, तो वह भीतर ही रहता, पर वह तो बाहर रहता है, इस पर कहते हैं।

रघुश्रेष्ठ हे श्रीरामजी, बोधात्मा के भीतर स्थित ही यह विश्व बाहर के रूप में ऐसे प्रकट हुआ है, जैसे खंभे के भीतर ही स्थित कठपुतली ॥९॥

वस्तुतः चेतन नाम की वस्तु न भीतर है और न बाहर है, किन्तु अनन्त है, उसी के भीतर सुगन्ध और पुष्प की नाईं बाह्य-आभ्यन्तर की एकमात्र कल्पना की गई है, यों कहते हैं।

बाह्य और आभ्यन्तर जिसमें विद्यमान है और जो देश एवं काल के परिच्छेद से अलग है, उस बोधस्वरूप आत्मा का ही यह जगत् एक तरह से सुगन्ध-विस्तार है, यह आप जानिए ॥१०॥

यदि शंका हो कि समस्त जगत् की कल्पना यहीं पर है, तो ब्रह्मलोक आदि परलोक, जिसमें अर्चि आदि मार्गों से गमन किया जाता है। दूर क्यों माने जाते हैं, इसका समाधान यह है कि वैसे ही लोगों की अनादि काल से वासना है, इसलिए जब वासना का विनाश हो जायेगा, तो सभी लोग एकमात्र अपने आत्मरूप से अत्यन्त निकट हो जायेंगे, इस आशय से कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी, वासना का विनाश हो जाने पर यह आत्मा ही परलोक है, दूसरा नहीं, यह आप जानिये। जो महापुरुष सब उपद्रवों से निर्मुक्त होकर शान्त हो रहे हैं, उनके परलोक के रूप में यहीं पर स्थित आत्मा की ओर दुरत्वादि वासनाएँ आ ही नहीं सकतीं ॥११॥

यदि प्रत्यगात्मा ही परलोक देश, काल आदिरूप हैं, तो देश, काल आदि का बाध हो जाने पर वह शून्यरूप ही क्यों न हो जायेगा ? इस पर कहते हैं।

चूँकि देश, काल, क्रिया, आलोक, रूप, चित्त, आत्मा, सत् इन सबका अधिष्ठान तथा इन शब्दों से बोधित होनेवाला ब्रह्म देश, काल आदि शब्दार्थों से रहित है, इसलिए वह शून्यरूप नहीं हो सकता ॥१२॥

यदि वह शून्यरूप नहीं है, तो दूसरे लोग भी एकमात्र प्रपंच का अपलाप कर उस पद में अपनी बोधगति क्यों नहीं कर लेते इस पर कहते हैं।

हे राघव, जो तत्त्वदृष्टा हैं और जो विषयों से मुक्त हो गया हैं, ऐसे आत्मपद को जाननेवाले मुनियों को ही उस पद में ज्ञानगति होगी, दूसरों को नहीं ॥१३॥ भद्र, जो पुरुष सरल और गम्भीर अहन्तारूप गड्ढे में गिरे हुए हैं, वे कोई भी उस आत्मपदरूप प्रकाश को कभी देख नहीं सकते ॥१४॥

आत्मप्रकाश देखनेवालों को जगत् का ज्ञान कैसा रहता है, इस पर कहते हैं।

चौदह प्रकार के ये जो भूतसमूह हैं, उनके घुंघुं शब्दों से परिपूर्ण जगत्दृष्टि ज्ञानी के लिए जो देहावयव-जैसी है, यानी अपने से भिन्न उसे भासती ही नहीं ॥१५॥

ज्ञानी को समाहितदृष्टि और व्यवहारदृष्टि से जगत् जैसा भासता है, उसे बतलाते हैं।

सृष्टि का असल में तो कोई कारण नहीं है, इसीलिए न तो सृष्टि उत्पन्न होती है और न वह नष्ट ही होती है, यह ज्ञान ज्ञानी को समाहित दृष्टि से है और व्यवहार दृष्टि से तो जैसा कारण का स्वरूप होगा, वैसा ही कार्य भी होगा यानी जैसा कारण कल्पित अतएव मिथ्या है, वैसा उससे जनित कार्य भी कल्पित और मिथ्या है, ऐसा ज्ञान व्यवहारदृष्टि से भी उसे रहता है ॥१६॥ यदि कारण में कार्य की स्थिति होगी, तो उसकी कारणता ही कैसी, क्योंकि वह तो कार्यरूप ही ज्ञान होता है, अतः कार्य और कारण दोनों ही असत् हैं, क्योंकि दोनों का ही अलग-अलग ज्ञान नहीं हो सकता ॥१७॥ प्रशान्त महासमुद्र में जैसे तरंग, भँवर आदि

स्थित हैं, वैसे ही क्षोभशून्य परब्रह्म में ये सब आपके बाह्य जगत और भीतर के चित्त आदि स्थित हैं ॥१८॥ जैसे अपने भीतर अनेक बर्तनों को रखनेवाला एक ही मिट्टी का पिण्ड रहता है, ठीक वैसे ही अनेक ब्रह्माण्डों को अपने उदर में रखनेवाला सबका स्वरूपभूत निर्मल ब्रह्म भी एक पिण्ड ही है । जैसे अपने भीतर कटक, कुण्डल आदि आकारों से युक्त तथा नाना बर्तनों का स्वरूपभूत सुवर्ण स्थित है, वैसे ही सुवर्णरूप ब्रह्म स्थित है ॥१९॥

पिण्डदशा में घट पिण्डरूप और घट दशा में पिण्ड घटरूप है, यों घट के स्वरूपवेत्ताओं को जैसे एक का ही व्यवस्थित ज्ञान होता है, वैसे ही प्रपंच में भी स्वप्नदशा में जाग्रत् स्वप्नादिरूप और जाग्रत्काल में स्वप्न जाग्रद्रूप व्यवस्थित जगत् के एकरूप का ही तत्त्वज्ञों को ज्ञान होता है, यह कहते हैं ।

स्वप्नकाल में स्वप्न ही जाग्रद्रूप ज्ञानियों द्वारा जाना जाता है, क्योंकि वासनाओं के विस्तार से व्यग्र मन उनके पास नहीं है और जाग्रत्काल में जाग्रत् को स्वप्नरूप जानते हैं, क्योंकि उनको सत्यात्मा का परिज्ञान हो चुका है ॥२०॥

जाग्रत्–दशा में यदि हम लोग यह विचार करें कि यह जगत् केवल चित्तरूप ही है, तो वह स्वप्नतुल्य ही बन जायेगा । इसी वास्तविकता को लेकर ज्ञानी की सृष्टि को उसके शरीर के अवयवों की उपमा दी गई है, यों उपसंहार करते हुए तत्त्वज्ञान हो जाने पर उसका भी समूल बाध हो जाता है, यह कहते हैं ।

भद्र वास्तव में मृगतृष्णा के जल के सदृश असद्रूप से स्थित तथा विचार से विकल किया गया यह जाग्रत् जगत् केवल चित्तरूप यदि समझ लिया जाता है,तो फिर वह स्वप्नरूप बन जाता है ॥२१॥ सम्यक् ज्ञान से यानी आत्मा के सत्यज्ञान से देहरूप के साथ ये सब भूत ज्ञानी के पिण्ड को समूल ऐसे छोड़ देते हैं जैसे वर्षाकाल के जाने पर मेघ ॥२२॥ जैसे विनाश की ओर उन्मुख हुआ मेघ तत्काल ही गगनरूप बन जाता है, वैसे ही आत्मज्ञान से यह अहंकारसहित जगत शान्त हो जाता है यानी तत्काल आत्मरूप बन जाता है ॥२३॥ शरत्काल के मेघ के सदृश चारों ओर से छिन्न–भिन्न हुआ मृगतृष्णाजल के सदृश मिथ्या प्रतीयमान तथा बार–बार स्पर्श आदि से जाना गया भी जगत् आत्मज्ञान से तत्काल जल जाता है ॥२४॥ जैसे धधक रही अग्नि में विलीन सोना, घी और इन्धन एकरूप बन जाता है, वैसे ही विज्ञानकाल में भी जगत्–चित्त द्रष्टा आदि सब एकरूप बन जाते हैं ॥२५॥ तीनों जगत् में जो एक प्रकार का रूप कल्पित किया गया है, वह तत्त्वज्ञान से धीरे–धीरे ऐसे विलीन होता जाता है, जैसे घर में समझाये गये बालक का वृक्षादि में से पिशाचज्ञान धीरे–धीरे विलीन होता जाता है ॥२६॥

अग्नि आदि कारण जब तक लाख के पास रहते है, तब तक ही उसमें कठिनता का विलय रहता है । यदि अग्नि आदि पास में रहते, तो कठिनता का विलय भी हट जाता है, क्या इसी तरह

का यह जगद्विलय तत्त्वज्ञान से होता है, यदि ऐसा विलय हुआ, तो निमित्त के हट जाने पर फिर जगत् ज्यों का त्यों बना रहेगा, ऐसी आशंका पर कहते हैं कि तत्त्वज्ञान असत्पक्ष का विरोधी होने के कारण उससे हुआ विलय फिर लौटकर नहीं आता, जैसे कि शुक्ति के तत्त्वज्ञान से बाधित शुक्तिरूप ज्ञान फिर नहीं होता, इस आशय से कहते हैं ।

देश, काल और वस्तु की परिच्छिन्नता (स्वल्परूपता) से रहित साक्षी चेतन में किसी कारण के बिना ही जगत्,संकल्पकारक चित्त, अज्ञान आदि भासते हैं, अतः साक्षी चेतन में रूपादि का अवसर ही कैसे ? ॥२७॥

इन सब बातों से निष्कर्ष यह निकला कि मिथ्याभूत जगत्, चित्त आदि के रूप में मिथ्या अज्ञान ही नृत्य करता है, यह कहते हैं ।

साक्षी चेतन के अज्ञान से ही यह जगत् और चित्त उत्पन्न हुआ है, ज्ञान से जब अज्ञान नष्ट हो गया, तब निर्मल चेतन में जगत् आदि स्वरूपों का अस्तित्व ही क्या रहा ? ॥२८॥

इससे पहले की बात सिद्ध हो गई कि जाग्रत् प्रपंच ही स्वप्नदशा में अपनी स्थूलता छोड़कर सूक्ष्म प्रपंचरूप बन जाता है और स्वप्नभ्रान्ति ही चिरकाल के अभ्यास से घनीभूत होकर जाग्रत्-रूप बन जाती है, यह कहते हैं ।

स्वप्न के अवभास से जाग्रत्-प्रपंच अपनी कठिनता छोड़ देता है और ऐसे अत्यन्त नरम (सूक्ष्म) हो जाता है, जैसे कि अग्नि से पिघला हुआ सुवर्ण ॥२९॥ देश-कालरूप निमित्त के बिना जाग्रत्-स्वप्न का निर्माण कर यथास्थित बोधरूप साक्षी चेतन ही घनस्वरूप जगदाकार-सा सुवर्ण के सदृश बन जाता है ॥३०॥ शरत्काल के क्षीण हो जाने पर जैसे जल स्वल्प हो जाता है, वैसे ही स्वप्न के सदृश अत्यन्त तुच्छ जाग्रत् वस्तु के उक्त विचार से क्षीण हो जाने पर भोग का अनुराग भी स्वल्प हो जाता है ॥३१॥ दृश्य वस्तुओं की कान्ति जब अत्यन्त तुच्छरूप भासने लग जाती है, तब उनकी स्थिति होने पर भी विवेकी को वे अच्छी नहीं लगती । क्योंकि वह स्वप्न के सदृश उन्हें मिथ्या ही समझता है ॥३२॥

आत्मसुख से अत्यन्त तृप्त होने के कारण ज्ञानी भी विषयों का आदर नहीं करता, यह कहते हैं ।

कहाँ अपनी आत्मा में विश्रान्ति और कहाँ यह विषयों का परिज्ञान । यदि ज्ञानी को भी विषय भले प्रतीत होने लगें, तो सुषुप्त और जाग्रत् की एकता और मूढ़ और तत्त्वज्ञ की एकता हो जायेगी यानी दोनों में कोई पार्थक्य ही नहीं रह जायेगा ॥३३॥ श्रीरामजी, चित्तमात्रस्वरूप यह जगत् जब यहाँ भ्रान्तिरूप और स्वप्नमात्र स्वरूप बनकर स्थित हो जाता है यानी जब पुरुष जगत् को स्वप्न के सदृश मिथ्या समझ लेता है, तब पदार्थों से सत्यत्वबुद्धि अपने आप हट जाती है ॥३४॥

असत्य भी ज्ञानी को यदि रुचते हों, तो क्या हानि है ? इस पर कहते हैं ।

हे महामते, समीप में स्थित पुरुषों द्वारा असत्यरूप से देखे गये मृगतृष्णा–जल आदि क्या किसी को भी रुचते हैं ? अर्थात् वे किसी ज्ञानी को किसी तरह भी अच्छे नहीं लगते ॥३५॥ जगत् में सत्यत्व बुद्धि के विलीन हो जाने पर शान्तबुद्धि ज्ञानी जगत् को अपिण्डात्मक आकाशरूप देखता है, जो कि वातायन में प्रविष्ट हुए दीपकिरणों की प्रभा के सदृश प्रकाशमान भी है ॥३६॥ केवल चित्त के ही विलासस्वरूप स्वप्नात्मक फूल–माला, चन्दन आदि की भोगभावना जाग्रत् पुरुष की निकल जाती है, क्योंकि वस्तुतः उसने उन पदार्थों को शून्यरूप जान लिया है ॥३७॥ हे श्रीरामजी, जिसको अवस्तुरूप समझ लिया, फिर उसकी ग्राह्यता कैसी ? भला ऐसा कौन पुरुष है, जो स्वप्न जानकर भी स्वप्न–सुवर्ण को लेने के लिए उसकी ओर दौड़ता हो ? ॥३८॥ भद्र, स्वप्न के सदृश दृश्य पदार्थों को जब जान लिया जाता है, तब उससे मनुष्य का प्रेम निकल जाता है और द्रष्टा, दृश्य की अवस्थाओं के दोष से जनित बड़ी भारी गाँठ है, वह विच्छिन्न हो जाती है ॥३९॥

इसकी निवृत्ति हो जाने पर यह कैसे स्थित रहता है ? यह कहते हैं ।

दृश्य पदार्थ जिसको नीरस हो गये हैं या बन्धु आदि में जिसको प्रेम नहीं रह गया है, जिसकी मननशक्ति शान्त हो गई है, जिसका अहंकार चला गया है, जो तत्त्वविद्या से परिपूर्ण वीतराग, प्रयासरहित और निर्मलबुद्धि हो चुका है वह सदा शान्त ही रहता है ॥४०॥ दीपकी शिखा जब नष्ट हो जाती है, तब उसकी किरणें जैसे नष्ट हो जाती है, वैसे ही जब रस नीरसरूप बन जाता है, तब ज्ञानी की वासना नष्ट हो जाती है ॥४१॥ ज्ञान से पूर्व गन्धर्वनगर के सदृश प्रतीत हो रहा सम्पूर्ण जगत् तत्त्वज्ञान से दीपक की किरणों के सदृश एकमात्र प्रकाशरूप एवं सघन होकर आकाश के सदृश भासने लगता है ॥४२॥

तब सप्तम भूमिका की स्थिति से वह किस तरह का होता है, इसे बतलाते हैं ।

तत्त्वज्ञानी पुरुष सप्तम भूमिका में स्थिति कर न आत्मा को, न आकाश को, न शून्य को, न वृत्ति को देखता है, किन्तु केवल आत्मपद को ही (ब्रह्मरूपता को ही) देखता है ॥४३॥ भद्र, जो तत्पद वस्तु है, उसमें न आत्मा है, न शून्य है और न जगत् की कल्पना ही है, अधिक क्या कहें, उसमें न चित्त है, न दृश्यबुद्धि है और न वह यथास्थित सब कुछ ही है ॥४४॥ अज्ञानियों के द्वारा पिण्डरूप से जाना गया जो यह पृथ्वी आदि का स्वरूप है, वह ज्ञानी के प्रति तो ज्ञान से असत् हो जाता है और शून्यरूप बन जाता है, अतः विद्यमान रहते भी है ही नहीं ॥४५॥ ज्ञानी पुरुष एकमात्र आत्मसमाधि में चित्त को लगाकर आकाश के सदृश निर्मल बन जाता है, सब आसक्तियों से रहित होकर ही अपनी स्थिति बनाता है और स्थित रहकर भी असत् के तुल्य बना रहता है ॥४६॥ श्रीरामजी, जिसका मन मर गया है और जो सर्वबाधावधि आत्मपद को प्राप्त हुआ है, ऐसा मननशील मौनी संसाररूपी समुद्र को तैर गया है और सब कर्मों के अन्त को भी प्राप्त हो गया है, यह अवश्य जानिए ॥४७॥ राघव, चूँकि जो सम्पूर्ण शरीर, शरीरों

के आधार भुवन, भुवनाधार गगन तथा विहार स्थान पर्वत है, उनके साधन और करणों का एकमात्र कारण मूल अज्ञान ही है, दुसरा नहीं, इसलिए ज्ञान द्वारा अन्तःकरण से अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर यह शरीर आदि जगत्, ज्ञानियों की दृष्टि से विद्यमान रहते भी विनष्ट हो जाता है यानी असद्रूप बन जाता है ॥४८॥ ज्ञानवान का अन्तःकरण शान्त रहता है, उसके विकल्प विनष्ट हुए रहते हैं, वह अपने स्वरूपभूत आत्मरस में तन्मय रहता है, परम शान्तिरूपी अमृत से तृप्त रहता है, उसको आवरण (अज्ञान) भी नहीं रहता । इस प्रकार उसकी उत्तम स्थिति होती है ॥४९॥

इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त

बावनवाँ सर्ग

तार्किकों के तर्कों से उत्पन्न हुई अनेक प्रकार की कल्पनाओं का खण्डन कर कूटस्थ परमात्मा के अनिवार्च्य जगद्भाव का समर्थन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुने, कूटस्थ चिदात्मा जिस क्रम से जगत्-सा भासता है, वह क्रम-भेद की निवृत्ति के लिए अन्य वादियों की कल्पनाओं का खण्डनकर अपने मत के समर्थन से फिर कहिये ॥१॥

'चिदात्मा का यह जगत्भाव अनिर्वचनीय ही है' इस अपने मत का समर्थन करने के लिए पहले दृष्टिसृष्टिपक्ष का अवलम्बन करके दृष्टि के अन्वय और व्यतिरेक के अनुसार उसकी स्थिति दिखलाते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, शाखा, पत्र, पुष्प, पल्लव आदि नाना प्रकार के आकारोंसे युक्त वृक्ष के समान अज्ञ आत्मा की दृष्टि में जो जगद्भाव है वही उसके चित्त में भी है और जो उसकी दृष्टि में नहीं है वह उसके चित्त में भी नहीं है । यही कारण है कि देखी गई अत्यन्त छोटी वस्तु का भी स्मरण होता है किन्तु न देखी हुई बड़ी वस्तु का भी स्मरण नहीं होता ॥२॥

शास्त्र और अशास्त्र के अनुसार सम्पादित हुई विद्वान और अविद्वान की क्रियाओं में भी विलक्षणता दिखाई देती ही है, अतः जगत् की सत्ता भी भिन्न-भिन्न दृष्टि के अनुसार ही व्यवस्थित प्रतीत होती है, इस अभिप्राय से कहते हैं ।

जो विवेकी पुरुष है वह पूर्वापर शास्त्र के अनुसार ही देखता और करता है । आँखों के सामने पड़ी भी शास्त्रनिषिद्ध वस्तु को भोग्यरूप से नहीं देखता और न तो उसके लिए कुछ करता ही है ॥३॥

यह कारण है कि मैं भी शास्त्रीय दृष्टि का व्यवस्थापन करते हुए ही श्रवण आदि में आपको नियुक्त कर रहा हूँ, इस आशय से कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसीलिए आपसे मैं कहता हूँ कि आप भी अपने चित्त की शुद्धि के अनुकूल कर्मों के अनुष्ठान में तत्पर हो शास्त्रानुकूल अर्थों में अपने चित्त को लगाकर श्रवणभूषण मेरे इस उपदेश का श्रवण कीजिये ।।४।। यह दृश्यसमूह की भ्रान्ति ही अविद्या कही जाती है । वास्तव में तो यह अविद्या भी ऐसे नहीं है, जैसे मृगतृष्णा नदी में जल ।।५।।

जब ऐसी बात है, तब शास्त्रों के उपदेश तथा उनकी फल सिद्धि कैसे होगी, इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उपदेशयोग्य वस्तु के उपदेश के निमित्त मेरे अनुरोध से क्षण भर के लिए आप इसे सत्य–सा मानकर यह मेरा कथन सुनिये ।।६।। हे श्रीरामचन्द्रजी, यह अविद्यानामक भ्रान्ति कैसी है और कहाँ से आयी–इस तरह के विकल्प न करते हुए आप मेरे इस उपदेश को सुनिये । फिर तो पीछे ज्ञान हो जाने से आप स्वयं जान जायेंगे कि न तो यह जगत् है और न यह अविद्या ही है ।।७।।

अनुभव में आरूढ़ इस विवर्त पक्ष को दिखलाकर अन्य पक्षों में दोष बतलाने की अभिलाषा कर रहे महाराज वसिष्ठजी असत्य प्रपंच का ही ब्रह्म के साथ वृक्षशाखा न्याय से अभेद माननेवाले महानुभावों के पक्ष में – ब्रह्म की अविनाशिता नष्ट होगी – यह दोष दिखलाने के लिए जगत् में विनश्वरत्व की प्रतिज्ञा करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो कुछ स्थावर–जंगमात्मक यह सब तरह से परिपूर्ण जगत् दिखाई देता है वह सब कल्प के अन्त में नष्ट हो जाता है ।।८।।

जिसकी महाराज वसिष्ठजी ने प्रतिज्ञा की है, उसका अब साधन कहते हैं।

विचार कर देखने से यह निश्चित होता है कि इस जगत् का विनाश अवश्य होगा, वह पृथिवी आदि अवयवों का विभागस्वरूप है, क्योंकि पृथिवी आदि सावयव है, अतः उनके विनाश का कोई प्रतीकार नहीं कर सकता । यही कारण है कि एक–एक बूँद निकाल लेने से घड़े के जल का नाश अवश्य हो जाता है ।।९।।

ठीक है, नाश हो जाय, क्या दोष है, इस पर कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐसी स्थिति में तो द्रव्य का नाश होने पर ब्रह्म की अनन्तता और अस्तिता भी नहीं रह सकती, क्योंकि ब्रह्म जगन्मय ही तो ठहरा और चिदेकरस निरवयव ब्रह्म का जगत् अवयव नहीं हो सकता । तात्पर्य यह है कि जैसे शाखा आदि अवयवों का नाश होने पर वृक्ष का भी नाश हो जाता है, वैसे ही यदि पृथिवी आदि द्रव्य का नाश होने पर ब्रह्म के नाश का प्रसंग माना जाय, तो श्रुति में कहे गये ब्रह्म के अनन्तत्व की सिद्धि न हो सकेगी । इतना ही नहीं और भी सुनिये–विचारकर देखने पर तो अवयवों से पृथक् किये गये अवयवी की सत्ता न रहने से उसका अस्तित्व ही नहीं सिद्ध हो सकता और चिदेकरस निरवयव ब्रह्म का यह जगत् अवयव भी नहीं बन सकता ।।१०।।

चिदात्मा का अवयव जड़ जगत् न हो, किन्तु मदिरा (शराब) के अवयवों में स्थित मदशक्ति

की तरह शरीर में परिणत पृथिवी आदि पंचभूतरूप जड़ों का ही धर्म चैतन्य क्यों न हो, इस चार्वाक मत को उठाकर उसमें दोष दिखलाते हैं।

मदिरा की शक्ति के समान ज्ञानरूप धर्म हम आस्तिकों में नहीं हो सकता। पृथिवी आदिरूप हम लोगों की देह में ही चार्वाक ज्ञान नहीं सिद्ध कर सकते, क्योंकि हम लोगों के मत में इस देह की सिद्धि विज्ञान के ही अधीन होने से यह देह स्वप्न के समान है, तात्त्विक नहीं है। तात्पर्य यह है कि प्रामाणिक लोगों के मत में देह की सत्ता का साधक विज्ञान के सिवा और कोई दूसरा नहीं है । यह तो कोई नहीं कह सकता कि, मदशक्ति की तरह देह न रहने पर भी विज्ञान उत्पन्न हो सकता है ॥११॥

जगत् और ब्रह्म का अभेद स्वीकार करने से तो दृश्यप्रपंच का नाश होने पर ब्रह्म के नाश की भी शंका हो सकती है। यदि वह भेद आध्यासिक मान लिया जाय, तब तो प्रतियोगी की तरह उसके नाश का भी वस्तुतः ब्रह्म के साथ सम्बन्ध न होने के कारण यह दोष नहीं आता और शास्त्र भी सफल हो जाते हैं, इसी आशय से कहते हैं।

यह दृश्य की शोभा बार-बार नष्ट होती और उत्पन्न होती ही रहती है । अतः यह कोई नहीं कह सकता कि यह वही है या दूसरी । इस तरह अनिर्वचनीय अविद्यामात्रसिद्ध यह दृश्य श्री नष्ट अवश्य ही होती है। ऐसी स्थिति में अविद्या के बाध द्वारा जगत् का बाध होने पर शास्त्र सफल होते हैं, अन्यथा नहीं ॥१२॥

प्रलयकाल में जगत्-रचना के नष्ट हो जाने पर उसके बाद पुनः उत्पन्न हो रही जगत् की शोभा का यह कभी निश्चय नहीं किया जा सकता कि यह वही है या दूसरी, इस तरह भी इसमें अनिर्वचनीयता ही सिद्ध होती है, यह कहते हैं।

इस सृष्टि से पहले संसार की शोभा नष्ट हो चुकी थी, वही पुनः आविर्भूत हो रही है, इसका उल्लेख करना अशक्य है। हाँ, यदि वही पुनः आविर्भूत होती, तो वही यह है या अन्य, यह कहा जा सकता था, किन्तु नष्ट की उत्पत्ति केवल अनुभव के अनुगामी हम अनुभवविरुद्ध अणुमात्र भी नहीं मान सकते, क्योंकि नष्ट की उत्पत्ति हो कैसे सकती है ? ॥१३॥

यह अनुभव में आरूढ़ नहीं है, इसका स्पष्टीकरण करते हैं।

मूर्तरूपा जगत् की शोभा प्रलय में आकाशरूपी से -अमूर्तरूप से ही विद्यमान थी, यह कहना बिलकुल असत् है, क्योंकि जो मूर्तरूप ही थी, वह भला अमूर्तरूप कैसे हो सकती है ? यदि यह कहिये कि आकाश में स्थित ही वह अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त हुई, तो आपसे हमें यही कहना पड़ेगा कि वह फिर प्रलय में भी नष्ट नहीं हुई । कहने का तात्पर्य यह है कि इस तरह आपका प्रलयवाद उच्छिन्न हो गया ॥१४॥

इस तरह तो सृष्टि में भी प्रलयअवस्था की भी तुल्यन्याय से प्रसक्ति हो सकती है । ऐसी स्थिति में तो प्रलयअवस्था में स्थित अव्याकृत से कार्यरूप सृष्टि की एकता होने पर कूटस्थवाद के

ऊपर आपत्ति आने लगेगी, यह कहते हैं।

और इस तरह जब सृष्टि में भी प्रलयअवस्था की प्रसक्ति हो सकती है, तब तो कार्यरूप सृष्टि की प्रलयअवस्था में स्थित उस अव्याकृत कारण के साथ एकरूपता ही सिद्ध हो गयी, क्योंकि कार्य और कारणभाव से ऐक्य बतलाना ही तो हमारा सिद्धान्त है, सो इस तरह सिद्ध हो गया ॥१५॥ जो वस्तु उपलब्ध होकर भी शून्यदशा को प्राप्त हो जाती है वह नष्ट ही है, क्योंकि उपलब्धिकाल में भी उसकी असत्ता मानी जा चुकी है। हे श्रीरामजी, असत्वापत्ति का ही नाम तो नाश है। हाँ, आपके मत में किसी दूसरे तरह का नाश होता हो, तो फिर निःसन्देह बतलाइये वह कैसा है ? ॥१६॥

पुनः उत्पत्ति के अवलोकन से यदि मध्य में नष्ट हुए की सत्ता की जो कल्पना करते हैं, सो यह ठीक नहीं है, क्योंकि भेद से भी तो उत्पत्ति की सिद्धि हो जाती है और प्रत्यभिज्ञा आदि का भी तो अवलोकन नहीं होता, यह कहते हैं।

जो नष्ट हुआ है वही पुनः उत्पन्न हुआ है, यह प्रत्यभिज्ञा किसको होती है, इसलिए नष्ट अवश्य होता है तथा पुनः पुनः दूसरा ही प्रवृत्त होता है यही कहना उचित होगा ॥१७॥

जैसे एक ही वृक्ष के ऊपर बीच-बीच में कोटर, स्कन्ध, शाखा आदि का विचित्र भेद रहने पर भी मूल से लेकर शाखापर्यन्त वृक्ष शरीर की तो सत्ता एक ही है। हाँ, शाखा आदि उस वृक्ष के कार्य हैं उनमें भेद अवश्य है, वैसे ही उत्पत्ति आदि विकारों का भेद होने पर भी प्रलय के बाद पुनः उत्पन्न होने से इस दृश्यप्रपंच की भी सत्ता एक ही क्यों न हो, इस शंका पर कहते हैं।

वृक्ष के बीच-बीच में स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पत्र, पुष्प तथा फलादिरूप जो अवयव हैं उनमें सारे वृक्षरूपी शरीर को व्याप्त करके स्थित बीजसत्ता अखण्ड एकरूप ही है। अतः जब सर्वत्र एक ही सत्ता दृष्टिगोचर हो रही है तब शाखा आदि की पृथक् सत्ता सिद्ध न होने से कार्यकारण भाव कैसे हो सकता है ? ॥१८॥

दृष्टान्त में कहे गये कार्यकारणभावोच्छेद को दार्ष्टान्तिक में दिखलाते हैं।

यदि प्रलय, सृष्टि आदि तथा देशकाल एवं क्रियात्मक यथादृष्ट एक सन्मात्र ही बीज को स्वस्वरूप में स्थित स्वीकार करेंगे, तब तो वह एक स्वयं ही क्रिया और उसका फल होता हुआ कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि वैसा करने में वह असमर्थ है-पटकार्य करने में असमर्थ घट पटरूप कार्य नहीं करता (卐) ॥१९॥

(卐) अथवा देशात्मक, कालात्मक या क्रियात्मक तत्-तत् पदार्थों में अनुगत बीज को एक स्वभाव ही बतलाना उचित है, यह संभव नहीं है कि एक वस्तु भिन्न-भिन्न स्वभाव की हो। यदि स्वभावभेद स्वीकार कर लिया जाय, तो फिर एकत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती। देखिये- यदि वस्तु देशैकस्वभाव है, तो फिर वह काल का कार्य नहीं कर सकती। यह भी कहीं नहीं देखा गया कि घटस्वभाव वस्तु पट का कार्य करती हो।

नाना स्वभाव की एक ही वस्तु है, यह कहनेवाला तो सभी दर्शनों के सिद्धान्त का उलंघनकारी होने से वितण्डा करनेवाला ही होगा, इस आशय से कहते हैं ।

सभी दर्शनों के सिद्धान्त में यह निश्चय किया गया है कि वस्तु के एक रहते हुए कार्यों का भेद नहीं है तथा परमार्थमय वस्तु स्वभाव में भी नानात्व ही है । इसलिए सभी दर्शनों से विरुद्ध बोलनेवाले के साथ विवाद करने से हमें मतलब ही क्या ? ॥२०॥

परिशेषात् वस्तु एक स्वभाव है, यह मान लेने पर तो उपजीव्य एक चित्स्वभाव का ही शेष रह जाता है, यह कहते हैं ।

विचार तथा अपने अनुभवरूप प्रमाण से यह सब शान्त, अनादि, अनन्त और आकाश के सदृश निर्मल केवल बोधमात्र परमात्मा ही अवशेष रहता है । अनुभवरूप प्रमाण ही सभी कल्पनाओं का सार (बल) है, अतः उस बोधमात्र परमात्मवस्तु के स्वभाव का अपलाप न हो सकने से परिशेषात् जड़ स्वभाव की ही हानि है, यह भाव है ॥२१॥

अब एक स्वभाव उस परमात्मवस्तु के प्रतिपादन की प्रतिज्ञा करते हैं ।

यह परमात्मस्वरूप जिस रीति से अनुभूत नहीं होता और अनुभूत न होते भी जैसे अनुभूत होता है तथा जिस रीति से मनुष्य को इस परमात्मस्वरूपानुभव की सिद्धि प्राप्त होती है, हे श्रीरामचन्द्रजी, वह सब मैं आपसे क्रमशः कहता हूँ ॥२२॥

एकमात्र यही कारण है कि महाकल्प के अन्त में समस्त भेदों का लय हो जाने पर लय को प्राप्त न हुआ अनुभवात्मा ही अवशेष रह जाता है, यह कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, महाकल्प के अन्त में महादेवपर्यन्त मन, बुद्धि और समस्त कर्मों के साथ जब यह सम्पूर्ण दृश्यमण्डल नष्ट हो जाता है, आकाश तथा अकलित स्थिति काल भी शान्त हो जाता है, वायु चली जाती है तथा तेज की स्थिति बिलकुल डाँवाडोल हो जाती है एवं तेज भी जब ध्वस्त हो जाता है, जल, पृथिवी आदि का भी दीर्घकाल के लिए नाश हो जाता है, जब कि सम्पूर्ण शब्दार्थ समूह बिलकुल अन्तदशा को प्राप्त हो जाता है, तब आदि और अन्त से रहित सौम्य, अविनाशी, बाध्यशून्य, वाणी का अविषय, स्वच्छ सन्मात्र, केवल निर्मल शान्त बोधस्वरूप कोई अनिर्वचनीय आत्मा ही शेष रह जाता है ॥२३-२६॥ वह परमपद वाणी का अविषय, अनभिव्यक्त, इन्द्रियों का अविषय, नामरूप शून्य, सर्वभूतस्वरूप, शून्यरूप, सत् एवं असत् भी है ॥२७॥

महाकल्प के अन्त में अवशिष्ट वह सद्रूप परमात्म वस्तु वायु आदि स्वरूप ही क्यों न हो, इस पर कहते हैं ।

सद्रूप वह परमात्मवस्तु न वायुरूप है, न आकाशरूप है, न मन, बुद्धि आदिरूप है, न शून्यरूप है, वह कुछ भी नहीं है, सर्वस्वरूप वह अनिवर्चनीय चिदाकाश है ॥२८॥

उस समय भी वह विद्वानों के अनुभव से सिद्ध है, यह कहते हैं ।

उस परमपद में स्थित समस्त कल्पनाओं से निर्मुक्त तत्त्वज्ञानी ही इस परमात्म वस्तु का अनुभव करता है और दूसरे तो केवल वर्णित आगमों से इसका वर्णन मात्र करते हैं ॥२९॥

उन आगमों में 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्तयम्' इत्यादि आगम का अर्थरूप से अवलोकन कराते हैं।

यह आत्मा न काल है, न मन है, न जीव है, न सत् है, न असत् है, न देश है, न दिशा है और न काल का मध्य है, न अन्त है, न बोधस्वरूप है और न बोधाभावरूप ही है ॥३०॥

एवं 'तद्यथात्मविदो विदुः' इस आगम को भी उद्धृत करते हैं।

किन्तु बोधपारंगत, संसारविस्तार से शून्य तथा पंचम एवं षष्ठ भूमिकाओं को प्राप्त हो चुके महानुभाव लोग इस अनिर्वचनीय अतिस्वच्छ आत्मा का स्वयं अनुभव करते हैं ॥३१॥

श्रुति के अनुकूल अनुभव का आश्रय करके मैंने भी उन पदार्थों का बार–बार निषेध किया है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, मैंने आत्मबोध के लिए आपसे उन्हीं पदार्थों का निषेध किया है, जो सर्वत्र श्रुतियों में प्रतिषेध्यरूप से स्थित, हमारी बुद्धि से परिच्छिन्न एवं शान्त समुद्र के तरंगों के सदृश हैं ॥३२॥

तब 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि सत्कार्यवादी श्रुतियों का क्या अभिप्राय है, उसे कहते हैं।

जैसे महास्तम्भ में (बड़े खम्भे में) बिना खुदी हुई अनेक तरह की प्रतिमा ही स्थित है वैसे ही हे श्रीरामचन्द्रजी, स्वस्वरूप में स्थित परमात्मा में सभी पदार्थ स्थित हैं (🙏) ॥३३॥

इसीलिए 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि तथा 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् इत्यादि श्रुतियों के अविरोध से एक ही का दोनों तरह से कथन होता है, इस आशय से कहते हैं।

इस तरह सभी पदार्थ उस परमात्मा में अधिष्ठान रूपसे स्थित है तथा अपने स्वरूप से नहीं भी स्थित हैं । वह परमात्मा असर्वात्मक होता हुआ भी सर्वस्वरूप है । वह परमार्थरूप भी है और परमार्थरूप नहीं भी है ॥३४॥

पत्थर में न खुदी गई नाना प्रकार की प्रतिमाओं की तरह योगियों को अपनी इच्छा के अनुसार स्वस्वरूप में स्थित उस परमपद में 'अस्ति' और 'नास्ति' दोनों तरह से जगत् का दर्शन होता है, यह कहते हैं ।

योगी लोग अपनी इच्छानुसार सर्वात्मक वह परम पद जैसे समस्त अर्थों से युक्त है तथा जैसे समस्त अर्थों से रहित है, वैसे उसे देखते हैं ॥३५॥ उस आद्य पद को योगी लोग सर्वरूप, सर्वात्मक, सम्पूर्ण अर्थों से रहित तथा सम्पूर्ण अर्थों से परिपूर्ण भी देखते हैं ॥३६॥ हे महाबुद्धे, पूर्वोक्त समाधिकालपर्यन्त सम्पूर्ण अर्थों का उपशमरूप वह सम्यग् ज्ञान आपको नहीं उत्पन्न

(🙏) ब्रह्मस्वभावस्थिति ही अविकल्पित जगत् की भी सत्ता है, यही उन श्रुतियों का अभिप्राय है।

हुआ । इसमें सन्देह होना ही सबसे जबर्दस्त प्रमाण है (♨)॥३७॥ जो ज्ञानी पुरुष सब दृश्यों के आभास से निर्मुक्त, परम प्रकाशरूप को (परम साक्षात्कार को) प्राप्त है तथा स्वच्छ अन्तःकरण एवं शान्त है, वह उस प्रकाशस्वरूप शान्तस्वभाव को देखता है ॥३८॥ जैसे सुवर्णपिण्ड के भीतर आभूषण तथा मुद्रा आदि का समूह कल्पना से स्थित है, वैसे ही हे श्रीरामचन्द्रजी, अयं, त्वम्, अहम् इत्यादि त्रैकालिक जगत्भ्रम भी उस परमात्मा में कल्पना से स्थित है ॥३९॥

तब क्या अलंकारों की तरह भेद से भी जगत् सत् है ? इसका 'नहीं' यह उत्तर देते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस तरह सुवर्ण के आभूषण तथा पात्र आदि सुवर्णपिण्ड से पृथक्-भिन्न सद्रूप से उपलब्ध नहीं होता ॥४०॥ अपने अंगरूप जगत् से द्रष्टा परमात्मा मिथ्या नाम-रूपात्मक द्वैत जगत् से सर्वदा ऐसे भिन्न है, जैसे कल्पित अंगदादि आभूषणात्मक मिथ्या नाम-रूपसे सुवर्ण ॥४१॥ देश, काल क्रिया आदि शब्दों के अर्थों से यानी प्रवृत्ति निमित्त से (जाति गुण क्रिया आदि से) रहित तथा देश, काल एवं क्रियामय वह आत्मा है । यथास्थित यह सम्पूर्ण जगत् अधिष्ठान से उसमें है और स्वस्वरूप से नहीं भी है ॥४२॥ जैसे चित्रकार शान्त जल में तरंग आदि रूप चित्र बनाने की इच्छा करता है वैसे ही हे श्रीरामचन्द्रजी, शान्तब्रह्म में स्थित इस जगत् की आप भी इच्छा कीजिये । तथा जैसे मिट्टी के पिण्ड में मिट्टी के बने अनेक पात्रों का समूह स्थित है वैसे ही ब्रह्म में यह जगत् स्थित है ॥४३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मिट्टी के पिण्ड में जैसे अभिन्नरूप से ये सब पात्र हैं और भिन्नरूप से नहीं भी हैं, वैसे ही तत्त्वज्ञान से शान्त, नित्य आत्मा में तन्मय शान्त यह जगत अभिन्नरूप से है और भिन्नरूप से नहीं भी है ॥४४॥ महास्तम्भ में अनुत्कीर्ण प्रतिमा की नाईं, ब्रह्मरूपी काठ में यह त्रिलोकी रूप प्रतिमा साक्षीरूपी शिल्पी की आँखों में प्राप्त हुई-सी है ॥४५॥ स्तम्भ में स्थित जो प्रतिमाएँ उत्कीर्ण होती हैं वे ही दृष्टिगोचर होती हैं किन्तु ब्रह्म में तो उसके शान्त क्षोभरहित स्थित रहने पर ही उसके भीतर सृष्टि के विवर्तरूप तरंगें दृष्टिगोचर होती हैं ॥४६॥ नित्य निरतिशयानंद जलपरिपूर्ण चितिरूपी सरोवर में चिन्मय मेघ की अमृतमय वृष्टि के सदृश ये सृष्टि की दृष्टियाँ भासित हो रही हैं। हे श्रीरामचन्द्रजी, विभाजक धर्मों से शून्य रहने पर भी उस चिद्घन ब्रह्म में ये सबके सब विभक्त तथा क्षोभरहित रहने पर भी क्षुभित के समान, भासित न हुई भी ये सब अविद्या के कारण एक तरह से भासित हो रही हैं ॥४७॥ इस चिद्घन ब्रह्म में परमाणु-परमाणु में चमकीले समारोहों से युक्त यह संसार-मण्डल भासता

(♨) यदि आपको निश्चित तत्त्वज्ञान हो गया है तो, तो आपके मन में किसी प्रकार का सन्देह नहीं उठता । सन्देह का होना ही बतलाता है कि अभी आपको निश्चित तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है । देखिये, 'छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' इत्यादि श्रुतियाँ क्या कहती हैं ।

है और वास्तव में कुछ भी नहीं भासता ॥४८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, निरवयव इस परमात्मा के जिस आकाश, काल, पवन आदिपदार्थ समूहरूप अंग का मैंने आपसे वर्णन किया है, वह भी मिथ्या तथा अधिष्ठानमात्र शेष होने से अवयवशून्य ही है । इस प्रकार यद्यपि सम्पूर्ण भावविकारों से शून्य यह अजर, परमार्थभूत आत्मतत्त्व है तथापि इसको सभी श्रुतियाँ सम्पूर्ण पदार्थों के अध्यारोप से सर्वस्वरूप बतलाती हैं ॥४९॥

बावनवाँ सर्ग समाप्त

तिरपनवाँ सर्ग

अपनी-अपनी अलग-अलग भिन्नता को लिये हुए ये जो आत्मा में आरोपित विषय है,
इस सत्ता यानी त्व, तल् आदि प्रत्ययों का अर्थ साक्षात् ब्रह्मरूप ही है - यह वर्णन।

अभी तक यह क्रम बतलाया कि ब्रह्म ही आरोपित अनिर्वचनीय जगत् रूप में विवर्तित होता है, अब इस विषय में रामजी यह जानना चाहते हैं कि त्व, तल् आदि प्रत्ययों से बोधित होनेवाली पृथक्-पृथक् जो घटत्व, मनुष्य आदि जातियाँ हैं, उनका तात्त्विक स्वरूप क्या है, इसलिए यह प्रश्न करते हैं ।

श्रीरामजी ने कहा : गुरुवर, जैसे स्मरण के योग्य विषयों में स्मरण की विषयता जैसे काल में कालता, जैसे आकाश में आकाशता, जैसे जड़ में जड़ता, जैसे वायु में वायुता, जैसे वर्तमान में या भविष्यत् में वर्तमानता या भविष्यत्ता, जैसे स्पन्दात्मा में स्पन्दात्मता (स्पन्द), जैसे मूर्त में मूर्तता, जैसे भिन्न में भिन्नता, जैसे अनन्त में अनन्तता, जैसे दृश्य में दृश्यता और जैसे सर्ग में सर्गता असाधरण धर्म है, ऐसे ही सब वस्तुओं में भावरूप धर्म हैं । अतः इनका परिज्ञान करने के लिए जो बोधक उपाय हों, उनको क्रमशः मुझसे कहिए, क्योंकि हे उपदेश देनेवालों में श्रेष्ठ ब्राह्मन्, जो अल्पज्ञ शिष्य हैं, उनको आरम्भ से ही प्रतिपादनकर समझाना चाहिए ॥१-४॥

आपने जिन वस्तुओं का भाव (सत्त्व) पूछा है, वह चिदात्मा ही है, क्योंकि वही अपने में अध्यस्त पदार्थों में अन्योन्य तादात्म्यअध्यास होने पर तत्-तत् भावरूप बन जाता है, यों उत्तर देने की अभिलाषाकर उन भावों की नित्यसद्रूपता बतलाने के लिए कहते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्री रामचन्द्रजी, जो चीज आपने पूछी है, वह चीज तो अनन्त, महाकाश, महाचेतनघन, अवेद्य चिद्रूपमय, शान्त, अद्वितीय और एकरूप से स्थित रहनेवाली ब्रह्म ही है, यही मुनि लोग कहते हैं ॥५॥

सबका विनाश हो जाने पर जो वस्तु अन्त में बच जाती है, वही सब वस्तुओं की भावरूप सत्ता है, क्योंकि भू धातु से बना हुआ भावशब्द उसी अर्थ का बोधक है, इस आशय से कहते हैं ।

चूँकि ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदि का भी जिस में अन्त हो जाता है, ऐसे महाप्रलय में

नामरूपात्मक सृष्टि का तिरोभाव हो जाने पर वही एकमात्र शुद्ध बच जाता है, इसलिए वही सबकी सत्ता है, दूसरी नहीं ॥६॥

वह वस्तु भी अपने कारण में लीन हो जायेगी, इससे वह भी तो असत् ही ठहरेगी, इस पर कहते हैं ।

सत् ही जिसका स्वरूप है, ऐसे शान्त महाचिद्घन वस्तु की उत्पत्ति का कोई कभी कारण युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि मल, आकार, बीज आदि तथा माया,मोह, भ्रम आदि सबकी सिद्धि उसी के अधीन है ॥७॥ अतः जिसमें आकाश भी स्थूल पत्थर के सदृश है और जो केवल, शान्त, निर्मल आदि अन्त से शून्य है, वही सत्तार्थक भावशब्द का अर्थ हो सकता है दूसरा नहीं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥८॥ वह जब चेतन शरीररूप से भासने लग जाता है, तब उसकी चारों ओर सत्ता होने के कारण 'नहीं है' ऐसा नहीं कहा जा सकता और जब शान्तमल (अज्ञान मलादि से वर्जित) होकर अनुभव में आता है, तब 'वह है' यों भी वाच्यवृत्ति से नहीं कहा जा सकता ॥९॥

ऐसे निर्विषय चित्-स्वभाव की अत्यन्त अप्रसिद्धि है, इस शंका का अनुभव से निवारण करते हैं।

उस निर्विषय आत्मपद का स्वरूप वही है, जो कि निमेषमात्र में सैकड़ों योजन तक प्रमातृज्ञान के पहुँच जाने पर उस ज्ञान के बीच का रूप है । *(इस विषय का पहले भी अनेक स्थानों में निरूपण किया गया है -शाखाओं के अग्रभाग में चन्द्रदर्शन के समय एक निमिषमात्र में चक्षु की वृत्ति के द्वारा प्रमातृ-चैतन्य ऊपर प्रदेश में सैकड़ों कोश चन्द्रदेश तक दूर चला जाता है, वह गया हुआ प्रमातृ-चैतन्य बीच के प्रदेश में यानी शाखाग्रप्रदेश और ऊपर का जो चन्द्रदेश है -इन दो प्रदेशों के मध्यप्रदेश में एकदम विशुद्ध रहता है, उसमें कोई भी विषय रहता ही नहीं, अतः मध्यप्रदेश के चेतन का जो भी रूप आप जानिये, वही रूप निर्विषय आत्मपद का स्वरूप है)* ॥१०॥

आधी रात तक गाढ़ी नींद से मन की निद्राकालिमा दूर हो जाती है, इस कालिमा के निकल जाने पर समाधि में स्थित हुए योगियों को उक्त रूप का अनुभव होने लग जाता है, यह कहते हैं।

बाहरी और भीतरी जितने वासना के विषय भ्रमरूप पदार्थ हैं, उनका विनाश हो जाने पर सब प्रकार की चिन्ताओं से निर्मुक्त हुए तथा आधी रात में निद्रा से जगे, सुख-दुःख की वृत्तियों से तथा शान्तिपूर्वक समाधि लगाकर बैठे हुए पुरुष का जो स्पन्दशून्य (निर्मल) मनोरूप है, वही रूप उस पद का स्वरूप है। इस रूप का समाधिनिष्ठ पुरुष ही अनुभव करते हैं ॥११,१२॥ श्रीरामजी, तृण, गुल्म, अंकुर, वृक्ष आदि की उत्पत्ति होने पर साथ-साथ प्रकट हुआ जो एकरूप से सबमें रहनेवाला अनुगत सत्ता-सामान्य रूप है यानी तृणत्व, गुल्मत्व आदि है, वही

त्व, तल्आदि प्रत्ययों का अर्थ है ॥१३॥ उसी सत्ता–सामान्य के स्वरूप में तादात्म्यरूप से मिला हुआ तथा दूसरे से भिन्न–सा जो घट, पट आदि जगत् का स्पष्ट रूप दीखता है, वह आगन्तुक होने से सकारण सा तथा कम्बुग्रीव आदि विचित्र आकृतियों से कराल–सा भासता है, परन्तु है वह सब अनृत यानी मिथ्या ही । इसीलिए वह सब कारण के अभाव से न तो उत्पन्न हुआ है और न अपना अस्तित्व ही रखता है, इससे यह सिद्ध हुआ कि वह पद न तो आकारयुक्त है, न जगत्–रूप है और न द्वैत एवं ऐक्य से मिला हुआ ही है ॥१४,१५॥ जो कारण से शून्य है यानी जिसके कारण की सत्ता ही नहीं है, उस वस्तु की सत्ता यहाँ कैसे युक्तियुक्त मानी जा सकती है ? जो स्वयं सदा अनुभूत ही वस्तु है, उसका अपलाप करने की शक्ति कौन रख सकता है ? ॥१६॥

तब यह मानिये कि जगत् का शून्य ही कारण है ? इस पर कहते हैं ।

हे राघव, शून्य तो अनादि और अनन्त है, वह जगत् का कारण नहीं हो सकेगा, क्योंकि जो आदि और अन्त से रहित होता है, वह सब तरह की अल्पता से निर्मुक्त ही रहता है, इस स्थिति में सभी सब जगह सभी समय में रहने लग जायेंगे । ब्रह्म तो अमूर्त है यानी आकार से शून्य है, अतः ब्रह्मस्वभाव से भिन्न साकार जगत् का वह ब्रह्म भी कारण नहीं हो सकता ॥१७॥ इसलिए ब्रह्म में जो जगत्–रूप भासित हो रहा है, वह ब्रह्मरूप ही है, दूसरा नहीं। ऐसी स्थिति में त्व, तल् आदि प्रत्ययों के अर्थ के रूप में भी जो स्वरूप भासता है, स्वयं वह चिदाकाशरूप ब्रह्म ही स्थित है ॥१८॥ इस तरह यद्यपि असल में जगत् चिद्–ब्रह्मरूप ही है, तथापि जो घट,पट आदि आकार आपाततः (ऊपर–ऊपर से) प्रतीत होते हैं, वे सब भ्रम से ही सिद्ध होते हैं। ऐसी स्थिति में हे श्रीरामचन्द्रजी सब कुछ एक, अज शान्त, द्वैत–ऐक्य से रहित निरामय ब्रह्मरूप ही है, यह आप जानिये ॥१९॥

भ्रान्ति से जीव और जगत् के रूप में ब्रह्म ही है और भ्रान्ति का विनाश हो जाने पर वास्तव ब्रह्मस्वरूप ही रहता है, इसमें पूर्वदर्शित 'पूर्णमदः' इत्यादि श्रुति का अनुवाद करते हैं ।

पूर्णरूप ब्रह्म से पूर्णरूप ही जगत् विस्तार को प्राप्त होता है, उसी पूर्ण में पूर्णात्म जगत् विराजित है, पूर्ण ही पूर्ण में प्रकाशित होता है, अतः पूर्ण में पूर्णात्मक वस्तु ही ठीक–ठीक रूप से अन्त में व्यवस्थित हैं ॥२०॥ श्रीरामभद्र, भावप्रत्ययों का अर्थ यानी त्व, तल् आदि का अर्थ वही है, जो निर्वाण शब्द से कहलानेवाला विशुद्ध आत्मा है । वह शान्त, एकरूप, उदय अस्त से रहित, आकारों से शून्य, अज, आकाशवत् व्यापक, स्वच्छ और अद्वितीय है । यह सर्वात्मक है, इसका रूप सत् असत् की एकता लेकर ही निरन्तर उदित है; सबका आदि है और उत्तम बोधरूप (आत्मज्ञानरूप) है ॥२१॥

तिरपनवाँ सर्ग समाप्त

चौवनवाँ सर्ग

सभी वस्तुएँ अपने स्वभाव में ही रहती हैं, स्वभाव में न तो कोई क्रिया है और न कोई भेद ही है, अतः स्वभावभूत सन्मात्रवस्तु अविकारी एवं अद्वितीय है यह वर्णन।

घट, पट आदि का स्वरूप या भेद घटत्व, पटत्व आदि का उल्लेख किये बिना हो नहीं सकता । घट और घटत्व का परस्पर जो भेद है, उसका भी निरूपण किसी विशेषण को लिये बिना नहीं हो सकता, इसलिए उनके पृथक्करण के लिए धर्म और धर्मी का जो कुछ विभाग आप मानेंगे, वह केवल कल्पनारूप ही होगा, क्योंकि निर्विकल्परूप से एक-सी भासमान वस्तुओं में असली विभाग तो होगा ही नहीं । ये जितनी वस्तुएँ हैं, वे सभी भावरूप (सत्तामात्र ब्रह्मरूप) ही हैं, यह तो अनेक युक्ति, श्रुति आदि का दिग्दर्शन कराकर सिद्ध कर दिया है । ऐसी स्थिति में 'घटे घटत्वम्' (घट में घटत्व है) इत्यादि शब्दों का निचोड़ अर्थ यही होगा कि 'ब्रह्म में ब्रह्म हैं' यों जो पहले भाव प्रत्ययों के अर्थ का निष्कर्ष सिद्ध किया गया है, उनके फल का उपपादन करने के लिए आरम्भ करते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, घटत्व, पटत्व आदि भावों से जगत् का स्वरूप यदि निचोड़कर सिद्ध किया जाय, तो वह आकाश के सदृश स्वच्छ एवं भेदरूप कलंक से निर्मुक्त ही सिद्ध होता है । घटत्व आदि भाव तो ब्रह्मरूप ही स्थित हैं, यह पहले ही बतला चुके हैं, इस दृष्टि को लेकर देखा जाय, तो घट, पट आदि भावों में किसी में किसी के प्रति कार्यकारणभाव नहीं है, क्योंकि उस दृष्टि में यही ज्ञान रहता है कि आकाश ही आकाश में भासता है, वही (नभोरूप ब्रह्म ही) जगत्-शब्द और घटादि शब्दों का अर्थ है, वह तो जन्म आदि विकारों से शून्य ही है ॥१॥

इसी अर्थ का फिर स्पष्टीकरण करते हैं ।

त्वम् (तू), अहम् (मैं), जगत् इत्यादि जो शब्द हैं, उनका अर्थ ब्रह्म ही है, शान्त ब्रह्म सबमें एकरूप से ही भासनेवाला है, इसलिए अलग स्थित न होकर ही वह शब्दार्थरूप ब्रह्म अपने ही स्वरूप में स्थित है ॥२॥ समुद्र, पर्वत, मेघ, पृथ्वी, विस्फोट आदि पदार्थों से भरा जगत् भी ब्रह्म है यानी समुद्र आदि अनेक विभागों से युक्त तथा विचित्र कारक, क्रिया, फल आदि से भासमान तत्-तत् धर्म और धर्मियों का तात्त्विक स्वरूप भी निष्कर्ष में ब्रह्मरूप ही है, अतः यह समस्त जगत् काष्ठमौन के सदृश निष्क्रिय ब्रह्मरूप ही ठहरता है ॥३॥

अब वह द्रष्टा आदि विभागों से भरपूर है, इसका विचित्र कारकों में तत्-तत् भावों का निष्कर्ष निकालकर निरूपण करते हैं ।

दृश्यवस्तु के स्वभाव से पृथक् किया गया द्रष्टा चिन्मात्रस्वभाव में स्थित होकर द्रष्टा होता है, इसी प्रकार का कर्ता भी है । इसका कोई वास्तव में तो कर्तव्य ही नहीं है, क्योंकि जब कारण हो

तो कर्तव्य निर्धारण किया जाय, पर कारण ही कोई नहीं है ॥४॥

इसी दृष्टि से सम्पूर्ण जगत् की विचित्रता हटाई जा सकती है, यह कहते हैं ।

न तो ज्ञातापन, न कर्तापन, न जड़पन, न भोक्तापन, न शून्यपन, न अर्थपन और न आकाशपन ही इस ब्रह्म में रहता है ॥५॥ यदि कोई है, तो वह शिला के उदर के सदृश अत्यन्त घन, बाधवर्जित, अद्वितीय, जन्मरहित, सर्वात्मक, शान्त, आदि अन्त से मुक्त तथा विधि एवं निषेध में एकरूप ब्रह्म ही है, यही सर्वत्र विस्तृत है ॥६॥ जीवन, मरण, सत्य, असत्य, शुभ, अशुभ जो कुछ है वह सब एक, अज निर्मल चिदाकाशरूप ऐसे है, जैसे तरंगों का समूह जलरूप ॥७॥ ब्रह्म का जीवरूप से विभाग कल्पित होने पर वह एक ही वस्तु चिदंश की प्रधानता से द्रष्टापन और सदंश की प्रधानता से चिदंश को तिरोहित (छिपा) कर दृश्यपन धारण करती है । इस प्रकार की कल्पना स्वप्न नगर आदि में अनुभूत होती है, वहाँ पर व्यावहारिक जीव से प्रातिभासिक जीव का विभाग करने पर निद्रा से तिरोहित हुआ व्यावहारिक जीव स्वप्न का जीव, दृश्य, नगर आदिरूप बन जाता है ॥८॥ इस तरह जगत् स्वच्छ ब्रह्मरूप ही सिद्ध हुआ, वही स्वप्ननगर के सदृश परम चिदात्मरूप निर्मल आकाश में भासता है, अतः प्रथम निष्प्रपंच जो ब्रह्म है, वही जीवात्मक विभाग से इस जगद्रूप से स्थित है, हे श्रीरामजी, यह आप अवश्य जान लें ॥९॥ हे श्रीरामजी, इन सब बातों से यह आप अच्छी तरह जान लीजिए कि यह सर्वात्म जगतस्वरूप पहले जैसा निष्प्रपंच ब्रह्मरूप था, वैसा ही सदा रहेगा । इस तरह निष्प्रपंचस्वरूप शाखा और चन्द्र दोनों के दर्शनकाल में इनके मध्य में दर्शन से अभिव्यक्त चेतन प्रसिद्ध ही है ॥१०॥ शान्तों में परम शान्त चेतनाकाश का मध्य में उक्त रीति से प्रसिद्ध जो निर्विषय रूप है, वही जगत् के रूप से ऐसे भासता है, जैसे तरंगादि के रूप से जल भासता है ॥११॥

सारा जगत् निर्विषय चैतन्य से अभिन्न है, यह कहते हैं ।

जो कार्यरूप से उदित होता है और कार्यरूप से उदित नहीं भी होता है । जो कारणरूप से उदित है और कारणरूप से उदित नहीं भी है, वह जगत् प्रमातृ चैतन्य के एक देश से दूसरे देश तक जाने पर जो उसका विषयशून्य मध्यमभाग है, उससे भिन्न नहीं है ॥१२॥ इसलिए इस सृष्टि का खरगोश के सींग के सदृश कोई कारण है ही नहीं, प्रयत्न से अन्वेषण करने पर भी इसका कोई कारण नहीं मिलता ॥१३॥ जो किसी कारण के बिना भासित होता है, वह भासित न हुआ ही भासित होता है, वह भ्रमात्मक है, यह समझना चाहिए । भ्रम तो असत्यरूप है, अतः उसकी सत्यता कैसे कही जा सकती है ? ॥१४॥ कारण के बिना कार्य ही कैसे और उसकी सत्ता ही क्या ? यदि दिखाई पड़ा तो वह भ्रम ही है । पुत्ररहित वंध्यापति को स्वप्न में अपने अच्छे पुत्र का जो दर्शन है, वह भ्रम ही है सत्य नहीं है ॥१५॥ जो अकारण भासता है, वह द्रष्टारूप चैतन्य ही अपने स्वरूप का त्यागकर सब रूप से उस प्रकार भासता है, जिस

प्रकार संकल्प से गन्धर्वनगर आदि भासते हैं ॥१६॥

द्रष्टारूप चेतन कहाँ अपने स्वरूप को छोड़कर प्रकाशता है, इस पर कहते हैं ।

क्षणभर में शाखाप्रदेश से चन्द्रमा के प्रदेश तक गये हुए प्रमातारूप चेतन के मध्य का जो स्वरूप है, वही अपने निष्प्रपंच स्वरूप को न छोड़कर ही प्रकाशता है, क्योंकि वहाँ बीज में परमार्थरूप और आदि अन्त भाग में विवर्तरूप दोनों प्रकाशते हैं ॥१७॥

अर्थसत्ता न रहने पर भी बोध अर्थाकार से प्रकाशित होता है, इस विषय में दृष्टान्त देते हैं ।

बोध ही अर्थ के रूप में स्फुरित होता है, वह आकाश से भी अतिसूक्ष्म है, इस विषय में स्वप्न और संकल्प का पर्वत दृष्टान्त है, जिसका सभी ने भीतर अनुभव किया है ॥१८॥

बोध ही अर्थों के रूप में विकसित होता है, ऐसी कल्पना क्यों करते हैं, वटबीज के भीतर सूक्ष्मरूप से स्थित वृक्ष के सदृश बोध के अन्दर स्थित जड़ात्मक प्रपंच पहले से ही बोध में रहता है, ऐसी कल्पना क्यों नहीं करते ? यों श्रीरामभद्र शंका करते हैं ।

श्रीरामभद्र ने कहा : ब्रह्मन्, जैसे वटबीज के भीतर भावी महावृक्ष विद्यमान रहता है, वैसे ही बोधात्मक परमाणु में भी यह सारी सृष्टि क्यों नहीं रह सकेगी ? ॥१९॥

साकार बीज में पहले भीतर निराकार वट था, इसलिए वह पृथ्वी, जल आदि सहकारी कारणों की पास में स्थिति हो जाने पर अंकुर आदि क्रम से उत्पन्न हुआ, यह बात तो मानी जा सकती है, परन्तु जगत् का जब महाप्रलय हो जाता है, तब न तो कोई साकार वस्तु रहती है और न सहकारी कारण ही प्रतीत होते हैं, इसलिए आपका दृष्टान्त नहीं घटता, यों महाराज वसिष्ठजी समाधान करते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, जहाँ बीज है, वहाँ पर तो उससे बड़ी-बड़ी शाखाएँ हो सकती हैं, क्योंकि वे विस्तृत शाखाएँ सहकारी कारणों से उत्पन्न होती है ॥२०॥ परन्तु सम्पूर्ण भूतों का जब प्रलय हो जाता है, तब कौन-सा साकार बीज होगा और उसका सहकारी कारण कौन होगा, जिसके प्रभाव से जगत् उत्पन्न हो ? ॥२१॥

जगत्-शक्ति से युक्त ब्रह्म ही बीज होगा, इस पर कहते हैं ।

जो ब्रह्मवस्तु है, वह तो असल में परमशान्त है, उसमें आकार की कल्पना ही कैसी ? उसमें परमाणुत्व का भी जब योग (सम्बन्ध) नहीं हो सकता, तब आकार की कल्पना तो दूर ही चली गई, इसलिए ऐसी वस्तु में बीजरूपता आ ही नहीं सकती ॥२२॥

इसीलिए कारण का असंभव है, यह पहले कहा गया है, यों कहते हैं ।

इस रीति से सत्य और मिथ्या को एकरूप बनानेवाले बीजरूप कारण का सर्वथा असंभव है, इससे जगत् की सत्ता किस प्रकार की, किससे, कहाँ और क्या होगी, क्योंकि उसको करनेवाला तो कोई है नहीं ॥२३॥

'अणुः पन्थाः विततः' इत्यादि श्रुति प्रमाण से ईश्वर में अणुत्व की कल्पना यद्यपि हो सकती है, तथापि उसमें जगत् की स्थिति मानना अनुचित है, यह कहते हैं ।

परमाणुरूप आत्मा के अन्दर सूक्ष्मरूप से जगत् है, यह कहना अनुचित ही है, क्योंकि सरसों के कण के अन्दर सुमेरु पर्वत है, यह अज्ञानियों की ही कल्पना है ॥२४॥

यदि यह कहिए कि जगत् भी निराकार है, तब तो बीज आदि का अभाव होने से अनायास ब्रह्मरूपता ही फलित हो जाती है, यह कहते हैं ।

बीज की सत्ता होने पर ही कार्य, कारण आदि के ज्ञान हो सकते हैं, परन्तु निराकार वस्तु का कौन–सा बीज और कहाँ उसमें जन्य–जनक का क्रम ? ॥२५॥ इसलिए जो परम ब्रह्मतत्त्व है, वही यह जगद्रूप बनकर स्थित है, यह आविर्भूत होकर न तो कुछ स्वरूप बतलाता है और न कुछ नष्ट ही होता है ॥२६॥

तब वह क्या चीज है, उसे कहते हैं ।

चिदाकाश ही (आकाशवत् निर्मल चिति ही) चिदाकाशरूप हृदय चितिरूप होने के कारण जगद्भ्रम को अशुद्ध में अशुद्ध–सा और शुद्ध में शुद्ध–सा देखता है ॥२७॥ वायु में स्पन्द की नाईं चिदाकाश में उसका स्वरूप चिदाकाशरूप ही भासित होता है, अतः हम लोगों की कोई भी सृष्टि–शब्दार्थ की कल्पनाएँ यहाँ अपना अस्तित्व नहीं रखतीं ॥२८॥ जैसे आकाश में आकाशरूप शून्यता अथवा जैसे जल में जलरूप द्रवत्व है, वैसे ही आत्मा में आत्ममय स्वविवर्तरूप यह विशुद्ध सर्गता (सृष्टिरूप) है ॥२९॥

तब अविवर्त कैसा है, इसे कहते हैं।

भद्र, हम लोगों का विस्तृत यह जो जगत् है, वह प्रकाशमय, अपरिमित शान्त ब्रह्म ही है, वह आदि और अन्त से शून्य और त्रिकाल में भी बाधित नहीं है, न तो उसका उदय होता और न अस्त ही होता है ॥३०॥

ऐसी प्रपंचरहित वस्तु की अप्रसिद्धि शंका तो बहुत स्थानों में निवृत्त की है, इसका स्मरण कराते हैं ।

क्षणभर में शाखादेश से चन्द्रप्रदेश तक प्रमातृचैतन्य के जाने पर उसका बीचवाला जो सर्वोपद्रवशून्य निर्विषयस्वरूप है, वही यह जगत् सा बन गया है । इससे चिदाकाश में वह व्यवस्थित है ॥३१॥ जैसे वायु में स्पन्दन, जैसे जल में द्रवत्व है और आकाश में शून्यत्व प्रतीत होता है, वैसे ही यह जगत् आत्मा में प्रतीत होता है, इसका किसी अन्य पदार्थ से सम्बन्ध नहीं है, यह असंग अद्वय आत्मरूप ही है ॥३२॥

जगत् चिन्मात्रस्वभाव है, यह जो सब तरह से कहा गया है, उसे इकट्ठा करके उपदेश देते हुए उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, अपने परमार्थस्वभाव में स्थित हुआ जगत् सत्-स्वरूप है । चिदाकाश शून्यभावापन्न प्रसिद्ध आकाशस्वरूप ही है, यह तो किसी तरह नहीं हो सकता, क्योंकि सूर्यरहित यानी सूर्य के उदय और अस्त से निर्मुक्त तथा अपने स्वरूप में अवस्थित आकाश कहाँ प्रसिद्ध है, सच्चित्स्वभाववाला या सूर्य आदि से रहित आकाश प्रसिद्ध नहीं है, बल्कि जड़ आकाश ही प्रसिद्ध है। अपितु सच्चित्स्वभावभूत जो तत्त्व है, उससे सम्बद्ध ही सम्पूर्ण दृश्यों का भान होता है, अतः सम्पूर्ण जगत् उस तत्त्व का ही अंगभूत है, शून्यात्मक आकाश का अंग नहीं है, इसलिए सच्चिदात्मा से अनन्य है । इन सब बातों से आप समस्त कल्पनाओं का परित्यागकर एकमात्र आकाशस्वरूप होकर ही स्थित रहिए ॥३३॥

चौवनवाँ सर्ग समाप्त

पचपनवाँ सर्ग

अन्य की भावना से अपने को अन्यरूप देखती हुई जगत् के रूप में
स्थित चिति स्वभावना से तो अनन्यरूप ही है, अतः जगत् वास्तव में परमार्थमय है, यह वर्णन।

पूर्वोक्त युक्तियों से जगत् ब्रह्म से जब अत्यन्त अभिन्न है, तब फलित यह हुआ कि उसकी कभी उत्पत्ति हुई ही नहीं, यह कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे राघव, उत्पत्ति, विनाश, ग्रहण, त्याग, स्थूल, सूक्ष्म, चर, अचर आदि से युक्त ये जगत् सृष्टि के आदि में पहले ही उत्पन्न नहीं हुए हैं, क्योंकि इनको पैदा करनेवाला कोई कारण उस समय रहता ही नहीं ॥१॥

उत्पत्तिवाद में तो अवश्य ही बीज बतलाना चाहिए, परन्तु वह बतलाया जा ही नहीं सकता, यों जो बार-बार कहा गया है, उसीका स्मरण कराते हैं ।

आकार के बिना चितितत्त्व कहीं पर भी कारणरूप नहीं हो सकता, जैसे साकार वृक्षों को साकार बीज उत्पन्न करता है, वैसे ही साकार स्वात्मा ही मूर्त पदार्थों को उत्पन्न कर सकता है, परन्तु वह साकार तो है नहीं ॥२॥

इसीलिए ज्ञानी पुरुष 'सब जगत् चित्स्वभाव ही है' ऐसी भावना करता हुआ स्थित रहता है, यह कहते हैं।

जितने तत्त्वज्ञानी हैं चितितत्त्वरूप वे सब अपनी आत्मा में ही सब कल्पनात्मक जगत में आत्मरूपता की निरंतर भावना करते हुए स्थित रहते हैं ॥३॥

अतएव अज्ञानी पुरुष ने भी स्वभावकल्पनारूप ही संसार को प्राप्त किया है, यह कहते हैं।

चिदाकाशरूप आत्मा जिस भाव का स्वाद लेता है, वही उस प्रकार सृष्टि प्राप्त कर लेता है, जिस प्रकार शराब की क्षुब्धता से प्रलाप द्वारा अपनी आत्मा से ही शराब पीनेवाला पुरुष अपना

स्वरूपप्राप्त कर लेता है ॥४॥

अतएव अनुत्पन्न अन्य वस्तु के स्वभाव का साक्षात्कार हो जाने पर उसी के रूप में स्थिति होती है, यह कहते हैं।

जब यह सब अनुत्पन्न ही है, है ही नहीं और दिखाई भी देता है, तब इसे आप शान्त, एकरूप ब्रह्म ही समझिए, जो अज्ञानदशा में असत्–सा है ॥५॥

तब उसीने यह जगत् उत्पन्न किया है, यह श्रुतियों का कथन कैसे युक्तिपूर्ण हो सकेगा, इस पर कहते हैं।

जैसे जल में जलरूप द्रवत्व है, वैसे ही चिदाकाश में चिदाकाशरूप जगत् है । चूँकि उस चिदात्मा के कारण यह अध्यस्त समस्त प्रपंच प्रकाशित होता है, इसीलिए जगत् ब्रह्मरूप ही है और इसका निर्माण भी जगदाकार उस ब्रह्म ने ही किया है, यह श्रुतियों में प्रवाद है ॥६॥

इस प्रवाद को 'अथ रथान् रथयोगान्' इत्यादि श्रुति में स्वप्नद्रष्टा में रथादि सृष्टिकर्तृता के प्रवाद के सदृश ही समझना चाहिए, यह कहते हैं ।

जैसे स्वप्न मे विमल चेतन ही जगत् के रूप में उदित होता है अथवा जैसे काँचदोष से दूषित नेत्रवाले पुरुष के प्रति आकाश में केशोण्ड्रक आदि प्रतीत होते हैं, वैसे ही सृष्टिरूप से भावित चिदाकाश में इस तरह का विचित्र सादिरूप जगत् प्रकाशित होता है ॥७॥ जैसे स्वप्न में जगत्चितिरूप काँच का प्रकाश ही है, वैसे ही जाग्रत अवस्था में भी विचित्र जगत् भी चितिरूप काँच का प्रकाश 'स्फुरण' ही है, इसलिए यह जगत् चिदाकाशमात्ररूप स्थित है ॥८॥

ऐसा मानने पर जाग्रत् और स्वप्न में क्या भेद रहा, इस पर कहते हैं।

सबसे पहले प्रवृत्त हुए हिरण्यगर्भ की सृष्टि में जो चिति का स्वप्न है वह जाग्रत्–शब्द से कहा जाता है और प्रबल रात्रि में प्रवृत्त स्वव्यष्टि–अन्तःकरणमात्र के परिणामरूप सृष्टि में जो चिति का स्वप्न है वह स्वप्नशब्द से कहा जाता है ॥९॥ प्रथम संकल्प ही महाप्रलय तक समस्त पदार्थों के स्वभाव की व्यवस्थापक नियति है । उसीके अनुसार आज भी सुव्यवस्थित पदार्थों की रचना एक तरह से पहले की नाईं बह रही नदियों की तरंग रेखा है वही प्रत्यक्ष सिद्ध होती है ॥१०॥

ऐसी स्थिति में जैसे तरंगों की सत्ता जल सत्ता से भिन्न दूसरी नहीं है, वैसे ही जगत् की सत्ता भी चिति की सत्ता से भिन्न दूसरी नहीं है, इस आशय से ब्रह्मोपादानकत्व का प्रवाद है, यह कहते हैं ।

जैसे जलतरंगों की शोभा ही नदियों की रचना को प्राप्त हुई है यानी नदियों की सत्ता जलतरंग शोभा की सत्ता से पृथक् नहीं है, वैसे ही चिदाकाश के भीतर विद्यमान चितिरूप बीजसत्ता ही सृष्टिरूपता को प्राप्त हो गई है यानी सृष्टि की सत्ता चितिसत्ता से अतिरिक्त नहीं है, यह तात्पर्य है ॥११॥

इस तरह जगत् की अलग सत्ता न होने के कारण जन्म-मरण की भीति आ ही नहीं सकती, किन्तु दोनों प्रसंगों में सुख ही सुख है, ऐसा कहते हैं ।

यदि मृत व्यक्ति की आत्यन्तिक असत्ता मान ली जाय, तो भी ब्रह्मानन्द की सत्ता के ही व्यक्ति और व्यक्तिनाश की सत्ता के रूप से अवशिष्ट होने से सुषुप्ति अवस्था में प्रसिद्ध निरतिशयानन्दरूप सुख ही उसे प्राप्त हुआ और मर जाने के बाद फिर जो देहादिरूप संसार प्राप्त होता है, वह उसका नवीन संसाररूप सुख भी ब्रह्मसुखरूप ही है, इसलिए सुखसत्ता से अतिरिक्त किसी सत्ता के न रहने से भय की प्राप्ति ही नहीं हो सकती ॥१२॥

मर जानेवाले व्यक्ति को कुकर्मजनित नरकप्राप्ति की संभावना से भय क्यों नहीं होगा ? इस आशंका को उठाकर कहते हैं ।

कुकर्मों के कारण नरक आदि का जो भय है, वह तो यहाँ जीनेवाले को और परलोक में मरनेवाले को समान ही है, नरक आदि दुःख और जीवन की ब्रह्मसुख सत्ता से अतिरिक्त भिन्न सत्ता न होने के कारण दुःख की स्थिति भी सुखसत्ता से है, इसलिए उनमें विशेष (भेद) नहीं है । अतः सभी के मरण और जन्म समान सुखवाले हैं ॥१३॥ भले ही मरण हो या भले ही जीवन हो इन दोनों की जो वासनाएँ हैं यानी उनकी सूक्ष्मरूप से विद्यमान जो सत्ता है, वह ब्रह्मसुखरूप ही है, अतः वे भी ब्रह्मसुखरूप ही है, इसलिए ब्रह्मसुख में विश्रान्ति पानेवाले जो धीर वीर है, वह अन्दर से शीतलात्मा है, यह कहा जाता है ॥१४॥ जितने प्रकार के भिन्न-भिन्न ज्ञान होते हैं, उनका अस्त हो जाने पर पुरुष को जो एकरूप ज्ञान उत्पन्न होता है, तद्रूप ही वह बन जाता है, इससे दृश्य पदार्थों की पृथक् सत्ता का विनाश हो जाता है और पुरुष मुक्त कहा जाता है ॥१५॥

इस तरह पुरुष को जब यह ज्ञान हो जाता है कि विषयों की सत्ता त्रिकाल में है ही नहीं, तब उसकी दृष्टि में ब्रह्मरूप से सृष्टि की पारमार्थिक सत्ता और स्वतःअसत्ता बन जाती है । उस समय सब दृश्य का ज्ञान निर्विषयक ही उदित होता है, इसलिए ऐसे पुरुष में मुक्तरूपता भलीभाँति आ जाती है ॥१६॥ जो स्वयं चेत्यरूप (विषयरूप) नहीं है, जो चितिक्रियारूप नहीं है, जो चितिक्रिया से प्रकाशित भी नहीं होता, ऐसे ब्रह्मरूपता के साथ एकरूप बन गये तत्त्वज्ञानी पुरुष परमशान्ति से युक्त होकर व्यवहार में विद्यमान रहते हैं ॥१७॥ अतिस्वच्छ चिदाकाश में जो चिति का निरन्तर प्रकाशन होता है, वही तो जगत्-शब्द से कहा जाता है, इसलिए उसमें बन्धन और मुक्ति की दृष्टियाँ ही कैसे ? ॥१८॥

भद्र, संकल्प के स्वरूप से बना हुआ यह जगत् केवल चिदाकाश का स्पन्दनस्वरूप ही है, अतः वह त्रिकालअबाधित ब्रह्ममय है, न कि कहीं पृथ्वी आदिमय है ॥१९॥ यहाँ न देश है, न काल है, न द्रव्य है, न क्रिया है, न आकाश है, किन्तु प्रतिभासरूप से ही यह सब उत्पन्न है, इसलिए सत्-सा प्रतीत होता है । प्रतिभासरूप से उत्पन्न भी वास्तव में यह अनुत्पन्न है, अतः असत्य ही

है ॥२०॥ इस प्रकार परमार्थघनरूप केवल ब्रह्म ही इस जगत् के रूप में भासता है, ब्रह्म न शून्यरूप है और न अशून्यरूप है, वह आकाश से भी अत्यन्त स्वच्छ है ॥२१॥ स्वप्ननगर के सदृश साकार होता हुआ भी ब्रह्मचैतन्य वास्तव में निराकार है, निराकार होता हुआ ही अतिभास्वर यानी प्रकाशमय है और अतिस्वच्छ एकमात्र चितिस्वरूप होने के कारण अतिविस्पष्ट है ॥२२॥

हे श्रीरामजी, चिदाकाश के अन्दर जगदात्मक जो कलुषित स्वरूप है, वह कहे गये मार्ग से अकलुषित होकर व्यापक निर्वाणरूप ही बन जाता है । यह निर्वाणरूप आत्मतत्त्व कहीं पर उपलब्ध नहीं होता, ऐसी बात नहीं है, किन्तु सर्वत्र उपलब्ध होता है । यह जगत् नाना (भिन्न) नहीं है, किन्तु आकाश में शून्यरूप के सदृश तथा समुद्र में द्रवत्व के सदृश अभिन्न है यानी ब्रह्मरूप ही है ॥२३॥

पचपनवाँ सर्ग समाप्त

छप्पनवाँ सर्ग

चिति ही सब कुछ है और सर्वत्र ही सर्वात्मक चिति है,
इस निश्चय को दृढ़ बनाने के लिए पाषाणआख्यायिका का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, चिन्मय आकाश में सर्वत्र और सदा सब कुछ किसी प्रकार के संकोच के बिना विद्यमान है ही, परन्तु वह है सर्वथा स्वच्छ। ब्रह्म जगत् के मल से ऐसे दूषित नहीं होता, जैसे नीलरूप से भासमान शून्यता अपने मल से आकाश में मलिनता पैदाकर उसे दूषित नहीं करती ॥१॥

इस अर्थ में युक्ति दिखलाते हैं ।

भद्र, जहाँ चिति है, वहाँ पर ही जगत् की शोभा है, चाहे पृथ्वी आदि पदार्थ हो, चाहे आकाश हो सर्वत्र चित् विद्यमान है, क्योंकि सभी पदार्थ तो चितिरूप हैं, अतः कहीं पर चित् नहीं है यह नहीं हो सकता ॥२॥

सबकी चिन्मात्रता स्वप्न में प्रसिद्ध है, इसलिए उसको दृष्टान्त बनाकर जाग्रत में भी पदार्थों की चिन्मात्रता सिद्ध करते हैं ।

जैसे स्वप्न में पर्वत आदि तथा नगर आदि पदार्थ केवल चिदात्मरूप हैं, वैसे ही जाग्रत में भी ये पृथ्वी आदि तथा नगर आदि पदार्थ केवल चिदात्मरूप हैं, परम चिदात्मरूप ही हैं ॥३॥ हे श्रीरामजी, इस विषय में प्रथम मुझसे ही दृष्ट एक पाषाणाख्यायिका है, वह सब रसों से पूर्ण और भ्रान्तिरूप रोग की तो बड़ी भारी औषधि है, बड़ी ही विचित्र तथा प्रस्तुतोपयोगी है, उसे आप सुनिये ॥४॥ श्रीरामभद्र, किसी समय की बात है–मैंने ज्ञानयोग्य वस्तु का ज्ञान कर लिया था और मेरा मन भी पूर्ण हो चुका था, अतः उस समय मैंने घने भ्रम से भरे इस लोकव्यवहार को छोड़ देने

की इच्छा की ॥५॥ तदनन्तर समाधि में एकनिष्ठा प्राप्त कर धीरे–धीरे दीर्घकाल तक विश्रान्ति पाने के निमित्त मैंने सब प्रकार की चंचलता का त्यागकर एकान्त स्थान की अभिलाषा की और शान्ति की ओर जाने लगा ॥६॥ शान्ति की ओर गमन कर रहा किसी देवता के स्थान में स्थित मैं जगत् की विलक्षण भंगुर गतियों को देखते हुए यह सोचने लगा ॥७॥ यह जो लोकों की अवस्था है, वह वस्तुतः नीरस ही है, केवल ऊपर ऊपर से सुन्दर लगती है, इसलिए मैं मानता हूँ कि यह किसी को, कहीं, किसी हेतु से किसी समय भी सुखकारक नहीं हो सकती ॥८॥

लोकस्थिति सुखद नहीं है, इतनी ही बात नहीं है, किन्तु असीम दुःखदायी भी है, यह कहते हैं ।

तीव्र खलबली और खेद उत्पन्नकर ये इष्ट–अनिष्ट फल देने वाली दृश्यदृष्टियाँ द्रष्टा के भीतर उद्वेग ही उत्पन्न करती हैं ॥९॥ यह क्या दिखाई देता है, कौन देखनेवाला है और मैं ही कौन हूँ अर्थात् ये सब तुच्छ हैं । कोई नहीं है, सब कुछ शान्त, अज चिदाकाशरूप ही केवल चिदाकाश में थोड़ा–सा रेंगने वाला विवर्त बन गया है ॥१०॥ श्रीरामचन्द्रजी, यह सब विचारकर अन्त में उसीके कारण समस्त सिद्ध, इन्द्र, देव, दैत्य आदि द्वारा दुर्गम एक अच्छे प्रदेश में जाकर अपनी देह को अपने आप ही अन्तर्धान के उपायों से छिपाकर (सुरक्षित बनाकर) मैं सब प्राणियों की आँखों से ओझल हो जाऊँ और निर्विकल्प समाधि लगाकर एकरूप अद्वितीय स्वच्छ शान्त पद में सब विकल्पों से निर्मुक्त हो स्थित हो जाऊँ ॥११,१२॥ मुझे जहाँ समाधि लगानी है; वह उत्तम प्रदेश कौन हो सकता है, क्योंकि वह प्रदेश अत्यन्त शून्यरूप और समाधि के लिए उपयोगी होना ही चाहिए । उस प्रदेश में बाह्य अर्थों के विज्ञान, जो पाँच इन्द्रियों से उत्पन्न होने के कारण पाँच प्रकार के हैं, रहने भी नहीं चाहिए॥१३॥

पर्वत, शिखर आदि अनेक एकान्त प्रदेश समाधि के लिए है ही, फिर उनमें ही वास क्यों न किया जाय, इस पर कहते हैं ।

विक्षेप पैदा करनेवाले शब्दों से आक्रान्त अरण्य, जल, मेघ एवं सिंह आदि प्राणियों से चारों ओर व्याकुल पर्वतों को मैं अपना शत्रु ही समझता हूँ, क्योंकि वे उनसे स्वयं ही क्षुब्ध होकर दूसरों को क्षुब्ध कर देते हैं, अतः वे प्रतिकूल हैं ॥१४॥ बड़े–बड़े पर्वतों के अनेक तरह के बीचवाले प्रदेश तो भील आदि जनों से वेष्टित है और वे सब विषयरूप सर्पों से दूषित होने के कारण विषमय ही है ॥१५॥ अनेक तरह के बड़े–बड़े समारोहों से क्षुब्ध नागरिक जनों से युक्त नगर जैसे समाधि के प्रतिकूल हैं, वैसे ही विविध समारम्भों से पूर्ण (व्याप्त) जलचरों से जलाधार सागर भी समाधि के प्रतिकूल हैं ॥१६॥ पर्वततट, जलतट, लोकपालों के नगर, शिखर, पातालों के कुहर आदि सब अनेकविध प्राणियों से व्याकुल ही हैं ॥१७॥

पर्वतों की गुफाओं का तब सेवन करना चाहिए, इस पर कहते हैं ।

बड़े-बड़े पर्वतों की गहन छिद्रवाली गुफाएँ तो वायुओं के भाँकारशब्दों से गान करती हैं, लतिकारूपी हाथों से नृत्य करती हैं और वनवृक्षों के फूलों से हँसती हैं, अतः वे भी विक्षेपकारक ही हैं ॥१८॥

तब बड़े-बड़े सरोवर ही, जिनको दक्षिणपथ में सरसी कहते हैं, अपने तट पर समाधि के कारण होंगे ? इस पर कहते हैं।

दर्प और भय से व्याकुल मौनी मीन एवं मुनियों के स्पर्श से यानी क्रीड़ा, स्नान आदि के अभिघात से कम्पनशील नालदण्डों के कारण चंचल हुए कमलों से युक्त सरोवर तो जलावर्तों के द्वारा शब्द (कल्लोल) करते रहते हैं, अतः वे समाधि के भंग में ही कारण हो जाते हैं, इसलिए मैं उन्हें भी नीरस ही समझता हूँ ॥१९॥

तब झरने की भूमि आपके समाधि में उपयोगी होगी, इस पर कहते हैं।

भद्र, जिसमें वायु के स्पर्श से क्षुब्ध हुए तृण और धूलिरूपी पताकाएँ विद्यमान हैं, ऐसा झरने का प्रदेश भी विक्षेप का निवारण नहीं कर सकता, क्योंकि वह प्रदेश वायु के भाँकार शब्दों से निरन्तर झाँय-झाँय शब्द का रटन करता रहता है ॥२०॥

इन सब बातों से निष्कर्ष यह निकला कि आकाश ही सब विक्षेपों के उत्पादक हेतुओं से रहित है, इसलिए वही शरण है, ऐसा कहते हैं ।

इसलिए मैंने सोचा कि यह चारों ओर से विक्षेपकारणों से रहित आकाश ही मेरी समाधि के लिए परम उपयोगी है, इस आकाश के किसी दूरवर्ती कोने में परम विशुद्ध आनन्दित योगयुक्ति का अवलम्बन कर मैं यहाँ स्थित रहूँ ॥२१॥ इसके किसी एक कोने में कल्पना से एक कुटिया का निर्माणकर उसके भीतर वासनारहित तथा वज्र के उदर के सदृश दृढ़ होकर मैं बैठूँ ॥२२॥ उस प्रकार विचारकर तलवार की धार के समान निर्मल आकाश की ओर मैं जब बढ़ा, तब क्या देखता हूँ कि यह भी पूर्णरूप से हजारों विक्षेप के कारणों से व्याप्त पेटवाला ही है ॥२३॥ कहीं तो सिद्धों का गण घूम रहा है, कहीं पर तो बड़ी-बड़ी भयंकर गर्जनाओं से युक्त मेघमण्डल है, कहीं पर तो विद्याधरों की बैठक जमी है, कहीं पर यक्षों के द्वारा विशिष्ट स्थान पड़ा है ॥२४॥ कहीं पर सुन्दर नगरों के नगर ही घूम रहे हैं, कहीं पर युद्ध का ही आरम्भ हो गया है, कहीं पर मेघ ही बरस रहे हैं, कहीं पर तो रौद्ररूप धारण की हुई योगिनियाँ विद्यमान हैं ॥२५॥ कहीं-कहीं पर आसन्न दैत्यनगरों के कारण गन्धर्वयुक्त देवनगर उड़ रहे हैं, कही पर ग्रहमण्डल घूम रहा है, कहीं पर तो वह तारों से व्याकुल हो रहा है ॥२६॥ कहीं पर तो आकाश में पक्षियों द्वारा आक्रान्त स्थान है, कहीं पर क्रुद्ध भयंकर झंझावात है, कहीं पर उत्पातयुक्त स्थान है, कहीं पर मेघादि मण्डलों से व्याप्त है ॥२७॥ कहीं पर अपूर्व चित्रविचित्र भूतों का समूह (पिशाचसंघ) पड़ा है, कहीं पर नगरों के समूह के समूह पड़े हैं, कहीं पर सूर्य के रथों से आक्रान्त है, कहीं पर तो चन्द्र आदि के रथों के कारण आक्रान्त

बना है ॥२८॥ कहीं पर तो सूर्य की सन्निधि के कारण दाह से प्राणी मर रहे हैं, कहीं पर तो शिशिर ऋतु की शीतता के कारण लोग आक्रान्त है, कहीं पर भूत–प्रेत आदि के कारण बीभत्स प्रतीत हो रहा है, कहीं पर अग्नि की उष्णता से दुर्गम है ॥२९॥ कहीं पर भयंकर लम्बे वेताल हैं, कहीं पर गरुड़ों से भयंकर है, कहीं पर प्रलय लिये मेघ बरस रहे हैं, कहीं पर प्रलय लिये पवन बह रहे हैं ॥३०॥ भद्र, यह सब तमाशा देखकर उन भूतगणों को छोड़कर मैं दूरातिदूर एकान्त स्थान में पहुँचा, जो अत्यन्त विस्तृत तथा शून्य था ॥३१॥

श्रीरामजी, उस प्रदेश में अत्यन्त मन्द पवन बह रहा था, स्वप्न में भी भूतगण वहाँ नहीं पहुँच सकते थे, शुभचिन्ह और अशुभ चिन्हों से रहित तथा संसारियों को वह अगम्य था, यह जान लीजिये ॥३२॥ राघव, उस शून्य प्रदेश में मैंने अपने सत्य संकल्प से एक कुटी का निर्माण किया, उसकी कोठरियाँ बड़ी ही स्वच्छ बनी थी, छिद्ररहित दीवारों के कारण निबिड़ तथा कमल की कली के सदृश वह सुन्दर लगती थी ॥३३॥ वह मनोहर तो ऐसी लगती थी मानों पूर्णचन्द्रबिम्ब में घुनने छेद बना दिया हो, उसे कह्लार, कुन्द और मन्दार के फूलों की शोभाओं से सजाया ॥३४॥ पहले तो मैंने अपने अन्तःकरण से उसकी समस्त भूतों द्वारा अगम्यता बना ली, फिर सब भूतों की अगम्य उस कुटिया में मैं प्रविष्ट हो गया ॥३५॥ तदनन्तर वहाँ मैंने पद्मासन बाँध लिया, मन को शान्त कर लिया और उत्तम मौन व्रत धारण किया । फिर यह निश्चय किया कि मैं एक सौ वर्षों के बाद अपनी समाधि से उठूँगा । यह निश्चय कर निद्रा की मुद्रा के सदृश निर्विकल्प समाधि में स्थित हो गया, उस समय मेरी वृत्ति एक थी, निर्मल आकाश के सदृश मैं अपने स्वरूप में था और ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मैं आकाश से ही वेष्टित हो गया हूँ ॥३६,३७॥

सौ वर्षों के बाद समाधि से व्युत्थान का कारण बतलाते हैं ।

भद्र, दीर्घकाल तक मन जिसका स्मरण करता है, उसको वह तत्काल ही देखता है, इस अकाट्य नियम के अनुसार सौ वर्ष के दीर्घकाल के बाद जब चित् आशा (दिशा) और पवन व्यक्ति के सदृश विशाल हुआ, तब समाधि टूटने में कारण भूत कर्म हृदय में एक समय पैदा हो गया, उस बीजरूप कर्म का भीतरी भाग ढका हुआ था । अनन्तर ज्ञातव्य वस्तु जानकर मेरा जीव समाधि से ऐसे प्रबुद्ध हो गया, जैसे शिशिर में क्षीण शरीर हुए वृक्ष का रस चैत्र मास में (वसन्त में) प्रबुद्ध हो जाता है । वहाँ पर वे मेरे सौ वर्ष एक निमेषमात्र के सदृश व्यतीत हो गये, क्योंकि एकाग्रचितवाले पुरुष के लिए बहुत काल की गतियाँ भी अत्यन्त स्वल्प हो जाती हैं ॥३८–४१॥

उसके बाद क्या हुआ, इसे बतलाते हैं ।

जैसे वृक्षों के मद का यानी पल्लव आदि की पुष्टि के हेतुभूत हर्ष का कारणभूत भीतरी वसन्तकाल का रस पुष्परूप से बाहर आता है, वैसे ही धीरे धीरे विकास प्राप्तकर बुद्धि–इन्द्रियों की परम्परा बाहर की ओर प्रवृत्त हो गई ॥४२॥

उसके बाद क्या हुआ, यह कहते हैं।

तदनन्तर पाँच वृत्तिवाले प्राणवायु से तथा इन्द्रियों से पूर्ण अतएव आविर्भूत जीवरूप चिति–अंश से युक्त देहवाले अभ्यागत मुझको देखकर 'त्वम्' 'अहम्' रूप से प्रसिद्ध अहंकाररूप पिशाच, इच्छारूपी अपनी पत्नी पिशाची के साथ किसी भी अतर्कित प्रदेश से मेरी सन्निधि में ऐसे शीघ्र आ धमका, जैसे उग्र शाल्मली आदि वृक्षों की सन्निधि में ऊँचे वृक्षों को नमन करानेवाला प्रचण्ड पवन आ धमकता है ॥४३॥

छप्पनवाँ सर्ग समाप्त

सत्तावनवाँ सर्ग

ज्ञानी और अज्ञानी के अहंकार के विशेष ज्ञान के लिए ज्ञान से बाधित हुए दृश्यप्रपंच की चिन्मात्रता का समर्थन।

'मां...अहमिति प्रसृतः पिशाचः' इस कथन तथा 'प्रोन्नामसन्नमन वायुरिवोग्रवृक्षम्' इस दृष्टान्तोक्ति से महाराज वसिष्ठ को भी अहंकाररूपी पिशाच द्वारा बाधा पहुँचायी गई, ऐसा हो जाने से ज्ञानफल की अनित्यता की संभावना करते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुने, निर्वाण प्राप्त किये हुए आपको भी क्या अहंकाररूपी पिशाच बाधा पहुँचाता है ? मेरे सन्देह की निवृत्ति के लिए यह मुझसे कहिये ॥१॥

एकमात्र प्रारब्धशेष का भोग ही प्रयोजन होने से जले हुए वस्त्र–जैसे देहधारण के निमित्त केवल अहंकारआभास की प्रतीति होने से अज्ञानियों की तरह ज्ञानियों को संसारबन्धन की प्राप्ति नहीं होती, यह दिखलाने के लिए महाराज वसिष्ठजी अज्ञानी के अहंकार की अपेक्षा तत्त्वज्ञानी के अहंकार में निर्दोषता बतलाते हुए उत्तर देते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, इस संसार मे अहंभाव के बिना तत्त्वज्ञानी और अज्ञानी दोनों की देह–स्थिति नहीं हो सकती, क्योंकि हे श्रीरामचन्द्रजी, आधेय पदार्थ की निराधार स्थिति कभी नहीं उत्पन्न हो सकती ॥२॥ किन्तु इसमें शान्त चित्तवाले ज्ञानी पुरुष के लिए जो यह विशेष बात है, उसे आप सुनिये, जिसके सुनने से आपका अहंभावरूपी पिशाच शान्त हो जायेगा ॥३॥ इस अज्ञानरूपी बालक ने अपने अन्तःकरण में अविद्यमान ही अहंभावरूपी पिशाच की कल्पना कर रक्खी है, अतः इसीसे यानी एकमात्र अज्ञान के वश से ही यह स्थित है ॥४॥

ठीक है, ऐसा ही सही, लेकिन इससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

तत्त्वज्ञानी यदि विचारकर देखे तो अज्ञान भी उसे बिलकुल ऐसे उपलब्ध नहीं होता, जैसे दीपधारी पुरुष को अन्धकार का स्वरूप ॥५॥

तथा ज्ञानवानों को ज्यों–ज्यों अपना अनुभव बढ़ता जाता है त्यों–त्यों क्रमशः अज्ञान का नाश भी होता जाता है, यह कहते हैं।

जैसे-जैसे यह अज्ञतारूपी पिशाचिका अनुभव में आरूढ़ होती जाती है वैसे-वैसे विचारित होकर नष्ट होती जाती है ॥६॥ इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि अविद्या रहने पर ऐसे बारबार अज्ञता उदित होती है, जैसे रात में बुद्धिविभ्रमस्वरूप देह शून्य यक्षी ॥७॥ अविद्या की सृष्टि रहने पर ही उसका अस्तित्व भी है, अन्य किसी दूसरे कारण से कहीं नहीं है । द्वितीय चन्द्रमा के रहने पर ही द्वितीय खरगोश दीख पड़ता है ॥८॥

ऐसा ही सही, पर इससे प्रकृत में क्या आया, इस पर कहते हैं।

अज्ञानी द्वारा ज्ञात यह संसार उत्पन्न न होने से नहीं है, क्योंकि आकाश वृक्ष के समान कारण न रहने से यह पहले से ही उत्पन्न नहीं हुआ है ॥९॥

कारण के अभाव का उपपादन करते हैं।

जब चिदाकाश कोश के भीतर स्थित आदि सृष्टि ही निर्विकार ब्रह्मरूप है तब पृथिवी आदि की प्राप्ति का कौन-सा कारण हो सकता है ?॥१०॥ मन को लेकर छः इन्द्रियों से ज्ञात न होनेवाला निराकार ब्रह्म मनयुक्त छः इन्द्रियों से ज्ञात होनेवाले साकार जगत् का कारण कैसे हो सकता है ? ॥११॥ बीजरूप कारण से अंकुररूप कार्य उत्पन्न होता है, इसमें तो तनिक भी सन्देह नहीं है । फिर जहाँ पर बीजरूप कारण है ही नहीं, वहाँ पर अंकुर कैसे उत्पन्न होगा ? ॥१२॥ कारण के बिना कार्य नहीं होता, यह तो सभी को विदित है । आकाश में लहलहा रहे प्रत्यक्ष वृक्ष का किसने कब अवलोकन या ग्रहण किया है ? ॥१३॥

यदि वह सृष्टि उत्पन्न ही नहीं है, तो फिर कौन उस रूप से भासता है, उसको दृष्टान्तपूर्वक बतलाते हैं।

जैसे संकल्प द्वारा आकाश में वृक्ष आदि दिखाई देते है, वैसे ही संकल्पमय यह संसार भी है। इसमें वस्तुतः पदार्थता नहीं है ॥१४॥ एवं सृष्टि के आरम्भकाल में जो यह अर्गलाशून्य सृष्टि की स्थिति चिदाकाश में अनुभूत होती है, वह भी आकाश में शून्यरूप वृक्षादि के सदृश ही है ॥१५॥

तब क्या एकमात्र शून्य ही सृष्टिरूप से भासित होता है, इस पर नहीं यह उत्तर देते हैं ।

विषयसृष्टि के आकार से रहित चिदाकाश ईश्वर ही अपने स्वभाव में सृष्टिरूप से स्फुरित होता है । सर्गनामक चितिस्वभाव ही चिद्रूप होने के कारण ईश्वर चैतन्य है, इसलिए चिति ही सृष्टिरूप से भासित होती है, न कि शून्य॥१६॥

अविकृत ब्रह्म ही विकृत जगद्रूप से जो स्फुरित होता है उसमें, स्वप्न का स्वात्मा ही दृष्टान्त है, यह कहते हैं ।

प्रतिदिन जो अनुभूत होता है वह स्वप्न-सर्ग ही इस विषय में दृष्टान्त है, क्योंकि स्वप्न के विषयों में स्वयं आत्मा ही पर्वत, नगर आदि की आकृतियों में स्फुरित होता है ॥१७॥ जैसे यहाँ स्वप्न में जो सृष्टि-सा प्रतीत होता है वह चित्स्वभाव सृष्टिरहित स्वात्मा में ही विद्यमान है वैसे ही

यहाँ ज्ञान से पूर्व सर्ग–सा जो प्रतीत होता है वह सर्गशून्य चित्स्वभाव महाचिदाकाश में ही प्रतीत होता है ॥१८॥ सृष्टि के प्रारम्भ में विषयज्ञानशून्य, शुद्ध, एक, अज, अव्यय आदि और अन्त से शून्य जो परमात्मा स्थित है वही हमारा सर्गरूप से स्थित है ॥१९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, परब्रह्म परमात्मा में यह सृष्टि नहीं है और न ये पृथिवी आदि लोक ही हैं । सब शान्त, अवलम्बनशून्य एकमात्र ब्रह्म ही ब्रह्म में स्थित है ॥२०॥ सर्वशक्तिसम्पन्न वह ब्रह्म जैसे जिस तरह का स्फुरित होता है, वह अपने तुच्छरूप का परित्याग न करते हुए वैसे उस तरह का हो जाता है ॥२१॥ जैसे स्वप्न का नगर प्राणी के लिए चिन्मात्र का विलास ही है । वैसे ही सृष्टि के प्रारम्भ में यह सृष्टि भी शुद्ध चिन्मात्र का विलास ही हैं ॥२२॥ स्वच्छ चिद्रूप परमाकाश में जो चिदाकाश स्थित है उसी ने अपने स्वभाव की सृष्टिरूप में भावना की है वही यह सृष्टि है अर्थात् चिद्रूप जो ब्रह्म है उसका स्वभाव ही यह सृष्टि है ॥२३॥

भाव्य, भावक आदि त्रिपुटी भूमियों की एक रस में उत्पत्ति कैसे, इस पर कहते हैं।

भाव्य, भावक और भाव आदि भूमियों की जो निरन्तर उत्पत्ति है, वह सब स्वच्छ चिदाकाश ही अपनी आत्मा में स्थित है ॥२४॥ ऐसा स्थित होने पर कहाँ से सृष्टि, कहाँ से अविद्या, कहाँ अज्ञता और कहाँ अहंकार आदि स्थित हैं सब शान्त चिद्घन ब्रह्म ही स्थित है ॥२५॥

अज्ञान रहने पर ही अहंभाव बाधा पहुँचाता है, ज्ञान होने पर नहीं, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह मैंने आपसे यह अहंकार की शान्ति कही । यह अहंकार भलीभाँति ज्ञात होने से बालकल्पित पिशाच की तरह शान्त हो जाता है ॥२६॥

इससे आपके प्रश्न का समाधान हो गया, यह दिखलाते हैं।

इस तरह जब इस अहंकार को मैं पूर्णतया जानता हूँ, तब हे श्रीरामचन्द्रजी यह रहनेपर भी मेरे लिए शरत्काल के मेघ के सदृश निष्फल ही रहता है ॥२७॥ चित्रलिखित अग्नि में अध्यस्त दहन क्रिया जैसे दाह्य वस्तुओं में निष्फल होती है, वैसे ही अहंभाव की सृष्टि आदि भी पूर्णरूप से ज्ञात होने पर निष्फलता को प्राप्त होती है ॥२८॥ इस प्रकार समाधिकाल में अहंकार के त्याग तथा व्यवहारकाल में उसके राग में जब मेरी समता है तब सृष्टि की विद्यमान तथा अविद्यमान दशा में मेरी स्थिति ऐसी है, जैसी मेघ, वायु तथा धूप आदि से अवकाशशून्य आकाश की ॥२९॥

एकमात्र सम्बन्धत्याग से भी यह अहम्भाव पीड़ा नहीं पहुँचाता, फिर ज्ञान से बाधित हो जाने पर तो पूछना ही क्या, इस आशय से कहते हैं।

न तो कोई मैं अहंकार का हूँ और न यह अहंकार ही मेरा कुछ लगता है । यों जानकर हे श्रीरामचन्द्रजी, इस सम्पूर्ण संसार को आप निर्घन चिदाकाश ही जानिये ॥३०॥ यह अहंभावादि बोधविभ्रम जिस तरह मेरी दृष्टि में नहीं है, वैसे ही तत्त्वज्ञानी और महानुभावों की दृष्टि में यहाँ नहीं है, जैसे कि चित्रगत अग्नि में दाहक्रिया किसी भी विद्वान् पुरुष की दृष्टि में नहीं है ॥३१॥

आप भी मेरे समान ही भीतर से सबका बाध करके अद्वितीय बन जाइये, यह कहते हैं।

वास्तव में तो न मैं हूँ, न कोई अन्य है और न यह सब दृश्य प्रपंच ही है, ऐसा निश्चय करके हे श्रीरामचन्द्रजी, आप भी प्रकृत व्यवहार का सम्पादन करते हुए पत्थर के समान मौनमय हो जाइये ॥३२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, चिरकाल के लिए सम्पूर्ण भावों का अपह्नव करके अवकाशरहित पत्थर के सदृश बनकर आकाशकोश की तरह निर्मल-आकार से ही आप अपने स्वरूप में स्थित रहिये, क्योंकि इस तरह निश्चित है कि इस सृष्टिकाल में तथा इस सृष्टि के पूर्वकाल में सब कुछ चिन्मय शिव ही स्थित है । इस प्रकार से जो दृश्यप्रपंच दिखाई दे रहा है वह सब कुछ नहीं है ॥३३॥

सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठावनवाँ सर्ग

सम्पूर्ण सृष्टि की शोभा सभी जगह है और नहीं भी है,
इस प्रकार का जो पाषाणाख्यायिका का अर्थ है, उसका दृष्टि भेद से वर्णन।

प्रासंगिक जो जीवन्मुक्त पुरुष के अहंकार की अबाधकता थी, उसका समर्थन किया गया, अब प्रकृत 'सर्वत्र सर्वथा सर्वम्' (सब जगह सब प्रकार से सब कुछ है ।) इस अर्थ की पाषाणाख्यायिका द्वारा जो प्रतिज्ञा की थी, उसे पूछने के लिए भूमका बाँधते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, अहो, आपने मेरे उत्कर्ष के लिए फिर एक दृष्टि का (विज्ञान का) उपदेश दिया, यह विज्ञान व्यापक और महान् उदार है, विमल है, विपुल और अचल है ॥१॥ भगवन्, सब कुछ सब जगह सभी प्रकार से सत् है और सब कुछ सब जगह सदा ही सत् है-यह जो विषय प्रस्तुत हुआ था उसका अच्छे अनुभव से यदि विचार किया जाय, तो सम, अविषम एवं एकरस ही पर्यवसित (सिद्ध) होता है, अतः सत्यस्वरूप ही है, क्योंकि जितने धर्म या धर्मी हैं, उनका देश, काल और वस्तुरूप से यदि सर्वात्मकता बन जाय, तो भेद और भेदकत्व आदि की सिद्धि नहीं हो सकती ॥२॥ ब्रह्मन्, अब इस विषय में मुझे जो यह सन्देह है, इसका निवारण कीजिए । भगवन्, यह पाषाणाख्यान किस अंश की समानता लेकर कहा गया है ? व्यावर्तक यानी भेद के हेतु धर्मों से युक्त पदार्थों का ही साधारण धर्म से सादृश्य माना जाता है, यह प्रसिद्धि है, अतः सन्देह का होना स्वाभाविक है ॥३॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, 'सब कुछ सर्वदा सभी जगह है', यह जो प्रतिपादन करना है, इसी अर्थ में पाषाणाख्यायिका का दृष्टान्त दिया गया है, इसका किस तरह सादृश्य घटता है, इसे मैं आपसे कहता हूँ ॥४॥

पाषाणाख्यायिका का मैंने इसलिए आरम्भ नहीं किया है कि हमको पाषाण की समानता

या सब धर्मों का संकर कहना है, किन्तु पाषाण–उदर के अध्यास का अधिष्ठानभूत जो ब्रह्म है, उसमें असंकीर्णरूप से सब जगत् का अध्यास हो सकता है, यों संभावना बतलाने के लिए उक्त दृष्टान्त का उपन्यास है, यह कहते हैं ।

छिद्रों से रहित, अत्यन्त घनीभूत अवयवोंवाले पाषाणोदर में (पाषाणोदराध्यास के अधिष्ठान चेतन में) भी हजारों सृष्टियाँ हैं, यह प्रस्तुत पाषाणाख्यान के द्वारा बतलाया गया है ॥५॥

अथवा भावपदार्थों के उदराधिष्ठानभूत चेतन में जिस तरह हजारों सृष्टियों का सम्भव है, उसी तरह शून्यात्मक आकाशरूप अभावाधिष्ठान चेतन में भी असंकीर्ण रूप से समस्त जगत् का आरोप संभव है, इस आशय से कहते हैं ।

आकाश की शून्यता को न छोड़नेवाले महान् भूताकाश में यानी अभावाधिष्ठानभूत चेतन में भी हजारों सर्गों का आरोप हो सकता है, यह बतलाने के लिए प्रस्तुत कथा कही गई है ॥६॥

इस न्याय की सर्वत्र योजना करनी चाहिए, इस आशय से कहते हैं ।

गुल्म, अंकुर आदि तथा प्राण, वायु, जल, तेज आदि के उदर में (अधिष्ठान आत्मा में) हजारों सर्ग हो सकते हैं, इस अर्थ को बतलाने के लिए पाषाणाख्यान कहा गया है ॥७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुने, दीवार, पाषाण आदि के उदर चेतन में अनेक सर्गों का आरोप है, यही अभिप्राय यदि पाषाणाख्यायिका से बतलाया जाता है, तो मैं कहता हूँ कि इसकी अपेक्षा यही अभिप्राय क्यों नहीं बतलाया जाता कि शुद्ध चिदाकाश में हजारों सृष्टियों का आरोप है । तात्पर्य यह है कि दीवार आदि भाव और शून्यात्मक आकाशादि अभाव पदार्थों से युक्त चेतन में सभी सर्गों का आरोप असंकीर्णरूप से हो सकता है, यह यदि आपकी आख्यायिका का अभीष्ट अर्थ है, तब शुद्ध चिदाकाश में सब जगत् का अध्यास है, यही पक्ष क्यों मान न लिया जाय, जिससे कि अध्यस्त जगत् का बाध हो जाने पर शुद्ध ही बच जाता है, यह दूसरी बात भी अनुकूल हो, इस प्रकार की श्रीरामभद्र की आशंका है ॥८॥

ठीक है, आपने जिस पक्ष का शंका में उल्लेख किया है, ठीक यही पक्ष मुख्यरूप से मुझे भी अभिप्रेत है, परन्तु विशुद्ध चिदाकाश का सहसा परिचय हो नहीं सकता, इसलिए परिचयोपायरूप से प्रत्येक भावादि–उपहित चेतन में भी समस्त जगत् का अध्यास (आरोप) है, यह मैंने बतलाया है, इस आशय से उत्तर देते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, तत्–तत् पदार्थों से उपहित प्रत्येक चेतन में समस्त जगत् का आरोप है, यों कहते हुए मैंने आपसे वस्तुतः मुख्य चेतन में समस्त जगत् का आरोप है, इसी का वर्णन किया है, इसलिए जो यह सृष्टि दिखाई पड़ती है, वह चिदाकाश में चिदाकाशात्मक ही स्थित है ॥९॥

यों जब ब्रह्ममात्रता ही है, तब दृश्य की अनुत्पत्ति ही फलित हुई, यह कहते हैं ।

श्रीरामभद्र, परमार्थदृष्टि से दृश्य पहले ही उत्पन्न नहीं हुआ है और आज भी नहीं है, परन्तु जो इसका अवभास होता है, वह ब्रह्म में स्थित ब्रह्म ही है ॥१०॥

आरोपदृष्टि से भूतों के प्रत्येक परमाणु में सबका आरोप कर सब कुछ देखा जा सकता है और अपवाददृष्टि में उससे विपरीत भी देखा जा सकता है, इस आशय से कहते हैं।

जो पृथ्वी सृष्टियों से गाढ़भरित (खूब भरी हुई) न हो, ऐसी अणुमात्र भी नहीं है यानी सारी पृथ्वी सृष्टियों से एकदम खचाखच भरी हुई ही है और सृष्टि भी कहीं नहीं है, किन्तु जो है, वे सब ब्रह्माकाशरूप ही है । आरोपदृष्टि से पृथ्वी के प्रत्येक परमाणु में सर्ग के सर्ग भरे पड़े हैं तथा अपवाद दृष्टि में न कोई परमाणु है और न उसमें सर्ग ही भरे पड़े हैं, केवल ब्रह्माकाशमात्र है ॥११॥ ऐसा तेज का कोई भी अणु नहीं है, जिसमें सर्गों की स्थिति न हो और वास्तव में तो कहीं पर भी सर्ग नहीं है, किन्तु सर्गरूप से भासमान सब ब्रह्माकाशमात्र है ॥१२॥ ऐसा वायु का कोई भी परमाणु नहीं है,जो सर्गों सो भरा न हो और वे सर्ग भी वास्तव में नहीं हैं, किन्तु वे ब्रह्माकाशमात्र ही हैं ॥१३॥ अणुमात्र भी आकाश सृष्टियों से रहित हो, ऐसा नहीं है, किन्तु सब सृष्टियों से परिपूर्ण है और वे सृष्टियाँ भी नहीं है, किन्तु वे ब्रह्माकाशमात्ररूप ही हैं ॥१४॥ ऐसे मिले हुए पंचमहाभूत भी नहीं हैं, जो सर्गों से परिपूर्ण न हों, किन्तु सर्गों से परिपूर्ण हैं और कहीं सर्ग भी नहीं हैं, किन्तु वे केवल चिदाकाश रूप ही हैं ॥१५॥ पर्वतों का भी ऐसा कोई अणु नहीं है, जो सर्गों से भरा पड़ा न हो, किन्तु सभी परमाणु सर्गों से भरे पड़े हैं और उनमें कहीं भी सर्ग वास्तव में नहीं हैं, केवल ब्रह्मरूप ही वे हैं ॥१६॥ सूक्ष्मभूतरूप उपाधि से युक्त हिरण्यगर्भ का भी ऐसा कोई अणु नहीं है, जो सृष्टियों से भरा हुआ न हो, लेकिन उसमें भी वही स्थिति है । वास्तव में तो उनमें कहीं भी सर्ग नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही ब्रह्म है ॥१७॥ हिरण्यगर्भ के निर्मित संसारों में ऐसा कोई सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग नहीं हैं, जो सदा ब्रह्मरूप ही न हो, किन्तु सदा से ही वे सब ब्रह्मस्वरूप है, इसलिए ब्रह्म तथा सर्ग यह केवल वाणी में ही भेद है, वस्तु में भेद नहीं है ॥१८॥ जैसे अग्नि एवं सूर्य की उष्णता में कोई परस्पर भेद नहीं है, किन्तु उष्णता और अग्नि या सूर्य एकरूप ही हैं, वैसे ही जो सर्ग हैं, वे परब्रह्म ही हैं और परब्रह्म ही सर्ग हैं, इनमें तनिक भी भेद नहीं है, किन्तु एकरूप ही हैं ॥१९॥ भद्र, ये सर्ग और ब्रह्म आदि जो शब्द हैं, उनके विषय में यदि विचारा जाय, तो अर्थ से शून्य होकर अत्यन्त अनिर्वचनीय वस्तु का बोध करानेवाले उस तरह दिखाई देते हैं, जिस तरह कुठार से चिरे जानेवाले काठ में उसके बोधक जो भिन्न-भिन्न शब्द हैं, वे पृथक् अर्थशून्य होकर केवल काठ वस्तु को बोध कराते दिखाई देते हैं । इसका गम्भीर भाव यह है कि पहले सर्ग शब्द और ब्रह्मशब्द के ऊपर विचार कर लेना चाहिए कि असल में उनसे क्या अर्थ निकलता है । सर्जन क्रिया के कारण सर्ग शब्द है और बृंहण यानी वर्धन क्रिया के

कारण ब्रह्मशब्द है । सर्जन और वर्धन में तो कोई परस्पर भेद नहीं है, अतः ब्रह्म और सर्ग आदि में भी भेद कैसे हो सकता है, अब इन सर्ग और ब्रह्मशब्द में भेद करनेवाला जो आनुपूर्वी आदि धर्म है, वह भी असल में तो कोई चीज है नहीं, अतः उससे रहित सर्ग और ब्रह्म आदि शब्द लक्षणा से किसी अनिर्वचनीय अर्थ का ही बोध कराते है । अपितु क्रिया भी क्रियावान् के स्वरूप से अलग नहीं है, यदि कहें कि क्रिया और क्रियावान् एक नहीं हैं, किन्तु एक आधार और दूसरा आधेय है, अतः इसका भेद है, तो यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इनके आधाराधेय भाव का निरूपण आप कर ही नहीं सकते । ऐसी परिस्थिति में कुठार से विदीर्ण होनेवाले काठ में जो–जो काठ के लिए प्रसिद्ध शब्द हैं, वे सब पृथक् अर्थ से शून्य होकर जैसे एक ही अर्थ के प्रतिपादक भासते हैं अथवा विदार्य (विदीर्ण करने योग्य) और दारु (विदीर्ण होनेवाला) ये दो शब्द जैसे पृथक् अर्थ से शून्य होकर अभेदार्थ के ही प्रतिपादक हैं, वैसे ही सर्ग और ब्रह्म आदि शब्द भी एकार्थ के यानी ब्रह्मार्थ के ही प्रतिपादक हैं ॥२०॥

परमार्थदशा में सर्ग और ब्रह्म आदि शब्दार्थों का भेद भले ही न हो, क्योंकि उस दशा में द्वैत और ऐक्य रहता ही नहीं । परन्तु व्यवहारदशा में तो ब्रह्म एक है और सर्ग अनेक हैं, अतः ब्रह्म और सर्ग शब्दों का भिन्न अर्थ होने के कारण वे भिन्नार्थक क्यों नहीं होंगे, इस पर कहते हैं ।

भद्र, जिस व्यवहारदशा में द्वैत और एकत्व विद्यमान है, उस दशा में भी सर्ग और ब्रह्मशब्द के अर्थ तो तनिक भी नहीं भासते, क्योंकि इस पर प्रश्न यह होगा कि क्या द्वैतात्मक द्रष्टा को वे अर्थ भासते हैं, या अद्वैतात्मक द्रष्टा को ? प्रथमपक्ष तो अयुक्त है, क्योंकि अज्ञानी द्वैतात्मक द्रष्टा को वे किसी हालत में भी नहीं दीख पड़ेंगे । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि उस पक्ष में अद्वैतात्मक वस्तु को वे किसकी तरह दीख पड़ेंगे, कौन किस स्वभाव के मालूम पड़ेंगे, यह कहना होगा, परन्तु यह कह नहीं सकते, क्योंकि अद्वैत स्थिति में भान और भासित होनेवाले में कोई भेद नहीं कहा जा सकता ॥२१॥

अतएव तत्त्ववेत्ताओं के लिए व्यवहारकाल में भी वह वैसा ही रहा है यह कहते हैं ।

हे प्रिय श्रीरामजी, व्यवहार कर रहे ज्ञानी के लिए भी यह सब कुछ शान्त, एक, आदि–अन्तरहित, स्वच्छ, निर्विकार, शिला के सदृश अतिघन, मौन ब्रह्मरूप ही रहता है, तनिक भी उससे पृथक् या भिन्न नहीं रहता ॥२२॥

वर्णित पाषाणाख्यायिका का जो तात्पर्य है, उसका उपसंहार करते हैं ।

हे श्रीरामजी, यह समस्त दृश्य निर्वाणरूप एवं चिदाकाशरूप ही है । आप, हम, पर्वत, सुर, असुर आदि भी तद्रूप ही हैं । भद्र, जगत् भी आप वैसा ही आत्मरूप समझिए, जैसा जागने के बाद जन्तु के मन में स्वप्न में देखा गया व्यवहार, स्मृति में आने पर भी, आत्मरूप है ॥२३॥

अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त

उनसठवाँ सर्ग

उक्त एकान्तशून्य प्रदेश में समाधि टूट जाने पर वसिष्ठजी को सूक्ष्म ध्वनि का श्रवण और ध्वनिश्रवण के कारण के अन्वेषण के लिए ध्यान करने पर अनन्त कोटि जगत् का ज्ञान होना- वर्णन।

इस तरह पिछले दो सर्गों से प्रासंगिक प्रश्नविषय का निरूपण हो जाने पर अब श्रीरामजी आख्यायिका का अवशिष्ट भाग सुनने के लिए पूछते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : हे मुने, उस आकाशकोश की कुटिया से सौ वर्ष के बाद आपका ध्यान टूट जाने के अनन्तर कौन-सी जानने लायक बात हुई, यह मुझसे कहिए ॥१॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र उस ध्यान से जब मैं जग गया, तब मैंने वहाँ एक ध्वनि सुनी, वह अत्यन्त लुभावनी थी, उसके शब्द अत्यन्त विस्पष्ट नहीं थे, क्योंकि उसमें न तो कोई पदार्थ प्रतिपादन की सामर्थ्य थी और न वाक्यार्थ प्रतिपादन की ही सामर्थ्य थी ॥२॥ किसी स्त्री के कण्ठ से उत्पत्ति जनित स्वभावविशेष से मानों यह ध्वनि मृदु, मधुर और अनुकरणनशील प्रतीत हो रही है, ऊँची भी नहीं है, अतएव वह कहीं दूर से नहीं सुनाई देती अर्थात् पास की ही है, यों उस ध्वनि के विषय में मैंने अनुमान किया ॥३॥ भद्र, वह भ्रमर की ध्वनि के सदृश थी, वीणा के झंकार के सदृश मनुष्य को लुभानेवाली थी । वह शब्द न तो कोई बालक का रुदन था और न कोई प्रौढ़ व्यक्ति का पठन ही था । हाँ, कमल के बिसकोश में प्रसिद्ध भ्रमरों के गुंजन के सदृश वह अवश्य था ॥४॥ उसे सुनकर वहाँ मुझे बड़ा ही विस्मय हुआ । उक्त शब्दकर्ता के अन्वेषण के निमित्त से मैंने दसों दिशाएँ देख डालीं बाद में मैं यह सोचने लगा ॥५॥ 'जिन मार्गों में सिद्ध पुरुष ही संचरण कर सकते हैं, उनसे भी शून्य जो लाखों योजन दूर हैं, उनको भी लाँघकर यह आकाश का ऊर्ध्वतम भाग स्थित है ॥६॥ इसलिए इस एकान्त स्थान में स्त्रीवाक्य के सदृश ऐसे शब्द का संभव कैसे होगा और बड़े यत्न से देखता हूँ, तो भी मैं शब्द करनेवाले को नहीं देख पाता ॥७॥ मेरे सामने विद्यमान यह जो निर्मल आकाश है, वह तो असीम और चारों ओर से शून्यरूप ही है। बड़े यत्न से मैं देख रहा हूँ, तो भी कोई प्राणी दिखाई नहीं देता ॥८॥ उस तरह विचारकर बार-बार चारों ओर खूब देखा, परन्तु जब शब्द करनेवाले का दर्शन नहीं हुआ, तब इस तरह विचारने लगा ॥९॥ 'मैं सबसे पहले उपाधि का परित्यागकर चिदाकाशरूप हो जाऊँ, तदनन्तर चिदाकाश में अध्यस्त अव्याकृत आकाश के साथ एकरूप बन जाऊँ फिर अव्याकृत आकाश के कार्य भूताकाश के गुण शब्दों और उनके अर्थों का उसीमें अनुभव करूँ ॥१०॥ अभी मैं ध्यान के प्रभाव से यहाँ पर यथास्थित देहाकाश को यहीं आकाश में छोड़कर चिदाकाशरूपी शरीर धारणकर वैसे अव्याकृत आकाश के साथ एकरूप बन जाता हूँ, जैसे जलबिन्दु साधारण जल के साथ एकरूप बन जाता है ॥११॥ भद्र,

उस तरह विचारकर पद्मासन में स्थित हुआ और शरीर को छोड़ने के निमित्त समाधि लगाने के लिए मैंने फिर अपनी आँखें मूँद लीं ॥१२॥ अनन्तर इन्द्रियों सम्बन्धी बाह्य अर्थों का स्पर्श तथा अन्तःकरण के विषयों का स्पर्श त्याग दिया, अधिक क्या कहें, मन्तव्य आदि का भी परित्याग कर दिया, फिर मैं एकमात्र संवित्स्पन्दनरूप चित्ताकाश बन गया ॥१३॥ इसके बाद उनका भी क्रमशः परित्यागकर बुद्धितत्त्व के स्थान में पहुँच गया, फिर उसका भी त्यागकर चिदाकाशरूप वास्तविक स्वरूप में पहुँच गया और वहाँ पहुँचकर अपनी आत्मा में अध्यस्त समस्त जगत् के प्रतिबिम्बों का एक दर्पणरूप बन गया ॥१४॥ भद्र इसके बाद उसी चित्स्वभाव से मैं भूताकाश के साथ एकरूप ऐसे बन गया, जैसे सामान्य जल के साथ समुद्रादिजल या सामान्य सौरभ के साथ कमलादि सौरभ एकरूप बन जाता है ॥१५॥

उस भूताकाश में भूताकाश के कार्यभूत समस्त सृष्टियों का अवलोकन करने के लिए चिदाकाश के साथ अभेदकल्पना कहते हैं ।

तदनन्तर मैं चितिरूप महाकाश के साथ अभेदसम्बन्धी कल्पना कर असीम और सर्वगामी बन गया । असंग–अद्वयरूप होने के कारण अनाकार और अनाधार होता हुआ भी सर्वाधारयोग्य भूताकाश के साथ अभिन्नता से सब पदार्थों का आधारभूत बन गया ॥१६॥ भूताकाश की अवस्था को प्राप्त चिदाकाश में मैं तीनों लोकों के झुण्डों को, सैकड़ों संसारों को और लाखों अगणित ब्रह्माण्डों को देखने लगा ॥१७॥ ये सब सर्ग अव्याकृत निर्मल आकाशमात्ररूप थे, इसलिए एक दूसरे की दृष्टि से छिपे थे । उनमें अनेक तरह के आचार और अनेक तरह के विचार थे एवं परस्पर वे शून्यरूप थे ॥१८॥

इसमें दृष्टान्त देते हैं ।

एक समय सोये हुए पुरुषों के लिए वे सृष्टियाँ स्वप्नरूप थी, एक दृष्टि से बड़े–बड़े समारोहों से पूर्ण थी, तो दूसरे की दृष्टि से उत्तरोत्तर विमर्दित थी अतएव परस्पर शून्य अशून्यरूप थी ॥१९॥ उनमें कुछ तो उत्पन्न हो रही थी, कुछ नष्ट हो रही थी, कुछ तेजी से बढ़ रही थी, कुछ विद्यमान थी, कुछ अतीत थी और बहुत–सी भविष्यकाल के गर्भ में थी ॥२०॥ श्रीरामजी, उनके विषय में क्या वर्णन करूँ, कुछ तो अनेक चित्रों से शोभित, कुछ बड़ी–बड़ी दीवारों से युक्त, कुछ दीवारों से रहित और कुछ मनुष्यों द्वारा अपने मन से ही उग्र राजों से आक्रान्त बनाई गई थी ॥२१॥

स्वप्न में देखी गई सृष्टियों में तो ब्रह्माण्डों के आवरण और उनकी संख्या का कोई नियम ही नहीं है, क्योंकि जिसको जितनी वासना हुई, उसके प्रति उतनी ही सृष्टि कल्पित होती है, इस आशय से कहते हैं ।

कुछ सृष्टियाँ तो आवरणात्मक पदार्थों से रहित थी तथा कुछ एक आवरणवाली ही थीं । किन्हीं में पाँच आवरण थे, किन्हीं में सात आवरण थे, किन्हीं में दस आवरण थे, किन्हीं में सोलह

आवरण थे, किन्हीं में चौबीस आवरण थे, किन्हीं में छत्तीस आवरण थे, कुछ आकाशरूप आवरण से आवृत थी (📖) ॥२२,२३॥ कुछ शून्य-आकाशरूप ही थीं, कुछ भूतों से भरी थीं, कुछ पाँच भूतरूप ही थीं, कुछ तो एक-एक पृथ्वी आदि भूतवाली थीं, कुछ पृथ्वी आदि चार भूतोंवाली ही थीं ॥२४॥ किन्हींमें पृथ्वी, जल, तेज ये तीन ही थे, किन्हीं में कोई और ही भूत थे, किन्हीं में तो पृथ्वी और जल ये दो ही थे, किन्हींमें सात भूत (काल और दिशा को भूत मानकर) थे तथा किन्हीं में एकजाति के ही सब पदार्थ थे ॥२५॥

सिद्ध, विद्याधर आदि की जो चित्र-विचित्र कल्पनाएँ हैं, उनकी तो मनुष्य बुद्धि से संभावना भी नहीं हो सकती, इस आशय से कहते हैं।

भद्र, कुछ तो मैंने ऐसे सूक्ष्म चित्र-विचित्र परिणामवाले भूतों से युक्त संसार देखे कि उन परिणामों की आप अपने अनुभव के विस्तार से संभावना भी नहीं कर सकते । कुछ तो निरन्तर अन्धकार से व्याप्त और सूर्य आदि से रहित थे ॥२६॥ कुछ सर्ग तो सुषुप्ति और प्रलयों से ही भरपूर थे यानी सुषुप्ति-प्रलयमय थे, किन्हीं में केवल हिरण्यगर्भ ही विराजमान थे और कुछ में प्रजापति और उनके अंशभूत देवताओं का चित्र-विचित्र आचरण देखते ही बनता था ॥२७॥

इसी अर्थ का विस्तार करते हैं ।

किन्हींमें विराग पैदा करनेवाले वेदादि शास्त्र थे और किन्हीं में वेदादि शास्त्र नहीं भी थे तथा किन्हीं में उदुम्बर के कीट के सदृश समारम्भवाले देवता ही प्राणी थे ॥२८॥ कहीं पर कलि का आरम्भ हो जाने के कारण वेदादि शास्त्रों का उच्छेद हो गया था, इसलिए ब्राह्मण आदि जातियाँ अपनी केवल परम्परा से ही कुछ संकेतों से अपना आचरण करती थीं । कुछ निरन्तर प्रकाशमय थे और कुछ प्रज्वलित अग्नियों से पूर्ण थे ॥२९॥ कुछ सृष्टियाँ केवल जल से ही भरी थीं, कुछ केवल वायु से ही भरपूर थीं, कुछ परमाकाश में निश्चल थीं, कुछ रात-दिन चलती-फिरती थीं ॥३०॥ कुछ उत्पन्न हो रही थीं, कुछ वृद्धि प्राप्त कर रही थीं, कुछ चारों ओर से खूब पुष्ट हो रही थी, कुछ टेढ़ी जा रही थीं और कुछ अन्य परिपूर्ण भोग्य पदार्थों से भरी थीं ॥३१॥ किन्हीं में केवल देवताओं की ही सृष्टि थी, किन्हीं में अधिक केवल मनुष्य ही थे, किन्हीं में अधिकता दैत्यों के समूहों की थी और कुछ तो कीटों से ही नीरन्ध्र थीं ॥३२॥ कहीं पर कदलीस्तम्भ के दल के सदृश प्रत्येक परमाणु के भीतर, उसके भीतर के भी भीतर कल्पित अपने कोश में अनेक जगत् उत्पन हो रहे थे और कुछ उत्पन्न भी हो चुके थे ॥३३॥ सैनिकों के स्वप्नों के सदृश उत्पन्न हुए बड़े भी कुछ सर्ग एक दूसरे से छिपे थे और किन्हीं का परस्पर अनुभव भी नहीं हो रहा था ॥३४॥ कुछ तो भिन्न-भिन्न तरह की सृष्टियाँ थी, कुछ असीम थीं, कुछ स्वच्छ आकाश के सदृश निर्मल थीं, किन्हीं में भिन्न-भिन्न क्रिया-कर्म थे और कुछ विषम स्थितिवाली थीं ॥३५॥ कुछ सर्ग ऐसे थे, जिनमें दूसरे से मेल न

(📖) एक पदार्थवादी आदियों के मतों से कहा गया है ।

खानेवाले भिन्न-भिन्न शास्त्र थे, कुछ परस्पर अनन्त अवयव एक-से थे, कुछ का स्मरण होने पर एक दूसरे एकरूप ही मालूम होते थे ॥३६॥ कुछ सृष्टियाँ ऐसी थीं, जिनमें एक दूसरी सृष्टि के लिए परलोक बन जाती थी यानी एक में मरकर पुरुष दूसरी सृष्टि में जाता था । कुछ सृष्टि ऐसी थीं, जिनमें एक सृष्टि के प्रति दूसरी सृष्टि सिद्ध नगररूप बन जाती थी । किन्हीं सृष्टियों में अलग-अलग स्वरूप के महाभूत थे और कहीं पर दिशाएँ एवं पर्वत भिन्न-भिन्न रूप के थे ॥३७॥

इसीलिए अन्यवस्तु का अन्यत्र वर्णन करने पर अपरिनिष्ठित बुद्धिवालों की दृष्टि में ये अगम्यता के कारण असमंजसरूप भासते हैं, यह कहते हैं।

आपके-जैसे पुरुषों के अनुभव और प्रयत्न के अविषय जो पदार्थ हैं, वे यदि सामने आ जायें और मेरे-जैसे पुरुष उनका वर्णन करें, तो भी उनका स्वरूप असमंजस ही लगेगा, यानी उनके स्वरूप का ज्ञान बिनअनुभवी पुरुष को हो ही नहीं सकता, ऐसे भी पदार्थ कहीं पर थे ॥३८॥

तब तो ऐसे पदार्थ आपके सदृश पुरुषों के उपदेश से ज्ञात हो जायेंगे, इस पर कहते हैं।

भद्र, चैतन्यरूपी सूर्य के किरणमण्डल में परमाणुओं के सदृश अत्यन्त सूक्ष्मरूपवाले पर सर्ग प्रसिद्धि को प्राप्त किये हुए थे (ॐ) तथा कहीं पर तो मोक्षलक्ष्मी के कुण्डलरूप अव्याकृत आकाश और भूताकाश में चित्र-विचित्र रत्नरश्मिजाल की अधिकता से चमकीले सर्ग थे, इसलिए उपदेश से भी उनका ज्ञान होना कठिन समझिए ॥३९॥ कुछ सर्ग तो ऐसे देखे कि वन के पत्तों के सदृश वे ही फिर सद्रूप उत्पन्न हो होकर नष्ट होते जाते थे और फिर उत्पन्न होते जाते थे एवं कुछ उन्हीं के सदृश ही उत्पन्न होते थे ॥४०॥ भद्र, कुछ सर्ग ऐसे थे कि एक ही चिति में सबका अध्यास होने के कारण पृथक् अस्तित्व न रखने से सदृश होते हुए भी असदृश ही थे और सदृश भी होते हुए कुछ समय तक अत्यन्त सदृश एवं कुछ काल के लिए अत्यन्त विसदृश भी रहते थे ॥४१॥

अथवा वृक्ष और फल के सदृश उनमें भेद और अभेद की कल्पना है, यह कहते हैं।

परमार्थ चैतन्यरूप महावृक्ष के वे अनन्त फल थे, वे अनन्य ही होते हुए भी उससे भिन्न-से थे ॥४२॥ किन्हीं सर्गों में स्वल्प ही कल्प का काल था, तो किन्हीं सर्गों में बड़ा लम्बा कल्प का काल था, दूसरे बहुतों में तो नियम ही न था यानी देश, काल, वस्तु आदि के स्वभाव का नियम ही नहीं था और दूसरे बहुतों में उनका नियम था भी ॥४३॥ सूर्य का अभाव होने से किन्हीं में कालज्ञान ही न हो पाता था, कुछ तो काकतालीय न्याय से अकस्मात् ही स्वयं उत्पन्न, पुष्ट और सुदृढ़ स्थिति बनाकर स्थित थे ॥४४॥

वे क्या सत्य हैं, इस प्रश्न का 'नहीं' उत्तर देते हैं।

परमचिदाकाश के कोश में वे शून्यरूप ही हैं, सत्यरूप नहीं । वे कबसे उत्पन्न हैं, यह उनके

(ॐ) कहीं पर 'शेष्यमानानि' यह भी पाठ मिलता है, उसका 'परिशेषरूपता को प्राप्त किये हुए थे' यह अर्थ होगा ।

विषय में नहीं कहा जा सकता। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि वे अज्ञानरूप दोष से युक्त प्रत्यगात्मा में अनादिकाल से ही उत्पन्न हुए हैं ॥४५॥ चिति के चमत्काररूप आकाश में यानी चिदाकाश में सैकड़ों समुद्र, सूर्य, आकाश, मेरु आदि पदार्थों से भलीभाँति आक्रान्त सप्तजाल के सदृश रजोगुण एवं तमोगुण से कलुषित होकर वे अनेक जगत् भासित हो रहे हैं ॥४६॥ वास्तव में कारणों के अभाव से कारणरहित पृथ्वी आदि का अनुभव तो भ्रमात्मक है, इसलिए ब्रह्मरूप अधिष्ठान की सत्ता लेकर ही वे सब जगत् विद्यमान हैं, उसे न लेकर वे अपने स्वरूप से तो हैं ही नहीं ॥४७॥ मृगतृष्णाजल के प्रवाह के सदृश अथवा दो चन्द्रयुक्त आकाश के वर्ण के ये जगत् भ्रमरूप अनुभव से ही उत्पन्न हुए हैं, अतः वे सत्यरूप अधिष्ठान की सत्ता से सत्यरूप हैं, अपने स्वरूप से वे सत्यरूप नहीं हैं ॥४८॥ चिति के संकल्परूप आकाश में ही ऐसे-ऐसे असंख्य जगत् भासित हो रहे हैं, वे सबके सब वासनारूपी वायु से उड़ाये जा रहे अपनी चेष्टाओं से विलुण्ठित हो रहें हैं। इधर-उधर लुढ़क रहे हैं ॥४९॥ परब्रह्मरूपी उदुम्बरवृक्ष के अन्दर असंख्य देव, दानव आदि तो मच्छर् हैं और वे ब्रह्माण्ड पवनों से झूम रहे है, भोगादि विचित्र रसों से परिपूर्ण उसके फल हैं अर्थात् ब्रह्मरूपी उदुम्बरवृक्ष के ब्रह्माण्डरूपी फल के भीतर ये देव, दानव आदिरूप अनेक मच्छर् विद्यमान हैं ॥५०॥ चिदाकाश में ये सब जगत् सुन्दर स्वभाववाले तथा सृष्टिरूप खिलवाड़ करनेवाले विशुद्ध चितितत्त्वरूप बालक के संकल्पनगर हैं ॥५१॥

ये जगत् संकल्प नगर हैं, इस बात को दृढ़ करने में कौन-सा हेतु हैं, इसे बतलाते हैं।

वे सब जगत् 'तुम', 'मैं', 'यह' आदि अभिमान बुद्धिबल से, सूर्य के दीप्तिबल से मिट्टी के खिलौनों के सदृश, अत्यन्त दृढ़ बनाये गये हैं ॥५२॥ निरन्तर तृप्ति से भरी हुई तथा रागरूपी रस से परिपूर्ण कर्मों के फलों को अवश्य प्रदान करनेवाली नियति ने उनकी शाखा-उपशाखा के द्वारा ऐसे वृद्धि की है, जैसे वसन्त ऋतु की रसरेखा बड़े-बड़े फल लगनेवाले वनों की शाखा-उपशाखा द्वारा वृद्धि करती है ॥५३॥ सृष्टि को बतलानेवाली श्रुति की दृष्टि से तो उन सबका कर्ता ब्रह्मा ही है और 'अपूर्वमनपरम्' इत्यादि श्रुतियों की दृष्टि से उनका कर्ता ब्रह्मा नहीं भी है वास्तव में तो वे किसी से निर्मित हैं ही नहीं, किन्तु आकाशरूप (शून्यरूप) ही हैं। यद्यपि वस्तु स्थिति ऐसी है, तो भी महाचितिरूप आकाश में स्वयं ही अपने रूप को धारण कर वे स्थित हैं, परन्तु किसी के द्वारा सम्पादित भी प्रतीत होते हैं ॥५४॥ वस्तुतः ये जगत् परमार्थ चिद्रूप ही हैं, फिर भी अन्य से उत्पन्न मालूम पड़ते हैं, वस्तुतः अप्राप्त ही हैं, फिर भी प्राप्त-से प्रतीत होते हैं, सदा असद्रूप ही हैं, फिर भी सद्रूप से भासते हैं ॥५५॥ भुवनों की संख्या चौदह, केवल देवयोनियों की संख्या से दश, मनुष्य आदि एक-एक जाति को लेकर एक, यों भिन्न-भिन्न तरह के भूतसमूहों से युक्त वे अनेक होते हुए भी जगत् फिर एक ही रूप के हैं, किन्तु दूसरे ही रूप के भीतर और बाहर उत्पन्न होते रहते हैं॥५६॥ यद्यपि ये सब जगत् नरक, स्वर्ग, पाताल

बान्धव और मित्ररूप बड़े–बड़े समारोहों से आक्रान्त हैं, फिर भी परमार्थदृष्टि से शून्यरूप ही हैं ॥५७॥ ये सब क्षीरसागर के जल के सदृश चारों ओर स्नेह (प्रीतिरूप) सार से पूर्ण, तरंगों के सदृश भंगुर तथा भीतर और बाहर से परिवर्तनशील हैं ॥५८॥ आत्मारूपी सूर्य के तेज के अन्दर वे केवल आभासरूप हैं और वायु से स्पन्दन की तरह वे सब स्वतः उत्पन्न हुए हैं ॥५९॥ ये जगत् बुद्धि अहंकार और चित्तरूपी पत्तों के लिए एक तरह से पेड़ ही हैं । तथा जैसे स्वप्न में निरन्तर अस्त स्वभिन्न मनुष्यों के दृश्य असत्य हैं, वैसे ही स्वभिन्नरूप से देखनेवालों को भी साधारणरूप होने के कारण वे असत्य रूप ही हैं ॥६०॥ पुराण, वेद के सिद्धान्तरूप कल्पनाओं के स्वप्नों में दृढ़विश्वासरूपी गाढ़ निद्रा लेकर सोये हुए ये जगत् तत्त्वज्ञान का अत्यन्त ही अभाव होने के कारण मानों मृतकों का स्वरूप धारण किये हुए हैं ॥६१॥ भद्र, परमार्थभूत ब्रह्मरूपी महान् जंगल में मायाउपहितचितिरूप गन्धर्व के द्वारा बनाये गये तथा सूर्यरूपी दीपकों से प्रकाशित वे जगत्–रूपी घर महान् गहन हैं यानी उनका असली स्वरूप जानना बड़ा ही कठिन हैं ॥६२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मैंने उस समय की समाधि में अनन्त चिदाकाश में किसी कारण के बिना उत्पन्न हुए तथा किसी कारण के बिना ही जीर्ण–शीर्ण हो जानेवाले अनन्त जगत् देखे जो तिमिररोगयुक्त आँखों से दिखाई पड़नेवाले केशोण्ड्रक के सदृश भ्रान्तिमात्र से सिद्ध थे ॥६३॥

उनसठवाँ सर्ग समाप्त

साठवाँ सर्ग

वसिष्ठजी को समाधि में शब्द करनेवाली स्त्री का अवलोकन तथा
उसकी उपेक्षा करने पर फिर अनेक विचित्र जगत् का दर्शन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्री रामभद्र, इतने असंख्य संसार देखने के बाद मैंने शब्द के कारण को ढूँढ़ते–ढूँढ़ते चारों ओर बहुत काल तक खूब भ्रमण किया तदनन्तर मैं आवरणरहित संविदाकाशरूप बन गया ॥१॥ जब मैं उक्त आकाशरूप बन गया, तब मैंने वीणा के शब्द के सदृश शब्द सुना, क्रमशः उसके पद भी स्फुट हो गये, फिर मुझे यह भी मालूम होने लगा कि ये शब्द आर्या छन्द के हैं ॥२॥ अनन्तर मेरी योगदृष्टि पास में ही, जहाँ से शब्द हो रहा था, उस देश में पड़ गई। मैंने वहाँ एक स्त्री देखी, उसने अपनी कनक–जैसी स्पन्दनशील प्रभा से चारों ओर के आकाशमण्डल को प्रकाशित कर दिया था ॥३॥ उसके गले की माला और पहिने हुए वस्त्र खूब फरफरा रहे थे, उसके लोचन कानों के केशों को भी व्याकुल किये थे उसके माथे की वेणी बड़ी ही चंचल थी, मालूम ऐसा होता था, मानों साक्षात् लक्ष्मी ही आई हुई हैं ॥४॥ उसके अंग कमनीय सुवर्ण के सदृश गौरवर्ण के थे, मार्गस्थ पथिक के सदृश उसका नवीन यौवन धीरे–धीरे जा रहा था, वनदेवी के सदृश चारों ओर सुगन्ध भर देनेवाले सम्पूर्ण नखशिखान्त अवयवों के कारण वह आँखो को बड़ी ही

सुन्दर लग रही थी ॥५॥ उसका मुख तो पूर्णचन्द्र के सदृश था, उसका हास्य फूल के ढेर-से लुभावना था, यौवन के कारण उसका आनन कुछ उद्दण्ड-सा लगता था, बरौन (पलकों के आगे के बाल) के उत्तम लक्षणों से (चिह्नों से) उसकी शोभा देखते ही बनती थी ॥६॥ आकाश का कोश ही उसके रहने का घर था, वह सुन्दर तो इतनी थी कि जितनी शशांक चन्द्रमा की किरणें। उसने मोतियों का बनाया गया अर्धचन्द्राकार हार पहना था और उसकी चेष्टा मेरी ओर आने की मालूम होती थी ॥७॥ भद्र, उस वामा ने मेरे पास में आकर अत्यन्त मधुर स्वर से मृदु एक आर्या पढ़ी, उस स्त्री का विलास आर्यों के जैसा ही था, उस समय उसके मुख में कोमल हास्य निखर रहा था ॥८॥

उसी आर्या छन्द को बतलाते हैं

हे मुने, खल पुरुषों के लिए ही अपनी योग्यता रखनेवाले काम, क्रोध आदि जितने दोष हैं, उनसे आपका अन्तःकरण सर्वथा अलिप्त हैं, आप संसाररूपी नदी में डूब जानेवाले जीवों के लिए तीरस्थ आश्रयरूप वृक्ष हैं, अतः मैं आपको ही चारों ओर से प्रणाम करती हूँ ॥९॥

वह सुनकर आपने क्या किया, इस प्रश्न पर कहते हैं।

भद्र, यह सुनकर और उस सुन्दरमुखी एवं मधुरशब्दवाली रमणी को देखकर मैंने सोचा ह्न यह तो स्त्री है, इससे मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा । उसके प्रति उपेक्षाकर वहाँ से मैं आगे बढ़ा ॥१०॥ उसके बाद मैंने असंख्य जगत् से युक्त माया देखी, उसे देखकर मुझे अत्यन्त आश्चर्य हुआ, उसका भी अनादर ही कर आकाशमण्डल में विहार करने के लिए मैं उद्यत हो गया ॥११॥ तदन्तर मायाजनित उस चिन्ता को छोड़कर शून्यस्वभाव आकाश में स्थित जगन्माया को चिदाकाशरूप होकर जानने के लिए मैने ज्यों ही प्रवृति की, त्यों ही वे सब जगत् उस तरह शून्यरूप हो गये, जिस तरह स्वप्न, मनोराज्य और कथा के अर्थ के प्रकाशन में जगत् शून्यरूप हो जाते हैं ॥१२,१३॥ भद्र, अतः ये सब शून्यरूप हैं, इसलिए परमार्थ में ये कोई जगत् कहीं किसी समय न तो देखते हैं और न सुनते ही हैं । अतएव वे सब कल्प, महाकल्प और सर्ग में एकरूप ही हैं यानी उन सब सृष्टियों की उन कल्पादि से समानरूपता ही है ॥१४॥ भद्र, जिनमें उन्मत्त पुष्करावर्त नाम के प्रलयकारी मेघ बरसते हैं, उन्मत्त उत्पातकारी वायु बहती हैं तथा तोड़े गये बड़े-बड़े पर्वतों के भयंकर शब्दों से ब्रह्माण्डमंडप को जिन्होंने व्याप्त कर दिया है । ऐसे तत्-तत् जगह के अन्दर प्रवृत्त हुए भी कल्पान्तों को, ये जगत् परस्पर नहीं जान पाते ॥१५॥ धधक रही प्रलयाग्नि के विस्फोटों से कुबेर के भवन जिनमें चट-चट शब्द कर रहे हैं, जिनमें आकार में गेंद के सदृश बारह आदित्य मण्डल आकाश में चक्कर काटते रहते हैं, ऐसे कल्पान्तों को वे परस्पर नहीं देख पाते ॥१६॥ इधर-उधर लुढ़कते हुए देवनगरों के समूहों के व्यापक क्रन्दनों के कारण घर्घर शब्द कर रहे समस्त पर्वतों की नितम्ब श्रेणियों को निगल जाने में अतिउद्भट कल्पान्त कालों को वे जगत् परस्पर नहीं जानते ॥१७॥ प्रलयमण्डल की भयंकर अग्नि की ज्वालाओं के विलासों से विस्पष्टरूप से पट-

पट शब्दकर रहे तथा आत्मा के असली स्वभाव के ध्वंस से (अज्ञान से) उत्पन्न बड़े क्षोभों के सदृश जलचरों के क्षोभ से क्षुब्ध हुए आकाश रूपी महासमुद्र से युक्त कल्पान्तों को वे परस्पर नहीं जानते ॥१८॥ देवता, दानव और मनुष्य के घरों के घर्घर क्रन्दनध्वनियोंसे, जो अतिकर्कश हैं तथा द्युलोक तक सात समुद्रों को बढ़ाकर उनकी महाबाढ़ से जो सूर्य एवं चन्द्र के मण्डलों को भी जल से भर देते हैं, उन कल्पान्तों को वे जगत् परस्पर नहीं देखते ॥१९॥ भद्र, उन वर्णित जगतों में एक दुसरे के भीतर इस तरह के कल्पान्तकाल प्रवृत्त हुए रहते हैं, परन्तु वे सभी जगत् एक दूसरे में प्रवृत्त कल्पान्तों को उस तरह नहीं जान पाते, जिस तरह एक मकान में सोये हुए पुरुष स्वप्न में एक दुसरे के रणशब्द को ॥२०॥

इस प्रकार जगत् की प्रासंगिक परस्पर शून्यता का वर्णन कर अब प्रस्तुत विषय कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उन ब्रह्माण्डों में मैंने हजारों रुद्र, सैकड़ों-करोड़ ब्रह्मा, लाखों विष्णु और असंख्य कल्प देखे ॥२१॥ भद्र, उस तरह अनेक प्रकार के जो ब्रह्मांड आपको बतलाये, उनमें जो चितिरूप वस्तु है, उसी में तर्कों से यानी संकल्पों से उनका विनाश और उदय मैंने देखा । चिद्वस्तु में न तो आदित्यमण्डल है, न दिन, रात या भूतल है और न कल्प, युग और वर्ष की समाप्ति ही है ॥२२॥

अस्तु, कल्पना से ही उदय और अस्त है, इससे प्रकृत में क्या आया, इस पर कहते हैं ।

श्रीरामजी, सब कुछ चेतन में ही है, सब कुछ चेतन ही है, चेतन ही सब कुछ है, चारों ओर से चेतन ही चेतन है, चेतन ही सत् है , सर्वात्मक भी चेतन ही है ह्न यही मैंने अन्वय – व्यतिरेक से परीक्षाकर वहाँ देखा ॥२३॥

किस प्रकार के तर्क से किस प्रकार का उदय है और किस तरह का क्षय है, इसका उदाहरण देते हैं।

हे श्रीरामजी, यदि आप किसी भी दशा में किसी रूप की कल्पनाकर नाम से यह कहते हैं कि यह घट है, यह पट है, तो उस दशा में आपके द्वारा प्रयुक्त तत्-तत् नामरूप से युक्त चिति ही हो जाती है, यही उदय है । यही चिति आकाश से भी शून्यतम जब विवक्षित होती है, तब किसी नाम या रूप से युक्त नहीं होतीह्नयही उसका विनाश है ॥२४॥ यह सारा नामरूपात्मक जो जगत् है, वह नामरूपात्मक कल्पना के द्वारा आकाश ही भासता है, क्योंकि आकाश ही वायु आदि क्रम से जगत् के आकार में बन जाता है, यह बात श्रुतियों में प्रसिद्ध है और वही शब्दतन्मात्रारूप होने के कारण सब वस्तुओं के लिए साधारण नामात्मक भी बन जाता है । अतः 'तत्वमसि' आदि शब्दरूप से परिणत आकाश के कारण सब जगत् परम चिदाकाशरूप ही है, वही इसका आत्यन्तिक क्षय है ॥२५॥

यों विचार करने पर अपने को जो अनुभव हुआ, उसे महाराज वसिष्ठजी बतलाते हैं ।

हे प्रिय श्रीरामजी, यह जो दृश्यों का ज्ञान होता है, वह भ्रम है, यह आकाशवृक्ष की मंजरी ही है यानी असत् है, इसलिए जगत् में परिशिष्ट जो चिदाकाश है, वही सुख यानी निरतिशयानन्दरूप है ह्न इसका मैंने अनुभव किया ॥२६॥ अन्तिम साक्षात्कार की जो वृत्ति है, तद्रूप आकाश में आविर्भाव हो जाने के कारण एकरूप, पूर्णात्मक, अनन्त तथा बोधस्वरूप हुए मैंने उक्त समाधि में यह संकल्पशून्य, अनुभव किया ॥२७॥

यह सम्पूर्ण जगत् का बिछा हुआ जाल ब्रह्मरूप निर्मल आकाश ही है ।

जगत् अन्तर्गत दसों दिशाएँ, तदन्तर्गत कला, काल, देश, द्रव्य, क्रिया आदि सब कुछ चिदाकाश ब्रह्मरूप ही है, यह मैंने देखा ॥२८॥ श्रीरामजी, वासनानुसार अनेक तरह की भिन्नता को लिये हुए जो संसार मुझे दिखाई दिये, उनमें आकार में मेरे सदृश वसिष्ठ नाम के बड़े उत्तम–उत्तम ब्रह्मा के पुत्र अनेक मुनीश्वर देखे ॥२९॥ हे ब्रह्मन्, वहाँ मैंने बहत्तर त्रेतायुग देखे । वे सभी रामावतार से युक्त थे, सैकड़ों सतयुग देखे और सैकड़ों द्वापर देखे ॥३०॥ भेदवासना की प्रबलता से तत्–तत् सर्गों की अवस्थाएँ अनेक तरह की मैने देखीं और तत्त्वदृष्टि से तो उन सबको व्यापक ब्रह्मरूप आकाश ही देखा ॥३१॥

इस स्थिति में दृष्टिभेद से ब्रह्म सप्रपंच और निष्प्रपंच हो सकता है, इस विषय में विरोध हो ही नहीं सकता, यह कहते हैं ।

न तो ब्रह्म में यह जगद्रूप नाम है और न उसमें जगद्रूप वस्तु ही है, किन्तु वह सब अन्तिम प्राप्य तत्पदादिरूप, अज, आदि–अन्तशून्य ब्रह्मरूप ही है ॥३२॥ जो ब्रह्मरूप पाषाण के सदृश सब तरह के वाणी के व्यापारों से रहित हैं, समस्त नाम और रूपों से शून्य है और प्रकाशरूप है, वही कुछ नामरूपात्मक बन जाता है और वही जगत् के वेष में स्मृत है ॥३३॥ वास्तव में चेत्य तो चिदाकाश में है नहीं, परन्तु चिति की अपनी सत्ता ही जगत् के रूप में भासती है । वह स्वप्न के अनुभव के सदृश भ्रान्तिरूप है, अतः निराकार ब्रह्म में भास रही सृष्टि वास्तव में निराकार रूप ही है ॥३४॥ एकमात्र प्रकाशरूप ब्रह्म अपने अनन्य (अभिन्न) सब कुछ उस तरह करता है और नहीं भी करता, जिस तरह आलोक प्रकाश करता है और नहीं भी करता । आलोक अपने से अतिरिक्त प्रकाश न होने के कारण प्रकाश को नहीं करता, यह कहना वास्तव में ठीक ही है ॥३५॥

जगत् चिद्रूप ही है, तब चन्द्र शीतल और सूर्य गरम क्यों ? उलटा भी हो सकता है, यदि यह कहें, तो यह इष्ट ही है, क्योंकि किसी ब्रह्मांड में वैसा भी देखने में आया है, यों कहते हैं ।

भद्र, जो लाखों जगत् समाधि में अनुभूत होते हैं, उनमें कहीं पर चन्द्रबिम्ब गरम और सूर्यबिम्ब ठण्ढे भी अनुभूत होते हैं और इसी तरह के हैं भी ॥३६॥ कहीं पर अन्धकार में प्रजाएँ देखती हैं और कहीं प्रकाश में भी नहीं देखती । ठीक उल्लूओं के जैसा उनका व्यवहार है और उन्हीं के जैसा वे शब्द भी करती हैं ॥३७॥ कहीं तो प्राणी पुण्य से नष्ट हो जाते हैं और कहीं पापों से स्वर्ग जाते हैं,

कहीं पर विषभोजन से दीर्घकालतक जीते हैं, तो कहीं पर अमृतपान से मर जाते हैं । *(यह मन की अनियन्त्रित कल्पना होने के कारण कहा गया है, वस्तुतः ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इससे तो वेद में भी अप्रामाण्य आ सकता है ।)* ॥३८॥

ऐसा क्यों, इस पर कहते हैं ।

भद्र, दीर्घकाल के अभ्यास से दृढ़ किये गये बोध में जो वस्तु जैसी हितसाधन या अहितसाधन के रूप में मानी जाती है, वह वैसी ही स्वयं अपने भोग हेतु अदृष्ट के कारण बन जाती है । जैसी बनती है ठीक वैसी ही भोगकाल में विस्पष्ट बन जाती है। वह वस्तु दूसरी जगह सत् हो या असत् हो, इस विषय में कुछ भी विशेषता नहीं रखती, क्योंकि वह भ्रमरूप ही है और वह ब्रह्म ही वासनानुसार वैसा विवर्तित हो जाता है ॥३९॥

इस ब्रह्माण्ड में प्रसिद्ध जो अरण्य है, उससे विपरीत पत्र, पुष्प आदि से सम्पन्न अरण्य अन्य ब्रह्माण्ड में प्रसिद्ध है, यह कहते हैं ।

श्रीरामजी, कहीं पर तो चिदाकाश में शाखाओं के सदृश वृक्षों के मूल दिखाई देते हैं, इसलिए वज्रमणि के सदृश अत्यन्त दृढ़, पत्र, पुष्प आदि से सुशोभित वृक्षों से युक्त अरण्य विद्यमान है ॥४०॥

इसी तरह हजारों असम्भावित वस्तुओं का अन्यत्र सम्भव है, यह कहते हैं ।

श्रीरामजी, कहीं पर तो कोल्हू में पीसे जाने पर बालू से भी स्नेहजनित रस यानी तेल निकलता है और कहीं पर शिलाओं के ऊपरी हिस्सों में अनेक सुन्दर कमल उगते हैं ॥४१॥ कहीं लकड़ी, पत्थर और दीवार के ऊपर निर्मित पुतलियाँ देवांगनाओं के साथ गान और वार्ता करती हैं ॥४२॥ भद्र, कहीं पर लम्बे–लम्बे प्राणी लम्बे वस्त्रों के सदृश मेघों को बड़े चाव से पहिनते हैं और कहीं पर एक ही वृक्ष के ऊपर प्रत्येक वर्ष में भिन्न–भिन्न जाति के फल लगते हैं ॥४३॥ कहीं पर एक जाति के प्राणियों के अंगों की गठन ही अलग–अलग प्रकार की है, कहीं पर एक जाति के प्राणियों के अंग जुदे–जुदे आकार के दिखाई पड़ते हैं, कहीं पर सिर ऊपर की ओर नहीं है, किन्तु भूमितल पर है, इस तरह चित्र–विचित्र प्राणी घूमते दिखाई देते हैं ॥४४॥ कहीं पर भूमि आदि लोकों के नीचे के जगत् केवल पशु आदि प्राणियों से ही भरे हैं उनमें मनुष्यों का नाम ही नहीं है, न तो इनमें वेद और शास्त्र का प्रचार है, न कोई धर्म है, न इनका कोई उत्तम आचरण है यानी यथेष्टाचरण करनेवाले हैं ॥४५॥ अतः कोई तो प्राणी कामसंवित्ति से हीन हैं, अतः वो स्त्री के बिना यों ही कहीं पर पैदा हो गये हैं । कहीं पर के जगत् तो पत्थरमय शुष्क हृदयवाले प्राणियों से भरे पड़े हैं ॥४६॥ कहीं पर तो केवल सर्प ही सर्प हैं, कहीं पर तो सभी रत्न ही रत्न हैं या तो पत्थर ही पत्थर हैं, कहीं पर तो धन आदि का व्यवहार ही नहीं है, अतएव लोभरहित हैं और कहीं पर प्राणियों में अहंकार की मात्रा ही नहीं है ॥४७॥

कहीं पर व्यष्टि–अहंभाव नहीं है, केवल समष्टि–अहंभावरूप एकात्मभाव से ही सब शरीरों में भेदव्यवहार होता है, यह कहते हैं ।

कहीं पर प्रत्येक प्राणी अपनी समष्टि आत्मा को देखता है और दूसरे व्यक्ति को देखता या पाता ही नहीं । ऐसा होने पर भी वह लोक योनिज आदि चार प्रकार के प्राणियों से युक्त हैं और एक–एक तरह के प्राणियों से भी युक्त हैं ॥४८॥

देहों का भेद होने पर भी एकीभूत आत्मा की भावना किस तरह की है, इस प्रश्न पर कहते हैं ।

भद्र, कोई पुरुष अपने नख, केशादि के उतारने और उत्पन्न होनेपर अपना निजी छेदन और जन्म देखता है, इसलिए वह अपनी अन्यत्र स्थिति मानता है। परन्तु उसके सौन्दर्यादि सुख भोग में उसकी एकीभूत आत्मभावना ही देखी जाती है ॥४९॥

कहीं पर सृष्टि भेद की वासना ही नहीं रहती, इसलिए अव्याकृत आकाशमात्ररूपता से ही वहाँ भावना होती है, यह कहते हैं ।

कहीं पर तो अधिकतर चारों ओर अनन्त अपारशून्य ही शून्य है । कहीं पर प्राणी यत्न से आत्मचिति प्राप्त करता है, तो शून्य के तिरस्कार से फिर जगत् देखता है ॥५०॥ भद्र, कुछ जगत् निर्विशेष परब्रह्म की दृष्टि हो जाने पर अलीक की तरह ज्ञात होते हैं, कहीं पर चिति का पृथक्करण कर देखने पर काष्ठयन्त्रमय (हाथी, घोड़े आदिरूप) सब प्राणी देखे गये हैं ॥५१॥ कुछ जगत् तो नक्षत्रचक्र से ही रहित हैं, अतएव कालगति का ही वहाँ पता नहीं लगता। कुछ तो शब्द, श्रोत्र आदि के अभाव के कारण मूकपुरुषों के सदृश हाथ आदि के संकेतों के बलपर ही अपना सारा व्यवहार निभाते हैं ॥५२॥ कहीं पर ऐसे प्राणी देखे कि नेत्रशब्द, नेत्ररूप इन्द्रिय और नेत्रजनित रूप आदि का दर्शन ह्न इन सबसे वे वंचित थे, अतएव उनके लिए सूर्य और चन्द्र आदि के प्रकाश निरर्थक ही रहे । भद्र, इस प्रकार की जो जगत् की रचना है, वह एकाग्रचित्त योगी के मन की कल्पना से मैंने आपसे कही ॥५३॥ भद्र, कुछ तो प्राणी घ्राणेन्द्रिय और इससे होनेवाले गन्धज्ञान से रहित हैं, कुछ निरर्थक ही आमोद–प्रमोद करनेवाले हैं, कुछ शब्देन्द्रिय की शक्ति से रहित होने के कारण मूक हैं और कुछ श्रोत्रेन्द्रिय से रहित हैं ॥५४॥ कुछ दुसरे वाक्यार्थबोध न होने के कारण मूक हैं, स्पर्शज्ञानशून्य होने के कारण पत्थर के अंगों के सदृश त्वगिन्द्रिय रहित हैं ॥५५॥ कुछ तो मनोराज्य के सदृश विचित्र ही देखे गये, कुछ तो व्यवहार करनेवाले हैं, परन्तु पिशाचों के सदृश उद्भूत गुणों से उनका ग्रहण होता है ॥५६॥ कुछ जगत् तो केवल भूमिमय है, उनकी स्थिति एक–सी है, कुछ घनता से रहित हैं, कुछ केवल जल से भरे हैं और कुछ अग्नि से पूर्ण हैं ॥५७॥ कुछ जगत् वायुओं से परिपूर्ण हैं, यानी समस्त कार्यों में समर्थ समस्त वस्तुओं से परिपूर्ण हैं । आश्चर्य है कि कुछ तो आकाशरूप ही हैं, फिर भी चिद्रूप आकाश में वे स्फुरित होते हैं ॥५८॥

'कुछ जगत् केवल पृथ्वीमय हैं' यह जो कहा गया है, इस विषय में भूत जीवों की उत्पत्ति नहीं

हो सकती, इस प्रकार होनेवाली शंका का परिहार करते हैं।

कुछ जो केवल भूमिपृष्ठपूर्ण अन्य जगत् हैं, उनमें जीव उस तरह निवास करते हैं, जिस तरह शिलाकोश के भीतर मेढ़क या भूमि के उदर में कीड़े ॥५९॥

जो कुछ दूसरे केवल जल से ही परिपूर्ण पृथ्वी, वन, पर्वत आदि हैं, उनमें भी प्राणी, मगर के सदृश, निरन्तर ही घूमा करते हैं ॥६०॥ दुसरे जो जगत् केवल अग्नि से ही पूर्ण है, उनमें जल आदिसे रहित भी प्राणी, अलातचक्र के सदृश यानी भ्रमण कर रहे उल्मुक की नाईं, केवल अग्निरूप होकर ही खूब चलते फिरते हैं ॥६१॥ अन्य जो केवल वायु से पूर्ण जगत् है, उनमें जो भूत हैं वे जल, अग्नि आदि से यद्यपि रहित हैं, तथापि केवल वायुरूप होकर ही, अर्जुननामक वायु के (रोगविशेष के) सदृश, घूमते फिरते हैं। *(अर्जुनवायु से ग्रस्त लोक आकाश में घूमते हैं, यह कहीं पर प्रसिद्ध है)* ॥६२॥ जो दूसरे केवल आकाशरूप अपनी देह से युक्त लोक हैं, उनमें भी आकाशरूप ही प्राणी हैं और वे सबके सब दर्शनव्यवहार करनेवाले हैं ॥६३॥

उस चिदाकाश में नीचे, ऊपर एवं चारों ओर कल्पित दिशाओं में उड़ रहे चित्र–विचित्र सब जगत् और उनमें रहनेवाली अनेक तरह की वस्तुएँ मैंने देखीं, यों उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामभद्र, कोई पाताल में गिर रही हैं, कोई आकाश में उड़ रही हैं, और कोई दिशाओं के मुख में स्थित हैं –इस तरह की केवल विभ्रम के कारण ज्ञात होने वाली अनेक तरह की सृष्टियों में, जो कि चितिरूप समूद्र के बुद्‌बुदों के ही स्वरूप में हैं, मैंने जो न देखी हो, वह वस्तु ही कौन–सी है, अर्थात् कोई नहीं। सभी तरह की असम्भव वस्तुएँ मैंने उनमें देखी, यह भाव है ॥६४॥

साठवाँ सर्ग समाप्त

इकसठवाँ सर्ग

कल्पान्त में जगत् का नाश होने पर भी अज्ञात ब्रह्मका हृदय जगत् अविनाशी है,
ब्रह्म का ज्ञान हो जानेपर तो तीनों काल में जगत की सत्ता ही नहीं रहती।

अनादि अविद्या के कारण अज्ञात हुआ ब्रह्म ही अपने असली कूटस्थ पूर्णानन्द स्वभाव को भूलकर यह कल्पना करता है कि मैं चलनस्वभाव, स्वल्पस्वभाव आदिरूप हूँ, इस तरह की कल्पना कर मन, प्राण आदि के क्रम से भोक्तारूप और भोग्यरूप होकर सदा सब तरह से उत्तरोत्तर संसारी ही बनता जाता है, इसलिए जब तक अविद्या है, तब तक संसार की स्थिति सदा ही बनी रहेगी। यदि शास्त्र और आचार्य के उपदेश से ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है, तब तो वह सदा, सब ओर से तथा सभी प्रकार से पूर्णानन्द चिदेकरसमात्ररूप ही बन जाता है, इसलिए किसी समय कहीं पर, कोई भी और किसी व्यक्ति में भी संसार की संभावना नहीं की जा सकती, अतः ब्रह्म नित्यमुक्त स्वभाव ही है, यह बतलाने के लिए महाराज वसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, जैसे जल में जल से ही जलरूप वेग-तरंग आदि स्फुरित होते हैं वैसे ही चिदाकाश में चिदाकाश से ही ये सब-अज्ञात आत्मा के स्वभाव से प्राण आदि उपाधियों से परिच्छिन्न-जीव स्फुरित होते हैं, और वे ही जीव उत्तरोत्तर हजारों संकल्प-विकल्पों के कारण संसार के बीजरूप होकर कारण बन जाते हैं, और हम लोगों के मन कहे जाते हैं ॥१॥

वे ही मन अपने अन्दर रहने वाली योग्य वासनाओं को जगत् के आकार में विकसित करने के कारण अनन्त जगद्रूप बन गये हैं, यह कहते हैं।

विशद आकाशरूप वे ही हम लोगों के मन हैं और वे ही स्वयं चारों ओर से अनन्त जगत् के रूप में परिणत हो गये हैं ॥२॥

इन सब बातों से निष्कर्ष यही निकला कि अपनी अविद्या से अकेला ब्रह्म ही अनेक जीवों के आकारों में और अनेक सृष्टि के रूपों में संसार धारण करता है तथा अकेला वही अपनी विद्या से जीवभाव एवं संसार से मुक्त हो जाता है परन्तु यह निष्कर्ष ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि पहले के प्राकृत प्रलय हो जाने के बाद सम्पूर्ण जीवों की समष्टि हिरण्यगर्भ के तत्त्वज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर उसके निमित्त इन सब जीव और जगत् का बोध अवश्य हो जायेगा, ऐसी स्थिति में सभी की मुक्ति अवश्य माननी चाहिए, जब यह बात मानने को हम बाधित हो जाते हैं, तब यह शंका रह जाती है कि एक बार जो ब्रह्म मुक्त हो चुका, उसका जीवादिरूप संसार फिर कैसे हुआ, इस आशय से श्रीरामजी प्रश्न करते हैं।

श्रीरामचन्द्र ने कहा : भगवन्, ये जितने प्राणी हैं, वे सब महाकल्प के विनाश में मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं, इस स्थिति में फिर किसको किस तरह सृष्टिज्ञान उत्पन्न हो सकता है ?॥३॥

प्रश्न का अनुवाद कर गद्य और पद्यों से उसका उत्तर देने के लिए महाराज वसिष्ठजी प्रतिज्ञा करते हैं।

महाराज वसिष्ठ ने कहा : भद्र, महाप्रलय पर्यन्त पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश-इन सम्पूर्ण विशेष पदार्थों का विनाश हो जाने पर ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक सभी जीव जगत् फिर जिस रीति से अनुभूत होता है, वह सानन्द आप सुनिये-यद्यपि यह मुनि लोग कहते हैं कि आकाश तक के समस्त विशेषों का विनाश हो जानेपर जीवजगत् मुक्ति में परिणत हो जाता है और केवल चिन्मात्र ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है, जो वर्णनातीत परमार्थ चेतनघन है तथापि समझने की बात यह है कि चिन्मात्र ब्रह्म जो बच जाता है, उसका यह जगत् एक तरह का हृदय है और उससे अभिन्न है । सारांश यह निकला कि-*(यद्यपि मुक्त पुरुषों की दृष्टि से सभी जीवों की मुक्ति ही है, किसी के लिए कुछ भी बाकी नहीं बचता, तथापि दुसरे जो जीव हैं, उनमें हर-एकको तो तत्त्वज्ञान हुआ नहीं है इसलिए उनकी दृष्टि से अपनी-अपनी अविद्या तो नष्ट हुई नहीं अतः बन्धन का अनुभव होता है । जैसे चन्द्रलोक में जो मूलतः रहने वाले हैं अथवा अभी-अभी जो चन्द्रलोक*

में जा पहुँचे हैं, उनकी दृष्टि में चन्द्रलोक की स्वल्पस्वरूपता अत्यन्त असत् ही है, परन्तु भूमिपर स्थित पुरुषों की दृष्टि से तो चन्द्र स्वल्परूप ही है, ऐसे ही यहाँ पर भी जानना चाहिए। इसी बात को स्पष्ट करते हैं कि) वही देव बद्धदृष्टि से जगत् को अपना स्वभाव और हृदय समझता है तथा मुक्तदृष्टि से वैसा नहीं भी समझता । आत्मा के विषय में तात्त्विक विचार करके स्थित मुक्तस्वभाव हम लोग तो जगत् को विनोद से यानी यह जगत् बाधित हो चुका है, पर उसका केवल जले हुए वस्त्र के सदृश भास होता है–इस प्रकार के कौतुक से,कुछ है, यों देखते हैं, उसे वास्तविक रूप से नहीं देखते । इससे तीनों दृष्टियों में जगत् आत्मा से अभिन्न ही ठहरता है, इसलिए इसका क्या विनाश और क्या उत्पत्ति । वैसे इसका परमकारण विशुद्ध आत्मा अविनाशी है, वैसे ही उस आत्मा का हृदयभूत यह जगत् अविनाशी ही है, जगत् अविनाशी है, तो महाकल्प, अवान्तर कल्प आदि का व्यवहार हो सकता है, इस प्रकार की यदि कोई शंका उठाये, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि महाकल्प आदि भी तो जगत् के अवयव हैं । जब उक्त रीति से जगत् नित्य और स्थायी है तब उसके अंगभूत महाकल्प आदि अनित्य और अस्थायी कैसे हो सकता है ? और यह तो कहा नहीं जा सकता कि कारण एक समय में नष्ट होकर फिर दुसरे समय में आ जाते हैं । इसलिए यही मानना होगा कि सत्यस्वरूप जो कल्प, सृष्टि आदि हैं, वे ही जपमाला के अंगभूत मणियों के सदृश बार–बार कालचक्ररूप से घूम फिर कर आते जाते रहते हैं। अतीत, भविष्यत् आदि कल्प और सृष्टि आदि को लेकर कल्पादि में परस्पर जो भेदबुद्धि हो जाती है उसका एकमात्र कारण इस विषय का व्यापक अज्ञान ही है, परन्तु इस अज्ञान को यदि हम देखते हैं, तो हाथ लगता नहीं, अतः भेदबुद्धि कल्पादि की अस्थायिता आदि में हेतु नहीं हो सकती॥४॥

गद्यभाग से जिस अर्थ की सिद्धि की गई है, उस अर्थ का अब पद्य से उपसंहार करते हैं ।

हे श्रीरामजी, इसलिए किसी की न तो कुछ सृष्टि होती है, न किसी समय कुछ नष्ट होता है और न कभी कुछ उत्पन्न होता है, यह जो कुछ दृश्य है, सब शान्त, अज, ब्रह्मरूप ही स्थित है ॥५॥

जगत् का विनाश नहीं होता, इसमें दूसरी युक्ति बतलाते हैं ।

जो असंख्य बड़े से बड़े आकाशतक के और छोटे से छोटे परमाणु तक के पदार्थ हैं, उन सबमें भी जो सत्ता है, वह विशुद्ध चिन्मात्र की ही सत्ता है ॥६॥ यह जगत् उस महाचिति का शरीर है, महाचिति तो नष्ट होती नहीं, इसलिए उसके विनाश के बिना जगत् कैसे नष्ट हो सकता है ?॥७॥

जगत् संवित् का हृदय है, यह तो स्वप्न में भी, जिसका सार ज्ञानभाव है, प्रसिद्ध हैं, यों कहते हैं ।

जैसे स्वप्न में जगत् के रूप से संवित् का (ज्ञानका)हृदय ही भासता है, वैसे ही आदि सर्ग से लेकर यह सब जो कुछ भासता है, वह ज्ञानरूप आत्मा का ही हृदय है, और असल में यह सब है–

चिदाकाशरूप ॥८॥ भद्र, यह सृष्टि चिदाकाश का काल्पनिक अवयव(अंग) है और अंगभूत कल्पित इस सृष्टि के उदय तथा क्षय भी ऐसे ही कल्पित अंग है, अतः जो कुछ है वह चेतनरूप आकाश है, ऐसी स्थिति में कौन नाशवान और अनाशवान हो सकता है ?॥९॥ यह जो परमार्थ ज्ञानरूप आत्मा है, वह काटने के अयोग्य है । वह परमार्थ चिति (ब्रह्म) अज्ञानियों को दिखाई नहीं पड़ती, उसका जो कल्पित हृदय है, वह जगत् ही है । जैसे उस परमार्थ चेतन की उत्पत्ति और विनाश नही होता , वैसे ही उसके हृदयभूत जगत् एवं जगत् के हेतु अज्ञान के अनुभव की भी उत्पत्ति या विनाश नहीं होता । केवल स्मरण और विस्मरण स्वभावरूप से अनुभव और अनुभव वह कल्पना करती है ॥१०॥

जगत् की आत्मा भी अविनाशी आत्मा को लेकर ही है, इससे भी जगत् विनश्वर नहीं है, यह कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह आप जान लीजिए कि जो जो पदार्थ जिस जिस वस्तु के स्वरूपभूत हैं, वे उस उस वस्तु के विनाश के बिना विनष्ट नहीं हो सकते, इस नियम के आधार पर ब्रह्मरूप दृश्य ब्रह्म के सदृश अविनाशी ही है, क्योंकि ब्रह्मस्वरूप जगत् का विनाश तभी होगा जब ब्रह्मविनाश होगा, परन्तु ब्रह्म तो शाश्वत है, इसलिए जगत् नष्ट नहीं हो सकता ॥११॥

यदि शंका हो कि ब्रह्मरूप विश्व है, तब तो ब्रह्म भी अनेक तरह का होना चाहिए, क्योंकि विश्व अनेक तरह का है, तो इस शंका पर कहते हैं ।

महाप्रलय आदि भी उस महाकालरूप परमात्मा के कल्पित अवयव ही हैं, इसलिए विश्व की अनेकता से ब्रह्म में, अनेकता नहीं आ सकती, जैसे कि तरंगों की अनेकता से जल में ॥१२॥

यदि शंका हो कि सृष्टि, प्रलय आदि असंख्य अचेतन अवयवों से युक्त आत्मा विशुद्ध चिदेकरस कैसे हो सकता है, तो यह शंका योग्य नहीं है, क्योंकि वृक्ष नगर आदि अनेक प्रतिबिम्बों से युक्त स्फटिकशिला जैसे विशुद्ध चिदेकरसरूप हो सकती है, इस आशय से उत्तर देते हैं ।

चिन्मात्र परम ब्रह्मरूप आकाश में किस हेतु से सृष्टि और प्रलय हो सकते हैं तथा किस हेतु से किस तरह भावविकार आदि धर्म भी निराकार चिदाकाश में हो सकते हैं अर्थात् किसी तरह भी नहीं हो सकते ॥१३॥ जैसे स्फटिक में पड़े हुए चित्र-विचित्र प्रतिबिम्ब स्फटिक रूप से ही स्थित है, वैसे ही इस संविदेकरस ब्रह्म में पड़े ये जगत्, महाप्रलय आदि चित्रविचित्र प्रतिबिम्बरूप भाव भी ब्रह्मरूप से ही स्थित हैं ॥१४॥

जैसे मन के संकल्प से जनित यक्षनगर आदि केवल मनोरूप हैं, वैसे ही विशुद्ध चिति के संकल्प से जनित ये भाव भी विशुद्ध चितिरूप ही हैं, इस आशय से कहते हैं ।

समस्त आकारों से रहित स्वच्छ चितिमात्रस्वरूप आत्मा दृश्य की कल्पना करके अधीन हो जाता है । ठीक ही है, जो बालक अपने हृदय में मन से जिस यक्ष की कल्पना करता है, वह उसके

अधीन हो ही जाता है ॥१५॥

यह सब तो ठीक है, परंतु प्रश्न यह उठता है कि जगत् अविनाशी कैसे ? इसका उत्तर यह है –अविनाशी ब्रह्म का वह अवयव है, इससे इस आशय को लेकर वृक्षशाखा के दृष्टान्त से वर्णन करते हैं ।

भद्र, जैसे अवयवों से युक्त वृक्ष के शाखा, स्कन्ध, फल, पल्लव, पुष्प आदि अवयव (अंग) हैं वैसे ही आकाश से भी अत्यन्त स्वच्छ, व्यपदेश (निरूपण) के अयोग्य, परमार्थघन चेतनरूप आत्मा के प्रलय, महाप्रलय, नाश, उत्पत्ति, भाव, अभाव,सुख, दुःख, जन्म, मरण, साकार, निराकार आदि अवयव हैं। अतः जैसे यह आत्मारूपी अवयवी अविनाशी और वर्णनातीत है वैसे ही सर्ग, प्रलय आदि अवयव भी अविनाशी एवं वर्णनातीत हैं ॥१६॥

दृश्य और अदृश्य का भेद कैसे है ? इस पर कहते हैं ।

निरन्तर ही एकस्वरूपवाले अवयव और अवयवियों में, चाहे वे दृश्यरूप हो या अदृश्यरूप, किसी समय भी भेद नहीं रहता ॥१७॥

अवयव और अवयवी के अभेद का, वृक्ष और वृक्ष के अवयवों की समानता बतलाकर,निरूपण करते हैं ।

जैसे वृक्ष के अस्तित्व में मूलभूत कारण वृक्षज्ञान है, वैसे ही परमार्थघन आत्मा के जगत् के अस्तित्व में ज्ञान ही मूलभूत कारण है, *(इसलिए समानता प्रसिद्ध ही है ऐसी स्थिति में ज्ञानरूप मूल के आधारपर ही किसी–किसी प्रदेश में जो कुछ विचित्रता है, उसका वृक्ष के सदृश परिज्ञान करना चाहिए । जैसे–)* परमार्थघन परमात्म वृक्ष का कहीं पर सृष्टि रूप मध्यकाष्ठ है, कहीं पर लोकान्तररूप तने हैं, कहीं पर जम्बूद्वीप आदि व्यवस्थात्मक शाखाएँ हैं, कहीं पर पदार्थ रूप पल्ल्व हैं, कहीं पर प्रकाशरूप फूल हैं, कहींपर अन्धकाररूप हरित पत्तों की हरियाली है, कहीं पर आकाशरूप कोटर हैं, कहीं पर प्रलयरूप गुल्म (गाँठे) हैं, कहीं पर हरिहर आदि उत्तम देवतारूप गुच्छे हैं, कहीं पर जड़त्वरूप छिलके हैं । इस प्रकार निराकार आकाशरूप ही आकारविशेषों से संविदात्मक ब्रह्म में प्रतीत होता है और वह ब्रह्म के सदृश स्वच्छ स्वभाव होने के कारण उससे अभिन्न बनकर ही स्थित हैं ॥१८॥

इसी अर्थ को कहते हैं ।

भद्र, जितने भविष्यकाल के पदार्थ हैं , जितने भूतकाल के पदार्थ हैं,जितने वर्तमान काल के पदार्थ हैं, जितने सर्ग हैं, जितने प्रलय हैं, वे सब अनुभव से ही सिद्ध होते हैं, अतः अनुभवरूप हैं और अनुभव स्वसत्तात्मक आत्मा ही है, इसलिए यों सब कुछ ब्रह्मरूप ही अचल स्थित है ॥१९॥

तब क्या ब्रह्म में कल्पित सृष्टि, प्रलय आदि सत्य हैं ? इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देते हैं ।

यद्यपि ऐसा (सृष्टि की ब्रह्ममयता) है, तथापि परम ब्रह्मरूप आकाश में सृष्टि, महाप्रलय

आदि कोई भी रंग ऐसे नहीं हैं, जैसे चन्द्रबिम्ब में कलंकशून्यता ॥२०॥ श्रीरामजी, सम्पूर्ण मलों से रहित परम चिदाकाश में कहाँ सृष्टि-प्रलय के कलंक, कहाँ आदि, मध्य और अन्त की कल्पना तथा कहाँ लोकान्तरों के विभ्रम ? ॥२१॥

तब उस प्रकार के विभ्रम में कौन हेतु है और उसकी शान्ति कैसे होती है, इस पर कहते हैं।

आत्मा के तात्त्विक स्वरूप का अपरिज्ञान ही उसमें दोष-सा बनकर स्थित हो गया है, इसलिए बाह्यदृष्टि को हटाकर केवल प्रत्यगात्मा की ओर लगाई गयी बुद्धि से यदि विचार किये जाते हैं, तो उसी विचार से वह नष्ट हो जाता है ॥२२॥

जो आत्मा के अज्ञान का साधक है. वह जब चरम (अन्तिम) आत्मसाक्षात्कार वृत्ति से प्रकाशित हो जाता है, तब वही अज्ञान का बाधक बन जाता है। इस विषय में युक्ति बतलाते हैं।

यदि विचारा जाय, तो वह अज्ञान जिस ज्ञानरूप आत्मा से सिद्ध हुआ है, उसीसे वह उस प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार पवन से ही जनित अग्निरूप दीपक पवन से नष्ट हो जाता है ॥२३॥

ज्ञान, अज्ञान और अज्ञान के कार्य का निवर्तक है, यह कहते हैं।

अज्ञान भलीभाँति परिज्ञात हो जानेपर 'वह था ही नहीं' इस रूप से जाना जाता है तथा बन्ध और मोक्ष से रहित ब्रह्म ही सब कुछ है, यों बोध होता है ॥२४॥ हे रामजी, मोक्ष के लिए ये ही वर्णित बोध आदि उपाय मैंने आपसे बतलाये। जिस पुरुष का सतत प्रयत्न आत्मा के विचार में चालू रहता है, वही अधिकारी पुरुष इन उपायों को प्राप्त करता है, इसमें कोई संशय नहीं है ॥२५॥

श्रीरामजी, यह अनादि जगत्-रूपी जाल कभी उत्पन्न हुआ ही नहीं है परन्तु जो यह कुछ वर्णित जीव आदिरूप जगत् भासता है, वह तो भोग और मोक्ष चाहने वाला यानी अपने तात्त्विक स्वरूप को न जानने वाला ब्रह्म ही है। वर्णित विचारदृष्टि से अणिमा आदि आठ गुणों से युक्त सर्वेश्वर भी मायारूप होने से असार है। इस प्रकार के ऊँचे वैराग्य से ईश्वररूपता को तृणरूप समझ रहा कोई अधिकारी पुरुष अपने में निरतिशयानन्दरूप ब्रह्मरूपता का निश्चय कर अपनी आत्मा में पूर्ण संतुष्ट हो स्थित रहता है ॥२६॥

इकसठवाँ सर्ग समाप्त

बासठवाँ सर्ग

आकाशरूप मुनि की अनेक ब्रह्माण्ड देखने की इच्छा तथा स्वप्न के सदृश आकाशरूप स्त्री के साथ बातचीत का वर्णन।

भगवन्, पक्षियों की नाईं आकाश में उड़ते हुए आपने क्या उस जगत्-समूह को परिच्छिन्नभाव से स्थित होकर देखा या अपरिच्छिन्न चिदाकाश भाव से यों सन्देह करते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, पक्षियों की नाईं आकाश में उड़ते हुए आपने उस समय उस

जगत्–समूह का जो अवलोकन किया, वह क्या एकदेश में स्थित होकर किया या चिदाकाशरूप शरीर से किया *(यह कहने की कृपा कीजिये)*॥१॥

इनमें दूसरे विकल्प का अवलोकन कर महाराज वसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जब अनन्त आत्मा सर्वव्यापक चिदाकाशरूप हो गया, तब उस अनन्त अवस्था में मेरे गमन और आगमन कैसे हो सकते हैं ? ॥२॥ न तो उस समय मैं एक स्थान में स्थित हो रहा था और न तो मैं गतिमय हो रहा था, इसलिए इस अपरोक्ष आत्मस्वरूप चिदाकाश में ही अपने इसी अपरिच्छिन्नरूप से मैंने यह सब जगत्–समूह देखा ॥३॥

एकदेशस्थिति आदि की कल्पना के बिना स्वात्मरूप से अनात्मदर्शन की अप्रसिद्धि का दृष्टांत देकर निराकरण करते हैं।

जैसे देह में आत्मत्वबुद्धि होने से मैं पैर से लेकर मस्तकपर्यन्त सभी अंगो को देखता हूँ, वैसे ही मैंने इस चर्म चक्षु के बिना भी चिद्रुपी चक्षु से जगत्समूह देखा ॥४॥

असंग, उदासीन और अवयवशून्य ब्रह्मभूत का अवयव जगत् कैसे हुआ, इस पर कहते हैं।

उस समाधिकाल में आकृतिशून्य निरवयवस्थिति सम्पन्न निर्मल चिदाकाश रूप हुए भी मेरे वे जगत् मेरी सत्ता ही से सत्तावान होने से अवयवसमूह हो गये थे,जिससे कि मेरी वस्तुस्वभावता स्वतः नष्ट न हो सकी थी तथा स्वतः सत्ताशून्य होने से उनमें वस्तुता भी न थी, कहने का तात्पर्य यह कि उस समय वास्तविक अवयवता न हुई ॥५॥

उक्त अर्थ में स्वाप्निक जगत् के तरह के रूप को प्रमाण रूप से उपस्थित करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस विषय में आपको प्रमाण तो स्वप्न में देखा गया भुवनविभ्रम ही है, क्योंकि स्वप्न में जो दृश्य अनुभूत होता है वह चिदाकाश ही है, उसके सिवा और कुछ नहीं ॥६॥

'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इत्यादि श्रुति तो निर्विकल्प समाधि में ही जगत् के दर्शन के अभाव का वर्णन करती है, सविकल्प समाधि में जगत् के दर्शन के अभाव का वर्णन नहीं करती, इस अभिप्राय से नेत्र आदि इन्द्रियों के बिना भी जगत् के अवलोकन में दूसरा दृष्टांत देते हैं।

जैसे वृक्षदेहात्मभूत – वृक्ष का अभिमानी जीव पत्र, पुष्प, फलादि से सम्पन्न अपने को ही देखता है, वैसे ही अपने ज्ञानरूपी नेत्र से मैंने इस सारे जगत् को देखा ॥७॥ अनन्त–समुद्राभिमानी जीव समस्त जलचरों, तरंगों, आवर्तों एवं फेनको जैसे जानता है, वैसे ही मैंने नानाविध अनेक संसारों को जाना ॥८॥ जैसे अवयवी अपने अवयवों को अपने स्वरूप के अन्दर अपने से अनन्य ही समझता है, वैसे ही इन सृष्टियों को मैंने समझा ॥९॥ हे, श्रीरामचन्द्रजी, बोधस्वरूप आत्मा के साथ ऐक्य को प्राप्त हुआ मैं अब भी उन नानाविध अनेक सृष्टियों को वैसे ही देह, आकाश, पर्वत, जल और स्थल में भी देख रहा हूँ ॥१०॥ यह सारा विश्व हमारे सामने उपस्थित है। बोधस्वरूप

आत्मा के साथ एकता को प्राप्त हुआ मैं घर के भीतर और बाहर के देश को इन नाना जगत् समूहों से परिपूर्ण समझता हूँ ॥११॥ जैसे जल रसता को जानता है, जैसे हिम शीतलता को जानता है, जैसे स्पन्दन को हवा जानती है, वैसे ही शुद्धबुद्धि ज्ञानी पुरुष इस संसार को भी जानता है ॥१२॥

क्या अकेले आप ही जानते हैं ? इस पर 'नहीं' यह कहते हैं।

जो–जो विवेकी पुरुष शुद्ध बोधात्मा के साथ ऐक्यको प्राप्त हो चुके हैं, वे सबके सब मेरे साथ एकरूप हो गये हैं, इसलिए मैं उन सबका एक आत्मा होकर अपने आत्मा को इस तरह देखता हूँ ॥१३॥ इस सर्वात्मस्वरूप दृष्टि का परिपाक हो जाने पर वेत्ता, वेदन और वैद्यरूप (ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप) त्रिपुटीबुद्धि स्वात्मातिरिक्त कोई दूसरी वस्तु के रूप में नहीं रह पाती, क्योंकि विज्ञानरूप आत्मा के साथ सबकी एकरूपता उदित हो जाती है ॥१४॥

एक ही ज्ञान से व्यवहित तथा दूरस्थ पदार्थों का दर्शन आपको कैसे हुआ, इस आशंका पर दृष्टांत द्वारा इसका संभव बतलाते हैं ।

पर्वत पर स्थित पुरुष की दिव्य दृष्टि जैसे करोड़ों योजन पर स्थित बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों को देखती है, वैसे ही मैंने भी ये सब जगत् देखे ॥१५॥ जैसे पृथ्वीमंडल का अभिमानी जीव पृथ्वी पर के निधि, धातु, रस आदि सभी पदार्थों को जानता है, वैसे ही मैंने अपने से अभिन्न सम्पूर्ण दृश्य समूह को जाना ॥१६॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे कमललोचन ब्रह्मन्, जब आप इस तरह अनुभव कर रहे थे, तब आर्या छन्द पढ़नेवाली उस कान्ता ने क्या किया, वह कहिये ॥१७॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, उस आर्या छन्द का पाठ करती हुई उसी प्रकार प्रशंसादि प्रीतिजनक व्यापार से युक्त, चिदाकाशशरीरधारिणी वह कान्ता आकाश में देवी की तरह मेरे समीप में स्थित हुई ॥१८॥

यदि वह आपके समीप स्थित थी, तो फिर आपने बिना समाधि के ही पहले ही उसे क्यों नहीं देखा, इस पर कहते हैं।

जैसा मैं आकाशमय शरीर था वैसी ही वह ललना भी आकाशमय शरीर थी, अतः समाधि के पहले उस शरीर से मैं उसे न देख सका ॥१९॥ आकाशस्वरूप मैं था, आकाशमय शरीरधारिणी वह थी तथा आकाशमय वह सारा संसारसमूह भी उस समय चिदाकाश में ही स्थित था ॥२०॥

यदि वह कान्ता आकाशरूप ही थी, तो फिर जीभ, ताल, ओठ एवं प्राणवायु के न रहने से कैसे वह आर्या का पाठ कर सकी, यह श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुने, शरीर में स्थित जीभ, तालु, ओठ तथा प्राणों के प्रयत्नों से उत्पन्न हुए वर्णों से जो वाक्य उत्पन्न होता है वह आकाशशरीरधारिणी उस, स्त्री से कैसे उत्पन्न हुआ ? ॥२१॥

एवं आकाशस्वरूप आपके लिए भी उसके रूपदर्शन का पर्यालोचन करना कोई सरल काम नहीं है, यह कहते हैं।

भगवन्, बाह्यरूप आदि का दर्शन तथा आभ्यन्तर मन का अनुभव शुद्ध चिदाकाशरूप आत्माओं को कैसे हो सकता है, इसलिए उस समय आपने जैसे जगत् के दर्शन तथा सम्भाषण आदि व्यवहार किये, उसका जो निचोड़ हो, वह मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥२२॥

कल्पना से यह सब कुछ उत्पन्न है, इसमें स्वप्नदृष्टान्त ही प्रमाण हैं, यह उत्तर देते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे स्वप्न में बाह्य और आभ्यन्तर ज्ञान, शब्दपाठ तथा वचन आकाश में ही स्थित रहते हैं वैसे ही वे सभी पदार्थ उस चिदाकाश में ही रह रहे हैं ॥२३॥ हे श्रीरामजी, जैसे आपके स्वप्न में चिदाकाश ही बाह्य तथा आभ्यन्तर पदार्थों के रूप से उदित होता है वैसे ही मेरे उस समाधिकाल में भी वह सारा दृश्यप्रपंच चिदाकाशरूप ही स्थित था ॥२४॥

यह तो मैं बहुत ही कम कह रहा हूँ कि वह सारा दृश्य प्रपंच चिदाकाश रूप ही स्थित था। तत्त्वतः विचार करने पर तो इस समय यह सम्पूर्ण संसार भी चिदाकाश रूप ही है । यहाँ भी शरीरादि भ्रान्ति से ही व्यवहारभ्रम हो रहा है, यह महाराज वसिष्ठजी कहते हैं ।

हमारे लिए केवल वही दृश्य चिदाकाशरूप था, ऐसी बात नहीं है, किन्तु ये जितने पदार्थ हम लोगों की बुद्धि के विषय हैं वे सबके सब तथा यह सारा संसार भी स्वच्छ चिदाकाश रूप ही इस समय भी ऐसे विद्यमान हैं, जैसे कि हमारे उस समाधिकाल में विद्यमान थे ॥२५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जगत् की वासना से उपहित चितिस्वभाव का जो निश्चय है वह एक परमार्थ महाधातु (परमार्थरूपी श्रेष्ठमणि) है, यह सर्वत्र श्रुति तथा ब्रह्मज्ञानी विद्वानों के अनुभव आदि से प्रसिद्ध है ॥२६॥ भद्र, शरीरस्थान करणों (जीभ आदि इन्द्रियों) की सत्ता में आपको कौन–सी प्रभा है ? जैसे उनके देहादि स्थित हैं वैसे ही हमारा भी यह स्थित है ॥२७॥ जैसे स्वप्नादि देहों की सत्ता है, वैसे ही यह भी है, जैसे यह है, वैसे ही वह भी है । असत् यह जगत् सद्रूपता को मानों प्राप्त है तथा निर्विशेष आत्मतत्त्वरूप जो सत् है वह भी आवृत होने के कारण असत्–सा – अत्यन्त अप्रसिद्ध सा–स्थित है। इतना ही नहीं और सुनिये –चिदानन्दस्वभाव का जो व्यत्यास है (उलटफेर है) वह भी ऐसा ही है ॥२८॥ जैसे स्वप्न में पृथ्वी के ऊपर खेती आदि, रास्तों पर यातायात आदि तथा महल आदि के ऊपर शयन आदि का जो व्यवहार होता है वह भी सब चिदाकाशरूप ही है। वैसे ही उस समय मैं, आप, वह स्त्री तथा वह और यह सब कुछ चिदाकाशरूप ही था ॥२९॥ जैसे स्वप्न में न रहते हुए भी युद्ध के कोलाहल तथा यातायात का मनुष्य अनुभव करते हैं, वैसे ही ये जगत् के समूह मनुष्यों द्वारा अनुभूत हो रहे हैं ॥३०॥

स्वप्न के वैचित्र्य में भी किसी अन्य हेतु की संभावना का तो अवकाश ही नहीं है, क्योंकि

अनवस्था आदि दोष आ जाने के भय से सभी वादियों के चुप हो जाने के कारण 'एकमात्र अविद्योपहित चिदात्मा का ही यह स्वभाव है 'इस मेरे पक्ष की ही अन्त में सिद्धि है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यदि आप यह कहें कि यह स्वप्नदृश्यश्री कैसे हुई, तो आपका वह कहना असंगत होगा । यह अवाच्य है, क्योंकि स्वप्नानुभवस्थिति से अन्य कोई दूसरा हेतु ही नहीं है ॥३१॥ स्वप्न कैसे दिखाई देता है, यह पूछनेवाले को सभी लोग यही उत्तर देते हैं कि–जैसे तुम देखते हो । तात्पर्य यह कि उसका अनुभव ही उसके प्रश्न का एकमात्र उत्तर है । यहाँ पर उसका साधक कोई दूसरा हेतु नहीं है ॥३२॥

सुषुप्तिसदृश प्रलय के अनन्तर प्रथम सर्ग से ही स्वप्नजन्तु की तरह कल्पना रूप विराटात्मा चिदाकाश में चिदाकाश का ही विस्तार करता है, यह कहते हैं ।

सुषुप्तिसदृश प्रलय के अनन्तर आकाश में स्वप्न के जीव के सदृश प्रथम सर्ग से ही विराट्–रूप चिदाकाश ही चिदाकाश में परस्पर विषय–विषयीरूप से सापेक्ष होकर भासता है ॥३३॥

तब क्या द्रष्टान्तभूत स्वप्न–स्वभाव ही जगत है, 'नहीं' – ऐसा कहते हैं ।

हे श्रीरामजी, मैं आपके बोध के लिए स्वप्न शब्द से व्यवहार करता हूँ। वस्तुतः यह दृश्यप्रपंच तथा स्वप्न भी न तो सत् है और न असत् ही है, किन्तु केवल ब्रह्म ही है ॥३४॥

इस तरह अवान्तर प्रश्न का उत्तर देकर पूर्व में पूछी गयी कथा के शेष अंश को कहते हैं।

तदनन्तर हे राघव, कान्त में अनुरागवती उस दृश्यरूप कान्ता से – उसके अभिप्राय का विशेष ज्ञान रखनेवाली संवित् का संकल्प करके–मैंने यह पूछा ॥३५॥

भगवन्, शरीररहित आपका उसके साथ प्रश्नादि व्यवहार कैसे हुआ, इस पर कहते हैं।

स्वप्न में स्वप्नजनों के साथ जैसा व्यवहार प्रवृत्त होता है, वैसा ही उस समय मेरा भी व्यवहार उस स्त्री के साथ प्रवृत्त हुआ ॥३६॥

उसके साथ उस समय का मेरा व्यवहार भी वैसा ही था, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे स्वप्नसदृश वह व्यवहार आकाशरूप ही था, वैसे ही यह आत्मा, में तथा जगत् भी चिदाकाशरूप ही है यह आप जान लीजिये ॥३७॥

तब कहिये, जगत् और स्वप्न, ये दो नाम क्यों पड़े, इस पर कहते हैं ।

जैसे स्वप्न का जगत् चिदाकाशरूप ही है वैसे ही यह जगत् भी चिदाकाशरूप ही है अर्थात् दोनों एक–से हैं, केवल भेद इतना ही है कि जाग्रत काल के प्रारम्भ में जो जगत् का भान होता है उसे स्वप्न कहते हैं और सृष्टि के प्रारम्भ में जिसका उद्‌भव होता है उसे जगत् कहते हैं ॥३८॥ यह जो जगत् का आभोग है वह स्वप्न ही है अथवा कुछ नहीं है, वह एकमात्र चिदाकाश ही है। क्योंकि इस तरह जो कुछ दिखाई देता है वह सब निर्मल सत् तथा ज्ञप्तिमात्र ब्रह्म ही जगत् के रूप से स्थित है ॥३९॥ अथवा हे श्रीरामचन्द्रजी, यह विशेष कह सकते हैं कि आप लोगों की वासना के

आकार से स्वप्न का द्रष्टा साकार है, लेकिन सृष्टिरूप स्वप्न का द्रष्टा तो स्वतः चिदाकाश ही है ॥४०॥ जैसे द्रष्टा और दृश्य दोनों निर्मल चिदाकाश ही हैं, वैसे ही द्रष्टा और दृश्य के मध्य में पड़ा दर्शन भी चिदाकाशरूप ही है । हे श्रीरामचन्द्रजी इस महान् स्वप्नरूप जगत् में जगत्–रूप से निर्मल चिदाकाश ही स्थित है ॥४१॥ निराकार चिदाकाश का जो हृदय के भीतर स्वतः जगद्रूप स्वप्न स्फुरित होता है, उस स्वप्न का जन्म कैसे हो तथा वन्ध्यापुत्र के सदृश उस जगत् से वह चिदाकाश साकार कैसे होगा ?॥४२॥ साकार आप लोगों का जो स्वप्न–जगत् निर्मल चिदाकाशरूप है तब मेरा निराकार ब्रह्मका स्वरूप जगत् निर्मल चिदाकाशरूप क्यों न हो ?॥४३॥ उपादान आदि सामग्री के बिना अभित्ति में ही चिदाकाश इस जगद्रूपी स्वप्न को बिना निर्मित हुए ही निर्मित–सा देखता है ॥४४॥ कोमल चिदाकाशरूप मिट्टी से हिरण्यगर्भनामक ब्राह्मण ने इन्द्रियरूपी झरोंखों से युक्त देहादि सृष्टिरूप मण्डप का यद्यपि निर्माण किया है, फिर भी उसका वह निर्माण नहीं के बराबर है ॥४५॥ न तो कर्तृत्व है, न ये जगत् हैं, न भोक्तृत्व है, न आस्तिकता है और न कुछ नास्किता ही है, अतः सम्पूर्ण दृश्यों का परिमार्जन हो जाने से उनका एकमात्र साक्षी ही परमार्थ है । इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप अपने भीतर पाषाणतुल्य मौनता का अवलम्बन करके बाहर यथाप्राप्त प्रवाहपतित व्यवहार करते चलिये । जब तक प्रारब्ध कर्म का शेष है तब तक यह शरीर रहे या इसके बाद न रहे – इसमें कोई विशेषता नहीं है ॥४६॥

बासठवाँ सर्ग समाप्त

तिरसठवाँ सर्ग

अज्ञानी की दृष्टि में भीतर ही भीतर अनन्त सर्गसम्पत्तियाँ हैं,
लेकिन ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि में एकमात्र चिद्घन ब्रह्म ही सब कुछ है, यह वर्णन।

स्वप्न व्यवहार का दृष्टान्त देकर पूर्व में समर्थित हुए भी शरीररहित पुरुष के संभाषण आदि रूप व्यवहार को मन्दबुद्धि पुरुषों के स्पष्ट बोध के लिए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : 'हे मुने, उस स्त्री के साथ मुख, जीभ आदि अवयवों से रहित एकमात्र वासनारूप देह से आपका संभाषण आदि व्यवहार कैसे हुआ ? उस दशा में आपने क च ट त प आदि वर्णों का जीभ के बिना कैसे उच्चारण किया ? ॥१॥

वर्णों का जो उच्चारण आदि व्यवहार है उसमें शरीर की कारणता नहीं है, क्योंकि मृतक के शरीर के रहते हुए भी वैसा व्यवहार नहीं दीखता तथा शरीर के न रहनेपर भी स्वप्न में उस तरह का अनेक व्यवहार दीखता है, अतः अन्वयव्यतिरेकव्यभिचार है तथा व्यवहार को सहेतुक मानने पर सत्यतापत्ति भी है । इसलिए जो कुछ व्यवहार है वह सब सिर्फ कल्पनामात्र है । उस तरह का व्यवहार तो उस समय भी दुर्लभ ही था, इस आशय से महाराज वसिष्ठजी उत्तर देते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, चिदाकाशरूप तत्वज्ञानियों के मत में वर्णों के बीच में जो क च ट त प आदि वर्ण हैं उनके किसी काल में भी उच्चारण ऐसे नहीं होते, जैसे मृतकों के मुख से किसी वर्ण के उच्चारण नहीं होते, क्योंकि वे सभी कल्पनामात्ररूप ही हैं ॥२॥

उक्त अर्थ में अनुकूल तथा विपक्ष में प्रतिकूल तर्क उपस्थित करते हैं ।

यदि कहीं स्वप्नों में वर्णों का उच्चारण परमार्थ होता है तो फिर पास में स्थित जागे हुए पुरुष को भी उसका अनुभव होता अर्थात् समीपस्थ जाग्रत पुरुष भी उसे सुन पाता ॥३॥ इसलिए स्वप्न में उसकी सत्यता कुछ भी नहीं है, वह एकमात्र भ्रांति ही हैं। निद्रास्वभाव बल से कल्पित चिदाकाशमात्र का वह स्फुरण चिदाकाश में ही है ॥४॥ जैसे नेत्ररोग के कारण चन्द्रमा में कालापन, आकाश में साकारता, पत्थर की मूर्ति आदिमें गीत आदि ये सब प्रातिभासिक अर्थता को प्राप्त चिदाकाशरूप ही है, वैसे ही स्वाप्निक देह तथा शब्द आदि भी तत्तत् ज्ञात वस्तु के संस्कारों से उपहित चिदाकाशरूप ही होकर अवभासते हैं ॥५॥ जैसे आकाश का मूर्तरूप से स्फुरण आकाश से भिन्न नहीं है, वैसे ही वह चिदाकाश का स्फुरण आदि भी, जो स्वप्नज्ञान में जगदाकार से प्रसिद्ध है, उस चिदाकाश से भिन्न नहीं है । हे श्रीरामजी, उसे आप चिदाकाशरूप ही समझिये ॥६॥

इस तरह स्वप्न के पदार्थों में चिदाकाशमात्रता सिद्ध करके उसी के साम्य से सामने स्थित तथा समाधि में दृष्ट पदार्थों में भी चिदाकाशमात्रता सिद्ध ही है, यह कहते हैं।

जैसे स्वप्नकालका जगत् चिदाकाशरूप है, वैसे ही हम लोगों के सामने स्थित यह जाग्रत् काल का जगत् भी चिदाकाशरूप व्यवस्थित है । तथा जैसे यह जगत् चिदाकाशरूप होते हुए भी चिदाकाशरूप नहीं है, वैसे ही समाधिकाल का भी मेरा वह जगत् है ॥७॥

इससे सिद्ध हुआ कि जो कुछ दीखता है वह सब चिति का ही स्फुरणरूप चमत्कार है, अणुमात्र भी अचिद्रूप कुछ नहीं है, यह कहते हैं।

जिस रीति से यह सब सौन्दर्यपूर्ण जगत् स्फुरित हो रहा है उस रीति से तो वह चतुर ब्रह्म ही स्फुरित हो रहा है । जैसा यह जगत् सत्य और स्थिर-सा स्फुरित हो रहा है वैसा तो वह चतुर ब्रह्म ही स्थित है ॥८॥

प्रमाणगम्य जगत्प्रपंच की तुलना प्रमाणगम्य स्वप्न से करना अयुक्त है, यह श्री रामचन्द्रजी आशंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, स्वप्नरूप ही यह जगत् जाग्रतस्वरूप कैसे अवस्थित है तथा असत्य ही यह सत्य-सा कैसे हो गया, यह कैसे संभव है ?॥९॥

ठीक है, आपाततः यह भले ही आँखों का विषय हो जाय, फिर भी तत्त्वतः विमर्श को सहन न कर सकने से तथा अस्थिर होने से स्वप्न का साम्य है ही, इस आशय से कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, यह जगत् कैसे स्वप्न ही है, यह आप अच्छी

तरह सुनिये। स्वप्न के समान ही ये जगत न तो आत्मा से भिन्नरूप है और न तो आत्मा के समान ये सत्यरूप और स्थिर ही है। ये सब के सब अनिर्वचनीय ही एकमात्र आत्मसत्ता से स्थित है ॥१०॥

इस तरह परस्पर एक दुसरे का बीज होने से तथा विरुद्ध भेद और अभेदरूप एवं सम और असमरूप होने से इनका स्वप्नसाम्य है ही, यह कहते हैं।

जैसे बीज की राशि में अनुभूत हुए बीज स्वप्न में कोई अन्य–अन्य होते हैं , कोई ठीक वे ही उत्पन्न होते हैं, कोई सम होते हैं और कोई विषम भी होते हैं। वैसे ही चिदाकाश में सब जगत् कोई विषम भी होते हैं ॥११॥

केले की छाल की रचना की तरह परस्पर भीतर–ही–भीतर अनन्तरूप में इनकी स्थिति का अनुभव होने से भी ये सभी मिथ्या हैं, इसलिए स्वप्नसाम्य हैं ही, यह कहते हैं।

प्रत्येक जगत् के भीतर परस्पर एक दूसरे से न देखे गये अनेक भिन्न–भिन्न स्वरूप के ये जगत् वैसे ही उदित हुए हैं, जैसे केले की छाल ॥१२॥

उसीका पुनः उपपादन करते हैं।

वे सब जगत् परस्पर एक दुसरे को कदापि कुछ नहीं देख पाते तथा कोठी के भीतर रखे गये जड़ बीजों की एक राशि की तरह भीतर ही भीतर नष्ट भी हो जाते हैं ॥१३॥ नष्ट हो जाने पर भी वे चेतनरूप ही रहते हैं, तपे हुए खप्पर (भिक्षापात्र) में गिरे हुए जलबिन्दु के सदृश शून्यरूपता प्राप्त कर शून्यस्वरूप ही नहीं हो जाते। हम लोगों की तरह वे परस्पर देखते भी नहीं, किन्तु अज्ञान से इनका चेतन रूप ढक जाने के कारण निरन्तर सोये हुए–जैसे स्वप्नका ही अनुभव करते हैं ॥१४॥ सोये हुए वे जीव स्वप्नजंजाल को प्राप्त कर वहीं पर कल्पित दिनों में अपना सब व्यवहार करते हैं। स्वप्न–जगत में स्थित वे असुर देवताओं से निहत होकर अपने अज्ञान के कारण न तो मुक्ति प्राप्त करते हैं, न जड़ता के कारण जड़भाव को प्राप्त होते हैं और न देहसहित ही वे रहते हैं। ऐसी दशा में इस तरह के वे स्वप्नजगत्स्थिति के सिवा हो ही क्या सकते हैं ? ॥१५,१६॥ इसी तरह मनुष्य भी अपने स्वप्नरूप जगत्–समूह में वासनाओं के कारण अपना–अपना आचार और व्यवहार करते हैं तथा वे स्वप्न के मनुष्य स्वप्न के अन्य पुरुषों से मार दिये जाने पर पूर्वोक्त असुर जीवों के सदृश स्वप्नपरम्परा में ही स्थित रहते हैं ॥१७॥ चूँकि वे भी ज्ञान न होने के कारण मोक्षरहित और शरीरशून्य ही रहते हैं, इसलिए वे जाग्रत में समर्थ और वासनाओं से व्यवहारशील नहीं होते। अतः चेतना और वासना से युक्त ऐसे मनुष्य दृष्टस्वप्नरूप जगत्समूह के सिवा कहाँ निवास करें ? स्वप्न के सिवा उनकी कोई दूसरी गति नहीं है, यह तात्पर्य है ॥१८॥

यह असुर और मनुष्यों में जो दिखलाया गया न्याय है, उसे राक्षस आदि में लगाना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

सोये हुए स्वप्नरूप जगज्जाल की व्यवस्था के अनुसार आचार करनेवाले जो राक्षस स्वप्न के

देवताओं से मारे गये, वे असुरों के सदृश उसी स्वप्न में ही व्यवस्थित है ॥१९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह जो स्वप्न में मारे गये कहिये वे क्या करते हैं । अज्ञान के कारण वे मुक्ति को नहीं प्राप्त हुए तथा चेतन होने के कारण पत्थर के सदृश भी वे स्थिर न रहे ॥२०॥ पर्वत, सागर, पृथ्वी तथा अनेक जनों से भरे यथास्थित इस सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच को वे लोग चिरकालतक ऐसे अनुभव करते हैं, जैसे ये सत्यत्वाभिमानी हम लोग अनुभव करते हैं । हे श्रीरामचन्द्रजी, उनका अपना-अपना स्वप्न चिरकाल की अनुवृत्ति से हम लोगों के अनुभव की तरह जाग्रतअवस्थारूप ही हो जाता है ॥२१॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, उनके कल्प और जगत् की स्थिति, जैसी हम लोगों की है वैसी ही है और हम लोगों के जगत् की स्थिति भी वैसी ही है, जैसी उन लोगों की है ॥२२॥ ऐसी स्थिति में हम लोगों से अनुभूत हो रहा यह जगत् तथा इसके भीतर रहनेवाले हम लोग यदि उनसे देख लिये जाते हैं, तब तो हे श्रीरामजी, इनके स्वप्न के जो पुरुष हैं वे ही हम लोग ये स्थित हैं और उनके जो स्वप्न के संसार हैं, उनमें से कोई यह एक हमारा संसार है- ऐसा वे लोग अवश्य समझते होंगे ॥२३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, उनके स्वप्न के वे पुरुष अपने तथा अन्य पुरुष के अनुभव से चूँकि तुल्य हैं अतः वे सत्य ही हैं, क्योंकि उनकी सत्ता के निमित्तभूत अधिष्ठान चिदात्मा सर्वगामी होने से तुल्य है॥२४॥ जैसे आत्मा में वे स्वप्न के पुरुष सत्य हैं वैसे ही दूसरे भी पुरुष, जिनका प्रत्येक स्वप्न में मुझे अनुभव होता है, सत्य ही हैं । हे श्रीरामजी आप भी उन्हें वैसा ही समझिये ॥२५॥ जैसे आपने उस अपने स्वप्न में अनेक नगर तथा अनेक नागरिक देखे, वैसे ही वे सब अब भी स्थित हैं, क्योंकि सर्वव्यापी ब्रह्म सर्वात्मक है ॥२६॥ तत्-तत् स्वाप्निक पदार्थ जाग्रत्अवस्था में विशीर्ण हो जाते हैं, यह जैसे अनुभव होता है, वैसे ही वे स्वप्नकाल में स्थित भी रहते हैं, यह भी अनुभव होता है। अथवा सबकी सत्ता ब्रह्मसत्तारूप है, इसलिए किसी की सत्ता का कदापि अपलाप नहीं किया जा सकता अतः सर्वात्मक सभी सर्वत्र सदा परब्रह्म परमात्मा में ही है । आकाशरूप से स्थित इसका कुछ भी कहीं नाश नहीं होता, वैसे ही उत्पत्तिशून्य, निरन्तर और अनन्त परमाकाश ब्रह्म में अन्तशून्य-अनेक चित्तसमूह हैं, उनमें अन्तशून्य (असीम) अनेक जगत् के गण हैं, उनमें भी प्रत्येक संसार के अनेक आकाश कला कोश हैं, उनमें भी प्रत्येक के अनेक संसार मण्डल हैं, उनमें भी प्रत्येक संसार मंडल के पृथिवी आदि भिन्न-भिन्न आकार के अनेक लोक हैं, उन लोकों के अन्दर अनेक द्वीप हैं, उनमें भी प्रत्येक द्वीप के भीतर अनेक पर्वत हैं,उन पर्वतों में भी प्रत्येक पर्वत में अनेक मण्डलों का विस्तार है, उनमें भी प्रत्येक मण्डल के अनेक ग्राम हैं, उनमें भी प्रत्येक गाँव के अन्दर अनेक छोटे-छोटे गाँव हैं, उन छोटे-छोटे गाँवों के भीतर अनेक घर हैं, उनके भी प्रत्येक घर के अन्दर अनेक प्राणी रहते हैं । उन सब प्राणियों के बीच अनेक युगादिकाल हैं । जितने जो जीव मर चुके हैं और जो मोक्षरहित स्थित हैं उतने ही उनके अनेक अक्षय संसार पृथक्-पृथक् स्थित हैं ॥२७-३२॥

उतनी संख्या से भी संसार की संख्या समाप्त नहीं हो जाती, इसलिए अनवस्था बराबर बनी हुई है, जो एकमात्र माया का ही अलंकार है, इस आशय से कहते हैं ।

तथा उन जीवों के वासना के अन्दर अनेक जीव हैं और उन अनन्त जीवों के अनन्त मन हैं । उनमें भी प्रत्येक मन के भीतर असंख्य संसारमण्डल हैं, पुनः उन संसारमण्डलों के अनेक संसार हैं, फिर उन संसारों में भी प्रत्येक संसार में अनेक जीव हैं, पुनः उन जीवों के अनेक मन हैं और उन मनों के अनेक संसार है ॥३३॥ इस तरह आदि और अन्त से शून्य यह दृश्यमान भ्रम बराबर चला ही जा रहा है। इसका कहीं पर ओर–छोर नहीं है । लेकिन हाँ, ब्रह्मज्ञानी के पक्ष में यह सब कुछ ब्रह्मरूप ही स्थित है ॥३४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, भीतर में, आकाश में, पाषाण में, जल में और स्थल में सर्वत्र तत्–तत् पदार्थों के अन्दर चूँकि चिन्मात्र परमात्मा ही विराजमान है, अतः वही सम्पूर्ण विश्वरूप स्थित है, 'जगत' इस नामकी कोई दूसरी वस्तु है नहीं । ऐसी स्थिति में चिन्मात्र परमात्मा के सर्वव्यापी होने से जहाँ–तहाँ सर्वत्र जगत् है वह सारा विश्व तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में निर्विशेष निरतिशयआनन्दैकरस ब्रह्म ही है, परन्तु वही विश्व अज्ञानियों के मन में दृश्यप्रपंचरूप से स्थित है यानी अनर्थरूप ही है ॥३५॥

तिरसठवाँ सर्ग समाप्त

चौसठवाँ सर्ग

वसिष्ठजी के प्रश्न करने पर विद्याधरी द्वारा विस्तार के साथ वैराग्यपर्यन्त अपने घर में जन्म आदि का निरूपण ।

प्रासंगिक विषय का निरूपण कर अब महाराज वसिष्ठजी प्रस्तुत कथा का अवशिष्ट भाग कहते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, तदनन्तर उस ललित ललना को देखकर मैंने कौतुकसे उससे पूछा, उसके नेत्र कमल के सदृश उल्लास से भरे थे और कटाक्षमालाओं से मालती माला के सदृश भले लगते थे ॥१॥ कमल के गर्भ के सदृश कोमल तथा सुन्दर रूपवाली हे ललने, तुम कौन हो, मेरे पास क्यों आई हो, तुम किसकी लड़की और किसकी भार्या हो, क्या चाहती हो, कहाँ जी रही हो, तुम कहाँ की रहनेवाली हो ? ॥२॥

विद्याधरी ने कहा : हे मुने, आप सुनिये, मैं अपना वृत्तान्त जैसा है, वैसा आपसे कहती हूँ । यद्यपि एकान्त में परस्त्री से सम्भाषण नहीं करना चाहिए, तथापि दुःखशान्ति के लिए प्रार्थना करनेवाली मुझसे तो आप एकान्त में दया से पूछ सकते हैं, क्योंकि दुःखियों को आश्वासन देना सज्जनों का धर्म है ॥३॥

पहले अपने घर को बतलाने के लिए उपक्रम करती है ।

महाराज प्रकाशरूप चिदाकाश के कोश के किसी एक कोने में कोई यह आपका जगद्रूपी घर

स्थित है ।।४।। इस आपके जगद्रूपी घर के अन्दर पाताल, भूतल और स्वर्ग– ये तीन घर के अन्दर के प्रकोष्ठ हैं, इन तीनों प्रकोष्ठों में हिरण्यगर्भ के आकार में स्थित माया ने चित्र–विचित्र कल्पनारूप एक कुमारी का (गृहस्वामिनी का) क्रीड़ार्थ निर्माण किया है ।।५।। उन तीनों में जो भूतल है, वह कंकणों के सदृश द्वीपों और समुद्रों से वलित है यानी चारों ओर से घिरा हुआ है, इसलिए उनके रंग से पाटल वर्ण का बना हुआ उन्नत वह जगत्–लक्ष्मी का करमूल एक तरह से बनकर स्थित है ।।६।। सातों द्वीप और समुद्रों के अन्त में चारों ओर से दस हजार योजन तक लम्बी, चौड़ी सुवर्णमयी पृथ्वी स्थित है ।।७।।

उसी पृथ्वी का वर्णन करते हैं ।

महाराज यह पृथ्वी बड़ी ही विचित्र है यह रात में भी स्वयं प्रकाशती रहती है यानी इसमें रात को भी प्रकाश के लिए किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं होती, इसमें सभी तरह की इच्छाएँ सफल हो जाती है, आकाश के सदृश यह निर्मल है, इसमें चिन्तामणियों की अधिकता काफी है, धूलि का तो इसमें नामनिशान नहीं है, अपनी अपूर्व छटा से इसने स्वर्गादि लोकों को भी तुच्छ बना दिया है ।।८।। यह अप्सराओं को साथ लिये हुए देवताओं एवं सिद्धों की लीलाविहार भूमि है। ज्यों हि केवल संकल्प किया, त्यों ही सब तरह के भोग प्राप्त हो गये, इसलिए अर्थात् संकल्पमात्रसे सब तरह का भोग दिलानेवाली होने के कारण वह अत्यंत सुन्दर है ।।९।। उस मही के अन्त में (बाहरी प्रान्त में) एक लोकालोक नामका अत्यन्त विख्यात पर्वत है । जगत् लक्ष्मी के उन्नत करमूलभूत इस भूपीठ को उसने कंकण के सदृश चारों ओर से घेर दिया है ।।१०।।

अब उस पर्वत का वर्णन करती है ।

भगवन्, यह पर्वत कहीं पर तो मूढ़मति पुरुषों के अन्तःकरण के सदृश सदा अन्धकार से व्याप्त है और कहीं पर तो सात्त्विक पुरुषों के अन्तःकरण के सदृश सदा प्रकाशमय है ।।११।। जैसे सज्जनों की संगति आह्लाद को पैदा करती है, वैसे ही यह कहीं पर अत्यन्त ही आह्लाद को पैदा करता है तथा जैसे मूर्खों के साथ का समागम उद्वेग पैदा करता है, वैसे ही यह कहीं पर उद्वेग को भी पैदा करनेवाला है ।।१२।। बुद्धिमान पुरुषों के मन में जैसे सभी अर्थ विस्पष्ट रहते हैं, वैसे ही इसमें कहींपर तो सभी अर्थ विस्पष्ट हैं और कहीं पर तो यह इतना अतिगहन है, जैसे मूर्ख श्रोत्रिय पुरुष का चित्त है ।।१३।। कहीं पर तो इसमें चन्द्रमा की किरणें ही जाने नहीं पाती, कहीं पर सूर्य की ही किरणें नहीं जाने पाती, कहीं पर तो इसमें मनुष्य ही मनुष्य भरे पड़े हैं और कहींपर इसकी दिशाएँ जनों से एकदम शून्य हैं ।।१४।। कहीं पर तो देवताओं के नगर के नगर हैं, कहीं पर दैत्यों के बड़े–बड़े नगर विद्यमान हैं, कहीं पर पाताल के सदृश गहरा है यानी वहाँ प्रवेश ही होना कठिन है, तो कहीं पर अपने शिखरों से उन्नत कन्धा किये हुए है ।।१५।। कहीं पर तो उसके गड्ढ़ों में गीध घूम रहे हैं, कहींपर तो समान भूभाग के कारण बड़ा ही लुभावना लगता है, कहीं पर तो उसके भीतरी

भागपर शिखर की चोटी से आक्रांत ब्रह्माजी का नगर बसा है ॥१६॥ कहीं पर तो उसमें जनों से शून्य बड़े–बड़े जंगल हैं, कहीं पर कल्पान्त की वायु बह रही है, कहीं पर फुलवारियों में विद्याधरियों के गान हो रहे हैं ॥१७॥ कहीं पर पाताल के सदृश अत्यन्त गहरी गुफाओं में कुम्भाण्ड पिशाचों का वास होने के कारण बड़ा भयंकर है, कहीं पर नन्दनवन के दुसरे भाई के सदृश सुन्दर मुनि के आश्रमों से बड़ा लुभावना लगता है ॥१८॥ कहीं पर निरन्तर ही स्थित रहने वाले मतवालों की नाईं गर्जन में निरत मेघमण्डल हैं, तो कहीं पर मेघों का दर्शन ही दुर्लभ है, कहीं पर उसकी सीमा के समीपस्थ मण्डल भीतरी गुहाच्छिद्र के कारण अतिगहन हैं ॥१९॥ कहीं पर जनपद के विक्षुब्ध हो जाने के कारण विचलित हुए मनुष्यों आदि के प्रहारों से राक्षस–पिशाच आदि का निवास (पिप्पल आदि) उच्छिन्न हो गया है और कहीं पर रहनेवाले मनुष्यों की सज्जनता के कारण उसने स्वर्ग पर भी विजय पा ली है ॥२०॥ कहीं पर तो निरन्तर बह रही वायुओं के द्वारा ही स्थावर और जंगम भूत उत्पन्न ही नहीं हुए हैं, तो कहीं पर विषादि रोगों के न रहने के कारण सर्वविनाश से निर्मुक्त स्थावरजंगम भूत स्थिर हैं ॥२१॥ कहीं पर मरुस्थली के बड़े–बड़े झंझावातों के द्वारा उत्पन्न झंकारध्वनि से महान् भयंकर लगता है, तो कहीं पर वह कमलयुक्त तालाबों में कल–कल ध्वनि कर रहे सारसों के कारण मनोरम हैं ॥२२॥ कहीं पर जलों का सुन्दर विलास है, कहीं पर मेघों के गर्जन से घर्घरध्वनि युक्त है और कहीं पर प्रमत्त अप्सराओं के दोलाविलासों से काम पैदा करनेवाला है ॥२३॥ कहीं पर उसके दिशातट पिशाचों एवं कुम्भाण्डों से वेष्टित होने के कारण स्तब्ध हैं और कहीं पर तो उसके नदीतट पर विद्याधरी और सिद्ध नृत्य कर रहे हैं गीत गा रहे हैं ॥२४॥ कहीं पर बरस रहे मेघों की नदीरूप बाहुओं से उसका कुछ तटभाग तोड़ दिये जाने के कारण भयावह लगता है, तो कहीं पर निरन्तर चलनेवाली वायु के द्वारा लाये गये अनेक मेघरूप सुन्दर वस्त्रों के कारण भला भी लगता है ॥२५॥ कहीं पर अपने कोशरूपी मुखपर स्थित भ्रमरभूत नेत्रों से ध्यान कर रही कमलिनियों का समूह भरा पड़ा है, तो कहींपर अप्सराओं और सिद्धों की रमणियों की दाँतों को सुशोभित करनेवाले ताम्बूलों का वन अतिरमणीय लगता है ॥२६॥ कहीं पर तप रहे सूर्य और जनता के आचरण से सुन्दर है तो कहीं पर रात के अन्धकाररूप घर में मत्त निशाचर नृत्य कर रहे हैं। अतएव बीभत्स भी हैं ॥२७॥ कहीं पर उत्पन्न हो रहे बड़े–बड़े उत्पातों के कारण उसकी भूमि मनुष्यों के विनाश से भयप्रद है, तो कहीं पर उत्तम राज्य–सम्पत्ति से बसाये जा रहे नगरों के कारण हर्षप्रद भी है ॥२८॥ कहीं पर अत्यन्त शून्य ही है, कहीं पर जनपदों से आक्रान्त हैं। कहीं पर जलपूर्ण महाद्वन्द्वों के कारण गम्भीर हैं, तो कहींपर शुष्क पातालों के कारण भीषण है ॥२९॥ कहीं पर उसमें बड़े–बड़े कल्पतरु वृक्ष हैं, कहीं पर वह जलरहित हैं, कहींपर चलने–फिरनेवाले प्राणी भरे पड़े हैं, कहीं पर बड़े–बड़े हाथियों के झुण्ड के झुण्ड हैं, कहीं पर प्रमत्त सिंह, वानर आदि हैं ॥३०॥ कहीं पर तो प्राणियों से शून्य होकर ही व्यर्थ का उन्नत बना है, कहीं पर लम्बी मरुभूमि ही

पड़ी है, कहीं पर करंज वृक्षों के कारण वह अतिगहन है, कहीं पर ताल के ही बड़े-बड़े वन उसमें विद्यमान हैं ॥३१॥ कहीं पर उसमें आकाश के सदृश निर्मल और विस्तृत बड़े-बड़े सरोवर हैं। कहीं पर महामरुस्थल हैं तो कहीं पर निरन्तर उड़ रही धूलि से वह पूर्ण है, कहीं पर तो उसमें ऐसे अरण्य हैं कि उनमें बारहों मासों की ऋतु रहती हैं यानी एक साथ सभी ऋतुओं का उनमें आनन्द मिलता है ॥३२॥ अधिक क्या कहूँ, महाराज, उसके शिखरों पर ऐसी रत्नमयी बड़ी-बड़ी शिलाएँ हैं, जो कि छोटे-छोटे पर्वतों के समान यानी सह्य, मलय आदि पर्वतों के सदृश लगती हैं, उनको देखकर सुस्थिर मेघ का ही स्मरण हो उठता है और वे एकदम आकाश के सदृश निर्मल हैं ॥३३॥ हे मुने, क्षीरसागर और सूर्य के सदृश गौरवर्ण उन शिखरस्थ शिलाओं के ऊपर पुत्र, पौत्र आदि परिवार के साथ सिंह, वानर आदि ऐसे रात-दिन विश्राम करते हैं, जैसे जंगल के बड़े वृक्षों की शाखाओं पर ॥३४॥ भगवन्, उन शिलाओं के मध्य में उस पर्वत के उत्तर दिशा के भाग में पूर्व दिशा की ओर स्थित शिखर की जो शिला है, उसके अन्दर मैं निवास करती हूँ, विनष्ट न होनेवाले वज्रसारमणि के सदृश उसका अविनाशी त्वचाभाग है ॥३५॥ हे मुने, हमको नियति ने ही बाँध दिया है, जिससे कि मैं उस पत्थर के यन्त्र में बस रही हूँ। मैं मानती हूँ कि इस प्रकार उस में रहते-रहते मेरे असंख्य युगसमूह बीत चुके ॥३६॥

अब 'किसकी स्त्री हो' इत्यादि प्रश्नों का उत्तर देने के लिए उपक्रम करती है।

न केवल मैं ही ऐसी हूँ, किन्तु सब तरह से भरणपोषण करनेवाला मेरा पति भी उसमें उस प्रकार बद्ध हो गया है, जिस प्रकार भ्रमर कमल की कली में ॥३७॥ उस शिला के कोटर के संकट में फँसकर मैंने उस अपने पति के साथ दीर्घकाल तक अनुभव किया और अनेक वर्ष व्यतीत किये ॥३८॥ आज भी हम दोनों अपने एकमात्र कामरूप दोष से मोक्ष प्राप्त नहीं कर रहे हैं और उसी तरह एक दुसरे में सरसता बाँधे हुए दीर्घकाल से बस रहे हैं॥३९॥ महाराज, उस पाषाण के संकट में हम दोनों ही बद्ध नहीं हैं, किन्तु हम लोगों का पुत्र, पौत्र, आदि परिवार भी उसमें पूर्णरूप से बँधा हुआ है ॥४०॥ भगवन्, उसमें बँधा हुआ मेरा पति द्विजकुलोत्पन्न और बड़ा ही प्राचीन पुरुष है। वह यद्यपि सैकड़ों वर्षों से जी रहा है, तथापि अपने आसन से उठता ही नहीं ॥४१॥ मेरे पति बाल्यकाल से ही ब्रह्मचारी हैं, अपने वेदाध्ययन में परायण रहते हैं, अन्य को पढ़ाते हैं, आलसी हैं, उनका व्यवहार बड़ा ही कोमल है, उनमें इन्द्रियों की चंचलता का नाम निशान नहीं है, एकान्त में ही सदा रहते हैं ॥४२॥ हे वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ, ऐसे पुरुष की मैं पत्नी बड़ी ही व्यसनिनी हूँ, एक क्षणमात्र भी उनके बिना देहधारण में शक्ति नहीं रखती ॥४३॥ ब्रह्मन्, आप सुनिये-उन्होंने मुझको भार्यारूप में कैसे प्राप्त किया और हम लोगों का यह स्वाभाविक प्रेम कैसे बढ़ा ॥४४॥ भगवन्, पहले की बात है जिस समय उत्पन्न हुए मेरे स्वामी की अभी बाल्यावस्था ही थी, कुछ ज्ञान भी उनको था, वे सज्जन थे, अपने निर्मल स्थान में अकेले ही रहते थे, उस समय उन्होंने

विचार किया – मैं जैसे स्वाध्यायनिष्ठ हूँ, वैसी ही अनुरूप मेरी भार्या कैसे उत्पन्न हो सकती है। यों दीर्घकालतक विचार करके उन्होंने कुछ निश्चय किया, फिर हे कमल के सदृश नेत्रोंवाले मुने, उस मेरे पति ने स्वयं ही अनिन्दित अंगोंवाली मेरा ऐसे निर्माण किया, जैसे निर्मल ज्योत्स्ना का चन्द्रमा करता है ॥४५–४७॥ अनन्तर, अपने पति के द्वारा मन से निर्मित अतएव मानसी भार्या मैं मन्दारवृक्ष की लता के समान, उत्तम सौंदर्य से पूर्ण ऐसे वृद्धि को प्राप्त होने लगी, जैसे बसन्त में पुष्पमंजरी॥४८॥ मैनें साथ–साथ उत्पन्न हुए उत्तमोत्तम वस्त्र धारण किये । सभी प्राणियों के चित्त मेरी ओर आकृष्ट होने लगे । मेरा बदन पूर्णचन्द्रबिम्ब के सदृश अत्यन्त ही मनोरम हो गया। मैं निर्मल तारों से युक्त आकाश के सदृश चमकदार क्रमशः बन गई ॥४९॥ फूलों के मुकुलों के सदृश उन्नत स्तनोंवाली मैं समग्र गुणों से धीरे–धीरे ऐसे सुशोभित होने लगी, जैसे पल्लवरूप कर से युक्त लता वर–श्रेष्ठ वन से सुशोभित होने लगती है ॥५०॥ मैं सदा ही सभी तरह के जन्तुओं के हृदयों का अपहरण करनेवाली हो गई, हिरन के जैसे बड़े–बड़े नेत्रोंवाली मुझे देखकर कामदेव को भी मुझसे उन्माद होने लग गया ॥५१॥ मैं निरन्तर केवल लीलाविलासों में ही निरत रहने लगी, कौतुकसे तिरछे कटाक्ष मेरे होने लगे, मैं सदा गान और वाद्य में प्रेम करने लगी, भोगों से कभी तृप्त न हुई, मेरा दिनपर दिन भोगों में अनुराग बढ़ता ही गया ॥५२॥ मैं अपने उत्तम भाग्य को ही मुख्य भोग समझने लगी, समदर्शी अपने पति के मन से उत्पादित (मन की कल्पनारूप) मैं लक्ष्मी, अलक्ष्मी–दोनों की मानों प्रिय सखी बन गई यानी मैं भी सम्पत्ति और विपत्ति में एकरूप रहती हूँ ॥५३॥ प्रिय मुने, मैं केवल अपने ब्राह्मण पति के घर को ही धारण नहीं करती , परन्तु पति के मनोमयरूप मैं उनके मन से कल्पित समस्त त्रिलोकी को धारण करती हूँ ॥५४॥ मुनिवर, मैं पुत्र, पौत्र आदि से कुलको बढ़ाने वाली भार्या हूँ, मैं पोष्यवर्ग का पालन करती हूँ और मुझमें त्रिलोकीरूप घर की सर्वविध सामग्री के भार को ढोने की पूर्ण सामर्थ्य है ॥५५॥ तदनन्तर मैं पूर्ण युवती हो गई, मेरे वक्षःस्थलपर महान् उन्नत स्तन हो आये । अब मैं अपने विलासरूप रस से ऐसे शोभित हूँ, जैसे कि उल्लसित हो रहे फल–पुष्पों के गुच्छों से लता ॥५६॥ मेरे पतिदेव तो दीर्घसूत्री (आलसी), स्वाध्याय में निरत और बड़े तपस्वी हैं, किसी अज्ञात अपेक्षा से आज तक भी इस गुणसम्पन्न रमणी के साथ उन्होंने विवाह नहीं किया ॥५७॥ महाराज, मैं अधिक क्या कहूँ, पति के साथ मैं यौवन से प्राप्त हुए भोगविलास की इच्छा रखती हूँ यानी अपने मनोरथ से ही उन्हें पति मान चुकी हूँ। इसलिए उनको भोगों के व्यसन से रहित देखकर मैं ऐसे जल रही हूँ, जैसे अग्नि में कमलिनि ॥५८॥ मैं शीतपवन के कारण चंचल हुई कमलिनियों में भी रात–दिन ऐसे अंगदाह का अनुभव करती हूँ, जैसे कि राख आदि को हटाकर तेज किये गये अंगारों के स्थानों में ॥५९॥ कुसुमों की वृष्टियों से पूर्ण समस्त उद्यानभूमि भी मुझे तपी हुई बालू से युक्त शून्य मरुभूमि ही प्रतीत होती है ॥६०॥ महाराज, जलकल्लोल, कह्लार और कमलों के ढेर से कोमल स्पर्शयुक्त एवं सारसपक्षियों की

मधुर ध्वनि से सरस तालाब भी मुझे नीरस लग रहे हैं ॥६१॥ मेरे शरीर के दाह की शान्ति के लिए सखियाँ मुझे पुष्कर, मन्दार, कुईं आदि फूलों की शय्यापर सुला देती हैं, परन्तु मैं इसपर भी खूब दाह का अनुभव करती हूँ, जिस तरह काँटोंपर लुढ़कती हुई रमणी ॥६२॥ कुईं, नीलरक्त, कहूलार, कदली आदि की शय्याएँ मेरे अंग के स्पर्शमात्र से जनित ताप से – गर्मी से पहले तो सूख जाती है, फिर मर्मर होकर भस्म हो जाती हैं ॥६३॥ ब्रह्मन्, जो पदार्थ सुन्दर, उचित, स्वादु, विचित्र और मनोहर है, उन्हें देखकर मैं अपने भीतर से अश्रुपूर्णनेत्र हो जाती हूँ–मेरी वे बड़ी–बड़ी आँखें आँसुओं से भर जाती हैं ॥६४॥ मुनिवर, कामरूपी अग्नि से सन्तप्त, मेरे नयनाश्रु छम–छम शब्दपूर्वक कमलोत्पलों की पंक्तियों के ऊपर गिरकर उनके भीतर प्रविष्ट हो जाते हैं और अपने ताप से उन्हें सूखाकर स्वयं भी सूख जाते हैं ॥६५॥। उद्यानभागों में सखियों द्वारा कदली, कन्दली आदि के कन्धोंपर विरचित हिंड़ोंलों पर दोलनलीला से जब मैं झुलाई जाती हुँ, तब मैं लज्जा से मुख छिपाकर रोती हूँ ॥६६॥ हिमकणों के निकर से संकीर्ण केले के पत्तों से बनाये गये मण्डप को मैं गर्मी उगलने वाले खैर के अंगार के सदृश भीषण ही देखती हूँ ॥६७॥ कमलिनि के नालरूप हिंडोले पर जब मैं सारस के साथ सारसी को देखती हूँ, तब मैं दीनवदन होकर अपने यौवन की निन्दा करती हूँ ॥६८॥ मैं रम्य पदार्थ में रोती हूँ, मध्यवर्ती (न रम्य और न अरम्य ऐसे बीच के) पदार्थ में सौम्य हो जाती हूँ, अरम्य प्रसंग में यानी मूर्छा, जड़ता आदि अवस्था में प्रसन्न रहती हूँ, क्योंकि उस समय दीन हुई मैं क्या हूँ, यह नहीं जानती, उस स्थिति में अहंकार का विलय हो जाने से उसका दुःख जाना नहीं जा सकता ॥६९॥ हे मुने, प्रत्येक दिशा में कुन्द, मन्दार, कुमुद और हिम मैंने कामाग्नि से दग्ध हुए जीवों के राख के सदृश ही देखे ॥७०॥ भगवन्, अत्यन्त नीलवर्ण तमाल के कोमल पल्लव, बिसतन्तुओं की लता, नील–रक्त कमल, कह्लार, कुन्द, कदलीपत्र और मालती के फूलों की बनायी गयी शय्याओं को अंगो के संचालन से सुखा रही मैंने अपने यौवन के अनेक दिन निरर्थक ही गँवा दिये ॥७१॥

चौसठवाँ सर्ग समाप्त

पैंसठवाँ सर्ग

धारणा के अभ्यास से प्राणों पर विजय पाकर सिद्ध हुई उस विद्याधरी के द्वारा
महाराज वसिष्ठजी के प्रति 'समय से मेरा वह विषयानुराग वैराग्य में परिणत हो गया।

विद्याधरी ने कहा : महाराज, तदनन्तर दीर्घ समय बीत जानेपर मेरा वह विषय प्रेम उस प्रकार वैराग्य में परिणत हो गया, जिस प्रकार हेमन्त ऋतु के प्रारम्भ में पल्लव रसरहित होकर विरागभाव में परिणत हो जाता है ॥१॥

कैसी विचारधारा से अनुराग विरागभाव में परिवर्तित हो गया ? इसे कहती है ।

पहले तो मैंने यह विचारा–मेरा स्वामी अब बूढ़ा हो गया, एकान्तमें ही उसे सदा प्रेम है, नीरस है, मेरी ओर उसको तनिक भी स्नेह नहीं, मौनव्रतधारी है, उसका चित्त अति कोमल है, अतः अब मैं अपने जीवन से क्या फल मानूँ ॥२॥ बाल्यकाल से ही यदि वैधव्य हो गया हो, तो वह भी अच्छा, या मरण भी अच्छा, व्याधि भी अच्छी, आपत्ति भी अच्छी, परन्तु अपने मन के अनुकूल यदि पति न हो, तो वह कभी भी अच्छा नहीं है ॥३॥ स्त्रियों का सफल जन्म और अविखण्डित सौभाग्य यही है कि तरुण, रसिक और कोमल बर्ताव करनेवाला पति हो ॥४॥ जिसका पति नीरस हो, वह स्त्री विनष्ट ही समझनी चाहिए, जो बुद्धि संस्कारयुक्त न हो, वह नष्ट ही समझनी चाहिए, जो श्री (लक्ष्मी) दुर्जनों से उन्मुक्त यानी दुर्जनों के पास हो वह नष्ट ही समझनी चाहिए ॥५॥ वही स्त्री स्त्री है, जो अपने पति से अनुगत हो, वही श्री श्री है, जो सज्जनों से अनुगत हो तथा वही बुद्धि, वही साधुता साधुता और वही समदृष्टिता समदृष्टिता है, जो शान्ति आदि गुणों से मधुर और उदार हो ॥६॥ महाराज, यदि पति और पत्नी निरन्तर एक दूसरे के प्रति प्रेम करते हों, तो न मानसिक पीड़ा, न शारीरिक पीड़ा, न आपदा और न दुष्ट ईतियाँ (उत्पात हेतु अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डियाँ, मूसे, पक्षी तथा आसन्न राजे) ही बाधा पहुँचाती हैं ॥७॥ विकसित फूलों के स्थान तथा नन्दन वनकी उद्यान भूमियाँ उन स्त्रियों को मरुभूमि के सदृश संताप पहुँचाती हैं, जिन स्त्रियों का पति प्रतिकूल है अथवा है ही नहीं ॥८॥

इसलिए स्त्रियों के लिए सभी वस्तुओं का त्याग सुकर (सरल) है, परन्तु एक पति का त्याग दुष्कर है, यह कहती है।

भगवन्, इस जगत् में जितने भी पदार्थ हैं, उन सभी को अपनी इच्छा के अनुसार गुण की अल्पता से या प्रमाद से स्त्री छोड़ सकती है, परन्तु पति को छोड़कर, यानी स्त्री पति को छोड़कर सभी वस्तुओं का परित्याग अनायास कर सकती है ॥९॥ हे मुनिश्रेष्ठ, स्थिर यौवनयुक्त मैंने अनेक वर्षों तक ये दुःख भोगे, मेरे दुर्भाग्य का विस्तार तो जरा देखिए ॥१०॥

अथवा मेरा यह भाग्योदय ही है, इस आशय से कहती है।

अनन्तर, उसी परिताप के कारण मेरे पति की ओर जो मेरा अनुराग था, वह क्रम से नीरस होकर विराग के रूप में उस प्रकार परिवर्तित हो गया, जिस प्रकार हिम से दग्ध कमलिनी का राग क्रमशः नीरस होकर विराग के रूप में परिवर्तित हो जाता है ॥११॥ हे मुने, उक्त क्रम से विराग की वासनाएँ प्राप्त कर सभी पदार्थों में उन्हीं को लगा रही हूँ, अब मैं आपके उपदेश से अपनी मुक्ति चाहती हूँ ॥१२॥

इस समय में भी, जब कि आप–जैसे उपदेशकर्ता का मुझे लाभ भी हो गया है तब, मैं यदि विश्रान्ति की इच्छा न करूँ, तो मरण होना ही अच्छा है, इस आशय से कहती है।

महाराज, जिन्होंने अपने अभीष्ट अर्थ प्राप्त नहीं किये हैं और परम आत्मपद में जिनकी बुद्धि विश्रान्त नहीं हुई है, ऐसे मरणतुल्य दुःखों के प्रवाह में बह रहे मनुष्य का जीने की अपेक्षा मरण ही अच्छा है ॥१३॥

सहधर्मचारिणी स्त्रियों का पति के समान ही स्वभाव रहना उचित है । इसलिए पति के साथ में ही हमको उपदेश देना चाहिए, ऐसा कहती है ।

आज भी मुक्ति की इच्छा कर रहे वह मेरे पति रात-दिन मन से मन पर विजय पाने के लिए उस प्रकार तैयार हैं, जिस प्रकार राजा राजा की सहायता से दूसरे राजा के ऊपर विजय पाने के लिए तैयार रहता है ॥१४॥ हे ब्रह्मन्, उस मेरे पति का और मेरा जो अज्ञान है, उसका विनाश करने के लिए आप न्याययुक्त उपदेशवाणी से, विस्मृत कण्ठहार के सदृश, आत्मा का बोधन कीजिए ॥१५॥ जब मेरी परवाह ही न कर मेरे पति अपनी आत्मा में अवस्थित हुए, तभी जगत् स्थिति में वैराग्य ने मुझे नीरसता पैदा कर दी ॥१६॥

अब धारणा के अभ्यास में दीर्घ काल से स्थिति होने के कारण उपदेशग्रहण के लिए मैं पात्र हूँ, यह कहती है ।

जगत्स्थिति में नीरसता हो जाने से अब मैं अभीष्ट, तीव्र, आकाश में संचरण करने की सामर्थ्य देनेवाली खेचरी मुद्रारूप धारणा को बाँधकर समस्त संसार की वासनाओं से रहित होकर स्थित हूँ ॥१७॥ उस प्रकार धारणा से मैंने आकाश में गमन करने की सामर्थ्य प्राप्त कर फिर मैंने सिद्धों के साथ संवादफल देनेवाली धारणा का अभ्यास किया । इसीसे सिद्धों के एकान्त स्थान में आकर आपके साथ संवाद कर रही हूँ ॥१८॥ उसके बाद मैंने अपने वासस्थानभूत ब्रह्माण्ड के पूर्वापर घटित आकार को शास्त्र और योगदृष्टि से देखने के निमित्त तदाकार (अपने वासस्थानभूत ब्रह्माण्डाकार) भावनारूप धारणा बाँधकर स्थित हुई और वह धारणा भी मुझे सिद्ध हो गई ॥१९॥ ब्रह्मन्, तदनन्तर अपने वासस्थानभूत ब्रह्माण्ड के अन्दर की सभी वस्तुओं को देखकर बाहर निकली और निकलकर मैंने पूर्ववर्णित अपने ही जगत् के अन्दर की इस ब्रह्माण्ड के लोकालोक पर्वत के ऊपर स्थित एक स्थूल शिला देखी ॥२०॥

इससे पहले कभी भी इस ब्रह्माण्ड को मैंने या मेरे पति ने नहीं देखा था ,क्योंकि उसे देखने की कभी इच्छा ही नहीं हुई, यह कहती है ।

हे मुने, इतना समय बीत जाने पर भी पहले हम दोनों पति-पत्नी को इसे देखने की कभी कुछ इच्छा ही नहीं हुई ॥२१॥ मेरे स्वामी तो केवल वेदों के अर्थ के विचार में ही सदा मग्न रहते हैं, इससे वे यह जानते ही नहीं कि कितना समय बीत गया, कितना वर्तमान है, कितना भविष्यत् है, क्या ब्रह्मतत्त्व है । अहो, वे कितने निस्पृह हैं ॥२२॥ इसीलिए मेरे पति विद्वान होते हुए भी आत्मपद को प्राप्त नहीं कर सके, आज वे और हम – दोनों ही प्रयत्नपूर्वक (आपके उपदेश-श्रवण, मनन आदि

प्रयत्नपूर्वक) आत्मवस्तु की चाह कर रहे हैं ॥२३॥ अतः हे ब्रह्मन्, आप हम लोगों की प्रार्थना को सफल करने के लिए सर्वथा समर्थ हैं, बड़े लोगों के सम्मुख आये हुए कोई भी प्रार्थी कभी निष्फल होकर नहीं जाते॥२४॥

इस अर्थ के निमित्त तुमने दूसरे सिद्धों से प्रार्थना क्यों नहीं की, इस पर कहती हैं।

हे मानद, आकाशमण्डल में सिद्धसमूहों में निरन्तर घूम–फिर रही मैं आपके सिवा दूसरे किसी को भी अज्ञानरूपी वनका दावानल नहीं देखती॥२५॥

इस प्रकार अपने सम्पूर्ण वृतान्त को बतलाकर 'शरणागत मेरी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, यों महाराज वसिष्ठजी से प्रार्थना करती है।

हे ब्रह्मन्, हे करूणा के सागर, चूँकि सज्जन पुरुष किसी कारण के बिना ही अर्थी जनों की अभिलाषाएँ पूरी कर देते हैं, इसलिए आपकी शरण में आई हुई मुझ अबलाका तिरस्कार (उपेक्षा) आप नहीं कर सकते। उपेक्षा ही प्रार्थीजनों का तिरस्कार है ॥२६॥

पैंसठवाँ सर्ग समाप्त

छासठवाँ सर्ग

अपनी स्थिति और अपना घर तुमने अवकाशरहित शिला के पेट में कैसे किया,
इस प्रकार पूछी गई विद्याधरी द्वारा जगत् के विस्तार का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामचन्द्रजी, वह ब्रह्माण्ड के पूर्ववर्णित उर्ध्व आकाश में स्थित तथा कल्पित आसन पर बैठी हुई थी, जिसने अपना वर्णित वृतान्त कहा, फिर प्रश्न किया ॥१॥ मैंने पूछा कि हे बाले, बिल्कुल अवकाश से रहित शिलापेट में तुम्हारे जैसे शरीरधारियों की स्थिति कैसे होगी, उसमें हिलना–डोलना कैसे होगा और उसमें घर से भी तुम्हें लाभ क्या होगा ? सारांश यह कि जहाँ प्रवेश ही असम्भव है वहाँ ये सब बातें हो ही नहीं सकती ॥२॥

आपने जितने की असंभावना की है, उतना ही उसमें है, यह बात नहीं है, किन्तु ऐसा दूसरा भी जगत् उसमें है, यों विद्याधरी प्रश्न का उत्तर देती है।

विद्याधरी ने कहा : हे मुने, जैसे आपका यह जगत् विस्पष्टरूप से विराजमान है, वैसे ही हमारा भी जगत् उस शिलापेट में विराजमान है, वह भी सृष्टिरूप संसार से युक्त है ॥३॥ वहाँ भी पाताल में नाग रहते हैं। पृथ्वी पर पर्वत स्थित है, जल भी लबालब भरें हैं और आकाश में हवा भी चलती है ॥४॥ उसके भीतर यहाँ के जैसे ही – जल से समुद्र सुशोभित है, प्रजावर्ग भी धीरे–धीरे गमन आदि व्यवहार करते हैं , निरन्तर भूत उत्पन्न होते हैं और निरन्तर मरते हैं ॥५॥ यहाँ के समान ही वहाँ पर भी वायु चलती है, जल बहते हैं, आकाश में नक्षत्र आदि के रूपों में तथा अपने–अपने शरीर आदि के रूप में देवता भासते हैं। पर्वत स्थित हैं, गुणों का उदय होता है और पृथ्वी

में राजे भी चलते-फिरते हैं ॥६॥ वहाँ देवता, असुर और मनुष्यों की चंचल व्यवहारपरंपरा यहाँ के सदृश कल्पतक उस तरह विद्यमान रहती है, जिस तरह समुद्रतक नदीधारा विद्यमान रहती है ॥७॥ भूलोकरूपी तालतल में कल्पपर्यन्त और आकाश तक रहनेवाले दिनरूपी कमल भी यहाँ हुए हैं, दिनरूप कमलों में लोल(चंचल)भम्र ही भ्रमर हैं, वे विकसित और निमीलित भी होते हैं ॥८॥ जैसा कि इस जगत् में है, ठीक वैसा ही उस जगत् में भी चन्द्रमा अपनी ज्योत्सनारूपी चन्दन से चारों दिशाओं में लेपनकर रात्रि में रोहिणी का भीतरी और बाहरी अन्धकार निवृत्त कर देता है ॥९॥ वहाँ भी सूर्य नाम की दीपिका, जो कि दसों दिशारूपी वृत्तियों का स्वाद लेने में (यानी द्रवात्मक स्नेह का भोग करने के लिए) रत और वात रूपी यन्त्र से चालित है। वह अन्तरिक्ष एवं पृथ्वीरूप घर के अन्दर जगमगाती है ॥१०॥

द्यावापृथ्वी का अब घूम रहे नक्षत्रमण्डल के कारण घरट्ट के स्वरूप से वर्णन करती है ।

आकाशमण्डल में वहाँ पर भी नक्षत्रों का चक्ररूप घरट्ट (चक्की) घूमता है । और अण्डज आदि चार प्रकार के भूतों को, जो एक तरह से चावलरूप है, सृष्टि के आरम्भ से लेकर बराबर पीसती रहती है, यह घरट्ट यन्त्र ब्रह्मा ने अपने संकल्प से बनाया है, वायुसंचारचारियों से यानी वातरश्मियों से यह अवष्टब्ध है, ध्रुवरूप खूँटे से ऊपर थमा हुआ है तथा अन्तरिक्ष एवं पृथ्वी में कपाट के सदृश बन्द करने और खोलने का स्वभाव रखनेवाले मेघों से घर्घर ध्वनि करता रहता है, यह नियति से संचालित है ॥११,१२॥

वहाँ पर भी यहाँ के सदृश ही पृथ्वी आदि लोक द्वीप, पर्वत आदि से भरे हैं, यह कहती है ।

वहाँ पर भी यहाँ के सदृश भूमि, द्वीप, सागर और पर्वतों से आकाश विमानों के संनिवेश जैसे रचित नगरों से तथा पातालमण्डल दैत्य, दानव एवं नागों के समूहों से पूर्ण है ॥१३॥ वहाँ पर भी नीला भूतलमण्डल स्थित है । वह ठीक आचरणों से चंचल त्रिजगतिरूप लक्ष्मी का चमक रहे मणियों से युक्त चंचल कुण्डल-सा लगता है ॥१४॥ वहाँ पर स्थावर जंगमात्मक प्राणियों का दल-बुद्धि आदि से शून्य बाह्य वायु की क्रिया के सदृश-भीतरी सूक्ष्म प्राणनाम की स्पन्दसंवित् को लेकर जन्म आदि विकार प्राप्त करता है ॥१५॥ वहाँ पर भी यहाँ के सदृश मुनि लोगों का मुनिक्रियाओं ने, पृथ्वी का समुद्र आदि जलोंने, वायुओं ने बन्दर के सदृश चपलता का, आकाश ने अवकाशपन का और सूर्यादि प्रकाशों ने प्रकाशन का अवलम्बन किया है यानी सब वस्तुओं के स्वभाव यहाँ के सदृश ही हैं ॥१६॥ वहाँ पर भी जनम और मरण के भागी बन्दर आदि वृक्षचर, मनुष्य आदि भूचर, मत्स्य आदि जलचर, मृग आदि पर्वतचर, पक्षी, देवता आदि आकाशचर, कीट, सुर, असुर और जलनिवासी बीच-बीच में खूब घूमते फिरते हैं ॥१७॥ यहाँ के सदृश वहाँ भी देवता, असुर और गन्धर्वों के सहित समस्त प्रजा को काल कल्प, युग एवं वर्षरूपी अपने हाथों से उस प्रकार पालन आदि से भोगता है, जिस प्रकार

पशुपालक अपने पशुओं को ॥१८॥ अनन्त, अगाध, पुष्कल एवं गम्भीर कालरूपी महासागर में आवर्त और विवर्तरूप कालगति से वे सुरासुर आदि जलजन्तु उत्पन्न हो होकर लीन हो जाते हैं ॥१९॥ जिसमें सभी वस्तुओं का विनाश हो जाता है, ऐसे अव्याकृत आकाश में वायु से उड़ाये गये चौदह प्रकार के प्राणी के प्राणरूपी रजकण, शरत्काल के मेघों के सदृश, विलीन हो जाते हैं ॥२०॥ यहाँ के सदृश वहाँ पर भी द्यु शुभ्र आकाशरूप वस्त्र धारणकर तथा मस्तक में कल्पपर्यन्त तारों का समूह धारण कर चन्द्रसूर्यरूपी दो चामरों को मानों डुलाती हुई सातों भुवनों को जागृत करती है ॥२१॥ वहाँ पर भी यहाँ की नाईं स्थावर प्राणियों के सदृश पवन, भूकम्प, वृष्टि और धूप सहनेवाली दिशाएँ स्थित हैं ॥२२॥ ज्योतिषियों द्वारा और अन्यों द्वारा अज्ञात उत्पात के हेतु मेघ, विद्युत्पतन, भूकम्प तथा ग्रह आदि से प्राणियों की इष्ट–अनिष्टरूप गति वहाँ पर भी होती है ॥२३॥ जैसे चौदह भुवनों के प्राणियों को काल कल्प तक पीता है, वैसे ही वहाँ भी सात समुद्रों का जल जलती हुई औवाग्नि (बड़वानल) पीती हैं ॥२४॥

कथित सब वार्ता का संक्षेप से उपसंहार करते हैं।

वहाँ पर भी पातालयोग्य प्राणी पाताल में प्रवेश करता है, आकाशबिल में विलास करने योग्य प्राणी आकाश में जाता है, दिशाओं में भ्रमण करने योग्य प्राणी दिशाओं में भ्रमण करता है । संक्षेप से चारों ओर प्राणी समूह वायु के संचार के सदृश, पर्वत, महासमुद्र मण्ड़ल तथा अन्यान्य द्वीपान्तरों में भ्रमण करते हैं, इसलिए यहाँ जितना व्यवहार है, वह सब वहाँ पाषाण की शिला में भी है, यह आप जानिये ॥२५॥

छासठवाँ सर्ग समाप्त

सड़सठवाँ सर्ग

कौतुक से महाराज वसिष्ठजी का शिला के पास जाना, वहाँ जगत् न देखना और
उनके पूछने पर विद्याधरी का अभ्यास की महिमा कहना।

विद्याधरी ने कहा : हे मुने, यदि आप मेरी बात को असंभव मानते हों, तो स्वयं ही उस सम्पूर्ण शिलोदर सृष्टि को देखने के लिए कृपा कीजिए और वहाँ चलिए, क्योंकि बड़े लोगों को प्राप्त आश्चर्यकारक घटनाओं में बड़ा ही कौतुक होता है ॥१॥ भद्र, श्रीरामजी, उस तरह उसके कहने पर मैंने 'तथास्तु' कहकर उसकी बात स्वीकार कर ली और आकाशरूपिणी उस रमणी के साथ शून्यात्मक आकाशमण्डल में जाने के लिए शून्यरूप मैं ऐसे उद्यत हुआ, जैसे झंझावात के साथ चम्पकादि पुष्पों की सुगन्ध ॥२॥ तदन्तर उसके साथ में दूर के शून्यरूप आकाशमार्ग को लाँघकर आकाशमण्डल में स्थित देवता आदि प्राणियों के समीप जा पहुँचा ॥३॥ कुछ समय बाद इसी आकाश में उस देशादि प्राणियों के संचरण मार्ग को भी पारकर मैं उसके साथ श्वेत मेघ सदृश

अतिनिर्मल लोकालोक पर्वत के शिखर के आकाशभाग में पहुँच गया॥४॥ उत्तर दिशा के पूर्वभागपर स्थित चन्द्रसदृश अतिधवल आकाश पीठ से नीचे आकर मैं उसके द्वार उस शिला के पास ले जाया गया । वह शिला बड़ी ही ऊँची और रुप-रंग में तपे सोने के सदृश कल्पित थी ॥५॥ सुवर्णमयी सुमेरुतटी के सदृश वह बहुत बड़ी ऊँची शुभ्र शिला मैंने चारों ओर से खूब देखी, परन्तु उसमें जगत् नहीं दीख पड़ा ॥६॥ श्रीरामजी जगत् को न देखकर मैंने उस सुन्दरी बाला से पूछा कि यहाँ कहाँ पर वे जगत् हैं, जिनका तुमने मुझसे वर्णन किया था, कहाँ रुद्र, सूर्य, अग्नि, तारा आदि हैं तथा कहाँ यहाँ सात दूसरे-दूसरे लोक हैं ॥७॥ हे रमणि, यहाँ कहाँ पर समुद्र, आकाश एवं दिशाएँ हैं, कहाँ प्राणियों के जन्म और विनाश हो रहे हैं, कहाँ बड़े-बड़े मेघमण्डल हैं और कहाँ तारों से युक्त चमकिले आकाशमण्डल का आडम्बर है ? ॥८॥ कहाँ पर्वतों के शिखरों की श्रेणियाँ हैं, कहाँ बड़े-बड़े लवण-समुद्रों की पंक्तियाँ हैं, कहाँ सात द्वीपरूपी कंकण हैं और कहाँ तपे सोने के सदृश भूमि है ? ॥९॥ कहाँ क्रिया, काल और कल्पनाएँ हैं, कहाँ भूतों के (देवता आदि के) निवासस्थान भ्रम हैं, कहाँ विद्याधर एवं गन्धर्व हैं तथा कहाँ मनुष्य, देव और दानव हैं ? ॥१०॥ कहाँ ऋषि और राजा हैं, कहाँ उनमें मुनि हैं, कहाँ नीति-अनीति की रीति है, कहाँ हेमन्त की रात्रियाँ हैं और कहाँ है-स्वर्ग-नरक के विभ्रम ? ॥११॥ कहाँ पुण्य-पाप की गतियाँ हैं, कहाँ काल की कलाओं का विलास है, कहाँ सुर और असुरों का युद्ध है और यहाँ कहाँ हैं -द्वेष एवं स्नेह की पद्धतियाँ ? ॥१२॥ श्रीरामजी, ज्योंही मैं इस तरह से उससे प्रश्न कर रहा था त्योंही आश्चर्य से व्याकुल मुझको देखकर शिला के सदृश निर्मल नेत्रवाली एवं सुन्दर रूपवाली उस रमणी ने कहना आरम्भ किया ॥१३॥

विद्याधरी ने कहा : भगवन्, मैं भी अब पहले के सदृश अपना सब कुछ इस पत्थर की शिला में नहीं देख रही हूँ । पर मैंने जिन मनुष्य, गन्धर्व आदि का पूर्व में वर्णन किया है, उन सबको मैं दर्पण में प्रतिबिम्बिरूप से स्थित जो प्रसिद्ध नगर से दूसरा नगर है, उसके सदृश प्रतिबिम्बरूप से स्थित देखती हूँ ॥१४॥ हे मुने, हमको जो उन लोगों का दर्शन हो रहा है, उसमें कारण नित्य का अनुभव ही है, वह नित्य का अनुभव आपको है नहीं, इसलिए उसका अभाव ही जगत् के न रहने में कारण है ॥१५॥

समस्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों के अवलोकन में समर्थ विशुद्ध मनोरूप देह के विस्मरण से भी आपको वह जगत् नहीं दीखता और हमको दीखता है, पर अस्फुट यह कहती है ।

दूसरी बात यह कि मैंने चिरकाल तक अपने लोगों की यह जो एक द्वैत विषय की कथा चली, उससे विशुद्ध सूक्ष्म मनोमात्ररूप देह का हम लोगों को विस्मरण हो गया है, इसलिए आपको जगत् नहीं दीखता और हमको अस्फुट दीखता है ॥१६॥ मेरा भी यहाँ जो जगत था वह प्रायः नष्ट ही हो चुका है, क्योंकि यद्यपि उसका मैंने चिरकाल तक अभ्यास किया है, फिर भी अब आकाशलता के सदृश स्पष्ट नहीं दीखता ॥१७॥ जो जगत् मेरे लिए पहले अत्यन्त विस्पष्ट था, उसको मैं अब

दर्पण में प्रतिबिम्ब के सदृश अस्पष्ट देखती हूँ ॥१८॥ हे नाथ, हम लोगों का परस्पर जो दीर्घकाल तक निरर्थक संभाषण हुआ, उससे उत्पन्न व्यथा से अपना अत्यन्त विशुद्ध एवं व्यापक स्वास्थ्य (धारणा के अभ्यास से जनित अपनी मनोरूप देहरूपता) विस्मृत हो गया ॥१९॥ भगवन्, जो भी अभ्यासजनित संस्कार शुद्ध चिदाकाश के रस से उद्‌बुद्ध होकर प्रकट होता है, उसी रूपका भीतरी अन्तःकरण मानों हो ही जाता है, यही बाल्यावस्था से लेकर वस्तुस्थिति है ॥२०॥

अतएव अभ्यास के बिना पुरूष के श्रवण-मनन निष्फल हैं, यह कहती है ।

भद्र, वह कला न उत्तम शास्त्रों से सिद्ध होती है, न उत्तम न्याय से सिद्ध होती है, किन्तु अपरिमित उद्योग से युक्त अभ्यास से ही सिद्ध होती है । अभ्यास से वह सिद्ध नहीं होती, यह बात नहीं, किन्तु अवश्य सिद्ध होती है, यह आप जानिए ॥२१॥

सतत अभ्यास के लिए कोई असाध्य वस्तु है ही नहीं, यह कहती है ।

भगवन्, यह जो आपके साथ संवादात्मक कथाभ्रम हुआ, उसने अपने जगत् के निरन्तर अभ्यास के वश से पूर्वजगत् के भ्रम से ग्रस्त मुझको वश में कर दिया, इसलिए वह संस्कार तिरोहित हो गया, क्योंकि भूतकाल का भ्रम और वर्तमानकाल का भ्रम– इन दोनों में वर्तमानकाल का भ्रम बलवान होने के कारण विजयी हुआ ॥२२॥

अतएव लौकिक या दैविक शिल्पविद्या आदि फलों की इच्छा कर रहे पुरुषोंको गुरुजी द्वारा उपदिष्ट पद्धति से बार-बार किया गया उसका अभ्यास ही शरण है, दूसरा नहीं, यह कहती है ।

हे मुने, अपनी-अपनी मनपसन्द वस्तु चाहने वालों के लिए गुरुओं द्वारा उत्तम रीति से उपदिष्ट कर्म करने की पद्धति से बार-बार जो किया जाता है, उसी से अभीष्ट वस्तु उन्हें मिलती है, दूसरे किसी प्रकार से नहीं –अन्य शरण है नहीं ॥२३॥

जब अनादि अनन्त संसाररूप अनर्थ भी ज्ञान के अभ्यास से नष्ट हो जाता है तब ऐसा कौन अनर्थ बचने पाता है, जो अभ्यास से उसकी चिकित्सा न हो सके, यह कहती है ।

हे मुने, यह इस प्रकार का प्रौढ़ अहंरूप जो बड़ा अज्ञानभ्रम विद्यमान है, वह ज्ञान की चर्चा यानी श्रवणादि के अभ्यास से ही निवृत हो जाता है, भला देखिये तो सही अभ्यास का फल ॥२४॥

अभ्यास में उत्तमता होने पर बालकों में भी प्रौढ़ता देखी जाती है और अभ्यास के छूट जानेपर बड़े लोगों को भी व्यामोह होने लगता है, इस विषय मे हम दोनों ही दृष्टांत हैं, यह कहती है ।

मैं एक शिला की अबला हूँ, उसमें भी बाला और आपकी शिष्या हूँ, फिर शिला की सृष्टि को देखती हूँ, आप सर्वज्ञ और गुरु हैं तो भी नहीं देखते, यह बड़ा आश्चर्य है, देखिए तो यह अभ्यास का चमत्कार ॥२५॥ अभ्यास से धीरे-धीरे अज्ञानी भी ज्ञानी बन जाता है, पर्वत भी चूर्ण हो जाता है, अचेतन बाण भी सूक्ष्मतम लक्ष्य को प्राप्त करता है, देखिए अभ्यास की कितनी महत्ता है ॥२६॥ इस तरह मिथ्याभूत जो चारों ओर से प्रौढ़ अज्ञानरूपी महामारी है, वह विचाररूप अभ्यास से ही

शान्त हो जाती है, देखिए अभ्यास का माहात्म्य ॥२७॥ मुने, अभ्यास से ही कटु पदार्थ अभीष्ट हो जाता है, अभ्यास से ही किसीको नीम अच्छा लगता है और किसीको मधु अच्छा लगता है ॥२८॥ समीप के कारण अभ्यासयोग से ही अबन्धु–बन्धुरूप बन जाता है और दूरी के कारण अनभ्यास से बन्धुओं में भी स्नेह थोड़ा हो जाता है ॥२९॥

देह में भौतिकता की भ्रान्ति भी स्वाभाविक भौतिकता के अभ्यास से ही होती है, यह कहती है।

भावनाभ्यास योग से ही केवल विशुद्ध चिदाकाश रूप यह आतिवाहिक देह आधिभौतिक रूप बन जाती है ॥३०॥ यह आधिभौतिक देह धारणा के अभ्यास की भावना से ही पक्षियों के सदृश आकाश में उड़ने की सिद्धि प्राप्त करती है, देखिए यह भी अभ्यास का ही प्रभाव है ॥३१॥ कदाचित् श्लाघारूप थोड़े से अपराध से पुण्य भी विफल बन जाते हैं, माताएँ विफल बन जाती हैं और धन भी विफल बन जाता है, परन्तु कभी अभ्यास विफल नहीं होता ॥३२॥ निरन्तर के अभ्यास से दुःसाध्य पदार्थ सिद्ध हो जाते हैं, शत्रु मित्र बन जाते हैं तथा औषध के निमित्त अभ्यास से विष भी अमृत बन जाते हैं ॥३३॥

अतएव शास्त्रीय शुभाभ्यास कदापि नहीं छोड़ना चाहिए, यह कहती है।

इष्ट वस्तु के विषय में जिसने अपना अभ्यास छोड़ दिया, वह मनुष्यों में अधम है, वह उस वस्तु को ऐसे प्राप्त नहीं कर सकता, जैसे वन्ध्या अपने पुत्र को ॥३४॥

तब क्या शास्त्रविहित होने से स्त्री, पुत्र, धन, सत्कर्मानुष्ठान आदि अभिमत वस्तु का परित्याग कभी नहीं करना चाहिए ? इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देती है।

स्त्री, पुत्र आदि जो अभिमत वस्तुएँ हैं, उनका उपार्जन हजारों यत्नों से किया जाता है। इससे उनका भी परित्याग सहसा नहीं करना चाहिए, किन्तु वैराग्य के अभ्यास द्वारा ऐसे युक्ति से परित्याग करना चाहिए, जैसे योगी मृत्युपर्यन्त अत्यन्त अभीष्ट वस्तु जीवन का युक्तिपूर्वक त्याग करता है ॥३५॥

तत्त्वज्ञानार्थ जो अभ्यास है, उसका कभी त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसके त्याग से तो देह आदि में अहंभावादिका अभ्यास अवश्य होने लग जायेगा। फिर इसका निवारण असंभव हो जानेपर अनिर्मोक्ष की आपत्ति हो जायेगी। इस आशय से कहती है।

जो नराधम अपनी इष्ट वस्तु के लिए (मोक्षहेतु तत्त्वज्ञान के लिए) अभ्यास नहीं करता, वह अनीष्ट में यानी देह आदिमें अहंभावरूप अनर्थ में ही रत रहेगा, इस स्थिति में अपने अभ्यासस्वभाव से अनिष्ट ही प्राप्त करता रहेगा और तदनन्तर एक दुःख से दूसरे दुःख को प्राप्त होता रहेगा, उससे उसका छुटकारा कभी नहीं होगा ॥३६॥ जिससे संसार असार बन जाता है, ऐसे विवेक की सेवा में सदा निरत रहनेवाले जो उत्तम पुरुष आत्मविचाररूप अभ्यास को नहीं छोड़ते, वे ही इस महाविस्तृत मायारूपी नदी को तैर जाते हैं ॥३७॥ हे मुने जैसे

घड़ा चाहनेवाले पुरुष के लिए दीपक की प्रभाएँ घड़े को प्रकाशित करती है और निर्विघ्न उसे प्राप्त करा देती है । उसमें श्रवण–मनन का अभ्यास असंभावनारूप अन्धकार हटाकर वस्तु को प्रकाशित कर देता है और निदिध्यासन का अभ्यास विपरीत भावनारूप विघ्न का विनाशकर अभीष्ट वस्तु प्राप्त करा देता है, यह तात्पर्य है ॥३८॥ जैसे कल्पवृक्ष की लता, जैसे उत्तम चिन्तामणि अथवा जैसे शरद् ऋतु तत्–तत् अभिमत फल प्रदान करती है, वैसे ही ये श्रवण आदि के अभ्यास की भूमिका भी अभिमत मोक्षवस्तु प्रदान करती है ॥३९॥ देहरूपी पृथ्वी पर चिरकालिक आत्मविचाराभ्यासरूपी सूर्य अपनी अभीष्ट वस्तु को (परम प्रेम के विषय आत्मा को) उस तरीके से दिखलाता है, जिस तरीके से कि उत्तम जन्म लेनेवाले अधिकारी जन राग, द्वेष, जन्म, मरण आदि हजारों अनर्थों को पैदा करनेवाली इन्द्रियरूप रात्रि को न देख पायें ॥४०॥ जितने प्राणी हैं, उन सबके लिए सदा ही सब वस्तुओं का प्रकाश करनेवाला एक अभ्यासरूपी सूर्य सर्वोच्च है ॥४१॥ चौदह भुवनों में स्थित चौदह प्रकार की जो प्राणियों की जातियाँ हैं,उनमें किसी भी प्राणी की स्वाभाविक अभीष्ट वस्तु अभ्यास के बिना सिद्ध नहीं होती ॥४२॥

अब अभ्यास का स्वरूप बतलाती है ।

महाराज, किसी एक (क्रिया) का बार–बार करना ही अभ्यास कहा जाता है । उसीका इस शास्त्र में पुरुषार्थ शब्द से पहले अनेक बार वर्णन किया गया है, पुरुषप्रयत्न और परमपुरुषार्थ रूप फल भी वास्तव में वही है, इसलिए अभ्यास के बिना यहाँ किसी की गति हो ही नहीं सकती ॥४३॥ दृढ़ अभ्यास शब्द से कहा जानेवाला प्रयत्ननामक जो अपना कर्म है, उसी से सिद्धि मिलती है, दूसरे से नहीं, यही सत्कर्म अपने विवेक के कारण मानों उत्पन्न होता है ॥४४॥ इन्द्रियों पर विजय पाने में समर्थ वीर पुरुष के लिए अभ्यास रूपी सूर्य के तपते रहने पर भूमि में, जल में या आकाश में ऐसी कोई इच्छित वस्तु नहीं है, जो सिद्ध नहीं हो सकती । भूमण्डल पर तथा समस्त निर्जन पर्वत की गुहाओं में अभय हेतु बन जाते हैं यानी अभ्यासी को उनसे तनिक भी भय नहीं होता । वे अभयरूप बन जाते हैं ॥४५॥

सड़सठवाँ सर्ग समाप्त

अड़सठवाँ सर्ग

आधिभौतिक भ्रान्ति का निरास करके समाधि से जो आतिवाहिक भाव की स्थिति होती है, वह सत्य है ।

विद्याधरी ने कहा : हे भगवन्, चूँकि दृढ़ाभ्यास नामक समाधिरूप यत्न के बिना देहादि में आधिभौतिकता की (स्थूलता की) भ्रान्ति निवृत्त नहीं हो सकती और आतिवाहिक भावका भी (सूक्ष्मभावका भी) आविर्भाव नहीं हो सकता । आतिवाहिक भाव के बिना दूसरे सर्ग की स्थिति भी

संक्षिप्त प्रत्यक्ष से नहीं देखी जा सकती, इसलिए निर्मल परमात्मा में सर्वबोधानुकूल समाधिरूप धारणा से अपना हम प्राचीन आतिवाहिक भाव का अभ्यास पुनः करें, उसी उपाय से शिला के अन्तर्गत जगत् प्रकट होगा, जिसका मैंने आपसे वर्णन किया है ॥१॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : इस तरह उस पर्वत के ऊपर उस विद्याधरी के युक्तियुक्त वचन कहने पर मैं पद्मासन लगाकर समाधि के लिए उद्यत हो गया ॥२॥ और उस समाधि में सम्पूर्ण बाह्य पदार्थों की कल्पना का त्याग हो जाने पर चिन्मात्र एकरूप होकर मैंने उस पूर्व–कथार्थ की आधिभौतिक देहादि की भावना और उसके संस्कारमल का भी बिल्कुल त्याग कर दिया ॥३॥ इसके अनन्तर चिदाकाशरूपता को प्राप्त होकर मैं दिव्य दृष्टि को ऐसे प्राप्त हुआ, जैसे शरत्काल में आकाश निर्मलता को प्राप्त होता है ॥४॥ इसके अनन्तर सत्य परमात्मा के दृढ़ अभ्यास से देह में मेरी आधिभौतिकता भ्रान्ति निश्चितरूप से अस्त हो गई ॥५॥ और उस समय उदय एवं अस्त से रहित, नित्य अनावृत स्वप्रकाशरूपा, अतिनिर्मल, महाचिदाकाशरूपता एक तरह से प्रकट हो गई॥६॥ इसके बाद जब मैं साक्षीरूप अपने ही निर्मल तेज से देखने लगा, तो मुझे वस्तुतः न तो वह आकाश दीख पड़ा और न वह पत्थर ही वहाँ दीख पड़ा। उस समय सब कुछ मुझे परमार्थ ही दीख पड़ा ॥७॥ उस तरह का वह परमार्थघन स्वच्छ परमतत्त्व ही भासित हो रहा है । तथा वह परमतत्त्व ही मेरा आत्मा–स्वरूप है । उसीने पत्थर की भावना से वह पत्थर देखा ॥८॥ जैसे स्वप्न में अपने घर के भीतर एक पत्थर के रूप से देखी गई विशाल शिला केवल चिदाकाशरूप ही है, वैसे ही विशुद्ध केवल चिदाकाश ही वहाँ पत्थर शिला के रूप से स्फुरित हो रहा था ॥९॥

यदि यह व्यवहार स्वप्नरूप ही है, तो फिर वहाँ अपनी या दूसरे किसी की जाग्रतअवस्थारूपता का प्रतिभास कैसे होता है ? इस पर कहते हैं।

जैसे स्वप्न में ही, अज्ञानवश 'मैं स्वप्न से जग गया' ऐसा जान रहे किसी अन्य पुरुष के स्वप्नदृश्य पुरुषरूपता को प्राप्त हुआ स्वप्नयुक्त पुरुष स्वयं अपने को स्वरूपतः जैसा 'मैं प्रबुद्ध हूँ', ऐसा प्रतिभासित होता है, ठीक वैसा ही वह व्यवहार है ॥१०॥ स्वप्न में स्थित जिन पुरुषों का सिर कट चुका है वे स्वप्न–संसार में स्थित होकर ज्ञान के बिना क्या कर सकते हैं, ऐसे ही संसार में स्थित जीव कालवश ज्ञानप्राप्ति के बिना क्या कर सकते हैं ? अर्थात् ज्ञानप्राप्ति के पहले क्या कर सकते हैं । इसलिए स्वप्न में आहत हुए पुरुषों का जागरण के उपायभूत देह के न रहने से अगत्या यही कहना पड़ता है कि स्वप्न में ही उनकी जागरणता है ॥११॥

इसलिए मूलअज्ञानरूपी निद्रा के उच्छेद से स्वरूप का प्रतिबोध ही इस जीवका मुख्य प्रतिबोध है । इसके विपरीत तो यही कहना पड़ेगा कि स्वप्न में ही व्यर्थ जागरण का अभिमान है, यह कहते हैं।

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, महामोहशाली (अज्ञानरूपी निद्रायुक्त) पुरुषों को जो समय

पाकर बोध होता है यानी ज्ञानरूप जागरण होता है वही उनका मुख्य प्रबोध है – जागरण है, क्योंकि ब्रह्मतत्त्व के सिवा कोई दूसरा अक्षय पदार्थ जागरण या स्वप्न में नहीं है ॥१२॥ यही कारण है कि मैंने स्वरूपबोध के पहले जिसकी आकृति शिलामय देखी थी, उस स्वच्छ चिद्घन ब्रह्माकाश को मैंने चेतनघन सद्रूप देखा, पृथ्वी आदि के विकार के रूप से कहीं नहीं देखा ॥१३॥ भूतों की आदि सृष्टि में स्थित जो शुद्ध और जो पारमार्थिक ब्रह्मरूप है वही तत्त्वज्ञानियों के ध्यान से लभ्य इन सभी प्राणियों का शरीर स्थित है॥१४॥ जो ब्रह्म का आत्मीय पुरातनरूप है वही भूतों का अपना पारमार्थिकरूप है वह मनोराज्य या संकल्प तुल्य ही है । उसीको इस समय मूढ़ लोग जगत के नाम से कहते हैं ॥१५॥

ठीक है, ऐसा ही सही, लेकिन वह आतिवाहिक देह कौन है, जिसके सद्भाव में सम्पूर्ण जगत् का दर्शन और चित्स्वभाव का स्फुरण होता है, उसको कहते हैं ।

वह मायाशबल ब्रह्म ही सत् कहा जाता है । उसमें चिति की जो जगत के संस्कार से युक्त अंश की सत्ता है, उसी को आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर कहते हैं और उसका जो वह नित्य अपरोक्ष शुद्ध चिदंश है वही उसका स्वरूप स्फुरण है॥१६॥

तब आपने यह पहले कैसे कहा है कि मन जीव का आतिवाहिक शरीर है, इस पर कहते हैं ।

सृष्टि के आकार से उदित हो रहा वही चित्सत्तारूप प्रथम प्रत्यक्ष चिदाभासात्मक जीवका हिरण्यगर्भसंज्ञक समष्टिरूप आतिवाहिक शरीर होता है और वही फिर समष्टिभाव को अपनी दुर्बुद्धि से भूलकर शीघ्र ही जब व्यष्टिभाव को प्राप्त कर लेता है तब सर्वजनप्रत्यक्ष मन, इस नाम से कहा जाता है । इसीलिए तो हमने आपसे पहले यह कहा है कि जीव का आतिवाहिक शरीर मन है ॥१७॥ इस प्रकार स्वयं वही चिति का रूप अज्ञान के कारण व्यर्थ ही अन्यरूपता को प्राप्त हो गया है । समष्टिरूपसे वह योगियों को प्रत्यक्ष है, इसलिए वह योगिप्रत्यक्ष और व्यष्टिरूप से सर्वजनसाधारण को प्रत्यक्ष है, इसलिए मनःप्रत्यक्ष भी कहा गया है ॥१८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस समय जो यह मनःप्रत्यक्ष है वह आधिभौतिक देह आदि की कल्पना द्वारा अत्यन्त असद्रूप से ही उदित हुआ है, अतः इसे आप असत् प्रत्यक्ष ही समझिये । और उस योगिप्रत्यक्ष को आप सत् यानी यथात्म्य की स्फूर्ति होने से मुख्य प्रत्यक्ष जानिये ॥१९॥

तब सभी लोगों को उस प्रत्यक्ष में परोक्षता का अनुभव तथा अन्यत्र प्रत्यक्षता का अनुभव कैसे होता है, इस पर कहते हैं ।

अहो, परमेश्वर की यह माया विचित्र है, प्राक् प्रत्यक्ष में (साक्षी चेतन की समष्टि मन की प्रत्यक्षता में) परोक्षता हो रही है और इस अनध्यक्ष (अप्रत्यक्ष)मन में प्रत्यक्ष की कल्पना आ गई ॥२०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, चित् में सर्वप्रथम स्फुरित होनेसे सूक्ष्म ही प्रत्यक्ष होता है उसी को आप सत्य और सर्वगत समझिये । यह आधिभौतिक स्थूल शरीर तो माया ही (मिथ्या ही)

है ॥२१॥ जैसे अनुभव करने पर सुवर्ण में कटकता बिलकुल नहीं है, वैसे ही सूक्ष्म शरीर में आधिभौतिकता (स्थूल शरीरता) भी वस्तुतः नहीं है ॥२२॥ हे श्रीरामजी, विचार न रहने के कारण यह जीव भ्रम में अभ्रमरूपता और अभ्रम में भ्रमरूपता प्राप्त है, यह समझता है । अहो, यह कैसी मूढ़ता है ॥२३॥ बहुत विचार कर देखने से यह आधिभौतिक स्थूल शरीर उपलब्ध नहीं होता और आतिवाहिक -सूक्ष्म शरीर तो मोक्षपर्यन्त इस लोक और परलोक में भी समस्त व्यवहार का निर्वाहक होने से अक्षय है ॥२४॥ सूक्ष्म शरीरउपहित चिति में आधिभौतिकता की प्रथा यानी स्थूल शरीररुपता की बुद्धि मिथ्या ही ऐसे प्रादुर्भूत हुई है जैसे मरूभूमि की मृगतृष्णा में जलबुद्धि व्यर्थ ही प्रादुर्भूत होती है ॥२५॥ सूक्ष्मशरीरउपहित चिति क्रम में उत्पन्न हुई आधिभौतिकी बुद्धि यानी स्थूलबुद्धि स्थूलशरीर की दृष्टि की वश से ऐसे प्रौढ़ हो गई है, जैसे स्थाणु (ठुँठ) में पुरुष बुद्धि ॥२६॥ जैसे शुक्ति में रजत, जैसे मृगतृष्णा में जल और जैसे चन्द्रमा में दो चन्द्र की बुद्धि मिथ्या है, वैसे ही सूक्ष्म शरीर में स्थूलबुद्धि भी माया ही मिथ्या है ॥२७॥ अहो, इस जीव के अविचार से उत्पन्न हुए मोह के माहात्म्य को तो जरा देखिये, उसने जो असत् है उसे सत्य और जो सत्य पदार्थ है उसे असत् बना दिया है ॥२८॥ वास्तव में तो योगियों की प्रत्यक्ष-भूत चिति-स्फूर्ति ही सत्य है और मानस स्पन्द तो कुछ (卐) है, क्योंकि दोनों लोकों का सारा व्यवहार इन्हीं दोनों से (स्फूर्ति और स्पन्दन से) सिद्ध होता है ॥२९॥

जो सर्वसाधारण को प्रत्यक्ष है, एकमात्र उसीमें सब कुछ छोड़कर योग से स्थिरता सम्पादन करनी चाहिए । केवल पामरजनों के प्रसिद्ध ऐहिक स्थूलादि के प्रत्यक्ष में नहीं, इस आशय से कहते हैं ।

जो मनुष्य इस आद्य सूक्ष्म शरीर प्रत्यक्ष को छोड़कर इस स्थूल शरीर प्रत्यक्ष में सत्य बुद्धि करके स्थित है वह मानों मृगतृष्णा का जल पीकर सुख से स्थित है ॥३०॥

इसी तरह योगियों के अनुभवसिद्ध सर्वसाधारण जो सुख है उसी में परमपुरुषार्थरूपता जाननी चाहिए, पामरजनप्रसिद्ध में नहीं, इस आशय से कहते हैं ।

क्षणभर में ही नाश के अनुभव से तत्त्वज्ञानी महानुभाव लोग जो विषयसुख है उसको दुःखरूप ही कहते हैं तथा अकृत्रिम, अनादि,अनन्त जो सुख है उसी को वास्तविक सुख बतलाते हैं ॥३१॥

पूर्वोक्त को ही दृढ़ करने की इच्छा करते हुए फिर कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह साक्षी चेतन द्वारा आप प्रत्यक्ष विचार कीजिये तथा स्वयं अपने अनुभव से देखिये, जो सबका आदि साक्षी चित् का प्रत्यक्ष है वही वास्तविक सुख है ॥३२॥ तीनों लोक के अनुभव देनेवाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रत्यक्ष को छोड़कर जो ऐहिक स्थूल प्रत्यक्ष को ग्रहण करता है, उससे बढ़कर और कोई दूसरा बड़ा मूर्ख नहीं है ॥३३॥ सम्पूर्ण भूतों का जो सूक्ष्म शरीर

(卐) प्रत्यक्ष चिति के अधीन इसकी सिद्धि होने से वह मानस स्पंद कुछ है, अतः उसकी प्रत्यक्षचितिसमसत्ता नहीं है, इसलिए वस्तुतः वह भी मिथ्या ही है यह तात्पर्य है ।

है वही वास्तव में सत् है । इसमें जो स्थूलशरीर की प्राप्ति है वह असत्य पिशाचिका ही है ॥३४॥

जहाँ मिथ्या संकल्पमय का जन्म ही दुर्लभ है वहाँ उसकी सत्ता तो अत्यन्त दुर्लभ है ही, फिर उस असत् पदार्थ में अर्थक्रिया की सामर्थ्य तो उससे भी और बहुत दूर है, यह कहते हैं ।

जो अनुत्पन्न और संकल्पमय है वह प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है तथा जो स्वयं ही सत् नहीं है वह कार्यकारी कैसे हो सकता है ? ॥३५॥

नेत्र आदि प्रमाण से सिद्ध हुए प्रपंच (जगत्) का आप कैसे अपलाप करते हैं, इस पर कहते हैं ।

जबकि प्रत्यक्ष साधक चक्षु आदि इन्द्रियाँ ही योगियों की दृष्टि में असत् हैं तब फिर उनसे सिद्ध अन्य पदार्थ क्या सत् हो सकते हैं ? क्योंकि जिस वस्तु की सिद्धि असत् से की जाती है वह कहाँ तक सत् होती है ? कहने का तात्पर्य यह है कि असत् से सिद्ध हुए पदार्थ की सत्ता कहीं पर भी देखने में नहीं आती ॥३६॥

जब साक्षात् अर्थों की साधक चक्षु आदि इन्द्रियों की ऐसी दशा है, तब भला तन्मूलक अनुमान आदि प्रमाणों के विषय में क्या पूछना ? यह कहते हैं ।

जब प्रत्यक्ष में ही भावत्व नष्ट हैं यानी जब प्रत्यक्ष की ही सत्ता सिद्ध नहीं है तब उसके अधीन अनुमान आदि प्रमाणों की कहाँ गति है ? जहाँ बड़े–बड़े हाथी बह जाते हैं वहाँ भेड़ों की क्या कथा है ? ॥३७॥ इसलिए जो कुछ हमने कहा है उसका स्फूरित यही है कि प्रमाणसिद्ध दृश्य प्रपंच कहीं भी नहीं है । जो यह सद्रूप एक 'अस्तीव' (है–जैसा) भासित हो रहा है वह सैंधव (नमक) के टुकड़े के समान चिद्घन ब्रह्म ही है ॥३८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे स्वप्न में पर्वत देखनेवाले का प्रसिद्ध स्वप्न उस समय भी शून्यरूप ही है, क्योंकि उसी घर और उसी समय में जाग रहे या सो रहे किसी अन्य पुरुष को वह पर्वत नहीं है, वैसे ही शिला की भावना से युक्त हम दोनों को यह दृश्य भी शिला चिद्रूप ही है ॥३९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, यह पर्वत, यह आकाश, यह जगत् और यह मैं–इत्यादि सब कुछ चिन्मय आत्मा ही चिदाकाशरूप से स्वयं अपने स्वरूप में भासता है ॥४०॥ इस तरह सब कुछ चिन्मय आत्मा ही भासता है, कोई दूसरा नहीं, यह प्रबुद्धात्मा ही देखता है, अप्रबुद्धात्मा कभी नहीं देखता । हे श्रीरामजी, महाभारत आदि कथा का अर्थज्ञान सुननेवाले को ही होता है, जो कथा नहीं सुनता उसको उसका अर्थज्ञान भी कभी नहीं होता॥४१॥ अप्रबुद्ध को (अज्ञानी को) ही यह जगत् की भ्रान्ति सत्यस्वरूपता को प्राप्त है । हे श्रीरामजी, मदिरा पीकर मतवाले बने हुए पुरुष को ही सुस्थिर ये वृक्ष तथा पर्वत आदि नाचते दिखाई देते हैं॥४२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जो लोग योगिप्रत्यक्ष सर्वत्र अप्रतिहत, एकबोधरूप, पूर्णानन्दैकरस चित्स्वरूप का बोध करके भी बाधित हुए उस चक्षुः आदि अन्य प्रत्यक्ष का–तुच्छ होते हुए भी प्रमाणरूप से आश्रय लेते हैं वे मूढ़ आत्मवंचक तृण के समान नगण्य हैं, उनसे मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है ॥४३॥

अड़सठवाँ सर्ग समाप्त

उनहत्तरवाँ सर्ग

शिला की सृष्टि के अन्दर प्रवेश और वहाँ के ब्रह्मा का दर्शन तथा
सत्कारपूर्वक बैठाये गये वसिष्ठमुनि से ब्रह्माजी का सम्भाषण।

शिला के पेट में जगत् की संभावनार्थ उसकी सत्ता एवं स्फूर्ति देने वाले अधिष्ठानभूत ब्रह्म को दिखलाते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, जिसके समस्त जगत् एक तरह के अवयव–से हैं, ऐसे सूर्य आदि ज्योतियों से अगम्य तथा चक्षु आदि इन्द्रियों का अविषय परब्रह्म ही दृश्य–सा बनकर स्थित है, वह निरामय परब्रह्म समाधि की दिव्यदृष्टि से दीख पड़ता है (यह जगत् परब्रह्म की ज्योति से ही प्रकाशित हो रहा है,अतः जगत् भी वास्तव में निर्विकार ब्रह्मस्वरूप ही है।) ॥१॥ पर्वत, नदियाँ, झरने तथा लोकलोकान्तर आदि के जितने भ्रम हैं वे सब उसी ब्रह्म में दीख पड़ते हैं। ये महाकाशरूपी उत्कृष्ट दर्पण में प्रतिबिम्बित हैं ॥२॥ श्रीरामजी, तदनन्तर अबाध गतिवाली वह विद्याधरी उस शिला के पेट में स्थित जगत् में प्रविष्ट हो गई, संकल्परूप मैं भी उसके साथ उसके भीतर प्रविष्ट हो गया ॥३॥ हे श्रीरामजी, तदनन्तर उद्यमशील तथा परम शोभावाली वह विद्याधरी वहाँके ब्रह्मलोक में जाकर ब्रह्माजी के सम्मुख बैठ गई और बैठकर मुझसे कहने लगी–'हे मुनिश्रेष्ठ, ये मेरे पति हैं, ये मेरी रक्षा करते हैं, विवाह के लिए इन्होंने ही मनसे मेरा उत्पादन किया था, यद्यपि अब ये पुरुष बूढ़े हो गये हैं और मैं भी बूढ़ी हो गई हूँ, तथापि आजतक मेरे साथ विवाह नहीं किया, इसीसे अब मुझे वैराग्य हो गया है, इन्हें भी वैराग्य आ गया है, ये उस परम पद में जाने की इच्छा रखते हैं, जहाँ न तो कोई द्रष्टता है, न दृश्यत्व है और न शून्यत्व ही है।' श्रीरामजी, वह विद्याधरी जब तक यह मुझसे कह रही थी, तब तक इस जगत् में महाप्रलयकाल समीप आ रहा था। फिर उस विद्याधरी ने कहना आरम्भ किया–भगवन्, अभी भी ये अपने ध्यान से विचलित नहीं होते, पर्वत के सदृश अपनी मुनिवृत्ति से मानों ये अचल पर्वत ही लगते हैं ॥४–८॥ हे मुनीश्वर, इसलिए मुझे और इन्हें भी बोध देकर उस परब्रह्म के मार्ग में लगाने की कृपा कीजिये, जो वैज्ञानिक प्रलयतक के सारे संसारों का मूलभूत कारण है ॥९॥ हे श्रीरामजी, उस विद्याधरी ने मुझसे वैसा कहकर फिर उस ब्रह्माजी को जगाने के लिए कहने लगी : हे स्वामिन्, आज अपने इस घर में ये सब मुनियों के श्रेष्ठ महाराज वसिष्ठजी पधारे हैं, ये मुनि दूसरे जगद्रूप घर में रहनेवाले ब्रह्माजी के पुत्र हैं। हे नाथ, गृहस्थ पुरुषों के घर में होनेवाली समुचित पूजा से अपने घर पर पधारे हुए इनका सत्कार कीजिए ॥१०,११॥ हे स्वामिन्, आप यह जानिये कि ये मुनिश्रेष्ठ पूज्य हैं, इसलिए अर्घ्य, पाद्य आदि से इनकी पूजा कीजिये। जो बड़े–बड़े आपके सदृश महात्मा है, उन्हें उत्तम पूजा से प्राप्त होनेवाला महाफल ही रुचता है ॥१२॥ श्रीरामजी, जब उस विद्याधरी ने वैसा कहा, तब

महामेधावी वह मुनि समाधि से समुद्र में आवर्त के समान उठे, वे अपनी आत्मा को पहचानने के निमित्त द्रवीभूत हो गये ॥१३॥ तदनन्तर धीरे से उस नीतिज्ञ विद्वान ने अपने नेत्र उस तरह खोले, जैसे मधुमास (वसन्त) शिशिर में शान्त भूमिपर पुष्परूपी अपनी आँखें खोलता है ॥१४॥ बाद में धीरे-धीरे उसके वे समस्त हाथ, पैर आदि अंग-अपने-अपने ज्ञान को ऐसे प्रकट करने लगे यानी अपनी-अपनी चेतना से युक्त ऐसे होने लगे, जैसे वसन्त सम्बन्धी पल्लव नवीन रस को प्रकट करते हैं यानी नवीन रस से युक्त होने लगते हैं ॥१५॥ अनन्तर, देव, सिद्ध और अप्सराएँ चारों तरफ से ऐसे आ धमकी, जैसे प्रातःकाल में खिले हुए कमलों से युक्त सरोवर में चंचल हंसपंक्तियाँ ॥१६॥ श्रीरामजी, उस ब्रह्मा ने सामने उपस्थित हमको और विलासिनी उस रमणी को देखा। देखने के बाद उन्होंने यह वचन कहा। उनका वचन ॐकार पूर्वक स्वरोच्चार के कारण बड़ा ही रम्य लगता था ॥१७॥ शिलोदर जगत् के ब्रह्माजी ने कहा : हे हाथ में आँवले के सदृश असार संसार के तत्त्व को जाननेवाले, हे ज्ञानरूपी अमृत बरसाने वाले महामेघ, हे मुने आपका स्वागत हो ॥१८॥ हे मुने, आप इस अतिदूरातिदूरवर्ती स्थान में पधारे हैं, अतः लम्बे मार्ग के कारण खूब थक गये होंगे, आप इस आसन पर बिराजिए ॥१९॥ श्रीरामजी, उस जगत् के ब्रह्माजी के वैसा कहने पर 'हे भगवन्, आपका अभिवादन करता हूँ' यों कहते हुए मैं नेत्र के इशारे से दर्शित मणिमय आसन पर बैठ गया ॥२०॥ अनन्तर देवता, ऋषि, गन्धर्व, मुनि, विद्याधर आदि द्वारा गायी गई उनकी स्तुतियाँ आरम्भ हुई, फिर पूजा हुई और फिर नमस्कार हुए। अनन्तर यथायोग्य परस्पर व्यवहार की नीति सम्पन्न हुई ॥२१॥ अनन्तर एक मुहूर्तमात्र में देव, गन्धर्व आदि भूतगणों के द्वारा वाणी से किया गया प्रणाम समारोह जब शान्त हो गया, तब मैंने उन ब्रह्माजी से कहा ॥२२॥ हे भूतभव्य के स्वामिन्, यह विद्याधरी यत्नपूर्वक मेरे पास आकर कहती है कि तुम हम लोंगों को बोध वचनों से उपदेश दो। क्या उसका यह कहना उचित है या अनुचित ? ॥२३॥ हे देव, आप सब प्राणियों के स्वामी हैं समस्त ज्ञानों के पारंगत हैं, अतः यह काममुग्धा स्त्री क्या कह रही है ? इसे हे जगत्पते कहिए ॥२४॥ हे देव, आपने अपनी भार्या बनाने के निमित्त इसे क्यों उत्पन्न किया ? उत्पन्न करके क्यों अपनी पत्नी नहीं बनायी, फिर यहाँ उसको वैराग्य की ओर क्यों ले गये ? ॥२५॥

आपका आशय ठीक है कि यद्यपि मैं और यह दोनों उपदेश के लिए योग्य नहीं है, तथापि इसने अपनी ही वासना से मुझे अज्ञानी और अपना उपदेशाधिकार समझकर आपसे उपदेशार्थ प्रार्थना की है, तथा यद्यपि मैंने इसके जन्ममात्र का सम्पादन किया है। तथापि 'पत्नी बनाने के लिए मैं उत्पादित की गई हूँ, मैं इनकी भार्या हूँ' इत्यादि भी अपनी वासना से ही इसने समझ रक्खा है, इसलिए वासनामात्ररूप होने के कारण अब मैं जब विदेह कैवल्य को प्राप्त करूँगा, तब उसके साथ-साथ स्वकल्पित प्रपंच का भी तत्काल ही प्रलय हो जायेगा, यों विस्तार के साथ उत्तर देने की इच्छा से कहते हैं।

अन्य जगत् के ब्रह्माजी ने कहा : हे मुने, आप सुनिये, मैं जैसा वृत्तान्त है, वैसा ही आपसे कहता हूँ, क्योंकि सज्जनों के सम्मुख जैसी घटना घटी हो, उसे अवश्य पूरी तरह कहनी ही चाहिए ॥२६॥

सबसे पहले उपोद्घातसंगति से 'अप्रतिहत ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म-ये चारों जगदीश्वर के साथ-साथ ही सिद्ध है' इस पुराणप्रसिद्धि के अनुसार अपनी उत्पत्ति के सम्बन्ध में तात्त्विक परिज्ञान बतलाने के लिए तथा अपनी उत्पत्ति का स्वरूप बतलाने के लिए कहते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी, ऐसी एक कोई मुख्य वस्तु है, जो अज, शान्त, अजर तथा त्रिकाल में बाधित नहीं होने वाली है । इसी का नाम चिति है । इस चिति के एक मात्र प्रकाशनस्वरूप से मैं उत्पन्न (आविर्भूत) हुआ हूँ ॥२७॥

उक्त तत्त्वज्ञान से बाधित अपनी उत्पत्ति और अपना नाम आपके लिए कैसे सिद्ध हो सकता है, इस पर कहते हैं ।

भद्र, मैं चिदाकाशरूप ही हूँ, सदा अपने ही स्वरूप में स्थित हूँ, और व्यवहार करनेवाली प्रजा के सर्ग के उत्पन्न होकर स्थित हो जानेपर उनकी दृष्टि से मेरा नाम स्वयंभू होता है ॥२८॥ तात्त्विक दृष्टि से तो न मैं उत्पन्न हुआ हूँ और न कुछ देखता ही हूँ । सभी प्रकार के आवरणों से निर्मुक्त होकर चिदाकाशस्वरूप मैं चिदाकाश में ही स्थित हूँ ॥२९॥

तब हम दोनों तत्त्वज्ञानियों का परस्पर जो प्रश्नोत्तरादि व्यवहार हो रहा है, वह कैसा है, इस पर कहते हैं ।

भद्र, जो यह तुम, मेरे आगे हो और तुम्हारे आगे मैं हूँ, तथा यह जो अपना परस्पर प्रश्नोत्तररूप संभाषण है, वह तो उस तरह का है, जिस तरह का कि एक ही समुद्र में एक तरंग के आगे दूसरा तरंग हो और वही एक समुद्र तरंगों द्वारा परस्पर आघातों से ध्वनि करता हो, यह मेरा सिद्धान्त है ॥३०॥ भद्र, इस प्रकार समुद्र से जनित तरंगों के सदृश थोड़ी मात्रा में कल्पित अपनी और दूसरे की दृष्टि से देखे जानेवाले भेदरूप तथा समयवश अपने स्वरूप के थोड़े से विस्मरण के कारण अस्वच्छस्वरूप हुए चिदाभासरूपी मुझमें जो स्वभाव से 'मैं और मेरी' वह वासना ही इस कुमारी को और तुम्हें अन्य-सी भासती है, परन्तु मुझको तो अनन्य ही भासती है, वह वासना हम दोनों पुरुषों की दृष्टि से उदित है और उदित नहीं भी है ॥३१,३२॥

अपनी दृष्टि से आप कैसे हैं, इस पर कहते हैं ।

भद्र, मैं तो अविनाशी सत्तावाला हूँ, क्योंकि मैं कभी उत्पन्न नहीं हुआ हूँ, आत्मरूप मैं अपने स्वरूप में स्थित हूँ । स्वभाव से ही मेरा आकार अविनाशी है, मैं स्वात्माराम तथा स्वयं प्रभु हूँ ॥३३॥

जब आप ऐसे विशुद्ध हैं, तब यह कैसे उत्पन्न हुई और असल में यह है क्या ? इस पर कहते हैं ।

हे वसिष्ठजी, उक्त विशुद्धस्वरूप मुझको पूर्वपूर्व के अहंकार के संस्कार से उत्पन्न स्मृति–जैसी जो अहंभ्रान्ति, जगत्स्थिति और वासना हुई, उसकी अधिष्ठात्री देवता ही यह शरीररूप होकर स्थित है ॥३४॥ भद्र, यह वासना की अधिष्ठात्री देवी ही बैठी है, न तो यह मेरी गृहिणी है और न गृहिणी के निमित्त से इसका मैंने उत्पादन ही किया है ॥३५॥

तब यह आपको अपना पति क्यों कहती है, इसपर कहते हैं।

चूँकि यही भीतर की समस्त जगत् की वासना है, इसलिए अपनी वासना के आवेशवश से यह 'मैं ब्रह्मा की पत्नी हूँ' इस तरह की भावना को अपने ही मन की इच्छा से प्राप्त हुई है और उसे प्राप्त कर निरर्थक ही अत्यन्त दुःख को प्राप्त हो गई है ॥३६॥

उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

सत्तरवाँ सर्ग

वासना देवी के वैराग्य के कारण का और जगत् के प्रलय एवं मिथ्या विभ्रमरूपत्व का वर्णन।

आपने इसका पत्नी के निमित्त निर्माण क्यों किया, इस प्रश्न का उत्तर देकर अब इसको वैराग्य की ओर क्यों ले गये, इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए आरम्भ करते हैं।

अन्य जगत् के ब्रह्माजी ने कहा : हे वसिष्ठजी, मैंने अपने संकल्प से कल्पित दो परार्ध वर्ष आयु के बिता दिये, अब चित्ताकाशरूप मैं सबसे ऊँची निरतिशयानन्दात्मक ब्रह्माकाशरूप कैवल्यस्थिति लेने की इच्छा कर रहा हूँ, इस कारण से मेरी वासना से बने इस जगत् में नित्य, नैमित्तिक, दैनंदिन और आत्यन्तिक–ये चारों तरह के प्रलय भी उपस्थित हो गये हैं ॥१॥ हे मुनीन्द्र, इस महाप्रलय काल में अब इसका मूलोच्छेद कर अपनी सत्ता से गिराने के लिए मैंने आरम्भ किया है, इसलिए इसे वैराग्य हो गया है यानी यह विनाशोन्मुख हो गई है ॥२॥

उसमें युक्ति बतलाते हैं।

यह मैं जब कि चित्ताकाशस्वरूप का त्याग कर आद्य चिदाकाशरूप हो रहा हूँ, तब महाप्रलय का स्वरूप और वासना का विनाश निश्चित है ॥३॥ इसीलिए यह विरक्त होकर मेरे मार्ग की ओर दौड़ रही है, ऐसा उदारबुद्धि कौन जीव है, जो अपने जनक के पीछे दौड़ता न हो ॥४॥ भद्र, आज ही यहाँ कलिका समाप्तिकाल और चतुर्युगी का विनाश उपस्थित है एवं मनु, इन्द्र, देव आदि प्रजा का भी यह विनाश आ गया है ॥५॥

चारों प्रकार के प्रलय आज एक ही साथ प्राप्त हैं – यह कहते हैं।

आज ही मेरे कल्प का विनाश है, महाकल्प का भी विनाश आज ही है, वासनाविनाश आज ही है और आज ही देहाकाश का विनाश है ॥६॥ हे ब्रह्मन्, इसीलिए आत्मदर्शन आदि कारणों को लेकर ही यह विद्याधरीरूप वासना विनाश की ओर जाने के लिए उद्यत हुई है । तालाब के सूख

जाने पर गन्धलेखा कहाँ स्थित रह सकती है ? ॥७॥

अपने विनाश के कारण आत्मदर्शन में इसकी इच्छा क्यों हुई, इस प्रश्न का उत्तर – उसका वैसा स्वभाव ही है, यह-युक्तिपूर्वक कहते हैं।

भद्र, जैसे जड़ समुद्रलेखा से चंचल लहरी उत्पन्न होती है, वैसे ही वासना से भी अपने विनाश की हेतु आत्मदर्शन की इच्छा यों ही स्वभाववश उत्पन्न होती है, उसमें दूसरा कोई भी बाहरी कारण नहीं है ॥८॥ केवल अभिमान ही जिसका शरीर है, ऐसी इस वासना को स्वभाव से स्वयं ही आत्मदर्शन की इच्छा उत्पन्न होती है ॥९॥

तब इसने हम लोगों का जो ब्रह्माण्ड देखा, उसमें क्या कारण है, इस पर कहते हैं।

आत्मा के दर्शन के लिए किये गये धारणाभ्यासरूप योग का फल अन्यान्य ब्रह्माण्ड में गमन आदि सिद्धि है ही, इसलिए उसकी परीक्षा करने की इच्छा ही वहाँ जाने में कारण हुई। वहाँ जाकर इसने आपका वह सर्ग देखा, जिसमें धर्मादि के अनुष्ठान में व्यग्र एवं निरर्गल प्रजा रहती है ॥१०॥

पूर्वोक्त शिला का दर्शन भी इसको उसी सिद्धि के बल से हुआ, यह कहते हैं।

आकाश में विचरण करने में तत्पर इस विद्याधरी ने अपने जगत् की आधारभूत पर्वत के शिखर की शिला भी उसी सिद्धि की सामर्थ्य से देखी, जो कि हम लोगों की दृष्टि से केवल आकाशरूप ही है ॥११॥ हम लोगों के अनेक जगद्रूप पदार्थों के अन्दर- जिस जगद्रूप पर्वत के ऊपर यह जगत् है और जिसमें उक्त पत्थर की शिलारूपता है-ऐसे-ऐसे अनेक दूसरे भी जगत् हैं ॥१२॥ परन्तु हम लोग चूँकि भेददृष्टि में यानी व्युत्थानदशा में बैठे हैं, इसलिए उनको नहीं देखते, परन्तु समाधि से बोध के साथ एकरूप होकर योगदृष्टि से देखने से देख सकते हैं ॥१३॥ भद्र, घट में, पट में, दीवार में, आकाश में, वायु में, जल में, तेज में, सर्वत्र-सभी जगह, शिलोदर के सदृश, अनेक जगत् विद्यमान हैं ॥१४॥ जगत् नाम की तो एक निरर्थक भ्रान्ति ही है, और वह है ठीक स्वप्ननगर के जैसी। यह जगत् की माया भी मिथ्या है, इसलिए मिथ्या भ्रमका अस्तित्व ही कहाँ रहा ? यदि उसका अस्तित्व है, तो वह अधिष्ठान चितिरूप होकर कुछ और ही है, न कि प्रतीयमान जड़रूप ॥१५॥ यह माया भ्रान्तिरूप परिज्ञात होकर जिनकी दृष्टि में चिदाकाशरूप बन जाती है, उनके लिए तो वह सदा के लिए चली ही गई समझनी चाहिए और बाकी जो लोग बच गये, उनको तो भ्रम के ही पात्र समझ लीजिए ॥१६॥

अथ 'किमिदं भूतभव्येश०' इत्यादि से अपने पास आने की सामर्थ्य में जो हेतु पूछा, उसका उत्तर कहते हैं।

हे मुने, अब आप यह सुनिये कि आपके पास यह किस कारण से आयी। बात ऐसी है- पूर्वोक्त वैराग्यप्राप्ति के अनन्तर अपने विरागवश से इसको आत्मीय यानी अभीष्ट आत्मज्ञान की अनुकूल गुरूपसदन, श्रवण, मनन आदि की इच्छा उत्पन्न हुई। और उसे आपके उपदेश से

सिद्ध करने की इच्छा रखकर इसने दूसरे (पूर्वोक्त जगत्सृष्टि के दर्शन में हेतुभूत धारणा से भिन्न) खेचरसिद्धि, ब्रह्माण्डान्तर में गमन आदि सिद्धियों की हेतुभूत चूडालाख्यायिका में वर्णित धारणाओं के अभ्यास से आपके संकल्प से कल्पित आपका समाधिस्थान जानकर वहाँ यह पहुँच गई और पहुँचकर अदृश्य होते हुए भी आपको इसने देख लिया ॥१७॥ हे मुने, वर्णित रीति से जीवचिति की शक्तिरूप अविद्या ऐन्द्रजालिक माया के सदृश चारों ओर फैली हुई है और ब्राह्मी मायाशक्ति, जो आदि एवं अन्त से शुन्य है, इसी प्रकार चारों ओर फैली हुई है, वह विद्यारूप है, क्योंकि उसमें आवरणशक्ति न रहने के कारण वह निरामय है ॥१८॥ हे मुनिवर, यहाँ कोई भी कार्य कभी न तो उत्पन्न होते हैं और न नष्ट ही होते हैं, केवल चिति ही दृश्य-सी, काल-सी एवं क्रिया-सी प्रकाशित होकर तपती है ॥१९॥ भद्र, ये जो देश, काल, क्रिया, द्रव्य, मन, बुद्धि आदि हैं, वे सबके-सब केवल चितिरूपी शिला की प्रतिकृतियाँ हैं, अतः उनका न उदय है और न अस्त ही है, यह आप जानिये ॥२०॥ शिला की आकृति धारण कर रही यह चिति ही स्थित है, इसी चिति के समस्त जगत् ऐसे अंग हैं, जैसे वायु के स्पन्दन ॥२१॥

चिति का यह जो उलटा ज्ञान होता है, उसमें चितिस्वभावका परिज्ञान न होना ही कारण है, यह कहते हैं ।

विज्ञानघन आत्मा को जगत् समझना चिति का ही कार्य है । स्वयं अनादि एवं अनन्त होती हुई भी असली चित्स्वभाव के अपरिज्ञान से देश-वस्तु से जनित परिच्छिन्न भाव को भी प्राप्त चिति ही हो जाती है ॥२२॥ यह जो चितिरूपा शिला है, वह वास्तव में आदि-अन्त से रहित होती हुई भी भ्रम से आदि-अन्त से युक्त बन जाती है और निराकार होती हुई भी साकार होकर जगत्-रूप अंगों से युक्त बनकर स्थित हो जाती है ॥२३॥ जैसे स्वप्न में चिति अपने ही आकाशवत् निर्मल स्वरूप को नगररूप समझ लेती है, वैसे ही इस जाग्रत-काल में भी चिति पाषाण को अपना जगत्-रूप अंग समझ लेती है ॥२४॥

जाग्रत में भी स्वप्न के तुल्य बाध की समानता दिखलाते हैं ।

भद्र, यहाँ न नदियाँ बहती हैं, न नक्षत्रचक्र घूमता है, न अर्थों का परिणाम हो रहा है, किन्तु अपने भीतर केवल चितिरूप आकाश ही प्रकाशित हो रहा है ॥२५॥ जैसे जल में विद्यमान दूसरा जल यानी समुद्र में विद्यमान तरंग आदि पृथक् स्वरूप का नहीं होता, वैसे ही संविदाकाश में प्रतीत महाकल्प और कल्प के अन्त की संवित् भी पृथक् स्वरूप की नहीं हो सकती ॥२६॥

ऐसी परिस्थिति में अध्यारोपदृष्टि से देखने पर अनन्त जगत् सदा सर्वत्र चिति सत्ता से विद्यमान हैं, थोड़ा-सा भी इनका अपलाप नहीं किया जा सकता और अपवाददृष्टि से देखने पर तो चिति के स्वरूप से भिन्न कोई वस्तु कहीं पर भी समर्थित नहीं हो सकती, यह बात हुई, यह कहते हैं ।

जैसे महाकाश के भीतर दूसरे-दूसरे घटादि आकाश महाकाश की सत्ता से विद्यमान हैं और स्वतः अलग विद्यमान नहीं हैं वैसे ही ये जगत स्वतः शून्य रूप होते हुए भी चिति की सत्ता से विद्यमान है और अपनी सत्ता से अविद्यमान भी हैं ॥२७॥ हे वसिष्ठमुने, अब आप अपने भुवन में चले जाइए, और वहाँ एकान्त में कल्पित अपने पूर्व के आसन पर समाधि लगाकर विक्षेप-रहित सुख का अनुभव कीजिये, ये मेरे कल्पित बुद्धि आदि जगत् के पदार्थ भी प्रलय प्राप्त कर परम अव्यक्त की ओर चले जायें। हम लोग भी हिरण्यगर्भ की उपाधिभूत मूल अज्ञान का बाधकर कैवल्यपद में जा रहे हैं ॥२८॥

सत्तरवाँ सर्ग समाप्त

इकहत्तरवाँ सर्ग

कल्पना के कारणभूत ब्रह्माजी के संकल्प का ज्यों-ज्यों विनाश होता गया,
त्यों-त्यों उनके कल्पित समस्त पदार्थों का प्रलय भी हो गया, यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामभद्र, ऐसा मुझसे कहकर भगवान् ब्रह्माजी, ब्रह्मलोक में रहनेवाले समस्त जनों के साथ, पहले पद्मासन लगाकर बैठ गये और फिर कभी न टूटनेवाली समाधि में तत्पर हो गये ॥१॥ भद्र, ओंकार की उत्तरार्धभूत जो आधी मात्रा है, उसमें विद्यमान नाद, बिन्दु आदि भागों में क्रमशः उन्होंने अपने चित्त का लय किया, इससे उनकी जितनी वासनाएँ थीं, वे सब विलीन हो गई, जबकि उनकी समस्त वासनाएँ विनष्ट हो गई, तब वे ऐसे मालूम पड़ने लगे, जैसे चित्र में उनका आकार चित्रित किया गया हो यानी उस समय उनके आकार में तनिक भी चंचलता नहीं थी ॥२॥ यह विद्याधरी भी ब्रह्माजी का अनुसरणकर ध्यानमग्न हो गई और फिर स्मरणहेतु समस्त बीजभूत संस्कारों से रहित होकर शान्तस्वभाव हो आकाशरूपिणी हो गई ॥३॥

यह उनका भीतरी रहस्य आपने कैसे जाना, इस प्रश्न पर कहते हैं।

श्रीरामजी, स्थूल, सूक्ष्म कारणरूप अर्थों के साथ प्रणव की मात्राओं के विलय क्रम से वासना-संकल्पशून्य होकर जब ब्रह्माजी उत्तरोत्तर सूक्ष्मभाव को प्राप्त होने लगे, तब मैं भी समाधि से सर्वत्र व्यापक असीम चिदाकाशरूप बन गया और ब्रह्माजी की उस तरह की स्थिति साक्षात् देखने लगा ॥४॥ ब्रह्माजी का संकल्प धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों उस क्षण से लेकर नीरस होता गया, त्यों-त्यों तत्क्षण में ही पर्वत, द्वीप एवं समुद्रों से युक्त पृथ्वी की तृण, गुल्म, लता, धान आदि की उत्पादन-सामर्थ्य एवं सभी जल आदि की अपनी अपनी सामर्थ्य विनाश की ओर जाने लगी ॥५,६॥

समस्त शरीर में जिसको वेदना है, ऐसे मरणासन्न विद्वान को संकल्प के उपसंहार में जैसे अंगों में नीरसता हो जाती है, वैसे ही विराट् पुरुष के संकल्प के उपसंहार में विराट् शरीर के अवयव पृथ्वी आदि में भी नीरसता हो जाती है, यह जानना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

पृथ्वी विराट् आत्मा के स्वरूप की एकदेशता ही धारण करती है, यानी पृथ्वी विराट् आत्मा की

अंग है, इसलिए जब विराट् आत्मा के संवेदन का उपसंहार हो गया, तब पृथ्वी अचेतन तथा नीरस होकर चारों ओर से ऐसे जर्जर हो गई, जैसे मार्गशीर्ष के अन्त में बेली जरा से अविधुर–भाव को (जर्जरभाव को) प्राप्त होती है ॥७,८॥

आशयस्थ दृष्टान्त को प्रकट करते हैं ।

जैसे हम लोगों के अंग संवेदना के उपसंहार में नीरस हो जाते हैं, वैसे ही ब्रह्माजी की अंगभूत पृथ्वी संवेदन के उपसंहार में नीरस हो गई ॥९॥

किस–किस प्रकार से पृथ्वी जर्जर हुई, इसे बतलाते हैं ।

पहले तो वह पृथ्वी एक साथ अनेक बड़े–बड़े उत्पातों के भार से आक्रान्त हो गई, फिर उसमें पापरूपी अंगारों से परितप्त नरकों की ओर प्रवृत्तिशील मनुष्य होने लगे ॥१०॥ आकाश के अकाण्डताण्डव, राजाओं एवं चोरों के उपद्रवों से जनित दीनता तथा दरिद्रता से उसका सारा वैभव मिट्टी में मिल गया। उसमें समस्त स्त्रियाँ अपने सतीत्व से भ्रष्ट हो गई और मनुष्यों की सारी मर्यादा नष्ट हो गई ॥११॥ उस समय उस पृथ्वी में धूलि के सदृश मन्द नीहार एलं धूलि से सूर्य भी धुँधला हो गया । शीत–उष्ण आदि द्वन्द्वों का निराकरण करने में महामूर्ख अतएव महादुःखी व्यसनी एवं व्याधियों से पीड़ितजनों से वह आक्रान्त हो गई ॥१२॥ उसमें अग्निदाह, जल के पुर एवं युद्धों से मण्डल के मण्डल छिन्न–भिन्न हो गये । तथा वह अतिवृष्टि व अनावृष्टि से कष्टपूर्वक जीवनयापन के व्यापारों से पामर हुए मनुष्यों से भर गई ॥१३॥ अशंकित महान् उत्पातों से उस समय वहाँ पर्वत, नगर अपने–आप गिरने लगे, बच्चों के, श्रोत्रिय ब्राह्मणों के, मुनियों के, आर्यों के एवं गुणीजनों के विनाश से लोग रुदन करने लगे ॥१४॥ जल की दुर्लभता के कारण स्थलियों के बीच में निःशंक वहाँ जहाँ तहाँ अगाध कूप लोंगो ने खन दिये थे । वर्णसंकरों के निमित्त नारियों में वहाँ साधारणजन, एवं राजा आदि सब गोत्रादि का विचार किये बिना ही विवाह में आसक्त होने लग गये ॥१५॥ भद्र, उस समय वहाँ सम्पूर्ण मनुष्य धान आदि के क्रय–विक्रय आदि व्यवहार से ही अपना निर्वाह करने लग गये, चौमुहानियों पर शुल्क ही जीवन–साधन बन गया, स्त्रियों का जीवन–साधन केश (जननेन्द्रिय) ही हो गये, और कर ही राजाओं का उपजीव्य (जीवन–साधन) बन गया अथवा अपने अपने वर्ण और आश्रम के उचित व्यवहारों का अतिक्रमण ही सभी मनुष्यों का व्यसन बन गया चौराहों पर सियार ही क्रन्दन करने लगे, स्त्रियों का केशविन्यास ही व्यसन बन गया, समस्त राजे वेश्या, नर्तकी आदि में ही अपना समय निकालने लगे ॥१६॥ जनों के आचरण दुःखरूप शूलरोग से आक्रान्त हो गये, समस्त प्रजा शीत–उष्ण आदि द्वन्द्वों से आक्रान्त हो गई, अधर्मरूप शूलरोगवाली स्त्रियाँ बन गई और राजवर्ग मद्य आदि के पान में ही निरत हो गया ॥१७॥ सारी पृथ्वी अधर्मरूपी शूलरोग से त्रस्त जनों से चारों ओर व्याप्त तथा सैकड़ों कुशास्त्रों से यानी वेदबाह्य विचारों से रोगपीड़ित होकर क्रन्दन करने लग गई । उस समय वहाँ चोर आदि दुर्जन ही धनों से पूर्ण हो गये और सज्जन अनेकविध विपत्तियों से

घिर गये ॥१८॥ उस समय अनार्य ही समस्त पृथ्वी के रक्षक बन गये, पण्डितगण अनार्यों द्वारा विताडित होने लगे, सारी भूमि में लोभ, मोह, भय, द्वेष, राग और रोगरूप धूलि उड़ने लगी ॥१९॥ श्रीरामजी, क्या कहा जाय, सारी पृथ्वी परधर्म में प्रवृत्त पुरुषों से व्याप्त हो गई, उसमें धर्मोपदेशक ब्राह्मण क्रोध से आक्रान्त हो गये और निरन्तर दूसरों को दुःख देने में (रुलाने में) तत्पर असीम दुष्टजनों का उत्थान हो गया अर्थात् उस समय पृथ्वी में सभी पुरुष अपना अपना धर्म-कर्म छोड़कर दूसरों के धर्म-कर्मों में प्रवृत्त हो गये, स्वधर्म का उपदेश देनेवाले सज्जन पुरुष क्रोध से आक्रान्त हो गये तथा साधारण पामर पुरुष निरन्तर दूसरों को रुलाने में ही तत्पर हो गये ॥२०॥ नगर, गाँव तथा देवता और ब्राह्मणों के मन्दिरों को दस्युओं ने छिन्न-भिन्न कर दिया एवं अन्यायोपार्जित धन से अपना कुटुम्बपोषण करने में आपाततः मधुर और परिणाम में (परलोक में) दुःखद उदरवाले अल्पायु पुरुष दिखलाई पड़ने लग गये ॥२१॥ आलस्यदोष से सब धार्मिक पुरुषों ने अपना-अपना नियमित सन्ध्यावन्दन आदि कार्य छोड़ दिया। परिणाम में सब अनेकविध आपदाओं एवं रोगों से घिर गये तथा क्रम से दिशाओं के मण्डल के मण्डल छिन्न-भिन्न होने लग गये ॥२२॥ नगर और गाँव केवल भस्मावशेष रह गये, सम्पूर्ण मण्डल (जिले) उजड़ गये और शब्द करनेवाले भस्म एवं मेघों के बवन्डरों से आकाश में भयंकर हलचल पैदा हो गई ॥२३॥ सारी पृथ्वी का पेट अभागी प्रजाओं के बड़े-बड़े समारोह एवं रोने के शब्द से युक्त बन गया, सारी जनता चोरी करने में प्रवीण बन गई तथा सभी मनुष्यों को प्रतिक्षण सन्तापों का ही सामना होने लगा ॥२४॥ भद्र, उस समय पृथ्वी में ऋतुओं ने अपना-अपना गुण-स्वभाव छोड़ दिया और उसके सभी प्रदेशों की सीमाएँ नीरस हो गयीं। इस तरह ब्रह्माजी के विराट् शरीर को बनाने वाला पार्थिव भाग जब चैतन्य में मिल गया, तब पृथ्वी की विशालता समीपवर्ती प्रलय के कारण विलीन हो गई, तदन्तर चेतनरूप संवित्से निर्मुक्त जल भी विनाश की ओर उन्मुख हो गया ॥२५,२६॥ जब जलधातु का स्वरूप कुपित हो गया, तब उसने भी अपना नियम तोड़ दिया और नियम तोड़ने के कारण समुद्र अपनी प्राचीन आर्यमर्यादा को तिलांजलि देकर अन्धाधुंध विस्तृत जल से लबालब भर गये ॥२७॥ फिर उन्मत्तों के सदृश शब्द कर रहे समुद्र विकृतभाव धारण करने लग गये और अपनी बड़ी-बड़ी तरंगों के नाना प्रकार के विक्षोभों से तटस्थ जंगलों का उच्छेद करने लग गये ॥२८॥ समुद्रों में बड़ी-बड़ी उन्नत तरंगें उठने लग गयीं, मत्त और भयंकर महान आवर्त भी होने लगे-इससे उसमें रहने वाले जलचरों में हलचल पैदा हो गई। सारे आकाशमण्डल में एवं दसों दिशाएँ ऊँचे-ऊँचे घूम रहे जलतरंगरूप वर्तुलाकार महामेघों से व्याप्त हो गई ॥२९॥ बड़े-बड़े गुड-गुड शब्द करनेवाले आवर्तों द्वारा किये गये महान् गर्जन से उनकी पर्वत-कन्दराएँ भयंकर शब्द करने लगीं और जलकणों को (जलधाराओं को) बरसाने वाले महामेघों से पर्वत भी डूबने लग गये ॥३०॥ सभी समुद्रों का भीतरी भाग अपना-अपना उत्तम वेग बतलाकर दूसरों पर विजय पाने के निमित्त आगे-आगे दौड़ रहे वीर मगरों से घूर्णित (विक्षुब्ध) हो गया तथा उल्लसी मगरों के द्वारा

आक्रान्त वृक्षों से महाअरण्य–सा बना दिया गया ॥३१॥ गुफाओं को तोड़–फोड़ देने के कारण उनमें से सिंह निकल भागे और भागकर उन्होंने समुद्र में स्थित जलचरों को हताहत कर दिया तथा अपनी तरंगों द्वारा फेंके गये महारत्नसमूहों से समुद्रों ने आकाशमण्डल को तारों से युक्त बना दिया ॥३२॥ समुद्रों से उछले हुए मगरों ने आकाशगामी जीवों और बड़े–बड़े मेघमण्डलों को आच्छादित कर दिया और तरंगों के परस्पर आघातों से समुद्रों में कठोर भयंकर शब्द होने लगा ॥३३॥ ऊँचे हाथियों के सदृश तथा अतिचपल मगरों के फूत्कार से सूर्य का मण्डल भी धुल जाने लगा और परस्पर कुटिल गति की व्यग्रता से समुद्र तरंगों ने बड़ी–बड़ी पर्वत भित्तियों को भी तोड़–फोड़ दिया ॥३४॥ समुद्रों ने अपनी विशाल तरंगो से तीरस्थ पर्वतों को चूर्णित कर दिया, गर्जना करते हुए पर्वतों के गुफारूपी घरों पर उन्होंने अपना अधिकार जमा लिया तथा उनका जल उन्मत्त–सा बन गया ॥३५॥ सम्पूर्ण समूद्रों की गतियाँ कुछ विचित्र ही हो गई, वे शत्रुओं के नगरों पर आक्रमण करनेवाले नष्टशत्रु राजाओं के सदृश मालूम पड़ने लग गये, क्योंकि इन्होंने भी अपनी उन्नत तरंगों से विरोधी दावाग्नि को आहतकर ऊँचे स्वर से अपने–अपने घरों से देवताओं को भगा दिया और उनके नगरों पर मानों अपना अधिकार कर लिया ॥३६॥ पहले तो इन्होंने वनसमूहों को उखाड़ फेंका, फिर उनको ऊपर उठाया, इससे आकाशमण्डल ऐसा प्रतीत होने लगा, मानों उसका जंगल काट दिया गया हो । तथा उसे पंखयुक्त पर्वतमालाओं के सदृश अपनी तरंगमालाओं से ठसाठस भर दिया ॥३७॥ भयंकर शब्द करनेवाले प्रचण्ड वायुओं ने तरंगो को विभक्त कर देने के कारण पर्वतों के सदृश समस्त समुद्रों को विचलित कर दिया था तथा रत्नों के प्रकाश से चमकीले तीरस्थ पर्वतों के गिरने के कारण गिर रहे तटों से उनका जल भीषण ध्वनि कर रहा था ॥३८॥ उल्लासयुक्त अनेक बड़े–बड़े आवर्तों के द्वारा समुद्र मगर आदि जलचरों को ऊपर की ओर फेंक रहे थे तथा अगाध आवर्तों से अनेक पर्वत और उनकी गुफाओं को अपने उदर में निगल जा रहे थे ॥३९॥ समुद्रों ने बड़ी–बड़ी गुफाओं का विदलन कर दिया था, इससे उनमें से निकले हुए स्फटिक आदि पत्थरों के दाँतों से वे दन्तुर यानी हँसते हुए–से प्रतीत हो रहे थे और शिखरों के ऊपर विद्यमान लम्बी–लम्बी गुफाओं के प्रान्तों में समुद्रों के तरंग और जलचर प्राणी घुस गये थे॥४०॥ चंचल वर्तुलाकार तरंगों के द्वारा आक्रान्त वृक्षों के ऊपर शाखाओं में समुद्रों के कछुएँ एक तरह से गुँथ–से गये थे तथा इन्होंने यम, इन्द्र और पृथ्वी के वाहन महिष, ऐरावत एवं दिग्गजों को भयविह्वल बनाकर उनके कान खड़े कर दिये था यानी उनको भी चकित कर दिया था ॥४१॥ उस समय उनमें गिर रहे पर्वततटों के कटकट शब्द सुनाई पड़ने लगे । तथा उनमें बड़े–बड़े मत्स्यों के पुच्छों की छाट से ही छिन्न–भिन्न होकर पर्वत शीघ्र नीचे–ऊपर डूबने–उतराने लगे ॥४२॥ लीला से काटे गये अरण्यसमूहों में समुद्रों की कहीं तो शीतल जलधाराएँ बहने लगीं और कहीं जल रही बड़वाग्नि की ज्वालापंक्तियों से मिश्रित होकर अत्यन्त ही गरम बहने लगीं ॥४३॥ भद्र, सभी समुद्रों में एक अजीब–सा दृश्य उपस्थित हो गया, समुद्रजल से अपने आश्रयभूत इन्धनों

के विनाश की आशंका से महानल (बड़नावाग्नि) भयग्रस्त होकर छिप जाने लगे और पर्वतमालाओं के ऊपर जलमातंग स्थलमातंगों के साथ भिड़कर युद्ध करने में व्यस्त हो गये ॥४४॥ अपने जलों के द्वारा पर्वतों को एक-दूसरे पर्वतों के साथ टकरा देने में समुद्र बड़े ही कुशल हो गये और इस तरह की कुशलता प्राप्तकर जलों के नानाविध घुमाव के द्वारा वे मानों नृत्य कर रहे थे, ऐसी प्रतीति हो रही थी ॥४५॥ समुद्रों में कोई अनोखी ही शोभा उस समय मालूम होने लगी थी, उनमें बड़े-बड़े पर्वत, वनों के समूह तथा अनेक प्राणी डूब रहे थे, यानी इन सबका समुद्रों में जमघट हो जाने से कुछ अपूर्व ही शोभा मालूम पड़ रही थी तथा उड़ रहे उत्तम मृत हाथियों के फूले हुए शरीर रूपी नगारे समुद्र अपनी तरंगों से बजा रहे थे ॥४६॥ असुरों से पातालों के सदृश सारे समुद्र प्रलयकारी तरंगों से व्याकुल हो उठे-यों सागरों के विक्षोभ के अनन्तर उन समुद्रों में तैर रहे मृतक दिग्गजों की सूँड़ के आगे के भाग से एक विलक्षण ध्वनि सुनाई पड़ने लगी ॥४७॥ वह ध्वनि विलक्षण भी, पातालतलरूप तालु के भीतर विदारण हो जाने से वह ध्वनि मिलकर जोर पकड़ रही थी यानी घन थी, फिर पृथ्वी को बराबर जकड़ रखने के लिए स्थापित हुए महापर्वत आदि कीलें हिल गयी और एक क्षण में अपने स्थान से च्युत हो गई । अनन्तर क्षण भर मे चंचल समुद्रतरंगों से हिलायी गई वह पृथ्वी ऐसे प्रतीत होने लगी, जैसे चंचल शैवाल की लता हो ॥४८॥ इसके बाद प्रलयकारी मेघों के शब्दों से विलक्षण आडम्बरों से युक्त होकर अन्तरिक्ष मानों गिरने लगा और दिशाओं को प्रतिध्वनि के शब्दों से तोड़ने-फोड़ने लगा ॥४९॥ आकाशमण्डल से आवर्तों की गोलाई के सदृश वर्तुलाकार उत्पातजनक धूमकेतु गिरने लगे, उनका वर्ण सुवर्ण, रत्न, मोती एवं सिन्दुर वर्ण के साँपों के सदृश था ॥५०॥ दिशातटों को दग्ध कर देनेवाली तथा चंचल ज्वालारूप जटाओं के आरोप से युक्त अनेक प्रकार की उत्पातों की पंक्तियाँ दिशाओं से, आकाश से एवं पृथ्वी से आने लगीं ॥५१॥ भद्र, मैंने पहले जिन ब्रह्माजी का वर्णन किया है, उन्होंने जब अपना विधारणसंकल्प समेट लिया, तब उपेक्षित असुर आदि एवं पृथ्वी आदि दोनों तरह के भी महाभूत सब ओर विक्षुब्ध हो उठे ॥५२॥ चन्द्र, सूर्य, वायु, इन्द्र, अग्नि एवं यम-ये सब बड़े कोलाहल से ग्रस्त हो गये, उनका अधिकार प्रभाव ब्रह्मलोक में मिल गया, वे अपने-अपने स्थान से च्युत होने लग गये ॥५३॥ भू-कम्पनों से कटकट शब्द के साथ वृक्षों के समूह गिरने लगे और अनेक तरह के झूलों के सदृश आन्दोलन की गतियाँ पर्वतों को अनुभूत होने लगीं ॥५४॥ भूकम्प के कारण कैलास, सुमेरु और मन्दर की कन्दराओं में भारी चंचलता पैदा हो गई और कल्पतरु वृक्ष से रक्तरूप पुष्पगुच्छों की वृष्टि होने लगी ॥५५॥ हे श्रीरामजी, लोकान्तर पर्वत, नगर, समुद्र, अरण्य-यह जगत् पूर्ण समुद्र में उत्पातयुक्त कल्पपवन के बहने से एक दूसरे से टक्कर खा रहे मनुष्यों के कोलाहल से शीर्ण-विशीर्ण हो गया, जैसे रुद्रबाण की अग्नि के दाह से चारों ओर से गिर रहा त्रिपुरनगर (दैत्यसमूह) छिन्न-भिन्न हो गया था ॥५६॥

इकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

बहत्तरवाँ सर्ग

ब्रह्माजी के प्राणनिरोध से वायु के क्षय का और प्रसंगवश पूछी गई विराट् स्थिति का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, तदनन्तर जब विराट्स्वरूप ब्रह्माजी ने अपनी प्राणवायुओं का निरोध किया, तब वातस्कन्धनाम से स्थित आकाश में उत्पन्न वायु ने अपनी ग्रह, नक्षत्र आदि को धारण करने की मर्यादा छोड़ दी ॥१॥ वे वातस्कन्ध नाम से स्थित वायु ही विराट् ब्रह्मा के प्राण हैं, इसलिए जब उनका उन्होंने उपसंहार ही कर लिया, तब उन्हें छोड़कर सूक्ष्म भूतों को धारण करनेवाली मर्यादा को ग्रहमण्डल में कौन रख सकता है ? ॥२॥ इसी हेतु से ब्रह्माजी ने जब प्राणवायु रूप वातस्कन्ध का अपने में उपसंहार करना आरम्भ किया, तभी साथ-साथ उपसंहार से एक बन जाने के लिए पूर्वोक्त मर्यादा का त्यागकर ग्रह आदि में क्षोभ उत्पन्न हो गया, और क्षोभ के कारण-जैसे वायु बहने के समय अग्निदाह होने पर अंगारे गिरते हैं, वैसे ही-निराधार होकर आकाश-मण्डल से तारे भूमि पर टूटकर गिरने लग गये, इनकी शोभा वृक्ष से गिरे फूलों की-सी प्रतीत हो रही थी ॥३,४॥ इस भूखण्ड में जो पुण्यफल कमाया जाता है, उसको भोगने के लिए स्थान एक विमान हैं । इन विमानों का उपभोग करने में कारणभूत कर्मरूप मूल कालविपाक से कट गया और आधारभूत पवन के शान्त हो जाने से वे टूटकर आकाश से गिर जाने लगे ॥५॥ ब्रह्माजी का संकल्परूप इन्धन जब प्रलयोन्मुख हो गया, तब दीप्त ज्योतियों के सदृश सिद्धों की गतियाँ (सिद्धियाँ) भी शान्त हो गई ॥६॥

खेचर आदि सिद्धियाँ विनाशी एवं तुच्छ हैं, इसको सूचित करते हुए कहते हैं ।

जब अपनी शक्ति का विनाश हो गया, तब प्रलय के पवनों से छोटे तुलके सदृश आकाशमण्डल में उड़ती हुई, शब्दोच्चारण में भी असमर्थ सिद्धों की पंक्तियों की पंक्तियाँ आकाश से गिरने लगीं ॥७॥ कल्पवृक्षों के समूह, इन्द्र आदि के साथ उनके नगर और भूकम्प से चंचल हुए सुमेरु पर्वत के शिखर गिरने लगे॥८॥

ब्रह्माजी की स्थूल देह तो ब्रह्माण्डरूप विराट् है, इस विराट् शरीर के भीतर सत्यलोक निवासी चतुर्मुख देह तो उस-उस विराट् के मन से कल्पित एक प्रातिभासिक रूप हैं, यह चार मुखवाली देह ब्रह्माजी की स्थूल देह नहीं मानी जा सकती, क्योंकि ऐसा माननेपर तो उसकी स्थिति विराट्देह के भीतर हो नहीं सकती, आज तक किसी की भी स्थूल देह में दूसरी स्थूल देह देखी या सुनी नहीं गई है । इस स्थिति में प्रातिभासिक मानसिक चतुर्मुख देह में, जो एक तरह से स्वप्न सी है, प्राणों के उपसंहार से विराट् देह के स्तम्भक प्राणस्थानीय वायु आदि का विनाश कैसे हो सकता है, क्योंकि स्वप्नदेह में प्राणउपसंहार से मरण दीखने पर जाग्रत-शरीर में प्राण का उपसंहार होकर किसी भी मनुष्य की स्थूलदेह का विनाश नहीं देखा जाता, इस आशय से श्रीरामजी शंका करते हैं ।

श्रीरामजी ने कहा : गुरुवर, चतुर्मुख ब्रह्माजी तो चिति के संकल्पस्वरूप मन हैं और वे विराट् एवं ब्रह्माण्डशरीर हैं, यह बात प्रसिद्ध है, इस संकल्पस्वरूप चतुर्मुख के भूलोक आदि अवयव ही नहीं हो सकते, क्योंकि अमूर्त (निराकार) मन के साकार अंग नहीं होते । यदि होते हैं, तो भूर्लोक कौन–सा अंग है ? स्वर्ग कौन–सा अंग है ? ॥९॥ हे ब्रह्मन्, यदि यह माना जाय कि चतुर्मुख साकार हैं, तो अल्प नापवाले ब्रह्माजी के ये अतिविस्तृत पृथ्वी आदि अंग बनकर कैसे स्थित हो सकते हैं ? यदि कहें कि ब्रह्मा भी अतिविस्तृत हैं, तब वे अपने ही शरीररूप इस ब्रह्माण्ड के अन्दर सत्यलोक में कैसे रह सकते हैं ? ॥१०॥ हे भगवन्, मेरा व्यक्तिगत निश्चय तो यह है कि यह संकल्पमात्रस्वरूप ब्रह्माजी निराकार हैं और यह जगत् साकार है । इसलिए यदि इस विषय में इसमें अन्य कोई दूसरा तरीका हो, तो मुझसे कहिए ॥११॥

अब पहले जो प्रश्न किया गया है कि स्थूलदेह मनोमयदेहरूप और पृथ्वी आदि उसके अवयव कैसे हैं ? इसका अनुभव कराने के लिए मूलवस्तु के दिग्दर्शन द्वारा भूमिका बाँधते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामजी, पहले तो न कोई असत् वस्तु थी और न सत् वस्तु ही थी, किन्तु सभी तरह के सदादि विकारों से रहित चिन्मात्र परमआकाश ही था, वही सब तरह की अभिलाषाओं और दिशाओं को एकमात्र पूर्ण करनेवाला था ॥१२॥ इसी परमाकाश ने अपने असली स्वरूप का अपरित्याग कर यानी स्वयं विकार को न प्राप्त होकर ही अपनी अवकाशरूपता की ऐसे कल्पना की, जैसे चन्द्र ने द्वितीय चन्द्ररूप की । इसी से उसने चेत्य को अपने से भिन्न वस्तु समझी और चिद्रूप होने से वह चेतन भी हुआ ॥१३॥ हे श्रीरामजी, बोध्य, बोध और बोद्धरूप (ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञातारूप) त्रिपुटी के मनन से घनीभूत बन जाने के कारण मन का वेष धारणकर स्थित हुआ वह चेतन जीव ही है, यह आप जानिये । त्रिपुटी तक का जितना अभ्यास से उत्पन्न हुआ स्थिति जाल है, उतने के हो जाने पर भी उनमें कुछ भी परस्पर अलग–अलग हो जानेवाला साकाररूप नहीं हैं, किन्तु विशुद्ध चिदाकाश ही है । यह चिदाकाश ही पहले की नाईं अपने स्वरूप में ही विद्यमान है । इसलिए यह जो दिखाई पड़नेवाला जगत् है, वह शिवस्वरूप परमात्मा से अलग कुछ भी नहीं है ॥१४,१५॥ तदनन्तर विशाल वह मन अहंकार की भावना कर जब स्फुरित होता है, तब 'अहम्' रूप धारण करता है, परन्तु संकल्पात्मक भी निश्चल और अविनाशी चिदाकाश ही है ॥१६॥

अहंकार की कल्पना के बाद स्थूल देह की कल्पना भी उसकी अवस्तुभूत ही है, यह कहते हैं ।

संकल्पात्मक चिदाभासरूप आकाश, जो कि अहंरूप भावना से भावित किया गया है, उक्त स्थूलदेह के रूप का अनुभव करता है । वास्तव में यह असत् ही है, इसलिए इसके अवयव भी आकाश में आकाशरूप के सदृश ही हैं ॥१७॥ यही जिस आकार की भावना करता है, उसे जानता है, देखता है और अनुभव भी करता है, वास्तव में संकल्पात्मक शून्य ही देह के रूप में स्थित है ॥१८॥

यदि देह शून्य है, तो वह साकार कैसे अनुभूत होगी, इस पर कहते हैं ।

भद्र, जैसे आप शून्यस्वरूप संकल्पनगर को साकार देखते हैं, वैसे ही ब्रह्मा भी शून्य में शून्यरूप आकाश को देहरूप ही देखता है, क्योंकि उसने ऐसा ही अनुभव किया है ॥१९॥

प्रलय और मोक्ष आदि की कल्पना भी ऐसी ही असत् है, यह कहते हैं ।

संवित् आत्मा स्वयं तो निर्मल है, इसलिए इस प्रकार के जगत् का जब तक अनुभव करने की इच्छा रखता है, तब तक उस प्रकार का अनुभव कर फिर उसे अपनी इच्छा से स्वयं ही शान्त कर देता है ॥२०॥

कब शान्त हो जाता है, उसे कहते हैं ।

जब हम लोगों को तत्त्वज्ञान हो जाता है, तब विस्तृत यह प्रपंच जो शून्यरूप होते हुए भी सत्य–सा बनकर स्थित है, उपसंहृत (शान्त) हो जाता है ॥२१॥ असल में जो सत्यरूप ब्रह्म वस्तु है, उसका ठीक ठीक परिज्ञान हो जाने पर इसी जन्म में मिथ्या वासना नष्ट हो जाती है । फिर अद्वैतभाव की प्राप्ति और अहंकार का विलय हो जाता है, इसके बाद केवल मोक्ष ही मोक्ष बच जाता है ॥२२॥

ठीक यही बात रहे, परन्तु इससे क्या मेरे प्रश्न का उत्तर हो गया, इस पर कहते हैं ।

भद्र श्रीरामजी, इस रीति से जो यह ब्रह्मा हैं, वही यह स्थित जगत् है । सारांश यह कि विराट् ब्रह्मा का जो देह है, वही यह जगत् है ॥२३॥ संकल्पाकाशरूपी ब्रह्माजी की जो भ्रान्ति उठी है, वही यह जगत् भासता है और वही ब्रह्माण्ड़ कहा जाता है, इसलिए भ्रान्ति से ही ब्रह्माण्ड में स्थूल–देहता है । विचार से तो उसकी मनोमयता ही है, इसलिए उसके अंगों के उपसंहार से उपसंहार हो गया, यह पूर्वोक्त बात सिद्ध हो गई ॥२४॥

अथवा जाग्रदुन्मुखता में स्वप्न के देहांगों के उपसंहार से कैसे स्वप्न के भूमि आदि लोकों का उपसंहार हो जाता है, वैसे ही उन पृथ्वी आदि का उपसंहार हुआ, क्योंकि दोनों ही संकल्पाकाशरूप हैं, इस आशय से कहते हैं ।

सभी कल्पनात्मक यह जगत् संकल्पाकाशस्वरूप ही है, अतः वस्तुतः कहीं न जगत् की सत्ता है और न कहीं त्वत्ता–मत्ता की यानी अहन्ता और ममता की ही सत्ता है ॥२५॥

जगत् अवास्तव है, यह कैसे आपने जाना, इस प्रश्न पर उसकी असंभाव्यता है, इसलिए, यों उत्तर देते हैं ।

चैतन्यरूप जो निर्मल आकाशवस्तु है, उसमें कहाँ, कैसे और किस हेतु से जगत् की सत्ता हो सकती है, उसमें उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है और उस उत्पत्ति में सहकारी कारण कौन हो सकते हैं यानी ब्रह्मचैतन्य में विचारने पर जगत् की सर्वथा ही असंभावना है ॥२६॥ इसलिए यह असत् ही उत्पन्न हुआ है, असत् ही देखा जाता है और असद्रूप ही जगत् प्रिय–अप्रियरूपसे

प्रकाशता है । इस तरह निष्पक्ष ब्रह्म ही भ्रान्ति से जगत्-रहित आकाश को असत् जगत के रूप में देखता है ॥२७॥

इसीको विस्पष्ट रूप में कहते हैं ।

चिन्मात्र ब्रह्म ही धर्मी जगत् एवं उत्पत्ति आदि धर्मों के भास से स्वयं स्वतः प्रियाप्रियरूप से प्रकाशित होता है । जैसे वायु से स्पन्दन होता है, वैसे ही अपने से ही अद्वैत चिदाकाश में जगत् के रूप में स्पन्दित होता है ॥२८॥ यह न द्वैतरहित है, न अद्वैतरहित है और न द्वैताद्वैत से ही रहित है । उस चिदाकाश को ही आप जगत् जानिये, जो स्वयं स्वच्छ एवं विकारशून्य है ॥२९॥ हे राघव, इस कारण मैं सभी तरह के विशेषणों से निर्मुक्त होकर स्थित हूँ । मैं परमार्थतः सत् हूँ और व्यवहार में असत् देहादिरूप भी हूँ, आप भी मेरे जैसे परमार्थ सद्रूप और व्यवहार में असत् देहादिरूप बनकर ममता शून्य हो स्थित हो जाइए ॥३०॥ श्रीरामचन्द्रजी, आप समस्त वासनाओं को छोड़ दीजिये, मनका सन्ताप छोड़िये, व्यर्थ के वाग्जाल में मत फँसिये, अब अपनी सारी चपलताओं को तिलांजलि दे दीजिये, यह सब करके आप जो कुछ प्रारब्धवश या शास्त्रवश प्राप्त हो जाय, उसे कीजिये या न कीजिये, इसमें किसी तरह का कोई आग्रह नहीं है अर्थात् इसके बाद समाधि से उठकर जाग्रत-दशा में यथाप्राप्त व्यवहारों को कीजिये या समाधि में स्थित हो कुछ न कीजिये, इसमें कोई आग्रह नहीं है ॥३१॥

इसलिए समस्त दृश्य ब्रह्मरूप ही है, भ्रान्ति के आकार में परिणत हुए उसके नानाविध अज्ञान ही दृश्यों के अनुभव हैं, यह निचोड़ अब तक के वचनों से हाथ लगा, यों उपसंहार करते हैं ।

हे श्रीरामजी, जो अद्वितीय, अनादि, अविनाशी अनुभवरूप साक्षीचेतन है,वही यह दृश्य है, इससे भिन्न दूसरा कोई भी दृश्यनाम का पदार्थ नहीं है । अनुभवैकरसरूप ब्रह्म में जो अनेक तरह के अज्ञान हैं, वे ही चित्र-विचित्र भ्रान्तियों को पैदा कर विस्तृत दृश्यानुभवरूप बन जाते हैं ॥३२॥

बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

तिहत्तरवाँ सर्ग

ज्ञान को दृढ़ बनाने के लिए शुद्ध ब्रह्म में जगत् के आरोप-क्रम का और
ब्रह्माजी के पृथ्वी आदि कौन अंग हैं - इस प्रश्न के उत्तर का पुनः वर्णन।

'भूर्लोक ब्रह्माजी का कौन-सा अंग है, भूर्लोक आदि उसके अंग कैसे हो सकते हैं, सत्यलोक में उसका निवास कैसे : ये जो तीन प्रश्न किये गये हैं, उनके उत्तर के लिए उपोद्घातरूपसे वर्णित - शुद्ध ब्रह्म में जगत् के अध्यारोप प्रकार को -फिर क्रमशः और तात्पर्य से ठीक ठीक जानने की इच्छा से श्रीरामजी तात्पर्यतः अपना ज्ञात अंश बतलाने के लिए सिंहावलोकन न्याय से आगे के वचनों से निकले निचोड़ का स्मरण दिलाते हैं ।

श्रीरामजी ने कहा : हे पूज्यवर, बन्धबुद्धि, मोक्षबुद्धि और जगद्‌बुद्धि न तो शुन्य है और न सन्मय ही है यानी न सत्य अर्थवाली ही है । जिसका अस्त नहीं होता और जिसका उदय भी नहीं होता , ऐसा कोई भी यह आद्य पदार्थ है यह मैंने जाना । जो आद्य पदार्थ है, वह सबका साक्षी है, अतः उसका न तो उदय हो सकता है और न अस्त ही हो सकता है. इसलिए यह सर्वसाक्षीरूपा बुद्धि ही विषयों का परिमार्जन करने पर कोई भी वाणी एवं मन से अगम्य आद्य (ब्रह्म) है, यही आपने तात्पर्यवृत्ति से उपदेश दिया है और यह मैंने अच्छी तरह समझ भी लिया है *(तब क्या अब उपदेश विरत हो जाऊँ ? नहीं यह कहते हैं)* भगवन्, इस विषय में आप फिर मुझको उपदेश दीजिये, क्योंकि अमृत सुन रहे मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ॥१,२॥ हे प्रभो, सृष्टि आदि के परिज्ञान तथा शून्यता आदि के परिज्ञान न तो कोई सत्य हैं और न कोई असत्य ही है यानी न उनके विषय अबाधित है और न बाधित ही है, क्योंकि तत्–तत् व्यवहार करनेवाले पुरुषों की दृष्टि से ब्रह्म ही उस तरह से स्थित रहता है । उनकी अर्थक्रिया के विषय में भी किसी को विवाद नहीं है । असत् कार्यपक्ष माना नहीं जा सकता, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म में सर्वशून्यता बनाने की शक्ति भी हो सकती है तथा माया से सब तरह के विरोधों का परिमार्जन भी हो सकता है ॥३॥

मायाशबल (युक्त) ब्रह्म की महिमा के सदृश मैंने माया के अधिष्ठानभूत निर्विशेष, नित्यमुक्त ब्रह्मतत्त्व भी जान लिया है, यह कहते हैं ।

हे महाराज, यद्यपि वस्तुस्थिति ऐसी है और जो कुछ सत्य वस्तु है उसे पूरी तरह से मैंने जान भी लिया है, तथापि विपुल बोधार्थ फिर मुझसे सृष्टि का अनुभव (अध्यारोप) कैसे होता है, यह आप कहिए॥४॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, यह जो कुछ स्थावर–जंगमरूप, नाना प्रकार के धर्मों से पूर्ण एवं देश, काल, क्रिया आदि से युक्त पूरा जगत् दिखाई देता है, उसका महाप्रलय शब्द से कहे जानेवाले महानाश में यानी प्राकृत प्रलय में (जब कि स्थूल भूतों का सूक्ष्मभूतों में नाश हो जाने पर भूतसूक्ष्मों के साथ अव्याकृत में प्रवेश हो जाता है, तब) जिसमें कि ब्रह्मा, उपेन्द्र, मरुत्, रुद्र, महेन्द्र,आदि के शरीरों का अन्तिम भावविकार हो जाता है–शान्त, अतिस्वच्छ, अज, अनादि एवं सद्रूप कोई वस्तु बच जाती है । उससे सभी वाणी भी निवृत्त हो जाती है यानी किसी तरह की वाणी उसे कह नहीं सकती , इसे छोड़कर दूसरा कोई भी अपने लायक पदार्थ नहीं है ॥५–७॥ भद्र, जैसे सरसों की अपेक्षा विशाल आकारवाला सुमेरु पर्वत अति स्थूल है, वैसे ही अन्य की अपेक्षा परमसूक्ष्म सद्रूप आकाश भी उसकी अपेक्षा अतिस्थूल है ॥८॥ पर्वतराज सुमेरु की अपेक्षा ये त्रसरेणु जैसे सूक्ष्म हैं, वैसे ही अन्य की अपेक्षा अतिस्थूल यह विशालतम ब्रह्माण्ड मंडल उसकी (ब्रह्म की) अपेक्षा अतिसूक्ष्म (अणुतर) है ॥९॥ कालमान को बतलानेवाली सूर्यस्पन्दन आदि उपाधियों का विनाश हो जाने के कारण प्रलयकाल मानकलना से रहित हो जाता है, इस तरह का प्रलयकाल ब्रह्माजी

की जो दो परार्ध आयु निश्चित है, उसीके समान उतने समय तक रहता है । इतने लम्बे समय तक प्रलय रहकर जब चला जाता है, तब साक्षीरूप परमशान्त, सबके आदि उस महा चिदाकाश में मायारूप आवरण से युक्त, भीतर सुषुप्त-प्राय चिदाकाश स्वप्नोन्मुख के सदृश अपने भीतर परमाणुरूपता का (अपने भीतर विलीन जगत्संस्काररूप परमाणुरूपता का) मानों अनुभव करता है अर्थात् पर्यालोचन करता है । असल में यह तो संकल्पशून्य, महाशान्त है । इसकी आकृति दिशा एवं काल आदि से नापी नहीं जा सकती ॥१०,११॥ वह परमाणुरूपता असत्य ही है, फिर भी उसकी अपने अन्दर स्वप्न के समान पहले भावना करता है, फिर अपने में ब्रह्मशब्दार्थ की भावना करता है यानी मैं ही सबको बढ़ानेवाला हूँ, यों भावना करता है और साथ-साथ में अपनी असीम चिद्रूपता की भी भावना करता है ॥१२॥

अपने ब्रह्मशब्दार्थ की जो भावना करता है, उसमें कारण उसकी चित्स्वभावता ही है, यह कहते हैं ।

चितिस्वरूप आत्मा अपने भीतर विलीन हुए अपने सूक्ष्म जगत्संस्कार का जो अनुभव करता है, इसमें कारण उसकी चितिरूपता ही है, इसी से उसे मानों देखता है । इसके बाद स्वयं वह द्रष्टा-सा बनकर स्थित हो जाता है ॥१३॥

एक वस्तु में विरुद्ध दृश्य-द्रष्टा के धर्म नहीं हो सकते, यदि यह शंका हो, तो इसका समाधान यह है कि स्वप्न के सदृश विरोध का पर्यालोचन न होने से वैसा हो सकता है, यह कहते हैं ।

जैसे एक ही पुरुष स्वप्न में अपने आप अपनी आत्मा में अपने को मृत देखता है, इससे यह बात आ गई कि मृत ही मरण का द्रष्टा है ठीक वैसे ही अणुचिति अपनी आत्मा में उक्त अणुता देखती है यानी स्वयं दृश्य और द्रष्टा हो जाती है ॥१४॥

ऐसी कल्पना करने पर भी वास्तव में ऐक्य की क्षति नहीं होती, यह कहते हैं ।

तदन्तर यह चिदाकाश स्वरूपतः एक होते हुए भी अपने भीतर द्वैत-सा देखता है और यों देखता हुआ द्रष्टा एवं दृश्य-सा बनकर अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है ॥१५॥ यद्यपि यह चितिरूप आकाश शून्यरूप है यानी आकार से एकदम ही रहित है, फिर भी अपनी अणुरूप तनुता (क्षीणता) जब देखता है, तब दृश्य-सा एवं द्रष्टा-सा बनकर द्वैतभाव धारण करता है ॥१६॥ यह द्रष्टारूप आत्मा माया के बल से अपने को प्रकाशस्वभाव उक्त परमाणु रूप (परिच्छिन्नस्वरूप) देखता हुआ उसका अनुभव करता है और उसी की सामर्थ्य से अपनी उपचयरूपता का ऐसे संकल्प करता है, जैसे बीज अपनी अंकुरता का ॥१७॥

उसी समय यद्यपि उसमें आवश्यक देश, काल आदि के विभागों की कल्पना भी हो जाती है । परन्तु वाग् आदि की अभिव्यक्ति न होने से उसकी अभिधाशक्तिका अविर्भाव नहीं होता, यह कहते हैं ।

उसी समय देश, काल, क्रिया, द्रव्य, द्रष्टा, दर्शन, ज्ञान–साधन एवं ज्ञानरूप चक्षु आदि अन्य अर्थों के स्वभाव से स्थित होते हैं, परन्तु अभिधाशक्ति का उदय नहीं रहता ॥१८॥

उसकी जो विभागकल्पना हुई, उसमें प्रकार बतलाते हैं ।

जहाँ यह चितिरूप अणु प्रतीत हुआ, वहाँ देश का भी भान हो ही गया तथा जब उसका भान हुआ, तब काल भी उसमें आ गया और जो ज्ञान हुआ, तो वह क्रिया हो गई ॥१९॥

उसी समय त्रिपुटी का विभाग करनेवाली उपाधियों की, साक्षी की एवं उसके प्रकाश में हेतुभूत पदार्थ की कल्पना भी हो जाती है, यह कहते हैं ।

जिसका ज्ञान होता है, वह द्रव्य कहा जाता है, जो दृष्टता है, वह उपलब्धता भी है, आलोकन ही दर्शन है और आलोकन में (देखने में) जो कारण है, वह दृग है ॥२०॥

इसी तरह कर्ता, कार्य, कारण, भोक्ता, भोग्य आदि त्रिपुटी–विशेष, उनके साक्षी और निमित्तों की भी कल्पना सर्वत्र जान लेनी चाहिये, इसे कहते हैं ।

इसी तरह उसकी विपुलता दिखाई पड़ती है, असीमरूपता या संख्या से इयत्ता (सीमा) भी क्रम से उसमें देशादि परिच्छेदों से जानी जाती है । वास्तव में तो विपुलता या असीमता आदि असत्यरूप ही है । उसमें कोई क्रम नहीं है । तथापि इसे आकाश में आकाशरूपता के सदृश जान लेना चाहिए ॥२१॥

अब इसमें रूपादित्रिपुटी के सिद्ध हो जाने पर चक्षु आदि करणों के विभाग की भी कल्पना अगत्या सिद्ध हो जाती है, यह संक्षेप से बतलाते हैं ।

चितिरूप अणु को यानी जीव को सूर्य आदि के प्रकाश का जिस गोलकच्छिद्र से भान होता है या जिस अतीन्द्रिय–करण से वह देखता है, वे दोनों ही देहगत चक्षु हैं, यही न्याय श्रोत्र आदि सब इन्द्रियदृष्टियों में लागू है, यह संक्षेप से जान लेना चाहिये ॥२२॥

श्रोत्र (कान) आदि जो पाँच इन्द्रियाँ हैं, उन्हीं के विषयों में नामरूप भेद कल्पना के पहले की जो अवस्था है, वह तन्मात्रशब्द से कही जाती है, यह कहते हैं ।

चितिरूप अणु का प्रतिभास होने पर भीतर सर्वप्रथम (पूर्वकी) जो इन श्रोत्र आदि पाँचों के शब्दादि विषयों की नामरूपशून्य अवस्था है, वह तन्मात्र शब्द से कही जाती है, उसका स्वरूप अतिसूक्ष्म है ॥२३॥ उस क्रम से चितिरूप अणुका प्रतिभारूप जो आकाश है, वही घनस्थिति होकर स्थूल देहरूप बन जाता है, फिर उसमें रूप आदि के अनुसन्धान वश से पाँच इन्द्रियाँ प्रकाश करती हैं ॥२४॥

अब चार अन्तःकरणों की कल्पना का प्रकार दिखलाते हैं ।

इस तरह अणुरूप चिति का ज्ञान दृश्य पदार्थों के बार–बार अनुभव से खूब पुष्ट हो जाता है । फिर इसीका नाम ज्ञान एवं बुद्धि पड़ जाता है । इन्द्रियों से अनुभूत विषयों का स्मृति–समय में जो ज्ञान होता है वह चित्त कहा जाता है और अध्यवसाय समय में जो ज्ञान होता है वह बुद्धि कही जाती

है ॥२५॥ तदनन्तर संकल्पविकल्प दशा में वह मन बन जाता है, अभिमान से-अहंभाव एवं ममभाव से – अभिमानी होकर अहंकार पद को प्राप्त हो जाता है । इस रीति से आत्मा ने देशकाल का भी विभाग किया है ॥२६॥

काल और देश में पूर्ववत् जो कल्पना होती है, वह उत्तरकाल की कल्पना को लेकर ही प्रवृत्त होती है, यह कहते हैं।

इन प्रसिद्ध शब्द आदि विषयों का जिस देश या कालरूप आधार में जो सर्वप्रथम विज्ञान होता है यानी जिस चिदणुरूप जीव को जिस देश या कालरूप आधार में शब्दादि विषयों का विज्ञान होता है, वही जीव देश या कालरूप आधार का उत्तरकाल से भिन्न पूर्वदेश या पूर्वकाल-यों नामकरण कर देगा, यही नियम प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक जीव के लिए लागू है॥२७॥ वही चितिरूप जीव दूसरे देश-काल में ज्ञान होने पर उनका 'उर्ध्व' नाम रख लेगा, इसी प्रकार दिशा में पूर्व, पश्चिम, उत्तर आदि नामों की वह क्रमशः कल्पना कर लेगा ॥२८॥

इस तरह देश, काल और वस्तुओं की एवं उनके नामों की कल्पना बतलाई गई, अब जिन्हें शब्दशक्ति का ज्ञान है, ऐसे पुरुषों को शब्दश्रवण होने पर तत्-तत् अर्थों का जो विज्ञान होगा, उस विज्ञान के रूप में भी वह आत्मा ही हो जायेगा, यह कहते हैं ।

भद्र, तदनन्तर यद्यपि आकाश के सदृश अतिनिर्मल ही यह आत्मा है, तथापि संकल्पवश यह आत्मा ही स्वयं देश, काल, क्रिया, द्रव्य आदि शब्दों के अर्थों के ज्ञान के रूप में हो जायेगा ॥२९॥ इसी रीति से अपने ही संकल्प के प्रभाव से यह आकाश के सदृश निर्मलरूप धारण करनेवाला चिदाकाश अपने आप ही चिति के अन्दर सर्वप्रथम आतिवाहिक शरीर फिर देहेन्द्रियादि विभाग, फिर नाम, यों समस्त जगत के स्वरूप में विवर्तित हो जाता है ॥३०॥

यों समस्त जगत् केवल मानसिक कल्पनास्वरूप होने के कारण आतिवाहिक शरीर का अवयव ही सिद्ध होता है, फिर भी उसमें आधिभौतिकता की प्रतीति कैसे होती है ? इस पर कहते हैं।

यही चिदणु जीव दीर्घकाल की उक्त भावना से अपनें में पूर्णरूप से आधिभौतिक का निश्चय कर लेता है ॥३१॥ निर्मल चिदाकाश ने चिदाकाश में ही अपने असत्संकल्प से उक्त प्रकार के विभ्रम की रचना की है, यह सत् के सदृश होकर ऐसे चारों ओर फैला है, जैसे (मृगतृष्णा की) ताप-नदी का जल ॥३२॥ वह गगनरूप चिदणु-जब अपनी देह की कल्पना करनी होती है, तब इस तरह की कल्पना करता है-कहीं कोई कल्पनाएँ सिर शब्द के अर्थ को देनेवाली, कोई पैर शब्द के अर्थ को देनेवाली, कोई छाती, पसली आदि शब्दों के अर्थों को देनेवाली है । वह कहीं निर्मल कल्पना, कहीं भाव, अभाव, ग्रहण, त्याग आदि शब्दों के अर्थों की कल्पना, कहीं नियत काल की कल्पना, कहीं देशकाल से नियन्त्रित कल्पना *(देशकाल आदि नियमित विषय की ओर अभिमुख तथा इन्द्रियों के समूह से वेधित कल्पना*

को जीव धारण करता है ।), कहीं विषयोन्मुख कल्पना और कहीं इन्द्रियों से युक्त कल्पना करता है । यों शरीरों के अवयवों की एवं बाह्य अर्थों के हानादि व्यवहारों की कल्पना करता रहता है । *(और यह जीव स्वयं कल्पित हाथ, पैर सहित तथा चित्त आदि की कल्पनासहित अपने आकारों को देखता है ।)* ॥३३–३५॥ तदनन्तर वह चिदणु अपनी कल्पना से ही कल्पित अपने हाथ, पैर आदि से युक्त तथा चित्त आदि की कल्पना से युक्त मनुष्य आदि का आकार देखता है ॥३६॥

जब ईश्वरों की देहों की भी कल्पना उसके संकल्प से होती है, तब फिर दूसरों की तो बात ही क्या, यह कहते हैं ।

इसी तरह अपनी ही कल्पना से चिदणु – जीव ब्रह्मा बन जाता है, नारायण बन जाता है, रुद्र बन जाता है तथा कीट भी बन जाता है ॥३७॥

सभी तरह की यह कल्पना मिथ्या ही है, यह कहते हैं ।

वास्तव में तो यह कुछ बना नहीं है, किन्तु यह अपने असली स्वरूप में ही स्थित है, शून्य में शून्य का ही विलास है और चिति चिति में ही बढ़ी है ॥३८॥

व्यष्टियों के सदृश समष्टिरूप हिरण्यगर्भ भी उसी तरह अपनी कल्पना से ही बना है, यह कहते हैं ।

भद्र, व्यष्टि शरीरों का जो नियत कन्द (मूल) है, त्रैलोक्यरूप बल्लियों का जो बीज है, वह भी वही है । मुक्ति के द्वार की प्रतिबन्धक विषय–सृष्टिरूप अर्गला (श्रृंखला) देनेवाला तथा संसाररूप मूसलाधार वृष्टि करनेवाला मेघ भी वही है ॥३९॥ सब कार्यों का कारण, काल, क्रिया आदि का नियामक, सबका आदिभूत हिरण्यगर्भ भी अपनी इच्छा से वही बन बैठा है उत्थित न रहते हुए भी वह उत्थित है ॥४०॥ न तो इसका भौतिक शरीर है और न इसके शरीर में हड्डियाँ ही हैं, अतः इसे कोई मुट्ठी से नहीं पकड़ सकता ॥४१॥ जैसे स्वप्न में मेघ, संग्राम और सिंहों की भीषण गर्जना से युक्तस्वरूप रहने पर भी सुप्त पुरुष वस्तुतः चुपचाप ही स्थित रहता है, वैसे ही विराट् पुरुष भी प्रपंचशून्य अपने स्वरूप में स्थित है ॥४२॥ जैसे स्वप्न में देखे गये योद्धाओं के कोलाहल का ज्ञान जाग्रत्‌अवस्था में स्मृतिपथ में आया हुआ न तो अत्यन्त असत् है और न सत् ही है, वैसे ही जगत् का यह प्रपंच स्थित है ॥४३॥

एकमात्र माया से उन हजारों वस्तुओं की, जिनकी हम कभी संभावना नहीं कर सकते, इस संसार में उत्पत्ति दीखती है, यह कहते हैं ।

अनेक लाखों योजन के समूहों तक विशाल प्रमाणवाला, बृहत–शरीर भी यह त्रैलोक्य रोम के सूक्ष्म भाग के अन्त में स्थित सिर्फ एकमात्र माया से ही परमाणु के अन्दर भी भासता है ॥४४॥ सात महाकुल पर्वतों तथा गणों के समूहों का आश्रय एवं ब्रह्माण्डों का समूहमय होकर भी ब्रह्मदेव वट के

बीजमात्र छिद्र को भी पूर्ण नहीं कर सकते ॥४५॥ सैकड़ों करोड़ लम्बे जगत् के विस्तार से विस्तृत आकारवान् होते हुए भी ब्रह्मदेव अणुमात्रस्वरूप हैं । स्वप्न के पर्वतों के समान वस्तुतः इन्होंने देश को व्याप्त नहीं कर रखा है ॥४६॥ यही ब्रह्माण्डात्मा स्वयंभू कहे गये हैं तथा जगत्-शरीर विराट् भी यही कहे जाते हैं । लेकिन हे श्रीरामचन्द्रजी वस्तुतः ये चिदाकाशरूप ही हैं ॥४७॥ सनातन पुरुष भी यही कहे गये हैं, इन्हीं की रुद्र संज्ञा पड़ी है तथा हे श्रीरामचन्द्रजी, इन्द्र, उपेन्द्र, पवन, मेघ तथा पर्वतसमूहों की देह भी यही है ॥४८॥

अब पूर्वोक्त को संक्षिप्त कर कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, परम सूक्ष्म चिति पहले सबको चेतित करने से चित्त शरीर हुई और वही चित्तात्मा वर्णित क्रम से विस्पष्ट चिति होकर यानी महाज्ञानसम्पन्न होकर 'मैं महान् ब्रह्माण्डात्मा हूँ', इस तरह जगत् के शरीररूप से स्थित हो गया ॥४९॥ स्पन्द की संवित् से वे स्पन्द का अनुभव करते हैं। उनके जो प्राण हैं उन्हींकी संज्ञा पवन पड़ी हुई है। वे वातस्कन्धरूप से स्थित हैं ॥५०॥

स्पंद की संवित् से वे स्पंद का अनुभव करते हैं, यह जो ऊपर कहा गया है उसका सर्वानुभव प्रसिद्धि द्वारा समर्थन करते हैं ।

स्पन्द की संवित् से जो वे प्राण और अपान के स्पन्द का अनुभव करते हैं उसी उनके प्राण के स्पन्द को उनके ब्रह्माण्डाकाश में हमने वातस्कन्ध के नाम से पहले कहा है ॥५१॥ विराट् ने अपने चित्त से जिनकी कल्पना की वे ही ये तेज के कण, चालक द्वारा अपने चित्त से कल्पित पिशाच की नाईं, असद्रूप होते हुए भी सूर्य, चन्द्र, ग्रह, और नक्षत्र आदि की स्थानता को प्राप्त हुए हैं यानी तद्रूपता को प्राप्त हुए हैं ॥५२॥ उसके उदर में जनित जो प्राण तथा अपान के आवर्तरूपी झूला है, वही उसकी उदरता वातस्कन्ध संज्ञा को धारण करती है । महान् जगत् उसी का हृदय (हृदयगत् अस्थि आदि) है ॥५३॥ जगत् के अन्दर कल्पपर्यन्त व्यवहार करनेवाले समस्त जीवों में प्रत्येक जीव भेद की इच्छा से कल्पित व्यष्टिशरीरों के प्रथम बीज यही ब्रह्मदेव हैं ॥५४॥ इनसे उत्पन्न प्रत्येक जीव की इच्छा से प्रकटित हुए जो जगद्रूप से अनेक देह हैं उनके कभी बाहर और भीतर ये ठीक वैसे ही स्थित हैं ॥५५॥ जैसे आद्य बीज हिरण्यगर्भ की इच्छारूप चिति पहले ही उत्पन्न हो गई, वैसे ही आज भी उसकी इच्छित चिति ही प्रत्येक जीव के भीतर उदित हो रही है । कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे एक प्रथम बीज से अनेक वृक्ष तथा बीजों की परम्परा उदित होती है वैसे ही हिरण्यगर्भरूप चेतन की इच्छा से प्रत्येक जीव से ब्रह्माण्डपरम्परा उदित होती है ॥५६॥ चन्द्र, सूर्य और पवन - ये तीनों उस हिरण्यगर्भ के कफ, पित्त और वायुरूप हैं और दूसरे जो ग्रह तथा नक्षत्र समूह हैं वे उसके प्राणष्ठीवन के सीकर हैं यानी प्राण द्वारा बाहर निकले हुए थूक के कफबिन्दु हैं ॥५७॥ पर्वतसमूह उसके अस्थि हैं, सारे मेघ उसकी चर्बी की जाति-जैसे हैं, उसके सिर, पैर और त्वचारूप देहावयवों को ऊपर-नीचे के कपालों तथा ब्रह्माण्डों के आवरणों को दूरी

के कारण हम लोग नहीं देख पाते ।।५८।।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस संसार को आप विराट् पुरुष का शरीर समझिये । वह भी कल्पनात्मक उस विराट् की एकमात्र कल्पनारूप ही है । वह न तो कोई बाह्यसाधन से साध्य है और न वस्तुतः मन की कल्पनारूप कुछ है । इसलिए आकाश तथा पर्वत, पृथिवी तथा सागर आदि सबके सब प्रशान्त चिदाकाश रूप ही है ।।५९।।

तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

चौहत्तरवाँ सर्ग

जो लोक उस ब्रह्मा के अंगभूत हैं जो उसके पृथक्-पृथक् अवयव हैं तथा
जिस तरह ये सब इसके अन्दर स्थित हैं-इन सबका वर्णन।

उस ब्रह्मा का कौन अंग यह भूलोक है और कौन अंग स्वर्ग अथवा पाताल है ? इस विभागप्रश्न का, 'कथं वासोऽन्तरे तस्य' इस प्रश्न का तथा 'कथं वा तन्मनोमात्रं निराकृतिरिदं स्थितम्' इस प्रश्न का भी विस्तार के साथ उत्तर देने के लिए अब महाराज वसिष्ठजी श्रोता को सावधान कर रहे हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, उस शिला के उदर में देखे गये ब्रह्मकल्परूपात्मक उस विराट् के संकल्प में जो ब्रह्माण्डात्मक शरीर स्थित है उसकी विचित्र आचारों से चित्त को हर लेनेवाली जो यह जन्म, कर्म, अवयव आदि की व्यवस्था है, वह आप सुनिये ।।१।।

उस विराट् का ब्रह्म ही वास्तविक स्वरूप प्राथमिक और अकल्पित है । उस विराट् का शरीर तो उसकी दृष्टि से अत्यन्त ही लघुतर है, यह कहते हैं ।

आदि, अन्त और मध्य से रहित जो परम चिदाकाश है, वही विराटात्मा का प्रथम कल्पनारहित शरीर है तथा उसका कल्पित यह जगद्रूप शरीर तो अत्यन्त ही लघु है।।२।।

आदि, मध्य और अन्त से रहित चिदाकाश ही उसका स्वरूप है, यह आप कैसे जानते हैं, इस पर कहते हैं ।

चूँकि वह ब्रह्मा अपने संकल्पित ब्रह्माण्ड़-शरीर से बाहर संकल्पित होकर यानी संकल्प-शून्य साक्षी चिदाकाशमात्र होकर संकल्पनात्मक अपने अण्ड को चारों तरफ देखता है । वास्तव में तो वह ब्रह्माण्ड भी प्रकाशमय चिदाकाशरूप ही है ।।३।।

उस विराटात्मा का सिर, पैर और नितम्ब बतलाने के लिए सर्वप्रथम ब्रह्माण्ड के ऊपर तथा नीचे के भाग को उसका कपाल (खोपड़ी) तथा पैर बतलाते हैं ।

लिंगसमष्टि के अभिमानी चिदाकार पुष्ट उस ब्रह्मात्मा ने अपने संकल्परूप सुवर्णमय अण्ड का ऐसे दो भाग किया, जैसे अपने पुष्ट अण्ड का पक्षी दो भाग करता है ।।४।। उस अणु

के ऊपर के एक भाग को उसने ऊर्ध्वगत आकाश समझ लिया तथा नीचे का भाग जो स्थित था उसे उसने भूलोक मान लिया। अर्थात् उस अणु के दोनों भाग में जो ऊपर का भाग था वही आकाश तथा नीचे का जो भाग था वह पृथ्वी आदि लोक कल्पित हुआ। यद्यपि उस विराट् पुरुष ने उन दोनों में आकाश तथा भूलोक आदि की कल्पना की, लेकिन फिर भी अपने से अतिरिक्त न तो उसने आकाश की कल्पना की और न इस भूलोक की ही कल्पना की। ब्रह्माण्ड के सबसे ऊपर का जो हिस्सा है वह उस विराट् पुरुष का सिर कहलाता है तथा नीचे का जो हिस्सा है वह उसका पैर कहा जाता है एवं इन दोनों के बीच का जो अन्तरिक्ष-आकाश है, वह उस विराट् पुरुष का नितम्ब कहलाता है ॥५,६॥ बहुत दूर विभक्त हुए उन कपालखण्डों की अति विस्तृत जो मध्य सन्धि है वह अनन्त-शून्य श्यामवर्ण आकाश की रेखा के रूप में लोगों को दिखाई देती है ॥७॥ अन्तरिक्ष उस विराट् पुरुष का विशाल तालु है, तारागण रूधिर के बिन्दु हैं तथा देह में सुर, असुर और नर आदि बुद्धि तथा प्राण की वृत्तियों के भेद हैं ॥८॥ भूत, प्रेत, पिशाच आदि उसके शरीर के भीतर रहनेवाले रक्त माँस आदि अपवित्र पदार्थों के लोलुप ये कीड़े हैं, सूर्य और चन्द्र आदि लोक उसके शरीर के छिद्र हैं तथा यमलोक आदि नरक के लोकान्तर उसके चक्षु आदि शरीर के नीचे के सूराख हैं ॥९॥ इस भूमण्डल के नीचे का ब्रह्माण्डखण्ड उसके पैर का विस्तृत तलवा है और नीचे जो पाताल गर्त है वे उसके जानुमण्डल के छिद्र हैं ॥१०॥ जलों से चलायमान सूराखों से पूर्ण, अनेक छिद्रोंवाली, काम, रोग, जरा, मरण आदि से व्याकुल तथा सातों समुद्र एवं सभी द्वीप जिसके वेष्टन हैं-करधनी एवं कटिसूत्र की जगह पर हैं, ऐसी पृथ्वी उस विराट् पुरुष की मध्यस्थ बस्ति, जाँघ एवं नितम्बमण्डली है ॥११॥ जलों से गुड़-गुड़ शब्द करनेवाली नदियाँ उसकी नाड़ीयाँ हैं तथा नदियों का जल उसके शरीर का रस है और हेमाद्रिकर्णिकासहित जम्बूद्वीप उसका हृदयकमल हैं ॥१२॥ शून्य दिशाएँ उसके कूक्षिभाग हैं, सभी पर्वत उसके यकृत-प्लीहादि हैं और मेघसमूह उसके कोमल तथा चिकने पटाकार चर्बी के समूह हैं ॥१३॥ चन्द्रमा और सूर्य उसके नेत्र हैं, ब्रह्मलोक उसका मुख कहा गया है, सोम उसका वीर्य तथा हिमालयपर्वत श्लेष्मा (कफ) कहा गया है ॥१४॥ अग्निलोक तथा पृथिवी के अन्दर की अग्नि इसका अतिदुःसह पित्त है। वातस्कन्धों में प्रसिद्ध जो आवह, निवह, प्रवह आदि महावात हैं वे इसके हृदय में स्थित प्राण और अपान हैं ॥१५॥ कल्पवृक्षों के वन, पाताल आदि में प्रसिद्ध साँपों के झुण्ड तथा वन एवं उपवन इस विराट् पुरुष के अनंत रोम हैं ॥१६॥ ब्रह्माण्ड के खण्ड का सम्पूर्ण ऊर्ध्वभाग इसका विशाल मस्तक है। ब्रह्माण्ड के ऊर्ध्वप्रान्त के छिद्र प्रसिद्ध दीप्त ज्योति ही इसकी प्रदीप्त शिखा खड़ी है(卐) ॥१७॥

(卐) देखिये यह श्रुति : 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्टेषु सर्वतः

इस प्रकार अपने विराट् शरीर की कल्पना करनेवाले उस विराट् पुरुष का कौन मन और कौन इन्द्रियाँ है, इस पर कहते हैं ।

चूँकि समस्त समष्टि मन के आत्मा ये विधाता स्वयं मनरूप ही हैं, इसलिए इनकी सभी कल्पनाओं में किसी दूसरे मन का इन्हें उपयोग नहीं करना पड़ता । मनरूप विधाता को भी किसी दूसरे मन की आवश्यकता होने पर अनवस्था हो जायेगी। जब यह निश्चित है कि एकमात्र आत्मा ही भोक्तृता को प्राप्त होता है तब भला किसका (क) कहाँ से कैसे संभव हो ? ॥१८॥ इसी तरह इन्हें इन्द्रियों की अस्तिता इनसे अन्यों में – हम लोगों में कल्पित है । और वे सब इन्द्रियाँ वस्तुतः एकमात्र कल्पनारूप ही है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है (ख) ॥१९॥

तब इन्द्रिय और मन में भेदव्यवहार क्यों होता है, इस पर कहते हैं ।

अवयव और अवयवी के सदृश एक शरीरधारी इन्द्रिय और चित्त (मन) में तनिक भी भेद नहीं है, इन दोनों में एकता ही है ॥२०॥

यही कारण है कि सम्पूर्ण जगत् की क्रिया भी उसी की क्रिया है, इसलिए क्रिया के विषय में अलग प्रश्न करना ठीक नहीं है, यह कहते हैं ।

संसार के जो कुछ कार्य हैं वे सबके सब एकमात्र उसी के कार्य हैं अर्थात् संसार की सम्पूर्ण क्रियाएँ उसी की क्रिया हैं, क्योंकि ब्रह्मा के संकल्प ही सब जीवों के रूप से अपने में भेद का आरोप करके जगत् के समस्त व्यवहार के रूप में चलते हैं ॥२१॥

तब तो हम लोगों का मरण और जन्म भी उसी के मरण और जन्म है । ऐसी स्थिति में द्विपरार्ध काल तक उसके जीवन की जो प्रसिद्धि है, उसमें विरोध होने लगेगा, इस आशंका पर कहते हैं ।

समष्टि जगत् के यानी समस्त जगत् के जन्म और मरण को ही उस ब्रह्मा का जन्म और मरण समझना चाहिए, हमारे–जैसे व्यक्तिविशेष के जन्म और मरण को उस ब्रह्मा का जन्म और मरण नहीं जानना चाहिए, क्योंकि जगत् में समष्टिरूप वही है तथा हम लोगों का जो संकल्प है तद्रूप भी वही है । उस ब्रह्मा का समष्टि तथा व्यष्टि से अतिरिक्त और कोई दूसरा रूप ही नहीं है ॥२२॥

क्यों यह सब कुछ ब्रह्मा ही है ? इस पर कहते हैं ।

उसकी सत्ता से जगत् की सत्ता तथा उसके मरण से यानी अभाव से जगत् का मरण यानी अभाव है । जैसी स्पन्द और वायु की सत्ता एक है वैसी ही ब्रह्मा और जगत् की सत्ता एक है ॥२३॥ वायु और उसके स्पन्द के समान जगत् और विराट् पुरुष की सत्ता एक ही है । जो

पृष्टेंष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु ।'

(क) अर्थात् मन का ।

(ख) इन्द्रियों की कल्पना में इन्द्रिय ही निमित्त हैं, ऐसा तो कभी कह नहीं सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर अनवस्था होने लगेगी, यह तात्पर्य है ।

जगत् है वही विराट् है और जो विराट् है वही जगत् कहा गया है ॥२४॥ जगत्, ब्रह्मा और विराट्-ये तीनों एक अर्थ के वाचक शब्द हैं तथा ये दोनों यानी विराट् और जगत् शुद्ध चिदाकाशरूप परमात्मा के संकल्प मात्र ही है (📖) ॥२५॥

'अस्तु नाम' यहाँ तक के पदसे महाराज वसिष्ठजी का कथन स्वीकार करते हुए श्रीरामचन्द्रजी अवशिष्ट प्रश्न का स्मरण कराते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, संकल्प से चिदाकाशरूप वह विराट् ही साकारता को प्राप्त हुआ, यह तो मैंने स्वीकार कर लिया, किन्तु कृपाकर यह कहिये कि वह ब्रह्मा अपने शरीर के भीतर रहते कैसे हैं ? (✍) ॥२६॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, मानसपूजा करते समय ध्यान लगाकर हृदय में कल्पित रत्नमण्डप के भीतर स्थित देव में प्रविष्ट होकर उस देवता की छत्र, चामर, व्यंजन, दर्पण, ताम्बूल आदि से परिचर्या कर रहे अपने को उस देवता के समीप में स्थित जैसे आप अनुभव करते हैं, वैसे ही संकल्पस्वरूप पितामह भी अपने शरीर के भीतर स्थित रहते हैं ॥२७॥

स्थूल देहात्मक अपने हृदयकमल में लिंग देहात्मक अपनी अवस्थिति सभी विवेकियों को अनुभव सिद्ध है, यह कहते हैं।

विवेकी पुरुषों का जीव अपने स्थूल शरीर के भीतर हृदयकमल में अवस्थित रहता है । वह सबकी देह उत्पन्न हुई प्रतिमा-जैसी है, यही कारण है कि दर्पण के अन्तर्गत प्रतिबिम्ब के सदृश वे ब्रह्माजी हैं ॥२८॥

कैमुतिक न्याय से अपने शरीर के अन्दर विधाता की स्थिति बतलाते हैं ।

जबकि आप भी अपने स्थूल शरीर के भीतर अपनी स्थिति भलीभाँति कर सकते हैं, तब भला सर्वसमर्थ संकल्पात्मा ब्रह्मदेव अपनी स्थिति क्यों नहीं कर सकते ? ॥२९॥

जब स्थावरों में भी अपने बीज से अन्य शरीर धारण करने की सामर्थ्य विद्यमान है, तब भला सर्वशक्तिसम्पन्न चिति की कल्पनारूप ब्रह्ममूर्ति के विषय में क्या कहना है, यह कहते हैं ।

जब स्थावर पदार्थ भी बीज के भीतर स्थित रहते हैं तब भला जंगम सर्व शक्तिमान् ब्रह्माजी अपनी देह के भीतर क्यों नहीं स्थित रह सकते, जो स्वयं चिति की कल्पनारूप हैं ॥३०॥ ऐसी स्थिति में ब्रह्माजी चाहे ब्रह्माण्डाकार से साकार होते हुए भी चिदाकाश स्वरूप बने रहें अथवा समष्टि मन के रूपसे निराकार चिदाकाश स्वरूप स्थित रहें, इसमें कोई हानि नहीं है, क्योंकि वे दोनों पक्ष में बाहर और भीतर सर्वत्र विद्यमान हैं । बाह्य तथा आभ्यन्तर कल्पनाएँ हैं वे दोनों ही

(📖) 'बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादि श्रुतियों में प्रसिद्ध जो संकल्प है वह भी तो निःस्वरूप ही है, इसलिए बहुत छान-बीन करने पर भी हमें एकमात्र ब्रह्म ही शेष मिलता है ।

(✍) अर्थात् 'कथं वासोऽन्तरे तस्य स्वस्यैव वपुषः स्थितः' इस मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिये।

स्वरूप से बाहर स्थित हैं अतः वे भिन्न हैं अर्थात् इन्हींका भेद होता है, आन्तर सद्रूप की जो आपने कल्पना कर रखी है उसका भेद नहीं होता ॥३१॥

अच्छा तो वह विराट् पुरुष बाहर और भीतर किस प्रकार है और वस्तुतः किस स्वभाव में वह स्थित रहता है, यह कहते हैं ।

वही विराट् पुरुष बाहर ब्रह्माण्ड रूपसे स्थित है तथा भीतर 'अहं', त्वम् इत्यादि व्यष्टि एवं समष्टिभूत भौतिकमय है । लेकिन अपने स्वरूप में तो आत्माराम होकर भी वह काष्ठवत् मौनी तथा पत्थर के समान जड़ होकर भी वस्तुतः वह चिदेकरसरूप होने के कारण जड़रूप से स्थित नहीं है ॥३२॥

केवल ऐसी स्थिति विराट् पुरुष की ही है, यह बात नहीं है किन्तु सभी तत्त्वज्ञानियों की भी ऐसी ही स्थिति है, यह दिखलाने के लिए उसी स्थिति का दृष्टातों द्वारा साफ–साफ वर्णन करते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, न केवल विराट् पुरुष, किन्तु सभी तत्त्वज्ञानी पुरुष लता, तृण, काष्ठपुरुष या प्रतिमा के समान पहले रत्न आदि से आबद्ध हो पुनः मुक्त हो जाने पर भी कुपित नहीं होते, बल्कि चुपचाप स्थित रहते हैं तथा जल के प्रवाह के सदृश अवरुद्ध और छिन्न–भिन्न अंग होने पर भी अपनी प्राक्तन शान्त स्थिति को नहीं छोड़ते एवं नाना प्रकार के कार्यसमूह में विहार करते हुए भी शिला के उदर के समान क्रोधादिरहित शान्तचित्त ही स्थित रहते हैं–क्रोध, हर्ष, विषाद आदि से तनिक भी विकार को प्राप्त नहीं होते ॥३३॥

चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

पचहत्तरवाँ सर्ग

ब्रह्मा के ध्यान में तत्पर होने पर बारह सूर्यों की उत्पत्ति तथा सारे संसार को जला रही प्रलयाग्नि का वर्णन ।

प्रासंगिक प्रश्न को समाप्त कर अब एकमात्र प्रस्तुत आख्यायिका का अनुसन्धान करते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जब ब्रह्मदेव ध्यान में लवलीन हो गये तब इन्द्र के सहित उनके नगर तथा सुमेरु पर्वत के शिखर का पतन देखने के बाद मैंने धीरे से दिशाओं की ओर अपनी आँखें दौड़ायीं, तब मैंने अपने सामने पश्चिम दिशा की ओर साफ उदित हुए–दिशाओं के मुँह में दाह के सदृश तथा पर्वत के ऊपर वनदाह के समान, मध्याह्न काल के सूर्य से भिन्न एक दूसरे ही सूर्य भगवान् को देखा ॥१,२॥ इसके बाद आकाश में अग्निरोक के तुल्य तथा सागर में बड़वानल के समान प्रदीप्त हुए एक और सूर्य को मैंने नैर्ऋत्यदिशा में उदित देखा ॥३॥ तदनन्तर दक्षिण दिशा में, उसके बाद अग्निकोण में, फिर पूर्वदिशा की ओर, उसके बाद पुनः मैंने ईशानकोण में उदित हुए–इस तरह भिन्न–भिन्न सूर्य मैंने देखे ॥४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, उसके बाद उत्तरदिशा में, वायव्यकोण में तथा पश्चिम दिशा में भिन्न–भिन्न सूर्यदेव भगवान् को देखकर मैं आश्चर्यचकित

हो गया ॥५॥ इतने में व्याकुल होकर ज्यों ही मैं दैव की प्रतिकूलता को विचारने लगा त्यों ही झट भूतल से सूर्य ऐसे प्रादुर्भूत हुआ, जैसे सागर से और्व-बड़वानल ॥६॥ दिग्गणों के मध्याकाश में ग्यारहवाँ सूर्य उदित हुआ । उस ग्यारहवें सूर्य में, दर्पण में प्रादुर्भूत हुए प्रतिबिम्ब की तरह, तीन अन्य सूर्य उदित हुए (●)॥७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, उस ग्यारहवें सूर्य में वे तीनों सूर्य भगवान् रुद्र के शरीर हैं । उस भगवान् रुद्र के शरीर के मध्य में तीन नेत्र हैं । बारह सूर्यों के आकार के बराबर परिमाणवाला प्रदीप्त सूर्यों का समूह होकर वह रौद्र शरीर सभी दिशाओं को खूब जोर से जलाने लगा, जैसे सूखे जंगल को अग्नि । तदनन्तर जगत्खण्ड को शुष्क बना देने वाला ग्रीष्म ऋतु का दिन प्रकट हुआ ॥८,९॥ हे कमलनयन, इसके बाद झट बिना अग्नि के ही अग्निका दाह तथा अदृश्य उल्मुकों के गुल्मक उत्पन्न हुए । अग्निरहित उस सौराग्नि के दाह से मेरे सभी अंग दावाग्नि से दग्ध अतएव खिन्न-से हो गये । उसके बाद उस प्रदेश को छोड़कर मैं बहुत दूर आकाश में आरूढ़ हो गया ॥१०,११॥ और प्रबल हथेली के आघात से मारे जा रहे गेंद की तरह आकाश में जाकर वहाँ स्थित हो मैंने उदित हुए प्रचण्ड तेजयुक्त तप रहे बारह सूर्य समूह को दसों दिशाओं में भी देखा । तथा उन दिशाओं में तारों के सहित आकाश को व्याप्त कर देनेवाली ज्वाला के समान चंचल वर्तुलाकार बृहत् नक्षत्रचक्र देखा॥१२,१३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, वहाँ मैंने महाकुहकुह शब्दों से युक्त सातों समुद्र को खूब खौलाकर काढ़ा बना रहे तथा ज्वालासहित उल्मुकों से सारे लोक और समस्त नगरों के भीतरी भाग को अच्छी तरह परिपूर्ण कर देनेवाले बारह सूर्य समूह को देखा ॥१४॥ उस सूर्यमण्डल ने ज्वालासदृश घन रक्तवस्त्राडम्बरों से सारे पर्वतों को सिन्दुरी रंग का कर दिया था तथा देदीप्यमान लोकपालों के घरों में स्थिर बिजली की तरह उसने समस्त दिशामण्डल को बना दिया था ॥१५॥ चट-चट शब्द करते हुए नगरों के मण्डल को उसने स्फुरित हो रहे कट-कट शब्दों के आडम्बरों से युक्त कर दिया था । शिला के समान घनीभूत, भूतलपर उद्भूत हुए दण्डाकार धूम्रों से भुवनस्थानमण्डल को हजारों काच के खम्भों से वह परिपूर्ण बना रहा था । काढ़ारूप में परिणत हो रहे समस्त प्राणियों तथा पृथिवी आदि महाभूतों के ऊँचे आक्रन्दन से उसमें अतिघर्घर शब्द हो रहा था ॥१६,१७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, वह बारह आदित्यों का मण्डल, जिसका मैंने अवलोकन किया, चारों ओर से समस्त प्राणियों के लोकों एवं उनके अंतर्गत नगरों के पतन से फट

(●) दसों दिशाओं के बीच में उदित हुए सूर्य के अन्दर उदित तीन सूर्यस्वरूप एक ही ब्रह्मा, विष्णु और शिवात्मक रुद्र का यह एक रौद्र शरीर है । वही 'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गः' इस गायत्री से प्रकाशित होता है । एकमात्र यही कारण है कि वह चौबीस अक्षरों से प्रसूत चौबीस हजार श्लोकों के पूर्वरामायण के सारसंग्रह स्वरूप आदित्यहृदय में 'ब्रह्मेशानाच्युतेशाय रौद्राय वपुषे नमः' इस श्लोक से तीन मूर्तियों के मूलभूत परमशिव के रूप से नमस्कृत हुआ है, सभी विद्वान् लोग उसी को सर्वोत्कृष्ट उपास्य देव कहते हैं, यह एक ज्ञातव्य विषय है।

रहे पदार्थों के चटचटाशब्दों से उद्भूत–प्रचण्ड था । अश्विनी आदि तारा समूहों के पतन के अभिघातों से धरातल के रत्नों को वह घिस रहा था ॥१८॥ सभी स्थानों में अपने–अपने घरों के भीतर उसके ताप से जल रहा जन–समुदाय इधर–उधर जोरों से भाग रहा था। मरे हुए तथा आक्रन्दनपूर्वक खूब पकाये जा रहे प्राणिसमुदाय से वह सारे दिक्तटों को दुर्गन्धयुक्त बना रहा था ॥१९॥ सारे महानगरों के जलजन्तुओं को, जो उनके उदर में रह रहे थे, सन्तप्त हुए जलों से व्याकुल कर रहा था । सारी दिशाओं में व्याप्त अग्नि के दाह से उसने भिन्न–भिन्न अनेक नगरों के प्राणियों को मारकर उन्हें रोदन से शून्य बना रखा था । उनमें रोनेवाला कोई एक भी प्राणी न रह जाय, ऐसा उन्हें कर रखा था ॥२०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मैंने बारह आदित्यों का वह समुदाय देखा, जो विदलित हो रहे तथा दग्ध हो चुके दिग्गजों के दाँतोंरूपी खम्भों से दिगन्तपर्वतों को अधोभाग में धारण कर रहा था तथा पर्वतों की कन्दराओं के छिद्रों को धूम्रमण्डलों से कुण्डलमय बना रहा था यानी परिपूर्ण कर रहा था ॥२१॥ वह जले हुए नगरों के मण्डलों को गिर रहे पर्वतों के द्वारा पीस–पीसकर खूब चूर्णरूप में परिणत कर रहा था और पचपच शब्दों से शब्दमय हो रहे महापर्वतों के हाथियों को वह खूब पकाने में संलग्न था ॥२२॥ सन्ताप से सन्तप्त होकर उछलते हुए प्राणियों द्वारा सभी सागरों एवं पर्वतों को वह ऐसा बना रहा था, मानों उन्हें ज्वर आ गया हो। हृदय फटने से सारहीन हो जाने के कारण विद्याधरों एवं उनकी अंगनाओं को गिराने में वह बराबर तत्पर हो रहा था ॥२३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, उस समय कुछ लोग जोर–शोर से खूब चिल्लाने तथा रोने से थक गये थे एवं कुछ योगी लोग उस समय ब्रह्मरन्ध्र को फाड़कर उसके द्वारा अपने प्राणों को निकाल देने से अमर भी हो चुके थे । स्वर्गलोक में जलती हुई ज्वालाओं द्वारा पातालपर्यन्त सारा भूतल उस समय खूब सन्तप्त हो रहा था ॥२४॥ सूखे समुद्रों में उसके द्वारा लगातार सदा पकते रहने के कारण मगर आदि जल जन्तु परस्पर खूब टक्कर खा रहे थे, इसलिए वे सबके सब देखने में उस समय बड़े भीषण प्रतीत हो रहे थे। जलरूपी इन्धन न मिलने से बड़वानल मानों उड़कर स्वयं आकाश में चला गया। वहाँ पहुँचते ही हजारों तरह से नृत्य करते हुए उसने अप्सराओं को जिससे उछलकर पकड़ लिया, वह बारह आदित्यों का मण्डल मैंने वहाँ देखा ॥२५॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसके अनन्तर प्रलयाग्निरूपी नट जगद्रूपी जीर्ण कुटी में ताण्डव नृत्य करने को तैयार हो गया वह जल रही ज्वालारूपी किंशुक पुष्प के वर्ण की तरह वस्त्रों से सुशोभित था, बड़े वेग से फट रहे बाँस आदि के कारण पटपट आदि शब्दों के आडम्बर से युक्त था यानी वह उनसे नाना तरह के बाजों का आडम्बर रखनेवाला था। चंचल उल्मुकरूप माला पहिने हुए था, प्रचण्ड एवं वीरोचित शब्दोच्चारण कर रहे योद्धा की तरह अलंकृत दीखता था, प्रज्वलित ज्वालारूपी अपनी लम्बी भुजाओं से समन्वित तथा धूम्ररूपी केशों से वह विभूषित था । उस प्रलय की अग्नि से वनों के समूह, ग्राम, समस्त नगर, मण्डलों के द्वीप–दुर्ग, जंगल, स्थल, पाताल आदि पृथिवी के

समस्त छिद्र, पृथिवी के ऊपर का महाकाश, दसों दिशाएँ, भूलोक के ऊपर का हिस्सा-ये सबके सब जलने लगे ॥२६-२९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, कहीं सुन्दर गर्तों से शोभित, कहीं पर अरघट्टयन्त्रों से अलंकृत तथा कहीं ऊँची अट्टालिकाओं से युक्त अनेक नगरों से रमणीय दिशाओं का तट, पर्वतों के शिखर, उन शिखरों पर वास करनेवाले सिद्धों के समूह, उन सिद्ध समूहों से युक्त अनेक पर्वत, सागर, महासागर, तालाब, तलैया, नदी, देव, असुर, नर, उरग (सर्प) और पुरुषों के साथ सभी दिशाएँ-ये सबके सब भगवान् रुद्र के नेत्रों की ज्वालाओं के शनशना शब्दों से जलने लगे ॥३०,३१॥ भंभं भाँकार भयंकर शब्दों से बहुत ज्यादा धूलि फेंकती हुई ये सभी दिशाएँ दुष्ट राक्षसियों की तरह, परस्पर धूलि एवं जल फेंक-फेंककर क्रीड़ा करने में तत्पर हो गई, ये सभी अपने मस्तक के ऊपर ज्वाला-समूहों से उज्ज्वल केश धारण किये हुए थीं यानी ज्वालाजालरूपी चमकीले केश इनके माथेपर विराजमान थे ॥३२॥ उत्तम गर्तों से युक्त पर्वतभूमियों की गुफाओं से खूब ज्वालाएँ निकलने लगीं। उन ज्वालाओं के उदर में स्थित समस्त भूत जातियाँ लाल रंग की हो गई ॥३३॥ सम्पत्तिरहित उन सब दिशाओं ने तत्काल निकले हुए रक्त के सदृश ज्वालाजालों से, जो सिन्दुरी रंग के मेघों की तरह सुन्दर थे, स्थल कमल के उदर में लीन शोभा को धारण किया। धक्-धक् शब्दों से गाते हुए सारे संसार में व्याप्त ज्वालाओं के जालों से आकाश मानों रक्त वस्त्रों से या सन्ध्याकालीन मेघों से आकीर्ण हो गया । अथवा यह भी कह सकते हैं कि ज्वालासमूहों से आवृत वह सारा आकाश ऐसा प्रतीत होने लगा मानों उड़कर वहाँ ले गये विकसित किंशुक के वनों से ढ़ँका हो ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐसी ही दशा सम्पूर्ण सागरों की भी हो गई, बड़वानल से संवृत्त सारे सागर भी ऐसे हो गये, मानों उनमें अशोक के वन खिल गये हों, या स्थल कमलों से वे संवलित हो गये हों अथवा प्रातःकालीन सूर्य के समूहों से वे व्याप्त हो चुके हों ॥३४-३६॥ युवावस्था को प्राप्त दावानल चित्रलिखित कोठों पर की मिथ्या अग्नि को मानों यथार्थ अग्नि बनाने के लिए नाना वर्णों की प्रज्वलित हो रही ज्वालाओं तथा धूम्र विन्यासों की श्रेणिवाला होता हुआ, हजार फणाओं की श्रेणिवाले सर्पराज के समान, विस्तार को प्राप्त हो गया, अनेक सूर्यों के उदय और अस्त आदि से विन्ध्याचल भी विधुरता को प्राप्त हो गया॥३७,३८॥ तथा दक्षिण देश में सघनात्मक पर्वत भी ज्वालायुक्त वनों की गर्जनासहित अंगार के समान क्षुब्ध हुए वृक्षों से कुछ धीरे से मानों असह्यता को प्राप्त हो गया ॥३९॥ बीच-बीच में जिनकी कुछ कालिमा प्रकाशित हो जाती थी ऐसे धूम्ररूपी भ्रमरों से मालित तथा धूम्रसंवलित ज्वालारूपी कमलों से मलिन हुआ आकाश सरोवर के तुल्य देखा गया ॥४०॥ ज्वालारूपी चूड़ामणि से अलंकृत तथा घूम्रों के आवर्त एवं धूमकेतु नामक उत्पातविशेषरूपी केशपाशों से भूषित मृत्युरूपी नर्तकी (वेश्याएँ) पर्वतों की कन्दराओं तथा शिखरों पर एवं पर्वतादि से शून्य आकाशप्रदेश में भी करुणादि रस से शून्य होकर नाचने लगीं ॥४१॥

ब्रह्माण्ड का उर्ध्वभाग ही जिसका कपाट है ऐसी पृथिवी अपने अधोभाग में स्थापित अग्नि की ज्वालाओं से व्याप्त होती हुई भाड़ की वह खपड़ी तैयार हो गई, जहाँ पर भूने जा रहे दानों की जगह अत्यन्त क्लेशयुक्त शब्दसहित गिरते हुए एकमात्र प्राणियों के समूह ही विद्यमान थे ॥४२॥ उस प्रलयकाल में अपनी छाती पीट–पीट कर रो रही जगत्–लक्ष्मी के हृदयपर स्थापित हुए हाथ में–अनेक द्वीपों की खोदी गई मृत्तिकाओं, सातों समुद्ररूपी जलों तथा उनमें व्याप्त अग्नियों से, काँच एवं उसकी कान्ति से युक्त सुवर्ण की जगह पर स्थित नानावर्णों के मुखों एवं मणियों से लाल हुई यह पृथिवी सुवर्ण विरचित मनोहर शब्द कर रहे–कंकणों की पंक्ति–सी हो गई ॥४३॥ उस समय सभी पर्वत चटचटा शब्दों, सभी वृक्ष कटकट शब्दों तथा सभी देश हलहला शब्दों के साथ अच्छी तरह विदलन को प्राप्त हो गये ॥४४॥

इसी तरह सागर भी मुँह पीट–पीटकर एक तरह से रोने लग गये, यह उत्प्रेक्षा करते हैं।

कथित आकारवाले (जिनके जल खूब खौल गये थे ऐसे) तथा फेनिल होने के कारण उन फेनों के उल्लास से परिपुष्ट हुए सारे समुद्र स्वीय जल में पड़े सूर्य प्रतिबिम्बरूप तिलक से समन्वित अपने मुख में तरंगरूपी करतलों से आघात पहुँचाते हुए रोने लग गये तथा पुनः वे सबके आपस में सम्बद्ध होकर तरंगों के आघात से मिट्टी तथा पत्थर आदि को बिल्कुल बराबर कर देने के कारण भूतलरूपता को प्राप्त हुए पर्वत का तरंगरूपी अपने हाथों से ऐसे ग्रास करने लग गये, जैसे कि मूर्ख प्राणी देह में प्राप्त मिट्टी तथा पत्थर आदि को प्राप्त करने लग जाते हैं ॥४५,४६॥ कहीं पर सारी दिशाओं तथा सारे आकाश को ग्रास कर जानेवाले या उन्हें पूर्ण कर देनेवाले इन सागरों के गुहामुख से निकले हुए 'गुहगुह' इस तरह के शब्दों का प्रदेशान्तर में गिरितट के संघटन से उत्पन्न अग्नि का शब्द पाठ करने लगा यानी अपने गुरुजी के द्वारा कहे गये शब्दों का अनुकरण जैसे शिष्यध्वनि करती है वैसे ही गुहामुख से निःसृत 'गुहगुह' शब्दों का अनुकरण वह आग्नेय शब्द करने लगा ॥४७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, और सुनिये–उस समय प्रलयकालीन मेघों की निवृत्ति से वृष्टिशून्य दसों दिशाएँ भी लोकपालों के नगरों के गिरने से दाह में सन्तप्त हुए अंगारों से परिपूर्ण पर्वतों की भित्तियाँ होती हुई उन्मत्तवृत्ति होकर व्याकुलता को प्राप्त होने लगीं ॥४८॥ समीप के अनेक पर्वतों, इन्द्र, कल्पद्रुम, आगारों तथा गुहागृहों के सहित, सुन्दर आकारवाला सुवर्णद्रवरूप सुमेरु पर्वत उस समय धीरे से ऐसे गल गया, जैसे धूप में हिम ॥४९॥ सम्पूर्ण शीतल अन्तःकरण से युक्त एवं शुद्ध हिमालय पर्वत तो उस प्रलय आग से एक ही क्षण में लाह के सदृश ऐसे पिघल गया, जैसे दुर्जन से सज्जन ॥५०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, उस महाभयंकर प्रलयकालीन दशा में भी मलयाचल तो अपने निर्मल सौरभ से युक्त ही स्थित रहा। (इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है) उदार महापुरुष तो नाश के समय भी अपने उत्तम गुण को नहीं छोड़ते ॥५१॥ महान् पुरुष तो नष्ट होते हुए भी आनन्द प्रदान करते हैं किसी को दुःख नहीं देते, (हे श्रीरामचन्द्रजी, देखिये न) स्वयं दग्ध होने पर भी वह चन्दन जीवन

धारण कर रहे प्राणियों के आनन्द के लिए ही ज्यों-का-त्यों स्थित रहा ॥५२॥ उत्तम वस्तु कभी भी अवस्तुता को यानी निकृष्टता को नहीं प्राप्त होती, (देखिये) प्रलयकालीन अग्नि से जल रहा भी सोना सर्वथा नाश को नहीं प्राप्त हुआ ॥५३॥

जो वस्तु कभी नष्ट नहीं होती वही इस जगत् में सार है, उसी की प्रशंसा करनी चाहिए, इस अभिप्राय से कहते हैं।

उस प्रलयकालीन अग्नि में सुवर्ण और आकाश ये दो ही नष्ट न हुए । उन्हीं दोनों का शरीर प्रशंसनीय है, क्योंकि सबका नाश हो जाने पर भी उनका नाश नहीं हुआ ॥५४॥ आकाश तो विभु यानी व्यापक होने से अविनाशी है और सुवर्ण दोषरहित होने से यानी दोषों से निचोड़कर शोधितरूप होने से अक्षय है। इसलिए हे श्रीरामजी, रज और तमसे निचोड़कर निकाले गये यानी जिसमें और तम बिल्कुल नहीं है ऐसे शुद्ध एक सत्त्वको ही ब्रह्मसुख की अभिव्यक्ति होने से मैं सब सुखों का सार समझता हूँ । मैं रज अथवा तमको सुखों का सार नहीं समझता ॥५५॥ मेघरूपी पर्वतों को जलानेवाला महाधूम्र की ज्वालासहित प्रलयाग्निरूपी वारिद (मेघ) इधर-उधर चल रहे उच्च जंगलो की नाईं आकाश में स्फुरित होता हुआ बिखरे हुए अंगारों की वृष्टि करनेवाला हो गया ॥५६॥ सभी तरह के जलों के बिलकुल सूख जाने के कारण यानी संस्कारमात्र भी अवशेष न रह जाने के कारण स्मृति के अभाव से अत्यन्त ही दुःखी, अतः शून्यस्वरूप विशाल शरीरधारी अण्डज आदि चार तरह के जीवों का तथा सर्वथा शुष्क हो जाने से आकाश के वृक्ष के पत्तों के पात्रस्वरूप, प्रलयाग्नि की ज्वाला से दग्ध हुए जलसहित मेघों की हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानाग्नि से दग्ध हुए तत्त्वज्ञानी के दोषों की नाईं, कहीं भस्म भी न दीख पड़ी ॥५७,५८॥ जब तक उल्लसित हुई वह प्रलयाग्नि कैलास पर्वत को न लाँघ सकी, इतने में ही कल्पान्त के लिए कुपित हुए रुद्र भगवान् ने अपनी नेत्राग्नि से उस कैलास को जला दिया ॥५९॥

उस दाह का भी वर्णन करते हैं ।

दाह से तड़कते हुए वृक्षों के तथा महाशिलाओं के चटचट शब्दोंवाले उस कैलास पर्वत के नीचे के सभी पर्वत लकुटों तथा पत्थर के ढेलों के समूहों से मानों युद्ध करने लगे-युद्ध करते हुए के समान प्रतीत होने लगे ॥६०॥ और सुनिये-ये सभी पर्वत ज्वालाओं के घनघटाटोपों से मुकुटसहित चंचल अग्र शिखरोंवाले होते हुए आकाश में विकसित हो रहे महाकमलों के अनेकों जंगल-जैसे हो गये ॥६१॥ 'कभी तो सृष्टि अवश्य रही ही होगी' इस प्रकार सृष्टि स्मरणीय दशा को प्राप्त हो गई। मूर्खों को जगत् की असारता का स्मरण दिलाते हुए कल्पान्त प्रत्यक्ष आ गया ॥६२॥ ताप और उपताप में परम यानी सबसे बढ़े-चढ़े तथा दूसरों को मारने में तत्पर प्रलयकाल के पवनों ने सम्पूर्ण भुवनों का, खरगोश के सींग आदि असद्रूप पदार्थों की तरह, सर्वथा अत्यन्तअभाव कर दिया ॥६३॥ उस प्रलय के प्रवृत्त होने पर वज्रपातों से प्राणियों के अंगो को पीड़ित करनेवाले तथा

प्रकाशमान अग्नि के उल्मुकों से संयुक्त होने के कारण गुल्ममण्डलों (卐) के सदृश शोभायमान प्रलयसमय के पवन–देवताओं की पंक्तियों को विदलित करते हुए अग्नि के बीच से निकलकर सारी दिशाओं को चाटते हुए–से बहने लगे॥६४॥ चंचल ज्वालाओं से तड़कते हुए अग्निमय वृक्षों के वनों में उत्पन्न भस्म सहित उष्णता से आकाश को व्याप्त करनेवाले (🔔), भ्रमण करते हुए उल्मुकों के अभिघात से निकल रही अंगारसहित पीली ज्वालाओं से युक्त, कज्जलरूप से गिर रही तथा पावक की श्रृंगप्राय शिखा के मध्य में विलास करती हुई कज्जलयुक्त ज्वालाओं की पंक्तियों से श्यामवर्ण एवं सम्पूर्ण जगत् में अग्नियों को प्रकाशित करने से स्तुतियोग्य वेगवाले पवन बड़े वेग से बहने लगे ॥६५॥

पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

छिहत्तरवाँ सर्ग

पश्चिम दिशा में, ऊपर के भाग में पुष्करावर्तक (प्रलयमेघ) का उदय तथा आग्नेय दिशा में उपसंहार-यह वर्णन ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, तदनन्तर जब पर्वतों को कम्पित कर देनेवाला तथा समुद्रतरंगों के द्वारा बलपूर्वक आकाशमण्डल में आवर्त पैदा कर देनेवाला कल्पान्त पवन बह रहा था, समुद्र अपने चिह्नों से रहित हो गये थे, मेघ अपनी मर्यादा एकदम नष्ट कर चुके थे, तथा जल की दरिद्रतारूप दुःख से जब भाग चुके थे, धनी अधनी हो गये थे, भूतल अपने अंश से रहित हो चुका था और अग्नि से भून गया था, कालप्रभाव से पाताल भी किसी (अनिर्वचनीय) पाताल को यानी विनाश को प्राप्त हो चुका था, समस्त सृष्टिवर्ग जीर्ण–शीर्ण हो गया था, विद्यमान अन्तरिक्ष लोक भी आकाशगत प्रकाश में मिल चुका था तथा जब सारी दिशाएँ शोक से व्याप्त हो चुकी थीं, तब किसी एक आकाश के गर्त से क्रुध दैत्यगणों के सदृश निकलकर पुष्करावर्तक नामधारी मेघ गुलगुल ध्वनि (गर्जन) करने लग गये ॥१–५॥ यद्यपि उनकी वह ध्वनि दूर से वैसी सुन पड़ती थी, लेकिन वस्तुतः वह अत्यन्त भयंकर थी, ब्रह्माजी ने अपने अण्डे का जब भेदन किया था, तब ब्रह्माण्ड की भित्ति के विस्फोट से जैसी उन्नत दहलानेवाली ऊँची ध्वनि निकली थी, ठीक वैसी ही उनकी ध्वनि थी, परस्पर आस्फालनों द्वारा उछलते हुए मत्त समुद्रों की ध्वनि के सदृश वह बीभत्स थी ॥६॥ लोक, समुद्र एवं नगरों में प्रतिध्वनि के रूप से उत्पन्न घन कोलाहलों के कारण वह सही नहीं जा सकती थी तथा पूर्व में वर्णित कुलाचल पर्वतों के कन्धों पर सम्बद्ध दाह के उग्र शब्दों के साथ मिल जाने के कारण

(卐) गुल्म-ऐसा पौधा जो एक जड़ से कई होकर निकले और जिसमें कड़ी लकड़ी तथा डंठल न हो । जैसे-ईख, शर आदि । अर्कप्रकाश में गुल्मगण के अन्तर्गत बरियारा, पाठा, तुलसी, काकजंघा, चिरचिरा आदि पौधे लिये गये हैं ।

(🔔) अथवा मेघों को उत्पन्न करनेवाले ।

वह घर्घर ध्वनि बड़ी ही भयानक लगती थी ॥७॥ भद्र, उस शब्द ने समस्त ब्रह्माण्ड़रूपी शंख के उदर को भर दिया था, मरनेपर ब्रह्माण्डभित्तियों के प्रतिरोध के कारण हुए अनेक आवर्तनों से वह बड़ा ही निबिड़ बन गया था, इसीलिए मानों स्वर्गलोक, अन्तरिक्ष, पृथ्वी एवं पातालतल तक उसकी अनेक शाखाएँ फैल गई ॥८॥ दूर-दूर की सम्पूर्ण दिशारूपी असीम भित्तियों को वह ध्वनि रूप शब्द लीला से लेखन द्वारा मानों खोद रहा था, महाप्रलय में मिश्रित होकर पानक (पना) या मद्य बन गये थे, इन समुद्रों के मद्य को वह मानों पी जाने की ज्यादा इच्छा कर रहा था ॥९॥ वह ध्वनि क्या थी, विजय पाने के लिए प्रस्थान किये हुए महाप्रलय नामक इन्द्र के मत्त ऐरावत हाथी की गर्जना-सी थी । और सुनिये-वह शब्द क्या था, कल्पकालतक रोके जाने से क्षुब्द हुए मेघरूपी समुद्रों का दीर्घकाल से संचित एक ही समय में निकला हुआ निर्घोष सा था ॥१०॥ महाप्रलय के कारण विक्षुब्ध हुए क्षीरसागर के मंथन का वह भयानक शब्द था, ब्रह्माण्ड़रूप जो महान उग्र अरघट्टयन्त्र है, उसमें लगे हुए जलधारायन्त्र का एक तरह से वह शब्द था ॥११॥ श्रीरामजी, वर्णित मेघध्वनि मैंने सुनी, सुनने के बाद मैं आश्चर्य के मारे चकित हो गया और आश्चर्यचकित होकर मैंने यह सोचा कि इस महान् कल्पाग्नि में भी मेघ की स्थिति कैसे हो सकती है । यों सोच के नीचे की दिशा को छोड़कर बाकी नव दिशाओं की ओर ताका ॥१२॥ मैंने उन दिशाओं में मेघ नहीं देखे, किन्तु केवल यही देखा कि उनमें तरल एवं आस्फालित उल्मुकरूपी वज्रों की वृष्टियाँ हो रही हैं ॥१३॥ उस अग्नि के ताप से दसों दिशाओं में भी अनेक करोड़ों योजन दूर तक के सारे पदार्थ भस्म हो रहे हैं ॥१४॥ तदनन्तर मैंने क्षणभर में अतिदूर आकाश में ऊपर से शीतल वायु का और नीचे अग्नि के सदृश गरम वायु का त्वचा से अनुभव किया ॥१५॥ आकाशमार्ग में वे मेघ इतने दूर प्रदेश में स्थित थे कि उस प्रदेश में न तो नीचे के अग्निताप ही जा सकते थे और न उसे जीवित प्राणी ही अपनी आँखों से देख सकते थे ॥१६॥ तदनन्तर पश्चिम दिशा से कल्प की वायु बहने लगी, उस वायु से विन्ध्य, मेरु, हिमालय आदि बड़े-बड़े पर्वत भी तृण के सदृश उड़े जा रहे थे ॥१७॥ उस वायु के द्वारा अगल-बगल उड़ रहे अंगाररूपी पक्षियों से युक्त ज्वालारूपी पर्वत आग्नेय दिशा की ओर तत्काल जाने लगे, चंचल लुआठे ही उनमें जंगल प्रतीत हो रहे थे ॥१८॥ आकाश मण्डल में सन्ध्या काल के अभ्रों के सदृश आकारवाले अंगाररूपी मेघ बरस रहे थे तथा उसमें भस्मसमूहरूपी जलधारी मेघ एवं वायु से शोधित अंगारों की धूलि उड़ रही थी ॥१९॥ भद्र, वह अग्निज्वाला के साथ विलासकारी वह दुष्ट वायु अग्निदिशा की ओर ऐसे जाता था जैसे पंखसहित हेमाद्रि आदि पर्वतों का समूह ॥२०॥

श्रीरामजी, जब अतिविस्तृत भूमण्डल ज्वालारहित अंगारों का ढेर बन गया, तथा ज्वाला की पंक्तियों का समूह धूलिशून्य होने के कारण चमकते हुए बारह सूर्यों का स्पष्ट तेजरूप बन

गया (तब कल्पान्त का मेघ भी आ धमका) ॥२१॥ जब समुद्र अग्निरूपी जल से लबालब तथा काढ़े के सदृश उछलते हुए जल से पूर्ण हो गये और सारे जंगल पत्तों के स्मरण से शून्य (पत्रशून्य) एवं प्रदीप्त अग्निरूपी वृक्षों के आधार बन गये (तब कल्पान्त के मेघ आने लगे)॥२२॥ जब भार्या, बालक एवं वृद्धों के साथ ब्रह्मलोकस्थ अधिपति तथा ब्रह्मलोक के नगर जलकर आकाश में गिरने लगे (तब कल्पान्त के मेघ आने लगे) ॥२३॥

भद्र, कल्पान्त की अग्नि एक तरह से कमलिनी ही प्रतीत हो रही थी, उसकी ज्वालाएँ ही पल्लवों की शोभा धारण कर रही थीं, पत्थरों से शून्य ब्रह्माण्डरूपी सरोवर ही उसका उत्पत्तिस्थान था, इस तरह की बीजयुक्त कमलिनी के केसर सदृश चिनगारियों से घटित उल्मुकों के द्वारा जब वायुरूप यानी वायुप्रधान साँप एवं पर्वतरूप मूल पाताल पर्यन्त अंगाररूपी कीचड़ में फँस गये, तब मशक में जल ढोने वाली ऊँटों की सेना के सदृश विस्पष्ट (शीघ्र) संचरणशील आकाश को देखकर कल्पान्त के मेघ, जो काजल के सदृश काले-काले थे, गरजते निकट आ धमके ॥२४-२६॥

भद्र, वह जो मेघमण्डल आया, वह सुस्थिर कल्पान्त की अग्नि की ज्वालाओं के सदृश अतिभयानक विद्युन्मय पर्वतों से सुशोभित लग रहा था । उसने अपने एक कोने में ही सात समुद्रों का असीम जल-भण्डार भर लिया था ॥२७॥ समस्त दिशाओं के तट भासुर नीहारसमुहों से छिद्ररहित भित्तियों के सदृश मालूम पड़ रहे थे, वह समस्त ब्रह्माण्ड की भित्तियों के घनमण्डलों को तोड़-फोड़ देने में अतिदक्ष मालुम हो रहा था *(अथवा दीवार के समान तुषार समूहों से दिशाओं को पूर्ण करनेवाला और ब्रह्मांड के अंतपर्यन्त भूतल को विदीर्ण करने में दक्ष वह मेघमंडल था ।)* ॥२८॥ उस मेघ को देखकर यही कहना पड़ता था कि कल्पान्त से क्षुब्ध होकर समुद्र ही आकाश में आ धमका है । क्योंकि उसमें वर्तुलाकार द्वादश आदित्यों की परिधि ही उसका वेष्टन-सा था, बिजली ही उसमें जलचर-सी मालूम पड़ती थी और उसमें भी गम्भीर ध्वनि हो रही थी ॥२९॥ उसे देखकर यह भी मालूम पड़ रहा था कि मृत या दग्ध चन्द्रमा ही परलोक में जाकर पुनः पहले की अपेक्षा द्विगुण शीतल होकर दूसरा रूप लेकर इस आकाशमण्डल में आया है ॥३०॥ सुवर्ण के समूह के सदृश विद्युत-समूहों का रूप धर लेने के कारण वह उस हिमालय का मानों स्वरूप धारण कर रहा था, जिस हिमालय ने अपनी जड़ता के कारण काष्ठ के सदृश समस्त जल को अचल रूप से स्तम्भित कर दिया है ॥३१॥ श्रीरामजी, तदनन्तर वर्षा होने लगी, इसने समस्त आकाशमण्डल को ब्रह्माण्ड के विस्फोट के सदृश अतिकठोर वज्रतुल्य निर्घात से छा दिया । इसने तो अखिल दिग्मण्डल को पहले से ही तुषार से व्याप्त कर दिया था ॥३२॥ भद्र, यह वृष्टि अग्निदाह के सदृश वन तथा आकाशमण्डल में विद्युत के प्रकाश से अतिभीषण लग रही थी, तथा अपनी चटचटाहट एवं गड़गड़ाहट से सारे ब्रह्माण्ड को तोड़ रही थी ॥३३॥ उत्पन्न हुए अनेक महान् सीत्कार के सैकड़ों शब्दों से उसने सिंहनाद के शब्दों को भी मात कर दिया था और शीतल

जलकण एवं नीहार से उसने आकाश को भी भित्तिबन्धनमय बना दिया था ॥३४॥ भद्र, पृथ्वी एवं आकाशरूप मण्डप के लिए निर्मित वैदूर्यमणि के (लहसुनियों के) स्तम्भों के समूह के सदृश भासुर धारासम्पातों से वह पृथ्वी का भार ढोनेवाले पर्वतों को भी तोड़ देनेवाला टंक-प्रहार कर रही थी ॥३५॥ पृथ्वी को चट-चट शब्द के साथ विदारित करने के कारण उसने अंगारों के समूह भी फोड़ दिये थे । गर्जना के साथ प्रबल जल के पातों से लोकान्तरों को गिराने में भी वह व्याकुल हो रही थी ॥३६॥ भद्र, तदनन्तर अंगारों से युक्त जगत्-रूपी घर में विलास करती हुई वह वृष्टि वाष्पशोभा की सखी के सदृश ज्वलनरहित पृथ्वी पर आकर मिल गई ॥३७॥ भद्र, वह गगनमण्डल, जो कि ज्वालाओं के खण्डों के विलासों से भरा था, उस समय ऐसा मालूम पड़ने लगा, जैसे कि उसमें स्थल-कमलों के अनेक समूह उगे हुए हो तथा उस आकाश मण्डल में स्फुरित हो रहे, शीतल जलकणरूप पंखों के समूहों से युक्त मेघ ऐसे मालूम पड़ने लगे थे, जैसे कि ज्वालाओं में घुम रहीं भ्रमर पंक्तियाँ हों ॥३८॥ श्रीरामजी, उस समय बड़े भयंकर चटचट शब्दों से दिशाओं को भर देनेवाला जो मेघों और अग्नियों का समागम हुआ, वह एक दुसरे से पराजित न हो सकनेवाले वैरियों के विषम-अतएव महान् उग्र, कुशल सेनाओं के परस्पर तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों से विनाशित उग्र शस्त्रयुक्त यानी परस्पर घात-प्रतिघातयुक्त-संग्राम के सदृश अति भयंकर लगता था ॥३९॥

छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

सतहत्तरवाँ सर्ग

पुष्करावर्तक मेघ की वृष्टिधारा से जर्जर एवं सात समुद्रों के विक्षोभ से धोये गये जगत् का पुनः वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, युगक्षय में जब पृथ्वी, जल, तेज एवं वायु-इन चार महाभूतों का परम विक्षोभ हो गया, तब तीनों जगत् की जो स्थिति हुई, उसे कहता हूँ, आप सुनिये ॥१॥ श्रीरामजी, उस समय तीनों जगत् उड़ रहे तमालवन के सदृश उड़ रहे भस्मरूप अभ्र-से भासुर हो गये तथा महासमुद्रों के भ्रमणशील महावतों के सदृश भ्रमणशील धूम्रों से व्याप्त हो गये ॥२॥ गीले काष्ठ आदि के जलने से उनमें कुछ धूम्रयुक्त नील ज्वालाएँ उठ रहीं थी, इन नील ज्वालाँशों के विलासरूपी क्रीड़ाओं से उनमें टिम-टिमशब्द हो रहे थे उन्होंने अपने भस्मरूपी अभ्रों के महान् ढेरों से लोकान्तरों के मध्य को भी भर दिया था ॥३॥ भद्र, उस त्रिलोकी में चारों ओर घनघोर वृष्टि का व्यापक जयघोष हो रहा था, वृष्टि के कारण आर्द्र लकड़ियों से छम-छम दीर्घ ध्वनि निकल रही थी, इससे यह प्रतीत हो रहा था कि मानों तुरही ही जयघोष कर रही हो ॥४॥ हे श्रीरामजी, समस्त त्रिलोकी में पाँच तरह के मेघ छा गये अर्थात् वह सारी त्रिलोकी भ्रमणशील भस्मरूपी मेघों से युक्त तथा धूम्ररूपी मेघों से व्याप्त हो गई । उसमें महाकल्प के मेघों का सौंदर्य छा गया । वाष्परूपी मेघों के विभ्रम से वह समन्वित हो गई । उद्भ्रान्त सीकरोंरूपी मेघों

ने उसमें अपना एक अच्छा स्थान बना लिया ॥५॥ ब्रह्माण्ड़भित्ति की अन्तिम सीमा तक हो रहे भांकार शब्दों से अति भीषण वायु के गमनों से आकाशमण्डल में उड़ाये गये दग्ध इन्द्रादिनगरों के समूह से वह व्याप्त हो गया था ॥६॥ उस समय वहाँ यह हालत रही कि जल, अग्नि एवं वायु का जो विविध ताण्डव हो रहा था उससे बड़े–बड़े पत्थर ऊपर की ओर उड़े जा रहे थे, इनका जो परस्पर आघात हो रहा था और जो उससे टंकारध्वनि निकल रही थी, उससे सबकी श्रोत्रेन्द्रियाँ (कान) जड़ हो गई थीं ॥७॥ आकाश में खम्भों के सदृश जल की अन्धाधुन्ध–अविच्छिन्न–धाराओं की वर्षा द्वारा जो कल्पान्त अग्नियों का विदारण (विनाश) हो रहा था, उससे वहाँ छम–छम शब्दों की घन ध्वनि हो रही थी ॥८॥ भद्र, उस समय त्रिलोकी के सारे समुद्र नदियों के समूहों से परिपूर्ण हो रहे थे जिनमें गंगाजी एक तरंग–सी प्रतीत हो रही थीं तथा वे समुद्र आकाशमण्डल के भयंकर मेघों के सदृश थे ॥९॥ उस समय त्रिलोकी में जो कल्पान्त मेघ बरस रहे थे, उन मेघों के आधार–पीठका तमालवृक्ष के पत्तों के नीचे लगने वाले पुष्पगुच्छों के सदृश तप रहे सूर्य मानों आस्वाद ले रहे थे ॥१०॥ उस समय पर्वतों के ऊपर से जो नदियों के समूह बह रहे थे, उनसे बड़े–बड़े पर्वत, द्वीप एवं नगर भी बह जाने लगे और कल्पान्त पवन के भयंकर क्षोभसे बड़े–बड़े पर्वत चूर्णित होने लग गये ॥११॥ ग्रह और तारों का समूह बड़ा ही उग्र एवं व्यग्र प्रतीत हो रहा था, ये एक दूसरे पर प्रहार करने में तुले हुए थे, अतएव ये वर्तुलाकार में परिणत होकर अन्त में गिर भी रहे थे, इसलिए आकाशमण्डल में भी इन्होंने पृथ्वी की अपेक्षा द्विगुण अलातलता को पैदा कर दिया था ॥१२॥ भद्र, सारे त्रैलोक्य में उस समय चारों ओर बहनेवाले प्रचण्ड पवन के कारण उत्पन्न हुए जल के पर्वताकार बड़े–बड़े तरंगों के आघातों से पर्वत टूट–फूट जा रहे थे और पर्वत प्रान्तों को कूट–कूटकर पवन प्रलय में ले जा रहा था ॥१३॥ घने जल कणों से युक्त वाष्प के मेघों से तथा कल्पकालीन नीलवर्ण के मेघों से सारी त्रिलोकी में सूर्यों के किरण समूह आवृत हो गये थे, इससे सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार हो गया था ॥१४॥ श्रीरामभद्र, पर्वतों का आधारपीठ जो भूतल था वह तो एकदम जीर्ण–शीर्ण होकर खण्ड–खण्ड हो चुका था – इस स्थिति से लुढ़क रहे पर्वतों के पतनों से त्रिलोकी में सारे समुद्र महान् संकट में फँसे से मालूम हो रहे थे ॥१५॥ उठ रही तरंगो से ऊपर आकाश की ओर फेंक दिये गये पत्थरों द्वारा मेघों को छिन्न–भिन्न कर देनेवाले प्रलय पवनों ने उनकी सारी दिशाओं के तटों को नष्ट–भ्रष्ट कर दिया ॥१६॥ ब्रह्माण्डभित्तिरूपी वक्षःस्थल में चोट पहुँचाने वाले, कठोर टंकारसहित प्रलय कालीन मेघ के समान वृक्षरूपी हाथों के आस्फोटों द्वारा परस्पर एकत्रित महासागर में छाती पीट–पीटकर वह सारा त्रैलोक्य रोने लग गया ॥१७॥ जल के अभाव से मरुस्थल के समान हो गये अधोभागवाले अन्तरिक्ष में स्थित हो रहे यानी उड़ रहे स्वर्ग, पाताल और भूलोक के सम्मिलित अनेक खण्डों से वह तीनों लोक आकाश को ढँकने लग गया ॥१८॥ तीनों लोक में प्रलयकालीन वायु द्वारा वेल्लित हुए मरे, अधमरे, जले तथा अधजले

अंगों वाले देव और दानव, सबके ऊपर एक-सी विपत्ति आनेपर भी परस्पर वैरदृष्टि रखने के कारण (📖) एक दूसरे को देखकर मारने के लिए हथियार घुमाने लगे ॥१९॥ 'अर्जुन वात' यह एक वातरोग विशेष का नाम है । जिसे यह रोग होता है उस रोगी को यह रोग आकाश में ले जाकर खूब नचाता है । परन्तु उस रोग में अर्जुन की वर्णता नहीं है, अतः उसका नाम आलम्बनशून्य न रहे, इस मतलब से कल्पान्त पवनों के द्वारा उड़ाये गये लोकान्तर के जीर्णतृणों ने स्वोद्भूत भस्मों द्वारा वात को सफेद बनाकर उस त्रिलोकी में अर्जुन वात नामक रोग का एक स्तम्भ खड़ा कर दिया यानी उसे आलम्बनयुक्त कर दिया ॥२०॥ कल्पान्त पवन से उड़ाये जा रहे शिला-समूहों से जो प्रहार हो रहा था उससे लोकान्तरों के तटप्रान्त लुढ़क रहे थे और वे गिर भी रहे थे, इससे महादुष्कालजनित कठोर शब्दों से वह सारा त्रैलोक्य व्याप्त हो गया था ॥२१॥ सम्पूर्ण जगत् कल्पान्त के प्रचण्ड पवनों के संगठनों से उत्पन्न पर्वतों की गुफाओं के भांकार शब्दों से भासुर तथा गिर रहे वर्तुलाकार में परिणत लोकपाल नगरों एवं अन्य नगरों से पूर्ण हो गया ॥२२॥ असुरों के समान घोर कर्कश शब्द करनेवाले वायुओं के द्वारा उड़ाये जा रहे वन समूह में संसृष्ट शीघ्रगति घोड़े आदि से सारा जगत् आवृत हो गया ॥२३॥ उस समय त्रैलोक्य आकाशमण्डल में नगर, जिले, दैत्य, अग्नि, असुर, नाग एवं आदित्यों के समूहों को -ऐसे धारण कर रहा था, जैसे मच्छरों के समूह को ॥२४॥ भद्र, उस समय तीनों जगत् का स्वरूप इस तरह दिखाई दे रहा था-बड़े-बड़े विशाल पर्वत नष्ट हो रहे थे, और देवमन्दिर भी टूट रहे थे-इससे जो उनके अनेक विभाग निकले वे उलटे-पुलटे हो गये यानी दोने या कठवत के समान ठीक विपरीत हो गये, इसलिए घरघर शब्दों के साथ ऊपर की ओर तो जल भर गया और नीचे की ओर निर्बाध अग्नि जलने लगी ॥२५॥ उस समय जल के पर्वताकार तरंगों के आघातों से दिक्पालों के नगर कुटे जा रहे थे और देव, दैत्य, इन्द्र, सिद्ध तथा गन्धर्वों के नगर छिन्न-भिन्न होकर पतनोन्मुख हो रहे थे ॥२६॥ प्रशान्त अंगारों के सदृश भासमान पर्वत आदि बड़े-बड़े पदार्थों का वायुओं के द्वारा ऐसे निःसारतापूर्वक कुट्टन हो रहा था, जैसे कि धूलि का ॥२७॥ जिनकी भित्तियाँ घूम रही थीं, ऐसे देव और दैत्यों के नगरों को,जो मेघों के जल के सदृश रत्नों से खनखन ध्वनि कर रहे थे, उस समय सारा जगत् छिन्न-भिन्न करने लग गया ॥२८॥ सारा आकाशमण्डल तो गिर रहे लोगों से युक्त सातों लोकों के घरों से तथा सागरों के सदृश चक्रों के आकार में घूम रहे देवताओं से व्याप्त हो गया ॥२९॥ आकाशमण्डल में जीर्ण शीर्ण पत्तों के समूहों के सदृश चंचल वायुओं के द्वारा वेल्लित अतएव गिर रहे, उड रहे दग्ध, अर्धदग्ध आदि पदार्थों से तीनों लोक व्याप्त थे-ऐसे पदार्थों की उस समय जगत् में भरमार दिखाई दे रही

(📖) ज्ञान के बिना, हजारों विपत्तियों के उपस्थित होनेपर भी अज्ञानियों की वैरदृष्टि कभी शान्त नहीं होती । वह वैरदृष्टि विपत्तियों से भी बढ़कर महाविपत्स्वरूप है, इसलिए प्रत्येक प्राणी को चाहिए कि वह ज्ञानप्राप्ति के लिए कुछ भी उठा न रखे, यह इसका गूढ़ अभिप्राय है ।

थी ॥३०॥ भद्र, आकाश से झनझन शब्दपूर्वक गिर रहे सुवर्ण, स्फटिक, वैदूर्यमणि एवं नीलम आदि के मन्दिरों से तीनों जगत् उस समय पूर्ण हो गये ॥३१॥ उस समय धूम्र और भस्म के मेघ उठने लगे, वृष्टि के जल से पुरों के समूह आ गिरने लगे, बड़ी–बड़ी तरंगें उठने लगीं और भूतल, पर्वत आदि डूबने लगे ॥३२॥ आवर्त के सदृश घर–घर ध्वनि करनेवाले और परस्पर विदलन करने में उद्यत प्रौढ़ पर्वत, समुद्र में बिखरे पत्तों के सदृश, घूर्णित हो रहे थे ॥३३॥ भद्र, शिष्ट और देवगण उसमें क्रन्दन कर रहे थे, थोड़े से जीवन से युक्त दया के पात्र प्राणी रेंग रहे थे, सैकड़ों धूमकेतुओं के उत्पात उठ रहे थे, इससे जगत् अत्यन्त दुष्प्रेक्ष्य हो रहा था ॥३४॥ पवनों के द्वारा उड़ाये गये मृत और अर्धमृत जीव–समूहों से, जो ठीक जीर्ण पत्तों के समान थे, सारा आकाशमण्डल पूर्ण हो गया ॥३५॥ उस समय सम्पूर्ण त्रैलोक्य पर्वत शिखरों के सदृश मोटी–मोटी गिर रही जलधाराओं के निर्झरों से आक्रान्त होकर पर्वतों तथा नगरों के समूहों को भी बहा देनेवाली परिपूर्ण सैकड़ों नदियों से बहने लग गया ॥३६॥ उस समय जगत् में अनेक शाखा–प्रशाखाओं में विभक्त अग्नि शमशम शब्दपूर्वक शान्त हो रही थी और चंचल समुद्रों के विविध विचलन–आन्दोलनों से लोल हुए पर्वतों के कारण जगत् के तट सुशोभित हो रहे थे ॥३७॥ उस काल में समस्त जगत् नदियों में मिली हुई तृणराशि के सदृश समुद्र में मिले हुए बड़े–बड़े द्वीपों के कारण बड़ा ही विकट लग रहा था । *(तत्त्व–ज्ञान से प्रदीप्त चिदाकाशरूप अग्नि से एक क्षण में नष्ट हो जानेवाले जगत् का प्रलय काल में जो देर से दाह हुआ, इसमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं ।)* तत्त्वज्ञान की दुर्लभता के कारण अत्यन्त दूर चिदाकाश में सारे जगत् की स्थिति क्षणभर भी ज्वाला सहने में समर्थ नहीं थी ॥३८॥ भद्र, उस समय त्रिलोकी में वृष्टि शान्त हो जाने के कारण अग्नि से उत्पन्न भस्म की गन्ध से देवगण गिरने लग गये और पहले उसमें जो चराचर भूतगण थे उनकी इस समय तो विस्मृति ही होने लगी ॥३९॥ भद्र, उस समय निरर्गल नाद का उल्लास हो रहा था, त्रिलोकी में सृष्टि का लोप हो जाने से क्रमशः उसमें शान्ति मालूम पड़ने लगी, वास्तव में सृष्टि के लोप से परमात्मा का ही विलास होने लगा । यदि तत्त्वदृष्टि से देखें तो सारा जगत् उत्पत्ति एवं विनाश से शून्य ही है ॥४०॥

अथवा सदा ही सृष्टि से और सृष्टिलोप से युक्त है, इस आशय से कहते हैं ।

भद्र, अथवा यह जगत् निरन्तर परिवर्तनकारी वायु से निवृत है एवं निरन्तर बीजराशि के सदृश बार–बार पूरा हो जानेवाला है ॥४१॥ भद्र, अधिक क्या कहें, सारे जगत् में लुआठों के एक दूसरे के साथ हुए आघातों से अग्निचूर्ण और सुवर्ण जनित फैली हुई अपार धूलियों से आकाश का कोटर सुवर्ण कुट्टिम–सा बन गया ॥४२॥ उस समय सातवें पाताल तक जगत् अपने स्थान से च्युत द्वीप एवं सागरों से युक्त भूमण्डल के बड़े–बड़े खण्डों से एवं लुढ़कते हुए अन्य पाताल–मण्डल से पूर्ण हो गया ॥४३॥ नीचे सातवें पाताल तक, मध्य में भूमण्डल तक प्रलयवायुओं के

द्वारा सारा जगत् पूर्णरूप से एक समुद्राकार हो गया ॥४४॥ हे श्रीरामजी, तदनन्तर वह अकेला महासमुद्र धीरे-धीरे शीघ्रगामी सैकड़ों नदियों के द्वारा जल कल्लोलों से भुवन में ऐसे बढ़ने लगा, जैसे मूर्ख के चित्त में कोप ॥४५॥ भद्र, तदनन्तर पहले तो मुसल के आकार में, फिर खम्भे के आकार में और फिर तालवृक्ष के आकार में उत्तरोतर अतिस्थूल घनघोर वृष्टि की धाराएँ गिरने लगीं ॥४६॥ तदनन्तर नदी प्रवाह के उग्र जलपात के सदृश जलपात करनेवाली तथा सातों द्वीपों से युक्त भूपीठ के सदृश महास्थूल धाराओं से वृष्टि होने लगी ॥४७॥ उक्त महावृष्टि से दाह करनेवाली अग्नि ऐसे शान्त हो गई, जैसे शास्त्र एवं सज्जनों की संगति से करोड़ों दुःखों से निबिड़ आपदाओं का स्थान (अज्ञान) शान्त हो जाता है ॥४८॥ हे श्रीरामजी, जिसमें ऊपर और नीचे भ्रमणशील अनेक पदार्थ थे, भीतर जलकणों के कारण पर्वतरूपी मज्जा खनखन ध्वनि कर रही थी, ऐसा समस्त ब्रह्माण्डरूपी कोटर इस प्रकार विनष्ट हो गया, जिस प्रकार बालकों की कुत्सित (तोड़-फोड़ कारक) क्रीड़ाओं से चंचल हुआ विशुद्ध बिल्वफल विनष्ट हो जाता है ॥४९॥

सतहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

अठहत्तरवाँ सर्ग

नदी के रूप में गिरनेवाली घनघोर वृष्टिधाराओं से चारों ओर से आकाश को पूर्ण कर रहा जो एक महासमुद्र बढ़ा, उसका विस्तारपूर्वक वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, जब धरातल वायु, वर्षा, हिम और अनेक तरह के उत्पातों के आगमन से नष्ट-भ्रष्ट हो गया, तब समुद्र का जलवेग ऐसे वृद्धि को प्राप्त हुआ, जैसे कलि में राजा ॥१॥ वह समुद्र आकाशगंगा के प्रवाहों में पतित मेघधाराओं के गिरने से खूब बढ़ा या उस तरह की मेघधाराओं से जनित हजारों नदी धाराओं से खूब बढ़ा । अकस्मात् उत्पन्न हुई मेरु एवं मन्दर पर्वत के सदृश भासुर तरंगों से बहाये जा रहे पर्वत कन्दराओं को उसने आदित्य के मार्ग में पहुँचा दिया । थोड़े में यही कहना है कि मूर्ख राजा के सदृश जल से मन्थर वह समुद्र बहुत ही उन्नत हो गया ॥२,३॥

सर्गसमाप्तिपर्यन्त उसी एकार्णव का वर्णन करते हैं ।

इस बढ़े हुए समुद्र ने अपने आवर्तस्वभाव के कारण बड़े-बड़े पर्वतों को जीर्ण तृण के समान पकड़ कर चक्कर में डाल दिया तथा चंचल उत्तुंग तरंगों के अग्रभागों से वह आदित्यमण्डल को भी निगल गया ॥४॥ उसमें मेरु, मन्दर, कैलास, विन्ध्य और सह्य पर्वत तो जलचर-से हो गये और उसमें जो पृथ्वी गल गयी थी, उसके कीचड़ में भीतर लीन शेषादि सर्प कमलदंड से मालूम हो रहे थे ॥५॥ उस समुद्र में अर्धदग्ध वृक्षों से युक्त वनसमूह तो शैवाल-सा लग रहा था और त्रिलोकी के भस्म से उत्पन्न कीचड़ से वह कुत्सित भी प्रतीत हो रहा था ॥६॥ आकाश तो ठहरे कमलनाल ।

इन नालों में जो बड़ी कर्णिकाएँ थीं उनमें बीजभूत किरणों के द्वारा उत्ताल हुए बारह आदित्य ही उसमें कमल से प्रतीत हो रहे थे और धारासमूह रूपी महामेघ ही उसमें जल के ऊपर संलग्न होने के कारण विलिनप्राय कमलिनी के पत्ते थे ॥७॥ उसमें उत्पन्न झरनों के बड़े–बड़े पर्वतों के प्रान्तभाग में उन्मत्त मेघ शब्द कर रहे थे और घूम रहे इन्द्र, वायु, सूर्य, चन्द्र, ग्राम एवं नगरों के समूहों से वह भर गया था ॥८॥ उसमें उग्र सुर, असुर और मनुष्यों के समूह काठ के सदृश बह रहे थे। वह समुद्र धीरे–धीरे क्रमशः बढ़ता हुआ आदित्यमण्डल को एक तरह से चाटने लग गया ॥९॥ भद्र, उस समय समुद्र में जो महागर्जना कर रहे मेघों से बुलबुले उठ रहे थे, उनको देखकर यह सन्देह हो रहा था कि ये महापर्वत तो नहीं बह रहे हैं ॥१०॥ उस समुद्र में इधर–उधर नाच रहे बुलबुलों पर कल्पान्त के महामेघ विश्राम कर रहे थे और स्वयं नाच भी रहे थे, वे बुल्ले एक तरह से आँखों की पुतली–से प्रतीत हो रहे थे। हाँ, प्रसिद्ध पुतलियों से इनमें विलक्षणता अवश्य थी, क्योंकि इनका आधारभूत मुख ही यहाँ नहीं था, इन पुतलियों से समुद्र समीप के दुसरे मेघ को मानों देख रहा हो – ऐसा प्रतीत हो रहा था ॥११॥ भारी प्रवाह से युक्त जल के ओघ से जो भयंकर घोष हो रहा था, उससे आकाश को भी वह सावधान कर रहा था । अपने एक ही प्रवाह में उसने आकाश सहित सातों कुलपर्वतों को अपने उदर में कर लिया ॥१२॥ प्रचण्ड पवन के द्वारा उत्पन्न जो अपूर्व जलौघ थे उनसे उसने अपने अन्दर सातों कुलपर्वतों की मानों रचना कर दी थी, इन रचित कुलपर्वतों से उदित हुए घुरघुर महाध्वनि से घर्घर उग्र महाध्वनिपूर्वक उसका वेग असीम हो गया था ॥१३॥ ब्रह्माण्डखण्डों के परस्पर संघट्टनों का जो पुनः–पुनः आवर्तन हो रहा था, उससे उसकी उद्धता क्षण–क्षण में बढ़ती ही जा रही थी, और ऊपर–नीचे लाखों योजनों तक विस्तारवाले पदार्थों को अपने उदर में वह निगलता जा रहा था ॥१४॥ तरंगों पर जैसे तृण झूलते हैं, वैसे ही उसकी तरंगों पर महान् पर्वत झूल रहे थे, इन झूला झूल रहे पर्वतों के द्वारा पत्थरों को फेंककर वह सूर्य–मण्डल को भी नष्ट कर रहा था ॥१५॥ भद्र, उस शून्य ब्रह्माण्डरूप घोंसले के भीतर, जो कि एकमात्र विपुल जलसमूह से ही बना था, विद्यमान नील–पर्वत रूप महान् द्रोणकाक–पक्षियों का (डोम कौओं का) वह समुद्र अपने जलरूपी जालों से आहरण कर रहा–सा मालूम पड़ता था ॥१६॥

नील–पर्वत रूपी द्रोणकाकों का ही दो विशेषणों से वर्णन करते हैं ।

मृतक एवं जीवित प्राणियों के, मज्जन और उन्मज्जनों से व्याकुल तथा तरंग और मकराकार आवर्तों में प्रतिबिम्बित हुए जैसे नीलपर्वत रूपी डोमकौओं का जलरूपी जालों से मानों वह हरण कर रहा था ॥१७॥ भद्र, जो मरने से बच गये थे और अपने–अपने नगरों से च्युत हो गये थे, ऐसे जल के बल पर विश्राम किये हुए देवताओं को–मच्छरों के सदृश–फेनरूपी पर्वतों की तटों और कोटियों पर (शिखरों पर) धारण कर रहा था ॥१८॥ उस समुद्र में जो बुलबुले उठ रहे थे, वे उनके भीतर स्थित प्राणियों की दृष्टि से चाँदी के कड़ाहे के सदृश प्रतीत हो रहे थे, ये इतने विपुल थे कि

इस प्रसिद्ध आकाश के सदृश थे, और ये ठीक समुद्र के नेत्रों के सदृश प्रतीत हो रहे थे, इन सहस्र नेत्रों से वह ऐसे देख रहा था, जैसे इन्द्र ॥१९॥ शरत्काल के आकाश के सदृश विशाल उठ रहे बुद्‌बुदोंरूपी नेत्रों से वह नदियों के समान धारावाले चारों ओर लालिमा से व्याप्त मेघों को मानों देख रहा था ॥२०॥ हे श्रीरामजी, यह प्रलयकाल का समुद्र पंखसहित पर्वतों के तुल्य आविर्भूत हुए अनेक तरंगमण्डलों से पुष्करावर्तक आदि मेघों का मानो आलिंगन कर रहा था ॥२१॥ तीनों लोक के ग्रास से संतृप्त हुआ वह प्रलयकालीन महासागर घर्घर शब्दों से एक तरह का गीत गा रहा था और उग्र पर्वतरूपी कंकणों से अलंकृत तरंगरूपी भुजाओं से वह मानों नाच कर रहा था ॥२२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, धरा से शून्य वह सागर ऊपर नदी के सदृश धाराओंवाले मेघों से, मध्य में दग्ध पर्वतों से तथा नीचे पंक में रहनेवाले नागों से आवृत था ॥२३॥ निरन्तर गिर रही धाराओं से सुशोभित गंगाजी की बाढ़ से वह परिपूर्ण था। उसमें पर्वतशिखरों के डूबने और उतराने से पानी के झाग और बुलबुले उठ रहे थे ॥२४॥ उसमें बढ़ते हुए छिन्न-भिन्न स्वर्ग के अनेक खण्डों में देवतारूपी अनेक हंस विद्यमान थे। एकमात्र यही कारण था कि उसका आभ्यन्तर बहती हुई विद्याधरियों की पंक्तिरूपी पद्मिनी से बहुत ही सुन्दर दिख रही था ॥२५॥ एकमात्र समुद्रों के जलों की उस बाढ़ से घर्घरशब्दयुक्त, अतिवेगशाली सम्पूर्ण त्रैलोक्य के खण्डों के संहारक, बेरोक-टोक बहाये जा रहे उस महासागर में उस समय कोई संरक्षक नहीं था और ऐसा भी कोई प्राणी या पदार्थ न था, जो कि उसकी तरंगों की चपेट में न आ गया हो, यह दुःख की बात है। हे श्रीरामजी, इस संसार में काल के गाल में पड़े हुए प्राणी की कौन रक्षा कर सकता है ? ॥२६,२७॥ हे श्रीरामजी, और अधिक हम क्या कहें, सिर्फ यही कह देना पर्याप्त है कि उस समय आकाश नहीं था, दिगन्त नहीं था, ऊपर नहीं था, नीचा नहीं था, भूत नहीं था और न सर्ग था, किन्तु एकमात्र केवल जल ही जल विद्यमान था॥२८॥

अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

उन्नासीवाँ सर्ग

प्रबोध द्वारा स्वप्न के बाध के समान, ऋषियों तथा देवताओं के समूह के सहित विधाता के निर्वाण का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, तपोलोकपर्यन्त जब समूचा प्रदेश प्रलयकालीन एक महासागर के जल में डूब गया तब सत्यलोक के निकट आकाश में स्थित मैंने अपनी दृष्टि ऐसी फेंकी, जैसे प्रातःकाल में सूर्यदेव अपनी प्रभा फेंकते हैं ॥१॥ इतने में मैंने प्राणादि-उपासनाओं के द्वारा सालोक्यादि मुक्ति को प्राप्त हुए तथा ब्रह्माजी के साथ विदेह कैवल्य प्राप्त करने की इच्छा कर रहे जीवन्मुक्त परिवार के (📖) सहित ब्रह्माजी को पर्वत से विनिर्मित हुए-सा देखा ॥२॥ वहाँ

(📖) इस विषय में सुनिये क्या कहा है :

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसंचरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पद्म।

मैंने अधिकारी देवों तथा भावितात्मा मुनियों के समूह को देखा । हे श्रीरामचन्द्रजी, उस समूह के भीतर मैंने शुक, बृहस्पति, इन्द्र, कुबेर, यम, सोम, वरुण और अग्नि को देखा तथा इनके अतिरिक्त वहाँ मैंने और भी अनेक देवताओं और ऋषियों को देखा । इतना ही नहीं सुनिये–वहाँ देव, गन्धर्व, सिद्ध और साध्यों के नायक भी उपस्थित थे, मैंने उन्हें भी देखा । हे श्रीरामचन्द्रजी, पद्मासन लगाकर बैठे हुए, चित्रलिखित जैसे, ध्यान में परायण वे सबके सब निर्जीव के समान वहाँ स्थित थे ॥३–५॥

उसके बाद की घटना बतलाते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर उसी स्थान पर वे प्रलय के बारह सूर्य भी आये और पद्मासन लगाकर वे भी सब भूत तुरंत उन्हींकी तरह बैठ गये, जिस तरह ये देवता और ऋषि बैठे हुए थे ॥६॥ इसके बाद मुहूर्तमात्र में मैंने सामने ब्रह्माजी को ऐसे देखा, जैसे सोकर उठा हुआ पुरुष स्वप्न में देखे गये पदार्थों को अपने सम्मुख उपस्थित देखता है । कहने का तात्पर्य यह कि जाग्रतअवस्था में स्वाप्निक पदार्थों का जैसे बाध होकर केवल आत्ममात्र परिशेष रह जाता है वैसे ही मैंने ब्रह्माजी को आत्ममात्र परिशेष ही देखा वही विधाता का विदेह केवल्य है ॥७॥

पूर्वोक्त विधाता के पारिवारिक लोगों में भी ऐसा ही कैवल्य हुआ, यह कहते हैं ।

ब्रह्माजी के परिवार के जितने लोग थे, उन सबको भी मैंने अपने सामने तत्त्वज्ञानियों की ज्ञान से बाधित पूर्ववासना की तरह बिल्कुल ऐसे नहीं देखा, जैसे सोकर उठता हुआ पुरुष स्वप्न काल में देखे गये नगर को अपने सामने उपस्थित नहीं देखता ॥८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्माजी के चरम–साक्षात्कार के समय सबके विदेह कैवल्य को प्राप्त हो जाने से उन ब्रह्मादेव का वह सारा ब्रह्माण्ड, जो उनके संकल्प से सिद्ध था, शून्य अरण्य की नाईं ऐसे हो गया, जैसे पृथिवी में किसी भयंकर आकस्मिक नाश के हेतु से विध्वस्त हुआ नगर ॥९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, ऋषि, मुनि, देव, सिद्ध तथा विद्याधर आदि वे सभी वैसे ही उस समय शून्यरूप हो गये, क्योंकि वे सब वहाँ से कहीं भी अन्यत्र नहीं गये ॥१०॥

नामरूप से शून्य भाव को प्राप्त होने पर भी स्वरुप से तो वे सबके सब निर्वाण रूप से ही स्थित थे, यह महाराज वसिष्ठजी अपने अनुभव से दिखलाते हैं ।

इसके बाद आकाश में स्थित मैंने ध्यान से जाना कि वे सभी लोग तो ब्रह्माजी के समान ही नामरूप का परित्याग कर निर्वाण को प्राप्त हो गये हैं ॥११॥

वासनाकल्पित रूप का नाश हो जाने से वही उनकी वास्तवस्वरूप की प्राप्ति है, इस आशय से कहते हैं ।

वासना के विलीन हो जाने पर वे अदर्शन को प्राप्त होकर अपने विशुद्ध ब्रह्मस्वरुप में ऐसे आ गये, जैसे प्रबुद्ध–जागे हुए प्राणियों के स्वप्नकाल के लोक ॥१२॥

उसीका पुनः उपपादन करते हैं ।

हे श्रीरामजी, चिदाकाशरूप यह शरीर वासना के कारण ही स्पष्ट भासित हो रहा है । वासना के अभाव में तो ऐसे नहीं भासता, जैसे कि बोधवान् प्राणी को यानी जागे हुए जीव को स्वप्न नहीं भासता ॥१३॥ जैसे स्वप्न में आकाशगामी यह शरीर दीखता है, किन्तु जाग्रतकाल में नहीं दीखता, वैसे ही वासना रहने पर ही यह शरीर दीखता है तत्त्वज्ञान होने पर जब प्राणी की वासना बिल्कुल शान्त हो जाती है तब कुछ भी नहीं दीखता ॥१४॥

स्वप्न से उठने पर जाग्रतकाल में एकमात्र स्वाप्निक भौतिक पदार्थों का बाध होता है, लेकिन तत्त्वज्ञान होने पर तो आधिभौतिक आदि तीनों शरीर का बाध होता है, इतना विशेष है, इस आशय से कहते हैं ।

जाग्रत्काल में भी, वासना का सर्वथा नाश हो जाने से न तो आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर भासता है और न आधिभौतिक शरीर ही दीखता है अर्थात् वासना न रहने से वे दोनों नहीं भासते ॥१५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस विषय में स्वप्न का अनुभव ही दृष्टान्तरूप से लक्षित है । यह वृद्ध से लेकर एक बच्चे तक सबको अनुभूत है, श्रुतिसिद्ध (ॐ) है तथा पुराणादि में प्रतिपादित है ॥१६॥

इस तरह अपने तथा दूसरों के अनुभव से सिद्ध स्वप्न के बाध का जो अपलाप करता है यानी स्वप्नादि सम्पूर्ण दृश्यप्रपंच को सत्यस्वरूप स्वीकार करता है, उसको तत्त्वज्ञानोपदेश देने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है–वह प्रबोध के योग्य है ही नहीं, यह कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो शठ स्वयं अपने को तथा दूसरों के अनुभव को भी स्वीकार नहीं करता अर्थात् अपने तथा दूसरों के अनुभव से सिद्ध स्वप्न के बाध का अपलाप करता है वह त्याज्य है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं, क्योंकि मिथ्या सुप्त पुरुष को यानी सचमुच न सोये हुए पुरुष को भला कौन उठा सकता है ? ॥१७॥

फिर भी इस विषय में स्वप्न का दृष्टान्त तो उचित नहीं है, क्योंकि यह जो वर्तमान शरीर है इसमें पिता आदि का शरीर कारण है, परन्तु स्वप्नशरीर तो ऐसा नहीं है । स्वप्नशरीर के अत्यन्त असद्रूप होने से यह विषम दृष्टान्त है, ऐसी परिस्थिति में प्रतिवादी को नास्तिक कहलाने के लिए तैयार रहना होगा, यह कहते हैं ।

इस शरीर का कारण पिता आदि का शरीर है, इसलिए यह दिखाई देता है, किन्तु स्वाप्निक शरीर का कारण तो पिता आदि का शरीर नहीं है, इसलिए वह नहीं दिखाई देता, यदि कोई यह शंका करे, तो उसकी यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि तब तो उसके मत से इस पार्थिव शरीर से रहित प्राणी का, जो यज्ञादि के द्वारा स्वर्गीय शरीर प्राप्त करनेवाले हैं उनका परलोक भी नहीं है । ऐसी दशा में हमें उसको नास्तिक कहने में तनिक भी संकोच न होगा ॥१८॥

पिता आदि का शरीर जिस देह का कारण है उस देह को भी सर्वथा असद्रूप माननेपर तो

(ॐ) देखिये यह श्रुति – तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः ।

सूक्ष्मशरीरसमष्टिरूप हिरण्यगर्भ को भी असद्रूप होने में कोई अड़चन न होगी और उस दशा में उनकी सर्गादि–अर्थक्रिया भी मिथ्या ही सिद्ध होगी, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस रीति से यदि यह सब असद्रूप होता, तो पूर्वसृष्टि के प्रलय के अन्त में सब शरीरों का सर्वथा क्षय होने पर इस सृष्टि के आदि काल में शरीर हेतुक शरीर न रहने से यह सृष्टि भी न होती । और यह सृष्टि सबकी आँखों के सामने सर्वदा विद्यमान हैं ही (इसलिए यह सृष्टि नहीं है, यह कोई कहने का साहस नहीं कर सकता) ॥१९॥ पृथिवी आदि पंचभूतों के सावयव होने से विभागों का अवसान हो जानेपर संयोग का विनाश ध्रुव है । अतः अवयव विभाग स्वरुप इस जगत् का जब विनाश अवश्यंभावी है तब इस दशा में 'यह जगत् कभी इस अविच्छिन्नप्रवाह से विपरित नहीं है, यह जैमिनीय मत अप्रतिष्ठित है–असंगत है ॥२०॥

यहाँ पर प्रसंगवश चार्वाक मत का भी खण्डन करने के लिए अनुवाद करते हैं।

पृथिवी आदि जो चार भूत हैं वे ही चार प्रकार के देहाकार से तथा घट, पट आदि के आकार से सम्मिलित होकर 'जगत' नाम से कहे जाते हैं । पृथिवी आदि भूतस्वरूप होने के कारण उस जगत् का कभी नाश नहीं होता । जब ये चारों भूत एक जगह मिल जाते हैं तब ज्ञान तथा इच्छा आदि गुणोंवाला इन चारों के धर्मों का समुदायरूप एक शरीर तैयार हो जाता है, जिसमें हाथ, पैर आदि अनेक अवयव विद्यमान रहते हैं। और वह शरीर भी उस हाथ, पैर आदि अनेक अवयवों की नाना प्रकार की रचनाओं के कारण मनुष्य, पशु, पक्षी आदि अनेक जाति का हो जाता है । तथापि इन चारों भूतों के मध्य में किसी भी एक भूत में ज्ञप्ति नहीं दिखाई देती तथापि जिन द्रव्यों से मदिरा तैयार की जाती है उन्हें पीसकर जल तथा नमक के साथ एकत्र मिला दिये जाने पर उन एकत्र मिले हुए द्रव्यों में जैसे कालपाकादि द्वारा मदशक्तिरूप एक विलक्षण गुण आविर्भूत हो जाता है उसी तरह देहाकार में परिणत हुए पृथिवी आदि इन चारों भूतों में ज्ञप्तिरूप गुण आविर्भूत हो जाता है । इसलिए ज्ञप्ति तथा इच्छा आदि गुणों से सम्पन्न यह शरीर ही आत्मा है । भाई चार्वाक, यदि यह तुम कहते हो तो इसका उत्तर सुन लो ॥२१॥ तब तो (✍) सम्पूर्ण वस्तुओं का संक्षय बतलानेवाले (♨) अठारह पुराण, महाभारत आदि इतिहास, ऐहिक और पारलौकिक आत्मा के हित और अहित तथा धर्म और अधर्म के प्रतिपादक मनु आदि स्मृति एवं सदाचार आदि–ये सबके सब व्यर्थ हो जायेंगे ॥२२॥ यदि यह कहो कि हम देहात्मवादी चार्वाकों के मत में उन वेदादि शास्त्रों की व्यर्थता और अप्रामाण्य इष्ट ही है । वे सबके सब अप्रमाण हो जायें, इसमें हमारी हानि क्या है ? तो इस पर हमारा यह कहना है कि हे महामते चार्वाक निर्दोष उन वेद, पुराण आदि शास्त्रों का (📖) इस

(✍) अर्थात् तुम्हारे कहने के अनुसार तो ।

(♨) अर्थात् नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत और वैज्ञानिक ये जो चार तरह के प्रलय होते हैं उन्हें बतलानेवाले ।

(📖) जो शिष्टसम्मत हैं ।

अर्थ में (卐) अप्रमाण्य हो जाने पर 'इस वन्ध्या स्त्री ने सौ लड़के पैदा किये' इस वाक्य के समान भोगलंपटता लोभ द्वेषादि हजारों दोषों से तुष्ट तुम्हारा वाक्य भी क्या प्रमाण होगा ? हमें तो उसकी सम्भावना भी दुर्लभ है ॥२३॥ तुम्हारे कथन को लोक में विद्वान लोग स्वीकार नहीं करते, क्योंकि बिना कारण और प्रयोजन के सृष्टि आदि का संभव न होने से तुम्हारे मत के अनुसार तो जगत् का उच्छेद प्रसंग अनिवार्य होगा। किंतु, देहात्मवाद में क्या सभी अवयव ही आत्मा हैं या अवयवी ही ? प्रथम पक्ष में तो यह दोष आता है कि अनेक चेतनों में सर्वदा ऐकमत्य न होने से वैमत्य के कारण देह का सभी अवयव उन्मथन करने लग जायेंगे । अब रह गया दूसरा पक्ष, उस पक्ष में यह दोष आता है कि हाथ आदि किसी एक अवयव के कट जाने पर अवयवी का नाश हो जाने से जीवन का ही अभाव हो जायेगा – इत्यादि और भी हजारों दोष हैं ही, यह सब अलग रहे । हे चार्वाक, इस मेरे कथन से कायाकार में परिणत भूतसंघात में मदशक्ति की नाईं ज्ञप्तिगुण पैदा हो जाता है, यह जो तुमने कहा है उसका भी उत्तर हो गया और भी तुम अपने मत में मेरा यह एक दूसरा दूषण सुन लो ॥२४॥ यदि ऐसा मान लिया जाय कि जैसे मदशक्ति-आत्मक द्रव्य में मदशक्ति विद्यमान रहती है वैसे ही भूतसंधात में, जो कि ज्ञानस्वभाव है, ज्ञानगुण रहता है तब तो गुणी देह का नाश हो जाने पर गुण का भी अवश्य नाश हो जाने से (दूसरे देशों में मरे हुए जीव देह के नष्ट हो जाने पर अपने देश में पिशाचादि का शरीर धरकर कैसे चले आते हैं तथा दूसरों के शरीरों में प्रविष्ट होकर अपने पूर्वजन्म के आत्मीयों को पहचान कर उनके साथ बातचीत आदि कैसे करते हैं अर्थात्) प्रदेशान्तरों में मरे हुए व्यक्तियों की पिशाच आदि देहता जो लोक में प्रसिद्ध हैं वह सिद्ध न होगी ॥२५॥ यह पिशाचादि की कल्पना भी भ्रान्ति ही है, क्योंकि पिशाचों को हमने अपनी आँखों के सामने उपस्थित हुए आजतक नहीं देखा और हमारे मत में प्रत्यक्ष के सिवा और कोई दूसरा प्रमाण है ही नहीं । प्रत्यक्षातिरिक्त दूसरे प्रमाण की संभावना ही नहीं है, क्योंकि सैकड़ों बार पार्थिवत्व और लोह-लेख्यात्वादि का सहचारग्रह होने पर भी वज्रमणि आदि में व्यभिचार देखा गया है । उत्पातादि अन्य समय में गाय के पेट से गदहे की उत्पत्ति भी देखी गई है तथा देवतादि की प्रतिमाओं से भी बिना अग्नि के भी धूम्र उठते देखा गया है । तथा सर्वत्र लिंगों में देशान्तर और कालान्तर में व्यभिचार शंका का निवारण नहीं किया जा सकता, इसलिए आप के अनुमान प्रमाण का तो बिलकुल योग नहीं है । सादृश्य के विषय में यत्किंचित् या पूर्ण-यों विकल्प होने से उपमान प्रमाण का योग नहीं बैठता । इसी तरह अर्थापत्ति और अनुपलब्धि भी प्रमाण नहीं हो सकते । पिशाचग्रस्त पुरुष का पिशाचवाग्व्यवहार भी जब तक देह विद्यमान रहता है तभी तक दीखता है उसके मरण के बाद नहीं । इसलिए उस देह को ही सान्निपातिक भ्रान्ति की तरह 'मैं पिशाचग्रस्त हूँ, यह व्यर्थ की भ्रान्ति है । यदि यह सब तुम कहो, तो तुम्हारा यह सब कहना व्यर्थ ही है, क्योंकि

(卐) प्रलय, धर्माधर्म एवं आत्मतत्त्वरूप अर्थ में ।

तुम्हारी ही बातों से इन सबका खण्डन हो जाता है । इसमें प्रबल कारण यह है–प्रत्यक्ष के अतिरिक्त यदि सभी अप्रमाण हैं, तो फिर चार्वाक का वाक्य भी प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि वह भी प्रत्यक्ष के अतिरिक्त है । चूँकि अनुमान प्रमाण को तुम मानते नहीं हो, इसलिए युक्ति से तुम अपने मत का तो कदापि समर्थन नहीं कर सकते, क्योंकि अनुमान रूप होने से वे युक्तियाँ भी प्रमाण नहीं हो सकतीं । दृष्टान्त तो तुम दे ही नहीं सकते, क्योंकि सादृश्य के उपमानगम्य होने से वह तुम्हारे मत से प्रमाण के बाहर है । स्वपक्ष में अनुकूल और परपक्ष में प्रतिकूल तर्क भी तुम नहीं उपस्थित कर सकते, क्योंकि तर्क के अन्वय–व्यतिरेकव्याप्तिघटित होने के कारण उसे तुम स्वीकार नहीं कर सकते । आपत्ति और व्यतिरेक ये दोनों अनुपपत्ति और अनुपलब्धि के अधीन रहते हैं, इसलिए यदि इनका तुम स्वीकार करते हो, तो तुम्हें अर्थापत्ति और अनुपलब्धि को प्रमाण रूप से स्वीकार अनिवार्य होगा। अतः ये जो छः प्रमाण हैं, वे सबके सब सत्य हैं, यह तुम चार्वाकों को मानना ही पड़ेगा ॥२६॥

ठीक है, ऐसा ही सही, इससे आपको क्या लाभ है, यह कहते हैं ।

इस तरह यदि तुम शब्द का प्रामाण्य मान लेते हो, तो फिर निर्दोष श्रुति को तुम्हें प्रमाण माननें में कोई आपत्ति न होगी । जब श्रुति प्रमाण है तब 'परलोक, स्वर्ग, नरक आदि सब सत् है'–इत्याकारक श्रुतिजन्य संवित् भी क्यों न सत्यता को यानी प्रामाण्य को प्राप्त होगी ? कहने का तात्पर्य यह कि यदि अन्य के बोध के लिए शब्द प्रमाण है, तो फिर परलोक, स्वर्ग, नरक तथा उनके प्रतिपादक श्रुति, स्मृति आदि शब्द भी क्यों न सत्य प्रमाण होंगे ? क्योंकि जितने ज्ञान हैं उनमें स्वतः प्रामाण्य है, इसमें तो किसी को भी विवाद नहीं है, हाँ, यह बात दूसरी है कि कारणदोष तथा बाधक ज्ञान से उसका कहीं पर अपवाद हो जाता है । लेकिन यहाँपर तो न कोई कारण में दोष है और न 'स्वर्ग, नरक आदि नहीं है' ऐसा बाधक प्रमाणज्ञान ही है ॥२७॥

'अथ साऽपि मुधा भ्रान्ति०' यह जो ऊपर कहा है, उसमें दोष दिखलाते हैं ।

अन्य शरीर में स्थित पिशाच की–सबके अनुभव से सिद्ध पिशाचग्रस्त शरीर में पिशाचविषयिणी–प्रमा ज्ञानों के स्वतः प्रामाण्य होने से ही लोक में सत्यरूप से प्रसिद्ध हैं । वह भी यदि सत्य न प्रमाणित हुई, तो फिर मदिरा पीकर उन्मत्त बने हुए पुरुष की प्रतिभा भी कदापि सत्य प्रमाणित न होगी, जो मदशक्ति–समन्वित द्रव्यगत मदशक्तिविषयक है । अमत्त पुरुषों के अनुभवसिद्ध अर्थों का खण्डन करनेवाले तुम ठहरे, तुम्हारी प्रमत्त पुरुष की प्रतीति से सिद्ध मदशक्ति का दूसरा कोई कैसे नहीं खण्डन कर सकता ? ऐसी दशा में तुम्हारी दृष्टान्त असिद्धि के कारण ज्ञान में भूतगुणत्व की सिद्धि न हो सकने से परलोकात्मक स्थिति का यानी स्वर्गनरकादि स्थिति का तुम भला कैसे खण्डन कर सकते हो ? ॥२८॥ सर्वजन प्रसिद्ध ज्ञानों का स्वतः प्रामाण्य होने से 'पिशाच है' यदि यह संवित् सत्यार्थ है, तो फिर मृत प्राणी का भी परलोक है यानी कोई–न–कोई दूसरा लोक

अवश्य है, यह श्रुतिजन्य प्रतीति भला सत्य क्यों न सिद्ध होगी, *(क्योंकि जो युक्ति तुम उपस्थित कर रहे हो उसी युक्ति के बल से हम मृत प्राणी के परलोक का अस्तित्व सिद्ध कर रहे हैं । हमें युक्ति ढूँढ़ने के लिए कहीं और जगह जाने की आवश्यकता नहीं है)*॥२९॥ और सुनो, पिशाचग्रस्त की पैशाची ज्ञप्ति श्रुति समान किसी दृढ़तर प्रमाण से जन्य नहीं है, किन्तु 'काकतालीय' न्यायवत् आकस्मिक है–अचानक उदित हुई है । ऐसी ज्ञप्ति भी यदि स्वानुभूत होने से प्रमा है, तो फिर श्रुति आदि दृढ़तर कारणों के सहित विद्यमान परलोकार्थ संवित् भला प्रमा क्यों नहीं है ? ॥३०॥

एकमात्र अपने अनुभव के बल पर अर्थसत्ता का निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि युक्ति में रजत का अनुभव होने पर भी उसमें अर्थसत्ता नहीं दीखती, यह आशंका कर कहते हैं ।

जो संवित् जिस पदार्थ की सत्ता को अपने भीतर जैसी जानती है उस पदार्थ की सत्ता को वह अपने भीतर वैसी ही भलीभाँति अनुभव करती है। शुक्ति रजतसंवित् स्वप्रतिभासकालिक अर्थसत्ता का अवगाहन करती है, परन्तु पूर्वकाल की संवित् का जब 'यह रजत नहीं है' इस उत्तरकाल की संवित् से बाध हो जाता है तब यह उत्तरकाल की बाधसंवित् सीप में चाँदी की त्रैकालिक असत्ता बतलाती है । ऐसी स्थिति में प्रथम संवित् के बल से रजत में प्रातिभासिक सत्ता रहे या द्वितीय संवित् के बल से असत्ता रहे, इसमें कोई हानि नहीं है, क्योंकि अनुभव से दोनों ही सिद्ध है । *(अनुभव का सहारा लिये बिना अर्थ के रूप का अपलाप करना कोई बच्चों का खेल नहीं है)*॥३१॥ जीवितदशा में देह के उपस्थित रहने पर श्रुति आदि प्रमाण के बल से अथवा मृतदशा में देह के उपस्थित न रहने पर स्वप्नवत् एकमात्र प्रतिभास के बल से 'परलोक है'–इत्याकारक अनुभवस्वरूप संवित् यदि अवश्य होगी ही, तो फिर उस मृत्यु से क्या ? जीवित प्राणी के अनुभव से सिद्ध सत् है और मृत के अनुभव से सिद्ध असत् है अथवा इसके विपरीत प्रकार से है, इसका अपलाप ही क्यों होगा–दोनों में किसी का भी अपलाप नहीं किया जा सकता । इस तरह श्रुति आदि प्रमाण हैं, यह सिद्ध हो गया ॥३२॥

यदि वह चार्वाक यह कहे कि कायाकार में परिणत हुए भूतों से संवित् का उद्भव होता है, इसलिए शरीर के नष्ट हो जाने पर मृत प्राणी को पारलौकिकी बुद्धि ही न उत्पन्न होगी, तो इसपर उससे कहना यह चाहिये कि हे मित्र, संवित् शाश्वत है, स्वतः सिद्ध है, प्रस्तुत उसकी सिद्धि के बल से ही वासनामय आतिवाहिक देह, तत्कल्पित स्थूल देह तथा बाह्यप्रपंच की पीछे सिद्धि होती है । वासना के सिवा कोई अन्य दृश्यप्रपंच की सिद्धि में हेतु नहीं है, इसलिए संवित् की उत्पत्ति देह के अधीन नहीं है। यह सूचित करते हुए महाराज वसिष्ठजी उस चार्वाक के प्रति वचन का उपसंहार करके 'वासनायां विलीनायामदर्शनमुपागताः' इत्यादि श्लोक से पहले जो यह उपक्रम किया गया है कि एकमात्र वासना के क्षय से ही सम्पूर्ण दृश्य का उच्छेद होता है इस उठाई गई बात का समर्थन करने के लिए प्रस्ताव करते हैं ।

इसलिए (♨) ज्ञानस्वभाव परमात्मा स्वप्रकाशस्वरूप होने से स्फुरित होते हुए समस्त व्यवहार से पहले निजस्वरूपभूत संवित् को जानता है जो स्वतः नित्यसिद्ध है, जैसे अग्नि अपनी उष्ण्यप्रकाशरूपता को जानती है । उसके बाद वासनाओं की उत्पत्ति में उपादान कारण सर्वजगत् की वासनामय आतिवाहिक देह को जानकर फिर स्थूल देहादि संसार के भ्रम को देखता है । कहने का तात्पर्य यह है कि सबसे पूर्वसिद्ध संवित् की सिद्धि देह के अधीन नहीं है ॥३३॥

अतएव एकमात्र वासना के क्षय से ही सूक्ष्मशरीरक्षय द्वारा सम्पूर्ण अनर्थों का क्षय सिद्ध है, यह कहते हैं ।

वासना के क्षय से द्रष्टा, दृश्य और दर्शनरूप रोग शान्त हो जाता है था वासना की सत्ता रहने पर यह संसृतिनामक पिशाचिका उदित होती है ॥३४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा को संसार रचने की इच्छा (📖) उत्पन्न होती है । तदनन्तर पूर्वकाल की जगद्वासनाओं का जगत्–रूपसे उद्भव होता है । इसलिए वासना की शान्ति को आप निवार्ण समझिये और उसकी सत्ता को संसार रूप भ्रम जानिये ॥३५॥

यह कहिये कि वासना उत्पन्न कैसे हुई ? ब्रह्मसे तो वह उत्पन्न हुई नहीं, क्योंकि उसके तो 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' इत्यादि श्रुतियों से कारण होने का निषेध है तथा असंग, कूटस्थ और अद्वय प्रतिपादक श्रुतियाँ भी इसी का समर्थन करती हैं । पूर्वकल्पीय जगत् से वह वासना उत्पन्न होती है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि जो प्रलयकाल में स्वयं नष्ट हो जाता है उसमें दूसरे को पैदा करने की शक्ति ही कहाँ रह सकती है ? यदि यह कहिये कि प्रलय में जगत् नष्ट नहीं होता, वह स्वयं ही चरमभाव विकार से सूक्ष्म होकर स्थित रहता है, इसलिए उसकी उस तरह की स्थिति ही वासनात्मक प्रलय है, तो यह भी आप नहीं कह सकते, क्योंकि इस पर मैं आपसे यह पुछता हूँ कि वैसी जगत् की स्थिति क्या प्रलय में अपनी सत्ता से रहती है या ब्रह्मकी सत्ता से ? यदि आप यह कहें कि अपनी सत्ता से रहती है, तो आपके इस पक्ष में 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतियों से विरोध पड़ता है । अब रहा आपका दूसरा पक्ष, इसमें हमारा यह कहना है कि जो स्वतः असत् है वह भला दूसरे की सत्ता से स्थित रहता है यह कहना तो एक जबर्दस्त मिथ्या प्रलाप ही होगा न ? इसलिए दोनों पक्ष में सृष्टि और प्रलय में कोई विशेष आपत्ति न होने से अभासमान की सत्ता प्रसिद्धि के अभाव में जगत् नष्ट होता है और स्थित भी रहता है, यह कहना तो 'वदतो व्याघात' दोष से ग्रस्त ही है । ठीक है, यह सब आपका कथन हम मान रहे हैं । सुनिये, प्रलय या पूर्वसर्ग में वह वासना उत्पन्न ही है, यह आप कैसे कहते हैं, यह तो

(♨) अर्थात् चूँकि वेदादि प्रमाण सिद्ध हो गया है तथा ज्ञानों में स्वतः प्रामाण्य की सिद्धि हो चुकी है, इसलिए।

(📖) 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' – इत्यादि श्रुति देखिये ।

आप कह नहीं सकते कि वह वासना उत्पन्न ही है, क्योंकि असंग अद्वय परब्रह्म में अनुत्पत्ति तो आप पहले ही कह चुके हैं । फिर भी अद्वितीय ब्रह्मबोध के उपायरूप से जब तक बोध नहीं हो जाता, तब तक के लिए आप कृपाकर 'वह वासना भी पहले किसी एक निमित्त से अवश्य उत्पन्न हुई है, यह स्वीकार कर लीजिये, क्योंकि बिना कारण के जगत् की उत्पत्ति नहीं होती, यह शास्त्रसिद्ध है ।

हाँ, ब्रह्मज्ञान हो जाने के बाद तो फिर सारा संसार ही सद्रूपब्रह्म है और वह वासना भी परब्रह्मस्वरूप ही है॥३६॥

बिना असंग अद्वय ब्रह्म का श्रुतियों से परिज्ञान किये वासना की अनुत्पत्ति बतलाना उचित नहीं है । ब्रह्म का परिज्ञान हो जाने पर तो सम्पूर्ण संशयों के बीजभूत अज्ञान का उच्छेद हो जाने से निर्वाण ही सम्पन्न है । इसलिए वासना की उत्पत्ति आदि में अनुपपत्ति की शंका करना ठीक नहीं है, इस आशय से कहते हैं ।

इतना जो यह परिज्ञान है उसीको तत्त्वज्ञ लोग निर्वाण कहते हैं । इसलिए हे राघव, इस ब्रह्म के विषय में जो प्राणी का अपरिज्ञान है उसी को आप बन्ध समझिये ॥३७॥ विज्ञानघन यह आत्मा ही प्रकाशात्मक और अप्रकाशात्मक भी है । ज्ञात होने पर यह स्वयं ही स्वप्नरूप से अन्दर स्फुरित होता है तथा ज्ञात न होने पर यानी श्रुति आदि प्रमाण लाभ के पहले यह बिल्कुल स्फुरित नहीं होता ॥३८॥ 'मैं बद्ध हूँ' इस भावना से बन्धदर्शन और 'मैं नित्यमुक्त हूँ', इस भावना से मोक्षदर्शन जब आत्मा को अत्यन्त कोमलात्मा एकमात्र संविदंश के परिवर्तनमात्र से प्राप्त होता है तब भला उसके साधन में क्लेश ही कितना है ?॥३९॥

इसको परीक्षक लोग व्युत्थान और समाधि तथा व्युत्थान और सुषुप्ति के द्वारा स्पष्ट देख सकते हैं, इस आशय से कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, संवित् को यानी चित्त की वृत्ति को बहिर्मुख कर देने पर बन्ध और उसको समाधि द्वारा आत्मा में लीन कर देने पर निर्वाण प्राप्त होता है । संवित् के उद्‌बोधनरूपी उदरवाला यह असत् संसार सत् के समान भासता है । इसका तात्पर्य यह है कि चित्तवृत्ति को बहिर्मुख कर देने पर यह असत् संसार सत् के समान भासित होता है ॥४०॥ सुप्त और अजड़ वेदन 'मोक्ष' कहलाता है तथा प्रबुद्ध वेदन को तत्त्वज्ञानी लोग बन्ध कहते हैं । इसलिए इन दोनों में आपको जिसकी इच्छा हो उसे चुन लीजिये ॥४१॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, बन्ध–मोक्ष आदि की सारी शंकाएँ छोड़कर आप निवार्णरूप, वासनाशून्य, अनन्त, अनादि, स्वच्छ बोधस्वरूप, अद्वैत और ऐक्यसे रहित, अशून्य (परिपूर्ण) ब्रह्मस्वरूप बनकर आकाशकोश के सदृश विशद् अन्तःकरण से युक्त, शान्त एवं बन्धन से बिलकुल मुक्त होकर स्थित रहिये ॥४२॥

उन्नासीवाँ सर्ग समाप्त

अस्सीवाँ सर्ग

पूर्व सर्ग में वैज्ञानिक तत्त्वदृष्टि से प्रलयक्रम का वर्णन हो चुका । अब योगिगम्य अन्य प्राकृत प्रलयक्रम का वर्णन।

विधाता की वासना से कल्पित उनके लोक, देव, भुवन आदि समस्त प्रपंच का जो प्रारब्धक्षय के अनन्तर क्षणभर में ही उत्पन्न हुए साक्षात्कार द्वारा बाध है तद्रूप वैज्ञानिक प्रलयका, जो स्वप्नबाध के सदृश है, उसका मुक्त पुरुषों की दृष्टि से 'नापश्यं स्वप्न नगरं बुध्यमान इवाग्रगम्' इत्यादि श्लोक द्वारा उपपत्तिपूर्वक पूर्व सर्ग में वर्णन हो चुका। अब बुद्ध पुरुषों की दृष्टि से, विधाता की देह, उसके आरम्भक उपाधियों तथा उसके इन्द्रिय आदिकों का अपने-अपने कारण में लय द्वारा मायाशबल ब्रह्म में लयरूपी प्रलय का उपवर्णन करने के लिए उपक्रम करते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह आये हुए वे सभी ब्रह्मलोकनिवासी अदृश्यरूपता को ऐसे प्राप्त हो गये, जैसे बत्ती से रहित दीप ॥१॥ इसके अनन्तर जब विधाता की देह मायाशबल ब्रह्मरूपता को प्राप्त हो गई तब पूर्वोक्त वे उन बारह आदित्यों ने, जो प्रकाशमयी ज्वालाओं से युक्त थे, पृथिवी आदि की तरह उस ब्रह्मलोक को भी भस्मीभूत बना डाला ॥२॥

प्रारब्धवश अधिकार का अन्त हो जाने पर आदित्य आदि जितने अधिकारी जीव थे, वे भी चरमसाक्षात्कार द्वारा अपने-अपने समस्त प्रपंच का नाश हो जाने से पूर्वोक्त के समान ही विदेहकैवल्य को प्राप्त हो गये, यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, विधाता के नगर को जलाकर तथा विधाता के समान ही स्वयं ध्यान करके वे आदित्य आदि भी निर्वाण को ऐसे प्राप्त हो गये, जैसे तेल और बत्ती से रहित दीप ॥३॥

उसके बाद का दृश्य कैसा था, यह कहते हैं ।

तदनन्तर सुन्दर विशाल तरंगों से युक्त महासागर की बाढ़ ने विधाता के नगरान्तर को ऐसे परिपूर्ण कर दिया, जैसे रात में सारी पृथिवी को अन्धकार ॥४॥ ब्रह्मलोकपर्यन्त वह सारा जगत्, केवल एकमात्र रससे परिपूर्ण पके हुए अंगूर के फल के सदृश, जल से परिपूर्ण हो गया ॥५॥ उन अनेक तरह के तरंगों से तैरते हुए पर्वत समूहों तथा देवादिशरीरों से तोड़-फोड़ दिये जाने के कारण छिन्न-भिन्न हुए कल्पान्तों के पुष्करावर्त आदि मेघ सब जल में ही विलीन हो गये ॥६॥ इसी बीच में वहाँ मैंने कोई एक भयंकर रूप देखा, जो आकाश से यानी ठीक आकाश के मध्य से अभ्युदित हुआ था । मैं वह रूप देखते ही मारे भयके काँप गया ॥७॥

भय के कारणरूप अद्भूत विशेषणों से उसी रूपका वर्णन करते हैं ।

कल्पान्त जगत् के आकार के समान, आकाश को भर देनेवाला काला वह रूप देखने में ऐसे प्रतीत हो रहा था, मानों कल्पान्त का प्रत्येक रात का एकत्रित हुआ सारा अन्धकार शरीर धारण करके सामने आकर खड़ा हो रहा हो ॥८॥

रंग में काला होते हुए भी वह अपने तेज से चमक रहा था, यह कहते हैं ।

लाखों तरुण आदित्यों के प्रकाशमय तेज को वह धारण कर रहा था । देदीप्यमान स्थिर बिजली के समूह–जैसे तीन सूर्यों के सदृश नेत्रों से युक्त उसका मुख तो बहुत ही ज्यादा चमकदार दीखता था। वह ज्वालाओं के पुँज को खूब उगल रहा था । उसके पाँच मुख थे, दस भुजाएँ थीं और तीन उसके नेत्र थे । वह अपने हाथ में त्रिशूल लिये हुए था, अन्तशून्य आकाश में वह मानों आ रहा था, उसका आकाश की तरह विशाल आकार था, दीप्त मेघ की तरह श्याम शरीर धारण कर वह स्थित था । एकमात्र महासागर के परिपूर्ण ब्रह्माण्ड के बाहर आकाश में वह अवस्थित था, हाथ, पैर आदि के रचनाविशेषों से लक्षित वह आकाश–जैसा था । अपनी नाक की श्वासवायु के गमनागमन से वह उस एक महासागर को कम्पित कर रहा था । वह अपने भुजदण्डों से क्षीरसागर को क्षुभित कर देनेवाले गोविन्द भगवान् के सदृश था । उसे देखने से ऐसा मालूम हो रहा था कि महाप्रलयकालीन सभी समुद्रों की बाढ़ ही मानों पुरुषाकार से स्वयं उपस्थित हो गयी है, तथा सबका कारण होने से स्वयं कारणरहित सर्वसमष्टिरूप अहंकार ही मूर्तिमान् होकर आ गया हो । प्रतीत हो रहा था कि मानों उड़ने में अत्यन्त कुशल अपने पंखसमूहों से समस्त कुलपर्वतों के महावृन्द ने ही स्वयं अपने स्थान से उड़कर सारे आकाश को पूर्ण कर दिया है । वैसा रूप देखने के अनन्तर त्रिशूल तथा तीन नेत्रों से 'यह भगवान् जगदीश्वर रुद्र हैं' ऐसा मैंने दूर से ही उस भगवान् परमेश्वर को नमस्कार किया ॥९–१६॥

'मायां तु प्रकृतिं विद्याद् मायिनं तु महेश्वरम्' इत्यादि श्रुतियों में महेश्वर नाम से प्रसिद्ध तो मायाशबल निराकार ब्रह्म ही है, फिर परमेश्वर किसलिए किन उपाधियों से पंचमुख आदि से विशिष्ट मूर्ति धारण करता है ? अथवा सर्वात्मक का परिच्छिन्न मूर्तिभाव कैसे हो जाता है ? यों विशेषरूप से जानने की इच्छा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुने, सभी श्रुतियों में प्रसिद्ध वह परमेश्वर रुद्र उस तरह का भयानक स्वरूपवाला क्यों हैं ? अर्थात् काले रंग का वह क्यों हैं ? उसकी महाभयानक विशाल आकृति क्यों है ? उसके पाँच मुख कौन हैं ? उसकी दस भुजाएँ कैसे हैं ? वह रहता कहाँ है ? उसकी तीन आँखे कौन हैं ? वह उग्र क्यों है ? उसका स्वरूप क्या है ? सृष्टि आदि में उसका प्रयोजन क्या है ? वह स्वतंत्र है या परतंत्र ? यदि वह स्वतन्त्र है, तो पूर्णकाम उसकी संहार में प्रवृत्ति क्यों है ? यदि वह परतन्त्र है, तो फिर वह किससे प्रेरित होकर कार्य करता है ? उसने क्या किया ? उस परमेश्वर के रुद्ररूप होने पर उसकी इच्छारूप माया भी क्या थी ? यह सब कहिये ॥१७–१८॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे काकुत्स्थ, वह परमेश्वर ही संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार आदि के विषयरूप संकल्प, अध्यवसाय आदि के बीजभूत सर्वाभिमानात्मक मायावृत्तिरूप अहंकारता से सम्पूर्ण जगत् के अध्यास के मूल स्तम्भभूत

तथा समस्त प्राणियों को रुलाने एवं सभी शरणागत प्राणियों के रोगों को दूर भगाने में निमित्तभूत होने के कारण रुद्रनामसे आविर्भूत है । वही प्राणियों को रुलाने में विषमाभिमानरूप तथा प्राणियों के रोगों को दूर करने में एकाभिमानरूप सम्पन्न होता है । इसकी जो मूर्ति मैंने देखी वह निर्मल आकाशरूप ही थी ॥१९॥ वस्तुतः महाप्रकाशस्वरूप वह भगवान् चिदाकाश मात्र सार होने के कारण आकाशमात्र आकारवाला है, व्योमवर्ण है और वह आकाशात्मा ही कहा जाता है । सम्पूर्ण प्राणियों की जो आत्मा है तद्रूप होने से तथा सर्वव्यापी होने से वह महान् आकारवाला है ॥२०॥ उस अहंकार की सम्पूर्ण जीवों के प्रत्येक शरीर में बिलकुल अनुषक्त जो पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं उन्हींको तत्त्वज्ञानी लोग रुद्र भगवान् के पाँच मुख कहते हैं। एकमात्र यही कारण है कि ज्ञानेन्द्रियाँ सब ओर से प्रकाशस्वभाव हैं ॥२१॥ वाक्, पाणि, पाद, गुदा, उपस्थ नामक जो पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं ये उसकी दाहिनी भुजाएँ हैं तथा वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग और आनन्द नामक ये जो उन पाँच कर्मेन्द्रियों के पाँच विषय हैं वे ही पाँचों विषय उसकी बायीं भुजाएँ हैं–इस क्रम से उसकी दस भुजाएँ हैं ॥२२॥

तब इस तरह की मूर्ति से वह पहले क्यों न देखा गया, यदि यह आशंका हो, तो इसका उत्तर यह है कि चराचर नामरूपात्मक कार्यों के आकारों के अध्यारोप से व्यामूढ़दृष्टि होने के कारण उसके अन्तर्गत कारणस्वभाव का दुर्ग्रह होने से ही वह उस तरह की मूर्ति से युक्त न दीख पड़ा, इस आशय से कहते हैं ।

जैसे अपने में अध्यारोपित कार्यरूप पट तन्तु का परित्याग कर देता है, वैसे ही चार प्रकार के शरीरों तथा तत्–तत् जीवों के साथ प्रलयकाल में परमकारण मायाशबल ब्रह्म को प्राप्त हुए चतुर्मुख ब्रह्माजी ने जब उसका भी परित्याग कर दिया तब वह पूर्वोक्त आकाश मात्रपरिशेषरूप वर्णित अपनी मूर्ति में आ गया । अर्थात् कारणरूप अपनी मूर्ति में स्फुट हो गया । कहने का तात्पर्य यह है कि कारण स्वभाव के दुर्ग्रह से ही वह इस तरह की मूर्ति से पहले न दीख पड़ा ॥२३॥

यदि वह एकमात्र आकाशस्वरूप ही है, तो फिर निराकार उसकी पूर्ववर्णित देहाकृति क्यों दृष्टिगोचर हुई ? इस पर कहते हैं ।

और वह रुद्र समस्त कार्यविशेषों के प्रलय के बाद अवशिष्ट कारण के एक अंशमात्र के आकारवाला है । उसकी देहाकृतिका जो मैंने वर्णन किया है यथार्थ में वह कुछ नहीं है, क्योंकि उसका कोई आकार ही नहीं है । उपासक लोग अपनी वासना से एकमात्र भ्रान्ति द्वारा उसे वैसा मूर्तिमान देखते ही हैं॥२४॥ चिदाकाशगत विशाल भूताकाश में तथा समस्त भूतों की देह में वायुके समान वह परमेश्वर नित्य स्थित रहता है ॥२५॥ उस प्रलयकाल में एक क्षणतक सबको क्षोभित करते हुए, सम्पूर्ण भूतों से परित्यक्त होकर चिदाकाशमात्र मूर्तिधारी वह परमेश्वर परमशान्ति को प्राप्त हो जायेगा ॥२६॥ सत्त्व, रज और तम–ये तीन गुणों के आकार, भूत, भविष्य और वर्तमान

ये तीनों काल, चित्त, अहंकार और बुद्धि, अ, उ, और म् – ये तीनों प्रणव के अक्षर तथा ऋक्, यजु और साम-ये जो तीन वेद हैं वे ही उस रुद्र भगवान् के तीनों नेत्ररूप से संस्थित हैं। अपने मुष्टिच्छिद्र में उसने त्रिशूलरूपी तीनों लोक धारण कर रक्खें हैं ॥२७,२८॥

अब 'किमात्मा' इस द्वितीय प्रश्न का उत्तर कहते हैं ।

चूँकि समस्त भूतसमूहों में उस परमेश्वर से भिन्न और कुछ नहीं है, इसलिए समस्त भूतगणों की जो देह है उसी रूपसे वह स्थित है। अर्थात् समस्तभूतों में अहंकारात्मक रुद्र के अभिध्यान से ही वह देहात्मत्वाभिमानी है (卐) ॥२९॥

'किं प्रयोजनः' इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं ।

स्वरचित सम्पूर्ण जीवों को अपने-अपने कर्मों के अनुसार विषयभोगरूप उपलब्ध विहित क्रमशः ज्ञानसाधनप्राप्ति के अन्त में स्वात्मतत्त्व की उपलब्धिरूप जो शास्त्रीय विहित और निषिद्ध कर्मों के ज्ञान एवं फल देने का स्वभाव है वही सृष्टि आदि में प्रयोजक होने से उसका प्रयोजन है अर्थात् समस्त जीवों को उनके तत्-तत् कर्मों के अनुसार विषयफल प्रदान करने का तथा अधिकारी पुरुषों को ज्ञान प्रदान करने का जो स्वभाव है वही उस परमेश्वर का सृष्टि आदि में प्रयोजन है (🙏)॥३०॥

भाव यह कि सर्वसत्त्वोपलम्भरूप स्वभाव ही उसका प्रयोजन है, और कुछ नहीं । चिन्मात्रआकाशरूप शिवस्वरूप परमात्मा यानी वाणी और मनके अगोचर निरतिशय भूमानन्दात्मक परम कल्याणमय स्वरूप परमात्मा स्वयं अपने से ही 'बहुस्यां प्रजायेय' इस संकल्पात्मक मायावृत्ति द्वारा एक से बहुत होने की इच्छा से प्रेरित होकर जगत् की रचना करता है । और उसी अपने चित्स्वरूप से प्रलय के लिए स्वयं प्रेरित होकर सर्गक्रम के विपरीत क्रमसे जगत् को निगल कर यानी स्वविरचित जगत् का संहार कर आकाशरूप से स्थित हो जाता है । तदनन्तर स्वयं भी वह अपने उसी परम कल्याणमयरूप से निगीर्ण होता हुआ अपने उस आकाशभाव का भी परित्याग करके भूमानन्दस्वरूप प्रतिष्ठारूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है ।

'किं कृष्णः' इत्यादि सभी प्रश्नों का उपपत्तिपूर्वक जो उत्तर दिया गया है उसका स्मरण कराते हुए अब महाराज वसिष्ठजी उपसंहार करते हैं ।

निर्मल चिदाकाशरूप यही परमेश्वर महाकाल रुद्र का रूप धारण कर प्रलय लाकर के सारे जगत् को एक महासागर के रूप में परिणत कर देता है और जब सारा ब्रह्माण्ड एकमात्र महासागर के रूप में परिणत हो जाता है तब उस महासागर का जल पीकर पुनः शरीर न धारण करने के लिए परमशान्ति को प्राप्त होता है ॥३१,३२॥

(卐) देखिये भगवान बादरायण का यह सूत्र :
पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ । (३.२.१.५)

(🙏) देखिये गौड़पादाचार्य ने क्या कहा है : 'देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा' ।

'किमकरोत्' इस उपान्त्य प्रश्न का उत्तर सुनने के उत्सुक श्रीरामचन्द्रजी को जानकर महाराज वसिष्ठजी उत्तर देते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, वैसा भयंकर रूप देखने के बाद मैंने देखा कि वहाँ यह परमेश्वर उद्यम करके यानी उद्यत होकर श्वासवायु के वेगसे उस महासागर को पी जाने में प्रवृत्त हो गये ॥३३॥ इसके अनन्तर श्वासवायु से आकृष्ट महासागर उनके विशाल मुख में, जिसका भीतरी भाग ज्वालामालाओं से व्याप्त था, ऐसे प्रविष्ट हो गया, जैसे बड़वानल में ॥३४॥

अन्य काल में भी जल सूख जाने पर तेज में ही उसका उपसंहार प्रसिद्ध है, इस आशय से कहते हैं ।

वही अहंकाररूप रुद्र कल्पपर्यन्त समुद्र में बड़वानल होकर अवस्थित रहता है, परन्तु जब प्रलयकाल आ जाता है तब वह समुद्र के उस सारे जल को पी जाता है ॥३५॥ जैसे जल पाताल में, साँप बिल में और पंचपवन प्राणियों के मुखाकाश में प्रविष्ट होते है वैसे ही एक ही क्षण में बड़े वेग से आकर वह भगवान् रुद्र के मुख में प्रविष्ट हो गया और महाकाल रुद्र भगवान् ने भी उस सारे जल को सिर्फ एक मुहूर्त में ही ऐसे पी लिया, जैसे सूर्य भगवान् अन्धकार को तथा सज्जनों का सम्पर्क दोषसमूह को ॥३६,३७॥ इसके बाद ब्रह्मलोक से लेकर पातालतक सब स्थान ऐसे शान्त और शून्य हो गया, जैसे धूल, धूम्र, वायु और मेघ–इन भूतों से रहित सब तरह के वैषम्य से निर्मुक्त आकाश ॥३८॥ उस समय वहाँ आकाश के समान निर्मल तथा स्पन्दशून्य ये केवल चार पदार्थ ही दीख रहे थे । हे रघुनन्दन, उन्हें आप सुनिये (मैं कहता हूँ) ॥३९॥ उनके मध्य में एक तो काले रंग के आकाश के सदृश आकृतिवाले, निराकार भगवान् रुद्रदेव स्पन्दशून्य सौरभ बिम्बकी तरह आकाश में स्थित थे ॥४०॥ दूसरा सप्त पाताल के बहुत दूर पृथिवी और आकाशतल के सदृश ब्रह्माण्ड सदन का अधोभाग स्थित था ॥४१॥ शैलेन्द्रों तथा देवताओं के सहित पाताल, भूतल तथा स्वर्ग बिलकुल भस्म हो जाने के कारण यानी तीनों लोकों तथा उनके भीतर रहनेवाले सभी पदार्थों के भस्मरूप बन जाने के कारण पुनः जलक्लेदन द्वारा एकमात्र पंकरूप में परिणत हुए पार्थिवभाग से व्याप्त होकर वह ब्रह्माण्डसदन का अधोभाग ऊर्ध्वभाग की अपेक्षा अवश्य कुछ समृद्धस्वरूप था ॥४२॥ उनमें तीसरा पदार्थ ब्रह्माण्ड का ऊर्ध्वभाग स्थित था । बहुत दूर होने के कारण यहाँ तक आँखों की ज्योतियों की पहुँच न हो सकने से वह दुर्लक्ष्य काले वर्ण के आकाश के सदृश था ॥४३॥

चौथा पदार्थ तो उन दोनों के बीच में स्थित आकाश ही था, यह कहते हैं ।

बहुत दूर विभक्त हुए ब्रह्माण्ड के उन दोनों खण्डों के बीच में जो स्थित था वह तो एकमात्र आदि–अन्तशून्य सर्वत्र व्याप्त निर्मल ब्रह्माकाश ही था । हे श्रीरामचन्द्रजी, वही उसमें चौथा पदार्थ था, जिसका मैंने उस समय अवलोकन किया । मेरी आँखों के सामने उपस्थित इन

चार पदार्थों के बीच में इन चारों से अतिरिक्त और कोई दूसरा वहाँ नहीं था, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥४४,४५॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, आवरणयुक्त उन ब्रह्माण्डखप्परों के बाहर क्या है ? उनके कौन-कौन आवरण है ? वे कितने हैं ? तथा बिना आधार के वे सब वहाँ संस्थित कैसे हैं ? कृपाकर यह कहिये ॥४६॥

इन चार प्रश्नों में पहले बीच के दो प्रश्नों का उत्तर देते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, उन ब्रह्माण्डखण्डों के पार में उनसे दश गुना अधिक विस्तृत जल है । और वह जल इन दोनों खण्डों के अति विस्तृत सन्ध्याकाश को छोड़कर उसके बाहर ही खूब विस्तृतरूप से स्थित है ॥४७॥ उसके बाद जल से दशगुना ज्वालात्मक तेज अवस्थित है । उसके अनन्तर जल के समान ही उस जल को पवित्र करनेवाला तथा स्वयं निर्मल पवन स्थित है ॥४८॥ उसके बाद उस पवन के समान ही दशगुना विमल आकाश स्थित है । *(प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हैं।)* हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर परम पवित्र, अतिसूक्ष्म होने के कारण अत्यन्त ही स्वच्छ अनन्त मायाशबल ब्रह्माकाश स्थित है ॥४९॥

आकाश से परे उससे दशगुना अधिक अहंकारतत्त्व, उससे दशगुना अधिक महत्तत्त्व और उसके आगे अनन्त प्रकृति का वर्णन जो पुराण आदि में मिलता है, उसका यहाँ परित्याग क्यों किया ? इस शंका पर कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस मायाशबल ब्रह्म के स्वरूपाकाश में योगि-माहेश्वर पांचरात्र तथा कपिल आदि तन्त्रों में महत्, अहंकार आदि तत्त्वभेद के आवरण के विषय में भिन्न-भिन्न कल्पनादृष्टियाँ अनन्तरूप से स्फुरित हो रही हैं। किन्तु परस्पर विवादग्रस्त देखी गई उनकी स्वरूपकल्पना की सृष्टियाँ पुराणों में मिलती हैं, श्रुतियों में नहीं, इसलिए हमने उनकी उपेक्षा कर दी है, इसका तात्पर्य यह है कि अन्य-अन्य योगी, महेश्वर पांचरात्र तथा कपिल आदि के मत के अनुसार मायाशबलित ब्रह्माकाश में महत्तत्त्व आदि दृष्टि की कल्पनाएँ भी एक-एक से दशगुना अधिक हैं लेकिन परस्पर विवादग्रस्त होने से हमने उनकी उपेक्षा कर दी है ॥५०॥

अवशिष्ट चौथे प्रश्न का स्मरण दिलाते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं ।

हे मुनीश्वर, ब्रह्माण्डखण्ड के ऊपर तथा नीचे उससे भी उत्तरोत्तर दश-दश गुना अधिक विस्तारवाला होने के कारण महान आकाशवाले जलादि को कहाँ कौन कैसे धारण करता है ? ॥५१॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, पार्थिव पदार्थों का जो भाग ब्रह्माण्डखप्पर है वह कमलपत्र के समान स्थित है । उसी भाग का वे आधारादि भाव से ऐसे आश्रय करते हैं, जैसे वानरी के शिशु अपनी माँ का । अर्थात् जैसे वानरी के बच्चे अपनी माँ को पेट में अच्छी तरह पकड़ के दौड़ने पर भी नहीं गिरते, वैसे ही इनकी भी स्थिति है । अथवा उस ब्रह्माण्डखप्पर की ओर उसकी आकर्षणशक्ति से आकृष्ट होकर वे ऐसे दौड़ते हैं,

जैसे वानरी के बच्चे अपनी माँ की और दौड़ते हैं ॥५२॥

उस ब्रह्माण्डखप्पर के ऊपर स्थित जल के न गिरने में भी यही न्याय है, इस आशय से कहते हैं।

इसलिए हे श्रीरामजी, ब्रह्माण्डनामक जो महाशरीर अत्यन्त समीप है उसकी ओर वे सब पदार्थ ऐसे दौड़ते हैं, जैसे प्यासे प्राणी जल की ओर ॥५३॥ जैसे शरीर में संयुक्त हाथ, पैर आदि अवयव अपनी अत्यन्त दृढ़संयोग स्थिति को नहीं छोड़ते वैसे ही उसीका आभ्यन्तर अवलम्बन करके तैजस आदि सब पदार्थ अवस्थित हैं ॥५४॥

और आवरणों के आधारभूत दोनों ब्रह्माण्डखप्परों का, जो भारी होने से अवश्य गिर जानेवाले हैं, आधार क्या है ? यह श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, आप कृपाकर यह मुझसे कहिये कि वे ब्रह्माण्डखण्ड कैसे अवस्थित रहते हैं ? उनका आकार क्या है ? किसने कैसे उन्हें धारण कर रक्खा है ? अथवा वे गिरकर नष्ट कैसे होते हैं ? ॥५५॥

यह जो आधारादि की चिन्ता हो रही है, सो सत्यतादृष्टि में ही है । मिथ्यादृष्टि में तो जो अत्यन्त भारी पदार्थ हैं उनके भी आधार आदि का कोई नियम नहीं है, यह स्वप्नदृष्टान्त से वसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, यद्यपि इसको किसी ने धारण नहीं किया है, फिर भी परमात्मा की अचिन्त्य धारणात्मिका शक्ति से यह अच्छी तरह धारण किया हुआ है ही। यह बिलकुल गिरता हुआ भी नहीं गिर रहा है । हे श्रीरामचन्द्रजी, यह सम्पूर्ण जगत् वस्तुतः आकृतिशून्य (निराकार होनेपर भी) स्वप्ननगर के सदृश साकार है ॥५६॥ इस मायिक जगत् का क्या पतन होगा अथवा इसमें ऐसी कौन–सी वस्तु है, जिसका कोई धारण करेगा ? यह ठीक वैसा ही अवस्थित है जैसा कि संवित् का स्फुरण है अर्थात् चितिशक्ति के स्फुरण के अनुसार यह अवभासित हो रहा है ॥५७॥ जैसे आकाश में केशोण्ड्रक श्यामता है तथा जैसे आकाश में शून्यता है एवं पवन में जैसे स्पन्दन है, वैसे ही चिदाकाश में यह जगत् है ॥५८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, चिति में ब्रह्माण्डनामक संकल्पनगर है, उसके अन्दर अनेक जगत्रूपी घर हैं । चिदाकाश में निराकार ही प्रतिनियताकार के समान यानी नियत आकारवाले के सदृश स्थित है ॥५९॥

सम्पूर्ण पदार्थों का नियत या अनियत स्वभाव संवेदन के अनुसार ही सिद्ध होता है, यह कहते हैं।

पतन के अध्यास से युक्त संवित् से उत्पन्न यह जगत् रात–दिन गिरने में तत्पर है तथा गमन–अध्यास से युक्त संवित् से यह रात–दिन गमन में ही तत्पर है ॥६०॥ स्थिति के अध्यास से युक्त संवित् से समुद्भूत यह संसार सदा अवस्थित है तथा उर्ध्वगमनमयी चिति से उद्भूत यह

संसार निरन्तर ऊर्ध्वगमनोन्मुख ही बना रहता है (卐) ॥६१॥

'कथं वा परिनश्यतः' इसका उत्तर देते हैं।

महाकल्पादि के संकल्पों द्वारा नाशसंवित् से वह ब्रह्माण्ड नष्ट होता है और सबकी सृष्टि के आरम्भ में सृष्टि-संकल्पों द्वारा जन्मयुक्त संवित् से चिदाकाश में वह उत्पन्न होता है ॥६२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे शरत्कालीन आकाश की ओर देख रहे पुरुष की दृष्टि बेर के आकार के सदृश असत्य मोतियों का समूह सत्य-सा भासता है, वैसे ही असत्य ही उदित यह संसार अतिसत्यस्वरूप-सा भास रहा है । चिदाकाश में ये जितने जगत् भ्रान्ति से स्फुरित हो रहे हैं, ठीक-ठीक उन सबकी गणना करने में भला कौन समर्थ है ? ॥६३॥

अस्सीवाँ सर्ग समाप्त

इक्यासीवाँ सर्ग

प्रलयकाल में नृत्य कर रहे भयंकर रुद्र तथा जगद्रूपी अंगवाली उसकी छाया कालरात्रि का वर्णन ।

'किमकरोत्' 'छायाऽऽसिद्वद का मुने' इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए उपक्रम बाँधते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे राघव, इसके बाद मैंने उस महाकाश में मत्त उस रुद्र भगवान् को नृत्य करने में प्रवृत्त देखा, उस समय उनका आकार बहुत दूर तक फैला हुआ था, आकाश के सदृश उन्होंने विशाल आकृति प्राप्त की थी, अपनी व्यापकताका उन्होंने त्याग नहीं किया था, उनका वह आकार महान् था, मेघ के सदृश उनका श्याम वर्ण था, उनसे दसों दिशाएँ चारों ओर से खूब व्याप्त थीं, सूर्य, चन्द्र और अग्नि-ये तीनों उनके तीन नेत्र थे, चंचल दसों दिशाएँ ही उनके वस्त्र के स्थान में थीं, घन तथा दीर्घ प्रभाजाल से वे युक्त थे, इसीलिए वे देखने में नील प्रभाज्वालाओं के बन्धनस्तम्भ-जैसे मालूम पड़ रहे थे, बड़वाग्नि की तरह तो उनकी आँखें थीं, चंचल भुजारूपी तरंगमालाओं से उनका शरीर खूब चमकीला दीख रहा था, इससे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानों सबको जलमय बनानेवाले प्रलयकाल के महासागर का जल ही शरीर ग्रहण कर अभी आविर्भूत हुआ हो । इसके अनन्तर मैं क्या देखता हूँ कि भगवान् रुद्र के नृत्य का अनुकरण करती हुई उनके शरीर से मानों छाया निकल रही है ॥१-५॥ देखते ही बलात् मेरे मन में ऐसी आशंका उठी कि भला सूर्यों के उपस्थित न रहते महान् अन्धकार से परिपूर्ण आकाश में यह छाया कैसे स्थित है ? ॥६॥ यह मैं जब विचार कर रहा था कि इतने में तत्क्षण ही वह उस समय नाच करती हुई भगवान् रुद्र के सामने आकर खड़ी हो गई । डील-डौल में विशाल वह अपनी सुन्दर तीन आँखों से शोभित हो रही थी ॥७॥

(卐) 'किमाकृति धृते केन' इन दोनों प्रश्नों का भी - 'वे दोनों ब्रह्माण्डखण्ड स्वसंवित् से कल्पित नियत तथा अनियत आकारवाले हैं और एकमात्र संवित् ने ही इन्हें धारण कर रक्खा है ।' यह उत्तर अर्थतः प्राप्त हो गया।

उसके रूप का वर्णन करते हैं ।

वह रंग में काली थी, पतली थी, उसके सारे अंगों में नस ही नस दीख रही थी, उसके सभी अंग शिथिल थे, आकृति उसकी विशाल थी, उसका मुख ज्वालाओं से व्याप्त था, चंचल वनसमृद्धि की नाईं पुष्प, पल्लव आदि से विभूषित श्यामल उसका मस्तक था ॥८॥ घनीभूत अंजन रूप तम के समान उसका श्याम वर्ण था, इसलिए देखने में वह दूसरी मूर्तिमती रात–जैसी, शरीरयुक्त अन्धकार की शोभा–सी तथा साकार श्यामवर्ण आकाश की द्युति–जैसी प्रतीत हो रही थी ॥९॥ वह बहुत लम्बी थी, उसका मुख बड़ा ही भयानक था । वह ऐसी खड़ी थी, मानों अपनी लम्बी देह से आकाश नापने को उद्यत हो या आकाश से अपनी समता कर रही हो । वह मानों अपनी दीर्घ जानु और भुजाओं के भ्रमण से समस्त दिशाओं के मुख को ही नापने की इच्छा कर रही थी ॥१०॥ उसे देखने से यही प्रतीति हो रही थी, मानों बहुत दिनों तक अधिक उपवास करने से ही यह ऐसी दुबली हो गई है । उसकी लम्बी देह में सर्वत्र गड्ढे ही गड्ढे दीख रहे थे । कज्जल के सदृश श्याम वर्ण की वह पवन से आकुल मेघों की माला जैसी थी ॥११॥ उसे देखने से ऐसा भान हो रहा था कि अत्यन्त लम्बी और दुबली उसे खड़ी होने में भी जब विधाता ने असमर्थ देखा है तब मानों उन्होंने शिरारूपी लम्बी रस्सियों से बाँध दिया है, ताकि यह अच्छी तरह खड़ी रहे ॥१२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, वह इतनी अधिक लम्बी थी कि हजारों वर्षों तक ऊपर–नीचे आ–जाकर मैंने योगबल से उसके सिर और पाद नखों का अवलोकन किया ॥१३॥ नाड़ियों के समूहों तथा अँतड़ियों रूपी रस्सियों से ग्रथित सिर से लेकर पैर तक सभी अंगों से युक्त वह ऐसे स्थित थी, जैसे मूल से लेकर शाखाग्रपर्यन्त सूतों से ग्रथित कण्टकों की निवासभूमि (खदिरादि लता) ॥१४॥ नाना वर्णों के सूर्य आदि देव तथा दानवों के मस्तकरूपी कमलों के समूहों की माला उसके कण्ठ में विराजमान थी, निर्मल आलोकवाला पवनसे प्रदीप्त अग्नि उसका आँचल था ॥१५॥ उसके लम्बे दोनों कानों में चंचल नाग झूल रहे थे तथा दो मृतक कुण्डल के रूप में विराजमान थे । शुष्क तुम्बी–लता की तरह अतिदीर्घ, अत्यन्त चंचल तथा काले वर्ण के उसके दोनों स्तन जाँघ तक लटक रहे थे ॥१६॥ उसका खट्वांगमण्डल मयूरों के पिच्छसमूहों तथा ब्रह्मा के केशों के मण्डलों से लांछित (चिह्नित) चन्द्रादि सुराधीशों के ऊँचे–ऊँचे मस्तकों से अलंकृत था ॥१७॥ चूँकि दन्तरूपी चन्द्रमाला से वह विमल थी, इसलिए विमल दाँतों के प्रकाशों के पतन से अभिवृद्ध तथा अन्धकाररूपी सागर के आवर्तों से व्यालोल (चंचल) ऊर्ध्वलेखा–जैसी स्थित वह प्रतीत हो रही थी ॥१८॥ आकाश में उत्पन्न हुए वृक्ष के ऊपर आरूढ़ शुष्क–लता–जैसी वह ऊँचे आकाशरूपी वृक्ष के ऊपर आरूढ़ थी । वायुओं द्वारा पटपट शब्दों से विभूषित तथा जाँघ तक सभी चंचल अवयवों वाली वह –नीचे तक अपने चंचल अवयवों से युक्त तथा वायुओं द्वारा पटपट शब्दों से अलंकृत–शुष्क तुम्बीलता–जैसी ही बिलकुल प्रतीत हो रही थी ॥१९॥ महातरंगरूपी लम्बी भुजाओंवाली, श्यामल तथा

उल्लासों से परिपूर्ण, नृत्यरूपी आवर्तों से चंचल प्रलयकालीन महासागर की तरंगमाला-सी भास रही थी ॥२०॥ क्षण में ही कभी तो वह एक भुजा से युक्त आकारवाली हो जाती थी और कभी क्षण में ही अनेक भुजाओं से व्याप्त हो जाती थी तथा कभी क्षण भर में ही अपनी अनन्त उग्र भुजाओं से जगद्रूपी नृत्यमण्डप को ऊपर फेंककर व्याकुल कर देती थी ॥२१॥ क्षणभर में ही तुरंत उसका आकार एक मुखवाला हो जाता था तथा शीघ्र ही उसकी आकृति अनेक मुखों से युक्त बन जाती थी । शीघ्र ही वह अनन्त उग्र मुख धारण कर लेती थी तथा क्षणभर में ही बिना मुखवाली भी वह हो जाती थी ॥२२॥ वह शीघ्र एक पैर से युक्त हो जाती थी तथा शीघ्र ही उसके सैकड़ों पैर हो जाते थे । क्षणभर भी देर न हो पाती थी कि इतने ही में वह अनन्त पैरों से समन्वित हो जाती थी तथा क्षण में ही वह बिना पैर की भी हो जाती थी ॥२३॥ वह रूप देखकर मैंने उसकी देह का अनुमान कर लिया कि हो न हो यह वही कालरात्रि है। अन्य सज्जन महानुभावों ने भी इसको 'यह भगवती काली है' यह निर्णय किया है ॥२४॥

फिर उसके मुख से लेकर पैर तक के प्रत्येक अंग का वर्णन करना प्रारम्भ करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस भगवती की तीन आँखें थीं, उनकी उपमा तो तब ठीक मिल सकती है, जब कि अरघट्ट यन्त्र के मस्तक के काठ में प्रसिद्ध तीन गड्ढे ज्वालाओं से परिपूर्ण हो जायें। और उसकी ललाट भूमि की उपमा तो वह प्रसिद्ध इन्द्रनील पर्वत का प्रस्थभाग है, जहाँ पर पृथिवी जल रही हो ॥२५॥ उसके दोनों जबड़े तो लोकालोक पर्वत के प्रसिद्ध इन्द्रनील के उग्र गड्ढे की तरह ही भयंकर दीख रहे थे, क्योंकि अधिक गहरा होने से वहाँतक कुण्डलों की कान्ति का प्रकाश बिलकुल नहीं पहुँच पाता था । वातस्कन्धरूपी तागों में पिरोये गये तारागणरूपी मुक्ताकलापों की माला उसके गले में विराज रही थी ॥२६॥ इन्द्रनील पर्वत के तुल्य ऊँचे नगर के बाहर के दरवाजे पर पद्मराग आदि की प्रभा से रंजित दरवाजे के उन्नत भीतरी छेद में विश्रान्त अधोमुख कृत्रिम काचशैल की तरह भगनामक भीषण काक से वह भयंकर लगती ॥२७॥ नाच रही भुजलतारूपी पुष्पों से युक्त नखों की शुभ्र प्रभारूपी मेघ-मण्डलों से वह आकाशतल में सैकड़ों पूर्णचन्द्रों को नचाती हुई-सी प्रतीत हो रही थी ॥२८॥ कल्पान्त मेघों (🕭) के तुल्य गजमुक्ताओं तथा प्रलयकाल में गिर रही तारों की श्रेणी-जैसी भासमान नखों की पंक्तियों की विशाल प्रभाओं को बरसा रही भ्रमणशील अपनी भुजाओं से भगवती काली ने सारे दिग्मण्डलको व्याप्त कर दिया था ॥२९॥ रंग में बिलकुल काले अतएव उग्र स्वरूप के अपने उन भ्रान्तभुज-वृक्षों से, जो नखोंरूपी पुष्पों से विभूषित अंगुलरूपी लतासमूहों से सुशोभित थे, उस भगवती काली ने सारे आकाशप्रान्त को जंगल-सा बना दिया था ॥३०॥ वह भगवती काली सभी ओर चलित हुए अपने जंघासमूह से, जले

(🕭) अर्थात् स्फुरित हो रही प्रभाओं से युक्त हाथी के दाँतों की तरह पर्वत-प्रान्त के ऊपर महा प्रभाओं से युक्त मोटी-मोटी जल-धाराश्रेणी को बरसा रहे कल्पान्त मेघों की तरह ।

हुए खजूर आदि के महान् जंगलों से वलित तथा एकमात्र जले हुए अच्छे-अच्छे तमाल, ताल आदि के वृक्षों से स्थूल बनी हुई पृथिवी का अनुकरण कर रही थी ॥३१॥ अनन्त महाकाश में भी पारंगत अपने केशों से वह संचरणशील अन्धकाररूपी हाथी का आकाश में विस्तृत निवास मानों सिद्ध कर रही थी ॥३२॥ प्रतिध्वनियों से घनीभूत दिग्मण्डल वाले गगनरूपी गाँव में उद्घोषणशील अपने उस निःश्वास पवन के साथ, जिसके द्वारा मेरु आदि अनेक पर्वत उड़ा दिये जाते थे, वह भगवती बराबर चली जा रही थीं । देखने से ऐसा प्रतीत हो रहा था कि वह एक ऐसे नटके साथ चली जा रही हैं, जो नियत अनुनयवाला है, और प्रबल वायु के फूत्काररूपी अव्यक्त शब्द से परिपूर्ण गीत गा रहा है ॥३३,३४॥ इसके बाद मैंने आकाश में स्थित अनन्त आकाश के सदृश व्यापकरूप उस भगवती को योगबल से देखा कि वह नृत्यवश आवेश के कारण वर्द्धमान शरीरवाली हो गयी हैं ॥३५॥ इतने ही में मैं क्या देखता हूँ कि एकमात्र विलासपूर्वक नृत्य करना ही जिसका अभिप्रेत अर्थ था ऐसी उस भगवती काली ने मलय, कैलास, सह्य, मन्दर, मेरु आदि पर्वतों से एक सुन्दर माला बनाकर अपनी देह में धारण कर लिया ॥३६॥

अधिक क्या कहा जाय, सारा संसार ही उसके आभूषण आदि सामग्री के रूपमें परिणत हो गया, इस आशय से कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, युगान्तकाल के प्रसिद्ध पुष्करावर्तक आदि अभ्रमालिका (मेघसमूह) उसके वक्षःस्थल में इन्द्रनील की पट्टपट्टिका के रूप में (卐) विराजमान थी । तीनों लोकान्तर उसके जघन, उदर आदि अंग में मणिमय आदर्शमण्डल (♨) बन गये थे ॥३७॥ हिमालय तथा सुमेरु पर्वत उसके दोनों कान की चाँदी और सोने की मुद्रिका (🕮) बनकर शोभा बढ़ा रहे थे । ब्रह्माण्डों की घुंघुम शब्दों से परिपूर्ण माला एक लम्बी लच्छेदार करधनी थी॥३८॥ शिखरों, वनों एवं नगरों के गुच्छकों से परिपूर्ण तथा जीर्ण-शीर्ण गाँव, वन, द्वीप, ग्राम आदि रूप कोमल पल्लवों से भरे सातों कुलपर्वत उसके गले की मालाएँ थीं ॥३९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, उस भगवती काली के अंगों में नगर, ग्राम, ऋतु, मास, दिन-रात तथा तीनों लोककी मालाएँ विराज रही थीं – वह सब मैंने देखा ॥४०॥ भद्र, यमुना, त्रिपथगा-भागीरथी आदि नदियाँ गले के मोती आदि के हार के रूप में थीं, धर्म एवं अधर्म दोनों दूसरे कानों के (पूर्वोक्त कानों से अतिरिक्त कानों के) भूषण बन गये थे ॥४१॥ भद्र, उस कालरात्रि के धर्मरूपी दूध का क्षरण करनेवाले चारों वेद चार स्तन थे, समस्त शास्त्ररूपी क्षीरवाले ऋक् आदि चार संस्थान उसके स्तनाग्र थे ॥४२॥ त्रिशूल, पट्टिश (पटा),

(卐) एक तरह का आभूषण (पनवां) ।

(♨) अर्थात् देखने योग्य नमूनेदार अलंकार ।

(🕮) साधारणतया 'मुद्रिका' शब्द का अँगूठी अर्थ है, लेकिन यहाँ पर यह 'बाली' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

भाला, बाण, शक्ति (बरछी), खड्ग, मुद्गर-इनसे बना जो आयुधों का समूह था, वही पुष्पमाला के रूप में उसने धारण किया था ॥४३॥ जो देवता आदि चौदह तरह की भूतजातियाँ हैं, वे शरीरधारी उस कालरात्रि के रोमपंक्तियों के रूप में अवस्थित थीं ॥४४॥ उसकी देह में अव्यक्तरूप से स्थित नगर, ग्राम, पर्वत आदि मानों अपना पुनर्जन्म पाने के आनन्द से उसके साथ-साथ नाच कर रहे थे ॥४५॥ भद्र, सारा संसार उसके नर्तन में काँप रहा था, इसलिए कोई भी पदार्थ स्थावर (स्थिर) तो था ही नहीं, किन्तु केवल जंगमात्मक ही यह जगत् उस समय प्रतीत हो रहा था, पहले नष्ट होकर इसके शरीररूपी परलोक में सुख से स्थित सारा जगत् नाच रहा है, यह मैंने जाना ॥४६॥ निगीर्ण जगत् को उदरस्थ करके अत्यन्त तृप्ति को प्राप्त हुई वह कालरात्रि मत्त होकर चारों ओर नृत्य कर रही थी, वह जगत्‌रूपी सर्प को जीर्ण बनाने और नचाने के कारण ठीक मयूरी-सी मालुम हो रही थी ॥४७॥ समस्त जगत् विस्तीर्ण-स्वरूपवाले उसके शरीर में दर्पण-प्रतिबिम्ब में स्थित-सा मालूम पड़ रहा था और उसका रूप भी पूर्व जगत् के सदृश ही था ॥४८॥

किसी समय वह नृत्य से विरत भी हो जाती थी, फिर भी उसके भीतर का जगत् तो नृत्य करता-सा ही प्रतीत होता था, यह कहते हैं।

कभी तो वह नृत्य नहीं भी करती थी, परन्तु शैल, पर्वत, अरण्य आदि के साथ वह नानारूप जगत्, जो मरकर फिर आया था, नृत्य करता ही रहा ॥४९॥ उक्त सुन्दर जगत् का नृत्य उसी के देहरूपी दर्पण में स्थित था और उस समय मैंने दीर्घकालतक उसे देखा, वह एकदम अविनाशी होकर स्थित था यानी निरन्तर चल रहा था ॥५०॥

उसी जगत् के नृत्य का वर्णन करते हैं।

वह नृत्य क्या था, उससे समस्त तारागण चल रहे थे, सारा पर्वतसमूह घूम रहा था, अमर (देवता) और दानव मच्छरों के समूह के समान वायुओं द्वारा कम्पित किये जा रहे थे ॥५१॥ संगमभूमि में छोड़े गए चक्रों के भ्रमण के सदृश शोभ रहे द्वीपों एवं समुद्रों से सारा आकाशमण्डल व्याप्त हो गया था, हेलासे (क्रीड़ा से) उत्पन्न भ्रमणों से यानी आवर्त वायुओं से मानों पर्वत एवं धरारूपी तृण वर्तुलाकार में जोर से उड़ाये जा रहे थे ॥५२॥ उस नर्तन में ऊपर नीलमेघरूपी वस्त्रों का परिचालन होने पर वायुओं से आकाशमण्डल घुंघुम ध्वनि से पूर्ण हो गया था, और नीचे परस्पर टक्कर खाये हुए काष्ठ, अस्थि आदि के सन्धिभेद से हो रही पटपट ध्वनि से व्याप्त हो गया था ॥५३॥ परस्पर संयोग और विभाग से प्रत्येक क्षण में कभी मिलित एवं कभी विभक्त हुए जगत्पदार्थों से युक्त अंगों एवं अंगभ्रमणों के कारण, दर्पण के सदृश उसकी देह में उनका नृत्य विशाल भांकारों से मानों मूर्तिमान् भय-जैसे व्याप्त था॥५४॥

उसी जगत के नृत्य का विभागशः वर्णन करते हैं।

कहीं मेरु पर्वत अपने चंचल कुलाचलरूपी बड़े-बड़े हाथों का संचालन कर नृत्य करता था,

इसके अभ्ररूपी वस्त्रों से युक्त (आच्छन्न) छोटे–छोटे कल्पवृक्ष रूप लोमों का घुमाव बड़ा ही रमणीय लग रहा था ॥५५॥ समुद्र भी अपनी मर्यादा का मुद्रण न छोड़कर नाच रहे थे और वृक्ष पृथ्वी से कभी आकाश में तथा आकाश से कभी पृथ्वी में आते–जाते थे ॥५६॥ किसी समय घर, अट्टालिका एवं गृहस्थी के सामान के साथ नगर घरघर ध्वनि करते हुए नीचे की ओर लुढ़कते हुए दीख रहे थे, लेकिन वास्तव में कुछ नीचे की ओर नहीं लुढ़क रहा था ॥५७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जब भगवती कालरात्रि चतुरतापूर्ण नृत्य कर रही थी, तब चन्द्र,सूर्य, दिवस और रात उसके नखाग्रभाग की रेखाओं के अन्दर विद्यमान आलोक में (प्रभा में) मिलकर घूमते हुए, सुवर्णसूत्र के सदृश, दीर्घाकार प्रकाशित हो रहे थे ॥५८॥ भद्र, कालरात्रि ने नीहार के तो हार पहिने थे, उसके वस्त्र नीले मेघ थे, इसलिए मेघों से बरसाये गये जो जलबिन्दु थे, वे उसके स्वेदबिन्दु की तरह मालूम पड़ते थे ॥५९॥

अब सारा जगत् उस भगवती का अंगसमूह बन गया था, यह वर्णन करते हैं ।

आकाश ही उसका बड़ा केशपाश (जूड़ा) बन गया था, पाताल चरण बन गये थे, भूमिमण्डल उदर बना था और दिशासमूह बाहु बन गये थे ॥६०॥ उस भगवती की जो आँतों से युक्त वलियाँ थीं, वे द्वीप और समुद्र ही थे, जो पसलियाँ थी, वे सारे पर्वत थे, और जो चंचल प्राण और अपान थे, वे सारे आवह आदि पवनस्कन्धरूप आकाश–महल की शालिकाएँ ही थीं ॥६१॥ जब भगवती कालरात्रि नृत्य करती थी, तब उसके विशाल शरीर के ऊपर हिमालय, मेरु, सह्याद्रि आदि पर्वतों ने झूले के आनन्द का अनुभव किया ॥६२॥ उड़ रही पर्वतरूपी मंजरियों से युक्त पूर्ववर्णित ब्रह्माण्डमाला का इधर–उधर परिवर्तन करती हुई उस भगवती ने अपनी ताण्डव–लीला से मानों फिर महाप्रलय आरम्भ किया॥६३॥ हे श्रीरामजी, वे सुर, असुर, नाग आदि के समूह ही भगवती के रोम थे, इसका शरीर स्पन्दनरहित होकर ठहर सकता ही नहीं था, इसलिए चक्र की तरह वह बराबर घूम रहा था॥६४॥ भद्र, कर्मफलरूप नाना वैभव, कर्मानुष्ठान के कारण अनेक विज्ञान एवं अनुष्ठान यज्ञ –इन तीन सूत्रों का उसने यज्ञोपवीत धारण किया तथा, आकाश में नाचती हुई वह मेघों की ध्वनियों को लेकर वेदघोष कर रही थी, इसलिये ठीक ब्रह्मचारिणी की तरह प्रतीत हो रही थी ॥६५॥ वस्तुतः उस नृत्य में कुछ भी नहीं हिल रहा था परन्तु भूतल और आकाश चक्र के चमकने से एक के एक दूसरे में प्रतिबिम्बित होकर एक दूसरे के सदृश वे दोनों बन जाते थे इससे कुछ समय के लिए भूतल आकाश बन जाता था और आकाश भूतल बन जाता था, यह देखनेवालों की एक भ्रान्ति ही थी ॥६६॥

कालरात्रि की श्वासवायुओं का वर्णन करते हैं ।

उस भगवती के बड़े–बड़े नासिकागुहारूपी घरों से निकले हुए मेघ के सदृश घुंघुं शब्द कर रहे

उग्र पवन बह रहे थे, इन वायुओं से घोर घुंघुं शब्द हो रहे थे ॥६७॥ भद्र, सारा आकाशमण्डल उस भगवती के चातुर्यपूर्ण पद्धति से संचालित हुए सैकड़ों हाथों के कारण प्रचण्ड वायुओं द्वारा कम्पित पल्लवों से व्याप्त-सा हो गया था ॥६८॥ उसके अंगों से जनित जगत्पदार्थों के साथ-साथ जो भ्रमण हुए, उनसे उत्पन्न श्रम के कारण मेरी धीर दृष्टि ऐसे कुण्ठित हो गई, जैसे युद्ध संग्राम में सेना ॥६९॥ उसका देहरूपी दर्पण जब कुछ भ्रमणशील हो गया, तब यन्त्रोंके सदृश पर्वत विचलित होने लगे, आकाशचारी देवता गिरने लगे और देवताओं के घर लुढ़कने लगे ॥७०॥ उसकी नाभि में पृथ्वी की कोमलता के सदृश उस समय शोभा मालूम हो रही थी, क्योंकि अनेक मेरु पर्वत ठीक पत्तों के सदृश प्रतीत हो रहे थे, मलयाचल पल्लव-से भास रहे थे और इन पर हिमाचल हिमकण-सा प्रतीत हो रहा था ॥७१॥ उस भगवती की देह में अनेक सह्य पर्वत पृथ्वीपर पक्षियों के सदृश, अनेक विन्ध्याचल आकाश में विद्याधरों के सदृश तथा वृक्ष और बादल आकाश के अन्दर घूम रहे राजहंसों के सदृश भास रहे थे ॥७२॥ उसके देहरूपी सरोवर में अनेक द्वीप तृणों के सदृश, समुद्र वलयों के सदृश और देवताओं के आलय पद्मों के सदृश भास रहे थे ॥७३॥ भगवती का शरीरांग विशद् आकाश के सदृश विशाल था, स्वप्न में उत्पन्न महान अंजन पर्वत के सदृश था तथा एक पिण्ड में बने हुए बारहों आदित्यों के सदृश तो उसकी कान्ति थी, विशाल उसकी जंघाएँ थी, इस प्रकार के उसके अंग में कहीं पर सुवर्ण पर्वत के ऊपर उगे जंगल में अपना चिरन्तन वैर निकालते हुए-सा विन्ध्याचल नाच रहा था, तो कहीं गगनरूप आंगन में अपने शत्रु विन्ध्याचल को न सहने योग्य सह्य कैलास, मलय, महेन्द्रपर्वत, क्रौंच पर्वत, मन्दर और गोकर्ण पर्वत मानों कोप-से नाच रहे थे, इनके पक्षपात से सारी वसुमती और विद्याधरों के नगर नाच रहे थे। इस तरह उसके शरीर में सभी स्थावर जंगमभाव को प्राप्त हो गये थे ॥७४,७५॥ श्रीरामजी, एक और आश्चर्य सुनिये – उसकी देह में पर्वत पर समुद्र नाच रहा था, वह पर्वत ऊँचे आकाशकोटर में नृत्य कर रहा था, वह आकाश भी चन्द्र और सूर्यों के साथ पृथ्वी के नीचे चलित होकर कहाँ चला गया, यह जाना ही नहीं गया । नानाविध पुष्पों से युक्त तथा द्वीप, अचल एवं नगर से समन्वित वनगण सूर्यमण्डल में नाच रहा था – यों चंचल जगत समुद्र में चंचल तृण के समान दिशाचक्र में भ्रमणकर रहा था ॥७६॥ भद्र, आकाश में पर्वत घूम रहे थे, दिशाओं में समुद्र घूम रहे थे, पुर, नगर, मण्डल, नदियाँ, सरोवर-ये सब अपने आश्रयभूत लोक से लोकान्तर में, दर्पण के भीतर-जैसे, प्रविष्ट होकर-झंझावात के द्वारा असंकीर्ण तृणों का उड़ना जैसे लोक में विख्यात है, वैसे ही-उड़ रहे थे ॥७७॥ मत्स्य समुद्र की नाईं मरुभूमि में घूम रहे थे, नगर पृथ्वी के सदृश आकाश में स्थिर दिखाई दे रहे थे, पर्वत आकाश में प्रतीत हो रहे थे । अधिक आश्चर्य तो यह था कि आकाश एवं प्रलय के मेघ उत्पात-वायुओं से घिरे हुए पर्वतों पर स्थित थे ॥७८॥ किसी यन्त्र-चक्र में हजारों की संख्या में दीपक लगे हों और वह यदि घूमता हो तो कितना सुन्दर लगता है, ठीक इसी क्रम से वेग से हो रही

मणियों की वृष्टि के सदृश अतिसुन्दर नक्षत्रों का समूह घूम रहा था । इसकी शोभा उस तरह की थी, जैसे आपकी सभा में विद्याधरों एवं देवताओं के गण द्वारा प्रीति से छोड़ी गई पुष्पवृष्टि भीतर–बाहर भ्रमण करती है ॥७९॥ भद्र, भगवती कालरात्रि के शरीर में प्रलय एवं सृष्टियों के समूह दिन–रात के भाग में प्रतीत हो रहे थे, दिन और रात्रि के समूह मलिन एवं अमलिन रजत के बिन्दु के सदृश अतिस्वल्प मालूम पड़ रहे थे, शुक्ल–कृष्ण पक्ष सुन्दर निर्मल हीरे एवं इन्द्रनीलमणि के बनाये गये धवल एवं काले आदर्श–मण्डल के सदृश प्रतीत हो रहे थे ॥८०॥ हे राघव उसकी देह में सूर्य, चन्द्र आदि के मण्डल तो रत्न बन गये थे, नक्षत्रसमूह तरल वर्तुलाकार शोभा से युक्त गले के हार के सदृश बन गये थे, अत्यन्त स्वच्छ गगनमण्डल पहिने हुए महान् वस्त्र बन गये थे । इनमें भ्रमण कर रही विद्युत अलातचक्र–सी प्रतीत हो रही थी और निरन्तर महान प्रकाश कर रही थी ॥८१॥ भगवती के नृत्य कल्पान्तकाल में लुढ़क रहे तीनों जगत् ऊपर–नीचे परिवर्तनों के कारण तत्काल ही झनझन ध्वनि करनेवाली मणियों के रूप में बन गये । झंकार से ऊपर–नीचे गमन कर रहे सूर्य आदि तेज अनेक तरह के गुणयुक्त (सूत्र–युक्त) नूपुर, वलय आदि भूषण के रूप में बन गये ॥८२॥ भद्र, अब एक दूसरा आश्चर्य सुनिये–देवी के ताण्डवनृत्यकाल में वीरजनों का बड़ा–बड़ा कोलाहल सुनाई दे रहा था, ये वीरजन संग्राम में मत्त शत्रु योद्धाओं के लिए निकाले गए खड्गों की मरीचियों की प्रभा से ग्रीष्मकाल के दिनों को भी मलिन कर रहे थे । देवी के नृत्य के समय ऊपर–नीचे होने वाले संचालनों से वे योद्धा लुढ़क रहे थे, फिर भी अधिष्ठानभूत ब्रह्म की स्थिरता के कारण वे स्थिर थे ॥८३॥ यह दूसरा आश्चर्य सुनिये–भूत, भविष्यत् अनन्त कोटि सृष्टि, प्रलय आदि से युक्त इस भगवती कालरात्रि का जब ताण्डव होता था, तब ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवता एवं असुर अपनी–अपनी अधिकार–प्रवृत्ति से दूसरे–दूसरे बनकर वायु से चालित मच्छरों के सदृश या बिजली के सदृश प्रसिद्ध अस्थिरताविलास से आते और जाते दीख पड़ते थे ॥८४॥ भद्र, भगवती के शरीर में जो सर्ग दिखाई देता था, उसमें सृष्टि, प्रलय, सुख–दुःख, भव–अभव, इच्छा–अनिच्छा, विधि–निषेध, जन्म–मरण आदि परस्पर विरूद्ध भी सब पदार्थ कभी सदा एक साथ एवं कभी अलग–अलग रूप से विलसित होते मालुम पड़ रहे थे ॥८५॥ भगवती के शरीर रूप चिदाकाश में मिथ्यारूप ही चमक रहे अतएव चिदाकाशरूप (शून्यरूप) सृष्टि, प्रलय, चतुर्दश भुवन, पृथ्वी आदि पदार्थों की अधिष्ठानवश हुई उत्पत्ति, स्थिति, विनाश, अर्थक्रिया, परिश्रम–इन सबकी संख्या कितनी थी, यह तनिक भी मालुम नहीं हो सकती थी ॥८६॥ भद्र, भगवती की देह में उत्पात, शान्ति, आदि परस्पर विरुद्ध द्वन्द्व–समूह एकत्र ऐसे प्रतीत होता था, जैसे एक कोश में एकत्र रत्नों का समूह । क्योंकि भगवती के शरीर में रसों से अन्योन्य अनुचित अनेक सर्गपरम्पराएँ विद्यमान थी ॥८७॥ श्रीरामजी, परमार्थ–दशा में चिदाकाश उसकी देह में स्वभावभूत यानी अशास्त्रीय ज्ञान से सिद्ध मायारूप आवरणात्मक अस्फुट अनुभव से उत्पन्न जगत् स्थितियाँ एवं जगत्प्रलय

चारों ओर ऐसे कलित होते थे, जैसे तिमिर रोग से मलिन हुई दृष्टि से आकाश में केशोण्ड्रकों के स्फुरण प्रतीत होते हैं ॥८८॥ भद्र, अविचल अधिष्ठानरूप स्थिति में विद्यमान जगत् वस्तुतः अक्षुब्ध ही है, फिर भी मायाक्षोभदृष्टि से क्षुब्ध-सा दीख पड़ता है, क्योंकि बिम्बरूपसे अचल पर्वत चलित होने वाले दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर जैसे चलित होता है, ठीक ऐसा ही यह जगत् स्थित है ॥८९॥ जैसे बालक के संकल्प का सर्ग प्रतिक्षण पूर्वस्थिति का त्याग कर अन्यस्थिति ग्रहण करता है, वैसे ही नृत्य से चमक रहे विशिष्ट प्रताप से युक्त माया के अंदर प्रविष्ट हुए सभी पदार्थ प्रतिक्षण परिणाम द्वारा पूर्वस्थिति का त्याग और अन्य स्थिति का ग्रहण करते रहते थे ॥९०॥

सब पदार्थों का उत्पादन करने के लिए कारकों की क्रिया-शक्ति उपयोग में आती है, आगे के भावविकार तो स्वयं ही काल आनेपर उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे मूँग इकट्ठे करने हों, तो कारकक्रियाशक्ति की आवश्यकता होती है, परन्तु विशीर्ण होकर फैलने में तो उनकी स्निग्धता ही कारण है, न कि अन्यकारक क्रियाशक्ति, ठीक ऐसे ही यहाँ समझना चाहिए, यह कहते हैं ।

भगवती की देह में क्रियाशक्ति है, अतएव उसके द्वारा उसमें निरन्तर भरे जा रहे जगत-रूपी मूँग के दाने ढेर के रूप में पहले होकर फिर विशीर्ण हो जाते हैं यानी चारों ओर फैल जाते हैं ॥९१॥

माया भगवती परिणामि-स्वभाव जड़ जगत्रूपा होने के कारण ही प्रतिक्षण अन्य-अन्य रूपकी प्रतीत होती है, यह कहते हैं ।

भगवती माया एक क्षण में तो कुछ मालूम पड़ती है और दूसरे क्षण में वैसी नहीं भी मालूम पड़ती है, एक क्षण में एक अँगूठे के बराबर प्रतीत होती है, तो दूसरे क्षण में आकाश को भी भर देने वाली मालूम पड़ती है ॥९२॥ चूँकि सर्वविध कलाओं से परिपूर्ण जगतात्मक यह देवी संवित्-शक्तिरूपा है, इसलिए अनन्त एवं विशाल आकाश कोश के सदृश विशुद्ध स्वरूपवाली है ॥९३॥ वह देवी कालरात्रि तीनों काल में स्थित तत्-तत् विचित्र परिणामधारी समस्त त्रिजगत् की भीतरी चित्-शक्ति है, इस कारण से वह चितेरे के उदार मन में स्थित चित्रसंसार समूह के सदृश यथास्थित उस विचित्ररूपसे वैसी प्रकाशित होती है । इस प्रकार के प्रकाशन में उस चिति-शक्ति का परिवर्तनशील तत्-तत् काम-कर्मवासना के परिपाक के अनुसार वेग भी रहता है ॥९४॥

तब क्या वह देवी प्रपंचपूर्ण ही है, इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देते हैं ।

अविद्या से आवृत चिति-शक्ति के कारण वह देवी समस्त संसारूप एक विद्या से अविद्या के हट जाने पर शुद्ध ज्ञानात्मक बन जाने के कारण वह शान्त आकाशरूप शरीरधारिणी होकर सर्वविध प्रपंच से निर्मुक्त होकर स्थित हो जाती है । इस प्रकार बद्ध और मुक्त पुरुष की दृष्टि से गम्य एवं विद्या-अविद्या से क्रमशः व्यंजित हो रहे स्वरूप से उपलक्षित तथा परमार्थ रूपसे अनादि-अनन्त चिदेकरूप को धारण कर रही वह देवी ही प्रकाशती रहती है ॥९५॥

विवर्त एवं परिणाम की दृष्टि से तथा जीवन्मुक्त एवं युक्तिवादी आत्माओं की दृष्टि से उस

माया में जो जगत् का ज्ञान हो सकता है, इसमें दो दृष्टान्त कहते हैं।

भद्र, उस देवी के शरीर में विद्यमान उस अनन्त स्फटिक शिलारूप कोश में यह दृश्य एक रेखा में रचित कमलचक्रादि–सा ही प्रतीत होता है और आकाश मात्र शरीरधारिणी उसमें चिद्रूप के कारण यह दृश्य आकाशात्मक होकर ऐसे भासता है, जैसे द्रवस्वरूप समुद्रकोश में ऊर्मिरेखा प्रतीत हो रही हो ॥९६॥

यों उस कालरात्रि और उसके नृत्य का सात्त्विक स्वरूप बतलाकर अब उसके नृत्य का उत्प्रक्षा आदि से वर्णन करते हैं।

समस्त आकाशमण्डल को पूर्ण कर देनेवाली वह महान् भैरवी कालरात्रि देवी भैरवाकृति उस कल्पान्तरुद्र के सम्मुख नृत्य कर रही थी ॥९७॥ भद्र, मैं क्या वर्णन करूँ, कल्पान्तकाल के महारुद्र के ललाट–स्थान का दृढ़तापूर्वक आश्रय कर रही जो उग्र तृतीय नेत्राग्नि है, उससे दग्ध हुए अतएव स्थाणु के रूप में बचे हुए अरण्यों से युक्त भूमिवाली, कलपान्त वायुओं से कम्पित वनमाला के सदृश वह महादेवी नृत्य कर रही थी ॥९८॥

उस देवी के गले में पूर्ववर्णित केवल मालाबन्धन ही नहीं था, परन्तु कुदाल, मूसल, ओखली आदि भी था, यह कहते हैं।

कुदाल, ओखली, आसन, हलकी फाल, घट, करण्डक (डला), मूसल, सूप, बटकी, स्तम्भ आदि की माला धारण कर वह देवी नृत्य कर रही थी ॥९९॥ हे श्रीरामजी, इस तरह के नानाविध पुष्पमालासमूहों के फूलों को, जो नृत्य में क्षुब्ध तथा भंगसे क्षत हो जाते थे, बिखेरती हुई तथा नूतन बनाती हुई–सी नाच कर रही थी ॥१००॥ इस प्रकार भयंकर रूप धारण करनेवाली उस कालरात्रि के द्वारा वन्दित हो रहे उसी प्रकार का आकाश के सदृश विशाल भयंकर रूप धारण किये हुए अनन्ताकृति रुद्र भी देवी के सदृश महानृत्य कर रहे थे ॥१०१॥ रक्त एवं आसवों से पूर्ण यमराज के महिष का महान् सींग हाथ में लेकर डिंब, डिंब, सुडिंब, पचपच, झम्य, झम्य, प्रझम्य आदि तालबोधक शब्दवाद्यों के द्वारा भगवती एकदम नाच रही थी, उसने अपने गले में मुण्डों की माला पहिनी थी, सिर में गरुड़ के पंख धारण किये थे, प्रलय में सारे जगत् को खाकर बड़ी ही प्रसन्न हुई थी, और कल्पान्तरुद्र भगवान भैरव को नमन भी कर रही थी। इस तरह नृत्यपरायण एवं प्रसन्न भगवती कालरात्रि के द्वारा वन्द्यमान भगवान् भैरव आपका कल्याण करें। *(अथवा इस श्लोक का दूसरा यों भी अर्थ हो सकता है–देवी कालरात्रि भगवान् भैरव की स्तुति कर रही थी–हे भैरव, आप सब लोगों के अनर्थकात्मक भोग एवं स्थूल शरीरादि प्रपंच को सबसे पहले खा डालिए फिर सूक्ष्म शरीर आदि प्रपंच को खा डालिए, फिर मूलभूत मायोपाधि एवं कारण शरीर को भी अन्तिम साक्षात्कार में आकर खा डालिए। इसके बाद पंचम आदि योग की भूमिकाओं में लगाकर शीघ्र ही सप्तम भूमिका तक के योग को भलीभाँति पचाकर विदेह कैवल्य के द्वारा जला डालिए।*

यों उस तरह नाच कर रही भगवती के साथ-साथ आपके द्वारा स्तुति किये जा रहे भगवान् भैरव आपकी रक्षा करें।) ॥१०२॥

इक्यासीवाँ सर्ग समाप्त

बयासीवाँ सर्ग

अज्ञान रहने पर कलासहित तथा भलीभाँति ज्ञात हो जाने पर कलारहित चिद्रूप परमात्मा के तत्त्व का शोधनकर वर्णन ।

पूर्व सर्ग में बड़े विस्तार के साथ समस्त प्रपंच का वर्णन किया गया है तथा प्रलीन हुए उस प्रपंच की नृत्य कर रही कालरात्रि के भूषण आदि भाव से अंग में उत्पत्ति एवं नृत्त भ्रमण आदि का भी वर्णन किया गया है । इस विषय में नष्ट की पुनः उत्पत्ति की संभावना न मानते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, जब प्रलय में सब कुछ नष्ट हो गया, तब वह देवी किस अंग से नाच कर रही थी ? तथा सूप, ओखली एवं कुम्भ आदि के द्वारा, जो उस समय नष्ट हो चुके थे, उसके माला धारण का जो आपने वर्णन किया है वह क्या है ? मेरे पूछने का तात्पर्य यह है कि नष्ट हुए सूप आदि की माला को जो उसने धारण किया था, उसकी मैं कैसे संभावना करूँ ? ॥१॥ तीनों जगत् का नष्ट क्या हुआ, फिर काली की देह में स्थित क्या रहा और निर्वाण को प्राप्त हुआ जगत् पुनः आकर नाचने कैसे लगा ? अर्थात् जब जगत् नष्ट हो गया, तो फिर वह स्थित कैसे रहा और जब वह निर्वाण को प्राप्त हो गया तब पुनः आकर वह नाचने कैसे लगा, यह सब कहना विरुद्ध प्रतीत हो रहा है ॥२॥

यदि परमार्थदृष्टि से मेरे कथन में व्याघात समझते हैं, तो ठीक है, आप वैसा ही समझिये, क्योंकि परमार्थतः चिन्मात्रैकरस परिपूर्णानन्द सन्मात्र से अतिरिक्त स्त्री, पुरुष आदिरूप जगत् तथा रुद्र और देवी आदि का विभाग यह सब अत्यन्त असंभावित ही है अर्थात् इनके भेद की बिलकुल संभावना ही नहीं है । परन्तु भ्रान्तदृष्टि से तो तनिक भी उसमें व्याघात नहीं है, क्योंकि ब्रह्मसत्ता से सर्वदा सत्रूप जो वस्तुएँ हैं उनके नाश और अविनाश के विशेषरूपका निरूपण नहीं हो सकता, नष्ट हुई वस्तुओं की भी स्वप्न में प्राप्ति दीखती है, मर गये या बहुत दिन पहले जो भस्मीभूत हो चुके हैं उनका भी मुनि, सिद्ध एवं ईश्वर आदि के वरप्रभाव से पुनरागमन प्रसिद्ध ही है । इसलिए जब तक अज्ञान है तब तक जगत् के आकार का चित्त में सबकी दृष्टि में संस्काररूप से सद्भाव रहने से अत्यन्त भ्रान्तिग्रस्त पुरुषों के द्वारा केवल जगत् के रूप से, सर्वजगत् से युक्त एक मूर्ति मानकर, रुद्र, देवी आदि के उपासकों के द्वारा उक्त रूप से योगसिद्धि के प्रभाव से उक्त रूपका दर्शन हो सकता है, इस आशय को लेकर कहते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, वह रुद्र परमात्मा न तो पुरुष है, न स्त्री है, न

उसने नृत्य ही किया है । सच कहना तो यह है कि भगवती काली और भगवान् रुद्र–ये दोनों ही, जैसा कि मैंने आपसे उनका वर्णन किया है वैसे नहीं थे, वस्तुतः उस आचार के भी वे नहीं थे और न उनकी वह आकृति ही कुछ थी ॥३॥ किन्तु जो कारणों का कारण है वही अनादि चिन्मात्र, आकाशस्वरूप, अनन्त, शान्त, प्रकाशस्वरूप, अविनाशी ही सर्वत्र व्याप्त था ॥४॥ निरतिशयानन्दैकरस वह ब्रह्म ही नीलकण्ठ, त्रिनेत्र आदि रूप धरकर प्रलयकाल में भैरवाकार उपासकों द्वारा दिखाई देता है, क्योंकि उन उपासकों की वासनानुसार वह परमाकाश ही जगत् की शान्ति के समय भगवान् भैरव की उस आकृति से युक्त स्थित रहता है ॥५॥

चेतन ब्रह्म में ही जगत् का उपसंहार श्रुतियों में प्रसिद्ध है । लोक में निराकार चेतन कहीं नहीं दीखता, इसलिए जगत् का संहार करनेवाले परमेश्वर में 'उमासहायं परमेश्रं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं शान्तम्' इत्यादि श्रुतिप्रसिद्ध रूप की संभावना अवश्य करनी चाहिए, इस आशय से कहते हैं ।

चेतन होने के कारण वह परमेश्वर अपने चेतनस्वरूप वैभव को छोड़कर ऐसे स्थित नहीं रह सकता, जैसे कटक, केयूर आदिरूप अपनी आकृति छोड़कर सुवर्ण ॥६॥

जैसे कटक, केयूर आदि के आकार में परिणत हुए बिना सुवर्ण नहीं रह सकता यानी किसी–न–किसी अलंकार के रूप में सुवर्ण का परिणत हो जाना जैसे अनिवार्य है वैसे ही चिति में भी चेत्याकारका अनिवार्य अवलम्बन लोक में प्रसिद्ध है । इसलिए निराकारपक्ष की ही बिलकुल असंभावना सिद्ध होती है, यह दृढ़तापूर्वक कहते हैं ।

हे प्राज्ञ, कहिये, चेतन के बिना–चेत्य विषयाकार धारण किये बिना चिन्मात्र भला कैसे रह सकता है ? हे प्राज्ञ, कहिये न, तिक्तता के बिना भला मिर्च कैसे रह सकता है ? ॥७॥

सविषयता स्वभाव होने से भी अज्ञात चिति के आकार का किसी तरह परित्याग नहीं किया जा सकता, इस आशय से कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, विचारिये तो सही, भला कटक आदि अलंकारस्वरूपता को प्राप्त किये बिना सुवर्ण की स्थिति कैसे रह सकती है, क्योंकि स्वभाव के बिना यानी अपने स्वभाव को छोड़कर किसी भी पदार्थ की स्थिति रह कैसे सकती है ? ॥८॥ कहिये न, माधुर्य के बिना इक्षुरस कैसे रह सकता है, क्योंकि माधुर्य से रहित जो इक्षु का रस है, वस्तुतः वह उसका रस ही नहीं है ॥९॥

नष्ट हुए पदार्थों का भी स्मृति में भान होता है, इसलिए चितिदृष्टि से किसी भी पदार्थ का निरन्वयनाश कहीं प्रसिद्ध नहीं है, यह कहते हैं ।

चेतनशून्य जो चिन्मात्र है, वस्तुतः उसे चिन्मात्र नहीं कहते और यह भी युक्त नहीं है कि चिन्मात्र आकाश का कहीं कुछ नष्ट हो जाय ॥१०॥

ब्रह्म से अभिन्न जो यह जगत् है, इसके एकमात्र ब्रह्मसत्ता से अतिरिक्त रूपकी प्रसिद्धि न होने

से किसी पदार्थ के नाश की ही सिद्धि नहीं है, यह कहते हैं ।

उस ब्रह्म को स्वसत्तामात्र से अन्य कुछ भी कहना उपयुक्त नहीं है । यदि यह आशंका हो कि 'निरुक्तं चानिरुक्तं च निलयनं चानिलयनं च विज्ञानं चाविज्ञानं च सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्' इत्यादि ब्रह्मसत्ता से अतिरिक्त रूपका कथन श्रुतियों में पाया जाता है और पामर लोग ऐसा अनुभव भी करते हैं, तो इस आशंकापर कहते हैं । हाँ, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि वह ब्रह्मात्मा जगताकार से (卐) अन्यरूप स्वीकार करने के लिए पहले आकाश से (♨) अभिन्न अपनी आत्मा को बना लेता है । इसका तात्पर्य यह है कि यदि वह ब्रह्म अपने से अभिन्न आकाश को बना लेता है, तो फिर उससे भिन्न दूसरा कोई रूप उसके द्वारा स्वीकृत कैसे हो सकेगा ? अथवा सद्रूप अनन्यत्वका सम्पादन न होने पर उसके द्वारा आकाशादि की उत्पत्ति कही जाती है, इसलिए 'निरुक्तं चानिरुक्तं च' इत्यादि श्रुतिप्रतिपादित मूर्तामूर्तस्वरूप सद्रूप से अन्य है, इसकी सिद्धि किसी तरह भी नहीं हो सकती ॥११॥

'तब कहिये, जगत् का स्वरूप क्या है ? यदि यह कोई प्रश्न करे, तो उसके इस प्रश्न का उत्तर यह है कि 'ब्रह्मसत्ता ही जगत् का रूप है' । वह ब्रह्मसत्ता तत्त्व के अवबोधक प्रमाण के बिना लौकिकदृष्टि से जगत्प्रलय आदि के आकार से ऐसे भासती है, जैसे सर्पाकार से रज्जु भासती है। परन्तु तत्त्वावबोधक प्रमाण के द्वारा तो वह यथार्थरूप से भासती है, यह निष्कर्ष है, यों उपसंहार करते हैं ।

इसलिए आदि, मध्य और अन्तशून्य, अक्षुब्ध, सर्वशक्तिमयात्मक ब्रह्म की स्वसत्तामात्र जो अपनी स्थिति है वही इस जगत्-त्रयका सर्ग और प्रलय है । वही आकाश है, वही पृथिवी है और वही सब दिशाओं के रूप में सर्ग और प्रलय है । तत्त्वावेदक प्रमाण के बिना ही नाश और उत्पत्ति- ये दोनों अविद्यादूषित दृष्टि से भासते हैं। यह भाव है कि तिमरिरोगयुक्त दृष्टि से चन्द्र की व्योमादिरूपता के भासने के समान ही वस्तुतः ये दोनों शुद्ध सत्तातिरिक्त अर्थशून्य ही हैं ॥१२,१३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जन्म, मरण, माया, मोह, जड़ता, अवस्तुता, वस्तुता, विवेक, बन्ध, मोक्ष, शुभ, अशुभ, विद्या, अविद्या, निराकारता, साकारता, क्षण, चिरकाल, चंचलता, स्थिरता, तुम, मैं, इतर, वह, सत्, असत्, मूर्खता, पाण्डित्य, देश, काल, क्रिया, द्रव्य, कलना, केलि, कल्पना, बाह्य और आभ्यन्तर विषय, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय तथा जो यह सर्वत्र व्याप्त तेज, जल, अनिल, आकाश और पृथिवि आदि है, वह सब शुद्ध निरामय चिदाकाश ही है । यह अपनी शुद्ध चिदाकाशरूपता का परित्याग न करते हुए सर्वस्वरूप होकर ही स्थित है ॥१४-१८॥ इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि यह सब कुछ निर्मल चिदाकाश ही स्थित है इससे भिन्न कुछ नहीं है । इस विषय में स्वप्नादि ही अविखण्डित दृष्टान्त है ॥१९॥ सत्-चित्स्वरूप जिस एक परमाकाश परमात्माका

(卐) 'बहुस्यां प्रजायेय' यह श्रुति देखिये ।

(♨) 'तस्माद्वा एतस्मादाकाशः सम्भूतः' यह श्रुति देखिये ।

मैंने अभी आपसे वर्णन किया है वह 'शिव एको ध्येयः शिवशंकरः सर्वमन्यत् परित्यज्य' इत्यादि श्रुतियों में रुद्रमूर्ति के नाम से उपन्यास किया है॥२०॥ वही परमात्मा विष्णु आदि के आकार से उपासना करनेवालों के लिए 'हरि' वेष से स्थित हो जाता है एवं औरों के लिए यही पितामह भी होता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, अधिक हम आपसे क्या कहें, यही परमात्मा चन्द्र, सूर्य आदि के स्वरूप की वासना से वासित बुद्धिवालों के लिए चन्द्र, सूर्य, इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर तथा अग्निरूप धारण कर स्थित होता हैं (*) ॥२१॥ यही परमात्मा वायु, मेघ और सागर है तथा अतीतादि काल भी यही है। तीनों काल में जिस वस्तु की सत्ता विद्यमान है और नहीं है वह सब परमाकाशरूप परमात्मा ही है। हे श्रीरामचन्द्रजी, 'स ब्रह्मा स हरिः सेन्दुः सोऽक्षरः परमः स्वराट्। स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः। स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम्। ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये।' इस तरह श्रुति में प्रतिपादित जो ये विष्णु तथा पितामह आदि भाव अच्छी तरह स्फुरित हो रहे हैं वे सबके सब उस चिन्मय ब्रह्माकाशकोश के गुणादि–उपाधि प्रयुक्त अंशस्वरूप हैं ॥२२॥ अन्यथा ग्रहण करनेवाली अविद्या द्वारा इस तरह की संज्ञाओं से ब्रह्मा, विष्णु आदि ऐसे हो जाते हैं। लेकिन परमात्मास्वभावमात्र का बोध होने पर तो वे सब चिन्मात्रस्वभाव ही हो जाते हैं॥२३॥ चिदाकाशरूप ब्रह्म ही अज्ञदृष्टि से अबोधस्वरूप होकर जीव और जगत् के रूपसे स्थित है तथा तत्त्वदृष्टि से वही बोधस्वरूप होकर अपने स्वरूप में स्थित है। इसलिए भेद तथा द्वैत और ऐक्य कुछ भी है ही नहीं, ऐसा निश्चय करके हे श्रीरामचन्द्रजी, आप शान्त हो जाइये ॥२४॥ यह जीव जब तक परब्रह्मात्मक अपने स्वभाव को नहीं जानता तब तक यह अज्ञानस्वात्मस्वरूप संसाररूपी महासागर में जन्म–मरण भ्रमणादिरूप नाना तरंगों की कल्पना करता है। परन्तु जब यह अपने स्वरूप को जान लेता है तब तन्मयता को प्राप्त होकर निरामय उसी स्वरूप में स्थित हो जाता है ॥२५॥ *यही कहते हैं*–अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर तो वह जीव वैसे शान्ति को प्राप्त हो जाता है जिससे कि न तो वह समुद्र रहता है और न उसमें तरंग ही। यथास्थिति यह सम्पूर्ण जगत् उसके लिए परम शान्त अनन्त ब्रह्मरूप ही हो जाता है ॥२६॥

बयासीवाँ सर्ग समाप्त

तिरासीवाँ सर्ग

चिन्मात्र ही भैरवाकार वह भगवान् शिव तथा भगवती काली हैं, चिन्मात्र से अन्य वे नहीं हैं।
बोध के लिए कल्पनादृष्टि से उस तरह भासित होते हैं, यह वर्णन।

हे श्रीरामचन्द्रजी, एकमात्र यही कारण है कि आपकी अविद्या–भ्रान्ति के निरास द्वारा तात्त्विक

(*) देखिये यह श्रुति : 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।'

शिवस्वरूप दृष्टि के उद्‌घाटन के लिए मैंने जगत्-प्रलय के समय रुद्र-नृत्य आदि का, जो स्वानुभूत हैं, वर्णन किया है, वही परमार्थ है, ऐसे आपको भ्रम नहीं कर लेना चाहिए, यह कहते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, यह जो मैंने आपसे वर्णन किया है वह चिन्मात्र परमाकाश ही है, यही शिवरूप से कहा गया है। यही प्रलयकाल में रुद्र होकर नृत्य करता है ॥१॥ हे पुण्यात्माओं में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, उसकी जो यह भयानक आकृति है वह वस्तुतः उसकी आकृति नहीं है, किन्तु उस तरह का चिद्‌घन चिदाकाश ही उस रीति से स्फुरित होता है ॥२॥ तत्त्वदृष्टि से मैंने उस भयानक आकृति को उस समय शान्त चिदाकाशमात्र देखा। वस्तुतः अकेले मैंने ही उसे जाना, तत्त्वदृष्टि से हीन कोई प्राणी उसे वैसा नहीं देखता॥३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, वह कल्पान्त, वह रुद्र और वह भैरवी-ये सबके सब जिस तरह मायामात्र हैं, यानी कल्पादि सबके सब जैसे मायामात्र है, यह सब मैंने अच्छी तरह तत्त्वज्ञान हो जाने के कारण तत्त्वदृष्टि से जैसे जान लिया ॥४॥ केवल वह निराकार चिदाकाश ही उस आकार विशेष से भैरवाकारता को प्राप्त दिखाई देता है। सच पूछिये तो उस तरह का यथार्थ में कोई रूप आदि नहीं है, किन्तु उपासकों की वासना के अनुसार भैरवाकारता को प्राप्त वह वैसा दीखता है ॥५॥

कल्पनादृष्टि से देखी गई वस्तु का वर्णन आपके सामने वाच्य-वाचककी यानी शब्द तथा अर्थ की सम्बन्ध-कल्पना के बिना निर्विशेषका व्युत्पादन न हो सकने से ही मैंने उसकी कल्पना करके आपको समझाने के लिए किया है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, चूँकि वाच्यवाचक सम्बन्ध के बिना बोध नहीं होता, इसलिए कल्पनादृष्टि से देखी गई वस्तु का ही मैंने आपसे वर्णन किया है ॥६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, चिरकाल के अभ्यास के कारण जगत् में आपकी आधिभौतिक दृष्टि प्रौढ़ बन गई है, इसलिए आपकी वाणी में यह जो कुछ दृढ़ता को प्राप्त है वह सब क्षण भर में मायात्मता को यानी सत्यत्व की भ्रान्ति को प्राप्त हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वह सब मायामात्र क्षणिक है, भ्रान्ति से सत्यरूप प्रतीत हो रहा है ॥७॥ वस्तुतः न वह भैरवी है, न वह भैरव है और न वह प्रलयकाल ही है किन्तु वह समस्त ही भ्रान्तिमात्र है, परमार्थरूप से चिदाकाश ही प्रकाशित हो रहा है ॥८॥ स्वप्न में जिसका निर्माण हुआ है उस नगर की तरह, मनोरथ के युद्ध के वेग के समान, सुन लेना या कह देना ही एकमात्र जिसका प्रयोजन है ऐसे कथाओं के रस की तरह, मनोराज्य के विलासकी तरह यह सब भ्रम है, चिद्‌घन में भासित हो रहा है॥९॥ जैसे स्वप्न-नगर भासता है, जैसे स्वच्छ आकाश में भौतिक बुद्धि होती है तथा जैसे आकाश में केशोण्ड्रक भासता है, वैसे ही अचित् चिद्‌घन में भ्रान्ति से भासित हो रहा है ॥१०॥

तब प्रबोध होने पर कैसे भासता है, यह कहते हैं ।

प्रबोध होने पर एकमात्र स्वच्छ चिदाकाश ही अपने स्वरूप में अपने से भासता है। जब प्रबोध

नहीं रहता, तब चिदात्मा ही जगत्-रूप से वैसा भासता है, यह निश्चित है॥११॥ जैसे चिदाकाश में स्वयं ही आत्मा स्फुरित होता है वैसे ही पट में स्फुरित होता है और उस कल्पान्त की अग्नि तथा नृत्य में भी वह उस रूप से स्फुरित होता है ॥१२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह मैंने भगवान् भैरव तथा भैरवी के आकार का वर्णन किया, जो तत्त्वतः निराकार है, अब मैं उनकी नृत्यस्थिति का आपसे वर्णन करने चल रहा हूँ, जो वस्तुतः अनृत्यस्वरूप है, आप सुनते रहिये ॥१३॥ जैसे भ्रान्ति से दिखाई दे रही शुक्ति आदि वस्तु अवस्तुभूत रजत आदि रूप के बिना किसी तरह टिक नहीं सकती, वैसे ही चिन्मात्र परब्रह्म परमात्मा की चेतनता भी बिना किसी स्पन्दन के स्थित नहीं रह सकती, क्योंकि भ्रान्ति के स्वभाव का विपर्यासकत्व-नियम सर्वत्र समान है । कहने का तात्पर्य यह है कि जैसी भ्रान्ति एक जगह होती है ठीक वैसी ही भ्रान्ति और जगह भी दीखती है, ऐसा नियम नहीं है कि दूसरी जगह की भ्रान्ति का स्वरूप कोई दूसरा हो ॥१४॥ इसीलिए जैसे सुवर्ण कटक, केयूर आदि आकारों से सुशोभित होनेवाले अलंकाररूप से स्थित होता है वैसे ही सद्रूप चेतन ब्रह्म ही अपने स्वभाव से रुद्ररूप धारण कर स्थित है ॥१५॥ जो चेतन है, जिसमें चेतनत्व अवश्य स्वभावतः है, वह स्पन्दधर्मवाला होता ही है, क्योंकि अधिष्ठानता स्वाभाविक होती है, इसमें सन्देह नहीं है ॥१६॥ जो इस चिद्घन का स्पन्द है वही इस भगवान् शिव का स्पन्द है । वही हम लोगों के सामने अपनी वासनावश नृत्यरूप से विराजमान होता है ॥१७॥ इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, प्रलयकाल में वह भगवान् शंकर भयंकर आकृतिवाले रुद्र होकर जो शीघ्र नृत्य करते हैं, उसे आप चिद्घन का निजी स्पन्दन ही समझिये ॥१८॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : महर्षे, प्रामाणिक दृष्टि से वस्तुतः यह दृश्य है ही नहीं, इसलिए उस कल्प में आपसे मेरा कुछ प्रश्न नहीं है, किन्तु अप्रामाणिक दृष्टि पक्ष में आपसे पूछता हूँ कि जो कुछ एक तरह से सत्तावान्-सा है वह सब कल्पान्त में नष्ट हो जाता है, तो फिर कल्पान्त में महाशून्य उस परमाकाश में चेत्यरहित चिति कैसे रहती है ? तथा आश्रय के अभाव में चेतयिता कैसे रहती है अथवा स्वातिरिक्त चितिक्रिया के अभाव में चिद्घन कैसे चेतता है ? कहने का तात्पर्य यह है कि उस दशा में त्रिपुटी का रहना किसी तरह नहीं बन सकता । यदि आप यह कहें कि उस समय न रहते हुए भी दृश्य को अविद्या दिखला देती है, इसलिए उसीसे त्रिपुटी की सिद्धि हो सकती है, तो इस पर मेरा सविनय यह निवेदन है कि सर्ग और प्रलय में विशेषता ही क्या रही ? क्योंकि अचेतित-चितिक्रियाशून्य सर्वजगद्घटित रुद्र और देवी के शरीर में उस नृत्य की किसी तरह संभावना नहीं की जा सकती । भाव यह कि एक समय में द्वैत और ऐक्य की भावना कदापि नहीं हो सकती ॥१९,२०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, ऐसी यदि आपकी शंका है, तो अपने द्वैत और ऐक्य के सन्देहरूपी सागर की शान्ति के लिए यह उत्तर सुनिये-सबका प्रलय होनेपर परिशिष्ट चिन्मात्र

आकाश का यदि कुछ भी चेत्य नहीं है, तो फिर उससे अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तु नहीं चेतता, क्योंकि 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत् तत्केन कं पश्येत्' जहाँ सब इसका आत्मा ही हो गया, वहाँ कौन किससे किसको देखेगा ? यानी उस दशा में द्रष्टा, दृश्य, दर्शन, चेतयिता, चेत्य, चितिक्रिया का संभव नहीं है । *(ऐसी दशा में प्रामाणिक दृष्टि से सिद्ध नित्यमुक्त, आत्मस्वभाव ही प्रलय है – यह आपने सिद्ध कर दिया, अतः सब तरह से आपका प्रथम कल्प ही सम्पन्न हुआ ऐसा कहते हैं । अतः सब शान्त पाषाणवत् मौन विज्ञानघन आकाश ही सर्वदा स्थित हैं । ऐसी दशा में, अप्रामाणिक दृष्टि से द्वितीय विकल्पका आश्रय करके आपका प्रश्न करना ठीक नहीं है, यह भाव है ।)* ॥२१,२२॥

यदि प्रथम कल्प की विलक्षणता के लिए प्रलय में अविद्या आदि किसी चेत्यको आप स्वीकार करते हैं, तो फिर उसी से त्रिपुटी, जगत्घटित रुद्र और देवी का शरीर तथा उनका नृत्य भी सब उस दशा में रह सकते हैं, इसलिए मैंने जो कुछ कहा है वह कुछ भी असंभावित नहीं है–सबकी उस दशा में संभावना की जा सकती है, इस आशय से कहते हैं ।

और जो कुछ यह चेतित होता है वह इस ब्रह्म का अविज्ञात आत्मरूप ही प्रलय में भी रुद्र, देवी और उसके नृत्यरूप से प्रथित होता है । (इतने से ब्रह्म के वास्तव कूटस्थ चित्स्वरूप में किसी तरह की हानि होती हो, सो भी नहीं है–आप भूलकर भी इसके वास्तविक स्वरूप की हानि की आशंका न कीजियेगा,) क्योंकि चित्स्वभाव शान्तस्वरूप इस ब्रह्म की अपनी सत्ता में ही अवस्थिति रहती है ॥२३॥

भ्रान्ति के कारण अन्यथात्व का प्रतिभास होनेपर भी वास्तविक स्वभाव की अप्रच्युति में दृष्टान्त कहते हैं ।

जैसे कि स्वप्न में एकमात्र चिति ही अन्तःकरण में ग्राम और नगर-सी होती है–नगर आदि का स्वरूप धारण करती है, परन्तु यथार्थ में वहाँ पुर आदि कुछ नहीं रहते। जो कुछ वहाँ रहता है, वह सब विज्ञानाकाश ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं ॥२४॥ इसलिए समस्त ज्ञेय को भली भाँति जानकर भी चिति अपने से अपने में सर्वदा ही ज्ञेय को शून्य जानती है । तथा प्रलयकालमें भी सृष्टि के प्रारम्भ क्षणसे लेकर प्रलय क्षण तक जो जैसे सम्पन्न होता है सबको अपना स्फुरण समझती है । भाव यह कि वह ब्रह्मचिति सदा सर्वज्ञ प्रसिद्ध है ॥२५॥

एकमात्र यही कारण है कि उस सृष्टिकाल में भी प्रलय को अतीत एवं अनागत सभी तरह के हजारों प्रलयों के साथ वह अवश्य देखती रहती है, इसकी भी संभावना करनी चाहिये, इस आशय से कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह चिति स्वभावरूप कोटर में भीतर स्फुरित होती हुई अपनी ही कल्पना से क्षण, कल्प तथा जगत् की भ्रान्ति को धारण करती है ॥२६॥ यह चिदाकाश निजस्वभावरूप आकाश में स्वयं ही भीतर देदीप्यमान कान्तिवाला होकर 'यह, वह, मैं और तुम' इत्यादि नानाविध

कल्पना किया करता है ॥२७॥ इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, न तो द्वैत है, न ऐक्य है, न शून्यता है, न चेतन है और न अचेतन ही है, किन्तु एकमात्र निश्चित मौन ही है अथवा वह (मौन) भी नहीं है, किन्तु चिन्मात्र ही स्थित है । कहने का तात्पर्य यह है कि सृष्टि और प्रलय में जो विशेष है वह अपने अनुभव से ही सिद्ध है, एक साथ प्रतीति होने से इसका कोई अपलाप नहीं कर सकता ॥२८॥ चिति के स्वयं चेत्यस्वरूप होने के कारण कहीं कोई कुछ भी नहीं चेतता यानी चिन्तन का विषय नहीं बनाता । इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, यह निश्चित है कि चेत्य और चेतनक्रिया के न होने से चेतयिता भी कोई नहीं है अर्थात् चिति से भिन्न न तो चेत्य है, न चेतनक्रिया है । एकमात्र मौन ही अवशिष्ट है ॥२९॥ इस सम्पूर्ण वाङ्मय प्रपंच में निर्विकल्प समाधि ही सिद्धान्त है और वह जीव की पाषाण के समान मौनावस्था है । इसलिए आप बिलकुल चुपचाप स्थित रहिये ॥३०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आप भी परमेश्वर के समान लोकदृष्टि से अपने राज्य–परिचालन आदि आचारसमूहका, पिता–पितामह आदि से जो क्रम चला आ रहा है उसी क्रमसे, परिचालन करते हुए अपनी दृष्टि से परमार्थतः मौन होने के कारण मान, मोह, मद आदि भेद से रहित अंगों तथा उनके अभिमानी जीव से रहित हो आकाशकोश के समान विशालहृदय हो शान्त स्थित रहिये ॥३१॥

तिरासीवाँ सर्ग समाप्त

चौरासीवाँ सर्ग

शिव और शक्ति के स्वरूप का विभागपूर्वक वर्णन तथा
सूप आदि की माला के स्वरूप का भी सत्यासत्यविचारपूर्वक वर्णन।

श्रीरामभद्र ने कहा : हे मुने, आपने जो यह वर्णन किया कि भगवती काली नृत्य करती थी, अब आप उसका असली स्वरूप बतलाइये और वह जो सूप, हलकी फाल, कुदाल, मूसल आदि की माला पहिने थी, उस माला के सूप आदिका क्या स्वरूप है, कृपया मुझसे यह भी कहिये । इस श्लोक में ‘कालः किमिव नृत्यति’ पाठान्तर भी है, इस पाठ में भी कालात्मक काली के स्वरूप का ही प्रश्न समझना चाहिए, क्योंकि पूर्वोत्तर ग्रन्थ में नृत्य एवं सूप आदि की माला का ही वर्णन है ॥१॥

शिवजी के स्वरूप निरूपण किये बिना शक्ति के स्वरूपका निरूपण नहीं हो सकता, इसलिए दोनों का साथ–साथ स्वरूप बतलाने का उपक्रम करते हैं ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र, जो वह भैरव हैं, वह तो चिदाकाशस्वरूप शिवजी ही कहे जाते हैं, उन शिवजी की वह मनोमयी स्पन्दशक्तिरूपा काली अनन्य ही है, यह आप जानिये । यही माया है, यही शिवजी में एकरूप से अध्यस्त होकर उन्हीं की सत्ता और स्फूर्ति से स्वयं सत्ता एवं स्फूर्ति से युक्त बनती हैं, इसलिए शिवजी से अनन्य है, चलनस्वभाव जो रजोगुण है, इसकी प्रधानता आनेपर स्पन्दनशक्ति कहलाती है और सत्त्वगुण की प्रधानता से अपने

में चारों ओर इसी कारण से सृष्टि आदि का संकल्प विकल्प करने के कारण मनकी समता ग्रहण करती हुई मनोमयी कही जाती है ॥२॥

दो दृष्टान्तों से माया में अनन्यत्वका समर्थन करते हैं।

भद्र, जैसे पवन और स्पन्दन दोनों एक ही वस्तु हैं अथवा जैसे उष्णता एवं अग्नि दोनों एक ही हैं, वैसे चिन्मात्र शिव एवं स्पन्दनशक्तिरूप माया दोनों सदा ही एकस्वरूप हैं, भिन्नस्वरूप नहीं ॥३॥

'यतो वा इमानि भूतानि' इत्यादि श्रुतियों में जगत्सृष्टि, प्राणस्पन्दन आदि क्रियासे ही शिवात्मक ब्रह्म का लक्षण करने के कारण भी माया एवं शिव दोनों अनन्य हैं, यह कहते हैं।

जैसे स्पन्दन से वायु ही कहा जाता है या जैसे उष्णता से अग्नि ही कही जाती है, वैसे ही शिव से भी निर्मल शान्त चैतन्यमात्र ही कहा जाता है ॥४॥ स्पन्दनरूप मायाशक्ति से ही वह शिवजी लक्षित होते हैं, अन्यथा नहीं । शिवजी ही ब्रह्मरूप हैं, वे ही शान्त और वाणीविशारदों के अवाच्य हैं ॥५॥

'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादि से वह स्पन्दशक्ति ही शिवजी की इच्छा है, वह इच्छा इस दृश्याभासका उस प्रकार विस्तार करती है, जिस प्रकार साकार पुरुष की इच्छा कल्पनात्मक नगर का विस्तार करती है।

माया की जो स्पंदनशक्ति है, वही ब्रह्मरूप शिवजी की इच्छा है, वह इच्छा इस दृश्याभास का उस प्रकार विस्तार करती है, जिस प्रकार साकार पुरुष की इच्छा कल्पनात्मक नगर का विस्तार करती है ॥६॥ भद्र, इससे सिद्ध हुआ कि शिव की उक्त इच्छा ही कार्य करने में दक्ष है, अतः समस्त आकार से रहित शिवजी की स्पन्दनशक्तिरूपा इच्छा इस समस्त दृश्याभासका निर्माण करती है । वही इच्छा अपने भीतर के चिदाभास के द्वारा दीप्त होकर जीवचैतन्य कही गई है, क्योंकि वही जीवनाभिलाषियों का जीवन है ॥७॥ वही जगत् के आकार में परिणत होती है, अतः समस्त सृष्टि की प्रकृति भी वही है, दृश्यों में (पदार्थोंमें) प्रतीत होने वाले उत्पत्ति आदि विकारों का सम्पादन भी वही करती है, अतः क्रियारूप भी वही है॥८॥

'द्वीपिचर्मपरीधाना शुष्कमांसातिभैरवा' (व्याघ्रचर्म धारण की हुई, शुष्कमांसा एवं अतिभयंकर देवी) इत्यादि पुराणों में उसकी जो शुष्कता प्रसिद्ध है, उसमें भी निमित्त बतलाते हैं।

श्रीरामजी, वह शुष्का भी कही जाती है, क्योंकि समुद्र आदि के जलों से आर्द्र ब्रह्माण्डरूप शरीरधारिणी वह बड़वाग्नि की लपट के सदृश लपटधारी आदित्य आदि की ज्योतियों से सूख जाती है । दुष्टों के लिए क्रोध की मूर्ति होने से चण्डिका तथा उसका कमल के सदृश वर्णवाली होने से उत्पला कही जाती है ॥९॥ जब वह एकमात्र जयनिष्ठ हो जाती है, तब जया, सिद्धों की शरण होने से सिद्धा, जया होने से जयन्ती तथा विजय का आश्रय होने से विजया कही जाती है ॥१०॥ महाशक्ति के कारण अपराजिता, उसका स्वरूप दुर्निग्रह होने के कारण दुर्गा,

तथा ॐकार की सारभूत शक्ति होने के कारण उमा भी वही कही जाती है ॥११॥ जप करनेवालों के लिए परमपुरुषार्थरूप होने के कारण गायत्री, प्रसवकी भूमि होने से सावित्री तथा स्वर्ग-अपवर्ग के साधन एवं समस्त कर्मउपासना के विज्ञानों की विस्ताररूप होने से सरस्वती भी वही कही जाती है ॥१२॥ चूँकि माया का स्वरूप अति गौर है, अतः वही गौरी है, वही शिवजी के शरीर की चिरसंगिनी है। सुप्त और जाग्रत जितने प्राणी त्रैलोक्य में स्थित हैं, उनके हृदय में अकारादि मात्राओं से रहित शब्दब्रह्मरूप प्रणव के नाद का उच्चारण सदा होता रहता है, इससे जो अंगुष्ठपरिमित हृदयकमल के छिद्र में लिंगाकार से स्थित शिवजी हैं, उनके मस्तक में भूषणभूत बिन्दुरूपा जो उमारूपा इन्दुकला है, वह भी वही कही जाती है, शिव और शिवा दोनों आकाशरूप हैं, अतः उनका शरीर असित यानी नील प्रतीत होता है ॥१३,१४॥

शिव और भगवती शिवा दोनों तो चेतनरूप हैं, इसलिए वे जड़ आकाश रूप कैसे हो सकते हैं? इस आशंका पर कहते हैं।

चूँकि चिद्रूप शिव और शिवाने मांसमय अपने शरीर के सदृश श्यामवर्ण आकाश को सृष्टिसंकल्पदृष्टि से कल्पा है, इसलिए श्याम-सा एवं जड़-सा दिखाई देता है। जैसे आकाश में आकाश स्थित है, वैसे ही आकाशरूप वे भी आकाश में (अपने स्वरूप में) निराधार ही स्थित हैं ॥१५॥

उनकी अमूर्तता और स्वच्छता भी आकाश के ही सदृश समझनी चाहिए, यह कहते हैं।

शिवजी और शिवा दोनों आकाश के सदृश हैं और उनका स्वरूप अमूर्त है, आकाश के बड़े भाईयों के समान वे दोनों ही अत्यन्त स्वच्छ हैं। *(जब अमूर्त है, तब हाथ, पैर आदि तथा हलादिमाला का धारण कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।)* भद्र, हाथ, पैर, मुँह तथा सिर आदि की बहुलता एवं अल्पता के भेदसे अनेकरूपता विचित्रता तथा मालादि का धारण है, उसे आप सुनिये। भद्र, एकमात्र स्पन्दनरूपवाली क्रियात्मिका वह भगवती यद्यपि अनादि-अनन्तरूपा चितिशक्ति है, तथापि अपनी इच्छा से अपने समस्त वैदिक क्रियारूप बनकर उसने 'दद्यात्, स्नायात्, जुहुयात्' (दो, नहाओ और होमो) इत्यादि वेदविहित दानादि उत्तम शरीर धारण किया है, वास्तव में वह देवी स्पन्दनधर्मयुक्त कमनीय दृश्य श्री आकाशरूपिणी ही है, इसलिए उस काली भगवती के जो नानाविध अभिनयों से पूर्ण नृत्य हैं वे सब ब्रह्मा के कर्मफलरूप सब प्राणियों के जन्म, स्थिति आदि के प्रकार हैं, यह जानना चाहिए ॥१६-१९॥ अतः यह देवी क्रियारूपा है, इसलिए उसका अवयव मानना चाहिए, क्योंकि निरवयव वस्तु से कोई क्रिया हो नहीं सकती। इस परिस्थिति में अपना ठीक स्वरूप निबाहने के लिए ही कल्पित हाथ, पैर आदि अवयवरूपा होकर अपने भीतर ग्राम, नगर, द्वीप, मण्डल आदि की मालाएँ धारण करती है और उनसे स्पन्दन करती है यानी अपनी क्रियारूपता प्रदर्शित करती है ॥२०॥

काली शब्द की व्याख्या में भी उसकी एकमात्र क्रियास्वभावता तथा ब्रह्माण्ड शरीर होने से

समस्त लोकादि अवयवधारिणी होना भी सिद्ध हो जाता है, इस आशय से कहते हैं ।

भद्र, यह काली है । तात्पर्य यह है -'कल गतौ संख्याने च' इस धातु से काल और काली दोनों शब्दों का निर्माण हुआ है । वैयाकरण लोंगों का कहना है कि 'कल' धातु तो एक कामधेनु है यानी कामधेनु से जो चाहें दुहा जा सकता है, वैसे ही कलधातु से जो भी अर्थ निकालना हो, निकाला जा सकता है । इसलिए यह लाखों ब्रह्माण्डरूप बीज कोशों की निर्माणकर्त्री है, धारणकर्त्री है और परिणाम आदि विकारों को प्राप्त भी कराती है-यों स्वयं क्रियारूप होती हुई कमललता के सदृश श्यामला भी बन गई है । इसीलिए अपने फूल आदि अवयवरूप इन पृथिवी आदि दृश्य लक्ष्मी को हृदय में धारण करती है ॥२१॥

यों जगत्-रूप अंगों को धारण करने पर भी उसकी असंगउदासीन चिद्रूप शिवस्वभावता होने के कारण वास्तव में निरवयवता ही है, यह कहते हैं ।

वास्तव में चितिरूपा वह देवी न तो कभी शब्दों से वर्णित हो सकती है और न उसके कोई अवयव ही हैं । भद्र, केवल यही आप जानिये कि वह शिवस्वरूपसे अभिन्न होने के कारण विशुद्ध शिवात्मक ही है ॥२२॥

अंगो के न रहते भी व्यपदेश होने में दृष्टान्त देते हैं ।

भद्र, जैसे आकाश का शून्यत्व है, वायु का स्पन्दन है, चन्द्रिकाका खिलनेवाला कुमुद आदि अंग है, वैसे ही चिति का क्रिया एवं दृश्य अंग है ॥२३॥

इस प्रकार उसका कालात्मक, जगतअंगवाला क्रियास्वरूपका वर्णन कर अब उसका वास्तविक स्वरूप बतलाते हैं ।

वास्तव में उसका स्वरूप शिव, शान्त, आयासरहित, अविनाशी एवं निर्मल है, यह आप जानिये । उसमें तनिक भी निश्चलता या स्पन्दधर्मता नहीं है ॥२४॥

उसका जैसे क्रियात्मक स्वरूप है, वह तो अबोधकाल में दिखाई पड़ता है और शिवात्मक स्वरूप बोधदशा में प्रत्यक्ष होता है, यही असली है, यह कहते हैं ।

अज्ञानदशा में वह उक्तस्वरूपा क्रिया ही है, पर जब बोधवश यानी ज्ञानवश क्रियास्वभाव से मुक्त होकर वास्तव रूपधारिणी हो जाती है, तब उसकी शिव संज्ञा पड़ जाती है-उसे शिव ही कहा जाता है ॥२५॥ कूटस्थ चितिशक्तिरूप देवी की अपने स्वरूप में जो अविद्या से प्रतिकूल स्पन्दन, जड़ आदि स्वभाव से स्थिति है, वही क्रिया कही जाती है और विद्या से जब उसकी वास्तविक विशुद्ध अनुकूल चैतन्यरूप स्थिति हो जाती है, तब उसे शिव कहा जाता है ॥२६॥ भद्र, चितिशक्ति की स्वरूपभूत, विशाल आकृतिवाली इस क्रियारूपा देवी के, जिसने कि कल्पितस्वरूप धारण कर लिया है, ये कहे जानेवाले सारे पदार्थ अभिन्न अवयव ही हैं । जिसने कल्पित जगत्रूप देह धारण किया है, उस काली के नृत्य में कल्पित गीतों

के सदृश कल्पित सूर्य आदि की माला का धारण करना भी उचित ही है ॥२७॥ ये सब उसके अनन्य अवयव हैं–विद्यमान जनतावर्ग से युक्त सृष्टियाँ आलोक से भास्वर लोक, द्वीप एवं सागरों से पूर्ण पृथ्वी, वन और भूमि से युक्त पर्वत, अंग–उपांगों से, विद्यास्थान तथा गीतियों से, विधि–निषेध रूप अर्थों से एवं शुभाशुभ कल्पनाओं से युक्त वेद, पुरोडाशरूप द्रव्य से वर्णित होने वाले, राजे, ओखली, आसन, सूप, स्तम्भों से युक्त दक्षिणाग्निवाले यक्ष, त्रिशूल, बाण एवं शक्ति आदि अनेकविध आयुधों से एवं बन्दूक, गदा, प्रास, घोड़े, हाथी, योधा आदि से युक्त संग्राम एवं पृथ्वी तथा चौदह लोक ये सभी उस महादेवी के अंग हैं ॥२८–३२॥

इस प्रकार आपने दो प्रश्नों का यद्यपि समाधान तो किया, तथापि पूर्व सर्ग में उक्त इस शंका का समाधान नहीं हुआ कि कैसे द्वैत और ऐक्य एक काल में रह सकते हैं, क्योंकि विनष्ट असत् पदार्थ किसी अर्थ–क्रिया का सम्पादन नहीं कर सकते । अपने अस्तित्व के प्रभाव से कार्य का अस्तित्व पैदा करना ही कारणों की कार्यार्थक्रिया है और उपादान के साथ कार्यों की अर्थ–क्रियाकारिता या सत्ता का अपहरण नाश है । एक समय में कार्यों में सत्ता या सत्ता का अपहरण उनका कारण कर नहीं सकता । ऐसे पदार्थ, जो कि अपने कारणों की सत्ता के साथ अपनी भी सत्ता खो बैठे हैं, प्रलय में अपनी–अपनी अर्थक्रिया का निर्वाह कभी नहीं कर सकते, इस आशय को लेकर श्रीरामभद्र प्रश्न करते हैं ।

श्रीरामभद्र ने कहा : भगवन्, रुद्र और काली के शरीर को धारण की हुई चिति के अंग में प्रलयकाल में भी अतीत अनागत आदि समस्त सर्ग, कल्प और प्रलय स्थित हैं, यह जो आपने वर्णन किया है, उसमें मैं आपसे एक प्रश्न करता हूँ। वह यह कि जो सृष्टि आदि स्थित हैं, वे क्या सत्स्वभाव अर्थक्रिया समर्थ आत्मा में स्थित हैं यानी सत् हैं या मृगतृष्णाजल के सदृश असत्य, सत्स्वभाव से रहित हैं ? यह कहिये ॥३३॥

जगत ओर प्रलय की कभी भी न तो आत्यन्तिक सत्ता है और न आत्यन्तिक असत्ता है। किन्तु सत्य संकल्प का अनुसरण करनेवाली चिति ने जिसे सत्यस्वरूप से प्रकाशित किया वह सत्य है, जिसे असत् स्वरूप से प्रकाशित किया वह असत्य है । इसलिए किसी भी पदार्थ का स्वतः कोई रूप नहीं कहा जा सकता । इस बात से यह निष्कर्ष निकला कि प्रलयकाल में भी ऐन्दव सर्ग स्थित थे और वे अर्थक्रियासमर्थ भी थे, क्योंकि चिति का वैसा संकल्प था तथा नहीं भी था, क्योंकि चिति का अन्य संकल्प भी था । इसका पूर्व में वर्णन भी किया गया है– यों संकल्पभेद दृष्टि से वसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीरामजी, वास्तव में तो सब कुछ चितिशक्ति ही है, इसलिए तत्–तत् भोक्ता प्राणियों के भेद द्वारा सृष्टिनिमित्त या प्रलयनिमित्त जिसका जिस वस्तु के रूपमें सत्यसंकल्प चिति ने संकल्प किया, उसका उसी के रूप में उन भोक्ताओं ने भी अनुभव किया । अतः उन

अनुभवकर्ताओं की दृष्टि से यह समस्त जगत् सत्य-सा है और अन्यों की दृष्टि से अत्यन्त अप्रसिद्धि के कारण असत्य-सा भी है ॥३४॥

क्यों सत्य-सा भासा ? इस पर कहते हैं ।

भद्र, बाह्य मुख आदि बिम्ब को लेकर जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ता है, ठीक वैसे ही पूर्वानुभवजनित वासना को लेकर उस तरह प्रतिबिम्बित हुआ साक्षी चेतन उसी में विद्यमान है, अतः अर्थतः उस अनुभविता के प्रति सत्य ही है, असत्य नहीं ॥३५॥

असत्य क्यों है ? इस पर कहते हैं ।

उक्त अनुभव के बल से पदार्थों की सत्यता होनेपर भी चेतनरूप का अचेतरूपमें प्रवेश न हो सकने के कारण जगत् संकल्पनगर के सदृश मिथ्या ही होगा । जब दृढ़ ध्यान से चिति का आवरणरूप मल हट जायेगा, तब वह प्रतिबिम्बित हो नहीं सकती, फिर सत्यता की चर्चा ही क्या ? ॥३६॥

अज्ञानियों की दृष्टि से जगत् में प्रतीत्यात्मक सत्यता जो है, उसे स्वप्न आदि के पदार्थों में भी कह सकते हैं, क्योंकि उनके अनुरूप अर्थक्रियाकारिता उनमें भी देखी जाती है, यों कहते हैं ।

भद्र, दर्पण में प्रतिबिम्बात्मक या स्वप्न में दृश्यमान या संकल्प में कल्पित जो सृष्टि है, वह भी तो अज्ञानियों की दृष्टि से सिद्ध प्रतीत्यात्मक सत्य हो सकती है, क्योंकि वह अपने अनुरूप अर्थक्रियाकारी है ही, फिर उसे सत्य ही मानना चाहिये, यह मेरा मत है ॥३७॥ हे राघव, यदि आप यह कहें कि दर्पण के भीतर विद्यमान घट आदि मेरे लिए बाहर जलाहरण आदि करने में समर्थ नहीं है, अतः सत्य नहीं, तो इस पर मैं यह कहता हूँ, सुनिये । ठीक ही है, वह दर्पण में रहने वाली चीज बाहर आकर कैसे अर्थ-सम्पादन करेगी ? दूसरे स्थान में स्थित वस्तु दूसरे स्थान में कुछ अर्थ-सम्पादन नहीं करती, इसलिये क्या उसे असत्य समझ लेना चाहिए ? आपके जो घट आदि पदार्थ दूसरे प्रदेश में रक्खे हैं, वे क्या आपके घर में आकर कुछ अर्थ करने में समर्थ हैं ? ऐसे सब पदार्थों की इस समय जैसे देशान्तर में अर्थ-क्रियाकारिता प्रसिद्ध है, ठीक वैसे ही दर्पण, स्वप्न आदि में प्रतिबिम्ब आदि की भी अर्थक्रियाकारिता है । जैसे देशान्तर में स्थित गाँव उसमें गये हुए पुरुष के लिए अर्थक्रियाकारी होता है, वैसे ही स्वप्न आदि के द्रष्टा के रूप को प्राप्त हुए पुरुष के लिए स्वप्नादिक के समस्त भाव अर्थक्रियाकारी होते ही हैं, क्योंकि यही अर्थ का निश्चय है ॥३८,३९॥

इसलिए तत्-तत् अर्थक्रिया को देखनेवाले द्रष्टा की दृष्टि से ही वह सत्य ठहरता है, दूसरे की दृष्टि से नहीं, यों प्रतिबिम्बादि की सत्यता व्यवस्थित हो जाती है, यों कहते हैं ।

भद्र, जो पदार्थ यथार्थ में सकल अर्थक्रियाकारी दिखाई देता है, उसे देखनेवाले द्रष्टा के प्रति वह सत्य है और उसे न देखनेवाले अन्य के प्रति वह असत्य है ॥४०॥

इसी प्रकार प्रकृत में भी योजना करनी चाहिए, यों उपसंहार करते हैं ।

श्रीरामभद्र, इसलिए चितिशक्ति के कोश में अवस्थित समस्त सृष्टियाँ स्वप्नादि द्रष्टारूपता को प्राप्त हुए पुरुष के प्रति सत्य है और अन्य के प्रति सब असत्य है, क्योंकि तद्गत सत्यता का प्रयोजक अधिष्ठानभूत आत्मा है ही ॥४१॥ भूत, वर्तमान, एवं भविष्य के जितने भी संकल्प, स्वप्न आदि के नगर आदि हैं वे सब सत्य ही हैं, यदि सत्य न हों, तो सर्वात्मा ब्रह्म चोटी का तत्त्व कैसे हो सकेगा ? कहीं भी अत्यन्त असत् वस्तु का तात्त्विकरूप आत्मा प्रसिद्ध नहीं है ॥४२॥

इसीलिए दूसरे के स्वप्नों में अनुभूत होनेवाले पदार्थों का योगी लाभ करते हैं और भोग भी करते हैं, यह कहते हैं।

जैसे अन्य स्थान में विद्यमान पर्वत, गाँव आदि पदार्थ वहाँ गमन करने से प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही स्वप्नद्रष्टा पुरुष से भिन्न दूसरा योगसिद्ध पुरुष भी परकाय–प्रवेशसिद्धि द्वारा उसके हृदय में जाकर उसका मनरूप होकर उसके स्वाप्न पदार्थों को प्राप्त हो जाता है ॥४३॥

नृत्य से भगवती कालरात्रि के चलित होने पर भी उसकी देह में स्थित भूमि आदि का चलन न होने में दृष्टान्त कहते हैं।

यदि पलंग धीरे से अन्य स्थान में हटाया जाय, तो उसपर गाढ़ निद्रा में सोया हुआ पुरुष शयन स्थान से अन्यत्र ले जाया गया, परन्तु उसका स्वप्ननगर तो लुढ़का ही नहीं और शरीर तो लुढ़का हुआ ही माना जा सकता है । बस इसी प्रकार नृत्य कर रही कालरात्रि का शरीर चलित हुआ, परन्तु शरीरगत जगत् चलित हुआ ही नहीं, यह भी हो सकता है । दर्पण में प्रतिबिम्ब के सदृश उसके शरीर में जगत स्थित रहता है ॥४४,४५॥ श्रीरामभद्र, यों त्रैलोक्य का महान् आरम्भ सत्य होते हुए भी केवल भ्रान्तिभात्र ही है । जो भ्रान्तिमात्ररूप है, उसका लुढ़कना क्या मूल्य रखता है ? यह बतलाइये ॥४६॥ कब स्वप्ननगर सत्य रहा, कब स्वप्ननगर असत्य रहा, कब स्वप्ननगर नष्ट हुआ और कब वह स्थित रहा ? ॥४७॥ भद्र, भगवती काली के अंगों में स्थित वह समस्त दृश्यश्री केवल भ्रान्तिरूपा ही थी, अतः आप इस समय की जगत् लक्ष्मी को भी असत्य भ्रान्तिरूप ही जानिये ॥४८॥

हे राघव, संकल्प, मनोराज्य, स्वप्न, कथा एवं भ्रमदशा में जैसे नगरों का अनुभव भ्रान्तिमात्र है, वैसे ही इस त्रैलोक्यानुभव को भी आप भ्रान्तिरूप ही समझिये ॥४९॥ भद्र, चितिरूप आत्मा के अन्दर यह 'अहम्' (मैं) और जगत् नाम की कोई वास्तविक वस्तु है ही नहीं, किन्तु आकाश कृशता (अल्पता) के सदृश केवल भ्रान्ति ही चमकती है । आकाश में कृशता या कालिमा नहीं है, वह केवल भ्रान्ति से वैसा दीखता है । इसलिए इस दृश्यश्री को निपुणता से देखा जाय तो वह शान्त हो जाती है ॥५०॥

चौरासीवाँ सर्ग समाप्त

पचासीवाँ सर्ग

नृत्य कर रही काली का शिवजी का दर्शन और
बड़े प्रेम से स्पर्श कर उनके अंग में विलीन हो एकरूप हो जाना, यह वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र, वर्णित रीति से भगवती कालरात्रि भयंकर नृत्य करती है, उसके नृत्य का क्या हाल कहें, परिस्पन्दनात्मक अपने दीर्घ भुजमण्डलों से उसने सारे आकाश को एक घना जंगल–सा बना रक्खा है ॥१॥ श्रीरामजी, चितिशक्तिका असली तत्त्व न जानने पर वह क्रियारूप बन जाती है और वह स्वभाव से वहाँ नृत्य करती है । वास्तव स्थिति तो यह है कि चिति शक्ति में किसी तरह का नृत्यादि विकार है ही नहीं । इसी क्रियात्मक चिति के सूप, कुदाल, पटल आदि भूषण हैं ॥२॥ बाण, शक्ति, गदा, भाला, मूसल आदि, शिला आदि, भाव, अभाव आदि पदार्थसमूह तथा कला, काल के क्रम आदि भी उसीके भूषण हैं ॥३॥

जैसे अलात का (लाठी का) स्पन्दन चक्र के आकार में दिखाई देता है, वैसे ही उक्त चिति का स्पन्दन जगत् के आकार में दिखाई देता है, यह कहते हैं ।

भद्र, जैसे हृदय में कल्पना (मनोराज्य–कल्पना) ही नगराकार को धारण करती है, वैसे ही चिति का स्पन्दन ही अपने भीतर जगत् को धारण करता है । अथवा जैसे मनोराज्य कल्पना ही नगर है, वैसे ही स्पन्दित चिति ही जगत् है, यह आप जानिये ॥४॥

अब शिवजी की इच्छारूप वह कालरात्रि शिवजी से अभिन्न है, यह कहते हैं ।

जैसा पवन का स्पन्दन है, वैसी ही वह कालरात्रि शिवजी की इच्छा है । इससे पवन के भीतर का स्पन्दन जैसे पवन के स्वरूप से अलग नहीं है, किन्तु पवन स्वरूप ही है और अस्पन्द ही है, वैसे ही शिवजी की इच्छा शिवजी के स्वरूप से अलग नहीं है, शिवस्वरूप ही है और अनिच्छा ही है । अतः इच्छात्मिका कालरात्रि पूर्णकाम शिव से अभिन्न है, यह जान लेना चाहिए ॥५॥

आकार से रहित शिवेच्छा साकार जगत् के रूप में कैसे परिणत होगी ? इस पर कहते हैं ।

भद्र, जैसे आकाररहित वायु का स्पन्दन आकाश में साकार शब्दाडम्बर पैदा करता है, वैसे ही शिवजी की निराकार इच्छा साकार जगत् पैदा करती है ॥६॥

भद्र, तदनन्तर जैसे बह रही समुद्रजल की रेखा अपने विनाश के लिए बड़वाग्निका स्पर्श करती है, ठीक वैसे ही उस चिदाकाश में नृत्य कर रही उस कालरात्रि ने काकतालीय योग से अत्यन्त प्रेम से निकटवर्ती शिवजी का स्पर्श कर लिया । ज्यों ही उसने स्पर्श किया त्यों ही उसका आवरण करनेवाला शक्तिरूप अंश थोड़ा–सा हट गया ॥७,८॥ हट जाने के अनन्तर परमकारण एकमात्र शिवजी के स्पर्श से वह कालरात्रि धीरे–धीरे अपने अव्यक्तभाव को तथा छोटेपन को प्राप्त होने लग गई ॥९॥

भौतिक अनन्त आकारों को त्यागकर वह केवल भूतमात्ररूप हुई, यह कहते हैं ।

पहले उसने अपने विशाल आकार का परित्याग किया, पंचीकरण त्यागकर पर्वताकृति बन गई, इसके बाद नगराकृतिमात्रस्वरूप हुई, फिर वह विचित्र वासनारूप पल्लव के कारण वृक्ष के सदृश सुन्दरी बन गई ॥१०॥ तदनन्तर अव्याकृत आकाश के सदृश आकारवाली हुई, फिर वह शिवजी के आकार में उस प्रकार सब आडम्बर छोड़कर प्रविष्ट हो गई, जैसे कि नदी समुद्र में प्रविष्ट होती है ॥११॥ अनन्तर शिवा से रहित एकमात्र शिवजी ही बच गये । ये पूर्ववर्णित चिदाकाशरूप गगन में सबका उपसंहार करनेवाले तथा सर्वप्रकार के उपद्रवों की शान्ति कल्याणात्मा शिवजी ही थे ॥१२॥ श्रीरामभद्र ने कहा : भगवन्, शिवजी से स्पर्श की हुई भगवती शिवा कालरात्रि क्यों शान्त हो गई ? यह मुझे तत्त्वतः बतलाइए ॥१३॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, वह प्रकृति है, वह परमेश्वर की इच्छारूप शक्ति है । शास्त्रों में विख्यात जगन्माया और स्वाभाविक स्पन्दशक्ति भी वही है ॥१४॥ प्रसिद्ध जो शिवजी हैं, वे प्रकृति से पर पुरुष कहलाते हैं, पवनाकृति शिवरूप धरनेवाले पुरुष भी वही हैं, वह शरद्‌काल के सदृश निर्मल शान्तिधारी एवं परम शान्त हैं ॥१५॥ श्रीरामजी, वह शिवजी की इच्छारूप केवल स्वरूपधारिणी परमेश्वर की चितिशक्ति भ्रमरूपी प्रकृति इस संसार में तब तक भ्रमण कर सकती है, जब तक नित्य तृप्त, अजर, सर्वोत्कृष्ट, आदि–अन्तशून्य, द्वैतरहित, विकारशून्य परमात्मा को नहीं देख लेती । इससे निष्कर्ष यह निकला कि शिवेच्छारूप चितिशक्ति में तब तक स्पन्दन रहता है, जब तक कि इष्टप्राप्ति नहीं हो जाती और इष्ट की प्राप्ति (परमात्मा की प्राप्ति) हो जानेपर तो उसकी शान्ति हो जाती है ॥१६,१७॥ यह प्रकृति एकमात्र चितिशक्ति की आधारभूत है, इसलिए चितिशक्ति ही समझनी चाहिए। काकतालीय योग से यह चितिदेवी जब शिवजी का स्पर्श कर लेती है, तब शिवरूप ही हो जाती है ॥१८॥ पुरुष को छूकर समुद्र में नदी के सदृश उसके अन्दर एकरूप बनकर प्रकृति अपना कार्यरूप परिणाम छोड़ देती है ॥१९॥

इसमें युक्ति बतलाते हैं ।

नदियों का स्वरूप तो केवल जलमात्र ही है, समुद्र का संग होनेपर भी उसका वही रूप रहता है । जब यही असली स्थिति है, तब वह उसको (समुद्र को) प्राप्त कर तत्काल ही उसी में एकरूप से लीन हो जाती है ॥२०॥ राघव, लोहनिर्मित छुरी आदि की धारा उत्पत्तिकारण लोहशिला को प्राप्त कर उसीमें जैसे शान्त हो जाती है यानी लोहे में मिल जाने पर धार कुछ काम नहीं कर पाती, ठीक वैसे ही वह शिवेच्छारूप चितिशक्ति उस शिव देवको ही पाकर उसमें शान्त हो जाती है । फिर संसार में कुछ काम कर नहीं पाती ॥२१॥ वन आदि की छाया में प्रवेश किये हुए पुरुष की निजी छाया, जैसे उसीके रूपकी हो जाती है, वैसे ही पुरुष में प्रविष्ट हुई प्रकृति पुरुषरूप ही हो जाती है ॥२२॥

तब तो वन में से निकल जाने के बाद जैसे फिर अपनी छाया अलग हो जाती है, वैसे ही

ब्रह्मप्राप्त पुरुष को भी फिर संसार प्राप्त हो सकता है, इस पर कहते हैं।

भद्र, अपना सनातन पुरुषरूप जो भाव है, उसको प्रकाशित कर देने के अनन्तर फिर वह न इस संसार में भ्रमण करता है और न प्रकृतिभाव को ही प्राप्त करता है, क्योंकि पुनरागमन में निमित्त अज्ञान का बाध हो जाता है ॥२३॥

तभी इस संसार में फिर आना होता है, जब संसार की इच्छा रहती है, परन्तु तत्त्वज्ञान हो जाने पर तो संसार की इच्छा ही नहीं रह जाती, यह कहते हैं।

साधु पुरुष तब तक चोरों के समुदाय में रहता है, जब तक कि वह उसे जानता नहीं यानी भ्रान्ति से चोर को अपना हितैषी समझकर तब तक उसके बीच में रहता है, जब तक कि यह चोर है और मेरा हितैषी नहीं है, यह नहीं जान पाता। परन्तु जब जान लेता है कि यह चोर और अहितैषी है फिर उसके बीच में रमण या वास नहीं करता ॥२४॥ जब तक परम आत्मा के स्वरूप को प्रत्यक्षरूप से नहीं देखती तभी तक असद्रूप द्वैतप्रपंच में चिति (अज्ञ चिति यानी जीव) रमण और भ्रमण करती है। जब उसका प्रत्यक्ष कर लेती है, तब तो तन्मय बन जाती है ॥२५॥ चूँकि चिति में निर्वाणात्मक प्रशान्त स्वरूप ही परमपद है, इसलिए प्रकृति (अज्ञानयुक्त चिति) उसे प्राप्त कर जिस प्रकार समुद्र में नदी समुद्ररूपता प्राप्त करती है उसी प्रकार तद्रूप बन जाती है ॥२६॥

यहाँ तक जितनी बातें कही गईं, उन सबका संग्रहकर उपसंहार करते हैं।

हे रामभद्र, जब तक उस परब्रह्म परमात्मा को चिति साक्षात् नहीं देखती, तब तक विशाल मोह के प्रभाव से आक्रान्त होकर प्रतिकूल इन सर्गों में और उन जन्म आदि दशाओं में भ्रमण करती है और जब उसे देख लेती है, तब तो उसमें तन्मय बनकर ऐसे डूब जाती है, जैसे कि मधु में भ्रमरी डूबती है॥२७॥ हे रामभद्र, लगातार आनेवाले जन्म, मरण एवं मोहमय सकल दुःख जिससे शान्त हो जाते हैं, उस आत्मा को प्राप्त कर कौन पुरुष ऐसा है जो छोड़ दे ? क्या कोई रसायनों को (अमृत को) प्राप्त और अनुभव कर कहीं छोड़ सकता है ? ॥२८॥

पचासीवाँ सर्ग समाप्त

छियासीवाँ सर्ग

ब्रह्माण्डरूपी खोपड़ी को ग्रस लेनेवाले रुद्रशरीर का सूक्ष्मभाव से शिलारूप चिदाकाश में तिरोभाव तथा उस प्रदेश से भिन्न अन्य प्रदेशों के अन्य शिला, वृक्ष आदि सकलरूप ब्रह्म में सृष्टि की विचित्रता का दर्शन।

सबसे पहले रुद्रदेह के उपसंहार क्रम को सुनाते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, उस महाकाश में उस प्रकार से अवस्थित ये महारुद्र जिस रीति से अपनी देहगत उक्त भ्रान्तिका त्यागकर शान्त हो जाते हैं, उस रीति का श्रवण कीजिये ॥१॥

भद्र, ब्रह्माण्ड की ऊपर-नीचे की दोनों खोपड़ियाँ तथा वह रुद्र तीनों उक्त चिदाकाश में उस

समय चित्रलिखित के सदृश निश्चल यानी चेष्टाशून्य थे, यही पहले मैंने देखा था ॥२॥ तदनन्तर एक मुहूर्तमात्र में अन्य आकाश में उस रुद्रने उक्त खण्ड (ब्रह्माण्ड के ऊपर–नीचे के दो हिस्से) उस तरह, सूर्यात्मक दृष्टि से देखे, जिस तरह द्यु और भूमि ॥३॥ तदनन्तर एक निमेषमात्र में उस रुद्रने अपने मुख से खींचे गये श्वासवायु से उन दोनों खोपड़ियों को अपने समीप लाकर पाताल–गुहा के सदृश मुख में फेंक दिया यानी मुख के भीतर डाल दिया ॥४॥ उस समय वह रुद्र भगवान्, जिसने कि ब्रह्माण्ड खण्डरूपी उग्र दुग्धसार और पक्वान के मण्डल को ग्रस लिया था, ऐसे एकरूप हो गये, जैसे आकाश में आकाश एकरूप हो ॥५॥ उसके बाद एक मुहूर्तमात्र में मेघ के सदृश वह हलके हो गये, इसके अनन्तर यष्टि के सदृश, इसके बाद प्रदेशमात्र (अंगूठे से लेकर तर्जनी तक के नापवाले–बित्ते भरके) हो गये ॥६॥ उसके बाद ऐसे रुद्र की काँच के छोटे टुकड़े के सदृश आकृति हो गई, यह मैंने देखा। फिर दिव्यदृष्टि द्वारा यह भी मैंने देखा कि वे आकाशमण्डल से भी छोटे अणु होने लग गये ॥७॥ भद्र, तदनन्तर परमाणुरूप हो गये, फिर एकदम तिरोहित (अदृश्य) हो गये। इस प्रकार उस तरह जगत् से लेकर रुद्र देह तक महारम्भ करनेवाले भी ये रुद्र शरत्काल के मेघखण्डों के सदृश मेरे देखते–देखते क्रमशः शान्त हो गये ॥८॥ भद्र, भगवान् शंकरजी ने आवरणयुक्त ब्रह्माण्ड रूपी कपाट उस प्रकार निगल लिया, जिस प्रकार कि क्षुधार्त हरिण क्षुद्र पत्ते को निगल जाता है ॥९॥ तदनन्तर वह दृश्यरूप कालिमा से रहित चिदाकाशरूप शान्त केवल ब्रह्मरूप ही रह गया। वह आदि, मध्य और सीमा से शून्य केवल ज्ञानस्वरूप ही रहा ॥१०॥

अब पाषाणोदर–कथाकी समाप्ति दर्शाते हुए उपसंहार करते हैं।

भद्र, इस प्रकार उस शिला के टुकड़े के कोटर में मैंने दर्पण में प्रतिबिम्ब–सा महान् विभ्रमरूप संसार एवं उसका महाप्रलय देखा ॥११॥ हे राघव, तदनन्तर उस अंगना का उस शिला का एवं उस संसारभ्रम का स्मरण कर मैं ऐसे ही विस्मय को प्राप्त हुआ, जैसे कि ग्रामीण पुरुष, जिसने कभी नगर न देखा हो, राजद्वार पर आकर परम विस्मय को प्राप्त होता है ॥१२॥ पुनः उस सुवर्ण की शिला को मैंने पूर्व प्रदेश से अन्य प्रदेशों में भी देखा। उसके अशेष अंगों में सभी जगह कालरात्रि के अंगों के सदृश अनेक सृष्टियाँ विद्यमान थीं ॥१३॥ भद्र, बुद्धिरूपी नेत्र से वे सृष्टियाँ उन शिलाखण्डों में दीख पड़ती हैं, और अद्वैतदृष्टि से वे नहीं भी दीख पड़तीं, सब जगह सब काल में सर्वात्मक वस्तु जब रहती है, तब वैसा हो ही सकता है ॥१४॥ यदि मांसमय दृष्टि से दूरपर स्थित वस्तु के सदृश आपाततः देखी जाय, तो वह केवल अकेली शिला ही देखने में आयेगी, उसमें कुछ भी सर्ग दिखाई नहीं पड़ेगा ॥१५॥ घनमण्डलवाली वह सुवर्णमयी शिला एकरूप ही स्थित थी। सन्ध्याकाल के मेघ के सदृश अतिसुन्दर एवं विशाल थी ॥१६॥ श्रीराघव, इसके बाद अत्यन्त आश्चर्य से युक्त होकर मैंने फिर उस शिला के दूसरे भाग के विषय में उसी प्रकार की दिव्यदृष्टि से विचार किया ॥१७॥ विचारकर ज्यों ही मैंने उसे देखा, त्यों ही वह दूसरा भाग भी अनेक तरह

के जगत् के आरम्भों से (सृष्टियों से) खचा–खच भरा ही मेरी दृष्टि में आया । पहले जिस प्रदेश को देखा था, उसी तरह से वह भी छिद्राकार में (आकाश में) अनेक तरह के अर्थों से सुन्दर ही लग रहा था ॥१८॥ इसी तरह फिर मैंने उसके अन्य प्रदेश को भी देखा, तो वह भी उसी प्रकार से अनेक तरह की सृष्टियों के आडम्बरों से परिपूर्ण ही था ॥१९॥ भद्र, उस शिला के जिस–जिस प्रदेश को मैं देखता, उस–उस प्रदेश में निर्मल दर्पण में प्रतिबिम्ब के सदृश, जगत् दिखाई देता था ॥२०॥ इसके बाद मैंने बड़े ही कौतुक से उस पर्वत की सभी शिलाएँ, भूमिभाग एवं तृण, गुल्म आदि के ऊपर जहाँ कहीं भी दृष्टिपात किया, वहाँ सर्वत्र उसी प्रकार अनेक तरह के आकारों से युक्त जगत् को विद्यमान देखा। भद्र, यह बुद्धि से (आधिभौतिक देहभाव की भ्रान्ति से शून्य सर्वसाक्षी मैं ही हूँ, इस बुद्धि से) ही देखा जाता है, चर्मचक्षु से नहीं ॥२१,२२॥

उस उस प्रदेश में जो जो विशेष विशेष देखा, अब उसे दर्शाते हैं।

कहीं पर प्रारम्भिक सृष्टि के लिए प्रजापति पैदा हो रहे थे, तो कहीं पर प्रजापति द्वारा सूर्य, चन्द्र आदि नक्षत्रमण्डल, दिन और रात की कल्पना की जा रही थी ॥२३॥ कहीं पर पृथ्वी की पीठ मनुष्यों के समूहों से भरी थी, तो कहीं पर राजा सगर के पुत्रों ने चार समुद्ररूपी विकट खाइयाँ अभी तक नहीं खोद पायी थीं ॥२४॥ कहीं पर कोई जगत् तो देवताओं की उत्पत्ति से शून्य और दानवों की उत्पत्ति से युक्त देखने में आया, तो कहीं पर कुछ जगत् सतयुग के आचरण और सज्जन प्राणियों से भरा मैंने देखा ॥२५॥ भद्र, कहीं पर कुछ जगत् कलियुग के आचरणों से युक्त तथा दुर्जन प्राणियों से भरे थे, तो कहीं पर कुछ जगत् नगरों की राशियों एवं दैत्यों के संग्रामों से अति संकीर्ण थे ॥२६॥ कहीं पर जगत् बड़े–बड़े पर्वतों के समूहों से इतना व्याप्त था कि उसमें तनिक भी अवकाश नहीं रह गया था और कहीं पर दूसरी कोई सृष्टि ही उत्पन्न नहीं हुई थी, केवल ब्रह्माजी ही उत्पन्न हुए थे ॥२७॥ कहीं पर कुछ जगत् ऐसे देखे कि उनमें पृथ्वी के सभी मानव जरामरण से रहित थे और कहींपर भगवान् शंकर ऐसी स्थिति में दिखाई दिये कि उनके मस्तकपर चन्द्ररूप भूषण ही नहीं रहा, क्योंकि भूषणरूप चन्द्र की उत्पत्ति ही वहाँ नहीं हुई थी ॥२८॥ भद्र, कहीं पर तो क्षीरसागर का मंथन ही नहीं हुआ था, इसलिए वह मृत्युग्रस्त देवताओं से पूर्ण था तथा वहाँ अमृत, उच्चैःश्रवा, ऐरावत, धन्वन्तरि, कामधेनु, लक्ष्मी और विष भी उत्पन्न नहीं हुए थे ॥२९॥ कहीं पर शुक्राचार्य की मृतसंजीविनी महाविद्या पैदा करनेवाली महती तपश्चर्या में विघ्न डालने के लिए देवता उत्कण्ठित दिखाई दे रहे थे, तो कहीं पर भावी शत्रुओं के नाश के निमित्त दिति के पेट में घुसकर गर्भ के अवयवों को काटने के लिए इन्द्र उत्सुक थे ॥३०॥ कहीं पर जगत् में धर्म में ग्लानि न आने के कारण समस्त जनता स्वप्रकाश ब्रह्मज्ञान से पूर्ण थी, कहीं पर तो पदार्थस्थिति पूर्वसिद्ध अवयव रचना के क्रमसे विलक्षण ही थी ॥३१॥ कहीं पर जगत् अपूर्व वेद एवं शास्त्र के अर्थों के अनुसार आचरण तथा विचार में तत्पर दिखाई दिया तथा कहींपर महाप्रलय के क्षोभ से रहित अतएव सुन्दर निश्चलरूप से स्थित

दिखाई पड़ा ॥३२॥ कहीं पर तो जगत् में दैत्यों के समूहों से देवताओं के घर लुटे हुए मिले, और कहीं किसी जगत् में देवताओं के उद्यानों में गन्धर्व तथा किन्नर मधुर गाना गा रहे थे ॥३३॥ कहीं किसी जगत् में देवता और दानवों में समुद्रमंथन के लिए बना हुआ उत्तम सौहार्द (मेल) देखने में आया ॥३४॥ भद्र, इस प्रकार भूत, वर्तमान एवं भविष्य काल के महान् जगदाडम्बर को मैंने उस समय विश्वरूप महादेवजी के स्वरूप में यानी मायायुक्त चिदाकाश में देखा ॥३५॥

उसी जगत् के आडम्बरों को फिर दर्शाते हैं।

कहीं पर जगत् कल्पकाल के कुपित पुष्करावर्त मेघों के कारण व्याकुल कहींपर शान्त समस्त भूतों के समूहों से उपद्रवरहित था ॥३६॥ कहीं पर कुपित देवता, दावन एवं राजाओं से व्याप्त था, कहींपर सूर्य की उत्पत्ति ही न होने के कारण निरन्तर अनाशित अन्धकार से पूर्ण था ॥३७॥ कोई सूर्योदय के कारण अन्धकार से रहित अतएव ज्वालोदर के समान सुन्दर प्रतीत हो रहा था, और कहीं भगवान् के नाभिकमल की नाल में मधु और कैटभ छिपे हुए थे॥३८॥ किसी जगत् में नवीन ब्रह्माजी कमल की पिटारी में बालकरूपमें सोये पड़े थे, किसी जगत् में तो महाप्रलय में उन्नत अग्रभागवाले अक्षय वटके पत्ते के ऊपर भगवान् नारायण विश्राम ले रहे थे ॥३९॥ किसी जगत् में प्रलयरूपी महारात्रि का अतिशून्यरूप यानी प्रकाशरहित गाढ़ अँधेरा छाया हुआ था, तो किसी में शिला के पेट के सदृश निश्चल विशालाकृति आकाश ही दीख पड़ता था ॥४०॥ कोई तो सोया हुआ और जठर के सदृश मालूम पड़ रहा था, कोई अतर्कि त (विलक्षण) तथा ज्ञानयोग्य ही नहीं था, इसलिए चारों ओर सुषुप्त–सा प्रतीत हो रहा था ॥४१॥ किसी जगत् में पंखों से अत्यन्त क्षुब्ध पर्वतरूपी कौओं से सारा आकाशमण्डल आच्छन्न था और किसी में तो वज्र से चूर्णित अतएव द्रवीभूत पर्वतों के कारण अपूर्व भासुरता दीख पड़ती थी ॥४२॥ किसीमें तो तरंगमालाओं से आकुल प्रमत्त समुद्र पृथ्वी और पर्वतों को ले जाते हुए दीख पड़े और कहींपर त्रिपुरासुर, वृत्रासुर, अन्धकासुर तथा बलि के संग्राम हो रहे थे, इससे वह बड़ा भयंकर प्रतीत हो रहा था ॥४३॥ कहीं पर मत्त पातालगजों से वसुन्धरा कम्पित हो रही थी और कहीं शेष के मस्तक से कल्पान्त में पृथ्वी लुढ़क रही थी ॥४४॥ किसी स्थान में छोटे बालकरूप रामजी राक्षस रावण को नष्ट कर रहे थे, तो किसी में राक्षस रावण ही सीता–हरण द्वारा राघव को ठग रहा था ॥४५॥ कहीं पर कालनेमि राक्षस ने भूमि पर धरे अपने पैर से तथा सुमेरु पर्वत के मस्तक पर रक्खे अपने मस्तक से महान् आकाश को आक्रान्त कर रक्खा था, यह भी मुझे देखने में आया ॥४६॥ कहीं पर सारा जगत् देवों को हटाकर दानवों द्वारा पालित था और कहींपर दानवों को हटाकर देवों द्वारा ही पालित था ॥४७॥ कहीं पर जगत् में अर्जुनयुक्त स्वजनपालक कृष्ण से पाण्डव तथा कौरवों के द्वारा महाभारत–युद्ध से अनेक अक्षौहिणियों का विनाश किया जा रहा था ॥४८॥

'कहीं छोटे बालक रामजी के द्वारा रावण मारा जा रहा था' यह सुनकर आशचर्यचकित हुए श्रीरामजी प्रश्न करते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : भगवन्, क्या मैं पहले उत्पन्न हुआ था, यदि उत्पन्न हुआ था, तो क्या इन्हीं अवयवों से उत्पन्न हुआ, या दूसरे अवयवों से, यदि इन्हीं से उत्पन्न हुआ तो यह कैसे संभव है ? यह मुझसे कहिये ॥४९॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामभद्र, सभी पदार्थ बारबार दूसरे या उसी क्रम से अवयवसंनिवेश (आकृति) धारण करते हैं, जैसे कि बार-बार घड़े आदि में भरे जा रहे उड़द उसी या अन्य क्रम से अवयवसंनिवेश (आकृति) धारण करते हैं ॥५०॥ भद्र, कोई पदार्थ, जिनके सब क्रम समान हैं, शब्दों के अर्थों के तुल्य उसी आकृति से स्फुरित होते हैं या कोई समुद्र की तरंगों के सदृश उसी अथवा परस्पर भिन्न आकृति से स्फुरित होते हैं॥५१॥ राघव, फिर-फिर तुम, फिर-फिर हम और ये मनुष्य भी फिर-फिर उत्पन्न होते ही रहते हैं। वास्तव में तत्त्वदृष्टि से चेतनात्मा में कभी ये या दूसरे या यह सारा जगत् न उत्पन्न होता है या न स्फुरित ही होता है॥५२॥

मायादृष्टि से ही वे उत्पन्न होते हैं या अन्य उत्पन्न होते हैं, इस विषय का तो निर्णय है ही नहीं, यह कहते हैं।

समुद्र में वे ही तरंगें दूसरी बार आई या दूसरी तरंगें आई, यह जैसे अभी तक निर्णय नहीं हो पाया है, वैसे ही भ्रमण कर रहे प्राणी वे ही आये या दूसरे आये इसका भी अभी तक निर्णय नहीं हो पाया है ॥५३॥ भद्र, इस संसार में उत्पन्न हो रहे अनेकविध भ्रमों के कारण भूतसमुदाय आते और जाते रहते हैं। कोई तो उसी रूप से आते हैं, कोई अन्य रूप से आते हैं, कोई समान रूप से आते हैं और कोई विषम रूप से आते हैं ॥५४॥ चारों ओर भूत उसी रूप से घूमते हैं और अन्य रूप से भी घूमते हैं, अन्य क्या कहें ये भूत जगत्-रूपी सागर के जलकणरूप ही हैं, यह आप जानिये ॥५५॥

इस विषय का पूर्व मुमुक्षु-व्यवहारप्रकरण में जो कथन किया गया था, उसका स्मरण कराते हुए उसीको कहते हैं।

संसार के कोई प्राणी तो पूर्व के ही धन, बन्धु, अवस्था, कर्म, विद्या, विज्ञान और चेष्टाओं को लेकर ही बार-बार उत्पन्न होते हैं ॥५६॥ कोई जीव पूर्व के उन धन आदि से आधे समान होकर आते हैं और कोई चतुर्थांश से समान होकर आते हैं, तो कोई जीव ठीक वे ही (उसी शरीर के) बनकर आते हैं और कोई अन्य शरीर धारणकर बिलकुल असमान होकर आते हैं। इससे जीवों की एकता होने पर शरीर भी समान ही होने चाहिए, यह नियम नहीं है ॥५७॥

ऐसे ही जीवों का भेद होने पर शरीर भिन्न हों, यह भी नियम नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

किसी समय धन आदि से एकरूप होते हुए भी ये जीव काल के प्रभाव से अन्य समय में ठीक उनसे विपरीत हो जाते हैं। किसी समय काल के प्रभाव से सदृश होते हैं, तो शरीर के प्रभाव से विसदृश होते हैं ॥५८॥ चूँकि वे ही जीव राग, द्वेष, भोगलंपटता आदि दोषपूर्ण विचित्र विचित्र

धर्माधर्म चेष्टा के कारण कालवश विचित्र अनेक देह धारण से दूसरे दूसरे रूपवाले बनकर नीचे एवं ऊपर के लोकों में बार–बार आते जाते रहते हैं, इसलिए चंचल संसारमय समुद्र में चक्राकार आवर्तमय जो प्राणीरूप जल बह रहा है, वे सदृश हैं, विसदृश हैं, अथवा वे ही हैं या अन्य हैं, इस विषय का निर्धारण भलीभाँति कौन पुरुष कर सकता है यानी कोई नहीं कर सकता ॥५९॥

छियासीवाँ सर्ग समाप्त

सत्तासीवाँ सर्ग

देह, इन्द्रिय आदि की उत्पत्ति के क्रम से अपनी देह में ही विश्व की कल्पना तथा
अपनी स्वयंभूरूपता का श्रीवसिष्ठजी के द्वारा वर्णन।

जैसे मैंने ध्यानपूर्ण दृष्टि से शिला, वृक्ष, तृण आदि समस्त पदार्थों में सृष्टियाँ देखी थी वैसे ही अपने शरीर के अवयवों में भी ध्यानपूर्ण दृष्टि से अनेक सृष्टियाँ देखी, यह कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, शिला, तृण, गुल्मादि में विचित्र सर्ग देखने के बाद निरामय, सर्वव्यापी, अनन्त, चिदाकाशस्वरूप तथा समाहितचित्त होकर जब मैं देखने लगा, तो मैं क्या देखता हूँ कि मेरे शरीर के ही भीतर सर्ग स्थित है, जिसकी उपमा अंकुरित बीज से दी जा सकती है । यह सर्ग डेहरी के भीतर स्थित वृष्टि से सिक्त हुए बीज के अंकुर के सदृश है ॥१,२॥ जैसे बीज में भीतर विद्यमान अंकुर सींचने से विकसित होकर ऊपर की ओर निकल आता है वैसे ही मूर्त–अमूर्त, चेतन और अचेतन सभी वस्तुओं में यह जगत् है ॥३॥

अपनी समाधि में उस सृष्टि का आपने कैसे अनुभव किया ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

जैसे सुषुप्ति–अवस्था से स्वप्नावस्था को प्राप्त चिन्मात्र पुरुष की स्वचेतन से स्वाप्न दृश्य भी विकसित होता है अथवा जैसे स्वप्नावस्था के हट जाने पर प्रबोध को प्राप्त हुए पुरुष का जाग्रतप्रपंच विकसित होता है वैसे ही सृष्टि के प्रारम्भ में जिसने अपने स्वरूप का पृथक् रूप से अनुभव किया है ऐसे आत्मा में यह सृष्टि उदित होती है। हृदयाकाश में हुआ यह सृष्टि का उदय आकाशस्वरूप से (चिदाकाश से) पृथक् नहीं है ॥४,५॥

'हृदि सर्गोदयः' इससे आपने (हृदय) पद से हृदयाकाश कहा है और 'आकाशरूपतः' इससे मैंने आपका अभिप्राय 'चिदाकाश' समझा है, अपने इस मतलब को सम्बोधन द्वारा सूचित करते हुए श्रीरामचन्द्रजी : 'भगवन्, मेरे स्पष्ट परिज्ञान के लिए विस्तार के साथ आप पुनः इसका वर्णन कीजिये', यह प्रार्थना करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : परमाकाशरूप हे वसिष्ठजी, चिदाकाशरूप आपमें सृष्टि कैसे प्रवृत्त होती है, यह आप मुझसे फिर कहिये, ताकि इसका मुझे ठीक–ठीक परिज्ञान हो जाय ॥६॥

श्रीरामचन्द्रजी के द्वारा पूछे गये मतलब को विस्तार के साथ कहने के लिए श्रीवसिष्ठजी

प्रतिज्ञा करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, उस समय मैंने अपने में सत् के तुल्य प्रतीत होनेवाले वस्तुतः स्वप्ननगर के समान असत् इस स्वयंभूरूपता का पहले जिस तरह अनुभव किया, उसका मैं आपसे वर्णन करता हूँ आप सुनिये ॥७॥ उस सुवर्णशिला आदि में महाकल्प के संगम को देखकर चिदाकाशस्वरूप मैंने शरीर के अन्य भाग में स्थित संवित् को सृष्टि देखने के संकल्प से कौतुकवश उन्मेषित किया-जागृत किया ॥८॥

पहले 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इस श्रुति में प्रतिपादित क्रम जिसका उपलक्षण है ऐसे आकाश की कल्पना कहते हैं।

वह निर्मल संवित् मेरे द्वारा ज्यों ही कुछ उन्मेष को प्राप्त होकर स्थित हुई त्यों ही मैं वहाँ कहीं पर आकाशताका-सा अवलोकन करने लग गया ॥९॥

यह आकाशता चिद्घन के भीतरी शून्यभावप्राप्तिरूप सूक्ष्मता आधिक्य न था, किन्तु चित् की सूक्ष्मता की अपेक्षा जाड्य अधिक होने से स्थूलता ही थी, इस आशय से दृष्टान्त द्वारा सम्भावना करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे नींद आ जाने से उसके द्वारा स्वप्न के जाग्रत लोक या स्वप्न के स्वप्नलोक में प्रविष्ट होते हुए आप अपनी आत्मा के ही समान घन उसके आधार स्वभाव को समझते हैं वैसे ही स्वभाव को प्राप्त चिदाकाश का मैंने अनुभव किया, यह आप सम्भावना कर लीजिये ॥१०॥ दिङ्मात्र (♨) आकाश ही सर्वप्रथम चिन्तन करने से चित्त होता है। तदनन्तर 'मैं आकाश हूँ' ऐसा जो वेदन है वह अहंकार कहलाता है। उसके बाद 'आकाशमेव' ऐसे निश्चय से और पूर्वभाव के विस्मरण से वह बुद्धि कहलाता है और वही (बुद्धि ही) जब संकल्प, विकल्प, काम तथा विचिकित्सा आदि की नानाविध कल्पनाओंवाली बन जाती है तब 'मन' इस नाम से कही जाने लगती है ॥११॥

वही इस तरह विषयों की कल्पना करने के अनन्तर उनकी ग्राहक इन्द्रियों की भी कल्पना करते है, यह कहते हैं।

इस तरह वह पहले शब्द-तन्मात्रा की कल्पनी करता है। उसके अनन्तर अन्य तन्मात्राओं की कल्पना करता है। तदनन्तर उनकी स्थूलता से पाँच इन्द्रियों की कल्पना करता है। इस प्रकार इन्द्रियों के समुदाय का उदय होता है ॥१२॥

इन्हीं विषयों तथा इन्द्रियों के कारण ही पहले दुःखरहित रहनेवाले आत्मा को स्वप्न की तरह व्यवहार में दुःखों की प्राप्ति होती है, यह कहते हैं।

जैसे सुषुप्ति से स्वप्न में प्रविष्ट हो रहे पुरुष को दृश्य के गहन (घने) आविर्भाव से युक्त जगत् का भान क्षण भर में होता है, वैसे ही सृष्टि के प्रारम्भ में जब दुःखरहित शुद्ध आत्मा

(♨) अर्थात् अपनी चलनक्रिया के अनुकूलरूप से दिशाओं का अपने में पर्यालोचन करनेवाला।

इन्द्रियों द्वारा विषयों की ओर (अभिमुख) होता है, तब निमेषमात्र में ही उसको दुःख भासित होने लगता है ॥१३॥

स्वप्न में आकाशादि क्रम से सृष्टि नहीं होती, किन्तु एक ही समय में सहसा सम्पूर्ण जगत् का अवलोकन होने लगता है, इसलिए आपका यह विषम दृष्टान्त है, इस आशंका पर कहते हैं।

इस अनन्त परब्रह्म परमात्मा में जब एक ही समय में सारा दृश्य–जाल भासने लगता है, तब कोई तो उसमें क्रम का (🕭) वर्णन करते हैं और कोई नहीं भी करते ॥१४॥ क्षण के अन्दर दीर्घकाल की कल्पना के समान सुन्दर परमाणु के अन्दर भी दीर्घ देश की कल्पना से सम्पन्न ब्रह्माण्डात्मक चेतन आत्मा का मैंने ही अनुभव किया, अवलोकन किया। वास्तव में तो वह आत्मा निर्मल चिदाकाशरूप ही है ॥१५॥

जैसे वायु का संचालनस्वभाव है वैसे ही शरीर आदि की कल्पना करना मनका स्वभाव है, यह कहते हैं।

जैसे वायु स्वभाव से ही आकाश में निरन्तर चलता रहता है वैसे ही मन स्वभाव से सर्वत्र शरीर आदि का अवलोकन करता ही रहता है ॥१६॥ प्राथमिक मनकी कल्पनारूप उस परम शक्ति ने संसार के रूप आदि की जैसी कल्पना की है उसे स्वयं बड़े प्रयत्न से भी यह बदल नहीं सकती। कहने का तात्पर्य यह कि उत्तर कल्पनाओं में वही स्थिर नियति बनी रही ॥१७॥ यही कारण है कि उसके बाद मैं अपरिच्छिन्नस्वरूप रहने पर भी उसके द्वारा की गई परिच्छेद की कल्पना से परिच्छिन्न बन गया। सच पूछिये तो चितिरूप होने से उस चित्त के ही रूपमें शीघ्र वैसा मैं स्थित हुआ ॥१८॥ उसके बाद चिति के प्रतिबिम्ब की व्याप्ति से तेज के कण की तरह आकृतिवाले सूक्ष्म लिंग शरीर का मैंने अनुभव किया और फिर उसी सूक्ष्म शरीर की भावना करते करते मैं स्थूलदेहता को प्राप्त हुआ ॥१९॥ उसके पश्चात् 'मैं कुछ देखूँ' इस साधारण बोधसे जब कुछ देखने के लिए प्रवृत्त हुआ, तो मुझे अनुभव हुआ कि मैं उस स्थूल शरीर में चक्षु आदि इन्द्रियों की कल्पना द्वारा रूप आदि का अवलोकन करनेवाला बन गया हूँ॥२०॥ हे रघुवंशियों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, यहाँ जो कुछ नाम सुनाई पड़ता है वस्तुतः वह उस चिति का ही नाम है। परन्तु आपके सदृश महानुभावों ने जिनकी कल्पना की है ऐसे कुछ मुख्य नामों का अब (मैं आपसे वर्णन करता हूँ, आप) श्रवण कीजिये ॥२१॥ जिस छिद्र से मैं देखने के लिए प्रवृत्त हुआ, वह नेत्र कहलाता है, जिसे मैं देखता हूँ, वह दृश्य यानी रूप कहा जाता है और दर्शन तो उसका फल है ही ॥२२॥ जब मैं देखता हूँ, वह काल है, जैसे देखता हूँ, वह क्रम है और जहाँ मैं देखता हूँ, वह आकाश है। इस तरह इस आत्मा

(🕭) स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमाँल्लोकानसृजत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत' इत्यादि श्रुतियों में एक ही समय में सृष्टि का श्रवण होने से एक क्षण के अन्दर ही दीर्घ काल की कल्पना द्वारा क्रम की उपपत्ति होती है।

की प्रौढ़ नियति प्रवृत्त हुई । कहने का तात्पर्य यह है कि नेत्र आदि इन्द्रियों के बाद देश, काल आदि की दृढ़ नियति भी सम्पन्न हो गई ॥२३॥ जिस जगह मैं स्थित हूँ, वह देश कहलाता है, यह मेरी आज की कल्पना है । यह आप मुझसे पूछ सकते हैं कि उस समय आप कैसे रहे ? सुनिये, उस समय मैं चिति का उन्मेषमात्र होने से केवल तन्मात्र का कारण था ॥२४॥ देह में चक्षु आदि छिद्रों की कल्पना आदि के दर्शन आदि जनित कौतुक के बाद वहाँ पर 'मैं देखूँ', ऐसा तनिक बोध मुझमें उदित हुआ । तदन्तर जब मैं नेत्ररूप दोनों छिद्रों से देखने लगा, तो मुझे कुछ ऐसा लगा कि जो कुछ मैं देख रहा हूँ, वह भी आकाश से भिन्न ही है ॥२५॥ जिन दो छिद्रों से मैंने देखा वे दोनों ये मेरे नेत्र स्थित हैं । इसके बाद 'मैं कुछ सुनूँ' यह वृत्ति मुझमें उदित हुई ॥२६॥ तत्पश्चात मैंने वहाँ पर कुछ थोड़ा-सा एक झंकार सुना । वह जोरसे फूँके गये शंख के शब्द-जैसा आकाश का स्वाभाविक शब्द था ॥२७॥ मैंने जिन दो छिद्र-प्रदेशों द्वारा संचरणशील वायु की सहायता से (📖) बहुत दूर तक फैले हुए शब्द का श्रवण किया वे दोनों कर्णच्छिद्र हुए ॥२८॥ तदनन्तर जिस प्रदेश से मैंने वहाँ जो कुछ थोड़ा-बहुत स्पर्श संवेदन का अनुभव किया, उसको त्वक् कहते हैं ॥२९॥ जिससे छुए हुए-से तत्-तत् अंगों का मैंने अनुभव किया, वह एकमात्र सत्यसंकल्पस्वरूप पवन कहा गया है ॥३०॥ इस रीति से अनुभव करनेवाले मुझमें स्पर्श-इन्द्रिय तन्मात्रा की सिद्धि हुई । और मुझमें रसास्वाद लेने की संवित् (इच्छा) प्रादुर्भूत हुई वही आस्वादन करने योग्य रसभेदों से युक्त रसेन्द्रिय तैयार हो गई ॥३१॥ घ्राण के संकल्प से आकृष्ट प्राणवायु के भेदरूप अपान से घ्राणेन्द्रिय और तन्मात्रा उत्पन्न हुई । इस प्रकार आकाशस्वरूप मुझे देह, इन्द्रिय और विषय सम्पत्ति आदि सब कुछ प्राप्त हो गया । लेकिन वास्तव में कुछ भी नहीं प्राप्त हुआ ॥३२॥

तदनन्तर पाँचों इन्द्रियों की भोगवृत्ति मुझमें जबरदस्ती उदित हो गई, यह कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह जब सब इन्द्रियाँ और तन्मात्राओं के समुदाय मुझमें स्थित हो गये तब ये सबकी-सब पाँचों इन्द्रियों की भोग-वृत्तियाँ बलात् मुझमें उदित हो गई । उनका शब्द, रूप, रस, स्पर्श तथा गन्धमात्र ही शरीर है । वे मिथ्या होने से ही वस्तुतः आकारशून्य हैं, किन्तु भ्रान्तिवश इनका स्वरूप प्रकाशित होता है ॥३३,३४॥ इस तरह देह, इन्द्रिय तथा विषय की भावना करता हुआ यानी उनका अभिमानी होता हुआ मैं स्थित हुआ । उसीको आजकल आपके सदृश जब 'अहंकार' इस नाम से कहते हैं ॥३५॥ दृढ़ अध्यवसाय से विशेष बढ़कर यही अहंकार 'बुद्धि' इस नाम से पुकारा जाता है और बाद में जब यह बुद्धि घनीभूत हो जाती है तब यह 'मन' इस नामसे कही जाती है । हे श्रीरामचन्द्रजी, यह भी आपको जान लेना चाहिये कि वही मन पुनः पुनः विषयों का चिन्तन करने से 'चित्त' रूप में सम्पन्न हो जाता है ॥३६॥ इस तरह वस्तुतः

(📖) श्रोत्रादि का व्यापार भी प्राण के अधीन है, यह दिखलाने के लिए 'विचरता मरुता' यह कहा गया है ।

चिदाकाशरूप सूक्ष्म शरीरधारी मैं ही अन्तःकरणरूपता को प्राप्त होकर स्थित हूँ ॥३७॥ चूँकि पवन से भी सूक्ष्म केवल आकाशमात्र शून्य–स्वरूप मैं आकृतिशून्य ही हूँ, इसीलिए सभी कल्पित हो रहे भाव पदार्थों का मैं न तो निरोधक हूँ और न निवारक ही हूँ ॥३८॥ इस प्रकार उस पूर्वकल्पित ब्रह्मात्मक देह में भावना करके जब मैं चिरकाल तक स्थिर रहा, उस समय मुझे यह प्रतीति हुई कि मैंने स्वयं अपने को ही चतुर्मुख देहवान् देखा है अर्थात् चतुर्मुख देहधारी मैं ही हूँ, ऐसी वृत्ति मुझमें उस समय उदित हुई ॥३९॥ वैसी वृत्ति होने से स्वप्न में उड़कर आकाश में संचरण कर रहा सुप्त मनुष्य जैसे शब्द करता है उसी तरह मैंने भी शब्द करना शुरू किया ॥४०॥

विशेष शब्द का अभिलाप करने में कोई विनिगमक न होने के कारण सर्वसाधारण अर्थवाले शब्दसमष्टयात्मक ॐकार का ही मैंने पहले–पहल उच्चारण किया, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसके बाद पहले–पहल मैंने बालक की नाईं जो शब्द किया वह ॐ था । वही शब्द आगे चल कर संसार में 'ॐकार' इस नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ ॥४१॥ इसके पश्चात् स्वप्नावस्था में स्थित मनुष्य के शब्द के समान पूर्व कल्प में अभ्यस्त व्याहृति, गायत्री, वेदादि जो कुछ मैंने कहा, उसीको आप इस संसार में वाणीरूप जानिये, जो पीछे वाणी नामसे प्रसिद्धि को प्राप्त हुई ॥४२॥ इस तरह सृष्टि का कर्ता जगदगुरु मैं ब्रह्मा ही हो गया और इसके अनन्तर ब्रह्म शरीर को, जो कि मनोमय ही था, धारण करनेवाले मैंने सृष्टियों की कल्पना की ॥४३॥ इस तरह मैं ब्रह्मरूप से समुत्पन्न हूँ, मैंने किसी दूसरी वस्तु के रूप में जन्म नहीं लिया है । ब्रह्मस्वरूप होकर मैंने अपनी ही स्थूलदेहभूत आवरणयुक्त ब्रह्माण्ड देखा । ब्रह्माण्ड से बहिर्भूत मैं कुछ नहीं देख सका ॥४४॥ इस प्रकार मेरे इस मनोमय जगत् के सम्पन्न हो जाने पर भी वास्तव में कुछ भी सम्पन्न नहीं हुआ है। वह सब शून्य केवल आकाश ही था ॥४५॥

यही न्याय सारी सृष्टियों में जानना चाहिये, इस आशय से कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार यानी मेरी इस सृष्टि के समान ही यह सब वेदनामात्र शून्य ही है। ये पृथिवी आदि भावपदार्थ तनिक भी नहीं है, यह बिल्कुल निश्चित है ॥४६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानस्वरूप परमात्मा में ज्ञान ही जगतरूप मृगतृष्णा जल भासते हैं। यह हमारा बाह्य जगत् बाह्यआकाश में नहीं है, किन्तु ब्रह्माकार ही वैसा स्थित है ॥४७॥ मरुस्थल में जल बिलकुल नहीं है, किन्तु बिना कारण के ही अन्तःकरण से क्षुब्ध हो अपने में संभ्रम धारण कर बुद्धि उसमें जल देखती है, लेकिन हे श्रीरामचन्द्रजी, बुद्धि का वैसा देखना वस्तुतः उसका भ्रम है, वह जलको नहीं देखती, बल्कि जलके भ्रम को वह उस तरह देखती है ॥४८॥ इसी तरह ब्रह्म में जगत् नहीं है, यह बिल्कुल सही है, फिर भी बिना कारण के ही अज्ञानावृत संवित्स्वभाव से संविदात्मा वैसा उसे देखता ही है । उसका वैसा देखना वस्तुतः उसकी भ्रान्ति है । वह एकमात्र अपनी भ्रान्ति से वैसा संभ्रम को देखती है, न कि ब्रह्म में जगत् को । अथवा यों कह

सकते हैं कि वह ब्रह्म में जगत् क्या देखती है, बल्कि भ्रान्ति का संभ्रम (विलास) देखती है ॥४९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, असद्रूप ही यह जगत् अन्तःकरण में ही ऐसे व्याप्त है, जैसे संकल्पप्रयुक्त मनोराज्य तथा स्वप्नकाल में निर्मित नगर आदि व्याप्त रहता है ॥५०॥ जैसे समीप में सोये हुए मनुष्य के स्वप्नका उसके (स्वप्नद्रष्टा के) चित्त में प्रवेश किये बिना कुछ भी अनुभव नहीं किया जा सकता, परकायप्रवेश द्वारा उसके चित्त में प्रवेश करने से तो उसका अनुभव किया जा सकता है, वैसे ही जगत्कल्पना के अधिष्ठानभूत चितिशिला में प्रवेश किये बिना दर्पण में प्रतिबिम्बित आकारवाले जगत् का अनुभव नहीं होता, चितिशिला में प्रवेश कर उसका अनुभव होता है। दिखाई देने पर भी वह वैसा नहीं है, किन्तु असत् ही है ॥५१,५२॥ यदि आप आधिभौतिक भावमय नेत्र से देखना चाहें, तो वे शिलापर्यन्त तत्-तत् ब्रह्माण्ड आपको तनिक भी नहीं दिखाई दे सकते, एकमात्र लोकालोक पर्वत को ही आप देख सकते हैं ॥५३॥ आतिवाहिक देह से यदि परमबोधदृष्टि से देखा जाय, तो वह सृष्टि निर्मल परमात्मस्वरूप ही योगियों को दिखाई देती है ॥५४॥ तत्त्वदृष्टि से यदि देखा जाय, तो सृष्टि का निर्वाण एकमात्र ब्रह्मस्वरूप ही सर्वत्र दिखाई देता है। इससे विपरीत रूपसे देखने पर तो वह कुछ भी नहीं अभिलक्षित होता ॥५५॥

तत्त्वदृष्टि और योगी की दृष्टि की सर्वोत्कृष्ट रूप से प्रशंसा करते हैं।

शुद्ध बुद्धि उपपत्ति तथा विचारयुक्त होकर जो देखती है, उसे अपने तीनों नेत्रों से न तो भगवान शंकरजी देख पाते हैं और न अपने हजार नेत्रों से इन्द्र भगवान् ही देख पाते हैं ॥५६॥

वहाँ जीवन्मुक्त योगियों की दृष्टि से देख रहे स्वयं तत्त्वज्ञानी श्रीवसिष्ठजी को जब 'आकाश की तरह यह सारी पृथिवी भी सृष्टियों से व्याप्त है' यह बुद्धि उदित हो गई तब क्रमशः पृथिवी आदि एक-एक भूत में अहंभाव की धारणा से उन्होंने जो-जो कौतुक अपने-आप देखा उन सबका आगे चलकर वर्णन करने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

योगदृष्टि से जब मैंने यह जान लिया कि जैसे सृष्टियों से व्याप्त आकाश है वैसे ही पृथिवी भी अनेक सृष्टियों से व्याप्त है, तब पृथिवी की धारणा से युक्त मैं ध्याता होकर स्थित हुआ ॥५७॥ जैसे चक्रवर्ती राजा केवल स्वदेह में अहंभाव का त्याग न करता हुआ ही समस्त भूमण्डल के ऊपर ममता का भाव धारण करता है उसी तरह चिदाकाश शरीर में भी ब्रह्माहंभाव का परित्याग न करता हुआ ही धराहंभाव से यानी 'पृथ्वी मैं ही हूँ' इस तरह की पृथिवी में अहंभाव की धारणा से पृथिवीरूपधारी बन गया ॥५८॥ तदनन्तर हे श्रीरामचन्द्रजी, उस पृथिवी की धारणा से पृथिवी के अभिमानी जीव की स्वरूपता प्राप्त कर द्वीप, पर्वत, तृण, वृक्षादि की देह का मैंने अनुभव किया ॥५९॥

जो श्रीवसिष्ठजी ने अनुभव किया, उसका वे वर्णन करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, तब मैं विविध प्रकार के वन तथा वृक्षरूपी रोमों से परिपूर्ण, अनेक तरह की रत्नावलियों से व्याप्त तथा अनेक तरह के नगररूपी आभूषणों से सुशोभित भूतलस्वरूप हो गया (🔔) ॥६०॥ मैं अनेक गाँव गुफारूपी पर्वों से परिपूर्ण, पातालबिलरूपी उदर से युक्त, सात कुलपर्वतरूपी भुजाओं से आश्लिश्ट द्वीप तथा समुद्ररूपी कंकणों से अन्वित भूपीठ हो गया॥६१॥ भूपीठ रूप मैं दिग्गजों के मस्तक समूहों तथा शेषनाग के हजार सिरों से थामा गया, तृणों के समुदायरूप सूक्ष्म रोमों से खूब ढका गया और गुल्मरोग की गाँठो की तरह पर्वतों के समूह मुझ में दिखाई देने लगे ॥६२॥ सेनासमूहरूपी तन्तुओं की गाँठ–जैसे जिनके हाथी खूब सुशोभित हो रहे थे, ऐसे अनेक राजे परस्पर युद्ध द्वारा भूपीठरूप मेरा हरण करने लगे, अनेक प्राणियों से मेरा अंग उपभुक्त होने लगा और ग्राम, नगर तथा प्रदेश आदि की व्यवस्था से मैं खूब बढ़ने लग गया ॥६३॥ हिमालय तथा विन्ध्याचल मेरे सुन्दर कन्धे थे, सुमेरु पर्वत ऊँची गर्दन था, गंगा, यमुना आदि नदियों के प्रवाहरूपी मुक्ताहारों से मेरा शरीर ब्रह्मझंकारयुक्त हो उठा ॥६४॥ गुहाओं से गहन कछार आदि देशों तथा आदर्श–मण्डल जैसे अनेक सागरों से मैं परिपूर्ण हो गया और मरुदेश तथा ऊसर स्थलरूपी सफेद सुन्दर वस्त्रों से भासित होने लगा ॥६५॥ पहले पैदा हो चुके महासागरों से प्रलयकाल में बिलकुल परिपूर्ण, परन्तु इस समय तो स्नानकर ऊपर आये हुए के समान सब ओर से मैं पवित्र, पुष्पों की वन मालाओं से अलंकृत तथा चन्दन की जगह पर स्थित सघन धूलियों से लिप्त था ॥६६॥ किसान सब मेरे ऊपर प्रतिदिन हल जोतने लग गये और शीतल पवन पंखा डुलाने लगे । मैं सूर्य की तीक्ष्ण किरणों से तापित तथा वर्षा के जल से सिक्त होने लग गया ॥६७॥ विशाल, सम भूप्रदेशरूपी वक्षःस्थल से अलंकृत, पद्माकाररूपी नेत्रों से भूषित, सफेद और काले मेघरूपी (▲) पगड़ी से सुशोभित तथा दसों दिशाओं का उदर ही मेरा मन्दिर (घर) था ॥६८॥ मैं लोकालोक पर्वत के समीप में स्थित, जिसका मैंने आपसे पहले वर्णन किया है, महाखातवलयरूप (📖) उग्र मुख से भीषण हो गया । उस समय अनन्त प्राणिसमूहों का परिस्पन्दन ही मेरा परिस्पन्दन तथा उनका एकीभूत चेतन ही मेरा चेतन हुआ ॥६९॥ विशाल खण्दक के मण्डपरूप अनेकविध पृथक्–पृथक् भूत समूहरूपी कीड़ों से बाहर तथा भीतर से मैं व्याप्त हो गया अर्थात् उन प्राणियों में जो देव, दानव तथा गन्धर्व थे, उनसे तो मैं व्याप्त हो गया । मेरे कहने का तात्पर्य यह कि भूतलरूप मुझमें बाहर तथा भीतर से अनेक तरह के प्राणियों का समुदाय ठसा–ठस भर गया ॥७०॥ भूतलरूप मैं पातालरूपी इन्द्रियछिद्रों में नागों तथा असुररूपी कृमिसमूहों से एवं सात समुद्रों के अन्दर स्थित जलचरों से व्याप्त हो गया ॥७१॥

(🔔) यहाँ से शुरू करके इस सर्ग के अन्ततक देहाधार से भूपीठ का ही वर्णन करते हैं ।

(▲) यहाँ प्रकरणवश सित और असित घन से सूर्य और चन्द्रमा ग्रहण है ।

(📖) विशाल खन्दक के मण्डलरूप ।

अपनी कही हुई बातों का संक्षेप से उपसंहार करते हुए श्रीवसिष्ठजी अनेक विशेषणों से भूतलरूप अपने को विभूषित करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, (आपसे अधिक मैं क्या कहूँ, संक्षेप में मैं आपसे यही कह देना उचित समझता हूँ कि) भूतलरूप मैं नदी, वन, समुद्र, दिगन्त, पर्वत तथा द्वीपनामक प्राणियों के भोग्य स्थल और जंगलों के समूहों से व्याप्त हो गया । विविध प्रकार के पर्वत, नदी आदि की पंक्तियों तथा जनपंक्तियों से वेष्टित मण्डलकोशों के अनेक खण्ड मुझमें दिखाई देने लगे तथा लताओं, अनेक सरोवरों, सरिताओं, शत्रुसमूहों एवं असंख्य कमलखण्डों से मैं व्याप्त हो गया ॥७२॥

सत्तासीवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठासीवाँ सर्ग

अपने शरीररूप भूपीठपर जहाँ तहाँ विद्यमान तथा कौतुकवश आँखों से देखे गये विशेष-विशेष पदार्थों का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे मनुकुल में उत्पन्न श्रीरामजी, जिस तरह मैंने आपसे वर्णन किया, उस तरह मैं भूपीठरूप बन गया। उसके बाद यानी पूर्ववर्णित साधारणरूप से समस्त भूधर्मों से घटित अपनी देह को देखने के बाद नद, नदी, समुद्र आदि विशेषाकारों को जानने की इच्छा से मैंने जैसा अनुभव किया, उसे आप सुनिये ॥१॥ कहीं पर तो भूपीठ में पति, पुत्र, भाई आदि के मरण से विलाप कर रही स्त्रियों की करुणवेदना सुनाई दे देती थी, तो कहीं पर उन्नत ताण्डव नृत्य कर रही रमणियों के महान् उत्सवों से आनन्द की धूम मची थी ॥२॥ कहीं पर दुर्निवार दुर्भिक्ष के कारण बीभत्स क्रन्दन हो रहा था, कहीं पर दुष्ट चेष्टाओं का जाल बिछा था, कहीं पर सुवृष्टि के कारण फले हुए धानों की सम्पत्ति से चारों ओर घन सौहार्द निखर रहा था ॥३॥ कहीं पर अग्नि के महादाह से देहों के जल जाने के कारण लोग उग्र वेदना से छटपटा रहे थे, कहीं पर जल की बाढ़ से नगर एवं कसबों के कुछ हिस्से छिन्न-भिन्न हो गये थे ॥४॥ कहीं पर जिले के जिले चंचल सामन्तों के द्वारा लूट लिये गये थे, तो कहीं पर जिले के जिले परले सिरे के दुरात्मा राक्षस एवं पिशाचों से भरे पड़े थे ॥५॥ कहीं पर जलाशयों की पूर्ति से क्यारियों एवं बगीचों एवं बगीचों का सिंचन हो जाने के कारण सस्य, गुल्म आदि का अग्रभाग बड़ा ही पुलकित प्रतीत हो रहा था, कहीं पर गुफाओं के उदरच्छिद्र से निकली हुई वायु ने मेघमण्डल को वेष्टित कर रक्खा था ॥६॥ कहीं पर मारे हर्ष के पुलकित अपने अंग-केशों के सदृश अंकुररूपी रोम उगे हुए थे, कहीं पर जल के जबरदस्त प्रवाह से उत्पन्न विक्षोभ के कारण भूतल ऊँचा नीचा हो रहा था और इससे भला लगता था ॥७॥ कहीं पर नगर, पर्वत, वन और पत्तनों के अन्दर गड्ढे हो गये थे, इन गड्ढों के भीतर बड़ी-बड़ी शिलाएँ पड़ी थीं, इससे वे गड्ढे एक प्रकार से सश्रृंग से अतएव अत्यन्त भयंकर लगते थे । कहीं पर नगर आदि में रहनेवाले मनुष्यों के मण्डलों के संचलन में उनके पैर की रेखा के चिह्न पड़ने की शंका से भूतल कुछ मृदु कम्पन भी

कर रहा था ॥८॥ कहीं पर रण में सामन्तों द्वारा क्षुब्ध सैन्य का संहार किया जा रहा था, कहीं पर शान्त समस्त सामन्तसमूह सुखपूर्वक बैठा हुआ था ॥९॥ कहीं पर चारों ओर जनता से शून्य जंगल ही जंगल था, उसमें उल्लासी वायुओं के झकोरों से झंकार हो रहा था । कहीं पर जंगल में पहले काटा गया फिर बोया गया, फिर तैयार हुआ धान दीख पड़ता था ॥१०॥ कहीं पर हंस, बत्तक आदि पक्षियों से व्याप्त सरोवरों में सुन्दर सुन्दर कमल खिले थे, कहीं पर मरुभूमि में आँधी से उड़ी हुई धूलियों से स्थूल खम्भों को पैदा करनेवाले धूलिधूसर वायु बह रहे थे ॥११॥ कहीं पर नद, नदी आदि के प्रवाहों के खेलपूर्वक परस्पर संघर्षो से घर–घर ध्वनि हो रही थी, कहीं पर अंकुर आदि की उत्पत्ति नहर, रहट आदि यन्त्रों से सींचे गए खेत में धान आदि बीजों का वर्धन हो रहा था ॥१२॥ कहीं पर भीतर कीटमुखों का मृदु स्पन्दन अनुभूत हो रहा था और कहींपर कीड़े, हे श्रीवसिष्ठजी, मुझे यहाँ शिला आदि के संकट में फँसा हुआ जानकर आप ही मेरी रक्षा कीजिये यों जता रहे थे ॥१३॥ भद्र, कहीं पर वटवृक्षों के जंगल में पृथ्वी में शिखाओं के घुस जाने के कारण मृत्तिकाभाग के अंगो को पीड़ित करनेवाले शाखासमूहों का विशालस्वरूप दीख पड़ता था, तो कहीं पर मूलजाल को पकड़कर वृक्षों का धारण दिखाई देता था ॥१४॥ कहीं पर पर्वतों की शिलाओं के सदृश घनीभूत वृक्षों ने परस्पर अत्यन्त संश्लिश्ट होकर दिशाओं के तटरूप अंगो को भर दिया था, इससे समुद्र के विलास से वेष्टित सा सारा भूपीठ भास रहा था ॥१५॥ कहीं पर इतने घने वृक्ष उगे थे कि पृथ्वी पर सूर्य अपनी किरणों को ठीक ठीक रीति से फैला नहीं सकता था, इसलिए अपनी गति को रोकने के अपराध से क्रुद्ध सूर्य–किरणों के द्वारा अपना रस खींच लेने के कारण अरण्य में सूखे पल्लव संकुचित हो गये थे और घने अंग–प्रत्यंगों का निपीडन भी हो रहा था ॥१६॥ कहीं पर पर्वतों की चोटियों पर रहनेवाले हाथियों के दन्तप्रहाररूप वज्रों के कठोर आघात वृक्षों के घने अवयवों में विद्यमान दृढ़ स्थिरता की ओर होते भी मैंने देखे ॥१७॥ कहीं पर यह दृश्य देखा कि नेत्रों को मूँदे हुए प्रसन्नशरीर समाधिनिष्ठ महात्माओं को अपूर्व रोमांकुरों का चमत्कारी उल्लास हो रहा है । वह रोमांकुरोल्लास सूचित करता था कि उनको सूक्ष्मतत्त्व का अनुभव हो गया है ॥१८॥ कहीं पर मक्खी, जूँ एवं मच्छरों के समूहों के निवास के मैले–कुचैले वस्त्र के सरीखा ही भूतल था और कहीं पर तो छोटी–मोटी भित्तियों के खण्डों तथा प्रमाद से कमलकोश में सोये हुए दुष्ट भ्रमरों को मर्दित करने के कारण शत्रुरूप हाथियों द्वारा क्रीडा से हल के सदृश वप्र आदि का आकर्षण भी हो रहा था ॥१९॥ कहीं पर हिमालय आदि प्रदेशों में शीत से छिन्न–भिन्न अंगोवाले जीवों की जर्जर हुई त्वचा को पूर्णरूप से व्याप्तकर स्थित था, कहींपर जलको भी पाषाण बना रहा था और कहीं पर कठोर पवन चल रहा था ॥२०॥ कहीं पर विदलित कोमल अंगो के भीतर कीटसमूह घुस रहा था, कहीं पर अंग आदि उत्पन्न ही हो रहे थे और कहीं जल में मज्जन ही हो रहा है इस प्रकार मैंने अपने भूतलरूप शरीर में अनुभव किया ॥२१॥ भद्र, अपने भूतलरूप शरीर में मैंने कहींपर यह अनुभव किया कि बीजों में वृष्टि की अधिकता हुई, इससे धीरे–धीरे उनके

भीतर प्रविष्ट जलकणों से पहले आहार हुआ, फिर उसके बाद उनके बाहर प्रकट हुए अंकुररूपी रोमों की अभिवृद्धि हुई ॥२२॥ हे श्रीरामजी, मेरे भूतलरूप अंगों में कहीं पर सरोवरों ने मन्द-मन्द पवनसे हिलाये गये कोमल कमलिनियों के दलों के आस्तरणों द्वारा अपूर्व आनन्दरूप क्रीडाका, मानों मेरे लिए, निमार्ण कर दिया ॥२३॥

अट्ठासीवाँ सर्ग समाप्त

नवासीवाँ सर्ग

भूमि की धारणा से चिदाकाश में देखा गया यह भूमण्डल तथा सम्पूर्ण जगत् मनोमात्र है, यह वर्णन।

श्रीरामभद्र ने कहा : गुरुवर, कौतुक से अपनी आत्मा में सकल जगतों को देखने के लिए प्रवृत्त हुए आप पार्थिव धारणा बाँधकर क्या हम लोग जिस मिट्टीपाषाणादिरूप भूलोक को देख रहे हैं, तद्रूप हो गये अथवा मनोमात्रमय यानी मनोराज्य के सदृश मृत्तिकादिशून्य स्वप्नमय भूलोक हो गये ? यह कहिये ॥१॥

काल्पनिक दृष्टि से या तात्त्विक दृष्टि से यदि विचारा जाय, तो उक्त दो प्रश्नों में कोई भेद ही नहीं है, यह सूचित कर रहे श्रीवसिष्ठजी उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, यदि आप काल्पनिक दृष्टि से पूछते हैं, तो आपकी दृष्टि से मिट्टी, पत्थर आदि रूपसे प्रसिद्ध जो भूमण्डल है, वही केवल मनका विकार होने से मानस भी है, इसलिए मैं जो विस्तृत भूमण्डलरूप हो गया, वह मानस और यह प्रसिद्ध-दोनों रूप ही बन गया था । यदि आप तात्त्विक दृष्टि से पूछते हैं, तो वास्तव में न तो मैं मानसरूप हुआ और न प्रसिद्ध जगद्रूप ही हुआ था ॥२॥

दूसरे श्लोक में पूर्वार्ध से जो कहा, उसका प्रतिज्ञापूर्वक समर्थन करते हैं ।

यदि आप सत् मानते हैं या यदि असत् मानते हैं, दोनों ही पक्षों में यह भूपीठ कुछ भी अमानस हो ही नहीं सकता । यह केवल मनकी कल्पना ही है, क्योंकि मनके अस्तित्व में ही उसमें अस्ति-नास्ति कल्पना होती है ॥३॥ भद्र, मैं शुद्ध चिदाकाश ही हूँ, उस चिदाकाशरूप मुझमें जो चिदात्मा का कुछ स्फुरण हो जाता है, उसीका नाम संकल्प कहा गया है ॥४॥ वह (प्रसिद्ध) मन, वह भूमण्डल, वह जगत् और वह (प्रसिद्ध) पितामह ये सबके सब चिदाकाश में, आकाश में संकल्पनगर के सदृश, केवल मनरूप नभ स्फुरित होते हैं, अतः ये मनोमय ही हैं ॥५॥ इस तरह वह जो कुछ मैं बन गया, वह सब मेरा संकल्प था, अतः वह विस्तृत मनोरूप ही रहा । केवल धारणाभ्यास से पुष्ट होकर वह भूमण्डल होकर स्थित हो गया था ॥६॥

अथवा अज्ञानियों की दृष्टि से प्रसिद्ध मिट्टी, काठ आदिरूपता जो लोक में है उसका तो 'अपागादग्नेरग्नित्वम्' इत्यादि श्रुति से निषेध किया गया है, अतः तत्त्वज्ञान की धारणा में जो

कुछ देखा जाता है, उसका स्वरूप अज्ञानियों की दृष्टि से प्रसिद्ध स्वरूप नहीं हो सकता, इस आशय से कहते हैं ।

भद्र, वह मानस भूमण्डल मिट्टी, पत्थर आदिरूप यह भूमण्डल नहीं है, उससे विलक्षण मनोमय है, चिदाकाशमात्र का स्फुरण है, चितिका अचेत्य (चेत्यभिन्न) स्फुरण है ॥७॥

यदि अमूर्त चिदाकाश का स्फुरण ही इस तरह का यह सब कुछ है, तब वह मूर्तरूप इदंप्रत्यय को (साकार 'यह' व्यवहारको) क्यों धारण करता है, इस पर कहते हैं ।

चिदाकाशमात्रस्वरूप होता हुआ वह दीर्घकालतक वैसा ही स्थित रहता है, धारणा के अभ्यास से पुष्ट होकर जब 'इदम्' (यह) व्यवहार से उसका अनुभव होने लगता है तब वह मानसत्वका (मनोमयरूपता का) परित्याग कर देता है । सारांश यह है कि स्वप्न आदि में केवल मानसरूप अतएव अस्थूल पृथ्वी आदि का जाग्रत के सदृश 'इदम्' व्यवहार से ही अनुभव होता है, इसलिए उनमें मनोमयता रहने पर भी तिरोहित हो जाती है, इस स्थिति में दूध जब दधिरूपमें बन जाता है, तब उसमें जैसे दूध स्वरूपता का अनुभव नहीं होता, वैसा यहाँ मानसत्वका अनुभव नहीं होता, यह नहीं कहना चाहिए, किन्तु यही कहना चाहिए कि, तरंग, कुण्डल एवं साड़ी के रूपमें ही जैसे जल, सुवर्ण एवं कपासरूपता है, वैसे ही यहाँ पर मानसत्व है ही, किन्तु उक्त व्यवहार के बलसे वैसा अनुभव नहीं होता, यह जानना चाहिए ॥८॥ भद्र, यह भूमण्डल स्थिर, अत्यन्त कठोर, अतिविस्तारवाला है, इस प्रकार की बुद्धि, आकाश में नीलताबुद्धि के सदृश, चिरकाल के अभ्यास से ही उत्पन्न होती है ॥९॥ हे रघुवर 'घट आदि तो केवल वाणी के ही विकार हैं, वास्तव में तो वे कुछ नहीं है, मिट्टी रूप ही हैं, मिट्टी ही सत्य है' । इस श्रुतिदर्शित न्याय से यदि देखा जाय, तो अज्ञानियों की दृष्टि से प्रसिद्ध इदंरूप यह पृथ्वीतल है ही नहीं, किन्तु मनोरूप आदि सृष्टि का जो सूक्ष्मरूप एक ही था, वही 'त्रीणि रूपाण्येव सत्यम्' इस श्रुति से उपदर्शित यों इदम् स्थूलरूप बनकर स्थित है ॥१०॥

इदंप्रत्ययलब्धत्वात्' (इदं व्यवहार से उसका अनुभव होने से) इस उक्ति को स्पष्ट करते हैं ।

जैसे स्वप्न में चिदाकाश ही नगर के रूपसे चिदाकाश में भासता है, वैसे ही सृष्टि के आदि में चिदाकाश ही इस स्थूल जगत् के रूप से चिदाकाश में स्थित है ॥११॥ हे रामजी, चितिरूपी बालक का (ब्रह्माजी का) त्रिजगत्, यह भूतल आदि सब दृश्य भी सदा एक मनोराज्य ही है, यह आप जानिये ॥१२॥ चिद्रूप आत्मा का संकल्प चिद्रूप से भिन्न नहीं है, इसलिए जगत् तन्मय ही है । वस्तुतः जगत् न तो सत्यरूप है, न पिण्डरूप है और न भासमान ही है ॥१३॥

अज्ञानियों की दृष्टि से यदि निष्कर्ष निकालें, तो यह जगत् अज्ञातचितिरूप ठहरता है और तत्त्वदृष्टि से निष्कर्ष निकालें, तो शुद्ध चिन्मात्ररूप ही ठहरता है, इस आशय से कहते हैं ।

यह दृश्य अपरिज्ञात चेतनमात्ररूप है और चेतनका परिज्ञान हो जाने पर तो कुछ भी नहीं है ।

तत्त्व का ज्ञान हो जाने पर तो तत्त्व वस्तु ही इसका स्वरूप बन जाती है। भद्र, इसका मैं दीर्घकाल से उपदेश दे रहा हूँ और आप उसे सुनते भी हैं, फिर आप क्यों प्रबुद्ध नहीं होते ? ॥१४॥

किस तरह का ज्ञान हो जानेपर जगत् चेतनमात्ररूप बन जाता है, इस पर कहते हैं ।

सब कुछ चारों ओर से शान्त चिदाकाशमात्ररूप ही है, अपने आप ही आत्मा में वह स्फुरित होता है, भूमण्डलरूप और दृश्यरूप चिति ही है, जो द्वैत एवं एकता से रहित है ॥१५॥ जैसे वैडूर्य आदि मणि कुछ व्यापार न करती हुई भी स्वभावतः शुक्ल, पीत आदि किरणों का निर्माण करती है ॥१६॥

'नेति नेति' इत्यादि श्रुति का पर्यालोचन द्वारा उपसंहार करते हैं ।

चूँकि चेतनरूप आत्मा न कुछ करता है और न अपना असली स्वरूप छोड़ता है, इसलिए न तो यह मृत्पाषाणादिमय महीतल कुछ है और न मनोमय ही कुछ है ॥१७॥ निरन्तर चिदाकाश ही महीतल के सदृश भासता है, तलभावशून्य चिदाकाश ही अपने स्वरूप में स्वभावतः निर्मलतल होकर स्थित है ॥१८॥ प्रसिद्ध यह यथास्थित जगत् और वह धारणाकल्पित जगत् दोनों एकमात्र आत्मा का स्वाभाविक स्फुरणमात्र ही है, अत्यन्त निर्मल चिदाकाश ही भेद में प्रवेश कर रहे स्वभाव के बल से यानी मायाशबल से भूमण्डल-सा बनकर स्थित है ॥१९॥

चिति के विवर्तभाव में धारणाकल्पित (समाधिकल्पित) भूमण्डल और यह प्रत्यक्ष भूमण्डल दोनों ही समान हैं, यह कहते हैं ।

यह प्रत्यक्ष भूमण्डल और वह धारणाकल्पित भूमण्डल-दोनों ही महाचिति के स्वरूपभूत होकर ऐसे स्फुरित होते हैं, जैसे आपका स्वरूपभूत स्वप्ननगर होकर स्फुरित होता है ॥२०॥ यह प्रसिद्ध भूतल चिदाकाशमात्ररूप है मेरी धारणा से कल्पित भूतल भी चिदाकाशमात्ररूप है। परन्तु वह जो भासता है, उसमें कारण है-अज्ञानउपहित आत्मा का ज्ञान । आत्मा का ज्ञान हो जाने पर तो यह दोनों भूमण्डल कहीं पर भी नहीं रहते ॥२१॥ श्रीरामजी, भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालमें होने वाले त्रैलोक्य का समस्त भूतजाल केवल भ्रान्तिरूप ही है, वह संकल्प-जैसा है, उसकी तुलना ठीक मनोराज्य से की जा सकती है ॥२२॥ हे प्रिय, जो हो चुके हैं, जो होनेवाले हैं तथा जो वर्तमान में हैं, वे सभी भूमण्ड़ल सर्वाधिष्ठान होने के कारण सर्व-साधारण भावको प्राप्त आत्मसत्ता के ही स्वरूपभूत हैं यानी आत्मसत्ता से अलग नहीं है ॥२३॥ वे सत्तासामान्यरूप हैं, इसी कारण वे और उनके भीतर विद्यमान सब वस्तुएँ मैं ही हूँ, यों धारणा बाँधकर मैंने मनसे उनका अनुभव किया और साक्षी दृष्टि से निःशेष दर्शन भी किया ॥२४॥ हे श्रीरामजी, चिन्मात्ररूप, जरावस्था से शून्य यह परमात्मतत्त्व ही अबोधकाल में अपनी शुद्धरूपता का परित्याग न करके ही यथास्थित इस समस्त जगत् को मानों सद्रूप बनाकर धारण करता है, ज्ञान हो जाने पर तो वह कुछ भी धारण नहीं करता, यही इसकी मुक्ति है ॥२५॥

नवासीवाँ सर्ग समाप्त

नब्बेवाँ सर्ग

पृथ्वी के अन्दर अनन्त जगतों की दृष्टि तथा जलधारणा से समस्त जललीलाओं का पूर्ववत् वर्णन।

जैसे प्रसिद्ध जगत् में चाँदी की शिला आदि विभिन्न प्रदेशों में अनेक ब्रह्माण्ड हैं वैसे ही धारणाओं से देखे गये भूमण्डलों में भी प्रत्येक वस्तु में वे जगत् हैं या नहीं यों सन्देह कर रहे श्रीरामचन्द्र यह प्रश्न करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, इसके बाद मुझसे यह कहिए कि जैसे प्रसिद्ध जगत् की वस्तुओं में प्रत्येक में आपने अनेक जगत् देखे वैसे ही आपने धारणाभ्यास से जिस महीपीठ को देखा उसके विविध प्रदेशों के भीतर भी आपने कहीं जगत् देखे या नहीं ॥१॥

इस श्लोक में मण्डलशब्द को प्रदेश भेद का वाचक समझना चाहिए।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र, पृथ्वीधारणा से परमात्मा के जाग्रतपृथ्वीमण्डल और स्वप्नपृथ्वीमंडल समूहरूप बनकर मैंने तत्-तत् पृथ्वी के प्रदेशविशेषरूप उसके हृदय में जो कुछ साक्षिदृष्टि से देखा और मन से विचारपूर्वक अनुभव किया, उसे कहता हूँ, सुनिए। स्वप्न का ग्रहण स्वप्न की पृथ्वी के अनेक प्रदेशों में भी अनन्त जगत् का अवलोकन हो सकता है, यह बतलाने के लिए किया गया है ॥२॥

क्या देखा क्या अनुभव किया ? इसे कहते हैं।

पहले देखी गई चाँदी की शिला के सदृश ही यानी चाँदी की शिला में मैंने जैसे समस्त जगत् देखे थे, वैसे ही धारणा से दृष्ट भूमण्डल के सभी स्थानों में जगत्जाल-सा स्थित मैंने देखा। समस्त दृश्यमान द्वैतमय होता हुआ भी यथार्थ में शान्त अद्वैत ही है ॥३॥

कैसे द्वैतमय है और कैसे शान्त अद्वैतरूप है ? इस पर कहते हैं।

सभी स्थानों में जगत् हैं और सभी जगह ब्रह्म भी स्थित है तथा सब-कुछ शून्यात्मक एवं परमशान्तरूप है और सब अनेक तरह के आरम्भों से पूर्ण भी है ॥४॥ सर्वत्र पृथ्वी आदि स्थूल पदार्थ हैं और यथार्थ में वह कुछ नहीं भी है, अनुत्पन्न स्वप्ननगर के सदृश है, यदि कुछ है तो केवल पर चिदाकाश ही वस्तु है ॥५॥

एक, अनेक या सत्य वस्तु अब सिद्ध हो सकती है, जब एक, अनेक आदि का दर्शन करनेवाला दर्शनाभिमानी संसार में प्रसिद्ध हो, परन्तु ऐसा दर्शनाभिमानी ही नहीं है, ऐसा कहते हैं।

भद्र, इस प्रपंच में जब न तो नाना (अनेक) वस्तु है, न अनाना (एक) वस्तु है, न अस्तित्व है और न नास्तित्व ही है। अधिक क्या कहें-जो 'अहं' (मैं) शब्द से दर्शनादि का अभिमानी कहा जाता है, वह भी नहीं है। जब वह भी नहीं है, तब कैसे कौनसी वस्तु है ? ॥६॥ राघव, यद्यपि यह दृश्य सत् और 'अहम्' (मैं) इत्यादि रूपसे अनुभूत होता है, तथापि उसका अस्तित्व परमार्थदशा

में है ही नहीं। यदि अस्तित्व है, तो वह अज निर्विकार ब्रह्मका ही है यानी जो कुछ भासता है वह ब्रह्मरूप ही है ॥७॥

इस रीति से जब दृश्यों में प्रतियोगी अस्तित्वका स्थान नहीं है, तब अस्तित्व के अभाव नास्तित्व का भी स्थान नहीं है, यह अनायास सिद्ध हो जाता है, यह कहते हैं।

चूँकि सृष्टि के आदि में यानी सृष्टि के पूर्व चिदाकाश ही था, इसलिए सृष्टि के बाद चिदाकाश में देखा गया भी यह स्वप्ननगर के सदृश ही है, इसलिए उसमें अस्तित्व और नास्तित्व ही कैसे, कहाँ, किस हेतु से रह सकते हैं ? ॥८॥

श्रीरामभद्र ने जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर देकर अब जलःधारणा बाँधकर जो कुछ कौतुक देखा था, उसको कहने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

श्रीरामजी, जैसे मैंने पृथ्वी-धारणा से पृथ्वीरूप बनकर पूर्वोक्त जगत् देखे, वैसे ही जलधारणा से जलरूप बनकर जल-जगत् देखा ॥९॥ हे राघव, मैं यद्यपि चेतनरूप ही हूँ, फिर भी मैं जलधारणा से जड़रूपसा बन गया। तदनन्तर जलरूप होकर मैंने समुद्ररूपी मन्दिरों के भीतर दीर्घकाल तक गुड़-गुड़ शब्द किया ॥१०॥ जैसे आपके अंगो में जूँ आदि नजर बचाकर मन्दगति से चढ़ जाती है, ठीक ऐसे ही मैं तृण, वृक्ष, लता, गुल्म, वल्ली आदि के डण्ठलों में मन्दगति से छिपे-छिपे चढ़ गया ॥११॥ सूक्ष्म तन्तु के आकार के एक छोटे कीड़े को (काँतर को) कर्णाहि कहते हैं। वह जैसे मन्दगति से छिपे-छिपे आकर कान में घुस जाता है। बस ठीक उस कीड़े के सदृश मैंने अत्यन्त मृदु गति से छिपे छिपे उन तृण, वृक्ष आदि के तनों में, तृणादि की उर्ध्वस्थिति के सदृश, ऊर्ध्वस्थिति की तथा उनके पोरों और छिद्रों में कोमल वलयाकारवाली (गेंडुली-सी) रचना भी की ॥१२॥ लताओं और तमाल, ताल आदि पेड़ों के पल्लवों तथा फलों में रसरूप से विश्राम कर काल से पुष्ट (उन-उन पत्ते आदि के) आकारों द्वारा भीतर शिरा आदि रेखाओं की रचना भी मैंने की ॥१३॥ जीवों की देहों में जलपान के समय मुख के द्वारा हृदय में प्रवेश कर बसन्त आदि ऋतुओं के कारण होनेवाली विषमता धर लेनेवाले मैंने कहीं वात, पित्त और कफरूप धातुओं को धारण किया, कभी उन्हें कुपित किया, कुछ को जठराग्नि से पचा डाला, किन्हीं को खण्डित किया ॥१४॥ तनिक भी खेद (थकावट) का अनुभव न करनेवाले हिमकणका रूप धारण किये हुए मैंने एक ही समय में समस्त दिशाओं में सम्पूर्ण पल्लवरूपी शय्याओं पर शयन भी किया ॥१५॥ जो ह्नद अनेक नदियों के घर हैं यानी मार्ग के निवासस्थान (विश्रामगृह) हैं, उनका आश्रय करते हुए तथा निरन्तर प्रवाह के कारण अविरतगतिवाले मैंने बाँधरूपी मित्र के प्रसाद से कहीं-कहीं विश्राम भी किया ॥१६॥ मैं चिद्रूप हूँ, चितिरूपी मैंने अचित् अंशका विषयरूप से अनुसन्धान किया, उसमें भी विषयांशमात्रता के कारण चित्स्वभावका आश्रय नहीं किया, अतः मैं जड़ जलरूप ही हो गया। यों जड़ जलरूप हुआ, मैं जड़ाशयप्राय जलाशयों में हजारों भ्रमों के साथ आवर्त के

सदृश वर्तन करता हुआ खूब उल्लास करता रहा ॥१७॥ प्रायश्चित्त के निमित्त भृगुपतन में प्रवृत्त हुए पापी के सदृश पर्वतों की ऊपर की शिलाओं से गिर रहे निर्झररूप मैंने गर्तपातों में जीर्ण–शीर्ण होकर हजारों रूपों से स्थिति प्राप्त की ॥१८॥ लकड़ियों से धूम्र के रूपमें निकलकर मैं आकाशरूपी समुद्र में नीले रंग के नक्षत्र मणियों के भीतर रत्नकण बना और मैंने वहाँ स्थान जमा लिया। *श्रीवसिष्ठजी की इस उक्ति से यह मालूम होता है कि हम लोगों के लिए अदश्य नीले वर्ण के भी नक्षत्र आकाशमण्डल में हैं* ॥१९॥

काटी हुई इन्द्रनील मणि के सदृश नीलवर्णवाले भगवान् विष्णु लक्ष्मीजी के साथ शेषनाग के अंगों पर विश्राम करते हैं, वैसे ही मेघों की पीठपर नील वर्णवाले मैंने भी विद्युतरूपी वनिता के साथ विश्राम किया ॥२०॥ परमाणुमय सृष्टि में यानी पिपीलिका आदि परमसूक्ष्म देहात्मक सृष्टि में तत्–तत् प्राणियों के पिण्डरूप एवं उनके भीतर के परम सूक्ष्म नाड़ीरूप पदार्थों में सूक्ष्म–जलरूप बनकर मैं सर्वात्मा ब्रह्म की तरह स्थित रहा ॥२१॥ भद्र, मैं मधुर रसरूप भी तो बन गया था । रसरूप बनकर मैंने जिह्वारूप अणुओं के साथ संसर्ग प्राप्त किया । संसर्ग प्राप्त कर रसास्वादरूपी उनकी वह उत्तम अनुभूति की, जिसे मैं देह की नहीं मानता, किन्तु केवल ज्ञानरूप आत्मा की मानता हूँ, अर्थात् वह अनुभूति विषयानन्द के आकार में आविर्भूत आत्मा का स्वरूप है, वह मैं मानता हूँ ॥२२॥

कुछ लोग विषय को ही आनन्दरूप और आस्वाद लेने योग्य मानते हैं, परन्तु यह मानना उचित नहीं है, विषय तो असत् और दुःखरूप है तथा वह आस्वाद लेने योग्य है ही नहीं, अतः विषय को अलग कर आनन्द को बतलाते हैं।

जो विषयरूप चेत्य है, उसका न तो मैंने (अधिष्ठान चेतन ने), न स्वाद लेनेवाले पुरुष की देह ने और न जीव ने ही स्वाद लिया है, क्योंकि उसमें आत्मचिति ने अपने अन्दर जो स्फुरण किया है, वह जीवों के अज्ञानार्थ (व्यामोहार्थ) ही है । जिससे वह विषय उत्पन्न हुआ, वह अज्ञान भी असत् ही है, जो स्वयं असत् है, उससे असत् अर्थ की ही उत्पत्ति मानना उचित है ॥२३॥

अथवा, विषय स्वादयोग्य हैं, यदि यह पक्ष है, तो उसमें विषयाधिष्ठान चेतन के द्वारा आस्वादित ही विषयों को दूसरे चखते हैं, जो कि उसके उच्छिष्टप्राय हैं, यही कल्पना हो, इस आशय से कहते हैं।

समस्त ऋतुओं में उत्पन्न होनेवाला जो रस है, तद्रूप बनकर भ्रमरोंको उच्छिष्ट रस देते हुए मैंने सब दिशाओं में अनेक तरह के आमोदों से पूर्ण फूलों का खूब उपभोग किया ॥२४॥ भद्र, यद्यपि मैं यथार्थ में अजड़रूप ही हूँ, फिर भी कल्पनावश जड़ जलरूप होकर मैं ने चौदह प्रकार के प्राणियों के अंगो की सन्धियों में चेतन की नाईं निवास किया ॥२५॥ राघव, मैंने जलकणका रूप भी धारण किया था । उस रूपको धारणकर मैंने पवनरूपी रथपर चढ़कर निर्मल आकाश के मार्गों

में, आमोद के सदृश, जनाह्लाद और विहार किया ॥२६॥

वहाँ भी परमाणु तक की सभी वस्तुओं में हर एक जगह, चाँदी की शिलाके सदृश, सृष्टियों का मैंने अनुभव किया, यह कहते हैं।

हे रामजी, जलधारणाकाल में भी मैंने प्रत्येक परमाणु कण में पूर्णरूपसे यथास्थित इस जगत् को देखा ॥२७॥ एकमात्र जल को विषय करनेवाली एकरूप उस जलधारणा से स्वयं अजड़ होता हुआ भी जड़ जल-सा बनकर तथा सब पदार्थों के भीतर ज्ञातारूप होता हुआ मैं अज्ञातरूप से स्थित रहा ॥२८॥

हर एक वस्तु के अन्दर जो जगत् देखे उनके भी भीतर के प्रत्येक पदार्थ में वैसे ही अन्य अन्य अव्यवस्थित जगत् भीतर भीतर मैंने देखे, यह कहते हैं।

भद्र, वहाँ केले के दल के सदृश भीतर और उसके भी भीतर उत्पन्न लाखों जगत् तथा सैकड़ों नाश एवं उत्पात मैंने देखे ॥२९॥

यद्यपि अधिष्ठान चिति कल्पित अनन्त जगतों से व्याप्त है, तथापि उसमें किसी तरह की भी मलिनता नहीं है यह कहते हैं।

इस रीति से जगत् हो चाहे न हो, साकार हो चाहे निराकार हो, सभी अवस्थाओं में सब केवल चितिरूप आकाश ही है, यह प्रसिद्ध आकाश से अधिक निर्मल है ॥३०॥

रामजी द्वारा देखे जानेवाले जगत् में भी उक्त न्याय को लगाते हुए सबके अधिष्ठानभूत शुद्ध चिन्मात्र वस्तु में श्रीरामजी की प्रतिष्ठा कराते हैं।

आप कुछ नहीं हैं यानी न आपकी तीन अवस्थाएँ हैं और न देह, इन्द्रिय आदि ही हैं, न यह कुछ है यानी न आकाश आदि बाहरी प्रपंच ही है, किन्तु परम विशुद्ध बोध ही इस जगत् के रूप में भासता है। वह-शोधित 'तत्' 'त्वम्' पदार्थरूप-बोध भी वास्तव में कुछ नहीं है यानी न तो वह दृश्य-स्वभाव है, न अदृश्य स्वभाव है और न अदृश्यशून्य स्वभाव है, किन्तु अखण्डाकाशरूप है। वही आप हैं। इसलिए आप उक्त आत्मरूप बनकर उत्तरोत्तर विकास प्राप्त कर लें ॥३१॥

नब्बेवाँ सर्ग समाप्त

इक्यानबेवाँ सर्ग

तेज की धारणा से तेजरूप बनकर श्रीवसिष्ठजी ने जो सूर्य, चन्द्र, अग्नि एवं रत्न आदि के चमत्कार देखे, उनका वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, उसके बाद-जल धारणा से विचित्र कौतुक देखने के बाद-प्रबल तेज धारणा से मैं चन्द्र, सूर्य, तारा, अग्नि आदि विचित्र अवयवों से सम्पन्न तेज बन गया ॥१॥ तेज निरन्तर सत्त्वप्रधान (प्रकाशप्रधान) होता है, इससे मैं एकमात्र प्रकाशरूप आकार से चमकने लग गया। मैं अन्धकार पर ऐसा प्रतापी बन गया जैसा कि चक्षु के गोचर अपने चुराये

हुए पदार्थों को छोड़कर भाग रहे चोरों पर राजा प्रतापी होता है ॥२॥ जैसे श्रेष्ठ राजा तरह–तरह की वेशभूषा से परिभ्रमण करनेवाले स्नेहयुक्त गुप्तचरों द्वारा सबके घर का वृतान्त प्रत्यक्ष कर लेता है, वैसे ही हजारों बत्तियों से विहार करनेवाले तेलयुक्त दीपक आदि के द्वारा धीरे से मैंने प्रत्येक घर में प्रत्येक पदार्थ को प्रत्यक्ष कर लिया है ॥३॥ मैंने तेजरूप बनकर केवल दूसरों के प्रकाश के प्रकाशन में ही तत्पर रहनेवाले, अतएव जनों एवं भुवनों में अतिसन्तुष्ट तथा पुलकित रहने वाले चन्द्र, सूर्य की किरणरूपी अपने रोमों के द्वारा सबको ढक देने वाले अन्धकार रूप वस्त्र के सदृश दृश्यमान आकाशरूप वस्त्र को उठाकर दूर फेंक दिया ॥४॥

तेज अन्धकार को क्यों दूर फेंक देता है ? इस पर कहते हैं।

भद्र, यह विद्यमान सम्पूर्ण जगत् समस्त गुणों को छिपा देनेवाले अन्धकाररूपी दीनता का विषय है यानी अन्धकाररूपी दीनता जगत् में जो रूप आदि गुण हैं , उनको दिखने नहीं देती और दूसरे की दीनता को दूर करने में समर्थ सभी गुणशाली पुरुष उत्तम–दीनतारहित–जगत् को देखना चाहते हैं, अतः तेज के द्वारा अन्धकार को समस्त जगत से हटा देना युक्त ही है ॥५॥ श्रीरामचन्द्र, मैं जिस तेज के रूप में परिवर्तित हुआ, वह तेज तमोरूप तमाल वृक्ष के लिए तो फरसा है, उत्तम शुद्धिका स्थान है तथा तेजरहित सुवर्ण, मणि, माणिक आदि का लोक में समादर नहीं होता, अतः वह तेज सुवर्ण आदिरूप जनों के आदर का हेतु है अथवा सुवर्ण, मणि, माणिक, मोती आदि के रूप से समस्तजनों का जीवनसाधन है ॥६॥ संसार में जितने भी रूप हैं, वे सब प्रकाश के (तेज के) ही अंश हैं, अतः सदा आलोक की (तेज की) गोद में शयन करनेवाले शुक्ल (श्वेत), कृष्ण, अरुण आदि समस्त वर्णों का, पुत्रों को देह देनेवाले पिता के सदृश, वह तेज स्वरूपदाता पिता है ॥७॥ रामजी, यह तेज पृथ्वी के साथ अत्यन्त घनी प्रीति रखता है, इसीलिए तेज अग्नि द्वारा पृथ्वी को (मिट्टी को) नहीं जलाता। पृथ्वी भी अपना स्नेह व्यक्त करने लिए हर एक घर में बड़े प्रेम से भीत, प्रासाद (महल) आदि का रूप लेकर तेज के पुत्र दीपकों की–वायु आदि के झकोरों से–रक्षा करती है ॥८॥

तमोभाग, रजोभाग एवं सत्त्वभाग की बहुलता से युक्त पाताल आदि लोकों में तेज के प्रकाश का तारतम्य बतलाते हैं।

तमोगुण की अधिकता से युक्त पातालकुहरों में यह तेज स्वल्प प्रकाश करता है और अनेकविध भूतों की माला (परम्परा) से युक्त, रजोगुण की विपुलतावाले भूतल में यह आधा प्रकाश करता है ॥९॥ सत्त्वगुणमय यानी सत्त्वगुण की प्रचुरता से युक्त देवलोकों में यह निरन्तर महान् प्रकाश करता है। भद्र, यह तेज जगद्रूपी जीर्ण–शीर्ण कुटिया का दीपक है और अन्धकार के लिए महा अगाध कूप है यानी जैसे अगाध कूप जल को अपने उदर में निगल जाता है वैसे ही यह अन्धकार को अपने अन्दर निगल जानेवाला है ॥१०॥ दिशारूपी वधुओं के लिए तो यह तेज निर्मल

दर्पण है यानी उनको अलग अलग करके दर्शाता है, निशारूपी नीहार के लिए वायु है यानी वायु के सदृश उनको नष्ट कर देता है, चन्द्र, सूर्य और अग्नि के लिए तो जीवनसर्वत्र है और स्वर्ग लोक के लिए कुंकुमका तिलक है ॥११॥ दिवसरूपी धानों के लिए वह क्यारी है, तमसे (अन्धकार से) आक्रान्त रूपादिके लिए तो वह साक्षात् दया की मूर्ति ही है और गगनरूप महान् काँचपात्र के लिए प्रक्षालनार्थ अतिस्वच्छ जल है ॥१२॥ तेज पदार्थों में सत्ता का प्रदान करनेवाला तथा उनको प्रकाशित भी करनेवाला है, इसलिए चिन्मात्ररूप जो परमार्थ वस्तु है, उसका एक तरह से वह सहोदर, छोटा भाई है। छोटा भाई इसलिए है कि जड़ होने के कारण वह उससे जघन्य है ॥१३॥ तेज क्रियारूप कमलिनी के लिये सूर्य है और भूतल के हृदय का जीवन है। चाक्षुषवृत्ति और मानस वृत्ति के ऊपर आरूढ़ चिति का जैसे विषयगत अज्ञान की निवृत्ति करना चमत्कार है, वैसे ही इस तेज में भी विषयावरण अन्धकार की निवृत्ति करना चमत्कार है ॥१४॥

यह तेज विशाल ब्रह्मांड के खन्दक में रहनेवाला बड़ा समुद्र ही है, यों उत्प्रेक्षा करने के लिए रूपक से कल्पित धर्मों से तेज को विशेषित करते हैं।

यह तेज विशाल ब्रह्माण्ड के खण्ड का एक महान् अविनाशी समुद्र है। आकाशतल में विद्यमान असंख्य नक्षत्ररूपी मणियों से भरा है, इसमें दिन, ऋतु, संवत्सर आदि कालभेदरूप चारों ओर वृद्धिगत बडवाग्नि आदि से उत्पन्न महान् क्षोभ के कारण फेन उत्पन्न होता है। चन्द्र, सूर्य आदिरूप तरंगों के भीतर प्रसृत रज से जल के बिना कभी कीचड़ भी इसमें भरा रहता है ॥१५,१६॥ भद्र, मैं तेज बनकर सुवर्णादि में सुन्दर वर्ण (रंग) बन गया, मनुष्यादि में पराक्रम बन गया, रत्न आदि में चाकचाक्य (कान्तिविशेष) बन गया और वर्षा ऋतु में विद्युत-प्रकाश (बिजली की चमक) बन गया ॥१७॥ राघव, मुख के सदृश चन्द्रबिम्बों में ज्योत्सना बन गया, बरौनीवाले नेत्ररूपी चिह्न से (अंकसे) युक्त मुखरूपी चन्द्रबिम्बों में तो ज्योत्सना के सदृश बह रहे स्नेहरूपी अमृत का पूर या हास सौहार्दयुक्त कमनीय कान्ति बन गया॥१८॥ कामिनीजनों में मैं कपोल, बाहु, नेत्र, भौंह, हाथ, केश आदि को अति सुन्दरता से प्रकाशित करनेवाला, सर्वत्र अचेतरूप से प्रसिद्ध स्वाभाविक काम का विलास बन गया॥१९॥ श्रीरामजी, तेज की धारणा से तेज होकर मैं वृत्र आदि असुरों के, जो त्रिभुवनको तृण के समान समझते थे तथा अपनी चेष्टाओं से अपने शत्रुओं को कँपा डालते थे, मस्तक पर वज्रप्रहार बन गया और सिंह आदि के हृदय में वीर्यरूप बन गया॥२०॥ वीर पुरुषों में रणांगणों में निर्भय विचरण करने का कारण जो उद्भूत पराक्रम प्रसिद्ध है, वह भी मैं बन गया, जैसा तैसा पराक्रम नहीं, किन्तु अतिकठोर लौहकवचों को तोड़नेवाले खण्डों के परस्पर आघातों से उत्पन्न टंकार ध्वनि से अत्यन्त पटु तथा बड़े भारी आडम्बर से युक्त पराक्रम बन गया ॥२१॥ देवो में दानवों का शत्रु, दानवों में देवताओं का शत्रु, सब भूतों में उत्तम बल तथा वृक्ष आदि स्थावरों में उन्नतिरूप भी मैं बन गया ॥२२॥ हे कमलदललोचन, तदनन्तर

अपनी धारणा से कल्पित उन जगदाकाश के कोशों में मै सूर्य होकर नीचे कही जानेवाली समस्त वस्तुओं का अपने अन्दर ऐसे अनुभव करने लगा, जैसे कि प्रसिद्ध मरुस्थली अपने अन्दर नदी आदि की कल्पना का अनुभव करती है ॥२३॥

उसीको कहते हैं।

भद्र, मैंने अपने सूर्य के स्वरूपका अनुभव किया, उस रूपसे मैंने दसों दिशाओं में फैले हुए हाथरूपी किरणों से जगत्‌रूपी पक्षी को पकड़ लिया, जिसके कि बड़े-बड़े पर्वत अवयव थे। उस समय मुझको यह सारा भूतल एक छोटे से गाँव के सदृश प्रतीत हुआ ॥२४॥ मेरा सूर्यस्वरूप चन्द्र की कामना करनेवाले कुमुदों के लिए कोशबन्धन का हेतु चक्र बना, अन्धकाररूपी समुद्र के लिए बडवाग्नि, ब्रह्माण्डरूपी घरके लिए दीपक और दिनरूपी फलसमूह के लिए वृक्ष बना ॥२५॥ इसी तरह मैं चन्द्ररूप भी बन गया। मेरा चन्द्र का जो स्वरूप हुआ, उसका आकार अमृत से लबालब भरी झील के सदृश था, वह स्वर्ग का मुख के सदृश हास था तथा रात्रि में प्रवेश करनेवालों का प्रकाशकर्ता था ॥२६॥ वह मेरा चन्द्र का रूप समस्त जगत् की सुन्दरतारूपी लक्ष्मियों के उपमान तथा रात्रि, रोहिणीरूपी नारी एवं कुमुदों के लिए उत्तम स्नेह का भाजन था ॥२७॥ अधिक क्या कहें, जितने संसार में प्राणी हैं, उन सबके नेत्र और मुखका आह्लाद और विकास का हेतु होने के कारण वह अत्यन्त ही प्रिय लगता था । श्रीरामजी, तदनन्तर मैं मृदु तारासमूह बन गया यानी अपने में समस्त तारों के स्वरूप का अनुभव करने लगा । यह मेरी तारात्मता आकाशरूपी लता की मानों पुष्प राशि थी, और स्वर्गसुखरूपी मकरन्द के प्रवाह में आसक्त मानों मच्छरों की कतार थी ॥२८॥ भद्र, मैं रत्न बन गया । कुछ समय मेरा यह स्वरूप बाजारों में जौहरियों के हाथों से तुलापर तोलने के कारण आन्दोलित हो उठा था तथा कुछ समय समुद्रों द्वारा जल-कल्लोलरूपी हाथों से कम्पित किया गया था ॥२९॥ श्रीराघव, समुद्र का जल पी जानेवाला बडवानल भी मैं बन गया । मैंने अपने बडवानल रूप से समुद्र में डरे हुए छोटे-छोटे मत्स्यों के परिभ्रमण का खूब कौतुक देखा । जल को स्वाहा करनेवाला सूर्य किरण का समूह बनकर मैंने अपने शरीर में प्रकाश का अनुभव किया। मेघ, पर्वत आदि में मैंने बिजली और दावाग्नि का स्वरूप धारण कर लिया और उन शरीरों में अपने में अपूर्व प्रकाश का अनुभव किया ॥३०॥ मैंने अग्नि बनकर इस प्रकार दीप्तिपूर्वक जलना आरम्भ किया कि उसमें लकड़ियों का विदारण तत्काल हो जाता था, इसीसे लकड़ियों के विस्फोटों से चारों ओर दुर्वार कठिन शब्द उत्पन्न होते थे तथा यज्ञाग्नि होकर मैंने हविष् दाह का भी आनन्द लूटा ॥३१॥ जब मैं अग्नि बना तब सुवर्ण, माणिक्य, मोती, मणि आदि जो चमकीली ज्योतियाँ थी, उनका कोशागार के दाह द्वारा पराभव कर उनके स्वामियों को ऐसा सन्ताप पहुँचाया, जैसे अनेक मूर्ख बलवानों के द्वारा वितण्डा से एक पण्डितको सन्ताप पहुँचाया जाता है ।

(इस विषय की कहावत है कि एक पलाश के पेड़ को देखकर पंडित ने कहा : यह पलाश वृक्ष

है । इस पर वहाँ विद्यमान अनेक मूर्खों ने मिल कर कहा : नहीं यह पाढ़र का पेड़ है । झगड़ा बढ़ा, और मूर्खों ने पण्डित की मुक्कों से पूजा आरम्भ की, पण्डित भी दुःखी होकर कहने लगा : हाँ, यह पाढ़र का पेड़ है) ॥३२॥

मोती बनकर जो कुछ अनुभव किया, उसे भी प्रसंगवश कहते हैं ।

भद्र, तदनन्तर मैं मोती बन गया । और मोतियों के हार रूपसे असुर, नाग, गन्धर्व और नरनायकों की रमणियों के स्तनों पर मैंने दीर्घकाल तक विश्राम किया ॥३३॥

खद्योत बनकर जो अनुभव किया, उसे कहते हैं ।

खद्योत बनकर मैंने मार्ग में गमन कर रहे मनुष्यों के पैरों से खूब रगड़ खाने का अनुभव किया और स्त्रियों के ललाटपर तिलकरूपता का भी अनुभव किया । स्थानभेदों से प्राप्त हुई उत्कर्षअपकर्षरूप अवस्थाओं में मेरी चपलता (अनियतता) तो जरा देखिये ॥३४॥ जल के आवर्तों से शब्दायमान आकाशस्थ मेघों में विद्युत का रूप लेकर मैंने समुद्र में मछली के सदृश अत्यन्त सुन्दर ढंग से चेष्टाएँ कीं ॥३५॥ मैंने कहीं दीपक रूप भी ले लिया । दीपक के रूप में जब मेरी अन्तःपुर में स्थापना हुई, तब रमणियों की सुरतक्रीड़ा का भी मैंने अवलोकन किया। दीपक के रूप में पुष्प कलिका के सदृश मेरे कोमल अंग खूब शोभते थे ॥३६॥ बत्ती के आगे केहिस्से में कभी-कभी काजल का एक जाल-सा बन जाता है । यह दीपज्वालारूप सोने के टुकड़े को तोड़-फोड़ देता है, यही इसका स्वरूप है, भद्र, इस कज्जलजाल के ही समागम से कभी मन्दप्रभ बनकर ज्वालादि अंगों को समेट लेने के कारण दीपक रूप में मैं घन कूर्म का रूप भी बना लेता था ॥३७॥ राघव, कभी कल्पान्त का अग्नि बनकर मैंने कल्पान्त में समस्त जगत् में खूब परिभ्रमण किया । भ्रमण करने के कारण उस समय मुझे जो बड़ा परिश्रम हुआ, उससे कज्जल श्याम आकाश में कहीं ऐसे विलीन हो जाता था, जैसे इन्द्र के वाहन काले मेघों में विद्युत विलीन हो जाती है ॥३८॥ कहीं वडवाग्नि के रूप से मैंने कल्पपर्यंत खूब जलपान किया, तदनन्तर सब जगत् और सब जल जब आकाश पानी शून्यरूप हो गये, तब आकाश में नृत्य किया ॥३९॥ मैंने जब अग्नि की देह धारण की थी, तब जलती लकड़ियाँ ही मेरे उल्मुक दाँत बन गए, ज्वालाएँ हाथ बन गई और चंचल धूम्र के आवर्त केश हो गये । इस रूपसे जब नगर और प्ररूढ़ लतापल्लवों का दाह करना आरम्भ किया तब हे कृताष्ट (दयादि आठ गुणों को स्थिर बनानेवाले हे श्रीरामजी), जन्तुओं को ग्रास कर जानेवाले मैंने काष्ठ आदि पदार्थों को अपना खाद्य बना दिया ॥४०,४१॥ लोहार आदि कारीगरों की प्रयोगशालाओं में लोहपिण्डों में रहकर मैंने मुद्गर तथा पत्थरों से ताडित होकर ताडन करनेवाले को जलाने के लिए चिनगारियाँ तथा पत्थर के छोटे छोटे कंकड उगले ॥४२॥ भद्र, कहीं पर मैंने बड़ी बड़ी चट्टानों के अन्दर पाषाणमणिका (हीरा, पन्ना आदि का) रूप लेकर समस्त भूतों की दृष्टि से ओझल होकर सैकड़ों युग तक वास किया ॥४३॥ श्रीरामभद्र ने कहा : हे मानद, हे

मुनिवर, उस पाषाण आदि अवस्था में क्या आपने सुख का अनुभव किया अथवा दुःखका अनुभव किया, यह मुझसे ज्ञान के लिए कहिए ॥४४॥

चिदानन्दैकरसस्वरूप ब्रह्मभूत मैंने केवल कौतुकवश जगद्रूपता का आरोप देखा था, इसलिए उक्त पाषाण, मणि आदि अवस्थाओं में मुझको तनिक भी दुःख नहीं हुआ, किन्तु सुख ही हुआ, यों उत्तर देने के लिए वसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, जैसे सुप्त पुरुष चेतनरूप होता हुआ भी जडता का अनुभव करता है, वैसे ही चिद्रूप आकाश दृश्यभाव को प्राप्त होकर जड़ता का अनुभव करता है ॥४५॥ जब ब्रह्म अपने को पृथ्वी आदि के रूप के सदृश समझने लगता है, तब सुषुप्त के सदृश जड़–सा बनकर स्थित रहता है, वास्तव में इसका जो भीतरी सच्चिदानन्दात्मक स्वभाव है, उसका अन्यथाभाव कभी नहीं होता, इसलिए दुःख की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥४६॥

क्यों ब्रह्म का अन्यथाभाव नहीं होता ? इस आशंका पर कहते हैं।

ब्रह्म में जो आकाश, पृथ्वी आदि स्वरूप भासते हैं, वे वास्तव में ब्रह्म के सद् या असदात्मक स्वरूप नहीं हैं, किन्तु यों ही द्रष्टा–दृश्य से वे भासते हैं, इसलिए ब्रह्म तो सदा ही एक–सा यानी अविकृत ही अवस्थित है ॥४७॥

अज्ञान होने पर ही दुःख आता है, किन्तु वह नहीं है, यह कहते हैं।

भद्र, जिस पुरुष को यह सच्चिदानन्दात्मक अखण्ड ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हो गया है, उसकी दृष्टि में न तो पाँच भूत ही हैं और न उसे दृश्य–द्रष्टा का विभ्रम ही भासता है ॥४८॥ भद्र, उन धारणाओं में मैंने जो कुछ उस प्रकार का जगन्निर्माण किया, वह सब विशुद्ध ब्रह्मरूप बनकर ही किया, क्योंकि जगन्निर्माण करनेवाले का शुद्ध ब्रह्मरूप के बिना कुछ रूप हो ही नहीं सकता ॥४९॥ जब परमार्थ–दशा में यह सब कुछ दृश्य निर्विकार ब्रह्मरूप ही सिद्ध हुआ तब ब्रह्मपद में ही रहकर मैंने अपनी आत्मा को उक्त नानाविध जगत् के रूप में देखा, यह बात निश्चितरूप से आप जान लीजिये ॥५०॥

यदि पाषाण मणि आदि का रूप होने पर मुझमें चैतन्य न रहता, तो उनका अनुभव और स्मरण आज मुझको होता ही नहीं, इस आशय से कहते हैं।

श्रीरामजी, पृथ्वी आदि की धारणाओं द्वारा अपने को पृथ्वी आदि पाँच भूतों के रूप में प्रकाशित कर रहा मैं यदि जड़ रूप ही बन जाता, तो मैं उनका अनुभव ही कैसे कर सकता ? ॥५१॥

तब सुषुप्ति अवस्था में मैंने कुछ नहीं जाना यह ज्ञान के अभाव का अनुभव कैसे होता है ? इस पर कहते हैं।

'मैं सोया हूँ' इस दृढ़ भाव को चेतन होकर भी मैंने जाना, उस दशा में निद्रादोष से उपस्थित किया गया अज्ञान ही 'मैंने कुछ नहीं जाना' इस प्रतीति से प्राप्त करायी गयी जड़ता

धारण करता है और प्रकाशमान स्वप्रकाशरूप जो वस्तु है, वह तो उस समय प्रकाशती और अनुभव करती रहती है, यदि यह बात न होती तो सुषुप्तिकाल में अनुभूत अज्ञान का जाग्रत्काल में स्मरण कैसे होता ? ॥५२॥

तत्त्वज्ञान की प्राप्ति से स्थूल व्यष्टि-समष्टि देह की आधिभौतिक भावना नष्ट हो जाती है, इसलिए भी जड़ दुःख की प्राप्ति नहीं हो सकती, इस आशय से कहते हैं।

जिस पुरुष की आत्मा सत्यज्ञान से जग गई है, उसकी आधिभौतिक देह तत्काल विलीन हो जाती है यानी देह में आधिभौतिकता की प्राप्ति ही नहीं रहती और निर्मल बोधरूप आतिवाहिक देह की उत्पत्ति हो जाती है ॥५३॥ बोधरूपी उक्त आतिवाहिक देह छोटी हो चाहे बड़ी हो, उससे अपनी इच्छानुसार पुरुष निर्वाणरूप (समस्त प्रपंचों से रहित जीवन्मुक्तरूप) होकर स्थित हो जाता है ॥५४॥ बोधरूप देह के प्रभाव से अभेद्य पाषाण शिलाओं के भी भीतर प्रवेश करके पुरुष अनायास बाहर निकल जाता है, पाताल में चला जाता है और आकाशमण्डल में भी विचरता है ॥५५॥

इसलिए मुझे दुःख की प्राप्ति नहीं हुई, यह कहते हुए उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामभद्र, इसीलिए उस समय बोधरूप देह के कारण अनन्त चिन्मय आकाशरूपी मैंने पृथ्वी आदि की धारणा बाँधकर पृथ्वी आदि स्वरूप का निर्माण किया था ॥५६॥ भद्र, वज्र, पत्थर, पाताल, आकाश एवं स्वर्ग आदि में यातायात कर रहे उसी तरह के विशुद्ध आत्मा को तनिक भी विघ्न उपस्थित नहीं होता ॥५७॥ बोधमात्र शरीर से यह आत्मा जड़ पदार्थों में जब तक रहता है तब तक उसी रूप से (बोधमात्र शरीर से ही) उनमें रहता है, अन्यरूप से नहीं ॥५८॥

यह सब कौतुक अपनी इच्छा से ही किये गये थे, इसलिए भी दुःख की प्राप्ति नहीं हुई, इस आशय से कहते हैं।

अपनी ही इच्छा से यदि कोई चलकर फिर अन्यत्र जाता है, या वहाँ स्थिति करता है, या वहाँ से वापस चला आता है, तो दुःख नहीं होता, ठीक इसी प्रकार की यहाँ भी स्थिति है यानी अपनी इच्छा से किये गये कौतुकों में मुझे किसी प्रकार का कष्ट नहीं हुआ, क्योंकि वैसा करना इष्ट ही था, अनिष्ट नहीं ॥५९॥

आप भी तत्त्वज्ञानी हैं, इसलिए आतिवाहिक देहभाव और धारणाओं के अनुसार जगद्भावरूपी कौतुकों का दर्शन आपके लिए भी सुलभ है, अतः मेरे कहे गये विषय की परीक्षा करें, इस आशय से कहते हैं।

भद्र, एकमात्र तत्त्वज्ञान ही अविनाशी आतिवाहिक देह है, यह तत्त्वज्ञों का मत है, इसलिए अब आप यदि इच्छा करें, तो आतिवाहिक देह और धारणा द्वारा जगद्भाव का अवलोकन कर सकते हैं ॥६०॥

इच्छा से ही तत्त्वज्ञ पुरुष सूर्यादि समस्त जगत् को विलीन करके आत्ममात्रस्वरूप से स्थापित कर सकते हैं, यह कहते हैं ।

इस तरह सूर्य आदि लोकों में 'चिन्मात्र स्वरूप आकाशरूप मैं ही हूँ,' इस बोध से अपनी आत्मा के असली स्वरूप से ज्ञात होता हुआ भी सूर्यादिलोक जगत् के बोध से असत्–सा तथा अस्तको प्राप्त–सा हो जाता है यानी तत्त्वज्ञ लोग सूर्य आदि समस्त जगत् को जगद्रूप से असत् बनाकर आत्मरूप से स्थापित कर लेते हैं, *यह तात्पर्य है* ॥६१॥

हम लोगों की दृष्टि में जगत् तो सत्य है, फिर वह सत्–सा बनकर स्थित है, यह कैसे कहते हैं ? इस शंका पर स्वप्न आदि जगत् के विद्यमान रहते जाग्रत जगत् जैसे असत्–सा रहता है, यह कहते हैं ।

जैसे जाग्रत–पुरुष की दृष्टि में विद्यमान ही जगत् सुप्त पुरुष में प्रसिद्ध स्वप्नादि जगत् में अज्ञानता के कारण असत्–सा, शून्यभाव के कारण आवृत–सा या स्वप्नद्रष्टापुरुषों के द्वारा अलभ्य–सा बनकर स्थित है, वैसे ही प्रकृत में समझना चाहिए ॥६२॥ भद्र, जैसे कोई कौतुकी पुरुष मनोराज्य से कल्पित अंगारों की नदी के तरंगों का अंग से स्पर्श हो जाने पर भी दुःखी नहीं होता, वैसे ही मैं अपनी थोड़ी इच्छा के कारण पाषाण, मणि आदि रूप हो जाने पर भी दुःखग्रस्त नहीं हुआ ॥६३॥

यों श्रीरामभद्र के प्रश्न का उत्तर देकर अब प्रस्तुत विषयपर आकर श्रीवसिष्ठजी कहते हैं ।

भद्र, इस तरह अग्निरूपधारी मैंने काजलरूपी भ्रमरों के समूहों से समन्वित एवं अशोकरूप फूलों की शोभा से युक्त प्रदीप्त ज्वालाओं के कारण अग्नि से व्याप्त जंगल को विकसित स्थलकमल के सदृश बना दिया ॥६४॥ हे प्रिय, दुष्ट पुरुष की लक्ष्मी के सदृश बढ़ी हुई तथा घटाटोपपूर्ण चंचल ऊँची ऊँची ज्वालामालाओं के रूप से तत्काल ही उत्कर्ष प्राप्त कर मैं सहसा नष्ट भी हो गया ॥६५॥ हे रामजी, तेजःस्वरूप बनकर मैंने परमाणु कणों के भीतर इसी तरह की जिस प्रत्येक जगत्–शोभा का अवलोकन किया, वह जगत्–शोभा और आप जिसे देख रहे है, वह जगत्–शोभा दोनों सर्वोच्च चिदाकाश से भिन्न नहीं है, इस विषय में दृष्टान्त–आपके स्वप्न के प्रसिद्ध नगर या पर्वत–विद्यमान हैं ॥६६॥

इक्यानबेवाँ सर्ग समाप्त

बानबेवाँ सर्ग

वायु की धारणा से वायुभाव प्राप्त हो जाने पर वायु के कार्यों का विस्तार तथा आकाश के साथ सर्वात्मभाव में स्थिति-यह वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र, तदनन्तर मैंने जगत् देखने की उत्कण्ठा से वायुमय धारणा

बाँधी । फिर धीर वृत्ति से वायुरूप में स्थिति प्राप्त हो जाने तक की लम्बी वायुमय धारणा को प्राप्त हुआ ॥१॥ मैं वायु बन गया । मैं वायु बनकर लतारूपी ललनाओं के साथ विलास करता था तथा कमल, उत्पल, कुन्द आदि फूलों की सुगन्ध की, स्वायत्त कर रक्षा करता था ॥२॥ मैं जलकणों की राशि को इधर उधर बिखेरने तथा नीहारसमूह को लीला से (क्रीड़ा से) दूर दूर तक हरण करने में निरत रहता था और सुरतक्रीडा से क्लान्त युगलों के समस्त अंगो में आह्लाद पहुँचाने में रात–दिन सतृष्ण रहता था ॥३॥ तृण, गुल्म, लता, वल्ली तथा पत्तों को ताण्डव नृत्य सिखलाने में महापण्डित भी मैं बन गया एवं लता और औषधियों के फलों के उल्लासों तथा कुसुमों की सुगन्धों आमोदों से विभूषित हो गया ॥४॥ मंगल के अवसरों में भावी कल्याण को सूचित करने के लिए मैं मृदु यानी मन्द, सुगन्ध एवं शीतल होकर ललना जनों के प्रेम का भाजन बन जाता था, उत्पात समय में तो भावी उत्पातों को सूचित करने के लिए भयंकर तीक्ष्ण, उष्ण और असह्य बन जाता था, प्रलयकाल में तो पर्वतों को भी पत्तों के सदृश उड़ा देता था ॥५॥ भद्र, स्वर्ग में कुन्द, मन्दार आदि के मकरन्द और पराग (पुष्पधूलि) से धूसर तथा नरक में अंगार की राशि तथा विपुल नीहार से लदा रहता था ॥६॥ जब मैं समुद्र में रहता था, तब मेरी गति सरल तरंगों की रेखाओं से अनुमित होती थी और जब मैं आकाश में रहता था, तब मैं कभी चन्द्रमारूपी दर्पणको मेघरूप मल हटाकर स्वच्छ बना देता था और कभी मेघरूप मलिनता लाकर मलिन बना देता था ॥७॥ मैं नक्षत्र रूपी राजसेना का बड़े वेग से आगे की ओर बढ़ा हुआ रथ था *(प्रवह नाम का वायु नक्षत्रचक्र को घुमाता है, यह ज्योतिषशास्त्र का सिद्धान्त है)*, त्रिलोकी में समस्त सिद्धों के संचार एवं देवताओं के विमानों के धारण में सदा अनुकूल रहता था ॥८॥ मेरी इतनी शीघ्र गति थी कि मैं चित्त का (मनका) सहोदर भाई–सा था, मैं यों तो अनंग था, फिर भी मैं किसी अंग से रहित न था तथा अपने स्पन्दनों से चन्दनों के वनों को आनन्द विभोर बना देता था ॥९॥ तुषार कणों की जब महती वृष्टि होती थी, तब तुषार कणरूपी धवल रोमों के कारण मैं बूढा सा लगता था, कुसुम आदि सुगन्धों से मैं यौवन के उन्माद से चूर–सा हो जाता था तथा मौन एवं मृदुता के कारण मैं बालकरूप भी हो जाता था ॥१०॥ भद्र, नन्दनवन में मधुर सुगन्धि के कारण मेरा गमन अति मधुर और उदार होता था तथा जब मैं कुबेर के चैत्ररथ नामक उद्यान से प्रस्थान करता तब कान्ता जनों के सुरत श्रम को हर देता था ॥११॥ भगवती भागीरथी के तरंगरूपी हिण्डोलों के आन्दोलनों से मुझे श्रम–सा अवश्य लगता था, परन्तु दूसरों के परिश्रमों की निवृत्ति करने के उत्साह से उसका मुझे ज्ञान ही नहीं हो पाता था, इसीलिए दूसरों के असीम श्रमों को मैं तत्काल ही नष्ट कर देता था ॥१२॥ ऋतुराज वसन्त की वनिता जैसी लताओं को मैं नर्मस्पर्शों से दीर्घकाल के लिए चपल बनाता था । वे लतावनिताएँ फूलों के भारों से नत रहती थीं, उनके चंचल दल हाथ से प्रतीत होते थे और भ्रमर नेत्र से लगते थे ॥१३॥ चन्द्रबिम्ब में सर्वश्रेष्ठ अमृत का दीर्घकाल तक पान कर, पूर्ण मेघरूप

शय्यापर शयन कर तथा कमलों की पंक्ति को कँपा कर दूसरे के या अपने सुरत जनित परिश्रम का निवारण करता था ॥१४॥ मैं समस्त धूलियों के लिए आकाशगामी घोड़ा तथा सुगन्धरूपी मत्त मातंगका उल्लासप्रद महान् मित्र था ॥१५॥ तड़ित्‌रूपी सींग को (गोपाल बालकों के वाद्य को) प्राप्त कर उसके नाद से मैं मेघरूपी दुधार पशुओं का एक पालक–सा बन गया, जलकणरूपी मोतियों के लिए मैं सूत बन गया तथा धूलिनाशक जल के लिए मैंने शत्रुता मोल ली, क्योंकि जल को मैं सुखा देता था ॥१६॥ आकाशरूपी फूल की मैं सुगन्ध था, इसीलिए आकाश के गुण सब शब्दों का मैं सहोदर भाई भी बन गया तथा प्राणियों के अंग उपागों में प्रवर्तक बनकर उनकी नाडीरूप प्रणालियों में जलरूप–सा भी हो गया ॥१७॥ सब प्राणियों का प्राणभूत तथा हृदय आदि मर्म स्थानरूप होने के कारण मर्म कार्य करनेवाले सब स्थानों का मैं ही एक आत्मा बन गया, हृदयगुहारूप घर का मैं सिंह था, मैं निरन्तर नियम से संचरण करता रहा, तथा मैं अग्नि के बलका ज्ञाता था, क्योंकि दुर्बल जानकर दीपक को बुझा देता था और बलिष्ठ जानकर मित्रभाव से अग्नि को बढ़ा भी देता रहा ॥१८॥ सुगन्धरूपी रत्नों का मैं लुटेरा था, यानी जबरन कलीरूपी गाँठ खोलकर चुरा लेनेवाला विमानरूप नगरों का धारणकारी था, दाह (ताप) रूपी अन्धकार के लिए मैं चन्द्रमा था और शैत्यरूपी चन्द्रमा के लिए क्षीर–सागर था ॥१९॥ प्राण, अपान की कलारूप रज्जु से मैं प्राणियों के यन्त्रों का चालक था, द्वीपों का तरंगों से खण्डन और धूलियों से संवर्धन करने के कारण शत्रु–मित्र दोनों था तथा द्वीपों में संचार करने में सदा निरत रहता था ॥२०॥ भद्र, मैं सामने रहता था फिर भी मेरे स्वरूप को कोई देख नहीं पाता था, अतएव मैं मनोराज्य से कल्पित नगर के सदृश था । पंखेरूपी तिलों में मैं तेल के सदृश तथा स्पन्दनरूप हाथी के लिए मैं बन्धनस्तम्भ आलानरूप था ॥२१॥ प्रलयकाल में एक क्षणांश में ही बड़े–बड़े पर्वतों को उखाड़कर फेंक देता था । अनेक वर्णरूप तरंगों को गंगा–प्रवाह के सदृश धूलि के सम्मिश्रण से एकरूप बना देता था ॥२२॥ मैंने वायुरूप होकर धूम्र, मेघ, रज और जलों का एक आवर्त–सा खड़ा कर दिया था तथा आकाशगंगा के प्रवाहरूप मकरन्द के जल–समूह से युक्त आकाशरूप नील कमल का मैं भ्रमर था ॥२३॥ झंझावातरूप शरीर के वेष्टन से निर्मुक्त जीर्ण–शीर्ण तृणों में मैं मन्द मन्द गति देता था, स्पन्दरूप (सामान्य क्रियारूप) कमलवनका मैं आदित्य यानी विकास का हेतु था और शब्दरूप वृष्टि के लिए मैं मुख्य मेघ था ॥२४॥ व्योमरूपी जंगल का मैं मतवाला हाथी था, शरीररूपी घर का मैं गर्गट (निरन्तर शब्द करनेवाला एक तरह का यन्त्र) था, धूलिरूप रमणीसमूहका तथा वनमाला रूप नायिकासमूह का आलिंगन करने में मैं नायक था ॥२५॥ भद्र, वायुरूप बनकर मैंने छः प्रकार की क्रियाएँ करते करते प्रलयपर्यन्त कभी भी विश्राम नहीं लिया । मेरे वे छः कर्म थे – हिम, घी आदि का पिण्ड बनाना, कीचड़ आदि को सूखाना, मेघ आदि को धारण करना, तृण आदि में हलचल पैदा करना, सुगन्ध को इधर–उधर ले जाना तथा ताप हरना ॥२६॥ श्रीरामजी,

रसके आकर्षण के लिए मैं निरन्तर व्यग्र रहता था, इससे तेजका मैं भाई–सा बन गया था और हरण, आदान आदि करनेवाले हाथ आदि अंगों का मैं चालक था ॥२७॥ शरीररूपी महानगर में नाड़ी के मार्गों से किसी तरह की विघ्नबाधा (रोकटोक) के बिना अप्रतिहत गमन करता था तथा अन्नरसमय देहपात्र में प्राणादि के रूपों से आवागमन कर आयुरूपी मणि के रक्षण में मैं महावणिक् बन गया था ॥२८॥ शरीररूपी नगरों के नाश और निर्माण में अकेला मैं तत्पर रहता था । अन्नरसों के मल, सूक्ष्मतर सारभागरूप त्वचा आदि छः कलाओं एवं वात–पित्त–कफरूप धातुओं के पृथक्करण में मैं महापण्डित था ॥२९॥ तदनन्तर वायुमण्डल में भी परमाणु तक के एक–एक द्रव्य के अन्दर भी मैंने रजत की शिला के सदृश सुस्थिर, अतिविशाल जगत् देखे । उन जगतों में भी इसी तरह पृथ्वी आदि जगत् के रूप में मैं ही रहा ॥३०॥ यद्यपि यहाँ प्रत्येक परमाणु में अनेक सृष्टियाँ बहती हुई–सी प्रतीत होती हैं, तथापि परमार्थ दृष्टि से विचारने पर न तो कुछ है, न कोई बहती–सी हैं, क्योंकि शून्याकार ब्रह्म में बहना ही क्या ? ॥३१॥

प्रत्येक परमाणु में किन किन पदार्थों के साथ सृष्टियाँ विद्यमान–सी हैं, इसे कहते हैं ।

उन सृष्टियों में चन्द्र, सूर्य, वायु, अग्नि, इन्द्र, वरुण, कुबेर एवं महेश्वर, ब्रह्मा, हरि और गन्धर्व थे, विद्याधर तथा शेषराज थे । सागर, पर्वत, द्वीप, दिशाएँ एवं महान् समुद्र थे, अन्यान्यलोक, लोकपाल, क्रिया, काल एवं कल्प के क्रम थे ॥३२,३३॥ वहाँ स्वर्ग, भूमि, पातालतल तथा अन्यान्य लोकान्तर थे, भाव, अभाव, वैधुर्य, जरा, मरण, आदि की भ्रान्तियाँ भी वहाँ विद्यमान थीं ॥३४॥

यों आकाशभाव में भी आकाश के जो विलास हैं, उनका भी अनुभव समझ लेना चाहिए, इस आशय से कहते हैं ।

हे श्रीरामजी, यों उस समय पृथ्वी आदि पाँच भूतों का रूप धारण कर मैंने उस त्रिलोकीरूप कमल के उदर में खूब विहार किया ॥३५॥

जैसे जैसे विहार किया, उसका विस्तार के साथ वर्णन करते हैं ।

भद्र, पृथ्वी, जल, वायु, और तेज के समूहरूप वृक्षों के शरीर में निवास करते हुए मैंने मूलजाल के द्वारा पृथ्वी का रस पीया और उसका प्रचुर अनुभव (स्वाद) लिया ॥३६॥ अमृत से पूर्ण (घनीभूत) अंगोंवाले तथा चन्दन के द्रव के समान शीतत्व आदि गुणों से सुशोभित चन्द्रबिम्बोंपर, जो तुषार की शय्याओं–जैसे थे, खूब लोटपोट ली ॥३७॥ अपने उपभोग के बाद बचा हुआ पुष्परस भ्रमर को देते उए मैंने सभी ऋतुओं में सब ओर विविध सुगन्धों से पूर्ण पुष्पराशियों का खूब आनन्द लिया ॥३८॥ विस्तीर्ण, उन्नत, कोमल तथा आकाशरूपी आँगन में कलापूर्णरूप रीति से बिछाई हुई, मक्खन की स्थलियाँ–सी धवल अभ्रमालाओं के ऊपर शयन किया ॥३९॥ भद्र, शिरीष के फूलों से भी अधिक कोमल तथा नीलकमल की–सी मनोहर कान्तिवाली देवांगनाओं तथा सिद्ध–

सहचारियों के मध्य में काम की वासना को दूर फेंककर ही शयन किया ॥४०॥ कुमुद, कह्लार तथा कमलों से पूर्ण रम्य वनों में तथा कमलिनियों के जंगलों में मैंने मधुरभाषिणी हँसियों के साथ बड़ा ही सुमधुर लीलाकलकल निनाद किया ॥४१॥ रामजी, बह रहीं नदीरूप सारवान् नाड़ियों के मूलभूत भूमण्डलों से युक्त तथा स्फुरणशील व्याघ्रादि भूतगणों से शोभित पर्वतों को ब्रह्माण्डरूपधारी मैंने अपने अंगों से रोमों की पंक्तियों की तरह धारण किया ॥४२॥ जगत् में जो गगन, पर्वत आदि प्रसिद्ध हैं, उन्होंने नदीरूप सूत्र एवं समुद्रों के साथ मेरे अंगों में प्रतिबिम्ब सहित दर्पणों की नाईं विश्राम किया ॥४३॥ सिद्ध, विद्याधर आदि प्राणियों के समूहों ने ब्रह्माण्डभूत मेरे शरीर में विश्राम किया । वे मेरी देह में मक्खी और जूँ जैसे प्रतीत होते थे ॥४४॥

तब क्या मक्खी, जूँ आदि के सदृश भयभीत एवं प्रतिक्षण हटाये जाने के कारण उद्विग्न होकर उन्होंने ब्रह्माण्डभूत आपकी देह में निवास किया ? इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देते हैं ।

हे राघव, मेरी कृपा से प्रसन्न होकर सूर्य आदि देवताओं ने शरीर से कृष्ण, रक्त, श्वेत, अश्वेत, पीत, हरित, वर्णों से स्निग्ध होकर वृक्षों के सदृश मेरे शरीर में स्थिति प्राप्त की ॥४५॥ भद्र, ब्रह्माण्डरूप होकर मैंने सात समुद्रों से वेष्टित तथा सात द्वीपों के कारण सात रूप धरनेवाली यानी सात अंगों से युक्त भूमिको अपनी कलाई में कंकण के सदृश धारण कर लिया था ॥४६॥ मैंने विद्याधरों की रमणियों की अंगरूपी यष्टियों की स्पर्शकर उनमें अपने अमन्द आनन्द से पुलकावलियाँ उत्पन्न कर दीं । मैंने यद्यपि उनमें पुलकावलियाँ उत्पन्न कर दी थीं, तथापि वे मुझको देख नहीं पाती थीं ॥४७॥ राघव, नदीरूप नाड़ियों से निर्मल (शुद्ध) भीतर स्थित प्रचुर रससे पूर्ण, नाना छिद्रों से युक्त पर्वत आदि जगत् मेरे शरीर में अस्थिपंजर तथा मांस आदि बन गये थे ॥४८॥ मेरे हृदयाकाश में असंख्य ऐरावत आदि हाथी गूलर के अन्दर मच्छरों की नाईं स्थित थे जिन पर चन्द्र, सूर्य रूपी चँवर डुल रहे थे ॥४९॥

यों यद्यपि मैं अतिविस्तृत ब्रह्माण्डरूप था, तथापि मैंने परम सूक्ष्म चिन्मात्र स्वभावता का परित्याग नहीं किया, यह कहते हैं ।

हे श्रीरामजी, ब्रह्माण्डस्वरूप–दशा में यद्यपि समस्त पाताल मेरे चरण बन गये थे, भूतल मेरा उदर बन गया था और आकाश मेरा मस्तक हो गया था, फिर भी मैंने अपनी चितिमात्रस्वभावरूप सूक्ष्मता कभी नहीं छोड़ी ॥५०॥ यद्यपि मैं समस्त दिशाओं में, सभी स्थलों में, सभी कालों में सर्वात्मा बनकर सब कुछ व्यवहार उस समय कर रहा था, फिर भी असल में असर्वात्मक एक एवं समस्त द्वैत पदार्थों से शून्य चिन्मात्र स्वरूप से स्थित था ॥५१॥

उस समय मैंने परिच्छिन्नता–अपरिच्छिन्नता आदि सब विरुद्ध धर्मों का एक साथ अपनी आत्मा में अनुभव किया, यह कहते हैं ।

उस दशा में किंचित्ता–अकिंचित्ता, साकारता, निराकारता, जड़ता–चेतनता आदि समस्त

परस्पर अतिविरुद्ध धर्मों का मैंने अपनी आत्मा में एक साथ खूब अनुभव किया ॥५२॥

जैसे चाँदी की शिला के अन्दर अनन्त जगत् विद्यमान हैं, वैसे ही समुद्र के पेट में जितने प्रदेश पड़े हैं, उनमें भी अनेक जगत् विद्यमान हैं, उनका भी मैंने अनुभव किया, यह कहते हैं ।

तदनन्तर मैनाक पर्वत के सदृश भीतर छिपी हुई पर्वतशिलाओं से मनोहर तथा असीम विस्तारवाले समुद्र के पेट में स्थित प्रत्येक प्रदेश के अन्दर हजारों स्थाणुरूप जो सृष्टियाँ विद्यमान हैं, उनका भी मैंने अनुभव किया ॥५३॥ जैसे दर्पण प्रतिबिम्बरूप से अनेक नगरों को धारण करता है, वैसे ही चेतनस्वरूप मैंने अपने अंगों में गुप्त तथा प्रकट अनेक जगत् धारण किये ॥५४॥ हे राघव, इस प्रकार जल, वायु एवं अग्निरूपता, भूमिरूपता का अपनी आत्मा से मैंने ऐसे निर्माण किया, जैसे स्वप्नों में प्रसिद्ध आत्मचिति मायाविस्तृत नगरादि का निर्माण करती है ॥५५॥ और उस अवस्था में मैंने आकाशकोश में स्थित प्रत्येक परमाणु के भीतर भी असंख्य जगत देखे ॥५६॥ भद्र, और भी सुनिये, उस अवस्था में प्रत्येक परमाणु के भीतर असीम आकाश स्थित था और उस आकाश में भी उड़ रहे अनेक परमाणु विद्यमान थे, उन परमाणुओं के भीतर भी मैंने उस तरह के असंख्य संसार देखे, जैसे कि स्वप्न के अन्दर अन्य स्वप्न के नगर दिखते हैं ॥५७॥ मैं आध्यासिक आत्मा का ही स्वरूपभूत भूमण्डल तथा द्वीपकुण्डलरूप बन गया था । यों सर्वात्मक होते हुए भी मैंने परमार्थरूप से कहीं किसी का भी स्पर्श नहीं किया, क्योंकि परमार्थ दशा में मैं असंग अद्वयरूप ही हूँ ॥५८॥ शरीरधारी जो मनुष्य आदि जीव हैं, उनके उपकारार्थ ही लता, तृण, अंकुर आदि सबका उत्पादन करते हुए मैंने वर्षा से गिरे जलों को भूतलरूप बनकर खींच लिया ॥५९॥ जैसे युद्ध जीव-संहार है, वैसे ही बोधकाल अज्ञान-संहारक है । उक्त बोधदशा प्राप्त करने पर अति स्वच्छ हुए मुझमें लाखों जगत् रह सकते हैं और कोई भी नहीं रह सकता ॥६०॥

किस रूप से वे जगत् रहते हैं और किस रूपसे नहीं रहते, इस प्रश्न का उत्तर यह है कि चिति के चमत्कारमात्र रूपसे रहते हैं और उसके विपरीत रूपसे नहीं रहते, यों कहते हैं ।

भद्र, चिति के भीतर जो उसके अनेक चमत्कार हैं, वे चमत्कार जो सत्ता स्फूर्ति रूपसे दूसरा चमत्कार स्वयं करते हैं, यानी सत्ता स्फुरणको जगत् में आरोपित कर प्रकट करते हैं ये ही दूसरे चमत्कार इन सृष्टि-दृष्टियों के रूपमें (संसारके रूप में) प्रतीत होते हैं ॥६१॥ मैंने कहीं भी जो कुछ अनुभव किया, जो कुछ बनाया, जो कुछ कष्ट सहा, वह सब परमार्थभूत चिदात्माका चमत्कार ही था, क्योंकि उसके बिना यहाँ कुछ प्राप्त हो ही नहीं सकता ॥६२॥ हे श्रीरामजी, इसलिए अध्यारोपदृष्टि से प्रत्येक में अपनी सत्ता का समर्पण करने के कारण मैं विश्वरूपात्मा और सबका कर्ता हूँ तथा अपवाददृष्टि से प्रबुद्ध होकर मैं शुद्ध बोधस्वरूप और कर्तृत्वादि विकारों से रहित हूँ, क्योंकि सब-कुछ तो ब्रह्मात्मक ही ठहरा ॥६३॥ अतएव प्रत्येक वस्तु के अन्दर स्थित ब्रह्म में समस्त जगत् का अध्यास होने के कारण ब्रह्मस्वरूप सबकी आत्मा, सर्वगामी और सबका आधारभूत

है, यह बात प्रबुद्ध योगियों के लिए है यानी ज्ञानी महात्माओं की दृष्टि में जगत् का स्वरूप यह निकलता है और अज्ञानी अप्रबुद्धों की कथा तो मैं जानता ही नहीं, अबुद्ध अज्ञानी जगत् का जो स्वरूप समझ कर बैठे हैं, उनको ज्ञानी देख ही नहीं सकता ॥६४॥

इसलिए अद्वय परमात्मा में जो विद्वान सर्वत्र सर्वात्मकता कहते हैं, वह केवल कल्पनामात्र है, चिदात्मा से अतिरिक्त कोई भी दूसरी वस्तु नहीं है, यह कहते हैं ।

आकाशकोश के सदृश अत्यन्त निर्मल चिति के स्वरूप में जो यह अनेकविध सृष्टियों की परम्परा प्रकाशित हो रही है, वह अन्त में चिदात्मक ब्रह्मरूप ही है, उससे अलग नहीं है । जैसे कोई यह शब्द–प्रयोग करे कि 'ताप के भीतर उष्णता है' तो उस प्रयोग में 'ताप' 'भीतर' और 'उष्णता' ये तीनों शब्द एकार्थक ही हैं, उनका पृथक् अर्थ नहीं है, परन्तु प्रयोग कल्पनामात्र है, वैसे ही जगत् और ब्रह्म दोनों शब्द एकार्थ ही हैं, भिन्नार्थक नहीं है, केवल कल्पनामात्ररूप से भेद का उपालम्भ होता है ॥६५॥

बानबेवाँ सर्ग समाप्त

तिरानबेवाँ सर्ग

श्री वसिष्ठजी कुटी में ध्यानस्थ सिद्ध का दर्शन,
कुटी के उपसंहार से उसका पतन और वसिष्ठजी से निज वृत्तान्त-वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, तदनन्तर–धारणा के प्रभाव से उत्पन्न हुए जगत्शरीर को देखने के बाद–उक्त कौतुकदर्शनभावनात्मक संविति से (संकल्प से) मैं निवृत्त हो गया, फिर उस पहले के अपने समाधिस्थान आकाशकुटिया के प्रदेश की ओर वापस लौट आया ॥१॥ मैं अपनी पहले की कुटिया पर पहुँच गया । मैंने वहाँ चारों ओर खूब खोज की। कहीं पर भी मुझे अपना शरीर दिखाई नहीं दिया, परन्तु मैंने सामने बैठे किसी दूसरे सिद्ध को देखा ॥२॥ वे सिद्ध समाधिनिष्ठ होकर आसन जमाये हुए थे । उन्होंने परम प्रीति का भाजन निरतिशय आनन्दरूप ब्रह्मपद प्राप्त कर लिया था । वे ऐसे भासमान हो रहे थे जैसे सौम्य उदय से युक्त आदित्य तथा इन्धन को दग्ध कर चुके अग्निदेव भासमान होते हैं ॥३॥ उन्होंने पद्मासन लगाया था । उनके सारे शरीर में शान्ति–ही–शान्ति भरी थी। समाधि द्वारा इच्छित ब्रह्मपद में चित्त के स्थिर हो जाने से उनका शरीर तनिक भी हिलता डुलता न था, उनके अण्डकोश दोनों एड़ियों के बीच में दबे थे तथा वे विषयों से परे थे ॥४॥

'समं कायशिरोग्रीवम्' इत्यादि श्लोक से भगवान् ने जो ध्यान में आवश्यक देहस्थिति बतलाई है, उसके लक्षण कहते हैं ।

समान (बराबर) विस्तारवाले दोनों कन्धों से, जिनके ऊपर भस्म से त्रिपुण्ड रेखाएँ खिंची थीं,

जिनका गाम्भीर्य अत्यन्त ही लुभावना था, उनकी ग्रीवा की शोभा देखते बनती थी । सनातन उदार ब्रह्म वस्तु में उनका मन एकदम विश्रान्ति ले रहा था, इससे उनका मुख प्रसन्न था, इस प्रसन्न वदन से शोभित उनके मस्तक की जो निश्चल स्थिति हुई थी, उससे वे सिद्ध बड़े ही रम्य लग रहे थे ॥५॥ नाभि के निकट भाग में चित कर रखे हुए उनके दो हाथों की शोभा ठीक खिले हुए दो कमलों की शोभा के सदृश थी, मालूम पड़ता था कि वे करकमल क्या हैं मानो बाहर आये हुए हृदयकमल के प्रकाश ही हैं । उनकी दीप्ति से वे प्रकाशमान थे ॥६॥ भद्र, उनके दोनों नेत्रों की पलकें बन्द थीं, उनके बाह्य इन्द्रियों के समस्त व्यापार क्षीण हो गये थे और वे अत्यन्त निर्मल हो गये थे, इसलिए ऐसे भास रहे थे जैसे रात में मुँदे हुए कमलों से युक्त निर्मल तालाब भासता है॥७॥ विक्षोभों से रहित तथा पूर्णरूप से शान्त अन्तःकरणरूप कोटर को उन्होंने धीर वृत्ति से ऐसे धारण किया था मानों समस्त उत्पातों से रहित आकाश को धारण किया हो यानी शान्त क्षोभरहित उनका अन्तःकरण आकाश के सदृश अत्यन्त विशाल था ॥८॥ उस कुटिया में जब मैंने अपनी देह नहीं देखी और सामने उक्त मुनि को देखा, तब वहाँ मैंने अपने शुद्ध अन्तःकरण से यह विचार किया ॥९॥ यह कोई बड़े सिद्ध महात्मा हैं । मैंने पहले जैसे एकान्त महाकाश की, विश्राम के लिए, इच्छा की थी, उसी तरह इन्होंने भी विश्राम के लिए इसकी इच्छा की और सत्यसंकल्प के प्रभाव से इस दिशा की ओर आ गये हैं ॥१०॥ मैं समाधियोग्य एकान्त स्थान पाऊँ इस चिन्ता से इन्होंने यहाँ आगमन किया है और यहाँ आकर सत्यसंकल्पवश अपनी समाधि के योग्य यह कुटिया देखी है ॥११॥ उसके बाद दीर्घ काल तक मेरी उपेक्षा के कारण शवरूप यहाँ स्थित मेरी देहको देखा, देखने के बाद यह नहीं जाना कि मैं यहाँ फिर आऊँगा इससे मेरे शरीर को इन्होंने अन्यत्र फेंककर इस कुटिया में अपना आसन जमाया है ॥१२॥ अब मेरा वह शरीर तो नष्ट हो गया, अतः मैंने यह निश्चय किया कि इस आतिवाहिक देह से ही मैं अपने सप्तर्षिलोक को जाऊँ, यों निश्चयकर ज्यों ही मैं जाने के लिए उद्यत हुआ, त्यों ही मेरे पूर्वसंकल्प के नष्ट हो जाने से वह कुटिया भी अदृश्य हो गई और वहाँ केवल शुद्ध आकाशमण्डल ही रह गया । वह सिद्ध भी समाधि अवस्था में ही निराधार होकर नीचे की ओर गिरने लग गये ॥१३,१४॥ स्वप्न संकल्प की शान्ति हो जाने पर जैसे स्वप्न का नगर ध्वस्त हो जाता है, वैसे ही मेरे संकल्प की शान्ति हो जाने से जब वह कुटिया नष्ट हो गई, तब मेघ से जलसमूह के सदृश वहाँ से वह गिरने लगे । उस समय वह ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानों वायु से छिन्न किया गया मेघखण्ड आकाश से गिर रहा हो या प्रलय काल में चन्द्रबिम्ब आकाश से गिर रहा हो या पुण्य का क्षय हो जाने पर वैमानिक गिर रहा हो या मूल के कट जाने पर वृक्ष गिर रहा हो या आकाश से फेंका गया पत्थर गिर रहा हो । वे आगे कही जानेवाली कांचन भूमि के ऊपर गिरे ॥१५-१७॥ भद्र, मेरा पहले का संकल्प यह रहा कि यह कुटिया तब तक रहे जब तक कि मेरी यहाँ स्थिति बनी रहे । यह मेरा सत्य संकल्प जब सप्तर्षिलोक में जाने के संकल्प से

क्षीण हो गया, तब तत्काल ही वह सिद्ध गिर पड़े ॥१८॥ तदनन्तर गिर रहे उस सिद्ध के साथ मैं उस आतिवाहिक देह से सज्जनतावश कहिये या कौतुकवश कहिये आकाश–मण्डल से वसुधातल की ओर गया ॥१९॥ प्रवह आदि पवन स्कन्धों का जो परिवर्तन है, इससे जनित आवर्त–वृत्तियों से यानी जैसे आवर्त में घूम रहा जल नीचे घुस जाता है, वैसे ही वह सिद्ध सात द्वीप और चार समुद्रों के पार की देवताओं की आश्रय कांचन भूमि पर गिरे ॥२०॥ भद्र, जब वे आकाश से पृथ्वी पर गिरे, तब वे वैसे ही गिरे जैसे कि आकाश की उत्तम कुटिया में पद्मासन बाँधकर स्थित थे । पहले तो उनका पैरका हिस्सा पृथ्वी में जम गया और उनका मस्तक भी ऊँचा ही रहा, क्योंकि प्राणवायु से अपने को, ऊपर आकर्षण से, ऊर्ध्वगामी पहले से ही उन्होंने कर रक्खा था । तात्पर्य यह है कि जैसे कुएँ में उतर रहा घड़ा या तुम्बा रज्जु से या डंठल से ऊपर की ओर स्तंभित रहता है, वैसे ही वह सिद्ध प्राण और अपान से ऊपर की ओर स्तंभित रहने के कारण गिरने पर भी निम्नमस्तक नहीं हुए ॥२१॥ वह सिद्ध इतने ऊँचे स्थान से गिरे, फिर भी उनका शरीर न तो टूटा और न उनकी समाधि ही भंग हुई, क्योंकि वह योगबल के प्रभाव से वज्रशरीर बन गये थे या तूलपिण्ड के सदृश अत्यन्त हलके बन गये थे ॥२२॥ तदनन्तर उनको समाधि से जगाने के लिए प्रयत्नवान् होकर मैंने उस समय मेघरूप धारण किया और मेघ बनकर खूब बरसा और तेज गर्जना की॥२३॥ मेघरूप होकर मैंने अपनी बुद्धि के प्रभाव से ओलेरूपी वज्रकी वृष्टि द्वारा उस महात्मा को समाधि से ऐसे जगाया जैसे मेघ वर्षा से मयूर को जगाता है ॥२४॥ समाधि से जागने के बाद उनके समस्त अंगों की शोभा प्रकाशित होने लग गई और उनके नेत्र भी विकसित हो उठे । उस समय वह ऐसे प्रतीत हुए मानों वर्षा काल में धारापातों से विकसित हुआ कमलवन हो ॥२५॥ परमार्थ ब्रह्म में स्थिति की हेतुभूत समाधि के शान्त हो जाने पर जब मेरे सामने वह प्रबुद्ध (जाग्रत) हो गये, तब मैंने बहुत ही स्वच्छ भाव से उनसे यह पूछा ॥२६॥ हे मुनिश्रेष्ठ, आप कहाँ हैं, यह आप क्या कर रहे हैं, आप हैं कौन और इतने दूरसे आपका नीचे पतन हुआ, फिर भी आप अपने चित्त में उसका अनुभव क्यों नहीं करते ? ॥२७॥ जब मैंने ऐसा प्रश्न किया, तब उन्होंने मेरी ओर दृष्टि की, फिर पूर्व गतिका स्मरण कर जैसे चातक मेघसे सुन्दर वचन कहता है वैसे ही मुझसे सुन्दर वचन कहे ॥२८॥ सिद्ध ने कहा : हे मुने, कुछ क्षण आप ठहरिये, तब तक मैं अपना वृत्तान्त याद कर लूँ । फिर मैं आपसे पूर्वजन्म का सारा किस्सा कह सुनाऊँगा॥२९॥ हे श्रीरामजी, ऐसा कह कर उन्होंने सोचकर समस्त जन्मान्तरों के वृत्तान्तों के साथ अपना पूर्व वृत्तान्त जैसे पुरुष पूर्वान्ह में आचरित वृत्तान्त का सायं काल में स्मरण करता है वैसे ही तुरन्त स्मरण किया ॥३०॥ इसके बाद वह मुझसे यह वचन बोले । उनका वचन सुन्दर, चन्द्र–किरणों के सदृश शीतल था, आह्लादकारक था तथा अनिन्द्य, निर्दोष एवं सुखोत्पादक था ॥३१॥ सिद्ध ने कहा : हे ब्रह्मन्, हाँ, अभी मैंने आपको जाना, अतः आपको मैं अभिवादन करता हूँ । मैंने प्रथम दर्शन में आपको अभिवादन नहीं किया, इससे जो

मेरा अपराध हुआ, उसे क्षमा कीजिये, क्योंकि अपराध क्षमा करना सज्जनों का सहज स्वभाव ही है ॥३२॥ हे मुने, जैसे कमलों में भौंरा भ्रमण करता है वैसे ही मैंने दीर्घकाल तक भोगरूपी सुगन्ध से पूर्ण मोहकारक देवताओं की उपवनभूमियों में उत्तरोत्तर परिभ्रमण किया ॥३३॥ तदनन्तर चित्तरूपी जल के तरंगों के हिलोरों से दृश्यरूपी नदी में चक्रावर्तनों से रात-दिन बह रहे मैंने दीर्घकाल के बाद विवेक का आविर्भाव होने पर संसार से उद्विग्न होकर यों विचार किया ॥३४॥ संसाररूपी सागर में दृश्यरूपी तरंगों से मैं अत्यन्त व्याकुल हो गया और दीर्घकाल के बाद ऐसे उद्वेग को प्राप्त हुआ जैसे कि वृष्टि के अभाव में चातक उद्वेग को प्राप्त होता है ॥३५॥

सिद्ध ने जो विचार किया, उसे कहते हैं ।

जिनका सार केवल ज्ञान (संवित्) ही है, उन भोगों में रम्य वस्तु है ही कौन ? यदि उनमें संविद्रूप से प्रकाशमान सुख ही रम्य वस्तु है, तो सुख से भिन्न सुखसाधन दुःखरूप होने से उनका सार दुःख ही ठहरा, इसलिए दुःखांश को छोड़कर सारभूत सुख संविदाकाश में ही केवल अवस्थित रहूँ, दूसरे समस्त असार से अब मतलब ही क्या ? ॥३६॥

अपरिच्छिन्न सुखको छोड़कर परिगणित परिच्छिन्न असुख में रमण करना उचित नहीं है, यह कहते हैं ।

इस संसार में शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध मात्र को छोड़कर दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, इसलिए ऐसे तुच्छ पदार्थों में क्यों रमूँ ? ॥३७॥ ये शब्द आदि जितने विषय हैं, वे यदि स्वतःसत्तावान् चिदात्मा में चिदात्मा से भिन्न माने जायें, तो वे शून्यात्मक यानी असत् ही होंगे यदि चिदात्मा से अभिन्न माने जायें, तो चिदात्मा के स्वरूप ही होंगे-यों दोनों तरह असद् आकारवाले उन शब्दादि में, उन्मत्त के सदृश, मैं क्यों रमण करूँ ? ॥३८॥ शब्द आदि विषय विष के सदृश मरण, उन्माद आदि विषमता पैदा करनेवाले हैं, स्त्रियाँ कामरूप विमोह में ही फँसानेवाली हैं, राग सरस पुरुष को भी नीरस बना देने वाले हैं, इसलिए इनमें पड़नेवाला कौन पुरुष नष्ट नहीं हुआ ? हिरण, हाथी आदि एक-एक वस्तु में आसक्ति रखने के कारण वध एवं बन्धन को प्राप्त होते हैं, यह सबको विदित है॥३९॥

किसी तरह शरीर में भी आसक्ति उचित नहीं है, यह कहते हैं ।

जल्दी प्राप्त होनेवाला बुढ़ापा एक तरह की बड़ी बकी (बगुली) है, यह जब जीवन जीर्ण होने लगता है, तब सोचती है कि मैंने इस जीर्ण जीवनरूपी शैवाल में बड़ी मछली पकड़ ली । यों बुद्धि करके वह तत्काल ही शरीर को अपने उदरस्थ कर लेने की इच्छा करती है ॥४०॥ यह शरीर-समुद्र में बुलबुले के सदृश जल्दी ही नष्ट हो जानेवाला पदार्थ है, इसलिए कुछ काल तक स्फुरित होते ही सामने देखते-देखते, दीपशिखा के सदृश, विलीन हो जाता है ॥४१॥

इसी प्रकार जीने की भी आशा उचित नहीं है, यह बतलाने के लिए उसका नदीरूप से

वर्णन करते हैं ।

यह जीवन नाम की तो एक महानदी है । इसमें विविध प्रकार के विक्षेप तो ज्वारभाटे हैं, चक्र–परिवर्तनों के सदृश उसमें नानाविध भ्रमण ही आवर्त हैं, मरण और जन्म उसके दोनों तरफ के किनारे हैं तथा सुख–दुःख तरंग हैं ॥४२॥ उसमें यौवन का उल्लास ही कीचड़ भरा पड़ा है, जरारूपी धवल फेन है, काकतालीय के योग से उसमें कभी–कभी सुखरूप बुलबुले भी उठते रहते हैं ॥४३॥ उसमें व्यवहार महाप्रवाह की रेखा है–इस व्यवहाररूप महाप्रवाह की रेखा से उसमें नानाविध मूर्खप्रलापरूपी जल के शब्द हुआ करते हैं यानी वह जलरवों से व्याकुल रहती है, राग–द्वेषरूप मेघों से वह निरन्तर बढ़ती ही रहती है, भूतलपर उसका शरीर सदा ही चंचल रहता है ॥४४॥ इस जीवन नदी में सदा लोभ–मोह के आवर्त उठते रहते हैं, पतन और उत्पतन से उसका निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, इस प्रकार की यह जीवन नदी शब्दमात्र से तो अत्यन्त शीतल है, परन्तु अर्थतः वास्तव में तीनों तापों का प्रदान करती हुई बहती जाती है, इसलिए इसकी भी आशा करना महान् खेद का ही विषय है ॥४५॥ संसाररूपी नदी के जलस्थानीय जो इष्ट–पुत्र, मित्र आदि के समागम तथा धन हैं, वे पहले के तो चले जाते हैं और नवीन आते रहते हैं, यानी कोई भी स्थिर नहीं रहते ॥४६॥

इस स्थिति में जो जानेवाले हैं और जो आनेवाले हैं, उनके विषय में हर्ष–शोक करना उचित नहीं है, यह कहते हैं ।

जो पहले प्राप्त हुए हैं, वे तो निवृत्त हो जाते हैं और कभी प्राप्त हुए ही नहीं वे प्राप्त होते हैं, इसलिए ऐसे नष्ट स्थितिवाले पदार्थों की प्राप्ति से क्या और इनमें आस्था करना ही क्या ? यानी न तो उनसे कोई मतलब निकलेगा और न वे विश्वास करने योग्य ही हैं ॥४७॥

आयु में धनादि से विलक्षणता बतलाते हैं ।

संसार में जितनी नदियाँ हैं, उनका जल तो पर्वत, मेघ आदि स्थान से आकर आता ओर जाता रहता है, परन्तु देहरूपी नदी का आयुरूपी जल तो चला ही जाता है, फिर पुनः लौटकर आता ही नहीं ॥४८॥ इस संसाररूपी सागर में प्रतिदेह और प्रतिक्षण भाव यानी योग्य वस्तुओं का, कुम्हार के चाकपर चढ़ाये गये सकोरों के सदृश, सैकड़ों बार परिवर्तन होता ही रहता है ॥४९॥ भयंकर शत्रुभूत चतुर विषयरूपी चोर चारों ओर घूमते रहते हैं और विवेकरूपी सर्वस्व का अपहरण करते हैं, इसलिए अब जागूँ यहाँ सोया क्यों हूँ ? ॥५०॥ आयु के टुकड़े–टुकड़े क्षण क्षण में बार बार गिरते रहते हैं, परन्तु आश्चर्य की बात है कि कोई भी प्राणी काल के द्वारा विनष्ट किये गये आयु के दिनों को जान नहीं पाता ॥५१॥ आज यह हुआ, कल यह होगा, यह तो मेरा है और वह इसका है, इस प्रकार रात दिन संकल्प–विकल्प करता हुआ प्राणी यह नहीं जान पाता कि मेरी कितनी आयु चली गई और अब मेरी मृत्यु आ गई ॥५२॥ खूब खाया और पीया, अनन्त विभूतियों में

विचरण किया, सुख-दुःख भी खूब भोगे, अब दूसरा करने को बचा ही क्या है ? ॥५३॥ सुख-दुःख के बार-बार के अनुभव से, बार बार अनेक तरह के परिवर्तनों से तथा पदार्थों की नश्वरता से अब हम भोगों से ऊब उठे हैं यानी उनमें अब किसी तरह की उत्कण्ठा नहीं ॥५४॥ यद्यपि अनेक तरह के अनेक भोग भोगे, बार-बार पदार्थों की अस्थायिता भी देख ली, परन्तु कहींपर भी यहाँ उत्तम शान्ति प्राप्त नहीं की जा सकी ॥५५॥ यद्यपि मैंने उत्तुंग शिखरोंवाले मेरुपर्वत की उपवन भूमियों में खूब विहार किया तथा लोकपालों की महान् नगरियों में भी खूब विहार किया, तथापि क्या आज तक मैंने स्वाभाविक (अकृत्रित) सुख पाया ? अर्थात् नहीं ही पाया ॥५६॥

अब सब भोगों की असारता विवेकपूर्वक बतलाते हैं।

सभी जगह के वृक्ष काष्ठों से ही व्याप्त हैं, प्राणिसमूह मांस से व्याप्त है, पृथ्वी मिट्टी से भरी पड़ी है, और दुःख एवं नश्वरता सारे संसार को घेर कर खड़ी है, फिर आप कहिये कि उनमें विश्वास कैसे हो ? ॥५७॥ न तो धन, न मित्र, न सुख और बान्धव ही उस पुरुष की रक्षा कर सकते हैं, जो कि काल के गाल में फँस चुका है ॥५८॥ बालू के ढेर के सदृश यह पुरुष अत्यन्त अस्थिर है, पर्वतों के मध्य में बरसे हुए मेघ के पेट में विद्यमान जल जैसे क्षण क्षण में नष्ट होता रहता है, भीतर से बचाव का उपाय नहीं करता और आखिर में नष्ट हो जाता है ठीक वैसे ही वह पुरुष विषयों के अन्दर आसक्त होकर क्षण क्षण में विनाश की ओर जाता रहता है और अन्त में मरण ही प्राप्त करता है ॥५९॥ न तो स्त्रियाँ ही अच्छी हैं और न अनेक तरह की भौतिक विभूतियाँ (ऐश्वर्य) ही रमणीय है यानी बहुत जल्द ही नष्ट हो जानेवाली है ॥६०॥ हे मुने, अब आप कहिये कि मनुष्य कहाँ, किसका, किस प्रकार और कैसे विश्वास रख सकता है, यानी इन सब प्रत्यक्ष दृष्टान्तों से मनुष्य के लिये कोई स्थान आदि ऐसा है ही नहीं कि विश्वास रखकर विश्रान्ति ले, क्योंकि क्रूर मृत्यु आज या कल अवश्य ही माथे पर आपदाएँ प्राप्त करायेगा ही ॥६१॥ शरीर तो पत्ते के सदृश गिर जानेवाला है, जीवन की स्थिति भी जीर्णशाली है, बुद्धि अधीरता से निरन्तर ग्रस्त है और विषय नीरसता लिये हुए हैं ॥६२॥ नीरस विषयों ने और उनके मनोरथों ने इस बड़ी आयु को ले लिया , परन्तु चमत्कारजनक यानी उत्तम पुरुषार्थरूप चमत्कार की जननी सम्पत्ति मेरे लिये कुछ भी पैदा नहीं की ॥६३॥ आज ही मेरा मोह मन्द पड़ा गया है, देह यहाँ किसी काम के लिए उपयोगी नहीं है, विषयों में आसक्ति न करना सबसे श्रेष्ठ स्थिति है और जीवन में आस्था बाँधकर बैठे रहना सबसे अधम स्थिति है ॥६४॥ विवेकी पुरुषों को सम्पत्ति आदि की प्राप्ति में भी निरन्तर यही मानना चाहिए कि यह बड़ी भारी आपत्ति ही आई, क्योंकि वही विषयसम्पत्ति पुरुष में बड़ा भारी मोह पैदा करती है, इसलिए इस तुच्छ संसार में तो कभी आस्था बाँधनी ही नहीं चाहिए ॥६५॥

विवेकी को तो कर्मशास्त्र भी व्यामोहकारक ही दीखते हैं, यह कहते हैं।

निरन्तर के लिए विधि–प्रतिषेध के प्रतिपादक कर्मशास्त्र हों, चाहे कभी कभी के लिए विधि–निषेध के प्रतिपादक कर्मशास्त्र हों, इनसे तो पुरुष लोक में उस प्रकार यथेष्ट लुढ़कता फिरता है, जैसे निम्न और उन्नत स्थानों से जल ॥६६॥

क्योंकि ऐहिक और आमुष्मिक (पारलौकिक) विषय कामियों को ही विवेक से भ्रष्ट कर अनर्थ की ओर पहुँचाते हैं, यह कहते हैं।

विषयरूप विषपूर्ण वायुमण्डल अन्तःकरणरूपी फूल के कोश से विवेक सुगन्धरूपी सर्वस्वका अपहरण कर कर्मशास्त्र में प्रवृत्त पुरुष को मूर्च्छा प्रदान करता है ॥६७॥ वास्तव में विषयों का स्वरूप तो असत् ही है, परन्तु भ्रमसे सद्बुद्धि के कारण उसे सद्रूपता प्राप्त हुई है, अतः असल में यह वैसा है नहीं, जैसे माया के आवरणवश सद्रूप ब्रह्म असत्–सा बन गया वैसे ही माया के विक्षेपवश असत् सत् ही बन गया । माया में यह बड़ी पटुता है कि वह अघटित वस्तु को घटित कर देती है ॥६८॥

बाह्य दृष्टियों को विषयोन्मुखी दृष्टि स्वाभाविक है, यह कहते हैं।

जैसे दोनों तटभूमियों पर प्रवाह को झूले के सदृश आन्दोलित करती हुई सागरांगनाएँ (नदियाँ) सागरों की ओर दौड़ती जाती हैं, वैसे ही मोहग्रस्त जनता विषयों की ओर दौड़ती जाती है ॥६९॥ छुटे हुए चित्तरूपी बाण विषयरूप लक्ष्य की ओर ही स्वभावतः जाते हैं, फिर वे विवेक आदि गुणों का ऐसे ही स्पर्श नहीं करते, जैसे कि कृतघ्न पुरुष सहृदयता का ॥७०॥ आयु तो एक उत्पातवायु ही है, जो मित्र हैं, वे तो स्नेहासक्ति द्वारा ध्वंसक महाशत्रु ही हैं, जो बन्धुवर्ग हैं, वह तो बन्धनरूप ही हैं और जो धन है, उसे तो मृत्यु का ही एक तरह से साधन समझना चाहिए ॥७१॥ आसक्ति पैदा करने के कारण सुख अतिदुःखरूप ही हैं, सम्पत्तियाँ परम आपत्तियाँ ही हैं, भोग संसार में महारोग हैं और भोगों से प्रेम महान् अरति यानी व्यग्रतारूप ही है ॥७२॥

पूर्वोक्त का विवरण करते हुए कहते हैं।

सभी सम्पत्तियाँ आपत्तियाँ ही हैं, सुख केवल दुःख के लिए ही हैं, जीवन मरण के ही लिए है, अहो, यह माया का बढ़ाव महान् खेदकारक है ॥७३॥ कालचक्र के प्रभाव से परिवर्तनशील इष्टअनिष्ट प्रसंगों को, विषयों के किंचित् सुख को तथा प्रियजनों के वियोगों को देखता हुआ मनुष्य जीर्ण भाव को प्राप्त हो जाता है ॥७४॥ विषयसेवनरूप भोग तो सर्पों के फण ही समझ लेने चाहिए, क्योंकि उनका तनिक ही स्पर्श किया, तो तत्काल ही डँस लेते हैं और प्रतिक्षण देखते ही नष्ट हो जाते हैं ॥७५॥ यह आयु तो आयासशून्य आत्मा की प्राप्ति कराने में सामर्थ्यरहित, भयंकर तथा परिणाम में नष्ट होनेवाली अनेक कष्टदायक चेष्टाओं से व्यर्थ ही चली जाती है ॥७६॥ भोगों की अभिलाषा से बद्धतृष्ण जीवों का पद–पदपर ऐसे ही अपमान होता है जैसे कि खानपानरहित, उपवास आदि से कृश हुए बन्धनस्तम्भ में बद्ध जंगली हाथियों का होता है ॥७७॥ सम्पत्तियाँ तथा

ललनाएँ तरंगों के उत्संग के सदृश अतिक्षणभंगुर हैं, अतः ऐसा कौन ज्ञानी पुरुष होगा, जो साँप के फणरूप छाते की छायाभूत उन सम्पत्ति आदि में रमण करेगा, इससे सम्पत्ति आदि क्षणभंगुर ही नहीं हैं, किन्तु तत्काल मृत्यु-प्रद भी हैं, यह जानना चाहिए ॥७८॥ मान लिया जाय कि विषयभोग मनोरम हैं और ऐश्वर्य भी मनोरम ही है, परन्तु जीवन तो उन्मत्त अंगनाओं के अपांगभंग के सदृश अति चंचल ही है ॥७९॥ विषय तो आपातरमणीय हैं यानी इन्द्रियसंगकाल में ही रम्य भासते हैं, ये परिणाम में अत्यन्त नीरस हैं, इसलिए ऐसे विषयों में जो पुरुष रमण करते हैं, वे नरकों में ही गिरते हैं, क्योंकि विषयों के व्यसनियों को पद-पदपर अधर्म ही होता है ॥८०॥

उसके उपायभूत धन में दोष बतलाते हैं ।

धन द्वन्द्वों से आक्रान्त हैं यानी उनका उपार्जन करने के समय शीतोष्ण, क्षुधा-पिपासा आदि द्वन्द्वों का सामना करना ही पड़ता है । अतः वे कष्टसाध्य हैं, और वे स्थिर भी नहीं हैं, क्योंकि राजा, चोर आदि से उनका विनाश पद-पद में संभावित है ॥८१॥ लक्ष्मी ऊपर-ऊपर से ही मधुर है, अन्त में दुःख देनेवाली है, केवल लोक को मोह में डालनेवाली है तथा उसका विलास क्षण के लिए ही होता है ॥८२॥ दुष्टों के साथ किये गये मैत्री आदि सम्बन्ध जैसे आपातरमणीय, थोड़े से संघर्ष में विनाशी, दुःखरूप तथा आपत्ति देनेवाले होते हैं, वैसे ही धन के साथ किये गये सम्बन्ध भी आपातरमणीय, थोड़े में नष्ट होनेवाले, दुःखरूप तथा आपत्ति देनेवाले होते हैं ॥८३॥ यौवन की शोभाएँ शरत्काल के मेघ की छाया के सदृश झटपट चली जानेवाली (नश्वर) हैं और विषय अविचार से रमणीय तथा परिणाम में सन्तापदायी हैं ॥८४॥ चाहे बड़े-से-बड़े ही क्यों न हों, उनके जीव के ऊपर मृत्युरूप अन्त अवश्य उपस्थित हो ही जायेगा । देहियों की आयुष्य तो शाखा के अग्रभाग में लटक रहे जलकी ओस की बूँदों के सदृश स्खलित हो जाती हैं ॥८५॥ वृद्धावस्था प्राप्त कर रहे पुरुष के केश तथा दाँत जीर्णशीर्ण हो जाते हैं, जीर्ण अवस्थावाले के लिए सब कुछ जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, परन्तु अकेली तृष्णा ही जीर्ण नहीं होती ॥८६॥

अब भोगों को भोग लिया जाय, जन्मान्तर में विवेक, वैराग्य आदि प्राप्त हो जायेंगे, यह सोचा जाय, तो वह व्यर्थ ही है, क्योंकि जन्मान्तर में विवेकादि प्राप्त होंगे, यह आशा ही नहीं करनी चाहिए, यह कहते हैं ।

भावी देहों की परम्परारूप शरीररूपी अरण्य में, जो भोगों के विस्तार से अतिगहन हैं, एकमात्र तृष्णारूपी विषमंजरी ही अत्यन्त लहलहाती नजर में आती है ॥८७॥

बाल्य आदि अवस्थाओं में भी विवेकादि की आशा नहीं है, यह कहते हैं ।

बाल्य अवस्था युवावस्था के सदृश चली जाती है और युवावस्था बाल्य अवस्था के सदृश चली जाती है, यों इन दोनों में परस्पर उपमानता, उपमेयता तथा विनश्वरता विद्यमान हैं ॥८८॥

अंजलि से जैसे जल क्षणभर में चला जाता है, वैसे ही यह जीवन क्षणभर में गल जाता है। नदी के प्रवाह के सदृश बह गयी आयु, फिर लौटकर वापस नहीं आती ॥८९॥ किसी भी अज्ञात कारण से, अर्जुन वायु के सदृश, यह दुःखदायी देह आई तो है, परन्तु देखते–देखते ऐसे झट से नष्ट हो जाती है, जैसे तरंग, मेघ और दीपक ॥९०॥ हम लोगों को विषयों में नीरसता इसलिए हुई कि रम्य वस्तुओं में अरम्यता ही देखी, स्थिर वस्तुओं में अस्थिरता ही देखी और सत्यरूप समझे गये पदार्थों में असत्यरूपता देखी ॥९१॥ मन के वासनानिर्मुक्त हो जाने पर जो आत्मा में विश्रान्ति प्राप्त होती है, उस विश्रान्ति से जो सुख मिलता है, वह न तो पाताल में, न भूतल में, न स्वर्ग में और न किन्हीं भोगों में ही प्राप्त होता है ॥९२॥

इस समय में दृढ़ वैराग्य से युक्त मुझ पर सम्पूर्ण विषयों को लेकर भी समस्त इन्द्रियों के व्यापार विजय नहीं पा सकते, यह कहते हैं।

जितने प्रिय बुद्धि से गृहीत मनोरम विषय हैं वे सब तथा पाँचों इन्द्रियों की वृत्तियाँ क्या मुझको जीत सकती हैं ? अर्थात् वे मुझको ऐसे जीत नहीं सकती जैसे कि चित्रलिखित लता भ्रमर को नहीं जीत सकती ॥९३॥ आज दीर्घकाल व्यतीत हो जाने के पश्चात् निरहंकार हुए मैंने अपनी विवेकबुद्धि से यह स्वर्ग–अपवर्ग के प्रति विरक्ति प्राप्त की है ॥९४॥ हे मुने, इसी कारण आपकी तरह मैं भी दीर्घकाल तक विश्रान्ति करने के निमित्त इस आकाशस्थान में, जो कि आपकी कल्पना की कुटिया का भाजन रहा, आया और मैंने उस कुटिया को देखा ॥९५॥ महाराज, आपकी यह कुटी है और भविष्य में यहाँ पर आप पधारेंगे, यह उस समय मैंने नहीं विचारा । आज ही मुझे यह ज्ञात हुआ है ॥९६॥

आपने उस समय क्या समझा था, इस पर कहते हैं।

हे मुने, उस समय तो मैंने अनुमान से यह समझा था कि कोई सिद्ध यहाँ रहता होगा और वह अपने आप अपना शरीर छोड़कर यहाँ मुक्ति को प्राप्त हो गया है ॥९७॥ हे भगवन्, 'तुम कहाँ स्थित हो' इत्यादि जितने आपने मुझसे प्रश्न किये थे और मेरी जो खरी हकीकत रही, वह सब मैंने कही । अब इसके बाद मुझ अपराधी के ऊपर दण्ड या अनुग्रह इन दोनों में से जो कुछ भी आपकी समझ में आता हो, वह कीजिए ॥९८॥ हे मुने, आपके जैसे सिद्ध भी जबतक समाधिनिष्ठ होकर उत्तम बुद्धि से अपने भीतर समस्त वस्तुओं का विचार–पूर्वक निर्णय नहीं करते, तब तक वे त्रिकाल के सब वृत्तान्तों का ज्ञान नहीं कर पाते । इसी तरह का ब्रह्मा आदि के मन का भी स्वभाव है, फिर मेरे जैसे पुरुषों की तो बात ही क्या ? इसलिए आपके वृत्तान्त का अपरिज्ञान एवं शरीर को हटाया आदि जो मैने आपके प्रति अपराध किया है, उसे क्षमा कीजिए, यह तात्पर्य निकला ॥९९॥

तिरानबेवाँ सर्ग समाप्त

चौरानबेवाँ सर्ग

दोनों का-श्रीवसिष्ठजी तथा उस सिद्ध का-सिद्धलोक में गमन तथा
पिशाचों एवं देवताओं की केवल मन के अनुसार स्थिति, यह वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, उसके बाद आकाश के समान विस्तीर्ण सात समुद्र और सातों द्वीपों के बाहर स्थित कांचनमय विशाल भूमि में मैत्री के कारण ही मैंने उस सिद्ध से यह कहा-मित्र, अकेले आपने ही विचार नहीं किया हो ऐसी बात नहीं है, किंतु मैंने भी विचार नहीं किया। साधारण लोगों की बात जाने दीजिये, जो बड़े-बड़े योगी हैं, उनको भी ध्यानपूर्वक सब विषयों में मनोयोग के बिना भूत, भविष्यत् पदार्थों का परिज्ञान कदापि नहीं हो सकता ॥१,२॥

यदि प्रणिधान (ध्यान) द्वारा सब विषयों में मनोयोग हो सकता तो आपका पतन कदापि न होता और संकल्पकुटी स्थिर बनायी गई होती, यह कहते हैं।

मित्र, मैंने आपका वृत्तान्त विचारकर वह कुटी आकाश में चिरस्थायिनी क्यों न बना दी। यदि मैं ऐसा कर देता तो अवश्य ही आपकी स्थिति स्थिर हो गई होती, आपका पतन न हो पाता। मित्र, हम दोनों से ही परस्पर अपराध हुआ, अतः परस्पर दोनों को क्षमा कर देनी चाहिए ॥३॥ अब उठिये, हम दोनों सिद्ध लोकों में पूर्ववत् निवास करें-आप नन्दनवन में चलकर विहार कीजिये और मैं सप्तर्षिलोक में जाकर रहूँ। बिना हलचल के अपने स्थान में रहना अपनी विक्षेपशून्य स्थिति के लिए उत्तम साधन है ॥४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐसा निर्णय कर तारों के सदृश वे दोनों सिद्ध गुलेल से उड़े हुए दो पत्थरों के समान एक साथ बड़ी तेजी से उड़े ॥५॥ परस्पर प्रणामपूर्वक एक दूसरे को विदा कर वह सिद्ध अपने अभीष्ट देश को चला गया और मैं भी अपने अभिमत देश में आ गया अर्थात् वह सिद्ध नन्दन वन को गये और मैं सप्तर्षि लोकों में आया ॥६॥ हे राघव, इस प्रकार पाषाणोपाख्यान एवं सिद्ध का सारा वृत्तान्त मैंने आपसे कह सुनाया। देखिये, संसृतियों की कैसी आश्चर्यमयी विचित्रता है ॥७॥

कुटी में स्थित जो आपका स्थूल शरीर था, उसे उस सिद्ध ने फेंक दिया, यह मेरा अनुमान है ऐसा आपने ही मुझसे कहा है। फेंका गया जो पार्थिव शरीर है वह तो समय पाकर पृथ्वी में धूल-रूप हो जाता है, यह अर्थतः ही ज्ञात हुआ। ऐसी स्थिति में एकमात्र मानसिक शरीर से सिद्धों के लोकों में जाकर वहाँ के निवासी जनों के साथ आपने कैसे व्यवहार किया ? न तो मनोमात्र आत्मा दूसरों के साथ व्यवहार कर सकता है और न दूसरे ही उसके साथ व्यवहार कर सकते हैं, इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, जब आपका यह भौतिक शरीर पृथ्वी में धूल बन गया, यानी धूलमय हो गया तब आपने किस शरीर से सिद्धलोकों में संचार किया ? ॥८॥ श्रीवसिष्ठजी ने

कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, हाँ, मुझे स्मरण हो आया, सुनिये उसके बाद की मेरी आत्म कहानी । सुवर्णमयी भूमि से चलकर जगत्‌रूपी घर में सिद्धों की सेनाओं तथा लोकपालों की पुरियों में भ्रमण करता हुआ मैं इन्द्र भगवान् के नगर में पहुँचा । चूँकि मैं इस स्थूल शरीर से रहित मनोमात्र शरीरधारी था, अतः वहाँ मुझको कोई देख न सका ॥९,१०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इसमें सन्देह नहीं कि उस समय मैं गगनाकार हो गया था । न तो मेरा कोई आधार था और न कोई आधेय था । मैं तो चिदाकाशप्रचुर जो मन है, तद्रूप ही हो गया था ॥११॥ उस समय न तो मैं आपके सदृश स्थूल पदार्थों के अवबोध करनेवालों की तरह ग्रहीता (ग्रहणकर्ता) था और न ग्राह्य ही था । हे श्रीरामचन्द्रजी, उस समय मैं प्रेषण, प्रतीक्षण आदि के द्वारा दूसरों के देशों और कालों का परिवर्तन करनेवाला भी नहीं था ॥१२॥ मन का जो मनन है एकमात्र वही मेरा स्वरूप था, मैं पृथ्वी आदि से बिलकुल रहित था, मेरा आकार संकल्प के पुरुष के तुल्य था और मैं स्पर्श न होने के कारण स्तम्भ, कुम्भ आदि विविध पदार्थों का रोधक नहीं था ॥१३॥ अपने अनुभव की ओर उन्मुख हुआ मैं यानी स्वानुभवरूप मैं स्वयं भी पदार्थसमूहों से अवरुद्ध नहीं होता था । हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह मैं स्वप्नमनोराज्य के समान मनोमय भूतों के साथ ही व्यवहार करता था ॥१४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह के अर्थ की संभावना में स्वप्न के अनुभवपूर्ण दृष्टान्त हैं । जो अनुभव का अपलाप करते हैं, अनुभव को प्रमाण नहीं मानते हैं उन नैयायिकों के साथ बातें करना ठीक नहीं है, व्यर्थ है (✍) ॥१५॥ जिस प्रकार घर में सोये हुए स्वप्न में विचरण करनेवाले स्वप्न में व्यवहार कर रहे पुरुष को उस घर के दूसरे प्राणी नहीं देख पाते, उसी प्रकार उस समय आकाश में विहार करनेवाले देवताओं ने सामने स्थित रहने पर भी मुझे नहीं देखा ॥१६॥ पार्थिव आकार के तुल्य भासुर यानी देदीप्यमान अन्य प्राणियों को मैं तो देखता था, लेकिन स्थूलशरीरधारी मुझे वहाँ कोई भी नहीं देखता था ॥१७॥

मुझे वहाँ कोई नहीं देखता था, यह आपका कहना आपके ही पूर्व के कथन से विरुद्ध है। क्योंकि अभी आपने पहले कहा है कि मैं वहाँ सिद्ध से देखा गया । मैं अन्य प्राणियों को देखता था, आपका यह कहना भी असंगत है, कारण कि मन की बाहर स्वतन्त्रता न होने से स्वप्न में अपने

(✍) ज्ञानमात्र में अवच्छेदकता सम्बन्ध से देह की कारणता के सदृश त्वक् एवं मनके संयोगकी भी कारणता है, इसीलिए सुषुप्ति में त्वंमनोयोग का अभाव रहने से ज्ञान का अभाव है। ऐसा जो नैयायिक प्रलाप करता है, वह मूर्ख है, उसके साथ आपको संभाषण करना ही नहीं चाहिए, क्योंकि भाषण करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा, 'सुखमहमस्वाप्सम् इत्यादि जाग्रत्काल में स्मृति होने से सुषुप्ति में भी सुखस्वप्नादिका ज्ञान तो होता ही है । स्वप्नेन शारीर मभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति । शुक्रमादाय पुनरेति स्थानं हिरण्मयः पूरुष एकहंसः।' इत्यादि श्रुति के साथ विरोध भी होता है तथा निमि के शाप से जब मैंने शरीर का परित्याग कर दिया, तो भी मुझे दुःख का अनुभव तो होता था, उसी के निवारण के लिये ब्रह्मा की आज्ञा से मिले हुए वरुण से उत्पन्न शरीर का मैंने ग्रहण किया था ।

मनोमय पदार्थों का ही अवलोकन होता है, इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : महर्षे, आकाशमय शरीरधारी आप यदि विदेह होने के कारण यानी पार्थिव शरीर शून्य होने के कारण किसी के द्वारा नहीं दिखते रहे, तो फिर उस सुवर्णमयी पृथिवी में उस सिद्ध के द्वारा आप कैसे देखे गये ? ॥१८॥

सत्य संकल्पानुसारी दर्शन की व्यवस्था से श्रीवसिष्ठजी दोनों का परिहार करते हैं ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, हमारे सदृश ज्ञानयोगसिद्ध पुरुष जैसे संकल्प से कल्पित पदार्थों का अवलोकन करता है, वैसे ही असंकल्पित पदार्थों को प्राप्त नहीं करता, क्योंकि वह सत्यसंकल्प शरीरवाला है ॥१९॥

ज्ञानसिद्ध महानुभावों का सदा ही सूक्ष्म शरीर रहता है, उनका तो स्थूल शरीर होता ही नहीं, यह आपने अनेक बार मुझसे कहा है, ऐसी दशा में उनका स्थूलदेहबुद्धि से दूसरे को देखना, उससे बातचीत करना आदि सत्य संकल्प कैसे हो सकता है ? ऐसी आशंका करने पर श्रीरामजी कहते हैं ।

निर्मलात्मा सूक्ष्म शरीरधारी सिद्ध पुरुष भी लौकिक व्यवहारों में मग्न होकर क्षण भर में ही अपना सूक्ष्म शरीर भूल जाता है, तात्पर्य यह है कि जैसे समाधि और विवेक काल में सत्यसंकल्पन होता है वैसे ही व्युत्थान-व्यवहार-काल में सूक्ष्म शरीरभाव का विस्मरण भी होता है, इसलिए उनका परदर्शन, संवाद, आदिका संकल्प सम्भव है ॥२०॥

यह जो सिद्ध था, वह भी सत्यसंकल्प तथा सिद्ध था, अतः मुझे देख सकता था, इस आशय से उसमें विशेषता दिखलाते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी उस समय मैंने यह सिद्ध मुझे देखे, ऐसा संकल्प किया था, इससे उस सिद्ध ने मुझे देखा, जो स्वसंकल्पित अर्थका भाजन था ॥२१॥

साधारण लोगों की अपेक्षा सिद्ध पुरुष में विशेषता बतलाते हैं ।

चिरकाल की वासना से जिस पुरुष का भेद बहुत दृढ़ हो चुका है, वह साधारण पुरुष चिरकाल की वासना से भेदबुद्धि के दृढ़ होने के कारण संकल्पित अर्थ का भाजन नहीं होता, किन्तु भेदवासना मिट जाने के कारण यह सिद्ध सत्य संकल्प का भाजन था ॥२२॥

जहाँ दो सिद्ध परस्परविरुद्ध संकल्प करें-जैसे एक तो यह संकल्प करे कि 'मैं' इसे देखूँ और दूसरा यह संकल्प करे कि 'मुझे यह न देखे' ऐसी स्थिति में वहाँ कैसी व्यवस्था होगी ? इस आशंका पर कहते हैं ।

परस्पर सिद्ध एवं विरुद्ध अभिष्टवाले दो सिद्धों में जो अधिक निर्मलात्मा यत्नवान् रहता है वह बाजी मार ले जाता है । जैसे एक राज्यसिद्धि के लिए प्रयत्न कर रहे दो राजकुमारों में जिसमें शौर्य आदि अधिक मात्रा में रहते हैं, उसी की विजय होती है वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये ॥२३॥

ऐसा ही सही, परन्तु आपके इस कथन से प्रकृत में क्या आया, इसपर कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, सिद्धों की सेनाओं तथा लोकपालों की पुरियों में विचरण करते हुए मेरी वह सूक्ष्मरूपता व्यवहारों की अधिकता से जब विस्मृत हो गई–जब मैं अपना सूक्ष्म स्वरूप भूल गया तब महाकाश में अन्य लोगों के साथ व्यवहार करने में प्रवृत्त हो गया, परन्तु मेरा ऐसा चंचल रूप था कि वहाँ मुझे कोई नहीं देख पाता था ॥२४,२५॥ हे अनघ, मैं वहाँ सुरलोकों में अत्यन्त जोर से शब्द कर रहा था, फिर भी वहाँ जैसे स्वप्न के पुरुष का शब्द कोई नहीं सुनता वैसे ही मेरा वह शब्द कोई नहीं सुन पाता था ॥२६॥ वहाँ पर जब कोई गिरता तथा नीचे से ऊपर की ओर चढ़ता तो वैसे मौकों में मैं झट अपने हाथ आदि का उसे अवलम्बन देने के लिए उद्यत हो जाता था । लेकिन हे रामजी, उसके सहारे के लिए उद्यत होने पर भी मननशील मनरूपशरीरधारी मेरा हाथ आदि कुछ भी उसके अवलम्बन के लिए समर्थ नहीं होता था ॥२७॥ हे रघुनन्दन, इस तरह मैं आकाशका पिशाच हो गया और देवताओं के घरों में इस एक अनिर्वचनीय पिशाचता का मैंने अनुभव किया ॥२८॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, कृपाकर यह बतलाइये कि इस लोक में पिशाच किस आकार के होते हैं, वे कहाँ रहते हैं, किस जाति के होते हैं, उनका आचार कैसा होता है तथा वे किस तरह के अभिप्रायवाले होते हैं ? ॥२९॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इस लोक में पिशाच जिस तरह के हैं, उनका मैं आपसे वर्णन करता हूँ, आप सुनिये । जो मनुष्य प्रसंगप्राप्त वचन नहीं बोलता वह सभ्य नहीं है ॥३०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, कोई पिशाच आकाश के सदृश सूक्ष्म शरीरवाले–मनोमय देहवाले स्वप्न के समान कल्पित हाथ, पैर आदि से युक्त होते हैं और आप ही के समान आकार को देखते हैं ॥३१॥

पिशाच मनोमात्रमय शरीरवाले हैं तो वे दूसरों के ऊपर आक्रमण कैसे करते हैं, क्योंकि मन में बाहर आक्रमण करने की सामर्थ्य नहीं है, इस शंकापर कहते हैं ।

अन्य मनुष्य के चित्त में प्रविष्ट होकर भ्रमरूप भयदायिनी अपनी छाया से आक्रमण करके वे सब पिशाच नानाविध दुःख आदि प्रदान करनेवाली चेष्टाओं से मनुष्य के आशय को उद्बोधित करते हैं ॥३२॥ उसका यदि मरण के अनुकूल कर्माशय होता है तो मर्मस्थानों में पहुँचकर इनमें कोई पिशाच शीघ्र प्राणियों को मारते हैं और स्वयं अपने ऋण के अनुबन्ध के अनुसार उसके देहधातुओं का भक्षण करते, रुधिर आदि पीते तथा बल एवं सत्त्व को नष्ट करते हैं और चित्त में आक्रमण करके जीवों को नष्ट कर डालते हैं ॥३३॥

इनमें कोई आकाश के सदृश, कोई नीहार (कुहरा) के तुल्य और कोई स्वप्न काल के मनुष्यों के आकार के समान आकारवाले साकार होते हुए भी शून्यात्मक होते हैं ॥३४॥ कोई मेघखण्ड के समान, कोई वायुमय देहवाले और कोई प्राणी की भ्रान्ति के अनुसार देहधारी होते हैं । हे श्रीरामचन्द्रजी, ये सबके सब बुद्धि–मनोमय ही होते हैं ॥३५॥ इन पिशाचों को पकड़ना सम्भव नहीं है और ये भी यदि किसी को पकड़ना चाहें, तो पकड़ नहीं सकते हैं । आकाश के समान शून्य

शरीरवाले वे अपनी आकृतिका स्वयं अनुभव करते हैं और परस्पर देखते हैं ॥३६॥ तथा वे सब शीत और तापसे उत्पन्न हुए सुख और दुःख का भी अनुभव करते हैं। किन्तु वे बाहर के जल आदि पी नहीं सकते, अन्न आदि खा नहीं सकते किसी पदार्थ का अवलम्बन नहीं कर सकते-स्वयं खड़े नहीं हो सकते तथा लेने देने आदि का यथेष्ट व्यवहार भी वे नहीं कर सकते ॥३७॥ वे सब इच्छा, द्वेष, भय, क्रोध, लोभ और मोह से युक्त रहते हैं और मन्त्र,औषध, तप, दान, धैर्य एवं धर्म से वशीभूत होते हैं ॥३८॥

तब किस उपाय से उन्हें मनुष्य देख पाते हैं, यह कहते हैं ।

सत्त्व का अवष्टम्भरूप योगधारणाका जो एक भेद है, उससे भूतों के अवलोकन के अनुकूल बीजाक्षर से घटित रजत आदि पत्र के ऊपर लिखित कण्ठ आदि में धारण किये गये यन्त्र तथा आराधित मन्त्र से वे दिखाई देते हैं तथा भूतविद्या जानने वाले किसी एक पुरुष के द्वारा कभी वशीभूत होकर सेवा आदि में नियुक्त भी किये जाते हैं, किसी देश में यह प्रसिद्ध है ॥३९॥

देवयोनियों के ग्यारह भेदों के भीतर यह भूतयोनि है, इसलिये अणिमा आदि ऐश्वर्यों के तारतम्य से सुखभोग भी उनमें है । यह सूचित करते हुए उनकी जाति तथा आकृति का भेद का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं ।

चूँकि यह भूतयोनि भी देवयोनि ही है, इसलिए इन पिशाचों में कोई देवरूप ऐश्वर्य सम्पन्न होते हैं, कोई मनुष्यों के समान लक्ष्मी से सम्पन्न होते हैं और कोई साँपों के सदृश होते हैं ॥४०॥ इनमें कुछ ऐसे होते हैं जिनकी उपमा कुत्तों तथा सियारों से दी जा सकती है । कोई ऐसे होते हैं, जो गाँवों में तथा जंगलों में निवास करते हैं तथा कोई ऐसे भी होते हैं जिनका नहरों, कुओं, मार्गों एवं नरकसदृश अपवित्र देशों में ही सदा वास रहता है ॥४१॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इनके यही सब रहने के स्थान हैं, इसी तरह के आकार के तथा ऐसे ही आचार के वे पिशाच होते हैं, यह सब मैंने आपसे कह दिया अर्थात् आपने जो प्रश्न किया था कि वे किस आकार के होते हैं उनका आचार क्या है तथा वे कहाँ रहते हैं, इसका उत्तर मैंने आपको दे दिया है । अब इनका आप यह जन्म सुनिये ॥४२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, कार्यब्रह्म से विलक्षण जो मायाशबल ब्रह्म है, वह समस्त शक्तियों के स्वभाव से विषय का संकल्प करते हुए मनोमय पुरुष के समान भीतर अवबुद्ध होकर स्वरूप से जो स्थित है उसी को जीव नामक प्रथम अंकुर समझिये । अभिमान से परिपूर्ण वही अहंकार कहा गया है तथा परिपुष्ट हुए उस अहंकार को ही जिन्हें आत्मा का आविर्भाव हो गया है उन महानुभावों ने, मन कहा है ॥४३,४४॥ वह मनरूप जो जीव है वही समष्टिरूप से संकल्पाकाशरूपधारी ब्रह्मा कहलाता है। असद्रूप इस जगत् का बीज भी एकमात्र असद्रूप ही है, उसकी कोई आकृति नहीं है ॥४५॥ इस प्रकार मन ही ब्रह्मा बनकर स्थित है । वह ब्रह्मा सदेह होने पर भी निर्मल आकाशरूप ही है। स्वप्न के पुरुष के आकार के सदृश उपस्थित रहने पर भी उसका वह शरीर असत् ही है ॥४६॥ पृथ्वी

आदि पंचभूतों की मूर्ति से रहित होने पर वह ब्रह्मा सूक्ष्म शरीर से सम्पन्न है । हे श्रीरामचन्द्रजी, आप ही सोचिये कि आकाश में संकल्पपुरुष के पृथ्वी आदि कहाँ से हो सकते हैं ? ॥४७॥ आपका मन जैसे आकाश में कल्पित नगर का अवलोकन करता है, वैसे ही अपने में कल्पित विरंचि (ब्रह्मा) रूपता का भी अवलोकन करता है ॥४८॥ एकमात्र यह कारण है कि वह ब्रह्मा अपने जिस जिस संकल्प को जानता है तत्–तत् पदार्थों के आकार से उसका अवलोकन करता है । और स्वयं उसका अनुभव भी करता है । जो जिस परिणाम का जीव है वह सब चित्रूप सत् ही है । इसलिए ज्ञानशक्ति से सम्पन्न वह क्यों न अवलोकन करे ? ॥४९॥ निराकार मनरूप वह ब्रह्मा ब्रह्मस्वरूप चिदाकाश में एकमात्र जिस शून्यस्वरूप ब्रह्माण्डाकार का अवलोकन करता है वही जगत् कहलाता है ॥५०॥ तथा इसका प्रतिभास ही इस समय चिरकाल की एकमात्र भावना से घनीभूत पुष्ट होकर सुदीर्घ स्वप्न के समान सुन्दर अवस्थित है ॥५१॥ सूक्ष्मशरीरधारी उस ब्रह्म का यह सर्गानुभव ब्रह्मस्वरूप होने पर भी चिरकाल की भावना से अधिक प्रकटता के उत्कर्ष से यानी अधिक प्रकट होने से अधिभौतिक शरीरता को प्राप्त हो गया है, जो अनेक भेदसमूहों से भासुर है ॥५२,५३॥ वह ब्रह्मा ब्रह्ममात्रात्मा ब्रह्मस्वरूप ही हैं । ब्रह्मात्मरूप जीव और जगत्, ये दोनों अनुभव हैं तथा ये दोनों ऐसे अभिन्न हैं जैसे कि आकाश और शून्यत्व और ये दोनों ऐसे एक रूप से स्थित हो रहे हैं जैसे कि पवन और स्पन्दन ॥५४,५५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे आप अपने संकल्पपुरुष में तथा असत् होते भी सद्रूप नगर आदि में पृथ्वी आदि पंचभूतमयता देखते हैं वैसे ही ब्रह्माजी भी इन दोनों में भूतमयता देखते हैं । परन्तु वह भूतमयता मिथ्या ही है, वास्तविक नहीं है ॥५६॥ भूतमयता देखने के बाद ब्रह्माण्डात्मक अपने शरीर के धातुओं के चितिसत्ता से पुष्ट कठिन एवं द्रव्यभूत भागों की पृथ्वी आदि पाँच संज्ञाएँ उन्होंने की है । वे ही पाँचों मिलकर 'जगत्' इस नाम से प्रसिद्ध होकर स्थित हैं ॥५७॥ जैसे आपने अपने असत्य संकल्प को सत्यरूप ही अनुभव किया ॥५८॥ जैसे वह ब्रह्मा स्वयं चिन्मयाकाश ही हैं वैसे ही परमार्थतः उनका संकल्प भी चिदाकाशरूप ही है । अतः यह समस्त जगत् उस ब्रह्मदेव का एक स्वप्न है तथा उनके संकल्पजनित इसके नाश और प्रादुर्भाव भी दोनों स्वप्न के तुल्य स्थित हैं ॥५९॥

तब उनके द्वारा निर्मित हुए चन्द्र, सूर्य, तारे आदि सर्वविध अर्थक्रिया में हेतु कैसे हैं ? इस आशंका पर कहते हैं ।

जैसे यह मनरूप ब्रह्मदेव सत्य हैं वैसे ही उनके द्वारा निर्मित हुए उनकी वृत्तिरूप वे चन्द्र, रूद्र, सूर्य तथा चन्द्रकिरण आदि भी सत्य ही हैं यानी प्रवृत्ति आदि अर्थक्रिया के सम्पादन में समर्थ हैं ॥६०॥ ऐसी स्थिति में यह समस्त जगत् सत्य उस ब्रह्मदेव का एकमात्र मनोराज्य ही कहा जाता है और यह सब चिति में निरालम्ब शून्य आकाश का स्फुरणरूप ही है ॥६१॥ जिस प्रकार स्वप्न का नगर चिदाकाशरूप है जैसे संकल्प का पर्वत चिदाकाश स्वरूप है वैसे ही ब्रह्मदेव का यह जगत्

निराकार स्वच्छ चिदाकाशरूप ही है ॥६२॥ इस तरह एकमात्र आभासस्वरूप से सर्वदा स्फुरित हो रहे इस जगत् की जन्म, स्थिति और प्रलय की प्रतीतियाँ मिथ्या ही यहाँ उदित होकर स्थित हैं । हे श्रीरामचन्द्रजी, यथार्थ में तो एकमात्र अविनाशी वह ब्रह्म ही सर्वत्र स्थित है ॥६३॥

एकमात्र यही कारण है कि आत्मा की चिदाकाशरूपता का अनुसन्धान करने पर आपके, मेरे या अन्य किसी के भी ये सर्ग आदि कुछ भी नहीं है, यह कहते हैं ।

इसलिए हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, यह मुझसे कहिये कि चिदाकाशस्वरूप मेरा, आपका या संसार का ही क्या उत्पन्न होता है तथा क्या नष्ट होता है ? ॥६४॥ कहिये यह निरर्थक संसार क्यों अनर्थ के लिए उदित हुआ है ? बिना किसी मतलब के यानी बिलकुल अर्थशून्य ये राग, द्वेष, भय, रोग आदि क्यों उदित हुए हैं ? ॥६५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, वस्तुतः न तो सृष्टि का कोई कारण है, न सर्गता है और न असर्गता ही है, किन्तु सिर्फ एक बार अवभासित हुआ पुनः आवरण होने के कारण प्रपंचरूप से प्रसिद्धि को प्राप्त यह प्रत्यक्रूप ब्रह्म ही सर्वदा विद्यमान है ॥६६॥ सर्वदा शून्य, विपुल आभोगवाले, स्वच्छ चितिरूपी जल से परिपूर्ण, चिदाकाशरूपी अविनाशी क्षेत्र (खेत) के अज्ञानकल्पनारूपी पंक से व्याप्त होने पर उसमें उस चिदाकाश स्वरूप बीज से ही चिदाकाशात्मक यह अनन्त पंचभूतरूप ब्रह्माण्डबीजशिलाओं की पंक्ति उत्पन्न हुई हैं और आगे चलकर भी होगी ॥६७,६८॥

कल्पनारूपी पंक के अभाव में बतलाते हैं ।

वस्तुतः यहाँ पर न तो कोई खेत है, न कुछ उसमें बोया गया है, न कोई बीज है और न कुछ उत्पन्न ही हुआ है, किन्तु एकमात्र कल्पना से सब कुछ यहाँ स्थित है ॥६९॥

इस प्रकार पिशाच जाति के वर्णन के प्रसंग से सृष्टि के तत्त्व का वर्णन करके अब प्रस्तुत विषय के अनुकूल होने से पूर्ववर्णित पंचभूतशिला के अवयव आदि रूपसे भिन्न-भिन्न जातियाँ दिखलाते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस कल्पनारूपी पंक से व्याप्त उस चिदाकाशरूपी खेत में जो ब्रह्माण्डरूपी शिलाओं की अनेक पंक्तियाँ परिपुष्ट हुई हैं, वे सब देव आदि जातियाँ हैं । *(यह सामान्य रूपसे कहा गया है, अब विशेषरूप से उनका विभाग करके कहते हैं)* इनमें जो अत्यधिक सौन्दर्य से उज्ज्वल रत्नरूप हैं, वे तो देव, ऋषि आदि की जातियाँ हैं ॥७०॥ इनमें जो शिलाएँ अर्ध उज्ज्वल है वे नर, नाग आदि की जातियाँ हैं तथा जो मलिन और रजोगुण से दूषित शिलाएँ हैं वे सब कृमि, कीट, स्थावर आदि हैं ॥७१॥ इनमें जो बड़ी, बड़ी वजनदार, कान्ति, प्रकाश आदि फलों से हीन, शून्याकार, क्षयक्षत, देहाकार से रहित तथा शरीर से युक्त शिलाएँ हैं वे सब पिशाच आदि कही गई हैं ॥७२॥ उस खेत में उत्तम देवादिरूप रत्न ही पैदा होवें, यही संकल्प हिरण्यगर्भ को क्यों नहीं हुआ, वृथा पाषाणरूप पिशाचादि जातियाँ पैदा करने का उनका क्यों संकल्प हुआ, यह आक्षेप

आप संकल्प करनेवाले विधाता की इच्छा के ऊपर कदापि नहीं कर सकते, क्योंकि विधाता की वे इच्छाएँ पैदा होनेवाले जीवों के पूर्व जन्म की कर्मवासना के अनुसार ही हुई हैं,अतएव वे पिशाचजातियाँ भी वैसी ही यानी अपने पूर्वजन्म की कर्मवासना के अनुसार ही उदित हुई हैं ॥७३॥

शिलारूपता की उत्प्रेक्षा करने के बाद अब भूतजातियों में प्रसक्त भौतिकता का वारण करते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, वास्तव में तो सभी भूतजातियाँ पृथिवी आदि पंचभूतों से रहित स्वरूपव्यापी मनोरूप सूक्ष्मदेह से युक्त चिदाकाश रूप ही है ॥७४॥

तब हम लोगों की देह में भौतिकता का अनुभव कैसे होता है ? इस शंका पर कहते हैं ।

चिरकाल के अभ्यास के वश वे सबके सब आधिभौतिक संवित् को ऐसे प्राप्त हो गये हैं जैसे दीर्घकाल के अनुभव से यानी दीर्घकाल की भावना से स्वप्न जाग्रत् दशा को प्राप्त होता है ॥७५॥ ये पिशाच आदि भी चिरकाल के अभ्यास से आधिभौतिक रूपता को प्राप्त होकर अपने संसार में विहार करते हुए अपनी योनि के योग्य भोगों से सन्तुष्टचित्त हो अवस्थित रहते हैं । तात्पर्य यह की उनकी पिशाच देह और कुत्सित भोग भी उन्हें अत्यन्त प्रिय ही लगते हैं बीभत्स नहीं ॥७६॥ स्वप्नलोक में निवास करनेवालों के सदृश कोई कोई पिशाचों की ये जातियाँ भी परस्पर एक दूसरे को इस तरह देखती हैं (यानी दर्शन आदि के द्वारा एक दूसरे के साथ ऐसे व्यवहार करती हैं,) जैसे गाँव में रहनेवाले प्राणी गाँव के निवासियों को ॥७७॥ इनकी अनेक संस्थानों में अवस्थित कुछ ऐसी भी जातियाँ हैं, जो बहुधा मनुष्य के स्वप्न में निर्मित होनेवाले लोगों की तरह परस्पर भी नहीं देखती ॥७८॥

पिशाचजातियों की तरह कुम्भाण्डादि जातियों की भी प्रायः सूक्ष्मदेहता होती है तथा इनमें भी चेष्टा आदि ठीक वैसे ही पाये जाते हैं, यह कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस संसार में जैसे पिशाच आदि दुष्ट जातियाँ स्थित हैं प्रायः वैसे ही ये कुम्भाण्ड, यक्ष तथा प्रेत आदि भी स्थित हैं ॥७९॥

जैसे ऊँच–नीच जमीन के तारतम्य में जलकी स्थिति में तारतम्य रहता है वैसे ही पाप के तारतम्य से उनमें तमोगुण का तारतम्य स्थित रहता है, यह कहते हैं ।

जैसे इस संसार में गहरी जमीन में जल स्थित रहता है वैसे ही जहाँ पिशाच आदि रहते हैं वहाँ पर उनके पाप के तारतम्य से थोड़ा–बहुत तमोगुण भी स्थित रहता है ॥८०॥ यदि मध्याह्नकाल में धूप से युक्त आँगन में भी पिशाच विद्यमान रहे, तो वहीं पर भी घोर अन्धकार अच्छी तरह उसकी सन्निधि करता ही है यानी उसके सम्मुख अवस्थित हो ही जाता है ॥८१॥ उस अन्धकार को सूर्य नहीं नष्ट करते और उसको दूसरा कोई देखता भी नहीं है । एकमात्र वह पिशाच ही उसका अनुभव करता है । हे श्रीरामचन्द्रजी, देखिये माया का विकास कैसा है ॥८२॥ जैसे हम लोगों के

प्रकाश के लिए अग्नि तथा सूर्य आदि का तैजसमण्डल विद्यमान है वैसे ही पिशाच आदिकों की व्यवहारसिद्धि के लिए इन्धन आदि से अनुत्पन्नस्वरूप वाला तामस-मण्डल विद्यमान रहता है ॥८३॥ उल्लू के समान पिशाच आदि अपने स्वभाव से ही प्रकाश में निर्बल हो जाते हैं और अन्धकार में ओज की प्रधानता को प्राप्त हो जाते हैं यानी प्रबल हो जाते हैं। देखिये, यह कैसा आश्चर्य है ॥८४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, पिशाचयोनि में उत्पन्न जीव की जाति का मैंने आपसे वर्णन कर दिया, जैसा कि आपने मुझसे पूछा था । पूछी गई बातों का अवश्य उत्तर देना ही चाहिए, यह व्याख्याताओं का सम्प्रदाय है, इससे शून्य यह पिशाच जाति न थी । अर्थात् सुरलोकपालों के लोकों में मैं पिशाचतुल्य हो गया, यह जो मैंने आपसे कहा था, उसी के प्रसंग में आपने मुझसे पिशाचजाति के विषय में पूछ दिया (☞) ॥८५॥

चौरानबेवाँ सर्ग समाप्त

पंचानबेवाँ सर्ग

सत्यसंकल्पता की स्मृति से पुनः प्राणियों के साथ व्यवहार तथा अपने आकाशवसिष्ठ आदि नामों की प्राप्ति का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर उस समय पंचभूतों से रहित केवल चिदाकाश मात्र शरीरधारी मैं पिशाच के सदृश आकाश में विहार करता हुआ स्थित था ॥१॥ उस समय मुझे न तो सूर्य, चन्द्र, इन्द्र तथा हरि, हर आदि देख पाते थे और न सिद्ध, गन्धर्व, किन्नर तथा अप्सराएँ ही देख पाती थीं ॥२॥ मैं पादन्यास, आरोहण आदि के द्वारा उनके ऊपर आक्रमण करता था, परन्तु वे मेरे ऊपर आक्रमण नहीं कर सकते थे । वे लोग मेरा वचन भी नहीं सुन सकते थे । इसलिए मैं मोह को प्राप्त हो गया - मुझे पूर्वापरकर्तव्यता का कुछ भी प्रतिसन्धान न रहा । अतः हे श्रीरामचन्द्रजी, उस समय मैं विक्रीत सज्जन के समान हो गया ॥३॥ इसके अनन्तर मैंने विचार किया कि हम तो सत्यकाम हैं, इसलिए मैंने यह संकल्प किया कि ये देवगण मुझे देखें । मेरे संकल्प करते ही देवलोकवासी उन देवताओं में सबके सब ही, जो मेरे सामने रह रहे थे, नगर में प्राप्त इन्द्रजाल वृक्ष के सदृश मुझे देखने में शीघ्र ही प्रवृत्त हो गये ॥४,५॥ इसके बाद हे श्रीरामचन्द्रजी, उन देवताओं के घरों में सर्वविध शंकाओं से शून्य चेष्टावाला तथा यथास्थित अपने सब आचारों से सम्पन्न मैं सम्भाषण आदि के द्वारा व्यवहारशील हो गया । वहाँ उनके साथ अब मेरा कोई संकोच नहीं रह गया था ॥६॥ जिन महानुभावों को मेरा वृत्तान्त मालूम नहीं था, उन लोगों ने सर्वप्रथम मुझे आँगन में आविर्भूत हुआ देखा। अतः उस पृथ्वी से ही मेरी उत्पत्ति की कल्पना करते हुए उन सज्जनों ने पार्थिव वसिष्ठ नाम से लोकों में मुझे

(☞) एकमात्र यही कारण है कि मैंने पिशाचजाति के विषय में आपसे वर्णन किया है, अन्यथा यहाँ इसके वर्णन की कोई आवश्यकता न थी ।

प्रसिद्ध कर दिया ॥७॥ मुझे आकाशवासी जिन महानुभावों ने आकाश में भगवान् सूर्यदेव की किरणों से निकला हुआ देखा, उन्होंने तैजस वसिष्ठ नाम से मुझे विख्यात किया ॥८॥ तथा मुझे आकाशवासी जिन सिद्धों ने वायुमण्डल से आविर्भूत हुआ देखा, उन लोगों के द्वारा मैं वातवसिष्ठ कहा जाने लग गया ॥९॥ जिन मुनीश्वरों ने मुझे जल से आविर्भूत हुआ देखा उन्होंने मुझे 'वारिवसिष्ठ' नाम से पुकारा । हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार विभिन्न कल्पनाओं द्वारा मेरी यह जन्मपरम्परा है अर्थात् जिन जिन महानुभावों ने जहाँ से मुझे जैसे निकलते देखा उन्होंने वैसे ही मेरे नाम और जन्म की कल्पना कर दी ॥१०॥ तभी से मैं लोकों में कहीं पार्थिव, कहीं जलमय, कहीं तैजस और कहींपर मारुत-वसिष्ठ नाम से अन्यान्य लोगों द्वारा प्रसिद्ध हुआ ॥११॥ इसके अनन्तर काल पाकर मेरे उसी सूक्ष्म शरीर से आधिभौतिकता प्रादुर्भूत हुई, जो चिरकाल के अभ्यास से परिणत हुए मन से प्राप्त हुई थी यानी मन में ही प्राप्त की गई ॥१२॥

तब अज्ञ प्राणियों की नाईं भौतिक देहवाले ही आप क्यों नहीं हुए, इसपर कहते हैं ।

चूँकि आतिवाहिकता (सूक्ष्मता) और आधिभौतिकता – ये दोनों ही चिदाकाश रूप ही हैं । चिदाकाश रूप से एक ही देहात्मा है, यही मैंने तत्त्वतः समझा है इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी मेरी चिति ही आत्मभाव से स्फुरित होती है, न कि देहात्मभावसे देहात्मभाव स्फुरित है ॥१३॥ इस तरह कहीं आकाशादि पंचभूतरूप से स्फुरित होने पर भी मैं चिदेकस्वभाव निराकार परम चिदाकाशरूप ही हूँ । *(तब आप आकारयुक्त कैसे दिखाई देते हैं, इस आशंका पर कहते हैं ।)* लेकिन आप लोगों में उपदेशादि व्यवहार की सिद्धि के लिए आकारवान् भी मैं दीखता हूँ ॥१४॥

वस्तुतः सदेह और विदेह मुक्त– ये दोनों एक ही रूप के हैं, यह कहते हैं ।

जैसे जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी पुरुष व्यवहार करता हुआ ब्रह्माकाशरूप से स्थित रहता है वैसे ही विदेहमुक्त भी ब्रह्माकाशरूप से ही अवस्थित रहता है ॥१५॥ ब्रह्म से अन्य दृष्टि का संभव न होने से वैसा व्यवहार करते रहने पर भी मेरी ब्रह्मता नष्ट नहीं हुई – ज्यों-की-त्यों स्थित रही । तथा आप जैसे सज्जनों के बीच उपदेश देने के लिए मैं वसिष्ठदेह से स्थित हूँ ॥१६॥

तब आपका यह कथन कैसे ठीक समझा जाय कि शून्य देह में आधिभौतिकता रूढ हुई, इस शंका पर कहते हैं ।

निराकार तथा जन्मशून्य स्वप्न के मनुष्य में अज्ञानी को जैसे आधिभौतिकता बुद्धि होती है वैसे ही मुझे तथा अन्य जगत् को भी होती है ॥१७॥ इसी तरह ब्रह्मा के शरीर तथा तत्कृत सर्ग जो जगत् तथा अन्य लोगों को उदित हुए-जैसे अवभासित हो रहे हैं वे सबके-सब पर (ब्रह्म) की दृष्टि से ही आधिभौतिक हैं । वस्तुतः वे नहीं हैं, वे तो कभी उत्पन्न ही नहीं होते ॥१८॥ यह जो मैं आकाशवसिष्ठ हूँ, सो आज यहाँ अपने मन के अभ्यास से ही परिपुष्टता को मानों प्राप्त हुआ हूँ । अथवा आपके मन के अभ्यास से आपकी बुद्धि के अनुसार यह मेरी भौतिकदेहस्थिति है ॥१९॥

मेरी अपनी दृष्टि से जैसे यह जगत् ब्रह्माकाशात्मक है वैसे ही हिरण्यगर्भ की अपनी दृष्टि से भी यह जगत् ब्रह्माकाशात्मक ही है, यह कहते हैं।

मेरे ही समान ब्रह्मा की दृष्टि में आये जितने सर्ग हैं, वे सबके-सब ब्रह्माकाशात्मक ही हैं जैसे स्वयं ब्रह्माजी मनोमात्र हैं वैसे ही उनकी सब सृष्टि भी है । अतः परीक्षकदृष्टि से यह सब जगत् मनोमात्र ही हैं ॥२०॥ जगत् आदि सारी सृष्टि अपरिज्ञान के दोष से आप अज्ञजनों की दृष्टि में वज्र के तुल्य ऐसे ही दृढ़ता को प्राप्त हो गई है जैसे कि बालकों की दृष्टि में वेताल ॥२१॥ दूर गये हुए स्वजन में जैसे काल पाकर वासना कम हो जाने से स्नेह उपशान्त हो जाता है, वैसे ही हे श्रीरामचन्द्रजी, यथार्थ रूप में जब यह संसार खूब परिज्ञात हो जाता है तब यह थोड़े ही समय के बाद उपशान्त हो जाता है ॥२२॥ ज्ञान होने पर अहंकाररूप स्थूलता सबकी ऐसे शान्त हो जाती है, जैसे कि भलीभाँति ज्ञात हो जाने पर स्वाप्निक धन में उपादेयता की वासना ॥२३॥ ये समस्त दृश्यदृष्टियाँ भली भाँति ज्ञान हो जाने पर ऐसे बिलकुल शान्त हो जाती हैं, जैसे मरुभूमि की नदी के वेग में जलग्रहण की बुद्धियाँ ॥२४॥ महारामायण के सदृश शास्त्रों के एकमात्र अवलोकन से ही यह जीवन्मुक्तत्व सदा प्राप्त किया जा सकता है। इतने में क्या दुष्करता है ? ॥२५॥

संसार में अधिक आसक्ति के कारण जो अध्यात्मशास्त्र से पराङ्मुख रहता है, उसकी निन्दा करते हैं ।

जिस प्राणी की बुद्धि संसारवासनावश देहेन्द्रिय भोग्यादिरूप अवस्तु स्वभाव में संसक्त रहती है । मोक्षविषय में जिसकी आकांक्षा नहीं होती वह प्राणी कुत्ता है अथवा कीट है, मनुष्य नहीं है (♨) क्योंकि जैसी अपवित्रता तथा भोगों में आसक्ति कुत्तों तथा कीट-पतंगों में पायी जाती है वैसी ही अपवित्रता एवं भोगों में आसक्ति उस प्राणी में भी विद्यमान है ॥२६॥

जैसे अत्यन्त पवित्र हविः पुरोडाशादिरूप ही अन्न देव, द्विज आदि खाते हैं तथा उच्छिष्ट, पुरीष आदि अपवित्र पदार्थ कुत्ते एवं कीट, पतंग आदि सब खाते हैं, वैसे ही जीवन्मुक्त महानुभाव लोग शुद्ध चिन्मात्र आनन्दस्वरूप शास्त्रादि भोगों का उपभोग करते हैं, किन्तु जो मूर्ख हैं वे लोग अत्यन्त अपवित्र विषयरूप भोग का उपभोग करते हैं, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जीवन्मुक्तबुद्धि पुरुष द्वारा उपभुक्त हो रहा भोगों का समूह कैसा होता है तथा अन्यथा वस्तुवेदनरूप मूर्खता का सेवन करनेवाला जो मूर्ख प्राणी है उसके द्वारा उपभुक्त हो रहा भोग कैसा होता है, इसका विचार करना चाहिए ॥२७॥

अज्ञ प्राणियों के भोग्यार्थों में (भोग्य पदार्थों में) अग्नि की तरह तृष्णा, क्रोध, लोभादिरूप सन्ताप ही उत्पन्न होता है, किन्तु शास्त्रों का परिशीलन करनेवाले विद्वानों को तो समस्त पदार्थों में सर्वोत्कृष्ट अन्तःशीतलता प्रादुर्भूत होती है, यह एक दूसरी विशेषता है, यह कहते हैं।

(♨) अर्थात् ज्ञानाधिकार के योग्य मनुष्य देह के वह अयोग्य है ।

एकमात्र महारामायण जैसे शास्त्रों के अवलोकन से ज्ञानियों को समस्त पदार्थों में हितसदृश सर्वोत्कृष्ट अन्तःशीतलता प्रादुर्भूत होती है ॥२८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, शीतलचित्तता यानी चित्त का शीतल होना मोक्ष है तथा सन्तप्त चित्तता यानी चित्तका सन्तप्त होना ही बन्ध है । परन्तु ऐसे भी मोक्ष में संसार की अभिलाषा नहीं होती । अहो संसार की मूढ़ता कैसी आश्चर्यमयी है ॥२९॥ यह प्राणी स्वभाव से ही विषयों के वशीभूत है । एकमात्र यही कारण है कि परस्पर युद्ध, चोरी, हरण आदि से भी स्त्री तथा धन आदि के सम्पादन में यह लोलुप है । यह नानाविध भ्रान्ति के सन्तापों से जल रहा प्राणी मुमुक्षुशास्त्रों के, अर्थों के विचारपूर्वक निदिध्यासन आदि उपायों से यथार्थ वस्तु के अर्थात् आत्मा के संदर्शन से ही सन्तापशून्य पूर्णानन्दरूप होता है । कहने का तात्पर्य यह है कि संसार से विरक्त होकर प्राणी जब श्रुति आदि के श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि से आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर लेता है तब सर्वविध सन्तापों से शून्य सुखी हो जाता है ॥३०॥

आनन्दघन परब्रह्मपरमात्मास्वरूप हो जाता है ।

श्रीवाल्मिकीजी ने कहा : मुनिजी के ऐसा कहने पर दिन बीत गया । सूर्य भगवान् अस्ताचल को चले गये । इधर मुनियों की सभा भी सायंकाल के कृत्य के लिए स्नान करने चली गई और रात बीतने पर भगवान् सूर्य की किरणों के साथ फिर मुनियों की सभा आकर जम गई ॥३१॥

पंचानबेवाँ सर्ग समाप्त

छियानबेवाँ सर्ग

पाषाणोपाख्यान के तात्पर्य के रूप में चिति का विवर्तरूप जगद्भ्रम और
अजर अमर चितिरूप आत्मा ही ब्रह्मानन्द है, यह वर्णन।

विस्तार से वर्णित पाषाणोपाख्यान को सर्वश्रेष्ठ प्रकृत आत्मविषय में घटाते हैं ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे कार्यज्ञ श्रीरामचन्द्रजी, आपसे मैंने यह पाषाणोपाख्यान कहा । पाषाणाख्यायिका से जो विज्ञानदृष्टि प्राप्त होती है, उससे यही आप निश्चय कीजिये कि सभी सृष्टियाँ चिदाकाश में या शून्यता में ही स्थित हैं ॥१॥ भद्र, किसी भी काल में कहीं भी कुछ भी वस्तु स्थित नहीं है, किन्तु अखण्ड यथास्थित ब्रह्म ही चैतन्यानन्दघनरूप स्वभाव में स्थित है और कुछ नहीं है ॥२॥

जगत् चैतन्यमात्र का विवर्त है, यह सबको अपने-अपने स्वप्न के अनुभव से सिद्ध है, यह कहते हैं ।

राघव, आप ब्रह्म को केवल चेतनरूप ही जान लीजिये । वह अपने असली स्वभाव से कभी भी ऐसे ही च्युत नहीं होता जैसे कि आत्मा स्वप्न में नगररूप होता हुआ भी अपने स्वभाव से च्युत नहीं होता, इससे विवर्त का लक्षण यही निकला कि स्वरूप से च्युत न हुए पदार्थ की अन्यरूप से प्रतीति

विवर्त है । यह लक्षण जगत् में प्रसिद्ध ही है ॥३॥

जैसे स्वप्न आत्मा का विवर्त है, वैसे ही समस्त जगत् ब्रह्मात्मा का विवर्त है, यह जानना चाहिए, यह कहते हैं ।

चिदाकाश ब्रह्म समष्टिजीव के रूप में चाहे सूक्ष्म उपाधि को प्राप्त करे चाहे स्थूल दृश्यरूप उपाधि को प्राप्त करे, दोनों में अपना निर्विकार स्वरूप त्यागे बिना ही स्थित है ॥४॥

यदि जगत् ब्रह्म का विवर्त हो तो परमार्थदृष्टि से क्या स्थित है ? इस पर कहते हैं ।

न तो स्वयंभू की (समष्टि हिरण्यगर्भ की) स्थिति है, न जगत् की स्थिति है, न स्वप्न-नगर की ही असली स्थिति है, किन्तु इस परिपूर्ण आत्मदृष्टि से केवल चिन्मात्र ब्रह्म की ही स्थिति विद्यमान है ॥५॥

दृष्टान्त में भी यह बात समान है, यह कहते हैं ।

जैसे स्वप्न में नगरादिरूप होकर भी चिन्मय आत्मा अपने स्वरूप में ही स्थित है, वैसे ही सृष्टि से लेकर महाप्रलयपर्यन्त की अवस्था तक जगद्रूप होकर भी ब्रह्मरूप चैतन्य अपने स्वरूप में ही स्थित है ॥६॥

जितनी सृष्टियाँ हैं, उन सबका जो अनुभव होता है, उसमें चिति की बराबर अनुवृत्ति होती है, इससे भी यह निश्चय होता है कि चिति ही जगत् के रूप से स्थित है, यह कहते हैं ।

जैसे सुवर्ण और सुवर्ण-पत्थर का (सुमेरु पर्वत पर सुवर्णपत्थर प्रसिद्ध है) अथवा स्वप्न नगर और स्वप्न द्रष्टा आत्मा का परस्पर कभी भेद नहीं हो सकता, ठीक वैसे ही चिति और सृष्टि का भी परस्पर कभी भी भेद नहीं हो सकता ॥७॥ जो भी कुछ है, वह केवल चिति ही है, सृष्टि नहीं । सुवर्ण के विकार कटकादि स्थल में वास्तव में सुवर्ण ही है, कटकादि नहीं वैसे ही यहाँ समझना चाहिए । भद्र, स्वप्न-पर्वतस्थल में क्या है ? चिति ही तो स्वप्नपर्वत है, उसको छोड़कर दूसरा कोई पर्वत का रूप वहाँ नहीं रहता ॥८॥ जैसे स्वप्न में एकमात्र निर्विकार आत्मचिति ही पर्वत के सदृश भासती है, वैसे ही निराकार विकाररहित ब्रह्म ही सृष्टि-सा भासता है, दूसरा नहीं, यह जानिए ॥९॥ चिन्मात्र निर्मल एवं निर्लेप आकाशरूप यह आत्मा नाश रहित, जन्म रहित तथा बुद्धि आदि विकारों से वर्जित है, अतः हजारों महाकल्पों में भी यह न तो उत्पन्न होता है और न विनष्ट ही होता है ॥१०॥ जीवरूपी पुरुष चेतनरूप निर्मल आकाश ही है, अतः ये आप चिदाकाशरूप हैं, मैं अजर चिदाकाशरूप हूँ और ये तीनों जगत् भी निराकार चिदाकाश रूप हैं ॥११॥ यदि शरीर में चिदाकाश न रहे तो वह निर्जीव ही हो जायेगा । यह चिदाकाश काटा नहीं जा सकता, जलाया नहीं जा सकता और न नष्ट ही किया जा सकता है अर्थात् आत्मा छेदन, ज्वलन एवं नाश इन सबका अविषय है ॥१२॥ भद्र, इन सब कारणों से न कुछ मरता है और न कुछ उत्पन्न होता है । चिति में प्रकाशन स्वभाव है, इसीसे चित्प्रकाश ही जगत् के रूप में भासता है ॥१३॥

चिति का मरण या भेदन मानने में कोई प्रमाण नहीं है और यदि मानोगे तो सभी का मरण हो जायेगा, यह कहते हैं।

यदि चेतनमात्र स्वरूप जीव का मर जाना ही मान लिया जाय, तो पिता के मर जाने पर उसका पुत्र भी मर जायेगा, इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह करना ही नहीं चाहिए, क्योंकि पिता पुत्र तो एकरूप ही हैं, भिन्न नहीं है, इसलिए चेतनात्मा जीव नहीं मरता, यही मत निश्चित है ॥१४॥

'एक ही भूतात्मा प्रत्येक भूत में स्थित है' इस श्रुतिसिद्धान्त के अनुसार भूतात्मा का मरण मानने पर सब भूत (प्राणी) मर जायेंगे, यह कहते हैं।

यदि एक प्राणी के मरने पर सदा ही सब जन्तु मर जाते, तो ऐसी स्थिति में सारा भूतल जनों से रहित–शून्य ही हो जाता, अतः आत्मा मरता नहीं ॥१५॥ श्रीरामजी, आज तक किसी भी स्थान में किसी का भी चिन्मात्रस्वरूप मरा नहीं है और चेतन से शून्य भूतल भी किसी समय नहीं रहा है, इसलिए पुरुषात्मा चेतन को अविनश्वर ही समझिए ॥१६॥

इस स्थिति में चेतनात्मा के परिज्ञान से ही जन्म–मरणादिरूप अनर्थ की निवृत्ति सिद्ध हुई, यह कहते हैं।

मैं एकमात्र चेतनात्मास्वरूप ही हूँ, मेरा शरीर आदि अनर्थों के साथ संसर्ग है ही नहीं–इस तरह का जब ठीक ठीक ज्ञान हो जाता है, तब जन्म–मरण आदि अनर्थ रहे ही कहाँ ? ॥१७॥ भद्र, मैं निर्मल चेतनमात्ररूप हूँ, इस तरह के आत्मा के अनुभव का जो पुरुष कुतर्कों से खण्डन करते है, वे पुरुष आपदाओं के समुद्र में डूबते ही रहते हैं ॥१८॥ मैं चेतनरूप हूँ, गगन से भी अति स्वच्छ हूँ, सनातन हूँ, व्यापक हूँ और सब तरह के विकारों से शून्य हूँ, इसलिए मेरा क्या जीना, क्या मरना और क्या सुख–दुःख ? ॥१९॥ मैं आकाश के सदृश निर्मल निर्लेप केवल चेतनस्वरूप हूँ, ये शरीर आदि अनर्थ मेरे होते कौन हैं ? इस तरह विद्वानों के द्वारा अन्तःकरण में अनुभूत अनुभव को जो अपने कुतर्कों के बल से खण्डन करता है, वह पुरुष अपनी आत्मा का ही हनन करता है, ऐसे पुरुष को हजार बार धिक्कार है ॥२०॥ मैं चिदाकाशरूप स्वच्छ ब्रह्मात्मा हूँ, इस तरह का विस्पष्ट अनुभव जिस पुरुष का नष्ट हो गया हो, वह भले ही जीता हो, लेकिन उस मूढ़ को विज्ञजन मुरदा ही जानते हैं ॥२१॥ मैं ज्ञानस्वरूप ब्रह्मात्मा ही हूँ, मेरे देह, इन्द्रिय होते कौन हैं ? इस तरह के अपरोक्ष ज्ञान को प्राप्त कर चुकनेवाले, अविद्यादि मलों से निर्मुक्त अतएव अतिविशुद्ध हुए पुरुष को मरण आदि आपदाएँ नष्ट नहीं कर पातीं ॥२२॥ चिन्मात्ररूपी विशुद्ध आत्मा को पकड़कर जो पुरुष अचल बनकर स्थित है, उस महापुरुष को मानसिक पीड़ाएँ उस तरह छिन्न–भिन्न नहीं करतीं, जिस तरह महापाषाण को बाण ॥२३॥ जो पुरुष अपने चेतन स्वभाव को भूलकर तुच्छ शरीर में आस्था बाँधकर बैठे हैं, उन्होंने असली सोने को छोड़कर राख को ही सोना समझकर ग्रहण किया है, यही वास्तव में जानना चाहिए ॥२४॥ मैं देहरूप ही हूँ, इस भावना से पुरुष का

बल, बुद्धि और तेज नष्ट हो जाता है और मैं चेतनात्मा ही हूँ, इस ज्ञाननिष्ठा से उसका बल, बुद्धि और तेज उत्तरोतर बढ़ता जाता है ॥२५॥ मैं आकाश के सदृश अतिस्वच्छ विशुद्ध परमात्मारूप हूँ, मेरे जन्म-मरण ही क्या ? इस प्रकार की निष्ठा हो जाने पर पुरुष में लोभ, मोह आदि दोष रहेंगे ही कहाँ, क्योंकि वे आत्मा में तो रहते नहीं, इसलिए ज्ञानी पुरुष की वे क्या क्षति पहुँचायेंगे ? ॥२६॥ चिदाकाश को छोड़कर दूसरे दूसरे तुच्छ स्थूल आदि देहों को जो पुरुष अलग से सत्यरूप आत्मा समझकर देखता है, उसी मूढ़ के लिए यह कहना उचित है कि लोभ आदि अनर्थ हैं ॥२७॥ मैं न तो छेदा जाता हूँ, न मैं जलाया जाता हूँ, मैं वज्र के सदृश दृढ़ चेतन मात्र स्वरूप हूँ, न मैं शरीरी हूँ । इस प्रकार का निश्चय जिस महामति को है, उस महामति के प्रति यमराज भी तृण के सदृश तुच्छ है ॥२८॥ भद्र, बड़ा ही आश्चर्य का विषय है कि पण्डितों को भी मोह-व्यामोह देखा जाता है, इसीलिए वे शरीररूपी एक जड़ टुकड़े का नाश उपस्थित हो जाने पर हम नष्ट हो रहे हैं, यों मोहित होकर जोर से चिल्लाने लग जाते हैं ॥२९॥ मैं चिदाकाशस्वरूप ही हूँ, इस प्रकार का परमार्थ सत्यरूप भाव जब स्थिर हो जाता है, तब वज्रपात और युगान्त के (प्रलयकाल के) अग्निदाह भी फूलों की ढेरी से हो जाते हैं ॥३०॥

मैं अमर चिदात्मारूप नहीं हूँ, देहरूप हूँ, इसीसे नष्ट हो रहा हूँ, यों समझकर पुरुष जो रोदन करता है, उसका वह रोदन तो आत्मा के नष्ट न होने पर ही होता है, इसलिए विवेकी की दृष्टि से नट के सदृश रोदनविडम्बना एक परिहास का खेल ही है, दूसरा कुछ भी नहीं ॥३१॥ यह सदा अपरोक्षरूप चेतनरूप ही मैं हूँ, देह आदि दृश्यरूप मैं नहीं हूँ, इस प्रकार के निश्चय से जिस पुरुष का अन्तःकरण पूर्ण है, वह महात्मा कहींपर भी मोह में नहीं फँसता ॥३२॥ मैं चेतनात्मक आकाश हूँ, मेरे विनाश का कोई भी सटीक हेतु नहीं है, सारा जगत् चेतन-सत्ता से व्याप्त है । अतः तुम लोगों को यहाँ जन्म-मरण आदि का संशय ही नहीं करना चाहिए ॥३३॥

हम लोग चेतन से अन्य हैं, ऐसा जो कहते हैं, वे क्या चैतन्य युक्त होकर कहते हैं अथवा चैतन्य से शून्य होकर कहते हैं, पहला पक्ष लेते हैं, तो अपना चेतन स्वभाव जानकर वैसा कहना ही नहीं बनता । यदि दूसरा पक्ष लेते हैं, तो जो चैतन्य से शून्य हैं, वे हम अचेतन हैं, इसका अनुभव या अपलाप, अधिक क्या कहें किसी का भी अपलाप नहीं कर सकते, इस आशय से कहते हैं ।

यदि चेतन के स्वरूप को छोड़कर और अन्य किसी जड़रूप पदार्थ बनकर मनुष्य प्रश्न करते हैं तो आप उनसे कहिए कि हे महाभूत, अपनी आत्मा का अपलाप क्यों करते हो ? ॥३४॥

और यदि चैतन्य अपना मरण देखता है, यह माना जाय तो वह सदा ही अपना मरण देखा करेगा, ऐसी स्थिति में जी रहे पुरुषों को सदा ही मरण का अनुभव होता रहेगा, यह कहते हैं ।

आत्मरूप चेतन यदि मरता हो, तो प्रतिदिन यानी निरन्तर आत्मारूप जीव मरे हुए ही हैं,

यह मानना होगा, फिर क्या आप लोग मरे हुए ही हैं, यह कहिए, क्योंकि चेतन को तो आप लोगों ने मृत ही माना ॥३५॥

यों जब मरण ही अप्रसिद्ध है, तब उससे भिन्न जीवन की भी कल्पना व्यर्थ है वह आशय रखकर कहते हैं ।

इससे न कुछ मरता है और न कुछ जीता ही है । मैं जीता हूँ या मैं मरा हूँ, इस प्रकार चिति केवल भ्रान्ति का अनुभव करती है, वास्तव में वह मरती नहीं है ॥३६॥

अविनाशी चेतन के अनुसार ही सबको वस्तुओं का अनुभव होता है, उससे विरुद्ध प्रकार से नहीं, यह कहते हैं ।

चितिरूप आत्मा जिस प्रकार से जिस वस्तु का भ्रान्ति से अनुभव करती है, उसको उस प्रकार से तत्काल ही देख लेती है, यह बालक तक का अनुभव है, अतः चिति कहीं भी नष्ट नहीं होती ॥३७॥ चिति संसार देखती है, मुक्ति देखती है, और सुख भी जानती है, इतना होने पर भी अपने स्वरूप से कालभेद, देशभेद या वस्तुभेद द्वारा भिन्न नहीं होती ॥३८॥

तब बन्ध और मोक्ष में विशेष किस बात को लेकर है, इसे बतलाते हैं ।

चिति अपने असली स्वरूप को न जानने के कारण स्वयं मोह नाम धारण करती है यानी संसारग्रस्त हो जाती है और जब अपना असली रूप जान जाती है, तब मोक्षनाम को स्वयं धारण कर लेती है यानी मोक्षरूप बन जाती है ॥३९॥ किसी समय कोई कुछ भी न तो नष्ट होता है और न पैदा ही होता है, क्योंकि जो भी कुछ है, वह सभी आकाशवत् अतिविशद चैतन्यमात्र रूप आत्मा ही है ॥४०॥

इन सब बातों से निचोड़ यह निकला कि जगत् के अनेक रूपों में सत्यता या असत्यता केवल अपने–अपने मन्तव्यों के अनुसार स्थित है, वास्तव में नहीं, यह कहते हैं ।

ऐसी कोई चीज नहीं है, जो सत्य न हो या ऐसी कोई चीज नहीं है, जो झूठी न हो, क्योंकि अपनी–अपनी मति के अनुसार जिसने जैसा निश्चित किया, उसके सामने वैसी ही वस्तु उपस्थित हो जाती है, परन्तु यह वस्तुस्थिति नहीं है ॥४१॥

कथित अर्थ का निगमन करते हुए उपसंहार करते हैं ।

श्रीरामजी, इस जगत् में पुरुष भ्रान्ति से जिस वस्तु को जिस रूप से कल्पना कर लेता है, उस वस्तु का उसी रूप से अनुभव करने लग जाता है, यह बात सर्वविदित है । इसलिए ये सब पदार्थ विषामृतदृष्टि के सदृश (यानी विष को अमृत समझने के सदृश) कालादिवश अनियतादि ज्ञानरूप संवित् के अनुसार ही व्यवस्थित है, अतः कुछ भी वस्तु चितिरूप आत्मा से भिन्न है ही नहीं, यह बात निर्विवादरूप से सिद्ध हो चुकी है ॥४२॥

छियानबेवाँ सर्ग समाप्त

सत्तानबेवाँ सर्ग

ब्रह्म के सर्वशक्ति होने के कारण सर्ववादियों की उक्ति की सत्यता, सब लोगों की भोगों में आसक्ति तथा तत्त्वज्ञानियों की विरलता का वर्णन।

ब्रह्म के सर्वशक्ति होने के कारण सभी वादियों की उक्ति सत्य है, इस कहे जाने वाले अर्थ में उपयोगी 'न तदस्ति' इस पूर्व सर्ग की अन्तिम उक्ति से प्रतिपादित तत्त्व का समर्थन करने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र, परमात्मा का स्वप्नरूप जो यह जगत् है, वह चितिरूप तथा ब्रह्मरूप आकाशात्मक है, अतः सब कुछ ब्रह्म ही है, इस स्थिति में सत्यरूप जगत् का ही सब अनुभव करते हैं, इसलिए कुछ भी असत्य नहीं है, यह कहा गया ॥१॥

यों ब्रह्मरूप से सब सत्य होते हुए भी प्रतीयमान रूपसे कैसे सब सत्य हुआ ? क्योंकि रज्जुरूप के सत्य होते हुए भी उसमें अध्यस्त साँप तो सत्य नहीं है, इस प्रश्न पर कहते हैं।

जगद्रूप भ्रम अत्यंत ही दृश्य है और उसका अधिष्ठान महाचैतन्य अदृश्य है। सारांश यह कि रज्जुसर्पस्थल में रज्जु भी दृश्य है और साँप भी दृश्य है, दोनों दृश्य होने के कारण जब रज्जु का दर्शन होता है, तब सर्प का बाध हो जाने के कारण सर्प की असत्यरूपता हो जाती है। जगद्भ्रम में तो केवल जगद्भ्रान्ति देखी जाती है, परन्तु उसका अधिष्ठान ब्रह्म तो देखा नहीं जाता, अतः रज्जुसर्प से यह जगत् विलक्षण है। जब यह वस्तुस्थिति हुई, तब मदशक्ति के समान स्वयं अदृश्य होकर दृश्यभ्रम का हेतु बनकर कार्यरूप से ही आत्मा अपनी सत्ता प्रकट करता है, अतः जगत् का स्वरूप सत्य है, यह कथन युक्तिसंगत है ॥२॥

तब पहले यह जो कहा गया है कि ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं जो झूठी न हो, इस वचन की क्या गति होगी ? क्योंकि ब्रह्म झूठा है नहीं, इस पर कहते हैं।

भद्र, परमार्थ वस्तु में भी शून्यता–सा व्यवहार किया जा सकता है, क्योंकि संसार काल में सर्वदृश्यविश्रान्तिरूप मोक्ष प्राप्त रहता नहीं और उसके बिना अद्वितीय चिदात्मा की प्राप्ति नहीं होती, इसी तरह मोक्षकाल में भी अन्तःकरणवाले प्रमाता जीव तथा उपलम्भक प्रमाण आदि का बाध हो जाने से अभाव है, इसलिए आत्मा की एक तरह से अप्रसिद्धि–सी है, इसलिए वैसा कहा गया है ॥३॥

इस स्थिति में जितने भी वादी हैं, उन सबके वचन अपने–अपने अनुभव से सिद्ध अर्थों का ही प्रतिपादन करते हैं, अतः सत्यरूप ही हैं, यों सविस्तार प्रतिपादन करते हुए सांख्योक्ति दर्शाते हैं।

भद्र, महाज्ञानी कपिलमुनिजी यह कहते हैं कि पुरुष चिन्मात्र है, वह कोई कार्य नहीं करता, उसी के भोग और मोक्ष के निमित्त सृष्टि प्रवृत्त होती है, यह सारा जगत् सुख–दुःख और

मोहरूप है, इसलिए सत्त्व आदि तीन गुणों की साम्य अवस्थारूप मूलकारण अव्यक्त से (प्रधान से) प्रकृति से महत्तत्त्व आदि के क्रम से यह सारी सृष्टि हुई है। कपिलजी का यह मत भी सत्य ही समझना चाहिए, क्योंकि ब्रह्म सर्वशक्ति है, यह निर्विवाद है ॥४॥ जो कि वेदान्तियों का मत है– यह सारा दृश्यवर्ग ब्रह्म का विवर्त है, वह भी सत् है। क्योंकि उस तरह विमर्श करने पर उसी तरह के समस्त पदार्थ अनुभूत होते हैं॥५॥

इसी प्रकार कणाद, गौतम, सौत्रान्तिक, वैभाषिक, जैन आदि के मतों में जो यह माना गया है कि सारा जगत् परमाणुओं का समूह ही है, वह भी सत्य है, क्योंकि वैसी उनकी कल्पना उनके अनुभव के अनुसार ठीक ही है, यह कहते हैं।

जिन वादियों की कल्पना है कि यह जगत् परमाणुओं का समूहरूप ही है और वही यथार्थरूप से अनुभूत होता है, वह भी सत्य है, क्योंकि उनको जिस–जिस पदार्थ के विषय में जैसा–जैसा अनुभव हुआ उस–उस अनुभव के अनुसार की गई उनकी कल्पना ठीक ही है ॥६॥ इस लोक और परलोक में जो कुछ देखा जाता है, वह वैसा ही है, न वह सत् है या न असत् ही है यानी इन दोनों कोटियों में उसकी स्थिति नहीं है, किन्तु अनिर्वचनीय है, यों प्रौढ़ दृष्टिसृष्टिवादी लोग जो मन की कल्पनामात्र रूप जगत् की स्थिति मानते हैं, उनका भी कहना ठीक ही है, क्योंकि उनका वैसा ही अनुभव है ॥६॥ इसी तरह जो दूसरे वादी यानी चार्वाक हैं, वे कहते हैं कि पृथ्वी आदि चार भूतों का ही यह जगत् है, दुसरा आत्मरूप नहीं है, यह भी उनका कथन सत्य है–वे भी सत्यवादी ही हैं, क्योंकि वे अपनी देह में चक्षु आदि इन्द्रियों से अगम्य आत्मा को, विमर्श करते हुए भी, देख नहीं पाते हैं या जान नहीं पाते हैं ॥८॥ जो क्षणिकविज्ञानवादी हैं, उनका जो यह कहना है कि प्रतिक्षण में परिणाम को प्राप्त करनेवाले पदार्थ में निरन्तर उलट–पुलट देखने में आता है, अतः सब पदार्थ क्षणिक ही हैं, यह भी उनका कहना सत्य है, क्योंकि उनकी बुद्धि (क्षणभंगबुद्धि) के अनुसार वैसी स्थिति हो सकती है ॥९॥ जैसे घड़े में बन्द बटेर (तीतर की तरह की एक छोटी चिड़िया) घड़े का मुँह खोल देने पर उड़कर बाहर चला जाता है, वैसे ही देह के भीतर बन्द देह जितना बड़ा जीव कर्मक्षय हो जाने पर उड़कर परलोक में चला जाता है, यों जैनों की कल्पना है, यह भी सत्य है, इसी प्रकार यवन लोग मानते हैं कि जीव देह जितना ही बड़ा है उसका उत्पादन ईश्वर ने किया है। शरीर जहाँ गाड़ा जाता है, वहींपर वह रहता है, कभी कालान्तर में ईश्वर उसके विषय में विचार करते हैं, तब उन्हीं की इच्छा से उसकी मुक्ति होती है या स्वर्ग नरक में उसको छोड़ देते हैं, यह भी म्लेच्छों का मत युक्त ही है, क्योंकि उनकी वैसी ही भावना है ॥१०॥ जो सन्त पुरुष हैं वे तो ब्राह्मण, अग्नि, विष, अमृत, मरण, जन्म आदि सभी में जो कभी–कभी अत्यन्त विषमरूप धारण कर आते जाते रहते हैं, निरन्तर समान भाव ही रखते हुए देखे जाते हैं, यह भी ठीक है, क्योंकि

जितनी भी वस्तु या सिद्धान्तस्थितियाँ है, वे सब यह अपरोक्ष आत्मरूप ब्रह्म ही है, इसलिए सभी वादियों को अपना-अपना अभिमत (इष्ट) सिद्ध हो जाता है ॥११॥ यह जगत स्वभाव से ही उत्पन्न होता है एवं नष्ट हो जाता है, जगत् का कोई भी कर्ता नहीं है, यों स्वभाववादियों का जो मत है, वह भी युक्त ही है । इन स्वभाववादियों के मत में यह दलील है कि यद्यपि घट, पट आदि स्थल में बुद्धिमान् कर्ता हाथ लग सकता ही नहीं। असमय की वर्षा, उत्तम खेत में उत्पन्न तृण आदि कर्ता के बिना स्वभाव से ही उत्पन्न होते रहते हैं जो धान पैदा करनेवाले किसानों के अनिष्ट हैं, वे अपने कर्ता की कल्पना सह नहीं सकते, क्योंकि सबका अनिष्ट करनेवाला कोई है नहीं और न उसे अकालवर्षा और पर खेत में तृण आदि के उत्पादन से प्रयोजन है, यह कल्पना की जा सकती है॥१२॥

पृथ्वी, अंकुर आदि सब कार्यों में एक ही कर्ता है, यों कल्पना जो कोई करते हैं, वह भी सत्य है, क्योंकि इस प्रकार के निश्चयवाले उपासकों को एक कर्ता ईश्वर की प्राप्ति, उसकी अनुकम्पा, वरदान आदि प्राप्त होते देखे जाते हैं, यह कहते हैं ।

अंकुर आदि सब कार्यों का एक ही कर्ता हे, इस प्रकार की कल्पना करनेवाले तन्मय अन्तःकरणवाले वादियों का मत भी युक्त है, क्योंकि इस तरह एक कर्ता का निश्चय कर उपासना करनेवाला अपने अन्तःकरण में तदुपास्य सर्वकर्ता एक परमात्मा को प्राप्त करता है । पूर्ववादी के सदृश उसे बाधित नहीं मानता । अकाल-वृष्टि और अच्छे खेत में तृण आदि सबके लिए अनिष्ट नहीं हैं और सब कर्मों के फलदाता ईश्वर दुष्कर्मफलरूप अनिष्टका भी यदि कर्ता हो जाय, तो कोई दोष भी नहीं हो सकता ॥१३॥ आस्तिकों के मत में जैसे यह लोक है, वैसे परलोक भी है, अतः परलोकार्थियों के लिए तीर्थ-स्नान, अग्निहोत्र आदि निष्फल नहीं हैं । इस तरह की उन आस्तिकों के द्वारा यह जो निर्धारित कल्पना है, वह भी सत्य ही है ॥१४॥ समस्त प्रपंच शून्यात्मक ही है, इस प्रकार की बौद्धों की कल्पना है । उनकी यह कल्पना भी सत्य ही हैं, क्योंकि ऐसे विचार से उनको सर्वशून्यता हाथ लग ही जाती है । शून्यवाद में पदार्थों में अशून्यतापादक जब प्रमाण ही नहीं है, तब प्रमेय शून्यत्वकल्पना कोई असंभव है ही नहीं ॥१५॥

सब वादियों को अपना अपना जो अभीष्ट सिद्ध हो जाता है, उसमें प्रमाण कहते हैं ।

आत्मचिति एक चिन्तामणि-सी है और कल्पवृक्ष-सी है, इसलिए वह आकाशवत् निर्मल होती हुई भी अपने से ही अपने स्वरूप में जो भी अभीष्ट रहता है, उसे तत्काल ही सम्पादन करती है ॥१६॥ यह जगत् न तो शून्य है और न अशून्य है, किन्तु अनिर्वचनीय है, इस प्रकार एक तृतीय अनिर्वचनीय प्रकार को मानने वाले अनिवर्चनीयवादियों का मत भी सत्य ही है, क्योंकि सर्वशक्तिरूप ब्रह्म की जो माया शक्ति न तो शून्यरूप है और सत् (विद्यमान ब्रह्मरूपा) भी नहीं है, किन्तु अनिर्वचनीय ही है ॥१७॥ इसलिए जिस किसी अपने निश्चय में दृढ़रूप से स्थित जो भी कोई हो,

वह यदि चपलतावश उस निश्चय से हटे नहीं, तो उस उस निश्चय के अनुसार अवश्य फल प्राप्त कर सकता है । अथवा अज्ञान के कारण अपने अभीष्ट निश्चय से न हटे, तो निश्चयानुसार अवश्य फल पाता है । इससे जब तक अज्ञान रहता है , जब तक अनेक सिद्धान्त सत्य हैं, अज्ञान के हट जाने पर आत्मज्ञान काल में तो आत्मा ही सत्य ठहरता है, दूसरा नहीं ॥१८॥

इसीलिए अविचारों से जिस किसी का सिद्धान्त मान लेना अच्छा नहीं, यह कहते हैं ।

भद्र, बुद्धिमान् पुरुष को सबसे पहले श्रेष्ठ वस्तु के विषय में विद्वानों के साथ विचार विमर्श कर लेना चाहिए, दूसरे जैसे तैसे निश्चय को ग्रहण नहीं करना चाहिए ॥१९॥

श्रेष्ठ पण्डित का लक्षण कहते हैं ।

अध्ययन और सदाचरण से जिस देश में जो भी उत्तम बुद्धि से युक्त हो, उस देश में वही पण्डित है, उसीका आश्रय लेना चाहिए ॥२०॥ भद्र, सत्शास्त्र के अनुसार व्यवहार करनेवाले, तत्त्वबोधार्थवाद करनेवाले सज्जन पुरुषों के मध्य में जो भी सर्वश्रेष्ठ आह्लादकारक तथा निन्दनीय निषिद्ध आचरणों से रहित हो, वह पण्डित है, बुद्धिमान् उसीका अवलम्बन करें ॥२१॥

तब क्या अन्य श्रेष्ठ निश्चयों में निष्ठा रखना निष्फल है, इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देते हैं ।

भद्र, सभी पुरुष रात दिन जोर–शोर से अपने निश्चय के अनुसार माने गये अभीष्ट पदार्थ की ओर ऐसे ही दौड़ते हैं जैसे कि नीचे की ओर जलराशि दौड़ती है । और उसे प्राप्त करते हैं, परन्तु उनमें परम पुरुषार्थ का साधन कौन है, इसका विचार कर सत्शास्त्र एवं सद्गुरुका पुरुष को आश्रय लेना चाहिए ॥२२॥

सत् शास्त्र और सद्गुरु दोनों का जल्दी से जल्दी आश्रय लेना चाहिए, क्योंकि आयुष्य विश्वासयोग्य नहीं, इस आशय से कहते हैं ।

रामजी, संसारसागर में मनरोधरूपी तरंग परम्पराओं से बहे जा रहे मनुष्यों के दिन ऐसे अलक्षित रूप से व्यतीत हो जाते हैं, जैसे तिनकों के अग्रभागपर लटके हुए जलबिन्दु ॥२३॥

भोंगो की तृष्णाएँ अति प्रबल हैं, अतः उनसे विरक्त मुमुक्षु दुर्लभ हैं, उनमें भी परमात्मा के स्वरूप को प्रत्यक्ष करनेवाले श्रेष्ठ ज्ञानी, जिनका आपने उल्लेख किया है, अतिदुर्लभ हैं, इस अर्थ को विस्तार से सुनने के लिए श्रीरामजी पूछते हैं ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : गुरुवर, अतिविस्तृत परमब्रह्मरूप पद में पहले से ही प्राणियों की भोग–तृष्णा जगद्रूप हजारों वृक्षों के वितानों के जाल का विस्तार कर, लता के सदृश, स्थित है । ऐसी स्थिति में पूर्वापर जगत् स्वरूप अनर्थ के विचार द्वारा परमार्थदर्शी श्रेष्ठ विद्वान कौन होंगे जिनका आपने कथन किया, अर्थात् ऐसे विद्वान ही अत्यन्त दुर्लभ हैं ॥२४॥

सत्य है, ऐसे विद्वान दुर्लभ हैं, फिर भी मनुष्य, गन्धर्व, देव, दानव आदि में प्रयत्नपूर्वक खोजने से वैसे विद्वान् मिल सकते हैं, ऐसा कहते हैं ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामजी, देव, दावन, मनुष्य आदि हर एक जाति में कुछ श्रेष्ठ तत्त्वज्ञ विद्यमान हैं, जिनका कि 'यो यो देवानाम्' इत्यादि श्रुतियों में उल्लेख पाया जाता है, प्रकाशमान सूर्य के सदृश उन्हीं तत्त्वज्ञों के प्रकाश से दिवस दिवसरूप होते हैं ॥२५॥ उन तत्त्वज्ञों को छोड़कर दूसरे सभी मूढ हैं और वे मोहरूपी महासागर में संसार चक्रों के आवर्तन परावर्तन ऊपर-नीचे दौड़ते हुए तृण के सदृश बहते हैं ॥२६॥

देव आदि जाति विशेषों में उसीका विस्तार पूर्वक वर्णन करते हैं ।

जिन देवताओं की आत्मा में निष्ठा नहीं हुई है, वे देव स्वर्ग में भोगरूपी अग्निकी ज्वालाओं में ऐसे जलते रहते हैं, जैसे वनाग्नि से पर्वतपर वृक्ष जलते रहते हैं ॥२७॥ मद से चूर दानव तो दानव शत्रु देवताओं के द्वारा नारायणरूपी गड्ढे में ऐसे गिराये गये हैं, जैसे कि आलान से (बाँधने के खंभे से) रहित गज बड़े गड्ढे में गिराया गया हो ॥२८॥ गन्धर्व लोगों की तो बात ही जाने दीजिये । वे तो गानरूपी मद्यमें रात-दिन आसक्त (मस्त) रहते हैं, इसलिए वे विवेकजनित ज्ञान का लेश भी दिखला नहीं सकते । हिरनों के सदृश भ्रान्त होकर मृत्युरूपी व्याध के समीप वे जा रहे हैं ॥२९॥ विद्याधरों में ब्रह्मविद्या की योग्यता है, इसलिए वे विद्या के आधार कहे जाते हैं, यही कारण है कि वे सबसे अधिक चमकीले हैं, परन्तु उदार विवेकों की ओर वे आदर नहीं रखते, केवल मोह में फँसकर भोगविद्याओं में ही रात-दिन पड़े रहते हैं । उन्हीं में मस्त रहते हैं ॥३०॥ यक्षों की भी बात न्यारी है, वे मनुष्यों की निवासभूमिको क्षुब्ध किये हुए हैं, अपने को अविनाशी-सा समझते हैं यानी अपना शरीर कभी नष्ट नहीं होगा, ऐसा समझते हैं, मणि, मन्त्र आदि के बलों से विहीन असहाय बाल, वृद्ध और आतुरों के ऊपर अपनी दक्षता दर्शाते हैं॥३१॥ जो राक्षस हैं , उनका तो शत्रुभूत विष्णु के द्वारा पूर्व में अनेक बार वेगपूर्वक विनाश किया गया है और आप भी भविष्य में करेंगे । राक्षस काम, बल और शौर्य के कारण हाथी के सदृश सदा उन्मत्त रहते हैं । इसलिए इनके प्रमाद का फल तो प्रत्यक्ष ही है ॥३२॥

पिशाच तो सदा भूख से ही तड़पते रहते हैं, उनको निरन्तर पेट भरने की चिन्ता रहती है, अतः कभी भी उनको विवेक नहीं हो सकता, यह कहते हैं ।

जैसे अग्नि में गिरी आहुतियाँ अपने को निरन्तर धूम्र युक्त ज्वालाओं से जलती हुई ही देखती हैं, वैसे ही प्राणियों को खा जाने की चिन्ता से, जो कि अज्ञानरूपी धूम्रान्धकार को वायु के सदृश क्रोध, हिंसा आदि की ज्वालारूप बना देती है, अपने को जले हुए ही देखते हैं ॥३३॥

इसी तरह नागजाति में भी विवेक नहीं है, यह कहते हैं ।

यह पाताललोक में जो नागों का जालरूप विसतन्तुओं का समूह डूबा हुआ है, वह भी वृक्षों के मूल समूह के सदृश जड़ (विवेकहीन) ही हैं ॥३४॥ कीटों के सदृश भूतल के छेद ही जिनके आवासस्थान हैं, उन असुररूपी बालकों के विवेक की तो कथा ही क्या यानी असुरों में तत्त्वज्ञान

का जनक विवेक होता है, यह कहना तो मूर्खता ही है ॥३५॥

यों बल, वीर्य एवं प्रभाव आदि उत्तम गुणों से सम्पन्न देवों से लेकर असुर तक के लोगों को जब विवेक दुर्लभ है, तब दूसरों के लिए तो कहा ही क्या जाय, इस आशय से कहते हैं ।

जो पुरुष हैं वे भी तो प्रायः पिपीलिका के समानधर्मा ही है, क्योंकि छोटे से कणों के लिए रात–दिन वे घूमा करते हैं ॥३६॥ शराबियों के सदृश अतिव्यग्र सभी भूतजातियों के दिन निरर्थक लम्बी–लम्बी दुष्ट इच्छाओं या चेष्टाओं से व्यतीत होते जाते हैं, विवेक का नाम भी वे किसी दिन याद नहीं करते ॥३७॥ जैसे अगाध जल में डूब रहे पुरुष का धूलि स्पर्श नहीं करती, वैसे विषयों में डूब रहे किसी पुरुष के भीतर निर्मल विवेक कभी स्पर्श नहीं करता ॥३८॥ राघव, देह आदि में होनेवाले अभिमान एक प्रकार से प्रबल वायु ही हैं, इन वायुओं के झकोरों से मनुष्य अक्रोध आदि नियमों से चलित हो जाते हैं यानी क्रोध आदि शत्रुओं के अधीन हो जाते हैं । इसमें दृष्टान्त है निःसार धान्य । जैसे सूप चलानेवाले किसानों के द्वारा धान्य को वायु ले जाते हैं, वैसे ही यहाँ समझना चाहिए ॥३९॥ जो योगिनियों का गण है, वह तामस भोगासक्तिरूप तालाब के दल–दल में जो कि सुरापान, रूधिरपान तथा मांसभोजन आदि रूप कीचड़ों से भरा है, पामरों के सदृश फँसा हुआ है, उनको भी विवेक मात्र नहीं है, यह समझना चाहिए ॥४०॥

यों देव आदि योनियों में विवेक ज्ञान की दुर्लभता बतला कर अब उनमें जो प्रबुद्ध है, उनमें कुछ को परिगणन कर, बतलाते हैं ।

देवादि में यम, चन्द्र, इन्द्र, रुद्र, सूर्य, वरुण, वायु, हरि, हर, ब्रह्मा, बृहस्पति, शुक्र, अग्नि आदि, प्रजापतियों में सप्तर्षिमण्डल, दक्ष आदि, कश्यप आदि, नारद आदि, सनत्कुमार आदि देवकुमार, दानवों में हिरण्याक्ष, बलि, प्रह्लाद, शम्बर, मय, वृत्र, अन्धक, नमुचि, केशिपुत्र, मुर आदि, राक्षसों में विभीषण, प्रहस्त, इन्द्रजित, आदि, नागों में शेष, तक्षक, कर्कोटक, महापद्म, आदि ये सब तथा ब्रह्मलोक, विष्णु लोक, इन्द्रलोक में निवास करनेवाले मुक्तस्वभाव और विदेहमुक्त हैं । इसी तरह कोई तुषित (देवयोनि भेद), सिद्ध एवं साध्य भी जीवन्मुक्त हैं ॥४१–४५॥ हे रघुकुल श्रेष्ठ, मनुष्यों में राजा, मुनि, उत्तम ब्राह्मण जीवन्मुक्त होते हैं, परन्तु ये दुर्लभ हैं यानी लाखों करोंड़ों राजा आदि में कोई बिरले जीवन्मुक्त पुरुष उत्पन्न होते हैं ॥४६॥

सभी जातियों में जीवन्मुक्त हैं ही, परन्तु वे अति दुर्लभ हैं, यह जो कहा गया, उसका दृष्टान्त से समर्थन करते हैं ।

अनेक तरह के असंख्य प्राणी चारों ओर दिशाओं में भरे पड़े हैं, किन्तु उनमें तत्त्वज्ञानसम्पन्न बहुत ही विरल होते हैं । ठीक ही है, फलों, पल्लवों से युक्त वृक्ष होते तो असंख्य हैं, परन्तु उनमें कल्पवृक्ष विरले होते हैं ॥४७॥

सत्तानबेवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठानबेवाँ सर्ग

तत्त्वज्ञानी सन्तों के लक्षण तथा परीक्षा द्वारा उनके दोषों की उपेक्षा कर उनका आश्रय लेने का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, विरक्त एवं विवेकसम्पन्न जो महात्मा परमपद ब्रह्म में विश्रान्ति पाकर स्थित हैं, उन महात्माओं के लोभ, मोह आदि शत्रु छोटे हो जाते हैं। लोभ-मोह की अल्पता ही जब तत्त्वज्ञों का लक्षण है, तब उनकी निर्दोषता में तो कहना ही क्या है ? ॥१॥ तत्त्वज्ञानी महात्मा न तो किसीसे प्रसन्न होते हैं, न किसी पर क्रोध करते हैं, न किसी विषय में अभिनिवेश (आसक्ति) करते हैं, न खाद्य वस्तुओं का संग्रह करते हैं, न लोगों से उद्विग्न होते हैं और न लोगों को ही उद्विग्न करते हैं ॥२॥

शरीर को अधिक क्लेश पहुँचाने वाले पारलौकिक वैदिक कर्मों में भी शुष्क वैदिक के सदृश हठ से प्रवृत्त होकर क्लेशयुक्त नहीं होते, यह कहते हैं।

आस्तिक्य भावना या नास्तिक्य भावना से जनित अभिमानप्रयुक्त हठ से न कष्ट कारक वैदिक अनुष्ठान में निरत रहते हैं। उनका आचरण मनोज्ञ एवं अत्यन्त मधुर होता है और प्रिय एवं कोमल वार्ता करते हैं ॥३॥ तत्त्वज्ञ लोग अपने संग से चन्द्रकिरणों के सदृश अन्तःकरण को उल्लास युक्त बना देते हैं । करने योग्य लौकिक एवं वैदिक कर्मों का जब परस्पर विरोध उपस्थित हो जाता है, तब अकार्यों से विवेक कर एक क्षण में ही सन्देह मिटा देते हैं ॥४॥ तत्त्वज्ञों के आचरण से कभी उद्वेग नहीं होता, वे सबके बन्धु-से तथा चातुर्यपूर्ण रहते हैं । बाहर से उनका आचरण सभी के सदृश होता है, परन्तु भीतर से वे अत्यन्त शीतल होते हैं ॥५॥ तत्त्वज्ञ शास्त्रों के अर्थों में बड़ा ही रस लेते हैं, उत्तम और अधम लोकों को जानते हैं, कौन वस्तु छोड़ने योग्य है और कौन छोड़ने योग्य नहीं है इसको भलीभाँति जानते हैं तथा समयपर जो भी कुछ प्रारब्धानुसार प्राप्त हो जाय, उसका अनुवर्तन कर लेते हैं ॥६॥ लोकशास्त्र के विरुद्ध आचरणों से सदा विरत रहते हैं, सज्जनों के बीच स्थिति में यानी सदाचरण में अत्यन्त रसिक होते हैं। उपदेश से हृदयकमल को खोल कर उसमें भरे गये ज्ञान की सुगंधियों से तथा उत्तम आश्रय, सुख तथा अन्नादि से आये हुए अतिथियों की पूजा करते हैं । पूजा करते समय उनका मुखकमल विकसित रहता है, उस समय वे आगंतुक भ्रमर का आश्रयदान आदि से सत्कार कर रहे विकसित कमलों के सदृश लगते हैं । जनता के सन्तापों का अपहरण करने के कारण वे जनता को अपनी ओर खींच लेते हैं और वर्षाकाल के मेघों के सदृश कृपावृष्टिकारक और शीतल उद्यान के सदृश स्निग्ध होते हैं । भद्र, तत्त्वज्ञानी पुरुष राजाओं के नाशक, देश को छिन्न-भिन्न करनेवाले तथा दुर्भिक्ष आदि से जनित जनता के क्षोभ को तपस्या के प्रताप, सत्कर्मों के अनुष्ठान, साम आदि उपायों से ऐसे पकड़कर रोक लेते हैं, जैसे भूकम्प को पर्वत ॥७-९॥ नानाविध उत्तम गुणों से पूर्ण, चन्द्रबिम्ब के सदृश प्रसन्नाकृति उत्तम

भार्या के सदृश अनेक गुणों से पूर्ण शान्तआकृति ज्ञानी पुरुष विपत्तियों में उत्साह देते हैं और सम्पत्तियों में सुख पहुँचाते हैं ॥१०॥ यशरूपी फूलों से सारी दिशाओं को निर्मल बनानेवाले, भावी उत्तम फल के हेतु तथा कोकिल के सदृश मधुरभाषण करनेवाले साधु पुरुष वसन्त ऋतु जैसे हैं ॥११॥ अज्ञानी राजा आदि के चित्त को एक महासागर ही समझना चाहिए, इसमें अनेक तरह के कल्लोल ही बड़े बड़े आवर्त हैं , व्यामोहरूपी मगर उसमें रहते हैं, अत्यन्त शिशिर पवन से विक्षिप्त तरंगों के व्याज से हेमन्त के सदृश वह लुढ़कता रहता है, भ्रमर, हँस आदि के निवासस्थान पद्मवन को विलोडित करता है, काम आदि छः वृत्तियाँ उसमें बड़े बड़े तरंग हैं । उस महासागर को उपदेशादि द्वारा साधु पुरुषरूपी तटस्थ पर्वत ही रोकने में अत्यन्त समर्थ हैं ॥१२,१३॥ भद्र, आपदाओं में, बुद्धिनाश में, भूख–प्यास, शोक–मोह, जरा–मरण आदि कल्लोंलों में, व्याकुल देशों में तथा दुरन्त संकटों में सज्जनों की सन्त ही गति हैं ॥१४॥ हे श्रीरामजी, इन लक्षणों से तथा दूसरे पूर्ववर्णित लक्षणों से उन उत्तम अन्तःकरणवाले महात्माओं का परीक्षण कर आप आत्मा में शान्ति प्राप्त करने के निमित्त उनका आश्रय लीजिए, क्योंकि आप संसाररूपी मार्ग में भ्रमण करते करते श्रान्त हो गये हैं ॥१५॥ भद्र, यह संसारूपी साँपों से भरा हुआ अत्यन्त विषमय सागर सत्संगरूपी जहाज को छोड़कर दूसरे किसी भी जहाज से नहीं पार किया जा सकता, इसलिए सत्संग का आश्रय लेना ही होगा ॥१६॥ हमको आत्मा या सत्पुरुष के सम्बन्ध में विचार करने से क्या, प्रारब्धवश जो भी कुछ समय पर हो जायेगा, वह मेरे लिए अच्छा ही होगा–यों भीतर प्रमाद करके गड्ढे में पड़े हुए कीट के सदृश कभी भी पुरुष को नहीं बैठे रहना चाहिए ॥१७॥ भद्र, मैंने अभी अभी आपसे जिन उत्तम गुणों का वर्णन किया, उनमें से यदि एक भी गुण किसी में उपलब्ध हो जाय, तो दूसरे गुणों की या उसमें विद्यमान अन्य दोषों की परवाह न कर उतने गुण के उद्देश्य से उस महात्मा का आश्रय लेना चाहिए ॥१८॥ गुण और दोषों को जानने के लिए बाल्यावस्था से लेकर अपने आप प्रयास करना चाहिए, अपने प्रयत्न से ही यथासंभव सत्संग एवं सत्–शास्त्रों से पहले बुद्धि बढ़ानी चाहिए ॥१९॥ यदि दोष का कुछ लेश होवे, तो उसको न देख कर सज्जन की नित्य सेवा करनी चाहिए और स्थूल दोषवाले पहले के परिजनों का क्रमशः त्याग करना चाहिए ॥२०॥

पूर्व परिजनों का त्याग न करने पर कौन दोष उपस्थित होते हैं, उन्हें बतलाते हैं।

उनका परिहार न करने पर शोधित भी चित्त अरम्य बन जाता है यानी रागादि से कलुषित बन जाता है, स्थिर भी विश्रान्ति सुख विच्छिन्न हो जाता है, साधु असाधु बन जाता है, क्योंकि लोक में जो देखा जाता है, उसे ही हम मानते हैं, यानी लोक में इस प्रकार दोष परिजनों के अपरिहार में देखे जाते हैं ॥२१॥

भले ही ऐसा हो, उससे भी क्या दोष हुआ ? इस पर कहते हैं ।

यह जगत् का अनिष्टकर महान् उत्पात है, जो कि साधु पुरुष असाधु बन जाता है और यही

देश-कालवश जनता के दुरदृष्टों के कारण महोत्पातरूप से भी दिखाई देता है, जैसे कि विश्वामित्र की लुब्ध (लोभी) अमात्यों के समर्थन से वसिष्ठजी की कामधेनु के हरण में प्रवृत्ति हुई और इससे परस्पर बैर की वृद्धि से जगत् में महान् अनिष्ट हुआ, यों अनेक दृष्टान्त देखे जाते हैं ॥२२॥

कथित का अनुवाद कर उपसंहार करते हैं ।

सब कार्यों को छोड़कर सज्जनों का ही समागम करना चाहिए, यही कर्म निराबाधरूप से इहलोक एवं परलोक दोनों का साधन है यानी दोनों लोकों की प्राप्ति कराता है ॥२३॥

इस प्रकार का सज्जनसमागम, गुणोपार्जन क्रम से जब तक ज्ञाननिष्ठा न हो जाय तब तक, बीच में कभी छोड़ना नहीं चाहिए, यह कहते हैं ।

भद्र, किसी भी काल में सज्जन सद्गुरु से दूर नहीं होना चाहिए, किन्तु विनय, सेवा आदि क्रियाओं से युक्त होकर साधु पुरुषों की निरन्तर सेवा करनी चाहिए, क्योंकि उन साधुओं के पास जाने मात्र से विचरणशील उनके शान्ति आदि गुण पास जानेवाले में ऐसे संक्रान्त (मिश्रित) हो जाते हैं, जैसे फूलों की सुगन्ध तिलों में सम्बन्धमात्र से मिश्रित हो जाती है ॥२४॥

अट्ठानबेवाँ सर्ग समाप्त

निन्नानबेवाँ सर्ग

कृमि, कीट, पतंग, तिर्यग्योनि, स्थावर आदि जातियों का इस संसार में जैसे भोग होता है, उन सबका वर्णन ।

कृमि, कीट आदि अतिमूढ़ जन्तुओं का तो जीवन ही दुर्लभ हो जायेगा, क्योंकि तात्कालिक दुःखशान्ति का उपाय वहाँ है ही नहीं, उनमें ऐसी शक्ति है नहीं जिससे कि वे दुःखशान्ति का उपाय जान सकें । ऐसी स्थिति में वे किस तरह जीते हैं, यों श्रीरामजी उनकी संसारस्थिति को, जातिप्रसंग से, जानने की इच्छा से पूछते हैं ।

श्रीरामजी ने कहा : गुरुवर, हम मनुष्य-जाति के लोगों के दुःखक्षय के लिए तो शास्त्र, सत्संग, मन्त्र, औषधि, तप, दान, तीर्थ तथा पुण्याश्रम में निवास आदि उपाय हैं, परन्तु कृमि, कीट, पतंग आदि तथा तिर्यक्, स्थावर आदि जो जातियाँ हैं, उनका दुःखक्षय किस उपाय से होगा, उपाय के अभाव में उनका जीवनयापन कैसे ? यानी वे किस तरह जी सकते हैं ? ॥१,२॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, इस संसार में जितने भी जीव हैं वे चाहे स्थावर हों, चाहे जंगम हों, वे सब अपने अपने योग्य भोगों के उचित सुखसत्ता में ही विश्राम किये रहते हैं और उसीसे अपना-अपना जीवन भी धारण किये हुए हैं, इससे निष्कर्ष यह निकला कि तत्-तत् योनियों में भोग्य जो विषयसुख की मात्रा है, वही तत्-तत् जीवों का महान पुरुषार्थ है, इसी सुखमात्र से वे विश्रान्ति लेते हैं और उसीकी आशा से अनेक दुःख झेलते हुए जीते रहते हैं ॥३॥ भद्र, छोटे छोटे अणुमात्र जो जीव हैं, उनको भी अपनी योनि के अनुसार हम मनुष्य जाति के लोंगों के जैसी ही सुख भोगने की इच्छाएँ

रहती हैं, परन्तु हम लोगों को उन भोगों में एक तो आस्था नहीं है और उनको प्राप्त करने में कोई अधिक विघ्नबाधा भी नहीं पहुँचाता, उनको तो मोह, काम आदि दोषों की अधिकता के कारण तथा विवेक की मात्रा के अभाव से उन भोगों में अधिक आस्था है और उनको पाने में उन्हें पर्वत के सदृश बड़े बड़े विघ्नों का सामना भी करना पड़ता है ॥४॥

यदि प्रश्न हो कि भोगों में बहुत आस्था है, यह आपने कैसे जाना, तो इसका उत्तर है–प्रयत्न की अधिकता, इस आशय से कहते हैं।

भद्र, जिसका समस्त ब्रह्माण्ड एक शरीर है, वह विराट् हिरण्यगर्भ जैसे अपने अधिकार निभाने की अनेक चेष्टाओं के द्वारा स्वभोगार्थ प्रयत्न करता है, वैसे ही केशों के अग्रभाग के सदृश देहवाले कृमि, कीट आदि भी बालक की मुट्ठी के छेद की अपेक्षा भी छोटे अल्पकाय आकाश में प्रयत्न करते हैं, देखिये तो सही कि कैसी अहंकार की महिमा है ॥५॥ एकमात्र शून्य विषयवाले गगनपक्षी निराधार आकाश में उत्पन्न होते हैं और वहींपर मर जाते हैं, उनको कुछ भी विषय नहीं मिलता है, परन्तु क्षणभर वे स्वस्थ नहीं बैठते यानी वे अपने प्रयत्न से तनिक भी हटते नहीं ॥६॥

कण आदि के उपार्जन में पिपीलिका आदि का अधिक प्रयत्न देखा जाता है, इससे भी अनुमान होता है कि उन्हें भोग की आस्था बहुत है, इस आशय से कहते हैं।

भद्र, देखिये–ग्रास तथा निवास का सम्पादन तथा कुटुम्बपोषण आदि नानाविध चेष्टाओं से यह प्रतीत होता है कि जैसे पिपीलिका के लिए हमारे दिन जैसा भी दीर्घकाल उनके कणोपार्जन प्रयत्न के लिए क्षण के सदृश पर्याप्त ही नहीं है ॥७॥ भद्र, यह एक और नवीनता सुनिये–तिमिनाम का जो अत्यन्त छोटा त्रसरेणु के बराबर का जीव है, उसकी गमन में ऐसी व्यग्रता दीखती है, जैसी कि गरुड़ की गमन में व्यग्रता दीखती हो ॥८॥

देह में और देह भोग्य वस्तुओं में अहंताममता का अभ्यास मनुष्य और कृमि दोनों को एक सा है, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, यह, वह, मैं, यह मेरा है, वह मेरा है, इस तरह कल्पित अध्यासरूप जगत् जैसे मनुष्यों के लिए अनेक ऊँचे गुणों के कारण अत्यन्त आस्था का भाजन है, ठीक वैसे ही कृमि के लिए भी है ॥९॥

विषयों की आस्था के कारण आयु का जो निरर्थक क्षय हो जाता है, वह भी हम मनुष्य एवं कीट आदि का समान है, यह कहते हैं।

देश, काल, क्रिया, द्रव्य आदि विषयों की प्राप्ति के निमित्त व्यग्र बुद्धि से जैसे हम लोगों का जीवन जर्जर यानी क्षीण हो जाता है, वैसे ही व्रणकीटों का भी उक्त व्यग्र बुद्धि से जीवन क्षीण हो जाता है ॥१०॥ वृक्ष आदि स्थावर जीव कुछ जागते रहते हैं, पत्थर एकदम सोते ही रहते हैं। यानी घनी नींद से सोये हुए ही रहते हैं और कृमि, कीट आदि तो हम मनुष्यों के जैसे अपने अपने उचित

विषयभोगों में निद्रा एवं जागरण-दोनों से युक्त रहते हैं ॥११॥ शरीरकाल में सुखपूर्वक स्थित ये जो कृमि, कीट आदि हैं, उनको भी हम लोगों के सदृश शरीरविनाश ही दुःख पैदा करनेवाला है और जीवन (शरीर में प्राणस्थिति) सुख पैदा करनेवाला है ॥१२॥

हम लोगों के भोग्य, घर, महल, धन आदि को वे कैसे देखते हैं, इसे कहते हैं।

जैसे बेचा गया पुरुष अन्य द्वीप को उदासीनता से मुग्धदृष्टि होकर देखता है, वैसे ही पशु, मृग आदि उनके अभोग्य घर आदि पदार्थों को उदासीनता से मुग्धदृष्टि से देखते हैं ॥१३॥ जैसे मनुष्य जाति के जीवों को संसार सुख-दुःख देनेवाला है, वैसे ही तिर्यग्योनि पशुओं को भी है। केवल भेद इतना है कि उत्कर्ष-अपकर्ष बुद्धि के कारण गुण-क्रिया विभाग वे नहीं जानते ॥१४॥

बेचे गये मनुष्य की समानता पशु में बतलाते हैं।

बैल आदि पशु, जो नाथे जाते हैं, मन से भीतर भीतर सुख दुःख से खींचे जाते हैं और बाहर से नाथ रज्जु के द्वारा नासिका प्रदेश से खींचे जाते हैं यों दोनों ओर पराधीनता से खींचे जा रहे भी वे कुछ भी अपना दुःख हरने या प्रकट करने में समर्थ नहीं होते, ठीक इसी तरह के द्वीपान्तर में बेचे गये पामर जन (गुलाम) भी होते हैं, इस लिए दोनों की समता है ही ॥१५॥

वृक्ष आदि के सुख, दुःख के अनुभव की प्रणाली हमारे सुख दुःख के अनुभव के अनुरूप ही है, ऐसा उपपादन करते हैं।

सुकुमार त्वचावाले हम लोग जब निद्रादेवी की गोद में अचेत होकर सोये रहते हैं तब यदि अत्यधिक शीत, गर्मी, मच्छर, खटमल आदि हमें तंग करते हैं तो सुखशून्य नींद में हमें जैसे महाक्लेश का अनुभव होता है वैसे ही महाक्लेश का अनुभव पेड़, पौधे, अंकुर आदि को होता है।

श्लोक में अंकुर का ग्रहण अति सुकुमार होने के कारण उसे कृमि, कीड़ों आदि के काटने पर अत्यन्त क्लेश होता है यह सूचित करने के लिए है॥१६॥

पूर्व में जो यह कहा था कि हम लोगों की भाँति ही पशु, मृगादि को भी संसार सुख और दुःखदायक है, किन्तु वे पदार्थों के गुण, क्रियाउपयोग (इसमें यह गुण है यह इस कार्य के उपयोगी है) आदि विवेचन से, जिससे उत्कर्ष और अपकर्ष का ज्ञान होता है, सर्वथा कोरे हैं। इस बात को उपपादन के द्वारा अनुभव में चढ़ाते हैं।

जैसे देशविपल्व के समय पलायन द्वारा दौड़ना आदि गति के लिए कुश, काँटे, जली हुई बालू पर चलना, बोझ ढोना आदि मुसीबतों पर पड़े हुए हम लोगों को चारों ओर से भय की आशंकाओं से पूर्ण पदार्थज्ञान होता है वैसा ही पदार्थज्ञान पक्षी, सर्प आदि तिर्यग्योनिवाले जीवों को भी सदा होता है ॥१७॥ यदि मन विकल्प-ज्ञान से शून्य हो तो आह्लादस्वरूप आत्मानन्द में और भोजन, निद्रा, मैथुन आदि से होने वाले सुखों में इन्द्र और कीड़े की मन की प्रसन्नतारूप सौम्यता एक सी है। केवल विकल्प ही दोनों के लिए-इन्द्र और कीड़े के लिए-हिमालय के समान अलंघ्य है ॥१८॥

राग, द्वेष, भय, आहार और स्त्रीसंगजनित सुख और दुःख तथा जन्म–मरण के समय होनेवाला क्लेश इन्द्र और कीड़े का समान है, उसमें तनिक भी अन्तर नहीं है ॥१९॥ शास्त्रवेद्य पुण्य, पाप, ब्रह्मतत्त्व आदि तथा अतीत और भावी पदार्थों के सिवा शेष ज्ञान नेवला, साँप, सियार, हाथी आदि को शास्त्रगम्य धर्म, अधर्म, आत्मतत्त्व, अतीत, अनागत आदि पदार्थों का ज्ञान नहीं होता, मनुष्य को हो सकता है, इसके अतिरिक्त ज्ञान जैसा मनुष्य को है वैसा ही नेवला आदि को भी है ॥२०॥

तो पर्वत आदि कैसे अनुभव करते हैं ? इस आशंकापर कहते हैं ।

गाढ़ निद्रावाले (सुषुप्ति में स्थित) वृक्षादि की अत्यन्त मूढभाव से जो अपने में स्थिति है उसका पाषाण आदि अचल पदार्थ अनुभव करते हैं और जो हिमालय, सुमेरु आदि तत्त्वज्ञानी पर्वत हैं, वे तो अखण्ड चिदाकाश का अनुभव करते हुए सदा समाधि में स्थित हैं ॥२१॥

इस प्रकार न तो वृक्ष आदि जीवों की दृष्टि से जगत् की कल्पना हो सकती है, क्योंकि वे गाढ़ निद्रा में मग्न हैं, न पर्वत आदि जीवों की दृष्टि से जगत् की कल्पना हो सकती है, क्योंकि वे आत्मसत्ता में स्थित हैं, जंगम जीवों में भी तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि से जगत् की कल्पना नहीं हो सकती है, कारण वे तो चिदाकाश स्वरूप ही हैं । हाँ, कुछ अज्ञानी जंगम जीवों की दृष्टि से जगत की कल्पना हो सकती है , किंतु उनकी दृष्टि उक्त बहुत से लोगों की दृष्टि से विरुद्ध जगत्सत्ता की सिद्धि नहीं कर सकती, इस आशय से कहते हैं ।

वृक्ष आदि गाढ़ निद्रा में हैं और पर्वत आदि अपनी सत्ता में स्थित हैं । जो जंगम जीव हैं, वे भी सुषुप्ति, मरण, मूर्छा मोक्ष आदि अवस्थाओं में चिदाकाशरूप ही हैं । जंगम जीवों में से किन्हीं को कभी (स्वप्न में) अर्धविकास से और कभी (जाग्रत अवस्था में) पूर्ण विकास से भासमान भी जगत् बहुतों की दृष्टि के अनुरोध से चिदाकाश ही है ॥२२॥ जो पर्वत आदि की सत्ता और जो वृक्षों की निद्रा है, वह द्वैतज्ञानविहीन होने के कारण अखण्ड चिद्रूप ही है, इसलिए उनकी दृष्टि से जगत् एक अज्ञानउपहित चिन्मात्र ही है ॥२३॥ औरों की दृष्टि से भी आत्मतत्त्व जब तक परिज्ञात न हो तभी तक जगत् है आत्मतत्त्व का परिज्ञान होने पर तो न तुम हो, न मैं हूँ, न जगत्सत्ता ही है, न असत्ता है और न जगत् का प्रागभाव ही है यानी किसी कोटि में जगत् की स्थिति नहीं है ॥२४॥ शिला के समान ठोस, शान्त, अपने स्वरूप से अप्रच्युत, उत्पत्ति–नाश से रहित निर्दोष ब्रह्म ही यह सब कुछ है । वह जैसे निद्रा आत्मा में ही स्वप्नजगत् वैचित्र्य की कल्पना करती है वैसे ही अज्ञानियों की दृष्टि से अपने में ही जगद्वैचित्र्य की कल्पना कर रहा है, वास्तव में वह निर्विकार है ॥२५॥

परमार्थदृष्टि से तो सद् ही एकरूप है, यह कहते हैं ।

सृष्टि के पहले सृष्टि आदि जगत् जैसे एकरूप ही स्थित था, वर्तमान काल में भी वैसे ही स्थित है और आगे भी अनन्त काल तक वैसे ही स्थित रहेगा ॥२६॥

सत् चिद् आनन्दरूप उसके आत्मत्व आदि भेद भी नहीं हैं, क्योंकि कोई व्यावर्त्य नहीं है, फिर

और भेद क्यों कर होंगे, यह कहते हैं ।

न तो आत्मता है, न परता है, न जगत्ता है, न मौनता है, न मौनिता है बहुत क्या कहें उस सद्रूप में कुछ भी उत्पन्न नहीं है ॥२७॥ आप अपने स्वरूप में ही स्थित रहिये, मैं भी अपने स्वरूप में ही स्थित हूँ, परम आकाश में सुख और दुःख का नाम नहीं है और पराकाश (ब्रह्मप्रकाश) के सिवा यहाँ कुछ नहीं है ॥२८॥ जरा बतलाइये तो सही स्वप्न नगर में परमाकाशता को छोड़कर क्या है ? निर्मल, निर्विकार शान्त चिदाकाश ही तो स्वप्ननगर है ॥२९॥ केवल अज्ञान ही उसमें भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाला है । जब परम ब्रह्म का परिज्ञान हो जाता है तब अज्ञान का भी कहीं पता नहीं रहता ॥३०॥ जब जगतरूपी स्वप्न का ज्ञान हो जाता है तब उसमें कुछ भी सत्यता नहीं रहती । जगत् के प्रति अभिनिवेश (आसक्ति) वन्ध्यापुत्र में स्नेह करने के सदृश ही उपहासास्पद है ॥३१॥ स्वप्नकाल के ज्ञात होने पर प्रत्येक अणु में जगत्-स्वप्न की सम्भावना होती है, किन्तु प्रबोधावस्था में जिसका कुछ अस्तित्व नहीं रहता उसकी क्या तो उपादेयता है और क्या उसका आदर किया जाय ? ॥३२॥ जिस वस्तु की प्रबोधअवस्था में कुछ भी सत्ता नहीं है वह अबोधावस्था में भी कहींपर नहीं है । जो अप्रबोधअवस्था में उसकी प्रतीति होती है, वह अज्ञता ही है अर्थात् अज्ञान ही उसकी प्रतीति के रूप से प्रसिद्ध होता है ॥३३॥ न तो वर्तमान सच है, न भविष्यत् सच है और न भूतकाल ही सच है, न अज्ञान सच है और न उनका ज्ञान सच है । ये सब वस्तुएँ अज्ञानवश ही प्रतीत होती हैं वास्तव में कुछ नहीं है ॥३४॥

ऐसी स्थिति में मिथ्या देह आदि के मिथ्या शत्रुओं द्वारा नष्ट किये जाने पर भी उन दोनों के अधिष्ठानरूप आत्मा का कुछ भी नहीं बिगड़ा, यह कहते हैं ।

जैसे एक लहर के आघात से दूसरी लहर के छिन्न-भिन्न होने पर जल की कुछ हानि नहीं होती है । वैसे ही एक देह से दूसरी देह के नष्ट होने पर चित् की भी क्षति नहीं होती है ॥३५॥ आकाशरूप चित् में ही देह ऐसा भ्रमात्मक ज्ञान ही पैदा होता है ऐसी अवस्था में भ्रमात्मक ज्ञानरूप देह के नष्ट होने पर क्या नष्ट हुआ ? ॥३६॥ ज्ञानघन चिदाकाश ही स्वप्न जगत्रूप से प्रसिद्ध है । चूँकि यह जगत् स्वप्न-जगत् के समान पृथिवी आदि से शून्य है, इसलिए स्वप्नरूप है ॥३७॥ पूर्व चित् के स्वप्न से सृष्टि के आदि में पृथिवी आदि पदार्थबुद्धि का उदय हुआ । स्वप्न के पदार्थ में सत्यता बुद्धि काल्पनिक है, वास्तविक नहीं है ॥३८॥ इस प्रकार पूर्व से पूर्वतर अनादि प्रवाहरूप स्वप्न के अवयवों में मूढ़ों ने सत्य पृथ्वी आदि की कल्पना ऐसे ही कर डाली जैसे कि आधुनिक असत्य वस्तु में सत्य कल्पना की जाती है ॥३९॥ वह भ्रान्ति वैसी बद्धमूल हुई कि निपट असत्य होती हुई भी परम सत्यता को प्राप्त हो गई । किन्तु परम सत्य चिति तो अत्यन्त निर्मल है, उसमें जड़तारूप मलका रत्तीभर भी सम्बन्ध नहीं है ॥४०॥

असत्यस्वरूप जगत्भ्रान्ति को मूढ़ों ने अपनी कपोलकल्पना से सच सी मान लिया है, यों

'इव' से सत्य से उपमित कर उपमा द्वारा भ्रान्तिकल्पना में सत्यार्थ कल्पना की समानता दिखलाई। वह तभी सम्भव हो सकती है जब पहले सत्य पदार्थ रहे हों, उनका अनुभव भी हुआ हो और इस समय उनका स्मरणकर्ता भी हो । दूसरी हालत में यह संभव नहीं है, ऐसा कहते हैं ।

वास्तव में अपने स्वरूप से अच्युत सच्चिदानन्दरूप सर्वव्यापक ब्रह्म ही स्थित है। सत्यतारूप पृथ्वी आदि कुछ भी पहले कभी नहीं रहा । ऐसी परिस्थिति में जब उसके अनुभव की सर्वथा असिद्धि है तब उसका स्मरण करनेवाला या विस्मरण करनेवाला भला कौन होगा ? ॥४१॥

तब असत्य पदार्थ में अत्यन्त अप्रसिद्ध सत्यता की समानता का प्रतिबोधक क्या होगा ? ऐसी आशंकापर स्वप्रकाश सत्यस्वरूप का अज्ञान ही असत्यत्व में सत्यत्व के सादृश्य का प्रतिबोधक है, यह कहते हैं ।

यथार्थरूप चिदानन्दरूप ब्रह्ममात्र विषयक अज्ञान ही जगत् में (असत्य में) सत्यत्व की समानता का प्रतिबोधक है, अतएव तत्त्व का परिज्ञान ही आवरणरूप अज्ञानकपाट तथा विक्षेपरूप जगत्सत्यताभ्रान्ति कपाट का उद्घाटन है ॥४२॥ अज्ञान के कार्य के साथ अज्ञान का नाश होने पर चिन्मात्र शेष रहने से पृथ्वी आदि किसी का कहीं पर संभव नहीं है । जो द्रष्टा है अथवा दृश्य है, वह सब पूर्वोक्त परिशिष्ट चैतन्यमात्र विशुद्ध शिव ही है ॥४३॥ जैसे दर्पण में निमित्तभूत बाहरी बिम्ब से भीतर प्रतिबिम्ब की प्रतीति होती है वैसे ही निमित्तभूत प्रतिबिम्ब के बिना ही अपने आप चिदाकाश में प्रतिबिम्बत जगत् प्रतीत होता है ॥४४॥

दर्पण के दृष्टान्त से विवक्षित अंश को कहते हैं।

जैसे दर्पण के अन्दर दिख रहा भी बिम्ब वास्तव में कुछ नहीं है वैसे ही चिदाकाश में प्रतीत हो रहा भी विश्व परमार्थ दृष्टि में कुछ भी नहीं है ॥४५॥ जो वस्तु शास्त्रीय विचार से प्राप्त होती है जिसकी स्थिति प्रमाणरूप कसौटी से प्रमाणित है वही सत् है उससे अन्य तो प्रतिभासमात्र है, वह तीनों कालों में सत्ताशून्य है – न भूतकाल में था, न वर्तमान में है और न भविष्यत् में होगा भला वह सत् कैसे हो सकता है ? ॥४६॥

यदि जगत् असत् है तो वह व्यवहारार्थ क्रिया के योग्य कैसे है, इस शंकापर कहते हैं ।

कुछ भ्रमात्मक वस्तुएँ भी अर्थक्रियाकारी देखी जाती है, जैसे स्वप्न स्त्री असत्य होती हुई भी मनुष्यों की सत्य वीर्यविसर्जनरूप अर्थक्रिया करती ही है ॥४७॥

'अहम्' आदि जगत् की शोभा प्रतिभासिक ही है, अन्य प्रकार की नहीं है। जो जगत् का भान है वह आत्मस्वरूप चैतन्य का प्रकाश ही है अन्य नहीं है। उस भान का व्यावर्तक दृश्यरूप यदि भान से पृथक् माना जाय तो शून्य ही ठहरेगा यदि भानरूप माना जाय, तो भानका व्यावर्तक न होने से चिदाकाशरूप ही होगा, इस प्रकार विचार करने पर जगत् का रूप कुछ भी सिद्ध नहीं होता ऐसी परिस्थिति में कहाँ मैं हूँ, कहाँ विश्वशोभा है, कहाँ आप हैं और दृश्यदृष्टियाँ ही कौन हैं ?

हे श्रीरामचन्द्रजी, उदारमति आपकी, जो पूर्वोक्त विज्ञानदृष्टि से चिन्मात्र स्वरूप हैं, देह के विनाश से मरकर फिर अन्य देह की उत्पत्ति से उत्पत्ति है यानी मुक्ति नहीं है तो क्या हानि हुई ? क्योंकि दुःखगन्धविहीन निरतिशयआनन्दरूप चैतन्य का नाश और उत्पत्ति से तनिक भी स्पर्श नहीं है । यदि मरकर पुनः उत्पत्ति नहीं होती, मुक्ति होती है तो भी सर्वप्रपंच का उपशम ही है । इसलिए उक्त दोनों ही पक्षों में तनिक भी दुःख की प्राप्ति नहीं है ॥४८,४९॥

तब मूर्ख को मरण और जन्म में क्यों कर दुःख प्राप्त होता है ? ऐसा यदि कोई प्रश्न करे तो उसके प्रति उस दुःखप्राप्ति का मूर्ख को ही अनुभव होता है ऐसा कहते हैं ।

मूर्ख को जिस प्रकार का दुःख होता है उसे मूर्ख ही जानता है, वह हम लोगों की जानकारी के बाहर की बात है । देखिये न, जिसे मृगतृष्णारूपी नदी के जल में 'मैं मछली हूँ' यों अपनी मछलीरूपता का अनुभव होता है, वही तो उसकी (मृगतृष्णारूपी नदी की) चंचल लहरों का लहराना जानेगा, किन्तु जिसे मृगतृष्णा नदी की भ्रान्ति नहीं है, वह कैसे जानेगा ? ॥५०॥ तत्त्वज्ञ की दृष्टि से तो केवल चिदाकाश ही 'तुम' 'मैं' आदिरूप सम्पूर्ण जगत बनकर प्रकाशमान होता है। देखिये न, आत्मा ही डालियाँ, उनकी चोटियाँ, उनकी टहनियाँ, उनके पत्तों और फलों के रूप-धारण द्वारा संकल्पवृक्ष बनकर मनोराज्य में प्रकाशमान होता है ॥५१॥

निन्नानबेवाँ सर्ग समाप्त

सौवाँ सर्ग

देह को आत्मा माननेवालों के मत में आग्रह रखनेवालों की भी बुद्धि जैसे वास्तविक तत्त्व की ओर आकर्षित हो जाय वैसी युक्ति का प्रतिपादन।

पहले सृष्टिवादियों की उक्ति की सत्यता के वर्णन के सिलसिले में 'स्वाभावसिद्धमेवेदं युक्तिमित्येव तद्विदाम्' इससे चार्वाक की उक्ति को समुचित कहा, उक्त कथन उनके अभिमत सब आस्तिक जनों के विपक्षरूप देहात्मवाद के विषय में कैसे उचित है अथवा उनकी पुरुषार्थसिद्धि कैसे होती है, यह सब जानने के लिए इच्छुक श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, निम्ननिर्दिष्ट प्रश्न ध्यान देकर सुनने की कृपा कीजिये तदनन्तर उसका यथार्थ उत्तर देने का अनुग्रह कीजिये । जब तक जीयें, आराम से जीयें, मृत्यु अप्रत्यक्ष नहीं है ।

(जीते-जी अपनी मृत्यु का प्रत्यक्ष नहीं होता यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि दूसरों की मृत्यु प्रतिदिन दिखती है अपनी मृत्यु का भी उसी तरह अनुमान हो सकता है । यदि कहिये चार्वाकों के मत में अनुमान प्रमाण नहीं है, क्योंकि वे प्रत्यक्ष के सिवा और कोई प्रमाण नहीं मानते । अच्छा, उनके मत में देहनाश ही मृत्यु है। पुनर्जन्म तो वे मानते नहीं अतः उनके मत में देह-नाश ही सकल

दुःख निवृत्तिरूप मोक्ष ठहरा वह उनको वांछनीय ही है इस आशय से कहते हैं।)

सकल दुःखों की निवृत्ति को प्राप्त भस्मीभूत देह का पुनः आगमन कैसे हो सकता है ? ऐसा जिनका सिद्धान्त हो, इस संसार में उनकी दुःखशान्ति के लिए कैसी युक्ति है ? ॥१,२॥

संवित् को अपने निश्चय के अनुसार ही विवर्त का अनुमान होता है, ऐसा नियम है । उक्त नियमों में ही संवित् की देहात्मभाव में भी उपपत्ति होती है और मोक्ष में भी उपपत्ति होती है। इस आशय से श्रीवसिष्ठजी उसका समर्थन करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : संवित् जो जो निश्चय करती है अपने अन्दर ज्यों का त्यों वही अनुभव करती है, यह बात सब लोगों के अनुभव से सिद्ध है ॥३॥ जैसे भूताकाश सर्वव्यापक और शान्त है वैसे ही चिदाकाश भी सर्वव्यापी और शान्त है । वह चिदाकाश ही विविध वादवाले पामर लोगों से कल्पित देहादि द्वैत और वेदान्त के मर्म को जाननेवाले विद्वानों के अनुभव से सिद्ध अद्वैत भी है, क्योंकि उससे अतिरिक्त वस्तु का अत्यन्त असंभव है ॥४॥

अन्य वस्तु के असंभव में 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (हे सोम्य, सृष्टि के पूर्व यह सत् ही था) इत्यादि श्रुतियों से परिपोषित युक्ति कहते हैं।

सृष्टि की पूर्वावस्था में, जबकि अद्वितीय ब्रह्मरूपी महाप्रलय का ही बोलबाला था, अद्वितीय ब्रह्म के सिवा कोई पदार्थ था ही नहीं, उसका कोई भी कारण नहीं, जिसकी कि उसके पूर्व में होने की संभावना हो । इसलिए यह ब्रह्म ही जगत् के रूप से व्याप्त है ॥५॥

यदि कोई शंका करे कि हम ब्रह्मरूपी महाप्रलय ही नहीं मानते, जैसे बीजांकुर आदि की परम्परा अनादि है वैसे ही पृथिवी आदि महाभूतों का प्रवाह अनादि काल से चला आ रहा है, अतः इससे विलक्षण जगत् कभी रहा ही नहीं । इस तरह के पूर्वमीमांसक आदि कर्मकाण्डियों के पक्ष का खण्डन करते हैं ।

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (सब वेद जिस परम पद का प्रतिपादन करते हैं),'तमेतं वेदानुवचनेन ब्रह्मणा विविदिषन्ति' (उसीको ब्राह्मण लोग वेदाध्ययन द्वारा जानने की इच्छा करते हैं) इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध सकल वेद और शास्त्रों के प्रतिपाद्य महाप्रलयरूपब्रह्म को, जीवों की ब्रह्मप्राप्तिरूप मुक्ति को तथा मुक्ति के साधन तत्त्वज्ञान को जो नहीं मानते हैं, उनकी मूढता का क्या ठिकाना है ? मोक्षशास्त्र के अप्रामाणिक होने पर तुल्ययुक्ति से कर्म शास्त्र की अप्रमाणता का भी वारण नहीं हो सकता, अतः वे शास्त्रशून्य हैं । जब शास्त्रशून्य हो गये तो हमारी दृष्टि में वे मरे हुए से हैं अर्थात् तत्त्वज्ञान के उपदेश के अयोग्य हैं ॥६॥ जिन महापुरुषों का देह, इन्द्रिय आदि की सकल व्यवहारों में नियुक्ति करनेवाला प्रत्यगात्म चैतन्य या मन सकल शास्त्रों से अविरुद्ध सर्वं खल्विदं ब्रह्म (यह सब ब्रह्म ही है) इस प्रकार के ज्ञान से प्रचुर मात्रा में पूर्णकाम हो चुका हो, उन कृतार्थ पुरुषों के साथ भी उपदेश कथा

करना उचित नहीं है । केवल जिज्ञासु पुरुषों के लिए ही उपदेशवार्ता उचित है ॥७॥

प्रसंगतः प्राप्त विषय की समाप्ति कर प्रस्तुत विषय पर आते हैं ।

हृदय में जैसी संवित् निरवच्छिन्नरूप से सदा उदित होती है मनुष्य वैसा ही हो जाता है । देह हो चाहे न हो । भाव यह है कि चार्वाकों के संमत देहात्मभाव में भी वैसी दृढनिश्चयात्मक संवित् का उदय ही अन्वय और व्यतिरेक से हेतु है, देह आदि व्यभिचरित होने से हेतु नहीं है ॥८॥

इसी कारण यद्यपि आत्मा सच्चिदानन्दघन है तथापि विरोधी दुःखित्वादिज्ञान की दृढ़ता से उसमें दुःखमयता सबको अनुभव से सिद्ध है, ऐसा कहते हैं ।

हे श्रीरामजी, यदि संवित् के बोध से पुरुष दुःखी हुआ है, तो जब तक विरुद्ध दुःखित्व ज्ञान रहेगा तभी तक जीव दुःखमय रहेगा ॥९॥

यद्यपि जगत् पूर्वोक्त रीति से दुःखमय ही है तथापि यह निरतिशयानन्द चिदाकाश का स्फुरणमात्र ही है यों उसकी भावना करने से उसके वास्तविक स्वरूप का दर्शन होने पर भ्रान्ति से कल्पित दुःखरूपता तथा उसकी दर्शन, दृश्य, दर्शक आदि त्रिपुटी की शान्ति हो जाती है । देहात्मवादी भी यदि ऐसी भावना करें, तो उनकी भी मुक्ति हो सकती है, इस आशय से कहते हैं ।

जगत् सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म का स्फुरणमात्र ही है ऐसी भावना की जाय तो पहले प्रसिद्ध दुःखादि का वेदन कैसे हो सकेगा ? भला कूटस्थ अद्वितीय चिदाकाश से कैसे किसको दुःख का बोध होगा ? कोई द्वितीय हो और कोई दुःख का निमित्त हो तभी तो दुःख का संभव है । जब एकमात्र आनन्द घन चिदाकाश ही है तब दुःखबोध की क्या कथा है ? ॥१०॥

उक्त अर्थ में 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (तत्त्वज्ञानावस्था में अद्वैत को देख रहे पुरुष को कौन मोह और शोक) इस श्रुति को अर्थतः उदाहृत करते हैं ।

एक ब्रह्म ही है ऐसे निश्चयात्मक ज्ञानवाले पुरुषों को किन्हीं सुख या दुःखों का ऐसे ही स्पर्श नहीं होता, जैसे कि आकाश को धूलियों का स्पर्श नहीं होता ॥११॥

अपने-अपने दृढ़ निश्चय के अनुसार ही पदार्थ के अनुभव में संवित् की प्रमाणता और चित्तवृत्ति की सत्यता ठीक नहीं है, देहात्मभाव में पहली की (संवित् को) प्रमाणता नहीं है और ब्रह्मसाक्षात्कारवृत्ति में दूसरी (चित्तवृत्ति की सत्यता) नहीं है इस आशय से कहते हैं ।

संवित् सत्य (प्रमा) है और चित्तवृत्ति सत्य (अबाधित) है ऐसा दोनों का नियम नहीं है। किन्तु निश्चय इस तरह के सत् और असत् अर्थ के अनुभव में कारण होता ही है, यह आबालवृद्ध प्रसिद्ध है। इसका कौन कैसे अपलाप कर सकता है ? भाव यह कि अनुभव विरुद्ध का आश्रय लेकर अनुभव का अपलाप नहीं किया जा सकता॥१२॥

इसलिए सकलवादियों के अभिमत तत्-तत् वेषों को धारण करने में समर्थ संवित् ही आत्मा है, ऐसा सब वादियों को समझाकर सब कृतकृत्य (सफलमनोरथ) किये जा सकते हैं,

इस अभिप्राय से कहते हैं ।

चार्वाकों का अभिमत शरीर, सांख्यों का अभिमत पुरुष और मीमांसक आदि का अभिमत जीव या भोक्ता संवित् से पृथक् उपलब्ध नहीं होता, अतः सब वादियों के कल्पनास्थान देह आदि संवित् ही हैं । वह (संवित्) जैसा अनुभव करती है वैसा ही जगत् हो जाता है ॥१३॥ वह संवित् सत्य हो अथवा असत्य हो उसे केवल अपनी कल्पना द्वारा (पृथिवी आदि कारणों की अपेक्षा करके नहीं) ऐसे देह का अनुभव होता है जैसे स्वप्न में, पाताल में, आकाश में, जल में और स्वर्ग में केवल कल्पना से ही देह का अनुभव होता है ॥१४॥ संवित् चाहे सत्य हो, चाहे असत्य हो, संविद्मात्र ही आत्मा है । उक्त संवित्मात्र आत्मा जिस प्रकार के निश्चयवाला होता है वह सत्य उसकी क्रिया (व्यवहार क्रिया) में समर्थ होता है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥१५॥

जब संवित् ही सब वादियों के अभिमत आत्मादि के रूप से स्थित होती है तो ऐसी परिस्थिति में सत्य होने और उसके द्वारा कल्पित पदार्थों के तत्–तत् अभिमत अर्थक्रिया में समर्थ होने के कारण पूर्वोक्त सकलशास्त्रों का प्रामाण्य अक्षुण्ण ही रहा, यह कहते हैं ।

संविद्–मात्र आत्मा से ही सब शास्त्रों का प्रामाण्य अक्षुण्ण होता है और यह संविद्–अद्वैतात्मवाद सिद्धान्त ही सब वादियों का उपजीव्य होने और पुरुषार्थ हेतु होने से सब सिद्धान्तों का शिरोमणि सिद्धान्त है ॥१६॥

तो क्या संवित् ही तत्–तत् वादियों के अभिमत देहादि के आकार से तत्–तत् निश्चय के अनुसार परिणत होती है ? इस पर नकारात्मक उत्तर देते हैं ।

संवित् में जो अबोधता यानी अविद्या है, वही तत्–तत् वादियों की जैसी संवित् होती है परिणाम द्वारा प्रवृत्ति आदि के समय वैसे ही बन जाती है । वही जब तत्त्वज्ञान रूपसे परिणाम होने पर निर्मल शुद्ध चिदाकार हो जाती है तब मोक्षफलभागिनी बन जाती है ॥१७॥ इसलिए पुण्य तीर्थ, पुण्य पर्व आदि देश काल में स्नान, दान आदि कर्मों से, रसायन, मन्त्र, औषधि आदि द्रव्यों से, कर्मशास्त्र द्वारा उपदिष्ट लोकैषणा, धनैषणा और पुत्रैषणा रूप भ्रान्तियों से वह अबोधता और उससे उत्पन्न विक्षेपसंवित् कभी भी नष्ट नहीं होती ॥१८॥

बोध होने पर जब अविद्या छिन्न–भिन्न हो चुकी पुनः उसके आविर्भाव में कोई कारण नहीं है और दूसरी बात यह भी है कि यदि उसका पुनः आविर्भाव माना जाय, तो मोक्ष कभी होगा ही नहीं, क्योंकि जब–जब ज्ञान द्वारा वह बाधित होगी, पुनः उसका आविर्भाव हो जायेगा, ऐसा कहते हैं ।

आत्यन्तिक बाध से क्षीण हुई अविद्या की पुनः प्राप्ति की आशंका भी नहीं है । यदि अविद्या एक बार बाधित होकर पुनः क्षणभर में आविर्भूत हो जायेगी, तो जीवका दुःख कब किससे शान्त होगा यानी कभी भी किसी से भी शान्त न हो सकेगा ॥१९॥ संवित् ही मनुष्यों का जीव (जीवात्मा) है उसकी जैसी दृढ़ भावना होती है वैसा ही पुरुष सुखी या दुःखी होगा, ऐसा निश्चय है ॥२०॥

प्रत्यगात्मरूप संवित् ही जब तत्त्वतः ज्ञात होती है तब अपने कार्यभूत बन्ध को दूर करती है, इसलिए मुमुक्षु लोगों की वही शरण है । उसके अभाव में सारा जगत् अन्धकारपूर्ण हो जायेगा । मोक्ष की आशा तो दुराशा ही हो जायेगी, ऐसा कहते हैं ।

संवित् का यदि अस्तित्व है तो ज्ञानियों के संसारनाश में वही शरण है, यदि वह नहीं है, तो शिला के समान जड़ अन्धकार ही अन्धकार शेष रह जाता है ॥२१॥

कैसे अन्धकार ही शेष रह जाता है ? ऐसा कोई प्रश्न करे तो उस पर कहते हैं ।

चूँकि स्वप्रकाशरूप उसीसे प्रत्यगात्मसंवित्‌रूप जीव को निद्रा द्वारा अपनी जड़ता के सदृश अन्धकारतुल्य अज्ञान से यह प्रपंच प्राप्त हुआ है, यदि संवित् का अपलाप किया जाय, तो असाक्षिक अन्धकार ही शेष रह जायेगा ॥२२॥

कभी भी इससे विलक्षण जगत् नहीं था यानी जगत् का अभाव नहीं था ऐसा मानकर जो महाप्रलय नहीं मानते वे शास्त्रशून्य मुर्दे ही हैं, यों आपने पूर्व में जिनकी निन्दा की है, उनके मत के अनुसार दृढ़ निश्चयवाले लोगों की तत्त्वज्ञान प्राप्ति में मुक्ति है या नहीं इस विषय में सन्देह कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, इस सृष्टि का पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि आठ दिशाओं में उर्ध्व दिशा में (ऊपर) और नीचे भी अन्त नहीं है, न यह आगे उत्पन्न होनेवाली ही है और न इसका नाश ही होता है इस तरह जगत् के प्राग् अभाव, प्रध्वंसअभाव और अत्यन्तअभाव-इन तीनों अभावों को तिलांजलि दे चुके, यह सब विज्ञानघन ही है, यों इसे परमार्थतत्त्वरूप न देख रहे, जैसा जगत् दीख रहा है, वही सत्य है यों समझ रहे और जगत् का विनाश न देख रहे जिस पुरुष ने जगत् की उक्तरीति से सत्यता की भावना की, उसके संसाररूपी दुःख की निवृत्ति में कैसी युक्ति है ? हे ब्रह्मन्, बोध की वृद्धि के लिए मेरे इस सन्देह को पुनः निवृत्त करने की कृपा कीजिये ॥२३-२५॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, यहाँपर एक तो पूर्वोक्त ही (शास्त्रशून्य वे हम तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में मृत से ही हैं, उनके साथ वार्तालाप नहीं करना चाहिये यही) उत्तर उचित है अथवा पहले पूर्ववादी के प्रति जो 'यं यं निश्चयमादत्ते संविदन्तरखण्डितम्' इत्यादि उत्तर कहा है, वही उचित है । ऐसी परिस्थिति में चैतन्य से जब तक संवित् का सम्बन्ध नहीं होगा तब तक तो उसका वैसा निश्चय हो सकना संभव नहीं है, अतः उसे भी थोड़ा बहुत चैतन्य का बोध कराकर पूर्व निश्चय उसीका विवर्त है यों व्युत्पत्ति कराकर उसके अनुमान में अखण्ड आनन्दघन उतारा जा सकता है ॥२६॥ हे पुरुषश्रेष्ठ, इस प्रकार के आशावाले जिस पुरुष का आपने प्रतिपादन किया है क्या वह देह से अतिरिक्त चेतन को आत्मा माननेवाला है, या नित्य आतिवाहिक सूक्ष्म देह को आत्मा माननेवाला है या शुद्ध संवित् को आत्मा माननेवाला है या अज्ञान से आवृत संवित् को आत्मा माननेवाला है या संवित् का अपलाप माननेवाला है ? यदि वह चेतनामात्र का

(चिदाभासरूप का) अस्तित्व स्वीकार करता है तो उसे क्रम से आत्मतत्त्व का अनुभव होता ही है, उसके संसार से उद्धार में कोई कठिनाई नहीं है, क्योंकि देहादि आकारवाली उपाधि का विनाश होने से वह परमात्मा के साथ मिल जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है । यदि उसकी विनाशी अन्नमय देह में आत्मबुद्धि हो, तो उसे चारों ओर से विनाश की शंका से दुःख होगा ही । उसको दुःखप्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि इस प्रकार क्रमशः उपदेश देने पर–ज्ञानचर्चा सुनाने पर–वह भी आत्मतत्त्व को प्राप्त हो ही जायेगा ॥२७,२८॥

तीसरे पक्ष में कहते हैं ।

अवयवघटित स्थूल शरीर को आत्मा समझनेवाले ने स्थूल देह के अवश्यम्भावी विनाश का विचार नहीं किया । जो वस्तु सावयव होती है, उसका विनाश तो किसी के रोके रोका नहीं जा सकता है–अवश्यम्भावी है । इससे वह भी स्थूल देह से अतिरिक्त आत्मा को मानता है, यह सिद्ध होता है ॥२९॥

चतुर्थ पक्ष में कहते हैं ।

शुद्धसंवित् को आत्मा माननेवाला जीवन्मुक्त सदा सब जगह लीला से जगत् का दर्शन करता हुआ भी मृत्यु के बाद विदेहमात्र से कैवल्य को प्राप्त होकर फिर संसार को नहीं जानता है– नहीं देखता है । जो संवित् तत्त्वज्ञान से शुद्ध नहीं है, वह संसार की प्राप्ति के बीज का नाश न होने से संसार के बिना नहीं रहती, अवश्य संसार में आती है । उसका भी किसी न किसी जन्म में ज्ञान का उदय होने से संसार से निस्तार हो जाता है ॥३०॥

छठे पक्ष में कहते हैं ।

अथवा यदि 'संवित्ति नहीं है' इस प्रकार का निश्चयवाला (संवित् का अपलाप करनेवाला) हो तो इस प्रकार के ज्ञान से वह चिरकाल तक पत्थर के समान जड़ होता है ॥३१॥

उसने उस अवस्था में क्या अथवा कैसा देखा ? इस पर कहते हैं ।

मरणपर्यन्त दृढीकृत अपने उक्त ज्ञान के अनुसार ही देहपात के बाद विशेष विज्ञान जब नष्ट हो गया तब गाढ़ सुषुप्ति के सदृश मृत्यु को ही (नैयायिकों के मोक्ष के तुल्य) दुःखशून्य होने से उसने परम श्रेय समझा, किन्तु निरतिशय आनन्द के अनुभव से उस मूर्ख ने श्रेय का दर्शन नहीं किया ॥३२॥

जो शून्यवादी हैं, जिनका आत्मा के अभाव में दृढ़ निश्चय है, वे जब मरते हैं तब किस गति को जाते हैं ? इस पर कहते हैं ।

जिनके मत में शुद्ध संवित् के अस्तित्व का संभव नहीं है, वे जब शरीररहित होते हैं यानी मरते हैं तब जड़ को तत्त्व माननेवाले वे जड़ होकर दुर्भेद्य अन्धकार से पूर्ण होते हैं । इस विषय में श्रुति भी कहती है – 'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः । तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के

चात्महनो जनाः ।' (जो अज्ञानी लोग हैं वे लोग मरकर गाढ़ अन्धकार से आच्छन्न असुर्य नामक लोकों में जाते हैं) ॥३३॥

जो विज्ञानवादी लोग क्षणिक विज्ञानमय जगत् स्वप्ननगर के तुल्य है, यह मानते हैं, उनको भी व्यवहारसिद्धि पूर्वोक्त मतवाले के समान है, ऐसा कहते हैं।

क्षणिक और विकार चित् को आत्मा माननेवाले जो विज्ञानवादी लोग सम्पूर्ण जगत् को स्वप्ननगर के समान देखते हैं, उनका यह सारा का सारा जगज्जाल प्रवृत्त ही रहता है, निवृत्त नहीं होता ॥३४॥

जो लोग जगत् को स्थिर मानते हैं और जो लोग क्षणिक मानते हैं, उन दोनों के ही सुख-दुःखभोगपर्यन्त सभी व्यवहार समान है, यह कहते हैं।

स्थिरता और क्षणिकता से जगद्व्यवहार वैचित्र्यबुद्धि में क्या अन्तर होगा ? भूत (पदार्थ) चाहे स्थिर हों चाहे अस्थिर (क्षणिक) हों, सुख और दुःख तो समान ही होंगे ॥३५॥

तत्त्वज्ञानियों का भूमि आदि भूतों की क्षणिकता और स्थिरता में कोई आग्रह नहीं है । अध्यस्त पदार्थ केवल अधिष्ठान ब्रह्म से ही सारवान् है । इसलिए शुक्ति और रजत के मूल्य के विचार की भाँति उसकी स्थिरता और अस्थिरता का विचार व्यर्थ है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

पृथिवी आदि महाभूत स्थिर हों चाहे अस्थिर हों ये केवल चिद्भानरूप ही हैं । जब तक अज्ञान का साम्राज्य है, तभी तक इनकी प्रतीति होती है ॥३६॥

संवित् क्षणिक नहीं है, क्योंकि वह अपने अनस्तित्वरूप नाश और जड़ता को व्याप्त नहीं कर सकती, संवित् की व्याप्ति के बिना उन दोनों की सिद्धि नहीं हो सकती, अतः संवित् के क्षणिकत्व का कथन संभव नहीं है, यह कहते हैं।

जिन्होंने कालतः असत्ता क्षणिकता और देशतः असत्ता जड़ता दोनों का स्पर्श किये बिना ही नष्ट हुई क्षणिकत्वाभिमतसंवित् से संवित् की जड़ता और क्षणिकता का निर्णयपूर्वक स्वीकार किया है, इस प्रकार के मूर्खों से संभाषण तक नहीं करना चाहिये॥३७॥

इसलिए कूटस्थ चित् से विवर्त रूप से चिद् से व्याप्त देहपर्यन्त जड़प्रपंच की उत्पत्ति माननेवाले धन्य हैं, क्योंकि उनके मत में 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' वाचारम्भणन्याय से विकार को असत्य समझने पर चित् ही अवशिष्ट रहता है । अचिद् देह आदि से चित् की उत्पत्ति माननेवाले चार्वाक, नैयायिक आदि मूर्ख है । चित् के विनाश से जड़ का परिशेष न तो पुरुषार्थ है और न पुरुषार्थ का साधन ही है, इस आशय से कहते हैं।

जिनके मत में चित् से शरीरों की उत्पत्ति है, वे पुरुष श्रेष्ठ वन्दनीय हैं । जिनके मत में शरीर से चित् की उत्पत्ति होती है, उन पुरुषाधमों से भाषण करना भी ठीक नहीं है ॥३८॥

जीवसमष्टिरूप एक हिरण्यगर्भ ही नाना जीवों के रूप से ऊपर नीचे लोकों में गमन आदि द्वारा

संसारी बनता है, यह कल्पना भी समुचित है, ऐसा कहते हैं ।

जैसे मटकों में भरी जा रही जलराशि ऊपर, नीचे और तिरछे जाती है वैसे ही चिद्रूप जीवसमष्टि हिरण्यगर्भ ही मच्छरों के समूह की तरह तिरछे, ऊपर और नीचे के लोकों में गमन, आगमन द्वारा संसार को प्राप्त होता है ।।३९।।

हिरण्यगर्भ की जो कर्तृरूप नाना जीवों की समष्टिरूपता है, वह भी हिरण्यगर्भचित् की स्वकल्पना के आग्रहवश ही है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं ।

जो हिरण्यगर्भरूप चिदाभास बीजौघभाव से अपनी समष्टिता की भावना कर उनकी वासना के अनुसार ही सृष्टि के आदि में बहुत प्रकार से भिन्न व्यष्टिरूप कर्ता की अपने अन्तःकरण में भावना करता है, वह उक्त भावना में आसक्त होकर उसी भावना से नाना कर्तृरूप का अन्तःकरण में स्वयं ही अनुभव करता है और जैसा अनुभव करता है वैसे ही संसार को प्राप्त होता है ।।४०।।

इस प्रकार से भी वही सिद्ध हुआ जिसकी हमने पहले प्रतिज्ञा की थी, ऐसा कहते हैं ।

जो जिस पदार्थ की जिस प्रकार भावना करता है, चिद्रूप वह जीव शीघ्र ही उसको प्राप्त होता है, यह बात बालकों से लेकर बड़े-बूढ़ों तक सब पर प्रसिद्ध है ।।४१।।

इसलिए उन जीवचैतन्यों की विचित्र-विचित्र वासनाओं के अनुरूप तत्-तत् सृष्टि के चेतनों की विचित्रता से अनन्त सृष्टिवैचित्र्य है, यह कहते हैं ।

जैसे आकाश में धुएँ की विचित्र भ्रमियाँ (आवर्त) होती है और जैसे महासागर में जलराशि की विचित्र भ्रमियाँ होती हैं वैसे ही सृष्टि के आरम्भ में चिदाकाश में जगत्सृष्टि की विचित्र भ्रमियाँ होती हैं ।।४२।। जैसे स्वप्न में चिदाकाश ही मनुष्य के प्रति नगरी का रूप धारण करता है वैसे ही आदि सृष्टि से लेकर चिदाकाश ही जगत् का रूप धारण कर स्थित है ।।४३।।

सहकारी कारणों के बिना ही सृष्टि के आदि में केवल प्रतिभामात्र से सिद्ध होने के कारण भी जगत् की स्वप्न समता ही है, ऐसा कहते हैं ।

जैसे स्वप्न में स्वप्ननगर आदि की उत्पत्ति के लिए सहकारी कारण नहीं है वैसे ही सृष्टि के आरम्भ में जगत्स्थिति के सहकारी कारण पृथिवी आदि महाभूत नहीं हैं ।।४४।। स्वप्ननगर में नगर के अवयवरूप महल, घर आदि के उत्तरोत्तर भूमिका-भेद जो अर्धविकासवश अपूर्ण किये गये थे, वे ही जगत्रूप स्वप्ननगर में पूर्ण विकास द्वारा पुष्टता को प्राप्त हुए हैं ।।४५।। द्वैत और ऐक्य से विहीन ये सकल प्रजाजन चिदाकाशरूप ही हैं । चिदाकाश में दूसरी रंजना (राग-द्वैतलेश) क्या हो सकता है। जो यहाँपर द्वैत-सा मालूम पड़ता है वह सब चिदाकाश ही है ।।४६।। त्रिविध ताप की शान्ति करने के कारण शीतल, आह्लादजनक चित्रूप चाँदनी चारों ओर चेतनारूपी प्रकाश (पदार्थप्रतीतिरूपी प्रकाश) बिखेर रही है । उक्त चेतनारूपी प्रकाश का ही पदार्थरूप से स्फुरण यह जगत् है ।।४७।। सृष्टि के पूर्व और सृष्टि के बाद (प्रलय

में) सृष्टिरहित स्वभाववाले चिन्मय आकाश में केवल आज ही (वर्तमान क्षण में ही) सृष्टि का दर्शन प्रसिद्ध है । और वह आकाशरूप ब्रह्म ही है । वह आत्मचित् के परिच्छिन्नरूप से उन्मेष होने पर पलक भर में स्वप्न के तुल्य उदित होता है और आत्मचित् के अपरिच्छिन्नरूप से निमेष होने पर अपने आप स्वप्न की भाँति अस्त हो जाता है ॥४८॥

चिति यदि अपनी सत्ता के बल से सत् बना कर जगत् को देखती है तब तो कुछ भी असत् नहीं कहा जा सकता है, ऐसा कहते हैं ।

श्रुतिप्रसिद्ध सत् वस्तु (चिति) अतः जिस-जिस वस्तु को सृष्टि के आदि में जैसा-जैसा जानती है, उसका आज भी वैसा ही अनुभव करती है, इसलिये सारा का सारा जगत् चित्मात्र उसमें नहीं है क्या ? जो कि वह असत्य होगा ? ॥४९॥ शरत् ऋतु के समान निर्मल ज्ञानवाले शान्तचित्त तथा परम तत्त्व का साक्षात्कार कर चुके पुरुष चित् से पृथक्रूप से असत् ही हैं और चिद्रूप से तो सत् ही हैं ॥५०॥

उनकी उस प्रकार की स्थिति की लक्षण द्वारा पहचान कराते हैं ।

मान और मोह से विहीन, संगरूपी दोषपर विजय पा चुके (स्त्री, पुत्र आदि की आसक्ति से रहित), लोकप्रवाहवश आत्मकर्तव्य करनेवाले और दोषलेशरहित महापुरुष यन्त्रमय (पुरुषप्रतिमा) के समान हैं, वे औरों की कार्यव्यवहारदृष्टि में स्थित होते हैं ॥५१॥

सौवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ एकवाँ सर्ग

सर्वत्र सदा निर्मल संवित्रूपी एक आत्मा का साक्षात्कार कर रहे पुरुष की,
भय के हेतुओं की प्राप्ति न होने से, निर्भयस्थिति का वर्णन।

केवल चिन्मात्र ही तत्त्व है, ऐसा ज्ञान हो जाने पर सभी वादियों की अभय पद में जिस तरह प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाय, वैसा वर्णन करने के लिए भूमिका रचते हैं ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, चिन्मात्र ही पुरुष है । वही नाना वादियों द्वारा परिकल्पित स्थायी तथा क्षणिक आदिरूप से एवं जन्म, मरण, भय, शोक आदि के रूपसे अवस्थित है ॥१॥

उसीका उपपादन करते हुए उसका फल कहते हैं ।

और वह चिन्मात्र निर्मल आकाश ही है । द्रष्टा और दृश्य, ये दोनों उसके विवर्तभूत हैं। चिन्मात्र ही जब यह जगत् है, तब हे श्रीरामचन्द्रजी इसमें हेय और उपादेय बुद्धि कहाँ से हो सकती है ? ॥२॥

हेय और उपादेय के अभाव में राग और द्वेष की प्रसिद्धि नहीं होती-यह विज्ञानैकस्कन्धवादी

बौद्ध को भी सम्मत है, किन्तु क्षणिक विज्ञान असार है, इसलिए उसका मत उपेक्षणीय है, यह कहते हैं ।

बृहस्पति द्वारा (✎) प्रणीत बुद्धशास्त्र के अनुगामी जिस क्षणिकवादी बौद्ध के मत से क्षणिक विज्ञान से अतिरिक्त जगत् नहीं है, उसके मत में भी विषयों का सर्वथा अभाव होने के कारण ही राग–द्वेष कहाँ से हो सकते हैं, उनकी प्राप्ति ही नहीं है । किन्तु संवित् से अन्य उसके मत में नित्य पुरुषार्थरूप सार ही क्या है कि जिसकी संभावना से वह उस संवित् की नित्यता स्वीकार नहीं करता (🔔) ॥३॥

कूटस्थ संवित् का ही विवर्तरूप स्वप्न जगत् है, इस हमारे सिद्धान्त में तो राग–द्वेष की किसी तरह प्राप्ति ही नहीं, यह कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, हम वेदान्तियों के मत में तो यह जगत् नामका स्वप्न संविदाकाशमय ही है, इसमें इष्ट और अनिष्ट की दृष्टियाँ (यह इष्ट है, यह अनिष्ट है इस प्रकार की प्रतीतियाँ) तथा तन्मूलक राग और द्वेष किस आकार के होंगे, यह कहिये ॥४॥

अथवा यह हेय है और यह उपादेय है यों विकल्पाध्यास भले ही रहे, तो भी संविदाकाश में कोई अन्तर नहीं है, इस आशय से कहते हैं ।

यह हेय है अथवा यह उपादेय है, यह विकल्पाध्यास भी निर्मल संविदाकाशरूप ही है । उक्त निर्मल संविदाकाश भी निर्मल आत्मा में (संविदाकाश में) ही अवभासित हो रहा है, अतः यहाँ पर इष्ट या यह अनिष्ट है यों दो तरह की दृष्टि कैसी ? ॥५॥

संसार के सभी पदार्थ एकमात्र अविनाशी संविद्रूप ही हैं, इसलिए उनके जन्म, मरण आदि की भी संभावना नहीं हो सकती, यह कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, नर, अमर (देव), नाग, स्थावर, तथा जंगम–ये सबके सब संविद्रूप ही हैं। भाव, अभाव (📖) आदि भी इसी संविद्रूप सागर की तरंग, भ्रमि आदि वृत्तियाँ हैं ॥६॥ मैं संविदाकाशरूप ही हूँ, आप भी संविदाकाशरूप ही हैं तथा हम दोनों के अतिरिक्त ये जितने जीव हैं, हे श्रीरामचन्द्रजी, वे भी सब संविदाकाशरूप ही हैं । हम लोग कभी मरते नहीं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है । बतलाइये तो सही संवित् क्या आजतक कभी मरी है ? ॥७॥

सभी संविद्रूप हैं जब यह एक निश्चित सिद्धांत है तो संवित् से भिन्न संवेद्य बचता ही क्या

(✎) बृहस्पति ने रजिपुत्रों तथा असुरों को विमोहित करने के लिए बुद्धशास्त्र की रचना की थी, यह मत्स्यपुराण आदि में प्रसिद्ध है ।

(🔔) विज्ञान से अतिरिक्त जगत् नहीं है, यह तो वह भी मानता है, लेकिन विज्ञान को वह नित्य नहीं मानता, क्षणिक मानता है, सिर्फ इसी एक उसके क्षणिक अंश में हमें वाद है ।

(📖) जन्म, मरण आदि ।

है ? अपने में ही स्वसंवेद्यता की कल्पना तो अपने कंधेपर अपने को चढ़ाने की कल्पना के जैसी ही है, यह कहते हैं।

हे विशालनयन श्रीरामचन्द्रजी, संवित् का कोई संवेद्य नहीं है । यदि स्वयं ही यह संवित् संवेद्यता को प्राप्त हो तो चिद्रूप इससे अन्य संवेद्यतालक्षण क्रिया–कर्म भेदरूप द्वित्व अथवा उससे व्यावृत्त एकत्व–ये दोनों कहाँ रहे ? ॥८॥ कहिये, उस संवित् के अतिरिक्त नित्य सद्वस्तु क्या है ? और आप यह भी कहिये कि यदि वह मरती है, तो फिर आज ये हम लोग जी कैसे रहे हैं ? ॥९॥

इन सब बातों का निचोड़ यह निकला कि संविदाकाश ही सभी वादियों के अपने–अपने अभिमत पदार्थों के आकार से सर्वत्र प्रतीत होता है । उसके बिना अन्य कोई गति नहीं है, इस आशय से कहते हैं ।

हे श्रीरामजी, सौगत आदि जो वादी हैं तथा लोकायतिक (चार्वाक) आदि जो वादी हैं, वे सबके सब संविदाकाश के सिवाय जो पदार्थ मानते हैं, कहिये वह क्या है ? ॥१०॥

ब्रह्मवादी को आगे कर, उसका सर्वप्रथम नाम लेकर उक्त अर्थ का विस्तार से वर्णन करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस संविदाकाश को ही कोई ब्रह्म कहते हैं, कोई विज्ञान कहते हैं कोई शून्य कहते हैं ॥११॥ कोई (१) मदिरा मद के तुल्य (卐) (देहाकार में परिणत भूतधर्मभूत), कोई (२) पुरुष, कोई (३) चिदाकाश तथा कोई (४) शिव एवं आत्मा कहते हैं ॥१२॥

इस तरह अनेक वादियों द्वारा अनेक प्रकार की कल्पना करने पर भी चिति के स्वरूप के विषय में किसी तरह क्षति नहीं होती, क्योंकि यह चिति समस्त विकल्पों की साक्षी होने से स्वयं निर्विकल्पस्वरूप है, यह कहते हैं।

इस तरह इसके स्वरूप के विषय में अनेक तरह की कल्पना होने पर भी यह चिन्मात्र स्वरूप वाली चिति शक्ति कहीं अन्यरूपता को प्राप्त नहीं होती, क्योंकि इस तरह अनेक प्रकार से विकल्पित यह अपने आत्मा को स्वयं तद्रूप ही जानती है, अन्यरूप नहीं ॥१३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरे सारे अंग चूर्ण–चूर्ण हो जाय, या सुमेरु पर्वत के सदृश विशाल हो जाय, इससे चिन्मात्र शरीरवाले मेरी क्या क्षति हुई और क्या वृद्धि हुई ? ॥१४॥ हम लोगों के पितामह आदि के शरीर मर गये, किन्तु उनकी चिति तो नहीं मरी। यदि वह भी मर जाती, तो फिर मृत आत्मावाले उनका पुनर्जन्म ही न होता और तुल्यन्याय से हम लोगों का भी पुनर्जन्म न हुआ होता ॥१५॥

(卐) जैसे अन्नादि विविध वस्तुओं का संमिश्रण ही मदरूप में परिणत हो जाता है वैसे ही देहाकार में परिणत पृथिवी आदि महाभूतों का धर्म ही चेतन है, उससे अतिरिक्त नहीं है, यह चार्वाक का मत है। (१) देहात्मवादी चार्वाक (२) सांख्य (३) योगी (४) शैव लोग इसे शिव, ईश्वर, आत्मा, अणु और जीव कहते हैं ।

यह संविदाकाश अक्षय है । न तो यह कभी जन्म लेता है और न कभी मरता ही है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है । हे श्रीरामचन्द्रजी, इस आकाश का नाश क्या होगा अथवा कैसे होगा, यह कहिये ॥१६॥ इस तरह संविद् के नाश का संभव न होने से जगद्रूप स्फुरणवाला उदय और अस्त से रहित अविनाशी चिदाकाश अपनी आत्मा में ही स्थित है ॥१७॥ चिदाकाशरूपी स्फटिक–पर्वत अपने अन्दर स्वयं जगत्प्रकाश को धारण करता हुआ स्वतत्त्वसाक्षात्काररूपी अग्नि से उसका दाह करके स्वच्छ आत्मस्वरूप में अवस्थित रहता है। यह आदि, अन्त तथा मध्य से शून्य है (♨) ॥१८॥

ज्यों–ज्यों ज्ञान प्रबल होता जाता है त्यों–त्यों अज्ञानजनित यह जगत् भी नष्ट होता जाता है, इसमें दृष्टान्त देते हैं।

जैसे अन्धकार द्वारा रात में बनाया गया कुछ एक तरह का मेघसंघात जगत का आवरण, जो रात खुलते समय दिखाई देता है, क्रमशः बिलकुल नष्ट हो जाता है यानी ज्यों ज्यों सूर्य का प्रकाश बढ़ता जाता है त्यों त्यों नष्ट होता हुआ वह कुछ देर के बाद पूर्णरूप से नष्ट हो जाता है, वैसे ही हे श्रीरामचन्द्रजी, अज्ञानरूपी अन्धकार द्वारा संपादित यह विश्व भी ज्यों–ज्यों ज्ञान बढ़ता जाता है त्यों–त्यों नष्ट होता हुआ ज्ञान का प्राबल्य होने पर अन्त में बिलकुल नष्ट होकर स्वरूप में प्राप्त हो जाता है ॥१९॥ जैसे सागर स्वयं ही अपने स्वरूपभूत जलप्रवाह, तरंग आदि में आवर्त, फेन, बुद्बुद आदि रूप अंग धारण करता रहता है वैसे ही चिदाकाश भी अपने स्वरूपमें ही जगद्रूपी अंग धारण करता हुआ स्थित है ॥२०॥ चिन्मात्र ही पुरुष है, वह आकाशवत् नित्य है, कभी भी नष्ट नहीं होता, इसलिए मैं नष्ट होता हूँ इस तरह जो शोक करना है, वह सर्वथा व्यर्थ है ॥२१॥

जीर्ण शरीर के त्याग से अत्यन्त नूतन शरीर की प्राप्ति में निमित्तभूत मृत्यु के उपस्थित होने पर हर्ष मनाना ही उचित है, शोक करना उचित नहीं है, यह कहते हैं।

जीर्ण शरीरत्याग से अन्य नूतन शरीर की प्राप्ति होने पर तो एक महान् नवीन उत्सव ही मनाना चाहिये। अरे मूढ़ पुरुषों, हर्षरूप मरण के उपस्थित होने पर तुम लोग विषाद क्यों करते हो ? ॥२२॥

पुनर्जन्म कदापि नहीं होता, यदि यही मत तुम्हारे हृदय में बैठा हुआ है, तो भी तुम्हें विषाद करना उचित नहीं है, क्योंकि एकमात्र मृत्यु से ही सर्वविध अनर्थों का निवारण हो जाता है, यह कहते हैं।

मृत प्राणी पुनः उत्पन्न नहीं होता, यदि यही तुम्हारा निश्चित मत है, तो इसमें भी वह महान् पुरुषार्थउत्कर्ष ही है, क्योंकि उत्पत्ति और नाश तथा ग्रहण और त्याग, इत्यादि सभी ज्वर एकमात्र

(♨) जैसे स्वच्छ स्फटिक–पर्वत अपने भीतर प्रविष्ट प्रतिबिम्बवन को पहले धारण करता हुआ कदाचित् प्रतिबिम्ब अग्निभाव को प्राप्त हुए अपने ही द्वारा उस वन को जलाकर स्वरूपमात्र में अवस्थित रहता है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये, यह आशय है ।

उस मरण से ही शान्ति को प्राप्त हो गये ॥२३॥

इस प्रकार जब जन्म और मरण के रहते भी दुःख की प्राप्ति नहीं है, तो फिर इनकी अभावदशा में भला दुःख की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? इस आशय से उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, चूँकि जन्म नहीं है और मरण नहीं है, अतः सुख नहीं है, और दुःख भी नहीं है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है, किन्तु एकमात्र चिदाकाश ही इन सबके रूपसे स्फुरित हो रहा है ॥२४॥

मृत प्राणी को पुनः देह का लाभ होता है या नहीं, यह सन्देह बना रहने से मृत्यु से भय माननेवाले के प्रति पूर्वोक्त अर्थ को ही पुनः उक्तिवैचित्र्य से कहते हैं ।

यदि मृत प्राणी को पुनः देह का लाभ होता है, तो यह नूतन महोत्सव ही हुआ, क्योंकि बुढ़ापा तथा नानाविध रोगों से ग्रस्त कारागृह के सदृश पूर्व शरीर का नाश ही तो मृत्यु है और वह मृत्यु परम सुखमय है ॥२५॥

मृत्यु के बाद कुकर्मियों को नरक आदि के श्रवण से यदि भय होता है, तो फिर जीवित प्राणियों को भी, जो चोरी आदि कुत्सित कर्म करनेवाले हैं, राजदण्ड का भय बना रहता है तथा 'अत्युत्कट पाप कर्मों का फल प्राणी को इसी लोक में जीते जी भोगना पड़ता है,' यों पाप कर्मों के फलश्रवण से यहाँ भी उन्हें भय होता ही है ॥२६॥

इसलिए समान भय होने से आप कुकुर्म ही न करें, यह कहते हैं ।

कुकर्मों से जो भय है, वह तो इस लोक में तथा परलोक में भी समान ही है, इसलिए दोनों लोकों की उत्तम फल-प्राप्ति के लिए कुकुर्म ही नहीं करने चाहिये ॥२७॥ मैं मर जाऊँगा, मर जाऊँगा, मर जाऊँगा, यही बराबर कहा करते हैं, मरने के बाद भी मैं चिद्रूप से सदा स्थित रहूँगा, रहूँगा, रहूँगा, ऐसा विचार नहीं करते ॥२८॥

परमार्थ दृष्टि से तो जन्म और मरण की प्राप्ति नहीं है, यह कहते हैं।

विचार कर देखिये न, वस्तुतः जन्म और मरण कहाँ है ? उत्पत्ति और विनाश की भूमियाँ कहाँ हैं ? यह सब सर्वात्मक चिदाकाश ही चिदाकाश में विवर्तभाव को प्राप्त हो रहा है ॥२९॥

ज्ञानपरिपूर्ण महात्माओं का इच्छाशून्य व्यवहार होने से उन्हें कदापि दुःख प्राप्त नहीं होता, यह कहते हैं।

आप एकमात्र संविदाकाशरूप ही हैं, इसलिए ममता छोड़कर आप खूब खाइये, पीजिये। आप सांसारिक सब व्यवहार करते चलिये । आप तो आकाशकोश के सदृश निर्मल हैं । भला आपमें इच्छा का उदय कहाँ से हो सकता है ? ॥३०॥ अपने प्रवाह-बल से प्राप्त प्रयत्न से तथा देश और काल के वश से प्राप्त हुए शब्दादि विषयों, का और उनमें भी जो पावन से भी अत्यन्त पावन है, उनका यानी जो मन को मलिन बनाने तथा उसके विक्षेप में हेतु नहीं हैं उनका भव्यात्मा पुरुष

निर्भय होकर उपभोग करता है ॥३१॥

बीच-बीच में यानी देश में जब किसी तरह का उपद्रव आकर खड़ा हो जाता है या दुर्भिक्ष पड़ जाता है तब भी ज्ञानी पुरुष को दुःख नहीं प्राप्त होता, क्योंकि उस समय वह कहीं एकान्त पर्वत की गुफा में समाधिसुख का अनुभव करके उस दुःखग्रस्त काल की अवहेलना कर देता है, यह कहते हैं।

बीच-बीच में आ टपके देशकाल के वश उदित हुए नानाप्रकार के दोषों का अनादर करके उनकी अवहेलना करता हुआ कहीं एकान्त पर्वत की गुफा में निर्विकल्प समाधि में सुप्तबुद्धि पुरुष स्थित रहता है ॥३२॥ निर्विकल्प समाधि में निमग्नबुद्धि पुरुष न तो मृत्यु से दुःख को प्राप्त होता है और न जीवन से सुख को ही प्राप्त होता है । वह किसी वस्तु की अभिलाषा नहीं करता और न किसी से द्वेष ही करता है । वह वासनाशून्य होकर समाधि में स्थित रहता है ॥३३॥

इस सर्ग में कही गई बातों का संक्षिप्तरूप से उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जीवन-मरण तथा जन्म को जीर्ण तृण समझता हुआ इच्छाशून्य तथा वासना से रहित जीवन्मुक्त पुरुष विदितवेद्य होने पर भी अतिमूढ की तरह भयशून्य हो इस संसार में ऐसे निवास करता है, जैसे अचल ॥३४॥

एक सौ एकवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ दोवाँ सर्ग

तत्त्वज्ञानी की लक्षणावलिका, जिसके दृढ़ अभ्यास से बोध दृढ़ हो जाय, पुनः वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, आदि और अन्त से शून्य परम तत्त्व ब्रह्म वस्तु का भलीभाँति ज्ञान हो जाने पर उत्तम पुरुष किन-किन लक्षणों से विशिष्ट (युक्त) हो जाता है, यह कृपा कर कहिये ॥१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञेय वस्तु का जिसे भलीभाँति परिज्ञान हो चुका है ऐसा जीवन्मुक्त नरोत्तम कैसा होता है और जीवन-पर्यन्त वह किस तरह के स्वभाव से तथा किस आचार से युक्त होकर अवस्थित रहता है, यह (मैं आपसे कहता हूँ) आप सुनिये ॥२॥

उन लक्षणों में स्वभावभूत आभ्यन्तर लक्षणों को पहले कहने के लिये उपक्रम करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जंगल के बीच में रहते हुए भी उस जीवन्मुक्त पुरुषश्रेष्ठ के पत्थर भी मित्र, वन के वृक्ष भी बन्धु तथा मृगों के बच्चे ही स्वजन बन जाते हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि मित्र तथा पत्थर आदि में संयोग तथा वियोग होने पर भी उसकी स्थिति एक-सी बनी रहती है-मित्र आदि के संयोग और वियोग में उसे हर्ष और दुःख नहीं होता ॥३॥ महान् राज्य में स्थित रहने पर भी उस पुरुष के लिए मनुष्यों से ठसाठस भरा स्थान भी बिल्कुल शून्य है, उस महात्मा के लिए आपत्तियाँ भी (धन तथा बन्धु आदि का नाश भी) सम्पत्तिरूप हैं । वध,

बन्धन तथा परवशता आदि नाना प्रकार के दुःख ही उसके लिए महान् उत्सव के तुल्य रहते हैं यानी उन दुःखों को वह जीवन्मुक्त महात्मा महान् उत्सव के समान मानता है ॥४॥ उसके लिए असमाधि भी समाधि है, दुःख को ही वह महान् सुख समझता है, उसका वाचिक व्यवहार होनेपर भी वह मौन है । यद्यपि उसके सभी कर्म होते ही हैं, फिर भी उसके वे सब कर्म अकर्म ही है ॥५॥ वह जाग्रदवस्था में स्थित रहने पर भी सुषुप्त सदृश निर्विकल्पात्मा में स्थित रहता है । जीवित रहता हुआ भी अशरीरात्मभाव में स्थित होने से मृत प्राणी के तुल्य है । समस्त आचार भी वह करता है, फिर भी अकर्ता आत्मा में प्रतिष्ठित होने से कुछ नहीं करता ॥६॥ उसकी विषयसुखों में एकमात्र आत्मसुख की दृष्टि रहती है, इसलिए वह रसिक है, किन्तु विषयदृष्टि से तो वह अत्यन्त विरक्त है । चूँकि किसी व्यक्तिविशेष में वह स्वीयताबुद्धि नहीं रखता, इसलिए उसमें करुणा तो है ही नहीं, किन्तु स्वात्मता बुद्धि से निरुपाधि प्रेम होने के कारण वह बन्धुओं में वत्सल है । दयाविषय द्वितीय वस्तु को वह नहीं देखता, इसलिए दयाशून्य है, लेकिन अपने शरीर की उपमा द्वारा वह दूसरे के शरीर में भी सुख-दुःख का अवलोकन करने से अत्यन्त करुणा से युक्त है । इसी तरह परिपूर्ण होने से वह तृष्णा से शून्य है, किन्तु अज्ञजनों का उद्धार करना उसका स्वभाव है, अतः उनके हित की तृष्णा से अन्वित है ॥७॥

'किमाचारोऽवतिष्ठते' इससे पूछे गये बाह्य लक्षणों का वर्णन करते हैं ।

सर्वाभिनन्दित आचारों से युक्त होने पर भी वह समस्त आचारों से बहिष्कृत है । शोक, भय तथा आयास से रहित होने पर भी वह अज्ञ जनों का दुःख देखकर उनके लिए शोक करता है, अतः शोकयुक्त-सा दीखता है ॥८॥ न तो उस जीवन्मुक्त प्राणी से संसार भयभीत होता है और न वही संसार से भयभीत होता है । अन्य जनकी दृष्टि में संसार में रसिक (अनुरक्त) होकर भी वह संसार से परम उद्विग्न यानी वैराग्य को प्राप्त हुआ रहता है ॥९॥ वह जीवन्मुक्त पुरुष सम्प्राप्त हुई वस्तु का न तो अभिनन्दन करता है, और न अप्राप्त की अभिलाषा करता है तथा हर्ष और विषाद में कारणभूत पदार्थ के अनुभूत होने पर भी वह सज्जन हर्ष तथा विषाद नहीं करता ॥१०॥ किसी दुःखी प्राणी को देख लेने पर उसके साथ बैठकर उससे दुःखित कथा तथा किसी सुखसम्पन्न पुरुष के मिल जाने पर उससे सुख की कथा कहता जाता वह विवेकी महात्मा हृदय से सम्पूर्ण अवस्थाओं में सुख एवं दुःख से अभिभूत न हो सदा एक-सा स्थित रहता है ॥११॥ सुकृत कर्म से अन्य उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता है । हे श्रीरामचन्द्रजी, अशास्त्रीय चेष्टा से जो शून्य होना है वह उन महात्माओं का स्वभाव ही है, अर्थात् महात्मा का यह स्वभाव ही है कि वे लोग शास्त्रवर्जित चेष्टा कभी नहीं करते ॥१२॥ वह जीवन्मुक्त महात्मा न तो किसी में आसक्ति का अवलम्बन करता है और न कहीं विरक्ति का ही अवलम्बन करता है । वह धनों के लिए अर्थी यानी याचक होकर इधर-उधर नहीं भटकता फिरता । वह वीतराग होकर भी रागयुक्त-सा मालूम पड़ता है ॥१३॥ शास्त्रानुकूल

व्यवहार से क्रमशः प्राप्त हुए सुख–दुःखों से संस्पृष्ट न होने पर भी उनका स्पर्श–सा करता है तथा उनसे वह हर्ष या विषाद को कभी प्राप्त नहीं होता है ॥१४॥

सुख और दुःख से वह एक तरह से स्पृष्ट–सा होता है, यह जो ऊपर कहा है, उसका हेतु के प्रदर्शन द्वारा विवरण करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, वे महात्मा लोग सुख–दुःख के कारणों से प्रसन्नचित्त तथा दुःखित अवश्य भासते हैं, परन्तु अपने निरतिशयआनन्दप्रतिष्ठा से उत्पन्न धैर्यपूर्ण स्वभाव का वे कभी परित्याग नहीं करते, क्योंकि वे लोग संसार रूपी नाट्यशाला के नट हैं ॥१५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, तत्त्वदर्शी महात्माओं को मिथ्याभूत पुत्र आदि अलीक पदार्थसमूहों से ऐसे ही स्नेह नहीं होता, जैसे कि जल के बुद्बुदों में ॥१६॥ स्नेहरहित होने पर भी तत्त्वज्ञानी पुरुष सुघन स्नेह से आर्द्र हृदयवाले के समान यथायोग्य अपनी वत्सलता दर्शाता हुआ स्थित रहता है ॥१७॥

परन्तु अज्ञानी लोग तत्त्वज्ञानियों की तरह अनासक्तिपूर्वक विषयों का भोग करना नहीं जानते, यह कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी, लेकिन अज्ञानी लोग तो देहात्मसत्तारूपी विष से मूर्छित से होकर कामादि–सन्ताप की शान्ति के लिए अत्यधिक आसक्ति के कारण विषयों के उदर में लीन होते हैं तथा विषयों के उदर में लीन होते हुए भी वे उन विषयों का कुछ थोड़ा सा ऐसे ही स्पर्श कर पाते हैं, जैसे कि प्रतप्त वैतरणी नदी के प्रवाह में पड़े नारकीय पुरुष ऊपर भाग से कुछ थोड़ा–सा व्यर्थ वायुओं का स्पर्श कर पाते हैं। *(तत्त्वतः विषय का अनुभव करके वे विश्रान्ति को नहीं प्राप्त कर सकते, यह अभिप्राय है)* ॥१८॥ तत्त्वज्ञानी पुरुष बाहर से समस्त शिष्टों के आचारों को करता हुआ भी भीतर समस्त अर्थों से शीतल बना रहता है। वह सदा भीतर सबसे अनाविष्ट पृथक् होकर भी आविष्ट–सा स्थित रहता है ॥१९॥

उक्त लक्षणों से तत्त्वज्ञानी का परिचय होना बड़ा कठिन है। क्योंकि मूर्ख, दाम्भिक, वंचक, तपस्वी में भी बलात् सम्पादित हुए इन लक्षणों का दर्शन हो सकता है, यों श्रीरामचन्द्रजी आशंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिनायक, तत्त्वज्ञानी का ऐसा स्वरूप सत्य है या असत्य इसको कौन जान सकता है ? यह कहिये, क्योंकि आपके द्वारा कहे गये लक्षणों से युक्त दाम्भिक अज्ञानी पुरुष भी इस लोक में देख पड़ता है ॥२०॥ हे मुने, अश्व की तरह ब्रह्मचर्यव्रत का परिपालन करते हुए कलुषित चित्तवाले अज्ञानी दाम्भिक पुरुष भी ज्ञानी महानुभावों की नकलकर झूठमूठ में अपनी दृढ़ तपस्विता दिखलाने के लिए यानी मिथ्या परिकल्पित अपनी तपस्या की दृढ़ प्रख्याति करने के लिए अर्थात् मुझे संसार बहुत बड़ा तपस्वी समझे, इस आशय से ऐसे होते हैं ॥२१॥

अपने को तपस्वी बतलाने के लिए दृढ़ किए गये इन लक्षणों का फल शुभ ही होता है, इसलिए उन लक्षणों से युक्त पुरुषों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि वैसे पुरुषों का अनुसरण करने

पर स्वभावसिद्ध लक्षणसम्पन्न तत्त्वज्ञानी भी अचानक कहीं लब्ध हो जाता है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, चाहे असत्य हो चाहे सत्य, किन्तु ऐसा स्वरूप हर हालत में अच्छा ही है यानी दुर्लभ होने से उक्त लक्षणों से सम्पन्न स्वरूप श्रेष्ठ ही है । कहने का तात्पर्य यह है कि उन लक्षणों से सम्पन्न पुरुष की उपेक्षा अनुचित है, चाहे भले ही वह दाम्भिक क्यों न हो ? और जो वेदार्थतत्त्ववित् पुरुष हैं, उनमें तो ये लक्षण स्वभावअनुभव बल से ही प्रतिष्ठित होते हैं। हठात् सम्पादित नहीं होते ॥२२॥ वीतराग तथा क्रिया के फलों में आसक्तिशून्य भी वे जीवन्मुक्त पुरुष रागी के समान चेष्टा करते हैं, अत्यन्त दयामय वे हास रहित होते हुए भी हास से युक्त होकर अज्ञानियों के ऊपर हँसते हैं ॥२३॥ वे लोग समस्त दृश्य को चित्तरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित कपट भूमि के तुल्य ऐसे ही असत् देखते हैं जैसे कि स्वप्न में परिज्ञात हस्तगत सुवर्ण को असद्रूप देखते हैं ॥२४॥ जैसे चन्दन की लकड़ी की सुगन्ध को कृमि, कीट आदि जन्तु दूर से नहीं जान पाते, वैसे ही इनकी उस अन्तःकरण की शीतलता को कोई नहीं जान पाते ॥२५॥

यद्यपि तत्त्वज्ञानी के स्वरूप को अज्ञानी नहीं जान सकते तथापि तत्त्वज्ञानी तो अवश्य ही जानते हैं, यह कहते हैं।

जो विज्ञेय पदार्थ का भली-भाँति ज्ञान कर चुके हों और उन्हीं के समान पवित्र अन्तःकरणवाले ज्ञानी महानुभाव हैं, वे तो अपने अन्तःकरण में उन्हें ठीक उसी तरह से ऐसे जानते हैं, जैसे कि साँपों के पैरों को साँप जानते हैं ॥२६॥

दाम्भिक लोग सर्वत्र अपने में तत्त्वज्ञ के लक्षणों का प्रचार करते फिरते हैं, परन्तु जो सचमुच तत्त्वज्ञानी हैं, वे लोग अपने स्वरूप को छिपाये फिरते हैं, उन्हें इसकी चाह नहीं होती कि हमें सब लोग ज्ञानी समझें। हे श्रीरामजी, इसी विशेषता से वे पहिचाने जा सकते हैं, इस आशय से कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, वे सर्वोत्तम ज्ञानी महानुभाव अपने उस उत्तम भावको छिपाये-फिरते हैं, क्योंकि गाँवों तथा नगर आदि के धनों से जो खरीदी नहीं जा सकती, ऐसी चिन्तामणि को भला बाजार में बेचने के लिए कौन फैलायेगा ? ॥२७॥

जैसे बेचने के लिए बाजार में फैलाई गई चिन्तामणि को कोई भी नहीं कह सकता कि यह असली चिन्तामणि है वैसे ही जबर्दस्ती अपने गुण का प्रचार करने करानेवालों को सभी लोग जान जाते हैं कि यह दाम्भिक है -संसार को धोखा देता है । वस्तुतः यह तत्त्वज्ञानी नहीं है, इस आशय से कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उन तत्त्वज्ञानी महानुभावों का अपने गुणों को छिपा रखने में ही तात्पर्य रहता है । दूसरों द्वारा अपनी सर्वत्र ख्याति कराने में नहीं, क्योंकि वे लोग वासना से शून्य,

द्वैतरहित एवं अभिमान से रहित होते हैं इसमें सन्देह नहीं है ॥२८॥ हे श्रीराचन्द्रजी, उन महात्माओं को एकान्त सेवन, सत्कार एवं पूजन आदि का अभाव, दरिद्रता तथा मनुष्यों द्वारा अपमान – ये सब जैसे सुखी बनाते हैं वैसे बड़ी–बड़ी ऋद्धि–सिद्धियाँ सुखी नहीं बनातीं, क्योंकि सम्मान तथा धन आदि की समृद्धि होने पर जनसमाज के द्वारा प्राप्त हजारों प्रतिष्ठा आदि से तत्त्वज्ञानी के आत्मसुखानुभव में विच्छेद पड़ने लगता है ॥२९॥ विदितवेद्यता का (तत्त्वज्ञता का) जो सार (निरतिशय आनन्दरूप सार) है, वह एकमात्र स्वानुभव से ही ज्ञेय है । वह किसी दूसरे को दिखलाया नहीं जा सकता, क्योंकि उस आदमी को भी वह नहीं दिखाई देता जो उसके स्वरूप को जानता है, किन्तु स्वप्रकाशरूप से वह अनुभूत होता है ॥३०॥ मेरे इस गुण को संसार जाने और मेरी पूजा करे, यह अभिलाषा अहंकारियों को होती है, जीवन्मुक्त विवेकियों को नहीं होती ॥३१॥ हे राघव, इस संसार में आकाशगमन आदि जो क्रियाफल हैं, वे सब मंत्र, औषधि के वश से अज्ञानियों को भी अक्सर प्राप्त हो जाते हैं ॥३२॥ जो जैसा क्लेश सहन करने में समर्थ है, वैसा ही वह अवश्य फल प्राप्त करता है, चाहे वह प्रबुद्ध हो या अज्ञानी हो ॥३३॥ चन्दन के आमोद की तरह विहित और निषिद्ध कर्मों का फल सभी जन्तुओं के अपने हृदय में ही अपूर्वरूप से विद्यमान है । समय पाकर आविर्भूत हुए उसे अवश्य तद्वान् जन्तु प्राप्त करता है ॥३४॥ सिद्धिरूप दृश्य वस्तुओं में 'मैं भोक्ता होऊँ' इस प्रकार अहन्ता वासनादिरूप परिच्छिन्न आत्मकल्पना जिसके भीतर विद्यमान है, वह आकाशगमन आदि क्रिया फल को सिद्ध कर लेता है ॥३५॥ जो ज्ञानी यह सब आकाशगमन आदि सिद्धिसमूह तुच्छ है और मनोभ्रममात्र है अथवा अधिष्ठान चिदाकाशमात्र है यह जानता है, वह वासनाशून्य तत्त्वज्ञ पुरुष कर्मरूपी आँधी से भ्रमणप्राय आकाशगमन आदि सिद्धिफलवाली मन्त्र–औषधि आदि क्रियाओं की क्यों सिद्धि करने जायेगा ॥३६॥ तत्त्वज्ञानी का इस संसार में न तो कर्म से ही कोई प्रयोजन है और न कर्म के अभाव से कोई प्रत्यवायप्राप्ति रूप अनर्थ है तथा ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त सम्पूर्ण भूतों में इस विवेकी का, किसी आत्मप्रयोजन की अपेक्षा करके, आश्रय लेने योग्य कोई भी नहीं है ॥३७॥ पृथिवी पर, स्वर्ग में देवताओं में, अन्तरिक्ष या कहीं पर भी ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो उदारचेता तत्त्वज्ञानी को लुभा सके ॥३८॥ जिसके लिए सारा संसार तृण के बराबर है, जिसमें रजोगुण का लेश भी नहीं है, उस धीर तत्त्वज्ञानी महात्मा के लिए आत्मा से अन्य यानी अनात्मभूत क्योंकर उपादेय होगा ? ॥३९॥ लोकसंग्रह के लिए जगत् के व्यवहारों का निर्वाह करनेवाले परिपूर्णमना मननशील, जीवन्मुक्त पुरुष स्वरूप में ज्यों का त्यों स्थिर होकर यथाप्राप्त शिष्टाचार का अनुसरण करता है ॥४०॥ अन्तःकरण में शीतल, मौनी, सत्वगुणमय मनवाला ज्ञानी पुरुष सर्वदा परिपूर्ण सागर के समान गम्भीर एवं प्रकट आशयवाला रहता है ॥४१॥ तत्त्वज्ञानी पुरुष अमृत से भरे सरोवर के समान अपने आत्मा में स्वयं आनन्द की हिलोरें लेता रहता है तथा निर्मल परिपूर्ण

चन्द्रमा के समान दूसरे को भी आनन्द प्रदान करता रहता है ॥४२॥

वह अन्य को आनन्द प्रदान करता है, इसका स्पष्ट रूप से वर्णन करते हैं।

मन्दार की मंजरी के कुंजों से पिन्जर देवताओं के नन्दनवन की भूमि मनुष्य को वैसा आनन्द नहीं दे सकती, जैसा कि आह्लाद उपदेश आदि द्वारा ज्ञानियों की बुद्धियाँ देती हैं ॥४३॥ सारग्राही विवेकी पुरुष ग्रीष्म ऋतु सम्बन्धी आलोकभोगियों में चन्द्रबिम्बों से, सुगंधभोगियों में वसन्त से तथा सौभाग्यभोगियों में तत्त्ववेत्ताओं के रागादि से अनुपहत आशयों से सार ग्रहण करता है ॥४४॥

तत्त्वज्ञानी किस सार का ग्रहण करता है, यदि कोई यह पूछे, तो इसका उत्तर यह है कि वह सबसे पहले जगत् को मिथ्या देखता है उसके बाद क्रमशः समस्त अपनी इच्छाओं का त्यागकर देता है, यह कहते हैं।

सर्वप्रथम वह सारग्राही महात्मा यह सारा विश्व इन्द्रजाल के समान असन्मय एकमात्र भ्रान्तिरूप ही है, इस प्रकार का निश्चय करके दिन-प्रति दिन अपनी इच्छाओं का त्याग करता जाता है ॥४५॥

तत्पश्चात् शीतोष्णादि द्वन्द्व की सहिष्णुतारूप यानी सर्दी-गर्मी का जो सहन करना है, तद्रूप सार को ग्रहण करता है, यह कहते हैं।

अपने शरीर में प्राप्त भी शीत, ताप आदि दुःखों को ज्ञानी पुरुष अन्य देहस्थ के समान अनादर से देखता है ॥४६॥

तदनन्तर समस्त भूतों के ऊपर अनुकम्पास्वरूप दृढ़ अवलम्बन, यथाप्राप्त जलमात्र से भी सन्तोष कर लेना इत्यादि जो गुण हैं, तद्रूप सार को ग्रहण करता है, यह कहते हैं।

एकमात्र दूसरे के उपयोग के लिए पुष्प-फल आदि धारण करनेवाली लता के सदृश, करुणा के कारण उदार वृत्ति से अन्य दुःखी प्राणी का परिपालन करता है तथा स्वयं विरक्त होकर वह, जो मिल जाय उससे सन्तोष कर लेना इस तरह की उत्तम वृत्ति से जिसमें सन्तोष का हेतु एकमात्र जल ही रहता है, वैसी वृत्ति से स्थितिरूप सारता को प्राप्त करता है ॥४७॥ यथाप्राप्त लोकसामान्य व्यवहार का सम्पादन करता हुआ वह जीवन्मुक्त विवेकीपुरुष समस्त चराचर प्राणियों के ऊपर (उत्कर्ष में अथवा ऊर्ध्वभूत ब्रह्म में) अवस्थित रहता है ॥४८॥

ज्ञानी की ऊपर स्थिति कैसे रहती है, यह दिखलाते हैं।

तत्त्वज्ञानी पुरुष प्रज्ञारूपी महल के ऊपर आरूढ़ होकर स्वयं अशोच्य हो अज्ञानियों के विषय में शोक करता है। वह सबको ऐसे देखता है, जैसे पर्वत पर खड़े मनुष्य भूमिपर स्थित जनों को देखते हैं ॥४९॥

उसी समय वह चिरकाल से पीछे पड़े रागादि विक्षेपरूप दुःखों से मुक्त होकर परम विश्रान्ति प्राप्त कर लेता है, यह कहते हैं।

भ्रमरूपी सागर में राग, द्वेष आदि लहरों से चिरकाल तक विक्षिप्त (लथेड़ा गया) वह निर्मल

मनवाला पुरुष ज्ञान द्वारा परब्रह्म को प्राप्त होकर परम विश्रान्ति को प्राप्त करता है ॥५०॥

प्राक्तन संसार की गतियों को अतिशान्त वृत्ति से हँसता हुआ तथा गाढ़ भ्रम से परिपूर्ण यानी महान् अज्ञान से भरे जनसमूहों के प्रति अपने अन्तःकरण में मुस्कराता हुआ सा स्थित रहता है ॥५१॥ ये असद्रूप सांसारिक दृष्टियाँ, जो जंगल में रास्ता न मिलने से अन्धा बनकर इधर–उधर भटक रहे अन्धपुरुष से उपमित हैं, मुझे मोहित करती थीं, ऐसा विचार कर वह ज्ञानी पुरुष भीतर विस्मय को प्राप्त होता है ॥५२॥ यह मेरा परम सौभाग्य है कि अष्टविध परिपूर्ण ऐश्वर्य मुझे अनिष्ट तथा तृण के समान अवभासित हो रहे हैं, ऐसा समझकर कुछ हँसता हुआ भी गर्व उपशान्त होने से गर्व नहीं करता है ॥५३॥

ज्ञानी के स्थानादि का नियम नहीं है, यह कहते हैं।

कोई ज्ञानी पुरुष पर्वतों की गुफा को अपना घर बनाकर उसमें रहता है, कोई पवित्र आश्रम में रहता है, कोई गृहस्थ आश्रम में ही रहता है और कोई ज्ञानी तो सदा इधर–उधर घूमता रहता है। ज्ञानी पुरुष का कोई एक नियत स्थान नहीं रहता ॥५४॥ कोई भिखमंगों के आचरण से युक्त हो पर्यटन करता है, तो कोई एकान्त में तपस्वी बनकर रहता है, तो कोई मौनव्रतधारी होकर रहता है और कोई महात्मा तो ब्रह्मध्यान में ही परायण रहता है ॥५५॥ कोई विख्यात पण्डित होता है, तो कोई श्रुति–स्मृति का श्रोता भी दीखता है। कोई राजा, तो कोई ब्राह्मण तथा कोई अज्ञानी के समान स्थित रहता है ॥५६॥ कोई गुटिका, अंजन या खड्ग आदि से सिद्ध होकर आकाशगामी बना रहता है तो कोई शिल्प कला से अपनी जीविका का सम्पादन करता है और कोई पामर के समान रूप धारण कर स्थित रहता है ॥५७॥ कोई समस्त आचारों से शून्य होता है, तो कोई आचार–अनुष्ठान में श्रोत्रियों का नायक होता है, कोई उन्मत्त पुरुष के तुल्य चरित्रवाला होता है और कोई संन्यास धर्म धारण कर स्थित रहता है ॥५८॥

श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्नवाक्य में 'कीदृशः पुरुषोत्तमः' इस पद को सुनकर उसके अर्थ की जिज्ञासा की संभावना करते हुए श्रीवसिष्ठजी पुरुषवर्णनपूर्वक उसमें उत्तमता दिखलाते हैं।

पुरुष शरीर आदि और चित्त आदि कुछ नहीं है, किन्तु वह एकमात्र चेतन ही है। वह कभी भी नष्ट नहीं होता (卍) ॥५९॥ यह चेतन पुरुष किसी से छेदा नहीं जा सकता, कोई इसे जला नहीं सकता, कोई इसे जल से भिगा नहीं सकता और कोई इसे सूखा भी नहीं सकता है,यह तो नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल तथा सनातन है (卐) ॥६०॥

ऐसे पुरुषोत्तम के तत्त्वपरिज्ञान से वह स्वयं भी तत्त्वज्ञानी पुरुष पुरुषोत्तम है, न कि वर्णाश्रम–मर्यादा का परिपालन करने से, क्योंकि वर्णाश्रम मर्यादा का पालन न करने पर भी उसकी पुरुषोत्तमता

(卍) वह कभी भी नष्ट नहीं होता, इसलिए वह अविनाशी है, अतः वही उत्तम है।

(卐) छेदन, भेदन आदि विनाश के कारणों का संस्पर्श न रहने से भी वही उत्तम है।

में किसी प्रकार की हानि नहीं होती, इस आशय से कहते हैं।

इस प्रकार अच्छी तरह जो प्रबुद्ध हो गया वह जहाँ जैसे रहना चाहे वैसे ही यहाँ या वहाँ जहाँ कहींपर स्थित रहे, उसको वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा के परिपालन में आस्था रखने से या किसी तरह के नियम से कोई मतलब नहीं है ॥६१॥ तत्त्वज्ञानी पुरुष जबर्दस्ती स्वयं नष्ट हो जाने की इच्छा से पाताल में प्रवेश कर जाय, आकाश को लाँघकर उसके ऊपर चला जाय, दिग्मण्डल में भ्रमण करे, जिससे कि मानसोत्तर लोकालोकादि पर्वतों से वह चूर्ण-चूर्ण हो जाय। परन्तु इसका जो चिन्मात्रस्वरूप है, वह अजर ही बना रहता है, कदापि उसका नाश नहीं होता, क्योंकि वह तो आकाशकोश के सदृश सर्वदा शान्त, अज और शिवरूप ही है- उपप्लवरहित नित्य निरतिशयानन्दरूप ही है ॥६२॥

एक सौ दोवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तीनवाँ सर्ग

चिति की नित्यता, एकता तथा स्वातंत्र्य का साधन तथा इस सत्-शास्त्र की महिमा और हितोपदेश का वर्णन।

सबसे पहले चितिसामान्य की अविनाशीता का सबके अनुभव बल से साधन करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जाग्रत् तथा स्वप्नावस्था में अन्तःकरण के साक्षीरूप से तथा सुषुप्ति-दशा में अज्ञान, स्वप्नादि के साक्षीरूप से प्रत्यगात्म प्रकाशमात्र अथवा विषय-प्रकाशमात्र सबको भासता है, इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण से और व्यवहार से तथा स्मृति प्रमाणों से जो आदि एवं अन्त से रहित, शान्त, चिन्मात्र है, वह तो सिद्ध ही है। उसका भला नाश किस कारण से होगा ? यदि कहो, उससे असाधित कारण से उसका नाश होगा तो उससे असाधित कारण ही प्रसिद्ध नहीं है और उसके द्वारा जो साधित है उसका तो वह उपजीवक है, इसलिए वह उसके नाश का हेतु कैसे हो सकता है ? अतः उसका कभी भी नाश नहीं हो सकता। यदि आप काल को उसके नाश का निमित्त बतायें, तो काल भी उसके नाश का निमित्त नहीं हो सकता, क्योंकि काल की भी सिद्धि तो उसी के अधीन है, अतः उसका भी वह उपजीवक है ॥१॥

अविनाशी पुरुष चिन्मात्रस्वरूप रहे, इससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

चूँकि पुरुष चिन्मात्रस्वरूप है, इसलिए कदापि वह नष्ट नहीं हो सकता। यदि चिन्मात्र नष्ट हो जाय, तो फिर क्या उत्पन्न होगा और कैसे उत्पन्न होगा ? ॥२॥

यदि कोई कहे कि नाश के अनन्तर दूसरी चिति उत्पन्न हो जायेगी, उससे पुनः सृष्टि होगी, तो इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, चिन्मात्र से भिन्न कोई दूसरा चिन्मात्र किसी प्रकार कदापि हो ही नहीं सकता, क्योंकि चिति तो एकमात्र अनुभवस्वरूप है, उसका पूर्व और उत्तरकाल से सर्वांश में

सादृश्य है । उसकी भला कैसी भिन्नता होगी ? अर्थात् वह अन्यता मिथ्या ही है (ऋ) ॥३॥

यदि कोई कहे कि पुरुष के भेद से चितिका भेद होगा, तो उस पर कालभेद की तरह पुरुषभेद से भी चितिका भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि हिम आदि में शैत्य आदि की तरह चिति में भी किसीको विलक्षणता का अनुभव नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

जब सभी लोगों को हिम शीतल है, अग्नि उष्ण है तथा दुग्ध मधुर है यों भासता है, तो फिर इस निर्मल चिन्मात्र में ही भेद कैसे भासेगा ? ॥४॥

सुख–दुःखरूप ज्ञान के सिवा चैतन्य कुछ नहीं है । विशेष ज्ञान में अवच्छेदकता सम्बन्ध से शरीर कारण है । शरीर का नाश होने से ज्ञान का नाश माननेवाले चार्वाक और वैशेषिकों की शंका उभाड़कर उसका निराकरण करते हैं।

शरीर के नाश से ही यदि चिन्मात्र का नाश हो गया, तो मरण से ही संसार का नाश हो जाय, फिर हर्ष की जगह विषाद क्यों ? ॥५॥ शरीर का नाश होने पर चिदाकाश कभी नष्ट नहीं होता। क्योंकि बन्धुओं का शरीर नष्ट होने पर भी म्लेच्छों द्वारा उनकी पिशाचता देखी गई है ॥६॥ जब तक शरीर है तभी तक चेतन की सत्ता है, यदि यह कहा जाय तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अखण्डित शरीर रहने पर भी मृतक क्यों नहीं चलता, इसका क्या उत्तर है ? ॥७॥ पिशाच देखना आदि जीव का धर्म है, तो फिर वह जीव सर्वदा पिशाच क्यों नहीं देखता ? बन्धु के मृतक बन जाने पर ही क्यों देखता है ? ॥८॥ बन्धुमरण ज्ञान विशिष्ट जीव है तथा पिशाचदर्शन उसका धर्म है, यदि ऐसा नियम हो, तो भी बन्धु के जीवित रहते ही मिथ्या देशान्तर में उसकी कल्पित मृत्यु सुनने पर पिशाचता को मनुष्य क्यों नहीं देखता ?॥९॥ इसीलिए चिति के भेद और विनाश का योग होने से चिन्मात्र सर्वात्मक सिद्ध है, वस्तुकृत परिच्छेद से भी वह नियन्त्रित नहीं है अतः जिस–जिस वस्तु को चिति जब जहाँ जानती है, तब वहाँ अपने स्वरूप को ही तत्–तत् वस्तु के रूप से वह जानती है । कहने का तात्पर्य यह है कि कोई भी ज्ञात वस्तु चिति से पृथक नहीं है ॥१०॥ इस प्रकार सृष्टि के आरम्भ में सत्यसंकल्प होने के कारण जिसके मार्ग में कोई बिघ्नबाधा (रूकावट) उत्पन्न नहीं होती ऐसी संवित् अपने संकल्पानुसार जैसी ही होती है वैसी ही इस समय सब लोगों की अनुभूति है । संवित् का स्वभाव ही इसमें कारण है ॥११॥ सत्यसंकल्प ब्रह्मरूपी

(ऋ) भाव यह कि पूर्वकाल की चिति से उत्तरकाल की चिति का भेद किंमूलक है ? क्या मध्य में विच्छेदज्ञान से उसकी कल्पना की जाती है या वह पहली से विलक्षण है, इसलिए भेद की कल्पना की जाती है ? विच्छेदज्ञान से वह अन्य नहीं हो सकती, क्योंकि अनुभव ही चिति है, अनुभव रहते विच्छेद की सिद्धि नहीं हो सकती । पूर्व चिति से वह विलक्षण भी नहीं है, क्योंकि यदि विलक्षण मानी जाय तो (अचित्' हो जायेगी । पूर्व और उत्तरकाल की चिति में सर्वांश में अनुभव की समानता है, अतः वह भिन्नता (अन्यता) कैसी ? अर्थात् पूर्व और उत्तर चिति की भिन्नता मिथ्या ही है ।

संवित् के सिवाय प्रधान (प्रकृति), परमाणु आदि सृष्टि के आरम्भ में कारण कदापि नहीं हो सकते । ब्रह्म से अतिरिक्त जो भी कारण वादियों को जँचता है, कृपया वे उसका स्वरूप तथा उसके कारण होने में जो युक्ति हो, उसका उपपादन करें । मैं उनका झटपट श्रुति और युक्तियों द्वारा खण्डन करूँगा ॥१२॥

यदि वादी प्रश्न करे कि कृपया आप ही बतलाइये आपका कैसा सिद्धान्त है, तो इस पर कहते हैं ।

द्वैत न तो सृष्टि के आदि में ही उत्पन्न हुआ और न आज ही इसका अवभास होता है, एकमात्र चिदाकाश ही जगत् के रूप से प्रतीत होता है ॥१३॥

यदि केवल चिदाकाश ही प्रतीत होता है, तो सब लोगों को 'दृश्य' रूपसे किसका बोध होता है ? इस प्रश्न पर कहते हैं ।

यह आभासमात्र (विवर्तमात्र) 'दृश्य' रूप से लोगों को ज्ञात होता है । 'दृश्य' रूप से ज्ञात हो रहे इस शुक्तिरजत्, मरुनदी, आदिरूप विश्व की चिदाकाश के बिना क्या कहीं सत्यता दिखाई दी ? ॥१४॥ चिदाकाश अपनी चमत्कार चातुरी को ही आसक्तिवश जाग्रत और स्वप्नबोध में 'दृश्य' समझता है और सुषुप्ति अवस्था में बोध न होने से नहीं जानता है ॥१५॥

वे बोध और अबोध कौन हैं ? इस आशंका पर कहते हैं ।

बोध और अबोध चिदाकाश का ही निरामय (निर्विकार) रूप है, जड़का नहीं है, इसलिए चिदाकाशरूप से वह एक ही है । बोध के बिना अबोध का रूप ही प्रसिद्ध नहीं होता और बोध हो जाने पर अबोध का संभव नहीं है, इसलिए 'राहोः शिरः' (राहु का सिर), 'शिर एव राहुः' (सिर ही राहु) इसके समान केवल वाणीमात्र से भेद है, किन्तु अर्थ में कुछ भेद नहीं है । इसलिए दृश्यता है ही नहीं ॥१६॥

अथवा यह समझिये कि आत्मतत्त्व के अविचार से ही चित् में दृश्यता थी और इस समय विचार करने पर वह नष्ट हो गई है, ऐसा कहते हैं ।

जो इन लोगों की दृश्यता थी, उसे आप अविचारणा जानिये यानी आत्मतत्त्व के अविचार का ही वह फल था और वह विचार से अब नष्ट हो चुकी है, अतः दृश्यता कहाँ है ? ॥१७॥

इसलिए विचार के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए यह बात मैं अनेक बार कह चुका हूँ, ऐसा कहते हैं ।

इस आत्मज्ञान के विचार में ही बुद्धि का यत्नपूर्वक उपयोग करना चाहिये । यत्नपूर्वक किया गया परम विचार इस लोक और परलोक दोनों लोकों में सिद्धि देने वाला है । सूत्र में भी कहा है– 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (दुर्ज्ञेय आत्मसाक्षात्कार आवृत्तिविशिष्ट श्रवण आदि से साध्य है, अतः उसकी आवृत्ति करनी चाहये), 'ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धेन तद्दर्शनात्' (विद्या से अविरूद्ध फलवाले

फलोन्मुख समझ से प्रतिबन्ध का अभाव होने पर इस जन्म में भी विद्या की उत्पत्ति हो सकती है, प्रतिबन्ध होने पर जन्मान्तर में भी हो सकती है, इस प्रकार अनियम है, उक्त अनियम श्रुतियों में देखा गया है।) ॥१८॥

यदि कोई शंका करे कि नित्य अपरोक्ष वस्तु के विषय में प्रवृत्त उपदेश–वचन एक बार की प्रवृत्ति से ही अज्ञान का विनाश कर वस्तु को प्रकट कर ही देगा, फिर अभ्यास की क्या आवश्यकता है ? तो इस पर कहते हैं।

हे सज्जन, यद्यपि आप लोगों का यहाँ पर यह अज्ञान विनष्ट हो चुका है फिर भी अभ्यास के बिना वह जीवन्मुक्ति प्रतिष्ठा को नहीं प्राप्त हो सकता है ॥१९॥

तो किस ग्रन्थ को लेकर विचार का अभ्यास करना चाहये जिससे जल्दी से जल्दी बोध सिद्धि को प्राप्त हो सकता है, ऐसा यदि कोई पुछे तो उस पर कहते हैं।

शम, दम आदि साधनों से सम्पन्न पुरुष को आलस्य, बेचैनी आदि उद्वेग और उनके कारणभूत यथेष्ट भोजन, कुसंगति आदि का परित्याग कर और क्षणभर के लिए गुरुसेवा आदि का नियम लेकर इस महारामायण नामक शास्त्र का प्रतिपादन विचार करना चाहिये । यह इस लोक और परलोक–दोनों लोकों में हितकारी और कल्याणकारी है ॥२०॥

उस पर भी बहुत से सहपाठियों के साथ मिलकर अभ्यास करना आपस में एक दूसरे के अनुभव के आदान–प्रदान द्वारा बहुत जल्द ज्ञानप्रतिष्ठा का हेतु है, ऐसा कहते हैं।

यह आत्मज्ञान तरह–तरह की असंभावना, विपरीत भावना आदि रखनेवाले आप लोगों के मिलजुल कर अभ्यास न करने से, ज्ञात होता हुआ भी, अज्ञातप्राय हो जाता है ॥२१॥

ज्ञान दुर्लभ है, इस भय से श्रवण का त्याग कदापि नहीं करना चाहिये, यह कहते हैं।

जो जिस वस्तु को चाहता है, उसके लिए यत्न करता है और वह यदि थक कर बीच में ही अपने विचार न बदल दे तो उसे अवश्य प्राप्त करता है ॥२२॥

अनात्मशास्त्रों के अभ्यास से विमुख हुए पुरुषों को इस शास्त्र का अभ्यास करना चाहिये, यह कहते हैं।

इसलिए असत् शास्त्रों की विचारणा से आप लोग निवृत्त हो जाइये । जैसे युद्ध से विजयलक्ष्मी प्राप्त होती है वैसे ही इस सत्शास्त्र के अभ्यास से आप लोगों को अवश्य शांति प्राप्त होगी ॥२३॥ यह मनरूपी नदी विवेक और अविवेक दोनों ओर बहती है जिस ओर प्रयत्न से (विरोधी दूसरे स्रोत को रोकने के यत्न से) बहाई जाय, वहींपर स्थिर हो जाती है ॥२४॥ इस शास्त्र के सिवा विवेक का सर्वश्रेष्ठ साधन आज तक न तो कोई हुआ और न आगे होगा, इसलिए परम बोध की प्राप्ति के लिए इसी का पुनः मनन करना चाहिए ॥२५॥ जो पुरुष इस श्रेष्ठतम शास्त्र का विचार कर चुका है, उसे प्रत्यक्षरूप से आत्मतत्त्व बोध का अनुभव होता है जो कि संसाररूपी मार्ग की थकावट दूर करनेवाला

है। वरदान अथवा शाप के समान चिरकाल के विलम्ब से उसका अनुभव नहीं होता ॥२६॥

यह शास्त्र माता, पिता आदि की भी अपेक्षा अत्यन्त हितकारी है, ऐसा कहते हैं।

आपका जो हित पिता ने नहीं किया या जो हित माँने नहीं किया अथवा जो हित पुण्यों ने नहीं किया वह हित यह शास्त्र तुरन्त करेगा, यदि विचार द्वारा आप लोग इसे जान लें ॥२७॥ हे सज्जनशिरोमणे, यह भवबन्धनरूपी विषय-विषूचिका असीम है, आत्मज्ञान के अतिरिक्त अन्य उपाय से कभी भी इसका शमन नहीं हो सकता ॥२८॥ 'अहम्' यों मिथ्या ही खड़ी हुई महामोहमयी माया का और उक्त माया से प्राप्त हुई अपरिमित शोचनीयता का शास्त्रार्थभावना द्वारा शीघ्र ही परित्याग कीजिये ॥२९॥ आरम्भ में आपाततः मधुर प्रतीत होनेवाले शून्यस्वरूप विषयों का आस्वाद ले रहे आप लोग एकमात्र आकाशरूपिणी अपार सृष्टि की ओर-भूखे अतएव रसशून्य वायु को चाट रहे सर्पों के समान-न बढ़ें ॥३०॥ बड़े खेद की बात है, दिनों द्वारा ही मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे आप लोगों के जीवन के सारे दिन व्यवहार में ही व्यतीत होते हैं। कब दिन आया और कब गया यह भी आप लोगों को ज्ञात नहीं होता ॥३१॥ कुछ ही दिनों तक जब तक कि आयु की मरणरूप अवधि नहीं आती है, संसार सागर में निमग्न हुए आप लोगों के लिए सत् शास्त्र का अवलम्बन योग्यता द्वारा यह आश्वासन है॥३२॥

यदि कोई प्रश्न करे कि उसके बाद क्या होगा ? तो इस पर कहते हैं।

दिन पर दिन समीप में आ रही मृत्यु के प्राप्त होने पर ऐसा दुःख प्राप्त होगा कि जिसमें अंग-अंग का छेदन भी शीतलचन्दन लेपके समान अवश्य भोगना पड़ेगा ॥३३॥ मूर्ख लोग युद्ध आदि में प्राणों की बाजी लगाकर भी धन और विजयाभिमान का उपार्जन करते हैं, किन्तु वे विवेक, वैराग्य, श्रवण आदि उपायों से प्राप्त हुई तत्त्व बुद्धि से अजर-अमर मोक्षपद का उपार्जन क्यों नहीं करते ? ॥३४॥ जो विवेकशील पुरुष अनायास (एकमात्र आत्मतत्त्वज्ञान से) ब्रह्माकाश में स्थान बनाते हैं, अज्ञानरूपी शत्रु का वध करने में समर्थ उन सर्वोत्कृष्ट पुरुषों द्वारा उत्तम शास्त्र की उपेक्षा से अपने सिर पर अज्ञानरूपी शत्रु की लात कैसे सही जा सकती है ? ॥३५॥ हे पुरुषों, आप लोग अभिमान तथा मोह से रहित विवेक को प्राप्त होकर यानी तत्त्व जानकर मोक्षगति को प्राप्त हों अधम संसारगति को प्राप्त न हों। आत्मबोध द्वारा बड़ी-बड़ी विपदाओं की जड़ खोदी जाती है॥३६॥

यह वसिष्ठ चिरकाल से हम लोगों के उद्बोधन में कमर कसकर लगा है, मारे चिल्लाहट के इसका कण्ठ सूख गया है, यह बेचारा कण्ठ सूखने से बच जाय यों मेरे ऊपर दया से मेरा वचन ध्यान से सुनकर आप लोग अपना स्वरूप जानिये, यों अतिशय वात्सल्यवश कहते हैं।

आप लोगों के उद्बोधन के लिए जी-जान से लगे हुए, आप लोगों के लिए रात-दिन प्रलाप कर रहे, कण्ठ सूखने आदि क्लेशों से नित्य पीड़ित हो रहे मेरी (जगत्प्रसिद्ध इस वसिष्ठ की) ओर

देखकर दयावश मेरे वचनों को आदर से सुनकर, उद्‌बुद्ध हो, देहेन्द्रियादि परिच्छिन्न आत्मभाव का परित्याग कर यथार्थब्रह्मात्मता प्राप्त कीजिए ॥३७॥

आज ही आत्मज्ञान से क्या प्रयोजन है आगे चलकर कभी आत्मज्ञान कर लेंगे यों सोचनेवाले के प्रति कहते हैं।

जो पुरुष, आज ही मृत्युरूपी आपत्ति की चिकित्सा (प्रतीकार का उपाय) नहीं करता वह मूढ़ मृत्यु जब सिर पर सवार होगी तब व्याकुलावस्था में क्या करेगा ? ॥३८॥ अपने असली स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए इस ग्रन्थ को छोड़कर दूसरा ग्रन्थ नहीं है, इसलिये जैसे तैलार्थी (तेल चाहनेवाले) तिलों का संग्रह करते हैं वैसे ही अपना कल्याण चाहनेवालों को यह इच्छित अर्थ देनेवाला है इस बुद्धि से इस ग्रन्थ का संग्रह करना चाहिये ॥३९॥

यदि कोई प्रश्न करे कि अन्य अध्यात्म ग्रन्थों की अपेक्षा इसमें क्या विशेषता है,? तो इसपर कहते हैं।

यह शास्त्र (ग्रन्थ) दीप की नाईं आत्मरूप ज्ञान को प्रकाशित करता है, पिता के समान हितोपदेश देता है और कान्ता के सामान अत्यन्त आनंद देता है ॥४०॥ नित्यप्राप्त भी जिस आत्मरूप ज्ञान को अनेक शास्त्रों से लोग नहीं जान सके, उस दुर्बोध मधुर ज्ञान को इस ग्रन्थ के अभ्यास से जान जायेंगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥४१॥ शास्त्रों में मुख्य आख्यानों में यह सर्वोत्तम है यह अनायास ज्ञान देनेवाला अत्यन्त मनोहर एवं अनादि है । इसमें तत्त्ववेत्ताओं के सम्प्रदाय में प्रसिद्ध वस्तु से अतिरिक्त स्वकपोलकल्पित कुछ भी वस्तु नहीं है॥४२॥ विविध आख्यानों और कथाओं से विस्मयजनक इस शास्त्र का कौतुकवश विचार करता हुआ पुरुष आत्मबोध प्राप्त कर लेता है, इसमें जरा भी संशय नहीं है ॥४३॥ सम्पूर्ण शास्त्रों में पारंगत पण्डितों को भी जो बोध (आत्मज्ञान) आजतक प्राप्त नहीं हुआ वह इस शास्त्र से प्राप्त हो जाता है जैसे कि सोने की खान में चालने, धोने से अलग किये गयी बालू से सुवर्ण प्राप्त होता है ॥४४॥

यदि कोई आशंका करे कि इसी शास्त्र से यदि ज्ञान होता है, तो इस शास्त्र के रचयिता को किस शास्त्र से ज्ञान हुआ ? जहाँ से उसे ज्ञान हुआ वहीं से हम भी आत्मज्ञान प्राप्त कर लेंगे । यदि इस शास्त्र के रचयिता ने ज्ञान हुए बिना ही रचना की है तो इस शास्त्र से ज्ञानोदय की कौन आशा है ? इस पर कहते हैं।

यदि यह शास्त्र युक्तियुक्त न होता और विचार करने पर अनुभूतिप्रद न होता तो इस शास्त्र के कर्ता को कहाँ से बोध हुआ यों उसके कर्ता के बोध के कारणों की छानबीन में निरत होना ठीक होता। यह शास्त्र तो स्वतः हजारों युक्तियों से युक्त है और अनुभवप्रदान करनेवाला है । इसके विचारने पर स्वानुभव से ही सब शंकाएँ निवृत्त हो जाती हैं, इसलिए इसीमें सदा निमग्न होना ठीक है । शास्त्र के रचयिता में बोध हो या नहीं यह शंका कहीं कभी ध्यान में नहीं लानी चाहिए ॥४५॥

अतएव इस शास्त्र की अवहेलना करनेवालों के साथ भूल कर भी कभी मैत्री नहीं करनी चाहिये, यह कहते हैं ।

अज्ञान से, डाह से अथवा मोह से इस शास्त्र की अवहेलना करनेवाले अविवेकी आत्महत्यारों (卐) के साथ कदापि मित्रता नहीं करना चाहिये ॥४६॥

यदि प्रश्न हो कि यदि ऐसा है, तो आप हम लोगों एवं अन्य अज्ञानियों के साथ क्यों मित्रता करते हैं ? मित्रता के कारण ही तो आप दयावश उपदेश देने के लिए प्रवृत्त हुए हैं ? इस पर कहते हैं ।

हे श्रीरामजी, ये श्रोता लोग जिस प्रकार के अधिकारी हैं, आप जैसे अधिकारी हैं और जैसी श्रवण–धारणा के अभ्यास में पटु आप लोगों की बुद्धियाँ हैं एवं जैसे मैं आप लोगों को उपदेश देने के लिए आपके पिताजी द्वारा आज्ञप्त हुआ यह सब मैं भलीभाँति जानता हूँ । अतः आप लोगों के महाभाग्योदय से जागी हुई करुणा से आप लोगों को उपदेश देने में प्रवृत्त हुआ हूँ, चूँकि मेरा स्वभाव ही ऐसा है, दीनजनों के प्रति मेरी दया सदा जागी रहती है, निष्ठुरता का तो मुझमें नाम तक नहीं है, इसलिए आप लोगों का हित चाहनेवाले मेरे वचनों पर आप लोग आदर करें, यह भाव है ॥४७॥

अथवा मैं आप लोगों का आत्मा ही हूँ आप लोगों के पुण्य से शुद्ध आत्मतत्त्व का आप लोगों को उपदेश देने के लिए आया हूँ । और मेरे भी आप लोग परम प्रेमास्पद आत्मा ही हैं, इसलिए आप लोगों का मित्र–सा हो गया हूँ, ऐसा कहते हैं ।

मैं न मनुष्य हूँ, न गन्धर्व हूँ, न देवता हूँ और न राक्षस हूँ, किन्तु आप लोगों का शोधित संविद्रूप सूक्ष्मार्थ (आत्मा) हूँ तथा आप लोगों को आत्मज्ञान का उपदेश देने के लिए यहाँ पर स्थित हूँ । हे श्रीरामजी, आप लोग भी संवद्रिप ही हैं, अति निर्मल संविद्रूप ही मैं आप लोगों के पुण्योदय से स्थित हूँ । मैं आप लोगों की आत्मा से अतिरिक्त नहीं हूँ ॥४८,४९॥ मैं आप लोगों का अत्यन्त आप्त हूँ , इसलिये जब तक रात्रि के समान अन्धकारपूर्ण मृत्युदिवस पास में नहीं आते तब तक मेरे द्वारा कहा गया सब वस्तुओं में वैराग्यरूप पहला सार पदार्थ बटोरकर रख लीजिये ॥५०॥ जो पुरुष इसी लोक में नरकरूपी व्याधि के प्रतीकार का उपाय नहीं करता, वह औषधिरहित (जहाँ औषधि दुर्लभ है) स्थान में जाकर नरकरूपी रोगों से छटपटाता हुआ क्या करेगा ? ॥५१॥

यदि कोई आशंका करे कि वैराग्य ही परम सार क्यों है ? तो इस पर वैराग्य के बिना वासनाओं की तनुता (अल्पता) की सिद्धि नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं ।

जब तक सकल पदार्थों में वैराग्य नहीं प्राप्त होता तब तक पदार्थों की वासना कम (निवृत्त) नहीं होती ॥५२॥

वासना की निवृत्ति में आपका इतना बड़ा आग्रह क्यों है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं ।

(卐) इस मोक्षशास्त्र की अवहेलना करने से आत्मज्ञान की अप्राप्ति ही आत्महत्या है ।

हे महामते, आत्मा का पूर्णरूप से उद्धार करने के लिए वासना की निवृत्ति को छोड़कर दूसरा कोई भी उपाय न कभी था और न होगा ॥५३॥

पदार्थों के रहते उनकी वासना की निवृत्ति कैसे हो सकती है ? इस शंकापर कहते हैं ।

यदि पदार्थ सत्यरूप से रहें तो उनमें से अपने अनुकूल पदार्थों में यह मेरे लिए आवश्यक है इसका मुझे सम्पादन करना चाहिये इत्यादि वासना होती है, किन्तु वे पदार्थ तो खरगोश के सींग आदि की तरह यहाँ है ही नहीं, जगत् में जितने पदार्थ हैं, उनपर जब तक विचार नहीं किया जाता तभी तक रमणीय प्रतीत होते हैं, वस्तुतः उनकी सत्ता है नहीं। विचार करने पर वे सामने खड़े ही नहीं होते हैं, न मालूम कहाँ विलीन हो जाते हैं ॥५४,५५॥

यद्यपि ये पदार्थ वेदान्तियों के विचार में नहीं हैं तथापि कपिल, कणाद आदि के विचार में तो हैं ही, ऐसी अवस्था में आपने उन्हें असत्य ही कैसे मान लिया ? इस शंका पर कहते हैं ।

प्रामाणिक विचार करने पर जो जगत्पदार्थ नहीं टिकते हैं, वे कैसे हैं ? उनका क्या स्वरूप है ? वे एक एक वस्तुरूप हैं या सर्व वस्तुरूप हैं, सदा ही रहते हैं, या कभी ही रहते हैं ? सभी प्रकार से पहले सैकड़ों बार हम उनका खण्डन कर चुके हैं, यह अर्थ है ॥५६॥ जगत् के सभी पदार्थ कारण के अत्यन्त अभाव से सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न ही नहीं हुए, जो यह प्रतीत होता है वह परम ब्रह्म ही है ॥५७॥

कारण का अभाव कैसे है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं ।

सभी इन्द्रियों से अज्ञेय स्वप्रकाश चिदेकरस परब्रह्म में मन सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियों से वेद्य होनेवाले पदार्थों के कारण की प्रलयकाल में संभावना तक नहीं की जा सकती है ॥५८॥

नाम और रूप युक्त जगत् का अनाम और अरूप ब्रह्म कारण नहीं हो सकता, यों दूसरी युक्ति दर्शाते हैं ।

विविध नाम–रूपवाले पदार्थों का नाम–रूपविहीन कारण कैसे हो सकता है ? इसी एक रीति से वस्तु–अवस्तु का कारण तथा शून्य अशून्य का कारण मन ही कहा जा सकता है यह कहते हैं ।

वस्तु में अवस्तुता कैसे हो सकती है और व्योम में अव्योमता कैसे हो सकती है ? ॥५९॥ वट के बीज के समान साकार का साकार ही बीज हो सकता है। बीज वह वस्तु हो उससे साकार विसदृश अन्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? ॥६०॥ जिसमें तनिक भी आकृतिवाला कुछ बीज नहीं है, उससे आकृतिवाला विश्व उत्पन्न होता है, यह कथन विडम्बनावस्था के समान निरर्थक है ॥६१॥ उस परम पद में कार्यकारण भावादि नहीं है, बकवास के कारण जो उसमें कार्य–कारणभावादि की कल्पना की जाती है, वह निरी मूर्खता है ॥६२॥ सहकारी और निमित्त कारण के अभाव में कारण से (उपादान कारण से) कार्य की उत्पत्ति नहीं होती सहकारी और निमित्त कारण के अस्तित्व में होती है, यह बात बच्चों तक विदित है ॥६३॥

जगद्ज्ञानरूप होने के कारण भी चित् जगत्कारण नहीं हो सकता, क्योंकि घटज्ञान में घटकारणता नहीं दिखाई देती, ऐसा कहते हैं ।

कहिये तो सही जगत्-मात्र का अज्ञानरूप चित् पृथिवी आदि का कारण कैसे हो सकता है ?

चित् में अचित् की स्थिति नहीं हो सकती, इसलिए भी चित् जगत् का कारण नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं ।

भला कहिये तो सही धूप में छाया कैसे रह सकती है ? ॥६४॥

इसीसे परमाणुकारणवादी बौद्ध आदि के मत का खण्डन हो गया । कारण कि अतीन्द्रिय (इन्द्रियगोचर) परमाणुसमूह इन्द्रियगोचर नहीं देखा जाता, ऐसा कहते हैं ।

जो बुद्ध आदि लोग परमाणुओं का समूह ही जगत् है, ऐसा कहते हैं उनका कथन वास्तविक नहीं है, जैसे कोई खरगोश का सींग धनुष के तुल्य है, ऐसा कहे वैसे ही यह भी अज्ञान से कहा जाता है ॥६५॥

यदि परमाणु आपस में मिलकर जगत् की रचना करें तो उनका सदा आकाश में उड़ना, गिरना दिखाई देने के कारण प्रत्येक घर में प्रतिदिन पहाड़ की चोटी-सी और कुएँ का गड्ढा-सा हो जायेगा, ऐसा कहते हैं ।

यदि परमाणुओं का समूह मिलकर जगत् की रचना करता, तो अवयवभूत वे जब चाहते तब आकाश में उड़ते और जब चाहते नीचे गिरते इस प्रकार जगह-जगह, घर-घर प्रतिदिन उसकी अपूर्व धूलि की अम्बार लग जाती अथवा बड़ा गड्ढा हो जाता और दूसरी बात यह भी है कि परमाणु नामक निरवयव कोई द्रव्य किसी को दिखाई नहीं देता है, जालों के अन्दर सूर्य-किरणों में सावयव ही रजःकण दिखाई देते हैं । यदि कहिये उन्हींके अवयव जहाँ तक हो सकते हैं उसकी चरमसीमा निरवयव है ऐसा अनुमान होता है, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह परस्पर संयोग के अयोग्य होने से अद्रव्य हो जायेगा । निरवय का अन्य के साथ संयोग नहीं हो सकता । संयोग एक देश में होता है ऐसा नियम है । संयोग न होने से द्वयणुक आदि की सिद्धि नहीं होगी । दूसरी बात यह भी विचारणीय है कि अतीन्द्रिय आकाशपुष्प से परमाणुओं के संयोजन द्वारा जगत् की रचना करना किसका काम है ? क्या किसी असंसारी पुरुष का वह काम है या संसारी का ? संसारी की शक्ति तो परमाणुओं से जगत् की रचना करने में कतई नहीं है, यह बिलकुल साफ है । यदि कहो कि संसार के अयोग्य ईश्वर या जड़ का यह काम है, तो उनसे ईश्वर का बिना प्रयोजन के जगत् का निर्माण व्यर्थ है । नित्यमुक्त ईश्वर को कोई प्रयोजन की अपेक्षा भी नहीं है अथवा सृष्टि का कोई प्रयोजन उपपत्तितः सिद्ध भी नहीं किया जा सकता । और जड़ परमाणु अपने आप जगत् सृष्टि में प्रवृत्त नहीं हो सकते हैं, यह भाव है ॥६६-६८॥

यदि कोई शंका करे कि चेतन को बुद्धिपर्वक किये गये काम में प्रयोजन की अपेक्षा होती है अबुद्धिपूर्वक किये गये काम में तो प्रयोजन की अपेक्षा नहीं है, तो इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उक्त जगत्सृष्टिरूप कार्य (ஃ) किसीका अबुद्धिपूर्वक तो नहीं हो सकता और बुद्धिपूर्वक तो उस व्यर्थ कर्म को कौन पागल करेगा ? ॥६९॥

इस कथन से वायु ही परमाणु का संघात करेगा, बुद्धिपूर्वक व्यापार के बिना ही अणुओं का संघात (मिलन) हो जायेगा, इस आशंका का भी निराकरण हो गया, ऐसा कहते हैं।

जड़ वायु की बुद्धिपूर्वक चेष्टा नहीं है । बुद्धिपूर्वक चेष्टा के बिना परमाणुओं का एकत्रीकरण नहीं हो सकता । जड़ और सर्वज्ञ से (ईश्वर से) अतिरिक्त जीव, प्रलय में शरीर नहीं होने के कारण, असमर्थ ही था, इसलिए सृष्टि के आरम्भ में इसके किसी कर्ता की उपपत्ति नहीं हो सकती है ॥७०॥

यदि कर्ता के अभाव से जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ तो हम लोगों का क्या स्वरूप है ? कैसे जगत् में स्थित है ? इस शंका पर कहते हैं ।

ये हम लोग देह आदि मूर्तता से रहित चिदात्मरूप ही हैं एवं अन्य लोग भी हमारी नाईं ही चिदात्मरूप ही है तथापि जैसे स्वप्न में आपके स्वप्नमानव होते हैं वैसे ही अपनी कल्पना से ही स्थित हैं ॥७१॥

इस प्रकार सब कुछ उत्पन्न होने से ब्रह्मअद्वैत सिद्धान्त ही निर्बाध है, यह कहते हैं ।

इसलिए न तो जगत् कुछ उत्पन्न ही होता है और न विद्यमान ही है। इस प्रकार जगत् के रूप से निर्मल चिदाकाश ही अपने में अपने आप विकसित होता है ॥७२॥ जैसे वायु में स्पन्द, जल में द्रवता और आकाश में शून्यता इनसे (वायु आदि से) अभिन्न ही चारों ओर विश्रान्त हैं वैसे ही चिदाकाश में विश्वाकाश अभिन्न होकर ही चारों ओर विश्रान्त है ॥७३॥

जगत्–शून्य चिदाकाश का जो स्वरूप पहले दृष्टान्तपूर्वक अनेक बार अनुभव में बैठाया गया है, उसीका स्मरण कराते हैं।

अत्यन्त दूर से भी दूर एक देश से दूसरे देश की प्राप्ति में दोनों देशों के मध्य में एक क्षणभर के लिए संवित् का जो स्वरूप है, वही निर्विषय चिदाकाश का स्वरूप समझिये ॥७४॥ सब पदार्थों का संविदाकाश ही परमार्थ स्वभाव है, वे सब पदार्थ संविदाकाशमय, चिदाकाशसदृश और चिदाकाशरूप ही हैं, इसलिए विश्व की चिदाकाशरूप से ही भावना करनी चाहिये शून्यरूप से भावना नहीं करनी चाहिये ॥७५॥ पूर्वोक्त चिदाकाश की स्वभाव से अभिन्न ही विवर्तभाव से जो परम स्थिति है उसी को आपातदर्शी व्यवहारी 'जगत्' नाम से पुकारते हैं ॥७६॥ इसलिए

(ஃ) जिसकी सुन्दर रचना मन को चक्कर में डाल देनेवाली है, अनेक भुवन, गिरि, नदी, तालाब आदि से युक्त है तथा जरायुज, अण्डज आदि चार प्रकार के प्राणियों से पूर्ण है ।

जगत् और चिदाकाश ये दो कदापि परस्पर भिन्न-भिन्न पदार्थ नहीं है जैसे पवन और स्पन्द दोनों का एक ही रूप है वैसे ही इनका एक ही स्वरूप है ॥७७॥ क्षणभर में एक देश से दूसरे देश की प्राप्ति में मध्य में ज्ञान का सकल विशेषों से शून्य जो स्वरूप है वही अनुभव का मुख्य दृष्टान्त है उससे अन्य नहीं ॥७८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, वही अशेष विशेषों से शून्य चिदाकाश सब भूतों का स्वभाव है, उसी में ज्ञानी लोग समाधि द्वारा स्थित रहते हैं, चिदाकाशरूप उससे ये पृथिवी आदि पदार्थ विचलित नहीं होते हैं ॥७९॥ यह विश्व चिद्रूपी दर्पण में आभासाकाश ही है, उसका अवभासन भी चित् की प्रभारूप ही है। निराकार अविनाशी चित्स्वभाव को ही विद्वान पुरुष जगत् कहते हैं ॥८०॥ यह जगत् न तो उत्पन्न होता है, न उत्पन्न होकर विनष्ट होता है और न कभी भविष्य में होनेवाला ही है । यह चिदाकाश से वैसे ही अभिन्न है जैसे कि आकाश से शून्यता अभिन्न है ॥८१॥ न जगत् है, न कभी था और न कभी होगा । यह परम शान्त चिदाकाशका आत्मा में ही अवभास हो रहा है ॥८२॥ जैसे स्वप्न में चिन्मय ही नगर पर्वत आदि के रूप से प्रकाश में आता है वैसे ही इस जगत् नामक स्वप्न में वह चिदाकाश ही स्वयं जगत् के रूप से प्रकाशित हो रहा है ॥८३॥ सृष्टि के आरम्भ में पृथिवी आदि पदार्थों की सत्ता ही नहीं है, इसलिए पार्थिव आदि देह का कैसे संभव हो सकता है ? इसलिए यह भासमान शरीरता आकाशरूप चिति का स्वप्न ही है ॥८४॥ स्वयम्भू नाम का अपना शरीर महाचिति का पहला स्वप्न है । तदनन्तर स्वयम्भू शरीर से उत्पन्न हुए हम लोग दुसरे स्वप्न के सदृश हैं ॥८५॥ इसलिए जैसे गलगण्ड में (गण्डमाला में) निकले हुए फ़ोड़े का गले से साक्षात् सम्बन्ध नहीं है वैसे ही ब्रह्म से हमारा भी साक्षात् सम्बन्ध नहीं है यों व्यवहित सम्बन्ध की दृढ़-भ्रान्ति होने के कारण हमारा मन भी, चाहे कितने ही प्रयत्न से क्यों न प्रेरित किया जाय, ब्रह्म में शीघ्र नहीं जायेगा ॥८६॥ जैसे गला ही गण्डमाला के रूप में स्थित होकर गण्डमाला के ऊपर निकले हुए फोड़े के रूप से भी स्थित यानी उससे अभिन्न है फिर भी भिन्न-सा प्रतीत होता है वैसे ही ब्रह्म ही हिरण्यगर्भ व्यष्टिजीवरूप असत्य पुरुष होकर देहरूप से पृथक् प्रतीत होता है । जभी से ब्रह्म जीवरूप हुआ तभी से यह मिथ्या जगत् स्थित है ॥८७॥ ब्रह्म से लेकर तृणपर्यन्त सारा जगत् स्वप्नजगत् के समान अलीक (असत्य) ही उत्पन्न होता है और स्वप्न जगत् के समान ही नष्ट हो जाता है ॥८८॥ जैसे स्वप्न में चिदाकाश ही जगत् का रूप धारण कर लीन हो जाता है वैसे ही जाग्रत नामक स्वप्न में भी, जन्म धारण किये बिना ही, जगत् का रूप धारण कर नष्ट होता है ॥८९॥

यदि जगत् असत् (अनृत) है तो इसका अनुभव कैसे होता है और कैसे यह सत्य की नाईं स्थित है, क्योंकि खरगोश के सींगों में, जो असत् हैं, ये दोनों बातें नहीं दिखाई देतीं ? इस शंका पर कहते हैं ।

जैसे स्वप्न में संवित् ही नगर, पर्वत, नदी आदि के रूप से उदित होती है वैसे ही अलीक (असत्) होते भी अनुभूत और असत् होते भी सत्यवत् स्थित यह जगत् संवित् से ही उदित है, अतः संविद्रूप ही है । शून्यरूप नहीं है ॥९०॥ स्वप्ननगर आदि के समान ही निराकार होती हुई भी साकार–सी संवित् जगत् रूप से स्थित है । जैसे मेरु पर्वत के धूलि–कण परमाणु के समान अणु हैं वैसे ही संविदाकाश आकाश से भी अणु (सूक्ष्म) है ॥९१॥

आकाश से भी बढ़कर अणुता नाम का धर्म कहाँ प्रसिद्ध हैं ? जो कि संविदाकाश का (ब्रह्म का) धर्म होगा, इसलिए आकाश से भी बढ़कर अणुता उसका धर्म नहीं है । तब अणुता कहने का तात्पर्य क्या है ? इस आशंका पर कहते हैं ।

जगत् का आकार स्थूल आकार अणुरूप कारण के बिना नहीं बन सकता, यह कहने के लिए उसे अणु कहा है ॥९२॥

यदि कोई शंका करे कि ईंट आदि से नगर आदि की उत्पत्ति दिखलाई देती है, अतः जगत् से ही जगत् की उत्पत्ति हो, न कि ब्रह्म से । इस पर कहते हैं ।

जो नगर आदि सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न नहीं हुआ वह जगत् से कैसे उत्पन्न हुआ ? दूसरी बात यह भी है कि स्वप्न में ईंट आदि के बिना ही नगर आदि दिखाई देते हैं । जाग्रतवेदनाकाश में जो नगर है, वही हमारे सिद्धान्त में स्वप्न में भी नगर है और वहाँ पर व्यभिचार स्पष्ट है, क्योंकि वहाँ ईंट आदि से नगर निर्माण नहीं होता है ॥९३॥

इस प्रकार स्वप्नपदार्थ और जाग्रत्पदार्थों का परस्पर भेद न होने पर स्वप्नपदार्थों का चिदाकाश से भेद न होने के कारण जाग्रत्पदार्थों का भी चिदाकाश से अभेद सिद्ध हो गया, इस अभिप्राय से कहते हैं ।

जैसे शून्य और आकाश का परस्पर कोई भेद नहीं है, दोनों एक ही है वैसे ही स्वप्न–पर्वत और चिदाकाश में भी परस्पर भेद नहीं है, दोनों अभिन्न हैं । जो चिदाकाश है, वही स्वप्न–नगर है ॥९४॥

उक्त अभेद में स्पन्द–वायु और वायु–आकाश दृष्टान्त है, यह कहते हैं ।

जैसे जो ही स्पन्दन है, वही वायु है और जैसे स्पन्दन और अस्पन्दन स्वरूपवाला वायु आकाश से अभिन्न है वैसे ही चिदाकाश और स्वप्ननगर अभिन्न हैं ॥९५॥ इसलिए चिदाकाश ही जगत् के आकार में दिखाई देता है । यह सब चिद्रूपी सूर्य का निराधार प्रकाशन है ॥९६॥ यह समस्त जगत् जन्मविनाशरहित अखण्डस्फुरणरूप निर्मल निर्विकार पत्थर के समान स्तब्ध शान्त (ब्रह्म) ही है ॥९७॥

इस तरह चित् की प्रपंचशून्यता सिद्ध हुई, यह कहते हैं ।

इसलिए जरा आप कहिए तो सही कैसे पृथिवी आदि पदार्थ हैं ? कहाँ से ये उत्पन्न हुए हैं, कहाँ

पदार्थबुद्धि है ? कहाँ द्वैत है ? कहाँ अद्वैत है ? कहाँ मैं हूँ ? कहाँ पदार्थ हैं और कहाँ वासना है ? ॥९८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आप निर्विकार शुद्ध बोधरूप तत्त्व के परिज्ञान से उक्त तत्त्व में एकरूप होकर सदा राज्य का परिपालन आदि व्यवहार करते हुए भी उसमें 'मैं कर्ता हूँ', यह अभिमान न होने के कारण विकार से रहित परस्पर विरोधी द्वैत और अद्वैत से युक्त होकर और अन्दर अत्यन्त शीतल ही निरतिशय आनन्द को प्राप्त होइये, क्योंकि विक्षेप के कारणभूत ये पदार्थ है ही नहीं ॥९९॥

एक सौ तीनवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चारवाँ सर्ग

जैसे आकाश आदि की वायु आदिरूपता अनुभव से सिद्ध है वैसे ही चित् की अनुभवतः जगद्रूपता का साधन।

चिन्मात्र ही स्वप्न की भाँति जगत् के आकार से प्रतीत होता है, ऐसा जो पहले कहा था, अनुभव का अवलम्बन होने पर प्रमाणों द्वारा पदार्थ तत्त्व की जिज्ञासा कर रहे सभी को उसी की शरण में जाना होगा उसके सिवा दूसरा चारा है ही नहीं । भले ही आकाश आदि के क्रम से सृष्टिकल्पना परम्पराओं से अतिदूर जाकर ही उसका समाश्रय लें, ऐसा प्रतिपादन करने के लिए आकाशादि की आचार्यप्रसिद्ध स्वरूपस्थिति कहते हैं ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, शब्दतन्मात्र आकाश है और स्पर्शतन्मात्र वायु है । उन दोनों के अत्यन्त संघर्ष से उत्पन्न हुआ रूपतन्मात्र तेज है । उक्त तेज की शान्ति (उष्णता और रूक्षता के शमन द्वारा शीतलता द्रवत्वाश्रयरूप रसतन्मात्र) जल का रूप है । आकाश, वायु, तेज और जल का संघ (इनका मिलन होने पर घनीभाव का हेतु गन्धभाव) पृथिवी है । इस प्रकार चित् से ही स्वप्न-सदृश जगत् भान में यह क्रम है । यहाँ पर हमारा प्रश्न है कि अमूर्त आकाश से पृथिवी पर्यन्त मूर्त पदार्थसंघ कैसे हुआ ?

इसके उत्तर में यदि कोई कहे कि आकाश से क्रियास्पर्श प्रधान वायु ही उत्पन्न होता है । वह रूप ही न होने के कारण कुछ अंश में मूर्त के तुल्य है, इससे रूपतन्मात्रप्रधान मूर्त तेज को उत्पन्न करेगा, तो यह उत्तर ठीक नहीं है, क्योंकि निरवयव कूटस्थ आकाश से वायु की ही सिद्धि नहीं हो सकती । कोई भी निश्चेष्ट तथा निरवयव पदार्थ न तो कुछ बना सकता है और न उसमें विकार हो सकता है । यदि वह सम्पूर्ण रूप से विकृत हो जाय, तो आकाश के अभाव से वायु आदि के लिए अवकाश ही नहीं रहेगा । यदि आधा या उससे कम आकाश विकृत होता है, यह मानो तो आकाश भी अवयववान् हो जायेगा । यदि कहो अवयववान् भी हो तो क्या हानि है ? तो समानरूप से वही स्पर्शवान् भी हो जायेगा, ऐसी स्थिति में वायु आदि की उत्पत्ति की व्यर्थता तथा निरवकाशता और एक आकाश और उसके अवयवों की भी निरवकाशता हो

जायेगी । इस प्रकार रूपरहित वायु से भी रूपतन्मात्र की उत्पत्ति का आरम्भ से (आरम्भवादानुसार) या परिणाम से (परिणामवादानुसार) निरूपण करना कठिन ही नहीं असंभव ही है । कारण कि कारण के गुण कार्य के गुणों के आरम्भक होते हैं, ऐसा नियम है । वायु में रूप का अभाव है । परिपाक से परिणाम होता है और तेज के बिना परिपाक की भी संभावना नहीं है, इसी प्रकार अग्नि, जल आदि उत्तरवर्ती भूतों में भी समझ लेना चाहिये ॥१,२॥

यदि कोई कहे कि अनुभव से ही कूटस्थ आकाश से चलनात्मक वायु की उत्पत्ति, रूपरहित वायु से रूपवान् तेज की उत्पत्ति, नीरस तेज से रसरूप जल की उत्पत्ति तथा गन्धहीन जल से गन्धवती पृथिवी की उत्पत्ति की कल्पना करेंगे । अनुभवरूप भगवती संवित् ही हम लोगों के सारे विरोध को हटाकर अनुभवानुरूप सब पदार्थों का समर्थन कर देगी । इस पर कहते हैं ।

यदि दूर की उड़ान भर कर अन्त में फिर लाचार होकर संवित् की ही शरण लेनी पड़ती है, तो पहले ही जैसे वह स्वप्न आदि में स्वप्न जगत् का वेष धारण करती है वैसे केवल विवर्त से सारे जगत् का वेष धारण करती है, इस सर्वार्थसाधक निर्मल सिद्धान्त को मान लेने में कौन दोष है ? ॥३॥

उसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं ।

अति निर्मल संवित् ही अपने स्वरूप में भासित होती है, यह कथन 'वही जगत है' यों परमार्थ सत्यस्वरूप अधिष्ठान के बल से तथा 'यह सब ब्रह्म ही है' इत्यादि यथार्थवादिनी श्रुति के बल से सत्य ही है, यह सिद्धान्त रहस्य हम पहले ही कह चुके हैं ॥४॥ न तो कहीं पर पाँच भूत हैं और न घट, दीवार आदि भौतिक पदार्थ ही हैं, किन्तु फिर भी जैसे स्वप्न आदि में भूतभौतिकशून्य चिति ही भूतभौतिक के समान सबको दिखलाई देती है वैसे ही जाग्रत में असत् भी भूतभौतिक पदार्थ चितिबल से सत्य-से अनुभूत होते हैं ॥५॥ जैसे स्वप्न में चित्स्वभाव आत्मा ही नगर पर्वत, आदि के तुल्य प्रकाशित होता है वैसे ही जाग्रत में भी वह सत् चित् सुखरूप आत्मा जगत् के समान प्रकाश में आता है ॥६॥ मैं चेतनाकाश ही हूँ, यह जगत् भी चेतनाकाश रूप ही स्थित है, इसलिए मैं और जगत् दोनों एक ही हैं । वस्तुतः केवल शिला के समान ठोस चिदाकाश का ही अस्तित्व है ॥७॥ जो आदि सृष्टि में जगत् की उत्पत्ति है और कल्प में (प्रलय में) उसकी निवृत्ति है अथवा जो जगत् की स्थिति है, वह निराकार चिदाकाश ही है ॥८॥ निर्मल आत्मस्वरूप के ज्ञात हो जानेपर जो दुःखलेशशून्य अक्षय सुखता (भूमानन्दरूपता) है, वही मोक्ष है । उक्त मोक्ष देह के रहते या न रहते एक सा है । (जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति में कोई भेद नहीं है) । उस मोक्ष में पूर्ण निर्भर विश्राम आपको प्राप्त हो उतने से ही आपकी कृतकृत्यता है ॥९॥

एक सौ चारवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पाँचवाँ सर्ग

चित् का ही जाग्रत के तुल्य और चित् का ही स्वप्न के तुल्य भान होता है,
इसलिए जाग्रत और स्वप्न में कोई अन्तर नहीं है, यह वर्णन ।

जगत् की पूर्वोक्त स्वप्नसमानता का विस्तार से वर्णन करने के लिए पृष्ठभूमि तैयार करते हैं ।

चित्स्वभाव आत्मा अपनी कलनारूप अपने से अभिन्न स्वभाव जगदाकारका स्वयं अनुभव करता हुआ स्थित है । अर्थात् स्वप्न में जिस प्रकार आत्मा अपने से अभिन्न अपनी कल्पनारूप पुर, नगर आदि का अनुभव करता हुआ स्थित रहता है वैसे ही जगदाकार अपने स्वभाव का अनुभव करता है, जो अपने से अनन्य (अभिन्न) है और अपनी ही कल्पना है ॥१॥ यह जाग्रत् निरा स्वप्न है, जो कि जगत्रूप से त्यक्त न होता हुआ अज्ञानरूप ही है, मूलतः शिलारूप ही है और अधिष्ठान रूप से शून्य आकाश ही है ॥२॥

स्वप्न भी ऐसा ही होता है, अतः वही इसका ठीक–ठीक उदाहरण है, यह कहते हैं ।

इस विषय में विविध नगरों से अलंकृत स्वप्न ही दृष्टान्त है, स्वप्न में जगत् का नामलेश भी नहीं रहता फिर भी वह इसी प्रकार देदीप्यमान प्रतीत होता है ॥३॥ जैसे स्वप्न में यह असत् ही त्रैलोक्य अवभासित होता है वैसे ही इस जाग्रत् अवस्था में भी अवभासित हो रहा है, इसमें जरा भी स्वप्न से निरालापन नहीं है ॥४॥ जगत्–शब्द के अर्थ का (जगत् का) न तो जाग्रत में संभव है और न स्वप्न में ही संभव है, वस्तुतः चिदाकाश का जो स्वकीय अवभासन है उसे ही अज्ञानीजन जगत् मान बैठे हैं ॥५॥ अपने आप होनेवाले चिदाकाश ने अन्धकार से आवृत आत्मरूप आकाश में पर्वत, नगर आदि का स्वरूप धारण करनेवाले अपने चमत्काररूप तम को जाग्रत स्वप्न में जगत् समझा है ॥६॥ यह जगत् कुछ नहीं है (शून्य है), भास्यमान जगत् के शून्य होने से उसका भासक चित् का रूप भी कुछ नहीं है । ये अत्यन्त असत् चित्त और जगत् (ग्राह्य और ग्राहक) ब्रह्म में मिथ्या ही भासित होते हैं ॥७॥ जैसे स्वप्नावस्था में भासित हुआ त्रेलोक्य वास्तव में कुछ नहीं है, शून्य है वैसे ही जाग्रत् अवस्था में भी भासित हो रहा यह त्रैलोक्य स्वरूपहीन (निराकार) शून्य ही है ॥८॥ हे महात्मन्, विविध प्रकार के गृह, उपवन आदि की निर्मितियों से शोभायमान स्वप्न में आरम्भ अनारम्भ ही है और असत् सत् के समान व्याप्त है ॥९॥ ब्रह्म ही अत्यन्त विस्तृत शून्यरूप आकाश पहले बना और भूताकाश ही क्रमशःवायु आदि बनकर पर्वतसमूह और विविध नगरों का समूह बना, यह महान् आश्चर्य है ॥१०॥ जैसे स्वप्न में मेघों, सागरों और पर्वतों की गर्जन आदि ध्वनि सोये हुए एक स्वप्नद्रष्टा पुरुष के प्रख्यात होने पर पास में सोये हुए दूसरे के (स्वप्न के अद्रष्टा के) प्रति शून्य ही है, क्योंकि पास में सोया हुआ पुरुष जागकर भी मेघ आदि या उनके गर्जन को कुछ भी नहीं सुनता, वैसे ही जाग्रत् शब्द आदि भी शून्य ही हैं ॥११॥ जैसे उत्पन्न न हुआ भी वन्ध्यापुत्र स्वप्न

में उत्पन्न होता है वैसे ही उत्पन्न न हुआ भी यह जाग्रत–जगत् उत्पन्न हुआ–सा प्रतीत होता है एवं जैसे मरकर उत्पन्न हुआ भी पुरुष अपनी मृत्यु की विस्मृति होने पर मैं उत्पन्न नहीं हुआ हूँ, यों समझता है वैसे यह जगत् उत्पन्न हुआ भी अनुत्पन्न ही है ॥१२॥ जैसे स्वप्न में सोये हुए पुरुष का अपनी शयनभूमि का अननुभव उसकी असत्ता सिद्ध करता है वैसे ही सत् वस्तु असत् हो जाती है और सब कुछ विपर्यास को प्राप्त हो जाता है जैसे कि रात्रि ही दिन हो जाती है ॥१३॥ स्वप्न जो असत् है वह शीघ्र ही संभव हो जाता है जैसे कि दिन ही रात्रि हो जाता है और असंभव संभव हो जाता है जैसे कि अपनी मृत्यु का दर्शन ॥१४॥ स्वप्न में असंभव संभव हो जाता है जैसे कि आकाश में जगत् का भान, अन्धकार ही महान प्रकाश बन जाता है और जो निद्रायुक्त (रात्रि) है, वह दिन बन जाता है ॥१५॥ प्रकाश ही अन्धकार बन जाता है क्योंकि उल्लू आदि की नींद ऐसी देखी जाती है कि उसमें दिन ही स्वप्नहेतु (रात्रि) बन जाते हैं ॥१६॥ स्वप्न में गड्ढे में गिरने का अनुभव होने पर शयन भूमि ही गर्ताकाश (गड्ढा) बन जाती है। जैसे स्वप्न में असत्यरूप ही जगत् का इस तरह भान होता है वैसे ही जाग्रत का भी मिथ्या ही भान होता है। स्वप्नजगत् एवं जाग्रत्–जगत् दोनों में तनिक भी अन्तर नहीं है ॥१७॥ जैसे दो (कल का और आज का) सूर्य एक–से होते हैं जैसे दो युग्मज यानी जुड़वे पुरुष एक–से होते हैं वैसे ही ये जाग्रत और स्वप्न भी एक–से हैं। इनमें तनिक भी विलक्षणता नहीं है ॥१८॥

पूर्वोक्त जाग्रत और स्वप्न की समता का खण्डन कर उसमें विलक्षणता दिखला रहे श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, जाग्रत् और स्वप्न में तनिक भी अन्तर नहीं है, ऐसा जो आपने कहा, वह ठीक नहीं है, क्योंकि स्वप्न में तो तुरन्त ही स्वप्न का बाध करनेवाली जाग्रतप्रतीति होती है, उसके देखने से मन में अपने आप ही स्वप्न की आभासता का अनुभव हो जाता है, अतः जाग्रत् स्वप्न के तुल्य कैसे हो सकता है ? ॥१९॥

केवल इतने से ही जाग्रत्–जगत् की स्वप्न जगत् से विलक्षणता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि भिन्न देशवाली जाग्रत्प्रतीति स्वप्नप्रतीति की बाधक नहीं हो सकती। स्वप्न–स्थान में निद्रायुक्त स्वप्नदेहस्थ पुरुष स्वाप्न बन्धुबाधवों को देखता है स्वप्नदेह के निवृत्त होने पर निद्रारहित जाग्रत्–देहस्थ होकर स्वप्न में देखे हुए बन्धु आदि की असत्ता का अनुभव करता है। अन्य देश में अन्य देह से देखे गये पदार्थों का–देहान्तर और देशान्तर में अन्य का दर्शन होने पर–अदर्शन उनका बाध नहीं कहा जा सकता। पूर्वजन्म के बन्धु–बान्धवों का इस जन्म में दर्शन न होने से बाध भी तो है ही, इस प्रकार जाग्रत और स्वप्न में समता ही है, विषमता नहीं है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : रघुवर, यह स्वप्न देखनेवाला पुरुष स्वप्न संसार में स्वप्न संसार के

अपने बन्धु-बान्धवों के साथ विहार कर स्वप्नदेह-निवृत्तिमय मृत्यु को प्राप्त होता है, स्वप्न संसार में मरकर स्वप्न के प्राणियों से वियुक्त होकर जीव जाग्रत संसार में अनेकानेक सुख-दुःख दशाओं, भ्रान्तियों तथा रात्रि और दिन के विपर्यासों का अनुभव कर स्वाप्न शरीर का त्याग करता है। फिर नींद टूट जाने के कारण निद्रा के अन्त में शयन देश में उत्पन्न होता है और जाग्रत्-देह से सम्बद्ध होता है। तदुपरान्त ये स्वप्न संसार में मृत्यु को प्राप्त होकर (स्वप्न शरीर का त्याग करके) दूसरे जाग्रन्मय स्वप्न को देखने के लिए पुनः जाग्रत्-शरीर से सम्बद्ध होता है वैसे ही जाग्रन्मय स्वप्न देखनेवाला जाग्रत्संसार में मृत्यु को प्राप्त होकर दूसरे जाग्रन्मय स्वप्न देखने के लिए फिर पैदा होता है ॥२०-२५॥ जैसे जाग्रत् में मरकर अन्य जाग्रत् में उत्पन्न हुआ पुरुष पूर्वजाग्रत-प्रपंच में वह स्वप्न तथा असत् था इस प्रकार की प्रतीति को प्राप्त नहीं होता वैसे ही एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न को प्राप्त हुआ पुरुष उत्तर (बाद के) स्वप्न में जाग्रत् प्रतीति ग्रहण करता है। उत्तर स्वप्न में जाग्रत्प्रतीति जैसे भ्रान्ति है वैसे ही पूर्वजाग्रत् में स्वप्नता और असत्ता का ग्रहण भी मूढताप्रयुक्त (भ्रम) ही है। फिर स्वप्न में भी अन्य स्वप्नदर्शन का अनुभव करता हुआ स्वप्न का ही जाग्रतरूप से अनुभव करता है इस प्रकार जाग्रत स्वप्न नाम की दोनों अवस्थाओं में जीव न स्वतः उत्पन्न होता है और न मरता है किन्तु तत्-तत् (जाग्रत स्वप्न के) शरीरों में अभिमान के ग्रहण और त्याग द्वारा जन्म लेता है तथा मरता है ॥२६-२८॥ स्वप्न देखनेवाला जीव स्वप्न में मरकर जाग्रत में जागा हुआ कहलाता है और यहाँ (जाग्रत् में) मरा हुआ स्वप्न में जागा हुआ कहलाता है। इस तरह स्वप्न और जाग्रत की समता ही है विषमता नहीं है ॥२९॥ इस प्रकार एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में स्थिति होने पर दूसरा स्वप्न ही पहले स्वप्न की अपेक्षा वर्तमान होने से विशेष दर्शन यानी जाग्रत् होता है इसी प्रकार जाग्रत में मरकर अन्य जाग्रत्रूप स्वप्न में जागे हुए पुरुष का पूर्व जाग्रत अवश्य स्वप्न है ॥३०॥ जाग्रत और स्वप्न दोनों ही उपन्यासमय (ग्रंथ के कथा के अर्थ के समान काल्पनिक) ही हैं यथार्थ नहीं है, इसलिए दोनों परस्पर एक दूसरे के उपमान-उपमेय बने हुए हैं ॥३१॥

'इतीहासमयौ' ऐसा दीर्घ पाठ होने पर 'स्वप्न और जाग्रत् कुछ विलक्षण होने पर भी' यह अर्थ है। उक्त पाठ में इति, इह, असमं विषमं यात असमयौ ऐसी व्युत्पत्ति करनी चाहिये। 'इतीहासन्मयौ' यह पाठ ठीक है। इस पाठ में जाग्रत और स्वप्न दोनों ही इस तरह असन्मय ही है, यह अर्थ है इस पाठ में जाग्रत और स्वप्न दोनों ही इस तरह असन्मय ही है, यह अर्थ है।

वर्तमान दशा में तो स्वप्न भी जाग्रत के तुल्य ही स्पष्टतया प्रतीत है, अतीत जाग्रत् भी प्रसिद्ध स्वप्न के समान ही उदित होता है। वास्तव में दोनों असत् हैं केवल चिदाकाश का ही स्वप्न जाग्रत के रूप में स्फुरण होता है ॥३२॥ स्थावर और जंगम समस्त प्राणी विचार करने पर चिन्मात्र के सिवा और क्या ठहरते हैं, कुछ भी नहीं ठहरते॥३३॥ जैसे मृण्मय (मिट्टी का बना) पात्र मिट्टी से रहित हो यह कदापि संभव नहीं है वैसे काठ, पत्थर आदि सकल वस्तुएँ भी चित्-चमत्काररूप ही

है, उससे अतिरिक्त नहीं है ॥३४॥ जैसे हमारे स्वप्न की सकल वस्तुएँ चित् के चमत्काररूप हैं वैसे ही जाग्रत की भी सब वस्तुएँ चित्चमत्कार रूप ही हैं । भला बताइये तो सही स्वप्न में जो पत्थर दिखाई देता है वह चित् के चमत्कार को छोड़कर और क्या हो सकता है ? हे प्राज्ञ, इस विषय में विद्वानों के साथ युक्तिपूर्वक विचार विनिमय द्वारा निश्चय कीजिये । विचार-विनिमय द्वारा तत्त्वदृष्टि होने पर वह स्वप्न पत्थर प्रसिद्ध चित् ही ठहरेगा । जैसे स्वप्न का स्वरूप है हूबहू ठीक वैसा ही स्वरूप जाग्रत् का भी है ॥३५,३६॥ इसलिए अध्यारोपपक्ष में चिन्मात्र ब्रह्म ही जगत् के आकार से विभक्त है और अपवादपक्ष में तो समस्त जगत् चिन्मात्र ब्रह्म हो गया है ॥३७॥ जैसे मिट्टीमयपात्र मिट्टी से विहीन नहीं दीखता वैसे ही चिन्मयचेत्य (जगत्) चित्-शून्य (चिद्व्यतिरिक्त) नहीं दिखाई देता ॥३८॥ जैसे पत्थर का बना हुआ पात्र पत्थर-विहीन नहीं दीखता वैसे ही चिन्मय चेत्य (जगत्) भी चित्भिन्न नहीं मालूम होता ॥३९॥ जैसे द्रवरूप जल द्रवहीन नहीं पाया जा सकता वैसे ही चिन्मय चेत्य चित्व्यतिरिक्त नहीं हो सकता । जैसे उष्णतारूप अग्नि उष्णताशून्य मिले यह कदापि सम्भव नहीं है, वैसे ही चिन्मय चेत्य (जगत्) चिद्व्यतिरिक्त कदापि प्राप्त नहीं हो सकता है ॥४०,४१॥ स्पन्दमय (चलन-स्वभाव) वायु कदापि स्पन्दशून्य नहीं प्राप्त हो सकता वैसे ही चिन्मय चेत्य चित्-शून्य कदापि नहीं मिल सकता ॥४२॥ जो वस्तु जिससे बनी है उसके बिना वह कैसे प्राप्त हो सकती है । आकाश अशून्य कहाँ मिलता है और पृथ्वी अमूर्त कहाँ प्राप्त हो सकती है ? ॥४३॥ जैसे स्वप्न में घट, पट आदि पदार्थ चिदाकाशमय ही हैं वैसे ही ये जगत् के पर्वत, नगर आदि एकमात्र चिदाकाश के आभास हैं ॥४४॥ हे सुन्दर, जैसे स्वप्न में प्रसिद्ध नगर, पर्वत, गृह आदि संविन्मय (चिन्मय) आकाश ही हैं वैसे ही जाग्रत में प्रसिद्ध नगर, पर्वत आदि भी संविन्मय गगन ही है । इस प्रकार स्वप्न और जाग्रत विकल्पशून्य असीम अखण्ड चिन्मात्ररूप ही सिद्ध हुए । इस प्रकार के तत्त्व के विषय में वादियों का विवाद वृथा है ॥४५॥

एक सौ पाँचवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ छठवाँ सर्ग

विविध लक्षणों से पुनः चिदाकाश का प्रदर्शन-सा किया जाता है और चिदाकाश ही जगत् है इसका विस्तार से वर्णन।

विस्तार से वर्णित जगत् की स्वप्न-तुल्यता से जिस प्रकार का चिदाकाशमात्र तत्त्व ज्ञातव्य है, उसके स्वरूप का पहले एक बार नहीं सैकड़ों बार वर्णन हो चुका है तथापि शायद किन्हीं मन्दमतियों की समझ में न आया हो इस तरह की संभावना कर उसके ऊपर दयावश पुनः उसीका स्वरूपलक्षण और तटस्थलक्षणों से खूब भलीभाँति उपपादन सुनने के लिए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, जिसे आप परब्रह्म, चिदाकाश कहते हैं, उसका क्या स्वरूप है ? कृपया और कहिए । यद्यपि आप पहले भी उसका लक्षण कह आये हैं, फिर भी आपके

मुखारविन्द से इस अमृत के तुल्य मधुर विषय को सुन रहे मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ॥१॥

पूर्व प्रस्तुत श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न का उत्तर देने के लिए श्रीवसिष्ठजी जाग्रत स्वप्न की तुल्यता का रामचन्द्रजी के प्रश्नोत्तर की पूर्वपीठिका के रूप से अनुवाद करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : जैसे समान रूपरेखावाले दो यमज (जुड़वे) भाइयों के, व्यवहार के लिए, दो पृथक् नाम रक्खे जाते हैं वैसे ही अखण्ड चिद्रूपी शिलामय (अखण्ड-चिद्रूपी शिला में प्रतिबिम्बितप्राय) समान रूपरेखावाले जाग्रत-स्वप्नरूप दोनों प्रपंचों के दो नाम रक्खे जाते हैं ॥२॥ दो जलों की तरह वस्तुतः इन दोनों में (जाग्रत् और स्वप्न में) भेद नहीं है, ये दोनों निर्मल चिन्मात्र आकाशरूप एक ही हैं ॥३॥

उक्त चिदाकाश के पूर्वोक्त लक्षण का स्मरण कराते हुए प्रथम कहते हैं।

एक देश से दूसरे देश में पलक भर में गई हुई संवित् का मध्य में जो निर्विषय रूप है, वही चिदाकाश कहा जाता है ॥४॥ जड़ों से पृथिवी का रस खींचते हुए वृक्ष का जैसा ह्रासवृद्धिशून्य आह्लादभाव प्रसिद्ध है वैसा ही चिदाकाश कहा जाता है ॥५॥ जिसकी सकल कामनाएँ निवृत्त हो चुकी हों, चित्त शान्त हो चुका हो, उस पुरुष का जैसे सकलविषमताशून्य सहजसुखस्वरूपानुभव है (कारण कि निर्विक्षेप दशा में 'मैं सुखपूर्ण हूँ' ऐसा सबको अनुभव होता है) वैसा ही चिदाकाश है ॥६॥ निद्रा आने के पूर्व और जागरण के अन्त में (नींद न आई हो तुरन्त आने ही वाली हो, जाग्रत में मन को भटकानेवाले विषयों का नाश हो गया हो याने जाग्रत के अन्त में) स्वस्थ पुरुष का जो भाव है, वह चिदाकाश कहलाता है ॥७॥ वर्षाऋतु या शरद्ऋतु में वृद्धि को प्राप्त हो रहे पेड़, पौधे और झाड़ियों का जो ममताहीन आनन्दभाव है, वह चिदाकाश कहा जाता है ॥८॥ बाह्य विषय और आभ्यन्तर विषयों के भोग से रहित जीवित पुरुष का शरद ऋतु के आकाश के समान स्वच्छ जो भाव है, वही चिदाकाश है ॥९॥ ब्रह्मा ने काठ, पत्थर और पर्वतों की जो निश्चेष्ट स्थिति का निर्माण किया है वही यदि चेतन जीवों की सत्तात्मस्थितिरूप हो तो वह चिदाकाश कहा जाता है ॥१०॥ जिससे सुषुप्ति के साक्षी, स्वप्न और जाग्रत के द्रष्टा, दर्शन और दृश्यरूप त्रिपुटी का उदय होता है और जिसमें अस्त होता है, उसे आप निर्विकार चिदाकाश जानिये ॥११॥ विविध प्रकार के सभी पदार्थज्ञान जिससे ही उदित होते हैं और जिसमें ही आलोचन, विमर्श, अध्यवसाय, हेय और उपादेयरूप से उत्तरोतर परिणत होते हैं वह चिदाकाश कहा जाता है ॥१२॥ जिसमें सब कुछ लीन होता है, जिससे सब उदित होता है, जो सर्वस्वरूप है, जिसने सबको सर्वतः व्याप्त कर रक्खा है और जो सदा सर्वमय है, वह चिदाकाश कहा जाता है ॥१३॥ स्वर्ग में, भूमि में, बाहर तथा अपने अन्दर और दूसरे के अन्दर जो समनाम का ज्योतिस्वरूप परमतत्त्व भासता है, वह चिदाकाश कहा जाता है ॥१४॥ जिस नित्य असीम विराट् में मजबूत तारों में माला की तरह मूर्त और अमूर्त यह सारा जगत् स्थित है और जिससे उदित हुआ है, वह चिदाकाश है ॥१५॥ जिससे सृष्टि और

प्रलयरूप सब विकार उत्पन्न होते हैं, जिसमें लीन हो जाते हैं और जो सबका उपादान कारण है, वह चिदाकाश है । *(इससे 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इस श्रुति से उक्त तटस्थ लक्षण दिखलाया)* ॥१६॥ सुषुप्ति और प्रलयरूप निद्रा के निवृत्त होने पर जिस प्रत्यगात्मा से विक्षेपशक्तिवश जाग्रत स्वप्नरूप और आकाशादिस्वरूप विश्व का आविर्भाव होता है और विक्षेपशक्ति के शान्त होने पर पूर्वोक्त विश्व विलीन हो जाता है, वह चिदाकाश कहलाता है ॥१७॥ जिसके उन्मेष और निमेष से (पलक उठाने और गिराने से) जगत् सत्ता के प्रलय और उदय (📖) होते हैं, स्वानुभवरूप जो अपने हृदय में स्थित है, उसे आप चिदाकाश जानिये ॥१८॥ यह नहीं है, यह नहीं है इस प्रकार सब तरह से भलीभाँति निर्णय कर जो कुछ नहीं है, सदा सर्वरूप वह चिदाकाश कहलाता है । इस प्रकार सर्वनिषेध का अवधि सर्वात्मरूप उसका लक्षण बतलाया है ॥१९॥ आधे पलक में (झटपट) दूर से एक देश से दूसरे देश की प्राप्ति में मध्य में जो संवित् का रूप है वह चिन्मात्ररूप कहा गया है । *(अर्धोन्मेष इसलिए कहा कि विलम्ब होने पर वृत्ति का विच्छेद होने या अन्य विषय का सम्पर्क होने से शुद्ध चिदाकाश नहीं पहिचाना जा सकता । उपक्रम में उक्त का पुनः कथन उपसंहार जतलाने के लिए है)* ॥२०॥

चिदाकाश के लक्षणों के निरूपणकर उसकी अद्वितीयता की सिद्धि के लिए विश्व की तन्मयता दर्शाते हैं ।

बाह्य विषय भोगों और आभ्यन्तर विषयभोगों से युक्त तथा इस प्रकार का यथाभूत तथा यथास्थित यह सारा का सारा विश्व चिन्मय ही है ॥२१॥

ऐसी परिस्थिति में प्रलयअवस्था से सृष्टि अवस्था की भेदप्रतीति कैसे हो गयी इस आशंका पर कहते हैं ।

निर्मल आकारवाला अनन्यरूप (एकरूप) होता हुआ भी यह चिदाकाश थोड़े से विकास से अन्य-सा (भिन्न-सा) हो जाता है ॥२२॥

उक्त अन्यताभ्रान्ति वासनावश होती है, जिसे वासना नहीं है, उसे उक्त भ्रम नहीं होता, ऐसा कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इन्द्रियों से पदार्थों का अनुभव करते हुए ही आप वासनाशून्य अन्तःकरण होकर निरतिशय आनन्दरूप चिदात्मा के ज्ञान से युक्त हो सुषुप्ति की तरह स्थित होइये ॥२३॥ वासनाविहीन शान्तचित्त आप चैतन्य रहते पाषाणवत् मौन धारणकर आत्मानन्द में निमग्न होकर बोलिये, भ्रमण कीजिये, पीजिये, भोजन कीजिये ॥२४॥ यह जो दृश्य आपके आगे दिखते हैं, इसका मृगतृष्णा-जल के समान तथा चन्द्रमा में प्रतीत हो रहे द्वैत (द्वित्व) के समान किसी प्रकार

(📖) उन्मेष - चरम साक्षात्कारवृत्ति के आविर्भाव से - जगत् की सत्ता का लय होता है । निमेष से-स्वप्नरूप के आवरण से जगत्-सत्ता का उदय होता है ।

भी संभव नहीं है ॥२५॥ कारण के अभाववश यह सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न ही नहीं हुआ । क्योंकि कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती ॥२६॥ यदि कहिये कि जो कोई बीज से अंकुर आदि कार्य, अन्वय-व्यतिरेक के दिखाई देने से बिना कारण के उत्पन्न होता है, वह भी बिना कारण के उत्पन्न नहीं होता उसकी उत्पत्ति भी अद्वय ब्रह्म से ही होती है ।

शंका : निर्विकार अद्वितीय ब्रह्म से अंकुर आदि की उत्पत्ति कैसे होगी ?

उत्तर : यथास्थित परमरूप ही उद्भूत-सा (विकसित हुआ-सा) प्रतीत होता है ॥२७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्यों-का-त्योंही वह पूर्वरूप स्थित रहता है फिर भी जैसे अद्वितीय भी चन्द्रबिम्ब भ्रान्ति होने पर द्वित्व से युक्त होता है वैसे ही वह भी भ्रान्ति से उद्भूत प्रतीत होता है ॥२८॥

अद्वितीय ब्रह्म ही वह है तो उसमें अन्यथा ज्ञान कैसे होता है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं।

अद्वितीय ब्रह्म में यह जगत् है इस तरह का जो दृढ़ प्रत्यय होता है, वह अनादि काल से प्राप्त होता अज्ञान से हुआ स्वप्नस्त्री समागम के तुल्य है ॥२९॥ इसलिए न तो दृश्य उत्पन्न हुआ है, न इस समय है और न आगे होगा तथा न नष्ट होता है, जो है ही नहीं, उसका नाश क्या होगा ? ॥३०॥ विश्व (जगत्) परम शान्त चिदाकाश ही है, चिदाकाश ही विश्व के आकार से स्थित है । वह परिणामवश जगत् के आकार से परिणत नहीं हुआ, किन्तु अपने स्वरूप से च्युत हुए बिना स्वस्थ सौम्य वह जगत् सा उदित हुआ है ॥३१॥

यदि कोई प्रश्न करें कि परिणाम से वह जगद्रूप क्यों नहीं होता ? तो इसपर उसकी (दृश्य की) ब्रह्मसमानसत्ता का अभाव होने के कारण उसका (द्रष्टाका) जगद्रूप परिणाम नहीं होता, ऐसा कहते हैं ।

जो यह दृश्य है यह कभी पहले सत् नहीं देखा गया है, पदार्थों के अभाव से द्रष्टा भी नहीं देखा गया, अतः द्रष्टता भी नहीं है ॥३२॥

यदि द्रष्टा और दृश्य अत्यन्त असत् हैं, तो उनकी प्रतीति कैसे होती है ? अत्यन्त असत् का तो कहीं भान नहीं दिखाई देता, यों श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं ।

हे ब्रह्मन्, यदि द्रष्टा और दृश्य असत् हैं, तो कृपया कहिये कि यह द्रष्टा और दृश्य का अवभास क्यों और कैसे होता है ? यद्यपि हे वक्ताओं में सर्वश्रेष्ठ, भगवन्, आप इस विषय का प्रतिपादन पहले कर चुके हैं तथापि पुनः कहने की कृपा कीजिये ॥३३॥

श्रीरामचन्द्रजी की शंका में प्रथम श्लोक द्वारा असत् के भान का संभव स्वीकार कर द्वितीय श्लोक द्वारा सत् परमात्मा का ही माया वश वैसा भान होता है, यह उत्तर देते हैं ।

कारण के अभाव से असद्रूप दृश्य की उत्पत्ति का ही संभव नहीं है, इसकी 'दृश्यता' वह भी प्रौढिनिर्देश है, प्रौढिवाद का अत्यन्त असंभव है ॥३४॥

अतएव यह द्रष्टा, दृश्य असत् का रूप नहीं है, किन्तु परमार्थ ब्रह्म का रूप है, ऐसा कहते हैं ।

द्रष्टा दृश्य भ्रमरूप जो यह जगत् आदि कुछ भासता है, उसे आप परमात्मा का परम रूप जानिये ॥३५॥

यह परमात्मा का ही रूप है, यह कैसे जाना ? इस आशंकापर स्वप्नदृष्टान्त से जाना, यह कहते हैं ।

जैसे स्वप्न में चिन्मात्र ब्रह्म ही आकाश–उपवन बनता है वैसे ही चिन्मात्र अपने में अपने आप जगद्रूप से भासित होता है ॥३६॥

यदि कोई कहे कि तब इसकी स्वप्नसमानता कैसे है, तो सकल कारणकलापशून्य सुषुप्तितुल्य प्रलय से आविर्भूत होने के कारण ही यह स्वप्नसमान है, ऐसा कहते हैं ।

यहाँ आदि सृष्टि से लेकर कहीं पर भी कुछ भी उपादान कारण नहीं है, केवल ब्रह्म ही इस प्रकार जगत् के रूप से स्फुरित होता है ॥३७॥ अपने आप आत्मा में चिदाकाश का जो विशेष स्फुरण होता है, वह उसीका जगत् नाम से आविर्भूत शरीर अवभासित होता है, चिदाकाश स्फुरण के अधीन इसका स्फुरण है, इससे भी यह स्वप्नतुल्य है ॥३८॥

निर्धर्मक चिदाकाश की जगद्धर्मकता कैसे ? ऐसी आशंका होने पर मायिक विकल्प से ही उसकी जगद्धर्मकता है, यों दृष्टान्त से उपपादन करते हैं ।

जैसे भाव पदार्थ का स्वभाव भावता है जैसे शून्य का शून्यता स्वभाव है तथा जैसे आकारवान् का आकार स्वभाव है वैसे ही चिदाकाश का जगत् स्वभाव है ॥३९॥ सैन्धवघन के समान एकरस परमार्थवस्तु ही माया में चिदाभास इस प्रकार त्रिपुटीरूप होकर स्थित है, द्रष्टा, दृश्य, दर्शन आदि रूप इसीको जानिए ॥४०॥ माया का त्याग होने पर तो द्वैत का अभाव होने से न भासक है और न भासन है, अनिवर्चनीयरूप यह सत् है या असत् है यह कौन जानता है, क्योंकि बाधित का विचार ही क्या हो सकता है ? ॥४१॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, 'न भास्य है और न भासन है' आपके इस कथन के अनुसार यदि परमार्थ तत्त्व द्रष्टा और दृश्य दोनों से शून्य है, तो कार्य कारणतादिरूप भेद कैसे है ? द्रष्टा के बिना किसीकी सिद्धि नहीं हो सकती है । और दूसरी बात यह कि वह किस उपदान कारण या निमित्त कारण से आया । यदि असत्य ही है, कहें तो कैसे सत्यता को प्राप्त हुआ अर्थात् कैसे सब लोगों को सत्यरूप से भासित होता है ? यह मुझे बतलाने की कृपा करें ॥४२॥ पहले प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, अपना आत्मा भी चित्प्रकाश (ईश्वर) स्वयं जब प्राणियों की इच्छा, कर्म और वासना के उद्बोधानुसार जिसकी जिस प्रकार (सत्यसंकल्परूप से) भावना करता है, उसको उस समय आप वैसे ही देखते हैं और आपके रूप से उसी ने पूर्वोक्त द्रष्टा दृश्य भाव का अनुभव किया । इससे कार्यकारणभावादि भेद की सिद्धि है ॥४३॥ वह कार्यकारण भावादि आकार चिदाकाश ही है जैसे कि मिट्टी ही घड़ा है,

इसलिए चिदाकाश ही इसका उपादान कारण है और मोह (अज्ञान) ही निमित्तकारण है।

शंका : यह कैसे प्रतीत होता है ?

उत्तर : चूँकि यह स्वरूपभूत चिदाकाश का ज्ञान होने पर ही मोह को प्राप्त नहीं होता अन्यथा मोह को प्राप्त होता है । जैसे स्वप्न में स्वयं ही मोह को प्राप्त होता है, आत्मबोध से मोह का त्याग करता है।

शंका : आत्मबोध में समर्थ ईश्वर स्वयं जीव बनकर क्यों मोह को प्राप्त होता है, क्यों प्रबुद्ध नहीं होता ?

उत्तर : स्वतन्त्र ईश्वर से 'आप समर्थ होकर भी क्यों मोह में पड़ते हैं ?' – ऐसा प्रश्न या आक्षेप करनेवाला कौन है ? अर्थात् कोई नहीं ॥४४॥ दुग्धभाव से दधिभाव की प्राप्ति में और पिण्डभाव से घटभाव की प्राप्ति में पूर्वभाव की निवृत्ति होने और उत्तरभाव की उत्पत्ति न होने पर मध्य में पलकभर के लिए जो सन्मात्ररूप से प्रसिद्ध परमार्थ सत्य संवित् का स्वरूप है, वही चिदाकाश है, यह मैं पहले कह चुका हूँ । वही (चिदाकाश ही) यह सब वस्तुरूप से प्रतीत होता है अन्य नहीं, इसलिए इन सब पर सत्यता की प्रतीति हुई है ॥४५॥

जैसे ईश्वर की जीवभाव कल्पना पर कोई आक्षेप करनेवाला नहीं है वैसे ही जीव की भी अपनी अविद्या से कार्यकारणरूप अवस्थाओं की (द्रष्टा, दृश्य और दर्शनरूप अवस्थाओं की) कल्पना में भी आक्षेप करना युक्त नहीं है, यह कहते हैं।

यह अविद्या से उत्पन्न हुई कार्यकारणभाव आदि दृष्टियों की जगत् की नाईं कल्पना करता है। इसके प्रति आक्षेपकर्ता कौन हो सकता है ? कोई भी अपने प्रति 'मैं किसलिए ऐसा करता हूँ,' – यों प्रश्न या आक्षेप नहीं कर सकता है, यह भाव है ॥४६॥

आत्मा से अन्य के कर्ता और भोक्ता होने पर तो प्रश्न या आक्षेप हो ही सकता है, ऐसा कहते हैं।

यदि द्रष्टा, भोक्ता और कर्ता कोई दूसरा हो तो कार्यकारण आदि भेद कैसे है और कौन इसका उपादान है ? यह प्रश्न बन सकता है, अन्यथा नहीं ॥४७॥ जिस स्वप्न में निराभास शुद्ध एक चिदाभास ही अनेक रूपों से विराजमान होता है, वहाँ पर कौन किसपर आक्षेप करे ? ॥४८॥ स्वयम्भू से लेकर ही यह सृष्टिभ्रान्ति तत्त्व के परिज्ञान के अभाव से चिन्मात्र में प्रतीत होती है, तत्त्वज्ञान होने पर तो वह तत्काल ब्रह्म ही हो जाती है ॥४९॥ यह सृष्टिभ्रान्ति ही तत्त्वतः परिज्ञात न होकर शास्त्रों में माया के नाम से पुकारी जाती है, लोक में 'जगत्' नाम से कही जाती है, अज्ञानियों द्वारा 'अविद्या' कही जाती है और तत्त्वज्ञानियों द्वारा 'दृश्य' नाम से वर्णित है ॥५०॥ जैसे अविद्यमान पिशाच भी बालक को अपनी कल्पनावश विद्यमान-सा प्रतीत होता है वैसे ही चिदाकाश प्रकाश को अपना चित्स्वभाव, जो पृथक् सत् न होता हुआ भी सत्-सा जगत्-पिशाच

के रूप में ज्ञात हुआ है ॥५१॥

जैसे स्वप्न में असत् में सत् प्रतीति और निरवयव में सावयव प्रतीति होती है वैसे ही यहाँ पर भी समझना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

यद्यपि जगत्ता असत्य है, तथापि चिदाकाश को अपने स्वरूप में ही उस का अनुभव होता है । जैसे स्वप्न में चैतन्य की नगरता और पर्वतता असत्य होते हुए भी सत्य–सी निरवयव होते हुए भी सावयव–सी प्रतीत होती है वैसे ही यह जगत्ता सत्य और सावयवी प्रतीत होती है ॥५२॥ मैं मेरु, हिमालय आदि पर्वत हूँ, मैं रुद्र हूँ, मैं समुद्र हूँ, मैं विराट् हूँ, यों स्वप्न में पर्वतता और नगरता की प्रतीति की भाँति आकाश में चिति ही अहंता के अध्यास से अनुभव करती है ॥५३॥

चित्–अनुभव ही सर्ग है, यह क्यों कहते हैं ? प्रधान, परमाणु आदि अन्यान्य कारणों से ही यह उत्पन्न हुआ है, यह क्यों नहीं कहते, इस आशंका पर कहते हैं ।

साकार कारण के अभाव से कुछ भी कार्य उत्पन्न नहीं हुआ, महाप्रलयरूपी चिदाकाश में चित् इस तरह जगद्रूप से स्थित है ॥५४॥ अवयवशून्य चिन्मात्ररूप यह आकाश बिना किसी कारण के ही चिदाकाश द्वारा चिदाकाश में जगद्रूप से अनुभूत होता है ॥५५॥ सभी जीव–जन्तुओं ने दर्पण के सदृश अपने अन्दर जगद्भेद की कल्पना कर रक्खी है । विचार न करने से (स्वरूपज्ञान सामर्थ्य से शून्य होने के कारण) जड़ होकर वे जीर्ण हो गये हैं । किन्तु विचार कर रहे पुरुषश्रेष्ठ का तो परम पुरुषार्थ, प्रत्यगात्मरूप से अपने अन्दर होने के कारण, समीपगत ही है ॥५६॥ तत्–तत् नामरूपस्वरूप का त्यागकर परिशिष्ट चिन्मात्र आकाश ही है, यों जगत् को चिन्मात्र जानकर चिदेकघन को पत्थर के समान अचल होना चाहिये । इससे अतिरिक्त मायिक देहावस्था उत्तम नहीं है ॥५७॥

चित् कैसे जगत् के रूप से स्थित है ? इस प्रश्न पर कहते हैं ।

जैसे जल अपने शरीर को परिचालित करता हुआ आवर्त (जलभ्रमि), तरंग आदि के रूप से जगत् में द्रव होकर स्थित होता है वैसे ही चित् 'चेतति' यों व्यापाररूप चित्ता की अपने में कल्पना कर जगद्रूप से स्थित है ॥५८॥

जब अल्पशक्तिवाले कल्पद्रुम आदि भी संकल्पित वस्तुओं की कल्पना करने की शक्ति रखते हैं तब सर्वशक्तिमान् परमात्मा में उक्त शक्ति है, इसमें कहना ही क्या है ? इस आशय से कहते हैं ।

जैसे कल्पवृक्ष अभीष्ट फल देता है और जैसे चिन्तामणि मन चाही वस्तु देती है वैसे ही चिति भी जिस वस्तु की मन में भावना की जाय, उसकी तत्क्षण पूर्ति कर देती है ॥५९॥ आकाशात्मक चिति चिन्तामणि और कल्पवृक्ष के समान शीघ्र ही अपने से अपने अभीष्ट (वांछित) का सम्पादन करती है ॥६०॥ पलक भर में एक स्थान से दूसरे स्थान में प्राप्ति होने पर मध्य में जो चिति का

अशेषविशेषशून्य स्वरूप है, तन्मय ही यह विश्व है, इसमें द्वैत और ऐक्य भ्रम कैसे हो सकता है ? ॥६१॥ इस तरह अनन्त भास्वर चित्प्रभा ही जगत् के वेष से स्पष्टतया स्फुरित होती है। जैसे आकाश में शून्यता नीलता के सदृश स्फुरित होती है वैसे ही अवयवरहित भी वह दृश्यता है ॥६२॥ सृष्टि के प्रारम्भ में चित् से विसदृश (विलक्षण यानी जड़) कार्य का उद्भव नहीं हो सकता है, कारण कि विसदृशता में निमित्तभूत सहकारी कारणों का अभाव है । अर्थात् सुसदृश भी कार्य नहीं हो सकता है, क्योंकि भेदक कोई नहीं है, अतः कार्यत्व की असिद्धि है । अतः आद्य चित् ही दृश्य है, उससे अतिरिक्त अणुमात्र भी नहीं है, यह स्वप्न दृष्टान्त से सिद्ध हो चुका है ॥६३॥

एक सौ छठवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सातवाँ सर्ग

अचेत्य पृथिवी आदि की अवस्तुता तथा स्वप्न की भाँति जगत् चित् का स्फुरण है, यह उपपादन।

विश्व के चेत्यभाव का निराकरण कर उसमें चिन्मात्र सिद्ध करने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं ।

अचेत्य चिन्मय विश्व चिदाकाश चारों ओर भासित होता है, विश्व की सिद्धि चिदाकाशमात्र के अधीन है, अतः उसे चिदाकाशरूप कहा। इसमें चित्, चेतन क्रिया और चेत्य यह त्रिपुटी चिन्मयी है यह प्रतिज्ञार्थ है। इस प्रतिज्ञा में शुद्ध चिदात्मक प्रतिज्ञार्थ के रूप से अभिप्रेत है, यह शेष है ॥१॥

प्रतिज्ञा सिद्धि के दो फल हैं। स्थित जगत् के जगद्भाव की निवृत्ति और जी रहे हम लोगों के जीवभाव की निवृत्ति, ऐसा कहते हैं ।

इसलिए जीता हुआ भी यह सारा प्रपंच मरा सरीखा है । यह, मैं और तुम भी सब जीते हुए भी मरे-से हैं ॥२॥

अथवा उक्त प्रतिज्ञासिद्धि का फल सब पदार्थों की कूटस्थता और अमूर्तता है, ऐसा कहते हैं ।

व्यवहार में प्रतिष्ठित भी सब प्राणी काठ के समान मौन को अर्थात् अत्यन्त निष्क्रियता (निश्चेष्टता) रूप कूटस्थता को ही प्राप्त हैं अथवा सभी स्थावर-जंगम (चर-अचर) पदार्थ आत्यन्तिक अमूर्तता को प्राप्त हैं ॥३॥

अथवा आकाश की नीलता के सदृश भासित हो रहे विश्व की असत्यता को उक्त प्रतिज्ञासिद्धि का फल जानिये, ऐसा कहते हैं।

आकाश में काँच और केशों की नीलता के समान जो कुछ यह व्याप्त है, उसे आप शून्य ही (कुछ भी नहीं) जानिये। कारण कि चिदाकाश से क्या कहाँ से होगा ? आकाश में केशसमूह के समान नीलता, नदी, रथ, धूम्रपंक्ति और मोतियों के सदृश जो आकाश का स्फुरण होता है, उसके अनुभूत (अनुभव में आरूढ़) होने पर भी उसमें वस्तुता नहीं है ॥४,५॥

आकाश में स्फुरित हो रही मोतियों की माला के सदृश ही जगत्-भ्रम है, उसमें भोगाशा करना

ठीक नहीं है, ऐसा फलित कहते हैं।

वैसे ही इस जगत्–नामवाले चित् के स्फुरणरूप अनुभूत होने पर भी विशेषतः शून्य चिदाकाश में कौन आस्था है और आस्थाजनक कौन पदार्थ है ? ॥६॥ पृथिवी आदि प्रपंच चिद्रूपी बालक की कल्पनाओं का राशिरूप है, शून्यरूप है, व्यर्थ है, अवस्तुरूप है, भ्रान्तिमात्र से आकाश में उदित है, अतः इसमें भोगास्था कैसे संभव है ? ॥७॥ हे मूढ़ लोगों, कहो तो 'यह मेरा है यह मैं हूँ' इस प्रकार की आस्था क्या ठीक है ? अर्थात् अनुचित है।

प्रश्न : यदि आस्था अनुचित ही है, तो क्यों लोग उस पर आस्था करते हैं ?

उत्तर : हाँ, ठीक है, जैसे बालक के संकल्प में बालक को ही दिलचस्पी है अन्य को नहीं वैसे ही मूर्खजन ही इस असत्प्राय प्रपंचपर आस्था करते हैं, बुद्धिमान नहीं ॥८॥

अतएव जिन्हें तनिक भी विवेक झलक प्राप्त हो गई, उन्हें असत् पृथिवी आदि का लाभ करानेवाला विचार, जो जन्म को निष्फल बनानेवाला है, छोड़कर जन्म को सफल बनाने वाले वैराग्य आदि साधनों का सहारा लेना चाहिये, इस आशय से कहते हैं।

पृथिवी आदि असत्–पदार्थ के विचार–विमर्श से जन्म वृथा जायेगा, हे आकाश को धोने का उद्योग करनेवाले मूर्खजीव, तेरे हाथ कुछ भी न लगेगा। जैसे सुवर्ण, रत्न आदि के लोभ की इच्छा से प्रवृत्त आदमी यदि सोने और हीरे की खान का धोना–पोंछना छोड़कर आकाश को धोने–पोंछने लगे, तो चाहे कितनी ही मेहनत क्यों न करे फल कुछ न देखेगा वैसे ही पृथिवी आदि असत् पदार्थों का विमर्श भी आकाश धोने के तुल्य वृथा ही है, यह भाव है ॥९॥

पृथिवी आदि की सत्ता का, कोई कारण न होने से अनुत्पत्ति द्वारा, पहले उपपादन कर चुके हैं, ऐसा कहते हैं।

सहकारी आदि कारणों के अभाव से जो सृष्टि के प्रारम्भ में ही उत्पन्न नहीं हुआ भला बतलाइये तो वह आज कहाँ से उत्पन्न होगा ?॥१०॥

इस व्यवहार में तल्लीनता विद्वानों के लिए हास्यास्पद ही है, ऐसा कहते हैं।

जो लोग कभी उत्पन्न न हुए अतएव असत् आकाशतुल्य पृथिवी आदि शून्य पदार्थ से व्यवहार करते हैं वे मूढ़ अजात (उत्पन्न न हुए) मृत पुत्र का लालन–पालन करते हैं ॥११॥

तात्त्विक दृष्टि में पृथिवी आदि की अत्यन्त असंभावना अपने अनुभव–बल से कहते हैं।

ये पृथिवी आदि कहाँ से हुए, किससे हुए और कैसे हुए ? इनका स्वरूप क्या है ? इस प्रकार यह शान्त चिदाकाश ही अपने में अपने–आप स्फुरित होता है ॥१२॥

मूढदृष्टि को तो हम प्रमाण नहीं मान सकते, ऐसा कहते हैं।

कार्य, कारण, काल आदि की कल्पनावश व्याकुल चित्तवाले जिन मूढ़ों की दृष्टि में इस तरह पृथिवी आदि हैं, उन मूढ़ों से हमें कोई मतलब नहीं है ॥१३॥ तत्त्वज्ञों की दृष्टि में पृथिवी आदि से

रहित और मूढ़ों की दृष्टि में पृथिवी आदि से युक्त जगत् चिदात्मक है या स्वप्न का पृथिवी आदि से रहित जगत् और जाग्रत में प्रसिद्ध पृथिवी आदि से युक्त जगत् दोनों ही चिदाकाशरूप हैं । जैसे स्वप्न आदि में चित्रूपी मणि पृथिवी आदि के रूप में स्फुरित होती है वैसे ही चिदाकाश इस प्रकार जगत् के रूप से स्फुरित होता है ॥१४॥ स्वानुभवैक वेद्य जो इस चिदाकाश का निराकार स्वरूप है, वही यह महीतल आदि रूप से वेद्य, दृश्य नाम धारण कर उस तरह स्फुरित होता है ॥१५॥

एक सौ सातवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ आठवाँ सर्ग

अविद्या के विनष्ट हुए बिना कहीं भी जगत् का अन्त नहीं है ।
इस विषय में विस्तार के साथ मनोरंजक अविद्याआख्यान का वर्णन।

पूर्ववर्णित संसाररूपी अविद्या का तत्त्वज्ञान से त्रैकालिक असत्तापत्तिरूप बाध हुए बिना देशतः या कालतः अन्त हो सकता है या नहीं ? यों सन्देह में पड़े हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं ।

हे मुनीश्वर, यह चिदाकाश की स्वप्ननगरीरूप अविद्या, जो विद्यमान होती हुई भी शून्यरूप अथवा दृश्यरूप है, बाध न होने के कारण जिस पुरुष के प्रति स्फुरित होती हुई विद्यमान है, उस अज्ञानी के प्रति वह कब तक रहती है, उसका क्या स्वरूप है, क्या उपादान है अथवा देशतः कालतः वह कितनी बड़ी है यह सब मुझसे पुनः कहने की महती कृपा कीजिये ॥१,२॥

उक्त सन्देह की दूसरी कोटि को (देशतः कालतः वह कितनी बड़ी है, इस अंश को) लेकर वसिष्ठजी उसे पुष्ट करने के लिए 'विपश्चित्' कथा सुनाने के उद्देश्य से श्रीरामचन्द्रजी को सावधान करते हैं ।

जिन अज्ञानियों में भूतल आदिरूप अविद्या विद्यमान है, उनका जैसे ब्रह्म में देशतः कालतः अन्त (परिच्छेद) नहीं है वैसे ही इसमें भी देशतः कालतः अन्त नहीं है । इस विषय में उपपत्ति करानेवाली इस कथा को सुनिये ॥३॥ लोकालोक पर्वत की सुवर्णशिला से स्वच्छ किसी वस्तु में स्थित चिदाकाश के कोने में, उस कोने के भी किसी एक भाग में, इस त्रैलोक्य के तुल्य कोई जगत् इसी जगत्प्रसिद्ध भुवन, द्वीप, देश, काल आदि की व्यवस्था से युक्त है ॥४॥ उसमें जम्बूदीप नामक भूमि का भूषणभूत कोई एक भूमिभाग है । उसमें भी पर्वत, चहारदिवारी, बालू आदि से होने वाली विषमता न होने में (समतल भूमि होने से) मनुष्य, हाथी, घोड़े, रथ आदि के गमनागमन आदि व्यवहार से युक्त भूमि में (समभूमि में) ततमिति नाम से विख्यात एक नगरी थी ॥५॥ उस नगरी में विपश्चित् नाम से विख्यात राजा था, सकल शास्त्रों में विशेष विद्वान् होने के कारण, विशिष्ट सभ्यों से पूर्ण अपनी राजसभा में वह विशेषरूप से शोभित होता था, जैसे कमलिनी में राजहंस शोभित होता है, जैसे नक्षत्रमण्डल में चन्द्रमा विराजमान होता है और जैसे पर्वत श्रेणियों

में सुमेरु शोभा पाता है, वैसे ही वह अपनी सभा में शोभा पाता था ॥६,७॥ सर्वत्र उत्तरोत्तर गुणों के उत्कर्ष–वर्णन में प्रवृत्त कवियों की सूक्तियाँ उस विपश्चित्‌रूप चरमसीमा (अवधि) से गुणों की अनन्तता और निरूपता के कारण वर्णन न कर सकने से लौट जाती थीं (वर्णन नहीं कर सकती थीं)। फिर भी कविजन उसका सत्संग करते ही थे, क्योंकि उससे कवियों की पर्वत के तुल्य विशाल स्थिर, सम्पत्ति, ख्याति और गुणों के उत्कर्ष से उत्पन्न शोभा प्राप्त होती थी । जैसे मेरु अपने आश्रित लोगों मृगों , तृणों और झाड़ियों को अपनी कान्ति से स्वर्णमय बना देता है वैसे ही वह भी सम्पत्ति प्रदान कर उन्हें स्वर्णमय बना देता था ॥८॥ जैसे अपनी कान्ति से दशों दिशाओं को जगमगानेवाले प्रातःकाल में खिले हुए कमल से सूर्य के प्रकाश से उत्पन्न हुई शोभा प्रकट होती है वैसे ही प्रसन्न वदन तथा अपनी कान्ति से सकल दिशाओं को उद्‌भासित करने में उद्यत राजा विपश्चित् से, प्रखर प्रताप से उपार्जित सम्पत्तियाँ कवियों को प्रातः प्रातः प्राप्त होती थीं ॥९॥ राजा विपश्चित् को सदा ब्राह्मणों के हित का ख्याल रहता था, अतएव देवताओं में वह्नि के ब्राह्मण होने के कारण वह देवताओं में अग्नि की ही भक्ति के साथ पूजा करता था, अग्नि के सिवा और किसी देवता को जानता तक न था ॥१०॥ उक्त राजा के मन्त्रियों में से चार मन्त्री, जो अत्यन्त धीर, विपुलबाहुबलशाली, निर्भय सेना से प्रभावान्वित थे, चार दिशाओं में चार सागरों की भाँति शत्रुसेना के निरोध के साथ देशव्यवस्था करने के लिए नियुक्त थे । सागर मछलियों और मगरों के झुण्ड के झुण्ड से भरे रहते हैं तो मन्त्री हाथी, घोड़ों से युक्त थे, समुद्र आवर्तों की (जलभ्रमियों की) राशियों से भरे होते हैं तो मन्त्री सेना से घिरे रहते थे ॥११,१२॥ उन मन्त्रियों के कारण वह राजा सकल दिशारूप पहियों का नाभि की तरह आधारभूत बनकर सुदर्शन चक्र के समान शत्रुओं द्वारा अतिरस्करणीय और स्वयं विजेता हो गया था ॥१३॥ एक समय पूर्व दिशा से एक चतुर गुप्तचर उसके पास आया । उसने एकान्त में राजा से कालगति के समान अनिवार्य होने के कारण कर्णकटु वचन कहा ॥१४॥ 'भगवन्, विशाल बाहुरूपी वृक्षोंपर डाले हुए पृथ्वीरूपी गऊ के बन्धन से आप कभी विमुख नहीं हुए यानी सदा पृथिवी को आपने अपनी बाहुओं पर बाँध रक्खा है । आप कृपाकर मेरे मुँह से वृत्तान्त सुनिये और फिर जो समयोचित हो उसे करने की कृपा कीजिये॥१५॥ महाराज, पूर्व दिशा के सामन्त की ज्वर से मृत्यु हो गई है । मानों शत्रुओं को परास्त कर चुके आपसे आज्ञा पाकर वे यमराज को जीतने के लिए यमलोक चले गये हैं ॥१६॥ उनके मरने के उपरान्त दक्षिण दिशा के अधिपति (आपके सामन्त) चारों ओर से पूर्व और दक्षिण दिशा को स्वायत्त करने के लिए उद्यत हुए, किन्तु उन्हें भी शत्रु ने पूर्व और पश्चिम की सेनाओं द्वारा आक्रमणकर मार डाला ॥१७॥ उनके मर जाने के उपरान्त पश्चिम दिशा के अधिनायक (आपके सामन्त) ज्यों ही सेना बटोर कर आपकी पूर्व और दक्षिण दिशाओं को शत्रु से मुक्त करने की इच्छा से जा रहे थे त्यों ही रास्ते में शत्रुओं ने पूर्व देश और दक्षिण देश के राजाओं के साथ संग्राम में उन्हें

मार दिया ॥१८,१९॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, उक्त गुप्तचर जल्दी राजा से यह कह ही रहा था कि प्रलय में जलप्रवाह (बाढ़) के समान दूसरा गुप्तचर राजमहल में प्रविष्ट हुआ ॥२०॥ गुप्तचर ने कहा : महाराज, उत्तर दिशा के अधिनायक (आपके सामन्त) शत्रुओं द्वारा आक्रान्त होकर जिसका बाँध टूट गया ऐसे जलप्रवाह के समान सेना सहित इधर ही आ रहे हैं ॥२१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र, यह सुनकर राजा ने विलम्ब को सब वस्तुओं और महलों के लिये खतरनाक समझकर सुन्दर महल से निकलते हुए यह कहा । 'राजागण, सामन्त और मन्त्रिगण हथियार से लैस कर दिये जाय, शस्त्रागार खोल दिए जाय, सबको भीषण अस्त्र-शस्त्र बाँटे जाय, सैनिक कवच पहन लें पैदल सेनाएँ जल्दी कूच करें, तुरन्त सेना की गिनती की जाय, श्रेष्ठ श्रेष्ठ सैनिकों को प्रोत्साहित किया जाय, सेनाध्यक्ष की नियुक्तियाँ की जाय और चारों ओर गुप्तचरों का जाल बिछाया जाय ॥२२-२४॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भय-चकित राजा त्वरापूर्वक यह सब कह ही रहा था कि द्वारपाल ने घबराहट के साथ प्रवेश कर प्रणामपूर्वक राजा से यह कहा ॥२५॥ द्वारपाल बोला : महाराज, उत्तर दिशा का सेनाधिपति ड्योढ़ीपर खड़ा है जैसे कमल सूर्य के दर्शन की आकांक्षा करता है वैसे ही महाराजधिराज के (आपके) दर्शन चाहता है ॥२६॥ राजा ने कहा : जाओ, बहुत जल्द ही उसे प्रवेश कराओ, उसके मुँह से वृत्तान्त के भली-भाँति श्रवण से दिगन्तों में क्या घटना घटी यह जानेंगे ॥२७॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : राजा के यह कहने पर द्वारपाल द्वारा भीतर प्रवेशित सेनाध्यक्ष उत्तर दिशा के अधिपति को राजा ने प्रणाम करते देखा, उसके संपूर्ण अंग क्षत-विक्षत थे, प्रत्येक अवयव में प्राण व्याप्त थे, साँस जोर से चल रही थी, निर्बल होने के कारण शत्रु द्वारा जीता गया था । उसने धीरता से देहव्यथा सहनकर लगातार साँस लेते हुए प्रणामपूर्वक राजा से जल्दी जल्दी ये वाक्य कहे ॥२८-३०॥ सेनाधिपति ने कहा : राजन्, तीनों दिक्पाल बहुत बड़ी सेना के साथ मानों आपकी आज्ञा से यम को जीतने के लिए यमपुर चले गये हैं, तदनन्तर उनके देशों का परिपालन करने में अशक्त मेरा पीछा कर रहे बहुत से राजा यहाँ जबर्दस्ती पहुँचे हैं। आपके मण्डल में शत्रुओं की यह बड़ी भारी सेना प्राप्त हुई है, सो हमारी पराजित सेना की जैसी दुर्दशा इन लोगों ने की है वैसी ही इनकी दुर्दशा कीजिये आपके लिए कुछ भी दुर्जय नहीं है ॥३१-३३॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : इसके बाद युद्धभूमि में क्षतविक्षत शरीरवाले अतएव पीड़ित उत्तरदिशाधिपति यह कह ही रहे थे इतने में दूसरे आदमी ने प्रविष्ट होकर राजा से यह कहा : महाराज, इस मण्डल के लोग पीपल के पत्तों की सी कँपकँपी से विशाल बन गये हैं, चारों ओर शत्रुओं की सेनाएँ प्रचुर मात्रा में व्याप्त हैं। शत्रुओं ने लोकालोक तटों की तरह हमारी भूमि घेर ली है, उनके खड्ग, गदा, प्रास और भालों के समूहों की कान्ति चमक रही है। पताका, शस्त्रास्त्र और योद्धाओं से भरे हुए चंचल और सुन्दर सम्पूर्ण सामग्रीवाले रथ इधर उधर चल रहे हैं । वे उड़े हुए त्रिपुरासुर के नगरों के समूह से प्रतीत होते हैं ॥३४-३७॥ वर्षाऋतु के मेघों के सदृश हाथियों

के झुण्ड, जो मांस के वृक्षों से भरे वनके तुल्य है, आकाश में सूँड़ों को उठाते हुए हाथी चिंघाड़ रहे हैं ॥३८॥ घोड़ों के झुण्ड, जो गति के क्रम से पृथिवी की समता, विषमता की नाईं समता विषमता कर रहे हैं, वायु से आन्दोलित महासागर की भाँति हिनहिना रहे हैं ॥३९॥ क्षीरसागर के जल के समान फेनयुक्त आवर्तों की (जलभ्रमियों की) भाँति इधर-उधर वृत्ताकार घूम रहे घोड़ों के वृन्द शब्द करते हैं ॥४०॥ जैसे प्रलयकाल के सागर का प्रवाह बड़े-बड़े ज्वार भाटों से प्रत्येक दिशा में प्रकट होता है वैसे ही आकाश के समान स्वच्छ कान्तिवाले कवच शस्त्रास्त्रों से युक्त सेना भी प्रत्येक दिशा में प्रकट होती है ॥४१॥ योद्धाओं के शरीर पर लगे हुए बाण, अस्त्र-शस्त्र, कवच, मुकुट और आवरणों की कान्तियाँ आपके प्रतापाग्नि की ज्वाला की भाँति विकसित होती हैं ॥४२॥ जैसे मछली और मगरों के समूह से युक्त चक्राकार जल भ्रमिवाले कल्लोल सागर से आविर्भूत होते हैं वैसे ही मत्स्य, मकर की-सी आकृति व्यूहों से युक्त, तलवारों के आवर्त से युक्त सेनासंघात आविर्भूत हो रहा है ॥४३॥ भाले आदि हथियारों की श्रेणियाँ परस्पर टकराने के कारण मानों क्रोधवश भीषण हुंकारों से जलती हैं और कठोर शब्द करती हैं ॥४४॥ उस मण्डल की सीमा में स्थित छावनी से युद्ध के लिए जाते हुए स्वामी ने यह निवेदन करने के लिए श्रीमान् के समीप मुझे भेजा है ॥४५॥ महाराज, शक्ति, ऋष्टि और बाणों से युक्त मैं जिन्होंने मुझे आपके पास भेजा था उन स्वामी के समीप जाता हूँ, मैंने यहाँ आकर सब निवेद्य आपकी सेवा में निवेदन कर दिया, इसके उपरान्त आप जानें ॥४६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, गुड़ गुड़ शब्द करके विलीन हुई समुद्र की लहर के समान वह पुरुष राजा से यह निवेदन कर प्रणामपूर्वक शीघ्रता से चला गया ॥४७॥ राजा के महल में खलबली मच गई, उसकी अवस्था आँधी से व्याकुल महावन की-सी हो गई । मन्त्री, राजा, योद्धा, राजा के आज्ञाकारी कर्मचारी, स्त्रियाँ, हाथी, घोड़े, परिचारक और नागरिक सबके सब भयभीत हो गये । सभी जीवों ने अपने प्राणों के भय से अपने अपने बचाव के हथियार उठा लिये ॥४८॥

एक सौ आठवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ नौवाँ सर्ग

मन्त्रियों की सलाह से राजा का अपने शरीर का होम करना,
तदुपरान्त अग्नि से चार शरीरों से युक्त राजा का प्रकट होना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे मुनिगण जिसके भूलोक और अन्तरिक्षलोक पर दैत्य आक्रमण कर चुके हो वैसे इन्द्र के समीप आते हैं वैसे ही सब मन्त्री राजा के समीप आये ॥१॥ मन्त्रियों ने कहा : महाराज, हमने सब विचार कर निश्चय कर लिया है । शत्रु साम, दाम और भेद-

इन तीन उपायों द्वारा काबू में आने लायक नहीं है, अतः उसपर दण्ड का विधान कीजिये ॥२॥ महाराज, दान, सम्मान आदि से स्नेह और अनुप्रवेश (अपने पक्षवालों का ही शरणागति के बहाने काकोलूकीयन्याय से उनके विनाश के लिए उनके देश में प्रवेश), जिसका आजतक कभी उनके लिए प्रयोग नहीं किया गया, इस समय उन शत्रुओं पर प्रेम और अनुप्रवेशरूप कीर्ति हरनेवाले उपाय किये जाय, इसकी कथा ही क्या है ॥३॥

जिन पर थोड़ा बहुत विश्वास किया जा सके और जिनको द्रव्य की कमी हो उन पर साम, दान आदि उपायों की गुंजायश है, किन्तु ये शत्रु तो ऐसे नहीं है, ऐसा कहते हैं ।

पापी, सीमाप्रान्त के निवासी, प्रचुरधनसम्पन्न, विविधदेशीय, सुसंगठित, हमारी कमजोरी को जाननेवाले बहुत से शत्रु साम, दान उपायों के योग्य नहीं हैं ॥४॥ इसलिए इनके विषय में साम–दान का प्रयोग करना अत्यन्त सुसाहस है (अविचारित कार्य है) इसका परित्याग कर शीघ्र ही युद्ध का उद्योग कीजिये । इनके प्रतिकार का दूसरा उपाय है ही नहीं ॥५॥ वीरों को युद्ध के लिए आज्ञा दीजिये, इष्ट देवताओं का जप–पूजन आदि अनुष्ठान कीजिये, सामन्तों का आह्वान कीजिये और रणभेरियाँ बजाई जाय ॥६॥ सब योद्धाओं को कवच आदि से सुसज्जित कीजिये युद्ध का बाना पहनाइये, तदुपरान्त वे सबके–सब युद्ध के लिए प्रस्थान करें और दिशाओं की गजघटाओं से काले काले प्रलयमेघों के जैसे पाट दीजिये ॥७॥ धनुष खूब (कानों तक) ताने जाय, प्रत्यंचाएँ टंकार करें, अर्धमण्डलाकार धनुषों से दिशाएँ मेघश्यामला हो, धनुषरूपी कुण्डलों से देदीप्यमान गम्भीर सिंहनादवाले शूरवीररूपी मेघ, जिनमें प्रत्यंचारूपी बिजली कौंध रही है, बाणरूपी जलधारोओं को वर्षायें ॥८,९॥ राजा ने कहा : संग्राम के लिए शीघ्र प्रस्थान कीजिये । नगर रक्षा, व्यूहरचना आदि की व्यवस्था कीजिये । मैं भी स्नान के उपरान्त अग्निदेव की पूजा कर संग्राम–भूमि में आता हूँ ॥१०॥ ऐसा कहकर आवश्यक अन्यान्य कार्यों के रहते भी (अत्यावश्यक अन्यान्य कार्यों को छोड़कर भी) राजा ने एक क्षण में जैसे वर्षाऋतु में नूतन बगीचा मेघ द्वारा स्नान करता है वैसे ही गंगाजल से भरे हुए घड़ों से स्नान किया ॥११॥ स्नान करने के उपरान्त राजा ने अग्निगृह में प्रवेश किया और विधिपूर्वक श्रद्धा से अग्नि की पूजाकर निम्नलिखित बातों पर विचार किया ॥१२॥ मैंने अनायास विलासवैभवपूर्ण सम्पत्ति से आयु व्यतीत की, समुद्रपर्यन्त शासनमुद्रापूर्वक अपनी सारी प्रजा को अभयप्रदान किया । पृथ्वी पर आक्रमण करनेवाले शत्रुओं को चरणों पर नवा डाला । जैसे लताएँ फलों के बोझ से नत हो जाती हैं वैसे ही कर आदि फल के भार से दसों दिशाओं को मैंन नवा दिया ॥१३,१४॥ प्रजा के चित्तरूपी चन्द्रबिम्बों में अपना शुभ्र यश भर दिया, भूमि में तीनों लोकों में फैलनेवाली कीर्तिरूपी लता लगा दी ॥१५॥ सुहृद, मित्र, पूज्य ब्राह्मण (गुरुवर्ग) और बन्धुबांधवों को विविध रत्नों से खजाने के समान भर दिया, समुद्र के

किनारे नारियेलरस का आसव छक कर पीया ॥१६॥ शत्रुओं के प्राणों को मेढक की गर्दन की त्वचा के समान खूब कँपा डाला, द्वीप द्वीपान्तर के कुछ कुलपर्वतों पर मेरे शासन की छाप लग चुकी ॥१७॥ दिगन्तों में प्रसिद्ध सिद्ध सेनाओं से पूर्ण अपूर्व सुवर्ण भूमियों में मैंने खूब विहार किया, लोकालोक पर्वतपर्यन्त पर्वतों के और सीमाप्रान्तवर्ती राजाओं के सिरपर मेघों की लीला से विश्राम किया और पैर रक्खा ॥१८॥ जैसे ज्ञानपूर्ण एकान्त में समाधि लेनेवाली बुद्धि से परमोच्च ब्रह्म में विश्राम लिया जाता है वैसे ही प्रजाओं का हितसम्पादन करनेवाले मैंने राष्ट्रों की अभिवृद्धि की और उपार्जन किया ॥१९॥ उद्धत (विनयरहित) लंका आदि द्वीपों में रहनेवाले राक्षसों को भी मजबूत हथकड़ियों द्वारा मैंने जकड़ा, परस्पर एक दूसरे से अबाधित, वृद्धि–ह्रासशून्य (समान रूप से संचित) धर्म, अर्थ और काम द्वारा अवस्था व्यतीत की । इस समय मानों अत्यन्त यशपान करने के कारण अतिधवलता को प्राप्त हुआ मैं तृणों पर लदे हुए प्रचुर बर्फ के समान सफेद बुढ़ापे को प्राप्त हो गया हूँ । बुढ़ापे के ऊप यानी इस बुढ़ापे में भीषण युद्धाकांक्षी बलवान् शत्रु दल बांधकर चारों ओर से लड़ने के लिए उपस्थित हैं । जीत होने में सन्देह है, इसलिए विजयप्रदान करनेवाले इन अग्निदेव के लिए यहींपर इस मस्तक की आहुति को ही उठाकर देता हूँ । राजा ने कहा : हे अग्निदेव यह मेरा सिर आपके लिए आहुतिरूप बन चुका है । जैसे मैंने पहले आपके लिए पुरोड़ाश की आहुतियाँ दी हैं वैसे ही इसकी आहुति आज आपको देता हूँ । यदि मेरे इस काम से आप मेरे ऊपर प्रसन्न हों तो आपके कुण्ड से मेरे नारायण की भुजाओं के समान शोभायुक्त बलवान् चार शरीर उत्पन्न हों ॥२०–२६॥ हे विभो, उन शरीरों से मैं चारों दिशाओं में अपने शत्रुओं का बिना किसी बिघ्नबाधा के संहार करूँ और आपके दर्शनों की इच्छा से आपका स्मरण करनेवाले मुझे आप दर्शन दें ॥२७॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, यह कहकर उस राजा ने जैसे बालक अनायास चंचल कमल को तोड़ता है वैसे ही चंचल शिररूप कमल को खड्ग लेकर शीघ्र काट डाला ॥२८॥ ज्योंही वह राजा अपने कटे सिर का अग्नि में हवन करने लगा त्योंही शरीर के साथ अग्नि में गिर पड़ा ॥२९॥ उस शरीर को खाकर (आहुति रूप से गहणकर) अग्नि ने उसे चतुर्गुण शरीर दिया। महान् लोगों द्वारा स्वीकृत वस्तु शीघ्र ही वृद्धि को प्राप्त होती है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥३०॥ इसके पश्चात् चार मूर्ति धारणकर राजा तेज की राशियों से देदीप्यमान हो अग्निकुण्ड से ऐसे ही निकला जैसे कि तेज के पुंजों से देदीप्यमान भगवान् सागर से निकले थे ॥३१॥ दीप्तकान्तिवाले उसके वे चार शरीर अत्यन्त सुशोभित हुए, उनके माला, आभूषण, अस्त्र–शस्त्र और वस्त्र साथ ही उत्पन्न हुए थे और कवच, शिरस्त्राण भी साथ ही पैदा हुए थे । वे मुकुट, कंकण, बाजूबंद से युक्त थे, हार और कुण्डलों की कान्ति से जगमगा रहे थे । वे सब सबकी रक्षा करनेवाले तथा महान् आशयवाले थे । सबकी रूपरेखा एकसी

थी और सब एक से अंग-प्रत्यंग से युक्त थे, सबके सब चंचल उच्चैश्रवा के सदृश उत्तम घोड़ों पर चढ़े थे ॥३२-३४॥ उनके सोने के बाणों से भरे तरकस बँधे थे, एकसी प्रत्यंचावाले उनके धनुष थे, सुन्दर समान शरीरवाले महामना वे मंगलमय पुरुष जिस पुरुष, हाथी, रथ और घोड़े-पर सवार होते थे, वह शत्रुप्रयुक्त मन्त्र, तन्त्र, औषधि, यन्त्र, शस्त्रास्त्र आदि दोषों का लक्ष्य ही नहीं हो सकता था ॥३५,३६॥ वे चार देह क्या थे चार सागर ही थे। मानों बडवाग्नि ने पहले पीकर चिर कालतक उन्हें अपने गर्भ में धारण किया, तदुपरान्त उन्हें पुरुष के आकार में परिवर्तित किया, तत्पश्चात् उन्हें वहाँ अग्निकुण्ड में रखा ॥३७॥ रत्नों से विभूषित और रत्नभूत अश्वशरीरों में पुष्पराशियों से पूर्णदेहवाले चन्द्ररूपी अपनी मन्द मुस्कान से दशों दिशाओं को जगमगा रहे वे चार विपश्चित् आहुतियों द्वारा प्रसन्न अग्नि से चार विष्णु जैसे या चार सदेह समुद्र जैसे अथवा चार मूर्तिमान वेद जैसे बाहर निकले ॥३८॥

एक सौ नौवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ दसवाँ सर्ग

नगर के समीप पहुँचे हए शत्रुओं के साथ चारों ओर हुए घमासान संग्राम का विस्तृत वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इस बीच में वहाँ चारों ओर नगर के समीप पहुँचे हुए शत्रुओं के साथ भीषण संग्राम छिड़ा ॥१॥ उक्त युद्ध में नगर और गाँव लूटे गये, प्रजामण्डल में महाव्याकुलता छा गई, आग की लपटों से शरीर जलने लगे, धूम्ररूपी मेघों के घने स्तरों से आकाश मण्डल छा गया, बाणों की लगातार घनी वृष्टि और निबिड़ धूम से सूर्य ढक गया, अतएव चारों ओर अन्धकार फैल गया। वहाँ पर क्षण में सूर्यमण्डल दीख पड़ता था और क्षणभर में ओझल हो जाता था। अग्नि की लपटों के तेज संताप से वनों के सब पत्ते मुरझा गये थे, चंचल लाठी, शूल, मूसल, पत्थर आदि की राशियों से आकाश पट गया था, अग्नि के प्रतिबिम्बों के पड़ने के कारण हथियारों की चमचमाहट दुगुनी हो रही थी, रण में काम आये हुए महाशूरवीर योद्धाओं को अप्सराएँ और सुधा प्राप्त हो रही थी, मदोन्मत्त हाथियों की चिंघाड़ से संग्रामोत्सुक वीरों को अपार हर्ष हो रहा था, बन्दूकों की गोलियों, भालों, शूलों और तोमरों की वर्षा हो रही थी, योद्धाओं के कोलाहल के उल्लास के सुनने मात्र से हृदय फटने के कारण अनेकों कायरों के प्राण-पखेरू उड़ रहे थे, धूलिपटलरूपी सफेद मेघ ने अन्तरिक्ष को आच्छन्न कर दिया था, मरने के लिए व्याकुल हुए सामन्तों के दल के दल चिल्लाते हुए जा रहे थे, इधर उधर गिर रही बिजलियों से (उल्कापातों से) प्रजा का विनाश हो रहा था, अग्नि से जले हुए अतएव गिर रहे गृह अग्नि की वर्षा करनेवाले धूम्रमय मेघों की सृष्टि कर रहे थे। असंख्य बाणों की वृष्टिरूपी धारावाले मेघ मरणाह्लाद प्रदान कर रहे थे ॥२-९॥ अश्वरूपी तरंग सागरों के कल्लोलों को मात कर रहे थे, हाथियों के दाँतों के परस्पर

टकराने के कारण कर्णकटु टंकार ध्वनि हो रही थी। दुर्गों के सन्धिप्रदेशों में बनी हुई कुटियों की दीवारों पर श्रेष्ठ योद्धा काँटेदार बाण रोपने में व्यग्र थे, अग्नि की ज्वालाओं से वेष्टित अतएव भग्नप्राय दुर्गसन्धिस्थित अटारियों में पर्यटन द्वारा अग्निछटा नाच रही थी ॥१०,११॥ घटाटोप के साथ टूटे फूटे हुए चलने में रुकावट डालनेवाले तोमर इधर उधर लुढ़के हुए थे, अटारियों में, जिनके ऊपर आकाश में वस्त्रपताकाएँ लहरा रही थीं, पट–पट शब्द हो रहे थे, हाथियों के दाँतों के शुक्लतादि गुणों के निकलने से, हथियारों की पत्थरों पर रगड़ लगने से और तीक्ष्ण टंकार और हुंकार से युद्धोत्साह के उत्पादनवश दिग्गजों का मानों आह्वान हो रहा था ॥१२,१३॥ लगातार बह रही बाण–नदी के वेग से आकाशरूपी महासागर भर गया था, चल रहे चक्र, भाले, तलवाररूपी मगरों से वह संग्राम सागर भयावना लगता था। सिंहनाद कर रहे योद्धाओं के परस्पर टकराने पर कवचों की तीक्ष्ण टंकारों से हो रहे झंकारों से सब द्वीप गूँज उठे थे ॥१४,१५॥ पैरों के आघात से खूब पीसे गये बाणों से चारों ओर कीचड़ हो गया था, बह रही रक्त की नदी के प्रवाह में रथ, हाथी तक बहे जा रहे थे ॥१६॥ और उड़ रहे थे, बाणरूपी जलतरंगों से पीड़ित हुए योद्धाओं के आयुरूपी जलचर टूक–टूक हो रहे थे ॥१७॥ कहीं पर आपस में टकरा रहे शस्त्रास्त्रों से निकली हुई ज्वालाओं से आकाश जल रहा था, देवत्व की प्राप्ति से बुढ़ापे के कारण बदन पर होनेवाली झुर्रियों और सफेदी से मुक्त शूरवीर लोगों से स्वर्ग पट रहा था ॥१८॥ धूलिरूपी मेघों में चक्ररूपी बिजलियाँ कौंध रही थी, शस्त्रास्त्रों से ठसाठस भरा होने के कारण अवकाशरहित भूतल वहाँ पर वारों का आधार नहीं रह गया था ॥१९॥ बाणों की वृष्टि कर रहे महायोद्धाओं के घटाटोप से गरज रहे शत्रु योद्धाओं से संग्राम–भूमि बड़ी डरावनी लगती थी, पृथिवी को व्याप्त कर रहीं (ढक रहीं) गाड़ियों के आघातों से चूर चूर हुए अन्य गाड़ियों के अवयवभूत काठों में रथ लड़–खड़ा रहे थे, संग्राम भूमि कबन्ध हुए योद्धाओं और वेतालों से मिश्रित शत्रुओं से ठसाठस भरी थी, तिल रखने की भी जगह नहीं थी, वेताल श्रेष्ठ–श्रेष्ठ योद्धाओं का हृदयकमलरूपी मांस खा रहे थे, शूरवीर पुरुषों द्वारा वीरों के सिर, हाथ, जंघाएँ और पैर काटे गये थे, कबन्धों के भुजारूपी वृक्षों की हलचल से आकाशतल वन सा बन गया था, तैर रहे चंचल मुखवाले वेतालों ने हर्ष के आधिक्य से हँसी खुशी से अपनी अपनी पेटियाँ शवों से भरी थीं, कवच पहनने के कारण घटाटोपवाले योद्धाओं की भ्रकुटि से रणभूमि भयंकर थी । वहाँ पर नियमतः स्वयं मरना या दूसरों को मारना यही वीरों का एकमात्र आभूषण था वहाँ प्रहारों को देने और अपने ऊपर लेने में असामर्थ्य ही वहाँ पर महती निन्दा थी ॥२०–२४॥ उक्त संग्राम गजरूपी शूरवीर सामन्तों के मदजल का शोषण कर रहा था, वहाँ दूसरों को मारने में अत्यन्त रसिक वीरयोद्धा काल के आनन्द की पुष्टि कर रहे थे, अपने मुँह से अपनी वीरता का बखान न करने से छिपे हुए शूरवीर योद्धाओं का काम ही रण में उनकी वीरता देखनेवाले लोगों को मुँह से उनके शौर्य की घोषणा करा रहा था, छिपे हुए कायरों का भी काम ही

दर्शकों द्वारा प्रभु के समीप उनकी अशूरता की घोषणा करा रहा था, उक्त संग्राम सोये हुए अपने शौर्य आदि गुणों का उद्‌बोधन करता था, भुजबलशाली अतएव राष्ट्र में दुर्बल लोगों के आधारभूत शूरवीरों का धन था ॥२५-२७॥ हाथी पर सवार होकर युद्ध करनेवाले तथा रथियों के परस्पर युद्ध में बेचारे हाथियों के गण्डस्थल क्षतविक्षत हो गये थे, सकल मदोन्मत्त गन्धगजों (♠) के मदजल उक्त युद्ध में सूख गये थे, मन्दोमत्त हाथियों के तालाबों में घुसने पर सारसों की तरह चीत्कार के साथ भाग रहे तरूण सामन्त भी वहाँपर हाथियों को छोड़ जा रहे थे । बूढ़े होने पर भी खड्‌गविद्या में सिद्धहस्त भटों की सेना द्वारा अपनी खड्‌गप्रहरणता प्रकटन का (📖) समर्थन किया जा रहा था। योद्धाओं की सेना के न आने पर भी उनके आगमन की भ्रान्ति से भगदड़ होने पर परस्पर पैरों से कुचले गये मनुष्य अधमरे हो गये थे, अतएव दिन जैसे सूर्य की शरण में रहता है वैसे ही राजा के पैरों की शरण में वे अपने आप चले गये थे ॥२८-३०॥ अभिमानरूपी उन्माद वायु के कारण उन्मत्त हुए योद्धाओं द्वारा प्रणत (शरणागत) लोगों पर भी प्रहार किये जा रहे थे । वह संग्रामस्थल प्राणों द्वारा प्राप्त करने योग्य धनों का नूतन बाजाररूप नगर था । वस्त्रों से बंधी हुई पताकाओं के समूह ही लहरा रहे हस्तवृक्ष बन गये थे । खून से अत्यन्त लाल होने के कारण वह रणांगण त्रैलोक्यलक्ष्मी का भूषणभूत मूँगा बन गया था ॥३१,३२॥ युद्धभूमि का गगनरूपी आँगन मन्दराचल के आघात से उछले हुए क्षीरसागर के जल के समान सुन्दर छत्रों से आच्छादित तथा शस्त्रास्त्रों के समूह रूपी फूलों से युक्त था । उक्त युद्धस्थल में प्रमथगणों, गन्धर्वों तथा देवताओं द्वारा शूरवीर योद्धाओं के उत्साह आदि के गीत गाये जा रहे थे, उनकी (गणों और गन्धर्वों की) कान्ति से चंचल ध्वजाग्रों से तथा हथियाररूपी मद्य से उन्मत्त होने के कारण योद्धा वहाँ पर बलरामरूप बन गये थे ॥३३,३४॥ उस युद्ध में बहुत बड़ा झुण्ड बाँधकर अनायास प्रहार करनेवाले असंख्य राक्षसों द्वारा चुपचाप स्वयं योद्धाओं का मांस खाकर शवों के ढेर के ढेर उठा ले जाकर पर्वत गुहारूप अपने घर में अपने परिवार के - विषवृक्षसदृश-सब राक्षसों को भोजन कराया गया था ॥३५॥ चमचमा रहे भालों की श्रेणियों से भालों के वन ऐसे प्रतीत हो रहे भालों से लड़नेवाले योद्धाओं द्वारा काटकर फेंके गये सिर और हाथों से रणभूमि का आकाश पट गया था, क्षेपणों से (गुलेल की तरह का एक देशी अस्त्र जिससे ढेले दूर दूरतक फेंके जाते हैं ।) फेंके गये पत्थरों की राशियों से दिशारूपी लता लाँघी गई थी ॥३६॥ ताल ठोकने आदि से उत्पन्न महान् चट चट शब्दों से विशाल वृक्षों के टूटने की-सी ध्वनि हो रही थी एवं स्त्रियों के हाहाकार शब्दों से नगरों के घर-के-घर गूँज रहे थे ॥३७॥ आकाश में मन्द-मन्द ध्वनिवाली अग्नि के तुल्य शस्त्रास्त्रों की राशियाँ शोभित हो रही थीं, सबकी

(♠) जिसके मद को सूँघकर अन्य गज भाग खड़े होते हैं, वह गन्धगज कहलाता है ।

(📖) आसीकवेदन-जिनका असि (तलवार) हथियार है वे आसीक कहलाते हैं । उनके भाव का प्रकटन आसीकवेदन है । मूलस्थित आसीकवेदन का ही पयार्य खड्‌गप्रहरणता प्रकटन है ।

सब प्रजा अपना घर द्वार छोड़कर दूरदेशों में भाग गई थी, हथियारों के चारों ओर चलने से युद्धदर्शक लोगों ने भी भय से चारों ओर से युद्धभूमि का त्याग कर दिया था, भयभीत साँपों ने युद्धभूमि का गरूड़ों के झुण्ड की तरह त्याग कर दिया था तथा उक्त युद्धभूमि में मनुष्यरूपी अंगूरों को पीसने के काल के यन्त्र ऐसे गण्डस्थल में हाथियों द्वारा दाँतों से पिस चुके हुओं से बचे हुए उत्तम योद्धाओं को बड़ी मुसीबत हो रही थी ॥३८–४०॥ आकाश में चल रहे हथियार प्रेक्षणी द्वारा फेंके गये पत्थर की टक्कर से चूर–चूर हो रहे थे और योद्धाओं के सिंहनाद से, चिंघाड़ रहे हाथियों के समूह से, कन्दराएँ भर गई थीं ॥४१॥ उस युद्ध में शूरों के सिंहनाद पर्वतों की गुफाओं में पहुँचकर प्रतिध्वनियों से मिल गये थे और जन्म से लेकर बड़े प्रयत्न से उपार्जित बलसर्वस्व को प्रकट कर रहे शूरवीरों द्वारा वह चलाया गया था ॥४२॥ उक्त युद्धभूमि हथियाररूपी अग्नि से तथा चारों ओर फैली हुई अग्नि से भूनी गई थी तथा पूर्ववर्णित युद्धों से तथा अन्यान्य द्वन्द्वयुद्धों से वहाँ युद्ध समाप्ति को नहीं प्राप्त हो रहा था ॥४३॥ मरे हुओं से अवशिष्ट, बलशाली, स्वामी की वंचना न करनेवाले, हृदय में इश्वर को धारण करनेवाले, उत्तम योद्धारूपी कैलासों से वह युद्ध चारों ओर परिवेष्टित था । कैलास भी अत्यन्त पवित्र, सारवान् और श्रीशंकरजी का आधार है । जिनका रण से भागकर जीना मरने के समान अप्रिय है और रण में मरना जीने के समान प्रिय है ऐसे उदार पुरुषों से त्रैलोक्य भी जीता जाता है । वे ही काल के भी काल होते हैं यानी परमपद प्राप्त हैं, जैसे कहा है–दो ही पुरुष तो सूर्यमण्डल का भेदन कर परमपद को प्राप्त–होते हैं, योगयुक्त संन्यासी और रण में सम्मुख मारा गया योद्धा॥४४,४५॥ अत्यन्त शूरवीर योद्धा कटे हुए सुन्दर सुन्दर हाथीरूप कमलों से भरी हुई युद्ध भूमि के आकाश में तालाब में सारसों के समान सुशोभित हुए॥४६॥ गुलेल से फेंके गये पत्थरों के प्रवाहरूपी नदियों की ध्वनियों से तुरन्त ही बह कर आकाश में उड़े हुए मस्तकों की फुफकारों से, बाणरूपी जल बरसा रहे सैनिकों के सिंहनादों से और आकाश में फैल रहे शस्त्रास्त्रों की सरसराहट से एवं सातघोड़ों तथा हाथियों के हिनहिनाने और चिंघाड़ने से व्याप्त युद्ध ने सबके कानों को बहिरा बना दिया था । वह रणस्थल कहीं पर भी सूराखसन्धि–सम्बन्ध से रहित पत्थर के समान जड़ हो गया था ॥४७॥

एक सौ दसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग

अपनी सेना की हार होते न होते रणभूमि के लिए निकले हुए
राजा द्वारा वायव्यास्त्रों से चारों ओर शत्रुओं के संहार का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र, इस प्रकार प्रलयतुल्य घमासान युद्ध चल रहा था, संग्राम भूमि में सेनाएँ हार और जीत रही थीं, तूरी, रणसिंगा और महाशंखों की ध्वनियाँ प्रतिध्वनि द्वारा आकाश

में बज रही थीं, आकाश में तलवारें सरसराहट के साथ बोल रही थीं, वीरों के धनुषों की दीर्घ टंकार ध्वनियाँ हो रही थीं, योद्धागण परस्पर जोर-शोर से ताल ठोक रहे थे, निर्दयता से कूटे (पीटे) हुए कवच जोर के कट-कट शब्द कर रहे थे, राजा विपश्चित् की सेनाएँ कुछ हार-सी रही थीं, काटी जा रही लताओं की भाँति सेना का बहुत बड़ा भाग मूर्छित हो रहा था, इतने में राजा विपश्चित् के रणभूमि प्रयाण की दुन्दुभि, जो वज्रयुक्त प्रलयकालीन मेघकी-सी ध्वनि से पूर्ण थी, दिशाओं को अपनी ध्वनि से पूर्ण करती हुई बजी। उक्त दुन्दुभि-ध्वनि एक साथ टूट रहे कुलपर्वतों की ध्वनि के समान प्रचण्ड थी, उसने प्रकट हो रही अपनी गड़गड़ाहट से सकल दिक्तटों को स्तब्ध कर दिया था। वह राजा विपश्चित् भगवान् श्रीविष्णुजी की सदेह भुजा जैसे चार शरीरों से रणभूमि के लिए चौतरफा निकला ॥१-७॥ चतुरंगिणी महती सेना से चारों ओर घिरे हुए राजा ने अटारियों से परिवृत नगर से कठिनाई के साथ निकलकर संग्राम संलग्न अपनी सेना को खाली (बलहीन) देखा और शत्रुसेना को बलयुक्त देखा। शत्रु सेना का क्या कहना था, वह युद्ध के लिए संलग्न गरज रहा भयंकर चलनेवाला समुद्र ही थी, बाणरूपी जलकणों से खूब भरी थी, मकराकार सेना के व्यूहों से पूर्ण थी, हाथियों के झुण्डों से घिरी थी, (卐) अश्वों की कतारों से विस्तारयुक्त थी ॥८-१०॥ चक्राकार आवर्त के समान बह रहे सेना के व्यूहरूपी ज्वारभाटों से व्याप्त थी, चल रहे सैकड़ों रथ ही उसमें सैकड़ों जलभ्रमियाँ थीं, पताकाएँ ही छोटी-छोटी लहरें थीं, चमक रहे श्वेतछत्ररूपी फेन से वह लबालब भरी थी, घोड़ों का हिनहिनाना ही उसमें जलजीवों की फुफकार थी, हथियाररूपी जल चमचमा रहा था, विकसित हो रही बाणरूपी धाराओं की वह उत्तम आगार थी, तैर रहे चंचल हाथी और घोड़ों के झुण्ड ही उसमें तरंगें थीं, हथियार रूपी जल में काले सर्पों के जैसे म्लेच्छ उसमें दीख पड़ रहे थे, द्रविड आदि योद्धाओं की बातचीत से उसमें गुड़गुड़ शब्द हो रहा था, कन्दराओं के कटने से क्षुभित हुए वायु से उसमें घुम्घुम् शब्द हो रहा था, ऊँचे नीचे हाथी उसके विशाल कलेवर में पर्वतों के डूबने-उतरने से होनेवाली महा हलचल पैदा कर रहे थे, डूब रहे हाथी घोड़े ही उसमें अनायास मारे गये (पंख काटने से पंगु बनाये गये) पर्वत थे। असीम चारों ओर फैला हुआ सेनासमूह ही उसकी कल्लालों से (महातरंगों से) अलंकृत अपार जलराशि थी ॥११-१५॥ अकाल (अनवसर में) महाप्रलय के आविर्भाव के सदृश उसका आकार अत्यन्त घना था, खून के महासागरों ने पृथिवी और अन्तरिक्ष के मध्यवर्ती अवकाश को ढक दिया था, देदीप्यमान शस्त्रास्त्रों के खण्डों की राशिरूपी उछल रहे रत्नों से उसका मध्यभाग पटा था, चल रही सेनाओं में चल रहे क्षेपणी यन्त्र के (गुलेल के) पत्थर व्यस्त थे। रक्त के छोटे छोटे कण और कुहरेरूपी सन्ध्या काल के मेघ से युक्त थी, कहीं पर धूलिरूपी मेघ से अस्त्रशस्त्ररूपी जल का सागर पी डाला गया था ॥१६-१८॥ उक्तसंग्राम सागर को देखकर मैं इसका अगस्त्य (अगस्त्य ने जिस प्रकार सागर

(卐) सागरपक्ष में मगरों के समूहों से भरा हुआ । जलहस्तियों के समूह से भरा हुआ ।

को पी लिया था वैसे ही इसे पी डालूँ) ऐसा मन में विचार कर उसने संग्राम सागर को पीने के लिए वायव्य अस्त्र का स्मरण किया और जैसे मेरुरूप धनुष में त्रिपुरासुर के वध के लिए उद्यत हुए शिवजी ने अस्त्र का सन्धान किया था वैसे ही चारों ओर उसने उसका सन्धान किया ॥१९,२०॥ राजा ने अपने देश के सैनिकों के हित के लिए शत्रुवध के लिए अग्निदेव को नमस्कार करके जप कर शीघ्र जैसे उस भीषण अस्त्र को छोड़ा, वैसे ही उसकी सहायता के लिए महान् अस्त्र श्रेष्ठ पर्जन्यास्त्र को शत्रुरूपी आतप की शान्ति के लिए छोड़ा ॥२१,२२॥ चारों ओर वायव्यास्त्र और पर्जन्यास्त्र से युक्त अतएव अष्टमूर्ति उस भीषण धनुष से दिशाओं के अवकाश को पाट देनेवाली बाणों की नदियाँ, त्रिशूलों की नदियाँ, चक्रों की नदियाँ, कुल्हाड़ों की नदियाँ, तोमरों की नदियाँ भिन्दिपालों (तोपों) की नदियाँ, पत्थरों की नदियाँ, वज्रों की नदियाँ और बिजलियों की नदियाँ बह निकलीं। कल्पान्त के (प्रलय) सूचक प्रचण्ड वायु बहने लगे । जलधारा की नदियों के प्रवाह तलवारों की वृष्टि के साथ बह निकले । युगों के अवसान में टूट फूटकर धराशयी हुए कुलपर्वतों से निकले हुए, प्रचण्ड वायु से बढ़े हुए, उत्पातों के समान मोटे ताजे साँप बाणों के साथ बह निकले ॥२३–२८॥ उस शस्त्रास्त्र वृष्टि के वेग से वह पूर्वोक्त विशाल शत्रु–सेना सागर को शीघ्र ही धूल के ढेर की भाँति चारों ओर उड़ा दिया गया । उसमें कुछ भी समय नहीं लगा ॥२९॥ जल, वज्र और शस्त्रास्त्रों की वेगवती वृष्टि तथा प्रचण्ड आँधी से शत्रुसेना बाँधरहित तालाब के जल की भाँति चारों ओर भाग खड़ी हुई । वह चतुरंगिणी सेना युद्ध से विमुख होकर वर्षाकाल की पर्वतनदी के महाप्रवाह के तुल्य भागती हुई चारों दिशाओं को चली गई ॥३०,३१॥

सेना पर्वत नदी की समता का उपपादन करते हुए भाग रही सेना का वर्णन करते हैं।

वायु के प्रवाह में यह बह रहे पसीने से तर कटे हुए बड़े–बड़े पताका–दण्ड ही उस गिरिनदीरूप सेना में वृक्ष थे, किरणरूपी फूलों से चितकबरे (मिश्रित) चंचल खड्ग ही लताओं के समूह थे, दौड़ने की शक्ति न होने से लड़खड़ा रहे, मोटे ताजे पुरुषरूपी पत्थरों के बिन्दुरूपी खून के पनाले से वह अवर्णनीय थी, भयंकर घुर–घुर शब्दों से वह कायरों के हृदय को टुकड़े–टुकड़े करनेवाली (डरावनी) थी, बह रहे महागजों के दाँतरूपी वृक्षों के परस्पर टकराने से प्रकट हो रहे कट–कट शब्द से गरज रहे मेघों को मात कर रही थीं, हथियारों से पत्थरों की तेज टक्कर ही उसमें नदी के किनारे के पुष्पवृक्ष पर हुआ भँवरों का झंकार था, तैर रहे चंचल तथा चिल्ला रहे घोड़े ही उसकी तरंगें थीं । रथादि के तथा शूरवृन्द के पत्थरों से टकराने पर हुए आर्तस्वररूपी मेढक तथा पक्षियों के शब्द से युक्त थी, पैदल सेना, रथ, हाथी और अश्वरूपी पाषाणों के परस्पर टकराने से वह संकुल थी, कर्णकटु टंकार, चीत्कार, क्रेंकार से पुष्ट थी, हम मरे हम मरे इस प्रकार के जनकोलाहल से भरी थी, सेनारूपी जल के बड़े–बड़े आवर्तों में गुड़–गुड़ ध्वनि हो रही थी, रक्त के कण तथा कुहरारूपी सन्ध्याकाल

का मेघ उसका चँदवा था ॥३२-३८॥ शस्त्रास्त्ररूपी लहरों से वटवृक्षों के समान काटे गये मेघ जल से नम्र हुए थे । वर्षा से पंकयुक्त हुए भूप्रदेश के तट को तोड़ने से वह विशेष शोभित थी ॥३९॥ मार्ग बनाने के लिए भाले, त्रिशुल, गदा, वल्लों को धारण करनेवाले भाग रहे योद्धाओं से बह रहे तालबन के समान अद्‌भूत थी, रो धो रहे कातर लोग ही उसमें गिर रहे मृगछौने थे ॥४०॥ मरे हुए हाथी, घोड़े और योद्धाओं के समूहरूपी जीर्णशीर्ण पत्तों से वह आच्छन थी, पीसे गये शरीरों के वसा और मांस के कीचड़ से उसमें चारों ओर कीचड़ ही कीचड़ हो गया था, चूर चूर की हुई हड्डियाँ ही उसमें कुछ स्थूल बालूवाले तट थे और खुरों से खूब पीसी गई महा हड्डियाँ ही उसमें महीन बालूवाले तटप्रदेश थे । उसमें बह रहे पत्थरसमूहों तथा लकड़ियों की चोटियों के आपस में टकराने से कटकट शब्द होता था ॥४१,४२॥ गरज रहे प्रलयकाल के मेघों से, बह रहे प्रलयकाल के प्रचण्ड वायुओं से,गिर रही प्रलयकालीन मूसलाधार वृष्टि से, प्रलयकाल के वज्रपातरूपी संकटों से, पंकमय सकल भूतलों से, जल से उपद्रवपूर्ण स्थलों से, तेज शीत से जम गई वर्षाधारों के आकार के आकाश में बने पिंजड़ों से, समस्त नगर, गाँव और घरों को जलाकर राख कर चुकी अग्नियों से, प्रजा, घोड़े, हाथी और पैदल सेनाओं के रोदन से, आकाश और भूमि में हो रहे तीक्ष्ण ध्वनिवाले रथ और मेघों के घर-घर शब्दों से, चारों ओर विपश्चित् के धनुष के चार तेज क्रेंकारों से, बिजलीरूपी कंकण का विस्तार करनेवाले मेघों के परस्पर टकराने और रगड़ खाने से, बाणों, शक्तियों, मुद्‌गरों, बल्लमों, भालों और बन्दूकों की वर्षाओं से चारों ओर बलशाली राजाओं के असंख्य सैनिक भागते हुए मच्छरों के समूह की भाँति शीघ्र नष्ट हो गये । सीमान्त के राजाओं की सेनाएँ तीक्ष्ण वह्निराशि के सदृश शस्त्रास्त्र समूहरूपी मेघों की आग से लोगों को घबड़ाहट में डाल देने वाले वज्रपातों से व्याकुल होकर चंचल सागरजल में उबाले जा रहे जलचरों की नाईं बडवाग्नि में प्रवेश कर रही थीं ॥४३-४९॥

एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बारहवाँ सर्ग

जीवन लेकर भाग रहे जिस जिस देश के पैदल भट जहाँ-जहाँ जिस प्रकार विनष्ट हुए उसका वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, चेदिरूपी चन्दनों का वन, जहाँ मोतियों के हार, वस्त्र और साँप दर्शनीय होते हैं, कुल्हाड़ियों की धाराओं से कटकर दक्षिण सागर में गिर गया ॥१॥ पारसदेश के योद्धा अस्त्रप्रवाह से पत्तों की भाँति बहाये जाते हुए मोहवश आपस में प्रहार कर वंजुलावन में विनष्ट हो गये ॥२॥ दरददेश के योद्धा दर्दुर पर्वतपर आरपार रहित (असीम) गुफाओं के बिलों में भय से विदीर्णहृदय होकर दानवों की भाँति विलीन हो गये ॥३॥ बाण, बल्लम, तलवार और

कुल्हाड़ीरूपी चार शस्त्रास्त्रों की धारा के अग्रभाग से हुए पत्थर, कवच आदि के चूर्णरूपी बर्फ को धारण करनेवाले बिजलियों से आवेष्टित वारूणास्त्र से उत्पन्न हुए मेघ चले ॥४॥ आपस के आघातों से भग्नदन्त (जिनके दाँत टूट गये थे) देहों में रुधिर राशि से लथपथ पीड़ाक्रान्त हाथी मृत्यु के पेट की पूर्ति करनेवाले ग्रास के बराबार के पिण्ड ऐसे हुए ॥५॥ भीषण तोमरों से पीटे गये दरद देश के ही कोई योद्धा रात्रि में अपने रूप से पुरुषों को मोहित करनेवाली पिशाचियों द्वारा उपभुक्त हुए और फिर उन्होंने उनके अंग आपस में बाँट लिये, यों बेचारे रैवतक पर्वत में विलीन हो गये ॥६॥ दशार्णदेश के योद्धा ताल और तमाल से घने पुराने जंगल में सिंहों द्वारा गले में पैर डालकर हृदय चीरकर मार डाले गये ॥७॥ पश्चिमसागर के तटवर्ती देशों के यवनयोद्धा वेलाभूमि में मगरों के झुण्डों से निगल लिये जाने के कारण मर गये ॥८॥ शक लोग रक्तमय बाणराशि को क्षण भर भी सहन न कर सके एवं रमठों के प्राण कमलिनी समूह की भाँति मारे भय के काँप उठे ॥९॥ श्रवण नक्षत्र के संस्थान के (शरीर गठन के) समान तीन शिखराग्रों से युक्त महेन्द्र पर्वत स्वर्ग में जा रहे योद्धा से परिवृत होकर मेघों से परिवृत–सा हो गया ॥१०॥ तंगणयोद्धाओं की सेना, जिसका आकार सुन्दर सुवर्ण के सदृश था, चोरों द्वारा वस्त्रादिलुण्ठनपूर्वक छिन्न–भिन्न की गई, फिर निशाचरों द्वारा एकान्त में चट कर दी गई थी, यों मटियामेट हो गई ॥११॥ तंगणसेना के भक्षण के समय वहाँ का भूमितल चारों ओर घूम रहे उल्मुक (लाठी) लिये हुए अतएव चमक रहे निशाचरों से नक्षत्र–मण्डल से आकाश की नाईं शोभित हुआ ॥१२॥ उक्त विपश्चित् की विजय होने पर जगत्रूपी गृहगुहावाला अन्तरिक्ष लोक मेघों के पृथिवी बिलों में गर्जन की प्रतिध्वनि से गम्भीर घुम्–घुम् ध्वनियुक्त (विपुल मृदंगध्वनि युक्त) होकर मानों उसका प्रचुर यश गाने के लिय उद्यत हुआ ॥१३॥ मछलियों के विहाररूप शेवाल के छोटे से तालाब के भाग्यवश सूख जाने पर (जलशून्य होने पर) बड़ी–बड़ी मछलियों के तुल्य अशरण होकर खड्गों से जर्जर हुए अन्यान्य द्वीपों के योद्धाओं ने अपने प्राणों का परित्याग किया ॥१४॥ जीते हुए सकल द्वीपों के योद्धा सह्याद्रि में छिपकर सात दिन तक विश्राम कर चिकित्सा आदि द्वारा घावों के पूरे होने से स्वस्थ होकर बाणवृष्टियों से क्लेशित होते हुए कठिनाई के साथ धीरे–धीरे अपने देशों को चले गये ॥१५॥ मारे भय के गन्धमादन पर्वत के पुंनाग वृक्षों के झुरमुट में इकट्ठे हुए गान्धार देश के योद्धाओं की विद्याधरकुमारियों ने रक्षा की ॥१६॥ हूण, चीन और किरातों के सिर विपश्चित् से छोड़े गये मुँह में आग से युक्त वेगवान् चक्रों से कमलों की तरह काटे गये ॥१७॥ निलीप नामक देश के योद्धा कमलनाल में उगे हुए निश्चल काँटों के समान विपश्चित के भय के मारे प्रत्येक वृक्ष में वृक्षमय से निश्चल हो चिरकाल तक निवास करते रहे ॥१८॥ मृगों और पक्षियों के विहार के लिये सुन्दर रंगभूमिरूप पर्वत और वनभूमियों में विपश्चित् के आगमनों से या शस्त्रास्त्रों के संपातों से चारों ओर अत्यन्त घबड़ाहट फैल गई ॥१९॥ करंजवन के समान कठोर कण्टक–स्थलनामक

योद्धा दस्युओं के देश में करंज आदिके वनों में छिप गये ॥२०॥ पारसी योद्धा समुद्र के तरंगवेग से परलीपार पहुँच कर, वायु से पाक होकर प्रलयकाल तारों के समान गिर पड़े ॥२१॥ समुद्र को तरंगों के आन्दोलनों द्वारा कूटनेवाले, पत्थरों की मार से पर्वतशिखरों पर चिह्न करनेवाले, सब दिशाओं के वनों को झकझोरकर विनष्ट करनेवाले तथा प्रलय की आशंका पैदा करनेवाले प्रचण्ड पवन बहने लगे ॥२२॥ क्षुब्ध हुए शस्त्रास्त्रों और वायुओं द्वारा मूसलाधार वृष्टि से सम्पन्न होकर कीचड़ और जल से सराबोर, गंभीर घुम्-घुम् शब्द युक्त तथा अदृश्य हो गई ॥२३॥ साँय साँय शब्द करनेवाले वायुओं से महासागर के प्रवाह से बरफ छप-छप शब्द के साथ पृथिवी पर गिरने लगा ॥२४॥ वायु से उड़ाये जा रहे विदूरदेश के रथिक लहरों का-सा चीत्कार करते हुए कमलों से भ्रमरों की तरह रथों से तालाब के जल में गिर गये ॥२५॥ उनकी पैदल सेना तो पास में शस्त्रास्त्र राशि के रहते भी विपश्चित् की चक्रराशि से आँख के अश्रुओं से भर जाने के कारण, मूसलाधार वृष्टि होने पर धूलराशि के समान, भागने में समर्थ नहीं हुई ॥२६॥ हूणदेश के योद्धा उत्तर सागर के रेतीले तट पर सिर तक डूबकर भूमि में गाड़ने के कारण मटमैला हुआ लोहे का शूल जैसे मोरचे (लोहे का जंग) से युक्त होने से क्लेदयुक्त हो जाता है, वैसे ही क्लेद युक्त हो गये अर्थात् सड़ गये ॥२७॥ शकयोद्धाओं को पूर्वसागर की तटभूमि की एला (ईलायची) वन श्रेणियों में पहुँचाकर विपश्चित ने उन्हें एक दिन तक बाँधकर छोड़ दिया, अतएव वे यमलोक नहीं गये, नहीं मरे ॥२८॥ मन्द्रदेश के योद्धा धीरे-धीरे सिसकते-सिसकते द्युलोक के समान ऊँची पर्वत की चोटी से महेन्द्र पर्वत पर गिरे और अपने आश्रम के मृगों की भाँति मुनिवरों ने खान, पान, स्थान आदि प्रदान द्वारा उन्हें आश्वासन दिया ॥२९॥ जो योद्धा सह्याद्रि में प्रविष्ट हुए थे, वे तो मूकाम्बिका के समीप कुटजाढ्य नामक सह्याद्रिशिखर के देवबिल में भाग्यवश प्रविष्ट हुए, उक्त बिल से उन्हें ऐहिक और पारलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त हो गई। कभी-कभी भाग्योदय में अचानक अनर्थ से भी अर्थ (पुरुषार्थ) हस्तगत हो जाता है, कारण कि मरने के लिए वे सुरबिल में घुसे थे, किन्तु उन्हें सिद्धियाँ मिल गई ॥३०॥ दाशार्ण देश के योद्धा पुराने पत्ते के समान दर्दुराण्य में पहुँचे। वे मूर्ख विषफल खाकर वहीं पर अपने-आप मर गये ॥३१॥ हैहयदेश के योद्धा हिमालय में काकतालीयन्याय से विशल्यकरणी औषधि को खाकर विद्याधरों की भाँति आकाशचारी होकर अपने घर चले गये ॥३२॥ इसी प्रकार बंग के योद्धा भी हिमालय की औषधियाँ खाकर मनुष्यों की नाईं म्लान (कुम्हलाए) शेखर पुष्पों से युक्त हो बाणों के चुक जाने से केवल धनुषों से युक्त हो अपने-अपने घर आये, मारे भय के आज भी बाहर न निकलने के कारण पिशाचता को प्राप्त हुए जैसे दिखाई नहीं पड़ते ॥३३॥ अंग देश के योद्धा विद्याधरों का पद प्रदान करनेवाले वनफलों के भक्षण से स्वर्ग में विद्याधर होकर वहाँ विद्याधरियों के साथ क्रीडा करते हैं ॥३४॥ पारसी योद्धा ताल और तमाल के समूहों में प्रविष्ट हुए, प्रविष्ट होते ही शत्रुओं ने उनके अंग-अंग काट डाले, अतएव

बेचारे मूर्च्छा को प्राप्त हो गये । वहाँपर भ्रान्तिवश विमानचारी ऐसे हो गये ॥३५॥ हे वत्स, कलिंगों की चंचल और निस्सार हाथियों से युक्त चतुरंग सेना अंग देशवासी योद्धाओं से घायल होकर तंगण देश में पहुँची ॥३६॥ शाल्वदेश के योद्धा बाण, पत्थर और जल से युक्त शत्रुसेना के आक्रमण करने पर अपने प्रभु के साथ धराशायी हो गये, वे आज भी उस देश के ग्रामदेवतारूप प्रतिमा बनकर स्थित हैं ॥३७॥ प्रत्येक दिशा की ओर भाग रहे असंख्य योद्धा तरंगों से व्याप्त नगरों में, लीन हो गये ॥३८॥ केवल सागरों में ही लीन नहीं हुए किन्तु खेतों में, जंगलों में, नगरों में, जलों में, स्थलों में, पहाड़ों में, नदी और समुद्रों के तटों में, नहरों मे, ब्राह्मणों को दिये गये माफी ग्रामों में, नदियों में, समुद्रों में, भृगुओं में, वृक्षों में, कसबों में, खुश्क जगहों में, पर्वतों में, कुओं में, गुहाओं में, गृहों में विनष्ट हुए भगोड़े सैनिकों को बचाने में कौन समर्थ था ? ॥३९॥

एक सौ बारहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तेरहवाँ सर्ग

शत्रुओं के विनाश से विजय के साधनभूत शस्त्रास्त्रों के विनाश तथा समुद्रों के वैभव का विस्तार से वर्णन।

तदनन्तर इस प्रकार भाग रहे शत्रुओं की सेना का पीछा कर रहे वे चार विपश्चित अत्यन्त दूर चले गये । सर्वशक्तिशाली सब देहों में स्थित एक चेतन ईश्वर से दिग्विजय करने के लिए प्रेरित तुल्य अभिप्रायवाले उन सबों ने दिग्विजय किया ॥१,२॥ नदियों के प्रवाहों की नाईं उन्होंने दूर से अपनी सेनाओं का निरन्तर शत्रु सेना से सम्पर्क रखते हुए समुद्र के तट तक अनुसरण किया । दूर तक बिना विश्राम लिए चलने से विपश्चित के सैनिकों के वे जीवननिर्वाह और युद्ध आदि के साधन प्रतिदिन के व्यय से छोटी–छोटी नदियों के जल की भाँति क्षीण हो गये ॥३,४॥ दौड़ रहे विपक्षियों की, अपनी और दूसरों की दर्शनीय सेनाएँ मुमुक्षु जनों के पुण्य–पापों की तरह पूर्णरूप से मटियामेट हो गई ॥५॥ इसके उपरान्त जैसे अग्नि की ज्वालाएँ दाह्य वस्तुओं के (लकड़ी आदि के) अभाव से शान्त हो जाती है वैसे ही अपना कार्य सम्पन्न कर चुके दिव्यास्त्र भी आकाश में लीन हो गये ॥६॥ तरकस, म्यान आदि अपने निवास गृहों में, रथों, हाथियों और वृक्षों के समूहों में अस्त्र सायंकाल के समय निद्रालु पक्षियों के समान लीन होकर निश्चेष्ट हो गये ॥७॥ उक्त आयुध, जैसे लहरें जल के अन्दर विलीन हो जाती हैं, जैसे कुहरा बादल में विलीन हो जाता है, जैसे बादल वायु में विलीन हो जाते हैं वैसे ही तरकस, म्यान आदि में विलीन हो गये ॥८॥ शून्यरूपी जल से भरा निर्मल आकाशरूपी एकार्णव प्रलयकाल में प्रसिद्ध एकमात्र अतः विस्तृत सागर बन गया, क्योंकि उसके अस्त्र–शस्त्ररूपी जल जन्तु मूसलाधार वृष्टि से हुए कीचड़ में विलीन होकर शान्त हो चुके थे, चक्ररूपी सैकड़ों आवर्तों से वह रहित था अतः निर्मल सौम्यता उसमें चारों ओर विराजमान थी, बाणरूपी जलकणों की वेगवती वृष्टि और कुहरा उससे हट चुका था, बादलों के घटाटोप से हुई

तरंगों की भाँति ऊँची ऊँची जलधाराएँ उसमें शान्त हो चुकी थीं, नक्षत्रोंरूपी रत्न-राशि अन्दर छिप चुकी थी तथा सूर्यरूपी बडवाग्नि उसके एक देश में स्थित थी ॥९-११॥ एकार्णव-सा विस्तृत आकाश, जो विस्तृत (फैले हुए) सूर्यप्रकाश से गम्भीर अतएव कान्तियुक्त और धूलिपटल से रहित अतएव प्रसन्न था, महात्माओं के मन की भाँति सुशोभित हुआ । महात्माओं का मन भी आत्मज्ञान से गम्भीर होने से प्रकाशमय तथा रजोगुण से रहित होने के कारण प्रसन्न रहता है ॥१२॥ तदुपरान्त उक्त चार विपश्चितों ने आकाश के छोटे भाइयों के सदृश विस्तारयुक्त निर्मल आकारवाले, सम्पूर्ण दिशाओं तक फैले हुए चार समुद्रों को देखा ॥१३॥ उनमें लहरों के खण्डों और कल्लोंलो से चारों ओर महान गुड़-गुड़ शब्द हो रहा था, प्रचुर जलकणरूपी कुहरे को हरनेवाले मेघों से उनका कलेवर बड़ा रमणीय प्रतीत होता था, रोगाकुल पुरुषों की भाँति वे अपनी काया को पसारे हुए थे, वे वायु से पीड़ित (आन्दोलित) थे, अतएव उनका कलेवर चंचल था और वे तरंगरूपी बाहुओं को बार-बार ऊपर उठा रहे थे (🜁) ॥१४,१५॥ वे संसार की नाईं जड़ होते हुए भी चेष्टामय थे, कल्लोलरूपी टेढ़े-मेढ़े खोडरों से भरे थे, (🜂) चक्राकार आवर्तरूप (जलभ्रमिरूपी) दशाओं से व्याकुल तथा विस्तीर्ण थे । रत्नों की राशियों को धारण करनेवाले तटों की जगमगाहट से उदय समय में मानों वे सूर्य को विशाल बना देते थे । शंखों केझुण्डों में प्रवेश कर रहे वायु का शब्द ही मानों उनकी तर्जन ध्वनि (डाँट-डपट की हुँकार) थी । बड़ी-बड़ी लहरों की परम्पराओं की ध्वनियों से वे मेघों की गड़गड़ाहट से पूर्ण आकाश के आडम्बर से युक्त थे, उनके गोल-गोल आवर्तों के विस्तार में मूँगे के वृक्ष जोर से घूम रहे थे, मगरों के झुण्डों के घर-घर शब्द ही उनके पेट की गुड़गड़ाहट थी, व्हेल मछलियों की पूंछों के अगले भाग की मार से फटे हुए अतएव डूब रहे जहाजों के कोलाहल से भरे जा रहे थे, ऊनी वस्त्र पहने हुए नरकिन्नरों को ऊपर गर्दन निकाले हुए कछुए और मगर निगल रहे थे, हजारों लहरों में प्रतिबिम्बित सूर्यों से वे जिसमें सहस्र सूर्य उदित हुए हों ऐसे आकाश के तुल्य प्रतीत हो रहे थे ॥१६-२०॥ माल से लदे हुए तथा तने हुए पाल पर फर-फर ध्वनि करनेवाले वायुओं के कारण चल रहे जहाजों की कतार ऊपर को उछल रही थी, लहरों में उलझी हुई रत्नराशियों के गिरने के धक्के से उनमें झँकार ध्वनि हो रही थी, विविध जलों से युक्त सेनाओं की बाहुओं द्वारा अनायास सूर्यमण्डल का स्पर्श कर रहे थे (या विविध समुदायों से पूर्ण तरंगरूपी बाहुओं से वे अनायास सूर्यमण्डल का स्पर्श कर रहे थे) ऊपर को छिटक रही किरणों से युक्त मणिमाणिक्यों के समूह उनमें डूब और उतरा रहे थे, फाँदने से फेनवाले आवर्तों में (जलभ्रमियों में) मगरों के झुण्ड के झुण्ड घूम-फिर रहे थे, चक्कर लगा रहे थे, कहीं पर हाथियों

(🜁) रोगाकुल के पक्ष में - साँस रोग से पीड़ित अतएव चंचलशरीर तथा पीड़ा के मारे बार-बार भुजाओं को ऊपर उठा रहे ।

(🜂) संसारपक्ष में छः उर्मियों से (काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से) कुटिल जलाशयों से पूर्ण।

के सूँडों को ऊपर करने से वे क्षणभर के लिए बाँस के बन से बनाये जा रहे थे, हाथियों की पूँछ उनमें लहरियों की बौर–सी मालूम पड़ रही थी, हाथियों की पीठरूपी पंक्तियों में सटी हुई फेनराशि से वे पुष्पित बसंत जैसे प्रतीत हो रहे थे । कहींपर (श्वेत द्वीप आदि में) मालूम पड़ता था कि मानों बसंत अपने परिवार के साथ उनके अन्दर विश्राम कर रहा है, उनके एक स्थान पर असंख्य नाना प्रकार के सुर और असुरों के आवास बने थे, फेन आदिरूप तारों से युक्त नूतन तरंगराशियों से वे आकाश का परिहास कर रहे थे, गुफा में स्थित मच्छर की नाईं पातालरूपी गड्ढे में प्रविष्ट होकर बाहर निकलने में भयभीत पर्वत उनमें मूलाशाखा से (जड़ों की शाखा के तुल्य) प्रतीत हो रहे थे, वे अपनी तरंगराशियों से तटवर्ती पर्वतों को छोटे बना रहे थे (तटवर्ती पर्वतों की अपेक्षा तरंग राशियाँ बहुत ऊँची थीं, अतः वे छोटे दिखाई दे रहे थे ।) ॥२१–२६॥ उन्होंने (चार सागरों ने) आकाशरूपी खेत में बहुत से रत्न किरणरूपी अंकुर लगा रक्खे थे, स्वच्छ सीपों के मुँह से गिरे हुई मोतियों से उनके बालूमय तटप्रदेश आच्छन्न थे, विविध प्रकार के रत्नों की किरणरूपी रेशमी सूत्रों से उनका कलेवर चित्र–विचित्र हो रहा था, प्रविष्ट हो रही नदियाँ ही उनके तुरी में प्रविष्ट किये (लपेटे) जा रहे तन्तु (सूत) थे, दशा (किनारा) रूपी दिशाओं के द्वारा इधर उधर वे चारों ओर फैलाये गये थे, अतएव बुने जा रहे वस्त्रों के तुल्य प्रतीत हो रहे थे ॥२७–२८॥ कहीं पर वे इन्द्रनील मणियों के तटों से, जिसमें इधर उधर बिखरी हुई मोतीवाली सैकड़ों सीपें जड़ी थी, अपनी नख शोभा को सैकड़ों सुन्दर (पूर्ण) चन्द्रमाओं युक्त सी दिखला रहे थे ॥२९॥ वे रत्नों की किरणराशियों का सन्देह करानेवाली तरंगों में प्रतिबिम्बित तटभूमि की विकसित ताल की वनपंक्तियों को तरंगों के परिवर्तनों से परिवर्तित कर रहे थे, तीरभूमि के वनों की लताओं से घिरे हुए इलाइची, लौंग, कंकोलों के फलों को लेने की इच्छा करनेवाले जलजन्तु उनमें बार–बार आ जा रहे थे, आम, भूकदम्ब, कदम्ब की चोटियों पर बैठे हुए पक्षियों को जिनकी जल में परछाईं पड़ी थी, भक्ष्य मांस आदि के प्रदर्शन के व्याज से लहर के समीप लाकर खा रहे जलजन्तु उनमें चुटकी बजाने की सी ध्वनि कर रहे थे, नभचर जन्तुओं के प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण इधर–उधर दौड़ रहे जलजन्तु उनमें प्रति क्षण बड़े–बड़े (पुल) तोड़ रहे थे और बाँध रहे थे । उन्होंने चार दिशाओं में चार समुद्रों को देखा । वे अमूर्त थे किन्तु प्रतिबिम्बि से सारा त्रैलोक्य को हृदय में धारण किये हुए और आकाश के समान व्यापक नारायण के समान थे ॥३०–३४॥ अत्यन्त गम्भीरता, निर्मलता और विस्तार के वैभव से अपने में प्रतिबिम्बित आकाश को मानों हृदय से निकाल कर दिखला रहे थे, वे जलचर पक्षियों के आकाश सहित प्रतिबिम्ब को रत्नराशियों की किरणों से कर्बुरित अपने हृदयों से धारण कर रहे थे, अतएव कोश के बीज में स्थित भँवरों को धारण करनेवाले पद्मों के सदृश दीख रहे थे, तरंगों से चंचलतापूर्वक उछले हुए वायुओं के झोंकों से आकाश तल पर आघात कर रहे थे, मध्यवर्ती पर्वतों की कन्दराओं के गाम्भीर्यों से वे प्रलयकाल के मेघों के निवासरूप थे,

गुहाओं में आवर्तों की गुड़गुड़ाहट ध्वनियों से वे वज्र की भाँति भीषण थे, अपने को पी डालनेवाले अगस्त्यों को और बड़वानलों को अपने गुहारूपी उदरों में खूब ग्रसे हुए दर्शा रहे थे, जलरूपी वनों को आकाश में पहुँचे हुए दर्शा रहे थे, जिनमें प्रचुर जलकण ही पुष्प थे, तरंगराशियाँ ही वृक्ष थे, छोटी लहरें ही मंजरी (बौर) थीं, उड़े हुए मछली आदि जीवजन्तुओं से युक्त चल रही तरंग-राशियों को आकाश के शस्त्रों से कटने पर खण्ड रूप से नीचे गिरे हुए टुकड़े से दर्शा रहे क्षार समुद्रों को उन्होंने देखा ॥३५-४०॥ आकाश तक पहुँचे हुए पर्वतों के शिखरों पर तटों के आगे पूर्ववर्णित रीतियों से तरंगों द्वारा स्वागत कर रहे क्षार-सागर के तट पर विपश्चित् सेना के पहुँचने पर चारों ओर इलायची, लौंग, मौलसिरी, आँवला, तमाल, हिंताल और ताड़ के पत्तों के ताण्डवों से विभक्त भँवरों के समान काली वनपंक्ति शोभित हुई ॥४१॥

एक सौ तेरहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चौदहवाँ सर्ग

पार्श्ववर्ती द्वारा विपाश्चितों के दर्शाये गये वन, वृक्ष, सागर, शैल और वनचरों का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामचन्द्रजी, इसके पश्चात् विपश्चितों के पार्श्ववर्ती मन्त्री आदि ने वहाँ पहुँचने के बाद वहाँपर भाँति-भाँति के वन, वृक्ष, सागर, पर्वत, मेघ और वनेचर कौतुक के लिए विपश्चितों को दिखलाये ॥१॥ महाराज ! तलहटी, मध्यभाग तथा चोटी के क्रम से आगे पाषाणमयता को प्राप्त (अत्यन्त पथरीले) इस पर्वत की आकाश से बातें करनेवाली अतएव प्रचुरवायु से पूर्ण (अथवा क्रीड़ाविहार कर रहे गन्धर्व आदि से भरी हुई) शिखर-भूमि को आप देखने की कृपा कीजिये ॥२॥ देव, मौलसिरी, केसर, नारियल के वृक्षों से भरी हुई इन वनस्थलियों पर भी कृपया दृष्टिपात कीजिये जो विविध सुगन्धियों से पूर्ण वायुओं को बहा रही हैं ॥३॥ यह महासागर लहरीरूपी हँसियों से तराई को (पर्वत के पास की सम भूमि को) और पर्वत पर शोभित शिलाओं को काटता है और चोटी से लेकर जड़ तक फलों और पल्लवों से लदी हुई वनपंक्तियों को भी काटता है ॥४॥ जैसे कोई बालक अपने घर की धूम्र-पंक्तियों को पंखे से कम्पित करता है वैसे ही यह सागर वायु से हिलाई गई वृक्ष और लतारूपी भुजाओं के अभिनय से नाच रही, स्वादतुल्य अपने जलकणों से व्याप्त, पर्वतों की ऊपर की भूमि पर बैठी हुई मेघपंक्ति को कम्पित करता है, कृपया देखिये ॥५॥ पूर्णिमा के दिन चन्द्रोदय के समय वृद्धि को प्राप्त समुद्र के प्रवाहों से जिनकी शाखाओं में शंख उलझ गये थे, ऐसे ये तटवृक्ष चन्द्रबिम्ब के समान अमृत रस से भरे और सफेद फलों से पूर्ण कल्पवृक्ष से शोभित हो रहे है, तनिक दृष्टिपात कीजिये ॥६॥ लतारूपी धर्मपत्नियों से युक्त ये वृक्ष, जिनके लाल पल्लवरूपी हाथ रत्नों के तुल्य पुष्पों से भरे हैं, अपने घर में प्राप्त अतिथिरूप आपकी मानों पूजा करते

हैं ॥७॥ यह ऋक्षवान् नाम का पर्वत लहरों में उलझे हुए मगरों को अपने ग्रसनेवाले सफेद पत्थररूपी दाँतों से युक्त गुहारूपी मुखों से भालू के समान घुर–घुर शब्द करता है ॥८॥ जैसे बलवान् युद्ध–कुशल योद्धा शत्रुओं को जड़ वचनों से ललकारता है वैसे ही यह महेन्द्र पर्वत ऊपर से गरज रहे मेघों को नीचे से गम्भीर गर्जनाओं द्वारा सामने डाँट–फटकार रहा है ॥९॥ चन्दन के वृक्षों से व्याप्त, अतिशय शोभाशाली, अति उन्नत यह मलय पर्वत–रूपी मल्ल (पहलवान) प्रतिमल्लरूपी सागर की लहररूपी भुजाओं की लपेट को जीतने के लिए उद्यत–सा हो रहा है ॥१०॥ चारों ओर से रत्न–मिश्रित तरंगों से निरन्तर व्याप्त समुद्र को आकाशचारी जीव, भूमि के रत्नकंकण की भ्रान्ति से देखते हैं ॥११॥ वनसमूहों से भरे हुए छोटे–छोटे पर्वत, जिनके शिखरों पर रत्न विराजमान हैं वायुवश वन के कम्पित होने पर नीची ऊँची गतियों से चलनेवाले बनकर सर्पों की भाँति सरकते हैं ॥१२॥ तरंगों के शिखरों पर घूम रहे समुद्री मगर और जंगली हाथी तरंगशिखरों के निकलने और प्रविष्ट होने पर एक दूसरे के ग्रहण के लिए सूँड़ों और खोले हुए मुँहों से बादलों से अनुद्रुत जलकण गिरानेवाले मेघों की भाँति कौतुक देखनेवालों का मन हरते हैं ॥१३॥ उनमें से एक हाथी भाग्यवश अगाध जल में भँवरों की पकड़ में आकर जलकणों की मूसलाधार बौछारों से दिशाओं को व्याप्त कर डूबने के कारण जल से भर जाने से सिर उठाने में असमर्थ हो सूँड़ ऊपर कर मर रहा है, जरा दृष्टिपात कीजिये ॥१४॥ जैसे सागर विविध प्राणियों से पूर्ण, जल से भरे हुए तथा पर्वतों से ऊँचे नीचे विषम हैं वैसे ही सब द्वीपभूमियाँ भी हैं ॥१५॥ जैसे ब्रह्म अपने से अभिन्न होते हुए भी भिन्न से प्रतीत होनेवाले, दिखाई देते हुए भी असद्रूप, जड़ होते हुए भी चलनेवाले, शान्त होते हुए असीम जगत् को धारण करता है वैसे ही जलधि अपने से अभिन्न होते हुए भी भिन्न से मालुम पड़नेवाले दिखाई देते हुए भी चंचल, विनाशशील होते हुए भी अन्त रहित असीम आवर्तों को धारण करता है ॥१६,१७॥ जैसे इन्द्र असुरों से रक्षा करते हुए मणियों को अपने अन्दर रखते हैं वैसे ही मन्थन के समय देवता और असुरों द्वारा हृत–सर्वस्व सागर मन्थन के समय देवताओं से परिरक्षित जिन बहुत सी मणियों को अपने अन्दर रखता है और महातेजरूप अतएव पाताल से भी भलीभाँति दिखाई दे रहीं जिन मणियों को प्रतिबिम्बरूपसे असत्य सी बनाकर अन्दर छिपाकर रखता है, उन मणियों में से एक जिस मणि को प्रतिदिन पश्चिम सागर में रखने के लिए आकाश में फेंकता है, उससे दिन होता है, ऐसी मेरी मति है ॥१८–२०॥ जैसे यात्रा में लोगों का कलकल ध्वनि से युक्त परस्पर समागम होता है वैसे ही विविध दिशाओं और देशों के जलों का कलकल शब्द से मिश्रित परस्पर समागम होता है ॥२१॥ युद्ध में उत्साह रखनेवालों में जलचर ही श्रेष्ठतम होते हैं, ऐसा मेरा तर्क है, क्योंकि पूर्व और पश्चिम सागर के संगम में इनका सदैव परस्पर आस्फालनवश कभी भी युद्ध शान्त नहीं होता ॥२२॥ रतिखेद से श्रान्त हुई मछलियों के लहरों की चोटियों

पर नाचने में जो आवर्तों का सा (जलभ्रमियों का-सा) विलास हुआ उसको उड़ाये हुए जलकणरूपी या जलकणसहित पारितोषिकरूप मोतियों से वेष्टित करता हुआ प्रभु की भाँति यह वायु आ रहा है, देखिये ॥२३॥ नदीरूपी मोतियों की मालाओं के बीच-बीच में गुँथे हुए मेघरूपी उत्तमोत्तम चंचल रत्न सागर के कण्ठ में सबसे बढ़कर लम्बमान होने से आपस की टक्कर से खनखना रहे हैं ॥२४॥ महेन्द्र पर्वत की अरतिकारिणी (उदास) भूमियों में पहुँचकर उनमें अभिरुचि न होने से गुहारूपी गृहों में रति के लिए समुद्री मार्ग से लौटे सिद्ध और साध्यरूप देवयोनियों के रतिश्रम को हटाने से सुखकारी यह वायु बह रहा है ॥२५॥ यह मन्दराचल पर्वत कन्दराओं से निकले हुए वायु के झोकों से आकाश में पुष्पवर्षी मेघों का विस्तार कर रहा है अर्थात् शिखर पर छाये हुए मेघों को फूलों से पूर्ण कर रहा है, देखिये ॥२६॥ ये बिजलीरूपी चंचल नेत्रवाले मेघरूपी हरिण आम, धूलिकदम्ब और कदम्बों से परिपूर्ण गन्धमादन की कन्दराओं में प्रवेश कर रहे हैं ॥२७॥ हिमालय की गुफाओं से निकले हुए, मेघों और समुद्र की तरंगों को छिन्न-भिन्न करनेवाले तथा लताओं को नचा रहे मन्द-सुगन्ध शीतल पवन बह रहे हैं ॥२८॥ हे देव, आम और कदम्ब की शाखाओं की चोटियों के सम्पर्क से सुगन्धवाले गन्धमादन पर्वत के ये वायु सागर की तरंगों को वेष्टित कर रहे हैं ॥२९॥ अलकापुरी (कुबेरनगरी) के अलक (बालों की जुल्फें) बने हुए मेघों को वेष्टित कर रहा तथा वनश्रेणियों में पुष्पमेघ की रचना कर रहा वायु इधर ही आ रहा है ॥३०॥ कुन्द और मन्दार (पारिजात) की पुष्पराशियों की सुमधुर सुगन्धि के भार से मन्दगति वाले अतएव तुषारकणों से संयुक्त जैसे वायुओं का इस गन्धमादन पर्वत पर स्पर्श कीजिये ॥३१॥ नारियल वृक्षों तथा मल्लिका आदि लताओं को नचाने से क्रमशः उनकी तीक्षण मद्यगन्ध और सुगन्ध को प्राप्त पवन पारसीक पुरी में गिरते हैं, देखिये ॥३२॥ भगवान् शिवजी के विकसित प्रमदवन के केले के कर्पूर से सुरभित, मेघों को कँपा रहे और कैलास के कमलाकरों को हिला रहे वायु बह रहे हैं ॥३३॥ गजेन्द्रों के गण्डस्थल से चू रहे मदजल से मन्थर मूर्तिवाले ये विन्धयाचल के तोतों के साथ निकलने से उनके रंग से हरे से प्रतीत होते हैं ॥३४॥ शबरियों के शरीरों में वस्त्रों की कल्पना द्वारा जीर्णशीर्ण पत्तों के ढेरवाले मलयाचल पर्वतपर पत्ते पहननेवाले शबरों से तथा बाणों से पूर्ण अतएव थोड़े से अवशिष्ट मृगों पक्षियों से युक्त मलयवनराजियाँ नगर-सी मालूम पड़ती हैं ॥३५॥ ये दिशाएँ जिनके सागर, पर्वत, नदियाँ, मेघ, वनपंक्तियाँ अवयव हैं, आपके प्रताप से परिपुष्ट हुई सूर्य की किरणों से मानों हँसती है ॥३६॥ इस प्रदेश में पर्वत तथा वनवीथियों के समीप रति के लिए विद्याधरों द्वारा रची गई पुष्पशय्याएँ महावर की छाप से युक्त दोनों बाजुओं में स्पष्ट रीति से उठे हुए चरण चिह्न से पुरुष के रति श्रान्त होने पर अधोदेश से व्यावृत्त हुई मुग्धवनिता के पुरुष आचरणों को सूचित करती हैं ॥३७॥

एक सौ चौदहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पन्द्रहवाँ सर्ग

चारों दिशाओं में वन, पर्वत, वृक्ष, नदी, समुद्र, वायु, पशु-पक्षी, मेघ आदि का वर्णन।

पार्श्वचरों ने कहा : हे उदाराशय, जिनकी ललनाएँ विहारक्रीडाओं में सदा आसक्त रहती हैं, ऐसे किन्नरगण उत्कट संचारिभावों और संभोगसिंगार से दिवस चेष्टाओं को भूलकर इस पर्वतपर लतानिकुंजों में अस्फुट मधुर तानवाले गीत गाते हैं और सुनते हैं॥१॥

अत्यन्त ऊँचे भी पर्वत दूर से दिखाई देने के कारण बहुत छोटे मालूम होते हैं ऐसा कहते हैं ।

महाराज, देखिये, हिमालय, मलयाचल, विन्ध्याचल, सह्याद्रि, क्रौंचाद्रि, महेन्द्र, मधु, मन्दर, दर्दुर आदि ये सफेद मेघरूपी वस्त्रों से ढके हुए पर्वत दूर होने के कारण दर्शकों की दृष्टि में सुखे हुए पत्तों से वेष्टित ढेलों की रूपरेखा को धारण करते हैं ॥२॥ राजन्, देखिये, ये कुलशैल, दूर से देखने पर जिनके मध्यवर्ती मार्गसमूह दूसरों को नहीं दिखाई देते, परस्पर सटे होने से चारों ओर नगर के प्राकार (चहार दीवारी) जैसे प्रतीत होते हैं । सागरों में प्रवेश कर रहीं प्रवेशत्वरा से लड़खड़ाती हुई नदियाँ वस्त्र के भीतर लगी हुई महीन सफेद सूत की किनारी-सी लग रही हैं ॥३॥ हे राजन्, सामने दसों दिशाएँ, जिन्होंने चारों ओर पहाड़ों की चोटियों पर मेघों को फैला रक्खा है, जिनकी मेघ के सदृश श्यामल आकृति है, पक्षियों के कलरव ही जिनके वार्तालाप हैं, जिनकी वन-श्रेणिरूपी भुजलताएँ लताओं से वर्षाए गये फूलों से अलंकृत हैं, आपके अन्तःपुर की रानियों को हँस रही सा मालूम पड़ती हैं ॥४॥ ताड़, तमाल, मौलसिरी के पेड़ों से भरे हुए ऊँचे-ऊँचे पर्वत-शिखरों से युक्त दूर से शिखरों के सदृश प्रतीत हो रहे शैलों में एकाकार तथा वायु से चंचल वन सागर की तरंगो से आकुल तीरभूमि से सटा हुआ सेवारसमूह सा मालूम हो रहा है ॥५॥ इसमें भगवान् शेषशायी सोते हैं, इसमें उनके शत्रुओं का (असुरों का) निवास है, इसीमें इन्द्र के भय से शरण में आये पर्वत निर्भय होकर सोते हैं, इसीमें वडवानल भी प्रलयकालीन मेघों के साथ वास करता है । ओह ! सागर का शरीर कितना विस्तीर्ण, कितना बलवान् और कितना भारसहिष्णु है । शायद ही इसके समान विस्तृत, बली और भारसह दूसरा हो ॥६॥

कोई दूसरा पार्श्वचर उत्तर दिशा की ओर मुड़े हुए विपश्चित् से मेरु की तराई में सुवर्णमय जम्बूनदी के तटों को दिखलाता हुआ कहता है ।

ये जम्बूनदी के तट, जिनमें सब गाँव, वन, नगर, उपवन, पर्वत, वृक्ष,ठूँठ और विप्रों को दिये गये ग्राम सुवर्णमय हैं, सूर्य की किरणों से व्याप्त होकर चारों ओर जगमगाते हैं । तथा ज्वालाओं की पंक्तियों से वेष्टित आकाश में पहुँचकर चारों ओर दीप्तियों की बौछार करते हैं । हे महाराज, यहाँ पर इस प्रकार की यह सारी भूमि देवताओं के उपभोग योग्य है, मनुष्यों के आवास योग्य नहीं है ॥७॥ इस पर्वत की मेघसदृश कदम्बवनरूपी कम्बल को धारण कर रही सूर्य के मार्ग को चूमनेवाली

शिखर भूमियाँ शोभा पा रही हैं । अतः इन भूमियों में मेरी भूमि की तरह ही ये भी भूमियाँ ही हैं ऐसी आपकी बुद्धि हो, ये सूर्य को ढकने वाली आकाशस्थ मेघराशियाँ हैं, ऐसी शंका आप न करें ॥८॥

दूसरा पार्श्वचर दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थित विपश्चित् से मलयाचल का वर्णन करते हुए बोला ।

महाराज, समीप में दिखलाई दे रहा यह मलयाचल है, इसके प्रभाव का क्या बखान करें, श्रेष्ठ लवलीनलताओं से विभूषित चन्दन-वृक्षों की प्रचुर मनोहर सुगन्धि से इसके और वृक्ष के भी चन्दन बन जाते हैं, देवता, असुर और मनुष्य उनका मुखकमल में भृंग के तुल्य तिलक लगाते हैं और इसकी मनोहर सुगन्धि से भगवान् शिवजी के कपोलों में गर्मी पैदा करनेवाले ताण्डव नृत्य में उत्पन्न हुए गरम स्वेदबिन्दु स्त्रियों के सुरतश्रम से उत्पन्न स्वेदबिन्दुओं की भाँति अत्यन्त शीत बनाये जाते हैं ॥९॥ इस मलयाचल पर्वत ने, जिसके सागर से धोये गये सुवर्णमय तटों पर उगे हुए चन्दन-वृक्ष साँपों से परिवेष्टित रहते हैं, विद्याधर स्त्रियों के वदनकमल के कान्तिपुंज से सकल शिलाओं को सुवर्णमय बना दिया है ॥१०॥ यह क्रौंचाचल पर्वत है । इसमें रहनेवाले कौए निकुंजों, शिलामय प्रदेशों (पथरीली भूमियों), गुफाओं और नदियों की तालध्वनियों से युक्त बज रहे बाँसों के गीतों को सुनने की तीव्र इच्छा से चुपचाप हो गये हैं । इसमें इधर-उधर उड़ रहे मयूरों की केकाध्वनियों से भयभीत हुए साँप खोखलेवाले पुराने वृक्षों के तनों में अपने शरीर को छिपाये रहते हैं ॥११॥ हे राजन्, यहाँ इस क्रौंचाद्रि के तटपर कोमल कनकलता से निर्मित निकुंज में कान्त के साथ क्रीडा कर रहीं ललनाओं के रत्यवस्था में चंचल कंकणों से किया हुआ कानों के लिए अतिमधुर होने से रसायनपान के तुल्य दूर तक फैले भूषणशब्द को आप सुनिये ॥१२॥ हाथियों के गण्डस्थलों से चुए हुए मदजलों से मिश्रित अतएव चंचल भ्रमर-वृन्द द्वारा चबाया हुआ सा पीड़ित कणसमूह सागर में मानों रोता है ॥१३॥

कोई पार्श्वचर सागर में प्रतिबिम्बित चंचल चन्द्रबिम्ब को दर्शाते हुए कहता है ।

हे राजन्, अमृत-मथने से उत्पन्न हुए नवनीत के सदृश स्वयं निर्मल चन्द्रमा वैसी ही सुन्दर शरीरवाली सुन्दरियों से परिवृत्त होकर क्षीरसागर में प्रतिबिम्बित हो पिता की गोद में जलक्रीड़ा करता है ॥१४॥

दूसरा कोई पार्श्वचर मलय पर्वत पर राजा को लतानृत्य दिखलाता है ।

निर्मल मलयपर्वत शिखर में बाललताएँ नाचती हैं देखिये, मतवाले कोकिलों की मीठी तान ही इनका पंचमस्वर है, चंचल भ्रमरवृन्द ही इनके नयन हैं, नूतन कमलरूपी हाथों में उन्होंने फूल ले रक्खे हैं और वसन्तोत्सव के विलासरूप पुष्पपरागों का तिलक लगा रक्खा है ॥१५॥

कोई तीन उत्तम मोतियों की खानों और उनमें से उत्तम मोतियों की उत्पत्ति का वर्णन करता है ।

पर्वतों में विशेष बाँसो की गाँठ के छेद में और सागर में जलाकांक्षिणी सीपों के भीतर स्वाति नक्षत्र में जो वर्षाबिन्दु प्रविष्ट होते हैं, वे मोती का रूप धारण करते हैं एवं मोतियों की ये तीन प्रसिद्ध जातियाँ स्थानशुद्धि होने पर स्थूलतारूपी उत्कृष्ट गुण से भी उत्तम गुणवाली होती हैं ॥१६॥

इसी प्रकार रत्नों की भी विभिन्न आगारों में (खानों में) उत्पत्ति और विभिन्न गुण और कार्यसिद्धि रत्नशास्त्र में प्रसिद्ध है, यह कहते हैं ।

हे प्रभो, पर्वत में, सागर में, पुरुष में, पृथिवी में, मेघ में, मेढक में, पत्थर में और हाथी में विविध आकारवाली मणियाँ होती हैं । कृपया आप उनके काम सुनिये, संतापनिवृत्ति, शत्रुओं का उच्चाटन, मारण, ज्वर, भीति, भ्रान्ति, अन्धता, खेद, उत्तापन तथा अपने स्वामी के प्रति व्यवहित (छिपी हुई) तथा दूरस्थित वस्तुओं को प्रकाशित करना, दूर गमन की शक्ति पैदा करना या भूमि में छिपकर गमनशक्ति, आकाशगति उत्पन्न करना, अतीत और भविष्य को दिखाना, रोग तथा दुर्भिक्ष का शमन करना, दूसरों द्वारा प्रयुक्त विष, कृत्या, यन्त्र, मन्त्र आदि का प्रतीकार करना आदि ॥१७॥

कोई दूसरा पार्श्वचर चन्द्रोदय के समय नगर में हर्षवश हुए खिड़की आदि से जनघोष और मन्दर पर्वत में गर्त आदि के घोष के उपमानोपमेय भाव से उत्प्रेक्षा करता है ।

इस प्रदेश में नगर, चन्द्रमा के उदित होने पर खिड़की, झरोखे, दरवाजे आदिरूपी मुँहों से अमृतसिन्धुभूत चन्द्रमा की ऐसे ही स्तुति करते हैं जैसे कि मन्दराचल गर्त, मेघ, गुफा, बनैले बाँसों के छिद्रों से अमृतसागररूप चन्द्रमा की स्तुति करता है ॥१८॥

कोई हिमालय के तटों से मेघों की उड़ान में पवन द्वारा किये गये शिखरहरण की तथा भूमि से उठे हुए आकाश–पाताल को तोलने के खम्भे की उत्प्रेक्षा करता है ।

आकाश और पाताल की गुरुता और लघुता के परीक्षार्थ तोलने के लिए भूमि के वज्रस्तम्भ की नाईं हिमालय की तटवनभूमियों से मेघ ऊपर उड़ता है । ऊपर की ओर मुँह की हुईं मुग्ध (भोली) सिद्धांगनाओं द्वारा बड़े आश्रय के साथ देखा गया वायु मानों इस पर्वत के शिखर ले जाता है क्या ? ॥१९॥ हे राजन्, गंगातरंग और हिम–कणों से शीतल महेन्द्र पर्वत के तटों को देखिये । इनके सुन्दर शिलातलों पर विद्याधर लोग बैठे हैं और इनके पुष्पित वन फूल और मेघों से व्याप्त हैं ॥२०॥

पुण्यतम प्रदेश, वन, तीर्थ आदि के दर्शन से दुर्भाग्यनिवृत्तिरूप महान् फल है, ऐसा कहते हैं ।

देश–देशान्तरों में फैले हुए अन्यान्य वनों, पुष्पवाटिकाओं, उपवनों तथा नगरों को और तीर्थों में पवित्र स्थानों और जलों को देखकर दुर्भाग्यभीति बड़े वेग से दूर भाग जाती है ॥२१॥ दिशाओं के मध्यवर्ती अवकाश को पाट देनेवाले, मेघ, गुफा और निकुंजों से परिपूर्ण आकाशतुल्य पर्वतशिखरों को तथा निर्मल सेतुबन्धादि तीर्थों को देखकर बड़े–बड़े ब्रह्महत्या आदि पाप भी नष्ट हो जाते हैं ॥२२॥ राजन्, मलयाचल में चन्दनवृक्षों की मनोहर श्रेणियाँ हैं, विन्ध्याचल में मतवाले हाथी हैं, कैलास में श्रेष्ठ सुवर्ण है, महेन्द्राचल में चन्द्र (हीरा) है, हिमालय मे दिव्य औषधियाँ हैं, सब स्थानों में रत्न हैं, किन्तु भाग्यहीन पुरुष उनको न देखकर अन्धे चूहे की तरह जीर्ण–शीर्ण घर में वृथा दिन बिताता है ॥२३॥ मेघरूपी अन्धकार से आवृत ये दिशाएँ प्रलय काल में जल से व्याप्त अन्तरिक्ष लोक तक भरे जगद्रूपी एक तालाब–सी मालूम पड़ती हैं और उनमें चंचल बिजलियाँ तालाबों में मछलियाँ–

सी फुरती हैं ॥२४॥ स्वयं हिमकणों से लदे हुए, भूमिस्थित तुषारपंक्ति को शोषण द्वारा हल्की बनानेवाले जलधारा वर्षानेवाले तथा मेघों को मतवाले बना रहे शीतस्पर्श से शरीरों में प्रचुर रोमांच पैदा करनेवाले ये वर्षाऋतु के वायु साँय साँय बहते हैं ॥२५॥ अहा, नीले बादलों का पीछा करनेवाला यह धीर वायु बह रहा है । यह पेड़ों के पल्लव और फूलों के गुच्छों को बिखेर रहा है, अंकुर और पेड़-पौधों के वनों के अन्दर संचार से भला लगता है एवं मूसलाधार वृष्टि के जलकणों से अत्यन्त ही सुहावना है ॥२६॥ जैसे स्वर्ग से च्युत हुए जीव पूर्व पुण्यवासना के लेश को धारण करते हैं वैसे ही सुरत से क्लान्त (श्रान्त) कान्ताओं के निश्वासों से वायु वृद्धि और सुगन्धि को धारण करते हैं ॥२७॥ भूमण्डल के कमलों को खिलाने और पुष्पलताओं को खोलने में सचेष्ट, मेघरूपी वस्त्रों की चीरफाड़ (छेदन-भेदन) में दक्ष तथा उपवनों को कम्पित करनेवाले ये मन्द सुगन्ध शीतल पवन बहते हैं ॥२८॥ जैसे फूलों की विविध विचित्र पंक्तियों से सुसज्जित (फूलों से सजाये गये) राजा के आँगन में मन्त्री आदि श्रेष्ठ सेवक फूलों को कुचले बिना जतन से चलते हैं वैसे ही ये वायु गगनतल में मन्द-मन्द कम्पन के साथ सान्ध्य मेघों के समीप जाते हैं ॥२९॥ ये पर्वत-शिखर के वायु कहींपर फूलों की सुगन्धि से भरे हैं तो कहीं पर विविध कमलों की भीनी-भीनी गन्धवाले हैं, कहींपर सुन्दर केसरराशि से लदे हैं तो कहींपर बर्फ से सफेद हैं और कहींपर हरे, पीले और काले पर्वतीय धातुओं से हरे, पीले और काले रंग के हैं । ये सुरत में क्लान्त लोगों के स्वेदबिन्दुओं को दूर करते हुए बह रहे हैं ॥३०॥ कहींपर सूर्य मूर्खों की कुसंगति में पड़े पुरुष की नाईं सेवकों की भाँति आज्ञाकारी सूर्यकान्तमणियों से गुफा आदि में जलाये जा रहे प्राणियों के हुँकार और चीत्कार पूर्ण रोंदनों से युक्त अंगारों को अपनी किरणों से (हाथों से) फेंक रहा है ॥३१॥ पुरुषरूप (संगम द्वारा आस्वादनीय) रसायन में अतृप्त अतएव मदवश लज्जारहित महिला द्वारा शरीर से आलिंगित पुरुष की सुरत की समाप्ति के लिए आवश्यक अन्यान्य कार्य वर्णन रूप वंचनोक्ति विषविमूर्च्छना से हुई अपनी मृत्यु के समान नहीं सही जाती है ॥३२॥ कमलों की सुगन्धि से परिपूर्ण, शीतल जलकणों से लदे हुए, चन्द्रकिरणों के समूह की तरह स्वच्छ लहरियों को छिन्न-भिन्न करनेवाले सामने बह रहे ये वनभूमि के स्वच्छ शत्रु विरहिणी नारियों के लिए अग्निपूर्ण के तुल्य संतापकारी होते हैं ॥३३॥

हे राजन्, इस पूर्वसागर के तटरूप निचली भूमि में काँसे के कड़े पहनी हुई बड़े-बड़े पत्ते रूपी वस्त्रवाली शबरस्त्रियाँ, जो नवीन मदरूप आसव को पैदा करनेवाले यौवन से युक्त हैं, देखिये कैसे चल रही हैं ॥३४॥ यह महिला विलक्षण सुरतानन्द को देनेवाले मदसंभोग से युक्त रात्रि के बीतने के भय से दुःखी होकर सामने दिखाई दे रही साँपों से वेष्टित चन्दनलता की तरह द्रवित हुए अपने पति को जरा भी नहीं छोड़ती है ॥३५॥ नौबतखाने में बजी हुई प्रातःकाल की शहनाई से कोलाहलयुक्त दिवसों द्वारा डाँटी-डपटी गई अतएव विदीर्ण हृदय-सी नारी अपने पति के वक्षःस्थल में विलीन हो गई है ॥३६॥ यहाँ दक्षिण महासागर के तीरपर इस वनपंक्ति को, जिसमें किंशुक के पेड़ फूले हैं,

अतएव जो जली हुई सी दिखाई देती है, सागर अपनी जलतरंगों से बार–बार सींचता है, देखने की कृपा कीजिये ॥३७॥ फूले हुए किंशुकवृक्षों से भरी हुई इस वनपंक्ति से धूम्र के समान काले–काले ऊपरी भाग से युक्त मेघधूम के समान निकलते हैं। किंशुक के फूल अंगारों की भाँति निकलते हैं और पक्षी तथा भँवर बुझे हुए अंगारों की तरह निकलते हैं ॥३८॥

जिसमें सच्ची आग नहीं थी, किन्तु किंशुक फूलरूप कल्पित आग थी, ऐसी वनपंक्ति को दिखलाकर उस ओर सच्ची आगवाली वनराजि को कोई पार्श्वचर दिखलाता है।

महाराज, यहाँ से दूर पर्वत की चोटी पर उत्तर दिशा की ओर सच आग से जल रही ऐसी ही वनपंक्ति वायु द्वारा आकाश में कँपाई जाती है, कृपया दृष्टिपात कीजिये ॥३९॥ राजन्, क्रौंचाचल की भूमि में मन्द–मन्द चलनेवाले मेघवृन्द के गंभीर और तेज गर्जनों से नाच रहे मयूरों से पूर्ण तथा तेज वृष्टि और वायु से गिरे हुए फूल फल और पल्लवों से पटे हुए ऊँचे वनसमूह को कृपया देखिये ॥४०॥ यह सूर्य का रथ अस्ताचल पर्वत में ऊँचे नीचे सुवर्ण मय शिखरों की नोकों से टकराने के कारण सुन्दर जोड़ों में जर्जरित हो पहियों की घरघराहट से तीक्ष्णतर कूवरध्वनिवाला होकर नीची भूमि में उतर रहा है ॥४१॥ भुवनरूपी भवन के प्राकार (प्राचीर) रूप उदयाचल पर्वत के शिखरपर चन्द्रमारूपी मांगलिक फूल मंगलसूचक होने से अमंगल से भयभीत हो चारों ओर कान्ति से विकसित हुआ। उस प्रकार के मंगलमय फूल के समीप भी अमंगलकारी विधि द्वारा प्रेरित हुआ कलंकरूपी भ्रमर प्राप्त हो ही गया। ऐसी परिस्थिति में इस भुवन में ऐसी श्रेष्ठ वस्तु कोई भी नहीं है, जिसे कलमुँहा विधि क्षणभर में कलंकित न कर दे। भाव यह कि पृथ्वी का स्पर्श न कर पर्वतशिखराकाश में चलने वाले चन्द्रमा की जब यह दशा है, तब और की तो कथा ही क्या है ? ॥४२॥ यह चन्द्रमा की चाँदनी प्रदोषकाल में नाच रहे त्रिभुवन संहारकारी शिवजी का अट्टहास है या भुवनरूपी महाभवन की चूने आदि से होनेवाली सफेदी है या आकाशरूपी समुद्र के दुग्धरूपी जल का स्वच्छ प्रवाह है ॥४३॥ सन्ध्या के धातुरोगों से मिश्रित प्रदोषमय मन्दर से मध्यमान चन्द्रमारूपी क्षीर सागर उछले हुए दुग्धतरंग खण्ड ऐसे फैल रहे प्रभाजालों से, जो शिवजी द्वारा छोड़ी गई गंगाजी के फैल रहे प्रवाह जैसे स्वच्छ हैं, परिपूरित अवयव वाली दिशाओं को देखिये ॥४४॥ हे अनुपम, ताल के वृक्षों के तुल्य कराल वेतालों के बच्चों से परिवृत ये गुह्यकगण रात्रि के समय शान्तिपाठ, स्वस्तिवाचन आदि मंगलाचरणों से रहित अतएव उत्पातों से पीडित आपके शत्रु हूणेश्वर के नगरवासियों को खाने के लिए जाते हैं॥४५॥ आकाश में पूर्ण चन्द्रमा तभी तक शोभा पाता है जबतक कि वधू का मुँह घर के बाहर खुले आँगन में नहीं आता। घर के बाहर के आँगनरूपी आकाश में वधूमुखरूपी चन्द्रमा के उदित होने पर तो उसकी सुन्दरता के सामने फीके पड़े चन्द्रमा और सफेद बादल के टुकड़े में कोई अन्तर नहीं रह जाता है ॥४६॥

कोई अन्य पार्श्वचर चन्द्रकिरणों से व्याप्त हिमालय के शिखरों का वर्णन करता है।

ये हिमालय पर्वत के विशाल हिमाच्छन्न शिखर हैं। ये चन्द्रकिरणरूपी नूतन वस्त्र पहने हैं,

गंगा के प्रवाह से इनकी शिलाएँ हिल रही हैं तथा बड़ी-बड़ी लताएँ इनकी जटा-सी मालूम हो रहीं हैं ।।४७।। पारिजात के वृक्षों से विभूषित यह मन्दराचल, जिसका पवन झूल रही अप्सराओं के गीतों को फैलाता है और जो कहीं पर मणियों की प्रभा से विचित्रस्वरूप है, अति ऊँचा होने के कारण आकाश में दिखाई देता है ।।४८।। खिले हुए और फूलों से भरे हुए कुकुरमुत्तारूप पुष्पपूर्ण अर्घ्यपात्रों को धारण करनेवाले महान् पर्वत तेज मेघनिर्घोषों से गंभीर कन्दराओं नक्षत्रों से पूर्ण आकाश की शोभा धारण करते हैं ।।४९।। यहाँ से उत्तर की तरफ प्रसिद्ध कैलासपर्वत पर दृष्टिपात कीजिये जिसके चारों ओर व्याप्त हुए विस्तृत प्रभाव से आकाश नीचे की तरफ भगवान् शिवजी के पुत्र श्रीस्वामी कार्तिकेय का मोती के चूर्ण से बना क्रीडागृह जैसा शोभित हो रहा है । ऊपर की तरफ जैसे क्षीरसागर में डूबा चन्द्रमा शोभित होता है वैसे ही शोभित होता है ।।५०।। राजन्, कौतुकी इन्द्र कुल्हाडों से जिनकी शाखाएँ कट गईं हैं ऐसे ठूँठ और अग्नि द्वारा जिनकी छप्पर आदि शाखाएँ नष्ट हो गई ऐसी मिट्टी की दीवार, जो एक दूसरे से दूर हैं -दोनों में वृष्टिसेक से अंकुर पैदा कर दोनों को खुली शिखावाले-से बनाकर वायु द्वारा मानों परस्पर बाँधने के लिए इकट्ठा करता है ।।५१।। महाराज, देखिये ये विविध प्रकार के कदम्बों और कुन्दों से सुगन्धित वायु मकरन्द की (फूलों के रसकी) वर्षा से खूब घन, भ्रमरराशि से काले और मेघ के सदृश बनकर तथा सब तरही की सुगन्धियों से सनकर जैसे मेघ आकाश को व्याप्त करते हैं वैसे ही लोगों की नाक को व्याप्त कर रहें हैं ।।५२।। वर्षा ऋतु में कलियों की विकसित पँखुड़ियों से सुशोभित वनस्थलियों में छायादार वृक्षों के झुण्डों तथा हरी-हरी दूब से आच्छन्न मैदानों से मनोहर जंगलों में एवं कतारबद्ध खड़े फलवाले पेड़ों से भरे हुए गाँवों मे लक्ष्मी अतिशय शोभा देखने के कारण रहने के लिए अपने आप बस जाती है ।।५३।। यह सामने के गाँव, जिसके आँगन झरोखों तक आई हुई लताओं से वेष्टित महान् घरों के मध्य में तोरई के फूल और केसरों को ला रहे वायुओं से घुटने तक फूलों से भरे हैं, वनदेवताओं के नगर-से मालूम पड़ते हैं ।।५४।। महाराज, देखिये ये पर्वत के रमणीय ग्राम हैं, इनमें खिली हुई निर्मल चम्पक वृक्षों की लता के झूलों में ललनाएँ क्रीड़ा कर रही हैं, झरने का जल झर झर ध्वनि कर रहा है, सीमाओं में चारों ओर ताड़ के वृक्ष फूले हैं, विकसित चटकीली मंजरियों से अलंकृत लतागृहों में मयूर नाच रहे हैं तथा चारों ओर ऊँचे-ऊँचे प्राचीर या वृक्षों पर मेघ लटके हैं ।।५५।। वायुवश हिल रहीं लाल, पीले और हरे पत्तोंवाली छोटी-छोटी लताओं से इनके हरे-भरे मैदान भरे हैं, गौरिया, कोक और कुक्कुट चहचहा रहे हैं, शबरों की स्त्रियाँ गा रही हैं, बालकों द्वारा पालित होने से इनमें बछड़े आनन्दमग्न हैं यानी उनमें किसी प्रकार की घबड़ाहट नहीं है और बालक तथा अव्याकुल बछड़े दही, शहद, दूध और घी पीने से खूब तगड़े हैं । इस प्रकार के पर्वतग्राम ब्रह्म के विश्राम के लिए निर्मित मण्डप-से लग रहे हैं ।।५६।।

एक सौ पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सोलहवाँ सर्ग

संग्राम, आकाश, वियोगी, पर्वतग्राम, पर्वत-गुफा के मेघ और कौओं का वर्णन ।

अनुचरों ने कहा : महाराज, यहाँ पर युद्धरत सीमाप्रान्त के राजाओं के अस्त्र-शस्त्रों की राशियाँ चमचमा रही हैं । चतुरंगिणी सेना विलक्षण रीति से इधर-उधर चल रही है, कृपाकर देखें ॥१॥ महाराज, देखिये, देखिये, अप्सरायें वीरों द्वारा संग्राम में अभिमुख मारे गये हजारों वीर योद्धाओं को चढ़ा-बढ़ाकर विमानों द्वारा आकाश में जा रही हैं ॥२॥ रण में शत्रुओं का संकट उपस्थित होने पर बलवान् विजेता से धर्म के बिना उसका वध शोभा नहीं देता, किन्तु युवावस्था में धर्मयुक्त (विहित) सुरत के समान धर्म से युक्त युद्ध ही शोभा देता है ॥३॥ लोगों के द्वारा अनिन्दित लक्ष्मी, श्रीयुक्त आरोग्य, धर्मयुक्त और दूसरे के लिये जीवन-ये ही जीवन के उत्तम फल हैं । लोकनिन्दित सम्पत्ति आदि जीवन के फल नहीं हैं ॥४॥ जो युद्ध में सामने आये हुए योद्धा को धर्म के अविरोध से योद्धा के अनुरूप (🔔) मारता है, वही शूर स्वर्गगामी होता है, दूसरा नहीं ॥५॥ हे राजन्, उद्यत शस्त्रास्त्ररूपी भूषणों से भासुर इस शूरवीर पुरुष में संग्राम लक्ष्मी के हाथ में स्थित श्रेष्ठ तलवारूपी नील कमलों की माला से श्याम, घोड़ों के खुरों से उठी घनी धूलि से हुआ अन्धकाररूपी यह निशागम संग्राम भूमि में कैसे क्रमण करता है । आशय यह कि क्या लक्ष्मी इसको इस रात्रि के समयरूप स्वयंवर में बरती है या नहीं, यह कौतुक देखिये ॥६॥ बाण, शक्ति, गदा, बन्दूक, त्रिशूल, तलवार, भाले, तेज तोमर, चक्र आदि हथियारों से लदे हुए ये योद्धा इधर-उधर घूम रहे केशरूप तिनके और काठों से चंचल पर्वत पर प्रज्वलित वनाग्नि की तरह चमकते हैं । और उनपर शर, शक्ति आदि के समूह सागर के देह के कम्पित होने पर पृथिवी पर फैले हुए वहाँ के सर्पादिसमूह जैसे चमकते हैं ॥७॥ महाराज, बलवान्, मेघरूपी सागर से भरे हुए आकाश को देखिये, चंचल तारेरूपी लम्बे हार से युक्त आकाशपर दृष्टिपात कीजिये, खूब घने अन्धकार के तुल्य काले आकाश को देखिये तथा निर्मल शुभ्र चन्द्रकिरणों से धवलित आकाश को देखिये ॥८॥ जिस आकाशतल में सुर और असुरों के अनेक विमान तारों के सदृश मालूम पड़ते हैं, जो अश्विनि आदि नक्षत्रों का निवासस्थान है, जो रात-दिन चलनेवाले महोन्नत सूर्य, चन्द्र आदि का भी स्थान है, उस चौगिर्द भरे हुए भी आकाश में मूर्ख जनों की 'शून्य' ऐसी प्रतीति आज तक नष्ट नहीं हुई । जहाँ पर इस प्रकार का विशाल और शक्तिशाली आकाश अज्ञों द्वारा लगाये गये अपवाद को मिटाने में समर्थ नहीं हुआ वहाँ दूसरा कौन पुरुष लोकापवाद को मिटाने में समर्थ

(🔔) योद्धा के अनुरूप का तात्पर्य यह है कि यदि योद्धा एक हो तो एक ही उससे लड़े, यदि किसी सवारी पर हो तो सवारीवाला ही, धनुषसहित हो तो धनुषयुक्त ही, खड्गयुक्त हो तो खड्गयुक्त ही, आयुधरहित हो तो आयुधरहित ही बाहुयुद्ध करता हुआ लड़े, अन्यथा नहीं।

होगा ? ॥९॥ मेघों के अगणित आडम्बरों से, प्रलयकाल की असंख्य अग्नियों से, पर्वतों के क्रोधपूर्ण पंखों के आघातों से, तारों के वृन्दों से तथा देवता और दैत्यों के संग्रामों से आकाश आज तक भी प्रकृति-विकृति को प्राप्त नहीं होता है। सचमुच जिनके स्थिराशयतारूप गुण हैं, उन्हीं की महिमा का अन्त नहीं दिखाई देता ॥१०॥ हे साधो, हे आकाश, तुम सूर्य को निरन्तर अपनी गोद में झुलाते हो, केवल सूर्य को नहीं, भगवान् नारायण, उनके अनुचर अन्यान्य देवता, चन्द्रमा, अन्यान्य ग्रहों तथा चमकीले बिजली आदि तेजों को भी अपनी गोद में झुलाते हो, फिर भी अपने अन्दर के अन्धकार का (कालिमा का) त्याग नहीं करते, यह महान् आश्चर्य है ॥११॥ हे आकाश, तुम मलिन हो, जहाँपर चन्द्रबिंब छिद्ररूप तुमसे व्याप्त हो काजल के तुल्य काला हुआ वहाँपर कलंक के बहाने मैला सबको प्रत्यक्ष दिखाई देता है। ऐसी अवस्था में तुम अपने सम्पर्क से सम्पूर्ण चन्द्रबिम्ब को जो काला नहीं करते यह बहुत बड़े आश्चर्य की बात है । अथवा मलिन के संसर्ग से जिसके अन्दर भी मैल हो, वही बाहर भी मलिन किया जाता है जो अन्दर निर्मल है उसे कौन मलिन कर सकता है ? ॥१२॥

अथवा भले ही मलिनता आदि भी दोष तुममें हों फिर भी निर्विकारिता के बलपर भी दोषयुक्त सब अनर्थों से विहीनतारूप सुख तुम्हें सुलभ है, इस अभिप्राय से कहते हैं ।

यद्यपि आकाश जगत् के सम्पूर्ण दोषों से भरा है फिर भी सदा अविकारी आकाश को तत्त्वज्ञानी के समान सर्व अनर्थ की शून्यतारूप सुख है, ऐसा मेरा विश्वास है ॥१३॥ हे उदारमते, हे आकाश, तुम अपनी उन्नति चाहनेवाले प्रलयकालीन मेघों, वृक्षों और लताओं के अवकाश प्रदान द्वारा उन्नति के कर्ता हो, सूर्य, चन्द्रमा, मेघ, किन्नर, वायुस्तरों और देवताओं को धारण करते हो (आधार हो), सम और निर्मल स्वभाववाले तुम्हारे सब कार्य रमणीय ही हैं, सुन्दर ही हैं, लेकिन अग्नि और सूर्य के प्रज्वलन को अवकाश देने के कारण तुममें जो सन्तापकता है तुम्हारा यह काम हमारे खेद के लिए है, सुख के लिए नहीं है । *यह वनाग्नि और सूर्य के सन्ताप से सन्तप्त पुरुष की उक्ति है* ॥१४॥ हे आकाश, तुम अत्यन्त निर्मल, स्वच्छ, चमकदार और उन्नत होने के कारण उत्तम देवता आदि के उत्तम आधार भी हो, किन्तु अवकाशयुक्त तुम्हारा आसरा लेकर यह ओले बरसानेवाला बादल लोगों को ओलों से घायल करता है, उसके दोष से तुम अत्यन्त अपकृष्ट हो गये हो ॥१५॥ हे आकाश, मैं तुम्हें सोने के समान कसौटी के पत्थर पर घिसना बहुत अच्छा समझता हूँ। कसौटी के पत्थर के सिवा दूसरी तुम्हारी परीक्षा लेने की जगह नहीं है। क्योंकि तुम शून्य होते हुए भी बादलों, तारों, विमानों, सूर्य, चन्द्र और वायुओं को धारण करते हो, चमकते हो और निष्प्रयोजन भी नहीं हो। सोने के सब गुण तुममें विद्यमान हैं, अतएव तुम्हारे गुणों की परीक्षा के लिए भी सोने के गुणों की परीक्षा लेने का स्थान समुचित है, यह भाव है ॥१६॥ हे आकाश, तुम दिन में सूर्य के ताप से चमकदार रहते हो, रात में सन्ध्या की लालिमा

से तुम्हारा कलेवर लाल हो जाता है, रात्रि में तुम काले बन जाते हो । अथवा सदा कुछ भी सद् वस्तु को धारण नहीं करते हो, इसलिए सकल वस्तुओं से रिक्त हो अतः तत्त्वज्ञानीरूप तुम्हारे चरित्र को कोई नहीं जानता है ॥१७॥ हे आकाश, तुम अकिंचन हो तुम्हारे पास कुछ नहीं है, फिर भी विपुल बुद्धिवाले तुम सब कार्यों को, अवकाश प्रदान द्वारा, सिद्ध करते हो, अन्तःशून्य हो फिर भी सबकी उन्नति के कारण हो ॥१८॥ आकाशमार्ग में पथिक के विश्राम के साधन न तृण हैं और न जल है, गाँव तो है ही नहीं, कसबे और नगर की तो तनिक भी संभावना नहीं है, पत्तों की राशियों से सूर्य आकाशमार्ग में प्रतिदिन यात्रा करते हैं । सच है, सात्त्विक पुरुष प्रारब्ध किये हुए कामको छोड़ते नहीं हैं, चाहे वह कितना ही कठिन क्यों न हो ॥१९॥ रात्रि आकाश को अन्धकाररूपी वस्त्र से, चन्द्रमा कर्पूर के प्रवाह के तुल्य शुभ्र किरणों से, दिन सूर्य की धूपरूपी नूतन वस्त्र से, द्युलोक रात्रि के तारा समुदायरूपी पुष्पराशियों से और सब ऋतुएँ मेघ, बरफ तथा जलरूपी पुष्पों से भूषित करती हैं । ये सभी मिलकर समय और कलात्मक त्रिभुवन के स्वामी सूर्य और चन्द्रमा के विहारस्थल आकाश को भूषित करते हैं ॥२०॥ आकाशरूपी आँगन धूप, बादल, धूलिपटल, अन्धकार, सूर्य, चन्द्रमा, तारावृन्द, विमानराशि, गरुड़, पर्वत,सुर और असुरों के क्षोभों से भी अपनी प्रकृति का (पूर्वावस्था का) त्याग नहीं करता है, कारण कि महाशय पुरुष की स्थिति आश्चर्यमय तथा उन्नत दिखाई देती है ॥२१॥

कोई दूसरा पार्श्वचर त्रिभुवन का एक जीर्ण–शीर्ण गृह के रूप में वर्णन करता है ।

देव, इस त्रिभुवनरूपी जीर्ण गृह को देखने की कृपया कीजिये, जो दिशारूपी दीवारों पर खड़ा है, अन्तरिक्ष लोक जिसकी छत है, भूमि जिसका निचला भाग है, मेघ, नगर और पर्वत जिसके बड़े–बड़े बर्तन आदि गृहोपकरण हैं, विद्याधर, देवता तथा महान् नाग जिसमें मकड़ी नाम के कीड़े हैं एवं जो जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज इन चार प्रकार के प्राणिवर्गरूपी चींटियों की बारात से भरा है ॥२२॥ जैसे माली और मालिन–पति–पत्नी विकसित (फले–फूले) बाग की रक्षा करते हैं वैसे ही इस प्रकार के इस त्रिभुवनरूपी भवन की काल और क्रियारूपी पति–पत्नी चिरकाल से रक्षा करते हैं । यद्यपि काल और क्रिया इसकी रक्षा नहीं करते, अपितु प्रतिदिन इसके नाश की ही आशंका करते हैं तथापि यह आजतक नष्ट नहीं हुआ । नष्ट होता भी है तो प्रवाह से फिर उग जाता है । अहा नष्ट होता हुआ भी नष्ट नहीं होता, यों विरुद्धधर्मवान होने से यह इन्द्रजाल के सदृश है ॥२३॥ आकाश वृक्ष आदि वृद्धिशील वस्तुओं की अधिक उन्नति को रोकता है, उन्हें बहुत ऊँचा नहीं बढ़ने देता ।

शंका : आकाश में कोई निरोधक व्यापार नहीं , अतः वह निरोध का कर्ता है ही नहीं, इसलिए उसमें विरुद्ध निरोधकर्तृत्व कैसे हो सकता है ?

उत्तर : यद्यपि आकाश अकर्ता ही है, तथापि महान् आकाश में कर्तृता महिमा से ही उदित

होती है ॥२४॥ जिसमें लाखों जगत् विलीन होते हैं और जिससे उत्पन्न होते हैं उस आकाश को शून्य कहा जाता है, आकाशशून्यतावादी के ऐसे प्रौढ़ पाण्डित्य की बलिहारी है ॥२५॥ आकाश में सब भूत विलीन होते हैं, आकाश से ही उत्पन्न होते हैं और आकाश में ही स्थिर रहते हैं, इसलिए 'जन्माद्यस्य यतः' यह शास्त्रसिद्ध ईश्वरलक्षण आकाश में ही दीखता है, इसलिए आकाश ही ईश्वर है। आकाश ईश्वर से भिन्न है, ऐसा भेद उन्मत्तता को प्राप्त (पागल) वादी ने किया है ॥२६॥

यदि अग्नि से चिनगारियों की तरह आकाश से ही जगत् के जन्म, स्थिति और लय मानते हो तो आकाश जड़ नहीं है, किन्तु चिद्व्योमरूप मैं ही हूँ, 'मुझमें ही सब उत्पन्न हुआ है, मुझमें ही स्थित है और सब मुझमें ही लय को प्राप्त होता है। वह अद्वितीय ब्रह्म मैं हूँ, इस आशय की भगवती श्रुति से मैं ही ईश्वर हूँ, यों तटस्थ ईश्वर पक्ष खण्डनार्थ है, ऐसा कोई तत्त्वज्ञानी वहाँ पर कहता है।

जिसमें सृष्टियाँ अग्नि से उत्पन्न हुई चिनगारियों की नाईं उत्पन्न होती हैं, नष्ट होती है, लीन होती हैं और आविर्भूत होती हैं, आदि, मध्य और अन्तशून्य एक निर्मल आकाश मैं ही हूँ, ईश्वर नामका नैयायिकों का अभिमत तटस्थ कारण दूसरा नहीं है ॥२७॥ जिसमें यह जगद्भ्रान्ति का उदय और अस्त होता है, जो निस्सीम आकाश अपने शरीर में अशेष वस्तुओं को धारण करता है तथा त्रैलोक्यरूपी मणियों का विस्तृत आधार है वह आकाश ही चिन्मय पर ब्रह्मरूप है ऐसा मेरा विश्वास है ॥२८॥

कोई पार्श्ववर्ती पर्वत पर विशेष कौतुक दिखलाता हुआ कहता है।

पर्वत के शिखर पर वनभूमि में वनेचर सुन्दर कामी पेड़ के रमणीय झुरमुट में जो गीत गाता है, नीचे मार्ग में चल रहा यह वियोगीपुरुष उस गीत को सुनकर सिंगार रसाकुल हो ऊपर देखता है ॥२९॥

दूसरा अनुचर वैसा ही दूसरा कौतुक दिखाता हुआ कहता है।

हे नाथ, पर्वतशिखर के ऊँचे पेड़ के कमलपुटसदृश निकुंज में वियोगवश दुःखी उत्सुक विद्याधरों की स्त्री ने लंबी साँस लेकर रुँधे हुए कण्ठ से जो गीत गाया उसके नीचे चल रहा राही उच्छवासपूर्वक उसे सुनकर झूले की नाईं झूल रही चंचल बुद्धि से न आगे जाता है और न उसके अनुगामी ही उसे बुलाते हैं, यह बड़ा आश्चर्य है ॥३०॥ सामने पर्वत-शिखर के वृक्ष में पत्तों की आड़ में वियोगिनी अतएव बार-बार आँसू गिरा रही वह विद्याधरी साँस छोड़कर बिना कोई तिलक लगाये ही मधुर स्वर से हे नाथ, मैंने आपके गोदरूपी घर में चिबुक पकड़कर हँसते हुए आपके चुम्बन का स्मरणकर बार-बार उसका आस्वादन कर यहाँ पर इन कलमुँहे वर्षों को क्लेश से बिताया इस आशय के गाने गाती है ॥३१॥

क्यों वह वहीं पर बैठी है, ऐसी आशंका होने पर कहता है।

इसके युवक सुन्दर पति को (विद्याधर को) मुनि ने किसी अपराधवश शाप से बारह वर्ष तक के लिए वृक्ष बना दिया है, उन्हीं वर्षों को गिन रही यह यहीं पर बैठी है। उत्कण्ठित होकर उसी अपने पतिरूप वृक्ष के आश्रित होकर गाती है। हे राजन् मार्ग में वियोगी पथिकों के मुँह से यह

खबर मुझे मिली है ॥३२॥ हे राजन् हमारा यहाँ आना और हमारा दर्शन होना यही मुनि ने इसके शापान्त की अवधि की थी, देखिये यह वृक्षभूत विद्याधर हम लोगों के दर्शन से ही शापमुक्त हो गया है, अतः वृक्षता का त्यागकर युवती विद्याधरी का शाखाओं के बहाने उन्हीं बाहुओं से खूब आलिंगन करता है। खिले हुए फूल ही उसके हास बन गये हैं ॥३३॥

दूसरा अनुचर पर्वतों का वर्णन करता है ।

पर्वतरूपी हाथियों के वृक्षरूपी खड़े हुए रोंगटों में पुष्पराशि शिखरों में बसन्त ऋतु के हिमकण के सदृश आकाश से च्युत तारों की लीला से शोभित हो रही है ॥३४॥ अहा, पुष्परूपी शुभ्र वस्त्र ओढ़ी हुई कावेरी बड़ी भली लगती है, जो मछलियों की तेज उछालों से फटी हुई जल लहरियों में खेल रही शब्दायमान कुररियों से भयंकर है तथा जिसके तट और जलमय प्रदेश निःशंक मृगकुल से भरे हैं ॥३५॥ हे राजन्, इस सुवेलपर्वत शिखर पर सूर्य चमचमा रही पूरी सोने की शिला तटप्रदेश में चंचल सागर की तरंगराशियों से व्याप्त बड़वानल के कण को तरंग मालुम पड़ती है ॥३६॥ राजन्, पर्वतों पर अहीरों की टोली के घरों की शोभा देखिये । इनके हर एक घर निकटवर्ती मोटे–मोटे मेघों से ढके हैं। घरों की आस पास की भूमियों में वनवृक्ष फूले हैं, ढाक के पेड़ों के झुरमुटों से इन्होंने आकाश को पाट रखा है ॥३७॥ खिले हुए फूलों से अत्यन्त शुभ्र पुष्पवाटिकाओं से भरे हुए ये गाँव जिनमें मन्दार के वृक्षरूपी बहुत से फूलों के बर्तन हैं और नाना प्रकार के मयूरों के नाचने के स्थानरूप ठण्डे प्रदेश हैं, प्रपातों की (बड़े–बड़े झरनों की) जलराशियों के विलास ही जिनमें मयूरों के नाच के बाजे का काम करता हैं । एवं प्रतिध्वनियों से गूँज रही गुहाओं से पूर्ण जंगलो में जिनकी जनता गाना गाती है, स्वर्ग से भी बढ़कर हैं ॥३८॥ इस पर्वतीय ग्राम के झुण्डों के बीच में तुरन्त खिली हुई कलियों की पँखुड़ियों के अन्दर छिप–छिपे गुंजन कर रहे मदोन्मत्त भँवरों के दर्शन से कामोद्रेकवाले, पर्वतगुफा में रहनेवाले पामर लोगों को जो आनन्द प्राप्त होता है, वह श्रेष्ठ आनन्द नन्दनवन में विहार करनेवाले देवताओं को भी सुलभ नहीं है, ऐसा मेरा विश्वास है ॥३९॥ मृगों द्वारा झूलने के लिए झूला बनाई गई लताओं से हलचल वाले जंगल के अन्दर गुफाओं में गा रही शबरियों के मुँहों पर सतृष्ण टकटकी लगाये हुए अतएव श्रृंगारिक चेष्टावाले किरात सुन्दर भोले–भाले मृगों को शत्रु की तरह कैसे मारते हैं ? ओहो, अन्यत्र दृष्टि लगाये और अन्यमनस्क शबरों की चंचलनिशाने को वेधने की चतुराई तथा ऐसे अवसर पर भी निंदयता विस्मय पैदा करती है । अथवा मृगों से कम्पित लताओं के सदृश पुलिन्द–ललनाओं के नेत्रों की सुन्दरता हरण और लतापल्लव भोजनरूप धर्म का उनमें परिज्ञान होने से उन्हें शत्रु समझ रहे किरात दयायोग्य समय में भी उन्हें निंदयता पूर्वक मारते हैं क्या ? यों उत्प्रेक्षा है ॥४०॥ पर्वतराज के वनों के मध्य में स्थित ये गाँव जिन्होंने भाँति–भाँति के फूले हुए फूलों की राशियों से शीतलता, सुगन्धि, पराग आदि सार को प्राप्त वायु के लतापत्रों के परिचालनों से पथिकों के अंगों

को शीतलता पहुँचाई है, जिनमें जल के गुण शीतलता से प्रख्यात वायुओं के प्रसार से जलाशयों में लहरियाँ तैर रही हैं, सुगंध के गुण की अधिकता से चन्द्रमण्डल को जीत रहे हैं। चन्द्रमण्डलस्थ देवताओं की अपेक्षा ग्रामवासियों को अधिक सुख है, यह भाव है ॥४१॥ स्वर्गस्थ चन्द्रनगरके उपवनों के भाग जैसे ये मनमोहक पर्वतीय गाँव, जिनमें झरनों का जल अविरत कलकलध्वनि कर रहा है, चौगिर्द ताड़ के पेड़ खिले हैं, जिनका आकाश स्वाभाविक उल्लाससे युक्त और पल्लवों से लदी हुई लताओं के वितानों से आच्छन्न है और जिनमें आसपास के ऊँचे-ऊँचे साल के पेड़ों पर मेघमण्डल लटका है, चन्द्रामृत को चूआनेवाले अश्वत्थ से युक्त ब्रह्मलोक को मात करते हैं ॥४२॥ ये पर्वत-ग्राम, जिनमें बिजली वेष्टित गँभीर गर्जन-तर्जनवाले निकटवर्ती बादलों के गर्जन से नाच रहे मयूरों के अभिनव नृत्यों से बिखरे हुए मयूरों के झुण्डों के नये-नये मोरपंखों से चन्द्ररूपी मणिराशियाँ उड़ी हैं, दिव्य बनकर ब्रह्मलोक को अपने सन्मुख फीका बना रहे हैं ॥४३॥ एक बगल में चल रहा चन्द्रमण्डल ही जिनका आभूषण है, जल से भरे मेघरूपी हाथी जिनमें आराम करते हैं ऐसे पर्वतशिखरों पर बसे हुए इन ग्रामों में जो अतिशय सौन्दर्य है, वह अतिशय सौन्दर्य वैभवपूर्ण ब्रह्मा के राज्य में कहाँ सुलभ है ? ॥४४॥ अपनी मनोहारिणी सुगन्धि से नन्दनवन के केन्द्र की तरह सुन्दर कल्पवृक्ष के फूलों के गुच्छों का परिहास करनेवाली निकुंजों से भरी हुई पर्वत कंदराओं में, जो पुष्पित होने के कारण गंभीर गुंजन करनेवाले भँवरों से व्याप्त नीम के पेड़ों से पटी हैं, मुझे बड़ा आनन्द मिलता है ॥४५॥ हरिणियों के निनाद से रमणीय, मनोहर हारीत पक्षियों से सुन्दर पर्वत-ग्रामों में काम के नगरों में जैसी लोगों की प्रीति है ॥४६॥ राजन्, स्फटिक के खम्भों की राशियों की तरह रमणीय झरनों के जलों से सुशोभित इस ग्रामरूपी कन्दरा में देखिये, ये मयूरियाँ नाचती हैं ॥४७॥ राजन् देखिये, झरझर शब्द कर रहे झरनों के जल से सुहावने इस ग्राम में निकुंज में विलासवती मयूरियाँ और फूलों से लदी होने के कारण झुकी हुई लताएँ नाचती हैं ॥४८॥ पर्वत-कन्दराओं से अपनी गोद में छिपाये गये ग्राम के मैदानों में, जिनमें बगीचों के पेड़ हारीत पक्षियों से मनोहर और हरे हैं और बावड़ियों के आसपास हंस,सारस आदि की कूजनरूप निर्मल मधुर तान सुनाई देती है, मालूम होता है काम स्वेच्छा से आनन्द के साथ मौज लेता है ॥४९॥ हे श्रीमानों के स्वभाव के समान महाउदार स्वभाववाले, हे महाशय, हे सन्तापहारिन्, अत्यन्त उन्नत और गंभीर आकृतिवाले हे मेघ, तुम पर्वतों के शिरोभूषण हो और खेत, पवन आदि की समृद्धि के कारणभूत जल के एकमात्र आश्रय हो। यों हजारों गुण तुममें हैं फिर भी हर्ष से बरस रहे तुमने जो अपात्रभूत ऊसर प्रदेश, तालतलैया,कंटीले पेड़ आदि में सुन्दर उपजाऊ खेतों के समान जलविभाग का क्रम अपनाया है, यह तुम्हारा सत्-असत् पात्र का अपरिज्ञान सज्जनों के मन को काँटे की तरह बेधता है। यदि तुम्हारे ऐसे सुपात्रों के उत्कृष्ट गुणों का आदर न करेंगे, तो कौन करेगा ? *(यहाँ से लकर प्रायः सर्ग की समाप्ति तक के सब श्लोक अन्योक्ति से भरे हैं । मेघ के बहाने किसी दानी महाशय*

के प्रति भी जो पात्र–अपात्र का विचार नहीं रखता है, यह उक्ति लागू होती है) ॥५०॥ हे मेघ, तुम नित्य समुद्र, गंगा आदि सुतीर्थों की जलराशि से स्नान करते हो, ऊँचे स्थान पर बैठकर सब जीवों को जल देते हो, शुद्ध होकर मुनियों का–सा व्रत लेकर वनभूमि में निवास करते हो एवं शरत्काल में यद्यपि तुम खाली हो जाते हो फिर भी तुम्हारे शरीर पर अतिउत्कृष्ट धवलकान्ति ही शोभा पाती है । यों सर्वथा श्रेष्ठ होने पर भी तुम जलदान के लिए उठकर जो बिजली और अग्नि के साथ कटुशब्द करते हो यह तुम्हारा आचरण कैसा है ? सर्वथा अनुचित है ॥५१॥ अनुचित स्थान पर पड़ी हुई सुन्दर वस्तु भी असुन्दर हो जाती है । दुष्ट मेघरूप अयोग्य स्थान को पाकर स्वच्छ मधुर जल भी काला और क्षार हो जाता है ॥५२॥ अहा ! मेघ ने जल बरसाया, अहा ! जल से पृथिवी आप्लावित हो गई, अहा ! जैसे धनाढ्य पुरुष अपने दीन–हीन मित्र को धन–दौलत से पुष्ट करते हैं वैसे ही जलों ने भूमि में मुरझाये हुए धान आदि को पुष्ट किया है ॥५३॥

कोई पार्श्वचर दया, उदारता आदि गुणों के वर्णन के सिलसिले में उनसे विपरित निर्दयता, अनुदारता आदि दुर्गुणों से युक्त मूर्खों की, कुत्ते के गुणों से अदला बदली के सन्देह प्रदर्शन द्वारा, निन्दा करता है ।

निर्दयता, अस्थिरता,अशुद्धता, गलियों में मारे मारे फिरना, सर्वथा निन्द्यता आदि दुर्गुण कुत्तों से मूर्खों ने सीखे या मूर्खों से ही कुत्ते ने लिये इसका मुझे सन्देह है, निश्चय नहीं है ॥५४॥

यदि मूर्ख सर्वथा निन्दनीय ही हैं, तो नरेश आदि उनको अपने पास क्यों रखते हैं ? इस संशय पर कहते हैं ।

यद्यपि मूर्खजन दोषों के भण्डार होते हैं फिर भी जैसे कोई कुनृपति कुत्तों को पालते हैं वैसे ही कुत्ते के सदृश कतिपय शूरता, सन्तोष, स्वामिभक्ति आदि गुणों के कारण ही कोई कुनरपति आदि मूर्खों को अपने पास रखते हैं ॥५५॥ भोग–परम्पराओं में संलग्न (विषयलम्पट) मूर्ख धतूरा खाने से उन्मत्त हुए, मदिरा आदि पीने से मदमत्त हुए, प्रमाद और क्रोधावेशादिवश कुएँ में गिरने के लिए उद्यत हुए, भूतावेश से इधर उधर दौड़ रहे तथा तत्त्वज्ञान के उत्कर्ष से देहादि के परिच्छेद की विस्मृतिवश 'मैं ब्रह्म हूँ' यों सर्वोत्कृष्ट प्रमा की प्रतिष्ठा होने से षष्ठ आदि भूमिका में आरूढ़ हुए पुरुषों को अपने में अभिज्ञता के आरोप से जो तृणतुल्य समझता है, हे तृणलवाग्र, उसे तुम्हीं देखो। यह इस विषयलम्पट पुरुष की इच्छासत्ता है या जड़ता है इस रहस्य का तुम्हीं विचार करो । यदि इच्छासत्ता है, तो वही कुत्तों के तुल्य है, यदि जड़ता है तो विषयलम्पटता आदि दोषों की अधिकता से वह स्वयं तृणलव से भी नीच है, अतः विचार करने पर उसकी तृण समानता भी दुर्लभ है, यह अर्थतः सिद्ध हो जायेगा । ऐसी अवस्था में उन्मत्त आदि से भी वह अधिक नीच है, इसमें कहना ही क्या है ? ॥५६॥ यद्यपि सिंह और कुत्ता दोनों में पशुता समान है यानी दोनों तिर्यग् योनि के जीव हैं, तथापि मेघगर्जन आदि के कोलाहल को सिंह बिना क्षोभ के अनादरवश आँखें मूँदकर सहते हैं, किन्तु कुत्ते क्षुब्ध हो भयवश

आँखें मूँदकर सहते हैं यही दोनों की परस्पर विलक्षणता है ॥५७॥ हे नित्य अपवित्र, अपने प्रियजन के प्रति हू-हू करने में प्रवीण, गली-कूचों में घूमने में सारा समय बितानेवाले अरे कुत्ते, मालूम होता है जैसी मेरी चित्तवृत्ति है वैसी ही इसकी भी है यह देखकर तुम्हें अपने गुणों की शिक्षा का पात्र समझ रहे किसी मूर्ख ने नित्य अशुचिता आदि अपने गुण तुम्हें सिखाये हैं। ऐसी परिस्थिति में शिष्य की अपेक्षा गुरु में गुण की अधिकतादर्शन उपपन्न होता है ॥५८॥ कर्मों की विषमतावश अत्यन्त विषम जगत् की रचना कर रहे विधाता ने अपने दौहित्र (सरमा नाम की देवशुनी के पुत्ररूप) इस कुत्ते में अनुरूप सब धर्मों के दर्शन के लिए वक्ष्यमाण सभी कुछ समान रूप से बना डाला । वह सब कुछ है, कूड़े करकट के स्वनिर्मित गड्ढे में निवास, पुरीष और पीव भोजन, सड़क आदि खुली जगहों में चिरकाल तक ग्रन्थिरूप कुत्सित मैथुन में दुरिच्छा तथा सर्वनिन्दनीय शरीर ॥५९॥ तुमसे बढ़कर अधम कौन है ऐसा पूछनेवाले के प्रति हँसते हुए कहा : जो अज्ञान, अपवित्र देहादि में अभिमान, विचारदृष्टिशून्यता का सेवन करता है, वह मुझसे बढ़कर अधम है । किन गुणों से तुम मूर्ख की अपेक्षा श्रेष्ठ हो यह पूछने पर उसने कहा : शूरता, नैसर्गिक स्वामिभक्ति, अल्प में ही सन्तोष ये जो मेरे गुण हैं, मूर्ख में वे गुण लाखों प्रयत्नों से ढूँढ़ने पर भी नहीं पाये जा सकते ॥६०॥ कुत्ता सदा अपवित्र वस्तु खाता है, अति अपवित्र विष्ठा के ढेर में ही खेलता है, बेचारे जीवित नेउर, चूहे आदि को भाग्यवश पाकर बड़े चाव से खा डालता है, निर्बल बकरी, बछड़े आदि को बिना किसी अपराध के काट खाता है, कुतियों के साथ सटने पर सब लोग उसे मारते हैं । सचमुच ब्रह्मा ने अत्यन्त असमर्थ कुत्ते को लोक में जन्मभर दुःख भोगने के लिए ही रचा है ॥६१॥

कहीं पर नदी के किनारे निर्माल्य, अक्षत आदि खाने के लिए शिवलिंग के ऊपर काँव-काँव कर रहे कौवे को देखकर कोई अनुचर उसके काँव-काँव करने के आशय की उत्प्रेक्षा करता है ।

शिवलिंग के ऊपर काँव-काँव करता हुआ कौवा अपने को दृष्टान्तरूप से दर्शा रहा है, हे लोगों, अधोगति के हेतुभूत सब पातकों में से शिवस्वभक्षण के लिए शिवलिंग के आश्रयरूप सर्वोत्कृष्ट पातक को प्राप्त हुए प्रत्यक्ष काकरूप मुझे देखो ॥६२॥

दूसरा अनुचर तालाब में काँव-काँव करते हुए घूम रहे कौए के प्रति कहता है ।

अरे निन्द्य कौए, अरे अपनी कर्णकटु काँव-काँव से हंस, सारस आदि के सुगुणों को मटियामेट करनेवाले, तालाब में कीचड़ में घूमता हुआ तू सुन्दर भ्रमरों की गुँजार को अपनी कर्णकटु काँव-काँव से जो तिरोहित करता है, इससे मेरे सिरपर शल्यकी-सी वेदना पैदा होती है ॥६३॥

अपने मित्र के प्रति कोई कहता है ।

कौआ नाना प्रकार की अपवित्र वस्तुओं को खाता है, मृणाल की डण्डी को, जो प्राप्त है, छोड़ देता है, इस विषय में आपको आश्चर्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि व्यसन होने के कारण खूब आदत पड़ी रहती है, तो निन्दनीय वस्तु भी बड़ी स्वादिष्ट लगती है जैसे कि लहसुन मिश्रित

खटाई निन्दित वस्तुएँ अभ्यस्त लोगों को अच्छी लगती हैं ॥६४॥ विविध वनपुष्पों के केसर से धवल देहवाले कौए को लोगों ने हंस समझा। बाद में जब उसे सड़े-पड़े कीड़े मकोड़े निगलते देखा तब जाना कि यह कौआ है ॥६५॥ समान रंग के (एक से) पंखवाली कोयलों में हिलेमिले कौए को कौन पहचानता यदि वह स्वयं काँव-काँव न कर बैठता ॥६६॥ महाअरण्य की मिट्टी की बनी पुरानी दीवार के ऊपर बैठा हुआ यह कौआ जैसे रात्रि के समय लोगों के सो जाने पर चोर श्मशान वृक्ष पर चढ़कर दसों दिशाओं की ओर झाँकता है वैसे ही चारों ओर देखता है ॥६७॥ वेग से उड़ रहे या कलियों के आस-पास मँडरा रहे सारसों द्वारा चटचट खिल रहे कमलों के मकरन्द से (पुष्परस से) मनोहर इस तालाब में कौआ कैसे क्रीड़ा करता है, जिसके कन्धे कूड़े करकट की उड़ रही धूलि से धुमैले हैं ? *उसका यहाँ क्रीड़ा करना अनुचित है, यह भाव है*॥६८॥ हे राजन्, खिले हुए कमलों के आकार स्वानुरूप स्थानरूप सरोवर में तैर रहे राजहंसों के साथ थप्पड़ खाने योग्य कुरुप मुँहवाला पिशाचतुल्य यह कौआ (जिस सुन्दर सरोवर में राजहंस विहार करते हैं उसमें विहार के अयोग्य यह काला-कलूटा कौआ) इस कीचड़पूर्ण तलैया में घुसकर राजहंसों की नकल उतारने के लिए विविध लीलाएँ करता है, यह बड़े खेद की बात है, कृपया देखिये ॥६९॥

वंचना, चोरी आदि से मुझे प्राप्त होने वाले धनादि भाग को न्याययुक्त उपाय से कोई सज्नन न ले जाय, इस आशंका से सन्त के खण्डन के लिए राजसभा में अवांछनीय कर्णकटु प्रलाप कर रहे खल के प्रति अन्योक्ति द्वारा कोई कहता है।

अरे कौए, अरे कठोररव सुननेवाले के कानों के चीर डालनेवाले काँव-काँव शब्दरूपी आरा ही तुम्हारा एकमात्र लक्षण है । मेरे भाग को कौए से भिन्न कोई न खा जाय इस आशंका से तुम सदा कौओं का आह्वान करते हुए काँव-काँव की रट लगाते रहते हो, तुम्हारा आज ऐसी शंका करना कहाँ चला गया ? तुम्ही मेरे एकमात्र बच्चे हो, तुम चिरकाल तक जीओ इस आशा से कोकिल के बच्चे को तुम व्यर्थ पालते हो । तुम एकमात्र कटु बोलनेवाले, पुत्रभ्रान्तिसे तुम्हारा सुस्वरवाले कोयल के बच्चों को पालना भी मनोरथसिद्धि के लिए नहीं होगा, अपितु उपहासास्पद ही होगा ॥७०॥ कमलवन में विविध क्रीडाएँ कर रहे कलंकसदृश कौए को जोर जोर से काँव-काँव कटुशब्दों के श्रवण से दुःखवश भौचक्का होकर जो नहीं रोता उस आदमी को आरे के तुल्य कटु वचनों से तुम्हें चीर डालना चाहिये, मैं तो वैसा नहीं हूँ, अतः क्योंकर मेरे सामने काँव-काँव करते हो ?॥७१॥

खलों की सभा में खल ही योग्य हैं। वहाँ पर एक भी साधु का रहना ठीक नहीं है, यों अन्योक्ति द्वारा कोई कहता है ।

इधर-उधर घूम रहे हिंसक जलजीवों से पूर्ण बगुले, जलकाक आदि से पटे हुए छोटे से कीचड़मय तालाब में यदि चंचल उल्लू और कौए रहें, तो यह तालाब की सभा अपने योग्य सदस्यों से सम्पन्न हो ॥७२॥ रंग, शरीर को ढकनेवाले पंख और शरीर की गठन से कौओं के झुण्डों के

तुल्य कोयल, मूर्खों की सभा में पण्डित के सदृश वाणी द्वारा व्यक्त होता है ॥७३॥ फूलों की लता कोकिल के धीरे–धीरे फूलों की पँखुरियों के छेदन को भले सहन कर सकती है, किन्तु चील, गीध, जलकाक, बगुला, मुर्गा और कौए के छेदन को कदापि नहीं सह सकती ॥७४॥ हे मधुरकण्ठ हे कोयल, यहाँ पर कानों के लिए उत्सवरूप तुम्हारे कलरव को कौन सुनता है ? जो रतिरूपी विग्रह का सन्धिदूत है। क्योंकि यहाँ नीम के झुरमुट में उल्लुओं के साथ सदा कलह करनेवाले कौओं ने काँव काँव के कोलाहल से सबके कान बहरे कर दिये हैं ॥७५॥ उपवन में तान सुनने के प्रेमी लोगों के आगे कोयल का मनोहर बच्चा कोमल वाणी से महोत्सवतुल्य कथा कर अनायास सब लोगों का ज्योंही मनोरंजन करता है त्योंहीं कौए ने आकाश से बाग में उतर कर यह मेरा बच्चा है, मैं ने पाला है, यों काँव–काँवरूपी रूक्ष वाणी से सब श्रोताओं को निरुत्साह कर दिया ॥७६॥

अयोग्य श्रोताओं के बीच अनवसर में अयोग्यों को योग्य समझकर भ्रान्ति से अपने गुणों का प्रदर्शन करने के लिए उत्सुक किसीके प्रति कोई दूसरा अन्योक्ति से कहता है ।

हे कोयल, तुम श्रोताओं की योग्यता आदि का विचार किये बिना ही अपने गुणों के प्रख्यापन की उत्सुकता से उत्पन्न हर्ष से जल्दी–जल्दी क्यों कूकते हो ? गलेरूपी कोटर से हर्षवश हो रहे कुहकने के उल्लास को अपने अन्दर प्रवेश करा दो, मौन हो जाओ। यह गुणों के प्रख्यापन का अवसर है और ये श्रोता की योग्यता रखते हैं ऐसी भ्रान्ति तुम्हें न होनी चाहिये । यह फूलों की बहार से पटा हुआ वसन्तऋतु का उन्मेष नहीं है, किन्तु हेमन्त ने इन पेड़ों को पाले की वर्षासे सुखा डाला है । इनके बीच तुम्हारी वाणी सफल न होगी ॥७७॥ रंग–बिरंग के नये–नये अंकुरों से भरे हुए चैत्र के महीने में जो वियोगिनी नायिका है, वह कहती है–हे नित्य प्रशंसनीय आकृतिवाले, हे कुहक रहे कोयल, यह चैत्र महीना किसका है ? इस तरह के मेरे प्रश्न के उत्तर में तुमने अपने मधुर स्वर से जो मीठी वाणी की है, खेद है, यह दुःखदायी का (मेरा) वसन्त नहीं है, किन्तु अपनी सहचरी के साथ गा रहे तुम्हारा ही वसन्त है । ऐसी परिस्थिति में तुम्हें 'मम मम' (मेरा मेरा) कहना चाहिये, 'तव तव' इस तरह का तुम्हारा असत्य वचन मुझे पीड़ित करने के लिए ही है ॥७८॥ कौओं के झुण्ड में मौन, चेष्टा, पंखादिचालनरूप व्यवहार, वर्ण, रंग और आकार एक–सा होने पर भी यह कान्ति से मनोहर कोयल है, कौआ नहीं है, यों कोयल मूर्ख लोगों के बीच में पण्डित की तरह दूर से पहचाना जाता है । अपनी आकृति से अपना उत्तम गुण सूचित करनेवाले सभी पुरुष अपने अनुरूप हृदय चमत्कार से, भले ही वह गुप्त हो, विख्याति को प्राप्त होते हैं ॥७९॥ अरे भाई कोयल, कर्णकटु काँव काँव कर रहे कौओं के झुण्ड से भरा हुआ वह शिशिर का समय है, वसन्तरूपी उत्सव नहीं है। इस समय कुहकने से उत्तम गुण (प्रशंसारूप गुण) प्राप्त नहीं होता,अतः कुहकने की आवश्यकता नहीं है । कहीं विशाल वृक्ष के खोखले में, जो गिरे हुए पत्तों से ढका है, चुपचाप बैठे रहो ॥८०॥ यह कोयल का बच्चा अपनी कौवी माता को छोड़कर जो चला गया, वह

एक आश्चर्य है । उसके बाद यह कौवी माँ इस कोयल बच्चों को चोंच और पंजों से घायल करती है, यह दूसरा आश्चर्य है, यों क्षणभर जब मैं सोचने लगता हूँ तब तक कोयल का बच्चा भी उत्साह से अपनी माँ के सदृश बढ़ने के लिए तत्पर हो गया, यह तीसरा आश्चर्य है । सचमुच भाग्यवान् पुरुष जिस दिशा को आता है, वही दिशा उसकी महिमा बढ़ाती है ॥८१॥

एक सौ सोलहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सत्रहवाँ सर्ग

कमल, कुईं तथा नीलकमल से सुशोभित तालाब का वर्णन और
उसके सिलसिले में कमल, भौंरे, हंस, सारस आदि का वर्णन।

पहले तेरह श्लोकों द्वारा सरोवर का ही मुख्यरूप से वर्णन करने के लिए कोई भूमिका बाँधते है ।

साथियों ने कहा : हे राजन्, यहाँ सामने पर्वतशिखर पर, जो सरोवर की शोभा बढ़ाने के कारण कामोद्दीपक होने से काम का प्रधान सेवक–सा (दाहिना–हाथ सा) है, लाल कमल, श्वेत कमल और नीले कमलों के समूहों की डंडियों में मृणाल के लिए विचर रहे भाँति–भाँति के कलरव करनेवाले पक्षियों से व्याप्त, अतएव नक्षत्र (तारे) और पक्षियों के साथ प्रतिबिम्बित हुए आकाश के तुल्य सरोवर को देखिये ॥१॥ इन्द्रनील के पीढे के सदृश भ्रमरों, सारस, क्रौंच आदि पक्षियों और ब्राह्मणों द्वारा सेवित उक्त सरोवर भूमि में आया हुआ ब्रह्मा का घर–सा मालूम पड़ता है जिसमें खिले हुए और ऊपर ऊठे दण्डवाले विविध कमलों के कोशस्थलों में बैठे और उनकी शोभा को धारण करनेवाले राजहंस बैठे हुए हैं ॥२॥ राजन्, इस सरोवर को देखिये । यह चारों ओर बिखरे हुए सीकरों से (जलकणों से) दिशाओं के मध्यभागों को बर्फमय बना रहा है, खिले हुए नीलकमल और साधारण कमलों की राशियों के बीच के पुष्पराग से चारों ओर पीला बना है, सुगन्धि से मस्त हुए भौंरों और सारस, क्रौंच आदि पक्षियों तथा ब्राह्मणों द्वारा गीतों से इसका यश गान किया जाता है, ऊपर तने हुए चँदवे के समान आकाशस्थ बादल और कुहरे को परछाँई के व्याज से धारण कर रहा है ॥३॥ देखिये, कहीं पर इसमें लम्बी लहरें तैर रहीं हैं, कहीं पर भँवरे अधिक मस्ती से आपस में लड़ते हुए गुनगुना रहे हैं, कहीं पर यह गहरे और स्वच्छ जल से–निश्चलतावश– सोया हुआ सा है एवं कहीं पर कमलों और कुमुदों से सोखा हुआ–सा आच्छन्न है ॥४॥ मोती – जैसे छोटे–छोटे जलबिन्दुओं से यह लोगों के सन्ताप की निवृत्ति करता है, तटभूमि में सिंह की प्रतिबिम्बरूप अन्य सिंह की आशंका से जल पीने में होनेवाली झिझक को वृक्ष की चोटी से लेकर जल तक लटकी लताओं द्वारा प्रतिबिम्ब के दर्शन में रुकावट डालकर भलीभाँति निवृत्त करता है, तरंगों ने इसके आसपास के पत्थरों और कीचड़ से भरे दलदलों को साफ–सुथरा बना दिया है एवं यह असंख्य

बादलों से अनन्त कच्छवाला (जलप्राय देशवाला) आकाश ही मानों भूतल में उतरा है ।।५।। मेघों को छिन्न-भिन्न कर देनेवाले वायु से कम्पित कमलों की राशियों से गिरे हुए परागपुंज की आभा से इसका मध्यभाग बिजली के प्रकाश से पूर्ण-सा मालूम होता है, इसलिए एक ओर जलकणों से भरा हुआ तथा दुसरी ओर अन्धकारपूर्ण यह सरोवर संध्याकाल के आकाश की तरह चारों ओर प्रकाशवाला या अल्प प्रकाशवान है ।।६।। अपने बच्चों के लिए घोंसलों में ले जाये जा रहे कमल-नाल, कमल-कन्दरूपी ग्रासों के भार से थके कन्धेवाले हंसों से, जो काल द्वारा इकट्ठे किये गये चन्द्रबिम्ब जैसे है, घिरकर मन्दता, सुगन्धि, शीतलता आदि गुणों से रहित केवल वायुयुक्त भी यह वायु से जिसके शरत्काल के मेघ छिन्न-भिन्न किये गये ऐसे आकाश की तरह शोभ रही है यदि यह मन्दता, सुगन्धि, शैत्य आदि गुणों से सम्पन्न वायु से युक्त होता तो फिर इसकी शोभा का क्या ठिकाना था ? ।।७।। इस तालाब की लहरी, सुगन्धि के भार से मानों मन्दगामी तथा पुष्परस के संसर्ग से नम वायुओं द्वारा कम्पित जलमिश्रितपंकभाग के पंक को नीचे दबाकर जल से पृथक करने की चतुराईवश जिससे शीघ्रता से पट-पट शब्द हो रहा है, अपनी ध्वनि से खिन्न होकर उड़े हुए पक्षियों की निवासभूत लताओं द्वारा छोड़ी गई पुष्पवृष्टि का विस्तार करती है ।।८।। राजन्, इस सरोवर का राजा का सा ठाट-बाट है । देखिये न, वायुवश हिल रहे महाकमल और पल्लवरूपी पंखों से यह संवीजित (झला गया) है, सुन्दर फेन ही इसके डुलाये गये चँवर हैं, भौंरे और कोयल अपने गीतों से इसका गान करते हैं तथा कमललतारूपी सुरूप, सुडौल, सच्चरित्र तथा सुन्दरी अनेक ललनाओं से यह घिरा है ।।९।। भँवररूपी श्रेष्ठ सत्पात्र मनोहर गुणियों का इसमें मनोज्ञ गाना होता है, इसका जल कमलपरागों के सम्पर्क से व्याप्त अतएव सुनहला है और इसने तटवर्ती उपवन की मस्तकअलंकारभूत पुष्पराशि को फेनपिण्डों के समान सफेद कमलराशि से सुशोभित कर रक्खा है ।।१०।। पवित्र हृदय के समान निर्मल कमलों से भरा हुआ हृदय को अत्यन्त आनन्द देनेवाला जलपूर्ण यह मधुर सरोवर पवित्र (निर्मल) हृदयकमलवाले, हृदय को अत्यन्त आह्लादित करनेवाले, प्रीतिपूर्ण तथा अत्यन्त मधुर सत्संग के तुल्य है ।।११।। हे सौम्य, जैसे ब्रह्माकार वृत्ति से (चरम साक्षात्कारवृत्ति से) महात्माओं का निर्मल मन शोभित होता है वैसे ही यह निर्मल सरोवर अपने में प्रतिबिम्बित मरुदेशवत् निर्जल आकाश से शोभित है ।।१२।।

हेमन्त ऋतु में इस सरोवर की कैसी दशा होती है ? इस प्रश्न पर कहते हैं ।

हेमन्त ऋतु में सुन्दर सारसों से पूर्ण यह सरोवर हेमन्त ऋतु के मेघों की तरह शोभित होता है, कुहरे से चारों ओर घिरे रहने के कारण कुछ-कुछ दिखाई देता है; कुहरा इसे अपने रंग में रंग लेता है, अतएव इसकी कालिमा चली जाती है और जलबिन्दुओं से इसकी हवा अति कठोर बन जाती है ।।१३।। हे राजन्, जैसे विकारादिशून्य यह जगत् कूटस्थ नहीं है, किन्तु ब्रह्ममात्र ही है, तथापि ब्रह्म में पृथक्-सा प्रतीत होता है । वैसे ही जल में तरंग आदि

जलमात्र ही हैं फिर भी पृथक् से मालूम होते हैं ॥१४॥ जैसे अपने ही जल से बहाये जा रहे तथा चक्राकार भँवर बनानेवाले जलाशयों के कल्लोलों की परम्परा बड़ा आश्चर्य पैदा करती है वैसे ही अपने अज्ञान से ही संसार के प्रवाह में बहाये जा रहे सत्असत्कर्मरूप भँवरों की रचना करनेवाले जड़ लोगों के मनोरथों की परम्पराएँ आश्चर्य में डालती हैं ॥१५॥

जैसे कुआँ, बावड़ी, तालाब और सागर आदिरूप उपाधि के भेद से जल में तारतम्य की (उत्कर्ष–अपकर्ष की) प्रतीति होती है, वैसे नारी, पुरुष आदि के शरीर के उत्कर्ष से उनकी आत्मा में उत्कर्ष और अपकर्ष के तारतम्य की प्रतीति होती है, ऐसा कहते हैं।

कुआँ, बावड़ी सरोवर और सागर के जल में उपाधि भेद से जैसा अन्तर दृष्टिगोचर होता है वैसा ही अन्तर नारी, पुरुष, बालक आदि के शरीर के (उपाधि के) उत्कर्ष से उनकी आत्मा में भी उत्कर्ष और अपकर्ष का तारतम्य समझना चाहिए ॥१६॥ जल में उत्पन्न होनेवाले कमल, सेवाल आदि के संसर्ग से जीर्ण हुए इस सरोवर के विविध योनियों के सम्बन्ध से जीर्ण हुए जीव के मन की तरह कमल आदि की (तत्–तत् देहों की) जर्जर दशापर्यन्त लहरियों के (भोगोत्साहों के) भ्रम से अत्यन्त व्याप्त हुए आवर्तों के सदृश इच्छा, द्वेष आदि वृत्तियों के परिवर्तनों की भाँति अनगिनत कमलों के गिनने में कौन समर्थ है अर्थात् कोई भी नहीं ॥१७॥

यहाँ से पद्मों का वर्णन आरम्भ करते हैं।

अहा ! यह आश्चर्य की बात है कि जिस कमल की लोक में सौन्दर्य, सुगन्धि आदि सद्गुणों की खान के रूप से प्रसिद्धि है, वह भी मुकुलितावस्था में जो सुगन्धि, सौन्दर्य, माधुर्य आदि गुणों को दोषों की तरह गले में निगलकर अन्दर छिपाता है और कुरुप काँटों को बाहर सबको दिखलाता है, यह जल की (जड़–मूर्ख की) संगति की बलिहारी है । यदि मूर्ख की संगति न होती तो ऐसा क्यों करता ? *(यहाँ से लेकर प्रायः सभी श्लोक अन्योक्तिमय हैं)* ॥१८॥

जो कमल के गुणशब्द से पुकारे जानेवाले तन्तु हैं उनके तुल्य दोष–युक्त गुणों की सर्वत्र उपेक्षा ही करनी चाहिये, यों प्रसंगवश कहते हैं।

जो गुण कमल के गुणों के (तन्तुओं के) तुल्य छेदवाले (सदोष), कच्चे, ऐसे सूक्ष्म कि मालूम भी न पड़े, छिपाये हुए, जड़तापूर्ण, थोड़े और निस्सार (तुच्छ) हों उनकी सर्वथा उपेक्षा करना ही ठीक है । वे कदापि उपादेय नहीं हैं ॥१९॥ सुगन्धि, सुन्दरता आदि से शोभित होनेवाले बड़े–बड़े उत्कृष्ट कमलों के (यशरूपी सुगन्धि से अपने कुल को प्रख्यात करनेवाले महान् पुरुषों के) प्रभाव का बखान करने की सामर्थ्य शेषनाग में भी नहीं है ॥२०॥ भगवान् श्रीहरि के वक्षःस्थल में निवास करनेवाली सकल सौन्दर्यों की अधिदेवी लक्ष्मीदेवी जिस कमल को शोभा के लिए ही अपने हाथों में धारण करती हैं, उसकी इससे बढ़कर दूसरी प्रशंसा क्या हो सकती है ? ॥२१॥ कमल और नीलकमल की केवल सफेद और काले रूपों से ही परस्पर विलक्षणता है, किन्तु इनकी जल से जड़

(अचेतन) चन्द्रसूर्यद्वेषरूप मूर्खतास्वरूप वृत्ति समान है ॥२२॥ तालाबों में खिले हुए कमलों की नवोदित शोभा की फूले हुए पारिजात वन से तुलना नहीं की जा सकती, तारों से भरे हुए आकाश से और अनेक चन्द्रबिम्बों से भी उनकी बराबरी नहीं हो सकती है ॥२३॥ यदि उसकी बराबरी हो सकती है, तो नाच रही बहू के चाँद के टुकड़े जैसे मन्द मुस्कान युक्त मुखशोभा से ही हो सकती है ॥२४॥ फूल और लताओं को छोड़कर अन्यत्र कभी भूलकर भी मन न लगानेवाले जिन भँवरों की लम्बी आयु फूल और लताओं का ही आस्वाद लेने में बीती, सचमुच वे ही सौभाग्यशालियों में श्रेष्ठ हैं *(या 'सुभग उत्तमा' दो पृथक् पद भी हो सकते हैं। वैसी स्थिति में हे सुभग, वे भृंग ही उत्तम हैं, ऐसा अर्थ है।)* जो भ्रमर और कोयल आम की सुगन्धि, मकरन्द और पल्लवों का कषाय रस चखते हैं, उन्हींका जीवन चमत्कारपूर्ण है, औरों का तो केवल आयु बिताना है या योनि भोगमात्र है ॥२५॥

पद्मों के मकरन्द को चखनेवाले भ्रमर पद्म से अतिरिक्त वनों में आसक्त भ्रमरों का मानों परिहास करते हैं, ऐसा कहते हैं।

जो भ्रमर कमलमधुमद से उत्पन्न आनन्द से मस्त होकर कमलों पर गूँजते हैं, वे मानों अन्य फूलों के आस्वादों से सन्तुष्ट भँवरों का परिहास करते हैं ॥२६॥ जो भ्रमर शरदादि ऋतुओं में चन्द्रमा के कोटर के तुल्य कोमल (सुन्दरतम) कमलों के अन्दर रहा, खेला, सोया और गूँजा, हाँ खेद है, वही यह बेचारा भ्रमर शिशिर ऋतु के आने पर अन्य नीरस वृक्षों से कैसे प्रीति करेगा ? ॥२७॥ मालती की कहीं से भी तनिक भी न फूली हुई शूलसदृश कठोर कली के ऊपर बैठा हुआ भ्रमर कालरुद्र द्वारा शूलपर पिरोया हुआ अन्धकार–सा मालूम पड़ता है ॥२८॥ अरे भ्रमर, तुम भाँति–भाँति के फलों के रस चखते हुए सब पर्वतों के निकुंजों में नित्य चक्कर लगाते हो, आज तक तुम्हें सन्तोष नहीं हुआ ? पुष्परसलम्पट होने के कारण सचमुच तुम्हारा आशय शुद्ध नहीं है । मालुम पड़ता है, आज तक तुम्हें वनों से सार प्राप्त नहीं हुआ । यदि सार वस्तु तुम्हें मिल जाती, तो तुममें असन्तोष न रहता और तुम्हारे इस तरह भटकने की भी संभावना न रहती ॥२९॥ कमलवनों में मकरन्द चखने में प्रवीण हे भ्रमर, तुम कमलों से भरे सरोवर में जाओ मकरन्द से परिपुष्ट अपने शरीर को बेरों की झाड़ियों में काँटेरूपी आरों से मत चीरो ॥३०॥ जैसे पण्डित पुरुष अपने अनुरूप प्रभु, समाज आदि न मिलने पर विद्वान प्रभु की प्राप्ति के लिए अयोग्य (मूर्ख) प्रभु के समीप भी बस जाता है, किन्तु किरातों के बीच में वास नहीं करता वैसे ही हे भ्रमर, जिन ऋतुओं में हेमन्त, शिशिर आदि में – तुम्हें कमल नहीं मिलते उन ऋतुओं में भी अपने रंग से मिलते जुलते अलसी के फूलों में, नीलकमल समूह में तथा फूले हुए तमाल में यथाअवसर प्राप्त हुए मधु से अपनी गुजर करो, जीवन निर्वाह करो ॥३१॥

कोई पार्श्वचर हंसश्रेणी का वर्णन करता हुआ उसे राजा को दिखलाता है ।

राजन्, देखिये, सरोवरों की नाभिरूप नलिनियों के उपयुक्त केसरों से उनके समान कान्तिवाले शोभा से पालित यह हंसश्रेणिरूपी सुन्दर लता है, इसकी ध्वनि सामगायन के समान

गंभीर है ॥३२॥ राजन् देखिये, आकाश में हंसी का पीछा कर रहा हंस इस सरोवर के मध्य में प्रतिबिम्बित, झूले के सदृश कमलरूप घोंसले में स्थित हंसो को देखकर उसके गिरने और डूबने की आशंका से मूर्च्छित हो गया है ॥३३॥

हंस की–सी स्त्रीव्यसनिता की (स्त्रीलम्पटता की) कोई अनुचर निन्दा करता है।

हे राजन्, अत्यन्त स्त्रीलम्पटता किसी की भी न हो । देखिये न, तालाब में प्रतिबिम्बित इस हंसी का अनुसरण कर रहे (पीछा कर रहे) बेचारे हंसने प्राण गँवा दिये ॥३४॥ राजन्, राजहंस ने अनायास जो मनमोहक मधुर कूजन (ध्वनि) किया, उसे बगुला पुरे सौ वर्षों में भी बोलना नहीं सीख सकता ॥३५॥ राजहंस और हंस का जन्मस्थान, आकृति, जाति, चेष्टा, आहार, नाम और रंग सब कुछ समान है । फिर भी साधारण हंस और राजहंस में महान् अन्तर है, महान् अन्तर है । राजहंस सुवर्ण पद्मों में विचरते हैं, समुद्र में गोता मारकर मोती चरते हैं एवं जहाँ किसी भी पक्षी की पहुँच नहीं है ऐसे आकाश के ऊपरी भाग में उड़ते हैं, साधारण हंसों में यह बात कहाँ है ? यह भाव है ॥३६॥ सफेद डैनों से आकाश में स्थित तथा कुमुदाकर की शोभा बढ़ानेवाला हंस उदित हुए चन्द्रमा के समान लोगों के चित्तों को आह्लादित करता है (🔔) ॥३७॥ ऊपर को उठे हुए नालदण्डवाली नलिनियों के नालरूपी कदलीस्तम्भों से भरे हुए कमलवन में विहार कर रहे हंसों की शोभा को कौन दूसरा पक्षी पा सकता है ? यह सरलार्थ है । योग से जिसके नाल ऊपर को की गई है ऐसी हृदयकमलरूपी नलिनी के प्राणायामअभ्यास से विकासवश कदलीस्तम्बवत् स्तम्ब से व्याप्त हृदय कमलत्रयरूप वन में त्रिविधतापहारी निरतिशय आनन्द के आस्वाद से सदा विहार कर रहे यतियों की जीवन्मुक्तिसुख साम्राज्यरूप सम्पत्ति को कौन देवता पा सकता है, यह गूढार्थ है ॥३८॥ यह सरसी (तालाब) जैसे नारी नूपुरों से विराजमान होती है वैसे ही हंस के बच्चों से सुशोभित हो रही है । तरंग ही इसके कंकण हैं, चंचल जलकणराशि ही इसका हार है, कुईं, नीलकमल, लालकमल आदि फूलों के संभार से यह सुन्दर है, भंवर ही इसके चंचल कुन्तल हैं, कूज रहे सारस ही नूपुर हैं, गोल भँवर ही नाभि है तथा चंचल तरंग ही नेत्र हैं, यह मनोरथ को पूर्ण करनेवाले (जल के प्रवाह को बढ़ानेवाले) पर्वतरूपा पति को देख रही है ॥३९–४१॥ हे हंस, जलकाक, बगुला, कौआ आदि हिंसकों से भरे तालाब में सदा अकेले मत रहो, क्योंकि इस आपत्ति में भी समान शील, अवस्था और बोलीवाले अपने वर्ग के साथ संगति से अच्छा ही फल होता है ॥४२॥ अपने पैरों से गजराज के मस्तकपर आक्रमण करनेवाले एकमात्र पद्माकर में रहनेवाले तथा रक्तकमल, नीलकमल, कुन्द और चम्पकलताओं के भोगरूप सौभाग्य से युक्त यह भँवर भी भाग्यवश हेमन्त और शिशिर ऋतु में ढेले और पत्थर चाटता हुआ स्थल में रहनेवाले बगुले के तुल्य आचरण करता है । अहा ! विपत्ति के समय महान् पुरुष भी दीनता में मन लगाते हैं, दीन–हीन बन जाते हैं ॥४३॥ हे राजन्, मैंने हंस

(🔔) चंद्रमा भी शुक्लपक्ष में आकाश में स्थित होता है व कुमुदाकर को खिलाता है, यों दोनों का साम्य है।

के पंखों से चीरे गये कमलवन में प्रविष्ट होकर देदीप्यमान कमल के अन्दर बैठे हुए हंस के बच्चे की अपने पिता के प्रति निकल रही जो जोर की चीत्कार थी, उसका स्मरण किया । उसका वह वचन था, हे तात ! कमलिनी जैसे सफेद मोती के तुल्य जलबिन्दुओं की वृष्टि करती है वैसे ही आकाश जल बिन्दुओं की राशि बरसाता है,ऊपर सिरपर दोपहर के समय में भी खूब जवानी को पहुँचे हुए बर्फ को प्रत्यक्ष देखिये ॥४४॥ हे राजन्, इस सरोवर में, आकाश में चन्द्रमा की तरह प्रसन्न (स्वच्छ) जल में चुपचाप चिरकाल तक तैर रहे हंस के पंखों से प्रताडित कमलनालों के संवलनरूप निष्कम्प टंकाघातों से ब्रह्म के आसनभूत कमलपुट के समान कमलपुट से जो जलबिन्दु इसके ऊपर गिरे, उन्हें मछली आदि जलचर बड़ी प्रसन्नता से गंगाजल के तुल्य शीघ्र पीते हैं ॥४५॥

एक सौ सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ अठारहवाँ सर्ग

बगुले, जलकाक, मोर, वियोगीपथिक मछली और चातकों के चरित्र का वर्णन।

सहचर और सहचरियों ने क्रम से कहा : देखिये, यह बक यद्यपि प्रायः निर्गुण है तथापि इसमें एक गुण है, वह यह कि प्रावृट्-प्रावृट् कहता हुआ यह पावृट् का (वर्षा ऋतु का) स्मरण कराता है ॥१॥ अरे बगुले, तालाब में बैठा हुआ तू रंग से (सफेद पंखों से) हंस-सा मालूम पड़ता है। कौओं के साथ मित्रता, क्रूरता (मछलियों पर निर्दय प्रहार करना) और कटु वाणी का त्यागकर तू सच (असली) हंस बन जा ॥२॥ हे चतुरश्रेष्ठ, मछलियों को मारने में अत्यन्त प्रवीण जिन जलकौओं ने जलजीवों से परिपूर्ण गम्भीर जल के अन्दर बार-बार प्रवेश कर पहले (निगलने के समय) मछलियों से चोंचें भर कर मछलियाँ खाई, वे ये कौए जिनके गले में भाग्यवश किसी कारण मरी हुई 'तिमि' जाति की मछलियों के भक्षण से रोग उत्पन्न हो गया है, अत्यंत क्षुधासमय में (आक्रमण के समय में) तीर में कतार बाँधकर स्थित हुए भी, पंगु होने के कारण, अपने सामने तटपर आई हुई, अनायास पकड़ में आने योग्य मछलियों पर आक्रमण नहीं करते, यह बड़े आश्चर्य की बात है ॥३॥

दुर्जनों ने लोकहिंसा से स्वार्थसिद्धि करना जल के कौओं से सीखा, ये प्रकारांतर से कहते हैं।

इसी तरह (जलकौए के समान ही) अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए लोगों का गला घोटना उचित है, इस बात को दर्शाता हुआ जलकौआ मेरा गुरु बन गया है, यों दुष्टजन कौए की प्रशंसा करते हैं ॥४॥ आकाश में यह सामने खड़ा बगुला, जिसने सुन्दर गर्दन ऊँची कर रक्खी है और सफेद सुन्दर पंख फैला रक्खे हैं, हंस ही है यों लोगों द्वारा निर्णीत हुआ, जब यह भूमि में कीचड़ से भरी छोटी तलैया में मछलियाँ पकड़ता है, तब लोग यह बगुला है, ऐसा निश्चय करते हैं ॥५॥ कीचड़ से भरी छोटी-सी तलैया में मछलियों को पकड़ने के लिये चिरकाल तक चंचलता दिखला चुके इसी सरोवर में तपका ढोंग बाँधे हुए बगुलों को देखकर धूर्तों के चरित्र

को भलीभाँति जाननेवाली कोई तीरप्रदेशस्थित महिला बगलों के समान ही अन्यत्र चिरकाल तक विषयलम्पटतावश चंचलतावश चंचलतावाले यहाँ पर तपस्या का ढोंग बाँधनेवाले रात्रि की प्रतीक्षा कर रहे धूर्तो को देखकर आश्चर्य में पड़ गई ॥६॥

पथिक की स्त्री कमल तोड़नेवाली महिलाओं को देख रहे अपने पति के (पथिक के) प्रति कहती है।

हे प्रियतम, इस जल में शीत को कुछ भी न गिननेवाली ग्रामीण स्त्रियों को देखो, ये सफेद कमलों को ले जाती हैं। तुम इनका अनुगमन करना चाहते हो इसलिये मैं तुम्हारी प्रिया नहीं हूँ, अतएव मैं जाती हूँ ॥७॥ हे नरनाथ, पूर्वोक्त वचन कहनेवाली रूठी हुई अपनी प्रिया को मनाने के लिए यह बटोही मार्ग के पुष्पलता निकुंजों से भरे क्रीडातट वन में बड़े जतन से अपनी प्रेयसी का अनुनय विनय करता है, कृपया आप देखिये ॥८॥

कोई पार्श्वचर इसी पथिक जोड़े के (स्त्री-पुरुषों के) चरित्र को ढिठाई के साथ कह रही वेश्या को राजा के लिये दिखलाता है।

हे राजन् हाव, भाव, विलास, शरीर को मटकाना, कोप,कटाक्ष, और हास कर रही वेश्या उक्त पथिक जोड़े का चरित्र कहती है, कृपया आप देखें ॥९॥ बगुला, जलकाक और दूसरों पर घात करनेवाले मछुए आदि नित्य एक ही जगह रहते हैं, फिर भी मूर्ख और विद्वानों की बुद्धि के समान इनकी बुद्धि का आपस में मेल नहीं है ॥१०॥ खंजन की चोंच में पतंगा पंख फड़फड़ाता है, काँपता है। उसका पंख फड़फड़ाना क्यों है मानों वह पूर्वजन्मसंचित पाप की ऊँची जगह में पताका है ॥११॥ छोटी तलैया के तट के वृक्ष पर उल्लास के साथ वह चपल बगुला जब जोर से बोलता है तब थोड़े से जल से गीले तलैयारूपी गोखुर में पूर्णशक्ति से प्रेम से प्रियतम की छाती में जैसे भय से चिपट रही बिचारी मछली ने मरकर भी अपने शरीर की रक्षा की। इस संसार में महा आपत्ति प्राप्त होने पर हृदय फटने से हुई मृत्यु से बढ़कर दूसरा सुखपद शरण नहीं है। मरकर भी जो उसने अपने शरीर की रक्षा की, वह भी उचित ही किया ॥१२॥ बगुला, अजगर और जलकाक के पेट में बिना चबाये निगले हुये मछली आदि प्राणियों की जो चित्तस्थिति है, मैं समझता हूँ वह सुषुप्ति-सी (गहरी नींद-सी) या मूर्छा-सी होती होगी ॥१३॥ जलचर मछली आदि जीवों को समीप में जलकौआ, बगुला, चील, बिल्ली, साँप देखने से जो भय होता है उस भय के आगे वज्रपात से हुआ भय तृण के समान नगण्य है। यह रहस्य बात जातिस्मरण (पूर्वजन्म के ज्ञान) से मछली आदि जलजीवों की योनियों के दुःख का स्मरण करनेवाले विद्वान् पुरुषों द्वारा अनुभूत है, इसे असत्य नहीं समझना चाहिये ॥१४॥ हे राजन्, फूलों की राशि से सुशोभित यहाँ सरोवर के तट के पेड़ के नीचे सामने भ्रमर रहने पर नयन और कानों को शोभा से नूतन नील कमल और केतक बिखेर रहे भोले-भाले सुन्दर मृगों को प्रिया को दिखलाइये ॥१५॥ मोर क्षुद्राशय न होने के कारण इन्द्र से जल माँगता है, अत्यन्त उदार इन्द्र

अक्षुद्रचित्तत्वरूप गुण से सन्तुष्ट होकर मोर की प्रसन्नता के लिये सारी पृथ्वी को जल से पूर्ण कर देता है ॥१६॥ ये मोर बछड़े की तरह मेघों के पीछे–पीछे चलते हैं, मलिन मलिन का ही बच्चा है, ऐसा अनुमान होता है ॥१७॥ पथिक मृगों को देखकर सामने की वस्तुओं में प्रिया के नेत्रों का चिन्तन करता हुआ कलसे चलनेवाली गुड़िया–सा बन गया है ॥१८॥ मोर भूमि का जल तक ग्रहण नहीं करता, किन्तु साँपों की जबरदस्ती खा डालता है, यह सर्प की दुरात्मता है अथवा मोर की दुष्टता है, यह मैं नहीं जानता ॥१९॥ मोर सज्ञनों के हृदय के समान स्वच्छ महान् सरोवर को छोड़कर मेघ द्वारा थूका हुआ जल पीता है, मालूम पड़ता है उसका मेघ का जलपान सरोवर को नमस्कार करना पड़ेगा, इस भय से है ॥२०॥ हे राजन् देखिये, ये मयूर वर्षा ऋतु के बच्चों की नाईं नाचते हैं, जिनके पंखरूपी मेघ चमक रहे हैं जो पिच्छ (पंखों के चन्द्रक) रूपी चन्द्रमा को कँपा रहे हैं ॥२१॥ यहाँ पर मोतियों को देने के कारण सागर ही सुन्दर वन में वन के वायु से फैलनेवाले तथा चंचल चन्द्रकरूपी सुन्दर तरंगों से युक्त मयूरों को नचानेवाला होता है, मेघ नचानेवाला नहीं है, देखिये ॥२२॥ हे चकित चातक, तुम्हारा वनभूमि में गर्मी के दिन अग्नि से दुषित (सदा अग्नि की संभावनावाले) सूखे पेड़ के खोखले में निवासके आग्रह से सूचित अति अभिमानिता सुख के लिए नहीं है । तुम केले के वन के समीपवर्ती शीतल हरे तिनकों को चरो, नहर आदि में जल पीओ एवं केले के वन में विश्राम लो ॥२३॥ हे मयूर, यह सागर के जल से भरा हुआ अतः आकाश में चढ़ने की इच्छावाले मेघ नहीं है, यह तो पर्वत से उठी हुई वनाग्नि से जले हुए वनवृक्षों के खोखले की अग्नि की धूम्रराशि है ॥२४॥

अनावृष्टि के समय भूमि का जल न पीनेवाले मयूर के आशय का कोई अनुचर वर्णन करता है ।

जिस मेघ ने शरत् ऋतु में भी मयूर को जलधाराओं से तृप्त किया वह वर्षाऋतु में भी तालाब को न भरे ऐसा उसका जो चरित्र है, वह बालजनोचित (क्षुद्रोचित) है, उस महान् के योग्य नहीं है । उदारता के समय में भी की गई इस अनुदारता को देखकर पामरों द्वारा किये गये उपहास से वह सज्जन दुःखी होगा, यह सोचकर मयूर सदा के लिए अपनी प्यास ही न बुझाने के लिए तैयार हो गया ॥२५॥

शंका : तो क्या मयूर अनुचितकारी है ?

समाधान : नहीं, मेघ के पेट से निकला हुआ, स्फटिकसा स्वच्छ जल पीकर मोर प्यास से पीड़ित होकर भी फिर मार्ग में गिरा हुआ कीचड़वाला जल नहीं पीता ।

शंका : तब तो वह मारे प्यास के मर जाता होगा ?

समाधान : नहीं, नहीं, वह मेघ का स्मरण कर हर्षित होता है और मरता भी नहीं । क्योंकि गुणवान् पुरुष पर आशा बाँधे हुए लोगों का परिश्रम भी सुखकारी होता है, दुःखद नहीं होता ॥२६॥ यहाँ पर ये पथिक लोग बरसात में कथा–वार्ता के आलाप द्वारा मार्ग में होनेवाली शोचनीय दशा को (वियोग को) वैसे ही बिताते हैं जैसे कि प्रायः मूर्खजन अपना जन्म यापन करते हैं । कान्ताविरही पथिकों का वर्षा ऋतु में कहीं पर कथालाप आदि से कष्टपूर्वक वैसे

ही समापन होता है जैसे कि आत्मज्ञानशून्य मूर्खों का जन्मयापन होता है, यह भाव है ॥२७॥ हे राजन्, यहाँ पर तालाब से कमल, नीलकमल, कुईं,सफेद कमल, भसींड, कमलनाल, रक्तकमल, पत्ते और जल के बोझ को लेकर युवतियाँ चलीं ॥२८॥ इसके बाद इन कमल आदि के बोझों को क्यों ले जाती हो, यह पूछने पर उन्होंने पूछनेवाले को (मुझको) यह उत्तर दिया– हे पथिक, हम लोग वियोगरूपी दुःख के ज्वर से सन्तप्त नायिका की बालसखियाँ हैं और उसके उपचार के लिए कमल आदि के बोझों को ले जाती हैं ॥२९॥ तदुपरान्त प्रेमपूर्ण हृदयवाली, स्तनों के भार से नत (झुकी हुई) तथा विविध हावभावों से मनोहर अंगोवाली वे ललनाएँ देख रहे पथिकों को उनके घर की प्रियाओं का बार–बार स्मरण कराती हैं ॥३०॥

वहाँ पर कोई पथिक अपनी प्रिया का स्मरण कर कहता है ।

वह मेरी प्रिया जल से भरे मेघरूपी अन्धकार से काले आकाश को चिकने तथा मेघ और अन्धकार के समान काले शून्यवन को देखकर प्रलाप करती होगी, भूमिपर गिरती होगी तथा चलते–चलते ठोकर खाती होगी ॥३१॥ हाय, भ्रमरश्रेणी तथा नीलकमलों से परिवेष्टित कमलरूप पानपात्र से (पीने के बर्तन–कटोरे से) उँडेले जा रहे कमलिन के मधु को पीने से मस्त हुआ और तट भूमि पर उगे हुए वृक्ष, लता आदि के पल्लवों के नृत्य से प्राप्त हुई मधुर गंभीर शब्द राशि से प्रख्यापित शीतलता, मृदुता, सुगन्धि आदि गुणों से पूर्ण वायु बहता है ॥३२॥

एक सौ अठारहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ उन्नीसवाँ सर्ग

पथिक का अपनी प्रिया से भेंट होने व उसके आगे उसके वियोग से हुई अपनी मरणान्त दशा का वर्णन।

सहचरों ने कहा : राजन्, देखिये, मन्दर की झाड़ी में यह पथिक चिरकाल के पश्चात् प्राप्त हुई अपनी प्रिया के आगे भूतपूर्व अपनी विरह–कथा कहता है ॥१॥

प्रिया के आगे उससे वर्णित विरह कथा का वर्णन करने के लिए भूमिका बाँधता है ।

हे प्रिये, तुम्हारे वियोग की अवस्था में मेरी एक दिन हुई आश्चर्यपूर्ण दुर्घटना को सुनो । तुम्हारे समीप अपना समाचार भेजने के लिये दूत का विचार करते–करते विचारमग्न हुए मैंने यह कहा ॥२॥ इस महाप्रलयकाल के तुल्य वियोग में (विरहरूप महती आपत्ति में) यहाँपर स्थित मुझे समाचार पहुँचाने द्वारा उससे (मेरी प्रिया से) संमानित करने के लिये जो मेरे घर जाय ऐसा दयालु दूत कौन होगा ? जो दूसरे के दुःख की निवृत्ति के लिये प्रेम से सरलतापूर्वक सदा प्रयत्न करे, ऐसा पुरुष संसार में है नहीं ॥३॥ हाँ याद आई, सामने पर्वत शिखर पर यह दिखाई दे रहा मेघ प्रेम से सदा परदुःख को निवृत्त करना आदि गुणों से युक्त है ? यह कामदेव के घोड़े के समान शीघ्र मेरे घर जा सकता है । परोपकार में परायण यह बिजली की रेखारूप विलासवती नायिका से वेष्टित हो स्थित है ॥४॥ अरे

भाई मेघ, तुम्हारे गले में गुण है यानी तुम गुणवान् हो । गुणशाली अपने योग्य इन्द्रधनुष को लेकर, हे सुन्दर आकाशमार्गचारी, तुम मेरी प्रिया के समीप जाकर जिनसे जल की बूँदे गिर रही हों ऐसे अपने वायुओं से पहले उसे ढाढस देना फिर मेरा सन्देश पहुँचाने के लिये धीरे-धीरे गर्जना, क्षणभर के लिये दया करना, कारण कि तुम्हारे गंभीर गर्जन को मेरे वियोग दुःख से अश्रुपूर्णमुखी बालकमलनाल के सदृश कोमल शरीरवाली कृशांगी मेरी प्रिया सहने में असमर्थ है ॥५॥ हे मेघ, उस प्रिया का चित्तरूपी तूलिका से हृदयरूपी आकाश पर चित्र लिखकर मैंने आलिंगन किया, अभी ही न मालूम वह यहाँ से कहाँ चली गई ॥६॥ हे कृशांगि, इस तरह मेघ से कहकर तुम्हारी चिन्ता से पराधीन बुद्धिवाले मेरे मन का व्यापार भीतर ही भीतर लीन हो गया, अतएव तुम्हारे ही साथ मेरी स्मृति (पूर्वपर के अनुसन्धान की शक्ति) भी गुम हो गई । तदुपरान्त स्मृतिनाश से मेरा शरीर बेकाबू हो गया और मेरे सब अवयव काष्ठलोष्ठ के समान निश्चेष्ट हो गये। भला वियोगदुःख से उत्पन्न पराभव को कौन सह सकता है ? ॥७॥ तदनन्तर मेरी वैसी अवस्था देखकर एकत्र हुए जनसमूह में महा हाहाकार मचा और देखने के लिये आ रही पथिक महिलाओं का भी छाती पीटना भूलकर अहा बेचारा पथिक मर गया ऐसा कोलाहल हुआ। वहाँ पर किन्हींने दुःखभार से रुँधे हुए स्वरवाले दीनतापूर्ण आलापों से मेघ की निन्दा की ॥८॥ उसके पश्चात् पथिक लोगों ने यह मर गया है, ऐसा निश्चय कर आँखों में आँसू भर कर शवोचित पूजा (चन्दन, माला आदि से सजावट) की तथा लकड़ियाँ उद्वेजक तथा अत्यन्त भीषण श्मशान में ले गये ॥९॥ हे कमलाक्षि, वहाँ पर अश्रुपूर्ण नेत्रराजिवाले कुछ पथिकों ने मुझे चितारूपी शय्यापर रक्खा। वहाँ पर चारों ओर लोकपंक्तियों की तरह जिसकी पंक्ति बँधी थी, धूम्रराशि के उद्‌गार से निरन्तर जटायुक्त (व्याप्त), मदोन्मत्त मृत्यु के मस्तक पर उत्तम चूड़ामणि के सदृश प्रकाशमान अग्निरूप सोने के थोड़ी-बहुत दृश्य होने पर नीलकमललता के समान कोमल, गरम, काली दीर्घता के संकोच से कुबड़ी, धूम्रपंक्ति कोमल गले के सूराख और नासिकारन्ध्र में, नेवले से भयभीत हुई बालसर्पिणी छोटे भूमि के छेद में जैसे प्रवेश करती है वैसे ही प्रवेश करने के लिए प्रवृत्त हुई ॥१०,११॥ हे प्रिये, मैं तुम्हारे आकाररूप अमृत से कवचावृत था, अतएव कवचावृत मुझको उक्त धूम्रपंक्ति ने वैसे ही पीड़ा नहीं पहुँचाई जैसे कि वज्रांग ब्रह्माजी को जोर से छोड़ी गयी मृत्यु के भालों की श्रेणी ने पीड़ित नहीं किया और हृदयरूपी गृहसमीपवर्तिनी कामनदीरूप तुम में गोते लगा रहे मुझको अग्निदाह से भी मर्मच्छेद होने पर उत्पन्न हुई पीड़ा मालूम न होती केवल धुएँ से तो क्योंकर पीड़ा होती ? ॥१२॥ हे कृशांगि, मूर्च्छावस्था में इतने कालतक अपने हृदय में तुम्हारे साथ मैंने लीलामनोहर जिस सुख का अनुभव किया, वह अभूतपूर्व था। अमृत के कुण्ड में गोते लगाने से जैसा सुख होता है वैसा ही वह सुख था । उस सुख का अनुभव होने पर यह प्रसिद्ध त्रैलोक्यराज्य के आधिपत्य से होनेवाला सुख भी पूर्ववर्णित मर्मच्छेदन दुःख के समान तुच्छ ही है, ऐसी मेरी राय है ॥१३॥ हे प्रिये, तुम्हारी वह केवल स्वानुभव से ज्ञेय निरतिशयानन्दरूप अनुपम लीला, वैसे ही भौंह मटकाना

आदिरूप विलास, वैसा ही आनन्दमय वचन, वैसा ही मुस्काना, वैसे ही कटाक्ष तथा वही प्रधान अलंकाररूप मणिमयी एकावली रहित आभ्यन्तरिक आनन्द के उचित आलिंगन, वैसी ही नखक्षत आदि चेष्टाएँ, वैसा ही रतिकूजित, वैसे ही हँसना, चलना चित्तविक्षोभ आदि थे । इनमें से जिसका स्मरण हृदय में अमृत रसाह्लाद न करे ऐसा कोई न था सभी हृदय में आह्लाद पैदा करते ही थे ।।१४।। हे मुग्धे, उसके पश्चात् मैं तुम्हारे संगम से अतितृप्त होने के कारण थकने से शिथिल होकर वहाँ पर कोमल शय्या पर लेट गया, जो शरत् ऋतु में शीतल किरणों से युक्त चन्द्रबिम्ब जैसी स्वच्छ थी ।।१५।। इस बीच में एकाएक मैंने जैसे चन्दनपंक के सदृश शीतल विशाल चन्द्रबिम्ब से मेघनिर्घोष के साथ वज्र निकले वैसे ही अत्यन्त असंभावनीय अपनी शय्या से निकली अपनी देह से स्पृष्ट शब्दयुक्त चिता के नीचे जली हुई अग्नि को क्षीरसागर के बड़वानल के समान देखा ।।१६।। सहचरों ने कहा : राजन्, उक्त प्रिय के ऐसा कहने पर कहा 'मैं मरी' कहती हुई वह मुग्धा नायिका मुग्धतावश महान् प्रलय की आशंका से मूर्च्छित हो गयी ।।१७।। मूर्च्छित अपनी प्रिया को यह बेचारा पति नलिनी के पत्तों के पंखे से तथा जल से कैसे प्रकृतिस्थ करता हुआ मूर्च्छित प्रिया को गले लगाकर यहाँ मन्दराचल के निकुंज में बैठा है ।।१८।। फिर प्रिया के पूछने पर देखो यह उसी कथा को पास में बैठी हुई अपनी प्रिया से उसकी ठुड्डी पकड़कर कहता है ।।१९।। हे प्रिये, मुझे जब आग की लपटों से कुछ पीड़ा हुई तो ज्योंही मैंने घबराहट के साथ 'अरे अरे आग' कहा त्योंही झटपट आनन्द में मग्न हो रहे पथिकों ने खड़खड़ (चटचट) शब्द से व्याप्त वह चिता सब लाठियों को हटाकर क्षणभर में शान्त कर दी ।।२०।। तदुपरान्त मरे हुए के पुनः जी जाने से उत्पन्न हुए हर्षवश पथिक लोग चंचल तालियों के विलासरूपी बाजे के साथ मुझे चिता से उठाकर बहुत सी मांगलिक वृक्ष मंजरियों से मेरे शरीर को विभूषित कर, मुझे गले लगाकर, सब मेरे चारों ओर खड़े हो गये । मेरे पुनरुज्जीवन के हर्ष से सबने अट्टहास किया, गाया, सब खिलखिलाये और नाचे एवं घर को आये ।।२१।। इसके पश्चात् मैंने संहारकारी रुद्र के शरीर के समान भीषण श्मशान देखा, वह अति विकट नायकहीन पिशाच आदि के लिये सुखकारी था, राख, माँस और मुर्दों की खोपड़ियों के ढेरों से व्याप्त था तथा चन्द्रमा के सदृश सफेद हड्डियाँ और कपाल उसमें बिखरे थे । संहाररुद्र का शरीर भी विकट विनायक आदि गणों को सुखदायक है, विभूति, सर्पहार और शवकपालों से व्याप्त है और चन्द्रकिरणों से शुभ्र मुण्डमालाएँ भी उसमें हैं ।।२२।। भगवान शंकर के आभूषण योग्य हड्डियों के टंकार से कठोर शब्द करनेवाले वायु वहाँ पर बहते थे, वे समीपवर्ती वन की हरियाली को राख उड़ाकर हर रहे थे, गल रहे सड़े–पड़े नर कंकालों की दुर्गन्ध को फैला रहे थे, प्रचुर भस्मराशि से गाढ़ तरकस में चन्द्रमा से गिरे हुए बाणों का–सा उनका आकार था ।।२३।। वह श्मशान भूमि, जिसके वृक्षों के पत्ते धधकती हुई अग्निवाली चिताओं के प्रवाहरूप से निकल रहे धुएँ और चिनगारियों से पूर्ण मुरझाकर सूख गये थे, अग्नि, वायु और शनैश्चर की क्रीड़ा के योग्य घर के तुल्य लक्षण धारण करती है ।।२४।। मैंने वैसा श्मशान देखा, जो असंख्य भीषण आधे

जले नरकंकालों से अत्यन्त दुर्गन्धिपूर्ण था और मतवाले सियारों, कौओं, चीतों, गीधों, पिशाच और वेतालों की चिल्लपों से भयंकर था ॥२५॥ वहाँ पर जलाने के लिये लाये गये नाना मुर्दों के बन्धु-बान्धवों के रोने-धोने से उसके दिगन्त और झाड़ियाँ गूँजती थी, उसमें कौए, चील आदि से खींची गयी गीली अँतड़ियों से अधजले पेड़ और लताएँ बँधी थीं ॥२६॥ कहीं पर चिताओं के संचालन से महान् प्रकाश हो जाता था, कहीं पर बहुत बड़ी केशराशि द्वारा वहाँ बादल के समूह से बनाये गये थे, कहीं पर पृथिवी तल रुधिरधारा से लथपथ था, अतएव रात्रि के समय शैलशून्य वह गरज रहे मेघ-सा शब्द करता था ॥२७॥एक सौ उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बीसवाँ सर्ग

वायु, वृक्ष, भ्रमर, वनराजि, देवांगना, समुद्र की लहर, सुवर्णचुड़ पक्षी आदि का वर्णन।

सहचरों ने कहा : हे कमलनेत्र इस तरह का वियोग कालिककथाएँ कह रहा यह स्त्री-पुरुष का जोड़ा इस समय उत्तम आसवपान करने के लिये प्रवृत्त है, इसे आप देखिये ॥१॥

कोई सहचर विविध वायुओं का वर्णन करता है ।

केले के गोफों के सुन्दर गुच्छों को फुलाने में पण्डित तथा फूलों के परागों से विभूषित ये अनेक प्रकार के वायु बहते हैं॥२॥ वनों से निकली हुई भाँति-भाँति की सुगन्धियों से हृष्टपुष्ट, स्वेदबिन्दुओं का पान करनेवाले तथा ललनाओं के इधर उधर बिखरे हुए कुन्तलों को (मुँह की ओर लटके केशों को) नचानेवाले वायु बहते हैं ॥३॥ कुछ पर्वतों के गुफारूपी गृहों में पैठकर घुमने में उद्योगी सिंहों की तरह क्षार समुद्र के वायु, राक्षसों के-से सुमेरु शिखराक्रमण के उद्योगों से बहते हैं ॥४॥ तमाल और ताड़ के पेड़ों में चंचल बच्चों की तरह क्रीड़ा के झूलनों से झुलाये गये, जलतरंगों से उछलकर वृक्षाग्रों के कोमल पल्लवों पर आक्रमण करनेवाले तथा नाच रही नवीन लताओं से निकली हुई पुष्पधूलियों से धूसर वायु उद्यानों में राजाओं की तरह मन्दगति से चलते हैं ॥५,६॥ बाँसों के वन में विश्राम लेता हुआ यह वनवायु हस्तिनापुर की नारियों से सिखलाया गया हुआ-सा मीठा गाना गाने के लिए तैयार हुआ है ॥७॥ जब से कर्णिकार ने सुगन्धि, पराग आदि न देकर वायु का तिरस्कार किया तभी से भ्रमर भी इसका (कर्णिकारका) दूर से त्याग करते हैं, इसके समीप नहीं जाते हैं ॥८॥ ताड का पेड़ खम्भे की तरह सीधा होता है, अतः उसपर कोई चढ़ नहीं सकता । इसीलिए वह किसी अर्थी को न फल देता है और न पल्लव ही देता है। इनकी अति उन्नत भी आकृति अर्थियों की अभिलाषा की पूर्ति के बिना शोभा नहीं देती ॥९॥ उदारता आदि गुणों से रहित मूर्खों की वस्त्र, अलंकार आदि के आडम्बर से शरीर की सजावट ही शोभा के लिए होती है, अन्य कुछ नहीं। राजन्, यह फूला हुआ पलाश का पेड़ फूलों की सजावट से ही राजा के तुल्य मालूम पड़ता है ॥१०॥ आओ, यह सुगन्धिरहित कर्णिकार विषादरूप चित्तविकार का ही पात्र है, व्यर्थ ही हमने इसका आश्रय लिया है। निर्गुण जीव

के तुल्य इसके अनुसरण से क्या लाभ है ? ॥११॥ चंचल मंजरीराशिरूपी बिजली के संग से युक्त तथा काला तमालवृक्ष चातक को व्यर्थ ही मेघ की भ्रान्ति कराता है ॥१२॥ ये ऊँचे बाँस उन्नत कुल के समान हैं। उन्नत कुल के लोग पर्णों से (वाहनों से –रथ, हाथी, घोड़े, आदि से) विभूषित होते हैं तो ये पर्णों से (पत्तों से) विभूषित हैं। उन्नत कुलों का संघ दुर्भेद्य होता है तो उनका भी संघ दुर्भेद्य है, उन्नत कुल के जन सज्जनों के उपकार के लिए राजाओं का आश्रय स्वीकार करते हैं, तो इन्होंने उत्तम छायाओं से पर्वतों को आच्छादित कर रक्खा है । उन्नत कुल के जन सन्मान आदि महान् गुणों के योग्य होते हैं, तो ये (बाँस) धनुषअवस्था में प्रत्यंचारूप गुणों के योग्य हैं। यों इन बाँसों की उन्नत कुलों के साथ पूर्णरूपेण समता है ॥१३॥ जैसे सुवर्णमय शिखररूप आसन पर बैठनेवाला अतएव अग्नि में स्थित होनेवाला वायुरूप व्याधि से युक्त ओर–छोरवाला यह मेघ बिजली से पीले आकाश को क्षुब्ध करता है वैसे ही सुवर्णमय शिखरों के तुल्य आसन पर बैठनेवाले, सर्वश्रेष्ठ, वात व्याधि से (उद्धव से) युक्त सन्निधिवाले उत्कृष्ट ऐश्वर्यसम्पन्न हरि चमचमा रहे बिजली के सदृश पीताम्बर को धारण करते हैं यों हरि और मेघ की समानता है ॥१४॥ प्रवेश और निर्गम में उतावलीवाले पक्षी और भ्रमररूपी बाण जिसमें संचार कर रहे हैं ऐसा यह फूला हुआ पलाश का वृक्ष रुधिर से लथपथ वीर के तुल्य मालुम पड़ता है ॥१५॥ महेन्द्रपर्वत के शिखर पर मन्दारमंजरियों की राशियों की राशियों से पीले मेघरूपी मन्दिर में ये कामी गन्धर्व मद्यपान से मत्त होकर सोये हैं ॥१६॥ हे राजन् देखिये, कल्पवृक्षों के वन की शीतल छाया में विश्राम कर रहे, उत्तम वीणा आदि बाजों से युक्त ये सिद्ध और विद्याधर गाते हैं ॥१७॥ महाराज देखिये, इस कल्पद्रुम के वन में पल्लव पर बैठी हुई (विश्राम कर रहीं) देवांगनाएँ गाती हैं और हँसती हैं ॥१८॥ सुन्दर–सुन्दर मन्दिरों से भरे हुए मन्दराचल पर मन्दपाल मुनिका यह मन्दिर है, जिस उदार मन्दपाल की वह प्रसिद्ध जरिता नाम की गृधी भार्या है ॥१९॥ राजन्, ये मुनिजनों के आश्रम, जिन पर जाति वैर का परित्याग कर आपस में गाढ़ा स्नेह रखनेवाले सिंह–हाथी, नेवला–साँप आदि प्रेम–क्रीड़ा करते हैं तथा ये सब ऋतुओं में फूल देनेवाले वृक्षों से पूर्ण हैं, देखिये ॥२०॥ मूँगों के वृक्षों से उलझी हुई सागरतट की लताओं के पल्लवों पर जलबिन्दु, जिन पर सुर्य का प्रतिबिम्ब है, शोभित होते हैं ॥२१॥ रत्न और मणियों की खानों में लहरें बार–बार परिवर्तनों द्वारा वैसे ही क्रीड़ा करती हैं जैसे कि हाव–भाववाली युवतियाँ अपने विलासी पतियों के वक्षस्थलों पर बार–बार परिवर्तनों से क्रीड़ा करती है ॥२२॥ राजन् सुनिये, नागलोक और इन्द्रलोक की स्त्रियों के गमनागमन से होनेवाला मनोहर आभूषण–झंकार आकाश से सुनाई देता है ॥२३॥ ऐरावत के गण्डस्थल से गिरे हुए मदजल से मस्त हुई भ्रमरियों की गुंजारध्वनियों से ऐरावत के स्नान स्थानरूप पर्वत की गुफाएँ मानों गाती हैं ॥२४॥ कृष्णपक्ष में दिनपर दिन घट रहे अतएव कृशकाय सागर की कृष्णान्तरेखारूप पंक्तियाँ निवास स्थानरूप वेलातट पर दिखाई देती हैं ॥२५॥

कोई सहचर दो श्लोकों से वनों का ही विलासिनी के (स्त्री के) रूप से वर्णन करता है।

वनरूपी विलासिनी धन्य है। वन की मनोहर गन्ध ही इसका सुगन्धित निश्वास है। सुन्दर घनी छाया ही शीतल अंग है, यह (वनभूमि) एकान्त में भगवदाकार को दिखलानेवाली है (और नायिका एकान्त में अपने रूप को दिखलानेवाली है)। भाँति-भाँति के आभूषणरूप पुष्पों से भरी है, वृक्षों का निबिड़ विन्यास ही इसके वस्त्र है । निर्झर (झरना) ही निर्मल हास है एवं इसने फूलों की सेज बिछाई है। (वनभूमि और विलासिनी दोनों में सब विशेषण लगाने चाहिये) ॥२६,२७॥ उदारमति देववृन्द आदि नन्दनवन में वैसा आनन्द नहीं लेते जैसा कि सूनसान (शब्दशून्य) शुद्ध वनभूमियों में आनन्द लूटते हैं ॥२८॥ अत्यन्त विरक्त मुनि के चित्त को और अनुरक्त विषयी पुरुष के चित्त को मनोहर निर्जन वनभूमियाँ एक-सा आनन्द देती हैं ॥२९॥ सागर के तटवर्ती पर्वतों के, जिनके तट जलतरंगों से धोये साफ सुथरे हैं, पाद (तलैटियाँ) समुद्रीय रत्नराशियों से नूपुरों के समान शोभित होते हैं और शब्द करते हैं ॥३०॥ पुंनाग के वृक्षों पर विश्राम कर रहे सुन्दर सुवर्णकी-सी कान्तिवाले हेमचूड़ नाम के पक्षी (एक प्रकार का पीला पक्षी) स्वर्ग में देवताओं के समान शोभा पाते हैं ॥३१॥ भ्रमर और मेघरूपी धुएँ से पूर्ण फूले हुए चम्पकों के वन जब वायु से हिलते हैं तब जल रहे पर्वत से मालूम पड़ते हैं, देखिये ॥३२॥ उत्कण्ठित कोयल (मादा) कनेर के पेड़ की ऊपर की शाखारूपी झूले में झूल रहे अपने प्रिय कोयल का आलिंगन कर मधुर गाना गा रही है ॥३३॥ हे राजन्, कलकलध्वनिपूर्वक उपायन (भेंट) हाथ में लिये हुए राजाओं से पूर्ण क्षीरसमुद्र की इन तटभूमियों को देखिये ॥३४॥ पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर क्षारसागर तक इस जम्बू द्वीप में भीषण युद्ध में बचे हुए नरपतियों को अपने चरणों के आसन बनाइये अर्थात् उनके मस्तक पर पदार्पण द्वारा उनपर अनुग्रह कीजिये । और तत्-त्त मण्डलों की पृथिवी का प्रत्येक दिशा में चिरकाल तक रक्षा के लिए शास्त्रानुसार (नीतिशास्त्र में वर्णित प्रकार से) समाधानपूर्वक शान्त बुद्धि से शासन दिजिये, उसके पश्चात् अस्त्र-शस्त्र दिजिये और उसके पश्चात् विशाल सेना दीजिये ॥३५॥

एक सौ बीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ इक्कीसवाँ सर्ग

मण्डलमर्यादा की स्थापना कर अग्नि की शरण में गये हुए विपश्चितों का अग्नि के वरदान से दिगन्तों के दर्शन का उद्योग।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुनायक, इसके बाद उन समुद्रतटों पर भूमिपर बैठ कर चारों विपश्चितों ने पहले मन्त्रियों द्वारा निवेदित मण्डलमर्यादास्थापनरूप सारा राज्य प्रबन्ध किया ॥१॥ उस समय पद के क्रम के अनुसार निवासभूमि बनाकर उन्होंने वहीं पर निवास किया और मजबूत मण्डलमर्यादा की स्थापना की ॥२॥ इसके बाद श्रीमान् सूर्य मानों उनके (विपश्चितों के) प्रताप का वर्णन करने के लिए समुद्र के अन्दर प्रवेश कर अन्य लोक को (ज्योतिषियों के मत से पाताल लोक को और पौराणिकों के मत से मेरुपर्वत के उत्तर भाग में स्थित दूसरे वर्ष को) चला गया ॥३॥ मेघपंक्ति के समान काली

रात्रि विस्तार को प्राप्त हुई और वे विपश्चित सारे दैनिक कृत्य पूर्ण करके सोने के लिए शय्याओं पर आरूढ़ हुए ॥४॥ दूर से नदियों के प्रवाह के समान समुद्र तक पहुँचे हुए अतएव आश्चर्य में डूबे हुए उन्होंने नीचे कही जानेवाली बातों पर विचार किया ॥५॥ ओहो ! हम लोग देवाधिदेव अग्नि के प्रताप से बिना किसी क्लेश–आयास के बहुत दूर मार्ग में आ पहुँचे हैं ॥६॥ यह चारों ओर फैली हुई दृश्य शोभा कितनी विस्तृत होगी । यहाँ से जम्बूद्वीप के बाद क्षार समुद्र है, क्षार के बाद फिर प्लक्षद्वीप–भूमि है, उसके बाद फिर महान् (क्षार समुद्र से दुगुना बड़ा) इक्षुरस का समुद्र है, इक्षु–समुद्र के बाद कुशद्वीप है, कुशद्वीप के बाद सुरा का सागर है । इस तरह क्रम से सात समुद्र और सात द्वीपों के बाद अन्त में क्या होगा ? फिर उसके बाद क्या होगा ? यह दृश्यरूपिणी माया कितनी बड़ी और कैसी विचित्र वस्तुओंवाली होगी ? ॥७,८॥ यह सब देखने के लिए हम श्रीअग्निदेव की प्रार्थना करें, उनके वरदान से इन सब दिशाओं को बिना परिश्रम के अन्त तक देखें । चार सागरों के तटों पर बैठे हुए उन सबने यह विचार कर एक ही साथ भगवान् का आह्वान किया ॥९,१०॥ इसके अनन्तर भगवान् अग्नि उनके सन्मुख आकार धारण कर दृश्यमान हुए और उन्होंने उनसे कहा : 'हे पुत्रो, वर माँगो' ॥११॥ विपश्चितों ने कहा : हे देवाधिदेव, पंचभूतरूप इस दृश्य का अन्त–जहाँ तक इस शरीर से जाना संभव हो इस शरीर से, इस शरीर से अगम्य स्थान में वैदिक मन्त्रों के प्रभाव से संस्कृत इसी शरीर से, उससे अगम्य स्थान में मन से प्रत्यक्ष के योग्य सब पदार्थ, अनुमानगम्य सबपदार्थ तथा श्रुति आदि गम्य सकल पदार्थ (या सम्पूर्ण स्थूल प्रपंच, सकल सूक्ष्म प्रपंच और सकल कारण प्रपंच) । जैसे हम देखें, हे नाथ, वैसा उत्तम वरदान हमें दीजिये ॥१२,१३॥ हे प्रभो, योगप्रभाव से गम्य मार्गतक के दृश्य को हम इस देह से देखें इसके पश्चात् योगियों द्वारा योगप्रभाव से अगम्य दृश्य को मन से ही देखें ॥१४॥ योगियों के योगप्रभाव से गम्य मार्ग में चल रहे हम लोगों की मृत्यु न हो, जिस मार्ग में देह का संभव नहीं यानी दक्षिणायन तथा उत्तरायण मार्गरूप मर कर ही जाये, जा सकने योग्य पथ में हमारा मन ही गमन करे ॥१५॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, वर माँगने के पश्चात् बड़वानलरूप से समुद्र में प्रवेश करने के लिए त्वरा कर रहे अग्निदेव 'ऐसा ही हो' कहकर क्षणभर में सहसा चले गये ॥१६॥ इस तरह वर देकर अग्निदेव चले गये, तदनन्तर रात्रि आई वह भी कुछ देर ठहरकर चली गई, तदुपरान्त सूर्य भगवान् आये और उनकी विशाल सागर को लाँघने की इच्छा भी आई ॥१७॥

एक सौ इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बाईसवाँ सर्ग

सागर के तरंगों में पैरों से चल रहे विपश्चित् तरंगरूपी मगरों को चीरकर समुद्र पार गये, यह वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, तदुपरान्त प्रातःकाल मन्त्रियों के न चाहने पर भी जबरदस्ती नीतिशास्त्र के अनुसार पृथिवी के राज्यविभाग, राज्य–परिपालन के उपायों का उपदेश, मर्यादास्थापन

आदि की भलीभाँति व्यवस्था कर दिगन्त के दर्शन की उत्कट उत्कण्ठा से ग्रह, भूत आदि के आवेश से युक्त तथा साक्षात् निषेध न कर सक रहे श्रेष्ठ मन्त्रियों द्वारा इशारे से रोके जा रहे वे चारों विपश्चित् रो रहे अतएव अश्रुपूर्ण मुखों से युक्त सब परिजनों को निवृत्तकर, स्नेहशून्य होने के कारण अभिमान, डाह, लाभ, शत्रुओं के पराभव की इच्छा, राज्य, स्त्री, पुत्र आदि की इच्छा का त्यागकर हम लोग समुद्रपार में दिगन्त को देखकर शीघ्र ही आते हैं यों परिजनों की तसल्ली के लिए कहते हुए गये। अग्निदेव की प्रसन्नता से प्राप्त मन्त्र की सामर्थ्य से ही भूमि, जल आदि भूतों पर विजय पाने से उत्तमता को (सिद्धता को) प्राप्त हुए उन्होंने उस समय पैरों से ही समुद्र में प्रवेश किया ॥१-३॥ वे चारों विपश्चित् स्नेह की अधिकता से प्रत्येक दिशा में समुद्र में प्रवेश कर रहे बहुत से प्रजाजनों (पालनीय लोगों) तथा सेवकों से अनुगम्यमान होते हुए स्थल के समान जल में भी पैरों से ही गये ॥४॥ भूमितल के समान जल के अन्दर तरंगराशियों में भी पैर रखकर अकेले ही उद्यत हुए वे चारों विपश्चित अपनी सेना से अत्यन्त वियुक्त हो गये ॥५॥ चरणों के विन्यास से ही महासागर के अन्दर प्रविष्ट हुए उन्हें तट पर खड़े हुए लोगों ने तब तक देखा जब तक कि वे शरत्काल के आकाश में प्रविष्ट हुए मेघखण्ड के समान अदृश्यता को प्राप्त हुए ॥६॥ दृढ़निश्चय से पादगामी उन सभी ने उस समुद्र मार्ग को ऐसे पार किया जैसे हाथीवान से प्रेरित हाथी ॥७॥ पर्वत के सदृश उतार और चढ़ाव से ऊँची और जलतरंगों की शोभा को स्वयं भी उसका ग्रहण करने से, हर रहे अतएव भगवान् श्रीहरि की मूर्ति के तुल्य (📖) मूर्तिवाले उन्होंने मस्त मेघ-घटा में प्रविष्ट हुए चन्द्रमा के समान अपने प्रवेश से शोभायुक्त हुए आवर्तों में (जलभँवरों में) किसी प्रकार के भय-विस्मय के बिना चिरकाल तक तृणों के समान भ्रमण किया ॥८,९॥ वे मन्त्र, विद्या, बल और तेजस्विता से दुर्जय थे तथा हाथ में शस्त्र लिए हुए थे, अतएव कहीं पर मस्त मगरों ने पहले उनके शरीरों को निगला फिर पचाने की शक्ति न होने से उगल दिया ॥१०॥ जलतरंगों में विश्राम ले रहे वायुओं से गेंद की तरह उछाले गये शरीरवाले वे एक ही क्षण में सौ-सौ योजन पहले पहुँचाये गये फिर वापस लाये गये ॥११॥ जलतरंगरूपी हाथियों द्वारा की गई अपूर्व चमत्कार कारिणी तुंगदेहता (उन्नतशरीरता) से वे अपने राज्य में हाथियों की पीठ की सवारी की शोभा धारण कर रहे थे ॥१२॥ बड़ी विस्तृत तरंगराशिरूपी घटाओं को तोड़ने और उलटने में पटुताओं से, वायुओं से उद्दीपित बिजलियों की तरह जलरूपी मेघ से (निकलना) दिखला दिया ॥१३॥ यद्यपि वे तैर रहे चंचल गजों की तरह तरंगराशियों से विघटित (धक्का-मुक्की से पीड़ित) हुए थे तथापि उन्होंने तीरभूमि के प्रसिद्ध सुन्दर पथरीले तटों के समान अपना धैर्य नहीं खोया ॥१४॥ बड़ी-बड़ी लहरों में मोतियों और मणियों की राशियों में प्रतिबिम्बित हुए वे एकाकी होने पर भी चारों ओर पुरुषों के समूह से परिवृत जैसे मालुम होते थे ॥१५॥ शीघ्रता से सफेद फेन

(📖) हरिमूर्ति ने भी मन्दराचल से मन्थन काल में जलतरंगों के आरोह और अवरोह से उन्नत-अवनत लक्ष्मी को हरा ऐसी प्रसिद्धि है।

के पिण्डों पर पैर रख रहे उन्होंने सफेद कमलों पर चढ़े हुए राजहंसों की शोभा धारण की ॥१६॥ मेघ के गर्जन की ध्वनि के सदृश भयंकर सागर के घुम–घुम शब्द से, जो कि तटभूमि में टकराने से और तेज हुआ था, वे राजा होने के कारण (卐) बिलकुल नहीं डरे ॥१७॥ आकाश को छूनेवाले जलमय पर्वतराजों के उछलने और गिरने से धक्कामुक्की में पड़े हुए वे क्षणभर में पाताल पहुँचते थे और क्षणभर में सूर्यमण्डल में पहुँच जाते थे ॥१८॥ अचानक ऊपर गिरे हुए जलप्रवाहरूपी वस्त्र से ढके हुए वे उत्पातों की प्राप्ति होने पर गिर रहे मेघरूपी चँदवे से ढके हुए से मालूम पड़ते थे ॥१९॥ विशाल मेघों से प्रकट और अप्रकट किरणराशिवाली घूम रही मणियों और मोतियों की राशियों से तथा बीच में जलमय वृक्षलतातुल्य तरंगों के जलकणों से फूलों की तरह अपने शरीर को विभूषित कर रहे, बड़े–बड़े बली मगर और केकड़ों से व्याप्त तरंगों में चारों ओर से घिरे हुए तथा मगर ही हैं सहचर (मित्र) जिनके ऐसे वे विपश्चित् समुद्र में पैरों से चले ॥२०॥

एक सौ बाईसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तेईसवाँ सर्ग

द्वीप और समुद्र में गये हुए विपश्चितों की पश्चिम की ओर गये हुए क्रम से विविध दशाओं का वर्णन।

इस रीति से समुद्र और द्वीपों में जानेवाले वे चार विपश्चित् पैदल दृश्यरूप अविद्या के अन्त के विचार में प्रवृत्त हुए ॥१॥ शरीर के छेद–भेद से रहित विपश्चितों ने समुद्र से द्वीप को, द्वीप से समुद्र को इस प्रकार द्वीप, पर्वत और वन को शीघ्रता से लाँघा ॥२॥ उन चार विपश्चितों में से पश्चिम दिगन्त को देखने के लिए प्रवृत्त विपश्चित् को अपने को अमर समझने वाली विष्णुमीन कुल में उत्पन्न मछली निगल गई, जिसका वेग अत्यन्त शीघ्र बहनेवाली व्यास नदी की नौका के सदृश अत्यन्त तीखा था ॥३॥ उसे पचाना सरल न था, अतएव उस मछली ने क्षीरसागर में पहुँचर उसे उगल दिया। तदनन्तर क्षीरसागर को लाँघकर वह दूर दिगन्तर को गया ॥४॥ दक्षिण दिगन्त को देखने के लिये प्रवृत्त विपश्चित् को इक्षुरस सागर में स्थित दक्ष नगर में वशीकरणविद्या की शिक्षा में निपुण यक्षिणी ने देखकर अपने विद्याबल से अपनी ओर आकृष्ट कर अपना प्रेमी बना लिया ॥५॥ पूर्व दिगन्त को देखने के लिए प्रवृत्त विपश्चित् ने गंगा के हजार मुहानों को एक–एक करके देखते हुए जब कहीं पर मगर को, जो उसे निगलना चाहता था, खींचकर उसके उद्धार के लिए उसे गंगा में ले जाकर चीर डाला, तब गंगाजी ने उसे पीछे वापस लाकर कान्यकुब्ज नगर (कन्नौज) में छोड़ दिया ॥६॥ उत्तर दिगन्त को देखने के लिए प्रवृत्त विपश्चित् ने उत्तर कुरुदेश में श्रीदेवीजी के साथ लीला कर रहे भगवान् की आराधना कर अणिमा, महिमा आदि ऐश्वर्य प्राप्त किया। अतएव उक्त विपश्चित् को ऐश्वर्य के प्रताप से दिगन्त

(卐) भूभृत् शब्द श्लिष्ट है इसके राजा और पर्वत दो अर्थ हैं, पर्वत समुद्र की तरंगों से भयभीत नहीं होता भूभृत् होने से वे भी नहीं हुए।

में व्याप्त मरणप्रयुक्तभय दुःख नहीं देते अर्थात् वह अमर हो गया ॥७॥ उक्त अणिमा आदि ऐश्वर्य के प्रताप से ही मगर और जलगजों द्वारा पहले निगली फिर उगली गई मूर्तिवाला वह अनेकानेक द्वीप–द्वीपान्तर के कुलशैलों को लाँघ गया ॥८॥

फिर पश्चिम दिगन्त की ओर प्रवृत्त विपश्चित् के वृत्तान्त का वर्णन करते हैं।

पश्चिम की ओर चले विपश्चित् को, जिसकी अंगशोभा कुशकी–सी थी, पक्षिराज गरूड़ ने अपनी पीठ पर बैठाकर वेग से कुशद्वीप और अनेक सागरों को पार कर दिया ॥९॥

फिर पूर्व विपश्चित् का समाचार कहते हैं।

क्रौंचद्वीप पर्वत पर वन में राक्षस पूर्व विपश्चित् को निगल गया। तदनन्तर उस राक्षस को विपश्चित् ने आँतड़ियों के छेदने द्वारा चीर डाला ॥१०॥

फिर दक्षिण विपश्चित् का वृत्तान्त कहते हैं।

शाकद्वीप में दक्षिण की ओर चला हुआ विपश्चित् दक्ष के शाप से एक क्षण में यक्ष बन गया एक वर्ष तक यक्ष बने रहने के बाद उसकी मुक्ति हुई ॥११॥

फिर उत्तर की ओर चले विपश्चित् का वृत्त कहते हैं।

उत्तर विपश्चित् वेग से बड़े–बड़े और छोटे–मोटे नदी–नाले तथा समुद्र पार कर स्वादिष्ट जलवाले महासागर के आगे प्रसिद्ध सुवर्णभूमि में सिद्ध के शापसे शिला बन गया ॥१२॥ तदुपरान्त एक सौ वर्ष बाद अग्निदेव के अनुग्रह से वहाँ उसी सिद्ध ने उसे शाप से मुक्त कर दिया और वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ ॥१३॥

फिर पूर्व विपश्चित् का वृत्तान्त कहते हैं।

परम धर्मात्मा पूर्व विपश्चित् कान्यकुब्ज देश से उत्तर की ओर गया । वहाँ आठ वर्ष तक प्रधानरूप से नारियलों की उत्पत्तिवाले देश में रहनेवाले लोगों का राजा बन गया। तदुपरान्त उसे पूर्व जन्म का स्मरण हो गया ॥१४॥ नारियल के फलों पर निर्वाह करनेवाला वह मेरुपर्वत के उत्तर तरफ स्थित कल्पवृक्ष वन में दश वर्ष तक अप्सरा के साथ रहा ॥१५॥ पश्चिम विपश्चित् पक्षियों की वशीकरण विद्या में पारंगत था, अतएव पहले उसे गरुड़ ने पीठ पर बैठाकर समुद्र पार किया था। वह शाल्मली द्वीप के शाल्मली पेड़ पर पक्षी के घोंसले में उसके साथ क्रीडावश दस वर्ष तक रहा ॥१६॥ कोमल लताओं से भरे हुए मन्दराचल पर, मन्दार वृक्षों के निकुंजरूप गृहों में मन्दरी नाम की किन्नरी ने उस पश्चिम विपश्चित् का एक दिन तक सेवन किया ॥१७॥ इसके उपरान्त पूर्व विपश्चित् नारियल के वन से क्षीरसागर के तट पर गया । वहाँ की कल्पवृक्ष के वनों की पंक्तियों में नन्दनवन की देवियों–अप्सराओं के साथ कामाकुल इसने सत्तर वर्ष बिताये ॥१८॥

एक सौ तेईसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चौबीसवाँ सर्ग

एक जीव का देहभेदों से विभिन्न व्यवहार का समर्थनपूर्वक
द्वीपों में विभिन्न शैलों में विपश्चितों के विहार का वर्णन।

चारों विपश्चितों की एक ही देह थी और एक ही जीव था। ऐसी अवस्था में उनमें भिन्न-भिन्न इच्छाएँ कैसे हुई ? श्रीरामचन्द्रजी ऐसी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : गुरुवर एक साक्षिचैतन्यमय तथा एक ही शरीर के चार विभाग होने से एक शरीरवाले वे सब विपश्चित, जिनका एक ही जीव था, जीवभेद के बिना एक ही समय विविध इच्छावाले कैसे हो गये ? ॥१॥

एक जीव की भी अविद्यावश स्वप्न में नाना शरीर कल्पना देखी जाती है और उनमें शत्रुता, मित्रता और उदासीनता की कल्पना होने पर विभिन्न इच्छाएँ दिखाई देती हैं तथा सर्ग के आदि में ब्रह्मरूप जीव में जाग्रत अवस्था में भी नाना शरीर कल्पनारूप कर्म ही है, अतः सब कुछ सम्भव है इस आशय से श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, जैसे स्वप्नावस्था में चित्त अपने में ही गिरि, समुद्र, नदी आदि के रूप से नाना-सा होता है वैसे ही केवल साक्षिचैतन्य घनाकाश सर्वव्यापी अनाना (अखण्ड) ब्रह्म ही मायावश नाना-सा (भिन्न-सा) बन गया है। जैसे अतिस्वच्छ दर्पण के उदराकाश में गिरि, नदी आदि के साथ महाकाश प्रतिबिम्बित होता है वैसे ही संवित्मय आकाश के (साक्षिचैतन्य के) दर्पण के समान अतिस्वच्छ होने के कारण, नानात्मता को जैसा प्राप्त हुआ आत्मा स्वयं ही अपने में प्रतिबिम्बित होता है। उस प्रकार अतिस्वच्छ संवित्मयआकाश के जगदाकार होने में दर्पण की-सी अतिनिर्मल स्वच्छता ही कारण है ॥२,३॥

जगत् भी वस्तुतः चित् ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है। ऐसी स्थिति में चित् का ही चित् में प्रतिबिम्ब कैसे पड़ेगा ऐसी यदि कोई शंका करे तो उस पर दृष्टान्त सुनो, ऐसा कहते हैं।

जैसे एकमात्र लोहे के बने हुए दर्पणों का आपस में एक दूसरे पर प्रतिबिम्बि पड़ता है वैसे ही परमार्थतः चिद्रूप भी ये पदार्थ आपस में प्रतिबिम्बित होते हैं। मायारूप उपाधि की शक्ति अचिन्तनीय (विचारसीमा के परे) है, अतः गन्धर्वनगर, स्फटिक की दीवाररूप आकाश में चन्द्रमा, सूर्य और मेघ सहित महाकाश का भी प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, यह भाव है ॥४॥

अतएव अध्यस्त भोग्य जगदाकार ब्रह्म विषय और इन्द्रियों का संयोग होने पर बुद्धि अवच्छिन्न जीव के प्रति अप्रिय विषय भोग के आकार से प्रतिबिम्बित होता है, ऐसा कहते हैं।

इसलिए जब जिसकी जो-जो भोग्य वस्तु, एकमात्र चिद्घनस्वभाव होने से, इन्द्रियसन्निकर्ष को प्राप्त होती है-बुद्धि में प्रतिबिम्बित होती है- उस वस्तु से वह उसके भोग के लिए समर्थ होता है। यदि भोग्यवस्तु बुद्धि में प्रतिबिम्बित न हो तो भान ही न हो, यह भाव है ॥५॥

एक ही वस्तु नाना और अनाना दोनों हो यह विरुद्ध है, माया द्वारा भी वह नाना और अनाना कैसे होगी ? इस पर युक्ति कहनी चाहिये, ऐसा कोई कहे, तो उस पर कहते हैं।

यदि नानात्वमात्र का निषेध किया जाय तो यह अनाना (नियत एकरूप) ही है। यदि नानारूप का निषेध न किया जाय तो नाना भी है और अनाना भी है। वास्तव में तो न नाना है और अनानात्व धर्म का भी निषेध होने के कारण न अनाना ही है। तथा अनानात्व धर्म का निषेध होने से नाना भी हो सकता है। यही नाना और अनाना के अविरोध में युक्ति है ॥६॥

इसी कारण विपश्चितों के नाना दिशाओं में भोगयोग्य पदार्थों के एक ही समय भोग देनेवाले कर्म का परिपाक होने पर एक ही देह चार प्रकार की हो गई तथा तत्-तत् देश के विषयों का तत्-तत् बुद्धि में प्रतिबिम्ब भी पड़ गया, इस आशय से कहते हैं।

इस कारण जिस विपश्चित् के सामने जो वस्तु आई उससे वह संवित्मयता को प्राप्त होकर उसके वश में हो गया ॥७॥

जब अगस्त्य आदि योगियों का भी, जो मलय आदि नियत प्रदेश में नित्य रहते हैं, नाना देशों में अतीत, अनागत आदि कालों में योगबल से संन्निधान द्वारा सब वस्तुओं का अनुभव करना प्रसिद्ध है तब भिन्न देशों के प्रति चले हुए विपश्चितों का वह हुआ इसमें क्या आश्चर्य है ? इस आशय से कहते हैं।

एक देश में स्थित योगी तीनों कालों में सर्वत्र होकर एक ही समय में सब काम करते हैं, सबका अनुभव भी करते हैं ॥८॥

विभिन्न-विभिन्न प्रदेशों में एक ही समय में एक की भिन्न क्रियाकारिता में तत्-तत् देशों में व्याप्ति ही उपयोगी है, जीवभेद का कोई उपयोग नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे धूप से पीड़ित लोगों को सुख पहुँचानेवाला मेघ भी महान् होने के कारण ही नाना नगर, पर्वत, नदी, खेत आदि में व्याप्त होकर एक ही काल में महलों को धोना, तटों को तोड़ना, नदी का जल बढ़ाना, धानों को पुष्ट करना आदि विभिन्न व्यापार तत्-तत् भाग से करता है। तद्अभिमानी जीव (मेघका अधिष्ठाता जीव) भी मैंने ये क्रियाएँ की ऐसा अनुभव करता है वैसी ही यहाँ पर भी उपपत्ति समझनी चाहिये यह भाव है ॥९॥ अणिमा आदि ऐश्वर्य की प्राप्ति से ईश्वरतुल्य हुए योगी एक ही समय में असंख्य कर्मपूर्ण जगतों का निर्माण करते हैं और उनका अनुभव भी करते हैं ॥१०॥

एक ही विष्णु भगवान् अपनी चार भुजाओं से अथवा अपने विभिन्न शरीरों से कहीं पर योगनिद्रा, कहीं पर तपस्या, कहीं पर इन्द्र के अनुज होने से उनकी सहायता, कहीं पर (वैकुण्ठ) विविध भोग-यों विविध क्रियाएँ करते हुए जगत् की रक्षा करते हैं, वारांगनाओं का उपभोग करते हैं एवं उनका अनुभव भी करते हैं ॥११॥ अनेक भुजाओंवाला पुरुष दो हाथों से जब दो वस्तुओं का ग्रहण करता है, तब फिर अवशिष्ट अनेक बाहुओं से उसे सदा संग्राम करना पड़ता है। दसों दिशाओं में स्थित वे विपश्चित् यद्यपि एक साक्षिचैतन्यवाले थे, फिर भी उन्होंने वैसे ही व्यवहार किया और सुख, दुःख आदि प्राप्त किया। उन्होंने भूमिशय्याओं में शयन किया, विभिन्न द्वीप-द्वीपान्तरों में सुख-दुःख का उपभोग किया, वनश्रेणियों में विहार किया और मरुभूमि में भ्रमण किया। पर्वतपंक्तियों में निवास किया, सागरों के गर्भ में भ्रमण किया, विविध द्वीपों में विश्राम लिया और मेघमाला से भरे हुए पर्वतशृंगारों पर छिपकर रहे व सागर पंक्तियों में आविर्भूत हुए एवं उन्होंने आँधियों में, सागर की तरंगों में, पर्वत और

समुद्रों के तटों में तथा नगरियों में क्रीड़ा की। पूर्व दिशा को प्रस्थित विपश्चित् शाकद्वीप में प्रख्यात उदयपर्वत के तटपर दलरहित स्नुहीवृक्ष के वन के अन्दर यक्ष द्वारा मोहिनी विद्या से मोहित होकर सात वर्ष तक सोया रहा। पूर्व विपश्चित् ही इस पर्वत पर कहीं पत्थर बना देनेवाला जल पीकर जबर्दस्ती पत्थर बनकर भूमि के अन्दर सात वर्ष तक रहा। पश्चिम दिशा की ओर प्रस्थित विपश्चित् शाकद्वीप में अस्ताचल पर्वत के शिखर पर मेघपूर्ण गुहारूपी गृह में पिशाचरूपी अप्सरा ने एक महीने तक अपना कामुक बना डाला। पूर्व विपश्चित् शान्तमय नाम के वर्ष (सप्त द्वीप) में जलधार नाम के महापर्वत पर किसी मुनि के शाप से हरीतकी के वन में हरीतकी वृक्षता को प्राप्त होकर लोगों की दृष्टि में अदृश्य बनकर रहा। शिशिर नाम के वर्ष में रैवत नामक पर्वत पर पूर्व विपश्चित् यक्ष के वश में पड़कर दस रात्रियों तक सिंह हुआ। यहाँ पर पिशाचों की माया से छलित होकर सुवर्णपर्वत (सुमेरु) आदि की गुफाओं में मेढ़क बना हुआ वह दस वर्ष तक रहा। उत्तर की ओर प्रस्थित हुआ विपश्चित् कौमार वर्ष में पहुँचकर शाकद्वीप में नीलगिरि के तट पर अन्धे कूप में अन्धा मेढक बनकर सौ वर्ष तक रहा। पश्चिम की ओर चले हुए विपश्चित् ने मरीबक वर्ष में विद्याधरता प्राप्त करानेवाली विद्या से चौदह वर्ष तक विद्याधरता प्राप्त की ॥१२–२३॥

जिस वस्तु का अवलम्बन कर उसने विद्याधरता प्राप्त की, उसे कहते हैं।

सुरत में होनेवाले परिश्रम से श्रान्त भगवान् शिवजी की अत्यधिक शोभा से चंचल अंगों के–क्रम से उत्पन्न हुए–स्वेदबिन्दुओं से संमिश्रित तथा इलायची की लताओं के आलिंगनों से सुगन्धित तटवन की वायु का अवलम्बन कर उक्त विपश्चित् ने विद्याधरता सम्पादित की ॥२४॥

एक सौ चौबीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पचीसवाँ सर्ग

इस विपत्ति में विपश्चितों का आपस में एक दूसरे का उपकार करना तथा
जीवन्मुक्तों की सर्वत्र अर्थक्रिया का वर्णन।

विभिन्न दिशाओं में भ्रमण कर रहे विपश्चितों की आपस में एक दुसरे की खोज और विपत्तियों में परस्पर सहायता करता है या नहीं इस प्रकार की श्रीरामचन्द्रजी की आशंका को इंगित से ताड़कर उसका निराकरण करने की इच्छा करनेवाले श्रीवसिष्ठजी पहले पूर्व विपश्चित् की शान्तमय वर्ष में हरीतकी वृक्षतारूप आपत्ति में पश्चिम विपश्चित् द्वारा अनुग्रह किया गया, यह कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : शान्तमय नाम से प्रसिद्ध वर्ष में जलधारावाले पर्वतपर हरीतकी के वन में हरीतकी–वृक्ष बने हुए कैंचीरूप यन्त्र के सदृश भूमि के अन्दर के पाषाण सम्बन्धी जल को जड़ों से पीते हुए पूर्व विपश्चित् को पश्चिमी विपश्चित् ने उसके वृतान्त को जानकर, वहाँ आकर, शाप देनेवाले मुनि को प्रसन्न कर उससे दी गई विद्यारूपी आरी से वृक्षता का मानों छेदन कर सत्तर वर्षों में वृक्षता से मुक्त किया। पश्चिम दिशा को प्रस्थित विपश्चित् को, जो शिशिर वर्ष में पिशाचपति के शाप से पाषाणता को प्राप्त हुआ था, दक्षिण दिशा को प्रस्थित हुए विपश्चित् ने वहाँ पहुँचकर गोमांस आदि के प्रयोग से पिशाचपति को प्रसन्न कर शीघ्र मुक्त किया। अस्ताचल पर्वत के परले पार स्थित शिवनामक वर्ष में

गोरूप पिशाची द्वारा वृषभरूप पिशाच बनाये गये पश्चिम विपश्चित् को दक्षिण विपश्चित ने वहाँ पहुँचकर मुक्त किया। यहीं पर (शाकद्वीप में) क्षेम वर्ष में आम्बिकेय पर्वत पर दक्षिण विपश्चित् यक्षता-को प्राप्त हुआ पश्चिम विपश्चित् से प्रसादित यक्षपति ने उसे मुक्त किया। शाकद्वीप में ही वृषक वर्ष में केसर नामक पर्वत पर पूर्व विपश्चित् सिंहता को प्राप्त हुआ, पश्चिम् विपश्चित् ने आकर उसे छुड़ाया।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, एक देश में स्थित योगी तीनों कालों में चारों ओर व्याप्त होकर सब कर्म (अनुग्रह, निग्रह आदि) कैसे करते हैं, इसमें कृपया उपपत्ति आपको कहनी चाहिये ॥१-७॥

योगियों की दृष्टि से सारा प्रपंच मनोमात्र है और मानस कर्मों में मन का सर्वत्र एक साथ व्यवहार होने में कभी निरंकुश स्वातन्त्र्य की हानि नहीं देखी जाती अतः सब क्रियाओं की उपपत्ति है इस आशय से श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इस जगत् में अज्ञानियों की दृष्टि में जो भूत, भौतिकादि स्थूल वस्तु है उससे हम ज्ञानियों का कोई वास्ता नहीं है। हम उसकी उपपत्ति की चिन्ता क्यों करें ? ज्ञानियों की दृष्टि से जो मनोमात्र वस्तु है, वह सर्वत्र अर्थक्रियाकारी जैसे हो सकती है वैसा कहता हूँ, सुनो ॥८॥

चिन्मात्र ही वस्तु, इस मुख्य पक्ष में सर्वेश्वर की ही सर्वत्र सर्वार्थक्रियोपपत्ति है, ऐसा कहते हैं।

तत्त्वज्ञों की दृष्टि से चिन्मात्रसत्तासामान्य के बिना दूसरा जगद्रूप निःस्वरूप है। दृश्य के अत्यन्त अभाव का ज्ञान होने पर सृष्टि और प्रलय की दृष्टि का क्षय होने के पश्चात चिन्मात्रसत्तासामान्य में निरन्तर विश्रान्त हुए सर्वेश्वर की यहाँ पर सदा सर्वता सर्वात्मता ही है। भला बतलाइये तो उसका कौन कैसे कहाँ पर क्योंकर निरोध कर सकता है ? सर्वगामी और सर्वात्मा का जब जहाँ पर जैसे भान होता है तब वहाँ पर वैसा भान होता है। सर्वात्मा में क्या वस्तु नहीं है। अतीत, वर्तमान और भविष्यत्, का त्याग न कर रहे सत्तासामान्यस्वरूप सर्वात्मा में सदा स्थित ही हैं, ऐसा आप जानें। माया से उल्लास को प्राप्त हुआ प्रपंच न तो उत्पन्न हुआ और न विनष्ट हुआ, विज्ञानघन ही ज्यों-का-त्यों स्थित है। इसलिए ये तीनों जगत् विज्ञानघनरूप ही हैं। आकाशता का त्याग न करता हुआ (अपनी सत्ता से उसपर अनुग्रह करता हुआ) सर्वात्मा ही आकाशरूप से स्थित है। भाव यह कि अविकृत सच्चिदात्मा की ही आकाश आदिरूप से स्थिति है ॥९-१५॥

मायाशबल ही जगदात्मक है, वही द्रष्टा और दृश्य के रूप से जगद्रूप में उदित हुआ है। जो वस्तु विश्वात्मा का (मायाशबल का) दृढ़मात्ररूपशरीरवाली है उसका किससे, कैसे कब क्या होगा ? शुद्ध में परिणाम, विर्वत आदि नहीं हो सकते, यह भाव है।

हे तत्त्वज्ञानी, साध्य और असाध्यरूपी मायाशबल की कौन वस्तु दुःसाध्य है जरा बतलाइये तो ? कुछ भी दुःसाध्य नहीं है, इसलिए सदा सब जगह सर्वार्थक्रिया की उपपत्ति है, यह भाव है। इसलिए सदा एकरूप इस विपश्चित्-राजासंवित् को, जो प्रबोध की ओर अग्रसर है और परमपद को प्राप्त नहीं हुई तथा एक होती हुई भी अनेकरूप है, सब जगह सब कुछ सम्भव है ॥१६-१८॥ बोध और अबोधरूप शबल परमात्मा में क्या असाध्य है। परमबोध को प्राप्त न हुई संवित् की पदार्थ-आकुलता उचित है ॥१९॥

योगियों को ऐच्छिक अर्थक्रियासामर्थ्यरूप सिद्धि होने पर भी उपपत्ति कहते हैं।

किंचित् बोध को प्राप्त हुई संवित् की वह सिद्धता भी उचित ही है। कारण कि जैसे–जैसे बोध में उत्कर्ष होता है वैसे–वैसे अकामहतत्त्वप्रयुक्त आनन्द के उत्कर्ष से होने वाले ऐश्वर्यप्रकर्षक्रम की भी उपपत्ति होती है, यह भाव है। इस तरह सम्पूर्ण दिशाओं में स्थित वे (विपश्चित्) आपस में सब कुछ देखते हैं, अनुभव करते हैं और शीघ्र विपत्तिरूपी रोग की चिकित्सा करते हैं ॥२०॥

प्रबुद्ध लोगों के प्रति सब वस्तुएँ मनोमात्र ही हैं, इस पक्ष में तो सब जगह सर्वार्थ–क्रिया मनोराज्य की भाँति अत्यन्त उपपन्न है, इस आशय से कहते हैं।

बोधाकाश (चिदाकाश) जब अपने स्वरूप से थोड़ा च्युत–सा होता है तब शीघ्र ही मनोभावलक्षण किंचित् च्युतिरूप देश से ज्यों–का–त्यों सुस्थित होता हुआ भी अन्यता को (जगद्रूपता को) ग्रहण करता है ॥२१॥

विपश्चितों के प्रसंग में योगियों और ज्ञानियों की एक साथ सर्वार्थक्रियोपपत्ति का वर्णन होने पर विपश्चित् भी ज्ञानी थे, यों समझ रहे श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिश्रेष्ठ, यदि विपश्चित् ज्ञानी थे, तो वे दिशाओं में सिंह, बैल आदि कैसे बने, कृपया मेरे बोध के लिए यह शीघ्र कहिये। भाव यह है कि ज्ञानी जन सर्वार्थक्रिया में स्वतन्त्र होते हैं, अतः विपश्चितों को परतन्त्रतावश होने वाले सिंह, बैल आदि के शरीररूप संकट प्राप्त नहीं हो सकते, अतः उन लोगों ने परस्पर एक दूसरे पर अनुग्रह किया, यह कथन असंगत है ॥२२॥

श्रीरामजी, आपने मुझसे पूछा कि योगी व्याप्त होकर कैसे विविध काम करते हैं ? मैंने यहाँपर प्रबुद्ध योगियों का वर्णन किया है, विपश्चित् तो प्रबुद्ध योगी नहीं थे, यों वसिष्ठजी समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे निष्पाप श्रीरामजी, मैंने आपके प्रश्न के समाधान के लिये विपश्चितों के सिलसिले में जिन योगियों का वर्णन आपसे किया है, वे प्रबुद्ध थे, किन्तु विपश्चित् प्रबुद्ध नहीं थे ॥२३॥ हे महाबाहो, वे विपश्चित् अत्यन्त प्रबुद्ध न थे, वे बोध और अबोध के बीच में दोलायमान–से स्थित थे। अर्धप्रबुद्ध उनमें मोह के चिह्न भी और चारों ओर बन्धन के चिह्न भी दृष्टिगोचर होते हैं। पूर्वोक्त दोलायित धारणा से विपश्चित् परम ब्रह्म को प्राप्त योगी न थे, किन्तु अग्नि की प्रसन्नता से सिद्धि प्राप्त होने के कारण धारणायोगी थे, जिनमें अविद्या का विनाश हो गया, ऐसे ज्ञानयोगी न थे ॥२४–२६॥ हे कमलनेत्र श्रीरामजी, जो परम ज्ञान को प्राप्त हो चुके और जिनमें अविद्या का नाम–निशान नहीं है ऐसे ज्ञानयोगी वे विपश्चित् होते तो वे अविद्या को क्यों देखते ? अविद्या दर्शन की इच्छा ही इनके अविद्या के अनुच्छेद में हेतु है। धारणा के पुष्ट होनेपर अग्निदेव के प्रसाद से जन्य वर से प्राप्त सिद्धिवाले वे विपश्चित् धारणायोगी थे। उनमें अविद्या विद्यमान थी, अतएव वे आत्मविचार विहीन थे ॥२७,२८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, और भी सुनिये, जीवन्मुक्तशरीरवाले ज्ञानयोगियों को व्युत्थानकाल में ही अन्य पदार्थ की प्रतीति होती है। भाव यह कि जीवन्मुक्तों को व्यवहार काल में ही देहादिभान होता है, समाधि में तो विदेह कैवल्यसमता ही रहती है, यह विपश्चितों से उनमें विलक्षणता है। मोक्ष भी चित्त का धर्म है, वह चित्त में ही रहता है, देह में नहीं रहता। जो बँधा रहता है, उसके बन्धन की निवृत्ति मोक्ष है। चित्त ही बद्ध रहता है आत्मा नहीं, अतः मोक्ष भी चित्त का ही धर्म है, अतः समाहितचित्त में ही वह मोक्ष रहता है

देहभावापन्न व्युत्थित पुरुष में मोक्ष नहीं रहता। जो देहधर्म है-देहाधीन व्यवहार है वह जीवन्मुक्त के भी शरीर से नहीं हटता, अतः अन्य पदार्थ की प्रतीति की उपपत्ति होती है। तब तो जीवन्मुक्त का चित्त भी देहभाव प्राप्त होने पर बन्धन को प्राप्त हो जायेगा ? नहीं सो बात नहीं है। निर्मुक्त चित्त (भलीभाँति मुक्त हुआ चित्त) फिर कभी भी बन्धन में नहीं पड़ता। वृक्ष से गिरे हुए फलको प्रयत्न से भी कौन बाँध सका ? जीवन्मुक्त पुरुषों का भी शरीर धर्मों से अनुगत रहता है, किन्तु शरीरगत उनका चित्त अविचल रहता है उसमें देहधर्म व्याप्त नहीं होते। भाव यह कि मुक्त और अमुक्त पुरुषों में देह धर्मानुवृत्तिसमान है चित्त धर्मानुवृत्ति उनकी एक सी नहीं है॥२९-३२॥

इसी कारण उन्हें अन्य लोग ये जीवन्मुक्त है यों नहीं पहिचान पाते हैं, किन्तु धारणा से सिद्ध हुए योगियों की तो उन्हें पहचान होती ही है यह जीवन्मुक्त ज्ञानियों और योगियों में दूसरी विलक्षणता है, ऐसा कहते हैं।

धारणा आदि वश प्राप्त योग की तरह मोक्ष अन्य पुरुषों द्वारा ज्ञातव्य नहीं है यानी जैसे अन्य लोग धारणावश प्राप्त योग को पहचान लेते हैं वैसे वे मोक्ष की पहचान नहीं कर सकते जैसे शहद आदि की मिठास से उत्पन्न सुख का वर्णन कोई नहीं कर सकता उसका सुख केवल आत्मसंवेद्य है वैसे ही मोक्ष भी केवल आत्मसंवेद्य ही है।

शंका : मन का धर्म मोक्ष आमसंवेद्य कैसे है ? समाधान-बन्ध के समान मनोगत मोक्ष की साक्षिरूप स्वानुभव से ही सिद्धि है॥३३॥

यदि बन्ध और मोक्ष मन के धर्म हैं, तो 'आत्मा बद्ध है आत्मा मुक्त हुआ' यों शास्त्र में कैसे व्यवहार होता है ? इस प्रश्नपर कहते हैं।

स्वानुभवप्रदान करनेवाला आत्मा मन के धर्म सुख-दुःखों से युक्त होकर जीवरूप से बन्धन की अनुभूति करता है, वही उसकी (मन की) मुक्ति होने पर शास्त्र में मुक्त कहा गया है॥३४॥

यदि यह बात है तो देह आदि भी मन के धर्म सुख-दुःखों से बद्ध और मुक्त माने जायेंगे ? इस आशंका पर कहते हैं।

जिसका अन्तरात्मा आह्लादयुक्त हो वही मुक्त कहा जाता है और जिसका अन्तरात्मा सन्तप्त हो वह बद्ध कहलाता है, अतः मनके धर्म सुख-दुःखवश देह के बन्धन और मोक्ष नहीं हैं। भाव यह कि आभ्यन्तर आनन्द और सन्ताप का आन्तर ही चिदात्मा में अध्यास अनुभवसिद्ध है, अतः उसी में उसे मानना उचित है, बाह्य देह आदि में उसे मानना ठीक नहीं है॥३५॥

जैसे शरीर संयोगी मन में शरीर के धर्मों की प्राप्ति होती है वैसे ही मनोधर्म मोक्ष की भी शरीर में प्रतीतिप्रसक्ति हो सकती है, इस आशय से कहते हैं।

शरीर के टुकड़े-टुकड़े किये जायें अथवा उसे राज्यसिंहासन पर बैठाया जाय दोनों अवस्थाओं में रो रहे अथवा हँस रहे जीवन्मुक्त पुरुष के अन्दर न तो कुछ शरीरस्थित दुःख होता है और न सुख होता है॥३६॥

यदि किसीको शंका हो कि काँटा चुभने से पैर में मुझे कष्ट है ओर देह में मेरे चन्दनलेप प्रयुक्त सुख है, यों लोग मन के धर्म सुख-दुःख आदि का देह में ग्रहण करते हैं। इसलिए मनोधर्मों का आत्मा में ही

अध्यास कैसे ? तो इस पर कहते हैं।

अवच्छेदकता सम्बन्ध से देह में सुख–दुःख आदि का अनुभव कर रहे मनुष्य को 'अहं सुखी अहं दुःखी' यों आत्मा में ही उसका पर्यवसान है, अतः आत्मा में ही यह सुख–दुःख आदि की कल्पना है, बाह्य देह आदि में नहीं है। इसीलिए आत्मा में अध्यास का अंगीकार न करनेवाले देहादि में आत्मा का अभिमान करने से रूपान्तर को प्राप्त हुए चार्वाक, नैयायिक, सांख्य, बौद्ध, कणाद आदि पण्डित मोक्ष के उपाय की प्राप्ति न होने से पराभूत दिखाई देते हैं अथवा जल्पकथा (शास्त्रार्थ) में वेदान्तियों द्वारा पराजित दिखाई देते हैं।

सुख–दुःख आदि रूप बन्ध का भले ही देह में भी कदाचित् अनुभव हो, किन्तु मोक्ष का तो देह में कदापि अनुभव नहीं होता। जीवन्मुक्त पुरुषों को समाधि में और देहभाव अवस्था में इस बात का स्पष्ट अनुभव तथा मन्द और मध्यम ज्ञानियों को भी व्युत्थान काल में देहभान होने पर उसका अनुभव होता है, इस आशय से कहते हैं।

जीवन्मुक्त पुरुषों के देह आदि नित्य अशरीर आत्मस्वभाव से कदापि पृथक् नहीं है, जीवन्मुक्त महोदय मरकर भी नहीं मरता, रोता हुआ भी नहीं रोता और हँसता हुआ भी नहीं हँसता है।

भगवती श्रुति भी है – 'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥' इसलिए वह मरणादि धर्मों से युक्त नहीं होता है। मानस धर्मों से भी उनका सम्बन्ध नहीं है, यह कहते हैं॥३७–३९॥

तत्त्वदर्शी लोग वीतराग होने पर भी अनुरक्त जैसे, कोपविहीन होने पर भी कोपयुक्त जैसे तथा मोहरहित होने पर भी मोहयुक्त जैसे दीखते हैं। यह सुख है यह दुःख है, ऐसी कल्पनाएँ तो उनसे इस प्रकार अत्यन्त दूर रहती हैं जैसे कि आकाश से अंकुर दूर रहते हैं अर्थात् जैसे आकाश में अंकुरों का संभव नहीं है वैसे ही उनमें सुख दुःख कल्पनाओं का संभव नहीं है। जगत् का स्वरूप और तन्मूलक अज्ञान जिसकी दृष्टि में है ही नहीं केवल एक आनन्द स्वरूप (सत्) ही जिसकी दृष्टि में सब कुछ है उस जीवन्मुक्त पुरुष को भी सुख दुःखादि होते हैं, यह कहना आकाश की भी शाखाएँ होती हैं यह कहने की तरह व्यर्थ है। 'सर्वत्र एकत्व की प्रतीतिवाले उस जीवन्मुक्त को शोक मोह कहाँ हो सकते हैं ? इस श्रुति वाक्य के अनुसार शोकमोह को जीतनेवाले अतएव शोकमोहविहीन ही जीवन्मुक्त शोक करते हैं। तत्त्वदर्शी लोग शिर आदि अंगों का छेदन होने पर भी अच्छिन्न हो अद्वितीय आत्मा में परायण देखे जाते हैं॥४०–४३॥ ऊँचे स्वर से सामगायन में तत्पर ब्रह्माजी के शिर को भगवान् शंकर ने अपने नख से कोमल कमल के समान काट डाला। समर्थ होने पर भी ब्रह्माजी ने उस सिर को (पंचम सिर को) फिर उत्पन्न नहीं किया। ब्रह्म तो आकाशसम है, अतः मिथ्यारूप पाँचवे सिर से उनको क्या प्रयोजन है ॥४४,४५॥

तो उनका चार मुखों से वेदोपदेश करने का क्या प्रयोजन है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

न तो उनका यहाँ कर्म से कोई प्रयोजन है और न अकर्म से कोई प्रयोजन है। जो वस्तु प्राणियों के कर्मवश जैसे सम्पन्न हो गई वह वैसे ही रहे अन्य से क्या प्रयोजन है ? देखिये न ईश्वर का भी प्राणियों के कर्मानुसार ही व्यवहार है, अपने लिए नहीं। भगवान् श्रीशंकरजी, अनुगृहीत कामदेव से हरिणाक्षी

देवी को अपने अर्धांग में ऐसे ही धारण करते हैं जैसे क्षीरसागर अपने अन्दर गुप्त चन्द्रमा की कला को धारण करता है, कामदेव का निग्रह होने से उपद्रवविहीन समाधि में प्रवृत्ति होने के कारण अपने शरीर में वैसे आनन्दाश्रु धारण करते हैं जैसे समुद्र अपने अन्दर चन्द्रकला को धारण करता है ॥४६,४७॥ उत्तम आशयवाले ये भगवान् शंकरजी समर्थ होते हुए भी रागिता का त्याग नहीं करते हैं, कामदहन के समय उनके नीरागता आदि गुण देखने में आये हैं ॥४८॥ न तो उनका कर्म से कोई प्रयोजन है और न अकर्म से ही कोई प्रयोजन है। उनका सकल भूतों में कोई भी प्रयोजन लाभ नहीं है ॥४९॥ उनकी यह रागिता ही रहे अथवा यह रागिता मत रहे। अरागिता से उनका कौन लाभ है या कौन क्षति है। जीवन्मुक्त भगवान् श्रीविष्णु असुरनिग्रह आदि काम स्वयं जोर शोर से करते हैं और इन्द्र आदि द्वारा कराते हैं। अवतार की समाप्ति होने पर मृत्यु स्वीकार करते हैं, मृत्यु स्वीकार के अनुकूल शरभ शिकारी आदि द्वारा मारे जाते हैं। समय-समय पर रामआदिरूप से उत्पन्न होते हैं और अभिवृद्धि को प्राप्त होते हैं। सर्वथा समर्थ होते हुए भी भगवान श्रीहरि प्राणियों के कर्मवश प्राप्त व्यवहार व्यग्रता का त्याग नहीं कर सकते। उनका प्राणिकर्मवश प्राप्त व्यवहार व्यग्रता के त्याग से न किसी प्रयोजन की सिद्धि है और न उसके ग्रहण से ही किसी प्रयोजन की सिद्धि है। वह यहाँ यथास्थित ही रहे, ज्यों-का-त्यों ही रहे। शुद्धचिन्मात्ररूपधारी इच्छारहित (निष्काम) हरि भगवान् वासनाविहीन ही रहते हैं ॥५०-५३॥

इच्छाविहीन सूर्य आदि भी प्राणियों के कर्मानुसार ही अपने-अपने अधिकार का पालन करते हैं, ऐसा कहते हैं।

भगवान् श्रीसूर्य जगत्रूपी घर के आकाशरूपी आँगन में काल की गेंद बनी हुई अपनी देह को नित्य निरन्तर घुमाते रहते हैं ॥५४॥ दिननायक सूर्य अपने शरीर को रोकने के लिए समर्थ नहीं हैं सो बात नहीं है। फिर भी निष्काम जीवन्मुक्त सूर्य पूर्व से बँधी हुई अपनी मर्यादा के अनुसार ही रहते हैं, सदा भ्रमण करते रहते हैं। चन्द्रमा कल्पान्त तक रहनेवाले राजयक्ष्मा का, जो कभी नष्ट नहीं होता, व्यर्थ ही अनुभव करता है जीवन्मुक्त होने के कारण बिना किसी दुःख-पीड़ा के जैसी मर्यादा बँध गई वैसे ही स्थित है, उसकी निवृत्ति के लिए किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करता है। राजा मरुत्त के यज्ञ में लगातार बारह वर्ष तक हाथी की सूँड-सी मोटी निरन्तर गिर रही घी की धारा आदिरूप हविष के भक्षण से उत्पन्न हुए अजीर्ण से तथा स्वामी स्कन्द की उत्पत्ति के सिलसिले में भगवान् शंकर का भगवती पार्वतीजी के समागम के समय देवताओं द्वारा विघ्न करने पर अपने स्थान से विचलित हुए वीर्य को ब्रह्मा के कहने-सुनने से निगलने के कारण हुए अन्तर्दाह आदि से अग्नि खिन्नता को धारण करता है। पूर्व बँधी हुई स्थिति का (मर्यादा का) कदापि त्याग नहीं करता। देवगुरु और असुरगुरु, बृहस्पति तथा शुक्राचार्य यद्यपि जीवन्मुक्त हैं तथापि भाँति-भाँति की परस्पर विजयेच्छाओं से कृपण जैसे (अज्ञानी जैसे) रहते हैं। जीवन्मुक्त मुनि ऐसे राजा जनक जगत् में भीषण-भीषण युद्धों में अपने शरीर को क्षत-विक्षत करते हुए राज्य करते हैं। महाराज नल, मान्धाता, सगर, दिलीप, नहुष आदि यद्यपि जीवन्मुक्त थे, फिर भी उन्होंने आकुलित ऐसे हो चिरकाल तक राज्य किया। व्यवहार में जैसे ही अज्ञानी है, हूबहू वैसे ही ज्ञानी भी है। वासना और अवासना ही बन्धन और मोक्ष में कारण है। राजा बलि, प्रह्लाद, नमुचि, वृत्रासुर, अन्धकासुर, मुर

आदि जीवन्मुक्त थे, वीतराग थे फिर भी उन्होंने रागियों का–सा व्यवहार किया था ॥५५–६२॥

इससे जीवन्मुक्त लोगों में राग, द्वेष आदि के आभास का दर्शन होने पर भी मुक्ति के संदेह का खण्डन किया गया, यह दर्शाते हुए उपसंहार करते हैं।

जीवन्मुक्त चिदाकाश के प्रति राग और द्वेष का क्षय या उदय होने पर सुचरित्रता सत्ता और दुश्चरित्रता का अभाव होनेपर आविर्भूत स्वरूपवाले मोक्ष में तनिक भी संशय नहीं है ॥६३॥

'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' ऐसी भेदबुद्धि रहने पर ही मुक्ति में संशय होगा, वही उनको नहीं है, ऐसा कहते हैं।

ब्रह्माकार के तुल्य शुद्ध चरम साक्षात्कार वृत्तिरूप ज्ञान से जो असंग, अद्वितीय पूर्ण ब्रह्मभाव से आकाश सदृश धर्मों को (देह, मन, प्राण आदि को धारण करनेवाले जीवों को) प्राप्त करते हैं उन जीवन्मुक्तों में भेदभ्रान्ति में हेतुभूत अज्ञान के नष्ट होने से फिर भेदबुद्धि कैसे हो सकती है ? ॥६४॥

तत्त्वसाक्षात्कार से जीवजगत भेद कैसे बाधित होता है, ऐसी यदि किसी को आशंका हो तो वह केवल भ्रान्ति से सिद्ध है इस आशय से उसकी अवास्तविकता को दृष्टान्त से सिद्ध करते हैं।

जैसे शून्य (ॐ) इन्द्रधनुष नाना–सा प्रतीत होता है वैसे ही यह दृश्यरूप भ्रम आभासमात्र है, वास्तविक नहीं है ॥६५॥ जैसे निस्स्वरूप इन्द्रधनुष में भाँति–भाँति के रंग प्रतीत होते हैं वैसे ही आकाशरूपी आँगन में शून्यभूत ही ब्रह्माण्डरूपी परमाणु भासित होते हैं ॥६६॥ आकाश में शून्यत्व की तरह प्रकटता को प्राप्त हुआ, न कभी उत्पन्न हुआ और न कभी नष्ट हुआ यह असत् जगत् सत्–सा प्रतीत होता है। जगत् सादि और सान्त होने पर भी अनादि और अनन्त, अशून्य होने पर भी शून्य, उत्पन्न होने पर भी अनुत्पन्न और नष्ट होने पर भी अनष्ट ही है। नित्य, कूटस्थ, असंग, अद्वितीय वस्तु के जगत्रूप ग्रहण करने पर उसमें आदि–अन्त की (जन्मनाश आदि की) प्रसक्ति नहीं है, यह भाव है ॥६७,६८॥

जगत्भाव के समान जगत् के जन्मनिरोधभाव की भी ब्रह्म में कल्पना से ही उपपत्ति है, ऐसा यदि कहो तो इष्टापत्ति है, क्योंकि कल्पनामात्र से उसकी कूटस्थता की क्षति नहीं हो सकती है, इस आशय से कहते हैं।

उत्पन्न हुआ, नष्ट हुआ है, यों ब्रह्माकाश ही प्रतीत होता है जैसे काष्ठमयस्तम्भ काष्ठ ही है और जैसे स्तम्भ के एक हिस्से में बनाई गई प्रतिमा भी काष्ठ ही है वैसे ही ब्रह्म में कल्पित यह ब्रह्म ही है। समस्त कल्पनाओं से रहित, निद्राशून्य, सम केवल आत्मरूप से अवस्थितिरूप जो चिदाकाश है, समाधिदृष्टि से तन्मात्र ही जगत् को जाने। यानी समाधिदृष्टि से कल्पनाविहीन जगत् ब्रह्म ही है यों अनुभव में बैठाये ॥६९,७०॥

असमाधिकाल में भी शाखाचन्द्रदर्शन में बुद्धिवृत्ति के शाखाप्रदेश से चन्द्रदेशप्राप्ति में बीच में जो निर्विषय वृत्तिअभिव्यक्त संवित् का स्वरूप है तन्मय जगत् को जानना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

एक प्रदेश से अन्य प्रदेश की प्राप्ति होने पर मध्य में निर्विषय चिदाकाशरूप जो संवित् का स्वरूप है तन्मय जगत् को जानना चाहिये। उक्त प्रकार के चिदात्मा में जो विशेषरूप द्वैत और सामान्यरूप ऐक्य प्रतीत होता है वह भी उक्त चिदाकाशस्वभाव से ही है ही नहीं ऐसा मैं मनन से निश्चय करता हूँ।

(ॐ) मेघघटा में स्थित सूर्यकिरण ही इन्द्रधनुष के रूप में दृष्टिगोचर होती है, यह प्रसिद्ध है।

वह केवल शून्य है ऐसी जो प्रतीति होती है वह भी है ही नहीं, क्योंकि उस पूर्णानन्दैकरस में शून्यता का भी सम्बन्ध नहीं है। शून्यता और पूर्णता जैसी सप्रतियोगिक लोक में प्रसिद्धि है, जैसे कि जल से शून्य घड़ा या जल से पूर्ण घड़ा, उसका आत्मा में सम्भव नहीं है, किन्तु यह जगत् जगत्भाव के अन्यत्र अप्रसिद्ध होने से, आकाशरूप ही है। इस प्रकार आत्मा ही आत्मा में स्थित है, यों अन्यनिरपेक्ष पूर्णता है। जैसे भावी नगर वर्तमान काल में प्रतियोगिनिरपेक्ष शून्यरूप से दृष्ट होता है जैसे विशाल दिशा, काल आदि प्रतियोगिनिरपेक्ष पूर्णरूप से देखे जाते हैं वैसे ही यह भी है ॥७१-७३॥ हे आकाश के कोष के सदृश निर्मल आशयवाले श्रीरामचन्द्रजी, जो सम्पूर्ण दृश्यसमूह शिलाघनरूप शान्त मौनरूप स्थित है, उसका आत्मा ही जगत् यह नाम धारण कर मोहित-सा स्थित है, अहो माया आश्चर्यभूत है ॥७४॥

एक सौ पचीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ छब्बीसवाँ सर्ग

मरे हुए सब विपश्चितों का अपने अन्दर संसारभ्रम का वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिनायक, इसके बाद पूर्वोक्त पूर्व आदि दिगन्तों में सात द्वीप, सागर, वन और पर्वतों में गये हुए वे विपश्चित् क्या करते रहे ? ॥१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, ताड़ और तमाल के वृक्षों की पंक्तियों से पूर्ण द्वीप, पर्वत और वनों में विचरनेवाले उन विपश्चितों का वहाँ क्या हाल हुआ, उसे आप सुनिये। उन विपश्चितों से एक विपश्चित् क्रौंच द्वीप में प्रसिद्ध वर्ष (सप्तद्वीप) के सीमारूप पर्वत के पश्चिम किनारे पर हाथी द्वारा पर्वततटवर्ती वप्रशिलापर गण्डस्थल तथा दाँतों से चूर-चूर किये जाने से मर गया (♨) दूसरे विपश्चित को राक्षस ने युद्ध में क्षतविक्षत देह कर आकाश मार्ग से ले जाकर समुद्रवर्ती बड़वाग्नि में झोंक दिया वहाँ उसमें भस्म हो गया ॥२-४॥ तीसरे विपश्चित को कोई विद्याधर इन्द्र सभा में ले गया, वहाँ प्रणाम न करने से क्रुद्ध हुए देवराज इन्द्र के शाप से वह भस्म बन गया ॥५॥ चौथे विपश्चित् के, जो कुशद्वीप पर्वतवर्ती नदी के दलदल में सतर्कता से चल रहा था, जबर्दस्त मगर ने आठ टुकड़े कर दिये अतएव बेचारा मृत्यु को प्राप्त हुआ। इस प्रकार दिगन्तों में व्याकुल बुद्धिवाले वे चारों राजा (विपश्चित्) ऐसे ही मृत्यु को प्राप्त हुए जैसे कि कल्पान्त में चारों दिशाओं में आकुलबुद्धिवाले लोकपाल विनाश को प्राप्त होते हैं। मरने के अनन्तर आकाशरूपी उन विपश्चितों की संवित् ने आकाशात्मा बनकर पूर्वजन्म के संस्कार से आकाश में पृथ्वीमण्डल पूर्वजन्म की भाँति देखा ॥६-८॥

जैसा भूमिमण्डल उन्होंने देखा उसीका वर्णन करते हैं।

सातों द्वीपों के समुद्र ही उसके कंकण थे, नगर और उपनगर उसके विविध आभूषण थे, सुमेरुपर्वत उसका शिर था, सुमेरु पर्वत पर स्थित ब्रह्मलोक उसका शिरोरत्न था, चन्द्रमा और सूर्य के बिम्ब उसके दो नेत्र थे, तारे मोतियों की लड़ थे, चंचल मेघ उसके वस्त्र थे, भाँति-भाँति के (विविध) वन

(♨) वर माँगने के समय सिद्धों द्वारा गम्य (गमनयोग्य) मार्ग तक हमारी मृत्यु न हो यों सीमा बाँधी थी, उसके आगे का मार्ग सिद्धों द्वारा अगम्य था, यह बात यद्यपि कहीं पर कही नहीं गई है तथापि अनुमानतः ज्ञात होती है। ऐसा ही आगे भी समझना चाहिये।

उसके रोंगटे थे, प्रलय की समाप्ति तथा सृष्टि के आरम्भ में जैसे प्रथम सर्जे गये प्रजापति विशाल दिगन्तों को पूर्वकल्प के सदृश ही देखते हैं वैसे ही उक्त संवित् ने विपश्चितों के चारों शरीरों को पूर्ववत् देखा ॥९–११॥ चिदात्मा में ही आकाशताप्रतीतिरूप आकाशात्मकता को प्राप्त हुए उन विपश्चितों ने मानसिक प्रतिभासमात्र के विषय प्रातिभासिक देह में आधिभौतिक देहताप्रयुक्त स्थूलता, जड़ता आदि भावों को सामने देखा ॥१२॥ इस तरह निश्चित् देह के अज्ञानात्मक होनेपर यह दृश्य पृथिवी आदिरूप अविद्या कितनी बड़ी होगी यह देखने के लिए पूर्वसंस्कारवश वे प्रस्तुत हुए ॥१३॥ दृश्य और दर्शन में से पृथिवीमण्डलरूप अनुभवाकार अविद्या का इतनी बड़ी है यों परिच्छेद को (परिमाण को) देखने के लिए द्वीप द्वीपान्तरों में भटके। पश्चिम विपश्चित को सात महासमुद्रों के साथ सात द्वीपों को लाँघकर भाग्योदय वश पूर्व–वर्णित स्वर्णमय भूमि में क्रीड़ाकर रहे भगवान् श्रीविष्णु के दर्शन हुए। भगवान् श्रीविष्णु से अनुपम ज्ञान (ब्रह्मविद्या) प्राप्तकर उसी स्वर्णभूमि में पाँच वर्ष तक वह समाधि में रहा ॥१४–१६॥ देहभाव का परित्याग कर वीतहव्य के उपाख्यान में वर्णित रीति से चित्त के सन्मात्ररूपता को प्राप्त होने पर *(असत्ता ऐसा छेद करने पर चित्त के विलीन होने पर यों अर्थ करना चाहिये)* वह विपश्चित् वैसे ही परम निर्वाण को (कैवल्य मोक्ष को) प्राप्त हुआ जैसे कि उसका प्राण आकाशता को (शून्यता को) प्राप्त हुआ। *यह षोडष कलाओं का उपलक्षण है, क्योंकि 'गताः कलाः पंचदश प्रतिष्ठाम्' ऐसी श्रुति है* ॥१७॥ पूर्व दिशा की ओर चला हुआ विपश्चित् पर्व में (पूर्णिमा के दिन) पूर्ण चन्द्रमा के बिम्ब के पास अपने शरीर का चिरकाल तक (जब तक उसमें चन्द्रत्व की प्राप्ति नहीं हुई तब तक) चन्द्रमा के समान ध्यान कर पूर्वशरीर के नष्ट हो जाने से चन्द्रलोक में स्थित हुआ ॥१८॥

शंका – यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि चारों शरीरों में एक ही विपश्चित्–जीव जैसे योगी का एक ही जीव कायव्युहों में विभक्त होकर रहता है वैसे ही विभक्त होकर स्थित था, उसकी पश्चिम विपश्चित्–शरीर में विष्णु भगवान् की प्रसन्नता से मुक्ति होने पर कौन दूसरा पूर्व विपश्चित् शरीर में चन्द्र की उपासना द्वारा चन्द्रलोक को जायेगा, एक ही जीव की कहीं पर मुक्ति और कहीं पर बन्धन एक ही साथ किसी प्रकार सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से मुक्तिरूप फल पाक्षिक और परिच्छिन्न हो जायेगा। यह भी सम्भव नहीं है कि एक जीव यदि चार शरीर धारण करे तो उसके चार जीव हो जायेंगे अथवा अन्य जीवों की उत्पत्ति हो जायेगी, क्योंकि प्रथम पक्ष में यानी चार विभाग मानने पर पूर्व जीव के नाश की आपत्ति आयेगी। दूसरे पक्ष में नये उत्पन्न हुए जीवों को काम, कर्म, वासना आदि बीज के अभाव में संसारप्राप्ति नहीं होगी। यदि कहो कि जैसे भोगवैचित्र्य का कर्मों द्वारा या माया से बिना किसी विरोध के निर्वाह हो सकता है, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि प्रथम तो मोक्ष कर्माधीन नहीं है, दूसरे मोक्ष में सकलमायानिवृत्ति का प्रतिपादन करनेवाली श्रुति से विरोध आयेगा।

समाधान : ठीक है, यहाँ पर भगवान् श्रीवसिष्ठजी का ऐसा आशय प्रतीत होता है कि जीव ब्रह्माकाश से अतिरिक्त कुछ नहीं है। ब्रह्म ही अन्तःकरणरूप उपाधियों में माया द्वारा विभक्त होकर अन्तःकरणगत काम, कर्म और वासना के अनुसार संसारी–सा मालूम पड़ता हुआ जीव कहा जाता है। अन्तःकरण दीपक की तरह बहुतों को मिलाने से एक और विशाल होता है। एक ही अन्तःकरण योग, देवता आदि

के अनुग्रह आदि निमित्त से एक ही काल में विरुद्ध अनेक प्रदेशों में भोगने योग्य कर्मों का उद्गम होने के कारण अनेक भी हो सकता है। जब बहुत से जीवों का समान देश और काल में भोगने योग्य एक समान काम, कर्म और वासना का उदय होता है तब भोग के लिए मेल न होने पर एक जीवत्व ही होता है जब तक विरुद्ध देश में भोग के कारण कर्म का उदय न हो तब तक लाघव से भोगायतन (भोगस्थान) एक ही शरीर रहता है। जैसे युधिष्ठिर-जीव धर्म और इन्द्र के मेल से एक जीव रहा, जैसे भीम-जीव वायु और इन्द्र के मेलन से एक जीव रहा, जैसे अर्जुन-जीव इन्द्र और नर के मेलन से एक जीव हुआ, जैसे नकुल-सहदेव का इन्द्र और अश्विनी कुमारों के मेलन से एक जीव हुआ तथा जैसे द्रौपदी का नारायणी, लक्ष्मी और गौरी के अंशों के मेलन से एक जीव हुआ यह बात पंचेन्द्रोपाख्यान आदि के पर्यालोचन से प्रसिद्ध है। अथवा जैसे अग्नि और वायु का इन्द्र के शापवश अगस्त्य अवतार में मेलन से एक जीव हुआ इत्यादि और भी अनेक घटनाएँ हैं। एक जीव की, अनेक उपाधियों में विभाग होने से, अनेकजीवता भी सम्भव है। कश्यप से अपने गर्भ में इन्द्रविनाशक पुत्र को पाकर अपवित्रता के साथ सोई हुई दिति के एक जीववाले एक शरीर के गर्भ के पहले सात टुकड़े करने पर सात जीव हुए तदुपरान्त एक-एक टुकड़े के सात-सात खण्ड करने पर उत्पन्न हुए उनचास मारुतों के उनचास जीव हो गये। बरगद, ईख, दूब आदि के काण्ड, शाखा और टहनियों में से प्रतिशाखा और प्रतिकाण्ड पनप उठते हैं, इससे ज्ञात होता है कि एक जीव का नाना जीवरूप से औपाधिक विभाग खूब प्रसिद्ध है ही। इस प्रकार प्रकृत में भी चार जीवों के जब तक समान (एक से) काम, कर्म और वासना आदि रहे तब तक उन्होंने एक देह से राज्य का पालन किया। जब विरुद्ध भिन्न देश में भोगने योग्य काम, कर्म आदि का उद्भव हुआ तब उनका देह आदि के विभागपूर्वक भिन्न-भिन्न दिगन्तों में भ्रमण हुआ ऐसी कल्पना करने में अथवा एक ही विपश्चित् जीव के उपाधिविभाग से उनचास मरुतों की भाँति चार जीव हुए ऐसी कल्पना में भी एक की मुक्ति होने पर सब की मुक्ति का प्रसंग नहीं होगा।

यदि कोई कहे कि बहुत जीवों के मेलन से एक जीव का आरम्भ होने पर उस नवीन जीव को कर्मों के अभाव में संसार प्राप्ति न होगी यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि आरम्भवाद से नवीन जीव की उत्पत्ति नहीं मानी जाती है। गंगा और यमुना के जल को मिलाने से दोंनों के एक होने पर नूतन गंगा की बुद्धि न होने से वही यह गंगा है ऐसी प्रत्यभिज्ञा में कोई बाधा नहीं आती। इसी प्रकार एक जीव के चार जीव बन जाने पर प्रत्यभिज्ञा से दो उपाधियों के मिलकर एक हो जाने पर उपहितों का भी मिलकर एक हो जाना सकल प्रतीतिसिद्ध है। एक होने से भी प्राक्तन कर्मभोग हो सकता है। इस प्रकार एक जीव के चार जीव बन जाने पर प्रत्यभिज्ञा से चारों का प्राक्तन जीव के साथ अभेद होने से उसके काम, कर्म और वासनाओं का चार प्रकार से विभाग से व्यवस्था होने के कारण उनके संसार की उपपत्ति तथा एकको मुक्ति होने पर भी दूसरे को ज्ञान न होने से संसार-प्राप्ति होती है। इस प्रकार मुक्तिरूप फल वैकल्पिक तथा परिच्छिन्न ठहरेगा। जैसे व्यष्टि जीवों की मुक्ति होने पर भी समष्टि हिरण्यगर्भरूप जीव की अधिकार की समाप्ति में मुक्ति होती है वैसे ही यहाँपर भी व्यवस्था उपपन्न है। समष्टि जीवरूप हिरण्यगर्भ का तत्त्वज्ञान व्यष्टि जीवों की मुक्ति न होने पर वैकल्पिक तथा परिच्छिन्न मोक्षरूप फलवाला नहीं माना जाता है। जहाँपर व्यष्टि और समष्टि के अभेद के

रहते भी मुक्तिसंकर नहीं है वहाँपर वर्तमान जीवभेद होने पर केवल प्राचीन जीव के अभेदमात्र से मुक्तिसंकर की आपत्ति का अवसर ही कहाँ है । 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' (स्वात्मज्ञानप्राप्तिकाल में सुख, दुःख मोहरूप सकल प्रपंचरूप माया की निवृत्ति हो जाती है) यह श्रुति भी तत्–तत् जीवों की उपाधिभूत सकल बीजों की निवृत्ति का प्रतिपादन करती है । अन्यथा एक की मुक्ति से ज्ञानविहीन सकल जीवों की मुक्ति का प्रसंग प्राप्त होगा और 'तद् यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (देवताओं में जो जो आत्मज्ञानी हुआ वह वह ब्रह्म (मुक्त) हुआ, ऋषियों में जो जो प्रबुद्ध हुआ वह मुक्त हुआ और मनुष्यों में जो जो आत्मज्ञानी हुआ वह मुक्त हुआ), 'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः' (बहुत से लोग ज्ञानरूपी तपस्या से पवित्र होकर मत्स्वरूपता को प्राप्त हुए हैं) इत्यादि अनेक श्रुतियाँ और स्मृतियाँ व्यर्थ हो जायेगी । यदि कोई कहे कि तब तो आधुनिक मन्द अधिकारी भावी अनेक जन्मों से प्राप्त होने वाले मोक्ष की आशा से साधनों का अनुष्ठान नहीं करेगा, क्योंकि उसे यह आशंका रहेगी कि मुझ एक जीव के अनेक जीव होने से कहीं पर मोक्ष होनेपर भी कहीं पर बन्धनानुवृत्ति की निवृत्ति न होगी ऐसी स्थिति में अनिर्मोक्ष शंका की निवृत्ति न होगी । ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि मोक्षसाधन के अनुष्ठान में प्रवृत्ति होती है, स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' (इस धर्म का थोड़ा भी अंश महान् भय से रक्षा करता है), 'नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति', 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' (अनेक जन्मों में सिद्धि को प्राप्त होकर तब परम गति को, मुक्ति को प्राप्त होता है), इस स्मृतिरूप प्रमाण के अनुरोध से आनेवाले जन्मों में नाना जीव रूप से अविभाग का अथवा विभाग होनेपर भी साधन संस्कारों के साथ ही विभाग से सर्वत्र क्रमशः अवश्यमेव ज्ञानोदय का अनुमान होने से साधनों के अनुष्ठान में प्रवृत्ति की उपपत्ति होती है । उसी प्रकार भिक्षुजीवटोपाख्यान के साधनानुष्ठानवाले भिक्षु के प्रमादवश हुए संकल्पों से प्राप्त नानाजीवता के अन्त में शतरुद्रभाव होने पर उसके विभागरूप सब जीवों की ज्ञानप्राप्ति और मुक्ति का वर्णन है । यदि कोई कहे इस प्रकार सर्वजीवों की मुक्ति की अनापत्ति हो जायेगी, यह इष्टापत्ति ही है ; क्योंकि मायादृष्टि से माया की अनन्तता की 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा' 'नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम् ।' इत्यादि स्मृतियों से सिद्ध है । तत्त्वदृष्टि से तो जीव ही नहीं है, ऐसी अवस्था में किसकी मुक्ति की अनापत्ति होगी ? यदि कहो कि 'अतोऽन्यदार्तम्' इस श्रुति से विरोध आयेगा सो भी नहीं कह सकते, क्योंकि उस श्रुति की केवल एक व्यक्ति की आर्ति से भी उपपत्ति हो जायेगी । प्रवाह की अनन्तता में भी कोई विरोध नहीं आयेगा चरम व्यक्ति का नाश ही प्रवाहनाश है । सर्वजीव रूप संसार का चरम व्यक्ति ही प्रसिद्ध नहीं है, उसके नाश की प्रसिद्धि कहाँ से होगी ? प्रस्तुत में एक ही पश्चिम विपश्चित् को भगवान् की भक्ति के परिपाक से उत्पन्न हुए भगवान् के प्रसाद से ज्ञानप्राप्ति हुई औरों को नहीं हुई, इस कारण केवल उसीकी मुक्ति हुई । इसमें कुछ भी अनुपपत्ति नहीं है ।

तदुपरान्त दक्षिण विपश्चित् ने क्या किया ? इस संशय के उत्तर में कहते हैं ।

राजन्, दक्षिण दिशा को प्रस्थित विपश्चित् अपने शत्रुओं को मटियामेट कर आज भी शाल्मली द्वीप में राज्य करता है, कारण कि परमार्थ सत् वस्तु के लाभ से बाह्य पदार्थों का निश्चय उसे विस्मृत

नहीं हुआ। उत्तर की ओर प्रस्थित विपश्चित ने चंचल तथा आकाश की ओर उछलने वाली कल्लोलों से पूर्ण स्वादूदक सागर में एक हजार वर्ष तक मगर के पेट में निवास किया। मगर के पेट के मांस से अपनी गुजर करनेवाला वह मगर के मरने के बाद सागर से और मगर के पेट से मगर के समान बाहर निकला। तदनन्तर हिम के समान स्वच्छ जलवाले स्वादूदक सागर के अवशिष्ट अस्सी हजार योजन पारकर विशाल उदरवाली दस हजार योजन की सुवर्णमय महाभूमि में जहाँ देवता लोग विहार करते हैं, प्राप्त हुआ वहींपर उसकी मृत्यु हो गई ॥१९-२३॥ उस भूमि के बीच में मरकर वह विपश्चित् वैसे ही देवत्व को प्राप्त हुआ जैसे अग्नि के मध्य में पड़ा हुआ काठ क्षणभर में अग्निता को प्राप्त हो जाता है ॥२४॥ उक्त विपश्चित् देवश्रेष्ठ बनकर पूर्वजन्म की दिगन्तभ्रमण की वासना से वहाँ से लोकालोक पर्वत को गया, जो इस भूमण्डलरूपी वृक्ष का (📖) आलबाल-सा (थाला-सा) है ॥२५॥ उक्त लोकालोक पर्वत पचास हजार योजन ऊँचा है, उसका एक हिस्सा सूर्य के प्रकाश से लोगों के व्यवहार से परिपूर्ण रहता है और दूसरा हिस्सा लोकव्यवहार से शून्य रहता है ॥२६॥ लोकालोक पर्वतपर चढ़कर उसकी चोटीपर पहुँचे हुए तारों के लोक में स्थित उस देवभूत विपश्चित् को नीचे के लोगों ने ऊँचे नक्षत्र की आशंका से देखा ॥२७॥ उस जगह से वह लोकालोक महापर्वत के दूसरे भाग में गया, जहाँ अन्धकार ही अन्धकार है चारों ओर परिखाकार बड़ा भारी गड्ढा है जो आकाश के समान सब प्राणियों से शून्य तथा अनेक योजन विस्तृत है ॥२८॥ उसके बाद यह कन्दुकाकार (गेंदाकार) भूगोल समाप्त हो गया। उसके बाद अन्धकार से परिपूर्ण महापरिखाकार प्राणियों से शून्य आकाश है ॥२९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, उस परिखा में भँवरे के समान, काजल के समान और तमाल के समान आकाश के बीच में अन्धकार है। न पृथिवी है, न स्थावर जंगम प्राणी हैं और न आश्रय है। और न कभी किसी भी वस्तु का सम्भव ही है, ऐसा आप समझिए ॥३०॥

एक सौ छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सत्ताईसवाँ सर्ग

भूमि, नक्षत्रमण्डल आदि की स्थिति उसके पश्चात् आकाश तदनन्तर ब्रह्माण्ड के दो खप्परों का वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, यह निराधार भूगोल कैसे स्थित है, नक्षत्र मण्डल, जिसका कोई आधार नहीं है, कैसे भ्रमण करता है तथा आपने जिस लोकालोक पर्वत का वर्णन किया वह कैसा है यानी उसकी उक्त संज्ञा का क्या कारण है ? ॥१॥ **श्रीवसिष्ठजी ने कहा :** वत्स श्रीरामजी, जैसे बालक के संकल्प से परिकल्पित कन्दुक (गेंद) आकाश में रहता है वैसे ही हिरण्यगर्भरूपी बालक द्वारा परिकल्पित भूमि भी आकाश में टिकती है, गिरती नहीं है ॥२॥

अथवा मिथ्या होने से ही उसके पतन की शंका नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे तिमिररोग से पीड़ित नेत्रवाले रोगी को आकाश में केशचन्द्र आदि का (केशों के गोलों का-सा) दर्शन होता है वैसे ही चिदाकाश को सृष्टि के आदि में पृथिवी आदि का दर्शन होता है ॥३॥ जैसे संकल्पनगर किसी आधार से धार्यमाण नहीं दिखाई देता। यद्यपि संकल्पनगर काल्पनिक स्तम्भ,

(📖) सुमेरु पर्वत के शिखरों तक ऊँचा होने के कारण भूमण्डल वृक्षरूप कहा गया है।

दीवार आदि के आधार में रहता है तथापि काल्पनिक स्तम्भ आदि के अवास्तविक होने से उनसे धारण किया हुआ नहीं है, वही दशा पृथिवी आदि की भी है ॥४॥

अथवा सब वस्तुओं के स्वभाव की सिद्धि चित् के अधीन है किसी से धारण न की गई गोल आकारवाली भूमि का, जो चित् से सिद्ध है, वैसे ही स्वभाव का अनुमान करना चाहिये, इस आशय से कहते हैं।

चित् होने से स्वभावतः चित् में जिस वस्तु का जिस प्रकार से जबतक भान होता है सर्वत्र उस वस्तु का उस प्रकार का स्वभाव उतने समय तक प्रतीत होता है ॥५॥

'केशचन्द्र आदि का दर्शन' यहाँपर केशदर्शन का स्पष्टीकरण करते हैं।

जिस पुरुष के नेत्रों में तिमिररोग होता है उसे जिस प्रकार आकाश में केशों का वर्तुलाकार गोला दिखाई देता है वैसे ही चिन्मात्र को जो भूगोल की (पृथिवीरूपी गेंद की) प्रतीति हुई वह भ्रान्तिरूप से ही स्थित है ॥६॥

नदी आदि का नीचे की ओर बहना आदि स्वभाव से विपरीत स्वभाव का भी यदि कहीं चित् द्वारा अवभास होता तो उसके भी अस्तित्व की ही प्रतीति होती असत्त्व की प्रतीति नहीं होती जैसे कि स्वप्न में जाग्रत से विपरीत स्वभाव की प्रतीति होती है, ऐसा कहते हैं।

यदि सृष्टि के आदि में चित् में ऊपर को प्रवाहित होनेवाली नदियों की तथा नीचे की ओर ज्वालावाले अग्नि की प्रतीति होती, जैसे कि स्वप्न में प्रतीति होती है, तो वह विपरीत प्रतीति आज भी वैसे ही स्थित रहती ॥७॥

इसी कारण तत्–तत् वादियों की भूमि का निरन्तर नीचे गिरना, ऊपर जाना, घूमना, तैरना आदि कल्पनाएँ भी तत्–तत् वादियों की बुद्धि में अवच्छिन्न चितसत्ता से सत्य ही हैं, इस आशय से उपसंहार करते हैं।

कोई वादी मानते हैं पृथ्वी गुरु होने से निरन्तर महाकाश में गिरती है। आकाश के अधःप्रदेश की अवधि न होने से इसका गिरना कहींपर भी नहीं रुकता, बहुत बड़ी होने से उसका पतन हमारे दृष्टिगोचर नहीं होता है। ज्योतिश्चक्र (ज्योतिर्मण्डल), जो दोनों ओर से मेरुपर्वत पर जुड़े हुए दक्षिण और उत्तर ध्रुव में बँधा है, पृथ्वी के साथ ही गिरता है। वह अत्यन्त हलका होने के कारण गिरने से ही अनादिकाल से घूमता है। कोई लोग यह मानते हैं कि 'योऽप्सु नावं प्रतिष्ठितां वेद प्रत्येव तिष्ठति' इस श्रुति के अनुसार भूमि का आधार सागर है यानी भूमि सागर पर आधारित है। उसमें कहींपर न बँधी हुई भूमि नाव की नाईं घूमती रहती है और प्रलयकाल में सागर में डूब जाती है एवं सृष्टि के समय जल में फेंकी हुई तुम्बी की तरह ऊपर आ जाती है। दूसरे लोग यह मानते हैं कि भूमि के ऊपर, नीचे और अगल–बगल अगाध जल ही जल है। उसके अन्दर छिद्रों में भूमि के सात लोक हैं, जिनका कि मध्यभाग वायु से पूर्ण है। उनके मध्यभाग में स्थित वायु के अतीव हलका होने के कारण जलमग्न तुम्बी के समान सातों लोक सदा ऊपर की ओर जाते हैं। और लोग मानते हैं कि भूगोल के चारों ओर आकाश ही आकाश है। उसके असीम और गुरु होने के कारण मेरुपर्वत पर स्थित देवताओं की दृष्टि से दक्षिण भाग ही अधोभाग है, अतः दक्षिण से ही वह सदा

गिरता है। दूसरे असुरपक्षीय वादी पातालदेश को ही ऊर्ध्वप्रदेश मानते हैं। देवता जिसे ऊर्ध्वदिशा मानते हैं, उसको वे अपनी कपोल-कल्पना से अधोभाग मानकर गुरुतर भूमि का उत्तर से ही गिरना निश्चित करते हैं। इसी रीति से पूर्व और पश्चिम से भूमि के गिरने की कल्पना करते हैं। कोई वादी कहते हैं ज्योतिर्मण्डल (सौरपरिवार) नहीं घूमता, किन्तु पृथिवी ही अपनी जगह पर घूमती है। भूमि का चलना हम लोग नहीं देख पाते। जैसे नाव में सवार हुए लोग पेड़ों का चलना देखते हैं वैसे ही हम ज्योतिर्मण्डल का घूमना देखते हैं। अन्य लोग कहते हैं भूमि ही सबकी अपेक्षा नीची है। उसके चारों ओर स्थित लोगों की दृष्टि से उनके शिरःप्रदेश से उपलक्षित सकल दिशाएँ ऊर्ध्व दिशाएँ हैं। उन दिशाओं में गुरुतावश जिस दिशा में पृथिवी के पतन की संभावना की जाय वह दिशा ही निश्चित नहीं है, विनिगमक कोई न होने से पृथ्वी कहींपर भी नहीं गिरती है, अपनी जगह पर ही निश्चल रहती है। पूर्वोक्त सभी वादियों की स्वबुद्धि में अवच्छिन्न चित् की सत्ता से सब कुछ सत्य है। वास्तविक में कुछ भी सत्य नहीं है, यह अभिप्राय है ॥८॥ यदि पृथिवी का बुद्धि अवच्छिन्न चैतन्य में यह निश्चल है, यों भान हो तो वह निश्चल ही प्रतीत होगी। जो प्राणी रात-दिन अप्रतिहत नेत्र हैं, उनकी दृष्टि में यह सदा प्रकाशवाली है तथा जन्मान्ध लोगों की दृष्टि में सदा ही प्रकाशशून्य है ॥९॥

इसी प्रकार सत्वादी तथा असत्वादियों का चिद्भान के अनुसार सौरपरिवार तथा पृथ्वी मण्डल वैसे ही (सत् अथवा असत्) है, ऐसा कहते हैं।

केवल चिद्भान के अनुसार यह सारा का सारा नक्षत्र-मण्डल तथा पृथिवी असत् ही अथवा सत् ही प्रतीत होती है ॥१०॥

दो प्रश्नों का उत्तर हो चुकने पर तृतीय प्रश्न का उत्तर देते हैं।

यह पृथिवी लोकालोक पर्वत तक व्याप्त है। बस इतना ही इसका परिमाण है उसके अनन्तर वलयाकार (गोल)गड्ढा है और उसमें एकमात्र समुद्राकार महान् अन्धकार स्थित है। कहीं-कहीं पर (लोकालोक पर्वत के दो शिखरों के मध्य में) थोड़ा बहुत धूप का भी प्रवेश है ॥११॥

उस पर्वत का लोकालोक नाम पड़ने में निमित्त कहते हैं।

परिखा के चारों ओर रहनेवाले नक्षत्रमण्डल के अतिदूरदर्शी होने तथा पर्वत के पर्यन्त किसी भाग में अन्धकार रहता है और किसी भाग में प्रकाश रहता है, इसलिए वह लोकालोक (लोक-अलोक) है ॥१२॥ लोकालोक पर्वत के परले पार स्थित आकाशमण्डल से अतिदूर चारों ओर नक्षत्रमण्डल परिभ्रमण करता है ॥१३॥

नक्षत्र मण्डल नीचे और ऊपर कहाँतक विस्तृत है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं।

पाताल से लेकर द्युलोक तक वह नक्षत्र मण्डल आकाश में बँधा है। सबसे ऊँचे स्थित ध्रुव को छोड़कर और सारा नक्षत्रमण्डल चारों ओर भ्रमण करता हुआ दशों दिशाओं में संचार करता है ॥१४॥ यह नक्षत्रमण्डल लोकालोक पर्वत के शिखरपर पाताल सहित सारी पृथ्वी की प्रदक्षिणा करता है और वह चित् की कल्पना से अतिरिक्त नहीं है ॥१५॥ लोकालोक पर्वत सहित भूलोक से दुगुने आकाशमण्डल के अनन्तर पके हुए अखरोट के कड़े छिलके के समान नक्षत्रमण्डल स्थित है ॥१६॥ भूलोक से दुगुने

आकाश से नक्षत्रमण्डल का अन्तर्दलविस्तार दुगुना है दिशाओं में घुमने की स्थिति बेल के छिलके के समान है ॥१७॥ शबल ब्रह्म का सत्य संकल्पात्मक जिस प्रकार का कथन है, वही इस प्रकार के संनिवेश से यानी ब्रह्माण्ड और उसके अवयवरूप से जगत् की स्थिति है ॥१८॥ उसके बाद नक्षत्रमण्डल से दुगुना पूर्वोक्त आकाश से दूसरा आकाश है और वह कहीं पर प्रकाश से जगमगाता है और कहींपर गाढ़ अन्धकार से व्याप्त है ॥१९॥ उस आकाश के आखिरी छोरपर ब्रह्माण्डकपाल है। उनमें एक कपाल ऊपर है और एक नीचे है। इन दोनों के बीच में आकाश है ॥२०॥ एक अरब योजन विस्तीर्ण वज्र के समान कड़ा और मजबूत कल्पनामात्रस्वरूप परमार्थरूप में आकाश का विकार पंचीकृत भूतकार्यरूप आकाश चिदाकाश ही है, उससे पृथक् नहीं है, वह आकाश में स्थित है ॥२१॥ महागोलाकार आकाश में ज्योतिर्मण्डल सभी ओर व्याप्त रहता है। ऐसी परिस्थिति में इस ज्योतिश्चक्र में क्या ऊपर है, क्या नीचे है, क्या पूर्व है, क्या पश्चिम है ? यदि है तो सभी ऊपर है, सभी नीचे है सभी पूर्व तथा पश्चिम है ॥२२॥ सब वस्तुओं का गिरना, उड़ना, तिरछे चलना तथा एक जगह खड़ा रहना जो प्रतीत होता है वह सब प्रत्यगात्मा का अवभासन ही है, वह वास्तविक नहीं है यानी वस्तुतः वस्तुओं का न गिरना है, न उड़ना है, न गमन है, न आगमन है, न स्थिति है। कुछ भी नहीं है, पतनादि होने में अद्वैतविरोध होगा, यह भाव है ॥२३॥

एक सौ सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ अट्ठाईसवाँ सर्ग

अन्धकारपूर्ण गड्ढे को तथा ब्रह्माण्ड के आवरणों को पारकर विपश्चितों का अविद्या में भ्रमण का वर्णन।

यदि श्रीरामजी की ओर से यह आशंका हो कि ज्योतिश्चक्र तथा उसके विस्तार आदि का परिज्ञान आपको किस प्रमाण से हुआ तो इस पर कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, हमारे सदृश योगी जनों को योग ज्ञानाभ्यास से शोधित जो शुद्ध तत्त्वबोध यानी सर्वजगत् तत्त्वसाक्षात्कार है, तद्रूप आतिवाहिक शरीर से इन सबका प्रत्यक्ष होता है। आधिभौतिक स्थूलरूप से प्रत्यक्ष या अनुमान नहीं होता है। यह जो मैंने लोका-लोक, ज्योतिश्चक्र आदि का अवयवसंगठन आपसे कहा, वह स्वयं दृष्ट जगत्स्वप्न में प्रसिद्ध है अन्य लोगों द्वारा दृष्ट जगत्स्वप्नों में प्रसिद्ध मैंने नहीं कहा। अन्यान्य ब्रह्माण्डान्तरों के जगत्स्वप्नों में भी ऐसी ही स्वभावतः स्थिति (अवयवसंघटना) है और कहींपर इससे विलक्षण भी है ॥१,२॥

यदि श्रीरामजी कहें कि यदि अन्याय ब्रह्माण्डों का स्वरूपगठन विलक्षण है, तो उसे भी कहने की कृपा कीजिये, इस पर कहते हैं।

अन्यान्य जगत्स्वप्नों के अवयवसंगठन के वर्णन से यहाँ क्या प्रयोजन है ? बुद्धिमान् पुरुषों को उपयोगी बातों के सिवा और बातें नही रुचतीं ॥३॥ हे पण्डित लोगों, उस उत्सर्ग से सब ब्रह्माण्डों के मध्य में सब द्वीप और सागरों की उत्तर दिशा में मेरु पर्वत है, लोकालोक पर्वत दक्षिण दिशा में है। इस प्रकार समस्त भूतसमूह के विषय में जिनकी जिज्ञासा है, उनका अनुमान हो ॥४॥

जो अवान्तर विशेष हैं, उनका वहाँ के रहनेवाले लोग ही प्रत्यक्ष करते हैं यहाँ के रहनेवालों को

उनका प्रत्यक्ष नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

वहाँ पर जो और और जगद्भ्रम हैं, उनका वहाँ के निवासियों को प्रत्यक्ष होता है। उस तरह की अपनी अवयवरचना से शोभित होनेवाले वे हम लोगों के प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं। सब द्वीप और सागरों के उत्तर में मेरु पर्वत है और दक्षिण में लोकालोक पर्वत है, ऐसा निश्चय सात द्वीपों में रहनेवालों का ही है, ब्रह्माण्ड से बाहर रहनेवालों का ऐसा निश्चय नहीं है ॥५,६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, अब आप प्रस्तुत विषय को सुनिये। ब्रह्माण्ड के दो खप्पर जिनका कि विस्तार पूर्वोक्त एक अरब योजन है, उनसे बाहर दसगुना जल (जलावरण) स्थित है। वे ब्रह्माण्ड के खप्पर ही पार्थिवभाग होने से अपनी आकर्षणशक्ति से जल को ऐसे ही नित्य धारण करते हैं जैसे कि तृणचुम्बकमणि अपनी आकर्षणशक्ति के स्वभाव से तृणों को धारण करती है अथवा जैसे कल्पवृक्ष अर्थियों से वांछित रत्नों को धारण करता है ॥७,८॥

तब तो मेघों से गिरे हुए जलबिन्दु, ओले आदि समुद्र, नदी आदि में नहीं गिरेंगे, कारण कि जल में आकर्षणशक्ति का अभाव है, किन्तु दूर से भी तीरभूमि में आकर वहीं गिरेंगे, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं।

जैसे कल्पवृक्ष रत्नों का आधार है, वैसे ही सदा सभी पदार्थों का आश्रय पार्थिव भाग ही है, इसलिए ये जलवृष्टि आदि पृथिवीपर प्रचुरमात्रा में गिरते हैं ॥९॥ पूर्वोक्त ब्रह्माण्ड के आवरणभूत जल से बाहर जल से दसगुना आकाश के समान देदीप्यामान इन्धनशून्य तेज स्थित है ॥१०॥ ब्रह्माण्डआवरणभूत तेज से बाहर दसगुना विस्तारयुक्त वायु स्थित है, वायु से बाहर दसगुना निर्मल आकाश स्थित है। उसके बाद परमशान्त असीम ब्रह्माकाश (अविद्याशबलित ब्रह्माकाश) है, वह अविनाशी, न प्रकाश है और न अन्धकार है, महाविज्ञानघन सुषुप्तितुल्य है ॥११,१२॥ आदि, मध्य और अन्त से (जन्म, स्थिति और विनाश से) शून्य महाचित् नामवाले, सर्वात्मक लोहघन के समान छिद्रशून्य निर्वाणरूपी उस ब्रह्ममहाकाश में दूर-दूर वैसे करोड़ों ब्रह्माण्ड बार-बार उत्पन्न होते हैं और विलीन होते हैं ॥१३,१४॥

वह कौन कारण है, जो करोड़ों ब्रह्माण्डों को विकसित करता है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

कचनरूपी सम ब्रह्म में करोड़ों ब्रह्माण्डों को विकसित करनेवाला कोई भी नहीं है, किन्तु कचनस्वभाव वह ब्रह्म ही अपने में अविद्यावश तादृशरूप से स्थित है ॥१५॥

प्रश्नों के उत्तर का उपसंहार कर अब प्रस्तुत विषय सुनाते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह दृश्यानुभव क्रम आदि से अन्त तक सारा का सारा मैंने आपसे कहा अब आप लोकालोक पर्वतपर विपश्चित् का जो हाल हुआ उसे सुनिये ॥१६॥ खूब अभ्यस्त पूर्व संस्कार से (दिगन्तदर्शनउद्योग के संस्कार से) सम्पन्न उस प्रकार के सजीव निश्चय से प्रेरित विपश्चित् लोकालोक पर्वत के शिखर से परे पूर्वोक्त अन्धकार गर्त में प्रविष्ट हुआ ॥१७॥ वहाँपर उसने अपने देवशरीर को पर्वतशिखर के सदृश अत्यन्त महान् गीध आदि द्वारा नोच-नोचकर खाया गया देखा। तदुपरान्त अपने पूर्वचिन्तित दिगन्त दर्शन में अपने मनोमय देह को ही प्रवृत्त देखा ॥१८॥ जहाँपर उसकी मृत्यु हुई थी, वह प्रदेश पुण्यमय था यानी स्थूल देह के विषय संस्कार के उद्बोधक चार प्रकार के प्राणिसमूहों से शून्य था, उस देश की महिमा से निर्मल आशयवाले विपश्चित् को आतिवाहिक शरीर में आधिभौतिकता

की प्रतीति नहीं हुई अर्थात् उसे आतिवाहिकता का विस्मरण नहीं हुआ ॥१९॥ उक्त विपश्चित् जिसका ज्ञान स्थूलदेह से अतिरिक्त केवल आत्मा को विषय करता था, उससे अधिक स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से अतिरिक्त शुद्ध चिन्मात्र आत्मा को विषय करनेवाले बोध को प्राप्त नहीं हुआ था, इससे दिगन्तदर्शनरूप कार्य को असमाप्त समझकर गमन स्वभाव के अनुकूल हुआ यानी दिगन्तदर्शनरूप कार्य से विरत नहीं हुआ ॥२०॥

देहविहीन चित्त बाहर कैसे जाता है ? देह के बिना चित्त का बाहर संचार स्वीकार करने पर भी पहले विपश्चित् की देवता के शरीर से भी आकाशमार्ग में अप्रतिहत गति रही । देवशरीर का नाश होने पर भी मनोमय देह से आकाशमार्ग में चल रहे उस विपश्चित् का पूर्व देवशरीर से मनोमात्र देह में क्या विशेष हुआ ऐसा श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिश्वर, यह चित्त शरीर के बिना कार्य में कैसे गमन करता है ? यदि शरीर के बिना भी गमन मान लिया जाय तो भी आतिवाहिक देह से मनोमय देह में अधिक बोध कैसा होता है ? ॥२१॥

श्रीवसिष्ठजी उक्त प्रश्नों में से पहले प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हैं ।

जैसे अन्तःपुर में निवास करनेवाले का यह मन संकल्परूपी पथिक के रूपमें बाहर गमन करता है वैसे ही इसका मन बाहर प्रसृत हुआ । भाव यह कि संकल्प को मार्गगमन में देह की अपेक्षा नहीं होती है ॥२२॥ भ्रान्ति में , स्वप्न में, मनोरथ में, मिथ्या ज्ञान में तथा औपन्यासिक कथाओं के श्रवण में जैसे मनका संचार होता है वैसे ही उस मन का प्रसार हुआ ॥२३॥

दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हैं ।

जिस शरीर में भ्रम, स्वप्न, मनोराज्य आदि का प्रसार होता है, वह शरीर आतिवाहिक है । उस आतिवाहिक देह में ही कालवश आतिवाहिकता के विस्मरण से आपकी आधिभौतिकताबुद्धि उत्पन्न होती है ॥२४॥

कब आधिभोतिकता की निवृत्ति से आतिवाहिकता का शेष होता है, इस प्रश्नपर कहते हैं ।

विचार से सर्परज्जु–भ्रान्ति के तुल्य यह आधिभौतिक शरीर जब अन्तर्हित हो जाता है तब आतिवाहिक शरीर अवशिष्ट रहता है ॥२५॥

आतिवाहिक शरीर की निवृत्ति से चिन्मात्र का शेष होने में भी विचार ही साधन है, इस आशय से कहते हैं ।

हे श्रीरामजी, इस आतिवाहिक देह का 'तेजसा सोम्य शुंगेन सन्मूलमन्विच्छ' (हे सौम्य, तेजरूपी मूल से सन्मूल की खोज करो) इस श्रुति द्वारा प्रदर्शित तत्त्वज्ञान के उपाय से भली–भाँति तब तक विचार कीजिये जब तक कि इसमें चिन्मात्र से अतिरिक्त कुछ नहीं है यह प्रतीति न हो ॥२६॥

निर्विषय चिन्मात्र प्रसिद्धि का तो पहले अनेक बार वारण किया ही जा चुका है, इस आशय से पहले अनेक बार उक्त आधे श्लोक को पुनः कहते हैं ।

एक देश से दूसरे देश की प्राप्ति होने में मध्य में जो संवित् का शरीर है एकरूप असीम इस चिन्मात्र का वह रूप प्रसिद्ध ही है ॥२७॥

उसमें द्वैतरूपी विषय और विषयप्रयुक्त राग, द्वेष आदि का प्रसंग ही नहीं है, ऐसा कहते हैं।

भला बतलाइये तो सही उसमें कहाँ द्वैत है, कहाँ द्वेष है और कहाँ राग आदि है सब कुछ शिव आदि अन्तविहीन परम बोधरूप ही है ॥२८॥ मनके मनन से शून्य शान्त जो अवस्थिति है वही उत्तम बोध है, आतिवाहिक देह में स्थित विपश्चित् उस बोध को प्राप्त नहीं हुआ, किन्तु उसे केवल आतिवाहिक देह में आत्मप्रतीति हुई थी अतएव उसने अपने मन को आगे चलते हुए देखा। आतिवाहिक देह से उसने गर्भवास के तुल्य अन्धकार देखा। तम के अन्त में उसने ब्रह्माण्ड खप्पररूप भूमि के खण्ड को (दो खप्परों के सम्पुट भागों के सन्धिभूत भूखण्ड को) पाया जो वज्र के समान दृढ़, सुवर्णमय और करोड़ों योजन विस्तीर्ण था। ।२९-३१॥ उसके अन्त में उसे उस भूखण्ड से आठगुना जल मिला। वह द्वीप के अन्त में ब्रह्माण्डखप्पर भूमि के ही समानान्तर में सागर के पृष्ठ के समान स्थित था। जल का निराधार रहना सम्भव नहीं है, अतः वह ब्रह्माण्डकपालखण्ड का अवलम्बन कर उसी के समान विभक्त होकर स्थित था, यह भाव है ॥३२॥ उक्त जल को लाँघकर उसके बाद वह सूर्यों के समूह की नाईं भीषण प्रलयाग्नि की घनघोर ज्वालाओं के पिण्डीभूत कोटर के समान चमकीले तेज को प्राप्त हुआ। आशय यह कि तैजस आदि आवरणों को जल की तरह आधार की अपेक्षा नहीं है, इसलिए सन्धि का विभाग न होने से पिण्डकोटर के तुल्य देदीप्यमान यह कथन है ॥३३॥ तैजस आवरण में भ्रमण कर रहे उस विपश्चित् ने दाह, शोक आदि से मुक्त मनोमय देह से उसके उत्तरवर्ती वायुरूप आवरण में गमन जाना ॥३४॥

उसका उक्त गमन प्रायः स्वप्न की कल्पना के तुल्य रहा वास्तविक नहीं रहा यह 'बुबुधे' पदका तात्पर्य बतलाते हैं।

पहुँचाये जा रहे उस विपश्चित् ने आतिवाहिक आत्मा को जाना और चित् मात्ररूप मेरा कौन-सा वहन होगा यह भी जाना ॥३५॥ इस बोध से उक्त धीरात्माने उस वायुसागर को पार किया और उसके बाद वह उससे दस गुने विस्तृत आकाश में पहुँचा ॥३६॥ आकाश को लाँघकर वह असीम अविद्याशबल ब्रह्माकाश में पहुँचा। जिसमें सब कुछ विलीन होता है, सब कुछ जिससे आविर्भूत होता है जो कुछ भी नहीं है। वहाँ पर मनोमय देह से भ्रमण करता हुआ वह संस्कारवश अत्यन्त दूर तक गया। उसने उसमें पृथिवी, जल, तेज, वायु और जगत् देखा। फिर संसार की रचनाएँ देखीं, फिर सृष्टियाँ देखीं और दिशाएँ देखीं। फिर पर्वत देखे, फिर आकाश देखा , फिर देवता देखे, फिर मनुष्य देखे, फिर पंचमहाभूतों के पर्यन्त में अत्यन्त घन ब्रह्म देखा, फिर उसमें खूब जगत् देखे, फिर सृष्टियाँ देखीं, फिर दिशाएँ देखीं, मायाशबल ब्रह्माकाश देखा। उसके बाद फिर दूसरी अवस्थित सृष्टियाँ देखीं। इस प्रकार दीर्घकाल तक विहार करता हुआ वह आज भी विहार कर रहा है। चिरकाल से अभ्यस्त अपने जगत्सत्यतानिश्चय से वह विरत नहीं होता है। अविद्या का अन्त है ही नहीं, सत्य स्वभाव की आलोचना की जाय, तो वह ब्रह्म ही है। वस्तुतः परिपूर्ण ब्रह्म में अविद्या नहीं है। यह दृश्य है यह अविद्या है यह विकसित आत्मा है। जो ब्रह्म आपने जाग्रत में और स्वप्न में जैसी वासना के आविर्भाव से पहले देखा, इस समय देखते हैं और आगे भी देखेंगे वह ब्रह्म वैसा ही था, है और रहेगा ॥३७-४४॥

इसीलिए यह जगत् सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय ही है, ऐसा कहते हैं।

यह था, है और होगा इस प्रकार का क्रमयुक्त जगत् का भान अविद्यामात्र ही है। बन्द किये गये नेत्रों में तैमिरिक चक्र के समान महान् प्रतीत होता है। वह केवल चिन्मात्ररूपसे सत् नहीं है, प्रतिभास्वरूप इस अज्ञदृष्टि प्रसिद्धि से तो असत्आकार नहीं है, इसलिए दोनों दृष्टि के प्रमाण होने पर अनिवर्चनीय ही है ॥४५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, वह विपश्चित् आज भी तत्त्वज्ञान न होने के कारण उन पूर्वदृष्टों में ही और उनके सदृश अन्य वासनामात्र होने से अत्यन्त सूक्ष्म विराटों के अन्दर प्रसिद्ध जगतों से वनभागों में मृग के समान अपनी वासना की उत्कटता से बार–बार घूमता है ॥४६॥

एक सौ अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ उनतीसवाँ सर्ग

बचे हुए दो विपश्चितों के वृत्तान्त का वर्णन तथा उनमें से
एक की मृगता के अन्त में श्रीरामचन्द्रजी से भेंट का वर्णन।

एक विपश्चित् भगवान श्रीविष्णु के अनुग्रह से ज्ञान पाकर मुक्त हो गया और दूसरा आज भी अविद्या में भ्रमण कर रहा है यह सुनकर बचे हुए दो विपश्चितों का समाचार श्रीरामचन्द्रजी श्रीवसिष्ठजी से पूछते हैं।

चन्द्रलोक में और शाल्मली द्वीप के राज्य में रोके हुए तथा भोगों की असारता को जाननेवाले उन दो विपश्चितों के (पूर्व और दक्षिण दिशा को प्रस्थित विपश्चितों के) पीछे पूर्वोक्त वृत्त के अनन्तर आगे दिगन्तदर्शन वरका क्या हाल हुआ ? ॥१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : उनमें से एक विपश्चित् चिरकाल से अभ्यस्त वासना से विवश होकर विविध शरीरों से भिन्न–भिन्न द्वीपों में भ्रमण करता हुआ उत्तर विपश्चित् की पद्धति को (ब्रह्माण्डों के जलादि आवरणों के लंघन द्वारा शबल ब्रह्म में करोड़ों संसारों में भ्रमणरूप पदवी को) प्राप्त हुआ। परमाकाशरूपी खोखले में उसी प्रकार (उत्तर विपश्चित् की ही तरह) ब्रह्माण्ड के आवरणों को एक के बाद एक छोड़कर करोड़ों संसारों को देखता हुआ आज भी उसी अवस्था में स्थित है। उनमें से 'दूसरा यानी पूर्व को प्रस्थित विपश्चित् चन्द्रमा के समीप में स्वयं अभ्यस्त चन्द्रमृग में अतिशय प्रेमरूप आसक्ति के कारण चन्द्रमा के साथ प्रतिभास अत्यन्त भ्रमण कर रहे अपने शरीरों से युक्त होकर उनका त्याग कर चुकने के बाद आज मृग बनकर पर्वत पर स्थित है ॥२–४॥

राजा विपश्चित् के अन्तःकरण और शरीर का चार प्रकार से विभाग होने पर भी एकरूप वासना का विभाग अथवा अधम और उत्तम फलका भेद संभव नहीं है, यों श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

हे गुरुवर, चारों विपश्चितों की एक ही वासना जो सदा उचित थी, वह अधम और उत्तम फल देने वाले भेद को कैसे प्राप्त हुई ? दिगन्तदर्शनरूप उत्कट अभिलाषा सबकी एक ही थी फिर भी किसी की मुक्ति हो गई, कोई अविद्या में लगातार चक्कर लगा रहे हैं, तथा कोई मृग बन गया ऐसा भेद कैसे हुआ ? यह आशय है ॥५॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी प्राणी की खूब अभ्यास को प्राप्त हुई वासना देश, काल और कर्म वश कोमल और अत्यन्त परिपाक से बद्धमूल होती है। कोमल वासना भेद को प्राप्त होती है पर परिपाकवश बद्धमूल वासना भिन्न नहीं होती है ॥६॥

वासना की एकता और विभाग में क्या हेतु हैं ? उस पर कहते हैं।

देश, काल, कर्म आदि की एकता वासना की एकता है यानी जब भोग्य फल के अनुकूल देश, काल, कर्म, प्रयत्नरूप सामग्रियों की एकता होती है, तब उनके अनुकूल समान विषय वासनाएँ भी एक होती हैं जब पूर्वोक्त सामग्रियों में भेद होता है तब वासनाएँ भी भिन्न होती हैं। लेकिन जब समान देश, काल, कर्म और फलवाली कोई वासना और भिन्न देश, काल, कर्म और फलवाली दूसरी वासना हो यों दो वासनाएँ उद्भूत हों तब उनके बीच में जो बलवती होती है, उसीकी जीत होती है ॥७॥ इस रीति से ये विपश्चित् एक साथ उत्पन्न विरुद्ध देश, काल आदि में भोग्य वासना के विभाग से उत्पन्न शरीर-भेद से चार होकर रहे। उनमें से आदि दो अविद्या के लिए वासनाओं से आकृष्ट हुए, एक मृग बनकर वासना का शिकार बना और एक की मुक्ति हो गई ॥८॥ भ्रान्तिपूर्ण बुद्धिवाले उन तीन विपश्चितों को आज भी अविद्या का अन्त प्राप्त नहीं हुआ। हजारों अज्ञानों से वृद्धि को प्राप्त हुई यह अविद्या निस्सीम है। इसका अन्त पा जाना कोई खिलवाड़ नहीं है ॥९॥ ज्ञानरूपी उजाला प्राप्त होने पर वह थोड़े से समय में शान्त हो जाती है, सूर्योदय होनेपर अन्धकारशोभा की नाईं निःशेष नष्ट हो जाती है ॥१०॥

इस समय पश्चिम विपश्चित् की जिस वृत्तान्त से मुक्ति हुई, उसको पुनः सुनाते हैं।

हे श्रीरामजी, अब विपश्चित् का अपनी वासना से कल्पित ब्रह्माण्ड में हुए वृत्तान्त का श्रवण कीजिये, ब्रह्माण्ड में अत्यन्त दूरवर्ती स्वादूदक सागर के परले पार स्थित स्वर्णभूमि प्रदेश में, किसी संसारभ्रान्ति में, ब्रह्मरूपी महाकाश में अध्यस्त किसी दृश्यमण्डल में, जो दृश्यरूप से प्राप्त हुआ था, वास्तव में ब्रह्मरूप ही था, वह पश्चिम दिशा को प्रस्थित एक विपश्चित् शान्ति, दान्ति भगवद्भक्ति आदि गुणों की प्राप्ति से जीवन्मुक्तों के बीच में जा पहुँचा, वहाँपर दृश्य को यथार्थ रूपसे पहचानकर पूर्णरूप से ब्रह्मत्व को प्राप्त हो गया (मुक्ति को प्राप्त हो गया)। उसकी वह जगदाकार अविद्या और वह क्षुद्र शरीर दोनों ही ज्ञान होने से वहीं पर मृगतृष्णाजल के समान शीघ्र ही बाधित हो गये, कारण कि वे दोनों रागमूलक थे, ज्ञानवश राग के नष्ट होनेपर वे विलीन हो गये। भगवती श्रुति ने कहा है : जब इसके हृदय में स्थित सभी काम मुक्त हो जाते हैं, छूट जाते हैं, उसके बाद मनुष्य अमर हो जाता है, यहीं पर मुक्तिरूप सुखका अनुभव करता है ॥११-१४॥

प्रस्तुत कथा का उपसंहार करते हैं।

इस प्रकार विपश्चितों का चरित्र आदि से अन्त तक सारा का सारा स्पष्ट रीति से मैंने आपसे कहा। इस प्रकार यह अविद्या कारणब्रह्म के तुल्य-सकल दिशाओं में विपश्चितों को इसका अन्त न मिलने के कारण-अनन्त है, कारण कि यह कारणब्रह्ममयी है ॥१५॥

अविद्या की कल्पना करनेवाले अज्ञातचित् की अनन्तता से अविद्या की अनन्तता है, यों ब्रह्मवत् (कारणब्रह्म की तरह) इस दृष्टान्त के कथन का तात्पर्य कहते हैं।

जो चित् करोड़ों वर्षों तक जहाँपर जाता है वहाँ वहाँ स्वभावतः कुछ न कुछ उसे दिखाई देता है ॥१६॥

'तन्मयी' इस कथन का भी तात्पर्य कहते हैं।

वह ब्रह्म ही अपरिज्ञात होकर शीघ्र मिथ्या, अविद्या आदि शब्दों से कहा जाता है, परिज्ञात होकर

शान्त और ब्रह्म कहा जाता है ॥१७॥

यदि शंका हो कि 'अविद्या' और 'ब्रह्म' यों भेद होनेपर वही है, यों अभेद कैसे ? इस पर कहते हैं।

यह भेद भेद नहीं है, क्योंकि यह भेद अविद्यामय ही है और अविद्या ब्रह्मरूप ही है। चिद्भास्य होने के कारण भी भेद चित् से पृथक नहीं है। वह ब्रह्म ही चिदाभास है, भिन्नता चिद्रूप ही है ॥१८॥

ज्ञानविहीन उत्तर विपश्चित् को सैकड़ों युगों में भी अविद्या का अन्त नहीं मिला, ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार ब्रह्माण्ड मण्डप के अन्दर भटक रहे अज्ञानी विपश्चितों को सैकड़ों युगों में भी अविद्या का अन्त नहीं मिला ॥१९॥

उत्तर विपश्चित् का ब्रह्माण्ड खप्पर के जोड़ के आकाशमार्ग से बाहर निकलना कैसे हुआ ? ब्रह्माण्डभंग का कोई हेतु कहा नहीं है, ऐसी परिस्थिति में ब्रह्माण्डआकाश का ही सम्भव नहीं है, इस अभिप्राय से श्रीरामचन्द्रजी आशंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, क्या विपश्चित् को ब्रह्माण्डकपाट ही नहीं मिला। हे वाग्मिवर, उसे तोड़कर जैसे वह बाहर निकला यह आपने मुझसे क्यों नही कहा ? ॥२०॥

श्रीवसिष्ठजी ब्रह्माण्ड के दो खप्परों के विभाग में पाषाणोपाख्यानोक्त कारण की याद दिलाते हैं।

पुराने जमाने में उत्पन्न होते ही श्रीब्रह्माजी ने अपनी दोनों भुजाओं से ऊपर और नीचे की ओर ब्रह्माण्डमण्डल को विदीर्ण किया ॥२१॥ उससे ऊपर का एक भाग ऊपर की ओर बहुत दूर तक चला गया और नीचेवाला भाग नीचे की ओर अत्यन्त दूर तक चला गया ॥२२॥ जल आदि ब्रह्माण्डआवरण ब्रह्माण्डखप्परों की तरह विभक्त होकर उन्हीं के आधार में स्थित हैं। खप्पररूप आधारवाले वे जल आदि आवरण उनमें स्थित होकर लटकते हैं। *अवलम्बनकर स्थिति तो सबकी समान है, विभाग केवल जलावरण का ही है, ऐसा पहले उपपादन कर चुके हैं* ॥२३॥ इन ब्रह्माण्डखप्परों के मध्य में अपार (पारिवाररहित) नीला–नीला–सा जो यह दिखाई देता है उसे आकाश कहते हैं। आकाश को अपार कहना अन्य भूतों की अपेक्षा विशालता के प्रतिपादन के लिए है। अन्यथा बाह्यआकाशावरण के पूर्वावरण की अपेक्षा दसगुने परिमाण की उक्ति की अनुपपत्ति हो जायेगी। उसके आगे ब्रह्माण्डाकाश का वर्णन भी न हो सकेगा ॥२४॥ उक्त आकाश में जल आदि आवरणों का स्पर्श नहीं होता है और वे उसमें हैं भी नहीं वह निर्मल जीवशून्य प्रलयपर्यन्त अन्य भूतों का आधार है ॥२५॥ अविद्या का आर पार देखने के लिये मोक्ष होने तक उक्त विपश्चित् नक्षत्रमण्डल की तरह आकाशमार्ग से गया ॥२६॥

तब तो दृढ़तर पुरुषप्रयत्न के अटूट रहने से अविद्या का अन्त उसने क्यों नहीं देखा ? ऐसी यदि किसी को आशंका हो तो अविद्या के अवास्तविक अनन्त ब्रह्मरूप होने से ही नहीं देखा, ऐसा कहते हैं।

अनन्तरूपा यह अविद्या ब्रह्म ही है। क्योंकि ब्रह्ममयी है। जब तक उसके तत्त्व का परिज्ञान नहीं होता तभी तक उसकी सत्ता है। तत्त्वज्ञान होने पर उसका अस्तित्व नहीं रहता है। इस प्रकार वे विपश्चित् ब्रह्माकाश में अत्यन्त दूर पहुँचकर अविद्या के जगत्‌रूप कतिपय अन्यान्य स्वरूपों में भ्रमण करते हैं। एक तो उनमें मुक्ति पा गया, एक मृग बना है, कोई दो प्राक्तन दृढ़ प्रबल संस्कार से विवश होकर आज भी कहींपर भ्रमण करते हैं ॥२७–२९॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिश्वर, यदि आपकी मेरे ऊपर कृपा है तो वे विपश्चित् किस प्रकार के कितने दूरवर्ती जगतों में भ्रमण करते हैं, यह मुझे

बतलाने का अनुग्रह कीजिये । हे मुनिश्वर, कितने मार्ग में वे संसार हैं, जिनमें वे उत्पन्न हुए, यह महान् आश्चर्यमय वृत्तान्त है, जो कि आपने हमसे कहा ॥३०,३१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, जिन जगतों में वे दोनों विपश्चित् स्थित हैं वे जगत् प्रयत्न से विचार करने पर भी हमारी बुद्धि के विषय नहीं हुए । हाँ, तीसरा विपश्चित् जहाँपर मृग योनि को प्राप्त होकर स्थित है, वह ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत अनन्त संसार के साथ संभवतः हमारी बुद्धि के विषय में स्थित है ॥३२,३३॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे महामते, मृगता को प्राप्त हुआ विपश्चित् जिस जगत् में स्थित है, वह जगत् कहाँ है ? यथार्थरूप से मुझ से उसका वर्णन करने की कृपा कीजिये ॥३४॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : परब्रह्माकाश में अत्यन्त दूर जाकर मृग बना विपश्चित् जिस जगत् में रहता है, उस जगत् को आप सुनिये ॥३५॥ वही यह जगत् आप जानिये जिसमें वह मृग विपश्चित् स्थित है, वही परमाकाश है जिसमें अत्यन्त दूर तक जगत् स्थित है ॥३६॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, वह विपश्चित् इसी जगत् से उस दिगन्तदर्शनरूप गति को गया । यहीं पर आज वह मृग बना है, यह कैसे युक्तियुक्त है ? जब तक वह लौटकर आये नहीं, तब तक उसका यहाँ मृगजन्म संभव नहीं है, यह भाव है ॥३७॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : जैसे अवयवी सदा सकल अवयवों को जानता है वैसे ही ब्रह्मात्मा में स्थित सकल ब्रह्माण्डों को मैं जानता हूँ । भाव यह कि यह दूर है, यह अत्यन्त दूर है, यह सब विचार आत्मा को परिच्छिन्न माननेवालों में ही सम्भव है । आत्मा को अपरिच्छिन्न जाननेवालों की दृष्टि में अवयवी की दृष्टि में अवयवों की भाँति सब कुछ अति समीप में ही है, यह मैं अपने अनुभव से कहता हूँ, यह सारांश है ॥३८॥

अन्य लोकों की दृष्टि में जो अत्यन्त अतीत है वह भी ब्रह्मदृष्टि से अत्यन्त समीपवर्ती ही है कालतः भी किसी की दूरता नहीं है, इस आशय से वसिष्ठजी ब्रह्माण्डों को विशेषण विशिष्ट कहते हैं ।

आगे चिरकाल में उत्पन्न होनेवाले होने से इस समय अनुत्पन्न, पूर्व काल में प्राप्त हुए संहार से युक्त विविध आकारवाले (अत्यन्त विलक्षण) परस्पर एक दूसरे से अदृश्य होते हुए भी एक चित् में अध्यस्त होने के कारण परस्पर अनुस्यूत अतएव पृथ्वी विकाररूप वस्त्र, तन्तु आदि के समान स्थित बहुत से ब्रह्माण्डों को मैं देखता हूँ । उन ब्रह्माण्डों से किसी के अन्य मार्ग में इस ब्रह्माण्ड के मार्ग के समान स्थित होने पर जो घटना हुई उसको मैंने आपके लिए इस ब्रह्माण्ड की-सी बनाकर यहींपर विपश्चित् के जन्म, राज्य आदि थे, यों वर्णन किया है क्योंकि तत्त्वतः और प्रकारतः अन्य ब्रह्माण्ड और यहाँ की घटनाओं में कोई विभेद नहीं है । विपश्चित् लोग अनन्ताकाश में अपनी-अपनी वासना से कल्पित अन्यान्य संसारों में उसी तरह के शरीरों से पूर्वोक्त उन उन दिगन्तरों में घूमे, एक में ही नहीं । उनमें से पूर्व विपश्चित्, जिसकी मति संसारभ्रमण से तब तक खिन्न नहीं हुई थी, अनेकानेक जगद्भ्रान्ति का भ्रमण कर काकतालीयन्याय से इसी ब्रह्माण्ड में किसी एक पर्वतगुफा में मृग हो गया । वह जगतों में भ्रमण करता हुआ जिस दूरवर्ती सृष्टि में विद्यमान है, वह यह सर्ग काकतालीयन्याय से ब्रह्माकाश में स्थित है ॥३९-४३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, यदि ऐसी बात है, तो वह किस दिशा में, किस मण्डल में, किस पर्वतपर और किस वन में मृग बनकर स्थित है ? क्या करता है, सस्यश्यामला भूमि में निवास करनेवाला

वह किस प्रकार दूब चरता है ? बुढ़ापे के समान शिथिल ज्ञानवाला वह कब अपने पूर्व विपश्चित्-जन्म का स्मरण करेगा ? ॥४४,४५॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : त्रिगर्त देशाधीश्वर ने जो मृग भेट में आपको दिया है वह अजायबघर में विद्यमान हैं उसे ही आप विपश्चित् जानिये ॥४६॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : उस सभा में यह बात सुनकर रामचन्द्रजी के आश्चर्य की सीमा न रही। उन्होंने मृग को लाने के लिए झुण्ड के झुण्ड बालकों को भेजा। इसके बाद बालकों द्वारा लाया गया वह भोला-भाला मृग विशाल सभा में प्रविष्ट हुआ। उस तगड़े और प्रसन्न मृग को सब सदस्यों ने आँखें फाड़-फाड़ कर देखा। वह अपने काले शरीर में सफेद बिन्दुओं से तारा रूपी बिन्दुओं से युक्त आकाश की शोभा मात कर रहा था, दृष्टिपातरूपी नील कमलों की लगातार वृष्टि से सुन्दरियों का भी तिरस्कार कर रहा था तथा उसके दर्शनों के लिए लालायित सभा का भी अनादर करने वाले सुन्दर सभय कटाक्षवीक्षणों से सभा के खम्भों पर जड़े हुए मरकतों की हरे रंग की कान्तियों को हरे तिनके समझकर खाने के लिए इधर-उधर चंचलता से दौड़ रहा था। कान, नेत्र और गर्दन ऊपर उठाकर अपने अस्थिर अनिवार्य चंचल वेगों से सभी सभासदों को देखने की उत्सुकता से या भागने की आशंका से व्याकुल कर रहा था। उस मृग को देखकर राजा, मुनि और मन्त्रियों के साथ सभी लोग भगवान की माया अनन्त है, यों कहते हुए आश्चर्यसागर में डूब गये। सब सभासदों के अवलोकनरूपी घनी नीलकमलों की वर्षा से नील से रँगे हुए से और सभाभवन के खम्भों में जड़े हुए रत्नों की किरणों से व्याप्त मृग को देख रही वह भरी सभा, जिसके सबके सब सदस्य आश्चर्यमय वृत्तान्त के पुनः पुनः आस्वादन से अति विस्मययुक्त थे, चित्रलिखित कमलिनी-सी (कमल से पूर्ण तालाब-सी) हो गई थी ॥४७-५३॥

एक सौ उनतीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तीसवाँ सर्ग

मृग का श्रीवसिष्ठजी के ध्यान से उत्पन्न अग्नि में प्रवेश तथा
विपश्चित्-शरीर की प्राप्ति से पूर्वजन्म की स्मृति का वर्णन।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : हे मुनिवृन्द, इसके उपरान्त श्रीरामचन्द्रजी श्रीवसिष्ठजी से बोले : हे मुनिवर, किस उपाय से विपश्चित् देह के पुनः आविर्भाववश और ज्ञान द्वारा वास्तविक आत्मा के आविर्भाववश इस विपश्चित् का दुःखान्त होगा ? ॥१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, जिस पुरुष की जिस चिरकाल उपासित देवता से बार-बार अभिलाषासिद्धि पहले कही गई है, उस पुरुष की उस देवता के बिना अभिलाषा की सिद्धि नहीं होती। यदि घुणाक्षरन्याय से कदाचित् हो भी जाय तो वह शोभा नहीं पाती, कदाचित् शोभा भी पा जाय पर सुखदायी नहीं होती, कदाचित् सुखदायी भी हो जाय पर परलोक हितकारी सत्फलप्रद कदापि नहीं होती। *इस विषय में भगवती श्रुति भी है – 'यः स्वां देवतामतियजति प्रस्वायै देवतायै च्यवते न परां प्राप्नोति पापीयान् भवति' (जो अपने इष्टदेव का अतिक्रमण करके यज्ञ करता है वह च्युत होता है, परम गति नहीं पाता, अत्यन्त पापिष्ठ होता है।) वृद्धों का भी कथन है – त्वामतियजेत भगवन्यः कुलदैवं द्विजातिकुलजातः। उभयभ्रष्टो नश्येदभ्युदयोपांशु-याजवत्स जड़ः। अर्थात् भगवन्, द्विजातिकुल में उत्पन्न हुआ जो पुरुष कुल के*

इष्टदेव आपका उल्लंघन कर यज्ञ करता है वह जड़ इस लोक और परलोक दोनों से भ्रष्ट होकर नष्ट हो जाता है। अग्नि ही विपश्चित् की इष्टार्थ प्रदान द्वारा रक्षा करनेवाला है, उसमें प्रवेश करने से यह मृग निर्मल सुवर्ण जैसे पूर्व जन्म के विपश्चित् शरीर को प्राप्त होगा। यह सब मैं अभी करता हूँ। आप लोगों को तमाशा दिखलाता हूँ। यह मृग अभी-अभी आप लोगों के सामने अग्नि में प्रवेश करता है ॥२-४॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : पुण्यकर्मा मुनिवर श्रीवसिष्ठजी ने यह कहकर, वहाँपर अपने कमण्डल के जल से विधिपूर्वक आचमन कर इन्धनहीन ज्वालापुंजस्वरूप अग्नि का ध्यान किया। श्रीवसिष्ठजी के ध्यान करने से सभा के बीच से अग्नि की ज्वालाएँ धधक उठीं। उन ज्वालाओं में अंगारों का नाम निशान न था, लकड़ियों का उनसे कोई सम्पर्क न था, न धुआँ था और न कालिख ही थी। वे सोने सी स्वच्छ ज्वालाएँ धप-धप दहक रही थीं। उनकी अति सुन्दर कान्ति निखर रही थी, उनका पुंज सोने के मन्दिर के सदृश दर्शनीय था, फूले हुए पलाश की-सी आकृतिवाली ज्वालाराशि सन्ध्या समय के मेघ के समान उदित हुई थी। सभासद ज्वालाराशि से दूर हट गये थे। उस ज्वालाराशि को पूर्व जन्म के भक्ति भाव से आदर सहित देख रहे मृग को उसके दर्शनों से बड़ी प्रसन्नता हुई। उस वह्नि को देख रहा वह निष्पाप मृग प्रवेश करने की इच्छा से छलाँगे भरता हुआ सिंह की नाईं पीछे की ओर दूर तक हटा ॥५-१०॥ इसके बीच में मुनिश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी ने ध्यान में विचार कर अपने दृष्टिपातों से मृग को क्षीणपाप करते हुए वह्नि के प्रति कहा : भगवन् अग्निदेव, इसकी पूर्व जन्म की भक्ति का स्मरण कर इस मनोहर मृग को दयावश विपश्चित् बना दीजिये ॥११,१२॥ राजसभा में मुनि महाराज के ऐसा कहते ही जैसे वेग से छोड़ा गया बाण अपने लक्ष्य में प्रविष्ट होता है वैसे ही मृग दूर से दौड़कर अग्नि में प्रविष्ट हो गया ॥१३॥ ज्वालाओं के मध्य में प्रविष्ट हुआ वह दर्पण में प्रतिबिम्बित-सा तथा सन्ध्याकाल के मेघ में विश्रान्त हुआ-सा लोगों को साफ-साफ दिखलाई पड़ा ॥१४॥ वह मृग सभासद लोगों के देखते देखते जैसे आकाश में हरिण-सा बादल का टुकड़ा दूसरी शक्ल का (मनुष्य की शक्ल) बन जाता है वैसे ही ज्वालाओं के मध्य में मनुष्य के आकार को प्राप्त हो गया ॥१५॥ इसके उपरान्त ज्वालाओं के अन्दर सुवर्णकी-सी कान्तिवाला, रमणीय अंग प्रत्यंगों से मनोहर पुण्याकृति पुरुष दिखलाई दिया। सूर्यबिम्ब में सूर्य की तरह, चन्द्रबिम्ब में चन्द्रमा की तरह, महान् जलराशि में वरुण की तरह अथवा सान्ध्यकालीन मेघखण्ड में चन्द्रमा की तरह, आँखों की पुतली के मध्य में, दर्पण में, जल में और मणि में प्रतिबिम्बत के समान अग्न्याधार भक्ति ही मानों पुरुषरुप हो सूर्य के समान कान्तिवाला पुरुष दिखाई दिया ॥१६-१८॥ तदनन्तर वायु से बुझे हुए दीपक के समान वह ज्वालापुंज सभा के बीच से कहीं ऐसे ही विलीन हो गया जैसे कि आकाश से सन्ध्याकाल का मेघ कहीं विलीन हो जाता है। देवालय कुटी की दीवारों के टूट-फूटकर धराशायी होनेपर उनके मध्य में स्थित भगवान् विष्णु आदि देवता की प्रतिमा की तरह तथा पर्दे के अन्दर से बाहर निकले हुए नट की तरह वहाँ वह पुरुष खड़ा रह गया ॥१९,२०॥ उसने रुद्राक्ष की माला ले रक्खी थी, सुवर्णमय यज्ञोपवीत पहना था और अग्निदाह से निर्मल हुए वस्त्र धारण कर रक्खे थे। वह शान्त और तुरन्त उदित हुए चन्द्रमा के समान कान्तिमान् था। अहा इसकी प्रभा (छवि) ! इस प्रकार सभासदों की उक्ति द्वारा उसके वेष के प्रकाशन से सूर्य के

तुल्य महाकान्ति वह भास नाम से प्रख्यात हुआ। मूर्तिमान् आभास–सा यह भास नाम से प्रसिद्ध होगा, कतिपय सदस्यों ने ऐसा कहा, इस कारण वह भास कहलाता है ॥२१–२३॥ इसके उपरान्त ध्यानमग्न उस भासने वहींपर बैठकर अपने शरीर में अपने पूर्वजन्म के संपूर्ण वृत्तान्त का स्मरण किया ॥२४॥ जब कि सभासद जन अपने अन्दर उत्पन्न हुए आश्चर्य से निश्चल बैठे थे, भास मुहूर्त–भर में अपना सारा का सारा वृत्तान्त देखकर पूर्व जन्मों से लौट आया, ध्यानलोक से जाग गया। उसने उठकर मुनि, राजा, सामन्त आदि के क्रम से सभापर दृष्टिपात किया। उसने श्रीवसिष्ठजी के निकट जाकर प्रसन्नता के साथ उन्हें प्रणाम किया और हे ज्ञानसूर्यरूपी प्राण देनेवाले ब्रह्मन्, आपको नमस्कार है, यह कहा ॥२५–२७॥ श्रीवसिष्ठजी ने उसके सिरपर अपने हाथ फेरते हुए उससे कहा : हे राजन्, आज चिरकाल से दृश्यमान तुम्हारी अविद्या का क्षय हो ॥२८॥ इसके बाद श्रीरामचन्द्रजी के प्रति जय जयकार करते हुए प्रणाम कर रहे उससे श्रीदशरथजी ने आसन से कुछ उठकर हँसते हुए कहा ॥२९॥ राजा श्रीदशरथजी ने कहा : हे राजन्, आपका स्वागत हो, आप इस आसन पर बैठिये। हे अनेक जन्म जन्मान्तरों से भ्रमणशील, यहाँपर विश्राम कीजिये ॥३०॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : महाराज दशरथ के यों कहनेपर भास नामधारी विपश्चित् विश्वामित्र आदि मुनियों को प्रणाम कर आसन पर बैठ गया ॥३१॥ श्रीदशरथ ने कहा : खेद है, जैसे जंगली हाथी चिरकाल तक बाँधने के खूँटे से दुःख पाता है वैसे ही विपश्चित् ने अविद्या से चिरकाल तक दुःख पाया है ॥३२॥ अहा, असमीचीन बोध से उत्पन्न हुई दुर्दृष्टि की बड़ी विषमगति है। उक्त दुर्दृष्टि आकाश में ही सृष्टि का आडम्बर भ्रम दिखलाती है। यह कम आश्चर्य का विषय नहीं है कि सर्वव्यापक आत्मा में इन समस्त बिखरे हुए कितने ही जगतों में चिरकाल तक विपश्चित् ने भ्रमण किया ॥३३,३४॥ आश्चर्य है चिदात्मा का आवरण करनेवाले मायास्वभावरूप विभव की, जो कि वस्तुतः शून्य है, कैसी महिमा है। जो महिमाशून्य होती हुई भी परमात्मघन के अन्दर इस तरह के विविध विचित्र जगत् बनकर प्रतीत होती है ॥३५॥

एक सौ तीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ इकतीसवाँ सर्ग

वटधाना राजपुत्र की कथा सुनाकर श्रीविश्वामित्रजी द्वारा
प्रेरित विपश्चित् का अपनी भ्रान्ति का विस्तार से वर्णन।

श्रीदशरथ ने कहा : इन विपश्चित् ने दिगन्त भ्रमणरूप अपुरुषार्थभूत अविद्या के उद्देश्य से जो अनेक कष्ट झेले, उस सबको मैं आत्मज्ञानविहीन इसकी भ्रान्तिरूप निरर्थक चेष्टा समझता हूँ, क्योंकि मिथ्यारूप दिगन्तदर्शन आदि कौतुक में 'इसे मैं अवश्य करूँगा' इस प्रकार का दुराग्रह क्लेशप्रद होता ही है ॥१॥

महाराज दशरथ के वचन सुनने से श्रीविश्वामित्रजी को वटधाना राजपुत्रों का वृत्तान्त संस्कार उद्‌बुद्ध हो गया। प्रस्तुत विपश्चित्वृत्तान्तवर्णन प्रयोजन को दृढ़ करने में हेतुभूत होने से उक्त वृत्तान्त को अनुपेक्षणीय समझकर वाल्मीकिजी कहते हैं।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : उस अवसर में वहाँ राजा दशरथ के समीप बैठे हुए श्रीविश्वामित्रजी

ने प्रसंगप्राप्त वाक्य कहा : राजन्, आपने बहुत ठीक कहा, कारण कि जिन्हें तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हुआ ऐसे बहुत से लोग हैं, जिनकी दृष्टि में इस प्रकार के विचित्र भ्रान्तिज्ञान से वेद्य वासनामय अनन्त कोटि जगत्रूप बहुत से पदार्थ उत्पन्न होते ही रहते हैं। आगे कही जानेवाली भूमि में वटधाना नाम के राजकुमार विपश्चित् के समान ही आज तक लगातार सत्रह लाख वर्ष से घूम रहे हैं। आज भी वे भूमि का अन्त देखने के लिए किसी प्रकार के उद्वेग से रहित होकर प्रवृत्त हैं, वे वैसे ही उससे निवृत्त नहीं होते, जैसे कि नदियाँ बहने से निवृत्त नहीं होतीं ॥२-५॥ यह पाताल, भूमि आदि चौदह लोकों से बना हुआ महान् लोक (भूवनों की समष्टि) भूलोक के समान ही गोल अन्तरिक्ष लोकों से गोलाकार होकर भूमि के चारों ओर आकाश में स्थित है। यह हिरण्यगर्भ का निश्चय संकल्प ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है। यह ज्योतिषशास्त्र में प्रसिद्ध भूगोल, चौदह भुवन के लोग जिसके आधारपर रहते हैं, बालक के संकल्प-वृक्ष के समान आकाश में निराधार स्थित हैं कारण कि यह भी ब्रह्मा का संकल्प निश्चय ही है ॥६॥

यह निराधार महान् लोक जनाधार कैसे है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

जैसे आकाश में टिके शहद से सने हुए गेंद में चारों ओर चींटियाँ घूमती हैं वैसे ही उसमें तदाश्रित प्राणी नित्य चारों ओर घूमते हैं ॥७॥ भूगोल के नीचे की ओर के जो अंग हैं और ऊपर की ओर के जो अंग हैं उनमें प्रवेश कर जहाँपर जो जीव जब रहते हैं, तब वे वहाँपर भ्रमण करते हैं ॥८॥ अन्तरिक्ष लोक में बहनेवाली मन्दाकिनी आदि नदियाँ सौरपरिवाररूपी चन्द्र, सूर्य आदि युक्त नक्षत्रमण्डल का और उस भूगोल का दूर से वायु बन्धनवश अवलम्बन कर, उनका स्पर्श किये बिना ही सदा खूब भ्रमण करती हैं ॥९॥ ज्योतिश्चक्र सहित (नक्षत्रमण्डल सहित) पृथ्वी को चारों ओर से घेरकर द्युलोक इसी भूलोक में स्थित है। आकाश उसके सब ओर ऊपर को ही है और पृथ्वी तल सबके नीचे की ओर है ॥१०॥

यदि किसी को शंका हो कि भूगोल के नीचे स्थित आकाश ऊपर कैसे और नीचे के आकाश की अपेक्षा पृथिवीतल नीचे की ओर कैसे ? इस पर कहते हैं।

उस पृथिवीतल के नीचे जो पदार्थ घूमते हैं वे उसके चौतर्फा तत्-तत् प्रदेशों में पहुँचते हुए संचार करते हैं। जिस आकाश में पक्षी आदि उड़ते हुए जाते हैं वह उसके ऊपर कहा जाता है नीचे अथवा तिरछा नहीं कहा जाता ॥११॥ हे राजन्, उस भूगोल के किसी एक भाग में वटधाना नाम के देश अथवा उनके अधिपति हैं। उनके वंश में तीन राजकुमार प्राचीन काल में उत्पन्न हुए। वे राजकुमार विपश्चित् के समान ही दृश्य भूमि आदि जगत् का अन्त कौन होगा ? उसको हम देखेंगे, यों दृढ़ निश्चयकर उसके दर्शन के लिए घर से निकले। द्वीप और समुद्र के विभाग से फिर जल फिर भूमि इस क्रम से द्वीप और समुद्र को चिरकाल तक लाँघ रहे मर कर फिर नये शरीर को प्राप्त हुए उनका दीर्घकाल बीत गया। स्वच्छ गेंद में लगी हुए दीमकों की भाँति भूगोल में निरन्तर घूम रहे वे जगत् के अन्त को न पा सके, बल्कि उन्हें दूसरे दूसरे देश प्राप्त होते गये ॥१२-१५॥ हे राजन्, आकाश में रुके हुए गेंद में घूम रही चींटियों की नाईं आज भी वे घूमने में व्याकुल हैं और थकते भी नहीं हैं। इस भूगोल के नीच के ऊपर अथवा अगल-बगल के जिस किसी प्रदेश में वे पहुँचते हैं वहाँ यहीं की तरह अच्छी तरह ऊपर, नीचे और दिशाओं को देखते हैं ॥१६,१७॥ हे महाराज, तब वे कहते हैं कि हम लोगों को उद्योग करनेपर भी

भूमि का अन्त प्राप्त नहीं हुआ। इसके बाद हम आगे बढ़ें ॥१८॥

कथा का उपसंहार कर उसकी प्रकृत में योजना करते हैं।

यह ब्रह्मा का संकल्पआडम्बर वास्तव में कुछ भी नहीं है। चित्संकल्प स्वप्न दृश्य के समान असीम और अज्ञान है ॥१९॥

संकल्प–कल्पना का अधिष्ठान चित् ही है इसलिए केवल चित् ही तत्त्व है, यह दूसरे ढंग से दृढ़ करते हैं।

संकल्प–कल्पना परम ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है। संकल्प–कल्पना ही परम ब्रह्म है। इन दोनों में वैसे ही कोई अन्तर नहीं है जैसे कि शून्यत्व और आकाश में कोई भेद नहीं है। जैसे जल के प्रवाह में हुए आवर्त, तरंग और बुद्बुद जल ही हैं वैसे ही यहाँ जो कुछ प्रतीत होता है वह सब चिन्मात्र ही हैं। अन्य वस्तु का अत्यन्त असम्भव होने से असदृश वह अन्यसदृश कैसे होगा ? आवर्त आदि में नाभिगर्त आदि का सादृश्य होने से कदाचित् उसमें अन्य–तुल्यता हो सकती है, किन्तु इसमें तो सदृश और असदृश अन्य वस्तु का अत्यन्त असम्भव होने से अन्यतुल्यता कैसे होगी, यह भाव है ॥२०,२१॥ यह जगत् सृष्टि के आदि में अभावरूप था अतः शून्य ही था, अतः उस समय परमाकाश (ब्रह्माकाश) ही था यह बात तो बिलकुल निर्विवाद है। और वही स्वयं ब्रह्माकाश इस समय जगत् सा मालूम पड़ता है। इस दृष्टि में प्रलय और सर्ग भिन्न नहीं है। वह चिद्रूप काम, कर्म और वासना के अनुसार जैसे–जैसे कल्पना करता है वैसे ही वहाँपर आसक्त होकर दृष्टादृष्ट–वेद्यावेद्य–जड़ चिद्रूप अन्योन्य में तादात्म्यअध्यासवाले स्व–संसारों से परे था, वैसे ही आगे भी चिरकाल तक रहेगा ॥२२,२३॥

उनकी दृष्टादृष्टरूपता का विवरण करते हैं–दूसरे की अक्षयता दिखलाते हैं।

आकाशात्मक (शून्यरूप) शिलामध्य में आकाशात्मक स्वच्छ शिलाओं की तरह चित्–अणु के मध्य में तत्–तत् आकारवाली वासनाओं से अवच्छिन्न सकल जगत् अनुभव हैं ॥२४,२५॥

किन्तु शुद्ध चिदणु के मध्य में जगत् अनुभव नहीं है, ऐसा कहते हैं।

आवृत आत्मस्वरूपभूत उक्त जगत् अनुभव अव्याकृतात्मा में ही स्थित है, किन्तु अविद्याविहीन चैतन्य में तो वे रहते ही नहीं हैं, क्योंकि उसमें व्यावर्त्य अन्यरूपों के प्रसिद्ध न होने से उक्त जगद्अनुभव अत्यन्त अभिन्न ही रहते हैं ॥२६॥ हे सुनिपुण आशयवाले श्रोताओं, चूँकि परम पद में सकल जगत् अनुभव व्यावर्त्य अन्यरूपों के अप्रसिद्ध होने के कारण–अत्यन्त अभिन्न हैं, इसलिए मैंने पूर्वापर का भली–भाँति विचारकर वही सर्वव्यापक ज्योति–स्वरूप ब्रह्म जगत् है, यह कहा ॥२७॥ इस प्रकार शुद्ध चित् के एक होनेपर अपने परमपद से च्युत हुए बिना भी यह जीव द्वैतबुद्धि से 'मैं जीव हूँ' यों भिन्न होकर जो मलिन होता है, दुःखी होता है, यह बड़े आश्चर्य की बात है ॥२८॥

इस प्रकार वसिष्ठजी द्वारा वर्णित विपश्चित् के चरित की अपनी उक्ति द्वारा पुष्टि कर भास के मुख से भी उसकी पुष्टि कराने के लिए विश्वामित्रजी ने कहा।

हे राजन्, हे विपश्चित् अपर नामक भास, तुमने कितना दृश्य देखा, कितना भ्रमण किया उसमें कितने की तुम्हें याद है संक्षेप में थोड़ा–बहुत कहो ॥२९॥ भास ने कहा : हे मुनिवर, मैंने बहुत दृश्य देखे, बिना थकावट के बहुत भ्रमण किया तथा बहुत बार बहुत–सा अनुभूत वृत्त मुझे खूब याद भी

है ॥३०॥ हे राजन्, उस असीम महाकाश में पहुँचकर विविध शरीरों से बड़े-बड़े सुखों और दुःखों का चिरकाल तक मैंने अनुभव किया और दूर-दूर के बड़े-बड़े जगत् देखे ॥३१॥ हे महात्मन्, भगवान् अग्निदेव के वर से दिगन्त देखने के लिए दृढ़निश्चय होकर मैंने वर और शापवश प्राप्त हुए विचित्र शरीरों से अनन्त दृश्य देखे। यद्यपि मैं प्रत्येक ब्रह्माण्ड में विभिन्न देह से घूमता था तथापि पूर्व जन्म के दृढ़ निश्चय का स्मरण रहने के कारण दृश्यात्मक पृथिवी आदिरूप अविद्या का अन्त देखने के लिए मैं सदा जोर-शोर से प्रयत्नशील रहा। तदनन्तर मुझे मृत्यु के समय चित्त के वृक्षदर्शन-जनित संस्कार के वेग से देह धारण करने की अभिलाषा हुई, अतएव मैं एक हजार वर्ष तक वृक्ष बना रहा। वृक्षावस्था में बाह्यप्रवृत्ति में निमित्तभूत प्राणचेष्टा न होने से मेरा चित्त भीतर ही रहता था बाहर नहीं जा सकता था, वृक्षशरीराभिमानी मेरा जीव दुःख का भोग करता था और पूर्वापर विचार में कारणभूत चित्त के बिना ही मैं पुष्प, फल आदि को उत्पन्न करने में कन्द के समान भूमि के रस और वसन्त-ऋतु आदि काल के अधीन रहा। सौ वर्ष तक मैं मेरुपर्वतपर मृग हुआ। मृगावस्था में मेरी दूब के तिनके चरने और गीत सुनने में अत्यन्त आसक्ति रही सोने के समान मेरा रंग रहा और पेड़ के पत्ते के तुल्य कान रहे। वनवासी सकल जीवों में मैं सबसे छोटा था, अतः किसी पर वार नहीं करता था ॥३२-३५॥ मैं पचास वर्ष तक क्रौंच पर्वत की सुवर्णमय गुफाओं में शरभ जाति का मृग हुआ। उक्त मृगावस्था में मेरी पीठ आठ टाँगों से युक्त थी (卐) तथा मरने का समय निकट आनेपर गरज रहे मेघ से जो ओले और मेघ की बूदें मेरे ऊपर गिरी उनके कारण मेघ के साथ लड़ने के लिए मैं पर्वत शिखर से छलांगें भरने लगा। उसी क्लेश से मैंने आत्महत्या कर डाली ॥३६॥ तदुपरान्त मुझे विद्याधर योनि प्राप्त हुई। उस योनि में मैंने मलयपर्वत के शिखरपर और मन्दराचल पर काले अगरु के पेड़ों की लताओं द्वारा आलिंगित अतएव मन्द सुगन्ध शीतल वायु के साथ विद्याधरियों के सुरतों में उनकी विविध कलारूप सुधा का अनुभव किया ॥३७॥ तदनन्तर मैं ब्रह्माजी के वाहन हंस का बच्चा बना। हंस के जन्म में मैंने सुमेरु के ऊपर बहनेवाली मन्दाकिनी के दोनों तटों के बीच में विहार करते हुए सुवर्णकमलों के मकरन्द से पीले-पीले जलों का पन्द्रह सौ वर्ष तक पान किया ॥३८॥ सौ वर्ष तक मैंने क्षीरसागर के तीरस्थित वन के मन्द सुगन्ध शीतल वायु से चंचल नील अलकावलीवाली माधव (कृष्ण) भगवान् की दिव्य रमणियों के शोक और बुढ़ापे को हरनेवाले मधुर गीत सुने ॥३९॥ उसके बाद मैं कालंजर पर्वत पर फूले हुए कंजे और घुँघची के वन में सियार की योनि को प्राप्त हुआ। वहाँपर किसी हाथी ने अपने पंजे से मुझे चूर-चूर कर दिया। उस अधमरी दशा में मैंने मुझे कुचलने वाले हाथी को सिंह के हाथ मरा देखा ॥४०॥ सियार की योनि से छुटकारा पाने के पश्चात् किसी दूसरे लोक में सन्तानक के (कल्पवृक्ष भेद के) झुरमुट से सुशोभित सह्याचल के शिखर पर कल्पवृक्ष के निकुंजगृह में सिद्ध के शाप से एकाकिनी (अकेली) चन्द्रमुखी अप्सरा के रूप में आधे सत्ययुग तक मैं रहा। उसके उपरान्त मैंने सह्याचल के जलप्राय (दलदल) प्रदेश में उगे हुए कनइल की शाखा के मध्यवर्ती घोंसलों में सदा शब्द करने वाले वाल्मीक नामक पक्षी के रूप

(卐) ऐसी प्रसिद्धि है कि शरभ जाति के मृग में पीठ के बल भी चार चरणों से चलने की सामर्थ्य है। उस अवस्था में पेट भी पीठ माना जा सकता है इसीलिए यहाँपर जिसकी दो पीठें आठ चरणों से युक्त हैं ऐसा कहा है।

में निश्शंक हो सौ वर्ष बिताये। जब मेरे स्त्री–पुत्र आदि के साथ ही कनइल का पेड़ नष्ट हो गया तब दूरवर्ती लोक में महेन्द्रपर्वत पर वियोगजन्य दुःख से अत्यन्त पीड़ित हुए मैंने अपनी आयु के शेष दिन अकेले बिताये। इस प्रकार उक्त दो जन्मों के बाद सिद्ध के शाप से छुटकारा पाने पर सिद्ध के ही अनुग्रह से सिद्धि को प्राप्त हुए मैंने महेन्द्रपर्वत के ही छायायुक्त चन्दनवनों से वेष्टित अन्य शिखर पर लताओं के झूलों पर फलों की नाईं लटक रहीं एक से एक बढ़कर विलासवाली स्त्रियाँ देखीं। यद्यपि उनका हृदय सिद्ध पथिकों द्वारा हर लिया गया था, तथापि मैंने उनका उपभोग भी किया। तदनन्तर विवेकविहीन होने से मेरा चित्त अविद्या के अन्तदर्शन के लिए उत्पन्न हुई दुराग्रहरूपी महामारी से विवश था, अतएव मेरी बुद्धि को ग्लानि हो गयी थी, इस कारण मैंने अन्दर विरक्ति प्राप्तकर महेन्द्र पर्वत के मध्यवर्ती जलप्राय प्रदेश में तपस्वी बनकर दिन बिताये ॥४१–४४॥

इस प्रकार अपनी जन्मपरम्पराओं के वर्णन के बीच में उसे अकस्मात् आश्चर्यमय कतिपय अन्य वृत्तों का स्मरण हो आया। उन्हें वह बड़ी उत्सुकता से कहना आरंभ करता है।

हे मुनिवर, दूसरी एक अत्यन्त आश्चर्यमय वस्तु है, उसे सुनिये। वह अनन्त ब्रह्माण्डों से भरी है, उसके निखिल दिशाओं में रहनेवाले प्राणी जलचरों के तुल्य हैं, अतएव उसमें तेज, आकाश और वायु के अस्तित्व में सन्देह है। उसकी भूमि की आकृति जल में प्रतिबिम्बित भूतकी–सी है। उक्त आश्चर्यमय वस्तु थोड़ा–बहुत व्याकृत नामरूपवाला ब्रह्म ही है। (*वह आश्चर्य और चाँदी की शिला के अनुसार स्त्री–शरीर आदि सकल पदार्थों में भी सकल जगत् रूप गर्भ प्रत्येक में है ऐसा एक दूसरा आश्चर्य मैंने वहाँ देखा यह कहने के लिए किसी स्त्री का उदाहरण देता है।*) एक जगह मैंने एक स्त्री देखी। उसके शरीर में सुन्दर शीशे के अन्दर प्रतिबिम्बित हुए जैसे आकाश, पर्वत आदि सहित दिशा, काल, प्राणी आदि से पूर्ण तीनों जगत् शोभित होते हैं, यह अत्यन्त आश्चर्य है। तदुपरान्त मैंने उससे पूछा : हे सुन्दरी, तुम कौन हो, तुम्हारा यह शरीर त्रिजगत्घटित कैसे है ? तब उसने मुझसे कहा, हे जीव, इस वस्तुसमूह में जो शुद्ध सर्वावभासिका चित् है, वह मैं ही हूँ। ये महाजगत् मेरे अंग हैं, मूर्त–अमूर्त शरीर हैं, *क्योंकि 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च ' (ब्रह्म के दो रूप हैं मूर्त और अमूर्त) 'यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्' जिसके सब भूत शरीर हैं) इत्यादि श्रुतियाँ हैं* ॥४५–४७॥ हे जीव, जैसे मैं जगत् घटित होने के कारण तुम्हारे लिए विस्मयावह हूँ वैसे यह सब स्तम्भ, घट आदि वस्तुएँ भी सर्वजगत् घटित होने से अति आश्चर्यमय ही हैं। *शंका – यदि सभी वस्तुएँ जगत् घटित हैं यानि प्रत्येक वस्तु के अन्दर सकल जगत् विद्यमान हैं तो अन्य लोगों को भी ऐसा क्यों नहीं दिखाई देता ?*

समाधान – जब तक प्रत्येक वस्तु का ऐसा स्वभाव ज्ञात नहीं होता, तब तक वे नहीं देखते जब एकमात्र आतिवाहिकभाव के बद्धमूल (दृढ़) हो जानेपर प्रत्येक वस्तु का ऐसा स्वभाव ज्ञात हो जायेगा तब वे भी अवश्य ही जानेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥४८॥

यह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि मुझे अपने देह का सर्वजगत्घटित रूप से अनुभव नहीं होता। यदि कहो कि देह के अन्दर चक्षु आदि का प्रवेश न होने से उसमें तुम्हें जगत्का दर्शन नहीं होता तो उसमें स्थित वेद, शास्त्र आदि कानों से श्रवण भी नहीं होगा ऐसी मेरी असंभावना का अनुमान कर उसको संभव बतलाने के लिए उसने मुझसे कहा।

तुम और तुम्हारे सरीखे अन्य प्राणी जिसे अवेदशास्त्र मानते हैं, देहान्तर्गत जगत् में स्वदेहभवनरूप दीवार के एकदेशरूप कर्णशष्कुलीप्रदेश से नित्य अनाहत नाद स्वतः सुनाई देता ही है, जो सकल वेद शास्त्रादि शब्दसामान्य ध्वनि है। उसीके गर्भ में नित्य नैमित्तिक कर्म का तथा शम, दम आदि ज्ञान के साधनों का अवश्य अनुष्ठान करना चाहिये ये सब विधियाँ निहित हैं तथा कलंज (एक पक्षी) का भक्षण नहीं करना चाहिये यह सकल निषेधक वेदशास्त्र उसके अन्दर निहित हैं। उसके श्रवण से ही उसके अन्तर्गत विधि निषेध शास्त्र के समान उसका अर्थभूत जगत् भी देह में है, ऐसी आप संभावना कीजिये, यह भाव है ॥४९॥

उक्त न्याय से खम्भे, घड़े आदि में भी सकल जगत् का अस्तित्व है ऐसी संभावना करनी चाहिये, इस आशय से कहते हैं।

जैसे अनाहत नाद शब्दसामान्यस्वभाव है वैसे ही सकल पदार्थों में अनुगत पदार्थसत्ता भी सर्वजगत् घटित सामान्य स्वभाववाली ही है, क्योंकि इस जगत् में प्रसिद्ध दीवार, पर्वत आदि भी ब्रह्मसत्ता रूप ही हैं। दीवार आदि बोलते नहीं अतः अचेतन हैं, ऐसी भ्रान्ति नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वे जैसे स्वप्न आदि में प्रसिद्ध भाषा में बोलते हैं वैसे ही मेरे सम्मुख भी बोलते हैं। जब अत्यन्त जड़ रूप से प्रख्यात दीवार आदि में सर्वजगद्घटित चेतनता असमंजस (अयुक्त) नहीं है तब प्रायः चेतनरूप आप लोगों के शरीरों में तो सुतरां असमंजस नहीं है ॥५०॥

स्त्रीसंवादरूप आश्चर्य का आँखों देखा वर्णन कर भास वैसा ही दूसरा आश्चर्य कहता है।

एक समय में ऐसे लोक में जा पहुँचा जहाँ स्त्रियों का नामनिशान भी न था। मैंने वहाँ के सब प्राणियों को स्त्रीसम्बन्ध की अभिलाषा से रहित देखा।

शंका : तब वहाँ पुत्र-पौत्र आदि सन्तति विस्तार और पूर्वजों का मरण कैसे होता है ?

समाधान : वहाँपर बहुत से प्राणी एक भूत से निकलते हैं, प्रकट होते हैं और बहुत से प्राणी एक भूत में प्रविष्ट होते हैं, विलीन होते हैं, इस प्रकार वहाँ नवीन सृष्टिका आविर्भाव और प्राचीन सृष्टि का तिरोभाव होता है, यह तात्पर्य है ॥५१॥ मैंने उत्पात आदि से कोई वास्ता न रखनेवाले दूसरे बादल आकाश में देखे। गर्जनवश शस्त्रास्त्रों के आपस में टकराने की सी ध्वनि से उनमें झंझनाहट होती है, उनसे वृष्टि द्वारा जो बिजली आदि जल के समान गिरते हैं वे अपने टुकड़ों द्वारा लोगों के आयुध (हथियार) होते हैं ॥५२॥ दूसरी जगह मैंने दूसरा आश्चर्य देखा, वह है इस जगत् में जितने ग्राम-गृह हैं वे सबके सब अन्धकार से बेकाम हुई दृष्टि से ही आकाशमार्ग से जाते हैं, दूरवर्ती दिगन्त में प्रविष्ट होते हैं। वह आपका गाँव जो यहाँ था वही मुझे अन्यत्र मिला यह आश्चर्य है ॥५३॥ एक जगह मैंने ऐसा आश्चर्य देखा कि स्वर्ग, भूमि और पाताल लोकों के जीवों में ये देवता हैं, ये मनुष्य हैं, ये नाग हैं इस तरह का अवान्तर विभाग नहीं है अतएव सब एक-से हैं। आकाश से ही सब भूतों की उत्पत्ति होती है और आकाश में ही वे लीन होते हैं। दूसरी जगह मैंने जो बड़ा अचम्भा देखा वह यह है-न उस लोक में चन्द्रमा है और न तारे ही हैं फिर भी वहाँ अन्धकार का नामनिशान नहीं है, कारण कि वहाँ के निवासी सभी प्राणी स्वयंप्रकाश है। अत्यन्त रमणीय उस अलौकिक जगत् का जो ज्वाला के मध्य के समान प्रकाशमय और दिन-रात्रि से रहित है मुझे फिर-फिर स्मरण हो आता है। एक दो नहीं असंख्य महा जगतों का मुझे स्मरण होता है, जिनमें दैत्य-दानव, नाग, नर, सुर आदि जीव विलक्षण हैं, पेड़, नगर

अपूर्व हैं, उनमें अन्य लोकों के व्यवहारों से विलक्षण व्यवहार होते हैं ॥५४–५६॥ जिसमें मैंने विहार नहीं किया वह दिशा नहीं है, जो देश मैंने नहीं देखा वह देश नहीं है, जिस कौतुक का मैंने अनुभव नहीं किया वह कौतुक नहीं है और मेरे विमर्श से (अनुभवरूप सर्वसाक्षी से) अतिरिक्त अन्य में रहनेवाला कोई विमर्श भी नहीं है। अमृतमंथन के लिए क्षीर सागर में घुमाये गये मन्दराचल के रत्नमय शिखरों की तीखी धारों के अग्रभागों से छिलने पर झनझन शब्दवाले भगवान् श्री हरि के बाजूबंदों की ध्वनि का मुझे स्मरण हो रहा है, जिसे सुनकर लोगों को मेघ की गर्जना की आशंका हुई थी ॥५७,५८॥

एक सौ इकतीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बत्तीसवाँ सर्ग

भास द्वारा पुनः अपनी विविध जन्मभ्रान्तियों का,
महान् आश्चर्यों का तथा संसार की असारता का वर्णन।

भास आश्चर्यमय घटनाओं से व्यवहित अपने जन्मों की परम्पराओं के वर्णन की कथा का पुनः अनुसन्धान करता है।

पर्वत के मध्यभाग के कदम्बों के झुरमुट में तपस्विता के अनुभव से बहुत दिन बिताने के कारण मुझे सिद्धि प्राप्त हो गई, अतएव मन्दराचल में मनोहर मन्दार के निकुंजरूपी मन्दिर के अन्दर मन्दरा नाम की अप्सरा का आलिंगन कर मैं सोया था। मुझे अपने वेग में गिरे हुए तिनके के समान आगे कही जानेवाली नदी बहा ले गई। इसके उपरान्त जल में घबड़ाई हुई मन्दरा को आश्वासन देकर मैंने उससे पूछा : 'प्रिये यह क्यों हुआ ?' यानी हम दोनों अकस्मात् नदी में क्यों बह गये ?' उस चंचलनयना ने मुझसे कहा : प्रियवर, इस प्रदेश में चन्द्रोदय होनेपर चन्द्रकान्तमणिमय पर्वत के मध्यभागों से निकली हुई ये नदियाँ चन्द्रकान्त मणियों से निकले हुए जलस्रोतों से वैसे ही मतवाली हो जाती हैं जैसे कि रात्रि के समय अपने प्रियतम के साथ स्त्रियाँ कामवासना से मतवाली हो जाती हैं ॥१–३॥

तो नींद आने के पूर्व ही यह बात तुमने मुझको क्यों नहीं बतला दी, इसपर वह कहती है।

आपके समागमजनित आनन्दातिरेक से मैं आपसे यह कहना भूल गई। यह कह कर जैसे पर्वत के शिखर पर गंगा के स्वर्णकमल में बैठी हुई भँवरी अपने सहचर भ्रमर को लेकर उड़ती है वैसे ही वह मुझे लेकर आकाश में उड़ गई। उस जल से पीड़ित हुआ मैं तदनन्तर सात वर्षतक उसके साथ कीचड़ के स्पर्श से रहित निर्मल मन्दराचल के शिखर पर रहा ॥४,५॥

उसके बाद दूसरे जन्म में आश्चर्यपूर्ण जगत् के अन्तदर्शनका वर्णन करता है।

दूसरे जन्म में मैंने दूसरा जगत् देखा, जो ज्योतिश्चक्र से (सौरपरिवार से) शून्य था तथा केले के छिलके के समान गर्भ के गर्भ में स्थित एक से स्वप्रकाश लोगों से आकीर्ण था ॥६॥

तो वहाँपर लौकिक और वैदिक व्यवहार कैसे चलता था ? इस प्रश्नपर कहता है।

उसके बाद मैंने अपने से ही प्रकाशमान वैसा जगत् देखा, जहाँपर न तो पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओं का भेद था, न दिन थे, न मर्यादास्थापक शास्त्र ही थे, न वेदवाद थे और न दैत्य आदि, सुर आदि विभेद ही था ॥७॥

तदनन्तर दूसरे जन्म का वृत्त कहता है।

समुद्र तीर के निकटवर्ती विद्याधर और देवताओं के विहार के लिए विमानों की भूमिरूप गगनचुम्बी पर्वतों के मध्यभाग में अमरसोम नाम का निर्द्वन्द्व गन्धर्व मैं चौदह वर्ष तक तपस्वी हुआ ॥८॥ तदुपरान्त मैं अग्निदेव के वर के प्रभाव से जगत् में चारों ओर अविद्या को देखने की इच्छा कर पवन के समान लगातार गमनयुक्त क्रम और संन्निवेशवाले रंग-बिरंगे अच्छी जाति के घोड़े और मेघों के समान आकारवाले लोगों से तथा हाथी,मृग, सिंह, वृक्ष और लताओं से एवं अन्यान्य मृग,पर्वत, सर्प और पक्षियों से व्याप्त अनन्तकोशवाले आकाश में पृथ्वी से जाकर गरुड़ के समान वेग से आगे बढ़ा ॥९,१०॥ कहीं पर मैं जगत् से निकलकर एकमात्र महार्णव के समान विस्तृत आकाश में गिरा, वहाँपर निवास करनेवालों के तुल्य नक्षत्रसमूह में बँधकर मैंने दिन, रात, मास, ऋतु आदि समय का अनुभव किया तथा दिशाओं में पतन का (गमन का) भी अनुभव किया। पूर्वोक्त प्रकार से आकाशकोश में गमन का अनुभव करना ही मेरी एकमात्र वृत्ति थी तथा चिरकाल के गमन से मैं थक कर चूर हो गया था, अतएव इसके बाद निद्रा देवी ने मेरे हृदयपर अड्डा जमाया। उस प्रकार के यानी सब लोगों में प्रसिद्ध सुषुप्त शरीर को लेकर स्थित हुए मुझे इसके बाद स्वप्नात्मक जाग्रत में अपने अन्दर ही सारा विश्व प्राप्त हुआ। वहाँ पर भी पुनः दिगन्त, भुवन आदि गमनवश प्राप्त हुई चंचलता से मैं वैसे ही चंचल बनाया गया जैसे कि जिसमें वायु का वेग क्षीण न हुआ हो उस लता द्वारा पक्षी चंचल बनाया जाता है। उक्त चंचलता को प्राप्त हुआ मैं पूर्व संकल्पित दृश्य परिच्छेदरूप जगद्गुफाओं में गिरा। चक्षु जहाँ तक विषयाशा विस्तृत है वहाँतक मैं एक क्षण में चला गया। फिर उसी प्रकार देखता हुआ विषयदर्शन के कौतुक से फिर दृश्य को प्राप्त हुआ। इस प्रकार जाग्रत अवस्था में और स्वप्नावस्था में दृश्य और अदृश्य विषय के उद्देश्य से गम्य और अगम्य देश को वेग से लाँघ रहे मेरे बहुत वर्ष बीत गये। किन्तु दृश्यनामक अविद्या का अन्त मुझे वैसे ही नहीं मिला जैसे कि मिथ्या ही हृदय में जमी हुई पिशाची का अन्त बालक को प्राप्त नहीं होता है। यद्यपि वह सत् नहीं है, यह सत् नहीं है इस प्रकार के विचारानुभव में मैं स्थिर रहा तथापि यह सत्य है, यह असत्य है, यों प्रत्येक विषय में मेरी दुर्दृष्टि निवृत्त नहीं हुई, क्योंकि चिरकाल से अभ्यस्त द्वैतसत्यता का मेरा संस्कार प्रबल था। यद्यपि मैं विचार से दुर्दृष्टियों का निवारण करने का यत्न करता था फिर भी वे प्रतिक्षण प्राप्त हुए सुख, दुख,भिन्नदेश, भिन्न काल तथा इष्ट और अनिष्ट लोगों के समागमों से नदियों के जल की भाँति नई नई आ जाती हैं और चली जाती हैं। ताड़, तमाल, मौलसिरी आदि से अनुपम उन्नत एक शिखर की मुझे याद आ रही है, उसमें वायु का वेग खूब साँय-साँय शब्द करता है। यद्यपि वह सूर्य आदि से रहित है तथापि अपनी कान्ति से जगमगाता है। सारा का सारा विश्व उस श्रृंग के स्थावर और जंगम पर्वत तटों से युक्त चोटी स्थानीय है यानी सर्वाधिष्ठान ब्रह्म ही यहाँपर आश्चर्य श्रृंग कहा गया है। जो यह शिखर एकान्त में विहार करनेवाले तत्त्वज्ञानियों के मन को हरनेवाला, स्वच्छन्द एक तथा विकार की शंका से परे है, त्रिविध परिच्छेद से शून्य है, उसे मैंने वहीं सुन्दर जगतों में (ब्रह्मवित्मण्डलियों में) देखा। देवराज इन्द्र की और ब्रह्मा की लक्ष्मी भी उसकी बराबरी नहीं कर सकती ॥११-२०॥

एक सौ बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तैंतीसवाँ सर्ग

कहींपर भास ने जो अत्यन्त अचम्भा आकाश से सातद्वीपों के बराबर शवका गिरना देखा, उसका वर्णन।

इस अविद्याउपाख्यान में अत्यन्त अचम्भों के वर्णन के सिलसिले में शवोपाख्यान का भास के मुख से वर्णन कराने के लिये भूमिका बाँधते हैं।

विपश्चित् ने कहा : हे मुनिवर, इस जगत् से भिन्न किसी दूसरे अपूर्व जगत् में मैंने आगे कहा जानेवाला क्या अचम्भा देखा, उसे आप सुनने की कृपा कीजिये। वह ब्रह्महत्या आदि महापातकों के कारण प्राप्त होनेवाले रौरव आदि नरकों के वृत्तान्त वर्णन के समान अत्यन्त ही बीभत्स था फिर भी अविद्या से अन्धे बने हुए मुझे वह्निदेव की वरप्राप्तिवश उसका अनुभव करना पड़ा ॥१॥ कहीं आकाश में, जहाँ आप लोगों की पहुँच नहीं है, एक जगत् है। वहाँ जगमगा रही सूर्य और चन्द्र की कान्ति से विचित्र सृष्टि है। यद्यपि वह जगत् रूप-रेखा से इस ब्रह्माण्ड के सदृश ही है तथापि इस ब्रह्माण्ड की दृष्टि से शून्य होने के कारण इससे भिन्न ही है। जैसे कि स्वप्न में दृष्टिगोचर हुआ नगर यद्यपि रूपरेखा से जाग्रत अवस्था में दृष्ट नगर के समान ही रहता है तथापि जाग्रत की दृष्टि से शून्य होने के कारण चित्त में जाग्रतदृष्ट नगर से भिन्न ही प्रतीत होता है। उस जगत् में निवास कर रहे मैंने अपनी वांछित वस्तु (अविद्या का अन्त) दिगन्तों में खोजने के लिए दिशाओं की ओर आँखें फेरीं। दिशाओं में कौतुक देखने के लिए ज्योंही मैं प्रवृत्त हुआ त्योंही मैंने पृथ्वीपर भँवरों के झुण्ड की नाईं काली-काली पहाड़-सी बड़ी छाया घूमती देखी। उसके बाद अति विशाल होने के कारण अति आश्चर्यरूप यह छाया करनेवाला क्या हो सकता है यों विचार करते हुए मैंने ज्योंही ऊपर की ओर दृष्टि डाली त्योंही झटपट आकाश से चक्कर काटकर नीचे गिर रही पर्वत-सी पुरुषाकृति मुझे दिखाई दी। पर्वत के तुल्य महान् यह पुरुष ब्रह्मा है अथवा ब्रह्माण्डशरीर विराट् पुरुष है ? ऊपर से फेंके हुए पर्वत के समान इसका शरीर गिर रहा है। महान् तो यह इतना है कि इसने अपने शरीर से तमाम आकाश को ढक दिया है। प्रसिद्ध भगवान् सूर्य भी, इससे दिनशोभा के सर्वथा लुप्त होने के कारण, शोभा नहीं पा रहे हैं। मैं अपने मन में इस प्रकार विचार कर ही रहा था कि अकस्मात् आकाश से भगवान् सूर्य-प्रलय कालीन वायुओं से उखाड़े हुए ब्रह्माण्ड के ऊर्ध्व कपाल के गिरने में जैसा घनघोर शब्द हो वैसे घनघोर शब्दवाले वेग के साथ-पृथ्वी पर गिरे। भयानक स्वरूपवाली जिसकी देहका पारावार नहीं था ऐसी पुरुषाकार वस्तु के गिरने और सातद्वीपवाली पृथिवी को एक क्षण में ढक लेनेपर मुझे उसके दबाव से द्वीप और लोकों के साथ अपने शरीर के अवश्यम्भावी विनाश की आशंका हुई। तदनन्तर मैं पास में स्थित अग्नि में प्रविष्ट हो गया। सैकड़ों जन्म जन्मान्तरों में मैंने भगवान् अग्नि की पूजा कर रक्खी थी, अतएव उन्होंने चन्द्रमा के समान शीतल शरीर बनकर मुझको ढ़ाढस दिया, मत डरो कहा। हे देव, आपका जय जयकार हो, आप हमारे प्रत्येक जन्म में परम आश्रय हैं। हे प्रभो, अनवसर में ही यह प्रलय प्राप्त है, अतः आप मेरी रक्षा कीजिये ॥२-१०॥

इस प्रकार अग्नि की प्रार्थना करने पर अग्नि ने पुनः मुझे ढाढस देते हुए मत डरो कहा और यह

भी कहा हे अनघ ! उठो हम दोनों अपने अग्निलोक को जाते हैं, तुम आओ किसी प्रकार का सोच मत करो। यह कहकर तदनन्तर भगवान् अग्नि अपने वाहन तोते की पीठपर मुझे बैठा कर पूर्वोक्त गिरे हुए शव के शरीर का एक हिस्सा जलाकर उसमें से निकलने के लिए एक छिद्र बनाकर आकाश में उड़ गये। तदुपरान्त आकाश में पहुँचकर मैंने वह पूर्वोक्त शवपतनरूपी महोत्पात देखा, जो अतिभयानक कष्टप्रद आकृतिवाला था। उक्त महाशव जब पृथिवीपर गिरा तब सारी पृथिवी सागर, पर्वत, वन, नगर और जंगलों के साथ काँप उठी, उससे बह रही नदियों का प्रवाह रुक गया, अतएव उसने गिरिनदियों के दोनों तटोंपर मार्गान्तर में जल बहने के कारण दो जलप्रपात बना डाले। वेग से गिर रही जलराशि ने भीषण गर्त बना डाले, जो मनुष्य विरचित बावड़ी, कुएँ और तालाबों से विलक्षण थे। उसके गिरनेपर भूमि में चीत्कार हुआ, उत्तर दिशा, पूर्व दिशा, दक्षिण दिशा और पश्चिम दिशाओं में हाहाकार मचा, आकाश में तुमुल ध्वनि हुई। पर्वत और प्राणियों के साथ सारे जगत् ने प्रलय की भ्रान्ति से भयभीत होकर विविध प्रकार के चीत्कार रोदन, हाहाकार आदि किये। गिरे हुए शव के धारण करने में पृथिवी से कोलाहलपूर्ण ध्वनि निकली। उसके कोलाहलपूर्ण वेग के आटोप से समस्त दिगन्तों का कोलाहल दब गया। आकाश से भी अत्यन्त तेज होने के कारण अन्य ध्वनियों से न दब सकनेवाली घुंघुम ध्वनि निकली। यदि अनेक गरुड़ भय से भागे तो उनके भयपूर्वक तेजी से भागने में जैसी प्रचण्ड ध्वनि होती है ठीक वैसी ही वह ध्वनि थी। पर्वतों की गुफाओं को खूब तोड़ने फोड़ने से पैदा हुआ घनघोर शब्द, भीषण भय के लिए तथा कान, हृदय आदि का भेदन करने के लिए चारों ओर से पैदा हुआ। उक्त शब्द उत्पातों के कारण भयंकर वेगवाले अतएव जालों की नाईं अपनी ओर खींचने वाले प्रलय-वायुओं से कुपित हुए प्रलयकालीन मेघों के निर्घोष को अपनी तीक्ष्णता के सामने मात करता था। उस शव के वेग से गिरने पर पृथ्वी कोलाहलपूर्ण हुई। दिशाओं के मारे कोलाहल के गूँज उठने से पृथिवी में सौगुना अभिघात हुआ। पृथिवी पर अभिघात होनेपर कुल पर्वतों के महातट मटियामेट हो गये और हिमालय के शिखर पाताल को चले गये। मेरुपर्वत की शिला के समान रूपरेखावाले शव के गिरने से पर्वतों के शिखर तहस-नहस हो गये, पृथिवी के टुकड़े-टुकड़े हो गये, समुद्रों में ज्वारभाटा आ गया, पहाड़ रसातल चले गये, सकल प्राणियों को क्लेश हुआ, प्रलय चाहनेवाले रुद्र आदि गणों का खिलवाड़ हुआ, सूर्य पृथिवीपर गिर पड़ा, द्वीपसमूह आच्छन्न हो गये, पहाड़ों का चूरा चूरा हो गया और पृथ्वीमण्डल छिन्न-भिन्न हो गया। उस शव को आकाशचारी देव, गंधर्व आदि ने महान् आकार से दूसरा भूतल-सा, ब्रह्माण्ड का दूसरा अर्ध भाग-सा, गिरा हुआ आकाश-सा देखा। इसके पश्चात् जब मैंने गौर से उसे देखा, तो वह मांसमय पर्वत निकला। उसका एक अंग भी सप्तद्वीपा पृथिवीपर नहीं समा सकता था। उसे देखकर मैंने अपने ऊपर सदा अनुग्रह करनेवाले भगवान् अग्निदेव से पूछा : भगवन्, यह क्या है ? वह मांसमय शरीर कैसे गिरा, उसके साथ आकाश से सूर्य कैसे गिरा और पर्वत, वन और जलधिसहित भूमितल में यह क्यों नहीं समाता है ? ॥११-२५॥ भगवान् अग्नि ने कहा : वत्स, जब तक शव के गिरने से उत्पन्न हुआ उत्पात पूर्णरूप से शान्त नहीं हो जाता तब तक त्वरा का त्याग कर तुम क्षणभर प्रतीक्षा करो उसके बाद मैं तुमसे सब कहूँगा ॥२६॥ इसके पश्चात् अग्निदेव ऐसा कह ही रहे थे कि दसों दिशाओं से उन जगतों की जातिवाले

आकाशचारी सिद्ध, साध्य, अप्सराएँ, दैत्य, गन्धर्व, नाग, किन्नर, ऋषि, मुनि, षोडष मातर, यज्ञ, पितर देवता आदि आ गये। उन सबकी वेष-भूषा आकाशोत्पन्न थी। उन आकाशचारी सिद्ध आदि ने भक्ति से सिर नवाकर, शरीर झुकाकर रक्षा करने में समर्थ सर्वेश्वरी कालरात्रि देवी की स्तुति की ॥२७-२९॥ आकाशचारियों ने कहा : जो देवी महाप्रलय में संहार को प्राप्त भगवान् ब्रह्माजी की कपिल जटाओं को अपने खट्वांग की चोटीपर बाँधकर, अपने वक्षस्थल में दैत्यों के मस्तकों की माला बनाकर, गरूड़ के पंखों से मुकुट बनाकर तथा समस्त प्राणियों का संहार कर पर्वतभूतलरूप इस जगत् का पान करती है। इस प्रकार सारे जगत् का ध्वंस करने पर भी जिसे तनिक भी दोषों से स्पर्श नहीं होता अतएव ज्यों कि त्यों शुद्ध चिन्मात्रस्वभाव है, हम लोगोंपर अनुग्रह करने के लिए शरीर धारण करनेवाली वह देवी अवश्य पालन करने योग्य हम लोगों का पालन करे ॥३०॥

एक सौ तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चौंतीसवाँ सर्ग

आविर्भूत हुई देवी कालरात्रि के शरीर का वर्णन तथा गणों द्वारा
उस शव का भक्षण, जिसका कि रक्त श्रीदेवी पी चुकी थी।

इस बीच में जब देवगण देवी की स्तुति कर रहे थे, उस पूर्वोक्त गिर रहे पुरुष ने अपने शरीर से सारे भूतल को आच्छादित कर दिया था, उसको मैंने शवरूप (निर्जीव) जाना। जिस शवभागने सप्तद्वीपा भूमि को पूर्णतया आच्छादित कर दिया था, सम्पूर्ण भूमि में न समा रहे शव के उसी पर्वततुल्य महान् उदरभाग को मैने देखा ॥१,२॥

वह शव इतना महान् था तो दूरस्थित उसकी भुजाएँ, जंघाएँ और सिर तुमने कैसे जाने ? ऐसी आशंका होनेपर वह कहता है।

भगवान् अग्नि ने उसकी अनन्त भुजाओं, जंघाओं और सिर के विषय में मुझसे कहा था, जो कि उसके भुजा आदि अवयव मनुष्यों की पहुँच के परे लोकालोक पर्वत के परले पार गिरे थे। इसके बाद आकाशचारी सिद्धादिवृन्द के आदरपूर्वक देवी की स्तुति करनेपर देवी आकाश से प्रकट हुई, चूँकि वह आकाश से प्रकट हुई थी, अतएव स्वयं शुष्का (रक्तहीना) थी। भूत-प्रेतों के दल के दल उसके पीछे-पीछे चल रहे थे, षोड़श मातर उसकी आवभगत में (सेवा-शुश्रुषा में) संलग्न थीं, कूष्माण्ड, यज्ञ, वेतालों के झुण्डों से उसने आकाश को तारामण्डल से मण्डित-सा बना दिया था तथा नसों के जल से पूर्ण बड़े-बड़े भुजदण्डों से आकाशतल को वन बना दिया था, दिशाओं में दाह की वृष्टि करनेवाले अपने दृष्टिपातों से वह सूर्यों को बिखेर रही थी, चमचमा रहे विविध हथियारों के आकारों से हो रही झण झण ध्वनि के साथ आकाशरूपी खोड़रे में पक्षियों के झुण्ड को सैकड़ों हिस्सों में बाँट रही थी। शरीर की ज्वालाओं और नेत्रवर्ती अग्नि की उष्णता से परिपूर्ण शरीर के अवयवों से बहुत लम्बे बाँसों के वन के आकारवाली करोड़ों योजन की कान्तियाँ बिखेर रही थी। चाँदनी जैसी दन्तकान्तिरूपी दूध से उसने दिशाओं को धो डाला था, अपने (दुबले) पर अतिविस्तृत शरीर से आकाश आच्छन्न कर दिया था, उसका न तो कोई आधार था और न स्थान ही था, अतएव

वह निराधार आकाश में फैली हुई सन्ध्याकाल की मेघपंक्ति-सी थी। परम ब्रह्म में आविर्भूत हुई वह प्रेतासन पर बैठी थी। जगमगा रही, उज्ज्वल रूपवाली वह सन्ध्याकाल के मेघ के समान लाल थी, अतएव आकाशरूपी सागर में बडवानल की शोभा धारण कर रही थी। पूरे शवों से, शवों के अवयवों से, मूसल, प्रास, तोमर, मुद्‌गर, आसन, ऊखल और हलों से बनी चंचल मालाओं को इधर-उधर बिखेर रही थी। जैसे वर्षा ऋतु का पर्वत पत्थरों की माला को झर-झर ध्वनिवाले झरनों से अपने शरीर में धारण करता है वैसे ही वह दाँतों के कट-कट शब्द के आडम्बर से युक्त प्रजाओं के शरीर की माला को आकाशरूपी आँगन में धारण कर रही थी ॥३-१३॥ देवताओं ने उस देवी से कहा : हे देवि ! अम्बिके ! इसे हमने आपको भेंट कर दिया है, कृपया अपने परिवार के साथ शीघ्र इसका भोग लगाइये ॥१४॥ देववृन्द के यों प्रार्थना करनेपर देवी, स्वयं सर्वप्राणशक्ति रूप होने से तथा प्राणों के रक्तपर आश्रित होने से, प्राणवायु से ही उसका रक्तरूपी सार अनायास खींचने लगी। जैसे सन्ध्याकाल का मेघवृन्द मेरु की गुफा के अन्दर प्रविष्ट होता है वैसे ही प्राणवायु द्वारा खींचा जा रहा उस शव का रक्त भगवती के मुँह में प्रविष्ट हुआ। आकाश में स्थित भगवती कालरात्रि ने प्राणवायु द्वारा खींचा गया रुधिर तब तक पीया जब तक कि पहले सूखी लकड़ी-सी वह चण्डिका तृप्त होकर मोटी तगड़ी न हो गई। तदुपरान्त रुधिर से मोटे तगड़े शरीरवाली वह जैसे वर्षा ऋतु में बिजलीरूपी चंचल नेत्रवाली मेघमाला रक्तवर्णा होती है वैसे ही बिजली की तरह चंचलनयना और लाल हो उठी। रक्त पीने से भगवती की तोंद बाहर निकल आई। लम्बी तोंदवाली वह विषैले साँपरूपी आभूषणों से विभूषित थी, रक्तरूपी मदिरा के नशे में चूर थी तथा सब हथियार उसने धारण कर रक्खे थे। पूर्वोक्त देवी ने अपने आधे शरीर से आच्छन्न आकाश में नाचना आरंभ किया। आस-पास के लोकालोकपर्वत की श्रेणी के शिखरों पर बैठे हुए देवगण उसका नाच देखने लगे। उसके पश्चात् पिशाच, कूष्माण्ड, रूपिका आदि महागणों ने उक्त शव को चारों ओर से ऐसे घेर डाला जैसे कि मेघमाला हिमालय पर्वत को घेर डालती है। कूष्माण्डों ने उक्तशवरूपी शैल को कमर की ओर से पकड़ा, रूपिकागणों ने पेट की तरफ से उसे पकड़ा और यक्षों ने हाथी के-से अपने दाँतों से क्षतविक्षत अवशिष्ट पीठ और अगल-बगल की ओर से उसे पकड़ा। चूँकि उसके जो भुजा, जंघा, कन्धे आदि अन्य अवयव थे, वे बहुत बड़े थे और ब्रह्माण्ड के परले पार जा पड़े थे, अतएव पूर्वोक्त भूत, प्रेत, पिशाच आदि दूर दिगन्तर में पड़े हुए उन्हें नहीं पा सके, किन्तु वे वहींपर काल से अपने-आप गल गये। जबकि चण्डिका आकाश में नाच रही थीं, सबके सब भूत-प्रेत शवपर लपटे थे, देववृन्द पर्वत के शिखरपर बैठकर देवी का नृत्य देख रहा था, उस समय सारे भुवन की जो स्थिति हुई वह बड़ी दयनीय थी। उसकी सब दिशाएँ खण्ड-खण्ड करके खाये जा रहे, ले जाये जा रहे दुर्गन्धिपूर्ण मांस, वसा आदि से व्याप्त थीं, रक्त से सने हुए मेघखण्डों से खैर और अग्नि के समान सारा भुवन लाल दिखाई देता था।

माँस चबाने की जल्दी से चारों ओर चब् चब् शब्द हो रहा था, लता जैसी लम्बी-लम्बी नसों और हड्डियों के टुकड़े करने से आकाश में कट-कट शब्द फैला था, भूतों के एक जगह इकट्ठा होने और अलग-अलग होने के कारण चारों ओर भीषण ध्वनि हो रही थी, सारा भुवन हिमालय और विन्ध्य पर्वत

जैसे बड़े–बड़े हड्डियों के पहाड़ों से भरा था। देवी के मुँह से निकल रही अग्नि की ज्वाला में खूब पके हुए माँस से सारा–का–सारा भूतल व्याप्त था और रुधिर–कणरूपी ओस की बूँदों से सभी दिशाएँ सिन्दूर से सनी हुई सी हो गई थी। चारों ओर से देखनेवाले देवताओं से दिगन्तर चहारदिवारी से घिरा–सा हो गया था। कुछ पहाड़ तो चोटी तक पृथ्वी के अन्दर धँस गये थे और बचे खुचे शेष सबके सब हड्डियों से चोटियों तक छिप गये थे, अतएव भुवनों के सभी पर्वत अत्यन्त तिरोहित हो गये थे। दिशारूपी नायिकाएँ रुधिर से सने हुए मेघमण्डल से रक्तवस्त्र से ढकी हुई–सी मालूम पड़ती थी। गोल–मटोल और चंचल भुजाओं से घुमाये गये विविध हथियारों से आकाश सारा का सारा पट गया, नगर गाँव और कसबे सबके सब ध्वस्त हो गये थे, केवल उनकी स्मृति ही शेष रह गई थी। भुवन में सारे चराचर जगत् का रूप ही अत्यन्त असंभव हो गया था, सारे जगत् में सर्वत्र कूष्माण्ड और पिशाचिनियों का ही एकमात्र समाज हो गया था। पिशाचों द्वारा ताने बाने बनाये गये आँतड़ीरूपी तन्तुओं से, जो नाचने में जी जान से लगे हुए भूत, प्रेत और पिशाचों के अभिनयशील हाथों के आकार के (अभिनयशील हस्तरूपी) पक्षियों को फँसाने के लिए फैलाए हुए जाल के समान और आकाश में द्वितीय जगत् की रचना कर रहे ब्रह्मा के नापने के सूतों के जैसे भूमि से लेकर सूर्य मार्ग तक ऊपर नीचे और दस दिशारूपी झाड़ियों से तिरछे लगे थे, ब्रह्माण्ड के उदरगत विमान के समान त्रैलोक्य हो गया था। भूतपूर्व पृथ्वीपर जमी हुई रुधिरधाराओं से समुद्राकार बने हुए अतएव पूर्वोक्त उपद्रव से विक्षुब्ध जगत् की वैसी हालत देखकर सात द्वीपों के छोर पर उक्त शव के कुत्सित अंगों से अस्पृष्ट लोकालोक पर्वत के शिखरपर बैठे हुए देवगण अति खिन्न हुए ॥१५–३७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, जिस शव के अतिविशाल हस्त, पाद आदि अवयव ब्रह्माण्ड से भी बाहर, पहुँच गये, उसने लोकालोक पर्वत को कैसे नहीं ढका ?॥३८॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, उस शव का उदरोपलक्षित मध्यशरीर सात द्वीपों के बीच में रहा है। सिर, खुरोपलक्षित पैर और बाहु आदि अवयव ब्रह्माण्ड के बाहर रहे। हाँ, यह जो भासने कहा वह सत्य ही है तथापि शव के दोनों बगल, जंघाओं के मध्य से, कमर के दो भागों से और सिर और कन्धों के दो मध्य भागों से शिखरों के न ढकने के कारण वह लोकालोक पर्वत ऊपर दिखाई देता ही है ॥३९,४०॥

इस तरह प्रश्न का उत्तर कहकर कथा का अवशिष्ट अंश भी श्रीवसिष्ठजी ही कहते हैं, जो कि भासको ज्ञात न था।

वहाँ शिखरों की चोटियोंपर बैठे हुए अत्यन्त शुद्ध कान्तिवाले देवता शरदऋतु के सूर्य की धूप से निर्जल हुए शुभ्र मेघों के समान दिखाई देते हैं। जब भूतप्रेतों का दल सब अंग–प्रत्यंग छोड़कर (फैलाकर) मुँह के बल गिरे हुए उस शव को खा रहा था और सोलहों मातृकाएँ (देवियाँ) खूब नाच रही थीं, रुधिर के पनाले बह रहे थे, वसा की दुर्गन्ध फैल रही थी, प्रत्येक देवताने दुःखी होकर यह विचार किया ॥४१–४३॥ हा खेद है, पृथिवी कहाँ चली गई, सागर कहाँ चले गये, जनता कहाँ चली गई और पर्वतराशि कहाँ चली गई ? ॥४४॥ हाय, चन्दन और मन्दार और कदम्ब के वृक्षों के वनों से अलंकृत तथा विविध पुष्पों की राशियों का मण्डप–सा वह सुन्दर मलयाचल कहाँ चला गया ? ॥४५॥ रुधिर ने हिम से सम्पादित शुक्लता के प्रति मानों द्वेषवश उसको नष्ट करने के लिए

हिमालय के ऊँचे स्वच्छ विशाल भूभागों को अपने कीचड़ से शीघ्र लथपथ कर रँग डाला। क्रौंचद्वीप में क्रौंचनामक पर्वतपर जो विशाल कल्पवृक्ष था, जिसकी शाखाएँ ब्रह्मलोक तक फैली हुई थीं, उसका भी चूरा-चूरा हो गया है ॥४६,४७॥ हे कल्पवृक्ष, लक्ष्मी, चन्द्रमा और अमृत को पैदा करनेवाले, हे क्षीरसागर, हे दधिसागर, जिसके कि नवनीत से भरे हुए पर्वतों पर वेलावन उगा है, जिसके तीरस्थित नारियल के वृक्षों की बहुतायतवाले सुन्दर दर्शनीय पर्वतपर योगेश्वरियाँ निवास करती हैं, ऐसे हे मधुसागर आप सब शोचनीय हैं। आप लोग इस समय कहाँ चले गये, अथवा स्फटिक आदि रत्नशिलाओं से देवांगनाओं और दिशाओं की दर्पणता को कहाँ प्राप्त हुए ? ॥४८॥ हे क्रौंचद्वीप, जिसमें कल्पवृक्ष और निर्मल कांचनलताओं से निरवच्छिन्न घनिष्ट सम्बन्ध रखनेवाला क्रौंचाचल है, हे पुष्कर द्वीप, जिसका चौगिर्द ब्रह्माजी के वाहनभूत हंसों और नलिनियों से ठसाठस भरा है और जो कदम्ब के वनों की गुफाओं में विश्राम करनेवाले विद्याधरियों की रतिक्रीड़ाओं के जानकार नागरिकों और देवताओं का अड्डा है, तुम दोनों यहाँ से कहाँ चले गये ? स्वादुजलवाले समुद्र के तथा उसके वनों के, जो कि उग्र ताप को हटानेवाले तथा पुष्पों से आच्छन्न हैं और पृथ्वी को पवित्र करनेवाले हैं, गोमेध द्वीप, उसके कल्पवृक्षों के और वहाँ की सुवर्णलताओं के तथा उनसे सुन्दर गुफाओं के और कल्पवृक्षों के वनों से वेष्टित तथा कल्पवृक्षों के फूलों से सफेद शाकद्वीप के साथ उसके पर्वतों के स्मरण से ही मनुष्यों को स्वर्ग सुखप्रद पुण्य होता है। जिनकी दसों दिशाएँ मन्द-मन्द वायु के हिलोरों से चंचल पत्तोंवाली लताओं से वेष्टित कल्पवृक्षों से लहलहाती थीं वे सबके सब वन हाय ध्वस्त हो गये मेरी समझ में नहीं आता अब हमारे सदृश लोग कैसे विश्राम लेंगे। इक्षुसागर के किनारे मिश्री की चट्टानवाले पहाड़ों से विभूषित पृथ्वीपर उन घने जंगलों को तथा उन अतिमधुर मोदकों को फिर कब देखेंगे ? खांड के बने हुए खिलौनों को भी कब देखेंगे ? ताड़ और तमालों के वनों से युक्त उस पर्वत के कदम्ब और कल्पवृक्ष से शीतल सुवर्णमय गृहों में बैठकर पहले अनेक बार अनुभूत चन्दनलिप्तसर्वांगवाली सुन्दरियों का (या चन्दनलतारूपी सुन्दरियों का) नृत्य कब देखेंगे ? हा, जम्बूद्वीपवर्ती जम्बूवृक्ष के हाथी के बराबर तथा जाम्बूनद सुवर्ण की उत्पत्ति के हेतु होने से अति प्रसिद्ध अग्रफल स्मरणीय हो गये हैं उन्हीं फलों के रससे बनी नदी को यह जम्बूद्वीपरूप पृथ्वी धारण करती है, अन्यान्य द्वीप और समुद्र उसकी मेखला रूप है। कुकुरमुत्ता (एक प्रकार की बदबूदार वनस्पति, मशरूम) से चारों ओर भरे हुए पहाड़ों की गुफाओं में मदिरा मद से मतवाली स्त्रियों द्वारा किये गये संगीत नृत्य की चहलपहलवाले सुरासागर के तीरका स्मरण कर प्रातःकाल में जैसे कमल की पँखुरियाँ दर दर एक के बाद एक विदीर्ण होती है तथा जैसे इस समय पृथ्वी विदीर्ण हुई है वैसे ही मेरा हृदय विदीर्ण होता है ॥४९-५५॥

हे मित्र, जरा आकाश की ओर देखो, लाल जलवाले नूतन सागर के ऊपर सुवर्णमय मेरु आदि सैकड़ों पर्वतों के शिखरों की चोटियाँ उत्तर आदि दिशाओं में सूर्योदय और सूर्यास्त के निकट की भूमियों की प्रातः और सायं संध्या से लाल हुई कुछ कुछ उदित चन्द्रकलाओं की तरह अपनी कान्ति से शोभित हो रही हैं। हाय हमारी प्यारी भूमि, जिसके पूर्ववर्णित सागररूप जलराशि कंकण के तुल्य है, जो विभिन्न द्वीपों से अलंकृत है तथा स्तनसदृश उन्नत पर्वतों पर बैठे हुए मेघरूपी नीलकमलों

की माला से सुशोभित है, जो वृक्ष, पल्लव, अंकुर आदि भूषणों से युक्त है, जिसके सोते, नदियाँ, जंगल, वीरों से भयानक नगर, ग्राम, अग्रहार (ब्राह्मणों को दान दिये गये ग्राम) वस्त्र हैं, इस समय न मालूम कहाँ चली गई है ? ॥५६,५७॥

एक सौ चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पैंतीसवाँ सर्ग

भूत, प्रेतों के झुण्ड द्वारा शव का खा लेने और रुधिर पी लेने के
अनन्तर वसा से पृथिवी की रचना हुई और बचे हुए रुधिर से मदिरा का सागर बनाया गया।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : उन्मत्त भूत–प्रेतों के झुण्ड ने खाने के बाद शव को जब थोड़ाबहुत बचा दिया तब दिशाओं में स्थित लोकालोक पर्वतपर बैठे हुए देवराज सहित देवताओं ने यह कहा : देवी के गणों ने वसा से सनी हुई अतएव वायुवश उड़े हुए निर्मल मेघखण्डों से व्याप्त आकाश के समान बड़ी–बड़ी आँतड़ियाँ विद्याधर और देवताओं के विहार के साधन विमानों की संचारभूमि में (आकाश में) भी सुखाने के लिए फैलाई हैं। देखिये, भूतों ने सातों द्वीपों में वसा का जल बहाया है, मांस खा डाला है और रक्त पी लिया है, इसलिए इस समय भूमि कुछ दर्शनीय हो गई है। सब प्राणियों को आनन्द प्रदान करनेवाली पृथिवी हाय इस समय वसारूपी वस्त्रों से सारी ढकी है और सबके सब वन वसा के बने हुए शरत्कालिक मेघसमूहों से धूसर कम्बलों से ढके हुए से मालुम पड़ते हैं। देखिये, उस शवकी इन हड्डियों ने महापर्वतों का रूप धारण कर लिया है। ये दिशा–तट को ढककर हिमालय की चोटियों के समान खड़े हैं ॥१–५॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भास, जब कि देवगण आपस में उक्त वार्तालाप कर रहे थे, वे देवी के गण तृप्त होकर खाने पीने से बचे हुए वसा से पृथिवी को लीप–पोतकर उन्मत्त हो आकाश में नाचने लगे। भूतों के झुण्ड के आकाश में नाचने पर देवताओं ने पृथिवी का अवशिष्ट रुधिर अपने संकल्प से रचित एक नाले से एक सागर में भर दिया। देवताओं ने निश्चय कर उसी सागर को मदिरा का सागर बनाया। तबसे लेकर आज तक वह मदिरा का सागर बना है। वे भूत आकाश में नाचकर उस सागर की मदिरा का पान करते हैं और आनन्द मन्दिर आकाश में फिर नाचते हैं। उन भूतों की भाँति आज–कल के भूत भी उस मदिरासागर से मदिरा पीते हैं और योगेश्वरी के गणों के साथ आकाश में नाचते हैं। उन भूतों के पीने से शेष रही वह वसाराशि पृथिवी में फैलकर सूख गई है, इसी कारण पृथिवी का मेदिनी नाम पड़ा है ॥६–११॥

इसी तरह देवताओं ने सूर्य को भी पहले की नाईं अपने पदपर प्रतिष्ठित कर दिया, पर्वत आदि की रचना भी पहले की तरह कर डाली यह सूचित करते हुए कहते हैं।

इस प्रकार के क्रमसे शव के क्षीण होने पर सूर्य के अपने पदपर प्रतिष्ठित करने और मेरु आदि पर्वतों का उद्धार करने के कारण दिन और रात्रि के क्रम के पुनः चालू होनेपर फिर प्रजापति ने नई–नई प्रजाओं की सृष्टि की। इस भूमि में वह सृष्टि पूर्ववत हुई ॥१२॥

एक सौ पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ छत्तीसवाँ सर्ग

भास के पूछने पर अग्नि द्वारा आदि से लेकर शव के वृत्तान्त का
उसकी असुर, मच्छर, मृग और व्याध योनियों का - वर्णन।

भास ने कहा : राजन्, इसके बाद तोते के पंखों की जड़ के कोनेपर बैठे हुए देवाधिदेव भगवान् अग्नि से मैंने यह पूछा, सुनिये : हे भगवन्, हे सकल यज्ञों के ईश्वर, हे स्वाहादेवी के अधिपति, हे अग्निदेव, जिसका इस समय 'शव' नाम पड़ा है वह पहले किस कारण से हुआ ? ॥१,२॥ अग्नि ने कहा : हे राजन् सुनो, मैं त्रैलोक्य में प्रकाशमान असीम शवका सारा का सारा वृत्तान्त आदि से अन्त तक तुमसे कहता हूँ ॥३॥ सर्वव्यापक, निराकार चिन्मय परमाकाश है, जिसमें ये असंख्य जगत्‌रूप परमाणु हैं। उस सर्वव्यापक, सर्वात्मक, शुद्ध, चिन्मात्रआकाश में कहींपर अपने आप विषयाकारमय संवित् उद्‌भूत हुई। वेदनारूप स्वभाव होने के कारण ही उसने अपने में तेजःपरमाणुभाव वैसे ही देखा जैसे कि तुम पथिक की भावना करते हुए सोकर स्वप्न में अपने को ही पथिक रूप से देखते हो। अज्ञानावृतचैतन्य होने के कारण परमाणु ने कमल में उत्पन्न पराग के कण के समान खूब चमक रही संकल्परूप अपनी अणुता स्वयं देखी॥४-७॥ चमक रही उस अणुता ने बढ़कर अपनी वृद्धि की (फुलाव की) भावना करते हुए चक्षु आदि इन्द्रियों का अनुभव किया फिर वे इन्द्रियाँ शरीर में संलग्न हैं, ऐसा अनुभव किया। आगे चक्षु आदि ने अपने स्वभाव से शब्द, स्पर्श आदि गुणों का आधारआधेय सम्बन्धवाला भूतमय जगत्, स्वप्न के नगर के समान, देखा ॥८,९॥ वेदन से लेकर विषयपर्यन्त अध्यारोपरूप कार्य-करणों के मध्य में असुर नाम का कोई प्राणी था, वह असुर स्वभाव से ही बड़ा अभिमानी हुआ।

शंका : क्या उसके माता, पिता और पितामह नहीं थे ?

उत्तर : थे, किन्तु विदूरथ के पिता, माता आदि के समान असत्यप्रतिभास-स्वरूप थे। वह मारे घमण्ड के फूला न समाता था, अतएव उसने वहाँपर किसी महामुनिका सुखशान्तिमय आश्रम मटियामेट कर डाला। तब मुनिने उसे शाप दिया-अरे अधम, विशालकाय होने के कारण तूने मेरा यह आश्रम तहस-नहस कर डाला है, इस कारण तू मरकर अतिक्षुद्र मच्छर हो। इसके उपरान्त मुनि के शापरूपी अग्नि ने उसी क्षण में उस असुर को जैसे बड़वानल जल को भस्म कर देता है वैसे ही वहाँ भस्म कर दिया ॥१०-१३॥

उस समय वह आसुर चेतन कैसा था, इस पर कहते हैं।

आकाशमण्डल के तुल्य निराकार निराधार चैत्यभिन्न आसुर चेतन सुषुप्त मूर्च्छित चित्त के समान था। वह अव्याकृतस्वरूप आसुर चेतन, समानता होने के कारण, भूताकाश के साथ एकता को प्राप्त हुआ और तदनन्तर वह भूताकाश अपने में प्रतिष्ठित वायु के साथ एकता को प्राप्त हुआ। चेतनावायुरूप (प्राण रूप) वही, जिसका कि देहप्राप्ति होनेपर 'प्राणी' नाम पड़ेगा, अणुरूप पार्थिव भाग, अणुरूप जल भाग, अणुरूप तेज भाग और अणुरूप आकाश भाग से व्याप्त हुआ। उस पंचतन्मात्रामय अणुरूप चिन्मात्रलेश में आकाश में वायुलेश के समान स्वभावतः क्रियाशक्ति का आविर्भाव हुआ ॥१४-१७॥

क्रियाशक्ति से लिंगदेह में ज्ञानशक्ति के आविर्भाव को कहते हैं।

तदुपरान्त जैसे वर्षा ऋतु, पूर्वी वायु, वर्षा आदि का जल - इन सबसे अंकुर पैदा करने में सक्षम भूमि में बोया हुआ बीज फूलकर जाग्रत होता है वैसे ही उसका वायु के अन्दर स्थित वह चेतन उद्बुद्ध हुआ। महामुनि के शाप को जाननेवाली, मच्छर की योनि को प्राप्त होनेवाली उक्त अन्तःकरण में स्थित असुर की चिति उक्त संस्कारों से विद्ध होकर मच्छर के पंख, पैर आदि अंगों को जानकर स्वयं मच्छर हो गई ॥१८,१९॥

स्वेदज आदि चतुर्विध भूतयोनियों में उसने कौन योनि पाई और कितने काल तक की उसकी आयु हुई ? इस पर कहते हैं।

अतिक्षुद्र शरीरवाले उस स्वेदज मच्छर का शरीर अति हलका होने से फूँक मारने से उड़ जाता था, उसकी केवल दो दिन की परमआयु हुई ॥२०॥

आपने स्वप्नसंसार के समान ही जाग्रतसंसार भी है, यह एक दो नहीं, सैकड़ों बार कहा है। स्वप्न-देह का तो योनि से जन्म नहीं दिखाई देता, जाग्रतदेह का योनि से जन्म दिखाई देता है, उसके दृष्टान्त से जाग्रत-देह के समान ही स्वप्नदेहका भी जन्म सर्वत्र योनि से ही है अथवा दूसरे प्रकार से भी हो सकता है यों संशय में पड़े हुए श्रीरामचन्द्रजी प्रसंगतः श्रीवसिष्ठजी से पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : प्रभुवर, यहाँ सभी प्राणियों का योनि से ही जन्म होता है अथवा अन्य प्रकार से भी हो सकता है ? ॥२१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, ब्रह्माजी से लेकर तिनके पर्यन्त सब भूतों की दो प्रकार की उत्पत्ति होती है-एक ब्रह्ममय और दूसरी भ्रान्तिज। इन दोनों को आप सुनिये। पहले की योनि के अनुभव से बद्धमूल पहले के शरीरतादात्म्य की दृढ़ भ्रान्ति से तत्-तत् भूत और भूततन्मात्राओं के अनुरागवश तदाकार से प्राणियों का जो जन्म होता है वह भ्रान्तिज जन्म कहा गया है, क्योंकि वह दृश्य के संग से होता है। इस विषय में 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु-विनश्यन्ति' 'यद् यद् भवन्ति तदा भवन्ति' इत्यादि भगवती श्रुतियाँ हैं। नित्यमुक्त ब्रह्मा को पहले कभी भी ध्यान में न आई हुई जगद्भ्रान्ति होनेपर सृष्टि के आरम्भ में विर्वतवश हो रहा चतुर्विध जीव रूप से ब्रह्म का जो जन्म है वह ब्रह्ममय जन्म कहा गया है, वह योनिज जन्म नहीं है ॥२२-२४॥

ब्रह्ममय जन्म का अनुभव जन्मतः सिद्ध कपिल, सनक आदि महामुनियों को ही होता है, अज्ञानी मच्छर आदि का ब्रह्ममय जन्म नहीं हो सकता अतएव प्रस्तुत मच्छर-जन्म भ्रान्तिज ही था, इस अभिप्राय से कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐसी परिस्थितिमें वह मच्छर जगद्भ्रान्तिवश जन्मा था, ब्रह्मविवर्तवश नहीं जन्मा था। अब आप उसकी क्रमिक चेष्टाओं को सुनिये। पृथ्वीपर ईख के झुरमुटों, घनी घास के तिनकों, काश, मूँज आदि के अम्बार में गूँजनेवाले मच्छरों में स्वयं भी गूँज रहे और क्रीड़ा कर रहे उस मच्छर ने दो दिन की अपनी पूर्णायु का आधा हिस्सा (एक दिन) भोग लिया ॥२५,२६॥

आधी आयु (एक दिन) बीतने के उपरान्त दूसरे दिन की उसकी चेष्टा का वर्णन करते हैं।

उस मच्छर ने बाल-क्रीड़ावश स्वयं हरीघास के मध्यरूप झूले में चिरकालतक अपनी पत्नी मच्छरी के साथ झूलना आरम्भ किया। झूलने की थकान से थका हुआ वह ज्योंही कहीं विश्राम करने लगा

त्योंहीं ऊपर हरिण के खुराग्रभागरूप पर्वत के गिरने से चूर हो गया। उसने हरिण की आकृति के दर्शन से प्राण त्यागे थे इस कारण पहले मच्छर की देह ग्रहण करने में जो क्रम कहा गया है उसी क्रम से बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियों का ग्रहणकर तदनन्तर वह हरिण हो गया। अरण्य में इधर उधर भटक रहे हरिण को व्याध ने धनुष से मार डाला। मरते समय उसकी दृष्टि व्याध के मुखपर पड़ी, अतएव अगले जन्म में वह व्याध ही हुआ। विविध वनों में भटक रहा व्याध अकस्मात् मुनि के वन में जा पहुँचा। वहाँपर उसने विश्राम किया। उसके सत्संगलाभरूप सौभाग्य से मुनि ने उसे ज्ञानोपदेश दिया : अरे व्याध, तुम भ्रम में पड़े हो। इस क्षणभंगुर जगत् में दीर्घ दुःख के लिए मृगों को धनुष बाण से क्यों मारते हो ? महाफल देनेवाली अहिंसा, अभयदान आदि शास्त्रमर्यादा का क्यों पालन नहीं करते ? ॥२७-३२॥

देखो न इस संसार की असारता ! आयु वायु से टकराए हुए मेघमण्डल में लटक रहे जल के समान क्षण में नष्ट होनेवाली है, भोग मेघराशि के मध्य में कौंध रही बिजली के समान चंचल हैं। यौवनविलास जलके वेग के सदृश चंचल है। शरीर क्षणभंगुर है। हे पुत्र, इसलिए पारलौकिक अनर्थरूप संसारवश त्रास को प्राप्त होकर अभयदान, अहिंसा आदि उपायों से आत्यन्तिक अनर्थनिवृत्ति से युक्त नित्य निरतिशय आनन्दरूप ब्रह्म की गुरु तथा शास्त्ररूप उपाय द्वारा खोज करो ॥३३॥

एक सौ छतीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सैंतीसवाँ सर्ग

व्याध के पूछने पर मुनि का धारणा के अभ्यास से परकायप्रवेश द्वारा देखे गये उसके स्वप्न का वर्णन।

व्याध ने कहा : हे मुनिजी महाराज, यदि हिंसादि कार्य दुःखका हेतु है तो दुःख के विनाश में कारणभूत व्यवहार, जो न कठोर है और न कोमल है, कैसा है ? कृपया उसे मुझसे कहिये ॥१॥ मुनिजी ने कहा : इसी समय बाणों के साथ धनुष का सर्वदा के लिए त्यागकर मुनिजनों के यम, नियम, विचार आदि आचरण की दीक्षा लेकर निर्द्वन्द हो यहाँपर निवास करो ॥२॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : उक्त मुनि के यों उपदेश देनेपर धनुष और बाणों का परित्याग कर वहींपर उसने मुनिजनों के-से आचरण अपनायें और अयाचित जो कुछ मिल जाता था उससे अपनी गुजर करे लगा। तदुपरान्त मुनियों के से आचरणवाले उसके हृदय में थोड़े ही दिनों में सारासार विवेकशीलता ने वैसे ही प्रवेश किया जैसे फूल अपनी कली के विकास आदि क्रमसे होनेवाली मनमोहनी सुगन्ध से लोगों के हृदय में प्रवेश करता है ॥३,४॥ हे शत्रुतापन महाराज दशरथजी, इस प्रकार हृदय में विवेक का अंकुर पैदा हो जाने के बाद एक दिन उस व्याध ने महामुनि से पूछा : भगवन्, प्राणियों के अन्दर स्थित स्वप्न जाग्रत की तरह बाहर कैसे दिखाई देता है ? बाहर स्थित यह जगत्-प्रपंच स्वप्न बनकर प्राणियों के अन्दर कैसे दिखाई देता है ? प्राणियों के अन्दर स्थित स्वप्न किस साधन से दिखलाई पड़ता है ? इस तरह बाहर और भीतर स्थित स्वप्नरूप प्रपंच कैसे दिखाई देता है और यदि प्रपंच स्वप्न ही है तो भीतर बाहर दो प्रकार से स्थित कैसे दिखाई देता है ? इस प्रकार अनेक संशयों से गुँथे हुए एक-साथ पाँच प्रश्न किये ॥५॥

प्रचुर तर्कों से गर्भित प्रश्न को सुनकर प्रारम्भिक भूमिका की अवस्था में जब कि मेरा विवेक प्रौढ़ नहीं हुआ था, मेरे मन में भी ऐसे ही अनेक वितर्क उठे थे। मैंने योगधारणा के अभ्यास से स्वयं परकायप्रवेश

द्वारा उसके स्वप्न आदि का पुनः पुनः अवलोकनकर अन्वय–व्यतिरेक से बार–बार परीक्षा करके तथ्य तक पहुँचकर उनका समाधान किया था, यह विस्तारपूर्वक कहने के लिए तीसरे प्रश्न का उत्तर देते हुए मुनि उपक्रम करते हैं।

मुनि महाराज ने कहा : हे साधो, पहले आरम्भअवस्था में जबकि मेरा विवेक कोमल था, मेरे मन में भी अपने–आप न जाने कहाँ से ऐसा ही वितर्क आकाश में बादल के टुकड़े के तुल्य उठा। उसके बाद उसका पता लगाने की इच्छा से मैंने योग–क्रिया का खूब अभ्यास किया, जिससे मैं अनायास परकाय प्रवेश कर सकूँ। पद्मासन बाँधकर सब प्राणियों की आत्मभूत सर्वप्रसिद्ध संवित् में ही स्थिर हुआ यानी चित्तसमाधि लगाई। जैसे सूर्य सायंकाल के समय बिखरे हुए अपने प्रकाश को अपने मण्डल की कान्ति से बटोरता है वैसे ही उक्त संवित् में समाधिस्थ हुआ मैं उसी संवित् से दूर विक्षिप्त अपने चित्त को अपने हृदय में लौटा लाया। मैंने प्राण के अन्तर्गत चित्त की प्रेरणा से योगशास्त्र में प्रसिद्ध प्रयत्न से, जो प्राण के साथ जीव के बाहर निकलने में सहायक है, जीवोपाधि चित्त के साथ प्राण को शरीर से बाहर रेचक द्वारा निकाला। बाहर आकाश में स्थित जीवोपाधि चित्त से युक्त बाहर रेचित अपने प्राणवायु को मैंने अपने सामने स्थित किसी जीव के (छात्र के) मुख के अग्रभाग में स्थित प्राण में मिला दिया। मेरे प्राण से संमिश्रित उस प्राणी का जो प्राण था, उसने मुझे उसके हृदय के भीतर वैसे ही पहुँचाया जैसे कि भालू बिल में मुँह डालकर मुँह के वायु से अपने आहारभूत साँप को जबर्दस्ती बाहर खींच मुँह में डाल कर मारकर अपने पेट में पहुँचाता है। उसके हृदय में प्रविष्ट होने के बाद प्राणरूपी घोड़े से परस्पर मिले हुए उक्त दोनों प्राणों का अनुगमन कर मैं उसके देह मध्य में प्रविष्ट हो अपनी बुद्धि से संकट में फँस गया जैसे बाह्य प्रदेश में सिंचाई के लिए छोटी बड़ी बहुत–सी नहरों का जाल बिछा रहता है वैसे जीवगृह में रसवाहिनी बहुत सी नाड़ियों का जाल फैला हुआ था। उक्त जीवगृहरूपी शरीर पसलीरूपी पिंजड़े, प्लीहा, यकृत, रुधिर आदि के पिण्डों से ठीक वैसे ही संकटाकीर्ण था जैसे कि भाँड़े, बर्तन आदि के अम्बारों से घर संकटाकीर्ण होता है। जैसे ग्रीष्म ऋतु में तपी हुई लहरों से सागर व्याप्त रहता है वैसे ही उदराग्नि में उबलने से शल् शल् शब्द कर रहे गरम गरम सब अवयवों से जीवगृह शरीर घिरा था। जीवन के लिए चित्त और प्राण आदि वायुओं द्वारा निरन्तर खींचे गये बाहर के नूतन नूतन शैत्य के नासिका के अग्रभाग के भीतर प्रवेश होने के कारण वह जीवगृह चेतनामय था। रुधिर को नाड़ियों द्वारा बाँटनेवाले अन्नरस, कफ आदि के बहाव से वह अत्यन्त बिछलर था, उसमें चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार था, गर्मी भी कम न थी, अतएव नरक के तुल्य महान् संकटाकुल था। बहत्तर हजार नदियों में कहींपर रुधिर, रस, कफ और पित्त के उदय से कहींपर विभिन्न अंगों में चिपकने से तथा कहींपर संचार के सौकर्य से व्यक्त और कहींपर मार्ग में रुकावट होने से व्यक्त न हुए प्राण आदि वायुओं की लीलाओं से सात धातुओं की सत्ता और विनाश की विषमतावश वह जीवमन्दिररूप शरीर आनेवाले रोगोंकी स्वप्न आदि में सूचना देता था ॥६–१८॥ वेग के साथ खुल रहे अपान आदि वायुओं के छिद्रों में निकले हुए वायु से उसमें शब्द होता था तथा हृदयकमलनाल के छेद के अन्दर सागर में बडवाग्नि की तरह जठराग्नि निरन्तर जल रही थी। *महोपनिषद् में कहा है –'पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम्' 'इत्युक्रम्य 'तस्याग्रे सुषिरं सूक्ष्मं तस्मिन् सर्व प्रतिष्ठितम्।* कोष के तुल्य हृदय का मुँह नीचे को होता है। इस प्रकार

आरम्भ कर उसके अन्त में छोटा-सा छेद है। उसमें सब कुछ प्रतिष्ठित है। उसके बीच में अग्नि की छोटी-सी लूर स्थित है ॥१९॥ चारों ओर से एकत्र हो रहे वासनामय पदार्थों से वह ऐसा ठसाठस भरा बँधा था, साक्षीभूत आत्मा के स्वभाव से अत्यन्त विशद भी था, चित्तवृत्ति के भेदों से तथा प्रदेश भेदों से कहींपर वैसे ही क्षुब्ध था जैसे कि रात में चोरों द्वारा नगर क्षुब्ध होता है और कहींपर अत्यन्त शान्त था॥२०॥ कोष्ठगत अन्नरस में गुड़-गुड़ शब्द पैदा करने में तत्पर अतएव नाड़ी मार्गों में गा रहे विद्याधर पथिक के सदृश इधर उधर संचार कर रहे तथा द्विमात्र एकमात्र और अर्धमात्र युक्त गतिवाले वायुओं से घिरा था ॥२१॥ मैं प्राणी के अत्यन्त उबड़ खाबड़ तथा भीड़-भाड़वाले उस हृदय में वैसे ही प्रविष्ट हुआ जैसे कि श्रेष्ठ पुरुष पुरुषों के अवयवों से ठसाठस भरे नर-समूह में प्रविष्ट होता है। उसके बाद तेज स्वरूप मैं उसके हृदय के मध्य में उदराग्निरूप तेज के सार को, जो समीपस्थ होनेपर भी विविध नाड़ीमार्ग से प्राप्य होने के कारण दूर स्थित-सा था, प्रयास से वैसे ही प्राप्त हुआ जैसे कि रात्रि में सूर्यप्रभा चन्द्रमा को प्रयत्न से प्राप्त होती है ॥२२,२३॥

यदि कोई कहे कि वह ओज तेजः सार कैसे है ? तो इस पर कहते हैं।

चूँकि उसके अन्दर त्रैलोक्य का भान होता है, अतः वह त्रैलोक्य का दर्पण है, त्रैलोक्यस्थित पदार्थों का वह दीपक के समान प्रकाशक है, सब पदार्थों के अस्तित्व का (सत्ता) सम्पादक है तथा जीव (जीववेशधारी परमात्मा) उस तेज में रहता है। भगवती श्रुति ने भी कहा है-उसके मध्य में उत्पन्न सूक्ष्म अग्नि की लूर है उस लूर के बीच में परमात्मा बैठा है, वह ब्रह्म है, वह शिव है, वह अविनाशी है, वह परम स्वराट् है ॥२४॥

यदि कोई शंका करे कि 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' इत्यादि श्रुतियों में जीव की सकलदेह व्यापकता सुनने में आती है, ऐसी स्थिति में वह तेजोधातु में (ओज में) ही कैसे स्थित है ? इसपर कहते हैं।

जैसे यद्यपि सूर्य द्वारा विकसित पुष्प में उसकी सुगन्धि और शीतलता सर्वत्र विद्यमान है फिर भी केसर से युक्त उसके मुँह में सुगन्धि और शीतलता विशेषरूप से रहती है वैसे ही यद्यपि सर्वव्यापी आत्मा जीव बनकर नख से लेकर शिखा तक सर्वत्र प्रविष्ट हुआ तथापि तेजोधातु में (ओज में) वह विशेष रूपसे स्थित है ॥२५॥ जैसे घड़े आदि से ढकी हुई दीपज्योति की घड़े के छोटे छोटे छेदों से प्रविष्ट हुए वायुओं से रक्षा होती है क्योंकि यदि छेद बिलकुल बन्द कर दिये जाय तो दीपक बुझ जाय, वैसे ही चारों ओर इन्द्रियाभिमानी देवताओं द्वारा चारों द्वारोंपर सुरक्षित उक्त जीवाधार ओज में (तेजोधातु में) मैं चुपचाप बिना किसी के जाने बूझे प्रविष्ट हो गया। उसके उपरान्त मैं साक्षात् उक्त जीव के उपाधिभूत मनोमय विज्ञानकोश से परिवृत आनन्दमय कोश में जो आनन्दमय कोश द्वितीया के चन्द्रमा के किरणों के (चाँदनी के) सदृश स्वच्छ था, सफेद बादल के टुकड़े के समान मनोहर था, मक्खन के गोले के समान कोमल और दूध के बुद्बुद् के समान सुन्दर था ऐसा प्रविष्ट हुआ जैसे कि मनोहर गन्ध वायु में प्रविष्ट होती है ,जैसे सूर्य चन्द्रमा में प्रविष्ट होता है अथवा जैसे दूध मिट्टी के पात्र में प्रविष्ट होता है। पूर्व स्थानों में प्रवेशवश जो थकान मुझे हुई थी वह यहाँ बिलकुल नहीं हुई। जैसे अपने हृदय में स्थित ओज में मैं स्वस्थ रहता था वैसे ही वहाँपर भी स्वस्थता के साथ रहते हुए

मैंने अपने स्वप्न जगत् की भाँति उसका स्वप्नरूप जगत् भी पूरा का पूरा देखा। उसके स्वप्न जगत् में भी सूर्य थे, पर्वत थे, सागर थे, देवता, राक्षस और मनुष्य थे, नगर थे विशाल जंगल थे, अन्यान्य लोक थे, दिशाएँ थी, सातों द्वीप, सातों सागर, भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल और इन्द्रियों के क्रम सब विद्यमान थे, प्रलय, क्षण सब ऋतुएँ स्थावर जंगम सब कुछ विद्यमान था। वहाँपर वह स्वप्नदर्शन अनादि प्रवाह स्थित तथा प्रसिद्ध जगत् के तुल्य रहा। मैं निद्रा के बाद जाग्रत अवस्था में अतिशयेन स्थित ही रहा, क्योंकि जाग्रत् के अन्त में निद्रा आई ही नहीं ॥२६–३२॥ हे व्याध, मुझे नींद नहीं है तथापि मैं क्या स्वप्न देखता हूँ यों विचार कर रहे तदनन्तर प्रबोध को प्राप्त हुए मैंने यह जाना। वह यह कि इस चिद्धातुरूप प्रत्यगात्मा का यह ऐश्वर स्वरूप है। यह ईश्वर आकाशरूप अपना घट रूपसे पट रूपसे अथवा जगत–रूप से या जीवरूप से जैसा ही नाम या रूप रखता है स्वयं तत्–तत् स्वरूप धारण कर जगत् नाम रख लेता है। यह चिद्धातुरूप प्रत्यगात्मा जहाँ जहाँ है वहाँ वहाँ सर्वत्र अपने वास्तविक रूप का त्याग किये बिना ही जगद्रूप अपने शरीर को देखता है। इस प्रकार स्वचित् विकासमात्र जो यह जगत् दिखलाई देता है, इसी को लोग स्वप्न कहते हैं, हाय यह आज मेरी समझ में आया ॥३३–३६॥

यदि वास्तविक विचार किया जाय तो जाग्रत भी स्वचिद्विकासमात्र ही ठहरता है उससे अतिरिक्त नहीं, ऐसा कहते हैं।

चिद्धातु का जो स्वविकास है वही कुछ तो स्वप्न कहलाता है और कुछ जाग्रत, और स्वप्न कोई भिन्न पदार्थ नहीं है ॥३७॥

परस्पर की दृष्टि से ये दोनों ही हैं और अपनी अपनी दृष्टि से दोनों जागरण ही हैं, ऐसा कहते हैं।

स्वप्न में जाग्रत तो स्वप्न ही है। जाग्रत में स्वप्न स्वप्न ही है। स्वप्न तो अपनी दृष्टि से जाग्रत ही है जब इस प्रकार स्वदृष्टि से दिखाई देता है तब जाग्रत ही दो तरह से स्थित है ॥३८॥

तब मृत्यु, स्वप्न और जाग्रत से अतिरिक्त क्या है ? इसपर कहते हैं।

हे महामते, मृत्यु नामकी कोई वस्तु है ही नहीं, क्योंकि पुरुष चिन्मात्र है। वह हजारों शरीरों के मरने पर भी कब मरा, किसका मरा, कैसे मरा ? यों तीनों प्रकार से वह प्रसिद्ध नहीं है ॥३९॥

कल्पना करके शरीर और उसके मरने की बात कही, वास्तव में न शरीर है और न उसका मरण ही है, ऐसा कहते हैं।

वह चिन्मात्र आकाश ही है। असीम और अखण्ड वह भ्रान्तिवश देहवत् विकास को प्राप्त होकर मूर्तअमूर्तआकार से स्थित है ॥४०॥ अमूर्तआकारस्वभाव नित्य अनन्त उदित चिद्रूप परमाणु का सार ही भ्रान्तिवश जगत् कहा गया है ॥४१॥ चिदाकाश के उदर में सकल अनुभवाणु वैसे ही प्रतीत होते हैं जैसे कि अवयवी के विचित्र रूपरेखावाले अवयव प्रतीत होते हैं ॥४२॥ जाग्रत का भोग करानेवाले कर्म के क्षीण होनेपर बाह्य से (जाग्रत से) निवृत्त होकर जीवाधार हृदय में स्थित हुआ जीव बाह्य संस्कार के अनुरोध से अपने स्वरूप को ही यह बाह्य स्वप्नसृष्टि है, ऐसा समझता है ॥४३॥ जिस समय चित्त बहिर्मुख होता है उस समय यह जीव अपने जाग्रत् संज्ञक विकसित रूप को देखता है। जब चित्त अंतर्मुख होता है तब यह जीव अपने रूपको स्वप्नरूप से देखता है ॥४४॥ एकात्मक ही जीव बाहर और

भीतर अन्तरिक्ष, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशा के रूपसे व्याप्त होकर स्थित है ॥४५॥ जैसे सूर्य सूर्यमण्डलमें स्थित होकर भी अपनी आभा से यहाँ भी स्थित है, वैसे ही जगद्रूप जीव बाहर और भीतर स्थित है ॥४६॥

अतएव सर्वात्मता के वास्तविक होने के कारण उसी के परिज्ञान से ही यानी 'मैं सर्वात्मक हूँ', इस प्रकार के ज्ञान से ही मुक्ति होती है, ऐसा कहते हैं।

चिदात्मक मैं ही भीतर स्वप्न और बाहर जाग्रत् हूँ, यदि ऐसा यथार्थ बोध हो जाय, तो क्रमशः प्रथम, द्वितीय आदि भूमिकाओं के परिपाक से वासनाविहीन होकर मुक्त हो जाता है ॥४७॥ यद्यपि यह जीव अच्छेद्य है (छेदन-भेदन के योग्य नहीं है) और अदाह्य है (जलाने के योग्य नहीं है) तथापि अपने को अन्यथा जानता हुआ द्वैतसंकल्परूपी यज्ञ से बालक के समान मोह को प्राप्त होता ही है ॥४८॥ अन्तर्मुख जीव अन्तरात्मरूप अपने को अन्तर्जगत्रूप में देखता हुआ स्वप्न और बहिर्मुख जीव आत्मा को बाहर जगत्रूप में देखता हुआ स्वयं ही जाग्रत् होता है। वे ही इसके स्वप्न और जाग्रत हैं ॥४९॥

प्रसंगतः सुषुप्ति और तुरीयका तत्त्व, जो पूछा नहीं गया था, कहते हैं।

इस तरह जाग्रत और स्वप्न के तात्त्विक स्वरूप का विचार कर रहे मेरे मन में सुषुप्ति का क्या स्वरूप होगा ? ऐसी मति उदित हुई। इसलिए मैं सुषुप्ति की खोज में प्रवृत्त हुआ ॥५०॥ दृश्य के दर्शन से मेरा क्या मतलब, मैं चिरकाल तक चुपचाप चित्तव्यापाररहित होकर स्थित रहूँ, अन्दर इस तरह की शान्तिरूप संवित् जब तक रहती है तबतक सुषुप्ति है। सुषुप्ति का इससे अतिरिक्त दूसरा स्वरूप नहीं है ॥५१॥

सुषुप्ति में चित्त की व्याप्ति न होने से चित् की अभिव्यक्ति न होनेपर घट आदि के समान जड़ता की आशंका कर विशेषरूप से अहन्तारूप से विदित न होनेपर भी नख, केश आदि के समान सामान्यतः विदित होने से विदितअविदितात्मक उक्त सुषुप्ति जो कि जड़ भी है और जड़ नहीं भी है, चेतनात्मक सुषुप्ति साक्षी में स्फुरित होती है, ऐसा कहते हैं।

जैसे इस शरीर में विशेषतः अहन्तारूप से, अविदित होने से सामान्यतः विदित होने से विदितअविदितस्वरूप जड़ और अजड़ नख, केश आदि इस शरीर में स्फुरित होते हैं वैसे ही चेतनरूप साक्षी में सुषुप्ति स्फुरित होती है ॥५२॥ जाग्रत और स्वप्नों के भ्रमण से मैं बहुत थक गया हूँ। मुझे विशेष संवित् से क्या करना है। मैं कुछ कालतक मन के व्यापार से रहित शान्त रहूँ, इस प्रकार का संकल्प होने पर एकमात्र गाढ़ निद्राकार परिणाम ही सुषुप्ति है, उससे अतिरिक्त सुषुप्ति नहीं है ॥५३॥

यदि चिन्तन का सर्वथा परित्याग किया जाय तो जाग्रत पुरुष में भी सुषुप्ति हो सकती है, ऐसा कहते हैं।

'मैं कुछ भी चिन्तन न करूँ, शान्त होकर बैठा रहूँ', इत्याकारक गाढ़ निद्रारूप सुषुप्ति जाग्रत् अवस्था में भी अपने आप हो सकती है। यह अवस्था जब खूब घन (गाढ़) हो जाती है तब सुषुप्ति शब्द से पुकारी जाती है जब शिथिल रहती है तब तो स्वप्न शब्द से पुकारी जाती है। इस तरह सुषुप्ति के स्वरूप का निश्चय कर परम बुद्धि से युक्त उद्योगशील मैं तुरीय के स्वरूप की खोज करने के लिए तत्पर हुआ। जैसे अन्धकार के बिना प्रकाश का स्वरूप नहीं पहचाना जा सकता, वैसे ही शुद्ध सम्यक्

ज्ञान के बिना तुरीय का पूर्णरूप तनिक भी समझ में नहीं आता। यह यथास्थित विश्व सम्यक् ज्ञान से विलीन हो जाता है, अतः सम्यक् ज्ञान ही तुरीय है, सम्यक् ज्ञान में विलीन हुए विश्व की आत्यन्तिक अविलीनता यथास्थित रहती है यानी विश्व अपने यथार्थ रूप में हो जाता है कुछ विलीन भी नहीं होता ॥५४–५८॥ इसलिए यथास्थित जगत् के साथ स्वप्न, जाग्रत और सुषुप्ति ये तीनों अवस्थाएँ तुरीय में अन्तर्भूत हैं, वास्तव में ये कुछ भी नहीं हैं ॥५९॥ जगत् कारण से उत्पन्न नहीं है, किन्तु शान्त अजन्मा ब्रह्म ही इस प्रकार जगद्रूप से स्थित है, यह बोध ही तुरीयता है ॥६०॥

उक्त का ही पुनः वर्णन करते हुए प्रकरण का उपसंहार करते हैं।

अद्वितीय ब्रह्म में सृष्टि के जन्मकारणों का संभव न होने से सृष्टि अतिरिक्तरूप से उत्पन्न नहीं होती, किन्तु चित् के जगताकार चेतनने ही स्वभावतः स्वयं सर्ग संवित् वैसे ग्रहण की है जैसे कि जल द्रवता ग्रहण करता है ॥६१॥

एक सौ सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ अड़तीसवाँ सर्ग

प्राणी के जीवका और मेरे जीवका संमेलन होनेपर मैंने दुगुना विश्व देखा और एकता होनेपर एक विश्व देखा, यों मुनि द्वारा वर्णन।

महामुनि ने कहा : इस प्रकार जाग्रत से लेकर तुरीयपर्यन्त अवस्थाओं का रहस्य विचार कर मैं उस प्राणी के चिदाभासरूप जीव के साथ एकीभाव को प्राप्त करने के लिए वैसे ही प्रवृत्त हुआ जैसे कि फूले हुए आम्र–वृक्ष की सुगन्धि वायु द्वारा कमलों के तालाब में पहुँचकर वायुस्थित कमल की सुगन्ध के साथ एकता को प्राप्त होने के लिए प्रवृत्त हो। मैंने उस प्राणी के चिदाभास में प्रवेश करने के लिए ज्योंही पूर्वोक्त तेजधातु का (ओज का) परित्याग किया, त्योंही मेरी सकल इन्द्रियरूप संवित् बहिर्मुख व्यापार में बलात् प्रवृत्त हो गई। तदुपरान्त बहिर्मुख व्यापार में प्रवृत्त हुई सकल इन्द्रियों का अन्तःव्यापार में उन्मुख प्रयत्न से जबर्दस्ती निग्रह कर रहा मैं एक क्षण में वैसे ही भीतर भी फैल गया जैसे कि तैल बिन्दु जल में फैलता है। इस प्रकार उपाधि में व्याप्त होकर मैं ज्योंही उस प्राणी के चिदाभास संवित् में मिलने से परिणत हुआ उसी समय उसकी वासना और मेरी वासना दोनों के अन्दर भासने से सारा भुवन मुझे दुगुना दिखाई पड़ा। सब दिशाएँ दुगुनी हो गई, दो सूर्य तपने लगे, दो भूमण्डल बन गये और द्युलोक भी दो हो गये, जैसे दर्पण के अन्दर प्रतिबिम्बित मुख के दो प्रतिबिम्ब भासते हैं वैसे ही मिश्रित (मिले हुए) वे भासे उससे जगत् द्विगुण हो गया। दो चेतनरूपी तिलों में तेल की नाईं विज्ञानकोश में जो भान होते हैं उन संमिश्रित उपाधियों में स्थित दो चिदाभासों में द्विगुणभूत तत्–तत् जगत् उस प्रकार मिश्रित प्रतीत होता है। चिदाभास रूप दो जीवों के विज्ञानमय कोष में स्थित तथा मिश्रित होने पर भी वासनाओं के मिश्रित न होने के कारण अमिश्रित वे दोनों जगत् दूध और जल के समान एक से प्रतीत हुए। मैंने देखते ही उस प्राणी के चिदाभासरूप जीवको अपने जीवसे परिच्छिन्न कर दो उपाधियों में एकता के स्थापन द्वारा वैसे ही अपने में मिला लिया जैसे कि दूसरी ऋतु पहले की ऋतु को अपने में मिला लेती है, जैसे बड़ी नदी छोटी नदी को आत्मसात् कर लेती है, जैसे वायु सुगन्धिको अपने में मिला लेता है और

जैसे मेघ धूम्रपंक्ति को अपने में मिला लेता है। जैसे नेत्र में विकार होने से दुर्दृष्टिवश दो स्वरूपों में दिखाई देनेवाला चन्द्रमा विकार की निवृत्ति होने से सुदृष्टिवश एक हो जाता है वैसे ही पहले वासनाओं के अमिश्रणवश जो जगत् मुझे द्विगुण दिखाई पड़ता था वासनाओं के भी मिश्रण द्वारा एकीकरण से संवित् के अत्यन्त अभिन्न (एक) होनेपर वह भी आज एकता को प्राप्त हो गया। उसके पश्चात् जब कि मैं उस प्राणी के चिदाभास में स्थित हो चुका था और अपना निजका पूर्वापर विचार भी मैंने छोड़ा न था, उस अवस्था में उस प्राणी की संकल्पानुसारिणी स्थिति को पहुँचा हुआ मेरा संकल्प स्वल्प हो गया यानी घटते घटते नाममात्र रह गया। उसके अनन्तर वहाँपर उस प्राणी की चित्तवृत्ति से ही उसके भोग्य शब्द आदि विषयों का अवलोकन कर रहे मैंने उसके हृदय का परित्याग न करते हुए उस प्राणी के जाग्रद्व्यवहाररूप दिनचर्या का अनुभव किया। तदनन्तर सायंकाल के समय जैसे कमल संकोच को प्राप्त होता है वैसे ही वह प्राणी अन्न खाकर, जल पीकर तथा दिन के कार्यों से थककर स्वेच्छा से ही धीरे धीरे निद्रादेवी की गोद में चला गया। निद्रा के आरम्भ में उसके प्राण ने बाहर दसों दिशाओं में फैले हुए रूपादि विषयों के दर्शन में संलग्न अपने चित्त को जैसे सूर्य सायंकाल के समय अपनी आभा को बटोर लेते हैं वैसे ही बटोर लिया। उसके बाद चित्त के साथ सम्पूर्ण चित्तवृत्तियाँ संकुचित होकर कछुए के अंगों की नाईं हृदयकोश में प्रविष्ट हो गई। चक्षु आदि इन्द्रियाँ संकोच को प्राप्त होकर हृदयपद्माकार हो गई। मृत्यु होनेपर पथराई हुई-सी वे चित्रलिखित की तरह व्यापारशून्य हो गई। उसमें स्थित मैं उसके चित्त का अनुगामी था, अतएव उसकी चित्तवृत्ति के साथ ही उसकी इन्द्रियों का सहसा त्यागकर उसकी नाड़ियों के द्वारा उसके हृदय में प्रविष्ट हो गया। बाहरी अनुभव को हटाकर भीतर ही शय्या के समान कोमल उसके ओज में (पूर्वोक्त तेज के अन्दर स्थित आनन्दमय कोश में) शून्यरूप सुषुप्ति का मैंने क्षणभर अनुभव किया। उस समय समान नाम का वायु छिद्रयुक्त अत्यन्त घनी नाड़ियों में श्रान्ति से तथा बहुत से अन्नजलरस के विकारों से यत्र तत्र रुकावट पड़ने से बाहर तो निकलता ही नहीं, फिर भी अतिमन्द गति से संचार करता है ॥१-२०॥

जब इस प्रकार की सुषुप्ति होती है तब यह प्राण इन्द्रिय सहित चित्त को क्या करता है ? इस पर कहते हैं।

जब इस प्रकार की सुषुप्ति होती है तब प्राण प्राणरूप अद्वितीय संप्रसन्न जो आत्मा केवल उसमें परायण होकर पुरीतत् नाड़ी में प्रवेशकर अपने साथ स्थित चित्त को ग्रसकर अपने आधीन कर लेता है, क्योंकि प्रत्यगात्मरूप परमार्थ या पुरुषार्थ का ऐसा ही स्वभाव है। उक्त स्वभाववश परिशेषरूप सुखविश्रान्ति में वह आसक्त रहता है, यह भाव है ॥२१॥

वह स्वार्थ में आसक्त रहे, फिर भी उसे मन, इन्द्रिय आदि दूसरों का कार्य भी करना चाहिये, सो क्यों नहीं करता, इसपर कहते हैं।

चूँकि निरतिशय आनन्दस्वरूप स्वार्थसत्ता में (सुषुप्ति में) यही निरतिशयानन्दस्वरूप विकसित होता है, विक्षेपदुःख का लेश भी उस समय नहीं रहता, इसलिए उसके अन्दर स्वार्थमात्र परकृत्य नहीं करता है ॥२२॥

प्राण चित्त को ग्रस कर अपने आधीन कर लेता है, ऐसा जो कहा, उसपर श्रीरामचन्द्रजी

आशंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे महामुने, मन इस समय में भी प्राणवश ही मनन आदि व्यापार करता है। यदि प्राण द्वारा स्वायत्तीकृत होकर मनन आदि व्यापार नहीं करता है तो इस समय में भी क्यों नहीं करता, क्योंकि प्राण से पृथक् किये हुए मन का कुछ स्वरूप नहीं है, इसलिए प्राणविनिर्मुक्त मन क्या है ? यानी कुछ नहीं है ॥२३॥

अधिष्ठानमात्र से पृथक् करनेपर देह, प्राण आदि जगत् का कुछ भी स्वरूप नहीं टिकता, उससे अपृथक् करनेपर तो उसकी सत्ता से सब कुछ है ही। ऐसी स्थिति में प्राण से पृथक्कृत अकेले मन का अस्तित्व नहीं है, ऐसी आपने जो शंका की, वह छोटी शंका है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

स्वानुभूत भी यह अपना शरीर वास्तव में है ही नहीं, क्योंकि जैसे स्वप्न में मन अपने अन्दर ही पर्वत की कल्पना करता है वैसे ही यह शरीर भी मन की कोरी कल्पना है। इसलिए मन से पृथक्कृत शरीर का अस्तित्व नहीं ॥२४॥

इसी प्रकार चित्त भी चेत्य पदार्थों से निरूपणीय है, अतः चेत्य पदार्थों का अभाव होनेपर चेत्यपृथक्कृत चित्त का स्वरूप नहीं है, यह भी सुख से कहा जा सकता है, ऐसा कहते हैं।

चेत्य पदार्थों का अभाव होने के कारण उक्त चित्त का भी अस्तित्व है ही नहीं। यदि कहो कि पूर्व पूर्व चेत्य चित्त–निरूपक होगा, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में कारण का अभाव होने से दृश्य की उत्पत्ति ही नहीं है ॥२५॥

ब्रह्म सर्वात्मक है इस कारण यदि उसकी सत्ता से मन आदि का अस्तित्व कहिये, तो मन आदि सब वस्तुएँ हैं ही, ऐसा कहते हैं।

अतः यह सब ब्रह्म है। जब ब्रह्म सर्वात्मक है तब यह विश्व चारों ओर यथार्थतः है ही। चित्त, देह आदि सब कुछ है ही। ब्रह्मज्ञों की दृष्टि से यह सब ब्रह्म ही है। जो ब्रह्मवेत्ता नहीं है, उनकी दृष्टि में यह चित्त, देह आदि जैसा है वह हम तत्त्वज्ञानियों की समझ के बाहर की बात है ॥२६,२७॥ हे राजकुमार श्रीरामजी, जैसे यह त्रिजगत् ब्रह्म ही है और जैसे यह विविध रूप है इस विषय में आगे कहा जा रहा अध्यारोप क्रम आप सुनिये ॥२८॥

पहले अधिष्ठान का निर्देश करते हैं।

निर्मल, अनन्तआकाशस्वरूप, सनातन और सर्वस्वरूप चिन्मात्र ही है, न जगत् है और दृश्यता है ॥२९॥ सर्वज्ञ होने के कारण उक्त चिन्मात्र ने मानसिक पीड़ा से शून्य अपने शुद्ध बुद्ध स्वरूप का त्याग किये बिना ही (🔔) स्व में मनस्त्व का अध्यारोप किया ॥३०॥ मन से उसने जो अपने संचरण की कल्पना की, हे श्रेष्ठतम वेदज्ञ, उसे आप प्राणवायु जानिये ॥३१॥ जैसे इस प्राणता को वह कल्पित सी जानता है, वैसे ही इन्द्रिय, देह आदि और दिशा, काल आदि को भी कल्पित से ही जानता है ॥३२॥ इस प्रकार यह सारा का सारा विश्व चारों ओर केवल चित्त ही ठहरता है, उससे अतिरिक्त नहीं, चिदधिष्ठित चित्त तो ब्रह्म ही है, इससे सिद्ध हुआ कि यह विस्तृत जगत् ब्रह्म ही

(🔔) इससे अधिष्ठान का अन्यथाभाव नहीं हुआ, यह बतलाया।

है उससे अतिरिक्त नहीं है ॥३३॥ निराकार, अनादि, अनन्त, निर्दोष शान्त सन्मात्र, चिन्मात्र ब्रह्म ही जगद्रूप स्थित है । चूँकि ब्रह्म सर्वशक्ति है, अतः वह प्राथमिक मनःशक्ति से पूर्वसिद्ध अपने स्वरूप का ही यत्र तत्र जाग्रत या स्वप्न में जगत् के रूप से अनुभव करता है ॥३४,३५॥ संकल्पात्मक मन ही कार्य ब्रह्म है वह जैसे भू आदि लोकों की और अन्यान्य वस्तुओं की कल्पना करता है वैसा ही अनुभव करता है, यह बात बालकों तक को ज्ञात है । हे श्रीरामजी, आकाशस्वरूप चेतनात्मा आदि पुरुष ने अपने स्वरूप को पहले चित्त से ही प्राणी बनाया, उसी तरह उसे देही बनाया, पर्वत बनाया और त्रिभुवनरूप किया, स्वप्नों में कल्पित अपने अपने शरीरों में यह बात सबको अनुभूत है, इसे ही उक्त अर्थ में उदाहरण समझना चाहिये ॥३६,३७॥

एक सौ अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ उनतालीसवाँ सर्ग

प्राण की अपेक्षा चित्त की प्रधानता का वर्णन और सुषुप्ति अवस्था से स्वप्नअवस्था में आनेपर मुनिका विस्तारपूर्वक प्रलयदर्शन वर्णन ।

चित्त सदा ही प्राण के अधीन है यह स्वीकार कर अध्यारोप क्रम से चित्त की प्रथम उत्पत्तिमात्र से जाग्रत् और स्वप्न अवस्था में चित्त और प्राण दोनों की प्रधानता है, किन्तु सुषुप्ति अवस्था में प्राण की ही प्रधानता है, इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न का समाधान पहले किया जा चुका । इस समय प्राण आदि सकलजगत् के निर्माण में चित्त की ही, स्वतन्त्रता होने से, चित्त ही प्रधान है, लेकिन सुषुप्ति के आरम्भकाल में चित्त श्रान्त होने के कारण चेष्टा करने में असमर्थ रहता है, अपनी विश्रान्ति के लिए ही वह प्राण की प्रधानता स्वीकार करता है, इस आशय से उसका समाधान करते हैं ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र, वास्तव में चित्त ही जगत् का रचयिता है । वह जिसका–चाहे वह असत् (मिथ्या) हो, चाहे सत् (व्यावहारिक सत्) हो, चाहे सत्असत् (प्रातिभासिक) हो–जैसा संकल्प करता है, वह उसके सामने वैसे ही खड़ा होता है । चित्त ने प्राण का संकल्प किया, प्राण ही मेरी गति (मेरे सकल व्यवहारों का निर्वाहक) है और उसके बिना मैं नहीं टिक सकता, यह भी उसने कल्पना की, इसी कारण चित्त प्राणाधीन कहलाता है ॥१,२॥

स्वप्न, मनोरथ आदि के शरीरों में प्राण के अभाव में भी मनका व्यापार दृष्टिगोचर होता है, अतः 'उसके बिना मैं नहीं टिक सकता', यह संकल्प व्यभिचरित हो गया, ऐसी शंका कर कहते हैं ।

सचमुच मैं प्राण के बिना टिक नहीं सकता हूँ , किन्तु स्वप्न, मनोराज्य आदि की देहों में कुछ काल के लिए प्राण के बिना भी अवश्य रह सकता हूँ, ऐसी भी उसने कल्पना की ॥३॥ हे रामजी, जहाँ जहाँ मन ने प्राण के साथ शरीर की कल्पना की, वहाँ–वहाँ सर्वज्ञ तुरन्त माया से कल्पित नगर के समान विस्तृत इस जगज्जाल को क्षणभर में उदित हुआ वह देखता है ॥४॥ देह और प्राण की कल्पना करने के बाद मैं फिर कभी भी देह और प्राण से वियुक्त होकर नहीं टिक सकता, अन्दर ऐसा दृढ़ निश्चयवाला वह जीव हो जाता है किन्तु मैं चिन्मात्र स्वभाव हूँ, ऐसा दृढ़ निश्चयवान् फिर नहीं होता ॥५॥

इसलिए अल्प विचारवश उत्पन्न हुए संशयप्राय अज्ञान से निस्तार पाना कठिन हो जाता है,

क्योंकि विपरित दृढ़ निश्चय की यथार्थ दृढ़ निश्चय के बिना निवृत्ति नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं।

सन्देहवश झूले की भाँति कभी एक पक्ष में कभी दूसरे असत्पक्ष में डोलनेवाला कुत्सित निश्चयों से दूषित चित्त दुःखी रहता है। इस तरह का इसका अत्यन्त दृढ़ यह भ्रान्तिज्ञान तत्त्वज्ञान के सिवा विकल्प से कदापि नहीं हटेगा ॥६॥ जिस पुरुष का यह मैं हूँ इस प्रकार का भ्रान्तिज्ञान है, उसका वह भ्रान्तिज्ञान आत्मज्ञान के सिवा अन्य किसी साधन से शान्त नहीं हो सकता है ॥७॥

दृढ़तर तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए यह ग्रन्थ ही उत्तम उपाय है, ऐसा कहते हैं।

मोक्ष–प्राप्ति के उपायभूत शास्त्र के विचार के बिना अन्य से ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता इसलिए यत्नपूर्वक मोक्ष के उपायभूत इस शास्त्र का निरन्तर विचार करना चाहिये ॥८॥ 'अहम्' (मैं) 'इदम्' (यह) यह दुविधा (द्वैत) ही अविद्या है, इससे अन्य अविद्या कहीं भी नहीं है, उक्त अज्ञान (अविद्या) मोक्षउपाय के सिवा अन्य किसी भी साधन से नहीं हटता (नहीं विनष्ट होता) ॥९॥ मन ने जैसा अभ्यास किया वैसा ही उसको प्राप्त हुआ। प्राण ही मेरा जीवन है परम प्रिय है इस तरह मन में खूब अभ्यास किया था, इसलिये मन प्राण की अधीनता में स्थित है ॥१०॥

इसी तरह मन देह के अधीन भी है ऐसा कहते हैं।

देह के सौम्य रहनेपर देहगत सौम्यता को प्राण में देख रहा मन मनन करता है। देह में क्षोभ होने पर देहगत क्षोभ को प्राण में देख रहे मन को अन्य कुछ या आत्मतत्त्वविवेक नहीं दिखाई देता ॥११॥

अतएव प्राण निरोध के अभ्यास के बिना कदापि आत्मज्ञानोन्मुख नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं।

जब प्राण स्पन्दरूप अपने कार्य में खूब व्यग्र रहता है तब मन के ईहितों (इतस्ततः संचारों में) व्याकुल हुआ प्राण आत्मज्ञान के लिए उद्योगशील नहीं हो सकता। ये प्राण और मन परस्पर रथ और सारथी हैं। कौन ऐसे रथ और सारथी हैं जो कि परस्पर एक दूसरे का अनुसरण नहीं करते अर्थात् जैसे रथ और सारथी एक दूसरे का अनुसरण करते हैं वैसे ही मन और प्राण भी आपस में अनुसरण करते हैं ॥१२,१३॥

मन और प्राण एक दूसरे का अनुसरण क्यों करते हैं। इस प्रश्नपर कहते हैं।

यों परस्पर एक दूसरे का स्वभावतः अनुसरण करने वाले प्राण और मनका रूप धारण किये हुए परमात्मा ने सृष्टि के आदि में इसी तरह आत्मा का संकल्प किया। इस कारण अज्ञानियों की यह प्रकृति आज भी निवृत्त नहीं होती है। परम पद में आरूढ़ न हुए यानी अव्युत्पन्न मन, प्राण और जीवों के देहों में देश, काल, कर्म और द्रव्यों से प्राप्त हुए विविध व्यवहार प्रवृत्त होते हैं ॥१४,१५॥ प्राण और मन जबतक समानरूप से अपना कार्य करते रहते हैं तब तक समान व्यवहाररूप जाग्रत चलता है, जब प्राण इन्द्रियों को प्रेरित करने से विरत होकर विषमता को प्राप्त होता है तब विषम स्वप्न नामका केवल मानस व्यवहार चलता है और मन के शान्त होनेपर सकल विक्षेपों की शान्तिरूप सुषुप्ति चलती है ॥१६॥

कब मन शान्त होता है ? ऐसा यदि कोई प्रश्न करे, तो उसपर कहते हैं।

नाड़ियों के अन्नरस, पित्त आदि द्वारा रुद्ध होनेपर संकुचित प्राण जब मन्दगति होकर कहींपर शान्त होकर रहता है तब मन शान्ति से सुषुप्ति का उदय होता है ॥१७॥ नाड़ियों के अन्नरस आदि से पूर्ण होने अथवा श्रमवश कमजोर हो जानेपर जब प्राण गतिरहित हो जाता है तब सुषुप्ति का उदय होता है ॥१८॥

मर्दनवश नाड़ियों में मृदुता आने एवं बाण के घाव, व्रण आदि से पूर्ण होने से भी सुषुप्ति होती है, ऐसा कहते हैं।

मर्दनवश नाड़ियों के कोमल होने से अथवा बाण की चोट, घाव, व्रण, रुधिर आदि से भर जाने से प्राण के कहीं विलीन होनेपर निस्पन्द सुषुप्ति होती है ॥१९॥ महामुनि ने कहा : तदुपरान्त जिसके हृदय में मैं प्रविष्ट हुआ था, वह रात्रि के समय आहार से खूब तृप्त होकर सुषुप्ति के समान घनी निद्रा से सम्पन्न हुआ। वहाँपर मैंने उसके चित्त के साथ सुषुप्ति की खूब गाढ़ी नींद का अनुभव किया। इसके पश्चात् उस प्राणी के उदरस्थ अन्न पच जानेपर नैसर्गिक नाड़ीमार्ग में स्पष्ट हुए प्राण का जब संचार होने लगा तब सुषुप्ति (गाढ़ी नींद) कुछ हलकी हुई। सुषुप्ति के हलकी होनेपर मैंने सूर्य आदि से युक्त भुवन को वहींपर देखा, जो हृदय से प्रादुर्भूत हुआ-सा था। उस भुवन को मैंने प्रलय काल में क्षुब्ध हुए महासागर से निकली हुई जलराशि से पूर्यमाण देखा। वह जलराशि ऐसी वैसी न थी, प्रलय काल के मेघों द्वारा मूसलाधार वृष्टि से छोड़ी हुई-सी थी, उसमें आकाश को छूनेवाली बड़ी-बड़ी तरंगें उठ रही थीं, उसके प्रवाह में पर्वत बहे जा रहे थे, बड़े बड़े आवर्तों (भँवरों) से महान् कोलाहल हो रहा था, बही जा रही वनराजिरूप तृणराशि से पूर्ण पर्वत चारों ओर बिखेरे थे, वृक्ष और पर्वतों तक को उखाड़कर फेंक देनेवाली आँधी से तथा अग्नि की ज्वाला से पहले ही जलकर खाक हुई त्रिलोकी के बड़े बड़े खण्डों से, जो आकाश में स्थित देवताओं के नगरों, पर्वतों और भूमि के भग्नवशेष थे, वह चारों ओर भरी हुई थी। वहींपर मैं क्या देखता हूँ कि मैं किसी एक देश में किसी नगरी में किसी घर में बहू के साथ बैठा हूँ, उक्त जलने मुझे स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धव, नौकर-चाकर, साज-सामान, घर-बार के साथ बहा दिया। वह घर और वह नगर प्रलयकाल की जलराशि द्वारा बहाया जा रहा था, पेड़ के आकार की ऊँची-ऊँची लहरें उसे लाँघ रही थीं, जलराशि उसे चारों ओर से भर रही थी, उसमें बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था। अतएव वह (घर और नगर) सागर को जीतने के लिए कटिबद्ध-सा मालूम पड़ता था। उस घर के निवासी लोग अत्यन्त उत्पीड़ित थे, और तो और अपने बाल-बच्चों की भी किसी को सुधि न थी। आवर्तों से वह बहाया गया था, रोने चिल्लाने के साथ-साथ छाती कूटने में संलग्न लोगों से तथा कीचड़ से वह बड़ा भयावना लगता था। ढह रही दीवारों, फूट रहे काठों और टूट रही कीलों का उसमें घोर शब्द हो रहा था, छप्पर और खिड़कियोंपर बैठी हुई स्त्रियों के मुँह इधर-उधर गिर रहे थे ॥२०-३२॥

इस प्रकार का तमाशा क्षणभर देख रहा, बहाव के चपेटे में पड़ा हुआ मैं ज्यों ही दीनहीन होकर रोने लगा त्योंही घर की दीवारों के चारों ओर से ढहने के कारण बालक, बूढ़े और स्त्रियों से पूर्ण वह सारा का सारा घर पत्थर पर गिरे हुए झरने के समान तरंगों में पड़कर टुकड़े-टुकड़े हो गया। तदनन्तर प्रलय की जलराशि में मैं उतराने लगा। स्त्री आदि किसी का भी मुझे स्मरण तक न रहा, अपने प्राण बचाने की ही मुझे चिन्ता थी। तरंगों ने एक योजन से सैकड़ों योजन दूर मुझे फेंक दिया। जल में तैर रहे वृक्षों की चोटियों में धधक रही अग्निज्वालाओं के भीतर पड़ने से मेरा शरीर जर्जर हो गया। काठ, दीवार, तट, तख्ते आदि की असह्य टक्कर लगने से मेरा शरीर क्षत-विक्षत हो गया। मैं कभी आवर्तों के भ्रमण में पड़कर पाताल पहुँचकर बहुत देर बाद ऊपर उतराया। प्रचुर

तरंगवाली जलराशि में, जिसके चलने, रुकने, आने और हटने से खूब गुड़-गुड़ ध्वनि होती थी, मैं बार-बार डूबता और उतराता था। मैं जलके आघात से ढहे हुए ऊँचे पर्वत से कीच-कीच हुए जल में, दल-दलवाले पोखरे में हाथी के समान, क्षणभर डूबा,किन्तु दैववश प्राप्त हुए स्वच्छ जलने मेरा निस्तार कर दिया। समुद्र के गाज और पहाड़ के ढोंकेपर बैठकर ज्योंही मैं सुसताने लगा त्यों ही शत्रु की तरह महाजलराशि ने आकर मुझे लथेड़ दिया। चढ़ना, उतरना, आना, जाना, घूमना आदि विविध क्रियाएँ करनेवाली तरंगों से पूर्ण उक्त जलराशि के चक्कर में फँसे हुए अतएव दुःखित चित्तवाले मैंने जो दुःख नहीं झेला वह दुःख ही नहीं है यानी सभी दुःख मुझे झेलने पड़े ॥३३-४१॥ हे कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी, (☙) इतने में उस समय वहाँपर जन्मभर का चिरकालिक अभ्यास होने और चित्त के अत्यन्त खिन्न होने के कारण मुझे समाधिमय अपने पूर्वस्वरूप का स्मरण हो आया। अरे अन्य जगत् में मैं तपस्वी था। किसी दूसरे प्राणी का स्वप्न देखने की इच्छा से उसके हृदय में प्रविष्ट होकर मैं स्वप्न में यह भ्रम देख रहा हूँ। उसके बाद स्वप्न प्रपंच के दृढ़ अभ्यास के कारण पैदा हुए मिथ्या ज्ञानमय देह में तरंगों द्वारा बहाये जाते हुए भी मैंने सुख की साँस ली। प्रलय-काल के समुद्र की यह चहल-पहल सब मैंने मिथ्या ही देखी, जिसमें पर्वत, नगर, गाँव, भूभाग और पेड़ बह रहे थे, देवता, सर्पराज, नर-नारी तथा आकाशचारी बह रहे थे तथा महान् आरम्भवाले लोकपालों के नगर और गृह बह रहे थे। इसके बाद पहाड़ों से मिश्रित जलकल्लोलों की पहाड़ों से बार-बार टक्करों का निरीक्षण कर रहे मैंने यह विचार किया। आश्चर्य है यह भगवान् त्रिनयन भी समुद्र में जीर्णशीर्ण पत्ते की तरह बहाये जा रहे हैं। हाय, दुष्ट दैव का कुछ भी अकर्तव्य नहीं है, वह सब कुछ कर सकता है। जैसे प्रातःकाल जल में सूर्यकिरणें विकसित (खिले हुए) कमल दिखलाती है वैसे ही ये घर भी चारों तरफ की दीवारों के ढह जाने से प्रकटाशयता की शोभा को दिखा रहे हैं। विविध विलासों से विभूषित परागों से सफेद बने हुए भँवरों की पंक्ति ऐसे हार धारण कर रहीं तथा मुख, हाथ, चरण आदि रूप कमलवाली ये गन्धर्व, किन्नर, मनुष्य, देवता और नागों की नारियाँ बहुत से आवर्तों से युक्त, परागधवल भ्रमरपंक्तिरूपी हार धारण कर रही तथा कमलवती नदियाँ ही है। प्रसिद्ध नदियाँ न तो सारी की सारी निर्मल ही हैं और न जंगम ही हैं, ये तो उनसे विलक्षण हैं, अतएव तरंगराशियों में विचित्ररूप से उल्लसित होती है ॥४२-५१॥ प्रलय-काल की जलराशि में देवता, दानव, और नागों के महलों की दीवारों के हिस्से, स्वर्णमय नौकाओं के समूह की नाईं घूम रहे हैं जिनके मणिनिर्मित झरहरे झरोखों की शोभाएँ विद्याधरों की रमणियों की भुजलताओं से परिवेष्टित चन्द्रकान्त मणियों में मंजिल विभाग जैसी मालूम पड़ रही हैं ॥५२॥ ढह रहे मणिमय महल के अन्दर बैठे हुए ये देवराज इन्द्र इस प्रलय-काल की जलराशि में फँसकर कुंकुम-केसर से अंकित मदोन्मत्त हाथी के कुम्भ के समान विशाल इन्द्राणी के स्तनमण्डल में रतिजनित खेद से थककर रतिखेद को दूर करने के लिए मानों जलक्रीड़ा सुख के लिए तरंगरूपी झूले में झूलते हैं। खेद है, नक्षत्ररूपी

(☙) 'तामरसेक्षण' इस पाठ में महामुनि (तापस) के वाक्य का अनुवाद कर रहे श्रीवसिष्ठजी का रामचन्द्रजी के लिए सम्बोधन है। 'तामसेक्षण' इस पाठ में साक्षात् महामुनि का व्याध के लिए सम्बोधन है।

कम्पितकुसुमों को बिखेर रहे ये वायु, जलों के वेष्टन से आकाश को वेष्टितकर जिसमें देवताओं के विमान गिर रहे हों ऐसे सुमेरु पर्वत के उद्यान की खोह में हुए और मंगल के लिए अक्षत सहित फूलों की वृष्टि कर रहे जनों की भाँति बह रहे हैं। पर्वत के समान भयानक उमड़ी हुई लहरों की चोटियों द्वारा ऊपर आकाश में फेंका गया, यन्त्र से आकाश में फेंके गये सोने के ढेले के तुल्य यह जलका रूप ब्रह्मलोक में पंखुरियों से वेष्टित ब्रह्मा के आसनभूत कमल तक, जिसके बीच में ब्रह्मा समाधिस्थ है, पहुँचकर लौटता है, बीच से नहीं लौटता। ये भयानक लहरें आकाश में मेघों की तरह घूमती हैं, जिनका रूप हाथी, घोड़े, सिंह, सर्प, वृक्ष, पर्वत, बन और खेतों के तुल्य है। ये अत्यन्त कठोर घुम्-घुम् शब्दरूपी गर्जन से भयानक हैं और बह रहे सुवर्णमय नगर ही इनमें बिजली-से कौंध रहे हैं। इधर से उधर बह रहे प्रलय-सागर में पैदा हुई अलसी के फूल के सदृश काली लहरों में यह यम भी जलवेगरूपी दूसरे यम से मानों ले जाया जाता है। ये लाखों सकल लोकपाल और दिग्गज अपने-अपने आश्रय मेरु आदि पर्वतों और नगरों के साथ जल में डूबते हैं। निधि-आदि लक्ष्मी के आकाररूप पर्वतमध्यवर्ती गुफाओं में पैठे हुए जलप्रवाह को लौटाने के लिए निकल रहे, वायु की बुड़-बुड़ ध्वनियों से उनके स्थानों की पूर्ति की प्रतीति हो रही है। पाताल, भूतल, आकाश और दिगन्तों में अपार दुर्निवार जलराशि के व्याप्त हो जानेपर इन्द्र, यम, यक्ष, देवता और दानवों के झुण्ड के झुण्ड अपने ग्राम, नगर, विमान और पर्वतों के साथ मछलियों की तरह घूमते हैं। हाय, प्रलय-जल द्वारा इधर उधर बहाये जा रहे, भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र का जलरूपी शरीर ही उसी प्रकार बन्धन बन गया है जैसे कि दुहने के समय प्यारी माता की जंघा बछड़ों के लिए बन्धन बन जाती है ॥५३-६०॥ हा, परस्पर एक दूसरे पर लिपट रहे दैत्य और दानवों का अपने लिए या अपनी स्त्रियों के लिए किये गये हल्ले से भरा हुआ बुड़-बुड़ शब्द सुनाई देता है। हाहाकार चीत्कार से पूर्ण देवता और दानवों के उत्तम-उत्तम नगरों के वेग के साथ गिरने के कारण क्षुब्ध हुई जलराशि से चारों ओर परिवेष्टित दसों दिशाएँ मानों घूम रही मेघराशि से आच्छन्न सी हो गई हो उनमें जलकी साफ दीवार खड़ी दिखाई देती है ॥६१,६२॥ हाय, खेद है, सर्वजन प्रसिद्ध सूर्य को जलराशि भँवरों के चक्कर में लपेटकर वेग से बहुत नीचे ले गई है। ये कुबेर, यम, नारद, इन्द्र आदि जलराशि और मेघमण्डल से पीड़ित (जीवन के अयोग्य) होकर प्राण-त्याग रहे हैं। पूर्ववर्णित प्रकार के ब्रह्मा, इन्द्र और विष्णु भगवान् के नगरों के खंडहरों से संकटपूर्ण जल की टक्कर लगने से कठोर आघात का प्रत्यक्ष करनेवाले लोगों में जो तत्त्ववेत्ता हैं वे जल में बह रहे मृत अतएव जड़ अपने शरीर को अहंभाव से विरहित होकर धारण करते हैं। इसलिए शरीर के छेदन-भेदन, आघात आदि का दुःख उन्हें नहीं होता है ॥६३,६४॥ हाय ! खेद है, अधकुचला हुआ स्त्रियों का झुण्ड यहाँपर आता है। पृथिवी में अतिमूर्ख रूपसे प्रख्यात इसे (स्त्रीसमूह को) बचाने की सामर्थ्य दूसरे किसमें है। जब यह समूह, जो यमराज की काल की) दाढों से चबाया जा रहा है, आपस में एक दूसरे को बचाने में समर्थ नहीं है। पर्वतों को मटियामेट करनेवाले तथा साँपों की तरह सरकनेवाले ये विशाल जलकल्लोल इधर से उधर बहते हैं। इनमें देवताओं के नगर पहले स्वरूप को नाव की तरह ऊपर उतराकर फिर नीचे डूब जाते हैं। खेद है, जलराशि से खूब लथेड़े हुए आलूनमूल कमलों की तरह द्वीप, महापर्वत,

देवता, दैत्य, सर्प, मनुष्य, नाग, अप्सराएँ और चारणों से व्याप्त काल द्वारा उखाड़कर मिट्टी में मिलाया हुआ त्रिभुवन एकमात्र सागररूपी तालाब के रूप में स्थित है। हाय ! प्रचुर समृद्धिवाले जगतों के अधिपति इन्द्र देवता न मालूम कहाँ चले गये ॥६५-६७॥

एक सौ उनतालीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चालीसवाँ सर्ग

प्रलय-सागर हटना, गाँव में मुनि की ब्रह्माण्डरूप से स्थिति, प्राणी के शरीर से बाहर निकलना आदि वर्णन।

व्याध ने कहा : महामुने, ज्ञानयोग सिद्ध आपके सदृश पुरुष भी पूर्ववर्णित नाना प्रकार की प्रलयजल स्रवन आदि विविध भ्रान्तअवस्था को कैसे प्राप्त हुए ? अतीत और अनागत सकल वस्तुओं के दर्शन में उपायभूत ध्यानरूप योगांग के प्रयोग से आपकी सकल भ्रान्तियों की निवृत्ति क्यों नहीं हुई ? ॥१॥ महामुनि ने कहा : हे व्याध, आकाश में भ्रान्तिज्ञानरूप ये सकल जगत् कल्पान्तों में भ्रान्तिरूप नाना प्रकार के विनाशों से विनष्ट होते हैं ॥२॥

क्रमिक प्रलय में योग द्वारा भूत और भावी पदार्थों के पर्यालोचनका अवसर रहता है, किन्तु आकस्मिक प्रलय में तो मुझे इसका मौका ही नहीं मिला, यों उत्तर देने के लिए प्रलय द्विविध होता है, ऐसा कहते हैं।

कभी कल्पान्त में क्रमशः नाश होता है, कभी सातों समुद्रों की सहसा एकाकाररूप विकृति हो जाने से अकस्मात् विनाश होता है। उक्त जल जब इस प्रकार झटपट विकृत हुआ, तब तो जबतक ब्रह्माजी से निवेदन करने के लिए देवगणों ने ब्रह्माजी के पास जाना चाहा, इतने में ही उन्हें जलराशि ने बहा डाला। जिस सहसा हुए प्रलय के विषय में देवता भी चूक जाते हैं उसके विषय में मेरा चूकना कौन बड़ी बात है ॥३,४॥

अथवा काल की प्रबलतावश उस समय मेरी ध्यान-धारणा फुरित नहीं हुई, ऐसा कहते हैं।

हे वनाधिपति व्याध, यह काल सर्वविनाशक है, किसी को भी नहीं छोड़ता। जिस समय में जो अवश्यम्भावी होता है उस समय में वह हो कर ही रहता है चाहे कोटि उपाय क्यों न किए जाय। विनाश का समय आनेपर महान् लोगों के भी बल, बुद्धि और तेज सर्वत्र सर्वथा विपरीत हो जाते हैं ॥५,६॥

दूसरी बात यह भी है कि स्वप्न में अन्य के चित्त का अनुगमन करते मैंने यह सब देखा था, स्वप्न में तो महात्माओं का भी विवेक कुण्ठित हो जाता है यह सर्वविदित है, यों परिहारान्तर कहते हैं।

हे वनाधीश, मैंने आपसे यह स्वप्न में देखा वृत्तान्त कहा है। स्वप्न में क्या संभव नहीं है ? क्या यह बात सब लोगों को विदित नहीं है ? ॥७॥ व्याध ने कहा : प्रभो, यह यदि असत् है, केवल स्वप्नदृष्ट भ्रान्तिरूप ही है तो हे कल्याणों के वेत्ता महामुने, इसके वर्णन से क्या लाभ है ? ॥८॥

कल्याणों के विशेषज्ञ आपमें निरर्थक वाक्यवक्तृता का सम्भव नहीं है, यह सूचित करने के लिए 'कल्याणकोविद' सम्बोधन दिया है। अपनी कल्याण विशेषता प्रकट करते हुए मुनि उत्तर देते हैं।

हे मतिमन्, यह मेरा स्वप्नदृष्ट-वर्णन निष्फल नहीं है, इसमें तुमको बोधित करना महान् प्रयोजन है। जिससे कि वर्णित स्वप्नप्रपंच की तुलना से तुम परिदृश्यमान प्रपंच को भी केवल

भ्रमरूप समझो। दृश्यमात्र में भ्रमत्व सिद्ध हो जानेपर दृक्स्वरूप इस कथांश को तुम मुझसे सुनो। इसके बाद पागल जैसे उस एकमात्र सागर के वेग में उक्त प्राणी के ओज में पैठे हुए भ्रम-परम्पराओं से परिपूर्ण मैंने स्वप्न में भ्रान्ति देखी। जब वह सारा का सारा प्रलयजल कुपित वज्र से भयभीत हुए पंखवाले महापर्वतों के समूह की तरह कहीं जाने के लिए तैयार हुआ तब प्रलयजलराशि में उतरा रहे मुझे भाग्यवश पर्वतशिखर के छोर की तरह एक तट मिला। मैं उसके सहारे ठहर गया। इसके उपरान्त एक क्षण में वह सारी प्रलयराशि, जिसने लहरों की चोटियों के छितराये हुए जलकणों के सदृश नक्षत्र आदि देवताओं से आकाश को तारकित (तारों से पटा हुआ) बना डाला था, जो प्रवाहवश पाताल में पहुँचे हुए कुछ तारों से मणिमय गर्भवालीसी लगती थी, भँवरों में पड़कर अधोमुख हुए पर्वतीय पुराने तृणों से प्रचरता को प्राप्त हुई थी, सुवर्णद्वीप के तुल्य विशाल देवनगर और मन्दिरों से व्याप्त थी, यहाँ-वहाँ उतरा रही देवांगनारूप छिपी हुई कमलराशि से मायायुक्त थी, जिसके बीच में प्रलयकालीन मेघ के समान काला सेवाल का अम्बार इधर से उधर चक्कर लगा रहा था, जो बिजलीरूपी गोरोचनासदृश परागवाले प्रलयकालीन मेघरूप नीलकमलों से भरी-पुरी थी, जिसके चौगिर्द जलकणों की झड़ी लगा रहे कुहरे, मेघ और पहाड़ों ने तट बना डाला था, जिसमें आकाश का स्पर्श करनेवाली चंचल ऊँची-ऊँची लहरों में कल्पवृक्षों के बहने का सन्देह होता था, सम्पूर्णतया कहीं चली गई। इसके पश्चात् वह एकमात्र सागर का साँचा केवल सूखा गड्ढा रह गया। उसमें कहींपर सह्याचल गला पड़ा हुआ था, कहींपर जीर्णशीर्ण हो जाने के कारण यह मन्दराचल है या अन्य कोई दूसरा पर्वत है, यों मन्दराद्रि संशययोग्य अवस्था में पड़ा था, कहींपर चन्द्रमा, यम, इन्द्र और तक्षक कीचड़ में आकण्ठ डूबे थे, कहींपर कल्पवृक्षों के समूह की नीचे की शाखाएँ कीचड़ में डूबी थीं, कहींपर लोकपालों के सिर और हाथ कमलों की तरह बिखरे थे, कहींपर कमलों की तरह विश्राम ले रहे खून के तालाबों से वह लाल था, कहींपर आकण्ठ कीचड़ में डूबी हुई विद्याधरियाँ कराह रही थीं, कहींपर मानों स्वप्न में मरे हुए हाथी जैसे विशालकाय यमवाहनरूप भीषण भैसों से घिरा था, कहींपर महाकाय गरुड़रूप सुमेरु पर्वत अवसाद को प्राप्त होकर पड़ा था, कहींपर उसमें भूमिपर पड़े हुए यम के दण्ड से अकिचिंत्कर (मत्त की नाईं जल के निरोध में असमर्थ) महासेतु बना था, कहींपर मरे हुए ब्रह्मा के वाहनभूत हंस से पंकमय भूमि मन्दहास युक्त-सी लगती थी, कहींपर देवराज इन्द्र के ऐरावत का आधा शरीर कीचड़ में फँसा था ॥९-२३॥

इसके पश्चात् तटवर्ती पर्वत के शिखर पर पहुँचकर थक जाने के कारण किसी मुनि के आश्रम में जब मैंने विश्राम लिया तब मुझे खूब नींद आई। उसके अनन्तर उस वासना से युक्त हुए मैंने अपने ओज में स्थित होकर भी सुषुप्ति के बाद प्राप्त हुई निद्रा के अन्दर उस कल्पान्त को जैसा उक्त प्राणी के ओज में स्थित होकर देखा था वैसा ही देखा। चिरकाल तक उस दुगुने दुःख का अनुभव कर व्याकुल हुआ मैं जब जागा तो मैंने उस प्राणी के हृदय में स्थित उसी पर्वत शिखर को देखा। इसके बाद दूसरे दिन मैंने वहाँपर भगवान् भास्कर के उदय से मनोहर भुवन को लोक, आकाश, भूमि और पर्वतों के साथ देखा। द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ ये सबके सब जैसे शाखा से पत्ते उत्पन्न होते हैं वैसे ही मेरे चित्त से उत्पन्न हुए। इसके पश्चात् पूर्वानुभूत विषय

को भूलकर पूर्वोक्त प्रकार से दृष्टिपात हुए भूलोक में तत्–तत् पदार्थों से व्यवहार करने के लिए मैं प्रवृत्त हुआ। आज मुझे पैदा हुए सोलह वर्ष हो गये हैं, ये मेरे पिता हैं, यह मेरी माँ है, यह मेरा घर है, ऐसी मेरी व्यवहारप्रतिभा उत्पन्न हुई। मैंने एक छोटा–सा गाँव देखा, उसमें एक ब्राह्मणाश्रम देखा, एक घर देखा, वहाँपर किसी आश्रम में मेरा कोई बन्धु हुआ। इसके बाद ग्राम्य घर में बन्धु–बान्धवों के साथ निवास कर रहे मेरे एकके बाद एक दिन–रात बीतने लगे। वहाँ जाग्रत आदि अवस्थाओं का अनुभव कर रहे मेरा वही ग्राम आदि बाह्य विकास यथार्थ–सा हो गया ॥२४–३२॥ उसके बाद समय बीतने पर धीरे–धीरे मेरी पूर्वजन्म की बोधबुद्धिविस्मृत हो गई। जैसे पूर्ववर्णित दामव्यालकटाख्यान में वासनाशून्य कटकी–मछलियों के साथ सहवास का अभ्यास होने से–पूर्वबोधविस्मृति द्वारा मत्स्यता हो गई थी वैसे ही मेरी भी ग्रामवास्तव्यता सम्पन्न हो गई। इस प्रकार उस समय मैं ग्रामवासी ब्राह्मण बन गया। मेरी एकमात्र शरीर में आसक्ति बद्धमूल हो गई। विवेक–भूमि मुझसे कोसों दूर चली गई। मैं केवल शरीर को आत्मा समझता था, केवल स्त्री ही मेरे मनोरंजन की सामग्री थी, केवल वासना ही मेरा स्वभाव था और केवल धन के उपार्जन में ही मैं जी–जान से लगा रहता था। एकमात्र बूढ़ी गाय ही मेरी सम्पत्ति थी, घर के आँगन में छाया के लिए मैंने सेम की लता लगा रक्खी थी, अग्निहोत्रार्थ अग्नि, जीविकार्थ दो एक बीधा खेत और गौ आदि पशु मैंने जोड़ रक्खे थे, धातुओं की वस्तुओं में एकमात्र कमण्डलु का मैंने उपार्जन किया था, स्वल्प काल तक रहनेवाले तुलसी आदि के पेड़–पौधों में मेरा बड़ा प्रेम था। मैं सदा लोकाचार में (नगर–ग्राम के आचार–विचारों में) निरत रहता था। घर के निकटवर्ती हरे–भरे मैदान में अकसर उठा–बैठा करता था। प्रायः शाक और शाक से भरे बागों को सजाने–सँवारने में मेरे दिन बीतते थे। छोटी–मोटी नदियों, झीलों, गंगा आदि पुण्यनदियों, तीर्थों और तालाबों में स्नान करने के लिए मैं सदा तत्पर रहता था। गोहरी, अन्न, जल, आग–लकड़ी और ईंट–पत्थर का क्लेश से संचय करता था। यह कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है, इस प्रकार के जालों से जकड़ा था। इस प्रकार वहाँ जीवननिर्वाह कर रहे मेरे सौ वर्ष बीत गये। एक समय दूर से कोई आत्मज्ञानी अतिथि मेरे घर आया। मैंने बड़े भक्तिभाव से उसका सत्कार किया। उसने स्नानकर मेरे घर में विश्राम किया और भोजन किया, रात्रि के समय शय्यापर बैठकर उसने कथा कही। किसी कथाप्रसंग में, जो अनेक दिशाओं, देशों, पर्वतों के रीति–रिवाजों से बड़ा मनोहर था तथा जिसमें अखण्ड चिन्मात्र ब्रह्म ही यथास्थित रहकर भी जगत् के रूप से विकसित है, यों समझाया। इससे केवल एकमात्र बोधमयता को प्राप्त हुए मुझे अपनी धारणा शक्ति से प्राणी के शरीर में प्रवेश करना आदि अपना पहले का सारा वृत्तान्त याद हो आया ॥३३–४४॥ अपने पूर्ववृत्त की याद आने के पश्चात् जिसके पेट में बैठा था, उस प्राणी को सकल जगत् की अपेक्षा वृद्ध होने के कारण विराट्रूप समझकर मैंने उसके उदर से बाहर निकलने का उद्योग किया। प्राणी के उदर में भूमि, सागर, पर्वत और नदियों से पूर्ण विस्तीर्ण भुवन में जब मुझे बाहर निकलने के लिए द्वारभूत उसके मुँह का पता नहीं लगा, तब तो मैं बन्धु–बान्धवों से पूर्ण उस प्रदेश का परित्याग न करते हुए बाहर निकलने के लिए उसके प्राणवायु में प्रविष्ट हुआ। यहाँपर स्थित विराट्रूप इस प्राणी का बाह्य दृश्य और अन्य विराट् में उत्पन्न आभ्यन्तर दृश्य सब

मैं देखूँ, इस बुद्धि से तदनुकूल उसके प्राणों में अहंभाव धारणा बाँधकर मैंने उस देश का त्याग किया। जैसे फूलों से सुगन्धि वायु के साथ बाहर निकलती है वैसे ही मैं उसके प्राणों के साथ बाहर निकला, पवन के कन्धेपर सवार होकर उसके मुख द्वारपर आकर वायुरूपी रथ से बाहर आया, बाहर आकर मैंने यह बातें देखीं। कहीं पर्वत–गुफा में शिष्यों से संरक्षित मुनि का आश्रम है, वहाँपर पद्मासन लगाया हुआ मेरा शरीर पहले की तरह ही ज्यों का त्यों बैठा है ॥४५–५१॥ मेरी रक्षा करने में तत्पर मेरे सामने बैठे हुए शिष्यों का केवल एक मुहूर्त ही समय बीता था ॥५२॥ जिस प्राणी के हृदय में मैं प्रविष्ट हुआ था वह भी किसी उत्सव में प्राप्त हुए अन्न से तृप्त होकर पीठ के बल सुख से सोया था ॥५३॥ वह आश्चर्य देखकर मैंने किसी से कुछ नहीं कहा। कौतुकवश मैं पुनः उसी के दृश्य में प्रविष्ट हो गया ॥५४॥ मैं पूर्ववासना से युक्त होकर उन स्वबन्धुओं को देखने के लिए उस प्राणी के हृदय के अन्दर पूर्व अनुभूत ओजःप्रदेश में जब पहुँचा, तब तक वहाँ अति भीषण युगान्त (प्रलय) हो चुका था, उक्त भुवन धर्मअधर्ममर्यादा के साथ सर्वथा बदल गया था। अब वहाँ पर पहले से विलक्षण ही पर्वत खड़े थे, पहले से विलक्षण पृथिवी थी, दिशाएँ भी दूसरी थीं, लोक की बनावट में भी अन्तर हो गया था। वे मेरे बन्धु–बान्धव, वह गाँव, वह भूमिखण्ड, वे दिक्तट, सबके सब वायु द्वारा बटोर कर उड़ाये गये से न मालूम कहाँ लीन हो गये थे। मैंने उस समय सारे भुवन को पहले से विलक्षण स्थिति में देखा, उसके सब अवयव अपूर्व थे मानों वहाँपर वह पूर्व जगत् के स्थान में दूसरा ही जगत् उदित हुआ था। वहाँपर बारह सूर्य तपते थे, दसों दिशाएँ जलती थीं, ठण्डक से जमे हुए जल की तरह सबके सब पर्वत बलात् गलने की तैयारी में थे। प्रत्येक पहाड़ पर प्रत्येक दिशा में वनपंक्तियाँ जलती थीं, समस्त मणि, रत्न आदि सम्पत्तियाँ जलकर राख हो गई थीं। उनकी केवल स्मृति ही शेष रह गई थी। सभी सागर सूख गये थे, आँधियाँ सामने की ओर उठी थीं, सम्पूर्ण भूमिमण्डल अँगारों का ढेर बन गया था। पहले पाताल से, उसके बाद भूमिमण्डल से, फिर दिशाओं से ज्वालाएँ निकलने लगीं, शीघ्र ही सारा विश्व एक ही ज्वालामय मण्डल बनकर सन्ध्या समय के मेघों की तरह लाल हो गया। सुवर्ण–कमल के अन्दर प्रविष्ट हुए भृंग के समान उस ज्वालामय घर के अन्दर प्रविष्ट हुए मुझे फतींगे की तरह यद्यपि देह प्राप्त था, फिर भी दाह विकार दुःख नहीं हुआ, क्योंकि मेरा शरीर केवल आतिवाहिक है ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय था। वायु की धारणा से वायुरूप बना हुआ मैं उस ज्वालामय प्रलय जलप्रवाह में बिजली की तरह बखूबी घूमता था। ज्वालाओं की धधकों में चंचल शरीर होकर मैंने स्थलकमलोंपर घूम रहे भँवरों के तुल्य शोभा धारण की ॥५५–६५॥

एक सौ चालीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ इकतालीसवाँ सर्ग

वह्निज्वाला से व्याकुल लोक में प्रचण्ड आँधी का उठना तथा अंगारों की वर्षा करनेवाले ज्वालामय मेघ का वर्णन।

मुनि ने कहा : हे व्याध, स्वप्न में मुझे यह स्वप्न है यह भलीभाँति ज्ञात था, अतएव अग्नि की ज्वालाओं में गिरकर खूब झुलसने पर भी मुझे कष्ट नहीं हुआ। ज्वालाओं के नये उड़ने के तरीकों से

सारे आकाश में अलातचक्र के समान मैंने सुन्दरता के साथ भ्रमण किया। आकाश–भ्रमण से मैं कुछ–कुछ श्रान्त हो गया, किन्तु तत्त्वज्ञानी होने के कारण मेरी बुद्धि में तनिक भी खेद नहीं हुआ था। मैंने ज्योंही उक्त दावाग्नि का विचार करने की ठानी त्योंही आँधी आ गई। उसमें आग को फूँकने में जैसा शब्द होता है वैसी ही साँय–साँय तथा अति गंभीर मेघ के कड़कने की–सी ध्वनि हो रही थी और उड़ रहे पत्थर, लाठी, धूलि, राख, पत्ती आदि जगत् के सब पदार्थों से वह भरी थी। उक्त आँधी ने प्रबल सरसराहट और गड़गड़ाहट के वेग से वन में मेघों को दुगुना बना दिया था, जल–प्रवाह में बह रहे और लौट रहे बारह सूर्यों के साथ अलातचक्रों को मिश्रित कर दिया था। ज्वालारूप सान्ध्य मेघों की राशियों ने उस आँधी में सैकड़ों बड़ी–बड़ी अग्निनदियाँ बहा रक्खी थीं। उस आँधी में पहाड़ों से भी दुगुने भूभाग (ढेले) और देवदानवों के नगर उड़ते थे। उस आँधी ने आकाश में घुमाये जा रहे भूतों से पूर्वोक्त सैकड़ों अग्निनदियों के पत्तों के अम्बार को दुगुना बना दिया था। खूब जली हुई, कुछ जली हुई तथा आधी जली एक दूसरे के ऊपर आकाश से नीचे गिर रही देवांगनाओं से उसमें अग्नि की ज्वाला दुगुनी हो रही थीं। नीचे गिर रहे अंगाररूप उसके मूसलाधारों से तथा आग की चिनगारीरूपी जलकणों से वह दँतुला–सी मालूम पड़ती थी। उक्त आँधी बिना राख के अंगारों की भीषण राशिवाली अपनी अलातरूपी बिजलियों को कँपा रही थी तथा धूम्ररूपी अन्धकारों से मलिन हुए ऊपर की दिशाके मुँह को आच्छादित करती थी। भूमि से, आकाश से और दिशाओं से वे पूर्वोक्त ज्वालारूप सान्ध्य मेघ उमड़े, जिन मेघों से देवमण्डली के साथ सातों लोक केवल ज्वालामय पर्वतपिण्ड बन गये। उक्त प्रचण्ड आँधी ने तब तो कालाग्निरुद्र के समान नाचना शुरू कर दिया। ऊपर उछलने से फैले हुए अग्निकण ही उसकी कपिल रंगकी सुन्दर केशराशि थी, नीचे पादाघात से मानों उसने दीवारों को उड़ा डाला था, उससे बार–बार कर्णकटु शब्द हो रहा था, उसके सबके सब अंग भस्म से लथपथ होने से शुभ्र थे, मध्यभाग में चारों ओर गिर रही ज्वालारूपी वस्त्रराशि को मजबूती से पकड़कर वह धारण किये थी। कालरुद्र में भी इन विशेषणों की योजना समानरूप से कर लेनी चाहिये ॥१–११॥

एक सौ इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बयालीसवाँ सर्ग

स्वप्नादि जगत् का तत्त्व ब्रह्म है यह वर्णन करते हुए तत्त्वदृष्टि से जगत्बीज कर्म के अभाव का साधन।

मुनि महाराज ने कहा : हे व्याध, संभ्रान्त लोगों को भी भ्रम में डालने वाले वर्तमान उस महान् कष्ट में आँधी द्वारा इधर–उधर बहाया जा रहा मैं अत्यन्त खेद को प्राप्त हुआ। तदुपरान्त खेद से मैंने सोचा कि दूसरे प्राणी के हृदय में निवास कर रहे मेरा यह स्वप्न है, इसलिए मैं व्यर्थ में दुःस्वप्नदुःख क्यों देखूँ ? दुःस्वप्नप्रदर्शन का त्याग कर जाग्रत द्वारा आनन्द क्यों न लूँ ? ॥१,२॥

स्वप्न का क्या रहस्य है यह निश्चय करने के लिए परकाय में प्रविष्ट हुए आप क्या निश्चय करके निवृत्त हुए, यों व्याध प्रश्न करता है।

व्याध ने कहा : हे मुने, स्वप्न का तत्त्व क्या होगा इस प्रकार के सन्देह की निवृत्ति के लिए आप उसके हृदय में प्रविष्ट हुए थे, सो क्या आपने स्वप्न का निश्चय कर लिया था ? भगवन्, यह आपने क्या

देखा ? हृदय में महासागर कहाँ रह सकता है, पेट में प्रलयकाल का वायु कैसे और हृदय में प्रलयकाल की अग्नि का कैसे संभव है ? द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ, दिशाएँ आदि रूप जगत् का हृदय में कैसे संभव है, इन सबका यथार्थ तत्त्व, जो आपने निर्णय किया है, मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥३-५॥

इस प्रकार अपने और दुसरे के स्वप्नों को देखने से अन्वय-व्यतिरेकगतः परिक्षित शब्दार्थरूप जगत् का बाधदृष्टि से त्रैकालिक असत्ता ही तत्त्व है, और परिशिष्ट अधिष्ठानभूत, ब्रह्मदृष्टि से ब्रह्म ही तत्त्व है इस आशय से श्रीमुनि उत्तर देते हैं।

मुनि ने कहा : हे व्याध, सृष्टि का कारण कूटस्थ है या विकारी है ? कूटस्थ तो कारण हो नहीं सकता, कारण कि व्यापार न कर रहे कूटस्थ में क्रियाजनकत्वरूप कर्तृत्त्वका सम्भव नहीं है, कार्यसम्बन्धयोग्य भी वह नहीं है, उसके उदासीन से अतिरिक्त रूप का निरूपण कहीं नहीं है और उसमें उदासीनातिरिक्त स्वभाव की उत्पत्ति भी श्रुत या दृष्ट नहीं है, अतएव उसका कारण होना तो किसी प्रकार संभव नहीं है। विकारी अनिर्णीत नाना अंशों से घटित होता है। उसका कौन-सा अंश कारण है ? घटादि विकारयुक्त मिट्टी के पिण्ड से हट रहा पिण्डाकार कारण है या आ रहा घटाकार कारण है, अथवा दोनों आकारों से अनुगत मिट्टी आदि आकार कारण है ? प्रथम तो कारण हो नहीं सकता, क्योंकि जो अपनी भी रक्षा करने में असमर्थ हो, कार्यकाल में रह न सके और कार्य के अर्थ हुए व्यापार का जो आधार न हो उसके कारण होने की सम्भावना तक नहीं है। दूसरा भी कारण नहीं हो सकता, क्योंकि घट से अन्य कार्यका निर्देश नहीं है, अतः स्व में स्वकारणता का प्रसंग हो जायेगा। तीसरा भी कारण नहीं हो सकता, क्योंकि मिट्टी आदिरूप अनुगताकार को अक्रियाशील मानो तो कूटस्थतावश उसमें कारणता नहीं है, क्रियाशील मानो तो घटों की अनन्तता का प्रसंग प्राप्त होगा अर्थात् सदा घटोत्पत्ति होगी, क्योंकि मिट्टी आकारमात्र सदा अस्तित्व है। कार्योत्पादन में समर्थ को सहकारी की आवश्यकता न होने से एक साथ सब कार्यों की प्राप्ति होगी, पिण्ड, घड़ा, कपाल, चूर्ण आदि की युगपत् प्राप्ति होगी। अन्य सहकारी के सम्बन्ध की व्यवस्था से व्यवस्था हो जायेगी, ऐसा यदि कहो तो बताओ कि अन्य सहकारी का संबंध मिट्टी-जन्य है या अन्यजन्य है ? यदि मिट्टीजन्य मानो तो घट आदि के समान वह भी मिट्टीआकार मात्र से ही उसी समय उपपाद्य होगा। ऐसी स्थिति में जैसे मिट्टीआकारमात्र को कारण मानने पर घटादि की उत्पत्ति युगपत् होगी, यह दोष दिया था सहकारिसम्बन्ध के भी मिट्टीआकार मात्रजन्य मानने में घटादि की उत्पत्ति युगपत् ही होगी, क्योंकि मिट्टीआकारमात्रजन्य सहकारिसम्बन्ध के सदा रहने से घटादि की युगपत् उत्पत्ति का प्रसंग ज्यों का त्यों रहा। इसलिए सहकारी के सम्बन्ध से कोई व्यवस्था न हुई। यदि अन्य सहकारिसम्बन्ध मिट्टी से भिन्न से जन्य है, तो मिट्टी भिन्न भी 'समर्थस्य कालक्षेपायोगः' इस न्याय से युगपत् सर्वकार्यजनक है, इसलिए प्रस्तुत सहकारिसम्बन्ध को भी उसने अपनी उत्पत्ति के बाद ही पैदा किया, अतः घटादि की युगपत् उत्पत्ति प्रसक्ति ज्यों की त्यों ही रही। यदि कहो मिट्टी से भिन्न भी अन्य सहकारिसम्बन्ध को उत्पन्न करने के लिए सहकारिविशेष की अपेक्षा करता है, ऐसी स्थिति में अन्य सहकारिसम्बन्ध कादाचित्क (कभी होनेवाला) ही होगा, अतः वह व्यवस्थापक हो सकेगा। तब भी मिट्टी से भिन्न में सहकारिविशेषसम्बन्ध

जिससे उत्पादनीय है, उससे वह 'समर्थस्य कालक्षेपायोगः' इस न्याय से अपनी उत्पत्ति के बाद ही पैदा किया गया, अतः प्रस्तुत अपेक्षित उपार्जनसम्पत्ति से घटादिकी युगपत् उत्पत्ति का निवारण होना असम्भव है। पिण्ड, कपाल, घट, चूर्ण आदि बहुत से कार्योत्पादन में समर्थ मिट्टी आदि आकार के किसी एक कार्य की जनकता में कोई विनिगमक नहीं है, सहकारिसम्बन्ध की विनिगमकता का खण्डन तो हो ही चुका है, इसलिए सब कार्यों की युगपत् प्रसक्ति होगी। यदि इसके परिहार के लिए एक कार्योत्पत्ति को दूसरी कार्योत्पत्ति में प्रतिबन्धक मानो तो परस्पर प्रतिबन्धक–प्रतिबन्ध्यता से कुछ भी उत्पन्न नहीं होगा, इससे सर्ग आदि निष्कारण हैं, यह पक्ष ही अवशिष्ट रहा। अतः सर्ग शब्द और अर्थ सर्वथा है ही नहीं, यह तत्त्व निर्णीत हुआ ॥६॥

तब लोक में सर्ग शब्द और अर्थ कैसे प्रसिद्ध हैं ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

ये सर्ग शब्द और अर्थ परमात्मा में यथार्थरूप से अज्ञात होकर ही प्रसिद्ध है अर्थात् अज्ञात परमात्मरूप ही सर्ग शब्द और अर्थ हैं।

शंका : अज्ञात यदि होते तो जबकि जगत् अज्ञानमात्र होता, किन्तु वह अज्ञात आत्मपद शबल होने के कारण अज्ञान–ज्ञानरूप है।

समाधान : हाँ, ऐसा ही होता जबकि जगत अज्ञानमात्र होता, किंतु वह अज्ञात आत्मपद शबल होने के कारण अज्ञान–ज्ञानरूप है। अज्ञानांश को लेकर सर्ग शब्द और अर्थ अज्ञात हैं और ज्ञानांश को लेकर प्रसिद्ध हैं, ऐसा कहना समुचित है ॥७॥

यदि सर्ग शब्द और अर्थ प्रसिद्ध हैं तो सर्ग शब्द और अर्थ हैं ही नहीं यह आप कैसे कहते हैं, ऐसा व्याध की ओर से प्रश्न उठनेपर कहते हैं।

हे सौम्य, जिस स्वप्न आदि जगत् के यथार्थरूप को तुम जानना चाहते हो, उसके यथार्थरूप से समझ में आ जानेपर अज्ञान की निवृत्ति हो जानेपर परमसिद्धान्तरूप परम पवित्र ब्रह्मरूप पद में आरूढ़ होकर मैं यह (सर्ग शब्द और अर्थ ही नहीं हैं यह वाक्य) कहता हूँ। मूर्ख लोगों की बुद्धि में जो सर्ग शब्द और अर्थ का अस्तित्व बद्धमूल है, उसका किसी प्रकार भी संभव न होने से मुझे कुछ भी पता नहीं है, ज्ञानांश और अज्ञानांश से उत्पन्न प्रतीत हो रहा यह जगत् केवल चिन्मात्र का ही विकास है ॥८,९॥

सिद्धान्तपक्ष में शरीर आदि की प्रसिद्धि ही नहीं है, ऐसा कहते हैं।

कहाँ शरीर है, कहाँ हृदय है, कहाँ स्वप्न है, कहाँ जल आदि है, कहाँ बोध है, कहाँ बोधविनाश है कहाँ जन्म, मरण आदि हैं ॥१०॥

तब सिद्धान्त में क्या है, ऐसा प्रश्न उठनेपर कहते हैं।

सिद्धान्त पक्ष में वह अति निर्मल चिन्मात्र ही है, जिसके सामने अत्यन्त सूक्ष्म आकाश भी वैसा ही स्थूल लगता है जैसा कि परमाणुओं के सामने पर्वत ॥११॥

ईश्वर का और तत्त्वज्ञानियों का जगत्दर्शन कैसा है ? इस प्रश्नपर कहते हैं।

वह चिदाकाश (चिन्मात्र) स्वभावतः आकाशरूप अपने शरीर का कुछ विचार से जो चिन्तन करता है उस आकाश को ही जगद्रूप से जानता है ॥१२॥ जैसे स्वप्न में एकमात्र चित् का ही नगररूप से भान होता है वहाँपर वास्तव में नगर आदि कुछ भी नहीं है वैसे ही आत्माकाश में शान्त अखण्ड

अभान इस चिन्मात्र का ही जगत्-रूप से भान होता है । (*शंका- तब मेरे सदृश अल्पज्ञों या अज्ञानियों की दृष्टि में जगत् का भान कैसे होता है ?)* समाधान-जैसे दृष्टि में तिमिर रोग होनेपर प्रकाशमय आकाश में बालोंका-सा गोला दृष्टिगत होता है वैसे ही तुम्हारी चिद्रूप दृष्टि में अज्ञानरूप तिमिर रोग होनेपर यह जगत्-भान होता है । हमारी दृष्टि में तो न भान है, न प्रातिभासिक जगत् है, न व्यवहारिक जगत् है और न भूताकाश है केवल निराकार अनादि अनन्त (अविनाशी) चिदाकाश ही है । जिस कारण से केवल त्रिपुटी रहित (द्रष्टा, दर्शन, दृश्य रहित) शुद्ध द्रष्टा का ही बिना किसी कारण के नगर आदि के रूप से स्वप्न में भान होता है, यह स्वप्न में निर्णय किया गया है, उस कारण से जाग्रत में भी कारण के अभाव का पहले उपपादन किया गया है, अतः जाग्रत् में भी न द्रष्टा है और न दर्शन है यानी द्रष्टाआदि त्रिपुटी है ही नहीं । स्वयं स्पष्टरूप से अनुभूत होनेपर भी कुमारी के सुख की तरह जिसका वर्णन करना असंभव है, अनादि अनन्त एक (अद्वितीय) द्वैत और ऐक्य से शून्य उस शुद्ध चिन्मात्र का ही जगत्रूप से भान होता है ॥१३-१७॥

द्वैत और ऐक्य से शून्य की द्वैत और ऐक्य से स्थिति क्या कहीं देखी गई है ? ऐसा प्रश्न उठनेपर कहते हैं ।

जैसे एक काल प्रलय और सृष्टि दोनोंरूप है अथवा जैसे बीज अंकुर, पौधा, पेड़, डाली, पत्ती, पल्लव और फलस्वरूप से स्वयं ही स्थित होता है वैसे ही ब्रह्म भी सर्वात्मक-द्वैत-ऐक्य से युक्त है ॥१८॥

तब तो ब्रह्म द्वैत और ऐक्य युक्त ही है, द्वैत और ऐक्य से वर्जित नहीं, इसपर कहते हैं ।

जो एक की दृष्टि में महान दीवाररूप है, वह दूसरे की दृष्टि में निर्मल आकाश रूप है यह बात चिरस्थायी स्वप्न, मनोरथ, भ्रान्ति आदि में देखी गई है । यदि ब्रह्म परमार्थरूपसे द्वैत और ऐक्य युक्त होता तो सबके प्रति वैसा दिखाई देता, किन्तु सब उसको वैसा देखते नहीं, यह भाव है ॥१९॥ जैसे आत्मा एक स्वच्छ चिन्मात्रआकाश होकर भी स्वप्न में जाग्रत् के समान प्रतीत होता है वैसे ही जाग्रत्मय स्वप्न में भी प्रतीत होता है, अणुमात्र भी स्वप्न से जाग्रत में अन्यथा नहीं प्रतीत होता, उसी तरह इस समय में भी उसकी अद्वितीयता ही है ॥२०॥

यदि प्रश्न हो कि प्रलय और सुषुप्ति में इसका जगत् स्थित नहीं रहता, इसलिए यह सदा एकत्वभाव है, यह कैसे ? केवल अदर्शनमात्र से जगत् उस समय नहीं रहता यह निर्णय नहीं किया जा सकता, ऐसा कहते हैं ।

जैसे नेत्रों से अदृश्य वायु में अदृश्य सुगन्धि स्थित है, यह घ्राणज अनुभूति से प्रतीत होता है वैसे ही अमूर्त होने से प्रतिघात के अयोग्य चिन्मात्र में अमूर्त जगत् स्थित है सुषुप्ति और प्रलय का अनुभव करनेवाले पुरुष द्वारा अदृश्य भी जगत् अन्य पुरुषों की दृष्टि से दृश्य ही है ॥२१॥

मन द्वारा मनन का त्यागकर यदि देखा जाय तो कहींपर कभी भी न जगत् था, न है और न होगा इस प्रकार निरन्तर ही आत्मा अद्वितीय सुस्थिर है, ऐसा कहते हैं ।

समस्त मनन का (मनोव्यापार का) त्याग करनेपर तो तुम वस्तुतः जो निरामय सन्मात्र हो, वही हो । बाहर भीतर सर्वत्र अनन्त आत्मरूप से निरन्तर स्थित हो ॥२२॥

तब तो प्राक्तन कर्मों के अनुसार ही मन मनन करता है, अन्यथा नहीं करता, इसलिए अन्तोगत्वा

कर्म ही संसार का बीज ठहरता है, जिनका कर्म निश्शेषरूप से नष्ट हो चुका हो उनका समस्त मननत्याग सिद्ध होता है ऐसा समझ रहा व्याध उक्त कर्म किनका है, किनका नहीं है, यों पूछता है।

भगवन्, यहाँ प्राक्तन कर्म किनका है और किनका नहीं है। जिनका प्राक्तन कर्म नहीं है, उनके प्राक्तन कर्म के बिना भी मनन और मननत्याग कैसे होते हैं ? ॥२३॥

जिनका अधिकार दिलानेवाले उपासना फल के अन्तर्गत ही 'सहसिद्धं चतुष्टयम्' इस न्याय से तत्त्वज्ञान स्वाभाविक (उत्पत्तिकालिक) ही है उनका कर्म नहीं है, ऐसा मुनि उत्तर देते हैं।

ब्रह्मा, सनक, कपिल आदि जो स्वयम्भू (अपने-आप होनेवाले) सृष्टि के आदि में स्वयं भासित होते हैं वे ज्ञानमात्रदेहवाले हैं, उनके जन्म और कर्म नहीं होते हैं ॥२४॥ उन महात्माओं का न संसार है, न द्वैत है और न उनमें विविध कल्पनाएँ ही हैं। विशुद्ध ज्ञानरूपदेहवाले वे आत्मा होने के कारण ही सर्वात्मा हैं और सदा ज्यों के त्यों बने रहते हैं ॥२५॥

कर्मशून्य वे महात्मा ब्रह्मा आदि कर्मवान के आत्मा कैसे हैं, ऐसी आशंका उपस्थित होनेपर उस समय किसी का भी कर्म नहीं है, ऐसा कहते हैं।

सृष्टि के आरम्भ में यहाँ किसी का भी कर्म नहीं रहता। सृष्टि के आरंभ में ब्रह्म ही इस तरह सृष्टिरूप से विकास को प्राप्त होता है। जैसे सृष्टि के आरम्भ में परब्रह्मरूपी ब्रह्मा आदि भासित होते हैं वैसे ही सैकड़ों और हजारों अन्यान्य जीव भी भान को प्राप्त होते हैं ॥२६,२७॥

जिनकी दृष्टि से कर्म रहता है, उनको कहते हैं।

जो लोग अज्ञानावृत होकर अपना ब्रह्मत्व नहीं जानते यानी 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा नहीं जानते किन्तु 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' यों ब्रह्म से अपने को भिन्न समझते हैं वे असात्त्विक (केवल सत्त्व गुण के परिणाम से विलक्षण रजोगुण तमोगुण मिश्रित सत्त्व के परिणाम से उत्पन्न हुए) जीव अचित् (अचेतन) नामक द्वैत को सत्य जानकर उस वासना से वासित अन्तःकरणवाले होकर ही पहले मरे उनका कर्म सहित जन्म उत्तर काल में दिखाई देता है, क्योंकि उन्होंने स्वयं ही अचेतन देहात्मरूप होकर परमार्थ वस्तु को भूलकर अवस्तु को अपनाया। जिन महापुरुषों को बोधरूप महान् आत्मा में ब्रह्म से भेद का कदापि बोध नहीं हुआ, कर्मबन्धनरूप दोष से रहित वे ये ब्रह्मा, विष्णु, हर आदि हैं। सर्वात्मरूपसंवित् की स्वच्छता स्वाभाविक है, सर्वात्म ब्रह्म स्वस्वभाव में ही स्थित है। वह कहीं मलिन उपाधि में स्वयं अपना जीववत् भान देखता है ॥२८-३१॥

ब्रह्म में अविद्या भी जीवउपाधि के अवच्छेद से ही है, शुद्ध में नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जहाँपर उसे अपने जीवत्व का भान होता है वहीं अविद्या रहती है, वहींपर आत्मा अपने यथास्थित स्वरूप को संसार नाम से धारण करता है। काल पाकर स्वयं ही अपने असली स्वरूप को जानकर स्वयं स्वरूपस्थ ब्रह्म ही हो जाता है, *कारण कि 'ब्रह्म वा इदमग्र.' (यह पहले ब्रह्म ही था, उसने आत्मा को 'मैं ब्रह्म हूँ' यों जाना इससे वह सर्वात्मा हो गया) और 'ब्रह्म वेद' (जिसे ब्रह्मका ज्ञान हो जाता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है) इत्यादि श्रुतियाँ हैं।* जैसे द्रवरूप होने से जल अपने अन्दर आवर्तरूपता को (भँवररूपता को) मानों प्राप्त होता है वैसे ही ब्रह्म भी चित् होने से सर्गरूपता को मानों प्राप्त होता है, क्योंकि ब्रह्म का सर्ग स्वभाव है। यह सर्ग (सृष्टि) ब्रह्मभान है।

न स्वप्न है और न जागरण है। किसकी कौन सर्गता है तथा कौन किस प्रकार से अथवा कितने कर्म ही हैं। वास्तव में कर्म है ही नहीं, न अविद्या है और न सृष्टिबुद्धि ही है, किन्तु स्वसंकल्पवश यह असत् ही यों प्रथित होता है। सर्वशक्तिमान् और सत्यसंकल्प होने के कारण ब्रह्म ही सृष्टि, भूतस्वरूप, कर्म और जन्म ऐसी कल्पनाएँ करता हुआ स्वयं ही कल्पित पदार्थों के रूप से भासित होता है ॥३२-३६॥ सृष्टि के आरम्भ में किसी जीव के कर्म का सम्भव ही नहीं है। पीछे अविद्या में स्थिति की कल्पना के बाद चिद्रूप वह जीव देह आदि द्वारा स्वकर्म को स्वयं निष्पन्न कर उसका भोग करता है। भला बताइए तो जलावर्त का (जलके भँवर का) क्या शरीर है, क्या कर्म है ? जैसे भँवर केवल जल ही है वैसे जगत् केवल ब्रह्ममात्र ही है। आदि में शुद्ध देखे गये मनुष्यों का प्राक्तन कर्म नहीं होता है वैसे ही सृष्टि के आदि में शुद्ध सात्विक शरीर में चिन्मात्र स्वरूपवाले जीवों के कर्म नहीं रहते ॥३७-४०॥

क्यों नहीं होते ? इसपर कहते हैं।

सृष्टि के सृष्टिरूप से बद्धमूल होनेपर प्राक्तन कर्मों की कल्पना होती है। उसके बाद ये जीव कर्मपाश से विवश होकर नाना योनियों में भ्रमण करते हैं अर्थात् शुद्ध सात्विक शरीरों में कर्म इसलिए नहीं रहते कि उनकी सर्गता बद्धमूल नहीं होती ॥४१॥ जहाँ यह सृष्टि सृष्टि ही नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही इस प्रकार सृष्टि के रूपसे स्थित है वहाँ कर्म कहाँ ? वे क्या अथवा किसके कहे जा सकते हैं ? ॥४२॥

कर्म जब है ही नहीं तब कर्मयुक्त बन्धन कहाँ ? अर्थात् नहीं है, किन्तु अज्ञानप्रयुक्त ही बन्ध है, भले ही आप उसे कर्मबीज कहें पर वह अज्ञान से अतिरिक्त नहीं हैं ऐसा कहते हैं।

परमात्मा का जो स्वयं अपने स्वरूप का अपरिज्ञान है वही यह कर्म बन्धनका कारण है अपना परमात्मस्वरूप जिसे ज्ञात है, उसका वह कर्म नष्ट हो जाता है ॥४३॥

इससे सिद्ध हुआ कि कर्म भी अविद्यारूप ही है इसलिए ज्यों ज्यों ज्ञानप्रकर्ष होता है त्यों त्यों कर्म का क्षय होता है, ऐसा कहते हैं।

ज्यों ज्यों पण्डित का ज्ञान बढ़ता है त्यों त्यों उसका बन्धन में डालनेवाला कर्म बराबर क्षीण होता है ॥४४॥

केवल ज्ञान से वस्तु (कर्म) का नाश कैसे संभव है ऐसी शंका उठने पर कर्म वस्तु ही नहीं है, यों परिहार करते हैं।

जिसका अस्तित्व ही नहीं है, उसके नाश में कौन-सी कठिनाई है ? बन्ध परमार्थ के सिवा कुछ है ही नहीं अर्थात् अज्ञानवश परमार्थ में वह कल्पित है। जब तक पाण्डित्य प्राप्त न हो जाय तभी तक माया संसाररूप बन्धन का भय उत्पन्न करती है, वास्तव में पाण्डित्य भी वही है, जिससे फिर भवसागर में पतन नहीं होता। शुष्क तर्कादि पाण्डित्य का यहाँपर कुछ भी उपयोग नहीं है। इसलिये निरन्तर निर्मल ज्ञान से परिपूर्ण पाण्डित्य के लिए श्रवण, मनन आदि प्रयत्न करना चाहिये। इसके सिवा दूसरे उपाय से आपका संसारभय कदापि शान्त नहीं हो सकता ॥४५,४६॥

एक सौ बयालीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तैंतालीसवाँ सर्ग

पाण्डित्य की प्रशंसा तथा चिन्मात्रदर्शन ही पाण्डित्य है यह कथन-पूर्वक चित् ही जगत् है, इसका युक्ति द्वारा पुनः समर्थन।

श्रीमुनि ने कहा : हे व्याध, कमलों को खिलाने के निमित्त जैसे सूर्य आकाश का अलंकार है वैसे ही सम्पूर्ण धर्मों के निर्णय में, धर्म से अविरुद्ध लौकिक कर्मों के निर्णय में तथा धर्म और सत्कर्मों के फलभूत ऐहिक और पारलौकिक सुखों के तारतम्य के निरूपण में सन्देह रूपी ग्रन्थि को सुलझाकर श्रोता की बुद्धि को विकसित करनेवाला पण्डित (ज्ञानी) ही सभा का अलंकार है ॥१॥

सकल पारलौकिक सुख भी पण्डित को प्राप्त होनेवाले आत्मसुखरूपी महासागर में जलकण से भी लघु है, ऐसा कहते हैं।

गन्तव्य परम धामरूपी ब्रह्म को जाननेवाले आत्मज्ञानी पण्डित जिस परम गति को प्राप्त होते हैं, उसके सामने इन्द्र का महान् ऐश्वर्य जीर्ण-शीर्ण पत्ते के टुकड़े की तरह नगण्य है। पाताल में, भूतल में और स्वर्ग में जो कुछ सुख अथवा ऐश्वर्य मैं देखता हुँ, वह सब मिलकर भी पाण्डित्य की बराबरी नहीं कर सकता। सत्-शास्त्र के विचार से उत्पन्न हुए ज्ञान से परिपूर्ण पण्डित की परमार्थ वस्तुरूप दृष्टि स्वात्मा में वैसे ही आह्लाद का अनुभव करती है जैसे कि शरत् काल की पूर्णिमा के अखण्ड निर्मल मण्डलवाले चन्द्रमा में, जिससे बादलों का कोई सम्पर्क न हो, लोगों की दृष्टि आह्लादित होती है। जैसे ज्ञान होनेपर माला में कल्पित सर्पता तुरन्त शान्त हो जाती है वैसे ही विद्वान् की दृष्टि में यह अज्ञानरूप सर्गादि दृश्य क्षणभर में ब्रह्म बन जाता है ॥२-५॥

तो क्या देहसर्गादि-शान्ति ब्रह्म स्वभाव से अतिरिक्त उत्पन्न होती है, इस पर नहीं ऐसा कहते हैं।

ब्रह्म स्वतत्त्वज्ञान से ही ब्रह्मरूप स्वभाव में जो स्थित है उसी की स्वयं उसी ने स्वस्वभावरूप देह-सर्ग-क्षयादि संज्ञाएँ की हैं, यह परमार्थ है ॥६॥

ऐसा क्यों होता है ? इस शंकापर चूँकि परिशिष्ट ब्रह्म दृश्यक्षय नामका धर्मकर्म से शून्य है, ऐसा कहते हैं।

जिसमें यह सृष्टि नाममात्र को भी नहीं है उसमें सृष्टि के धर्म, कर्म और उनके बोधक पद, वाक्य आदिरूप अक्षरमालिका कहाँ से होगी, अर्थात् नहीं है ॥७॥

दृश्य का न तो भूतकाल में अस्तित्व था, न वर्तमान में है और न भविष्य में रहेगा, यों त्रैकालिक असत्ता होने से ही उसकी सकारणकता का निरास हो गया, ऐसा कहते हैं।

पृथिवी आदि के अस्तित्व का संभव होता तो उसका कारण भी होता, जहाँपर पृथिवी आदि का अस्तित्व ही नहीं है, वहाँपर उसका कारण क्या होगा ? ॥८॥ ब्रह्म का जो प्रतिभास (झलक) है, वह यह जगत् कहलाता है। इसी से समझ लीजिये कि वे पृथिवी आदि कहाँ हैं और इनका कारण कहाँ ? क्या कहीं प्रातिभासिक घट के लिए दण्ड, चक्र आदि कारणकलाप की आवश्यकता पड़ती है ? यह भाव है ॥९॥ जैसे स्वप्न देखनेवाले दिखाई देनेवाले स्वप्नलोक के मनुष्यों के पिता आदि कारण काल्पनिक हैं वास्तविक नहीं है, वैसे ही जाग्रतरूप स्वप्न में भी दृश्य लोगों के पिता आदि

कारण काल्पनिक ही हैं, वास्तविक नहीं हैं ॥१०॥

पिता आदि की तरह उनके कर्म आदि भी अवास्तविक ही हैं, ऐसा कहते हैं।

जैसे स्वप्नलोक के पुरुषों के पुरुषादि रूप में उत्पन्न होने में निमित्तभूत प्राक्तन कर्म नहीं हैं, वैसे ही यहाँ भासित हो रहे जाग्रतरूप स्वप्न के मनुष्यों के भी प्राक्तन कर्म नहीं हैं। जीव जैसे सृष्टियों में सकल स्वप्नपदार्थों को परस्पर देखता है, वैसे ही अपनी वासना के अनुसार मिथ्याभूत सकल व्यवहार में प्राक्तन कर्म के अस्तित्व को, जो सर्वथा मिथ्या है, अपनी वासना के अनुसार ही देखता है। जीव भूत, भुवन आदि की सृष्टि से लेकर देहसिद्धि पर्यन्त संसार में स्वप्नपदार्थों की तरह ही अपने संकल्प के अनुसार परस्पर प्रतीत होते हैं, इसलिए स्वप्न पदार्थों की तरह संवेदनांश में विद्यमान भी वे अन्य अंश में अविद्यमान ही हैं। भावना कर रहे पुरुष को सब पदार्थ अपने संकल्प के अनुसार अपनी आत्मा में प्रतीत होते हैं और जाग्रत के समान स्वप्न में भी परस्पर अर्थक्रिया में समर्थ होते हैं। जैसे स्वप्न में बाह्य पदार्थों के अभाव में भी आपकी भोजन आदि की संकल्प संवित् ही पाक आदि संवित् के क्रम से मुँह में कौर डालने के रूप से तृप्तिरूप फल प्राप्त कराती है वैसे ही जाग्रत-संवित् भी है। स्वप्न अस्फुट है लोकनिष्ठता से जाग्रत स्फुट है, यही जाग्रत और स्वप्न में अन्तर है। स्वभाव में स्थित भास्वर शुद्ध संवित् स्फुट हो चाहे अस्फुट, जो भी होकर स्वयं भासित होती है उसके उस भाव के जाग्रत और स्वप्न दो नाम लोक में रखे गये हैं। भूत, भुवन आदि की सृष्टि से लेकर देहसिद्धि पर्यन्त जिस वेदन का जैसे भान होता है वह मोक्षपर्यन्त प्रवाहरूप से जैसा का तैसा रहता है। वही यह सर्ग कहलाता है। जाग्रत् और स्वप्न में प्रसिद्ध की और अमूर्त होने के कारण अप्रतिघातरूप उनकी संवित् की वैसे ही भिन्नता नहीं है, जैसे कि प्रकाश और आलोककी भिन्नता नहीं है, जैसे अग्नि और उष्णता की भिन्नता नहीं है और जैसे तरंग के साथ द्रव और जलकी भिन्नता नहीं है अथवा जैसे शीतलता और वायु की भिन्नता नहीं है। 'नेति नेति' इस श्रुति द्वारा निषिद्धयमान होने के कारण निषेधार्थक नञ् (न) से और उसके अर्थ प्रतियोगिता से युक्त असद्रूप सम्पूर्ण जगज्जाल अधिष्ठानभूत चित्स्वभावतावश अमूर्त चिन्मय होने के कारण प्रतिघातसह शान्त सन्मय ही है। ब्रह्म जगद्रूप से उत्पन्न होकर और प्रलयरूप से मरकर दृश्यानुभवरूपी होने से सर्वात्म व्यवहार में दृश्यानुभवरूप है, किन्तु परमार्थ में अजर, अमर, शान्त, एक चिन्मात्र ही स्थित है ॥११-२१॥ जैसे पुरुष ने नगरी के अन्दर मिट्टी, घड़ा आदि पदार्थों की कार्य-कारणता की कल्पना कर रक्खी है वैसे तो ब्रह्मा ने आकाश, वायु आदि पदार्थों की दृश्य में जो कल्पना कर रक्खी है वह वैसे ही रहे। यह शास्त्र नियमभंग के लिए नहीं है, किन्तु उसकी सत्यता, भिन्नता आदि के विनाश के लिए है, यह भाव है ॥२२॥

जगत् की सत्यता का भंग होनेपर स्वाप्न वस्तुओं की प्रकृति के समान जगत् का चिन्मात्र में ही पर्यवसान होता है, ऐसा कहते हैं।

जैसे तुम्हारे हृदय में स्वप्ननगरी है वैसे ही ब्रह्मा के हृदय में यह सृष्टि है जैसे स्वाप्नी कार्यकारणता मैंने तुमसे कही है वैसी ही कार्यकारणता उसमें है ॥२३॥ जैसे तुम अपने स्वप्ननगर की कल्पना करते हो वैसे ही ब्रह्म ने सृष्टि के आरम्भ में कार्यकारणता का संकल्प किया था। संकल्पमय इस सृष्टि में वैसी कार्यकारणता आज भी स्थित है ॥२४॥

तुमने भी अपने संकल्पनगर में स्वेच्छानुसार कार्यकारणरूपिणी व्यवस्था कर रक्खी है, यों सिद्धवत् मानकर कहते हैं।

तुमने अपने स्वप्ननगर में जैसी कार्यकारणरूपिणी व्यवस्था स्थापित कर रक्खी है सृष्टिरूपी स्वप्ननगर में संकल्परूपिणी चिति ने भी वैसी ही कार्यकारणरूपिणी व्यवस्था बाँध रक्खी है ॥२५॥ संकल्पनगर और उसकी अन्दरूनी व्यवस्था केवल चिदाकाश का विकास ही तो है, यह बात अपने अनुभव से सिद्ध है। यह परिदृश्यमान सृष्टि भी हिरण्यगर्भ के संकल्प से उद्‌भूत होने के कारण संकल्प–सृष्टि के अन्तर्भूत ही श्रुति, पुराण आदि में कही जाती है, उससे पृथक् नहीं है ॥२६॥ हृदय में स्थित संकल्प–नगर में चिदादित्य की (चित्सूर्य की) स्वप्रकाशतारूप अवस्था सदैव रहती है वही यह कार्यकारणता सृष्टि के पदार्थों में उत्पन्न स्वभावसिद्ध है ॥२७॥ 'स भूरिति व्याहरत्' (उसने 'भू' उच्चारण किया और भुवन की सृष्टि की) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार हिरण्यगर्भ के (ब्रह्मा के) हृदय चैतन्य में सृष्टि के आरंभ में ही वर्तमान है। उस प्रकार से स्थित उसी की स्वभाव (पृथिवी का गन्ध तथा काठिन्य स्वभाव, जलका द्रवत्व स्वभाव, तेज का उष्ण और प्रकाश स्वभाव, वायु का गमन और सूक्ष्मता स्वभाव इत्यादि रूप से), काल (अतीत, अनागत आदि काल के रूप से) तथा देश आदि से (पूर्व, पश्चिम आदि देशों के रूप से) तत्–तत् संज्ञाएँ की गई हैं ॥२८॥

इसी प्रकार गऊ घड़ा आदि सबमें समझना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

जो चिदाकाश की शून्यता झटपट जिस वस्तुरूप में भासित होती है उस वस्तुता से वैसे ही कार्यकारणभाव का आश्रय किया गया है। जैसे कि गऊ दूध का कारण है और घड़ा दूध के धारण का कारण है ॥२९॥

जिसका मन से ध्यान करता है, उसका वाणी से उच्चारण करता है, इस श्रुति के अनुसार पहले रूपकल्पना की गई, उसके पश्चात् नाम की कल्पना हुई, ऐसा कहते हैं।

संकल्परूपी सृष्टि–सा मालूम पड़नेवाले इस एकमात्र चित्‌चमत्कार में पहले पदार्थों की सृष्टि होती है उसके पश्चात् सृष्टि आदि नाम पड़ते हैं ॥३०॥ हे सौम्य, जैसे वायु में स्थित स्पन्दसत्ता का वायु से अतिरिक्त स्वरूप नहीं है उससे अभिन्न ही है वैसे ही चिदाकाश में स्थित जो त्रिजगत्‌रूप शून्यता है उसका चिदाकाशसे पृथक स्वरूप नहीं है, वह चिदाकाश से अभिन्न ही है ॥३१॥

इससे सिद्ध हुआ कि चिद्‌घनताका ही भ्रान्त लोगों की दृष्टि में जगत् के रूप में स्फुरण होता है, ऐसा कहते हैं।

जैसे आकाश में घना अवकाश ही नीलरूप से स्थित है वैसे ही चित् में चैतन्य की घनता ही सर्गरूप से स्थित है ॥३२॥

कब ब्रह्म में सृष्टि का अभाव ज्ञात होता है ? ऐसा प्रश्न उठनेपर कहते हैं।

जब कठिनाई के साथ साधनों के अभ्यास से देशकृत, कालकृत और वस्तुकृत–त्रिविध परिच्छेद से शून्य चिन्मात्र का स्वभावतः ज्ञान होता है तब जाकर इस सृष्टि में विसर्गता (सृष्टि का अभाव) प्रतीत होती है जैसे कि रज्जुसर्प का यह सर्प नहीं है, रज्जु है, यों ज्ञान होनेपर फिर रज्जुका रूप ज्ञात होता है ॥३३॥

ऐहलौकिक सृष्टि के समान पारलौकिक सृष्टि भी ऐसी ही है, ऐसा कहते हैं।

वह मरकर स्वप्न की तरह सम्पूर्ण जगत् को पृथक् देखता है, उसके बाद होनेवाली पारलौकिक अन्य देह का वह सारा जगत् अमूर्त चिदाकाश ही है ॥३४॥ व्याध ने कहा : हे मुनिवर, इस देह के छूट जाने के बाद अन्य देह कैसे उत्पन्न होती है ? उसका कौन उपादान कारण है और कौन निमित्त और सहकारी कारण है ? ॥३५॥

जो लोग यह मानते हैं कि धर्माधर्म ही स्वभोगार्थ करते हैं, उनके मत में कर्मनिर्मित की ज्ञान से निवृत्ति न होने के कारण मोक्ष के अभाव की आपत्ति प्राप्त होगी, ऐसा कहता है।

यदि धर्म और अधर्म देह आदि का निर्माण करते हैं। देहादिभाव से स्थित इसका नित्य मोक्षनामकरूप कर्म करते हैं यह कथन असमंजस है, क्योंकि जो कर्म निर्मित होता है उसका पिण्ड अनित्यता नहीं छोड़ती, यह भाव है ॥३६॥

संस्काररूप से विहित और निषिद्ध के आचरण धर्म और अधर्म कहलाते हैं; संस्कार-पुँज ही मन है, चिदाभास से व्याप्त मन ही जीव है और जीव प्राणादि चेष्टाप्रधान होने से कर्मात्मा है और वही अपनी वासना के अनुसार देह आदि का संकल्प करता हुआ जीवात्मा सा बनता है, इसलिए ये चित् के प्रतिभास विशेष ही हैं, इस आशय से दूसरे प्रश्न का उत्तर मुनि कहते हैं।

धर्म-अधर्म, वासना, कर्म, आत्मा, जीव यह सब पर्यायवाची शब्दों की राशि की कल्पना है, किन्तु अर्थभेद इनमें तनिक भी नहीं है ॥३७॥

चिदाकाश ने कोई दृश्यदेहादिप्रपंच भी है यों चित्त द्वारा कल्पित चिदाभासरूपसे अपने चिदाकाश स्वरूप में स्वयं ये धर्म, अधर्म आदि, इनके फल सुख, दुःख आदि नाम रखे हैं ॥३८॥

जीवात्मा जैसे स्वप्न और मनोरथ में पहले से अविद्यमान देह को विद्यमान-सा जानता है वैसे ही मरकर भी अविद्यमान आकाशरूप देह को चित् होने से स्वयं चिदाकाश में विद्यमान-सा जानता है ॥३९॥

मरने के बाद का समय और देह आदि की कल्पना स्वप्न के समान ही है, ऐसा कहते हैं।

मरे हुए को परलोकबुद्धि स्वप्न के समान अपने-आप भासित होती है मरकर वह चिर कालतक परलोक को देखता है, किन्तु स्वप्न के समान उसमें सत्यता नहीं है ॥४०॥

पिता आदि अथवा ईश्वर मरे हुए का पुनः निर्माण करते हैं, इस युक्ति का खण्डन करते हैं।

यदि कोई दूसरा-पिता अथवा ईश्वर-मृत की सृष्टि करता है, तो वही यह है ऐसी प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी ? क्योंकि 'तत्सृट्वा तदेवानुप्राविशत्' (उसकी सृष्टिकर उसी में प्रवेश कर गया) इस श्रुति से निर्माणकर्ता के ही प्रवेश का श्रवण है। यदि कहो कि इष्टापत्ति है, तो उसकी स्तनपान आदि प्रवृत्ति के अनुरूप स्मृति कैसे होगी ? पूर्वसिद्ध आत्मा का ही अवलम्बन करके उत्पन्न हुए में जो चेतनत्व प्रसिद्ध है वह भी शून्य ही है। इससे सिद्ध हुआ कि मृत्यु होने के बाद फिर उत्पन्न नहीं होता, किन्तु केवल चित्त से ही यहाँपर यह मैं इस प्रकार उत्पन्न हुआ हूँ यों जन्मादि विकारशून्य आत्मा में कल्पना द्वारा जानता है ॥४१,४२॥

उसी भाव की अभ्यासवश जब स्पष्ट प्रतीति होती है तब लोक और वेद में उसीमें जन्मव्यवहार होता है, लेकिन वह वास्तविक नहीं है, ऐसा कहते हैं।

अभ्यस्त स्वभाव का ही चिरकालतक अनुभव कर रहा जीव उसमें दृढ़ प्रतीति कर लेता है, अतएव उसे सर्वथा सत्य ही समझता है ॥४३॥ आकाशात्मा उसी में आकाशरूप स्वप्नतुल्य दृश्य का अभ्यास करता हुआ फिर स्मरण की कल्पना करता है, पुनः जन्म की और पुनः जगत् की कल्पना करता है। इस तरह चिदाकाश में अलीक (असत्य) परम्परा को देख रहा जीव व्यष्टिभाव को प्राप्त होकर अलीक जगज्जाल को जाग्रत और स्वप्न में देखता है, अपनी सन्निधिमात्र से स्व में अध्यस्त कार्यकारणों को विषयों में प्रवृत्त कराता है एवं सुषुप्ति,प्रलय और मोक्ष में जगत् का भक्षण करता है। लेकिन वास्तव में न तो कुछ किसी का भक्षणीय है और न कोई भक्षक ही है ॥४४,४५॥ इस प्रकार कोटि कोटि जगत् हैं। यदि उनका रहस्य तत्त्व जान लिया जाय तो वे सब ब्रह्मरूप ही हैं अन्यथा (तत्त्व ज्ञात न हो तो) वे केवल एकमात्र दृश्य ही हैं ॥४६॥ उक्त कोटि–कोटि जगतों द्वारा किसी का कुछ भी आवृत नहीं हुआ। वास्तव में वे हैं ही नहीं। उन जगतों में प्रत्येक जीव यही केवल एक जगत् है अन्य जगत् नहीं है, ऐसा जानता है। उक्त कोटि–कोटि जगतों के पृथिवी आदि पंचभूत और जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज भेद से चार प्रकार के प्राणी तत्–तत् जीवों के अभीष्ट जगत् में वैसे ही (उस जगत् के अनुरूप ही) हैं उसके अनुकूल नहीं हैं। वे सबके सब असत्य व्यवहार दृष्टि से सत्य है, सत्य परमार्थ दृष्टि से अजन्मा ब्रह्मरूप ही हैं ॥४७,४८॥

इसलिए ज्ञानी और अज्ञानी की दृष्टि में सत्य और असत्य परस्पर विपरीत है यानी जिसको ज्ञानी सत्य समझता है उसे अज्ञानी असत्य और जिसे ज्ञानी असत्य समझता है उसे ज्ञानी सत्य, ऐसा कहते हैं।

तत्त्वज्ञाता की दृष्टि से जो (पर ब्रह्मरूप वस्तु) सत्य है वह अज्ञ की दृष्टि में कभी निवृत्त न होनेवाला असत्य है और जो ज्ञानी की दृष्टि में असत् है वह अज्ञानी की दृष्टि में अतिस्पष्टरूप से सत्य है ॥४९॥

अथवा सत्य और असत्य दोनों ही परमार्थ सत्य चित् में भानरूप होने से सब कुछ सत्य ही है, अतः ज्ञानी और अज्ञानी में परस्पर अविपरीतता ही है, ऐसा कहते हैं।

चूँकि परमार्थ सत्यचिति का जो जो भान जैसा–जैसा होता है वह वह सब सत्य है, इसलिए ये सब भूत परस्पर सत्य ही हैं ॥५०॥

अथवा जिसके प्रति जब जिस जगत् का भान होता है, उसके प्रति तब वह सत्य है, यह सत्यता की व्यवस्था है, ऐसा कहते हैं।

जिस–जिस जगत् का जिस–जिस संवित् के प्रति भान होता है वह वह उस संवित् के प्रति नित्य सत्य है, क्योंकि जगद्रूप सत्य है अथवा असत्य है इस बात का अपनी सत्य संवित् से ही निर्णय करना चाहिये। वह भगवती संवित् 'सत्य है' ऐसा निर्णय करती है, तो दूसरा कौन उसके निर्णय को विपरीत सिद्ध कर सकता है, क्योंकि उसका निर्णय अमोघ है। यदि यह सब संविद्–मात्र से निर्णय है तो जहाँ जैसा संवित् को भासता है, वैसा ही है। संवेदनानुसार प्रतीत हुई वस्तुराशि में क्या भेद है क्या अभेद है ? क्या द्वित्व और एकत्व की ही कथा है ? यह ज्ञेय ज्ञानरूप ही है यों ज्ञान और ज्ञेय का अभेदज्ञान होने से यह दृश्यसमूह ज्ञान ही हो जाता है, इसीसे सकल द्वैत की निवृत्ति होने के कारण चिद्–अद्वैत सिद्ध हुआ, यह भाव है।

शंका : ज्ञान के अपलाप द्वारा ज्ञान ही ज्ञेय रूप हो यों ज्ञेयमात्र का ही परिशेष क्यों नहीं मानते हो ?

समाधान – हाँ ठीक है, ज्ञान ही ज्ञेय है यों दृश्यका परिशेष तभी सम्भव है जब कि ज्ञप्ति (ज्ञान) असत्य हो। और यदि ज्ञान को असत्य मानो तो ज्ञप्तिरहित ज्ञेय की सिद्धि ही नहीं होगी, यह भाव है ॥५१-५३॥ इसलिए परिशेष रहने से यदि ज्ञान ही ज्ञेय है तो यह प्रपंच ज्ञान से अतिरिक्त स्थित नहीं है। इस प्रकार सकल वस्तुओं के ज्ञानरूप सिद्ध होनेपर यह द्रष्टा आत्मा के अज्ञान से ही अपने ज्ञप्तिस्वभाव से च्युत होता है, वस्तुतः नहीं ॥५४॥ इसलिए जो ज्ञान है वही ज्ञेय है, क्योंकि ज्ञान से अतिरिक्त ज्ञेय का संभव नहीं है, अतः ज्ञान ज्ञेय जगदात्मता का अपने से ही विस्तार करता है ॥५५॥ जिनकी पृथक् सत्ता नहीं है ज्ञानरूप से ही जो सत्तावाले हैं ऐसे सर्गों को देख रहे तत्त्वज्ञानी के रूपादि का ग्रहण कर रही चक्षु आदि सृष्टियाँ और उनसे मिल रही रूपादि सृष्टियाँ भी ज्ञान से अतिरिक्त कुछ नहीं हैं, यही तत्त्व है, किन्तु मूर्खजनों को ज्ञात जो सृष्टियाँ हैं, उनके विषय में मैं कुछ नहीं जानता, क्योंकि उनका दृष्टिकोण ही दूसरा है। तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में ज्ञानवश घट, पट आदि सकल पदार्थ एक चिन्मात्र चिदाकाश ही हैं, उससे अतिरिक्त उनका कुछ अस्तित्व ही नहीं है, किन्तु अज्ञ जीवों की दृष्टि में द्वैतज्ञानवश चिन्मात्र चिदाकाश ही सहस्रों रूप धारण करता है ॥५६,५७॥ देखिये न, एक चिन्मात्र ही स्वप्न में लाखों लाखों रूप बनकर रहता है स्वप्न से सुषुप्ति में जाकर वह लाखों रूपवाला एक चिन्मात्र हो जाता है। चिदाकाश में जो स्वप्न संवित् है वही जगत् कहलाता है, चिदाकाश के विषय में जो सुषुप्ति है वही प्रलय है, इसलिए यही न्याय उत्तम है। एक ही संवित् भोग्यरूपसे विविधता तथा भोक्ता के रूप से लाखों मनुष्यों के रूप में वैसे ही प्रकट होती है जैसे कि स्वप्न और संकल्प में एक ही संवित् पदार्थों के रूप में और शून्यता के रूप में व्यक्त होती है। वैसे ही अमूर्त होने के कारण प्रतिघात करने योग्य यह सब एकमात्र शुद्ध ज्ञान ही है, जहाँपर जैसा भान हो जाता है वहाँपर वैसा होता है। एक ही संवित् सृष्टि के आदि में अग्नि, जल, आकाश आदि होती है, सृष्टि की सिद्धि के लिए वही स्वप्न और संकल्प की तरह पृथिवी आदि होती है ॥५८-६२॥ चूँकि संवित्, जो आकाशरूप ही है, पृथिवी आदि नामवाली प्रतीत होती है, इसलिए यह संविद्रूप ही 'जगत्' रूप से भासता है ॥६३॥ संवित् विनाशी मूर्त पदार्थ की तरह भासती है और अविनाशी अमूर्त की तरह भी वही भासती है। वस्तुतः तो नाश भी नहीं है, क्योंकि वह प्रतिघा (नाश) भी अन्त में निवृत्त हो जाती है, केवल संवित् का ही परिशेष रहता है ॥६४॥ हे व्याध, तुम मन से पूर्व दिशा और पश्चिम दिशा को चिरकाल तक जाते हो, वहाँपर दृष्ट, श्रुत और अनुमित पदार्थों का लाभ करते हुए अपने को जानते हो, वहाँ संवित्रूप तुम्हारा नाश है ही नहीं, इससे सिद्ध हुआ कि संवित् कहींपर भी विनाशिनी है ही नहीं ॥६५॥

यदि शंका उठे कि बहुत से जीवचित् के संकल्प मोघ (निष्फल) देखे जाते हैं, वही संवित् का विनाश ठहरा। इससे संवित् की विनाशिता हो गई, तो इसपर कहते हैं।

दृष्ट (प्रमाण से सिद्ध) और संकल्पित वस्तु का जो पुरुष निरन्तर चिरकालतक अभ्यास करता है वह उसे अवश्य प्राप्त करता है यदि थककर मध्य में ही उससे विरत न हो जाय। इससे सिद्ध हुआ कि संकल्प की मोघता निर्बलतावश ही है। कमजोर संकल्प कार्यक्षम नहीं होता इससे चित् में विनाशित्व

नहीं है, चित् में विनाशिता मानने से सर्वत्र विनाशिता का प्रसंग प्राप्त होगा ॥६६॥

अदृढ़ (निर्बल) संकल्प अदृढ़ ही मनोरथमय दिगन्तगमन और वहाँ के पदार्थों का दर्शन आदि करता है और दृढ़ संकल्प दृढ़ मनोरथमय दिगन्तगमन और वहाँ के पदार्थों का दर्शन करता है, इससे अदृढ़ संकल्प भी मोघ नहीं है, ऐसा कहते हैं।

तुम मन से पूर्व और पश्चिम दिशा को जाते हो वहाँपर वहाँ के तरह तरह के पदार्थों का चिरकालतक अनुभव करता हुआ जो संकल्पकर्ता है वह संकल्पित दिशा में गमन तथा वहाँ के पदार्थों के अभेद को अपने संकल्प के अनुसार प्राप्त होता है, अन्य पुरुष तो संकल्प का त्यागकर अन्य दिशा को मन से भी नहीं जाता। इसी अन्तर से वहाँपर चित् अविनाशी है। संकल्पित अमुक पदार्थ मैं होऊँ इस प्रकार संकल्प से अविचल निश्चयवाले पुरुष का संकल्पित अभीष्ट पदार्थ पहले प्रातिभासिक फिर संकल्प की दृढ़ता होनेपर व्यावहारिक दोनों ही होता है यह बात ऐन्दवोपाख्यान में देखी गई है। दूसरे पुरुष का जो कि संकल्प नहीं करता है भले ही वह स्वात्मा में अथवा अन्य विषय में अडिग निश्चयवाला हो, उसके दोनों ही प्रातिभासिक और व्यावहारिक नष्ट हो जाते हैं यानी नहीं दिखाई देते। इसी प्रकार मैं दक्षिण देश उत्तर दिशा को जाऊँ यों अडिग निश्चयवाले संकल्पयिता पुरुष के मानसिक और शारीरिक दोनों ही अर्थ प्राप्त होते हैं, लेकिन अन्य के असंकल्पयिता के भले ही वह अडिग निश्चयवाला हो, दोनों का पूर्व पश्चिम दिग्गमन का नाश हो जाता है। मैं आकाश में नगर बनूँ, और भूमि में मृग होऊँ इस तरह के अविचल निश्चयवाले के दोनों संकल्प सिद्ध हो जाते हैं और इसके अतिरिक्त दोनों का नाश हो जाता है, क्योंकि उन दोनों का जगत् भिन्न भिन्न है। प्रबोधवश सब कुछ एक अखण्ड चिन्मात्र आत्माकाश ही है अज्ञानवश अनेक (द्वैत) ज्ञान से एकमात्र अखण्ड चैतन्य अज्ञानी जीवों की दृष्टि में अनन्त हो जाता है ॥६७–७१॥

यदि चित् ही शरीर आदि के आकार से विद्यमान है तो शरीर के विनाशी या साकार होने से चित् में भी विनाशित्व अथवा साकारता की प्राप्ति हुई, ऐसी शंका उठनेपर कहते हैं।

शरीर चाहे विनाशी या साकार हो चाहे अविनाशी या निराकार हो यह स्वप्नात्मक संसार इस लोक में और परलोक में जीव का ही है चित् का नहीं है। भाव यह है कि चिद्रूप से शरीर अविनाशी ही हो अथवा अन्यरूप से विनाशी हो इससे चित् में कोई भी आँच नहीं आ सकती, कारण कि मिथ्या पदार्थ के गुण–दोषों से अधिष्ठान में कुछ भी दूषण नहीं आ सकता ॥७२॥

यदि किसी को यह शंका उठे कि शरीर का नाश होनेपर उसके साथ जीव नष्ट नहीं हुआ यह कैसे मालूम होता है, इस पर प्रत्यक्ष और शब्द प्रमाण से यह ज्ञात होता है, ऐसा कहते हैं।

म्लेच्छ आदि देशों में मरे हुए जो लोग पिशाच की देह से पिशाच यहाँ आये उनका यह सब भूतविद्या के विशेषज्ञ प्रत्यक्ष देखते हैं वे भी अपने पूर्वजन्म की घर–गृहस्थी, व्यापार आदि का स्मरण कर स्वयं कहते हैं इससे भी यह सब विषय प्रत्यक्ष अनुभूत होता है ॥७३॥ जो म्लेच्छ देशों में मरे और जलकर राख हो गये वे यहाँ आकर अपना वृत्तान्त कहकर फिर चले जाते हैं, वे अविनाशी ही हैं इसमें कहना ही क्या है ? ॥७४॥

पिशाच को देखना उसके साथ बातचीत करना यह सब जीवित भूतवैद्य का ही धर्म है आगमन या

संभाषण मरे हुए का धर्म नहीं है इस तरह की चार्वाक-कल्पना का खण्डन करते हैं।

पिशाचदर्शन, उसके साथ संभाषण आदि यदि जीवित भूतवैद्य का धर्म है तो जो वस्तुतः मरा नहीं पर जिसके मरने का असत्य समाचार प्राप्त हो गया उसके विषय में इस प्रकार का दर्शन, संभाषण आदि व्यवहार क्यों नहीं होता ? जीवधर्म वह भ्रम यदि सत्य है तो मृतधर्म वह संभाषण आदि भ्रम क्यों सत्य नहीं है ? पदार्थ की सिद्धि में अनुभव को ही श्रेष्ठ प्रमाण माननेवालों का जीवित में जैसा अनुभव है, मृत में भी वह समान ही है। इस प्रकार दोनों न्यायों के समान होने पर दोनों में कौन-सा अन्तर है ? इस तरह अनुभव को यदि पदार्थसिद्धि में प्रमाण मानो तो जाग्रत और स्वप्न के अनुभव जब तक बाध न हो समानरूप से अर्थसाधक हैं प्रबोध द्वारा केवल अनुभव ही अवशिष्ट रहता है इस प्रकार स्वप्न के समान जाग्रद्-भान है ऐसी जो पहले प्रतिज्ञा की गई है वह अक्षुण्ण है। इससे विद्वानों के अनुभवों की और वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् (विकार वाचारम्भण नाम-मात्र है मृत्तिका ही सत्य है) इत्यादि शास्त्रों की एकवाक्यता है, परस्पर संवाद से ऐकमत्य है। जैसे चन्द्रमण्डल को देख रहे बहुत से लोगों की दृष्टियाँ आपस में एक दूसरे के दर्शन में बाधा नहीं डालती यानी परस्पर प्रतिघातशून्य हैं वैसे ही किसी की दृष्टि में सत् और किसी की दृष्टि में असत्-इस प्रकार का यह जगत् भी वैसे ही परस्पर प्रतिघातशून्य है। चिदाकाश में सन्मात्र के ही अंशों का अनुगमन करनेवाला निर्मल अनुभवमात्ररूप एकमात्र भावस्वरूप अर्थरहित होनेपर भी सर्वार्थरूप सकल जगत् अविनाशी शान्त अद्वितीय चिन्मात्ररूप ही है। निष्क्रिय निर्विकार वह आत्मा में अपने रूपसे ही स्थित है। अचल संवित् ही जैसे जैसे मन को स्थिर करके रहती है वैसे वैसे ही शीघ्र हो जाती है क्या असत् है अथवा क्या सत् है ? विविध शरीर, कर्म, दुःख और सुख जो कि यथास्थित हैं आयें, जायें किसका कौन विषय है और किसका कौन ग्रहण है ? इस प्रकार यह सत् हो अथवा अन्यथा हो चाहे नहीं हुआ हो चाहे हो इस विषय में कौनसा आदर है ? तुच्छ फल में अवश्य फल देनेवाले यत्न का त्याग करो। तुम्हें बोध हो चुका है अब भटकने से क्या लाभ है ? ॥७५-८३॥

एक सौ तैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चौवालीसवाँ सर्ग

जैसे चित् का ही जगत्‌रूप से भान होता है और जैसे जगत् ही चित् है,
इस विषय में युक्तियाँ तथा ब्रह्म सर्वशक्तिमान है, इसका समर्थन।

सम्पूर्ण दृश्य जब चिन्मात्र ही है तब बन्धमोक्ष चिन्ता से भी पिण्ड छूटा, ऐसा कहते हैं।

स्वप्न अनुभवरूप सकल भाव और अभाव पदार्थों के सर्वथा नित्य अविनाशी चिद्रूप होनेपर कौन बद्ध है और कौन मुक्त होता है ? जैसे आकाश में दृष्टियों की किरणों का ही उड़ते हुए हंसों, मोतियों और केशों के गोलों के रूप में स्फुरण होता है वैसे ही यह जगत् निरन्तर प्रतिक्षण के परिणाम से बदलता जाता है, अधिष्ठान-विवेक के अज्ञान से स्थिर मालूम पड़ता है। जैसे अतिप्रसिद्ध नगर की बनावट चिरकाल में दूसरी बनावट को (दूसरी रूपरेखा को) प्राप्त होती है वैसे ही जगत् भी जल के आवर्त

विवर्त के समान अन्य रूपता को प्राप्त होता है। जिसी समय भूमि, जल, आकाश, शैल आदि यह जगत् क्षणभर में असत् होता है उसी क्षण, लव, त्रुटि आदि अवयवों के वृत्तान्तों से विद्वानों ने युग, कल्प आदि संज्ञाएँ की हैं ॥१–४॥ यह सम्पूर्ण जगत् असत् होता हुआ भी स्वप्न के समान अनुभव में आता है। यदि जगत् नहीं है ऐसा जगत् का अपलाप कीजिये तो सम्पूर्ण चित् ही इस तरह विकास को प्राप्त होता है ॥५॥ हम लोगों का प्रसिद्ध यह जगत् जैसा है वैसे ही आकाश में हजारों लाखों जगत् अन्य मनुष्यों के हैं ऐसी आप संभावना कीजिये, किन्तु उनको परस्पर का अनुभव नहीं होता। तालाब में रहनेवाले, सागर में रहनेवाले और कुएँ में रहनेवाले मेढकों का अपने अपने निवासभूत तालाब आदि में अन्योन्य का अनुभव देखा गया है वे अपने आश्रय से अन्य दृश्यादि नियति का आपस में कहीं भी अनुभव नहीं करते हैं ॥६,७॥ जैसे एक नगर में सैकड़ों स्वप्ननगरों का भान होता है और नहीं भी होता वैसे ही आकाश में जगतों का भान होता है और नहीं भी होता। किन्हीं के (अज्ञानियों के) अनुभव में आने से वे हैं और किन्हीं के (ज्ञानियों के) अनुभव में न आने से नहीं है। जैसे सैकड़ों लोगों के स्वप्न–नगर एक घर में विकसित होते हैं और नहीं भी होते इसी प्रकार आकाश में जगत् हैं भी और नहीं भी हैं ॥८,९॥ चित् का चमत्काररूप दृश्य स्वात्मा के निज अंगों की तरह अभिन्न है। (अद्वितीय है) एक की दृष्टि में साकार भी वह दूसरे की दृष्टि में निराकार है। एककी ही दृष्टि में एक समय साकार भी वह अन्य काल में निराकार है। तात्त्विक दृष्टि से वह सदा ही निराकार है। इसी प्रकार एककी दृष्टि में सकारण (कारणसहित) भी यह अन्य की दृष्टि में अकारण ही है। एककी ही दृष्टि में एक काल में सकारण भी अन्य काल में अकारण है। वास्तव में यह अकारण ही है ॥१०॥ जीवों के ये जगत्संस्कार क्या देह में हैं या चित् में हैं ? यदि चित् में हैं तो वे सबके लिए दृश्य होंगे।

यदि देह में हैं तो देह का नाश होनेपर उनका भी विनाश हो जायेगा, ऐसी आशंका होनेपर कहते हैं।

ये जगत्संस्कार न तो केवल चित् के हैं और न देह के ही हैं, किन्तु तत्–तत् विभिन्न दृश्याकार के परिणाम को धारण कर रही तथा चिदाभास की व्याप्ति से चित्स्वभाववाली बुद्धि के ही संस्कार आदि नाम किये गये हैं। बुद्धि के ही प्रभाव से प्रभावशाली देहप्रतिमा से संस्कार आदि अलग नहीं हैं ॥११॥

यदि जगत् के संस्कारों को धारण करनेवाली बुद्धि का ही परिणाम जगत् है तो संकल्प–पदार्थ अनुभव स्मृति ही होंगे, इसपर कहते हैं।

संकल्पपदार्थअनुभव यद्यपि पूर्वदृष्ट पदार्थों के तुल्य हैं तथापि उनकी स्मृति ही अपूर्व होने से यानी पूर्वानुभूत तत्तांश के त्याग से स्वप्न होती है मगर अपनी मृत्यु के अनुभव आदि इस जन्म में अनुभूत होते हुए भी अन्य जन्मों में अनुभूत ही है, इसलिए वे उनके संस्कार से युक्त बुद्धि में अध्यस्त होते हैं, यह उनमें विशेषता है ॥१२॥ यह जाग्रतसृष्टिरूप जगत् भी सृष्टि के आरंभ में चिदाकाशरूप स्वच्छ स्वप्नप्रतिभा के समान विकास को प्राप्त होता है, यह जगत् उससे अतिरिक्त कुछ सिद्ध नहीं होता ॥१३॥

'सर्वथा भावाभावेषु' इत्यादि विविध प्रकार से कही गई उक्तियों के सिद्धान्तभूत निष्कर्ष को इकट्ठा कर कहते हैं।

इन शक्तियों से ब्रह्म ही जगत् के रूप से भासित होता है, यह उक्ति सिद्ध होती है। वह नवीन

भासित यानी पहले नहीं भासित हुआ किन्तु अनादिभारूप यानी उससे अभिन्न जगत अनादि ब्रह्म ही है, यह तात्पर्य निष्पन्न हुआ ॥१४॥ वह परमात्मा ही कारण और कार्य भी कहा गया है, क्योंकि वही पूर्ववर्ती सामान्यरूप कारण है और वही विशेषरूप कार्य है। कार्य संस्कार का आधार यह आत्मा ही 'कारणं सम्यक् करोतीति कार्यम्' इस व्युत्पत्ति से संस्कार कहा गया है 'सम्यक् करणं संस्कारः' व्युत्पत्ति से कृतिरूप संस्कार भी आत्मा ही कहा जाता है ॥१५॥ स्वप्न आदि में जाग्रत्पदार्थों से विलक्षण और जाग्रत्पदार्थों का दृष्टान्तभूत जो पदार्थ प्रतीत होता है, वही सूक्ष्म होने से संस्कार, वासना, राग, द्वेष, इच्छा आदि नाम से कहा गया है। उससे अन्य कोई संस्कार नामक बाह्य पदार्थ चित्त में स्थित नहीं है। वह संस्कार नाम की वस्तु स्वप्न में दृष्टिगोचर होती है, जाग्रत में नहीं होती। अदर्शनमात्र से जाग्रत् में वह नहीं है, ऐसा समझना भूल है, क्योंकि चित्ताकाश में जैसे चेतना सदा रहती है, वैसे ही वह भी (संस्कार नाम की वस्तु भी) सदा रहती है। वह शून्यस्वरूप होती हुई भी साक्षिस्वभाववश स्वप्न में प्रतीत होती है और जाग्रत में दृष्ट पदार्थों की तरह अत्यन्त विस्तार को प्राप्त होती है ॥१६,१७॥ वही शम, दम आदि साधनसम्पत्ति सम्पन्न श्रवण, मनन आदि द्वारा निश्चित अद्वितीय प्रत्यग्ब्रह्मरूप वेदान्तवाक्यों का अर्थ होकर पहले से प्रसिद्ध द्वैतसृष्टि का बाधक हो अपने यथास्थित (यथार्थ) स्वभाव में प्रवृत्त होता है। इसके इस तरह के स्वभाव का निर्णय कर ज्ञानीजन परम पुरुषार्थ की शिष्यों में भी सिद्धि हो इस अभिमान से पहले अज्ञात आत्मा ही जगत् का आधारस्तम्भरूप सार है ॥१८॥

अब अन्य द्वारा निर्धारित स्वप्नदर्शन के प्रकार का अनुवाद कर खण्डन करते हैं।

स्वप्न में जो जाग्रत् का संस्कार है, वह जाग्रत् द्वारा किया हुआ अपूर्वरूप है उस अजाग्रत्रूप जाग्रत्आभास को जाग्रत्-अनुभव ने बनाया ऐसा कोई स्वप्नस्वरूपवेत्ता कहते हैं ॥१९॥ उनका उक्त कथन ठीक नहीं है, कारण कि जैसे वायु में चारों ओर स्पन्द स्वतः स्थित है वैसे ही चित्त में स्वप्नरूप पदार्थ स्वतः ही स्थित है। वे स्वतः स्वप्न के आकार में ढलते हैं, अतः उनमें जाग्रत्संस्कारकर्तृत्व कैसा ? ॥२०॥

चित्त में सब पदार्थ स्थित हैं, यह कैसे ज्ञात होता है ? इस प्रश्नपर कहते हैं।

देखिये न, स्वप्न में एक ही चिन्मात्र लाखों रूपों में स्थित होता है, स्वप्न में स्थित लाखों रूपों से सुषुप्ति में जाकर एक ही हो जाता है, इससे चित्त में सब पदार्थ स्थित हैं यह स्पष्ट है ॥२१॥ चिदाकाश में जो स्वप्न प्रतीति है वही जगत् कहलाता है, चिदाकाश में जो सुषुप्ति है वही प्रलय कहलाता है, इसलिए यही न्याय समुचित है ॥२२॥ एक ही चिदाकाश अपने शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप का त्याग किये बिना ही जो स्वप्न की तरह साकारता और अनेकता धारण करता है, वह जगत् है ॥२३॥ इस उपपत्ति से जैसे स्वप्न अथवा जैसे दर्पण में देखे गये मुख, वन, पर्वतादि अनन्य है वैसे ही चित्परमाणु के अन्दर स्थित विस्तारयुक्त यह जगत् चित्त से अभिन्न ही है। परमाणु के समान अत्यन्त सूक्ष्म, विस्तारयुक्त, आदि, मध्य और अन्तरहित संविन्मात्र जो चिदाकाश है वही जगत् कहलाता है ॥२४,२५॥ इसलिए जहाँपर असीम अविनाशी चिदाकाश निरन्तर स्थित है वहाँपर वह जगत्भान स्थित है, जो कि उसके अवयवी की तरह उससे अभिन्न है, यह सिद्ध हुआ ॥२६॥ चिन्मात्र में ही भुवन स्थित है, 'त्वम्' (तुम) 'अहम्' (मैं) इत्यादि जगत् चिन्मय ही है, इस तरह गुरु, शास्त्र आदि द्वारा उक्त युक्तिसमूह से जन्य

ज्ञान से कभी उत्पन्न न हुआ जगत् परमाणु के अन्दर तक चला जाता है यानी अपनी स्थूलता का परित्याग कर अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है ॥२७॥

गुरु और शास्त्र द्वारा उक्त युक्तियों से कैसा ज्ञान होता है, यह पूछनेपर उसको अपने अनुभव कथन द्वारा समझाते हैं।

मैं समस्त जगताकार परमाणुरूप हूँ, इसलिए मैं सर्वत्र ही और तो क्या परमाणु के अन्दर तक स्थित हूँ॥२८॥ चिदाकाशरूप मैं चिन्मात्र परमाणु होकर भी जगद्रूप से स्थित हूँ और जहाँ चिदाकाशरूप मैं रहता हूँ वहीं त्रिलोकी को देखता हूँ॥२९॥ चित्परमाणुरूप (शोधित त्वं पदार्थरूप) मैं चित्परमाणु के (शोधित तत्पदार्थ ब्रह्म के) साथ उसके ज्ञान से वैसे ही एकभावापन्न हुआ हूँ जैसे जल जलके साथ *एकभावापन्न होता है, क्योंकि भगवती श्रुति कहती है – 'यथा जलं जले क्षिप्तम्' ('जैसे जल में छोड़ा गया जल, दूध में छोड़ा गया दूध और घृत में छोड़ा गया घृत अपनी पृथक् सत्ता का त्याग कर देता है वैसे ही परमात्मा में मिला हुआ जीवात्मा अपना पृथक् अस्तित्व छोड़ देता है* ॥३०॥

इस प्रश्नोत्तर के सिलसिले में आत्मज्ञान का तत्त्व बतलाकर प्रस्तुत कथा का अवलम्बन करके पुनः कहते हैं।

अपने अन्दर तीनों जगतों को धारण करनेवाला मैं उस प्राणी के तेजोधातु में (ओज में) प्रविष्ट होकर उस प्राणी के अन्तर्गत वासनामय जगत् के अनुभव की तरह वैसे ही स्थित हुआ जैसे कि कमल के अंकुर में सूक्ष्म रूपसे स्थित भावी बीज अपने अन्दर होनेवाली हजारों विचित्रताओं को छिपाकर रहता है। वहाँ मेरी अन्तरात्मा में ही तदीय, मदीय और अन्यदीय सब वासनामय त्रिजगत् प्रत्यक्चैतन्य में विकास को प्राप्त हुआ। उक्त जगद्रूप कुछ भी बाहर नहीं रहता, क्योंकि उससे बाहर का प्रदेश ही अत्यन्त अप्रसिद्ध है। जब जहाँ जहाँ स्वप्न में चाहे जाग्रत में जो जगत् का भान होता है वह बाह्य और आभ्यन्तर सहित दृश्य निज चिद्भान ही है। जब स्वप्न में जन्तु के बिखरे हुए जगदानन्द का भान होता है वह आत्मरूप चिदणु का ही स्वप्नस्थानरूप से भान है। व्याध ने कहा : भगवन्, यह जगत् अकारण है तो इसकी सिद्धि कैसे है ? क्योंकि अकारण खरगोश के सींग आदि की स्वरूप सिद्धि नहीं दिखाई देती। यदि जगत् सकारण है तो स्वप्न में घटादि की सृष्टि में कारणभूत दण्ड, चक्र आदि के न रहने से सृष्टिबुद्धि किस कारण से होती है, यों सन्देह में पड़े हुए व्याध का प्रश्न है ॥३१–३५॥

अन्त में ब्रह्मअद्वैत की सिद्धि द्वारा अकारण पक्ष का ही समर्थन कर रहे मुनि उत्तर देते हैं।

आरम्भ में यह सृष्टि बिना कारण के ही प्रवृत्त होती है, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में सकल कारणों का अभाव है, अतः चिदाकाश ही सृष्टिरूप है ॥३६॥ इस सृष्टि में निष्कारण पदार्थों का अत्यन्त असंभव होने से अकारण किसी स्थूल सर्ग की कहींपर भी किसी प्रकार संभावना नहीं है। हाँ, प्रातिभासिक मिथ्याभूत सर्ग में वह सकारण ही हो, ऐसा नियम नहीं है ॥३७॥ चित्स्वभाव होने से जन्मविनाशशून्य यह ब्रह्म ही इस प्रकार देदीप्यमान सर्ग आदि शब्दों के पयार्यरूप से भासता है ॥३८॥ इस प्रकार सृष्टि के खरगोश के सींगवत् अत्यन्त असंभावित सिद्ध होनेपर वह ब्रह्मरूपी ही है अनानारूप (अद्वैतरूप) उसमें परमात्मा के मायाप्रतिबिम्ब चैतन्य में नित्य आत्मा के औपाधिक अवयवरूप से नानात्व (द्वैत) अत्यन्त अयुक्त है। ब्रह्मरूप होने पर अब्रह्मरूपी निराकार होनेपर भी साकार रूपसे बेरोकटोक प्रतिभास

होनेपर निराकार वह ब्रह्म ही चिद्रूप होने से प्रकट शरीरवाला साकार सा स्वरूप धारण कर देवर्षि, मुनि आदि स्थावर जंगमरूप जगत् को रचता है और क्रमसे सम्पूर्ण नियति, विधि, निषेध, देश, काल, क्रिया आदि करता है ॥३९–४२॥ भाव, अभाव, ग्रहण, त्याग, स्थूल, सूक्ष्म, चर, अचर सभी व्यभिचरित होते हैं, किन्तु नियति ब्रह्मकृत होने के कारण सर्वास्तमयरूप मोक्ष तक कभी व्यभिचरित नहीं होती। जब से नियति कल्पना हुई तब से लेकर नियतिविशेषरूप कार्य–कारणता के बिना पदार्थों का वैसे ही संभव नहीं है जैसे कि बालू से तेल का संभव नहीं है। नियति और नायक (भोक्ता जीव) ये दोनों, जो कि ब्रह्मा के दो हाथों की तरह अंगभूत हैं, ब्रह्म से अपने आप प्रवृत्त हुए हैं। ब्रह्म अपने अंगभूत एक से दूसरे का, एक हाथ से दूसरे हाथ की तरह, नियन्त्रण करता है। अतएव जीव का इसी तरह जाग्रत् तथा स्वप्नरूप सर्ग (सृष्टि) अबुद्धिपूर्वक तथा अनिच्छा से काकतालीय न्याय के तुल्य वैसे ही होता है, जैसे कि स्पन्दवश जल में बिना किसी प्रयत्न और इच्छा के आवर्त (भँवर) विशेष ढंग से उत्पन्न होते हैं। कार्य में कारण से उत्पन्न संगठन का नियम ही नियति है, उक्त संगठन नियम के बिना अज्ञात ब्रह्म वैसे ही क्षणभर भी नहीं टिक सकता जैसे कि मिट्टी, चूर्ण, पिण्ड, घट,कपाल आदि में से किसी एक रूपरेखा के बिना नहीं टिक सकता, उक्त रूपरेखा धारण, जिसका ज्ञान से सर्वात्मतारूप आत्यन्तिक विनाश होता है, मोक्ष तक रहता है। इस प्रकार यानी नियति की कल्पना से सदा सारा दृश्यमण्डल सकारण उसी के प्रति है, जिसके प्रति जिस काल से नियति जिसकी सृष्टि में प्रवृत्त हुई अन्य पुरुष के लिए और अन्य काल में होनेवाले पदार्थ के लिए नहीं है ॥४३–४८॥ अविद्वान् की दृष्टि में अकारण ब्रह्म का सृष्टिरूप से भी भान होता है और उसी के प्रति यह कार्यकारण दृष्टिरूप भ्रान्ति भासित होती है॥४९॥ विवेकी पुरुष की दृष्टि में तो काकतालीय के समान स्थित इस सृष्टि में केवल पूर्वापरभाव का नियम देखने से यह घट आदि दण्ड, चक्र, मिट्टी आदि सामग्री से उत्पन्न हुआ, यह वस्त्र आदि तुरी, वेमा आदि से इस प्रकार का उत्पन्न हुआ इस तरह पर्यालोचन से नित्यवेद के पद, वाक्य, व्याकरण आदि के नियम से समान यह नियति स्थित है। जन्य पदार्थों में पूर्वापरक्रम अवश्यम्भावी है, इसलिए वे कारणयुक्त ही हैं, ऐसा जो मानता है उसके मतानुसार जाग्रत और स्वप्न में दिखाई देनेवाले अकारण पदार्थों का संभव नहीं हो सकता। क्योंकि स्वप्न और सुषुप्ति दोनों में से एक के बाद हुए जाग्रत प्रपंच की उत्पत्ति में भी कोई कारण नहीं है। इसी प्रकार जाग्रत् और सुषुप्ति–इन दोनों के बाद हुए स्वप्न प्रपंच की उत्पत्ति में भी कारणों का निरूपण नहीं हो सकता। इसलिए उनके मत में स्वप्नप्रपंच का भी संभव नहीं है ॥५०,५१॥ जैसे प्राणी के ओज में स्थित मैंने स्वप्न में सारी पृथिवी को डूबो रहे जलके संक्षोभ से प्रलयभ्रान्तियाँ देखी, भला बतलाओ तो वहाँपर कोई कारण तुम देखते हो अथवा श्रुति प्रमाण से कोई कारण सुनते हो, या अन्य प्रमाण से किसी कारण का अनुभव करते हो ? ब्रह्म और प्रपंच के अभेद का प्रतिपादन करनेवाली युक्तियाँ सकल वस्तुओं के विषय में बुद्धिमानों को अपने आप वैसे ही सदा स्फुरित होती है, जैसे कि स्फटिक मणियाँ अथवा सीपियाँ प्रकाश रहनेपर अपनी चमचमाहट से स्वयं ही स्फुरित होती हैं, इसलिए सब निर्णयों में शास्त्रअनुसारिणी युक्तियों का भावनाअनुभव ही सब तत्त्वों के निर्णय में शक्तिमान् और सब प्रमाणों को जीवनप्रदान करनेवाला है, अतः सर्वोत्कृष्ट है ॥५२,५३॥

एक सौ चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पैंतालीसवाँ सर्ग

कफ, पित्त और वायु से भरे हुए जीव के ओज में (तेजोधातु में) कल्पित स्वप्नभेदों का तथा इन्द्रियों से बाहरी भ्रमों का वर्णन।

मुनिजी ने कहा : हे व्याध, यह जीव बाहरी इन्द्रियों से बाहर ही स्वप्न को जानता है तथा भीतरी इन्द्रियों से आभ्यन्तर स्वप्न को जानता है, लेकिन बाहर और भीतर के व्यवहार की सिद्धि के लिए अत्यन्त तीव्र वेगवाली बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियों से बाह्य और आभ्यन्तर–दोनों स्वप्नों को जानता है ॥१॥

जब वह बाहरी इन्द्रियों से बाहरी व्यवहार करता है तब क्या आभ्यन्तर व्यवहार बिल्कुल ही नहीं होता, इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देते हैं।

जिस समय इन्द्रियाँ बाह्य व्यवहार में व्यग्र रहती हैं, उस समय मनोरथतुल्य आभ्यन्तर व्यवहार का अनुभव अवश्य होता है, किन्तु धुँधला होता है, स्वप्न के समान उसका साफ साफ अनुभव नहीं होता है। किन्तु जिस समय सब इन्द्रियाँ केवल अन्तर्मुख रहती हैं उस समय जीव अपने शरीर में वासनामात्र होने से सूक्ष्मरूप से विद्यमान स्वप्न–जगत्‌को अति स्थूल–सा देखता है, वही उसका स्फुटअनुभव है। बाह्य अथवा आन्तर कोई भी जगत् वास्तव में कदापि स्थूल नहीं। जीव के दर्शन में कारणभूत इन्द्रियों की स्थूलता की कल्पना में अप्रतिरुद्ध जो दृष्टि है, वही स्थूल जगत् है ॥२–४॥

इसलिए बाहर अथवा भीतर जहाँ कहीं भी इन्द्रियों का प्रसार होता है वहाँ पर स्थूल जगत् दृष्टि में आता है, ऐसा कहते हैं।

जब जीव की नेत्र आदि इन्द्रियाँ अत्यन्त बाह्यमय (बहिर्मुख) होती हैं तब जीव चित्त में बाह्य जगत् का अनुभव करता है ॥५॥ कान, त्वचा, नेत्र, नाक, जीभ, इच्छाप्रधान अन्तःकरण चतुष्टय का संघातरूप और पंच प्राणों से युक्त आतिवाहिक शरीर ही कूटस्थ चिदाभास से संवलित होकर जीव कहलाता है ॥६॥

तथोक्त जीव स्ववासनामय जगत् को भले ही देखे, लेकिन बाहर तो वासना न होने से वह वासनामय जगत् कैसे देखता है ? इस प्रश्नपर कहते हैं।

बाहर कूटस्थ चित् ही चिदाभास समष्टि व्योममय होकर सब जगह सब काल में सर्वेन्द्रियमय स्थित है। इस कारण वह सर्वत्र सब कुछ देखता है अर्थात् सब वासनाओं के आधाररूप उसमें बाह्य जगत् का अध्यास किसी हालत में अनुपपन्न नहीं है, उपपन्न ही है ॥७॥

अन्दर स्वप्नभेद–वैचित्र्य देखने के लिए ओज में प्रविष्ट हुए जीव का श्लेष्मआदि अन्नरस आदि से पूर्ण नाड़ियों में प्रवेश ही उसमें निमित्त है, यह विस्तार से बतलाते हैं।

जिस समय तुम्हारा जीव अपने सम्पूर्ण कारणों का उपसंहार कर अणुरूप बनकर हजारों हिस्सों में विभक्त केश के समान महीन नाड़ियों के अन्दर संचार के योग्य हो नाड़ियों के अन्तर्गत कफरूप अन्नरस से भर जाता है, उस समय तत्–तत् इन्द्रियाणु में नाड़ी के अन्दर ही निम्न निर्दिष्ट स्वप्न भ्रमों को देखता है। उक्त जीव स्वयं क्षीरसागर में उड़ा हुआ–सा बनकर चन्द्रोदय से जगमगा रहे आकाश

को देखता है, लाल कमलों से वेष्टित तालाबों को देखता है, जिनमें भाँति-भाँति के कमल खिले हैं और आकाश में प्रकट हुए उद्यानों को देखता है, जो ऋतुराज वसन्त के अन्तःपुर जैसे मनोहर हैं, पुष्पमय दिव्य मेघों के प्रतिनिधिस्वरूप हैं तथा जिनमें भ्रमर कलगुंजन करते हैं। सन्मंगलों की परम्परा से पूर्ण बड़े बड़े उत्सवों को देखता है जिनमें ललनाओं के झुण्ड के झुण्ड लीला विलासों से चंचल हैं और घरों के आँगन भक्ष्य, भोज्य अन्न-पान से खूब भरे हैं। फूलों की मालाओं से अलंकृत, फेनरूपी हासवाली, मस्तयौवनवाली तथा चंचल नयन हैं ऐसी नदियाँ विलास से अपने स्वामी सागर के समीप जाती हैं, ऐसा देखता है। हिमालय के ऐसे सफेद शिखरवाले, अत्यन्त ठंडक से भरे हुए, चूने से खूब सफेद दीवारवाले और चन्द्रमा से बने हुए जैसे निर्मल फर्शवाले महलों को देखता है। शीतल जलकणों से ढके हुए, हेमन्त ऋतु की बरफ से आच्छादित तथा वर्षाऋतु के बादलों से आवृत्त एवं नीलकमलों की लताओं तथा हरी-हरी घास से ढके मैदानों को देखता है। चिकने-चिकने पत्तोंवाले वृक्षों की मनोहर छायावाली तथा फूलों के अम्बार से आच्छन्न नगरों की उपवनभूमियों को, देखता है, जिनमें हरिण और पथिक विश्राम करते हैं। कदम्ब, कुन्द, और मन्दार के शहद के बिन्दुरूपी चन्द्रमा की कान्तियों से भासमान फूलों के बगीचे देखता है, जिनकी बनावट-सजावट आसन के सदृश जगमग जगमग करती है। मेघनिर्मुक्त निर्मल आकाश के सदृश मनोहर नीली वनश्रेणियों को देखता है, जिनमें चारों ओर कमलों के तालाबों का जाल-सा बिछा रहता है और जो सुन्दर फूलों से भरे हुए भूखण्ड को धारण करती हैं। वायुवश नाच रहे सुन्दर लीलापल्लवों से रमणीय पर्वतमालाओं को देखता है, जिन्होंने केले के गोफ, कुन्द और कदम्ब का मुकुट धारण किया है ॥८-१८॥ लीलाविलासपूर्ण ढंग से लपेटी हुई चोटियों से मुक्त अतएव जिनकी शाखाएँ फैली हों ऐसी मालती लता की नाईं नाच रही तन्वंगी बालांगनाओं को पाता है। फूले हुए सफेद कमलों के तालाब के तुल्य राजसभा को प्राप्त करता है, जो सैकड़ों सुन्दर सुन्दर चँवर, फूलदान, चँदवा आदि से पूर्ण है। लताओं के फैलाने के विलास से चारों ओर घिरी हुई वनपंक्तियों को प्राप्त करता है, जो चंचल जलराशि की नहरों में पक्षियों के कलरव से मधुर मालूम होती हैं। जलकण और बर्फरूपी हार को अपने उदर में धारण करनेवाली दसों दिशाओं को प्राप्त करता है, जिनके सब पर्वत वृष्टि द्वारा पृथिवी को भरने के लिए अति विकरालरूपवाले मेघों से व्याप्त हैं ॥१९-२२॥

कफपूर्ण नाड़ी के दृश्यों का विस्तार से वर्णन कर अब पित्तरसपूर्ण नाड़ी के दृश्यों का वर्णन करते हैं।

जब जीव अन्दर पित्तरस से भर जाता है तब अणुरूप जीव ओज के अन्दर इन सब निम्न निर्दिष्ट पदार्थों को प्राप्त करता है ॥२३॥ कमल की उजली-उजली पँखुड़ियों के समान सुन्दर ज्वालाओं को देखता है, जो वायु के लहराने से फूले हुए ढाक के पेड़ों की तरह भली लगती है, गरम बालूओं के सेकों से नदीरूपी नसों को सवाष्प (भापयुक्त) बनाती हैं और वनाग्नि की लपटों के काले धुएँ से दिङ्मण्डल को काली बनाती हैं। तलवार की धार के समान तेज कान्तिवाली और अग्नि की तरह असह्य तेजवाले अनेक सूर्यों को देखता है, जिनसे वनाग्निरूपी विष से पहले से आक्रान्त तालाब विशेष रूपसे व्याप्त होते हैं। सागर को गरम कर देनेवाले भाप को, भाप से गीले हुए त्रैलोक्य को

तथा शिलाजीत आदि क्षार को चूआनेवाले और झाड़ियों से दुर्गम अरण्यों को भी देखता है। बह रहे मृगतृष्णा जलों में तैर रहे सारसों से शोभायमान जल को देखता है, पहले कभी दृष्टिगोचर न हुए मैदानों को देखता है, जिनमें पेड़–पौधे पहले से जमे थे। भयवश मार्गों में भाग रहे तथा गरम धूलि से धूसर हुए अपने को देखता है, दूर से अमृत के तुल्य दिखाई दिये ठण्डी छायावाले मार्ग के वृक्ष को देखता है। संताप से अतिग्रस्त आकारवाले तथा अग्नि के तुल्य परितप्त भुवनको देखता है। धूलिकणों से जिनके देश छिप गये ऐसी दिशाओं को और धूलितिरोहित आकाश को देखता है। घर, गाँव, सागर, पहाड़, नदी–तालाब,वन और आकाश में जहाँ दृष्टि पहुँचती हैं वहीं जल रही अग्नि से पूर्ण दिशाएँ देखता है, अग्नि की वर्षा करनेवाले असंख्य मेघों की घनघोर घटाओं से भीषण शरद्, ग्रीष्म और वसन्त ऋतुओं को देखता है, सन्ताप देनेवाले सूर्यातपों को देखता है एवं तिनकों, पत्तों, लताराशियों और लू की लपटों से आच्छादित भूमिप्रदेशों को देखता है। अग्निव्याप्त होने के कारण आकाश, भूतल और दिङ्मुखों को सुवर्णमय जैसे देखता है। बहुत से तालाबों और हिमालयपर्वत के विविध प्रदेशों को संतप्त हुए देखता है ॥२४–३३॥ कफ, पित्त आदि अन्नरसों से रिक्त केवल वायु से ही भरे हुए नाड़ीप्रदेशों में प्रविष्ट हुआ अणुमात्ररूप जीव जब वायु से पूर्ण होता है तब नाड़ी में पूर्वोक्त ओज के अन्दर ही निम्ननिर्दिष्ट स्वप्न देखता है। उक्त जीवकी संवित् वायु से क्षुब्ध हो जाती है, अतएव वह पृथ्वीतल को पूर्वदृष्ट से हुआ विलक्षण देखता है। नगर, गाँव, नदी–नाले, सागर और वनों को अपूर्व (पूर्वदृष्ट से विलक्षण) देखता है। अपने को उड़ता हुआ सा देखता है, शिलाओं तथा पर्वत के टीलों को उड़ते हुए–से देखता है, देशों को मेघों के गर्जन–तर्जन से शब्दयुक्त देखता है और कुम्हार के चक्के के बिना ही घड़ों का घूमना आदि देखता है। घोड़ा, ऊँट, गरुड़, बादल, हंस आदि सवारियों पर चढ़ना देखता है और यक्ष, विद्याधर आदि का दूर से आना और जाना या अपने स्थान में संचार देखता है। सागर के बुलबुलों की तरह पहाड़, अन्तरिक्ष, भूमि, समुद्रों के साथ वृक्षों, ग्रामों, नगरों, दिशाओं तथा भयभीत मनुष्यों की कँपकँपी देखता है। अपने को अंधे कुएँ में गिरा हुआ या महान् संकट में पड़ा हुआ अथवा गगनचुम्बी पेड़ और पर्वतपर चढ़ा हुआ देखता है ॥३४–३९॥

कफ, पित्त और वायु में एक एक द्वारा पूर्ण नाड़ी में दिखाई देनेवाले विविध स्वप्नों को दिखलाकर कफ, वात, पित्त–इन तीनों से पूर्ण नाड़ी से दिखाई देनेवाले स्वप्नों को दिखलाते हैं।

वात, पित्त, कफ से पूर्ण नाड़ीप्रदेशों में प्रविष्ट हुआ अणुमात्ररूप जीव जब वात, पित्त और कफ से पूर्ण होता है तब वायु के वशीभूत हुए भागों से पीड़ित होकर निम्नलिखित स्वप्नों को देखता है। ऊपर से गिर रही पर्वतों की वृष्टि देखता है, बड़ी–बड़ी शिलाओं की वृष्टि से संकटाकीर्ण फट रहे महलों, पर्वत के मध्यभागों के (टीलों के) घनघोर शब्द से घूम रही वृक्षराशि को देखता है। इधर उधर भ्रमण कर रही वनश्रेणियों से मिश्रित मेघों से भीषण और सिंह, हाथी और वर्षा ऋतु के बादलों से निरन्तर (निरवकाश) दिगन्तराल को देखता है, जो ताड़ तमाल, हिन्ताल के पेड़ों की पंक्तियों में आग से व्याप्त, गुफाओं के घुन्घुम ध्वनि के साँय साँय से खूब घरघराहट युक्त है। मन्दररूपी मथनी के गम्भीर शब्द के संसर्ग से मनोहर, तोड़ने फोड़ने के लिए अनिवार्य परस्पर की टक्कर से टकराई हुई गुफा को देखता है। पर्वत के दो शिखरों के बीच में प्रवाह–ध्वनियों से दो शिखरों की टक्कर के सदृश, चकवा–

चकवी के करुण क्रेंकरों से कठोर तथा मोतीमालाओं के तुल्य अगल–बगल से गिरने से आकाश को माला सहित सा बनानेवाली नदियों को देखता है ॥४०–४५॥

मैंने जो प्रलयसमुद्र को दिखानेवाला स्वप्न देखा था, उसमें भी यही कारण था ऐसा सूचित करते हुए कहते हैं।

शिलाखण्डों से भरी हुई जलराशि से आकाश को पूर्ण करनेवाले महासागर को देखता है, जो बह रहे वनों और मेघों के आघातों से (धक्कों से) सप्तर्षिलोक में टक्कर मारता है। परस्पर लहरों द्वारा सींचने से धोई हुई दसों दिशाओं के दृष्टिगोचर होने से मानों जो हँसता–सा है, दिशाओं को आच्छादित कर रहे कटकट शब्द के साथ फूट फूटकर धराशायी हो रहे पर्वतशिखरों से मानों जिसपर घन के प्रहार की ध्वनि होती है, जिसपर वायु द्वारा कँपाई गई वायु का अनुसरण करनेवाली लताओं का ताण्डव होता है, शब्दायमान अपने से हुए पत्थर के चूर्णों से धूमैले या मटमैले कमल, सेवाल आदि को जो धारण करता है, समुद्र का आक्रमण होने से पहले युगान्त में हुए शूरवीरों की परस्पर की मारकाटों से मानों अद्भूत हुए ताड़ आदि के वनों की मरमर ध्वनियों से, जो क्रूर प्राणियों के रोदन ध्वनि के तुल्य लगती हैं, विराजित ऐसा त्रिजगत् उसे मालूम पड़ता है ॥४६–४९॥ कफ, वात और पित्तरूप त्रिधातु से पूर्ण नाड़ियों में पूर्वोक्त प्रकार के सर्वजन विदित उन पत्थरों, मिट्टी–धूलि से युक्त वायुओं से अथवा सैनिकों से घिरकर स्वप्न में जड़ बनाया गया जीव जब परिपीड़ित ही रहता है तब वह पुरीतत् नाड़ीरूप पिंजड़े में प्रविष्ट होता है, जो सब पसली की हड्डियों के सिरों से बनी हृदय की हड्डी ग्रन्थि से युक्त है। आगे चलने फिरने के लिए छिद्रका संभव न होने से प्राणवायु प्रयुक्त स्पन्द से रहित होकर ऊँची ऊँची पसली की हड्डियों से बिल में पत्थरों की राशि से निरुद्ध की तरह, कोई भी व्यापार करने में असमर्थ हो मिट्टी के अन्दर दबे हुए कीड़े की तरह, चट्टान के भीतर छिपे मेढक की तरह, बीज के अन्दर स्थित अंकुर की तरह, पिण्डीभूत द्रव्य के अन्दर के परमाणु की तरह तथा खंभे के अन्दर प्रतिमा के देह के तुल्य निबिड़ तेजोधातु नामक ओज के अन्दर ही शिला के आकाश की तरह गाढ अज्ञान होने से अन्धकूप के उदर के तुल्य सुषुप्ति का स्वयम् अनुभव करता है ॥५०–५४॥

सुषुप्ति से स्वप्न में कैसे प्राप्त होता है, इस प्रश्नपर कहते हैं।

जब खाया हुआ अन्न परिपाकवश पच जाता है और अन्नरस द्वारा किये गये गमनागमन मार्ग के निरोध की निवृत्ति हो जाने से अवकाश हो जाता है तब जीव प्राणसंचार द्वारा पुरीतत् नाडी से निकलने का यत्न कर प्राण द्वारा अवबोधित हो स्वप्न देखता है। जब शरीर में परिणत हो रहे अन्नरस जिस प्रदेश में जीव के साथ नाड़ी भागों से दूसरे नाड़ी भागों में जाते हैं तब ओज के अन्दर पर्वतों की वर्षा का अनुभव करता है। प्रचुरतम उदराग्नि से व्याप्त वात–पित्त आदि के सम्बन्ध से बाहर भीतर बहुत से भ्रम देखता है, अल्पतम उदराग्नि से व्याप्त वात आदि के सम्बन्ध से अल्प भ्रम देखता है। वात–पित्त आदि से क्षुब्ध हुए थोड़े से अन्नरसों से बाहर भीतर देखता है वैसे ही बाहर भी ज्ञानेन्द्रियों से जानता है अथवा कर्मेन्द्रियों से गमन करता है। वात, पित्त, कफ आदि से क्षुब्ध हुए थोड़े से अन्नरसों से बाहर भीतर थोड़ा–सा दृश्य भ्रान्तिवश देखता है, सम अन्नरसों से सम दृश्य देखता है और अत्यन्त क्षुब्ध हुए अन्नरसों से अत्यन्त भ्रमपूर्ण दृश्य देखता है। सन्निपात

तथा मणि, मन्त्र, औषध आदि निमित्तों में कुपित हुए अन्नरसों से आवृत्त हुआ यह जीव बाहर भूमि, पर्वत और आकाश में हलचल देखता है अथवा अग्निराशि से उनका जलना देखता है। अपना आकाश में उड़ना देखता है, चन्द्रमा, उदयाचल, हिमालय आदि पर्वतों को देखता है, वृक्ष और पर्वतों की भीड़ देखता है और जलों का आकाश में उछलना देखता है। अथवा सागर में अपना डूबना और उतराना देखता है, सुरलोक में अप्सराओं के साथ संगम देखता है और शैल, उपवन, शुभ्रमेघों के आसनों में बैठना तथा शुभ्रमेघों की राशि देखता है। बड़े–बड़े आरों द्वारा अपना चीरा जाना देखता है, नरकों के अनुभव की भ्रान्ति देखता है और आकाश में ताड़, तमाल और हिन्ताल के (छोटी जाति के खजूर के) पेड़ों का जमघट देखता है। अपना चक्कर काटकर आकाश से नीचे गिरना और फिर तुरन्त आकाश में उड़ना देखता है, निर्जन स्थान में जनता की भीड़ लगी देखता है और मैदान में भी समुद्र में डूबना देखता है। और भी विचित्र विपरित व्यवहारों को देखता है जैसे अधरात में दिन की तरह सूर्य का प्रकाश देखता है और दिन में गाढ़ अन्धकार देखता है। आकाश में पर्वतों के साथ पृथिवी को देखता है, दीवार पर विशाल स्थल को देखता है, आकाश में अटारियाँ देखता है, और शत्रु में मित्रता देखता है। आत्मीय लोगों को परकीय समझता है तथा दुर्जन को सज्जन मानने लगता है एवं गड्ढे को समथर भूमि और समथर भूमि को गड्ढा (गर्त) समझता है। प्रतिध्वनि हो रही गानध्वनि से मनोहर, चूने से पोतकर स्वच्छ किये हुए, भाँति भाँति के चित्रों से सजेसजाये, स्फटिक या चाँदी से बने हुए या नवनीतमय (मक्खन के बने हुए) पर्वतों को देखता है। कदम्ब, धूलिकदम्ब, जंबीर के पत्ते के गुच्छों से सुशोभित घरों में अप्सराओं के साथ वैसे ही अपना विश्राम करना देखता है जैसे कि कमलों में भ्रमर भँवरियों के साथ विश्राम करता है। निद्रा में निमीलित (बन्द हुई) इन्द्रियवृत्तियाँ धातुओं के वैषम्य से भ्रान्तियों को देखती हैं, किन्तु जाग्रत में उन्मीलित (खुली हुई) ये बाहर इन्द्रजाल आदि में इन भ्रान्तियों को देखती हैं ॥५५–७०॥

विषम वात, पित्त धातुवाले पुरुष इस प्रकार के अनेक दृश्यों को स्वप्न की तरह बाहर ही देखते हैं और अनुभव करते हैं ॥७१॥ विषम धातुवाले जीवों को बाहर और भीतर अति भीषण अनेक विपरीत कार्य दिखाई देते हैं ॥७२॥ वात, पित्त आदि धातुओं के सम होनेपर यह जीव तेजोधातु के मध्य में स्थित होकर ही इस सम लौकिक और शास्त्रीय व्यवहार मर्यादा का स्वयं अनुभव करता है तथा यथास्थित नगर, गाँव, कसबे और जंगल की श्रेणी का अनुभव करता है। निश्चल जल और वृक्षछायावाले प्रदेशों में बटोही के रूप से गमनागमन, आनन्ददायक प्रकाशवाले चन्द्रमा, सूर्य, तारा, रात्रि और दिन से विभूषित इस प्रकार का असद्रूप यह जगत् सद्रूप–सा प्रतीत होता है। जैसे पवन में स्पन्दन है वैसे ही चित् तत्त्व में जो यह दृश्योपलम्भ है वह असत् होता हुआ भी सत् सा प्रतीत होता है, अभिन्न होता हुआ भी भिन्नवत् स्थित है। निष्प्रपंच ब्रह्म से शून्यभूत सम्पूर्ण जगत् उदित है, अतएव निष्पप्रपंच ब्रह्मरूप वह उससे तनिक भी अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि ब्रह्म इस प्रकार परिदृश्यमान रूप से उत्पन्न नहीं होता। इसलिए आकाशसदृश अनन्त चिति के शरीर में प्रतिभासमात्र जगत् इस तरह अनन्त रूपों में प्रतीत होता है, वास्तव में उसका पृथक् अस्तित्व नहीं है ॥७३–७७॥

एक सौ पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ छियालीसवाँ सर्ग

प्रस्तुत स्वप्नदर्शन के बाद मुनि महाराज का स्वसुषुप्ति वर्णनपूर्वक
स्वप्न के प्रसंग से ब्रह्मअद्वैत का विस्तार से वर्णन।

प्रसंगप्राप्त स्वप्न, सुषुप्ति और जाग्रत्-भेद को सुनकर फिर अवशिष्ट पूर्वकथांश को ही व्याध पूछता है।

व्याध ने कहा : हे मुनिवर, यथार्थ में भ्रान्तिरूपी नामतः उस हृदय में उस प्राणी के ओज में बैठे हुए आपका उसके उपरान्त कैसा स्वप्नदर्शन आदि वृत्तान्त सम्पन्न हुआ उसे कृपया बतलाइये ॥१॥ मुनि महाराज ने कहा : हे व्याध, उसके बाद उस प्राणी के ओज में बैठे हुए तथा उसके जीव से मिश्रित लिंग देहवाले मेरा वहाँपर उस समय जो वृत्तान्त हुआ उसे तुम सुनो ॥२॥

उस समय जब कि अति भयानक प्रलय का आडम्बर अपनी पूरी शक्ति के साथ कदम उठाये थे, महान् पर्वतों को तिनकों के समान उड़ानेवाला प्रलयवायु बह रहा था झटपट कहीं से पर्वतवृष्टि आ गई। ऐसी वृष्टि कि जिसमें बड़े-बड़े वन, पर्वत, शिखर, गाँव, नगर उड़ रहे थे। जब मैं उस प्राणी के ओज के अन्दर उसके जीवरूप से परिणत हुआ, उस समय सूक्ष्म परमाणुरूप मैंने वहीं पर्वतवृष्टि देखी। उस प्राणी की नाड़ियों के भीतर स्थित अन्नरस के अन्तर्गत अन्न के कणरूपी पर्वतराशि से निश्चेष्ट हुए मैंने अज्ञानतारूप अन्धता से मिश्रित गाढ़ सुषुप्ति का अनुभव किया। तदुपरान्त कुछ समय तक सुषुप्ति का अनुभव कर जब प्राण के गमनागमन के मार्ग में बाधा डालनेवाला अन्न पच गया तब प्रातःकाल में कमल के तालाब की तरह धीरे-धीरे मैं बोध की ओर अग्रसर हुआ। अन्धकार में बन्द की हुई दृष्टि जैसे चिरकाल में तेजोराशि के आभासरूप से भासित होती है वैसे ही वहाँ पर सुषुप्ति ही आत्मस्वरूप स्वप्नता को प्राप्त हुई। सुषुप्तिरूपी विश्राम से मैं स्वप्न निद्रा को प्राप्त हुआ। जैसे समुद्र तरंग, बुद्बुद आदि हजारों विक्षेपों से व्याप्त अपनी मूर्ति देखता है वैसे ही मैंने भी उस समय उस प्राणी के ओज के अन्दर हजारों विक्षेपों से युक्त दृश्य देखा। वह चिदाकाशकोशात्मक दृश्य ठीक वैसे ही मुझे प्राप्त हुआ जैसे कि स्पन्दरहित वायु के अन्दर वायु से अभिन्न स्पन्द प्राप्त होता है। जैसे अग्नि आदि में उष्णता अग्नि आदि से अभिन्न है, जैसे जल आदि में स्थित तरलता जल आदि से अभिन्न है और जैसे मिर्च आदि में स्थित तीक्ष्णता मिर्च से अभिन्न है वैसे ही चिदाकाश से जगत् अभिन्न है। चारों ओर फैला हुआ एकमात्र चित्स्वभावरूप होने के कारण स्वप्नजगत्रूपी दृश्य सुषुप्तिरूपी माँ के उदर से बालक की तरह उत्पन्न हुआ है ॥३-१२॥

सकल दृश्य का विलय होनेपर ही सुषुप्ति होती है सुषुप्ति में भी 'तत्सुषुप्तात्मनो दृश्यात्' दृश्य के अस्तित्व का कथन सुनकर उसको असंभव समझ रहा व्याध पूछता है।

व्याध ने कहा : महाराज, आप 'तत्सुषुप्तामनः यों तत्शब्द से और दृश्य पद से दृश्य का व्यपदेश करते हैं, इसलिए सुषुप्तदृश्य कुछ है, ऐसा आपका अभिप्राय ज्ञात होता है, सो कृपया सुषुप्तदृश्य का क्या स्वरूप है, यह मुझे समझाइये ॥१३॥ क्या जिस प्राणी के हृदय में आप प्रविष्ट हुए थे उस प्राणी के सुषुप्तिदृश्य से और आप के सुषुप्तिदृश्य से भी जन्य जगत्रूप दृश्य दूसरा

उत्पन्न होता है ? अन्यता का प्रयोजक जन्म क्या है, अथवा सर्वदृश्यप्रलय में अन्य सुषुप्ति क्या है ? इसे कृपया आप समझाइये ॥१४॥

दृश्य और उसके जन्म आदि क्या वास्तविक हैं, ऐसा तुम पूछते हो या व्यवहारतः उनका क्या रूप है, यह पूछते हो ? प्रथम पक्ष में दृश्य आदि के असत् होने से वे कुछ भी नहीं हैं, ऐसा उत्तर श्रीमुनि महाराज देते हैं।

मुनि ने कहा : दृश्य आदि वास्तव में कुछ नहीं है। घट आदि और जगत् आदि उत्पन्न होते हैं, विकसित होते हैं, यह सब द्वैत से संतप्त हुए मूर्खों की कपोलकल्पनारूप प्रलाप का मैंने अनुवाद किया है, यह कोई तात्त्विक वाद नहीं है ॥१५॥

पण्डितों के विचार में तो जात आदि शब्दों का सन्मात्र ही अर्थ है, दूसरा कोई अर्थ नहीं है, ऐसा कहते हैं।

'जात' शब्द केवल 'सत्' का पर्याय कैसे है, यह तुम सुनो मैं इसका उपपादन करता हूँ। 'जन्' धातु 'जनी प्रादुर्भावे' यों पाणिनि आदि द्वारा प्रादुर्भाव अर्थ में कहा गया है। उसमें प्रादुः अन्य धात्वर्थ की प्रकटता को द्योतित करता हुआ अप्रधान है। भूधातु का सत्तामात्र अर्थ ही प्रादुर्भाव का प्रधान शरीर है ॥१६॥

हो ऐसा, इससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

सत्तार्थक भू धातु 'भू सत्तायम्' यों पाणिनि आदि से कहा गया है, इसलिए 'प्रादुः' उपसर्ग युक्त भावशब्द से संजात (उत्पन्न) प्रकट यानी 'सन्' अर्थ कहा जाता है। वह नित्यसिद्ध स्वप्रकाश चिदात्मा ही है। यदि 'प्रादुः' शब्द का 'सर्ग' अर्थ मानो तिसपर भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि सर्ग शब्द का भी सृजधातु से भाव में प्रत्यय होनेपर घञ्के अर्थ सत्तारूप भाव में सृज्य अर्थ का अभेद से अन्वय होनेपर सत् ही सर्गशब्द से कथित होता है ॥१७॥

ऐसी परिस्थिति में विद्वानों की दृष्टि से अज्ञानियों की दृष्टि में प्रसिद्ध जन्म आदि किसी वस्तु की भी सिद्धि नहीं होती है, ऐसा कहते हैं।

तत्त्वज्ञानी हम लोगों की दृष्टि में कुछ भी उत्पन्न नहीं होता और कुछ नष्ट भी नहीं होता सब कुछ शान्त, अजन्मा सन्मात्र है ॥१८॥

इस प्रकार सर्वसत्तात्मक ब्रह्म में अस्तित्व और नास्तित्व का अथवा विधि और निषेध का अवकाश नहीं है, ऐसा कहते हैं।

सर्वसत्तात्मक ब्रह्म है, सर्वसत्तात्मक जगत् है जरा बतलाओ तो सर्वसत्तात्मक ब्रह्म में कौन–सी विधियाँ और कौन से प्रतिषेधों का संसर्ग हो सकता है ? ॥१९॥

तब 'अस्ति' (है) 'नास्ति' (नहीं है) इस लोकप्रसिद्ध व्यवहार का कौन विषय है ? इस प्रकार उक्त व्यवहार के विषय को दर्शाते हुए द्वितीय पक्ष में कहते हैं।

जो अनिर्वचनीय मायाशक्ति है वही 'अस्ति' इस लोकव्यवहार का विषय है, चूँकि ब्रह्म मायाशबल होने से अज्ञानियों की दृष्टि में मायात्मक है। जैसे जैसे मायाशक्ति उत्कर्ष को प्राप्त होती है वैसे ही सर्वशक्ति घटित स्वरूपवाला वह तदात्मक कहा जाता है ॥२०॥

तत्त्वज्ञानी तो सदा तुरीय पद में प्रतिष्ठित रहते हैं। अतएव उनकी जाग्रत् आदि अवस्थाएँ ही नहीं हैं, विधि, प्रतिषेध तो दूर रहे, ऐसा कहते हैं।

तत्त्वज्ञान सम्पन्न विद्वानों की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ नहीं हैं, उनके लिए सब कुछ यथास्थित ब्रह्म ही है ॥२१॥

प्रत्यक्षतः अनुभवारूढ़ वस्तुओं का अपलाप करना किसी प्रकार भी संभव नहीं है, इस शंका का दृष्टान्तों द्वारा निरास करते हैं।

यद्यपि स्वप्न और संकल्प के नगर अनुभवारुढ़ होते हैं फिर भी जैसे उनका वास्तविक रूप कुछ भी नहीं है वैसे ही सर्ग के आदि में जगत् का तनिक भी स्वरूप नहीं है ॥२२॥

तब तो जैसे स्वप्न और मनोरथ में प्राणादिमान् जीव द्रष्टा है वैसे ही सर्गादि में भी प्राण आदि युक्त ही ब्रह्म की सिद्धि होती है, निर्विशेष ब्रह्म सिद्ध नहीं हो सकता, इस पर कहते हैं।

स्वप्न और मनोरथ जीवोपाधिसृष्टि के उत्तरकालवर्ती हैं, अतएव इस स्वप्नदृष्टि का द्रष्टा प्राणादिमान् जीव हो सकता है, किन्तु चेत्यभिन्न (चेत्यसंसर्ग शून्य) चित् सृष्टि के आदि में आकाश से भी अधिक स्वच्छ है अतएव सृष्टि के आरम्भ में प्राणादिमान् ब्रह्म कदापि सिद्ध नहीं हो सकता, किन्तु निर्विशेष ही है, यह सिद्ध हुआ ॥२३॥

सर्ग को स्वीकार कर उसका द्रष्टा शुद्ध है यह कहा है। वास्तव में तो द्रष्टा, दर्शन और दृश्यरूप त्रिपुटी सम्पूर्णतया इस शुद्ध में निवृत्त होती है, ऐसा कहते हैं।

न यहाँ द्रष्टा है और न भोक्ता है यहाँ सब कुछ चिदेकरस ही है, जो कुछ न होता हुआ भी कुछ है और जो मौन ही अतिशयित वाणीवाला भी है ॥२४॥

सृष्टि के आरम्भ में चित् ही सकल पदार्थ रूपसे विकास को प्राप्त हुआ है प्रलयपर्यन्त वैसे ही रहता भी है, ऐसा कहते हैं।

सृष्टि के आरम्भ में कारण का अभाव होने से चित् में जो रूप जैसे विकसित हुआ है स्वप्न और मनोरथ के नगर के समान वह रूप प्रलय तक ज्यों का त्यों रहता है। जैसे कि बालक अपने शरीर पर चित्रित बाघ, सर्प आदि के चित्रों से भयभीत होता है, लेकिन वयस्क पुरुष उनसे भयभीत नहीं होता। वैसे ही अज्ञानता में द्वैतवश अन्य की भ्रान्ति से जीव आत्मभूत चेतन से ही भय खाता है, बोध होनेपर भयभीत नहीं होता। तात्त्विक रूप से जन्म, स्थिति, विनाशशून्य असीम अत्यन्त निर्मल ब्रह्म ही यथास्थित हो भ्रान्ति से अतिविकारी और नाना होकर अवभासित होता है। प्रकाशमान अशान्त भी यह जगत् वास्तव में प्रबोध परिशान्त ही है ॥२५-२७॥

एक सौ छियालीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सैंतालीसवाँ सर्ग

दृष्टान्तपूर्वक सुषुप्ति से स्वप्न में निर्गमनक्रमका और स्वप्न में
पूर्वदृष्ट कुटुम्ब आदि के दर्शन के रहस्य का वर्णन।

महामुनि ने कहा : हे महाबाहो, इसके पश्चात् जब मैं सुषुप्ति से बाहर आया तब स्वप्न में मेरा

यह जगत् दृश्य सागर से लहर, मणि, मोती आदि की तरह बाहर निकला, जैसे छेनी आदि औजारों से तराश कर पत्थर से प्रतिमा प्रकट होती है वैसे ही आकाश से मानों यह प्रकट हुआ था, पृथिवी से मानों निकला था, चित्त से मानों उदित हुआ था, अथवा दृष्टि से मानों प्रादुर्भूत हुआ था, वृक्षों से मानों फूला था। सृष्टि पहले से ही स्थित थी, न कि उस समय उत्पन्न हुई ऐसा मालूम पड़ता था, किनारों के निकटवर्ती सागर की तरंगराशि–सा प्रतीत होता था अथवा दृष्टियों का केशों के गोले, द्विचन्द्र आदि रूप से कमल की तरह विकसित था, आकाश से मानों आया हुआ था, दिशाओं से मानों उदित हुआ था, पर्वतों से मानों प्रतिमा आदि की तरह गढ़कर प्रकट हुआ था, पृथिवी से मानों निकला था, हृदय से मानों बाहर आया था, मेघों द्वारा आकाश में मानों प्रविष्ट किया गया था, वृक्षों से मानों पैदा हुआ था, पृथिवी से धान आदि की तरह उगा था, अंगों से मानों निकला था, इन्द्रियों द्वारा मानों दिशाओं में लिखकर (चित्रित कर) बनाया गया था, पर्दे के भीतर से मानों बाहर आया था, मन्दिर से मानों निकला था, कहीं से आकर आकाश से उड़कर मानों गिरा था, प्रजावर्ग द्वारा राजा के सन्मुख रखी हुई भेंट–सा था, इस लोक में संचित पुण्य जैसे परलोक में अपने आप उपस्थित होता है वैसे ही उपस्थित हुआ था अथवा खोदने आदि उपायों से हाथ लगी भूमि की निधि की तरह हाथ में आया था, ब्रह्मरूपी वृक्षका समयपर लगे फूल की तरह समय पर उपस्थित हुआ था, चित्रूपी खंभे में तोड़ने तराशने के बिना ही प्रकट हुई सुन्दर प्रतिमा था, आकाशरूप मिट्टी से बनी हुई असंख्य दीवारों से युक्त आकाशनगर था, मनका मत्त गजमय विलास था, बिना दीवार और बिना रंग के आकाश में चित्रित चित्र था, जीवका मिथ्या सर्वस्व था, माया करने में चतुरशिरोमणि अविद्यानामधारी किसी ऐन्द्रजालिक का उत्तम जादू था, महाविस्तार और चिरस्थायी दिखाई देने से देशकाल से रहित था, वह नाना से (भेदसे) युक्त होता हुआ भी अद्वैत था, विभिन्न रूप होता हुआ भी कुछ न था, शून्य था, अवास्तविक होने के कारण गन्धर्वनगर आदि असत् दृष्टान्तों के तुल्य था, जो भ्रम होता हुआ भी रज्जुसर्प, मृगतृष्णाजल आदि जाग्रत में दिखलाई देते हैं उनके भी सदृश था, केवल चित्प्रभारूप होने से आरम्भ न किया गया भी वह आरम्भ किये गये की तरह स्थित था, देशकाल, कर्म और द्रव्य की सृष्टि और संहार से युक्त था, देवता, असुर, नर आदि से युक्त त्रैलोक्याधार गर्भों से और उनके गर्भों से केले के खम्भों के समान मनोहर था। उनमें भी अवान्तर गर्भों में अनन्त ब्रह्माण्डों की कल्पना होने से कोष्ठ में स्थित बीजराशि से भरा हुआ दाडिम के फल की तरह था ॥१–१४॥ चाँदी की शिला के सदृश नदी, पर्वत, वन आदि में प्रतिबिम्बित आकाश, तारा और बादलों से वह ठसाठस भरा, गर्ज रहे सागर की ध्वनि से युक्त था और वायु की सरसराहट से पूर्ण था। वह दृश्यमण्डल मैंने देखा, तदनन्तर वही गाँव, जो कि मैंने पहले स्वप्न प्रवेश के समय देखा था, उसमें वह घर मुझे दिखाई दिया। उन्हीं सब बन्धुबान्धवों को, उन्हीं पुत्रों को, उसी पत्नी को और उसी घर को, जिनकी अवस्था, उम्र, रूपरेखा, बनावट आदि जैसी पहले देखी थी हूबहू वैसी ही थी, मैंने देखा ॥१५–१७॥ जैसे महासागर में लहर तट में स्थित नष्ट–भ्रष्ट हो रहे अपने प्राक्तन अंग को लाती है वैसे ही बन्धुबान्धव, स्त्री–पुत्र, घरद्वार ने मेरी पहले की ग्रामीण घर–खेल, पुत्र–बन्धु आदि में अभिमानवासना जबरदस्ती ला दी। उसके बाद उनमें आत्मीय वासनावाला मैं

वहाँपर उनके (बन्धुबान्धव, पुत्र, स्त्री आदि के) आलिंगन से अत्यन्त सुखी हुआ, मेरी पहले की सारी स्मृति विस्मृत हो गई ॥१८,१९॥

प्रसंगतः मलिन और स्वच्छ चित् के स्वभाव का उल्लेख करते हैं।

जैसे लौकिक दर्पण जो जो वस्तु आगे आती है उसका प्रतिबिम्ब अपने आप स्वभावतः ग्रहण कर लेता है वैसे ही चित्‌रूपी आदर्श भी वासना द्वारा उपस्थित किया गया जो जो पदार्थ अव्यवहित पूर्व में रहता है, स्वभावतः तत्-तत् आकार धारण कर लेता है ॥२०॥

लेकिन स्वच्छ चित् का ऐसा स्वभाव नहीं है, ऐसा कहते हैं।

किन्तु जिस चित्‌रूपी दर्पण को यह सब चिन्मात्रआकाश ही है ऐसा ज्ञान हो चुका, वह यहाँ वासनामय द्वैत से (प्रतिबिम्ब ग्रहण आदि से) पीड़ित नहीं होता, वह केवल चिन्मात्ररूप से स्थित रहता है ॥२१॥

जिसकी बोधशालिनी अतएव निर्मल स्मृति नष्ट नहीं होती, उसे यह द्वैतरूपी पिशाच तनिक भी दुःखी नहीं कर सकता ॥२२॥ जिन सत्पुरुषों को अभ्यास से साधु-सन्त और सत्‌शास्त्रों के संग से बोध हो जाता है, वह बोध जो एक बार उदित हो गया तो फिर कदापि अपने उदय को नहीं भूलता सदा ही ब्रह्मानुसन्धानरूप से रहता है, उन्हें यह द्वैत बाधा नहीं पहुँचाता ॥२३॥

आप तो तत्त्वज्ञ थे फिर आपको उस समय कैसे व्यामोह हुआ ? इस पर कहते हैं।

उस समय मेरा वह बोध प्रौढ़ नहीं हुआ था, इसलिए बन्धु-बान्धवों की वासना द्वारा वह तिरस्कृत हो गया। अब तो मेरा बोध अत्यन्त प्रौढ़ हो गया है आज तो किस दुर्वासनाजाल में उसे डिगाने की सामर्थ्य है ? ॥२४॥ हे व्याध, तुम्हारी बुद्धि भी सत्संग रहित होने से अब भी शान्ति को नहीं प्राप्त होती है। किन्तु आगे कहे जानेवाले तपस्या, शरीरवृद्धि, मरण, जन्मान्तर, राज्य आदि के कष्ट द्वारा द्वैत को समझकर बड़ी कठिनता से साधना के अभ्यास और परिश्रम से ज्ञान प्राप्त करके शान्ति को प्राप्त हो जायेगी ॥२५॥

मुनि महाराज के कथन का अनुमोदन करता हुआ व्याध बोला।

व्याध ने कहा : हे मुनिवर, आपका कथन सोलह आने सत्य है इस प्रकार के पवित्रतम आपके बोधउपदेशों से भी मेरा मन परमलक्ष्य सत्पदपर नहीं टिक रहा है। ऐसा है या नहीं है, इस तरह का संशय-जाल इस स्वानुभूत वस्तु के विषय में भी शान्त नहीं होता है ॥२६,२७॥ अभ्यास से अत्यन्त बद्धमूल हुई इस अविद्या का पार पाना अत्यन्त कठिन है। यद्यपि यह अविद्यमान ही है और शान्त ही है तथापि शान्त नहीं होती ॥२८॥

तुम्हारी बुद्धि सत्संगतिशून्य है, ऐसा जो मुनिमहाराज ने कहा था, उसका भी अनुमोदन करता हुआ कहता है।

सत् (ज्ञानप्रद) शास्त्र, उत्तम गुरुसम्प्रदाय और उत्तम विचार आदि से सर्वांग मनोहर सत्संगतियों से उत्पन्न हुई पदपदार्थ विवेकबुद्धि के अभ्यास से उत्पन्न तत्त्वबोध से क्रमशः यह जगत्‌भ्रम शान्त हो जाता है, इसके सिवा दूसरे किसी उपाय से इसकी शान्ति नहीं हो सकती, ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय है ॥२९॥

एक सौ सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ अड़तालीसवाँ सर्ग

स्वप्न की सत्यता तथा असत्यता का हेतु तथा चित् की सर्वात्मता,
एकता और शुद्धि से युक्त जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति का वर्णन।

व्याध ने कहा : हे मुनिनायक, वासना के अनुसार चित् का वेदन ही स्वप्न है और जाग्रत् भी स्वप्नविशेष ही है ऐसा यदि सिद्धान्त है तो प्रातःकाल में देखा गया हाथीपर सवार होना इत्यादिरूप कोई स्वप्न लाभ आदि फलका सूचक होने से सत्य है, उससे अन्य अरण्य में जाना, घूमना आदिरूप स्वप्न किसी प्रकार के फल का सूचक न होने से असत्य है, यों स्वप्नदर्शनों की सत्यता और असत्यता की कैसे उपपत्ति होगी ? इसी प्रकार हिरण्यगर्भ के मनोरथ से कल्पित सृष्टि अर्थक्रियाकारी होने से सत्य है हमारे मनोरथ से कल्पित सृष्टि असत्य है यों जाग्रत जगत् के विषय में भी मेरा यह महान सन्देह है ॥१॥

अधिष्ठान चित् की सत्यता से अध्यस्त में सत्यता स्वतः असत्यता दोनों जगह तुल्य ही है, तो इस विषमता का क्या कारण है, यह भाव है।

श्रीमुनिजी ने कहा : हे व्याध, जो स्वप्नसंवित् स्वप्नेश्वरीदेवी के निकटवर्ती देश में, रात खुलते समय तड़के, देवता की आराधना, तप, व्रत आदि कर्मों और हविष्य अन्न भोजन, कुशमय बिस्तर आदि द्रव्यों द्वारा शास्त्र प्रमाणों से 'इस तरह के स्वप्न का इस प्रकार का फल अवश्य होता है' यों निश्चित उदित होती है वह संवित् उन शकुनों की तरह जिनका कि फल काकतालीय है, उत्तरकाल में अवश्य फललाभ होने के कारण सत्य स्वप्न नामवाली होती है ॥२॥ लेकिन मणि, मन्त्र और औषधियों से होनेवाली स्वप्नसंवित् मणि, मन्त्र आदि के योग्य पुरुषों में अव्यभिचारिणी होती है और मणि आदि के अयोग्य पुरुष में सव्यभिचारिणी होती हुई भी शास्त्रमर्यादा का उल्लंघन न करने से दोनों में सत् स्वप्नात्मिका ही कही गई है ॥३॥

वहाँ दोनों जनों में ही काकतालीय न्याय ही एकमात्र आसरा है दृष्ट किसी भी नियामक का निरूपण नहीं किया जा सकता है, इस आशय से कहते हैं।

जब लोगों में सत्यस्वप्नों की स्थिति इस प्रकार की है तब यह काकतालीय न्याय के सिवा अन्य कुछ नहीं है ॥४॥

हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) आदि की संवित् पूर्वजन्म की प्रबल उपासना के परिपाक से जन्य होने के कारण सत्यसंकल्परूप दृढ़ निश्चयवाली होकर जिस जिस निश्चय को अपनाती है वैसी वैसी अवश्य हो ही जाती है, ऐसा कहते हैं।

हिरण्यगर्भ की दृढ़ निश्चयात्मिका संवित् जिस जिस निश्चय को ग्रहण करती है पूर्वजन्म की उपासना के फल के प्रभाव से उत्पन्न स्वभाव से वह वैसी वैसी हो जाती है ॥५॥

यदि प्रश्न हो कि हिरण्यगर्भ की उक्त संवित् भी दूसरे पुरुष के उससे विरुद्ध सत्य संकल्प से क्यों तिरस्कृत नहीं होती ? इस पर कहते हैं।

हिरण्यगर्भ की संवित् के सर्गादि निश्चय को कोई दूसरा अगर तिरस्कृत करता है तो उसमें पूर्वजन्म

की उपासना के समय 'मैं जगत् का सर्जनहार हूँ' ऐसा प्रौढ़ निश्चय मृत्यु के समय में उद्‌भूत होकर ''तद्वैतल्लोकजिदेव'' इस श्रुति से सिद्ध स्वलक्ष्य फलवाला कैसे होगा ? इससे सिद्ध है कि हिरण्यगर्भ की संवित् के अविरोध से ही अन्य सिद्ध जनों का संकल्प उदित होता है, उसके विरुद्ध नहीं होता ॥६॥

ऐसी स्थिति में संवित्स्वतन्त्रता अक्षुण्ण ही है, ऐसा कहते हैं।

कोई घट, पट आदि पदार्थ न कहीं भीतर हैं और न कहीं बाहर हैं केवल सर्वतन्त्र स्वतन्त्र एकमात्र संवित् जैसी इच्छा करती है वैसे ही जगत् के रूपों से स्थित होती है। 'यह स्वप्न सत्य है' इस प्रकार के शास्त्र आदि प्रमाणों द्वारा किये गये निश्चय से अन्दर सत्य उदित हुई स्वप्नादिसंवित् तुरन्त सत्य ही हो जाती है और 'सत्य है या नहीं है' इस प्रकार के सन्देह से संशयग्रस्त हो जाती है ॥७,८॥

स्वप्न संवित् की सत्यता काकतालीयवत् है ऐसा जो पहले कहा था, उसका उपपादन करते हैं।

यह स्वप्नद्रष्टा जीव अन्य उपाय से भी प्राप्त हुए फल को, स्वप्न में सत्यत्व की कल्पना से, यह फल स्वप्न द्वारा ही सूचित है, ऐसा समझता है ॥९॥

इसी प्रकार जाग्रत् में प्रसिद्ध घट, पट आदि की संवित् भी काकतालीय ही है, क्योंकि उनमें भी देश और समय के भेद से अन्यथाभाव देखने में आता है, ऐसा कहते हैं।

त्रैलोक्य में तत्-तत् (विभिन्न) पुरुषों की अपनी निज संवित् द्वारा चिर अभ्यस्त अर्थक्रिया आदि से बद्धमूल घटादिस्वभाववाले भी सभी पदार्थ शीघ्र या चिरकाल में देश, काल तथा मुद्‌गर के आघातादि प्रयत्न से अन्यथाभाव को प्राप्त होते हुए व्यभिचरित होते हैं, पूर्वनिश्चत स्वभाव का त्याग करते हैं ॥१०॥ सृष्टि के आरम्भ में चिदाकाश का अविनश्वर भान ही जगत् है। अतएव सूक्ष्म चिति ही वस्तुसत्ता का यथेष्ट विस्तार करती है ॥११॥

इसलिए केवल सन्मात्र ही नियत सत्तावान् है उससे अतिरिक्त सबकी सत्ता अनियत हैं, ऐसा कहते हैं।

केवल सन्मात्र ब्रह्म को छोड़कर और सबको तुम सदा सत्य-असत्य, नियत-अनियत रूप से स्थित समझो ॥१२॥ अतः एक सद् ब्रह्म ही सर्वात्मक (सर्वरूप) है उससे अन्य कुछ नहीं है, इसलिए उससे अतिरिक्त सत्य या असत्य क्या होगा ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥१३॥

इस प्रकार विचार करने पर स्वप्न भी कहीं किसी काल में सत्य और कहीं किसी काल में असत्य भी संवित्रूप से सत्य और अन्य रूपसे असत्य है, ऐसा कहते हैं।

इन अज्ञानियों के लिए कहींपर स्वप्न सत्य और कहींपर असत्य ही है, किन्तु ज्ञानवान् जनों के लिए न असद्रूप है और न सन्मय है ॥१४॥ जगत् नामक आकारवती यह संवित्रूप भ्रान्ति भासित होती है यह स्वयं मैं भ्रान्ति हूँ, ऐसा कहती है, इसमें यथार्थ संवित् कौन है ? चिति ही चित्त बनकर जल में द्रव की तरह जो अपने में जगमगाती है साभास स्फुरित होती है, वही यह जगत् है ॥१५,१६॥

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति जमे हुए और कुछ पिघले हुए घृत के समान अभिन्न ही हैं, यह उपपादन करने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

जैसे स्वप्न देखकर सुषुप्ति का अनुभव होता है वैसे ही जाग्रत का अवलोकन कर निद्रा का अनुभव किया जाता है ॥१७॥

हो ऐसा, इससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

जैसे जमा हुआ कड़ा घी ही कुछ पिघलता है कुछ पिघला हुआ ही जमकर फिर कड़ा हो जाता है यों दो घृतों में परस्पर भेद नहीं है क्योंकि वही यह घृत है ऐसी प्रत्यभिज्ञा दोनों अवस्थाओं में होती है, हे महामते, वैसे ही तुम जाग्रत् ही यह स्वप्न है ऐसा जानो और स्वप्न को जाग्रत् जानो, ये दोनों एक अविनाशी ब्रह्म ही हैं ॥१८॥

इस प्रकार अविद्याकृत चिन्मात्ररूप एक सुषुप्ति ही घृतवत् सदा द्रष्टव्य है। सभी नामरूप के भेद उसी के पयार्य हैं ऐसा निष्कर्ष निकला, यह कहते हैं।

अचेत्य चिन्मात्र भानरूप एक यह आकाश ही चारों ओर व्याप्त है। यहाँ जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति आदि उसी के नामान्तर (पर्याय) हैं ॥१९॥

स्वप्न आदि के फल का नियम और अनियम भी उससे पृथक् नहीं है, ऐसा कहते हैं।

यहाँ न नियति है और न अनियति है। जरा बतलाओ तो मिथ्याभूत स्वप्नसंवित् में नियम और अनियम का ही कैसे संभव हो सकता है, यानी मिथ्या होने के कारण भी नियम और अनियम अविद्यावृत चिन्मात्र से पृथक् नहीं है, यह भाव है ॥२०॥ अज्ञान से आवृत अनियन्त्रित चिति जाग्रत् और स्वप्न है, परिश्रम आदि निमित्त से नियन्त्रित हुई वह सुषुप्ति है तथा प्रयत्न से नियन्त्रण में लाई गई उक्त चिति समाधि है। अज्ञान का विनाश हो जानेपर वही मुक्ति कहलाती है। ऐसी परिस्थिति में जाग्रत् के निरोध से मनोव्यापारमात्ररूप अन्य शोक है। जब तक संवित्–भान का नियन्त्रण रहता है तब तक सुषुप्ति में आत्मा ही सर्व शोकान्तर है ऐसा जानकर शोकरहित समाधि सुखरूपी विश्राम चाहनेवाला पुरुष नियमन ही करें ॥२१॥

यदि कोई शंका करे कि संवित् का पवन के समान नियमन करना अति दुष्कर है। उक्त संवित् का स्वप्न आदि के आकार में स्फुरित होने का नियम है, इस पर कहते हैं।

वायुलेखा की तरह स्वच्छन्द स्फुरित हो रही संवित् का विषयाकार में स्फुरण होना स्वभाव नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति में उसका विषयाकार स्फुरण नहीं दिखाई देता। और स्वप्न में संवित् के विषयाकार स्फुरण में किसी कारण का भी निरूपण नहीं किया जा सकता, जिसको कि निमित्त मानकर नियति हो, इसलिए नियति कौन और कैसी ? ॥२२॥

यदि कोई कहे कि बाह्य, घट, पट के आकार ही संवित् से अपना सम्बन्ध होनेपर संवित् की स्वाकारता में कारण हों, इस पर कहते हैं।

घट, पट आदि का आकार संवित् के स्वाकार में परिणत होने में तब कारण माना जा सकता है जबकि सृष्टि में किसी दूसरे कारण का निरूपण करना संभव होता। लेकिन जब पूर्वोक्त युक्ति से सृष्टि अकारण (कारण के बिना ही उत्पन्न) है तब चित् से अनन्य (अभिन्न) आकार आदि चित् के घट आदि के आकार में परिणत होने में कदापि कारण नहीं हो सकता ॥२३॥

तो क्या सारा का सारा नियतिरूपी महल ढह गया ? ऐसी आशंका होनेपर नकारात्मक उत्तर देते हैं।

यहाँ जो चिति जब जैसे स्फुरित होती है वह वस्तु तब वैसी पारमार्थिक, व्यावहारिक या प्रातिभासिक

होती है इस प्रकार की ही नियति व्यवहारपर्यन्त रहती ही है अन्यथा नहीं होती है ॥२४॥

स्वप्न की सत्यतानियति तो सर्वत्र शास्त्रानुसार होती है, इसलिए काकतालीयवत् ऐसा हमने कहा है, ऐसा कहते हैं।

नियति के अभाव से ही स्वप्न में कभी कभी सत्यता और कभी असत्यता होती है, इसलिए स्वप्नसत्यत्व काकतालीय ही है ॥२५॥

मणि, मन्त्र, औषध आदि रूपसे प्रयुक्त स्वप्नसत्यता-नियति तो जाग्रत् प्रतीति में भी तुल्य है, ऐसा कहते हैं।

मणि, मन्त्र और औषधिरूप स्वात्मा से स्वप्न आदि की जो सत्यता नियत है वह सत्यता तो जाग्रत में भी दिखाई देती है ॥२६॥ जाग्रत् और स्वप्न दोनों ही केवल चित्भान ही हैं, अतएव इनमें विभिन्नता कैसी ? जाग्रत और स्वप्न के नगर अनुभव से सदृशस्वरूप ही हैं अर्थात् उनका वेद्य स्वरूप अथवा वेदन स्वरूप अनुभवतः तुल्य ही है ॥२७॥

अतएव निद्राविहीन आत्मा में जाग्रत् और स्वप्न दोनों का ही व्यभिचार होने से अभाव ही है, ऐसा कहते हैं।

निद्राविहीन आत्मा में जाग्रत का कदापि संभव नहीं है। जो जाग्रत के नाम से प्रसिद्ध रूप है, वह स्वप्न ही है। निद्राविहीन आत्मा में स्वप्न का भी संभव नहीं है, जो स्वप्न नाम से प्रसिद्ध है वह सुप्त और जाग्रत् एकरूप ब्रह्म की ज्ञानरूपता ही है ॥२८,२९॥

ऐसी स्थिति में निद्राविहीन आत्मा की सुषुप्ति भी है ही नहीं, इस अभिप्राय से कहते हैं।

निद्राविहीन आत्मा के वे जाग्रत्, स्वप्न आदि कोई कदापि नहीं है एवं दृश्य का आत्यन्तिक अदर्शनरूप अथवा आत्मा का उच्छेद आदिरूप मृत्यु भी है ही नहीं, क्योंकि अविलुप्त चित्सत्ता मृत्युभ्रम के अनन्तर तुरन्त ही दृश्य को देखती है ॥३०॥ जैसे जलकणों की लहरें, मेघ और दिग्भ्रम होने पर दिशाएँ ये सब अनन्य होते हुए भी चिरकाल तक निरन्तर सर्वथा अन्यवत् प्रतीत होते हैं, वैसे ही अभिन्न परम ब्रह्म में शिला के अन्दर की रेखाओं की तरह सृष्टियाँ स्फुरित होती हैं। उनमें जाग्रत, स्वप्न आदि का कैसे संभव है ? ॥३१,३२॥ हे व्याध, यह आत्मस्वरूप, जो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति स्वरूपवाला और उनसे विपरीत तुरीयावस्था स्वरूपवाला तथा आकार रहित होकर भी रूप शरीर धारण करता हुआ शून्य इस चिद्वपु से और शून्यरूप ही दृश्य से आकाशरूप छिद्र को व्याप्तकर स्थित है तथापि आकाशात्मक चिन्मात्र यह अपने शुद्ध चिन्मात्र रूप से तनिक भी भिन्न नहीं है। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, अन्यान्य लोक, मेघ आदि भूत भौतिक सहित दृश्य (जगत्) सृष्टि के आदि में भी दूसरे किसी भी कारण का प्रमाणों द्वारा अनुभव न होने से केवल हिरण्यगर्भचित्तात्मक है। चित्तरूप मनोरथरूप इसके नामरूपों का अस्तित्व न होने से यह नाम से वर्जित (रहित) ही है बोधशरीरवाले मन के साक्षी से संयुक्त ही है। अन्त में मन का विलय होनेपर सारा का सारा दृश्य वेदनमात्र ही है, अन्य वस्तु नहीं है ॥३३,३४॥

एक सौ अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ उनचासवाँ सर्ग

पूर्वोक्त स्वप्न वृत्तान्त के सिलसिले में घर में आये हुए किसी अन्य मुनि के मुँह से श्रुत बहुत से लोगों के तुल्य (एक से) सुख, दुःख आदि के निमित्त का मुनि द्वारा कथन।

व्याध ने कहा : हे महामुनिजी, आपके प्रलय आदि सैकड़ों महावृत्तान्तों के साथ अनेक सृष्टियाँ (संसार) शान्त हो चुके थे ऐसे आपका जब गृहस्थाश्रम में पुत्र-भार्या, बन्धु-बान्धव और इष्ट-मित्रों के साथ समागम हुआ तब वहाँपर अनुभव में आ रहे जगत् का क्या हाल हुआ, उसका तत्त्व कृपया मुझसे कहिये ॥१॥ मुनि ने कहा : हे सदाचार में स्पृहा रखनेवाले, हे साधो व्याध, उसके पश्चात् उस प्राणी के हृदयस्थित ओज में उस समय जो अपूर्व वृत्तान्त हुआ, उसे तुम सुनो। उक्त ओज में बैठने से मेरा आत्मज्ञान का सारा वैभव विस्मृत हो गया। ऋतु, वर्ष आदिरूप समय चक्कर काट काटकर बीतने लगा। स्त्री-बच्चों पर अतिअनुराग रखनेवाले तथा आत्मा का कभी मनन न करनेवाले मेरे वहाँपर गृहस्थाश्रम में सोलह वर्ष बीत गये ॥२-४॥ इसके बाद किसी समय महातपस्वी आत्मज्ञानी मननशील कोई संमान्य विद्वान अतिथि के रूप में मेरे घर पधारे। मैंने उनका खूब आदर सत्कार किया, उससे प्रसन्न होकर उन्होंने भोजन किया और तदनन्तर आराम किया। मैंने बहुत से लोगों के तुल्य सुख-दुःख के क्रम का विचार कर उनसे यह पूछा : हे भगवन्, चूँकि आप महाज्ञानी हैं, जगत् की सब गतिविधियाँ जानते हैं, क्रोध का तो आपमें नामनिशान भी नहीं है तथा विषयसुख-लेश में आपकी तनिक भी आसक्ति नहीं है। जैसे शरद् ऋतु में फलार्थी किसानों को धान आदि अन्न प्राप्त होते हैं, वैसे ही कर्मशाली जीवों के शुभ अशुभ कर्मों से सुख और दुःख प्राप्त होते हैं। तो क्या ये सभी लोग साथ ही अशुभ कर्म करते हैं जिससे कि इन सबके भक्ष्य और अभक्ष्यों को हड़प जानेवाले दुर्भिक्ष आदि दोष साथ ही आते हैं ? दुर्भिक्ष, अनावृष्टि, उल्कापात आदि उपद्रव, जो सब भक्ष्य, अभक्ष्य आदि को हड़प जाते हैं, सब लोगों के साथ ही होते हैं, तो क्या संपूर्ण जनराशि का समान ही दुष्कर्म फलित होता है ? ॥५-१०॥ मेरा यह प्रश्न सुनकर, मेरी ओर देखकर, विचारकर मुस्करा रहे उन मुनि महाराज ने अन्यमनस्क से होकर अमृत के झरने के समान मनोहर श्लाघ्य वचन कहा ॥११॥ समागत अन्य मुनि ने कहा : हे साधुवर, अन्तःकरण के यह चित् है, यह अचित् है, ऐसे विवेक से सम्पन्न होनेपर इस दृश्य का जो सत् या असत् कारण है उसे आप भलीभाँति जानते हैं। उसे किससे जानते हैं, यह आप मुझसे कहिये ॥१२॥

उक्त विषय में विवेक की सामर्थ्य न होने से मुझे चुप हुए देखकर उन मुनि महाराज ने पूर्वजन्मों के सब वृत्तान्तों के साथ उनके साक्षी आत्मा का स्मरण कीजिये, यह कहा, ऐसा कहते हैं।

आप कौन हो और कहाँ पर स्थित हो, सम्पूर्णतः आत्मा का स्मरण कीजिये कहाँपर हूँ यह दृश्य क्या है क्या यह सारभूत वस्तु है और क्या असार ही है ? ॥१३॥ हे मुने, अलीक (मिथ्या) यह सब केवल स्वप्नमात्र का भान है ऐसा आप क्यों नहीं जानते, क्योंकि मैं आपके लिए स्वप्न नर हूँ और आप भी मेरे लिए स्वप्न पुरुषतुल्य हैं ॥१४॥ यह जगत् निराकार, नामरहित, आदिरहित, कल्पनाशून्य चिन्मात्ररूप काँच की चमक रूप से (जगमग रूप से) स्थित है ॥१५॥

सहज चिन्मात्ररूप स्वाध्यस्त में वेदनानुसार सत्त्वादि का निर्वाहक है, ऐसा कहते हैं।

सर्वव्यापक इस चिन्मात्र का ऐसा स्वाभाविक रूप है कि जहाँपर यह जैसा जानता है वहाँ पर वैसा ही हो जाता है ॥१६॥

इसीलिए सब वस्तुएँ सकारण हैं अथवा अकारण हैं इत्यादि वादों की भी उसकी कल्पना के अनुसार ही व्यवस्था है, ऐसा कहते हैं।

जब यह सब वस्तुएँ सकारण हैं ऐसी कल्पना करता है तब सब कुछ सकारण है जब यह सब अकारण ही है ऐसी कल्पना करता है तब सब अकारण ही है ॥१७॥

समष्टि व्यष्टिभाव की कल्पना ही हमारे चित् के अधीन है, ऐसा कहते हैं।

जिस प्राणी के हृदयवर्ती ओज में हम लोग स्थित हैं वह इन प्रजाओं का यानी हमारा विराट आत्मा है। वह हमारी चित् की कल्पना से ही विराट्भाव को प्राप्त हुआ है। अपनी कल्पना से तो औरों के समान व्यष्टि ही है ॥१८॥ इस प्राणी के समान दूसरा भी प्राणी अन्य प्रजाओं का विराट आत्मा होगा ऐसी संभावना होती है। उस देह में वही सुख-दुःख, सम्पत्ति, विपत्ति, पुण्य-पापरूप कर्म आदि का भोक्तारूप से कारण है ॥१९॥

सब लोगों के दुर्भिक्ष, अनावृष्टि आदि सर्वसाधारण दुःख तो जो जिसका स्थूल समष्टिरूप विराट है उसका धातुविकार भेद ही निमित्त है, ऐसा कहते हैं।

विराट के विषम स्पन्द आदिवाले धातुविकार से विराट के अंग के अवयवरूप इस जनसमूह का समान दुर्भिक्ष, अनावृष्टि और प्रलय आता है अथवा शान्त होता है, क्योंकि विराट् की जो सत्ता है वही इस सर्ग की सर्गता है ॥२०,२१॥

उन प्राणियों का एक ही समय में परिपाक को प्राप्त हुआ दुष्ट कर्म भी उसमें है, ऐसा कहते हैं।

हे सत्पुरुष, विराट् में सब प्राणियों के कुछ दुष्कर्मों के रहनेपर जैसे अनेक पेड़ोंपर वज्र गिरता है वैसे ही अनेकों पर एकसाथ दुःख आदि का पहाड़ गिरता है ॥२२॥

वैसा कर्म यदि चिति से ही पहले कल्पित होता है, तो चिति उक्त कर्मफलभागिनी होती है अन्यथा नहीं होती है, ऐसा कहते हैं।

कर्म-कल्पना से चिति कर्मफलभागिनी होती है यदि चिति कर्मों की कल्पना से निर्मुक्त हो तो कर्मफलभागिनी नहीं होती ॥२३॥ जहाँ पर जो जो कल्पना थोड़ी या घनी जैसी उदित होती है वहाँ वह वह कल्पना वैसी ही सहेतुककी कल्पना से सहेतुक और अहेतुककी कल्पना से अहेतुक होती है ॥२४॥

केवल सहेतुक मानने से ही स्वप्न में घड़े आदि की सहेतुकता नहीं हो जाती इसलिए निर्हेतुक जगत् की सिद्धि न होने से परमार्थतः चिन्मात्र ब्रह्म ही है, ऐसा कहते हैं।

स्वप्न के नगर में सहकारी कारण आदि कोई कारण नहीं है, इसलिए वह (स्वप्ननगर) आदि अजर चेतन मंगलमय परम ब्रह्म ही है ॥२५॥ यह स्वप्नभ्रम कोई तो बिना कारण के ही प्रतीत होता है चूँकि सत् असत् रूप है, अतएव शून्य (मिथ्याभूत) है ॥२६॥

स्वप्नजगत् में उक्त न्याय तुल्य प्रतीति होने के कारण ही जानना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

स्वप्न की सकल प्रतीतियों का काकतालीय के समान भान होता है उन्हींके तुल्य होने के कारण

यह विस्तृत जगत् चित् या स्वप्न से भिन्न नहीं है ॥२७॥

यहाँ जिसकी सकारण रूप से प्रसिद्धि है वह सकारण कहा जाता है और जो अकारण रूप से प्रसिद्ध है वह अकारण कहाता है ॥२८॥ स्वप्न में कार्य–कारणरूप क्रम से उदित वस्तु केवल चिति का भान ही है ऐसा निर्णय जाग्रत्‌नामक स्थूल प्रपंच का भी समान ही है। इस कारण ब्रह्मवेत्ताजन सारा–का–सारा प्रपंच परम ब्रह्म ही है, ऐसा जानते हैं ॥२९॥

यदि कोई शंका करे कि सत्य ब्रह्म ही सब पदार्थों का कारण हो, सत्य कारण से उत्पन्न होने के कारण वे भी सब सत्य हों। ऐसी अवस्था में सब कुछ ब्रह्म ही कैसे अथवा ब्रह्मअद्वैत कैसे ? इस पर कहते हैं।

हे महामते, उक्त शंका का उत्तर आपसे कहता हूँ, आप सुनें। वे पदार्थ कौन हैं जिन्हें आप सत्य कारणवाले मानते हैं ? स्वभावों के सत्य कारण से आप का क्या मतलब है ? क्या सत्य स्वभाववालों का सत्य कारण आपको अभीष्ट है या मिथ्या स्वभाववालों का सत्य कारण ? क्या सजातीयों का सत्य कारण आपको अभीष्ट है या विजातीयों का सत्य कारण ? प्रथम दोनों पक्षों में ब्रह्म से ब्रह्म ही उत्पन्न होगा न कि जगत्। दूसरे दोनों पक्षों में ब्रह्म से उत्पन्न की सत्यतासिद्धि न होगी, यों जगत् की अकारणता ही सिद्ध हुई फिर आपने क्या सिद्ध किया ? पूर्वोक्त सभी पक्षों में हम आपसे पूछते हैं। यहाँ आकाश का क्या कारण है ? प्रथम दोनों पक्षों में आकाशपदवाच्यता अवच्छेदक विलक्षणता की असिद्धि है दूसरे दोनों पक्षों में उसकी सत्यता की असिद्धि है ॥३०॥ तथा पृथिवी आदि घनपिण्डरूप सृष्टि का क्या कारण है ? अविद्या का क्या कारण है और ब्रह्म का क्या कारण है ? सृष्टि के आदि में वायु का, जल का क्या कारण है, तेज का क्या कारण है ? वेदन से अतिरिक्त इनका कोई दूसरा स्वरूप न होने से ये वेदनमात्ररूप वाले हैं। कोई साधन न होने से ही ये असिद्ध है, अतएव आकाशात्मक (शून्यरूप) हैं। और मरे हुए लोगों का पिण्डग्रहरूप देहप्राप्ति में क्या कारण है ? सब सृष्टियाँ पहले से इसी तरह अकारण होती चली आ रही हैं ॥३१–३३॥

इससे सिद्ध हुआ कि सकल सृष्टियाँ अकारण और भ्रमरूप है, ऐसा कहते हैं।

जगत् में सकल सृष्टियाँ यों ही होती चली आ रही हैं। चिरकाल तक देखने से भ्रान्तिदृष्टि से जैसे आकाश में केशों के गोले घूमते दिखाई देते हैं वैसे ही ये सृष्टियाँ जगत् में राशि–राशि रूपसे चक्कर काटती हैं ॥३४॥ इसी तरह प्रवृत्त हुई हिरण्यगर्भरूपी सृष्टिने पीछे पृथिवी आदि रूपवाले अपने स्वरूप की ही पृथिवी आदि संज्ञाएँ की। अतएव पहले सृष्टियाँ चिदाकाश में वायु के स्पन्द की तरह तथा मनोराज्य की तरह अत्यन्त सूक्ष्मरूप से प्रतीत होती हैं चिरकाल के अभ्यास से स्थूल बनकर देह, कर्म आदि कारणों की कल्पना करती हैं ॥३५,३६॥ प्रथम कल्पना में जिस पदार्थ की जैसी कल्पना की जाती है वह वैसा शरीर धारण करता है वही नियति बनती है। चूँकि कल्पित चिति का ऐसा यह निज स्वभाव है। अपने से कल्पित पदार्थों में यह बात अनुभवसिद्ध है, यह भाव है ॥३७॥

जिस जिस भानरूप स्वरूप का सृष्टि के अनुकूल हिरण्यगर्भ की चिति ने पहले चित् में ही अपने आप 'मैं ही अमुक हूँ' ऐसा संकल्प किया वह आज भी वैसा ही स्थित है ॥३८॥

आदि कल्पना को उलटना महान् पुरुषों के महान् प्रयत्नों से कदाचित् हो सकता है, ऐसा कहते हैं।

फिर उससे उत्कृष्ट तपस्या आदि महान अन्य प्रयत्नों से वही चिति उसको उलटने में समर्थ

होती है ॥३९॥

कहीं पर जैसे कि दूध आदि में दधिभाव की प्राप्ति के लिए जमावन, समय, गर्मी आदि कारण की कल्पना की जाती है, वायु आदि के घनीभाव, तरलता आदि के लिए उसकी कल्पना करना शक्य नहीं हैं ऐसा कहते हैं।

जहाँ पर विद्वान द्वारा कारण की कल्पना की जाती है वहाँ पर कारणरूप सार है जहाँपर कारण की कल्पना नहीं की जाती वह अकारण है ॥४०॥ अज्ञानवश विस्मृत यह जगत् असत् होता हुआ ही पहले आँधी के बवंडर की तरह प्रकाश में आया। जैसे प्रकाश में आया वैसा ही अद्यावधि स्थित है ॥४१॥

जो मैंने महामुनि से यह पूछा था कि क्या ये सब लोग एकसाथ ही अशुभ कर्म करते हैं ? इसी का उत्तर देते हुए उपसंहार करते हैं।

कोई जीव साथ मिल-जुलकर भी शुभ-अशुभ पुण्य-पाप कर्म करते हैं उसका फल भी वे मिलजुलकर ही पाते हैं। लेकिन कोई हजारों जीवन्मुक्त पुरुष (मैं कर्ता हूँ) इस प्रकार के अभिमान से शून्य होने के कारण अकर्ता होने पर भी जैसे पर्वतशिखर के पत्थर पाप किये बिना ही वज्रपात का अनुभव करते हैं वैसे ही अकारण ही दुःख पाते हैं ॥४२॥

एक सौ उनचासवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पचासवाँ सर्ग

मुनि के वचनों से आत्मज्ञान, मुनि के साथ अपनी स्थिति,
पूर्व देह में गमन की अशक्ति का प्रश्न होने पर देह के दाह आदि का वर्णन।

मुनि महाराज ने कहा : हे व्याध, उस समय इस तरह की युक्ति से उन मुनिजी द्वारा यह मैं उस भाँति बोधित हुआ जिससे कि ज्ञेय तत्त्व मेरी समझ में आ गया ॥१॥ उसके पश्चात् मैंने उनका पल्ला नहीं छोड़ा। चिर प्रार्थना, भक्ति, अनुगमन आदि गुणों से वशीभूत हुए उन मुनि महाराज ने आत्मविचारशून्य होने के कारण एक तरह से मृततुल्य (☗) मेरे घर में मेरी तरह ही निवास किया ॥२॥ जिन मुनि महाराज ने चन्द्रोदय के समान सुन्दर यह वचन मुझसे कहा था, देखो वे ये मुनि तुम्हारी बगल में ही बैठे हैं। मेरे अज्ञान को छिन्न-भिन्न करनेवाले तथा दृश्य के पूर्वापर का ज्ञान रखने वाले इन्हीं मुनि महाराज ने, जो मूर्तिधारी मेरे यज्ञादि पुण्य के समान हैं, प्रार्थना के बिना यह उत्तम वचन मुझसे कहा ॥३,४॥ अग्नि ने कहा : हे विपश्चित्, उस समय मुनि का वह वचन सुनकर बेचारा व्याध स्वप्न में उद्भूत आपको उपदेश देनेवाले मुनि महाराज इस समय मेरे प्रत्यक्ष कैसे हो सकते हैं ? ऐसी असंभावना से मारे आश्चर्य के अप्रतिम हो गया ॥५॥

व्याध अपनी असंभावना को स्पष्टतया कहता है।

व्याध ने कहा : हे मुनिवर, महान आश्चर्य की बात है, संसार-दुःख का विनाश करनेवाले आपने

(☗) वृद्धों ने कहा है - 'गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा। न विचारपरं चेतो यस्याऽसौ मृत उच्यते ॥' चलते-रुकते अथवा सोते-जागते जिस पुरुष का चित्त तत्त्वविचार परायण नहीं रहता है वह मरा हुआ कहा जाता है।

यह अत्यन्त आश्चर्य आज मुझसे कहा है, जो कि मेरे मन में नहीं बैठ रहा है ॥६॥ हे मुनिवर, स्वप्न में अपने उपदेशकरूप से जिनका आपने मुझसे वर्णन किया था उनकी आप जाग्रत में प्रत्यक्षता कह रहे हैं और मैं भी प्रत्यक्षतः देखता हूँ यह विचित्र बात मेरी समझ में नहीं आ रही है ॥७॥ हे मुनिनायक, बालक के वेताल की तरह यह महान् स्वप्नपुरुष जाग्रत अवस्था में भी कैसे स्थिर हो गया ? इस तरह का आश्चर्यमय यह सारा आख्यान कृपया आद्योपान्त मुझसे कहिये। इस समय स्वप्नपुरुष का यह दर्शन किस निमित्त से हुआ, यह दर्शन किसका है अथवा यह स्वप्न है या जाग्रत है ? ॥८,९॥ मुनि महाराज ने कहा : हे महाभाग, तदुपरान्त यहाँ मेरी क्या आश्चर्यमय घटना हुई उसे सुनो। मैं संक्षेप में उसका वर्णन करता हूँ। तुम सहसा जल्दबाजी न करो। तुम्हारे समीप बैठे हुए इन मुनि महाराज ने वहाँपर उस समय मुझको प्रबुद्ध बनाने के लिए यह वाणी कही। इन महात्मा की उस सुन्दर वाणी से मैं तुरन्त प्रबुद्ध हो गया। तदुपरान्त इनकी उक्त वाणी से मुझे अपने अनादिसिद्ध सन्मात्ररूप निर्मल स्वभाव का वैसे ही स्मरण हो गया है जैसे कि हेमन्तऋतु के बीतनेपर आकाश को अपने निर्मल स्वभाव का स्मरण होता है ॥१०–१२॥

उसके बाद मुझे अपने पहले के मुनिभाव का स्मरण हो आया, ऐसा कहते हैं।

तदनन्तर अहा यह मैं पहले मुनि था, ऐसा मेरा ख्याल हो आया फिर तो जमे हुए प्रचुर आश्चर्यवश हृदय से स्नान किया हुआ–सा मैं आर्द्र हो गया ॥१३॥

अपनी उस गृहस्थाश्रम अवस्था पर शोक करते हैं।

अहो, जैसे थकावट से चूर चूर हुआ प्यासा अज्ञानी पथिक जल के लिए भटकता हुआ मिथ्याभूत मृगतृष्णा से दुःखी होता है, वैसे ही विषयभोग की आसक्ति से मैं इस अवस्था को प्राप्त हुआ हूँ॥१४॥ ओह, जैसे केवल भ्रमरूप वेताल से बालक छला जाता है वैसे ही दृश्य की उपलब्धि से, जो कि केवल भ्रान्तिमात्र है, ज्ञानवान् भी मैं छला गया हूँ, यह कम दुःख की बात नहीं है। ओह, विस्तार को प्राप्त हो रहे इस सर्वार्थशून्य (तुच्छातितुच्छ) मिथ्याज्ञान से (भ्रान्तिसे), मैं किस दशा को पहुँचाया गया हूँ, यह महान् आश्चर्य की बात है ॥१५,१६॥ अथवा जो 'सोऽहम्' (वह मैं हूँ) इस तरह की प्रत्यभिज्ञा का विषय तत्ता, अहन्ता आदि है, वह भी केवल भ्रान्ति ही है, सत्मय नहीं है। इस स्थिति में किसका आश्चर्य ऐसा नहीं कहना चाहिये। फिर भी जिस साक्षी द्वारा असद्रूप का स्वांग किया जाता है, उसमें सैकड़ों आश्चर्य हैं ही ॥१७॥ न तो मैं हूँ, न यह स्त्री है, न यह घर है और न यह भ्रम है – यह सब मिथ्या है फिर भी सत् की तरह स्थित है। यही महान् आश्चर्य है ॥१८॥ इस समय यहाँ मुझे क्या करना चाहिये। मेरे बन्धन को तोड़ डालनेवाला आभ्यन्तरिक ब्रह्माकारवृत्तिरूप अंकुर है। लेकिन वह भी तो छेद्य ही है, इसलिए तब तक उसी का परित्याग करता हूँ ॥१९॥

जगद्भ्रान्ति तो अविद्या होने से विद्यावृत्ति से ही उच्छिन्न हो ही गई, अतः वह इस समय त्याज्य नहीं है, ऐसा कहते हैं।

यह जगद्भ्रम मिथ्यारूप अविद्या ही है इससे क्या हानि है। इस असद्भ्रान्ति का विद्यावृत्तिरूप भ्रान्ति से मैं अभी त्याग कर ही चुका हूँ॥२०॥ यहाँ ये उपदेशक मुनि महाराज भी केवल भ्रान्तिरूप ही हैं। ये उपदेश देनेवाले मुनिजी मुझ शिष्य की तरह ब्रह्मरूप ही हैं, यानी ब्रह्म ही गुरु, शिष्यरूप से

प्रतीत होता है, अतः यहाँ त्याग करने योग्य अन्य वस्तु नहीं है। यह सब दृश्य दिन में देखे गये पुरुषाकार मेघ के समान क्षणभंगुर है ॥२१॥ इसलिए, ज्ञानसम्पन्न महामुनिजी से ऐसा सब मैं कहूँगा यह सोचकर मैंने वहाँ उन मुनिजी से यह कहा ॥२२॥

हे मुनिवर, मैं आश्रम में स्थित अपने मुनि-शरीर को और जिस प्राणी के शरीर को देखने के लिए प्रवृत्त हूँ उसे भी देखने के लिए बाहर जाता हूँ ॥२३॥ ऐसा सुनकर उन मुनिनायक ने उस समय हँसते हुए मुझसे कहा : वे दोनों शरीर कहाँ हैं ? वे दोनों दाह से भस्म होकर बहुत दूर चले गये हैं ॥२४॥ हे वृत्तान्तअज्ञ, अथवा जाओ, स्वयं जाकर अपने आप ही उस वृत्तान्त को देखो। जैसी घटना हुई है उसे देखो, देखकर अन्त में जान जाओगे ॥२५॥ मुनि महाराज के यह कहनेपर अपने पुराने शरीर का खयालकर वहाँ जाने के लिए मैं तैयार हुआ। वहाँ जाने की इच्छा से मैंने स्वप्नभूत सत्ता से पार्थिव शरीर ही मैं हूँ यों कल्पना से प्राप्त रूप का त्याग कर प्राणों से उपहित चिदात्मरूप अपने जीव को प्राण द्वारा पवन से संयोजित किया ॥२६॥ हे मुनिमहाराज, जब तक मैं अपने पुराने शरीर को देखकर लौटता तब तक आप कृपया यहीं रहें, यह कहकर मैं वायु में प्रविष्ट हुआ ॥२७॥ इसके बाद वायुरूपी रथपर सवार होकर फूलकी सुगन्ध की तरह मैंने आकाश में चिरकालतक त्वरा से भ्रमण किया। अन्त को न प्राप्त होकर फिर मैंने चिरकालतक भटककर निरन्तर चलते चलते बाहर निकलने का मार्ग उस प्राणीका गले का छेद या अन्य द्वार नहीं पाया। तब वाताशय में बैठा हुआ मैं खेद को प्राप्त हुआ। तदुपरान्त अपने बन्धनस्तम्भरूप स्वगृह में फिर आये हुए मैंने इन उत्तम अपने गुरु मुनि को अपने आगे पाया। तदुपरान्त सावधान होकर घर में मैंने गुरुजी से यह पूछा : हे पूर्वापर जानने वालों में श्रेष्ठ गुरुवर, आप ज्ञानचक्षु से जैसा हुआ हो वैसा ही उत्तम रीति से देखते हैं, इसलिए कृपया कहिये कि यह क्या हुआ ? जिसके शरीर में प्रविष्ट हुआ था, वह प्राणी और मेरा शरीर वे दोनों कहाँ गये ? क्यों मुझे प्राप्त नहीं हुए ? मैंने स्थावरपर्यन्त अपने विस्तारपूर्ण संसारमण्डल में चिरकाल तक भ्रमण किया फिर भी बाहर निकलने का मार्ग गले का छिद्र मुझे नहीं मिला ? ॥२८-३४॥ यह सब मैंने मुनि के समीप जाकर उनसे पूछा। महाशय मुनि महाराज ने मुझसे कहा : हे कमलनयन, शरीर का वृत्तान्त मुझसे उपदिष्ट उपाय के बिना ही तुम स्वयं अपनी बुद्धि से कैसे जान गये ? ॥३५॥

तो उसके दर्शन का क्या उपाय है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

यदि तुम योग से एकाग्र बुद्धि से इसका स्वयं अवलोकन करते हो तो ज्ञानदृष्टि से इसे हाथ में स्थित कमल के समान सम्पूर्णतः देखते ही हो। फिर भी यदि मेरे वचन से इसे सुनने की तुम्हारी इच्छा है तो सुनो, जैसी घटना घटी है उसे आद्योपान्त सम्पूर्णतया तुमसे कहता हूँ ॥३६,३७॥

पहले तुम अपने जीवतत्त्व को समझो, उसके बाद मैं तुम्हारे पूर्वशरीर का वृत्तान्त कहूँगा। ऐसा सोच रहे मुनिजी व्यष्टिजीवभाव मिथ्या है समष्टिजीवभाव ही सत्य है यह 'त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' इस श्रुति से प्रदर्शित न्याय का अवलम्बन कर कहते हैं।

तुम जैसा कि अपने को समझते हो वैसे व्यष्टिजीवरूप नहीं हो, किन्तु सकल प्राणियों के तपरूपी कमलों को विकसित करने में सूर्यरूप, सकल कल्याणों के (मानुष आनन्द से लेकर प्रजापत्य आनन्दपर्यन्त सुखों के) कमलाकर के समान समष्टिरूप हरि भगवान् के नाभिकमल की कर्णिका यानी

कर्णिका में आरूढ़ सर्वजीव समष्टिरूप हिरण्यगर्भ ही हो ॥३८॥

तो मेरा व्यष्टिभाव कैसे हुआ और उसमें (व्यष्टिभाव में) ये सकल भ्रान्तियाँ कैसे आई ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

व्यष्टिभावरूप स्वप्न को देखने की इच्छा से किसी समय मनोरथरूप तप में बैठे हुए तुम आश्रम में तपस्वी हुए। वहाँ पुष्ट हुई व्यष्टिभावबुद्धि से अन्य के शरीर के अन्दर स्वप्नादि–कौतुक को देखने की इच्छा से किसी जीव के हृदय में प्रविष्ट हुए ॥३९॥ तुमने जीव के हृदय में प्रविष्ट होकर वहाँ यह विस्तारयुक्त त्रिभुवन देखा था, जिसका पृथिवीलोक और स्वर्गलोक महान् उदर है। इस रीति से जब तुम परकीय शरीर के अन्दर स्वप्न देखने में व्यग्र थे तब तुम्हारे शरीर में और उस महावन में सोये हुए उस प्राणी के शरीर में, जिसके अन्दर तुम प्रविष्ट थे, भयंकर आग लग गई। उस आग का क्या कहना था, धुएँ से धुमैले मेघरूपी वस्त्रों को ओढ़ा हुआ आकाश ही उसका चँदवा था, चमक रहीं और जोर से घूम रही लाठियों के चक्करों से उसने अनेक सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डल बना डाले थे। नीले आकाशखण्ड और दिशाओं की आचरण द्वारा रक्षा करनेवाले जले हुए मेघोंपर भस्म से भरे हुए धूम्र के मेघरूपी काले कम्बलों द्वारा, उक्त अग्नि ने आकाश को आच्छन्न कर दिया था ॥४०–४३॥ अग्नि से गुफारूपी घर से बाहर निकले हुए सिंहों की दहाड़रूपी डाँट–फटकारों तथा साफ–साफ सुनाई दे रहे चट–चट शब्दों से उसने दिगन्तरालों में रहनेवाले लोगों को बहरा बना दिया था ॥४४॥ चारों ओर से आग से घिरे होने के कारण अग्निवृक्ष से बने हुए ताल, तमाल आदि वृक्षपंक्तियों के तड़ातड़ गिरने से तथा उत्पात अग्नि के समान और उत्पात मेघ के समान उनके फटने के कोलाहल से वह अग्नि निबिड़ हो गई थी ॥४५॥ दूर देशों में स्थित लोगों ने उक्त अग्नि को यह स्थिर बिजली है ऐसा देखा। वह आकाश को गलाए हुए सोने के रससे लीपे हुए फर्शसा दिखलाती थी। निकल रही चिनगारियों से आकाश के तारों को दुगुना बना रही थी और उन्हीं चिनगारियों से आकाश में वक्षस्थल में स्थित ज्वालारूपी बालवनिता के नयनों को आनन्द देनेवाले कटाक्षों से आनन्द देती थी ॥४६,४७॥ ज्वालाओं के धाँय धाँय शब्दों से आकाश के मध्यभाग को उसने गुँजा दिया था और गुफारूपी गृह से निकले हुए निद्राविहीन वनचरों को भ्रम में डाल दिया था ॥४८॥ आधे जले हुए सिंह, बाघ और पक्षी उसमें इधर–उधर भाग रहे थे, तालाब और नदियों के खौलते हुए जल में उसने उत्कट वनचरों को पका डाला था ॥४९॥ चारों ओर से घेर रही ज्वालाओं से जल रहीं बालचमरियों से वह बड़ी भली दिखाई देती थी। जल रहे वन्य जीवों की वसा की गन्ध से उसने बादलों को आवृत्त कर दिया था। प्रलयाग्नि के समान भीषण फैल रही पूर्वोक्त वनाग्नि ने रेंग रहे साँप की तरह आपके आश्रम के साथ आपका शरीर और उस प्राणी का शरीर जला डाला ॥५०,५१॥ व्याध ने कहा : हे मुनिवर, वहाँपर उक्त अग्निदाह का क्या कारण उपस्थित हुआ ? वह वन और वे आपके शिष्यगण सबके सब एक साथ कैसे नष्ट हो गये ? ॥५२॥ मुनि ने कहा : हे व्याध, जैसे संकल्प के नाश और उदय में संकल्प करनेवाले पुरुष का मनस्पन्द ही कारण है, वैसे ही त्रिजगत्का संकल्प करनेवाले विधाता का तुरन्त प्रवृत्त हुआ मनस्पन्द ही त्रिजगत् है। उसके विनाश और उदय में भी उसका मनस्पन्द ही हेतु है। जैसे लोक में हृदय में भय आदि वश क्षोभ, अक्षोभ (शान्ति) आदि में तुरन्त प्रवृत्त हुआ मन का स्पन्द

ही कारण है वैसे ही तीनों जगतों के क्षोभ और अक्षोभ में (शान्ति में) वही (हिरण्यगर्भ का मनस्पन्द ही) हेतु है। चूँकि यह जगत् विधाता स्वप्ननगर ही है अतएव उनके मनका स्पन्द ही प्रजा जनों के उदय, क्षय, क्षोभ, वृष्टि, अनावृष्टि आदि का कारण है ॥५३-५५॥ ब्रह्माजी का मानस संकल्प ही इस समष्टि त्रिलोक का कारण है। वह समष्टि त्रिलोक भी अन्य चिदाकाश में कल्पित है तथा वह भी दूसरे चिदाकाश में कल्पित है, इस प्रकार मायाशबल चिदाकाश की कल्पना की परम्परा का अन्त नहीं है। निष्कृष्ट दर्शन में तो चिदाकाश में चिदाकाश की शोभा ही विकसित होती है यों विद्वानों की निर्मल दृष्टि है लेकिन मूर्खों की आपात दर्शनरूप यह दृष्टि जैसी भासती है तन्मयी ही है परमार्थ में वह सत् नहीं है यानी अलीक (मिथ्या) ही है ॥५६,५७॥

एक सौ पचासवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ इक्यावनवाँ सर्ग

मुनि के आश्रम के साथ पूर्वोक्त दोनों शरीर भस्म कर चुकी अग्नि और भस्म की वायु द्वारा शान्ति तथा स्वप्न में जाग्रत् की स्थिति का वर्णन।

अन्य मुनि ने कहा : मुने, वहाँपर वे दोनों शरीर, आश्रम, नगर, वे सब घर और सब पेड़ सबके सब अग्नि द्वारा सूखे हुए तिनके के समान झटपट राख बन गये ॥१॥ और अत्यन्त सन्ताप से जिसकी शिलातक चटक गई थी ऐसे उस आश्रम में विद्यमान तुम्हारे सोये हुए दोनों शरीर भस्म हो गये। सम्पूर्ण वन को पूर्णरूप से जलाकर वह आग जैसे सारे समुद्र को पीकर अगस्त्यजी विरत हुए वैसे ही पहले अंगारमात्र शेष होकर शान्त हुई तदुपरान्त अदृष्ट हो गई ॥२,३॥ उक्त अग्नि के अदृश्य होनेपर वायु पहले दीप्त फिर शीतल हुई भस्मराशि को पुष्पराशि की तरह कण कण करके सबकी सब उड़ा ले गया ॥४॥ उसके उपरान्त न मालूम वह आश्रम कहाँ गया और यह भी नहीं मालूम होता है कि वे दोनों शरीर कहाँ गये। बहुत से लोगों का पिटारीरूप निवासस्थान वह नगर जाग्रत्पुरुष के स्वप्ननगर की तरह न मालूम कहाँ चला गया ॥५॥ जब इस तरह आपका तथा उस प्राणी का शरीर अभाव को प्राप्त हो गया तब आप स्वप्न के भ्रम से ग्रस्त थे और अब स्वप्नमय शरीररूपसे आपकी संवित् स्फुरित होती है। इसलिए (जलने के कारण) कहाँ बाहर निकलने का द्वारभूत उसका गले का छिद्र, कहाँ आपका वह विराट् पुरुष प्राणी क्योंकि ओज के साथ ही जले हुए उसका ओज सहित ही तुच्छ शरीर जलकर राख हो गया ॥६,७॥ हे मुने, इस कारण आपको वे दोनों शरीर प्राप्त नहीं हुए। आप जिसका कोई पारावार नहीं है ऐसे स्वप्नसंसाररूपी इस जाग्रत् में स्थित हैं ॥८॥

जाग्रत और स्वप्न का भेद नहीं है, ऐसा जो पहले कहा था, उसका हमने स्पष्ट निर्देश कर दिया इस आशय से कहते हैं।

हे सुन्दर आचरणवाले मुनिजी, इस तरह आपका यह स्वप्न ही जाग्रत् बन गया। यहाँ हम सब लोग आपके स्वप्नपुरुष हैं। आप हमारे स्वप्नपुरुष है और हम आपके स्वप्नपुरुष हैं। यह चिदाकाश ही सर्वदा (तीनों अवस्थाओं में)अद्वितीय स्वभाव में स्थित है ॥९,१०॥ पहले स्वप्नपुरुष होते हुए भी जबसे आपको मैं जाग्रत्पुरुष हूँ ऐसी प्रतीति हुई तब से जाग्रत पुरुष बनकर गृहस्थाश्रम में स्थित

हैं ॥११॥ जैसे घटना घटी थी वह मैंने आद्योपान्त सम्पूर्ण आपसे कही। यदि मेरे कथन पर सन्देह हो तो आप भी ध्यान से इस अनुभूत दृश्य को स्वयं पूर्ण रूप से देखेंगे। इस तरह आदि मध्य रहित अनन्तरूप यह संवित्–घन चिन्मयात्मा ही अपनी विकसनशक्ति के उछाल से चंचल शरीर होकर अपने में दुष्कर्मों के फलरूप खराब, सत्कर्मों के फलभूत उत्तम और मिश्रित कर्मों के फलभूत मिश्रित विकासरूप सृष्टियों द्वारा आकाश में सुनहले प्रकाश की भाँति विकसित होता है, अन्य नहीं ॥१२,१३॥

एक सौ इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बावनवाँ सर्ग

अन्य मुनि द्वारा मुनिजी की स्वप्नपदार्थों की सत्यता–शंका का निवारण।

मुनि ने कहा : हे व्याध, यह कहकर रात्रि के समय वह मुनिमहाराज अपने बिस्तर पर चुप हो गये। तदुपरान्त मारे आश्चर्य के मैं भी आँधी के बवण्डर में पड़ा हुआ–सा हो गया। तदनन्तर बहुत देर बाद सन्नाटा भंग करते हुए मैंने कहा : हे मुनिप्रवर, हे विभो, तब तो इस प्रकार सारा स्वप्न यथार्थ है ऐसा मैं समझता हूँ। *'मे मतिः' कहने से असंभावना द्वारा आश्चर्य प्रकट किया* ॥१,२॥ अन्य मुनि ने कहा : हे मुने, यदि जाग्रत् वस्तु सत् होती तो यह स्वप्नादि सत् है यों आश्चर्य होना ठीक था। किन्तु जहाँपर यह जाग्रत् दृश्य ही मिथ्याभूत है वहाँपर स्वप्न की सत्यता का क्या कहना है अर्थात् वह तो नितांत मिथ्याभूत है ॥३॥ जैसे स्वप्न का भान होता है वैसे ही आदि में इस जाग्रत् दृश्य का भी भान होता है। यह जाग्रत् पृथिवी आदि से रहित होनेपर भी पृथिवी आदि से युक्त प्रतीत होता है ॥४॥ हे व्याधमहागुरो (♨) इस प्रकार दृश्यमान आज के हम लोगों के स्वप्न से भी जाग्रत् के नाम से प्रसिद्ध सर्गरूपी स्वप्न निर्मल चैतन्यमात्रस्वरूप है यानी स्वप्न के बराबर भी उसका अस्तित्व नहीं है। हे कमलनयन (📖) इस विषय में आप उपपत्ति सुनिये ॥५॥ जाग्रतकाल में देखे गये पद और उसके अर्थ द्वारा बुद्धि में अपना संस्कार डालने से स्वप्नवाले आपको रात्रि में स्वप्न में स्वाप्निक शब्द और उसके अर्थकी प्रतीति हुई। संस्कार आदि की सामग्री होने से भले ही स्वप्न सत्य हो सकता है, किन्तु सृष्टि के आदि में प्रसिद्ध सर्गरूप स्वप्न पूर्वदृष्ट अर्थवाला होकर ही आकाश में विराजमान होता है। यानी चिरप्रलय का महान् व्यवधान होनेपर पूर्वानुभव संस्कार आदि का सर्वथा उच्छेद हो जाने से यह सर्गस्वप्न स्वप्न की अपेक्षा भी अति तुच्छ ही है। उसके बराबर भी इसका अस्तित्व नहीं है, यह उपपत्ति है, यह भाव है ॥६॥ इस प्रकार जाग्रत्–प्रपंच के अधिक मिथ्या होनेपर हे विभो, सारा स्वप्न सद्रूप है, यथार्थ है ऐसा मेरी समझ में आता है यों मतिपद से संदिग्धता–सी सूचित करते हुए क्यों कहते हो ? स्फुटरूप से अनुभूत इस स्वगृह का अनुभव कर मेरे उपदेश से फिर स्वप्नध्यान में आपका उद्यम कैसे हुआ ? क्योंकि कोई स्वप्न देखनेवाला यह स्वप्न मिथ्या है, ऐसा स्वप्न देखते समय नहीं जानता, यह तात्पर्य है ॥७॥

(♨) 'व्याधमहागुरो' यह सम्बोधन आपकी अपेक्षा भी मन्दबुद्धि व्याध को समझाने के समय आपको उपपादन श्रम ज्ञात होगा, यह सूचित करने के लिए है।

(📖) 'पुष्करपत्राक्ष' (कमलनयन) यह सम्बोधन केवल नेत्र के सौन्दर्य से यह विषय नहीं जाना जा सकता, यह सूचित करने के लिए दिया गया है।

जगत् का सत् रूप से ही अनुभव कर रहे आपके जगत् असत् है या नहीं इस सन्देह में कोई बीज भी नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हे मुने, जब आप इस प्रकार इस विस्तारयुक्त स्वप्न जगत् का स्पष्टरूप से यह सत् ही है, ऐसा अनुभव करते हैं तब उसमें 'है या नहीं है' यह सन्देह कैसे हो सकता है ? इसके बाद यह सब कह रहे उन मुनि महाराज के वचन-प्रवाह को एक दूसरा प्रश्न उपस्थित कर मैंने बीच में रोक दिया और उनसे पूछा : महाराज, मेरी व्याधगुरुता कैसे है, यानी मैं व्याध का गुरु कैसे हूँ कृपया मुझे बतला दीजिये ॥८,९॥ अन्य मुनिने कहा : हे महामते, मेरे इस आख्यान को सुनिये, मैं दूसरा आख्यान आपसे संक्षेप से कहता हूँ। मेरे विस्तारयुक्त व्याख्यान का तो अन्त मिलना भी कठिन है ॥१०॥ हे मुने, मैं दीर्घ तपस्वी हूँ और आप अत्यन्त धार्मिक हो। मैं जब तक आप व्याधगुरु होओगे तब तक यहीं पर हूँ, आप भी यह मेरा सत्य वचन सुनकर यहीं अपने घर पर ही रति को प्राप्त होओगे ॥११॥ यहाँ पर स्थित हुए मुझे अनुगमन, भक्ति आदि सत्कार से आप नहीं छोड़ेंगे मैं भी आप लोगों के साथ यहाँ पर रहूँगा, यह निश्चय है ॥१२॥ हे साधो, तदनन्तर कुछ वर्षों के बीतनेपर यहाँ तुम्हारे सब बन्धुबान्धवों का दुर्भिक्ष से विनाश हो जायेगा। उसी समय वैर, बल आदि से उन्मत्त हुए सीमाप्रान्त में स्थित छोटे-मोटे राजाओं के आपसी युद्ध से इस गाँव के अधिकांश प्राणी मर जायेंगे, बचे-खुचे थोड़े से जीव भी गाँव छोड़कर भाग जायेंगे उसके बाद आपस में एक दूसरे से आश्वासित अतएव दुःख का नाम निशान न जाननेवाले, शान्त विदितवेद्य (ज्ञातज्ञेय) होने के कारण दोनों एक से तथा सकल पदार्थों में निस्पृह, समान आचरणवाले हम दोनों यहीं एक निर्जन जगह में कहीं पेड़ों के झुरमुट के बीच चन्द्रमा और सूर्य के समान निवास करेंगे। हमारे निवास करने से इस अरण्य में समय बीतनेपर लता, वृक्षों का उत्तम वन उग जायेगा। वह शाल, ताल, लता के समूह से सारे भूतल को वेष्टित कर लेगा ॥१३-१७॥ उस वनका क्या वर्णन करूँ ? वह ताड़, तमाल के पत्तों के नाच से दिशाओं को अलंकृत करेगा, उसमें खिले हुए कमल वनों द्वारा नीचे चरणों को पकड़ने (छूने) के कारण वन्दनीय से वृक्ष फूलों से विकसित रहेंगे और मधुर ध्वनि कर रहे चकोरों के झुण्डों से उसके लता-निकुंज अत्यन्त मनमोहक रहेंगे। अधिक क्या कहूँ वह वन स्वर्ग से उतरा हुआ नन्दनवन-सा स्थायी होगा ॥१८॥

एक सौ बावनवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तिरपनवाँ सर्ग

व्याध के आगमन आदि की उक्ति से मुनि में व्याधगुरुता का समर्थन तथा
समय पर विवेक से सर्वैकात्म्यरूप विज्ञान का वर्णन।

अन्यमुनि ने कहा : हे मुनिवर, हम लोग उस वन में चिरकाल तक तप करते रहेंगे, तब मृगों का पीछा करने से थका हुआ व्याध आयेगा। उसे आप स्वभावतः पवित्र विविध कथाओं द्वारा उपदेश देंगे। वह विरक्त होकर उसी वन में तपस्या करेगा। तपस्वियों की चर्याओं के अभ्यास से शम, दम आदि साधन-सम्पत्ति के बाद वह व्याध आत्मज्ञान जानने की इच्छा से आत्मज्ञान की भूमिका के रूप से स्वप्न जिज्ञासु होकर स्वप्न कथा पूछेगा। उसके पश्चात आप स्वप्न के प्रसंग से उसके लिए अखण्ड

आत्म–ज्ञान का उपदेश देंगे। उसे ग्रहणकर वह योग्य हो जायेगा। इस प्रकार से आप उसके गुरु होंगे। इस कारण हे मुनिवर, मैंने आपको 'व्याधगुरो' इस सम्बोधन से पुकारा है। जिस प्रकार यह संसार भ्रम है, जैसा मैं यहाँपर हूँ और जैसे आप यहाँपर हैं एवं जो आगे आपका होनेवाला है वह सब मैंने आपसे कहा ॥१–६॥ इस प्रकार कहनेपर विस्मय से व्याकुल हुई बुद्धि से इस दृश्यजगत का विचार कर मैं और भी आश्चर्य को प्राप्त हुआ। इसके बाद रात्रि खुलनेपर प्रातःकाल के समय उन मुनि महाराज का मैंने ऐसा आदर सत्कार किया कि जिससे वे मेरे घर पर ही रह गये। उसके बाद तो उस अरण्यस्थित घर में और पूर्वजन्म के उस गाँव के घर में परस्पर प्रचुर प्रीतिवाले स्थिरबुद्धिसम्पन्न हम दोनों रहे। तदनन्तर ऋतु, वर्ष आदि रूप काल के बीतने पर जैसे पर्वत वनाग्नि, वृष्टि आदि का ग्रहण और त्याग करता है, वैसे ही मैं भी अनिष्ट, इष्ट और इष्टअनिष्टमिश्रित भावों का ग्रहण और त्याग करता हुआ स्थित हूँ। न तो मैं मरण की इच्छा करता हूँ और न जीवन की अभिलाषा करता हूँ। जैसे स्थित हूँ वैसे ही बिना सन्ताप के रहता हूँ। तदुपरान्त मैंने वहाँपर दृश्यमण्डल के विषय में विचार किया 'यह क्या है, क्या इसका कारण है ? और यह आत्मा इसको चित्त से क्या जानता है ?' एकमात्र चिदाकाशस्वरूपी स्वप्नसदृश जगत् में यह पदार्थसंघात क्या है और क्या इसका निमित्त कारण है ? चिदेकघन स्वभाव में स्थित चिन्मात्रआकाशरूप ही ये द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, विविध पर्वत, अनेक नदियाँ, दिशाएँ सबके सब विकास को प्राप्त है ॥७–१४॥ चित्‌रूपी चन्द्रिका चारों ओर जिस अवभास (प्रकाश) का विस्तार करती है वह यह जगत्‌रूप चित्र, जो कि स्थूल न होने के कारण प्रतिघात के योग्य स्वभाववाला नहीं है, आकाश में भासित होता है ॥१५॥

यदि कोई कहे कि पर्वत आदि स्थूल होने से प्रतिघात के योग्य हैं, वे अप्रतिघातस्वभाव कैसे होंगे ? इसपर कहते हैं।

न ये पर्वत हैं, न यह भूमि है, न यह आकाश है, न मैं ही हूँ ? यह सब केवल चिन्मात्रआकाश के स्फुरण का भान है ॥१६॥

यदि यह चिन्मात्र–कचन (स्फुरण) ही है तो इस पदार्थराशि का कोई कारण नहीं है, क्योंकि इसके शरीर ग्रहण और उसके हेतु अप्रसिद्ध हैं, ऐसा कहते हैं।

इस पदार्थराशि का शरीर ग्रहण में क्या कारण हो सकता है ? कारण के बिना भला किसी वस्तु का संभव हो सकता है ? ॥१७॥

तब यह भ्रान्ति ही हो, ऐसी आशंका कर भ्रान्तिपक्ष में भी निमित्त, द्रष्टा आदि का निरूपण संभव नहीं है, ऐसा कहते हैं।

यदि इसको केवल भ्रान्ति ही मानो, तो भ्रान्ति का क्या कारण है, उस भ्रान्ति का कौन द्रष्टा है, कौन मनन करनेवाला है, वह कैसा है और कहाँ है ? ॥१८॥ संविन्मात्ररूप मैं जिसके शरीर में प्रविष्ट होकर दृश्यवर्ती ओज में रहा वह प्राणी मेरे शरीर के साथ ही पूर्णतया भस्म हो गया ॥१९॥ इसलिए उसका शरीर, मेरा शरीर आदि का अस्तित्व न होने के कारण यह सब आदि अन्त शून्य चित् की आभारूप आकाश ही है। कर्ता, कर्म, और करण से विहीन क्रमशून्य यह चिद्‌घन ही है। यह घट, वस्त्र, दीवार आदि सब चिदाकाश का स्फुरण है। अतः घट, पट आदि स्पष्ट आकार धारण

करनेवाले कहाँ से हो सकते हैं ? ॥२०,२१॥

'यह चिन्मात्र का स्फुरण है' यह बुद्धि भी 'राहुका सिर' इस कथन के समान केवल विकल्पमात्र ही है, क्योंकि षष्ठीतत्पुरुष समास के प्रयोजक भेद और सम्बन्ध की प्रसिद्धि नहीं है, इस अभिप्राय से कहते हैं ।

यह चिन्मात्र का स्फुरण भी नहीं है, केवल चिन्मात्रआकाश है । उसका स्फुरण क्या और कैसा ? क्या आकाश का भी स्फुरण होता है, भला उसका स्फुरण कैसे होगा ? ॥२२॥ यह जगत् समुद्र के फेन की तरह चिद्रूप सागर का फेन है । इसका नवीन स्फुरण क्या होगा ? यह अनन्त चिद्घन परमात्मा स्फुरणस्वभाववाला ही स्थित है ॥२३॥ शुद्ध चिन्मात्र-स्फुरण वृद्धि को प्राप्त चिद्घन ब्रह्म ही इस जगत् के समान अवभासित होता है, ऐसी अवस्था में कहाँ दृश्य है और कहाँ द्रष्टृता है ? ॥२४॥ कालतः आदि अन्त से शून्य, असीम, देशतः आदि-मध्यहीन वस्तुतः एक अद्वितीय अतएव कारणरहित, कार्यरहित और कार्यकारण के अधीन प्राणियों से रहित, स्वतःसत्ताप्रधान स्वसत्ता से ही भुवन आदि की सत्ता का निर्वाह करने के कारण नाना अनानारूप-सा वाणी और मन का अगोचर जो विभु चेतन है, वही सब कुछ है, उससे अतिरिक्त अणुमात्र भी नहीं है ॥२५॥

एक सौ तिरपनवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चौवनवाँ सर्ग

मुनि द्वारा विचार से उत्पन्न अपनी जीवन्मुक्त स्थिति तथा
अभ्यासहीन व्याध की परम पद में अनवस्थिति का वर्णन ।

मुनिजी अपने विचार की फलभूत जीवन्मुक्तस्थिति का विस्तार से वर्णन करते हैं ।

मुनि ने कहा : हे व्याध, इस प्रकार निर्णय करके मैं इस दृश्य में सन्तापरहित, वीतराग (आसक्तिरहित), शंकारहित, अहंकाररहित, निर्वाण (मुक्त) स्वरूप स्थित हूँ ॥१॥ अद्वैत होने के कारण न मेरा कोई आधार है और न मैं ही किसी का आधार हूँ, अभिमानरहित, आश्रयविहीन, निज चित्स्वभाव में स्थित, स्वयं शान्त सर्वथा उदित सृष्टिरूप मैं स्थित हूँ ॥२॥ व्यवहारतः यथाप्राप्त कृत्य का कर्ता हूँ, किन्तु यथार्थतः कभी भी कर्ता नहीं हूँ, क्योंकि जो स्वयं ही निष्क्रिय आकाश है, उसका कर्तृत्व कैसा ? ॥३॥ द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, विविध पर्वत, नदियाँ दिशाएँ आदि सकल भूत सब जीवों के एकमात्र चित्स्वरूप सत् चिदाकाश ही हैं ॥४॥ हे व्याध, मैं शान्त हूँ, चारों ओर से आनन्दसागर में मग्न हूँ, दुःखसम्पर्कशून्य केवल आत्मसुख में स्थित हूँ, न मेरे लिए कोई विधि है और न निषेध ही है । न मेरे लिए कुछ बाह्य है और न कुछ आन्तर है ॥५॥ हे व्याध, इस प्रकार जैसी स्थिति है उसके अनुकूल यहाँपर स्थित हुए मेरे सामने आज काकतालीय के समान तुम प्राप्त हुए हो ॥६॥ इस प्रकार मेरे पास प्राप्त होकर मुझसे पूछ रहे तुमसे जैसा स्वप्न है, जैसे हम लोग हैं, जैसा जगत् है, जैसे तुम हो, जैसा यह दृश्य है, जैसे तुम इस प्रपंच के द्रष्टा हो, जैसा यह देह, इन्द्रिय आदि आध्यात्मिक (आभ्यन्तरिक) दृश्य है, जैसा यह सामने दिखाई दे रहा भौतिक दृश्य है, उनमें जैसे राग, द्वेष, त्याग, ग्रहण आदि भाव हैं, जैसा ब्रह्म है और जैसी यह सामने दृश्यमान जनता है यह सब पूर्वोक्त वर्णन के

अनुसार मैं कह चुका हूँ। हे लुब्धक, इन सबको मिथ्या जानकर तुम शान्त होओगे, क्योंकि यह चिदाकाशरूपिणी आत्मसत्ता शान्त ही है अशान्त नहीं है। अथवा आत्यन्तिक दृश्यशान्ति ही आत्मशान्ति है ॥७–९॥

स्पष्ट रीति से प्रतीत हो रहे मनुष्य, देवता, पशु–पक्षी, पर्वत, पेड़ आदि की स्वप्नतुल्यता अत्यन्त असम्भव हैं इस बात को व्यंग्य से सूचित करता हुआ लुब्धक कहता है।

व्याध ने कहा : हे मुनिजी, यदि ऐसी बात है तो मैं, आप और सब देवता सबके सब आपस में स्वप्नपुरुष होने से सत् होते हुए भी असत्मय हो जायेंगे ॥१०॥ मुनिजी ने कहा : हे व्याध, जैसा तुम कहते हो वैसा ही यह सब परस्पर स्वप्न के समान स्थित है। यह अपने में सत् तथा अन्य लोगों में असत् प्रतीत होता है, क्योंकि वैसा ही इसका सबको अनुभव होता है ॥११॥ दृश्य को जिसने जैसा जाना वैसा वह उसका अनुभव करता है। दृश्य वस्तु नाना है और एक भी है, जैसे एक घड़ा नाना कपाल, कपालिका आदि उनकी अवयवपरम्परा से परमाणु पर्यन्त नाना वस्तुरूप और एकत्व की प्रतीति से एकवस्तुरूप भी है जो नानात्व (भेद) दर्शी हैं उनके लिए उन दोनों में से एकत्व असत् है और जो एकत्वदर्शी हैं, उनके लिए नानात्व असत् है। भेदाभेद दर्शियों के लिए दोनों विकल्प से सत् और दोनों असत् हैं। तत्त्वज्ञानियों के लिए तो जाग्रत में स्वप्ननगर के सदृश तथा पहले कभी दृष्टिगोचर न हुए दूर देशस्थ दृश्यमान नगर के तुल्य वेदनमात्र होने के कारण एक भी नहीं है ऐसा अनुभव से सिद्ध है, अतएव यह न एक है, न सत् है, न असत् है और न सत्असत् है। हे व्याध इस प्रकार मैंने तुमसे सब कुछ कह दिया, निरन्तर सदुपदेशों से तुम्हें बोधित किया है। तुम भी स्वयं ज्ञानवान् हो सब कुछ जानते हो, इसलिए जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो ॥१२–१४॥ हे व्याध, प्रकृष्ट बोधवाले यद्यपि इस प्रकार तुम पूर्णरूप से बोधित हुए हो तथापि तुम्हारी बुद्धि स्वाभिमत जगत्सत्यत्वभ्रम में ही विश्राम को प्राप्त हुई है, परमपद में क्षण–भर भी विश्राम को प्राप्त नहीं हुई ॥१५॥ यह बोध अभ्यास द्वारा अत्यन्त परिपक्व हुए बिना हृदय के अन्दर वैसे ही प्रविष्ट नहीं होता जैसे कि जलधारण कार्य के निमित्त छीलने–तराशने आदि से निर्मित कमण्डलु के आकार में परिणत हुए बिना काठ के अन्दर जल नहीं प्रविष्ट होता ॥१६॥

अभ्यास से बोध की चरमविश्रान्ति सिद्ध होने पर चित्त को ही चरमविश्रान्ति का अनुभव रखनेवाले पुरुष निर्वाण कहते हैं, ऐसा कहते हैं।

एकमात्र गुरु और शास्त्र के सेवनरूप अभ्यास से बोध के परमपद में विश्रान्त होनेपर द्वैत और अद्वैत दृष्टियों की शान्ति होने पर चित्त निर्वाण कहलाता है ॥१७॥

अपने द्वारा उक्त अर्थ में भगवद्वचन की संमति दिखलाते हैं।

अन्दर अभिमान और मोह से रहित और बाहर संगदोषोंपर विजय पाये हुए, अन्दर और बाहर नित्य आत्मा में लीन, चारों ओर आनन्दरूप आत्मा का पूर्ण ज्ञान होने से सकल कामनाओं से विहीन तथा प्रिय–अप्रिय आदि द्वन्दों से, जिनसे सुख–दुःख का भलीभाँति ज्ञान होता है, सर्वथा निर्मुक्त तत्त्वज्ञानी लोग विष्णुभगवान् के निर्वाणनामक परमपद को प्राप्त होते हैं ॥१८॥

एक सौ चौवनवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पचपनवाँ सर्ग

व्याध की मूढ़ तपस्या से प्रसन्न भगवान् के वरदान से आकाशगति, कायवृष्टि और मृत्यु का वर्णन।

अग्नि ने कहा : हे वत्स, यह सुनकर वह व्याध उस समय उस वन में इसके पश्चात् चित्रलिखित की तरह मारे आश्चर्य के स्तब्ध हो गया। अपने अभ्यास के बिना उसके चित्त को परमपद में विश्राम नहीं मिला, अतः वह बेचारा मारे आश्चर्य के उद्भ्रान्त-सा समुद्र में बहाया जा रहा-सा हो गया। वह चक्र में चढ़ा हुआ-सा अथवा किसी सिद्ध द्वारा अपने तपोबलरूपी चक्रवात से (आँधी से) हरा गया-सा तथा मगर द्वारा आक्रान्त-सा विवश हो गया, उसमें किसी प्रकार की शक्ति नहीं रह गई। क्या यह निर्वाण होगा अथवा अन्य निर्वाण होगा ? इस सन्देह से उस मूर्ख को नवयौवनवान् के समान शान्ति नहीं मिली। चूँकि यह जगत् अविद्या ही है, यह बात हृदय में भलीभाँति नहीं ठहरती है, इसलिए यह जगत् अविद्या नामकी ब्रह्मशक्ति द्वारा उत्पादित सत्य ही है ऐसा चिन्तन करता हुआ मैं इस दृश्य का कहाँ अवसान होगा यह बात तपस्या द्वारा शरीर प्राप्त कर, पृथ्वी से आरम्भ कर, दूर होने के कारण ऊँचे शरीर से जाकर देखूँगा। भाव अभाव स्वरूप इस दृश्य के अवसान में (असंसारप्रदेश में) मैं सुख-से रह सकूँगा, इसलिए जहाँपर आकाश भी नहीं है वहाँ मैं जाता हूँ। ऐसा हृदय में विचार कर वह कोरा मूर्ख ही रहा। मुनिजी ने बड़े विस्तार के साथ अनेक दृष्टान्तों और उपपत्तियों से युक्त जो उपदेश दिया था, वह अभ्यास के बिना भस्म में किये गये हवन के तुल्य व्यर्थ चला गया। उसके पश्चात् तभी से उक्त निर्णयवश ही व्याधता को छोड़कर वह मुनियों के साथ तपस्या करने के लिए उद्यत हुआ। तपस्वियों के लोक में तपस्वी लोगों में प्रसिद्ध भावनाओं से सदा तपस्वियों के साथ निवास करते हुए उसने अनेक हजार वर्ष तक कठिन तपस्या की ॥१-१०॥ तपस्या करते हुए उसने किसी समय फिर उन मुनि महाराज से प्रश्न किया : हे मुने ! मेरी आत्मा में विश्रान्ति कब होगी ? इस पर मुनिजी ने उससे कहा ॥११॥ हे व्याध, मैंने तुम्हें जिस ज्ञानका उपदेश दिया था, वह पुरानी लकड़ी के अन्दर स्थित थोड़ी-सी आग के समान तुम्हारे हृदय में स्थित है। इस समय उसने जलाने के योग्य भी दृश्यरूप अनर्थपर आक्रमण नहीं किया है। 'जीर्ण लकड़ी के अन्दर स्थित थोड़ी-सी अग्नि के समान' इस कथन से जन्मान्तर में वह उद्बुद्ध होगा, यह सूचित किया है। अभ्यास न होने के कारण तुम कल्याणकारी तत्त्वज्ञान में विश्रान्त नहीं हुए हो। किन्तु अभ्यास से समय आनेपर तुम पूर्णरूप से ज्ञान में विश्रान्ति को प्राप्त होओगे ॥१२,१३॥ हे व्याध, अब तुम निर्णय का वर्णन कर रहे मुझसे अपना यह भावी वृत्तान्त सुनो। वह कानों के लिए भूषणरूप है तथा भूतल में कोई भी मन से भी उसकी सम्भावना नहीं कर सकता, अतः अद्भूत है ॥१४॥ तुम आत्मा को जानने के लिए प्रस्तुत तो हो, किन्तु प्रसिद्ध ज्ञानरूपसारता से तुम्हें उसका बोध नहीं हुआ, अतएव तुम्हारी बुद्धि झूले की तरह डोल रही है, अतः न तुम मूर्ख ही हो और न पंडित ही हो। यह विस्तारयुक्त अविद्यारूपी जगत् कितना विशाल होगा ऐसी केवल अपने मनोरथ की कल्पना से तुम तपस्या करने के लिए उद्यत हुए हो। जिस तरह तुम इस समय तप कर रहे हो इसी प्रकार सैकड़ों युगों तक (सैकड़ों युगों तक व्याध का जीवन असंभव होने से अनेक जन्मों तक यह अर्थ अर्थतः प्राप्त होता है) तुम्हें बड़ी-कड़ी तपस्या करनी होगी। तदनन्तर ब्रह्माजी तुम्हारे ऊपर

प्रसन्न होकर देवताओं के साथ तुम्हारे समीप आयेंगे ॥१५–१७॥ हे श्रेष्ठ, तुम वर देनेवाले ब्रह्माजी के समक्ष अपनी सहज उद्दण्डतावश निज मनोरथ से कल्पित संशयराशिरूप यह वर माँगोगे – 'हे ब्रह्माजी, इस दृश्यरूप अविद्याभ्रम के ज्ञात होनेपर दर्पण के तुल्य स्थित ब्रह्म में प्रतिबिम्बरूप मल से रहित कोई प्रदेश नहीं है, जहाँपर पहुँचकर मेरी विक्षेपशून्य स्थिति हो सके। चूँकि परमाणु के तुल्य अत्यन्त सूक्ष्म आकारवाले अन्दर स्थित इस चिदाकाशरूपी दर्पण में यत्र तत्र (सर्वत्र) यह जगद्रूप दृश्य प्रतिबिम्ब होता है, अतएव इसमें प्रतिबिम्बरूप मल से रहित कोई प्रदेश नहीं है। हे ब्रह्माजी, अतः साविद्य (अविद्यासहित) चिति की यह स्थिति है, इसलिए यह अविद्याप्रयुक्त अनर्थकारी दृश्य कहाँतक (कितनी दूरीतक) होगा, उस दृश्य के बाद (परली पार) अनन्त निरविद्य (अविद्या रहित) ब्रह्म कितनी दूरी तक होगा, आकाश की तरह संसारशून्य उस ब्रह्म को मैं जाकर अवश्य ही देखूँगा ॥१८–२१॥ हे देवाधिदेव, इस प्रकार की वस्तु का प्रत्यक्ष अनुभव करने के लिए यह निम्ननिर्दिष्ट वर आपसे चाहता हूँ। हे विधे, उसे आप बिना किसी विघ्नबाधा के शीघ्रातिशीघ्र मुझे दीजिए। यह मेरा शरीर चिरकाल तक निरोग रहे, इसकी मृत्यु स्वाधीन हो, यह गरुड़ के सदृश वेग से युक्त होकर आकाशगामी हो। इसका प्रत्येक अंग प्रतिक्षण एक योजन बढ़े, बढ़ते बढ़ते समय–क्रम से तीनों लोकों के बाहर जाय और आकाश के तुल्य विशालरूप हो ॥२२–२४॥ हे परमेश्वर, इस प्रकार आकाश सहित इस असीम दृश्य का अन्त मुझे प्राप्त हो, यही परम वर मुझे मिले ॥२५॥ हे सज्जन, ऐसी जब तुम प्रार्थना करोगे तब देवाधिदेव प्रभु ऐसा ही हो यों तुम्हें वर देकर अन्तर्धान हो जायेंगे ॥२६॥ स्वर्गाधिपति देवाधिदेव श्रीब्रह्माजी के देवताओं के साथ चले जानेपर तपस्या से कृश हुआ तुम्हारा शरीर चन्द्रमा के समान कान्तिमान् हो जायेगा ॥२७॥ उसके बाद मुझसे पूछकर नमस्कार कर उसी समय दिव्यशरीरधारी तुम चित्त में स्थित त्रिलोक का अन्त देखने की उत्कट इच्छा से मेरे आश्रम से आकाश में चढ़े हुए दूसरे बड़वानल–से उड़ जाओगे। तदनन्तर दृश्य जगत् तथा आकाश के अन्त तक पहुँचने के लिए गरुड़ के सदृश वेग से दौड़ रहा तुम्हारा शरीर, जो कि उन्मत्त प्रलयसागर की तरह अपार आकाश की निरवकाशता को पूर्ण करनेवाला होगा, नदियों के अन्त की तरह त्रैलोक्य के अन्त में निरन्तर बढ़ता ही जायेगा ॥२८–३१॥ महाकाश में निरन्तर बढ़ रहे अतएव विशालकाय हुए तुम रोक–टोक के बिना ही आधारभूत अनन्त आकाश में चढ़ने से परमार्थभूत महाकाश की शून्यता से उत्पन्न हुई आँधियों के सदृश सृष्टियों को देखोगे जो अज्ञाततास्वभावरूप द्रवता की वृद्धि से आविर्भूत चित्समुद्र के तरंगरूप हैं। जैसे संवित्घन स्वप्न में शून्यरूप नगर आदि प्रकाश में आते हैं वैसे ही उस समय बिना रोक–टोक के अनेकों सृष्टियाँ तुम्हारे दृष्टिगोचर होगी। जैसे क्षोभित आँधियों से पत्तों की राशियाँ आकाश में छितरा जाती हैं वैसे ही महाकाश में छितराई हुई अनन्त सृष्टियों को अक्षीण संकल्पवाले तुम देखोगे। जैसे महलों के अन्दर बैठी हुई महिलाओं को चित्र विचित्र झरोखों से बाहर स्थित नृत्यसभा का सत्यत्व दर्शन रुचता है और जिनको नहीं रुचता है ऐसी स्त्रियों के लिए विचित्र वातायन सत् होते हुए भी प्रायः असत् है वैसे ही चिदाकाश में रहता हुआ भी असद्रूप ही है। भूमि में स्थित सब लोगों को धुआँ, कुहरा, धूलि आदि का समूह चन्द्रमण्डल से सटा हुआ–सा दिखाई देता है लेकिन चन्द्रमण्डल में स्थित लोगों की दृष्टि से वह जैसे अत्यन्त असत् है ठीक वैसे ही जगत् भी आत्मा के अभेद को प्राप्त हुए तत्त्ववेत्ता में अत्यन्त असत्

है। फिर सृष्टि फिर आकाश, फिर सृष्टि फिर आकाश इस प्रकार देखते देखते तुम्हारा लम्बा समय वहाँ बीत जायेगा। तदनन्तर दीर्घकाल के बाद महामहिमाशाली अव्यक्त आकाश में, जिसमें सृष्टिरूपी पत्ते इधर उधर स्फुरित होते हैं, तुम स्वयं ऊब जाओगे। तदनन्तर तपस्या के फल का अनुभव करते हुए तुम उद्वेग को प्राप्त होगे तब तुम अनन्त आकाश को भर डालनेवाले अपने विशाल शरीर को देखोगे और कहोगे : यह मेरा कुत्सित शरीर भी क्या है ? जिसमें लाखों मेरु आदि महापर्वत भी तृण के तुल्य लघु हैं, यह मेरे लिए भारभूत-सा हो गया है। मेरा यह शरीर बेप्रमाण हो गया है मैंने इससे सारे आकाश को व्याप्त कर दिया। आज भी मैं आकाश को भरता जाता हूँ, किन्तु आगे क्या होगा यह मेरी भी समझ में बिलकुल नहीं आता है ॥३२-४२॥ हाय, मुझे यह दृश्यरूप अविद्या भीषण और असीम प्रतीत होती है। कोई भी सम ब्रह्मज्ञान के बिना इसका आरपार नहीं पा सकता ॥४३॥ सम्पूर्ण अवकाश को ढक चुके इस शरीर का मैं अवश्य त्याग करता हूँ। इस अतिविशाल कुशरीर से मैं साधुसंगति, सत्शास्त्र का अभ्यास अथवा अन्य मोक्षसाधन कुछ प्राप्त नहीं कर सकता ॥४४॥ असीम ओर-छोर रहित और आकाश में निराधार स्थित यह मेरा शरीर भी क्या है जिससे कि तत्त्वज्ञानियों का संगम दुर्लभ है ॥४५॥ ऐसा विचारकर तुम प्राणवायु को शरीर से बाहर निकालने वाली योगधारणा कर जैसे पक्षी खाये हुए फल से बचे हुए नीरस छिलका, गुठली आदि हिस्से का त्याग करता है वैसे ही उस शरीर का त्याग करोगे ॥४६॥ शरीर का त्यागकर वायु से भी सूक्ष्म तुम्हारा जीव प्राणवायु से युक्त होकर वायु की तरह उस आकाश में स्थित होगा ॥४७॥ जिसके पंख कट चुके हों ऐसे महान् मेरु की तरह तुम्हारा महान् शरीर गिरेगा। भूलोक के पर्वत आदि सबको चूर-चूर करेगा ॥४८॥ तब पूर्वोक्त रक्तरहित भगवती काली मातृमण्डल के साथ उस शरीर को पूर्ववर्णन के अनुसार गणोंसहित खा जायेगी, इससे भूमि निर्दोष हो जायेगी॥४९॥ हे सुव्रत, इस तरह तुम सारा आत्मवृत्तान्त सुन चुके हो, तालीवन में तपस्याकर जैसा चाहते हो वैसा करो ॥५०॥

आगे आनेवाले अपने दृढ़संकल्प-फलको सुनकर उससे खिन्न हुआ व्याध उसके प्रतीकार का कोई उपाय है, या नहीं यह पूछता है।

व्याध ने कहा : हे भगवन्, क्या मुझे यह अक्षय दुःख अवश्य भोगना पड़ेगा ? हाय मैंने क्लेश भोगने के लिए पुरुषार्थ के भ्रम से व्यर्थ दुःख का ही संकल्प द्वारा समर्थन किया। हे श्रेष्ठतम मुनिजी, यह भावी वस्तुस्थिति आपने मुझसे कही। यह भवितव्यता जिस युक्ति से टल जाय वैसी भी कोई युक्ति है या नहीं है, कृपया यह मुझसे कहिये ॥५१,५२॥ मुनिजी ने कहा : हे व्याध, अवश्यंभावी अर्थ को कोई कदापि टाल नहीं सकता, क्योंकि वह आधुनिक प्रयत्नों से नष्ट नहीं हो सकता। जैसे पुरुष को अपने शरीर में भी बाएँ अंग को दाहिना और दाहिने को बायाँ तथा सिर को पैर और पैरों को सिर बनाकर अदल-बदल करने की सामर्थ्य नहीं है वैसे ही उसे भावी अर्थ को अन्यथा करने की भी सामर्थ्य नहीं है ॥५३,५४॥

ज्योतिषशास्त्र आदि में उक्त उपायों से उसका ज्ञानभर हो सकता है उसको उलटना शास्त्रों की भी सामर्थ्य के बाहर की बात है, ऐसा कहते हैं।

ज्योतिषशास्त्र के परिज्ञान से भावी पदार्थ का ज्ञान होता है, किन्तु शास्त्र इससे कुछ अतिरिक्त अपूर्व कार्य कदापि नहीं कर सकते ॥५५॥

तब तो पूर्वजन्म के दृढ़संकल्पजनित कर्मों के अनन्त होने से कदापि मोक्ष नहीं होगा ? इस आशंका पर कहते हैं।

जो पुरुषश्रेष्ठ पूर्वकृत सुकृतों से आधुनिक शम, दम आदि साधनों को प्राप्त कर ब्रह्मज्ञान करानेवाले श्रवण, मनन आदि उपायों द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्तकर ब्रह्मरूप से ही सो गये जगत्–दर्शन के लिए जागे नहीं वे प्राक्तन सब कर्म और दुष्ट संकल्प आदि का, भले ही वे अत्यन्त दृढ़ क्यों न हो, उच्छेदकर उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं, लोगों के वन्दनीय होते हैं, अन्य नहीं ॥५६॥

एक सौ पचपनवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ छप्पनवाँ सर्ग

वायु में स्थित व्याध का जीव राजा सिन्धु बनकर विदूरथ को मारकर
अपने मन्त्री के मुँह से अपना तत्त्व सुनेगा, यह वर्णन।

देह का त्यागकर प्राणयुक्त वायु से भी सूक्ष्म तुम्हारा जीव वायु की तरह उस महाकाश में रहेगा ऐसा जो मुनि महाराज ने पूर्व सर्ग में कहा था, उसे सुनकर व्याध उसके बाद का अपना भविष्य पूछता है।

व्याध ने कहा : हे भगवन्, उसके बाद जब कि मेरा शरीर नीचे पृथिवीपर गिर जायेगा तब विस्तीर्ण आकाश में बसनेवाले मेरा क्या हाल होगा ? ॥१॥ मुनिजी ने कहा : हे सौम्य, तुम्हारे उस विशाल शरीर के विनष्ट होनेपर उस अव्याकृत आकाश में तुम्हारा क्या होगा, यह तुम ध्यान देकर सुनो। उक्त शरीर के नीचे गिरनेपर प्राणयुक्त तुम्हारा जीव उस अत्यन्त विशाल अव्याकृताकाश में वायु का लेशरूप होगा। उसी वायु के लेश में तुम्हारा चित्त हृदयस्थ (वासनामय) सामने स्थित विशाल भूतल आदि जगत् को वैसे ही देखेगा जैसे कि तुम स्वप्न में देखते हो। तदनन्तर महती चित्तवृति (महामना) होने के कारण या चित्तवृत्ति के ही जगत् के आकार से महान् होने के कारण तुम्हारा जीव वहाँपर 'मैं राजा हूँ' यह देखेगा, इस प्रकार भूतल में संकल्पित अर्थ का भागी होगा। वहाँपर उसकी एकाएक शीघ्र ऐसी प्रतिभा अपने आप उदित होगी कि मैं सामन्तों द्वारा अत्यन्त सत्कृत श्रीमान् सिन्धुनाम का राजा हूँ। पिताजी तपस्या करने के लिए जब वन को चले गये तब पिता द्वारा दिया गया चार समुद्रवाली पृथिवी का राज्य आठ वर्ष की अवस्थावाले मुझे प्राप्त हुआ। सीमा के अन्त में विदूरथ नाम से प्रसिद्ध राजा मेरा शत्रु है। जिसे बिना प्रबल प्रयत्न के परास्त करना कठिन है। यह राज्य करते मेरे सौ वर्ष बीत गये हैं। अहा मैंने अपने स्त्री–पुत्र नौकर–चाकरों के साथ खूब सुख –भोग किया। दुःख है, यह मेरे सीमान्त का राजा कोष, बल आदि में बढ़ा–चढ़ा है इसके साथ मेरा घोर संग्राम उपस्थित है। यह चिन्तन कर रहे तुम्हारा वहाँपर राजा विदूरथ के साथ चतुरंगिणी सेना का विनाश करनेवाला तुमुल युद्ध होगा। तुम रथरहित होते हुए भी तलवार से विदूरथ की जंघाओं को काटकर उसे महान् युद्ध द्वारा धराशायी करोगे। तदनन्तर चार सागरों से परिवृत्त भूतलपर तुम्हारा निष्कंटक राज्य होगा, लोकपाल भी भयभीत होकर तुम्हारे शासन का आदर करेंगे। वह तुम सिन्धु नामक राजा बनकर सकल भूमण्डल को स्वायत्त कर पंडित और मन्त्रियों के साथ निम्न लिखित कथाएँ करोगे। मन्त्री कहेगा : महाराज, यह अत्यन्त आश्चर्य की

बात है जो महाराज ने विदूरथ को युद्ध में यों परास्त किया और यमलोक पहुँचाया ॥२-१५॥ तुम कहोगे : हे मन्त्रिवर, मैं धनवान् हूँ और प्रलयकाल के समुद्र के समान मुझमें बल है, ऐसी अवस्था में भला बताओ तो शत्रु राजा विदूरथ मेरे लिए क्यों अजेय होगा। मन्त्री कहेगा : महाराज, उसकी लीला नामकी पत्नी है उसने घोर तपस्या द्वारा निर्विकार जगन्माता देवी सरस्वती को अपनी माँ के रूप से स्वीकार किया है। भुवनों को पैदा करनेवाली देवी सरस्वती पुत्री के रूप से स्वीकृत लीला के मोक्ष आदि महान् कार्यों को भी अनायास क्रीड़ा से ही सिद्ध कर देती है। वह भगवती देवी केवल शाब्दिक वर से ही जगत् को भी क्षणभर में अजगत् बना डालती हैं आपका विनाश (तिरस्कार) करने में भला उन्हें क्या क्लेशरूप असामर्थ्य हो सकती है ? ॥१६-१९॥ राजा सिन्धु कहेगा : मन्त्रिवर, तुमने बहुत उचित कहा। यदि ऐसा है तो विदूरथ को परास्त करना मुश्किल ही था, अतः युद्ध में जो वह मारा गया यह तो बड़ा ही आश्चर्य का विषय है। इस प्रकार के भगवती देवी के प्रसाद से युक्त राजा विदूरथ उस युद्ध में क्यों विजयी नहीं हुआ ? ॥२०,२१॥

मन्त्री कहेगा : हे कमलनयन, कभी भी खेद को न प्राप्त होनेवाले उसने सदा भगवती देवी की यही प्रार्थना की थी कि संसार से मेरा मोक्ष हो। इस कारण सत्य संकल्पवाली भगवती सरस्वती ने उसे मोक्ष दिया, अतएव उसने युद्ध में स्वयं पराजय का वरण किया ॥२२,२३॥ सिन्धु कहेगा : मन्त्रिवर, यदि ऐसा है तो मैं भी सदा ही देवी की पूजा करता हूँ। फिर वह परमेश्वरी मुझे मोक्ष क्यों नहीं देती ? ॥२४॥ मन्त्री कहेगा : महाराज, वैखरीपर्यन्त सब शब्दों की बीजभूत संविद्रूप भगवती सदा सबके हृदय के अन्दर रहती है वही सरस्वती कही गई है। आत्महितैषिणी उक्त भगवती की जो जो जैसी प्रार्थना करता है, उसके लिए वह स्वयं ही वैसा वर प्रदान करती है। उस वरप्रदान से उसकी सत्यसंकल्पवती चिति ही वर-फल के रूपसे अनुभूत होती है। हे शत्रुतापन, आपने मोक्ष के लिए उसकी प्रार्थना नहीं की, किन्तु आपने आत्महितैषिणी संविद्रूप उक्त भगवती की शत्रुनाश के लिए प्रार्थना की है ॥२५-२७॥ राजा सिन्धु कहेगा : मेरी तरह विदूरथ ने भी राज्य के लिए शुद्ध संविद्रूप उसकी प्रार्थना क्यों नहीं की ? अथवा विदूरथ की तरह मैंने मुक्ति के लिए उसकी प्रार्थना क्यों नहीं की ? ॥२८॥

आपकी स्वेच्छानुसारिणी प्रवृत्ति के विषय में मेरे प्रति यह प्रश्न उचित नहीं है, ऐसी आशंका कर उसका तात्पर्य प्रकाशित करते हैं।

हे मन्त्रिवर, मेरे चित्त में बैठी हुई यानी मेरी आत्मभूत भी सद्रूप यह भगवती सरस्वती मुझे मोक्ष की इच्छारूप विज्ञप्ति देकर साधनसम्पत्ति द्वारा मेरे मोक्ष के लिए क्यों चेष्टा नहीं करती ? ॥२९॥ मन्त्री कहेगा : हे प्रभो, शत्रुनाश करनेवाले महाराज का पूर्वजन्म का अशुभ अभ्यास है, इसलिए आपने देवी को प्रणाम कर मुक्ति के लिए देवी की प्रार्थना नहीं की ॥३०॥

देवता स्वतन्त्ररूप से अनुग्रह नहीं करते, किन्तु भक्त की चित्तवृत्ति के अनुसार ही अनुग्रह करते हैं, इस विषय में 'यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत् सनातनम्' श्रुति प्रमाणरूप से उद्‌धृत करते हैं।

जिसका चित्त जैसा होता है, वह जीव वैसा प्रलयपर्यन्त रहता है। जो बात आबाल प्रसिद्ध है, उसे कौन उलटा सकता है ? ॥३१॥ जो पुरुष निर्मल संवित् से अपने चित्त में निर्मलरूप जिस किसी को

चाहे वह राज्य हो, चाहे मोक्ष हो, चाहे अन्य कुछ हो दृढ़अभ्यास बनाकर जानता है वह सत् हो, चाहे उस समय में असत् हो या चाहे सत्असत् विलक्षण हो वही अन्य सब वासनाओं को कुचलकर बिना किसी विघ्नबाधा के स्वयं ही अवश्य हो जाता है, दूसरा कोई भी तत्फलभूत नहीं है ॥३२॥

एक सौ छप्पनवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सत्तावनवाँ सर्ग

सिन्धु के तामसतामस जन्म का वर्णन तथा
विवेकवश राज्य का त्याग कर रहे सिन्धु की अन्त में मुक्ति का वर्णन।

इसके पश्चात् सिन्धु कहेगा : हे आर्य, मैं मन्दमति पूर्व जन्म में किस अनार्य योनि में पैदा हुआ था, जिसके कारण मेरे पूर्वजन्म के कुसंस्कार ने मुझे संसारसागर में पटका ? मन्त्री कहेगा : हे राजन्, क्षणभर सावधान चित्त होकर पूर्वजन्म का रहस्य सुनिए। आज मेरे द्वारा प्रेरित होकर अज्ञान का विनाश करनेवाले मेरे वचन को आप हृदय में धारण करेंगे ॥१,२॥

पूछी गई सिन्धु के जीव की प्राक्तन स्थिति का वर्णन करने के लिए ब्रह्म ही उपाधि के संसर्ग से जीवभाव को प्राप्त होता है यह कहने की इच्छा से आद्य ब्रह्मरूप स्थिति को दिखलाते हैं।

आदि–अन्तरहित निर्विकार ब्रह्मशब्दवाच्य मन और वचन का अगोचर सत् ही तुम, मैं इत्यादिरूप से स्थित है यानी सर्वात्मा है ॥३॥ वह ब्रह्म मैं चित् हूँ, इसलिए चेतूँ ऐसी संकल्पसंवित् को स्वयं ही प्राप्त होकर समष्टि–व्यष्टि चित्त बनकर चित्तरूप उपाधि में, उपाधि का त्याग न करता हुआ, जीव–सा होकर रहता है ॥४॥

वह शरीर (उपाधि) कौन है जिसका त्याग न करता हुआ जीवात्मा को प्राप्त हुआ है ? इस पर उस शरीर को ही कहते हैं।

आकाश के समान निर्मल चित्त को तो आप आतिवाहिक शरीर जानिये। *(शंका – तब यह स्थूल शरीर क्या है ?)* समाधान – केवल चित्तरूप आतिवाहिक शरीर ही है उससे अतिरिक्त आधिभौतिक आदि शरीर यहाँ नहीं हैं ॥५॥ वह चित्त ही परलोक, इहलोक आदि तथा स्वप्न, जाग्रत, जीवन, मरण, भोग, मोक्ष आदि संकल्पों से निराकार होकर भी साकार जगत् की तरह स्थित है ॥६॥

इस रहस्य का ज्ञान तत्त्वज्ञानियों को ही हो सकता है, उनसे अन्य को नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं।

जैसे तत्त्वज्ञ लोग ही जो वायु है वही स्पन्दन है यह जानते हैं वैसे ही अनाकार चित्त को यह महान् जगत् है, ऐसा जानते हैं ॥७॥ जैसे आकाश और शून्यता दोनों एक ही हैं वैसे ही जगत् और चित्त दोनों एक ही हैं (अभिन्न ही हैं) अप्रतिघरूप जगत् के आकार की कल्पना में निरंकुशसामर्थ्यवाले चित्त में तनिक भी भिन्नता (द्वितीयता) नहीं है। मिथ्या होने के कारण अकिंचित् हृदयस्थ वासनारूप जगत्–जाल बाहर की तरह कुछ–सा स्थित है। जगत् को आप निराकार जानिये, क्योंकि उसका सर्जनहार चित्त ही वास्तविक नहीं है। प्रथम सृष्टि के समय सात्त्विक देवताओं से रचितरूप होने के कारण सत्त्वरूप हिरण्यगर्भ का समष्टिशरीर ब्रह्मपद से उदित हुआ। यह समष्टिरूप ही व्यष्टिभाव

में तामस विषयोंपर आसक्तिवश पहले उत्पत्तिप्रकरण में उक्त रीति के अनुसार राजस, सात्त्विक आदि तेरह विभागों के क्रम से आज आपका तामस-तामस जीव हो गया है ॥८-१०॥ सिन्धु कहेगा : हे महाभाग ! तामस-तामस क्या कहा जाता है ? यह कृपया मुझसे कहिये। परमपद में ये संज्ञाएँ पहले की ही किसने ? ॥११॥

अपरिच्छिन्न आत्मा की हिरण्यगर्भरूप से माया द्वारा परिच्छिन्नता करने पर हिरण्यगर्भ ही सब संज्ञाएँ करता है, ऐसा कहते हैं।

मन्त्री कहेगा : जैसे यहाँ सावयव जन्तु के हस्त आदि अवयव हैं, वैसे ही अवयवविहीन आत्मा की आतिवाहिकता है। फिर आत्मा में यानी स्वव्यष्टि जीवों में वह समष्टिरूप आत्मा ही नाना संज्ञाएँ करेगा। और आतिवाहिक समष्टिभूत स्वदेह के पंचीकरण द्वारा आधिभौतिक नाम धारण करनेपर उनके अवयवों में पृथिवी आदि संज्ञाएँ करेगा। वही आत्मरूपी संकल्प से स्वप्नतुल्य यह जगत्भान होनेपर नाम-रूप की कल्पना कर आत्मरूप व्यष्टिभाव से स्वयं ही व्यवहार करेगा। व्यवहार में व्यष्टिभावकल्पना होनेपर तुम्हें लक्ष्य कर सृष्टिसंकल्परूप से (व्यष्टिभाव से) जो हिरण्यगर्भ 'यह महात्मा है' यों स्फुरित हुआ इसी कारण तुम्हारी आतिवाहिकाकार जाति तामस-तामसी नामसे प्रसिद्ध की गई ॥१२-१५॥

केवल यही एक संज्ञा नहीं हुई, किन्तु ब्रह्म का जीवभाव होनेपर मित्र उपाधियों के गुणों के अनुसार राजस, सात्त्विक आदि तेरह संज्ञाएँ की हैं, ऐसा कहते हैं।

हे प्रभो, निर्विकार ब्रह्म के विकारी से होकर जीवभाव को प्राप्त होनेपर विविध नाम की जातियों की कल्पनाएँ की गई ॥१६॥

मुक्ति की शीघ्रता और विलम्ब में प्रयोजक चित्त के गुण और दोषों के कारण ही जीवों के जातिभेदों की कल्पना हुई, यह दिखलाते हुए उनमें पाँच जातियों को विभाग कर दिखलाते हैं।

यदि कल्प के आदि में सर्वप्रथमतः ही ब्रह्म जीवता को प्राप्त हो तो उसी जन्म में स्वाभाविक ज्ञान और ऐश्वर्य से युक्त बुद्धि से विषयभोग करनेवाला जीव उसी जन्म में मुक्तिलाभ करता है। उसकी जाति सात्त्विकसात्त्विकी होती है, जैसे कि सनक, सनन्दन आदि की ॥१७॥ हे सम्मानप्रद, कुछ समय तक जन्म के हेतु अज्ञान के रहने पर उसी जन्म में ज्ञान, ऐश्वर्य आदि सुन्दर गुणों से युक्त होकर यदि मुक्ति होती है तो वह जाति की जानकारी रखनेवालों में श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा केवल सात्त्विक जाति कही जाती है। जो जाति कल्पादि में नूतन रूपसे प्रकट होकर बहुत जन्मों द्वारा भोगों के भोगनेपर क्रमशः मोक्षभागिनी होती है, जातिज्ञ विद्वान् उस जाति को राजस राजसी जाति कहते हैं ॥१८,१९॥ पाँच दश जन्म के परवर्ती काल तक उस कल्प में विवेक आदि उत्तम गुणों से रहित जो जाति बहुत से जन्मों के बाद विवेक आदि उत्तम गुणों को प्राप्त करती है, वह केवल राजसी जाति है। कल्पादि से लेकर अति प्रचुर स्थावर, कीट, पतंग आदि योनियों से अन्त में मोक्षभागिनी हो तो जाति जाननेवाले सज्जन उस जाति को तामसतामसी कहते हैं। अनुत्कृष्ट (तुच्छ) राक्षस, पिशाच, शूद्र आदि अनेक जन्मों से यदि मोक्षभागिनी हो तो जातिविशारद उस जाति को केवल तामसी कहते हैं ॥२०-२२॥ हे सत्कारकारिन्, इस क्रम से जातियों के अनेक भेदों

की कल्पना है उन जातियों में से आप इस तामस–तामसी जाति में उत्पन्न हुए हैं ॥२३॥ महाराज, आपके अनेक जन्म व्यतीत हो चुके हैं। हे वीर, उन विविध विचित्र जन्मों को मैं जानता हूँ, आप उन्हें नहीं जानते। इसी भेद से महाशव शरीरवाले तथा असीम आकाशगामी आपने यह समय व्यर्थ बिताया है। इस प्रकार जब आप तामसतामस जन्म से उत्पन्न हुए हैं, तब आपका इस संसाररूपी गर्त से छुटकारा पाना दुर्लभ है ॥२४–२६॥ सिन्धु कहेगा : यह प्राक्तन अधम तामसतामसी जीवजाति किस उपाय से दबाई जा सकती है। हे आर्य, उस उपाय को कहिये। यदि वैसा कोई शोधक प्रकार होगा तो मैं जीवनभर उसी प्रकार से रहूँगा। अतएव कृपया उसे कहिये ॥२७॥

मन्त्री कहेगा : हे महामते, इस त्रिलोकी में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो उद्वेग रहित (निर्वेदरहित) पुरुषप्रयत्न से उपलब्ध न हो सके। जैसे आज के सत्कर्म से कल का दुष्कर्म शोभनता को प्राप्त होता है, मिट जाता है वैसे ही आप उसी पौरुष प्रयत्न से प्राक्तन अधम जाति पर विजय पाकर सत्कार्यवान् होइए। जो जिस पदार्थ की अभिलाषा करता है उसके लिए वह वैसा ही प्रयत्न करता है यदि वह थक कर बीच में ही निवृत्त न हो जाय तो उसे अवश्य प्राप्त करता है। मनुष्य जैसा प्रयत्न करता है और तन्मय होकर जैसी भावना करता है और जैसा होने की इच्छा करता है वैसा ही होता है अन्यथा नहीं होता है ॥२८–३१॥

मुनि ने कहा : इसके बाद मन्त्री द्वारा इस प्रकार उक्त वह राजा सिन्धु राज्यभारविहीन बुद्धि से उसी समय वहीं पर सारे राज्य को तिलांजलि दे देगा। दूर वन में चला जायेगा, मन्त्रियों के बहुत अनुनय–विनय करनेपर भी फिर निष्कंटक उस विशाल राज्य को नहीं अपनायेगा। साधुओं के बीच में सत्संग कर रहे सिन्धु में उनकी विचारपूर्ण ज्ञानमय कथाओं से फूलों के संसर्ग से सुगन्ध की तरह विवेक उत्पन्न हो जायेगा। उसके पश्चात् कैसे यह जन्म हुआ, कहाँ से संसार आया, यों निरन्तर विचार करने से वह जीवन्मुक्त हो जायेगा। वह राजा सिन्धु सत्संगतिवश नित्य विचारनिमग्न होकर परम पावन उस मोक्षपद को प्राप्त होगा जिस मोक्षपद में हिरण्यगर्भ तक का ऐश्वर्य वायु से उड़ रहे सुखे पत्ते की तरह उपादेय नहीं होता, किन्तु तुच्छ ही होता है ॥३२–३६॥

एक सौ सतावनवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ अट्ठावनवाँ सर्ग

मुनिजी का वचन सुनकर व्याध का तप करना,
ब्रह्माजी के वरदान से आकाश में उड़ना तथा शव होकर भूमि पर गिरना आदि का वर्णन।

मुनिजी ने कहा : हे व्याध, यह सब भविष्य में होनेवाली घटनाका अतीत की तरह मैंने तुमसे वर्णन किया। इस समय जैसा तुम चाहते हो वैसा सोच समझकर भलीभाँति करो। अग्नि ने कहा : हे विपश्चित्, मुनि के पूर्वोक्त वचन सुनकर मारे आश्चर्य के घबड़ाया हुआ व्याध एक क्षण सोचकर शीघ्र स्नान करने के लिए गया और मुनिजी भी स्नानार्थ गये। बिना किसी कारण के आपस में मित्र बने हुए व्याध और महामुनि दोनों ने इस प्रकार शास्त्रचिन्तन करते हुए तपस्या की ॥१–३॥ इसके अनन्तर मुनिजी तो थोड़े ही समय में मुक्ति को प्राप्त हो गये। वे आयु के अवसान में अपनी पंचभौतिक

देह छोड़कर परम पद में लीन हो गये। (📖) तदुपरान्त सौ युगरूप चिरकाल में व्याध की मनोकामना को पूर्ण करने के लिए भगवान् ब्रह्मा आये। बेचारा व्याध अपनी वासना का वेग रोक नहीं सका, अतएव मुनिजी द्वारा पहले व्यर्थरूप से वर्णित वर को जानते हुए भी उसने वही वर ब्रह्माजी से माँगा। श्रीब्रह्माजी 'ऐसा ही हो' यों वांच्छित वर उसे देकर अपने लोक को सिधारे एवं व्याध अपनी तपस्या का फल भोगने के लिए पक्षी की तरह आकाश में उड़ा। उसने पर्वत की तरह वर के अनुसार निरन्तर बढ़ रहे शरीर से त्रैलोक्य से ऊपर अव्याकृत आकाश को बड़े वेग से अगणित समय में पूर्ण कर दिया। गरुड़ के से महावेग से तिरछे, ऊपर और नीचे आकाश को पूर्ण करने में उसका बहुत समय व्यतीत हुआ। इसके अनन्तर जब चिरकाल में उसे अविद्यारूप भ्रमका अन्त प्राप्त नहीं हुआ तब तो उसका अन्त देखने के विषय में उसने अपनी हार मान ली, उसे वैराग्य हो गया। तदनन्तर वैराग्य होने के कारण प्राणवायु को शरीर से बाहर निकालनेवाली योगधारणा बाँधकर उसने आकाश में प्राणों का त्याग किया और नीचे भूमितल में शवभूत अपने शरीर का त्याग किया। उसका प्राणवायु से युक्त चित्त उसी अव्यक्तआकाश में सम्पूर्ण पृथिवी का पालन करनेवाली तथा राजा विदूरथ की शत्रुभूत पूर्वोक्त सिन्धुता को प्राप्त हुआ ॥४-१२॥ सैकड़ों मेरु पर्वतों के से आकार का उसका शरीर महाशव सा हुआ। दूसरी पृथ्वी के सदृश विशालकाय वह आकाश से वज्र की भाँति नीचे गिरा। ब्रह्मा के किसी जाग्रत भ्रमरूप किसी आकाश में केशों के गोले के समान प्रतीत हुआ, जो गिरने के पहले पृथिवी में उतरने की सीढ़ी के समान और गिरने के बाद पृथिवी के विशाल ढकने के समान स्थित था। उस शव ने अपने आकार से सारी पृथिवी और पर्वतों को आच्छन्न कर दिया। हे श्रेष्ठ विपश्चित्, यह मैंने उस महाशव का तुमसे वर्णन किया। जिस भूतलरूप जगत् में वह शव गिरा वही हम लोगों की स्वप्ननगरी के समान जगत् के रूप में स्फुरित हुआ। उसी महाशव का भक्षण कर पहले तिनके की तरह सूखी हुई भगवती चंडिका देवी भरी पूरी होकर बड़ी तोंदवाली तथा रुधिर और अँतड़ियों से पूर्ण होकर लाल हो गई। इस शव के ही हिमालय पर्वत के समान प्रचुर मेद से पूर्ण हुई पृथिवी मेदिनी नाम से प्रख्यात हो गई। तभी यह महामेदा मिट्टी बन गया फिर समय पाकर यह पृथिवी उत्पन्न होकर मिट्टी की हो गई। महाशव के गिरने से पहले के वन आदि विनष्ट हो चुके थे, अतः फिर से वन उगे, फिर से नगरों के साथ गाँव बसाये गये। पहले चूर-चूर हुए पर्वत फिर से जैसे पहले थे उसी रूपरेखा में पाताल से बाहर निकले। तदुपरान्त लोगों का कारोबार चलने लगा ॥१३-२०॥

एक सौ अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त

(📖) समाधि में मुनि को दीर्घतर काल के भी अल्प प्रतीत होने से 'अल्पेनैव कालेन' कहा है। यद्यपि यहाँपर यथाश्रुत ग्रन्थ के अनुसार पहले मुनि का शरीरत्याग, उसके अनन्तर चिरकाल के बाद व्याध की मनोकामना पूर्ण करने के लिए ब्रह्माजी का आगमन प्रतीत होता है तथापि पूर्व सर्ग में मुनिजी ने जो भविष्यवाणी की थी उसमें व्याध के वर पाने के बाद ''मामापृच्छन्नमस्कृत्य'' यानी मुझे पूछकर नमस्कार कर उसी क्षण में वह 'तुम चित्त में वासनारूप से स्थित पदार्थ को देखने की इच्छा से आकाश में उड़ोगे', ऐसा मुनि ने कहा है, अतएव व्याध के ऊपर जाने के समय मुनिजी का जीवन था ही उसके पीछे ही उनका देहत्याग हुआ ऐसा समझना चाहिये।

एक सौ उनसठवाँ सर्ग

अग्नि का विपश्चित् से अपना इन्द्रलोक गमन कहना तथा
बहुत से आश्चर्यों का वर्णनकर अन्त में ब्रह्मतत्त्व का वर्णन करना।

अग्नि ने कहा : हे श्रेष्ठ विपश्चित्, तुम स्थिर होने से फिर प्रस्तुत व्यवहार से सम्पन्न भूतल में पहुँचकर स्वाभिमत दिशा को जाओ। प्रजावर्ग के स्वामी देवराज इन्द्र सौवाँ यज्ञ करने को प्रस्तुत हैं, उन्होंने उसमें मन्त्र द्वारा मुझे निमन्त्रित किया है, अतः हे गतिकोविद, मैं वहाँ जाता हूँ॥१,२॥ भास ने कहा : भगवान् अग्नि यह कहकर मूर्तिरूप से वहीं पर अन्तर्हित हो गये तथा अग्नि के रूप से विद्युत (बिजली की) अग्नि की तरह निर्मल आकाश में गये। और मैं भी चित्त में अपने प्राक्तन अविद्या के अन्त-दर्शनविषयक संस्कारों को स्वयं धारण करता हुआ फिर अपना दिगन्तगमनरूप कर्म करने के लिए आकाश में घूमने लगा। फिर मैंने आकाश में असंख्य जगतों को देखा। उन सबके भिन्न-भिन्न आचार-विचार थे और भिन्न-भिन्न रूपरेखाएँ थीं॥३-५॥ हे महाराज दशरथ, कहींपर परस्पर मिले हुए (एकत्र हुए) छत्रमय अंगवाले प्राणी भासते थे, उनमें चेतना थी, वे मन्द मन्द गति से चलते थे और दर्शकों के हृदयों को हरते थे॥६॥ हे रघुकुलतिलक, कहींपर पर्वत के से आकारवाले सब प्राणी पार्थिव देहधारी प्रतीत होते थे, उनमें चेतना थी और वे मन्द मन्द गति से चलते थे। कहींपर काष्ठमय देहवाले जीव शोभा पाते थे, तो कहींपर पाषाणमय शरीरवाले अनेक प्राणी थे। कहींपर जीवनभर प्रस्तर प्रतिमा के समान सब एक ही जगह स्थित रहते थे। उनका परस्पर संभाषण आदि द्वारा केवल वाणीमात्र का व्यवहार होता था, गमन आगमन आदि व्यवहार उनमें नहीं था। इन सबको मैंने स्वचित्ताकाश में देखा। इस प्रकार चिरकाल तक देख रहा स्वप्न की तरह मनोमात्र देह होने के कारण नष्ट हो रहा मैं अविद्या का अन्त न पाकर अविद्या तथा दृश्यवर्ग के विषय में निर्वेद को प्राप्त हो गया। इस प्रकार निर्वेद को प्राप्त हुआ मैं किसी एकान्त स्थान में जाकर मोक्ष प्राप्ति के लिए आत्मतत्त्वालोचनरूप तपस्या करने के लिए तत्पर हुआ। तदनन्तर इन्द्र ने मुझसे कहा : हे विपश्चित्, चित्ताकाश में मेरी और तुम्हारी मृगरूप दूसरी योनि उपस्थित है, इसलिए यह आत्मतत्त्व विचार का अवसर नहीं है। मैं अल्पपुण्य हूँ, अतएव कदाचित् मुझमें मृगयोनिप्रापक दुष्कृत की संभावना हो सकती है, आप तो महापुण्यशाली हैं आपकी मृगयोनि में गमन की संभावना कैसे हो सकती है ? मेरी इस आशंकापर उन्होंने कहा : प्राक्तन अभ्यास से विवश हुआ मैं भी स्वर्गभोगयुक्त संमोह में (दुर्वासाजी के अपराध में) प्रवृत्त हूँ। आकाश में मन्दारवन में घूम रहे मेरी उस मोह में प्रवृत्ति हो गई॥७-१२॥ उनके (देवराज इन्द्र के) यह कहने पर मैंने उनसे निवेदन किया : देवाधिदेव, मैं संसार से ऊब गया हूँ, अतः शीघ्र मुक्त होना चाहता हूँ। मेरा यह कथन सुनकर उन्होंने मुझसे कहा। शीघ्र मुक्ति तो 'मैं तीन अवस्थाओं से और मूर्त-अमूर्त रूपसे रहित विशुद्ध आत्मा ही हूँ' इस तत्त्वज्ञान से ही होती है। यह तुमने पहले व्याध मुनि संवाद वर्णन के प्रसंग से अग्निदेव के मुखारविन्द से सुना ही है। इसलिए तुम दूसरा वर माँगो ऐसा इन्द्र के कहनेपर मैंने उनसे अन्य यानी मृगता के बाद मेरा आगे क्या होगा यह परिज्ञानरूप वर माँगा॥१३,१४॥ इन्द्र ने कहा : हे विपश्चित्, तुम्हारी यह चिति चिरकाल से मृगयोनि तक ही संसार में आना चाहती है। मैंने

तुम्हारा यह अवश्यम्भावी वृत्तान्त देख लिया है। मृग होकर तुम राजा दशरथ की महापुण्यसभा में पहुँचोगे। वहाँ मेरे द्वारा कहा गया वह अखण्ड ज्ञान तुम्हारी समझ में आ जायेगा ॥१५,१६॥ संसार से खिन्न हुए तुम उस पृथिवी तल में हिरन बनो। इस क्रम से सभा को प्राप्त होकर वसिष्ठजी के अनुग्रह से यह सारा व्यर्थ आत्मवृत्तान्त तुम्हारे स्मृतिपथ में आरूढ़ होगा ॥१७॥ तुम्हारा उक्त वृत्तान्त स्वप्न की तरह, सारा का सारा मनोरथों द्वारा निर्मित-सा और परलोक में अनुभूत अर्थ के कथाप्रवाह में पतित अर्थ के तुल्य निष्फल है ॥१८॥

क्या मैं मृग-देह से यह सब स्मरण करूँगा ? इस प्रश्नपर 'नहीं' कहते हैं।

जब तुम मृगयोनि से मुक्ति पाकर पुरुष होओगे तब ज्ञानाग्निद्वारा देह के दग्ध होनेपर हृदयस्थ आत्मतत्त्व तुम्हें स्फुरित होगा। आत्मतत्त्व के स्फुरण से चिरकाल से हृदय में स्थित अविद्यानामक भ्रान्ति का त्यागकर स्पन्दशून्य वायु के समान निश्चल हुए तुम निर्वाण को प्राप्त होओगे ॥१९,२०॥ उक्त देवराज इन्द्र के यों कहनेपर उसी क्षण में 'यह मैं इस वन में हिरन हूँ' ऐसी मेरी निश्चित (व्यावहारिक अर्थक्रिया में समर्थ) प्रतिभा उद्भूत हुई ॥२१॥ तब से लेकर वहीं पर्वतपर मैं मन्दार के वन के भीतरी कोनों में तिनके और दूब के अंकुर चरनेवाला हिरन हो गया। तदुपरान्त किसी एक समय शिकार खेलने के लिए आये हुए सीमावर्ती सामन्त को देखकर मारे डरके मैं चौकड़ी मारकर भागा ॥२२,२३॥ हे रघुवर, तदनन्तर उसने मुझे पकड़कर घर ले जाकर तीन दिन अपने घर रक्खा, फिर वह आपकी क्रीड़ा के लिए मुझे यहाँ लाया ॥२४॥ हे निष्पाप, मैंने आपसे अपना यह सारा वृत्तान्त कह दिया है, जो संसार में प्रसिद्ध ऐन्द्रजालिक की माया के तुल्य विविध आश्चर्यों से पूर्ण है। इस प्रकार नाना शाखा-प्रशाखाओं से युक्त यह अविद्या अनन्त है, इसका आरपार नहीं है यह आत्मज्ञान के सिवा अन्य किसी उपाय से शान्त नहीं हो सकती ॥२५,२६॥ श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : जब विपश्चित् यह कहकर वहाँ पर क्षणभर चुप हुआ तब श्लाघ्यमति श्रीरामचन्द्रजी ने उससे यह कहा ॥२७॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : अन्य का संकल्पभूत यह मृग यदि हम लोगों का दृष्टिगोचर हुआ है तो ऐसी स्थिति में असंकल्प पुरुष भी अन्य के संकल्परूप सृष्टि में वस्तुएँ देख सकता है, यह अर्थ सिद्ध हुआ। भला यह कैसे हो सकता है ? कृपया कहिये ॥२८॥

महामुनि, देवता आदि के वरदान, शाप आदि से अन्य संकल्पित भी पदार्थ संकल्परहित अन्य लोगों के दर्शन आदि व्यवहार के योग्य होता है यों श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न का उत्तर कहने के लिए पूर्वोक्त शव के पतन का ही अन्य निमित्त से वर्णन करने के लिए विपश्चित् प्रस्ताव करता है।

जिस जगत् में भूतल पर वह महाशव गिरा, शव गिरने से पहले उस भूमि की ओर मन्दारवन में स्वकृत यज्ञों की यजमानता के घमण्ड से अन्धे की तरह चल रहे इन्द्र ने यह मुनि हैं यह ज्ञान न होने के कारण यह मुर्दा है यों तिरस्कार से आकाश में ध्यान में बैठे हुए दुर्वासा ऋषिजी को पैर से ठोकर मार दी, इस कारण ऋषि क्रुद्ध हो गये। उन्होंने कहा : अरे इन्द्र, तुम जिस भूमितल में जाना चाहते हो उसे ब्रह्माण्ड के तुल्य महा भीषण शव शीघ्र ही चूर चूर कर डालेगा ॥२९-३१॥ शवबुद्धि से तुमने मेरा जो यह तिरस्कार किया है इस कारण मेरे शाप से उस पृथिवी को तुम शीघ्र प्राप्त होओगे ॥३२॥ उन मुनि श्रीदुर्वासाजी ने विपश्चित् के साथ इन्द्र की मृगता के लिए भी 'तथा

देवमृगश्च त्वं तुल्यकालं विपश्चिता' (जितने समय तक विपश्चित् मृग रहेगा उतने ही समय तक तुम भी देवमृग रहोगे) इस वाक्य द्वारा जैसे विपश्चित् के मन से संकल्पित मृगत्व अन्य लोगों के दर्शन आदि अर्थक्रियाकारी है वैसा ही तुम्हारा भी हो यों उसे शाप दिया, इसलिए इन्द्र–शाप की कथा से ही मुनिजी के वचन के बल से यद्यपि विपश्चित् की मृगता संकल्पवश हुई थी फिर भी वह आप सरीखे सब लोगों की दृष्टियों की सदा विषय हुई है ॥३३॥

इस प्रकार जगत्प्रसिद्ध दृष्टि से श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न का समाधान कर तत्त्वदृष्टि से उसका समाधान करते हैं।

वस्तुतः विचार (व्यवहारिक जगत्) सत् है यह बात भी नहीं है और दूसरा (संकल्पित जगत्) असत्य है यह बात भी नहीं है। दोनों तुल्य हैं क्योंकि वह प्रतिभा ही वैसे (व्यावहारिक अथवा संकल्पितरूप से) उदित होती है। इसलिए उनमें क्या सत् है और क्या असत् है ? ॥३४॥

ब्रह्म के सर्वशक्ति और सर्वात्मक होने से भी कोई विरोध नहीं है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, युक्तियों के इस सिलसिले में स्पष्ट समझ में आने के लिए आप और भी दूसरी युक्ति सुनिये ॥३५॥ हे महाभाग, जिसमें सब कुछ है, जिससे सबका आविर्भाव हुआ है, जो सर्वात्मक है, सर्वव्यापक है उस सर्वशक्ति सर्वात्मक ब्रह्म में क्या नहीं हो सकता है ? संकल्प से उत्पन्न पदार्थ आपस में मेल नहीं खाता है यह भी उसमें उपपन्न है और संकल्पजनित परस्पर मेल खाता है, इसकी भी उसमें उपपत्ति है ॥३६,३७॥ सर्वात्मा में संकल्प से उत्पन्न पदार्थ परस्पर मिलता है, यह बात मृगदर्शन आदि में प्रत्यक्ष है। इस विषय में यह उपपत्ति भी लोक में है जहाँपर छाया है वहींपर धूप भी है। यदि ऐसा न हो तो वह सर्वात्मा ही कैसे होगा ? इसलिए सर्वस्वरूप ब्रह्म में संकल्पनगर परस्पर नहीं मिलता है यह सत् है, संकल्पनगर परस्पर मिलता है, यह भी सत् है। सर्वात्मा में सर्वत्र सब प्रकार से सर्वदा माया अघटितघटनापटीयसी होने से अति आश्चर्यमयी है, इसलिए भी सब कुछ घटना संभव है ॥३८–४०॥ अहा ! मन को मोह में डालनेवाली माया अति विषम है। जिसके कारण विधियाँ और निषेध दोनों एक जगह स्थिति को प्राप्त हुए ॥४१॥

केवल माया का ही नहीं ब्रह्मसत्ता का भी ऐसा ही माहात्म्य है, ऐसा कहते हैं।

यह ब्रह्मसत्ता भी ऐसी ही है यह अपने से अपना विविध रूपों में सर्जन करती है। उस ब्रह्मसत्ता से अविद्या अनादि और सादि भी अनूभूत होती है। यदि तीनों भुवन केवल ज्ञप्ति के (ज्ञान के) विकासरूप न होते तो महाप्रलय में नष्ट हुए भवनों का अनायास पुनः सर्जन कैसे होता ? कैसे अग्नि का अस्तित्व होता, कैसे वायु का अस्तित्व होता और कैसे भूमि की सत्ता होती, इसलिए स्वभाव–स्फुरण के सिवा जगत् अन्य नहीं है। महाकल्पपर्यन्त ही पृथिवी आदि का अस्तित्व है ऐसा माननेवाले जिन लोगों के लिए वेदान्त आदि, शास्त्र, विद्वानों के अनुभव और लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त प्रमाणभूत नहीं हैं उन निन्द्य–मतियों के साथ सज्जनों को संभाषण आदि नहीं करना चाहिये। इस चिद्विलासदृष्टि से सब कुछ क्षणभर में प्रमाण हो जाता है, अन्य दृष्टि से यह सब प्रमाण नहीं होता, किन्तु तुच्छ ही होता है, इसलिए विद्वान् पुरुष ज्ञानदृष्टिसिद्ध वस्तु को ही सारभूत समझते हैं। जैसे स्पन्दन से वायु की शोभा स्फुरित होती है वैसे ही शुद्ध ज्ञप्तिरूप ब्रह्मसत्ता 'मैं अविद्या हूँ' ऐसे चिन्तन से जगत्रूप में स्फुरित होती है। न

यहाँ कोई मरता है और न कोई उत्पन्न होता है। मैं मरा हूँ और यह मेरा जन्म है यह केवल चिदात्मक प्रतिभा ही है। मृत्यु अत्यन्त विनाश है। उसमें यदि दृश्यदर्शन हो तो वह सुषुप्ति सुखोपम निद्रा है फिर यदि दृश्य की प्राप्ति हो तो वह जीवित ही है। इसलिए यहाँ पर न मरण है और न जीवन ही है। एक चिन्मात्र स्फुरण जीवन-मरण दोनों ही हैं अथवा दोनों ही नहीं है। यदि चिन्मात्र में जीवन-मरण दोनों चेतित हो तो दोनों ही है यदि चेतित न हो तो दोनों ही नहीं है। चेतित एक ही है, अतः द्वैत की सत्ता और असत्ता की साक्षी चितिका सदा ही श्रेय है। भला बतलाइए तो चिन्मात्र से पृथक् जीवन ही क्या है ? अक्षय होने के कारण वह दुःखलेशशून्य है, अतः किसको कहाँ दुःख है ? जिस तत्त्वदृष्टि में वाचक सहित सब वाच्य (रूप) केवल चिदाकाश मात्र है उस तत्त्वदृष्टि में वह भिन्न है और वह अभिन्न है, ऐसी एकता और द्विता कैसे ? जैसे जल में आवर्त, तरंग, बुद्बुद् आदि जलरूप हैं, वैसे ही परमात्मा में शरीर आदि परमात्मसत्तासन्निवेशभूत कारण से अभिन्न आकाशरूप ही हैं। केवल चिद्भानमात्र शान्त अनाकार या निर्दोष आकाश ही जगत् है। जो चिद्भान सुघन, अशान्त, द्रव्य और साकार के रूप में स्थित है यही महान् आश्चर्य है। वह जैसे अतीत में प्रतीतिका विषय नहीं है वैसे ही वर्तमान में भी अनुभूतिका विषय नहीं है। वर्तमान अनुभूति में यह शून्यात्मा ही दृश्यरूप पिशाच बन कर प्रतीत होता है, ऐसा आप समझिए। जैसे यह दृश्यमान आकाश है वैसे ही यह चिदाकाशरूप आकाश है, क्योंकि यह चिदाकाश ही आकाशरूप से प्रतीत आकाश होकर स्थित है ॥४२-५७॥ वैसे ही यहाँ से नीचे के प्रदेश में भूमि, यहाँ से अन्य प्रदेश में वायु, आकाश आदि भूत, यहाँ से दिशा-विदिशाओं में अन्य अनेक आकारों में यों परमाकाश ही भासित होता है उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है, यह अर्थ है। जो ही चिद्भान है वही जगत् है। न यहाँपर एकता है और न द्वैत है और न कोई साकारता है और न निराकारता है। यथार्थभूतार्थदर्शी के लिए (यथार्थदर्शी के लिए) सारा का सारा दृश्य निराकार ही है ॥५८,५९॥

पूर्णदृष्टि होनेपर तत्त्वज्ञता और अज्ञता का भेद भी नष्ट हो जाता है, ऐसा कहते हैं।

पूर्णदृष्टि होनेपर ज्ञानिता और अज्ञानिता तथा सत् और असत् का भेद कुछ नहीं है पूर्णरूप सत्ब्रह्म में सत् और असत् तुल्य हैं। इसलिए सब कुछ काष्ठवत् मौन है। यानी चिद्रूप है ॥६०॥

इस प्रकार सारा दृश्य ब्रह्मरूप ही सिद्ध हो गया, ऐसा कहते हैं।

जो दृश्य है वही ब्रह्मता है वही अनन्त है वही परमपद है। इस प्रकार यह सब केवल ब्रह्म ही स्थित है। जिस चिदाकाश का निराकाररूप यह स्फुरण जगत् है वह यह चिदाकाश अपने स्वरूप में इस प्रकार स्फुरित होता है। असंख्य मृत जीवों के सभी जगह अंगुल-अंगुल भूमि में असंख्य सृष्टि आदि हैं जो परस्पर अदृश्य और आघातशून्य हैं ॥६१-६३॥ उत्तरोत्तर सूक्ष्म सूक्ष्मतर सिद्धलोक अपने निज स्वरूप को प्राप्तकर ब्रह्म में संयुक्त है (卐) और परस्पर ओतप्रोत होकर स्थित हुए भी वे आपस में एक दूसरे

(卐) बृहदारण्यकउपनिषद् में गार्गी के प्रश्न में यह वर्णित है -'यदिदं सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं चेति कस्मिन् खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ गार्गीति कस्मिन् खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्ष लोकेषु गार्गीति' अर्थात् यह सब जल में ओत और प्रोत है। जल किसमें ओत प्रोत है ? हे गार्गि, जल वायु में ओत और प्रोत है। वायु किसमें ओतप्रोत है ? हे गार्गि, वायु अन्तरिक्ष लोकों में ओत और प्रोत है इत्यादि से।

को नहीं देखते हैं ॥६४॥

वास्तव में तो आत्मा से अतिरिक्त कोई द्रष्टा ही प्रसिद्ध नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

चूँकि वह शून्यरूप दृश्यशोभा आत्माकाश ही है, इसलिए अन्य से अदृष्ट चिद्रूपा है जैसे स्वप्न का द्रष्टा आत्मा ही है वैसे ही इसका द्रष्टा भी आत्मा ही है, अन्य नहीं।

यह केवल चिदाकाशस्वरूपा है इसीलिए परिज्ञात होते ही चिदाकाशाकार हो जाती है, ऐसा कहते हैं।

यद्यपि यह परिज्ञान होकर अपने यथार्थ स्वरूप में स्थित होती है तथापि केवल प्रकाशमय निर्वाण स्वरूप होनेपर भी अज्ञानवश रात्रि खुलने के समय के अन्धकार की आकृति के तुल्य आकृतिवाली होकर दृश्यरूपा–सी भासती है ॥६५,६६॥

यदि यथास्थित वस्तु अशेष विशेषों से शून्य होकर स्थित हो तो ज्ञान से बाधित होनेवाला जगत् चाहे सत् हो चाहे असत् हो कोई भी हानि नहीं है, ऐसा कहते हैं।

यथार्थ तत्त्व अशेष विशेषों से विहीन होकर स्थित हो तो जगत्समुदाय चाहे सत् हो चाहे असत् हो, ज्ञान से शान्त हो जाता है ॥६७॥

अच्छा, हो जगज्जाल इस तरह का, किन्तु जगत् में बद्ध जीवों की ब्रह्म में कैसे स्थिति है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

जैसे समुद्र और जलबिन्दुओं का क्षण में विश्लेष और क्षण में संश्लेष होता है यानी उनकी अंशांशिभाव से स्थिति होती है वैसे ही ब्रह्मरूपी महासागर में परस्पर स्फुरित हो रहे चिद्अणुभूत जीवों की जबतक अज्ञान रहता है, अंशांशिभाव से स्थिति होती है ॥६८॥

सृष्टि के आदि में सृष्टिशोभा कैसे भासित होती है ? इस पर कहते हैं।

चिदाकाशमयी सृष्टि भी सृष्टि के आदि में स्वप्न की तरह भासित होती है, अतः यह सारा दृश्य शान्त ब्रह्म ही है, यह उपपन्न होता है ॥६९॥ मैंने अनन्त वैभववाले अनेक जगतों को देखा, अपने कर्मों के परिपाक से प्राप्त हुए सुख–दुःख फलों का भोग किया तथा बहुत युगोंतक दिशाओं में भ्रमण किया, किन्तु ज्ञान के बिना दृश्यरूप दोष का विनाश नहीं हो सकता है ॥७०॥

एक सौ उनसठवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ साठवाँ सर्ग

सायंकाल के समय सभा का उठना तथा दूसरे दिन प्रातःकाल फिर पहले की नाईं लगना एवं भास की जीवन्मुक्तता और अविद्या का वर्णन।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : हे वत्स, जब विपश्चित् यह कह रहा था तब सुने गये विपश्चित् के वृत्तान्त को मानों अपनी आँखों से देखने के लिए सूर्य दूरतक फैली हुई किरणों के साथ या लम्बे लम्बे किरणरूपी पैरों से दूसरे लोक को गया ॥१॥ सायंकाल की सूचना देनेवाली दुन्दुभिध्वनि सन्तुष्ट हुई दसों दिशाओं से की गई जयजयकार ध्वनि की तरह दिशाओं को पूर्ण करती हुई उठी ॥२॥ महाराज दशरथ विपश्चित् के लिए राज्य के अनुरूप क्रमशः घर, गृहस्थी, धन आदि का

समर्थन करते हुए आसन से उठे ॥३॥ महाराज दशरथ, श्रीरामन्द्रजी, महामुनि श्रीवसिष्ठजी आदि गणमान्य पुरुष आपस में एक दूसरे को क्रमानुसार बिदाकर, नमस्कार आदि से सत्कार कर अपने अपने घरों को गये ॥४॥ स्नान और सायंसन्ध्या से निवृत्त होकर, भोजनकर और रात्रि में विश्राम कर प्रातःकाल में वे फिर सभास्थलपर आये जिस तरह वह सभा पहले बैठी थी उसी तरह बैठ गई। इसके पश्चात् जैसे चन्द्रमा अमृत की वर्षा करता है वैसे ही अपने मुखमण्डल की प्रभा से आह्लादित करनेवाले वचन कह रहे मुनि महाराज उक्त प्रस्तुत कथा क्रम से कहने लगे : हे राजन्, यह अविद्या नहीं है। असत् होती हुई ही यह सत् के समान स्थित है। विपश्चित् इस प्रकार के महान् प्रयत्न से भी इसका निर्णय नहीं कर सका, इसका पार नहीं पा सका। जब तक अधिष्ठानभूत ब्रह्मरूप से इसका विज्ञान नहीं होता तभी तक यह कालतः चिरकाल तक, देशतः और वस्तुतः अनन्त मालूम होती है, किन्तु यह केवल अधिष्ठानभूत ब्रह्मरूप है ऐसा जब इसका परिज्ञान हो जाता है तब यह मृगतृष्णा नदी के समान रहती ही नहीं है ॥५-८॥

हे महामते, भास नामधारी इस विपश्चित् का इतिहास आपने स्वयं ही देखा है और इसके उन मन्त्रियों ने भी देखा है। इसके पश्चात् इन कथाओं से तत्त्वज्ञान से सम्पन्न हुआ, यह अविद्या के नष्ट होनेपर आप लोगों के सदृश जीवन्मुक्त हो जायेगा। चूँकि ब्रह्म ने अपने में अपनी सत्ता से 'मैं अविद्या हूँ' ऐसी संवित् धारण की, इसलिए भ्रान्ति से ही इसका अविद्यमान भी स्वरूप सत् के तुल्य दिखाई देता है। जब यह अविद्या ब्रह्मस्वरूपा ही है ब्रह्म से अन्यस्वरूपा नहीं है तब यह अधिष्ठानब्रह्ममात्रत्वेन परिज्ञात होकर तो यह उससे पृथक् अस्तित्व नहीं रखती है। इस प्रकार विविध प्रकार की सृष्टियों से शोभित होनेवाली यह अविद्या अनन्त है। मोहरूपी वसन्त में खिली हुई मंजरीसी यह जड़, रमणीय और आसक्तिमयी है। वसन्त में खिली हुई मंजरी (बौर) भी विविध फलों से शोभित होती है। जड़ आसक्तिमयी यह अविद्या वन के बाँस में उत्पन्न हुई लम्बी शाखा की भाँति अन्त (सीमा) रहित हैं, चिद्‌अचिद् ग्रन्थिवाली है, सरसरी दृष्टि से चिकनी चुपड़ी मालूम होती है किन्तु अनुभव के समय इसके सुन्दर सुन्दर अंकुर सब काँटे बन जाते हैं। यह अविद्या अकाल में उत्पन्न हुई उत्पातसूचक पुष्पराशि की तरह मनोहारिणी है, अतएव अऋतु में उत्पन्न पुष्पराशि की तरह इसमें व्यर्थ भी फल की आशंका होती है किन्तु है यह निपट निष्फल, इसलिए प्रशंसनीय अभिज्ञ जन कदापि इसकी ओर आकृष्ट नहीं होते। यद्यपि इसका कोई स्वरूप नहीं है तथापि यह इतनी विशाल है कि नाना भुवनों को भर देती है, अतएव प्राणियों से भरी हुई अज्ञान पूर्ण यह अविद्या भूतों से भरी हुई अन्धकारपूर्ण लम्बी रात्रि के समान है। यह आकाश में मिथ्या ही दिखाई दे रही तथा विचित्र ग्रन्थियों से वेष्टित केशों के गोलों की भ्रान्ति के तुल्य है, किन्तु तत्त्वदृष्टि से वास्तव में न दिखाई दे रही यह अस्तित्वशून्य है। विविध रंगों में रंगी हुई, गुणरहित, आकाश में फैली हुई अज्ञानकर्मरूप विविध उपद्रवों से पूर्ण यह अविद्या आकाश में फैली हुई, वृष्टि के उत्पात को सूचित करनेवाली, प्रत्यंचारहित रंगबिरंगी इन्द्रधनुषलता के समान है। अज्ञानरूपी कल्लोलों से आकुल, पाप प्रकर्षरूपी फेन से भरी, चक्राकार भँवरियों के तुल्य भ्रान्तियों की आवासभूत यह अविद्या जलकल्लोलों से भरी हुई मलिनता की वृद्धि से फेनयुक्त चक्र की नाईं घूम रहे भँवरों से व्याप्त चौमासे की नदी की तरह है। यह रजोगुणी रूक्ष अविद्या बीहड़ श्मशानभूमि की तरह है,

जिसमें निरन्तर शून्य जगत्‌रूप सैकड़ों मृगतृष्णानदियाँ बहती हैं। श्मशानभूमि भी धूलिराशि से भरी हुई और रूक्ष रहती है एवं उसमें भ्रमवश शून्यरूपी सैकड़ों मृगतृष्णानदियाँ बहती दिखाई देती हैं। जैसे स्वप्ननगर में चिरकाल तक विचरण कर रहा पुरुष उसका अन्त नहीं पाता वैसे ही इस जाग्रत् नाम के स्वप्नपुर में भ्रमणकर रहा पुरुष इसका अन्त नहीं पाता। जो एक दृश्यजाल में (प्रपंच में) स्थित देहों का त्यागकर चुके तथा मरण के समय में जिनके चित्त इस जगत् के आकार से दृढ़ थे ऐसे जीवों के दृढ़ीभूत संकल्प ही इस जगत् के शरीर के आकार से स्थित हुए हैं। वे चिदाकाश के कोशरत्नरूप संकल्पसमूह इस प्रकार स्थिररूप विमान् नगर, भूमि आदि के आकार से सविकास (बिना संकीर्णता के) स्थित हैं। वे ही असंख्य सिद्धलोक होकर आकाश में भासित होते हैं। वे अदृष्ट होते हुए भी सत्तावान् हैं। भलीभाँति दृष्ट होनेपर भी असत् हैं। उन सिद्धलोकों की भूमि सुवर्णमय, मणिमय, माणिक्यमय और मुक्तामय थी। वे सबके सब भक्ष्य, भोज्य, अन्न–पान आदि से पूर्ण थे और रसायनों के तालाब के तालाब उनमें भरे थे। उन सबमें शहद, आसव, दही, दूध और घी की नहरें चारों ओर बहती थीं। वे सब सिद्धलोक चन्द्रमा की–सी आह्लादक आकृतिवाली महिलाओं से परिपूर्ण थे। उनमें सब ऋतुओं में प्रसिद्ध फल, फूल पल्लवों से लदे हुए वन और नदियों के प्रवाह प्रचुरमात्रा में थे, हाव–भावों से विशेष मनोहर ललनाओं से उन लोकों के घर भरे थे तथा केवल संकल्प करने मात्र से पूर्णरूप से उत्पन्न हुए सब विभवों की राशियों से वे सदा पूर्ण रहते थे। उनमें से कोई सिद्धलोक हजारों चन्द्रबिम्बवाले और सैकड़ों सूर्यमण्डल वाले थे, कोई सुवर्ण–से और अमृत–से स्वच्छ वेषवाले जलमय भूतों के आवास थे। उनमें स्वेच्छा से अन्धकार और प्रकाश होता था, वे सबके सब नित्यानन्दमय थे। उनमें से कोई थोड़ी–सी रुई के समान हलके थे, अतः वायु उन्हें जहाँ चाहता था वहाँ उड़ा ले जाता था। कोई अपनी कल्पना के कारण क्षण में उत्पत्ति और विनाशवाले थे यानी अपनी इच्छा से क्षण में दर्शन और अदर्शनवाले थे। उनमें अन्न और पानका कोई पारवार न था एवं वे जरा और मरण से विहीन थे। उनकी रूपरेखा (बनावट) अचम्भा में डालनेवाली थी, उनका वैभव भी आश्चर्यमय था, सभी ऋतुओं के गुणों से वे सुरम्य थे तथा सकलकाममय थे। वे संकल्पसमूह शास्त्रीय सत्कर्म और उपासना से सत्कर्म और उपासना के फल के आकारवाले तत्–तत् लोकों में उनके भोग्य फलों के आकार से स्थिर मनों की परिणतिरूप हैं। वह परिणति इस प्रकार स्थूल भित्ति कैसे होगी। केवल ब्रह्ममात्रस्वरूप जगत् में ब्रह्म से अन्य किसी का भी संभव नहीं है। हे भद्र, यदि प्रकारान्तर हो तो जगत् किंमय है कृपया कहें अर्थात् मनोरथ आदि में मन के परिणामों का अस्तित्व, चिन्मात्ररूप होने से ही, देखा गया है इसलिए जगत् के ब्रह्ममयात्मक होनेपर यह जो मैंने कहा है उसकी उपपत्तिपूर्वक सर्वथा संभावना है। यदि दूसरा कोई प्रकार हो तो यह जगत् किंमय है यह वादी को कहना चाहिये ॥९–३३॥

यद्यपि इस समय यह जगत् भूतमय (भौतिक) है, ऐसा कहा जा सकता है तथापि सृष्टि के आदिकाल में 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम्' (हे सौम्य, पहले यह एक अद्वितीय सत् ही था) इत्यादि श्रुति से ब्रह्म से अतिरिक्त दूसरे किसी कारण की संभावना ही नहीं की जा सकती, अतः अकारण जगत् को ब्रह्म से अतिरिक्त मानो तो वह अत्यन्त असत् है, यह कहते हैं।

सृष्टि के आदि काल में ही यह सृष्टि आदिकारण का अभाव होने से, कुछ भी नहीं था, अतः

यह जगत् किंमय हो ॥३४॥

यदि जगत् अत्यन्त असत् है तो उसका भान कैसे होता है ? इस प्रश्नपर कहते हैं।

जैसे जैसे अनन्त जगतों का संकल्प किया जाता है वैसे वैसे चिति में उनका भान होता है। कहिये इसमें कौनसी विचित्रता है ? अत्यन्त असत् खरगोश के सींग, आकाशपुष्प आदि का संकल्पवश भान होना चिरदृष्ट है, कोई नई बात नहीं है ॥३५॥

तब हम लोगों के संकल्प आदि मोघ (निष्फल) क्यों हैं ? ऐसा कोई प्रश्न करे तो तीव्रवेग न होने के कारण ही हम लोगों के संकल्पों में मोघता है। यदि हमारे संकल्प में तीव्रवेग हो जाय तो तुम या और कोई भी लोग आकाश में नगरों का निर्माण करते ही हैं और एकरसाभ्यास से ऐन्दवोपाख्यान में उक्त न्याय से उन्हें प्राप्त भी करते हैं, ऐसा कहते हैं।

हे साधो, इस समय भी तुम चाहे और कोई लोग भी इसी तरह आकाश में तीव्र संवेगवाले संकल्पों से नगरों का स्वेच्छा से निर्माण कर सकते हैं एकरस आसक्ति से इस शरीर का त्यागकर थोड़े ही समय में उन्हें प्राप्त कर सकते हैं ॥३६,३७॥ जो पुरुष पूर्वसिद्ध और उपासना से कल्पित-दोनों प्रपंचों का दृढ़ संकल्प से 'यह अवश्य है' इस बुद्धि से अनुसरण करता है वह पुरुष जैसे यज्ञ आदि सत्कर्मकारी स्वर्ग आदि अवश्य प्राप्त करता है वैसे ही क्रमशः दोनों को ही प्राप्त करता है। जो इनमें से एक ही सत्य है एसी दृढ़ बुद्धिवाला है वह एक को ही प्राप्त करता है ॥३८॥

सिद्धलोक में उक्त न्याय नरक आदि पाप-फलों की कल्पनाओं में भी तुल्य है, ऐसा कहते हैं।

जैसे अन्तःकरण की कल्पनावश सिद्धलोकों का सदा भान होता है वैसे ही कल्पनावश नरक आदि दुःखप्रद लोकों का भी भान होता है। दोनों में इतना अन्तर है कि उपासना का फल आस्तिकता और अनुष्ठान के रहते अभ्यास के बिना सत्यरूप से दृढ़ होता है। पाप का फल आस्तिकता और अभ्यास के अभाव में भी केवल पापाचरणमात्र से 'सत्य है' यों दृढ़कल्पनावाला हो जाता है ॥३९॥

संकल्प की अनुसारिता सर्वत्र समान है, ऐसा कहते हैं।

जिस किसी का जैसे संकल्प किया जाता है उसका, चाहे देह रहे या न रहे, वैसे ही अनुभव होता है कारण कि शरीर तो सभी कल्पनामय ही हैं ॥४०॥

इसलिए मन के अनुसार ही एक शरीर का त्याग कर जीव शीघ्र दूसरे शरीर का ग्रहण करता है, ऐसा कहते हैं।

जीव जिस भाव से एक देहमयी बुद्धि का त्याग करता है उसभाव से ही दूसरी देहमयी बुद्धि को शीघ्र देखता है। शुभ (पुण्यकारिणी) जीव-संवित् शुभ लोकों को देखती है और अशुभ (पापी) संवित् अशुभ लोकों को देखती है और शून्य संवित् शून्यात्मक लोकों को देखती है एवं चिरकालतक उनका अनुभव भी करती है। जो जीव-संवित् कर्म और उपासना से शुद्ध है वह सूक्ष्म से सूक्ष्म दूसरे के सिद्धनगरों को ही देखती है और अपने सिद्धपुरों का अनुभव करती है। पापाचरण से अशुद्ध जो चिति है वह नरकों में दूसरों के भीषण दुःखों को देखती है और अपने घोर दुःखों का अनुभव करती है ॥४१-४३॥

पापी जीव नरक में जिन दुःखों को देखता और अनुभव करता है उनका विस्तार से वर्णन करते हैं।

निरन्तर घूम रहे गेहूँ आदि पीसने के दो चक्कों से पीसा जाना देखता है और जिससे कदापि पुनः उद्धार न हो ऐसे अन्धकूप में गिरना देखता है। भयानक शीत से शरीर को जमकर पत्थर बना हुआ देखता है तथा भूतों (पिशाचों) और अंगारों से पटे हुए असीम निर्जल (रेगिस्तानी) मार्ग में चल रहे पथिक के रूप में अपने और दूसरों के शरीरों को देखता है। राखरहित अंगारमय मेघों से बरस रहे अँगारों की वह वृष्टि देखता है जो तपाये हुए बाणों की राशि की तरह तीक्ष्ण और वेगयुक्त होने से अतिभीषण होती है। जिसमें पत्थर, चक्र और तलवारों की नदियाँ बहती हैं ऐसे आकाश में अपना संचार देखता है और छातियोंपर गिराये गये बादल से काले कुल्हाड़ों के आघात से छातियों को फोड़ना देखता है। तपाकर लाल किये हुए लोहे की मूर्ति और त्रिशूल का आलिंगन करना और छप्–छप् शब्द के साथ डूबना देखता है तथा बड़े भारी कट–कट शब्द के साथ शस्त्रयन्त्र में खूब जोर से दबाना देखता है। चक्र, वज्र, गदा, भाले, बल्लम, तलवार और बाणों की वृष्टि देखता है, काँटेदार शाल्मली से (सेमर के पेड़ से) आलिंगन, पाश में बाँधना और खराब–खराब सैकड़ों शक्तियों से छेदना देखता है। जलती हुई बालू की राशियों में गिरना, पाताल में डूबना, दीये के रूप में प्रच्छन्न (छिपी हुई) लाठी से भय तथा बड़े–बड़े कौओं के द्वारा नोचना देखता है। बाहर निकलने के मार्ग से रहित बड़े–बड़े अँगारों से भरे हुए बड़े भारी घर में घुसना तथा बाण, शक्ति, गदा, भाले, बन्दूक और तलवार से बेंधना देखता है। मारे भूख से झूँझलाये हुए अतः क्रूर हुए प्रेत–पिशाचों द्वारा आपस में अंगो का चबाना तथा ताल से भी अधिक ऊँचे स्थान से कठिन शिलातलोंपर पटकना देखता है। रुधिर के घृणित कीचड़ से अंकित पीब आदि की नदियों की भीड़–भाड़ देखता है और शिलाओंपर शस्त्ररूपी घोड़े और हाथियों के पैरों तथा पत्थरों द्वारा पीसना देखता है। गड्ढ़े के सदृश प्रदेशों में उल्लूओं द्वारा देह का नोचना देखता है, जनसमूह द्वारा मुसलों से पीटना देखता है। और सिर, हाथ, पैर आदि के टुकड़े–टुकड़े करने के लिए उत्सुक गीधों को देखता है। इस कुकर्म से यह फल होता है, इस प्रकार की भावना से (शास्त्रीय निर्णय से) जो पहले बहुत बार इस प्रकार के देशों में अनुभव द्वारा दृढ़ हो चुकी, स्वात्मा ही तत्–तत् नरकरूप से विस्तृत होकर अपनी भावना से मिलता जुलता नारकीय दृश्य इस प्रकार देखता है ॥४४–५५॥ जिस किसी भी चेतन देह आदि का कभी चित्ताकाश में भान हुआ अथवा (भावी का (भविष्य में होनेवाले का) भी स्वप्न में भान देखने से) जिसका कभी भान नहीं हुआ अथवा जो अपूर्व ही हो उसका भी संकल्पभ्रान्तिरूप कल्पनावश भान होता है। वह सब मनोमय ही है। वह उस भावना से स्वेच्छा से ही चलता है सैकड़ों प्रयत्नों से कभी वह नहीं चलता, यह सिद्ध हुआ, यह अर्थ है ॥५६॥

एक सौ साठवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ इकसठवाँ सर्ग

जगद्रूप चित्र का ब्रह्म से अतिरिक्त दूसरा कारण नहीं है यह चिन्मात्रप्रतिभारूप है। अज्ञानवश ही इसका भान होता है, ज्ञान होनेपर यह ब्रह्म ही है, यह वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, मुनि और व्याध का भास द्वारा वर्णित सैकड़ों सुख–दुःखआदि दशाओं से युक्त जो यह वृत्तान्त है यह क्या प्रतिदिन दिखाई दे रहे स्वप्न आदि के समान अन्य कारण

से शून्य है अथवा जैसे लवण, गाधि आदि के चाण्डालता आदि ऐन्द्रजालिक तथा भगवान के वरदान आदि निमित्त से हुए थे वैसे ही किसी अन्य निमित्त से हुआ है ? ॥१॥

उसमें कोई अन्य निमित्त हो अथवा न हो, अज्ञात आत्मा में मोक्ष होने तक इस प्रकार की भ्रान्तियाँ सदा ही होती रहती हैं, ऐसा श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे वत्स, स्वात्मरूप परमात्ममहासागर में इस प्रकार के शून्यात्मक प्रतिभाआवर्त (भ्रान्तियाँ) अपने आप निरन्तर होते रहते हैं। जैसे पंखा आदि अन्य निमित्त रहे चाहे न रहे स्पन्दात्मक वायु से निरन्तर सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दलेश सदा ही निकलते रहते हैं वैसे ही सच्चित्परमात्मा से पदार्थाकार प्रथा चिदाकाश में निरन्तर उदित होती ही है। सच्चित् परमात्मा से अपनी अवयवभूत जो पदार्थाकारप्रथारूपी प्रभा जैसी उदित होती है वह यहाँ तब तक ज्यों कि त्यों वैसी ही रहती है जबतक कि वह अन्य आकारान्तर प्रतिभा से नष्ट नहीं की जाती जैसे कि मिट्टी का पिण्डादि आकार घटादि अन्य आकार में परिणति द्वारा नष्ट किया जाता है ॥२-४॥

उन अनन्त पदार्थाकार प्रतिभासों में अधिष्ठानभूत सन्मात्ररूप ब्रह्म शाखाप्रशाखाओं में वृक्ष की तरह अनुगत रहता है, ऐसा कहते हैं।

जैसे यहाँ एक ही अवयवी वृक्ष आदि नाना अवयवों में (शाखा-प्रशाखा आदि में) अनुगत रहता है वैसे ही एक सच्चिदानन्द ब्रह्म प्रतिभात्मक जगदाकाश में अनुगत है। जैसे देह की पिण्ड, हाथ, पैर आदि अवस्थाएँ चिरकालतक रहने के कारण स्थायी हैं और निमेष, उन्मेष आदि अवस्थाएँ क्षणिक होने के कारण अस्थिर हैं वैसे ही ब्रह्म की भूमि, अन्तरिक्ष, दिशा आदि कोई अवस्थाएँ चिरकाल स्थायी रहने के कारण स्थिर हैं और कोई अन्य अवस्थाएँ प्रतिभात अर्थ के तुल्य क्षणिक होने से अस्थायी हैं। स्वअवयवभूत उन सबमें ब्रह्म स्थित है ॥५,६॥ निज आत्मा में स्वप्ननगर के समान यह चितिचमत्कार केवल भान ही है उसमें सारभूत है या निस्सार है ऐसा आग्रह क्या ? अथवा सत् है या असत् है ऐसा भी आग्रह क्या ? ऐसा आग्रह मूढजन वृथा ही करते हैं, यह भाव है ॥७॥ इसका जब यथार्थरूप में परिज्ञान हो जाता है तब यह केवल चिदाकाश मात्र है। जब आप सरीखे अज्ञानियों से ज्ञप्त होता है तब यह 'जगत्' दृश्य है। अतः न तो यह सत् है और न असत् है, इसे क्या कहा जाय ? ॥८॥ हे तत्त्वज्ञ लोगों, संसार चिदाकाश का विकासमात्र है, अतः सर्वतः (सब प्रकार से) सत्य शिव सुन्दर में आस्था, अनास्था आदि (आदर, निरादर आदि) क्या ? आप लोग यथास्थित स्वरूप का अवलम्बन कर स्थित रहें। जैसे सागर से तरंगें अपने आप उठती हैं, वैसे ही देदीप्यमान सच्चिदानन्द आत्मा से कार्यकारण दृष्टि से प्रतिभानात्मक स्वात्मभूत पदार्थ उदित होते हैं। चिदाकाश का स्वसंकल्प-सा और स्वसृष्टि-सा जो अति विशाल प्रतिभान है उसीको उसने 'जगत्' समझा है। ऐसी स्थिति में यहाँपर पृथिवी आदि कौन हैं और कहाँ से आये ? यह आभास ऐसे प्रतिभासित होता है और कुछ भी नहीं ही भासता है, ब्रह्ममें ही ब्रह्म स्थित है। अविद्या नामधारी जगत् का स्वतः भान होता है अन्य कारण से उसका भान नहीं होता। यहाँ चिद्घन से ही घनता है अन्य पृथिवी आदि से घनता (निबिड़ता) नहीं है। सारा जगत् चिदाकाश ही है। यही परमबोध है, इसका भूमिका के अभ्यास से जो दृढ़ीकरण है वह मुक्ति है। शून्यता के (आकाशता के) रूप की (नीलता की) तरह स्थित अज्ञान का अवलम्बन कर भ्रम व्याप्त है। वास्तव में

यह निराकार शान्त चिदाकाश ही जगत् के रूप में भासित होता है ॥९-१४॥

यह सब ध्यान लगानेवाले विज्ञ पुरुषों के अनुभव से सिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

निर्विकल्प समाधि की प्रतिष्ठा से जिसका देहभान उच्छिन्न हो चुका ऐसे विज्ञ पुरुष के ध्यान में साक्षिचिन्मात्ररूप के क्षणभर स्थित होनेपर जगद्दर्शन-सामर्थ्य क्या होगी ? कहिये इसलिए अज्ञानदृष्टि से ही जगद्दर्शन-सामर्थ्य हो सकती है ॥१५॥

इससे ब्रह्म का अज्ञानी पुरुष के चित्तरूप उपाधि में जगत् के रूप में भान होता है अन्यत्र चिन्मात्ररूप से ही भान होता है, ऐसी व्यवस्था कहते हैं।

जिस चित्धातु के आकाशभाग का यानी चिदाकाशांश का जहाँपर जैसे जैसे भान होता है वह वहाँपर वैसे वैसे मुक्ति पर्यन्त इस तरह बोध और अबोध स्वभाव से रहता है। यद्यपि यह दृश्यभ्रम आकाशमय (शून्य) है फिर भी जैसे जन्मतः तिमिर रोग से पीड़ित नेत्रवाले व्यक्ति का आकाश में एक चन्द्रमा के बदले दो चन्द्रमा दिखाई देना यह दोष शान्त नहीं होता वैसे ही अविचारवान् (अज्ञानी) पुरुष का यह भ्रम शान्त नहीं होता ॥१६,१७॥

ब्रह्मभावापन्न जगत् का तो विनाश नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

जो यह कुछ दिखाई देता है वह निर्दोष, आदि अन्त विहीन चिदाकाश ही है तो उसका क्यों और कैसे नाश होगा ? ॥१८॥

अज्ञानदशा में भी जगत् स्वप्नवत् चित् का विवर्तमात्र ही है, ऐसा कहते हैं।

अपने स्वच्छ संकल्पमय रूपका परित्याग न कर रहे अपना जो स्वप्न के तुल्य विकास है वही यह जगत् है। वेदान्त आदि शास्त्रों के निर्णयों से, तीक्ष्ण बुद्धि से और परस्पर ऊहापोह से आत्मा को सोया हुआ-सा बनाकर प्रबुद्ध पुरुष द्वारा जिसका ज्ञान होता है, वह आत्मा है। जो यह व्यभिचरित न होनेवाली संवित् अविद्या नाम से आप लोगों में प्रसिद्ध है वह नदियों में धूलिमय भूमि की तरह हम लोगों की दृष्टि में है ही नहीं। जैसे स्वयं भलीभाँति अनुभूत होनेपर भी स्वप्न में भूमि का अस्तित्व है ही नहीं वैसे ही अपने द्वारा अनुभूत भी असत्मयी (मिथ्याभूत) यह दृश्यता नहीं है। जैसे स्वप्न में रूप आदि अर्थ की तरह और रूप को प्रकाशित करनेवाले तेज की तरह केवल चिदाकाश ही भासता है वैसे ही जाग्रत में जाग्रत् का साक्षी का स्वप्रकाश ही पदार्थाकार से दिखाई देता है। सत्य वस्तु में (परमार्थ सत् वस्तु में) 'यह स्वप्न है, यह जाग्रत् है' ऐसी जो भिन्नता भासती है अनुभव से तुल्यस्वरूपवाले उनमें वह है ही नहीं। जैसे प्रबोध से (जागने से) स्वप्न की प्रतीति 'यह ऐसी नहीं है यानी सत्य नहीं है' यों बाधित होती है वैसे ही परलोक में (अन्य शरीर में) प्रबुद्ध हुए, गर्भ में स्थित तथा पूर्व जन्म का स्मरण रखनेवाले पुरुष की जाग्रत में प्रसिद्ध प्रतीति भी 'यह ऐसी नहीं है यानी सत्य नहीं है' यों बाधित होती है ॥१९-२५॥

जब स्वप्न और जाग्रत दोनों समान ही हैं तब लोगों का उनमें असाम्य प्रत्यय क्यों होता है ? इस प्रश्नपर काल की अल्पता और अधिकता से उनमें असाम्यप्रतीति होती है, अनुभव से नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

यहाँ स्वप्न और जाग्रत् ऐसी बुद्धि क्रमशः स्वल्प समय और दीर्घ समय तक होती है उन दोनों में

वर्तमान अनुभव में साम्य है, अतः दोनों तुल्य हैं ॥२६॥ जाग्रत् बाहर में रहता है और स्वप्न अन्दर रहता है यह अन्तर भी दोनों में नहीं है, क्योंकि स्वप्न भी बाहर में रहता है। अतः स्वप्न जाग्रत के तुल्य ही है। सब वस्तुओं में स्वप्न और जाग्रत काल में पूर्णरूप से गुणसाम्य का अनुभव होता है, अतः स्वप्न और जाग्रत में जुड़वें भाइयों के समान कोई भी बड़ा नहीं है ॥२७॥ जो ही जाग्रत् है वही स्वप्न है और जो स्वप्न है वही जाग्रत है, क्यों कि दोनों में कालान्तर में 'यह ऐसा नहीं है यानी सत्य नहीं है' यों बाधबुद्धि तुल्य है। जैसे जीवनपर्यन्त सैकड़ों स्वप्न बिना किसी नियम के होते हैं वैसे ही निर्वाण प्राप्त न हुए जीव के महा अज्ञानरूपी स्वप्न में सैकड़ों जाग्रत् भी होते हैं। जैसे लोगों को उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाले अनेक स्वप्नों का स्मरण होता है वैसे ही पूर्व जन्म की स्मृति करानेवाले यौगिक चमत्कार से सम्पन्न प्रबुद्धजनों को एक नहीं सैकड़ों जन्मों का स्मरण होता है। इस प्रकार स्वप्न और जाग्रत दोनों का पूर्णरूप से साम्य होने और दोनों के अनुभवरूप होनेपर यह सिद्ध हुआ कि स्वप्न के तुल्य ही जाग्रत् का स्फुरण है और जाग्रत के तुल्य स्वप्नअनुभव का स्फुरण है। जैसे दृश्य और जगत्-दोनों ही नित्य एकार्थ हैं उनके अर्थ में जरा भी भेद नहीं है वैसे ही जाग्रत् और स्वप्न-दोनों शब्द एकार्थवाले कहे गये हैं यानी दोनों के अर्थ में रत्ती भर भी भेद नहीं है ॥२८-३२॥

जाग्रत् में स्वप्न-समानता का प्रतिपादन करने का मतलब दिखलाते हैं।

इस प्रकार जैसे विशालतम स्वप्ननगर चिन्मय आकाश ही है वैसे ही यह जाग्रत् जगत् भी चिन्मयाकाश ही है, इसलिए अविद्या कहाँ है और उसका दर्शन ही कैसे हो सकता है ?

यदि 'स हि स्वप्नो भूत्वा' इत्यादि श्रुति जैसे स्वप्नशब्द से ब्रह्म ही कहा जाता है वैसे ही अविद्या शब्द से भी ब्रह्म ही कहा जाता है, तो शब्द में हमें विवाद नहीं हैं किन्तु सकल भ्रमों की शान्ति होनेपर जो ही है वही मैं हूँ। पहले स्वकल्पनारूप ही बन्धभ्रान्ति रही, यही हमारा अभिमत अर्थ है वह सिद्ध हो गया, यह भाव है ॥३३,३४॥

यदि ऐसा है तो नित्यमुक्त आत्मा में बन्धनभ्रान्ति ही नहीं करनी चाहिये, ऐसा कहते हैं।

इसलिए इस प्रकार अबन्ध (बन्धन अयोग्य) चिन्मय का यह बन्धन ही न कीजिये। निर्मल आकाश और निराकार चिन्मय में कौन-सा अन्तर है जिससे आकाश नहीं बाँधा जा सकता लेकिन चिदात्मा बाँधा जा सकता है ऐसा कहा जा सके। क्योंकि अमूर्तता, अलेपकता, सूक्ष्मता आदि से दोनों में अत्यन्त समता है। इस दृश्य नामधारी अविद्यासंज्ञक चिन्मय आकाश का स्फुरण होनेपर निराकार चिन्मयका बन्ध अथवा मोक्ष कहाँ और किससे होगा ? जब अविद्या नहीं है तब किसी का बन्धन बन्धन नहीं है और किसी का मोक्ष भी मोक्ष नहीं है। क्योंकि ब्रह्म से अतिरिक्त 'है' 'नहीं है' यों व्यवहार के योग्य वस्तु ही अत्यन्त दुर्लभ है। विद्या अथवा अविद्या का अस्तित्व है ही नहीं। यह आकाशआकृति की चिति ही स्वप्न की तरह सर्गाकार स्वदेहवाली होकर स्फुरित होती है ॥३५-३८॥ एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश की प्राप्ति होनेपर मध्य में निर्विषय जो संवित् का स्वरूप प्रसिद्ध है वही स्वप्न और जाग्रत् में प्रसिद्ध दृश्य का परमार्थिक रूप है, ऐसा ही निश्चय करना चाहिये ॥३९॥ बाह्य दृश्य में और आभ्यन्तर दृश्य में इन्द्रिय, मन, उनके विकार आदि में प्रकाश करने के लिए सदा जागरूक अद्वितीय स्वयंज्योति आत्मा का जो स्वरूप है वही जाग्रत और स्वप्न के पदार्थों का तात्त्विक रूप है। इसीलिए जाग्रत् और

स्वप्न के भेद की प्रतीति की कल्पना को भी उन दोनों के साक्षीरूप ही आप जानिये न कि चिद्भेद, क्योंकि तीनों अवस्थाओं में अनुगत साक्षिभूत चिति का अन्त दूसरे किसने देखा है जो कि चित् में भेद देखेगा ? चिदाकाश ही अभेदबुद्धि है और चिदाकाश ही भेदबुद्धि है ऐसा होनेपर द्वैत और अद्वैत दोनों ही अखण्ड शान्त एक ही हैं। जैसे ब्रह्म के सत्, चित् और आनन्द रूप अंशों में सत् अंश बोधमय और बोध से (ज्ञान से) ग्राह्यमय–दोनों में अभिन्न है वैसे ही द्वैत और द्वैतज्ञान दोनों एक ही हैं, इसलिए चिदंश भी अभिन्न है। क्योंकि जो ही दृष्ट हैं यानी दृष्टियों के विषयीकृत हैं वे ही 'दृश्य' कहे जाते हैं। कोई भी चित्तादात्म्य से अतिरिक्त विषयविषयिभाव का निरूपण नहीं कर सकता ॥४०–४३॥ एक सद् वस्तु का ही सकल द्वैतरूप से (सर्गरूप से) जब प्रतिभास है तब ब्रह्म ही द्वैत–अद्वैत और अद्वैताभिन्न भी है, उससे अतिरिक्त कुछ भी सिद्ध नहीं होता, यह भाव है ॥४४॥

तो क्या ब्रह्म को द्वैत–अद्वैतसमुच्चयरूप ही समझना चाहिये ? इस प्रश्नपर नकारात्मक उत्तर देते हैं।

पहले सर्गरूपी ही परम ब्रह्म द्वैत और अद्वैत है यों मूर्तअमूर्त प्रपंच की ब्रह्मरूपता का निर्णय कर पीछे 'नेति नेति' श्रुतिवाक्य से सकल द्वैत के निषेध द्वारा चारों ओर से सकल द्वैत का त्याग कर चौगिर्द से आविर्भूत इस प्रत्यगात्मरूप चिदाकाश में उत्तरोत्तर भूमिका के अभ्यास से सैन्धव घन के समान आनन्दैकरसघन शिला बनकर आप स्थित होइये। हे सुभग, इस प्रकार सुचिन्मय ब्रह्म में परमपदरूप शिला बने हुए निश्चिन्त निष्क्रिय हुए आप क्रमशः अपने वर्ण और आश्रम के धर्मों का उल्लंघन किये बिना और लोकमर्यादा का उल्लंघन किये बिना अपने वित्तानुसार अभीष्ट देश में जाइये, पीजिये, खाइये और अपने इष्टमित्रों को खिलाइये ॥४५,४६॥

एक सौ इकसठवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बासठवाँ सर्ग

समस्त द्वैत का ब्रह्ममात्रत्व वर्णन द्वारा अविद्या का निराकरण करना।

सकल दृश्य का चिदाकाश के लिए ही स्फुरण होता है, इसीलिए भी चिन्मात्र परिशेष है, ऐसा कहते हैं।

सकल पदार्थ चिदाकाश के भोग के लिए हैं अतएव जैसे गाय आदि के उपभोग्य तृण आदि गाय आदिरूप से ही अवशिष्ट रहते हैं वैसे ही बाहरी रूप लोक और आभ्यन्तर मनन के साथ बाह्य और आभ्यन्तर यथास्थित यह जगत् केवल चिदाकाशरूप से ही अवशिष्ट रहता है ॥१॥

चिद् के भोग्य की चिन्मात्रशेषता किस दृष्टान्त से आप सिद्ध करते हैं ? ऐसा प्रश्न उपस्थित होनेपर कहते हैं।

चूँकि स्वप्न में नगर का भोग करनेवाली चिति के ही नगररूप होने से चिति से अतिरिक्त कुछ नहीं है, इसलिए जाग्रत्–जगत् भी आकाश की तरह शान्त है। यहाँपर नाना (भेद) कुछ भी नहीं है ॥२॥

यदि नाना (द्वैत) नहीं है तो जो नाना–सा मालूम पड़ता है वह क्या है ? इस पर कहते हैं।

चित् का चारों ओर भान अनाना होता हुआ भी नाना–सा मालूम होता है। जो नाना है वह –

जैसे स्वप्ननगरों और गन्धर्वनगरों में पदार्थ निस्स्वरूप ही है पर वह स्वसाक्षी आत्मा से अपने को दर्शाता है वैसे ही-निस्स्वरूप है यानी उसका कोई स्वरूप नहीं है वह स्वसाक्षी आत्मा से अपने को दर्शाता है ॥३॥

उसकी समता को ही और अधिक स्पष्ट करते हैं।

सृष्टि के पूर्व की (प्रलयकाल की) तरह इस समय भी चिदाकाशरूप जगत् का स्वप्ननगर और गन्धर्वनगर के समान भान ही हुआ है और उसी तरह वह असत्य भी है इसलिए स्वप्ननगर और गन्धर्वनगर के पदार्थ से उसकी समता है, यह अर्थ है ॥४॥

चन्द्रमा की प्रादेशिकता यानी चन्द्रमा केवल बित्ताभर है यह जैसे चन्द्रमण्डल के विस्तार को जाननेवालों के अनुभव से मेल न खाने के कारण असत् है वैसे ही ज्ञानियों के अनुभव से विरुद्ध होने के कारण भी जगत् असत् है, ऐसा कहते हैं।

सत्य-असत्यमय सर्ग (सृष्टि) तत्त्वज्ञानियों द्वारा जैसा ज्ञात है वह मूर्खों की दृष्टि में असत् है एवं मूर्खों द्वारा जैसा ज्ञात है वह तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में असत् है। अथवा ऐसा अर्थ करना चाहिये - मूर्खों और तत्त्वज्ञानियों के अनुभव का अनुसरण कर प्रपंच की व्यवस्था नहीं की जा सकती, क्योंकि उन दोनों में परस्पर विसंवाद होने से-जमीन आसमान सी विपरीतता होने से-उन दोनों को ही वह अज्ञात है ॥५॥

ऐसा कैसे ? ऐसा कोई कहे तो इस पर कहते हैं।

चूँकि तत्त्वज्ञानी केवल अन्तर्दृष्टि हैं और अज्ञानी केवल बाह्यदृष्टि है, अतएव उन दोनों की बुद्धिवृत्ति में स्थित प्रपंचस्वरूप को ये दोनों स्वयं समझने तथा तुमको अथवा आपस में एक दूसरे को समझाने के लिए समर्थ नहीं हो सकते हैं ॥६॥

उक्त अर्थ का ही उपपादन करते हैं।

सर्ग शब्द का अर्थ जैसा स्वबुद्धि में स्थित होता है वैसा ही स्फुरित होता है उससे अन्य नहीं, यह निर्विवाद बात है। उसमें पागल और भले चंगे स्वस्थ मस्तिष्कवाले की तरह भ्रान्त और अभ्रान्तरूप इनके परस्पर के तत्-तत् प्रपंच का रूप आन्तरबुद्धि में स्थित होने के कारण अन्तःस्थ है। विद्वानों की बुद्धि सदा स्थिरता में जाग्रत रहती है इसलिए वह स्थिर आत्मतत्त्व को देखता है और अविद्वान् की बुद्धि अस्थिरता में जाग्रत रहती है इसलिए वह अस्थिर बाह्य को ही देखता है। बुद्धिगत प्रपंचस्वरूप न तो अत्यन्त आन्तर है और न अत्यन्त बाह्य है, इसलिए दोनों को ही उसका ठीक परिज्ञान नहीं है, यह अर्थ है ॥७॥

जब भ्रान्त और अभ्रान्त दोनों से प्रपंच का दीखना संभव नहीं है, तो प्रपंच अस्तित्व कैसे प्राप्त हुआ ? इस प्रश्नपर कहते हैं।

जैसे तरंगें नदी के जल में जलद्रव के रूपसे स्थित होती हैं वैसे ही सृष्टिरूपी तरंगें अज्ञात चित् स्वभाव का ही अवलम्बन कर आत्मसत्ता से ही चित् में स्थिति को प्राप्त हुई हैं। जो केवल चित्चमत्काररूप है उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है, वही जगत् के रूप से स्थित है जैसे स्वप्ननगरों में अदृश्य भी वस्तुजात दृश्य-सा प्रतीत होता है वैसे ही यह भी अदृश्य होता हुआ ही दृश्य-सा मालूम

होता है। यह चित् की प्रभा ही जगत् नाम से स्फुरित होती है। यह अमूर्त (निराकार) होती हुई ही दर्पण में घट, पट आदि पदार्थों की छाया के समान मूर्तिमती–सी होकर व्याप्त है ॥८–१०॥

देह में आत्मभ्रान्ति ही सब दुःखों का मूल है, ऐसा कहते हैं।

यह केवल तुच्छ शरीर एकमात्र भ्रान्तिरूप असत्यमय है। पिशाचभ्रम दर्शन की भाँति यह अत्यन्त दुःखदायक है। जो मनोराज्य की तरह असत्य है, जो पत्तों के छोर पर लटक रहे जलबिन्दु की तरह चंचल (क्षणभंगुर) है और पूर्वोक्त विद्वान और अविद्वानों की अनुभूति द्वारा भी विचारा जा रहा जो असत् है उसमें आत्मता का प्रसंग क्या ? यानी उसमें कदापि आत्मता का संभव नहीं है ॥११,१२॥

तब मैं राम हूँ, आप वसिष्ठजी हैं इत्यादि देहात्मव्यवहार, शब्द और अर्थ कैसे हैं ? इस संशयपर कहते हैं।

जैसे पृथिवी में मोटा बाँस का डंडा चीरनेपर उसके अन्दर पहले से स्थित शब्द बाहर निकलता हुआ–सा मालूम पड़ता है किन्तु उसके अन्दर शब्द न तो था और न निकला वैसे ही जल में तरंगों से, अग्नि में ज्वाला आदि से, आकाश में प्रतिध्वनि शब्द और वायु से कण्ठ, तालु आदि प्रदेशों में वर्णस्फोट, पदस्फोट और वाक्यस्फोट निकले हुए से मालूम पड़ते हैं लेकिन वे उनके अन्दर पहले से नहीं हैं वैसे ही वासनामय पदार्थ भी अग्नि से चिनगारियों की तरह जाग्रत और स्वप्न में आत्मा से निकले हुए से प्रतीत होते हैं लेकिन वे उसमें हैं नहीं। सृष्टि के आरम्भ से स्वात्मचित् ही स्वप्न के पर्वत के समान स्फुरित होता है वास्तव में तो न शब्द है, न अर्थ है और न दृश्यता ही है। जो यह है और जो भासित होता है वह सब परमार्थ सत् ही है। सत् से अतिरिक्त रूप तो सृष्टि के आदि में ही, कारण का अभाव होने से, उत्पन्न ही नहीं हुआ ॥१३–१५॥

इसलिए सदा ही एकरूप चिदाकाश ही मैं हूँ यों अपने को आप परम शान्त निर्वृत्तिरूप जानिये ऐसा कहते हैं।

शब्दभेदार्थ विहीन अखिलार्थमय चिदाकाशस्वरूप मैं परमशान्ति को प्राप्त होता हूँ परम निर्वाण को प्राप्त होता हूँ, ऐसा आप जानिये ॥१६॥ एकमात्र शुद्ध बोधरूप आत्मविश्रान्ति द्वारा जीव में प्रसिद्ध मनोविक्षेप का त्याग कीजिये, जो अपने आप मिथ्या ही उदित हुआ है ॥१७॥

अतएव आत्मविचार से अपना उद्धार कीजिये, ऐसा कहते हैं।

निस्सन्देह जीव आप ही अपना बन्धु है और आप ही अपना शत्रु हैं। अपने से अपनी रक्षा न की गई तो फिर उसकी रक्षा का दूसरा उपाय नहीं है। जब तक आपकी यह तरुणाई है तभी तक विशुद्ध बुद्धिरूपी नाव से इस संसार नामक सागर के परले पार चले जाइए। जो कल्याण है उसे आज ही कर डालिए। वृद्ध होकर क्या करेंगे ? बुढ़ापा आनेपर अपने अंग भी भारभूत हो जाते हैं यानी अपने अंग भी नहीं संभाले जाते हैं। शैशव (बाल्यवस्था) और वृद्धता को आप क्रमशः पशुता की भाँति ज्ञानकी असाधक और मृत्युरूप ही समझिए। यदि विवेकसम्पन्न हो तो यौवन ही जीवन है यदि यौवन अविवेकपूर्ण रहा तो वह पशुता से भी गया गुजरा है। विजली के कौंधने के समान चंचल इस संसार को पाकर सत्शास्त्रों के अभ्यास और सज्जनसंगति द्वारा अज्ञानरूपी कीचड़ से आत्मा का उद्धार करना चाहिये। ओह ! खेद है, मनुष्यों की निष्ठुरता का कोई ठिकाना नहीं है। जो स्वयं कीचड़ में

गलेतक मग्न होनेपर भी शास्त्रप्रतिपादित उपायों से अपने उद्धार का उपाय नहीं करते उन बेचारों की कौनसी गति होगी ? जैसे मिट्टी के बने हुए वेतालों की (पिशाचों की) सभा ग्रामीण पुरुष को, जो ये मिट्टी के बने हैं यह नहीं जानता किन्तु असली वेतालों की सभा मैंने देखी यों भ्रान्ति है अतः भय, ज्वर आदि दुःखदायक होती है और जिसकी दृष्टि में यह मिट्टी के वेतालों की सभा है यों यथार्थज्ञान से वेतालसभा मिट्टी की ही होती है उसे भय, ज्वर आदि दुःख नहीं होते वैसे ही ब्रह्ममयी यह दृश्यशोभा अज्ञानी को, जो इसे ब्रह्ममय नहीं देखता है, भय, क्लेश आदि देती है ॥१८–२५॥ यह दृश्य ब्रह्म ही है, यों यथार्थ विज्ञान होनेपर यह भय, क्लेश आदि नहीं देती।

यह दृश्य यथार्थज्ञान होने से पर कोई क्लेश आदि क्यों नहीं देता इस प्रश्न पर कहते हैं।

यह दृश्य यथार्थ ज्ञान होने पर अशान्त होता हुआ ही शान्त हो जाता है, स्थित होता ही हुआ विलीन हो जाता है और दिखाई देता हुआ भी नहीं दिखाई देता ॥२६॥

यदि कोई कहे कि स्पष्ट अनुभव होने के कारण सत्यता को प्राप्त हुए जगत् की ज्ञानमात्र से कैसे असत्त्वापत्ति हो सकती है ? इसपर कहते हैं।

जैसे अपने स्वप्नसमय में स्पष्टरूप से अनुभव में आया हुआ भी स्वाप्न जगत् प्रबोध से (जागने से) असत्य ही हो जाता है वैसे ही चिदाकाश में अनुभूयमान भी यह सर्गसंवित् तत्त्वज्ञान से केवल शून्य ही रह जाती है ॥२७,२८॥

वह तत्त्वज्ञान मन के साथ इन्द्रियोंपर विजय पाये बिना नहीं प्राप्त हो सकता, यह दिखलाते हुए उपसंहार करते हैं।

जन्म के ज्वररूप काम, क्रोध आदि वनाग्नि से जले हुए जीवनरूप जंगलों में मृगों के सदृश कभी तृण, पत्ते आदि इष्ट का लाभ होने और कभी इष्ट का लाभ न होने से शिथिल हुए मतवाले मन और प्राणवायु के बाहर संचरण से युक्त इन इन्द्रियों को जीतकर ज्ञान द्वारा अविद्यापर विजय प्राप्त कीजिये। अविद्यापर विजय द्वारा मुक्ति पाकर पुनर्जन्म का निवारण कीजिये ॥२९॥

एक सौ बासठवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तिरसठवाँ सर्ग

इन्द्रियों पर विजयप्राप्ति का उपाय तथा अद्वितीय चित् में चित्तावरोध और शास्त्राभ्यास इन बोधहेतुओं का वर्णन।

'इन्द्रियों को जीतकर ज्ञान द्वारा अविद्यापर विजय प्राप्त कीजिये और पुनर्जन्म का निवारण कीजिये' यों इन्द्रियजय की आवश्यकता जो श्रीवसिष्ठजी ने बतलाई है उसका श्रीरामचन्द्रजी उपाय पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिवर, इन्द्रियोंपर विजय पाये बिना यह अज्ञानिता नष्ट नहीं हो सकती है, इसलिए कृपया बतलाइये कि इन्द्रियोंपर किस प्रकार विजय प्राप्त की जा सकती है ? ॥१॥

आपने बहुत उचित प्रश्न किया यों श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न का अनुमोदन कर रहे श्रीवसिष्ठजी राम के प्रश्न को पुष्ट करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे वत्स, मन्द नेत्रज्योतिवाले पुरुष के सामने दीप भले ही जलता हो पर वह

उसके सूक्ष्म पदार्थनिरीक्षण में उपयोगी नहीं होता, क्योंकि नेत्रज्योति होने पर ही दीपक उपयोगी होता है वैसे ही प्रचुर भोगों में आसक्त हुए, अपने पुरुषार्थ का उत्कर्ष बढ़ाने में संलग्न तथा जीवन के उपायभूत धनदौलत के उपार्जन में दत्तचित्त पुरुष के शास्त्र आदि साधन ब्रह्मसाक्षात्कार में उपयोगी नहीं होते उसी तरह इन्द्रियोंपर विजय न की जाय, तो भी वे उपयोगी नहीं होते। इसलिए इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करने की अति आवश्यकता है। इन्द्रियजय में उपयुक्त इस युक्ति को आप आद्योपान्त सुनिये। मुझसे आगे कही जानेवाली इस युक्ति से थोड़ी भी साधनसम्पत्ति स्वयत्न से मोक्षफलरूप सिद्धि को प्राप्त होती है। चिन्मात्र पुरुष, को आप चित्त से प्रापित अर्थ का प्रकाशक होने से यानी चित्त के अधीन होने के कारण जीवनायक जानिये। वह जीव अपने अन्दर जिसे चित्तवृत्ति से व्याप्तकर प्रख्यात करता है, क्षण में तन्मय हो जाता है यानी उसमें आसक्त हो जाता है ॥२–४॥

ऐसी परिस्थिति में चित्त के प्रत्याहार प्रयत्न से अन्दर आकर्षण द्वारा बाह्याकारता का निरोधकर ब्रह्माकारता के प्रबोधन का अभ्यास करनेपर पंगु बनी हुई इन्द्रियाँ स्वतः जीती जा सकती हैं, ऐसी युक्ति कहते हैं।

चित्त के प्रत्याहार प्रयत्न द्वारा अन्तर्मुख करने से ब्रह्माकारताबोधनरूप चोखे अंकुशों के आघातों से मदोन्मत्त मनरूपी मतंग को जीतकर ही जीव इन्द्रियोंपर विजय पा सकता है, अन्यथा नहीं ॥५॥ चित्त को इन्द्रियसेना का सेनापति कहते हैं यानी वह इन्द्रियों का स्वामीरूप से संचालक और निरोधक है, इसलिए उसपर विजय पा लेने से इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त हो जाती है। जिसके पैर चर्ममय जूते आदि से सुरक्षित होते हैं उसके लिए सारी पृथ्वी चर्मावृत हो ही जाती है ॥६॥

तब मन की शान्ति का कौन उपाय है ? इस शंकापर मन की शान्ति का उपाय बतलाते हैं।

चित्तावच्छिन्न संविद्रूप जीव को संविदाकाश में (ब्रह्ममें) एक करके निज आत्मा में स्थित पुरुष का मन शरद ऋतु के कुहरे की तरह अपने–आप शान्त हो जाता है। हे श्रीरामजी, पूर्ववर्णित जीवसंवित् का जतन के साथ ब्रह्म में एकीकरण से जैसा चित्त शान्त होता है वैसा शान्त तपस्या, तीर्थसेवन, विद्या, यज्ञानुष्ठान आदि से नहीं होता। जिस जिसका बलात् स्मरण होता है उस उसका अधिष्ठान ब्रह्मसंवित् में प्रविलापन संवित् से (एकीकरण संवित् से) निश्चय विस्मरण किया जा सकता है यानी उसके संस्कारों के उच्छेद से पुनः स्मरण के अयोग्य किया जाता है। उक्त उपाय से भोगहेतु विषयोंपर विजय प्राप्त होती है। निरन्तर अभ्यासरूप प्रयत्न से यदि चित्तवृत्ति विषयरूपी मांस से ब्रह्म में कुछ संरोपित हो उस उपाय से तत्त्वज्ञानियों का अनुभवसिद्ध स्वराज्यपद प्राप्त हुआ ही समझिये ॥७–१०॥

इसी प्रकार एकमात्र स्वधर्मनिष्ठता की दृढ़ता भी वैराग्यसिद्धि द्वारा इन्द्रियजय की हेतु होती है, ऐसा कहते हैं।

स्व–वर्णाश्रमधर्म के आचरण द्वारा जो पद प्राप्त होता है वही मुझे रुचता है उससे अन्य नहीं, उसी पद में आप वज्र के समान दृढ़ होइये ॥११॥ स्वधर्मविरुद्ध देहयात्रा हेतु अन्न आदि में इच्छा का त्याग करता हुआ एवं शम और सन्तोष का उपार्जन करता हुआ जो स्थित रहता है वही विजितेन्द्रिय है ॥१२॥ जिसका मन अन्दर संवित् में रसिकता और बाहर नीरसता के अभ्यास में

कभी निर्वेद को प्राप्त नहीं होता, ऊबता नहीं है, उसका मन शान्त होता है ॥१३॥ संवित् का प्रयत्नपूर्वक ब्रह्म में आरोप करने से मन विषयों के पीछे दौड़ने के दुर्व्यसन का त्याग कर देता है। वही मन की चंचलता है। मन चंचलता से छुटकारा पाकर विवेक की ओर अग्रसर होता है ॥१४॥ विवेकवान् महाशय कहा जाता है। वह वासनारूपी तरंगों के वेग से संसारसागर में क्लेश नहीं पाता ॥१५॥ उदार पुरुष इस प्रकार जितेन्द्रिय होकर निरन्तर साधु-सन्तों की संगति और सत्शास्त्रों के अनुशीलन से जगत् को सत्य ब्रह्ममात्र देखता है। सत्य वस्तु के दर्शन से मरुभूमि में मिथ्यावस्तुओं में दौड़ने से दुःखदायी को जलज्ञान की तरह संसारभ्रान्ति शान्त हो जाती है। चेत्यभिन्न चिन्मात्र ही इस जगत्रूप से स्थित है इस प्रकार के सत्यबोधवाले की (यथार्थज्ञानी की) बन्ध-मोक्षदृष्टियाँ किससे होगी ? जैसे सूर्य की गर्मीवश शोषण द्वारा क्षीण होकर अनाकार (अमूर्त) हुआ जल फिर बहता नहीं है वैसे ही अकारण (जिसका कोई कारण नहीं है) दृश्य तत्त्वज्ञान से छिन्नमूल होकर फिर पनपता नहीं है। आकाशमात्ररूपवाला वेदन ही अपनी अविद्यावश 'त्वम्' (तुम), 'अहम्' (मैं) इत्यादि रूप धारण करता है, इसलिए अपने में अध्यस्त 'अहम्' इत्यादिरूप इस जगत् को ज्ञान द्वारा मिटाकर अध्यस्त से भिन्न अधिष्ठानमात्र हो जाता है ॥१६-२०॥ 'त्वम्', 'अहम्' इत्यादि जगत् अविद्यामात्र (भ्रममात्र) ही है। यह मिथ्या होने के कारण स्वतः ही शान्त अतएव केवल शून्यमात्र शरीरवाला है, इसलिए चिदाकाश में (अपने तात्त्विक रूप में) ही स्थित है। चिदाकाश में चित्प्रभा का ही इस जगत् के रूप में भान होता है। यह चित् जगत्रूपी शून्य से शून्य भी शून्य ही है यह निश्चय (सिद्धान्त) है ॥२१,२२॥

अभयशून्यता कहाँ प्रसिद्ध हैं ? ऐसा यदि कोई प्रश्न करे, तो उस पर कहते हैं।

यहाँपर स्वप्नदर्शन दृष्टान्त का कौन निवारण कर सकता है। 'स्वप्न असत्मय है' इससे स्वप्न में शून्यता है 'स्वप्न अनुभूत होता है' इससे उसमें शून्यशून्यता भी है। अनुभूत की असत्मयता में भी स्वप्न ही दृष्टान्त है। कारण कि स्वप्न स्वानुभूत होने पर भी असत्मय है ॥२३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, स्वप्नसंवेदनमात्रस्वरूपवाला चिदात्मा स्वप्न में जो जो राज्यादि वैभव होकर प्रतिष्ठित होता है, वह सब चित् का ही रूप है क्योंकि वह रूप कर्ता, कर्म, करण आदि कारणों से निरपेक्ष होने से चिद्रूप ही है ॥२४॥ जो-जो कर्ता, कर्म, करण आदि से निरपेक्ष होता है वह सब चिद्घनमात्ररूप मैं ही हूँ। सृष्टि के प्रारम्भ में इस जगत् के भी कर्ता, कर्म, करण आदि का निर्देश नहीं किया जा सकता ऐसा हम पहले उपपादन कर चुके हैं, इसलिए यह जगत् मेरा स्वप्रकाश आत्मरूप ही है ॥२५॥

स्वप्न में अपने मरने की तरह और मरुभूमि में मृगतृष्णा नदी की तरह प्रतीतिवश विद्यमान रहती हुई भी ज्ञान से बाधित हुई अविद्या है ही नहीं, ऐसा कहते हैं।

जैसे स्वप्नों में अनुभूत भी स्मरण मिथ्या है और जैसे मरुभूमि में विद्यमान भी जलभ्रान्ति असत् है वैसे ही प्रतीतिवश विद्यमान भी यह अविद्या नहीं है ॥२६॥ चिदाकाश ने सृष्टि के आरम्भ में अपने चाकचक्य का (झलक या चमत्कार का) अपने स्वरूप में संकल्प किया वही बिना कारण का जगत् के नाम से काकतालीय के समान स्थित है। यह जगत् अकारण ही स्फुरित होता है स्फुरण को प्राप्त न हुआ भी यह स्फुरित-सा प्रतीत होता है। चूँकि यह जगत् चित्प्रकाश से देदीप्यमान होकर प्रख्यात

हो रहा है इसलिए विद्वान लोग इसे वही परम पद जानते हैं ॥२७,२८॥ इसमें जो यह जीव आदि का स्फुरण होता है, वह भी परमपद ही है क्योंकि शून्यता आकाश ही है और आवर्त, तरंग, बुद्‌बुद् आदि जल हैं ॥२९॥

अथवा अवयव–अवयवी भाव की कल्पना के द्वारा जीवादि की ब्रह्मैकता समझनी चाहिये, ऐसा कहते हैं।

जैसे अवयवी का सावयव एक रूप होता है वैसे ही वास्तव में निरवयव कल्पना द्वारा जीवादिरूप अवयवयुक्त ब्रह्म एक ही है ॥३०॥

अथवा स्फटिक शिला के अन्दर वन, पर्वत, नदी आदि के आभास की तरह ब्रह्म में जगत् का आभास है, यह समझना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

आभासरूप दृश्य शान्त अविनाशी स्वच्छ चिन्मात्ररूप से ही स्थित है। उसका स्वच्छता स्वभाव ही जगत् के रूप से भासित होता है, इसलिए अपने स्वभावभूत इस दृश्य में क्या विचार किया जाय यानी इसमें द्वैत या अद्वैत का विचार करना व्यर्थ है ॥३१॥ परमपद में आदि अन्त और मध्य की कोई कल्पनाएँ नहीं हैं। यह दृश्यरूपा अविद्या परमपदरूप ही है। अतः अविद्या नाम का पृथक् पदार्थ यहाँ कोई नहीं है ॥३२॥ स्वप्न से जाग्रत् में प्रवेश करता हुआ और जाग्रत् से स्वप्न में प्रवेश करता हुआ जीव प्रबुद्ध हो चाहे अप्रबुद्ध हो एक रूपसे स्थित है। प्रबोध और अप्रबोध अवस्था में केवल भानरूप से ही वह स्थित है। जाग्रत् और स्वप्न में सुषुप्त (अज्ञानावृत आत्मा) और तुर्य (शुद्ध आत्मा) भ्रान्तिनिर्मित सर्प के अन्दर अज्ञानरज्जु और केवल रज्जु के तुल्य सदा स्थित है, किन्तु प्रबुद्ध पुरुष जाग्रत् और स्वप्न को एक तुर्य (शुद्ध आत्मा) ही जानता है। तत्त्वज्ञानवान् पुरुष के लिए जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति सबकुछ तुर्य ही है। तत्त्वज्ञानी की अविद्या नहीं है अतः वह द्वैतस्थ होनेपर भी अद्वय ही है ॥३३–३५॥ यह द्वैत और अद्वैत तथा 'त्वम्' (तुम) 'अहम्' (मैं) और 'इदम्' (यह) ऐसी कोई भी कल्पना अविद्याविहीन पुरुष को कैसे हो सकती है, उससे शून्य भी कैसे ? ॥३६॥ अप्रबुद्ध बालक द्वैत, अद्वैत आदि भेदों से युक्त वाक्यरचना के विलासों से क्रीड़ा करते हैं, ज्ञानवृद्ध पुरुष उनको हँसते हैं ॥३७॥

तब ज्ञानी लोग भी शास्त्रों में द्वैतअद्वैतविवादों की क्यों इच्छा करते हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं।

द्वैत और अद्वैत में विवाद की इच्छा हृदयाकाश में आरोपित शिष्यप्रबोधरूप फलवाली मंजरी है। उसके बिना यहाँ प्रबोधाकाश का संमार्जन नहीं होता है ॥३८॥

अतएव मैंने भी सुहृद्भाव से कल्पना द्वारा द्वैतअद्वैतविचारणा की है। जब इसका कार्य सम्पन्न हो जायेगा तब घर के झाड़ू के समान इसका त्याग कर दिया जायेगा, ऐसा कहते हैं।

मैंने आप लोगों का मित्र बनकर विवाद से द्वैत–अद्वैत का विचार किया है। यह हृदयरूपी घर के अन्दर अज्ञानरूपी भस्म का मार्जन करनेवाली (बुहारी) है ॥३९॥ अविद्यारूपी भस्म का संमार्जन होनेपर अधिकारी लोगों का चित्त ब्रह्म में रम जाता है, प्राण उसमें लीन हो जाते हैं यों वे ब्रह्मचित्त और ब्रह्मगतप्राण होकर आपस में एक दूसरे को बोधित करते हुए और उसके स्वरूप का निरूपण करते हुए

प्रसन्न होते हैं, प्रमुदित होते हैं। इस प्रकार भजन कर रहे और निरन्तर विचार में निमग्न हुए उन अधिकारियों का यह मेरे द्वारा उपदिष्ट बुद्धियोग (ज्ञानयोग) समय पाकर दृढ़ हो जाता है जिससे वे मेरे उस मोक्ष नामक पद को प्राप्त होते हैं ॥४०,४१॥

'सततयुक्तानाम्' यानी निरन्तर विचार में निमग्न हुए इस प्रयत्नातिशय की उक्ति के तात्पर्य का उद्‌घाटन करते हैं।

तृणमात्र के भी सर्दी, गर्मी, पशु आदि से रक्षण में उपाय यदि यत्नतः किया जाय तो वह उपकारी होता है उपेक्षा से उपाय किया जाय तो वह कामयाब नहीं होता एक दो त्रिलोकियों का नहीं अपितु कोटि कोटि त्रिलोकियों का ब्रह्मतापादन द्वारा आत्यन्तिक रक्षणरूप तत्त्वज्ञान तो बिना प्रयत्न के कैसे सिद्ध हो सकता है ? ॥४२॥ जिस निरतिशय आनन्दरूप उत्तम स्थिति का मानुष आनन्द से लेकर ब्रह्मानन्द पर्यन्त उत्तरोत्तर सौ गुने उत्कृष्ट सुखोपभोग के लिए चौदहों भुवनों में अतएव अध्यात्मव्यसन से रहित सम्पूर्ण जीवसंघ तुच्छ भोगों में आसक्त होने के कारण उपहासास्पद है वह उत्तम स्थिति क्योंकर प्रयत्न के योग्य न होगी ? ॥४३॥ मन का अंकुररूप (मन का संकल्पस्वरूप) राज्यादि जो सुख है, वह भी कोई सुख है ? तत्त्वज्ञान में पूर्णतया विश्रान्ति होनेपर इन्द्रपद भी तृण की तरह तुच्छ लगता है। दृश्य में (विषयभोग में) रमे हुए पुरुष जैसे सोकर या जागते हुए दृश्य को देखते हैं वैसे ही दृश्य में विरक्ति रखनेवाले शान्त ज्ञानी पुरुष उस परमपद को देखते हैं। अथवा अज्ञाननिद्रा में सोये हुए और विषयभोग में निरत लोग जैसे दृश्य को अत्यन्त आसक्ति से देखते हैं वैसे ही दृश्य में अरत (सुप्तप्राय) शान्त सन्त तत्त्वज्ञानी उस निरतिशयान्द पद को प्रबुद्ध होकर देखते हैं, यह अर्थ करना चाहिये ॥४४,४५॥

इस प्रकार का नित्य अपरोक्ष निरतिशयान्दरूप मोक्षपद अतिशय प्रयत्न के बिना कैसे सिद्ध हो सकता है ? इसलिए उसके लिए प्रयत्न के अभ्यास की आवश्यकता है, ऐसा कहते हैं।

निरतिशयानन्दरूप परम पद निरन्तर बार बार यत्न किये बिना कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। हे श्रीरामचन्द्रजी, आप मोक्षरूप परम पद को महान् अभ्यासरूपी वृक्ष का फल समझिये ॥४६॥

इसलिए मैंने आप लोगों का अभ्यास दृढ़ हो इस बुद्धि से पुनः पुनः प्रकारान्तर से, दूसरी दूसरी युक्तियों से और कथा, आख्यान आदि के विस्तार से यही एक ही बात बहुत बार कही है। हजारों पुनरुक्तियों से विस्तार को प्राप्त किये गये इस ग्रन्थ से और इस अभ्यास के श्रम से क्या प्रयोजन है यों अश्रद्धारूप दुर्मति का आश्रय नहीं करना चाहिये। अतिकुशाग्रबुद्धिवाले किसी एक आधको ही अभ्यास की अपेक्षा नहीं होती लेकिन मन्दबुद्धि तो यों विस्तारपूर्वक बार–बार कहे गये उपदेशवाक्य से भी इस दुर्बोध आत्मतत्त्व को हृदय में धारण नहीं कर सकता। अतः उसके लिए पुनः पुनः आवृत्तिरूप अभ्यास आवश्यक है ॥४७॥

अतएव मन्द और मध्यम अधिकारियों को जब तक ज्ञान का उदय न हो तब तक इस ग्रन्थ का पुनः पुनः श्रवण आदि की आवृत्ति द्वारा आस्वादन करना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

यदि मेरे द्वारा उक्त इस शास्त्र का पुनः पुनः आवृत्ति द्वारा चिरकाल तक आस्वादन किया जाय, यह पुनः पुनः सुना जाय और कहा जाय, तो अज्ञानी भी तत्त्वज्ञानी हो सकता है। जो आदमी एक बार इसका अवलोकन कर मैंने इसे देख लिया है यों ही उपेक्षा से त्याग कर दे उस अधम के हाथ

अध्यात्मशास्त्रों से भस्म भी नहीं लगती है, यानी जो पुनः पुनः अभ्यास नहीं करता उसे इसके फलभूत मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, यह भाव है। इस योगवासिष्ठरूप उत्तम आख्यान का वेद की तरह सदा विधिपूर्वक अध्ययन करना चाहिये और व्याख्यान करना चाहिये क्योंकि यह वेदवत् पूजनीय है तथा परमपुरुषार्थभूत मोक्षरूप फल देनेवाला है ॥४८–५०॥ जो परमपद इस शास्त्र से प्राप्त होता है वही वेद से भी प्राप्त होता है। इस शास्त्र के ज्ञात होनेपर क्रिया यानी पूर्वकाण्ड (कर्मकाण्ड) और ज्ञान यानी उत्तर काण्ड (ज्ञानकाण्ड) दोनों ही पवित्रता को प्राप्त होते हैं यानी अशुद्धि का आत्यन्तिक निरास करते हैं ॥५१॥ इस शास्त्र के ज्ञात होनेपर, समझ में आनेपर, वेदान्तों में महर्षि श्रीवेदव्यास आदि द्वारा प्रदर्शित तात्पर्य के निर्णय के अनुकूल उपक्रम, उपसंहार आदि लिंगवाले तर्कों से व्यवस्थित सिद्धान्त समझ में आ जाता है। यह उत्तम आख्यान सकल शास्त्रदृष्टियों में श्रेष्ठरूपसे प्रख्यात है ॥५२॥ मैं यह आप लोगों के उपर कृपा करके कहता हूँ किसी प्रकार के छल–कपट से नहीं कहता हूँ। आप लोग प्रयत्न से विचारित इस शास्त्र से इस दृश्यसंघात को माया यानी मिथ्या समझ सकते हैं, इसलिए आप लोग इस शास्त्र का चिन्तन करें ॥५३॥ विचारे गये इस श्रेष्ठतम शास्त्र से जो बोध उत्पन्न होते हैं उन बोधों से अन्य शास्त्र ऐसे रुचिकर लगते हैं जैसे कि लवण से व्यंजन रुचिकर होते हैं, इसलिए यह शास्त्र सकल शास्त्रों का उपजीव्य है ॥५४॥ यह आख्यान काव्य होने के कारण अनुपादेय है यों इसका अनादर कर भोगों में आसक्तबुद्धि वाले अतएव आत्महत्या करनेवाले यानी बार–बार मृत्युपरम्परा प्राप्ति में हेतुभूत मोहरूपी गड्ढे में गिरनेवाले उससे पुनः पुनः संसार भागी (जन्मभागी) आप लोग न हों ॥५५॥

हमारे कुल में हमारे पुरखों ने तप और कर्म में ही निष्ठा उपार्जित की, ब्रह्मनिष्ठा का उन्होंने उपार्जन नहीं किया। हमारे पूर्वज कर्ममीमांसक थे हमारे पूर्वज तार्किक थे, हमारे पूर्वज सांख्य थे, हमारे पूर्वज तान्त्रिक थे, मन्त्रसिद्ध, योगसिद्ध तथा औषध और रसायन में सिद्धहस्त थे, हम लोग भी उनके वंशज हैं, अतः उनके अनुसृत मार्ग का ही अवलम्बन करेंगे, अध्यात्ममार्ग का अवलम्बन नहीं करेंगे ऐसा कह रहे जनों का उपहास करते हुए श्रीवसिष्ठजी मुमुक्षुओं की उस मार्ग में प्रवृत्ति का निवारण करते हैं।

यह हमारे पूर्वजों का कुआँ है अतः हम इसी का खारा जल पीएँगे यों कह रहे पुरुष निकटवर्ती जाह्नवी (गंगा) के स्वच्छ जल का निरादर कर खारा जल पीते हैं वैसे ही आप भी अज्ञता की प्राप्ति के लिए यानी पुनः पुनः जन्मपरम्पराओं के हेतुभूत एकमात्र मूर्खता के ही लाभ के लिए निरन्तर विरुद्ध विविध विचारवाले मत होइये ॥५६॥

एक सौ तिरसठवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चौसठवाँ सर्ग

जीवभाव और जगद्भाव के मार्जन द्वारा ब्रह्मभाव के उद्‌गम से जीव और जगत् में ब्रह्मसमरसता का प्रसाधन।

उनमें सर्वप्रथम जीवभाव को मिटाने के लिए श्रीवसिष्ठजी आरम्भ करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, चारों ओर से परिपूर्ण चिद्रूपी सूर्य के मण्डल का अन्दर

स्फुरण होनेपर जगत् में प्रसिद्ध सकल जीवाणु चिद्रूपसूर्य के तुल्य हैं यानी अग्नि और स्फुल्लिंगों की तरह समान प्रकाशन स्वभाववाले हैं। इस कारण चिद्रूपी सूर्य की अनवयवात्मता सिद्ध हुई। हाथ, पैर आदि अवयव परस्पर विलक्षण आकारवाले हैं और उनका स्वभाव भी भिन्न दिखाई देता है और उधर अवयवी की रूपरेखा (बनावट) अवयवों से भिन्न होती है अतः उनमें परस्पर भेद और अवयव-अवयविभाव लोग में प्रसिद्ध है किन्तु जीव ब्रह्म के अत्यन्त तुल्य होनेपर उनमें न तो भेद है, न लोकसिद्ध अवयव-अवयविभाव ही है ॥१॥

यदि ऐसी बात है तो नक्षत्रों का भी आकाश में समानप्रकाशनस्वभाव दिखाई देता है अतः उनमें परस्पर अभेद तथा तेज की भी निरवयवता क्यों न होगी ? यदि उनके भिन्नदेशस्थ होने और प्रकाश में कमी-बेशी होने के कारण उनकी परस्पर अभेदापत्तिका परिहार करो तो वह परिहार जीवों में भी समान है, इस शंका पर कहते हैं।

नक्षत्रों के भेद के समान जीवों का भेद नहीं है, किन्तु घड़े, मटके आदि के आकाश के भेद के तुल्य औपाधिक भेद है। वह भेदक अन्तःकरण आदि उपाधिभूत वस्तु 'मैं अखण्डाकार अपरोक्ष ब्रह्म हूँ' इस ज्ञान को प्राप्त कर अपने उपाधिरूप और उपाधिकृत भेद का त्याग कर देती है। उपाधिभेद के हट जानेपर प्रतिज्ञात अर्थ की (जीवब्रह्मअभेद की) सिद्धि हो जाती है। अथवा पहले जीवों की अविद्या से परस्पर विरुद्धधर्मता दिखला कर ब्रह्मैकवाक्यता के विच्छेद से भेदसा, बन्धसा, अनर्थसा हुआ। इस समय विद्या से अविद्या का निरासकर विरुद्ध धर्म की निवृत्ति द्वारा फिर ब्रह्मैकवाक्यता के सम्पादन से अवयवअवयविभाव आदि दूसरा भेदक क्या होगा यानी कुछ नहीं ॥२॥

तो क्या अविद्या, अन्तःकरण, देह आदि से भेदावस्थाओं में पहले जीव भिन्न ही थे, इस समय विद्या द्वारा ब्रह्मैक्य को प्राप्त किये गये ? इस शंकापर नकारात्मक उत्तर देते हैं।

तत्त्वज्ञों का विषयभूत जो परम निर्मल ब्रह्म है वह तो इन सभी अवस्थाओं में भेद आदि मल से रहित एकरस ही है। उसमें कदापि किंचित् भी द्वैतरूपी मलका अस्तित्व नहीं है ॥३॥

यदि ऐसा है तो पहले 'अहन्त्व' आदि मल का उसमें दर्शन कैसे हुआ ? इसपर कहते हैं।

जो अज्ञानी की विषयभूत मलिन वस्तु है उसको वही (अज्ञानी ही) जानता है। हम तो न 'अहम्' को जानते हैं, न 'त्वम्' को जानते हैं, न अज्ञ को जानते हैं और न अज्ञ के विषयभूत उस मलिन वस्तु को ही जानते हैं ॥४॥

क्यों नहीं जानते ? इसपर कहते हैं।

यह वह है, यह मैं हूँ, यह सत्य है इत्यादि भेदबुद्धियाँ अज्ञानी में ही होती हैं, तत्त्वज्ञानी में कदापि नहीं हो सकतीं। भला बतलाइये तो सुमेरु में कहीं मृगतृष्णा हो सकती है ? क्योंकि प्यासे पुरुष की थकी-माँदी दृष्टि से मृगतृष्णा की प्रतीति होती है, स्वर्गभूत सुमेरु में किसी को प्यास, थकान आदि नहीं होते, अतः वहाँ उसकी प्रतीति क्योंकर होगी ? यह भाव है ॥५॥ जैसे यह ठूँठ ही है, यह सीप ही है यों जिस पुरुष को एकरूप द्रव्य का यथार्थ निश्चय है, जिसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है, उसमें उससे विपरीत यह ठूँठ है या पुरुष है ऐसा संशयज्ञान और यह चाँदी है ऐसा भ्रान्तिज्ञान नहीं होता वैसे ही परमतत्त्व के निश्चित हो जानेपर यानी तत्त्वतः ज्ञात हो जानेपर अन्य

भेदभ्रमज्ञान नहीं टिक सकते हैं ॥६॥

इस प्रकार जीवभाव को मिटाकर जगत्भाव को भी मिटाने के लिए उपक्रम करते हैं।

यह दृश्य न पहले था, न उत्पन्न हुआ, न वर्तमान काल में है और न आगे भविष्य में होगा। इस प्रकार जगत् का मार्जन होनेपर यह जगत् सद्रूप ब्रह्म ही होकर स्थित है। इस प्रकार मार्जन द्वारा पहले जगद्रूप से ज्ञात चिदाकाशकी झलक स्वरूपभूत शुद्धब्रह्मभाव में ही स्थित होती है। उस अवस्था में जीवन्मुक्त पुरुषों द्वारा चिदाकाश की झलक ही जगत् है यह बात उसके ज्ञानसे ही जानी जाती है। जगत् जड़रूप कुछ नहीं है। जैसे स्वप्नों में और मनोरथ द्वारा कल्पित नगरों में केवल एक निर्मल चिन्मात्र के सिवा अन्य कुछ नहीं है वैसे ही इस समय जाग्रत् नामक जगत् में चिन्मात्र के सिवा कुछ भी उपाधिस्वरूप नहीं है। इस प्रकार उपाधि का मार्जन करने से अरूप हुए जीवों में अन्य रूप नहीं है, यों चिदेकरूपता सिद्ध हुई ॥७–९॥ 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (हे सौम्य, सृष्टि के पूर्व यह एक अद्वितीय सत् ही था) इस श्रुति के अनुसार जिसमें सृष्टि के पूर्व में न परिणामी या उपादान कारण है और न सहकारी और निमित्त कारण ही है उससे जगत् उत्पन्न होता है, यह उक्ति कैसी ? अतः यह कुछ भी उत्पन्न नहीं होता, जो उत्पन्न हुआ–सा मालूम पड़ता है वह अनादि ब्रह्म ही है चित्स्वभाव होने से वह स्वयं ही जगत्–सा मालूम पड़ता है, यह सिद्ध हुआ ॥१०॥

इसी अर्थ को दृढ़ करते हुए पुनः स्पष्ट कहते हैं।

इसलिए सृष्टि के आरम्भ में कोई भी अपने–आप उत्पन्न नहीं होता, अतएव अज्ञानियों द्वारा ज्ञात ब्रह्मा आदि व्यष्टि और समष्टि स्वयम्भू (ब्रह्मा) और यह प्रपंच ब्रह्म से शून्यरूप में ही फैला है। चिदाकाश ही स्वचित् से वैसा (जगत्–सा) प्रतीत होता है, यह सिद्ध हुआ, यह अर्थ है ॥११॥

एक सौ चौसठवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पैंसठवाँ सर्ग

परस्पर में प्रवेश और परस्पर से उत्पन्न होने से जगत् की चिन्मात्रता
सुदृढ़ करने के लिए जाग्रत् और स्वप्न की एकता का कथन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये आपस में एक दूसरे में प्रवेश करने से तीन प्रकार के हैं। जैसे जाग्रत–जाग्रत, जाग्रत स्वप्न, जाग्रत सुषुप्ति, स्वप्नजाग्रत्, स्वप्न–स्वप्न, स्वप्न–सुषुप्ति, सुषुप्ति–जाग्रत्, सुषुप्ति–स्वप्न और सुषुप्ति–सुषुप्ति। उत्पत्तिप्रकरण में इनका उदाहरणों द्वारा विस्तार से प्रतिपादन किया जा चुका है, विशेष वहीं देखना चाहिये। उन भेदों में से जाग्रत्स्वप्न में मनोरथ में पदार्थों के इन्द्रिय व्यापार निरपेक्ष होने से केवल मनोमय होने के कारण स्वप्नसाम्य से स्वप्न ही जाग्रद्भाव को प्राप्त होता है। इसी प्रकार स्वप्न में भी इतने समय तक मैं सोया रहा इस समय जाग रहा हूँ ऐसी प्रतीति के दर्शन से प्रसिद्ध स्वप्नजाग्रत् में तो अनुभवसिद्ध जाग्रत् ही स्वप्नभाव को प्राप्त होता है, यह अर्थ है ॥१॥

परस्पर में प्रवेश की तरह इनमें परस्पर निमित्तता भी है, ऐसा कहते हैं।

स्वप्न जाग्रत में प्रवेश करता है और जाग्रत् स्वप्न से निकलता है। इसलिए आत्मा स्वप्नरूपी ही

जाग्रत से जागकर जाग्रत्‌रूप स्वप्न में ही प्रवेश करता है ॥२॥

इनमें (स्वप्न और जाग्रत् में) परस्पर व्यपदेशसंकरता भी दिखाई देती है, ऐसा कहते हैं।

जाग्रतस्वप्नवान् पुरुष जाग्रत् को ही 'स्वप्न' कहता है और स्वप्नजाग्रत् पुरुष स्वप्न को ही 'जाग्रत्' कहता है यों जाग्रत् में स्वप्न का व्यपदेश और स्वप्न में जाग्रत् का व्यपदेश दिखाई देता है। अतः इन दोनों में व्यपदेशसांकर्य स्पष्ट है ॥३॥ स्वप्न भी जाग्रत् यहाँ जाग्रत् के जगत् की तरह अनुभव से जाग्रत् ही है स्वप्न कदापि नहीं है इसी प्रकार जाग्रत्स्वरूप मनोराज्य में जाग्रत् अनुभवतः स्वप्न ही है न कि जाग्रत् ॥४॥

स्वप्न की जो स्वल्पकालता है और जाग्रत् की जो दीर्घकालता है वह परस्पर में परस्पर का प्रवेश होनेपर विपरीत हो जाती है, यह कहते हैं।

सदा ही जाग्रत् में स्वप्नकाल लघुकालात्मक है और वैसे ही स्वप्नकाल में जाग्रत् सदा ही लघुकालात्मक है ॥५॥

इस प्रकार परस्परसंकरता होनेपर जो सिद्ध हुआ, उसे कहते हैं।

इसलिए जाग्रत् और स्वप्न में कदापि कोई भी भेद नहीं है। दोनों में भी एक का अन्य में अनुप्रवेश युक्ति से सत्मय नहीं है ॥६॥

यदि कोई कहे स्वप्न प्रबोधकाल में निवृत्त हो जाता है और स्वप्न पदार्थ भी जाग्रतकाल में शून्य हो जाते हैं, लेकिन जाग्रत् इस प्रकार निवृत्त नहीं होता और न जाग्रत् पदार्थ असत् दिखाई देते हैं यों जाग्रत् में स्वप्नवैधर्म्य की शंका का निराकरण करते हैं।

यह अतिभास्वर जाग्रद्‌रूप स्वप्न मृत्यु के समय परलोक के उदय काल में और आत्यन्तिक द्वैतनिवृत्तिरूप स्वप्नपदार्थ-बोधकाल में और सुषुप्तिकाल में भी शून्य ही रहता है, इसलिए जाग्रत् का स्वप्न के साथ साधर्म्य ही है, वैधर्म्य नहीं है ॥७॥

यदि कोई कहे आज के स्वप्न पदार्थ कल के स्वप्न में असत् ही हैं लेकिन आज के जाग्रत्पदार्थ कल के जाग्रत् में रहते हैं यों जाग्रत् और स्वप्न में वैधर्म्य है ही इस आशंका का अन्यान्य जन्मों में जाग्रत्पदार्थों की अनुवृत्ति के अदर्शन द्वारा परिहार करते हैं।

जाग्रद्रूप स्वप्नसमय में जीवित पुरुष को-मृत्यु हुए बिना मरने के उपरान्त दिखाई देनेवाले दृश्यों का अभाव होने से परलोकरूप जाग्रत् तनिक भी नहीं दिखाई देता, इसलिए आज के जाग्रत् के पदार्थों की कल के जाग्रत् में अनुवृत्ति नहीं दिखाई देती यह सिद्ध हुआ, इसलिए जाग्रत् में उक्त वैधर्म्य भी नहीं है ॥८॥ ऐसी परिस्थिति में आज के इस स्वप्न में, जो जीवन आदि सकल स्वाप्नपदार्थों से शून्य होनेपर भी भ्रान्ति से ही नानामयात्मक मालूम होता है, 'मैं जीता हूँ' यों जीवन आदि का बोध होनेपर आगे आनेवाले दिनका (कलका) तथा बीते हुए दिनका (कलका) स्वप्न परलोकसदृश ही है, इसलिए उसमें का कोई पदार्थ यहाँ (इस स्वप्न में) अनुवर्तमान नहीं दिखाई देता यह अर्थ है ॥९॥ जैसे स्वप्न में तीनों जगत् केवल चित्‌चमत्काररूप ही हैं वैसे ही सृष्टि से लेकर ही त्रिजगत् का अन्तःकरण में केवल चित्-चमत्काररूप से स्फुरण होता है ॥१०॥

जाग्रत् की स्वप्न के साथ एकता होनेपर जाग्रत् के पृथिवी आदि की स्वाप्न पृथिवी आदि पदार्थों

की भाँति निराकारता और असत्यता स्पष्ट है, ऐसा कहते हैं।

विपुल कलेवर (विस्तीर्ण) दिखाई देनेवाले जाग्रत् पदार्थ असत्यभूत ही हैं, वास्तव में जैसे स्वाप्न पृथिवी में आकारवत्ता नहीं है वैसे ही जाग्रत् में भी यह आकारवत्ता है ही नहीं। जैसे स्वप्न में नानारूप से देदीप्यमान होनेपर भी जगत् (स्वाप्न जगत्) शून्य ही है वैसे ही जाग्रत् में भी यह सारा जगत् चिदात्मक आकाश ही है ॥११,१२॥ चिदाकाश में जो यह जगत् स्फुरित होता है यह सूर्य आदि के तेज की प्रभा के समान चिदाकाश का स्वभाव है। चिदाकाश में इस प्रकार विराट्रूप से उसी का स्फुरण होता है। चिति की यह जगत् नामक स्वाभाविकी चमत्कृति है। यह आकाश में, दीवार में, परमाणुओं में, जल में और स्थल में खूब चमकती है ॥१३,१४॥ यह मिथ्या (असत्यस्वरूप) भ्रान्ति, जिसका शरीर केवल भ्रान्तिमात्र है, सत्य वस्तु की नाईं सामने खड़ी है। इस जगद्भ्रान्ति के प्रति कौनसा आग्रह है, इसके प्रति आग्रह करना अनुचित है, यह अर्थ है ॥१५॥ ग्रहीता (ग्रहण करनेवाला), ग्रहण और ग्राह्यरूप जगत् असत् ही है। उक्त जगत् अधिष्ठान सत्ता से सत् हो अथवा असत् ही हो इस विषय में एकतर पक्ष के व्यवस्थापन में दुराग्रह का क्या प्रयोजन है ? यह भाव है ॥१६॥ अज्ञानवश एक पक्ष में अभिमानभ्रान्ति होती है। इस समय इसका तत्त्व आपको यथार्थरूप से ज्ञात हो ही चुका है। यह इस प्रकार का हो, अन्य प्रकार का हो अथवा नहीं हो, इस विषय में कौनसा भ्रम है और इस तुच्छ भोगमें फलका आग्रह ही क्या है ? इसलिए विविध विकल्पों से कोई प्रयोजन नहीं है ॥१७॥

एक सौ पैंसठवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ छासठवाँ सर्ग

आत्मख्याति की विशेषता, अन्य ख्यातियों की स्थिति तथा
प्रश्नोत्तरयुक्त ब्रह्मनीलशिला के आख्यान का वर्णन।

'चिति की यह जगन्नामधारिणी चमत्कृति खूब स्फुरित होती है' ऐसा जो पहले कहा है, उसके विषय में विभिन्न वादियों द्वारा स्वीकृत अख्याति, असत् ख्याति, अन्यथाख्याति, आत्मख्याति नामकी चार ख्यातियों में से किस ख्याति से वह विद्वानों को स्फुरित होती है ऐसी रामचन्द्रजी की जिज्ञासा को चेष्टा द्वारा ताड़कर विद्वानों की दृष्टि से तो विभिन्नवादियों द्वारा स्वीकृत चार प्रकार की ख्यातियाँ खरगोश के सींग की तरह ही असत् हैं अतः आगे उनका खण्डन करनेवाले श्रीवसिष्ठजी विद्वत्संमत पाँचवीं अलौकिक आत्मख्याति को समझाने के लिए उपक्रम करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, वाच्यार्थ सहित 'आत्म' शब्द से और 'ख्याति' शब्द से रहित यानी अखण्डार्थवाले आत्मा और ख्यातिरूप दो पदों की लक्ष्यार्थरूप इस आत्मख्याति को आप आगे कही जानेवाली शिला के मध्य के समान घन (ठोस) जानिये ॥१॥

आत्मा ही, ख्याति यों दो पदों का समानाधिकरणता से अन्वय करनेपर आत्मा कौन है वह ख्याति किंविषयिणी है किसको विषय करती है–ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं।

आदि सृष्टि से ही चिदाकाश ही इस प्रकार से (जगत् के रूपसे) फैला है। उसकी सर्गता आत्मा में स्फुरित होती है। चूँकि आत्मा ने आत्मा में ही अपने चैतन्यबल से सर्गता का प्रख्यापन किया है,

इसलिए यह आत्मा ही सर्गता को विषय करनेवाली ख्याति है ॥२॥

आत्मशब्द के व्याख्यानभूत चिद्व्योम शब्द में 'व्योम' शब्द का अर्थ प्रपंचशून्यता ही है, इसलिए प्रपंच और उसकी ख्याति आत्मा ही है, ऐसा 'एव' का अर्थ दिखलाते हैं।

न यहाँ नदियाँ बहती हैं और न यहाँ उन्मज्जन और मज्जन (उतराना और डूबना) हैं। निष्क्रिय चिद्रूप आकाश का ही आकाश में इस प्रकार (जगत् के रूप में) स्फुरण होता है ॥३॥ विद्वान लोग ख्याति शब्द और उसके अर्थ के बिना स्वप्रकाश आत्मा को शब्द से रहित समग्र रूप से प्रख्यापक होने से कचन (स्फुरण) वाचक ख्याति शब्द से रहित समग्र रूप से कल्पनाशून्य आत्मख्याति कहते हैं ॥४॥

इस प्रकार सृष्टि के चिन्मात्ररूप होनेपर विभिन्न वादियों को अभिमत अख्याति आदि शब्दों की असंगति है, ऐसा कहते हैं।

जब यह सारा जगत् आत्मा ही है और वह स्वप्रकाशस्वरूप ही है यानी उसमें कोई भी ख्याति नहीं है तब वह कदापि भी कहींपर भी अपने से अतिरिक्त ख्याति से ख्यापित है यह कथन और अख्यात है यह कथन उसमें संभव नहीं हो सकता। भावार्थ 'क्तिन्' प्रत्ययान्त अख्याति पद की भी उसमें योजना नहीं की जा सकती है ॥५॥

भावार्थक 'क्तिन्' प्रत्ययान्त अख्याति पद की योजना उसमें क्यों नहीं की जा सकती ? इस प्रश्न पर कहते हैं। 'ख्या' धातु का प्रथा अर्थात् प्रसिद्धि अर्थ है 'क्तिन्' प्रत्यय का 'भाव' अर्थात् 'सत्ता' अर्थ है। यों ख्याति शब्द का अर्थ हुआ ख्यानात्मक सत्ता (प्रसिद्ध्यात्मक सत्ता)। उस प्रकार का आत्मा ख्याति ही है। 'अख्याति' के 'नञ् के अर्थ के साथ उसका अन्वय नहीं हो सकता, इसलिए उसमें अन्याभिमत 'अख्याति' कथन अवास्तव है। शंका–तब हेतुमत् ण्यन्त ख्या धातु से क्तिन् प्रत्यय हो। वहाँ भी 'णि' का लोप होनेपर 'ख्याति' रूप सिद्ध हो जायेगा। जिसमें ख्याति यानी ख्यापन नहीं है वह अख्याति है इस व्युत्पत्ति से आपका अभिमत अर्थ सिद्ध हो जायेगा।

समाधान–जब सर्ग को जड़ मानते हैं तब वहाँपर अन्य द्वारा किया गया ख्यापन और अख्यापन उपयुक्त हो सकता है। जब स्वप्रकाश आत्मा ही सर्ग है, तब जैसे एक दीपक में दूसरे दीपक से प्रख्यापन या अप्रख्यापन कोई मतलब नहीं रखता वैसे ही उसमें प्रख्यापन और अप्रख्यापन अकिंचित्कर है। इसलिए वादी का अभिमत अर्थ किसी प्रकार संगत नहीं हो सकता। इससे असत्ख्याति और अन्यथाख्याति का भी, जिन्हें अन्य वादी मानते हैं, निराकरण हो गया; क्योंकि अर्थ के समान असत् और अन्यथा शब्दों के अर्थों का भी ख्याति पदार्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकता, यह भाव है ॥६॥

यदि वादी लोग स्वप्न मनोरथ आदि के अन्य दृश्यों की तरह कल्पना मात्ररूप अख्याति आदि को चित्–चमत्काररूप ही मानें तो वैसा मानें इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है, ऐसा कहते हैं।

उस अवस्था में अख्याति, अन्यथाख्याति, असत्ख्यातिरूप दृश्य चिन्मात्ररूप सूर्य की चित् चमत्कारभूत प्रभाएँ ही हैं जैसे जैसे जब जो जो चिन्मात्रआकाशरूप सूर्य से निर्मल चिद्रूप किरणें अग्नि से चिनगारियों के समान स्फुरित होती हैं तब वैसी वैसी वे बन जाती हैं ॥७,८॥

ऐसी परिस्थिति में आपकी अभिमत वे अख्याति आदि मेरी आत्मख्याति की विभूतियाँ ही है, ऐसा कहते हैं।

आत्मख्याति, अख्याति और अन्यथाख्याति ये सब चित्‌चमत्काररूप होने से मेरी आत्मख्याति की विभूतियाँ ही है ॥९॥

पूर्व वर्णित आत्मख्याति का उपसंहार करते हए पहले जो 'शिलाजठरनिर्घनाम्' –शिला के अन्दर के समान ठोस ऐसा पद कहा था उसकी शिलोपाख्यान द्वारा व्याख्या करने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

आत्मा और ख्याति पद के वाच्य अर्थ से विरहित, आत्मा और ख्याति के लक्ष्यार्थ आदि अन्त से शून्य, वाणी का अविषय यह आगे कहा जानेवाला एकमात्र ठोसरूप से स्थित आत्मख्यातिपद का अर्थ है ॥१०॥ इस विषय में कर्णविभूषण यह महान् आख्यान आप सुनिये। यह आख्यान द्वैतदृष्टियों को नष्ट करनेवाला है और ज्ञानरूपी सूर्य को चमकानेवाला है ॥११॥ चारों ओर नीला आकाश ही यदि दीवार या चट्टान बने उसके समान कठिन निर्मल और विशाल एक शिला है, जिसका विस्तार हजारों करोड़ योजन है ॥१२॥ उस शिला में कहींपर भी सन्धियों का जोड़ नहीं है, वह अत्यन्त निबिड़ (ठोस), वज्र के समान मजबूत, महान् विस्तारवाली, अत्यन्त पुष्ट और कठोर उदरवाली तथा आकाश के समान निर्मल है ॥१३॥ असंख्य कल्पों तक उसका नाश होनेवाला नहीं है, वह अत्यन्त निबिड़ अंगवाली है, सुन्दरता में भी वह अपना जोड़ नहीं रखती और निर्मलता में तो वह आकाशसी दिखाई देती है ॥१४॥ उसकी सजातीय अन्य कोई वस्तु प्रसिद्ध नहीं है, अतः उसकी विशिष्ट यानी विजातीय से व्यावृत्त जाति को कोई भी नहीं जानता। उसके देश, काल, प्रकार को यानी वह कैसी है, किस देश में है और किस कालमें यह भी कभी किसी ने नहीं जाना। वह शिला अत्यन्त घनी, असीम, कठोर, वज्र के समान दृढ़ और अविनाशिनी है। भूतों यानी महाभूतों और चतुर्विध जीवों से विरहित उसके उदर के अन्दर उसकी स्वरूपभूत रेखारूप बहुतसी कमलराशियाँ शंख, गदाएँ, चक्र आदि वैसे ही विद्यमान हैं जैसे कि स्फटिक शिला के अन्दर स्वरूपभूत बहुतसी रेखाएँ रहती हैं। वहाँ (शिला के अन्दर) आकाश, वायु, जल, तेज आदि जगत् था ही नहीं, किन्तु पूर्वोक्त प्रकार से दृष्टिगत हो रहीं अपनी रेखाओं की ही उसने आकाश, वायु, जल, तेज, पृथिवी आदि संज्ञाएँ रख लीं ॥१५–१८॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, वह शिला है, शिला अचेतन होती है यह सारा संसार जानता है। फिर उसको चेतनता कहाँ से प्राप्त हुई ? यह मुझे बतलाने की कृपा कीजिये। यदि वह अचेतन ही है तो उसने आकाश, वायु आदि नाम कैसे रक्खे ? नाम रखना तो किसी चेतना का ही काम है ॥१९॥

'जातिस्तु ज्ञायते तस्या विशिष्टा नैव केनचित्' इस उक्ति से ही इस प्रश्न का उत्तर हो चुका है, यों श्रीवसिष्ठजी रामचन्द्रजी के प्रश्न का समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : प्रिय रामजी, विशाल तथा देदीप्यमान वह शिला न चेतन है और न जड़ है। उसकी जाति को कौन जान सकता है ? उसमें दूसरा है भी कौन जो उसकी जाति को जानेगा ? यह भाव है ॥२०॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, यदि उसमें कोई दूसरा नहीं है तो आपने जिन आकाश, वायु आदि के आकारवाली उसके उदर में स्थित रेखाओं का वर्णन किया है उन्हें कैसे देखता है ? अथवा किसने कब उसके अन्दर विचित्र रेखाओं के आकार में हथौड़ी आदि से उन्हें गढ़ा ? और अन्दर हथौड़ी आदि का प्रवेश न हो सकने के कारण कैसे किसने उन्हें फिर विनष्ट किया ? यह मुझे

बतलाने की कृपा कीजिये ॥२१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामजी, वह अत्यन्त दृढ़ शिला तोड़ी नहीं जा सकती और न कोई तोड़नेवाला ही है। अपारपर्यन्त यानी अतिविशाल कायावाली उसीने सब कुछ व्याप्तकर रक्खा है। उसके अन्दर रेखारूप असंख्य वृक्षराशियाँ, पर्वतश्रेणियाँ, नगर और ग्राम हैं। उसमें रेखारूप ही सूक्ष्म, स्थूल, निराकार और साकार, देव, दानव आदि नामधारी जीव प्रतिमाओं की तरह विद्यमान हैं। उसमें आकाश नामकी विशाल रेखा है तथा उसके भीतर चन्द्र और सूर्य नामकी अन्यान्य उपरेखाएँ भी हैं ॥२२-२५॥

श्रीरामजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, वहाँ पर उन रेखाओं को किसने देखा है, वे किस तरह की है और अति निबिड़ पत्थर के अन्दर स्थित वे कैसी देखी जा सकती है। कृपया यह कहिये ॥२६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, उसके अन्दर उस तरह की वे रेखाएँ मैंने देखी हैं। यदि आपको उन्हें देखने की इच्छा हो तो आप भी उन रेखाओं को समाधि द्वारा देख सकते हैं ॥२७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिश्रेष्ठ, उस तरह की वज्र से भी मजबूत वह शिला तोड़ी नहीं जा सकती, फिर भी आपने उसके गर्भ में स्थित रेखाएँ कैसे देखीं ? ॥२८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, मैं भी (वसिष्ठशरीर भी) इसके गर्भ में स्थित रेखारूप ही हूँ, इस कारण वहाँपर स्थित मैं सब रेखाओं को पूर्णतया देखता हूँ। उसके अन्दर स्थित हुए मैंने अन्दर स्थित सब रेखाओं को देखा, नहीं तो उस शिला को तोड़ने-फोड़ने की किसमें सामर्थ्य है ? ॥२९,३०॥

अब तत्त्वतः उस शिला को और वसिष्ठजी को जानने की इच्छा से श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : वह शिला कौन है, और आप कौन हैं, कहाँपर स्थित हैं। यह शिलानामक किसको आप कहते हैं और क्या आपने वह शिला देखी है ? कृपा करके यह सब यथार्थरूप से मुझसे कहिये ॥३१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, इस शिलाख्यानवाचोयुक्ति (वचनभंगी) से मैंने आपसे परमात्म महासत्ता का वर्णन किया है। यह विशाल शिला नहीं है। उस परमात्ममहासत्तारूप शिला के छिद्ररहित गर्भ में ये हम लोग उस शिला के मांस जैसे ही (स्वरूपभूत ही) स्थित हैं ॥३२,३३॥

सारा जगत् उस शिला का अंग ही है, यह विस्तार से कहते हैं।

हे रामचन्द्रजी, आकाश को आप उस शिला का अंग जानिये। वायु आदि पाँच महाभूत उसके अंग हैं, यह समझिये, क्रिया, शब्द आदि यानी वायु, आकाश आदि सब भूत-भौतिकों के धर्म, वासना आदि मनके धर्म और पक्ष, मास, वर्ष आदि काल की कल्पनाएँ उस शिला के अंग हैं ॥३४॥

उक्त को ही स्पष्टरूप से कहते हैं।

भूमि, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार ये सब उस शिला के अंग कहे गये हैं ॥३५॥ ये सब हम लोग भी उस परमात्ममहासत्तारूप शिला के मांस की तरह स्वरूपभूत ही हैं। उक्त परमात्ममहाशिला से अभिन्न होते हुए भी भ्रमवश अपने को उससे भिन्न समझते हैं ॥३६॥ जो यह चिन्मात्रैकस्वरूप अतिमहती शिला है यदि उससे पृथक् कोई है तो वह कहाँ पर है और वह कौन है यह बतलाइये ॥३७॥

यदि कोई कहे पृथिवी, घड़ा, गड्ढा, वस्त्र आदि ही उससे पृथक्‌रूप से प्रसिद्ध हैं, तो इसपर 'नहीं' कहते हैं।

ये भूतल, घट, पट आदि शुद्ध संवेदनरूप ही हैं जैसे स्वप्न में केवल संवेदनरूप घट, पट आदि का भान होता है और जैसे जलका ही तरंग, आवर्त, बुद्‌बुद् आदि रूप से भान होता है वैसे ही इनका भी भान होता है॥३८॥ तत्त्वज्ञ लोग घट, पट आदि सकल भूत–भौतिक पदार्थों को सर्वतः व्याप्त परमार्थघन एकरस शान्त चिन्मात्रघन ब्रह्म ही जानते हैं। महाचित् में सारा जगत् ब्रह्मशिला का गर्भ ही है और वह छिद्रों से रहित असीम तथा आदि, मध्य और अन्त से शून्य है। उक्त प्रकार के ब्रह्मात्मा ने अपने आप ही सृष्टि, जगत्, भुवन आदि पर्यायवाली दृश्यनामधारिणी यह कल्पना की है॥३९,४०॥

एक सौ छासठवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सड़सठवाँ सर्ग

विभिन्न वादियों की उक्त चार ख्यातियों का तत्त्वज्ञ की दृष्टि से निराकरण और तीनों अवस्थाओं से निर्मुक्त आत्मतत्त्व का निरूपण करना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, तत्त्वज्ञ के प्रति शब्दार्थदृष्टिरूप आत्मख्याति, असत्‌ख्याति, अख्याति और अन्यथाख्याति खरगोश के सींगों की तरह असत् हैं॥१॥

यदि जगत्ख्याति होती तो वह आत्मख्याति है या असत्ख्याति है या अख्याति है इत्यादि विकल्पों का अवसर होता, जब जगत्ख्याति ही नहीं है तब किसकी चतुर्विधता होगी ? इस आशय से कहते हैं :

हे रामजी, इन ख्यातियों का कदापि संभव नहीं है। निश्चेष्ट (ख्याति आदि कल्पनाओं के मूलभूत चित्त की चेष्टाओं से रहित) शान्त अव्यपदेश्य ज्ञाता (द्रष्टा) ही केवल है॥२॥ ये आत्मख्याति आदि भ्रान्तिदृष्टियाँ चिन्मात्र से उदित होती हैं और चिन्मात्र परमार्थरूप से अत्यन्त शुद्ध (कल्पनाशून्य) आकाश है। अतः मैं सारी कल्पनाओं को तन्मयी ही देखता हूँ, *क्योंकि 'तद्यदिदमयोऽदोमयः सर्वमयः' (जो यह इदंमय, अदोमय, सर्वमय है वह सब ब्रह्म ही है) ऐसी श्रुति है*॥३॥ यह आत्मा है, यह ख्याति है, यह अन्तःकरण की कल्पनाभ्रान्ति ही है, अतः इसका संभव नहीं है। इसलिए शब्द का त्यागकर आप परमार्थभाजन होइए। इसीलिए हमने 'सार्थकेनाऽऽत्मशब्देन ख्यातिशब्देन चोज्झिताम्' यानी सार्थक आत्मशब्द से और ख्यातिशब्द से परित्यक्त (विरहित) ऐसा कहा है॥४॥ इस परमार्थदर्शन से चल रहा, ठहर रहा और खा रहा सारा जगत् शान्त, आकाश के समान मौन, निर्मल, निरवच्छिन्न तथा अप्रवृत्तिमान् ही प्रतीत होता है॥५॥

उक्त अर्थ का विशदरूपसे प्रतिपादन करते हैं।

उक्त परमार्थदर्शन से नाना महाशब्दों से भरा हुआ भी यह जगत् शिलावत् मौन स्थित है। निरन्तर चलता हुआ भी आकाश के समान तथा पर्वत के समान अचल (स्थिर) है॥६॥ भाँति–भाँति के अनेक आरम्भों से (कर्मों से) पूर्ण भी यह महाशून्य तथा अनाकृत है। पंचभूतात्मक होनेपर भी अलब्ध पंचभूतवाले आकाश के समान स्थित है॥७॥ विविध पदार्थों से परिपूर्ण भी यह शून्य संवेदनमात्र है। स्वप्न में देखे गये महासागर के समान दिखाई देनेपर भी निर्मल चिन्मय है। संकल्पनगर के समान

आरम्भयुक्त होनेपर भी आरम्भशून्य है और स्वप्न-स्त्रीसंगम के तुल्य भ्रान्तिरूप अतिशून्य है। दर्पण में प्रतिबिम्बित या चित्रलिखित अंगना के समान अनुभूत होनेपर भी व्यर्थ है। उसमें नाना भुवनों का निर्माण होनेपर भी वह वस्तुतः वस्तुशून्य है॥८-१०॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, यदि अविद्यमान ही जाग्रत् और स्वप्नरूप जगत् केवल वासना से दृष्टिगोचर होता है तो स्मृति से ही वह दृष्टिपदारूढ होता है, ऐसा मैं समझता हूँ, यानी मेरी समझ में जगत् के भान में स्मृति ही कारण है भ्रान्ति कारण नहीं है क्योंकि स्मृति अधिष्ठान, दोष, सादृश्य आदि निमित्तों की अपेक्षा नहीं करती केवल अविद्यमान पदार्थगोचर है॥११॥

जाग्रत-स्वप्न जगत् के अविद्या, निद्रा आदि दोष जनित होने के कारण तथा स्वप्रकाश चेतन में संप्रयोजन का उपयोग न होने के कारण यह जगद्भान चिदधिष्ठानवाली भ्रान्ति ही है, स्मृति नहीं है। जैसे वर्तमान अनुभव को स्मृति मानते हैं वैसे ही पूर्व पूर्व अनुभवों में भी स्मृतित्वापत्ति होने से स्मृति के मूलभूत अनुभव की अप्रसिद्धि होने का भय है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं।

चिदाकाशस्वरूप तथा पदार्थों का सत्तामात्र जो यह चित् के चाकचक्य से प्रतीत होता है वही यह काकतालीय के समान आकस्मिक शरीरधारी बिना दीवार के चित्र-सा जगत् है। वह यह अविनाशी शान्त जल में तरंगों की नाईं परमात्मा में सर्वत्र सदा विद्यमान रहता है। सर्वात्मक निर्वाणरूप आकाशरूप निराकार परमात्मा में स्वरूपभूत यह बिना निमित्त के ही जिस किसी दोष से जब जब जैसा अन्दर भासित होता है वास्तव में कुछ न होता हुआ भी न सदा या न कदाचित् यत्र तत्र वैसा प्रतीत होता है॥१२-१५॥

तब किसकी यह भ्रान्ति है और किसने ये जगत् आदि नाम किये हैं? इसपर कहते हैं।

इस प्रकार अपने स्वभाव का त्याग न कर रहे उसी ब्रह्म ने चित् होने के कारण स्वयं स्वभावभूत स्वच्छ उसी ब्रह्मभान के ही यह जाग्रत्, यह स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्य ये नाम, ब्रह्म अथवा आत्मा ये नाम अपने में किये हैं॥१६,१७॥ वास्तव में तो न स्वप्न है, न जाग्रत् है, न सुषुप्ति है, न तुर्यावस्था है और न उनसे अतिरिक्त किन्तु सब कुछ शान्त परमाकाश ही है॥१८॥ अथवा चित् में कदापि स्वप्न न होने से यह सब कुछ सदा ही जाग्रद्रूप है या केवल भ्रान्तिमात्र होने से सदा ही स्वप्न है अथवा अविद्याआवरणमात्र होने से सुषुप्त है अथवा स्वयं ही सदा तीनों अवस्थाओं का अतिक्रमण करने से सदा ही यह सब तुर्य ही है, ऐसा कहा जा सकता है। तीन अवस्थाओं की असिद्धि होने से तुर्य का अन्त (असत्त्व) या निर्विकल्प में वह है या यह इत्यादि विकल्प को भी आशान्तरूपी हम नहीं जानते हैं। जैसे शून्यतारूपी जल में यह फेने है या कुछ नहीं है, यह बुद्बुद् है अथवा कुछ नहीं है यह विकल्प व्यर्थ है वैसे ही चिदाकाशरूपी महासागर के महागर्भ में यह जाग्रत है या यह स्वप्न है अथवा यह सुषुप्ति है यह विकल्प व्यर्थ है॥१९-२१॥

कल्पनावेदनदृष्टि से जिसने जब जैसा जाना उसको तब यह ऐसा ही है, यों सन्तोष करना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

जिस समय जिसका जिसको जैसे स्मरण होता है सत् हो चाहे असत् उसका उसको उस समय वैसा अनुभव होता है आपके स्वप्न की तरह चिति चिदाकाश में ही सत्असत् पदार्थों का अनुभव

करती हैं। यह संवित् का स्फुरण रूप ही चिद्रूप आकाश सर्वव्यापक चिद्रूप आकाश में भान के अनुसार भासता है। और चिदाकाश की मज्जारूप (वसारूप) वह संवित् सर्वदा ऐसी ही है। न कभी अस्त को प्राप्त होती है और न कभी उदित होती है, यह जगत् उसका अंगरूप है। महाप्रलय, सृष्टि आदि काल-विभाग और उसमें महाप्रलयरूपी रात्रियाँ और सृष्टिरूपी दिन केश, नख आदि के समान उसीके अवयवभूत हुए हैं। उसका वह चिद्रूप भास्वर भान अथवा मायारूप अभान वायु के स्पन्द के समान महाचैतन्य का स्वभाववत् है। अन्य (भिन्न) नहीं है। ऐसी परिस्थिति में क्या जाग्रत् होगा, क्या स्वप्न होगा, क्या सुषुप्ति होगी, क्या तुरीयअवस्था होगी, क्या स्मृति होगी और क्या इच्छा होगी ? ये सबकी सब जाग्रदादिदृष्टियाँ कुदृष्टियाँ हैं। चूँकि अपना आभ्यन्तर संवेदन ही बाह्य पदार्थ के रूप से प्रतीत होता है अतः कहाँ द्वैत है और कहाँ पदार्थशोभा है ? ऐसी स्थिति में स्मृति भी कहाँ से होगी ? भेदशून्य जो यह अपने से भासित होता है वह स्वभान (स्वरूपभूत ही भान) है, स्वभिन्न नहीं है। जैसे सूर्य का निराश्रय आकाश में भूतरहित प्रभारूप ही भान है वह किसी भास्य की अपेक्षा नहीं करता वैसे ही यह भूतविवर्जित चिद्भान ही है उससे अतिरिक्त नहीं है। यदि बाह्य पदार्थ सद्रूप होता तो उसके अनुभव से उत्पन्न स्मृति सर्ग के आदि काल की जगत्स्थिति की कारण हो सकती, किन्तु सृष्टि के प्रारम्भ में उपपादन, निमित्त, सहकारी आदि कारणों का अभाव होने से पंचमहाभूतों का अत्यन्त असंभव है, अतः यह बाह्य अर्थ है ही नहीं। यह बाह्य अर्थ का वैसे ही अस्तित्व नहीं है जैसे कि खरगोश के सींगों का अस्तित्व नहीं है और जैसे आकाश वृक्ष का अस्तित्व नहीं है। जैसे वन्ध्या का पुत्र नहीं है और जैसे काला चन्द्रमा नहीं है ठीक वैसे ही सृष्टि के आदि में अज्ञानियों को प्रतीत हो रहा जगत् आदि, 'अहम्' आदि पदार्थ तत्त्वदृष्टि से न देखा जाय तो है यदि तत्त्वतः देखा जाय तो कुछ भी नहीं है। जैसे अज्ञानियों के प्रति महाकाय है वैसे ही तत्त्वज्ञानियों के प्रति मूर्तअमूर्तरूप से रहित चिन्मात्रएकघन अखंडित ही है ॥२२-३४॥

संवित्घन चिदाकाश की मज्जाभूत संवित् यद्यपि नित्य ही उदित है तथापि जब-जब जैसे उदित होती है तब तब व्यवहार में उपचार से (गौणीवृत्ति से) उसमें अस्त और उदय की कल्पना की जाती है। अज्ञानी जब जब अज्ञान से व्यर्थ ही आकाश में पृथिवी आदि रूप से उसे जानता है तब तब वह उस अपने भान में ही पृथिवी की कल्पना करता है। अजन्मा (जन्म आदि विकाररहित) आकाशरूप महाचिति स्वभान का ही पीछे पृथिवी आदि नाम से व्यवहार करती है। जैसे मूर्ख मनोरथनगर में यह नगर है ऐसी संवित् करता है वैसे ही अविनाशी चिन्मात्र आकाश में ही 'यह पृथिवी है' ऐसी संवित् धारण करता है। यदि वह चिन्मात्र ही है तो उसका जगदाकार में भान क्यों होता है और अभान भी क्यों होता है ऐसा विकल्प नहीं करना चाहिये, क्योंकि आकाश में वायु के समान उसे आप स्पन्द और अस्पन्द स्वभाववाला जानिये। प्राणशक्ति से वह स्पन्दस्वभाववाला है और चित्-शक्ति से अस्पन्दस्वभाववाला है, ऐसा जानिये, यह भाव है ॥३५-३९॥ चिदाकाश जैसे जैसे वासना के उद्भव से स्फुरित होता है वैसे वैसे यह जगत्रूप से भासित होता है। आकाश में निराकार आकाश ही है, यह पृथिवी आदि कहींपर भी सत् नहीं है ॥४०॥ इसलिए जिस प्रकार इस जगत् का भान होता है वैसा ही भान हो। भान होनेपर भी वह चिदाकाशरूप होने से न सर्वथा सत् है और न असत् ही है, वह प्रपंचरूप कुछ भी नहीं है, किन्तु

अनिर्वचनीय ही है ॥४१॥ यथास्थित यह जगत् ऐसा है और ऐसा नहीं है, सत् है अथवा असत् है इस लोकपर्यायवृत्तान्त को तत्त्वज्ञ ही जानता है, अन्य (अज्ञानी) नहीं जानता ॥४२॥ चूँकि वह प्राज्ञ (तत्त्वज्ञ) ही सबके हृदयाकाश में आत्मरूप से रहता है, अतः आत्मरूपसे ही स्फुरित हो रही दृश्य संवित् से यह आभ्यन्तर (शरीर) है, यह बाह्य ब्रह्माण्ड है इत्यादि भेदकल्पनाओं द्वारा नाम किया गया है। इस प्रकार क्या यहाँपर बाह्य है अथवा क्या आभ्यन्तर है, क्या दृश्य है और क्या इसकी दृश्यता है ? शिव, शान्त और अशान्त सब कुछ ॐकारूप प्रणवमात्र है यों अभेदकल्पना द्वारा प्रविलापन कर शान्त होइये ॥४३,४४॥

जब तक विचार करना हो तब तक लोकनीति के अनुसार वाच्यवाचकभाव, चाहे वह असत् ही क्यों न हो, स्वीकार करके ही श्रवण, मनन आदि विधियाँ प्रवृत्त होती हैं, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी कहते हैं।

वाच्यवाचकभाव के बिना शास्त्रार्थविचार नहीं हो सकता। और वह शास्त्रार्थविचार 'विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्। प्रयोजनं च पंचांगं शास्त्रेऽधिकरणं विदुः।' शास्त्र में विषय, सन्देह, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष (सिद्धांत) और प्रयोजन इन पाँच अवयवोंवाला अधिकरण कहा गया है। यों प्रसिद्ध पंचावयव विकल्प से किया जाय तो सिद्धि के लिये होता है। जैसे रात्रि में दीपक के बिना चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता वैसे ही उक्त विचार के बिना कुछ भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती ॥४५॥ इसलिए सम्यक् विचार से निर्मल हुई बुद्धि से अन्दर संकल्पकरणरूप प्रचुर विकल्पों को हटाकर मनको सकल शास्त्रों के निष्कर्षसिद्ध महार्थभूत सच्चिदानन्द अद्वितीय आत्मा में संलग्न कर यानी आत्मनिष्ठ होकर आप इस संसार से उड़कर मोक्षरूप उत्तम पद को प्राप्त होइये ॥४६॥

एक सौ सड़सठवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ अड़सठवाँ सर्ग

अबुद्धिपूर्वक सृष्टि के अध्यारोप का वर्णन और
विचार से उसकी चिन्मात्रस्वरूपता तथा चित् के अधिकारी होने से सर्ग का अपवाद।

सृष्टि को मिथ्या सिद्ध करने के लिए सृष्टि की अबुद्धिपूर्वकता का विविध दृष्टान्तों द्वारा समर्थन करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जैसे वृक्ष अबुद्धिपूर्वक ही यानी 'मैं विचित्र शाखाओं की रचना करता हूँ' यों बुद्धिपूर्वकता के बिना ही शाखाओं की विचित्रता का निर्माण करता है वैसे ही जन्मादि विकाररहित परमात्मा आकाश सदृश अपने स्वरूप में शून्यरूप विचित्र प्रपंचअध्यासों की सृष्टि करता है ॥१॥

शंका : 'स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति' (उसने विचार किया कि मैं लोकों की सृष्टि करूँ), 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' (उसने कामना की 'मैं बहुत होऊँ मैं उत्पन्न होऊँ'), 'स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत' (उसने तपस्या की, तपस्या करके उसने इस सब चराचर की सृष्टि की), 'तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमुपजायते' (स्रष्टव्य (सर्जनीय) प्रपंच के आलोचनरूप तपसे ब्रह्म

'मैं एक हूँ बहुत होऊँ' यों इच्छावाला होता है तदनन्तर इच्छावान् ब्रह्म से ईश्वरोपाधिभूत अव्याकृत उत्पन्न होता है) इत्यादि श्रुतियों में सृष्टि बुद्धिपूर्वक की गई है ऐसा डिंडिमघोष है। फिर आप सृष्टि अबुद्धिपूर्वक है ऐसा प्रत्यक्ष और श्रुति के विपरीत कैसे कहते हैं ?

समाधान : सुनिये, जैसा आपने ऊपर प्रतिपादन किया है वैसा ही होता, यदि श्रुति का तात्पर्य सृष्टि आदि के प्रतिपादन में होता। लेकिन भगवती श्रुतिका तात्पर्य सृष्टि आदि के प्रतिपादन में है नहीं, क्योंकि उसका कोई प्रयोजन नहीं है। सृष्टि के ज्ञान से किसी प्रयोजन की सिद्धि श्रुति में कहीं भी प्रतिपादित नहीं है। अद्वितीय ब्रह्मात्मज्ञान ही सप्रयोजन है अतः सकल श्रुतियों में विस्तार से वर्णित है। फलवान् (सप्रयोजन) अद्वितीय ब्रह्मात्मज्ञान के समीप में श्रुत अफल (निष्प्रयोजन) सर्ग आदि किमर्थ है ऐसी आकांक्षा होनेपर वह फलवान् ब्रह्मात्मैक्यज्ञान का अंग हो जाता है। और वह शांडिल्य विद्या के अंगभूत शमविधि परक 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' इस वाक्य में चूँकि यह सारा जगत् उससे उत्पन्न होता है, अतः 'तज्ज' है, उसमें लीन होता है, अतः 'तल्ल' है, उससे जीवित रहता है, अतः 'तदन्' है, उत्पत्ति, स्थिति और लय में ब्रह्माधीन सत्तावाला होने के कारण यह सब ब्रह्मरूप ही है यों ब्रह्मअद्वैत बतलाने में उपायभूत है, इस कारण श्रुति ने स्वयं श्रीमुख से सर्ग की ज्ञानांगता का सिद्धवत् कीर्तन किया है, अन्य प्रकार से उसकी संगति नहीं बैठ सकती। 'तदनन्यत्वमारम्भरणशब्दादिभ्यः' इत्यादि सूत्र, भाष्य आदि द्वारा बतलाई गई सैकड़ों युक्तियों से, स्मृति, पुराण आदि हजारों वेदोपबृंहणों से अध्यारोप और अपवाद द्वारा निष्प्रपंच ब्रह्मात्मतत्त्व के प्रतिपादन में सब श्रुतियों का तात्पर्य निश्चित होनेपर रज्जुसर्प, शुक्तिरजत, मरुमरीचिका, स्वप्न आदि अध्यारोपों में अबुद्धिपूर्वकता ही देखी गई है, कहींपर भी अध्यारोप में बुद्धिपूर्वकता नहीं देखी जाती यों भगवान् श्रीवसिष्ठजी सृष्टि में किसी को अनारोपितत्व शंका न हो इसलिए सृष्टि की अबुद्धिपूर्वकता की सिद्धि करते हैं। रह गई श्रुतियों में ईक्षण आदि पूर्वकत्व के कथन की बात। उसका प्रयोजन तो ब्रह्म की सर्वज्ञता, चिदेकरसता आदि के लाभ से सांख्य आदि के अभिमत अचेतन प्रधान आदि की उपादानता के निराकरण में है, क्योंकि 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इत्यादि सूत्रों से ऐसा ही श्रुति का तात्पर्य दिखलाया गया है; 'तस्य त्रय अवस्थास्त्रयः स्वप्नाः अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूप तीन स्वप्न उसके तीन स्थान हैं। 'यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् संभवतीह विश्वम्' (जैसे जीवित यानी चेतनरूप से प्रसिद्ध पुरष से अचेतन केश, लोम आदि उत्पन्न होते हैं वैसे ही ब्रह्म से सृष्टिकाल में निखिल जगत् उत्पन्न होता है) इत्यादि श्रुतिदृष्टान्त के अनुरूप है; भगवान् के ईक्षण, कामना, संकल्प आदि के, जो बुद्धितत्त्व की उत्पत्ति से पहले के हैं, केवल मायावृत्तिरूप होने से सृष्टि के ईक्षण, कामना और संकल्पपूर्वक होनेपर भी काम, संकल्प आदि धर्मवान् में अबुद्धिपूर्वकता की उपपत्ति होती है; त्वंपदार्थनिष्ठ ही अध्यारोप के अपवाद द्वारा निरास में मुक्तिरूप फलता उपपन्न होती है, इसलिए तत्पदार्थ में जगत् के अध्यारोपप्रतिपादन का कोई प्रयोजन नहीं है; प्रपंच स्वनिष्ठ अविद्या का कार्य है, अतः स्वविद्या से उसकी निवृत्ति हो सकती है और अपने में अबुद्धिपूर्वक ही तीन अवस्थाओं के अध्यारोप का अनुभव होता है, इस आशय से मुनि ने यहाँ अबुद्धिपूर्वकता का समर्थन किया है, यह समझना चाहिये।

जैसे सागर अबुद्धिपूर्वक ही आवर्त, तरंग, बुद्‌बुद् आदि की रचना करता है वैसे ही निराकार सर्वेश्वर परमात्मा आकाश में जगत्-प्रतिभासों को (जगत् स्फुरणों को) बनाता है। तदनन्तर वह उन जगदाकार स्वसंविदों की ही स्वयं मन, बुद्धि, अहंकार इत्यादि विविध संज्ञाएँ करता है। जैसे समुद्र से तरंग आदि स्वतः होते हैं वैसे ही चित् से बुद्धि आदि की सिद्धि होने तक दृश्यरूप आरम्भ अबुद्धिपूर्वक स्वतः ही होता है, लेकिन बुद्धि की सिद्धि होने के बाद संकल्प्यमान जो आरम्भ है वह बुद्धिपूर्वक होता है। जैसे सागर से आवर्त (भँवर), जलकण, बड़ी बड़ी लहरें और लहरियाँ निकलती हैं वैसे ही चिन्मात्र से मन, बुद्धि आदि उत्पन्न होते हैं ॥२-५॥ जैसे केवल दिखाई देनेवाला चित्रलिखित जगत् केवल दीवारमात्र है वैसे ही चित् में आभासमात्र (स्फुरणमात्र) यह जगत् चिदाकाशमात्रस्वरूप ही है ॥६॥ जैसे पूर्वोक्त वृक्ष, सागर आदि के वृत्तान्त में अबुद्धिपूर्वक प्रवृत्त हुआ भी शाखा, आवर्त आदि कार्य नियतिवश तुल्य देह की गठनवाला होता है वैसे ही चित् में सृष्टिरूपी कार्य भी तुल्य शरीर संगठनवाला होगा, इसलिए उसके वास्ते भी बुद्धिपूर्वकता की आवश्यकता नहीं है, यह अर्थ है ॥७॥ जैसे वृक्ष में पत्ते, फूल, गुच्छे आदि के नाम वृक्ष से अन्य रखता है वैसे ही समष्टिबुद्धिरूप हिरण्यगर्भ के अनन्तर जन्मे हुए चिद्‌रूप वृक्ष के पुष्प आदिरूप पृथिवी आदि का चित् से अन्य बुद्धिसमष्टिरूप हिरण्यगर्भ आदि ने नामकरण किया, ऐसा समझना चाहिये ॥८॥ जैसे पत्ते, फूल, फल आदि महावृक्ष से अभिन्न (अपृथक) है वैसे ही चिदाकाशरूप परमात्मा से यह जगत् अभिन्न ही है। जैसे वृक्ष के अवयवभूत पत्र, पुष्प, फल आदि के विविध नाम वृक्ष से अन्य रखता है वैसे ही चिदाकाश अपने में अन्यसा (व्यष्टिजीवसा) होकर स्वपुत्र आदि के तथा अन्यान्य सकल कार्यों के विविध नाम रखता है ॥९,१०॥

इस प्रकार नाम और रूपके अध्यारोप का विस्तार से वर्णन कर अब उनका अपवाद आरम्भ करते हैं।

चिद्रूप वृक्ष के चित् होने के कारण ही उसकी पल्लवरूपी सृष्टियाँ सर्वथा नहीं है। किन्तु वह चिद्रूपी वृक्ष ही स्वप्न के समान स्वयं कार्य और कारणसा प्रतीत होता है ॥११॥ यदि सृष्टि आदि है ही नहीं तो चित्‌को परलोक में व्यर्थ ही उसका अनुभव होता है यह मानना पड़ेगा यह ठीक नहीं है, क्योंकि सर्ग का अभाव माननेपर वह विहित-निषिद्ध कर्मों का फल रहा नहीं, फिर परलोक में सर्ग आदि का अनुभव कैसे होता है ? ऐसा यदि आप आक्षेप करें तो स्वप्न आदि में तथा इन प्रसिद्ध रज्जुसर्प, मरुमरीचिका आदि अनुभवों में कौन व्यर्थता का निवारण कर सकता है, क्योंकि उनमें भी तो स्वाप्न आदि भोग देनेवाले कर्म की सफलता है तो वह प्रकृत में कहो कि वहाँपर भोगाभासमात्र देखने से कर्म की सफलता है तो वह प्रकृत में भी समान है यानी प्रकृत में भी भोगाभासमात्र से वह सफलता क्यों न होगी ? यह भाव है ॥१२॥

साकारअध्यास में वृक्ष आदि से चित् में यह विशेषता है कि साकार में वे सब साकारअध्यास हैं लेकिन निराकार चित् में साकार जगत् का अध्यास है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे आकारवान् वृक्ष में यह शाखादिकल्पना की गई है वैसे ही निराकार चित् में यह जगत्‌रूप कल्पना की गई है ॥१३॥ जैसे फूल में सुगन्ध आदि हैं, जैसे आकाश में शून्यता है तथा जैसे वायु में स्पन्द आदि है वैसे ही परमात्मा में बुद्धि आदि हैं ॥१४॥ जैसे फूल में गन्ध आदि है, जैसे आकाश में शून्यता आदि है और जैसे वायु में स्पन्द आदि है वैसे ही चित् में ये पृथिवी आदि भी हैं। जैसे आकाश की

शून्यता, वायु के स्पन्द और फूलों की गन्ध का अनुभव होनेपर उनसे पृथक् करनेपर वे शून्यरूप हैं यानी आकाशादि से पृथक् शून्यता आदि का अस्तित्व नहीं है (वैसे ही) चित् में सर्गस्थिति अनुभूत होनेपर भी चित् के बिना शून्यरूप है ॥१५,१६॥

उक्त विषय का ही विशदरूप से प्रतिपादन करते हैं।

जैसे शून्यता आकाश से अतिरिक्त नहीं है, द्रवता जल से पृथक् नहीं है, गन्ध पुष्प से पृथक् नहीं है, स्पन्द वायु से अलग नहीं है उष्णता अग्नि से अलग नहीं है और शीतलता हिम से (बरफ से) विलग नहीं है वैसे ही निर्मल चिदाकाश स्वरूप ईश्वर से जगत् अतिरिक्त नहीं है। सृष्टि के आदि में जो आकाश में दृष्टिगोचर होता है, स्वप्न से जो हृदयप्रदेश में दृष्टिगोचर होता है वह अकारण जाग्रत् तथा स्वप्न जगत् चिदाकाश से कैसे अतिरिक्त हो सकता है ? प्रतिदिन देखा गया स्वप्न ही इस विषय में दृष्टान्त है, उसपर विचार कीजिये। जरा बतलाइये तो सही स्वप्न में चिन्मात्र से अतिरिक्त क्या सार है ? ॥१७–२०॥ यदि कहे कि स्वप्न स्मृति ही है। अन्य स्मृतियों में, जो संस्कारजन्य तथा विषयशून्य होती हैं, 'सोऽयं' यों तत्ता भासित होती है। किन्तु स्वप्न में निद्रारूपी दोष से इदन्तागोचरत्वांश में संस्कार का उद्बोध होने से तत्तांशका अपहरण हो जाता है, अतः इदन्ता भासित होती है। इसलिए यह बुद्धिजन्यसंस्कार दृश्य दोनों ही जगह एक ही वस्तु है इत्यादि शंका तो ठीक नहीं है। क्योंकि तत्ता इदन्ता कैसे होगी ? अपरोक्ष में (प्रत्यक्ष में) इदन्ता प्रसिद्ध है, लेकिन स्मृतिमें तो असन्निकृष्ट (दूरवर्ती) परोक्ष ही है, इसलिए यह कैसे घट सकता है, कहिये, यह अर्थ है ॥२१॥ यदि कहो कि स्वाप्न–स्मृति के समय वन आदि में देखा गया बाघ आदि स्वप्नदेश में निद्रा द्वारा निकट में लाया जाता है, यों यदि इदन्ता उसपर होगी तो उस वन में वह बाघ आदि अन्यों द्वारा अनुभूत न होगा। निद्रा द्वारा एक ही बाघ दो तरह से स्थापित किया जाता है यह कहो, तो एक की ही दो प्रकार से स्थिति कैसी ? ॥२२॥

इसलिए स्वाप्नबोध की अनुभवरूपता का अपलाप न हो सकने से दृष्टान्त है ही, अतः जो मैंने कहा, वह सिद्ध हुआ यों उपसंहार करते हैं।

इसलिए समुद्र आदि में आवर्तों की तरह काकतालीय के समान अकस्मात् चित् में जो यह जगत् स्फुरित होता है उसी में जाग्रत् और स्वप्न के अनुभव की सिद्धि के बाद स्वप्न आदि की कल्पना होती है ॥२३॥ समुद्र में तरंग आदि की तरह अबुद्धिपूर्वक उत्पन्न सृष्टि में स्वप्न आदि की अनुभवसिद्धि के अनन्तर सन्निवेश और स्थिति सम्पन्न होती है ॥२४॥ जो कारण के बिना उत्पन्न होता है वह उत्पन्न हुआ भी अनुत्पन्न ही है इसलिए अजात (अनुत्पन्न) वही आद्य जात–सा (उत्पन्न–सा) स्थित है ॥२५॥ जैसे रत्न, मणि, माणिक्य आदि की कान्तियाँ अबुद्धिपूर्वक ही उत्पन्न हुई हैं वैसे ही ब्रह्मसत्ता ही जगतों के वेष से फुरती है ॥२६॥ यथाकथंचित् यानी अनिर्वचनीय मायारूप कारण के बल से ही सृष्टि के आरंभ सागर में आवर्त की भाँति यह जगत् उत्पन्न होता है पीछे अपने में अर्थक्रियाकारितारूप सत्यता का ग्रहण करता है। चिदाकाश में विविध स्वप्न परम्पराओं की तरह चिदाकाश में चिद्रूप जगत् अत्यन्त शून्य से शून्य होनेपर भी धाराप्रवाहरूप से उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते हैं यानी आविर्भूत होते हैं और तिरोभूत होते हैं। तदुपरान्त सकल पदार्थ चिरकाल तक परस्पर कार्यकारणभाव को प्राप्त होते

हैं। उनके ईश्वर (ﷺ) आदि पदार्थ शून्यात्मक ही हैं ॥२७-२९॥ यह दृश्य शून्य ही उत्पन्न होता है, शून्य ही यह बढ़ता है और शून्यता से अत्यन्त अविद्यमान ही विनष्ट होता है ॥३०॥ शून्य दृश्य सा विकास को प्राप्त होता है, इस विषय में यानी असत् के विकास में स्वानुभूत स्वप्नस्वरूप दृष्टान्त का जो अपलाप करता है वह कुमति भेड़िया द्वारा अपने अपहरण का भी अपलाप करेगा ॥३१॥ सुकृत्रिम भ्रान्तिमात्र यह दृश्य मिथ्या ही प्रतीत होता है चित् की चमत्कृति ही इसका वास्तविक स्वरूप है। तत्त्वज्ञ की दृष्टि में तो यह अकृत्रिम सन्मात्र ही है ॥३२॥ यह प्रपंच चिरस्थायी मनोरथरूप ही है, सृष्टि और प्रलय की भ्रान्ति इससे अतिरिक्त नहीं है। उसके वास्तविक स्वभाव का स्फुरण ज्ञान है और भ्रान्ति के आकार से इसका स्फुरण अज्ञान है, ऐसा समझना चाहिये ॥३३॥ जैसे दृश्यशून्य आत्मा में सुषुप्तिके बाद स्वप्न देखा जाता है वैसे ही माया से उपहित ब्रह्मात्मा तुरन्त ही दृश्य बनकर बिना कारण ही आविर्भूत होता है यों देखा गया है। पीछे वह अर्थक्रियाव्यवस्था द्वारा कार्यकारणभावादि नियति को प्राप्त होता है ॥३४॥

अकस्मात् दृश्य के स्फुरण में निमित्त की अपेक्षा नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे सागर में आवर्त आदि काकतालीय न्याय से अकस्मात् अपने-आप प्रकाशित होते हैं वैसे ही चित् में दृश्य काकतालीयन्याय से अकस्मात् अपने-आप ही चित्स्वभावता के कारण स्फुरित होता है ॥३५॥

चित् के स्वभाव का ही स्पष्टीकरण करते हैं।

आकाशमात्ररूप (शून्यरूप) यह चित्धातु ऐसा ही है जो कि चित्स्वरूप होनेपर भी यह इस प्रकार जगत् के रूप से स्फुरित होता है ॥३६॥ पहले अबुद्धिपूर्वक दृश्याकार का भान होने से दृश्यभूत उस चिदात्मा ने पीछे अपने में अतीतरूपसे प्रतीत में स्मृति आदि की कल्पनारूप, वर्तमान के रूपसे स्फुरित में पृथ्वी आदि और पृथ्वी आदि बुद्धि की कल्पनारूप अनेक संज्ञाओं की कल्पना की। ऐसी परिस्थिति में अविभक्त तात्कालिक प्रतिभास में वह सम्पूर्ण बुद्धि आदि विभाग कल्पनामात्र ही हैं ॥३७॥

यदि तात्कालिक प्रतिभासों में ही विभागसंज्ञारूप भेदकल्पनामात्र ही जगत् है केवल प्रतिभास क्षण में रहनेवाला जगत् अप्रतिभासकालमें नहीं ही है यह फलित हुआ। ऐसी अवस्था में प्रतिभासक के उत्तर क्षण में प्रतिभासका विनाश होनेपर जगत् का भी नाश होने से क्षणभंगवाद की प्राप्ति होगी। हो क्षणभंगवाद, उस तरह के मायामय जगत् में स्थायिता सिद्ध करने में ब्रह्मवेत्ता का कोई प्रयोजन नहीं है, ऐसा तो नहीं कह सकते, क्योंकि लोक में स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि पूर्वानुभूत की ही होती है ऐसा नियम है। स्मृति और प्रत्यभिज्ञा के अधीन वेदशास्त्रादि के प्रामाण्य का भंग होने से ब्रह्मवाद की जड़ उखड़ जायेगी, इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

गुरुवर, आपके कथनानुसार जगत् के तात्कालिक कल्पनामात्र होनेपर प्रामाणिक अनुभव से उत्पन्न संस्कार से पूर्वोत्पन्न बुद्धि की स्मृति और प्रत्यभिज्ञा होती है यों सर्वशिष्टानुभवसिद्ध नियम कैसे प्राप्त होगा ? क्या आप स्मृति और प्रत्यभिज्ञान को पूर्वानूभूत विषयिणी नहीं मानते ? यह मुझसे कहने की

(ﷺ) ईश्वरता भी मायासापेक्षस्वरूप है।

कृपा कीजिए ॥३८॥

भगवान श्रीवशिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी की आशंका की प्रशंसा करते हुए समाधान की प्रतिज्ञा करते हैं।

भगवान् श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, मैं आपके प्रश्न के (आक्षेप के) ऐसे ही टुकड़े कर डालता हूँ जैसे कि सिंह छोटे से कमजोर हाथी के टुकड़े-टुकड़े कर डालता है तथा जैसे भगवान् सूर्य तिमिरराशि का उच्छेद कर एकमात्र प्रकाश की स्थापना करते हैं वैसे ही मैं एकमात्र अद्वैत की स्थापना करता हूँ ॥३९॥

यह आपके द्वारा लगाया गया दोष तब होता जब हम पहले असत् ही जगत् क्षणिक प्रतिभास के साथ उत्पन्न होता है ऐसे बौद्ध सिद्धान्त को स्वीकार करते। लेकिन हम वैसा स्वीकार नहीं करते, हम यह स्वीकार करते हैं कि नित्य ब्रह्मसत्तारूप ही जगत् है वह नित्य चिदात्मक ही प्रतिभास से सदा अभिव्यक्तियोग्य है अविद्या की आवरणशक्ति और विक्षेपशक्ति की विचित्रता के चमत्कार से कभी आविर्भूतसा, तिरोहित सा, घट, पट आदि के आकारसा, छिन्नसा, भिन्नसा, कारणों द्वारा उत्पादितसा, अपरोक्षसा, एकसा, नानासा, भिन्नअभिन्नसा, क्षणिकसा, स्थायीसा, अतीतसा, वर्तमानसा, भविष्यत्सा नाना चमत्कारों से, जो नियत, अनियत, सदृश, असदृश हैं, एकसे नहीं हैं, अवभासित होता है। उसमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि सब कुछ उपपन्न ही होता है, इस आशय से समाधान का आरम्भ करते हैं।

यह जगदात्मक दृश्य वैसे ही चिन्मात्र के गर्भ में विद्यमान है जैसे कि वृक्ष में बढ़ई द्वारा काट छाँटकर न गढ़ी गई वन में स्थित प्रतिमा वृक्ष के अन्दर रहती है ॥४०॥ काठ की प्रतिमा को तो वृक्ष से छील-तराशकर यानी उसका आवरण करने वाले काठ के अवयवों को हटाकर बढ़ई निकालता है (प्रकट करता है), किन्तु अद्वितीय चिद्रूपी स्तम्भ से उस जगत्रूपी प्रतिमा उससे अन्य कौन गढ़ता है यानी कारक के अधीन न होने से काष्ठप्रतिमा की तरह उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, यह अर्थ है ॥४१॥ काष्ठप्रतिमा जड़ स्तम्भ में (खम्भे में) बिना छीलेतराशे प्रकट नहीं हो सकती, किन्तु चित् में भीतर स्थित वह (जगत्रूप प्रतिमा) उसके अधिष्ठानभूत चित् के आवरण की निवृत्ति होनेपर चित् के प्रभाव से चिदात्मा में ही पूर्णरूप से प्रकट होती है ॥४२॥

तब प्रलय और सुषुप्ति में भी उसका भान क्यों नहीं होता, यह यदि कहो तो सत्तासामान्यरूप से उस समय भी उसका भान होता ही है, ऐसा कहते हैं।

प्रलय और सुषुप्ति में तो शून्यरूपा जगत्रूप प्रतिमा बिना गढ़े ही सत्तासामान्यरूप से भासमान चिन्मात्ररूप से अच्युत होकर ही चिदात्मा में स्थित है ॥४३॥ सृष्टि के आदि में भी पहले पूर्वोक्त निर्विकल्प कल्पनावती होकर पीछे भोगकर्ता के अदृष्ट के अनुसार उत्पन्न हुए मनोविकल्पों से स्वयं परमचिदाकाशरूपिणी वह चिति अपने आकाशरूप हृदय में चित्र विचित्र सृष्टिरूप प्रतिमाओं की कल्पनाएँ अपने में स्वभावतः वैसे ही करती है जैसे स्वप्न में उत्पन्न कल्पनाओं की करती है ॥४४,४५॥

चिति सृष्टि के आदि में कैसे विशेष विभागों का संकल्प करती है ? इसका विस्तार से वर्णन करते हैं।

यह ब्रह्मकला सत्तासामान्यरूप जगत्बीजस्वरूप है। इस ब्रह्मकला में ही चिन्मात्र कल्पना यानी सदा अनावृत स्वभाववाली यह प्रतिबिम्ब चिति है, यही प्राण आदि से युक्त होने से जीव है तथा अभिमानवृत्ति की प्रधानता होने से यही अहंकार है ॥४६॥ अध्यवसाय (निश्चय) प्रधान होने से यही

बुद्धि है, यही चित्त है, यही काल है, यही आकाश है, यही मैं हूँ, यही क्रिया है, यही पंचतन्मात्राएँ हैं ॥४७॥ यही इन्द्रियों का संघात है, यही पुर्यष्टक कही गई हैं, यहाँपर यही आतिवाहिक शरीर तथा आधिभौतिक शरीर है। मैं ब्रह्मा हूँ, मैं शंकर हूँ, मैं विष्णु हूँ, मैं सूर्य हूँ, यह बाह्य है, यह आभ्यन्तर है, यह सृष्टि है, यह जगत् है इत्यादि कल्पनाजाल अतिनिर्मल चिदाकाश ही है। इसलिए ये अज्ञानियों द्वारा कथित पदार्थ राशियाँ कहाँ ? स्मृति कहाँ और द्वैत तथा अद्वैत कहाँ ? ॥४८-५०॥ इस रीति से यह विस्तारयुक्त जगत् बिना कारण का ही है। सृष्टि के आरम्भ में स्वप्न के तुल्य चिदाकाश में चिदाकाश ही विकारयुक्त-सा प्रतीत होता है ॥५१॥ चिन्मय आकाश में ही जो चिन्मय आकाश स्फुरण है उसी ने उसे ही जगत् जाना, बोध होने के उपरान्त वह जगत् कहाँ है ? ॥५२॥

जब मात्र चिदाकाश ही है तो प्रपंचित विभागों का अस्तित्व नहीं है यह निष्कर्ष निकला, यह कहते हैं।

कहाँ स्मृति है, कहाँ स्वप्न है, कहाँ दिन, मास, संवत्सर आदि काल विभाग हैं, कहाँ विविध सृष्टि कल्पनाएँ हैं ? यह शान्त चिद्भान ही आकाश में शून्यरूप जगत्सा मालूम पड़ता है। जो चिद्घन के अन्दर है यानी चिद्घन की अन्तर्गत जो सत्ता है वह बाह्यता को प्राप्त हुई है वास्तव में तो सन्मात्र के सिवा न वह बाह्य है और न आभ्यन्तर है। अरे अन्धे वादी लोगों, जो वस्तु अवयवशून्य निर्विकार निराकार से प्रकट होती है, वह अकारण कैसे उत्पन्न होगी और वह कूटस्थ ही अन्यथा (सविकार) कैसे होगा ? ॥५३-५५॥

इसलिए भ्रमवश ज्ञात जगत् के जाड्यादि स्वभाव का त्यागकर जगत् चिन्मात्रस्वभाव है ऐसा स्वीकार करो इसी में कुशल है, ऐसा कहते हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसा परम ब्रह्म है वैसा ही यह जगत् भी चिन्मात्रस्वभाव ही है, क्योंकि जो चिदाकाश है वही स्वप्न में स्वप्ननगर है उसमें कोई अन्तर नहीं है ॥५६॥ शून्यरूप यह दृश्य तनिक भी कुछ नहीं है। पूर्णसागर में धूलि (बिना भीगा रजकरण) कहाँ ? वैसे ही परमाकाश में दृश्य का अस्तित्व कहाँ ? ॥५७॥ अथवा जो यह दृश्य-सा कुछ स्फुरित होता है वह चेत्यभिन्न चिन्मात्र ही है। चेत्य रहित होने से अपने से भिन्न दूसरे को प्रकाशित न करता हुआ ही शान्त वह स्वमात्रप्रकाश होकर अपने स्वरूपमें इस प्रकार का स्थित है ॥५८॥

उक्त अर्थ में 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' इस श्रुति का स्मरण कराते हैं।

पूर्ण ब्रह्म से पूर्ण भी अनुद्धृत भी उद्धृत सा यह परमात्मरूप भी भान, जो भावरूप ही है, भासित होता है, स्फुरित होता है ॥५९॥

इतने विस्तार के साथ प्रतिपादित प्रतिदिन दुहराये तिहराये गये उपदेश से भी कुछ मन्दअधिकारियों को अप्रबुद्ध जानकर भगवान् श्रीवसिष्ठजी उनके लिए शोक प्रकट करते हैं।

यद्यपि मैं अपने अनुभव में आ रहे आत्मतत्त्व को इस प्रकार विशदरूप से बार-बार ऊँचे स्वर से प्रकट कर रहा हूँ, फिर भी मन्दअधिकारी लोगों के हृदय में बद्धमूल मूढ़ता (अज्ञान) स्वप्नतुल्य जगत् में यह जाग्रत् सत्य ही है ऐसी बुद्धि का त्याग नहीं करती है, यह महान् खेद का विषय है। जानता हुआ भी अधिकारी शीघ्र उसका त्याग नहीं करता। मोह की प्रबलता की बलिहारी है ॥६०॥

एक सौ अड़सठवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ उनहत्तरवाँ सर्ग

विश्रान्त चित्तवाले जीवन्मुक्त के प्रचुर लक्षणों का तथा आत्मवान् की सदा सुप्ति का कथन।

यदि आपने मन्द अधिकारियों का अज्ञान मुखविकारादि चिह्नों से ताड़ लिया तो अज्ञान की निवृति किन लक्षणों से जानी जा सकती है यों मुक्त के लक्षणों की जिज्ञासा करनेवाले श्रीरामचन्द्र आदि से श्रीवसिष्ठजी मुक्त के लक्षणों का वर्णन करते हैं।

जिस नित्य अन्तर्मुख बुद्धिवाले परमात्मा में आसक्त मतिवाले ज्ञानी पुरुष के सुख के साधनभूत विषय सुख के लिए नहीं हैं और दुःखसाधन दुःख के लिए नहीं हैं, वह मुक्त कहलाता है। जैसे अज्ञानियों की बुद्धि बिखरे हुए विषयों पर आसक्त होकर उनसे विचलित नहीं होती है वैसे ही चिदाकाश में अचल (अटल) निष्ठावाले जिस पुरुष की बुद्धि उससे विचलित नहीं होती है वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जिसका निश्चल चित्त चिन्मात्ररूप परमात्मा में विश्रान्त होकर उसी में रति को प्राप्त हो गया वह जीवन्मुक्त कहलाता है। परमात्मा में विश्रान्त हुआ जिसका चित्त उससे हट कर फिर इस दृश्य में रति को प्राप्त नहीं होता वह जीवन्मुक्त कहलाता है ॥१-४॥

श्रीरामचन्द्रजी पूर्वोक्त प्रथम श्लोक द्वारा कथित लक्षण के जड़, उन्मत्त और मूर्छितों में व्यभिचार की आशंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिश्रेष्ठ, जिसका सुखसाधन विषय समुदाय सुख के लिए नहीं है और दुःखसाधन दुख के लिए नहीं है उस अचेतन मनुष्य को तो मैं जड़ ही समझता हूँ ॥५॥

वहाँ पर 'अन्तर्मुखमतेः' इस विशेषण से ही उक्त व्यभिचार का निवारण हो जाने से कोई दोष नहीं है, इस अभिप्राय से श्रीवसिष्ठजी उसके तात्पर्य को विशद करते हुए उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : जो शुद्धबोधात्मा चिदाकाश में अत्यन्त संलग्न होने के कारण प्रयत्न के बिना सुख को नहीं जानता है, वह विश्रान्त कहा जाता है। विवेक द्वारा जिसके सब पदार्थों से सम्बन्ध रखनेवाले सभी सन्देह वास्तव में क्षीण हो गये वह परम पद में विश्रान्त है, सकल सन्देह अज्ञानमूलक हैं अतः मूलअज्ञान के विनाश से सकल सन्देहों का विनाश हो जाता है, यह भाव है। *(इस विषय में भगवती श्रुति भी है — 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' अर्थात् परात्पर परमात्मा के दर्शन होने पर चिद्अचिद्अविवेकरूप हृदयग्रन्थि टूट जाती है, सब सन्देह मिट जाते हैं। व्यवहार करते हुए भी जिसके अन्दर किसी भी वस्तु में कहीं पर भी अनुराग नहीं है, वह विश्रान्त कहा गया है।)* प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ मिल गया उससे निर्वाह कर रहे जिसके समस्त कार्य कामना और संकल्प से शून्य हैं, वह परम पद में विश्रान्त कहा गया है ॥६-९॥ जिस महापुरुष ने विश्रामशून्य निराधार और लम्बे संसाररूपी मार्ग में चिन्मात्र के दर्शन से आत्मा में विश्राम पा लिया, वह सर्वश्रेष्ठ है, सर्ववन्दनीय है ॥१०॥ जो लोग चिरकाल तक बीहड़ संसारमार्ग में भटककर परमपद में विश्राम पा चुके वे लोकव्यवहार में निरत होने पर भी विषयों के पीछे दौड़ने से (भटकने से) उत्पन्न खेद को निवृत्त करने के लिए सोये हुए से दिखाई देते हैं। विषयों के पीछे न दौड़ना ही उनका विश्राम पा जाने का स्पष्ट लक्षण है ॥११॥ वे शुद्धचिद्रूप भास्कर चैत्य और चिदाकाश से यानी दृश्य

और द्रष्टा से शून्य स्वचित्ताकाश में नित्य उदित होकर दीप्त होते हैं, संसार में कहीं पर नहीं रहते ॥१२॥ उत्तम पुरुष सदेह होते हुए तथा व्यवहार में निरत होते हुए भी सोये हुए से, विदेह से और मूढ़ से दिखाई देते हैं वास्तव में वे जड़ (मूढ़) नहीं हैं ॥१३॥

'सुप्ताः' इस पद के तात्पर्य का विवरण करते हैं।

जो लोग इस स्वप्ननगर में शय्याओं में सोये हुए हैं, वे सुप्त (सोये हुए) कहे जाते हैं, किन्तु वे जड़ता को प्राप्त नहीं हुए है, निद्रापरवश नहीं हुए हैं ॥१४॥

तब किस अंश से उसकी सुप्त से समता है यह पूछो तो विश्रान्ति और मौन से है, ऐसा कहते हैं।

दीर्घमार्ग में परिभ्रमण से निवृत्त होकर श्रम से रहित हुआ जो पुरुष वाक्य मुख से बाहर नहीं निकालता वह सुख मौनस्थ कहा जाता है, न कि जडाकृति कहलाता है ॥१५॥ अविद्यारूपी अन्धकार में विविध व्यवहार कर रहे अतएव उल्लू के तुल्य सकल भूतों की जो अविद्या की अस्तमयरूप रात्रि है वह परम बोध है, परम शान्ति है। उसमें ज्ञानी एकरसरूप से स्थित रहता है ॥१६॥ इस दुःखदायक जिस दृश्य में सब भूत जाग्रत् रहते हैं उसमें सदा सुप्त है यानी वह सुखी उसे नहीं देखता है। भगवान् ने गीता में 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागृति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।

इस श्लोक से दो लक्षण दिखलाये हैं ॥१७॥

सर्वकर्मसंन्यास भी उसका लक्षण है, ऐसा कहते हैं।

हे रघुद्वह, जो सकल कर्मों का अनादर कर (त्याग कर) स्वात्मा में ही स्थित रहता है वह आत्माराम (अपने में ही क्रीड़ा करनेवाला) कहा गया है, वह जड़ नहीं है ॥१८॥ जन्म, जरा आदि संसारक्लेश से निर्मुक्त होकर इस संसार-सागर के पार पहुँचा हुआ उत्तम पुरुष निरन्तर विश्रान्ति सुख का अनुभव करता हुआ आत्मा में स्थित रहता है ॥१९॥

'धावित्वा ये चिरं कालम्' (जो चिरकालतक परिभ्रमण कर) इसके अर्थ का विस्तार करते हैं।

दीर्घसंसाररूपी मार्ग में भ्रमण से थका हुआ, वंचना में चतुर देशोपद्रवों की नाईं भोग-सामग्री का अपहरण करनेवाले विषयों द्वारा चिरकाल तक भोगसाधन पदार्थों से व्याकुल होकर संसारमार्ग में चला है, जरारूप (बुढ़ापारूप) हिमपात और वज्रपात उसे बार बार व्यवहार के अयोग्य बनाते हैं, व्यर्थ व्यग्रतापूर्वक विहार करनेवाला जन्मरूपी जंगल का मृगरूप वह पथिक नाना दुःखरूपी काँटों से आकीर्ण सुदुर्लभ सुखरूपी छायावाले संसारमार्ग में असहाय (अकेला) ही चला है ॥२०-२२॥ पाप से उपार्जित धन से संबल बनाकर पद पद पर गिरते ठोकर खाते अर्थ अनर्थ मार्गरूपी संकटों से विवश हुआ जीव यों थककर भाग्यवश साधन-सम्पत्ति द्वारा सत्-शास्त्र और सद्गुरु के अनुग्रहवश तत्त्वसाक्षात्कार से प्रबुद्ध होकर संसाररूपी सागर के परले पार पहुँच कर आत्मज्ञानवान् हो शय्या के बिना भी सुखपूर्वक सोता है। आश्चर्य की बात है कि आत्मवान् पुरुष ऐसे सुख से सोता है जिसमें शयनार्थियों द्वारा अपेक्षित घर, द्वार, महल, पलंग आदि की जरूरत नहीं रहती,न स्वप्न रहता है, न सुषुप्ति रहती है और प्राण आदिकी कोई चेष्टाएँ भी नहीं होती हैं आत्मस्वरूप में पूर्णरूप से जागरूकता रहती है तथा स्वरूप से बहिर्भूत निद्रा नाम की वस्तु का उसमें नाम-निशान नहीं रहता। जैसे उत्तम नस्लका घोड़ा खाते, चलते, टिकते सदा ही सोता है केवल युद्ध में जागा रहता है वैसे

ही जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष खाते, चलते, साँस लेते और बोलते महाअरण्यरूप लोक में सुखपूर्वक सोता है, यह महान् आश्चर्य है ॥२३–२६॥ तत्त्वज्ञानियों की वह गाढ़ी नींद कोई अलौकिक ही है जो प्रलयकालीन मेघों के गर्जनों से तथा अंगों के छेदन–भेदनों से भी नहीं टूटती है ॥२७॥ तत्त्ववेत्ताओं की वह कोई अपूर्व (अनूठी) ही गाढ़ी नींद है जो चिन्मात्र के दर्शन में प्रबुद्धों की (जागरूकों की) भी बाह्येन्द्रियों को बन्द कर देती है अथवा व्यवहार में जागरूकों की भी बाह्येन्द्रियों के रूपादि दर्शन को दर्शन आदि के विषय में बन्द कर देती है ॥२८॥ जिसका नेत्रों को बन्ध किये बिना ही सारा विश्व विलीन हो जाता है, वह परमार्थ से पागल (न कि मद के नशे से पागल) आत्मज्ञानी सुखपूर्वक सोता है, यह आश्चर्य है ॥२९॥ अहा ! सारे जगत् को निगलकर परम पूर्णता को प्राप्त हुआ आत्मवान् पुरुष तृप्तिपर्यन्त (खूब छककर) अपरिच्छिन्न (असीम) आनन्दरस का पान कर सुखपूर्वक सोता है ॥३०॥ अहा, विषयजन्य (वैषयिक) आनन्द के अभाव में भी निरतिशय आनन्द से महान् आनन्दवाला अक्षय अद्वैत सुख का अनुभव कर रहा आत्मज्ञानी पुरुष जिसके अन्य आलोकों से (प्रकाशों से) अप्रकाश्य आत्मा में महान् प्रकाश है, सुखपूर्वक सोता है । काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिरूप अन्धकार से रहित होने के कारण आत्मा के महाप्रकाश में आसक्ति को प्राप्त हुआ तथा अमूर्त आनन्दरस में अतिशय आस्वाद युक्त आत्मवान् पुरुष सुख से सोता है ॥३१,३२॥ आत्मवान् का ऐसा सुखशयन है जिसमें असीम दुःखानुभव के विषय में विरति रहती है, वर्णाश्रमोचित व्यवहार में लोकसंग्रह के लिए अविरति रहती है, बाह्य पदार्थों में अनासक्ति रहती है और आभ्यन्तर सुख का निरन्तर भोग रहता है ॥३३॥ अत्यन्त अणुओं में (सूक्ष्मों में) सबसे अत्यधिक अणुतम (सूक्ष्मतम) तथा अत्यन्त स्थूलपदार्थों में सबसे अत्यधिक स्थूलतम' आत्मा को चिदाकाशरूपी शय्या में स्थिति (चिदाकाशनिष्ठ) कर आत्मवान् पुरुष सुख से सोता है ॥३४॥

अहा ! सूक्ष्म होने के कारण अत्यन्त अणु तथा व्यापक होने के कारण अतिस्थूल चिद्देह में प्रत्येक परमाणु में अनन्त कोटि जगतों को धारण कर रहा आत्मज्ञानी पुरुष सुखपूर्वक सोता है । अनेक संहार (प्रलय) और सृष्टियाँ कर रहा वास्तव में कुछ न कर रहा आत्मज्ञानी पुरुष परम प्रकाशरूपी शय्या पर सुखपूर्वक सोता है ॥३५,३६॥ संसारसमूहरूप स्वप्न को, ज्ञान प्राप्त कर, प्रकट दिशाओं की तरह अपरिच्छिन्न सुषुप्तता को प्राप्त कर रहा ज्ञानी पुरुष सुख से सोता है ॥३७॥ सम्पूर्ण जगत्पदार्थों की 'घटः सन् पटः सन्' इस प्रकार सत्रूप से सर्वत्र अनुगम होने के कारण सत्तासामान्यता को प्राप्त हुआ आकाश से अधिक व्यापक (☙) आत्मज्ञानी पुरुष सुख से सोता है ॥३८॥ पहले प्रविलोपन द्वारा आकाशता को प्राप्त जगत् को अव्याकृत आकाश से भी निर्मल चिदाकाश बनाकर आत्मवान् पुरुष शब्द और श्वास–प्रश्वास रहित सुखपूर्वक सोता है । स्वयं प्रत्यगात्मभूत चिदाकाश के एक कोने में स्वप्न के तुल्य इस हमारे जगत् को देख रहा चिदाकाशकोशस्वरूप आत्मज्ञानी पुरुष सुखपूर्वक सोता है ॥३९,४०॥ लोकप्रवाहानुसार प्राप्त व्यवहाररूप मनोहर तृणराशि निर्मित चटाई पर विश्राम को प्राप्त हुआ आत्मज्ञानसम्पन्न पुरुष सुखपूर्वक सोता है ॥४१॥ जैसे जागरूक (जागे हुए) पुरुष,जिसने गाढ़ी नींद में स्वप्न का अनुभव

(☙) 'ज्यायानाकाशात्' (आकाश से बड़ा विशाल) ऐसी श्रुति है ।

किया है, नींद में अनुभूत स्वप्न का बड़े प्रयत्न से स्मरण करता है वैसे ही आत्मविचाररूप सुषुप्ति में सोनेवाला आत्मज्ञानवान् पुरुष अन्य के अथवा अपने अत्यन्त प्रयत्न से बहिर्मुखवृत्ति होकर बाह्यपदार्थ के परिज्ञान से आपाततः (सरसरी) शरीरधारणादि व्यवहार ऐसे ही करता है जैसे कि निरवकाशस्थान में रहने में असमर्थ आकाश दूसरे जैसे कल्पित आकाश से आकाशस्वरूप में सत्ता धारण करता है ॥४२॥ परम चिदाकाशको प्राप्त आत्मज्ञानी पुरुष आकाश के सदृश विशाल स्वरूप के ज्ञान से अत्यन्त असत् होने के कारण आकाशतुल्य (शून्यरूप) जीव-जगत् रूप धर्मों को प्रयत्न से देखता है, उनका ज्ञाता बनता है ॥४३॥

इस प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष का अज्ञानी की दृष्टि का स्वप्न कह कर परमार्थ दृष्टि में सदा वह प्रबुद्ध है, ऐसा कहते हैं।

तत्त्वज्ञानी पुरुष इस प्रकार सदा सुप्त होता हुआ भी लोक में प्रसिद्ध जाग्रत और स्वप्न में लोक की तरह ही प्रबुद्ध और सुप्त होकर जाग्रत और स्वप्न के पदार्थों के भोग में सहायभूत आगे कहे जानेवाले मित्र के साथ सदा रमता है। उसके पश्चात् सुषुप्त होकर उसके साथ ही सुषुप्ति को प्राप्त हुआ ॥४४॥

जब तक प्रारब्ध का भोग रहता है तब तक उस मित्र के साथ क्रीड़ा कर उसके पश्चात् उसकी जीवन्मुक्ति होती है, ऐसा कहते हैं।

जीवन्मुक्त पुरुष अन्यान्य जन्मों में एकता द्वारा चिरकालतक सहवास से उत्पन्न प्रेम से मानों अपनी सारी विषमता त्यागकर समचित्त से तथा शम, दम, तितिक्षा, ज्ञान, वैराग्य और सन्तोष की अनुवृत्ति से मधुर आगे कहे जानेवाले चिरकाल के मित्र के साथ आयु के शेष दिनों को आगे कही जानेवाली क्रीड़ा के साथ परम पद में (निरतिशयानन्द विदेह कैवल्यपद में) विश्राम को प्राप्त होगा ॥४५॥

एक सौ उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सत्तरवाँ सर्ग

पुत्र, स्त्री और सेवक से युक्त कर्मनामक मित्र तथा
उसके गुणों का वर्णन और उसके साथ आनन्ददायक क्रीड़ा का वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, जीवन्मुक्त का कौन मित्र है, कृपया मुझसे कहिये जिसके साथ यह (जीवन्मुक्त) क्रीड़ा करता है। उस मित्र के साथ जो वह क्रीड़ा करता है उसका क्या स्वभाव है ? वह स्वात्मस्वरूप में अवस्थिति ही है अथवा रमणीय भोगस्थानों में विहारप्रयुक्त प्रीतिरूप है ॥१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी,सहज स्वकर्म, लोकसंग्रह के लिए कृत शास्त्रीय स्वकर्म और अपने प्रयत्न से अभ्यस्त सत्-शास्त्रों के अभ्यास, विचार,सत्संगति, शम, दम, तितिक्षा, वैराग्य,बाह्य और आभ्यन्तर शौच, सन्तोष, ईश्वर-ध्यान, संयम आदि स्वकर्म यह त्रिविध अनिषिद्ध कर्म एक ही है, उपाधिभेद से तीन नामों द्वारा पुकारा जाता है। उक्त त्रिविध कर्म ही जीवन्मुक्त पुरुष का एक मात्र मित्र है ॥२॥

उस मित्र के गुणों का वर्णन करते हैं।

वह पिता के समान ढाढस देनेवाला है, स्त्री के समान अकार्यों के विषय में लज्जा द्वारा नियन्त्रण करता है और दुर्निवार्य संकटों में सदा साथ रहता है, कभी बिछुड़ता नहीं है। उसके सेवाआदि व्यवहार में किसी प्रकार की शंका का नाम–निशान नहीं है, वह निर्वाणरूप परम सुख का सम्पादन करता है तथा क्रोध के अवसरों में स्वयं कोपरहित होने के कारण शान्ति से समाधानरूपी अमृत का प्रदान करता है ॥३,४॥ दुर्गम जंगलों में उबड़–खाबड़ मार्गों में और अनिवार्य वैर, झगड़ा–झंझट में फँसने पर उनसे उद्धार करने के लिए सदा कटिबद्ध रहता है, सब विश्वासरूपी रत्नों की तिजोरी है तथा अनेक जन्मों के अभ्यास से अनुगत होने के कारण बाल्यावस्था से ही साथ रहता है। बाल्यकाल में उसने उसके साथ धूलि के खेल खेले हैं, बाल्यावस्था से ही वह संगी–साथी बना है, अनेक दुश्चेष्टाओं का निवारण किया है तथा उसके रक्षण में पिता के समान सदा तत्पर रहा है ॥५,६॥ वह अग्नि की उष्णता के समान, फूल की सुगन्ध के समान और सूर्य के निर्मल दिन की तरह सदा अविनाभावी (विलग न होनेवाला) है यानी जैसे अग्नि से उष्णता पृथक् नहीं होती, फूल से सुगन्ध नहीं बिछुड़ती तथा सूर्य से दिन अलग नहीं किया जा सकता वैसे ही वह भी उससे बिछुड़ता नहीं है ॥७॥ नित्य लाड़ करने में निरत, पालन करने में सर्वथा कटिबद्ध वह सकल संकटों की प्राप्ति होने पर रक्षा करने में सदा कमर कसकर तैयार रहता है ॥८॥

जैसे अग्नि सुवर्ण को शुद्ध कर देती है वैसे ही सभी अवस्थाओं में स्थित देह की वह शुद्धि करनेवाला है तथा यह त्याज्य है यह ग्राह्य है इस प्रकार के विवेक में सदा तत्पर रहता है। वह नगरनिवासी चतुर पुरुष के समान अनिन्दनीय (अश्लील आदि दोषों से रहित) कथाओं से आह्लादित करनेवाला है तथा वचन, मन और शरीर की सुन्दर चेष्टारूपी मणि, माणिक्य आदि रत्नों की राशि का भण्डार है। जैसे सूर्य दूर से ही अन्धकार को हटा देता है वैसे ही वह सत्कर्मरूपी मित्र अप्रिय वस्तु को दूर से ही हटा देता है,समीप में नहीं आने देता तथा अनुरागयुक्त स्त्री की नाईं सदा प्रिय वस्तु ही दिखलाता है यानी प्रिय वस्तु को ही समीप में आने देता है। अपने सम्पर्क में आये हुए जनको प्रिय बोलनेवाला बना रहा तथा सदा प्रिय ही कर रहा वह मित्र कोमल, मधुर,स्नेहमय, क्षोभरहित और अप्रमादी है। अपने सम्पर्क में आये सत्पुरुषों की सेवा–शुश्रुषा करता है, पूजनीय है, स्मितपूर्वक बोलता है, कामना से रहित है अतएव सज्जनों के रूप के समान रूपवाला है तथा परमार्थ का (मोक्षका) एकमात्र कारण है। दैवात् अज्ञानी लोगों के साथ हुए युद्ध में पहले प्रहार करने में उद्यत रहता है यानी अत्यन्त शूर है तथा लोकोत्तर क्रीड़ा, हास्य आदि कौतुकों के निर्माणों द्वारा लीला और लाड़–प्यारों से विलास करानेवाला है। सुशीलसम्पन्न नारियों का तथा कुल का पालन करनेवाला है और आधिव्याधि से परिपूर्ण चित्त का अमृत के समान जीवनौषध के तुल्य है एवं चित्त के राग को हटानेवाला है। विशेषरूप से विद्वता और वादों द्वारा प्रभु, गुरु आदि संमाननीय उत्कृष्ट लोगों का मनोरंजन करता है यानी उनके मन में कौतुक उत्पन्न करता है। कहीं पर समान कुल और शील होने के कारण विभाग से द्विधाभाव में (द्वैत में) स्थित–सा है। उत्तम राजा, व्यापारी आदि को अनुरक्त बनाकर सदा दानवीर बना रहा वह सदा यज्ञ, दान, तपस्या, तीर्थयात्रा और न्याय के लिए प्रेरणा करने में तत्पर रहता है।

उससे पुत्र, पत्नी, द्विजाति (ब्राह्मण,क्षत्रिय,वैश्य), दास, दासी और बन्धु जनों के सहित सुन्दर भोजनपान के योग्य उत्तम पुरुषों के साथ संगति होती है। भोग आदि में दुःखदायी बद्धतृष्णता का (अतितृष्णा का), सदा निवारण कर रहा वह मित्र स्नेहमय सुन्दर कथा-वार्ता में अत्यन्त दक्ष है और समाश्वासन का (ढाढस बाँधने का) उत्तम स्थान है। इस तरह के स्वकर्मनामक सपत्नीक अपने मित्रसे संयुक्त पुरुष स्वभाव से ही रमता है न कि किसी से प्रेरणा पाकर ॥९-२०॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिवर, उसके इस मित्र के स्त्री, पुत्र आदि पोष्यवर्ग कौन हैं और उनके कैसे गुण हैं ? यह मुझसे संक्षेपतः ही कहने की कृपा कीजिये ॥२१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे महामते श्रीरामजी, इसके स्नान, दान, तप और ध्यान नाम के चार महात्मा पुत्र हैं। उनके सद्गुणों से सारी प्रजा उन पर खूब अनुरक्त है। चन्द्रकला के समान दर्शनसे ही लोगोंको आह्लादित करनेवाली, कभी पृथक् न होनेवाली (सदा साथ रहनेवाली), अनुरागमयी,नित्य सन्तुष्ट (मुदिता), दयावश चारों ओर धन बाँटनेवाली, मनोहारिणी, आनन्द देनेवाली सदा साथ रहनेवाली वयस्या (सहचरी) समता नामकी इसकी भार्या है। वह सदा प्राणों से भी इसे प्रिय है। हे साधो, धैर्य और धर्म के विषय में सदा आकृष्ट बुद्धि इसकी द्वारपालिका है। वह सदा उसके सामने विनम्र रहती है और सुख देने में तत्पर रहती है। यह धीर धन्य उत्तम पुरुष जहाँ जाता है वह उसके आगे आगे दौड़ती है। इस महातेजस्वी राजारूप मित्र की विषयरूपी शत्रुओं पर विजयपाने के विषय में मन्त्र (सलाह) देनेवाली मैत्री नाम की दूसरी स्त्री सम होने के कारण सदा ही कन्धे से कन्धा सटाकर रहती है। माननीय इसको आर्यमर्यादारूपी सब कार्यों के विषय में अतिचातुर्य पूर्वक उपदेश देनेवाली सत्यता इसकी धनाध्यक्षा है। इस तरह के उत्तम परिवारवाले मित्र और मन्त्रीरूप अपने कर्म के साथ सर्वत्र लोकव्यवहार कर रहा जीवन्मुक्त पुरुष लाभ होने पर न तो हर्षित होता है और न हानि होने पर कुपित ही होता है। निर्वाण में (मोक्ष) निरत मनवाला मननशील ज्ञानी पुरुष युद्ध आदि व्यवहार कर रहे चित्रलिखित योद्धा के समान लोक में निरन्तर व्यवहार करता हुआ भी यथास्थित (ज्यों का त्यों) ही रहता है। वह वस्तुशून्य (अतात्त्विक)वादों में शैल प्रतिमा की (पत्थर की मूर्ति की) तरह मूक रहता है एवं निष्प्रयोजन (बेमतबल के) शब्दों के प्रति अत्यन्त बहरा रहता है। लोकाचार से विरुद्ध सभी कर्मों में मुर्दे के समान निश्चेष्ट रहता है, सदाचार के विवेचन में सहस्रजीभवाले शेषनाग अथवा देवगुरू बृहस्पति के समान वाग्मी और पवित्रकथावाला है तथा अपने और दूसरों के कुटिलता आदि दोषों को ताड़ लेनेवाला, दुरूह (कठिन से भी कठिन) सन्दिग्ध वस्तुओं का पलक भर में निर्णय करके वक्ता तथा विविध सदुपदेशों का उपदेष्टा है। वह सब जीवों पर समदृष्टि रखनेवाला, अत्यन्त उदार, दानवीर, सबको बाँटनेवाला, कोमल, स्नेहमय और मधुर स्वभाववाला, सुन्दर तथा पुण्यचरित है। ये पूर्ववर्णित गुणगण ज्ञानी लोगों के स्वभावसिद्ध ही हैं। वे प्रयत्न से ऐसे उत्तम गुणगणवाले नहीं होते हैं। चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि आदि किसी अन्य की प्रेरणा से प्रकाशमय नहीं होते, किन्तु स्वभावतः ही वे प्रकाशमय हैं वैसे ही प्रबुद्ध पुरुषों के उक्त गुणगण स्वाभाविक ही हैं ॥२२-३५॥

एक सौ सत्तरवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ इकहत्तरवाँ सर्ग

जीवन्मुक्ति की सिद्धि तथा सकल संशयों की निवृत्ति के लिए
फिर तत्त्वोपदेश द्वारा दृश्य का परिमार्जन करना।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, यह चिदाकाश का स्फुरण ही जगत् के रूप से प्रतीत होता है। वास्तव में तो न जगत् है, न जगत् की आभा है, न शून्य ही है और न वृत्ति संवित् ही हैं। जैसे शून्यता आकाश से अतिरिक्त नहीं है वैसे ही जो यह जगत्नामक चिदाकाश का भान है, यह अज्ञानी जनकी दृष्टि में चिदाकाश से भिन्न रूप से स्थित होने पर भी उससे (चिदाकाश से) भिन्न नहीं है। निर्विषय ही चैतन्य जो एक विषय से अन्य विषय की प्राप्ति होने पर बीच में प्रसिद्ध है वही दृश्य के रूप से स्फुरित होता है। यह दृश्य उससे अतिरिक्त नहीं है ॥१-३॥

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्', 'यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासन् शिव एव केवलः, इत्यादि श्रुतियों में पहले केवल सन्मात्रशेषरूप महाप्रलय होने पर उसके पश्चात् आदिसृष्टि होती है यह सुना गया है।

उसमें 'सदेव' (सत् ही था) ऐसा अवधारण करने से अधिकारी परमात्मा से अन्य कारण का अभाव होने पर इस दृश्य की कहाँ से उत्पत्ति हो सकती है ? उस समय अणुमात्र भी दृश्य के बीज का (कारण का) अस्तित्व नहीं, जिससे कि फिर यह मूर्त दृश्यचक्र प्रवृत्त होता। भाव यह कि उस समय, पूर्वोक्त श्रुति से विरोध होने के कारण, परमाणु आदि अन्य कारणों की कल्पना का तनिक भी अवकाश नहीं है ॥४,५॥ इससे यह सिद्ध हुआ कि यह मूर्त जगत् वन्ध्यापुत्र की नाईं उत्पन्न ही नहीं हुआ, अतः दृश्यबुद्धि सर्वथा नहीं है। सृष्टि-श्रुतियों का तात्पर्य अनुत्पत्ति का प्रतिपादन करने में ही है, यह अर्थ है ॥६॥

तब प्रत्यक्षतः दृष्टिगोचर हो रहे जगत् की क्या गति होगी ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

जो यह चारों ओर स्थित 'दृश्य' नामका कुछ प्रतीत होता है, स्फुरित होता है, श्रुतियों के तात्पर्य को जाननेवाले पुरुष उसे चिन्मात्र निर्मल आकाशरूप परम पद ही जानते हैं ॥७॥

जैसे स्वच्छ (निर्मल) चिन्मात्र निर्विकार अपने स्वरूप का त्याग न करता हुआ आत्मा ही सुषुप्ति से स्वप्न में जाता हुआ अनवस्थिति को (अन्यरूप के समान स्थिति को) प्राप्त होता है वैसे ही सृष्टि के आदि में चिदाकाशरूप आत्मा ही अपने से अपने में चिदाभासरूप दृश्यसा स्फुरित होता है यानी आत्मा का सुषुप्ति से स्वप्न में गमन की नाईं प्रलय से सृष्टि में गमन भी समझना चाहिये। जैसे संकल्प से मन्द हुआ मन मनोरथ आदि में नगर के रूप से स्फुरित होता है वैसे ही चिदाकाशरूप परमात्मा सृष्टि के आदि में दृश्य-सा स्फुरित होता है। जैसे वायु स्पन्दरूप होता हुआ अपने में ही आँधी, बवंडर आदि की तरह चेष्टा करता है वैसे ही चिदाकाश अज्ञात होकर अपने में ही दृश्यरूप से स्थित होता है। अतएव यदि वह ज्ञात हो जाय तो त्रिजगत्रूप दृश्य कदापि भासित न हो, अपने स्वरूप में इस प्रकार (जगत् के रूप से) स्थित केवल परम ब्रह्म का ही भान हो। मूर्त पृथिवी आदि का अस्तित्व किंचिन्मात्र भी त्रिकाल में भी है ही नहीं। चाहे वह अज्ञानी की दृष्टि में मूर्त अथवा ज्ञानी की दृष्टि में अमूर्त हो, वास्तव में ब्रह्म

ही उस तरह से (दृश्यरूप से) विराजमान है। जैसे जागरण के समय में (जाग्रत्काल में) स्वप्न का पहाड़ निःस्वरूप आकाश ही है यानी शून्य ही है वैसे ही प्रबोधकाल में (आत्मज्ञानकाल में) यह त्रिजगत् शान्त चिन्मात्र आकाश ही है। प्रबुद्ध पुरुषों की दृष्टि में यह जगत् अखण्ड परम ब्रह्म ही है। हम लोग विचार करने पर भी यह अप्रबोध (अज्ञानरूप दृश्य) कैसा है यह नहीं जानते ॥८-१५॥

सब भूतों का निर्विषय चिन्मात्र ही निज स्वभाव है, ऐसा कहते हैं।

एक विषय से अन्य विषय की प्राप्ति होने पर मध्य में प्रसिद्ध जो निर्विषय चैतन्य है वह परमात्मपद ही भूतों का निज स्वभाव है। एक विषय से अन्य विषय की प्राप्ति होने पर मध्य में प्रसिद्ध जो निर्विषय चैतन्य है वही यह परमाकाश है। इसीमें सब कुछ प्रतिष्ठित है यानी निर्विषय चैतन्य ही सर्वाधिष्ठान भी है ॥१६,१७॥

अधिष्ठान के अनुरूप ही यह अध्यास है, ऐसा कहते हैं।

जैसे यह परमपद है वैसा ही यह सत्असत्रूप प्रपंच भी है, क्योंकि पंचभूतों से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जैसे स्व से अतिरिक्त स्वकार्यशून्यता ब्रह्म में है वैसे ही इसमें भी है। इसी अंश से इसमें अधिष्ठानअनुरूपता है। श्रुतियों के तात्पर्य को जाननेवाले लोग रूपालोक यानी बाह्य इन्द्रियों से जन्य विषयाभास तथा मनस्कार यानी आभ्यन्तर इन्द्रिय मन के अधीन विषयाभास ये सभी चिन्मात्ररूप परम ब्रह्म ही हैं, ऐसा जानते हैं। ये सब महासागररूपी उक्त पद की द्रवता के (जल के) आवर्त हैं ॥१८,१९॥

इससे निर्विषय चिन्मात्र से अतिरिक्त जगत्ता नहीं है यह सिद्ध हुआ, ऐसा कहते हैं।

संवित् की एक देश से दूसरे देश की प्राप्ति होने पर मध्य में निर्विषय जो चैतन्य प्रसिद्ध है उससे अतिरिक्त जगत्ता कोई नहीं है। राग, द्वेष आदि भाव तथा जगत् की भाव-अभाव दृष्टियाँ ये सब सद्रूप और भानरूप का त्याग न करते हुए इसके अंगरूप से स्थित हैं। शाखाचन्द्रदर्शन में पूर्वकोटि (शाखा) और अन्यकोटि को (चन्द्रको) छोड़कर बीच में जो संवित् का निर्विषय शरीर प्रसिद्ध है, वह उसका परम स्वभाव है। वही जगद्रूप मरुमृगतृष्णा के जलमें अधिष्ठानसंज्ञक है ॥२०-२२॥

इसी अभिप्राय से मैंने बार-बार निर्विषय विस्तृत अपरोक्ष चैतन्य की सर्वसाधारण प्रसिद्धि के प्रदर्शक 'देशाद्देशान्तरप्राप्तौ' इस श्लोक की घोषणा की है, इस आशय से कहते हैं।

कूटस्थ होने के कारण ही स्वरूप से अप्रच्युत संवित् का जाग्रत् से स्वप्न की प्राप्ति होने पर मध्य में (सुषुप्तिदशा में) जो स्वरूप है, पूर्वसृष्टि से पुनः सृष्टिप्राप्ति होने पर मध्य में (प्रलय में) जो संवित् का स्वरूप है तथा इस लोकरूप प्रदेश से परलोकरूप प्रदेश की प्राप्ति में मध्य में (मूर्च्छावस्था में) जो संवित् का स्वरूप है वह वैसे ही सदा रहता है। उसीका अज्ञानी लोगों ने जगत् यह दूसरा नाम कपोल कल्पना से रक्खा है ॥२३॥ आदि सृष्टि से ही दृश्य उत्पन्न नहीं हुआ। जो यहाँ प्रतीत होता है वह मायारूपी ऐन्द्रजालिक का आडम्बर-मात्र है ॥२४॥ खेद है, जो दृश्य है ही नहीं वह अस्तिरूप से स्थित है। जो परम ब्रह्म है उसकी नास्ति है इससे बढ़कर दुःख क्या होगा ? मूढ़ों को अभाग्यवश ही, मणि नहीं है, काँच है, इस भ्रान्ति की तरह यह विपरीतता का भ्रम हुआ है, यह भाव है ॥२५॥ मैं तो ब्रह्मभाव से शून्य अतएव विपरीत जगत् को कहाँ पाऊँ। मूढ जनता ने असत् दृश्य को सत् कहा है वह भी ब्रह्म को ही प्राप्त होती है न कि दृश्य को, क्योंकि असत् वस्तु प्राप्ति योग्य ही नहीं है, यह अर्थ है ॥२६॥ यह न

तो कभी कुछ उत्पन्न हुआ है और न उसका भान ही होता है। जो यह स्फुरित होता है वह स्वयं चिदाकाश का ही स्फुरण है॥२७॥ जैसे मणि अपने से अभिन्न अपनी आभा से स्फुरित होती है वैसे ही चिदाकाश अपने से अभिन्न सृष्टिरूप से स्फुरित है॥२८॥

यह कैसे जाना जाय यह यदि कहो तो सूर्य आदि जगत् का सद्रूप से ही सत्सामान्य के प्रायः एकदेशरूप से (अंगरूप से) सबको अनुभव होता है, ऐसा कहते हैं।

उसी शान्त पद में यह भगवान् सूर्य तपते हैं और उसी के अवयवभूत ही हैं। सूर्य उससे अतिरिक्त कदापि नहीं हैं॥२९॥

जैसे सूर्य आदि का प्रकाश ब्रह्म के अधीन है वैसे स्वप्रकाश ब्रह्म सूर्य आदि के अधीन प्रकाशवाला नहीं है, ऐसा कहते हैं।

उस परमपद में स्थित होकर भी न सूर्य प्रकाश करता है और न चन्द्रमा ही प्रकाश करता है यह देव (देदीप्यमान) चिदाकाश सूर्य को प्रकाशित करता है, सूर्य उस ईश्वर को प्रकाशित नहीं करता है। इस विषय में भगवती श्रुति है –'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' अर्थात् उस परम पद में न सूर्य का प्रकाश है, न चन्द्रमा और सितारों का, ये बिजलियाँ भी वहाँ प्रकाश नहीं करती हैं, इस अग्नि का तो भान कहाँ से होगा ? प्रकाशमान हो रहे उसके बाद ही सबका भान होता है उसकी आभा से इस सारे जगत् का भान (प्रकाश) होता है॥३०॥ अहो ! यह दृश्यमण्डल उसकी प्रभा से भासित होता है। वह सब चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि आदि पदार्थों का प्रदीपक (भासक) है॥३१॥ वह साकार है, निराकार है इस तरह की शब्दार्थ–कल्पना, जो आकाश कुसुम के समान असद्रूप है, तत्त्वज्ञानियों को नहीं होती॥३२॥ जगत् को देख रहे जीवभूत इस सूर्य के तेज में उसी का अंगभूत परमाणु जैसे झरोखे आदि में भासता है वैसे ही असीम चित्प्रकाशवाले ब्रह्म में ये सूर्य आदि परमाणु भासते हैं अथवा नहीं भी भासते। जो सूर्य आदि से संयुक्त सृष्टियाँ चिन्मात्रआकाशरूप महारत्न की दीप्तियाँ हैं, जरा कहिये तो वे उससे व्यतिरिक्त कैसे होगी ? रत्न से उसकी कान्ति कदाचित् भिन्न नहीं हो सकती, यह सर्वत्र पूर्ण होने के कारण शून्यता से भी रहित, सकल पदार्थों के सिद्ध होने के कारण सबसे रिक्त, कल्पित सब पदार्थों का अधिष्ठान होने के कारण सब पदार्थों से युक्त है। उस चिद्रूप परमपद में कल्पित पृथिवी आदि सभी भूत–भौतिक पदार्थ हैं ही पर वास्तव में कोई भी नहीं है। उसमें कल्पित चिदाभासरूप से निखिल जीव जीवित रहते हुए भी वास्तव में स्वरूप से कोई नहीं हैं। उस चित्प्रकाश में दो अवयवों के संगठन से उत्पन्न स्थूलता का त्याग न करते हुए ही ये सूर्य आदि परमाणु ही (निरवयव अणु ही) हैं। यथार्थ में स्वसत्ता का त्याग न करता हुआ द्वैत अथवा अद्वैत (एकत्व) इस चिद्रूप में कुछ नहीं है॥३३–३७॥ इस चित्प्रकाश में कुछ है कुछ नहीं है, न किंचित् है और न किंचन है यानी किंचित्, अकिंचित् आदि कल्पना इस शुद्ध निर्विषय चिद्रूप से अत्यन्त दूर है। व्यवहारमात्र का निरास होने पर विरोध और अविरोध का भी उसमें निरास हो गया है, यह भाव है। अखण्ड, निरवकाश, असीम, निरन्तर अपने रूप से अत्यन्त विस्तृत चिन्मात्र आकाशसत्ता ही निजरूप में जगत् के नाम से स्थित है। एक यानी चैत्य को त्याग कर चुकी और अन्य चिन्मात्ररूप को प्राप्त न हुई चिति का जो निर्विषय रूप है नानात्मक इस

जगत् का भी वही रूप है। नाना अद्वितीय यह चिदाकाश ही स्वप्न में जीव चैतन्य की भाँति पंच महाभूत रूप से विस्तृत नानासा (भिन्नसा) होकर स्थित है। जैसे सुषुप्ति से स्वप्न में प्रवेश कर रहे जीव की सुषुप्ति में स्थित चिति ही ज्यों की त्यों (बिना कोई अन्तर पड़े) स्वप्नता को प्राप्त होती है वैसे ही चिति ही प्रलय से सर्गता को प्राप्त है। जैसी सुषुप्ति है स्वप्न भी वैसा ही है, यह जाग्रत् भी वैसा ही है और तुर्य भी वैसा ही है इससे सिद्ध हुआ कि जगत् आकाशतुल्य है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति सबके सब तुर्यरूप ही स्थित हैं। ब्रह्मवेत्ताओं के सम्प्रदाय के विषय में निपट मूढ़ पामर पुरुष जिसे जगत् के रूप से जानता है, उसे मैं नहीं जानता हूँ। जड़ यानी जगत् और अजड़ यानी जीवरूप सकल पदार्थों के अन्दर स्थित होकर अन्तर्यामिता से दुर्लक्ष्य जगत् को दर्शानेवाला मन, बुद्धि आदि से शून्य जो ईश्वर है वही शोधित जीव चैतन्य का पारमार्थिक रूप है। वे सब जगत्पदार्थ भी तन्मय हैं। वे सद्रूप नहीं हैं। किन्तु वही जगत् के आकार से स्थित हैं ॥३८-४६॥

यदि कोई कहे पृथ्वी आदि पदार्थ चिद्रूप ही हैं चिद्रूप से अतिरिक्त नहीं हैं तो अन्तर्यामीरूप से चित् में उनका साक्षी होना तथा उन्हें प्रेरित करना कैसे घट सकता है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

हे निष्पाप श्रीरामजी, उपदेश के लिए लौकिक परिणाम आदि को स्वीकार कर प्रवृत्त हुई उक्तियों में परमार्थतः परिणामपरता की गन्ध भी नहीं है। पृथिवी आदि में अन्तर्यामी होकर परमात्मा सबका साक्षी तथा परिणाम का प्रेरक है, इत्यादि उक्तियाँ लौकिक व्यवस्था को मानकर उपदेशार्थ प्रवृत्त हैं। वास्तव में वे परिणामपरक नहीं हैं, यह भाव है ॥४७॥

तब उनका तात्पर्य किसमें है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं।

आदि सृष्टि से ही एकमात्र चिन्मात्र परमाकाश महासत्ता रूप से अपने में स्थित है, इस विषय में तत्त्ववेत्ताओं के सर्वथा परिपूर्ण आत्मा में अनुभव प्रमाण है। वही अनुभवरूप सर्वव्यापिनी चिति सर्वत्र स्थित है। उसीने निज आत्मा में अज्ञानियों के लिए जगत, जीव आदि संज्ञाएँ की हैं ॥४८,४९॥

प्रबोधकाल में जिस तरह का शुद्ध आत्मा शेष रहता है, उसको स्वीकार करने से जो जो जगत्-कौतुक अनुभूत हुआ वह सब सुख ही होता है अप्रबोधकाल में उसका अंगीकार न करने से दुःखयुक्त जन्म, मरण, रोग आदि जो जो अनुभव में आता है वह सब दुःख ही होता है। स्वप्न में प्रबोध, अप्रबोध आदि के समान, यह कहते हैं।

जैसे 'यह स्वप्न है' यों स्वप्न का परिज्ञान होने पर स्वप्न में जो कुछ भी अनुभव में आया वह सब सुख ही हो जाता है। यदि स्वप्न का 'यह स्वप्न है' यों परिज्ञान नहीं हुआ तो दुःखयुक्त सब वृत्त दुःखप्रद ही होते हैं वैसे ही प्रबोधकाल में (ज्ञानकाल में) जिस प्रकार के निष्कल निरंजन आत्मा का शेष रहता है उसका अंगीकार करने से अनुभूत जगत् आदि कौतुक क्षणभर में सुखकारक ही होता है, अज्ञानकाल में उसका अंगीकार न करने से दुःखपूर्ण जन्म, जरा, मरण आदि दुःखदायक ही होते हैं ॥५०॥

अतएव आत्मज्ञानी पुरुष में दुःखदायी विक्षेप न होने से, सदा समाधि-सुख ही रहता है, ऐसा कहते हैं।

शान्त, तत्त्वज्ञानी पुरुष में चलते, टिकते, जाते और सोते सदा एक समाधिसुख ही रहता है। द्वैत

में भी अद्वैतनिष्ठ, दुःख में भी सुख स्थितिवाले, बाहर संसार में रहते भी मुक्त होने के कारण उसमें नहीं ही रहनेवाले ज्ञानी के लिए कौन–सी वस्तु साध्य या हेय शेष रहती है ? बाहर के कार्य में व्यवहार कर रहा भी तत्त्वज्ञ पुरुष हृदय से न कुछ त्याग करता है और न कुछ ग्रहण करता है, किन्तु अकार्य में (ब्रह्म में) ही स्थित रहता है। जैसे हिम की शीतलता है और अग्नि की उष्णता है वैसे ही इस तरह का उसका स्वभाव ही हो जाता है वह उसका प्रयत्न द्वारा संपादनीय गुण नहीं है। किन्तु जिसका ऐसा स्वभाव न हो वह तत्त्वज्ञानी नहीं है। आत्मा से अतिरिक्त विषय की इच्छा होना ही अज्ञता का लक्षण है ॥५१–५५॥ जो अज्ञानावरणशून्य विद्वान् है उसका अन्तःकरण सदा समाधिसुख का अनुभव करता है, यह शत्रु है, यह मित्र है आदि विकल्पों की उसमें गन्धतक नहीं रहती, आत्मसुखरूपी सार वस्तु ही उसमें प्रचुरमात्रा में रहती है और वह सदा परमशान्तिरूपी अमृत से तृप्त रहता है ॥५६॥

एक सौ इकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बहत्तरवाँ सर्ग

विधाता केवल मनरूप है, उसका संकल्प जगद्भ्रान्ति हैं।
उसका न शरीर है और न उसे स्मृति हो सकती है, यह कथनपूर्वक स्मृतितत्त्व का वर्णन।

यदि कोई कहे कि श्रुतियों में यह जगत् विधाता द्वारा रचित सुना जाता है – 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' (विधाता ने सूर्य और चन्द्रमा की पूर्वकल्पनानुसार सृष्टि की। द्युलोक, भूलोक, अन्तरिक्षलोक और स्वर्ग की भी पूर्ववत् सृष्टि की)। ऐसी परिस्थिति में जगत् स्वप्न की भाँति चिन्मात्रस्फुरण कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का निवारण करने के लिए विधाता के संकल्प और संकल्पमय जगत् चिन्मात्र ही हैं, यह वर्णन करने के लिए उपक्रम करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, अनादिकाल से जीवन्मुक्त होने के कारण ही आदि प्रजापति पृथिवी आदि से रहित निरावरण चिदाकाश ही है। उसे मैं केवल मन की समष्टिरूप हिरण्यगर्भ ही समझता हूँ और मन संकल्पवृक्ष के समान चित्स्फुरणमात्र ही है, यह प्रसिद्धि है, यों उसकी चिन्मात्रता में कोई सन्देह नहीं रहा, यह भाव है ॥१॥

कैसे उसकी चिन्मात्रता की प्रसिद्धि है ? इस पर कहते हैं।

मननाकार की कल्पना के पूर्व वह चिन्मात्र ही था। मननाकार कल्पना के बाद 'मन' इस नाम से उसके चित्तादात्म्यअध्यास की कल्पना हुई। जैसे कि जल में ही आवर्त के (भँवर के) विवर्त के आकार से स्वयं उठकर उसने आवर्तता की कल्पना की ॥२॥

इसलिए उसके बुद्धि आदि भी चित् से पृथक् नहीं हैं, यह कहते हैं।

केवल सत्तामात्रस्वरूप प्रजापति के बुद्धि आदि कहाँ से हो सकते हैं ? यदि पृथिवी आदि का ही अस्तित्व न हो तो अनन्त (असीम) आकाश में धूलि कहाँ से होगी ? ॥३॥

इसी प्रकार उसके देह आदि भी नहीं हैं, ऐसा कहते हैं।

उसके न देह, चित्त आदि हैं, न इन्द्रियाँ हैं और न वासनाएँ ही हैं। व्यवहाराभास के निर्वाह के

लिए आपाततः(सरसरी दृष्टि से) उसके देहादि का अस्तित्व होने पर भी परमार्थरूप से देह आदि कुछ भी नहीं हैं ॥४॥

क्यों नहीं हैं ? यह यदि पूछो तो आदि सृष्टि के आरंभ में कारण ही कोई नहीं है, इसलिए नही हैं। यदि कहो कि प्राक्तन (पहले का) प्रजापति ही आगे के प्रजापति का कारण है, सो भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह द्विपरार्धरूप अपनी आयु के अन्त में मुक्त हो गया, ऐसा कहते हैं।

हे महामते, प्राक्तन प्रजापति के मुक्त हो जाने के कारण पुनः देह, बुद्धि आदि के ग्रहण में कोई कारण नहीं है। इस कारण नूतन प्रजापति को जगत् की रचना में सहायक न पूर्व स्मृति होती है और न उसकी उत्पत्ति का ही संभव है ॥५॥ संसार में स्थित तथा आवागमन के चक्कर में पड़े हुए जीवों की तरह विदेहमुक्त पुरुषों के संसारस्मृति तथा पुनः देहलाभ नहीं ही होते, क्योंकि उनकी अन्य देश में अथवा अन्य काल में पुनरावृत्ति ही नहीं होती है। इस विषय में 'इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' तथा 'न स पुनरावर्तते' अर्थात् मुक्त पुरुष, इस मनुष्य जनमरूपी आवर्त में नहीं पड़ते हैं। उसकी फिर यहाँ पुनरावृत्ति नहीं होती, इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं ॥६॥ अथवा यदि प्रजापति की पूर्वकल्प में की गई प्रबल उपासना से उत्पन्न हिरण्यगर्भ में अहंभाव विषयक संस्कार के बल से उसी तरह की स्मृति से उसके देहादि कुछ होगा तो वह केवल उपासनारूप मन की कल्पना से जन्य होने के कारण केवल मानसिक अपृथ्वी आदि से उत्पन्न अतितुच्छ संकल्पनगर के सदृश मिथ्याभूत ही होगा न कि सत्य होगा। इस तरह भी हमारे ही सिद्धान्त की सिद्धि है, यह भाव है ॥७॥

यदि कोई शंका करे कि पृथिवी आदि से रचा हुआ दिखाई दे रहा ब्रह्माण्डरूप विराट् शरीर पृथिवी आदि से रहित कैसे हो सकता है ? इस पर कहते हैं।

जैसे मनोरथ के पर्वत का भलीभाँति दिखाई दे रहा, अनुभव में आ रहा, रूप पृथिवी आदि से रहित है वैसे ही उसके विराट शरीर का रूप भी पृथिवी आदि से रहित है ॥८॥

यदि कोई कहे कि पहले उदाहरण के रूप में प्रदर्शित श्रुति में 'दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' यों विराटशरीर पृथिवी आदि से रचित ही सुना गया है और वह 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इस वचन से पूर्व कल्प की स्मृतिपूर्वक ही रचा गया है, ऐसा प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था में आपका पूर्वोक्त कथन कैसे घट सकता है ? इस पर कहते हैं।

प्रजापति को आदि सृष्टि में पहले का कोई अनुभव न होने के कारण स्मृति होती ही नहीं है। जो यह स्मृति श्रुतिवचन बल से प्रतीत होती है उसका श्रुति ने जगत् को सत्य माननेवाले अज्ञानियों की बुद्धि से अनादि सिद्ध कर्मकाण्ड प्रवाह के प्रवर्तन के लिए परबुद्धि के अनुसार बोधन किया है। तत्त्वज्ञानी प्रजापति की बुद्धि से तो वह (स्मृति) नहीं है ॥९॥

इस प्रजापति को पूर्वकल्प में, जब कि वह उपासक था, पृथ्वी आदि का अनुभव था ही। यदि उस समय उसे पृथिवी आदि का अनुभव न होता तो 'मैं पृथिवी आदि से रचित विराट शरीरवाला हूँ' ऐसी उपासना कैसे करता ? उसके अनन्तर यह उक्त अनुभव के बल से निर्माण सामर्थ्य प्राप्त कर उसकी स्मृति से सृष्टि का निर्माण करेगा। स्मृति के बिना ही उसका निर्माण करने पर तो 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इस श्रुतिवचन द्वारा बोधित पूर्वकल्प के ब्रह्माण्ड की सारी गुणराशि की इस ब्रह्माण्ड

में कैसे सिद्धि होगी, ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे स्मृतिमानों में सर्वश्रेष्ठ गुरुवर, हे गुणराशि के भंडार, इनकी स्मृति क्यों नहीं होती और स्मृति के अभाव में पूर्वकल्प के गुण इस कल्प के ब्रह्माण्ड में कैसे आये ? ॥१०॥

ठीक है, हम कल्पनारूप भ्रान्ति से जन्य निरर्थक स्मृति का खंडन नहीं करते परन्तु सत्य पदार्थों के अनुभव जन्य संस्कार से उत्पन्न स्मृति का खंडन करते हैं। यदि उक्त स्मृति हो तो पूर्व अनुभव के विषय सत्य पदार्थों में स्वविषय अनुभव के संस्कार से जन्य स्मृति द्वारा इस कल्प के पदार्थों के प्रति अन्वय व्यतिरेकवश कार्यकारणभाव के सिद्ध होने पर अपने निर्माता की सत्ता से सत्तावान् जगत् के सत्य होने पर ब्रह्मअद्वैत सिद्धान्त को बाधा पहुँचेगी, यों श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, पृथिवी आदि दृश्य के परमार्थतः सत् होने पर अन्वयव्यक्तिरेकवश सम्पन्न (सिद्ध) हुई स्मृतिमूलक यह (लौकिकन्याय सिद्ध) कार्यकारणता हो सकती है, किन्तु द्वारभूतस्मृति का ही सम्भव नहीं है ॥११॥

स्मृति का क्यों संभव नहीं है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

'नेह नानास्ति किंचन' (यहाँ भेद कुछ भी नहीं है), 'एकमेवाद्वितीयम्' (सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद शून्य ब्रह्म ही है), 'अथात आदेशो नेति नेति' (नेति नेति 'यह नहीं यह नहीं' ऐसी श्रुति का आदेश है) 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा' (जहाँ पर दूसरे को नहीं देखता, दूसरे को नहीं सुनता और दूसरे को नहीं जानता, द्वैतज्ञान नहीं रहता वह भूमा है), 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्य मयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (वह यह ब्रह्म जो आत्मा है, इसका न कोई कारण है, न कार्य है, न इसके मध्य में कोई अन्यजातीय है और न इसके कोई बाहर है, यह आत्मा ही निरन्तर ब्रह्म है जो कि सामान्यरूप से सबका अनुभव करता है), 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' (विकार वाचारम्भण नाममात्र है) इत्यादि श्रुतियों द्वारा सकल प्रपंच का निषेध होने तथा वैसी ही तत्त्वज्ञानियों की अनुभूति होने से जहाँ ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त दृश्य कुछ भी नहीं है वहाँ पर स्मृति का सम्भव कैसे, किस प्रकार का और कहाँ से होगा ? ऐसी स्थिति में 'सह सिद्धं चतुष्टयम्' इस स्मृतिवचन द्वारा प्रदर्शित प्राक्तन स्वाभाविक प्रपंच तत्त्वज्ञानी विराट् के तत्त्वज्ञान से बाधित होकर मिथ्या ही हो चुका, अतएव वह प्रजापति की पूर्वस्मृति का आधान करने और उसके द्वारा सत्य सृष्टि के प्रति कारण होने के लिए समर्थ नहीं है, यह भाव है ॥१२॥ परमार्थरूप से उत्पन्न होकर विद्यमानता को प्राप्त हुई वस्तु का प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनुभव कर कालान्तर में उसका जो स्मरण है उसे ही शास्त्रज्ञ लोग स्मृति कहते हैं। जहाँ दृश्य ही नहीं है वहाँ ये स्मृति आदि कल्पनाएँ कहाँ से हो सकती हैं ? इस दृश्य का निश्चय रूप से सर्वदा अत्यन्त अभाव ही है, क्योंकि सब कुछ ब्रह्म ही है, इत्यादि सत्यार्थक श्रुतियाँ हैं। ऐसी परिस्थिति में स्मृतिकल्पनाएँ कैसे हो सकती हैं या स्मृति की सत्यार्थक कल्पनाएँ कैसे हो सकती हैं यों'सत्यार्थः' का कल्पना में अन्वय करना चाहिये। या पूर्वोक्त अनुवाद के अनुसार 'सर्वं ब्रह्मेति सत्यार्थाः श्रुतयः सन्ति' यों योजना करनी चाहिये। असत् भ्रान्तिकल्पित और तत्त्वज्ञान से बाधित की स्मृति नहीं हो सकती है, यह भाव है ॥१३,१४॥

पूर्वोक्त आशय को ही पुनः सूचित करते हुए समाधान का उपसंहार करते हैं।

इसलिए प्रजापति की आद्य स्मृति कदापि नहीं हो सकती है। शुद्धज्ञानरूप प्रजापति की साकारता (मूर्तता) ही कहाँ से होगी ? ॥१५॥ पूर्वजन्म में उपासनारूप अपनी जगत् देहत्वभावना के द्वारा उपासना फल की सिद्धि के लिए मैं जगत् देह हूँ ऐसा प्रजापति को अवश्य स्मरण करना चाहिये। लोक में प्रसिद्ध जो स्मृति है (वह मेरी माँ है वह मेरी लड़की है इत्यादि स्मृति है) उसकी तरह वह स्मृति पदार्थ प्रमाजन्य है ही नहीं, क्योंकि अन्य का लौकिक स्मृत्यर्थ माता, पुत्री आदि घर में है, किन्तु मनोराज्यतुल्य उपासना का विषय नहीं है यह विषमता है। कैसे नहीं है, इस अर्थ को सुनिये ॥१६॥ अतीत पदार्थ का संस्कारवश अन्तःकरण में स्मरण लोक में स्मृति कही जाती है। प्रजापति का तो कल्पादि में न विद्यमान पदार्थ ही है, न भूत ही पदार्थ है और न कोई आगे होनेवाला पदार्थ ही है, जिसकी कि उन्हें स्मृति होगी, यह भाव है ॥१७॥ इस प्रकार चूँकि यह दृश्य आदि, मध्य और अन्तशून्य कूटस्थ परम ब्रह्म ही है, इसलिए स्मृति आदि कैसे हो सकती हैं ? ॥१८॥ चिदाकाश का स्फुरण सर्वात्मक होने से स्मृत्यात्मक भी है, ऐसा यदि कहो तो ठीक है। इसी अभिप्राय से मैंने भी पहले 'यदि वापि भवेत् किंचित्स्मृत्या देहादि तस्य तत्' इस श्लोक में व्यहार में पूर्ण रूप से शान्त भी उस ब्रह्म को स्मृति नाम से कहा है ॥१९॥ अज्ञात ब्रह्म के स्वभाव का परोक्षरूप से ही जो स्फुरण है वही यह स्मरण है। तदनन्तर मैं ब्रह्म हूँ इस उपासना से पुनःपुनः अभ्यास करने से ब्रह्मारूप आत्मा ही उपासना का फलभूत बाह्य अर्थ सा होकर उपासना से कल्पित आकार के समान भासता है ॥२०॥ जीव द्वारा अज्ञानउपहित ब्रह्म जिस जिस स्वरूप से ज्ञात होता है भ्रान्ति से अथवा स्मृतिपरम्परा से उसके स्वभाव का ही अवलम्बन कर उसकी स्वभावत्वेन भावना करता हुआ वह स्वरूप कालान्तर में उस आकार से 'वही यह है' यों तत्ता से युक्त पदार्थ सा अवभासित होता है, उसकी ही जीवने अपने में स्मृतिरूप से कल्पना की है ॥२१॥ जैसे भ्रमयुक्त अनुभव में (भ्रमज्ञान में) विद्यमान भी दृश्य (रज्जुसर्प, शुक्तिरजत आदि) भासित-सा होता है वैसे ही स्मृति में भी व्यवस्था समझनी चाहिये। देखिये न अविद्यमान भी सर्वथा असत् भी मृगतृष्णा उदितसी भासित होती ही है। इसका सबको अनुभव है ॥२२॥

सत्य सर्वात्मा में स्थित जो संवित् स्फुरित होती हैं वे ही भ्रान्त अभ्यास की दृढ़ता से बद्धमूल होकर भ्रान्त अनुभव के समानविषयत्वरूप सादृश्य से स्मृतियाँ कही गई हैं।

सर्वात्मा ब्रह्म में काकतालीय के समान आकस्मिक उद्बोधक वश जिन संविदों का (चिद्वृत्तियों का) भान होता है चित् की अवयवभूत सी विषयतः परोक्ष होने के कारण विकृत भी स्वतः अपरोक्ष होने से अविकृत वे ही स्मृति के नाम से विख्यात की गई हैं। सर्वात्मा का स्वांगभूत सद्रूप स्वतः अनुभव में जिस जिस रूप से स्फुरित होता है वह उस अभ्यास में आये हुए पदार्थ से सादृश्य होने के कारण विद्वान् लोगों द्वारा 'स्मृति' कहा जाता है। जैसे वायु का स्पन्दन व्यंजन (पंखा) आदि हेतु के प्राप्त होने पर भी तथा न प्राप्त होने पर भी होता है वैसे ही उद्बोधक कारण के प्राप्त होने पर अथवा प्राप्त न होने पर भी वे अनुभववृत्ति से उपलक्षित ही संवित् कालान्तर में स्मृति नाम से ख्यात की गई ॥२३-२६॥

यदि संवित् सर्वात्मा की अंगभूत हैं तो वे उसके समान ही सदैव क्यों स्फुरित नहीं होतीं ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

जो संवित् काकतालीय के समान कभी स्फुरित होती हैं उनका स्मृति नाम रक्खा गया क्योंकि

उद्बोधक सामग्री सदा नहीं रहती कदाचित् ही रहती है। जैसे कि आपके ये हस्त, पाद आदि अंग जब मन उनकी ओर आकृष्ट होता है तो स्फुरित होते हैं और जब उनकी ओर आकृष्ट नहीं होता तब स्फुरित नहीं होते हैं। सर्वात्मक सब संवित् वैसे ही आत्मा में ही स्थित हैं जैसे कि स्वप्न, इन्द्रजाल आदि में मिथ्याभूत घट, पट आदि पदार्थ स्थित रहते हैं। उक्त प्रकार के भ्रमभूत स्मृति पदार्थ के मूल का क्या विचार करते हैं। दृश्य का संभव न होने से अभ्रान्त तत्त्वज्ञानी प्रजापति को वास्तव में स्मृति होती ही नहीं है। तत्त्वज्ञानी प्रजापति पूर्व की तरह निर्विकार ही रहता है। जगत् की स्थिति उसकी दृष्टि से एकरस चिदाकाश स्वरूप है। किन्तु अज्ञानी की दृष्टि में इस समय यह दृश्य यथास्थित ही है। न मैं अज्ञ के लिए मोक्षोपाय की कथा करता हूँ और न अज्ञानी के निश्चय के अनुसार तत्त्वज्ञानी की स्थिति ही जानता हूँ लेकिन यह अवश्य जानता हूँ कि वह भाग्यवश साधन चतुष्टय को प्राप्त कर सन्देह से जब जिज्ञासु होता है, गुरु द्वारा तब तक उसके लिए मोक्षकथा कही जाती है जब तक कि उसका दृश्यप्रपंच, स्मृति और संस्मृति शान्त नहीं होती। जैसे अज्ञानी तत्त्वज्ञों की स्थिति को नहीं जानते वैसे ही हम ज्ञानी भी अज्ञों के निश्चय को नहीं जानते हैं, क्योंकि तत्त्वज्ञानियों में अविद्या, मूर्खता तथा विमोह का अत्यन्त अभाव है। अज्ञानी के अन्दर स्थित निश्चय कदापि भी हम तत्त्वज्ञानियों की बुद्धि का गोचर नहीं हो सकता जो जिसकी बुद्धि के गोचर नहीं है, उसका उसे कदापि अनुभव नहीं हो सकता। भला बतलाइये तो सही रात्रि का अनुभव सूर्य को कैसे हो सकता है ? ॥२७–३३॥

अब स्मृति के कारणभूत संस्कार का खण्डन करने के लिए संस्कार का स्वरूप बतलाते हैं।

अन्तःकरणउपहितचिन्मात्र में बाह्यवस्तुस्वरूपभूत जो कुछ भी भासित होता है उसका यदि बारबार व्यवहार द्वारा अभ्यास किया जाय तो उसके सदृश पदार्थोंके सादृश्य से वासित चित्त उसका संस्कार कहा गया है ॥३४॥ चिन्मात्र में परिकल्प्यमान तथा तत्त्वज्ञान से आत्मस्वभावभूत हुए सब बाह्य अर्थों का बाधितानुवृत्ति से जले हुए वस्त्र के समान अवभास होने पर भी वास्तव में अवस्थिति न होने से उनके सादृश्य का चित्त से मार्जन होने से तत्त्वज्ञों का संस्कार नहीं हो सकता है ॥३५॥

ऐसी स्थिति में फलितार्थ कहते हैं।

इस प्रकार कदापि किंचित् भी जगत् का संभव है ही नहीं जगत् मृगतृष्णा के जल की भाँति अज्ञानवश दृष्टिगोचर हुआ है न कि परमार्थरूप से ॥३६॥

ऐसी स्थिति में हमारी प्रतिज्ञा की सिद्धि में कौन कसर रही, ऐसा कहते हैं।

जब यह अर्थ सिद्ध हुआ तब स्वप्न में और सृष्टि के आदि में परम चिदाकाश का ही भान होता है वही 'सर्ग' (सृष्टि) यह दूसरा नाम रखकर आत्मा में स्थित है। अपने स्वरूप से च्युत हुए बिना सद्रूप चिदाकाश ही अपनें में अपने से ही जगद्रूपसा स्थित होकर भासित हुआ है। सृष्टि के आदि में स्फुरित हुए परमब्रह्म में मिथ्या स्फुरित होता हुआ सा यह दृश्य स्थित है अतः इसमें कहीं पर हेय और उपादेय का भास कैसे हो सकता है ? कारण का अभाव होने से यह दृश्य न तो कहीं कुछ आकारवान् (साकार) है और न स्मृतिरूप ही है केवल परमात्मा का स्वरूप ही दृश्यरूप से भासता है ॥३७–४०॥

इसकी आकारवत्ता का खण्डन कीजिये पर स्मृतिरूपता का क्यों खण्डन करते हैं ? वादी के इस कथन पर कहते हैं।

दृश्य की आकारवत्ता में (साकारता में) जो दुःख है स्मृति में भी वही दुःख है क्योंकि भार्या, पुत्र आदि के मरण-स्मरण से भी दुख होना दिखलाई देता है। वे दोनों असत् हैं, इसलिए बन्धन का सर्वथा अभाव है ॥४१॥ भूताकाश के समान व्यापक शून्य चिदाकाश में भुवन, सूर्य,पर्वत आदि रूप यह सारा दृश्य अपने स्वरूप का त्याग न करता हुआ जीवन्मुक्तों के जीवन पर्यन्तव्यवहार के योग्य होकर स्थित है। यथास्थित विशाल दिशाकालवाला जगत् अपने स्वरूप का त्याग न करता हुआ ही अपने तात्त्विक स्वरूप का त्याग न कर रहे चिदाकाश के उदर में स्थित है ॥४२,४३॥ एकमात्र स्वानुभवरूप स्वरूपवाला प्रमाता का स्वप्न अपृथिवीवाला है। भला बतलाइये तो सही वहाँ पर पृथिवी आदि कहाँ से आ सकते हैं ? ॥४४॥ इसलिए वैसे ही केवल शान्त चिदाकाशका ही अपने स्वरूप में भान होता है। सृष्टि के आदि में और स्वप्नकाल में पृथिवी आदि की उत्पत्ति कहाँ से हो सकती है ? ॥४५॥ जगद्रूप ब्रह्मसत्ता अपने से अपने में मानों उत्पन्न सी होकर पीछे सत्य अर्थ देनेवाली-सी पृथिवी आदि संज्ञाएँ करती है ॥४६॥ जगद्रूप दृश्य न स्मृतिरूप है और न साकार ही है, क्योंकि पृथिवी आदि का अत्यन्त असंभव है। इसी तरह वह न भ्रान्ति है और न विवर्त, परिणाम आदि ही है। एकमात्र ब्रह्मरूप ही है। चारों ओर सुन्दर जगत्स्वरूप ब्रह्म का ही स्फुरण है और वह स्फुरण और अस्फुरण में यानी सृष्टि और प्रलयकाल में निज आत्मा में (अविकृतस्वभाव में) स्थित है। वह एकरूप ही दृश्यवत् स्फुरित होकर भी निर्मल आकाश ही है, किन्तु अज्ञानियों की दृष्टि में अनादिकाल से प्रलय और सृष्टि के उदयरूप से उदित है ॥४७,४८॥

एक सौ बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तिहत्तरवाँ सर्ग

जैसे चित् का भी देहादि जड़ पदार्थों में अहन्ता का आग्रह है और
जैसे उसकी सर्वात्मकता है, उसका प्रतिपादन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, यदि स्वप्रकाश चित् का चमत्कार ही जगत् है तो तुल्य होने के कारण चित् का सब जगह अहन्ताग्रह उचित है फिर सर्वानुभवरूपसर्वात्मक असीम आत्मतत्त्व का देह में ही यह अहन्ताग्रह है अन्यत्र नहीं यह नियम कैसे ? यह पहला प्रश्न हुआ। इसी प्रकार चित् का अचिद्रूप पाषाण, काठ आदि के भाव में आग्रह कैसे? क्योंकि चिद्भाव का त्याग नहीं किया जा सकता और अचिद्रूप का स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह दूसरा प्रश्न है। इसी प्रकार चित् ही सर्वात्मक है ऐसी अवस्था में यह पाषाण, काठ आदि अचिद्वर्ग नास्तित्व को (असत्ता के) कैसे प्राप्त होता है क्योंकि चित् का अपलाप किया नहीं जा सकता। यह तीसरा प्रश्न है। इसी प्रकार सर्वात्मक चिद् विपरीत अचिद्रूप पाषाण, काठ आदि है कैसे ? जिससे कि वह सर्वात्मक हो। यह चौथा प्रश्न है ॥१,२॥

सारे शरीर की अहन्ता से प्रतीति तुल्य होने पर हाथ में ही हस्तत्वाहंभाव है पैर में ही पादत्वाहंभाव है अन्यत्र नहीं है इस प्रकार जाति, कर्म, स्थान आदिका जैसे व्यवस्था-ग्रह अनादि तत्तदाकार संस्कार की व्यवस्था से ही है, उसका अन्य कोई हेतु नहीं है वैसे ही देह में देहत्वअहन्तादि में आग्रह समझना चाहिए, इस आशय से विविध दृष्टान्तप्रदर्शनपूर्वक पहले प्रथम दो प्रश्नों का समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुवर, सकल देह की अहन्ता से प्रसिद्धि समान होने पर भी जैसे देही का हस्त में ही हस्तत्वाहंभाव में आग्रह है वैसे ही सर्वात्मा चित् का देह में देहत्वाहंभाव में आग्रह है। जैसे वृक्ष का पत्र में ही पत्रत्वाहन्ता में आग्रह है वैसे ही सर्वात्मा चित् का वृक्ष में वृक्षताहन्ता में आग्रह है ॥३॥ जैसे आकाश का शून्य में शून्यताहन्ता में आग्रह है वैसे ही सर्वात्मा का द्रव्य में (मणि, मोती, सुवर्ण आदि धन में) द्रव्यता में (प्रयत्न से उपार्जनीयरूप भव्यता में) आग्रह है। जैसे स्वप्नभोक्ता का अरूप चित्तरूपी उपादान से उत्पन्न होने के कारण अरूप होने योग्य स्वप्ननगर की साकारता में आग्रह है वैसे ही सर्वात्माका स्वप्न, जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं की साकारता में आग्रह है। पर्वतराज में, नगर में विद्यमान पत्थर, वृक्ष, जल आदि में वह ऐसा प्रसिद्ध आग्रह है वैसे ही पर्वत आदि के अभिमानी सर्वात्मा का पर्वतता, नगरता आदि में आग्रह है ॥४–७॥

अन्तिम तीसरे और चौथे दो प्रश्नो ंका भी समाधान करते हैं।

जैसे चेतनरूप से अभिमत शरीर का केश, नख आदि में अचेतनत्वाग्रह है वैसे ही चिद्रूप सर्वात्मा का भी काष्ठ, पत्थर आदि में अचेतनत्वाग्रह है। चिति चित्त्व का त्याग नहीं कर सकती है तथा अचितत्त्व का ग्रहण नहीं कर सकती है, इस शंका का मायागत आवरण और विक्षेप शक्ति से अघटित की घटना होने से परिहार करना चाहिये, यह भाव है ॥८॥

चित् के चित्विरुद्ध अचित्त्व की तरह निरवयव चित् की सावयवता भी स्वप्न के अनुभव के बल से ही होती है, यह स्वीकार करना चाहिये ऐसा कहते हैं।

जैसे स्वप्न में चित् से ही काष्ठभाव, पाषाण भाव आदि होते हैं वैसे ही सृष्टि के आदि में चिदाकाश की अवयव आदि रूपता होती है ॥९॥

मायाशबल चेतन और अचेतन उभय स्वरूप एक वस्तु है, अतः उसमें चेतन और अचेतन उभय व्यवहार प्रवर्तकता विरुद्ध नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे पुरुष का नख, केश, जल, आकाश, धर्मवाला आकारवान् एक शरीरचेतन–अचेत दोनोंरूपवाला है वैसे ही सर्वात्मा का स्थावर जंगमरूप एक शरीर चेतन और अचेतन दोनों स्वरूपवाला है, किन्तु वह नित्य निराकार है ॥१०,११॥

अतएव तत्त्वतः ब्रह्मज्ञान होने से सब विरुद्ध धर्म हट जातेहैं, ऐसा कहते हैं।

जैसे 'यह स्वप्न हैं' यों स्वप्न के ज्ञाता पुरुष का स्वप्न में देखा गया पदार्थभ्रम शान्त हो जाता है वैसे ही सम्यग् ज्ञानवान् पुरुष का यह जगत् ज्यों का त्यों शान्त हो जाता है, विलुप्त हो जाता है। स्वप्नद्रष्टा (स्वप्न देखनेवाले) पुरुष की जो प्रातः काल के समय प्रसिद्ध प्रबुद्धता है वही प्रबुद्धता, न द्रष्टा है न दृश्यता है किन्तु यह सब मौन चिन्मात्राकाश ही है, ऐसा निश्चय करने में पूर्णरूपेण समर्थ है ॥१२,१३॥ सागर में जल के भँवरों की तरह चिदाकाश में हजारों करोड़ कल्पों तक वे ही या अन्य सृष्टियाँ आती हैं जाती हैं। हजारों करोड़ रूप से आए गये हुए अध्यासों से अधिष्ठान की एकरूपताकी क्षति नहीं हो सकती, यह भाव है ॥१४॥ जैसे जल समुद्र में तरंग आदि में भासमान आवर्त, बुद्बुद्आदि नाना स्वरूप बनाता है वैसे ही मायाशबल चेतन अपने चेतनमें सृष्टि आदि नाना संज्ञाएँ करता है। अतत्त्वज्ञ जनता के निश्चय के सिवा तत्त्वज्ञानी के प्रति यह यथास्थित विश्व सदा निर्विकार ब्रह्म ही है।

यानी तत्त्वज्ञ इस सम्पूर्ण प्रपंच को निर्विकार ब्रह्म ही जानता है मगर अज्ञानियों का निश्चय इससे विपरीत है ॥१५,१६॥ मैं तरंग नहीं हूँ बल्कि जल ही हूँ, ऐसा युक्तिपूर्वक जिस तरंग ने समझ लिया फिर उसकी तरंगता कैसे रह सकती है ? अचेतन में भी चेतनता के आरोप से यह कथन है, यह समझना चाहिये । चूँकि जल की तरंगता के समान इस परम ब्रह्म की जगत्ता का भान है अतएव तरंगत्व-अतरंगत्व यानी तरंग के सदृश जगत्ता और अजगत्ता ब्रह्म की दो शक्तियाँ हैं ॥१७,१८॥ हे श्रीरामजी, अपने वास्तविक रूप का त्याग न कर रहे चिदाकाश का स्वप्नकी तरह अन्योन्य के धर्मों के आदान-प्रदान से व्यत्यस्त चेतनतावाला, मन की समष्टि से उपहित जो रूप है वह मन, ब्रह्मा, पितामह इत्यादि शब्दों से कहा गया है ॥१९॥ इस तरह आदिम प्रजापति निराकार निर्विकार तथा चिन्मात्रस्वरूप संकल्पनगर के तुल्य कारणविहीन है ॥२०॥ जिस सुवर्णमय अंगद ने (बाजूबन्द ने) अंगदत्व नहीं है (सुवर्ण ही सत्य है विकारभूत अंगदत्व नहीं है) यह निश्चयपूर्वक जान लिया उसकी अंगदता कैसे हो सकती है ? उसकी विशुद्ध सुवर्णता ही है ॥२१॥ चिन्मात्रआकाशस्वरूपी जन्मादिविकारविहीन परम ब्रह्म में (अहम्) (मैं) , त्वम् (तुम), जगत् इत्यादि संकल्पमात्ररूप जो भान हुआ है वह ब्रह्मरूप ही है। यानी समष्टि के चिन्मात्ररूप सिद्ध होने पर उसके व्यष्टिरूप हम लोगों का अनुक्त भी चिन्मात्रत्व स्वयम् सिद्ध हो गया, यह भाव है ॥२२॥ चिदाकाश में जो शून्यतारूप चित् के चमत्कार स्फुरित होते हैं वे ही ये सृष्टि, प्रलय और स्थिति के भ्रमज्ञान हैं। चिन्मात्रआकाश का स्वयं ही स्वप्न तुल्य चित्ततारूप जो निर्मल स्फुरण है वही यह पितामह (ब्रह्मा) है । जैसे समुद्र में तरंग निरन्तर उसी रूप से (अपने पूर्वतनरूप से) अथवा उससे विलक्षणरूप से फुरता है वैसे ही चिदाकाश में आदि और अन्त रहित सृष्टि और प्रलय का विभ्रम भी निरन्तर फुरता है । चिदाकाश का मनोहर स्फुरण विराट के नाम से प्रसिद्ध है, उस विराट का मनरूप ब्रह्मा भी जो कुछ भुवन, भूत आदि रचेगा वह भी संकल्पनगरवत् ही काल्पनिक होगा न कि सत्य ॥२३-२६॥ वह विराट ही सृष्टि है वही स्वप्न है, स्वप्न ही जाग्रद् व्यष्टि समष्टि स्वरूप बन गया । जैसे घनी सुषुप्ति निद्राधिक्यरूप अन्धकार से स्वप्न होती है। वैसे ही प्रलय में अविद्यारूपी अन्धकार से आवृत आत्मा ही जगद्रूप होता है ॥२७॥

सकल जगत् का विराट के अंगरूप से वर्णन करते हैं।

अवान्तर प्रलयरूपी ब्रह्मा की रात्रि विराट्रूपधारी परमात्मा के केशरूप से उदित है, दिन और रात्रि काल और क्रिया नाम की उसके शरीर की सन्धियाँ (जोड़) हैं, अग्नि उसका मुँह है, द्युलोक मस्तक है, आकाश नाभि है, पृथिवी उसके चरण हैं, चन्द्र और सूर्य दो नेत्र हैं, दिशाएँ कान हैं, इस तरह से मन की कल्पना ही विराट के आकार से परिपुष्ट हुई है ॥२८,२९॥ इस प्रकार भली भाँति दृष्टिगोचर हो रहा विस्तृतआकृति वास्तव में शून्यात्मा अतएव हमारे मनोरथ से कल्पित पर्वत के तुल्य विराट स्वप्न के आकार से स्थित है वास्तव नहीं है । यों उसकी हमारे स्वप्न से तुल्यता ही सिद्ध हुई, अतः निष्प्रपंचता ही परमार्थ है, यह आशय है ॥३०॥ जो चिदाकाश में चेतनस्वरूप जीवभाव को प्राप्त होकर स्वयं अत्यन्त प्रदीप्त होता है वही यह जगत् है, इस प्रकार वह अपने स्वरूप का (आत्माका) ही अनुभव करता है। चारों ओर व्याप्त (असीम) चिन्मय आकाश का ही इस प्रकार पर्वत, वृक्ष, गज आदिरूप स्वभाव-स्वप्ननगरतुल्य विराट् के रूप से भान होता है अथवा इस तरह निरीक्षण करने पर

विराट्‌रूप चिन्मय आकाश ही प्रतीत होता है ॥३१,३२॥ जैसे स्वप्न में प्राप्त हुआ नट अपने को ही अपने से अतिरिक्त नाट्यदर्शक समाज से भरा स्वप्नदेश मानकर वहाँ पर अपना अभिनय स्वयं ही देखता है वैसे ही अनुभव करनेवाला चिदात्मा ही अनुभवैकरस सत्य स्वरूप को भी माया के आवरण से असत्–सा बनाकर परिच्छिन्न प्रपंचरूप से देखता है ॥३३॥

इसी अर्थ में सकलवादियों के मत का अविरोध है और इसी से सबके वांछित फल की सिद्धि होती है, ऐसा कहते हैं।

वेदान्तियों यानी शुद्ध ब्रह्मपरायणों, सर्वज्ञेश्वरपरायणों और उपासनानिरतों, दिगम्बरों, सांख्यों, योगियों और बौद्धों को (सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक चारों प्रकार के) गुरुजन वेदव्यास, अरिहंत (जैन), कपिल,पतंजलि और बुद्ध एवं पशुपति या भैरव (आगमशास्त्रविशेष के निर्माता), वैष्णव, हैरण्यगर्भ आदि आगमशास्त्र के निर्माता विष्णु आदि द्वारा भलीभाँति वर्णित (अपने अपने आगम शास्त्रों में प्रतिपादित) जो दृष्टिकोण हैं उनका रूप धारण कर हमारा अभिमत ब्रह्म ही तत् तत् वासनारूप उनके स्वरूप से स्फुरित हुआ है और उन वादियों के आत्मसंवित् के (अपने अपने निश्चय के) अनुरूप स्वर्ग (पारलौकिक सुखरूप) और ऐहलौकिक सुख, सकल फल वह ब्रह्म ही बनता है, क्योंकि तदात्मक ही फल तत्–तत् द्वारा वैसे वैसे हों यों आशा की जाती है। इस ब्रह्म की ऐसी ही महिमा प्रसिद्ध है, क्योंकि मायाशबलरूप ब्रह्म सर्वात्मक है ॥३४॥

एक सौ तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चौहत्तरवाँ सर्ग

प्रबोध (जागरण) द्वारा स्वप्न के मार्जन की भाँति ज्ञान द्वारा दृश्य का परिमार्जन करने पर अवशिष्ट रहे एक चिदात्मा का वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, चूँकि सृष्टि के आदि में केवल चिति ही स्वप्न की संवित् से जगत् के रूप में अवभासित होती है यह सिद्ध किया जा चुका है अतः तीनों जगत् ब्रह्म ही है, ऐसा बोध होने पर कैवल्य सिद्ध हुआ, यह अर्थ है ॥१॥ सृष्टियाँ ब्रह्मरूपी सागर की तरंग हैं, उनमें संवित् ही द्रव (जल) है। अज्ञानियों में प्रसिद्ध दुःखरूपी सृष्टि का बोध द्वारा परिमार्जन हो चुका। किन्तु उसके अनन्तर भी जीवन्मुक्त पुरुषों के व्यवहार के लिए जो जगत् प्रसिद्ध है, वह आनन्द–सत्–चित् स्वरूप होने से दूसरी ही सृष्टि है, उसमें द्वैत, ऐक्य आदि असुखरूप किस निमित्त से होगा, यह अर्थ है ॥२॥ जैसे स्वप्न और सुषुप्ति केवल निद्रारूप ही हैं वैसे ही दृश्य और अदृश्य स्वरूप आकाश चिदाकाश का ही एक रूप है। जैसे स्वप्न में सुषुप्ति और स्वप्न में भेद का आभास होने पर भी दोनों में एकमात्र निद्रारूपता का व्याघात नहीं होता वैसे ही विदेहमुक्ति और जीवन्मुक्ति में भेद का आभास होने पर भी उन दोनों में सुखैकरसता का व्याघात नहीं होता, यह भाव है ॥३॥ जाग्रत् में जैसे स्वप्ननगर है वैसे ही यथार्थतः परिज्ञात यह जगत् है इसमें विवेकी पुरुष की आस्था कैसे हो सकती है ? ॥४॥ जाग्रत् में स्वप्ननगर का जैसे बाध हो जाता है वैसे ही सृष्टि के आरम्भ में सृष्टिसंवित् के यथार्थतः ज्ञात होने के कारण जगत् भी बाधित हो जाता है ॥५॥ जैसे विविध प्रकार की स्वप्ननगर वासनाएँ स्वप्नकाल में

सत्यरूप से प्रतीयमान होती हुई भी जाग्रत् में सत्य नहीं हैं वैसे ही जाग्रत् के भोगाभास के लिए आविर्भूत वासनाएँ भी सत्यरूप से प्रतीत होने पर भी सत्य नहीं हैं। यानी दग्ध वस्त्र के समान वासनामात्र से उनकी स्थिति दुःख देने में समर्थ नहीं है, यह तात्पर्य है ॥६॥

यदि किसी को शंका हो कि जगत् के भ्रान्तिरूप होने से तत्त्वज्ञान द्वारा उसके मूलभूत अज्ञान का मूलोच्छेद होने पर बाध हो जायेगा। किन्तु प्रधान, परमाणु आदि अन्य कारणों द्वारा अन्य प्रकार से उसकी उत्पत्तिवश भ्रान्तिता की कल्पना न करने पर बाध न होगा। इसलिए उससे दुःख होगा ही, इस आशंका पर कहते हैं।

अन्यथा उपपादन करके यदि जगत् के कारण की कल्पना करते हो तो स्वप्न जगत् में प्रसिद्धतर होने तथा 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इत्यादि विविध श्रुतियों द्वारा बोधित होने के कारण कारणान्तर की कल्पना की अपेक्षा निकटतम इसकी भ्रान्तिमात्रता की ही कल्पना क्यों नहीं की जाय, यह भाव है ॥७॥ वाचारम्भण श्रुति द्वारा प्रदर्शित न्याय से पर्यालोचना करने पर मृत्तिका, तन्तु आदि से अतिरिक्त घट, पट, आदि का अदर्शन होने से उनके विषय में स्वप्न जगतों की तरह अपनी यह भ्रान्ति प्रत्यक्ष ही अनुभूत होती है। प्रत्यक्षानुभव की अपेक्षा अनुमान कहाँ बलवान् देखा गया जिसके बल से प्रधान, परमाणु आदि कारणों की सिद्धि होगी, यह अर्थ है ॥८॥ जगत् स्वप्नपर्वत की तरह अन्दर भ्रान्तिरूप ही हैं। इस विषय में प्रत्यक्ष हेतु भी है वह यह कि यह जन आत्मा में इष्ट की ही सृष्टि करने और अनिष्ट की सृष्टिका निवारण करने के लिए समर्थ नहीं है। उसके द्वारा पहले से विचारित ही अर्थ निश्चय रूप से देखने में नहीं आता, अकस्मात् ही कोई भी अतर्कित अन्य पदार्थ दृष्टिगोचर हो जाता है। सृष्टि को अन्य कारण के (प्रधान, परमाणु आदि के) अधीन मानने पर तो उक्त कारण सम्पत्ति से साध्य इष्ट का ही लोग सर्जन करेंगे और अनिष्ट का निवारण करेंगे, आकस्मिक दृश्य को न देखेंगे। उक्त तीनों हेतुओं की अन्यथानुपपत्ति से जगत् स्वप्नपर्वत के समान भ्रान्तिरूप ही है, यह सिद्ध हुआ ॥९॥

अतएव जगत् के बाध के बिना निर्विकल्प समाधि पर्यन्त ध्यानमात्र से आत्मोद्धार माननेवाले योगियों का भी निराकरण हो गया, ऐसा कहते हैं।

योगियों का अभिमत आत्मा आनन्दचिद्रूपविहीन है। उसका साक्षात्कार होने पर भी वह पुरुषार्थरूप नहीं है। इसलिए उसके साक्षात्कार की कल्पना में कोई प्रयोजन नहीं हैं, अतः नित्य अनुमेयरूप तथा मीमांसकों के ज्ञान के तुल्य अपरोक्षभूत उसमें जड़ता ही परिशिष्ट रहती है। उसमें हुई चित्त की निर्विकल्प समाधि केवल जड़ता ही है, उसमें हुई सविकल्प समाधि तो संसार ही है। इस कारण योगियों का ध्यान और उससे सम्पन्न हुई समाधि भी नहीं के बराबर है। कुछ भी पुरुषार्थरूप नहीं है, यह अर्थ है ॥१०॥

उक्त का ही स्पष्टीकरण करते हैं।

चेत्ययुक्त ध्यान संसार है और चेत्यरहित ध्यान पत्थर की – सी स्थितिवाला है, इसलिए योगियों की सम्मत निरानन्दरूप मोक्ष अवस्था में परिशेष रहनेवाला ज्ञान मोक्ष (पुरुषार्थरूप) नहीं है, क्योंकि पत्थर के तुल्य भान मोक्ष नहीं है, क्योंकि वह तो बन्धनतुल्य ही है। इससे आत्मा की ज्ञानस्वभावता न माननेवाले वैशेषिकादि के सम्मत मोक्ष का भी निराकरण हो गया ॥११॥

योगियों के अभिमत समाधि के अभ्यास से आपका अभिमत मोक्ष क्यों प्राप्त नहीं होता ? इस प्रश्न पर कहते हैं ।

पत्थर के सदृश निर्विकल्प समाधि द्वारा सांख्यों के अभिमत मोक्ष के सिवा हमारा अभिमत मोक्ष यदि प्राप्त हो तो स्वनिद्रा से भी वह प्राप्त हो जायेगा, क्योंकि चित्त की चंचलता की निवृत्ति और अज्ञानरूप आवरण की अनिवृत्ति निद्रा और उक्त योगियों की सम्मत निर्विकल्प समाधि में तुल्य हैं, यह भाव है ॥१२॥

इसलिए वादियों के अभिमत पक्षों में मोक्षअभावरूप दोष से छुटकारा न मिलने के कारण जगत् केवल भ्रान्तिमात्र है निरतिशयानन्द सच्चिदेकरस ही आत्मा है इस तत्त्वज्ञान से भ्रान्तिजन्य अज्ञानआवरण के विनाश से भ्रान्तिक्षय होने पर परिशेष रहनेवाला परमपुरुषार्थ है यह हमारा पक्ष ही सबके लिए शरणरूप है, यों उपसंहार करते हैं ।

इसलिए सम्यक् ज्ञान से विवेकी पुरुष की दृष्टि में सृष्टि का अत्यन्त असंभव होने से जगत् भ्रान्तिमात्र है । जो जीवन्मुक्तता का उदय है वही निर्विकल्प समाधि है वही वेदान्तशास्त्र में अनन्त निर्वाण कहा जाता है । यथास्थित, विक्षोभ रहित, सर्वप्रकाशक वह आसन (स्थिति) अनन्त सुषुप्त नामक है,वही तुरीय कहा गया है । वही निर्वाण कहा गया है और वही मोक्ष कहा गया है ॥१३–१५॥ जो यह सम्यक् ज्ञान की एकमात्रघनता (सम्यक्ज्ञानैकरसता) है वह ध्यान कहा गया है । 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा' इत्यादि श्रुतियाँ और तत्त्ववेत्ता जिसमें दृश्य का अत्यन्त असम्भव हो उस बोध को ही परमपद कहते हैं । वह गौतम और कणाद आदि की सम्मत मुक्ति की तरह पत्थर के समान जड़ नहीं है, हिरण्यगर्भ सम्मत प्रकृति–प्रलय के तुल्य सुषुप्तोपम नहीं है, पातंजलों की सम्मत मुक्ति की तरह निर्विकल्पतामात्र नहीं है, पाशुपत, पांचरात्र आदि की सम्मत मुक्ति की तरह सविकल्पक नहीं है और बौद्धों की अभिमत मुक्ति की तरह असत् (नैरात्म्यरूप शून्य) भी नहीं है ॥१६,१७॥

तब मुक्ति का यथार्थ स्वरूप क्या है ? इस पर कहते हैं ।

हे श्रीरामजी, जिसमें दृश्य का अत्यन्त असम्भव है 'सब कुछ ब्रह्म ही है' और 'वही शुद्ध चिद्रूप ब्रह्म मैं हूँ' इस प्रकार का निर्मल ज्ञान ही मुक्ति है । 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहंब्रह्मास्मीति' 'तस्मात्तत्सर्वमभवत्' इन श्रुतियों के अनुसार अधिष्ठानरूप से वह सब कुछ है और 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति' इत्यादि श्रुति से अध्यासरूप से कुछ नहीं है वैसे ही वह जानता है ॥१८॥ सम्यक् ज्ञान से वह परम निर्वाण कहा गया है, निर्वाण में यह यथास्थित सारा विश्व अत्यन्त प्रलय को प्राप्त होता है ॥१९॥ उसमें न भेद है और न अभेद है, न कुछ है और किंचित् है वह सब सद् असद् भावों की चरम सीमा कहा गया है । जैसे पट सत् है या असत् इस कल्पना की सीमा तन्तु (सूत) है, तन्तु सत् है या असत् है इस कल्पना की अवधि कपास है, कपास सत् है या असत् है इस कल्पना की सीमा कपास का बीज है, कपास का बीज सत् है अथवा असत् इस कल्पना की सीमा मिट्टीरूप पृथिवी है, पृथिवी सत् है अथवा असत् इस कल्पना की सीमा जल है, जल की सद्असद्भावकल्पना की सीमा तेज है, तेज की सद्असद्भावकल्पना की सीमा वायु है, वायु के सद्असद्भाव की कल्पना की सीमा

आकाश है, आकाश की सद्‌असद्‌भावकल्पना की सीमा अव्याकृत है और अव्याकृत की सद्‌असद्‌भावकल्पना की सीमा केवल चिदात्मा ही है, इस तरह वह सीमान्त कहा गया है ॥२०॥ जिसमें दृश्य का अत्यन्त असंभव है, शुद्ध बोधोदयस्वरूप, सकल विक्षेपों से रहित परमशान्त निरतिशयानन्दरूप से जो स्थिति है उसे ही आप परमपुरुषार्थ जानिये ॥२१॥

उसकी प्राप्ति में मोक्षोपाय नाम का यह ग्रन्थ ही उपाय है, ऐसा कहते है।

उत्पन्नमति (बुद्धिमान्) पुरुष को वह शुद्धबोधरूप उत्तम ध्यान पदपदार्थज्ञाता को बोधित करनेवाले इस शास्त्र से प्राप्त होता है ॥२२॥ मोक्षोपाय नामक इस ग्रन्थ का निरन्तर पारायण कर रहे पुरुष को विशुद्ध अध्यात्मशास्त्रजनित ज्ञानरूप उपाय से वह परमपद प्राप्त होता है अन्य किसी उपाय से प्राप्त नहीं होता, क्योंकि 'ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये' इत्यादि श्रुतियाँ हैं। वह न तीर्थ सेवन से प्राप्त होता है, न दान से, न स्नान से, न विद्या से (ब्रह्मविद्या से अतिरिक्त विद्या से), न ध्यान से, न योग से, न तपस्याओं से और न यज्ञयागों से ही प्राप्त होता है। भ्रान्तिमात्र अनिर्वचनीय यह विश्व सत् की तरह प्रतीत होता है। निद्रारहित चिदाकाश में स्वप्नरूप यह जगदाकार आकाश (शून्य) ही है। भ्रान्ति की तप, तीर्थ आदि से कदापि निवृत्ति नहीं हो सकती, तपस्या, तीर्थ आदि से विविध स्वर्ग प्राप्त होते हैं किन्तु मुक्ति नहीं मिलती है। भ्रान्ति की निवृत्ति उत्तम (शुद्ध) बुद्धि से विचारित आत्मज्ञानमय मोक्षउपायभूत इस शास्त्र से ही होती है, अन्य उपाय से नहीं होती है। जैसे रात्रि की आत्यन्तिक निवृत्ति सूर्योदय से ही हो सकती है, वैसे ही सम्पूर्ण भ्रान्ति की आत्यन्तिक निवृत्ति ज्ञानप्रकाश उत्पन्न करनेवाले निर्मल इस शास्त्रार्थ से ही हो सकती है। वायु में स्पन्दन की तरह, जल में द्रवत्व की तरह चिदाकाश में सृष्टि, प्रलय और स्थिति के स्फुरण का भान होता है। जैसे वटबीज आदि द्रव्य के अन्दर सदा अपनी रमणीय वटवृक्षाकार धारणचमत्कृति स्थित है जैसे वायु के अन्दर अपनी मनोहर स्पन्दचमत्कृति स्थित है वैसे ही मायाशबल चिदाकाश के अन्दर यथास्थित यह जगत् की सृष्टि और उसकी स्थिति भी अनन्यरूपवाली है और उसीमें यह लय को प्राप्त होगी ॥२३-३०॥

एक सो चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पचहत्तरवाँ सर्ग

जब तक अज्ञान रहता है तब तक चिति ही बिना किसी कारण के जगत् की तरह प्रतीत होती है। शास्त्र द्वारा अज्ञता के हटने पर वह मुक्त हो जाती है, यह वर्णन।

यह सृष्टि और उसकी अस्तिता अभिन्न है इस कथन से सृष्टि चित् की देह ही है ऐसी प्राप्त हुई शंका का निराकरण करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, आदिम चिदाकाश अपनी अविद्या से स्वप्न तुल्य बनकर जीवरूप से आवागमन के चक्कर में पड़कर 'मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ' इत्यादि तत्-तत् देहों में तादात्म्य के अध्यासों का काम, कर्म, वासना आदि द्वारा कारण होता है, किन्तु जीवोपाधि की सिद्धि के पहले महाप्रलय में स्वप्न तुल्यता की प्राप्ति होने पर दृश्यरूप अन्यता का संभव न होने से निमित्त की असिद्धि वश उस चिद्व्योम का दृश्य सृष्टिरूप शरीर किस कारण से होगा ? यह अर्थ है ॥१॥

स्वप्नसंवित् के रूप से ही जीवत्वसमकालिक सृष्टि आदि की सिद्धि होती है अन्य निमित्त से नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, सृष्टि के आदि में न स्वप्नसंविद्रूप दृश्यमान सृष्टि की सिद्धि होती है और न परलोक की ही सिद्धि होती है ॥२॥

चिदाकाश का जीवभाव अथवा जगद्भाव वास्तविक नहीं है, जिससे कि जगत् उसका शरीर होगा, ऐसा कहते हैं।

अनुभव करनेवाला (अनुभवैकरस) चिदात्मा इस प्रकार स्वप्नअंगना के संग की तरह निपट असत् जगत् बनकर अपनी अविद्या से जगत् के रूप से भासित होता है। परमार्थतः वह केवल शान्त चिदाकाश है ॥३॥

तो क्या अनुभव भी असत् है ? इस पर नकारात्मक उत्तर देते हैं।

इस तरह जो जगत् के रूप से अवभासित होता है वह जगत्–शून्यस्वरूप अत्यन्त निर्मलरूप आदि–अन्तविहीन स्वच्छतम चिद्धातु ही है ॥४॥ यह परमात्मा ही जब तक अज्ञात रहता है तभी तक यह अविद्यारूप मल भासता है। अविद्याअवस्था में संसारी हो रहा जीव–सा पृथक् होता है किन्तु ज्ञात होकर वह मल परम निर्मल ब्रह्म ही है, क्योंकि 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (जो उस परम ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है) इत्यादि श्रुतियाँ हैं। ब्रह्मभाव में मल का प्रसंग ही नहीं है। अनादिनिधन परमाकाश में मल कहाँ से हो सकता है, क्योंकि प्रबोध से स्वप्न की तरह ज्ञान होने से मल का बाध हो जाता है ॥५॥

कारण का संभव न होने से दृश्य की स्वप्नतुल्यता बार–बार सिद्ध की जा चुकी है, उसी को दृढ़ करने के लिए पुनः अनुवाद करते हैं।

जो यह शुद्ध संवित् है वही स्वप्ननगर है और वही सृष्टि के आदि में जगत् है, अतः पृथिवी आदि का संभव कैसे हो सकता है ? ॥६॥ आकाशभूत चिदाकाशात्मा के स्फुरण की सृष्टिरूपधारिणी पृथिवी आदि कल्पना की गई है तथा मन, बुद्धि आदिरूप कल्पना की गई है ॥७॥ जल में आवर्त की (भँवर की) तरह और वायु में स्पन्दन की तरह चिदाकाश में बिना भीत का जो जगद्भान होता है, उसके अन्तर जीवभाव से उसमें प्रवेशकर मैं हिरण्यगर्भ भुवनस्रष्टा हूँ यों अपने ऐश्वर्य का बखान करनेवाले परमात्मा ने ही स्वयं जगद्भान की ही बुद्धि आदि, पृथिवी आदि नामरूपव्याकरणरूप सत्असत्मय मूर्तअमूर्तप्रचुर या सत्यानृतमिथुनीकरणरूप कल्पना की ॥८,९॥ स्वच्छ से भी अत्यन्त स्वच्छ जो यह महाचिति है वह स्वयं ही जगत् के रूप से स्फुरित होती है इसीका नाम सृष्टि है अतः जगत् चिदाकाश ही है उससे भिन्न नहीं है ॥१०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, विचारदृष्टि से तो कुछ भी स्फुरित नहीं होता है, क्योंकि यह महाचिति अत्यन्त स्वच्छ कही गई है, चिन्मात्ररूप जो अद्वितीय ही ब्रह्म है, केवल उसकी कल्पना ही इस प्रकार (जगत्रूप से) निज आत्मा में विस्तृत है ॥११॥ शुद्ध संवित् आनन्द स्वरूप चिदाकाश ही चिदाकाश में निर्विकार रूप से ज्यों का त्यों स्थित होकर भी अज्ञात होने से स्वप्न की तरह चित्त–सा दृश्य–सा अवभासित होता है। सद् कारण के अभाववश अन्य प्रकार से हजारों वादी भी सृष्टि का उपपादन नहीं कर सकते हैं, अतः सृष्टि के आदि में आत्मा ही दृश्य का रूप धारण कर स्वयं चिदाकाशरूप दृश्य को

देखता है ॥१२,१३॥ स्वप्न के समान निर्धर्मक वह अपने अधिष्ठान से तनिक भी भिन्न नहीं है, इसलिए चिदाकाशरूप से परिशिष्ट वह आकाश से शून्यता के समान चिदाकाश से भिन्न नहीं है। जो ही सकलरूपों से विवर्जित अद्वितीय पर ब्रह्म है वही अपने सच्चिदानन्दघन अद्वितीय रूप से ही स्थित हो स्वमायाशक्ति से सकल जगद्रूप से स्थित है ॥१४,१५॥ स्वप्न में अकारण ही इस दृश्यसृष्टि का सकल जीवों को अनुभव होता है स्वप्न में तो आत्मा ही स्वप्न के सकल पदार्थों का रूप धारणकर भासित होता है, अतः जाग्रत् में भी एक ज्ञानरूप निर्मल ब्रह्म ही जगद्रूप से (नानापदार्थों के रूप से) भासता है। ब्रह्म ही चिद् होने से आत्मा में मानों जीवत्व की कल्पना करता हुआ और अपने निर्मल सच्चिदानन्दघन स्वरूप का त्याग न करता हुआ मनस्त्व को जैसे प्राप्त होता है ॥१६,१७॥ स्वयं चिदाकाश ही वह मन की समष्टिरूप से आकाशात्मक ही इस सकल जगत् का विस्तार करता है और स्वयं अविकारी होता हुआ भी विकारी जगद्रूप-सा प्रतीत होता है। मन ही हिरण्यगर्भ है वह सृष्टि के हृदय में स्थित होकर सबका निरन्तर निर्माण करता है और निरन्तर सबका संहार भी करता है ॥१८,१९॥ पृथ्वी आदि से रहित समष्टिमनरूप ब्रह्मा अवयवरहित जिस जगत् के हृदय में स्थित है उससे भिन्न के तुल्य त्रिजगत् के रूप से भासता है जैसे कि स्वप्न में निराकार चिदात्मा स्वाप्न पदार्थ के रूप से भासित होता है ॥२०॥ एक निराकार परब्रह्म होकर भी अपनी अविद्या से पूर्ण सच्चिदानन्द भाव से च्युत हो मनोभाव को प्राप्तकर समष्टिमनरूप ब्रह्मा अहंकारस्वरूप से तथा शरीर और जगत् के रूप से अनन्तरूप होकर जड़ और चेतन जगत्रूप में स्थित है ॥२१॥ यथार्थतः न यहाँ (चित् में) पृथिवी आदि हैं, न शरीर है, न चित् से भिन्न कुछ दृश्यरूप ही है, किन्तु एकमात्र चिदाकाश ही कल्पित समष्टि मनोरम हो जगद्रूप में अतिशयरूप से स्फुरित हो रहा है। और सूक्ष्म विचारदृष्टि से यह जगत् का स्फुरण भी कुछ नहीं है एकमात्र अत्यन्त घन चिन्मात्र ही अपने आप अपने स्वरूप में भासता है। जिससे वचन निवृत्त हो जाते हैं यानी जहाँ मन और वाणी की पहुँच नहीं है उस निरतिशय आनन्द की प्राप्ति से तूष्णींभाव (आत्मस्वरूप निश्चलता) शेष रहता है। वह निश्चलता व्यवहारकाल में भी नहीं हटती। शुद्ध सच्चिदात्मा संसार के व्यवहारों में निरत रहने पर भी निश्चल आत्मस्वरूप से ज्यों का त्यों मूकवत् स्थित रहता है ॥२२-२४॥ वह प्रबुद्ध (ज्ञानवान्) पुरुषश्रेष्ठ निश्चल होकर अनन्त अपार चिन्मात्ररूप परम इष्ट (परमप्रेमास्पद निरतिशयानन्दघनतारूप) हो जाता है। अथवा ज्ञानरूप अग्नि में परिपाकवश दृढ़ होने से ब्रह्मरूप ईंट स्वयं बन जाता है, ऐसा अर्थ है ॥२५॥

इस प्रकार मुक्ति को प्राप्त हुए पुरुषश्रेष्ठ के फिर कालान्तर में सृष्टि आदि से बन्धन-प्रसंग का वारण करने के लिए सृष्टि की अज्ञानपूर्वकता दिखलाते हैं।

जैसे जल में द्रव से अबुद्धिपूर्वक ही (अज्ञानपूर्वक ही) आवर्त, बुद्बुद् आदि होते हैं वैसे ही अविद्यावृत ब्रह्मा ने अज्ञानपूर्वक ही चित्त, बुद्धि आदि जड़ पदार्थों का निर्माण किया है। अविद्यावृत चैतन्य ही जलादि बनकर आवर्त आदि विकल्पों का भाजन होता है, अतएव जलादि की दृष्टान्तता है ॥२६॥ जैसे वायु द्वारा अपने से अभिन्न स्पन्द का अबुद्धिपूर्वक ही निर्माण किया जाता है वैसे ही परमात्मा द्वारा अपने से अभिन्न बुद्धि आदि जगत् का अबुद्धिपूर्वक ही निर्माण किया जाता है ॥२७॥ जैसे वायु का अविनाशी स्पन्दन वायु से अभिन्न है वैसे चिदाभासरूप सब जीव प्रत्यग्रूप परमात्मा से अभिन्न है ॥२८॥

अतएव जीव भी ब्रह्म के पर्यायरूप ही हैं, ऐसा कहते हैं।

हे ज्ञानवानों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, चिद्व्योम, ब्रह्म, चिन्मात्र, आत्मा, चिति, महान्, परमात्मा इन सबको आप पर्यायवाची जानिये ॥२९॥ अविद्यावृत ब्रह्म नेत्र के समान उन्मेष निमेषरूप है अथवा वायु के समान स्पन्दअस्पन्दरूप है । उसका जैसा प्रलयरूप निमेष है वैसा ही सर्गात्मक उन्मेष जगत् है ॥३०॥

जैसे उन्मेष और निमेषकाल में एक–सा नेत्रगोलक एक ही है उसी में निमेष उन्मेष का लय होता है वैसे ही प्रलय और सृष्टि में एक–सा ब्रह्म एक है उसी में उनका लय होता है, ऐसा कहते हैं।

दृश्य ब्रह्म का उन्मेष है और दृश्य का अभाव (प्रलय) निमेष है दोनों अवस्थाओं में निराकार यह एक ही है, क्योंकि उन दोनों का ही इसी में लय होता है ॥३१॥ परब्रह्म परमात्मा निमेष और उन्मेष–दोनों अवस्थाओं में एकरूप ही रहता है। अतः चिति से ही दृश्य का 'अस्ति' (है) और 'नास्ति' (नहीं है) यों स्फुरण होने से दृश्य सत्–असत् है, किन्तु चिति सदा सत्तैकरूप ही है ॥३२॥

उन्मेष और निमेष भी उन्मेष और निमेष के हेतु पलक सहित नेत्र स्थानीय शबलब्रह्मरूप से परस्पर अभिन्न ही हैं, ऐसा कहते हैं।

निमेष उन्मेष से अतिरिक्त नहीं है और उन्मेष भी निमेष से भिन्न नहीं है वैसे ही मायाशबल ब्रह्म से उन्मेष–निमेषरूपी सर्ग और प्रलय भिन्न नहीं है ॥३३॥

इस दृष्टि से जो सिद्ध हुआ, उसे कहते हैं।

हे सौम्य श्रीरघुनायक, इस कारण निमेष और उन्मेष में साधारण (एक समान) ब्रह्मरूप से एकरस यथास्थित इस जगत् को आप अनुत्पन्न, अजर, अमर, शान्त चिदाकाश ही जानिये ॥३४॥ जैसे आकाश अपने में अध्यस्त नीलरूपता से स्फुरित होता है वैसे ही चिति भी अचित्यात्मकरूप से (अचेतन दृश्य जगत्रूप से) स्फुरित होती है, इसलिए जो कुछ यह जगत्रूप से भासता है,वह जगत् शरीरधारी चिन्मात्र ब्रह्म ही है ॥३५॥ न तो दृश्य कभी उत्पन्न हुआ है, न नष्ट होता है और न यथार्थतः अनुभव में ही आता है केवल एकमात्र चिति ही अपने स्वरूप में स्वयं दृश्यरूप चमत्कार करती है । जैसे सूर्य से निकली हुई सूर्य की दीप्ति से सूर्य की उष्णता भिन्न–सी मालूम होती हुई भी भिन्न नहीं है वैसे ही दृश्य नाम की चिदाकाशरूपी महामणि की प्रभा भी अपने उद्गम स्थान (आकर–स्थान) महामणि से भिन्न–सी प्रतीत होती हुई भी उससे अभिन्न ही है। जैसे सुषुप्ति ही स्वप्न–सी प्रतीत होती है यानी स्वप्नरूप में भासती है वैसे ही ब्रह्म ही सृष्टि के समान स्फुरित होता है, इसलिए नानारूप के समान स्फुरित होता हुआ भी यह सारा जगत् एक, शान्त, शिवरूप ब्रह्म ही है ॥३६–३८॥

चिदाभास द्वारा जब जिस जिसका जिस प्रकार से–भाव अथवा अभाव रूप से जैसा संकल्प किया जाता है उसका उस प्रकार से चाहे वह सत् हो चाहे असत् वैसे ही अनुभव किया जाता है ॥३९॥ जगत् की जड़ता की अन्य प्रकार से उपपत्ति न होने के कारण उसके अनुरूप प्रधान, परमाणु आदि रूप कारण की कल्पना करो तो स्वप्न में प्रतीत होनेवाले प्रपंच का प्रधान, परमाणु आदि द्वारा कदापि निर्वाह नहीं हो सकता, आतएव आत्मा का ही जगद्भाव मानने पर तो उसी न्याय से सृष्टि के आदि में भी ब्रह्म ही जगत वेष धारण करेगा । इससे प्रधान, परमाणु आदि की कल्पना

ठीक नहीं है, यह भाव है ॥४०॥

ऐसा मानने पर जगत् की, प्रमाणों के अविषय ब्रह्म में अध्यासवश स्वप्न की तरह, अनिर्वचनीयतारूप प्रमाणअविषयता भी सिद्ध होगी यों अद्वैत का अविरोध होने से दूसरी अनुकूलता हमारे पक्ष में हुई, ऐसा कहते हैं।

चूँकि ब्रह्म से अभिन्न यह विश्व प्रमाणों के अगोचर परम ब्रह्म से आविर्भूत है इसलिए प्रमाणों का अगोचर यह कुछ भी उदित नहीं हुआ ॥४१॥

इसलिए ब्रह्मरसिक लोगों का चित्त जगत् को ब्रह्म ही देखता है यों उन के अनुभव का अनुसरण भी हो गया, यह कहते हैं।

जिसका चित्त जिस ओर रसिक रहता है उसका चित्त वैसा ही अनुभव करता है इस कारण एकमात्र ब्रह्म में रसिक तत्त्वज्ञचित्त जगत् की ब्रह्मता का अनुभव करता है। जिस मनुष्य के चित्त-प्राण सदा जिस पर अनुरक्त रहते हैं, लगे रहते हैं, वह उसको वास्तविक (सत्य) प्रतीत होता है अतएव उसी का स्पष्टरूप से वह अनुभव करता है। जो मन एकमात्र ब्रह्म में रसिक होता है वह क्षणभर में ब्रह्म बन जाता है अतः जिसका मन जिसमें रस पाता है उसने उसी पदार्थको यथार्थ (सत्) जाना है ॥४२-४४॥ जिस जीव का चित्त दृढ़ निश्चयवश जिसमें विश्रान्त हो चुका, उसके लिए वही परमार्थ (सत्य) है, इसलिए ब्रह्मज्ञानी और नास्तिक अपने निश्चित मार्ग से अतिरिक्त जो याग, दान आदि कर्म करते हैं वह केवल सदाचार से लोकसंग्रहार्थ व्यवहार के लिए बिना इच्छा के मानों जबर्दस्ती करते हैं ॥४५॥ मेरे द्वारा निर्दिष्ट इस उपाय से (युक्ति से) यदि जगत् का भलीभाँति अवलोकन कीजिये तो यह सब आपको सत्तामात्र ही प्रतीत होगा। यह दृग (चित्) ही है इस चित् में द्वित्व, एकत्व की कल्पना कोई नहीं है। जिनकी ज्ञानदृष्टि में दृश्य, सत्, असत्, मूर्त, अमूर्त सब कुछ ब्रह्म ही है, उनकी दृष्टि में यहाँ अथवा कहीं न कर्ता अथवा भोक्ता जीव ही हैं और न उनका अभाव ही है, क्योंकि उन्हींका ब्रह्मरूप से शेष रहता है। जैसे अज्ञानी पथिकों के चोरों के सन्देह, भ्रान्ति आदि के योग्य वनमार्ग में स्थाणु ही चोर आदि के रूप से स्थित होता है वैसे ही आदि अन्त विहीन सर्वतः शान्त जगत्पर्यायवाला ब्रह्मैकघन (चिन्मात्रघन) यह ब्रह्म ही इस प्रकार (जगद्रूप से) आत्मा में स्थित है। जो ही बुद्धि समष्टि हिरण्यगर्भ आदिरूप जगत् है उसी को आप निरंजन (निर्विकार) ब्रह्म जानिये जैसे कि जो ही प्रशान्त आकाश है वही शून्य है। जैसे आकाश में केशों का वर्तुलाकार गोला, नीलता आदि, जो सद्असद्रूप हैं, आकाश से भिन्न से प्रतीत होते हैं, वैसे ही परम ब्रह्म में सद्असदात्मक बुद्धि आदि भिन्न से प्रतीत होते हैं। जैसे आकाश में घट, पट आदि के सब अभाव आकाश से अनन्य हैं, वैसे ही सर्वसामान्यसत्तारूप ब्रह्म में बुद्धि आदि, देह आदि अनुभव आदि अनेकरूप प्रतीत होने पर भी ब्रह्म से अभिन्न ही हैं। एकमात्र निद्रारूप सुषुप्ति से स्वप्न में प्रवेश कर रहे स्वप्न-सृष्टि में स्थित जीवात्मा का न तो द्वित्वरूप से निर्वचन होता है और न एकत्वरूप से ही होता है क्योंकि वहाँ व्यावर्त्य कोई प्रसिद्ध नहीं है वैसे ही एकमात्र निद्रारूप प्रलय से सृष्टि में प्रवेश कर रहे अज्ञ दृष्टि से सर्गस्थ भी ब्रह्म का द्वित्वरूप से अथवा एकत्व रूप से निर्वचन नहीं हो सकता। हे श्रीरामजी, महाचेतन की यह अपनी निर्मल कान्ति अथवा अविद्या ही जगत् के

रूप से स्फुरित होती है। वास्तव में तो निर्मल छाया इस प्रकार स्थित है कुछ भी स्फुरित नहीं होती है। चिदाकाश में चिदाकाशरूप ही यथास्थित (ज्यों–का–त्यों) निज स्वच्छ विग्रह चेत्य–सा दृश्य–सा प्रतीत होता है जैसे कि स्वप्नों में यथास्थित चिदात्मा ही स्वप्न पदार्थों के रूप से स्फुरित होता है। हजारों वादियों द्वारा भी सद् वस्तु से अतिरिक्त का उपपादन न हो सकने तथा सत्यकारण का अभाव होने से चिद्व्योम स्वयं अपने को दृश्यरूप से देखता है, यही पक्ष सिद्ध हुआ। सृष्टि के आरम्भ में निराकार चिदाकाश परमात्मा का ही दृश्य के रूप में भान होता है और वह भान स्वप्न, संकल्प और मिथ्याज्ञान में हुए भ्रम के तुल्य भ्रम ही है। दृश्य स्वप्न के समान सकल धर्मशून्य चिदाकाश ही है, क्योंकि उसमें तनिक भी धर्म का अस्तित्व नहीं है। वस्तुभूत (परमार्थभूत) चिदाकाशका विकारी भी तथा धर्मवान् भी आकार अविद्यारूप मल से प्रतीत होता है। वास्तव में उसमें आकार, विकार और धर्म नहीं हैं। स्वप्ननगर के तुल्य दृश्य प्रतीतितः साकार होता हुआ भी वास्तव में निराकार है और प्रतीतितः धर्मवान् होता हुआ भी निर्धर्मक है। अधिष्ठानरूप सन्मात्र से अभिन्न भी वह अज्ञजनों की दृष्टि से इस प्रकार जगत् के आकार से निरन्तर ही स्थित है ॥४६–५८॥ स्वप्नपर्वत के तुल्य स्वच्छ दृश्य स्वाधिष्ठान चिन्मात्र से रंचभर भी भिन्न नहीं है, इसलिए चिदाकाशमात्ररूप से परिशिष्ट चिदाकाश की आकाश की अपेक्षा भी अतिसूक्ष्मता सिद्ध हुई, यह अर्थ है ॥५९॥ सकल रूपों से विरहित सच्चिदानन्दघन जो परम ब्रह्म है वही अपने सच्चिदानन्दघन स्वरूप से रंचभर भी च्युत न हो यथास्थित ही सृष्टि के रूप से स्थित है ॥६०॥ स्वप्न में दृश्य का सबको अनुभव होता है। स्वप्न में आत्मा ही नगर आदि के रूप में भासता है।

शंका : स्वप्नकाल में सत्य नगरादि का जीव द्वारा निर्माण हो, क्योंकि 'अथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते स हि कर्ता' (स्वप्नकाल में जीव रथों की तथा रथयोग्य मार्गों की सृष्टि करता है) ऐसी श्रुति है।

समाधान : स्वप्न में जीव द्वारा सत्य नगर आदि की रचना नहीं होती है, क्योंकि 'न तत्र रथा रथयोगा पन्थानो भवन्ति' (न वहाँ रथ होते हैं और न रथयोग्य मार्ग होते हैं) 'मायामात्रं तु कात्यसेर्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' (स्वप्न की सृष्टि शुक्ति रजत, रज्जुसर्प आदि के समान मायामात्र है, क्योंकि उसका स्वरूप देश, काल आदि सम्पूर्ण धर्मों से अभिव्यक्त नहीं होता) इत्यादि श्रुति और सूत्रों ने स्वप्न में सृष्टि का निषेध किया है और उसे मायामात्र कहा है॥६१॥

यदि कोई कहे कि 'स एवायं देवदत्तः' (वही यह देवदत्त है) 'तदिदं पूर्वदृष्टमेव मद्गृहम्' (यह वही पूर्वदृष्ट मेरा घर है) इत्यादि अबाधित प्रत्यभिज्ञा आदि से स्वप्न में भी पदार्थ सत्य हों ? इस शंका पर कहते हैं।

स्वप्न में 'वही यह रेखा है' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा का विषय हो रहे गृह आदि पदार्थ का हृदय, कण्ठ, नाड़ी छिद्र आदि प्रदेश में किसी प्रकार भी संभव न होने से प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती, पदार्थ का संभव न होने के कारण इन तीनों का त्याग कर ब्रह्मसंवित् का ही निद्रा आदि दोषों से स्वाप्न पदार्थ के रूप से अन्यथाभान होता है उसी में जाग्रत्–दृष्ट पदार्थों की तुल्यता की कल्पना कर अनुभव के व्यवहाराभास की तरह स्मृति आदि के सादृश्य की भी कल्पना कर उसमें स्मृत्यादिता भी मूढ़ों ने मानी है, ऐसा समझना चाहिये ॥६२,६३॥

सादृश्य से भी वही यह लहरी है, वही यह दीपशिखा है इत्यादि प्रत्यभिज्ञाभ्रम लोक में प्रसिद्ध हैं, ऐसा कहते हैं।

जिसी जल में जैसे लहरी एक बार आती है उसी जल में वैसे ही अभिन्न लहरी पुनः पुनः आती है वैसी अवस्था में 'सैवेयं लहरी' (यह वही लहरी है) ऐसा प्रत्यभिज्ञाभ्रम होता है वैसे ही सृष्टि के आदि में कल्पनाधिष्ठान परम ब्रह्म में जगत् को भी भ्रमरूप समझना चाहिये ॥६४॥

केवल कल्पनामात्र होने के कारण ही ब्रह्म में 'स दाधार पृथिवीं घ्यामुतेमाम्' (उसने इस पृथिवी और द्युलोक को धारण किया), 'यस्मिन् द्यौः पृथिवीचान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैस्तमेवैकं जानथ आत्मानम्' (जिसमें द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष सब प्राणों के साथ मन ओत–प्रोत हो केवल उसी को आत्मा जानो) इत्यादि जगत् की विधियाँ और 'नेह नानास्ति किंचन' (यहाँ भेद कुछ भी नहीं है) इत्यादि जगन्निषेध समानरूपसे समावेश पाते हैं, ऐसा कहते हैं।

परस्पर सदा ही सभी विधियाँ और निषेध अलग अलग (विभक्त) होकर और मिलकर परम ब्रह्म में हैं और नहीं भी हैं ॥६५॥ इसलिए सद् ब्रह्म सर्वात्म है, इसमें क्या नहीं है ? वह ब्रह्मसत्ता ही सर्वात्म है इस कारण यह सब कुछ ब्रह्मसत्तात्मक (सदात्म) और सर्वात्मक है ॥६६॥

इस कारण उसमें सकलवादियों की सभी कल्पनाओं का अविरोध से समावेश और कल्पनाविहीन पुरुष का मोक्ष भी उपपन्न होता है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

क्रीड़ा के लिए भ्रमण कर रहे बालक की दृष्टि में वृक्ष, पर्वत, नदी आदि के समूह के साथ भूमि का भ्रमण होता है अन्य लोगों की दृष्टि में भूमि भ्रमणशील नहीं है। दोनों ही दृष्टियाँ सदात्मक हैं। भ्रमावस्था में भूमि नहीं घूमती है ऐसा ज्ञान रखनेवाले भी बालक को जब तक स्थिरता का अभ्यास नहीं होता तब तक पहले गृहीत भूभ्रमणदृष्टि शान्त नहीं होती है वैसे ही भ्रमावस्था में जगद्भ्रान्ति दृष्टि भी स्थिरता के अभ्यास के बिना शान्त नहीं हो सकती है ॥६७॥

प्रकृत में दृश्यभ्रम की निवृत्ति का उपयोगी कौन अभ्यास करना चाहिये, यह बतलाते हैं।

तत्त्वज्ञानी गुरु को सेवा आदि द्वारा प्रसन्न करके उनके द्वारा इस मोक्षउपायभूत शास्त्र का व्याख्यान कराकर जो उसके श्रवण का अभ्यास है, उसके बिना दृश्य की निवृत्ति के लिए न कोई दूसरा मार्ग हुआ है और न होगा ॥६८॥

यदि कोई यह शंका करे कि इस शास्त्र के अभ्यास से क्या करना है, योगशास्त्र में प्रसिद्ध चित्त के निरोध से ही दृश्यविलोपरूप इष्ट सिद्धि हो जायेगी ? तो इस पर कहते हैं।

हाँ ऐसा होता यदि चित्त का निरोध शक्तिसाध्य होता। चित्त–निरोध का ही संभव नहीं है। चित्त का स्वरूप संसार से अविनाभावी (पृथक् न होनेवाले) है, अतः जाग्रत् और स्वप्न में जीवित अथवा सुषुप्ति में लय होने के कारण मरे हुए चित्त का प्रयत्नपूर्वक निरोध करने पर भी उसका संसार से निरोध नहीं हो सकता है, किन्तु इस शास्त्र के अभ्यास के अधीन बोध होने से ही बाधित होकर यह संसार को नहीं देखता है, इसलिए इस शास्त्र का अभ्यास ही दृश्यनिवृत्ति का उपाय है, यह भाव है ॥६९॥ जैसे चित्त सदा ही संसार से अविनाभावी है वैसे ही दृश्यरूप संसार भी चित्त और शरीर दोनों से अविनाभावी। वे दृश्य और शरीर इस शास्त्र के अभ्यास से प्रतिबन्ध न होने पर इसी जन्म

में तत्त्वबोध होने पर निवृत्त हो जाते हैं, प्रतिबन्ध रहने पर अन्य जन्म में प्रतिबन्ध का नाश होने पर बोध होने से निवृत्त होते हैं। *इस विषय में भगवान् वेदव्यासजी का सूत्र है – 'ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धेत द्दर्शनात्' (प्रतिबन्ध का अभाव होने पर इस जन्म में विद्या की उत्पत्ति हो सकती है और प्रतिबन्ध होने पर अन्य जन्म में भी होती है इसी जन्म में विद्या उत्पन्न हो ऐसा नियम नही है, क्योंकि श्रुतियों में ऐसा देखा जाता है* ॥७०॥ जैसे कारण के अभाव से (शुक्रास्त, शुक्रोदयआदि कारण न होने से) वायु, स्पंदन और उनसे होनेवाले मेघसैन्य शान्त हो जाते हैं वैसे ही बोध से चित्त, दृश्य और शरीर तीनों निवृत हो जाते हैं ॥७१॥

तो चित्त, दृश्य और शरीर इन तीनों का कारण क्या है ? इस प्रश्न पर उसे कहते हैं।

चित्त, दृश्य और शरीररूप त्रिक का कारण अज्ञान (ब्रह्मात्मभाव का आवरण करनेवाली अविद्या) ही है। और कुछ ही संस्कृत मतिवाले पुरुषों का उक्त त्रिक पढ़े गये इस शास्त्र से ही शान्त हो जाता है ॥७२॥

यदि कोई कहे कि केवल पढ़ने मात्र से इसका सकल अर्थ कैसे अवगत होगा ? इस पर कहते हैं।

यदि पदपदार्थ ज्ञानवान् पुरुष बीच में ही थककर इसके पढ़ने से विरत न हो तो पहले पहले समझ में न आया हुआ (अबुद्ध) ग्रन्थ का उत्तर ग्रन्थ से (आगे के ग्रन्थ से) बोध होता है ॥७३॥ इसलिए भ्रम की निवृत्ति में इसी शास्त्र को असाधारण उपाय आप जानिये। ऐसा ही ज्ञानियों द्वारा इसका अनुभव किया जाता है ॥७४॥ इसलिए इस महाशास्त्र से दो भागों का (पूर्व और उत्तर दो भागों का) अथवा एक भाग का (आधे ग्रन्थ का) अपनी शक्ति के अनुसार अनुशीलन करना चाहिये। उससे अवश्य दुःख की निवृत्ति होगी ॥७५॥ यह ऋषि–प्रणीत शास्त्र स्मृतिरूप है और स्मृति का मूल (उद्गम) श्रुति है। इसलिए श्रुति का ही क्यों विचार न करें इस बुद्धि से प्रमादवश यदि यह शास्त्र किसी को रुचिकर न हो तो वह किसी अन्य श्रुतिरूप (उपनिषद्, भाष्य आदि रूप) आत्मज्ञानप्रद शास्त्र का ही विचार करे। अध्यात्मशास्त्र के विचार से विमुख न हों, इसी में हमारा तात्पर्य है। इसी शास्त्र का अनुशीलन करें इसमें हमारा आग्रह नहीं है ॥७६॥ मनुष्य अविचाररूप अनर्थ से अपनी जिन्दगी बरबाद न करे। श्रवण आदि उपाय से उत्पन्न तत्त्वबोध से सम्पूर्ण दृश्य को आत्मसात् करना चाहिए, बाधपूर्वक आत्मा द्वारा ग्रास करने योग्य बनना चाहिये। *यहाँ पर 'देये त्रा च' इस सूत्र से साति प्रत्यय है जैसे कि 'ब्राह्मणसादिदमन्नं कर्तव्यम्' यहाँ पर है* ॥७७॥

आत्मज्ञान के विषय में आलसियों को प्रोत्साहित करते हैं।

आयु के बीते हुए एक क्षण को भी यदि कोई चाहे सुवर्ण आदि की राशि के साथ सकल रत्नों से लौटाना चाहे, वापस पाना चाहे तो पा नहीं सकता। ऐसी दुर्लभ आयु को जो वृथा गँवाता है उसके प्रमाद का क्या ठिकाना है। उसके लिए खेद है, महाखेद है। प्रत्येक्ष अनुभूत भी, अन्तःकरण से उपहित भी तथा स्वप्न में दैवात् दृष्ट अपने मरण पर चारों ओर बान्धवों द्वारा किये गये विलाप की तरह सत्–सा स्फुरित भी यह दृश्य सत् नहीं है, निपट मिथ्या ही है। ऐसा ब्रह्मअद्वैत का दिग्विजय का डिंडिमघोष है ॥७८,७९॥

एक सौ पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ छिहत्तरवाँ सर्ग

सृष्टि के आरम्भ में चिदणु में स्वप्न की तरह ब्रह्माण्डों का भान होता है
इस विषय में ब्रह्माजी द्वारा उक्त ब्रह्माण्डाख्यान का वर्णन।

यदि 'दृश्य असत् है' यों दृश्य के बाध द्वारा चिन्मात्र का परिशेष ही पुरुषार्थ है तो अज्ञान सहित वर्तमान ही दृश्य जगत् के बन्धनरूप होने से उसी की निवृत्ति करना उचित है। अतीत तथा अनागत (भविष्यत्), प्रतीत न हो रहे तथा अवर्तमान जगतों का परिमार्जन तो प्रकृतोपयोगी नहीं है। क्योंकि वे तो अप्रतीतिवश ही बन्धनभूत नहीं हो सकते हैं, इसलिए शास्त्र में उनके जिक्र का कोई मतलब नहीं है, ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, अतीत (भूत) और भविष्यत् असंख्य जगत् हैं उनके वृत्तान्तों से आप मुझे क्यों प्रबुद्ध करा रहे हैं यानी मुझे बोध कराने के लिए उनका उल्लेख उपयोगी नहीं है ॥१॥

केवल वर्तमान दृश्य का ही शास्त्र में उपन्यास करना चाहिये अतीत अनागत अन्य किसी जगत् के उपन्यास की आवश्यकता नहीं है, यह आपके आक्षेप का निचोड़ निकलता है। वह ठीक नहीं है। पद और पदार्थ का सम्बन्ध, व्याप्ति ग्रह तथा दृष्टान्तसिद्धि आदि अतीत व्यवहार के अधीन हैं, अतीत जगत् के उपन्यास के बिना विचारात्मक शास्त्र में प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती है। इसलिए अतीत, आगे होनेवाले ब्रह्माण्डों का तथा वर्तमान अन्य ब्रह्माण्डों का, शब्द-अर्थ के सम्बन्ध ग्रह आदि में उपयोग न होने के कारण, उपन्यास नहीं करना चाहिये इतना ही आक्षेप करना उचित हो तो कीजिये यों अनादर से उसका स्वीकार कर रहे से भगवान् श्री वसिष्ठ जी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इस शास्त्र में जगत्‌रूप स्वप्नों में शब्द और अर्थ का वाच्यवाचकभावसम्बन्ध क्या आपको ज्ञात नहीं हुआ ? इसलिए इस शास्त्र को सुनाने के लिए नियुक्त पुरुष ने उनका कथन व्यर्थ नहीं किया ॥२॥ जो कथा सुनिश्चित वाक्यवाचकभाववाले शब्द-अर्थों द्वारा कही जाती है वही हृदयंगम होती है, वही यहाँ व्यवहार में उपयोगी होती है अन्य नहीं, ज्यों केवल लौकिक बुद्धि के अनुसार आलोचन करने पर आपने बहुत ठीक आक्षेप किया, यह अर्थ है ॥३॥

यदि तत्त्वज्ञानियों में प्रसिद्ध त्रिकाल में निर्मल दर्शनवाले तत्त्व का पर्यालोचन करोगे तो सर्वज्ञ अपने ही दृष्टा होने के कारण अतीत, भविष्यत्, व्यवहित (व्यवधान में स्थित), अतिदूरवर्ती अनन्त ब्रह्माण्डों की वर्तमान इस ब्रह्माण्ड से रंचमात्र भी विशेषता न होने के कारण आपका यह आक्षेप उठ ही नहीं सकेगा, इस आशय से कहते हैं।

जब आप ज्ञात-ज्ञेय होकर भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों में निर्मल दृष्टिवाले होगे तब उन सबको (अतीत, अनागत, व्यवहित, अतिदूर के ब्रह्माण्डों को) प्रत्यक्ष ही जानेंगे ॥४॥

तत्त्वज्ञानी की वर्तमान अन्यान्य ब्रह्माण्डों तथा भविष्यत् ब्रह्माण्डों में पुनरावृत्ति शंका का निवारण करने के लिए पूर्वोक्त ब्रह्माण्ड भी स्वप्न प्रपंचतुल्य होने से मूलअज्ञान के बाध से बाधित होते हैं, यह प्रतिपादन करने के लिए उनका भी शास्त्र में उदाहरण देना आवश्यक ही है, ऐसा कहते हैं।

जैसे स्वप्न में आद्य चिन्मात्र का (परब्रह्म परमात्मा का) ही स्वयं जगत् के रूप से भान होता है वैसे

ही अतीत, अनागत आदि सकल सृष्टियों के आदि में चिन्मात्र का ही जगद्रूप से भान होता है, केवल इतना अंश ही उनका उपयोगी है अन्य उनकी अनन्त विचित्रता प्रकृत के उपयोगी नहीं है ॥५॥

उनकी अनन्त विचित्रता क्यों प्रकृतोपयोगी नहीं है ऐसा यदि प्रश्न हो तो असंख्य होने के कारण उनकी विचित्रता की इयत्ता का शास्त्र में वर्णन करना दुष्कर है, इस आशय से कहते हैं।

आकाश में परमाणु परमाणु में असंख्य जगत् हैं, अतः उनके उन अनन्य व्यवहारों का पूर्णरूप से वर्णन करने की किसमें क्षमता है ? ॥६॥ 'अणु अणु में असंख्य जगत् हैं' इस विषय में कमल के पराग से व्याप्त शरीरवाले मेरे पिता श्रीब्रह्माजी ने जो आख्यान पहले कभी मुझसे कहा था उसे मैं आपसे कहता हूँ, सुनिये। पहले किसी समय मैं श्री ब्रह्माजी से पूछ बैठा कि 'भगवन्, यह जगज्जाल कितना विशाल है और कहाँ पर इसका भान है यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये।' ॥७,८॥ इस पर श्रीब्रह्माजी ने कहा : हे मुने, ब्रह्म ही सम्पूर्ण जगत्रूप से भासता है। ज्ञानियों की दृष्टि में ब्रह्मसत्ता से यह अनन्त है और अज्ञानियों की दृष्टि में भी जगद्रूप से अनन्त है। कानों के लिए आभूषण स्वरूप मेरे इस सुन्दर आख्यान को, जो ब्रह्माण्ड पिण्ड और ब्रह्माण्डाख्यान इन यथार्थ नामों से प्रसिद्ध है, सुनो ॥९,१०॥ आकाश में शून्यत्व के समान और वायु के शुद्ध स्पन्दन के तुल्य आकाश से अभिन्नस्वरूप चिदाकाश–परमाणु है। उसने (चिदाकाश–परमाणु ने) अपने तात्त्विकस्वरूप के अदर्शनरूप निद्रावश स्वप्न की तरह अपने आत्मा में अपने से समष्टिजीवत्व वैसे ही देखा जैसे आकाश अपने में स्व से अभिन्न शून्यरूप देखता है या जैसे वायु अपने में स्पन्दन देखता है ॥११,१२॥ तदुपरान्त अपनी अविकारिता, असंगता, पूर्णता और सूक्ष्मता का त्याग न कर रहे उस जीव ने आकाशरूप अहंकाररूप से अपना स्वरूप देखा। उस अहंकाररूप ने अपने में 'मैं बुद्धि हूँ' यों अपने को बुद्धिरूप से देखा। वह बुद्धि एक निश्चय निर्माणमयी (निश्चयात्मिका) असत् पदार्थों की भ्रान्ति उत्पन्न करने के कारण माया की अनुरूपिणी है ॥१३,१४॥ विकल्पाभासों के आरोपण द्वारा अविकल्प आत्मा को स्वयं निम्न स्तर पर पहुँचा रही बुद्धि ने स्वप्न में 'मैं मन हूँ' यों अपने को असत्मयमन रूप देखा ॥१५॥ तदनन्तर उक्त निराकार मन ने स्वप्न में देहवर्ती पाँच ज्ञानेन्द्रियों को वैसे ही देखा जैसे कि अज्ञानावृत जीव–चैतन्यस्वप्न में निराकार आत्मचैतन्य को घनाकार स्वप्नपर्वत के रूप में देखता है। उस मन देह चिदाकाश परमाणु ने इस प्रकार समष्टिरूप होकर भित्तिशून्य (भेदशून्य) होते हुए भी भित्तियों से पूर्ण (भेदपूर्ण) विस्तृत त्रिभुवनस्वरूपविराट शरीर को देखा, जो अनेकों भूतों से वेष्टित, विविध स्थावर–जंगमजीवों से युक्त, कल्पना और काल से व्याप्त तथा परस्पर अनेकों के संग की कल्पना करनेवाला है ॥१६–१८॥ इस स्वप्न में प्रत्येक व्यष्टि जीव दर्पण में प्रतिबिम्बित ऐसे, द्रष्टा, दृश्य, दर्शन, भोक्ता, भोग्य, भोग, कर्ता, कार्य और क्रिया इन तीन त्रिपुटी रूप नौ रंगों से मनोहर त्रैलोक्यरूप नगर को देखता है। तदनन्तर स्वप्न के समान इस जाग्रत् में भी प्रत्येक व्यष्टि जीव दर्पण तुल्य हृदय में प्रतिबिम्बित ऐसे, पूर्वोक्त त्रिपुटीरूपी नौ रंगों से मनोहर इस त्रिजगत् का अनुभव करता है। इस प्रकार जीव–भेदों से विभिन्नरूप सब चित्परमाणुओं के अतिसूक्ष्म उदर में भी इस प्रकार (वर्णित रीति से) कल्पित महान् जगत् विद्यमान हैं। और वे जीवसमूहों और पृथिवी आदि के संघातों से निबिड से हैं। अविद्यारूप से ज्ञात, यह सब स्वतत्त्वज्ञानरूपा अविद्या ही है। ब्रह्मरूप से परिज्ञात यह निर्मल ब्रह्म ही हो जाती है। इस प्रकार

ब्रह्मरूप से देखने पर तो जो जगत्स्वप्नजाल का दृष्टा है वह भी कुछ नहीं है। यहाँ पर कौन दृष्टा है, कहाँ से दृश्य है, कहाँ द्वैत है और कहाँ द्वैत का कारण है ? केवल आकाशरूप पूर्णरूप से प्रशान्त आदि अन्त-वर्जित स्वच्छ भेदशून्य ब्रह्म ही सकलरूप से चारों ओर भासित हो आत्मा में स्थित है। जैसे समुद्र में बड़ी बड़ी तरंगों के अनिवार्य वेगवश चंचल हुए जल के असंख्य परमाणुसमूह स्थित होते हैं वैसे ही जब तक अज्ञाननिद्रा है तब तक लाखों ब्रह्माण्डों की राशियाँ नित्य अनन्यरूप (अभिन्नरूप) परमात्मा में भली भाँति स्थित हैं ॥१९-२५॥

एक सौ छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सतहत्तरवाँ सर्ग

कल्पना से कारण सहित किन्तु वस्तुस्थिति से (वास्तविकता से)
अकारण यह जगत् अज्ञान से स्वप्नतुल्य है और ज्ञान से ब्रह्म ही है, यह वर्णन।

यह स्वप्नतुल्य सृष्टि अकारण ही है, ऐसा पीछे अनेक बार जो कह आये हैं उस पर श्रीरामचन्द्रजी गेहूँ, धान आदि कार्य की भी कृषि, वृष्टि आदि कारण के बिना ही उत्पत्ति होगी यों उत्पत्ति-प्रसंग पर आशंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : मुनिवर, यदि परमपद से यह जगद्रूप ब्रह्म स्वप्न, संकल्प आदि के समान निष्कारण ही प्रवृत्त होता है तो अकारण ही सकल इच्छित पदार्थों की सिद्धि होने पर अन्य गेहूँ, धान आदि किसानों की कोई वस्तुएँ कभी, बीज, जोतने आदि के कारण के बिना ही क्यों नहीं होती ? ॥१,२॥

हम बीज और अंकुर आदि की कल्पनाप्रसूत कार्य-कारणता का निवारण नहीं करते, जो व्यवहार की व्यवस्था करनेवाली है, किन्तु जगत् में सत्यता के स्थापन से तत्त्वज्ञान की व्यर्थता का प्रतिपादन करनेवाले ब्रह्मातिरिक्त प्रधान, परमाणुआदि अश्रौत (श्रुति द्वारा अप्रतिपादित) कारण, जिसकी विभिन्न वादियों ने कपोल कल्पना कर रक्खी है उसका निराकरण करते है जिससे कि जगत् की एकमात्र ब्रह्मविवर्तता की सिद्धि से तत्त्वज्ञान से बाध होने पर कैवल्यसिद्धि हो इस आशय से श्रीवसिष्ठजी उक्त शंका का समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, अनादि व्यवहार में जिसने जिस जिस पदार्थ की जैसे दृढ़ाभ्यास से अटल (कल्पित कार्यकारणभाव बद्ध) कल्पना की वह उसको वैसे ही कार्य या कारणरूप से देखता है। अन्यथा कल्पित कार्यकारणभाव को तोड़ने से व्यवहार में भी व्यावहारिक नियमों का अपलाप होने पर कोई कल्पना ही नहीं होगी, अतः अभ्यास के बिना सबकी मुक्ति का प्रसंग आयेगा ॥३॥

अतएव कल्पना करनेवाले पुरुष की बुद्धि के अनुसार से व्यवस्थित ही वस्तु अनुभव में आती है, ऐसा कहते हैं।

जिस पुरुष ने मन से इस दृश्य की जिस तरह की कल्पना की वह उसको वैसा जानता है और दूसरे ने जिस तरह की कल्पना की वह वैसा अन्यरूप जानता है। अतएव भाट्ट वार्तिक में कहा है 'परिवाट्कामुकशुनामेकस्यां प्रमदातनो। कुणपः कामिनी भक्ष्यमिति तिस्रो विडम्बनाः।' अर्थ : एक ही

शरीर में परिव्राजक की 'शव' बुद्धि, कामी पुरुष की 'कामिनी' बुद्धि और कुत्ते की 'भक्ष्य' बुद्धि यों तीन विडम्बनाएँ होती हैं ॥४॥

तो क्या बिना किसी आलम्बन के ही कल्पना होती है ? इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देते हैं।

जैसे कल्पनात्मक चेतनपुरुष केश, नख आदि अचेतन युक्त प्रतीत होता है वैसे ही कल्पनात्मक स्वभाव एक ब्रह्म ही यह जगत् है यानी ब्रह्म में अचित् अंश कल्पित और चित् अंश अकल्पित है ये दोनों मिले अंश ही जगत् हैं ॥५॥ अतएव वास्तविक दृष्टि से अकारण पदार्थता और कल्पना दृष्टि से सकारण पदार्थता दोनों का ही ब्रह्म में अविरोध से अस्तित्व है, क्योंकि वह सर्वशक्ति स्वरूप है ॥६॥

यदि ब्रह्म उभयात्मक (सकारण पदार्थरूप और अकारण पदार्थरूप) है तो आपने अकारण पदार्थता पक्ष की ही क्यों स्थापना की ? इस आशंका पर कहते हैं।

यदि अज्ञानी की दृष्टि से ब्रह्म से अन्य (भिन्न) कहीं पर कुछ भी कदाचित् प्रतीयमान हो तो कारणों के विकल्प से उसका संयोग ठीक है, मेरे उसका प्रतिपादन न करने में यही भाव है कि तत्त्वज्ञान ही सप्रयोजन है। एकमात्र तात्त्विक दृष्टि में पक्षपात से मैंने उसकी (अकारण पदार्थता पक्ष की) स्थापना की है दूसरा रहस्य कुछ नहीं है ॥७॥ जहाँ पर तत्त्वदृष्टि से नाना अनानारूप सब कुछ आदि–अन्तरहित शान्त अद्वितीय ब्रह्म ही भासता है वहाँ पर कौन किसका कारण है ? न तो तब ज्ञानकाल में कुछ प्रवृत्त होता है और न कुछ निवृत्त होता है, एक अद्वितीय आदि अन्त विहीन चिदाकाशात्म ब्रह्म ही केवल निज स्वरूप में स्थित है। जब यथार्थ में अकारणता ही है और कारण की केवल कल्पना ही है तब कौन किसका किससे किस प्रयोजन के लिए किस अधिकरण में कारण होगा अथवा कौन किसका किससे किसलिए किसमें कारण न होगा ? ॥८–१०॥ इस ब्रह्म में शून्यता और अशून्यता दोनों का अभाव है, क्योंकि अशून्यता शून्य की अपेक्षा से होती हैं अतएव न शून्य है, न अशून्य है, न सत् है, न असत् है और न सत्असत् है। महाशून्य में 'ननेति ननेति' यों कथन होता है ॥११॥

सकल जगत् की ब्रह्मैकघनता से शून्यता है, शून्यैकरसता से शून्यता नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जो कुछ नहीं है, शून्य है, अथवा कुछ है; जो है अथवा नहीं है ऐसे इस जगत् को आप ब्रह्म ही जानिये,क्योंकि वह ब्रह्म अध्यारोप में सबसे अनुगत होने के कारण वैसा ही है और अपवाद में सबसे व्यावृत्त होने के कारण वैसा है ही नहीं ॥१२॥

जैसे अध्यारोप और अपवाद अज्ञों की दृष्टि से हैं तत्त्वज्ञानी पुरुष अज्ञानियों को प्रबुद्ध करने के लिए उनका अंगीकार करते हैं वैसे ही अज्ञानियों के संमत प्रधान, परमाणु आदि से जन्य कारण–भाव का संभव भी वे ज्ञानी क्यों नहीं स्वीकार करते, ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, अज्ञानियों के ज्ञानगोचर पृथिवी, जल, तेज, वायु आदिरूप कार्य में उनके अवयवों की परम्परा की चरम सूक्ष्मतारूप परमाणु और सत्त्व आदि गुणरूप कारणों का संभव होने पर जन्य पदार्थ अकारण क्यों है, अथवा अद्वितीय ब्रह्म का परिशेष कैसे है ? हे प्रभो, यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥१३॥

हाँ, ऐसा होता, यदि ब्रह्म से भिन्न प्रधान, परमाणु आदि की कल्पना करनेवाला कोई अज्ञानी सिद्ध होता जब 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्' इस श्रुति द्वारा

प्रदर्शित रीति से ब्रह्म ही अपने स्वरूप के अज्ञान से अज्ञ होता है उसी के तत्त्वज्ञान में उपयोगी शास्त्र तब अध्यारोप और अपवादरूप युक्ति से ही तत्त्वज्ञान में उपयुक्त होता है न कि प्रधान, परमाणु आदि की कल्पना से यों दोनों में विषमता है इस आशय से श्रीवसिष्ठजी श्रीरामजी के प्रश्न का समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : 'वत्स, तत्त्वज्ञानी जनकी दृष्टि में अज्ञानी कोई अतिरिक्त है ही नहीं। ऐसी स्थिति में असत् आकाश वृक्ष के विषय में विचार करना कैसा ?॥१४॥

तत्त्वज्ञानी के प्रति अज्ञानी क्यों नहीं है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

तत्त्वज्ञानी लोग एक बोधमय, शान्त विज्ञानघनरूपी हैं, क्योंकि 'तद्यथासैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वा अरे अयमात्मा विज्ञानघन एव प्रज्ञानघन एव' (जैसे नमक के ढेले का न कुछ बाहर है न भीतर है वह सारा का सारा रसघन है वैसे ही यह आत्मा विज्ञानघन ही है प्रज्ञानघन ही है) ऐसी श्रुति है। इसलिए उनकी असत् पदार्थ के विषय में विचारणा कैसे संभव है ? ॥१५॥

ब्रह्म से अतिरिक्त तत्त्वज्ञानी नहीं है ऐसी संभावना कैसे करते हैं, क्योंकि तार्किक और पामरजन 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' 'मैं ब्रह्मज्ञानी नहीं हूँ' यों अपने में ब्रह्मभिन्नता और अब्रह्मज्ञता का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, ऐसी स्वयं आशंका कर उक्त अनुभव से ही तार्किक और अज्ञों की ब्रह्मता का समर्थन करते हैं।

अज्ञान आदि सकल जगत् के आरोप का अधिष्ठान जो चिन्मात्र है वही ब्रह्म है। और उसका 'मैं अज्ञ हूँ' यों अनुभव करनेवाले तार्किक की आत्मा में वारण कदापि नहीं किया जा सकता, क्योंकि अज्ञता प्रबोधरूप आत्मा के अन्दर भासित होती है। यदि वैशेषिकों द्वारा कल्पित यह आत्मा जड़ है तो वह आत्मा में अज्ञान का अनुभव कैसे करेगा ? अतः आत्मा अज्ञान का अधिष्ठान चिद्रूप है यह इसी अनुभव से सिद्ध है। और जगत् केवल अज्ञानात्मा ही है इसलिए उसका अंग है। जैसे स्वप्न और सुषुप्ति दोनों निद्रा के अन्दर निद्रांगता को प्राप्त हुए केवलनिद्रारूप ही हैं उनका स्वरूप निद्रा से भिन्न नहीं है वैसे ही जगत् का स्वरूप भी अधिष्ठान चिद्रूप से अतिरिक्त नहीं है। ज्ञानस्वभाव आत्मा में स्वभावविरुद्ध अज्ञान आरोप के बिना नहीं रह सकता, इसलिए अज्ञान आदि जगत् के आरोप की अधिष्ठानता आत्मा में इसी अनुभव से सिद्ध है, यह अर्थ है ॥१६॥

यदि अज्ञानादि जगत की अधिष्ठानतारूप सर्वात्मकता ब्रह्म का लक्षण हो तो ज्ञान से उसकी निवृत्ति होने पर यह अब्रह्म ही होगा, ऐसी आशंका उठने पर कहते हैं।

यद्यपि अज्ञानादि जगत की अधिष्ठानतारूप सर्वात्मकता ही ब्रह्म का लक्षण है तथापि मूर्ख जनता को बोधित करने के लिए मूर्ख बुद्धि का अनुसरण कर शुद्ध ब्रह्म को समझाने के लिए मैंने यह ब्रह्म का तटस्थलक्षणरूप अज्ञनिश्चय कहा है। ब्रह्म का शुद्ध निरामय आनन्दैकरस स्वरूप स्वरूपलक्षण तो अतिसूक्ष्म होने से अज्ञानियों की समझ में नहीं आ सकता है ॥१७॥

अज्ञानी की बुद्धि के अनुसार जगत् को अन्यसा मानकर सृष्टि के आदि में कारण है ऐसा स्वीकार करने पर भी यक्ष के अनुरूप बलि होती है इस न्याय के अनुसार मिथ्याभूत प्रपंच की मिथ्या माया ही कारण होगी फिर भी वास्तविक अद्वैत की क्षति नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

शुक्तिरजत, मरुनदी, रज्जुसर्प आदि पदार्थ अकारण ही हैं। संवित् द्वारा उनका कारणजन्यत्वेन कल्पना करने पर वे सकारण हैं, अन्यथा कल्पना करने पर अकारण हैं यों मिट्टी से निर्मित गौरी और

गणेश की मातृता और पुत्रता के तुल्य कल्पना के अनुसार ही उसकी व्यवस्था है। संवित् की जैसे कल्पना की जाती है वैसी ही अकारणता या सकारणता की प्राप्ति होती है ॥१८॥

तत्त्वदृष्टि से सदा अखण्ड अद्वितीय ब्रह्म ही है कदाचित् भी अणुमात्र भी इसमें हेरफेर नहीं है इसलिए सृष्टि के कारण का (परमाणु आदि का) कोई निरूपण नहीं कर सकता, ऐसा कहते हैं।

सकल कारणों की निवृत्ति होने पर सकल तत्त्ववेत्ताओं की दृष्टि में सृष्टि का कोई कारण नहीं है। इससे सृष्टि अकारण है ॥१९॥ इस प्रकार के स्वप्न, गन्धर्वनगर, मरुमरीचिका सदृश जगत् में सत्यता सिद्ध करने के आग्रह से वैशेषिक आदि 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इत्यादि श्रुतियों में प्रसिद्ध मायाउपहित ब्रह्म से भिन्न तटस्थ ईश्वर, प्रधान, परमाणु कुछ कारण की कल्पना करते हैं पर वह प्रत्यक्ष श्रुति और विद्वानों के अनुभव से विरुद्ध होने और वेदान्त शास्त्र में विविध युक्तियों से निराकृत होने के कारण कड़ुवा, सृष्टि करनेवाले ईश्वर अथवा भोग करनेवाले जीव का पुरुषार्थप्रद न होने से निरर्थक, अतएव ज्ञानियों का अहृदयंगम (अरुचिकर) वृथा कण्ठशोषण करनेवाले वाग्जाल (वाग्विलास) ही है ॥२०॥

ज्ञानबाध्यता की अन्यथा उपपत्ति न होने के कारण भी जगत् स्वप्नतुल्य ही है, इसलिए उनके लिए कार्यकारण-कल्पना का अवसर नहीं है, ऐसा कहते हैं।

ज्ञानबाध्यता का अन्यथा संभव न होने से ही कल्पना के सिवा दृश्य की स्वप्नतुल्य स्थूलाकाररूप कोई दृश्यता नहीं हैं ॥२१॥

उसी बात का विस्तृतिकरण करते हैं।

अप्रबुद्ध (सुप्त) पुरुष के स्वप्न के पृथिवी आदि पदार्थों के अनुभव में क्या कारण है ? चित्स्वभाव के सिवा स्वाप्न पदार्थ क्या है ? कहिये ॥२२॥ स्वाप्न पदार्थ जब तक अज्ञात रहता है यानी यह स्वप्न है वास्तव नहीं है यों ज्ञात नहीं होता है तभी तक महामोहराशि का प्रदान करता है जब यह स्वप्न है यों ज्ञात हो जाता है तब मोह नहीं करता वैसे ही सर्ग भी जब तक उसकी वास्तविकता का ज्ञान नहीं होता तभी तक मोहप्रद है उनकी असत्यता का ज्ञान होने पर मोह नहीं करते हैं। शुष्क तर्क के दुराग्रह से अनुभव में आरूढ़ न होनेवाला जो यत् किंचित् कारण (प्रधान, परमाणु आदि) कल्पित होता है, वह मूर्खतावश एकमात्र दूराग्रह ही है ॥२३,२४॥ अग्नि की उष्णता, जल की शीतलता, सकल तेजों की प्रकाशता जैसे स्वभाव है वैसे ही ज्ञात ब्रह्म का स्वभाव ही सब पदार्थों का कारण है। भाव यह कि यदि कारण अपेक्षित है तो अज्ञानउपहित आत्मा का स्वभाव ही कारण हो ॥२५॥

मनोरथ से कल्पित नगर की तरह ध्याता के भेद से व्यवस्थित आकारवाला होने के कारण भी इसका सर्वसाधारण एक कारण नहीं कहा जा सकता है, इस आशय से कहते हैं।

सैकड़ों ध्यानकर्ताओं द्वारा प्राप्त हुए एक ध्येय का (ध्यानयोग्य का) क्या कारण है ? और गन्धर्वनगर, स्वप्नपुर और भित्तियों में क्या कारण है ? ॥२६॥

धर्म-अधर्म तो अमूर्त होने के कारण ही मूर्त देह आदि के उपादान कारण नहीं हो सकते हैं यों कर्ममीमांसकों के पक्ष का भी निराकरण करते हैं।

अमूर्त (निराकार) होने के कारण धर्म आदि परलोक में मूर्त साकार देह के कारण नहीं हैं फिर स्वर्ग

आदि का भोग करनेवाले शरीर का क्या कारण होगा ? ॥२७॥

विज्ञानवादी के मत में भी अमूर्त और क्षणिक विज्ञान में मूर्त अक्षणिक की कारणता दुर्वच है, ऐसा कहते हैं।

विज्ञानवादी का ज्ञान भी विशाल भित्ती आदि और अभित्तियाँ उनसे विलक्षण परमाणु आदिरूप मुहुर्मुहुः उत्पन्न होकर ध्वंस होनेवाले अनन्त पदार्थों का उपादान कारण नहीं है ॥२८॥

स्वभाववादी चार्वाक के मत का निराकरण करते हैं।

अंकुरादि स्वभाव का काल, खेत, जलादि सहित स्वभाव कारण है ऐसी चार्वाकों की उक्ति है। बीज और स्वभाव इन दो पदों के अर्थ में पार्थक्य न होने से 'अकुंरस्वभावस्य' इस स्वभावपद में षष्ठ्यर्थ का सम्बन्ध प्राप्त नहीं हो सकता, इसलिए दोनों के पर्याय होने के कारण दोनों का साथ प्रयोग नहीं हो सकता अतः यह कल्पना व्यर्थ है ॥२९॥

इससे परिशेषात् हमारा सिद्धान्त सिद्ध हुआ, यों दिखलाते है।

इसलिए सब पदार्थ और उनके कारण ये सब अज्ञानी में निष्कारण भ्रान्ति ही है। तत्त्वज्ञ में तो सन्मात्ररूप से स्थित ही कार्य सन्मात्ररूप कारण से ही चित् के चमत्काररूप से आविर्भूत होता है और तिरोहित होता है, उससे अतिरिक्त अणुमात्र भी नहीं है, यह भाव है ॥३०॥

अतएव ज्ञानी को अकृत करोड़ों अपराधों से भी मन में दुःख नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

जैसे स्वप्न में डाकुओं द्वारा किया गया वध, बन्धन आदि प्रबुद्ध पुरुष को स्वप्न मिथ्यात्व का ज्ञान होने से दुःखदायी नहीं होता वैसे ही तत्त्वज्ञान के अनन्तर जीवन भी दुःखप्रद नहीं होता ॥३१॥ सृष्टि के आदि में उत्पन्न नहीं हुआ यह दृश्य चिदाकाशस्वरूप स्वप्न के तुल्य भासता है, इसलिए इसमें अन्य (दुःख) और दुःख के कारण की उपपत्ति नहीं होती है। इस युक्ति के सिवा और कोई कल्पना युक्तियुक्त नहीं दिखाई देती, इसलिए यह जगत्कल्पना ब्रह्मानुभूति ही है, यह अर्थ है ॥३२,३३॥ जैसे शुद्ध जलराशि में लहर, भँवर, द्रवता आदि भासते हैं वैसे ही ब्रह्म में यह सर्गपर्याय (सर्गापरनामक) ब्रह्म भासता है ॥३४॥ जैसे निर्मल वायु में स्पन्दन, आवर्त, विवर्त आदि भासते हैं वैसे ही ब्रह्मरूपी वायु में सृष्टिरूपी स्पन्द भासता है ॥३५॥ जैसे महाकाश में अनन्तता, छिद्रता, शून्यता आदि धर्म हैं वे सब आकाशरूप हैं वैसे ही सृष्टि भी परात्पररूप है उससे भिन्न नहीं है। जैसे निद्रा आदि में स्पष्टरूप से उपलब्ध भी ये सब पदार्थ असत्मय ही हैं वैसे ही ये सृष्टि के पदार्थ सत् से अनन्यरूप ही हैं। जैसे निद्राघन में स्वप्न और सुषुप्ति है वैसे शुद्ध सौम्य चिद्घन आत्मा में सृष्टि, प्रलय और स्थिति हैं। जैसे मनुष्य एक स्वप्न से अन्य स्वप्न में स्थित होता है वैसे ही अजन्मा परमात्मा स्वसत्ता में एक सर्ग से अन्य सर्ग के रूप में स्थित होता है। जैसे स्वप्नानुभवों में पृथिवी आदि से रहित स्वाप्नपदार्थ पृथिवी आदि से युक्त–सा प्रतीत होता है वैसे ही पृथिवी आदि से रहित भी यह निर्दोष ब्रह्माकाश पृथिवी आदि से युक्त–सा प्रतीत होता है। जैसे अनन्तरूप इस साम्प्रतिक परमात्मा में वर्तमान घट, पट आदि शब्द उनके अर्थ स्थित हैं वैसे ही अनन्य महाचैतन्य में भूत और भविष्यत् सृष्टियाँ स्थित हैं ॥३६–४१॥

जब अनन्य है तब शब्द और उनके अर्थभूत सर्ग ब्रह्म में हैं इस उक्ति का 'पश्यन्त्यामेव पश्यन्ती तिष्ठति' यों अभिन्न ही पश्यन्ती में भेदोपचार से औपचारिक आधाराधेय भाव में पर्यवसान होता है,

ऐसा कहते हैं।

जैसे साम्प्रतिक अनन्यभूत परमात्मा में सृष्टिरूप परमात्मा का भान होता है वैसे ही चित् में चिन्मय शब्द और उनके अर्थभूत सर्गों का चित् से ही भान होता है ॥४२॥

जब शब्द और उनके अर्थभूत सर्ग चिन्मय ही हैं तब वहाँ कार्य कर चुका शास्त्र भी जिस पर शासन किया जाय ऐसे व्यक्तिविशेष के अभाव में मोक्षरूप फल के पृथक् न होने से और निराकरणीय प्रपंचरूप बन्धन न रहने से निवृत्त हो जाता है, ऐसा कहते हैं।

वहाँ पर शास्त्र का क्या प्रयोजन है ? वहाँ कथाओं के विचार से भी क्या प्रयोजन है ? क्योंकि शास्त्रफल निर्वासनिक (वासनाशून्य) जीवनरूप मोक्ष सिद्ध हो चुका, पूर्वोक्त रीति से अकारण होने के कारण सृष्टि का अभाव होने से नाना प्रपंच रचना प्रत्यक्ष दिखाई देने पर भी कुछ नहीं है यानी पूर्णतया मार्जित हो जाती है। और यहाँ वासना के नाम से प्रसिद्ध जो यह प्रपंच के बीजरूप से भासित होती है वह भेदरहित बोधसत्ता ही भेदरूप से भासित होती है जैसे कि स्वप्न में चिदात्मा ही नगर आदि के रूप से भासित होता है ॥४३,४४॥

एक सौ सतहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ अठहत्तरवाँ सर्ग

इस सर्ग में अमूर्त (निराकार) चित् द्वारा समूर्त (साकार) जगत् के परिचालन में युक्तिवर्णनपूर्वक ऐन्दवाख्यान से जगत् अमूर्त चिन्मात्र ही है, यह सिद्ध किया गया है।

'धर्म आदि अमूर्त होने के कारण परलोक में मूर्त देह के कारण नहीं हो सकते यह कथन सुनकर अमूर्त चिदात्मा द्वारा मूर्त देह आदि के चालन में युक्ति की जिज्ञासा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी उसकी अनुपपत्ति दिखलाने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, त्रैलोक्य में मूर्त और अमूर्त भेद से दो प्रकार के पदार्थ हैं जिनमें से कुछ सप्रतिघ (आपस में टकरानेवाले) हैं और कुछ अप्रतिघ (आपस में न टकरानेवाले) हैं। भाव यह कि यहाँ पर मूर्त अमूर्त ब्रह्मरूप से दिखलाया गया विभाग अभीष्ट नहीं है, किन्तु प्रतिघात की योग्यता और प्रतिघात की अयोग्यतारूप उपाधि द्वारा कृत विभाग अभिप्रेत है ॥१॥

फूल, कपास (रुई), मक्खन आदि अत्यन्त कोमल पदार्थ कठिन शिलाओं की नाईं प्रतिघात के (टक्कर के) योग्य नहीं हैं, अतः उनमें कोई अमूर्तता न समझ जाय इसलिए सप्रतिघ, अप्रतिघ आदि विशेषणों के तात्पर्य का अलग अलग लक्षणों से उद्घाटन करते हैं।

यहाँ अप्रतिघ उन्हें कहते हैं, जो परस्पर टकराते नहीं है और सप्रतिघ उन्हें कहते हैं जो परस्पर टकराते हैं ॥२॥

इसी बात को लोकप्रसिद्धि से स्पष्ट करते हैं।

लोक में सप्रतिघ पदार्थों का तो परस्पर टकराना दिखलाई देता है, किन्तु अप्रतिघरूप किन्हीं पदार्थों का किंचित् भी आपस में टकराना नहीं दिखाई देता ॥३॥ उनमें संवेदन नाम से प्रसिद्ध जो पदार्थ है वह अप्रतिघ ही है। क्योंकि चन्द्रमा का निरीक्षण कर रहे पुरुष के यहाँ से नयन-रश्मियों का

अनुगमन करनेवाले चित् के साथ चित्तउपहित संवेदन चन्द्रमण्डल में बिना आघात के (टक्कर के) ही गिरते हैं, इसलिए वे अमूर्त हैं। यह सभी चन्द्रदर्शियों द्वारा अनुभूत होता है ॥४॥

यदि कहिये कि आपका यह आक्षेप प्रबुद्ध दृष्टि से है अथवा अप्रबुद्ध दृष्टि से है ? प्रथम पक्ष में तो मूर्त प्रसिद्ध ही नहीं है और दूसरे पक्ष में अमूर्त चिति देह आदि को प्रवर्तित करती है यह अप्रसिद्ध है, क्योंकि देह से लेकर अहंकारपर्यन्त सम्मिलित समुदाय का ही व्यवहारी लोगों को आत्मरूप से अनुभव होता है ऐसी शंका उठाकर कहते हैं।

अर्धप्रबुद्ध लोगों के (दूसरी तीसरी भूमिका के बीच के लोगों के) संकल्प विकल्परूप द्वैत से कल्पित इस जगत् को मानकर मैं आक्षेप करता हूँ, बोधदृष्टि से परिशिष्ट चिन्मात्र मानकर आक्षेप नहीं करता हूँ ॥५॥ यद्यपि आशय में स्थित मूर्त प्राणवायु ही प्रवेश और निर्गमरूप वृत्तियों से क्षुब्ध होकर देह को प्रवृत्त करता है यह कहा जा सकता है तथापि हे प्रभो, उसमें प्रवेश-निर्गममय क्षोभ कौन पैदा करता है ? यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥६॥

यदि कहा जाय कि जीवरूप चिदाभास ही प्राणवायु का क्षोभ पैदा करेगा, तो उस पर कहते हैं।

जैसे बोझ ढोनेवाला बोझ को ढोता है, परिचालित करता है, वैसे ही अमूर्त चिदाभास समूर्त प्राण आदि देहपर्यन्त इस भार को परिचालित कैसे कर सकता है ? यदि अमूर्त संवेदनमात्र चिदाभास प्राणादि देहान्त मूर्त पदार्थ को व्याप्त कर संचालित कर सकता है, तो पुरुष के केवल संकल्प संवित् से पर्वत क्यों नहीं चलता ? ॥७,८॥

जैसे बाहर का वायु लोहार की धौंकनी में भीतर प्रवेश करने और बाहर निकलने से धौंकनी को चलाता है वैसे ही प्राणवायु में भी कण्ठनाली के छिद्र के संकोच और विकास से अनुमित अपने प्रवेश और निर्गम से देह आदि का चालकत्व प्रत्यक्ष है हृदय आदि प्रवेश में भी यों ही उसकी संचालकता समझनी चाहिये यों श्रीवसिष्ठजी गूढ अभिप्राय से समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, देह में, हृदय में स्थित नाड़ी जब संकोच और विकास को प्राप्त होती है तब प्राण गले के छेद से बाहर आता है और भीतर जाता है। जैसे छिद्र में रहनेवाले यानी छिद्रवान् सकल द्रव्यों के अन्दर संचार करनेवाला वायु बाहर स्थित लोहार की आजीविका की साधनभूत धौंकनी में प्रवेश करता है और बाहर निकलता है वैसे ही वायु प्रवेश और निर्गम से हृदय में स्पन्दन पैदा करता है। श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, जैसे बाहर स्थित धौंकनी को लोहार उसके संकोच और विकासों से युक्त करता है वैसे ही भीतर स्थित नाड़ी को कौन परिचालित करता है ? भाव यह है कि यद्यपि वायु परिचालन करता है तथापि लौहार आदि चेतन से अधिष्ठित धौंकनी में ही वह उस तरह स्पन्द पैदा करता है अन्यत्र नहीं करता इसलिए चेतन को ही अचेतन के नियत व्यवहार चेष्टा में निमित्त अवश्य कहना चाहिये ॥९-११॥

यदि प्रश्न हो कि 'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः' ('एक सौ एक हृदय की नाड़ियाँ हैं') इस श्रुति में चारों ओर फैली हुई सौ नाड़ियाँ सुनी जाती हैं। एक सौ नाड़ियों की प्रत्येक शाखा से बहत्तर बहत्तर नाड़ियाँ निकली हैं यों हजारों नाड़ियाँ होती हैं, उनमें 'व्यान' नामक वायु का संचार होता है। उन सकल नाड़ियों में व्यान वायु के संचार को देहादि के संचलन में निमित्त मानें तो सदा ही सर्वांग का

संचलन होना चाहिये एक एक हस्त, पाद आदि का व्यापार नियत नहीं होना चाहिये। यदि कहिये एक अंग का उद्यम न होने में सौ की सौ नाड़ियाँ उस अंग में एक हो जाती हैं, सर्वांग का संचलन उपस्थित होने पर एकाकार भी सौ नाड़ियाँ सर्वांग व्यापिनी हो जाती हैं, तो उस पर भी कहते हैं।

समय विशेष पर यानी एक एक अंग के चालन के समय सौ नाड़ियाँ कैसे एक हो जायेगी और समय विशेष पर यानी सर्वांग के चालन के समय कैसे एक नाड़ी सौ हो जायेंगी तथा दूसरी बात यह भी है कि अमूर्त चैतन्य का संश्लेष देह में भी नहीं है। आध्यासिक सम्बन्ध तो काष्ठ, लोष्ट आदि में भी तुल्य है, इसलिए उन्हें भी सचेतन कहना चाहिये। और वह कैसे संभव है ? लोक में जंगम पदार्थ ही क्यों स्पन्दयुक्त होते हैं ? वृक्ष, लता, काष्ठ, पाषाण आदि स्थावर वस्तु यदि चेतन है, तो उसमें स्पन्दन क्यों नहीं होता ? वह देह के समान भोग के उपयोग से चमत्कृत भी क्यों नहीं होती, नियन्त्रण करनेवाले कुलाल (कुम्हार) आदि से अधिष्ठित चक्र आदि की तरह नियतकाल में ही स्पन्दनवाली क्यों होती है ? यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥१२,१३॥

कार्य–कारण की स्वामिनी भोग करनेवाली जीवसंवित् का जिसमें अनादि प्रवाह से प्राप्त काम, कर्म और वासना से प्रयुक्त तादात्म्यअध्यास है, उसके चालन में आध्यासिक स्वतादात्म्यशाली प्राण के संश्लेष से वह स्वतन्त्र है अन्य जगह परतन्त्र है इस तरह की व्यवस्था है, यों गूढ अभिप्राय से वसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

जैसे बाहर लोहार धौंकनी को संचालित करता है वैसे ही जीव संवित् अन्दर आन्त्रवेष्ठन को (हड्डी–समूह को) संचालित करती है, उसके अनुसार ही लोक में सब लोग बाहर चेष्टा करते हैं ॥१४॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिवर, शरीर में स्थित वायु, अँतड़ी आदि सब कुछ सप्रतिघ (साकार) है उसको अप्रतिघ निराकार जीवसंवित् कैसे संचालित करेगी ? यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये। यदि अप्रतिघाकार संवित् सप्रतिघरूप देह आदि का संचालन करेगी, तब तो दूर स्थित भी जल प्यासे पथिक की इच्छा से स्वयं ही आ जायेगा। यदि सप्रतिघ और अप्रतिघ पदार्थों का परस्पर संश्लेष हो तब तो इच्छा ही बाहर बोलना, लेना, देना, विहार आदि करेगी फिर कर्मेन्द्रियों से कहाँ पर क्या होगा ? हे मुनिवर, जैसे सप्रतिघ (प्रतिघातयोग्य) और अप्रतिघ का (प्रतिघात के अयोग्य का) बाहर श्लेष (संपर्क) नहीं है वैसे ही भीतर भी उनका श्लेष नहीं है ऐसा मैं मानता हूँ। अर्थात् बाहर उनका श्लेष न होने पर भी भीतर श्लेष हो ऐसा मेरा मत नहीं है। इस प्रकार आपसे समाधान में दी गई युक्तियों का खण्डन हो जाने पर अन्य युक्तियाँ आप दीजिये। खंडित युक्तियों को ही बार–बार मत दुहराइये। अथवा आप योगिराज हैं आपको स्वयं जैसे इसका (अमूर्त का ही मूर्त से सम्पर्क का), जो लोक में अत्यन्त अप्रसिद्ध है, योगबल से जिस उपाय से अनुभव होता है उसे मुझसे शीघ्र कहने की कृपा कीजिये ॥१५–१९॥

इस प्रकार श्रीरामजी की ओर से आक्षेप होने पर श्रीवसिष्ठजी पूर्वोक्त गुढ़ाभिसन्धिवाला उत्तर भी वासनाओं को बाहरी और भीतरी परिच्छेदरूप भ्रान्तिमूलक होने से वह अनवस्थाग्रस्त, सूक्ष्म विचार करने पर न टिकनेवाला है यों श्रीरामचन्द्रजी उसे समझ गये हैं पुनः मैं उनको दुहराऊँगा तो श्रीरामचन्द्रजी उसका अवश्य खंडन करेंगे यों सोचते हुए उस उत्तर की उपेक्षाकर सिद्धान्त के अवलम्बन से ही एक उक्ति से सबका समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, सकल सन्देहरूपी वृक्षों की जड़ तत्त्व वस्तु का अज्ञान ही है, अतएव सब वस्तुओं के एकतानुभवरूप तत्त्वसाक्षात्कार की अनुभूति के लिए उक्त सन्देहरूपी वृक्षों की जड़ खोदनेवाला कानों को भूषणों के समान आनन्द देनेवाला यह वचन आप सुनिये ॥२०॥ श्रीरामचन्द्रजी, आपने जो अनेक आक्षेप किये हैं वे लागू हो सकते यदि हम प्रपंच को सप्रतिघ और यथार्थ मानते। हमारे मत में यहाँ कहीं पर भी कोई वस्तु सप्रतिघ है ही नहीं। यह सभी कुछ प्रपंच सदा शान्त अप्रतिघ ही सब ओर व्याप्त है। स्वप्न और संकल्पों की तरह पृथिवी आदि सब पदार्थराशि शुद्ध संवित्मय शान्त अप्रतिघरूप है। कारण का अभाव होने से यह सब प्रपंच आदि में और अन्त में नहीं है, जैसे स्वप्न में स्थित चित् का पर्वत, नदी, नगर आदि के रूप में भान होता है वैसे ही वर्तमान सृष्टि भी भ्रान्तिरूप ही है। इसलिए तत्त्ववेत्ता लोग विवेक, वैराग्य, त्याग, श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि प्रयत्न से साध्य कारणों से वासना सहित मूर्ताकार को हटाकर द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदी, दिशा आदिरूप जगत् को अप्रतिघ बोधमात्र ही जानते हैं। हे श्रीरामचन्द्रजी, आप अन्तःकरण, भूत आदि तथा मिट्टी, काठ, पत्थर आदि सबको शून्य और चेतन को अशून्य समझिये चेतन के सिवा अन्य अशून्य नहीं है ॥२१-२५॥

चिन्मात्र ही सर्व जगत् है, मूर्त कुछ भी नहीं है, इस विषय में पूर्वोक्त ऐन्दवाख्यान को पुनः सुनाने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं।

इस विषय में कानों को भूषित करनेवाले इसी प्रकार के ऐन्दवाख्यान को आप सुनिये। मैंने पहले उत्पत्ति प्रकरण में मनोमात्र ही जगत् है यह दिखलाने के लिए वह आख्यान कहा था यहाँ पर चिन्मात्र ही जगत् है यों निर्वाण-निष्कर्ष के लिए उसे कहता हूँ ॥२६॥

प्रस्तुत प्रश्न के पूर्णतया समाधानरूप प्रयोजनभेद से भी इसकी पुनरुक्ति दोषावह नहीं है, यह कहते हैं।

प्रस्तुत प्रश्न के बोध के लिए फिर भी उसे आप सुनें। जिससे कि यह सब पर्वतादि जगत् अमूर्त चित् ही है इस प्रश्न का समाधान आपको विदित हो जायेगा ॥२७॥ उत्पत्ति-प्रकरण में वर्णित ही आकार-प्रकार से युक्त किसी जगज्जाल में तपस्या और वेद-प्रतिपादित आचार-विचार का आधारभूत 'इन्दु' नाम से प्रख्यात कोई ब्राह्मण हुआ। उसके ब्रह्माण्डोदरवर्ती आकाश के दस दिक्तटों की तरह महानों और सज्जनों के आस्पदभूत (आश्रयभूत) महात्मा महाशय दस पुत्र हुए। जैसे दसों के मध्य में ग्यारहवें भगवान् रुद्र महाप्रलय में अन्तर्धान को प्राप्त होते हैं वैसे ही उन दसों का पिता इन्दु कालवश अन्तर्धान को प्राप्त हो गया। उसकी अनुरागवती भार्या ने वैधव्य के कष्टों से जैसे तारारूपी चंचल नेत्रवाली अनुरागवती (लालिमापूर्ण) सन्ध्या दिन का अनुगमन करती है वैसे ही उसका अनुगमन किया ॥२८-३१॥ उनके वियोगजन्य दुःख से व्याप्त हुए उनके उन पुत्रों ने उनका और्ध्वदैहिक संस्कार कर लोकव्यवहार का परित्याग कर समाधि के लिए वन का मार्ग पकड़ा ॥३२॥ धारणाओं में से (विषयविशेष आकारित मन की स्थिरतारूप धारणाओं में से) किंविषयिणी (किसमें बाँधी गई) धारणा उत्तम सिद्धि देनेवाली होगी। हम लोग यन्मय (यत्स्वरूप) होकर सबके अधिपति हो जायेंगे। ऐसा विचार कर उन दसों ने वहाँ निर्विघ्न कन्दरा के मध्य में पद्मासन बाँधकर यह विचार किया। ब्रह्मा से

अधिष्ठित सकल जगत् की धारणा से (ब्रह्मा से अधिष्ठित सकल जगत् के आकार से आकारित मन की स्थिरतारूप धारणा से) स्थिर (निश्चल) हुए हम लोग बिना किसी विघ्न बाधा के ब्रह्माधिष्ठित जगद्रूप हो जायेंगे। यह सोच विचार ब्रह्मयुक्त जगत् की धारणा से निमीलित नेत्र कमलवाले वे चिरकाल तक चित्रलिखित ऐसे बैठे रहे। इसके पश्चात् जब पूरे अठारह महीने तक ब्रह्मासहित जगत् की धारणा में बँधे हुऐ चित्तवाले वे मन के अन्यवृत्तिधारण द्वारा उससे च्युत न होकर स्थित रहे तब उनके शरीर सूखकर हड्डी हड्डी हो गये, मांसाहारी जीव नोच नोचकर उनके अवयवों को खा गये अतएव प्रकाश द्वारा नष्ट किये गये छायाभाग की तरह उनके शरीर वहाँ पर नष्ट हो गये। मैं ब्रह्मा हूँ, मैं यह जगत् हूँ, मैं यह भुवनों से पूर्ण सृष्टि हूँ यों ध्यान कर रहे उनका महान् काल व्यतीत हुआ। उसके पश्चात् ध्यान के परिपाक से देहरहित वे दस चित्त पृथक् पृथक् दस ब्रह्माण्डरूप जगत् बन गये, क्योंकि जैसा पुरुष का ध्यान होता है वैसा ही बन जाता है यह बात तत्क्रतुन्याय से प्रसिद्ध है। इस प्रकार ऐन्दवों की चित् ही इच्छा बनकर सम्पूर्ण जगत् बन गई। आकार से रहित अत्यन्त निर्मलरूप ही वह स्थित रही यानी अपने स्वभाव के कुछ त्याग से जगत् नहीं बनी किन्तु निर्मल चित्स्वभावरूप से ही स्थित रही। यों सब जगतों की संविद्रूपता सिद्ध हुई। जगतों के संवित्रूप होने से उनके वे भूमि, पर्वत, नदी आदि सभी को आप चिदात्मक ही जानिये। यदि उनका दस प्रकार का त्रिजगज्जाल चिदात्मक नहीं है तो क्रियात्मक है ? आप ही कहिये। वह संविदाकाश शून्यत्वमात्र ही है उससे अन्य नहीं है। जैसे तरंग जल के सिवा अन्य कुछ नहीं है वैसेही अचल आदि संवित्तत्त्व के सिवा अन्य कुछ नहीं है ॥३३–४४॥

ऐन्दव जगतों की तुल्यता प्रस्तुत जगत् में भी समझनी चाहिए, ऐसा कहते हैं।

जैसे आकाश में चिन्मय ये ऐन्दव जगत् हैं वैसे ही इन प्रस्तुत जगतों में भी काठ, ढेले, पत्थर आदि चिन्मय ही हैं। जैसे ऐन्दवों के संकल्प जगत्ता को प्राप्त हुए वैसे ही ब्रह्मा का यह संकल्प भी जगत्ता को प्राप्त हुआ है। इसलिए ये पर्वत, पृथिवी, वृक्ष, बादल, आकाशादि पंचमहाभूत ये सब कुछ चिन्मात्रमय ही विस्तृत हैं। जैसे उन ऐन्दव जगतों मे सब कुछ चित् ही था वैसे यहाँ पर भी वृक्ष चित्, है, पृथिवी चित् है, द्युलोक चित् है, आकाश चित् है और पर्वत चित् हैं, कहीं पर भी अचित् संभव नहीं है ॥४५–४८॥ चिन्मात्रआकाशरूप कुम्हार द्वारा अपने शरीररूपी चंचल (घूम रहे) चाक में अपने शरीररूपी मिट्टी से इस सृष्टि की रचना निरन्तर क्यों की जाती है। *'कुतः' यों असम्भावना की उक्ति सृष्टि का मिथ्यात्व जताने के लिए है ॥४९॥*

इस कथन से 'कथं सचेतना एते काष्ठलोष्टोपलादयः' इस प्रश्न का भी समाधान हो गया, इस आशय से कहते हैं।

संकल्प से विरचित सृष्टि में यदि पत्थर चेतन नहीं हैं, तो इस सृष्टि में ढेले, पत्थर, चट्टान आदि क्या हैं यह कहिये ? ॥५०॥ अनुभव, स्मृति और स्मृतिजनक संस्कार, इच्छा और कृति ये सब संविद्विशेष अर्थ विषयक हैं। इनके अन्दर अर्थ प्रतीत होता है और ये अपने अन्दर अभिव्यक्त चिन्मात्र को ही धारण करते हैं। जड़ अर्थ को धारण नहीं करते, इसलिए अर्थ चिद्रूप ही हैं। हम इस बात पर पहले ही विचार कर चुके हैं कि अर्थशून्य कल्पनाओं की अन्य ही स्थिति है और तत्त्व के अवगाहन के चमत्कार से शोभित होनेवाली कल्पना आदि का अन्य ही चमत्कार है।

अथवा यों दूसरा अर्थ करना चाहिये – यदि कोई कहे लोहा आदि की अनुभव, स्मृति और स्मृतिजनक संस्कार में एकरूपता है, इसलिए लोहा आदि अचिद्रूप ही हैं फिर उनको सचेतन कैसे कहते हैं, तो इस प्रश्न पर कहते हैं।

कलन (अनुभव) आदि चिन्मात्र लौह, शैल आदि तत्त्व को अपने उदर में धारण करते हैं, किन्तु उसका अवगाहन नहीं कर सकते, क्योंकि वह कल्पना आदि के उत्थान से पहले से ही है, इस विषय का हम पहले परामर्श कर चुके हैं। अज्ञात विषय में चक्षु आदि से अनुभव होता है ज्ञात विषय में स्मृति और संस्कार होते हैं। इसलिए इनसे पहले अज्ञात विषय की सिद्धि अवश्य माननी होगी। अचित्‌रूप तृण, काष्ठ, शैल आदि अज्ञात नहीं कहे जा सकते, क्योंकि जड़ों में अज्ञानरूपी आवरण का कोई प्रयोजन नहीं है, अतएव जड़ों से अन्य ही ब्रह्मसत्ता तृण आदि की तत्त्वभूत है। उसी का कलन, स्मृति और संस्कारों से जड़त्वरूप से विमर्श होता है ॥५१॥

इस कारण भी काष्ठ, लोहा आदि सचेतन हैं, ऐसा कहते हैं।

चूँकि वह परम चिद्धाम ही सर्वात्मक संवित्-धाम समष्टिव्यष्टि चित्त में मणियों की राशि में मणि की तरह देदीप्यमानरूप से भीतर स्थित होकर किसी तृण, काष्ठ, शैल आदि अर्थ की तरह उदित होता है क्योंकि 'तदनु प्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्' ऐसी भगवती श्रुती है। इस कारण भी तृण, काष्ठ आदि सचेतन हैं, चूँकि ये (तृण, काष्ठ आदि) कार्यकारणरहित ब्रह्म की सृष्टि हैं। जैसे सूर्य की प्रभा सूर्य की स्वभावभूत ही है अप्रकाशरूप नहीं है, इसलिए ये भी ब्रह्म के स्वभावभूत ही हैं, उससे भिन्न नहीं हैं। जब भिन्न नहीं हैं तब यह सब सचेतन ब्रह्मरूप ही है यह निश्चय हुआ ॥५२,५३॥ जैसे ढालू जमीन पर प्रवृत्त हुआ जल परात्मीयरूप अन्यकारण के बिना अपने ही अतितीव्र यत्न से स्वतः ही आवर्त, प्रवाह, तरंग आदि की विचित्रता से बहता है वैसे ही सृष्टि के उन्मुख चिति भी परात्मीयरूप अन्य कारण के बिना अपने ही अतितीव्र यत्न से स्वतः ही सृष्टिरूप से बहती है। जैसे पाद्मकल्प में भगवान की नाभिकमल-लीला ही जगतों की तरह स्फुरित होती है, इसलिए भी वे ब्रह्म से तनिक भी भिन्न नहीं हैं। इसलिए यह जगत् अनुत्पन्न, अनिरुद्ध, सन्मात्र, शान्त, भाव और अभाव दोनों का ही मार्जन होने से उनका मध्यरूप, चिदाकाशभूत, चिद्भानमात्र है ॥५४-५६॥

अतएव तृण, काष्ठ, शैल आदि को अचेतन समझनेवाले मूढ़ों का विद्वान् लोग उपहास करते हैं, ऐसा कहते हैं।

जो संवित्मय (चिन्मात्र) पर्वत आदि जगत् में स्थित हैं उनको अचिन्मय कहनेवाले अज्ञ का अभिज्ञों द्वारा उपहास किया जाता है ॥५७॥

ब्रह्मा के संकल्प से जन्य होने के कारण भी अपने मनोराज्य के तुल्य जगत् की चिन्मात्रता का अनुमान करना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

जैसे आत्मा संकल्पमय इन जगतों को आकाश में चिदाकाशात्मक जानता है वैसे ही ब्रह्मा के संकल्प से उत्पन्न यह जगत् भी चिदाकाशात्मक ही है ॥५८॥

आप इसी एक दृष्टि का अन्यान्य प्रकारों से पुनः पुनः क्यों समर्थन करते हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं।

यह प्रपंचदृष्टि दृढ़ की गई दिग्दृष्टि से ज्यों–ज्यों देखी जाती है त्यों–त्यों यह दुःख शीघ्रातिशीघ्र मिट जाता है। ज्यों–ज्यों यह प्रपंचदृष्टि चिन्मात्ररूप से चिरकाल तक नहीं विचारी जाती त्यों–त्यों यह प्रपंच–क्लेश अत्यन्त घन होता जाता है। महापापों से मूर्ख हुए अतएव इस दृष्टि को न देख रहे लोगों का यह संसार वज्र के तुल्य दृढ़ हो जाता है, कदापि शान्त नहीं होता है ॥५९–६१॥

अतएव महाफलवती होने के कारण इस दृष्टि को दृढ़ करना चाहिये, यों सर्ग का उपसंहार करते हैं।

इस जगत् में न आकृति है, न संसार है, न असंसार (मोक्ष) है, न जन्म है, न नाश है, न दूसरा कोई भावविकार है और न उसका अभाव है, परमार्थ चित्स्वभाव आत्मा में इस तरह परम शान्त ब्रह्म का स्फुरण होता है अथवा ब्रह्म से अतिरिक्त स्फुरण भी यहाँ सर्वथा नहीं है ॥६२॥

यदि कोई कहे कि स्फुरण के भी अभाव में ब्रह्म कैसे स्थित रहता है ? तो इस पर कहते हैं।

यद्यपि वह ब्रह्म स्फटिक के स्तम्भ की नाईं आकाशरहित अनेकों सृष्टिरूपी पुतलियों की राशि से भरा हुआ है तथापि उसमें जगत्रूपी लताएँ, उनकी चोटियाँ, उनकी जड़, उनकी रचनाएँ और उनकी जड़ों का भूमि में प्रवेश ये सब अलभ्य हैं वह आदि–अन्त विहीन है, काल से भी उसके जन्म और नाश नहीं होते, वह पूर्णरूप से अत्यन्त निर्मल है ऐसा वह चिदानन्दैकघन नित्यकैवल्यरूप स्थित है ॥६३॥ यही जब अमुक्तरूपी संसारी था तब इसके असंख्य हाथ चारों ओर से भरे थे, असंख्य आँख, कान, सिर, कण्ठ, उदर, पैर आदि अंग थे। मुक्तरूप तो आत्माकाशरूप, सुस्तम्भरूप, सन्मात्र अज मौन यह मैं ही हो गया, इसलिए फिर विकल्पों से कोई प्रयोजन नहीं है ॥६४॥

एक सौ अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ उन्नासीवाँ सर्ग

अतः सारा विश्व निराकार चिन्मात्ररूप से स्थित है अतः पूर्वोक्त शंका का अवसर कहाँ है, यह वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार त्रिलोकी केवलशुद्ध चिन्मात्र सत्त्व ही है। इसमें अज्ञानियों द्वारा मूर्तरूप से ज्ञात भूतों का संभव ही नहीं है। इसलिए कहाँ से शरीर आदि हो सकते हैं और कहाँ से समूर्त वस्तु हो सकती है ? जो यह कुछ दिखाई देता है वह अमूर्त ब्रह्म ही व्याप्त है। चिदाकाश में चिदाकाश स्थित है, सकल विषमता से मुक्त शान्त ब्रह्म शान्त ब्रह्म में स्थित है, आकाश आकाश में स्थित है, ज्ञान ज्ञान में स्फुरित है। जैसे जाग्रत् काल में स्वप्न संविन्मय शान्त अमूर्ताकार रहता है वैसे ही सब कुछ संविन्मय (चिन्मात्र) शान्त होकर अमूर्ताकार से स्थित है। आपके द्वारा कही गई यह सप्रतिघ स्थिति कहाँ है ? जहाँ पर कि यह आपकी शंका अग्रसर हो, यह अर्थ है ॥१–४॥

देह, उसके अवयव आदि प्रबुद्ध (जागे हुए) पुरुष की दृष्टि से स्वप्न शरीर के समान चिन्मात्र ही हैं इसलिए उनमें समूर्तता की शंका अज्ञानी की दृष्टि से ही हो सकती है तात्त्विक दृष्टि से नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं।

देह के अवयव कहाँ है, कहाँ आँतड़ियाँ हैं, कहाँ अस्थिपंजर (कंकाल) है आकाश के समान अमूर्त देह को आप स्वप्नदेह के समान समूर्त जानिये ॥५॥

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध मूर्त शरीर आदि का अपलाप केवल साहस ही है यह समझना ठीक

नहीं, ऐसा कहते हैं।

हाथ संवित् (चिन्मात्र) हैं, सिर संवित् है, सब इन्द्रियाँ संविद्रूप हैं सब कुछ शान्त अमूर्त है, समूर्त कुछ भी नहीं है। सहेतुक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध भी मूर्तता अहेतुक प्रमाणवाली और सकारण भी अकारण है, क्योंकि 'तस्य त्रय आवस्थास्त्रयः स्वप्नाः', 'नेह नानास्ति किंचन', 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति', 'अथात आदेशो नेति नेति' इत्यादि श्रुतियों से ही जगत् का अपलाप किया जाता है ॥६,७॥ कारण के बिना कार्य नहीं होता है, ब्रह्म निर्विकार और अद्वितीय है अन्य कारण कोई है नहीं, अतः जगत् की अनुत्पत्ति ही है। तत्त्वदृष्टि से यों जगत् के अपलाप की उपपत्ति होती है। अज्ञानी की दृष्टि से तो सृष्टि के अनादि होने से कारण परम्परा का संभव होने के कारण तथा ब्रह्म की प्रसिद्धि न होने से उत्पत्ति आदि सबकी उपपत्ति होती है। इसलिए जिसने जैसा निर्णय किया उसको वह वैसा प्रतीत होता है यों अपने अपने निश्चय के अनुसार दोनों की उपपत्ति होती है ॥८॥

युक्तिदृष्टि से तो कारण के बिना उत्पन्न संवित्‌रूप लब्ध यह जगत् न तो अत्यन्त असत् है और न अत्यन्त सत् है किन्तु सद्वत् है, यह कहते हैं।

कारण के बिना कार्य सद्वत् सिद्ध होता है। संभावना के अनुसार ही अर्थ को संवित् निस्सन्देह प्राप्त करती है। जैसे स्वप्न में चिन्मय आत्मा के सर्वरूप होने से सब कुछ का सर्वत्र सर्वथा संभव है वैसे ही जाग्रत् में भी चैतन्मय होने से ब्रह्म की सर्वात्मरूपता का संभव है ॥९,१०॥

मायावाद में तो सब अविरुद्ध है, यह कहते हैं।

नाना और अनानारूप सर्वात्मक ब्रह्मपद में यथार्थ में बिना कारण के कार्यों की सत्ता स्थित है और कल्पितरूप से कारणजन्य भी सत्ता है। एक भी सहस्र हो जाता है जैसे कि ये ऐन्दव संकल्पजनित जगतों के समूहों के साथ लाखों भूत बन गये वैसे ही हजारों संवित् भी एक हो जाती हैं क्योंकि सायुज्य मुक्ति में सब सृष्टियों के साथ विष्णु आदि का (आदि से ब्रह्म, रुद्र, चन्द्र, इन्द्र, सूर्य आदि ग्रहण करना चाहिये) एक शरीर होता है ॥११-१३॥

भिन्नसत्तावाली वस्तुओं में सत्ता की ऐक्य प्राप्ति तो लोक में भी प्रसिद्ध है यह कहते हैं।

सैकड़ों नदियों से भिन्न होता हुआ भी समुद्र एक ही है, ऋतु, संवत्सर आदि से भिन्न भी काल एक ही है ॥१४॥

वैसे ही एक ही आत्मा भ्रान्ति से देहादि नानात्व को प्राप्त हुआ जैसा प्रतीत होता है, यह कहते हैं।

यह संविदाकाश ही स्वप्न में उदित देह की तरह प्रकट हुआ है, स्वानुभूति से स्फुट भी स्वप्नपर्वत की तरह निराकार है। पूर्वोक्त अनुभव से जगत् संवित्‌रूप ही है वह संवित् ही द्रष्टा और दृश्य की दृष्टि से (अर्थात् भ्रान्ति से उनको पृथक् पृथक् मानकर) अनअनुभवात्मिका (जगत्‌रूप) प्रतीत होती है, इसलिए जगत् एकमात्र चिदाकाश ही है। जिस प्रकार एक ही निद्रा, स्वप्न और सुषुप्ति में क्रम से वेदनात्मिका और अवेदनात्मिका हो जाती है। जैसे वायु और स्पन्द अभिन्न है वैसे ही चित् और जगत् अभिन्न हैं, इसलिए यह जगत् एकमात्र चिदाकाश ही है। द्रष्टा, दृश्य, दर्शनरूप से सर्वपदार्थशून्य चिद्‌भान परमार्थाकाश ही स्वप्न की भाँति प्रतीत होता है, इसलिए यह जगत् एक चिदाकाश ही है। चूँकि प्रथम सर्ग से ही ईश्वर में भ्रान्ति से प्रतीत हुआ जगत्त्व असत् ही है इसलिए स्वप्न में प्राप्त

व्याघ्रादि के भय की तरह परिज्ञात होते ही यह सम्पूर्ण तथा शान्त हो जाता है। एक ही संवित् का स्वप्न में जिस प्रकार अनेकरूप से भान होता है उसी प्रकार सृष्टि के आदि में एक ही संवित् का चिदाकाश में नाना पदार्थरूप से भान होता है ॥१५–२०॥

अनेक दीप प्रभाओं के एकवद् भान की तरह एक ही मायाशक्ति का अनेकधा भान हो सकता है, यह कहते हैं।

जैसे बहुत दीपकोंवाले घर में बहुत–सी छायाएँ (कान्तियाँ) एकवत् प्रतीत होती हैं वैसे ही सर्वशक्ति परमात्मा की एक शक्ति (माया) भी अनेकरूप प्रतीत होती है। आकाश में भ्रान्ति से वृक्ष–समूह के स्फुरण की भाँति इस ब्रह्मरूप समुद्र में जो सीकर–स्फुरण है वही यह सृष्टि है। अन्तर केवल इतना ही है कि आकाश में जो वृक्ष–समूह है वह आकाशधर्म शून्यता से अनुविद्धरूप से स्फुरण न होने के कारण अत्यन्त भिन्नरूप है और ब्रह्म समुद्र में यह स्फुरित हो रहा सर्गबिन्दु किंचिन्मात्र भी भिन्न नहीं है ॥२१,२२॥

एक सौ उन्नासीवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ अस्सीवाँ सर्ग

श्रीरामचन्द्रजी द्वारा वर्णित कुन्ददन्तोपाख्यान में पर्वत पर
वृक्ष में लटके हुए तपस्वी के वरप्राप्तिपर्यन्त वृत्तान्त का वर्णन।

स्वयं प्रबुद्ध राम चिरकाल तक तत्त्वजिज्ञासा से अपने आश्रय में स्थित कुन्ददन्त नामक द्विज को प्रस्तुत उपदेश के श्रवण से तत्त्वबोध हुआ या नहीं इस अपने सन्देह को गुरुमुख से परिमार्जित करने की इच्छा से आश्चर्यभूत उसकी कथा की भूमिका रचते हुए गुरु से प्रार्थना करते हैं।

हे भगवन्, जिस प्रकार संसार की समग्र वस्तुओं के रूप की सम्यक् अनुभूति के लिये सूर्य अन्धकार का नाश करता है उसी प्रकार आप मेरे इस संशय का नाश कीजिए ॥१॥

सन्देह का बीज दर्शाने के लिए आख्यान प्रारम्भ करते हैं।

किसी एक समय जब कि मैं विद्यामन्दिर में विद्वानों की सभा में स्थित था उस समय कोई द्विजश्रेष्ठ ने प्रवेश करके शीघ्र ही चारों ओर देदीप्यमान द्युतिवाली द्विजसभा को प्रणाम किया और आसन ग्रहण किया हमने भी खड़े होकर उसका अभिवादन किया। तब प्रकरणप्राप्त अपने अधीयमान वेदान्त, सांख्य आदि के सिद्धान्तों के वादों को बन्द करके सुखपूर्वक विश्राम करने के अनन्तर बैठे हुए उस श्रेष्ठ ब्राह्मण से मैंने पूछा : हे विद्वानों में श्रेष्ठ, दीर्घमार्ग में चलने से थके हुए आप किसी अर्थ को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील मालूम पड़ते हैं। कहिये कहाँ से आपका आगमन हुआ ॥२–६॥ ब्राह्मण ने कहा : हे महाभाग, यह ठीक है, कि मैं किसी विशेष अर्थ के लिए महाप्रयत्नशील हूँ, मैं यहाँ जिसलिए आया हूँ उसका निर्णय सुनिये ॥७॥ इस पृथिवीमें, आकाश में स्थित स्वर्ग के प्रतिबिम्ब की तरह, वैदेह नाम का सर्वसौभाग्यों से युक्त देश है ॥८॥ उसी वैदेह देश में ब्राह्मणवंश में मैं उत्पन्न हुआ और विद्या प्राप्त करके स्थित रहा। कुन्दपुष्प की तरह चमकीले दाँत होने से कुन्ददन्त नाम से मेरी प्रसिद्धि हुई ॥९॥ इसके उपरान्त हृदय में वैराग्यवान् हुआ मैं भ्रान्ति से उत्पन्न संसार क्लेशों की निवृत्ति के लिए देवता,

द्विज और मुनीन्द्रों के स्थानों में भ्रमण करने में प्रवृत्त हुआ। इसी प्रकार घूमता हुआ मैं कभी श्रीपर्वत पर जा पहुँचा और वहाँ चिरकाल तक मृदु (अतीक्ष्ण) तथा दीर्घकालीन तपस्या करता हुआ अखण्ड चेष्टापूर्वक रहा। उस श्रीपर्वत में तृणवनआदि से विहीन एक ऐसा वन प्रसिद्ध है जो भूमि में तेज, तम, बादल आदि से रहित (अर्थात् केवल शून्य) आकाश-सा है। उस वन के मध्य में एक कोमल पल्लवोंवाला छोटा-सा वृक्ष इस प्रकार स्थित है जैसे शून्य आकाश में मन्दकिरण सूर्य स्थित हो। उस वृक्ष की शाखा में एक पवित्र आकृतिवाला पुरुष रस्सी से बँधा हुआ लटक रहा था मानों भानु ही अपनी रश्मियों से पैर बाँधकर लटकता हो। मूँज की रस्सी के ऊपर की ओर बाँधे हुए पैरोंवाला नित्य नीचे को लटके सिरवाला वह बड़ी बड़ी गाँठोंवाले शाल्मलिवृक्ष की अष्ठीलता को (लम्बायमान पर्वग्रन्थिता को) धारण करता हुआ-सा स्थित था। भ्रमण करते करते उस देश को प्राप्त हुए मैंने वक्षस्थल में अंजलि बाँधकर प्रणाम करते हुए उस पुरुष को देखा और उसके निकट जाकर विचार किया ॥१०-१६॥

उसी विचार को स्पष्ट करते हैं।

तो यह ब्राह्मण अभी तक जीवित तो है, क्योंकि बराबर आहताकृति होकर, श्वास लेता है और तत्तत्समयजन्य शीत, वात, धूप आदि स्पर्शों को जानता है। इसके अनन्तर उस पुरुष को मैंने बहुत दिनों तक दिवस की धूप सहकर नाना प्रकार की उपचर्या से धीरे-धीरे अपने प्रति विश्वस्त कर लिया। फिर पूछा कि 'हे भगवन्, आप कौन हैं और हे विशालाक्ष, जिसमें जीवन चिरकाल के दीर्घ उच्छवासों से लक्ष्य और अलक्ष्य हो रहा है ऐसा दारुण तप क्यों कर रहे हैं ? ॥१७-१९॥ तब उस पुरुष ने कहा : हे तापस, इस मेरे कुल, देश, तपस्या आदि को जानने से तुम्हारा क्या प्रयोजन है, क्योंकि शरीरियों की अत्यन्त विचित्र इच्छाएँ किसी प्रयोजन से ही होती हैं निष्प्रयोजन व्यर्थ की जिज्ञासा नहीं होती ॥२०॥ इतना कहने पर मैंने प्रयत्न से तथा विनयपूर्ण आग्रह से जब पूछा तब उस तपस्वी ने मुझे यह उत्तर दिया : मैं मथुरा में उत्पन्न हुआ और पिता के घर में ही वृद्धि को प्राप्त हुआ, बाल्यावस्था और यौवन के मध्य में (अर्थात् कुमार अवस्था में) ही पद (शब्दशास्त्र) और पदार्थ (अर्थशास्त्र) का ज्ञाता बन गया ॥२१,२२॥ उन शास्त्रों में मैंने सुना कि राजा समग्र भोगसामग्री का आश्रय होता है अर्थात् सम्पूर्ण ऐश्वर्य का उपभोक्ता होता है। नवयौवन भोग का इच्छुक होता ही है। ऐसा सुनने के अनन्तर सप्तमहाद्वीपों में विस्तृत इस पृथ्वी का पति और उदारात्मा (याचकों की सारी अभिलाषाओं को पूर्ण करने में समर्थ) होऊँ ऐसी मैं चिरकाल तक इच्छा करता रहा। इसी प्रयोजन से इस देश में आकर के इस प्रकार मैं स्थित हूँ और हे मानद, मेरे यहाँ बारह वर्ष बीत गये हैं। तुम्हारा पूछा हुआ अर्थ मैंने कह दिया, इसलिये हे अकारणमित्र, शीघ्रता से पर्यटन करते हुए तुम अपने अभीष्ट स्थान को जाओ और मैं भी अपनी अभीष्ट-प्राप्ति तक तपश्चर्या में दृढ़ता से संलग्न होता हूँ ॥२३-२६॥ उसके इतना कहने पर मैंने उससे जो कहा सो सुनिये, क्योंकि आश्चर्य वृत्तान्त सुनने में किसी धीमान् का चित्त खिन्न नहीं होता ॥२७॥ मैंने कहा : हे साधो, जब तक तुम अपना इच्छित वर प्राप्त नहीं कर लेते तब तक तुम्हारी रक्षा और परिचर्या के लिए मैं यहीं रहूँगा ॥२८॥

मेरे इतना कहने पर वह जितेन्द्रिय पाषाणमूर्ति की तरह मौन हो गया, उसने आँखें बन्द कर लीं उसका शरीर मृत की तरह हो गया क्योंकि वह बाहर से हिलता डुलता न था। तब उस काष्ठवत्

मौन तपस्वी के आगे वेगरहित होकर कालजन्य शीतोष्णादि वेगों को सहता हुआ मैं छः महीने तक रहा। एक दिन सूर्यबिम्ब से निकलकर उस प्रदेश में स्थित हुए भानु की तरह चमकते हुए किसी पुरुष को मैंने देखा। जब उस तपस्वी ने मन से और मैंने कर्म से (अर्घादि से) उसकी (पुरुष की) पूजा की तब वह अमृतद्रव की भाँति सुन्दर वचन बोला : हे शाखाओं में लटके हुए दीर्घकाल से तपस्या में निरत ब्रह्मन्, देह का संहार करनेवाली इस तपश्चर्या को समाप्त करो और अपना अभिमत वर ग्रहण करो। तुम इसी देह से सप्त समुद्रों से वेष्टित सप्तद्वीपवती मही का सात हजार वर्ष तक धर्मपूर्वक पालन करोगे ॥२९–३४॥ इस प्रकार अभीप्सित वर देकर वह द्वितीय सूर्य–सा पुरुष जहाँ से उदित हुआ था उसी सूर्यमण्डल में अस्त होने के लिए प्रवेश कर गया। उस सूर्य–पुरुष के चले जाने पर मैंने शास्त्रों में जैसा सुना था वैसे ही श्रेष्ठ आदित्य पुरुष को जिसने प्रत्यक्ष देखा था और वरदानव्यवहार से अनुभव किया था ऐसे उस विवेकी शाखातपस्वी से कहा : हे ब्रह्मन्, वृक्षशाखा में लम्बायमान होकर जो आपने तपस्या की थी, उसका फल आपको प्राप्त हो गया, अब आप तप छोड़कर यथाप्राप्त गृहगमनादि व्यापार करें ॥३५–३७॥ यह स्वीकार कर लेने पर उस पुरुष के बँधे पैरों को मैंने वृक्ष से इस प्रकार मुक्त किया जैसे आलान से (बन्धनस्तम्भ से) हाथी के बच्चे के पैरों को मुक्त करते हैं ॥३८॥ स्नान करके पवित्र–हस्त हो अघमर्षण का जप करके तप की सिद्धि के बल से उसी वृक्ष से प्राप्त फलों से मेरे साथ उसने व्रत की पारणा की। उसी के पुण्यप्रताप से प्राप्त हुए वृक्ष के स्वादयुक्त फलों से आश्वस्त हुए हम दोनों तीन दिन तक आराम के साथ वहाँ रहे ॥३९,४०॥

इसी उपरोक्त कथा का संक्षेप से उपसंहार करते हैं।

सप्तद्वीप और समुद्रों से व्याप्त दिशाओंवाली समग्र पृथ्वी का उपभोग करने के लिए वृक्ष में शरीर लटका कर ऊपर की ओर पैर कर कठिन तपस्या करने के अनन्तर सूर्यपुरुष से अपना ईच्छित प्राप्त करके, उसी वृक्ष के नीचे तीन दिन विश्राम कर पादपीड़ादि की निवृत्ति हो जाने पर वह ब्राह्मण मुझ मित्र को साथ लेकर अपने भवन मथुरा को जाने के लिये प्रवृत्त हुआ ॥४१॥

एक सौ अस्सीवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ इक्यासीवाँ सर्ग

मथुरा जाते–जाते मार्ग भूल जाने से उनका गौरीवन में गमन तथा
वहाँ पर वृद्ध तपस्वी के साथ वार्तालाप का वर्णन।

कुन्ददन्त ने कहा : भगवन्, जैसे चन्द्र और सूर्य इन्द्रपुरी को, जो पूर्व दिशा में हैं, जाने के लिए प्रवृत्त हो सायंकाल में पश्चिम दिशा में आवास लेते हैं वैसे ही प्रसन्नवदन हम लोग भी मथुरापुरी के लिए रवाना हो शाम तक चलकर मध्य में आवास में जाने के लिए प्रवृत्त हुए ॥१॥

क्रम से अपने आवासस्थानों का वर्णन करते हैं।

रोध नामक गाँव में पहुँचकर आम के वनों की अधिकतावाले पर्वत पर विश्राम कर हम लोग दो दिन प्रसिद्ध सालीस नाम के नगर में सुखपूर्वक रहे ॥२॥ दूसरे दिन मार्ग में परस्पर के वृत्तान्तों के श्रवण से आनन्दमग्न चित्तवाले हम लोगों ने अपना बहुत–सा मार्ग लाँघा। शीतल जल के झरनों

तथा ठण्डी छायावाले वनवृक्षों से पूर्ण, नदी तट पर उगी हुई लताओं द्वारा वर्षाई गई पुष्पराशियों से सफेद, तैर रही तरंगों के झनकार रूपी गायन से पथिकों को आनन्दित करनेवाली, स्निग्ध छायावाले वनवृक्षों के तले बैठे मृग और पक्षियों के भाँति भाँति के शब्दों से गूंजित, जिनकी बड़ी-बड़ी हरी घासों की शाखाओं के अग्रभाग में ओस की बूँदरूपी मोती गुँथे हुए थे, कहीं पर जंगलरूप, कहीं पर पर्वतप्राय, कहीं पर गाँव-नगररूप, कहीं पर गर्तरूप और कहीं पर दलदलरूप पृथिवी को तथा नाना नदियों, स्रोतों और सरोवरों को पारकर उस दिन बर्फ से अत्यन्त शीतल केले के घने वन में केले के पत्तों के बिस्तर पर लेटकर हम लोगों ने रात बिताई ॥३-७॥

तीसरे दिन हम लोग कमलराशियों तथा लतानिकुंजों से परिवेष्टित जंगल में पहुँचे जो चारों ओर घास और लकड़ियाँ ले जानेवाले लोगों द्वारा काट-काट कर विभक्त बनाया गया था अतएव बादलों के विच्छेदों से (खण्डों से) विभक्त आकाश-सा था। वहाँ पर प्रस्तुत मार्ग को छोड़कर दूसरे वन में प्रवेशकर रहे उस तपस्वी ने मुझसे वृथा कालविलम्ब द्वारा प्रस्तुत गृहगमनरूप कार्य में विघ्न डालनेवाला अकार्यकरणरूप वचन कहा : हम लोग यहाँ गौरी के आश्रम में चलें, यह आश्रम मुनियों के मण्डल से सुशोभित है। मेरे सात भाई मेरी ही नाईं पृथिवीपति बनने के अभिलाषी होकर यहाँ पर स्थित हैं। हम सब मिलकर ये आठ भाई हैं। पूर्ववर्णित सप्तद्वीपों के राज्यभोग की इच्छा से उत्पन्न अनेक मनोरथों से युक्त होने से हम आठों भाई तपस्या के लिए एक संविन्मय एक ही दृढ़ निश्चयवान् हुए। इस कारण वे शेष सात भाई भी अपने दृढ़ निश्चय का अवलम्बन कर यहाँ गौरीकानन में तपस्या के लिए स्थित हैं। विविध तपस्याओं से उन्होंने अपने सब पाप काट डाले हैं। उन भाइयों के साथ आकर यहाँ गौरी आश्रम में पहले छःमहीने मैं रहा हूँ इस कारण पहले मैंने जो देखा था वही यह गौरी-कानन है ॥८-१३॥ यहाँ पर पुष्पराशि से परिपूर्ण सुन्दर वृक्षों की छाया में सलोने मृगछौने सोये रहते हैं। पर्णशालाओं के छप्परों के किनारे पर बैठे हुए तोते विविध शास्त्रों के सिद्धान्तों का विस्तार से वर्णन करते हैं। इसलिए आओ सर्वविध मंगल के लिए ब्रह्मलोक-सदृश मुनि-आश्रम में चलें। वहाँ पर पुण्यों से हमारा मन, सकल दोषों का विनाश होने से अत्यन्त स्वच्छ हो जायेगा। तत्त्वदर्शन से परिपूर्ण मनवाले महात्माओं के दर्शन के लिए विद्वान्, सुधीर और तत्त्वज्ञानी पुरुषों का भी मन छटपटाता है हमारी तो कौन बात है ॥१४-१६॥ उक्त तपस्वी के यह कहने पर हम दोनों उस मुनि-आश्रम में जब पहुँचे तो हमने उस महावन में आश्रम को प्रलयरूप से रूपवान् यानी शून्य देखा। न वहाँ कोई वृक्ष देखा, न कोई कुटिया देखी, न कोई झाड़ी देखी, न कोई मनुष्य देखा, न कोई मुनि देखा, न कोई बच्चा देखा, न वेदी देखी और न कोई ब्राह्मण देखा। इनके अतिरिक्त और भी वहाँ कुछ न था। वह असीम जंगल केवल अत्यन्त शून्य ही था चारों ओर सूर्य के ताप से सन्तप्त वह भूमि में स्थित आकाश-सा लगता था। इसके पश्चात् उस तपस्वी के हाय यह क्या अनर्थ हो गया यह कहने पर हम लोगों ने चिरकालतक भटक कर एक जगह एक वृक्ष देखा। उस शीतल वृक्ष की छबि आकर्षक थी, छाया अतिघन थी, वह जलपूर्ण मेघ के समान गहरी हरियाली लिये काला था। उसके नीचे एक बूढ़ा तपस्वी समाधि लगाये बैठा था। हम दोनों उस मुनि के आगे छाया में हरी घास से आच्छन्न भूमि पर बैठ गये। जब चिरकालतक प्रतीक्षा करने पर भी

वह तपस्वी ध्यान से निवृत्त नहीं हुआ तब चिरकाल की प्रतीक्षा से उत्पन्न उद्वेगवश अपने चंचल स्वभाव से मैंने 'हे मुने ध्यान से जागिये' यह वचन जोर से कहा। मेरे ऊँचे स्वर से मुनि ध्यान से जाग गये और सिंह के समान मेघ ध्वनि से जंभाई लेकर उन्होंने कहा : हे साधु, आप लोग कौन हैं, यह गौरी–आश्रम कहाँ गया, मुझे यहाँ शून्यवन में कौन लाया और यह कौन काल (युग) है ? ॥१७–२५॥ उस वृद्ध तपस्वी के यह कहने पर मैंने भी कहा : भगवन्, यह सब हम कुछ नहीं जानते इसलिए आप ही जानें। आप सर्वज्ञ होते हुए योग–बल से यह सब स्वयं क्यों नहीं जान लेते ? ॥२६॥ यह सुनकर वह भगवान तपस्वी फिर ध्यान में मग्न हो गये। समाधि द्वारा उन्होंने हमारा और अपना सारा वृत्तान्त जान लिया ॥२७॥ एक मुहूर्त में ध्यान से जागकर मुनि ने कहा : हे कार्यज्ञ आर्यों, आप लोग आश्चर्यभूत इस वृत्तान्त को सुनें ॥२८॥ हे साधु लोगों, मेरा आवासभूत सुन्दरता के कारण इस काननदेवी की चोटी–सा जो यह कदम्बवृक्षरूपी बच्चा आप लोगों को दिखाई देता है यहाँ किसी विशेष कारण से भगवती पार्वतीजी सरस्वती बनकर सकल ऋतुओं से सेवित हो दस वर्ष रहीं ॥२९,३०॥ उनके यहाँ रहने के कारण यहाँ विशाल निबिड जंगल हो गया, यह पुष्पप्रधान ऋतुओं से विभूषित वन गौरीवन के नाम से विख्यात हुआ ॥३१॥ हे सज्जनों, जहाँ पर भ्रमरियों के मनोमोहक गीत विलासों से कोयल चंचल रहते थे, फूलों की वर्षा करनेवाले मेघ सदृश वृक्षों से आकाशरूपी चँदवे में सैकड़ों चन्द्रमा स्थित थे और कमल के पराग–कणों से दिगन्तराल व्याप्त रहते थे। जो मन्दार और कुन्द के मकरन्दों से (पुष्परसों) दिशाओं को सदा सुगन्धित करता था, जहाँ चारों ओर विकसित हो रही (खिल रही) पुष्पराशिरूपी चन्द्रबिम्बों में शोभा व्याप्त थी, सन्तानक (एक तरह का कल्पवृक्ष) के पुष्पस्तवकरूपी हास के विकास से जो अत्यन्त रमणीय था, जहाँ लतारूपी अंगनाएँ सुगन्धित वायु से पूर्ण रहती थीं, ऐसा यह गौरी–वन वसन्तऋतु का नगर–सा सुरम्य था, इसके भँवरों का गाना अपूर्व था, यह गुँजारकर रहीं भँवरियों से व्याप्त पुष्पराशि के मण्डपों से परिपूर्ण था, चन्द्रकिरणराशि के समान चारों ओर से कोमल फूलरूपी झूलों में देवांगनाएँ और सिद्धांगनाएँ यहाँ झूला झूलती थीं ॥३२–३४॥ इस वन का प्रत्येक भाग हारीत, हंस, तोते, कोकिल, चक्रवाक, सारस और गौरिया के झुण्डों से भरा रहता था। भेरुण्ड, गौरिया, तीतिर, राढा, मयूर, बगुला आदि द्वारा की गई विविध क्रीड़ाओं से रमणीय था। यहाँ पर कदम्बवृक्षतलनिवासिनी श्रीसरस्वती देवीजी के चरणकमलों में गन्धर्व, यक्ष, देवता और सिद्ध अपने मुकुटों को रगड़ते थे (प्रणाम करते थे)। यह वन सुगन्ध वायु का आवास था, अतएव इसके सुर्वण के समान रमणीय चम्पकों से सितारों और मेघों ने सुगन्ध ग्रहण की। मन्द वायु से अपने स्थान से हटनेवाले पल्लवों से युक्त छोटी–छोटी नवीन लताओं के विस्तारों से छिपे हुए निकुंजों में सूर्य की रश्मियों के न पहुँचने के कारण यह वन खूब ठण्डा रहता था। कदम्ब, कनेर, नारियल, ताड़ और तमाल के वृक्षों की इसमें इतनी अधिकता थी कि उनके फूलों के कणों से यह सारा वन पीला रहता था। इसमें रक्त कमलों से मिले हुए कुईं और कमलों से पूर्ण तालाब में हंस चकोर आदि जलचर पक्षियों के झुण्डों के साथ अपनी मस्त चाल से चलते थे तथा तालीस, गुग्गुल, चन्दन, निम्ब आदि वृक्षों के अन्दर विहार करनेवाली (रहनेवाली) बड़ी विचित्र सर्व अभिलाषा पूर्ण करनेवाली शक्ति थी ॥३५–३८॥

इस प्रकार के उत्तम वन में भगवान शंकरजी की अर्धांगिनी जगदम्बा भगवती गौरी किसी कारण से भगवान् श्री शिवजी के मस्तक पर विराजमान शशिकला-सी मनोहर प्रसन्न चन्द्रबिम्बवदना कदम्ब सरस्वती बनकर चिरकाल तक रहीं। उनका रहना ही इन वन की अलौकिक सम्पदाओं का कारण था ॥३९॥

एक सौ इक्यासीवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बयासीवाँ सर्ग

कदम्ब वृक्ष के नीचे स्थित तपस्वी द्वारा घर में उसके भाईयों का समागम और वर तथा शापों की हेतुसिद्धि का वर्णन।

वृद्ध तपस्वी ने कहा : हे सज्जनों, भगवती गौरी उसी इस कदम्ब में अपनी इच्छा से दस वर्ष बैठकर शिवजी के वामभागरूप मन्दिर को चली गई ॥१॥ उनके स्पर्शरूपी अमृत से सींचा गया यह कदम्बवृक्षरूपी देवीपुत्र गोद में बैठा हुआ-सा हो, कभी पुराना नहीं होता। उसके अनन्तर भगवती श्रीगौरी के चले जाने के बाद उस प्रकार की विभूतिवाला वह महावन साधारण वनों की तरह जनसाधारण का घास, लकड़ी, फल-फूल आदि आहरण से जीविका का साधन बन गया। मालव नाम का प्रसिद्ध देश है। उसमें मैं राजा था। किसी समय राज्य का परित्याग कर मुनियों के आश्रमों मे घूमता घूमता मैं इस प्रदेश में आ पहुँचा। यहाँ पर आश्रमवासियों का आदर सत्कार पाकर इस कदम्ब के पेड़ के नीचे समाधि लगा कर बैठ गया। इसके पश्चात कुछ समय बीतने पर आप अपने सात भाईयों के साथ तपस्या करने के लिए पहले इस आश्रम में आये। वे आठ तपस्वी उस समय उस प्रकार के तपस्वी बनकर यहाँ रहे जिस प्रकार अन्य जो तपस्वी उस समय थे उनके भी संमान्य (पूज्य) वे हो गये। तदुपरान्त कुछ काल के अनन्तर उनमें से यह आप तपस्या के लिए श्रीपर्वत को चले गये, दूसरा भाई स्वामी कार्तिकेय के समीप क्रौंचपर्वत को गया, तीसरा भाई काशी को गया और चौथा हिमालय को गया। अवशिष्ट चार धृतिमान् भाइयों ने यहीं पर परम तपस्या की। उनमें से सबकी एकमात्र यही अभिलाषा थी कि मैं समस्त द्वीपवाली इस पृथिवी का अधिपति होऊँ। इसके पश्चात् तपस्या से सन्तुष्ट हुए इष्ट देवताओं ने श्रेष्ठतम वरों से उन सभी की वह अभिलाषा पूर्ण की। तदनन्तर आपको तपस्या करते छोड़कर शेष सब भाई जैसे धर्मप्रधान कृतयुग का भूमि में उपभोग कर उसके अन्त में ब्रह्मा ब्रह्मलोक को जाते हैं वैसे ही अपने घर चले गये। उत्तम वरदान के समय आपके उन भाइयों ने वर देने के लिए तैयार अपनी इष्टदेवियों की प्रयत्नतः यह प्रार्थना की ॥२-१३॥ हे देवि, हमारी सप्तद्वीपेश्वरता की स्थिति के समय प्रजाभूत सब लोग झूठे व्यवहार का परित्याग कर दें यानी सच्चे रहें, ये सब आश्रमवासी लोग भी स्वस्वधर्मनिरत रहें तथा सभी सप्तद्वीप निवासी अपने अपने आश्रमधर्म और वर्णधर्म में रत रहें ॥१४॥ वह भगवती इष्टदेवी उनके इच्छित अर्थ को, आदरपूर्वक स्वीकार कर तथा उनसे 'एवमस्तु' कहकर अन्तर्धान को प्राप्त हो गयी ॥१५॥ तदुपरान्त वे अपने घर गये। उनके पीछे सभी आश्रमवासी भी गये, केवल एक मैं नहीं गया। मैं अकेले एकान्त में वागीश्वरी कदम्ब के नीचे एकमात्र ध्यान में चित्त लगाकर शिला की नाईं

बैठा रहता हूँ ॥१६,१७॥ इसके बाद इस ऋतु,संवत्सर आदिरूप समय के बीतने पर आसपास में रहनेवाले लोगों ने सम्पूर्ण वन छिन्न–भिन्न कर डाला ॥१८॥ कभी न मुरझानेवाले इस कदम्ब वृक्ष को, इसे वागीश्वरी का मन्दिर समझकर, लोग खूब पूजते हैं। एकमात्र समाधि में मग्न रहनेवाले मुझे भी खूब पूजते हैं ॥१९॥ इसके पश्चात् तो आप दोनों महातपस्वी इस प्रदेश में आये। यह सब ध्यान से देखा गया सम्पूर्ण वृत्तान्त मैंने सकल रूप से आप लोगों से कहा ॥२०॥ इसलिए हे साधुपुरुषों, यहाँ आये हुए आप लोग उठकर घर जायें। वहाँ आपके सब भाइयों का स्त्री–बन्धुओं के साथ समागम हो चुका है। जैसे ब्रह्मलोक में (देवलोक में) आठ वसुओं का भव्य समागम हुआ वैसे ही अपने घर पर आप आठों महात्माओं का भव्य समागम होगा ॥२१,२२॥ हे आर्य सभासदों, उसके यह कहने पर मैंने सन्देह से उस महातपस्वी से यह आश्चर्य वृत्तान्त पूछा, उसे मैं आप लोगों से कहता हूँ : भगवन्, सुनने में आता है कि यह एक ही सप्तद्वीपा भूमि है। ऐसी अवस्था में तुल्यकाल मे आठों सप्तद्वीपा वसुमती के अधिपति कैसे होंगे ? ॥२३,२४॥ कदम्बतपस्वी ने कहा : हे सज्जनों, इन लोगों के सम्बन्ध में यही केवल असंबद्ध वृत्तान्त है यह बात नहीं है यह दूसरा वृत्त भी अधिक असंबद्ध मैं कहता हूँ, उसे आप लोग मुझसे सुनें ॥२५॥ ये आठ तपस्वी भाई देह–नाश होने पर वहाँ घर के अन्दर ही सब सप्तद्वीप के अधिपति होंगे ॥२६॥ ये आठ भाई इन्हीं घरों में इन्हीं महासिंहासनों पर सप्तद्वीपाधिपति राजा होंगे यह मुझसे सुनिये ॥२७॥ इन आठ भाईयों की पूर्व आदि दिशाओं की नियत आठ ताराओं की तरह आठ श्लाघनीय भार्याएँ हैं ॥२८॥ वे आठों पत्नियाँ इनके तपस्या के लिए चले जाने पर चिरकालतक अति दुःखी रहीं, क्योंकि स्त्रियों को वियोग असह्य होता ही है ॥२९॥ पतियों का बार बार स्मरण होने पर दुःखी होकर उन्होंने शतचान्द्रायण रूप घोर तप किया। उससे भगवती पार्वती उनके ऊपर प्रसन्न हुई। अन्तःपुरगृह में पूजा के समय अदृश्य होकर भगवती पार्वतीजी उनसे अलग अलग बोलीं ॥३०,३१॥ देवीजी ने कहा : हे पुत्रि, जैसे गर्मी से मंजरी (बौर) चिरकालतक क्लेश पाती है वैसे ही दीर्घ तपस्या से तुमने क्लेश पाया है अब तुम पति के लिए और अपने लिए वरदान लो। देवी का उक्त वचन सुनकर देवी के चरणों में पुष्पांजलि अर्पित कर मृदुभाषिणी सौभाग्यवती वधूने मारे आनन्द के विह्वल होकर अपनी वासना के अनुसार भगवती की स्तुति करते हुए जैसे आकाश में स्थित मेघमाला से मयूरी बोलती है वैसे ही आकाश में स्थित देवी से कहा ॥३२–३४॥ सुवासिनी ने (सौभाग्यवती ने) कहा : हे देवि, देवदेव भगवान् श्री शिवजी के साथ जैसा आपका प्रेम है वैसा ही पतिदेव के साथ मेरा प्रेम हो और मेरे वे पतिदेव अमर हों। देवी ने कहा : भद्रे, आदि सृष्टि से लेकर चली हुई ईश्वराज्ञारूप नियति का भंग करना संभव न होने के कारण तपस्या, दान आदि द्वारा अमरता प्राप्त नहीं की जा सकती, इसलिए हे सुव्रते, तुम दूसरा कोई वर माँगो ॥३५,३६॥ सुवासिनी ने कहा : हे देवि, मेरे लिए यह वर अलभ्य है तो जब अपने घर में मेरे पति का देहपात हो तो मेरे मृत पति का जीव घर के अन्दर से एक क्षण के लिए भी बाहर न जाय। हे अम्बिके, 'यह हो' ऐसा वर मुझे दीजिये ॥३७,३८॥ देवीजी ने कहा : हे पुत्रि, ऐसा ही हो, *(उस मूर्खा को उत्तम वर याचना में अकुशल देखकर देवी स्वयं दूसरा वर देती हैं)* और पति का देहान्त होने पर सप्तद्वीपाधिपत्य में स्थित होने पर तुम उसकी प्रिय भार्या होओगी इसमें तनिक

भी सन्देह नहीं है ॥३९॥ जैसे लोक-कल्याण के लिए निर्दोषरूप से उद्यत हुई मेघमाला की ध्वनि बन्द होती है वैसे ही उत्तम कल्याण के लिए उद्यत हुई भगवती पार्वतीजी की वाणी यह कहकर विरत हुई। श्रीदेवी के चले जाने पर कुछ समय के पश्चात् उनके वे सब पति महावर प्राप्त दिशाओं से वापस आये। आज यह (आठवाँ भाई) पति भी अपनी पत्नी के समीप जाय, भाईयों और बन्धुबान्धवों का आपस में समागम हो ॥४०-४२॥ हे साधो, सत्कर्मों के फलों में बाधा डालनेवाली इनकी यह दूसरी असमंजसपूर्ण आश्चर्यकारी दुर्घटना आप सुनिये ॥४३॥ इन आठों भाइयों के तप करते समय इनके दुःखी माता-पिता इनकी बहूओं के साथ तीर्थ और मुनियों के तपोवनों के दर्शन के लिए गये ॥४४॥ वे शरीर सुख की कोई परवाह न कर अपने पुत्रों की कल्याणकामना से प्रसिद्ध कलापग्राम नामक तीर्थ को जाने के लिए प्रयत्नवान् हुए ॥४५॥ जब वे अपने घर से रवाना हुए तो मुनियों के आश्रमों के मार्ग में एक सफेद (वृद्ध) पुरुष उन्हें दीख पड़ा। उसका रंग कपिल (कोहड़े के समान लाली लिये पीला) था, कद नाटा था, शरीर पर भस्म रमी थी और सिर के बाल खड़े थे। वे आठों भाइयों के माता-पिता यह कोई बूढ़ा पथिक होगा, इस आशंका से उस मुनि का अपमान कर (नमस्कार, पूजा, स्तुति आदि आदर न कर) प्रत्युत गमनत्वरा से उसके ऊपर धूलिकणों का प्रक्षेप करते हुए जब आगे बढ़े तब उक्त अपराध से क्रुद्ध हुए उस मुनि ने कहा : हे बहूसहित महामूर्ख, स्त्री के साथ तीर्थाभिलाषी होकर मुझ दुर्वासा ऋषि का अपमान कर मुझे नमस्कार आदि किये बिना जाता है ? ॥४६-४८॥ इस प्रकार जा रहे तुम्हारे बहूओं और पुत्रों की तपस्या से उपार्जित प्राप्त हुए महावर विपरीत (दुःखदायी) हो जायेंगे ॥४९॥ इसके बाद दुर्वासा मुनि के यह कहने के अनन्तर स्त्री और बहूओं के साथ वह मुनि का प्रणाम आदि द्वारा आदर करने के लिए ज्यों प्रवृत्त हुआ त्यों ही मुनि अन्तर्हित हो गये। फिर उनके माता-पिता उनकी बहूओं के साथ अति दुःखी हुए। दुःख के मारे उनका शरीर सूखकर कृश हो गया और मुँह फीका पड़ गया, वे पुत्रों के कल्याण की आशा छोड़कर घर लौट आये। इसलिए मैं कहता हूँ कि उनका एक ही वृत्तान्त असमंजस (दुविधा) नहीं है, अपितु जैसे गले में हुए घेघे (गला सूखने का एक रोग) पर अनेक फोड़े हों और वे फूट जाय वैसे ही उनके लाखों असमंजस हैं ॥५०-५२॥

इस प्रकार अन्यत्र भी (इस मायामय जगत् में भी) लाखों असमंजसों का संभव है, ऐसा कहते हैं।

जैसे आकाश में उत्पातवश गन्धर्वनगर, धूमकेतु, कबन्ध, उल्का आदि दृश्यों का विकास होता है वैसे ही चिदाकाश के संकल्पभूत सर्वथाशून्य दृश्यरूप इस महानगर में लाखों असमंजस होते हैं ॥५३॥

एक सौ बयासीवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तिरासीवाँ सर्ग

परस्पर विरुद्ध वर और शापों में से सारवानों का श्री ब्रह्माजी के वचन से परस्पर अविजय का निरूपण।

कुन्ददन्त ने कहा : हे आर्य सभासदों, तदनन्तर वहाँ पर मैंने उस गौरी आश्रम के तपस्वी से, जिसके बाल बुढ़ापे के कारण धूप से सूखे हुए कुशों के अग्रभाग के समान जर्जर थे, पूछा : भगवन्, जहाँ एक ही सप्तद्वीपवाली पृथिवी है वहाँ वे आठ उत्तम सप्तद्वीपाधिपति कैसे हो सकते हैं ? जिस जीव का

घर से बाहर निकलना ही संभव नहीं है वह सप्तद्वीपाधिश्वररूप से दिग्विजय कैसे कर सकता है ? जिस वरदाताओं ने वर दिये वे वर शापों से विपरीत फलदायकता को कैसे प्राप्त हो सकते हैं, शीतल छाया ग्रीष्म की धूप कैसे बन सकती है ? ॥१–४॥

एक ही फल वर और शाप दोनों का फल हो यह कठिन ही नहीं असंभव है, ऐसा कहते हैं।

वर और शाप की फलतावाले शुभत्व और अशुभत्व धर्म एक ही धर्मी में स्थिति को, जो संभव नहीं है, कैसे प्राप्त होते हैं ?

शंका : यद्यपि वे एक धर्मी के आश्रित नहीं हो सकते तथापि परस्पराश्रित तो हो सकते हैं।

समाधान : आधार ही अपने में आधेयता कैसे कर सकता है ? एक ही का अपने में आधारआधेयभाव का संभव नहीं है, यह भाव है ॥५॥ गौरी–आश्रम के तपस्वी ने कहा : हे साधो, इनका क्या असमंजस देखते हो। इसके बाद इनकी जो घटना घटेगी उसे सुनो। उसीसे तुम्हारे सन्देह का समाधान हो जायेगा। आज के दिन से आठवें इसी दिन के प्राप्त होने पर आप दोनों लोग अपने बन्धु–बन्धवों से पूर्ण उस मथुरा प्रदेश में पहुँचेंगे। मथुराप्रदेश में पहुँचकर कुछ काल तक अपने बन्धुबान्धवों के साथ सुखस्थितिवाले आप लोग सुख से रहेंगे ॥६,७॥ तदुपरान्त क्रमशः वे आठों भाई घर पर मरेंगे। तब उनके बन्धु बान्धव उनके शरीरों को उनके द्वारा आहत अग्नियों में दाह से संस्कृत करेंगे ॥८॥ पृथक् पृथक् स्थित उनके वे जीव जड़ों की नाईं मुहूर्तभर सुषुप्ति में स्थित रहेंगे ॥९॥

कर्मों के विरोध का परिहार कहने के लिए उपक्रम करते हैं।

इसी बीच में उनके वे वरशापरूप कर्म फलों के अवश्यम्भावी स्वभाव से एक जगह आकाश में (तत् तत् चित्तअवच्छिन्न आकाश में) संघटित होंगे। वे कर्म तत् तत् फलप्रद देवतारूप होकर अपने अपने अनुकूल समूहों से घटित संपुट अलग अलग बनायेंगे। इस प्रकार संपुटरूप हुए वर और शाप अलग–अलग वर–शाप–शरीरों का निर्माण करेंगे ॥१०,११॥

वर और शापों का स्वरूप कहते हैं।

यहाँ पर वे वर सुन्दर, कमल हाथ में लिये हुए, ब्रह्मदण्डरूपी अस्त्र से विभूषित, चन्द्रमा के समान शुभ्र शरीरवाले और वे चतुर्भुज होंगे ॥१२॥ वहाँ शाप तीन नेत्रवाले, शूलहाथ में लिये हुए, भयानक, काले बादल से शरीरवाले, दो हाथों से युक्त और मुँह पर भौंह चढ़ाये हुए होंगे ॥१३॥ वह कहेंगे : हे शापों, आप लोग दूर भाग जाओ। यह ऋतुओं की तरह हम लोगों का समय उपस्थित है। उसका कौन उल्लंघन कर सकता है ? ॥१४॥ शाप कहेंगे : हे वरों, आप लोग दूर चले जाओ। ऋतुओं की तरह हमारा समय आ गया है उसे उल्लंघन करने की किसमें सामर्थ्य है ? ॥१५॥ वर कहेंगे : आप लोगों का निर्माण मुनिजी ने (दुर्वासा) किया है और हमारी रचना सूर्य ने की है। भगवान् सूर्य मुनियों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, क्योंकि पहले ब्रह्मा ने भगवान सूर्य की मुनियों से सृष्टि की ॥१६॥ वरों के ऐसा कहने पर क्रोध से झुँझलाये हुए शापों ने, 'आप लोगों की सृष्टि सूर्य ने की और हम रुद्रांश से बनाये गये हैं। देवताओं में रुद्र सर्वश्रेष्ठ हैं और मुनि (दुर्वासा) रुद्रांश से उत्पन्न हैं' यों वरों से कहकर जैसे पर्वत शिखरों को उद्यत करते हैं वैसे ही वरों के प्रति त्रिशूलाग्र उठायेंगे ॥१७,१८॥ शापरूपी शत्रु के त्रिशूल उठाने पर उनका उपहास कर रहे वे सम्यक् विचार द्वारा निश्चित अपने स्वार्थ का निश्चय कहेंगे ॥१९॥ हे शापों, दुष्टता (अनुचितकारिता)

का त्यागकर कार्य का अन्त विचारो। कलह के अन्त में जो कुछ करना है वही पहले कर लेना चहिये यह विचार लेना ठीक है। कलह के अन्त में ब्रह्मलोक में जाकर हमें निर्णय करना ही पड़ेगा इस झगड़े में वही बात पहले क्यों न कर ली जाय॥२०,२१॥ शापों ने वरों का वचन सुनकर 'बहुत अच्छी बात है' यों उनकी सलाह मान ली। चाहे मूढ़ ही क्यों न हो, युक्तियुक्त वचन कौन न मानेगा ? ॥२२॥ तदनन्तर शाप वरों के साथ ब्रह्मलोक में जायेंगे। सदा ही सन्देह की निवृत्ति करने के लिए महानुभाव लोग ही शरण होते हैं ॥२३॥ वे ब्रह्माजी को प्रणाम कर आपस में जो तकरार हुई थी उसे सब ज्यों-की-त्यों कहेंगे। उनका कथन सुनकर ब्रह्माजी कहेंगे॥२४॥ ब्रह्माजी ने कहा : हे वराधिपों और शापाधिपों, जो अन्तः सारवान हैं वे जीतेंगे इसलिए आप लोग आपस मे कौन अन्तःसारवान् हैं यह स्वयं अवश्य अन्वेषण करें। यह सुनकर वरों के हृदयों में शाप और शापों के हृदयों में वर सारता देखने के लिए प्रविष्ट होंगे॥२५,२६॥ वे परस्पर टटोलकर स्वयं हृदय-सारता को जानकर ब्रह्माजी से परस्पर एकमत्यरूप मेल से कहेंगे॥२७॥ शाप कहेंगे : हे प्रजापते, चूँकि हम लोग अन्तःसारवान् नहीं हैं इसलिए हम ही वरों द्वारा जीते गये हैं। वज्रस्तम्भों के समान अचल वर ही अन्तःसारवान् हैं॥२८॥ भगवन्, ये वर और शापरूप हम लोग सदा संविन्मय ही हैं। हमारा स्वरूप संवित् के सिवा दूसरा नहीं है॥२९॥ वरदाता की 'मैंने वर दिया' इस तरह स्थित जो संवित् है वही वर-प्रार्थी में 'मैंने यह वर पाया' यों स्थित होती है॥३०॥ वर का फल सुखभोगायतन देह विज्ञप्तिमात्र स्फुरण ही है, इसलिए वह विज्ञप्ति ही देहाकार बनकर देश, काल आदि की कल्पनारूप सैकड़ों भ्रमों से तत् तत् भोग्य पदार्थों को देखती है, उनका अनुभव करती है और भक्षणीय वस्तुओं का भक्षण करती है। शास्त्रीय तपस्याकालिक दृढ़ निश्चय से अपने वश में किये हुए संवित्स्वरूप वरदाता से गृहीत होने के कारण वरकल्पनारूप चिति फलावस्था में जब पूर्णरूप से परिपुष्ट होती है तब अन्तःसारयुक्त वही दुर्जय होती है। शापजनित चिति अन्तःसारयुक्त नहीं होती है॥३१-३२॥ जब वर देनेवाले और वर प्रार्थी पुरुषों द्वारा वर देनेवालों के वरप्रदान का चिरकाल तक अभ्यास किया जाता है तब वरों की अन्तःसारता होती है॥३३॥ संवित् जिसी का चिरकाल तक अभ्यास करती है तन्मयी वह शीघ्र हो जाती है और वही संसार हो जाता है॥३४॥ शास्त्रीय होने के कारण शुद्ध संविदोंमें से अतिविशुद्ध जो संवित् होती है वही सबसे प्रबल होती है लेकिन अशुद्ध संविदों में अशुद्ध ही प्रबल होती है, इसलिए उनके फल में भी तुल्यता नहीं है॥३५॥

ज्येष्ठ होने के कारण वरसंवित् की प्रबलता है, ऐसा कहते हैं।

क्षणांश से भी जो श्रेष्ठ है उससे ज्येष्ठत्व न्याय की पूर्ति होती है, क्योंकि ज्येष्ठ के उत्पत्ति के समय वह (उसका विरोधी) उत्पन्न नहीं हुआ रहता, इससे वह भलीभाँति बद्धमूल हो जाता है। अप्रमाणजन्य की ज्येष्ठता बाध्य होने में कारण है जैसे कि प्रमाण द्वारा दृढ़ीकृत अर्थ में अनपेक्षित रजतभ्रम ज्ञान की ज्येष्ठता बाध्यता में कारण है यह प्रसिद्ध है। अन्य न्याय शाप की प्रबलता सिद्ध करने के लिए समर्थ नहीं है॥३६॥

अतएव जहाँ पर विरुद्ध कर्मों की अथवा वर और शाप का प्रमाणअभ्यासादि साम्य हो वहाँ पर दोनों का मिश्रित ही फल होता है, ऐसा कहते हैं।

दूधमिश्रित जल की तरह समान बलवाले वर और शाप के विलास से शुभ और अशुभ उभय

कोटिस्थ समानरूप से मिश्रित वस्तु होती है जैसे कि मनुष्य शरीर ॥३७॥

जहाँ पर एक काल में भिन्न देश में भोग्य समान बलवाले वर और शाप होते हैं वहाँ पर विपश्चित् उपाख्यान में वर्णित न्याय से उपाधि के विभाग द्वारा एक ही जीव चिति एक ही समय में देहभेद से दो रूप की हो जाती है, ऐसा कहते हैं।

अथवा जैसे स्वप्नों में नगरात्मक चिति नगरवासी लोगों के देह–भेद से विभिन्न–सी मालूम होती है वैसे ही जीवचिति एक समय में भिन्न देश में भोग्यसमान बली वर और शापों से अपनी द्विरूपता का स्वयं अनुभव करती है ॥३८॥ श्रीब्रह्माजी के आगे अपनी तात्त्विक बातों का बखानरूप धृष्टता अनुचित है, यह सोचकर कहते हैं : हे प्रभो, जो आपके चरणों के समीप बैठकर आपसे सीखा था उसका आपके सामने ही पुनः पारायण करना धृष्टता का सूचक होने से हमारे अपराध को क्षमा करें अतः आपको नमस्कार है, हम लोग शीघ्र अपने स्थान को जाते हैं ॥३९॥ जैसे दृष्टि तिमिररोग के हट जाने पर आकाश में भ्रान्तिकृत केशों का वर्तुलाकार गोला कहीं चला जाता है वैसे ही स्वयं ही वृथा आयास करनेवाले अपनी मूर्खता प्रकट करनेवाले अपने को लज्जा से शाप देनेवाला वह शापगण यह कहकर कहीं चला गया। इस प्रकार दुर्वासाजी के शापों के चले जाने पर सप्तद्वीपाधिपता के विरुद्ध घर से निर्गमन निरोधक उनकी भार्याओं को गौरी द्वारा दिये गये वरसंघ ने जैसे वैयाकरण–प्रक्रिया में आदेश स्थानी के स्थान की पूर्ति करता है वैसे ही शापों के स्थान की पूर्ति की। शापों के स्थानों पर बैठे हुए वर ब्रह्माजी से कहेंगे : हे देवाधिदेव, अन्धे कुओं से जलों के बाहर निर्गमन की तरह सप्तद्वीपों के अधिपति जीवों का शव गृह से बाहर निकलना हम नहीं जानते हैं, कारण कि उनका बाहर निर्गमन हम लोगों द्वारा अवरुद्ध है। ये श्रेष्ठ वीर वर इन सप्त द्वीपेश्वरों को गृहरूपी द्वीपों में रण में दिग्विजय कराते हैं। हे देवाधिदेव, इसलिए इस तरह अनिवार्य इस विरोध में जो हमें करना चाहिये उसका हमारे कल्याण के लिए हमें आदेश दीजिये ॥४०–४४॥ ब्रह्माजी ने कहा : हे सप्तद्वीपेश्वर बनानेवाले वरों, और हे घर में रोकनेवाले वरों, आप सब लोगों की अभिलाषा पूर्ण हो गई है ॥४५॥

हम सब लोगों की अभिलाषा कैसे सम्पन्न हुई ऐसी आशंका होने पर कहते हैं।

आप लोग इस परस्परअपेक्षता को प्राप्त हो जाओ क्योंकि आप लोगों के इच्छा न करने पर भी वे आठों भाई मरने के उत्तर क्षण में बहुत काल से अपने घर में ही सप्तद्वीपेश्वर बनकर विराजमान हैं ॥४६॥ हे वरों, देह छूटने के बाद ही ये सब लोग अपने घरों में सप्तद्वीपेश्वर बन गये हैं। सब वर कहेंगे : भगवन्, सात द्वीपवाले भूमण्डल कहाँ हैं और उनके विविध ऐश्वर्य कहाँ हैं ? यहाँ एक ही भूपीठ सुना और देखा गया है। उससे अतिरिक्त भूपीठ सुनने और देखने में नहीं आया। किसी एक घर के अन्दर वे सात द्वीपवाले भूखण्ड कैसे रह सकते हैं, छोटे से कमलगट्टे के अन्दर बहुत से हाथी कैसे समा सकते हैं ? ॥४७–४९॥

स्वप्न के समान ही यह अविरुद्ध है, यों उत्तर देते हैं।

ब्रह्माजी ने कहा : हे वरों, चूँकि आप लोग और हम लोग व्यष्टि–समष्टियों से युक्त व्योमात्मक सारे जगत् का, जो सच्चित्परमाणु के अन्दर स्थित है, अन्दर स्वप्नरूप से ही अनुभव करते हैं, अतः वह परमाणु के भी अन्दर स्थित स्वगृह के भीतर जो स्फुरित होकर समाता है वह क्या आश्चर्य है (क्या

अपूर्व है), प्रकृति के क्रम में कौन विस्मय है ? ॥५०,५१॥

जगत् की स्वप्नतुल्यता का प्रदर्शन करते हुए पूर्वोक्त बात को स्पष्ट करते हैं।

मृत्यु के बाद उसी क्षण में शून्यात्मक होता हुआ भी घनाकार यह जगत् ज्यों-का-त्यों स्फुरित होता है। जहाँ सच्चित्-परमाणु में भी जगत् समा जाता है वहाँ उस घर के अन्दर सप्तद्वीपा पृथ्वी स्फुरित होती है, इसमें क्या अनहोनी बात है ? जो यह जगत् का भान होता है वह तत्त्वतः चित्तत्त्व ही है। चूँकि जैसे शून्यरूप से आकाश स्फुरित होता है वैसे ही चिन्मात्र ही जगत्रूप से भासित होता है, इसलिए जगत् कहीं पर मूर्त नहीं है जिससे कि घर के भीतर वह न समा सके। तदनन्तर वरदान देनेवाले श्रीब्रह्माजी द्वारा यों समझाये गये वे वर पहले कल्पित अपने आधिभौतिक भ्रान्तिमय शरीरों का त्यागकर आतिवाहिक शरीरवाले बनकर ब्रह्माजी को प्रणाम कर विरोध न रहने के कारण सब साथ ही तत् तत् के मन से कल्पित सप्तद्वीप में तत्-तत् देवताओं के गृहों को गये, जिनमें विविध जन स्फुरित हो रहे थे। वे आठों भाई उस घर में यज्ञ आदि सत्कर्म और बन्धुजनों से परिपुष्ट तथा आठ जगतों के विभाग से ब्रह्मा के आठ दिनों तक आदि राजा स्वायंभुव मनुओं के कुल में सप्तद्वीपों से युक्त पृथिवी के अधिनायक हो गये। प्रत्येक के मैं भ्रातृसहित हूँ यों कल्पना करने से अन्योन्य बन्धु, सबके भिन्न-भिन्न राज्य होने के कारण आधिपत्य के अंश के विषय में अज्ञ, परस्पर एक दूसरे को राजा न जाननेवाले, अतएव अन्योन्य के अभिमत में हित न कि विरुद्ध चेष्टावाले वे अन्योन्य के भूमिमण्डल में स्थित हुए ॥५२-५८॥

उनमें से प्रत्येक के चरित्रभेद की कल्पना कहते हैं।

उनमें यौवन से सुन्दर एक भाई घर के भीतर ही उज्जयिनी नामकी महापुरीरूप राजधानी में सुख से स्थित है। शाकद्वीपनिवासी दूसरा भाई, जो सकल दिशाओं के विजय में उद्योगशील है, नागलोक को जीतने की इच्छा से सागर के गर्भ में विचरण करता है। तीसरा भाई, जिसकी सकल प्रजा निश्चिन्त है और जो सम्पूर्ण दिशाओं का विजय कर चुका है, कुशद्वीप की राजधानी में कान्ता से आलिंगित होकर सोया है। चौथा भाई शाल्मलिद्वीप-पर्वत शिखर पर स्थित नगरी के क्रीड़ासरोवर में विद्याधरियों के साथ जलक्रीड़ा में निरत है। पाँचवा भाई क्रौंचद्वीप में सातों द्वीपों से लाई गई महाऋद्धियों से सुसमृद्ध हेमपुर में ब्रह्मा के आठ दिनों तक बराबर अश्वमेध यज्ञ द्वारा भगवान् का पूजन करने के लिए प्रवृत्त है। छठा भाई शाल्मलि द्वीप में उखाड़े गये दिग्गजों के दाँतों से कुलाचलों को खींचकर दूसरे द्वीप के राजा के साथ युद्ध करने के लिए उद्यत है। पुष्कर द्वीप में रहनेवाला सातवाँ भाई लोकालोक पर्वत के राजा के दूत के साथ निधि-स्थानों को देखने की इच्छा से अपने घर से गया। गोमेदद्वीप निवासी आठवाँ भाई, कामवश पुष्कर द्वीप के राजा की पुत्री को जीतकर लाने के लिए शत्रुदेशों को रौंद रही सेनावाला हुआ। इस प्रकार स्वगृहाकाश में अलग अलग स्थित हुए इनकी स्वप्रतिभा उचित द्वीपद्वीपाधिपतिता को देखकर वे दोनों प्रकार से वर आतिवाहिक देहाकार में भी आभिमानिक आकार का त्याग कर उन आठों के जीवों के साथ ऐसे ही एकता को प्राप्त होंगे जैसे कि आकाश आकाशों के साथ एकता को प्राप्त होते हैं। चिरकाल में इच्छित सप्तद्वीपेश्वरता को प्राप्त हुए वे आठों भाई भी तुष्टियुक्त राज्य को प्राप्त कर सप्त द्वीपों के

अधिपति बनकर सन्तुष्ट होंगे । विशाल बुद्धिवाले वे जिनका पूर्वोक्त वररूप क्रियार्थ पूर्णरूप से विकसित हो चुका था, पूर्वोक्त प्रकार की सप्तद्वीपाधिपतिता को तपस्याओं द्वारा प्राप्त होंगे । प्रत्येक चैतन्य के अन्दर दृढ़ निश्चयरूप से जिसका स्फुरण होता है वही बाहर उसके अनुकूल तप, जप आदि कर्मों से किसे प्राप्त नहीं हुआ ? ॥५९–७०॥

एक सौ तिरासीवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चौरासीवाँ सर्ग

घर के अन्दर कोटि–कोटि आठ जगतों का संभव है,
क्योंकि अज्ञात चिन्मात्र का ही जगतों के रूप से भान होता है, यह वर्णन ।

कुन्ददन्त ने कहा : मेरे यह पूछने पर कि भगवन्, घरों के छोटे से अवकाश में उन पचास करोड़ योजन विस्तारवाले जगतों का कैसे भान हुआ ? कदम्बतलनिवासी उस तपस्वी ने यह कहा : यह चिदाकाश ऐसा ही है । सर्वव्यापी यह प्रपंचशून्य होने पर भी जहाँ–जहाँ रहता है, वहाँ वहाँ अपने स्वरूप को अपने में त्रिलोकी के रूप से अथवा सुषुप्त और तुरीय के रूप से अपने सच्चिदानन्दघन स्वरूप का त्याग किये बिना ही देखता है ॥१–३॥ कुन्ददन्त ने कहा : भगवन्, अद्वितीय, निर्मल, शान्त, शिव परम कारण में स्वभावसिद्ध (नैसर्गिक) वास्तवी नानाता (भिन्नता) कैसे स्थित है ? एक में नानाता विरुद्ध है यह शंका करनेवाले का भाव है ॥४॥

यह नानाता वास्तविक नहीं है, किन्तु भ्रान्तिजन्य है, वह जैसे चन्द्रमा के एक होने पर भी दो चन्द्रमाओं की प्रतीति होती है वैसे ही अविरुद्ध है, इस अभिप्राय से कहते हैं ।

कदम्बतपस्वी ने कहा : हे मुने, जैसे जलमें दृश्यमान भी आवर्त जल से अतिरिक्त नहीं है वैसे ही यहाँ पर सब कुछ शान्त चिदाकाश ही है वह विस्ताररूप से दिखाई देता भी नाना (भेद) कुछ नहीं है । इन सकलपदार्थों की असत्ता में पदार्थरूप से जो ये भासित होते हैं वह स्वप्न और सुषुप्ति के समान अपने यथार्थ स्वरूप को भूला हुआ निज निर्मल चिदाकाशरूप अज्ञात स्वरूप ही है ॥५,६॥

इसलिए कोई विरोध नहीं है, यह दर्शाते हैं ।

स्पन्दसहित होने पर भी वह निस्पन्द है पर्वत होने पर भी पर्वत नहीं है जैसे स्वप्नों में चिद्भाव पदार्थगत है वैसे ही सन्मात्रआत्मा चिद्भाव कल्पितार्थ भी है, यह समझना चाहिये । सर्वात्मा के अनुरूप यानी वास्तविकरूप में न सृष्टि आदि स्वभाव हैं और न सृष्टि स्वभाव से किये गये पदार्थ हैं । सृष्टि के आदि में जो रूप जैसे स्फुरित हुआ वह आज भी वैसा ही स्थित है । परमरूप कचन अकचन स्वरूप (स्फुरण–अस्फुरणरूप) नहीं है द्रव्य रूप से अचित् भी नहीं है । केवल चिदाकाश इस प्रकार से (जगत् के रूप से) स्थित है । जैसे स्वप्न में केवल एकमात्र निर्मल जीवचिति सेनारूपमें लाखों मनुष्यरूपता को प्राप्त हुई सी प्रतीत होती है वैसे ही इस चिति की पदार्थता स्फुरित होती है । चूँकि चिदाकाश स्वच्छतम अपने स्वरूप में अपने आप अतिशयरूप से देदीप्यमान होता है इसलिए उसके द्वारा स्फुरणाकार का जगत्रूप से अनुभव होता है । जैसे स्वप्न में अग्नि के न रहने

पर भी स्वप्नचिति ही उष्णरूप से भासित होती है वैसे ही संवित्मात्ररूप आकाश में असत् भी पदार्थ अपने स्वरूप को भासित करता है ॥७-१२॥ जैसे स्वाप्नाकाश में स्तम्भ के न रहने पर भी जीवचित् की स्तम्भता प्रतीत होती है वैसे ही यद्यपि इस चित् का नानात्व (भेद) इससे अभिन्न है तथापि भिन्नवत् भासता है ॥१३॥

तब अर्थ क्रिया का नियम कैसे है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

आदि सृष्टि में पदार्थता स्वभाव से स्वच्छ ही थी। चिदाकाश ने जिसका जैसे अनुभव किया वह आज भी अपने स्वरूप का वैसे ही लाभ करता है। जैसे फूल, पत्ते, फल और तने में वृक्ष ही व्याप्त है वैसे ही सर्वत्र सारा जगत् सर्वात्मा परब्रह्म ही है। सृष्टि परम्परा परमार्थ आकाशरूपी (चिदाकाशरूपी) सागर में जलरूप है तथा सृष्टिसंवित् परमार्थरूप महाकाश में शून्यतारूप है अर्थात् जैसे जल सागर से अभिन्न है और जैसे शून्यता आकाश से अभिन्न है वैसे ही परम ब्रह्म से सृष्टियाँ अभिन्न हैं। जैसे तरु और वृक्ष पर्यायवाची हैं वैसे ही परमार्थ और सृष्टि पर्यायवाची (अभिन्नार्थ) हैं। बोध होने से इस तरह अद्वैत होता है और बोध न होने से तो केवल दुःख के लिए द्वैत ही है ॥१४-१७॥ इस अध्यात्मशास्त्र के बोध से परमार्थरूप परम ब्रह्म और जगत् यह एक ही है यह निश्चय होता है, वही मुक्ति है। ब्रह्मा संकल्प करनेवाले चिदाकार के संकल्प का स्वरूप है। वही जगत् का रूप है, इसलिए जगत् ब्रह्मस्वरूप है। जिसमें वाणियाँ निवृत्त होती हैं (जहाँ वाणियों की पहुँच नहीं है) अथवा सकल शब्दों के ब्रह्मनिष्ठ होने से जिससे निवृत्त वाणियाँ होती ही है वैसे ही विधियाँ, निषेध और भावअभावदृष्टियाँ जिससे निवृत्त होती हैं अथवा सबके एकमात्र तदाश्रित होने से उक्त विधि आदि जिससे निवृत्त नहीं ही होते हैं। अमौन मौन के मध्य में जीवात्मा की जो पाषाण के समान चिद्घन स्थिति है, जो सत् होते हुए ही असत् के सदृश प्रतीत होता है वह ब्रह्म नाम का कहा जाता है। सर्वात्मा अद्वितीयसुघन निरामय ब्रह्म में ही भाव अभाव आदि वस्तु की क्या सृष्टि होगी और क्या प्रलय होगा ? जैसे एक ही अविचित्र निद्रा में विचित्र-सी अविच्छिन्न सुषुप्ति और स्वप्न की भ्रान्तियों का भान होता है वैसे ही इस अविचित्र चिदाकाशसत्ता में बहुत से विचित्र अविच्छिन्न बीजभूत प्रलयों और सर्गों का भान होता है ॥१८-२४॥

कैसे उनका भान होता है ? यह कहते हैं।

जैसे दही आदि द्रव्य में शक्कर आदि मिला दिया जाय तो मिला हुआ वह दही और शक्कर प्रत्येक गुण की अपेक्षा अन्य गुणको (रुचि, पुष्टि, पित्तनाश आदि करनेवाले गुण को) उत्पन्न करता है वैसे ही प्राणियों के अन्तःकरण में अभिव्यक्त प्रमातारूप चित्सार चक्षु आदि द्वारा बाहर निकलकर घटादि के आकार की वृत्ति के सम्बन्ध से मिलकर घट, पट आदि तत् तत् विषयों के अधिष्ठान चित् के आवरणभंग से परस्पर द्रष्टा, दर्शन और दृश्यरूप त्रिपुटी के स्फुरण को उत्पन्न करता है ॥२५॥

इसलिए घट, पट आदि पदार्थ भी अपने अधिष्ठानभूत चित् की सत्ता और स्फूर्तिवाले होने से चिन्मात्रसार हैं ऐसा कहते हैं।

सदा अमूर्त चिन्मात्रसार सब पदार्थ सृष्टि के आदि में एकमात्रस्वरूप होने के कारण स्फुरित होते हैं ॥२६॥

उनकी स्थिति भी संवित् के अनुसार ही है। स्पन्दशून्य चिदाधिष्ठानवाली होने के कारण सब

द्रव्यशक्तियाँ भी अपने आश्रय से विचलित नहीं होतीं और न उनका ह्रास ही होता है, ऐसा कहते हैं।

एकमात्र चिन्मात्रस्वरूप होने के कारण संविद् के अनुसार स्थित, निश्चल तथा द्वैताकार के ग्रहण से रहित द्रव्यशक्तियाँ स्फुरित होती हैं ॥२७॥

इस प्रकार एकमात्र प्रतिभास के अधीन सर्वस्ववाला यह जगत् प्रातिभासिक ही है, इस आशय से कहते हैं।

यद्यपि ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र सहित यह सारा जगत् अविद्यमान ही है फिर भी स्वप्न की तरह दिखाई देता है और अनुभव में आता है। स्थावर जंगम स्वरूप चित्रूपी जलमें हर्ष, क्रोध और विषाद से अत्यन्त विचित्र स्पन्द रीतियाँ दिखाई देती हैं। स्वभावरूप अर्थात् अज्ञातस्वरूपनिष्ठ विक्षेपशक्तिरूप वायु से कँपाये गये, जगत्जालाकार चमत्कार से युक्त चित्, की जो सत्त्वगुणरूप प्रकाश से किरणरूप हैं, रजोगुण से धूलिराशिरूप है, आवरण और जाड्यप्रधान तमोगुण से मेघ और कुहरारूप है, आकाश में विस्तारशीलता खेदजनक है अर्थात् किस किस प्रकार के जन्म, मरण आदि करोड़ों अनर्थों के रूप से सम्पन्न है। जैसे रोगाक्रान्त दृष्टिवाले पुरुष को आकाश में केशों का वर्तुलाकार गोला दिखाई देता है वैसे ही अज्ञानावृत्त चिद्दृष्टिवाले पुरुष को स्वात्माकाश में इस जगद्भ्रान्ति का भान होता है ॥२८–३१॥

उसकी काल और प्रकार की व्यवस्था भी संकल्प के अनुसार ही होती है, ऐसा कहते हैं।

जैसे संकल्पनगर जब तक संकल्प किया जाय और जिस जिस प्रकार से संकल्प किया जाय तब तक और उस उस प्रकार से स्फुरित होता है वैसे ही यह जगत् भी जब तक तथा जिस प्रकार इसका संकल्प किया जाय तब तक उस प्रकार स्फुरित होता है। जैसे कि संकल्पनगर में संकल्पपर्यन्त सकल स्थिति, जो असद्रूप होने पर भी सत् के समान अनुभव में आती है, अवश्यमेव रहती है। वही ब्रह्मा की संकल्परूप नियति, जो नियत अर्थ का प्रदान करती है आज भी धाराप्रवाहरूप से चलती है आगे भी अवश्य ही चलेगी। उसी से स्थावर और जंगम आदि प्राणिसंघ नियमितरूप से रहता है ॥३२–३४॥

प्राणियों के जन्म, कर्म, स्वभावादि की व्यवस्था भी उसी से होती है यह कहते हैं।

उक्त नियति से ही जिसमें स्फुट जीव है ऐसे जंगम से जंगम की उत्पत्ति होती है और स्थावर से स्थावर की उत्पत्ति होती है, जल नीचे की ओर बहता है और अग्नि ऊपर को धधकती है। उसी नियति के कारण ही सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतियाँ देह–यन्त्र धारण करती हैं और तपती हैं। वायु सदा गतिशील रहते हैं और पर्वत आदि स्थिर (अचल) रहते हैं। उसी नियति से ज्योतिर्मय युग, संवत्सर आदि रूप कालचक्र दक्षिणायनरूप से लौटकर वर्षा ऋतु में आकाश को मूसलाधार वृष्टि से व्याप्त करता हुआ चलता है। नियति से ही भूतल में एक के बाद एक सागर और पर्वतों का संनिवेश स्थिर सा होता है तथा भाव, अभाव, ग्रहण त्यागरूप द्रव्य शक्ति भी रहती है ॥३५–३८॥

हम सब लोगों का व्यवहार ब्रह्मा के संकल्परूप नियति से सुव्यवस्थित हो, लेकिन ब्रह्मा की संकल्पव्यवस्था ही पूर्वानुभवजन्य संस्कार से अतिरिक्त हेतुका संभव न होने तथा आदि सृष्टि में पूर्वानुभव के प्रसिद्धि न होने के कारण कैसे सिद्ध हो सकती है, यों कुन्ददन्त शंका करता है।

कुन्ददन्त ने कहा : भगवन्, पहले देखी गई वस्तु स्मृति-पथ में आरूढ़ होती है उसके अनन्तर तदनुसारी संकल्प होते हैं। उक्त संकल्पों से नियत सृष्टि का भान होता है। यह बात द्वितीय, तृतीय आदि कल्पों की सृष्टि में संभव है। किन्तु आदि सृष्टि में किसको पूर्वसृष्टि का भान प्रसिद्ध है जिससे कि ब्रह्माजी पूछें अथवा स्वयं स्मरण करें ॥३९॥

ब्रह्मा का संकल्प स्मरण के अधीन नहीं है किन्तु दिव्य ज्ञान द्वारा अतीत अनागत सकल वस्तुओं के दर्शन के अधीन है, क्योंकि 'स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमान् लोकानसृजत' इत्यादि श्रुति है। उस क्षण में सब अतीत और अनागत जगत् अपूर्वदृष्ट ही दिखाई देता है और दृष्ट की अनुसारिणी चिद् विवर्तरूप सांकल्पिक सृष्टि प्रवृत्त होती है। उसी में यह मैंने 'प्राग्दृष्टम्' (पहले देखा) यों कहीं पर अभ्यास भी किया है इस तरह तपस्वी शंका का समाधान करते हैं।

स्वप्न में स्वमरण के तुल्य अपूर्व ही सब कुछ दिखाई देता है उसी में पहले देखा गया, यों अभ्यासवश ब्रह्मा को स्मृति होती है। चित् होने के कारण जगत्रूपी संकल्पनगर चिदाकाश में स्फुरित होता है। चूँकि वह स्वतः कभी भासित होता है और कभी भासित नहीं होता, इसलिए वह न सत् है और न असत् है ॥४०,४१॥

दर्शन की सामर्थ्य न होने पर स्मृति की कल्पना करनी पड़ती है। स्वप्न में केवल कल्पना से दर्शन में समर्थ चित् की स्मृतिकल्पना नहीं दिखाई देती, ऐसा कहते हैं।

चित् के प्रसाद से आज भी संकल्प, स्वप्न आदि का अनुभव होता है शुद्ध चिदाकाशरूप नगर का (जगत् का) चित् के प्रसाद से कैसे स्मरण न होगा ? ॥४२॥

अतएव गुण, दोष आदि में स्मरण से हर्ष, क्रोधरहित तत्त्वज्ञानी कुम्हार के चाक की तरह प्रारब्ध के वेग से ही भ्रमण करते हैं, ऐसा कहते हैं।

हर्ष, क्रोध आदि से विहीन ज्ञानी चक्रों के समान दुःखपूर्ण हो चाहे सुखप्रद हो प्रस्तुत (प्रारब्ध प्राप्त) मार्ग से ही चलते हैं ॥४३॥

बाधित स्मृति स्मृति नहीं है किन्तु वह अधिष्ठानमात्र का परिशेष है, ऐसा कहते हैं।

निद्रा की समाप्ति होने पर स्वप्ननगर विषयक स्मृति में जैसे अधिष्ठानमात्र का परिशेष रहता है वैसे ही तीनों जगत् के भ्रम को भी परम चिदाकाशात्मक समझो। संवित् का आभासमात्र ही जो 'जगत्' शब्द से कहलाता है उसे भी तुम केवल शान्त चिदाकाश ही जानो अन्य कुछ नहीं ॥४४,४५॥

क्योंकि सब प्रकार शान्त चित् ही सब कुछ है, यह कहते हैं।

जिसमें सब है, जिससे सब है, जो सब है, जो सब तरफ से है वही सर्वात्मा सर्वदा सर्वरूप से सर्वत्र स्थित है। यह ब्राह्मी सृष्टि जिस प्रकार है, आगे जो होगा और जिस प्रकार इस दृश्य जगत् का भान होता है यह सब मैंने आपसे कहा। हे ब्राह्मणों ! अब आप दोनों उठिये, प्रातःकाल होते ही भ्रमर जिस प्रकार कमल पुष्प के पास जाते है वैसे ही अपने अभिष्ट सत्कर्मों का शीघ्र विधान कीजिये। मुझे समाधि से रहित अवस्था में अत्यन्त दुःख हो रहा है, इसलिए मैं फिर समाधि में प्रवेश करता हूँ ॥४६-४८॥

एक सौ चौरासीवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पचासीवाँ सर्ग

उन दोनों का गृह-आगमन, वहाँ भाईयों का क्रमशः क्षय और
श्रीरामचन्द्रजी की प्राप्ति से कुन्ददन्त के मोहोच्छेद का वर्णन।

कुन्ददन्त ने कहा : वृद्ध मुनि ने भी इतना कहकर ध्यान से आँखें मुँद लीं। प्राणवायु और मन के स्पन्दनरहित होने से वह चित्रलिखित जैसा हो गया। हम दोनों के विनय और स्तुतिमय वाक्यों से बार-बार प्रार्थना करने पर भी बाह्यवृत्तिशून्य होने के कारण संसार को न जानते हुए उसने फिर उत्तर नहीं दिया। मुनि के वियोग से उदास हुए हम दोनों उस प्रदेश से धीरे धीरे चलकर कुछ दिनों के बाद प्रसन्न बन्धु-बान्धवों से युक्त घर में पहुँचे। इसके अनन्तर घर में कुलदेवता के आराधनादि उत्सव कर नाना प्रकार की प्राचीन कथाएँ कहकर हम तब तक स्थित रहे जब तक वे सातों भाई प्रलयकाल में सप्त समुद्रों की भाँति क्रम से विलीन न हो गये। केवल वह एक मेरा मित्र ही आठवें समुद्र की भाँति विलीन होने से बचा रह गया। फिर कुछ काल के अनन्तर वह मेरा मित्र भी दिन के अन्त में सूर्य की भाँति अस्त हो गया (मर गया) और उसके विरह दुःख से व्याप्त हुआ मैं अत्यन्त दुःखी हुआ। तब दुःखी हुआ मैं उस दुःख का नाश करने के लिए और उस प्राक्तन ज्ञान को आदरपूर्वक पूछने के लिए फिर उसी कदम्बतरू-तपस्वी के पास गया। वहाँ तीन महीने के अनन्तर वह मुनि समाधि से विरत हुआ। नम्रता के साथ मेरे प्रश्न करने पर वह इस प्रकार बोला ॥१-८॥ कदम्बतरू तपस्वी ने कहा : मैं समाधि से विरत होकर एक क्षण भी नहीं रह सकता। मैं फिर शीघ्र ही त्वरापूर्वक समाधि में ही प्रवेश करता हूँ॥९॥ हे निष्पाप, इस समय मेरा वास्तविक उपदेश भी अभ्यास के बिना तुम्हें नहीं लगेगा, अतः दूसरी युक्ति सुनो और वैसा ही करो। अयोध्या नाम की नगरी है। वहाँ दशरथ नाम के राजा हैं। उनके पुत्र राम नाम से प्रसिद्ध हैं ॥१०,११॥ वहाँ तुम उनके पास जाओ, क्योंकि उनके कुलगुरु वसिष्ठनामक मुनिश्रेष्ठ उन श्रीरामचन्द्र के लिए सभा में मोक्षउपाय की दिव्य कथा कहेंगे। हे द्विज, चिरकालतक उसे सुनकर तुम उस पावन परम पद में मेरी ही तरह विश्रान्ति को प्राप्त हो जाओगो। इतना कहकर वह मुनि समाधानरूप औषधि के समुद्र अर्थात् समाधि में प्रविष्ट हुआ और मैं यहाँ आपके पास प्राप्त हुआ हूँ। यही मैं हूँ और यह मेरा वृत्तान्त जैसा हुआ, जैसे देखा और जैसे सुना वह सम्पूर्ण मैंने कह दिया ॥१२-१५॥ श्रीरामजी ने कहा : हे गुरुवर, इत्यादि कथाओं को कहने में चतुर वह कुन्ददन्त उस दिन से सदा मेरे समीप ही रहता है। वही यह कुन्ददन्त नामक द्विज मेरे पास बैठा हुआ इस सभा में मोक्षउपाय नामक इस सम्पूर्ण संहिता को सुनता था ॥१६,१७॥

इस प्रकार प्रश्न का उपोद्घात करके अब प्रष्टव्य अंश कहते हैं।

वही यह मेरे समीप बैठा हुआ कुन्ददन्त नामक द्विज है, यही आज संशयरहित हुआ या नहीं यह इससे कृपा कर पूछिये ॥१८॥ श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी के इतना कहने पर वक्ताओं में श्रेष्ठ मुनिप्रवर वसिष्ठजी कुन्ददन्त की ओर देखकर बोले : हे अनघ, हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, कुन्ददन्त, कहो मेरे कहे हुए मोक्ष देनेवाले इस शास्त्र को सुनकर तुमने किस ज्ञातव्य को जाना ? कुन्ददन्त ने कहा : भगवन्, सम्पूर्ण संशयों का विनाशक मेरा चित्त ही मेरी विजय के लिए है। मेरे सभी सन्देहों की निवृत्ति

हो गई है, क्योंकि अवश्यज्ञेय अखंडित ब्रह्मतत्त्व मैं जान चुका हूँ ॥१९-२१॥

ज्ञानमात्र से मोह की निवृत्ति हो जाने से अन्य ज्ञातव्य, द्रष्टव्य और लब्धव्य का भी परिशेष न रह जाने से अपनी कृतकृत्यता दर्शाते हैं।

ज्ञातव्य जो अमल था उसे मैं जान चुका, अक्षत द्रष्टव्य को मैंने देख लिया, सम्पूर्ण प्राप्तव्य को मैं प्राप्त कर चुका अब इस ब्रह्मरुप परम पद में विश्रान्त हूँ ॥२२॥ यह आत्मचिति आपसे मैंने जान ली है। यह सब अखण्ड परमार्थघन आकाश में आत्मा से अनन्य जगत्रूप से स्फुरित है। सर्वात्मक होने से सर्वरूपी सर्वव्यापी आत्मा का सभी कुछ सब प्रकार से सर्वत्र सर्वदा पूर्णरूप से संभव होता है। सरसों के कण के अन्दर भी सर्वकल्पनाशक्तियुक्त अधिष्ठानभूत चित् का अस्तित्व होने से उसके अन्दर भी मायादृष्टि से अनन्त जगतों का संभव है, किन्तु इस चित् का पूर्णरुप से ज्ञान होने पर तो वास्तविक दृष्टि से कहीं पर भी जगतों का संभव नहीं है। गृह के अन्दर ही सप्तद्वीपा पृथ्वी उत्पन्न होती है और गृह शून्य ही है। यह निःसंन्देह सत्य है ॥२३-२६॥

अब मायासहित ब्रह्मतत्त्व का निष्कर्ष निकालकर उपसंहार करते हैं।

जो-जो वस्तु जब जब जिस प्रकार से भासित होती है और प्राणियों से उसका अनुभव किया जाता है वह वह वस्तु उस उस समय केवल सर्वघन आत्मा ही उस रूप से है अर्थात् सर्वघन आत्मा ही सब प्राणियों के लिये सभी समय सर्व-भाव रूप से बोध का विषय है। अणुमात्र भी उससे भिन्न किसी से कहीं किसी प्रकार अनुभूत नहीं होता। इस प्रकार आदि अन्त से विहीन ब्रह्म ही सब कुछ है ॥२७॥

एक सौ पचासीवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ छियासीवाँ सर्ग

इस सर्ग में 'सब कुछ ब्रह्म ही है' यह सिद्धान्त अटल किया जाता है और
ब्रह्माजी के संकल्प से वर और शापों की अर्थसिद्धि अटल की जाती है।

पहले कुन्ददन्त द्वारा वर्णित मायाशबल ब्रह्मतत्त्व को दृढ़कर श्रीवसिष्ठजी मायारहित शुद्ध ब्रह्म का वर्णन करने के लिए प्रवृत्त हुए, ऐसा कहते हैं।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : कुन्ददन्त के यों कहने पर परम श्लाघनीय भगवान् श्रीवसिष्ठ मुनिजी ने यह परमार्थोचित वचन कहा ॥१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हर्ष की बात है कि इस महात्मा के, शास्त्र के श्रवण से उत्पन्न ज्ञान की पूर्णता हो चुकी है। यह, सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है यह बात हस्तामलकवत् देखता है। केवल भ्रान्तिमात्र स्वरूप यह विश्व जन्मादिरहित ब्रह्म इसे मालूम होता है, अतः भ्रान्ति भी इसे शान्त, एक और निर्विकार ब्रह्म ही प्रतीत होती है ॥२,३॥

शबलब्रह्मनिष्कर्ष-दृष्टि से इसने जो यह वर्णन किया है वह भी उचित ही है, ऐसा कहते हैं।

जो जैसे जिसके द्वारा जिस अधिकरण में जिस प्रकार का जब तक जिस काल में जिससे होता है वह वैसे उसके द्वारा उस अधिकरण में उस प्रकार का तब तक उस काल में शिव, शान्त, जन्मादिरहति, मौन, अमौन, अजर, सर्वव्याप्त, सुशून्य, अशून्य, आदि-अन्तशून्य, अक्षय ब्रह्म ही है ॥४,५॥

मायाशबल चित् के द्वारा जिस जिस अवस्था का संकल्पातिशय किया जाता है वह वह अवस्था

जलसे सींची गई लता की तरह सहस्रों शाखाओं को प्राप्त होती है। ब्रह्माण्ड ही परम अणु है, क्योंकि वह चिदाकाश के मध्य में स्थित है और परमाणु ही ब्रह्माण्ड है, क्योंकि उसमें सारा जगत् व्याप्त है ॥६,७॥

जगत के ही ब्रह्म होने का फल कहते हैं।

इसलिए यह समस्त जगत् चिदाकाश, आदिमध्यरहित, अखण्ड, सौम्य और मोक्षरूप है। अतः जिसका शरीरादिवैचित्र्यरूप बन्धन अस्त हो चुका है ऐसे तुम निरामय आत्मस्वरूप ब्रह्म ही होकर स्थित रहो। व्यवहार में तो ब्रह्म स्वयं दृश्य है, स्वयं द्रष्टा है, स्वयं चेतन है, स्वयं जड़ है, स्वयं सब कुछ है और स्वयं कुछ नहीं भी है, वास्तव में तो वह अद्वितीय स्वप्रकाशानन्द एकरस आत्मा में ही स्थित है ॥८,९॥ यह ब्रह्म जगत्‌रूप आत्मचिदाकाश में जहाँ जैसा रूप धारण करता है वहाँ अपने स्वरूप को न छोड़ता हुआ वैसा ही हो जाता है। ब्रह्म अपनी माया से दृश्यजगत्‌रूप में उत्पन्न हुआ इससे ब्रह्म और जगत् यों द्वैत की सिद्धि नहीं समझनी चाहिये, क्योंकि वह तो यथावत् अविकृत ही है। शून्यत्व और आकाश की तरह ब्रह्म और जगत्–इन दोनों को एक ही समझो। दृश्य जगत् ही परम ब्रह्म है और परम ब्रह्म ही दृश्यता है। यह न तो शान्त है, न अशान्त है, न आकृतिविहीन है और न आकृतिवाला ही है ॥१०–१२॥

प्रतीयमान देहादि आकृति का कैसे अपलाप करते हैं ? इस शंका पर कहते हैं।

जिस प्रकार प्रबोध होनेपर (जागनेपर) स्वप्नादि निराकार भासते हैं, वैसे ही ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाने पर यह देह भी निराकृति भासता है, केवल संवित्स्वरूप साकार और स्वानुभूत होनेपर भी जैसे स्वप्नादि असन्मय हैं वैसे ही देह भी असत् ही है ॥१३॥

संवित् का भी जड़स्थावरता में दृष्टान्त देते हैं।

जैसे चेतन स्वरूपवाला (संवित्मय) जन्तु भी निद्रात्मा होकर जड़ हो जाता है उसी प्रकार यह स्थावरनामिका संवित् भी जड़ हो जाती है ॥१४॥

चित् के स्थावरभाव की प्राप्ति के अनन्तर जंगमभाव में अभिव्यक्ति में दृष्टान्त देते हैं।

जैसे सुषुप्तात्मा जीव स्वप्न और जाग्रत् को सैकड़ों जगतों की कल्पनाओं से जाता है वैसे ही चिति स्थावरत्वरूप जड़ से जंगमस्वरूप चित्त्व को प्राप्त होती है ॥१५॥

जीव की कितने समय तक स्थावरत्व और जंगमत्व की स्थिति रहती है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

मोक्ष होने तक जीव की यह स्थिति भूमि, जल, वायु, तेज और आकाश में स्वप्नतुल्य आकाशस्वरूप (शून्यरूप) लाखों जगतों के साथ भासती है। जैसे मनुष्य निद्रास्थिति का ग्रहण करता है वैसे ही चिति जड़ता का अपने में आरोप करती है फिर भी उसका चितित्त्व अव्याहत ही रहता है। वह अध्यस्त जड़ता से अपने में जड़ता का आरोप नहीं करती, वास्तव में जड़ता को प्राप्त नहीं होती। जैसे चिति जाड्यवेदनवेत्ता जीव के प्रति स्थावर शरीर बनाती है वैसे ही चिति जाड्यवेदनवेत्ता जीव के प्रति जंगम शरीर भी बनाती है ॥१६–१८॥

वैसा करने पर भी (जीव के प्रति अपने स्थावर और जंगम शरीर बनाने पर भी) चित् का भेद नहीं होता, किन्तु महाचित् का अपने में अध्यस्त सब अचेतन और चेतन नख, पैर आदि के समान अवयवरूप

ही हैं, ऐसा कहते हैं।

जैसे पुरुष के नख, पैर आदि एक ही शरीर हैं (शरीर के अवयव हैं) वैसे ही चित् का स्थावर और जंगम एक ही अमूर्त शरीर है। आदिम सृष्टि में हिरण्यगर्भ का (ब्रह्मा का) प्राथमिक सृष्टि में हेतुभूत संकल्प होने पर चित् का जगत् नाम का जो रूप जिस तरह प्रथा को (प्रसिद्धि को) प्राप्त हुआ वह इस समय भी वैसे ही स्थित है। इस तरह चिरकाल से जड़ के रूप से यद्यपि वह स्थित है तथापि चिन्मय होने के कारण अप्रतिघ (अमूर्त), शान्त, ज्यों-का-त्यों स्वरूप से स्थित, कुछ भी प्रथा को नहीं प्राप्त हुआ, अतः वह अप्रथित है, यों उसके अपवाद द्वारा सृष्टि का अन्त कहा जाता है ॥१९-२१॥

इस प्रकार सृष्टिमात्र की त्रिकाल में असत्ता होने के कारण उसकी आदि और अन्त कल्पना भी मिथ्या है, ऐसा कहते हैं।

जैसे स्वाप्नप्रपंच की सुषुप्ति आदि प्रबोधान्तता निद्राकोष्ठ के अन्दर ही कल्पित होती है न कि प्रबोधकोष्ठ के अन्दर वैसे ही सुघन निद्रावाली चिति के सुषुप्ति-स्वप्नकोष्ठ से ही सृष्टि का यह आदि है, यह अन्त है यों आदि-अन्त का भान होता है वास्तव में असत् सृष्टि का आदि और अन्त क्या हो सकता है ? चूँकि मुझ ज्ञानी के प्रति अद्वितीय (अखण्ड), आदि और अन्त से शून्य (जन्म-नाशविहीन) परमार्थघन ही है, अतः सृष्टि, स्थिति और प्रलयों का नाम भी नहीं है, उनके रूप की बात तो दूर रही ॥२२,२३॥ भ्रान्तिवश दिखाई दे रहे सृष्टि, स्थिति और प्रलय आदि का अस्तित्व नहीं है जैसे चित्रलिखित चित्रवधू चित्र से व्यतिरिक्त नहीं है वैसे ही दृश्यमान यह सृष्टि-स्थिति-प्रलयरूप जगत् आत्मा से अन्य नही हैं। जैसे चित्रकार द्वारा बनाई जानेवाली चित्रलिखित सेना बुद्धिस्थ चित्र से भिन्न नहीं है वैसे ही मूर्त सर्गता (सृष्टि) भी स्रष्टा की चित्ततादशा में नाना प्रतीत होती हुई भी अनाना ही है ॥२४,२५॥ यद्यपि चिद्घन निद्रारूप अविद्या विभागहीन है तथापि वह सुषुप्तिरूप आवरण से वास्तविक स्वरूपभूत भी मोक्ष नाम से प्रसिद्ध भाग को चुरा लेती है, यानी उसके अस्तित्व का अपलाप कर देती है इतना ही नहीं करती प्रत्युत चित्त बनकर वह इस जाग्रद्भाग और स्वप्न को दिखलाती है ॥२६॥ यह प्रलय है, यह सृष्टि है, यह स्वप्न है, यह जाग्रत है ये सब प्रज्ञानघनतारूप सुषुप्तिवाले आत्मसूर्य के इस तरह के विभिन्न प्रकाश हैं, स्फुरण हैं। उनमें चित् निद्रा का उद्भूतवासनावाला जो स्वप्नभाग है वही उपाधिरूप अंश की प्रधानता से चित्त कहा गया है, चिदंश की प्रधानता से जीव हो वही देवता, असुर,मनुष्य आदि अधिकारियों के शरीरों का द्रष्टा होकर तत्त्वज्ञान से चित् निद्रा को हटाकर मुक्त होता है। चौथी और पाँचवीं भूमिकाओं में ज्ञात हुआ वही जब छठी भूमिका में स्वयं सुषुप्ति होता है तब सातवीं भूमिका में मुक्ति की अभिलाषा करनेवाले पुरुषों द्वारा 'मोक्ष' कहा जाता है ॥२७-२९॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, देवता, असुर, मनुष्य आदि स्वरूप चित्त देवता, असुर, मनुष्य आदि के भेद से कितना बड़ा है और उसके अवयवों की बनावट कैसी है ? चित् निद्रा कैसी है और उसके पेट में जगत् कितना बड़ा और कितने समय तक रहता है एवं स्वात्मदर्शन कैसे होता है ? ॥३०॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, चित्त को आप मनुष्य, देवता, असुर, स्थावर, स्त्री, हाथी, पर्वत, भूत, प्रेत, पिशाच आदि, पक्षी, कीट, पतंग आदि और राक्षस जानिये। उसका प्रमाण भी आप अनन्त जानिये जहाँ पर परमाणु से लेकर ब्रह्मादिस्थावरात्मक हजारों जगत् समाते हैं ॥३१,३२॥

चित्त के विपुलत्वातिशय को भी अनुभव में आरूढ़ कराते हैं।

ऊपर की ओर दृष्टि फेंकने पर जो यह सूर्यमार्ग से ऊपर ध्रुव, अन्धकारादि प्रदेश में चाक्षुष ज्ञान जाता है इतने बड़े प्रमाणवाला चित्त है यों उसकी निःसीमता और निर्मल आकृति सबके अनुभव से सिद्ध हैं। यह चित् का उग्र (असहनीय संसारदुःखमय होने के कारण उग्र) रूप है इसी समष्टिस्वरूप चिद्रूप के अन्दर भुवनसमृद्धियाँ जब ब्रह्माण्ड आदि की कल्पना द्वारा आती हैं तब सृष्टि होती है उसे हम लोग चित्त से आई हुई कहते हैं। चित्त को ही ज्ञानी लोग 'जीव' जानते हैं, वह आदि अन्तविहीन (व्यापक) है। अतएव वह जैसे आकाश घड़ों में रहता है वैसे ही सकल देहों में रहता है। व्यष्टिरूप से देह से उत्क्रमण होने के कारण ब्रह्मा की इच्छा से देहों में नहीं भी रहता है ॥३३–३५॥ हे वत्स, जैसे नदी का धाराप्रवाह नीचे–ऊँचे भूमिभागों को ग्रहण करता है और उनका त्याग भी करता है वैसे ही मन विविध शरीरों को ग्रहण करता है और उनका त्याग भी करता है। जैसे यह मरूभूमि है जल नहीं है इस ज्ञान से मरूभूमि में जल की प्रतीति शान्त हो जाती है वैसे ही आत्मा के परिज्ञान से इसकी यह देहादिभ्रान्ति शीघ्र शान्त हो जाती है ॥३६,३७॥

इस प्रकार सकल जगद्गर्भित मन की परमाणुरूपता ही है, ऐसा कहते हैं।

जगत् में जलान्तर्गत सूर्यकिरणों में सबसे छोटे अणु का जो प्रमाण प्रसिद्ध है वही चित्त का परिमाण है। वही जीव है, क्योंकि 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते' ऐसी श्रुति है। इसलिए पुरुषों के (जीवों के) अन्दर जगत् स्थित है ॥३८॥

इस प्रकार जीव और जगत् के भेद का भी परिमार्जन हो गया, ऐसा कहते हैं।

जैसे स्वप्नभूमियों में जो कुछ भी दृश्य है वह सबका सब चित्त ही है वैसे ही जाग्रतजगत् में भी जो कुछ भी दृश्य है वह सम्पूर्णतया चित्त ही है वही जीव है, इसलिए जगत् और जीव में कौन भेद है ? ॥३९॥

जीव और जगत् का अभेद सिद्ध होने पर जगत् की चिन्मात्रता भी अपने आप सिद्ध हो गई, ऐसा कहते हैं।

जैसे स्वप्न में सकल पदार्थसमूह चित् ही हैं और जैसे सुवर्ण में कुण्डल, कटक आदि रूपता सुवर्ण ही है वैसे ही यह सम्पूर्ण पदार्थराशि चित् ही है। यदि इसे चित् से भिन्न मानो तो इसमें सत्ता और स्फूर्ति का लाभ न होने के कारण यह अलीक (मिथ्या) हो जायेगी, इससे व्यतिरिक्त पदार्थता ही सिद्ध न होगी ॥४०॥ जैसे सागररूप एक प्रदेश में एकत्र होकर स्थित हुई ही जलराशि फेन, बुद्बुद्, लहर, आवर्त आदि पृथक् रूप से स्फुरित होती है वैसे ही ब्रह्म में भी नित्यस्थित अभिन्न दृश्यरूप चितियाँ पृथक् रूप से स्फुरित होती हैं ॥४१॥

उनकी ब्रह्म से अभिन्नता में जलद्रवता का दृष्टान्त देते हैं।

जैसे सागर में सागरकुक्षिस्थित जलराशि द्रवरूप से स्फुरित होती है वैसे ही अभिन्न पदार्थ राशियाँ परमब्रह्म में स्फुरित होती हैं। यथास्थित जगद्रूप प्रतिमाओं की अत्यन्त शून्यता को धारण करनेवाला चित्रूपी यह स्तम्भ अटल होकर खड़ा है, जो आदिअन्तविहीन है। स्वप्नभूमि के तुल्य संविदाकाश में यथास्थित यह सारा–का–सारा विश्व अपने शान्त निर्मल स्वरूप का त्याग किये बिना स्थित है ॥४२–४४॥

कैसे शान्त है, कैसे अपने स्वरूप का त्याग नहीं करता है ? इस आशंका पर कहते हैं।

इन विश्व और संवित् की परस्पर समता, सत्यता, सत्ता, एकता, निर्विकारता पाँच प्रकारों से भेद की प्रतीति न होने के कारण वह शान्त है और आधारआधेयभाव से स्तम्भ और प्रतिमा के तुल्य थोड़ा–बहुत भेद का आभास होने से वह स्वरूप का त्याग नहीं करता यह अर्थ है ॥४५॥

विश्व और संवित् में प्रातिभासिक भेद है वास्तव में तो भेद का अभाव है, ऐसा कहते हैं।

स्वप्न और संकल्प के संसार की तरह वर और शापसे नन्दी और नहुष के देवत्व और सर्पत्व प्रतिभान दृष्टियों का तालाब, सागर और नदी के जलों की तरह व्यवहारयोग्य भेद है, परमार्थतः भेद नहीं है ॥४६॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, वर और शापरूप अर्थ संवित् में कार्यकारणता कैसे हो सकती है ? उपादान के बिना कार्य हो ही नहीं सकता इसे आप कृपाकर कहें। *नन्दी के मनुष्य–शरीर में देव–शरीर का उपादानभूत चन्द्रामृत नहीं है इसी तरह चन्द्रामृतरचित नहुष के देव–शरीर में साँप के शरीर के उपादानभूत सर्प अंडे आदि नहीं हैं। उपादान के बिना संसार में कहीं पर भी कार्य नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में वहाँ दोनों जगह नन्दी और नहुष में देवता और सर्प के शरीर की सिद्धि कैसे हुई ? यह श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न का आशय हैं ॥४७॥*

निरावरण ज्ञानवाले भगवान् श्री शंकर और अगस्त्यादि ऋषियों की सत्यसंकल्पअवच्छिन्न चिति ही वहाँ पर देव और सर्प के शरीररूप से विवर्तित होती है, इसलिए विवर्तवाद में इस आक्षेप का अवकाश ही नहीं हैं, यों उत्तर देने के लिए श्रीवसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे सागर में जलराशि का स्फुरण होने पर आवर्तगति होती है वैसे ही अत्यन्त अवदात (निर्मल) यानी तत्त्वज्ञान से खूब विमृष्ट होने के कारण अत्यन्त निर्मल चिदाकाश का सत्यसंकल्पानुसारी जो स्फुरण है वही जगत् कहा जाता है, यह बात मैं अनेक बार कह आया हूँ ॥४८॥ विधाता की आत्मचिति में समुद्र में जलराशि की तरह जगद्भावों का अकस्मात् भान होता है जो चिदात्मस्वरूप ही हैं। उन भानों का 'सोऽकामयत', 'तदैक्षत', 'समक्लृपतां द्यावापृथिवी' इत्यादि श्रुतियाँ और मनीषी ऋषि लोग संकल्प आदि नाम कहते हैं ॥४९॥ दीर्घकाल से, अभ्यास से, विचार से, शत्रुमित्र आदि में समदर्शन से, देवता की जाति की सात्त्विकता से और सात्त्विक निर्मल स्वरूप से सम्यक् ज्ञानवान् अतएव वास्तविक अर्थ को देखनेवाले ज्ञानी पुरुष की बुद्धि द्वैत और ऐक्य से वर्जित चिन्मात्ररूप होती है। निरावरण (आवरणरहित) विज्ञानमयी ब्रह्मरूपिणी चिति का एकमात्र संवित् प्रकाश ही शरीर है उसके अतिरिक्त उसका कोई शरीर नहीं है। आवरणशून्य विज्ञानवाला पुरुष शान्त अपने आत्मस्फुरणरूप सम्पूर्ण संकल्पमात्र को सकल रूप से देखता है उस सबको परमार्थ अभिन्न देखता है, यह उसके संकल्प की सत्यता में उपपत्ति है। जैसे हमारा संकल्पनगर संकल्पमात्र है जैसे स्वप्न का शहर संकल्पमात्र है वैसे ही इस प्रकार के यानी निरावरण ज्ञानवाले ब्रह्मा का चारों ओर दिखाई दे रहा यह सारा जगत् संकल्पमात्र ही है। इस प्रकार दूसरा भी अपने संकल्प में श्रेष्ठ निरावरण आत्मा ही यों जैसे जैसे जिसका संकल्प करता है उसके प्रति वह वैसा वैसा होता है। जैसे बालक संकल्प–नगर में शिलाओं के उड़ाने का, जिसमें स्वाधीन नियन्त्रण है, अनुभव कर शीघ्र ही उसे सत्य समझता है वैसे ही हिरण्यगर्भादि निरावरणात्मा में भी

अपने संकल्परूप इस त्रिजगत् में वर, शाप आदि को अपने से अभिन्न सत्य जानता है। जैसे संकल्पनगर में अपनी कल्पना से बालू से तेल निकलता है वैसे ही यहाँ पर ब्रह्मा के संकल्परूप जगत् में सृष्टि के संकल्पों से कल्पनावश हिरण्यगर्भादि आत्मा से वर, शाप आदि अर्थ की बिना उपादान कारण के सिद्धि होती है। जिसके ज्ञान का आवरण नहीं हटा उसकी भेदबुद्धि शान्त नहीं होती, इसलिए द्वैत के संकल्प से उस अज्ञानी के वर, शाप आदि अर्थ सिद्ध नहीं होते ॥५०–५९॥

निरावरण ज्ञानवालों की कल्पना वैसी दूसरी कल्पना का उदय होने तक नहीं मिटती, यह कहते हैं।

निरावरण ज्ञानवाले ब्रह्मा की जिस कल्पना की पहले जड़ जमी वह आज भी ज्यों–की–त्यों स्थित है तब तक ज्यों–की–त्यों रहेगी जब तक अन्य कल्पना द्वारा प्रयत्न से परिवर्तित नहीं होगी ॥६०॥

निरवयव निरावरण ज्ञानवाले में उससे विपरीत (सावयव और सावरण ज्ञान) वर, शाप आदि कल्पना कैसे रह सकती है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

अवयवशून्य ब्रह्म में द्वित्व और एकत्व वैसे ही स्थित है जैसे कि सावयव वस्तु में विचित्र अवयवों का क्रम स्थित रहता है ॥६१॥

तब तो निरावरणज्ञानशून्य केवल उग्र तपस्वियों के वर, शाप आदि मोघ (निष्फल) होंगे ? इस आशय से कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, निरावरण ज्ञान से शून्य केवल उग्र तप आदि धर्म करनेवाले तपस्वी जैसे क्रोधवश शाप और अनुग्रह से वर आदि देते हैं वैसा मुझसे कहिये ॥६२॥

उनके भी वर और शाप आदि की सत्यता हो, सृष्टि के आदि में ब्रह्मा के संकल्प से ही उनकी मोघता (निष्फलता) नहीं होती है यह उत्तर देने के लिए श्रीवसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, चूँकि आदिम सृष्टि में ब्रह्म ब्रह्म में जिसका संकल्प करता है वह उसीका अनुभव करता है इसलिए सबकी ब्रह्मता है, उसका (ब्रह्मता का) प्रतिबन्धक अन्य नहीं है ॥६३॥ चूँकि यह प्रजापति ब्रह्मा अपने को ब्रह्म जानता है, इसलिए यह ब्रह्म ही है। जैसे – जल से द्रवत्व भिन्न नहीं है वैसे ही यह भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है। श्रुति भी कहती है – तद्यो यो देवानां प्रत्यबुद्धयत स एव तदभवत्' इत्यादि ॥६४॥ यह प्रथम प्रजापति जो जो संकल्प करता है शीघ्र वह वैसा ही हो जाता है। उसीकी कल्पना यह जगत् है ॥६५॥

वह कल्पना कैसी है ? यह बताते हैं।

आधाररहित, निरालम्ब चिदाकाश ही अपने स्वरूप में जगत्‌रूप से भासमान होता है जैसे कि किसी दूषित दृष्टिवाले पुरुष को आकाश में वर्तुलाकार केशों का गुच्छ या मोतीयों की पंक्ति दीखती है ॥६६॥ उस प्रजापति ने (ब्रह्माने) विविध प्रजा, धर्म, दान, तपस्या, गुण और ज्ञान का उपदेश करनेवाले वेद, शास्त्र तथा पंचभूतोंका संकल्प (सृष्टि) किया है ॥६७॥ उस प्रजापति ने यह भी कल्पना की कि वेदवेत्ता तपस्वी लोग वादों से अथवा स्वाभाविक वृत्ति से जो कहें वह शीघ्र ही हो जाय ॥६८॥

इस प्रकार समग्र वस्तुओं के भिन्न–भिन्न स्वभावों की भी उसी ने रचना की है, यह कहते हैं।

इस ब्रह्म की चेतनता, आकाश की सच्छिद्रता, वायु की सचेष्टता, अग्नि की उष्णता, जल का द्रवत्व, भूमिका काठिन्य आदि सब उसीने रचा है ॥६९॥

इस प्रकार यह सब कल्पना प्रजापतिरूप चिदाकाश की ही रचना है, यह कहते हैं।

इस चिदात्मा का ऐसा स्वभाव है कि आकाशात्मा भी यह जो जो विचार करता है सत्यसंकल्प होने से उस सबका शीघ्र ही तुम्हारे, मेरे और उसके सदृश अनुभव करता है। वह चिदाकाश जिस वस्तु को जैसा समझता है वह वस्तु पूर्णरूप से वैसी ही हो जाती है, जैसे स्वप्न में तुम हम आदि स्वप्न पदार्थ हो जाते हैं, सद् आत्मा भी वह असद्रूप (जगद्स्वरूप) हो जाता है ॥७०,७१॥ जिस प्रकार संकल्पनगर में शिलानृत्य भी सत्य होता है उसी प्रकार ब्रह्मा के अधिकाररूप प्रारब्ध को भोगने के लिए अभीष्ट संकल्पनगररूप यह जगत् भी सत्य है ॥७२॥

श्रेष्ठ पुरुष के संकल्प से जन्य वरशापआदि को लोग उसके विपरीत संकल्प से क्यों नहीं उलट सकते ? इस पर कहते हैं।

शुद्ध चित्स्वभाववाले प्रजापति आदि ने जो जाना है और जो जैसा है उसे कीड़े की तरह अशुद्ध कोई पुरुष अन्यथा करने के लिए समर्थ नहीं है ॥७३॥

अशुद्ध स्वभाववालों को अस्वतंत्र कल्पनाओं के अभ्यास की दृढ़ता रहती है। इससे भी तद्विरुद्ध कल्पना की स्वतन्त्रता उनमें नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

जिसे जाग्रत्काल में 'मैं लोहों की सिकड़ियों से जकड़ा हुआ हूँ' ऐसा दृढ़तर संस्कार है वह जैसे स्वप्न में भी अपने को लोहे की सिकड़ियों में जकड़ा हुआ देखता है वैसे ही वर्तमान जाग्रत् में भी यह सब सत् है यों बारबार अभ्यस्त को ही संवित् देखती है अनभ्यस्त 'यह असत् है' यह नहीं देखती ॥७४॥

इसी प्रकार कल्पित त्रिपुटीवेष से स्फुरण होने पर भी चित् का उदासीन साक्षिस्वभाव से भी सर्वदा स्फुरण होता ही है, यह कहते हैं।

चिदाकाश चिदाकाश में स्फुरित हो रहे एक इस अपने द्रष्टादृश्यात्मक स्वरूप को देखता हुआ सर्वदा प्रकाशित होता है। वह उससे भिन्न नहीं है ॥७५॥

साक्षिचैतन्य त्रिपुटी की (द्रष्टा, दृश्य और दर्शन की) व्याप्ति के बल से ही उसकी सत्ता का सम्पादक है, यह कहते हैं।

एक चित्सत्ता के उपजीवी होने से द्रष्टा और दृश्य एक ही है, क्योंकि चिदाकाश सर्वव्यापी है। इसलिए जो-जो इच्छित पदार्थ जहाँ दीखे वह वहाँ सर्वदा सत् ही है। वायु-शरीरवर्ती स्पन्दन की तरह तथा जलांगवर्ती द्रवत्व की तरह जैसे ब्रह्म में ब्रह्मत्व अर्थात् जगदाकार से परिणत होने में हेतुभूत मायाशक्तिमत्त्व है वैसे ही जन्मरहित इस विराट् के अंग से उत्पन्न यह जगत् है ॥७६,७७॥

पहिले तो बारबार ब्रह्म में जगत् अध्यस्त है ऐसा कह चुके हैं अब यह जन्मरहित विराट् का अंगवर्ती है यह कैसे कहते हैं ? इस शंका पर कहते हैं।

विराट्रूप ब्रह्म ही मैं हूँ, विराट्रूप आत्मा का देह ही जगत् है। ब्रह्म और जगत् में शून्यत्व और आकाश की तरह कोई भेद नहीं है। जैसे पर्वत से गिरनेवाले झरने में जल की विचित्र कणपंक्तियाँ गिरती हैं और ऊपर उछलती हैं वैसे ही विचित्र देश और काल भी इस ब्रह्म में ही आविर्भूत और तिरोहित होते दिखाई देते हैं ॥७८,७९॥

जैसे कल्पपर्यन्त एक ही धारा से गिरकर जलकण, जो मन, बुद्धि आदि से रहित हैं, सहस्रों

करोड़ भेदों में विभक्त होकर भी फिर अपने एक प्रवाहरूप में ही भासते हैं वैसे ही विचित्र ब्रह्मसंवित् (जगद्भेद) भी आत्मा से निकलकर करोड़ों भेदों में विभक्त होकर फिर स्वात्मा में ही भासती हैं ॥८०॥ केवल इतनी ही विशेषता है कि कणपंक्तियाँ मनोबुद्धिआदि से वर्जित है किन्तु उन ब्रह्मसंविदों ने तो स्वस्वदेहों में मनोबुद्धिआदि की स्वयं कल्पना करके, जलों की द्रवता की भाँति सर्ग की शोभा को भोग्यरूप से स्वीकार किया है ॥८१॥

मनोबुद्धिआदि कल्पना का त्याग होने पर तो जगत् अज्ञानमात्र पर्यवसित होता है, इस आशय से कहते हैं।

इस प्रकार मनोबुद्धि आदिविक्षिप्त अज्ञानस्वरूप दुर्बोध से यह जगत् है। अज्ञान से रहित मेरी दृष्टि में तो यह सारा जगद्रूपी कर्म कारणरहित, द्वैतविहीन अनुत्पन्न (त्रिकाल में अनुत्पन्न) केवल ब्रह्म ही है ॥८२॥ इस शरीर में मृतावस्था जिस तरह मनोबुद्धि आदि रहित ही अनुभूत होती है, पत्थर आदि में जड़ सत्ता जैसी है वैसी ही परमात्मा की भी मनोबुद्धि आदि रहित निर्विक्षेप सत्ता समझनी चाहिए ॥८३॥

इस प्रकार सृष्टि और प्रलय ये दोनों अज्ञाननिद्रा के अवान्तर भेद हैं, यह कहते हैं।

जैसे सुन्दर गाढ़निद्रा में सुषुप्ति और स्वप्न स्थित है वैसे ही सृष्टि और प्रलय के आभास भी ब्रह्म में स्थित हैं ॥८४॥

सृष्टि में तो सूर्यादि–प्रकाश वर्तमान है किन्तु प्रलय तो तमोरूप है अतः परस्पर विरूद्ध ये दोनों एक ब्रह्म में कैसे स्थित हैं ? इस शंका का निराकरण करते हैं।

जैसे एक ही निद्रा में स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में प्रकाश और अन्धकार का भान होता है वैसे ही परब्रह्म में सर्ग और प्रलय का भान भी होता है ॥८५॥

चित् में ही जड़ और अजड़ भेद की कल्पना में भी स्वप्न ही दृष्टान्त है, यह कहते हैं।

जैसे मनुष्य निद्रावस्था में निज पाषाण की स्थिति का अनुभव करता है वैसे ही परमात्मा भी इस जड़ पदार्थों की स्थिति का अनुभव करता है ॥८६॥

चेतन में जाड्यानुभव की अप्रसिद्धि का वारण करते हैं।

जैसे विषयान्तर में आसक्तिवाले पुरुष के अंगुष्ठ या अन्य अंगुली से पवन, धूप या धूलि का स्पर्श होने पर उत्पन्न हुआ भी अनुभव अनुत्पन्न प्राय ही होता है यह प्रसिद्ध है। वैसा ही पाषाण आदि में विद्यमान भी अविद्यमानप्राय अनुभव जड़तारूप है ॥८७॥

ऐसे ही जड़ को भी चेतनभाव का अनुभव प्रसिद्ध है, यह कहते हैं।

आकाश, पत्थर, जलादि को जैसे विराट् देहभाव में अथवा तत्तदधिष्ठातृदेवता–देहभाव में अनुभव होता है वैसे ही प्रलयकाल में चित्तादि से रहित हम लोगों को आज यानी सृष्टिकाल में नाना प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं ॥८८॥ अखण्डकाल में ब्रह्मा के दिनभेदरूप जो कल्प हैं, उनमें जैसे हमारे असंख्य दिन रात्रि की प्रतीति होती है वैसे ही परब्रह्म में असंख्य सृष्टि और प्रलय संविदों का भान होता है। जिस प्रकार एकमात्र जलस्वभाववाले समुद्र में स्वभाव से ही आवर्त और तरंग वलय आदि का स्फुरण होता है उसी प्रकार विषयों का दर्शन, उनका मनन, उनका भोगरूप अनुभव और

उनकी एषणा (राग), उनकी प्राप्ति की इच्छा आदि विक्षेपों से निर्मुक्तस्वरूप शान्त परमपद में यह प्रलय और सृष्टि का पुंज भी स्वभाव से ही भासमान होता है प्रमाण से तत्त्वदर्शन हो जाने पर वह स्फुरित नहीं होता ॥८९,९०॥

एक सौ छियासीवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सत्तासीवाँ सर्ग

सम्पूर्ण पदार्थों का स्वभाव, नियति (कार्यकारणभाव आदि का नियम) तथा जीवत्व की प्राप्ति के हेतुओं की उत्पत्ति और ब्रह्मशुद्धता का वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, विचित्र असंख्य पदार्थों का कार्यकारण भावादि नियमरूप नियति तथा अग्निजलादि का उष्णता, द्रवत्व आदिरूप स्वभाव इस संसार में किस हेतु से एकरूप और अचल होकर स्थित हैं ? क्योंकि स्वप्न, मनोरथ आदि अन्य मिथ्या पदार्थों में तो यह स्थिर नहीं दिखाई देता। असंख्य देवताओं में सूर्य की ही इतनी उग्र प्रभा कैसे हुई और दिवसों की दीर्घता (लम्बा होना) और ह्रस्वता (छोटा होना) किसने की ? ॥१,२॥

आदि सृष्टि में जो जो काकतालीयन्याय से विधाता को जैसा-जैसा प्रतीत हुआ वह वैसा ही अर्थक्रियादि द्वारा नियतरूप से स्थित है, विधाता की इच्छा ही उसके अव्यभिचार में हेतु है यही बात वस्तुओं के स्वभाव के विषय में भी जाननी चाहिए, इस आशय से प्रथम दो प्रश्नों का श्री वसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामजी, आदि सृष्टि में उस निश्चल परम ब्रह्म में स्वभाव से ही काकतालीयवत् नियत जो भान हुआ वह जैसा था और जिस प्रकार के कार्यकारणभाव से स्थित था वैसा ही आज भी स्थित वह जगत् शब्द से कहलाता है ॥३॥

नियत ईश्वर शक्ति का अन्यथाभाव तो हो नहीं सकता, इसलिए नियति में कोई व्यभिचार नहीं हुआ, इस आशय से कहते हैं।

सर्वशक्तिमान् परमात्मा को जिस जिस का जैसे भान होता है वह वह वैसे ही सत् है। सत्यसंकल्पसंवित् संवित्सार है उसे जिसका भान होता है वह अभान कैसे होगा ? उक्त संवित्सार सत्यसंकल्पसंवित् हम लोगों के स्वप्न और मनोरथ की संवित् के समान असार नहीं है जिससे उसका भान अभानता को प्राप्त हो ॥४॥ ज्यों-के-त्यों अपने स्वरूप में स्थित ब्रह्म का, चित् होने के कारण, चिरकाल तक जैसा स्फुरण होता है माया के उदर में स्थित उसी का सृष्टिकाल में भान होता है तथा प्रलयकाल में सूक्ष्म होने के कारण वही अभानसदृश हो जाता है। वही अनादि सकल वस्तुओं की अर्थक्रियाशक्ति है और वही नियति है ॥५॥

अथवा नियत सकल अर्थक्रिया में समर्थ ब्रह्म ही जगदाकारता धारण करता है, इसलिए भी नियति प्रतिष्ठा की सिद्धि होती है, ऐसा कहते हैं।

यह इस प्रकार का है और यह इस प्रकार का है यों स्वयं ब्रह्म का ही जो स्फुरण है सृष्टि और प्रलय का रूप धारण करनेवाला वही नियतिनामवाला कहा गया है ॥६॥

अथवा चूँकि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का अज्ञात आत्मा ही स्वभाव है, इसलिए यथादृष्टि नियति का व्यभिचार नहीं होता है, ऐसा कहते है।

चित् में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं का जो स्वतः स्फुरण है अत्यन्त निर्मल वह उससे वैसे ही अभिन्न है जैसे कि जल से द्रवत्व अभिन्न है ॥७॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थाओं की चित्स्वभावता का विविध दृष्टान्तों से समर्थन करते हैं।

जैसे आकाश में शून्यता भिन्न नहीं है, जैसे कपूर में सुगन्धि अतिरिक्त नहीं है तथा जैसे धूप में उष्णता भिन्न नहीं है वैसे ही चित् में जाग्रत् आदि अवस्थाएँ अन्य (भिन्न) नहीं हैं। बीजांकुरन्याय से सृष्टि और प्रलय प्रवाह के अनादि होने से चिन्मात्रआकाशरूप सृष्टि–प्रलयनामक एक ब्रह्मस्वरूप में ही यह एक प्रवाह की अनन्य सत्ता से स्थित है इससे भी नियत अर्थक्रिया की सिद्धि है, यह अर्थ है ॥८,९॥

अतएव चित् के स्फुरण के अनुसार से ही सब नियमव्यवस्था है। क्षण में भी 'यह कल्प है' यों चित् का स्फुरण होने पर उसके अकल्पत्व का साधक दूसरा कुछ नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

क्षणभर जो चित् का स्फुरण है वह यह सर्ग है यों जाना गया है और क्षणभर जो चित् का स्फुरण है वह यह कल्प है यों जाना गया है ॥१०॥

अतएव काल, क्रिया, देश, द्रव्य आदि वस्तुभेद रूप से चित् स्फुरण ही सकल वस्तु का स्वभाव और नियति है, यह कहते हैं।

जो स्वप्न के समान अपने स्वभाव से चित् का स्फुरण है वह काल है, वह क्रिया है, वह आकाश है, वह देश, द्रव्यादि का आविर्भाव है ॥११॥ चिदाकाश में निराकार चित्तता का जो स्वाभाविक स्फुरण है, वह बाह्यपदार्थदर्शन, आन्तरिक पदार्थ मनन, देश, काल, क्रिया आदि है ॥१२॥ जो पदार्थ जिस काल में जैसा चित् से स्फुरित है जिसकी उसी ने वैसी कल्पना कर रक्खी है वह नियति भी आकाशरूप ही है, उससे अन्य नहीं है ॥१३॥

अब 'कथं स्वभावो भावानाम्' इस प्रश्न का समाधान करते हैं।

कल्पनाम के ब्रह्म के निमेष तक पदार्थों का जो एक रूप से (अति उष्ण, जल शीत आदि रूप से) स्फुरण है उसीको स्वभावतत्त्ववेत्ता मतिमान् पुरुष स्वभाव (प्रत्येक वस्तु में नियम से रहनेवाला स्वभाव) कहते हैं ॥१४॥ जैसे संवित् अंशभूत जीव का सर्वानुगतचित्स्वरूप ही स्वभाव है वैसे ही अपने स्वरूप का त्याग न कर रहे अग्नि आदि एक ही वस्तु का, देश, काल आदि भेद से अनेकता को प्राप्त होने पर भी, जो एक सर्वानुगत उष्णत्व, प्रकाशरूप स्वभाव है वही उसके विविध भेदों में अनुगत स्वभाव है ॥१५॥

भद्र, संविन्मय विभिन्न वृत्तियों में भी जो चिदाभास संविदों का स्फुरण होता है वही उनका स्वभाव है। वृत्तियों के विषय पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि में उन वृत्तिआभास संविदों ने अपने शरीर–तुल्य उन वृत्तिभेदों के मध्य में जिन जिन वृत्तियों की जैसे जैसे आकार की कल्पना की, वह आकार ही उनका स्वभाव है ॥१६॥

विविध आकारों को दर्शाकर उनका पारमार्थिक स्वभाव अधिष्ठानभूत चिदाकाश ही है, यह दर्शाते हैं।

उक्त पृथिवी आदि प्रत्येक अपने अपने कार्यों के आगार (भंडार) हैं। यथा पार्थिव सब वस्तुओं का पृथिवी अनुगत स्वभाव है, जलीय सकल वस्तुओं का जल अनुगत स्वभाव है, तैजस सकल वस्तुओं का तेज अनुगत स्वभाव है, स्पन्द आदि वायवीय सकल वस्तुओं का वायु अनुगत स्वभाव है और शून्यत्वादि आकाशीय सकल पदार्थों का आकाश अनुगत स्वभाव है। उन सबका स्वप्न की तरह मायाशबल ब्रह्म ही आगार (भंडार) है। हे राजन्, उनमें इस कठिन समूर्त भाग का महान् आगार (भंडार) भूमि है वह जनता का आधार और राजा की तरह पालक है ॥१७,१८॥ गंगा आदि प्रधानभूत जलों का सकल स्व स्व विशेषों में अनुगत सागर महान् आगार तथा राजा की तरह जीवनप्रद है, अग्नि आदि तेजों का स्व स्व विशेषों में अनुगत यह सूर्य महान् भंडार तथा राजा की तरह जीवनप्रद है, स्पन्द का स्व स्व विशेषों में अनुगत पवन महान् भंडार तथा जीवनप्रद है तथा शून्यता का स्व स्व विशेषों में अनुगत आकाश महान् भंडार है ॥१९॥ इस प्रकार संवित् के आगार होने के कारण वे पंचमहाभूत ब्राह्मी संवित्‌रूप से ही उदित हैं इस प्रकार ब्रह्म ही उनके अनुगत होकर उनका स्वभाव है। इससे 'स्त्स्वसंख्येषु देवेषु सूर्य एवोग्रभाः कथम्' इस प्रश्न का भी समाधान हो गया। स्वभाव-प्रश्न के उत्तर से ही उसका भी समाधान हो गया,अतः सूर्य के प्रति पृथक् प्रश्न नहीं उठता है, यह अर्थ है ॥२०॥ चिति ही संवित् कही गई है। सब कुछ की प्रकाशक होने के कारण सर्वज्ञ सर्वरूप सर्वगामिनी वह स्वप्रकाशतारूप स्वमहिमा से ही सर्वत्र स्वभावरूप परमाकार और नियति रूप से सबके द्वारा अनुभूत होती है ॥२१॥ यह चतुर्मुखनामधारी ब्रह्म-बालक स्वात्मभूत संवित् के स्फुरण आकाशरूप आवरणवाली इस पृथिवी का स्वयं ब्रह्मस्वरूप होने के कारण आकाशाकृति ही होकर अपने में विस्तार करता है ॥२२॥ जब वह मायाशबल सर्वज्ञसंवित् ब्रह्मा की संवित् के साथ स्थूल और सूक्ष्म प्रपंच का अपने में संहार करती है तब चतुर्मुखसंवित् के अंगभूत सूर्य आदि का चंचलरूप उसने उत्पन्न नहीं किया। चूँकि ऐसा है अतः उपसंहार से भक्षक पुरुष ही होता है ॥२३॥

'दीर्घत्वमथ ह्रस्वत्वं दिवसानां तु किंकृतम्' इस प्रश्न का उत्तर तो ज्योतिश्चक्र में सूर्य के दक्षिणायण और उत्तरायण गति के भेद की प्रसिद्धि से ही हो गया, यों सूचित करते हुए ज्योतिश्चक्र को दर्शाते हैं।

मकड़ी द्वारा संकल्पपूर्वक बाह्य साधनों के बिना ही विरचित मक्खियों को बाँधने के जाल की तरह ब्रह्मा से केवल विविध संकल्पों द्वारा निर्मित ग्रह, नक्षत्र आदि का गृहभूत शिशुमारचक्र ज्योतिषशास्त्र आदि में प्रसिद्ध ही है। सूर्य द्वारा उसी के दक्षिणायण और उत्तरायण मार्गों का अवलम्बन करने के कारण आपसे पूछा गया दिवसों का ह्रस्वत्व और दीर्घत्व जैसे यह चिदाकाश दृश्य के समान प्रतीत होता है वैसे ही प्रतीत होता है ॥२४॥

'सत्स्वनेकेषु देवेषु सूर्य एवोग्रभाः कथम्' इस प्रश्न में जो अनेक देवता कहे गये हैं, उनको ज्योतिश्चक्र में नक्षत्ररूप से स्थित दिखलाते हैं।

उनमें कोई (सूर्य आदि) अत्यन्त भास्वर हैं, कोई (चन्द्र आदि) अल्प भास्वर और कोई (पूर्वोक्त राहु आदि तामस नक्षत्र) अभास्वर हैं। सब पदार्थ विविध रूप से भासित होते हैं ॥२५॥ वास्तव में तो ये सकल पदार्थ न उत्पन्न ही हुए हैं और न दिखाई ही देते हैं। ज्ञानी पुरुष को यह सब स्वप्न

के दृश्य के समान चिदाकाश ही प्रतीत होता है। चिन्मात्रस्वरूप सर्वेश्वर आप, मैं और सबरूप से अत्यन्त दृश्य के समान प्रसिद्ध होकर स्फुरित होता है। वास्तव में न स्फुरित ही होता है और न नष्ट ही होता है। चूँकि चिदाकाश का चिदाकाश में स्वप्नदर्शन की भाँति स्फुरण होता है अतएव चिदाकाशता के सिवा इस जगत् का पारमार्थिरूप क्या हो सकता है ? ॥२६–२८॥ वह पारमार्थिक सद्रूप ही अध्यस्त में जितने समय तक घट आदि की विद्यमानता रहती है तब तक तद्रूप से स्फुरित होता है उसी का स्वभाव, नियति आदि विविध शब्दों से कथन होता है ॥२९॥ वह ब्रह्मसत्ता आकाशरूप प्रथम उत्पन्न अपने अंग के अन्दर शब्दतन्मात्ररूप स्थिति से कुसूल के (कोठिला के) भीतर रक्खे हुए बीजों में आविर्भूत न हुई अंकुरशक्ति के तुल्य वायु आदि जगत् की बीजभूत शक्ति के रूप से अनाविर्भूत होकर रहती है ॥३०॥ उससे यह वायु, तेज, जल, पृथिवीरूप भूत–भौतिक जगत् क्रम से उत्पन्न होता है इस तरह कि जो यहाँ कल्पना है वह अज्ञानी लोगों के तत्त्वबोध के लिए जगत् सृष्टि–प्रतिपादन की इच्छा से श्रुतियों और मुनियों द्वारा की गई है न कि सृष्टि ही तात्त्विकी (वास्तवी) है, यह प्रतिपादन के लिए की गई है। यदि सृष्टि ही वास्तविक है यह प्रतिपादन के लिए हो तो यह सृष्टिकथा मूर्खों द्वारा ही विरचित और व्यर्थ होगी, क्योंकि यह सृष्टि वास्तविक है यह ज्ञान होने पर किसी का न तो कोई प्रयोजन शास्त्रों में सुना गया है और न लोक में कहीं देखा गया है। वह यहाँ कभी न तो अस्त को प्राप्त होता है और न उदित होता है। शिला गर्भ के समान नित्य शान्त यह सत् भी असत्, है, क्योंकि तात्त्विक ब्रह्मरूप न अस्त को प्राप्त होता है और न उदित होता है। इस कारण पर सत्ता से सत् भी यह प्रपंचरूप स्वतः असत् है ॥३१,३२॥

अभिन्न सत्तावाला होने पर ब्रह्म के अन्दर जगत् अवयववत् उदय और अस्तरहित ही है, यह सिद्ध होता है, यह कहते हैं।

जैसे अवयवी के अन्दर अवयव अणु सदा ही न तो अस्त को प्राप्त होते हैं और न उदित होते हैं वैसे ही परमात्मपद में अनन्त जगत् भी न तो अस्त को प्राप्त होते हैं और न उदित होते हैं ॥३३॥

ब्रह्म सत्ता से अतिरिक्त जगत् सत्ता का अपलाप करने पर जगत् शुद्ध ब्रह्मस्वरूप ही सिद्ध होता है, इसलिए इसके उदय, अस्तमय आदि वैचित्र्य का विनाश हुआ, यह कहते हैं।

जैसे आकाश आकाश में रहता है वैसे ही ब्रह्माकाश में जगताकाश रहता है, यों अत्यन्त विशुद्ध जगत् का कैसे विनाश होता है, कैसे उदय होता है ? ॥३४॥

इस तरह जगत् के मूल तत्त्व का विचार करने पर जगत् की ब्रह्ममात्रता का प्रतिपादनकर ब्रह्म ही स्वतात्त्विक (वास्तविक) रूप का विस्मरण होने पर जगद्रूप होता है, यह कहने के लिए भूमिका रचते हैं।

अनन्त प्रकाशरूप उस निस्सीम चिन्मणि का निरन्तर स्वभावतः जो सत्तामात्ररूप आत्मस्फुरण है, अज्ञात अतएव प्रथम अन्यथाभाव होने के कारण उसके अविमर्श का सूचक यानी अतर्कित वह उस रूप से स्वयं कुछ चेत्यता को जैसा प्राप्त होता है। तदनन्तर भावी नाम और अर्थों की कल्पनाओं द्वारा कुछ तर्कित रूपवाला आकाश से भी अणु और शुद्ध वह भावी प्रपंच के पर्यालोचन से उसका सबमें बोध करनेवाला होता है। तदुपरान्त उस किंचित चेत्यता से वह परम सत्ता पर्यालोचित पदार्थ को भलीभाँति चेतन बनाने में तत्पर होकर 'चित्' (चेत्यतीत चित् इस व्युत्पत्ति

के अवसर की प्राप्ति से) नाम के योग्य होती है ॥३५-३८॥

उसके बाद जो होता है, उसे कहते हैं।

घनसंवेदन के बाद जीव नामवाली वह आत्मकल्पना जीवादि रूपों को प्राप्त होती हुई अधिकारी शरीर की प्राप्ति होने पर फिर परमपद (ब्रह्म) हो जाती है ॥३९॥

यदि कोई कहे कि वह सदा ही परम पदरूप ब्रह्म है, उसका अधिकारी देह में ज्ञानप्राप्ति से कौन उत्कर्ष है ? इस पर कहते है।

चूँकि वह परम सत्ता जीवत्वदशा में चिदाकाश का आवरण करनेवाली अविद्या को धारण करके स्थित है अतएव उसका परमपद स्वभाव प्रकट नहीं रहता। इस समय ज्ञान प्राप्ति होने पर अतिविशुद्ध वह परमपद की (ब्रह्म की) अभिन्नरूपिणी (प्राप्त-अभेदवाली) हो जाती है ॥४०॥

उस समय जब कि उसकी अविद्या से आवृत अवस्था रहती है, वह एकमात्र आत्मतादात्म्यअध्यास की भावनारूप सारवाले देह, इन्द्रिय आदि से संसारोन्मुखी होकर निज स्वरूप के विरह से उत्पन्न हुई ग्लानि से होनेवाली विविध चेष्टाएँ करती है। अद्वितीय तथा अन्य वस्तुओं से शून्यस्वरूपवाली ही वह स्वसत्ता सविकल्प चित् की भावना की भ्रान्ति से शब्द आदि गुणों से पूर्ण गर्भवाली होकर होनेवाले आकाश आदि पंचभूतों की प्रवृत्तिनिमित्तभूत सूक्ष्मभूतात्मिका हो गई ॥४१,४२॥

उससे अहंकार प्रधान लिंगदेह-कल्पना होती है, यह कहते हैं।

उसके बाद लिंगदेहवर्ती प्राणक्रिया से होनेवाली कालसत्ता के साथ अहन्ता का उदय होता है। होनेवाले व्यवहार के प्रयोजनभूत वे दोनों (कालसत्ता और अहन्ता) जगत् की स्थिति के बीजभूत हैं। परम चितिशक्ति का स्वस्फुरण असद्रूप यह जगज्जाल उसके चेतन से सत् के समान स्थित है। इस तरह की संकल्परूपी महावृक्ष की बीजभूत वह चिति अपने अन्दर अहन्ता की भावना करती है और क्षणभर में अहन्तास्वरूप हो जाती है। वही यह आज हिरण्यगर्भरूप से समष्टि-जीव नाम को प्राप्तकर उत्पत्ति, नाशरूप भ्रान्तियों से मायाशबल ब्रह्म में वैसे ही भ्रमण करती है जैसे जल में जल लहरियों से भ्रमण करता है ॥४३-४६॥

उसकी जीवसमष्टि हिरण्यगर्भरूप से स्थूल पंचभूतकल्पना को कहते हैं।

इस प्रकार भावनावाली चिति सूक्ष्म आकाशतन्मात्र भावना को धीरे धीरे घनी करके स्वयं स्थूल आकाश की भावना करती है। वह स्थूलाकाशरूप चिति भावी नाम और अर्थरूप शब्दराशिलक्षण महावृक्ष की बीजभूत और पद, वाक्य, प्रमाणों से पूर्ण वेद, शास्त्र के अर्थ की आधारभूत है ॥४७,४८॥

उस वेदरूप शब्दसार से शब्दराशि से निर्मित अर्थों की राशि के परिणाम से विस्तारवाली सम्पूर्ण जगत्-शोभा उदित होगी, क्योंकि 'स भूरिति व्याहरत् भुवमसृजत। एत इति वै प्रजापतिर्देवान्। इन्दव इति पितृन् (प्रजापति ने 'भू' का उच्चारण कर देवताओं की सृष्टि की, 'असृग्' इससे मनुष्यों की सृष्टि की, 'इन्दवः' इसका उच्चारकर पितरों की सृष्टि की) ऐसी श्रुति है ॥४९॥ इस प्रकार के विचित्र संकल्पवाली ब्रह्म चिति ही जीव शब्द से कही जाती है, उससे अन्य नहीं है। वही भावी शब्द और अर्थराशि से भूतसंघरूपी वृक्ष की बीजभूत है। चौदह भुवनों में निवास करने के कारण चौदह प्रकार की भूतराशि और आकाश को व्याप्त किये हुए जगत्रूप जीर्णपत्रों की राशि उक्त समष्टिजीवभूत

हिरण्यगर्भरूप चिति से प्रकट होगी ॥५०,५१॥

उसके स्वनिर्मित भूतभौतिक प्रपंच के भोग के लिए समष्टि त्वचा आदि इन्द्रियों की कल्पना का प्रकार कहते हैं।

उक्त चिति अद्यावधि शब्द व्यवहार और शरीरादि द्वारा व्यवहार को प्राप्त न होकर, जीव होने के कारण, चेतन से काकतालीय के समान स्वयं स्पन्द चिन्मात्र की कल्पना करती है। उक्त चिति वायुसमूहरूप त्वक्स्पर्शरूपी वृक्ष की बीजभूत है, क्योंकि उसमें सब प्राणियों की क्रियारूपी स्पन्द का हेतु वायु उत्पन्न होगा ॥५२,५३॥ उसी तरह पवन स्कन्धभूत उस हिरण्यगर्भ चिति में चिद्विलास के प्रकाश से जो अनुभव होता है वह रूपतन्मात्र है वह भावी तेज आदि भूतों का स्वरूपप्रद है ॥५४॥

प्रकाशानुभव की ही रूपतन्मात्रता का उपपादन करते हैं।

प्रकाश चेतन ही तेज है। तेज अन्यकृत नहीं है, स्पर्श की कल्पना ही स्पर्श है अन्य स्पर्श का कारण नहीं है ॥५५॥ शब्दसंवेदनरूप शब्द स्वतः ही अनुभूत होता है। जैसे आकाश आकाश से ही आकाशरूप कोश में अवकाश पाकर स्थित होता है अन्य से नहीं वैसे ही संवेदन भी आकाशात्मक ही शब्द से शब्दग्राहक है, उससे अन्य नहीं है, यह अर्थ है ॥५६॥

सृष्टि के आदि में समष्टि की तरह इस समय व्यष्टि में भी तत् तत् की संवित् ही अपने में तत् तत् अर्थ के आकार का अध्यास कर जगत्के स्वरूप से भासती है अन्य नहीं भासता है, ऐसा समझना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

उस अवस्था में दूसरा शब्द कर्ता कौन होगा जैसे उस समय द्वैत और ऐक्य का अत्यन्त असंभव था वैसे ही इस समय भी द्वैत और ऐक्य का अत्यन्त असंभव है ॥५७॥

शब्द में प्रदर्शित न्याय रस आदि में भी समझना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र की भी स्वप्न के समान कल्पना की जाती है, जो निपट असत्य होते हुए भी सत् के तुल्य हैं ॥५८॥ तेज सूर्य आदि के विकासों से प्रकाशरूपी महावृक्ष का बीजभूत है, उसमें रूपभेद द्वारा संसार की उत्पत्ति होगी ॥५९॥ विकारशून्य आकाश से जैसा आगे होनेवाले उस पंचीकृत अन्नपान आदि का स्वतः माधुर्य–स्वादन होता है वह रसतन्मात्रा कहलाता है। उसके पश्चात् जिसका रूप, संकल्प नाम आगे होनेवाला है ऐसा यह कार्यकारण समुदायरूप जीव संकल्पभूत गन्धादि तन्मात्र की कल्पना करता है। भावी भूगोल के रूप से आधाररूपी महावृक्ष का बीजभूत सकल के आधाररूप उस गन्धतन्मात्र से संसार का प्रसार होगा। वास्तव में अनुत्पन्न ही शब्दस्पर्शरूप आदि तन्मात्राओं का समूह इस प्रकार उत्पन्न हुआ वास्तव में निराकार भी वह कल्पनावश साकार हो गया। यह तन्मात्राओं का समूह काकतालीय के समान जिस प्रदेश से स्वयंरूप को जानता है वह नेत्र कहलाता है, जिस प्रदेश से स्पर्श का अनुभव करता है वह त्वगिन्द्रिय कहलाता है, जिस प्रदेश से रस का स्वाद लेता है वह रसनेन्द्रिय कहलाता है एवं जिस प्रदेश से गन्ध का अनुभव करता है वह घ्राणेन्द्रिय कहलाता है ॥६०–६६॥

पूर्वोक्त द्विविध परिच्छेद की तरह देह पिण्ड में अहंभावप्रयुक्त इसकी दिक्काल के भेद की कल्पना कहते हैं।

नियत आकृति को प्राप्त हुआ यह जीव दिक्काल की कल्पना करता है और असर्वात्मता के दोष से सकल अंग से यानी नेत्र, श्रोत्र, आदि से रस,गन्ध आदि सब कुछ जानता है। इस रीति से प्रत्येक जीव में अनुक्त भी अनन्त सांसारिक कल्पना आत्मा के अन्तर्गत ही अनुमेय है अनन्त होने के कारण प्रत्येक का पृथक् पृथक् कथन अशक्य है और वे अनन्त कल्पनाएँ आत्मा से अभिन्न (आत्मभूत) ही है, इसलिए वे परमार्थरूप से न उदित होती हैं और न नष्ट होती हैं किन्तु पत्थर के गर्भ के समान सच्चिदानन्दैकघन निर्व्यापार ही स्थित हैं॥६७,६८॥

एक सौ सत्तासीवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ अट्ठासीवाँ सर्ग

जीव ब्रह्म ही है। उसकी यह उत्पत्ति उपचारतः (गौणीवृत्ति से)
लिंग देह की भ्रान्ति से प्रतीत होती है, इस बात का स्पष्टतः निरूपण।

पिछले सर्ग में 'घन संवेदनात् पश्चाद् भाविजीवादिनामिका' इत्यादि से जीव की उत्पत्ति का उपपादन किया गया है। वह उचित नहीं है, क्योंकि नवीन उत्पन्न हुए जीव के संसार के (आवागमन के) हेतु काम, कर्म, वासना आदि के अभाव से संसार की सिद्धि नहीं होगी और घट, पट आदि के समान मिथ्या होने से ब्रह्मात्मभाव न होने के कारण मोक्ष की सिद्धि भी नहीं होगी ऐसी आशंका श्रीरामचन्द्रजी को न हो, इसलिए उक्त जीवोत्पत्तिप्रतिपादन का तात्पर्य भगवान् श्रीवसिष्ठजी स्वयं कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचंद्रजी, इस चिदाभासात्मक जीव की जो वह उत्पत्ति कही है वह चिदाभासात्मक जीव ब्रह्म से अभिन्न है ऐसा आपको बोध कराने के लिए कही है, किन्तु जीव की उत्पत्ति आदि वास्तव है इस आशय से नहीं कही है॥१॥

किस रीति से जीव परम ब्रह्म से अभिन्न है यह बोध कराने के लिए उसे कहते हैं।

वह कलन (चिदाभास) परब्रह्म का इस प्रकार का औपाधिक अवयव है, अतएव अकृत्रिम है। चेत्य की ओर प्रवण चिदाभास जीवशब्द से कहा जाता है, ऐसी दशा में ब्रह्म से चिदाभास का जो पृथकत्व है वह औपाधिक है, उससे होनेवाले जीव आदि भिन्न-भिन्न नाम परम ब्रह्म के ही हैं जैसे कि आकाश के घटाकाश, मठाकाश आदि भिन्न भिन्न रूप और नाम हैं॥२॥

जीव के औपाधिक प्रवृत्तिनिमित्त और उनके भेदों से जनित विविध नामों को सुनाते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस चिदाभासात्मक जीव के बहुत से नाम हैं। चेत्य की ओर प्रवण चिदात्मा के उन विचित्र नामों को आप सुनें॥३॥ जीवन से यानी मुख्य प्राण और कर्मेन्द्रियों के धारण से तथा चेतन से यानी ज्ञानेन्द्रियों के धारण से वह जीव कहलाता है, पहले अनुभव में आये हुए अतीत (भूत) और अनागत (भावी) चेत्यों की ओर प्रवण होने से वह चित्त कहलाता है एवं निकटवर्ती चेत्यों की ओर प्रवण होने के कारण वह चित् कहलाता है॥४॥ यह इस प्रकार का है यों स्पष्टरूप से बोधन के कारण वह यहाँ बुद्धि कहलाता है, संकल्प करने तथा ऊहापोहरूप मनन का ज्ञाता होने के कारण वह मन कहलाता है। अपने अन्दर 'मैं हूँ' यों अभिमान करने से अहंकार कहलाता है। पामर लोगों की साधारण व्युत्पत्ति से

'चित्त' नाम की व्याख्या की जा चुकी है। किन्तु विद्वानों की प्रसिद्धि से 'चिती संज्ञाने' इस धातु–व्युत्पत्ति से स्वतत्त्व चेतना से पूर्ण परमार्थवस्तु आत्मा ही चित्तपद का मुख्य वाच्य है ऐसा शास्त्रों का विचार करनेवाले पुरुषों ने कहा है, यह अर्थ है ॥५,६॥ वह जीव प्रौढ़ संकल्पराशि से पुर्यष्टक (संकल्पादिभिः पूर्यन्ते इति पुर्यस्तासाम् अष्टकम् यानी संकल्प आदि से जो पूर्ण की जाती हैं वे पुरियाँ है, उनका अष्टक यानी आठ पुरियाँ इस व्युत्पत्ति से) कहा गया है। सृष्टि के आदि काल में प्रस्तुत होने के प्रथम होने के कारण वह प्रकृति कहा गया है, तत्त्वदर्शन से औपाधिकरूप से अविद्यमान होने के कारण विद्वानों द्वारा 'अविद्या' कहा जाता है। चिदाभासरूप जीव के इत्यादि अनेक नाम मैंने आप से कहे हैं ॥७,८॥ निराकार निर्विकार यह चिदाभासरूप जीव आतिवाहिक देह के नाम से विद्वानों द्वारा उत्पत्ति नाशवान् कहा जाता है। इस प्रकार स्वप्ननगर और संकल्पपुर के समान यह त्रिजगद्भ्रम भोग और मोक्षरूप अर्थ का कर्ता होने पर भी निस्स्वरूप, शून्य और अमूर्तरूप (प्रतिघात के अयोग्य) प्रतीत होता है ॥९,१०॥ हे देहधारियों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार यह आतिवाहिक शरीर चिदाकाशभूत चित्तशरीरवाला और आकाश से भी शून्य कहा गया है ॥११॥ यह आतिवाहिक शरीर मोक्षसंवित्पर्यन्त जगत् में न नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है। चौदह भुवनों के निवासी होने से चौदह प्रकार के प्राणियों का एकमात्र यह प्ररोह स्थान है। ऋतु की व्यवस्था से वृक्षों में फलों की तरह लाखों संसार इस चित्तरूपी भूमि में हो गये हैं, होते हैं और होंगे ॥१२,१३॥ यह चित्तमय शरीर अन्दर और बाहर जगतों को वैसे ही धारण करता है जैसे कि दर्पण प्रतिबिम्बों को धारण करता है ॥१४॥ जब महाकल्प में प्राकृत प्रलय के अन्तिम क्षण में सर्वनाश स्थिर हो जाता है, उस समय महाशून्यपद अवकाशदायक प्रौढ़ निरामय (निर्विकार) ब्रह्मात्मा शेष रहता है ॥१५॥ तब चैतन्घन परमात्मा चैतन्य का आवरण करनेवाले अज्ञानरूप निमित्त से पूर्वोक्त क्रम से आत्मा के आतिवाहिक देहतुल्य चिद्भान की स्वतः कल्पना करता है ॥१६॥ वह जीव ही आतिवाहिक देह है, उसका जो जगदालोचनरूप आलोक है उससे प्रवर्तित कोई भाग शास्त्रों में मैं चतुर्मुख ब्रह्मा हूँ यों और कोई भाग मैं विराट् हूँ यों वर्णित है ॥१७॥ कोई भाग सनातन, सनक, सनन्दन आदि कहा गया है, कोई भाग ईश्वर के नाम से प्रख्यात है, कोई भाग प्रजापति कहा गया है ॥१८॥ जिस जिस भाग में पाँच स्वेन्द्रियसंवितों का काकतालीयवत् भान हुआ वहाँ वहाँ उन इन्द्रियों के विषय वैसे ही व्यवस्थित हुए ॥१९॥ अत्यन्त विस्तारयुक्त इस दृश्य भ्रम के सम्पन्न होने पर कुछ भी सम्पन्न नहीं हुआ, क्योंकि यह सब सर्वदृश्यशून्य आत्मा ही विस्तृत है। जन्म, विनाश आदि शून्य परब्रह्म न आविर्भूत है और न तिरोभूत है। आदि–अन्तरहित वही जब स्वरूप साक्षात्कार से विहीन होता है तब सत् (आविर्भूत) और असत्के (तिरोभूत के) आकार से यानी जगद्रूप से स्थित होता है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म आतिवाहिक देहधारी ब्रह्म के स्वानुभव से यह प्रपंच निरन्तर कान्ता का अनुसन्धान करनेवाले विधुर पुरुष की स्वप्नकान्ता के समान परिपुष्ट हो जाता है ॥२०–२२॥

जगत् से सर्वथा शून्य ब्रह्मा का जगद्रूप से भान होने में दूसरा दृष्टान्त देते हैं।

स्वप्न और मनोरथ में शून्य भी निराकार भी घटाकार का अनुभव होता है, यही स्वदेह और जगत् के भान में दृष्टान्त है। जगत् प्रपंच चिदाकाशस्वरूप स्वप्नपदार्थ के समान पूर्णतया अर्थक्रियाकारी होता है, आकाशात्मक होता हुआ ही कठिन (ठोस) पदार्थ–सा प्रतीत होता है। यह आतिवाहिक जीव

निराकार, शून्य स्वप्नतुल्य असत् होने पर भी क्रम से अपने देहादि आकार का स्वयं अनुभव करता है। उक्त आतिवाहिक देहरूप जीव अस्थिपंजर से स्थूल, रीढ़, रोम, नसों और नाड़ियों के संनिवेशरूप से स्थित हस्त, पाद आदि अवयवों से युक्त स्थूल शरीर की जो जन्म, कर्म और अभिलाषा का स्थान है और परिणामअवस्था में स्थित है, देश, काल क्रम, शब्द इत्यादि विषयों के भोग के लिए कल्पना करता है और उस स्थूल देह में जन्म–भ्रम की कल्पना करता है। तथा बुढ़ापा और मृत्यु की, गुण, दोष आदि के आधान की, दश दिशाओं में भ्रमण की, ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानस्वरूप त्रिपुटी की तथा सब पदार्थों के जन्म, स्थिति और नाश के ज्ञान की भी कल्पना करता है। इस प्रकार आतिवाहिक देहभूत पुराण पुरुष अपने से कल्पित ही व्यष्टिसमष्टि स्थूल शरीर से स्वयं ही पृथिवी, जल, आकाश, सूर्य, जनता–व्यवहार, नगर और शिखररूप होकर पृथिवी आदि मेरे आधार हैं और स्वयं मैं उनका आधेय हूँ इस प्रकार भ्रान्तिरूप संसार स्वप्न को देखता है ॥२३–२९॥

एक सौ अट्ठासीवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ नवासीवाँ सर्ग

आतिवाहिक देहवाले प्रजापति के मनोरथरूप इस जगत् में आधिभौतिकता भ्रमरूप है, यह वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, उस आद्य प्रजापति का यह आतिवाहिक शरीर चित् होने के कारण 'कश्चित् ब्रह्मेति कथितः स्मृतः कश्चिद् विराडिति' यों विस्तार से वर्णित रीति से जिस जिसकी जैसी कल्पना करता है काकतालीय न्याय से वह चिरकाल तक वैसे ही स्थित होता है, सत्य संकल्पवती संवित् के स्वभाव से इस विश्व का भान हुआ है। इस जगत् की असत्यता के विषय में क्या आश्चर्य है ? इस कारण केवल भ्रमस्वरूप होने से द्रष्टा, दृश्य और दर्शन रूप त्रिपुटी सत्य है यानी द्रष्टा असत्य है, दृश्य असत्य है और दर्शन (वृत्ति) असत्य है, अथवा उक्त ब्रह्मात्मता के कारण सब कुछ ब्रह्म ही है और सत्य ही है ॥१–३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, इस रीति से उक्त आदि प्रजापति का केवल आतिवाहिक शरीर यदि भ्रान्तिदर्शनमात्र है, वह कठिनता को (शिलादि के तुल्य पुष्टता को) कैसे प्राप्त हुआ ? भला स्वप्न में पारलोकिक फल आदि की अर्थक्रियाकारिता कैसे संभव है ? ॥४॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, आतिवाहिक शरीर के भ्रमरूप दर्शन की स्वतः ही अनुभूति होती है। सदा निरन्तर भान से वह चिरकाल के अभ्यास से घनीभूत सा मालूम होता है। जैसे राजा हरिश्चन्द्र आदि के स्वप्न की चिरानुभूत के अनुरूप पुष्टता हुई वैसे ही ब्रह्मा को अपनी आतिवाहिकता अत्यन्त सत्य सी प्रतीत होती है ॥५,६॥ आतिवाहिक शरीर के चिरकालतक स्वानुभव में आरूढ़ होने पर मरुभूमि में मृगतृष्णा के तुल्य उसमें फिर आधिभौतिकताबुद्धि उदित होती है। स्वप्न और भ्रम के सदृश भासित होनेवाला मृगतृष्णा जल के समान स्थित वह जगत् सत्य प्रतीतिकारी होने पर भी असत् ही स्फुरित होता है। आतिवाहिक (संकल्पमय) स्वरूपवाले पदार्थों की आधिभौतिकता असत्य होने पर अविवेकी पुरुषों द्वारा सत्यवत् स्वीकृत की गई है। यह मैं, ये मेरे शरीर आदि, ये मुझसे भिन्न, ये पर्वत, आकाश, दिशाएँ इस प्रकार का मिथ्याभ्रम देदीप्यमान स्वप्नपर्वत के समान प्रतीत होता है। आदि प्रजापति का यह

आतिवाहिक शरीर आधिभौतिक रूप से भावित होकर पृथिवी, शरीर आदिरूप पिंडाकार को देखता है। चिदाकाश 'मैं ब्रह्म हूँ' यह यथार्थ चेतना छोड़कर 'यह मनुष्य आदि शरीर मैं हूँ, यह पृथिवी आदि मेरा आधार है', यों देखता है और उसमें वैसी ही आस्था करता है ॥७–१२॥ असत्य वस्तु में यह सत्य है इस बुद्धि से भावना करने के कारण जीव बन्धन में पड़ता है अपने अन्दर बार–बार भावना करता है उससे नानात्व का (द्वैतका) अनुसरण करता है। पहले वैदिक, लौकिक शब्दों की सृष्टि करता है और उनका जाति आदि तत् तत् उपाधियुक्त अर्थ में संकेत करता है यानी यह शब्द इस अर्थ का वाचक है, ऐसा संकेत करता है। संकेत से संज्ञाएँ और चेष्टाएँ करता है। तदनन्तर ॐ उच्चार करने के उपरान्त शब्द राशिरूप वेदों का गान करता है ॥१३,१४॥ शब्दराशिरूप वेदों से ही शीघ्र इधर–उधर चारों ओर के व्यवहारों की कल्पना करता है, क्योंकि समष्टि मनरूप यह प्रजापति जो कुछ कल्पना करता है निश्चय रूप से वही हो जाता है। जो जिसमें अत्यन्त आसक्तिमान होगा वह उसे क्यों न देखेगा ? यों असत्यरूपा ही जगद्भ्रान्ति प्रौढ़ता को प्राप्त हुई है। ब्रह्मा से लेकर मच्छर तक यह चिरकालिक स्वप्न–सा और इन्द्रजाल–सा असत् जगत् मिथ्या ही स्फुरित होता है। इस प्रकार आतिवाहिक की आधिभौतिकता (कठिनस्वभावता) उचित ही है, अनुचित नहीं है ॥१५–१७॥ कहीं पर कुछ भी आधिभौतिकता नहीं है। आतिवाहिकता ही अभ्यासवश इस आधिभौतिक भावाना को प्राप्त होती है ॥१८॥ मूलभूत सर्जनहार ब्रह्मा से ही इस प्रकार का यह मिथ्या अनुभवरूप महान् मोह आया है, इसलिए यह जगत्दर्शन भ्रम जब तक प्रारब्ध का क्षय नहीं होता तब तक तत्त्वज्ञों में भी रहता ही है ॥१९॥ चिदेकरस ब्रह्म की इस तरह की दुर्दशा कहाँ संभव है, किन्तु यह सब संसार दुर्दशादि भ्रान्ति ही है। अथवा ब्रह्म ही कौतुक से जगत्, जीव आदि के आकार में स्फुरित हुआ है। अपना आकार अपनी दुर्दशा कदापि नहीं कहा जा सकता, यह अर्थ है ॥२०॥ जगत् का अव्यय सकलकारण–कारण ब्रह्म से अतिरिक्त दूसरा कारण नहीं है। वह कार्यता के बिना कारण नहीं है। निर्विकार कूटस्थ–चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्म में कार्यता–कारणता का कदापि संभव ही नहीं है। इस कारण यह जगदाकार कुछ भ्रान्तिमात्ररूप ही विस्तृत है। वास्तविक नहीं है, यह तात्पर्यार्थ है ॥२१॥

एक सौ नवासीवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ नब्बेवाँ सर्ग

भूत और भावी सकल सन्देहों का युक्तियों से मार्जनकर ज्ञान की ज्ञेयता शान्तिरूप मुक्ति का वर्णन।

'भ्रान्तिरेवेदमखिलं ब्रह्मैवाऽऽभातमेव वा'। अर्थात् यह सब ब्रह्म की संसाररूप दुर्दशा भ्रान्ति ही है अथवा ब्रह्म ही कौतुकवश जीव और जगत् के आकार से स्फुरित हुआ है। यों अन्त में जो बन्ध और मोक्ष का निष्कर्ष प्रदर्शन किया उसका परिष्कार कर कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामजी, ज्ञान की ज्ञेयतापत्ति बन्ध कहलाता है और ज्ञान ही ज्ञेयता–शान्ति मोक्ष कहलाता है ॥१॥

यहाँ पर श्रीरामचन्द्रजी जिन शंकाओं का पहले समाधान हो चुका था उनका भी सब के उपकार के लिए प्रश्नोत्तर माला के क्रम से उद्घाटनकर समाधान क्रम को प्रख्यात कराने के लिए उनका

उपाय पहले पूछते हैं ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, यहाँ पर ज्ञान की ज्ञेयता शान्ति कैसे होती है और उसका दृढ़ाभ्यास होने पर बन्धता-बुद्धि कैसे निवृत्त होती है ? ॥२॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, शम, दम आदि साधनों से युक्त सम्यक् ज्ञानरूप प्रबोध से भ्रान्ति हट जाती है । भ्रान्तिरूप स्वप्न के हट जाने पर इस प्रकार की ज्ञेयताशान्तिरूप मुक्ति भूमिका की पुष्टि के क्रम से होती है ॥३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, सम्यक् ज्ञानमय कैवल्यरूप बोध क्या कहलाता है ? जिस बोध से यह जीव बंधन से पूर्णतया विमुक्त हो जाता है । शंका का भाव यह है कि अनेक विशेषताओं से युक्त रत्न आदि की कुछ विशेषताओं का ज्ञान होने पर भी अन्य विशेषताओं के ज्ञान के लिए पर्यालोचन जन्य सम्यक् ज्ञान दूसरा हो, किन्तु ब्रह्मरूप निर्विशेष वस्तु में आपात ज्ञान की अपेक्षा सम्यक्ज्ञान दूसरा क्या होगा जिससे कि जीव के बन्धन की निवृत्ति होगी यह श्रीरामचन्द्रजी की शंका का तात्पर्यार्थ है ॥४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, अधिष्ठानभूत चिन्मात्ररूप ज्ञान की ज्ञेयता तीनों कालों में भी नहीं है । अव्यय केवल ज्ञान अवाच्य है, इसलिए सर्वदृश्यबाधपर्यन्त ही तत्त्वसाक्षात्कार कहा गया है । आपात ज्ञान वैसा नहीं है ॥५॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिवर, चिदेकरस आत्मा के अन्दर उससे भिन्न ज्ञेयता कौन है यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये । इस ज्ञानशब्द की 'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्' यों भाव में व्युत्पत्ति करनी चाहिये अथवा 'ज्ञायतेऽनेन तत् ज्ञानम्' यों करण में ? ॥६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्र 'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्' यों भाव में व्युत्पन्न ज्ञान केवल बोधमात्ररूप है । पवन और स्पन्द के समान ज्ञान और ज्ञेय का भेद नहीं है । श्रीवसिष्ठजी के उत्तर का भाव यह है कि भाव अर्थ में ही ज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति करनी चाहिये ज्ञेय जगद्रूपता ज्ञान का ही मायिक भेद है वह ज्ञान की एकरसता का विघातक नहीं है ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे गुरुवर, यदि ऐसी बात है तो ज्ञान, ज्ञेय आदि भ्रम कैसे सिद्ध हुआ ? वह ज्ञान का ज्ञेय जगद्रूपताभूत विकल्प खरगोश के सींगों की तरह है । वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से भूत, वर्तमान और भविष्यत् विभागों से व्यवहार योग्य कैसे मालूम होता है ? ॥७,८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, बाहरी पदार्थों की भ्रान्ति से यहाँ पर भ्रमबुद्धि उदित हुई यह जानना चाहिये । बाह्य और आभ्यन्तर किसी भी पदार्थ का संभव नहीं है । भाव यह कि असत्ता अभान अथवा अर्थक्रिया की असामर्थ्य में कारण नहीं है क्योंकि स्वप्न और भ्रान्तिज्ञान में हजारों असत् पदार्थों में भान और अर्थक्रिया सामर्थ्य देखी जाती है, किन्तु बाध ही अभाव और अर्थक्रिया की असामर्थ्य में प्रयोजन है । बाध विचारवानों को प्रत्यक्ष ही है ॥९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिनायक, जो यह प्रत्यक्ष दृश्य त्वम्, अहम् आदि भूतादि अर्थ अनुभूत है वह कैसे नहीं है यह मुझसे कहिये यानी लौकिक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध पदार्थ का अपलाप कैसे संभव है ? यह कहने की कृपा करें ॥१०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे निष्पाप, आदि सृष्टि में ही विराट् आदिरूप कोई पदार्थ उत्पन्न नहीं

हुआ, इसलिए ज्ञेय का संभव नहीं है। आदि सृष्टि में जगत् की माया से अतिरिक्त सामग्री कदापि नहीं कही जा सकती, अतएव उस समय मायिक जगत् भ्रान्ति से अतिरिक्त न था यह अवश्य मानना होगा इस समय भी वह वैसे ही भ्रान्तिमात्र ही है यह कहना होगा। रह गई लौकिक प्रत्यक्ष आदि की बात सो वे केवल व्यवहार के अविसंवाद से चरितार्थ हैं, अतः तत्त्वपूर्ण युक्तियों और श्रुतियों द्वारा बाधित हो जाते हैं। *इस विषय में भगवती श्रुति भी है – 'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त त्येषा परमार्थता– यानी न विनाश है, न उत्पत्ति है, न कोई बद्ध है और न कोई साधक है एवं न कोई मुमुक्षु है और न मुक्त है यह परमार्थता है*॥११॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिवर, भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल में स्थित यह जगत्दृष्टि, जिसका कि प्रतिदिन सबको अनुभव हो रहा है, उत्पन्न नहीं हुई यह आप क्या कहते हैं? भूत, भविष्यत् आदि अनन्त वस्तु गोचर अनन्त सर्वजनहित प्रत्यक्ष आदि का एक तत्त्वज्ञान से कैसे बाध हो सकता है? *यह श्रीरामचन्द्रजी की शंका का तात्पर्यार्थ है*॥१२॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, स्वप्न पदार्थ, मृगतृष्णा जल, द्विचन्द्र तथा संकल्पित पदार्थों की तरह अहं त्वं आदि मिथ्या जगत् केशोण्ड्रक के समान स्फुरित होता है। उस प्रकार के अनन्त स्वाप्न ज्ञानों का एक जागरण से बाध दिखलाई देता है॥१३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्! अहम्, त्वम्, अयम् इत्यादि पूर्णरूप से अनुभूयमान जगज्जठर सर्ग के आदि में कैसे उत्पन्न नहीं हुआ?॥१४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है अन्यथा वह उत्पन्न नहीं होता यह ही निश्चय है। प्रलयकाल में सबका विलय होने पर जगतों की उत्पत्ति में कारण नहीं है॥१५॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिवर, महाप्रलय होने पर जो जन्म–नाशविहीन परमतत्त्व अवशिष्ट रहता है वह सृष्टि का कारण क्यों नहीं होगा?॥१६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, कारण में जो कार्य है वह उससे उत्पन्न होता है किन्तु कारण में असत् कार्य कैसे उत्पन्न हो सकता है, घट से पट की उत्पत्ति कदापि नहीं होती है। भाव यह है कि ब्रह्म चिदेकरस है उसमें जगत् बीज शक्ति नहीं है॥१७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिश्रेष्ठ, महाप्रलय होने पर जगत् सूक्ष्मरूप से ब्रह्म में रहता है, वह उससे फिर उत्पन्न होता है। भाव यह कि जैसे सांख्यों के अभिमत गुणों में सूक्ष्मरूप से जगत् रहता है वैसे ही ब्रह्म में सूक्ष्मरूप से जगत् रहे॥१८॥

वसिष्ठजी ने कहा : हे अनघ, महाप्रलय पर्यन्त उस ब्रह्म में स्थित इस सर्ग की सत्ता का कौन अनुभव करता है और हे महाबुद्धे, वह सत्ता कैसी है?॥१९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : उस ब्रह्म में स्थित ज्ञप्तिरूपा सत्ता का तो ज्ञानियों से अनुभव होता है और वह स्वयंप्रकाश चिद्रूपअभिन्न सत्ता ही उस समय रहती है मायाकाशरूपा नहीं रहती, क्योंकि मायाकाशरूप तो असत् जगत्सत्ता को कैसे प्राप्त हो सकता है?॥२०॥

वसिष्ठजी ने कहा : हे महाबाहो, यदि इस प्रकार चिद्रूप ही जगत् की सत्ता मानोगो तो ज्ञप्ति (चिद्रूप) ही यह तीनों लोक हैं। फिर विशुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा के जन्म, मरण आदि कैसे हो सकते

हैं ? ॥२१॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, यदि सृष्टि उस ब्रह्म में स्थित नहीं है तो यह भ्रान्ति कहाँ से कैसे आ गई ? यह मुझसे कहिए। अर्थात् यह जगत् का भ्रम क्यों होता है, यह तात्पर्य है ॥२२॥

वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, कार्यकारणता का अभाव होने से ब्रह्म में न तो भाव (उत्पत्ति) है और न अभाव (प्रलय) ही, यह जो जगत् भासमान होता है, जिसको भासमान होता है और जिस रूप में भासमान होता है वह (ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूपी त्रिपुटी) केवल आत्मा ही है ॥२३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन् यह असमंजस है, यन्त्र के सदृश इस अचेतन (कार्यकारणसंघात देहेन्द्रियादि) रूपता को वह चेतिता (चेतना करनेवाला चलानेवाला कैसे) प्राप्त कर सकता है ? चैतन्यरूप सर्वद्रष्टा अचेतन (जड़) दृश्यता को कैसे प्राप्त हो सकता है ? भला काष्ठ जो दाह्य (जलनेवाला) है वह दग्धा (जलानेवाला) होकर अग्नि को दाह्य बनाकर कब और कैसे जला सकता है ? ॥२४॥

वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, द्रष्टा दृश्यत्व को नहीं प्राप्त होता क्योंकि दृश्य का सर्वथा असम्भव है, इसलिए केवल द्रष्टा ही सर्वात्मा एक घनाकृतिरूप से भासमान होता है अतः कोई असामंजस्य नहीं प्रत्युत सब असामंजस्यों की निवृत्ति ही हो जाती है ॥२५॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, सृष्टि के आदि में अचेतित जगत् के भान की सिद्धि नहीं है अतः अनादि अनन्त शुद्ध चिन्मात्र ही सृष्टि के आदि में जगत् का संकल्प करता है तब इस जगत् का भान होता है यह अवश्य मानना पड़ेगा। उस चिन्मात्र में चेत्य का संभव कैसे हो सकता है यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥२६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, कारण का अस्तित्व न होने के कारण चेत्य का तनिक भी संभव नहीं है। चेत्य का अभाव होने से चेतन की सदा मुक्तता तथा वर्णनातीतता सिद्ध हुई। उत्तर का भाव यह है कि चेत्य यदि सृष्टि के आदि में उत्पन्न होता तो वह किससे उत्पन्न हुआ इस प्रश्न का अवसर आता। अत्यन्त असंभूत वन्ध्यापुत्र की उपपत्ति-जिज्ञासा से क्या प्रयोजन है ? नित्यमुक्त ही आत्मा को स्वीकार करना चाहिये ॥२७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : गुरुवर, यदि चेतन की नित्यमुक्तता है तो यह अहन्ता आदि चेत्य कहाँ से और कैसे है ? यह जगत् वेदन कैसे तथा स्पन्द आदि का ज्ञान कैसे है ? *शंका का तात्पर्य यह है कि यदि नित्यमुक्तता है तो अहन्ता का प्रतिभास ही कदापि न होगा। इस तरह गुरु, शास्त्र आदि की निष्फलता होगी* ॥२८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, कारण का संभव न होने के कारण सृष्टि के आदि में कुछ उत्पन्न ही नहीं हुआ। ऐसी परिस्थिति में चेत्य का संभव कहाँ से होगा ? इसलिए सब कुछ शान्त है। सृष्टि तो रज्जु में सर्पत्वभान की तरह सीप में रजतबुद्धि की तरह तथा मरुभूमि में जलभान की तरह भ्रममात्र है ॥२९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, वचनों के अगोचर, चेत्य और चलनादि क्रियाशून्य सदा स्वप्रकाश, नित्यमुक्त, निर्विकार ब्रह्म में भ्रम ही किसको, किस निमित्त से तथा किस तरह का हो सकता है ? इस विषय में मुझे उत्तर दीजिये। अद्वितीय ब्रह्म द्वैतलेश का भी सहन नहीं कर सकता है, यह प्रश्न

का भाव है ॥३०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, कारण का अभाव होने से सृष्टिरूप विशिष्ट भ्रम का अस्तित्व ही नहीं है। त्वम्, अहम् इत्यादि सब कुछ अद्वितीय निर्विकार शान्त ब्रह्म ही है। *भाव यह कि शास्त्रों के अनुशीलन से ज्ञात ब्रह्मतत्त्व की दृष्टि से विभ्रम भी अनुपपन्न हो, इससे कृतकृत्य शास्त्र विफल नहीं कहा जा सकता है, यह उत्तर का आशय है ॥३१॥*

यों वसिष्ठजी द्वारा निरुत्तर किये गये श्रीरामचन्द्रजी प्रबोध की दृढ़ता के अभाव से पूर्णरूप से निस्सन्देह न होने के कारण प्रश्न करने में अपनी अशक्ति ही दिखलाते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, भ्रान्ति को जैसा प्राप्त हुआ मैं अब और क्या पूछूँ यह नहीं जान रहा हूँ। मैं पूर्णरूप से प्रबोधवान् नहीं हुआ हूँ। इस विषय में अब क्या पूछूँ ? ॥३२॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, निरुत्तर करने के कारण केवल अप्रतिभा से प्रश्न करने से विरत न होओ, किन्तु प्रश्न करने में कारणभूत सन्देह बीज के निकषोपल के समान (कसौटी के तुल्य) सार और असार की परीक्षा का स्थान मुझसे तब तक पूछते जाओ जब तक कि कारण का नाश होने से आप निश्शंक न होओ।तब क्रम से प्रश्न के कारणभूत सन्देहों का और उनके कारण अज्ञान का पूर्णरूप से विनाश होने के कारण आप परम स्वभाव में विश्रान्ति को प्राप्त होओगे ॥३३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, कारण का अस्तित्व न होने से पहले सृष्टि के आदि में ही सृष्टि का आविर्भाव नहीं हुआ यह आपका कहा हुआ सिद्धान्त यद्यपि मैं भलीभाँति समझ रहा हूँ तथापि मेरा यह चेत्यचेतन भ्रम किसको है यह सन्देह नहीं मिट रहा है। इसका क्या कारण है ? ॥३४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, कारण का अस्तित्व न होने से तथा सर्वत्र शान्त ब्रह्म की सत्ता होने से दृश्य आदि की भ्रान्ति नहीं है। आपको केवल अभ्यास न होने के कारण ही परमपद में विश्रान्ति नहीं प्राप्त हो रही है।

यदि आप मेरे द्वारा वर्णित सिद्धान्त को जानते हैं तो अनभ्यासवश ज्ञान की परिपक्वता न होने से परमपद में अविश्रान्ति ही आपके वृथा विविध सन्देहों की जननी है, यह श्रीवसिष्ठजी के उत्तर का आशय है।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, कहाँ से अनभ्यास होगा, कहाँ से अभ्यास होगा तथा अभ्यासात्मक यह जगद्भ्रान्ति ही कहाँ से उदित हुई है जब कि जगद्भ्रान्ति का कोई कारण ही नहीं है ? ॥३५,३६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, यथार्थतः कोई भ्रान्ति नहीं है। यद्यपि अनन्त (असीम परमब्रह्म) निज माया से अनन्त भासता है उसी में सम्पूर्ण अक्षत महाचिद्घन अभ्यासभ्रान्ति है। भाव यह कि जैसे जीवन्मुक्त पुरुषों की चिद्घनस्वरूप सकल वस्तुओं में व्यवहार–प्रवृत्ति होती है वैसे ही आपकी भी उनसे अभ्यास प्रवृत्ति हो, इसमें क्या क्षति है ? ॥३७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, आप सरीखे जीवन्मुक्त पुरुषों के इस सकलजगद्भ्रम के शान्त होने पर इस अध्यात्मशास्त्ररूप शब्दसम्पत्ति से उपदेशयोग्य हम लोगों के उपदेश कायप्रवेश, शक्तिपात आदि द्वारा प्रबोधनरूप व्यवहार में क्या कारण है ? यह कहिये ॥३८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, हमारे सदृश जीवन्मुक्त लोगों के उपदेश आदि सकल व्यवहाररूप

से ब्रह्म ही ब्रह्म में स्थित है। बोधात्मा में (चिदात्मा में) न मोक्ष है, न बन्धन है और न बन्धननिवृत्ति के उपाय हैं। यानी भिन्नवत् दिखाई देनेवाले बन्ध, मोक्ष और मुक्ति के उपायों की तत्त्वदृष्टि से अत्यन्त अप्रसिद्धि है ॥३९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, देश, काल, क्रिया और द्रव्य का भेदज्ञान रखनेवाले अज्ञानियों को सबका संभव न होने से यह जगद्दृष्टि कैसे उपस्थित हुई ? भाव यह कि तब अज्ञानियों की दृष्टि में प्रख्यात यह जगत्सत्ता किस कारण से उपस्थित हुई ? ॥४०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, जीवन्मुक्ति के पूर्व देश, काल, क्रिया और द्रव्य के भेदज्ञानी अज्ञों की दृश्यसत्ता अज्ञानमात्र से अन्य नहीं है यानी अज्ञान से ही यह जगत्सत्ता उपस्थित है, इसका अन्य कारण नहीं है ॥४१॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, तत्त्वदृष्टि से कारण के अभाव में द्वैत और ऐक्य का संभव न होने पर बोध्यबोधकता का अभाव होने से बोधता (ज्ञान) कैसे हो सकती है ? जिसका बोध हो वह कर्म अवश्य होना चाहिये। लोक में अकर्मक बोधशब्द प्रसिद्ध नहीं है।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, अज्ञात ब्रह्म बोध से अपने अज्ञानविनाशरूप फल का आश्रय होने से बोधता को (बोधकर्मताको) प्राप्त होता है उसी से बोध शब्द भी बोध्यता को (बोधफलवत्तारूप सकर्मकता को) प्राप्त होता है। यह सब अज्ञानवान् जो आप लोग हैं आप लोगों के विषय में ही लागू होता है जीवन्मुक्त हम लोगों में अज्ञान न रहने के कारण बोध की सकर्मकता का निरूपण नहीं किया जा सकता, यह भाव है ॥४२,४३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, 'जीवन्मुक्त हम लोगों में नहीं' यह कह रहे आपने जीवन्मुक्तों में भी अस्मत्-शब्द की प्रवृत्ति में निमित्तभूत अहन्ता प्रदर्शित की है। और वह अहन्ता अबोध का कार्य नहीं होनी चाहिये, क्योंकि उनमें अबोध की प्रसिद्धि नहीं है। अतः बोध ही अहन्तारूप परिणाम को प्राप्त होता है, यह कहना पड़ेगा। उस अवस्था में उसकी बोधभिन्नता का निवारण करना कठिन ही नहीं असंभव है। यह अहन्ता जब जीवाख्य पुरुष नहीं है तब इसका अनन्त त्रिविध परिच्छेदशून्य निर्मल चिन्मात्र आपमें कहाँ से संभव है ? ॥४४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, एकमात्र बोधस्वरूप हम लोगों की स्वरूपभूत जो बोधता है वही वायु के स्पन्दन की तरह वैकल्पिक व्यपदेश से हम लोगों से अहम् और त्वम् कही जाती है अज्ञानवान् अभिमानप्रधान पुरुष से नहीं कही जाती है ॥४५॥

श्रीरामजी ने कहा : भगवन्, यदि ऐसी बात है तो जैसे शान्त सागर में तरंग आदि अपना आकार धारण करता है वैसे ही जीवन्मुक्त पुरुषों की दृष्टि में स्वरूपमात्ररूप चिन्मय ही अहन्तादि रूप जगत् तथा बोध्य, बोध आदि त्रिपुटी का आकार धारण करता है, यह सिद्ध हुआ ॥४६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, यदि ऐसी स्थिति ही तत्त्व है तो 'द्वैतैक्यासंभवे ब्रह्मन् कारणासंभवे सति।' यों आपने द्वित्व आदि की प्रसक्ति से जिस अद्वैतहानिरूप दोष का उद्घाटन किया वह कैसे होगा और क्या होगा ? इसलिए ऐसा मानना ठीक नहीं है। इस कारण आप शुद्ध अद्वैत का ही अवलम्बन कीजिए ॥४७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, तब शुद्ध अद्वैतपक्ष में पवन के स्पन्द की तरह अहन्ता विकल्प की कल्पनाकर कौन व्यवहार का भोग करता है अथवा भोक्ता ही कौन है जिसके कारण यह अनन्त जगद्भ्रान्ति का उल्लास होता है। जगद्भ्रान्ति विकल्प का भी वैसे निषेध न होने पर फिर बन्धन और मोक्ष की कल्पना भी होगी ? *यह श्रीरामजी के प्रश्न का आशय है* ॥४८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, ज्ञेय अर्थ में सत्यताका आग्रह होने पर पुनः बन्धन की प्रसक्ति होती है। किन्तु तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में वह (ज्ञेय) निपट नहीं है, क्योंकि तत्त्वज्ञान से उनका बाध हो जाता है। ज्ञप्ति ही उनके प्रारब्ध के भोग के लिए सकल पदार्थों के आकार से भासती है, इसलिए उनके पुनर्बन्धन आदि की कल्पना का प्रसंग नहीं है ॥४९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, ज्ञप्ति सर्वार्थरूपा नहीं है,क्योंकि जैसे प्रकाशक दीपक या नील, पीत आदि रूप या घट, पट आदि अपनी स्थिति को प्राप्त होते हैं वैसे ही ज्ञप्तिवश बाह्य घट, पट आदि पदार्थस्थिति प्रथित होती है अतः प्रत्यक्षरूप से ग्रहण होने से बाह्य पदार्थों की चेतन से पृथक् सत्ता सिद्ध हो गई ॥५०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, कारणरहित बाह्यार्थरूप कार्य की जो यह सत्यता है वह केवल भ्रान्तिरूपी है उसका, भ्रान्तिरूप से अतिरिक्त दूसरा स्वरूप नहीं है ॥५१॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, जब तक रहता है तब तक अर्थक्रियाकारी होने से स्वप्न सत्य हो चाहे प्रबोध से बाध्य होने के कारण असत्य हो, जब तक रहता है तब तक दुःख होता है वैसे ही यह जगद्भ्रान्ति जब तक रहती है तब तक दुःख देती है। इसकी चिकित्सा का (निवृत्ति का) कौन उपाय है ? ॥५२॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार जैसा स्वप्न है, वैसी ही जगद्–स्थिति है यानी जगत् की स्वप्नतुल्यता है, यह जब सिद्ध हो गया तब जैसे जागरण होने पर स्वप्न के पदार्थों का बाध हो जाता है वैसे ही आत्मज्ञान होने पर जागतिक पदार्थों में पिण्डग्रहता का (साकारता यानी स्थूलता का) बाध हो जाने से दुःख शान्त हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में पदार्थों की पिण्डग्रहता (स्थूलता) सारी की सारी भ्रान्ति रूप ही है, यह बात अर्थतः कही ही गई है ॥५३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, संसार को स्वप्नवत् एकमात्र मिथ्या मानने से आनन्दावाप्तिरूप अभीष्ट कैसे सिद्ध होता है ? केवल मिथ्या ज्ञान से स्वप्न आदि में पदार्थों की पिण्डरूपता (साकारता) कैसे शान्त होती है ? ॥५४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, अध्यात्मशास्त्र के पूर्वापर के विचार से ज्ञानोदय होने पर पदार्थों में साकारता की निवृत्ति होती है और इसी प्रकार स्वप्न के पदार्थों में जाग्रत् होने पर स्थूल भावना निवृत्त हो जाती है।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : जिसकी अध्यात्मशास्त्र के पूर्वापर के पर्यालोचन से जगत्स्थूलता की भावना सूक्ष्मता को प्राप्त हो चुकी वह जीवन्मुक्त पुरुष जगत् को कैसा देखता है ? और उसकी यह संसारगर्तरूपी भ्रान्ति कैसे मिटती है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, वासनाविहीन जीवन्मुक्त पुरुष जगत् को उजड़ा हुआ,

असत् के सदृश, गन्धर्वनगरतुल्य और वृष्टि से मिटाये गये चित्र के तुल्य देखता है ॥५५-५७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : गुरुवर, तदुपरान्त वासनाओं के सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने पर स्वप्नतुल्य जगत्स्थितिवाले जिस पुरुष की दृष्टि में जगत् के पदार्थों की स्थूलता विनष्ट हो चुकी उस जीवन्मुक्त का फिर क्या होता है ? ॥५८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे वत्स श्रीरामचन्द्र, जो जगत् को संकल्परूप जानता है उस जीवन्मुक्त पुरुष की वह अतिसूक्ष्म वासना भी उत्तरोत्तर भूमिकाओं के परिपाक क्रम से विलीन हो जाती है। इससे वासनाविहीन हुआ वह शीघ्र निर्वाण पद को प्राप्त होता है।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, अनेक जन्म जन्मान्तरों से बद्धमूल, शाखा-प्रशाखाओं से युक्त, जन्म-मरणरूपी बन्धन में डालनेवाली भीषण वासना कैसे शीघ्र शान्त हो जाती है ? ॥५९,६०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स रघुवर,केवल भ्रममात्रस्वरूप यह दृश्यचक्र (संसारचक्र) यथार्थ तत्त्वज्ञान से स्थूलाकारता से विमुक्त हो जाता है यानी जले हुए वस्त्र के समान इसका केवल ढाँचा ही शेष रह जाता है। अवशिष्ट प्रारब्ध के भोग के क्रम से उसका भी विनाश हो जाता है ॥६१॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिनायक, इस संसारचक्र के क्रमशः पिंडग्रहविहीन (स्थूलाकारशून्य) होने पर निर्विक्षेपता का साधक दूसरा क्या है ? पूर्ण शान्ति कैसे होती है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुपुंगव, साकारताभ्रम के निवृत्त होने पर जब जगत् केवल चित्मात्रता को प्राप्त हो जाता है, विनाशाभावरूप गौरव से उन्मुक्त हो जाता है तब जगत् में भोगों की आस्था का शमनरूप परम वैराग्य हो जाता है ॥६२,६३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिश्रेष्ठ, बालक के संकल्पभूत अतितुच्छरूप से स्थित देदीप्यमान इस जगत् में दुःखहेतुभूत आस्था की निवृत्ति कैसे होती है ? अत्यन्त तुच्छ संकल्पवाला बालकरूप नर भी दुःख का अनुभव करता हुआ कैसे दिखाई देता है ? ॥६४॥

अविचार से तुच्छता का ज्ञान न होने के कारण ही बालक को भी दुःख होता है, किन्तु विचार द्वारा तुच्छता का ज्ञान होने पर उसके नाश आदि में दुःख नहीं होता है, यह आप भी विचार कीजिये, ऐसा कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : संकल्पमात्र से सम्पन्न जगत् के नष्ट होने पर दुःख कैसे हो सकता है ? जो जगत् संकल्पमात्र तथा चित्तमात्र है उस चित्त का आप भी विचार कीजिये ॥६५॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, चित्त कैसा है ? कैसे उसका विचार किया जाता है ? उक्त चित्त का भलीभाँति विचार करने पर क्या होता है ? यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥६६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, चित् का जो विषयों की ओर झुकना है वही चित्त कहलाता है। इस समय मेरे सामने आपसे किया जा रहा महारामायण श्रवण ही इसका विचार है। इससे वासना निवृत्त हो जाती है ॥६७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, चित्त के स्थितिकाल में चित्त के निरोध से होनेवाली चित्की अचेत्योन्मुखता (परमात्मा की ओर प्रवण होना) कितने काल तक रहेगी ? यानी बहुत थोड़े समय तक रहेगी, इसलिए निर्वाणपद प्रदान करनेवाली चित्त की अचित्तता कैसे उदित होती है ? यह मुझसे कहिये

यानी चित्त के नाश का ही उपाय मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥६८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, चेत्य का जब संभव ही नहीं है तब चिति कैसे और कहाँ से चेत्य की कल्पना करती है। इस कारण चेत्य के अंसभव से चित्तसत्ता नितरां नहीं है। *चेत्य के असंभव के दर्शन से चेत्य का परिमार्जन ही चित्तनाश का उत्तम उपाय है, यह श्रीवसिष्ठजी के उत्तर का आशय है* ॥६९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, जिस चेत्य का (दृश्यका) सबको अनुभव होता है, उसका कैसे संभव नहीं है ? सकल जनों से और अपने अनुभूत विषय में इस प्रकार का अपलाप आप कैसे करते हैं अर्थात् चेत्य का सर्वथा असंभव है तो लोगों के अनुभव का विषय कौन होगा ? ॥७०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुवर, अज्ञानियों का दृष्टिगोचर जैसा जगत् है वह सत्य नहीं है, ज्ञानियों का ज्ञानगोचर जो है वह अद्वितीय तथा वाणी का अगोचर है। भाव यह कि अज्ञपरिज्ञात भौतिक जगत् का अपलाप करने पर उसकी (अज्ञ की) तत्त्वज्ञानियों द्वारा परिज्ञात नामरूपविहीन तत्त्ववस्तु विषय होगी ॥७१॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, अज्ञानियों की त्रिलोकी कैसी है और वह सत्य कैसे नहीं है ? और ज्ञानियों का जैसा जगत् है वह वाणी का विषय कैसे नहीं हो सकता है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, अज्ञानियों का जो जगत् है वह देश, काल, और वस्तुकृत परिच्छेद से युक्त है किन्तु उस तरह का यानी देशकृत, कालकृत और वस्तुकृत परिच्छेदवाला जगत् ज्ञानियों की दृष्टि में न इस समय है और न सृष्टि के आदि में ही उसका संभव है, अतएव ज्ञानियों की दृष्टि में वन्ध्यापुत्र के समान मिथ्या है ॥७२,७३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, जो जगत् सृष्टि के आदि में उत्पन्न नहीं हुआ और जिसका कभी संभव नहीं है, जो असद्रूप और आभासशून्य है उसका अनुभव कैसे होता है ? यदि वह अत्यन्त असत् है तो वह अर्थक्रियासमर्थरूप से अनुभूत कैसे होता है, *यह भाव है* ॥७४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, जाग्रत् जगत् स्वप्न जगत् के समान असत् होता हुआ भी सत्सा प्रतीत होता है इसका कोई कारण नहीं है, यह कभी उत्पन्न नहीं हुआ है और स्वप्न के समान उद्भूत हुआ यह स्वप्नवत् अर्थक्रियाकारी भी प्रतीत होता है ॥७५॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, स्वप्न आदि में और मनोरथ, वितर्क आदि में जो दृश्य का अनुभव होता है वह जगद्व्यवहार के अनुभव से उत्पन्न जाग्रत्रूप संस्कार से होता है, किन्तु यह जाग्रत् किससे अनुभव में आता है ? ॥७६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, संस्कार से स्वप्न में क्या जाग्रत् में प्रसिद्ध अर्थ का ही अनुभव होता है अथवा अन्य अर्थ का वैसे ही स्वप्न और मनोराज्य में जाग्रत् प्रसिद्ध अर्थ का ही अनुभव होता है अथवा अन्य पदार्थ का यह मुझसे कहिये ॥७७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, स्वप्न और मनोराज्य आदि कल्पनाओं में संस्काररूप से जाग्रत् में प्रसिद्ध अर्थ का ही नित्य भान होता है यही बात मनोरथ, भ्रम आदि में भी समझनी चाहिये ॥७८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुनाथ, जाग्रत् के संस्कार से जाग्रत्प्रसिद्ध अर्थ का ही स्वप्न में यदि भान

होता है तो स्वप्न में गिरा हुआ घर प्रातः काल जागने पर कैसे प्राप्त होता है ? क्योंकि स्वप्न और जाग्रत् के पदार्थों के अभिन्न होने पर स्वाप्न पातन जाग्रत्पातनरूप ही ठहरा, यह भाव है ।।७९।।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, जाग्रत्पदार्थ का स्वप्न में भान नहीं होता, किन्तु अन्य अर्थ ही स्वप्न में भासता है किन्तु वह अन्य पदार्थ ब्रह्म ही है यह आपका अभिमत अर्थ मेरी समझ में आ गया है। किन्तु इतना सन्देह अभी शेष है कि वह अन्य पदार्थरूप ब्रह्म जगत् सा कैसे भासता है ? ।।८०।।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, सब कुछ अपूर्व सा भासित होता है ऐसा ही नियम नहीं है, किन्तु कोई अर्थ जिसका पहले अनुभव नहीं हुआ, चित्त में अपूर्व प्रतीत होता है। कोई तो जिसका पहले अनुभव हो चुका,अपूर्व प्रतीत नहीं होता और वह अनुभव जिस आकार से सृष्टि के आदि, अन्त और मध्य में अभ्यास होता है उस आकार से भासता है। ब्रह्माकारता के अभ्यास के खूब अभ्यस्त होने पर वैसे ही भासेगा, यह भाव है ।।८१।।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, इस प्रकार से आपसे बोधित हुआ मैं जाग्रत् जगत् भी स्वप्न जगत्स्वरूप ही भासित होता है यों जान गया हूँ स्वप्नवत् ज्ञात हुआ भी यह जगद्रूपी पिशाच क्रूर ग्रह की तरह मुझे दुःख देता है अतः किस तरह उसकी चिकित्सा की जाय यानी निवृत्ति की जाय ? ।।८२।।

उसके कारण की विवेचना द्वारा उसकी चिकित्सा करनी चाहिये इस आशय से श्रीवसिष्ठजी स्वप्न संसार का कारण पूछते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जो यह संसाररूपी स्वप्न है इसका कारण क्या है ? कार्य से कारण भिन्न नहीं होता यह बात शतशः देखी गई है, इसीका आप विचार कीजिये। चूँकि कारण चित्त ही है, अतएव स्वप्नज्ञान चित्तरूपी ही हैं वैसे ही आद्यन्त विहीन असार निर्विकार विश्व भी चित्त ही है ।।८३,८४।। हे महामते श्रीरामजी, चेत्य के उन्मुख चित् ही चित्त है यह बात मैं पीछे अनेक बार कह चुका हूँ। ऐसी स्थिति में चित्त महाचिद्घन ही है और वही जगत् के आकार की तरह स्थित है यह सिद्ध हुआ। अतएव स्वप्न , जाग्रत् आदि कुछ भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है ।।८५।।

जब चित् जगत् है और विषयाभिमुख चित् ही चित्त है तब जैसा शाखा प्रशाखारूप अवयव और वृक्षरूप अवयवी का भेदसहिष्णु अभेद है इसी प्रकार भेदाभेद से ब्रह्म में जगत् स्थित है ऐसा ही क्यों नहीं कहते हैं, स्वप्न आदि कुछ नहीं है यों निषेध क्यों करते हैं ? ऐसी श्रीरामजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, जैसे शाखादि अवयवों और वृक्षरूप अवयवी का तादात्म्यरूप एकता (अभेद) भेदसहिष्णु है वैसे ही चित्त और जगत् का भी तादात्म्यरूप अभेद भेद सहिष्णु हो। उस स्थिति में समष्टिचित्तरूप जगत् आदि से अवयवरहित ब्रह्म में एकता हो ।।८६।।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, ऐसी कल्पना कदापि नहीं हो सकती, क्योंकि यदि विचार-विमर्श किया जाय तो सृष्टि के आरम्भ में जगत् कभी उत्पन्न हुआ ही नहीं, इसलिए भासित हो रहा यह सब प्रपंच अजर, शान्त, अजन्मा, अखण्ड परमात्मरूप ही है ।।८७।।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, आपके सदुपदेश से मैं यह मानता हूँ कि भ्रान्ति से द्रष्ट्रत्व और भोक्तृत्व आदि सहित सृष्टि के जन्म, नाश आदि भ्रम परमपदरूप ब्रह्म में काकतालीयन्याय से अकस्मात उदित हुए हैं ।।८८।।

इस प्रकार जगत् केवल भ्रान्ति ही है, यों निश्चय कर चुके श्रीरामचन्द्रजी के प्रति जगत् सादि (प्रारंभवाला) है इस भ्रांतिमय दृष्टि का यौक्तिकदृष्टि और तत्त्वदृष्टिमूलक शास्त्रीयविचार से मैं निराकरण कर चुका हूँ, यों श्रीवसिष्ठजी सर्ग का उपसंहार करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, लोक में तीन प्रकार की दृष्टियाँ प्रसिद्ध हैं – १. पामर दृष्टि, २. यौक्तिक दृष्टि और ३. तत्त्वदृष्टि। उनमें से प्रथम दृष्टि का दूसरी और तीसरी दो दृष्टियों से खंडन करना चाहिये और अन्त में दूसरी दृष्टि का तीसरी यानी तत्त्वदृष्टि से खण्डन करना चाहिये। इस अभिप्राय से पिछली दो दृष्टियों का अवलम्बन कर मैंने इस समग्र विश्व का यथार्थरूप से अवलोकन किया है। दो दृष्टियोंमें सार में से भी निर्मथन करके मुख्य सारभूत पदार्थ का ग्रहण करने में समर्थ तथा प्रमाण और प्रमेय तत्त्व की परीक्षा करने में कुशल विद्वानों की दृढ़तर विचार करनेवाली अति निष्कर्षभूत होने से अभिनव (नवीन) जो लोकोत्तर दृष्टि है वह पहली है और अध्यात्मशास्त्र के श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि के परिपाक से सिद्ध परमतत्त्वरूप अर्थ मात्र का अपरोक्षरूप से जिसमें स्फुरण होता है ऐसे जीवन्मुक्त पुरुषों में पाई जानेवाली दृष्टि दूसरी है। उक्त दो दृष्टियों का अवलम्बन करके इस शास्त्र में मैंने तब तक निरीक्षण किया है जब तककि सकल दृष्टियाँ, द्रष्टा, जीव तीनों कालों में नहीं रहे, जगत् की शून्यता का भी ग्रहण नहीं हुआ और भ्रम का ज्ञान भी नहीं हुआ एवं जब तक नित्य अपरोक्ष परमानन्दरूप ब्रह्मात्मैक्यवस्तु स्थित नहीं हुई ॥८९॥

एक सौ नब्बेवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ इक्यानबेवाँ सर्ग

अज्ञान से ब्रह्म का ही जगत्रूप से जैसे भान होता है तथा प्रबुद्धमात्र का
जैसे परमपद स्थिति रूप निर्वाण होता है, इस विषय का भली भाँति वर्णन।

पूर्वसर्ग में वर्णित रीति से प्रबोध को प्राप्त हुए श्रीरामचन्द्रजी सिद्धान्त पक्ष को स्वीकार कर कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिनायक, ऐसी यदि बात है तो परतत्त्व विवर्तभूत यह जगत् सदा सर्वपदार्थात्मा ब्रह्म ही है। यह न कभी उदित होता है और न कभी नष्ट होता है ॥१॥ यौक्तिक दृष्टि से जगदाकार दिखाई देनेवाली यह भ्रान्ति (विक्षेपशक्ति प्रधान अविद्या) ही स्फुरित होती है। तत्त्वदृष्टि से तो वह भ्रान्ति भी है ही नहीं, केवल ब्रह्म सत्ता ही है ॥२॥

श्रीरामचन्द्रजी के कथन का अनुमोदन कर रहे श्रीवसिष्ठजी यह कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी, आपने ठीक समझा है। काकतालीय के समान अतर्कनीय अविद्या से अपने में अपने से जिस ब्रह्म का भान होता है जीवभूत उसी ब्रह्म से आत्मा ही (स्वरूप ही) 'जगत्' जाना जाता है ॥३॥

महाप्रलयकाल में अपने अवलम्बनभूत दिग्विभाग के बिना अपरिच्छिन्न चित्प्रकाश की असंभावना कर रहे श्रीरामजी विस्मयपूर्वक पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, अविच्छिन्न चित्प्रकाशदिग्विभाग के बिना सृष्टि के आदि में, प्रलयकाल में और मोक्ष में कैसे प्रकाशित होता है, यह महान् आश्चर्य है। आलम्बनरूप दीवार के बिना

भला दीपप्रभा का कैसे भान होता है ? *भाव यह कि आलम्बन के बिना जैसे प्रभा की प्रथा का असंभव है वैसे ही दिग्विभागरूप आलम्बन के बिना परमात्मा की भी प्रथा असंभाव्य है ॥४॥*

अन्यत्र न देखे गये (उदाहरणशून्य) अत्यन्त आश्चर्यभूत इसकी प्रमाणानुभव के बल से संभावना करनी चाहिये यों श्रीवसिष्ठजी संभावना करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, यह इस प्रकार का यानी अत्यन्त आश्चर्यरूप ही है, क्योंकि 'विभुं चिदानन्दामरूपमद्भुतम्' (सर्वव्यापक चिदानन्दस्वरूप रूपरहित अद्भुत) ऐसे श्रुति है और 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्' (कोई इसे आश्चर्य सा देखता है) यों भगवान् का वाक्य है तथापि असंभावना नहीं करनी चाहिये। अन्वय और व्यतिरेकरूप से परीक्षा कर आप देखिये। क्योंकि वही चितिरूप सूर्यादि प्रभा की भी प्रभा अन्धकार काल में अपनेसे ही प्रथित होती रहती है। सूर्योदय होने के बाद प्रकाश आदि के साथ भी वह रहती है ॥५॥ सूर्यादि का प्रकाश भी दीवार आदि में निरपेक्ष स्वभाववाला होकर दीवार में प्रकाशित सा होता है। उसकी प्रकाशता में दीवार का कोई हाथ नहीं है। बल्कि दीवार और दीवार का भासना उसकी स्वप्रकाशता के बल से ही होता है। प्रकाश की स्वरसता से ही दीवार की प्रतीति होती है। वहाँ पर जैसे दीवार आदि के सम्बन्ध से पहले आकाश में प्रकाश दिखाई देता है वैसे सृष्टि के आदि में और प्रलय में भी वक्ता श्रोता इस निर्विषय आत्मा को ही आप देखिये ॥६॥

इस तरह निरालम्ब चित्की संभावना की सिद्धि होने से वही सृष्टि के आदि में जगत् के आकार से सम्पन्न हुई यह आप संभावना कीजिये, ऐसा कहते हैं।

इसलिए न द्रष्टा है और न दृश्य ही है। द्रष्टा, दृश्य, दर्शन आदि त्रिपुटी कुछ नहीं है केवल निर्विकार चिदाकाश ही है। चित् प्रभा ही अपने से भित्ति (मूर्त आलम्बन) तथा उसका भासन आदि रूप धारण करती है ॥७॥

एक रूप ही चित् की द्रष्टा, दृश्य, दर्शनरूप त्रिपुटी स्वप्न आदि में भी प्रसिद्धि ही है, ऐसा कहते हैं।

जैसे एक ही चित्प्रभा स्वप्न आदि में द्रष्टा, द्रश्य आदि त्रिपुटीरूप होती है वैसे ही जाग्रत् में भी एकमात्ररूप वह चिति द्रष्टा, दृश्य और दर्शनरूप त्रिपुटी को धारण कर विराजमान होती है ॥८॥ जिस सृष्टिकाल में भासनेयोग्य पदार्थ, भान तथा भासयित्री (भासिका) स्वयंचित्प्रभा ही है उस सर्गादि में सृष्टि के तुल्य भास रही चित्प्रभा ही विराजमान है। एक ही चित्प्रभा द्रष्टा, दृश्य तथा दर्शन यों त्रिपुटीरूप होकर सृष्टि के आदि में सृष्टि के सदृश स्फुरित होती है। इसका (चित् का) यही स्वभाव (मायाशक्ति) है कि यह इस तरह देदीप्यमान रूप में भासित होती है। यह बात जाग्रत् में ही नहीं अपितु स्वप्न, संकल्प (मनोराज्य) और गन्धर्वनगर में भी अनुभव में आती है यानी वहाँ भी एक ही चिति द्रष्टा, दर्शन और दृश्य होकर स्फुरित होती है। प्रथम उदित हुई यह चित्प्रभा इस प्रकार प्रकाशित होती है। अपने चिदाकाशरूप में चिदाकाशस्वरूपा यह इस जगत् के रूप से भासती है। सृष्टिरूप से इसका जो यह आदि-अन्तशून्य भान है वही सृष्टियाँ हैं ॥९-१२॥

अज्ञानियों को ही यह आश्चर्यवत् मालूम होती है हम ज्ञानियों का तो यह स्वभावभूत ही है आश्चर्यवत् नहीं है, ऐसा कहते हैं।

अज्ञानी लोगों को ही यह सृष्टि आश्चर्य के तुल्य प्रतीत होती है, किन्तु हमारे सदृश ज्ञानियों

की दृष्टि में तो यह स्वभावभूत (ब्रह्मरूप) ही है, क्योंकि कदाचित् अकस्मात् इस भास्य–भासक–भानरूप त्रिपुटी के हम लोगों की दृष्टि में प्रतिभात होने पर भी तत्त्वज्ञान के अनुसन्धान से वह शीघ्र ही मिट जाती है ॥१३॥

तत्त्वज्ञान का अनुसन्धान कैसे होता है ? इस प्रश्न पर तत्त्वज्ञान का अनुसन्धान कहते हैं।

उस समय सर्ग के आदि में न दृश्य था, न दर्शक था और न दर्शन ही था। मिथ्याज्ञान के कारण ही जैसे स्थाणु में पुरुष की प्रतीति होती है वैसे ही आत्मा में द्वैत का भान होने के कारण चित्त में भेद का भान होता है। सृष्टि के आदि में भास्य आदि नहीं है, भासक चिदात्मा तो अवश्य है। उस समय कारण का अभाव होने से केवल चिदाकाश ही द्वैत के रूप में भासता है। भला बतलाइये तो सृष्टि के आदि में शुद्ध चेतन में वस्तुतः क्या कारण हो सकता है ? पदार्थ–दृष्टि के अभाव से चिति ही इस प्रकार जगत् के रूप से प्रकाशित होती है। जो यह जगत् का भान है, यह न जाग्रत् है, न सुषुप्ति है और न स्वप्न है, किन्तु तुरीय चिति ही यों प्रकाशित होती है। दृश्य का कदापि संभव न होने से केवल ब्रह्म ही द्वैत के रूप से भासता है ॥१४–१८॥ जो चिदाकाशस्वरूप परमात्मा अजगत्मय अपने ही स्वरूप को जगत् जानता है वही सृष्टि के आरम्भ में इस प्रकार जगत् के रूप से भासता है। जो यह जगत् है वह परमात्मा ही है। शून्यता और आकाश के भेद विकल्प के विकास के समान जगत् और परमात्मा का भेद विकल्प विकास अज्ञान विकसित है ॥१९,२०॥

वर्णित तत्त्वज्ञान के अनुसन्धान प्रकार का उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरे द्वारा उपदिष्ट तत्त्वज्ञान के अनुसन्धान के उपाय से तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर जब तक भूमिकाओं के परिपाक के क्रम से यह सुन्दर अनुभव से युक्त हो दृढ़ नहीं होता है तब तक विकल्पमुक्त होकर पाषाण की तरह सकल व्यापारों कों त्यागकर रहना चाहिये। अनादि संसार में बार–बार भोगे हुए इस काल में वैराग्यवश त्यागे हुए बाह्य विषय का अज्ञानी कुपुरुष द्वारा इसका भोग करो यों कहने पर भी ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥२१॥

एक सौ इक्यानबेवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बानबेवाँ सर्ग

प्रबुद्ध हुए श्रीरामचन्द्रजी का अपने प्रबोध को श्रीवसिष्ठजी की
शुभसन्निधि में जैसा यह चिन्मात्र है वैसा विस्तार से कथन।

सकल सन्देहों की निवृत्ति होने से भलीभाँति बुद्ध हुए श्रीरामचन्द्रजी जैसे सोकर जागा हुआ पुरुष स्वप्नभ्रान्ति का स्मरण करता है वैसे ही संसार–भ्रान्ति का आश्चर्यरूप से स्मरण करते हुए कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे गुरवर, महान् आश्चर्य है। हम लोग चिरकाल तक संसाररूप निःसीम आकाश में वर्तमान इस ब्रह्माण्ड के एक प्रदेश में एकमात्र आत्मतत्त्व से अपरिज्ञात होने के कारण भ्रान्ति में पड़े हैं ॥१॥ किन्तु आत्मतत्त्व के परिज्ञात होने पर यह सम्पूर्ण जगद्भ्रान्ति कुछ भी नहीं है। न तो यह कभी हुई, न है और न होगी।

बृहदारण्यवार्तिक में श्रीसुरेश्वाचार्यजी ने कहा है :

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः । अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति ॥

अर्थात् 'तत् त्वमसि' इत्यादि वेदान्त वाक्यों के श्रवण, मनन और निदिध्यासन से उत्पन्न सम्यक् ज्ञान के (तत्त्वबोध के) जन्ममात्र से अपने कार्यभूत जगत् के साथ अविद्या भ्रान्ति नहीं थी, न है और न भविष्य में रहेगी। यह सारा जगत् शान्त, आलम्बन रहित, विज्ञानघन, असीम, कल्पना शून्य, नीराग, अद्वितीय चिद्घनाकाश ही स्थित है ॥२,३॥ हे गुरुवर, यथार्थरूप से अपरिज्ञात यह परमाकाश ही हम लोगों की दृष्टि में संसारसदृश बन गया है, यह महान् आश्चर्य है ॥४॥ अत्यन्त सुनिर्मल चिदाकाश का ही ये लोग हैं, ये पर्वत हैं इस प्रकार द्वैतरूप से भान हुआ है। निर्मल परमाकाश ही अनिर्मलसा होकर द्वैतरूप से स्थित है ॥५॥ हे भगवन्, सृष्टि के आदि में, परलोक आदि में, स्वप्न आदि में, काव्यरचना में तथा मनोराज्यआदि में चित् का ही चेत्यकी भाँति भान होता है। अन्य दृश्य का कहाँ से संभव है ? मैं नरक में स्थित हूँ अथवा स्वर्ग मे स्थित हूँ ऐसी यदि पुरुष को भ्रान्ति हो तो उस भ्रान्ति के कारण ही उसको नरक बन्धन अथवा स्वर्ग बन्धन प्राप्त होता है, अतः स्वर्ग या नरकरूप दृश्य संविन्मय (काल्पनिक) ही है। न यह दृश्य है, न द्रष्टा जीव है, न सृष्टि है,न जगत् है, न चिदाभास है और न जाग्रत्,स्वप्न, सुषुप्ति आदि ही हैं। जो कुछ भी यह अज्ञानियों का दृग-विषय अविद्या अथवा अविद्याकार्य है वह भी सब खरगोश के सींगवत् असत् है ॥६-८॥ हे मुनिनायक, इस भ्रान्ति की कहाँ से उत्पत्ति होती है ऐसी यदि आलोचना की जाय तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि भ्रान्ति के अभाव का अनुभव होने से यानी भ्रान्ति के असत् होने से उसके कारण का विचार करना कहाँ उचित है ? विकारविहीन तत्त्वज्ञान के आस्पद में भ्रान्ति का कदापि संभव नहीं है। जो कुछ भी यह भ्रमज्ञान है वह भी चित्स्वरूप परमात्मा ही है, उससे भिन्न नहीं है। निरवकाश, आदि-अन्तशून्य (असीम) आकाश में या पर्वत के (चट्टान के) मध्यमें अथवा स्फटिक शिला के गर्भ में और निर्विकार ज्ञानरूप परमपद में भेद की कल्पना करनेवाला अन्य कौन हो सकता है ? ॥९-११॥ ब्रह्मन्, स्वप्न में अपने मरण के अनुभव की तरह भ्रान्ति का अनुभव मिथ्या ही है उक्त भ्रमानुभव अविचारजनित है। विचार करने से इसकी शान्ति हो जाती है ॥१२॥ जैसे मृगतृष्णा जल, गन्धर्वनगर और द्विचन्द्र का भ्रम विचार करने से प्रतीत नहीं होता वैसे ही यह अविद्याजनित भ्रम भी तत्त्वविचारविमर्श करने से शेष नहीं रहता है ॥१३॥ बालक के वेताल की (भूत की) तरह जाग्रतकाल में प्रत्यक्ष दिखाई देने पर भी यह भ्रान्ति यथार्थ नहीं है। अविचार से बद्धमूल हुई यह विचार से शान्त हो जाती है ॥१४॥ हे मुनिवर, यह भ्रान्ति किस कारण से थी यह प्रश्न भी इसके विषय में शोभा नहीं देता। विचार के लिए ही प्रश्न है वह इस विषय में सफल नहीं है, क्योंकि विचार से सत् का ही लाभ होता है असत् का नहीं होता। भ्रान्तिमूलक ज्ञान असत् है उसका निर्णय ही नहीं हो सकता, यह भाव है ॥१५॥

अज्ञान की असत्ता प्रमाणपूर्वक विचार से अलभ्य होने के कारण ही है, ऐसा कहते हैं।

प्रामाणिक विचार से निरीक्षण करने पर जिसकी प्राप्ति नहीं होती ऐसा यह जगत् का मूलभूत अज्ञान असत् ही है। इसी कारण उसका अनुभव भ्रम है ॥१६॥ श्रुति आदि प्रामाणिक विचारों से सुविचारित होने पर भी जो परिच्छिन्नरूप से प्राप्त नहीं होता वह आकाशपुष्प, खरगोश के सींग की तरह असत् के तुल्य है ॥१७॥ चारों ओर से विचारपूर्वक देखने पर भी जो कहीं से भी नहीं प्राप्त होता,

वन्ध्या के पुत्र के तुल्य उसकी सत्ता कैसे हो सकती है ? इसलिए कदापि किसी भी भ्रान्ति का संभव है ही नहीं। यह निरावरण विज्ञानघन ही सर्वतःव्याप्त है। आज जो कुछ भी जगत्–नाम–धारी यह भासिता होता है वह परम ब्रह्म ही है। निरतिशय आनन्द से परिपूर्ण परम ब्रह्मस्वरूप में वह पूर्ण परमब्रह्म ही अपनी महिमा में स्थित है ॥१८–२०॥ इस धरातल में कभी कुछ भी न भासित है और न अभासित है यह सुनिर्मल शान्त ब्रह्म ही इस प्रकार जगत् के रूप में स्थित है ॥२१॥

किस प्रकार का वह परमपद स्थित रहता है ? इस प्रश्न पर उसे कहते हैं।

जन्मरहित, मरणशून्य, अन्यलोगों द्वारा रहने के अयोग्य,विद्वान् पुरुषों द्वारा सेवित, अविकारी, निर्दोष, चारों ओर से परिपूर्ण, 'अहम्' ही निरहं (निरहंकार) होकर बोध से उदित सर्वत्र व्याप्त, शुद्ध आवरण–परिच्छेद का नाश होने से विकास युक्त, अनेक और अद्वितीय रूप से परम पद स्थित रहता है ॥२२॥

एक सौ बानबेवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तिरानबेवाँ सर्ग

प्रबोध से क्षणभर अज्ञानरूपी निद्रा का विनाश होने पर श्रीरामचन्द्रजी ने
निखिल द्वैत से विनिर्मुक्त नित्य आत्म में स्थिति का वर्णन किया, यह वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, आदि और अन्त रहित जिस परमपदरूप ब्रह्म को न तो कर्म की उपासना से सिद्धि को प्राप्त हुए देवता लोग जानते हैं और न तपोयोग से सिद्ध ऋषि लोग जानते हैं अथवा यहाँ पर चक्षु आदि बाहरी और आभ्यन्तर करण ही देवता और ऋषि कहे गये हैं। *'ते ह देवा उद्गीथमाजह्नुः। इमावेव गौतमभारद्वाजौ' इत्यादि श्रुति है।* वही यह जगत् के रूप में स्फुरित है, कहाँ जगत् है और कहाँ दृश्यता है ? ॥१॥ द्वैत और अद्वैत का अनुसन्धान करने पर मन में उदित हुआ जो द्वैत और अद्वैत का समुन्मेष है उससे जनित वाक्य व्यवहारों, सन्देहों और विभ्रमों से हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। *सबसे पहले 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध जो निर्मल परमब्रह्म है, उसीका यह सब कुछ भान है*॥२॥

इस समय जगद्भान कैसे सम्पन्न हुआ ? इस प्रश्न पर उसे कहते हैं।

जैसे आकाश में केशोण्ड्रक, मोती की माला, गन्धर्वनगर आदिकी अभेद से स्थिति है वैसे ही चिदाकाश में त्रिजगत्‌रूप आकाश की अभेद से स्थिति है ॥३॥ जैसे आकाश में आकाशत्व अभेद से सामान्यरूप से और आकाशरूप से स्थित है, जैसे पाषाण में पाषाणत्व, जल में जलत्व अभेद से स्थित है वैसे ही चिद्घन ब्रह्म में जगत् अभेद से, ब्रह्मरूप से स्थित है ॥४॥ भगवन्, दिशाओं में और आकाश में असंख्यरूप से विस्तृत भी अहंकारादि सहित त्रिलोकीरूप दृश्यको आप शान्त आकाशरूप शून्यता से उदित महाचेतन का उदर ही समझिये ॥५॥ अपरिच्छिन्न उदयवाले यानी सर्वव्यापी इस परम ब्रह्म का शास्त्राभ्यास तथा गुरुकृपा से साक्षात्कार होने पर अज्ञ जीव की दृष्टि में देदीप्यमान भी यह संसाररूपी पिशाच शान्त हो जाता है ॥६॥ जड़ की (मूर्ख की) भाँति सांसारिक व्यवहार में अत्यन्त लिप्त हुए भी अजड़ की (ज्ञानी पुरुष की) भेदबुद्धि (द्वैतबुद्धि) वैसे ही अवश्य विनष्ट हो जाती है जैसे

कि जल के अन्दर तरंग नष्ट हो जाती है ॥७॥ आध्यात्मिक, आधिदैविक आदि त्रिविध संताप के आकारभूत अज्ञानरूपी सूर्य के सर्वदा के लिए कहीं विदा होने पर संसारसत्तारूपी दिन सर्वथा अदर्शन को प्राप्त हो जाता है यानी लुप्त हो जाता है वह मोक्षसुख में विश्रामहेतु रात्रिका आगमन है ॥८॥ उत्पत्ति और विनाशयुक्त कार्यों में, जरा, जन्म, मरण आदि में तथा व्यवहार विक्षेपों में वेग से स्थित भी ज्ञानी पुरुष उनमें स्थित नहीं रहता ॥९॥ यहाँ वास्तव में न अज्ञान है, न भ्रम है, न दुःख है और न सुखोदय है। ज्ञान, अज्ञान, सुख, दुःख सब कुछ निर्मल ब्रह्म ही है। यथार्थरूप से परिज्ञात यह सब कुछ निर्मल ब्रह्म ही है। हम तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में अपरिज्ञात अब्रह्मात्म (ब्रह्मभिन्न) कुछ नही है यानी सब कुछ परिज्ञात होकर ब्रह्मरूप ही है ॥१०,११॥ हे गुरुवर, आपकी कृपा से मैं प्रबुद्ध हो गया हूँ, मेरी सकल कुदृष्टियाँ शान्त हो गई हैं। इस प्रकारका (ज्ञानवान्) मैं त्रैलोक्य को शान्त, सकलद्वैत विषमता-शून्य चिदाकाशरूप देखता हूँ। भलीभाँति परिज्ञात यह सारा जगत् केवल ब्रह्म ही है। न मैं पहले कोई दूसरा था और न इस समय कोई दूसरा हूँ। पहले में अज्ञतात्म (जिसने अपने रूप को नहीं जाना) ब्रह्म था इस समय ज्ञात आत्मा में ब्रह्म ही स्थित है। जैसे शून्यत्व, एकत्व तथा नीलता में आकाश एकमात्र है वैसे ही एक अजर अमर ब्रह्म अपने से अतिरिक्त ज्ञानअज्ञाननिर्भास शून्य है। इसलिए ज्ञान होने के कारण मैं निर्वाणरूप होकर स्थित हूँ, अज्ञान की निवृत्ति से ही सकल शंकाओं की निवृत्ति होने के कारण निःशंक होकर स्थित हूँ, सकल अभिलाषाओं की निवृत्ति से मैं निस्पृह होकर स्थित हूँ। विक्षेपशून्य आत्मसुख में ही धाराप्रवाह से चित्तवृत्ति जैसे रहे वैसे मैं स्थित हूँ। यथास्थित नित्य मैं अनेकरूप से स्थित हूँ। इस प्रकार प्रबुद्ध हुआ मैं समस्तात्मरूप ब्रह्म में कैसे स्थित नहीं हूँ, क्योंकि ब्रह्मभाव से प्रच्युति के हेतुभूत मेरे अज्ञान का बाध हो चुका है ॥१२-१५॥ भगवन्, सदा ही सब कुछ एक अनन्त मैं ही हूँ अथवा सब कुछ और कुछ भी नहीं तथा सकल उपद्रवों से रहित एक होकर मैं ही हूँ अथवा देश, काल रूप आधार की अप्रसिद्धि वश मैं कहीं पर नहीं हूँ इस प्रकार की यह निर्वाण नाम की सकलशान्ति अति आश्चर्यरूप है। गुरुवर, जाननेयोग्य परमपुरुषार्थरूप वस्तु को मैं जान चुका हूँ, अज्ञानी पुरुषों को दुष्प्राप्य मोक्षसुख मुझे मिल गया है, संसारअनर्थरूप वस्तु राशियाँ सबकी सब चली गई हैं। चरम साक्षात्कार से उदित बोधरूप वह निज स्वरूप मेरा उदित हो गया है जिस स्वरूप में फिर मृत्यु, तिरोधान, दुःख आदि अनर्थों का नाम-निशान तक नहीं रहता है ॥१६,१७॥

एक सौ तिरानबेवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चौरानबेवाँ सर्ग

मोक्षसाधन आत्मतत्त्व और जगत्तत्त्व जिस भाँति रामचन्द्रजी ने जाना, उसका गुरुजी के समीप निवेदन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, सब जीवों की सब मनोवृत्तियों में जब जब जिस जिस भोग के लिए जिस प्रकार स्वप्रकाश चिदात्मा का भान होता है यानी विवर्त होता है उस प्रकार स्वयं ही भोक्ता नाना जीवों के रूप से अनुभव करता है यानी द्रष्टा, दृश्य और दर्शनरूप त्रिपुटी बनकर अपनी माया से विवर्तित होता है ॥१॥ एकमात्र निरवयव परम सूक्ष्म ब्रह्म में सब जीवों द्वारा एक ही समय में अध्यासवश प्राप्त हुई भी अनन्त सृष्टियाँ प्रत्येक ब्रह्माण्ड, भुवन आदि भेद से विस्तीर्ण स्वभाव में ही परस्पर

असंलग्न होकर रहती हैं, क्योंकि वे सब जीवसृष्टियाँ इस प्रकार के निरवयव ब्रह्म में तादात्म्यअध्यास से आत्माकृत हैं (परम सूक्ष्म बनाई गई हैं)। अपने स्वरूप में किसी की अनवकाशता अथवा अवरोध नहीं है। जैसे सूक्ष्मतम विभिन्न रत्नों की किरणें एक घर में मिलकर भी अलग अगल रहती हैं वैसे ही ब्रह्म में जीवसृष्टियाँ भी अलग अलग स्थित हैं, यह भाव है ॥२॥ दृष्ट यानी समीपवर्ती (प्रत्यक्ष), देश और काल के व्यवधान से परोक्ष जगद्रूप रश्मियाँ इस परमात्मा में परस्पर सटे बिना (पृथक् पृथक्) वैसे ही प्रवेश करती हैं, संचार करती हैं जैसे कि एक घर में नाना रत्नों की रश्मियाँ ॥३॥

उनमें जिन जीवों का समान कर्मवासनानिमित्त अध्यास होता है उनको आपस में एक दूसरे का अनुभव होता है उनसे अतिरिक्तों को नहीं होता है, इस आशय से कहते हैं।

भगवन्, जैसे जल रहे बहुत से दीपकों का नेत्रवान् लोगों को अनुभव होता है नेत्रहीन लोगों को नहीं होता वैसे ही देदीप्यमान हो रहे बहुत से सर्गों का समानकर्मवासनाजनित अध्यासवाले किन्हीं लोगों को परस्पर अनुभव होता है उनसे अतिरिक्तों को नहीं ही होता। आवर्तों के (भँवरों के) क्रीड़ास्थलभूत सागर में प्रत्येक जलीय भाग में लवण आदि रस जैसे रहता है वैसे ही उस सृष्टिमें भी जर्रे जर्रे में ब्रह्माण्ड हैं तथा उन ब्रह्माण्डों में प्रत्येक अणु में सृष्टियाँ हैं। वास्तविक दृष्टि से न सर्ग है और न सर्गों का क्रम ही है ॥४,५॥ समुद्र में जलपरमाणु के रस के तुल्य सर्वत्र सर्वतः व्याप्त चिद्घन परमात्मा का जो नित्य आत्मवेदन है। सृष्टि के आधारपरम्परारूप उनकी गणना कौन कर सकता है ? जैसे कही ंपर भी अवयवी से अवयविता शब्दभेद के सिवा भिन्न नहीं है वैसे ही परमब्रह्म परमात्मा में सृष्टि शब्दभेद के सिवा भिन्न नहीं है ॥६,७॥ वास्तव में एकरूप (अद्वितीय) माया से अनन्त रूपवाले परमात्मा की जगत् अधिष्ठानस्वभावता कारण का अभाव होने से न उदित होती है और न अस्त को प्राप्त होती है ॥८॥ जैसे स्फुरित हो रही सूर्य की दीप्ति घट, पट आदि का प्रकाश करती है वैसे ही स्फुरित हो रही अकर्तृरूपा यह ज्ञप्ति ही इस सम्पूर्ण ज्ञेय घट, पट आदि पदार्थों का निर्माण करती है ॥९॥

तब कब और किस उपाय से वह अध्यात्म–व्यसन का त्याग करती है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

तत्त्वज्ञानवश बाध होने के कारण सकल पदार्थों की निवृत्ति होने से ही स्वयं अक्षयस्वरूप क्षयशील (विनाशी) देहादि के तादात्मअध्यास से उन्मुक्त होता है। इस प्रकार का वह स्वरूप ही सकल विक्षेपों के विनाश से समाधान और निर्वृत्ति (सुख) रूप होने से निर्वाण कहलाता है ॥१०॥

अध्यास परम्पराओं की समाप्ति से ही स्वयं अपना परमपुरुषार्थ अवशिष्ट रहता है, यह कैसे संभव है ? क्योंकि बुद्धि से जिसका अनुभव हो रहा हो वही पुरुषार्थ है। बुद्धि से जो अननुभूयमान है उसमें पुरुषार्थता नहीं देखी जाती है। इसलिए पुरुषार्थता की प्रयोजिका चरमसाक्षात्कारवृत्ति मुक्ति में परमआवश्यक है, इसलिए सर्व पदार्थों की निवृत्ति मुक्ति है, यह मानना ठीक नहीं है ऐसी आशंका पर कहते हैं।

परमपुरुषार्थरूप बोध परमात्मबुद्धि से यानी चरम साक्षात्कार वृत्ति से ज्ञात नहीं होता है, क्योंकि जड़ बुद्धि में बोधशक्ति नहीं है और बोध बुद्धि का विषय नहीं हो सकता।

शंका : तब बोधशक्तिमान् परमात्मा का जैसे सोये हुए राजा का बन्दियों द्वारा बोध कराया जाता है वैसे ही बुद्धि द्वारा बोध कराया जाय।

समाधान : नहीं, बुद्धि द्वारा आत्मा का बोधन नहीं होता, क्योंकि जैसे राजा को सोया हुआ जानकर उसके बोधन के लिए बन्दीजन प्रवृत्त होते है वैसे बुद्धि को सोये हुए बोध का परिज्ञान ही नहीं होता ऐसी परिस्थितिमें उसके बोधन के लिए वह कैसे प्रवृत्त होगी ?

शंका : तब बोध ही बोध को जाने।

समाधान : बोध भी बोध को नहीं जान पाता, क्योंकि बोध स्वयं बोध्य (बोध-कर्म) कैसे हो सकता है ? क्रिया से जन्य अतिशय का आधार कर्म है। बोध में न तो क्रिया है और न क्रियाजन्य अतिशय की आधारता का ही संभव है। बोध निष्क्रिय, निर्विकार है ॥११॥

इसलिए अध्यासपरम्परा चरम साक्षात्कारबुद्धिपर्यन्त की परिणाम परम्परा से अपने आप ही समाप्त हो जाती है। उसके समाप्त होने पर स्वप्रकाश होने के कारण प्रबुद्ध आत्मा ही कुहरे के आगमन से सोये हुए से मध्याह्न में कुहरे के बिलकुल हट जाने पर सूर्य के समान और सूर्य के ताप के समान प्रबुद्ध होता है। वही जीव का नित्यप्राप्त निरतिशय आनन्दाभिव्यक्तिरूप परम पुरुषार्थ है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे प्रातः काल में कुहरे के आगमन से सोया हुआ सा प्रतीत होनेवाला सूर्य और सूर्य का प्रकाश मध्याह्न में कुहरे के निःशेष होने पर प्रबुद्ध हो जाता है वैसे ही प्रबुद्ध ही बोध देश, काल आदि का अभाव होने पर भी अध्यासवश सुप्त के तुल्य प्रतीत होता है। अध्यास के हट जाने से स्वयं प्रबुद्ध हो जाता है ॥१२॥ बोध होने के कारण ऐहिक और पारलौकिक कर्मफलों में तृष्णा न रखनेवाले, प्रशान्त इच्छावाले सज्जन पुरुषों को इच्छा न करने पर भी निर्वाण (मोक्ष) अपने आप प्राप्त होता है ॥१३॥ जिसका चिदात्मा मोहरूप निद्रा से जाग चुका है तथा जिसकी बाह्य वृत्तियाँ निरुद्ध हो चुकी हैं इस तरह का महात्मा पुरुष केवल अपने चित् स्वभाव में स्थित होकर न तो कुछ भी ग्रहण करता है और न कुछ त्यागता है ॥१४॥ व्युत्थान काल में मन के मनन से युक्त भी (लोक-व्यवहारमें तत्पर भी) ज्ञानी पुरुष विषयों में आसक्ति न होने से मन के मनन से रहित है अतएव दीपक के तुल्य प्रकाश करता हुआ भी निष्क्रिय वह यथास्थित स्वरूप ही रहता है ॥१५॥ उस योगी को व्युत्थान काल में विश्वरूपनामक और अन्यत्र (समाधिकाल में) ब्रह्मनामक सृष्टि-असृष्टिरूप चिन्मात्र सर्वत्र भासता है ॥१६॥ जो योगी समाधि से व्युत्थित तथा समाधिस्थ होकर अभिन्नबोधरूप सद्रूपस्वरूपानुभव में ही स्थित हो व्युत्थान और समाधि को उदासीन वृत्ति से देखता है यानी किसी एक में विशेष आसक्ति नहीं रखता, वही संसाररूपी विक्षेप से शान्ति प्राप्त करता है अन्य नहीं ॥१७॥ जैसे आकाश की शून्य से अतिरिक्त दूसरी वास्तविकता नहीं है वैसे ही जगत् के समस्त पदार्थों की केवल बोधमात्र यथार्थरूपता के बिना अन्य वस्तुस्थिति नहीं है, इस प्रकार का जिसमें बोध होता है इस प्रकारकी उस योगी की सद्स्वरूपानुभव में स्थिति है ॥१८॥

अन्य सत्ता क्यों नहीं है ऐसा यदि कहो तो तत्त्वसाक्षात्कार से जगद्रूप का बाध होने पर चिन्मात्रसत्ता का ही परिशेष रहता है, इस आशय से कहते हैं।

पूर्णरूप से प्रबुद्ध यानी अपरिच्छिन्न ब्रह्मावगाहन में खूब प्रसृत होनेवाले बोध से पूर्ण महात्माओं की वह केवल प्रत्यगात्मरूप बोधता भी अपने ब्रह्मसन्मात्र परिशेषरूप अखण्डाकारवाक्यार्थलक्षण दूसरे परिणाम से अखण्डार्थक वाक्य-लक्ष्यता को प्राप्त हो जाती है ॥१९॥ अखण्डार्थक वाक्यलक्ष्यता की

विश्रान्ति होने पर यानी अखण्डार्थक वाक्यलक्ष्यत्व–रूप से स्थिति होने पर अत्यन्त शान्त हुए योगीजनों की जो कोई अवर्णनीय परासत्ता है वह शेष रहती है अथवा नहीं भी रहती है। दोनों ही प्रकारों में वाणियों की भी गोचरता को वह दशा प्राप्त नहीं होती है ॥२०॥ जो सत्तासामान्य की पराकाष्ठा (परम अवधि) शोधित तत्पदार्थरूपा है वही बोध की भी शोधित त्वम्पदार्थरूप परम अवधि है। आकाश आदिरूप तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूप सृष्टि सत्ताबोधमय ही है, इसलिए सबकुछ शान्त अविनाशी ही है ॥२१॥ निर्वाण के लिए, वैराग्य के लिए तथा निर्मल शीतल बोध के लिए ब्रह्मा, विष्णु और शिव तथा अन्यान्य प्राणी भी मैं सदा ही रहूँ कदापि मेरा अभाव न हो यों सदा उस सत्ता की स्पृहा करते हैं ॥२२॥ सब लोगों का सर्वाधिक स्पृहास्पद वस्तुभूत सकलप्रदेश में, सकल काल में, सकल वस्तु रूप से उदित चेतन स्वतः स्फुरित रूपवाला शुद्ध ही है उसका विनाश (लोप) क्षणभर के लिए भी नहीं हो सकता ॥२३॥ संसार निरतिशय दुःखरूप है और निर्वाण आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप है। अतिशीतल निर्वाण ही अस्तित्व है। तप्त यानी निरतिशय दुःखरूप संसार है ही नहीं ॥२४॥ जैसे शिल्पी की बुद्धि में न गढ़ी हुई शिला के भीतर स्थित प्रतिमाएँ यथेष्ट रूप से स्फुरित होती हैं वैसे ही भावउपहित अखंडित (अविच्छिन्न) ही ब्रह्म जगत् के रूप में स्फुरित होता है ॥२५॥ जैसे जलाशय में स्थित लहरियाँ स्फुरित होती हैं वैसे ही महाचिति स्वयं अन्नमयादिकोश में स्थित तथा ब्रह्माण्डकोश में स्थित चेत्य होकर स्फुरित होती है। अज्ञानआवृत आत्मा के रूप से जड़ तुल्य परमार्थाकाश के (सन्मात्र के) कृत्रिमवेष से युक्त अविभक्त (अद्वितीय) आत्मा की विभक्त ऐसे शान्त अनन्त जिन जिन जीवों ने जैसे जैसे भीतर भावना की और जैसे जैसे संकल्प किया उन उन जीवों के भोग और मोक्ष के भेदों में वह वैसे ही उदित हुआ है ॥२६–२८॥ जैसे स्वप्न में अपने बन्धुबान्धव के मरने अथवा जीने पर भी स्वप्न से जागे हुए पुरुष की स्वप्न में सत्यताबुद्धि उदित नहीं होती वैसे ही तत्त्वज्ञानी पुरुष की सकल दृश्यपदार्थों में सत्यता बुद्धि उदित नहीं होती अतएव उससे उनके लाभ और नाश से हर्ष और शोक की प्राप्ति नहीं होती है ॥२९॥ जो दृश्य, द्रष्टा और दर्शन त्रिपुटीरूप है वह सबका सब शान्त शिव सन्मात्र ही है ऐसी भीतर भावना करने और भलीभाँति ज्ञात होने पर फिर भ्रान्ति का उद्भव कैसा ? ॥३०॥

ज्ञान होने पर किस क्रम से भ्रान्ति का अनुद्भव होता है। इस प्रश्न पर उसे कहते हैं।

भगवन्, सम्यग् ज्ञान होने पर देह से सम्बन्ध रखनेवाले भोग और भोगों के उपायों में ऐसे ही अवितृष्णा (विरक्ति) हो जाती है जैसे कि यह स्वप्न है यह जानने पर स्वप्न के पदार्थों में विरक्ति होती है ॥३१॥ वैराग्य से बोध की अभिवृद्धि होती है और बोध से वैराग्य की वृद्धि होती है। बोध और वैराग्य ये दोनों दीवार और प्रकाश के तुल्य एक दूसरे से प्रगट होते हैं। जिस कारण अवितृष्णा (वैराग्य) अथवा स्त्री, पुत्र, धन आदि तत्त्वाभिनिवेशरूप बोध से ही पूर्णरूप से सम्पन्न है उसका (वैराग्य का) विरोधी अथवा उसका (धन दारादिका) अनुकूल जाड्य भी तत्–तत् में अभिनिवेश के अनुसार ही स्थित है ॥३२,३३॥ वैराग्य होना ही बोध की बोधता (सार्थकता) है। वह पंडिताई केवल मूर्खता ही है जिसमें विरक्ति नहीं है ॥३४॥ जो वैराग्य और बोध पूर्ण होने पर भी परस्पर से वर्धित न हों वे असत्य ही हैं। चित्रलिखित अग्नि की भाँति स्वकार्य में अक्षम ही हैं। वे नष्ट हैं (लुप्त हैं) ऐसा नहीं समझना चाहिये। बोध और वैतृष्ण्य की निरतिशयसम्पत्ति ही निरतिशय आनन्दरूप होने और आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप

होने से भी मोक्ष कही जाती है,क्योंकि अज्ञान ही बन्धनमूल है और तृष्णा ही बन्धन है उन दोनों का विनाश ही मोक्ष है। मोक्षरूप अनन्त शान्त पद में स्थित पुरुष को शोक नहीं होता ॥३५,३६॥

बोध और वैराग्य के परस्पर से परिवर्धित होने के कारण मैं कृतकृत्य हो गया हूँ, ऐसा कहते हैं।

मेरी निराकरणीय (खण्डनीय) दृश्यरूपी वस्तु का निराकरण हो चुका है, सम्पादनीय कार्य मैंने कर लिया है, तथा दर्शनीय वस्तु पूर्णतया देख ली है। यह सब मंगलमय, शान्त अद्वितीय चिन्मात्र ही है ॥३७॥ आत्मा में रमण करनेवाले शान्त, निर्वासनिक, अहंकारशून्य ज्ञानी पुरुष की आकाश की निर्मल स्थिति की भाँति संकल्प-विकल्परहित ही स्थिति होती है ॥३८॥ प्रयत्न कर रहे कई हजार लोगों में से कोई बिरला ही बलवान् उत्साही पुरुष जैसे शेर लोहे के पिंजड़े को तोड़ डालता है वैसे ही वासनाजाल के टुकड़े टुकड़े कर डालता है। जैसे शरत् में जो कुहरा जिसे सूर्य आदि का बोध हो गया जिसके भीतर तक प्रकाश पड़ चुका वह अपने आप विलीन हो जाता है वैसे ही वह ज्ञानी पुरुष जिसे पूर्णतया आत्मज्ञान प्राप्त हो चुका, ज्ञान से जिसका हृदय देदीप्यमान हो चुका वह अपने आप शान्त हो जाता है। जिसको ज्ञातव्य सद् वस्तु का ज्ञान हो चुका, संकल्प-विकल्प जिसके मन में नहीं उठते तथा जिसका हृदय संकल्पों का अतिक्रमण कर चुका ऐसा वासनाविहीन महात्मा पुरुष लोकव्यवहार में वायु की तरह चेष्टा करता है अथवा व्यवहार नहीं करता यानी समाधि में ही विश्राम लेता है। तत्त्व के मनन से स्थिर हुए भ्रान्तिमात्र के निश्चय से (ये केवल भ्रमरूप हैं इस प्रकार के दृढ़ निश्चय से) जो सब वस्तुओं में शून्यताबुद्धि है, वही निर्वासनिक स्थिति है ॥३९-४२॥ पूर्ववर्णित वासनाविहीन भाव के उदित होने पर और सकल जगत् ब्रह्म ही है यों ज्ञान होने पर एकमात्र निर्वाण में स्थिरमतिवाले शुद्धअन्तःकरण पुरुष में मोक्ष नामक असीम प्रशम उदित होता है ॥४३॥

एक सौ चौरानबेवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पचानबेवाँ सर्ग

प्रबुद्ध हुए श्रीरामचन्द्रजी की सुन्दर उक्तियों की प्रशंसा कर
गुरु द्वारा किये गये प्रश्नों का श्रीरामचन्द्रजी द्वारा समाधान।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, बड़े हर्ष की बात है आप प्रबुद्ध हो गये हैं। आपकी यह वाणी अप्रबुद्ध लोगों के पापों का नाश करनेवाली तथा अनुभवसिद्ध अर्थ का अनुवादरूप होने और युक्तियुक्त होने से प्रबुद्ध पुरुषों को प्रहर्ष से प्रसन्नवदन बनानेवाली हो गई है ॥१॥ असत् ही यह जगत् अज्ञान जनित संकल्पवश जो स्फुरित-सा होता है यही बन्धन है और असंकल्प की दृढ़ता से परिपुष्ट तत्त्वज्ञान से शान्त हो जाता है यही मुक्ति साधन है। इसकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही निर्वाण है यही मोक्ष-निष्कर्ष है। वही परमार्थता है ॥२॥

कल्पन और अकल्पनरूप बन्धन और मोक्ष अज्ञात और ज्ञात ब्रह्म के ही रूप हैं यह निष्कर्ष भी फलित हुआ, यह कहते हैं।

वत्स, जैसे स्पन्दन और अस्पन्दन दोनों वायु के ही रूप हैं वैसे ही कल्पन और अकल्पन पर ब्रह्म के ही रूप हैं, अन्य के नहीं ॥३॥ ज्ञानवान पुरुष की ही समाधि अवस्था में अथवा व्यवहार काल में

शिलागर्भ के समान जो स्थिति है वह निर्मल मुक्तता कही जाती है ॥४॥

इस पद में स्थिति ही हम जैसे जीवन्मुक्तों की समाधि और व्युत्थान में तुल्यरूप स्थिति है, ऐसा कहते हैं।

हे राघव, दुःखविनाशक इस पद में स्थित होकर हम लोग समाधि और व्यवहार में समानरूप से इस तरह स्थित हैं ॥५॥ प्रबुद्ध अतएव प्रशान्तस्वरूप ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि व्यवहार परायण होते हुए भी सदा इसी परमपद में स्थित रहते हैं ॥६॥ शिला के गर्भ के समान विक्षेपशून्य स्थितिवाले हम प्रबुद्ध लोगों का यह निर्दोष पद है। आप भी आज से लेकर हमारे सदृश ही इसे प्राप्त कर इसमें (जीवन्मुक्ति में) विराजमान होइए ॥७॥

इस प्रकार श्रीवसिष्ठजी की उक्ति से जीवन्मुक्तिपद में प्रतिष्ठित श्रीरामचन्द्रजी जीवन्मुक्त पुरुषों को जैसा जगत् भासता है उसका वर्णन करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, जैसे मृगतृष्णा में जल भासता है, जैसे जल में तरंग, आवर्त आदि पृथक् से भासते हैं, जैसे सुवर्ण में कटक, कुण्डल आदि भासते हैं और जैसे स्वप्न और संकल्प का पर्वत भासता है वैसे ही असद्रूप,कभी उत्पन्न न हुआ, उत्पन्न न होने के कारण ही अप्रकाशमान (पृथक् प्रतीत न होनेवाला), आरम्भरहित और आकारशून्य ही यह जगत् ब्रह्म में भासता है ॥८,९॥

अब श्रीवसिष्ठजी महाराज श्रीरामचन्द्रजी को जीवन्मुक्ति-स्थिति का वर्णन करने के लिए वक्ता के सिंहासन पर आरूढ़ कर मैं आपसे शिष्य की भाँति पूछता हूँ आप अपना संशय दूर कीजिये, यह कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रामचन्द्रजी, यदि आप तत्त्वबोध प्राप्त कर चुके हैं तो अपने बोध की अभिवृद्धि के लिए प्रश्नकर्ता के रूप में पूछ रहे मेरा संशय दूर कीजिये। हे श्रीरामजी, भला बतलाइये तो सही, इस प्रकार नित्य अनुभूत भी सिरपर सदा सवार हुआ भी (🕭) अत्यन्त जगमगा रहा यह 'जगत्' नामक आभास कैसे नहीं है ?

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे गुरुवर, यह पहले ही कभी कुछ उत्पन्न ही नहीं हुआ, क्योंकि इसका कोई कारण नहीं है। अतः वन्ध्यापुत्र के तुल्य इस जगत् का अस्तित्व कल्पना के सिवा और कुछ नहीं है। यदि इसकी सत्ता है तो काल्पनिक सत्ता ही है वास्तविक सत्ता इसकी नहीं है ॥१०-१२॥ इस जगद्भ्रान्ति का कारण ही क्या है जिससे कि इसका आविर्भाव हुआ है ? कारण के बिना कहीं कोई कार्य हो ही नहीं सकता। अविकार अजर अमर ब्रह्म कारण नहीं हो सकता है, क्योंकि पूर्वअवस्था के नाश के बिना यहाँ कोई भी वस्तु कहीं पर भी सविकार नहीं हो सकती ॥१३,१४॥

यदि कहिये कि निर्विकार ब्रह्म ही विवर्तोपादानकारण होकर माया से जगत् के आकार में स्फुरित होता है तो जगत् शब्द का अर्थ सत्य प्राप्त नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

यदि निर्विकार अजर अमर यह ब्रह्म ही विवर्तोपादान कारण है यह कहो तो जगत् शब्दार्थ की यथार्थ प्रतीतियाँ कहाँ पर किसको कैसे होंगी ? ॥१५॥ उस निर्विकार शान्त पद में हिरण्यगर्भ नामधारी

(🕭) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा दृढ़ तथा अर्थक्रिया में अविसंवादी होने के कारण स्पष्टतः सत्य होने से सिर पर चढ़ा हुआ भी, यह अर्थ है।

पहला चेतन द्विपरार्धपरिमित कुछ काल तक विवर्तरूप आतिवाहिक देह धारणकर स्थित-सा होता है इसलिए वही जगत्की भ्रान्ति का विषय सिद्ध होता है ॥१६॥ जैसे आपको स्वप्न में एक क्षण काल में एकवर्ष की प्रतीति होती है वैसे ही उसे भी एक क्षण में वर्ष आदि कालविस्तार की भ्रान्ति होती है उसमें वह काकतालीय के समान चन्द्र, सूर्य आदि को देखता है ॥१७॥ एकमात्र संकल्पस्वरूप उस हिरण्यगर्भ नामक प्रथम चेतन को देश, काल और कर्म से युक्त सम्पूर्ण भुवन एकमात्र चिदाकाश में ही अपने आप खूब भासित होता है। तदुपरान्त यह मिथ्या पुरुष (काल्पनिक पुरुष) हिरण्यगर्भ मिथ्या ही सम्पन्न भुवन में मिथ्या ही भूत, भुवन आदि की सृष्टिक्रिया करता हुआ विवर्तता को प्राप्त होता है। वही हिरण्यगर्भ अनन्त पदार्थों के अनर्थरूपी भ्रम की कल्पना कर सुकृत आदि फल का भोग करने के लिए नीचे से ऊपर जाता है और फिर ऊपर से नीचे जाता है। यदि उसके संकल्प की काकतालीय के समान जैसी पहले स्थिति थी वैसी ही आज भी स्थिति हुई तो उसी से 'वही यह है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा कर उसने जगत् में भ्रान्ति से सुस्थिर (दृढ़) स्थिति ग्रहण की। इस प्रकार भ्रान्ति से उपस्थित यह मिथ्या जगत् शिलारूपी नायिका वन्ध्यापुत्ररूपी अपने पति के ललाट में आकाश के चूर्ण से तिलक लगाकर शोभा की अभिवृद्धि करती है इत्यादि वाक्यार्थ के समान केवल विकल्प ही है ॥१८-२२॥

यदि अत्यन्त असत् में मिथ्यात्व धर्मकी भी अप्रसिद्धि का अवलोकन करें तो केवल अधिष्ठानमात्र होने से यह सत्य ही है, ऐसा कहते हैं।

भगवन्, अथवा यह सत्य ही है इसका मिथ्यात्व कहाँसे हो सकता है यदि व्यावर्तन करने योग्य (निवर्तनीय) मिथ्यात्व की अप्रसिद्धि से व्यावर्तक सत्यत्व की कल्पना भी उसमें नहीं घटती ऐसा विचार करते हैं तो निर्वचन वाणी का प्रसार न होने से यह अवर्णनीय कुछ अजन्मा विस्तृत है। यह जगत् आकाशकोश के सदृश निर्मल, शिलागर्भ के समान ठोस और पाषाण के समान मौन शान्त अक्षय (ब्रह्म) ही है। चिदात्मा के मायिक सर्वाकार संकल्परूप विराट् आतिवाहिक देह में संवेदनरूप जो आकाश है वही जगत् के रूप में भासता है ॥२३-२५॥

ऐसा होने पर जो फलित हुआ उसे कहते हैं।

इस प्रकार यह समों से भी सम (सर्वथा विषमतारहित) विग्रहवाला जन्मनाशशून्य अद्वितीय शान्त ब्रह्म महाकाश ही है, जगत्कथा कहाँ है ? ॥२६॥ जैसे जल में लहरियों के उतराने और डूबने से जल में भिन्नता नहीं आती वैसे ही ब्रह्म में अन्य जन्म और विनाशों से यानी सृष्टि और प्रलयों से अन्यता नहीं आती है। जैसे जल में जलबिन्दु एकरस हो जाता है वैसे ही सारअसारविवेकवान् कोई महात्मा पुरुष इस शुद्ध परम पद में एकरसता को प्राप्त होते हैं ॥२७,२८॥ परब्रह्म में परब्रह्म का वेष-सा, कार्य का अथवा अवयव-सा यह अपर का (जगत्जीवरूप का) भान होता है, वास्तविक विचार करने पर यह परब्रह्म ही एक हो जाता है। निर्मल शान्त परब्रह्म में न जगतों का संभव है और न जागतिक व्यवहारों का ही संभव है। स्वप्न के 'यह स्वप्न है'यों ज्ञात होने पर, मृगतृष्णा के 'यह केवल मरु भूमि है' यों परिज्ञात होने पर इसी प्रकार दृश्य के भी ब्रह्मरूप से ज्ञात होने पर फिर उसमें सत्यता बुद्धि की भावना कौन करता है अर्थात् जैसे स्वप्न के 'यह स्वप्न है' यह ज्ञात होने तथा मरीचिका के 'यह केवल मरुभूमि है' यह ज्ञात होने पर फिर उनमें सत्यताबुद्धि किसीको भी नहीं होती वैसे ही दृश्य के ब्रह्मरूप

से परिज्ञात होने पर उसमें सत्यताबुद्धि की किस मूढ़ को भावना होगी ? ॥२९,३०॥ जैसे ब्राह्मण मदिरा के माधुर्य को नहीं जानता वैसे ही प्रबुद्ध पुरुष परमार्थ चमत्कार से अपने अन्दर के अनुभव के बिना अन्य के (अपवित्र प्रपंच के) भोग–रस को नहीं जानता है। *अथवा जैसे ब्राह्मण मदिरा के माधुर्य को नहीं जानता वैसे ही अन्य (अज्ञ) पुरुष अपने अन्दर के अनुभव के बिना अन्य के (प्रबुद्ध के) परमार्थचमत्कार को नहीं जानता है यह अर्थ करना चाहिए। इस अर्थ में 'अन्यस्याऽन्यं न जानाति' पाठ के स्थान पर 'अन्यस्याऽन्यो न जानाति' पाठ मानना पड़ेगा*॥३१॥ यह निजात्मा बाह्यदृष्टि से लौटकर, चेत्योन्मुखता का त्यागकर समाधि में चरम साक्षात्कार वृत्ति से अवलोकित होकर शान्त मुक्तात्मा में स्थित होता है, क्योंकि 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्त क्षुरमृतत्वमिच्छन्।' अर्थात् मोक्ष की इच्छा कर रहे किसी धीर महात्मा ने विषयोन्मुखता का त्यागकर (अन्तर्मुख–इन्द्रिय होकर) प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार किया। ऐसी श्रुति है ॥३२॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी के श्रीवसिष्ठजी शंका का समाधान करने पर फिर वसिष्ठजी बीजांकुरन्याय से ब्रह्म में जगत्सत्यता की शंका करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, दृश्य कारणभूत ब्रह्म में बीज में अंकुर के समान स्थित है। ऐसी परिस्थिति में यहाँ सर्गादि के अस्तित्व की उपपत्ति क्यों नहीं होती है ?

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, यदि अंकुर सत्य हो तो बीज के अन्दर स्थित ही वह बीजपट को तोड़कर बाहर निकलता है यह मानना होगा किन्तु ऐसी बात है नहीं। बीज को फोड़ने पर उसके अन्दर अंकुररूप से स्थित अंकुर दिखाई नहीं देता। बीज के अन्दर जो सूक्ष्म अवयवों का अस्तित्व है वह बीज ही है, अंकुर नहीं है ॥३३,३४॥ ब्रह्म के अन्दर जगत्सत्ता वैसी (बीज में अंकुर के तुल्य) नहीं है किन्तु जगत्ता ही उपलब्ध होती है। यह बीज और अंकुर की अपेक्षा ब्रह्म और जगत् में विशेषता है। यदि कहिये प्रलयकाल में ब्रह्म में जगत् बीज में अंकुर की नाईं ही है तो वह जगत्सत्ता नित्य ब्रह्म ही होगी, क्योंकि ब्रह्म अविकारी है। इसलिए बीजांकुरन्याय की यहाँ पर उपपत्ति नहीं हो सकती, यह भाव है ॥३५॥ निर्विकार निराकार से विकारवान् और साकार का आविर्भाव होता है यह हमने कहीं लोक में न देखा है और न शास्त्रों में सुना ही है ॥३६॥

इसी प्रकार निर्विकार और निरवयव में साकार और सावयव की (स्थूल की) स्थिति भी प्रत्यक्ष आदि सब प्रमाणों से विरुद्ध है, ऐसा कहते हैं।

निराकार निरवयव ब्रह्म में साकार और सावयव इस दृश्य की स्थिति वैसे ही असंभव है जैसे कि परमाणु के अन्दर अनेक सुमेरु पर्वतों का भासना असंभव है ॥३७॥ पेटी में रत्न की तरह निराकार ब्रह्म में महाकार (विशाल) जगत् स्थित है यह कथन तो उन्मत्त के प्रलाप के तुल्य ही होगा, अतएव अश्रद्धेय है, यह भाव है ॥३८॥ शान्त (सर्व उपरतिरूप) परमब्रह्म साकारजगत् का तादात्म्य से (अभेदसम्बन्ध से) आधार है यह कथन शोभा नहीं देता, क्योंकि साकार पदार्थ अविनाशी है यह कथन कहाँ शोभा पा सकता है ? ॥३९॥

ऐसी स्थिति में अपूर्व स्वप्न के समान बद्धमूल आकारों से क्षणिक बोध ही साकार होता है यह उपपत्तिशून्य है, ऐसा कहते हैं।

बौद्धों की कल्पना से भी अपूर्व स्वप्न के समान बद्धमूल हुए संसारों के रूप से क्षणिक बोध ही साकार होता है, यह बुद्धि उपपन्न नहीं होती ॥४०॥

क्यों उपपन्न नहीं होती ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

क्योंकि यह सर्गरूप स्वप्न अपूर्व (पहले अननुभूत) ही चक्षु आदि प्रमाणों से अनुभूत होता है किन्तु स्वप्न जाग्रत्काल में अनुभूत अर्थवाला संस्कार मात्र से भासमानार्थ है यानी जगत् में खूब अभ्यस्त अर्थ ही स्वप्न में दिखाई देता है ऐसा लोक में सर्वजग प्रसिद्ध है ॥४१॥

इसलिए बौद्ध लोगों का जाग्रत् और स्वप्न के भेद का अभाव कथन भी असंगत ही है, ऐसा कहते हैं।

जो ही जाग्रत् है वही स्वप्न है इस प्रकार का बौद्धाभिमत जाग्रत् और स्वप्न का अभेद यहाँ उपपन्न नही होता, क्योंकि स्वप्न में मरा हुआ श्मशान में ले जाकर जलाया गया पुरुष प्रातःकाल में फिर कैसे दिखलाई देता है ? यदि जाग्रत् और स्वप्न का अभेद होता तो स्वप्न में मरे हुए जलाये गये पुरुष का फिर दर्शन न होता। इसलिए चित् की साकारत्व, क्षणिकत्व आदि की कल्पना से प्रपंच की स्वप्नतुल्यता सकल प्रमाणों से विरुद्ध सिद्ध होती है अतः कूटस्थ ब्रह्म में अध्यस्त होने के कारण ही बाध्य होने से प्रपंच की स्वप्न तुल्यता सिद्ध है, यह अभिप्राय है ॥४२॥

चार्वाक के आक्षेप का समाधान करते हैं।

जिसका स्थूल शरीर नहीं होता उसका स्वप्न देखने में नहीं आता है अतः अशरीर प्रत्यगात्मा में तीन अवस्थारूप स्वप्न का आरोप है यह उक्ति उचित नहीं है, यह चार्वाकों का कथन भी ठीक नहीं है,क्योंकि पिशाच आदि स्थूल शरीर रहित होते हैं और उनकी स्वप्नवत् स्थिति रहती है ॥४३॥

इसलिए परिशेष से निर्दोष अपना पक्ष स्थित रहा, यह कहते हैं।

इस कारण जैसे स्वप्न में चिति पर्वत आदि के रूप से आत्मस्वरूप में स्थित रहती है वैसे ही निराकार परमात्मा ही सर्ग आदि नाना आकारों के रूप से संविद्रूप स्वात्मा में स्वप्न के समान स्थित है ॥४४॥

ब्रह्मात्मैकता का ज्ञान होने पर प्रपंच का स्वप्न की नाईं ही बोध होने से सत्ता और असत्ता से निर्वचन करने के अयोग्य तुच्छता ही परिशिष्ट रहती है, ऐसा कहते हैं।

यदि यह प्रत्यगात्मा सकल बन्धनों से रहित ब्रह्म ही है और यह प्रपंच अज्ञान द्वारा ही स्वप्नवत् कृत है यह सिद्धान्त है तो इस सिद्धान्त में उस प्रकार के ब्रह्मात्मा के उपलब्ध होने पर इस प्रपंच में अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्मों का अनुभव होता ही नहीं तथा इसमें अनुभविता और अनुभव आदि का क्रम भी उपलब्ध नहीं होता ॥४५,४६॥ अतः अनिर्वचनीय यह जगत् परमात्मा के स्वरूप के प्रबुद्ध होने यानी ज्ञानवान् होने पर कदापि अनुभूत नहीं होता। उस समय ब्रह्मस्वरूप ही शेष रहता है। अज्ञानतादशा में भी सत्ता और असत्ता से परिपुष्ट स्वसंवेदनवेद्यरूप यह अनिर्वचनीय ही है ॥४७॥ भाव यानी आत्मा के अस्तित्व, प्रियत्व आदि धर्म अभावरूप तथा अभाव (जगत् के आदि धर्म) भावरूप होकर सबके सब सदा सर्वथा देदीप्यमान हो भासते हैं ॥४८॥ ब्रह्म में ब्रह्म वृद्धि को प्राप्त होता है और आकाश में आकाश वृद्धि को प्राप्त होता है। जगत् के आकार से वृद्धि ब्रह्मरूपी आकाश में (निराकार ब्रह्म में) कुछ भी उपपन्न नहीं हो सकती। द्रष्टा, दर्शन और दृश्यरूप यह मैं इत्याकारक सृष्टि आदि का भ्रम शान्त चिदाकाश का ही विस्तार है, यह दीवार आदि (साकार) नहीं हो सकता। जैसे अपना मनोरथकल्पित

नगर सत् नहीं है और उसमें दीवार आदि तो सर्वथा ही असत् हैं वैसे ही यह जगत् भी सुतरां असत् है। यों केवल अद्वितीय निर्विकार ब्रह्म ही यह है। यह सम्पूर्ण प्रपंच परमशान्त, निष्क्रिय, वैषयिक आभासहीन, आदि अन्त शून्य स्वप्रकाश अखण्ड ब्रह्म ही है। जन्म–मृत्युविहीन, शान्त, आदि अन्त रहित, असीम, निरूपाधि, निराकार निज परमात्मपद को मैं जान चुका हूँ ॥४९–५३॥

मेरा यह वाक्य यथार्थ ही है, क्योंकि यह अनुभवमूलक है, यों युक्ति के साथ कहते हैं।

भगवन्, जैसी संवित् (वृत्ति) भीतर स्फुरित होती है वही वाक्यरूप में परिणत होती है, जो बीज भूमि में पड़ता है वही अंकुरता को प्राप्त होता है। शुद्ध ज्ञानमय अद्वितीय आत्मारूप द्वैत और ऐक्य से परिवर्तित मैं द्वैत और ऐक्य की कल्पना का तनिक लेश भी नहीं जानता हूँ। ये सब लोग अपने अज्ञान से जीते हुए भी मेरी दृष्टि में एकमात्र ब्रह्म होने से मौनमय सकलचेष्टाओं से रहित जीवन्मुक्त ही हैं। जैसे आकाश में शून्यता स्थित है वैसे ही वे भी मौन तथा सकल चेष्टाओं से रहित ही स्थित हैं। उनका भोग्य यह जगत् त्वगिन्द्रिय (त्वचा) से वेद्य होने पर भी दीवार पर अंकित चित्र की तरह तथा मनोरथ में उदित हुए नगर की तरह चुपचाप स्थित है। पत्थर से गढ़ी हुई प्रतिमा के तुल्य, उपन्यासमयी काल्पनिक कथा में वर्णित वृत्त की भाँति, शम्बर से रचित जैसा यह जगत् आकाश में स्वप्न की तरह उदित है। जो यह जगत् सृष्टि के आरम्भ में ही स्वप्न की तरह ही निराधार (आधारस्तम्भ, भित्ति आदिके बिना) भासता है उसकी भला क्या सत्यता हो सकती है ? ॥५४–५९॥

दृष्टिभेद से जगत् चार प्रकार का सम्पन्न हुआ, यह कहते हैं।

यह जगत् अज्ञानी की दृष्टि में सत्य है, विवेकवान् पुरुषकी दृष्टि में मिथ्या है। इसे ब्रह्मरूप देख रहे पुरुष की दृष्टि में ब्रह्म है तथा पहली, दूसरी, तीसरी भिन्न–भिन्न भूमिकाओं में आरोहणक्रम से शान्त हुए पुरुष में अन्धकार की तरह क्रम से शान्त होकर अन्त में शून्य ही हो जाता है। स्थावर और जंगम सहित सकल अस्मदादि भावरूप जगत् तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में आकाशरूप ही है ॥६०,६१॥ हे गुरुवर, मैं आकाश हूँ, आप आकाश हैं, चित् आकाश है, आकाश आकाश ही है। आप चिदाकाशरूपता को प्राप्त होकर मेरे कथन की परीक्षा के लिए एकाकाशरूपता का भजन कीजिये ॥६२॥ हे गुरुवर, ब्रह्माकाशभाव से स्थित, आकाशकल्प स्वरूप–ज्ञान से सर्वात्मक चिदाकाश सदृश दो चरणवाले जीवों में सर्वश्रेष्ठ आपको मैं ज्ञेय पूर्णानन्द ब्रह्म के, अभेद से जानने के कारण प्रणाम करता हूँ ॥६३॥ जो सर्वात्मक है वह गगनतुल्य भी यह कथन विरुद्ध है इस शंकाका निवारण करते हुए कहते हैं। ब्रह्म के चिद्रूप होने से यह जगत् अकारण ही उसमें उदित होता है और उसी में लीन हो जाता है, इसलिए यह निर्मल परमव्योम ही है ॥६४॥ सकलशास्त्रीय युक्तियों का अतिक्रमण करनेवाला यानी सकल शास्त्रयुक्तियों का अगम्य, सकल पदों से अतीत उस निर्द्वन्द्व पद को प्राप्त कर आप सदा ब्रह्माकाशस्वरूप थे। मैं यानी राम और उसके अवयव पैर, हाथ आदि तथा उसके बाह्य घट आदि प्रसिद्ध जगत् है ही नहीं, क्योंकि सब कुछ निर्मल सूक्ष्म चिदाकाश ही है। यद्यपि यह सकलपदार्थों का अपलाप मेरी माता बाँझ है, मेरे मुँह में जीभ नहीं है इत्यादि वाक्य के समान व्याघात, वैतण्डिकत्व आदि दोषों काआधायक होने से तार्किक लोगों के वादों में निन्दनीय है, इसलिए तार्किकों की सभा में शोभा नहीं पा सकता तथापि बहुत से वादियों द्वारा बहुत प्रकार से उपन्यस्त आत्मज्ञानों में परमपुरुषार्थ

पर्यवसायी ज्ञान कौन होगा ऐसी परीक्षा (विवेचन) करनेवालोंकी सभा में ही शोभा देता ही है। सर्वापह्नव (सर्व का अपलाप) के बिना अनर्थ की आत्यन्तिक निवृत्ति से उपलक्षित निरतिशय आनन्द में प्रतिष्ठा सिद्ध नहीं हो सकती, यह भाव है ॥६५-६७॥ चूँकि काष्ठमौनपर्यवसायी होने सा काष्ठमौनरूप सर्वापह्न वादविवाद में नहीं हो सकता है, इसलिए सर्वापह्नव के न करने से निर्विशेषरूप आत्मा का परिचय न होने के कारण वादों में आत्मज्ञान का उदय नहीं होता ॥६८॥ प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का जो अगम्य है निराकार निर्विकार स्वानुभववेद्य वह ब्रह्म वादविवादों से कैसे प्राप्त (ज्ञात) हो सकता है ? ॥६९॥

उक्त विषय का ही साररूप से संक्षेप कर उपसंहार करते हैं।

सकलशास्त्रों के अर्थों से अतीत, अनुभवमात्रैकगम्य, चिह्न (आकृति) रहित, अतएव नाम और कल्पना से रहित, शुद्ध, चिदात्मक, एक, निर्भय, नामरूप रहित आद्य चिदाकाश ही है, उससे अतिरिक्त अणुमात्र भी नहीं है। उसके मल की शंका के लिए तनिक भी स्थान नहीं है ॥७०॥

एक सौ पचानबेवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ छानबेवाँ सर्ग

जिस प्रकार गुरु, शास्त्र आदि से उपदिष्ट उपाय से ब्रह्म की प्राप्ति होती है
वैसे दारू वैवधिकों के आख्यान का संक्षेप में वर्णन।

वाल्मीकिजी ने कहा : हे महाबुद्धिसम्पन्न भरद्वाज,यह कहकर मुहूर्त भर चुप रहकर परमपद में विश्राम लेकर कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी ने, जो परमपद में विश्रान्त हो चुके थे अतः परमतृप्त थे, जानते हुए भी गुरुमुख से सुनने के कौतुक से श्रीवसिष्ठमुनिजी से पुनः पूछा ॥१,२॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, हे मुनिनायक, आपसंशयरूपी मेघ के लिए शरत्काल के सदृश हैं। इस समय मेरे मन में एक हल्का-सा सन्देह उत्पन्न हो गया है। पूर्वोक्त प्रकार से संसाररूपी सागर से पार लगानेवाला यह महाज्ञान सकल वाक् प्रपंच के परे है। यानी वाक् प्रपंच का विषय नहीं है ॥३,४॥ हे सम्मान्य, जो यह सद् ब्रह्म केवल स्वानुभवमात्र ज्ञेय है वह महान् पुरुषों की वाणी से भी अवाच्य है, क्योंकि 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इस श्रुति से वह शब्दप्रवृत्तिनिमित्तधर्म से रहित है ॥५॥ ऐसी अवस्था में सकल संकल्प-विकल्पों से शून्य परम ज्ञेय ब्रह्म केवल संविद्रूप तीनों अवस्थाओं से अतीत स्वप्रकाशवस्तु से लभ्य है, अतएव जाग्रत् अवस्था के अन्तर्गत गुरु और शास्त्र आदि का अगम्य होने के कारण अतिदुर्गमता को प्राप्त हुआ है ॥६॥ वह प्रतियोगी, व्यवच्छेद और सांख्यभेद माननेवाले वादियोंके तुच्छातितुच्छ यानी क्षुद्रतर प्रतियोगी, व्यवच्छेद आदि की अपेक्षा रखनेके कारण उसका बोध कराने में असमर्थ सविकल्प शास्त्रों से कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? ॥७॥ विकल्परूपी सारवाले शब्द-अर्थवाले शास्त्रों से ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है, फिर हजारों विकल्पों के अनुसंधान और भ्रान्ति परम्परारूप अनर्थ के लिए गुरु, शास्त्र आदि की कल्पना क्यों की है ? ॥८॥ हे ब्रह्मन्, इसलिए तत्त्व के विज्ञान में गुरु, शास्त्र आदि कारण हैं, अथवा अकारण है ? इस संशय के विषय में मुझसे निश्चय कहने की कृपा कीजिये, क्योंकि आप वक्ताओं में सर्वश्रेष्ठ हैं, अतः आप ही मेरे संशय का उच्छेद करने में समर्थ हैं ॥९॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे महाबाहो, यद्यपि यह शास्त्र ज्ञान का कारण नहीं है, क्योंकि

शास्त्र नाना शब्दों और अर्थों का भण्डार है और परमपद अनाम है। यानी शब्दप्रवृत्ति निमित्तशून्य होने और असंस्पृष्ट होने के कारण परमपद न पदार्थ है और न वाक्यार्थ ही है ॥१०॥ हे रघुकुलदीपक, तथापि जैसे यह शास्त्र आदि उत्तम ज्ञान तथा उसके फल मोक्ष के प्रति कारण हुआ है वह संक्षेपरूप में मुझसे सुनिये ॥११॥ कहीं पर चिरकाल से दुर्भाग्य में पड़े हुए बहँगी (काँवर) ढोनेवाले कीरक (कीरक देश के) लोग थे। वे जैसे ग्रीष्म से पुराने वृक्ष सूख जाते हैं वैसे ही दुःख से शेष को (कृशता को) प्राप्त हुए। चिथड़ों की कन्था से ओढ़नी बनवानेवाले दुरन्त दारिद्रय ने वैसे ही उनका मुँह और अन्तःकरण दीन–हीन बना दिया जैसे कि बाँध टूट जाने से निकल गये जल से कमल निष्प्रभ हो जाते हैं। दारिद्रय से अत्यन्त सन्तप्त हुए उन लोगों ने आजीविका के लिए विचार किया कि हम लोग किस युक्ति से अपने उदर की पूर्ति करें। ऐसा विचार कर प्रतिदिन दिनभर के परिश्रम से साध्य लकड़ी के बोझ के विक्रय कार्य से हम अपनी आजीविका करेंगे, यों उन्होंने निश्चय किया। ऐसा निश्चय कर वे लकड़ियाँ काटने के लिए जंगल में गये। जिस वृत्ति से आजीविका चलती है वही वृत्ति आपत्ति में विराजती है। उस दिन की कमाई को उसी दिन खानेवाले वे प्रतिदिन जंगल में जाकर, लकड़ियाँ लाकर और उन्हें बेचकर अपना जीवन निर्वाह करते थे। जिस वनप्रान्त में वे जाते थे उसमें गुप्त और अगुप्त सम्पूर्ण रत्न, सुवर्ण और लकड़ियाँ थीं ॥१२–१८॥ उन लकड़हारों में से कुछ भाग्यशाली लोग कुछ ही दिनों में वन से उन विविध–रत्नों और सुवर्ण को पा गये। कुछ कीरक लोग चन्दन की लकड़ियाँ, कुछ केवड़े और चम्पा के फूल, कुछ लोग अच्छे–अच्छे फल बेचकर, चिरकाल तक आजीविका चलाते थे। कुछ अभागे और अच्छी चीजों को खोजने में अकुशल जंगली कीरक अच्छी वस्तुएँ न पाकर खराब खराब जलाऊ लकड़ियाँ लाकर, बेचकर जीवनयापन करते थे। लकड़ियाँ बीनने के लिए उद्योगशील वे सबके सब जंगल में पहुँचे। वहाँ जाकर उनमें से कुछ लोग रत्न आदि पाकर सबके सब दारिद्रयरूपी ज्वर से शीघ्र ही उन्मुक्त होकर स्थित हुए ॥१९–२२॥ इस प्रकार जब तक कि वे लोग नित्य उस वन में आते जाते थे इसी बीचमें एक स्थान पर उन्हें मणिश्रेष्ठ चिन्तामणि मिली ॥२३॥ उक्त चिन्तामणि से उन्हें समग्र विभूतियाँ प्राप्त हुई, अतः परम सुखी होकर वे वहाँ सुख से रहने लगे। वे लकड़ियों के पाने के लिए उद्योगशील हुए थे। सब पदार्थों को देनेवाली बहुमूल्यमणि को पाकर जैसे देवता स्वर्ग में सुख से रहते हैं वैसे ही शीतोष्णादि दुःख रहित होकर रहने लगे ॥२४॥ उन कीरकदेशनिवासी बहँगी ढोनेवाले लोगों को लकड़ियों के लिए किये गये उद्योग से ही बहुमूल्य उत्तम मणि मिली। उक्त सकलपदार्थों तथा उत्तमोत्तम धनों से प्राप्त हुई पूर्णतावश भय, मोह, विषाद और क्लेश से रहित हो आनन्दपूर्ण बुद्धिवाले वे अन्य लाभ–हानियों के विषय में समता को प्राप्त होकर रहते थे ॥२५,२६॥

एक सौ छानबेवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सतानबेवाँ सर्ग

वैवधिकाख्यान–तात्पर्य के व्याख्यान क्रम से आत्मज्ञान में गुरु, शास्त्र आदि की स्पष्टतः हेतुता का वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिश्रेष्ठ, जैसे मैं इस वैवधिकों के (बहँगी ढोनेवाले कीरकों के) क्रम का तात्पर्य भलीभाँति निस्संदेहरूप से समझ जाऊँ, हे सम्मान्य, कृपया आप वैसा स्पष्ट विवरण

कीजिये ॥१॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामजी, जिन वैवधिकों का (बहँगी ढोनेवालों का) जिक्र मैंने आपसे किया है, हे महातपस्विन्, उन्हें आप ये भूतलवर्ती मानव जानिये और उनका जो दारिद्र्यदुःख है उसे आप अज्ञान जानिये। जो वह महावन मैंने कहा है उसे आप गुरु, शास्त्र आदि जानिये। जो उन्हें भोजन के लिए उद्यत हुए कहा वह भोगार्थी लोगों की ओर इशारा है। अत्यन्त कृपण पुरुष अन्य कार्यों की उपेक्षा कर मेरी भोगराशियाँ सिद्धि को प्राप्त हों इस बुद्धि से शास्त्रों में (शास्त्र प्रतिपादित उपायों में) प्रवृत्त होता है ॥२-४॥

अत्यन्त कृपण मानव अपने भोगों की इच्छा से ही शास्त्रों में प्रवृत्त होता है तथापि शास्त्र गुड़ जिह्विका के न्याय से इसे पहले फलास्वादों द्वारा (भोगलाभों द्वारा) आकृष्ट कर अन्तमें अपने परम तात्पर्य के विषयभूत परम पद में अवश्य ले ही जाता है, ऐसा कहते हैं।

भोगपरवश भोगार्थी पुरुष पहले भोग के लिए ही शास्त्रों में प्रवृत्त होता है। शास्त्र से पहले भोगरूप फल की प्राप्ति होने पर उनमें क्रमशः दृढ़ विश्वास हो जाने से उनमें वर्णित साधनों के अभ्यास से भिन्न-भिन्न भूमिकाओं के आरोहण के क्रम से चिन्तित शास्त्र के परम तात्पर्य के विषयभूत मोक्षनामक ब्रह्म को परवश होता हुआ भी अवश्य प्राप्त होता है। जैसे सार असार के विचार और अन्वेषणादि युक्त वैवधिक काष्ठ ढूँढ़ने को उद्यत हो वन में गया पर वहाँ उसे मणि प्राप्त प्राप्त हुई वैसे ही पुरुष भोग के लिए शास्त्र को ग्रहण करता हुआ परमपद को प्राप्त करता है ॥५,६॥ पहले शास्त्र और विचारों से क्या होगा इस सन्देह के कौतूहल से पुरुष शास्त्रों में प्रवृत्त होता है पश्चात् उस उत्तम पद को प्राप्त करता है ॥७॥ जिस पुरुष को परमब्रह्मरूप उत्तम तत्त्व का साक्षात्कार नहीं हुआ वह विषयभोग के लिए सन्देह से (इससे विषयभोग की प्राप्ति होगी या नहीं यों संशय से) शास्त्र आदि में प्रवृत्त होता है, फिर उससे परमपद को प्राप्त होता है ॥८॥ अपनी-अपनी वासना के अनुसार शास्त्र के अन्यादृश फल की संभावना करते हुए लोग उसमें प्रवृत्त होते हैं पर जैसे वैवधिक लोगों को मणि मिली थी वैसे ही शास्त्रों से वाणी और मन का अगोचर निर्विषय निरतिशय सुख प्राप्त करते हैं। यानी जैसे वैवधिक लकड़ियों के लिए वन में गये थे और उन्हें मणि मिली वैसे ही शास्त्रों द्वारा लोगों को अन्य परमोत्तम फल प्राप्त हो जाता है ॥९॥

सब लोगों की स्वभावतः सन्मार्गप्रवृत्ति में साधुओं का सदाचार दर्शन ही कारण है, इसलिए साधुओं का लक्षण दर्शाते हुए कहते हैं।

जो निरन्तर परोपकार में प्रवृत्त होता है वह साधु कहा गया है। उसकी चेष्टा सब लोगों के लिए प्रमाण है ॥१०॥ साधुओं के आचार के कारण ही अज्ञानी लोग शास्त्र-फल में सन्देह रहते भी भोगप्राप्ति की आशा आदि से प्रवृत्त होते हैं ॥११॥ भोग के लिए शास्त्र आदि में प्रवृत्त हुआ अज्ञानी पुरुष जैसे काष्ठार्थी वैवधिक को जंगल में चिन्तामणि मिली थी वैसे ही उससे भोग और मोक्ष दोनों पाता है ॥१२॥ जैसे वैवधिकों में से किन्हीं को वन से चन्दन की कीमती लकड़ियाँ मिलीं, किन्हीं को चिन्तामणि नाम की उत्तम मणि मिली और किन्हीं को सामान्य रत्न मिले वैसे ही शास्त्र आदि में प्रवृत्त होनेवालों में से किन्हीं को काम की प्राप्ति होती है और किन्हीं को धर्म, अर्थ और काम तीनों मिलते हैं एवं कोई शास्त्र से पूर्ण मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥१३,१४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, शास्त्र आदि में त्रिवर्ग का (धर्म, अर्थ और काम का) मुख्य वृत्ति से (अभिधा से) ही उपदेश है लेकिन ब्रह्मप्राप्ति (ब्रह्मबोध) अवाच्य (अनभिधेय)

होने के कारण ब्रह्म का प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रों में भी पद और वाक्य की मुख्यवृत्ति से नहीं है। जैसे वसन्त आदि काल–शोभा तत्–तत् ऋतुओं के फूल, फल, पल्लव आदि की उत्पत्ति से सूचित होती हुई स्वानुभव से प्रतीत होती है वैसे ही ब्रह्मप्राप्ति केवल सकल वाक्यार्थों से आलंकारिकों के मत में व्यंजनावृत्ति से और अन्यों के मत में लक्षणा वृत्ति से सूचित (ध्वनित) होती हुई स्वयं अपने अनुभव से अवगत होती है ॥१५,१६॥

यद्यपि शास्त्र में मुख्यवृत्ति से (अभिधा से) ब्रह्म–बोधन की सामर्थ्य नहीं है तथापि लक्षणा आदि उपायों से बोधन में सामर्थ्य है ही, इसलिए उससे अधिकारी लोगों को ब्रह्मज्ञान होता ही है अतः शास्त्र व्यर्थ नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे स्त्रीरत्न में मणि, दर्पण, चन्द्रमा आदि सबकी सुन्दरता को मात करनेवाला निर्मल लावण्य रहता है वैसे ही सकल दृश्यवर्ग अथवा त्रिवर्ग को मातकर सर्वोत्कृष्ट रूप से स्थित निर्मल ब्रह्मबोध शास्त्र में विद्यमान है ॥१७॥ सब पदों को मातकर उत्कृष्टता को प्राप्त यह परम बोध न शास्त्र से, न गुरुजी के उपदेशवाक्य से, न दान से और न ईश्वर के पूजन से ही प्राप्त होता है यानी इन सबसे ब्रह्मबोध साक्षात् प्राप्त नहीं होता। परम्परा से तो ये उसकी प्राप्ति में साधन हैं ही। हे श्रीरामचन्द्रजी, अकारण ही ये शास्त्र, गुरु–उपदेश आदि एकमात्र परमात्मा में विश्रान्ति में जैसे चित्तशुद्धि आदि साधनों की वृद्धि द्वारा पूर्णतया कारण हुए हैं, यह मुझसे सुनिए ॥१८,१९॥ बार–बार अभ्यास करने से शास्त्र से विशुद्ध हुआ, सकल भोगों की इच्छा से रहित तथा प्रतिदिन अन्तर्मुख होने के कारण प्रत्यगात्मा की ओर झुका हुआ चित्त परम पुनीत ब्रह्मपद का साक्षात्कार करता है ॥२०॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस शास्त्र से अविद्या का सात्त्विक अंश उत्कृष्ट (उन्नत) बनाया जाता है अविद्या के अभ्युन्नत हुए सात्त्विक भाग से तामसिक अंश क्षीण हो जाता है। शास्त्ररूपी जल से मल को धोनेवाला पुरुष अचिन्त्य शास्त्रादि के प्रभाववश ज्ञेय नित्य शुद्ध आत्मवस्तु की सामर्थ्य से परम शुद्धि को प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥२१,२२॥ जैसे सूर्य और समुद्र का आमना–सामना होने पर उनकी इच्छा न होने पर भी पहले से अदृश्य भी तीसरा (प्रतिबिम्ब) स्वच्छ और प्रकाश स्वभाव से स्वतः हो जाता है। वहाँ पर जैसे केवल अपनी सन्निधि से सत् असत् विशाल अनुभवसिद्ध स्फुरणवाला प्रतिबिम्ब पड़ता है वैसे ही मुमुक्षु (मुक्ति चाहनेवाले) और शास्त्र का परस्पर सम्बन्ध होने से ही सकल ज्ञानों के विषय से परे आत्मज्ञान होता है ॥२३–२५॥ जैसे सूर्य और समुद्र के दर्शन से देह में उनके वैधर्म्य आदि का बोधरूप विवेक होता है वैसे ही शास्त्रकृत विवेक से भी देह में स्वभावतः सकल उपाधियों से असंस्पृष्ट अद्वितीय ज्ञेय का ज्ञान होता है ॥२६॥

शास्त्रकृत विचाररूप विकल्पों से भ्रान्तिजनित विकल्पों के क्षालन से आत्मनैर्मल्य की प्राप्ति में भी दृष्टान्त देते हैं।

जैसे जल में एक ढेले से दूसरे ढेले को धो रहे बालक को ढेलों के क्षय से हाथ में परम निर्मलता प्राप्त होती है वैसे ही शास्त्रीय विचाररूप अनेक विकल्पों से भ्रान्तिजनित विकल्पों को पुनः पुनः आत्मतत्त्व के परीक्षण से धो रहे विद्वान् को अपने विचार से परम शुद्धता प्राप्त होती है ॥२७,२८॥

ऊपर 'पुनः पुनः आत्मतत्त्व के परीक्षण से' कहा है उस पर किस प्रमाण से कैसे परीक्षण से ? ऐसी

शंका होने पर कहते हैं।

जैसे कोल्हू में पेरने से निकले हुए ईख के रस से स्वादिष्ट मधुर स्वाद अपने अनुभव से प्राप्त होता है वैसे ही सूत्र, भाष्य, उनके विविध व्याख्यान, महारामायण (योगवासिष्ठ) आदि शास्त्र और गुरु के उपदेशरूप उपाय से 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यार्थ का साररूप ('तत्' पद और 'त्वम्' पद वाच्य अर्थ के परिशोधन से प्राप्त रसभूत वाक्यार्थ का अपरोक्ष अनुभवरूप) स्वात्मज्ञान प्राप्त होता है ॥२९॥ जैसे यद्यपि आकाश में प्रकाश चारों ओर फैला रहता है तथापि प्रभा और दीवार के संग से ही अभिव्यक्त होकर साफ-साफ अनुभव में आता है वैसे ही नित्य स्वप्रकाशरूप आत्मज्ञान भी महावाक्य के श्रवण और उसके अधिकारी के मिलन से स्पष्टतः अनुभव में आता है ॥३०॥

आत्मज्ञान की प्राप्ति में अन्यान्य (आत्मज्ञान में अनुपयोगी) शास्त्रों के श्रवण अथवा उनकी विद्वत्ता का कदापि उपयोग नहीं होता है, ऐसा कहते हैं।

जिस शास्त्र श्रवण का केवल त्रिवर्ग की (धर्म, अर्थ और काम की) सिद्धि ही फल है मोक्ष फल नहीं है तत्त्ववेत्ताओं की तत्त्वबोधोपाय चर्चा में वह शास्त्र-श्रवण केवल मूर्खता ही है क्योंकि मिथ्याविषयफलवाला होने से वह तुच्छ ही है ॥३१॥ जो शास्त्रश्रवण ज्ञान की प्राप्ति के लिए होता है वही शास्त्र श्रवण है, वही ज्ञान है जिससे समता होती है, वही समता है जिसमें जाग्रत् में भी सुषुप्ति की स्थिति (निर्विकल्पस्वरूप स्थिति) होती है ॥३२॥

पूर्वोक्त सब कुछ शास्त्र के अधीन है, इसलिए शास्त्राध्ययन आवश्यक है ऐसा कहते हैं।

पूर्वोक्त यह सब ज्ञान, समता, निर्विकल्प स्वरूपस्थिति आदि शास्त्र आदि से प्राप्त होता है, इसलिए सकल प्रयत्नों से शास्त्र आदि का अभ्यास करे ॥३३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्मलोक पर्यन्त के ऐश्वर्य से भी बढ़ा चढ़ा हुआ परम पवित्र मोक्ष नाम का अनादि सुख गुरुओं की वाणी शास्त्रार्थबोधन द्वारा ही प्राप्त होता है और शास्त्रार्थबोध सन्त पुरुषों की संगति, नियम और शम से प्राप्त होता है ॥३४॥

एक सौ सतानबेवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ अठानबेवाँ सर्ग

प्रबुद्ध पुरुषों की निर्विक्षेप सुख स्थिति में सर्वत्र समदर्शन ही हेतु है, यह वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, बोध दृढ़ बनानेवाली निर्विक्षेपता की सिद्धि के लिए कुछ कहे जा रहे रहस्य को आप पुनः सुनिये।

शंका : जो बात पुनः पुनः उपशम प्रकरण में कही जा चुकी है उसी का यहाँ क्यों वर्णन करते हैं ?

समाधान : जो बात बारंबार कही जाती है वह निपट मूर्ख के हृदय में भी जम जाती है, विद्वान् के हृदय में तो कहना ही क्या है ? इसलिए मैं बार-बार कहता हूँ ॥१॥

उत्पन्न हुआ जगत् यों केवल ब्रह्म ही है उत्पत्ति और स्थिति प्रकरण से यह ज्ञात होने पर समदर्शन की प्रतिष्ठा से उपशम प्रकरण में समदर्शन का वर्णन किया। इसी का यहाँ पर जीवन्मुक्तिसुख की प्रतिष्ठा के लिए पुनः वर्णन किया जाता है, ऐसा कहते हैं।

हे रघुवर, पहले मैंने आपसे स्थिति प्रकरण का वर्णन किया जिससे उत्पन्न हुआ यह जगत् इस

प्रकार केवल भ्रान्तिमात्र है यह ज्ञान होता है ॥२॥ उसके पश्चात् उपशम प्रकरण में वर्णित युक्तियों द्वारा मैंने जगत् में उत्पन्न हुए व्यक्ति को अत्यन्त उपशमवान् होना चाहिये यह बात उपशम प्रकरण में कही है। उस शान्ति प्रकरण में कहे गये उपशम के क्रमों से परमशांति को प्राप्त होकर इस प्रकरण में कहे जानेवाले निर्वाण सुख में सन्तापरहित होकर रहना चाहिये ॥३,४॥ ज्ञातव्य परम ब्रह्म को पा चुके तत्त्वज्ञानी को सांसारिक व्यवहारों में जिस प्रकार व्यवहार करना चाहिये वह थोड़ा-बहुत रहस्य आपको हमारे मुँह से सुनना बाकी है, उसे मैं कहता हूँ, यह अर्थ है ॥५॥

जगत् में जन्म पाकर बाल्यावस्था में ही (आपकी-सी छोटी अवस्था में ही) जगत् की इस वास्तविक स्थिति का परिज्ञान कर आगे कहे जा रहे प्रकार से विक्षेपशून्य होकर रहना चाहिए। हे निष्पाप श्रीरामजी, सबका सौहार्द (मैत्री) उत्पन्न करनेवाली सबको आश्वासित करनेवाली समता का (सकल जीवों में एक आत्मा के दर्शन से गुण-दोष-दर्शनरूप वैषम्यशून्यता, अपने शरीर के समान सबका सुख-दुःखदर्शन और सकल विषमताओं से शून्य ब्रह्मदृष्टि का) पूर्णरूप से अवलम्बन कर इस संसार में विचरण करना चाहिये। समतारूपी सुन्दर लता का सुफल परम पवित्र, सम्पूर्ण बाह्य सम्पत्तियों से मनोहर और सकल कल्याण गुणों का वर्धक है ॥६-८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, सकल प्राणियों की हितावह समता से सुन्दर चेष्टावाले प्रस्तुत क्रम पर आचरण कर रहे यानी यथाप्राप्त वर्णाश्रम-व्यवहार कर रहे महापुरुषों की यह सारी-की-सारी जगद्विभूति सेवकता को प्राप्त होती है ॥९॥ समता से जो अक्षय सारभूत सुख प्राप्त होता है वह न तो राज्य से प्राप्त होता है और न कान्ता के संग से ही प्राप्त होता है ॥१०॥

समता से सकल दुःख और उनके हेतुओं का विनाश भी सिद्ध होता है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप समता को सुख-दुःख, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वों की शान्ति की परम सीमा, संशयरूपी ज्वर की विनाशक तथा सकल दुःखरूपी धूप के लिए मेघरूप जानिये। समतारूपी अमृत से ओतप्रोत अतएव समतावश जिसके सकल शत्रु मित्ररूप हो चुके हैं ऐसा यथार्थदर्शी पुरुष त्रिलोकी में दुर्लभ है ॥११,१२॥ प्रबुद्ध हुए स्वचित्तरूपी चन्द्रमा के निष्यन्दरूप सारभूत अमृत से भी बढ़े-चढ़े साम्य का (समता का) आस्वाद लेकर जनक आदि सब तत्त्वज्ञ जीते हैं ॥१३॥ साम्य का अभ्यास कर रहे जन्तु का क्रोध, लोभ आदि स्वदोष भी शान्ति, औदार्य के रूप में परिणत होकर गुण हो जाता है, दुःख नित्य सुख हो जाता है और मृत्यु जीवन बन जाती है ॥१४॥ समतारूपी सौन्दर्य से मनोहर पुरुष को योगशास्त्र में प्रसिद्ध मैत्री, करुणा, उपेक्षा, मुदिता आदि महिलाएँ पति के समागम में व्यसनवती-सी होकर उत्सुकता से आलिंगन करती हैं ॥१५॥ समतारूपी गुण से सम्पन्न पुरुष सदा सकल कल्याण गुणों और सम्पूर्ण सम्पत्तियों से युक्त है तथा समता से युक्त पुरुष सदा चिन्ताशून्य है। इस त्रिलोकी में शायद ही कोई सम्पत्ति होगी जो कि समतासम्पन्न पुरुष को प्राप्त न हुई हो ॥१६॥ स्वकार्य और परकार्य में सम (विषमता रहित) अपराधियों पर भी क्षमा करनेवाले, चिन्तामणि के समान त्यागशील (उदार), परम ब्रह्मावाप्ति में उद्योगशील पुरुष को नर और अमर देवता सभी चाहते हैं ॥१७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, सदाचार सम्पन्न सब लोगों का हित करनेवाले पूर्णरूपेण मुदित (प्रसन्न) समचित्तवाले पुरुष को न अग्नि जलाती है और न जल सड़ाता है ॥१८॥ जो कार्य जैसे करने के लिए उचित है उसे

वैसे जो करता है तथा आनन्द और क्रोध से रहित जो सब कुछ समरूप से देखता है उस मनुष्य की बराबरी करने में कौन समर्थ हो सकता है ? ॥१९॥ सम्यक्कारी (सदाचार सम्पन्न सर्वजन हितकारी) तत्त्वज्ञानी पुरुष का मित्र, बन्धु-बान्धव, शत्रु, राजा और व्यवहारपरायण महामति सभी विश्वास करते हैं। प्रस्तुत ब्रह्मावाप्तिरूप क्रम में पहुँचे हुए अथवा यथाप्राप्त व्यवहार करनेवाले समदर्शी तत्त्वज्ञानी पुरुष अनिष्ट से (क्लेशप्रद शत्रु आदि से) भागते नहीं यानी घबराते नहीं और इष्ट से (सुखप्रद मित्र आदि से) प्रसन्न नहीं होते। तत्त्वज्ञानी महापुरुष अन्य लोगों द्वारा इष्टरूप से परिगृहीत गृह, क्षेत्र आदि पदार्थों का त्यागकर निर्लोभ सन्तोषरूप वृत्ति को धारण करते हुए दुःखलेशशून्य समता में विराजमान होकर जगत् जंजाल पर हँसते हैं। समता से प्रसन्न चित्तवाले तत्त्वज्ञानी पुरुष निरामय होकर उत्कृष्ट जीवन व्यतीत करते हैं और सकल देवताओं द्वारा पूजे जाते हैं ॥२०-२३॥ समता से परिपूर्ण आशयवाला जो जन परहित के लिए अपने मुखरूपी चन्द्रमा में यथाप्राप्त व्यवहार से उत्पन्न क्रोध भी यदि धारण करता है तो वह भी अमृत के सदृश ही होता है उससे किसीको क्लेश कदापि नहीं होता ॥२४॥ समदृष्टि पुरुष जो कुछ करता है, जो भोजन करता है, जिस पर आक्रमण करता हैं और अनुचित जानकर जिसकी निन्दा करता है उसके उस सब (कर्म) की जनता नित्य स्तुति करती है ॥२५॥ समदृष्टि द्वारा किया गया कार्य चाहे शुभ हो अथवा अशुभ हो, चाहे चिरकाल में किया गया हो अथवा आज किया गया हो उस सबका सब लोग पूर्णरूप से अभिनंदन करते हैं। लगातार घोर महान् सुख-दुःखों के उपस्थित होने पर भी समदृष्टि पुरुषों के चित्त में तनिक भी उद्वेग नहीं होता ॥२६,२७॥ राजा शिबि ने इस समदृष्टि के कारण शरण में आये हुए कबूतर की रक्षा के लिए कबूतर के मांस के बदले में अपना शरीर काटकर प्रसन्न बुद्धि से अपना मांस दे डाला था ॥२८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, विषमता से रहित अन्तःकरणवाले राजा युधिष्ठिर अपने सामने शत्रुओं द्वारा केशपाश और वस्त्रों के आकर्षण द्वारा क्लेशित प्राणों से भी प्रियतम अपनी पत्नी द्रौपदी को देखकर मोह को प्राप्त नहीं हुए ॥२९॥ सम बुद्धि से ही त्रिगर्तदेश के अधिपति ने सैकड़ों मनोरथों से प्राप्त अपने एकलौते पुत्र को, जिसे वाग्द्यूत में वह हार चुका था यानी जो राक्षस द्वारा जीता गया था, बिना हिचकिचाहट के राक्षस को दे डाला ॥३०॥ उत्सव के सिलसिले में खूब सजाई गई नगरी के जलने पर राजाओं में सर्वश्रेष्ठ महाराजाधिराज जनक सम ही रहे यानी उनमें किसी प्रकार की विषमता नहीं आई। समदृष्टिवाले साल्वराट् ने 'तुम्हें मुँह माँगी दक्षिणा दूँगा' इस प्रतिज्ञावश ब्राह्मण के लिए बेचा गया यानी दिया गया अपना सिर कमल के पत्र के समान तुरन्त काट डाला। राजा सौवीर ने सम बुद्धि से ही कुन्दपुष्पों की राशि के समान शुभ्र कैलास पर्वत-सा ऐरावत हाथी, जिसे उसने इन्द्रविजय से पाया था, यज्ञ में ऋत्विजों के वचन से फिर इन्द्र को दे डाला ॥३१-३३॥ अपना देहयात्रा निमित्त व्यवहार समबुद्धि से ही कर रहे कुण्डप नामक शूद्र ने एक गाय को अपनी मजदूरी का पारिश्रमिक बनाकर ब्राह्मण की कीचड़ में फँसी पाँच गउएँ निकालकर अपनी मजदूरी की कमाई हुई गऊ पुष्कर तीर्थ में उस ब्राह्मण को देकर तुरन्त स्वर्ग से आये हुए विमान पर चढ़कर देवत्व प्राप्त किया ॥३४॥ कदम्बवन में निवास करनेवाले राक्षस ने प्रचुर साम्याभ्यास से ही सब प्राणियों का विनाश करनेवाली राक्षसी वृत्ति का त्याग किया ॥३५॥ बालचन्द्रमा के समान सुन्दर जड़भरत ने समबुद्धि से ही भिक्षापात्र में भैक्ष्यन्याय से प्राप्त अग्नि का गुड़मोदक (लड्डू) के समान

भक्षण किया ॥३६॥ यद्यपि धर्मव्याध मृगवध, मांसकर्तन आदि क्रूर व्यवहार में परायण था फिर भी समदृष्टि होने के कारण वह अपना पांचभौतिक शरीर त्यागकर परम पद को सिधारा। कपर्दन नाम का राजर्षि पुरुष होने के कारण अप्सराओं के संभोग में समर्थ था और अप्सराएँ भी उस पर प्रेम करती थीं परमोद्दीपक नन्दनवन में वह रहता था फिर भी वह समदृष्टि वश सुस्त्रियों में मोहित नहीं हुआ॥३७,३८॥ वह राजर्षि कपर्दन सम चित्तवाला होने के कारण विस्तृत राज्य को तिलांजलि देकर विन्ध्याचल के दुर्गम जलप्राय प्रदेशों में तथा करीर के वनों में निश्चेष्ट होकर चिरकाल तक रहा॥३९॥

जो ऋषि, मुनि और देवपूजित सिद्ध पुरुष हैं वे उन तपस्याप्रयुक्त क्लेशों और भोगों में, समदृष्टि होने के कारण ही, उद्विग्न नहीं होते हैं ॥४०॥ शिबि आदि राजाधिराज और दूसरे धर्मव्याध आदि साधारण लोग भी समदृष्टिता का दृढ़ अभ्यास करने से महापुरुषों के भी पूजनीय हो गये हैं ॥४१॥ ऐहिक और पारलौकिक सुखसिद्धि के लिए और मोक्षरूप परम पुरुषार्थ में प्रवृत्त होने के लिए मतिमान् पुरुष समदृष्टिता से व्यवहार करते हैं ॥४२॥ किसी को किसी प्रकार की पीड़ा न पहुँचानेवाला पुरुष मरण की आकांक्षा न करे और जीवन की अभिवांछा भी न करे किन्तु यथाप्राप्त सुंदर व्यवहार करता हुआ विचरण करे। समतावश जो गुण और दोषों को एक से जानता है, जिसकी दृष्टि में सुख-दुःख तथा ऊंच और नीच योनियाँ समान हैं एवं मान और अपमान भी जिसके लिए तुल्य है, ऐसा जीवन्मुक्त पुरुष प्राकृत व्यवहारो में भी आसक्ति न होने के कारण पवित्रमूर्ति अतएव प्रकाशमान होकर लोकोपकार के लिए देश-विदेशों में विचरण करता है ॥४३,४४॥

एक सौ अठानबेवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ निन्यानबेवाँ सर्ग

यद्यपि जीवन्मुक्त पुरुषों का न तो कर्मों के अनुष्ठान से कोई प्रयोजन है और न कर्मों के अनाचरण से कोई क्षति है तथापि वे सत्कर्मों का (सदाचरणोंका) अनुवर्तन करते हैं, यह वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिवर, जीवन्मुक्त पुरुष नित्य एकमात्र ज्ञान में तल्लीन रहते हैं तथा आत्मक्रीड रहते हैं अतएव वे कर्मों का परित्याग क्यों नहीं करते हैं ? ॥१॥

खूब अभ्यस्त कर्म करने में मुक्त पुरुषों को कोई श्रम नहीं होता और कर्मत्याग का कोई प्रयोजन नहीं है अतएव लोकानुग्रहवश वे कर्म-त्याग नहीं करते हैं, ऐसा कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जिस महापुरुष की यह हेय है यह उपादेय है यों दोनों हेयोपादेय दृष्टियाँ क्षीण हो चुकीं उसका नित्यनैमित्तिक क्रिया के त्याग से क्या प्रयोजन है अथवा क्रिया के संश्रयण से क्या प्रयोजन है ? यानी उसके लिए कर्मत्याग और कर्मसंश्रयण दोनों समान हैं ॥२॥ जो ज्ञानी को कष्टप्रद हो ऐसी हेय वस्तु यहाँ नहीं है तथा जो तत्त्वज्ञानी का संश्रयणीय हो यानी अवश्य अनुष्ठातव्य हो ऐसी उपादेय वस्तु भी नहीं है क्योंकि 'नेह नानास्ति किंचन' श्रुति के अनुसार उसकी दृष्टि में परब्रह्म के सिवा दूसरी वस्तु है ही नहीं ॥३॥ ज्ञानी पुरुष का न तो कर्म-त्याग से कोई प्रयोजन है और न कर्मों के आश्रय से कोई प्रयोजन है। जो-जो वर्ण और आश्रम के उचितरूप से जैसे स्थित है उसको वह वैसे ही करता है ॥४॥

जीवित-शरीर में चेष्टा होना अवश्यम्भावी होने पर खूब अभ्यस्त सदाचाररूप चेष्टा ही उसके शरीर में होती है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह शरीर आयुपर्यन्त अवश्य ही चेष्टा करता है इसलिए वह यथाप्राप्त चेष्टा बिना हिचकिचाहट के करे। चेष्टा के त्याग से और अन्यथा चेष्टा से क्या करना है ? ॥५॥ जैसे अपना घर निर्दोष है तो अन्य जगह बैठने की क्या आवश्यकता है वैसे ही अन्यत्र अन्य कोई न कोई कार्य करना ही है तो शास्त्रीय और अशास्त्रीय कर्मों के क्रम के समान होने पर भी शास्त्रीय सत्कर्म में (सदाचार में) कौन दोष है जिससे अपने क्रम का त्याग कर अन्यथा आचरण किया जाय ? ॥६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, विषमतारूप दोष से निर्मुक्त निर्विकार स्वच्छ बुद्धि से जो कार्य निरन्तर किया जाता है वह कभी दोषाधायक नहीं होता ॥७॥

यद्यपि कर्मों में प्रवृत्त हुए लोगों को द्रव्योपार्जन, ऋत्विजों को प्रसन्न करना आदि तथा अनुष्ठानयोग्य कार्य के निर्णय के श्रमसाध्य होने के कारण बहुत से दोषों की प्राप्ति होती है तथापि समदर्शनता और विचक्षणता के बल से उसका परिहार हो सकता है, इस आशय से कहते हैं।

हे महाबाहो, इस पृथिवी में सकल शास्त्रों तथा लोक का रहस्य जाननेवाले बहुत से विचक्षण पुरुष प्रचुर दोषों में भी अपनी समदर्शनतावश पूर्णरूप से विहार करते हैं। भूलोक में स्थित कुछ गृहस्थ, जीवन्मुक्त गतसंग होने के कारण बुद्धि से यथाप्राप्त वर्णाश्रम की अनुवृत्तिवश व्यवहार करते हैं। जनक आदि तत्त्वज्ञानी राजर्षि तथा आपके सदृश वीतराग और राजा लोग अनासक्त बुद्धि हैं अतएव त्रिविध सन्ताप शून्य होकर राज्य करते हैं। कोई अपने अपने वर्णाश्रमानुरूप प्राप्त वेदार्थ का अनुसरण करनेवाले देव-पितृयज्ञ से अवशिष्ट अन्न का भोजन करनेवाले नित्य अग्निहोत्र आदि कर्मों में निरत हैं। ब्राह्मण आदि चारों वर्णों में कोई लोग नित्य ध्यान, देवार्चन आदि स्वकर्म का अनुष्ठान करते हुए विविध चेष्टा से स्थित हैं। कोई महान् आशयवाले महापुरुष अपने अन्तःकरण में फलासक्ति का त्याग कर नित्य सकल नित्य, नैमित्तिक कर्मों में परतन्त्र होकर तत्त्वज्ञानी होते हुए ही अज्ञानी की तरह स्थित हैं। कुछ लोग अत्यन्त निर्जन वनभूमियों में, जिनमें स्वप्न में भी लोगों का दर्शन नहीं होता तथा अत्यन्त रमणीय मृगछौने भरे रहते हैं, ध्यानमग्न रहते हैं। कुछ लोग सदा पुण्यात्माओं से परिवेष्टित पुण्य की वृद्धि करनेवाले शमपूर्ण सदाचारसम्पन्न पुण्यतीर्थ तथा मुनियों के आश्रम आदि में स्थित हैं। कोई समचित्त पुरुष राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए (卐) बन्धुजनावृत्त स्वदेश-का त्याग कर अन्य देश में स्थान बनाकर स्थित हैं। कोई ज्ञानी पुरुष संसार की निवृत्ति के लिए एक वन से दूसरे वन में, एक नगर से दूसरे नगर में, एक स्थान से दूसरे स्थान में तथा एक पर्वत से दूसरे पर्वत में घूमते हुए स्थित हैं॥८-१७॥ महानगरी काशी में, परम पावन तीर्थराज प्रयाग में, सिद्धपुरुषों के निवासभूत श्रीपर्वत तथा बदरिकाश्रम में, महापवित्र शालग्राम में, पवित्रतम मथुरा नगरी में, कालंजर पर्वत पर, महेन्द्रवन की झाड़ियों में, गन्धमादन पर्वत की चोटियों पर, दर्दुर पर्वत के शिखरों पर, सह्य पर्वत की वनभूमि में, विन्ध्याचल के जलप्राय प्रदेशों में, मलयाचल के मध्य में, कैलाश पर्वत के वनों में, ऋक्षवान् पर्वत की गुफाओं में इन तथा

(卐) बन्धुबान्धवों के समागम में नाना प्रकार के रागद्वेष आदि विक्षेपों की प्राप्ति होती है, उनके परित्याग के लिए।

अन्यान्य तपोवनों में, मुनिजनों के आश्रमों में विविध प्रारब्धभोगानुकूल दृष्टिवाले बहुत से तपस्वी निवास करते हैं ॥१८–२२॥ उनमें कुछ लोगों ने संन्यास विधि से अपने पूर्वाश्रम के आचार का परित्याग कर दिया है और कोई ब्रह्मचर्य आदि आश्रमधर्मों में स्थित हैं। कोई लोग प्रबुद्धमति हैं और कोई नित्य उन्मत्तकी–सी चेष्टा करते हैं ॥२३॥ कोई स्वदेश रहित हैं, किन्हीं ने विक्षेपनिवृत्ति के लिए अपने घर–द्वार का त्याग कर दिया है, कोई लोग एक स्थान में (अपने घर में) ही रत (प्रीतियुक्त) हैं यानी सब लोगों की अनुकूलता द्वारा विक्षेपशून्य हैं तथा कोई सदा इधर उधर भ्रमण करते हुए स्थित हैं ॥२४॥

स्वर्ग आदि उर्ध्व लोकों और पातालादि अधोलोकों में भी देव, दैत्य आदि जीवन्मुक्त बहुत हैं, इस आशय से कहते हैं।

हे महामति रामजी, आकाश में निवास करनेवाले देव आदि तथा पाताल में रहनेवालें दानव आदि इन महात्माओं में से कोई लोक रहस्य को जाननेवाले तथा यथार्थ दर्शन से निर्मल तथा परतत्त्व का साक्षात्कार कर चुके प्रबुद्धमति हैं। कोई अप्रबुद्धबुद्धिवाले अतएव सन्देहवश झूले के समान कभी इस पक्ष में तो कभी दूसरे पक्ष में आन्दोलित चित्तवाले पापाचरण से निवृत्त होकर सज्जन पुरुषों के चरणचिह्नों का अनुसरण करते हुए स्थित हैं। कोई अर्द्धप्रबुद्धमतिवाले 'मैं तत्त्वज्ञानी हूँ, निषिद्धाचरण मेरा क्या बिगाड़ सकता है' इस अभिमान से सदाचार का परित्याग कर उभयभ्रष्ट हुए हैं ॥२५–२८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार इस विपुल जनसमुदाय में जन्ममरणरूप संसार से छुटकारा पाने की इच्छा करनेवाले बहुविध प्रारब्धभोगानुकूल दृष्टिवाले बहुत से लोग विविध प्रकार से स्थित हैं ॥२९॥

तो क्या उनके द्वारा अनुष्ठित वनवास आदि भी संसार को पार कर जाने में कारण हैं ? इस शंका पर नकारात्मक उत्तर देतें हैं।

न वनवास संसार को पार करने में हेतु है, न स्वदेशनिवास संसार से मुक्ति पाने में कारण है और न कष्टप्रद विविध तपस्याएँ ही संसार निवृत्ति में कारण हैं। न तो कर्म का परित्याग संसारनिवृत्ति में कारण है और न सत्कर्मों के आचरणों से पीछे होनेवाले जो ख्यातिलाभ, ऐश्वर्य, वरशापसामर्थ्यरूप विचित्र फलराशियाँ हैं, वे संसार से छुटकारा पाने के कारण हैं ॥३०,३१॥ संसार से छुटाकारा पाने का एकमात्र हेतु तत्त्वज्ञानरूप स्वभाव यथार्थरूप से स्थित है। उक्त स्वभाव मनकी आत्यन्तिक अनासक्ति से लभ्य है। जिसका मन आसक्ति रहित है वह निश्चय भवसागर से पार हो चुका ॥३२॥

अतएव जीवन्मुक्त को शुभ अशुभ कर्म करने पर भी अनासक्तिवश ही उनका स्पर्श नहीं होता है, ऐसा कहते हैं।

जिसका मन आसक्तिरहित है ऐसा मुनि नित्य शुभ और अशुभ करता हुआ और उनका परिहार करता हुआ भी संसार में नहीं आता। जिसने अपना मन विषयों में छोड़ दिया है ऐसा शठ दुर्मति पुरुष शुभ–अशुभ कर्मों का आचरण न करता हुआ भी संसारसमुद्र में अवश्य ही निमग्न होता है ॥३३,३४॥

यदि कोई शंका करे कि ऐसी अवस्था में मन को ही विषयों से हटाइये और मारिये, तत्त्व से क्या प्रयोजन है ? तो इस पर कहते हैं।

जिसने विषयों का स्वाद चख लिया ऐसी मति, जो अत्यन्त दुःखदायिनी है, शहद के घड़े में फँसी हुई मधुमक्खी की तरह न तो हटाई जा सकती है और न मारी जा सकती है। कभी भाग्यवश

साधनचतुष्टय की प्राप्ति होनेपर काकतालीययोग से अपने चित्त की श्रवण आदि उपायों द्वारा आत्मा के अवलोकन में (आत्मसाक्षात्कार में) स्वयं ही प्रवृत्ति हो जाती है। आत्म-साक्षात्कार होने पर निर्मलता को प्राप्त हुआ चित्त अवलोकन से तत्त्व पाकर निर्द्वन्द्व अतएव अनासक्त और अनामय ब्रह्म ही हो जाता है। अचित्तता को प्राप्त हुए सत्त्वरूप चित्त से सम होकर आप पराकाशरूप (ब्रह्माकाश रूप) जो चित्त आदि सकल प्रपंच का अधिष्ठानांश है तद्रूप बनकर सुखपूर्वक स्थित होइये ॥३५-३८॥ हे महात्मन्, हे श्रीरामचन्द्रजी, जिसे परमार्थ तत्त्व का ज्ञान प्राप्त हो चुका, रागादि दोषों का जो त्याग कर चुके हैं, जिसमें आत्मज्ञान उदित हो चुका ऐसे आप समबुद्धि, शोक रहित महात्मा होकर निःशंक रहिये। क्योंकि जन्म-मृत्युशून्य परम पवित्र वह ब्रह्मपद आप ही हैं। विमल ब्रह्मरूप जगत् में प्रकृतिरूप, मलरूप, विकाररूप, उपाधिरूप, उसका बोधरूप, उसकी इच्छा, प्रयत्न, हानि, उपादान और भोगादिरूप कुछ भी कहीं नहीं है। किन्तु वह स्पष्ट ही अकृत्रिम चैतन्यधाम ब्रह्म ही है, इसलिए आप अपने अनुभव से 'एक मैं ही हूँ' यह मानकर एकाकी निःशंक रहिये ॥३९,४०॥ हे सौभाग्यशाली राघव, आपके ज्ञानबोधन के लिए इससे भिन्न शुभ उपदेशयोग्य कुछ नहीं है, क्योंकि आपका आद्य ज्ञानतत्त्व पूर्णतया उदय हो चुका और आपने अब सम्पूर्ण ज्ञातव्य वस्तु जान ली ॥४१॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : मुनिश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी यह अन्त में कहकर श्रीरामचन्द्रजी के निर्मल बुद्धि से ब्रह्मपद को प्राप्त होने अतएव सकल एषणाओं से विहीन होने पर और सभा में स्थित सब लोगों के समाधिस्थ-से होनेपर उस सभा में स्वयं ब्रह्मरसायन के आस्वाद में तत्पर होकर वैसे ही चुप हो गये जैसे कि भ्रमर कमल-राशि में गुंजनकर रस पीने को प्रवृत्त होता है ॥४२॥

एक सौ निन्यानबेवाँ सर्ग समाप्त

दो सौवाँ सर्ग

सिद्धों की ओर से श्रीवसिष्ठजी महाराज का साधुवाद,
नगारों के साथ पुष्पवृष्टि तथा सब लोगों के द्वारा किये गये गुरुपूजा महोत्सव का वर्णन।

निर्वाण प्रकरणपर्यन्त के आत्मोपदेश को सुनकर कृतकृत्य हुए सिद्ध, ऋषि और मनुष्यों की उस सभा में गुरु के (वसिष्ठजी के) पूजामहोत्सव का वर्णन करनेवाले श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : हे भरद्वाज, इस प्रकरण के - निर्वाणवाक्यसन्दर्भ के समाप्त होनेपर मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी ने जब क्रमप्राप्त अन्तिम वाक्य का विराम किया, सकल सभास्थित जन तथा आकाशचारी देवता आदि लोग मुनिमहाराज के वचनों के श्रवण से शान्त स्वच्छ मनोवृत्ति होकर जब निर्विकल्प समाधि द्वारा ब्रह्मैकरसता को प्राप्त हो गये, शास्त्रज्ञानी सब लोगों का निर्विकल्प समाधि के क्रम से प्रत्यक्आत्मा सत्त्वकोटि में-सन्मात्रपराकाष्ठा में पहुँच चुका अतएव परम पावन हो चुका तब आकाशतल में निवास करनेवाले पहले से मुक्त हुए सनक आदि सिद्ध पुरुषों के मुख से निकले आकाशव्यापी साधुवाद से तथा सभामंच में स्थित विश्वामित्र आदि आत्मज्ञानी मुनियों की जोर की वाहवाही से झटपट ऐसा कोलाहल हुआ कि उसने दिङ्मंडल को ठसाठस भर दिया। वह कोलाहलध्वनि वायु

से पूर्ण रन्ध्रवाले कीचकों की (एक प्रकार के बाँसों की) ध्वनि के समान मधुर थी। सनकादि सिद्ध पुरुषों के साधुवाद के (धन्यवाद के) साथ सहसा देवताओं के नगाड़े गहगहाने लगे। उन्होंने अपनी गहरी प्रतिध्वनियों से पर्वतों को पूर्ण कर दिया। देवताओं के नगाड़े बजाने के साथ ही साथ निरवच्छिन्न गिर रहे हिमपात के समान मनोमोहक पुष्पवृष्टि दसों दिशाओं से होने लगी। इतनी प्रचुर पुष्पवृष्टि हुई कि उसने दिङ्मण्डल को आच्छादित कर दिया, ढक दिया। साधुवाद सहित देवताओं के नगाड़े, तूरी आदि के शब्द का और फूलों की निरवच्छिन्न वृष्टि की ध्वनि का समुदाय, जिसने फूलों की वृष्टि से सभामंच को खचाखच भर दिया था, शब्दों से पर्वत की गुफाएँ भर दी थीं, फूलों के पराग से आकाश को रँग दिया था और सुगन्ध से पवन में महक भर दी थी, खूब सुशोभित हुआ। पूर्वोक्त शब्दराशि ऊपर की ओर टकटकी लगाये हुए सकल सभासदों की नेत्ररश्मियों से कुछ श्यामरंग की–सी मालूम होती थी, भौंचक्के–से होकर ऊपर को कान उठाये हुए मृग, हाथी, घोड़े, पशु–पक्षी आदि उसे सुनते थे, विस्मय और भय से ऊपर को दृष्टि लगाये हुए बालक तथा स्त्रीजन उसे देखते थे तथा राजा के चाकरवर्ग आश्चर्य से प्रसन्नवदन हो उसपर दृष्टिपात करते थे। पुष्पराशि की निरवच्छिन्न वृष्टि से संमिश्रित, शब्दशोभा से उल्लसित, उत्सव से पृथिवी और अन्तरिक्ष का अन्तराल अपूर्व चमत्कारपूर्ण हो गया। पुष्पवृष्टिरूपी सफेदी से प्रक्षालित, शब्दायमान प्राणियों से पुण्यशब्दयुक्त आकाश बजाये गये सैंकड़ों शंखों से महाराज दशरथ के राजमहल की समता को प्राप्त हुआ ॥१–१४॥ प्रचुर भांकार से भासुर, देववृन्द और चारणों से परिवृत्त, पुष्पराशि से विभूषित, परिपूर्ण उत्सववाला जगत भी महाराज दशरथ के घर के समान सुशोभित हुआ। देवताओं के नगाड़ों की ध्वनियाँ, सिद्धपुरुषों के साधुवाद के शब्द तथा पुष्पराशियाँ धीरे–धीरे वैसे ही दिगन्त में पहुँची जैसे कि सागर में कल्लोल तटवर्ती पर्वत के समीप पहुँचती है। उस समय देवताओं के पुष्पवर्षा के उद्योग के कोलाहल के क्षणभर में शान्त होने पर सिद्ध पुरुषों के ये वाक्य अभिव्यक्त हुए ॥१५–१७॥ सिद्धों ने कहा : सिद्ध पुरुषों के बीच में कल्पपर्यन्त हजारों बार मोक्षोपायों का हमने खूब व्याख्यान किया और दूसरों के मुख से उन्हें खूब सुना, किन्तु उनमें इस तरह के मोक्षोपाय कोई भी न थे। तिर्यग् योनियों कूत्ते, सियार आदि जीव, निसर्गतः जड़ स्त्रियाँ, बालक, सर्प सबके सब भगवान् वसिष्ठजी के इस वचन विलास से परम शान्ति को प्राप्त होते हैं, इसमें रत्तीभर भी सन्देह नहीं है। भगवान् श्रीवसिष्ठजी ने विविध दृष्टान्तों, हेतुओं और युक्तियों से जैसे श्रीरामचन्द्रजी को आत्मावबोध कराया वैसा साक्षात् श्रीअरून्धतीजी को भी आत्मावबोध कराते हैं या नहीं इसमें संशय है। *इस श्लोक से मुख्याधिकारी रामचन्द्रजी में भगवान् श्रीवसिष्ठजी के अतिशय स्नेह की प्रशंसा की गई है।* इस मोक्षउपायभूत सदुपदेश से पशु, पक्षी आदि भी त्रिविधदुःखशून्य हो गये हैं, यदि इसे सुनेंगे तो पृथिवी में कौन मनुष्य मुक्त न होंगे ? हम लोग इस ज्ञानामृत का कर्णरूपी अंजलि से पानकर पूर्ण तथा नूतन हुई सिद्धिवाले होकर परमशोभा को प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार के सिद्धवचनों को सुनते हुए अयोध्यावासी लोगों ने उस सभा को कमलों के पुष्पों की वृष्टि से परिपूर्ण देखा। उक्त सभा के छत आदि मन्दार आदि के बड़े बड़े फूलों से आच्छन्न थे, उसके आँगन की भूमि कल्पवृक्ष की लता के गुच्छों से ठसाठस भरी थी, पारिजात के फूलों से

सुशोभित भूमितल से वह विराजमान थी, सन्तानक पुष्परूपी महामेघ से सब सभासदों के सिर और हाथ व्याप्त थे। शिरोरत्नरूपी विटंग के अग्रभाग में हरि चन्दन के फूल बिखरे थे। उस सभा में जल से भरे हुए लम्बायमान मेघ के तुल्य चँदवा लटक रहा था। इस प्रकार की अपूर्व सभा का अवलोकन कर रहे अयोध्यावासी लोगों ने अत्यन्त विनम्रतापूर्वक प्रचुर साधुवादों से तथा तत्कालोचित प्रशंसावचनों से उद्युक्त होकर प्रणाम सहित कुसुमांजलि से श्रीवसिष्ठजी की पूजा की। इसके पश्चात जब नृपतियों की प्रणाम परम्पराएँ कुछ शान्त हुई तब हाथ में पूजा सामग्री लेकर राजा दशरथ ने मुनि महाराज की पूजा करते हुए कहा ॥१८-२९॥ राजा दशरथ ने कहा : हे गुरुवर, आपके सदुपदेश से प्राप्त क्षयबुद्धिविहीन बोधमय निरतिशयानन्दरूप आत्मवस्तु से मेरे अन्दर सर्वोत्कृष्ट पूर्णता उत्पन्न हो गई है ॥३०॥ हे गुरुवर, यद्यपि इस प्रकार के निरतिशय परम पुरुषार्थ को प्रदान करनेवाले पूजनीय आपके पूजनयोग्य कोई महावस्तु न तो पृथिवीतल में मनुष्यों के पास है और न स्वर्ग में देवताओं के पास है अथवा न पाताल में नाग लोगों के पास ही है तथापि मैं अपना अवश्य कर्तव्यरूप इस शास्त्र तथा लोक में प्रसिद्ध गुरुपूजाक्रम को सफल बनाने के लिए समयानुसार कुछ प्रार्थना करता हूँ कृपया आप नाराज न हों ॥३१,३२॥ दोनों लोकों में यानी स्वर्ग और भूतल में भोग के लिए जिसका मैंने संचय किया है उस सुकृत से, पुत्रकलत्रसहित अपने शरीर से तथा सम्पूर्ण चाकर और सामन्त सहित सारे राज्य से मैं आपकी पूजा करना चाहता हूँ जिनका मैं आपको समर्पण कर चुका हूँ। हे भगवन्, यह सब मैंने आपको अर्पण कर दिया है। आपके आश्रम की तरह यह आपके अधीन है। आप स्वामी बनकर अपनी इच्छा से मुझे आदेश दीजिये ॥३३,३४॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे भूपते, हम ब्राह्मण लोग केवल प्रणाम से सन्तुष्ट है। केवल प्रणाम से ही हमारी तुष्टि होती है और प्रणाम आप कर ही चुके हैं। राज्य की रक्षा करना आप ही जानते हैं और यह आपको ही शोभा देता है। यहाँ यह राज्य आपका ही रहे। तपस्यारत ब्राह्मण कहाँ महीपाल होते हैं ॥३५,३६॥ दशरथजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, इस परम पुरुषार्थरूप मोक्ष के प्रदानरूप महान् उपकार के लिए प्रत्युपकाररूप दीयमान राज्य कौन सी वस्तु है, क्योंकि मानुषानन्द की परम अवधि है निष्कण्टक वित्तपूर्ण निरामय सप्तद्वीप का आधिपत्य। उससे सौ गुना अधिक मनुष्यगन्धर्वों का आनन्द है, इससे भी सौ गुना अधिक देव-गन्धर्वों का आनन्द है इस प्रकार उत्तरोत्तर उत्कृष्टता को प्राप्त हो रहे विषयानन्दों में हिरण्यगर्भ का आनन्द चरम सीमा है। वह सर्वोत्कृष्ट हिरण्यगर्भानन्द भी जिस मोक्षानन्दसमुद्र में सीकर (जलकण) तुल्य है उसके लिए इसकी क्या गणना है, इसलिए हे मुनिवर उसके लिए इसे देने में मुझे लज्जा मालूम होती है, इसलिए हे देव, जैसा आप समझिये वैसा कीजिये ॥३७॥ श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : महाराज दशरथ के यह कह चुकने के बाद गुरु के चरणों पर पुष्पांजलि अर्पित कर रहे श्रीरामचन्द्रजी ने महागुरु श्रीवसिष्ठजी के आगे नतमस्तक होकर यह वाक्य कहा : हे ब्रह्मन्, आपने महाराज को निरूत्तर कर दिया है। मेरे पास प्रणाम को छोड़कर अन्य उत्तम दातव्य वस्तु नहीं है अतएव हे प्रभो, केवल सारभूतवस्तुवाला मैं राम आपके इस चरणों में प्रणाममात्र करता हूँ। यह कहकर श्रीरामचन्द्रजी ने जैसे वन पर्वत के पादों पर (अधोदेशवर्ती छोटे पर्वतों पर) पल्लवों में लगी हुई ओस की बूँदों को अर्पण करता है वैसे ही शिरसे

वन्दना करते हुए वसिष्ठजी के चरणों पर पुष्पांजलि अर्पण की। आनन्दजनित अश्रुधारा से नीतिज्ञ श्रीरामचन्द्रजी का वदन भर गया उन्होंने परम भक्ति से बार–बार श्रीगुरुजी को प्रणाम किया। शत्रुघ्न और लक्ष्मण तथा भरत के तुल्य और जो रामचन्द्रजी के अन्यान्य सहचर निकट स्थित थे उन्होंने भी वैसे ही मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी को प्रणाम किया। जो मुनि, राजा या राजकुमार लोग दूर–दूर बैठे थे, उन्होंने दूरस्थों के योग्य प्रणामों तथा पुष्पांजलियों द्वारा मुनिवर श्रीवसिष्ठजी को प्रणाम किया। इस अवसर पर वहाँ पुष्पांजलियों की वर्षाओं से मुनिमहाराज वैसे ही आच्छादित हो गये जैसे कि हिमवृष्टि से पर्वतराज हिमालय आच्छन्न होता है। इसके उपरान्त जब सभा का कोलाहल और प्रणामपरम्परा समाप्त हो चुकीं तब वसिष्ठजी ने माननीय मुनियों के उन्मुख स्वकृत उपदेशात्मक शास्त्रीय सत्य वस्तु के विषय में बुद्धिमालिन्य के कारण यह सदोष है अथवा स्वच्छ बुद्धि के कारण यह निर्दोष है यों सन्देह करते हुए से अपने चरित्र से लोगों को विनय सिखाने के लिए मुनियों से आगे वर्णन किया जा रहे प्रकार से कुछ प्रष्टव्य का स्मरण करते हुए जैसे सफेद बादलों को फाड़कर चन्द्रमा अपना मुख दिखाता है वैसे ही उस पुष्पराशि को बाहुओं से हटाकर अपना मुख दिखलाया। जब सिद्धों की वाणियाँ, नगाड़ों की ध्वनियाँ, आकाश से पुष्पवृष्टियाँ तथा सभा का कोलाहल शान्त हो गया एवं प्रणाम करने के उपरान्त अपना पूजन करनेवाले यानी अपनी कृतकृत्यता माननेवाले राम आदि लोग शान्तपवनवाले मेघ की तरह सौम्यता को प्राप्त हो गये तब साधुवाद का श्रवण कर रहे मुनिश्रेष्ठ भगवान् वसिष्ठजी ने मधुरवचनपूर्वक विश्वामित्रजी से कहा : गाधिजी के कुल में यशरूपी सौरभ उत्पन्न करनेवाले कमलरूप हे मुनिवर, हे वामदेव, हे निमिजी, हे क्रतुजी, हे भरद्वाज, हे पुलस्त्य, हे अत्रे, हे घृष्टे, हे नारद, हे शाण्डिली, हे भास, भृगु, हे भारण्ड, हे वत्सवात्स्यायन आदि ऋषि लोगों, आप लोगों ने मेरा जो यह तुच्छ वचन सुना है जो बात इसमें छूट गई हो, जो अनुचित हो, निरर्थक हो, दुष्टार्थ हो वह आप इस समय शिष्यरहित मुझ पर अनुग्रह कर कृपया कहें ॥३८–५२॥ सभ्य लोगों ने कहा : हे ब्रह्मन्, एकमात्र परमार्थ तत्त्व से सुशोभित होनेवाले श्रीवसिष्ठजी के वचन में कोई अनुचित या दुष्ट अर्थ होता है यह बात आज एकदम नई सुनने में आई है, क्योंकि आज तक इस तरह की बात जगत् में कहीं भी दृष्ट या श्रुत नहीं है। हम लोगों का अनन्त जन्मदोषों से जो पाप संचित था उसका आपने वैसे ही परिमार्जन किया है जैसे कि सुवर्ण के मल का अग्नि परिमार्जन करती है ॥५३,५४॥ हे विभो, जैसे कुमुद ब्रह्मसदृश आकाश में विस्तारित तथा परमामृत से शीतल चन्द्रमा की दीप्ति से विकसित होते हैं वैसे ही हम लोग परम ब्रह्म में विस्तारित परमामृतशीतल आपकी वाणी से विकसित हुए हैं। ये हम लोग सकल प्राणियों को महाबोध देनेवाले मुनिश्रेष्ठ आप गुरु को ही प्रणाम करते हैं, किसी अगुरु को नहीं। *इससे अपराविद्या के गुरुओं की अपेक्षा पराविद्याप्रद गुरु के उत्कर्ष की पराकाष्ठा सूचित की गई*॥५५,५६॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : हे मुने, मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी से यह कहकर मेघ के सदृश गम्भीर शब्द से एक साथ पुनः पुनः नमस्ते कहते हुए उन मुनिजनों ने आकाश से सिद्धों के साथ स्वयं भी वर्षाये गये पुष्पांजलिसमूहों से वसिष्ठजी को पुनः पुनः वैसे ही आच्छन्न कर दिया जैसे कि मेघ हिमवृष्टि से हिमालय को आच्छन्न करते हैं ॥५७,५८॥ मुनिजनों ने इसी प्रकार राजा दशरथ की प्रशंसा की।

इसके उपरान्त श्रीरामचन्द्रजी का विष्णु के अवतारत्वरूप वृत्त जाननेवाले उन लोगों ने चाररूपवाले भगवान् श्रीहरिरूप श्रीरामचन्द्रजी की प्रशंसा की ॥५९॥ सिद्धों ने कहा : चार स्वरूपवाले दूसरे नारायण के तुल्य स्थित भ्राता सहित श्रीरामचन्द्रजीरूपी जीवन्मुक्त राजकुमार को हम नमस्कार करते हैं ॥६०॥ सिद्धों ने चतु:सागरपर्यन्त भूमिमण्डल के पालक, भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल में कभी विलय न होनेवाले राजचिह्नों से युक्त महाराज दशरथ की आप रामसदृश पुत्र के पिता होने से अत्यन्त धन्य हैं यों प्रशंसा की तथा मुनिसंघ के स्वामी भूरितेजस्वी अतएव भगवान् सूर्य के समान स्थित मुनिवर श्रीवसिष्ठजी की तथा महायशस्वी तपोनिधि श्रीविश्वामित्र की प्रशंसा की और कहा इन्हीं के महान् प्रभाव से हम सब लोग भ्रान्ति को दूर करनेवाली उत्तम ज्ञानप्रदान करनेवाली वसिष्ठजी की यह वाणी सुन पाये हैं। वाल्मीकिजी ने कहा : ऐसा कहकर सिद्धों ने फिर आकाश से फूलों की वर्षा की तथा सभास्थान में प्रसन्नचित्त होकर चुपचाप बैठ गये ॥६१-६४॥ उसी प्रकार आकाशस्थ सिद्ध पुरुषों ने श्रीवसिष्ठजी की प्रशंसा की, सभास्थित पुरुषों ने भी उन सिद्धों का प्रचुर स्तुतियों के साथ पूजन किया ॥६५॥ आकाश स्थित महर्षि तथा देवताओं ने, भूमि में स्थित ब्राह्मणों तथा राजाओं ने तथा पृथिवी और आकाश में स्थित मुनीश्वरों ने पूर्ववर्णित प्रकार से अपनी अपनी शक्ति के अनुसार प्रत्येक पुरुष की पुष्पार्घ्यदान युक्त उच्च जय जयकार वाणी से पूजा की ॥६६॥

दो सौवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ एकवाँ सर्ग

गुरु द्वारा पुनः आदरपूर्वक पूछे गये श्रीरामचन्द्रजी ने पूर्णानन्द में अपनी विश्रान्ति प्रकट की, यह वर्णन।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : इसके पश्चात् नीचे सभा प्रदेश में जब धीरे धीरे साधुवादों का तांता शान्त हो चुका, ज्ञानोपदेश पाकर राजगण विकसितवदन हो गये, संसार-भ्रान्ति के विलीन होने पर लोग अपनी अज्ञानअवस्था के चरित्र को स्वयं ही तत्त्व की ओर पूर्णतया अग्रसर हुए चित्त से हँसने लगे, सभागत विवेकी लोग चित्तवृत्ति के प्रत्यक्प्रवणपूर्वक चिदेकरसानन्द के सम्यक् आस्वादन में तत्पर हो ध्यानावस्थित की तरह शान्त हो गये, भ्रातृसहित श्रीरामचन्द्रजी गुरु के आगे गुरुजी के दीप्तिमान् मुख पर टकटकी लगाकर हाथ जोड़े पद्मासन बाँधे बैठ गये तथा महाराज दशरथ ध्यानस्थ से होकर अपने अन्दर आदि, मध्य और अन्त में पवित्रता बढ़ानेवाली अलौकिक जीवन्मुक्तिस्थिति का, अनुभव कर रहे थे उस समय मुनि वसिष्ठजी भक्त राजा आदि की पूजा ग्रहण करने के लिए क्षणभर चुपचाप ठहरकर धीरे-धीरे बोले ॥१-६॥ हे राम, आप अपने विशाल कुलरूप आकाश के चन्द्रमा हैं। हे कमलनेत्र आप इससे अतिरिक्त क्या सुनना चाहते हैं ? अपनी इच्छा के अनुसार बतलाइए ॥७॥ हे रामजी, आज इस स्थिति का स्वयं आप कैसा अनुभव करते हैं ? इस जागतिक आभास को आप कैसा देखते हैं ? यह बतलाइये ॥८॥ भगवान् वसिष्ठजी के यह कहने पर गुरु के मुँह को देख रहे राजकुमार श्रीरामचन्द्रजी ने बिना घबड़ाहट या हिचकिचाहट के मृदु तथा स्पष्ट वचन कहा ॥९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे प्रभो, आपके अनुग्रह से मैं वैसे ही परम निर्मलता को प्राप्त हो चुका हूँ जैसे कलंक से पूर्णतया विरहित चन्द्रमा से सुचिह्नित आकाशतल निर्मल होता है। मेरी संसाररूपी दुःख

प्रदान करनेवाली सभी भ्रान्तियाँ शान्त हो गई हैं। मैं निर्मल आकाश के समान अतिनिर्मल अपने स्वरूप से स्थित हूँ। मेरी चिद्अचिद् ग्रन्थि शान्त हो गई है, मेरे सकल विशेषण (उपाधियाँ) विलीन हो चुके हैं तथा ब्रह्मभाव से विशुद्ध जगत् में मेरी बुद्धि स्फटिक के मन्दिर के मध्य में स्थित स्फटिक मणि की तरह निर्मलतम है। मेरा शान्त मन इसके बाद और कुछ उपदेश सुनना तथा कर्म–सम्पादन करना नहीं चाहता है। परम तृप्ति को प्राप्त हुआ वह सुषुप्त के समान स्थित है ॥१०–१३॥ हे मुनिवर, परम शान्ति को प्राप्त हुए मेरे मन के सकल विषयस्मरण शान्त हो चुके हैं, उसका विषयभोग का कौतुक चला गया है तथा उसने विषय संकल्पों का त्याग कर दिया है। मैं जगत् के विषय में मानसिक विषयालोचन रहित जिसमें फिर बोध नहीं है ऐसा ऐन्द्रिक विषयालोचन रहित निरामय होकर सोता सा हूँ, पूर्णरूप से निर्वाण को प्राप्त हूँ, शान्त हूँ। *यहाँ पर इव शब्द सुषुप्तभान के भी मिथ्या होने से तुरीयावस्था में अवस्थिति का द्योतक है।* पूर्व की आशाओं से विह्वलित शरीर में आत्मबुद्धि से स्थिति का उपहासकर देदीप्यमान (फड़क रही) आपकी सूक्तियों से इस समय स्वस्थ होकर निस्सन्देह स्थित हूँ। न उपदेश से, न उपदेशप्रयुक्त अन्य प्रयोजन से, न शास्त्रों से, न बन्धु–बान्धवों से और न इन सबके त्याग से ही मेरा कोई प्रयोजन है। जिसमें केवल प्रत्यगात्ममात्र में चित्त प्रतिष्ठत रहता है ऐसी अविनाशिनी (नित्य) जीवन्मुक्त स्थिति का मैं स्वर्ग में साम्राज्य की असुरादि के क्षोभ से वर्जित जो स्थिति है उसके तुल्य ही अनुभव करता हूँ। मैं बाह्य दृष्टि से जिसमें नेत्र आदि अंग हैं ऐसी स्थिति को प्राप्त होकर भी जगत् को आकाश से भी अत्यंत निर्मल एकमात्र चिन्मात्राकाशरूप ही देखता हूँ। अज्ञानी पुरुष की तरह जगत् को जड़ नहीं देखता। यह जगत् केवल आकाशमात्र ही है ऐसा दृढ़ निश्चयवाला मैं इस जगत् के मोह–निद्रा के साथ बाधित होने पर अक्षय स्वरूप हो सदा ही जागता हूँ। भावी कार्य को यथाकाम, वर्तमान कार्य का यथाप्राप्त तथा पूर्वस्थित कार्य को यथास्थित जो आप कहते हैं उसको मैं फलाभिसन्धि से शून्य होकर अविघ्नतया गुरु तथा शास्त्र के अनुसार करता हूँ। *'यथाकामं यथारम्भं यथाप्राप्तं यथास्थितम्' इस तरह के पाठान्तर में* अपने कार्य के विषय में यथाकाम (यथेच्छ) तथा प्रारब्धानुसार' पर के कार्य के विषय में यथाप्राप्त तथा यथास्थित जो आप कहते हैं उसका मैं गुरु और शास्त्र के अनुसार निर्विघ्न सम्पादन करता हूँ ॥१४–२१॥ इष्ट वस्तु की प्राप्ति से न तो मैं अन्दर मन में सन्तुष्ट होता हूँ और न बाहर शरीर से हर्षित होता हूँ तथा न पुष्ट होता हूँ एवं अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति से न रोता हूँ। अवश्यकर्तव्य लौकिक और वैदिक कार्य करता हूँ। मैं केवल एक ही हूँ। मेरा भ्रमजाल दूर भाग चुका है ॥२२॥

इस प्रकार से स्थित हुए मुझे, अज्ञानियों के अभिमत बन्धु, जन, राज्य आदि के नाशों से अथवा, वृद्धि , ह्रास आदि अवस्थाओं से अनर्थप्राप्ति की आशंका नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

चाहे यह सृष्टि उलट जाय अथवा प्रलयकाल के पवन बहें, चाहे देश सोममार्ग के समान जनशून्य हो जाय लेकिन मैं निर्विक्षेपरूप से अपनी आत्मा में स्थित हूँ ॥२३॥ हे मुनिवर, मैं आत्माराम हूँ, बाह्य इन्द्रियों से अलक्ष्य हूँ, मन से भी दुर्लक्ष्य हूँ, निरामय हूँ, आशाओं से मैं वैसे ही बन्धन को प्राप्त नहीं होता जैसे कि मुष्टियों द्वारा आकाश बन्धन को प्राप्त नहीं होता ॥२४॥

देह में अभिव्यक्त का देहातीत रहने में दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे वृक्षगत पुष्प में अभिव्यक्त गन्ध आकाश में पहुँचकर पुष्पातीत रहती है वैसे ही मैं देह में

अभिव्यक्त होकर देहातीत सम (यह इस पुष्प का है अथवा इस देह का है यों विशेषण के योग्य न होने से साधारण) रूप से स्थित हूँ ॥२५॥

तो आप आगे कैसे और किस तरह व्यवहार करेंगे ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

जैसे ही प्रबुद्ध तथा अप्रबुद्ध सब राजा विविध कामधामवाले राज्यों में व्यवहार करते हैं वैसे ही हर्ष, विषाद और आशा से विरहित, स्थिर, एक, सम दर्शन मैं आत्मा में स्थित होकर निःशंक हो व्यवहार करता हूँ। अप्रबुद्ध, प्रबुद्ध में यही अन्तर है कि अज्ञानी हर्ष, विषाद और आशापाश से बद्ध, अस्थिर तथा विषमदृष्टि रहता है, ज्ञानी हर्षादि से रहित स्थित तथा समदृष्टि रहता है ॥२६,२७॥

हे प्रभो, सकलविषयैश्वार्यानन्द के ऊपर स्थित ब्रह्मानन्द से मैं सुखी हूँ अतएव अपने शरीर में विषयसुख की मुझे इच्छा नहीं है। बाह्य दृष्टि से सर्वसाधारण जनकी तरह मैं स्थित हूँ। मुझे अपनी इच्छा के अनुसार सेवा आदि जिस किसी भी विषय में नियोजित कीजिये। हे सज्जन शिरोमणे, एकमात्र निर्मलब्रह्मरूपलक्ष्य में दृष्टिवाला मैं जब तक मेरा शरीर रहेगा तब तक सांसारिक स्थिति का निःशंक होकर वैसे ही पालन करूँगा जैसे कि बालक अपनी अवस्था के अनुरूप क्रीड़ा का अनुवर्तन करता है ॥२८,२९॥ हे मुनिनायक, मैं भोजन करता हूँ, पीता हूँ, बैठता हूँ, अपने कर्तव्य का पालन करता हूँ। आपके अनुग्रह से मेरी सब शंकाएँ निवृत्त हो चुकी हैं ॥३०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, यह बड़े सौभाग्य का विषय है कि आपने आदि, मध्य और अन्त रहित वह महापुण्य सर्वश्रेष्ठ पद पा लिया है जिस पद में स्थित हुए पुरुषों को पुनः शोक-दुःख नहीं रहता। आप अत्यंत सम (विषमतालेशशून्य) शीतल स्वात्मा में जैसे आकाश शान्त आकाश में विश्राम प्राप्त करता है वैसे ही पूर्ण विश्रान्ति को प्राप्त हुए हैं। बड़े हर्ष की बात है आप सर्वथा शोक दुःखशून्य हो गये हैं, बड़े आनन्द का विषय है कि आपको उत्तम स्थिति प्राप्त हो गई है एवं महासौभाग्य की बात है कि आपकी इस लोक और परलोक में दृष्ट, अदृष्ट और श्रुत अनर्थशंका की निवृत्ति हो गई है ॥३१-३३॥ हे पुत्र, हर्ष है कि आपने आत्मतत्त्वज्ञानी होकर बोध से रघुवंशियों की अतीत, वर्तमान और भावी कुलसन्तति को पवित्र कर दिया है। हे रघुनाथ, इस समय आप मुनिनायक श्रीविश्वामित्र की इस यज्ञविघ्ननिवृत्ति की अभ्यर्थना को पूर्णकर पिता के जीतेजी उनकी आज्ञा से राक्षसवध द्वारा पृथिवी का पालनकर स्थित होइये ॥३४,३५॥ हे सौभाग्यशाली राघव, आप सरीखे महापुरुष कुलदीपक से युक्त पुत्र-पौत्र, सेवक, बन्धुबान्धव, पैदल सिपाही, रथ, गज और अश्वसमुदाय के साथ सब रघुवंशी शरीर में नीरोग, निर्भय और घरों में सदा उदयवाले हों ॥३६॥

दो सौ एकवाँ सर्ग माप्त।

दो सौ दोवाँ सर्ग

प्रबोध से यों हर्षित हुए राजाओं का तथा प्रबोध से हर्षित हुए श्रीरामचन्द्रजी का वर्णन तथा श्रीरामचन्द्रजी द्वारा ज्ञाननिर्मल अपनी स्थिति का वर्णन।

वाल्मीकिजी ने कहा : हे भरद्वाज, सभा में वसिष्ठजी का यह वचन सुनकर सब राजा तथा अन्यान्य लोग अमृतप्रवाह से सींचे हुए की तरह अन्दर अत्यन्त शीतलता को प्राप्त हुए ॥१॥ कमलनयन

श्रीरामचन्द्रजी अपने मनोज्ञ चन्द्रवदन से ऐसे सुशोभित हुए जैसे कि अमृत से पूर्ण मनोहर चन्द्रमा के उदय से सम्पूर्ण क्षीरसागर सुशोभित होता है ॥२॥ तत्त्वज्ञानविशारद वामदेव आदि सब लोगों ने वाह भगवान् श्रीवसिष्ठजी ने क्या उत्तम ज्ञान का वर्णन किया, यह बड़े सम्मान से कहा ॥३॥ शान्त अन्तःकरणवाले राजा दशरथ प्रसन्नता से अत्यन्त सुशोभित हुए। वे अत्यंत सन्तोष से पूर्णतया रोमांचित शरीर हो एक अपूर्व शोभा को प्राप्त हुए। इसके पश्चात् ज्ञानी पुरुषों में बहुत-सी साधुवाद कथाओं के प्रवृत्त होने पर श्रीरामचन्द्रजी ने, जिनका अज्ञान छूट गया था, पुनः यह वचन कहा ॥४,५॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, आप अतीत और वर्तमान के अधिपति हैं, आपने हमारा यह अज्ञान वैसे ही पूर्णतया मिटा दिया है जैसे अग्नि सुवर्ण का मल (अन्यान्य धातुओं की मिलावट) पूर्णतया मिटा देता है ॥६॥ हे प्रभो, हम लोग पहले केवल शरीर में आत्मदृष्टिवाले थे इस समय आपके अनुग्रह से सर्वत्र सर्वात्मदर्शी हो गये हैं ॥७॥ मैं सर्वात्मा होकर सम्पूर्णरूप से स्थित हूँ, नीरोग हो गया हूँ, मेरी सकल आशंकाएँ मिट चुकी हैं। इस समय मैं ज्ञानवान् होकर जागरूक हूँ ॥८॥ कभी खेदवान् न होने के लिए मैं आनन्दित हूँ, चिरकाल के लिए मैं सुखी हूँ, कभी अस्त न होने के लिए मैं स्थित हूँ, मेरे परमपुरुषार्थ का उदय आविर्भूत हो गया है। अहा पवित्रतम शीतल ज्ञानरूपीजल से आपने मुझको सींचा है। अतएव मैं हृदय में शरत्काल के कमल के समान प्रहृष्ट हूँ, विकसित हूँ ॥९,१०॥ आपके अनुग्रह से आज मुझे यह दिव्य साम्राज्यपदवी प्राप्त हो चुकी है जिसमें स्थित हुए मेरे लिए यह सारा जगत् अमृत बन गया है ॥११॥ मेरी मति पूर्णतया प्रसन्न हो चुकी है, मेरा समस्त शोक निवृत्त हो गया है, मैं अलौकिक शान्ति से (सकार्य मूलअज्ञान के नाश से) अमलाशयरूप आत्मा में आनन्द को प्राप्त हो गया हूँ। भलीभाँति परीक्षा करके देखे गये आत्मा से ही स्वतः सिद्ध निर्मलता को मैं प्राप्त हो चुका हूँ अतएव मुझको नमस्कार है ॥१२॥

दो सौ दोवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ तीनवाँ सर्ग

मध्याह्नकाल का सूचक तुरी का घोष, दिनचर्या,
निशा का आगमन तथा प्रातःकाल सभा के सामने श्रीरामचन्द्रजी के सन्देह अभाव का वर्णन।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : इस प्रकार जब भगवान् वसिष्ठजी तथा श्रीरामचन्द्रजी आपस में विचार कर रहे थे उस समय मानों उनके विचारविमर्श को सुनने के लिए भगवान् सूर्य आकाश के मध्य में पहुँचे। इसके पश्चात् दसों दिशाओं में प्रकाश श्रीरामचन्द्रजी की महामति के समान पदार्थ-राशि स्पष्टरूप से प्रदर्शन के लिए जल्दी तेज हो गया। उस समय उद्यान के तालाब विकसित कमलों से विशालकाय होने के कारण प्रफुल्ल-हृदय कमल होने के कारण विकसिताकार वहाँ पर बैठे हुए राजाओं की तरह खूब सुशोभित हुए। मोतियों की घनी झालरवाला स्फटिकमणि का झरोखा जिसमें भगवान् सूर्य का प्रतिबिम्ब संक्रान्त था, आकाश में तैरता हुआ-सा नाचता था। पद्मराग मणियों में संक्रान्त सूर्य की आकाश में फैली हुई तेजदीप्तिवाली किरणें (प्रतिबिम्बित-कान्तियाँ) ऐसी स्फुरित होती हैं जैसे कि स्वच्छ उपदेश ज्ञानकला स्फुरित होती हैं ॥१-५॥ मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि की

मुखकान्तिरूप चन्द्रमा से विकसित से हुए अपने कुल के कैरवभूत (रात को खिलनेवाला सफेद कमल) श्रीरामचन्द्रजी महाराज जब इस प्रकार परमानन्द को प्राप्त हो गये, जब बड़वानल के तुल्य भगवान् सूर्य, जो तेजःपुंजरूपी देदीप्यमान ज्वालाओं से युक्त तथा बड़वानल के समान ही समग्र रसों का पान करनेवाले हैं, आकाशरूपी महासागर के नाभि के सदृश हो गये यानी मध्य आकाश में स्थित हो गये, जब आकाशरूपी नीलकमल, जो सूर्यरूपी कर्णिका से मनोहर, देदीप्यमान किरणरूपी केसरों से सुशोभित था तथा जिससे रजरूपी पराग गिर रहा था, अत्यन्त सुहावना मालूम होता था, वह आकाशरूपी नीलकमल मानों जगत्-लक्ष्मी का शिर का भूषण था, त्रिलोकीरूपी नायिका का कर्णाभरण (कानों का आभूषण) था। वह कर्णाभरण और शिरोभूषण भीतर जड़े हुए चमकीले सितारेरूपी विविध रत्नों से सुशोभित था, जब दिशारूपी नायिकाओं ने विशाल पर्वतशिखररूपी हाथों से धूप से मिश्रित जल रहित महामेघों को दर्पणों की नाईं पकड़ रखा था तथा जब सूर्यरहित भी आकाश श्रेष्ठतम सूर्यकान्त मणियों से निकली हुई आग से प्रदीप्त होने के कारण सूर्य से भी दुगुना सा जल रहा था उस मध्याह्न समय में समय की सूचना देने के लिए बजनेवाले शंख प्रलय काल की वायु से पूर्ण सागरों की तरह प्रचुर मुखवायु से पूरित होकर बजे। कमलों पर ओस की बुँदों के समान लोगों के मुख मण्डलों पर पसीने की बुँदों ने स्थिति की, जिनका आकार-प्रकार इधर उधर बिखरे हुए मोतियों के समान था। जैसे वृष्टि और नदी का जल सागर को भरता है वैसे ही घर की दीवारों में टक्कर लगने से प्रतिध्वनि के रूप लौटे हुए तथा प्राणियों के कर्मत्वराप्रयुक्त शब्दसंभ्रम से पुष्ट हुए शब्द ने लोगों के कानों को भर दिया। मध्याह्न काल में सुवासिनी (सौभाग्यवती) महिलाओं द्वारा गर्मी की प्रखरता को शान्त करने के लिए उड़ाई हुई सफेद कर्पूरयुक्त जल सींचनरूपी नूतन-मेघमाला उल्लास को प्राप्त हुई ॥६-१५॥ महाराज दशरथ सब सामन्तों, भूपालों, अपने अंगरक्षक, चाकर आदि, महामुनि वसिष्ठ तथा श्रीरामचन्द्रजी के साथ सभा से उठे। सब राजा, राजकुमार, मन्त्रिगण, मुनिवृन्द परस्पर पूजा-सत्कार पाकर बड़ी प्रसन्नता के साथ अपने अपने घर को गये। अन्तःपुर के प्रमुख गृहों में पंखों की वायु से उड़ाई गई कपूर की धूलि से अपूर्व ही मेघमाला उदित हुई। इसके पश्चात् मध्याह्नकाल की तूरियों की ध्वनि दीवारों में टकराकर प्रतिध्वनित हुई तब वाक्यप्रयोग में निपुण मुनिश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी ने ये वाक्य कहे : हे रामचन्द्रजी, आपने श्रोतव्य सब कुछ सुन लिया है और ज्ञातव्य सब कुछ जान लिया है इसके अतिरिक्त उत्तम ज्ञातव्य कुछ भी नहीं है ॥१६-२०॥

अब आपको गुरु के उपदेश, वेदान्त आदि शास्त्र तथा स्वानुभव के अविसंवाद के लिए एकार्थनिष्ठतारूप एकवाक्यता करनी चाहिये, ऐसा कहते हैं।

हे राम, जिस प्रकार मैंने आपको उपदेश दिया है, जिस प्रकार आपने वेदान्तशास्त्रों से जाना है और जैसा आपका अपना अनुभव है उस प्रकार सबकी एकवाक्यता कीजिये। हे महामते, यथाप्राप्त कर्तव्य का पालन करने के लिए आप उठिये। हम लोग मध्याह्नस्नान के लिए जाते हैं। यह हम लोगों का मध्याह्न का समय व्यतीत हो रहा है। हे भद्र, अपनी आकांक्षा की विनिवृत्ति के लिए आपको जो सुन्दर वस्तु पूछनी हो वह प्रातः काल आप पुनः पूछ लीजियेगा ॥२१-२३॥ श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी के यह कहने पर श्लाघनीय धर्मात्मा महाराज दशरथ ने श्रीरामचन्द्रजी

के साथ सभा में समुपस्थित उन सकल साधुपुरुषों की, मुनियों की, ब्राह्मणों की, राजाओं की तथा आकाशचारी सिद्ध और देवगणों की श्रीवसिष्ठ, विश्वामित्र आदि मुनियों द्वारा उपदिष्ट क्रम से मणि–मोती आदि के निष्क्रयरूप धन से, दिव्य फूलों से, मणि–रत्न आदि के प्रदान से, मुक्तामाला के समर्पण से, विनय, प्रणाम, धनसहित कन्याप्रदान, वस्त्र आसन, अन्न, पान, सुवर्ण, भूमि, धूप, गन्ध, माला आदि से यथायोग्य पूजा की। पूजा करने के उपरान्त सभा के बीच से दूसरों का सम्मान करनेवाले महाराज दशरथ वसिष्ठ आदि देवर्षियों के सहित सारी सभा के साथ वैसे ही उठे जैसे कि सायंकाल के समय आकाश से चन्द्रमा उठता है ॥२४–२९॥ वह त्वरायुक्त सभा से उठने का समय अत्यन्त सुशोभित हुआ जिसमें घुटनों तक देवताओं द्वारा वर्षाये गये फूलों से चारों ओर कीचड़ हो गया था, परस्पर घिसने और टकराने से केयूरों (अंगदों) में जड़े हुए रत्नों के चूरे से पृथ्वी लाल हो गई थी, टूटे हुए हारों से स्फुरित हो रही मोतीरूपी तारिकाओं ने रात्रिकाल में प्रसिद्ध नक्षत्रयुक्त आकाश को जीत लिया था, देवर्षि, मुनि, ब्राह्मण तथा राजाओं के इधर उधर संचार, से जो अत्यन्त भीड़भाड़वाला था, व्यग्र सेविकाओं के हाथों में चँवर केशों से चंचल थे, वसिष्ठजी द्वारा उपदिष्ट ज्ञान के क्रम के मनन आदि द्वारा भूमिका के क्रम से प्रमेयीकरण के लिए ही स्पन्दमान, अन्य स्वार्थत्वरा से नहीं, इस कारण जो दारूण न था, कभी जरा सा धक्का लगने पर भी परस्पर क्षमायाचना के लिए सिर में अंजलि बाँधे हुए आगे और अगल बगल तीनों भागों में देखने तथा क्षमा माँगने के लिए प्रवृत्त नेत्र और जीभवाले सकल जनों से विराजित था, पागल निष्ठुर लोगों से विषम नहीं था, इसलिए वहाँ पर पीड़ा आदि दोषों का लेष भी न था ॥३०–३३॥ मृदु–मधुर वचनवाले सत्कृत दशरथ आदि सब सज्जन पुरुष, जो सातों लोकों के निवासी थे, परस्पर पूछकर इन्द्रपुरी से देवताओं की तरह परस्पर स्नेहपूर्ण हृदय होकर अपने–अपने आश्रमों को गये ॥३४,३५॥ क्रमानुसार प्रेम से एक दूसरे को सत्कार कर उनसे विदा लेकर अपने घर में आकर उन्होंने दिन का कृत्य किया ॥३६॥ इसके पश्चात् श्रीवसिष्ठ आदि तथा दशरथ आदि राजा–सबने दिवस के कृत्य किये। इसके अनन्तर उनके दिवस सम्बन्धी क्रिया करने पर क्रम से आकाश का पथिक सूर्य अस्त को प्राप्त हुआ। उनकी तथा महामति श्रीरामचन्द्रजी की उसी कथा से जागरणवश वह रात्रि शीघ्र व्यतीत हुई ॥३७,३९॥ प्रातःकाल घर में झाड़ू बुहारी देने की तरह अन्धकाररूपी पांसु तारा रूपी फूलों की राशियाँ जिसमें से हटा दी गई हैं ऐसे जगद्‌रूपी भवन को घर की तरह साफ सुथरा बना रहे भगवान् सूर्य का उदय हुआ ॥४०॥ इसके अनन्तर करवीर और कुसुम्ब के सदृश किरणों से दिशाओं को लाल बना रहे बाल सूर्य आकाशरूपी सागर में प्रविष्ट हुए। राजा, राजकुमार, मन्त्री लोग तथा श्रीवसिष्ठ आदि मुनिगण फिर महाराज दशरथ की सभा में आये। अपने–अपने क्रम, स्थान, देश और आसन के अनुसार जैसे आकाश में नक्षत्र शोभा प्रविष्ट होती है वैसे ही वहाँ पर वह सभा प्रविष्ट हुई। तदनन्तर दशरथ आदि भूपालों तथा सुमन्त्र आदि मन्त्रियों के आसन पर आसीन मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी की प्रचुर स्तुति करने पर महामुनि वसिष्ठजी तथा अपने पिताजी के सन्मुख कमलनयन श्रीमान् श्रीरामचन्द्रजी ने यह मधुर वचन कहा ॥४१–४५॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे सकल धर्मों के ज्ञाता, हे सकल ज्ञानों के महासागर, हे सकल

सन्देहरूपी वृक्षों का उच्छेद करने के लिए परशु (कुठार) रूप तथा हे शत्रुओं के भी शोक और भय की निवृत्ति करनेवाले हे ब्रह्मन्, मेरे लिए अन्य श्रवणीय अथवा ज्ञातव्य क्या शेष है ? जो कुछ भी श्रोतव्य या ज्ञातव्य मेरे लिए अवशिष्ट हो वह सब आप मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥४६,४७॥
श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी आपको बोध प्राप्त हो गया है । आपके लिए अब श्रोतव्य कुछ भी अवशिष्ट नहीं है । आपकी बुद्धि कृतकृत्य हो गई है और यह प्राप्तव्य वस्तु को प्राप्तकर आत्मा में स्थित है । आप ही अपनी बुद्धि से विचारकर स्वयं कहिये कि आज आप स्वानुभव से कैसे हैं और आपके लिए शेष श्रोतव्य क्या है ? ॥४८,४९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, जैसा आप कहते हैं वैसे ही मैं अपने को कृतकृत्य समझता हूँ, मैं निर्वाण को प्राप्त हो चुका हूँ, प्रशान्त हो चुका हूँ, मुझमें किसी बात की आकांक्षा नहीं है । जो कुछ वक्तव्य था उसे आप कह चुके हैं, मैं सम्पूर्ण ज्ञातव्य वस्तु जान चुका हूँ अब कृतकृत्यता को प्राप्त हुई आपकी वाणी विश्राम को प्राप्त हो । मैं जानने योग्य तत्त्व को जान चुका हूँ, यह ज्ञातव्य वस्तु मुझे मिल गई है । सम्पूर्ण जगत् ऐक्य को (ब्रह्मैकरसता को) प्राप्त हो चुका है । जीव ब्रह्म भेदरूपी द्वैत अस्त को प्राप्त हो गया है मेरा दृश्यभेद का भान मिट गया है क्योंकि मैंने खूब विचारविमर्श कर सारी सांसारिता की आस्था का त्याग कर दिया है ॥५०-५२॥

दो सौ तीनवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ चारवाँ सर्ग

श्रीवसिष्ठजी तथा श्रीरामजी का चिदात्मा के परिशोधन के लिए
निष्कृष्ट युक्ति से फिर चित् में दृश्य का परिमार्जन करना ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे महाबाहो, हे श्रीरामचन्द्रजी, फिर मेरा परम संक्षिप्त (युक्तियों से स्पष्ट तथा दृश्य के परिमार्जन का उपदेशक होने के कारण उत्कृष्ट) वचन सुनिये, क्योंकि बार-बार खूब पोंछने से दर्पण अत्यन्त शोभित होता है ॥१॥

रूप और नाम के भेद से दो प्रकार का दृश्य है । उनमें से पहले के मार्जन का (मिटाने का) उपाय कहते हैं ।

चार प्रकार के शब्दों के (जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और यदृच्छाशब्दों के) जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छाचार प्रकार के अर्थ होते हैं । जैसे नीली, चंचल भद्रा नाम की गौ । यहाँ पर गौ जातिवाचक शब्द है, नील गुणवाचक, चंचल क्रियावाचक और भद्रा यदृच्छा शब्द है । वे एक ही वस्तु में व्यावर्त्यभेद के अधीन भेदकल्पनारूप शब्द भेद प्रवृत्तिनिमित्तता से कल्पित भ्रान्तिवेदन संकेतरूप ही हैं वास्तविक नहीं । इस प्रकार अर्थ का परिमार्जन हुआ । अब दूसरे के (शब्द के) मार्जन का उपाय कहते हैं । अर्थ के परिमार्जित होने पर निरर्थक शब्द जलध्वनि के समान होकर नामता का त्यागकर अर्थता को प्राप्त हुआ, इसलिए अर्थ के परिमार्जन से शब्द का भी परिमार्जन हो गया यों अर्थ और शब्दरूप दो प्रकार का ही दृश्य स्वप्न के समान चिदाभानमात्र सिद्ध हुआ । ऐसी अवस्था में जगत् की उत्पत्ति कहाँ हुई ? जब जाग्रत् ही मिथ्या है तब जाग्रत् ही संस्कार द्वारा स्वप्नदृष्ट पदार्थ बन जाता

है और स्मरण के समान पदार्थशून्य स्वरूप होकर सामने आता है, इसलिए वह संविद् संवेदनमात्र होकर अन्य आकार की भाँति विस्तृत है उसमें संवित् से अतिरिक्त कुछ नहीं है। जैसे प्रत्यक् चैतन्यरूप मुझ में स्वप्नजगत्रूप निर्मल संविदाकाश सरूप होता हुआ भी नीरूप है वैसे ही त्रिभुवन भी सरूप होता हुआ भी नीरूप है ॥२–४॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, चित् में यह भूमि कैसे संपन्न हुई, पर्वत कैसे सम्पन्न हुए, कैसे जल हुआ, कैसे पत्थर हुए, कैसे तेज हुआ, कैसे क्रिया हुई, कैसे काल हुआ, कैसे वायु हो गया और कैसे चिदाकाश हो गया यानी चित् में जड़ता और भूमि आदि विचित्रता कैसे हो गई ? यद्यपि यह सब मैं आपके उपदेश से जान चुका हूँ, मेरे विशद बोध के लिये फिर मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥५–७॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे रघुवर, जरा कहिये तो सही स्वप्न में दिखाई दिये महानगर में कैसे वास्तविक रूप से भूमि हो गई, कैसे आकाश हो गया, कैसे जल हो गया, कैसे पत्थर हो गये, कैसे तेज हो गया, कैसे दिशाएँ हो गई, कैसे काल हो गया और कैसे क्रिया हो गई ? उन सबके निमित्त आदि सब कैसे हो गये यह मुझसे कहिये। किसने इस स्वप्न में दृश्यजंजाल का निर्माण किया, किसने इसको जलाया, कौन इसको लाया, किसने इसकी रचना की, किसने इसको विविध पदार्थों से भरा, कौन इसका उत्पादक है, किसने इसे प्रकट किया, इसका क्या स्वरूप है और क्या आकार–प्रकार है ? *यानी स्वप्नदृश्य के समान ही इसकी संभावना करनी चाहिये इस अभिप्राय को मन में रखकर प्रतिवान्दी से स्वयं प्रश्न के ब्याज से श्रीवसिष्ठजी ने श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न का उत्तर दिया* ॥८–११॥

दृष्टान्त के (स्वप्नदृश्य के) समान ही दार्ष्टान्तिक में (जाग्रत् दृश्य में) भी पृथिवी आदि की सम्पत्ति की संभावना कर रहे श्रीरामचन्द्रजी स्वयं भी जगत् की असत्यता का वर्णन करते हैं।

स्वप्नरूप इस जगत् का स्वरूप निराकार निराधार आकाश ही है। भूमि, पर्वत आदि सत्य नहीं हैं ॥१२॥ इसका निराधार निराकार आत्मा ही व्योमरूप है, आकृति के अभाव में इस व्योम का आधार से क्या प्रयोजन है ? ॥१३॥

पृथिवी आदि आकारसम्पत्ति को मानकर यह कहा गया है, वास्तव में पृथिवी आदि सम्पत्ति भी नहीं है, ऐसा कहते हैं।

यह पृथिवी आदि कुछ भी सम्पन्न नहीं हुए यह संवित् के अतिरिक्त, सत् नहीं हैं। यह जगदाकार चित् का स्फुरण स्वप्न के समान मन ही उस प्रकार (जगत् के रूपसे) स्थित है, उससे अतिरिक्त नहीं है ॥१४॥

और मन भी केवल चित् का स्फुरण है, अतः वही सब कुछ है, ऐसा कहते हैं।

सकल तत्त्ववेत्ता की दृष्टि में उस प्रकार का बोध होने से यहाँ पर दिशा, काल आदि चित् का भान है, पर्वत आदि चिद्भान है, जल आदि चित् है एवं वायु आदि चिदाकाश है। संवित् ही आकाशता को प्राप्त होकर आकाशरूप से स्थित है, काठिन्य से वह पत्थर के रूप से स्थित है और द्रववश वह जल के समान स्थित है। वास्तव में भूमि आदि कुछ भी नहीं है, इसलिए वह सब एक अनन्त चिदाकाश पृथिवी आदि के रूप से स्थित है। प्रसन्न (निश्चल) सागर का जल द्रवरूप होने के कारण ही जैसे तरंग फेन, आवर्त आदि (अभिन्न) होता हुआ ही अपने में नाना होता है। चिति अपने में काठिन्य के संकल्प से

पृथिवी की तरह गिरिता को प्राप्त हुई है, चिति अपने में शून्यता के वेदन से आकाश की तरह अपने को शून्य जानती है। अपने में द्रवत्व के वेदन से जल मानती है, अपने में स्पन्दता के वेदन से वायु जानती है, अधिष्ठान चिद्रूप अपने स्वरूप का त्याग न कर रही चिति उष्णता के वेदन से अग्नि को जानती है। इस प्रकार के स्वभाववाला ही यह आकाशरूप चित्धातु बिना कारण, बिना गुण और बिना क्रम के जो कुछ इस प्रकार स्फुरित होता है उसके अतिरिक्त जगत् का तत्त्व वैसे ही यहाँ कुछ नहीं है जैसे कि आकाश और सागर में शून्यता और जल के सिवा अन्य तत्त्व कुछ नहीं है। 'इदम्' (यह) 'त्वम्' (तुम) और 'अहम्' (मैं) इत्यादि जगत् चिदाकाश के अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि उसके बिना कुछ भी संभव नहीं है। इसलिए आप पूर्ण शान्त होकर स्थित होइये। आप जैसे इस घर में स्वप्न, मनोरथ आदि से अग्निपर्वत आदि की बुद्धि करते हुए अग्नि पर्वत न होते हुए भी उसको अग्निपर्वत देखते हैं वैसे ही निराकार चिदाकाश को जगत् के रूप में देखते हैं। सृष्टि के आदि में चिदाकाश ही देहतुल्य प्रतीत होता है तब बिना कारण के असत् से (अज्ञान से) देहाकार चिति उदित होती है, वास्तव में देह उदित नहीं होता है, यह ज्ञानीजनों को विचार करना चाहिए। मन, बुद्धि, अहंकार, पंच महाभूत, पर्वत और दिशाएँ ये सब शिलागर्भ के समान यथास्थित अनिवार्य हैं। इस तरह न कुछ उत्पन्न हुआ है न कुछ नष्ट हुआ है यथास्थित यह जगत्रूप ब्रह्मात्मा में स्थित नामक जो स्वरूप का प्रकर्ष से बृंहण है वही यह जगत् कहा गया है। यथार्थ सम्यक् दर्शन से प्रबुद्ध बुद्धिवाले की दृष्टि से यह जगत्भाव से भान भी अभान ही है यानी वास्तव में शून्य चिदाकाश ही है अप्रबुद्धबुद्धिवाले यानी मूर्ख की दृष्टि से जैसा तैसा हो उसके विचार से क्या प्रयोजन है, यह अर्थ है ॥१५-२९॥

दो सौ चारवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ पाँचवाँ सर्ग

केवल विषयमात्र स्वरूपवाली यह जगत् स्थिति स्वप्नतुल्य है।
न यह कभी उत्पन्न हुई, न स्थित है और न नष्ट हुई यह केवल चिन्मात्र ही है।

इस प्रकार जगत् की स्वप्न के समान पूर्वोक्त विवर्तमात्रता का स्वीकार कर कूटस्थ अद्वितीय चिन्मात्र विवर्त का भी संभव नहीं है, क्योंकि उसका कारण नहीं है, ऐसा श्रीरामचन्द्रजी प्रश्न करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, जैसे परमाकाश स्वप्न में दृश्यरूप होता है वैसे ही यह जाग्रत् में दृश्यरूप होता है इस विषय में यदि सन्देह नहीं है तो यह सर्वश्रेष्ठ महाप्रश्न मुझसे कहने की कृपा कीजिये। अदेह चिति जाग्रत्रूप स्वप्न में सदेहवत् कैसे होती है ? ॥१,२॥

हेतु न होने के कारण आपने विर्वत की अनुत्पत्ति, अनुत्पन्न की स्थिति नहीं होगी अतः शून्यता ही होगी यह सिद्ध करना चाहिए। जगत् की शून्यता इष्ट ही है, अतः आपके प्रश्न में हेतुभूत सन्देह निरुपत्तिक है, यों भगवान् वसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न का उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, यह दृश्य जाग्रत् और स्वप्न में हेतुशून्य आकाश से उत्पन्न हुआ है, अतः शून्याधार शून्यरूप ही होगा ऐसा ही सिद्ध करना चाहिये। और ख (शून्य) परम ब्रह्म ही है अन्य नहीं, इसलिए उत्पत्ति आदि से शून्य अद्वैत ब्रह्म के अविरोधी विवर्त में अनुपपत्ति का सन्देह

उपपन्न नहीं होता, यह अर्थ है ॥३॥

विर्वत में अनुत्पत्ति का ही उपपादन करते हैं।

समस्त कारणाकारों में अस्तमयरूपवाले सर्गादि में ही कोई भूत उत्पन्न ही नहीं होते यानी उस समय पृथिवी आदि किसी भूतका संभव नहीं है ॥४॥

अदेह चिति जाग्रत् और स्वप्न में सदेहवत् कैसे होती है, यह प्रश्न भी अनुत्पन्न है क्योंकि पृथिवी आदि के अभाव में जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज इन चार प्रकार के भूतों के शरीर भी असत् ही हैं ऐसा कहते हैं।

इसलिए पृथिवी आदि के अस्तित्व में ही होनेवाला यह शरीर कुछ भी नहीं है। ये भूत ही निश्चय करके देह हैं और उनका सर्वथा अभाव है ॥५॥

अतः विवर्तपक्ष निर्दोष है यह कहते हैं।

इसलिए चिदाकाश स्वप्नवत् प्रतीत होनेवाले स्वरूपमात्रस्फुरणरूप जगदादि आकारवान् जैसे मायागुण से विक्षुब्ध इस दृश्य को देखता है ॥६॥ यह जो चिदात्मा का भानमात्र है वही स्वप्नभान है और वही जगदाकृति चिदाकाशरूप ही स्वप्न विवर्त, जगदादि शब्द से कहा जाता है ॥७॥ चिदाकाश का जो यह वेदन है यह आकाश के समान निर्मल है इस वेदन के अन्दर भासमान चित् का रूप सूक्ष्म होने पर स्वप्न और स्थूल होने पर जगत् के रूप से स्थित है यानी वेदन ही स्वप्न और जगत् के रूप में स्थित है ॥८॥

इस प्रकार रूपप्रपंच के वेदनमात्र होने पर नामप्रपंच भी वेदन का ही एक नाम भेद प्रसिद्ध होता है, ऐसा कहते हैं।

इसके उपरान्त चारों ओर व्याप्त हुए अपने स्वभावकचन (स्फुरण) में उस चिद्रूप चिदात्मा ने ये पृथिवी आदि पृथक् पृथक् संज्ञाएँ की हैं ॥९॥

अतएव स्वप्न आदि की निवृत्ति होने पर भी वह तत्त्व (भान) कभी शान्त नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

उक्त चिद्भान ही स्वप्न और जगत् शब्दों से निर्दिष्ट होता है। चित् का भान स्वभाव (तत्त्व) है। वह चिदाकाशरूपी भान कभी शान्त नहीं होता ॥१०॥

उसके (चिद्भान के) सद्भाव से ही उसमें बहुत–से विवर्त हुए हैं, ऐसा कहते हैं।

बहुत–सी भिन्न–भिन्न सृष्टि दृष्टियाँ ब्रह्मरूप ही हैं। जैसे आकाश में शून्यता स्थित है वैसे ही वे ब्रह्माकाश में ही स्थित हैं और प्रवेश करती हैं ॥११॥

कौतुकवश इस ब्रह्माण्ड के स्वरूप को सुनने की इच्छा से श्रीरामचन्द्रजी प्रश्न की भूमिका निर्माण करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, आपने लीलोपाख्यान, भुशुण्डाख्यान आदि में करोड़ों प्रकार की सृष्टियों का वर्णन किया है। उनमें से कुछ ब्रह्माण्डकोश में स्थित हैं, कुछ उससे रहित यानी मन आदि में स्थित हैं, कुछ भूकोश में स्थित हैं, कुछ आकाशकोश में स्थित हैं, कुछ तेजकोश में स्थित हैं और कुछ वायुकोश में स्थित हैं। कुछ आकाशतल में स्थित गोलाकार भूमिपीठ हैं, उनमें रहनेवाले उर्ध्व तथा अधोभाग में स्थित चिंटियों के समान भूगोल से चिपके हुए देव, असुर आदि हम ही ऊपर हैं हम ही

ऊपर हैं यों विविध निश्चयवाले हैं, क्योंकि सबकी दृष्टि से भूमि के अधोभाग के जन, भूमि के मूलाकाश से जिनके पैर ऊपर की ओर और सिर नीचे की ओर रहता है, ऐसे प्रतीत होते हैं। इस तरह उन लोकों में ऊर्ध्वमूल अधःशाखा और शिखरवाले होने के कारण वन और पर्वत लटके हुए से मालूम होते हैं। कुछ वातमय (वायु शरीरवाले) प्राणियों से परिपूर्ण हैं, कुछ निरन्तर अन्धकार से व्याप्त हैं, कुछ आकाशमय शरीर धारण करनेवाले जीवों से भरे हैं और कुछ सृष्टियाँ गूलर के फल के समान कोटि कोटि कीड़ों से व्याप्त हैं। कुछ आकाशकोश में स्थित हैं, कुछ सृष्टियाँ शिलाओं के गर्भ में स्थित हैं, कुछ भाण्ड-बर्तन युक्त, मण्डप आदि के कोश में स्थित हैं और कुछ आकाश में पक्षियों के समान स्थित हैं। हे भगवन्, हे तत्त्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ, उनमें से हमारा आश्रयभूत यह ब्रह्माण्ड जिस प्रकार का और जैसा स्थित है, वह मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥१२-१७॥

यह आपका प्रश्न तत्त्वज्ञानविषयक अथवा तत्त्वज्ञानोपयोगी नहीं है, न इसका कोई प्रयोजन है, न प्रकृत वेदान्त-चर्चा के उपयुक्त है, न अपूर्व है और न नियत (सदा सबके मत से एकरूप) है, क्योंकि मुनियों द्वारा विभिन्न ज्योतिष सिद्धान्तों में भूमि, वन आदि की स्थिति अन्यथा (अन्यान्य प्रकार से) वर्णित है। यह सब मैं पहले दिखला चुका हूँ, अतएव मायामय स्वप्नतुल्य इसके विषय में किसी एक का पक्षपात कर सिद्धान्त कथनों का कोई प्रयोजन नहीं है, ऐसा समझ रहे श्रीवसिष्ठजी यह विषय अन्य शास्त्रों का है, उनसे आपको ज्ञात हो ही चुका है, इसलिए यह विषय प्रश्नयोग्य नहीं है, यों समाधान करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स, जो वस्तु अपूर्व हो (अन्य प्रमाणों का गोचर न हो), जो इष्ट न हो, अनुभूत न हो अथवा श्रुत न हो यानी प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द का विषय न हो उसीका गुरु सुन्दर सुन्दर दृष्टान्तों से प्रतिपादन करता है तथा शिष्य श्रवण द्वारा उसीका ग्रहण और मनन द्वारा उसीका ऊहन करता है अन्य का नहीं, यह अर्थ है। हे श्रीरामचन्द्रजी, इस ब्रह्माण्ड का तो ज्योतिष आदि आगमों ने (वेद-शास्त्रों ने) तथा शास्त्र के प्रवर्तक मुनियों तथा देवताओं ने शतशः (अनेक प्रकारों से) वर्णन किया है यह अपूर्व नहीं है और आपको ज्ञात ही है ॥१८,१९॥ जैसा यह आपने जाना है, जैसा आगमों द्वारा वर्णित है वह सब ज्यों-का-त्यों स्थित है इसके विषय में और क्या वर्णन करें ? यानी आपको जो प्रकार ज्ञात है उसीका आपके प्रति कथन अपूर्व नहीं है, इसलिए उसका वर्णन उचित नहीं है ॥२०॥

तो ब्रह्म कैसे ब्रह्माण्डाकार बना, कितने काल तक ब्रह्माण्डाकार रहेगा ? यह मुझसे कहने की कृपा कीजिए, यों श्रीरामचन्द्रजी पुनः प्रश्न करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, चिन्महाकाश यह (ब्रह्माण्ड) कैसे बना, यह कितना विशाल है अथवा कितने काल तक स्थित रहेगा यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥२१॥

ब्रह्म कभी साकार नहीं हुआ, न उसका कालिक परिच्छेद ही है किन्तु अज्ञानी जीव जब तक अज्ञान रहता है तब तक सुप्त पुरुष की तरह अपने आत्मा को जगत् के आकार में देखता है, इस आशय से कहते हैं।

यह अविनाशी ब्रह्म आदि-अन्त शून्य नित्य है। परमाकाश में न आदित्व, न मध्यत्व और अन्तत्व

है तथा न विविध आकार हैं। यह ब्रह्माकाश आदि–अन्त रहित, अक्षर सर्वव्यापी है, अतएव ब्रह्माकाशमय आदि–अन्त विहीन यह विश्व चारों ओर फैला है। इस परम चिदाकाश का स्वतः स्वात्मा में जो भान है, उसको उसी ने स्वयं विश्व कहा है, वह मिथ्या है। जैसे पुरुष का स्वप्ननगरदर्शन है वैसे ही नगरवत् उसका यह भान है वही विश्व कहलाता है ॥२२–२५॥

चिदेकस्वभान ब्रह्म में चित्स्वभाव से विरुद्ध पर्वत काठिन्य आदि स्वभाव कैसे सत्य हो सकते हैं, ऐसा कहते हैं।

यहाँ न कठिन पर्वत हैं, न द्रवरूप जल है, न शून्य यह आकाश है और न सबको कवलित करनेवाला काल ही है ॥२६॥

चिति ही भ्रान्त चेतन को तथा उस उस रूप से स्थित–सी प्रतीत होती है वस्तुतः वह उस रूप में नहीं है, ऐसा कहते हैं।

चिति ने जिस पदार्थ का जिस प्रकार जहाँ पर चिन्तन किया वह उस प्रकार वहाँ चित्तत्त्व में पर्वत, नदी आदि के रूप में पूर्णतया स्थित हैं ॥२७॥ जैसे स्वप्न में अशिला ही शिला होती है, अनाकाश ही आकाश होता है यानी शिला तथा आकाश से अतिरिक्त चैतन्य ही शिला और आकाश होता है वैसे ही यहाँ सर्गादिरूपी स्वप्न में चेतन में दृश्य की (जगत् की) स्थिति है। निराकार शान्त चिति जिस स्वस्फुरण को ही स्वप्न के समान जानती है वह जगत् कहा जाता है, अतः चिद्रूप जगत् निराकार ही है यह बात मैं आपसे शतशः कह चुका हूँ। जैसे वायु के अन्दर स्थित स्पन्द एकमात्र केवल वायु ही है वैसे ही यह ब्रह्म में ब्रह्म है। यह न तो उदित होता है और न शान्त होता है। जैसे जल में द्रवत्व रहता है, जैसे आकाश में शून्यत्व और जैसे पदार्थ में पदार्थत्व रहता है वैसे ही ब्रह्म में यह जगत् है। न तो यह प्रलय में तिरोहित होता है अथवा न सर्गादि में जगत् के अकारण ब्रह्म से निष्कारणक उत्पन्न हुआ है। ब्रह्मपद में यह जगत् न तो अभिन्न है अथवा न भिन्न ही है। अनादि निराभास निराकार चिदाकाश अन्य (विसदृश, जड़) सर्गदृष्टियों का कारण कदापि नहीं हो सकता है। इसलिए जैसे अवयवी के (अंगीके) अवयव (अंग) केवलस्वात्ममात्र हैं यानी उससे पृथक् नहीं हैं वैसे ही निरवयव (अखण्ड) ब्रह्माकाश में जगत्रूपी आकाश स्थित है ब्रह्माकाश से जगदाकाश पृथक् नहीं है ॥२८–३४॥ सब कुछ दृश्य शान्त, निराधार, निरामय (निर्दोष) ज्ञानमात्र है। यहाँ न जगत् की सत्ता है अथवा न असत्ता है तथा यहाँ किंचित् भी भेद नहीं है। दृश्य के इस अपलाप में 'नेह नानास्ति किंचन' यह श्रुति प्रमाण है ॥३५॥

शान्त निराधार ज्ञप्तिमात्र दृश्य का आभास होने में दृष्टान्त देते हैं।

मनोपंख से कल्पित नगर के तथा स्वप्न में दृष्ट नगर के वृतान्त के समान सारा दृश्य फैला है। वास्तव में विषमताशून्य, शान्त, अजन्मा अविनाशी ब्रह्माकाश ही दृश्य के रूप में स्थित है। परम चिदाकाश स्वच्छ, चमकदार, सारभूत स्वरूप ही चित्स्वभाव होने के कारण भ्रमवश जिस जिस आकार में पूर्णरूप में विकसित होता है –स्फुरित होता है–उसी स्वकल्पित आत्मरूप को प्रलयपर्यन्त उसी ने (चिदाकाश ने ही) जगत् के रूप से जाना है अन्य को नहीं ॥३६,३७॥

दो सौ पाँचवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ छठवाँ सर्ग

ब्रह्म ही सत् है जगत् की सत्ता नहीं है इसके निर्णय में कारणभूत कुशद्वीपेश्वर द्वारा कथित प्रश्नों का निरूपण।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र, श्रीरामचन्द्रजी, बिना कारण के जिस जगद्भान का स्फुरण होता है वह कुछ भी है ही नहीं। वास्तव में परमार्थभूत ब्रह्म ही जगत् के रूप में स्थित है ॥१॥ हे महाबुद्धे, कभी किसी ने मुझसे प्रश्न किये थे। इस विषय में सम्यक् ज्ञान की खूब पुष्टि के लिये आगे कहे जा रहे इस महाप्रश्न को और सुनिये ॥२॥ दोनों ओर से सुरोदक तथा घृतोदकवाले महासागरों से कंकण के तुल्य घिरा हुआ, त्रिलोकी में विख्यात कुशद्वीप नामका द्वीप भूलोक में स्थित है। वहाँ पर पूर्व और उत्तर दिशा के मध्य में इलावती नामकी सुवर्णमय नगरी है, जिसमें कान्तिरूपी ज्वालावलि के खम्भों से भूतल और आकाश गुँथे हुए हैं। उस नगरी में पूर्व भाग में प्रज्ञप्ति नामसे विख्यात राजा हुआ। सब जगत् के प्राणी उस पर अनुरक्त थे, स्वर्ग में दूसरे इन्द्र के समान वह सर्वप्रिय तथा समृद्ध था। किसी समय की बात है कि मैं प्रलयकाल में आकाश से गिरे सूर्य के समान किसी प्रयोजन से उस राजा के समीप में पहुँचा। पुष्प, अर्घ्य और आचमनों द्वारा मेरी पूजा कर वह बैठा। किसी कथा के सिलसिले में उसने बड़े विनय से मुझसे यह पूछा : भगवन्, सारे दृश्य का संहार होने तथा सबके कारणभूत बीज आदि तथा पृथिवी आदि का क्षय होने पर शून्यरूप से विस्तीर्ण नाम के भी प्रवृत्तिनिमित्तभूत जाति, गुण, क्रिया और संस्थान के अभाव से अवाच्य परमाकाश में सृष्टि के आरम्भ का कौन मूल कारण (उपादान कारण) फिर हुआ अथवा कौन सहकारी (निमित्त) कारण हुए ? वे कहाँ से (किस उपादान से) हुए और कैसे (किस उपाय से) हुए ? उत्पन्न हुआ जगत् वास्तव में क्या है ? उसके सृष्टि से लेकर प्रलय-पर्यन्त विकार क्या हैं ? उसमें भी कुछ भूमियाँ नित्य अन्धकार से आच्छन्न रहती हैं, कुछ ब्रह्मलोक आदि आकाश में स्थित हैं तथा कुछ नरकादि भूमियाँ कृमि-कीटों से भरी हैं, कुछ अन्तरिक्ष आदि लोक आकाशकोश में स्थित हैं, कुछ दैत्य, दानव आदि की नगरीरूप भूमियाँ शिला के गर्भ में स्थित हैं इत्यादि विचित्रता क्या है ? पृथिवी आदि पंचभूत तथा उनमें रहनेवाले जरायुज, अण्डज आदि चतुर्विधभूतसंघ आदि तत्त्वतः क्या हैं ? उनके बुद्धि आदि आध्यात्मिक पदार्थ क्या तथा कैसे होते हैं ? इन सबकी रचना करनेवाला अथवा द्रष्टा कौन है तथा इनकी परस्पर आधार आधेयता क्या है ? यदि कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्डरूप वेद तथा शास्त्रों के अविरोध के लिए जगतों का कभी भी प्रलय नहीं है, किन्तु तत्-तत् प्राणियों के कर्मों के अनुसार सदा ही जगद्-व्यवहार चलते रहते हैं कभी भी इससे विलक्षण जगत् नहीं था इस निश्चय का समर्थन किया जाय तो जैसा संवेदन होता है वैसी ही अनुभूतियाँ होती हैं इस प्रसिद्धि से संवेदन देह आदि का हेतु है कहा जाय या कुछ और ? प्रथम प्रश्न में वह संवेदन सदा स्थायी है अथवा नश्वर है ? यदि वह सदा स्थायी है तो वह कूटस्थ ही है। वह देह आदि विकार कदापि नहीं होगा। यदि वह नश्वर है तो उसकी उत्पत्ति में कारण कहना चाहिए। उसका निर्वचन होना कठिन ही नहीं असम्भव है, क्योंकि संवेदन के बिना उसकी सिद्धि नहीं हो सकती है। हे मुनिनायक, मुझे दूसरी शंका यह है कि आज जम्बूद्वीप आदि देश में अथवा इस कुशद्वीप में मरे हुए तथा अग्नि में जलाये गये देहनाशवालों के नरक स्वर्ग के भोग के लिए देह को उत्पन्न करनेवाले माता, पिता आदि से

शून्य प्रदेश में शरीर के प्रति उपादान कारण कौन होगा अथवा निमित्त कारण कौन होंगे ?

शंका : धर्म और अधर्म ही देह के आकार में परिणत हो जायेंगे ? समाधान–धर्म और अधर्म दोनों अमूर्त हैं। उन अमूर्तों की मूर्तता असमंजस है। अद्रव्य (द्रव्यभिन्न) धर्म और अधर्म द्रव्यों द्वारा (पार्थिवयुक्त) नहीं है। वहाँ माता–पिता आदि का अभाव है, अतः क्या उपादान कारण होगा और बीज के अभाव से उपर्युक्त धर्मअधर्म का देहाकार में परिणाम असमंजस है। धर्म और अधर्म करनेवाले का परलोक नहीं है यह नास्तिक पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि सही जन्म (वर्तमान जन्म) पूर्व जन्म की अपेक्षा परलोक है। और यह जन्म संवेदन के अनुसार स्थित है ॥३–१८॥

सम्पूर्ण लोक, वेद आदि का विरोध होने से भी नास्तिक पक्ष ग्राह्य नहीं है, ऐसा कहते हैं।

प्रजाजन राजा की आज्ञा आदि से, जो स्वेच्छा चेष्टा आदि के अगोचर हैं, दूर देशान्तर में हैं, अतएव सम्बन्ध रहित हैं और अमूर्त भी हैं, वध, बन्धन, दण्ड आदि फल पाते हैं इसमें कौन उपपत्ति है ? दूसरी बात यह है कि पत्थर, लोहे आदि का खम्भा देवता, मुनि आदि के वरदान से सुवर्ण की प्राप्ति के लिए गमन, आगमन आदि किये बिना ही जहाँ पर क्षणभर में सोने का हो जाता है वहाँ पर वह सम्पत्ति किस उपपत्ति से है ? यह कहिये। और भी सुनिये, अचेतन होने के कारण प्रयोजनसिद्धिरूप निमित्त के बिना ही प्रवृत्त हो रहे विधि प्रतिषेधरूप शास्त्रों का क्या प्रयोजन है, जो कि प्रचार द्वारा लोक में प्रसिद्ध हैं किसी के द्वारा अनुष्ठान न होने से अप्रसिद्ध हैं, यह बतलाने की कृपा कीजिये ? ॥१९–२१॥ हे ब्रह्मन्, जगत् पहले असत् था पश्चात् सत् हुआ जैसे–'असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत' (यह पहले असत् ही था), 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (हे सौम्य, यह पहले एक अद्वितीय सत् ही था) इत्यादि श्रुतियों की परस्पर संगतार्थता (एकवाक्यता) कैसे हुई यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये। और सुनिये, सृष्टि के आरम्भ में शून्य आकाश से यह ब्रह्म कैसे होगा ? यदि आकाश का ऐसा प्रभाव मानें, तो इस तरह के प्रभाववाले सब प्रदेशों में भिन्न आकाश से सब जगह अन्य ब्रह्म क्यों नहीं पैदा होते ?

हे मुनिश्रेष्ठ, औषधियों के अपने अपने पदार्थों के उष्णत्व आदि स्वभाव कैसे स्थित हैं यह मुझसे अपने बोध के अनुसार कहने की कृपा कीजिये ॥२२॥ भगवन्, एक ही पुरुष के मित्र ने प्रयाग आदि मनोवांच्छित फल देनेवाले क्षेत्र में उसके जीवन की कामना कर मृत्यु का आलिंगन किया और शत्रु ने वहीं पर उसके मरण की कामना कर अन्तिम साँस ली। दोनों के मरण के पश्चात् विरुद्ध स्वभाव वाले कार्य कैसे होंगे यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये। तथा एक ही समय में 'मैं आकाश में पूर्ण चन्द्रमा होऊँ इस कामना से चन्द्रत्व प्राप्त करानेवाली उपासनाविधि के अनुसार ध्यान करनेवाले बहुत से उपासकों द्वारा एक ही काल में प्राप्त अवश्यम्भावी चन्द्रत्वप्राप्तिरूप फलों से आकाश एकसाथ अनेकों चन्द्रों से युक्त क्यों नहीं होता ? तथा एक ही स्त्री का अपनी स्त्री के रूप में प्राप्त करने के लिए जब लाखों पुरुषों ने एक साथ ध्यान किया तब उन पुरुषों के ध्यान की फलभूत वह एक ही स्त्री उन पुरुषों को भिन्न देश में स्थित भिन्न भिन्न घरों में एक ही समय कैसे प्राप्त हुई ? तथा हे महामुनिजी, वह एक ही स्त्री अपनी तपश्चर्या से परम ब्रह्मचारिणी, उनमें से प्रत्येक पति के घर में रहने से प्रत्येक के प्रति तपस्या से साध्वी एवं बहुजन भोग्य होने के कारण

असाध्वी कैसे तथा वह उन सबकी स्त्री कैसे हुई यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥२३-२८॥ भगवन्, मैं घर से बाहर नहीं निकलता हुआ भी कल्पनापर्यन्त सप्तद्वीपों का अधीश्वर होकर घर पर स्थित होऊँ यह विरुद्ध है। किसीने वरदान आदि द्वारा जहाँ प्राप्त किया वहाँ घर के भीतर भोग्यवर की वरता कैसे उपपन्न होती है ? ॥२९॥ दान, धर्म आदि तपस्याओं तथा अन्त्येष्टि क्रिया, श्राद्ध आदि कर्मों का अदृष्ट जहाँ क्रिया हुई उसी प्रदेश में यदि उत्पन्न होता है तो यहाँ पर स्थित लोगों को क्रिया का फल परलोक में कैसे होगा, जो उक्त क्रिया की उत्पत्ति से शून्य है ? तथा अदृष्ट मूर्त देह आदि में प्रीतिजनन से सफल है यह कहिये तो परलोक में स्थित देह में अदृष्ट का अस्तित्व कहाँ है ? ॥३०॥ यदि कहिये कि व्यवहार करनेवाला जीव और उसमें समवाय सम्बन्ध से स्थित उसका अदृष्ट जिस जगह उसका भोग होता है वहाँ है। यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस लोक के देह आदि मूर्त पदार्थ अन्य लोक तथा अन्य काल में नहीं रहते जिनके आश्रय से व्यवहार करनेवालों को फल हो सकेगा, यह अर्थ है ॥३१,३२॥ इत्यादि असमंजस कैसे समंजस होगा ? मेरे मन में उठे हुए इन सकल सन्देहों को शीतल और उज्ज्वल वाणी से ऐसे काट डालिये जैसे कि चन्द्रमा सायंकाल में होनेवाले अन्धकार को शीतल तथा उज्ज्वल कान्ति से काट देता है ॥३३॥ हे भगवन्, परमात्मा के विषय में उपदेश द्वारा सकल संशयों का विनाश करने से हजारों विरुद्ध फलवाला भी दोनों लोकों में (इस लोक और परलोक में) हितकर तथा अविरुद्ध हो जाता है, इसलिए परमवस्तुबोध (परमात्मबोध) मुझे दीजिये। आपके सदृश महापुरुषों का समागम मेरे सदृश किसी को साधारण फलप्रद नहीं होता है, यह अर्थ है ॥३४॥

दो सौ छठवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ सातवाँ सर्ग

पूर्व सर्ग में राजा प्रज्ञाप्ति द्वारा किये गये प्रश्नों के कतिपय
प्रश्नों का क्रम तथा व्युत्क्रम से श्रीवसिष्ठजी द्वारा समाधान।

एक विज्ञान से ही सर्व विज्ञान होता है, अतः सकल सन्देहों का मूलोच्छेद द्वारा परिहार होने के कारण मैं सामान्यरूप से सब प्रश्नों का समाधान करूँगा, यों श्रीवसिष्ठजी प्रतिज्ञा करते हैं।

हे राजन्, जिस प्रकार मैं हथेली में रक्खे आँवले की तरह स्पष्टरूप से आत्मतत्त्व का प्रतिपादन करता हूँ उसे तुम सुनो। जिससे तुम्हारे सकल सन्देह सर्वथा पूर्णरुप से निर्मूल हो जायेंगे ॥१॥

सर्वप्रथम स्वयंप्रमाण स्व स्व संवेदन का अनुसरण करनेवाले पुरुषों को पदार्थों के तत्त्व की व्यवस्था करने में कहीं भी किसी भी सन्देह की उपपत्ति नहीं होती है, ऐसा कहते हैं।

सभी जगत् के पदार्थ सदा ही असद्रूप हैं और सदा ही ये सद्रूप हैं, क्योंकि इनकी स्थिति संवेदन के अनुसार है। जहाँ पर जिसके अस्तित्व की प्रतीति होती है, जहाँ पर जिसके नास्तित्व की प्रतीति होती है वहाँ दोनों ही स्थलों में भगवती संवित् द्वारा ही उनके अस्तित्व और नास्तित्व रूपका समर्थन किया जाता है, यह भाव है ॥२॥ जिस विषय में यह पदार्थ है, नीला है, पीला है, घड़ा है, वस्त्र है, अथवा नहीं है इस प्रकार का ही है इस प्रकार के अवधारण से (निश्चय से) संवित् से व्याप्त

है उस विषय का वह रूप अवश्य होता ही है। वह सत् हो अथवा असत् हो इस विषय में आग्रह नहीं है ॥३॥ संवित् का ऐसा स्वभाव ही है। उक्त संवित् द्वारा आत्मरूप में शरीर की पहले भावना की जाती है और संवित् की देहधर्मता यों विपरीतता का अध्यास किया जाता है। उस देह से उस संवित् की अभिव्यक्ति होती है यानी देह की आत्मता। *इस प्रकार नरक और स्वर्ग के भोग के लिए देह के उत्पादक माता-पिता आदि से शून्य प्रदेश में देह के प्रति कौन उपादान कारण है और कौन निमित्त आदि कारण हैं ? प्रज्ञप्ति के इस प्रश्न का समाधान किया गया* ॥४॥ इसीलिए लोग स्वप्न और जाग्रत में देह का चेतयिता के (आत्मा के) रूप में ही अनुभव करते हैं अन्य यानी संवित् को चेतयिता का (देहका) धर्म जानते हैं वह स्वयं चेतयित्री है ऐसा नहीं जानते हैं। इसलिए कोई यानी भ्रान्तिरूप संवित् ही शरीरता है उससे अन्य शरीरता नहीं है ॥५॥

आदि के तीन प्रश्नों का भी इसी तरह समाधान करना चाहिये, क्योंकि जगत् की सिद्धि संवेदन के बलपर ही हुई है, इस आशय से कहते हैं।

सृष्टि के प्रारम्भ में समस्त कारणों का अभाव था, अतएव अवश्य आश्रय लेने योग्य स्वप्नद्रष्टा संविदात्मा ही यों जगत् के रूप में भासता है। ऐसी अवस्था में इस जगत् में स्वप्नवैधर्म्यरूप अन्यता कौन है यानी कोई नहीं है अर्थात् जगत् स्वप्नसदृश ही है। इस प्रकार जो ही ब्रह्मनामक निर्मल संवेदन है, वही इस जगत् के रूप में भासता है, इसलिए जगत् में ब्रह्मभिन्नता कैसी ? ॥६,७॥ इस प्रकार सदा एकरस (कभी विकृत न होनेवाले) ब्रह्म की जगत्रूप से स्थिति होने के कारण जगत् ब्रह्म ही है। विद्वान्, वेद और अध्यात्मशास्त्ररूप प्रमाणों से ऐसा ही हमने अनुभव किया है वही यहाँ पर कहा है इसके अतिरिक्त कुछ नहीं कहा है ॥८॥ जगत् नित्य संविन्मात्र ही है, यह बात सब प्राणियों की बुद्धि में बद्धमूल है, दृढ़ अनुभव से सिद्ध है, नित्य संविदात्मा ही सत्तारूप से सर्वत्र पूर्ण है तथा महात्माओं ने अनेक बार यह कहा है फिर भी जगत् की नित्य संविन्मात्रता का अपलाप करके अन्धकूप के मेढक जैसे जो मूढ़ पुरुष आपाततः वर्तमान नाम और रूप के अनुभव को ही प्रमाण मानकर संवित् नित्य नहीं है, किन्तु उसका कारण शरीर ही है वह जड़ोपादान तथा जड़ात्मा की गुण है यों मोह को प्राप्त हुए हैं वे नैयायिक, चार्वाक आदि अज्ञ उन्मत्त ही हैं। वे हम लोगों की ज्ञानचर्चा में भाग लेने के योग्य नहीं हैं। भले चंगे मस्तिष्कवाले पुरुषों तथा पागलों का एवं मूढ़ तथा प्रबुद्धों का परस्पर संलाप (संवाद) कैसा ? किसी भी प्रकार उसका संभव नहीं है। जिस विद्वान् के कथनोपकथन से सकल सन्देहों का विनाश न हो उसे इस लोक में क्या अन्य लोकों में क्या यानी तीनों लोकों में मूर्ख-कथा ही समझना चाहिये ॥९-१२॥ जो मूढ़बुद्धिवाला चार्वाक यह प्रपंच एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाणवाला ही है, प्रत्यक्षातिरिक्त अन्य प्रमाणोंवाला नहीं है, इसलिए श्रुति आदि से सिद्ध जगत् का ग्रहण नहीं करना चाहिए, ऐसा कहता है वह उस युक्तिविहीन, सर्वविरुद्ध तथा अभिज्ञजनों का कर्णकटु होने से पत्थर के समान कठोर अपने वचन से ही सकल विद्वानों द्वारा अज्ञानी तथा अन्धे कुएँ का मेढक कहा गया है, क्योंकि वह पूर्वापर विचारबुद्धि को ताक में रखकर केवल वर्तमानमात्रगोचर प्रत्यक्ष प्रमाण में ही अपनी बुद्धि से पशु के सदृश स्थित है ॥१३,१४॥

चार्वाक आदि की उक्ति से सन्देहों की कदापि निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अनुमान आदि

प्रमाणों का अंगीकार न करने के कारण उसकी उक्ति युक्तिशून्य है। वेद आदि तो गुरुमुख से पूछे जाने पर सकल सन्देहों की निवृत्ति द्वारा परम पुरुषार्थ के प्रदान में समर्थ हैं, कारण कि वे अपने अनुभव से पूर्ण इस मेरे द्वारा कही हुई दृष्टि का प्रतिपादन करते हैं, ऐसा कहते हैं।

वेद तथा तत्त्वज्ञानी जन जब पूछे जाते हैं तब अपने अनुभव से परिपूर्ण इस मेरे द्वारा कही गई दृष्टि का ऐसे प्रतिपादन करते हैं जैसे कि ये सब संशय नष्ट हो जाते हैं ॥१५॥ यदि प्रत्यगात्मसंवित् ही देहादि जगत् है तो शव (मृत शरीर) भी संवित् होने से क्यों नहीं चेतता यानी चैतन्य प्राप्त करता है ? ऐसी जिसकी शंका है उस मूढ़ श्रोता के लिए यहाँ पर कहा जाता है, तुम सुनो ॥१६॥ जैसे तुम्हारा स्वप्ननगर विस्तृत होता है वैसे ही हिरण्यगर्भ के वेष धारण किये हुए परमब्रह्म का स्वप्ननगर यह जगद्-भान विस्तृत है ॥१७॥ यद्यपि यह सम्पूर्ण जगद्-भान वास्तव में निरन्तर चिन्मात्रस्वरूप ही है तथापि इसमें जैसे तुम्हें अपने स्वप्ननगर में चेतन भ्रान्ति नहीं होती वैसे ही शवादि जड़ में भी नहीं होती है यह जानना चाहिये। अपने स्वप्न में दसों दिशाएँ, विविध पर्वत, पृथिवी आदि, नगर आदि सब कुछ चिन्मय आकाश ही हैं यह विचार करने पर तुम्हारे अनुभव से सिद्ध है ॥१८,१९॥

वैसे ही जगत् में भी चिन्मयता की संभावना करनी चाहिये, ऐसा कहते है।

ब्रह्म संविदाकाशमय है, उसका संकल्पनगर विराट् है, ब्रह्मा भी एकमात्र संवित्मय ही है वैसा ही उसका बनाया हुआ यह जगत् भी शुद्ध संवित्मय ही कहा जाता है ॥२०॥ जैसे तुम्हारे संकल्पनगर में तुमसे जिस-जिस पदार्थ का जैसा संकल्प किया जाता है वैसा ही तुम्हें उसका अनुभव होता है वैसे ही ब्रह्मा के संकल्पनगररूप इस जगत् में चित् द्वारा जिस जिस का जैसा संकल्प किया जाता है उस उसका वैसा अनुभव होता है। जैसे तुम्हारे संकल्पनगर में जिस-जिस पदार्थ का जैसे संकल्प किया जाता है उस समय वह वैसा रहता ही है वैसे ही इस संकल्पनगर में जिस जिसका जैसे संकल्प किया जाता है वह उस समय वैसा रहता ही है ॥२१,२२॥ इसलिये जैसे जीवित देह की चेष्टा होती है, मृत शरीर की चेष्टा नहीं होती। यों नियत इन स्पन्द (चेष्टा) और अस्पन्द (चेष्टा का अभाव) दोनों की हिरण्यगर्भरूप चित् ने ही कल्पना की है वैसे ही उसने उनका स्वयं अनुभव किया इसलिये शव में चेतना की अभिव्यंजक चेष्टा की प्राप्ति नहीं होती है ॥२३॥

'निर्द्रव्यं कुरुते द्रव्यैर्युक्तिरित्यसमंजसा' इस प्रश्न का समाधान करने के लिये उसके अभिप्राय को विशद करते हैं।

महाप्रलय के अन्त में पुनः सृष्टि चलती है। लेकिन समस्त कारणों का अभाव होने से वह सृष्टि द्रव्य तो है नहीं। यदि कहिये 'पूर्व कल्प के प्रजापति से निर्मित द्रव्यों का इस (आधुनिक) सृष्टि में उपयोग होगा, अतः वह निर्द्रव्य कैसे ?' यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि पूर्व कल्प के प्रलय से पहले ही पूर्व कल्प का प्रजापति मुक्त हो चुका इस कारण उसके द्वारा निर्मित जगत् का पूर्ण रूप से प्रलय होने के कारण पूर्व जगत् के प्रकार की स्मृति आदि निमित्तकारण नहीं है, यह तुम्हारा आशय है। लेकिन तुम्हारा यह आशय हमारे सिद्धान्त के अनुकूल ही है, क्योंकि स्वयं ज्योति ब्रह्म ही जगत् के रूप में भासता है। इसलिए ब्रह्मा का पहले हिरण्यगर्भ के रूप में स्फुरण हुआ उसके बाद आकाशरूप उसने स्वयं ही आकाशरूप संकल्पनगर को जगत् जाना। जैसे केवल चिन्मात्ररूप संकल्पनगर का भान होता

है वैसे ही निष्कारण चिन्मात्र उन्मेष जगत् के रूप में भासता है ॥२४–२७॥

इससे 'माता पित्राद्यमावोऽपि' इस प्रश्न का भी समाधान हो गया, ऐसा कहते हैं।

शरीर हो चाहे मत हो। जहाँ–जहाँ चिदाकाश है वहाँ वहाँ वह द्वैताद्वैतमय जगत्‌रूप आत्मा को जानता है ॥२८॥

मरण के पश्चात् जगत् के दर्शन में भी यही न्याय जानना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

जैसे चिदाकाश स्वप्ननगर को देखता है, जैसे संकल्पपुर को देखता है वैसे ही मरने के बाद जगत् को देखता है। जैसे सर्ग के आदि से अपृथिवीमय यह जगत् पृथिवी आदिमय–सा भासता है वैसे ही मृत पुरुष का भी सम्पूर्ण जगत् अपृथिवी आदिमय होता हुआ भी पृथिवी–आदिमय भासता है। जैसे तत्त्वज्ञानी के अथवा स्वप्न से जागे हुए पुरुष के स्वप्न के देश और काल जाग्रत् सृष्टि से तनिक भी व्याप्त (सम्बद्ध) नहीं रहते वैसे ही परलोक प्राप्त पुरुष के भी ऐहिक देश–काल वहाँ (परलोक में) व्याप्त नहीं होते ॥२९–३१॥

इसी तरह तत्त्वज्ञानी के विषय में जगत् भी नहीं व्याप्त होता है, ऐसा कहते हैं।

स्पष्टरूप से अपने द्वारा अनुभूत भी यह जगत् प्रबुद्ध के (तत्त्वज्ञानीके) विषय में वैसे ही कुछ नहीं है जैसे कि आकाश के विषय में कारण कुछ नहीं है। जैसे अप्रबुद्ध पुरुष को असत् ही यह जगत् देदीप्यमान मालूम होता है वैसे ही परलोकगत पुरुष को चिदाकाश ही सर्गवत् प्रतीत होता है। परलोकगत पुरुष को अभूतपूर्व चिदाकाश ही द्युलोक, पृथिवी, यम आदि से युक्त पूर्वसिद्ध–सा व्याप्त प्रतीत होता है। यहाँ मैं मरा, फिर नारकीय जीव के रूप में उत्पन्न हुआ, यमलोक में आया और वहाँ पर शुभ–अशुभ कर्मफलों को भोगता हूँ यों मृत पुरुष अतिनिबिड़ भ्रान्ति को देखता है ॥३२–३५॥

उक्त भ्रान्ति मोक्ष के उपायभूत अध्यात्मशास्त्रों के परिशीलन आदि से ही पूर्णरूप से नष्ट होती है उसके विनाश का दूसरा मार्ग नहीं है, ऐसा कहते हैं।

मोक्ष के उपायभूत श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि का अनादर करनेवाले पुरुषों का यह मोह (अज्ञान) कदापि शान्त नहीं होता है। बोध होने से वासना के मिट जाने पर यह मोह नष्ट हो जाता है ॥३६॥

इससे धर्म और अधर्म ही जगत् के आकार में परिणत होते हैं यह आस्तिक लोगों का पक्ष भी अनुगृहीत हुआ, इस आशय से कहते हैं।

अप्रबुद्ध पुरुष की जो संवित् है वह धर्म–अधर्मवासना है जो आकाश में ही आकाशरूप भासती है वही यह जगत् के रूप में स्थित है। जगत् का स्वरूप स्वतः शून्यरूप भी नहीं है और सत्स्वरूप भी नहीं है, किन्तु ब्रह्मनाम का चैतन्य ही जगत्स्वरूप है और अज्ञान के कारण ही अनर्थभूत है तत्त्वज्ञानी पुरुष के लिए तो परमकल्याण निरतिशय आनन्दरूप ही है ॥३७,३८॥

दो सौ सातवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ आठवाँ सर्ग

जैसे प्रजा दूर देश में स्थित प्रयत्नों से अन्यत्र वध, बंधन आदि फल पाती है वैसे ही ब्रह्मा की इच्छा का वर्णन।

'अनिच्छतेहितैर्दूरदेशान्तरगतैः फलम्। प्रजा प्राप्नोत्यसंबद्धैरमूर्तैरत्र कः क्रमः ॥' इस प्रश्न का

उत्तर सुनाने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : राजन्, प्रजाओं को अमूर्त, दूर स्थित अतएव सम्बंधरहित राजा की आज्ञा आदि से अपने ही घर में जैसे शुभाशुभ फल (निग्रहानुग्रहरूप) प्राप्त होता है उसको सुनो, मैं कहता हूँ ॥१॥ चूँकि ब्रह्म ही अज्ञानवश दृश्यबोध से दृश्य के रूप में प्रतीत होता है और ब्रह्मज्ञान से ब्रह्म ही है, इसलिए यह जगत् ब्रह्मसंकल्पनगररूप से स्थित है ॥२॥ संकल्पनगर में जिस जिस वस्तु का जिस समय जैसा संकल्प किया जाता है वह वह वस्तु उस समय वैसे ही अनुभूत होती है। जैसे तुम्हारे इस संकल्पमय घर में जो यह प्रजा है वह तुम्हारे संकल्प के अनुसार बनी वैसे ही ब्रह्म के संकल्प से सम्पन्न जगत् में भी यह प्रजा पूर्णरूप से ब्रह्मसंकल्प के अनुसार ही होती है। अपने संकल्पनगर में यह सब जिस प्रकार का तुम्हारा स्थित है। तुम अपने संकल्पनगर में जिसका जैसा संकल्प करते हो उसको वैसा ही देखते हो ॥३-५॥

लेकिन जो जगत् में हमारे संकल्पनगर की विलक्षणता का अनुभव होता है उसे वर-शाप संकल्प के तुल्य समझना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

मुनियों की यम, नियम आदि के सेवन से शुद्ध हुई संवित् वर और शाप से जैसे तत्-तत् व्यवहारक्षेम यानी निग्रहानुग्रहसमर्थ होती है, ब्रह्मसंवित् भी वैसे ही होती है, यह अर्थ है। जो वर और शाप द्वारा होता है उसे भी तपस्वियों के वर और शाप सिद्ध हों यों ब्रह्म की कल्पना से ब्रह्मसम्बंधी ही सत्यसंकल्प समझना चाहिये ॥६॥ प्रकृत में प्रजाजन विधि-निषेध शास्त्रों द्वारा बोधित धर्म और अधर्म में से एक आस्थावश जो धर्म अथवा अधर्म का फल प्राप्त करते हैं वह भी ब्रह्म के ही इस प्रकार के संकल्पवश ही होता है ॥७॥ इस जगत् में जो जीव है उनके सृष्टिरूप अभिव्यक्ति के पूर्व उपलब्धि न होने के कारण पहले यह जगत् असत् था। सृष्टि के उपरान्त सत्यरूप से इसकी उपलब्धि होती है ॥८॥

असत् जगत् का कुछ काल तक सत्तारूप से जो किंचित् भान होता है वह भी ब्रह्म के सत्यसंकल्प से ही होता है, ऐसा कहते हैं।

राजन्,यह जगत् चिद्रूप ब्रह्म के संकल्प से ही कुछ काल के लिए सत् है, अतः जो ब्रह्म के जगत्रूप से उन्मेष और निमेष हैं वे ही इस जगत् के उदय और प्रलय हैं। राजा ने कहा : भगवन्, यदि जगत् ब्रह्म के संकल्पवश सत् है तो पहले यानी सुषुप्ति और प्रलयकाल में क्यों प्रतीत नहीं होता ? पीछे यानी जाग्रत् और सृष्टिकाल में किसलिए दिखाई देता है ? सदा विकार को प्राप्त हो रहा यह जगत् सुस्थिर (सदा स्थायी) कार्य के समान भासमान कैसे है ? यह मुझे बतलाने की कृपा कीजिये ॥९,१०॥

यह जगत् मायिक है, इसलिए इसका स्वभाव ही ऐसा है, यों श्रीवसिष्ठ जी प्रज्ञप्ति राजा के प्रश्न का उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : राजन्, इस चिदाकाश के संकल्पनगर में स्थित जगत् में इस प्रकार का स्वभाव ही है कि यह सृष्टि में यानी स्वप्न और जाग्रत् में उत्पन्न होकर प्रलय, सुषुप्ति और मोक्ष में आविर्भूत होता ही नहीं है और फिर क्षणभर में आविर्भूत हो जाता है। बालक के संकल्प के नगर के तुल्य तथा आकाश में स्थित केशों के वर्तुलाकार गोले आदि के समान ये सत् असद्रूप सृष्टियाँ चिदात्मा में भासती हैं। तुम संकल्पनगर का निर्माण कर अन्य संवित् से यानी उसके प्रलय संकल्पवश

स्वयं उसी क्षण में उसका विनाश करते हो यह जैसे तुम्हारा अपना स्वभाव है वैसे ही चिदाकाश के संकल्पनगर में जो उन्मज्जन निमज्जन है, उन्मेष तथा निमेष है वह ब्रह्म का निर्मल स्वभाव कचन (स्फुरण) ही है। इसलिए त्रिजगदाकाश केवल एकमात्र संविन्मय होकर आदि, अन्त शून्य ब्रह्माकाश ही है। चूँकि वह स्वयं ही जगत् है, इस कारण वह परमेश्वर जो जो सोचता है वह करता भी है। आवरण रहित उसके सत्यसंकल्प से हजारों योजनों में बहुत से युगों से व्यवहित भी पुण्य, पाप आदि कर्म परलोक आदि में समीप में विद्यमान की तरह वैसे ही स्वर्ग, नरक, भोग, ऐश्वर्य आदि कार्यकारी होते हैं जैसे कि स्वप्न होता है। जैसे स्फुरित हो रही चमक रही मणि में अपनी दीप्ति से ही कान्ति के उन्मज्जन और निमज्जन का आविर्भाव और तिरोभाव का अनुभव होता है वैसे ही चिदाकाशरूपी मणि में जगतों के सृष्टिप्रलयरूप परिवर्तन तथा नाना कर्मों के विचित्र विविध फलभोगरूप परिवर्तन भी अनुभूत होते हैं ॥११-१८॥

अथवा विधिप्रतिषेधरूप शास्त्रों को सफल बनानेवाली लोकमर्यादा ही ब्रह्म में बद्धमूल है स्थित है अतः वह दूर स्थित कर्मों के भी फल की कल्पना करती है, ऐसा कहते हैं।

विधि शास्त्र और निषेध शास्त्रों का लोकमर्यादा संरक्षण ही एकमात्र प्रयोजन है, लोकस्थिति ही, जो ब्रह्म में उगी हुई है, मरकर परलोक में गये हुए पुरुष को फल देनेवाली है ॥१९॥

वास्तव में तो आत्मा के जन्म और मरण ही नहीं होते हैं, किन्तु आत्मा स्वयं ही भ्रान्तिवश जन्म और मरण की कल्पना करता है, ऐसा कहते हैं।

ब्रह्म न तो कभी अस्त को प्राप्त होता है और न कभी उदित होता है। ब्रह्मचिदाभास सदा ही आत्मा में स्थित है ॥२०॥ जैसे द्रष्टा, दृश्य आदि जगत् कल्पनानगर एकमात्र कल्पना ही है वैसे वह स्वयं जगत्-सा प्रतीत होता है। उसके जन्म का भी वाणी से व्यपदेश होता है, वास्तव में वह नहीं होता है ॥२१॥

वैसे ही मरण भी पूर्वदेहभ्रान्ति के स्फुरण का उपसंहार ही है और कुछ नहीं है, दृश्य जगत् के आकाश में स्फुरण और अस्फुरण अज्ञानउपहित चित् का स्वभाव ही है, ऐसा कहते हैं।

जब चिदाकाशस्वरूप जीव स्वभावतः स्फुरण का त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित होता है तब वह शान्त (मृत) कहा जाता है। जैसे ये स्पन्दन और अस्पन्दन वायु के स्वभाव ही हैं अन्य नहीं हैं वैसे ही ये स्फुरण और अस्फुरण उस आत्मा के निर्मल और अक्षय स्वभाव ही हैं, अन्य नहीं हैं ॥२२,२३॥

मणि, मन्त्र और औषधियों के विविध प्रभाव भी ब्रह्म के सत्यसंकल्पवश ही वैसे होते हैं, इस बात को दृष्टान्त के साथ कहते हैं।

तुम्हारे कल्पनानगर के समान यहाँ जरा, मृत्यु और विनाश करनेवाले मणि, मन्त्र आदि के पृथक् स्वभाव अमुक मन्त्र या औषधि इस प्रकार के प्रभाव से युक्त हों यों ब्रह्म संकल्प से ही उदित होते हैं इस प्रकार ब्रह्म के संकल्परूप त्रिलोकी में सब औषधियों तथा सब पदार्थों के स्वभाव संकल्पवश उदित हैं ॥२४,२५॥

तो क्या प्रत्येक क्षण में प्रत्येक वस्तु की शक्ति, क्रिया आदि भेदों का संकल्प करनेवाले ईश्वर की कल्पना करते हो ? इस प्रश्न पर नकारात्मक उत्तर देते हैं।

ईश्वर, प्रत्येक अपने संकल्पनगररूप त्रिजगत् में प्रत्येक क्षण में प्रत्येक वस्तु का स्वयं संकल्प करता है ऐसी ईश्वर की कल्पना हम नहीं करते अपितु जैसे बालक अपने खिलौनों का एक ही बार संकल्प करता है वैसे ही ईश्वर अमुक वर्ग का पदार्थ अमुक वर्ग के कार्य को करनेवाला हो, अमुक जाति के पदार्थ इस प्रकार उत्पन्न हों ऐसी कल्पना करता है। उससे ही बीज, अंकुर आदि के क्रम से पूर्व-पूर्व तृण आदि पदार्थ उत्तरोत्तर तृण आदि पदार्थों की कल्पना करता है ॥२६॥ इस चिद्घन का यह स्पष्ट स्वभाव ही है कि यह स्वयं जिस जिसका संकल्प करता है, क्षणभर में ही वहाँ पर वे वे पदार्थ अपने अपने अवयवों के साथ तथा शक्ति, कार्य आदि भेद और कार्य परम्पराएँ एक बार के संकल्प से ही सिद्ध हो जाती हैं ॥२७॥ संकल्पकल्पित पदार्थ स्वभाववश नानारूप से स्थित होने पर भी स्फुरणस्वभाव ब्रह्म में चिदात्मकरूप से भासते हैं इसी प्रकार स्वतः नाना आकारस्वभाववाले होने पर भी सद्रूप से एक तत्त्ववाले (एकाकार) स्थित हैं। उन पदार्थों में से प्रत्येक में अस्ति, भाति और प्रियरूप से ब्रह्मचिन्मात्रता है, क्योंकि चिति सर्वात्मक है जहाँ पर जैसे रहती है वहाँ पर वैसी भासती है ॥२८,२९॥ इस प्रकार आदि, मध्य और अन्त रहित, अपरिमेयशक्तिशाली ब्रह्म सत्‌असत् दोनों रूप से स्थित है, क्योंकि 'सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्' (सत्य परमात्मा सत्य और असत्य हुआ) ऐसी श्रुति है। वह सर्वात्मक है, अतः प्राणियों में, तृण, गुल्म, पेड़-पौधो आदि में जहाँ पर जो वस्तु जिस स्वभाववान् के रूप में प्रसिद्ध है वहाँ पर स्वयं ही तत्स्वभाव (उस स्वभाव का) होकर स्थित है, यह अर्थ है ॥३०॥

दो सौ आठवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ नौवाँ सर्ग

परस्पर विरुद्ध फल देनेवाले कर्मों के भोगों की एक साथ
प्राप्ति होने से अविरोध द्वारा सफलता का युक्ति से साधन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वांछित फल देनेवाले प्रयाग आदि क्षेत्र में एक ही पुरुष के मित्र ने उसके दीर्घजीवन की प्रार्थना कर अन्तिम साँस छोड़ी और शत्रु ने उसके शीघ्र मरण की कामना कर मृत्यु का आलिंगन किया यह दोनों की दीर्घ जीवन और शीघ्र मरणरूप विरुद्ध कामनाएँ कैसे सम्पन्न होंगी ? यहाँ जो तुमने प्रश्न किया था, उसका उत्तर सुनो ॥१॥

राजन्, ब्रह्म ने सृष्टिरूप अपने संकल्पनगर में प्रयागादि सब कामनाप्रद क्षेत्रों तथा सब पदार्थों के फल का, उस अधिकारी पुरुष के लिए, संकल्प से समर्थन किया है। जिसमें (संकल्पनगर में) जिसकी (अधिकारी की) वांछित फल सिद्धि के लिए वांछित फल देनेवाले प्रयाग आदि पुण्यतीर्थ, उनमें किये गये स्नान, दान, तप, यज्ञ आदि पुण्य तथा उन दोनों से पुण्यतीर्थ और स्नानादि पुण्य से संस्कृत शरीर ये तीनों यदि शास्त्रानुकूल आचरण करनेवाले अधिकारी के हैं तो उसके द्वारा यहाँ पर मेरे द्वारा किये गये पुण्य से मेरा अभीष्ट फल अवश्य होगा यों विश्वास से अनुष्ठित प्रयाग मरण आदि से प्रार्थित फल अवश्य होता ही है ॥२,३॥

पुण्यात्मा पुरुष का ऐसा हो लेकिन जो पापी है, पर श्रद्धा पूर्ण रखता है उसको प्रयाग-मरण आदि

से क्या फल होता है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

पापी श्रद्धालु पुरुष का प्रयाग आदि पुण्य क्षेत्र के मरण से उत्पन्न चितिशक्तिरूप वह पुण्य ब्रह्महत्यादि महापाप से अंशतः अथवा सम्पूर्णतः जैसा क्षेत्र का माहात्म्य हो, पुरुष को अलगकर स्वयं भी शान्त हो जाता है, क्योंकि 'धर्मेण पापमपनुदति' (धर्म से पाप को नष्ट करता है) इत्यादि श्रुति है ॥४॥ यदि शास्त्रों द्वारा शिक्षणीय (शिक्षाप्राप्तियोग्य) पुरुष में पाप की मात्रा कम हो और तीर्थक्षेत्र में स्नान, दान आदि से होनेवाला धर्म अधिक मात्रा में हो तो वह उस पाप को निःशेष रूप से विनष्टकर श्रुति द्वारा प्रतिपादित फल के विषय में अंशतः असर डालता ही है यानी उसे सिद्ध करता ही है ॥५॥ हे राजन्, लेकिन जहाँ पर शास्त्र द्वारा शिक्षणीय पुरुष का पाप पुण्यक्षेत्रार्जित धर्म के बराबर ही होता है वहाँ पर तुल्यबल होने के कारण उस धर्म से उस पाप की निवृत्ति नहीं हो सकती इसलिए पुण्य और पाप के भोग के लिए उसके दो शरीर और उनके चिदाभास दो भ्रान्ति और प्रतिभात्मक स्फुरित होते हैं ॥६॥ पापों और पुण्यों का महान् फलरूप इस प्रकार का जो जो जैसे ब्रह्म संकल्प से स्फुरित होता है वह वह वैसे ही व्यवस्थित है, उसमें कुछ भी हेर–फेर नहीं हो सकता ॥७॥

ब्रह्म के संकल्प से कचित (स्फुरित) है ऐसा कहा इसमें क्या वह ब्रह्म है, अथवा जगत् उसके संकल्प से कचित कैसे ? यह प्रश्न होने पर कहते हैं।

यह चिद्धातु ब्रह्म कहा जाता है। वही ब्रह्मा आदि समष्टि जीव और अहमादि व्यष्टि जीव कहलाता है। वह जैसे संकल्प करता है समष्टि–व्यष्टि उपाधि में उसका संकल्परूप जगत् भी वैसे ही स्थित है ॥८॥ ब्रह्म के संकल्प के अनुसार ही शास्य (शासनयोग्य) पुरुष की पुण्यक्षेत्रों में उपार्जित पुण्य के अनुसार उसके फलभोगरूप प्रतिभा वैसे ही स्वप्न के समान उदित होती है जैसे कि पुण्यविपरीत पापवाले की नरकादि प्रतिभा उत्पन्न होती है ॥९॥

कैसी–कैसी प्रतिभा उदित होती हैं ? उनका उल्लेखपूर्वक निरूपण करते हैं।

यह मैं आज अकेला ही मर गया, ये मेरे बन्धु–बान्धव सब जीते हैं, ये सब मेरे लिये रोते हैं, मैं यह अकेला ही परलोक में पहुँच गया हूँ ॥१०॥ इसका मरण जैसे प्रतिभारूप है वैसे ही इसके बन्धुओं का भी मरने पर सर्वत्र प्रसिद्ध रोना, शव को ले जाना, श्मशान में जाना, जलाना आदि सब कुछ धातुक्षोभवाले लोगों की (संनिपात से जिनके वायु, पित्त आदि धातु क्षुब्ध हो गये हैं ऐसे लोगों की) तरह वैसी प्रतिभा ही है, यह समझना चाहिये ॥११॥ लेकिन जब मनुष्यों के अति उत्कट पाप अथवा पुण्य होते हैं तब क्षुब्ध हुए अपने पाप अथवा पुण्यों से महात्मा पुरुषों द्वारा निग्रह–अनुग्रह दृष्टि से देखे जाने पर दूसरे पुरुषों द्वारा लक्ष्य (देखने योग्य) अथवा अन्य पुरुषों द्वारा अलक्ष्य (देखने के अयोग्य) पुण्य अथवा पापों के फलभूत शरीर आदि चित्संकल्पवश होते हैं ॥१२॥ वे भी (सर्व साधारण लोग भी) कहीं पर अति उत्कट पुण्य अथवा पापों से शास्य (शासन योग्य) को अचेतन शवरूप में पड़ा मरा हुआ देखते हैं, रोते हैं और उसके बन्धु–बान्धवों के साथ उसे चिता की अग्नि में डालते हैं ॥१३॥ मित्र और शत्रु के पृथक् पृथक् कर्मों से शास्य (शासन योग्य) एक पुरुष स्नेहसंवित्रूप जीव ने यानी मित्र ने प्रयागादि तीर्थक्षेत्र में जैसी प्रार्थना की थी वैसे स्थित जरा और मृत्यु से रहित अपने को दुःखशून्य (सुखी) जानता है ॥१४॥

क्या वह दूसरे शरीर से अपने को जरा–मृत्युहीन और सुखी जानता है ? इस प्रश्न पर नकारात्मक उत्तर देते हैं।

वह वर्तमान यथास्थित देह से अपनी जीवितावस्था का अनुभव करता है। तब उसके शत्रु का मनोरथ कैसे सिद्ध होगा ? यानी जिसने प्रयाग आदि कामनाप्रद प्रदेश में मृत्यु के समय उसके शीघ्र मरण की कामना की थी उसके संकल्प की सिद्धि कैसे होगी ? यह यदि शंका हो तो सुनो। प्रयाग आदि पुण्यतीर्थ में शत्रु की मृत्यु करानेवाले पुण्य का आचरण करनेवाले शत्रु से जबर्दस्ती मरने के लिए प्रेरित होकर वह दूसरे मित्र, स्वजन आदि से अदृश्य शरीर से उसी समय में मृत्यु का भी अनुभव करता है ॥१५॥ शत्रु द्वारा किये गये अभिचार के (तंत्र, मंत्र, शाप आदि द्वारा मारण के) प्रतीकार से रहित शास्य की संवित् शत्रु की कलुषित संवित् को (मरण आदि को) तुरन्त उसी समय जान जाती है। कवच पहने तथा शस्त्रास्त्र से सजे हुए शत्रु को कवच न पहने हुए शस्त्रास्त्रविहीन विश्वस्त पुरुष के शरीर को बाण, तलवार, भाले आदि से घायल करने में क्या देर लग सकती है ? ॥१६॥ उसके सब बन्धुबान्धव भी उसको वैसे ही अमर देखते हैं इस तरह जीवन और मरण दोनों उसको एक साथ प्राप्त होते हैं ॥१७॥

इसी न्याय से सब विरुद्ध प्रश्नों का समाधान समझना चाहिये, इस आशय से कहते हैं।

यह अप्रतिहतरूप से आविर्भूत त्रैलोक्य केवलमात्र भ्रमरूप है। भ्रान्ति में क्या भ्रान्तिविपरीत नहीं हो सकता। स्वप्न, संन्निपात आदि में लाखों विरुद्ध विरुद्ध बातें एक साथ होती दिखाई देती हैं ॥१८॥ संकल्पनगर और स्वप्ननगर में जो भ्रान्ति मालूम होती है जाग्रत्रूप स्वप्न में उससे अधिक ही यह भ्रान्ति अनुभूत होती है उससे कम अनुभूत नहीं होती ॥१९॥

'धर्म और अधर्म दोनों अमूर्त हैं, उन दोनों की मूर्तता कैसे ?' इस प्रश्न को प्रस्तुत चर्चा के अनुकूल सुधारकर राजा फिर पूछता है।

हे ब्रह्मन्, धर्म और अधर्म ब्रह्म संवित् के कारण कैसे होते हैं ? धर्म–अधर्म दोनों जब अमूर्त हैं मूर्तिमान् नहीं हैं तब उनमें से एक द्वितीय शरीर कैसे बन जाता है ? ॥२०॥

धाता का सत्यसंकल्प अमूर्त को भी मूर्तिमान् बनाने में समर्थ है, इस आशय से श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे महामते, ब्रह्म के संकल्पनगररूप इस जगत् में क्या सत्य (संगत) नहीं हो सकता अथवा क्या असंगत नहीं हो सकता ? ॥२१॥ जैसे हम लोगों के संकल्पनगर में ऐसा कोई नहीं है जो संभव न हो सके वैसे ही इस ब्रह्म के संकल्पनगररूप त्रिलोकी में कुछ भी असंभव नहीं है यानी सब कुछ हो सकता है ॥२२॥ जैसे स्वप्ननगर और संकल्पनगर में एक ही चिति लाखों रूप धारण करती है वैसे ही जाग्रत्स्वप्न में एक ही चिति महासेना के आकार को प्राप्त होती है ॥२३॥ जैसे चिति जाग्रत् में एक से अनेक रूप होती है वैसे ही जहाँ पर लाखों एकरूप होते हैं वह सुषुप्ति भी वही होती है। एक ही चिति अनेकरूप होती है और अनेकरूप से एकरूपता को प्राप्त होती है इस बात का स्वप्न तथा संकल्प में अनुभूत सेना के स्मरण में, समूहरूप की एकाकारता में तथा 'इदम्' के (यह के) स्थान में 'तत्' (वह) कल्पना से अन्यथा अनुभव होता है, इत्यादि संकल्पनगर

और स्वप्ननगर में किसको अनुभूत नहीं है। इसलिए इस जगत्‌रूप चिदाकाशसंकल्प में क्या संभव नहीं है अथवा क्या संभव है ? ॥२४-२६॥ इस प्रकार यह भ्रान्ति देदीप्यमान चिदाकाशमय ही प्रतीत होती है यहाँ पर न कुछ सत् है, न असत् है अथवा न सत् असत् है ॥२७॥ जिस जिसका जैसे अनुभव होता है वह वैसा ही है। तत्त्वदर्शी पुरुष को इस विषय में क्या असमंजस है ? ॥२८॥

धर्म और अधर्म का आचरण करनेवाले लोग भी शास्त्र द्वारा अर्जित अपने अपने निश्चय के अनुसारी स्वर्गों को ही प्राप्त करते हैं, ऐसा कहते हैं।

वहाँ स्वर्ग में देवताओं के उपभोग्य तथा अमृतमय जलवाले झरने, तालाब, फल, फूल आदि से पूर्ण पर्वत हैं। यह शास्त्र से जानकर उसके अनुसार संकल्प होने पर यहाँ धर्म का अनुष्ठान किया जाय तो वहाँ पर पहुँचकर धर्मानुष्ठानकर्ता वैसे पर्वतों को क्या प्राप्त नहीं हुआ यानी उनको प्राप्त हुए स्वात्मा का अनुभव क्यों नहीं करता है ? ॥२९॥

यदि मिथ्या होने के कारण यह असमंजस है, ऐसी आपकी मति है तो यह लोक, इसमें किया गया धर्मादि का अनुष्ठान, उससे परलोक की प्राप्ति और उसमें सुख-दुःखभोग यह सारा का सारा जगत् असमंजस ही है, ऐसा कहते हैं।

इस जगत् में जो कार्य किया जाता है, उसका फलभोग परलोक में प्राप्त होता है। इस प्रकार इस संकल्पनगर में सब कुछ ही असमंजस है ॥३०॥ यदि जगत् में कुछ भी भूत, भुवन आदि वस्तु सत्य हो तो उसमें यह विरोध होता तब यह समंजस है यह असमंजस है इस प्रकार का न्याय सम्पूर्ण अकुंठित होता किंतु सभी द्रष्टा संवित्‌रूप हैं, अतः उनका अपना संकल्प ही दृश्य के रूप से स्थित है, वास्तविक नहीं है। चूँकि जगत् भी ब्रह्मस्वरूप से स्थित चित् के संकल्परूप ही हैं, अतः इस असमंजसता का परिहार करनेवाले न्याय की जो स्वप्न और संकल्प की कल्पनाओं में अनुभव के अनुसार स्थित है, जगतों में भी योजना करनी चाहिये ॥३१,३२॥ जैसे तुम्हारे संकल्पनगर में सकल पदार्थों का असंभव है ही नहीं यानी सकल पदार्थों का वहाँ पर संभव है वैसे ही ब्रह्म के संकल्परूप जगत् में भी किसी पदार्थ का असंभव नहीं है। ब्रह्म के संकल्प में जिसकी जिस प्रकार कल्पना की वह जब तक संकल्प रहता है तब तक उस प्रकार के संनिवेश से युक्त वैसे ही स्वभाव से रहती है ॥३३,३४॥ उस प्रकार से संनिवेश नियम से ही यहाँ ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सब वस्तुओं का भलीभाँति (ठीक ठीक अविसंवादरूप से) दर्शन होता है तथा कर्मेन्द्रियों के व्यवहार में संकरता भी नहीं होती। चित् के पूर्णप्रयत्न से नियत शरीर-संगठनवाला (आकार-प्रकारवाला) पदार्थ चित् के अन्य प्रयत्न के बिना अन्यथा भी नहीं होता ॥३५॥ ब्रह्म के संकल्प में जैसे जगत् का भान हुआ वैसे ही वह प्रलयपर्यन्त स्थित रहा। फिर प्रलय के बाद अन्य संकल्प के रूप से अन्य ब्रह्मांड प्राप्त होगा ॥३६॥ जैसे स्वप्न में स्वप्ननगर का भान होता है वैसे ही कल्प कल्प में चितिरूप चितिस्वप्न में संकल्परूप जगत् का प्रत्येक जीव के प्रति भान होता है ॥३७॥ हे राजन्, तुम संकल्पनगररूप इस जगत् में जो जो नहीं हो सकता है समझते हो वह कुछ नहीं है यानी इसमें सब कुछ का संभव है। वह सब कुछ कल्पना करनेवाले इस परमब्रह्म चिदात्मा से पृथक् नहीं है, इसलिए तुम सकल जगत् को ब्रह्म ही जानो ॥३८॥

दो सौ नौवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ दसवाँ सर्ग

राजा प्रज्ञप्ति के शेष प्रश्नों के समाधान का निरूपण तथा
तत्त्वदृष्टि से देहादि जगत् की ब्रह्ममात्रता का निरूपण।

खे स्यामक्षयपूर्णेन्दुरिति ध्मायिचितैः फलैः। तुल्यकालमनुप्राप्तैः सहस्रेन्दु न किं नभः॥

मैं आकाश में अक्षय पूर्ण चन्द्रमा होऊँ' इस कामना से ध्यान करनेवालों के संचित एक समय में प्राप्त हुए चन्द्रत्वरूप फलों से आकाश एक साथ अनेक चन्द्रयुक्त क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न का उत्तर पहले सुनाते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे राजन्, सैकड़ों ध्यान करनेवाले लोगों द्वारा अक्षय चन्द्रत्वरूप फल प्राप्त होने पर जैसे आकाश सैकड़ों पूर्णचन्द्रों से युक्त नहीं होता उस प्रकार के इस मेरे कथन को सुनो। यद्यपि सत्यचन्द्रबिम्ब का अहंभाव से ध्यान करनेवाले पुरुष प्राप्तव्य चन्द्रत्व में चिरकालीन ध्यान से अन्य भाव का विस्मरण होने के कारण ऐन्दवों के उपाख्यान में उक्त ऐन्दवन्याय से सुस्थित होकर चन्द्रत्व को प्राप्त ही हैं तथापि वे न तो इस आकाशतल में प्राप्त हुए और न इस चन्द्र में प्रविष्ट हुए॥१,२॥

क्यों आकाशतल में प्राप्त नहीं हुए ? इस पर कहते हैं।

दूसरे के संकल्पनगर में दूसरा प्रविष्ट हो यह बात कहाँ देखी गई है यह बतलाओ। संकल्पनगर में पदार्थों की प्राप्ति उसी पुरुष को होगी जिसका कि वह संकल्पनगर है। अन्य के संकल्पनगर में कदापि पदार्थों की उपलब्धि नहीं हो सकती है। अलग अलग अपनी अपनी संकल्पसृष्टि के आकाशों में ही स्थित वे चन्द्रमा, जिनकी कला का कदापि क्षय नहीं होता है, वहीं पर प्रकाशित होते हैं। 'इसी चन्द्रमा में मैं प्रविष्ट होऊँ' ऐसा ध्यान करनेवाला उपासक, जो कि अन्दर आत्मबुद्धिसुख से शून्य है, इसी चन्द्रमा में ही प्रविष्ट होता है॥३–५॥

इसी चन्द्रमा में सबके सब ध्यानकर्ता क्यों प्रविष्ट नहीं हुए, क्योंकि ऐसा करने में लाघव है। इस प्रश्न पर कहते हैं।

मैं चन्द्रबिम्ब के सुख से युक्त होकर चन्द्रमा में प्रविष्ट होऊँ, ऐसा ध्यान करनेवाला पुरुष उस प्रकार के सुख का भागी बनता है, ऐसा निश्चय है। भाव यह कि उन सबने वैसा ध्यान नहीं किया यानी 'एक ही अमुक चन्द्रमा में प्रविष्ट होऊँ' सबने ऐसा ध्यान नहीं किया, किन्तु तुम्हारे प्रश्न के अनुसार 'आकाश में अक्षयपूर्ण चन्द्रमा होऊँ' इस कामना से सबने ध्यान किया॥६॥

यदि कोई प्रश्न करे कि अन्य प्रकार से ध्यान करने पर अन्य प्रकार का फल क्यों नहीं होता ? तो इस प्रश्न पर कहते हैं।

ध्यानकर्ता जैसा दृढ़संकल्प होकर स्वभाव का ध्यान करता है उस स्वभाव का अविनाशिनी साक्षिसंवित् वैसे ही अनुभव करती है उससे विपरीत अनुभव नहीं करती॥७॥

'अन्यच्च ध्यायिनां लक्षैर्ध्यातैका स्त्री यथाक्रमम्। जायात्वेन समं कालम्।' इस प्रश्न का भी पूर्वोक्त युक्ति से ही समाधान करना चाहिये, यों अति देश करते हैं।

जैसे सकल ध्यान कर्ताओं का अपने अपने संकल्पानुसार चन्द्रत्व पृथक् पृथक् भासता है ॥८॥

'साध्व्यसाध्वी गृहे भर्तुः संस्थिता तपसा परा।' इस प्रश्नांश में भी यही समाधान है, ऐसा कहते हैं।

जो साध्वी स्त्री ध्यान में लाखों ध्यानकर्ताओं की स्त्री बनी उसकी काल्पनिक अनुभूति उनके अन्तःकरणउपहित साक्षी में स्थित है ॥९॥

घर से बाहर निकले बिना जीव सप्तद्वीप का पति कैसे हुआ ? इस प्रश्न का भी इससे समाधान हो चुका, ऐसा कहते हैं।

जो घर से बाहर न निकला हुआ जीव सप्तद्वीपेश्वर होकर स्थित है उसका भी अपने चिदाकाश में वह कल्पनासिद्ध राज्य भासता है ॥१०॥ जब यह हम लोगों का दृष्टिगोचर जगत् भी सारा का सारा जन्मः सर्वज्ञ ब्रह्म की कल्पनामात्र, शून्य, निराकार और शान्त है तब उपासकों द्वारा कल्पित जगतों में क्या अन्यथा इससे विलक्षण सत्यता होगी जिससे वहाँ असमंजसता होगी, यह अर्थ है ॥११॥

दानधर्मादितपसामौर्ध्वदेहिककर्मणाम्। इहस्थानाममूर्तानां मूर्तं प्रेत्याऽस्ति किं फलम्॥

इस प्रश्न का अनुवाद कर समाधान करने की प्रतिज्ञा करते हैं।

हे राजन्, दान, अन्त्येष्टि कर्म, तप, जप आदि मूर्तिरहित कर्मों का परलोक में मूर्तिमान् फल कैसे होता है ? यह जो तुमने कहा उसका उत्तर यह कहा जाता है, सुनो। दान आदि से अंकित बुद्धिवाले अमूर्त जीव परलोक में स्वप्न के समान मूर्तिमान् से प्रतीत हो रहे अनुत्पन्न फल को, देखते हैं जिसकी मूर्ति के आकार की कल्पना चित् से ही की जाती है ॥१३॥ हे राजन्, मन और ज्ञानेन्द्रियों से वेदना तथा अवेदनाकार भ्रान्ति होती है, उस भ्रान्ति की विषय–प्राप्ति के लिये वह चिन्मात्र मन सहित कर्मेन्द्रियों से स्पन्द और अस्पन्दरूप होता है। किन्तु उस भ्रान्ति की निवृत्ति होने पर निर्मल शान्त चिद्रूप आत्मा ही शेष रहता है ॥१४॥ इस लोक में अनुष्ठित (किये गये) दान से परलोक में चित्प्रतिभासस्वरूप तत्–तत् फल प्राप्त होता है। उसको संकल्पस्वरूप जीव प्राप्त करता है, ऐसा विद्वान् जन कहते हैं फिर वह (फल) परलोक में क्यों न मिले ? इस कल्पनामय संसार में अनुष्ठित दान से पूर्वोक्त अकृत्रिम संकल्प ही परलोक में चारों ओर चिन्मात्ररूप भोग, ऐश्वर्य आदि दान–फल हो अथवा अदान से दरिद्रता आदि अदान का फल हो इसमें कोई विरोध नहीं है, यों सब असमंजसों का परिहार हो गया, यह अर्थ है ॥१५,१६॥

सब प्रश्नों का स्वमुख से अथवा अर्थतः समाधान कर जगत् का ब्रह्म ही तत्त्व है, यों उपसंहार करते हैं।

हे राजन्, जैसा तुमने मुझसे पूछा था उसके अनुसार यह सब मैंने तुमसे कहा। यह सारा का सारा निराकार जगत् चिन्मात्र की कल्पना ही है ॥१७॥

देह में ही चित् की अभिव्यक्ति दिखाई देती है, अनभिव्यक्त चित् में भ्रान्ति आदि नहीं दिखाई देते। सृष्टि के आदि में भ्रान्ति की यदि सिद्धि हो ले तो देह की सिद्धि हो और देहसिद्धि से भ्रान्ति की सिद्धि हो यों अन्योन्याश्रय दोष समझ रहे प्रज्ञप्ति राजा ने प्रश्न किया।

राजा ने कहा : भगवन्, सृष्टि के आदि में चिन्मात्र (देहशून्य चैतन्य) और उसके द्वारा की गई देह कल्पना कैसे भासती है ? देह के बिना चित् की अभिव्यक्ति ही नहीं हो सकती। क्या कहीं दीवार के

बिना दीपप्रभा प्रकाशती है ? ॥१८॥

जड़ शरीर चित् का अभिव्यंजक नहीं है, यह तत्त्वज्ञानी का पक्ष है, क्योंकि उसकी दृष्टि में जड़ की ही प्रसिद्धि नहीं है। ब्रह्म सर्वज्ञ होने से सदा ही अभिव्यक्त चैतन्यवाले देह आदि सबकी कल्पना करता है, इस अभिप्राय से उत्तर देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे महाबुद्धे, तुमने देह शब्द का जो अर्थ जाना है वह तत्त्वज्ञानी के प्रति वैसे ही असंभव है जैसे कि आकाश में पत्थरों का नाचना असंभव है। जो ही ब्रह्मशब्द का अर्थ है वही देहशब्द का अर्थ है जैसे अम्बु और अम्भस (नीर) शब्दों के अर्थ का भेद नहीं है यानी दोनों शब्दों का अर्थ एक 'जल' ही है वैसे ही ब्रह्म और देह शब्दों के अर्थों में भी भेद नहीं है ॥१९,२०॥

स्वप्नदेह के सदृश यह शरीर ब्रह्म ही है उससे भिन्न नहीं है। *शंका – स्वप्न में भी यह न्याय समान है अतः स्वप्न देह भी इस देह के समान ही ब्रह्मरूप ठहरा ऐसी दशा में 'स्वप्नाभ' यों भेद को सिद्ध सा बनाकर दृष्टान्तोक्ति कैसी ? समाधान : स्वप्न का दृष्टांत तुम्हारे समझने के लिए दिया है वास्तव में स्वप्नदेह भी ब्रह्म ही है ॥२१॥*

स्वप्न का मुझे समझाने में कैसे उपयोग है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

स्वप्न का अर्थ तुम्हें अनुभूत है, इसलिये स्वप्न के द्वारा तुम्हें समझाया जाता है। स्वप्नरूप भस्म के साथ (बाधित अर्थ के साथ) चिद्रूप से भासमान सृष्टि में सादृश्य कदापि नहीं है ॥२२॥ स्वप्न में कौन यह देह है, किसके ये स्वाप्न पदार्थ हैं, अथवा कहाँ स्वप्न बुद्धि है ? ज्ञानी द्वारा अवबुद्ध भ्रमरूप स्वप्न से अज्ञानी को बोध कराया जाता है ॥२३॥ ब्रह्मपदवी में न जाग्रत् है, न स्वप्न है, न सुषुप्ति है और न अन्य कुछ है किंतु मन, वाणी से अगोचर विराट्, विश्व तथा तैजस सबका प्रलय होने पर अवशिष्ट यानी तुरीयरूप (सबके प्रलय का अधिष्ठान तुरीय) ओंकारलक्षणपरमपुरुषार्थ स्वयं प्रकाश चिदाकाश ही इस तरह विश्व के रूप में भासता है ॥२४॥ जो यह विश्व आज इस प्रकार भासिता-सा दृष्टिगोचर होता है वह नहीं भासता है। सच्चिदानन्दरूप से पूर्व भास हुआ भी वह स्वरूपतः वैसे ही (अभासा ही) है। जाग्रत्, स्वप्न आदि जैसे कदापि हैं ही नहीं अत्यन्त निर्मल ब्रह्म वैसा है ॥२५॥ जैसे संवित् की एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में प्राप्ति होने पर मध्य में (दो प्रदेशों के अन्तराल में) संवित् का स्वरूप निर्विषय रहता है वैसे ही द्वैत, अद्वैत आदि यह सब कुछ निर्विषय चिन्मात्रमय है ॥२६॥ अज्ञानी की दृष्टि से अन्यत्र यानी ज्ञानी की दृष्टि में चिन्मय स्वप्न, द्वैत, अद्वैत, शुभ, अशुभ आदि सब कुछ की आवरणशून्य चिन्मात्र से तुलना की जा सकती है ॥२७॥ शून्य, पदार्थों की उपलब्धि, भान (सृष्टि), अभान (प्रलय), द्वैत, अद्वैत, असत् और सत् सब कुछ परम चिदाकाश ही है ॥२८॥ पूर्ण परम ब्रह्म परमात्मा से पूर्ण जगत् का आविर्भाव होता है। पूर्ण ही यह स्थित है न तो इसका भान हुआ है और न अभान हुआ है, किन्तु स्फटिक शिला के घनीभूत मध्य के समान यह चिन्मात्रघन है ॥२९॥ चूँकि यह जगत् चित् का उन्मेषमात्र (स्फुरणमात्र) है, इसलिए निराकार चिदाकाशमात्र ही है। ऐसी परिस्थिति में जहाँ जहाँ चिन्मात्र है वहाँ-वहाँ जगत् का रहना उचित ही है। और चिदाकाश सर्वत्र है, सर्वव्यापक है। सब जगन्मय यह है इसलिए 'जगत्' शब्द से कथित होने पर भी यह सब शान्त ब्रह्म ही है ॥३०,३१॥ चिदाकाश के संकल्पनगराकार यथास्थित

विश्व (सारा जगत्) तथोक्त निर्विकार निर्दोष निर्मल ब्रह्म ही है ॥३२॥ इस विषय में अन्य युक्ति का संभव न होने से यही युक्ति सुन्दर है। यहाँ युक्ति तथा स्वानुभव के बिना पुरुषार्थ चाहनेवाले श्रोताओं के सम्मुख उपदेश शोभा नहीं देता। हे राजन्, लोक,शास्त्र, वेदआदि में जो वस्तु युक्ति, प्रमाण और अनुभव से सिद्ध है वह सिद्ध ही है उसका त्याग करना उचित नहीं है। ऐसी परिस्थिति में सद्रूप से वेद आदि में सिद्ध ब्रह्म का सद्रूप से ही स्वीकार करना चाहिये तथा वेदादि में असद्रूप से सिद्ध द्वैत का असत्‌रूप से स्वीकार करना चाहिये, यह अर्थ है ॥३३,३४॥ जब चरमसाक्षात्कारवृत्तिरूप ज्ञान से सारा का सारा विश्व यथास्थित ही विलीन हो जाता है तब पहले ब्रह्म भिन्नरूप से परिज्ञात विश्व ही इस प्रकार से (ब्रह्मरूप से) परिज्ञात होकर ब्रह्मता को प्राप्त होता है ॥३५॥ 'त्वयाऽर्थो देहशब्दस्य' से लेकर यहाँ तक मेरे द्वारा प्रतिपादित न्याय से जीवन्मुक्ति सहित लोक, वेद आदि सारा जगत् ब्रह्म ही सिद्ध होता है, इसलिए यह मेरे द्वारा प्रतिपादित न्याय परमपुरुषार्थ का साधन होने से ग्रहण करने योग्य है ॥३६॥ इस केवल अपरिज्ञात आत्मरूप संसारवृक्ष में (संसाररूपी पीपल के पेड़ में) परिज्ञात चिदाकाश ही है उससे अणुमात्र भी भिन्न नहीं है। वह परिज्ञात चिदाकाशरूप मैं ही क्रमशः त्रिजगत्‌रूप बन्धन और मोक्ष हूँ यह निर्णय है। यानी अपरिज्ञात ही त्रिलोकीरूप बन्धन है और परिज्ञात चिदाकाश ही मोक्ष है ॥३७॥

यदि कोई कहे कि चिदाकाश–परिज्ञातमात्र मोक्ष कैसे है ? तो इस पर कहते हैं।

परिज्ञान से यथास्थित यह दृश्य पानी में डाले हुए नमक के ढेले की तरह विलीन हो जाता है। दृश्यरूप से अस्त को प्राप्त हुए ज्ञानी का शिला की तरह मौन यानी वाणी आदि से अगम्य दृक्‌गमात्रस्वरूप शेष रह जाता है ॥३८॥ लोक में (जीवन्मुक्त पुरुष में), शास्त्र में और वेद आदि में जो वस्तु सिद्ध है वह सिद्ध ही है। सैकड़ों विचारों से परिनिष्ठित (निश्चित) है वही वस्तु स्वानुभव से जानी जाती है। अतः वह परम पुरुषार्थरूप से फल देती है ॥३९॥

उसकी प्राप्ति होने पर अन्य अर्थ के परित्यागमात्र से एकमात्र तन्निष्ठ होना ही उपाय है उससे अवश्य ही उसकी प्राप्ति होती है, ऐसा कहते हैं।

सकल वस्तुओं के निरास द्वारा जिस जिस वस्तु का चिरकाल तक ध्यान किया जाता है उसकी अवश्य ही प्राप्ति होती है। लौकिक कार्यों में भी अन्य भावित वस्तु वैसे ही अवश्य प्राप्त होती है ॥४०॥

लौकिक कार्य असत्य है लेकिन मोक्ष सत्य है इन दोनों में यह अवान्तर भेद भले ही हो किन्तु साधन के उद्योग और उनके फल का अनुभव दोनों में समान है उनमें कोई अन्तर नहीं है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

जो वस्तु जैसे अनुभव में आती है उसकी प्रतीति भी वैसे ही होती है वह सत्य हो जाहे असत्य हो जब तक उसकी उपलब्धि रहती है तब तक ज्यों की त्यों रहती है ॥४१॥ हे महात्मन् इस प्रकार मैंने तुम्हारे महाप्रश्नों का विचार–फल–भूत निर्णयरूप यह समाधान कहा। तुम इस मार्ग के पथिक बनो। इससे शीघ्र ही तुम मन में शान्त, शरीर में नीरोग और इन्द्रियों में निर्व्यसन होकर और अधिक सर्वश्रेष्ठ होओ ॥४२॥

दो सौ दसवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ ग्यारहवाँ सर्ग

सिद्ध, साध्य आदि के विविध लोकों के दर्शनों के उपाय के साथ सकल जगत् ब्रह्म ही है, यह पुनः वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, उस राजा के द्वारा पूजे गये मैंने वहाँ कुशद्वीप की इलावती नगरी में बैठकर राजा प्रज्ञप्ति पर अनुग्रह करने का अपना प्रयोजन सिद्ध कर स्वर्ग में जाने के लिए आकाशमार्ग का अवलम्बन किया ॥१॥ हे मतिमानों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, आज यहाँ अयोध्या नगरी में विद्यमान हो रहे मैंने आपसे यह कहा। यह सुन्दर दृष्टि रखने से शान्तमन होकर आप चिदाकाश हो जाओगे। कारण वाणी का अगम्य, अज, परमशान्त, आदि, मध्य और अन्त से शून्य है, इसलिए यह सब कुछ निःशब्द ब्रह्माकाश ही है ॥२,३॥ जो चित्स्फुरणरूप कहा गया है, जो 'ब्रह्म' यों कल्पित नामवाला कहा गया है, परात्पर कहा गया है, वह निर्नाम (शब्द की पहुँच से परे) पद है ॥४॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, सिद्ध, साध्य, यम, ब्रह्मा, विद्याधर और देवताओं के लोक और उनके निवासी लोग कैसे दिखाई देते हैं, यह मुझको बतलाने की कृपा कीजिये ॥५॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, सिद्ध, साध्य, यम, ब्रह्मा, विद्याधर, देवताओं तथा अन्यान्य अपूर्व अपूर्व महामहिम प्राणियों के लोकों को प्रत्येक रात में, प्रत्येक दिन में, सामने, पीछे, ऊपर और नीचे चूड़ाला के उपाख्यान में कही गई धारणाओं से देखने से आप देखते हैं और उक्त रीति से न देखने पर नहीं देखते है ॥६,७॥ सिद्धों के लोक दो प्रकार के हैं। एक तो हैं ये महद्लोक, जनोलोक, तपोलोक और सत्यलोक नामधारी, ये बहुत दूर हैं और दूसरे हैं सर्वत्र संचार करनेवाले सिद्धों के संकल्प से (📖) बने हुए। वे संकल्पलोक कहलाते हैं और वे सर्वत्र हैं इनसे सारा विश्व व्याप्त है। उन दोनों प्रकार से सिद्ध लोकों के दर्शन में धारणाभ्यास ही कारण है और वह धारणाभ्यास आपको प्राप्त नहीं है ॥८॥

तो क्या मुझे उनके दर्शन के लिए धारणाभ्यास करना चाहिए ? इस प्रश्न पर नहीं करना चाहिये, क्योंकि वे लोक निस्सार हैं यों दर्शाते हैं।

जैसे ही सिद्धों के ये काल्पनिक लोक हैं वैसे ही हमारा यह लोक भी केवल कल्पनामात्र सिद्ध है। जैसे काल्पनिक भी वायु सब जगह घूमती है डोलती है वैसे ही वे घूमते हैं भ्रमण करते हैं। हमारे लोक में केवल इतनी विशेषता है, यह वैसा नहीं है। आपको रात दिन जो स्वप्नलोक, संकल्पलोक प्रतीत होते हैं वे ही सिद्ध लोक के रूप से प्रसिद्ध हैं। वैसे ही और और भी लोकों की रचना कर अपने संकल्प से उनको उन्होंने स्थिर किया है। इसी प्रकार आप भी यदि योगधारणा से स्थिरीकृत ध्यान से संकल्पवश प्राप्त हुए लोकों को स्थिर बनाओ तो ये भी शीघ्र बिना किसी विघ्न-बाधा से स्थिर बन जायेंगे। जैसा चाहे उनका विस्तार हो जाता है और जैसी चाहे वैसी उनमें सम्पत्तियाँ हो जाती हैं। यदि पुरुष दृढ़तम संकल्प से यानी अन्य ध्यानकर्ता से बढ़े चढ़े संकल्प से वेष्टित रहता है तो वह सिद्धों के समान ही उन्हें स्थिर देखता है। उन सिद्ध लोगों ने जिस पूर्वजन्म की धर्मसम्पत्तियों से

(📖) 'यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते' अर्थात् वह यदि पितृलोक की कामना करता है तो केवलमात्र कल्पना से ही उसके पितर लोग उपस्थित हो जाते हैं उस पितृलोक से वह सम्पन्न होकर पूजा जाता है है ऐसी श्रुति है।

लोग स्वर्ग में जाते हैं उन साधनसम्पत्तियों से उन लोकों को चिरस्थायी बनाया है यों उनके वे लोक अनायास सिद्ध हैं, किन्तु जिन अन्य लोगों ने अनित्य आधुनिक धारणाभ्यासों से ध्यान विश्राम के विषय में प्रयत्न किया है वे बड़े क्लेश से इन लोकों को स्थिर कर पायेंगे। सारा जगत् सदा निराकार निर्विकार संशान्त चिदाकाश ही है जिसने जैसा दृढ़ निश्चय किया उसकी दृष्टि से वैसा ही स्फुरित होता है, उससे अन्यथा नहीं होता। अनिश्चित यह जगत् भासता ही नहीं। अनिश्चित जगत् में 'है' या 'नहीं है' इस प्रकार का तर्क ही नहीं उठता। अतएव शून्य, निराकार तथा निरोध न करनेवाला यह जगत् परमाकाश ही है। जो वस्तु दृढ़ निश्चय से भासती है वह चित्स्वभाव होने से भारूप–सी भासमान दिखाई देती है। किन्तु असंविदित इस विश्व में स्वभावतः चित्सत्ता और स्फूर्ति की व्याप्ति नहीं है, इसलिए यह शून्य और निराकार है ॥९–१६॥

कार्यकारण के बल से ही उसकी दूसरी सत्ता होगी, ऐसा तो कदापि संभव नहीं है, ऐसा कहते हैं।

कार्यकारण भाव से इसकी अन्य सत्ता होगी ऐसा यदि कहो तो उसकी तो यहाँ कथा ही क्या है ? सृष्टि के आदि में प्रलय को प्राप्त हुए आकाश से अनन्त विश्व की उत्पत्ति क्या और कैसे संभव है ? ॥१७॥ आकाश में जो भूत, भुवन आदि वस्तु उत्पन्न हुई सी दिखाई देती है, वह आकाश में आकाश ही उस प्रकार (उत्पन्न हुआ–सा) जँचता है। इसलिए उसमें एकत्व–द्वित्व की कल्पना भी दुर्लभ है कार्यकारणभाव तो बहुत दूर की बात रही, यह भाव है ॥१८॥ वह (ब्रह्म) जैसा ही था ठीक वैसा ही रहता है उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं आता जैसे स्वप्न में चिदाकाश अपने स्वरूप से प्रच्युत हुए बिना स्वप्नपदार्थ का विवर्त अधिष्ठान है वैसे ही चिदाकाश अपने स्वरूप से प्रच्युत या विकृत हुए बिना ही विवर्त अधिष्ठान ही है। न तो कारण है और न विकारी है। संकल्प में चित्त जैसे आकार की कल्पना कर पर्वतलीला से उदित होता है, वास्तव में न वह पर्वत है और न वह आकाश है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् की स्थिति है ॥१९,२०॥

अतएव अपनी दृष्टि से व्यापारशून्य भी जीवन्मुक्त पुरुष व्यवहार में तत्पर से प्रतीत होते हैं वास्तव में वे व्यवहारपरायण नहीं रहते ऐसा कहते हैं।

काष्ठ के समान मौन धारण कर रहते हुए भी ये महामति जीवन्मुक्त पुरुष कठपुतली की तरह व्यवहार करते हुए से प्रतीत होते हैं। जैसे जल में जल से अनन्य (अभिन्न) भी तरंग, आवर्त आदि वृत्तियाँ रहती हैं वैसे ही ब्रह्म में अनन्य (ब्रह्म से अभिन्न) सृष्टियाँ स्थित हैं। जैसे वायु में अनन्य (वायु से अभिन्न) तथा अमूर्त स्पन्दन रहता है। और जैसे आकाश में अनन्य तथा अमूर्त शून्यता है वैसे ही ब्रह्म में अनन्य तथा अमूर्त सृष्टियाँ हैं। जैसे संकल्पनगर निराकार होते हुए भी सामने स्थित होता है, साकार होने पर भी निराकार ही है वैसे ही ब्रह्म में स्थित यह जगत् भी निराकार होने पर भी सामने साकार सा खड़ा है यों साकार होने पर भी वास्तव में निराकार ही है। यह त्रिजगत् भले ही चिरकाल से अनुभूत हो और भले ही अर्थक्रियाकारी भी हो तो भी यह स्वप्ननगर के समान निराकार तथा शून्य है। जैसे संकल्पनगर के व्यवहारकाल में जो ही चित्त का संकल्प है वही संकल्पनगर है वैसे ही जो यह निर्मल ब्रह्म है वही यह दृश्यमान संसार है और वही जगत् कहा जाता है। चिरकाल से नित्य अनुभूत भी यह जगद्रूपी पदार्थ वैसे ही कुछ भी नहीं है जैसे कि पुरुष का स्वप्न में अपना मरना स्वयं चिर अनुभूत

होने पर भी कुछ है ही नहीं। जैसे स्वप्न में मरे हुए पुरुष को अपना दाह-संस्कार भी असत् ही दिखाई देता है वैसे ही परब्रह्म में दिखाई दिया जगत् सत् के समान भासमान होने पर भी असत् ही है। जगत्ता और अजगत्ता परब्रह्म के ही निर्मल शरीर हैं। जो अन्य रज्जु आदि वस्तु सर्पादि नामवाली नहीं हो सकती है वह परमार्थरूप से सत् नहीं है ॥२१-२९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, सिद्ध लोकों को भोग आदि का फल मेरे द्वारा वर्णित रीति से ही कल्पनामात्र हो अथवा अन्य मुनियों द्वारा वर्णित प्रकार से अन्य प्रकार का ही हो अथवा नहीं ही हो तथापि जीवन्मुक्ति को प्राप्त हुए आपका उनके विषय में कौन आदर है ? सिद्धि आदिरूप तुच्छ फल में आप पुरुषार्थबुद्धि का त्याग कीजिए। क्योंकि आपको ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान हो चुका है। अतः आपको केवलमात्र मायारूपवाले सिद्ध लोकों के वैभव को जानने के लिए वृथा परिश्रम नहीं करना चाहिये ॥३०॥

दो सौ ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ बारहवाँ सर्ग

ब्रह्म की अहंभाव कल्पना हिरण्यगर्भ है उसका संकल्पमय यह त्रिजगत् है, इसलिए यह ब्रह्म ही है, यह वर्णन।

ब्रह्म में पहले समष्टि-अहंकाररूप हिरण्यगर्भ की-सी कल्पना हुई, तदनन्तर उसके उदर में व्यष्टिजीव जगत् की कल्पना हुई, इसलिए समस्त जगत् ब्रह्मविवर्तमात्र ही है। यह आपातदर्शन से (स्थूल दृष्टि से) सिद्ध है किन्तु परमार्थ दृष्टि से न हिरण्यगर्भ है, न जीव है अथवा न जगत् ही है केवल नित्य निर्मल सच्चिदानन्दैकरस पूर्ण ब्रह्म ही स्थित है, यों सकल वेदान्तों के निर्गलित (निचोड़रूप) अर्थ का प्रतिपादन करने के लिए प्रस्तुत होते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्माकाश चित् होने से स्वयं ही पहले 'मैं अहंकार समष्टिरूप हिरण्यगर्भ हूँ' यों अपने को जानता-सा है उसका वैसा स्फुरणरूप वेदन ही परमेष्ठिरूपता यानी हिरण्यगर्भता है। उस हिरण्यगर्भ का संकल्प यह त्रिजगत् है ॥१॥

केवल माया के इतने से अपराध से ब्रह्म अब्रह्म नहीं हो सकता अतएव हिरण्यगर्भ आदि कुछ भी अन्य था ही नहीं, ऐसा कहते हैं।

ऐसी परिस्थिति में न तो ब्रह्मा उत्पन्न हुआ और न यह दृष्टि का विषय जगत् ही उत्पन्न हुआ, अज परम ब्रह्म ही पूर्ववत् ज्यों का त्यों स्थित है ॥२॥

यदि हिरण्यगर्भ आदि कुछ भी नहीं था, तो वह संवित् में कैसे स्फुरित होता है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

संवित् में जो जगद्रूप भासता है वह प्रातिभासिक ही सत् है उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। वह मृगतृष्णा के समान मिथ्या ही है। दिखाई देने पर भी असत् ही है ॥३॥ सृष्टिकाल से लेकर शून्य यह भ्रान्ति उदित हुई है अथवा वह भी उदित नहीं हुई है। भ्रान्ति कहाँ से है और क्या है वह जगत् निर्विकार ब्रह्म ही है ॥४॥

भले ही जगत् अनिर्वचनीय ब्रह्मधर्म हो तथापि कोई क्षति नहीं है, यह कहते हैं।

जगत् ब्रह्मरूपी जल का आवर्त है। इसमें एकत्व और द्वित्व कौन ? क्या कहीं आवर्त और जल में

द्वित्व (भेद) है ? और जब द्विता का अभाव है तब एकता कहाँ ? क्योंकि एकता द्वित्व की अपेक्षा करती है ॥५॥ अखण्ड परमशान्त वह ब्रह्मचित् होने के कारण (परस्फुरणस्वभाववश) अहम्' यों अहंकारसमष्टिरूपता को (हिरण्यगर्भता को) जानता हुआ वैसे ही अपने को अर्थ सा चेतता है जैसे कि विस्तृत आकाश अपने अन्दर स्थित अपनी शून्यता को जानता है। जैसे पवन अपने अन्दर स्थित अपने स्पन्दन को जानता है, जैसे अग्नि अपने अन्दर स्थित अपनी उष्णता को जानती है और जैसे पूर्णेन्दु (पूर्ण चन्द्र) अपने अन्दर स्थित अपनी शीतलता को जानता है वैसे ही ब्रह्म अपनी सत्ता को अर्थ सा जानता है ॥६,७॥

यदि आप स्वरूपचैतन्य ही अर्थ के समान स्फुरित होता है यह कहते हैं, तो वह तो सदा ही है इसलिए इस समय सृष्टि के आरम्भ काल से स्फुरित होता है यह क्यों कहते हैं, यों श्रीरामचन्द्रजी प्रश्न करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, इसने अहम् आदि का कब चेत नहीं किया, क्योंकि यह सदा ही आवरणरहित आदि–अन्त शून्य और नित्य है। यह इस समय यानी सृष्टिकाल से लेकर चेतता है, ऐसा आपने कैसे कहा ? ॥८॥

ठीक है, युक्तिदृष्टि से ब्रह्म सदा ही 'अहम्' आदि तथा निज तत्त्व को चेतता है। तभी तो सृष्टि और असृष्टि–दोनों रूप दोनों ब्रह्मदृष्टियों में प्रमाणसिद्ध होते हैं। तथापि दोनों दृष्टियों में विषय की सत्ता और असत्ता से उत्पन्न महान् अन्तर है, इसलिए प्रमाण्य से वे तुल्य नहीं हैं इस आशय से स्वीकार कर उत्तर देते हैं।

इस प्रकार यह ब्रह्म सदा ही इस स्वरूपस्फुरण तथा अहमादि अहंकार समष्टि को चेतता है, क्योंकि अनादि अजन्मा चिन्मात्र को स्वरूप चैतन्य से (विद्या से) स्वरूपस्फूर्ति में और अविद्या से अहम् आदि के स्फुरण में दूसरे की कोई अपेक्षा नहीं है। सर्ग और असर्ग आकाशरूप ब्रह्म सर्वत्र और सर्वदा है। अविद्या दृष्टि से यह (ब्रह्म) कदापि ज्ञात नहीं होता और विद्या दृष्टि से यह (सर्ग) कुछ नहीं हैं ॥९,१०॥

तब विद्या–अविद्या–मिश्रदृष्टि में ब्रह्म कैसा चेतता है ? इस पर कहते हैं।

जैसे पवन और स्पन्दन, चन्द्र और शीतलता, शून्यत्व तथा आकाश अनन्य स्वरूप (अभिन्नरूप) हैं, वैसे ही ब्रह्म तथा अहंकार आदि जगत् अभिन्नरूप है अतः वह कब अपने स्वरूप को नहीं चेतता है ? ॥११॥ चूँकि जगत् निर्विकार आदि–अन्त शून्य ब्रह्मरूप ही है, इसलिए जगत् की सदा ही ऐसी ही सत्ता है कभी भी इससे विलक्षण सत्ता नहीं है, क्योंकि विपश्चित् उपाख्यान में कही गई युक्ति के अनुसार सकल जीवों के संसार के उच्छेद का अवसर प्रसिद्ध नहीं है ॥१२॥

इस मिश्रदृष्टि को भी आप अपने बोध की अनुवृत्ति तक ही शब्द श्रवण इत्यादि आदि व्यवहार की सिद्धि के लिए स्वीकार करते हैं, तो स्वीकार कीजिये पर परमार्थरूप से स्वीकार मत कीजिये, ऐसा कहते हैं।

यद्यपि आपको यह अद्वितीय ब्रह्मबोध प्राप्त हो चुका है फिर भी अज्ञान को स्वीकार कर मेरे उपदेश शब्दश्रवण में आसक्तचित्त हो आप मिश्रदृष्टि से प्राप्त द्वैत को (सप्रपंचनिष्प्रपंचरूपता को) स्वीकार

करते हो तत्त्व दृष्टि से कदापि नहीं करते। मिश्रदृष्टि में तो ब्रह्म सर्वात्मक है, उसके अन्तर्गत कोई जीव जो कुछ चेतता है तो वह उस जीव से अभिन्नरूप ब्रह्म ही चेतता है, यों उसके रूप से सब कुछ चेतता है। किन्तु निर्विशेष ब्रह्मरूप से कोई कुछ भी कभी नहीं चेतता है, क्योंकि उससे अन्यस्वरूपवाला कोई नहीं है अतः कदाचित् नहीं चेतता ॥१३,१४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, बद्ध की दृष्टि से ब्रह्म सदा त्रिभुवन-सा ही भासता है मुक्त की दृष्टि से यह सब शान्त ब्रह्म ही है उसके अतिरिक्त भेद तनिक भी नहीं है ॥१५॥ जैसे आकाश से वृक्ष, पर्वत आदि कदापि उत्पन्न नहीं होते वैसे ही ब्रह्म से जगत् उत्पन्न नहीं होते हैं यह निश्चय कर आप परम शान्ति को प्राप्त होइए ॥१६॥

जब तक उपदेश श्रवण में प्रवृत्ति है तभी तक मैंने मिश्रदृष्टि को स्वीकार किया है, ऐसा कहते हैं।

यदि सन्देह के अवसर पर उपदेश्य के उपदेश के लिए अल्पमति बनकर जब तक आपको ज्ञानप्राप्ति न हो तब तक भेद मानते हो तो मानों इसमें कोई हानि नहीं है। प्रबुद्ध तत्त्वज्ञानी होने पर ब्रह्मरूप हुए आपके लिए न शास्त्र आदि है, न शब्दबुद्धि है तथा अहंकार और उसके संकल्प जगद्रूप प्रजापति की यह भेदबुद्धि तथा बुद्धि भी आपको न होगी या कुछ भेदबुद्धि शान्त हो जायेगी ॥१७,१८॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, 'एतद्ब्रह्मन् कदा नाम' इत्यादि जो मैंने आपसे प्रश्न किया था उसका हल मैं आपकी उक्ति से पा चुका अब आप कृपा करके प्रस्तुत समष्टि अहंकार आदि के अध्यास का निरूपण कीजिये जिसका कि आपने मेरे बोध के लिए पहले प्रस्ताव किया था। उस परम पद में अहंकार के चेतित होने पर आगे क्या होता है ? आप सर्वज्ञ होने से सब कुछ जान चुके हैं और मैं आपके उपदेश के श्रवण में लालायित हूँ, अतः मुझे तृप्ति नहीं होती ॥१९,२०॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस परमपद में अहंकार का स्फुरण होने पर उसमें आकाश का अध्यास होता है पुनः दिशाओं का अध्यास, काल का अध्यास तथा त्रिविध परिच्छेद का (तथा वस्तुकृत परिच्छेद का) अध्यास होता है ॥२१॥

अहंकाराध्यास परिच्छेदाध्यास का कारण है, यह दर्शाते है।

जब आत्मा को देह आदि में 'अहम्' का भान होता है, तब देह से शून्य स्थल में यहाँ पर मैं नहीं हूँ, इसका भी अवश्य भान होता है। यह देशकृत परिच्छेद है। इसी रीति से स्वात्मा ही नाना प्रकार का परिच्छेद यानी कालकृत परिच्छेद और वस्तुकृत परिच्छेद बिना क्रम के द्वैतरूप होकर आकाश में उदित होता है ॥२२॥

तदुपरान्त परस्पर व्यावृत्ति करनेवाले जाति, गुण, क्रिया आदि प्रवृत्ति निमित्तों के भेद की कल्पना से उत्पन्न नामभेदाध्यास होता है ऐसा कहते हैं।

तदनन्तर इन व्योमात्मक (चिदाकाशमय) पदार्थभेद सत्ताओं के परस्पर भेदक जाति, गुण, क्रिया आदि प्रवृत्ति निमित्त के भेद से नामबुद्धि यानी वाचक शब्दों का अध्यास होता है, पर वास्तव में यह सब चिदाकाश ही है। इस प्रकार निराकार इस परम पदमें अहंभाव से देश, काल आदि की कल्पनाओं के सिद्ध होने पर यानी उस परम पद के देश, काल कल्पनारूप होने पर जो यह दृश्य नामका प्रकाशरूप वेदन भासता है उसमें अहंभाव से जीव-साक्षिचित् में आवरण के अभाव से सर्वत्र स्वाभाविक चित् की अभिव्यक्ति होने से तत्-तत् स्थान में जगत् के आकार से ब्रह्म ही अब्रह्मरूप से (संसाररूप से) विराजमान होता है ॥२३-२५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जीव और जगद्भाव से शून्य शान्त, जन्मरहित,

एक, अविनाशी ब्रह्म ही जीव कल्पना की सी भावना कर (जीवभाव का अध्यास कर) आवरणशून्य जीवसाक्षी चिदाकाश में ही तब तक अत्यन्त विस्तृत दृश्य को देखता है जब तक कि आत्मज्ञान होने से तत्त्वज्ञान का उदय नहीं होता है ॥२६॥

दो सौ बारहवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ तेरहवाँ सर्ग

गुरु और शिष्य की कथा से श्रीरामचन्द्रजी के पूर्वजन्म के संवाद का वर्णन।

विस्तारपूर्वक उपदेश देने से हथेली में रखे हुए आँवले के समान साक्षात् कराये गये आत्मतत्त्व को जन्मान्तर में स्वयं उपदिष्ट आत्मतत्त्व का ही फिर मैंने तुम्हें उपदेश दिया है यों स्मरण दिलाकर–स्थूणानिकन्न न्याय से दृढ़ करने की इच्छा कर रहे श्रीवसिष्ठजी जगत् के उपकार के लिए सर्वशास्त्रार्थसंग्रहरूप गुरु शिष्य कथा का शास्त्र के अन्त में मंगलाचरणरूप से उपदेश देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे शत्रुनाशक श्रीरामचन्द्रजी, जो विषय (आत्मतत्त्व) आज आपने मुझसे पूछा है वही विषय अन्य रामावतार में भी आपने मुझसे पूछा था। उस समय भी मैं गुरु ही था और आप शिष्यरूप से ही स्थित थे ॥१॥ किसी पूर्वकल्प में आप राम थे, मैं वसिष्ठ था, उस समय भी आपको वैराग्य हुआ था, अतः आप मेरे समीप वन में आये थे तथा मुझसे प्रश्न किया था इत्यादिरूप यह चित्प्रतिभा गुरुशिष्यरूप से आज की तरह हुई थी ॥२॥ वत्स श्रीरामचन्द्रजी, वहाँ पर भी मैं गुरु था और आप शिष्य थे। मेरे सामने बैठकर उदारबुद्धिवाले होते हुए भी अबुद्धि की तरह आपने मुझसे यह पूछा था ॥३॥ शिष्य ने कहा : हे गुरुवर, सम्पूर्ण जगत् के विषय में मेरा यह महान् सन्देह है, जिसका मैं आगे आपसे निवेदन करता हूँ, इसे आप निवृत्त करने की कृपा कीजिये। वह यह कि महाकल्प में कौन वस्तु नष्ट होती है और कौन नहीं ? ॥४॥ गुरुजी ने कहा : हे पुत्र, जैसे स्वप्न–नगर सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त हुए आत्मा का आत्मामात्र शेष होकर सम्पूर्णतया शीघ्र विनष्ट हो जाता है वैसे ही प्रलय काल में यह सारा दृश्य चिन्मात्र शेष होकर सम्पूर्णतः विनष्ट हो जाता है ॥५॥ प्रलयकाल में समस्त पृथिवी, सब पर्वत, दसों दिशाएँ, क्रिया, काल और क्रम सब कुछ समान रूप से नष्ट हो जाते हैं, कुछ भी शेष नहीं रहता है ॥६॥ सब भूत नष्ट हो जाते हैं। सकल जगतों के भान के साथ आकाश का भी अव्याकृत में लय होने से नाश हो जाता है, क्योंकि भोग्य की स्थिति भोक्ता की स्थिति के अधीन है, प्रलय काल में भोक्ता का ही सम्भव नहीं है ॥७॥

ब्रह्मा, विष्णु आदि ही उस समय भोग्य के भोक्ता रहेंगे ऐसी किसी को आशंका हो तो उसके निवारण के लिये कहते हैं।

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि जो कारणों के भी कारण हैं उनका महाकल्प के अन्त में तथा विज्ञानजन्य प्राकृतिक प्रलय में नाम–निशान तक नहीं रहता, अतः वे भोग्य वस्तु के भोक्ता कैसे रहेंगे ? ॥८॥

जगत् आत्ममात्र शेष रहकर विनष्ट हो जाता है, ऐसा जो कहा, उसका उपपादन करते हैं।

अविनाशी चिद्वस्तु के विर्वत के विनष्ट होनेपर चिदाकाश ही अवशेष रहता है ऐसा अनुमान होता है, क्योंकि अपने में अध्यस्त जगत् के अनुभव में हेतुभूत चिदात्मा से ही सर्वप्रपंचशून्य अवशिष्ट

प्रलयकाल सिद्ध होता है। यदि उसका भी प्रलय में नाश मानो तो निःसाक्षिक प्रलय ही सिद्ध न होगा, यह अर्थ है ॥९॥

सत् जगत् का असत्तारूप अभाव (नाश) ही सिद्ध नहीं होता है, यों शिष्य शंका करता है।

शिष्य ने कहा : हे गुरुवर, असत् पदार्थ की सत्ता नहीं है और सत् पदार्थ का अभाव नहीं है यह नियम है। ऐसी परिस्थिति में यह विद्यमान (सत्) विशाल जगत् कैसे कहाँ चला जाता है ? ॥१०॥

श्रुति, प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति आदि से जगत् का नाश सिद्ध है, अतः उसका अपलाप नहीं किया जा सकता है। इसलिए उक्त श्रुति, प्रत्यक्ष, अनुमान आदि के बल से आपातदर्शन से (स्थूल दृष्टि से) सत्य प्रतीत का ही अपलाप किया जाता है, यों कोई दोष नहीं है इस आशय से गुरु समाधान करते हैं।

वत्स, तुम्हारा कथन युक्तियुक्त नहीं है, यह जगत् अवश्य विनष्ट होता ही है, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सावयव पदार्थों के नाश की प्रसिद्धि है इसलिए वह है ही नहीं अतः असत् इसका अस्तित्व नहीं है यह तुमने अनुकूल ही कहा है और सत् का तो अभाव होता नहीं है। जो वास्तव में है ही वह कभी भी कुछ अभावात्मक असत् नहीं है उसका सद्भाव (अस्तित्व) कैसे असत्ता को प्राप्त हो सकता है ? ॥११,१२॥

केवल आपातदर्शन से जगत् की सत्ता का निश्चय कर लेना उचित नहीं है, क्योंकि शुक्ति में रजत, मरुमरीचिका में जल आदि बहुत से आपातदृष्ट पदार्थों की सत्ता नहीं दिखाई देती है, ऐसा कहते हैं।

मृगतृष्णा का (मरुमरीचिका) जल कहाँ स्थिर है यानी अर्थक्रियाकारी है ? (प्यास बुझाने में समर्थ है ?), आकाश में द्विचन्द्र की भ्रान्ति कहाँ स्थिर रहती है यानी वास्तविक है, आकाश में केशों के गोलों का दर्शन कहाँ वास्तविक है, भ्रान्ति का अनुभव कहाँ स्थायी रहता है ? हे पुत्र, यह सारा दृश्य केवल भ्रान्तिस्वरूप अतः असन्मय है। स्वप्न में दृष्ट नगर के समान इसका भान होता है अतः यह क्यों न विनष्ट होगा ? असत् के विनाश में क्या आश्चर्य है ? ॥१३,१४॥

इसको बाध्य सिद्ध करने में जाग्रत् और स्वप्न का परस्पर दृष्टान्तभाव प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

यह सर्वात्मना पूर्णरूप से वैसे ही विनष्ट होता है जैसे कि जाग्रत् में सदा और सर्वत्र स्वप्न विनष्ट हो जाता है अथवा जैसे स्वप्न काल में जाग्रत् विनष्ट हो जाता है ॥१५॥

दृश्य बाधित होकर कहाँ जाता है, कहाँ रहता है यह योगियों को भी ज्ञात नहीं होता, इसलिये उसकी असत्ता ही शरण है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे जाग्रत् काल में बाधित होकर स्वप्ननगर न मालूम शीघ्र कहाँ चला जाता है वैसे ही ज्ञान से बाधित हुआ जगद्रूप दृश्य न जाने शीघ्र कहाँ चला जाता है ॥१६॥ शिष्य ने कहा : भगवन्, यदि दृश्य है ही नहीं तो दृश्य के वेष से कुछ काल तक परमार्थरूप से वस्तु–सा कैसे प्रतीत होता है और वही फिर बोध होने के बाद वैसा प्रतीत नहीं होता है सो किस कारण ? यह किस विस्तृत आकारवाले चिदाकाशरूप वस्तु का रूप है ? ॥१७॥ गुरु ने कहा : वत्स जो यह जगत् प्रतीत होता है वह जैसे शुक्ति (सीप) अपनी चमक–दमक से रजत की (चाँदी की) तरह स्फुरित होती है वैसे ही चिदाकाश का अतिशय स्फुरण ही है उससे अतिरिक्त जगत् कुछ नहीं है ॥१८॥ यह जगत् विस्तृत आकारवाले इस चिदाकाशरूप

वस्तु का रूप है, क्योंकि 'द्वे वाव ब्रह्मणों रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' (ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त दो रूप हैं) ऐसी भगवती श्रुति है। अपने निर्मल स्वरूप का त्याग न करता हुआ ही चिदाकाश इस प्रकार जगत् के रूप से भासता है ॥१९॥ जैसे अवयवी का स्वरूप अवयव के भेद से भिन्न–सा होता है वैसे ही स्फुरण और अस्फुरणरूप सृष्टि और प्रलय इसके आकाशलक्षण स्वरूप ही हैं ॥२०॥ जैसे स्वच्छ जलवाले तालाब के अन्दर प्रविष्ट हुए यह तुम बिम्ब–प्रतिबिम्ब भेद के क्षय से एक ही हो। तालाब में प्रविष्ट होने के पहले भी बिम्ब–प्रतिबिम्बभाव आदि भेदों के स्फुरणों से भी क्षय और उदय रहित एक ही थे वैसे ही ब्रह्म भी सृष्टि और सृष्टिक्षय में अक्षय एक ही है। जैसे स्वप्न और सुषुप्ति में सदा एक ही अक्षय निद्रा रहती है वैसे ही इस सृष्टि में और प्रलय में चित्स्वभाव अविकारी एक ब्रह्म ही है ॥२१,२२॥ जैसे स्वप्नद्रष्टा का स्वप्न में प्रसिद्ध जगत् जाग्रत् और सुषुप्ति में बाधित होकर सम्पूर्णतः शान्त हो जाता है वैसे ही यह हमारा जगत् भी ज्ञान से बाधित होने पर शान्त हो जाता है ॥२३॥ हे वत्स, बाधित हुआ अतएव शून्य नामक वह स्वप्नजगत् दूसरे स्थान में वैसे ही रहता है यह बात बोधदृष्टि से हम नहीं जानते। अन्य पुरुषों के जीवाकाश में वह रहेगा ऐसी आशंका तो कदापि नहीं करनी चाहिये, क्योंकि हमारे चिदाकाश में ही हमारे वासनामय स्वप्न जगत् का संभव है। उसे बाधित न भी मानें तो भी दूसरों के चिदाकाश में उसके गमन का संभव नहीं है, यह अर्थ है ॥२४॥

यदि हमारे अनुभव से सिद्ध सृष्टि प्रबोध से बाधित होकर दूसरे के संविदाकाश में प्रविष्ट हो तो दूसरों को बोध से शुद्ध चिदाकाश का स्फुरण नहीं ही होता है ऐसी कल्पना करनी होगी। उसमें कल्पक कोई प्रमाण नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जैसे बोध से सृष्टि का क्षय होने पर हमारे संविदाकाश का स्फुरण होता है वैसे ही बोध से दूसरे के संविदाकाश में शुद्ध चिदाकाश का स्फुरण नहीं होता है इसमें क्या प्रमाण है ?

शिष्य ने कहा : भगवन्, आपके कथनानुसार हमारी संविद् की विषयभूत सृष्टि का यदि दूसरे की संवित् में भान नहीं होता है तो जैसे स्वप्नद्रष्टा से अन्य यानी जाग्रत् पुरुष दृश्य की बुद्धि से युक्त (दृश्यधीसहित) रहता है वैसे ही प्रलय काल में भी दूसरे पुरुष में जगत् आदि बुद्धि (दृश्यबुद्धि) है यानी दूसरा पुरुष दृश्यबुद्धि है, ऐसा मैं समझता हूँ।

गुरु ने कहा : हे वत्स, हे महाबुधे, जो कहते हो वह ठीक है, इसीलिए प्रलय में भी ऐन्दव जगतों के सद्भाव का दर्शन ब्रह्मा को है, ऐसा पहले हम वर्णन कर आये हैं। यदि जगत् चित् का स्वरूप होता तो वह सर्वसाधारण होता किन्तु जगत् चित् का स्वरूप नहीं है अपितु चित् में अध्यस्त होकर वह द्रष्टाओं को भासता है अन्यों को वैसा ही नहीं भासता, इसलिए तत् तत् पुरुषों के अनुसार उसका स्वरूप व्यवस्थित है। सबको एक–सा प्रतीत नहीं होता है, इसलिए वह न तो तुच्छ है और न कुछ सत् ही है किन्तु तत् तत् जीवों के चिदाकाश का स्फुरण मात्र ही है। उसमें सत् और असत् दृष्टियाँ कैसी ? यदि वह चिदाकाश के रूप से है ऐसा कहो तो ऐसी अवस्था में वह सारा का सारा जगत् सब प्रकार से सब जगह है किन्तु स्वरूप से (जगत्स्वरूप से) वह सारा का सारा कुछ नहीं है, कभी भी और कहीं पर भी उसकी सत्ता नहीं है। चूँकि वह ब्रह्म सत् और असत् स्वरूपवाला है (स्वरूप से सत् वृत्तियों से तिरोहित होने के कारण असत् है) अतएव सारा जगत् भी सदा सत् और

असत् भासता है चूँकि चिदाकाश अविनाशी है अतएव तन्मय जगत् भी अविनाशी ही है। चूँकि वह सत् चिदाकाश ही सृष्टि और प्रलय का रूप धारण करता है। वही स्वरूपतः अपरिज्ञात होने से दुःखदायक होता है यह चिदाकाश है यों ज्ञात हो जाने पर तो सकलदुःखों का क्षय हो जाता है। यह सब चिदाकाश अपने परिज्ञान के अनुसार ज्ञानी और अज्ञानी की दृष्टि में क्रमशः सर्वत्र सर्वदा सर्वथा विद्यमान है और सर्वत्र सर्वदा सर्वथा विद्यमान नहीं है॥२५-३२॥

उसी की सर्वरूप से विद्यमानता का स्पष्टीकरण करते हैं।

यह स्वयंज्योति स्वयंप्रकाश घड़ा, पर्वत, वस्त्र, शब्द, तट, गर्त या वटवृक्ष, तृण, अग्नि, स्थावर, जंगम सब कुछ ही है। अस्ति, (सत्ता) नास्ति (असत्ता), शून्य, क्रिया, काल, आकाश, पृथ्वी, भाव, अभाव, जन्म, विभूति, नाश, शुभ अशुभ कर्म सब कुछ यही है। वह वस्तु है ही नहीं जिसका आदि, मध्य तथा अन्त तीनों कालों में नित्य एक ही चिदाकाश उस तरह का रूप न धारण करता हो। ज्ञानी की दृष्टि में सब कुछ सब प्रकार से सब जगह सदा इसमें है और अज्ञानी की दृष्टि में सब सब प्रकार से सब जगह सदा इसमें नहीं है॥३३-३६॥ हे श्रीरामजी, जब इस प्रकार ब्रह्मात्मक होने से स्वप्नानुभूत नगर के समान सब कुछ सदा सर्वात्मक ही है तब ब्रह्मरूप होने से तिनका कर्ता है, तिनका भोक्ता है और तिनका विभु है। घड़ा कर्ता है, घड़ा भोक्ता है और घड़ा सब इन्द्र आदि ईश्वरों का ईश्वर है। वस्त्र कर्ता है, वस्त्र भोक्ता है और वस्त्र सब ईश्वरों का भी ईश्वर है। द्रष्टा कर्ता है, द्रष्टा भोक्ता है और द्रष्टा सब ईश्वरों का ईश्वर है। पर्वत कर्ता है, पर्वत भोक्ता है और पर्वत सब ईश्वरों का ईश्वर है। नर कर्ता है, नर भोक्ता है और नर सब ईश्वरों का ईश्वर है। बहुत क्या कहें सब वस्तुओं में से हर एक कर्ता, भोक्ता और परात्पर (श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ) है एवं अनादि (जन्मादिरहित) तथा विनाशशून्य धाता है, क्योंकि सब कुछ ब्रह्मात्मक ही है। भाव यह कि ब्रह्मभाव से दर्शन करने पर तृण आदि सकल पदार्थ अलग अलग सब कर्ता, सब भोक्ता और सब सर्वेश्वर ईश्वर हैं। ये तिनका, घट, पट आदि प्रत्यगात्मरूप विभुता से विभु हैं। जिस रूप में क्षय और नाश प्रतीत (भासित) होते हैं वैसा सब रूप इस प्रकार की विभुतारूप से ही स्थित है॥३७-४२॥

उक्त अर्थ में वादियों के अनुभव से संवाद दिखलाते हैं।

जिनके मत में विज्ञान से अतिरिक्त बाह्य अर्थ है उनके मत में वही कर्ता और भोक्ता है जैसे कि वैशेषिक और सौत्रान्तिकों के मत में प्रसिद्ध है। लेकिन जिन वादियों के मत में विज्ञानमात्र ही बाह्य अर्थ है उन विज्ञानमात्रवादियों के मत में विज्ञानमात्र ही कर्ता और भोक्ता है। शून्यवादियों के मत में शून्य ही कर्ता और भोक्ता है यानी न कोई कर्ता है और न कोई भोक्ता है। पाशुपत आदि के मत में उनकी दर्शनप्रक्रिया से सिद्ध ईश्वर ही कर्ता तथा भोक्ता है। यों मतभेद रहने पर भी वादियों में से कोई भी असम्भव अर्थवादी नहीं है, क्योंकि सर्वोत्तम सर्वशक्तिमान उस सर्वात्मक परमपद में सब कुछ का संभव है। उस पद में तत् तत् वादियों द्वारा अंगीकृत परस्पर विलक्षण पदार्थ प्रक्रिया के साधन, अनुष्ठान, फल आदि की विधियों तथा परस्पर द्वारा किये गये उनके निषेध सभी का बिना विरोध के अलग अलग संभव है। तत् तत् बुद्धिअवच्छिन्न चैतन्य में वर शाप के न्याय से अपने संकल्पानुसार व्यवस्थित विवर्त का संभव है। चिदाकाश शुद्ध स्वात्मा में उन उन वासनाओं के अनुसार दृश्य की भावना कर द्रष्टा-सा

बनकर अपने शुद्ध चिन्मात्र स्वरूप को जगत् के रूप में देखता हुआ उन उन उपाधियों मे वस्तुतः निज निर्विकार रूप से रहने में समर्थ है ॥४३–४६॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, सब जीवों की अपने अपने अनुभव से सिद्ध सब पदार्थदृष्टियाँ और सब परस्पर विलक्षण विधिनिषेधदृष्टियाँ तत् तत् संकल्प, तत् तत् अनुभव, तत् तत् वासनासहित तत् तत् काम–कर्मपूर्वक हैं इसलिये तत् तत् व्यवहार में सदा ही तत् तत् विभिन्न अर्थक्रिया में समर्थ होने से सत्यरूप हैं किन्तु आत्मदृष्टि से खरगोश के सींग के तुल्य असत्य हैं, क्योंकि प्रत्यगात्मा का रूप अपने अनुभव के अनुसार जगत् का रूप धारण करता है ॥४७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, पहले युग में आपने शिष्य के रूप में स्थित गुरुरूप मेरे मुख से निःसृत इस प्रकार का उपदेश सुना था, उस उपदेश से उस समय आपको बोध नहीं हुआ। उसके उपरान्त अज्ञानरूप दोष से फिर आप पुनर्जन्म से अन्य जगत् का अनुभव कर आज इस त्रेतायुग में महाराज दशरथ के घर में उत्पन्न हुए हैं। जो आपने पहले जन्म में मुझसे पूछा था, उसीको आज पूछते हैं ॥४८॥ हे श्रीरामजी, इस जन्म में भी आपने मेरे द्वारा उपदिष्ट अति उत्तम परमार्थ वस्तु विषयक ज्ञान, जो संसाररूपी लम्बी रात्रि के अन्धकार की (अज्ञान की) निवृत्ति करने के कारण पूर्ण चन्द्रमा के बिम्ब के समान स्थित है, सम्पूर्णतः सुन लिया है उससे आप अज्ञानान्धकार को हटाकर निरतिशय आनन्दरूप परमपुरुषार्थ के लाभरूप अभ्युदयवान् होकर निर्मलबोधरूप हो गये हैं। यों कृतकृत्य हुए आप कुलाचार प्राप्त राज्यपालन आदि कार्य कीजिये ॥४९॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आप सकल दृश्य पदार्थों से मुक्त हो चारों ओर प्रकाशमान सर्वस्वरूप आत्मा में स्थित होते हुए निरतिशय आनन्द में मग्न अतएव शान्त मतिवाले आकाशकोश के समान मनोहर और वितृष्ण होकर धर्म से राज्य का परिपालन कीजिये ॥५०॥

दो सौ तेरहवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ चौदहवाँ सर्ग

श्रीवसिष्ठजी के उपदेश की प्रशंसा, श्रोता लोगों की कृतकृत्यता तथा
कथा के अन्त में हुए स्वर्ग में तथा मनुष्य लोक में महान् उत्सव का वर्णन।

महान् अध्यात्मशास्त्र की समाप्ति होने पर देवताओं तथा मनुष्यों द्वारा किये गये गुरु, ब्राह्मण, देवता, पितर आदि की वेषभूषा से सजावट, पूजा आदि महोत्सवरूप मंगल का वर्णन करने के लिए वाल्मीकिजी कहते हैं।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : हे भारद्वाज, महामुनि श्रीवसिष्ठजी के यह कहने पर उसी समय आकाश से वर्षा करने के लिए जल से भरे हुए मेघ के समान देवताओं के नगाड़े गहगहाने लगे और आकाश से भूमि में हिमवृष्टि के समान पुष्पवृष्टि गिरी। उसने तुरन्त सब दिशाओं के मुखों को चारों ओर सफेद बना दिया ॥१॥ उस पुष्पवृष्टि का लाल लाल केसरपुंज ही सन्ध्याकाल के मेघों के समान लाल अंगराग था, फूलों के अन्दर से निकले हुए कोमल कोमल जलकण ही शीतल अंग थे तथा वायु से हिलाये डुलाये गये सफेद केसर ही स्वच्छ मोती के हार थे, अतएव ऐसा मालूम पड़ता था कि मानों उत्सव देखने के लिए साक्षात् पुण्य–लक्ष्मी ही पुष्पवृष्टि के रूप में स्वर्ग से उतरी है। आकाशस्थित उक्त पुष्पवृष्टि प्रलयकालरूपी बन्दर द्वारा झकझोरी गई सूखी कल्पवृक्षशाखावाले और लोकपालों के नगर और भिन्न

भिन्न लोकरूप शाखावाले स्वर्गरूप वृक्ष से शीघ्र भूमि में गिरे हुए खूब चमकते हुए सितारों का जिन्हें गिराने के लिए दिशाओं के मुखों की ओर संहाररुद्र शीघ्र झपटे, मन्द-मन्द मुसकुराहट के साथ परिहास कर रही थी यानी वह तारों के समान पूर्ण चमक-दमकवाली थी। दर्शन से आनन्द का विस्तार करनेवाली वह पुष्पवृष्टि थोड़ी देर में शान्त हो गई, जिसका दुन्दुभि की ध्वनि से गरज रहा केसरपुंज ही मेघ था तथा जिसने हिम के समान मनोहर पुष्पराशि से सम्पूर्ण सभा भर दी थी। स्थान के अनुसार (🕮) क्रम से नीचे बैठे हुए सभासदों ने उन दिव्य फूलों को लेकर वसिष्ठजी के चरणों में पुष्पांजलि देकर वसिष्ठजी को नमस्कार कर फूलों की सुगन्धि, शीतलता आदि के सम्पर्क से स्वेद, दुर्गन्ध आदि से जनित शोकवत्ता, रोग, भूख, प्यास, श्रम आदि से हुई सशोकता (दुःख) और जन्म, मरण आदि सकल क्लेशों से छुटकारा पाया ॥२-५॥ महाराज दशरथ ने कहा : भगवन्, आपके उपदेश से हमारा आत्मा परम पद में सुख से प्रवेश पाने योग्य बन गया है। अतएव संसाररूपी अत्यन्त दीर्घ दुर्गम मार्ग तय करने से चिरकाल से थके हुए हम लोग आपके उपदेश श्रवण से जड़ता और मलिनता से रहित हो परम पद में पूर्णरूप से वैसे ही विश्राम पा चुके हैं जैसे कि जल और कृष्णता (कालिमा) से रहित शरत्काल के मेघ हिमालय आदि पर्वत पर विश्राम पाते हैं ॥६॥ हे मुनिवर, आपके अनुग्रह से आज हमारे पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये अवश्य कर्तव्यकर्मों की अवधि पूर्ण हो गई है, यानी हम कृतकृत्य हो चुके हैं आपत्तियों की परम अवधि (सीमान्त) हम देख चुके हैं, हमने ज्ञातव्य तत्त्व पूर्णरूप से जान लिया है तथा आज हम परम पद में विश्राम पा रहे हैं ॥७॥ ध्यान से कल्पित अन्य आकाश में चिरकाल तक विहार आदि की अनुभूति के भ्रमों से, जिनका कि लीलोपाख्यान आदि में विस्तार से प्रदर्शन किया गया है, धारणा से सर्वाधार ब्रह्म में विश्राम से देहत्याग के क्रमों से, संकल्पमय नवीन निर्माणों से, स्वप्न में देखे गये जगत् के दुःखों से, शुक्ति रजतों के अनुभवों से, स्वप्न में अपनी मृत्यु के दर्शनों से, अभिन्नरूप पवन स्पन्दों से, अनन्य जल-द्रवों से, इन्द्रजाल नगरों की राशियों से गन्धर्व-नगर के समूहों से, माया से प्रदर्शित जलपूर्ण महाप्रवाहवाले मृगतृष्णानदी के वेगों से, सृष्टि के उत्तर काल में यानी प्रलय में वर्णित महान् वेगवाले वायु के स्पर्शों से, द्विचन्द्र के अनुभवों के उदयों से, मद से (नशे से) बेहोशी होने पर मालूम पड़ रहे नगर-कम्पनों से, उत्पात आदि से शुभाशुभ सूचन के बिना ही भ्रान्ति से प्रतीयमान भू-कम्पों से, बालक के यक्ष आदि के अनुभवों से, आकाश में केशों के वर्तुलाकार गोलों के दर्शनों से इत्यादि तथा इनसे अतिरिक्त अपने को अनुभूति करानेवाले अन्यान्य दृष्टान्तों से आपने मेरी दृश्यदृष्टि का परिमार्जन कर दिया है। यह मेरे लिये परम सौभाग्य की बात है ॥८-१३॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिश्रेष्ठ, हे गुरुवर, आपके अनुग्रह से मेरा अज्ञान नष्ट हो गया है, मुझे परमपद प्राप्त हो गया है, मैं अत्यन्त निर्मल बुद्धि हो गया हूँ। मेरे सब सन्देह निवृत्त हो चुके हैं, मेरे अज्ञान का पर्दा हट गया है, मैं स्वभावभूत (स्वात्मरूप) ब्रह्म में स्थित हूँ जैसे आपने मुझे यथाप्राप्त व्यवहार-राज्य पालन आदि - करने के लिये कहा है वैसे ही मैं आपका आदेश पालन करूँगा। अमृत से सींचने के तुल्य परमसुख देनेवाले आपके

(🕮) सबसे ऊँचे स्थान में श्रीवसिष्ठजी विराजमान थे। उनके समीप में अन्यान्य मुनिगण, इनके निकट महाराज दशरथ, राजकुमार रामचन्द्र आदि, उनके निकटवर्ती निम्न स्थान में मन्त्री, सामन्त आदि तथा उनके बाद सर्वसाधारण श्रोताजन यों क्रम से नीचे बैठे हुए थे।

वचन का बारबार स्मरण कर पूजे जाने तथा अपमानित होने पर हर्ष, विषाद आदि का उदय न होने से शान्त हुआ भी मैं बार बार हर्षित-सा होता हूँ। आज मेरा यहाँ न तो कर्म से कोई प्रयोजन है और न अकृत से (ज्ञान से) कोई प्रयोजन है फिर भी जैसे पहले व्यवहार में स्थित था वैसे ही स्थित हूँ लेकिन व्यवहार में प्रसक्ति से होनेवाला सन्ताप मुझमें बिलकुल नहीं है ॥१४-१७॥ अहा! असीम विश्रान्तिसुख भूमि मुझे मिल गई है। जन्म, मरण आदि अनन्त अनर्थों से व्याप्त संसारदशा प्राणियों को अत्यन्त क्लेशदायक है ॥१८॥

लेकिन अब मेरे दुःख के कोई भी कारण नहीं रह गये हैं, ऐसा कहते हैं।

भगवन्, न मेरा कोई शत्रु है न मित्र है, न मेरा शरीर है और न बाहरी खेत है, न दुर्जन है और न सज्जन है। यह आत्मचिति ही जब तक दुर्बोध थी यानी समझ में नहीं आती थी तब तक दुःखदायिनी यह जगत्‌रूप हुई किन्तु इस समय तो जगत् का ज्ञान से बाध होने के कारण यह सर्वार्थ सुन्दर हो गई है ॥१९॥ हे भगवन्, आपके अनुग्रह के बिना इस दृष्टि को मनुष्य कैसे जान सकता है ? भला बतलाइये तो सही पुल अथवा जहाज के बिना ही बालक समुद्र को कैसे पार कर सकता है ? श्रीलक्ष्मणजी ने कहा : अहा, अनन्त जन्म जन्मान्तरों में बढ़ी चढ़ी दुर्वासनाओं के कारण उत्पन्न हुए सन्देहों का नाश करनेवाले तथा अनेक जन्मजन्मान्तरों में संचित सैकड़ों पुण्यों को फलोन्मुख बनानेवाले मुनि महाराज के उपदेश से किये गये प्रतिबोधन से विचार के लिए उद्यमशील मेरे मन में आज चन्द्रमा के तुल्य परम आह्लाद देनेवाला परमात्मप्रकाश हो गया है ॥२०,२१॥ भगवन्, आपके सदृश महानुभावों के उपदेश से इस प्रकार की निरतिशयआनन्दप्रकाशरूप आत्मदृष्टि के प्रत्यक्षरूप से दृश्यमान होने पर भी मनुष्य लोग सर्वत्र प्रसिद्ध अपने दुर्भाग्य से महापुरुषों की सेवा शुश्रुषा से वंचित रहकर राग, द्वेष, अहंकार, जन्म, मरण आदि सैकड़ों दोषपूर्ण अवस्थाओं से रात दिन काठ के समान जलते हैं यह महान् आश्चर्य है ॥२२॥ श्रीविश्वामित्रजी ने कहा : अहा ! हमारे लिए बड़े हर्ष की बात है कि हमने मुनि महाराज के श्रीमुख से अत्यन्त पुण्यमय ज्ञान सुना है जिसके प्रभाव से हम लोग हजार बार गंगा में स्नान किये हुए से अत्यन्त पवित्र होकर बैठे हैं ॥२३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : सम्पत्तियों के उत्कर्ष में आत्मा चरमसीमा देखा गया है, क्योंकि वह निरतिशय आनन्दरूप है, दृष्टियों की चरमसीमा आत्मदृष्टि देखी गयी है, क्योंकि एक के ज्ञान से सर्व का ज्ञान हो जाता है, शास्त्रों की चरमसीमा अध्यात्मशास्त्र देखा गया है, क्योंकि वही चरम प्रमाण है। पशु, पुत्र, धन आदि के विनाशरूप विपदाओं की चरमसीमा सर्वसंसारनाश देखा गया है, क्योंकि उसके बाद फिर दूसरा नाश नहीं हो सकता है। काव्य, रस, अलंकार आदि से शोभित वाणियों की चरमसीमा श्रीवसिष्ठजी महाराज की उपदेशोक्ति देखी गई है तथा दृष्ट सुख विश्रान्ति के कारण महल, बाग-बगीचा, पर्वत, नदी, बालूमय तटभूमि आदि प्रदेशों की चरमसीमा परमात्मरूप प्रदेश देखा गया है, क्येंकि वही परम विश्रान्ति हेतु है ॥२४॥

देवर्षि श्रीनारदजी ने कहा : अहा ! जो उत्तम तत्त्व ब्रह्मलोक में सुनने को नहीं मिला, जो स्वर्ग में नहीं मिला तथा अन्यत्र भूतल में भी जो नहीं मिला उस उत्तम तत्त्वज्ञान को सुनकर मेरे कान आज परम पवित्र हो गये हैं ॥२५॥

श्रीलक्ष्मणजी ने कहा : हे मुनिवर, हमारे हृदय का तथा बाहर का अज्ञानान्धकार निःशेष निवृत्त कर चुके आपने हम लोगों के सन्मुख यह सिद्ध कर दिया है कि आप प्रसिद्ध सूर्य की अपेक्षा कई गुना अधिक उत्कृष्ट सूर्य हो गयें है, क्योंकि सूर्य केवल बाहर का ही अन्धकार निवृत्त करता है वह भी उससे आत्यन्तिक निवृत्त नहीं होता किन्तु आपने भीतर बाहर के अन्धकार की आत्यन्तिक निवृत्ति कर दी है ॥२६॥

श्री शत्रुघ्नजी ने कहा : भगवन्, आपके अनुग्रह से मैं निरतिशयआनन्दरूप जीवन्मुक्ति को प्राप्त हो चुका हूँ, अत्यन्त प्रशान्त हूँ, परम पद को प्राप्त हो गया हूँ, सदा के लिए परिपूर्ण (प्राप्तकाम) हूँ, केवल निरतिशय सुखस्वरूप हूँ ॥२७॥

महाराज दशरथ ने कहा : अनेक जन्मों के संचित पुण्यों से परमज्ञानी मुनिश्रेष्ठ इन कुलगुरु महाराज ने हम लोगों को परमपावन तत्त्व अथवा अध्यात्मशास्त्र का उपदेश दिया, जिससे हम लोग परम पवित्र हो गये हैं ॥२८॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : हे भरद्वाज, जब राजा दशरथ के साथ सभा स्थित वे सभ्यगण इस प्रकार के प्रशंसा वाक्य कह रहे थे तब भगवान् वसिष्ठजी ने ज्ञान से पावन वाणी से यह कहा ॥२९॥

अब महामुनि श्रीवसिष्ठजी 'मंगलादीनि मंगलमध्यानि मंगलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाण्यायुष्मत्पुरुषकाणि च भवन्ति अध्येतारश्च मंगलयुक्ता यथा स्युः' -अर्थात् जिन शास्त्रों के आदि में, मध्य में और अन्त में मंगलाचरण किया जाता है वे लोक में खूब प्रसिद्ध होते हैं उन्हें बनाने तथा पढ़ानेवाले पुरुष वीर और दीर्घजीवी होते हैं, उनका अध्ययन करनेवाले भी वैसे ही होते हैं - भाष्य में भगवान् पतंजलिजी द्वारा उद्धृत श्रुति के अनुसार निर्विघ्न सम्पूर्ण हुए महान् शास्त्र के उक्त फल की सिद्धि के लिए श्रीवसिष्ठजी ब्राह्मण, देवता, पितर, मुनिवृन्द के पूजोत्सव आदिरूप मंगल की औचित्यज्ञापन द्वारा आज्ञा देते हैं।

हे महाराज, हे रघुकुल को आह्लादित करनेवाले चन्द्ररूप, जो मैं कहता हूँ, उसे कीजिये। इतिहास कथा के अंत में द्विजातियों की पूजा करना विधिप्राप्त तथा उचित है, इसलिए आज आप विप्रवृन्दों को उनकी सकल कामनाओं से परिपूर्ण कीजिये इससे आपको अध्यात्मशास्त्र की श्रवणविधि की सांगोपांग निष्पत्ति का अक्षय फल प्राप्त होगा। मोक्ष के उपायभूत कथा की समाप्ति होने पर कीड़े की तरह नगण्य दरिद्र को भी अपनी शक्ति के अनुसार ब्राह्मणपूजन अवश्य करना चाहिये आप जैसे महाराज के लिए तो कहना ही क्या है ? महामुनि श्रीवसिष्ठजी का यह वचन सुनकर महाराज दशरथ ने दस हजार वेदज्ञ ब्राह्मणों को दूतों द्वारा निमन्त्रित किया। मथुरा में, सौराष्ट्र देश में, गौड़ देश में जो ब्राह्मण निवास करते हैं उन श्रेष्ठ-श्रेष्ठ ब्राह्मणों के कुलों को सत्कारपूर्वक बुलाकर अधिकाधिक ज्ञानविज्ञानवाले ब्राह्मणों को प्रमुखता देकर राजा ने दस हजार ब्राह्मणों को सविधि भोजन कराया ॥३०-३५॥ उक्त अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल भोज्य, अन्न, दक्षिणा से तथा श्राद्ध, उपहार, मणि, माणिक्य आदि से क्रमशः उन ब्राह्मणों, पितृगणों, देवताओं, राजाओं, नागरिकों, मन्त्रियों, नौकर-चाकरों, दीन, अन्धे, लूले, लंगड़े आदि का यों पूर्ण सत्कार कर संसार की सीमा के अन्त में पहुँचे हुए राजा दशरथ ने सुहृद जनों के साथ उस दिन उत्तम महोत्सव किया। रेशमी वस्त्र, मणि और सुवर्ण से विभूषित अतएव सुमेरु के तुल्य

सुन्दर राजमहल में तथा खूब सजाये गये अतएव सुमेरु सदृश अयोध्या नगरी में विलासवती यौवनमत्त कामिनियों ने घर–घर नाच किया ॥३६–३९॥ उस नाच में बाँसुरियाँ, कांस्यताल, वीणा, पखावज, तबले आदि बज रहे थे, ताण्डव नृत्य से जोर की ध्वनि हो रही थी। उन नाच करनेवाली महिलाओं के शेखर परस्पर विलक्षण केशबंधन के विभिन्न आभूषणों से विरचित थे, इधर उधर नचाये गये विविध अभिनय करनेवाले हाथों के भ्रमणों से उनके आसपास का आकाश तथा उनके वस्त्र पल्लवित से लगते थे, हास्यरस के अभिनय के समय वे दन्तरूपी चन्द्रमा की शुभ्र रश्मियाँ मनोहर अट्टाहासों द्वारा चारों ओर बिखेरती थीं, वीर रस के अभिनय के समय मंदपूर्वक हुँकार करती थीं, करुण, अद्‌भुत आदि रसों के अभिनय की लीलाओं के अवसर पर उनका स्वर चंचल हो उठता था, शृंगार रस में मानके अभिनय के अवसर पर वे एक पैर के तलुवे से लीलापूर्वक धरातल पर आघात करती थीं, मोतीमालाओं या पुष्पमालाओं के फटकारने से नक्षत्रों की तरह बिखर रहे पुष्पों की वृष्टियों से वे सफेद थीं, जलधारा के समान गिराये गये टूटे हुए हारों पर दैवात् पैर रखने से उनके पैर फिसल जाते थे। अपने चंचल आभरणों से कामदेव को मूर्तिमान् सा दिखला रही उन ललनाओं ने जी भर कर नाच किया। ब्राह्मणों ने वेदपाठ किया, वन्दियों ने स्तुतिपाठ किया और उन स्त्रियों ने गीत गाये। उनमें से जो आसव आदि मादकद्रव्य का सेवन करनेवाले द्विजेतर थे उन्होंने आसव आदिका पान किया किन्तु वस्त्र, आभूषण आदि से विभूषित भोजनार्थी विप्रों ने भोजनयोग्य विविध प्रकार के भक्ष्यों के वैचित्र्य से युक्त चार प्रकार का अन्न ग्रहण किया। चूना आदि की पुताई से स्वच्छ बनाई गई गृहभित्तियाँ रामरूपी चन्द्रमा की देहकान्तिरूप चाँदनी से तथा पुष्पोपहार, धूप, अन्योन्य रंगों के लेप से खूब चमक उठीं ॥४०–४६॥

राजा दशरथ के उत्सवरूपी यज्ञ में रंग बिरंग के कपड़े पहने हुए तथा उत्तम उत्तम माला धारण किये हुए परिचर और परिचारिकाएँ, जिनके शरीर से मनोहर गन्ध महक रही थी, इधर से उधर जा रही थीं ॥४७॥ ताण्डव नृत्य करनेवाली स्त्रियाँ कपूर, अगरू, कस्तूरी और कंकोलमिर्च मिश्रित चन्दन लगाकर खूब सजाये गये राजसभा के दूसरे आँगन में गई ॥४८॥ महाराज दशरथ ने अविनाशी परमपद को प्राप्त होकर बोधरूपी सूर्योदय हो जाने के कारण संसाररूपी कृष्णपक्ष की रात्रि का अन्त (विनाश) होने से उत्पन्न हुए हर्ष से लगातार सात रात्रि तक पूर्वोक्त प्रकार का महान् उत्सव किया, जिसमें दान, भोग और सजावट का अटूट बोलबाला था ॥४९॥

दो सौ चौदहवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ पन्द्रहवाँ सर्ग

तुम राम आदि के समान प्रबुद्ध होकर जीवन्मुक्त सुखी होओ यों
श्री वाल्मीकिजी का अपने शिष्य भरद्वाज को उपदेश देना।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : हे मेरे शिष्यों में सर्वश्रेष्ठ, हे महामते भरद्वाज, श्रीरामचन्द्रजी आदि पूर्वोक्त रीति के अनुसार ज्ञातव्य परम तत्त्व को जानकर शोक रहित हुए ॥१॥ वत्स, तुम भी इसी निर्दोष पूर्ण ब्रह्मात्मदृष्टि का दृढ़ता से अवलम्बन कर सांसारिक सुखों से विरक्त सन्देहरहित जीवन्मुक्त शान्तबुद्धि होकर सुख से रहो ॥२॥

यह मेरे द्वारा उपदिष्ट संसारनाशक ज्ञान दुष्टजनों की संगति से जिस प्रकार नष्ट न हो वैसे उसकी रक्षा करो, इस आशय से कहते हैं।

हे पवित्रात्मा भरद्वाज, जैसे श्रीरामचन्द्रजी को वसिष्ठजी द्वारा उपदिष्ट ज्ञान दुःसंग तथा विषयभोग की आसक्ति से रहित रहा अतएव वह ज्यों–का–त्यों रहा यानी विकृत नहीं हुआ वैसे ही तुम्हारी बुद्धि भी (मदुपदिष्ट ज्ञान भी) यदि दुःसंग और विषयभोगासक्ति से शून्य रही तो घने अज्ञान में पड़ने पर भी तथा विमूढ होने पर भी वह नष्ट नहीं होगी। इसी प्रकार ये महामना दशरथ आदि राजा तथा रामचन्द्र आदि राजकुमार जीवन्मुक्ति पद को प्राप्त हुए ॥३,४॥ हे पुत्र भरद्वाज, तुम स्वयं अपने विचार से ही रामचन्द्रजी आदि के समान पहले से ही जीवन्मुक्त हो। आज इस मोक्ष संहिता को सुनकर सचमुच मुक्ततर हो गये हो, क्योंकि जिस शंकारूपी पंक की संभावना थी, उसका भी इससे क्षालन हो गया ॥५॥

इस शास्त्र का परम पुरुषार्थरूप फल दृष्ट है, अतः यह सकल शास्त्रों से श्रेष्ठतम है और अभ्यास करने पर मन्द अधिकारियों को मुक्तिरूप परमपुरुषार्थ देने में समर्थ है, ऐसा दिखलाते हैं।

साक्षात् परब्रह्मानुभूति प्रदान करानेवाले परम पुण्य इन मोक्षोपायों को यदि बालक भी सुने, तो वह भी तत्त्वज्ञानी हो जाय। आप जैसे मुख्य अधिकारी में ये फलोपधायक हैं, इसमें कहना ही क्या है, इसके श्रवण से आप तो अवश्य तत्त्वज्ञानी हो गये हैं, यह भाव है ॥६॥ हे साधो, जैसे श्रीवसिष्ठजी के उपदेशवचनों के हृदय में प्रसार से सकल सन्देहों के साथ अज्ञान का विनाश होने के कारण महानुभाव राम आदि रघुवंशी परम पवित्रतम जीवन्मुक्तिपद को प्राप्त होकर शोकविहीन हो गये वैसे ही तुम्हें भी नित्यसिद्ध ब्रह्मस्वरूप जीवन्मुक्तपद को प्राप्त होना चाहिये तथा शोकरहित होना चाहिये ॥७॥

नित्यसिद्ध ब्रह्मात्मभावरूप जीवन्मुक्तपद की प्राप्ति के लिये और लोगों को भी सत्संगति, सत्सेवा, सन्तों से पूछना आदि उपाय का आश्रय करना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

सन्त महात्माओं की सत्शिक्षा से, लोभ, आलस्य, निद्रा आदि से रहित सप्रेम निरन्तर सेवा से तथा बोधोपायभूत कथाओं से भरे हुए उनके सदुपदेश से सावधान सन्मति अधिकारियों को ज्ञातव्य आत्मतत्त्व वैसे ही ज्ञात हो जाता है जैसे कि श्रीवसिष्ठजी की सत्संगति से श्रीरामचन्द्र आदि को ज्ञात हुआ ॥८॥ तृष्णारूपी चमड़े की रस्सी से कसकर बँधी हुई अज्ञानी के हृदय में जमी हुई देह, इन्द्रिय आदि में तादात्म्यअध्यासरूप ग्रन्थियाँ, गृह, पुत्र, कलत्र आदि में ममताग्रहरूप ग्रन्थियाँ तथा सब प्राणियों में एकात्मता के अनुभव से अभेद (ऐकरस्य) न होने के कारण द्वेष आदि की हेतुभूत ग्रन्थियाँ ये सबकी सब ग्रन्थियाँ इस मोक्षशास्त्र कथाओं के विचारविमर्श से जैसे बाल (नवोढा) स्त्रियाँ पहले बाल्यावस्थावश खेलकूद में चित्त रहने तथा रसानभिज्ञ होने के कारण पति के विषय में विशेष दिलचस्पी नहीं रखतीं लेकिन समय पाकर प्रौढ़ होने पर पति के साथ हिलमिल जाती हैं वैसे ही सब भूतों में अभेद को (ऐकरस्य को) प्राप्त हो जाती हैं ॥९॥ हे पुत्रतुल्य कृपाभाजन भरद्वाज, ये मुक्ति के उपाय मन्द अधिकारी पुरुष भी यदि इनका श्रवणाभ्यास करें तो उनके भी अज्ञानान्धकार को हटाने की सामर्थ्य रखते हैं ऐसे महामहिमाशाली इन मोक्षोपायों को गुरुमुख से जो अधिकारी श्रेष्ठ पुरुष सुनेंगे वे तत्त्वज्ञानियों में श्रेष्ठतम होकर फिर भवचक्र में कदापि नहीं पड़ेंगे। यह मेरी संक्षिप्त रहस्य उक्ति है, इसके अतिरिक्त

कथन से क्या प्रयोजन है ? ॥१०॥

वक्ता (उपदेश देनेवाले) भी गुरुमुख से विचार कर ही सम्प्रदायतः अर्थ को भलीभाँति जानकर औरों को सुनावें, उपदेश दें, तो उन्हें बोधरूप फल की प्राप्ति हो सकती है औरों को नहीं हो सकती, इस नियम को सूचित करते हुए कहते हैं।

जो सन्त पुरुष इस ग्रन्थ को बहुश्रुत गुरुजनों के सामने स्वयं भलीभाँति विचारकर उनके संवाद से जब यह ग्रन्थ भलीभाँति ज्ञात हो जाय तब पीछे स्वयं भी शुश्रुष (सुनने की इच्छा करनेवाले) लोगों को सम्प्रदायानुसार कहेंगे, उपदेश देंगे, तो वे मूर्खता (मूढ़ता) अथवा पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होंगे अवश्य ही तत्त्वज्ञानरूप फल को प्राप्त होंगे। संप्रदाय के अनुसार न जाने गये वचनों के श्रवण अथवा दूसरों को श्रवण कराने से क्या प्रयोजन है ? ॥११॥

अब अर्थबोध के बिना ही ग्रन्थ के पारायण का, ग्रन्थ लेखन तथा वाचक को वृत्ति देकर व्याख्यान कराने का फल कहते हैं।

जो व्युत्पत्ति न होने के कारण अर्थानुसन्धान के बिना तथा पारायण की दक्षिणा द्रव्य की अपेक्षा न कर यानी निर्लोभ होकर पारायण करायेंगे अथवा जो पुस्तक लिखायेंगे, जो उत्तम तीर्थक्षेत्र में वृत्ति बाँधकर व्याख्या करनेवाले पुरुष के साथ वाचक को नियुक्त करेंगे या केवल ही वाचक को नियुक्त करेंगे वे यदि सकाम होकर ये सब काम करेंगे तो राजसूय यज्ञ के फल से युक्त होकर बार–बार स्वर्ग जायेंगे। यदि निष्काम होकर उक्त कार्य करेंगे तो उत्तम कुल में जन्म तथा सद्गुरु के मुखारविन्द से सत्शास्त्र का श्रवण प्राप्त कर वैसे ही तीसरे जन्म में मोक्ष को प्राप्त होंगे जैसे कि पुण्यवान् पुरुष तीसरे जन्म में लक्ष्मी को प्राप्त होते हैं ॥१२,१३॥

इस ग्रन्थ का ऐसा महाफल आपको कहाँ से ज्ञात हुआ ऐसी किसी को आशंका हो, तो इस पर कहते हैं।

पुराने समय में अचिन्त्यरूपी ब्रह्मा ने मेरे द्वारा विरचित इस मोक्षमयी संहिता को मुनियों की सभा में आद्योपान्त स्वयं देखकर यह वचन सबके प्रति कहा कि सत्यवक्ता वाल्मीकिजी, वसिष्ठजी तथा मेरे वचन असत्य कदापि नहीं हो सकते तथा पूर्व रामायण में मुझे उन्होंने वरदान दिया था कि 'न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति' यानी इस काव्य में तुम्हारी वाणी तनिक भी असत्य न होगी ॥१४॥

इस शास्त्र की समाप्ति होने पर गृह, अन्न, धन आदि का दान ब्राह्मणों को अवश्य देना चाहिये, ऐसा कहते हैं।

बुद्धिमान् पुरुषों को मोक्षोपायरूप इस कथाप्रबन्ध की समाप्ति होने पर प्रयत्नतः वक्ता को सुन्दर भवन देकर अभिमत अन्न, पान, दान द्वारा ब्राह्मणों का पूजन करना चाहिये। दान आदि का कर्ता पुरुष शास्त्रानुसार स्वकृत पुण्य को उसके अनुरूप फलरूप से अवश्य प्राप्त होता है ऐसा समझकर अपनी शक्ति के अनुसार उन्हें अभीष्ट दक्षिणा आदि देना चाहिये ॥१५,१६॥ हे भरद्वाज, तुम्हारी बुद्धि को बोध देने के लिये सैकड़ों कथाक्रमों से विशाल कलेवर हुआ यह शास्त्र मैंने तुमसे कहा, जिसमें ब्रह्मतत्त्व का विस्तार से वर्णन है तथा जो दृष्टान्तयुक्तियों से सुशोभित है। इसका श्रवणकर जीते जी ही विमुक्ताशय होकर लोकानुग्रह के लिये ज्ञान, तपस्या और कर्मफल से युक्त

प्रारब्ध भोग के सत्कर्मों की फलरूप योग, ज्ञानसिद्धि और ऐश्वर्य की अक्षय शोभा को भोगकर पूर्णरूप से चिरविश्रान्ति को प्राप्त होओ ॥१७॥

दो सौ पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

दो सौ सोलहवाँ सर्ग

राजा अरिष्टनेमि, सुरुचि अप्सरा, ऋषिपुत्र कारुण्य आदि की कृतकृत्यता का तथा शिष्यों का गुरुजनों के लिए आत्मनिवेदन का वर्णन।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : हे राजन्, वसिष्ठजी का राम आदि के प्रति तथा अगस्त्यजी का सुतीक्ष्ण आदि के प्रति यह सदुपदेश मैंने आपसे कहा। इस ग्रन्थरूप तत्त्वमार्ग से उस परम पद को आप अवश्य प्राप्त होंगे ॥१॥ राजा (अरिष्टनेमि) ने कहा : भगवन्, आपकी जो कृपादृष्टि मुझ पर पड़ी है वह भवरूपी बन्धन का विनाश करनेवाली है, इसलिये उस कृपामयी दृष्टि से मैं भवसागर से उत्तीर्ण हो गया हूँ ॥२॥ देवदूत ने कहा : तदुपरान्त ऐसा कहकर राजा के नेत्र आश्चर्य से विकसित हो गये। उसने मुझसे मृदु स्वर से मधुर वचन कहा ॥३॥ राजा ने कहा : हे देवदूत, तुमको नमस्कार है, हे प्रभो, तुम्हारा कल्याण हो, सज्जन पुरुषों की मैत्री सात कदम साथ चलने से हो जाती है ऐसा सज्जनों का कथन है, उसको आपने सत्य कर डाला है। अब आप देवराज के महल को जाइये, आपका भला हो। इस मोक्षशास्त्र-कथा के श्रवण से सब तापों की निवृत्ति हो जाने के कारण मैं आनन्दमग्न हो गया हूँ निरतिशय हर्ष निर्भर हो गया हूँ। सब प्रकार के तापों से रहित हुआ मैं मुनिजी के मुख से सुने गये अर्थ का चिन्तन करता हुआ यहीं पर रहूँगा। राजा के यों कहने पर उसके विनय सौजन्य आदि गुणों से मैं अन्यन्त आश्चर्य में पड़ गया ॥४-६॥

सत्संग के कारण श्रवणलाभ होने से मैं भी कृतकृत्य हो गया हूँ, ऐसा कहते हैं।

पहले कभी मुझे यह ज्ञान सुनने को नहीं मिला था अपूर्व ही यह ज्ञानसार सत्संगवश मुझे सुनने को मिला है। इसी से मेरा अन्तःकरण अत्यन्त प्रसन्न हो गया है। मैं इस समय जिसने अमृत छककर पिया हो उस पुरुष के समान परितृप्त हो गया हूँ ॥७॥ हे पापरहित (卐) **तदुपरान्त वाल्मीकिजी से आज्ञा लेकर मैं तुम्हारे निकट तुम्हें उपदेश देने के लिए आया हूँ। तुमने जो मुझसे पूछा था वह सब मैं तुमसे कह चुका हूँ। अब मुझे आज्ञा दो देवराज इन्द्र के महल की ओर मैं जाऊँगा ॥८॥**

अप्सरा ने कहा : हे महाभाग्यशाली देवदूत, तुमको नमस्कार है, तुम्हारे द्वारा सुनाये गये इस अध्यात्मशास्त्र से मैं परम सुख विश्रान्ति को प्राप्त हो गई हूँ, मुझमें दुःख-क्लेश का नाम-निशान नहीं रह गया है, आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों ताप मुझसे कोशों दूर भाग गये हैं। हे देवदूत, अब तुम अपनी इच्छानुसार इन्द्र के समीप जाओ। तुम्हारा भला हो ॥९,१०॥

अग्निवेश्य ने कहा : वत्स, तदुपरान्त वह सुरुचि नाम की अप्सरा गन्धमादन के समीप हिमालय के शिखर पर बैठकर देवदूत द्वारा उपदिष्ट उसी ब्रह्मात्मैक्यरूप अर्थ का चिन्तन करने लगी ॥११॥

(卐) 'अनघे' इस सम्बोधन से निष्पाप होने के कारण तुमको अधिकारी जानकर तुमसे यह सब मैंने कहा, यह सूचित किया।

हे पुत्र, क्या तुमने श्रीवसिष्ठजी का उपदेशरूप यह शास्त्र सुना ? मोक्ष का साधन कर्म है अथवा ज्ञान है ? ऐसा तुम्हारा जो सन्देह था, उसका मूलभूत अज्ञान के विनाश से उच्छेद हो गया। अब जैसा तुम चाहते हो वैसा करो ॥१२॥

कारुण्य ने कहा : भगवन्, इस समय तत्त्वज्ञान होने से अतीत, अनागत और असंनिकृष्ट (दूरवर्ती) विषयों में मेरी स्मृति, वाणी व्यवहार तथा वर्तमान विषय में प्रत्यक्ष वैसे ही निर्विषय हो गये हैं जैसे कि स्वप्न में प्रतीत वन्ध्यापुत्र के विषय में निर्विषय होते हैं। जैसे निर्जल मरुभूमि में मरीचिका की स्थिति होती है वैसे ही मेरी सारी सांसारिक स्थिति की गति हो गई है। किसी भी विषय में मेरा अब कुछ सन्देह शेष नहीं रह गया है। अब मेरा इस संसार में न तो कर्म से कुछ प्रयोजन है और न ज्ञान से कोई प्रयोजन है, क्योंकि मैं कृतकृत्य हो चुका हूँ। फिर भी मैं लोकशिक्षा के लिए श्रीरामचन्द्रजी आदि के समान ही यथाप्राप्त वर्ण और आश्रम के अनुकूल व्यवहार करता रहूँगा जबर्दस्ती कर्मत्याग में कौन आग्रह है ॥१३,१४॥

अगस्ति ने कहा : हे सुतीक्ष्ण, कृतकृत्य हुए अग्निवेश्य के पुत्र कारुण्य ने यह कहकर विवाह द्वारा कर्माधिकारी बनकर यथोचित समय में शास्त्रानुसार वर्णाश्रमोचित स्नान, दान, अग्निहोत्र, अतिथिपूजन आदि कर्म किया ॥१५॥ हे सुतीक्ष्ण, ज्ञान के पश्चात् कर्मानुष्ठान के विषय में कर्म बन्धन का हेतु होगा, ऐसा सन्देह नहीं करना चाहिये, क्योंकि संशयवश जीव परमपुरुषार्थरूप स्वार्थ से च्युत हो जाता है, संशयात्मा विनष्ट हो जाता है, ऐसा वृद्धों का अनुशासन है ॥१६॥ सन्देह के विषय विरुद्ध अनेक कोटिरूप सांसारिकपदार्थों का पारमार्थिक ब्रह्मतत्त्वरूप से सकलविरोधों के त्याग से एकता बोधनरूप मुनि अगस्त्यजी का यह वचन सुनकर सुतीक्ष्ण ने समीप में गुरुजी को अत्यन्त विनय से नमस्कार कर गुरुजी से कहा ॥१७॥ सुतीक्ष्ण ने कहा : भगवन्, आपके अनुग्रह से मेरा अज्ञान और उसका कार्यरूप जगत् नष्ट हो गया है। मुझे सर्वश्रेष्ठब्रह्मात्मैक्यरूप ज्ञान प्राप्त हो गया है। जैसे नाट्यशाला में दीपक के रहने पर उसके प्रकाश के सहारे नट, नर्तक आदि की नाचकूद, अभिनय आदि क्रियाएँ होती हैं, वैसे ही जिस सबके साक्षी परमात्मा के स्वयं ज्योति होने के कारण नित्य स्फुरित और निष्क्रियरूप से स्थित होने पर सब स्पन्द मूर्तियाँ (सचेष्ट मूर्तियाँ) तथा लौकिक और वैदिक क्रियाएँ होती हैं एवं जैसे कांचन ही कड़ा, बाजूबंद, केयूर और नूपुरों के रूप में स्फुरित होता है तथा जैसे जल में लहरें स्फुरित होती हैं वैसे ही जिससे यह दृश्य स्फुरित होता है, यह सारा जगत् वही है उसमें पूर्णरूप से व्यवस्थित है, उससे रंचभर भी पृथक् नहीं है। ऐसा विचारकर जिस आश्रम में जो व्यवहार जैसा प्राप्त है उस व्यवहार का अनुवर्तन (अनुसरण) करता हूँ, सन्तों के वचन का कौन उल्लंघन कर सकता है ? भगवन्, आपके असीम अनुग्रह से मैं ज्ञातव्य तत्त्व का भलीभाँति ज्ञान प्राप्त कर स्थित हूँ ॥१८–२१॥ *इस समय गुरु द्वारा किये गये परमपुरुषार्थ देनेवाले ज्ञान के प्रदानरूप परम उपकार का जगत् में प्रत्युपकार न देखकर उनके चरणों में साष्टांग नमस्कार कर अपने को आजीवन उनकी दासता के लिए समर्पित करते हैं।*

हे गुरुवर ! मैं कृतार्थ हो गया हूँ आपके सन्मुख भूमि में दण्डवत् पड़ा हूँ। शिष्य गुरु के उपकार से (ऋण से) किस प्रत्युपकार द्वारा उऋण हो सकते हैं अर्थात् किसी से भी नहीं हो सकते, इसलिए

शिष्यों को चाहिये मन, वचन और कर्म से गुरु के सन्मुख आत्मसमर्पण कर दें। वही उनका गुरु के उपकार से निस्तार है। अन्य किसी भी कर्म से गुरुजी के उपकार से निस्तार नहीं हो सकता ॥२२,२३॥ भगवन्, आपके असीम अनुग्रह से निस्सन्देह हो मैं भवसागर से पार होकर पूर्णानन्दरूप से सम्पूर्ण जगज्जाल को व्याप्त कर स्थित हूँ इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥२४॥

यह ग्रन्थ सकल उपनिषदों के सारभूत अर्थ का उपबृंहणरूप है अतः इसका मुमुक्षु पुरुषों को भी समादर करना चाहिये यह सूचित करते हुए 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मतज्जलानिति शान्त उपासीत' अर्थात् यह सारा जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होने, ब्रह्म में लीन होने और ब्रह्म में स्थित होने के कारण ब्रह्म ही है यों शान्त होकर उपासना करनी चाहिये इस प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में प्रदर्शित स्पष्ट उपायसहित ज्ञान से ज्ञात सर्वात्मकसच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व का अनुसन्धान कर अन्त में मंगल के लिए नमस्कार करते हैं।

जो ब्रह्म सामवेद में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्' इस श्रुति द्वारा अधिकारी पुरुषों के लिए हाथ में रक्खे आँवले के समान प्रत्यक्षरूप से परमतात्पर्यतया उपदिष्ट है उस रूपसे अवशिष्ट प्रत्यक् चिदानन्दघन परमात्मा को नमस्कार है। ज्ञानोपदेश द्वारा परमसुखदायक, अद्वितीय ज्ञानमूर्ति, सुखदुःख आदि द्वन्द्वों से रहित, आकाशसदृश निर्मल, 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्तमहावाक्यों के लक्ष्यार्थरूप, एक, निर्मल, निश्चल, सकलधीवृत्तियों के साक्षी, भावातीत, त्रिगुणरहित, ब्रह्मानन्दरूप श्रीवसिष्ठजी को हम नमस्कार करते हैं ॥२५-२६॥

दो सौ सोलहवाँ सर्ग समाप्त।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

आदिकवि श्रीमद्वाल्मीकिमहामुनिप्रणीत

श्री योगवासिष्ठ महारामायण

परमहंस श्रीमद् आनंद बोधेन्द्र सरस्वती प्रणीत

'श्रीवासिष्ठ महारामायण' (तात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्यासहित) का हिन्दी अनुवाद

निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्ध

पहला सर्ग

मुनिवचन से श्रोताओं का उत्थान, उनकी आह्निकी क्रिया तथा
सुने गये विषयों का चिन्तन एवं निद्रा से रात्रि का यापन - यह वर्णन।

सबसे पहले पूर्व प्रकरण तथा उत्तर प्रकरण की हेतुतासंगति का सूचन कर रहे महर्षि वक्तव्य विषय की प्रतिज्ञा करते हैं।

महर्षि वाल्मीकिजी ने कहा (📖) : भद्र, उपशम-प्रकरण के अनन्तर अब इस निर्वाण-प्रकरण का श्रवण कीजिए, जो कि ज्ञात हो जाने पर मोक्षरूप फल देता है ॥१॥ एकमात्र प्रस्तुत कथा का ही अवलम्बन करके प्रतिज्ञात अर्थ का वर्णन करनेवाले महर्षि उपशम-प्रकरण के उपदेश के बाद दशरथ-सभा में जो वृत्तान्त हुआ, उसे कहते हैं। जिस समय महाराज वसिष्ठ उस प्रकार के गम्भीर अर्थ के प्रतिपादक वचन कह रहे थे, उनके एकमात्र श्रवण आनन्द में विभोर होकर श्रीरामचन्द्रजी मौन होकर अवस्थित थे, महामुनि वसिष्ठजी की वाणी और उससे प्रतिपादित अर्थों का मन में धारणकर राजे लोग, जिन्होंने मानसी तथा बाह्य पदार्थों का दर्शन और शारीरिक चेष्टा का परित्याग कर दिया था, निश्चेष्ट होकर चित्रार्पित की नाईं अवस्थित थे, महामुनि वसिष्ठजी द्वारा उपदिष्ट वाक्यों का बड़े आदर के साथ ऊपर उठाई गयी तर्जनी (उँगली) के विलक्षण अभिनय तथा भ्रूभंगपूर्वक श्रोता मुनिगण विचार कर रहे थे, परम आश्चर्यमय प्रत्यगात्मा के अवलोकन में अतिहर्ष के कारण विकसित नेत्ररूपवाला ललनाओं का समूह जब पुष्परसास्वादन में आसक्त भौंरों से युक्त कम्पन और शब्द से शून्य तरुमंजरीस्वरूपता प्राप्त कर रहा था, आकाश में जिस प्रदेश में दिवस का अवशिष्ट चतुर्थभागमात्र

(📖) उत्पत्ति, स्थिति और उपशम नामक पहले के तीन प्रकरणों से उत्पत्ति, स्थिति और लय के बोधक तथा 'अथात आदेशो नेति नेति' (सत्यस्वरूप के निर्देश के अनन्तर अब 'न, न' यों ब्रह्म का निर्देश किया जाता है) इत्यादि समस्त प्रपंच के निषेधक वेदान्त वाक्यों का अध्यारोप अपवादन्याय से आत्मतत्त्व के व्युत्पादक होने के कारण वासनाक्षय और मनोनाशपर्यन्त ज्ञान के द्वारा परमपुरुषार्थ में ही तात्पर्य है, यह बतलाया गया। अनन्तर अब 'यत्र नान्यत्पश्यति.', 'यतो वाचो निवर्तन्ते', 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्', 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वम्', 'निष्कलं निष्क्रियम्' इत्यादि श्रुतितात्पर्यसिद्ध तथा पूर्वोक्त समस्त साधनों से प्राप्त होनेवाले आत्मज्ञान के फलभूत मोक्ष के व्युत्पादनार्थ निर्वाणनामक प्रकरण का श्रवण कराने के लिए भगवान वाल्मीकि उपक्रम करते हैं।

लक्षित हो रहा था, उस प्रदेश में मानों वसिष्ठोपदेश का श्रवण करने के लिए सूर्य भगवान अवस्थित थे, इसी से वे मानों कुछ ज्ञानोदय से सौम्य यानी दृष्टिप्रिय और कुछ ताप का उपशम मानों प्राप्त किये हुए प्रतीत हो रहे थे। मुनि उक्त अर्थ के श्रवण के हेतु कुसुमवितानों के संस्पन्द से मालित (मालायुक्त) इसलिए मन्दार की मधुर सुगन्ध देनेवाला पवन मौन होकर बह रहा था, तत्त्वज्ञान हो जाने के कारण मानों उत्तम ध्यान कर रही बड़े-बड़े भ्रमरों की पंक्तियाँ पुष्पपंक्तियों के ऊपर सो रही थीं। मुक्तामय जालाकार (सरोवर के मोतियों की जाल के आकार के) वेष्टनों के मध्यस्थ भूमिप्रदेश में जल श्रवण के लिए मानों उत्कण्ठा से स्पन्दरहित होकर मुक्ता आदि की प्रभा से प्रकाशित हो रहा था, देशतः और कालतः अपरिच्छिन्न आकाशमार्ग की पथिक, चिरकालिक दीर्घ प्रवास से श्रान्त सूर्यरश्मियाँ शीतल घर के अन्दर (श्रवणशाला में) विश्राम के लिए छोटी खिड़की के मार्ग में प्रविष्ट हो रही थीं। शान्त हो रहे मोतियों के समूहों के प्रभाजालमय भस्म से धूलितस्वरूप श्रवणशाला के अन्दर प्रविष्ट तपस्वीरूपी दिवस के शरीरभूत सूर्य के प्रकाश अपने भीतर मानों शान्तिगुण सूचित कर रहा था, राजाओं के हाथों में तथा सिर के ऊपर लगाये गये लीला-कमल उत्तम रस से परिपूर्ण वसिष्ठजी के उपदेश को सुनकर आनन्द के आविर्भाव से श्रोताओं के मनों की नाईं मानों मिलने को उद्यत हो रहे थे, अज्ञानी बालकों को तथा पिंजड़े में स्थित शुक आदि पक्षियों को आदरपूर्वक भोजन देने के लिए स्त्रीजन त्वरित हो रहा था, चक्कर काट रहे भ्रमरों के पंखों से उत्थित वायु से उड़ाई गयी थोड़े विकास से युक्त कमुदसम्बन्धी धूलि चामर और आँख की बरौनी (पलकों के आगे के बाल) पर भली प्रकार चारों ओर विश्रान्त हो चुकी थी, पर्वतों की गुफाओं से निकले हुए छायासमूहरूपी अन्धकार के भय से मानों उड़ कर छोटी खिड़की के द्वारों में आश्रय के लिए सूर्यरश्मियाँ घर के भीतर प्रविष्ट हो रही थीं, उस समय दिन के चतुर्थभाग का सूचन करने में तत्पर दिशाओं के मुखों को पूर्ण कर देनेवाली नगारे, ढोल और शंख की ध्वनि हुई ॥२-१६॥ उक्त ध्वनि से मुनि वसिष्ठजी का उन्नत स्वर भी उस प्रकार तिरोहित हो गया, जिस प्रकार मेंघों के नाद से मयूरों का शब्द ॥१७॥ उस ध्वनि से पिंजड़ें में स्थित पक्षी क्षुब्ध पंखों से युक्त होकर चारों ओर से उस प्रकार क्षुब्ध हो गये, जिस प्रकार भूकम्प होने पर वेगपूर्वक तालपल्लवों से युक्त वनपंक्तियाँ चारों ओर से क्षुब्ध हो जाती हैं ॥१८॥ उस समय भय से त्रस्त हुए बालक धात्रियों के स्तनमध्य में रोदन शब्दपूर्वक ऐसे लिपट गये, जैसे वर्षाकालीन मेघ उन्नत शिखर के कोटर में लिपट जाते हैं ॥१९॥ क्षुब्ध हुए प्रवाह से युक्त नदियों से जैसे जलकण उड़ते हैं, वैसे ही उस ध्वनि से राजाओं के शिरोभूषणों से पुष्पधूलि से गौरवर्ण भ्रमरों की परम्पराएँ उड़ने लगीं ॥२०॥ उस प्रकार महाराज दशरथ के घर के प्रक्षुब्ध होने पर, चतुर्थ वय में दिवस के प्राप्त होने पर तथा धीरे-धीरे शंखध्वनि के शान्त होने पर प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हुए मुनियों में सिंहरूप महाराज श्रीवसिष्ठजी सभा के बीच में श्रीरामचन्द्रजी से मधुरवृत्तिवाले वचन कहने लगे ॥२१,२२॥

हे निष्पाप राघव, मैंने जो यह आपसे वाग्जाल यानी तत्त्वोपदेश के रूप में जो वचन कहे हैं, उनसे चित्तरूपी पक्षी को बाँधकर तथा हृदय में रोककर आत्मरूपता प्राप्त कीजिए ॥२३॥ श्रीरामजी, मेरी वाणी के इस प्रकार अविनाशी अर्थ का आपने क्या उस तरह ग्रहण किया, जिस तरह हंस जल से यानी दूध से मिश्रित जल में से जल का परित्याग कर दूध का ग्रहण करता है ॥२४॥ हे साधो, इसका अपनी

बुद्धि से आद्योपान्त बार–बार विचार कर इसी मार्ग से यानी पहले उपदिष्ट वासनाक्षय, मनोनाश, प्राणनिरोध तथा ज्ञानाभ्यासरूपी मार्ग से ही अब आपको जाना चाहिए ॥२५॥ श्रीरामजी, इस बुद्धि से (वृत्ति से) विहार कर रहे आप कभी भी बद्ध नहीं होंगे। यदि इस वृत्ति का परित्याग कर आप अन्य मार्ग से व्यवहार करेंगे, तो उस प्रकार आपका अधःपतन हो जायेगा, जिस प्रकार विन्ध्याद्रि के गर्त में हाथी का अधःपतन होता है ॥२६॥ श्रीरामभद्र, जैसे दीपक को त्यागनेवाला तथा अन्धपुरुष रात्रि में गर्त में गिर जाता है, वैसे ही बुद्धि से गृहीत मेरे अर्थ के अनुसार कार्य नहीं करोगे तो अवश्य ही आप नीचे गर्त में गिर जाओगे ॥२७॥ हे भद्र, मेरे द्वारा कथित अर्थ की सिद्धि के लिए आपको असंग होकर यथा प्राप्त यानी समयानुसार प्राप्त हुए व्यवहार का परिपालन करना चाहिए, समस्त शास्त्रों के परम तात्पर्यविषय सिद्धान्त का मन में दृढ़ीकरण करके आप उदारवान यानी अपरिच्छिन्न आत्मबोध से सम्पन्न हो जाइए ॥२८॥ हे सभ्यगण, हे महाराज दशरथ, हे श्रीरामजी, हे लक्ष्मण तथा अन्यान्य नृपवर्ग आप सभी आज अपने–अपने आह्निक कर्मों का (संध्या वंदन का) अनुष्ठान करें, क्योंकि प्रायः आज का दिन समाप्त होने जा रहा है, अब जो अवशिष्ट विचार है, उसका, जब आप प्रातःकाल सभा में आयेंगे, तब हम लोग विचार करेंगे ॥२९,३०॥ श्री वाल्मीकिजी ने कहा : महर्षि वसिष्ठ महाराज के द्वारा इस प्रकार संबोधित की गई वह सभा उठ खड़ी हुई, समस्त सभा का वदन पद्म की तरह था, अतएव वह विकासयुक्त कमलिनी के सदृश भली मालूम पड़ती थी ॥३१॥ अन्यान्य राजाओं ने महाराज दशरथ की स्तुति की, श्रीरामचन्द्रजी को नमस्कार किया तथा महर्षि वसिष्ठजी की खूब स्तुति की, अनन्तर वे अपने–अपने आश्रम में चले गये ॥३२॥ आकाशचारी देवताओं से वंदन किये हुए महाराज वसिष्ठजी विश्वामित्र महर्षि के साथ आश्रम जाने के लिए आसन से उठे ॥३३॥ दशरथ आदि राजे तथा मुनि लोग अपने अनुरूप उपदेष्टा मुनि वसिष्ठजी के पीछे–पीछे आश्रम पर्यन्त जाकर उनकी आज्ञा लेकर कोई आकाश की ओर, कोई अरण्य की ओर, कोई राजमन्दिर की ओर कमल से उत्थिर भ्रमरों की तरह चले गये ॥३४,३५॥ महर्षि वसिष्ठजी के चरणों में निर्मल पुष्पों की अंजलि समर्पण करके महाराज दशरथजी, भार्याओं से अनुगत हो, अपने राजमहल के भीतर प्रविष्ट हुए ॥३६॥ श्रीरामभद्र, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न अपने आश्रम में प्राप्त गुरुजी के चरणों की भक्तिपूर्वक पूजा करके दशरथ के मन्दिर की ओर आ गये ॥३७॥ अपने स्थान में आकर उन सब श्रोताओं ने स्नान किया, देवता और पितरों की पूजा की तथा विप्र और अतिथियों के अभिमुख हुए यानी अभिगमन आदि से पूजन के लिए उनका स्वागत किया ॥३८॥ इन क्रियाओं से निवृत्त होकर उन श्रोताओं ने ब्राह्मण आदि से लेकर नौकर पर्यन्त अपने–अपने परिवारों के साथ वर्ण–धर्म के क्रमानुसार भोज्यपदार्थों का भोजन किया ॥३९॥ दैनिक क्रियाओं के साथ सूर्य भगवान के अस्ताचल की ओर प्रस्थान करने पर तथा रात्रिक्रियाओं के साथ चन्द्रमा के उदित होने पर रेशमी चादरों से युक्त शय्याओं पर तथा आसनों पर बैठकर भूमि पर विहार करनेवाले मुनि, राजे, राजपुत्र तथा महर्षि लोग अत्यन्त आदरपूर्वक वसिष्ठ महर्षि के वदनकमल से निर्गत संसारतरण के उपाय का यथावत एकाग्र चित्त से विचार करने लगे ॥४०–४२॥ तदनन्तर प्रहरमात्र में वे श्रोतागण, जो रात्रि के निर्गमन की अभिलाषाओं के कारण दिनार्थी (रात्रि के अतिक्रमण की अभिलाषावाले) कमल के सदृश थे, सुन्दर स्वप्न से युक्त निद्रा को प्राप्त हुए ॥४३॥ श्रीरामभद्र,

लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न इन तीनों भ्राताओं ने तीन प्रहर तक महर्षि के उपदेश का निरन्तर विचार किया ॥४४॥ उन्होंने केवल आधे प्रहर (दो घड़ी) तक ही नयनों को मूँदकर उत्तम स्वप्न से युक्त तथा क्षणभर में श्रम का निवारणकर देनेवाली निद्रा प्राप्त की। *यहाँ पर सुन्दर स्वप्नयुक्त निद्रा प्राप्त हुई इस कथन का तात्पर्य भावी शुभ फल का सूचन करने में हैं, क्योंकि 'अथ यत्र देव इव' इत्यादि श्रुति से यह प्रतिपादन किया गया है कि स्वप्न में सर्वात्म्यदर्शन भावी मोक्षरूप फल का सूचक होता है*॥४५॥

इस प्रकार पवित्र मनवाले, विवेकी तथा आत्मतत्त्व प्रबोध के कारण विकासयुक्त आशयवाले उन रामचन्द्र आदि की रात्रि जब समाप्त हो गई तब उसने सूर्यकिरणों के सम्बन्ध से मलिन हुए चन्द्रमा को ही अपना मुख बना लिया ॥४६॥

पहला सर्ग समाप्त

दूसरा सर्ग

श्रीरामचन्द्र आदि के द्वारा महाराज वसिष्ठजी का सभा में आनयन तथा
महर्षि द्वारा उक्त अर्थ के स्मरण से उनकी आत्मतत्त्व में विश्रान्ति-यह वर्णन।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : तदनन्तर चन्द्ररूपी मुख से तथा व्याकुल अन्धकाररूपी पैरों से युक्त रात्रि उस प्रकार मरणोन्मुखी हुई, जिस प्रकार विवेक का उदय होने पर वासना मरणोन्मुखी हो जाती है ॥१॥ अनन्तर पूर्वाभिमुख मनुष्यों द्वारा दिखाई पड़नेवाले पूर्वदिशास्थ पर्वतों के ऊपर शिखरों से प्रतिबद्ध होने के कारण उन-उन शिखरों के भीतरी भागों से दण्डायमान प्रकाश निकल रहा था, अतएव वहाँ पर उन अन्तराल भागों से निकल रहे किरणोंवाले सूर्य ने फैलाये गये हाथों के सदृश प्रकाश धारण किया है ऐसा प्रतीत होता था, और जो पश्चिम दिशा में मुख किये हुए प्राणी थे, उनके द्वारा दिखाई पड़नेवाले पश्चिम दिशास्थ पर्वत पर, तो सूर्य ने मिथ्याकल्पित शिरोभूषण की नाईं मानों आलोक धारण किया है – ऐसा प्रतीत होता था ॥२॥ तदनन्तर बरफ के कणों का आकर्षण करनेवाला, चन्द्रमण्डल को आकृष्ट करनेवाला तथा सूर्यरूपी अपने चक्षु से निकले हुए आलोक से चन्द्रज्योत्स्नाओं को ग्रसित करनेवाला प्रातःकालीन मन्दपवन सुशोभित हुआ ॥३॥ श्रीरामजी, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न अपने-अपने अनुचरों के साथ उठकर स्नान, सन्ध्या आदि कर्मों का अनुष्ठान करके महामुनि श्रीवसिष्ठजी के आश्रम पर चले गये ॥४॥ वहाँ जाकर सन्ध्याकर आश्रम से बाहर निकलनेवाले महर्षि वसिष्ठजी के चरणों में उन्होंने अर्घ्यसन्तति प्रदानकर प्रणाम किया ॥५॥ क्षणभर में महर्षि वसिष्ठजी का आश्रम मुनियों, ब्राह्मणों और राजाओं से तथा हाथी, अश्व, रथ आदि अन्यान्य यानों से इतना भर गया कि वहाँ तनिक भी अवकाश नहीं रहा ॥६॥ तदनन्तर मुनियों में सिंहरूप महाराज वसिष्ठजी उस सेना के साथ ही राम आदि से अनुगत होकर यथासमय दशरथजी के घर पर आ पहुँचे ॥७॥

वहाँ पर त्वरापूर्वक मिलने के उत्साह से सन्ध्या किये हुए महाराज दशरथ ने आदरपूर्वक दूर मार्ग में ही जाकर महर्षि का पूजन किया ॥८॥ पुष्पों, मोतियों तथा मणियों के समूहों से पहले की अपेक्षा पुनः अधिक सजाई गई सभा में प्रविष्ट होकर वे सब श्रोतागण आसनों की पंक्तियों पर आ गये ॥९॥ अनन्तर उसी समय पहले दिन के जो आकाशचर, भूचर आदि श्रोता थे, वे सब-के-सब आ धमके ॥१०॥

एक दूसरों का परस्पर अभिवादन करके सभा बैठ गई, उस समय राजाओं के अनुरूप आकार प्रकारवाली सौम्य वह सभा उस प्रकार सुशोभित हुई, जिस प्रकार वायु के शान्त हो जाने पर कमलिनी सुशोभित होती है ॥११॥ जब सभामण्डप में ब्राह्मण आदि–श्रोतागण प्रविष्ट हो गये, वे प्रत्येक दिन के लिए निश्चित अपने–अपने आसन के अनुसार बैठ गये, उनके परस्पर के कोमल स्वागत शब्द शान्त हो गये, सभा के कोनों में स्थित बंदीजनों के शब्द भी शान्त हो गये, उदित सूर्यरश्मियाँ मानों अतित्वरा से सुनने के लिए अभ्यागतों में खिड़कियों के द्वारा प्राप्त होकर प्रविष्ट हो गई और जल्दी–जल्दी सभा में प्रवेश कर रहे श्रोताओं के अंगों के आघात से उत्पन्न मोतियों के समूह से युक्त भूषणों का झनकार निद्रा की नाईं स्पन्दशून्य हो गया, तब शंकर के आनन (मुख) में कुमार की नाईं, देवगुरु के आनन में कच की नाईं, शुक्राचार्य के आनन में प्रह्लाद की नाईं और भगवान विष्णु के आनन में गरुड़ की नाईं श्रीरामचन्द्रजी ने महाराज वसिष्ठ के आनन में, विकसित कमल में आकाशप्रान्त में विहरण करनेवाली भ्रमरी की तरह, दृष्टि धीरे से लगाई ॥१२–१७॥ तदनन्तर वाक्य रचना में पटु महामुनि वसिष्ठजी, पहले से चले आ रहे क्रम से ही, वाक्यार्थ के विज्ञाता श्रीरघुनन्दन को कहने लगे ॥१८॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामजी, मैंने जो कल सुन्दर पद्धति से अत्यन्त गहन अर्थवाला तथा परमार्थ का अवबोधक वाक्य कहा था, उसका क्या आप स्मरण करते हैं ? ॥१९॥ शत्रुनाशक श्रीरामभद्र, अब मेरे द्वारा कहे जा रहे इस अन्य ज्ञानहेतु अर्थ का श्रवण कीजिए, जिससे कि मोक्षरूप नित्यफल की सिद्धि होगी ॥२०॥ श्रीरामजी, वैराग्य के अभ्यास से तथा आत्मतत्त्व के विज्ञान से संसार तरा जाता है, अतः आप उन्हीं का अभ्यास करने में लग जाइए ॥२१॥ सम्यक् तत्त्व के अवबोध से अज्ञान का क्षय हो जाने तथा वासना–संस्थान का विनाश हो जाने पर शोकशून्य मोक्षपद प्राप्त हो जाता है ॥२२॥ देशतः, कालतः और वस्तुतः त्रिविध परिच्छेद से शून्य तथा देश और काल निबन्धन पूर्व और अपर दोनों सीमाओं या द्वैत के दर्शन से निर्मुक्त अद्वितीय परब्रह्म ही जगद्रूप से स्थित है, द्वित्व तो अज्ञान से प्रतीत होता है ॥२३॥ जिस अवस्था में समस्त भावों से अनवच्छिन्न, शान्त तथा गोत्वादि धर्मों में भी अनुगत होकर एकरूपतः भासनेवाले ब्रह्म की ही अस्तिता सर्वोपरि विराजित है, उस अवस्था में द्वैतपन कैसे रह सकता है ? ॥२४॥ उस प्रकार के ब्रह्मस्वरूप का निश्चय कर और 'अहम्' अभिमान का परित्याग कर आप मुक्त शरीर, महान, एकरूप, प्रशान्तात्मा तथा साक्षात् उत्तम आत्मस्वरूप (या आकाश या आनन्दरूप) हो जाइए ॥२५॥ चित्त नहीं है, अज्ञान नहीं है, मन नहीं है और जीव भी नहीं है, हे श्रीरामजी, ये ब्रह्म की अपनी खास कल्पनाएँ है ॥२६॥ भद्र, जो भोग्यरूप पदार्थ है, जो भोगार्थ व्यापार हैं, जो उनमें प्रतिबिम्बित चिदाभास या स्मृतियाँ हैं और जो उन भोगों की इच्छाएँ हैं इन सबके रूप में आदि और अन्त से शून्य ब्रह्म ही समुद्र की नाईं विकसित होता है ॥२७॥ पाताल आदि देश, स्वर्ग, तृण आदि वस्तु, भूत, वर्तमान आदि काल, प्राणी एवं आकाश सर्वत्र वह निरतिशय चिद्रूप ब्रह्म ही दिखाई पड़ता है, दूसरा कुछ नहीं ॥२८॥ उपेक्ष्य, हेय, उपादेय, बन्धु, सम्पत्तियाँ, देह इन सभी रूपों से आदि और अन्त से शून्य परब्रह्म ही समुद्र की नाईं विकसित होता है ॥२९॥

क्या सदा ही ब्रह्म विकसित होता है ? नहीं, ऐसा कहते हैं।

जब तक अज्ञान की कल्पना रहती है, जब तक अब्रह्म की भावना रहती है, जगज्जाल में जब तक

आस्था रहती है, तब तक चित्त आदि की कल्पना रहती है ॥३०॥ जब तक देह में अहंभावना रहती है, जब तक इस दृश्य में आत्मरूपता रहती है, जब तक यह मेरा है, इस प्रकार की आस्था रहती है, तब तक चित्त आदि भ्रम रहता है ॥३१॥ जब तक पूर्णता का उदय नहीं होता है और जब तक सज्जनों के संसर्ग से मूर्खता का विनाश नहीं होता, तब तक चित्त आदि निम्नभाग की ओर जाते रहते हैं ॥३२॥ तब तक सम्यक् आत्मदर्शन के प्रभाव से यह जगत की वासना शिथिल नहीं हो जाती, तब तक विस्पष्टरूप से चित्त आदि रहते हैं ॥३३॥ जब तक अन्धता और मूर्खता रहती है, जब तक विषय की अभिलाषा से विवशता रहती है एवं जब तक मूर्खतावश मोह का ढेर बना रहता है, तब तक चित्त आदि की कल्पना रहती है ॥३४॥ जब तक हृदयरूपी अरण्य में आशारूपी विषगन्ध चारों ओर फैलती रहती है, तब तक उत्तम आत्मविचाररूप चकोर भीतर घुसने नहीं पाता ॥३५॥ जिसका अन्तःकरण भोगों में आस्था नहीं रखता, जिसका सुशीतल निर्मल पद प्राप्त हुआ है एवं जिसकी आशारूपी फाँसी का जाल छिन्न-भिन्न हुआ है, उसको चित्त विभ्रम नष्ट हो जाता है ॥३६॥ तृष्णारूपी मोह के परित्याग से अविनाशी सुशीतल आत्मज्ञान सम्पन्न तथा प्रशान्तचित्त पुरुष की आस्था से परित्यक्त चित्तभूमि प्रबोधरूपी फल से समन्वित रहती है ॥३७॥

चित्तका अनुदय ही चित्त त्याग है, इस आशय से कहते हैं।

उपयोग से रहित दूरवर्ती अवस्तु रूप अतएव भ्रमात्मक पुरुषाकृति की नाईं अपनी देह को आस्था छोड़कर देख रहे पुरुष के चित्त की उत्पत्ति होगी कैसे ? ॥३८॥ जिसका श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा तन्मूलक आत्मसाक्षात्कार से परिष्कृत चिन्मात्रस्वरूप संसार प्रसिद्ध स्वरूप से भिन्नरूपवाला यानी आत्मस्वरूप बन गया है एवं जिसको अपने चित्त में ही जगत विलीन हो गया है, उस पुरुष के जीव आदि निखिल भ्रम शान्त हो जाते हैं ॥३९॥ भद्र, मिथ्या भ्रम को उत्पन्न करनेवाले आत्म-अन्धकार का विनाश तथा परमार्थभूत आत्मज्ञानरूप उत्तम सूर्य का उदय होने पर चित्त विगलित होकर उस प्रकार पुनः दर्शन नहीं देता, जिस प्रकार अग्नि में सूखा पत्ता या घी का अंश गिरने पर पुनः दर्शन नहीं देता ॥४०,४१॥

चित्त का अभाव हो जाने पर व्यवहार कैसे होगा ? इस पर कहते हैं।

सत्य एवं असत्य वस्तु का साक्षात्कार किये हुए जो जीवन्मुक्त महात्मा हैं, जो उनकी, जल के सूख जाने पर बालू में जल रेखा की नाईं, चित्तप्रचार रेखा है, वही सत्त्व कहा जाता है ॥४२॥ जीवन्मुक्तों के शरीरों में जो व्यवहार करनेवाली वासना है, वह चित्त नाम की नहीं है, क्योंकि वह सत्त्वरूपता प्राप्त कर चुकी है ॥४३॥ चित्तवर्जित, सर्वदा परब्रह्मपद में अवस्थित, जो तत्त्वज्ञानी महात्मा हैं, वे सत्त्व में स्थिति हो जाने के कारण प्राप्त हुई अनास्था से ही लीलावश व्यवहार करते हैं ॥४४॥

तब क्या तत्त्वज्ञों को वासना से व्यवहार और परमार्थ दोनों का अपरोक्ष ज्ञान होने के कारण द्वैत और अद्वैत दोनों रहते हैं ? नहीं, ऐसा उत्तर देते हैं।

सत्त्ववृत्ति में अवस्थित तथा निगृहितेन्द्रिय शान्त महात्मा लोग अद्वय ब्रह्मरूप ज्योति का सदा साक्षात्कार करते हुए रहते हैं, अतः उन्हें द्वैतता, एकता या वासना नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्मप्रकाश के साक्षात् अवलोकन से उनका बाध हो चुका है ॥४५॥

उसीका स्पष्टीकरण करते हैं।

'मैं सर्वात्मक हूँ' इस प्रकार की परिपूर्ण आत्मभावना से समस्त त्रिजगत–रूपी उपेक्षणीय तृणका चिदात्मक अग्नि में हवन कर रहे महामुनि के चित्त आदि विभ्रम दूर हो जाते हैं ॥४६॥

अतएव अज्ञानी के चित्त की अपेक्षा सत्त्व विलक्षण (भिन्न) है, इस आशय से कहते हैं।

विवेक से विशुद्ध हुआ चित्त सत्त्व कहा जाता है, विवेक निर्मल चित्त फिर मोहरूपी फल उस प्रकार नहीं देता, जिस प्रकार दग्ध हुआ बीज अंकुर नहीं देता ॥४७॥ जब तक विमूढ मनुष्यों के भीतर वासना चित्तशब्द से व्यवहृत होती है, तब तक वह पुनर्जन्म की हेतु होती है, तत्त्वज्ञान हो जाने पर तो वह सत्त्वरूप होकर उलटी हो जाती है यानी जन्मनिवृत्तिरूप विपरीत कार्य करती है ॥४८॥ श्रीरामजी, आप प्राप्तव्य वस्तु को प्राप्त कर चुके हैं, आपका अन्तःकरण सत्त्वरूपता को प्राप्त हुआ है और ज्ञानरूप अग्नि से दग्ध हो चुका है, अतः फिर वह अंकुरित नहीं हो सकता ॥४९॥

तब कैसा अन्तःकरण पुनः अंकुरित होता है ? तो इस पर कहते हैं।

जिस प्रकार परशु से छिन्न अथवा अग्नि से दग्ध हुए भी तृण आदि यदि भीतर से बीजशक्ति से युक्त रहे तो उससे पुनः अंकुर आदि की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार पुत्र, वित्त और लोक की एषणारूपी बीजशक्ति से युक्त अन्तःकरण पुनः जनन आदि के प्रति हेतु हो सकता है, परन्तु ज्ञानरूपी अग्नि से दग्ध हुआ एषणादि बीजशक्ति से शून्य तथा प्रबोध से निर्मल अन्तःकरण पुनः जनन का हेतु नहीं होता ॥५०॥

ज्ञानरूपी अग्नि से कैसे बीजशक्ति का दाह होता है ? इस पर कहते हैं।

चूँकि, जगत अज्ञानवश आरोपितरूप से ब्रह्म की ही अभिवृद्धिरूप हैं, चूँकि, ज्ञान से वास्तव ब्रह्मस्वरूप अभिवृद्धिवाला जगत भी है तथा चूँकि, ब्रह्म और जगत का केवल अज्ञानमात्रकृत भेद चिद्घन और ब्रह्म के भेद की नाईं अज्ञान के नाश से नष्ट हो जाता है, इसलिए तत्त्वज्ञान होने पर अन्तःकरण प्रस्फुरित नहीं होता ॥५१॥ जिस प्रकार एकमात्र तीक्ष्णतारस से युक्त मिर्च के अन्दर तीक्ष्णता मिर्चरूप से विद्यमान है, उस प्रकार चित् के अन्दर तीनों जगत भी चिद्रूप से ही रहते हैं, इसलिए तत्त्वदृष्टि से चित् और जगत एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं, यही कारण है कि सदसदात्मक वस्तुप्ररोह और उसका प्रलय मायाप्रयुक्त निरर्थक भ्रान्ति ही है ॥५२॥

तब क्या 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (सृष्टि के पहले यह जगत असदात्मक ही था) इत्यादि श्रुति प्रसिद्ध और 'घटोऽस्ति', 'घटो नास्ति' इत्यादि लोक प्रसिद्ध सत् और असत् शब्द निरर्थक हैं ? नहीं, ऐसा उत्तर देते हैं।

यहाँ श्रौत और लौकिक व्यवहार में एक दूसरे से व्यावृत्त शब्द व्यावृत्त अर्थों में ही संकेतित हैं यानी व्यावृत्त (एक दूसरे से भिन्न–भिन्न स्वरूपवाले) शब्द भिन्न–भिन्न अर्थों में ही अपना संकेत रखते हैं, इसलिए वक्ता और श्रोता की वासना ही व्यावृत्ति (भेद) के आकार में भासती है। 'सदसद्' शब्द से उत्पन्न संवित् प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि असत्यरूप व्यावृत्ति शब्दार्थ नहीं हो सकती, यों व्यावृत्ति पदार्थ का निरास होने पर 'सदसद्' शब्द के वाच्यभूत दोनों अर्थ अव्यावृत्तानुगत चिदाकाशस्वरूप से ही परमार्थरूपतः भासित हो गये, अतः वही परमार्थ वस्तु शब्दार्थ है, यह भाव है ॥५३॥

इस प्रकार सत् और असद्रूपी विकल्पों के त्याग से चिन्मात्र का दर्शन होने पर देह में

आत्मत्वभ्रममूलक जन्म और मरण आदि अनर्थ-प्राप्ति से रोने का प्रसंग नहीं है, ऐसा कहते हैं।

'त्वम्' शब्द से व्यवहृत होनेवाला सदसद्स्वभाव रामनामक स्वतः आत्मा नहीं है, क्योंकि शरीर चिन्मय है नहीं। समस्त जगत का अचिन्मयत्व और अभाव निश्चित हो जाने पर आपको देह आदि की कल्पना ही कैसे हो सकती है ? ॥५४॥ श्रीरामजी, यदि चित्-व्यावृत्तिरूप केवल जाड्य अंश का परित्याग कर समस्त जगत सदा चिन्मय ही है, ऐसा आप मानते हैं, तो आप चित्स्वरूप का भली प्रकार विचार कीजिए। यदि आप उसके विषय में भली प्रकार विचार करते हैं, तो वह विशुद्ध, त्रिविध (कालकृत, देशकृत और वस्तुकृत) परिच्छेदों से शून्य तथा चिदेकरसस्वरूप ही हस्तगत होता है, ऐसी स्थिति में देह आदि अनर्थों की कल्पना ही कैसे हो सकती है ? ॥५५॥ श्रीरामजी, अपने विशाल स्वरूप का आप स्मरण कीजिए, चित्स्वरूप का विस्मरण करके आप परिच्छिन्न मत हो जाइए। आप अंशशून्य (निरवयव) तथा पारावार से वर्जित चिदात्मस्वरूप ही हैं ॥५६॥ भद्र, उस परिपूर्ण चित्स्वभावस्थिति को प्राप्त होकर आप सर्वातिशायी उत्तम आनन्द के लाभ आदि से महान अभ्युदयवाले होकर परिच्छिन्न जगत अपरिच्छिन्न पूर्ण स्वभाव है, ऐसी भावना कीजिए। आप वही परिपूर्णरूप हैं, शान्त (उपद्रव शून्य) हैं, चैतन्यरूप हैं और ब्रह्मरूप हैं ॥५७॥ श्रीरामजी, आप चित्-शिला के उदरस्वरूप ही हैं, अनेक भावों के रूप में आप अवस्थित होनेवाले नहीं हैं, अनेक भावों के बाध की अवधिरूप से अवशिष्ट रहनेवाले भी आप हैं, समस्त वाणी और मन की प्रवृत्ति के हेतु का जहाँ अभाव हो जाता है, वह भी आप ही हैं। *(तब क्या अत्यन्त परोक्ष-स्वरूप हैं ? नहीं, यह कहते हैं।)* तत्स्वरूप आप परोक्ष-से नहीं है क्योंकि आप सदा स्वप्रकाशस्वरूप हैं ॥५८॥

आप सत्स्वरूप हैं और असत्स्वरूप है, इस अंश का विवरण करते हैं।

जो सम्पूर्ण पदार्थों का व्यावृत्तिस्वरूप भीतर का परिच्छेद है, वही असत् होने के कारण असत्-पदार्थ है, असत्पदार्थरूप आप नहीं हैं, अतः सत्स्वरूप हैं, 'सत्' शब्दार्थ ही असत्-व्यावृत्त सद्धर्मरूप से व्यावहारिक पुरुषों के द्वारा कल्प्यमान होने के कारण सत्ता कहा जाता है, वह भी आपमें नहीं है, अतः असत्-स्वरूप है, इसी आशय से 'आप सत् हैं, और असत् हैं' यह कहा गया है। हे स्वस्वरूप में स्थित रहनेवाले चिदघन ! आपको प्रणाम है ॥५९॥ हे श्रीरामजी, आदि और अन्त से शून्य विशाल स्फटिक शिला के अन्तराल की नाईं निबिड़ जो चिद्घन है, उसके सदृश स्वभाववाले आप दुःख आदि विक्रियावाले नहीं हैं, यह निश्चय करके स्वस्थ हो जाइए। चारों ओर के विस्तार से युक्त आपके चित्-शिलारूपी जठर में प्रतिबिम्बित पल्लवकोश की नाईं कल्पित माया की रेखा-सदृश वासना विशेषों में मन की कल्पना से स्थित अखिल जगतवाले हे श्रीरामजी, उक्त स्वरूपवाले आपको मैं प्रणाम करता हूँ ॥६०॥

दूसरा सर्ग समाप्त

तीसरा सर्ग

ब्रह्म, जीव, मन, देह एवं जगत में एकता के दर्शन से
समस्त द्वैतभ्रम की शान्ति हो जाने पर परिपूर्ण एकरूप से स्थिति होती है, यह वर्णन।

सबसे पहले चित्स्वरूप आत्मा समस्त कल्पनाओं के प्रतिभास में हेतु है, यों आत्मा का

परिचय कराते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, जिस प्रकार समुद्र में होनेवाले असंख्य तरंगों का हेतु सामान्य जल का स्वरूप है, उसी प्रकार जो चैतन्यात्मक चिति है, वही असंख्य भुवन वहन करती है, वह आप हैं, यानी वही आत्मा है, यों भावना कीजिए ॥१॥

उक्त भावना के अनन्तर एकमात्र द्वैतभावना के परित्याग से ही प्रपंच तथा वासना से शून्य आत्मचैतन्य का स्वरूप अनुभवपथ में कराते हैं।

हे श्रीरामजी, यह भाव है और यह अभाव है, इस प्रकार की कल्पना से शून्य होकर द्वैतभावना से निर्मुक्त हो जाइए। हे चित्स्वरूप, बतलाइए कि आपमें वासना आदि कहाँ निवास करते हैं ? अर्थात् कहीं निवास नहीं करते, यह तात्पर्य है ॥२॥

आत्मस्वरूप का परिचय हो जाने पर जीव, वासना और जगत यह जो विभाग है, वह चित् का ही एक काल्पनिक भेद है, उसका पृथक् अस्तित्व अनुभव में आ नहीं सकता, यों कहते हैं।

हे प्रिय श्रीरामचन्द्रजी, यह जीव है, यह वासना है, इस प्रकार की जो प्रसिद्धि होती है, वह स्वतः चित् की ही होती है, अतः असत् शब्द और असत् अर्थ इन दोनों की आपत्ति ही चिद्रूप वस्तु में कैसे हो सकती है ? यह बतलाइए ॥३॥ रामनामक ऊर्मियों से प्रसन्न, एकरूप, आकाश की नाईं सौम्य, बड़ी–बड़ी सृष्टिरूपी जल लताओं से घन तथा प्रकाशमय आत्मचैतन्यरूप समुद्र आप ही हैं। रमन्ते योगिनो यस्मिन्नित्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनाऽसौ परं ब्रह्माऽभिधीयते॥ (जिस नित्यानन्द चिदात्मा में योगी लोग निरन्तर रमण करते हैं, वह परब्रह्म राम पद से कहा जाता है) ऐसी व्युत्पत्तिवाले अन्वर्थ राम भी आप ही हैं, यों 'रामाभिधोर्मिरिस्तिमित' से कहा गया है ॥४॥

अब दृश्य पदार्थ द्रष्टा से पृथक् नहीं है, इसकी द्रष्टा के धर्मरूपता के उपपादनमुख से सिद्धि करते हैं।

जिस प्रकार अग्नि से उष्णत्व भिन्न नहीं है, कमल से सुगंधि भिन्न नहीं है, काजल से श्यामरूप भिन्न नहीं हैं, बरफ से शुक्लरूप भिन्न नहीं है, गन्ने से माधुर्य भिन्न नहीं है, तेज से प्रकाश भिन्न नहीं है, चिति से वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य भिन्न नहीं है, जल से तरंग भिन्न नहीं है, उसी प्रकार चित्स्वभाव ब्रह्म से जगत भिन्न नहीं है ॥५,६॥

अध्यास–क्रम के उद्घाटन द्वारा प्रतिपादित अर्थ स्पष्टरूप से बतलाते हैं।

चिति से (मूलाधिष्ठान ब्रह्म से) अनुभव भिन्न नहीं है, अनुभव से माया–वृत्ति में आरूढ़ चिदात्मा 'अहम्' से (व्यष्टि–समष्टिरूप अहंकार से) भिन्न नहीं है,'अहम्' से जीव भिन्न नहीं है, जीव से मन भिन्न नहीं है, मन से इन्द्रिय भिन्न नहीं है, इन्दियों से देह भिन्न नहीं है, शरीर से (व्यष्टि–समष्टि देह से) जगत भिन्न नहीं है, जगत से भिन्न अन्य पदार्थ नहीं है ॥७,८॥ श्रीरामजी, प्रस्तुत यह दृश्यमान जगत–रूपी चक्र चिति ने ही स्वरूपभ्रम से अध्यासपरम्परा से प्रवृत्त किया है, परमार्थ दृष्टि से तो कुछ भी स्वल्प या दीर्घकाल से प्रवृत्त नहीं किया है ॥९॥ भद्र, यथार्थ में तो यह सब कुछ अनन्त विभागवर्जित स्वचैतन्यरूप आकाश ही अपने में विद्यमान है और कुछ भी दूसरा नहीं है ॥१०॥

उसकी निरतिशय परिपूर्णरूपता का ही भंगिभेदों से निरूपण करते हैं।

शून्य में शून्य बढ़ा है, ब्रह्म में ब्रह्म बढ़ा हुआ है, सत्य में सत्य का ही प्रकाशन हो रहा है और पूर्ण में

पूर्ण की नाईं अवस्थित है ॥११॥ अनुपादेय बुद्धि से बाह्य इन्द्रियों और मन के व्यापारों को कर रहा भी ज्ञानी कुछ भी नहीं करता, इसलिए असलियत में उसमें कर्तृता है नहीं ॥१२॥

श्रीरामजी, जिन विषयों का उपादेयबुद्धि से ग्रहण करेंगे, वे ही आपके दुःख एवं सुख के लिए होंगे, उपादेय बुद्धि न होने पर कुछ ग्रहण करने योग्य नहीं रहता। जो अगृहीत रहता है, वह सुख या दुःख का उत्पादक नहीं होता, यह बात प्रसिद्ध है, इसलिए ज्ञानी पुरुष को सुख या दुःख की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥१३॥

नानारूप से प्रतीयमान भावों का अभाव कैसे हो सकता है ? इस पर कहते हैं।

जिस प्रकार घट, पट, मठ आदि उपाधियों से अनेकरूप होता हुआ भी आकाश वास्तव में एकरूप ही है, नानारूप नहीं है एवं आकाश में अनेक आकाश हैं, इस प्रकार के शब्द प्रयोग अत्यन्त शून्यार्थक होते हुए भी घट आदि उपाधियों के कारण सार्थक होते हैं, उसी प्रकार आत्मा और जगत के क्रम के विषय में समझना चाहिए ॥१४॥ भद्र, आप भीतर से आकाश की नाईं निर्मल, बाहर से अपने वर्णाश्रमानुकूल सुन्दर आचरणों में निरत एवं हर्ष और अमर्ष के सम्पादक विकारों की सन्निधि में काष्ठ और लोष्ठ के सदृश स्थितिवाले हो जाइए ॥१५॥

शत्रु के शरीर में भी अपनी आत्मरूपता होने से अपने शरीर के सदृश वहाँ पर भी आत्मज्ञानी को स्वाभाविक प्रीति होती है, यह बतलाते हैं।

जो तत्क्षण मारने के लिए उद्यत अत्यन्त ही कठोर शत्रु है, उसे स्वाभाविक प्रियतम मित्र के रूप में जो देखता है, वही यथार्थ में देखनेवाला है यानी आत्मज्ञानी है ॥१६॥

उसी से हर्ष–अमर्ष दोष की निवृत्ति होती है, ऐसा कहते हैं।

जिस प्रकार तटवर्ती वृक्ष को नदी वेग से मूलोच्छेदनपूर्वक उखाड़कर फेंक देती है, इसी प्रकार जो महात्मा सौहार्द और मात्सर्य को वेग से समूल उखाड़कर फेंक देता है, वही हर्ष और अमर्षरूपी दोषों का विनाश कर सकता है, दूसरा नहीं ॥१७॥ भद्र, राग–द्वेष और उनके कार्यभूत विकारों के स्वरूप का (तत्त्व का) यदि विचार नहीं किया जाता, तो राग–द्वेषशून्यरूप से प्रसिद्ध महात्मा भी राग–द्वेष युक्त ही है ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि राग–द्वेष का तत्त्व जाने बिना उनके मूल का उच्छेद न हो सकने के कारण उनको फिर राग–द्वेष की प्रसक्ति हो सकती है, उसका निवारण नहीं किया जा सकता, अतः ऐसे महात्माओं की सेवा करना भी असेवा ही है यानी वृथा है ॥१८॥

तब राग–द्वेष का स्वरूप क्या है ? अहंकार। अतः अहंकार का विनाश करने पर राग–द्वेष की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जायेगी, इस आशय से गीता–वाक्य का दृष्टान्तरूप से उद्धरण देते हैं।

जिस महात्मा को देह आदि अनात्म पदार्थों में अहंभावना नहीं होती और जिसकी बुद्धि राग–द्वेष आदि से युक्त नहीं रहती, वह महात्मा इन लोकों का विनाश भले ही कर ले, तथापि वह न विनाशकर्ता है और न विनाशजन्य दोष से आक्रान्त ही होता है ॥१९॥

अहंकार का तत्त्व अज्ञान ही है, उसकी निवृत्ति तो आत्मा के ज्ञान से हो जायेगी, इस आशय से अज्ञान में 'माया' शब्द की प्रसिद्धि बतलाते हुए कहते हैं।

श्रीरामजी, जिसका त्रिकाल में अस्तित्व है नहीं, उसी व्यावहारिकता का ज्ञान कराने के लिए

'माया' शब्द का प्रयोग किया गया है। वह माया एकमात्र आत्मज्ञान से ही निश्चित विनष्ट हो जाती है ॥२०॥ जिसका तैल आदि स्नेह से शून्य दीपक की नाईं अनन्त वासनासमूह विनष्ट हो चुका है, उसने सब रागादि के ऊपर विजय पा ली ऐसा समझना चाहिए। *(तब क्या वह विजय सत्य है ? नहीं, ऐसा कहते हैं।)* यथार्थ में जय-विजय भी काल्पनिक हैं, जिस प्रकार चित्र में लिखित शत्रु के सिर का छेदन कर रहा चित्रित राजा अपने शत्रु पर विजय पाता है, उसी प्रकार अविकारी ज्ञानी भी विजय पाता है ॥२१॥

जिस महापुरुष को ये समस्त भोग्यपदार्थ सत्-असत् अवस्थाओं में (आविर्भाव-तिरोभाव की अवस्थाओं में, वैभव-दारिद्र्य-अवस्थाओं में या अध्यारोप-अपवाद दशाओं में) मिथ्या अथवा तत्त्वतः आत्मरूप होने के कारण सदा प्राप्त होने से अनुपादेय होकर उनकी प्राप्ति और अप्राप्ति प्रयुक्त दुःख-दाह एवं सुख के हेतु नहीं होते, वह जी रहा भी असलियत में मुक्त ही है ॥२२॥

तीसरा सर्ग समाप्त

चौथा सर्ग

अन्य बाह्य दृष्टियों का निरास कर तथा आत्मदृष्टि मे सुस्थिर बनाकर
श्रीरामचन्द्रजी से महाराज वसिष्ठजी का संशयनिवृत्त्यर्थ पूछना, यह वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी की प्रत्यग्-दृष्टि का उदघाटन करनेवाले महर्षि वसिष्ठजी पहले आध्यात्मिक मन आदि पदार्थों में अनुगत, अखण्ड अद्वैत चैतन्य को दिखलाते हुए जीव आदि भेद के बाध का अनुभव कराते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे पापशून्य श्रीरामजी, मन, बुद्धि, अहंकार तथा इन्द्रिय आदि सब कुछ विषयशून्य एकमात्र चित्स्वरूप ही है, ऐसी स्थिति में आपके जीव आदि कहाँ रहेंगे ? ॥१॥

उसमे युक्ति बतलाते हैं।

श्रीरामजी, एकमात्र महात्मा आत्मा ने ही अपनी सत्ता के संसर्गाध्यास से यह नानारूपता ऐसे प्राप्त कराई है, जैसे अकेला चन्द्रमा तिमिर (नेत्र का रोगविशेष), जलपात्र और दर्पणों के साथ सम्बन्धविशेष से नानारूपता प्राप्त कराता है ॥२॥

मन आदि में अनुगत प्रत्यक्-तत्त्व के एकमात्र अपरोक्ष साक्षात्कार से ही उसमें विश्रान्ति लेनेवाले महात्मा की बाह्यार्थ-भोग की तृष्णा चूर-चूर हो जाती है, तृष्णा के चूर हो जाने पर सम्पूर्ण बाह्य वस्तुओं में अनुगत सन्मात्र का भी प्रत्यगात्मा के अभेदरूप से स्वतः ही भान होने के कारण बाह्यअध्यास के हेतुभूत अज्ञान भी नष्ट हो जाता है, इस आशय से कहते हैं।

भद्र, उस प्रकार प्रत्यगात्मा के साक्षात्कार से जब भोग-तृष्णारूपी विष का आवेश विनष्ट हो जाता है, तब अज्ञान उस प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार अन्धकार के नष्ट हो जाने पर चक्षु की अन्धता (विषयप्रकाशन में असामर्थ्य) नष्ट हो जाती है ॥३॥ भली प्रकार विचारित अध्यात्मशास्त्ररूपी मंत्र से तृष्णारूपी महामारी ऐसे क्षीण हो जाती है, जैसे शरतकाल से तुषार क्षीण हो जाता है ॥४॥ श्रीरामजी, जैसे आकाश में मेघ के शांत हो जाने पर शैत्य अनायास नष्ट हो जाता है, वैसे ही मूर्खता

का (अज्ञान का) विनाश हो जाने पर सपरिवार चित्त अनायास नष्ट हो जाता है ॥५॥ हे पापरहित श्रीरामजी, जैसे सूत्र के टूट जाने पर हार के मोतियों का सन्निवेश नष्ट हो जाता है, वैसे ही चित्त के अचित्तरूप हो जाने पर वासनाभ्रम नष्ट हो जाता है ॥६॥

इस प्रकार समस्त वेदान्त शास्त्र के रहस्यभूत आत्मदृष्टि का उद्‌घाटन कर अब उससे विपरीत शास्त्रार्थ के विघातक दर्शन की निन्दा करते हैं।

हे श्रीरामजी, मेरे द्वारा बतलाये ये उपर्युक्त शास्त्रीय रहस्य की उपेक्षाकर जो पुरुष उसके विनाश के लिए विपरीतरूप से भावना करते हैं, वे कृमि, कीट आदि रूपता के हेतुभूत पाप के लिए राग आदि दोषों की उत्पादक बुद्धि के साथ अपना सम्बन्ध करते हैं – ऐसा समझना चाहिए ॥७॥

उस दुर्बुद्धि का, जिसका आगे के व्यवहित सर्ग में निरूपण होनेवाला है, प्रतीक द्वारा उदाहरण दे रहे महाराज वसिष्ठजी अज्ञानक्षय से उसका क्षय होता है, यों बतलाते हैं।

जैसे वायु के शान्त हो जाने पर तालाब की चंचलता नष्ट हो जाती है, वैसे ही अज्ञान के नष्ट हो जाने पर स्त्री आदि के शरीरों में दुर्बुद्धि से कल्पित नवीन कमल के सदृश मनोहर लोचनों की चंचलता नष्ट हो जाती है ॥८॥

अब दर्शित प्रत्यगात्मदृष्टि में हेतुओं से श्रीरामचन्द्रजी की स्थिरता ताड़कर महर्षि वसिष्ठजी कहते हैं।

भद्र, जैसे विस्तृत आकाश में प्रभंजन वायु स्थिरता प्राप्त किये रहता है, वैसे ही आप भाव-अभाव की कल्पनाओं से निर्मुक्त होकर अत्यन्त परम पद में स्थिरता प्राप्त किये हुए हैं ॥९॥ हे रघुकुल के दीपक, अब मैं यह मानता हूँ कि आप मेरे वचनों से अज्ञाननिद्रा का त्यागकर आत्मज्ञानरूपी प्रबोध ऐसे प्राप्त किये हुए हैं, जैसे राजा बंदीजनों के वाद्यविशेषों से निद्रामुक्त होकर जाग्रत दशा प्राप्त करता है ॥१०॥

अब अपने उपदेश की सफलता देखकर महर्षि श्रीरामजी की और अपनी प्रशंसा करते हुए कहते हैं।

हे भद्र, जनसाधारण मनुष्यों में भी अपने कुलगुरू के वचन लग जाते हैं यानी ज्ञान पैदा कर देते हैं, तब आपके सदृश उदार (विशाल) बुद्धिवाले मनुष्यों में वे क्यों न लगें यानी उनसे प्रतिपादित अर्थ का ज्ञान क्यों न हो जाय ? ॥११॥ श्रीरामजी, चूँकि आपने अपनी बुद्धि से मुझमें उपादेय वाक्यता और आप्ततमता (श्रेष्ठतमता) का निश्चय कर लिया है, अतः मेरे वचन उस प्रकार आपके हृदय के अन्दर प्रविष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार तप्त क्षेत्र में जल प्रविष्ट हो जाता है ॥१२॥

अब महाराज वसिष्ठजी स्वकीय कुलपूज्यत्व और माननीय शासनत्व की प्रसिद्धि करते हुए फल में पर्यवसित अपने उपदिष्ट अर्थ का स्मरणमुख से धारण करना चाहिए, यों श्रीरामभद्र के प्रति विधान करते हैं।

हे महानुभाव श्रीरामजी चूँकि मैं रघुकुल के श्रेष्ठ पुरुष आप लोगों का सदा से कुलगुरु हूँ, इसलिए आपको मेरे द्वारा कहे गये शुभ वचनों को बारबार दृढ़ निश्चय कर हृदय में, हार की नाईं, धारण करना चाहिए ॥१३॥

चौथा सर्ग समाप्त

पाँचवाँ सर्ग

मोक्षात्मक उत्तम सुख में विश्रान्ति प्राप्त कर लेनेवाले प्रबुद्ध
श्रीरामचन्द्रजी का गुरु महाराज के सामने सविस्तार अपने अनुभव का वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, आपके द्वारा उपदिष्ट वाक्यों के अनुसन्धान से मैंने चैतन्यरूपता (चिदेकरसपूर्ण आत्मरूपता) प्राप्त कर ली, यह जगत-रूपी जाल सामने रहते भी विलीन हो गया ॥१॥ जैसे चिरकाल से चले आ रहे वर्षाप्रतिबन्ध से (ग्रीष्मादि से) सन्तप्त भूमितल वृष्टि से शान्त हो जाता है, वैसे ही मैं आपके द्वारा की गयी उपदेश-वृष्टि से भीतर अत्यन्त शान्त हो गया हूँ ॥२॥ भगवन्, मैं अब एकमात्र उत्तम शान्ति का अनुभव कर रहा हूँ और शान्त आनन्दित होकर सुखपूर्वक स्थित हूँ। विक्षुब्ध करनेवाले हाथियों से रहित सरोवर जिस प्रकार प्रसन्न रहता है, वैसे ही मैं प्रसन्नता प्राप्त कर रहा हूँ ॥३॥ हे मुने, अब मुझे कुहरे से शून्य दिशाओं के मंडल की नाईं भली प्रकार प्रसन्न यह समस्त जगत यथार्थभूत सन्मात्रस्वरूप प्रतीत हो रहा है ॥४॥ भगवन्, मैं सन्देह से निर्मुक्त हो गया हूँ, मेरी आशारूप मृगतष्णा विलीन हो गई है, विषयसंसर्ग और उसके विरोधी वैराग्य वृत्तियों से रहित हो गया हूँ तथा कुहरे और धूलि से शून्य शरत्कालीन जंगल की नाईं स्वच्छ हो गया हूँ ॥५॥ हे नाथ, मैं अपने आप से ही अविनाशी उस आनन्द को प्राप्त हुआ हूँ, जहाँ पर अमृत का रसास्वाद भी तृण के सदृश नीरस होकर उपेक्षणीय हो जाता है ॥६॥ आज मैं अपने पारमार्थिक स्वभाव में स्थित हूँ, स्वस्थ हूँ, प्रसन्न हूँ, लोक जहाँ विश्रान्ति करते हैं, उस सुख का स्वरूपभूत मैं हूँ, अतएव मैं परब्रह्म राम हूँ, परब्रह्म रामस्वरूप को तथा उसके दर्शन करानेवाले आपको मैं प्रणाम करता हूँ ॥७॥ भगवन, मेरे वे संशय, वे सब कल्पनाएँ (भ्रान्तियाँ) उस प्रकार नष्ट हो गई, जिस प्रकार रात्रि में बालक की भ्रान्ति से कल्पित वेताल का संचरण प्रभात का उदय होने पर शान्त हो जाता है ॥८॥ हृदय के निर्मल, विस्तीर्ण और हिम की नाईं शीतल हो जाने पर, शरतकाल में महान सरोवर के सदृश, मेरा अन्तःकरण विक्षेपवर्जित सुख को प्राप्त हुआ ॥९॥ चिदेकरस आत्मा में अज्ञान आदि कलंक किस निमित्त से आये, वे स्वप्रकाश आत्मा में किस तरह रह सकते हैं ? वे असंग अपरिच्छिन्न आत्मा को कैसे आवृत कर सकते हैं ? कूटस्थ आत्मा को सांसारिक विकारों का अनुभव कैसे ? इत्यादि संशय उसके हेतु अज्ञान के विनाश से निश्चितरूप से विनष्ट हो गये ॥१०॥ सदा स्फुरणाकार आत्मा ही सर्वत्र विद्यमान है, सब कुछ इस प्रकार के आत्मा का ही स्वरूपभूत है, यह दूसरा है, यह तदपेक्षया दूसरा है इत्यादि असत् कल्पनाएँ कहाँ से आई ? ॥११॥ भगवन्, अब ज्ञानी होकर मैं अनुभूयमान सर्वधर्मातीत आत्मा को ही छोड़कर दूसरा पहले उस प्रकार की तृष्णारूपी बेड़ियों से नियन्त्रित कौन था, यों स्मरण कर हँसता हूँ ॥१२॥ अहा ! आपके अमृतप्रवाहों से स्नान किया यह मैं परमार्थरूप से जिस प्रकार का था, वह सब मैं ही हूँ। इस प्रकार स्मरण करता हूँ ॥१३॥ अहो, मैं यहीं रहकर किसी अपरिच्छिन्न ब्रह्मलोक की भूमि पर अधिरूढ़ हो गया हूँ जहाँ पर सूर्य पाताल में स्थित की नाईं अत्यन्त अधःस्थित की तरह भी नहीं रहता, कार्य ब्रह्मलोक से सूर्य अधःस्थित होता है, न कि परब्रह्मलोक से।' 'न तत्र सूर्यो भाति' इत्यादि श्रुतियाँ भी इस अर्थ की पोषक हैं ॥१४॥ मैं भाव-अभावरूप संसार समुद्र तैरकर उसके पारभूत सर्वाधिष्ठान

सन्मात्ररूप ब्रह्म को प्राप्त कर चुका हूँ, चूँकि मैं अपने आपसे अपनी महिमा में सबसे बढ़–चढ़ कर विद्यमान हूँ, अतःसदा सबके नमस्कारयोग्य मत्स्वरूप आत्मा को नमस्कार है ॥१५॥ हे स्वामिन्, अपने हृदयकमल के कोश में भ्रमरवत सुस्थिर हुए आपके सुन्दर विस्पष्ट वचनामृतों से मैं यहीं पर यानी इसी देश और काल में स्वकीय अनुभववश शोकशून्य, चिरकाल से सदा उदित और मुदित जीवन्मुक्त दशा प्राप्त कर चुका हूँ ॥१६॥

पाँचवाँ सर्ग समाप्त

छठा सर्ग

देह और आत्मा का विवेक, देह में आत्मदर्शन से दुःख तथा
अंगनाओं के संग से मूढ़ों के मोह की अभिवृद्धि इन विषयों का वर्णन।

उक्त रीति से यद्यपि श्रीरामचन्द्रजी भली प्रकार प्रबुद्ध हो चुके थे, तथापि दूसरे श्रोताओं के वैसे ही ज्ञान की उत्पत्ति के लिए प्रवृत्त हो रहे भगवान वसिष्ठजी महाराज कहे जानेवाले देह और आत्मा के विवेक आदि के श्रवण के लिए श्रीरामजी को भी अनुकूल करते हुए कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे महाबाहो, अब फिर भी आप मेरे उत्तम वचनों का श्रवण कीजिए, जिन्हें मैं उपदेश के तात्पर्य विषय निरतिशयानन्दरूप आत्मा के अनुभवरूपी प्रीति–के पात्र आपसे सब जनों के हित के लिए कहता हूँ ॥१॥

श्रोता, श्रवण करानेवाला, श्रोतव्य आदि भेद बाधित होने से मेरी श्रवण में प्रवृत्ति कैसे होगी या उससे फल क्या होगा ? इस पर कहते हैं।

हे भद्र, बाधितानुवृत्तिन्याय से भेद का स्वीकार कर बोध की अभिवृद्धि के लिए आप श्रवण में प्रवृत्ति कीजिए। अल्प ज्ञानवालों की भी इससे संसारिता नहीं होगी यानी आपके ज्ञान की वृद्धि और अल्प प्रबुद्धों का उद्धार श्रवण का फल है ॥२॥

सबसे पहले इन्द्रियों पर विजय पाने की सामर्थ्य श्रोताओं में न होने के कारण उन इन्द्रियों द्वारा आकृष्ट हो रहे मन की पूर्णात्मा में प्रतिष्ठा कैसे होगी ? इस जिज्ञासा को इंगितों से ताड़कर 'यस्त्वविज्ञानवान् भवति' तथा 'यस्तु विज्ञानवान् भवति' (卐) *इन दो युक्तियों के द्वारा प्रतिपादित मार्ग से उक्त जिज्ञासा का क्रमशः परिहार करते हैं।*

हे श्रीरामजी, जिस अज्ञानी पुरुष को अज्ञानवश देह में ही आत्मभावना उत्पन्न हो जाती है, उस पुरुष को देहात्मभावना के अपराध से उत्पन्न अत्यंत क्रोध से इन्द्रियाँ शत्रु होकर पराजित कर देती हैं ॥३॥ जिस ज्ञानी पुरुष की ज्ञानवश त्रिकाल में अबाधित एकमात्र आत्मा में ही स्थिति रहती है, उस

(卐) 'यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥ यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥'

जो अज्ञानी पुरुष अवशीभूत मन से युक्त रहता है, उसकी इन्द्रियाँ उस प्रकार वश में नहीं रहती, जिस प्रकार दुष्ट घोड़े सारथि के वश में नहीं रहते। जो ज्ञानी पुरुष सदा वशीभूत मन से युक्त रहता है, उसकी इन्द्रियाँ उस प्रकार वश में रहती हैं, जिस प्रकार उत्तम घोड़े सारथि के वश में रहते हैं।

अनिन्दित पुरुष को आत्मदर्शनोपकार–जनित सन्तोष से इन्द्रियाँ मित्र बनकर विनष्ट नहीं करतीं, किंतु ज्ञान की अभिवृद्धि के अनुकूल आचरण से उसकी रक्षा करती हैं ॥४॥ व्यवहार कर रहे जिस ज्ञानी पुरुष को दोषदर्शन के कारण भोग्य पदार्थों में सर्वदा कुत्सा के सिवा प्रशस्तपन की बुद्धि उत्पन्न होती ही नहीं, वह पुरुष देह–प्रयुक्त दुःख के लिए आत्मरूप से देह का किस हेतु से ग्रहण करेगा, ग्रहण करने में कोई हेतु नहीं है, यह अभिप्राय है ॥५॥

अब देह और आत्मा की एकता के भ्रम के निरास के लिए युक्तियाँ बतलाते हैं।

श्रीरामजी, जैसे प्रकाश और अन्धकार एक दूसरे से अत्यन्त विलक्षण हैं, वैसे ही शरीर और आत्मा एक दूसरे से अत्यन्त विलक्षण हैं, इसीसे आत्मा न शरीर का सम्बन्धी है और न शरीर ही आत्मा में रहता है यानी जड़ता और चेतनता के कारण अत्यन्त विरुद्ध देह और आत्मा का जब आधार आधेयभाव आदि सम्बन्ध ही दुर्लभ है, तब तादात्म्य सम्बन्ध की तो कथा ही क्या ? यह भाव है ॥६॥

इसी प्रकार निर्विकारिता और सविकारिता आदि से जनित विरोध के कारण भी सम्बन्ध की प्रसक्ति नहीं है, ऐसा कहते हैं।

समस्त भावविकारों से नित्यमुक्त एवं निर्लिप्त सर्वविध ऐश्वर्यसम्पन्न आत्मा न अस्त होता है और न कभी उदित ही होता है, क्योंकि वह सर्वदा उदित स्वभाव ही है ॥७॥ जड़, अज्ञानी, तुच्छ, कृतघ्न (आत्मा से अपनी प्रसिद्धि पाकर उसी को दुःखभागी बनाने के कारण कृतघ्न) तथा विनाशस्वभाव इस तुच्छ शरीररूपी पत्थर का जो कुछ भी होनेवाला हो वह भले ही हो, इससे आत्मा का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ॥८॥

तब देह में ही चैतन्यरूप धर्म मान लीजिए, इससे कोई विरोध तो होता है नहीं, इस प्रकार की आशंका का उद्‌भावन कर कहते हैं।

यह शरीर उस सदा उदितस्वभाव अविनाशी चैतन्यरूपत्व का परिग्रह कैसे कर सकता है ? क्योंकि चित् और जड़ इनमें से किसी एक का परिज्ञान करने में भी एक जगह तो (परिशेषात् शरीर में ही) अवश्य ही जड़ता आ जायेगी। तात्पर्य यह है कि देह चिन्मय है, ऐसा परिज्ञान तभी हो सकता है, जब जड़भिन्न चेतनरूपता का भली प्रकार परिचय हो जाय, उसका ठीक–ठीक परिचय होने पर तो देह में ही जड़ता सिद्ध हो जाती है, ऐसी स्थिति में देह अपने स्वभावविरुद्ध चिद्रूपता का कैसे ग्रहण करेगा ? ॥९॥

यदि शंका हो कि आत्मा के मानस दुखों का उपभोग करने पर शरीर में कृशता उत्पन्न हुई देखी जाती है एवं देह में ताड़न आदि करने पर आत्मा में दुःख का अनुभव होता है, ऐसी स्थिति में शरीर और आत्मा दोनों में समान सुख–दुःखों के अनुभव से उनका तादात्म्य क्यों न माना जाय ? तो इस पर कहते हैं।

जो आत्मा और देह अग्नि और लोहपिण्ड की नाईं अविविक्त अतएव एक दूसरे के धर्मों का एक दूसरे में संक्रमण होने के कारण समानधर्मवाले प्रतीत होते हैं तथा विविक्त होने पर तो उस प्रकार के नहीं प्रतीत होते, उनकी किस प्रकार समान सुखदुःखरूपता वास्तव में सत्य कही जा सकती है ? ॥१०॥

किंच, असंग एवं परम सूक्ष्म आत्मा के साथ स्थूल शरीर का सम्बन्ध जब हो ही नहीं सकता, तब

अभेद की तो बात ही क्या ? यों कहते हैं।

जो एक दूसरे से अत्यन्त विविक्त यानी सर्वथा विलक्षण पदार्थ हैं, वे एक दूसरे से तादात्म्यरूप से या धर्मसंक्रमण द्वारा कैसे मिल सकते हैं, क्योंकि जो मेरु आदि स्थूल पदार्थ हैं, वे परमाणुस्वरूप कैसे हो सकते हैं या परमाणु आदि अणुभूत पदार्थ मेरु आदि स्थूलपदार्थस्वरूप कैसे हो सकते हैं ? ॥११॥

परस्पर उपघाती स्वभाव से युक्त होने से भी ऐक्य की प्रसक्ति नहीं है, ऐसा कहते हैं।

एक दूसरे की अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण दिन एवं रात दोनों में से किसी एक की सत्त्वदशा में दूसरे का जब अस्तित्व रह ही नहीं सकता, तब अन्योन्यरूपता की कथा ही क्या ? बस ठीक इसी प्रकार ज्ञान न अज्ञानरूप हो सकता है और अन्धकार न प्रकाशरूप है, दोनों एक दूसेर से अत्यन्त भिन्न हैं, अतः एक की सत्ता में दूसरे की सत्ता नहीं हो सकती ॥१२॥ विचित्र (विभिन्न) दृष्टियों में सद्रूप ब्रह्म कभी असद्रूप (देहादिरूप) नहीं हो सकता और आत्मा में अध्यस्त असत् देहादि के साथ सर्वव्यापक सद्रूप देहाधिष्ठान प्रत्यगात्मा का तनिक सम्बन्ध भी नहीं हो सकता ॥१३॥

दृष्टान्त बतलाने के लिए प्रतिपादित अर्थ का ही पुनः कथन करते हैं।

जैसे जल में स्थित कमल का जल से किंचिन्मात्र सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही देहाधिष्ठान आत्मरूपी ब्रह्म का भी देहसत्ता के साथ स्वल्पमात्र भी सम्बन्ध नहीं हो सकता। भगवान भाष्यकार ने कहा भी है – 'यत्र हि यदध्यासस्तत्कृतेन गुणेन दोषेण वा अणुमात्रेणाऽपि स न संबध्यते'। जिस अधिष्ठान में जिस पदार्थ का अध्यास होता है, वह अध्यस्त पदार्थ के गुण या दोष से तनिक भी सम्बद्ध नहीं होता ॥१४॥ जैसे निर्लिप्तस्वभाव होने के कारण लेपक पदार्थ से विलक्षण स्वभाववाले वायु आदि लेपक पदार्थों में प्रविष्ट हुए भी आकाश का वायु से शोष, कम्प, धूलिसम्बन्ध आदि दोषों का सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही देह आदि से इस आत्मा में जरा, मरण, आपत्तियाँ, सुख, दुःख, संसार, संसारविनाश आदि कुछ भी नहीं होता, अतः आप सुखी हो जाइए। यद्यपि देह में आत्मदृष्टि से जन्म, मरण आदि भ्रम उत्पन्न होते हैं, तथापि, जल में तरंगों की नाईं, वे केवल ब्रह्ममात्रस्वरूप हैं, अतिरिक्त नहीं, आत्मा की सत्ता से उपजीवी होने के कारण, अपने में स्थित देहयन्त्रका स्वयं आत्मा ही, एकमात्र अपने में स्थित ऊर्मि का जल की नाईं अनुभव करता है ॥१५-१७॥ श्रीरामजी, जिस प्रकार प्रतिबिम्ब के आश्रय दर्पण आदि के हिलाने पर बिम्बभूत सूर्य आदि का तनिक भी क्षोभ नहीं होता, वैसे ही देहादि से चिदाभास के क्षुब्ध होने पर भी उसके साक्षी बिम्बभूत चैतन्य का तनिक भी क्षोभ नहीं होता ॥१८॥ आत्मा का भली प्रकार साक्षात्कार हो जाने पर परमार्थ सत्यरूप आत्मा में ही स्थिति हो जाती है और अज्ञानप्रयुक्त भ्रम नष्ट हो जाता है ॥१९॥ अन्धकार और प्रदीप पदार्थ की नाईं परस्पर उत्थान स्वभाववाले देह और देहाधिष्ठान आत्मा इन दो निकृष्ट और परमार्थरूप पदार्थों का वास्तवस्वरूप जान लेने पर देह की असत्तात्मिका और उसके साक्षी आत्मा की सत्तात्मिका स्थिति प्रकट हो जाती है ॥२०॥

अब अज्ञानी के जगत-दर्शन-पद्धति की निन्दा करने के लिए कहते हैं।

जिस पुरुष को आत्मा का साक्षात्कार नहीं हुआ है, उस पुरुष को देह के आविर्भाव और तिरोभाव के द्वारा निरवधि (असंख्य) वे मोहरूपी अर्जुनवृक्ष प्रस्फुरित होते ही रहते हैं ॥२१॥ आत्मा के अर्थ का (स्वरूप का) भली प्रकार पर्यालोचन जिन्होंने नहीं किया है, अतएव विज्ञानस्पर्श से शून्य मूढ़बुद्धि

लोग चैतन्य से निर्मुक्त होकर तृण की नाईं स्फुरित होते हैं, अचेतन देहरूप ही चेतन हैं, ऐसा कभी नहीं कहा जा सकता, यह तात्पर्य है ॥२२॥

यदि देह आदि अचेतन हैं, तो वे किस तरह संभाषण करते हैं और तृण, काष्ठ आदि के आहरण आदि से किस तरह व्यवहार करते हैं ? इस पर कहते हैं।

वे देह आदि सब जड़ पदार्थ हैं, क्योंकि उनमें चैतन्यरूपता का कुछ भी रस नहीं है, अतः वे सब जड़ होने पर भी मुख, नासिका आदि छिद्रों तथा उन छिद्रों में संचरणशील वायुओं के द्वारा जैसे घास के तिनके चेष्टा करते वायु के द्वारा चेष्टा करते हैं वैसे ही स्फुरण और संचरण करते हैं। अथवा मूढ़बुद्धि लोग चेतनता से रहित तृण के समान चेष्टा करते हैं तथा चेतनता का आस्वादन लेने से सब जड़ नासिका, कंठ आदि छिद्रों से संचारी पवनों के द्वारा जिस स्थान में अभिघात से आक्रांत होते हैं वहाँ स्फुरित होते हैं। वे खोखले बाँस जैसे हैं जो वायु के संसर्ग से हिलते डुलते हैं और ध्वनि उत्पन्न करते हैं ॥२३॥ वे तृण, काष्ठ लाते हैं और उनका परित्याग भी करते हैं, वे तरंगों के सदृश अतिचपल अवयवों से युक्त तथा शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयों के लाभ से अपने आपको कृतार्थ समझते हैं ॥२४॥ देह आदि स्वयं जड़ ही हैं, तथापि चेतन–से होकर भोगाभिनिवेश रूपी मदिरावत् उन्मादक रस से घूर्णित रहते हैं, वे दुर्बुद्धि से भरे और नदियों की तरह विहार, आगम और अपाय आदि चेष्टाओं से युक्त रहते हैं ॥२५॥

तब क्या उनमें आत्म चैतन्य है ही नहीं ? नहीं, आत्मचैतन्य तो है, परन्तु अबोध के कारण व्यर्थ–सा हो गया है, ऐसा कहते हैं।

इन सभीमें अविनाशी यह चैतन्य रहता ही है, परन्तु इसका भली प्रकार परिचय न होने के कारण इसने कार्पण्य प्राप्त कर लिया है ॥२६॥ उन मूढ़ों से एकमात्र मूर्खतावश श्वाससन्तति ऐसे शीघ्र–शीघ्र निकलती रहती है,जैसे लोहार की धौंकनी से वायुसन्तति निकलती रहती है, वह श्वाससन्तति केवल जठराग्नि की क्रिया के लिए ही है और किसी अर्थ के लिए नहीं, क्योंकि मूर्खता अनर्थ करनेवाली है ॥२७॥

उस प्रकार मूर्खतावश उत्पद्यमान परतर्जन या गर्जन चैतन्य का ज्ञापक है, किन्तु धनुष की डोरी के चढ़ाने की नाईं मरण आदि अनर्थों का ही कारण है, यह कहते हैं।

मूढ़तावश उत्पन्न होनेवाला चैतन्यज्ञान से शून्य परतर्जन या गर्जन धनुष के दण्ड में लगी हुई डोरी के सदृश केवल मरण के ही हेतु होते हैं ॥२८॥ मूढ़ से होनेवाला जो फल लाभ है, वह जंगल के तरु की तरह है और उसमें जो विश्रान्ति है, वह तप्त पाषाण–शिला के ऊपर विश्रान्ति के सदृश ही है ॥२९॥ मूर्ख के साथ की जानेवाली संगति उस प्रकार की होगी, जिस प्रकार अरण्यभूमि में स्थाणु के (छिन्न वृक्षमूल के) साथ की जानेवाली संगति होती है और उसके लिए जो कुछ उपकृत होगा, वह भी आकाश को दण्डे से मारने के तुल्य ही होगा ॥३०॥

श्रीरामजी, इस अधम मूर्ख को जो दिया गया है, वह क्या कीचड़ में फेंका गया नहीं समझना चाहिए ? और उसके साथ की गई जो कथा है, वह क्या आकाश में कुत्ते का आह्वान (भौंकना) नहीं है ? ॥३१॥

अज्ञानी की निन्दा अज्ञान की हेयता प्रदर्शित हो जाय, इसलिए दयावश की गई है, न कि अज्ञानियों के प्रति द्वेषवश की गई है, इस आशय से कहते हैं।

अज्ञान ही आपत्तियों का आश्रय यानी स्थान है। भला बतलाइए तो सही कि कौन-सी आपत्तियाँ अज्ञानी को प्राप्त नहीं होती ? इस संसाररूप सरिता का जो प्रवाह है, वह एकमात्र अज्ञानी के प्रमाद से ही चल रहा है ॥३२॥ अज्ञानी को उग्र दुःख और सांसारिक क्षणिक सुख भी बार-बार आते और जाते रहते हैं, उनका उस प्रकार उल्लंघन नहीं कर सकते, जिस प्रकार हल या रथ पर्वत का उल्लंघन नहीं कर सकते ॥३३॥ देह, धन, स्त्री आदि में आसक्ति रखनेवाले अज्ञानी का यह दुष्ट दुःख कभी भी शान्त नहीं होता ॥३४॥ इस अनात्मभूत, शठ देह में आत्मभाव प्राप्त करनेवाले पुरुष में असत्यबोधमयी माया क्या किसी प्रकार भी नष्ट हो सकती है ? अर्थात् किसी प्रकार नष्ट नहीं हो सकती ॥३५॥ दुष्ट भावों से भली प्रकार व्याप्त हुई बुद्धि से युक्त आत्मरूप वस्तु के विषय में अन्ध तथा अनात्मभूत असत् अर्थों में दृष्टियुक्त पद-पद पर गिर रहे दुर्मति पुरुष को चन्द्र से भी विष उस प्रकार उत्पन्न होता है, जिस प्रकार कुसुम से आमोद उत्पन्न होता है तथा क्षीर से कण्टक ऐसे उत्पन्न होता है, जैसे स्थल से दूब का अंकुर उत्पन्न होता है ॥३६,३७॥ मनरूपी हाथी की श्रृंखलाभूत देहरूप सेमल के वृक्ष-कोटर में रहनेवाली सर्पिणीरूपी आशाएँ अज्ञानी पुरुषों में राग आदि साँपों को उस प्रकार उत्पन्न करती हैं, जिस प्रकार उत्तम रीति से जोते गये खेत से किसान धान उत्पन्न करते हैं। अथवा मनोरूप मातंग की शृंखलाभूत आशाएँ दुःख उत्पन्न करती हैं, यों आन्तर और बाह्य विषयों के भेद की कल्पना कर दो रूपकों की योजना करनी चाहिए ॥३८॥ श्रीरामजी, पापरूपी सर्पों से वेष्टित अज्ञानी पुरुष की नरकरूपी लक्ष्मी उस प्रकार यहाँ प्रतीक्षा करती है, जिस प्रकार मयूरी मेघ की प्रतीक्षा करती है ॥३९॥ चपल नेत्ररूपी भ्रमरियों से युक्त प्रस्फुरित अधररूपी पल्लवोंवाली अंगनारूपी विषलता केवल मूर्खों के लिए ही विकसित होती है ॥४०॥ अज्ञानी पुरुष के मनरूपी उर्वराभूमि में ही विरल पल्लवों से युक्त अनर्थ हेतु पापादिरूप पक्षियों की छायाभूत रागरूपी दुष्ट वृक्ष उत्पन्न होता रहता है ॥४१॥ अज्ञानी के मनरूपी जलशून्य अरण्य में कम्पित हो रहे ओष्ठरूपी तरुपल्लवों पर प्रकाशमान निःश्वासरूपी धूओं से युक्त तथा शस्त्रसमूह की नाईं कटकटायमान दाँतरूपी उल्मुक (लाठी) से युक्त शरीर को संताप देनेवाला द्वेषरूप दावानल मानों भस्मीभूत होता रहता है ॥४२॥ अज्ञानी के मात्सर्यरूप जल से परिपूर्ण मन में दूसरे की निन्दारूपी पल्लवों से युक्त, चिन्तारूपी भ्रमरों से शोभित ईर्ष्यारूपी कमलिनी भली प्रकार विलास करती है ॥४३॥ मरणरूपी बडवाग्नि अज्ञपुरुष के प्रति ही, जिसने कि प्रतिजन्म में अनेक तरह के प्रतीकारोपायरूप तट के आश्रय से उग्रदुःखरूपी तरंगविभ्रमों का परिमार्जन किया है, बार-बार, समुद्र की नाईं, प्राप्त होता है ॥४४॥

जन्म आदि भी उत्तरोत्तर अनर्थों की ही प्राप्ति कराते हैं, ऐसा कहते हैं।

अज्ञ पुरुष का ही जन्म पुनः-पुनः बालपन प्राप्त करता रहता है, बालपन बारबार यौवन प्राप्त करता रहता है, यौवन बारबार वार्धक्य प्राप्त करता रहता है और वार्धक्य बारबार मरण प्राप्त करता रहता है ॥४५॥ अज्ञानी पुरुष ही इस जगतरूपी जीर्ण घटीयन्त्र में (रहट में) संसाररूपी रज्जु से बँधा

हुआ मज्जन और उमज्जन द्वारा कलशरूपता प्राप्त करता रहता है ॥४६॥ जो यह जगत ज्ञानी महात्मा की बुद्धि से तुच्छ और गाय के खुरमात्र यानी स्वल्प जलाशय रूप प्रतीत होता है, वही अज्ञानी की बुद्धि से अगाध और असीम प्रतीत होता है ॥४७॥ जिस प्रकार पक्षिणियाँ पिंजड़े से बाहर निकल नहीं पाती, वैसे ही उदर भरण में अति–आसक्तिरूपी बन्धन से बँधे अन्धपुरुष की नाईं अज्ञ पुरुष की बुद्धियाँ दीर्घसंसाररूपी समुद्र के पार नहीं जा सकतीं ॥४८॥

क्यों उनकी बुद्धियाँ संसारसागर का पार प्राप्त नहीं कर सकतीं, इस पर कहते हैं।

'परांचि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्' । (स्वयंभू ने इन्द्रियाँ बहिर्मुख बनाई हैं, अतः बाहर देखता है, भीतर अन्तरात्मा को नहीं देखता) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार एकमात्र बाह्य विषयों में लगी हुई वासनाओं के भार से आक्रान्त हुए हृदयरूपी नाभि से युक्त हो रही विषयरूपी कीचड़ में फँसी हुई जन्मरूपी रथ के चक्र की इन्द्रियरूप नेमियों (पहिये की तीली) का अज्ञानी द्वारा पंक से निकालकर शोधन नहीं किया जा सकता ॥४९॥ अज्ञानी व्याध ने इन्द्रियरूपी गीधों के लिए (यानी शिकार के योग्य श्येन आदि के लिए) रागवश (मृगया के व्यसन से) अपनी देहपरम्परा को संसाररूपी अरण्य में दूर तक यानी सर्वत्र और सर्वदा मांस के पिण्ड की नाईं फैलाया है ॥५०॥

'आमिषपिण्डवत्' यहाँ पर वतिप्रयोग भ्रान्तिदृष्टि से भेद का अभाव होने पर सादृश्य का अभाव होने से किया गया है, इस आशय से कहते हैं।

वास्तव में मांस के लवमात्र और मृत्तिका के लवमात्र रूप मनुष्य, पशु, मृग आदि प्राणियों से तथा हिमालय, विन्ध्याचल, मलय आदि पर्वतों से प्रचुर दृष्टियाँ मोह से (तत्त्व के अज्ञान से जनित कल्पना से) लक्षित होती हैं ॥५१॥ असीम संकल्प–कल्पनारूपी कल्पवृक्ष सबसे बढ़कर है, क्योंकि अत्यन्त असत् भी पदार्थों से सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति–सामर्थ्य वह रखता है, अज्ञानवश उसीसे जगत–रूपी पत्तों की परम्परा विस्तृत हुई है ॥५२॥ उस कल्पवृक्ष पर चित्र–विचित्र रचनाओं से युक्त भोगों में अत्यन्त आसक्त पक्षी रहते, प्रकाशते, प्रविष्ट होते और विलास करते हैं ॥५३॥ उस कल्पवृक्ष पर जन्म ही पल्लव हैं, कर्मों का समूह ही कलिका है, पुण्य–पाप ही फल हैं और विभव सम्पत्तियाँ ही मंजरियाँ हैं ॥५४॥ अज्ञानरूपी चन्द्रमा के उदय से ही इस संसारूपी अरण्य के भाग में स्त्रीरूपी लताएँ विस्पष्टरूप से उत्तम शोभा प्राप्त कर रहीं हैं ॥५५॥

अज्ञान में उक्त चन्द्रत्व का उपपादन करते हैं।

विवेकरूपी सूर्य के अस्त समय में उदित होनेवाला, जन्मसमूहरूपी कलाओं से परिपूर्ण, निष्प्रपंच ब्रह्म में प्रकाशित हो रहा दोषों का स्वामी अज्ञानरूपी चन्द्रमा ही संसार का सबसे बढ़कर हेतु है ॥५६॥ वासनारूपी अमृत से युक्त आशारूपी चकोर पक्षियों का पोषण करनेवाले चित्तरूपी आकाशमणि के (सूर्य के) रस को (अमृत को) चाहनेवाले अज्ञानरूपी चन्द्रमा के प्रसाद से ही राजहंस की नाईं विलासयुक्त, हिमालय की नाईं शीतल अंगों से युक्त तथा चपलनेत्ररूपी भ्रमरों से समन्वित कान्तारूपी कुइयाँ प्रकाशित होती हैं ॥५७,५८॥ सुन्दर केशरचनारूपी तिमिर के उल्लास से युक्त तथा सुशोभित श्वेत पयोधरों से युक्त रमणीरूपी रात्रियाँ जो राजित होती हैं, वह द्रष्टाओं की मूर्खता का ही प्रताप है

यानी मूर्खता ही रमणीशोभाकार से परिणत होती है, वास्तव में वहाँ कुछ भी शोभन पदार्थ नहीं है ॥५९॥

अज्ञान ही समस्त अनर्थों का हेतु है, यों बतलाते हुए उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो कि विषयों में केवल ऊपर-ऊपर से दिखाई पड़नेवाली मधुरता, अनर्थपर्यवसायिता,आद्यन्तवत्ता, देशतः परिच्छिन्नता और समस्त अवस्थाओं में नश्वरता प्रसिद्ध है, वे सब अज्ञानरूपी वृक्ष के ही फल हैं, चूँकि उस प्रकार के नानाकृति अनेकविध फलबीजांकुर परम्परा से अज्ञान-वृक्ष से जगदाकार रूपतः फैले हुए हैं, इसलिए उनके मूलभूत अज्ञान का ही उच्छेद कर देना चाहिए ॥६०॥

छठा सर्ग समाप्त

सातवाँ सर्ग

अनर्थ आदि में काम आदि के द्वारा होनेवाली रम्यतायुक्त
अर्थरूपता अज्ञान की विभूतियाँ हैं इसका सविस्तार वर्णन।

सबसे पहले महाराज वसिष्ठजी सम्पूर्ण विवेक का अपहरण करनेवाली तथा तत्क्षण अनर्थ गर्तों में गिरानेवाली प्रस्तुत स्त्रियाँ ही अज्ञान और काम की महाविभूतियाँ हैं, इस आशय से उन्हींका पहले वर्णन करते हैं।

मदरूपी चन्द्र के उदित होने पर मोतियों से वेष्टित तथा रत्नों से सुशोभित स्त्रियाँ क्षुब्ध कामरूपी क्षीरसमुद्र के तरंगों की नाईं जो दिखाई पड़ती हैं, वह केवल अज्ञान की ही विभूति है ॥१॥

कपोल-तलरूप दोला से दोलित स्त्रियों की दृष्टियाँ सुवर्णमय कमल के कोश में अवस्थित चपल भ्रमरों के पटल की जो शोभा धारण करती हैं, वह अज्ञान की ही विभूति है ॥२॥ वसन्तकाल में वनखण्डों में, वृक्षों में और भूमि में कामदेव के अनुचर की नाईं कामियों को मद उत्पन्न करनेवाले जो सुन्दर पुष्प दिखाई पड़ते हैं, वह भी अज्ञान का विलास है ॥३॥

कच्चे मांस का भक्षण करनेवाले गीध, गीदड़, कुत्ता आदि के कवल के (कौर के) योग्य अंगोंवाली स्त्रियों की चन्द्र, चन्दन और कमल के साथ उपमा दी जाती है, वह भी अज्ञान का ही विलास है ॥४॥ वास्तव में लहू या पीव (मवाद) की दुर्गन्ध ही जिसकी सुगन्ध है, ऐसी स्त्रियों की स्तन-श्रेणी जो लोक में सुवर्णकलश, कमल-की कली एवं बिजोरा नींबू के सदृश दिखाई पड़ती है, वह केवल अज्ञान की ही विभूति है ॥५॥ लार से भीगा ओष्ठनामक मांस का टुकड़ा जो रसायन, अमृत, मधु, बिम्ब और मद्य के साथ उपमा दिया जाता है, वह भी अज्ञान का ही विलास है ॥६॥ प्रत्येक का विभाग कर यदि देखा जाय, तो छोटे-छोटे पोर के सदृश आकारवाले जो भुजात्मक क्रूर हड्डीरूपी बर्छियाँ हैं, उनका सुन्दर भुजलता आदि उत्तम शब्दों से कवि लोग जो वर्णन करते हैं, वह भी अज्ञान की विभूति है ॥७॥

इसी प्रकार कदली के स्तम्भयुगलरूपी जंघाओं की सामग्री से युक्त सुन्दर रमणियों के द्वारा धारण की गई तथा स्तनरूप कलशों की शोभा से द्रष्टाओं के नेत्रों को आनन्द देनेवाली तोरणपंक्ति यानी काम-मन्दिर की तोरणमालारूप रूप करधनी सुशोभित हो रही है, इत्यादि रूप से कवि लोग करधनी का जो वर्णन करते हैं, वह भी अज्ञान का विलास है ॥८॥ आरम्भ-आरम्भ में मन्द लोगों को अत्यन्त

मधुर लगनेवाली अथवा ऊपर–ऊपर से थोड़ी मोठी, व्ययकाल में राग–द्वेष आदि द्वन्दों से पर्यवसित होनेवाली तथा शीघ्र क्षयस्वभाव होने या कुछ लोगों में ही दिखाई पड़ने के कारण विरल रूपता को धारण करनेवाली लक्ष्मीकी भी जो अभिलाषा की जाती है, वह भी अज्ञान का प्रभाव है ॥९॥ जो बुद्धि दुःख प्राप्त करती है, जो सुख हजारों शाखाओं के रूप में विभक्त हो जाता है तथा जो अनेक कर्मफलरूपी श्रियाँ, जो कि दुःखरूपी शाखाओं से विस्तृत हैं, उत्पन्न होती हैं, वह भी अज्ञान का ही प्रभाव है ॥१०॥

जब अनेक तरह की लक्ष्मियाँ अज्ञान की ही विभूतियाँ हैं, तब उक्त लक्ष्मियों के उत्पादक काम्य कर्मों में प्रवृत्ति करानेवाले कर्मकाण्ड के वचनों की भी अज्ञानविभूतिरूपता इसलिए सिद्ध ही हो जाती है, इस आशय से कहते हैं।

श्रीरामजी, कर्मकाण्ड की वाणी भी अज्ञान की विभूति ही है। वह (कर्मकाण्ड की वाणी) काम्य कर्मों के विस्ताररूपी जंगल में रहती है, जिस प्रकार लता जालों से घनाकृति रहती है, उस प्रकार यह भी अनेक फलाभिलाषाओं के जालों से घनाकृति (निबिडाकार) रहती है। अतएव वे देवता आदि के ऋणों से आक्रान्त कर्मप्रधान जीवों के कारागृह की रक्षार्थ एक प्रकार की रज्जुस्वरूप हैं एवं राग और चपलता से आक्रान्त ओठ के सदृश हैं। गीता में 'यामिमां पुष्पितां वाचम्' इत्यादि से इसी विषय का स्पष्टीकरण किया गया है ॥११॥

मोहवश स्वतः ही काम्य कर्मों में प्रवृत्त हो रहे पुरुषों को पुनः शास्त्र से भी प्रवृत्त कराना उसी प्रकार अनुचित है, जिस प्रकार स्वतः कुएँ में गिर रहे उन्मत्त या अन्धपुरुष को बलपूर्वक गिराना, इस आशय को रखकर मोह से स्वतः प्रवृत्ति होती है, यह बतलाते हैं।

जैसे स्वतः श्यामल, वर्षाकाल में रज से कलुषित और उसमें भी रात्रि में अन्धकार से अत्यन्त श्यामरूपता को प्राप्त हुई कालिन्दी स्वतः बहती है वैसे ही प्रवृत्तिरूपी आसारों से (धारासंपात वर्षा से) विस्तृत हुआ मोहरूपी कुहरा चिरकाल से स्वयं ही बह रहा है यानी पुरुष को अन्ध बनाकर विषयों में हठात् प्रवृत्त कराता है, यह भाव है ॥१२॥

भोग में प्रवृत्त हुए पुरुष को पुत्र, पौत्र आदि विषयों में राग की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होती रहती है, ऐसा कहते हैं।

आपाततः अनेकविध सांसारिक सुखों में निपुण; परिणाम में दुख में पर्यवसायी; द्वेष, मात्सर्य, आदि चिन्ता का उत्पादक होने के कारण स्नेहशून्यतापूर्वक अन्तःकरण में कटुता पैदा करनेवाला और जन्मरूपी विषलता के पल्लवों, रस की नाईं, वृद्धि करनेवाला राग बढ़ता रहता है ॥१३॥

तदनन्तर क्रमशः पुत्र आदि का मरण होनेपर उनके वियोग की परम्परा होती है, इस आशय से कहते हैं।

व्याधि आदि से जर्जर पुत्र आदि कुटुम्बी जनसमूहरूपी पत्तों की पंक्तियाँ जिन्होंने गिरायी हैं और आँधी के कणों की नाईं, विवेक दृष्टियों का अपहरण करनेवाले विक्षेपविशेष जिन में विद्यमान हैं, ऐसे दुष्कर्मपरिपाकरूपी पवन जो बहते हैं, वह भी अज्ञान का विलास ही है ॥१४॥

तदनन्तर अपनी भी मृत्यु हो जाती है, इसलिए सर्वदा ही इसी प्रकार जन्मपरम्परा से मरण के मुख में प्रवेश होता रहता है, यों कहते हैं।

जिसने अनन्त जगतरूपी पके फलों को कवलित कर दिया है और जो सदा खाने की चेष्टा कर रहे उदर से युक्त है, ऐसा यह काल कल्पों तक जो तृप्त नहीं होता, वह भी अज्ञान का विलास है ॥१५॥

इस प्रकार परिवर्तमान अज्ञानी जीवों का सर्परूप से वर्णन करते हैं।

त्रिविध तापों से शून्य अचल ब्रह्म के प्रकाशरूपता को प्राप्त हो रहे जीव इस संसार में एक तरह के सर्प ही हैं, क्योंकि वे मोहरूपी वायु का अपने अन्दर पूरणकर, स्थित तथा फिर-फिर पृथक् हो जानेवाली नानादेहरूपी त्वचाओं से उपलक्षित होते हुए कुटिलगति से चलते-फिरते हैं। यह भी अज्ञान का विलास है ॥१६॥

उनके द्वारा प्रत्येक जन्म में प्राप्त किया जानेवाला यौवन भी-मोक्षहेतु विवेक, वैराग्य, श्रवण आदि में उपयोग न होने के कारण निरर्थक ही है, इस आशय से कहते हैं।

चिन्तारूपी पिशाचों से उपहत, विवेकरूपी चन्द्रमा के उदय से शून्य, अतएव अन्धकार की तरह प्रकाश रहित उनकी यौवनरूपा रात्रि जो निकल जाती है यानी व्यतीत हो जाती है, वह अज्ञान का ही विलास है ॥१७॥

इसी प्रकार उनकी जीभ आदि इन्द्रियाँ भी व्यर्थ और प्रयोजन शून्य हैं, ऐसा दिखलाते हैं।

कमल कोटर के कोने में अवस्थित भी सूत्र यानी कमलसूत्र से दृढ़ अवलम्बित भी भीतरी दल जैसे हिमप्रपातों से जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, वैसे ही स्त्री, पुत्र आदि प्राकृत यानी पामर जनों का क्षोभ निराकरण करने के लिए किये गये अनेक संतापों से जीभ एवं अन्यान्य चक्षु आदि इन्द्रियाँ जीर्ण-शीर्ण हो जाती हैं, वह भी अज्ञान का विलास है ॥१८॥ दुःख और शोकरूपी महान ग्रन्थियों से युक्त, कष्टरूपी कण्टकों से आकीर्ण दरिद्रतारूपी दृढ़ शाल्मली वृक्ष जो हजारों शाखा-प्रशाखारूपता को प्राप्त होता है, वह भी अज्ञान का विलास है ॥१९॥ सत्य वस्तु का अवलम्बन न होने के कारण अन्तःशून्य (सारहीन) कोटरयुक्त, अपनी उन्नति के भार से विदीर्ण चित्तरूपी चैत्यवृक्ष में निवास करनेवाला लोभरूपी उल्लू जो अज्ञानरूपी कृष्ण-पक्ष की रात्रि में विशेषरूपसे गर्जन करता है, वह भी अज्ञान का विलास है ॥२०॥ आरंभकाल में पहले कानों के संनिहित कपोल प्रदेश का ग्रहण कर चारों ओर से निश्चयपूर्वक स्फुरणशील जरारूपी जर्जर बिल्ली जो यौवनरूपी चूहों का भक्षण करती है, वह भी अज्ञान का विलास है ॥२१॥

अज्ञान से ही दूसरी बार सृष्टि का विस्तार होता है, यह दिखलाते हैं।

सारभूत वस्तु से सदा शून्य, रचना करने के लिए उपक्रान्त, पर्वतों की नाईं समुन्नत फेन की पिण्डिका के सदृश जो जगत-दृष्टि दृढ़ता प्राप्त होती है, वह भी अज्ञान का विलास है ॥२२॥ चिदाभास-प्रकाशरूपी पुष्पों से उज्जवल, व्यावहारिक सत्यतारूपी लता, जिसमें जगतरूपी पल्लव हैं और जो धर्म, अर्थरूपी फल धारण करती है एवं विकसित होती है, यह भी अज्ञान का विलास है ॥२३॥ जिसमें बड़े-बड़े पर्वत ही स्तम्भ हैं, सूर्य, चन्द्र ही झरोखे हैं, गगन ही छपरा या छत है, ऐसा जगत-त्रयरूपी घर जो स्थिति को प्राप्त होता है, वह भी अज्ञान का विलास है ॥२४॥ अत्यन्त विस्तीर्ण संसाररूपी सरोवर में उत्पन्न शरीररूपी पुष्करों में (कमलों में) अन्तःस्थ चिद्रूप रस का

पान करनेवाले प्राणरूपी भ्रमर जो भ्रमण करते हैं, वह भी अज्ञान का विलास है ॥२५॥ आकाशमार्गरूपी नीलमणि से निर्मित महान कृत्रिम भूभागरूपी निरन्तर शोभायमान भुवनोदर में दिव्यातिदीव्य सूर्यदीपिका जो जलती है, वह भी अज्ञान का विलास है ॥२६॥ आशारूपी सूत से बंधी हुई, अपनी वासना–शलाकारूप शरीर में जो जगत के अन्तर्गत जीवसमूहरूपी पक्षिणी निबद्ध है, वह भी अज्ञान का विलास है ॥२७॥ निरन्तर पतनों से युक्त पृथ्वी आदि भूतरूपी पत्रपरम्परावली सृष्टिलता जो प्राण–वायु से कम्पित होती हैं, वह भी अज्ञान का विलास है ॥२८॥ स्वात्मतादात्म्य अध्यास से जिन्होंने रक्त, मांस, मल, मूत्र आदि देहरूप उग्र नारकीय कीचड़ का तिरस्कार कर दिया है, ऐसे उक्त शंका से निर्मुक्त होकर 'हम कुलीन महाशय हैं' इस प्रकार अभिमान करके कुछ काल तक जो फूलकर स्थित रहते हैं, वह भी अज्ञान का विलास है ॥२९॥ नील मेघरूपी सेवार से युक्त, आकाशमार्ग में स्थित स्वर्गरूपी सरोवर में चन्द्रखण्ड की कणिका का उपभोग करनेवाले देवतारूपी सारस पक्षी जो प्रस्फुरित होते हैं, वह भी अज्ञान का विलास है ॥३०॥ विविध काम्य कर्मों के फलरूपी भ्रमरों से मलिन, वासनाओं के जालों से वेष्टित तथा स्पन्दरूपी सुगन्ध से प्रचुर जो क्रियारूपी कमलिनी विकसित हो रही है, वह भी अज्ञान का विलास है ॥३१॥ संसाररूपी स्वल्प जलाशय में प्रस्फुरित हो रही सृष्टिरूपी बिचारी क्षुद्र मछली को (सौरी नामक मछली को) शठ कृतान्तरूपी (काल) वृद्ध गीध जो पकड़ लेता है, वह भी अज्ञान का विलास है ॥३२॥ जलतरंगों के फेनों की माला की नाईं भंगुर तथा एकमात्र तत्स्वरूप भी अन्य के सदृश प्रतीयमान प्रतिदिन पृथक् परिमाणवाली चन्द्रलेखा के सदृश जो सृष्टि–वैचित्र्य उदित होता है, वह भी अज्ञान का विलास है ॥३३॥ क्षणभर में विनष्ट हो जानेवाले अनेक भूतरूपी सकोरों का निर्माण कर रहा कालरूपी कुम्हार इस संसारचक्र का जो परिवर्तन करता है, वह भी अविद्या का विलास है ॥३४॥ अचल ब्रह्मरूपी पद में उत्पन्न सम्पूर्ण व्यवहारों में समर्थ असंख्य जगतस्वरूप जंगलों के जाल युगान्तरूपी अग्नि से जो दग्ध हो जाते हैं, वह भी अविद्या का प्रभाव है ॥३५॥ निरन्तर उत्पत्ति और विनाश से, दुःख और सुख की सैकड़ों दशाओं से उस प्रकार जगत्स्थिति जो विपरिणाम को पुनः–पुनः प्राप्त होती है, वह भी अज्ञान का विलास है ॥३६॥

इस प्रकार की अनर्थ–परम्परा का परिज्ञान होने पर भी अज्ञानियों को वैराग्य क्यों नहीं होता, इस पर कहते हैं।

वासनारूपी जंजीरों से बँधी अज्ञानियों की दृढ़ मूर्खतारूपी धीरता क्षुभित युगों के आवागमन तथा कठोर वज्रों के आघातों से भी विदीर्ण नहीं होती, इसलिए अज्ञानियों को वैराग्य नहीं होता ॥३७॥

ज्ञान से अज्ञान का बाध होने पर भी जो वासना अधिकारप्राप्ति के अनुकूल प्रारब्ध के बल से इन्द्र आदि शरीर, दूसरे मनु के आगमन तक, धारण करती है, उसका दूसरे किस कारण से विनाश प्राप्त होगा ? इस आशय से दृष्टान्त देते हैं।

अपने पराक्रमों से सैकड़ों पराजित भी शत्रुओं का फिर युद्ध की अभिलाषा से पालन करनेवाली दानवपुत्रों द्वारा भी सब प्रकारों से प्रशंसित हुई इन्द्रदेह, जिसका पुनर्जन्म आदि विषय में वेग नष्ट चुका है, वासना अधिकारपर्यन्त (मन्वन्तर तक) जो धारण करती है, वह भी अज्ञान का विलास

है ॥३८॥ प्राणियों की सृष्टिरूपी धूलि की पंक्ति से युक्त नियतिरूपी आँधी कालरूपी सर्प के गले के भीतर सर्वदा प्रवाहरूप से जो प्रविष्ट होती है, वह भी अविद्या का नृत्य है ॥३९॥ विनाशरूपी बडवाग्नि के मुख में चारों ओर से सुख-दुःखात्मक फेनों से युक्त समस्त पदार्थरूपी जल अविरत ताप से जो गिरते हैं, वह भी अविद्या-नटी का नृत्य है ॥४०॥ एकमात्र अधिष्ठान ब्रह्म की सत्ता से अपने स्वरूप का लाभ करनेवाली तथा अतर्कित वासना के वैचित्र्य से प्रकम्पित हुई चित्र-विचित्र द्रव्यों की जो शक्तियाँ प्रस्फुरित होती हैं, वह भी माया का विलास है ॥४१॥ प्राणीरूपी गजमुक्ताओं से शोभित, अनन्त जगतरूपी बड़े-बड़े उन्मत्त गजों का कृतान्तरूपी (कालरूपी) प्रचण्ड सिंह जो भक्षण कर डालता है, वह भी अविद्या का प्रभाव है ॥४२॥ उपभोग्य और महान होने के कारण जिनके लिए महेन्द्र, मलय आदि कुलपर्वत ही फलस्थानीय हैं; नभो गति और आकृति के सादृश्य से मेघ ही जिनके पंख हैं, ऐसे चारों ओर से फलों को बटोरनेवाले जगतरूपी पक्षी (उत्तरायण और दक्षिणायन मार्ग से निरन्तर परिभ्रमण कर रहे जगदात्मक जीवरूपी पक्षी) जो उत्पन्न होते, मृत होते और मरण तक जीवित रहते हैं, वह भी अज्ञान का प्रताप है। प्रकृत में मूल, मध्य और ऊर्ध्व भाग में क्रमशः नाग, मर्त्य और देवताओं के द्वारा महेन्द्र आदि कुलपर्वत उपभोग्य होने के कारण फलरूप से उत्प्रेक्षित किये गये हैं। दक्षिणायन मार्ग में धूम्ररूप से और अभ्रमेघरूप आदि से ऊर्ध्वगति के निर्वाहक होने के कारण मेघ पंखों के रूपमें उत्प्रेक्षित किये गये हैं, यह जानना चाहिए ॥४३॥

दृष्टि-सृष्टिपक्ष का अवलम्बन करके कहते हैं।

चक्षु आदि इन्द्रियों की वृत्तियों के सम्बन्ध से अति धवल चैतन्यदीवार में पाँच बाह्य इन्द्रियों के रंगों से विधातारूपी चित्रकार (दृष्टिमात्र से सृष्टि करनेवाला द्रष्टारूपी चित्रकार) संसाररूपी चित्र खींचा करता है ॥४४॥

उक्त दृष्टि-सृष्टि में स्थावर और जंगम पदार्थों के अनुभवों में जो विशेष है, उसका स्थावर पदार्थों में पहले दिग्दर्शन कराते हैं।

ये स्थावर जातियाँ-निरन्तर विनाशशील, समस्त पदार्थों का परिवर्तन कर देनेवाली, निमेष के शतांशभागरूपी अंग से युक्त, दुःखपूर्वक साधित असत्पदार्थरूप अंकुर से समन्वित तथा आत्मा का जगदाकाररूप से विर्वत करनेवाली सूक्ष्मातिसूक्ष्म काल की कलना का एकमात्र भीतरी ध्यान से ही यानी बाहर के विस्पष्ट व्यवहार में असमर्थ अनुभव से प्रत्यक्ष कर अवस्थित रहती हैं ॥४५,४६॥

स्थावरों में विशेष बतलाने के बाद जंगमों में विशेष बतलाते हैं।

राग-द्वेष से उत्थित सुखदुःखात्मक जरामरणरूपी रोग से समस्त जंगमजाति जीर्ण-शीर्ण हो गई है ॥४७॥

जंगम जाति में भी कृमि, कीट आदि को दुःखानुभव अधिक होता है, यह उसके कारण प्रदर्शनमुख से बतलाते हैं।

भयंकर बड़े-बड़े पापों के कारण एकमात्र उनके फलों के ही उपभोग के अनुकूल ध्यान करना ही जिनका स्वभाव है, ऐसी कीटों की पंक्तियाँ इस जगतीतल में नियति के द्वारा पीड़ित होती रहती हैं ॥४८॥

'स यद्यदेवासृजत०' (उसने जिस जिसका सर्जन किया, उस उसको भक्षण करने के लिए पकड़

लिया) इस श्रुति के अनुसार स्थावर और जंगम सबमें कालभक्ष्यत्व तुल्य ही है, इसे कहते हैं।

कभी भी ध्यान में न आनेवाले बिल में रहनेवाला, अतएव अदृश्य, महान फणधारी या प्रचुरभोग करनेवाला कालरूपी सर्प निर्भय होकर यह समस्त जगत क्षणभर में ही निगल जाता है ॥४९॥

इस प्रकार स्थावर पदार्थों में नियत समय पर फल, पुष्प आदि परिणाम का होना और अनिवार्य शीत, ताप आदि का सहना विशेष है, यह बतलाते हैं।

जिनके शरीर का मूलभाग पृथ्वी के छिद्र में प्रविष्ट हो गया है, ऐसे वृक्ष आदि स्थावर पदार्थ– भोगजनक किसी स्वकीय या परकीय अदृष्ट को निमित्त बनाकर मनुष्य, पक्षी आदियों के द्वारा अपने शरीर में पीड़ित वसन्त आदि ऋतुविशेषों में विकसित कुसुम शोभा से सुशोभित तथा फलप्रद; शीत, वायु और ताप को सहने के कारण प्रौढ़ अतएव तप, शम, दम, तितिक्षा, औदार्य आदि उत्तम स्वभावों से सुसम्पन्न तपस्वी की नाईं–काल का अतिक्रमण किया करते हैं ॥५०॥

अब तीनों लोकों की तीन कमलों के रूप में कल्पना करके उसमें के प्राणियों की भ्रमर, समूह के रूप में उत्प्रेक्षा करते हैं।

जलपटल में अवस्थित त्रिलोकीरूपी कमल के कोटर में प्राणीरूपी भ्रमरों की पेटिका (समूह) बारबार गुंजाध्वनि जो किया करती है, वह भी अविद्या का विलास है। यद्यपि पुराणों में यह प्रसिद्ध है कि एकमात्र पृथ्वी ही कमल के पत्ते की नाईं जल में स्थित है, न कि अन्तरिक्ष या स्वर्गलोक; तथापि अन्तरिक्ष एवं द्युलोक, त्रिवृत्कृत जल के कार्य होने के कारण, जलभाग में प्रतिष्ठित हैं ही, यह सूचन करने के लिए 'पटल' शब्द का उपादान किया गया है ॥५१॥

अब तत्–तत् फलों में नियत प्राणियों की क्रिया को काली के रूप में, ब्रह्माण्ड को उसके भिक्षा के पात्ररूप में अण्डज आदि चार तरह के प्राणियों को उसकी भिक्षा में प्राप्त द्रव्यरूप में उत्प्रेक्षित करते हैं।

जिसके करकमल में ब्रह्माण्डरूपी भिक्षा का पात्र है, ऐसी भगवती कालपत्नी काली पूर्वगृहीत भूतरूपी भिक्षा का अपने पति काल को पुनः पुनः समर्पण कर दूसरी–दूसरी भूतभिक्षा ग्रहण करने की इच्छा करती है ॥५२॥

अब क्रियाओं के फलभूत त्रिलोकी की वृद्धकामिनी के रूप में उत्प्रेक्षा करते हैं।

त्रिलोकी एक तरह से वृद्धकामिनी ही है, वह कैसी है ? स्वरूपाच्छादक तुच्छ अन्धकार ही उसके केशपाश हैं, चन्द्र और सूर्य ये दो उसके चपल नेत्र हैं, ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर–ये तीन उसके आन्तर चेतनात्मक स्वभाव हैं, पृथ्वी, हिमालय आदि श्रेष्ठ पर्वत उसका बाह्य स्थूल देहस्थानीय जड़ात्मक स्वभाव है। एकमात्र ब्रह्मतत्त्व ही हृदय में विस्फोट के (फोड़े के) सदृश बन्धनों से आवृत होकर स्थित हुआ नित्य गोपनीय उसका स्तनमण्डल है, चिदाभासरूपा चितिशक्ति ही पोषण करनेवाली उसकी धात्री है, अतएव वह मोटी–ताजी है, तरल है, मेघ ही उसका चापल्य है। तारे ही उसके दाँत हैं, सन्ध्या ही उसके अरुणतर ओष्ठ हैं, समस्त बिसलताएँ ही उसके हाथ हैं, नील आकाशरूपी उत्तरीय वस्त्र से वह आवृत्त है, जम्बूद्वीप उसकी महानाभि है, वनशोभा उसकी रोमपंक्ति है। इस प्रकार की त्रिलोकी रूपी महान विभ्रमकारक वृद्ध कामिनी बार–बार उत्पन्न हो होकर जो

नष्ट हो जाती है और नष्ट होकर बार-बार जो उत्पन्न होती रहती है, वह भी अज्ञान का विलास है ॥५३-५७॥

अब काल का महासमुद्र के रूप में वर्णन करते हैं।

प्रत्येक कल्परूप क्षण में क्षीण हो जानेवाले ब्रह्माण्डरूप प्रस्फुट बुद्बुद् भयंकर कालरूपी महासमुद्र में जो उत्पन्न और विनष्ट हो जाते हैं, वह भी अविद्या का विलास है ॥५८॥

सैकड़ों भ्रम और तृष्णारूपी अगाध जल-प्रवाह जिसमें बह रहा है, ऐसे काल-रूप महानद में बार-बार स्थित हो-होकर कल्परूपी निमेषमात्र में जो कारणभूत हिरण्यगर्भरूपी सारस पक्षी उड़ जाते हैं, वह भी अविद्या का विलास है ॥५९॥

काल की मेघ के रूप में कल्पना करते हैं।

उत्पन्न हो-होकर नष्ट हो जानेवाली प्रतप्त सृष्टिरूपी ये बिजलियाँ, जिन्हें चित्प्रकाश के आश्रय से प्रकाशशक्ति प्राप्त हुई हैं, जो प्रस्फुटि होती हैं, वह भी अज्ञान का विलास है ॥६०॥ अति उन्नत कालरूपी तालवृक्ष से ब्रह्माण्डरूपी फल की पंक्तियाँ, जिनके लिए प्राणीरूपी कौए उड़ते और निरन्तर चक्कर काटते रहते हैं, गिर रही हैं, वह भी अविद्या-प्रभाव है ॥६१॥

श्रीरामजी, इसी ब्रह्मचैतन्य में निमेषमात्र में ब्राह्मी सृष्टि पैदा करनेवाले तथा क्षणमात्र में उसका संहार करनेवाले देवताओं के नियामक ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वररूपी कई जो देवाधिपति हैं, वह भी अज्ञान का प्रताप है ॥६२॥ हजारों बार निमेष के उन्मेषमात्र काल में जिन्होंने कल्पों के समूह नष्ट-भ्रष्ट कर दिये हैं, ऐसे कुछ रुद्र जो उस परमचित् में हैं, वह भी अज्ञान का विलास है ॥६३॥ वे देवनायक भी जिसके निमेष से उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते हैं, ऐसा भी कोई देवाधिदेव है, क्योंकि यह रुद्रपर्यन्त क्रियाओं की स्थिति यानी कर्म, उपासना और फलभाव की स्थिति अनन्त है। यह भी अविद्या-प्रभाव है ॥६४॥

यदि शंका हो कि यह सब किस तरह सम्भव हो सकता है ? तो माया में सभी का संभव होने के कारण इस विषय में असंभावना करना किसी प्रकार भी युक्ति युक्त नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

अनन्त संकल्पप्रचुर, समस्त विकल्पों से शून्य ब्रह्मरूप पद में सैकड़ों आश्चर्यों की पूर्ति करनेवाली ऐसी कौन-सी शक्तियाँ नहीं हैं ? अर्थात् सभी शक्तियाँ उसमें विद्यमान हैं ॥६५॥

अज्ञान-विभूतियों के विस्तार का उपसंहार करते हैं।

उस प्रकार सुदृढ़ संकल्पों से प्राप्त अर्थसमूह से देदीप्यमान जगत की जो यह कल्पना है, वह भी अज्ञान का विलास है ॥६६॥

कथित अर्थ का संक्षेप स्पष्टीकरण करते हैं।

श्रीरामजी, जो कुछ सम्पत्तियाँ हैं, जो कूछ निरन्तर चलनेवाली आपत्तियाँ हैं, जो बाल्य, यौवन, जरा, मरणरूपी महान सन्ताप हैं, जो सुख-दुःख की परम्पराओं में मंजन होता है, वह सब अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकार की विभूतियाँ हैं ॥६७॥

सातवाँ सर्ग समाप्त

आठवाँ सर्ग

जिस कारण अविद्या की जगद्रूपी विभूतियाँ है उसका पिछले सर्ग में
वर्णन करने के अनन्तर कार्य अविद्या का संसाररूपी वन की लता के रूप में वर्णन।

सबसे पहले विषय का निर्देश कर वर्णन-प्रकार की प्रशंसा करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, इस संसाररूपी अरण्य के एकदेश में विद्यमान कूटस्थ चिद्रूप पर्वत के तट में स्थित कार्यअविद्यारूपी लता कब और किस प्रकार विकसित हुई, इसका मैं वर्णन करता हूँ, आप सुनिये ॥१॥

यह कार्यअविद्यारूपी लता बड़े-बड़े मेरु आदि पर्वतरूप पर्वों (काण्ड की संधियों) से युक्त, चिदावारक ब्रह्माण्डरूपी त्वचा से आवृत और जनरूपी पत्र, अंकुर आदि विकासों से युक्त है, ये तीनों लोक इसकी देहयष्टि यानी अवयव संस्थान हैं ॥२॥

इस अविद्यारूपी लता में प्रतिदिन वृद्धि प्राप्त करनेवाले सुख, दुःख, जन्म, स्थिति, ज्ञान एवं अज्ञान-ये सब मूल और फल हैं ॥३॥

सुख आदि में मूलरूपत्व तथा फलरूपत्व का उपपादन करते हैं।

अनुभूयमान सम्पत्ति आदि सुखों से 'आगे भी मुझे इससे अधिक सम्पत्ति प्राप्त होवे' ऐसी रागस्वरूप अविद्या दृढ़तापूर्वक उत्पन्न होती है और वह अविद्या यज्ञ, दान आदि धर्मों द्वारा अन्त में सुखरूप फल प्रदान करती ही है, दारिद्रय आदि दुःखों से धन की तृष्णा आदिरूप अविद्या दृढ़तया उत्पन्न होती है और वह पापवासना से दुष्प्रतिग्रह, चौरी आदि अधर्मों में प्रवृत्ति द्वारा उससे भी अधिक दुःख रूप फल प्रदान करती ही है ॥४॥

जन्म से भी अविद्या उत्पन्न होती है और वह बाद में जन्मान्तररूप फल प्रदान करती ही है। जन्म से वह सत्ता प्राप्त करती है और बाद में स्थितिरूप फल प्रदान करती ही है ॥५॥ वह अविद्या अज्ञान से वृद्धि प्राप्त करती है और बाद में अज्ञानरूप फल देती ही है। ज्ञान से संवित्ति अर्थात् उत्तरोत्तर भूमिका की प्राप्तिस्वरूप ज्ञानवृद्धि प्राप्त करती है और अन्त में अर्थात् सप्तभूमिका में तत्त्वज्ञानरूप फल देती है ॥६॥

प्रसंगप्राप्त विषय का उपपादन कर प्रस्तुत लता का ही वर्णन करते हैं।

नानाप्रकार के उल्लासों से युक्त वासनारूप सुगन्धि से शोभित, घनीभूत पल्लवों से चंचल इस सृष्टिरूप लता का शरीर प्रकाशमान हो रहा है ॥७॥

'नाना प्रकार के उल्लासों से युक्त है' इसीका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

यह लता दिवस समूहरूप पुष्पों से युक्त, रात्रिरूप चंचल भ्रमरों से समन्वित, रागादि दोषों के कारण दौड़ रहे यानी हिल रहे प्राणीरूप पल्लवों से भूषित और निरन्तर कम्पनशील है ॥८॥

कर्मरूप वायु के द्वारा पुनः-पुनः भ्रमित होकर यह सृष्टिलता कहींपर यानी किसी अधिकारी प्राणीरूप पल्लवभाग में स्थित विवेकरूप हथिनी के ऊपर गिर जाती है। तदनन्तर उस हथिनी द्वारा कभी विचाररूप सूँड़ के अग्रभाग से वह लता अपने आश्रयभूत विषयरूप वृक्ष से अलगकर कंपाई जाती है।

इस स्थिति में दुर्वासना रूप धूलि के नष्ट हो जाने पर भी यदि दैवात् सूँड़ से वह छूट जाती है, तो पुनः उसी विषयरूपी वृक्ष से लिपट जाती है ॥९॥ उत्पन्न होनेवाले मित्र, पशु आदि पल्लवों से पूर्ण, उत्पन्न हुए पुत्र, पौत्र आदि अंकुरों से दन्तुर (आनन्द से किंचित हास्ययुक्त मुखवाली), सब ऋतुरूप पुष्पों से शोभित तथा सम्पूर्ण प्रकारों के रसों से युक्त है। जन्मरूपी पर्वों में दुःख, रोग आदिरूप सर्पों से छिद्ररहित यानी भरी हुई, मरणरूप शाखाओं के सन्धिभूत छिद्रों में हठात् विदीर्यमाण होने से व्याकुल, विषयानूभव से उत्पन्न रागादि मकरन्दों से अर्थात् पुष्परसों से युक्त यह लता केवल विचाररूप घुन से नष्ट हो जाती है ॥१०,११॥

यह लता 'समस्त ऋतुरूपी पुष्पों से शोभित है' ऐसा पहले जो कहा गया है, उसका विवरण करते हैं।

प्रतिदिन आकाश में चारों ओर से विकसित हो रही चन्द्र, सूर्य आदि के सहित नवग्रहरूप ज्योतियों की जो पंक्तियाँ हैं। वे ही इस सृष्टिरूपी लता के वायु से चंचल हुए पुष्प हैं ॥१२॥

हे रघुकुल को आनन्द देनेवाले श्रीरामजी, आकाशमण्डल को पूर्ण करनेवाली अर्थात् व्याप्त कर स्थित हुई इस लता के ऊपर प्रस्फुरित आकारवाले नक्षत्र ही कलिरूपता को प्राप्त किये हुए हैं ॥१३॥ चन्द्र, सूर्य तथा अग्नि के प्रकाश इस लता के उक्त पुष्पसम्बन्धी पराग हैं। इसी पराग से यह, शुभ्रांगी स्त्री के समान, लोगों के मनका आकर्षण करती है अर्थात् लोगों को मनोहर लगती है ॥१४॥

यह लता चित्तरूपी हाथी से प्रकम्पित, संकल्परूप मधुर कलनाद करनेवाली कोकिल से युक्त, इन्द्रियरूपी साँपों से वेष्टित और तृष्णारूपी चमड़े से आच्छादित, नील आकाशरूपी तमालवृक्ष के अवयवों के आश्रय से अत्यन्त विस्तार को प्राप्त, आकाश और पृथिवीरूप चारों ओर को जानुतुल्य संकुचित मूलस्तम्भों से युक्त, चतुर्दश भुवनरूपी वाटिकाओं से शोभित; सात समुद्रों की खाईरूपी सुन्दर आलवाल से आवृत एवं सम्पूर्ण समुद्रों के जल, क्षीर आदि से सिंचित होकर ब्रह्माण्डखण्डों के अधोभाग में विस्तृत जड़ों से बद्ध; काम्य कर्मों के बोधक तीनों वेदों से चंचल हुए कामीरूप भ्रमरों से युक्त, अतएव उन कामी जनों के भोग्यभूत स्त्रीरूप पुष्पसमूहों से शोभित, मनके स्पन्दरूप वायु से कम्पित, स्वाभाविक प्रवृत्तिवाले विपुलजनसमूहरूपी मूल, पत्र, काण्ड आदियों में भ्रमण कर रहे सूक्ष्म कीटों से युक्त, शास्त्रनिषिद्ध कर्मरूपी अजगर से व्याप्त, स्वर्ग की श्रीरूपी पुष्पमण्डप से शोभित तथा जीवों के जीवनोपायों से पूर्ण है। (इस सृष्टिरूप लता में प्रसिद्ध लता से विलक्षण अन्यान्य भी अनेक तरह के वैचित्र्य हैं, यह दिखलाते हैं-'नाना' से।) अनेक प्रकार के विषयवासनारूप गन्धों से अज्ञों को मत्त करनेवाली, विवेकियों के लिए तो अनेक प्रकार के उपशम-वैचित्र्यरूपी अनेक पुष्पों से प्रकाशमान, अनेक प्रकार के फलों की पंक्तियों से व्याप्त अनेक प्रकार के पुष्प एवं फलों के रस तथा पराग से विकसित, विभिन्न-विभिन्न आलवालों से (खाईयों से) वेष्टित, तरह-तरह के पक्षियों से युक्त, अनेक तरह की धूलियों से युक्त होने के कारण रूखी, नाना प्रकार के पर्वतरूप जालों से बद्ध, अनेक कलारूप कलियों से युक्त, अनेक वनसमूहों से ऊपर को उठी हुई, अनेक पर्वतों के तटोंपर आरूढ़ हुई तथा सदा अनेक प्रकार के दलों से शोभित है ॥१५-२२॥

वह अविद्यारूपी लता अनेक बार उत्पन्न हो चुकी है और उत्पन्न होनेवाली है; अनेक बार मर

चुकी है और मरनेवाली भी है। वह आधी कटी हुई है, और पूर्णरूप से भी कटी हुई है तथा प्रवाहरूप से न कटी हुई भी है ॥२३॥ वह अतीत काल में थी और वर्तमान काल में भी है, वह सर्वदा असत्पदार्थ के सदृश होती हुई भी सत्य पदार्थ के सदृश बार–बार अत्यन्त पल्लवित होती है तथा नित्य शोष को प्राप्त होती है ॥२४॥

यह कार्य अविद्या निश्चय ही महती विषलता है, क्योंकि अविचार से इसका आश्लेष यानी सम्बन्ध होने पर यह तत्क्षण संसाररूप विष से जनित मूर्च्छा देती है और पूर्वापर विचारित होनेपर तत्क्षण नष्ट हो जाती है ॥२५॥

कार्यअविद्या के स्वरूप का विचार करनेवाले तत्त्ववित् के प्रकाशमान पूर्ण आत्मा में वह अन्तःविलीन यानी बाधित हो जाती है और अज्ञानी पुरुष में तो भीतर चारों ओर से अनुवृत्त होकर अवस्थित रहती है। *(इस अनुवृत्ति का विस्तारपूर्वक निरूपण करते हैं – 'इतः' इत्यादि से।)* कहीं तो यह सृष्टिरूपा लता के समीप कहीं जल है, कहीं पर्वत है, कहीं तो नागों से युक्त है और कहीं देवताओं से सुशोभित है ॥२६॥ कहीं तो वह पृथिवीरूपता को प्राप्त हुई है और कहीं द्युलोकरूप से अवस्थित हुई है। उन्होंने कहीं चन्द्र और सूर्यरूपता प्राप्त कर ली है और कहीं तो तारों के आकार को धारण किया है ॥२७॥ यह सृष्टिरूपी लता कहीं तो तमरूप है, कहीं तेजोरूप है, कहीं आकाशरूप है, कहीं सस्यश्यामला (अशेष विशेष धान्यों से पूर्ण) है, कहीं पृथिवीरूप है, कहीं शास्त्ररूप है, कहीं वेदरूप है तो कहीं प्रलय और सुषुप्ति से विवर्जित है ॥२८॥

कहीं पक्षिरूप होकर उड़ती है, कहीं देवरूप होकर उत्थित होती है, कहीं स्थाणु होकर स्थित है और कहीं पवनभाव को प्राप्त हुई है ॥२९॥ कहीं पर नरकरूप होकर पातालकुहर में विलीन रहती है तो कहीं स्वर्ग में विलास करती है। कहीं देवपद को प्राप्त हुई है, तो कहीं कृमिरूप होकर स्थित हुई है ॥३०॥ कहीं विष्णुरूपा है, कहीं ब्रह्मारूपा है, कहीं रुद्ररूपा है, कहीं सूर्यरूपा है, कहीं अग्निरूपा है, कहीं वायुरूपा है, कहीं चन्द्ररूपा है तो कहीं यमरूपा है ॥३१॥

हे श्रीरामजी, इन समस्त भुवनों में उत्कृष्ट प्रभाव से चारों ओर व्याप्त हुए समस्त पदार्थों का संहार करनेवाले महादेव से लेकर अव्याकृतपर्यन्त अथवा अल्प प्रभाव के कारण जर्जर तृणरूपता को प्राप्त हुआ जो कुछ यह दृश्य प्रस्फुरित हो रहा है, उस सबको तत्त्वज्ञान द्वारा बाध करने योग्य अविद्यास्वरूप ही समझो, उसका अतिक्रमण अर्थात् बाध हो जाने पर आत्मा का लाभ यानी मोक्ष अवश्य प्राप्त होता है ॥३२॥

आठवाँ सर्ग समाप्त

नौवाँ सर्ग

तीन गुणों के विभाग, महादेव आदि की शुद्धसत्त्वरूपता, विद्या एवं अविद्या के स्वरूप तथा उन दोनों से रहित वस्तु का वर्णन।

पहले सर्ग के अन्तिम 'दृश्यं स्फुरन्ननु' इत्यादि पद्य से जो महादेवजी आदि में अविद्यारूपता का प्रतिपादन किया गया है, वह एकदम असम्भव है, क्योंकि 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म',

'घृतरीतिघनीभूतसच्चिदानन्दविग्रहः' इत्यादि श्रुति–स्मृतियों में परब्रह्मरूपता तथा सच्चिदानन्दरूपता का उनके स्वरूपों में प्रतिपादन किया गया है। महादेवजी को अविद्यारूप मानने में 'ईशानः सर्वविद्यानाम्' इत्यादि श्रुति प्रतिपादित सर्वविद्याधिपतित्व का भी विरोध होगा। वासुदेव स्वरूप तुरीय तथा परब्रह्मरूप है, यह भी पुराणों में प्रसिद्ध है। ऐसी स्थिति में महादेवादि की अविद्यारूपता नहीं हो सकती, यों शिवादि में अविद्यारूपता की असम्भावना कर रहे श्रीरामजी प्रसंगतः उसके रहस्य को भी जानने की इच्छा से पूछते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, आकृतिमात्र से आविर्भूत अत्यन्त शुद्धस्वरूप' शिव, विष्णु आदि भी अविद्यास्वरूप ही हैं, इस प्रकार आपकी उक्ति का श्रवण कर मैं मिथ्या भ्रान्ति को प्राप्त हो गया हूँ, कृपापूर्वक आप उसका निवारण कीजिए ॥१॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, चूँकि निर्विकार शुद्धचित् का घी की नाईं स्वतः घनीभाव या मूर्ताकार हो नहीं सकता, इसलिए वे दोनों मायाधीन विर्वत युक्त ही हैं, यह मानना पड़ेगा। परन्तु श्रुतिप्रतिपाद्य निर्विकार परब्रह्मस्वरूपता के साथ विरोध न हो, इसलिए विवर्तत्व–प्रयोजक माया का अंश स्वच्छ, सूक्ष्मतम स्वरूप का अनावारक कहा जाता है, उसीको शुद्धसत्त्व कहते हैं, शुद्धसत्त्व अत्यन्त स्वच्छ, चित्प्रतिबिम्बका ग्राहक, सर्वविद्या का उद्दीपक, स्वरूप का अनावारक है, इसलिए प्रकृत में सर्वधिपतित्व का विरोध नहीं हो सकता। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत तत् केन कं पश्येत्', 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इत्यादि श्रुतियों से हम लोगों के तत्त्वज्ञान से बाध्य होने के कारण उक्त अंश में अविद्यारूपता है, इसलिए यहाँ पर कोई असंभावना है ही नहीं, इस आशय से उत्तर देने की इच्छावाले श्रीवसिष्ठजी उक्त कल्पनाक्रम का उपक्रम करने के पहले सर्वप्रथम अधिष्ठान का दिग्दर्शन कराते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : संवेद्य से (जगदाकार से) रहित, सर्वविध उपद्रवों से वर्जित, समस्त जगत के संस्कार से संयुक्त माया से शबल होने के कारण सर्वात्मक अतएव सच्चित्प्रकाश से प्रचुर, कल्पनाओं से निर्मुक्त एकमात्र सत्स्वरूप ब्रह्म ही जगत की उत्पत्ति के पहले था ॥२॥

श्रीरामजी, सृष्टि के आरम्भकाल में अपनी सत्ता से स्थित हुई जगत–संस्कार के उद्बोधस्वरूप कला (चिदाभासस्फूर्ति), जल आदि में आवर्तलेखा के सदृश, कुछ पृथक स्वरूप की नाईं गुण और गुणी के भेदव्यवहार की योग्यतारूप से आविर्भूत होती है ॥३॥

जिस प्रकार मध्यान्ह प्रकाश, मन्द प्रकाश और छाया में सूर्य से विभिन्न तेज के अपकर्ष की कल्पना की जाती है, उसी प्रकार उक्त कला की सूक्ष्म, मध्य तथा स्थूल यों तीन प्रकार से कल्पना की जाती है, सूक्ष्म कल्पना के पीछे उसकी कल्पना करनेवाले के द्वारा हिरण्यगर्भ के रूप से मध्य कला, फिर उसके बाद स्थूल विराट के आकार से स्थूल कला के रूप में ज्ञात होकर वह उसी प्रकार स्थित रहती है। चूँकि यह अव्याकृतोपाधिरूपा सत्त्व, रज और तमोरूपा प्रकृति त्रिधा अवस्थित है, अतएव इन सूक्ष्म आदि अवस्थाओं में भी तीन तरह से कल्पित होती है ॥४,५॥

प्रश्नोत्तरों की अनुरूपता के लिए प्रकृति की अविद्यारूपता बतलाते हैं।

हे श्रीरामजी, सत्त्व आदि तीन गुणस्वरूप धर्मों से युक्त प्रकृति ही अविद्या है, यही प्राणियों का

संसार है, इससे (प्रकृति से) पार पा जाना ही परमपद यानी मोक्ष कहलाता है ॥६॥

कार्य अविद्या और कारण अविद्या इन दोनों अविद्याओं में अनुगत एक–एक गुण के अवान्तर तीन–तीन भेद बतलाते हैं।

इस प्रकृतिरूपी अविद्या में जो तीन गुण बतलाये गये हैं, वे भी तीन प्रकार के हैं यानी सत्त्व, रज तम इनमें से प्रत्येक गुणका तीन–तीन प्रकार से भेद होता है ॥७॥

भद्र, इस प्रकार यह अविद्या गुणभेदों से नव प्रकार से विभक्त हो जाती है यानी सूक्ष्म, मध्य और स्थूल अविद्या का प्रत्येकशः तीन–तीन भेद होकर नव तरह की हो जाती है, जो भी कुछ यह दृश्य प्रपंच दिखाई पड़ता है, वह सब इसी अविद्या में आश्रित है ॥८॥

पहले विभाग में सत्त्वांश का उदाहरण देते हैं।

भद्र, ऋषि, मुनि, सिद्ध (देवयोनिविशेष), नाग, विद्याधर, देवता–ये अविद्या के सात्त्विक अंशस्वरूप हैं, यह आप जानिए ॥९॥

उसके अवान्तर विभाग में तीन विभागों का भी दिग्दर्शन कराते हैं।

श्रीरामभद्र, इस सात्त्विक विभाग के नाग, विद्याधर ये तामसिक अंशस्वरूप हैं, मुनि, सिद्ध ये रजोगुण के अंशस्वरूप हैं और शिव, विष्णु आदि देवता सात्त्विक अंशरूप हैं ॥१०॥

शिव आदि सत्त्वगुणान्तर्गत शुद्ध सत्त्वरूप हैं, इसमें युक्ति कहते हैं।

सत्त्वजातिरूप देवयोनि में शिव, विष्णु आदि अविद्या के प्राकृत गुणों से कभी भी अविद्यारूप आवरण को प्राप्त न होकर स्वाभाविक ही विद्या से स्व–स्वरूप पद को सदा ही प्राप्त हुए, अतः वे शुद्धसत्त्वस्वरूप हैं। इससे ब्रह्मा और शिव में राजस एवं तामसरूपता की मूर्ख मनुष्यों में जो प्रसिद्धि है, उसका खण्डन हुआ समझना चाहिए ॥११॥

इसीलिए उनके उपासकों को भी ज्ञानप्राप्ति के द्वारा पुनर्जन्म की निवृत्ति होती है, यह अत्यन्त प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, सात्त्विक शिवादि मूर्त्रित्रयात्मक प्राकृत अंश की जो उपासना करता है, वह पुनः इस संसार में उत्पन्न नहीं होता, इसलिए वह मुक्त कहलाता है ॥१२॥

इसीलिए शिवादि तीन मूर्तियों में आवरण न होने के कारण जीवन्मुक्तता स्वाभाविक है, इस आशय से कहते हैं।

हे महामते, उक्त हेतु से शुद्ध सत्त्वगुण के अंशभूत रुद्र आदि पुरुष (देवता) जगत्स्थितिकाल में, जब तक देह धारण किये रहते हैं, तब तक मुक्त होकर स्थित रहते हैं ॥१३॥ ये महात्मा देहस्थितिपर्यन्त जीवन्मुक्त होकर स्थित रहते हैं और देह का अन्त हो जाने पर विदेहमुक्त होकर शुद्ध ब्रह्मस्वभाव में स्थित हो जाते हैं ॥१४॥

प्रश्न के समाधान का उपसंहार कर प्रस्तुत विषय की प्रस्तावना करते हैं।

इस प्रकार विद्यारूपता को प्राप्त हुआ यह जो अविद्या का सात्त्विकस्वरूप बीज–भाग है, वह फलरूपता यानी कार्यअविद्यारूपता को प्राप्त होता है और उसका प्रलय होनेपर बीजरूपता यानी कारणअविद्यारूपता को प्राप्त होता है ॥१५॥

कार्यअविद्या के उदय और प्रलय का आधार होने से भी विद्याशरीरी वे शिवादि अविद्यारूप ही हैं, यों कहते हैं।

कारण अविद्या के अन्तगर्त जो शुद्ध सत्त्व-अंश है, वह विद्या है, उस विद्या से अविद्या (कार्यअविद्यारूप सृष्टि) उस प्रकार उदित होती है, जिस प्रकार जल से बुदबुदे उत्पन्न होते हैं और जिस प्रकार बुदबुदे जल में लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार उस विद्या में ही कार्य अविद्यात्मक सृष्टि विलीन हो जाती है ॥१६॥

इसलिए विद्या और अविद्या का भेद भी कल्पित ही है, यह सिद्ध हुआ, ऐसा कहते हैं।

जैसे जल और तरंग की द्वित्वभावना से ही भिन्नता है, वैसे ही विद्या और अविद्या की दृष्टि में भेदभावना से ही भिन्नता है, वस्तुतः नहीं; जिस प्रकार परमार्थतः जल और तरंग की एकरूपता ही है, उसी प्रकार अविद्या और विद्या भी एकरूप ही हैं, पृथक् कुछ भी नहीं है ॥१७॥

विद्यादृष्टि से विद्या और अविद्या दोनों का बाध होने पर सुतरां उनके भेद की प्रसक्ति नहीं हो सकती, इस आशय से कहते हैं।

परमार्थतः सदधिष्ठान में विद्या और अविद्या नाम की कोई वस्तु ही नहीं है, अतः विद्या और अविद्या-दृष्टि का यानी उनका भेद, विरोध आदि दृष्टि का परित्याग कर यहाँ जो कुछ अवशिष्ट रहता है, वही वास्तव में विद्यमान है, दूसरा नहीं ॥१८॥

शंका हो कि विद्यादृष्टि से बाध्य होने के कारण अविद्या-दृष्टि का त्याग भले ही हो, परन्तु उसकी बाधिका विद्या-दृष्टि का त्याग किससे होगा ? तो इस पर कहते हैं।

हे रघूकुलभूषण, बाध के द्वारा अविद्या का अस्तित्व मिट जानेपर अविद्यानिरूपित (अविद्यानिष्ठ बाध्यता का आश्रय लेकर आनेवाली) बाधकता की सिद्धि ही नहीं हो सकती और विद्यमान प्रतियोगी के अधीन होने से व्यावृत्ति की (भेद की) भी प्रसिद्धि नहीं हो सकती, अतः विद्या और अविद्या-दृष्टि का अस्तित्व ही नहीं, इसलिए आप अवशिष्ट ब्रह्मरूप पदपर सुस्थिर हो जाइए ॥१९॥

न अविद्या नाम का पदार्थ है और न विद्यानाम का ही पदार्थ है, इसलिए यह कल्पना व्यर्थ है। (तब कौन वह अवशिष्ट वस्तु है उसको दिखलाते हुए बोध के पहले वही अविद्यारूप से कल्पित है, ऐसा कहते हैं।) वास्तव में आत्मा से अतिरिक्त अवशिष्ट कुछ भी नहीं है, यदि कुछ है, तो वह एकमात्र चित-वस्तु ही संवित रूप से अवस्थित है ॥२०॥

श्रीरामजी, वही अवशिष्ट चित्-वस्तु जब अज्ञातस्वरूप रहती है, तब वह अविद्या कही जाती है और जब विदित हो जाती है, तब वही सत्-स्वरूप एवं अविद्याक्षय इस नाम से कही जाती है ॥२१॥ छाया और धूप की नाईं परस्पर विरुद्ध विद्या और अविद्या दोनों में से विद्या का अभाव होने पर अपने मनोवांच्छिन्न चैतन्य में अविद्यानामक मिथ्या कल्पना का उदय होता है ॥२२॥

श्रीरामभद्र, उन परस्पर विरुद्ध विद्या और अविद्या दोनों में से अविद्या का बाध से चैतन्य में विलय हो जाने पर उक्त दोनों कल्पनाएँ क्षीण हो जाती हैं और उनका चैतन्य में अवस्थान हो जाता है, फिर परिपूर्णानन्दात्मक प्राप्तव्य चैतन्य परब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है ॥२३॥

शंका हो कि बाध न होने के कारण विद्या भी परिशिष्ट रूप से क्यों नहीं रहती ? तो इस पर

कहते हैं।

हे राघव, अविद्या के विनाश से विद्याकल्पना भी उस तरह क्षीण हो जाती है, जिस प्रकार लकड़ी के विनाश से अग्नि। जो अवशिष्ट रहता है, वह सर्वबाधात्मक होने से कुछ भी नहीं है और परमार्थतः सद्–रूप होने से कुछ है भी, यह सब उसी से व्याप्त है ॥२४॥

अतएव उसका दर्शन ही तत्त्वतः सर्वदर्शन और सर्वबाधदर्शन है, ऐसा कहते हैं।

उक्त तात्त्विक रूप से वहाँ (परम चिति में) सब कुछ उस प्रकार दिखाई देता है, जिस प्रकार वटबीज में फल पुष्पादि से युक्त वटवृक्ष दिखाई पड़ता है और मायिकस्वरूप से कुछ भी नहीं दिखाई देता है; तात्पर्य यह है कि यद्यपि अज्ञानावृत दशा में वह अकिंचित्स्वरूपी है, तथापि वटबीज की नाईं, व्याकृत और अव्याकृत दोनों अवस्थाओं में स्थूल–सूक्ष्मीभूत सर्वात्मकत्वरूप किंचित्स्वरूपता प्रसिद्ध है ॥२५॥ सर्वविध शक्तियों का आश्रय ही किंचित् वस्तुरूपत्व है, वही समस्त पराक्रमों की पिटारी है। वह आकाश से भी बड़ा शून्यस्वरूप है और चिदात्मक होने से शून्यस्वरूप भी नहीं है ॥२६॥

जैसे सूर्यकान्तमणि में अग्नि है अथवा जैसे दूध में घी है, वैसे ही उस चिदात्मक शून्य में यह सब अवस्थित है, जैसे अग्नि से विस्फुलिंग बाहर निकलते हैं अथवा जैसे सूर्य से रश्मियाँ बाहर निकलती हैं, वैसे ही देश, काल और क्रम के उदयकाल में ये प्रसिद्ध सब जीवसंवित्तियाँ ब्रह्मचैतन्य से प्रस्फुरित होती हैं, इसीलिए 'अग्नि विस्फुलिंग' आदि न्याय से जीवों का उपाधियों के साथ चैतन्य से निकलना श्रुतियों में प्रसिद्ध है, यह आशय है ॥२७,२८॥

इसीलिए वह ब्रह्म समस्त जीवसंवित्तियों का कोश है, ऐसा कहते हैं।

जैसे समुद्र तरंगों का और निर्मल मणि रश्मियों का कोश (खजाना) है, वैसे ही अनन्त जीवसंवित्तिरूपी भ्रमस्थानीय रश्मियों का वह अविनाशी कोश है ॥२९॥

निर्गमन की अवधि के कथन और मणिप्रभा के दृष्टान्त से जीव और जगत की ब्रह्म से अन्यत्र स्थिति की प्रसक्ति का वारण करते हुए कहते हैं।

घटों में आकाश की नाईं समस्त वस्तुओं में बाहर और भीतर में सत्–स्वरूप अविनाशी (त्रिविध परिच्छेद से शून्य) चैतन्य वस्तु सदा सर्वदा विद्यमान रहती ही है। तात्पर्य यह है कि जैसे घट के उदर में व्याप्त आकाश का घट के आगमन और निर्गमन से आकाश में औपचारिक आवागमन होता है, वैसे ही जीव का भी आगमन निर्गमन औपचारिक ही है, वास्तविक नहीं ॥३०॥

इसी प्रकार जीव में कर्तृत्व भी औपचारिक ही है, इस आशय से कहते हैं।

जिस प्रकार लोहे में स्पन्दन होनेपर स्वतः क्रियाशून्य भी अयस्कान्तमणि (चुम्बक) में कर्तृता कही जाती है, उसी प्रकार स्वतः क्रियाशून्य भी आत्म–चैतन्य में कर्तृता कही जाती है ॥३१॥

श्रीरामजी, जिस प्रकार चुम्बक की एकमात्र सन्निधि से ही जड़ लोह स्पन्दित होता है, वैसे ही एकमात्र चैतन्सत्ता की सन्निधि से ही अचैतन्यरूप देह स्पन्दित होता है ॥३२॥

प्रतिपादित अर्थ का संक्षेप से उपसंहार करते हैं।

जगत के एकमात्र उपादानस्वरूप उस चिद्रूप अज्ञात् ब्रह्म में पूर्व–पूर्वानुभूत जगत्कल्पित वासना

से जनित उत्तरोत्तर कल्पना से ही यह जगत उस प्रकार अवस्थित रहता है, जिस प्रकार चित्र-विचित्र चंचल तरंगसमूह जल में स्थित रहता है, आकाश की अपेक्षा भी मूर्तअमूर्तरूपशून्य उस परब्रह्म के ज्ञात होनेपर कुछ भी भिन्न पदार्थ ज्ञातव्यरूप से बाकी नहीं रहता ॥३३॥

नौवाँ सर्ग समाप्त

दसवाँ सर्ग

अविद्या से बन्धन की भ्रान्ति के द्वारा स्थावर पदार्थों में मन की स्थिति तथा
बुद्धिपूर्वक विचार से बन्ध का मोक्ष, इसका वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, चूँकि जगत और जीव का भेद अज्ञात ब्रह्मस्वरूप ही है – इसलिए ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर जो कुछ भी यह सब स्थावर-जंगमरूप जगत प्रतीत होता है, यथार्थ में वह कुछ भी नहीं है, कुछ भी पदार्थ भूतरूपता को प्राप्त नहीं हुआ है, यह आप जानिए ॥१॥

जिस परब्रह्म में भाव अभावात्मक (उत्पत्ति-विनाशात्मक) कुछ भी कल्पना नहीं हो सकती, उसी परब्रह्म के स्वरूपभूत ही जीव आदि सब कुछ प्रतीयमान पदार्थ हैं, अतः हे श्रीरामजी, आप निरर्थक मिथ्या पदार्थों की क्यों अभिलाषा करते हैं ? ॥२॥

हे श्रीरामजी, जिस प्रकार विमर्श करने पर रज्जु में हुए सर्पविभ्रम से किसी भी सर्प की उपलब्धि नहीं होती, उसी प्रकार हृदय के भीतर यह देह में अहन्ता और बाह्य विषयों में ममतारूपी सम्बन्ध व्यपदिष्ट होता है, विचार करने पर उसकी किसी तरह उपलब्धि नहीं होती ॥३॥

भली प्रकार अपरिज्ञात अर्थात् न जाना हुआ आत्मा (ब्रह्म) ही जगत्भ्रान्ति को प्राप्त हुआ है और भली प्रकार परिज्ञात होने पर वह जीवादि-संविद् की सीमा की अन्तभूत आत्मरूपता को प्राप्त करता है ॥४॥ चेत्य के बीजभूत मल का सत्ता के आरोप से आश्रय करती हुई चिति ही जगत में अविद्या नाम से कही जाती है और वही चेत्य के बीजभूत मल का अतिक्रमण करती हुई सम्पूर्ण उपाधियों से मुक्त होकर विद्या से आत्मरूपता को प्राप्त हो जाती है ॥५॥

इस प्रकार अविद्या का स्वरूप बतलाकर अब अविद्या-कार्यरूप उपाधि से आत्मा में बन्ध का विभ्रम दिखलाते हैं।

चित्त का तादात्म्य अध्यास होने से यह पुरुष चित्तप्राय है, इसीलिए चित्त के नष्ट होने पर वह पुरुष मानों नष्ट हो जाता है। और जैसे घट के रहने पर घटाकाश रहता है, वैसे ही चित्त के स्थित होने पर यह आत्मा भी स्थित रहता है ॥६॥

इसी प्रकार गति, स्थिति आदि चित्तधर्मों का भी अपनी आत्मा में पुरुष आरोप कर लेता है, यों कहते हैं।

अज्ञानी बालक की नाईं यह अज्ञान उपहित आत्मा चित्त के चलनेपर अपने आपको चलता हुआ देखता है, चित्त के स्थिर होने पर अपने को भी स्थिर देखता है, यह आत्मा इस तरह भ्रान्त इस चित्त को ही व्याकुल आत्मस्वरूप से देखता है ॥७॥

इसीलिए वह चित्तगत वासनाओं से अपने को बाँधता है, यों कहते हैं।

चूँकि यह चित्त बाल यानी विवेकशून्य है, इसलिए वह चित्तप्राय पुरुष मकड़ी की तरह अपने को चित्तगत वासनारूप दीर्घतन्तुओं से भीतर बाँधता हुआ भी नहीं जानता ॥८॥

पूर्व श्लोक में बालपदोक्त अविवेक के प्रसंग से, अविवेक की चरमसीमाभूत स्थावरों की चित्तस्थिति जानने की इच्छा कर रहे श्रीरामजी महामुनि वसिष्ठजी से पूछते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : हे प्रभो, अत्यन्त घनीभाव को प्राप्त हुआ अविवेक (अज्ञान) स्थावर आदि शरीर को प्राप्त होता हुआ किस प्रकार अवस्थित रहता है, यह कृपा कर कहिए ॥९॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : अमनस्त्व को यानी सुषुप्ति की नाईं सुख–दुःख संवेदन की अयोग्यता के सम्पादक मन के लय को प्राप्त न हुए तथा पूर्वापर के विचार में समर्थ मननयोग्यरूप मनस्त्व से च्युत हुए मनस्त्व–अमनस्त्व के मध्यवर्ती मुग्धता रूप का आश्रय कर यह जीवचिति स्थावरों में रहती है ॥१०॥

हे ज्ञातव्य (ब्रह्म) के जाननेवालों में सर्वश्रेष्ठ श्रीरामजी, चित्‌अचित् का विवेक करने में असमर्थ बाह्य एवं आन्तर इन्द्रियों से युक्त, अतएव दुःख का प्रतीकार करने में अक्षम होने के कारण अत्यन्त दुःख देनेवाली चिति जहाँ स्थित रहती है, उन स्थावर शरीरों में मोक्ष अत्यन्त दूर रहता है, ऐसा मैं मानता हूँ; वहाँ कर्मेन्द्रियों से, ज्ञानेन्द्रियों के व्यापारों से तथा मानस व्यापारों से शून्य होकर केवल सत्तामात्र से चिति रहती है ॥११॥

ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रियों के व्यापारों से शून्य होकर यदि सत्तामात्र से चिति स्थावर शरीर में रहती है, तो वैसी स्थिति में योगियों की तरह शीघ्र ही वासना का क्षय एवं मन का विनाश हो जाने से उनकी मुक्ति अदूरस्थित है – यही कहना उचित था, अतः 'दुरस्थिता मुक्तिः' यह कह रहे आपका क्या अभिप्राय है ? इस आशय से श्रीरामजी पूछते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : हे वेद्यविदों में श्रेष्ठ, जिन स्थावर शरीरों में चिति एकमात्र सत्तारूप से स्थित रहती है, वहाँ मुक्ति तो अदूर ही स्थित है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥१२॥

शास्त्रविहित कर्मों के अनुष्ठान से हुई चित्तशुद्धि और साधनचतुष्टय की सम्पत्ति से सहकृत श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से उत्पद्यमान तत्त्वसाक्षात्कार से जनित समूल वासनाक्षय एवं मनोनाश से हुई एकमात्र सत्तासामान्यरूप से चिति की स्थिति ही मोक्ष है, वह मोक्ष अनन्त पापरूप दुर्वासना बीजों से भरे हुए नारकीय स्थावरों को, शास्त्राधिकार योग्य जन्म दुर्लभ होने से अत्यन्त दुर्लभ है, इस प्रकार महाराज वसिष्ठजी अपनी उक्ति का अभिप्राय वर्णन करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र, शास्त्रों का बुद्धिपूर्वक विचार कर, आत्मा के यथार्थ अवलोकन से अर्थात् साक्षात्कार से जो सत्तासामान्य बोध होता है, वही अविनाशी मोक्षपद कहलाता है ॥१३॥ आत्मतत्त्व को जानकर वासनाओं का जो उत्तम यानी अशेष परित्याग है, उसे ही सत्तासामान्यरूप मोक्षपद कहा गया है ॥१४॥

ब्रह्मवेत्ता गुरु आदि के साथ शास्त्रों का विचार कर अध्यात्मभावना से अर्थात् मननपूर्वक निदिध्यासन से तत्त्व का साक्षात्कार करके सत्तासामान्य में जो निष्ठा होती है, उसी निष्ठा को मुनि लोग परब्रह्मपद कहते हैं ॥१५॥

स्थावर शरीरों में वह पद अत्यन्त दूर है, इसका उपपादन करते हैं।

श्रीरामजी, जहाँ भीतर बीज में अंकुर की नाईं अव्यक्त, अतएव सुप्त-सी वासना स्थित है, उसे ही आप पुनर्जन्म को देनेवाली सुषुप्ति की नाईं जानिए ॥१६॥ जिसके भीतर मानस व्यापाररूप मनन भली प्रकार लीन हो गया है तथा चारों ओर से जिसमें वासनाएँ तिरोहित हो गई हैं, वह पाषाणादि की तरह वृत्तिशून्य भी सुषुप्ति सैकड़ों जन्मरूपी दुःखों को देती है ॥१७॥ पत्थर की नाईं व्यापारशून्य ये सभी स्थावर आदि पदार्थ 'सुषुप्त' नाम को प्राप्त होने के कारण पुनः-पुनः जन्म के भागी होते हैं ॥१८॥

स्थावर आदि में वासना ही नहीं रहती, इस प्रकार किसी मन्दमति की शंका का परिहार करते हैं।

हे साधो, जिस तरह बीजों में अंकुर से लेकर पुष्प तक पदार्थ स्थित हैं एवं जिस तरह मिट्टी के ढेर में घट स्थित है, उसी तह स्थावरों के भीतर अपनी वासना भी स्थित है ॥१९॥ जहाँ वासना का बीज विद्यमान है, वह सुषुप्ति जन्म के लिए ही है, सिद्धि के लिए नहीं है और जिसमें ज्ञानाग्नि से वर्जित बीजशक्तिवाली वासना है, वह तुर्यपद मोक्षरूप सिद्धि को देनेवाला है ॥२०॥

अतएव स्वल्प भी वासना यदि अवशिष्ट रहे, तो अग्नि आदि के शेष की नाईं क्रमशः वह बढ़कर महान अनर्थ की जनक होती है, अतः उसका निःशेष क्षय करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

वासना का तथा अग्नि, ऋण, व्याधि और शत्रु का, स्नेह, विरोध एवं विष का जो शेष है, वह स्वल्प होने पर भी हानि पहुँचाता है ॥२१॥

ज्ञानाग्नि से निःशेष भस्म किया गया वासनाबीज से जिसने सत्तासामान्यरूपता प्राप्त कर ली है, ऐसा तत्त्ववेत्ता चाहे सदेह हो या विदेह हो, पुनः कभी दुःख का भागी नहीं होता ॥२२॥

स्थावरादि समस्त पदार्थों में चित् को आवृत करनेवाली चित्-शक्तिरूपा बीजस्वरूप वासना धान्यादि बीजों में अंकुरशक्ति जननस्वरूप रसकी नाईं सदा अवस्थित है ॥२३॥

वही चित्शक्ति बीज आदि आदि सभी कारणों में नानारूपसे स्थित है, यों कहते हैं।

वही चित्शक्ति बीज में उल्लासरूप से (पृथ्वी और जल के संयोग से होनेवाली प्रफुल्लता से अनुभूयमान अंकुरजनन शक्ति से), जड़धर्मवाले पदार्थों में जड़तारूप से, धन, रत्न आदि द्रव्यों में स्पृहणीयता में कारणभूत भव्यतारूप से, शिला आदि अन्य पदार्थों में कठिनता रूप से स्थित है ॥२४॥ और भस्म तथा धूलियों में प्राक्तन काष्ठ, पाषाण आदि के ध्वंसरूप तथा परमाणुरूप से, मलिनों में मालिन्य रूप स्थिति से एवं तलवार आदि में तीक्ष्णधारा के रूप से विद्यमान है ॥२५॥

घट, पट आदि सभी पदार्थों में आत्मा ही सत्तासामान्यरूपका ग्रहण कर जलाहरण, शीतनिवारण आदि नानाशक्ति होकर स्थित रहता है ॥२६॥ मेघजाल ही जिसका आच्छादक है, ऐसी वर्षा ऋतु जिस प्रकार आकाश को सर्वतः व्याप्त कर स्थित रहती है, उसी प्रकार यह अखिल चित्शक्ति सम्पूर्ण दृश्यदशा को व्याप्त करके स्थित है ॥२७॥

हे श्रीरामजी, इस अज्ञानावृत चित्शक्ति का यह अत्यन्त विचारा गया स्वरूप, जो असत्यभूत मायाविकार से तादात्मरूपता को प्राप्त होने पर भी सत् की तरह भासमान तथा असर्वात्मक होने पर भी सर्वतः व्याप्त के सदृश प्रतीयमान है, मैंने आपको बतलाया है ॥२८॥

हे श्रीरामजी, आत्मदर्शन के विरोधी अज्ञान से आवृत हुई यह आत्मदृष्टिरूपा चित्शक्ति संसाररूप भ्रम को देती है, और उसके विरोधी अज्ञान से अनावृत हुई सम्पूर्ण दुःखों का क्षय कर

देती है ॥२९॥ इस आत्मदृष्टि का जो अदर्शन (आत्मसाक्षात्कारविरोधी आवरणस्वरूप अदर्शन) है, उसे विद्वान लोग अविद्या कहते हैं, चूँकि अविद्या जगत की कारणभूत है, अतः उसी से सम्पूर्ण पदार्थों की उत्पत्ति होती है ॥३०॥ आवरण आदि स्वरूप से शून्य यानी निस्तत्त्वरूप से अविद्या का ज्यों ही साक्षात्कार किया जाता है, त्यों ही तुरन्त वह उस प्रकार गल जाती है, जिस प्रकार धूप में तुषार का परमाणु गल जाता है ॥३१॥

अन्यान्य भी दृष्टान्त बतलाते हैं।

जिस प्रकार जिसकी नींद गलितावस्थ हो रही है, ऐसा पुरुष ज्यों ही बुद्धि से अपने चित्त के वृत्तान्त का तनिक विचार करता है, त्यों ही उसकी निद्रा नष्ट हो जाती है। उसी प्रकार अविद्या के किंचित् विचारमात्र से अविद्या नष्ट हो जाती है ॥३२॥

रज्जु आदि के तत्त्व का पर्यालोचन करने पर होनेवाली सर्पादि भ्रम की निवृत्ति भी प्रस्तुत स्थल में दृष्टान्त है, इस आशय से कहते हैं।

ज्यों ही सर्पादि वस्तु का स्वरूप किस प्रकार का है –अर्थात् वह वास्तविक है या भ्रान्ति से केवल कल्पित है – यों विचार करते हैं, त्यों ही सर्पादि का भ्रम उस प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार प्रकाश से अन्धकार द्वारा सम्पादित दर्शनशक्ति के प्रतिबन्ध का नाश होता है ॥३३॥ अंधकार का स्वरूप देखने की इच्छा से यदि कोई हाथ में दीपक लेकर आवे तो जैसे सम्पूर्ण तम नष्ट हो जाता है अथवा ताप से घी नष्ट हो जाता है, वैसे ही विचार से अविद्यासहित सम्पूर्ण जगत नष्ट हो जाता है ॥३४॥

तमोरूप अदर्शन–दृष्टान्त का ही विस्तृतरूप से विवेचन करते हैं।

दीप लाने पर जिस प्रकार अन्धकार के स्वरूप का निश्चय नहीं होता, किन्तु विशुद्ध स्वरूपवाला गाढ़ अन्धकार का नाश ही केवल उदित होता है, उसी प्रकार उक्त रीति से मन्द–विचार करने पर यह अविद्या मन्द हो जाती है और अच्छी तरह विचार करने पर न मालूम कहाँ भाग जाती है, यह अवस्तु अर्थात् कोई चीज न होने से असद्रूप है और विचार न करने से ही दीख पड़ती है ॥३५,३६॥

वह अवस्तु क्यों है ? इस आशंका पर अपना अनुभव ही उसके अवस्तु होने में प्रमाण है, यों कहते हैं।

प्रकाश के आने पर प्रसिद्ध अंधकार जैसे असद्रूप दीख पड़ता है, वैसे ही विचार से अविद्या भी असत्–रूप ही दीख पड़ती है। (यदि शंका हो कि अंधकार तम का प्रकाश से बाध नहीं होता, क्योंकि उसके निषेध में त्रैकालिकत्व की प्रतीति नहीं है, किन्तु उष्णता से जलकी शीतता की तरह तिरोधानमात्र होता है, क्योंकि प्रकाश के चले जाने पर पुनः उसका दर्शन होता है, इस पर कहते हैं।) अंधकार को अवस्तु मानने में वैसी भले ही आपत्ति हो, परन्तु त्रैकालिक बाध का अनुभव होने से अविद्या में अवस्तुत्व ही प्रतीत होता है। सारांश, अविद्या के अवस्तुत्व में अनुभव ही प्रबल प्रमाण है ॥३७॥ शुक्ति और रज्जु आदि अथवा रजत एवं सर्प आदि कोई भी वस्तु जब तक विचार कर नहीं देखी जाती, तब तक वह यथार्थरूप से नहीं दीख पड़ती और विचारपूर्वक देखने पर जिस स्वरूपकी अविद्या और जिस तरह वस्तुत्त्व रहता है, वह उसी तरह दीख पड़ता है ॥३८॥

किस प्रकार विचार कर देखना चाहिए, यह कहते हैं।

रक्त, मांस तथा अस्थिमय इस देहयन्त्र में 'मैं स्वयं कौन हूँ ?' इस प्रकार ज्यों ही विचार किया जाता है, त्यों ही सभी अविद्या-परिवार शीघ्र विलीन हो जाता है ॥३९॥

उस प्रकार के विचारवाले मन से आदि-अन्तवाले में असद्रूप सम्पूर्ण दृश्यमात्र का परिहार हो जाने पर जो शेष रूप से चिदात्मा रहता है, उसे ही विद्वान अविद्या का क्षय कहते हैं, क्योंकि अध्यस्त पदार्थ का बाध अधिष्ठान से भिन्न नहीं होता ॥४०॥ वह शेषरूप ब्रह्म अविद्या के आवरणदशा में किंचित् वस्तुस्वरूप से प्रतीत नहीं होता, उसकी नाश दशा में किंचित् वस्तुरूप से प्रतीत होता है। वही शाश्वत सत्-स्वरूप ब्रह्म है, वही वस्तु और उपादेय है, क्योंकि उसीसे अविद्या निवृत्त हो जाती है ॥४१॥

बाध्य जगत की स्वरूपशून्यता अथवा उसके बाध की आत्ममात्ररूपता मानने में प्रमाणान्तर की अन्वेषणा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि माया अविद्या आदि नाम स्वरूपशून्य, बाध्य, स्वप्नावस्था में अनुभूयमान पदार्थों में ही रूढ़ हैं, यों कहते हैं।

'अविद्या' इस अपने नाम से ही इसके स्वभावरहित रूप का ज्ञान हो जाता है, जैसे जिह्वागत आस्वाद्य पदार्थों का रस और किसी दूसरे से प्रतीत नहीं होता ॥४२॥

अविद्यानाम की वस्तु भी नहीं है, यह सब जगत अखण्डित ब्रह्मस्वरूप ही है, जिसने सत् एवं असत् कल्पना के विस्तारभूत इन सम्पूर्ण जगत का निर्माण किया है ॥४३॥

ऐसी अवस्था में अविद्या और उसके क्षय का फलित निष्कृष्टस्वरूप कहते हैं।

'यह सम्पूर्ण जगत ब्रह्मस्वरूप नहीं है' इत्याकारक निश्चय ही अविद्या का स्वरूप है और 'यह जगत ब्रह्मरूप है' यह निश्चय ही उसका विनाश है ॥४४॥

उक्त अर्थ का ही विवरण कर रहे महाराज वसिष्ठजी प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामजी, घट, पट, शकट आदि रूप से अवभासमान यह जगज्जाल 'अपरिच्छिन्न सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप नहीं है, किन्तु उससे अन्य है' यों आरोपित निश्चय यदि हुआ, तो अविद्या उदित हुई- यह आप जानिए, और इसकी अपवाद-भूत घट, पट, शकट आदि रूप से भासमान यह जगज्जाल 'अपरिच्छिन्न सच्चिदानन्द ब्रह्मरूप ही है, उससे भिन्न नहीं' यों अपरिच्छिन्न सन्मात्र दृष्टि यदि उदित हुई, तो अविद्या गलित हुई यानी उसका क्षय हुआ - ऐसा आप जानिए ॥४५॥

दसवाँ सर्ग समाप्त

ग्यारहवाँ सर्ग

जिस दृष्टि से हरि, हर आदि जीवन्मुक्त होकर स्थित हैं,
'सब कुछ ब्रह्मस्वरूप ही है' इत्याकारक उस दृष्टि का श्रीरामजी को उपदेश, यह वर्णन।

पूर्व में उपदिष्ट ही विषय का पुनः-पुनः जो विभिन्न प्रकारों से उपदेश दिया जाता है, वह उपदेश्य विषय के बोध की दृढ़ता के लिए है। जैसे दृष्टफलक अवघात आदि फल की उत्पत्तिपर्यन्त किये जाते हैं, वैसे ही दृष्टफलक श्रवण, मनन आदि भी फलोत्पत्तिपर्यन्त करने चाहिए। इसीलिए भगवान बादरायण ने लिखा है - 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (श्रवण आदि की आत्मसाक्षात्कार पर्यन्त बार-बार आवृत्ति करनी चाहिए, क्योंकि वैसा उपदेश है)। इस रहस्यभूत तत्त्वका आलस्य दोष के परिहार के साथ

उत्साह उत्पन्न करने के लिए उद्‌घाटन कर रहे महाराज श्रीवसिष्ठजी अविद्याक्षय होने पर परिशिष्टरूप से रहनेवाली दृष्टि का श्रवण करने के लिए श्रीरामजी को सावधान करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामभद्र, आत्मस्वरूप के उत्तम परिज्ञान के लिए मैं बार–बार इस रहस्य का आपसे कथन (उद्‌घाटन) करता हूँ, क्योंकि हे साधो, अभ्यास के बिना आत्मभावना कभी उदित नहीं होती ॥१॥

आत्मभावना क्यों उदित नहीं होती ? इस पर कहते हैं।

भद्र, यह अज्ञान अत्यन्त बलवान है, इसीका दूसरा नाम 'अविद्या' है, वह अन्य असंख्य जन्मों से चला आ रहा है, अतएव वह दृढ़ स्थिति को प्राप्त है। अनन्त कोटि जन्मों में अभ्यस्त द्वैतवासनाओं से अत्यन्त दृढ़ीकृत होने के कारण उसका एक बार के उपदेश से भली प्रकार उच्छेद नहीं हो सकता, यह भाव है ॥२॥

बाह्य और आभ्यन्तर चक्षु आदि अत्यन्त बलिष्ठ अनेक प्रमाणों से गृहीत होनेवाले द्वैत से अभिन्न होने के कारण भी अज्ञान की प्रबलता है, यह कहते हैं।

देह की सत्तादशा में (जीवन, जाग्रत आदि अवस्थाओं में) समस्त इन्द्रियों से तथा देह के अभाव में (मरण, प्रलय आदि अवस्थाओं में) साक्षी से बाह्य और आभ्यन्तर सदा उस अज्ञान का अनुभव किया जाता है, अतः उसने अत्यन्त घनीभूत स्थिति (प्रबलता) प्राप्त कर ली है ॥३॥

ज्ञान की सामग्री की दुर्लभता भी दिखलाते हैं।

आत्मज्ञान तो सभी इन्द्रियों का अविषय है यानी किसी इन्द्रिय से आत्मज्ञान हो नहीं सकता। मनसहित छः इन्द्रियों का क्षय हो जाने पर वह केवल सत्ता प्राप्त करता है। इन्द्रियों से जनित वृत्ति का अतिक्रमण कर जो अवस्थित है, वह प्राणियों का प्रत्यक्ष विषय कैसे हो सकता है, क्योंकि वह प्रत्यक्षवृत्ति का अतिक्रमण कर स्थित है ॥४,५॥

अतएव पुनः–पुनः उपदेश और मनन आदि के अभ्यास की, अविद्या की, अविद्यारूपी लता की अनेक शाखाओं के छेदन द्वारा सार्थकता है, इस आशय से उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामजी, हृदय–वृक्ष पर लिपटी हुई इस प्रबल अविद्यारूपी लता को ज्ञानाभ्यासरूपी विलास की तलवार के प्रहारों से स्व–स्वरूप की सिद्धि के लिए आप काट डालिए ॥६॥

हे राघव, जिस प्रकार राजा जनक जी विदिततत्त्व होकर भूमण्डल में विहार करते हैं, उसी प्रकार आप आत्मज्ञान के अभ्यास में निरत होकर विहार कीजिए ॥७॥ जागते अथवा सोते तथा चलते या बैठते बाहर के व्यवहाररूप कार्य से तथा समाधिरूप अकार्य से विहार कर रहे उस राजा जनक का भी निश्चय मेरे अनुभव के अनुसार ही था। उक्त अभ्यास का ही फल आत्मज्ञान है और उक्त ज्ञान से अभिव्यक्त हुए स्वरूप की ही वास्तव में सत्यता होती है, ऊपर–ऊपर के ज्ञान से अभिव्यक्त फल की नहीं ॥८॥ भगवान नारायण, अपने विभिन्न–विभिन्न प्रकार के लीला चरण करने के जिस निश्चय के कारण पृथ्वीपर योनि में यानी गर्भवास आदि क्लेशों में अवतार लेकर भी दुःख आदि से सम्बद्ध नहीं होते, वही निश्चय आत्मज्ञान का स्वरूप कहलाता है ॥९॥

हे राघव, जगदम्बा पार्वती के साथ रहनेवाले त्रिनेत्र महादेवजी का या राग–वर्जित ब्रह्मा का जो भी

निश्चय है, वही आपको भी हो ॥१०॥

हे रामभद्र, देवताओं के गुरु बृहस्पति, दानवों के गुरु शुक्राचार्य, भगवान अंशुमाली सूर्य, चन्द्रमा, वायुदेवता, अग्नि, महामुनि नारद, महर्षि पुलस्त्य, मैं, अंगिरस प्रचेता, भृगु, क्रतु, अत्रि, शुक्र तथा इन्हीं के तुल्य अन्यान्य जीवित ही रहकर मुक्त यानी जीवन्मुक्त विप्रेन्द्रों और राजर्षियों का जो आत्मा के विषय में निश्चय है, वही निश्चय आपको हो ॥११-१३॥

श्रीरामजी ने कहा : भगवन्, जिस निश्चय के कारण ये पूर्वोक्त महाबुद्धिमान धीर सुरगुरु आदि शोकनिर्मुक्त होकर स्थित हैं, हे ब्रह्मन्, उसका मुझसे तात्त्विक रूप से वर्णन कीजिए ॥१४॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे महाबाहो, हे राजकुमार, हे समस्त वेद्य पदार्थों के स्वरूप को जाननेवाले रामभद्र, जो आपने प्रश्न पूछा है, उसका उत्तर स्पष्टरूप से आप सुनिए, उनका यही निश्चय है ॥१५॥

उसी निश्चय को कहते हैं।

श्रीरामजी, को कुछ भी यह भोग्य जगज्जाल दिखाई पड़ता है, वह सब मायिक अव्यवस्थित स्वरूप का परित्याग कर परमार्थ स्वरूप में अवस्थित, निर्मल ब्रह्मस्वरूप ही है ॥१६॥

संक्षेप से कथित अर्थ को विस्तार कर विशेषरूप से दिखलाते हैं।

ब्रह्म ही चित् है, ब्रह्म ही चौदह भुवन है, ब्रह्म ही जीव-परम्परा है; मैं भी ब्रह्मस्वरूप हूँ, मेरा शत्रु भी ब्रह्मस्वरूप है, सन्मित्र, बन्धु-बान्धव आदि भी ब्रह्मस्वरूप हैं; तीनों काल भी ब्रह्मस्वरूप है और वह ब्रह्म में ही अवस्थित है ॥१७॥

जैसे समुद्र तरंगों की परम्पराओं से अपने स्वरूप में बढ़ता है, वैसे ही अनैकविध पदार्थलक्ष्मियों से यह ब्रह्म इस प्रकार बढ़ता है ॥१८॥

समस्त क्रिया, कारक और फल ब्रह्मस्वरूप ही हैं, इस आशय से कहते हैं।

ब्रह्म से ब्रह्म का ही ग्रहण होता है, ब्रह्म के द्वारा ब्रह्म का ही उपभोग किया जाता है, ब्रह्म में ब्रह्म ही विवर्तों से ब्रह्मशक्ति अर्थात् माया के द्वारा मानों बढ़ता है ॥१९॥

इस दृष्टि से कहीं राग, द्वेष आदि की प्रसक्ति नहीं होती, इस आशय से कहते हैं।

ब्रह्मस्वरूप मेरा अनिष्ट करनेवाले मेरे शत्रु का स्वरूप यदि ब्रह्म ही है, तो ब्रह्मनिष्ठ के प्रति किसी के द्वारा ब्रह्म में किया हुआ ब्रह्म को छोड़ और क्या हो सकता है ? ॥२०॥

इस परिपूर्ण ब्रह्म में आकाश-वृक्ष की नाईं, कल्पित राग आदि दोषों का अवस्थान-प्रसंग ही जब नहीं हो सकता, जो असंकल्प से नष्ट हो जानेवाले हैं, तब उनका बढ़ना ही क्या ? ॥२१॥ परिपूर्णस्वरूप इस परब्रह्म में ही गमन आदि सब कुछ है, चूँकि परिपूर्णात्मक ब्रह्म ही सुखैकरसरूप से स्फुरित होता है, अतः उसमें दुःख और सुख कैसे ? ॥२२॥ ब्रह्म ही ब्रह्म में भली प्रकार तृप्त है, ब्रह्म में ब्रह्म ही भली प्रकार अवस्थित है, ब्रह्म में ब्रह्म ही स्फुरित होता है, अतः मैं ब्रह्म से अतिरिक्त स्वरूपवाला नहीं हूँ ॥२३॥

श्रीरामजी, घट भी ब्रह्मरूप है, पट भी ब्रह्मरूप है, मैं भी ब्रह्मरूप हूँ, यह विस्तृत प्रपंच भी ब्रह्मस्वरूप है, इसलिए मिथ्या राग, विराग आदि की यहाँ कल्पना ही क्या ? ॥२४॥

इस दृष्टि से आत्यन्तिक अभय–प्राप्ति होती है, यह कहते हैं।

भद्र, देहरूप ब्रह्म में मरणात्मक ब्रह्म अपने–आप जब मिल गया, तब रज्जु में भुजंग–भ्रम की नाईं होनेवाला दुःख मिथ्या कल्पना के अतिरिक्त और हो ही क्या सकती है ? ॥२५॥

इसी प्रकार भोग, राग आदि की आत्यन्तिक निवृत्ति भी सिद्ध होती है, ऐसा कहते हैं।

संभोगात्मक ब्रह्म में देहरूप ब्रह्म के सुखपूर्वक अवस्थित होने पर 'यह मुझे प्राप्त हुआ' यह व्यर्थ इच्छा किस तरह होगी ? ॥२६॥

हे राघव, जिस प्रकार वीचि (गमनशील तरंग) और जल के स्पन्दयुक्त होने पर भी जल से पृथक् कुछ भी नहीं है, उसी प्रकार स्पन्दस्वरूप ब्रह्म के होने पर भी त्वत्ता और मत्ता कुछ भी नहीं है ॥२७॥ जैसे आवर्त के नष्ट होने पर जल में कुछ भी नष्ट नहीं होता, वैसे ही देहात्मक ब्रह्म में मरणरूप ब्रह्म के प्राप्त होने पर कुछ भी नहीं मरता ॥२८॥

जड़तारूपता के अपरित्याग से ही सब क्रमों में ब्रह्मरूपता का ग्रहण न करें, इसलिए उसकी जड़ता का निषेध करते हैं।

जिस प्रकार चंचल जलरूप में त्वत्ता और मत्ता नहीं रहतीं, उसी प्रकार परमात्मा में जड़तारूपता तथा प्रतियोगी के अप्रसिद्ध होने से तद्आवृत्तरूप अजड़ता भी नहीं रहती ॥२९॥

जिस प्रकार सुवर्ण में कटकरूपत्व और जल में आवर्तरूपत्व का होना सुवर्ण और जल का एक स्वभाव है, उसी प्रकार जड़अजड़रूप होना यह ब्रह्म का भी एक मायिक स्वभाव है ॥३०॥

मायिक स्वभाववश ही जीव और जड़रूप भेद की कल्पना है, इस आशय से कहते हैं।

'यह जीवभूत आत्मा है, यह जड़भूत पदार्थ है' इस प्रकार का मोह अज्ञानात्मा को ही होता है, ज्ञानात्मा को को कभी नहीं होता ॥३१॥

अतएव तत्त्ववेत्ता पुरुष को समस्त जगत एकमात्र आनन्दरसस्वरूप अनुभूत होता है, यह कहते हैं।

जिस प्रकार अन्धे पुरुष को जगत अन्धकार रूप और सुदृष्टिवाले को प्रकाशस्वरूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार अज्ञानी को यह जगत दुःख–समूहस्वरूप और ज्ञानी को आनन्दप्रचुर प्रतीत होता है ॥३२॥ जैसे बालक की दृष्टि में रात्रि स्वभ्रान्ति से परिकल्पित यक्षवाली और युवा, वृद्ध आदि पुरुषों की दृष्टि में विशुद्ध यक्षवर्जित प्रतीत होती है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष को यह जगत एकमात्र आनन्दमय ब्रह्मस्वरूप अनुभूत होता है और अज्ञानी पुरुष को अत्यन्त दुःखद प्रतीत होता है ॥३३॥

सदा–सर्वदा चारों ओर अवस्थित, अमृतपूर्ण ब्रह्मरूपी घट में न कोई मरता है और न कोई जीता है ॥३४॥ जिस प्रकार महान सागर में उल्लास–विलास होने पर भी तरंग आदि न उत्पन्न होते हैं और न मरते हैं, उसी प्रकार आत्मा में भूत–समूह न उत्पन्न होते हैं और न मरते हैं ॥३५॥

'यह नहीं है और यह है' इस प्रकार की भ्रान्तिरूपी माया किसी तरह के प्रयोजन के बिना आत्मा के द्वारा आत्मा में ही उस प्रकार भीतर जगतरूप से और तत्–तत् पदार्थों की शक्तिरूप से स्फुरित होती हैं, जिस प्रकार स्फटिक की अनेक प्रतिबिम्बों का ग्रहण करने में योग्यतासम्पादक स्वच्छता–अनेक तरह के प्रतिबिम्ब और उसके गुण, क्रिया आदि वैचित्र्य के रूप से अन्दर–प्रस्फुरित होती है। श्रीरामभद्र,

जैसे जल में तरंगों के कणसमूहों से घन जल ही स्थित है, वैसे ही अपने आप में जगत की शक्ति के रूपसे ब्रह्म ही अवस्थित है ॥३६,३७॥ श्रीरामचन्द्रजी, शरीर के विनाश से ब्रह्म में मृतबुद्धि कैसे हो सकती है ? क्योंकि शरीर आदि ब्रह्म से उस प्रकार पृथक् नहीं हैं जिस प्रकार सागर में तरंगादि जल से अतिरिक्त नहीं हैं ॥३८,३९॥ जैसे जल में जो कण है, जो कणिका है, जो वीचि है, जो तरंग है, जो फेन है, और जो लहरी है, वे सब जलस्वरूप ही हैं, वैसे ही ब्रह्म में कल्पित जो देह है, जो इन्द्रिय-व्यापार है, जो भोग्य है, जो संपत्ति और विपत्ति है, जो हर्ष, विषाद आदि रचना है और जो पुरुषार्थभोग है, वह सब ब्रह्मस्वरूप ही है ॥४०,४१॥ जिस प्रकार सुवर्ण से बनी विभिन्न-विभिन्न आकृति-रचनाएँ सुवर्ण से पृथक नहीं होती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से हुई चित्र-विचित्र देहादि संस्थानों की रचना भी ब्रह्म से विभिन्न नहीं हो सकती, अज्ञानियों को वृथा ही उसमें द्वित्वभावना होती है ॥४२॥

मन, बुद्धि, अहंकार, तन्मात्रा, इन्द्रियाँ आदि सब ब्रह्मस्वरूप ही हैं, उससे भिन्न नहीं है, अतः सुख और दुःख का अस्तित्व ही नहीं हो सकता ॥४३॥

जिस प्रकार एक ही शब्द पर्वत की संनिधि में प्रतिध्वनि के रूप में द्विरुक्त की नाईं शोभित होता है, उसी प्रकार यह, वही मैं, यह चित्त, इत्यादि अर्थों को लेकर प्रवृत्त वाणी से आत्मा ही अपनी आत्मा में शोभित होता है ॥४४॥

अज्ञात ब्रह्म ही जीवरूपता और जगद्रूपता को मानों प्राप्त होकर स्थित है, क्योंकि स्वप्न में अपने आत्मस्वरूप अन्तःकरण से आत्मा ही अनेक पदार्थों के रूप में दिखाई देता है, इसी बात को भगवान बादरायण 'आत्मनि चैव विचित्राश्च हि' इस सूत्र से कहते हैं ॥४५॥

अज्ञान अत्यन्त विरुद्ध, असंभावित पदार्थ का निर्माण करता है, यह लोक में प्रसिद्ध ही है, ऐसा कहते हैं।

ब्रह्मस्वरूप से न पहचाना हुआ ब्रह्म उस प्रकार अज्ञानरूप हो जाता है, जिस प्रकार सुवर्णरूप से न जाना हुआ सुवर्ण मृत्तिकारूप हो जाता है ॥४६॥

इसीलिए, ब्रह्म, अज्ञों की दृष्टि से ही अज्ञानस्वरूप है, ज्ञानियों की दृष्टि से नहीं, ऐसा कहते हैं।

ब्रह्मवेत्ता महामुनियों का यह मत है कि अज्ञात हुआ, स्वयंसमर्थ, महान आत्मा ब्रह्म ही अज्ञानियों द्वारा अज्ञानशब्द से व्यवहृत होता है ॥४७॥

ब्रह्मस्वरूप से ज्ञात ब्रह्म, तत्क्षण ही उस प्रकार ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, जिस प्रकार सुवर्णरूप से ज्ञात सुवर्ण तत्क्षण में ही सुवर्ण हो जाता है ॥४८॥

आत्मा समस्त शक्तियों से परिपूर्ण स्वयं ब्रह्म है, वह किसी तरह के प्रयोजन के बिना स्वयं जिस-जिस स्वरूप से यानी जीव और जगद्रूप से या तात्त्विक ब्रह्मरूप से जैसी-जैसी भावना करता है, भावना के बल पर शीघ्र ही उस-उस स्वरूप से अपने-आपको देखता है ॥४९॥

इसीलिए तत्त्वज्ञ पुरुष जीव या जगत के रूप में उसे नहीं देखते, यह कहते हैं।

कर्म, कर्ता और करणों से रहित, कारण से वर्जित, सर्वविध विकारों से शून्य, स्वकीय ज्ञान से अपनी स्थिति में समर्थ, महान आत्मा ही ब्रह्म है, यों ब्रह्मज्ञानी लोग कहते हैं ॥५०॥

उक्त स्वरूप से ज्ञात न हुआ ब्रह्म अज्ञानियों द्वारा अज्ञानशब्द से व्यवहृत होता है, और परिज्ञात

हुआ, अज्ञानका विनाशक ब्रह्म ही ज्ञानशब्द से कहा जाता है ॥५१॥

जिस तरह भली प्रकार अपरिचित बन्धु ही अबन्धु कहा जाता है, परिज्ञात हुआ वही बन्धुशब्द से व्यवहृत होता है, क्योंकि अबन्धुभ्रम उससे विनष्ट हो जाता है, उसी तरह प्रकृत स्थल में भी जानना चाहिए ॥५२॥

तब जीव और जगत में ब्रह्ममात्रत्व की भावना सहसा सभी को क्यों नहीं होती ? यदि कहिए कि वैराग्य नहीं है, इसलिए, तो वैराग्य के हेतुओं का ही पहले निर्वचन करिए, इस पर कहते हैं।

यह समस्त जगत विचार के लिए अयोग्य है, यों अपने अन्दर भली प्रकार निश्चित हो जाता है, तभी वह ब्रह्मभावना उदित हो जाती है क्योंकि इसी एकमात्र विचारणा के द्वारा अयोग्य शुक्ति–रजत में मिथ्यात्व हो जाने से रजत की नाईं पुरुष भोग्यवर्ग से विरक्त हो जाता है ॥५३॥

जगत के विषय में उक्त विचारणा तत्पदार्थ के शोधन के रूप में पर्यवसित होती है, इस आशय से जगदंश में उक्त विषय को स्पष्ट कहते हैं।

'द्वैत असत्य है' इस प्रकार भीतर द्वैत में असत्यत्व का ज्ञान हो जाने पर वह ब्रह्मभावना उदित होती है, इसीसे द्वैत की असत्यता सिद्ध हो जाने के कारण पुरुष द्वैत जाल से विरक्त हो जाता है ॥५४॥

जीवांश में भी वह त्वंपदार्थ के शोधनरूप से पर्यवसित होती है, इस आशय से जीवांश में उसी को स्फुटतया कहते हैं।

'देह आदि कार्य–कारणसंघात मैं नहीं हूँ' इस प्रकार जब भीतर विचार उत्पन्न हो जाता है, तब ब्रह्मभावना उत्पन्न होती है, इसी से अहंभाव में मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है और उससे पुरुष विरक्त होता है ॥५५॥

पदार्थ शोधक फलभूत अखण्ड वाक्यार्थबोधस्वरूप से भी उसका पर्यवसान होता है, इस आशय से उसमें जीव और जगद्रूपत्व के बाधस्वरूप लय का स्पष्टीकरण करते हैं।

मैं एकमात्र ब्रह्मस्वरूप हूँ, इस प्रकार सत्स्वरूप ज्ञान होने पर ब्रह्मभावना उदित होती है; उस सत्य निजरूपका परिज्ञान होने पर जीव–जगद्भाव लीन हो जाता है। अखण्डाकार ब्रह्म का अवबोध होने पर स्थित भी जगत सदेकरस ब्रह्मस्वरूप ही है, पहले की नाईं दुःखस्वरूप नहीं है, (इस आशय से कहते हैं) उस अखण्ड वाक्यार्थ के अपरिच्छिन्न स्वभाव से आविर्भूत हो जाने पर यह सब एकमात्र ब्रह्मस्वरूप ही है। ऐसा जानता हूँ ॥५६॥

अपरिच्छिन्न स्वभाव से अखण्ड वाक्यार्थ के आविर्भूत होने पर जब 'त्वम्' 'अहम्' और 'इदम्' स्वरूप का बाध हो जाता है, तब पूर्व में प्रसिद्ध सत्, चित्, प्रिय, नाम और रूप ये जो जगदगत पंचरूप वस्तुजात हैं, उन्हें ब्रह्मरूप से जानता हूँ ॥५७॥

मुझे न दुःख है, न कर्म है, न मोह है, न कुछ अभिलाषा है। (परब्रह्मस्वरूप में अवस्थान का परमपुरुषार्थ रूप से वर्णन करते हैं।) मैं एकरूप, अपने स्वरूप में स्थित, शोकशून्य तथा ब्रह्मस्वरूप हूँ – यह सत्य है ॥५८॥ मैं कलारूपी कलंकों से निर्मुक्त (तुम, 'मैं' आदि कल्पनाओं से शून्य) हूँ, मैं सर्वविध विकारों से शून्य और सर्वात्मक हूँ, मैं न किसी का परित्याग करता हूँ और न कुछ चाहता हूँ, मैं परब्रह्मस्वरूप हूँ, यही नितान्त सत्य है ॥५९॥

आत्मा में परिच्छिन्नत्व और परोक्षत्व का एकमात्र निराकरण करने के लिए ही 'त्वम्' और 'तत्' पदार्थ का परिशोधन किया गया है, उसका (परिच्छिन्नत्व एवं परोक्षत्व का) निरास करने पर आत्मा में जब सर्वात्मकत्व का लाभ हुआ, तब तो रक्त, मांस आदि रूप देह आदि भी आत्मस्वरूप ही सिद्ध हुए, अतः उनका निरास करना अपेक्षित नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

मैं ही रक्त हूँ, मैं ही माँस हूँ, मैं ही अस्थियाँ हूँ, मैं ही शरीर हूँ, मैं ही चितिशक्ति हूँ, मैं ही चेतन हूँ, मैं ही ब्रह्मस्वरूप हूँ, यह निश्चित सत्य है ॥६०॥ मैं द्यौ हूँ, मैं सूर्ययुक्त आकाश हूँ, मैं दिशारूप हूँ, मैं विविध पृथ्वीरूप भी हूँ, मैं घट एवं पट का आकार हूँ, मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ, यह सत्य है ॥६१॥ मैं तृण हूँ, मैं पृथ्वी हूँ, मैं गुल्म (स्कन्धरहित वृक्ष) हूँ, अरण्य आदि भी मैं ही हूँ, पर्वत सागर और प्राणियों का समूह भी मैं हूँ, निश्चय ही एकमात्र ब्रह्मैक्य सर्वत्र स्थित है ॥६२॥ ग्रहण, परित्याग, संकोच आदि जो प्राणियों के व्यापार हैं, वह सभी कुछ तथा ब्रह्म में व्यापकरूप धारण करनेवाला चिदात्मा मैं ही हूँ ॥६३॥ अंकुर, टहनी, प्रतान, शाखा आदि का अविर्भाव चाहनेवाले लता, गुल्म, अंकुर आदि के भीतर स्थित रसात्मक शान्त परब्रह्मस्वरूप चिदात्मा मैं ही हूँ ॥६४॥ जिसमें सब कुछ स्थित है, जिससे यह सब उत्पन्न हुआ है, जिसमें सब कुछ तिरोहित हो जाता है, जो चारों ओर व्यापकरूप से विद्यमान है अतएव जो सर्वात्मक अद्वितीय आत्मस्वरूप से सम्मत है, वही पर ब्रह्म है, यह निश्चय है ॥६५॥ चिदात्मा, ब्रह्म, सत्, सत्य, ऋत इत्यादि नामों से व्यापक, चेत्यशून्य, चैतन्मात्रस्वरूप ब्रह्मतत्त्व ही सर्वत्र कहा जाता है ॥६६॥ विषयसंसर्गशून्य चैतन्यमात्रस्वरूप, निर्मल, समस्त भूतों के स्वरूप का अवबोधक, सर्वत्र स्थित, शान्त, चिद्ब्रह्म का ब्रह्मज्ञानी अनुभव करते हैं ॥६७॥

यदि शंका हो कि प्रतिपुरुष मन, बुद्धि और इन्द्रियों की वृत्तियों का पार्थक्य होने के कारण आत्मचैतन्य में भेद का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, फिर वह अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप कैसे हो सकता है ? तो इस पर कहते हैं।

मन, बुद्धि, इन्द्रियों के समूह तथा समस्त वृत्तियों में अनुगत, सर्वविध औपाधिक भेदों का परित्याग कर प्रत्यक्-स्वरूपात्म प्रमा का अवभासक (स्वप्रकाशस्वरूप), निर्विकार चैतन्य ब्रह्म ही मैं हूँ ॥६८॥ समस्त, शब्द स्पर्श आदि विषय; उनके हेतुभूत (आधारभूत) आकाश, वायु आदि तथा इनके द्वारा की गई जगत्स्थिति इन सबकी सत्ता का अवभासक (अस्तित्व प्रकाशस्वरूप), स्वच्छ, चैतन्यरूप ब्रह्म ही मैं हूँ, मेरा कभी विनाश नहीं है ॥६९॥

समस्त वृत्तियों में अनुगत तत्त्व का उपपादन कर रहे महाराज वसिष्ठजी उक्त अर्थ को ही विस्पष्टरूप से कहते हैं।

अग्नि से निकलनेवाले विस्फुलिंगों की (चिनगारियों की) धाराओं की नाईं वृत्तिरूप उपाधिधाराओं से निरन्तर निकल रही चित्-धाराओं की उत्पत्ति स्थानीय प्रत्यगात्मा के स्वरूपभूत, प्रकाशात्मक, योगियों के द्वारा अनुभूयमान होने पर भी निर्वचन करने के लिए असमर्थ तथा परम अमृतमय यानी सर्वातिशायी आनन्दरूप चैतन्य ब्रह्म मैं ही हूँ ॥७०॥

इसका भी पहले की नाईं उपपादन करते हुए उक्तार्थ को ही कहते हैं।

अहंकाररूपी अशेष भोक्ताओं के प्रति तत्-तत् भोग-वृत्तियों की धारारूपी उपाधियों से, मधुधारा

की नाईं, निरन्तर चू रहे स्वरूप से युक्त, निरन्तर कूटस्थ के नित्यानुभवआनन्दैकरसभूत एकरसस्वरूप तथा निर्लेपक परब्रह्मचैतन्यस्वरूप ही मैं हूँ ।।७१।।

'नित्यं चाऽनुभवामृतम्' इसका समाधिनिष्ठा के अनुभव से उपपादन करते हुए कहते हैं।

सुषुप्ति के सदृश समस्त विकल्पों से वर्जित, उपद्रवों से रहित, निर्मल प्रकाश स्वरूप, मनुष्य से लेकर हिरण्यगर्भ–पर्यन्त होनेवाले विषय सुखों से अत्युत्तम सुखस्वरूप चारों ओर से प्रकाशमान तथा वासनाओं से शून्य चैतन्यात्मक ब्रह्मस्वरूप मैं हूँ ।।७२।।

'संभोगोत्तमम्' यह जो पहले कहा, उसे, उपपादन करके, अनुभव में चढ़ाते हैं।

रसना (जिह्वा) आदि इन्द्रियों के द्वारा जायमान मिश्री का टुकड़ा, शर्करा आदि स्वादु पदार्थों का परिज्ञान ईषन्मात्र–यानी शर्करारस की जिह्वा से कण्ठप्रदेश प्राप्तिपर्यन्त स्वल्पतर देश और काल से परिच्छिन्न–होकर स्थित रहता है। वही ज्ञान–स्वप्रकाश एवं आनन्दैकरसस्वरूप से अपनी परिच्छिन्नता के हेतुभूत चित्त, चेत्य और चेतयिता के ज्ञात हो जानेपर परिच्छिन्न उपाधि की विच्युतिदशा में भी च्युतिशून्य आत्मस्वरूप हो जाता है, वही च्युतिशून्य निरतिशयआनन्दात्मक ब्रह्मस्वरूप मैं हूँ ।।७३।।

विषयरूप उपाधि से निर्मुक्त होकर ज्ञानकी स्थिति हो ही नहीं सकती अर्थात् अप्रसिद्ध ही है, ऐसी आशंका कर उसे प्रसिद्ध करते हैं।

चूँकि कान्ता में आसक्त चित्तवाले पुरुष को रात्रि में चन्द्रमा का उदय होनेपर चन्द्रमा और कान्ता दोनों के दर्शन–समय में मध्यवर्ती प्रदेश में चिति का विच्छेद अनुभूत नहीं होता, अतः जब तक चन्द्रमा का ज्ञान होता रहता है, तब तक अविच्छिन्न सत्तावाला निर्विषयक चैतन्यात्मक ज्ञानस्वरूप ब्रह्म प्रसिद्ध है, तत्स्वरूप ही मैं हूँ ।।७४।। आकाश में स्थित चन्द्रमा में लगे हुए भूमि में अवस्थित पुरुषों के नेत्रों की जो आकाशस्थ (मध्यवर्ती आकाश–प्रदेश में स्थित) चित्–शक्ति है, वही निर्मल चिद्ब्रह्म है ।।७५।।

उदासीन पुरुषों को सुख, दुःख आदि आकारवाली अन्य वृत्तियों के अभाव काल में निर्विशेष स्वात्मप्रकाश (स्वात्मज्ञान) प्रसिद्ध ही है, इस आशय से कहते हैं।

मैं सुख, दुःख आदि कल्पनाओं से रहित एवं निर्मल हूँ तथा सुख–दुःखाकार वृत्ति के अभाव–दशा में उदासीन पुरुषों को प्रतीत होनेवाला सत्य अनुभवरूप जो चैतन्य ब्रह्मस्वरूप है, वही अविनाशी मैं हूँ ।।७६।। किसी एक देश में अवस्थित पुरुष का मन, जब अन्यत्र कहीं दूर देश में चला जाता है, तब वह मन अन्तराल मार्ग में पतित सामने के पदार्थों का विस्पष्ट प्रकाश नहीं कर पाता–उन पदार्थों का निर्विकल्प साक्षात्कार होता है। मन की उपयुर्क्त स्थिति होने पर अन्तराल देश में जो निष्पाप यानी विषयसंसर्ग से शून्य प्रतीति होती है, वह चैतन्यात्मक ब्रह्मस्वरूप है, वही सर्वव्यापक मैं हूँ ।।७७।। पृथ्वी, जल, वायु और बीजों का संमेलन होने पर अंकुरादिरूप कार्यों में बाहर निर्गमन के अनुकूल जो चितिशक्ति भीतर विद्यमान है, वह व्यापक ब्रह्म है, वही मैं हूँ ।।७८।। स्वयं अपने जड़स्वभाव में अवस्थित खजूर, निम्ब और बिम्ब आदि फलों के रसविशेषों में भीतर विद्यमान रसनावृत्ति से अभिव्यक्त हुई प्रकाशस्वरूप जो स्वाद–सत्ता है, वह चिदात्मक ब्रह्म है, वही मैं हूँ ।।७९।।

इष्ट की प्राप्ति और अप्राप्ति होने पर आनन्द और खेद से युक्त जो संवित्ति प्रसिद्ध है, वही यदि

शास्त्रानुसारी हुए मनन से विशोधित होने पर आनन्द एवं खेद से निर्मुक्त हो जाय, तो वह ब्रह्मस्वरूप हो जाती है, ऐसा कहते हैं।

मननोदय से विशोधित हुई संवित्ति इष्टप्राप्ति और इष्ट अप्राप्ति दोनों अवस्थाओं में आनन्द और खेद से निर्मुक्त होकर यदि एक-स्वरूप हो जाय, तो वह चिदात्मक निर्विकार ब्रह्मस्वरूप ही है, वही मैं हूँ॥८०॥ सूर्य का प्रत्यक्ष कर रहे, पृथ्वी में स्थित पुरुष का पृथ्वी से लेकर सूर्यपर्यन्त विस्तृत हुआ जो जो चक्षुरूपी सूत्र है, वह यद्यपि विषय प्रकाशन में समर्थ है, तथापि यदि उसके मध्य के तुल्य (नेत्र और सूर्य दोनों से असम्बद्ध मध्यवर्ती भाग के सदृश) विषय प्रकाशन से निर्मुक्त हो जाय, तो वह शान्त, निर्मल, व्यापक, परब्रह्मस्वरूप चित् ही है, वही मैं हूँ॥८१॥

इसी प्रकार जाग्रत आदि तीनों अवस्थाओं का साक्षी आत्मा ही सुषुप्ति आदि का परित्याग होनेपर तुर्यभूत ब्रह्मस्वरूप है, यों कहते हैं।

जाग्रत, सुषुप्त तथा स्वप्न सभी अवस्थाओं में साक्षीरूप से निरन्तर उदित उन अवस्थाओं से शून्य आदि-अन्त से रहित तुर्यस्वरूप विकारवर्जित चिदात्मक ब्रह्म ही मैं हूँ॥८२॥ सैकड़ों खेतों से उत्थित गन्नों में भीतर स्थित स्वादुरस के सदृश सैकड़ों पुरुषों के भीतर एकरूप से अवस्थित हुआ वही चैतन्यात्मक ब्रह्म है, तद्रूप मैं हूँ॥८३॥ सूर्य की सर्वत्र व्यापक, स्वाभाविक स्वच्छस्वरूप प्रभा की नाईं प्रकाश करनेवाली कमनीय चिति ही ब्रह्म है, इन दृश्यमान पदार्थों के रूप से वही विस्तृत हुई है, तत्स्वरूप मैं हूँ॥८४॥ संभोगआनन्दरूपी अंश से युक्त, अमृत-स्वाद की शक्ति से समन्वित, अपने एकमात्र अनुभव के स्वरूपभूत जो अविनाशी ब्रह्म है, वही मैं हूँ॥८५॥

उसकी नखाग्र से लेकर सभी अंगों में व्याप्ति है और देह का छेद होने पर भी उसका विच्छेद नहीं होता, यह कहते हैं।

जिस प्रकार कमल के डंठल में (मृणाल में) विद्यमान सूत्र कमल के सारे शरीर में व्याप्त होकर रहने पर भी गुप्तमुख और छेदन एवं भेदन करने पर प्रस्फुरित रूप होकर दीखता है, उसी प्रकार सारे देह में व्याप्त होकर रहनेपर भी गुप्तमुख एवं शरीर के छेदन एवं भेदन होनेपर साक्षी होकर स्फुरितरूप होनेवाला, निर्विकार चिद्ब्रह्म मैं हूँ॥८६॥ समस्त जल को आक्रान्त करनेवाली वायु की गति से गतिशील और छोटे-छोटे जलकणों से रूप (अपना कल्पित आकार) ग्रहण करनेवाली विस्तृत मेघमाला के सदृश समस्त लोकों को आक्रान्त करनेवाली, वृत्तिरूप उपाधि के स्पन्दन से स्पन्दमान एवं सूक्ष्म जीवात्मक कल्पित आकारवाली जो विस्तृत चित्शक्ति है, वही मैं हूँ॥८७॥ जिसका सार अनुभवमात्र से गम्य है, जो स्नेह से (चिकनाहट और उत्कट प्रेम से) उपलक्षित है तथा जो दूध में घी की सत्ता की नाईं क्षयरहित चित्-सत्ता है, वही मैं हूँ॥८८॥ जैसे कंकण, बाजूबन्द एवं केयूर की रचना सुवर्ण में सुवर्णसत्ता की तरह ही स्थित है, वैसे ही इस देह में सर्वत्र व्यापक चिद्ब्रह्मात्मा की जो सत्ता स्थित है, वही मैं हूँ॥८९॥ पर्वत आदि पदार्थ-समुदाय के बाहर एवं भीतर सर्वदा अनुगतरूप से सत्तावाली जो चिति है, वही मैं निर्लिप्त आत्मा हूँ॥९०॥ निखिल अनुभववृत्तियों के भेदों का जो स्वाभाविक आदर्श अर्थात् दर्पण है और जो मललेखा यानी अज्ञान पंक्तियों का अविषय है, वह महान चित्तत्त्व मैं हूँ॥९१॥ जगत्स्वामी होने से जो संपूर्ण इच्छाओं का फल देनेवाला है, अग्नि, सूर्य आदि तेजों का जो प्रकाशक है

और सभी ग्राह्य वस्तुओं के ग्रहण का प्रयोजनरूप होने के कारण जो संपूर्ण उपादेय पदार्थों की चरम सीमा है, ऐसे चिदाकार आत्मा की हम उपासना करते हैं ॥९२॥

जो संपूर्ण अवयवों में विश्रान्त एवं सम्पूर्ण अवयवों से परे है तथा जिसका सदा–सर्वदा विकसित स्वरूप है, ऐसे चिदाकार आत्मा की हम उपासना करते हैं ॥९३॥ घट, पट, तीर, कुआँ आदि में सद्रूप से स्थित; जरायुज, अण्डज, स्वेदज एवं उद्भिज्ज–इन चतुर्विध शरीरों में स्फुरणशील अथवा इन चतुर्विध शरीरों की चेष्टाओं में निमित्तभूत तथा जाग्रत अवस्था में भी सुषुप्ति की नाईं परमार्थतः निर्विकल्पस्वरूप से स्थित चिदाकार आत्मा की हम अभेद रूप से उपासना करते हैं ॥९४॥

अग्नि आदि में उष्णता आदि के सत्तास्वरूपों का चित् से ही स्फुरण होने के कारण परमार्थतः उष्णता आदि भी चित्स्वरूप ही हैं, इस आशय से कहते हैं।

अग्नि में उष्णतारूप, हिम में शीतता रूप, अन्न में माधुर्यरूप, छेदन हेतु तीक्ष्ण छुरे में तीक्ष्णतारूप, अन्धकार में कृष्णतारूप और चन्द्र में श्वेततारूप चिदाकार आत्मा की हम अभेदरूप से उपासना करते हैं ॥९५॥ बाहर एवं भीतर सर्वत्र प्रकाशस्वरूप से विद्यमान, अपने आत्मपदार्थ में स्थित और प्रत्यगात्मरूप (साक्षीरूप) होने के कारण समीप में (हृदय–प्रदेश में) स्थित होनेपर भी अज्ञान से दूर–प्रदेश में स्थित हुए चिदाकार आत्मा की हम उपासना करते हैं ॥९६॥

मिश्री आदि समस्त मधुर पदार्थों में माधुर्यरूपता को, मिर्च आदि तीखे पदार्थों में तीक्ष्णरूपता को प्राप्त हुए चिदाकार आत्मा की हम उपासना करते हैं ॥९७॥

जाग्रत अवस्था, स्वप्नावस्था एवं सुषुप्ति अवस्था में एकरूप से स्थित, तुरीय पद और उससे भिन्न अन्य पदों का अतिक्रमण कर परमपद में अवस्थित, सभी स्थलों में सर्वदा समरूप से रहनेवाले चिदाकार आत्मा की हम उपासना करते हैं ॥९८॥

जिसके सभी संकल्प अर्थात् मानस कर्म शान्त हो गये हैं, जो निखिल कामों से रहित है, जो सभी प्रकार के क्रोध से शून्य है, ऐसे चिदाकार आत्मा की हम उपासना करते हैं ॥९९॥

विषय–भोग की उत्कण्ठा से शून्य, प्रयत्न से रहित, चेष्टा से वर्जित, एकमात्र परिपूर्ण तथा अंश और अहंकार से रहित चिदाकार आत्मा की हम उपासना करते हैं ॥१००॥

जो सब भूतों के भीतर अवस्थित है, सर्वात्मक होते हुए भी जो दुरधिगम्य एवं एकरूप है तथा जो असंख्य प्रतिबिम्बभूत चैतन्यों का (जीवोंका) आरम्भक है, ऐसे चिदात्म–स्वरूप को मैं प्राप्त हो गया हूँ ॥१०१॥ जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति को करनेवाले, त्रैलोक्य में रहनेवाले देहरूप मोतियों की माला में व्याप्त तन्तुरूप से स्थित चिदात्मरूपता को मैं प्राप्त हो गया हूँ ॥१०२॥ बाहर और भीतर से अपने द्वारा व्याप्त हुए जगद्रूपी पक्षियों को, विचित्र बड़े जाल की नाईं, अपने भीतर फँसा करके गुप्तरूप से स्थित हुए चिदाकार आत्मरूपता को मैं प्राप्त हुआ हूँ ॥१०३॥ एकमात्र जिसमें यह सब जगत विद्यमान है और जिसमें परमार्थतः कुछ भी नहीं है, ऐसे अद्वितीय, सृष्टिकाल में सबकी सत्ता का निर्वाहक होने से सद्रूप और प्रलयकाल में सबकी सत्ता का निर्वाहक न होने से असद्रूप उस चिदात्मस्वरूप को मैं प्राप्त हुआ हूँ ॥१०४॥ अत्यंत विश्वास के योग्य अथवा चिदेकरस, पूर्णरूप, संपूर्ण सुख–लेशों के प्रतिष्ठाभूत और सभी प्रकार के विहारों में स्थित उस चिदात्मरूप को मैं प्राप्त हुआ हूँ ॥१०५॥ स्नेह अर्थात् तेल के

आश्रयी तथा वर्षाकालीन वायुओं से उत्पन्न भँवरों से न बुझे हुए दीपक की नाईं निरुपाधि प्रेमरूप स्नेह के आश्रयी, देह एवं प्राणवायु के अध्यास से जनित भ्रमों के द्वारा नष्ट नहीं हुए युक्त (भ्रान्तदृष्टि से उन देह, प्राण आदि के अध्यासरूप भ्रमों से युक्त) और मुक्त (तत्त्वदृष्टि से उनसे रहित) चिद्रूप दीप की हम लोग बाहर एवं भीतर से उपासना करते हैं ॥१०६॥

कमलिनी की जड़ की नाईं हृदयरूपी सरोवर में गुप्त होकर अवस्थित; हाथ, पैर आदि अंग-प्रत्यंगों के दृढ़ बन्धन में, सुन्दर रस्सी की तरह, हेतुभूत तन्तु; एवं जनसमुदाय के जीवन के उपायभूत चिदाकार आत्मस्वरूप को मैं प्राप्त हुआ हूँ ॥१०७॥

प्रसिद्ध 'अमृत' पदार्थ से इसकी विलक्षणता बतलाते हैं।

हे श्रीरामजी, जो क्षीरसमुद्र से उत्पन्न अमृत से विलक्षण है, जो चन्द्रमा में स्थित अमृत से भी विलक्षण है, जो सदा-सर्वदा प्राप्त ही रहता है और जो गरुड़ आदि से अपहृत नहीं किया जा सकता, उस सत्य एवं अमृतरूप चिदात्मा की हम लोग उपासना करते हैं ॥१०८॥ जिसके द्वारा शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध – ये पाँच विषय अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं अर्थात् इनका अनुभव जिस साक्षीरूप चैतन्य से होता है, ऐसे, परमार्थतः उन विषयों से रहित, अतएव शान्त उस चिदात्मस्वरूप को मैं प्राप्त हुआ हूँ ॥१०९॥

जो आकाश-मण्डल की नाईं विस्तृतरूपवाला है, जो अपनी व्याप्ति के द्वारा संपूर्ण लोकों की अभिव्यक्ति करता है, वस्तुतः जो किसीकी न अभिव्यक्ति करता है और न आकाश-मण्डल के सदृश ही है, ऐसे चिदाकार आत्मस्वरूप को मैं प्राप्त हुआ हूँ ॥११०॥

जो बड़ी-बड़ी विभूतियों से युक्त है और जो अद्वैत-दृष्टि से समस्त विभूतियों एवं महिमाओं से रहित है तथा जो मायाशबलित होकर जगत का कर्ता होते हुए भी यथार्थ में अकर्ता है, ऐसे चिदाकार आत्मस्वरूप को मैं प्राप्त हुआ हूँ ॥१११॥ तादात्म्य के अध्यारोप की दृष्टि से यह सब जगत मैं ही हूँ, संसर्ग के अध्यारोप की दृष्टि से यह सब (जगत) मेरा ही है, अपवाद की दृष्टि से तो अहंता के आरोप में निमित्तभूत अहंकार भी मैं नहीं हूँ तथा देह आदि इतररूप तो मैं सुतरां नहीं हूँ, इस प्रकार अध्यारोप एवं अपवाद से आत्मतत्त्व को जान लेनेवाले मेरे लिए यह जगत कृत्रिम-मायामय-रहे चाहे अकृत्रिम-आत्मरूप-ही रहे, दोनों तरह से भी मैं सन्तापरहित हूँ ॥११२॥

ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

बारहवाँ सर्ग

बाहर से रोग एवं संग से शून्य और भीतर से स्वच्छ एवं आत्मस्वरूप से प्रकाशमान,
गुरु वसिष्ठ द्वारा कही गई जनकादि ऋषियों की स्थिति का श्रीरामजी ने ग्रहण किया – यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी,पूर्वसर्ग में दर्शित निश्चयवाले अतएव पापरहित, सद्रूप ब्रह्म में निष्ठासम्पन्न वे जीवन्मुक्त महात्मा जनक आदि एकरूप, निर्विकार, सत्य पद में यानी शोधित तत्पदार्थरूप भीतरी परमपद में सुखपूर्वक अवस्थित हुए ॥१॥ बाहर से जिनकी बुद्धि पूर्ण है अर्थात् जिन्होंने त्वंपदार्थ का शोधन कर लिया है, अतएव बाहर एवं भीतर से सम और रागशून्य चित्तवाले तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त अपने जीवन एवं मरण की न स्तुति करते हैं और न निन्दा ही करते हैं ॥२॥

इस प्रकार वे जीवन्मुक्त महात्मा, नारायण की भुजाओं के सदृश, सूक्ष्मतम भी लक्ष्य का यानी ब्रह्मरूप लक्ष्य का वेधन करने में पटुतारूपी चमत्कृति रखते हैं और सरल एवं नम्र-स्वभाव होते हुए भी मेरुपर्वत के समान अटल होकर स्थित रहते हैं ॥३॥

उनका समदृष्टि से विहार बतलाते हैं।

श्रीरामजी, जैसे देवता लोग स्वर्ग में रमण करते हैं, वैसे ही ये जीवन्मुक्त महात्मा लोग वन-खण्डों, द्वीपों, नगरों तथा देवताओं के उपवनों में अर्थात् उद्यानमालाओं में रमण करते थे यानी समदृष्टि होकर वे सर्वत्र समानभाव से विहार करते थे, यह भाव है ॥४॥

फूलों से पूर्ण, झूले के आन्दोलनों से चंचल चित्र-विचित्र वनों की पंक्तियों में एवं मेरुपर्वतकी चोटियों के ऊपर विहार करते थे ॥५॥

जिनमें शत्रुओं को जीत लिया गया है, जो छत्र एवं चामर से युक्त हैं, जिनमें धर्म, अर्थ एवं कामरूप त्रिविध पुरुषार्थों को देनेवाले त्रिविध वर्णाश्रम-धर्म एवं तदनुसारी आचार हैं, ऐसे राज्यों को भी वे जीवन्मुक्त महात्मा करते थे ॥६॥ वे अनेक प्रकार के शिष्टाचारों से अनुष्ठित इन सभी धर्मों का स्वयं अनुष्ठान करते थे। इसी प्रकार श्रुति एवं स्मृति से बतलाई गई कर्तव्यतावाले सांग यज्ञ आदि का भी अनुष्ठान करते थे ॥७॥ दृष्ट-अदृष्ट साधनसम्पत्तियों से रमणीय, स्त्रियों की हँसी के सदृश मनका अपहरण करनेवाले और विहार एवं आहार में सुन्दर भोगों के समूहों से वे भूषित थे ॥८॥

कमनीय आम्रवृक्षों से युक्त, मन्दार की मालाओं से परिवेष्टित, अप्सराओं के मनोहर गीतों से परिपूर्ण नन्दनवन की उद्यानभूमियों में प्रवेश करके वे जीवन्मुक्त उपभोग करते थे ॥९॥ चराचर भूतों से युक्त समस्त भुवनों में, निखिल प्राणियों के सुखों के साधन यज्ञादि क्रियाकलापों में एवं गृहकर्मों में वे तत्त्ववित् यथाक्रम प्रविष्ट होते थे ॥१०॥

जिनमें अनेक बड़े-बड़े हाथी मारे गये हैं, अनेक श्रृगाल (सियार) और श्रृगाली जिनमें परिभ्रमण कर रहे हैं और जो नगारों के झंकारध्वनियों से भयंकर हैं, ऐसे संग्रामरूपी समुद्रों के मार्गों को भी वे जीवन्मुक्त महात्मा पार कर चुके थे ॥११॥

जिनमें चित्त को क्लेश सहना पड़ता है, जो धन का अपहरण किये हुए शत्रुओं से पराभूत हैं तथा क्रोध, क्षोभ आदि से भयंकर हैं, ऐसी सभी शीतोष्णादि द्वन्द्वरीतियों में यानी विपत्तियों में वे महात्मा दृढ़तापूर्वक स्थित रहते थे ॥१२॥

उन जीवन्मुक्तों का मन राग से शून्य, उपाधिरहित, अभ्रान्त, आसक्ति से शून्य, मुक्त, चारों ओर से शान्त उत्तम सत्त्वरूपता को प्राप्त हुआ था ॥१३॥ इसीलिए बड़े-बड़े संकट भी उनके पास पहुँचे या सर्वातिशायी ऐश्वर्य को भी वे प्राप्त होवें, किसी भी दशा में वे-सरोवरों में हिमालय आदि कुलपर्वतों की नाईं व्यग्र नहीं होते थे ॥१४॥

हे रघुकुल शिरोमणे श्रीरामजी, जैसे पूर्णचन्द्र की कान्ति से समुद्र उल्लास को प्राप्त होता है, (ज्वार भाटों से युक्त होकर चंचलता को प्राप्त होता है), वैसे इन तत्त्ववेत्ता पुरुषों का मन अत्यन्त कमनीय लक्ष्मी और कामिनी से उल्लास को (चंचलता को) प्राप्त नहीं होता था। यहाँ समुद्र व्यतिरेक दृष्टान्त है, यह जानना चाहिए ॥१५॥ तत्त्ववेत्ता का मन दुःख एवं शोक से, ग्रीष्मकाल में वनस्थल की

नाईं, मलीनता को (मुरझाहट को) प्राप्त नहीं हुआ और न भोगों के समूहों से, ओस से औषधि की नाईं, प्रसन्नता को ही प्राप्त हुआ ॥१६॥

हे श्रीरामजी, वे तत्त्ववेत्ता महात्मा कर्तृत्वअभिमान से रहित होकर भोगरूपी मंजरियों का अनुभव करते हुए भी इष्ट एवं अनिष्ट फल की न अभिलाषा करते थे और न उन्हें छोड़ ही देते थे, यह आप निश्चय से जानिए ॥१७॥ वे शत्रुजय आदिरूप संपत्ति प्राप्त होनेपर न उत्कर्ष को प्राप्त होते थे और न शत्रुओं से आक्रान्त होनेपर अपकर्ष को ही प्राप्त होते थे। वे सुख पाने पर न हर्षित ही होते थे और न दुःख पाने पर खिन्न ही होते थे ॥१८॥ मोह के कारणभूत दुःखों के प्राप्त होने पर न मोहित होते थे और न विपत्तियों के आक्रमणों से विचलित ही होते थे। श्रीरामजी, वे महात्मा शुभों से अर्थात् अच्छे कार्यों से न प्रसन्न ही होते थे और न शोकों से आपकी नाईं रोते ही थे ॥१९॥ अपने-अपने वर्णाश्रमों के अनुकूल सदाचार से प्राप्त विषयों में केवल कर्म करते हुए क्रोधरहित होकर मानों दूसरे मेरुपर्वत की नाईं स्थित रहते थे ॥२०॥

हे राघव, पापों का नाश करनेवाली तत्त्ववेत्ता जीवन्मुक्तों की उस दृष्टि का अवलम्बन कर आप अहंकृतिरूप दोष से पृथक् किये गये शुद्ध चिन्मात्र में आत्मबुद्धि करते हुए यथा प्राप्त व्यवहार के अनुसार विहार कीजिए ॥२१॥

श्रीरामजी, इसी सृष्टि की परम्परा को यथास्थित दृष्टि से देखते हुए आप मेरुपर्वत की तरह स्थिर, समुद्र की तरह गंभीर एवं भ्रमशून्य होकर समतापूर्वक स्थिर रहिए ॥२२॥

वह यथाभूत दर्शन कैसा है ? इस शंका पर कहते हैं।

श्रीरामजी, इस प्रकार प्रतीत होनेवाला यह सम्पूर्ण जगत केवल चिन्मात्रस्वरूप ही है, यहाँ सत्य या असत्य कहीं कुछ भी पदार्थ नहीं है और न किसी का अस्तित्व ही है ॥२३॥

हे कल्याणकारी श्रीरामजी, ब्रह्मरूपता का पर्याप्त अवलम्बन कर और संसार का अनादरपूर्वक त्यागकर सर्वत्र अनासक्तबुद्धि होते हुए आप संसार का नाश करने वाले हो जाइए ॥२४॥

हे शान्त श्रीरामचन्द्रजी, अत्यन्त उद्विग्नतापूर्वक आप क्यों रो रहे हैं, मूढ की तरह शोक क्यों कर रहे हैं और जल-भौंरों में तृण की नाईं भ्रान्त-चित्त होकर क्यों चलायमान हो रहे हैं ? ॥२५॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, आपकी कृपा से मेरे अज्ञानरूपी मलका भली प्रकार क्षय हो गया है और मैं सूर्य के सम्बन्ध से कमल की नाईं प्रबुद्ध हुआ हूँ ॥२६॥ शरत्काल में कुहरे की नाईं मेरी भ्रान्ति नष्ट हो गयी है। अब सम्पूर्ण सन्देहों से शान्त हुआ मैं आपके वचनों का पालन करूँगा ॥२७॥

हे साधो, मेरा मद और मोह निकल गया, मैं मान एवं मात्सर्य अर्थात् डाह से रहित हो चुका। अत्यन्त चिरकाल के बाद मेरी आत्मा आनन्दयुक्त हुई और दीर्घकाल में मेरा शोक-शान्त हुआ। अब फिर मैं आत्मबन्धन रूप भ्रम को प्राप्त नहीं होऊँगा, अतः निश्चित बुद्धि से इस उपदिष्टार्थ के विषय में जिस किसी दृढ़ता के साधन का या अन्य किसी राज्यपालनादि कर्तव्य-विशेष का आप उपदेश देंगे, शंकारहित होकर मैं उसका अनुष्ठान करूँगा ॥२८॥

बारहवाँ सर्ग समाप्त

तेरहवाँ सर्ग

पहले तत्त्वज्ञान से वासनानाश का प्रकार बतलाने के अनन्तर अब प्राणनिरोधरूप योग से वासना विनाश का प्रकार बतलाने के लिए रची जा रही भूमिका का वर्णन।

उपशम प्रकरण में दिखलाये गये वासनानाश के हेतुभूत ज्ञान और योग दोनों प्रकारों से उत्तम अधिकारी के विषय ज्ञानरूप उपाय से वासनाविनाशरूपी फल पाकर यद्यपि कृतार्थ हो चुके थे, तथापि मन्द एवं मध्यम अधिकारियों के उपकार के लिए योगरूपी उपाय से भी वासनाविनाश की रीति जानने की इच्छा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, तत्त्वज्ञान की महिमा से वासना का विनाश हो जाने पर जीवन्मुक्त पद में मैं भली प्रकार विश्रान्ति पा चुका हूँ। हे ब्रह्मर्षे अब कृपाकर मुझसे यह बतलाइये कि प्राणवायु की गति के अवरोध से वासना का विनाश हो जानेपर जीवन्मुक्त पद में विश्रान्ति कैसे पायी जाती है ? ॥१,२॥

प्रश्न का उत्तर कहने के लिए महाराज वसिष्ठजी भी उपशम-प्रकरण में कहे गये राजयोग और हठयोग इन दो प्रकारों का ही स्मरण कराते हुए प्रतिज्ञा करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, संसारसागर से पार उतरने में जो उपाय है, वही 'योग' शब्द से कहा जाता है, चित्त का विलय करनेवाला वह उपाय दो प्रकार का है, यह आप जानिए। इसका प्रथम प्रकार आत्मज्ञान है, जो संसार में प्रसिद्ध है और द्वितीय प्रकार प्राणनिरोध है, जिसे मैं कहता हूँ, (आप सावधान होकर) सुनिए॥३,४॥

पहले 'उन दोनों में कौन-सा प्रकार सरल है' यों विशेषरूप से श्रीरामजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे गुरो, उपर्युक्त योगों के प्रकारों में ऐसा कौन प्रकार सरल और कष्टरहित होने से उत्तम है, जिसके कि एकमात्र अवगत होने पर विक्षेप फिर बाधा नहीं पहुँचाता, कृपाकर उसे बतलाइये॥५॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामभद्र, यद्यपि शास्त्रों में 'योग' शब्द से उपर्युक्त दोनों ही प्रकार (आत्मज्ञान और प्राणसंरोध) कहे गये हैं, तथापि यह योगशब्द प्राणनिरोध में ही अधिक प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ है॥६॥

संसारसागर से पार उतरने की पद्धति में एक योग अर्थात् प्राणनिरोध और दूसरा ज्ञान-ये दोनों एक फल देनेवाले समान उपाय हैं, यों मुनियों द्वारा कहा गया है॥७॥

किसी के लिए यानी प्राणनिरोधजन्य दुःख के सहने में असमर्थ सुकुमारचेता, पुरुष के लिए योग-हठयोग-असाध्य है और किसी के लिए यानी विचार में अकुशल कठोरचेता पुरुष के लिए ज्ञाननिश्चयरूप दूसरा योग असाध्य है। परन्तु शुद्धचित्त और विचार में कुशल मुझे तो - ज्ञाननिश्चय दूसरा योग ही सुसाध्य है, ऐसा अभिमत है॥८॥

ज्ञान और अज्ञान के स्वरूप का विवेक करने की सामर्थ्य न रहने पर ही विचार में अपटुता होती है, परन्तु वह असामर्थ्य प्रमाण में कुशल पुरुष के लिए तो स्वप्न में भी नहीं रह सकती, इस आशय

से कहते हैं।

वह प्रसिद्ध अज्ञान स्वप्न में भी अज्ञात नहीं रह सकता और ज्ञान भी सभी अवस्थाओं में सदा ही स्वयं प्रकाशमान रहता है। चूँकि अज्ञान सदा ही साक्षी द्वारा भासित होता है, ज्ञान स्वयंप्रकाश होने से स्वतः ही प्रकाशमान रहता है और इन दोनों का वैधर्म्य अनुभव से ही प्रस्फुरित है, इसलिए ज्ञान-अज्ञान का विवेक हो जाने से आत्मज्ञानरूप योग सरल है, प्राणनिरोधरूप योग वैसा न होने से दुष्कर है, यह भाव है ॥९॥

प्रशस्त देश, काल, विषय आदि बाह्य हेतुओं की अपेक्षा होने से भी योग दुष्कर है, यों कहते हैं।

चूँकि, यह प्राणसंरोधरूप योग धारणादेश (बाह्य पर्वत-शिखर, चन्द्र, तारा आदि देश और आन्तर हृदय, कण्ठ, तालुमूल, भ्रूमध्य आदि देश), आसन-देश (सम; पवित्र; कंकड़, अग्नि और बालुका से वर्जित; कलकल ध्वनि, जलाश्रय आदि से शून्य; मनोहर; चक्षु में पीडा न पहुँचानेवाला आदि विशेषणों से श्रुतिस्मृति में वर्णित आसनदेश) आदि से साध्य है, अतः सुख साध्य नहीं हो सकता। (निरुत्साह, मूढबुद्धि, मूर्ख कापुरुषों की नाईं पण्डित, समर्थ और प्रयत्नशील अधिकारी पुरुष को शास्त्रीय साधनों में सुखसाध्यत्व और कष्टसाध्यत्व का विकल्प कर चिन्ता करना उचित नहीं, इस आशय से कहते हैं।) श्रीरामजी, अथवा आपके लिए सुखसाध्यत्व और कष्टसाध्यत्व का विचार करना उचित नहीं है ॥१०॥

इस प्रकार अवान्तर प्रश्न का (बीच में आये हुए 'कतरः शोभनः' वाले प्रश्न का) निरास कर पहले प्रश्न का उत्तर देने के लिए उपक्रम करते हैं।

हे रघुवीर, ज्ञान और योग – ये दोनों ही उपाय शास्त्रों में कहे गये हैं। उन दोनों में से आत्मपदार्थरूप ज्ञेय को निर्मल करनेवाला सब ज्ञानों से परे स्थित आत्मज्ञान आपको बतलाया गया ॥११॥ हे साधो, अब आप यह योग सुनिए जो कि प्राण और अपान की समतारूप से प्रसिद्ध है, दृढ़ देहरूपी गुहा का आश्रय करनेवाला है, सिद्धि की इच्छा करनेवालों को खेचरत्व आदि अनन्त सिद्धियों को देनेवाला है और ज्ञान की इच्छा करनेवालों को आत्मसाक्षात्कार करानेवाला है, सुनिये ॥१२॥

समाधिसुख में विश्रान्तिरूप फल के कथन द्वारा भी प्रशंसा कर रहे महर्षि वसिष्ठजी वही योग श्रीरामचन्द्रजी से कहते हैं।

हे राजपुत्र श्रीरामभद्र, प्रयत्नशील चित्त से प्राण-गति के निरोध से होनेवाली निष्ठा को प्राप्त होकर यदि आप चित्तवृत्ति निरोध के अभ्यास से प्रत्यग्रूप, अक्षय, परमपद में भली प्रकार स्थिरता प्राप्त कर लेंगे, तो वाणी और मन के अगोचर, निरतिशय-आनन्दस्वरूप होकर आप स्थित रहेंगे ॥१३॥

तेरहवाँ सर्ग समाप्त

चौदहवाँ सर्ग

देवसभा में विख्यात वायसराज काकभुशुण्डजी को देखने के लिए
महाराज वसिष्ठ का मेरुपर्वत पर गमन और मेरु तथा उसके शिखर का वर्णन।

काकभुशुण्डजी की उक्ति के द्वारा प्राणायाम आदि प्रस्तुत योगक्रम का विस्तारपूर्वक वर्णन करने की इच्छा करनेवाले महाराज वसिष्ठजी भुशुण्डकथानक आरम्भ करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, योगियों के विश्रान्तिस्थानरूप से वर्णित उस नि:सीम परम पद के किसी एक प्रदेश में (अविद्या से आवृत प्रदेश में), मरुभूमि में मृग तृष्णा की नाईं, ब्रह्माण्डाकार यह विवर्त प्रसिद्ध है ॥१॥ उस ब्रह्माण्ड में मनु, प्रजापति आदि की उत्पत्ति में कारणता को प्राप्त तथा प्राणियों के समूहरूप भ्रम को उत्पन्न करनेवाले कमलयोनि ब्रह्मा पितामहरूप से स्थित है ॥२॥ उस पितामह ब्रह्मदेव का मैं सदाचार–सम्पन्न वसिष्ठ नाम का मानस हूँ। और ध्रुवजी द्वारा धारण किये गये सप्तर्षिलोक में वैवस्वत मन्वन्तर तक निवास करता हूँ ॥३॥ महाराज इन्द्रदेव की सभा में बैठे हुए मैंने किसी समय स्वर्गलोक में महर्षि नारदजी से अधिक दीर्घकाल तक जी रहे प्राणियों की कथा सुनी थी ॥४॥ चिरंजीवियों की कथाओं में किसी एक कथा के प्रसंग में मितभाषी, सम्माननीय तथा निखिल शास्त्रों में पारंगत विशाल बुद्धि महामुनि शातातप बोले ॥५॥

मुनि ने जो कुछ कहा, उसे बतलाते हैं।

मेरुपर्वत के ईशानकोण में स्थित पद्यरागमणि के सदृश चमकीले शिखर पर गगनचुम्बी एक शोभायमान आम्र विशेष नामक प्रसिद्ध कल्पतरू वृक्ष है ॥६॥ उस कल्पतरु के ऊपर सुवर्ण और रजतमय कल्पलताओं से घने दाहिने तने के खोड़रे में एक घोंसला है ॥७॥ उस घोंसले में ऐश्वर्यशाली वीतराग भुशुण्डनामक कौआ उस प्रकार निवास करता है, जिस प्रकार विशाल कोशवाले अपने कमल में ब्रह्माजी ॥८॥ हे देवगण, जगत के इस कोश में वह वायसराज भुशुण्ड जिस प्रकार चिरकाल से जी रहा है, उस प्रकार चिरकाल से जी रहा कोई भी इस स्वर्गलोक में न हुआ और न होगा ही ॥९॥ वह (भुशुण्ड) दीर्घायु है, वह रागरहित है, वह ऐश्वर्ययुक्त है, वह विशाल–बुद्धि है, वह स्थिर–बुद्धि है और शान्त है एवं कमनीय और समयगति जाननेवाला है ॥१०॥ वह पक्षी (भुशुण्ड) जिस प्रकार दीर्घकाल से जी रहा है, उस प्रकार यदि कोई प्राणी यहाँ अपना दीर्घजीवन व्यतीत करे, तो उसका वह दीर्घजीवन साधनदशा में पुण्यमय और फलदशा में परमपुरुषार्थ रूप अभ्युदयसम्पन्न ही होगा ॥११॥

श्रीरामजी, कुछ समय के अनन्तर मैंने भुशुण्ड के विषय में फिर भी शातातप मुनि से पूछा था, द्वितीय बार पूछे गये उन मुनिराज ने उसी प्रकार से (जिस प्रकार से देवताओं की सभा में उसका वर्णन किया था, उसी प्रकार से) इस भुशुण्ड का वर्णन किया। इससे मालूम पड़ा कि भुशुण्ड के विषय में जो कुछ उन्होंने कहा था, वह सत्य ही कहा था, उनके कथन का तात्पर्य केवल प्रशंसा में ही नहीं था ॥१२॥ श्रीरामजी, कथा का अवसर समाप्त हुआ और देवतागण अपने–अपने निवासस्थान पर चले गये। तदनन्तर मैं अत्यन्त उत्कण्ठा से भुशुण्डपक्षी को देखने के लिए चला ॥१३॥ जहाँ भुशुण्डपक्षी की स्थिति थी, उस मेरुपर्वत के पद्मरागमणि की तरह चमकीले सुन्दर एवं विस्तृत शिखर पर मैं क्षणभर में ही पहुँच गया ॥१४॥ वह शिखर मधुर आसव से जनित मद की नाईं अग्नि के सदृश वर्चस्व रखने वाले पद्मराग आदि रत्न एवं गेरुमिश्रित सुवर्ण धातुओं के कमनीय तेज से दिशारूपी रमणियों को रक्तिम बना रहा था ॥१५॥ उसकी शोभा प्रलयकालीन अग्नि की पिण्डीभूत ज्वालाओं के पर्वत–सी प्रतीत होती थी, शिखा के सदृश ऊपर को उठी हुई इन्द्रनील मणि की प्रभा ही उसका धुआँ था, उसके लाल प्रकाश से समस्त आकाश–मण्डल लालिमा प्राप्त किये था ॥१६॥ मेरुपर्वत के ऊपर समस्त लालिमाओं का एक ढेर–सा होकर वह अवस्थित था या यों कहिए कि निखिल प्राणियों की

दर्शनाभिलाषाओं का एक पिण्ड बनकर वह स्थित था और निखिल सन्ध्याकालीन अभ्रजालों का घनीभूत एक आकर-सा प्रतीत होता था ॥१७॥ सुषुम्ना-नाड़ी से उत्क्रान्ति नामक योग-साधन के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र का भेदन कर निकलने की इच्छा कर रहे मेरुपर्वत के उदर से निकला हुआ शिरःप्रदेश में प्राप्त बडवाग्नि के सदृश मानों जठराग्नि ही स्थित था ॥१८॥ वह लीला से आकाश में स्थित चन्द्रमा को पकड़ने के लिए लाक्षारस से (महावर से) रंजित शिखा के सदृश मिली हुई – मानों सुमेरु पर्वत की वनदेवी के द्वारा प्रसारित करांगुलियाँ ही थी ॥१९॥ वह जड़ी गयी सोपान-पंक्तियों के सदृश अरुण ज्वालाओं के द्वारा मानों आकाश में जाने के लिए प्रवृत्त अतएव पर्वत पर चढ़ा हुआ दुग्धाहुति संपन्न मुखवाला ब्राह्मणसम्बन्धी अध्वाराग्नि की नाईं दीख रहा था ॥२०॥ वह रत्नों के किरणों से चमक रहे नखाग्रों से युक्त तीन शिखराग्रभागरूपी अंगुलियों से अश्विनी आदि नक्षत्र मण्डलों को स्पर्श कर मानों गिनने के लिए आकाश को व्याप्त-सा करता हुआ उन्नत होकर स्थित था ॥२१॥ वहाँ मेघरूप मृदंग आदि वाद्य बज रहे थे, वह वनभूमि से पुष्ट हुई वन-लक्ष्मियों का एक तरह से नृत्य-मंडप था, खिले हुए पुष्पगुच्छों से परिपूर्ण था और भ्रमर-समूहों से गुंजित था ॥२२॥ वह परिहास से विकसित हो रही दन्तपंक्तियों के सदृश विकसित ताल पत्रों की पंक्तियों से अत्यन्त सुहावना लगता था। वहाँ झूलों पर झूल रहीं चंचल अप्सराएँ थीं और सभी प्राणियों का उन्माद और अभिलाषाएँ नवीनरूपता धारण किये हुई थीं, वहाँ की शिलाओं पर देवता विश्रान्ति ले रहे थे, उसकी गुफाओं का देवताओं के जोड़ों ने आश्रय किया था ॥२३॥

अब उस शिखर की तापसरूप से उत्प्रक्षा करते हैं।

उसने सुन्दर आकाशरूपी मृगचर्म धारण किया था, शुभ्र गंगारूप यज्ञोपवीत से अलंकृत था और वह बाँसरूपी दण्ड धारण करने के कारण पीले वर्ण के तपस्वी की नाईं स्थित प्रतीत होता था ॥२४॥ वहाँ पर गंगाजी के झरनों की कलकल ध्वनि हो रही थी, उसके लताकुंजों में देवता विराजित थे, वह गन्धर्वों के गीतों से रमणीय लगता था और वहाँ मधुर मनोहर सुगन्धित वायु बह रहा था ॥२५॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आकाश में ऊँचाई की परम सीमास्वरूप उस प्रकार के पीले वर्ण के उस मेरुपर्वत के सिर पर मैं पहुँचा, वह तारारूपी रत्नों से विभूषित और विकसित स्वर्णकमलरूपी कर्णपूर से रमणीय था ॥२६॥ श्रीरामजी, (मैं इसका अधिक वर्णन क्या करूँ!) वह प्रतिदिन श्वेत, हरित, पीत, रक्त एवं धवलवर्ण कानन के कुसुम-समूह रूपी नवीन रंगों से आकाश में मानों निर्दुष्ट चित्र खींचा करता था और देवताओं का वह क्रीडापर्वत था ॥२७॥

चौदहवाँ सर्ग समाप्त

पन्द्रहवाँ सर्ग

उस मेरुपर्वत के शिखर पर स्थित चूतनामक कल्पतरु और उसकी शाखा पर विद्यमान पुष्प, पक्षी आदि संपत्तियों, कौओं तथा भुशुण्ड का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, प्रलयकालीन मेघरूपी कुसुमों से व्याप्त केशोंवाले उस शिखर के सिर पर प्राणियों के वांछित अर्थ की पूर्ति के लिए उत्पन्न हुए शाखा आदि अवयवों से युक्त चूतनामक वृक्ष को मैंने शाखाचक्र-सा (चारों ओर समरूप से फैली हुई शाखाओं के कारण शाखाचक्र-

सा) देखा ॥१॥ श्रीरामजी, चारों ओर से वह वृक्ष फूलों के परागों से धूसरित था, वह रत्नसदृश पुष्प–गुच्छों से दन्तुर था, उसने अपनी ऊँचाई से आकाश को मात कर दिया था, वह पूर्ववर्णित मेरुशिखर के ऊपर रखे हुए दूसरे शिखर के सदृश प्रतीत होता था ॥२॥

उसने केवल अपनी ऊँचाई से ही आकाश को मात नहीं कर दिया था, किन्तु तारा आदि मिलाकर द्विगुणित पुष्प आदि धारण करने के कारण भी उसने आकाश को मात कर दिया था, यों कहते हैं।

उसने ताराओं को मिलाकर द्विगुणित पुष्प धारण किये थे, मेघरूप पल्लवों को मिलाकर द्विगुणित पल्लव धारण किये थे, किरणों को मिलाकर द्विगुणित पुष्परेणुरूप मेघ धारण किये थे बिजली को मिलाकर द्विगुणित मंजरियाँ धारण की थीं ॥३॥ वहाँ शाखा–प्रदेश में किन्नर युवतियों के गीतों को लेकर द्विगुणित भ्रमरों की गुंजार ध्वनि हो रही थी, उसने झूलों पर आरूढ़ चंचल अप्सराओं के होठ, हाथ एवं पदरूप पल्लवों को लेकर दूने पल्लव धारण किये थे ॥४॥ वांछितरूपों को धारण करने की शक्ति से संपन्न होने के कारण स्वच्छन्द विहार करने के लिए कल्पित विहंगम वेषवाले सिद्धों एवं गन्धर्वों के समूहों को मिलाकर द्विगुण विहंगम उस पर विद्यमान थे, उसने रत्नकान्ति के सदृश स्वच्छ हिमकणों को लेकर दूने हुए त्वचारूपी वस्त्र पहने थे ॥५॥ अधिक ऊँचाई के कारण जनित चन्द्रबिम्ब के सम्बन्ध से मानों अृमत–रस की पूर्ति होने के कारण द्विगुणित अंगोंवाले बड़े–बड़े फल उसमें लगे थे, तनों के मूल भागों में संलग्न कल्पभ्रमों से मानों द्विगुणित हुए उसके पोर थे ॥६॥ उसके तनों पर देवताओं ने आश्रय किया था, पत्रों पर किन्नर विश्रान्ति ले रहे थे, उसके लताकुंजों में मेघ समूह प्रविष्ट हुए थे,जलप्राय कोटर–प्रदेश में देवता आदि सोये हुए थे ॥७॥ उसका अपना निजीस्वरूप अत्यन्त विस्तृत था, उसके फूलों का भीतरी रस अपने कंकणों के क्वणितों से बाह्य भ्रमरों को हटाकर अप्सरारूपी भ्रमरियों ने चूस लिया था ॥८॥ श्रेष्ठदेव, किन्नर, गन्धर्व एवं विद्याधरों से वह समन्वित था, ब्रह्माण्ड की नाईं विस्तृत और असीम दस दिशाओं तथा आकाश को व्याप्त किये था ॥९॥ कलियों के समूहों से वह भरा हुआ था, मृदु पल्लवों से भरा हुआ था, खिले हुए पुष्पों से परिपूर्ण था और वनमालाओं से भी वेष्टित था ॥१०॥ उसके ऊपर घनीभूत मंजरीयाँ थीं, घनीभूत मणिरूप गुच्छे थे, घनीभूत रत्नरूपी परिधानीय दिव्य वस्त्रों से आढ्य था अर्थात् अर्थियों की इच्छापूर्ति करनेवाला था, लताओं के नृत्य से व्याप्त था ॥११॥ श्रीरामजी, चारों ओर फूलों की बाढ़ से सर्वत्र फल और पल्लवों से तथा सभी का दिल बहला करनेवाले पुष्पपरागों के समूहों से अत्यन्त विचित्रता को प्राप्त हुए उस चूतनामक कल्पतरू को मैंने देखा ॥१२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर उपर्युक्त विशेषणों से युक्त उस वृक्ष के तने, शाखा आदि की सन्धियों में, लता से आवृत शाखाग्रभागों में, लतापत्रों में, पोरों या ग्रन्थियों में और पुष्पों में घोंसले बनाकर उसमें स्थित हुए पक्षियों को मैंने देखा ॥१३॥

पक्षियों में विशेष बतलाते हैं।

श्रीरामजी, (वहाँ) मृणाल के टुकड़ों की नाईं चंद्रमा की कला के खण्डों से वर्धित और शुभ्र कमलिनीकन्दों को खानेवाले ब्रह्मदेव के वाहनभूत हंसपक्षी मैंने देखें ॥१४॥ बाद में रहस्यभूत अर्थों के पर्यालोचन में सहायक होने के कारण प्रणव और वेद के मित्रभूत ब्रह्मदेव के वाहन हंसों के बच्चे, जो कि सामवेद का गान कर रहे थे एवं पर–अपर ब्रह्मविद्या का गुरुमुख से विधिवत् अध्ययन किये

हुए थे (मैंने देखें) ॥१५॥

वहाँ निवास कर रहे अग्नि के वाहनभूत शुकों का वर्णन करते हैं।

तदनन्तर मैंने अग्निदेव के वाहन शुक देखे, वे मन्त्र-समूह पढ़ रहे थे, उनके शब्द स्वाहाकार के समान थे। उनकी उपमा शंख, बिजलियों के अनेक समूह और नील मेघों के वर्णों से थी, देवता नित्य उनका दर्शन करते थे। यज्ञवेदियों में बिछाये गये हरित कुश-लताओं के दलों की नाईं वे हरे थे। (अब मयूरों के बच्चों का वर्णन करते हैं।) अनन्तर (मैंने) मयूरों के बच्चे (देखे)। अग्नि की शिखा की नाईं देदीप्यमान उनकी शिखाएँ थीं। जगज्जननी पार्वती से (जूड़े में पहनने के लिए) रक्षित उनके परों का समूह था, स्वामी कार्तिकेय द्वारा विस्तारित अशेष शिवसम्बन्धी विज्ञान में वे पण्डित थे ॥१६-१८॥ आकाश में ही उत्पन्न होकर वहीं पर नष्ट हो जानेवाले अर्थात् मरणपर्यन्त भूमि पर न उतरनेवाले और अधिक बलवान होने से महान इसीलिए व्योमपक्षी नाम से प्रसिद्ध पक्षियों को-जो कि नित्य-क्रीड़ा में सहायक होने से बन्धु थे, अपने अपने घोंसले बनाकर स्थित थे एवं शरत्कालीन मेघों के समान शुभ्र आकृतिवाले थे (मैंने देखा) ॥१९॥ ब्रह्मदेव के वाहन हंस से उत्पन्न और भी दूसरे हंसों को, अग्नि के वाहन शुक से उत्पन्न शुकों को, कुमार कार्तिकेय के वाहन मयूर से उत्पन्न और दूसरे मयूरों को तथा इनसे भिन्न भी अन्य आकाश पक्षियों से उत्पन्न पक्षियों को (मैंने देखा) ॥२०॥ श्रीरामजी, वहाँ (मैंने) दो चोंचवाले भरद्वाजनामक पक्षियों को, सुवर्ण की शिखावाले पक्षियों को तथा गौरैया, कौआ, गीध, कोयल, क्रौंच (कुराँकुल) और मुर्गा-इन पक्षियों को (मैंने देखा) ॥२१॥ हे राघव, उस कल्पतरू पर शकुन्तपक्षी, नीलकण्ठपक्षी, बलाकपक्षी (बकविशेष) आदि और भी अनेक पक्षियों को, जगत में विविध प्राणियों की नाईं मैंने देखा ॥२२॥ इसके बाद आकाश में स्थित हुए मैंने अत्यन्त दूर-प्रदेशस्थ घने पत्तोंवाले उस कल्पवृक्ष के दाहिने तने की शाखापर, उस शाखा को देखने के बाद, लोकालोकपर्वत के अरण्य में प्रलयकालीन मेघ-समूह की नाईं स्थित, मंजरीसमूह से वेष्टित द्रोण कौओं का मण्डल मैंने देखा ॥२३,२४॥ ज्यों ही मैंने वहाँ दृष्टि डाली, त्यों ही देखा कि एकान्त में स्थित दाहिने तने के उस कोटर पर जिसमें चित्र-विचित्र फूल बिछे हुए थे, अनेक प्रकार के सुगन्धों से जो सुगन्धित था तथा पुण्यात्माओं द्वारा उपभोग्य अप्सराओं के उपभोगों के योग्य स्वर्गस्वरूप था - सभा में शान्ति आदि गुणों से संपन्न होने के कारण अक्षुब्ध आकृतिवाले, पवन के द्वारा समभाग से छेदन कर कोटर में प्रवेशित किये गये मेघों की नाईं, मनोहर कुसुमगुच्छों से वासित कौए स्थित हैं और उनके बीच ऐश्वर्यशाली एवं अत्यन्त उन्नत शरीरवाला वायसराज भुशुण्ड बैठा है ॥२५-२७॥ वह भुशुण्ड सभा में उस प्रकार उन्नतरूप से स्थित था, जिस प्रकार काँच के टुकड़ों के बीच उन्नतरूप से इन्द्रनीलमणि स्थित हो। वह आत्मज्ञान से परिपूर्ण मनवाला, मान्य, समदर्शी एवं सर्वांग सुन्दर था ॥२८॥ वह प्राणक्रिया के निरोध से नित्य अन्तर्मुखवृत्तिवाला, सुखी और प्रसिद्धतम चिरजीवी होने से 'चिरंजीवी' नाम से प्रसिद्ध था ॥२९॥ जगत में विदित दीर्घायुवाला भुशुण्ड नाम से प्रसिद्ध वह वायसराज युगों की उत्पत्ति और विनाश की दशा के दर्शन से प्रौढ़मन था ॥३०॥ वह प्रत्येक कल्प में ईशान, इन्द्र और अग्नि आदि लोकपालों के जन्मों की चक्रपरम्परा को गिनता हुआ खिन्न होकर अवस्थित था ॥३१॥ वह सुदूर भूतकालीन सुर, असुर एवं राजाओं का भली प्रकार स्मरण करनेवाला, प्रसन्न और गंभीर मन से युक्त,

चतुर तथा स्निग्ध एवं मुग्ध वाणीवाला था ॥३२॥

वह भली प्रकार ज्ञाता होने के कारण सूक्ष्मतम अर्थों को विस्पष्टकर कहनेवाला, ममता तथा अहंकार से रहित, मृत्यु का पुत्र की नाईं परमप्रिय, बुद्धि में बृहस्पति से भी बड़ा, प्राणिमात्र का सुहृद, बन्धु एवं मित्र था। *(सब प्राणियों का वह सुहृद आदिरूप क्यों था ? इस शंका पर कहते हैं।)* चूँकि यह सबके वर्णन प्रसंग में–प्राणीमात्र के निखिल आरोपों का अधिष्ठानरूप हो जाने के कारण सब प्रकार से भी सर्वदा सर्वात्मक सत्यस्वरूप ही परिगणित होता था यानी वह सर्वात्मक और सत्यस्वरूप ही सर्वसंगत था, अतः सुहृद आदिरूप था ॥३३॥ जिस प्रकार सरोवर सौम्य, स्वच्छ मधुर जल से युक्त, मनोहर और भीतर से अखण्ड शीतल, मध्य कमल के आधारभूत कुहर से युक्त, पक्षियों की विश्रान्ति को जाननेवाला एवं निर्मलतम होने से प्रकटित भीतरी शोभावाला रहता है, उसी प्रकार सौम्य, प्रसन्न, मधुर, ब्रह्मरस से युक्त, मनोहर, भीतरी अखण्ड शान्ति से युक्त, हृदयाकाशरूप, सब व्यवहारों को जाननेवाला यह महात्मा भुशुण्ड भी गांभीर्य को न छोड़ता हुआ अन्तःकरण की शोभा महत्ता को प्रकटित कर अवस्थित था ॥३४॥

पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

सोलहवाँ सर्ग

सामने उपस्थित हुए तथा आसन आदि से पूजित हुए
महाराज वसिष्ठजी द्वारा किये गये भुशुण्ड के जन्म, कर्म आदि के प्रश्नों का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामजी, तदनन्तर मैं उस भुशुण्ड के सामने उस प्रकार गिरा (उतरा), जिस प्रकार पर्वत पर आकाश से नक्षत्र गिरता हो। मेरा शरीर अत्यन्त कान्तियुक्त था, गिरने पर मैंने सभा में कुछ हलचल भी पैदा कर दी ॥१॥

जिस प्रकार भूकम्प से सागर विक्षुब्ध हो जाता है, उस प्रकार मेरे पतन से जनित मन्द पवन से कौओं की सभा, जो नील कमलों के तालाब के सदृश थी, विक्षुब्ध हो गई ॥२॥ अनन्तर त्रिकालदर्शी होने के कारण उस भुशुण्ड ने देखने से ही – यद्यपि वहाँ मेरा जाना अतर्किक था, तथापि वहाँ गये 'हुए मुझको – 'यह वसिष्ठ आये हुए हैं', यों जाना ॥३॥ तदनन्तर जिस प्रकार पर्वत से छोटा मेघ उठे, उस प्रकार वह पत्तों के ढेर से उठ खड़ा हुआ और 'हे मुनिराज, आपका स्वागत हो', यों मधुरवाणी बोला ॥४॥ स्वागत वचनों के साथ ही साथ दोनों हाथों से अपने संकल्पमात्र से उत्पादित पुष्पांजलि भरकर मेरे ऊपर उस प्रकार बरसाई, जिस प्रकार मेघ हिम की महावृष्टि करता हो ॥५॥ तदनन्तर आपके बिराजने के लिए यह आसन है, यों कहकर वह कौओं का अधिपति भुशुण्ड आसन लाने के लिए चाकरवर्ग का परित्याग कर स्वयं खड़ा हुआ और कल्पवृक्ष का नवीन पत्ररूप आसन लाया। तदनन्तर मैं भुशुण्ड के साथ उस कल्पवृक्ष की लताओं से बने हुए आसनपर बैठ गया। भुशुण्ड के चारों ओर पक्षियों का समूह था मननशील मुझे उस आसन पर आसीन देखकर अपने कान्तिमण्डल से प्रसरणशील पंखोंवाले उक्त सभा के कौए अपने–अपने आसनों की ओर दृष्टि डालने लगे। भुशुण्ड ने अर्घ्य, पाद्य आदि सम्पादन कर मेरा सत्कार किया।

महान तेजस्वी वह भुशुण्ड अत्यन्त प्रसन्नचित्त होकर सुन्दर, सौहार्द से मधुर वचन मुझसे कहने लगा ॥६–९॥ भुशुण्ड ने कहा : भगवन्, बड़े सौभाग्य का विषय है कि दीर्घकाल के अनन्तर आज हम लोगों के ऊपर आपने अनुग्रह दर्शाया, क्योंकि आपके दर्शनामृतरूपी सिंचन से सिंचे गये हम लोग आज, पुण्यवृक्ष के सदृश, अत्यन्त पवित्र बन गये ॥१०॥ हे मुने, दीर्घकालिक मेरे पुण्य की राशि से प्रेरित तथा मान्यों में एकमात्र मान्यतम आपका इस समय किस प्रदेश से शुभ आगमन हुआ ? ॥११॥ महाराज, मूलभूत माया से बने इस जगत में दीर्घकाल से विचरण कर रहे आपके पावनतम चित्त में अखंडित समदर्शिता बिराजती तो है न ? ॥१२॥

महाराज, आज आने का कष्ट उठाकर आपने अपनी आत्मा को क्यों दुःख पहुँचाया ? आज्ञादायी वचनों के श्रवण में उत्कण्ठा रखनेवाले हम लोगों को आज्ञा देने के लिए आप सर्वथा योग्य हैं ॥१३॥ हे मुनिवर, आपके चरणों के दर्शन से ही मैंने सब कुछ जान लिया, आपने अपने आगमन के पुण्यों से हम लोगों को दबा दिया है ॥१४॥

'सब कुछ जान लिया' यह जो पहले कहा गया था, उसीका स्पष्टीकरण करते हैं।

इन्द्रसभा में चिरंजीवियों के विषयों में हुई विचारणाओं के कारण ही आपके स्मृतिपथ में हम आये और उसी से यह स्थान आपके चरणों का आस्पद हुआ, सचमुच आपने इस प्राणी को पवित्र बना दिया ॥१५॥ हे मुने, यद्यपि यहाँ आपके आने का प्रयोजन मैंने पहले से ही जान लिया, तथापि आपके वाक्यामृतरसास्वाद की अभिलाषा बढ़ रही है, अतः आपसे मैं पूछता हूँ ॥१६॥ तीनों कालों में निर्मल ज्ञान रखनेवाला चिरंजीवी इस भुशुण्ड ने जब वैसे कहा, तब वहाँ मैंने यह कहा ॥१७॥ हे पक्षियों के स्वामिन्, जो कुछ यह कह रहे हो, वह सब यथार्थ में सत्य ही है, चिरंजीवी केवल तुम्हें ही आज मैं देखने के लिये आया हूँ ॥१८॥ हे पक्षीराज, महान भाग्य से तुम्हारे अन्तःकरण में चारों ओर से शान्ति का राज्य है, तुम कुशल हो, ज्ञाततत्त्व होने के कारण तुम इस भयंकर जगज्जाल में प्रविष्ट नहीं हुए हो ॥१९॥ प्राणियों की उत्पत्ति, विनाश, गति, आगति, विद्या एवं अविद्या को जाननेवाले हे पक्षिराज, तुम मेरे इस संशय का सत्यरूप से छेदन कर दो कि किस कुल में तुम उत्पन्न हुए हो और किस प्रकार तुमने तत्त्व पहचान लिया ॥२०॥ हे साधो, तुम्हारी कितनी आयु है, तुम अपना कौन–सा इतिवृत्त (विगत कल्पान्तचरित्र) जानते हो और किस महानुभाव ने दीर्घदर्शी तुम्हारे लिए निवासस्थान रूप से इस वृक्ष को निश्चित किया है ? ॥२१॥ भुशुण्ड ने कहा : हे मुने, आप जो मुझसे पुछ रहे हैं, उस सबका मैं यह वर्णन (उत्तर) कर रहा हूँ। आप महानुभाव उद्विग्न न होकर प्रयत्नपूर्वक कथा का श्रवण कीजिए ॥२२॥ हे महानुभाव, तीनों लोकों के नियन्ता और परम पूज्य आपके सदृश उदारबुद्धि महात्मा जिस वृत्तान्त का श्रवण करते हैं, उस वृत्तान्त का भलीप्रकार कथन करने से वक्ता और श्रोता दोनों का पाप उस प्रकार विनष्ट हो जाता है, जिस प्रकार मेघावलम्बित वृष्टि, छाया, अरण्य आदि वैभवों से सूर्य का ताप विनष्ट हो जाता है ॥२३॥

सोलहवाँ सर्ग समाप्त

सत्रहवाँ सर्ग

जीवन्मुक्तों के उपयोगी गुणों से पूछे गये अर्थ का वर्णन कर
पक्षियों का स्वामी भुशुण्ड पुनः उसी को सविस्तार कहने के लिए प्रवृत्त हुआ, यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, तदनन्तर वह पक्षीराज भुशुण्ड वक्ष्यमाण रीति से कहने लगा। वह अभीष्ट लाभ से न तो प्रसन्न होनेवाला था और न क्रूरमति था। वह सभी अंगों से सुन्दर और वर्षाकालीन मेघों के सदृश श्यामवर्ण था ॥१॥ उसके वचन स्नेहपूर्ण और गम्भीर थे। उसके अभिभाषण के पहले स्मित होता था। हाथ में बिल्व फल की नाईं तीनों जगत की इयत्ता (सीमा) उसे निश्चित रूप से विदित थी ॥२॥ समस्त भोगों को उसने तिनके की तरह तुच्छ समझ रक्खा था, इच्छित विषयों की ओर लोगों की दौड़-धूप का फल एकमात्र संसार ही है – यह रहस्य उसने भली प्रकार जान लिया था, वह परापर ब्रह्म का ज्ञाता था ॥३॥ उसका महान आकार धीर और स्थिर था। उसने विश्रान्ति तो उस प्रकार धारण की थी, जिस प्रकार मन्थन के अनन्तर मन्दराचल के चले जाने के बाद क्षीर-समुद्र ने धारण की थी। उसका मन मनोरथों से परिपूर्ण था और विशुद्ध था ॥४॥ बाहर से उसकी चारों ओर से बुद्धि में विश्रान्ति थी, वह शान्त था, भीतर से परमानन्द परिपूर्ण था, उसे संसार में जन्मधारी जीवों के आविर्भाव और तिरोभाव में हेतुभूत मायातत्त्व और आत्मतत्त्व का भली प्रकार ज्ञान था ॥५॥ प्रिय और मधुर सुनने योग्य वीणा-गान की नाईं मनोहर उसके वाक्य थे। दर्शनमात्र से संपूर्ण भयों का अपहरण करनेवाले स्वयं ब्रह्मा ने ही मानों अपना यह नवीन भुशुण्डशरीर धारण किया हो, ऐसा वह प्रतीत होता था, अतएव वह स्वाभाविक आनन्द से युक्त और प्रश्नों का उत्तर देने के लिए किये गये उद्योगयुक्त मुख के कारण अत्यन्त सुन्दर लगता था ॥६॥ उस प्रकार का पक्षियों का अधिराज भुशुण्ड शुद्ध, अमृतमय, परिपूर्ण स्व-स्वरूप का क्रमशः बोध कराने के लिए – निर्मल वाणी से उस तरह मेरे प्रति आगे का वृत्तान्त कहने लगा, जिस तरह सुन्दर मेघ अपनी गर्जना से मकरन्द (पुष्परस के) पान में रसिक भ्रमर के प्रति वही वृत्तान्त कहता हो। *तात्पर्य यह हुआ कि पहले से ही प्रबुद्ध ब्रह्मानन्द में रसिक मेरे प्रति भुशुण्ड की उक्ति अनुवाद मात्र थी, न कि उपदेश* ॥७॥

सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

अठारहवाँ सर्ग

अपना जन्म कहने के लिए पहले महादेवजी, उनके गण, मातृका तथा
उनके पानोत्सव आदि का भुशुण्ड के द्वारा वर्णन।

'किस कुल में तुम उत्पन्न हुए हो' इस प्रथम प्रश्न का उत्तर देने के लिए पहले भूमिका बाँधते हैं।

भुशुण्ड ने कहा : महाराज वसिष्ठजी, इस जगत में समस्त स्वर्गवासी देवताओं में श्रेष्ठ (ज्ञान, ऐश्वर्य, बल आदि गुणों से सर्वोत्कृष्ट), देवताओं के भी पूजनीय एवं उपासनीय, देवाधिदेव महादेवजी हैं, जो बड़े-बड़े देवों के देव ब्रह्मादि देवताओं के द्वारा भी अभिवन्दित और चारों ओर से पूजित हैं। *(इस श्लोक में उपर्युक्त तीन विशेषणों से सर्वांश में महादेवजी के ही उत्कर्ष की परमावधि बतलाई गई है, इससे वक्ष्यमाण ब्रह्मविद्या के आरम्भ में मंगल भी पक्षिराज भुशुण्ड ने कर दिया – यह अर्थतः सिद्ध*

हो जाता है, यह जानना चाहिए) ॥१॥ आम्रवृक्ष की नाईं उनके देहार्ध में भ्रमर-पंक्तियों के सदृश नेत्रोंवाली तथा उन्नत पुष्प-गुच्छों के सदृश स्तनधारिणी लता शोभित है ॥२॥ उनके एक गंगारूपी कुसुम - मालिका है, जो हिम और हार की नाईं अत्यन्त धवल लहरीरूपी पुष्पों से गुम्फित (गूँथी गई) है और जिसने जटाजूट को वेष्टित कर रक्खा है ॥३॥ क्षीर-सागर से उत्पन्न हुआ और अमृत का झरना बहानेवाला अत्यन्त कान्तियुक्त चन्द्रमा उनका दर्पणभूत चूड़ामणि (शिरोभूषणमणि) है ॥४॥ निरन्तर मस्तक में स्थित चन्द्रमा के अमृतप्रवाह से जिसकी विषशक्ति निकल गई है और जिसमें संजीवनशक्ति प्राप्त हुई है, ऐसा इन्द्रनील मणि की नाईँ कालकूट महाविष उनके कण्ठ का भूषण है ॥५॥ जगत के प्रलय में हेतुभूत अपने चक्षुरूपी स्वच्छ अग्नि से उत्पन्न हुई, धूलियों की पंक्तिरूप बड़े-बड़े प्रलयकालीन झंझावातों की उत्पादक, परमाणुमय (स्थूल महाभूतों का सूक्ष्म-सूक्ष्म भूतों में प्रवेश-क्रम से परम सूक्ष्म अव्यक्तमात्र का परिशेष होने के कारण परमाणुमय), अतिशुभ्र एवं ज्ञानजलात्मक (उसके साक्षी चैतन्यस्वरूप जल से प्लावित होने के कारण ज्ञानजलात्मक) मायारूप भस्म उन मायाशबल महादेवजी का भूषण है ॥६॥ अत्यन्त निर्मल, तेजस्वी चन्द्रमा का भी तिरस्कार कर देनेवाली, मणियों के सदृश सानपर चढ़ाकर विशोधित की गई, माला आदि के आकार में गुँथी गई, संपूर्ण शरीरों में मनोरम ब्रह्मा आदि के शरीरों की विकारभूत हड्डियाँ ही उनके शोभाकारक रत्न हैं ॥७॥ सुधाकर चन्द्रमा की सुधाधारा से प्रक्षालित, नीलमेघरूपी पल्लवों से युक्त तथा तारारूपी बिन्दुओं से समन्वित आकाश यानी दिशाएँ ही उनके वस्त्र हैं ॥८॥ चक्कर काट रही लोमड़ियों, परिपक्व नर-मांसों और बलि के ओदनों से (भात से) व्याप्त; गाँवों और नगरों से दूर, हिम के सदृश धवल श्मशान ही उनका घर है। *(प्रकृत श्लोक में 'भ्रमच्छिवांगना०' और 'बहिर्भूतम्' से दो पद श्लिष्ट होने से कल्याणकारी वेष-भूषा को धारण कर इधर-उधर घूम रही रमणियों द्वारा पकाये गये प्रशस्ततम मांस, भात आदि भोज्य पदार्थों से व्याप्त तथा सब प्रकार के दोषों से रहित - इस अर्थ की कल्पना की जा सकती है।)* ॥९॥ जिसने कपाल-मालाएँ धारण की है, रक्त और चर्बी का आसव (मद्य) पान किया है, एवं जो आँतरूपी मालासूत्र से वेष्टित है, ऐसा वक्ष्यमाण मातृकागण उनका नृत्यादि में सदा सहायक बन्धुवर्ग है ॥१०॥ क्रमशः तत्-तत् अंगों के भूषण के लिए संचरणशील, सर्वांग से चिकने, प्रस्फुरित हो रही मस्तकमणियों से राजित तथा सुवर्ण के सदृश दीप्तिसम्पन्न कान्तिवाले सर्प उनके भुजा के कंकण हैं ॥११॥ दृष्टिपातमात्र से शैलेन्द्र हिमराज को दग्ध कर देनेवाला, जगत का ग्रास करने में लालायित तथा क्रीडामात्र से असुरों को त्रस्त कर देनेवाला भयंकर उनका चरित्र है ॥१२॥ महाराज, सत्य-संकल्प होने के कारण उनका अन्तःकरण एकमात्र कल्याण की भावना से ही जगत-समूह को अपनी प्रकृति में रखने के लिए समाधि में स्थित है। कदाचित समाधि का आकस्मिक भंग हो जाने पर उत्पन्न हुआ उनके हाथ का स्पन्दन असुरों के बड़े-बड़े नगरों को, असुरों के साथ, विनष्ट कर डालता है ॥१३॥

समाधिकाल में महादेवजी की जो प्रसिद्धतम एकाग्रता है, वह पृथ्वी, पर्वत आदिरूप उनकी मूर्तियों में विस्पष्टरूप से दिखाई पड़ती है, इस आशय से कहते हैं।

स्नेह, राग, द्वेष आदि सर्वविध दोषों से शून्य, रसयुक्त होते हुए भी (पृथ्वी और जल से युक्त होते हुए भी) नीरस, उत्तम भोजन करने के कारण भली-प्रकार तृप्त हुए जनों के सदृश खान-पान आदि

तृष्णाओं से शून्य प्रसिद्ध मेरु, हिमालय आदि पर्वत ही उनकी एकाग्रता ध्यान की मूर्तियाँ हैं ॥१४॥

अब सर्वांगों में समस्त शक्तियों से परिपूर्ण उनके गणों का वर्णन करते हैं।

जिनके मस्तक खुर की शक्तियाँ रखते हैं यानी दौड़ने–कूदने की शक्तियाँ रखते हैं, खुर हाथों की शक्तियाँ रखते हैं यानी चित्र–विचित्र शिल्पआदि निर्माण–शक्तियाँ रखते हैं, हाथ दाँत, मुख और उदर की शक्तियाँ रखते हैं यानी चवर्ण, भक्षण आदि शक्तियाँ रखते हैं तथा जिनके भालू, ऊँट, बकरी और सर्प के सदृश मुख हैं, ऐसे प्रमथों का गण उन महादेवजी के क्रीडन में सहायक है ॥१५॥ तीन नेत्रों के कारण चमक रहे मुखवाले उन महादेवजी के जिस प्रकार सर्वागों में सर्वविध शक्तियों से समन्वित प्रमथगण क्रीडा सहायक परिवार है, उसी प्रकार सर्वांगों में सर्वशक्तिसमन्वित निर्मल कान्तिवाली दूसरी–दूसरी नाना प्रकार की आकृति और मुखवाली माताएँ भी क्रीडा में सहायक परिवार हैं ॥१६॥ भूतगणों के ऊपर आधिपत्य रखने के कारण उनसे (भूतगणों से) नमस्कृत तथा चौदह भुवनों में उत्पन्न होनेवाले असंख्य प्राणियों का ही भोजन करने वाली मातृकाएँ उस देवाधिदेव के सामने नृत्य करती हैं ॥१७॥ उन मातृकाओं के मुखों की गदहे और ऊँटों के मुखों के सदृश आकृतियाँ है, रक्त, मेद और चर्बी उनका आसव के सदृश सर्वदा पेयपदार्थ है। चारों दिशाओं में वे विहार करती हैं और शव के हाथ, पैर आदि की मालाएँ पहनती हैं ॥१८॥ ये मातृकाएँ पहाड़ों की चोटियों पर, आकाश में, अन्य लोकों में, गर्तों में भी प्राणियों के शरीरों में निवास करती हैं ॥१९॥ जया, विजया, जयन्ती, अपराजिता, सिद्धा, रक्ता, अलम्बुसा और उत्पला – ये आठ मातृदेवियाँ सभी माताओं में मुख्य हैं। अन्य माताएँ इन्हीं आठों का अनुगमन करती हैं और उनका अनुगमन करनेवाली अन्य मातृदेवियों का और दूसरी माताएँ अनुगमन करती हैं ॥२०,२१॥ हे मानद मुनिनायक, महामहिमशाली उस मातृगण के बीच में 'अलम्बुसा' नामक सातवीं माता अत्यन्त विख्यात है ॥२२॥ वैष्णवी–शक्ति के वाहन गरुड़ की नाईं उस 'अलम्बुसा–शक्ति' का वाहन कौआ है, यह इन्द्रनील पर्वत के सदृश नीला है, इसका मुख वज्रतुल्य हड्डी से बना है तथा नाम है – चण्ड ॥२३॥ किसी समय विहारवश भयंकर चेष्टाकारिणी, अष्टसिद्धियों से संपन्न वे सब माताएँ आकाश में इकट्ठी हुई ॥२४॥ वाममार्ग में प्रतिपादित पराशक्ति के आराधन–प्रकार में निष्ठा रखनेवाली इन आठ मातृदेवियों ने तुम्बुरुनामक रुद्रमूर्ति का आराध्यरूप से आश्रय लेकर एकाग्रचित्त से समाधि में परमार्थभूत स्व–स्वरूप का प्रकाशन करनेवाला उत्तम पानोत्सव मनाया ॥२५॥ वे माताएँ, समस्त जगत के पूज्य तुम्बुरु और भैरवनामक देवताओं का पूजन अर्चन कर मदिरामद से सन्तुष्ट होती हुई आपस में चित्र–विचित्र अर्थों से पूर्ण वार्तालाप करने लगीं ॥२६॥ तदनन्तर उनकी कथाओं के प्रसंग से यह एक बात उठी कि भगवान उमापति हम लोगों को क्यों तिरस्कारपूर्वक देखा करते हैं ॥२७॥ इसलिए महादेवजी को हम लोग अपना वह प्रभाव दिखलाएँ, जिससे कि हम लोगों की महाशक्ति देखकर वे हमारी अवहेलना न करेंगे ॥२८॥ यों निश्चय कर परस्पर अभिनन्दित उन देवियों ने रूपान्तर में परिणत किये गये मुख आदि अंगोवाली रुद्रशक्ति उमा को अपने अधीन बनाकर, यज्ञ में पशु की नाईं, मन्त्रसहित जल से प्रोक्षित (बलि के संस्कार से युक्त) किया ॥२९॥ अनन्तर उन देवियों ने महादेवजी के अंश से माया द्वारा चुराई गई तथा मातृदेवियों के बीच में प्राप्त हुई चंचल केशवाली उमा को ओदनरूप (सबके भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और पेयरूप) बनाने के लिए मानों अभिशाप

दिया ॥३०॥ जिस दिन पार्वतीजी का प्रोक्षण किया, उस दिन वहाँ उन सब देवियों ने नृत्य, गेय आदि से मनोहर महान उत्सव मनाया ॥३१॥ अत्यन्त आनन्द और उन्नत घोष से युक्त आकाश-मण्डल ही उस समय जगमगाने लगा तथा उन देवियों की जंघा और उदर दीर्घ अंगों के उच्चावच प्रक्षेप से विकसित होने लगे ॥३२॥ पर्वत और अरण्यों को शब्दित कर रही कुछ अन्य देवियाँ करताल और सिंहनाद के कारण उद्दाम घनीभूत शब्द के उच्चार तथा कान्तियुक्त अंगों के विकारपूर्वक हँसने लगीं ॥३३॥ जगत-मण्डल की गुहा में मद्यपान से अतितृप्त हुई कुछ मातृकाएँ पर्वत एवं घरों को ध्वनियुक्त बनाती हुई, चन्द्र के उदयरागसे रंजित अतएव शब्दयुक्त हुए समुद्र,जल के सदृश, गर्जना करने लगीं ॥३४॥ लीला से जनित घुरघुर शब्दों से आकाश के कोने में कुछ देवियाँ मस्तक से लेकर खुरपर्यन्त अंगों को रक्त, चर्बी, आसव आदि से पुष्ट करने के लिए मद्यपान कर रही थीं ॥३५॥

उनके कुछ उन्मत्त वृत्तान्तों का कथन करते हुए प्रकृत विषय का उपसंहार करते हैं।

कुछ देवियाँ पेय पदार्थ पीने लगीं, कुछ तो उच्च स्वर से गर्जने लगीं, कुछ जल्दी से जाने लगीं, कुछ बोलने लगीं, कुछ हँसने लगीं, कुछ परस्पर रक्षा करने लगीं, कुछ एक दूसरे के मुख में या अग्नि में होमने लगीं, कुछ गिरने लगीं, कुछ ऊँचे से बड़बड़ाने लगीं, कुछ निरन्तर नाचने लगीं, कुछ स्वादु मांस खाने लगीं, यों उन्होंने उन्मत्त आचरण होकर त्रिभुवन को अपने व्यापार से सद्वर्तन से रहित कर दिया ॥३६॥

अठारहवाँ सर्ग समाप्त

उन्नीसवाँ सर्ग

ब्रह्माणी की हंसी में चण्डनामक कौए के सम्बन्ध से भाईयों के साथ अपनी (भुशुण्ड की) उत्पत्ति, उसी ब्राह्मशक्ति के प्रसाद से ज्ञान और पिता के स्थान की प्राप्ति का वर्णन।

वायसराज भुशुण्ड ने कहा : ब्रह्मन, जब उन मातृकाओं का उत्सव चल रहा था, तब उनके उत्तम वाहनरूप चण्ड आदि भी उसी प्रकार उन्मत्त होकर हँसते थे, नाचते थे और रुधिर का पान भी करते थे ॥१॥ उस उत्सव में मद्यपान से उन्मत्त हुई कुछ ब्राह्मीशक्ति के रथ में जुतनेवाली हँसियाँ और 'अलम्बुसा' देवी का वाहन चण्डनामक कौआ – ये सब आकाश प्रदेश में इकट्ठे होकर नाचने लगे ॥२॥ समुद्रतट की समथल भूमि में भली प्रकार नृत्य और मद्यपान कर रही उन हँसियों को पुरुष-विषयक अनुराग उत्पन्न हुआ। *(इस श्लोक में 'अब्धितटानां तले' इससे उद्दीपन विभाव का कथन किया गया है, यह जानना चाहिए।)* ॥३॥ तदनन्तर उस समय उत्पन्न-रति वे सभी हँसियाँ उन्मत्त होकर क्रमशः निकृष्टजातीय भी कौए के साथ रमण करने लगीं, क्योंकि वे मत्त ही तो थीं। *(ऊँची जाति की हँसियों की रति अपने से निकृष्ट जाति कौए के साथ यद्यपि अनुचित है, तथापि उसके होने में एकमात्र कारण उन्माद ही है, यह सूचन करने के लिए इस श्लोक में 'अपि' शब्द का प्रयोग किया है।)* ॥४॥ सात कुलहँसियों के वल्लभ इस चण्डनामक कौए ने क्रम से एक-एक हँसी के साथ तब तक रमण किया, जब तक कि एक दूसरे की इच्छा पर्याप्तरूप से शान्त नहीं हुई ॥५॥ रति से तृप्त हुई उन हँसियों ने गर्भधारण किया और वे देवियाँ उत्सव-कार्य सम्पादित हो जाने के अनन्तर अपनी ही माया का विलास समझकर क्रोध न करनेवाले महादेवजी के पास पहुँची ॥६॥ और उन देवियों ने

भोजन के लिए शूलपाणि महादेवजी को प्रिय उमा समर्पित की, जो ओदनरूपता (भात) को प्राप्त हुई थी ॥७॥ भोजन में मेरी प्रिया ही दी गई है, यों जानकर जब महादेवजी मातृकाओं के प्रति रूष्ट हुए, तब उन्होंने अपने–अपने अंगों से सिर आदि एक–एक अवयव की कल्पना द्वारा पार्वती का पुनः उत्पादन कर महादेवजी को फिर पाणिग्रहण विधि से उसे समर्पित किया ॥८,९॥ अनन्तर देवियाँ, महादेवजी और उनका परिवार – ये सब सन्तुष्टमन होकर अपनी–अपनी दिशा की ओर चल दिये ॥१०॥ हे मुनीश्वर, वे ब्राह्मीशक्ति के रथ की हँसियाँ गर्भवती हुई थीं, उन्होंने ब्राह्मी देवी के समीप में अपना यथास्थित वृत्तान्त कह दिया ॥११॥ ब्राह्मीशक्ति ने कहा : पुत्रियों, इस समय गर्भवती तुम सब मेरे रथकार्य के लिए असमर्थ हो, इसलिए अब यथेष्ट विचरण करो ॥१२॥ गर्भ से अलसाई हुई उन हँसियों को वैसा कहकर दयालु ब्राह्मी देवी – उनके ऊपर अनुग्रह के लिए विहार छोड़कर– निर्विकल्प समाधि में ही सुखपूर्वक स्थित हुई ॥१३॥ हे मुनीश्वर, गर्भधारण से अलसाई हुई वे राजहँसियाँ भगवान विष्णु के नाभिकमल के मूल में ब्रह्मा के कमल की उत्पत्ति–स्थान में विचरण करने लगीं ॥१४॥ तदनन्तर उस प्रकार विचरण करती हुई उन राजहँसियों का गर्भ परिपक्व हो गया। उन्होंने नाभिकमल के कोमल पल्लव में उस प्रकार मुलायम अण्डे दिये, जिस प्रकार वल्लियाँ अंकुर देती हैं ॥१५॥ अनन्तर समय पाकर उन्होंने इक्कीस अण्डे दिये और यथासमय भीतरी गर्भ पक जाने पर हँसियों के पग के प्रहार द्वारा वे उस प्रकार द्विधा विभक्त हो गये, जिस प्रकार सारयुक्त ब्रह्माण्ड सुवर्ण और चाँदी के खप्परों द्वारा द्विधा विभक्त हो जाता है ॥१६॥

हे मुने, उस प्रकार उन अण्डों के द्वारा ये हम चण्ड के पुत्र इक्कीस भाई कौए की जाति में उत्पन्न हुए ॥१७॥ उस कमल के पल्लव के ऊपर हुए वे हम क्रमशः बड़े हुए, हम लोगों को पंख आए और आकाश में उड़ने में समर्थ भी हुए ॥१८॥

तुमने तत्त्व कैसे जाना ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए उपक्रम करते हैं।

महर्षे, हम लोगों ने अपनी माता हँसियों के साथ दीर्घकाल तक समाधि से विरत हुई भगवती ब्राह्मीदेवी की भलीप्रकार आराधना की ॥१९॥ अनन्तर उपयुक्त समय आने पर प्रसाद करने में तत्पर हुई भगवती ब्राह्मी ने स्वयं ही हम लोगों के ऊपर तत्त्वसाक्षात्काररूप फल के द्वारा वैसा अनुग्रह किया, जिससे हम लोग जीवन्मुक्त होकर स्थित हैं ॥२०॥ हम लोगों का मन विलीन हो गया, इसलिए 'एकान्त प्रदेश में उपद्रवशून्य होकर समाधि में ही स्थित रहें' ऐसा निश्चय करके हम लोग अपने पिताजी के पास विन्ध्य–प्रदेश में गये ॥२१॥ वहाँ पिताजी ने हम लोगों का आलिंगन किया और तदनन्तर हम सबने भगवती अलम्बुसा की पूजा की। प्रसन्नतापूर्वक उस देवी के द्वारा देखे गये हम लोग विनय आदि सद्गुणों से नियन्त्रित होकर वहाँ रहने लगे ॥२२॥ पिता चण्ड ने कहा : 'हे पुत्रों, क्या तुम लोग इस संसाररूपी जाल से, जो असीम वासनारूपी तन्तुओं से गुँथी गयी है, मुक्त हो चुके हो ? यदि नहीं, तो उससे छुटकारा पाने के लिए सेवकवत्सल इस भगवती अलम्बुसा की हम प्रार्थना करें, जिससे तुम सब ज्ञान में पारंगत हो जाओगे ॥२३,२४॥ कौओं ने कहा : हे पिताजी, ब्राह्मीदेवी के प्रसाद से हम लोगों ने ज्ञातव्य विषय का भली–भाँति ज्ञान कर लिया है, किन्तु एकान्त में वास करने योग्य उत्तम स्थान की हम लोगों को अभिलाषा है ॥२५॥ पिता चण्ड ने कहा : हे पुत्रों, एक मेरुनामक अत्यन्त ऊँचा पर्वत है,

वह भाँति-भाँति के अनेक रत्नों का आधार है, उसका संपूर्ण देवता आश्रय करते हैं ॥२६॥ प्रकाशमान चन्द्र और सूर्यरूपी दीपक से युक्त अनेकविध प्राणियों के कारण विस्तृत हुए कुटुम्ब से परिवेष्टित ब्रह्माण्डरूपी घर का वह सुवर्णनिर्मित मध्यस्तंभ है ॥२७॥ वह पृथ्वी के द्वारा ऊपर को उठाया गया मानों एक हाथ है । उस हाथ में किंपुरुष आदि देश ही चन्द्राकृति सुवर्ण निर्मित केयूर हैं, रत्नरूप अँगूठियों से सुशोभित शिखर ही अंगुलियाँ है और शब्द कर रहे द्वीप और समुद्र ही कंकण हैं ॥२८॥ वह पर्वतों का राजा है, उसके चारों ओर हिमालय आदि सात कुलपर्वत सामन्तरूप से विराजित हैं; वह जम्बूद्वीप सिंहासन के ऊपर विराजमान है और पर्वतों की सभा में चन्द्र एवं सूर्यरूपी नेत्रों से दृष्टिपात करता है । तारावली (तारकाओं की पंक्ति) ही उसकी मालती-माला है, दिशारूपी पल्लवों से सुशोभित आकाश ही उसका एकमात्र वस्त्र है, वह सर्प और हाथी-इन दोनों का आश्रय-स्थान है, इन्द्र, उपेन्द्र आदि देवराज ही उसके आभूषण हैं ॥२९,३०॥ कमनीय दिशारूपी कामिनियाँ उसके चारों ओर जल की धारा युक्त शीतल अंगभूषण मेघरूप नील, श्वेत आदि चामर डुलाती हैं ॥३१॥ इसके पैर सोलह हजार योजन नीचे पृथ्वी में अवस्थित हैं, जिनकी नाग, असुर और बड़े-बड़े सर्प पूजा करते हैं ॥३२॥ इसकी देह सूर्य और चन्द्ररूप लोचनों से युक्त तथा अस्सी हजार योजन ऊँची स्वर्ग-स्थान तक पहुँची है, वहाँ देवता, गन्धर्व एवं किन्नर उसकी पूजा करते हैं ॥३३॥ इस पर्वतराज का आश्रय लेकर ब्रह्मर्षि, देवर्षि, राजर्षि, देव, पितर, गन्धर्व, किन्नर, अप्सराएँ, विद्याधर, यक्ष, राक्षस, प्रमथ, गुह्यक और नाग-ये चौदह प्रकार के प्राणी उस प्रकार जीवन निर्वाह करते हैं, जिस प्रकार प्रधान गृहपति का आश्रय कर इतर बन्धुगण जीवन-निर्वाह करते हैं । यह इतना बड़ा विस्तृत है कि वे एकत्र रहने पर भी एक-दूसरे का नगर या स्थान नहीं देख पाते ॥३४॥ इसके ईशानकोण में माणिक का बना हुआ एक विशाल शिखर है, जिसे देखने से ऐसा प्रतीत होता है मानों दूसरा उदित हुआ सूर्य ही हो ॥३५॥ इसके पृष्ठभाग में अनेकविध प्राणियों से परिवृत एक महान कल्पवृक्ष स्थित है, जो कि शिखररूपी विद्रुम-दर्पण में जगत के प्रतिबिम्ब की नाईं प्रतीत होता है ॥३६॥ उसके दक्षिण तने पर एक शाखा है, जिसमें कनक के सदृश पीले पल्लव लगे हुए हैं, रत्नों के सदृश चमकीले पुष्प-गुच्छों के कारण तनिक भी अवकाश नहीं है और चन्द्रबिम्ब के सदृश प्रकाशमान फल भरे पड़े हैं ॥३७॥ हे पुत्रों, पहले जिस समय भगवती अलम्बुसादेवी ध्यान में आसीन थीं, उस समय मैंने चमकीली मणियों से जड़ा हुआ उस शाखा के ऊपर एक घोंसला बनाया और उसमें विलास किया ॥३८॥ वह घोंसला रत्नसदृश चमकीले पुष्पों की पँखुड़ियों से ढँका हुआ है, अमृत के समान स्वादु फलों से परिपूर्ण है और चिन्तामणि की शलाकाओं से उसके बाहरी दरवाजों की रचना की गई है ॥३९॥ वह (घोंसला) विचारपूर्वक व्यवहार करनेवाले कौओं के पुत्रों से व्याप्त है तथा भीतर से अत्यन्त शीतल, मनोहारी और भाँति-भाँति के पुष्पों से पूरित है ॥४०॥ हे प्यारे बच्चों, देवताओं से भी दुर्गम उस सुन्दर घोंसले पर तुम लोग जाओ, वहाँ निवास किये हुए तुम लोग निर्विघ्न एवं पर्याप्तरूप से भोग और मोक्ष दोनों को प्राप्त करोगे ॥४१॥ इस प्रकार कहकर हमारे पिता ने हम लोगों का चुम्बन और आलिंगन किया तथा भगवती के पास जो मांस लाया गया था, उसे भी हमें दिया ॥४२॥ उसे खाकर भगवती और पिताजी के चरणों में अभिवन्दन कर अलम्बुसा के निवासस्थान उस विन्ध्यप्रदेश से हम उड़ गये ॥४३॥ क्रमशः आकाश का उल्लंघन कर, मेघों के कोटरों से निकल

कर, पवन–लोक प्राप्त कर हम लोगों ने व्योमचारी देवताओं को प्रणाम किया ॥४४॥ हे मुनीश्वर, (इसके बाद हम लोग) सूर्य–मण्डल का अतिक्रमण कर स्वर्ग के अमरावती नगर में पहुँचे। स्वर्ग का अतिक्रमण कर ब्रह्मलोक में पहुँचे ॥४५॥ वहाँ पहुँचकर (हम लोगों ने) तत्क्षण ही माता और भगवती ब्राह्मीदेवी को प्रणामपूर्वक पिता द्वारा कथित अशेष वृत्तान्त अक्षरशः कह सुनाया ॥४६॥ उन्होंने स्नेहपूर्वक हम लोगों का आलिंगन किया और 'जाओ' यों आज्ञा तथा आर्शीवाद देकर उत्साहित किया। अनन्तर उन्हें प्रणाम कर हम लोग ब्रह्मलोक से चल पड़े ॥४७॥ आकाश–विहार में निपुण, अतिचपल हम लोग वायुलोक में गमन करते हुए सूर्य के सदृश देदीप्यमान लोकपालों की नगरियों का अतिक्रमण कर इस कल्पतरु पर आये और अपने घोंसले में प्रविष्ट हुए। हे मुने, यहाँ पर हम लोगों से समस्त बाधाएँ दूर रहती हैं और हम सदा समाधि में अवस्थित रहते हैं ॥४८,४९॥

कहे गये वृत्तान्त का उपसंहार करते हैं।

हे महानुभाव, 'तुम किस कुल में उत्पन्न हुए ?' 'किस तरह ज्ञातज्ञेय हुए ?' और 'तुम्हें यह निवास कैसे प्राप्त हुआ ?'– ये जो तीन प्रश्न आपने पहले किये थे, उसके उत्तर में जिस प्रकार हम उत्पन्न हुए, जिस प्रकार यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर हम लोग शान्त–बुद्धि होकर स्थित हुए एवं इस नीड में जिस रीति से हम लोग आये, यह सब वृत्तान्त आपको अविकलरूप से भली प्रकार कह सुनाया, इसके बाद 'तुम्हारी कितनी आयु है ?' और 'क्या अतीत वृत्तान्त जानते हो ?'–इन दो प्रश्नों के उत्तररूप से यदि आप कहने के लिए हमें आज्ञा देंगे, तो उसे भी मैं आपसे कहूँगा ॥५०॥

उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

बीसवाँ सर्ग

प्रत्येक कल्प में जगत की समता, भाईयों की मृत्यु और
प्रलयकाल में भी अपने चित्त की स्थिरता का भुशुण्ड द्वारा वर्णन।

'वृत्तं स्मरसि किंच वा', इस प्रश्न का विस्तार से उत्तर देने की इच्छावाला और 'इमं कल्पतरुं प्राप्य निजं नीडं प्रविश्य च' इत्यादि वृत्तान्त में पूर्वापर विरोध की शंका न हो जाय, इसलिए प्रत्येक कल्प में अवयवों की समता होने के कारण कल्पवृक्ष, मेरु आदि की एकता कही जाती है – यह आशय बतलाते हैं।

भुशुण्ड ने कहा : महाराज वसिष्ठजी, हम लोगों के जन्मनिमित्त कल्प में चिरकाल तक जो कुछ पदार्थसमूहात्मक जगत स्थित था, वह सब अवयवसंस्थान आदि आकृति–विशेषों से इस कल्प के पदार्थों के सदृश ही था, अतः वह आज भी अभेद आरोप से सन्निहित ही है, इसलिए बुद्धिपूर्वक ही 'इमं कल्पतरूम्' इत्यादि निर्देश किया गया है ॥१॥ इसलिए हे मुनीन्द्र, यद्यपि यह वृत्तान्त भूतकालीन है, तथापि 'जगत भ्रान्तिमात्र है' यों अभ्यास होने के कारण पूर्वजन्म की समता देखनेवाले मैंने बोध के लिए उसका, वर्तमान जगत के साथ एकता मानकर ही, वर्णन किया है ॥२॥

अब, लम्बी कथा का उपक्रम करने पर पूजा में विलम्ब न हो जाय, इसलिए पहले पूजन–स्वीकार की प्रार्थना करने के लिए स्तुति द्वारा महर्षि को अभिमुख करते हैं।

हे मुने, चूँकि दीर्घकाल से संचित किये गये मेरे पुण्य आज सफल हो गये, इसीलिए निर्विघ्नतापूर्वक आपका मैं दर्शन कर रहा हूँ ॥३॥ मुनिवर ! यह नीड़, यह शाखा, यह मैं, यह कल्पवृक्ष – ये सब आज आपके दर्शन से अत्यंत पवित्र हो गये ॥४॥ मुनिवर, विहंगों (पक्षियों) द्वारा समर्पित इस अर्घ्य और पाद्य का स्वीकार कर एवं हम लोगों को पवित्र बनाकर आप अवशिष्ट सेवा के निमित्त कुछ और प्रश्न कहने के लिए आज्ञा दीजिए ॥५॥ वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, दूसरी बार स्वयं उस भुशुण्ड पक्षी के द्वारा अर्घ्य, पाद्य देने पर मैंने यह कहा ॥६॥ हे पक्षिराज, वैसे बली और महाबुद्धिमान तुम्हारे वे भाई यहाँ क्यों नहीं दिखाई देते, तुम अकेले ही क्यों दिखाई देते हो ? ॥७॥ भुशुण्ड ने कहा : मुनिवर, हम लोगों को यहाँ रहते महान काल बीत गया। हे अनघ, दिवस-पंक्तियों की नाईं युगों की पंक्तियाँ क्षीण हो गई ॥८॥ इतना लम्बा काल होने के कारण सभी मेरे भाई, तृण के सदृश, शरीर छोड़कर शिवपद में परिणत हो गये ॥९॥ ब्रह्मन्, यद्यपि दीर्घायु हों, महान हों, सज्जन हों, बलवान हों, सभी को यह अलक्षितस्वरूपवाला काल अपने उदर में समा लेता है ॥१०॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : प्रिय पक्षिराज, माला की नाईं अपने कन्धे पर बारह सूर्य और चन्द्रमा को ढोनेवाले तथा प्रवह आदि वातस्कन्धों का अतिक्रमण करनेवाले प्रलय-वायुओं के अविरत बहने पर क्या तुम्हें खेद नहीं होता ? ॥११॥ भुशुण्डजी, चिरकाल से अत्यन्त आसन्न उदयाचल और अस्ताचल के अरण्यों को दग्ध कर देनेवाले सूर्य-किरणों से क्या तुम्हें खेद नहीं होता ? ॥१२॥ वायसराज, जल को पाषाण के सदृश कठोर बना देनेवाले शीतल चन्द्रकिरणों और निकट प्रलय के लिए हो रहे पाषाण के पतनों से क्या तुम्हें खेद नहीं होता ? ॥१३॥ प्रियवर, मेरु-शिखर पर विश्रान्ति किये प्रलयकालीन मेघ-मण्डलों से तथा परशु की धारा को भी क्षत कर देनेवाले शिलासदृश घनीभूत कुहरे से क्या तुम्हें खेद नहीं होता ? ॥१४॥ अत्यन्त ऊँचे स्थान पर स्थित हुआ यह उन्नत कल्पवृक्ष जगत के विषम क्षोभों से क्यों क्षुब्ध नहीं होता ? ॥१५॥

कठिन समय आने पर जब बड़े-बड़े लोगों को भी क्षोभ हो सकता है, तब पक्षी जैसी अधम योनि में उत्पन्न हुए मेरी तो बात ही क्या ? तथापि विवेक की सामर्थ्य से खेद नहीं होता, यों कहने के लिए दूसरों के जीवन की अपेक्षा अपनी जाति के पक्षियों के जीवन की क्षुद्रता बतलाते हैं।

भुशुण्ड ने कहा : ब्रह्मन्, आकाश में आश्रित और सभी लोगों से तिरस्कृत यह पक्षियों का जीवन सब प्राणियों में अत्यन्त तुच्छ है ॥१६॥ ऐसी तुच्छ योनियों के लिए भी विधाता ने झरनों, वनों और शून्यसदृश आकाश में प्रीतिपूर्वक जो जीविका की कल्पना की है, यह अत्यन्त आश्चर्य का विषय है ॥१७॥ भगवन्, इस तुच्छ जाति में उत्पन्न, चिरकाल से जीवन बीता रहा और आशारूपी पाशों से निरन्तर बद्ध एक पक्षी किस तरह शोकवर्जित हो सकता है ? ॥१८॥ भगवन्, तथापि हम अपनी आत्मा में ही सदा सन्तोष मानकर अवस्थित हैं, इसलिए उत्पन्न हुए विभ्रमों से कभी भी परमार्थसत्ता से रहित इस जगत में मुग्ध नहीं होते ॥१९॥ ब्रह्मन्, हम लोग अपने सत्तास्वभाव में ही सन्तुष्ट रहते हैं, कष्ट पहुँचानेवाले परपीडन-व्यापारों से निर्मुक्त होकर अपने निवासस्थान इस घोंसले में रहते हुए केवल कालयापन करते हैं ॥२०॥ महाराज, हम लोग अपने जीवन से न देह की ऐहिक या आमुष्मिक फल के लिए कोई क्रिया चाहते हैं और मरण से न देह का विनाश ही चाहते

हैं। जिस तरह वर्तमान में नित्यसिद्ध निरतिशयात्मरूप से पूर्णकाम होकर स्थित रहते हैं, उसी तरह आगे भी स्थित रहेंगे ॥२१॥ महर्षे, हमने प्राणियों की जन्म, मरण आदि अनर्थ–दशाएँ देख लीं और मिथ्यात्व–निर्णायक स्वप्न आदि दृष्टान्त–दृष्टियाँ भी देख ली तथा हमारे मनने अपना चंचल स्वरूप भी सदा के लिए भली प्रकार त्याग दिया है ॥२२॥

कल्पवृक्ष के प्रभाव से ही कल्प–समाप्ति तक हम लोगों को खेद नहीं होता, यह कहते हैं।

निरन्तर शान्ति देनेवाले अविनाशी स्व–स्वरूप प्रकाश में स्थित होकर मैं इस कल्पवृक्ष के ऊपर सदा काल की कलन गति जानता रहता हूँ ॥२३॥

प्रकाश अधिक होने के कारण जब दिन और रात का विभाग ही ज्ञात नहीं हो सकता, तब यहाँ स्थित होकर तुम काल की कलनगति कैसे जानते हो ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

चमकीले रत्नों के प्रकाश से पूर्ण कल्पलता–गृह में उपस्थित होकर मैं प्राणायाम के प्रवाह से यानी स्वरोदयशास्त्र में बतलाये गये उपाय से अखण्डित कल्प जान लेता हूँ ॥२४॥ मुनिवर, दिन और रात जाने बिना ही इस उन्नत शिखर पर अपनी बुद्धि से ही लोकों के कालक्रम की स्थिति जानता रहता हूँ ॥२५॥

मन की स्थिरता के बल से मुझे खेद नहीं प्रतीत होता, इस आशय से कहते हैं।

मुनिवर, यह सारभूत वस्तु है और यह असारभूत वस्तु है, इस प्रकार के विवेकयुक्त बोध से उत्तम शान्ति को प्राप्त हुआ मेरा मन चंचलताशून्य, शान्त और भली प्रकार स्थिर है ॥२६॥ सांसारिक व्यवहारों से जनित असत्‌रूप आशारूपी पाशों से जिस प्रकार अल्पध्वनियों से प्राकृत काक भयग्रस्त हो जाता है, उस प्रकार मैं भयग्रस्त नहीं होता ॥२७॥

धैर्य के कारण भी हमें खेद प्राप्त नहीं होता, यों कहते हैं।

निरतिशय शान्ति पहुँचानेवाली और आत्मप्रकाश से शीतल हुई बुद्धि से जगत की माया देख रहे हम लोग धीरता को प्राप्त हुए हैं ॥२८॥ हे महाबुद्धे, दशाक्रम के अनुसार भयंकर दशाएँ भी प्राप्त हो जाय, तथापि स्थिर बुद्धिवाले हम, निश्चल पत्थर के सदृश, स्थिराकृति होकर अवस्थित रहते हैं ॥२९॥

जगत–तत्त्व के पुनः विमर्शबल से भी खेद नहीं होता, यों कहते हैं।

प्रारम्भ में रमणीय दीख पड़नेवाली, तरल इस संसार–स्थिति का बार–बार परामर्श किया जा चुका है, अतः वह हमें कुछ बाधा नहीं पहुँचाती ॥३०॥

'जातस्य ही ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' (उत्पन्न हुआ निश्चित मरता है दुःख अपरिहार्य है, यों निश्चय होने के कारण भी भयप्राप्ति नहीं होती, यों कहते हैं।

भगवन्, सभी प्राणी व्यवहारदृष्टि से आते हैं और जाते हैं अथवा परमार्थदृष्टि से न आते हैं और न जाते हैं, इसलिए हम लोगों को यहाँ भय ही क्या ॥३१॥

तत्त्वज्ञस्वरूप अपने में तटस्थता, समस्त भूतों के संसार का द्रष्टृत्व और संसार के प्रति आदर का अभाव होने से भी भय की प्रसक्ति नहीं है, ऐसा कहते हैं।

कालसागर में प्रवेश कर रही, प्राणि–समूह तरंगों से युक्त संसार–सरिता के तटपर अवस्थित हुए भी हम लोग उसमें आदर नहीं करते ॥३२॥ महर्षे, इस वृक्ष पर उपस्थित हुए हम लोग प्राप्त

वस्तुओं का न परित्याग करते हैं, एवं न अप्राप्त वस्तु के ग्रहण की चेष्टा ही करते हैं; व्यवहार दृष्टि से स्थित हैं एवं परमार्थदृष्टि से स्थित नहीं भी हैं। हम लोग एकमात्र व्यवहार की सिद्धि के लिए, कण्टकाकीर्ण भूमि की नाईं, सावधानी से चलने के कारण कोमल पगवाले हैं और तत्त्वदृष्टि से संसार का उच्छेदन कर देने के कारण क्रूर भी हैं ॥३३॥

बड़े लोगों के अनुग्रह से भी हम लोगों को खेद-प्राप्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

शोक, भय और आयास से वर्जित आपके सदृश सन्तुष्ट उत्तम पुरुष हम लोगों पर सदा अनुग्रह करते हैं, इसलिए भी हम लोग सदा दुःखों से निर्मुक्त होकर अवस्थित हैं ॥३४॥ भगवन्, व्यवहार चलाने के लिए इधर-उधर प्रेरित हुआ भी हम लोगों का मन राग आदि वृत्तियों में निमग्न और तत्त्व विचार से शून्य कभी भी नहीं रहता ॥३५॥ अपनी आत्मा के निर्विकार, क्षोभशून्य और शान्त हो जाने के कारण चिद्रूप (चारों ओर से ब्रह्माकार वृत्तिरूप चन्द्रमा का उदय होने पर उत्कट हुए बोधस्वरूप) तरंगवाले हम लोग, पूर्णिमा आदि पर्वकाल में समुद्र की नाईं, प्रबुद्ध हो गये हैं ॥३६॥ भगवन्, जिस अमृत के लिए मन्दराचल द्वारा सर्वांगों से क्षुब्ध हुए क्षीर-सागर का मंथन किया जाता है, आपके उसी अमृतरूपा आगमन से हम लोग अत्यन्त प्रसन्नचित्त हो गये हैं ॥३७॥ समस्त एषणाओं की तिलांजलि देनेवाले सन्त, महात्मा अपने आगमन आदि से हम पर जो अनुग्रह करते हैं, मैं अपनी आत्मा का इससे अधिक दूसरा कुशल नहीं मानता ॥३८॥ ऊपर-ऊपर से रमणीय दिखाई पड़नेवाले विषय-भोगों से क्या प्राप्त होता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं। सत्संगरूपी चिन्तामणि से तो समस्त सारभूत ज्ञानवस्तु प्राप्त होती है ॥३९॥ हे मुनिवर, स्नेहपूर्ण, गम्भीर; मधुर, उदार और धीर वाणीवाले एकमात्र आप ही इस त्रिभुवनरूपी कमल की कली में भ्रमर के सदृश हैं ॥४०॥ साधो, यद्यपि मैंने परमात्मा को जान लिया है और आपके दर्शन से मेरे समस्त पाप नष्ट हो चुके, तथापि चूँकि महात्माओं का समागम भयों का अपहरण करनेवाला है इसलिए, यहाँ आज मेरा जन्म सफल (निरतिशय आनन्दरूप फल से युक्त) हुआ, ऐसा मैं मानता हूँ ॥४१॥

बीसवाँ सर्ग समाप्त

इक्कीसवाँ सर्ग

कल्पवृक्ष का माहात्म्य, प्रलय में वारुणी आदि धारणाओं द्वारा अपनी स्थिति, ईश्वरीय नियमिका शक्ति और अनेक चित्र-विचित्र अर्थों के स्मरण का वर्णन।

अपने आश्रय कल्पवृक्ष के माहात्म्य वर्णनप्रसंग में युगविनाश काल में जनित उपद्रवों से अपने को क्लेश की प्राप्ति नहीं होती, यों कहते हुए 'वृत्तं स्मरसि किं च वा' इत्यादि प्रश्न का उत्तर देने के लिए पक्षिराज भुशुण्ड वक्तव्य का उपक्रम करते हैं।

भुशुण्ड ने कहा : महाराज वसिष्ठजी, युग समाप्ति के महान उपद्रवों में और भयंकर महापवनों में भी यह कल्पवृक्ष अत्यन्त स्थिर रहता है, कभी भी कम्पित नहीं होता ॥१॥ हे साधो, अन्य लोकों में विहार करनेवाले सभी प्राणियों का यह अत्यन्त अगम्य स्थान है, अतः यहाँ हम लोग अत्यन्त सुखपूर्वक रहते हैं ॥२॥ मुनिवर, जिस समय हिरण्याक्ष ने सात द्वीपों से वेष्टित इस पृथ्वी का

वेगपूर्वक अपहरण किया था, उस समय पृथ्वी पर स्थित होने के कारण इसके भी हरण, कम्पन आदि की संभावना अवश्य थी, तथापि दिव्यप्रभाव की सामर्थ्य से इस कल्पवृक्ष में तनिक भी कम्पन नहीं हुआ ॥३॥ (वराह भगवान द्वारा किये गये पृथ्वी के उद्धार के समय) खम्भे की आधारभूत शिला की नाईं चारों ओर से समता के लिये आधाररूप से दिये गये पर्वतों से युक्त मेरुपर्वत जब कम्पित हुआ, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ॥४॥ दो भुजाओं के अवष्टम्भ (पकड़) से मेरु को दबाकर जब चतुर्भुज भगवान नारायण ने इतर दो हाथों द्वारा समुद्र से मन्दराचल का उद्धार किया, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ॥५॥ जब देवासुर संग्राम के कारण चन्द्र–मण्डल और सूर्य–मण्डल गिर गया था तथा जगत में अत्यन्त क्षोभ पैदा हो गया था, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ॥६॥ जब पर्वतराज की शिलाओं का उन्मूलन कर देनेवाले और मेरुपर्वत के अन्यान्य वृक्षों को कम्पित कर देनेवाले प्रलय–कालीन वायु बह रहे थे, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ॥७॥ क्षीर–सागर में चंचल हुए मन्दराचल की गुहाओं के वायुओं से मानों कम्पित हुई कल्पान्त की मेघपंक्तियाँ जब संचरण कर रही थी, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ॥८॥ जब (तारकासुर युद्ध में) कालनेमि की भुजाओं में मेरु पर्वत चारों ओर से उन्मूलित होकर अवस्थित था, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ था ॥९॥ जिनके कारण बड़े–बड़े सिद्ध गिर रहे थे, ऐसे पक्षिराज गरुड (☙) के पंखों के पवन जब अमृत हरण के युद्ध में बह रहे थे, तब भी यह वृक्ष गिरा नहीं ॥१०॥

आज भी जिसकी पृथ्वी धारणरूप चेष्टा समाप्त नहीं हुई है, ऐसी शेषाकृति को संकर्षण रुद्र जब प्राप्त हुए, तब और जब गरुड़जी पृथ्वी से उड़कर ब्रह्माण्ड को गये, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ॥११॥ प्रलयकाल में जब शेष ने फणाओं से, शैल, सागर एवं समस्त प्राणियों से सही न जानेवाली प्रलयाग्नि शिखाएँ बाहर निकालीं तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ। (पुराण में यह बात प्रसिद्ध है कि अन्त में प्रलय संकर्षण की मुखाग्नि से ही होता है।) ॥१२॥ हे मुनियों में सिंहरूप महाराज वसिष्ठजी, इस प्रकार के उत्तम वृक्ष पर निवास कर रहे हम लोगों को आपत्तियाँ कहाँ से हो सकती हैं, क्योंकि वे आपत्तियाँ दुष्टस्थान में निवास के कारण ही आती हैं ॥१३॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे महाबुद्धि पक्षिराज, कल्पान्त हेतु उत्पातवायुओं के, जो चन्द्रमा, नक्षत्र और सूर्य को गिरा देते हैं, बहने पर तुम चिन्तानिर्मुक्त होकर कैसे रहते हो ? (क्योंकि उस समय प्रलय में भूलोकपर्यन्त सबका दाह होने से मेरु, कल्पवृक्ष आदि से कभी भी परित्राण नहीं हो सकता।) ॥१४॥ भुशुण्ड ने कहा : भगवन्, जब सहस्र महायुगों के अन्त में जगत की अवस्था में व्यवहार गिर जाता है, तब सन्मित्र का परित्याग कर देनेवाले कृतघ्न की नाईं मैं इस घोंसले का परित्याग कर देता हूँ ॥१५॥ (उस समय मैं) समस्त कल्पनाओं का परित्याग कर और निश्चल स्वभाववाले अंगों से

(☙) गरुडस्य जातमात्रस्य सर्वे लोकाः प्रकम्पिताः। प्रकम्पिता मही सर्वा सप्तद्वीपाश्च कम्पिताः॥
तदुत्पातान्निमज्जन्तीं भुवं नावमिवाऽम्भसि। दधौ सहस्रैः शिरसां संकर्षणवपुर्हरः॥

'उत्पन्नमात्र गरुड को देखकर सब लोक कम्पित हुए, भूमि और सातों द्वीप काँपने लगे। इन उत्पातों से, जल में नाव की नाईं, डूब रही पृथ्वी का संकर्षण शरीर महादेवजी ने हजारों मस्तकों से धारण किया' इस कथा के अनुसार कहते हैं।

युक्त होकर एकमात्र आकाश में ही, वासनाशून्य मन की नाईं, स्थित रहता हूँ ॥१६॥

सामान्यतः कथित आकाश स्थिति का धारणा भेदों से विशेष उल्लेख करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी, प्रलय के समय में जब पर्वतों को खण्ड-खण्ड कर देनेवाले बारह आदित्य तपते हैं, तब मैं वरुणसम्बन्धी धारणा बाँधकर निश्चिंत होकर स्थित रहता हूँ। *(तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार जल के बीच रहनेवाले वरुण बाहर के ताप से जनित संताप का अनुभव नहीं करते, उसी प्रकार भुशुण्ड भी 'अत्यन्त शीतल समस्त दिग्मण्डल में व्यापी अपरिच्छिन्न जल स्वरूप वरुण ही मैं हूँ' इस प्रकार चित्त में निरन्तर वरुण भावना के द्वारा वरुणरूपताको प्राप्त होकर बाहर के सूर्यादि-तापजनित संताप का अनुभव नहीं करते थे)* ॥१७॥ जब प्रलयकाल में बड़े-बड़े पर्वतराजों को मर्दित कर देनेवाले प्रलयकालीन वायु बहते हैं, तब मैं पर्वतसम्बन्धिनी धारणा बाँधकर आकाश-मण्डल में अचल होकर स्थित रहता हूँ *(तात्पर्य यह है कि प्रलयकाल में पृथ्वी पर स्थित पर्वतों के विनाशी होने के कारण उन्हीं पर प्रलयकालीन वायुओं का आघात होता है, इसलिए प्रलयकालीन वायुओं से होनेवाले आघात के अविषय ब्रह्माण्ड के बहिर्भूत आकाश में साधारण वायु से भी क्षोभ न होने के लिए पर्वतसम्बन्धिनी धारणा बाँधकर मैं स्थित रहता हूँ)* ॥१८॥ जब प्रलयकाल में जगत, जिसमें मेरु आदि पर्वत गल जाते हैं, एक समुद्रस्वरूप हो जाता है, तब वायुसम्बन्धिनी धारणा बाँधकर एकमात्र वायु में ही तादात्म्य भाव करता हुआ निश्चित-बुद्धि होकर ऊपर तैरता रहता हूँ ॥१९॥

'उस प्रकार कितने समय तक तैरते रहते हो ?' इस शंका पर कहते हैं।

महाराज, ब्रह्माण्ड के पार को यानी स्थूल, सूक्ष्म और समष्टिरूप ब्रह्माण्ड के परम अवधिस्वरूप अव्याकृत को प्राप्त कर समस्त पदार्थों के अन्तभूत एवं निर्मल आत्मपद में निश्चलात्मक सुषुप्ति के सदृश एकरस निर्विकल्प समाधि-अवस्था से मैं तब तक स्थित रहता हूँ, जब तक कमलोद्भव ब्रह्मदेव पुनः अपने सृष्टिकर्म में प्रवृत्त नहीं होते। पुनः सृष्टिरूप व्यापार के होने पर ब्रह्माण्ड में प्रवेशकर इस कल्पवृक्ष के स्थानापन्न मैं अपने आलय में फिर स्थित हो जाता हूँ ॥२०,२१॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे पक्षीन्द्र, प्रलयकाल में तत्-तत् धारणाओं के द्वारा अखण्डित होकर जैसे तुम स्थित रहते हो, वैसे दूसरे योगी क्योंकर स्थित नहीं रहते, क्यों वे शरीर त्यागकर मुक्ति प्राप्त करते हैं ? ॥२२॥

इस विषय में तत्-तत् प्रबल प्रारब्ध का अनुसरण करनेवाली सत्यसंकल्प स्वरूपा ईश्वरनियति ही व्यवस्थापक है, दूसरा कोई नहीं; ऐसा कहते हैं।

भुशुण्ड ने कहा : हे ब्रह्मन्, चूँकि इस परमेश्वरीय नियामिका शक्ति का कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता, इसलिए हम इस प्रकार कल्पान्तों में स्थित रहते हैं और दूसरे (योगी) शरीरों का त्यागकर मुक्त हो जाते हैं ॥२३॥ महाराज, जो अवश्य भवितव्यता है, उसका बुद्धि से 'इदम्-इत्थमेव' इस प्रकार अवधारण नहीं कर सकते। जिस तरह के प्रारब्ध से जो जैसा प्राप्त होता है, वह वैसा ही रहता है। यह नियतिरूप स्वभाव का निश्चय है ॥२४॥

प्रत्येक कल्प में इस कल्पवृक्ष के निर्माण में भी भोगजनक अदृष्ट में हेतुभूत मेरा संकल्प ही कारण है, ऐसा कहते हैं।

कल्प-कल्प में बार-बार एकमात्र मेरे संकल्प से ही मेरुपर्वत के इसी शिखर पर इस तरह का यह

कल्पवृक्ष उत्पन्न होता है ॥२५॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, तुम्हारी आयु मोक्ष के सदृश अत्यन्त अपरिच्छिन्न है, तुम सुदूर भूतकालीन पदार्थों का निर्देशन करने में सबसे बढ़-चढ़कर हो। तुम मोक्षहेतु तत्त्वज्ञान और लौकिक समस्त शास्त्रादि विज्ञानों से परिपूर्ण हो, धीर हो और तुम्हारे मनोव्यापार आत्मयोग में पर्याप्त रूप से योग्य हो चुके हैं। तुमने तरह-तरह की असंख्य सृष्टियों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय देखे हैं, इसलिए मैं तुमसे पूछता हूँ कि तुम्हारे द्वारा देखे गये जगत मण्डल में आश्चर्यकारी किस-किस जगत-क्रम का तुम स्मरण करते हो ॥२६, २७॥ भुशुण्ड ने कहा : हे श्रेष्ठतर, इस पृथ्वी के विषय में मुझे स्मरण है कि एक समय इसमें शिला और वृक्ष कुछ नहीं थे; तृण, लता आदि कुछ भी उत्पन्न नहीं हुए थे; पर्वत, अरण्य और भाँति-भाँति के वृक्ष कुछ भी नहीं थे तथा यह पृथ्वी मेरु के नीचे स्थित थी ॥२८॥ मुझे भलीभाँति स्मरण है कि मेरुपर्वत के नीचे यह पृथ्वी ग्यारह हजार वर्षों तक भस्म-सार के भार से व्याप्त थी ॥२९॥ पहले मेरुपर्वत के नीचे पृथ्वी पर न सूर्य उत्पन्न हुआ था, न इसमें चन्द्र-मण्डल का भान ही होता था और न तो दिवस का हेतुभूत प्रकाश सुमेरुपर्वत के प्रकाश से विभक्त था-इसका भी मुझे भली प्रकार से स्मरण है ॥३०॥ सुमेरुपर्वत के रत्नों के तलप्रकाशों से इस पृथ्वी का आधा कोटर प्रकाशित होता था तथा इस पर कहीं-कहीं प्रकाशयुक्त पर्वत भी विद्यमान थे, इसलिए यह लोकालोक पर्वत के सदृश प्रतीत होती थी - इसका भी ठीक-ठीक स्मरण है ॥३१॥ यहाँ बल, ऐश्वर्य आदि से परिपुष्ट असुरों का संग्राम होने पर जब इस पृथ्वी का भीतरी भाग क्षीण हो गया था, तब यह पलायनमान जनों से व्याप्त हो गई थी - इसका भी मुझे अच्छी तरह से स्मरण है ॥३२॥ चार युगों तक मद-मत्त ऐश्वर्यशाली असुरों के द्वारा आक्रान्त हुई यह पृथ्वी उनके (असुरों के) अन्तःपुर रूपता को प्राप्त हो गई थी-इसका भी स्मरण करता हूँ ॥३३॥ एक समय इस जगत-रूपी कुटिया में मेरु को छोड़कर दूसरे सब देश समुद्र ने अंत तक आच्छादित कर दिये थे और उस समय इस मेरुपर्वत पर अविनाशी ब्रह्मा, विष्णु और शिव, ये देवत्रयी विराज रही थी - इसका भी मुझे ठीक स्मरण है ॥३४॥ दो युगों तक तो यह (पृथ्वी) जंगली वृक्षों से निबिड़ थी और इसमें उन्हें (वृक्षों को) छोड़ दूसरे किसी का निर्माण ही नहीं हुआ था - इसे भी स्मरण करता हूँ ॥३५॥ एक समय यह पृथ्वी चार युगों से अधिक काल तक निबिड़ पर्वतों से व्याप्त थी; उसमें मनुष्यों का संचरण भी नहीं होता था-इसका भी मुझे स्मरण है ॥३६॥ दस हजार वर्षों तक तो यह मृत दैत्यों के अस्थिपर्वतों से चारों ओर से व्याप्त एवं परिपूर्ण थी - इसका भी मैं भली-भाँति स्मरण करता हूँ ॥३७॥ एक समय अन्तरिक्ष आदि लोकों में भय के कारण समस्त विमानगामी देवता आदि तिरोहित हो गये थे और यह (पृथ्वी) सब वृक्षों से वर्जित होकर अन्धकार प्रचुर हो गई थी - इसका भी मुझे स्मरण है ॥३८॥

महाराज, एक समय मेरु-स्पर्धा से विन्ध्यमहापर्वत के बढ़ने पर दक्षिण दिशा से अगस्त्य महामुनि चले गये और यह जगत-रूपी कुटिया मलय, दर्दुर, सह्याद्रि आदि विभाजक पर्वतों के अभाव से एकपर्वतरूपता को प्राप्त हो गई थी - इसका भी मुझे स्मरण है ॥३९॥ ये और इनसे पृथक दूसरे भी बहुत वृत्तान्त हैं, जिनका मुझे संस्मरण है, परन्तु उनके विषय में अधिक कहने से क्या फल ? केवल सारभूत वस्तु का संक्षेप से श्रवण कीजिए ॥४०॥ हे ब्रह्मन्, सैकड़ों असंख्य मनु बीत गये, ये सब प्रभाव के आधिक्य से परिपूर्ण थे एवं सैकड़ों चतुर्युग भी बीत गये - इसका भी मुझे स्मरण है ॥४१॥

दूसरा आश्चर्य कहते हैं।

एक समय यानी जब ब्रह्माण्डशरीर विराट् उत्पन्न होकर अपने स्वरूप का आलोचन करने के लिए कुछ काल तक समाहित चित्त हुए थे, उस समय पुरुष एवं असुरों से वर्जित, स्वतःशुद्ध, प्रकाशस्वभाव तैजस पदार्थों का समष्टिरूप एक ही ब्रह्माण्ड था – इसका मुझे स्मरण है ॥४२॥

कलियुग की सृष्टि-स्थिति का स्मरण कर रहे पक्षिराज भुशुण्ड कहते हैं।

एक समय ऐसी उन्मत्त सृष्टि थी कि जिसमें ब्राह्मण लोग मद्य पीते थे, देवताओं की निन्दा करनेवाले असत्-शूद्र रहते थे, स्त्रियों के अनेक पति होते थे – इसका मुझे स्मरण है ॥४३॥

आश्चर्यान्तर कहते हैं।

महाराज, मुझे किसी एक ऐसी सृष्टि का स्मरण है कि जिसमें यह भूपीठ वृक्षों से घनीभूत था, महासमुद्र की कल्पना भी नहीं की गई थी और स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध के बिना अपने आप भृगु आदि मानस पुरुष उत्पन्न हुए थे *(समुद्र के सर्जक प्रियव्रत की उत्पत्ति के पहले यह मानस-सृष्टि हुई थी, यह प्रसिद्ध है)* ॥४४॥

जल में पृथिवी के निमग्न हो जाने पर जनलोक आदि प्रकाश प्रचुर लोकों के व्यवहारों से उपलक्षित हुए काल में जो सृष्टि-स्थिति थी, उसका स्मरण कर रहे पक्षीन्द्र भुशुण्ड कहते हैं।

एक समय ऐसी सृष्टि थी – जिसमें पर्वत और पृथिवी का नामशेष ही नहीं था, देवता और योगसिद्ध पुरुष आकाश में ही रहते थे तथा चन्द्र एवं सूर्य के अभाव में भी परिपूर्ण प्रकाश था – इसका मुझे स्मरण है ॥४५॥ महाराज, एक समय की सृष्टि में न इन्द्र था, न कोई राजा था, न उत्तम, मध्यम एवं अधम का भेद था, सब एकरूप था तथा समस्त दिक्-चक्र अन्धकार से व्याप्त था – इसका मुझे स्मरण है ॥४६॥

इस कल्प के वृतान्त का तो इस कल्प तक की आयुवाले बहुत से लोगों को स्मरण है, यों प्रपंच कर रहे पक्षिराज भुशुण्ड कहते हैं।

महाराज, पहले सृष्टि के उत्पादन के लिए सृष्टि का संकल्प हुआ। उसके बाद तीन लोकों में द्वीप आदि अवान्तर प्रदेशों का विभाग हुआ। उसके बाद सात कुलपर्वतों के लिए योग्य स्थान की कल्पना हुई। उसके बाद पृथक् स्थित हुए जम्बूद्वीप में प्रवेश कर स्रष्टा ने ब्राह्मण आदि वर्ण, उनके धर्म एवं उन-उनके लिए योग्य विद्याविशेषों की सृष्टि की। उसके बाद मण्डलरूप में पृथ्वी का विभाग किया, तदनन्तर नक्षत्र-चक्र का उपयोगी संस्थान एवं ध्रुव-मण्डल का निर्माण किया (मेरी अपेक्षा अत्यन्त स्वल्प आयुवाले आपके सदृश इस कल्प के मनुष्य भी इन सबका स्मरण कर सकते हैं।) ॥४७,४८॥ उसके बाद चन्द्रमा और सूर्य का निर्माण हुआ। तदनन्तर इन्द्र एवं उपेन्द्र की व्यवस्था हुई। बाद में हिरण्याक्ष ने पृथ्वी का अपहरण किया। बाद में उसका वराहरूपधारी भगवान ने उद्धार किया ॥४९॥ बाद में देव, दानव, मनुष्य आदि प्रत्येक में राजाओं की कल्पना की गई। पश्चात् मत्स्यरूप ग्रहण कर भगवान वेद लाये। मन्दराचल का उन्मूलन किया गया। अमृत के लिए क्षीर-सागर का मंथन हुआ। बाद में अजातपक्ष गरुड़ और समुद्रों की उत्पत्ति हुई-इत्यादि स्वल्प अतीत जगत्क्रम की जो स्मृतियाँ हैं, उनका मेरी अपेक्षा अल्प-आयुवाले वर्तमान काल में उत्पन्न आपके सदृश प्राणी भी स्मरण करते हैं, इसलिए उनमें आदर ही क्या ॥५०,५१॥

कल्पान्तरों में अपने द्वारा देखे गये अन्यान्य आश्चर्यों का कथन करते हुए तत्त्ववेत्ता भुशुण्डजी प्रकृत विषय का उपसंहार करते हैं।

दीर्घजीविता को प्राप्त हुए मैंने किसी समय यह रहस्य देखा–इस कल्प में प्रसिद्ध गरुडवाहन श्रीविष्णु, हंसवाहन चतुर्मुख ब्रह्मा बनकर देव, दैत्य आदि की सृष्टिरूप कार्य का सम्पादन करते थे, हंसवाहन ब्रह्माजी वृषभवाहन रुद्र बनकर संहार करते थे तथा वृषभवाहन महादेवजी विष्णु शरीर बनकर सृष्टि का पालन करते थे ॥५२॥

इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त

बाईसवाँ सर्ग

पुनः देखे गये वसिष्ठ के अष्टम जन्म आदि का, सम और
अर्धसम सृष्टि का तथा क्षीर-सागर के मंथन आदि का वर्णन।

भुशुण्ड ने कहा : भगवन्, (जब मुझे अनेक युगों की आश्चर्यजनक घटनाओं का वैसा अभ्रान्त स्मरण है, तब उनके बाद (कुछ पहले या आज के सर्ग में) उत्पन्न हुए आपको लेकर भरद्वाज, पुलस्त्य, अत्रि, नारद, इन्द्र और मरिचि इनके विषय में स्मरण की तो गणना ही क्या ? यानी उनके विस्मरण की तो सम्भावना कभी हो ही नहीं सकती, यह भाव है (卐)) ॥१॥ पुलह, उद्दालक आदि तथा क्रतु, भृगु, अंगिरा आदि सिद्ध-ऋषि, सनत्कुमार आदि ब्रह्मर्षि एवं भृंगीश, स्कन्द, गजवदन आदि शिवजी के पार्षदों के विषय में तो स्मरण की गणना ही क्या ? ॥२॥ गौरी, सरस्वती, लक्ष्मी, गायत्री आदि अनेक उनकी शक्तियों तथा सुमेरु, मन्दर, कैलास, हिमालय, दर्दुर आदि पर्वतों के विषय में स्मरण की तो गणना ही क्या ? ॥३॥ हयग्रीव आदि दानवों; हिरण्याक्ष, कालनेमि, बल, हिरण्यकशिपु, क्राथ, बलि, प्रह्लाद आदि दैत्यों के विषय में स्मरण की तो गणना ही क्या ? ॥४॥ शिबि, न्यंकु, पृथु, उलाख्य, वैन्य, नाभाग, केलि, नल, मान्धाता, सगर, दिलीप, नहुष आदि राजाओं के विषय में स्मरण की तो गणना ही क्या ? ॥५॥ आत्रेय, व्यास, वाल्मीकि, शुक, वात्स्यान आदि तथा उपमन्यु, मणीमंकि, भगीरथ, शुक आदि के विषय में स्मरण की तो गणना ही क्या ? ॥६॥ जो स्वल्पतर भूतकाल में उत्पन्न हैं, जो कोई कुछ दूर के हैं तथा जो आज के कल्प में उत्पन्न हैं, उनके विषय में स्मरण की गणना ही क्या ? यानी पूर्वोक्त सभी लोगों के विषय में विस्मरण हो ही नहीं सकता, यह भाव है ॥७॥ हे मुने, ब्रह्माजी के पुत्र आपका यह आठवाँ जन्म है। उस आठवें जन्म में आपकी और मेरी संगति हुई – इसका मैं पहले से स्मरण करता हूँ ॥८॥

'आठों जन्मों में क्या मैं ब्रह्माजी का ही पुत्र रहा ?' महाराज वसिष्ठ के इस प्रश्न पर पक्षीन्द्र भुशुण्डजी 'नहीं' यों उत्तर देते हैं।

हे मुने, आप किसी समय आकाश से उत्पन्न होते हैं, किसी समय जल से उत्पन्न होते हैं, किसी समय वायु से उत्पन्न होते हैं, तो किसी समय पर्वत और अग्नि से उत्पन्न होते हैं ॥९॥

समस्त कल्पों में तत्-तत् अधिकारी पुरुषों के नाम और स्वरूप एक से होने पर भी सब पदार्थों के

(卐) सप्तम श्लोकस्थ क्रिया के साथ सब सप्तम्यन्तों का सम्बन्ध है।

सब अवयव और आचरण एक ही होने चाहिए, यह नियम नहीं है, किन्तु काकतालीयन्याय से किसी समय एक-से ही हो जाते हैं, इस आशय से कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी, यह सर्ग जैसा है, इसका जिस प्रकार आचरण है, इसके जिस प्रकार के अवयव संस्थान तथा दिशागण हैं, ठीक इसी तरह के तीन सर्ग पहले हो चुके हैं-इसका मुझे स्मरण है ॥१०॥ मुनिवर, मुझे ऐसे दस सर्गों का स्मरण है-जिनमें देवताओं के निखिल आचरण तथा अवयव-गठन एकरूप थे, उनकी आयु समान थी एवं अपने नियत तत्-तत् अधिकारपदों में उनकी स्थिति असुरों द्वारा चालित नहीं हुई थी ॥११॥

आचारों की समानता बतलाकर अब उनकी विषमता बतलाते हैं।

हे मुने, जल में डूबकर तिरोहित हुई पृथ्वी का समुद्र से भगवान कूर्म ने ही, न कि वराह ने, पाँच सर्गों में पाँच बार उद्धार किया ॥१२॥ हे महाराज, मन्दराचल के आकर्षण के लिए किये गये भारी प्रयत्न के कारण व्याकुल हुए देवता एवं दानवों से युक्त यह अमृतार्थ समुद्र-मन्थन बारहवाँ हुआ-ऐसा मुझे स्मरण है ॥१३॥ महाराज, पहले स्वर्गस्थ समस्त देवताओं से कर लेनेवाला, हिरण्याक्ष तीन बार समस्त औषधियों तथा रसों से परिपूर्ण इस पृथ्वी को पाताल में ले गया ॥१४॥ रेणुका के उदर से जन्म लेकर भगवान नारायण ने, परशुराम-अवतार से शून्य अनेक सर्गों के व्यवधान से भी, यह छठी बार क्षत्रिय-विनाश किया ॥१५॥ हे मुनिश्रेष्ठ, सौ कलियुग हुए और कीकटदेश के राजारूप से यानी महाराज शुद्धोधन के पुत्ररूप से भगवान नारायण ने सौ बार बुद्धदशा प्राप्त की-इसका मुझे स्मरण है ॥१६॥ महाराज, चन्द्रमौलि महादेवजी ने कल्पों में तीस बार त्रिपुरों का विनाश किया, दो बार यानी प्रत्येक कल्प में स्वायंभुव और चाक्षुष मन्वन्तर में दक्षप्रजापति के यज्ञों का विध्वंस किया तथा अपराधी दस इन्द्रों को दण्ड दिया (उनके पदों से उन्हें च्युतकर पर्वत की गुफाओं में बन्दी बनाया अथवा वज्रसहित उनके हाथों का स्तम्भन किया)- इसका मुझे स्मरण है ॥१७॥ मुनिवर, बाणासुर के लिए माहेश्वर एवं वैष्णवनामक ज्वरों और प्रमथगणों को शौर्य उत्साह बढ़ाकर प्रवृत्त करानेवाले तथा देवताओं की सेनाओं को प्रचुरमात्रा में क्षुब्ध करनेवाले हरि और हर के आठ संग्राम हुए-इसका मुझे स्मरण है ॥१८॥ मुने, मैं युग-युग में अध्येता पुरुषों की बुद्धियों के न्यूनाधिकभाव के कारण क्रियाओं की (ब्रह्मचर्य, गुरुसेवा, भूमिशयन आदि क्रियाओं की), अंगों की (शिक्षा, कल्प आदि अंगों की) एवं पाठों की (अवधानपूर्वक स्वर, वर्ण आदि के उच्चारण रूप पाठों की) न्यूनाधिकप्रयुक्त विचित्रतता से युक्त वेदों का भी स्मरण करता हूँ ॥१९॥ हे पापशून्य, युग-युग में प्रत्येक द्वापर के अंत में निर्माताओं के भेद से अनेक पाठवाले, एकार्थक तथा अत्यंत विस्तारयुक्त पुराण प्रवृत्त होते हैं - इसका मुझे स्मरण है ॥२०॥ मुने, युग-युग में वेद आदि शास्त्रों के विद्वान व्यास, वाल्मीकि आदि महर्षियों द्वारा विरचित उन्हीं महाभारत, रामायण आदि इतिहासों एवं दूसरे इतिहासों का भी मैं स्मरण करता हूँ ॥२१॥ महाराज, मैं आश्चर्यजनक महती घटनाओं से परिपूर्ण, प्रसिद्ध रामायण से भिन्न दूसरे रामायणनामक लक्षश्लोकात्मक ज्ञानशास्त्र का, जो ब्रह्मदेव द्वारा वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि को उपदिष्ट था, स्मरण करता हूँ ॥२२॥ उस ज्ञानशास्त्र में मनोयोग देनेवाले महानुभावों के अन्तःकरण में हाथ में फल के सदृश, 'श्रीरामजी की नाईं व्यवहार करना चाहिए और रावण के विलास की नाईं विलास नहीं करना चाहिए' यह ज्ञान समर्पित किया गया

है ॥२३॥ उक्त ज्ञानशास्त्र के निर्माता महर्षि वाल्मीकि हैं और अब उनके द्वारा वसिष्ठ राम–संवादरूप दूसरे बत्तीस हजार श्लोकात्मक महारामायणरूप ज्ञानशास्त्र की जो रचना की जायेगी, उसका भी दिव्यज्ञान की सामर्थ्य से मैं स्मरण करता हूँ, आप भी समय आनेपर उसे जान जायेंगे ॥२४॥ महाराज वसिष्ठजी, इस भावी वसिष्ठ–राम–संवादरूप ज्ञानशास्त्र की पूर्वकल्प के अथवा दूसरे किसी और वाल्मीकिनामक जीव के द्वारा यद्यपि पहले ही रचना की गई थी, तथापि कल्प के अन्त में व्यवहारकर्ताओं की परम्पराओं के उठ जाने से वह उच्छेद को प्राप्त हो गया था, अतः वर्तमान में उसकी पुनः बारहवीं बार रचना की जायेगी ॥२५॥ महाराज, इसी ज्ञानशास्त्र के बराबर दूसरा ज्ञानशास्त्र था, जिसकी 'महाभारत' इस नाम से प्रसिद्धि थी एवं प्राक्तन व्यासजी के द्वारा रचना की गई थी और जो इस समय जगत में विस्मृति को प्राप्त हो चुका है–मैं उसका स्मरण करता हूँ ॥२६॥ उसी (पूर्वकल्प के) अथवा दूसरे किसी और व्यासनामक जीव के द्वारा किये गये तथा कल्पान्त में विस्मृति को प्राप्त हुए उस महाभारत की सातवीं बार रचना की जायेगी ॥२७॥ हे मुनिराज, युग–युग में प्रवृत्त हुए अनेक आख्यानों एवं शास्त्रों का, जो चित्र–विचित्र घटना–सन्निवेशों से परिपूर्ण थे, मैं स्मरण करता हूँ ॥२८॥ हे साधो, युग–युग में पुनः–पुनः उन्हीं–उन्हीं पदार्थों को तथा दूसरे–दूसरे पदार्थों को मैं जानता हूँ–इसका भी मुझे स्मरण है ॥२९॥ भगवन्, राक्षसों का विनाश करने के लिए पृथ्वी में अवतार ग्रहण करनेवाले महिमाशाली विष्णु का निकटवर्ती त्रेतायुग में ग्यारहवीं बार 'राम' इस नाम से जन्म होगा ॥३०॥ हे महर्षे, नृसिंहस्वरूप शरीर से भगवान ने हिरण्यकशिपु का, हाथी का मृगेन्द्र सिंह की नाईं, तीन बार हनन किया ॥३१॥ हे मुनीश्वर, पृथ्वी के भार की निवृत्ति करने के लिए भगवान विष्णु का सोलहवीं बार वसुदेवजी के घर में निकट द्वापर के अन्त में जन्म होगा ॥३२॥

बाहर यह उत्पन्न होता है, यह भ्रान्ति है, इस आशय से कहते हैं।

महाराज, जगद्रूपा इस भ्रान्ति का कभी भी (कल्पान्त में) अस्तित्व नहीं है, जल में बुद्बुदों की नाईं स्थित हुई यह किसी समय ही (कल्पान्त में) अज्ञानवश अस्तित्व रखती हुई–सी प्रतीत होती है ॥३३॥ जल में तरंगों की नाईं अति चपल, आत्मा के अन्दर रहनेवाली यह अनित्य दृश्य पदार्थों की भ्रान्ति संवित्–स्वरूप आत्मा में ही उत्पन्न और तत्क्षण लीन हो जाती है ॥३४॥

प्रत्येक सर्ग में भूलोक आदि की अवयवों से समानता का जो नियम है, वह भी औत्सर्गिक है, यों कहते हैं।

महाराज, ये तीनों जगत किसी कल्प में समान अवयव–सन्निवेश (आकार) वाले थे, किसी कल्प में अत्यन्त विषम थे तथा किसी समय आधे समानरूप थे – इसका मुझे स्मरण है ॥३५॥

मनु आदि अधिकारी पुरुषों के आकारों और चरित्रों की समता भी औत्सर्गिक ही है, ऐसा कहते हैं।

महाराज, किसी एक कल्प में जो प्राणी जिस रूप के जो आचार–व्यवहार करते थे, ठीक उसी रूप के वे ही प्राणी तत्परवर्ती कल्प में भी आचार–व्यवहार करते देखे गये तथा दूसरे प्राणी उन्हीं के आचार–व्यवहार करते देखे गये–इसका मुझे वर्तमान में स्मरण है ॥३६॥

ब्रह्मन्, प्रत्येक मन्वन्तर में जगत–क्रम का विपर्यास हो जाने पर, अवयव सन्निवेश का परिवर्तन हो जाने पर और प्रख्यात जनों का प्रलय हो जाने पर मेरे दूसरे ही मित्र दूसरे ही बान्धव, दूसरे नवीन

ही सेवक और दूसरे ही निवास–स्थान हो जाते हैं ॥३७,३८॥

निवासस्थान के भेद को ही विशदरूप से बतलाते हैं।

महाराज, किसी समय मैं एकान्त में विन्ध्य–प्रदेश में अपना स्थान बनाता हूँ, किसी समय सह्याद्रि में अपना स्थान बनाता हूँ, तो किसी समय दर्दुर–पर्वत पर निवास करता हूँ॥३९॥ किसी समय हिमालय–पर्वत पर वास करता हूँ, किसी समय मलय–पर्वत पर स्थिर होता हूँ, तो किसी समय प्राक्तन अवयव–सन्निवेश से ही इस पर्वत पर आकर इस कल्पवृक्ष की शाखा में घोंसला बनाता हूँ॥४०॥ हे मुनिनायक, असंख्य युगों के बीत जानेपर भी इस समय प्राक्तन अवयवों के सन्निवेश (रचना) से ही यह कल्पवृक्ष उत्पन्न हुआ है ॥४१॥ हे साधो, इसीलिए अपने प्राक्तन शरीर का सूखपूर्वक त्यागकर यह वृक्ष पूर्वतन अवयवसन्निवेश की अपेक्षा दूसरे अवयव–सन्निवेशरूप परिणति को प्राप्त नहीं हुआ है, किन्तु उसी सन्निवेश से यह उत्पन्न हुआ है *(प्रकृत श्लोक के उत्तरार्ध से 'तुम्हारी नाईं यह कल्पतरू चिरंजीवी क्यों नहीं है' इस शंका का समाधान हो गया, क्योंकि उक्त कथन से पक्षिराज भुशुण्ड ने कल्पवृक्ष की चिरंजीविता नहीं बतलाई, किन्तु शोभा–सन्निवेश की समता से अभेद का उपचार ही बतलाया है।)* ॥४२॥ महाराज, मेरे पिता चण्ड के जीवनकाल में इस कल्पतरूप की जो शोभा थी, ठीक वही शोभा इस समय भी है तथा जो उस समय इसके प्राक्तन सन्निवेश (अवयव–विन्यास) थे उनके तुल्य दूसरे नवीन अवयव–विन्यास इसके विहित हैं, मैंने यहाँ इस समय स्थिति प्राप्त की है ॥४३॥

इसी प्रकार दिशा और पर्वत की ऐक्य–प्रत्यभिज्ञा भी शोभा–सन्निवेश की समता के कारण ही है, ऐसा कहते हैं।

महाराज, पहले यहाँ (अतीत कल्प के इस प्रदेश में) न यह उत्तर दिशा थी और न तो यह पर्वत ही था, किन्तु पहले यह दूसरी ही उत्तर दिशा थी और यह दूसरा ही पर्वत था ॥४४॥

तब उन दिशा आदि की नाईं तुम भी प्रत्येक कल्प में दूसरे और समान सन्निवेशवाले क्यों नहीं हो ? तो इस पर कहते हैं।

मैं एक ही रहा और एक ही अवयव–सन्निवेश से मैंने ब्रह्माजी की निशा का अतिक्रमण किया, क्योंकि कल्पान्त में पूर्वोक्त धारणाओं से स्थिर की गई निर्विकल्प समाधि के अवसान में पुनः उत्पन्न हुआ यह सर्ग देख कर मैं 'वही यह मेरु पर्वत है', 'वही यह कल्पतरुवृक्ष है' यों प्रत्यभिज्ञायमान पदार्थ के रूप में ही इस सृष्टि को जानता हूँ। यदि मैं दूसरा होता, तो तत्ततविषयिणी उक्त प्रत्यभिज्ञा (देखी हुई वस्तु को पहिचानना) नहीं होती, यह भाव है ॥४५॥

इसी प्रकार पूर्व के अवयवों से भिन्न दूसरे अवयवों का ग्रहण करने पर भी 'उस प्रकार प्रत्यभिज्ञा कर रहे मेरा विनाश नहीं है' इस प्रकार के गर्भित आशयवाली 'दिगुत्तराऽभूत्' इत्यादि उक्ति का उपपादन करते हैं।

सूर्य, चन्द्रमा आदि ग्रहों से एवं नक्षत्रों के उदय, अस्तमय आदि नियत संचरणों से नियत उत्तर दिशा में अवस्थित मेरु आदि स्थान को लेकर ही पूर्व आदि दिशाएँ व्यवहृत होती हैं। दूसरे सर्ग में तो वे दिशाएँ–उस मेरुपर्वत के ही दूसरे प्रकार से स्थित हो जानेपर, चित्रपट के परिवर्तन से उसमें चित्रित मेरुपर्वत आदि के अधीन पूर्व आदि दिशाओं के परिवर्तन की नाईं व्यत्यस्त–स्थिति प्राप्त करती हैं ॥४६॥

इस प्रकार अनियत स्थिति से दिशाओं का मिथ्यात्व सिद्ध होने पर तदनुसारी नियत अवयव-सन्निवेश घटित सभी जगत में अनिवर्चनीयतारूप मिथ्यात्व दिखाई पड़ता है, ऐसा कहते हैं।

महाराज, यह जगत न सत् है और न असत् ही है – यही मैं मानता हूँ। आत्मा की मायिक विक्षेपशक्ति से उत्पन्न हुआ तथा बुद्धि को भ्रमित कर रहा यह प्रपंच केवल मिथ्या ही प्रकट हो रहा है ॥४७॥

जगत के पदार्थों में दिक्कृत व्यवस्था-व्यत्यास (विपरीतता) की नाईं कालकृत व्यवस्था का व्यत्यास भी दिखाई पड़ता है, ऐसा कहते हैं।

महर्षे, किसी कल्प में पुत्र पितृ-भाव को प्राप्त होता है, मित्र शत्रु-भाव को प्राप्त होता है तथा सैकड़ों पुरुष स्त्री-भाव को प्राप्त हो जाते हैं – इसका मुझे स्मरण है ॥४८॥ मुनि महाराज, किसी कल्प में कलियुग में सत्ययुग के आचार, सत्ययुग में कलियुग की अवस्था तथा त्रेता और द्वापर में सत्ययुग के आचार और कलियुग स्थिति हो जाती है-इसका मुझे स्मरण है ॥४९॥

संक्षेपतः कलियुग-स्थिति का वर्णन करते हैं।

मुनिराज, किसी कल्प में सत्ययुग में भी कुछ ऐसे मनुष्यों का मुझे स्मरण है कि जिन्होंने जो वेद और वेदार्थों का दर्शन तक नहीं किये थे। अपने संकेतमात्र से ही व्यवहार करते थे, उनका आचरण अत्यंत उच्छृंखल था। (सत्ययुग में भी पुष्कर ने महाराज नल के ऊपर द्यूत से विजय पाई थी और बिना अपराध पत्नी के साथ एक वस्त्र से उन्हें निर्वासित किया था, यह प्रसिद्ध बात है।) ॥५०॥

हे ब्रह्मन्, हजार चतुर्युगों की समाप्ति में ब्रह्माजी जब जगद्रूप के संहारक्रम से जल में शयनकर योगनिद्रा के व्याज से परमात्मा का ध्यान कर रहे थे, तब यह देवता, दानव एवं मनुष्य से युक्त जगत शून्य असत्स्वरूप की नाईं हो गया था – इसका मुझे स्मरण है ॥५१॥ उसी प्रकार जगत के लीन होने पर भी चन्द्रमा सम्बन्धी मन के मनन से निर्मित हुए पूर्वोक्त दस सर्गों का, जो स्थूल पार्थिवाकार से वर्जित तथा वायुप्राय भूतों से व्याप्त थे, मैं स्मरण करता हूँ ॥५२॥

कथित समस्त अर्थों का संक्षेप से उपसंहार करते हैं।

महाराज, ब्रह्माजी के दिवसरूपी कल्पों में हुए चित्र-विचित्र विशेष संस्थानों वाले देशों से युक्त; चित्र-विचित्र अनेक कार्यों में व्याकुल प्राणियों के कोशभूत तथा चित्र-विचित्र विन्यास, विलास एवं वेषों से युक्त समस्त सर्गों का मैं स्मरण करता हूँ ॥५३॥

बाईसवाँ सर्ग समाप्त

तेईसवाँ सर्ग

जिन दोषों का परित्याग कर देने पर मनुष्य को मृत्यु बाधा नहीं पहुँचाती,
उन दोषों का तथा मन को जिसमें लगाना चाहिए – उसका वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे महाबाहो श्रीरामजी, तदनन्तर कल्पलता के अग्रभाग में आसीन उस वायसराज भुशुण्ड को मैंने जिज्ञासा के लिए यह आगे की बात फिर पूछी ॥१॥

हे पक्षियों के श्रेष्ठ राजा, जगत-कोश में विचरण कर रहे और व्यवहार कर रहे भी प्राणियों की देह को मृत्यु किस उपाय से यानी कैसे दोषों का त्याग एवं कैसे गुणों का उपार्जन करने से बाधा नहीं

पहुँचाती ॥२॥ भुशुण्ड ने कहा : हे सर्ववित् ब्रह्मन्, आप यद्यपि सब कुछ जानते हैं, तथापि जो मुझसे, जिज्ञासु की नाईं, पूछते हैं, वह ठीक ही है, क्योंकि जो समर्थ होते हैं, वे प्रश्नों द्वारा अपने सेवकों की वाक्पटुता प्रसिद्ध कराते हैं ॥३॥ यद्यपि वैसी स्थिति है, तथापि आज जो मुझसे पूछते हैं, उसका आपको मैं उत्तर देता हूँ, क्योंकि आज्ञा का परिपालन करना ही सज्जनों की सबसे बड़ी सेवा है, ऐसा मुनि लोग कहते हैं ॥४॥

उसमें समस्त दोषों की आश्रय वासना का विनाश ही मृत्यु पर विजय पाने के लिए मुख्य उपाय है, ऐसा कहते हैं।

महाराज, रागादि दोषरूपी मोती जिसमें पिरोये गये हैं, ऐसी वासनारूपी तन्तुसन्तति जिसके हृदय-कमल में ग्रथित नहीं रहती, मृत्यु उसे मारने की इच्छा नहीं करती अर्थात् जैसे हार आदि आभरणों का परित्याग किये पुरुषों को चोर मारने की इच्छा नहीं करते वैसे ही प्रकृत में समझना चाहिए, यह भाव है ॥५॥ ब्रह्मन्, देह-वृक्ष का उच्छेद कर देनेवाले निःश्वासरूपी करवत जिनसे उत्पन्न होते हैं तथा समस्त शरीर-लता के (देह-वृक्ष शाखाभूत हाथ, पैर आदि के) लिए जो घुनरूप हैं, वे मानसिक-व्यथाएँ जिसका भेदन नहीं करतीं, उसे मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती ॥६॥ ब्रह्मन्, शरीररूपी वृक्ष के कोटर में रहनेवाले सर्पों के समूहरूप तथा चिन्तारूपी फणविस्तारों को सिर में धारण करनेवाली आशाएँ जिसको भीतर से दाह नहीं पहुँचाती उसे मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती। राग-द्वेषरूपी विष से परिपूर्ण अपने मनरूपी बिल में रहनेवाला लोभरूपी सर्प जिसको दंश नहीं करता उसे मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती ॥७॥ राग-द्वेषरूपी विष से परिपूर्ण अपने मनरूपी बिल में रहनेवाला लोभरूपी सर्प जिसको दंश नहीं करता, उसे मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती ॥८॥ शरीररूपी समुद्र का वडवाग्निरूप अतएव समस्त विवेकरूपी जल को पी जानेवाला क्रोध जिसको दग्ध नहीं करता, उसे मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती ॥९॥ महाराज, तिलों की बड़ी राशि को व्यग्र कर देनेवाले कठिन कोल्हू यन्त्र की नाईं उग्रतापूर्वक अनंग (कामदेव) जिसे पीड़ा नहीं पहुँचाता, उसे मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती ॥१०॥

ब्रह्मात्मा में विश्रान्ति ही आत्यन्तिक मृत्यु-विजय में हेतु है, ऐसा कहते हैं।

जिसने एक निर्मल परम पवित्र ब्रह्मपद में चित्त-स्थिति प्राप्त कर ली है, उसको मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती ॥११॥ शरीररूपी पुष्पित अरण्य प्रदेश में प्रवेश कर दौड़-धूप मचानेवाला बलवान जिसका मन, वानर की नाईं, चंचल नहीं है, उसको मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती ॥१२॥

दोषों का उपसंहार कर रहे भुशुण्डजी-मृत्यु विजय में हेतुभूत गुणों का उपक्रम करने के पहले समाधान ही मुख्य गुण है, इस आशय से - समाधान की प्रशंसा करते हैं।

हे ब्रह्मन्, पूर्व में बतलाये गये ये महान दोष संसार रूपी व्याधि के कारणभूत हैं, वे दोष समाहित चित्त को तनिक भी विच्छिन्न नहीं करते ॥१३॥ शारीरिक एवं मानसिक पीड़ाओं से जनित तथा महान विभ्रमों से (पुत्र, कलत्र आदि विषम-व्यामोहों से) विचलित हुए दुःख एकमात्र समाहित चित्त को ही छिन्न-भिन्न नहीं कर पाते ॥१४॥ जिस महापुरुष का चित्त समाहित है, उसका चित्त न अस्त होता है, न उदित होता है, न उसमें स्मृति होती है, न विस्मृति होती है, न सुषुप्ति होती है, न जागृति ही होती है ॥१५॥ जिस महात्मा का चित्त समाहित है, उसकी काम क्रोध आदि विकारों से उत्पन्न तथा हृदयाकाश

को आवृत कर देनेवाली चिन्ता किसी तरह हिंसा नहीं करती ॥१६॥ जिसका चित्त समाहित है, शास्त्रानुसारी व्यवहारों को चलाता हुआ भी वह परमार्थतः न कुछ देता है, न ग्रहण करता है, न कुछ त्यागता है और न कुछ माँगता ही है ॥१७॥ जिस महापुरुष का चित्त समाहित है, उसे उपार्जन करने योग्य अनेक दुष्ट धनादि अर्थ; कृषि,गृह आदि दुष्ट आरंभ; राग, द्वेष आदि दुष्ट गुण; मर्मप्रकाशक दुष्ट उक्तियाँ; दुष्ट नीतियाँ–ये सब अपने दुष्परिणाम द्वारा खेद नहीं पहुँचातीं ॥१८॥ जिसका चित्त समाहित है, उसकी ओर अनेकविध अर्थों से युक्त एवं विविध गुणों से परिपूर्ण, निरतिशय प्रकाशमान सभी सुख दौड़ते हैं ॥१९॥ महाराज वसिष्ठजी, (चूँकि समाहित चित्त को किसी प्रकार के गुण–दोष अस्त–व्यस्त नहीं कर पाते, इसलिए) जो तत्त्व उत्तरकालिक सुख का हेतु, अबाध्य, अविनाशी, अविद्याशून्य एवं विषय की अभिलाषारूपी दृष्टि से वर्जित आत्म–लाभस्वरूप है, उसी एक तत्त्व में मन को स्थिर करना चाहिए ॥२०॥ महाराज, चित्त को पुरुषार्थशून्य बनानेवाले, अपवित्र, द्वैत–दर्शनरूप पिशाच के द्वारा जो तत्त्व कभी भी आक्रान्त नहीं होता, उसी एक आत्म–लाभरूप तत्त्व में मन को स्थिर करना चाहिए ॥२१॥ अनादिकाल से सबसे बढ़–चढ़कर जिसका औचित्य सिद्ध हो चुका है, तथा जो आरम्भ में सुन्दर, मध्य में (अर्ध–परिपाककाल में) मधुर और अन्त में समस्त दुःखों का निर्वतक है, उस आत्म–लाभरूप ज्ञानतत्त्व में मन को स्थिर करना चाहिए ॥२२॥ जो अविनाशी है, मन के लिए सदा हितकर है, अबाधितस्वरूप है, आदि मध्य एंव अन्त–इन सभी अवस्थाओं में अनुस्यूत है तथा जिसकी समस्त सन्तलोग प्रीतिपूर्वक उपासना करते हैं, उस आत्मलाभरूप तत्त्व में मन को स्थिर करना चाहिए ॥२३॥ ब्रह्मर्षे, जो बुद्धि से परे है, प्रकाशस्वरूप है, सबका आदि कारण है, निरतिशय अमृतस्वरूप है तथा जिसकी अपेक्षा दूसरा उत्तम सौभाग्य (नित्य निरतिशय आनन्दरूप सौभाग्य) नहीं है, उस परम तत्त्व में मन को स्थिर करना चाहिए ॥२४॥

अब परम तत्त्व में सबसे बढ़–चढ़कर सौभाग्यरूपता है, इसका दूसरे सुखों में अनित्यत्व–प्रतिपादन द्वारा साधन करते हैं।

देवताओं, असुरों एवं गन्धर्वों से व्याप्त; विद्याधरों और किन्नरों से युक्त तथा देवता–रमणियों से सुशोभित स्वर्ग में कुछ भी सुस्थिर एवं उत्तम तत्त्व विद्यमान नहीं है ॥२५॥ हे प्रीतिपात्र, वृक्षों से राजित, राजा–महाराजाओं से युक्त; पर्वत, नगर एवं व्रजभूमि से शोभायमान तथा समुद्र से युक्त भूतल में कुछ भी स्थायी और शोभन तत्त्व नहीं है ॥२६॥ ब्रह्मन्, जहाँ नागों का निवास है, असुरों के समूह हैं तथा असुरों की स्त्रियों का समुदाय है, समस्त उस पाताल लोक में भी कुछ स्थिर एवं सुखरूप पदार्थ नहीं है ॥२७॥

यों तीनों लोकों की अशुभरूपता बतलाकर उसके अन्दर के जगत की भी अशुभरूपता बतलाते हैं।

महाराज, जिसमें स्वर्ग, देवलोक, पाताल एवं दसों दिशाएँ हैं, ऐसे इस सम्पूर्ण जगत में कुछ भी स्थिर सुखरूप तात्त्विक पदार्थ नहीं है ॥२८॥ आधि (मानसिक व्यथा) एवं व्याधि से अत्यन्त चपल तथा दुखःसमूह से परिवेष्टित सर्वदा तुच्छ क्रियाजन्य फलों में कुछ भी स्थिर और कल्याणकारक नहीं है ॥२९॥ जिन्होंने चित्त तरल कर दिया है तथा जो मन में आनन्द देते हैं, ऐसे बुद्धि के विकारभूत मानसक्रियाजन्य फलों में कुछ भी स्थिर कल्याण नहीं है ॥३०॥ मनरूपी क्षीर–सागर के मंथन में मन्दराचल का आचरण करनेवाले अपने संकल्प, विकल्प आदि मानसिक व्यापारों में भी कुछ स्थायी

कल्याण नहीं है ॥३१॥ निरन्तर उत्पन्न एवं विनष्ट होनेवाली, अत्यन्त अद्‌भुत, तलवार की धार के सदृश इन्द्रिय आदि की चेष्टाओं में भी कुछ स्थिर सुख नहीं है ॥३२॥

उस प्रकार अस्थिर एवं तुच्छ होने से जगत सम्बन्धी किसी भी सुख की विवेकी पुरुषों को स्पृहा नहीं करनी चाहिए, यों कहते हैं।

महाराज, सम्पूर्ण पृथ्वीतल में एकमात्रराजरूपता (सम्पूर्ण भू-मण्डल का एकच्छत्र सार्वभौम राजा होना) श्रेष्ठ नहीं है, सबसे बड़े अभिज्ञ इन्द्र, बृहस्पति (पाताल में) सम्पूर्ण पृथ्वी के धारण में समर्थ शेषनागरूप होना यानी पाताल का अधिपति होना भी श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि जहाँ विवेकी पुरुषों का मन पूर्णकाम होकर विश्रान्ति पाता है, वैसा वहाँ कुछ भी तात्त्विक सुख नहीं है ॥३३॥ दुरूह और विस्तृत होने के कारण मन को व्यग्र बनानेवाली चौदह प्रकार की विद्याओं का विचार (निष्कर्ष निकालने में समर्थतारूप पाण्डित्य) भी श्रेष्ठ नहीं है, दूसरों के कार्यों का बुद्धिसौष्ठव से विचार कर विवेचन करने की सामर्थ्य (लोकानुरंजनसामर्थ्य) भी श्रेष्ठ नहीं है, तथा सर्वश्रेष्ठ महाभारत आदि के कथाक्रमों का भली प्रकार वर्णन करने की सामर्थ्य भी श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि जहाँ विवेकी पुरुषों का मन पूर्णकाम होकर विश्रान्ति पाता है, वैसा वहाँ कुछ भी तात्विकरूप वस्तु नहीं है ॥३४॥ आधि-व्याधियों से प्रचुर चिरंजीविता भी श्रेष्ठ नहीं है; समस्त व्याधियों का विनाशरूप मरण, अखिल दुःखों की निदान दृढ़ अज्ञतारूप होने से, भी श्रेष्ठ नहीं है। (तो भोग द्वारा सभी दुःखों का विनाशक होने से नरक ही श्रेष्ठ है ?' इस शंका पर कहते हैं।) महाराज, यतः नरक का परिणाम पुनः पाप योनि में जन्म ही है, अतः नरक भी श्रेष्ठ नहीं है तथा सर्वभुवन का आधिपत्य भी श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि जहाँ विवेकी पुरुषों का मन पूर्णकाम होता है, तत्स्वरूप वहाँ कुछ भी नहीं है ॥३५॥ उस प्रकार के सम्पूर्ण विविध सृष्टियों के क्रम मनुष्य को बुद्धि में मूढ़ता के कारण ही रम्य प्रतीत होते हैं। (परन्तु विवेकी पुरुषों को इस प्रकार विचारित हुए ये सभी विविध सृष्टियों के क्रम तनिक भी रम्य प्रतीत नहीं होते) इसलिए जो विचारपटु बड़े-बड़े सन्त हैं, वे अनित्यत्वबुद्धि से गृहीत पदार्थों में आत्यन्तिक विश्रान्ति को किस तरह प्राप्त होंगे ? अर्थात् उनकी उनमें आस्था हो ही नहीं सकती ॥३६॥

तेईसवाँ सर्ग समाप्त

चौबीसवाँ सर्ग

देहनाड़ी के क्रम से युक्त षट्‌चक्र हृदय से अन्वित तथा
प्राण के स्पन्दनों के विभागों से आढ्य प्राणचिन्तन का वर्णन।

यदि जगत में कुछ भी सुन्दर और स्थिर नहीं है, तो वैसा कौन शोभन और स्थिर है, जिसमें विवेकी पुरुष की चित्त-विश्रान्ति होती है, इस पर कहते हैं।

महाराज, कभी नष्ट न होनेवाली, विभ्रमों से शून्य एकमात्र आत्मदृष्टि ही समस्त ज्ञानों के बीच में सब अंशों में श्रेष्ठ और सबसे उन्नत है ॥१॥ ब्रह्मन्, साक्षात्कार पर्यन्त किया गया आत्मा का विचार समस्त दुःखों का अन्त कर देनेवाला तथा अनादिकाल से लेकर आज तक चले आ रहे कामकर्मजनित वासनाओं से परिपूर्ण, दुःस्वप्न के सदृश, संसाररूपी भ्रम का विनाश करनेवाला है ॥२॥ ब्रह्मर्षे, वह

आत्मविचार एकमात्र निर्मल मनरूप मार्ग से प्राप्त होनेवाले निरतिशय भूमानन्दरूपी प्रांगण में विहार करता है तथा उपस्थित अनेक दुःखों का एवं भावी दुःखों के संस्मरणों से जनित चिन्ता आदि अनर्थों का विनाश कर देता है ॥३॥ भगवन्, चन्द्रिका के सदृश तथोक्त आत्मचिन्ता से अज्ञानरूपी अन्धकार का, उसके कार्यों के साथ भली प्रकार विनाश हो जाता है। वह सुन्दर आत्मचिन्ता समस्त संकल्पों से रहित है ॥४॥ महात्मन्, आपके जैसे उत्तम पुरुषों में वह आत्मदृष्टि सुलभ है और हम लोगों के सदृश पामरों में वह दुलर्भ ही है। महाराज, सामान्यबुद्धि यानी अविशुद्ध प्राकृत बुद्धिवाले प्राणी इस पद को, जो समस्त कल्पनाओं से परे और परम चरम सीमा को पहुँचा हुआ है, कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? ॥५॥

तब वह आत्म–दृष्टि तुम्हें कैसे सुलभ हुई, इस प्रश्नपर उसकी सखी के आश्रय से प्राप्त हुई, इस अभिप्राय से प्राणचिन्ता का वर्णन करने के लिए पक्षिराज भुशुण्ड भूमिका बाँधते हैं।

महामुने, उस आत्मचिन्तारूपी (साक्षात्कार तक होनेवाले आत्मविचाररूपी) विलासिनी की, कुछ समानता रखनेवाली तथा विज्ञानरूपी चन्द्रमा से शीतल हुई अनेक सखियाँ हैं ॥६॥ हे मुनिराज, आत्मचिन्ता से मिलती–जुलती विविध आत्मचिन्ता की सखियों के बीच में से एक प्राणचिन्तानामक सखी का, जो समस्त दुःखों का विनाश करनेवाली तथा समस्त सौभाग्यों को बढ़ानेवाली है, मैंने आश्रय लिया है, वही यहाँ मेरे जीवन की हेतु भी है ॥७,८॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, उस तरह कह रहे मननशील भुशुण्ड पक्षी से जानते हुए भी मैंने व्यग्र न होकर फिर कौतुकवश पूछा ॥९॥ समस्त सन्देहों को काटनेवाले हे अत्यन्त दीर्घजीवी साधो, तुम मुझसे ठीक–ठीक कहो कि प्राण–चिन्ता किसे कहते हैं ॥१०॥ भुशुण्ड ने कहा : हे मुने, आप समस्त वेदान्तों को जानते हैं, समस्त संशयों का विनाश भी करते हैं, तथापि केवल मेरे परिहास के लिये ही मुझ जैसे कौए से इस विषय का प्रश्न कर रहे हैं – ऐसा मैं मानता हूँ ॥११॥ अथवा हे भगवन्, आपके सदृश पूज्यतम लोगों की सन्निधि में इसी प्राणदर्शन की विशेष रूप से शिक्षा ग्रहण करने के लिए यदि मैं आपके प्रश्न का फिर उत्तर दूँ, तो मेरी क्षति ही कौन–सी उपस्थित होगी ॥१२॥ महाराज, भुशुण्ड को जिसने चिरंजीवी बनाया है तथा जिसने भुशुण्ड को स्वकीय आत्मा की प्राप्ति कराई है, उस प्राणसमाधि का, जो मेरे द्वारा देहरूपी घर के वर्णन–क्रम से आगे कही जायेगी, आप श्रवण कीजिए ॥१३॥ भगवन्, इस समस्त देहरूपी मनोहर घर को देखिए, इसमें वात, पित्त और कफ, ये त्रिविध दोष बड़े–बड़े विधारक काष्ठ यानी खंभे लगे हुए हैं और यह नव द्वारों से भलीभाँति आवृत है ॥१४॥ यह, पुर्यष्टकरूपी कलत्र से पुर्यष्टक–मात्रारूपी स्वजन यानी बन्धुवर्गों से एवं अहंकाररूपी गृहस्थ से रक्षित है ॥१५॥ महाराज, जिसका मैं वर्णन करने जा रहा हूँ, उस देहरूपी घर का आप अपने भीतर साक्षीरूप से प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं। उसमें सुन्दर दो कर्णविवररूपी दो चन्द्रशालाएँ यानी शिरोगृह (सबके ऊपर स्थित छोटे बँगले) है, केश–समूह उसका आच्छादन (खपरा) है और दो चक्षु ही उसमें बड़े झरोखे हैं ॥१६॥

उस देहरूपी घर का मुख ही सुन्दर प्रधान–द्वार है, दोनों हाथ एवं पार्श्वभाग उसके उप–मन्दिर हैं यानी उस घर के अगल–बगल में सम्बद्ध अंश (बुर्ज) हैं और दाँतों की पंक्तिरूप बकुल–मालाओं से उसके प्रधान दरवाजे का विवर निरन्तर सुशोभित हैं ॥१७॥ समस्त बाह्य विषयों का भीतर ज्ञान करानेवाली ज्ञानेन्द्रियाँ ही उसमें निरन्तर द्वारपाल का कार्य करती हैं। लिंगदेह के सम्बन्ध द्वारा सर्वत्र प्रसृत आत्मप्रकाश

से वह व्याप्त है और वही आत्म-प्रकाश (विशेषरूप से जाग्रत-अवस्था में) उसके (देहगृह के) कनीनिकारूपी (आँखों की पुतलियाँरूपी) दो ऊर्ध्वतम द्वार के समीप की कोठरियों में गृहपति के रूप में स्थिति करता है (ॐ) ॥१८॥ रक्त मांस और वसारूपी मानों जल, मृतिका एवं गोबर से वह उपलिप्त है, शिरारूपी रज्जु-समूह से वह बाँधा गया है, स्थूल हड्डियाँरूपी धरनें उसमें लगाई गई हैं और उसकी दीवारें मजबूत हैं, अतएव वह अत्यन्त सुस्थिर हैं ॥१९॥ मुनिराज, इडा और पिंगला नाम की दो अत्यन्त सूक्ष्म नाड़ियाँ इस देहरूपी घर के बीच दाहिने और बायें भाग में अवस्थित कोष्ठ में यानी कुक्षि में रहती हैं। उनका किसी से भान नहीं होता, केवल नासापुट में प्राण-संचार द्वारा अनुमान होता है ॥२०॥

उसमें समस्त प्राण-शक्तियों के आधारभूत 'पुरीतत्' नामक तीन हृदयकमलयन्त्रों का, जो नालयुक्त संपुटित तीन कमल-जोड़ों के सदृश और पृथक्-पृथक् बहत्तर हजार नाडियों के मूल-जालस्वरूप हैं, दिग्दर्शन कराते हैं।

महाराज, उसमें यन्त्र के सदृश तीन कमल के जोड़े हैं, वे अस्थिमांसमय एवं अत्यन्त मृदु हैं। उनमें ऊपर और नीचे दोनों ओर से नाल-दण्ड लगे हुए हैं और वे संपुटित होकर एक दूसरे से मिले हुए कोमल सुन्दर दलों से सुशोभित हैं ॥२१॥ महाराज, नासिका के अग्रभाग से लेकर पैरतक समस्त शरीराकाश में संचरण कर रहे चन्द्रनामक अपान-वायुरूप अमृत के सिंचन से उसके पत्ते विकसित होते हैं (और प्राण-वायु के संचार से कुछ संकुचित भी होते हैं), इसलिए प्राण और अपान-वायु से व्याप्त हुए उस हृदय-कमलयन्त्र के पत्ते प्रत्येक उच्छ्वास-निःश्वास में संकुचित एवं विकसित हुआ करते हैं ॥२२॥

उससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

मुनिवर, जब उक्त वायुओं से हृदय-कमल के पत्ते संकुचित एवं विकसित होते हैं, तब चारों ओर के प्रसार से पुरीतत् में सम्बद्ध सभी नाड़ियों के छिद्रों में प्रविष्ट होकर वायु उस प्रकार वर्धित होता है, जिस प्रकार अरण्य में लता, पत्र आदि के वायु द्वारा आहत होनेपर वह चारों ओर से वर्धित होता है ॥२३॥ तदनन्तर उस प्रकार वृद्धि को प्राप्त हुआ वह वायु हृदय, गुदा, नाभि, कण्ठ एवं समस्त अंगों को अनेक तरह से अपना आश्रय बनाकर प्राण आदि पाँच संज्ञावाला होता हुआ ऊपर-नीचे विद्यमान बहत्तर हजार नाड़ियों की प्रतिशाखा एक सौ एक नाड़ियों में प्रवेश कर इस शरीर में संचरण करता है ॥२४॥

उसे ही कहते हैं।

तदनन्तर चित्र-विचित्र संचरण और चेष्टाओं के कारण उसी हृदय वायु को पण्डित लोग प्राण, अपान, समान आदि नामों से कहते हैं ॥२५॥

उन प्राणों के साथ प्राण-शक्तियों का भी सब अंगों में संचरण होता है, यह बतलाते हैं।

हे मुने, देहगत उन तीन हृदय-कमलयन्त्रों में प्राण की समस्त शक्तियाँ ऊपर और नीचे की ओर उस प्रकार फैली हुई हैं, जिस प्रकार चन्द्र-बिम्ब से किरण ॥२६॥

अन्न-रस का सारे शरीर में सम्बन्ध कराने के लिए नाड़ियों में हुए उन प्राणशक्तियों के व्यापार को बतलाते हैं।

(ॐ) इस विषय में 'इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेक्षन्पुरुषः', 'नेत्रस्थं जाग्रतं विद्यात्' ये श्रुतियाँ प्रमाण हैं।

वे प्राणशक्तियाँ ही शीघ्र गति, आगति, विकर्षण, हरण, विहरण, उत्पतन एवं निपतन करती हैं यानी शरीर और तदीय तत्–तत् अंशों में सर्वत्र अन्न–रस आदि की गति आदि का निर्वाह करती हैं ॥२७॥

उनका मुख्य स्थान हृदय ही है और उनमें मुख्य प्राण ही है, अपान आदि प्राण ही विशेष वृत्तियाँ हैं, अतः प्राण ही विभिन्न शक्तियों से वृत्तियों द्वारा समस्त शरीर, इन्द्रिय आदि का व्यापार करता है, ऐसा कहते हैं।

हे मुने, हृदय–कमल में स्थित यही वायु पण्डितों द्वारा प्राण कहा जाता है, इसकी कोई एक शक्ति नेत्रों को स्पन्दित करती है यानी नेत्रों में निमेष–उन्मेष करती है ॥२८॥ उसीकी कोई एक शक्ति स्पर्श का ग्रहण करती है, दूसरी कोई शक्ति नासिका द्वारा श्वास–उच्छवास का निर्वहन करती है, कोई एक दूसरी शक्ति अन्न का परिपाक करती है, तो कोई अपर शक्ति वाक्यों का उच्चारण करती है ॥२९॥ महाराज, इस विषय में अधिक कहने से क्या फल ? शरीर में जो कुछ यह क्रिया या व्यापार होता है, वह सब शक्तिसम्पन्न वायु ही उस प्रकार कराता है, जिस प्रकार यन्त्रचालक प्रतिमा आदि यन्त्रों की नृत्यादि चेष्टा कराता है ॥३०॥ हे मुने, उसमें ऊर्ध्वगमन और अधोगमन यों दो प्रकार के संकेतवाले जो दो वायु प्रसृत हैं, वे दोनों वायु प्राण एवं अपान नाम से प्रसिद्ध, श्रेष्ठ एवं प्रकट हैं ॥३१॥

उस प्रकार उपोद्घातसम्बन्धी सब वस्तुओं का वर्णन कर अब वायसराज भुशुण्डजी स्वयं जिसका अनुष्ठान करते हैं, उस प्राणचिन्ता का दिग्दर्शन कराते हैं।

हे मुने, मैं उनकी गति का सदा अनुसरण करता हुआ स्थित रहता हूँ (♤)। उनका स्वरूप सदा शीतल और उष्ण रहता है एवं वे दोनों निरन्तर आकाश मार्ग के पथिक हैं ॥३२॥ मुनिराज, प्राण और अपान दोनों शरीररूपी महायन्त्र के दो घोड़े हैं, श्रम से (मृत्यु से) रहित हैं, हृदयाकाश के सूर्य एवं चन्द्रमा हैं और उनका स्वरूप अग्नि एवं सोम के सदृश है ॥३३॥ महाराज, शरीररूपी नगर के रक्षक मन के रथ के वे दोनों पहिये हैं और अहंकाररूपी इस राजा के सुन्दर एवं इष्ट दोनों घोड़े हैं ॥३४॥ महर्षे, उन प्राण और अपान नामक शरीर–वायुओं की–जो जीवनपर्यन्त अविच्छिन्न उपासित तथा जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति में सदा समानरूप, अधिक अभ्यास के कारण बाहर और भीतर बारह या सोलह अंगुलप्रदेश परिमित संचरणवाले हैं –गति का अनुसरण कर रहे मेरे दिन, सुषुप्ति अवस्था में अवस्थित की नाईं, व्यतीत हो रहे हैं ॥३५,३६॥

प्राणायाम के अभ्यास से उनमें अतिसूक्ष्मरूपता की प्राप्ति हो जाने के कारण भी उत्क्रमण आदि की प्रसक्ति नहीं है, यों अथवा मुखनासिका में जैसे इनका संचार लक्षित होता है वैसे नाडियों में लक्षित

(♤) आध्यात्मिक परिच्छिन्नता का परित्याग कर आधिदैविक सूत्रात्मस्वरूप ही मैं हूँ, इस प्रकार की भावना द्वारा आसंग पाप से दूषित समस्त इन्द्रिय व्रतों का परित्याग कर एकमात्र प्राणव्रत का आचरण करना ही प्राण और अपान की गति का अनुसरण है। वाक् आदि इन्द्रियों की जो वचन आदि अपने अपने विषयों में व्यसनिता है, वही उनका व्रत है, ये आसंगरूपी पाप से दूषित हैं, अतः मृत्युरूप श्रम ने उन्हें नष्ट कर दिया। प्राण का व्रत मुख, नासिका आदि स्थानों में संचरण करना है, वह विषयासंग दोष से दूषित न होने के कारण मृत्युरूपी श्रम से नष्ट नहीं होता। अकेला प्राण ही व्रतभंगशून्य और मृत्यु के आक्रमण से रहित है, इसलिए प्राणरूपता की भावना और उसके व्रतानुष्ठान रूप प्राण–चिन्तन से मैंने मृत्युपर विजय पाई है, यह तात्पर्य है।

क्यों नहीं होता, इस पर कहते हैं।

एक हजार अंशों में विभक्त बिसतन्तु के लवमात्र की अपेक्षा भी अत्यन्त दूर्लक्ष्य नाडियाँ है, अतः उनमें विद्यमान भी इन प्राण और अपान दोनों वायुओं की गति दुर्बोध है। नाडियों की सूक्ष्मरूपता में 'यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावताणिम्ना तिष्ठति' (एक हजार अंशों में विभक्त केश जिस प्रकार अतिसूक्ष्म रहता है, उस प्रकार यह नाडी अति सूक्ष्म है) यह श्रुति प्रमाण है ॥३७॥

वर्णन किये जानेवाले प्रकार के विषय में प्रश्न का अवसर दे रहे भुशुण्डजी वर्णित प्राणविज्ञान का उपसंहार करते हैं।

हे महात्मन्, हृदय आदि स्थानों में निरन्तर संचरण कर रहे प्राण और अपान वायुओं की अनेक श्रुतियों में तत्-तत् प्राणोपासना प्रकरण में अनेक तरह से विहित निर्दोषत्व, श्रमरहितत्व, अभग्नव्रतत्त्व, संवर्ग आदि अनेक गुणविशिष्ट गति का अनुसरण कर यानी आगे कहे जानेवाले प्रकार से उपासना कर पुरुष मृत्युरूपी फन्दों से छुटकारा पाता हुआ तत्त्वज्ञान से जीवन्मुक्त होकर पुनः इस संसार में उत्पन्न नहीं होता। *'हि' शब्द यह द्योतन करता है-निष्काम बुद्धि से अनुष्ठित प्राण आदि की उपासना भी ज्ञान द्वारा मुक्ति की हेतु है, यह श्रुतियों में प्रसिद्ध है*॥३८॥

चौबीसवाँ सर्ग समाप्त

पचीसवाँ सर्ग

प्राण और अपान की गतियों में रेचक आदि की कल्पना तथा
उनकी उत्पत्ति और विनाश के स्थान ब्रह्म का वर्णन।

प्रश्नावसर के प्रदान से सूचित हुआ चिन्तनीय प्राणोपासना का विशेष प्रकार मैंने पूछा है, यों कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, उस प्रकार पक्षी कह ही रहा था कि उस विषय में मैंने उससे फिर यह प्रश्न किया-हे पक्षीन्द्र, प्राणवायु की गति का स्वरूप क्या है ? ॥१॥ भुशुण्ड ने कहा : हे मुने, सब कुछ जानते हुए भी आप मुझसे लीलावश पूछते हैं, यह मैं अनुमान करता हूँ। अच्छा, आपने जिस तरह प्रश्न किया है, उसका उत्तर मैं तदनुरूप देता हूँ, उस विषय में भी मेरे वचनों का श्रवण कीजिए ॥२॥ हे ब्रह्मन्, इस प्राण में स्पन्दन शक्ति तथा निरन्तर गतिक्रिया रहती है। इस प्रकार स्पन्द-शक्ति और सदा गति यह प्राण बाह्य एवं आन्तर सर्वांगों से परिपूर्ण देह में ऊपर के स्थान में निरन्तर स्थित रहता है यानी ऊर्ध्वभाग में सदा गमन करता है ॥३॥ हे ब्रह्मन्, इस अपानवायु में भी निरन्तर स्पन्दशक्ति तथा सतत गति रहती है। यह अपानवायु भी बाह्य एवं आन्तर समस्त अंगों से परिपूर्ण शरीर में नीचे के स्थान में निरन्तर अवस्थित रहता है यानी अधोभाग में गमन करता है ॥४॥

इस प्रकार प्राण और अपान दोनों वायुओं का लक्षण द्वारा पार्थक्य बतलाकर अब 'उनकी गतियों में किसी प्रकार के यत्न के बिना सर्वदा ही प्राणायामरूपता सिद्ध है' यों चिन्तन करना चाहिए, यह बतलाते हैं।

हे प्राणायाम के तत्त्वज्ञ, चूँकि जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं से युक्त पुरुषों को यह

कल्याण के लिए उत्तम साधनभूत प्राणायाम अयत्नतः प्रवृत्त होता रहता है, अतः उसे आप सुनिए ॥५॥

उसमें हृदय प्रदेश से लेकर मूर्धापर्यन्त (मस्तक तक) की आधी प्रश्वासगति में आन्तररेचकरूपता की भावना करनी चाहिए और मूर्धा से लेकर बाहर बारह अंगुल पर्यन्त की आधी प्रश्वासगति में बाह्यपूरकरूपता की भावना करनी चाहिए, ऐसा कहते हैं।

मुनिवर, किसी प्रकार के यत्न के बिना प्राणों की हृदयकमल के कोश से होनेवाली जो स्वभावतः बहिर्मुखता है, विद्वान लोग उसे रेचक कहते हैं ॥६॥ बारह अंगुलपर्यन्त बाह्य प्रदेश की ओर नीचे जा रहे प्राणों का (प्राणवृत्तियों का) जो शरीर के अंगों के साथ स्पर्श होता है, उसे पूरक कहते हैं ॥७॥ ब्रह्मन्, बाह्य–प्रदेश से शरीर के भीतर की ओर अपान के प्रवेश करनेपर यत्न के बिना शरीर की पूर्ति करनेवाला जो यह स्पर्श होता है, उसको (नासिका से लेकर मूर्धा तक और मूर्धा से लेकर हृदयतक होनेवाले दोनों प्रकार के स्पर्शों को) विद्वान लोग पूरक (अन्तःपूरक) कहते हैं ॥८॥

अब कल्पित एवं अकल्पित दोनों तरह से अन्तःकुम्भक प्राणायाम का लक्षण कहते हैं।

महाराज, अपान वायु के प्रशान्त हो जाने पर जब तक हृदय में प्राणवायु का अभ्युदय नहीं होता, तब तक वह वायु की कुम्भक अवस्था (निश्चल स्थिति) रहती है, जिसका कि योगी लोग अनुभव करते हैं, क्योंकि इस अवस्था में शरीर के भीतर वायु कुम्भित रहता है ॥९॥

बाहर भी रेचक आदि प्राणायामों का दिग्दर्शन कराने के लिए उपक्रम करते हैं।

नासिका के अग्रभाग से लेकर बाहर के बारह अंगुलपर्यन्त नीचे अपानवायु की उत्पत्ति स्थल में रेचक, कुम्भक और पूरक यों तीन प्रकार का प्राणायाम होता है ॥१०॥ महामुने, जाग्रत आदि सभी समयों में स्थित रहनेवाले तथा किसी प्रकार के यत्न के बिना स्वतः होनेवाले जिन रेचक आदि का विशाल बुद्धि विद्वानों ने कथन किया है, उन्हें आप सुनिये ॥११॥ हे प्रभो, नासिका के अग्रभाग से बाहर के प्रदेश में बारह अंगुल तक अभ्युदित हुआ (अभिमुख होकर स्थित हुआ) जो वायु है, उन्हीं बाह्य प्रदेशों में उस वायु की बाह्यपूरक आदि के रूप में स्वभावतः भावना करनी चाहिए ॥१२॥

बाह्य वायु के अन्दर अपान वायु के एकीभाव से हुई निश्चल–प्राय स्थिति की कुम्भकरूप से कल्पना करते हैं।

ब्रह्मन्, मृत्तिका के अन्दर असिद्ध घट की स्थिति के सदृश नासिका के अग्रभाग से लेकर बराबर सामने बारह अंगुलपर्यन्त आकाश में जो अपानवायु की निरन्तर स्थिति है, उसे पण्डित लोग कुम्भक कहते हैं ॥१३॥

हृदय–प्रदेश से लेकर नासिका के अग्रभाग तक जो उसकी पूर्वप्राणस्वरूप से गति है, उसकी बाह्यपूरकरूप से भी कल्पना करनी चाहिए, ऐसा कहते हैं।

महाराज, बाह्योन्मुख वायु की जो नासिकाग्रपर्यन्त गति है, वह पहला बाह्यपूरक है, यों योगशास्त्र के ज्ञाता लोग कहते हैं ॥१४॥

उससे बाहर हुई वायुगति की दूसरे बाह्यपूरकरूप से कल्पना करते हैं।

नासिका के अग्रभाग से भी निकलकर बारह अंगुलपर्यन्त जो प्राण–वायु की गति है, वह दूसरा बाह्यपूरक है, यों योगशास्त्र के विद्वान कहते हैं ॥१५॥ बाहर प्राण–वायु के होने पर जब तक अपान–

वायु का उद्‌गम नहीं होता, तब तक एकरूप से अवस्थित पूर्ण बाह्य कुम्भक रहता है, ऐसा विद्वान लोग कहते हैं ॥१६॥

अब बाहर के दो प्रकार के रेचक प्राणायामों की कल्पना का प्रकार बतलाते हैं।

ब्रह्मन्, अपान-वायु के उदय के (प्रस्पन्द के) बिना जो वायु की अन्तर्मुखता (प्रस्पन्दोन्मुखता) रहती है, वह बाह्य रेचक है, यह जानना चाहिए। उपासित हुआ वह उपासक को मुक्ति प्रदान करता है ॥१७॥ बाहर के बारह अंगुल के अन्तिम भाग से नासिका के अग्रभागतक अपानवायु की संचार द्वारा स्वरूपाभिव्यक्ति से जो विशाल स्थूलता प्राप्त होती है, वह दूसरा बाह्यपूरक है, यों विद्वान लोग कहते हैं ॥१८॥ मुनिवर, प्राण और अपानवायु के स्वभावभूत ये जो बाह्य और आभ्यन्तर कुम्भक आदि प्राणायाम हैं, उनका निरन्तर भली प्रकार ज्ञान रखनेवाला (उपासना करनेवाला) पुरुष पुनः इस संसार में उत्पन्न नहीं होता ॥१९॥ हे महाबुद्धे, ये देहवायु के स्वभावभूत बाह्य एवं आन्तर रेचक आदि के भेद से आठ प्रकार के प्राणायाम हैं, उनका रात-दिन निरन्तर अनुध्यान करने से पुरुष की अवश्य मुक्ति हो जाती है, यह मेरा कथन है ॥२०॥

इन प्राणायामों के अभ्यास से समय आने पर प्राणादि वायुओं का निरोध हो जाता है, ऐसा कहते हैं।

जाते या बैठते, जागते या सोते सभी अवस्थाओं में अभ्यास करने पर स्वभावतः अतिचपल ये वायु समय आने पर निरुद्ध भी हो जाते हैं ॥२१॥

कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि का अभिमान भी इससे नष्ट हो जाता है, यों कहते हैं।

मनुष्य अपने भीतर बुद्धिपूर्वक पर्याप्तरूप से इन कुम्भक आदि प्राणायामों का ध्यान करता हुआ यदि कुछ करता है या खाता है, तो उनमें वह कर्तृत्व आदि के अभिमान से तनिक भी ग्रस्त नहीं होता ॥२२॥

प्राणायाम के अभ्यास से बाह्यदृष्टि का परित्याग, तदनन्तर अन्तरात्मा के साक्षात्कार की उत्पत्ति, तदनन्तर परमपद-प्राप्ति, यों प्राणचिन्तन से परमपद की प्राप्ति भी होती है, ऐसा कहते हैं।

महाराज, इस प्राणचिन्तनरूप व्यापार में संलग्न होकर बाह्य अर्थों का परित्याग कर रहा मन कुछ ही दिनों में अद्वितीय परम पद को प्राप्त हो जाता है ॥२३॥ इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास कर रहे पुरुष का मन विषयाकार वृत्तियों के होने पर भी बाह्य विषयों में उस प्रकार प्रेम नहीं करता, जिस प्रकार ब्राह्मण कुत्ते के चमड़े की भाथी में स्थित खीर आदि में प्रेम नहीं करता ॥२४॥ महाराज, इस प्राण-दृष्टि का अवलम्बन कर जो कृतबुद्धि महात्मा स्थित हैं, उन्होंने समस्त प्राप्तव्य वस्तुओं को प्राप्त कर लिया है और वे ही समस्त खेदों से विनिर्मुक्त हो गये हैं ॥२५॥ महाराज, बैठते, चलते, सोते और जागते-सदा-सर्वदा पुरुष यदि इसी दृष्टि की उपासना करें, तो वे कभी बन्धन को प्राप्त ही न हों ॥२६॥ प्राण और अपान की उपासना द्वारा प्राप्त हुए तत्त्वज्ञान से सम्पन्न पुरुषों का मन, जो मलरूप मोह से वर्जित एवं स्वस्थ है, इस भीतरी प्रत्यगात्मा में ही भली प्रकार लगा हुआ रहता है ॥२७॥ समस्त कर्मों का निरन्तर अनुष्ठान कर रहा स्वच्छ-चित्त विज्ञ पुरुष प्राण अपान गति को प्राप्तकर, उत्तम स्वस्थ होकर सुख प्राप्त करता है ॥२८॥ हे ब्रह्मन्, हृदय-प्रदेश में स्थित

पद्म–पत्र से प्राण का अभ्युदय होता है और बाहर बारह अंगुलपर्यन्त प्रदेश में इस प्राण का विनाश हो जाता है ॥२९॥ हे महामुने, बाह्य बारह अंगुल की चरम सीमा से अपान का उदय होता है और हृदय–प्रदेश में संस्थित कमल में उसकी गति अस्त हो जाती है ॥३०॥ मुनीन्द्र, जिस बारह अंगुल की चरम सीमा के आकाश–प्रदेश में प्राण की समाप्ति हो जाती है उसी आकाश–प्रदेश से यह अपान उसीके बाद उत्पन्न हो जाता है ॥३१॥

प्राण एवं अपान में अग्नि और सोमरूपता जो पहले कही गई थी, उसका उष्णत्व, शीतत्व, ऊर्ध्वमुखत्व एवं अधोमुखत्व के प्रदर्शन द्वारा उपपादन करते हैं।

महाराज, यह प्राण–वायु अग्निशिखा के सदृश बाह्य आकाशोन्मुख होकर बहता है और अपान–वायु जल के सदृश हृदयाकाशोन्मुख होकर निम्न भाग में बहता है ॥३२॥ ब्रह्मन्, चन्द्रमारूप अपान–वायु शरीर को बाहर से पुष्ट करता है और सूर्यरूप या अग्निरूप प्राण–वायु इस शरीर को भीतर से परिपक्व कर देता है ॥३३॥

प्राण और अपान में सूर्य और चन्द्ररूपता की भी भावना करनी चाहिए, इसका भी उपपादन करते हैं।

प्राण–वायु प्रतिक्षण हृदयाकाश को संतप्त कर पश्चात मुखाग्रभाग के आकाश को तपाता है, क्योंकि यह उत्तम सूर्य ही है ॥३४॥ अपान–वायुरूप यह चन्द्रमा पहले मुख के अग्रभाग को पुष्टकर उसके क्षणभर ही पीछे हृदयाकाश का (अपने अमृत–प्रवाह से) पोषण करता है ॥३५॥ अपानरूप चन्द्रमा के भीतर की एक कला का प्राणरूपी सूर्य के साथ जिस ब्रह्मरूप प्रदेश में सम्बन्ध हुआ है, उस ब्रह्म पद को प्राप्त कर पुरुष पुनः शोक को प्राप्त नहीं करता ॥३६॥ प्राणरूपी सूर्य के भीतरी एक कला का अपानरूपी चन्द्रमा के साथ जिस पद में सम्बन्ध होता है, उस पद को प्राप्तकर मनुष्य पुनः जन्म प्राप्त नहीं करता ॥३७॥

एक ही वायु में क्रमशः उक्त दोनों प्रकार की शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं, ऐसी भावना करनी चाहिए, यह कहते हैं।

एकमात्र प्राण–वायु ही बाहर एवं भीतर से युक्त आकाश में पहले सूर्यरूपता को प्राप्त करता है और तदनन्तर आनन्दकारिणी चन्द्ररूपता को प्राप्त करता है ॥३८॥ एकमात्र प्राण–वायु ही शरीर को आनन्द पहुँचानेवाली चन्द्ररूपता का परित्याग कर क्षणभर में शोषण करनेवाली सूर्यरूपता को प्राप्त करता है ॥३९॥ बाह्य–प्रदेश में बारह अंगुलपर्यन्त प्रसृत प्राण–वायु जब तक उष्णता का परित्याग कर शीतलता प्राप्त नहीं करता, तब तक वह प्राण और अपान की सन्धि–अवस्था रहती है। उस अवस्था में देह के बाहर प्राण का विलय हो जाने से निर्देहत्व, निष्क्रियत्व, निर्मनस्त्व आदि आत्मा के वास्तव स्वभावों की संभावना हो सकती है, अतः उनका वहाँ पर योगी लोग विचार करते हैं। बाह्य कुम्भक में देहादि देश का परिच्छेद एवं चन्द्र–सूर्यात्मक प्राण–अपान–क्रियाप्रयुक्त आयुरूप काल का परिच्छेद *न* होने के कारण देश–काल–शून्य (स्वात्मस्वरूप) पद में प्रतिष्ठित हुआ योगी कभी शोक नहीं करता ॥४०॥

उसी प्रकार अन्तःकुम्भक में भी हृदयगत प्राण और अपान की सन्धि में प्रतिष्ठित हुए मन में

अपने अधिष्ठानभूत परमात्म-तत्त्व का साक्षात्कार अवश्यंभावी होने से जन्म आदि की प्रसक्ति नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हृदय में चन्द्र और सूर्य का प्रतिदिन उदय और अस्तमय का (प्राणरूप सूर्य एवं अपानरूप चन्द्र की तत्-तत् व्यान आदि वृत्ति-विशेषों का) परिज्ञान कर तथा मन के अधिष्ठानभूत परमात्मा का ज्ञानकर मन फिर उत्पन्न नहीं होता ॥४१॥

अथवा हृदयस्थ अपनी आत्मा ही प्राणात्मक सूर्य है, वही अपानात्मक चन्द्ररूप होकर उदय, अस्तमय और उनकी रश्मिभूत व्यानादि वृत्ति-विशेषों से विवृत होता है, इसलिए उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इस प्रकार की उपासना ही आत्म-साक्षात्कार में कारण है, ऐसा कहते हैं।

उदय, अस्त, चन्द्रमा, रश्मियाँ, गमागम इन सबसे युक्त हृदयकाश में स्थित प्राणरूप सूर्यदेव का जो कोई तात्त्विकरूप से दर्शन करता है, वही असली तत्त्व को जानता है ॥४२॥

यदि शंका हो कि हृदय में आत्म-साक्षात्कार से क्या फल ? बाह्य अन्धकार से बाहर ही अपरिच्छिन्न आत्मा के आवृत होने के कारण बाह्य अन्धकार के विनाश के लिए बाह्यज्योति की ही अन्वेषणा क्यों नहीं करनी चाहिए ? तो इस पर कहते हैं।

यद्यपि हृदयस्थित आत्म-साक्षात्काररूप प्रकाश मोक्ष की सिद्धि के लिए बाह्य तम का न विनाश करता है न उसकी रक्षा ही करता है, तथापि हृदयगत अज्ञानरूप अन्धकार का तो विनाश करता ही है, उसीका विनाश होने पर उत्तम मोक्षरूपा सिद्धि प्राप्त हो जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि बाह्य अन्धकार की कल्पना के भी हृदयगत अन्धकार से ही जनित होने के कारण उसके हेतुभूत हृदयान्धकार के विनाश से बाह्यान्धकार का विनाश अर्थतः सिद्ध हो जाता है ॥४३॥

बाह्य प्रकाश के द्वारा हुआ बाह्य अन्धकार का विनाश एकमात्र रूप आदि के दर्शन में ही कारण है, बाहर आत्म-दर्शन में कारण नहीं, इस आशय से कहते हैं।

हे मुने, बाह्य अन्धकार के नष्ट हो जाने पर घटादिगत रूप आदि का प्रत्यक्ष होता है और हृदयगत अन्धकार के नष्ट हो जाने पर तो आत्मा का प्रत्यक्ष होता है ॥४४॥ ब्रह्मन्, प्रयत्नपूर्वक प्राणरूपी सूर्य का अवलोकन करना चाहिए, यही हृदयगत अज्ञानान्धकार का विनाश करता है, परितः ज्ञात हुआ उत्तम मुक्ति प्रदान करता है और इसका उदय एवं अस्त भी होता है यानी अज्ञानियों की दृष्टि में इसका अस्त है तथा ज्ञानियों की दृष्टि में उदय है ॥४५॥

रुचि के उत्पादन द्वारा अधिकारियों की प्रवृत्ति कराने के लिए उक्त बाह्य और आन्तर कुम्भकनिष्ठा का वर्णन कर रहे पक्षिराज भुशुण्डजी भूमिका बाँधते हैं।

ब्रह्मन्, जिस हृदय-कमलरूपी कोटर में अपान-वायुरूप चन्द्रमा अस्त हो जाता है, उस हृदय-कमलरूप कोटर से बाह्योन्मुख प्राणरूपी सूर्य का अपने भीतर उदय होता है ॥४६॥ अपान-वायु का अस्त हो जाने पर हृदय-कमल से प्राण का वहाँ उस प्रकार शीघ्र उदय हो जाता है, जिस प्रकार निशारूप छाया का विनाश हो जाने पर वहाँ सूर्य के प्रकाश का ॥४७॥ चारों ओर से सूर्य के प्रकाश के नष्ट हो जाने पर जिस प्रकार उसके पीछे क्षणभर में ही छायारूप अन्धकार का उदय हो जाता है, उसी प्रकार प्राणरूप सूर्य के प्रकाश का अस्त हो जाने पर क्षणभर में ही बाहर से अपान का

उदय हो जाता है ॥४८॥ हे सन्मते, जिस भूमि में प्राण की उत्पत्ति होती है, उस भूमि में अपान का विनाश हो जाता है और जिस भूमि में अपान की उत्पत्ति होती है, उस भूमि में प्राण का विनाश हो जाता है, यह आप निश्चित जानिए ॥४९॥ प्राण–वायु के अस्त हो जाने पर और अपान–वायु के उदयोन्मुख होने पर बाह्य कुम्भक का चिरकाल तक अवलम्बन करने से योगी फिर संसारूपी शोक से ग्रस्त नहीं होता ॥५०॥ अपान–वायु के अस्त होने पर और प्राण–वायु के तनिक उदयोन्मुख होने पर भीतरी कुम्भक का चिरकाल तक अवलम्बन करने से योगी पुनः इस संसाररूपी शोक से ग्रस्त नहीं होता ॥५१॥ ब्रह्मन्, जिस स्थान में अपान–वायु का उदय होता है, उस द्वादश अंगुलपरिमित स्थान से दूर कोटिगत यानी सोलह अंगुलपरिमित भाग में प्रसरणशील प्राण–रेचक का अवलम्बन कर स्वच्छ (निःशेष वायु के रेचन से निर्मल) कुम्भक का अभ्यास करने से पुनः योगी संसाररूप ताप से तप्त नहीं होता ॥५२॥ नासिका–छिद्र से अपान–वायु का भीतर प्रवेश होने पर बाह्य रेचक के आधारभूत, प्राण के पूरण के लिए भीतर प्रविष्ट देहान्तर्गत पूरक की उपासना करने से मनुष्य पुनः संसार में उत्पन्न नहीं होता ॥५३॥ जिस हृदयवर्ती ब्रह्मरूप स्थान में ये प्राण और अपान दोनों विलीन हो जाते हैं, उस शान्त, आत्मस्वरूप ब्रह्मरूप पद का अवलम्बन करने से योगी अनुतप्त नहीं होता ॥५४॥

अब 'अर्कतां संपरित्यज्य न यावच्चन्द्रतां गतः' इससे उत्तरार्ध में 'अदेशकाले न शोच्यते' यह जो कहा गया है, उसका विवरण करते हुए बाह्य कुम्भक में कहे गये देश–काल–बाध का अन्तःकुम्भक में भी अनुकर्ष बतलाते हैं।

अपान–वायु के प्राणभक्षणोन्मुख होने पर बाहर यानी प्राणलय के अधिष्ठानभूत चैतन्य में और भीतर यानी प्राणनिर्गम के अपादानभूत चैतन्य में बाध द्वारा देश, काल और उनमें रहनेवाले समस्त पदार्थ निरवयव चैतन्यात्म ब्रह्मस्वरूप ही हैं, ऐसा विचार करने से मनुष्य फिर शोक का भागी नहीं होता ॥५५॥ प्राण–वायु के अपानभक्षणोन्मुख होने पर बाहर और भीतर पूर्वोक्त चैतन्य में देश, काल एवं तदनन्तर्वर्ती समस्त पदार्थ निष्कल ब्रह्मस्वरूप ही हैं, ऐसी उपासना करने से पुरुष का मन पुनः उत्पन्न नहीं होता ॥५६॥ जिस परब्रह्मरूप चैतन्य में अपान के साथ प्राण का, प्राण के साथ अपान का तथा उन दोनों के साथ बाह्य एवं आन्तर देश–काल का विलय हो जाता है, उसी परब्रह्मरूप पद का आप दर्शन कीजिए ॥५७॥

प्राण और अपान के सन्धिकाल में सभी प्राणियों को उक्त अवस्था रहती है, परन्तु उसका अनुभव केवल योगी लोग ही कर पाते हैं, दूसरे नहीं कर पाते, ऐसा कहते हैं।

जिस समय अपान के आविर्भाव से वर्जित प्राण अस्त हुआ रहता है उस समय किसी प्रकार के यत्न के बिना सिद्ध हुई बाह्य जो कुम्भक अवस्था है उसी को योगी लोग 'तत्पद' कहते हैं ॥५८॥ किसी प्रकार के यत्न के बिना ही सिद्ध हुआ अन्तःस्थ कुम्भक सर्वातिशायी ब्रह्मरूप परम पद है ॥५९॥ यही आत्मा का असली स्वरूप है और यही अशेष मलों से निर्मुक्त सूर्य, चन्द्र आदि प्रकाशमान पदार्थों की प्रकाशक परम चिति है, यही तत्–तत् जागतिक पदार्थों का अवभासक प्रकाश है और इसीको प्राप्त कर मनुष्य शोकग्रस्त नहीं होता ॥६०॥

उस प्रकार तत्–तत् भिन्न–भिन्न क्रियाओं के भेद से भिन्न–भिन्न हुए प्राणोपासना के प्रकार को कहकर अब उसकी दृढ़ता के अनन्तर प्राण, अपान आदि के अन्दर रहनेवाले उनके अधिष्ठानभूत चैतन्यात्मा की उपासना करनी चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

ब्रह्मन्, जिस प्रकार पुष्प के अन्दर सुगन्धि रहती है, उसी प्रकार प्राण के अन्दर रहनेवाले चिदात्मा की, जो न सजीवस्वरूप है और न निर्जीवस्वरूप है (📖), हम लोग उपासना करते हैं ॥६१॥ जिस प्रकार जल के अन्दर माधुर्य रहता है, उसी प्रकार अपान के अन्दर रहनेवाले चिदात्मा की, जो सजीव और निर्जीव रूप नहीं है, हम लोग उपासना करते हैं ॥६२॥ जो प्राणविलय का और जो अपानविनाश का समीप एवं अन्त में रहकर प्रकाशक है तथा जो प्राण और अपान के अन्दर रहता है, हम लोग उस चिदात्मा की उपासना करते हैं ॥६३॥ ब्रह्मन्, प्राण के प्राणनव्यापार में सबसे बढ़ चढ़कर जो निमित्तभूत है, जीव के जीवनादि व्यापार में जो सबसे बढ़चढ़कर निमित्तभूत है, देह के धारण आदि व्यापार में जो सर्वप्रथम हेतुभूत है, उस चिदात्मा की हम लोग उपासना करते हैं ॥६४॥ महाराज, जो मन के मनन आदि व्यापार में हेतुभूत है, जो बुद्धि के बोधनव्यापार में निमित्तभूत है एवं जो अहंकार के अहंकरण के अहंकार व्यापार में निमित्तभूत है उस चिदात्मा की हम लोग उपासना करते हैं ॥६५॥ जिसमें यह समस्त पुरोवर्ती पदार्थ विद्यमान हैं, जिससे समस्त जगत उत्पन्न हुआ है, जो सर्वात्मक है, जो चारों ओर स्थित है और जो सर्वमय है, हम लोग उस चैतन्यात्मक तत्त्व की निरन्तर उपासना करते हैं ॥६६॥ ब्रह्मन्, जो सूर्य आदि समस्त अवभासक पदार्थों का भी अवभासक है, जो समस्त पावन पदार्थों में पावनतम पुण्यरूप है, जो मन, बुद्धि आदि के विकारों से तनिक भी अपने वास्तव स्वभाव से च्युत नहीं होता, उस चित्तत्त्व की हम उपासना करते हैं ॥६७॥

जिसमें अपानवायु अस्त हो जाता है और जिसमें तनिक भी प्राण का अभ्युदय नहीं होता, उस समस्त कल्पना कलंकों से निर्मुक्त चित्तत्त्व की हम लोग उपासना करते हैं {1}

जिसमें अपान का अभ्युदय नहीं होता और प्राण का अंत हो जाता है तथा जिसकी नासिका के अग्रभाग से उपलक्षित बारह अंगुल परिमित गगन सन्धि (प्राणापानप्रवाहसन्धि) है, उस चित्तत्त्व की हम उपासना करते हैं ॥६८॥

अब बाह्य और आन्तर प्रदेशरूप उपाधिभेद का परित्याग कर 'यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति। तं देवाश्चक्रिरे धर्मं स एवाद्य स उ श्व एतद्वै तत्' इस श्रुत्यर्थ को मन में लेकर कहते हैं।

जहाँ पर प्राण विलीन हो जाता है, जहाँ अपान भी अस्त हो जाता है और जहाँ प्राण और अपान दोनों उत्पन्न भी नहीं होते, हम लोग उस चित्तत्त्व की उपासना करते हैं ॥६९॥ बाह्य और आभ्यन्तर प्रदेश में स्थित, योगियों द्वारा अनुभूत होनेवाले जो दो प्राण और अपान की उत्पत्ति के स्थान हैं, उन दोनों के अधिष्ठानभूत चित्तत्त्व की हम उपासना करते हैं ॥७०॥ जो प्राण और अपानरूप रथ

(📖) इससे प्राणोपहित आत्मा की या प्राणलयोपलक्षित अपानात्मा की उपासना नहीं करनी चाहिए, यह सूचित किया गया। और 'प्राणस्यान्तरवस्थितम्' यह जो कहा गया है, वह एकमात्र आत्मा के परिचय के लिए ही कहा गया है, न कि उपासना के उपाधिरूप से, यह तात्पर्य है।

के ऊपर आरूढ़ होकर परिच्छिन्न होता हुआ प्राण और अपान की शक्तिस्वरूप हो जाता है एवं अन्यान्य चक्षु आदि करणों में स्थित शक्तियों का भी जो शक्तिस्वरूप है, उस चित्तत्त्व की हम उपासना करते हैं ॥७१॥

प्राण, अपान एवं कुम्भकरूप से तथा उनके विसर्ग रेचक आदि रूप से चित्तत्त्व ही विवर्तित होता है। इसलिए एकमात्र चित्तत्त्व की उपासना करनी चाहिए, यों कहते हैं।

महाराज, जो हृदयगत प्राण की कुम्भकावस्था का स्वरूपभूत है, जो बाहर अपान की कुम्भकावस्था का स्वरूपभूत है और जो पूरकांश से विसृष्ट है, उस प्रकाशमान चित्तत्त्व की हम उपासना करते हैं ॥७२॥ जो प्राण और अपान के चैतन्य में हेतुभूत हैं, जो उनके अस्तित्व का ज्ञान करानेवाले है, जो स्वयं रूपवर्जित है एवं जो प्राणोपासना से प्राप्तव्य है, उस चित्तत्त्व की हम उपासना करते हैं ॥७३॥ ब्रह्मन्, जो प्राण वायु के स्पन्दन में हेतुभूत है, जो इन्द्रियों के होनेवाले विषयप्रदेश–पर्यन्त गमन में तथा उनके उपभोग में हेतुभूत है तथा जो कारणों का भी कारण है, उस चित्तत्त्व की हम उपासना करते हैं ॥७४॥ जो परमार्थ दृष्टि से समस्त कलनारूपी कलंकों से विनिर्मुक्त है, जो आपातदर्शी पुरुषों की दृष्टि से जीवोपाधिभूतप्राण आदि सोलह कलाओं से सदा परिवेष्टित है, जो प्रमात्मक अनुभवरूपी ऐश्वर्य से परिपूर्ण है तथा जो समस्त देवताओं से वन्दित है, उस सर्वश्रेष्ठ परमात्मरूप परमपद की हम उपासना करते हैं ॥७५॥

पचीसवाँ सर्ग समाप्त

छब्बीसवाँ सर्ग

प्राणोपासना द्वारा इस प्रकार अपने स्वरूपविज्ञान का निरूपण करने के अनन्तर भुशुण्डजी अपनी चिरंजीविता में हेतुओं का निरूपण करते हैं, यह वर्णन।

भुशुण्ड ने कहा : महाराज वसिष्ठजी, मैंने प्राणोपासना द्वारा उक्त रीति से क्रमशः निर्मल हुए आत्मा में यह चित्त विश्रान्ति स्वयं प्राप्त की है ॥१॥ हे महामुने, मैं इस प्राणदृष्टि का अवलम्बन कर दृढ़तापूर्वक अवस्थित रहता हूँ। इसलिए सुमेरु पर्वत के विचलन से भी निमेषांशमात्रकाल के लिए भी विचलित नहीं होता ॥२॥

ब्रह्मन्, बैठते, जागते या सोते तथा स्वप्नानुभव करते किसी भी अवस्था में मेरी आत्मा में यह उत्तम समाधि–विचलित नहीं होती ॥३॥ निरन्तर विनाशशील, अतिचंचल, इष्ट और अनिष्ट स्वरूप इन जागतिक अवस्थाओं में मैं किसी प्रकार के विक्षेप के बिना ही दृढ़तापूर्वक स्थित रहता हूँ। मेरी वृत्ति सदा अन्तर्मुख रहती है यानी मैं कभी तुच्छ बाह्य विषयों की स्पृहा नहीं करता। एकमात्र अपने स्वरूप से अपनी आत्मा में ही स्वच्छन्दवृत्ति से स्थित रहता हूँ ॥४॥

महाराज, किसी समय किसी कारणवश नक्षत्रचक्र का आधारभूत प्रवहनामक वायु बन्द भी हो जा सकता है, बड़ी–बड़ी महानदियों के जल अपने स्वाभाविक प्रवाह से विरत भी हो जा सकते हैं, परन्तु मुझे अपने इस प्राणचिन्तनरूप उपासना से विरत करा दे, ऐसा कोई भी पदार्थ इस संसार में नहीं है, इसका मुझे निश्चित स्मरण है ॥५॥

हे तपस्वियों में महान, प्राण और अपान के अनुसरण से प्राप्त परम तत्त्व के साक्षात्कार से मैं समस्त शोकों से वर्जित आदिकारण परम पद को प्राप्त हो गया हूँ ॥६॥

ब्रह्मन्, महाप्रलय से लेकर प्राणियों की उत्पत्ति एवं विनाश का अनुभव कर रहा मैं धीरबुद्धि होकर आज भी जी रहा हूँ ॥७॥

महाराज, मैं कभी अतीत एवं अनागत विषयों का चिन्तन नहीं करता, एकमात्र नित्य वर्तमानस्वभाव साक्षिचैतन्यस्वरूप दृष्टि का अपने मन से अवलम्बन कर इस कल्पतरु वृक्ष पर अवस्थित रहता हूँ ॥८॥ ब्रह्मन्, व्यवहारवश यथा समय जो भी कर्तव्य प्राप्त हो जाते हैं, उनका फल की अभिलाषाओं को छोड़कर निरभिमानबुद्धि से केवल अनुष्ठान करता रहता हूँ ॥९॥ हे मुनिवर, इच्छा एवं अनिच्छा से निरन्तर अयुक्त इष्ट-अनिष्ट पदार्थों की चिन्ता का विचार कर यानी वे सर्वथा हेय ही हैं, ऐसा निश्चय कर केवल अपने स्वरूप में ही स्थित रहता हूँ। इसलिए मैं शोकरहित होकर चिरकाल से जी रहा हूँ यानी दीर्घजीवी हूँ ॥१०॥ भगवन्, प्राण और अपान के सन्धिस्थान में प्रकाशित हो रहे आत्मतत्त्व का निरन्तर ध्यान करता हुआ मैं अपनी आत्मा में स्वयं ही सन्तुष्ट रहता हूँ। इसलिए शोकरहित होकर चिरकाल से जी रहा हूँ ॥११॥ महाराज, मैंने आज यह प्राप्त किया और भविष्य में दूसरा सुन्दर प्राप्त करूँगा, इस प्रकार की मुझे कभी चिन्ता नहीं होती, इसलिए शोकरहित होकर चिरकाल से जी रहा हूँ ॥१२॥ हे साधो, किसी समय कहीं पर अपने या दूसरे किसी के कार्यों की न तो कुछ स्तुति करता हूँ और न कुछ निन्दा ही करता हूँ। इसलिए मैंने यह दीर्घ जीवन प्राप्त किया है ॥१३॥ महर्षे, मेरा मन इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होने पर न सन्तुष्ट होता है और न तो अनिष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होने पर कभी खिन्न होता है, वह निरन्तर एकरूप ही रहता है, इसलिए मैं इस दीर्घ जीवन को प्राप्त हुआ हूँ ॥१४॥ चूँकि समस्त द्वैत के बाध रूप उत्तम त्याग का अवलम्बन कर सर्वदा ही जीवन के अभिमान आदि सभी वस्तुओं का मैंने परित्याग कर दिया है, अतः इस दीर्घ जीवन को प्राप्त हुआ हूँ ॥१५॥ हे मुने, मेरे मन की चपलता विलीन हो गई है। वह शोक से रहित हो गया है, स्वस्थ, समाहित एवं शान्त हो चुका है, इसलिये मैं विकारवर्जित होकर जी रहा हूँ ॥१६॥ चूँकि मैं लकड़ी, विलासिनी रमणी, पर्वत, तिनका, अग्नि, हिम, आकाश इन सबमें एकरूपता ही देख रहा हूँ, इसलिये विकार वर्जित होकर जी रहा हूँ ॥१७॥ आज मैंने क्या प्राप्त किया और कल प्रातः मुझे क्या प्राप्त होगा, इस प्रकार चिन्तारूपी ज्वर से मैं निर्मुक्त हूँ, इसीलिए अनामय होकर मैं जी रहा हूँ ॥१८॥ जरा एवं मरण के सदृश कष्टों एवं राज्यप्राप्ति के सदृश सुखों के प्राप्त होने पर न तो मैं डरता हूँ और न प्रसन्न ही होता हूँ। इसलिए मैं अनामय होकर जीवित हूँ ॥१९॥ हे ब्रह्मन्, यह मेरा बन्धु है, यह मेरा शत्रु है, यह मेरा है एवं यह दूसरे का है, इस प्रकार की भिन्नता तो मैं जानता ही नहीं इसलिए अनामय होकर जीवित हूँ ॥२०॥ महाराज, नानावस्तु के रूप में प्रकाशित होनेवाले समस्त वस्तुओं के अधिष्ठानभूत, आदि और अन्त से शून्य विकारवर्जित अवभासक आत्म-पदार्थ को तथा भासित होनेवाले इस समस्त प्रपंच को एकमात्र चित्स्वरूप ही मैं जानता हूँ इसी से मैं शोकरहित जीवित हूँ ॥२१॥ ग्रहण कर रहा, विहार कर रहा, स्थिति कर रहा, उत्थान कर रहा, श्वास ले रहा तथा निद्रा ले रहा शरीर ही है, आत्मा नहीं, यह मैं जानता हूँ, इसलिये मैं चिरंजीवी हूँ ॥२२॥ महाराज, विकारवर्जित अवस्था में स्थित हुआ मैं इस संसार में उत्पन्न घट आदि कार्यविशेषों

को तुच्छ–सा (मिथ्या) ही जानता हूँ, इसलिए विकाररहित होकर जी रहा हूँ ॥२३॥ प्रारब्ध के द्वारा प्रस्तुत किये गये उपभोग–समय में प्राप्त हुए इष्ट और अनिष्ट पदार्थ मेरी दृष्टि में, देहवर्ती हाथों की नाईं, समान ही हैं, इसलिये मैं विकारवर्जित होकर जी रहा हूँ ॥२४॥ अपने स्वरूप से किसी समय च्युत न होनेवाली मानसिक स्थिरतारूपी शक्ति के द्वारा हुई स्निग्ध एवं मुग्ध सुन्दर दृष्टि से यानी सब प्राणियों में आत्मा एक ही है, इस दृष्टि से सब स्थानों में कुटिलता रहितता का ही मैं अनुभव करता हूँ, इसलिए अनामय होकर जी रहा हूँ ॥२५॥ महाराज, मैंने अहंकाररूपी कीचड़ का परित्याग कर दिया है। इसलिए पैर से लेकर मस्तक तक इस देह में मुझे ममता नहीं है, यही कारण है कि मैं सब तरह के विकारों से रहित होकर जी रहा हूँ ॥२६॥ महाराज, मैं जो कुछ व्यापार करता हूँ, जो कुछ खाता–पीता हूँ वह सब कुछ अभिमान का परित्याग करके ही। इसलिए शरीर के कारण तादृश व्यापारयुक्त होने पर भी मेरा मन कर्तृत्व–भोक्तृत्वशून्य स्वभावरूपता का ही स्वीकार करता है। यही कारण है कि मैं अनामय होकर दीर्घजीवी हूँ ॥२७॥ हे मुने, जब–जब मैं कुछ जानता हूँ, तब–तब मेरा मन अविनीतभाव को प्राप्त नहीं होता। इसलिए अनामय होकर जीवित रहता हूँ ॥२८॥ महाराज, यद्यपि मैं दूसरों के ऊपर आक्रमण करने में समर्थ हूँ, तथापि मैं आक्रमण (परिभव) नहीं करता, दूसरों के द्वारा खेद पहुँचाये जाने पर भी सहनशीलता के कारण खिन्न नहीं होता एवं दरिद्र होने पर भी कुछ नहीं चाहता, इसलिए अनामयरूप से दीर्घजीवी हूँ ॥२९॥ चेतनप्राय इस शरीर के भासमान होने पर भी मैं एकमात्र चैतन्यात्मता का ही अवलोकन करता हूँ। इसलिए सब भूतों में चिदात्मता की समता होने के कारण सर्वभूतों के अन्दर स्थित आत्मस्वरूप हो रहा मैं उनको अपने शरीर के सदृश ही देखता हूँ। यही कारण है कि मैं अनामय होकर दीर्घजीवी हूँ ॥३०॥ ब्रह्मन्, निरन्तर समाधियुक्त मैं अनेकविध आशारूपी पाशों से बद्ध हुई चित्तवृत्ति को अपने हृदय के अन्दर तनिक भी स्थान नहीं देता, इसलिए निर्विकार होकर मैं चिरंजीवी हूँ ॥३१॥ ब्रह्मन्, बाह्य पदार्थों के विषय में सुप्त होकर मैं जगत की असत्ता देखता हूँ और अपने भीतर प्रबुद्ध होकर, हाथ में बेल की नाईं, आत्मा की सत्ता देखता रहता हूँ, इसलिए चिरंजीवी हूँ ॥३२॥ महाराज, जीर्ण, विदीर्ण, अवयवों से शिथिल क्षीण, क्षुब्ध, चूर्णित एवं विनष्ट हुए सब अतीत, अनागत और वर्तमान के पदार्थों को, विकारशून्य आत्मदृष्टि के कारण नवीन पदार्थों के सदृश देखता रहता हूँ, इसलिए विकारशून्य दीर्घजीवी हूँ ॥३३॥ महाराज, सुखी पुरुष को देखकर मैं सुखी होता हूँ, दुःखी जन को देखकर दुःखी होता हूँ, सभी के लिए मैं प्रिय मित्र हूँ, इसलिए विकारवर्जित चिरंजीवी हूँ ॥३४॥ मैं आपत्ति–काल में पर्वत की नाईं धीर रहता हूँ, सम्पत्ति–काल में समस्त जगत के प्रति मैत्री रखता हूँ, सम्पत्ति की वृद्धि या विनाश–दशा में तनिक भी अभिमान नहीं करता। इसलिए मैं चिरंजीवी हूँ ॥३५॥ न मैं हूँ, न मेरे लिए कोई दूसरा है और न मैं किसी दूसरे के लिए हूँ, इस प्रकार की भावना से मेरा चित्त भावित है, अतएव मैं अनामय होकर चिरंजीवी हूँ ॥३६॥ मैं ही जगत हूँ, मैं ही आकाश हूँ, मैं ही देश और काल की परम्परा हूँ, मैं ही क्रियारूप हूँ, इस प्रकार की मेरी बुद्धि है। इसलिए मैं अनामय होकर चिरंजीवी हूँ ॥३७॥

क्या सर्वत्र स्थल में विद्यमान जड़ता को लेकर ही तुम अहंबुद्धि करते हो ? नहीं, ऐसा उत्तर देते हैं।

घट चित्स्वरूप है, पट चित्स्वरूप है, आकाश चित्स्वरूप है, अरण्य और शकट भी चित्स्वरूप हैं,

चित् ही सब कुछ है, इस प्रकार मेरी भावना है, इसलिए अनामय होकर चिरंजीवी हूँ ॥३८॥

उपसंहार करते हैं।

हे मुनिशार्दुल, मेरुरूपी पद्मबीज के कोष में (कमल के छत्ते में) रहने तथा श्यामरूप होने के कारण मैं त्रिलोकीरूपी कमल का मानों एक तरह से भ्रमर हूँ और पूर्वोक्त विभिन्न-विभिन्न भावनाओं के कारण लोगों के द्वारा भुशुण्ड नाम का चिरंजीवी द्रोण कौआ व्यवहृत हुआ हूँ ॥३९॥ हे ब्रह्मन्, ब्रह्मरूपी समुद्र में चलायमान, उत्पत्ति, वृद्धि, विपरिणाम और अपक्षयरूप अभिभावों से (एक दूसरे की टक्करों से) प्राप्त हुए चित्र-विचित्र रूपों से युक्त पूर्वोक्त रीति से बार-बार आविर्भूत एवं विलीन हुए तथा साक्षी द्वारा भासमान बुद्धि, मन एवं इन्द्रियों के विषयीभूत भ्रमणशील त्रिजगत्रूपी तरंगों को व्युत्थानकाल में देखता हुआ और समाधि-काल में लय करता हुआ मैं चिरकाल स्थित हूँ ॥४०॥

छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त

सत्ताईसवाँ सर्ग

जाने की इच्छा कर रहे वसिष्ठजी द्वारा भुशुण्ड की प्रशंसा,
भुशुण्ड द्वारा वसिष्ठजी का पूजन तथा आकाशमार्ग से वसिष्ठजी की स्वलोकप्राप्ति इनका वर्णन।

भुशुण्ड ने कहा : हे ज्ञान के पारंगत ब्रह्मन्, एकमात्र आपकी आज्ञा का परिपालन करने के लिए ही धृष्टता का अवलम्बन कर जिस प्रकार से मैं चिरंजीवी हूँ और जिस प्रकार से परमार्थरूप इस कार्यकारणसंघातरूप देह में मेरी स्थिति है, वह सब कुछ मैंने आपसे कह दिया ॥१॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे ऐश्वर्यपूर्ण पक्षिराज, कितने हर्ष का विषय है कि आपने अपने प्राण-चिन्तन एवं चिरजीवन की कहानी, मुझसे कही जो सुनने योग्य कहानियों में भूषणस्वरूप तथा अनेकविध विस्मयों के उत्पादन में परम कारणभूत है ॥२॥ पक्षिराज, वे महात्मा धन्य हैं, जो दूसरे ब्रह्मदेव के समान स्थित अत्यन्त दीर्घजीवी आपके दर्शन करते हैं ॥३॥ हे पक्षिराज, ये मेरे नेत्र भी धन्य हैं जो तब से लेकर अब तक आपके दर्शन करते रहे। आपने बुद्धि को पवित्र करनेवाला अखण्डित (अक्षरशः अपना सम्पूर्ण जीवनवृत्तान्त) ज्यों का त्यों ठीक ठीक कहा ॥४॥ वायसराज, मैंने सब दिशाओं में परिभ्रमण किया और देवताओं एवं बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ताओं की ज्ञान आदि सम्पत्तियाँ देखी, परन्तु इस जगत में आपके सदृश दूसरे किसी महान ज्ञानी को नहीं देखा ॥५॥ वायसराज, प्रयत्न से दीर्घकाल तक परिभ्रमण कर कोई किसी महाव्यक्ति को किसी तरह प्राप्त कर सकता है, परन्तु आपके सदृश भव्यात्मा ज्ञानी इस जगत में कहीं पर भी सुलभ नहीं हो सकता ॥६॥ जिस प्रकार एक बाँस के वन में कहीं-कहीं ही मोती उत्पन्न होता है, वैसे ही आपके सदृश ज्ञानी जगत के किसी एक कोने में ही दिखालाई देता है। (मोतियों की आठ खानों में बाँस का भी परिगणन है) ॥७॥ भुशुण्डजी, पुण्य-देह एवं विमुक्तात्मा आपका जो यह अवलोकन किया, उससे मैंने तो आज अत्यन्त कल्याणकर एक बहुत-बड़ा कार्य सम्पादन कर लिया है ॥८॥ पक्षिराज, तुम्हारा कल्याण हो, तुम अपनी शुभ गुहा में प्रवेश करो, अब मध्याह्न-कर्तव्य के लिए मेरा समय हो गया है, अतः मैं भी अपने घर सप्तर्षि लोक में जा रहा हूँ ॥९॥ यह सुनकर इस भुशुण्ड ने वृक्ष से उठकर संकल्पजनित हाथों से प्राप्त सुवर्णपल्लव का

(सुवर्णपल्लवमय पात्रका) ग्रहण किया ॥१०॥ तदनन्तर पूर्णप्रज्ञ उस वायसराज ने कल्पवृक्ष की लता के पुष्प केसरों से युक्त हिम के सदृश कान्तिवाले अर्घोपयोगी मोतीरूपी जल से उस पात्र को भर दिया ॥११॥ श्रीरामजी, उक्त अर्घ्य, पाद्य और पुष्प से संसार में सबसे पहले उत्पन्न हुए यानी चिरन्तन इस भुशुण्ड ने तीन नेत्रवाले महादेवजी के सदृश मेरी पैर से लेकर मस्तक पर्यन्त भक्तिपूर्वक पूजा की ॥१२॥ तदनन्तर हे खगेन्द्र, आप मेरे पीछे चलने के लिए अधिक श्रम न करें। इस प्रकार कहता हुआ मैं आसन से उठकर पक्षी की नाईं उड़ गया ॥१३॥ हे श्रीरामजी, मेरे पीछे–पीछे अनुगमन द्वारा आकाश में वह पक्षिराज एक योजन तक चलता रहा। इसके बाद मैंने अपने हाथ से उसका हाथ पकड़कर बलपूर्वक उसे रोक दिया ॥१४॥ क्षणभर में ही मैं आकाशमार्ग में जब अदृश्य हो गया, तभी वह पक्षिराज अपने स्थान के लिए लौटा। ठीक ही है, सज्जनों की संगति का बड़ी कठिनाई से त्याग होता है ॥१५॥ हे श्रीरामजी, आकाशमार्ग में कुछ दूर जाकर, समुद्र में तरंग की नाईं, हम दोनों ही एक दूसरे के प्रति कहीं अदृश्य हो गये। भुशुण्ड का निरन्तर स्मरण करते हुए अरुन्धती से पूजित मैंने भी सप्तर्षि–मण्डल को प्राप्त कर मुनियों का दर्शन किया ॥१६॥

उक्त भुशुण्ड–संगति का समय कहते हैं।

श्रीरामजी, सत्ययुग के प्रथम दो शतक जब व्यतीत हो चुके थे, तब मेरुपर्वत के तथाकथित कल्पवृक्ष पर भुशुण्ड के साथ मैंने पहले–पहल भेंट की थी ॥१७॥ हे श्रीरामजी, आजकल वर्तमान समय में सत्ययुग क्षीण होने पर त्रेतायुग चल रहा है और हे रिपुमर्दन, इस त्रेतायुग के बीच में आपने जन्म लिया है ॥१८॥ हे श्रीरामजी, आज से आठ वर्ष पहले सुमेरुपर्वत के उसी शिखर के ऊपर ज्यों–का–त्यों अजररूपधारी वह भुशुण्ड मुझसे फिर मिला था ॥१९॥

उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामजी, इस प्रकार का विचित्र उत्तम भुशुण्ड–वृत्तान्त मैंने आपसे कहा। उसका श्रवण और भीतर से मनन कर जो उचित हो, उसका अनुष्ठान कीजिए ॥२०॥ श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : इस प्रकार की बुद्धिमान भुशुण्ड की उत्तम कथा का जो विशुद्धमति महात्मा भली प्रकार विचार करेगा, वह इसी शरीर में जन्मादि भयों से मलिन अतएव व्याकुल जीवों के द्वारा व्याप्त हुई इस माया–नदी को बलात् पार कर जायेगा ॥२१॥

सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठाईसवाँ सर्ग

भुशुण्डाख्यायिका का सम्बन्ध, देह की अनिश्चितता तथा देहादि में आपाततः भ्रान्तिरूपता का वर्णन।

वर्णित भुशुण्डाख्यायिका का उपक्रान्त उपदेश के साथ सम्बन्ध बतलाते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे निष्पाप श्रीरामजी, इस प्रकार का भुशुण्डवृत्तान्त मैंने आपसे कहा। आख्यायिका में वर्णित इसी तात्त्विक बुद्धि के कारण मोहसंकट से भुशुण्ड तैर गया था ॥१॥ हे महाबाहो, अपने प्राण के निरोध या उपासनापूर्वक इस दृष्टि का अवलम्बन कर आप भुशुण्ड की नाईं

विपुल महासागर से तैर जाइए ॥२॥ श्रीरामजी, निरन्तर प्राणोपासना से जनित ज्ञानात्मक योग से जिस प्रकार भुशुण्ड ने प्राप्तव्य ब्रह्म-पद प्राप्त किया, उसी प्रकार आप भी उस पद को प्राप्त कर लीजिए ॥३॥ उक्त प्राण और अपान की उपासना करनेवाले सभी अनासक्त, भुशुण्ड की नाईं, परमपद में स्थिति प्राप्त करते हैं ॥४॥ हे श्रीरामजी, इस सब विचित्र विज्ञानोपासनाओं का आपने श्रवण किया। अब बुद्धि का अवलम्बन कर जैसा चाहें, वैसा करें यानी अपनी आत्मनिष्ठा योगपूर्वक या उपासनापूर्वक जैसी चाहें वैसी करें ॥५॥

योग और उपासना की कथा जाने दीजिए महाराज, हमें तो एकमात्र आपके उपदेश के श्रवण से ही तत्त्वज्ञान प्राप्त हो चुका है, यों सूचन कर रहे श्रीरामचन्द्रजी कथा प्रसंग से प्राप्त हुए देहरूपी घर के केवल स्वरूप की ही जिज्ञासा से पुनः प्रश्न करते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : भगवन्, पृथिवी में अवतीर्ण हुए दूसरे सूर्य के सदृश आपने ज्ञान की किरणों से हृदयगत समस्त अन्धकार का, जो अनात्मपदार्थों में स्वात्मबुद्धि तथा तज्जनित दुष्टचेष्टारूपी निरंकुश दुर्जनता का सम्पादक था, विनाश कर डाला ॥६॥ महाराज आपके ही सदृश दूसरे हम लोग भी प्रबुद्ध हो गये, प्रसन्न हो गये, प्राप्तव्य अपने आत्मपद में प्रविष्ट हो गये और ज्ञातज्ञातव्य होकर स्थित हो गये ॥७॥ भगवन्, उत्तम अर्थ का अवबोधक तथा आश्चर्यजनक सर्वश्रेष्ठ भुशुण्ड का चरित्र जो आपने कहा, उससे अहा ! मुझे अत्यन्त हर्ष हुआ ॥८॥ हे ब्रह्मन्, आपके द्वारा कहे गये इस भुशुण्ड-चरित्र में मांस, चर्म और अस्थि से निर्मित शरीररूपी घर का जो उल्लेख किया गया है, उसकी किसने रचना की, कहाँ से वह उत्पन्न हुआ, किस तरह से स्थित हुआ और उसमें कौन रहता है ? *(शरीर का कर्ता, हेतु, उसकी स्थिति का प्रकार और उसमें रहनेवाला स्वामी – इन चारों के विषय में यहाँ प्रश्न किये गये हैं।)* ॥९,१०॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे राघव, परब्रह्मरूप परमार्थ तत्त्व को जानने के लिए तथा संसार हेतु अनेक दोषों के विनाश के लिए मेरे द्वारा तत्त्वतः कहे जानेवाले इस उपदेश को आप सुनिए ॥११॥

पहले प्रश्न का उत्तर देते हैं।

हे श्रीरामजी, इस शरीररूपी घर का जिसमें हड्डियाँ ही खम्भे हैं, मुख आदि नव दरवाजे हैं और जो रक्त और मांस से लिपा गया है – वास्तव में किसीने भी निर्माण नहीं किया है ॥१२॥

श्रुति और पुराण की आख्यायिकाओं में यह प्रसिद्ध है कि इस देह का निर्माण करनेवाला ईश्वर है और जीव तो अपने कर्मों के उपभोग के लिए इसका निर्माण करानेवाला है, फिर इन दोनों का अपलाप आप कैसे करते हैं ? यदि ऐसी कोई शंका करे, तो उस पर कहते हैं।

हे राघव, यह शरीर केवल आभासरूप (झलकमात्र) ही है, बिना निर्माता के ही अवभासित होता है, द्विचन्द्रविभ्रम के सदृश इसका स्वरूप मिथ्या है तथा प्रतीतिकाल में सद्रूप से और परमार्थदशा में असद्रूप से स्थित रहता है *(जैसे जल में गिरा चन्द्रप्रतिबिम्ब एवं चक्षु पर अंगुलि रखने से हुआ द्वितीय चन्द्रमा का विभ्रम निर्माता की अपेक्षा नहीं रखता, वैसे ही आभासमात्र यह शरीर भी निर्माता की अपेक्षा नहीं रखता। श्रुति में प्रसिद्ध जो ईश्वरनिर्मातृत्व है, वह पुरुष निःश्वास दृष्टान्त देखने से मुख्य प्रतीत नहीं होता, इसी प्रकार जीव का निर्माणकारित्व भी मुख्य नहीं है, क्योंकि वैसा निर्माण कराने में न कोई*

बुद्धि का उपयोग है और न कोई अनिष्ट का निर्माण ही कराता है।) ॥१३॥

देह में मिथ्यात्व तो प्रतीतिकालमात्रस्थायी होने के कारण चन्द्रद्वैतता की नाईं ही प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

जैसे चन्द्रमा की द्वैतता दो चन्द्रों के दर्शन की क्रिया के होने पर ही यानी चक्षु को अंगुलि से दबाने पर ही प्रतीत होती है, वास्तव में तो चन्द्रमा सदा एक ही है, वैसे ही आत्मा के देहवैशिष्ट्य–ज्ञानक्रिया के होने पर ही देह प्रतीत होती है, वस्तुतः आत्मा निरन्तर एक ही है। तात्पर्य यह हुआ कि प्रतीयमान चन्द्रद्वैतता जैसे विभ्रममात्र है, वैसे ही प्रतीयमान यह देह भी विभ्रममात्र ही है ॥१४॥

उक्त अर्थ का ही स्पष्टीकरण करते हैं।

यद्यपि वास्तव में देह असत् ही है, तथापि 'यह देह है', इस प्रकार देह प्रतीति के काल में अधिष्ठान–सत्ता को लेकर ही यह शरीर सत्–सा स्थित रहता है, इसलिये यह सदसदात्मक कहा गया है ॥१५॥

असत् में सत्त्व का भ्रम कहाँ देखा गया है, इस शंका पर कहते हैं।

स्वप्न–दशा में ही प्रतीयमान स्वाप्निक पदार्थ सत्–से प्रतीत होते हैं और दूसरे समय में स्वाप्निक पदार्थ मिथ्या ही हैं। बुद्बुदों के साक्षात्कार के समय बुद्बुदे सत्य–से प्रतीत होते हैं, पर दूसरे समय में तो वे मिथ्या ही हैं ॥१६॥ देह की प्रतीति होने पर देह सत्य–सी है और आत्मा की प्रतीति होने पर असत्य है। मृगतृष्णिका–जल भी मृगतृष्णा का प्रतिभास होने पर सत्–सा रहता है और अन्यकाल में असत् ही रहता है ॥१७॥ (उपर्युक्त विविध दृष्टान्तों से यह निश्चित हुआ कि) देह की प्रतीति होने पर ही देह सत्य–सी प्रतीत होती है, अन्य समय में असत् ही है, इसलिए यह शरीर आदि, जो केवल आभासरूप ही है, अज्ञानदशा में ही भासते हैं ॥१८॥

शरीर आदि में आभासमात्रत्व का उपपादन कर रहे महाराज वसिष्ठजी उसमें अभिमान का परित्याग कराते हैं।

हे श्रीरामजी, 'यह शरीर ही मैं हूँ' यह जो अनुभव होता है, वह पूर्व में गृहीत देहाकार मनन ही है यानी देहाकार मनन ही संस्कारों की दृढ़ता से बार–बार देह के आकार में स्थित रहता है; इसलिए मांस और अस्थि के विकारों से बना शरीर ही 'मैं हूँ' इस अभिमान का आप परित्याग कर दीजिए। भद्र, मिथ्यासंकल्प से जनित ये हजारों की संख्या में देह विद्यमान हैं ॥१९॥

संकल्पजनित देहों की ही उदाहरणपूर्वक असत्यता बतलाते हैं।

हे श्रीरामजी, भला यह आप बतलाइए कि सुखशय्या पर सोये हुए आप जिस स्वप्न–देह से विविध दिशामण्डल में परिभ्रमण करते हैं, वह आपकी देह किस स्थान में स्थित है ? ॥२०॥ जाग्रत–दशा में भी मनोराज्य में जिस देह से स्वर्गीय नगरों के अन्दर या मेरुपर्वत पर आप परिभ्रमण करते हैं, वह आपकी देह कहाँ स्थित है ? ॥२१॥ हे श्रीरामजी, स्वप्नों में भी जो दूसरा स्वप्न आता है, उस स्वप्न में जिस देह से बड़े–बड़े पृथिवी–तटों पर आप परिभ्रमण करते हैं, वह आपकी देह कहाँ स्थित है ? ॥२२॥ हे महाबाहो, मनोराज्य के भीतर कल्पित दूसरे मनोराज्य में बड़ी–बड़ी विभवपूर्णभूमियों में जिस देह से आप परिभ्रमण करते हैं, वह आपकी देह कहाँ स्थित है ? ॥२३॥ हे महाबाहो, कल्पनाविनाश के अनन्तर विनष्ट हो जानेवाली जिन देहों से मनोराज्य में चित्र–विचित्र

जागतिक व्यापारों का अनुष्ठान करते हैं, वह आपकी देह कहाँ स्थित रहती हैं ? ॥२४॥ हे श्रीरामजी, विलासनिपुण तथा अनुराग युक्त संकल्प कान्ता के साथ जिस देह से रति-सुख का अनुभव करते हैं, वह आपकी देह कहाँ स्थित है ? ॥२५॥

उन स्वप्न-देह आदि में मिथ्यात्व एवं कल्पितत्व आदि का निश्चय होने के कारण प्रस्तुत देह में भी उसका साधन करते हैं।

हे श्रीरामजी, ये शरीर जिस प्रकार मानसिक संकल्प से जनित सत् और असत्‌रूप हैं, ठीक उसी प्रकार यह प्रस्तुत शरीर भी मानसिक संकल्प से जनित, सद्रूप, असद्रूप है और वैसा ही आचरण करनेवाला है ॥२६॥

अहन्ताध्यास के विषय शरीर में दिखलाया गया न्याय ममता-अध्यास के विषय धन आदि में भी समान ही है, इस आशय से कहते हैं।

यह मेरा धन है, यह मेरा शरीर है, यह मेरा देश है, इस प्रकार की जो प्रतीति होती है, वह भी विभ्रमात्मक ही है, क्योंकि धन आदि सभी कुछ चित्तजनित संकल्प का ही विलास है ॥२७॥

जाग्रत देहादि में स्वप्न देहादि से जो पार्थक्य प्रतीत होता है, वह एकमात्र दीर्घकालानुवृत्ति से ही होता है, न कि सत्यत्व, संकल्पजनितत्व आदि से, इस आशय से कहते हैं।

हे रघुनन्दन, आप इस संसार को एक तरह का दीर्घ स्वप्न, दीर्घ चित्तविभ्रम या दीर्घ मनोराज्य ही समझिए ॥२८॥

इसीलिए आत्मतत्त्व-साक्षात्कार से इस संसार की बाध्यरूपता भी उपपन्न हो सकती है, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामजी, निजी परमात्मा की इच्छा से जब आप तत्त्वज्ञान को प्राप्त होंगे, तब आप इस संसार को इस तरह आत्ममात्ररूप देखेंगे। जिस तरह सूर्योदय होने पर प्रबुद्ध हुआ पुरुष स्वाप्निक पदार्थों को आत्मरूप देखता है ॥२९॥ हे श्रीरामजी, स्वप्न और संकल्पों से (मनोराज्यों से) जैसे एक विलक्षण ही जगत की स्थिति प्रतीत होती है, वैसे ही यह व्यावहारिक जगत की स्थिति भी एक प्रकार से संकल्पजनित एवं विलक्षण (अनिर्वचनीय) ही है ॥३०॥

कथित अर्थ के विषय में पहले उत्पत्ति-प्रकरण में विस्तार से जो कहा गया था, उसका स्मरण कराते हैं।

जैसे मैंने पहले कमलोद्भव ब्रह्मदेव की उत्पत्ति मन से कही है, वैसे ही यह जगत की उत्पत्ति भी स्वयं मन के भीतरी संकल्पकलन से ही हुई है ॥३१॥ जैसे चित्र-विचित्र रचनाओं से युक्त तथा अनेक प्रकार के विभ्रमों से ग्रस्त मन ही ब्रह्मा की उत्पत्ति में कारण है, वैसे ही यह जगत् अवभास में भी एकमात्र संकल्पकलनरूप मन ही कारण है ॥३२॥

ऐन्दव के उपाख्यान में जो कहा जा चुका है, उसका भी स्मरण करना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, ब्रह्माजी के मन से संकल्पित चिदाभास जिस प्रकार ब्रह्माजी की स्वरूपता को प्राप्त हुआ है, उसी प्रकार पूर्व देह के उत्क्रमण के समय में संकल्पित जो शरीर होता है, उसी के सदृश दूसरा शरीर आगे के लिए स्थित रहता है ॥३३॥ सुदृढ़ वासना द्वारा पहले के शरीर प्रवाह में दीर्घकालतक

अभ्यस्त जिन–जिन अवयवों से सम्पन्न जैसी देह रहती है, उन्हीं अवयव–संस्थानों से सम्पन्न उसी प्रकार की देह पुनः दिखलाई पड़ती है ॥३४॥ हे श्रीरामजी, पुरुष के उत्तम प्रयत्न से मन को अन्तर्मुख बनाकर आत्मतत्त्व का जब साक्षात्कार हो जाता है, तब यह जगदाकार संकल्प चिद्रूप ही हो जाता है और यदि उसकी विपरीतरूप से भावना की जाय, तो विपरीत ही हो जाता है ॥३५॥ हे श्रीरामजी, 'यह वह है', 'यह मेरा है' और 'यह मेरा संसार है' इस प्रकार भावित होनेपर देहादि जगद्रूप संकल्प जो सत्य–सा प्रतीत होता है, वह केवल सुदृढ़ भावना से ही होता है ॥३६॥ हे श्रीरामजी, अत्यन्त प्रिय कान्ता की नाईं तीव्र वेग से जिसकी जिस रूप से भावना की जाती है, तत्काल ही वह तद्रूप सर्वत्र दिखलाई पड़ता है ॥३७॥ हे श्रीरामजी, जिस प्रकार दिन में अभ्यस्त व्यापार ही स्वप्न में दिखलाई पड़ते हैं, वैसे ही संसार भी भावना से अभ्यस्त ही दिखलाई देता है ॥३८॥ शीघ्रविनाशी जो क्षण आदि काल है, वह जैसे स्वप्न भूमि में तीस घड़ी के दिन के रूप में दीर्घ प्रतीत होता है, वैसे ही यह संसार स्वल्पकालस्थायी होने पर भी स्थिर (शाश्वत) लक्षित होता है ॥३९॥ जैसे सूर्यताप से सन्तप्त मरुभूमि के आकाश में मृगतृष्णा नदी दिखाई देती है, वैसे ही यह अविद्यमान भी पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं त्रिलोकी सभी संकल्पों से दिखाई देते हैं ॥४०॥ श्रीरामजी, दृष्टि में विषमता से आकाश में जिस प्रकार मोर पंखों का एक मुट्ठा–सा दिखाई देता है, वैसे ही भ्रम से यह जगत की शोभा प्रतीत होती है ॥४१॥ भद्र, विशुद्ध दृष्टि से जैसे आकाश में उक्त मोरपंखों का मुट्ठा दिखलाई नहीं पड़ता, वैसे ही आत्मतत्त्व–साक्षात्काररूप विशुद्ध दृष्टि से यह जगत की शोभा दिखलाई नहीं पड़ती ॥४२॥ हे श्रीरामजी, जिस प्रकार डरपोक होने पर भी पुरुष अपने मनोराज्य में कल्पित हाथी, बाघ आदि के रहते भय को प्राप्त नहीं होता, वैसे ही तत्त्वज्ञ पुरुष अपने मानसिक संकल्पों से जनित इस संसार के रहते भय को प्राप्त नहीं होता ॥४३॥ चूँकि, बहिर्मुख दशा में यह अपनी आत्मा ही इस प्रकार जगद्रूप में भासती है, इसलिए कौन विद्वान इस संसाररूपी मार्ग की स्थिति में किससे क्योंकर डरेगा ? ॥४४॥ हे श्रीरामजी, उसीकी कुछ शुद्धि करनी चाहिए, जो कि भयभीत होता है। शुद्धि से विमल हुए अद्वय आत्मा में यह मोह, जो जगत के लिए स्थित है, दिखलाई नहीं पड़ता ॥४५॥

किस उपाय से आत्मा शुद्ध होता है, इस प्रश्न पर शुद्धि का उपाय बतलाते हैं।

भद्र, सम्यक् तत्त्वज्ञानरूपी एकमात्र प्रकाश से ही आत्मा शुद्ध हो जाती है, इस प्रकार शुद्ध हुई आत्मा फिर मोह आदि मल का उस प्रकार ग्रहण नहीं करती, जिस प्रकार भ्रान्ति के कारण ताम्ररूप से गृहीत हुआ सुवर्ण अग्नि से विशुद्ध होने पर पुनः ताम्ररूपता का ग्रहण नहीं करता ॥४६॥

दर्शनमात्र से आत्मा की शुद्धि कैसे होती है ? इस शंका पर दृश्यरूप मल एकमात्र आभासरूप ही है, इससे ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ये तीनों जगत एकमात्र आभासस्वरूप ही हैं। वे न तो सद्रूप हैं और न असद्रूप ही हैं, इसलिए तत्त्वज्ञान ही आत्मा से अतिरिक्त कल्पित पदार्थों की निवृत्ति है ॥४७॥

तब सम्यक् ज्ञान कैसा है, उसे कहते हैं।

मरण, जीवन, स्वर्ग, ज्ञान और अज्ञान कुछ भी चैतन्य पदार्थ को छोड़कर दूसरा पदार्थ नहीं है, इसलिए चिन्मात्र–परिशेष ही तत्त्वज्ञान है ॥४८॥ त्वम् (अपने से भिन्न दूसरा चेतन), अहम् (अपनी

देह के सदृश परिच्छिन्न चेतन) आदि स्वरूप संसार और उनकी आधारभूत दसों दिशाएँ ये सब दृश्य मुझसे पृथक दूसरे नहीं हैं, किन्तु स्वप्रकाश आत्मस्वरूपभूत ही हैं और दूसरा तो एकमात्र आभास ही है, इस प्रकार का जो ज्ञान है, उसे विद्वान लोग सम्यक्ज्ञान कहते हैं ॥४९॥

सम्यक्ज्ञान का फल कहते हैं।

सत् और असद्रूप संसार में यानी ब्रह्म और माया दोनों से जनित विषयकलापों में यथाभूत आत्मतत्त्वदर्शनरूप सम्यक्ज्ञान से मन न उदित होता है और न अस्त ही होता है ॥५०॥ सम्यक् तत्त्वज्ञान के कारण घटादि समस्त पदार्थों की सत्ता और असत्ता का निर्णय करने के अनन्तर विषय-कामना से शून्य हुआ मन तत्त्वज्ञान के प्रभाव से शान्त हो जाता है ॥५१॥ सम्यक्ज्ञान के प्रभाव से मन सत्य और शीतल हो जाता है। वह न तो किसी की निन्दा करता है और न किसी की स्तुति। वह न प्रसन्न होता है और न शोक ही करता है ॥५२॥

अपनी मुक्ति होने पर भी बन्धुजनों के बन्धन की निवृत्ति न होने के कारण उनके मरण आदि के अवलोकन से जनित सन्ताप की निवृत्ति तो हो नहीं सकती, इस पर कहते हैं।

श्रीरामजी, चूँकि सभी बन्धुजनों को तो अवश्य ही मरना है, इसलिए उन बन्धुजनों का वियोग होने पर आप निरर्थक क्यों सन्तप्त होते हैं ? ॥५३॥

अज्ञानदशा में अपने मरण की आशंका से होनेवाला सन्ताप भी इसी उपाय से निवृत्त हो सकता है, इस आशय से कहते हैं।

हमें भी अवश्य ही मरना है, यह अटल निश्चय है, इसलिए अपने मरण का समय उपस्थित होने पर क्यों व्यर्थ खिन्न होते हैं ? ॥५४॥ उत्पन्न हुआ पुरुष कुछ न कुछ उत्तम वैभव आदि अवश्य ही प्राप्त करेगा, इसलिए हर्ष का अवसर ही क्यों ? ॥५५॥ इस संसार में व्यवहार कर रहे सभी मनुष्यों को दरिद्रता आदि आपदाएँ आनुषंगिकरूप से प्राप्त हुआ ही करती हैं, फिर शोक का अवसर क्या ? ॥५६॥ यह जगत-समूह वैसे ही उत्पन्न होता है, बढ़ता है और विकसित होता है, जैसे समुद्र में बुद्‌बुदों का समूह; फिर इस विषय में शोक ही क्या ? ॥५७॥ जो त्रिकालाबाधित सत्यरूप वस्तु है, वह सदा ही सत्यस्वरूप है और जो असत्यरूप वस्तु है, वह सदा ही असत्स्वरूप है, वह कभी भी सद्रूपता को प्राप्त नहीं होती, इसलिए मायारूप विकृति के वैचित्र्य से प्रतीयमान इस प्रपंच में ऐसी दूसरी कोन वस्तु है, जिसके विषय में शोक किया जाय ? ॥५८॥ मैं न वर्तमान में हूँ, न वह मैं भूतकाल में था और न भविष्य में रहूँगा ही। यह शरीर केवल काम, कर्म, वासना एवं अविद्यारूपी दोष से उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है, इसलिए किस दूसरे के विषय में शोक किया जाय ? ॥५९॥ हे भद्र, यदि 'अहम्' पदार्थ शरीर से पृथक ही है, यह मान लिया जाय, तो वह अविद्या-दोष से जनित चिदाभास ही है। वे देह और चिदाभास, जो सदसदात्मक हैं, मेरे कौन होते हैं, जिनके विषय में शोक किया जाय ? ॥६०॥ हे प्रिय श्रीरामजी, सम्यक्ज्ञान से युक्त मुनि का पूर्वोक्त प्रकार के निश्चयवाला अन्तःकरण न कभी अस्त होता है, न उदित होता है और न अन्त में दुःखित ही होता है ॥६१॥ श्रीरामजी, जिस प्रकार तित्तिरी घोंसला बनाने के लिए तिनकों के निम्नभाग के मोटे अंशों को छोड़कर ऊपर के कोमल भागों का ही ग्रहण करती है, उसी प्रकार सबसे श्रेष्ठ ब्रह्मपद में स्थित हुआ तत्त्वज्ञानी द्वैतबाध से परिशिष्ट ब्रह्मरूपता का

ही अवलम्बन करता है, प्रतीतिकालीन जड़–स्वरूपता का नहीं ॥६२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, संसार की जड़ता का परित्याग करने के लिए असत्यभूत इस संसार में तनिक भी आसक्ति नहीं रखनी चाहिए, क्योंकि आसक्ति से ही, दृढ़ रज्जु से बैल की नाईं, प्राणी बद्ध हो जाता है ॥६३॥ हे अनघ, इसलिए 'यह सब ब्रह्मरूप ही है' इस प्रकार पूर्वोक्त युक्तियों से सुदृढ़ निश्चय कर आप आसक्ति–शून्य बुद्धि से इस संसार में विहार कीजिए ॥६४॥

तब क्या आसक्ति का परित्याग कर यथेष्ट विहार करना चाहिए, इस शंका पर नहीं ऐसा उत्तर देते हैं।

भद्र, विवेक–बुद्धि से आसक्ति और अनासक्ति का परित्याग कर अनायास से शास्त्रविहित कर्मों का ही अनुष्ठान करना चाहिए, शास्त्र–अविहित कर्मों का नहीं अर्थात् उनकी उपेक्षा ही कर देना चाहिए ॥६५॥ यह दृश्यमान प्रपंच केवल आभासमात्र (झलकमात्र) ही है, इस प्रकार जिस महामति को भलीभाँति अवगत हो जाता है, वह अपने भीतर उस प्रकार शीतल हो जाता है, जिस प्रकार सूर्य प्रकाश के शान्त हो जाने पर भूमण्डल शीतल हो जाता है ॥६६॥

सर्वानुगत सन्मात्र के दर्शन में उपाय बतलाते हैं।

हे पापशून्य श्रीरामजी, विशेषाकारता का परित्याग कर पाँच भूतों के समूहात्मक घट, पट आदि पदार्थों में सामान्यतः आभासमात्रस्वरूपता का (सन्मात्रस्वरूपता का) ही आप अवलोकन (ध्यान) कीजिए ॥६७॥

हे श्रीरामजी, सन्मात्ररूप आभास भी चित्त की विशेष कल्पना के कारण कलंकित ही रहता है, इसलिए उसका (सन्मात्रस्वरूप आभास का) भी परित्याग कर यानी स्व–स्वरूप–भिन्न बुद्धि से छोड़कर निराभास से युक्त (ध्याता, ध्यान और ध्येय इस त्रिपुटी से शून्य) हो जाइए ॥६८॥ भद्र, जब आप आभासमात्ररूपता का परित्याग कर देंगे, तब चैतन्याकाशरूप, अविनाशी, परिपूर्ण, अशेष विकारों से वर्जित तथा नितान्त निर्मलस्वरूप हो जायेंगे ॥६९॥

निराभासता की (त्रिपुटीशून्यस्वरूपता की) सिद्धि में हेतुभूत दो प्रकार की उपासना कहते हैं।

श्रीरामजी, न मैं सत्य हूँ और न तो मेरे भोग–विषय ही सत्य हैं, इस प्रकार अच्छी तरह भावना (चिन्तन) करने पर यह निरर्थक जगत–रूपी आडम्बर अनर्थ के लिए प्रतीत नहीं होता ॥७०॥ भद्र, अथवा 'मैं और यह सब प्रपंच चैतन्यात्मक परब्रह्मस्वरूप ही है' इस प्रकार चिन्तन करने पर यह निरर्थक जगद्रूप आडम्बर अनर्थ के लिए प्रतीत नहीं होता ॥७१॥ हे श्रीरामजी, ये दोनों भी दर्शन सत्यरूप और आत्यन्तिक–सिद्धि (मुक्तिरूप सिद्धि) देनेवाले हैं, इसलिये इन दोनों में से आप जिस एक को अपने लिए रम्य (योग्य) समझें, उसका अनुष्ठान करें ॥७२॥

इनका ऐच्छिक समुच्चय करने पर भी परस्पर कोई विरोध नहीं है, क्योंकि फलतः दोनों एकरूप ही हैं, इस आशय से कहते हैं।

हे कल्याणरूप पापरहित राघव, अथवा इन्हीं दो भावनाओं का आश्रय कर इस संसार में विहार करते हुए आप राग, द्वेष आदि का विनाश कर डालिए *(जिस पुरुष में राग आदि दोषों का विनाश हो गया है, उसी पुरुष में उक्त दोनों चिन्तन सफल होते हैं, दूसरे में नहीं यह 'कुरु' इत्यादि वाक्य*

से दिखलाया गया है।) ॥७३॥

प्रधान फलों के द्वारा राग आदि दोषों के विनाश की ही स्तुति करते हैं।

हे श्रीरामजी, जो कुछ भी इस संसार में उत्तम वस्तु है और जो कुछ आकाश में या स्वर्ग में उत्तम वस्तु है, एकमात्र राग, द्वेष आदि के विनाश से ही उन सबकी प्राप्ति हो जाती है ॥७४॥ हे श्रीरामजी, राग आदि दोषों से आक्रान्त हुई बुद्धि के द्वारा जैसा जो कुछ किया जाता है, वह सब कुछ मूढ़ों के लिए तत्काल ही विपरीतरूप (दुःखरूप) हो जाता है ॥७५॥ भद्र, जिस प्रकार दग्ध हुई वनस्थलियों में हिरन अपना स्थान नहीं बनाते, उसी प्रकार द्वेष-दोषरूपी ऊर्मियों से आक्रान्त चित्तवृत्तियों में उत्तम गुण अपना स्थान नहीं बनाते ॥७६॥ हे प्रिय श्रीरामजी, जिस पुरुष के चित्तरूपी बिल में राग और द्वेषरूपी दो सर्प तिरोहित नहीं हो जाते, उस पुरुष को पूर्वोक्त कल्पवृक्ष से भी क्या दुःखरूप फल प्राप्त नहीं होते ? (यानी ऐसे पुरुष को उस कल्पवृक्ष से भी दुःख प्राप्त होते ही रहेंगे, यह भाव है।) ॥७७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जो पुरुष शास्त्रों में निष्णात, चतुर, कर्म निरत एवं प्राज्ञ होकर भी राग, द्वेष आदि से परिपूर्ण हैं, वे निश्चय ही अरण्य में प्रसिद्ध सियार हैं। उन्हें धिक्कार है ॥७८॥

समूल राग-द्वेष का क्रम बतलाते हैं।

मेरा धन दूसरे ने हड़प लिया, दूसरे से अवश्य लेने योग्य धन मैंने प्रमाद से छोड़ दिया – इस प्रकार प्राप्त एवं विनष्ट धन आदि विषयों में अभिनिवेश से उनके ग्रहण के लिए वध, बन्धन आदि दण्ड देने की इच्छारूप राग-द्वेषों के क्रम क्या हैं ? यानी तुच्छ हैं ॥७९॥

राग-द्वेषों के क्रम तुच्छ क्यों है ? इस पर कहते हैं।

धन, बंधुवर्ग, मित्र – ये सब बार-बार आते और जाते रहते हैं, इसलिए उनमें बुद्धिमान पुरुष क्या अनुराग करेगा और क्या वैराग्य ही करेगा ? ॥८०॥ जिसमें संसार की परिपूर्णरूपता प्रिय विषयों के अस्तित्व और अप्रिय विषयों के अभाव से ही बनी है ऐसी, समस्त संसार की रचनारूप यह परमेश्वर सम्बन्धिनी माया आसक्त पुरुषों को ही भली प्रकार से अनर्थ-गर्तों में ढकेल देती है ॥८१॥ हे राघव, न धन, न जन और न मन ही वास्तव में सत्यस्वरूप है, किन्तु आगे कही जानेवाली युक्ति से मिथ्यारूप से निश्चित हुआ सब यह प्रपंच मिथ्या ही दीख पड़ता है ॥८२॥

उसी युक्ति को बतलाते हैं।

आदि और अन्त में यानी पूर्व और उत्तरकाल में सभी पदार्थ असत् हैं और बीच में भी उत्तरोत्तर भाव-विकारों से ग्रस्त एवं दुःखप्रद हैं, इसलिए बुद्धिमान पुरुष दूसरे के कल्पित आकाश-वृक्ष के सदृश तुच्छ इस संसार में कहाँ प्रेम करेगा ? ॥८३॥ हे प्रिय श्रीरामजी, किसी एक ने तो आकाश में स्त्री की कल्पना की और दूरवर्ती दूसरा उसे भोगे, यह कभी बन सकता है ? ठीक इसी प्रकार यह संसार-रचना है यानी इस संसार की कोई एक तो कल्पना करता है और दूसरा उपभोग करने की चेष्टा करता है, इसलिए आप ऐसे असंगत भ्रम में मत पड़िए ॥८४॥ यह संसार प्राणियों के वेगपूर्वक गमनआगमन से पूर्ण, विस्तृत एवं उपद्रवों से भरा है, इसलिये विद्वान लोग उसे गन्धर्वनगर की रचना-विलास के सदृश तुच्छ कहते हैं ॥८५॥ श्रीरामजी, स्वप्न और संकल्प के नगरों की नाईं यह स्वयं असत् होकर भी उत्पन्न-सा प्रतीत होता है, सभी स्थानों में कल्पना का संभव और अधिष्ठान चैतन्य का अस्तित्व होने

से सभी जगह अवस्थित है और सुषुप्त की नाईं स्वप्नभावापन्न है ॥८६॥ हे श्रीरामजी, यह संसार दीर्घकालीन स्वप्न–नगर एवं स्वप्न–वृक्ष के सदृश है। अज्ञानरूपी निद्रा का लाभ लेकर आत्मस्वभाव का अपहरण करनेवाला एवं निरन्तर अनुस्यूत है, इसलिए आप संसाररूपी स्वप्न में भ्रमणशील होकर यहाँ अवस्थित हैं ॥८७॥ भद्र, उस घन अज्ञानरूपी विस्तृत इस निद्रा का आप उस प्रकार परित्याग कर दीजिए, जिस प्रकार निधि (संपत्ति) प्राप्त करनेवाला भाग्यवान पुरुष दरिद्रता का परित्याग कर देता है ॥८८॥ भद्र, अब आप प्रबुद्ध हो जाइए और सदा उदित–स्वभाव, अशेष विकल्पों से वर्जित चैतन्य–प्रकाशस्वरूप अपनी आत्मा को उस प्रकार देखिए, जिस प्रकार प्रातःकाल में कमल सूर्य को देखता है ॥८९॥ हे महाबाहो, मैं आपको बार–बार संबोधित करता हूँ कि आप जाग जाइए, जाग जाइए और अपने निर्मल आत्मरूपी सूर्य को देखिए ॥९०॥ हे श्रीरामजी, मधुर गर्जन के सदृश उपदेश के शब्दों से सम्पन्न, मेघ स्थानीय इस मेरे द्वारा बरसाये गये शीतल इसी ज्ञानरूपी जल से आप जगाये गये हैं ॥९१॥ हे राघव, आप आज ही प्रबुद्ध होकर आत्मज्ञान को प्राप्त कीजिए और इस तुच्छ जागतिक भ्रम का परित्याग कर त्रिकालाबाधित आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कीजिए ॥९२॥ श्रीरामजी, न आपका जन्म है, न आपको दुःख है, न आपके दोष हैं और न आपके भ्रम ही हैं, (अतः) समस्त संकल्पात्मक इस संसार का उत्सर्ग कर अपने आत्मस्वरूप में दृढ़ आसन बाँध कर स्थित हो जाइए ॥९३॥

उपसंहार करते हैं।

हे महात्मन्, आपके समस्त संकल्प–विकल्पात्मक दोषों का समूह नष्ट हो चुका है, उत्तम सारभूत सुषुप्तिसदृश विक्षेपरहित दृष्टि भी आपने प्राप्त कर ली है, वास्तव में आप नित्य अपरोक्ष स्वभाव व्यापक परम ब्रह्मस्वरूप ही हैं। अतः उत्तम शुद्धि के लिए आप अपने आत्मस्वरूप में ही समाहित होकर स्थित हो जाइए ॥९४॥

अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त

उनतीसवाँ सर्ग

तत्त्वज्ञान से रामचन्द्रजी की विश्रान्ति, कथित अर्थ का फिर विस्तार,
कैलास पर्वत पर शिवजी के द्वारा पहले उस प्रकार का अपने प्रति उपदेश इन सब विषयों का वर्णन।

कृपापूर्वक इस प्रकार के चमत्कारपूर्ण हुए उपदेशों से महाराज वसिष्ठजी द्वारा प्रतिबोधित हुए श्रीरामभद्र एवं दूसरे श्रोताओं को जो तत्त्वसाक्षात्कार उत्पन्न हुआ उससे आधे मुहूर्त तक उनकी अपने–अपने स्वरूपों में विश्रान्तिरूप समाधि से निश्चल स्थिति हो गई यों श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं।

श्री वाल्मीकिजी ने कहा : राजन्, जिस समय अपने स्वरूप में आपोआप विश्रान्ति एवं परमानन्द को प्राप्त हुए स्वस्थ और समचित्त श्रीरामभद्र उस प्रकार श्रवण कर रहे थे तथा उस सभा में स्थित शान्त चित्त सभी श्रोतागण अपनी आत्मा में परम विश्रान्ति का अनुभव कर रहे थे, उस समय श्रीरामभद्र की चित्तविश्रान्ति की सुदृढ़ स्थिति के लिए बरस रहा महाराज वसिष्ठजी का वचनामृत एकाएक ऐसे बन्द हो गया, जैसे वृष्टितर्पित सस्यों में (खेतों में) मेघमण्डल से जल का बरसना एकाएक बन्द हो जाय ॥१,२॥ राजन्, तदनन्तर जब आधा मुहूर्त व्यतीत हो गया और श्रीरामभद्र प्रबुद्ध हो गये यानी

समाधि से उत्थित हो गये, तब उसी अर्थ की पुष्टि के लिए वाग्मियों में श्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी उनसे पुनः कहने लगे ॥३॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, आप भली प्रकार तत्त्वज्ञानी हो चुके हैं, अपनी आत्मा को प्राप्त कर चुके हैं, अतः इसी रीति से इस परमार्थ तत्त्व का अवलम्बन कर विश्राम कीजिए, इस तुच्छ संसार में आस्था मत कीजिए ॥४॥

उसमें उपाय बतलाते हैं।

हे रघुनन्दन, यह संसाररूपी चक्र भ्रमण से तभी रुक जाता है, जब कि एकमात्र संकल्परूपी नाभि का (पहिये के मध्य भाग का) भलीप्रकार अवरोध किया जाता है ॥५॥ भद्र, संकल्पात्मक मनोरूप नाभि को रागद्वेष आदि से विक्षोभित-भ्रमित यानी नचाये जाने पर यह संसाररूपी चक्र, प्रयत्न से रोके जाने पर भी, वेगपूर्वक नाचता ही रहता है ॥६॥ इसलिए उत्तम पुरुषार्थ का यानी ज्ञानाभ्यास एवं वैराग्य की दृढ़ता का अवलम्बन कर शास्त्रानुसारी युक्तियों से विवेकज्ञानरूपी बल प्राप्त कर चित्तरूपी संसार-चक्र की नाभि का अवरोध करना ही चाहिए ॥७॥ भद्र, कहीं पर ऐसी कोई वस्तु उपलब्ध है ही नहीं, जो उत्तम बुद्धि तथा सौजन्य से परिपूर्ण शास्त्रसम्मत पुरुषार्थ से प्राप्त न की जाय ॥८॥ इसलिये बालबुद्धि से कल्पित एकमात्र दैवपराधीनता का परित्याग कर और असली प्रयत्न का आश्रय लेकर सबसे पहले पुरुष को अपने चित्त का निरोध करना चाहिए ॥९॥ हे अनघ, ब्रह्माजी से लेकर चले आ रहे इस अज्ञानरूपी विभ्रम से यह असद्रूप ही प्रपंच सत्-सा प्रतीत हो रहा है ॥१०॥ हे पापशून्य राघव, एकमात्र अज्ञानरूपी भ्रम से विस्तार को प्राप्त हुए दृश्य जगत के आधारभूत ये संकल्प से उत्पन्न शरीर यहाँ यत्र-तत्र घूम रहे हैं ॥११॥ हे श्रीरामजी, एकमात्र देह के विनाश से इष्ट सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि देह के नष्ट हो जाने पर भी देह परम्परा का उत्पादक संकल्प तो फिर भी विद्यमान रहता ही है। इसलिए बुद्धिमान पुरुष को देह के लिए सुख-दुख की चिन्ता कभी नहीं करनी चाहिए, किन्तु संकल्पोच्छेद के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए ॥१२॥ श्रीरामजी, दुःख से सदा मलिनमुख तथा अश्रु आदि से निरन्तर आर्द्र रहनेवाला यह देहधारी नर चित्रलिखित नर की अपेक्षा भी अत्यन्त तुच्छ कहा गया है, क्योंकि चित्रलिखित नर तो सुख-दुःख की चिन्ता से निर्मुक्त होने के कारण सदा प्रसन्न और स्वेद अश्रु आदि से वर्जित रहता है ॥१३॥ श्रीरामजी, आधि और व्याधि से निरन्तर दुःखित, अश्रु आदि से आर्द्र तथा स्वयं विनाशशील इस शरीर में उस प्रकार की स्थिरता नहीं रहती, जिस प्रकार की चित्रलिखित पुरुष में स्थिरता रहती है। यह बात सर्वविदित है ॥१४॥

इस प्रसिद्ध शरीर में निर्निमित्तविनाशिता भी चित्रलिखित देह की अपेक्षा अधिक दोष है, ऐसा कहते हैं।

श्रीरामजी, चित्रलिखित देह तभी नष्ट होती है जब किसी कारणविशेष से उसका विनाश किया जाय, अन्यथा नहीं। यह अवश्यविनाशी मांस-स्वरूप देह तो किसी कारणविशेष के बिना स्वयं ही नष्ट हो जाती है ॥१५॥ चित्रित मनुष्य की यदि भली-भाँति रक्षा की जाय, तो वह दीर्घकालिक स्थिर शोभा धारण करता है और यह प्रत्यक्ष शरीर तो अनेक यत्नों से रक्षित होने पर भी नष्ट ही हो जाता है, बढ़ता नहीं है ॥१६॥ इसलिए चित्रित देह ही श्रेष्ठ है,संकल्पजनित यह तुच्छ देह श्रेष्ठ नहीं, क्योंकि जो चित्रदेह में गुण विद्यमान हैं, वे संकल्पजनित देह में नहीं हैं ॥१७॥ हे निष्पाप श्रीरामजी, अत्यन्त जड़

चित्रित शरीर की अपेक्षा भी जो यह संकल्पजनित तुच्छातितुच्छ देह है, उस मांसरूप देह में आपको आसक्ति ही क्या ? ॥१८॥ हे महामते, यह संकल्पजनित शरीर कुछ दीर्घकालतक ही टिकनेवाला है। उसमें तनिक भी आसक्ति नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह शरीर स्वप्न या मनोराज्य से जनित शरीर से भी अत्यन्त तुच्छ है ॥१९॥ भद्र, स्वप्न आदि शरीर स्वल्पकालीन संकल्प से जनित होने के कारण दीर्घ–कालीन सुख–दुःखों से आक्रान्त नहीं होता। यह प्रत्यक्ष शरीर तो दीर्घकालीन संकल्प से जनित होने के कारण दीर्घकाल के दुःखों से आक्रान्त रहता है ॥२०॥ संकल्पविकार यह शरीर न तो स्वयं है और न हम लोगों का सम्बन्धी (आत्मा का सम्बन्धी) ही है, अतः इस शरीर के निमित्त यह अज्ञानी जीव निरर्थक क्लेश का भाजन क्यों बनता है ? ॥२१॥

अतः चित्र आदि के शरीरों की क्षति के सदृश इस शरीर की क्षति के विषय में भी शोक नहीं करना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

भद्र, जिस प्रकार चित्र में लिखित पुरुष के क्षत या क्षीण हो जाने पर आत्मा की क्षति नहीं होती, उसी प्रकार संकल्प से जनित पुरुष के क्षत या क्षीण हो जाने पर आत्मा की कुछ भी क्षति नहीं होती ॥२२॥ जिस प्रकार मनोराज्य में उत्पन्न अनेक शरीर आदि पदार्थों के क्षत या क्षीण हो जाने पर आत्मा की कुछ भी क्षति नहीं होती, अथवा जिस प्रकार दूसरे चन्द्रमा के क्षत या क्षीण हो जाने पर असली चन्द्रमा की या आत्मा की कुछ भी क्षति नहीं होती, जिस प्रकार स्वप्न में उत्पन्न पदार्थों के क्षत या विनष्ट हो जाने पर आत्मा की क्षति नहीं होती अथवा जिस प्रकार मृगतृष्णिका–नदी के प्रकाशरूप जल के क्षत या क्षीण हो जाने पर आत्मा की कुछ भी क्षति नहीं होती; उसी प्रकार एकमात्र संकल्प से उत्पन्न, स्वभावतः विनाशशील इस शरीररूपी यन्त्र के क्षत या विनष्ट हो जाने पर आत्मा की कुछ भी क्षति नहीं होती। अतः शरीर के लिए शोक करना निरर्थक ही है ॥२३–२५॥ चित्त के संकल्प से कल्पित तथा दीर्घकालीन स्वप्न रूप इस देह के अलंकारों से भूषित या दोषों से दूषित हो जाने पर चैतन्यरूप आत्मा का कुछ भी नहीं बिगड़ने पाता ॥२६॥

क्यों आत्मा का कुछ भी नहीं बिगड़ने पाता ? इस पर कहते हैं।

रामभद्र, आत्म–चैतन्यरूप ब्रह्म न तो विनष्ट होता है, न चलित होता है, और न विकृत ही होता है, इसलिए देह का नाश होने पर चैतन्य का, आत्मा का या ब्रह्म का क्या बिगड़ गया ? ॥२७॥ घूम रहे चाक के ऊपर स्थित अत्यन्त मोहित पुरुष जैसे दिशाचक्र को स्वयं जिस चक्र पर चढ़ा हुआ रहता है, उस चक्र के सदृश या चारों ओर पास में स्थित बड़े चक्र के सदृश विपरीतरूप से घूमता हुआ देखता है, वैसे ही अकस्मात उत्पन्न हुए गर्जनशील मिथ्या अज्ञान के कारण मिथ्या अज्ञानरूप चक्र के ऊपर स्थित जीवात्मा देहपरम्परारूपी चक्र को देखता रहता है ॥२८,२९॥ उसी अज्ञानरूपी चक्र के ऊपर स्थित हुआ जीवात्मा जिस देह परम्परारूपी चक्र को देखता रहता है, वह उत्तरोत्तर अधिक भ्रान्ति को देनेवाला, स्वयं भ्रान्तिरूप, पतनोन्मुख स्वरूप से ग्रस्त, भली प्रकार अनर्थ–गर्तों में गिराया गया, हत एवं हन्यमान रहता है ॥३०॥ इसलिए हे भद्र, उत्तम धैर्य का भली प्रकार अवलम्बन कर इस अनादि दृढ़ीभूत भ्रम का परित्याग कर देना चाहिए ॥३१॥ भद्र, मिथ्या अज्ञान के द्वारा एकमात्र संकल्प से उत्पन्न हुआ यह शरीर प्रातीतिक रूप से सत्य–सा होने पर भी वास्तव

में असत्य ही है, क्योंकि जो वस्तु अज्ञान आदि से उत्पन्न हुई है, वह किसी समय भी सत्य नहीं हो सकती ॥३२॥ रज्जु में सर्पबुद्धि के सदृश असत्स्वरूप अज्ञान से उत्पन्न हुई देह असत्स्वरूप ही जगत-क्रिया को सत्-सी बना देती है ॥३३॥ श्रीरामभद्र, जब व्यवहार में यह बात प्रसिद्ध है कि जड़ता से भरे पदार्थों द्वारा जो कुछ किया गया होता है, वह उनके द्वारा किया गया नहीं माना जाता है यानी उनके द्वारा किये गये कार्यों से अपराध आदि दोषों का उनमें चेतन के समान आरोप नहीं किया जाता है, तब कुछ व्यापार कर रही भी जड़ता से भरी हुई यह देह किसी समय भी कर्ता नहीं कही जा सकती, क्योंकि इच्छाधीन ही कर्तृत्व रहता है ॥३४॥

इच्छा से ही कर्तृत्व होता है, वह इच्छा तो न जड़ देह में या न निर्विकार आत्मा में ही रह सकती है, यह कहते हैं।

जड़ देह तो इच्छा से रहित है और इस निर्विकार आत्मा में इच्छा रहती नहीं, इसलिए कोई कर्ता है ही नहीं, केवल आत्मा शरीर का द्रष्टा है ॥३५॥

आत्मा कर्ता नहीं है, इस निश्चय का फल कहते हैं।

जैसे वायुशून्य प्रदेश में रहनेवाला दीपक अपने स्वरूप में ही अवस्थित रहता है, वैसे ही इस जगत्स्थिति में एवं समस्त भूतों में साक्षी के सदृश तटस्थ होकर अपने स्वरूप में ही स्थित रहना चाहिए ॥३६॥

तब राज्य-व्यवस्था कैसे चलेगी ? इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जैसे दूरातिदूर आकाश में स्थित रहकर ही सूर्यदेव दैनिक कार्य करते हैं, वैसे ही आप भी दूर रहकर यह राज्य-व्यवस्था कीजिए ॥३७॥

देह में सत्यबुद्धि होने पर तो देहाभिमानरूप अहंकार के आ जाने के कारण उसकी दासता बनी ही रहेगी, ऐसा कहते हैं।

इस असद्रूप संकल्पजनित देहरूप शून्य घर का अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर उसमें अज्ञानी बालक द्वारा कल्पित असत्य यक्ष के सदृश, चित्तनामक अहंकाररूप दुष्ट वेताल, जो निस्तत्त्व एवं समस्त सज्जनों की संगति से वर्जित है, कहीं से भी आकर, प्रविष्ट हो जाता है ॥३८,३९॥ रामभ्रद्र, आप इस दुष्टबुद्धि अहंकार की दासता को प्राप्त मत हो जाइए, क्योंकि इसकी दासता से नरकरूप फल की प्राप्ति होती है ॥४०॥

अहंकार के रहने पर दूसरा भी अनर्थ प्राप्त होता है, यह कहते हैं।

देहरूपी घर में अपने नानाविध संकल्पों के विलास से बीभत्स आकृतिवाला मदोन्मत्त चित्तरूपी वेताल लीला से चारों ओर मिथ्या गर्जन करता रहता है ॥४१॥ शून्य देहरूपी घर प्राप्तकर चित्तरूपी यक्ष ने वह काम किया है, जिससे कि बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ता भी भय खाकर समाधि में तत्पर होकर स्थित हैं ॥४२॥ अपने तुच्छ शरीररूपी मन्दिर से चित्तरूपी वेताल को हटा देने से इस संसाररूपी शून्य नगर में पुरुष कभी भी नहीं डरता ॥४३॥ चित्तरूपी पिशाच से अभिभूत इस शरीररूपी घर में जो आसक्त हैं, वे अनन्तकोटि शरीरों के विनष्ट हो जाने पर भी अब तक देह में आत्मरूपता बुद्धि से समन्वित होकर क्यों स्थित हैं-बड़ा आश्चर्य है (निरन्तर शरीर घटना से जनित दुःखों का अनुभव होने पर भी

उसके विघटन में जो प्रयत्न नहीं करते यही आश्चर्य है, यह भाव है।)॥४४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्तरूपी पिशाच से ग्रस्त हुए देहरूपी घर में जो मर चुके हैं, उनकी जो बुद्धि है, वह पिशाच की–सी है, न कि अपिशाच की–सी ॥४५॥ हे साधो, अहंकाररूपी बड़े यक्ष के घररूपी त्रिविध तापरूप अग्नि से दग्ध हुए शरीर में आसक्ति से विहार कर रहा पुरुष पिशाच ही है, क्योंकि वह शरीर स्थिर नहीं है ॥४६॥ पहले विशद बुद्धि से अहंकार की दासता छोड़कर तदनन्तर योगभूमिका के अभ्यास से अहंकार का आत्यन्तिक विस्मरण कर शीघ्रातिशीघ्र अपनी आत्मा का ही अवलम्बन करना चाहिए ॥४७॥ नरक की चाह रखनेवाले जो जीव अहंकाररूपी पिशाच से आक्रान्त हैं, मोहरूपी मद से अन्धे उन जीवों के न कोई मित्र बनते हैं और न कोई बन्धु ही (क्योंकि अहंकारी जीवों में विनय की दुर्लभता और उद्धतता की अवश्यम्भाविता होने से उनके साथ कोई प्रेम नहीं करता, यह तात्पर्य है।)॥४८॥ जब अहंकार से परिपूर्ण बुद्धि से कोई क्रिया की जाती है, तब विषवल्ली के फल के सदृश उसका फल, कलह एवं जनशत्रुता के कारण, मरणरूप ही प्राप्त होता है ॥४९॥ विवेक एवं धैर्य से हीन जिस मूर्ख ने अपने अहंकाररूपी महोत्सव का अवलम्बन किया, उसे आप तत्काल विनष्ट ही जानिए ॥५०॥

अहंकार को परलोक में भी दुःख ही प्राप्त होता है, यों कहते हैं।

हे राघव, जिन बिचारों को अहंकाररूपी पिशाच ने अपने अधीन बना लिया, वे सब नरकरूपी अग्नियों के इन्धन ही बन गये ॥५१॥ जिस अपनी देहरूपी वृक्ष के कोटर में यानी हृदय में अहंकाररूपी सर्प चारों ओर फूत्कार करता रहता है, वह स्वदेहरूपी वृक्ष अधीर पुरुषों द्वारा तत्काल ही काटकर गिरा दिया जाता है ॥५२॥ हे महान व्यक्तियों में श्रेष्ठ रामभद्र, इस देह में अहंकाररूपी पिशाच रहे अथवा चला जाय, परन्तु आप उसकी ओर मन से तनिक भी दृष्टिपात न कीजिए ॥५३॥

केवल न देखने से ही क्या होगा। इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, चित्त से ही बुरी तरह फटकारा गया, अपमानित तथा तिरस्कृत हुआ यह अहंकाररूपी पिशाच यहाँ तुम्हारा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता ॥५४॥

अहंकार का अनुसरण करने से ही आत्मा को अनर्थ प्राप्त होता है , उसकी उपेक्षा करने पर तो विद्यमान रहता हुआ भी वह कुछ नहीं कर सकता, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, इस देहरूपी घर में चित्तरूपी पिशाच के स्फुरित होने पर भी असीम विलासों से सम्पन्न इस आत्मा में क्या आया ? ॥५५॥ हे श्रीरामजी, चित्तरूपी यक्ष से पराजित हुए पुरुषों को जो बड़ी–बड़ी आपत्तियाँ प्राप्त होती हैं उनकी सैकड़ों वर्षो में भी गिनती नहीं की जा सकती (यहाँ अहंकार के स्थान में जो चित्तशब्द का प्रयोग किया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि अन्यवृत्तियों में भी प्रकृत अहंकार ही अनर्थकारी है।) ॥५६॥ हे पापशून्य राघव, 'हा ! हा ! मैं मर गया हूँ, मैं जल गया हूँ' इत्यादि जो दुःखवृत्तियाँ हैं, वे अहंकाररूपी पिशाच की ही शक्तियाँ हैं, दूसरे की नहीं ॥५७॥

'अहम्' इस प्रतीति से आत्मा का ही अनुभव होता है। यह जो नैयायिकों की भ्रान्ति है, उसका निवारण करते हैं।

जिस प्रकार सर्वत्र व्यापक आकाश यहाँ किसी से संश्लिष्ट नहीं होता, उसी प्रकार सर्वत्र व्यापक आत्मा भी अहंकार से संश्लिष्ट नहीं होता ॥५८॥ हे श्रीरामजी, सूत्रात्मा प्राण से संयुक्त यह चंचल

देहरूपी यन्त्र जो कुछ करता एवं जो कुछ लेता है, वह सब अहंकार का ही कृत्य है ॥५९॥

जब समस्त चेष्टाओं का निमित्त अहंकार ही है, आत्मा नहीं; तब तो 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः', 'ऊर्ध्वं प्राणमुतिदतमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति । मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते' (*) इत्यादि श्रुतियों के साथ विरोध होगा, इस पर कहते हैं।

जिस प्रकार कर्तृत्व से शून्य भी आकाश वृक्ष की उत्पत्ति में कारण है, वैसे ही अपने स्वरूप से स्थित आत्मा भी इन चित्त की चेष्टाओं में कारण है—यों श्रुतियों द्वारा गौणरूप से कहा जाता है ॥६०॥

उपचार में हेतु मन आदि में सत्ता एवं स्फूर्ति का प्रदान करना ही है, यह कहते हैं।

एकमात्र आत्मा की सन्निधि से ही सत्ता प्राप्त करनेवाला या स्थूल देह की कल्पना करनेवाला मन उस प्रकार स्फुरित होता है, जिस प्रकार एकमात्र दीपक की सन्निधि से निर्मल भीत का रूप प्रकाशित होता है ॥६१॥ हे श्रीरामजी, निरन्तर दूर रहनेवाले चैतन्यरूप और जड़रूप आत्मा एवं चित्त का, पृथिवी और आकाश की नाईं, कौन-सा सम्बन्ध हो सकता है ?॥६२॥

शंका हो कि आत्मा का मन आदि के साथ यदि सम्बन्ध न होगा, तो उनमें सत्ता का स्फुरण ही नहीं हो सकेगा। सम्बन्ध होनेपर तो आत्मा में असंगत्व ही सिद्ध नहीं होगा ? इस पर कहते हैं।

हे रघुनन्दन, अत्यन्त चंचल स्पन्दनों की प्रेरणा करनेवाली प्राणशक्तियों से वशीकृत चित्त अभेदाध्यासरूप मूर्खता से (अज्ञान से) ही 'चित्त आत्मा है'—यों प्रतीत होता है, वस्तुतः नहीं ॥६३॥

असंगत्व का उपपादन करने के लिए विरोध का ही सविस्तार निरूपण करते हैं।

भद्र, यह जो आत्मा है, वह प्रकाशस्वरूप, चैतन्यरूप, अविनाशी, सर्वत्र विद्यमान और व्यापक है तथा अहंकाररूप चित्त तो वंचक और हृदयवर्ती सबसे बड़ा अन्धकार है, यह आप जानिए ॥६४॥ श्रीरामजी, वस्तुतः आप सर्वज्ञ आत्मस्वरूप ही है, मनोरूप नहीं इसलिए तत्काल ही मनोरूप मोह को अत्यन्त दूर कर दीजिए, क्योंकि निरर्थक ही आपने उसके साथ संगति कर रक्खी है ॥६५॥ हे सर्वश्रेष्ठ श्रीरामजी, शून्यदेहरूपी घर में स्थित यह मनरूपी दुष्टात्मा पिशाच, वास्तव में आत्मा का स्पर्श न कर रहा भी 'मैं आत्मा का स्पर्श करता हूँ' यों चुपचाप भावना करता रहता है ॥६६॥ श्रीरामजी, संसार को देने तथा धैर्यरूपी सर्वस्व को चुरा लेने वाले अभद्र, मनरूपी पिशाच का परित्याग कर जिस विशुद्ध चैतन्य स्वरूपवाले आप हैं, उसी स्वरूप से स्थिर हो जाइए ॥६७॥ चित्तरूपी यक्ष से दृढ़तापूर्वक दबाये गये मनुष्य की न शास्त्र, न बन्धु और न गुरु ही भलीभाँति रक्षा कर सकते हैं ॥६८॥ जिस पुरुष का चित्तरूपी वेताल अपने दुष्ट व्यापारों से विरत हो चुका है यानी जिसका चित्त शुद्ध हो चुका है ऐसे पुरुष का गुरु, शास्त्र, धन और बन्धु ऐसा उद्धार कर सकते हैं, जैसा अल्प कीचड़ से बछड़े का ॥६९॥ इस जगतरूपी शून्य-नगर में सभी देहरूपी घर मदोन्मत्त तथा व्यर्थ की गर्जना करनेवाले चित्तरूपी यक्ष ने भलीभाँति दूषित कर दिये हैं ॥७०॥ भद्र, चित्तरूपी वेताल से वेष्टित तथा देहरूपी छोटे भाग में उत्पन्न

(*) किस इच्छा से प्रेषित हुआ मन विषयों की ओर दौड़ता है, पहले किससे प्रेरित हुआ प्राण अपने व्यापार के प्रति उद्यत होता है', 'जो प्राणवृत्ति को हृदय से ऊपर की ओर ले जाता है और अपान को नीचे की ओर ले जाता है, उस हृदयाकाश में प्रकाशमान भजनीय देव की सब चक्षु आदि उपासना करते हैं ।

हुई, शून्य यह समस्त जगद्रूपी बड़ी वनभूमि किसे भयभीत नहीं करती ? (अर्थात् सभी उससे भयभीत हो जाते हैं।)॥७१॥

उपर्युक्त श्लोक में 'समस्त' यह जो कहा गया है, वह उत्सर्ग है, क्योंकि उससे विपरीत भी कहीं पर देखा जाता है, ऐसा कहते हैं।

क्योंकि, जिसमें से चित्तरूपी पिशाच प्रशान्त हो गया है ऐसे–देहरूपी घर की, इस जगतरूपी नगरी में कुछ इने–गिने सज्जन ही सेवा करते हैं ॥७२॥

इसलिए अज्ञानियों की देह श्मशान–भूमि के तुल्य ही है, यों निन्दा करते हैं।

हे रघुनन्दन, इस संसार में जो–जो दिशाएँ सुनाई देती हैं, वे सभी देहरूपी श्मशान–भूमि में मंगल मनानेवाले मदोन्मत्त मोहरूपी वेतालों से परिपूर्ण हैं ॥७३॥ इस जगतरूपी महान अरण्य में, अज्ञानी बालक की नाईं, मोहित हो रही अपनी आत्मा का, स्वयं दृढ़ता से धैर्य को धारण कर, अपने से ही उद्धार कर लेना चाहिए ॥७४॥ हे श्रीरामजी, संचरण कर रहे प्राणीरूपी मृगों से व्याप्त इस संसाररूपी अरण्य में, हिरन के बच्चे की नाईं, तृणों के सदृश निःसार विषय–रसों से आप अपने को कृतकृत्य मत मानिए ॥७५॥ श्रीरामभद्र, इस पृथ्वीतल के अरण्य में दूसरे अज्ञानी जीव, हिरन के बच्चों की नाईं यदि विषयरूप कोमल तिनके चर जाते हैं, तो उन्हें भले ही चर जाने दीजिए, परन्तु आप तो अज्ञानरूपी हाथी का शिकार कर सिंह की वृत्ति धारण कीजिए ॥७६॥ श्रीरामजी, दूसरे मनुष्य–मृग मुग्ध होकर अपने अरण्यरूप जम्बूद्वीप में जिस प्रकार (विषयरूपी घास चरकर) विहार करते हैं, उस प्रकार हे अनघ, रामभद्र, आप विहार मत कीजिए ॥७७॥

समानस्वभाव होने के कारण बन्धुजनों के साथ सदा ही अवस्थान और उनसे सुख देखा गया है, फिर उसमें दोष ही क्या है ? इस पर कहते हैं।

भद्र, यह बन्धुवर्ग एक तरह से अत्यन्त थोड़े समय के लिए ठण्डक पहुँचानेवाला तथा आसक्तिरूप कीचड़ से चारों ओर लीप देनेवाला छोटा जलाशय है, अतः उसमें आपको, भैंसे की नाईं, डूबना नहीं चाहिए ॥७८॥ श्रीरामजी, आपको विषयरूपी सर्पों का बहिष्कार कर देना चाहिए, आर्यों के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए और 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के अर्थ का भली प्रकार विचार कर अपनी अद्वितीय आत्मा का ही आश्रय करना चाहिए ॥७९॥ अपवित्र, तुच्छ, भाग्यरहित तथा दुष्टरूपवाले शरीर के लिए आसक्तिरूपी कीचड़ में कभी फँसना नहीं चाहिए, क्योंकि उसमें फँसे हुए पुरुषों को चिन्तारूप क्रूर राक्षसी खा डालती है ॥८०॥ इस देह की रचना एक ने (कर्म ने) की है, उसका आश्रय दूसरे अहंकार रूपी यक्ष ने किया है, दुःख किसी तीसरे को मिलता है और भोक्ता तो कोई चौथा ही (जीव) है, इस प्रकार की यह अज्ञान की चक्रिका (चल रही परम्परा) आश्चर्यरूप ही है ॥८१॥

सत्यत्व और एकरूप होने से आत्मा में भी दुःख और उसके भोग, भोक्ता शरीर आदि रूपान्तर का अवकाश नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

जिस प्रकार पत्थर की घनता सत्तासामान्य से पृथक् रूप नहीं है किन्तु एकरूप ही है, उसी प्रकार आत्मा की घनता भी एकमात्र सामान्यात्मक सत्तास्वरूप से पृथक् नहीं है किन्तु अभिन्नरूप ही है, क्योंकि सद्रूप से पृथक् दूसरा रूप ही नहीं है, अर्थात् जो सद्भिन्न है उसकी असत्, अलीक आदि पदों

से ही प्रसिद्धि है, यह तात्पर्य है ॥८२॥ जिस प्रकार पत्थर का काठिन्य पत्थर से पृथक् अस्तित्व नहीं रखता, उसी प्रकार समष्टि-व्यष्टयात्मक मनःसमूह और तत्-तत् मन के कार्यभूत स्थूल प्रपंच भी आत्मा से पृथक् अस्तित्व नहीं रखता, क्योंकि सत्तामात्रस्वभाव आत्मा से अभिन्न होने के कारण इन मन आदि की पृथक् अवस्थिति ही नहीं रह सकती ॥८३॥

यह न्याय प्रत्येक घट और घटाकार मानसवृत्ति आदि में भी लगाना चाहिए, इससे सद्रूप अद्वैत ही सिद्ध हुआ, यह कहते हैं।

जैसे पत्थर का पत्थरपन अथवा जैसे घट का घटपन सत्तास्वरूप सामान्य से अभिन्न ही है, वैसे ही समष्टि-व्यष्टि मन आदि आत्मा से अभिन्न ही हैं ॥८४॥ भद्र, इस अर्थ में आगे कही जानेवाली मानस-शिवपूजारूप इस दूसरी दृष्टि का आप श्रवण कीजिए, जो चन्द्रमौलि भगवान शंकर ने कैलासपर्वत की कन्दरा में संसार-दुःख की शान्ति के लिए मेरे समक्ष की थी ॥८५॥

उसमें पहले कैलास का वर्णन करते हुए कथा का उपक्रम करते हैं।

चन्द्रमा के किरणसमूहों की नाईं भासमान कैलासनामक एक पर्वतों का राजा है। वह अपनी ऊँचाई से आकाश को भी पार कर गया है और वह है – गौरीरमण भगवान श्रीशंकर का एक मन्दिर ॥८६॥ वहाँ पर चन्द्रकला धारण किये हुए स्वयंप्रकाशमान भगवान महादेवजी रहते हैं। पहले किसी समय उसी पर्वतपर उन देवाधिदेव की पूजा कर रहा मैं गंगाजी के किनारे आश्रम बनाकर रहता था। तप के लिए वहाँ पर मैंने दीर्घकाल तपस्वियों द्वारा अनुष्ठीयमान कृच्छ्र चान्द्रायण आदि में नियमपूर्वक निष्ठा की। वहाँ पर मेरे चारों ओर सिद्धों के समूह रहते थे। मैं उनसे विचारविनिमय कर शास्त्रीय दुरूह तत्त्वों का संग्रह करता था। मैंने फूल चुनने के लिए एक डलिया (टोकरी) रक्खी थी और अनेक शास्त्रीय पुस्तकों का संग्रह भी किया था ॥८७-८९॥ हे श्रीरामजी, उस तरह के गुणों से सम्पन्न कैलासवन के कुंजों में तपश्चर्या कर रहे मेरा बहुत समय व्यतीत हो गया ॥९०॥ अनन्तर किसी एक समय की बात है-श्रावण कृष्णपक्ष की अष्टमी तिथि थी और रात्रि का प्रथमभाग यानी प्रदोषसमय पूजा, जप, ध्यान आदि से व्यतीत हो चुका था। प्राणियों के संचरण आदि व्यापारों का उपशम हो जाने से शान्तस्वरूप हुई दिशाएँ उस समय काठ की नाईं मौन-व्रत में *(हाथ आदि के व्यापारों से भी हृदयगत अभिप्राय को प्रकट न करने के कारण काठ की नाईं मौनव्रत में)* मानों अवस्थित थीं। गहन कुंजों में अन्धकार इतना घना था कि वह तलवार से काटने योग्य बन गया था ॥९१,९२॥ श्रीरामभद्र, इसी बीच प्रथम अर्धरात्रि के वहाँ व्यतीत हो जाने पर मैंने अपनी समाधि स्वल्प (कुछ बहिर्मुख) बनाकर बाह्य पदार्थों की ओर दृष्टि दौड़ाई ॥९३॥ उस समय उस अरण्य में तत्काल ही उत्पन्न हुआ एक बड़ा तेज मैंने देखा, जो शुभ्रातिशुभ्र सैकड़ों मेघों के तुल्य धवल एवं असंख्य चन्द्रबिम्बों के सदृश चमकीला था ॥९४॥ उस तेज की चकाचौंध से दिशाओं के समस्त कुंज चमक उठे। मैंने बड़े विस्मय के साथ देखा और देखकर भीतर की प्रकाशमान दिव्य-दृष्टि से उसके विषय में विचारा और तदनन्तर फिर बाह्यदृष्टि से तत्-तत् विशेष-अवयवों के अनुसन्धानपूर्वक उसका अवलोकन किया ॥९५॥ विचार कर ज्यों ही मैं सामने का शिखर-प्रदेश देखता हूँ, त्यों ही चन्द्रकलाधर महादेवजी उपस्थित हो गये। उन्होंने अपना एक हाथ भगवती गौरी के हाथ में रक्खा था और उनके गण नन्दी आगे चलनेवालों को हटा रहे थे ॥९६॥ वहाँ उपस्थित समस्त

शिष्यों को सम्बोधित कर तथा अर्घ्यपात्र लेकर सावधान एवं प्रसन्न–मन हुआ मैं उन गौरीपति की दृष्टि से पवित्र ऐसे उनके पुरोभाग में गया यानी उनकी पवित्र सन्निधि में पहुँचा ॥९७॥ वहाँ जाकर दूर से ही मैंने पुष्पांजलि समर्पित की और अर्घ्य प्रदान किया। अनन्तर तीन नेत्रवाले महादेव को साष्टांग प्रणाम कर उनका अभिवन्दन किया यानी उनकी स्तुति की ॥९८॥

अपने भाग्य के महान उदय तथा अपने ऊपर महादेवजी के सानुग्रह दृष्टिपात का वर्णन करते हैं।

तदनन्तर चन्द्रज्योत्स्ना की सखीभूत कोमल, शीतल तथा समस्त सन्तापों का अपहरण करनेवाली उस महादेवजी की दृष्टि का *(स्वानुभूत अलौकिक निरतिशयानन्द के आविर्भावभूत चमत्कार से परिपूर्ण दृष्टि का)* मैं दीर्घकाल तक भाजन बना रहा ॥९९॥ पुष्पों के शिखर पर स्थित तीनों लोकों के साक्षी उस देवाधिदेव को मैंने समीप जाकर अर्घ्य, पुष्प तथा पाद्य का समर्पण किया ॥१००॥ उनके सामने मैंने अनेक मन्दार–पुष्पों की अंजलियाँ बिखेर दीं और नानाविध नमस्कार एवं स्तोत्रों से शिवजी की अर्चना की ॥१०१॥ तदनन्तर मैंने शिवजी की पूजा के सदृश ही पूजा से सखियों से युक्त तथा गण मण्डल से परिवेष्टित भगवती गौरी का उत्तम रीति से पूजन किया ॥१०२॥ पूजा की समाप्ति होने पर उनकी आज्ञा से पुष्पमय शिखर पर बैठे हुए मुझसे अर्धचन्द्र की कला धारण करनेवाले भगवान उमापति परिपूर्ण हिमांशु–किरण के सदृश शीतल वाणी से कहने लगे ॥१०३॥

यद्यपि पहले कुशल प्रश्न ही किया जाता है, तथापि समस्त कुशलता की परम सीमाभूत परमात्मा में चित्त–विश्रान्ति का ही, अनुग्रह करने की इच्छा से, भगवान पहले प्रश्न करते हैं।

भगवान उमापति ने कहा : हे ब्रह्मन्, सर्वविध सांसारिक उपद्रवों के उपशम से विराजित, परमात्मरूप पर (ब्रह्म) वस्तु में विश्रान्ति ले रही तथा मोक्षरूप उत्तम कल्याण देनेवाली तुम्हारी चित्तवृत्तियाँ अपने स्वरूप में अवस्थित तो हैं ? ॥१०४॥ तुम्हारा कल्याणकारी तप निर्विघ्नरूप से बराबर चल रहा है न ? प्राप्तव्य वस्तु प्राप्त कर ली है न ? और सांसारिक भय शान्त हो रहे हैं न ? ॥१०५॥ हे रघुनन्दन, समस्त लोकों के एकमात्र हेतु देवाधिदेव महादेवजी के उस प्रकार कहने के अनंतर विनययुक्त वाणी से मैंने उनसे निवेदन किया ॥१०६॥ हे महेश्वर, देवाधिदेव त्रिनेत्र की निरंतर स्मृति से प्राप्त हुए उत्तम कल्याण से सम्पन्न पुरुषों के लिए इस संसार में कोई भी वस्तु न तो दुष्प्राप्य है और न किसी तरह का भय ही हैं ॥१०७॥ आपके निरन्तर स्मरण से जनित आनन्द से जिनका चित्त चारों ओर से घूर्णित (मत्त) हो गया है, ऐसे पुरुषों के लिए इस जगत्कोश में वे प्राणी ही नहीं हैं, जो उन्हें प्रणाम नहीं करते अर्थात् सभी उन्हें प्रणाम करते हैं ॥१०८॥ भगवन्, एकमात्र आपके अनुस्मरण में निरन्तर जिनका मन लगा रहता है, ऐसे पुरुष जहाँ स्थित रहते हैं, वे ही देश, वे ही जनपद, वे ही दिशाएँ और वे ही पर्वत प्रशस्ततम हैं ॥१०९॥ हे प्रभो, आपका अनुस्मरण पूर्वसंचित पुण्य–वृक्ष के फल को अनन्तकोटि गुना बढ़ा देता है, वर्तमान देह से उत्पादित पुण्य–वृक्ष का मानों अमृतसिंचन द्वारा अभिवर्धन करता है और करिष्यमाण (किये जानेवाले) पुण्य की अभिवृद्धि के लिए बीज का विस्तार करता है ॥११०॥ हे प्रभो, आपका अनुस्मरण ज्ञानरूपी अमृत का एकमात्र आधारभूत कलश है, धृतिरूपी ज्योत्स्ना के लिए चन्द्रमा है और मोक्षरूपी नगर का द्वार है ॥१११॥ हे समस्त भूतों के अधिपते, आपके निरन्तर चिन्तनरूपी उदार चिन्तामणि से शोभित मैंने समस्त वर्तमान और भविष्य कालीन आपत्तियों के सिर

पर अपना पैर रख दिया है ॥११२॥ हे श्रीरामजी, सुप्रसन्न उन भगवान शंकरजी से यों कहकर नतमस्तक होकर मैंने जो कुछ वक्ष्यमाण रीति से कहा, उसे आप सुनिए ॥११३॥ हे भगवन्, यद्यपि आपकी अनुकम्पा से मेरे लिए समस्त दिशाएँ अभीष्ट पदार्थों से परिपूर्ण हैं; तथापि हे देवेश, एक मुझे जो सन्देह है, उसके विषय में आपसे निर्णय पूछता हूँ ॥११४॥ हे प्रभो, वह देवार्चन-विधान किस तरह का है ? जो समस्त चित्त-विक्षेप के हेतुओं से वर्जित, विकारशून्य, समस्त पापों का विनाशकारी तथा समस्त कल्याणों का अभिवर्धक होता है, उसे प्रसन्न-मति से आप मुझसे कहिए ॥११५,११६॥

'पूर्णा मे सकला दिशः' इस कथन से महर्षि वसिष्ठजी को विषयभोग की अभिलाषा नहीं है, ऐसा द्योतन हो जाता है। अतः 'सर्वपापक्षयकरं सर्वकल्याणवर्धनम्' इन दो विशेषणों से समस्त अनर्थनिवृत्ति से उपलक्षित निरतिशयानन्दस्वरूप मोक्षसाधन के विषय में ही यह वसिष्ठजी का प्रश्न है, यों सर्वज्ञ परम कारुणिक सदाशिव ने पहले निश्चय किया, अनन्तर सर्वतोभावेन शरणागत वसिष्ठजी को सर्वदेवार्चन के परम रहस्य-भूत परम पुरुषार्थ के साधन तत्त्वज्ञान के उपदेश की इच्छा से भगवान प्रतिज्ञा करते हैं।

ईश्वर ने कहा : हे ब्रह्मज्ञानियों में अग्रगण्य मुनिवर, मैं तुमसे सर्वश्रेष्ठ वह देवार्चन का विधान कहता हूँ, जिसका अनुष्ठान करने से तत्काल ही मनुष्य मुक्त हो जाता है ॥११७॥

आगे कहे जानेवाले देवार्चन के अनुरूप अलौकिक देवस्वरूप का उपदेश देने के लिए शिष्य को उसकी जिज्ञासा करा रहे भगवान पहले वसिष्ठजी से प्रश्न करते हैं।

हे महाबाहो (卐) द्विजश्रेष्ठ, क्या तुम्हें यह अवगत है कि देवता कौन है ? न तो पुण्डरीकाक्ष ही देव है और न त्रिलोचन महादेवजी ही ॥११८॥ न तो कमलोद्भव ब्रह्माजी देवता हैं और न सर्वदेवताओं के अधिपति इन्द्र ही देवता हैं। न पवन, न सूर्य, न अग्नि और न निशाचर (चन्द्रमा) ही वास्तव में देवता है। (प्रकृत श्लोक में निशाकर शब्द चन्द्रकला के अधीन शरीरवाले तैंतीस करोड़ देव-शरीरों का उपलक्षण है।)॥११९॥ हे द्विजोत्तम, वास्तव में न ब्राह्मण देवतारूप है, न राजा देवतारूप है और न मैं (🔔) ही देवतारूप हूँ, न तुम देवतारूप हो, न आध्यात्मिकभाव से आपन्न देह आदि पदार्थ ही देवतारूप हैं (📖) और न चित्तरूपधारी व्यक्तिविशेष ही देवतारूप

(卐) यहाँ पर 'महाबाहु' शब्द का अर्थ है-निरन्तर देवार्चन से सफलीकृतबाहु। इससे यह सूचित हुआ कि बाहुसापेक्ष बाहर की केवल पूजा में ही शूरता बतलाने के लिए सम्बोधन किया गया है। यदि शंका हो कि पुण्डरीकाक्ष और त्रिलोचन आदि देवता तो प्रसिद्ध ही हैं, फिर भगवान इस साधारण विषय में मुझे अनभिज्ञ क्यों मानते हैं ? इस प्रकार के अभिप्राय वाले वसिष्ठजी की परिच्छिन्न पदार्थों में श्रद्धारूपी जड़ता का प्रथम अपाकरण करने के लिए यहाँ पर 'न देवाः' इत्यादि ग्रन्थ है, यह समझना चाहिए।

(🔔) 'नाहं न त्वम्' यह निषेध-रुद्र और वसिष्ठ में 'तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्राः' (उत्क्रमणकाल में सम्बन्धियों को रुलाते हैं, अतः प्राण रुद्रनामवाले हैं), 'यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसि' (जो मैं वाक् वसिष्ठत्व गुण से युक्त हूँ, उस गुण से तुम-प्राण-वसिष्ठ हो) इत्यादि श्रुतियों में मुख्य समष्टि प्राणरूपता की प्रसिद्धि से तथा 'कतम एको देव इति प्राणः' इत्यादि प्राण की ही सर्वदेवत्वरूपता प्रतिपादक श्रुति से प्राणभाव से प्राप्त हुए देवस्वरूपत्व का निवारण करने के लिए-किया गया है।

(📖) 'नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत्' इत्यादि श्रुतियों में आध्यात्मिक चक्षु आदि के लिए देवशब्द के

है ॥१२०॥ देह की शोभा भी देवरूप नहीं है और मति भी देवरूप नहीं है; किन्तु क्रियासाध्य वस्तु से विलक्षण, आदि और अन्त से शून्य, निरतिशय आनन्दात्मक चित्प्रकाश ही देवस्वरूप है, यह तत्त्वज्ञों द्वारा कहा जाता है (♨) ॥१२१॥ देश और वस्तु से परिच्छिन्न तथा काल से परिच्छिन्न वस्तु में वह प्रकाश ही कहाँ रहता है ? (तात्पर्य यह है – 'दिवु क्रीड़ा–विजिगीषा–व्यवहार–द्युति–स्तुति–मोद–मद–स्वप्न–कान्ति– गतिषु' यों दस अर्थों में प्रसिद्ध दिव् धातु से 'पचाद्यच्' इस सूत्र से अच्प्रत्यय करने पर सिद्ध हुए देवशब्द के संकोच में प्रमाण न होने से वह मायिक निरंकुश ऐश्वर्य, स्वच्छन्द क्रीड़ा, महत्वकांक्षा, व्यवहार, स्तुति तथा आविद्यक मद, स्वप्न, इच्छा और गति का निर्वाहक है, अतः उक्त दशविध अर्थों में कौन मुख्य हैं; इसका विचार करने पर द्युति और मोद ही मुख्य अर्थ प्रतीत होते हैं और वे नित्य, निरतिशयानन्दस्वरूप, स्वप्रकाश परब्रह्मरूप में ही उपपन्न हो सकते हैं, परिच्छिन्न जड़ों में नहीं ।) इसलिए आदि और अन्त से शून्य, स्वाभाविक जो प्रकाशस्वरूप चित् है, उसी को मुनि लोग शिव और देव कहते हैं ॥१२२॥ चूँकि, जगत, जीव और उसका संसार – ये सब उसकी सत्ता से ही अस्तित्वरूप अपना स्वरूप धारण करते हैं, इसलिए एकमात्र वह चिति ही विद्यमान वस्तु है, दूसरी नहीं । वही देवशब्द से व्यवहृत होती है, इसलिए उसी की पूजा करनी चाहिए ॥१२३॥

तब क्या पुण्डरीकाक्ष आदि मूर्तियों की पूजा का जो विधान है, वह व्यर्थ है ? इस पर नहीं, ऐसा उत्तर देते हैं ।

ब्रह्मन्, जो परम शिवतत्त्व से अपरिचित हैं, उन्हींके लिए पुण्डरीकाक्ष आदि मूर्तियों का पूजन विहित है । ठीक ही है, योजनपरिमित मार्ग में अशक्त पुरुष के लिए क्रोश–परिमित मार्ग की कल्पना की जाती है ॥१२४॥ पूजन आदि से प्रसन्न हुए रुद्र आदि देवताओं से इयत्ता आदि से परिच्छिन्न ही फल प्राप्त होता है और तत्त्वतः साक्षात्कारपर्यन्त पूजन से प्रसन्न हुई आत्मा से तो स्वाभाविक तथा आदि एवं अन्त से वर्जित निरतिशयानन्दरूप फल प्राप्त होता है ॥१२५॥

यदि शंका हो कि कृत्रिम विषयभोग अनात्म–पूजन से ही सिद्ध होते हैं, इसलिए उनके लाभार्थ कृत्रिम–पूजा करनी चाहिए ? तो इस पर कहते हैं ।

स्वाभाविक निरतिशयानन्दरूप फल छोड़कर जो पुरुष कृत्रिम फल की ओर प्रवृत्ति करता है, उसके विषय में यही कहना चाहिए कि वह देवतरु मन्दार का वन छोड़कर कंजा–वन की ओर प्रवृत्ति करता है ॥१२६॥

तो अकृत्रिम पूजन में कौन–सी सामग्री है ? इस शंका पर उस सामग्री का उल्लेख करते हैं ।

कौन पूज्य है इस विषय का तात्त्विक ज्ञान रखनेवाले विद्वान कहते हैं कि एकमात्र चित्स्वरूप निर्मल

प्रयोग से तथा 'त्वचे स्वाहा लोमभ्यः स्वाहा' इत्यादि मन्त्रलिंग से देह आदि आध्यात्मिक भावों में प्राप्त हुई देवस्वरूपता का निवारण करते हैं ।

(♨) आध्यात्मिक पदार्थों का उपक्रम होने के कारण कमलाशब्द से यहाँ देहादि की शोभा ही ली गई है । मतिशब्द समस्त आध्यात्मिक पदार्थों का उपलक्षण है । इसी न्याय से समस्त आधिभौतिक पदार्थों में भी देवरूपता नहीं है, यह जान लेना चाहिए ।

शिव ही पूज्य है और उसकी पूजन-सामग्री में विवेक-ज्ञान, सर्वभूतों में आत्मबुद्धि और शम-ये सबसे श्रेष्ठ पुष्प हैं ॥१२७॥ हे महर्षे, प्रकाशमान आत्मदेव की शम, बोध आदि पुष्पों से जो पूजा की जाती है, उसीको आप देवार्चन जानिए, मूर्ति-पूजा को देवार्चन मत जानिए ॥१२८॥ जो मनुष्य आत्मज्ञानरूप देवार्चन छोड़कर कृत्रिम पूजनों में ही आसक्त रहते हैं, वे चिरकालतक क्लेश ही पाते हैं ॥१२९॥

हे ब्रह्मन्, जो विदिततत्त्व सन्त-महात्मा किसी समय आत्म-समाधि से व्युत्थित होकर साकार देवपूजन करते हुए पाये जाते हैं, वे बालक्रीड़ा के सदृश आनन्दार्थ ही साकार पूजन करते हैं, न कि कृत्रिम भोगों की अभिलाषा से ॥१३०॥ आत्मा ही प्रकाशमान देव, छः प्रकार के ऐश्वर्य से परिपूर्ण, शिव और परम कारणस्वरूप है। (अतः) ज्ञानरूप पूजन-सामग्री से उसीकी सर्वदा अविच्छिन्नरूप से निरन्तर पूजा करनी चाहिए ॥१३१॥ हे वसिष्ठजी, आप जीव को अपरोक्ष चेतनाकाशस्वरूप अविनाशी अकृत्रिम ब्रह्मस्वरूप ही जानिए, एकमात्र वही पूज्य है; दूसरा कोई आत्मा से अतिरिक्त पूज्य नहीं है। अतः आत्मपूजा ही पूजा है (✎) ॥१३२॥

'तदेवाऽस्ति यतः सर्वम्' इत्यादि श्लोक से ब्रह्म ही जगत, जीव, जीवसंसार और उनके अस्तित्वरूप से स्थित है, यह जो पहले कहा गया था, उसमें उपपत्ति जानने की इच्छा से महाराज वसिष्ठजी पूछते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे प्रभो, यह जगत जिस उपपत्ति से चैतन्यप्रकाशमात्रस्वरूप होता है तथा जिस उपपत्ति से उसी चेतन में जीवादिस्वरूपता प्राप्त होती है, उसे (आप कृपाकर मुझसे) कहिए ॥१३३॥

समस्त चेत्य पदार्थों का प्रलय हो जानेपर भी 'चित्सत्ता' ज्यों की त्यों बनी रहती है, इससे 'चित्सत्ता चेत्य पदार्थों के अधीन नहीं है' यह बात भलीभाँति सिद्ध हो चुकी है, अतः चित् के अधीन भासमान चेत्य का जिस प्रकार चिति से भिन्न दूसरा भान मानना युक्त नहीं है, उसी प्रकार चित्सत्ता के अधीन चेत्य की चितिसत्ता से पृथक सत्ता मानना भी युक्त नहीं है, ऐसी उपपत्ति बतलाते हैं।

ईश्वर ने कहा : चूँकि यहाँ सर्वत्र आर-पार से रहित-सर्वविध परिच्छेदों से शून्य-चेत्यनिर्मुक्त चिदाकाश ही विद्यमान है, इसलिए कल्पान्त में भी वह अवशिष्ट रहता है *('चिदाकाश सर्गकाल में भी चेत्यशून्य है, पार आदि परिच्छेदशून्य होने से, प्रलयकाल के समान' इस प्रकार अनुमानरूप उपपत्ति यहाँ बतलाई गई है, ऐसा समझना चाहिए।)*॥१३४॥

तब जगद्रूप प्रतिभास कैसे होता है ? इस पर कहते हैं।

सूर्य, चन्द्र, दीपक, इन्द्रिय, मन आदि जो-जो स्वयं प्रचुरप्रकाशवाले पदार्थ हैं, उनके अपने प्रकाश का अपने बिम्ब में समा न सकने के कारण स्वयं जो बिम्ब से बाहर प्रभाकर से-स्पन्दित यानी स्पन्दन-सा प्रसिद्ध है, वही नील, पीत आदि उसका विषयभूत जगत है। इसी प्रकार चिद्व्योम के अपरिच्छिन्न

(✎) इस विषय में विद्वानों का अनुभवपूर्ण यह वचन है :

देहो देवालयः प्रोक्तो जीवो देवः सदाशिवः। त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत् ॥

देह ही देव-मन्दिर है और उसमें विराजमान जीव ही सदाशिवस्वरूप देवता है। उस पर से अज्ञानरूपी निर्माल्य हटा देना चाहिए और 'सोऽहं' इस रूप से उसकी पूजा करनी चाहिए।

होने से मायारूप आवरण के भीतर न समा सकने के कारण उसका मायिक वासना आदि मार्ग से जो एक तरह का स्पन्दन–सा प्रसिद्ध है, उसीसे यह जगत दिखलाई पड़ता है ॥१३५॥ उक्त रीति से एकमात्र चिदात्मस्वरूप ही सिद्ध हो रहा विचित्ररूप यह जगत स्वप्ननगर के सदृश भ्रान्ति से प्रतीत होता है। मेरी कथित रीति से परमार्थबुद्धि से विचार करने पर तो जगत का कोई स्थान ही सिद्ध नहीं होता, वास्तव में वह अमूर्त एवं स्वच्छ चिदाकाशमात्रस्वरूप ही है ॥१३६॥

तब क्या चिति ही चेत्य के आकार में परिणत अपने को देखती है ? इस शंका पर नहीं, ऐसा उत्तर देते हैं।

अपरिणामी और अद्वय होने से चैतन्य का परिणाम चेत्य हो ही नहीं सकता, अतः अत्यन्त असम्भव चेत्य भी आवृत चित्–स्वभाव से पृथक जो सृष्टि के आदि में चिदाकाशमात्रस्वरूप भासता है, वही दृश्य–जगत है, ऐसा मुनियों का स्मरण है ॥१३७॥ इसलिए स्वप्न–नगर के सदृश जो यह जगत भासता है, उस चिदाकाशमात्रस्वरूप जगत में भिन्नता का अवकाश ही कहाँ है ? ॥१३८॥

अतएव आरोपित रूप के चिन्मात्रस्वरूपता का प्रत्यक्ष करना चाहिए, यह कहते हैं।

चिन्मात्रस्वरूप ही पर्वत हैं, चिन्मात्र ही जगत और आकाश है, चिन्मात्रस्वरूप आत्मा एवं जीव है तथा भूतों की परम्परा भी चिन्मात्रस्वरूप ही है ॥१३९॥ महर्षे, सृष्टि के आरम्भ में ऊर्ध्व–लोक, अपना नगर तथा पाताल–इनमें कहीं पर भी चिदाकाशमात्रस्वरूप आत्मा से भिन्न ऐसी कौन–सी वस्तु है, जो सबके अनुभव में आती हो, उसे आप बतलाइए ? *(तात्पर्य यह है कि चिद्भिन्न की स्वतः सत्तास्फूर्ति मानने पर अचित्त्व का व्याघात, सत्तास्फूर्ति के अभाव में अलीकरूपता, अलीक का चित् से भी उज्जीवन अनुभूत न होने से, असंग होने के कारण चित् का अचित् के साथ सम्बन्ध न होने से और साधकान्तर की अप्रसिद्धि होने से चिद्भिन्न पदार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती।)*॥१४०॥

यदि शंका हो कि जैसे 'यजति, ददाति, जुहोति' इत्यादि शब्दभेदों से कर्मभेद होता है, वैसे ही चित्, आकाश, जगत इत्यादि शब्दभेदों से उनका भेद हो सकता है ? तो इस पर कहते हैं।

आकाश, परमाकाश, ब्रह्माकाश (📖) जगत और चित्–ये सब प्रकार ब्रह्मरूप अर्थ के पयार्यशब्द हैं, जिस प्रकार पेड़ और वृक्ष शब्द पर्याय हैं ॥१४१॥ उक्त रीति से जब तत्त्ववेत्ता द्वारा स्वप्न, संकल्प और माया के सदृश मिथ्या द्वैत अनुभूत होता है, तब उसे चिदाकाश ही जगद्रूप से प्रतीत होता है ॥१४२॥ जिस प्रकार स्वप्न में चिदाकाश ही जगद्रूप भासता है, उसी प्रकार जाग्रत–नामक स्वप्न में भी वही चिदाकाश जगत्–रूप से हम लोगों को भासता है ॥१४३॥ जिस प्रकार स्वप्न–नगर में चिदाकाश को छोड़कर दूसरा कुछ भी पदार्थ कहीं नहीं रहता, उसी प्रकार जाग्रत–काल में भी महाचैतन्य आकाश को

(📖) भूताकाश, अव्याकृत आकाश आदि तीन अर्थों का ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त हुए तीनों भी आकाशशब्द 'काश्रृ–दीप्तौ' इस धातु से बनाये गये हैं। इसलिए उनका जिस प्रकार चैतन्यरूप अर्थ हो सकता है, उसी प्रकार 'जो गमनार्थक धातु होते हैं, वे ज्ञानार्थक भी हैं, इस व्याकरण–नियम के आधार पर 'गम' धातु से 'वर्तमाने पृशद०' इत्यादि सूत्र से क्विपप्रत्यय होने पर निष्पादित जगतशब्द भी चैतन्यार्थक हो सकता है। अतः उपर्युक्त शब्द एक दूसरे के पर्याय हैं – यह कहा गया है, वह ठीक ही है।

छोड़कर और कुछ भी दूसरा पदार्थ कहीं नहीं रहता ॥१४४॥ चूँकि चित् से भिन्न दूसरा कुछ भी चेत्यपदार्थ नहीं हो सकता, इसलिए चित्त और चेत्यात्मक समस्त जगत भी अचेत्यात्मक एकमात्र चिन्मात्रस्वरूप होकर ही स्थित है ॥१४५॥ परमाकाशस्वरूप ब्रह्म का संकल्प ही ('बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादि श्रुति में दर्शित प्रथम संकल्प ही) तीनों जगत-रूप होकर चिदाकाश में स्वप्न के सदृश स्वयं ही उत्पन्न हुआ है, वास्तव में द्वैतवादी द्वारा स्वीकृत सत्यवस्तु के सदृश यह सत्य नहीं है, ऐसा समझिए ॥१४६॥

सामान्य जगत में कथित न्याय का घट, पट आदि विशेषपदार्थों में दिग्दर्शन कराते हैं।

जैसे स्वप्न में घट, पट आदि चैतन्याकाशमात्रस्वरूप हैं, वैसे ही इस सामान्य सृष्टि के आरम्भ में विशेषपदार्थ घट, पट आदि भी चैतन्याकाशमात्र स्वरूप ही हैं ॥१४७॥ जैसे स्वप्नकालीन प्रतिभासमात्रस्वरूप नगर में विशुद्धचैतन्यमात्ररूप आत्मा को छोड़कर दूसरा कुछ भी तात्त्विक पदार्थ नहीं है, वैसे ही इन तीनों भुवनों में आत्मस्वरूप विशुद्ध चैतन्यपदार्थ को छोड़कर दूसरा कुछ भी पदार्थ नहीं है ॥१४८॥ जो कुछ विभिन्न-विभिन्न दृष्टियाँ हैं तथा जो-जो तीनों कालों में रहनेवाले देश, काल और चित्त से युक्त भावात्मक और अभावात्मक पदार्थ हैं, ये सब एकमात्र चैतन्यात्मक आत्मस्वरूप ही हैं, उससे पृथक नहीं है ॥१४९॥ महर्षे, जो परमार्थतः सबसे श्रेष्ठ है, जो तुम्हारा, 'तत्' पदार्थ का, मेरा तथा समस्त जगत का स्वरूपभूत है एवं जो स्वयं परिपूर्णस्वरूप है, ज्ञानरूप सामग्री से पूजा करने योग्य उस देव का, प्रथम प्रश्न के उत्तर में, मैंने तुमसे कथन किया ॥१५०॥ सभी वस्तुओं का, समस्त जगत का, दूसरे का, तुम्हारा और मेरा चैतन्याकाशरूप परमात्मा ही पारमार्थिक स्वरूप है, दूसरा नहीं ॥१५१॥

कथित प्रकरण का, अनुवादपूर्वक, उपसंहार करते हैं।

हे मुने, जिस प्रकार संकल्पमय पदार्थों तथा स्वप्न-नगर में चैतन्याकाशको छोड़कर दूसरा कुछ भी पारमार्थिकस्वरूप पदार्थ नहीं है उसी प्रकार हिरण्यगर्भ के प्रथमसर्ग से लेकर आजतक चले आ रहे इस संसार में चैतन्याकाशरूप पारमार्थिक शरीर को छोड़कर दूसरा कुछ भी पदार्थ नहीं है ॥१५२॥

उनतीसवाँ सर्ग समाप्त

तीसवाँ सर्ग

चिति की सर्वात्मता सर्वभोक्तृभाव से स्थिति और
वह जिस प्रकार से जीवदशा को प्राप्त हुई - इन सबका वर्णन।

'चेतनाकाशमात्रात्म यथा सर्वमिदं प्रभो' यह जो तुमने पूछा था, उसका यह उत्तर दिया, यों कहते हैं।

ईश्वर ने कहा : ब्रह्मन्, इस रीति से यह समस्त संसार एकमात्र परमात्मस्वरूप ही है, ब्रह्म ही परम आकाश है और यही सबसे बड़ा देव कहा गया है ॥१॥

परिच्छिन्न देवका पूजन परिच्छिन्न फल ही देता है और इस परम अपरिच्छिन्न देव का पूजन तो समस्त कामनाओं के पर्यवसान की अवधिभूमि भूमानन्द की प्राप्तिरूप फल देता है, इसलिए इस देव का पूजन सबसे श्रेष्ठ है, ऐसा कहते हैं।

इस परम देव का पूजन सबसे कल्याणकर है, उसीसे सब कुछ प्राप्त होता है, वही समस्त जगत-

सृष्टि के आरोप का अधिष्ठान है और उसी में यह सब व्यवस्थित है ॥२॥ स्वाभाविक, आदि–अन्त से रहित, अद्वितीय, अखण्ड तथा बहुवित्तव्यय, आयास आदि बाहरी, साधनों से सिद्ध न होनेवाला नित्य सुख उसी एकमात्र देव के अर्चन से प्राप्त होता है ॥३॥ हे मुनिश्रेष्ठ, चूँकि तुम विवेकी यानी मुख्य अधिकारी हो, इसलिए मैं तुमसे कहता हूँ कि सबसे बड़े इस आत्मदेव की पूजा के लिए महान पुष्पों एवं धूपों का समूह योग्य नहीं है ॥४॥

मूर्ति आदिरूप साकार देव की अर्चना में कौन अधिकारी हैं ? इस प्रश्न पर उसके (मूर्तिरूप देवतार्चन के) अधिकारी बतलाते हैं।

जो विवेक–बुद्धि से सम्पन्न नहीं है तथा जो बालकों के सदृश कोमलचित्तवाले हैं, उन्हीं के लिए कृत्रिम प्रतिमा–प्रचुर देवार्चन का विधान किया गया है ॥५॥

उक्त कृत्रिम प्रतिमा–प्रचुर देवार्चन उत्तम चावल न मिलने पर कोदो खाने के समान है, ऐसा कहते हैं।

वे अव्युत्पन्नमति बालक शम और आत्मज्ञान के अभाव में मिथ्यारूप ही कल्पित पुष्प आदि से कल्पितस्वरूप उस प्रकार की प्रतिमा आदि की पूजा करते हैं ॥६॥ वे बालक आदरपूर्वक अपने संकल्प से रचित स्वल्प पुष्प, धूप आदि सामग्रीरूप उपायों से पूजनकर सन्तोष प्राप्त करते हैं ॥७॥ अपने संकल्पों से रचित पदार्थों से देवार्चन सम्पादन कर जिन कीन्हीं स्वप्न सदृश मिथ्याभूत विमान, अप्सरा आदि साधनों से मिथ्यारूप ही स्वर्गादि फल प्राप्त करते हैं ॥८॥ हे ब्रह्मन्, बालबुद्धि पुरुषों के लिए ही पुष्प, धूप आदि द्वारा अर्चन की कल्पना की गई है और आप जैसे अधिकारी पुरुषों के लिए जो योग्य देवार्चन है, उसे मैं कहता हूँ ॥९॥ हे बुद्धिमान में श्रेष्ठ महर्षे, हम लोगों द्वारा कल्पित प्रपंच के भीतर चक्षु आदि से दिखाई पड़नेवाला मूर्ति आदिरूप देव अनिर्वचनीय मायामय ही है और समस्त त्रिभुवन का आधारभूत एकमात्र परमात्मा ही पारमार्थिक देव है, दूसरा नहीं ॥१०॥ समस्त ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि देवताओं से तथा समस्त मनोवृत्तियों से परे एवं समस्त पदों से दुर्ज्ञेय शिव ही परम देव है और समस्त विषयभोगों के संकल्पों से वेष्टित ब्रह्मा, विष्णु आदि रूप जो देव हैं, वे साधन से भी पूर्ण नहीं हैं और सर्वविध सुखभोगरूप फलों से भी परिपूर्ण नहीं हैं। (क्योंकि अपने–अपने कर्म और उपासना के तारतम्य अनुसार ही भोगसामग्री और उसके फलभूत सुखका लवमात्र ही वहाँ पर रहता है, यह तात्पर्य है।)॥११॥

आत्मदेव तो पूजा और फल दोनों अवस्थाओं में नित्य, निरतिशय, परमार्थसत्य पूर्णानन्द स्वभाव ही है। इसलिए वही 'देव' यों कहने योग्य है, ऐसा कहते हैं।

हे मुने, दिक्कृत, कालकृत आदि परिच्छेदों से शून्य, समस्त घटादि कार्यों का प्रकाश करनेवाला, निर्मल चैतन्यमात्रस्वरूप परब्रह्म ही देव कहा जाता है ॥१२॥ समस्त कल्पनाओं से वर्जित, सकल भावपदार्थों के भीतर रहनेवाली, निखिल पदार्थों में सत्तास्फूर्ति प्रदान करनेवाली तथा अखिल पदार्थों की सत्ता का अपहरण करनेवाली जो संवित् देवी है, वही देव है ॥१३॥ हे ब्रह्मन्, सत् और असत् के (भाव–अभाव, वर्तमान और उससे अन्य काल, मूर्त–अमूर्त, कार्य–कारण अथवा व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक पदार्थों के) मध्यभूत (अन्तरालवर्ती साक्षिचिन्मात्ररूप अथवा अधिष्ठानरूप होने से मध्यभूत) वह ब्रह्मचैतन्य ही देव कहा जाता है। वही सूर्य, चन्द्र, अग्नि, करण

एवं ज्योतियों की अपेक्षा बढ़े-चढ़े आत्मारूप सर्वावभासक रूपवाले प्रकाश से युक्त होता हुआ 'ॐ' पद से श्रुतियों में विराट आदि पादत्रयात्मक सम्पूर्ण प्रपंच के प्रविलापन द्वारा 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा विज्ञेयः' यों व्यवहृत हुआ है ॥१४॥ त्रिकाल अबाधित सर्वानुगत सत्त्व-स्वभाव से उसने सर्वत्र समरूपता प्राप्त की है, वह महाचैतन्य (प्रकाशकों का भी प्रकाशक) यों कहा जाता है और वही सबसे ऊँचा प्रयोजन है, यों श्रुतियों में प्रतिपादित है ॥१५॥ लताओं के अन्दर स्थित रस की नाईं वह सर्वात्मरूप देव व्यवहारकाल में सर्वत्र अनुगत होने के कारण सत्तासामान्य स्थित है। और सर्वबाधकाल में भी महासत्तारूप से स्थित है ॥१६॥

सभी देवता आदि की मुख्य आत्मा होने से वही मुख्य देव है, यों कहते हैं।

हे पापशून्य मुने, अरुन्धती का जो चैतन्यस्वरूप है, तुम्हारा जो चैतन्यतत्त्व है, पार्वतीजी का जो चैतन्यस्वरूप है, उनके गणों में जो चैतन्यात्मता है, जो मुझमें यह चैतन्यस्वरूप है और जो तीनों जगत में चैतन्यस्वरूप विराजमान है, उत्तममति तत्त्वज्ञ लोग उसे ही देवतारूप जानते हैं ॥१७,१८॥

विचार करने पर सम्पूर्ण देवताओं का सारभूत होने से वही देव है, यों कहते हैं।

ब्रह्मन्, हाथ, पैर आदि से युक्त जिस किसी अन्य देवता की कल्पना की जाती है, वह संविन्मात्रस्वरूपता का परित्याग कर दूसरी कौन-सी सारभूत वस्तु हो सकती है, इसे आप कहिए ॥१९॥ एकमात्र चिदात्मा ही इस दृश्य संसार का सार है, इसलिये सकल सारभूत वस्तुओं की भी साररूपता को प्राप्त हुआ वह परिपूर्ण देव ही मैं हूँ, उसीसे सब कुछ प्राप्त किया जाता है ॥२०॥ हे ब्रह्मन्, वह न तो दूर ही स्थित है और न किसी के लिए दुष्प्राप्य ही है। वह सदा इसी शरीर तथा सम्पूर्ण आकाश में सर्वत्र ही स्थित है ॥२१॥

वही सबका कर्ता और भोक्ता है, यों कहते हैं।

वही आत्मदेव क्रिया करता है, वही खाता है, वही पालन करता है, वही जाता है, वही श्वास लेता है, वही गाता है और वही अंग-अंग को जानता है ॥२२॥ हे मुनीश्वर, वही इन चित्र-विचित्र चेष्टाओं से युक्त, उसीके कारण चेतनावाली तथा उसीके स्वरूप से निबद्ध इस शरीररूपी नगरी में निवास करता है, इस विषय में प्रमाणतया यह श्रुति भी है – 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' ॥२३॥ शरीररूपी बड़े घर से युक्त उसके प्रसाद से संचरणशील तथा दुर्विज्ञेय अन्नमय आदि बहिःकोशों से समन्वित इस बुद्धिरूप गुहा में वही गुहेश्वर यानी आनन्दमयकोशरूप गुहा का ईश्वर होकर स्थित है ॥२४॥ जो मन को लेकर छः इन्द्रियों की प्रवृत्ति-सत्ता से रहित तथा निर्मल रूपवान है, उस आत्मदेव का उपदेशादि व्यवहार के लिए 'चित्' यह काल्पनिक नाम पड़ा है ॥२५॥ वही यह परमात्मा चिद्रूप, सूक्ष्म, सर्वव्यापी और मायारहित है। वही भास्य के आरोप-काल में इस भास्वर सांसारिक आभास का मानों निर्माण करता है और भास्य के अपवाद-काल में निर्माण नहीं भी करता है ॥२६॥ हे प्राज्ञ, वह चिति अत्यन्त निर्मल है और वह इन जागतिक क्रियाओं को जगत के लिए उस प्रकार शोभित करती है, जिस प्रकार वसन्त ऋतु रस से लता को शोभित करती है ॥२७॥ चैतन्य के जो सुन्दर चमत्कार (आरोप्य में सत्तास्फूर्तिप्रदान रूप) है, वे चैतन्य में मायाशबल द्वारा पहले के काम, कर्म और वासना के अनुसार जो कोई अवस्थित हैं, उनका आविर्भाव करते हैं। *(उन चित् चमत्कारों का ही कल्पना से नामोल्लेख करते*

हैं।) **इसलिए उन चमत्कारों में कोई तो आकाश नामवाले हैं, कोई जीव नामवाले हैं कोई चित्त नामवाले हैं, कोई कला नामवाले हैं, कोई देश नामवाले हैं, कोई क्रिया नामवाले हैं, कोई द्रव्य नामवाले हैं और कोई यास्कमुनि द्वारा उक्त 'जायते, अस्ति, वर्धते' आदि भावविकार तथा विभिन्न गुणों की जाति के वैचित्र्य और औचित्य से अन्यान्य चित्र–विचित्र नामवाले हैं, कोई प्रकाश नामवाले हैं, कोई पर्वत, अन्धकार आदि नामवाले हैं, कोई सूर्य, इन्द्र आदि नामवाले हैं तो कोई यक्ष नामवाले हैं ॥२८–३१॥**

तब क्या चैतन्य अपने भोग की इच्छा से जगत–सृष्टि करता है, इस प्रश्न पर 'नहीं' ऐसा उत्तर देते हैं।

जिस प्रकार अपने इच्छाशून्य स्वभाव से युक्त वसन्त ऋतु द्वारा अंकुर विस्तारित होता है, उसी प्रकार (🕭) **इच्छाशून्य स्वभाववाले इस चिदात्मा द्वारा यह जगत की शोभा विस्तारित होती है ॥३२॥ इन संपूर्ण त्रैलोक्यरूपी समुद्रों के तात्त्विक स्वरूपोंका विचार करने पर अकेली चिति ही सदा उनके वास्तविक स्वरूपभूत जल समूह के स्थान में स्थित है, न कि कोई दूसरी वस्तु ॥३३॥**

भोक्ता के अविवेक से उसमें मानसिक संकल्प से जनित भोक्ता आदि त्रिपुटी का प्रकाशकत्व ही भोक्तृता है, ऐसी कल्पना की जाती है, इस आशय से कहते हैं।

शरीररूपी कमल में भ्रमणशील मनरूप भ्रमर द्वारा संचित की गई संकल्परूपी मधुसत्ता का अपने में आरोपित समस्त पदार्थों के अवभासन में समर्थ चिति ही आस्वाद लेती है ॥३४॥

इसी तरह उसमें कर्तृत्व भी अपने में आरोपित कारकों के परिभ्रमणप्रकाश के निमित्तरूप ही है; इस आशय से कहते हैं।

देव, दानव और गन्धर्वों से युक्त तथा पर्वत, समुद्र आदि से समन्वित यह सम्पूर्ण जगत चैतन्य में स्थित होकर उस प्रकार घूमता रहता है, जिस प्रकार जल–भँवरी में जल ॥३५॥ बन्धन में डालनेवाले चित्तविकारात्मक (कर्तृत्व–भोक्तृत्वात्मक) आचार से सुन्दर एवं चपल व्यष्टि जीवों के संसरण–चक्रों से युक्त जीव समष्टि संसाररूप चक्र, जो भ्रम का आश्रय है, मायाशबल चक्र में घूमता रहता है ॥३६॥

(🕭) इस विषय में भगवान श्री गौडपादाचार्यजी ने कहा है : भोगार्थं सृष्टिरित्येके क्रीडार्थमिति चाऽपरे। देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ॥ कोई लोग भोगार्थ सृष्टि मानते हैं और कोई लोग क्रीडार्थ सृष्टि मानते हैं, परन्तु परब्रह्म परमात्मा की स्वभावभूतअविद्या का विलास ही यह सृष्टि है, क्योंकि आप्तकाम परमात्मा को किसी प्रकार की इच्छा हो ही नहीं सकती। यदि शंका हो कि 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' (परमात्मा ने इच्छा की कि प्रजारूप से मैं बहुत हो जाऊँ) इत्यादि श्रुति के साथ विरोध हो जायेगा, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः' इत्यादि अन्य श्रुतियों में इच्छा, प्रयत्न आदि निरपेक्ष परमात्मा के निःश्वासरूप ही ऋग्वेद आदि हैं, ऐसा कथन है। तथा 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादि समान तात्पर्यवाली दूसरी श्रुति की अनुकूलता के लिए 'सोऽकामयत' इस वचन का तात्पर्य एकमात्र अचेतनरूप प्रधान आदि में कर्तृत्व–शंका का निवारण करना ही है। इसीलिए भगवान बादरायण ने भी कहा है 'कामाच्च नानुमानापेक्षा' ('सोऽकामयत' इत्यादि श्रुतियों में ईश्वर ने इच्छा की, ऐसा कथन होने से सांख्यशास्त्रोक्त प्रधान आदि जगत के कारण नहीं हो सकते।)

कथित लक्षणवाले चिति के ही समस्त कर्तृत्व-भोक्तृत्व का विशेषरूप से वर्णन करते हैं।

चिति ने ही आयुधों से परिपूर्ण चतुर्भुजरूप से समस्त असुर समूह का उस प्रकार विनाश कर दिया था, जिस प्रकार वर्षाऋतु इन्द्रधनुष से युक्त मेघ-खण्डरूप से धूप का विनाश कर देती है ॥३७॥ हे ब्रह्मन्, चिति ने ही वृषभ और चन्द्रमा के चिन्हों से युक्त त्रिनेत्ररूप धारणकर गौरीरूपी कमलिनी के मुखपद्म में भ्रमररूपता प्राप्त की ॥३८॥ भगवान नारायण के नाभि-कमल में मानों भ्रमररूपता प्राप्तकर ध्यान में आसक्त मनवाली चिति वेदरूपी कमलिनी का महान सरोवरस्वरूप ब्रह्माजी की आकृति धारण करती है ॥३९॥ हे ब्रह्मन्, जिस प्रकार वृक्ष के अनेक पत्ते होते हैं अथवा जिस प्रकार सुवर्ण में चित्र-विचित्र केयूर आदि का निर्माण होता है, उसी प्रकार चिति के चित्र-विचित्र अनेक प्रकार के शरीर यहाँ दिखलाई पड़ते हैं ॥४०॥ समस्त देवताओं की सेना से चारों ओर वन्दित-चरणवाली इन्द्रलीला के द्वारा चिति ही त्रैलोक्य में वन्दनीयता धारण करती है ॥४१॥ त्रिलोकी के अन्दर आकाश में सूर्य आदि तेजोरूपता प्राप्तकर यह चैतन्य अपने स्वरूप में ही उस प्रकार उदित, चलित और विलीन होता है, जिस प्रकार समुद्र में जल ॥४२॥

साक्षात् भी चिति आनन्दप्रकाश में कारण है, यह कहते हैं।

चारों दिशाओं में प्रकाश का विस्तार कर रही चितिरूपी चन्द्रिका समस्त भूतसत्तारूपी कुमुदिनी का विकास करती है ॥४३॥ चितिरूपी दर्पण की महालक्ष्मी (स्वच्छ प्रकाशस्वरूप शोभा या वैष्णवी माया) अनुग्रहपूर्वक अपने ही भीतर उस प्रकार तीनों जगत का प्रतिबिम्ब धारण करती है, जिस प्रकार गर्भिणी अपने भीतर अपना गर्भ धारण करती है ॥४४॥ ब्रह्मन्, जिस प्रकार रसशक्ति जलसमूहरूप होकर समुद्र की स्वरूपसत्ता का सम्पादन करती है, उसी प्रकार चितिसत्ता भी चौदह भुवनों में अवस्थित भूतों के बड़े-बड़े समूहों की स्वरूपसत्ता का सम्पादन करती है ॥४५॥

अब उसी चिति का लतारूप से वर्णन करते हैं।

मायाकाशरूपी क्यारी में उत्पन्न हिरण्यगर्भ रूप से अंकुरित, घनीभूत संकल्परूपी पल्लवों से युक्त चित्र-विचित्र आलोकरूपी फूलों से सुशोभित और समस्त पदार्थों में सत्यस्वरूपतारूप फल देनेवाली यह चिति ही एक तरह की लता है ॥४६॥ चिद्रूपी यह लता अनेकविध जीवों के समूहरूप धूलि-पुंज में वासनारूपी जल से सिंचित है, उसके चारों ओर सविकल्प ज्ञानरूप छाल लगी है। चित्तवृत्तिरूप कलियों से वह भरी है। अतीतकालीन असंख्य त्रिजगत रूपी केसरों से उसका स्वरूप उज्ज्वल है। निरन्तर चंचल महाविलासों से जनित उल्लास ही उसका हास्य (विकास) है। समस्त ऋतुरूपी पोरों से वह अत्यन्त कठिन है, जड़ पर्वत आदि ही उसमें गुल्म हैं। जरायुज, अण्डज आदि चतुर्विध शरीररूपी ग्रन्थियों से वेष्टित तथा प्रवृत्तिरूपी प्रतानों से यह आमूलजूड आवृत है इस प्रकार की यह चितिरूपी लता विकसित होकर स्थित है, इसीके द्वारा-अत्यन्त कोमल, सत्असत्-आकृति, अतएव वास्तव में युक्तियों से सिद्ध न हो सकनेवाले, चित्र-विचित्र तथा चन्द्रकान्ति के सदृश अत्यन्त विस्पष्ट से दृश्यरूप अनेक कुसुमों का-सर्वत्र उत्पादन, अभिमान और विस्तार किया जाता है। इसीसे वस्तु का कथन और निर्माण भी होता है ॥४७-५१॥ इसी महाचैतन्य से सूर्य आदि सदा प्रकाशित होते हैं और उसी चिति के स्वरूपभूत सत्य, प्रकाश तथा शरीरादि जड़-पदार्थों के

अविवेक से जनित भोक्तृ–भोग्यतारूप विभ्रमों से दम्पती के शरीर, वास्तव में अमंगलरूप होने पर भी, एक दूसरे के प्रीतिभाजन होते हैं ॥५२॥ झंझावात के आवर्त में रहनेवाली, एकमात्र चिति से ही सिद्ध हुई और उसी की सत्ता के कारण दर्शनयोग्य आकार से युक्त हुई जगत्समूहरूपी धूलिरेखा चित् से व्यतिरिक्त–सी होकर नाचती रहती है ॥५३॥ त्रैलोक्य के प्रकाशन के लिए दीपक की शिखारूप यह चिति ही इस समस्त जगत के कार्यों को उस तरह भलीभाँति प्रकाशित करती है, जिस तरह प्रसिद्ध दीपक रूपवान द्रव्य को प्रकाशित करता है ॥५४॥

जगत का प्रकाश एकमात्र चिति के ही द्वारा होता है, इसका उपपादन करते हैं।

निर्मल चितिरूपी चन्द्रबिम्ब में खरगोश की नाईं सम्बन्ध प्राप्त कर यह जगत में अवस्थित पदार्थ–शोभा सर्वत्र दिखाई पड़ती है ॥५५॥ चितिरूपी अमृत के सिंचन से यह पदार्थ–समूहों की पंक्ति ही उस प्रकार रूप और फल धारण करती है, जिस प्रकार वृष्टि से सिंचित उत्तम लता फल धारण करती है ॥५६॥

शंका हो कि यदि चिति ही अमृत की नाईं पदार्थ–समूहों के चारों ओर व्याप्त होकर स्फुरित होती है तो उनमें जड़ता नहीं होगी, क्योंकि चारों ओर रस से आर्द्र होने पर शुष्कता की प्रसक्ति हो ही नहीं सकती ? तो इस पर कहते हैं।

चिति की छाया से ही इन सम्पूर्ण शरीरों के अन्दर जड़ता का ऐसे भलीभाँति उदय होता है, जैसे समस्त घरों के अन्दर प्रकाश–छाया से अन्धकार का भली प्रकार उदय होता है। *(तात्पर्य यह है कि पंचीकरण–प्रक्रिया के अनुसार यद्यपि घर भी चारों ओर तेज से व्याप्त है, क्योंकि उसमें तेज का भी संमिश्रण हुआ है, इससे उसके भीतर अन्धकार की स्थिति हो नहीं सकती; तथापि तेज की जो प्रकाशरूपता है उसके पंचीकरण में संमिलित अन्यान्य पृथ्वी आदि भूतखण्डों से तिरस्कृत होने के कारण बाह्य प्रदेश में अभिव्यक्त सूर्य–प्रकाश की व्याप्ति–दशा में तज्जनित छाया से भीतर उसका जिस प्रकार आविर्भाव होता है, उसी प्रकार घटादि के अधिष्ठानभूत चैतन्य की प्रकाशरूपता के भी अध्यस्त पदार्थ से अभिभूत होने के कारण बाह्य प्रदेश चाक्षुषवृत्ति आदि के द्वारा अभिव्यक्त हुई चिद्व्याप्ति के स्फुरण–काल में उससे जनित छाया से जड़ता का भीतर उदय होता है)* ॥५७॥

इस परिस्थिति में जैसे सूर्य आदि के प्रकाश से ही घर, महल आदि चित्रविचित्र आकृतियों की सिद्धि होती है, वैसे ही देह के अन्दर अभिव्यक्त प्रमातृचैतन्य के चमत्कार से ही गाय, घोड़ा, घड़ा, कपड़ा आदि चित्र–विचित्र आकृतियों की सिद्धि होती है, दूसरे प्रकार से नहीं, ऐसा कहते हैं।

यदि देह में ये चैतन्य के चमत्कार न रहेंगे तो तीनों लोकों में रहनेवाले साकार पदार्थ छाया और जड़ता का त्यागकर दूसरे किसी भी प्रकार की आकृति का स्पर्श न करेंगे, क्योंकि छाया और जड़ता का परित्यागकर आकृतिसाधक दूसरा कोई पदार्थ नहीं है, यह भाव है ॥५८॥ जिसमें चैतन्याकाश का प्रकाश विद्यमान है, ऐसे इस देहरूपी घर में संकल्प रूपी लड़कों को धारण करनेवाली, विहित एवं निषिद्ध क्रियाओं में प्रवृत्तिरूप चंचल कुलवधू परिस्फुरित होती है ॥५९॥

कथित अर्थ का अनुभव कराने के लिए व्यतिरेकी दृष्टान्त से प्रसिद्ध उदाहरणों में समर्थन करते हैं।

हे मुने, किसी व्यक्तिविशेष की जीभ के अग्रभाग में व्याप्त हो रहा भी रस चित्प्रकाश के बिना किसी प्रकार किसी समय कहीं पर अनुभव में आता हो, ऐसा क्या देखा गया है ? ॥६०॥ हे भद्र, सुनो ! यद्यपि इस देहरूपी वृक्ष में हाथ, पैर आदि अपने अंग ही शाखाएँ हैं और केशों का समूह ही सुन्दर लताओं का समूह है; तथापि यह वृक्ष क्या पर्याप्तरूप से चैतन्य सम्बन्ध के बिना किसी तरह शोभित हो सकता है ? ॥६१॥

ऐसी स्थिति में जैसे जल के अधीन तरंग आदि समस्त भावपदार्थ परमार्थतः जलस्वरूप ही होते हैं, वैसे ही चैतन्य के अधीन जन्म, वृद्धि आदि समस्त भावस्वरूप जगत परमार्थतः चैतन्यमात्रस्वरूप ही है, यों उपसंहार करते हैं।

यह चिति बढ़ती है, लुढ़कती है और भक्षण करती है। चराचर पदार्थों का निर्माण करनेवाली भी यह चिति ही है, दूसरा नहीं। इसलिए एकमात्र चितिस्वरूप ही यह उत्पन्न जगत है ॥६२॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, चन्द्रमा की किरणों के सदृश निर्मलवाणी से त्रिनेत्र श्रीशिवजी ने जब वैसा कहा, तब फिर मैंने भी चन्द्रमा की किरणों के सदृश निर्मल वाणी से उनसे पूछा ॥६३॥ महाराज, यदि अकेली चिति ही सर्वत्र व्याप्त है तो तत्स्वरूप यह देह निद्रा, मुर्च्छा, मरण आदि अवस्थाओं एवं अन्यान्य दृश्यों में मृत्तिकाप्रचुर भूतविकाररूप चक्षु आदि इन्द्रियों से शून्य दीवार की नाईं चमकती नहीं है, यह क्यों ? ॥६४॥

उसीका पुनः स्पष्टीकरण करते हैं।

ये देह आदि दृश्यभाव से पहले और जीवनदशा में चेतन होकर तदनन्तर दृश्य एवं मरण आदि दशा में चैतन्य से हीन रहते हैं यह प्रत्यक्ष अनुभवरूप कल्पना लोक में किस तरह होती है ? क्योंकि चैतन्य के अविनाशिस्वभाव और अपरिणामी होने से उसमें किसी तरह की जड़ता हो ही नहीं सकती ॥६५॥

'यथा तच्चेतनस्यैव जीवादित्वं तदुच्यताम्' इस पूर्व प्रश्न का उत्तर बिना सुने ही वसिष्ठजी ने यह एक और दूसरा प्रश्न किया है, तो भी एक साथ दोनों प्रश्नों का उत्तर देने की इच्छावाले भगवान श्री शंकर कहते हैं।

ईश्वर ने कहा : हे ब्रह्मन्, जो आपने प्रश्न किया है, वह सब कुछ (पहले किये गये प्रश्नों के उत्तरों से युक्त सब कुछ) मैं आपसे कहता हूँ; इसे सुनिए। हे तत्त्वज्ञों में श्रेष्ठ, आपने यह एक बहुत बड़ा प्रश्न किया है ॥६६॥

कहे जानेवाले उपोद्घात से पहले शरीर में बिम्ब और प्रतिबिम्ब के भेद से दो प्रकार का चैतन्य बतलाते हैं।

हे ब्रह्मन्, वस्तुतः इस शरीर में दो प्रकार की सर्वभूतमयात्मिका चिति है, एक तो व्यष्टि-समष्टि-बुद्धि में आसक्त स्वभाव रखनेवाली (विज्ञानमय शब्द से कही जानेवाली कर्ताभोक्तास्वभाव से युक्त) है और दूसरी अशेष विकल्पों से शून्य कूटस्थ ॥६७॥

जिस प्रकार चिति का चलस्वभाव उपाधि-प्रयुक्त है, उसी प्रकार उसका भेद भी उपाधि प्रयुक्त ही है, इस आशय से कहते हैं।

भद्र, जैसे सुन्दर शीलवाली स्त्री स्वप्न में दूसरे उपपति से युक्त होकर दुःखस्वभाववाली होती हुई

अन्य–सी प्रतीत होती है, वैसे ही वह चिति ही 'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इत्यादि श्रुतिप्रदर्शित संकल्प से अपनी आत्मा को ही जीवात्मा समझती हुई भीतर स्वयं अन्य–सी होकर अवस्थित है ॥६८॥ जिस प्रकार इस संसार में वही (सुशील ही) पुरुष क्रोधवश क्षणभर में राक्षस–सा क्रूर हो जाता है, वैसे ही यह चिति भी संकल्प–विकल्पात्मक चिह्नों से युक्त होकर दूसरे स्वरूपवाली हो जाती है ॥६९॥ हे ब्रह्मन्, उपर्युक्त रीति से विरुद्ध कल्पनाओं से भावित अपने स्वरूप से च्युत हुई चिति क्रमशः जड़तादात्म्य की भावनाकर अपनी ही कल्पना से सविकल्प बुद्धि की विषय हो जाती है ॥७०॥ स्वयं चिति ही आकाशसहित सूक्ष्म भूतों की स्वरूपता; शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धात्मक भोग्यों की बीजरूप चेत्यता यानी मायाउपलक्षित चैतन्य की विषयता प्राप्त करती है और उसके बाद समष्टि–प्राणरूपता प्राप्त करती है ॥७१॥

उस प्रकार की चिति में पंचीकरण प्रयुक्त स्थूलभूतात्मक समष्टि–व्यष्टि–स्थूल–देहरूपता, उसके अन्दर रहनेवाले लिंगदेह में जीवरूपता तथा उसमें बुद्ध्यात्मरूपता का अवलोकन कराते हैं।

पंचीकरण द्वारा सूक्ष्म भूतों से वेष्टित होती हुई क्रमशः यह चिति सातों द्वीप तथा चौहद लोकरूप देश विभाग एवं निमेष से लेकर दो परार्धपर्यन्त कालविभाग से युक्त हो जाती है। तदनन्तर वह प्राणधारण से जीवरूप होती हुई तत्काल ही बुद्धि, अहंकार, मन और चित्तस्वरूप हो जाती है ॥७२॥ मनरूपता को प्राप्त हुई चिति उस प्रकार संसार का अवलम्बन कर लेती है, जिस प्रकार 'मैं चण्डाल हूँ' इस भावना से ब्राह्मण चण्डालरूपता का अवलम्बन करता है ॥७३॥ ब्रह्मचिति ही अज्ञानयुक्त स्वरूप की प्राप्ति कर देह और जीव के आकार से संकल्पित होकर अज्ञानप्रयुक्त जड़तावश असर्वज्ञ हो जाती है। तदनन्तर बार–बार भोगों के संकल्पों से निरन्तर संसारभागिनी होती है ॥७४॥ अनन्त संकल्पों से ओतप्रोत तथा जड़ता के संकल्प से स्थूल हुई यह चिति ही जड़ता से जीवनरूपता का भ्रम उस प्रकार प्राप्त करती है, जिस प्रकार जल पाषाणरूपता (बरफरूपता) प्राप्त करता है ॥७५॥ हे मुने, तदनन्तर वही चित्त, मन, मोह, माया इन संज्ञाओं का निर्माणकर निपुणता से जड़ता का आश्रय कर संसार में उत्पन्न होती है ॥७६॥ तदनन्तर मोहरूपी मन्दता को प्राप्त हुई, तृष्णारूपी हथकड़ी पड़ने के कारण पीड़ित हुई, काम, क्रोध एवं भय से ग्रस्त, वैभव और दरिद्रतारूपी गर्तों में स्वयं गिरी हुई, अपने असीम विस्तृत स्वरूप का परित्याग कर देनेवाली, स्त्री, पुत्र आदि के वियोगों में शोक आदि विकारों से ग्रस्त हुई, दुःखरूपी दावानल से निरन्तर सन्तप्त हुई, शोक और अशुभों से कृपण हुई, 'प्रत्यक्ष दुःख, मोह आदि स्वभाववाली ही मैं हूँ। – इस शून्यात्मक भ्रम से व्याकुल हुई, एकमात्र देह में आस्था रखनेवाली महान दीनता को प्राप्त हुई, मोहरूपी महाकीचड़ में जीर्ण जंगली हथिनी की नाईं फँसी हुई, वैभव और दरिद्रतारूपी लता–हिंडोलों से चारों ओर चंचल शरीरवाली, निःसार और असीम संसार के विकारों में व्यवहार करनेवाली, अनेक प्रकार के तापों से सन्तप्त हृदयवाली, राग और क्रोध से निरन्तर व्याप्त हुई, अपने झुण्ड से बिछुड़ी हुई हिरनी के सदृश परवश हुई, वैभवों या भूतमात्राओं के आविर्भावकाल में हृष्ट या अभिव्यक्त हुई और उनके तिरोभाव में दीनता या तिरोभाव को प्राप्त हुई, अपने संकल्प से प्राप्त हुई अन्य विभ्रमदृष्टियों में भयभीत होकर उस तरह भाग जाती है जिस तरह वेतालों के बीच से बालिका भाग जाती है ॥७७–८३॥ जिस प्रकार ऊँटनी काँटे और नीम के पत्ते खाते समय अपनी

वासना से भावित स्वल्प मधुर रस की अभिलाषा करती है, उसी प्रकार दुःखमय विषयों के रहते चिति उनसे सुख की अभिलाषा करती है। बीच ही में भ्रष्ट होकर एक दोष से दूसरा दोष प्राप्तकर नीचे की ओर गिरती जाती है। अथवा जैसे ऊँटनी विषम ऊँचे तट पर उगे हुए वृक्ष के अग्रभाग में सम्बद्ध मधु-पटल में अवस्थित मधु-बिन्दु चाटने की इच्छा से वृक्ष पर चढ़ने की लालसा करती हुई किये गये एक साथ अगले पैरों के उन्नयन से ही अपने विशाल देहभार के कारण बीच में ही फिसलकर नीचे की ओर विषम प्रदेश में गिरती जाती है, वैसे ही यह चिति भी उन्नत विषम विषयवृक्ष के ऊपर सुखरूपी मधु-बिन्दु चाटने की अभिलाषा से चढ़ने की इच्छा कर रही बीच में ही फिसलकर नीचे की ओर गिरती जाती है ॥८४॥ अनन्तर एक संकट से दूसरे संकट को प्राप्त हुई, एक दुःख से दूसरे दुःख में गिरी हुई एक विपत्ति से दूसरी विपत्ति में पहुँची हुई चिति उत्तरोत्तर अत्यन्त विषम स्थिति प्राप्त करती है ॥८५॥ अनेक अनर्थ-समूहों से युक्त चेष्टाओं से परवश हृदयवाली वह चिति नरक आदि भूमियों में एक कष्ट से दूसरे कष्ट को प्राप्त होकर चारों ओर के तापों से निरन्तर सन्तप्त हुआ करती है ॥८६॥ तदनन्तर क्रमशः मनुष्य शरीर का लाभ होने पर भी बाल्यकाल से लेकर व्यवहार निपुणता के अभ्यास से प्राप्त कौशल द्वारा काव्य, नाटक, तर्क आदि के अभ्यास में तत्पर हुई यह चिति अपने बन्धन के (धन, घर, खेत, परिवार आदि के) निर्माण में अपेक्षित पराक्रम के ही पद को प्राप्त होती है, मोक्षोपयोगी विवेक-पद को प्राप्त नहीं होती ॥८७॥ उस क्रम से अन्तिम अवस्था प्राप्तकर प्राण-विनाशदशा को प्राप्त हुई यह चिति चारों ओर भयभीत होकर उस प्रकार शंकित हो जाती है, जिस प्रकार जल क्षीण होने से भूमि में लोटपोट होने में तत्पर मछली शंकित हो जाती है ॥८८॥

संक्षेप से उक्त अर्थ का विस्तार करते हैं।

बाल्यकाल में चिति के समस्त विषय पराधीन रहते हैं, यौवन काल में धनादि-चिन्ता से उसका विवेक आवृत हो जाता है। वृद्धावस्था में भी अनेकविध दुःखों से पीड़ित रहती है और समय आने पर अपने कर्मों से वशीकृत हुई मर जाती है ॥८९॥

कर्मगति का विस्तार करते हैं।

कर्मगतिवश कभी स्वर्ग-नगर में उत्पन्न होती है, कभी पाताल कुहर में नागिन हो जाती है, कभी दैत्यों के विवरों में आसुरी बन जाती है तो कभी इस पृथ्वी में मनुष्य-स्त्री बन जाती है ॥९०॥ राक्षसों के आश्रय-स्थान में राक्षसी बन जाती है, अरण्य के कोटर में वानरी बन जाती है, पर्वतराजों के शिखर में सिंहिनी बन जाती है तो कभी कर्मवश हिमालय आदि कुलपर्वतों पर किन्नरी बन जाती है ॥९१॥ कभी अपनी कर्मगति से सुमेरु पर्वत पर विद्याधरी बन जाती है, अरण्य बिलों में सर्पिणी बन जाती है, वृक्ष पर लता बन जाती है, घोंसले में चिड़िया बन जाती है, शिखर पर गुल्मिनी बन जाती है तो कभी वन में हिरनी बन जाती है ॥९२॥ चिति ही नारायण होकर समुद्र में नींद लेती है, ब्रह्मा होकर ब्रह्मपुर में ध्यान करती है, हिमालय पर्वत पर आधे अंग में कान्ता से संवलित महादेवजी का रूप धारणकर निवास करती है और स्वर्ग में सुरश्रेष्ठ हरि का रूप धारणकर विराजती है (卐) ॥९३॥ भद्र, संवित् ही सूर्य

(卐) 'पदमेव हि तन्नित्यमनित्याः पदिनः स्मृताः' (ब्रह्मपद ही नित्य है और दूसरे पदधारी अनित्य हैं) इत्यादि शिवपुराण के वचनानुरोध से नारायण आदि का भी जीवगति में ही निरूपण इस

बनकर दिवस का निर्माण करती है, मेघ बनकर जल बरसाती है, वायु बनकर वायुव्यापार करती है एवं पर्वत और महोदधि बनकर पर्वत और महोदधि का व्यापार करती है ॥९४॥ संवित् ही ऋतुघटित संवत्सर का चक्र घुमाती है, सहसा युग, मन्वन्तर आदि काल का निर्माण करती है एवं दिन और रात्रिरूप से क्रमशः प्रकाश एवं अन्धकाररूप बन जाती है ॥९५॥ चिति ही कहीं यानी वृक्ष आदि में बीजरूप तथा उसकी अंकुरता में हेतु रसात्मक उल्लास से परिपूर्ण हो जाती है, कहीं पाषारूपिणी होकर निश्चल पत्थर बन जाती है, कहीं पर जलपूर्ण नदी हो जाती है और कहीं पर कुमुदरूप से फैल जाती है ॥९६॥ कहीं पर फलपंक्तियों के पाकों से उपलक्षित रहती है,कहीं काठ, अनल आदि से उपलक्षित रहती है, कहीं पर शीततावश हिम के सदृश आचरण कर रहे जल से युक्त रहती है और कहीं आकाश और वायु बनकर रहती है और कहीं अन्यरूप बनकर रहती है ॥९७॥ चिति ही कहीं उज्ज्वलित आकारवाली, कहीं कुश–कण्टक आदि से दुर्गम, कहीं शिलारूप, कहीं नीलरूप, कहीं हरितरूप, कहीं अग्निरूप और कहीं महीरूप बन जाती है ॥९८॥ सबकी आत्मा, सर्वत्र एवं माया के योग से सर्वस्वरूप होने के कारण चिति उस तरह जगत–रूप ही हो जाती है। परमार्थ–दशा में तो वह परा चिति आकाश से भी अत्यन्त निर्मल एवं व्यापक ही है ॥९९॥ चिति जब–जब जहाँ पर जिस भाव से जिस तरह अपनी आत्मा का विवर्त द्वारा उपचय करती है, तब–तब वहीं पर उसी भाव का अनुभव उस तरह ऐसे करती है जैसे जल स्पन्द से तरंग आदि रूपता का अनुभव करता है ॥१००॥

उन्हीं भावों का फिर विस्तारपूर्वक निरूपण करते हैं।

यह चिति हंसी, क्रौंची, बगुली,काकी, सारसी, घोड़ी, वृकी, ऊँचे पैर और चोंचवाली भिन्न जाति की बगुली, अत्यन्त धवल तूल कण्ठ जाति की बलाका, हिरनी, वानरी, किन्नरी, कुत्ती, वटिका, पिंगली, मैना, मक्खी, भौंरी, सुग्गी, धी, श्री, लज्जा, प्रीति, रति, माया, रात्रि और शशी इन तथा इनसे भिन्न अन्यान्य योनियों में यानी देह–विशेषों में इस विवर्तमान संसार में उस प्रकार घूमती रहती है, जिस प्रकार जलावर्त में तिनका ॥१०१–१०३॥ अपने शब्द से गदही की तरह यह चिति अपने ही संकल्प से डरती है इसके सदृश दूसरी कोई भी मुग्धा, चंचला एवं अर्बला बाला नहीं है ॥१०४॥ हे महामुने, यह तुमसे उस जीवशक्ति का निरूपण किया, जो बेचारी प्राकृत आचारों से पराधीन एवं पशुओं के सदृश अनियन्त्रित धर्मवाली है ॥१०५॥ मुनिवर, असीम दुःखपूर्ण विभ्रमों का स्वयं आश्रय करनेवाली 'कर्मात्मा' (कर्मानुसारस्वभावा) इस नाम को प्राप्त हुई इस परमात्मा की यह शक्ति सचमुच शोचनीय है ॥१०६॥ स्वभिन्न सत्ता–स्फूर्ति से रहित, अविद्या से अनियत, विनाशी और स्वाभाविक मलरूप असत् के ऊपर ही इसने ऐसे आक्रमण किया है, जैसे तण्डुल (चावल) ने तुष (भूसी) के ऊपर ॥१०७॥ असीम विभवों से भ्रष्ट हुई तथा दुर्भाग्यरूप परिताप से परितप्त हुई यह चिति जीवरूपता प्राप्त कर ऐसे शोक विमग्न हो जाती है, जैसे पतिविहीना नायिका ॥१०८॥ भद्र, जड़गति अविद्या की सामर्थ्य तो देखो ! जिससे कि पूर्णब्रह्मस्वभाव होती हुई भी शरीरावच्छिन्न चिति अपनी निरतिशयानन्द

श्लोक से किया गया है। अथवा नारायण आदि सारूप्य मुक्त जीवों के विषय में, इसकी योजना करनी चाहिए। अथवा यहाँ से लेकर जीवगतियों का निरूपण नहीं किया गया है, किन्तु चिति सब कुछ व्यापार करती है, यह कहा गया है इसलिए कोई दोष नहीं है।

पूर्णस्वभावता का स्मरण किये बिना मैं शरीरमात्र परिच्छिन्न हूँ, थोड़ा पुण्य क्षीण होने पर मैं न्यून हो गई, यों समझकर अपने पतन के लिए उस प्रकार नीचे की ओर गिरती जाती है, जिस प्रकार मेघ, समुद्र आदि से उपलक्षित समस्त जगत को अपने उदर में समा लेने की सामर्थ्य से युक्त होते हुए भी रहट की घरियों में प्रविष्ट आकाश अपने उक्त स्वभाव का स्मरण किये बिना घटीमात्र से परिच्छिन्न तथा अल्प जल गिरने से मैं खाली हो गया, यों मानकर बार-बार अपने पतन के लिए नीचे की ओर गिरता जाता है, यह बड़ा कष्ट है ॥१०९॥

तीसवाँ सर्ग समाप्त

इकतीसवाँ सर्ग

जिससे मन, प्राण और इन्द्रियों के द्वारा बाहर और भीतर प्रकाश होता है, उस शुद्ध चिति का जीवरूपता आदि के निषेध से प्रदर्शन।

ईश्वर ने कहा : जिस प्रकार स्वाप्निक मदिरा-मद से जनित मोह में गिरी हुई मुग्धा स्त्री सम्भ्रमकाल में 'मै दुःखी हूँ,' इस भावना से मिथ्या ही दुःख बटोरा करती है, उसी प्रकार अज्ञान-कीचड़ में फँसी हुई यह चिति भी अज्ञानकाल में 'मैं दुःखी हूँ, इस भावना से पूर्ववर्णितमिथ्या ही जीवजगद्भाव बटोरा करती है ॥१॥ जिस प्रकार विपरीत-मतियुक्त मुग्धा स्त्री मरी हुई न होने पर भी मैं मर गई, नष्ट न हुई भी मैं नष्ट हो गई, यों भावना करती हुई रोती रहती है, उसी प्रकार यह चिति भी मैं नष्ट हो गई, मैं मर गई, यों भावना करती हुई झूठमूठ रोती रहती है ॥२॥ विपरीत हुई बुद्धि कुम्हार के घूमते हुए चाक को भी जिस प्रकार बिना निमित्त के ही स्थिर देखती है, ठीक उसी प्रकार यह चिति भी अहन्ता के भ्रम से असत्य इस सम्पूर्ण संसार को बिना कारण ही सत्य देखती है ॥३॥ इस चिति के संसारानुभव में कारण चित्त ही है, लेकिन वह कारणरूप चित्त कोई पदार्थ ही नहीं है; क्योंकि वह चित् या उससे भिन्न अचित् दोनों में से कोई हो ही नहीं सकता। यदि अचित्-रूप मानेंगे, तो वह जगत के अन्तर्गत हो जाने से जगत्कल्पक ही नहीं हो सकता ॥४॥

चित्त की सत्ता सिद्ध न होने से ही उसके चेत्य (विषय) जगत की भी सत्ता सिद्ध नहीं है, यही कहते हैं।

इस प्रकार चित्तरूप कारण का अभाव सिद्ध होने से चेत्य का (जगद्रूप विषय का) भी अभाव सिद्ध ही है। इसलिए जिस चिति के द्वारा श्रमपूर्वक चित्त अनुभूत होता है, वह चिति चित्त और उसके अधीन चेत्य स्वरूप नहीं है, किन्तु शुद्धरूप ही है ॥५॥

चित्त के निषेध से ही चिति में चक्षु आदि इन्द्रियप्रयुक्त दृश्य, दर्शन और द्रष्टारूप त्रिपुटी का निषेध भी सिद्ध हो जाता है, यह कहते हैं।

जिस प्रकार पत्थर में तेल नहीं रहता, उसी प्रकार शुद्ध चिति में दृश्य, दर्शन और द्रष्टा का रूप नहीं रहता। जैसे चन्द्रमा में कालिमा (कालापन) नहीं रहती, वैसे ही चिति में कर्ता, कर्म और करण नहीं रहते ॥६॥ जिस प्रकार आकाश में नवीन अंकुर का अभाव है, उसी प्रकार चिति में प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण इन तीनों का अभाव है। जिस प्रकार नन्दनवन में खैर के वृक्ष का अभाव है, उसी प्रकार

चिति में चित्तवृत्ति, चेतन (चित्तवृत्ति के आश्रय) और चेत्य (उक्त वृत्ति के विषय) आदि का (📖) अभाव है ॥७॥ जैसे आकाश में पर्वतत्व नहीं है, वैसे ही चिति में अहन्ता, त्वन्ता और तत्ता दूसरी परोक्षवस्तुता) आदि (🔔) नहीं है। जैसे काजल में शंखत्व नहीं रहता, वैसे ही चिति मे स्वदेहत्व और अन्यदेहत्व नहीं रहते ॥८॥ जैसे परमाणु के अन्दर सुमेरु नहीं रहते, वैसे ही इसमें अनेक प्रकार के जीव तथा प्रत्येक शरीर में आत्मा के अभेदाध्यास भी नहीं रहते। इसमें शब्द और अर्थ (नाम और रूप) की कथा तो इस प्रकार नहीं है, जिस प्रकार महा ऊसर भूमि में लता की ॥९॥

'अथा आदेशो नेति नेति' इत्यादि सर्वदृश्यों के शास्त्रीय निषेध भी तत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्त ही हैं, क्योंकि चित्तत्त्व का साक्षात्कार होने पर तो प्रतियोगी की प्रसिद्धि न होने से उनका कभी संभव नहीं है, यही कहते हैं।

इस चिति में 'नेति नेति' इत्यादि निषेधपरक श्रुतियाँ ऐसे नहीं हैं, जैसे सूर्य–मण्डल में रात्रि। जिस प्रकार तुषार में उष्णता नहीं रहती, उसी प्रकार इसमें वस्तु से अतिरिक्त वस्तुत्व और अवस्तुत्वरूप धर्म भी नहीं रहते ॥१०॥ इसमें शून्यता और अशून्यता इस प्रकार नहीं है, जिस प्रकार शिला के गर्भ में वृक्ष। आकाश में अनाकाशता की नाईं भिन्न–भिन्न वादियों के द्वारा कल्पित प्रसिद्ध महती शून्यता और अशून्यता विचार करने पर जैसे नहीं रहती केवल केवलीभावलक्षण स्वरूपस्वच्छता ही अवशेष रहती है, न कि अणुमात्र भी उससे कुछ भिन्न, वैसे ही इस चिति में भी शून्यता और अशून्यता है ॥११॥

तब तो सम्पूर्ण अनर्थों का मूलकारण हिरण्यगर्भात्मक समष्टि–चित्त ही इस चिति का दोष है, क्योंकि एकमात्र उसी कारण से चतुर्विध शरीरों में उत्पन्न हुई यह चिति इन सब सांसारिक दुःखों को प्राप्त करती है। उनका हम लोग कभी उच्छेद नहीं कर सकते ? इस शंका पर कहते हैं।

चिति के दोषभूत हिरण्यगर्भ के चित्तरूप निमित्त से उत्पन्न हुई यह चिति इन दुःखों को प्राप्त करती है, ऐसी बात नहीं है, किन्तु हिरण्यगर्भ द्वारा उत्पन्न किये गये जो देह, इन्द्रिय और उनके विषय हैं, उन सबमें 'अहम्', 'मम' तथा 'ये सब अर्थ सत्य हैं' इत्यादि केवल भावनामात्र से ही यह संसाररूप अनर्थ उपस्थित हुआ है ॥१२॥

इसीलिए तत्त्वज्ञ पुरुष में तथोक्त भावना के अभाव से ही सम्पूर्ण अनर्थों की शान्ति हो जाती है, इसे कहते हैं।

तत्त्वज्ञ पुरुष में तथोक्त 'अहम्', 'मम' तथा 'ये सांसारिक पदार्थ सत्य हैं' इस प्रकार की भावना के अभाव से ही यह सम्पूर्ण अनर्थ अपने–आप संशान्त हो जाता है और तत्त्वज्ञ पुरुष में भी तथोक्त सारी भावनाओं के अभाव के बिना सम्पूर्ण दुःख प्राप्त होते रहते हैं ॥१३॥

यही कारण है कि तृण की नाईं तिरस्कार के योग्य भी यह त्रैलोक्यपदार्थ केवल भावना के यानी वासना के बल से अज्ञानियों के लिए दुःसाध्य होकर स्थित है, इसे कहते हैं।

(📖) आदिपद से मननकर्ता, मति और मति के विषय; बोद्धा, बोध और बोध के विषय तथा अहंकर्ता (अहमाभिमानकर्ता), अहंकार और अहंकार के विषयों का ग्रहण किया गया है।

(🔔) यहाँ पर आदि पद से स्वदेहत्व आदि धर्मों के आश्रय, उनके व्याप्य धर्म एवं उनके सम्बन्धों का ग्रहण किया गया है।

पूर्वोक्त प्रकार की तव-ममात्मक जो भावना है, वही इस दुःखादि की प्रसक्ति में कारण है, उस भावना में पुरुष की स्वतन्त्रता है यानी वह भावना कर सकता है और नहीं भी कर सकता है। ऐसी स्थिति में जैसे तृण का परित्याग दुःसाध्य नहीं है, वैसे ही त्रैलोक्य का परित्याग भी दुःसाध्य नहीं है ॥१४॥ तथोक्त भावना से स्थित हुआ यह संसाररूपी अनर्थ स्वाधीन होता हुआ भी दुःसाध्य है। *(यदि शंका हो कि अतिसुलभ भावनात्याग स्वयं ही सिद्ध क्यों नहीं होता ? तो इस पर कहते हैं।)* जो-जो कार्य हैं उनकी पुरुष अपने प्रयत्न से यदि सिद्धि नहीं करता, तो वे कहाँ कैसे प्राप्त हो सकते हैं ? साधारण तृण भी बिना हाथ फैलाये प्राप्त नहीं किया जा सकता ॥१५॥

केवल भावनामात्र का त्याग कर देने पर परम पुरुषार्थस्वरूप परमार्थ चिति सर्वत्र अनायास ही सुलभ है, इसी आशय से उस चिति का वर्णन करते हैं।

निर्विकल्प, अद्वितीय, परब्रह्मस्वरूपिणी सर्वव्यापक होती हुई सकल तेजों को भी प्रकाशित करनेवाली, स्वच्छ और अति उत्कृष्ट जो यह चिति है, वह पुरुष की केवल एक भावना से प्राप्तव्य है ॥१६॥ वह चिति सम्पूर्ण पदार्थों का अवभास करनेवाली सर्वव्यापक, नित्य, निर्मल, नित्योदित, मन से रहित, सकल विकारों से वर्जित और निरंजन है। एक वही घट और पट में, वट और दीवार में, शकट और वानर में, गदहे और असुर में, सागर और भूत में, तथा नर और नाग में सर्वत्र संस्थित है ॥१७,१८॥ जिस प्रकार दीपक पदार्थों के प्रकाशन के लिए कोई दूसरी क्रिया नहीं करता, केवल अपनी स्वरूपस्थिति से ही प्रकाशन में समर्थ हो जाता है, उसी प्रकार यह चिति भी साक्षी की नाईं केवल चुपचाप अपने स्वरूप में बैठी रहती है, चलने-फिरने और हिलने-डोलने में समर्थ रहती हुई भी कहीं पर हिलने-डोलने या चलने-फिरने का नाम तक नहीं लेती ॥१९॥ ऐसी सामर्थ्य रखती हुई भी वह चिति केवल देहादिभाव से वास्तव में मलिन न होती हुई भी मलिन हो गई है यानी नानाविध रागद्वेषादि दोषों से संयुक्त हो गई है। इसमें यद्यपि किसी प्रकार का विकल्प है नहीं, फिर भी विविध विकल्पों से युक्त हो गई है। अजड़ होती हुई भी जड़-सी भासती है एवं सर्वगामिनी होती हुई भी असर्वगामिनी ॥२०॥

अब सर्वगामिनी और अत्यंत सूक्ष्म चिति का एक-एक शरीर के अन्दर नख से लेकर सिर तक जो विशेषव्याप्तिलक्षण संचय है, उसमें युक्ति बतलाते हैं।

विशेष प्रकार का अभिमान आदि कोई विकल्प न छूनेवाली, सर्वगामिनी एवं अत्यन्त सूक्ष्मस्वरूप परा चिति प्राणप्रधान लिंग शरीर में प्रतिबिम्बभाव से अनुगत होती हुई हाथ, पैर आदि जो अंग हैं एवं जो हृदय आदि स्थान तथा बहत्तर हजार नाड़ियों के (शिराओं के) भेद हैं, उन सबको व्याप्तकर यानी उनमें प्रवेश कर सर्वत्र पहुँची हुई अपनी संवित् का अपने उतने ही शरीर में मानों जबरदस्ती खींचकर उस प्रकार उपचय करती है, जिस प्रकार लम्बा और सूक्ष्म रेशम आदि तन्तु टेकुआ आदि के ऊपर वेष्टन करने पर अत्यन्त लम्बा होने पर भी अपने को उतने ही स्थान में उपसंहृत कर बेर आदि के आकार के सदृश उपचय प्राप्त करता है ॥२१॥ भद्र, इसी उपचय के कारण जाग्रत पुरुष की चिति बाह्यरूप आदि विषयों के अवलोकन एवं अन्दर मानसिक व्यापारों से वेष्टित होती हुई बोधपक्षपातिनी हो जाती है और निद्रा ले रहे पुरुष की चिति तो स्वप्न में वासनामय रूप आदि के अवलोकन एवं मनोव्यापारों से वेष्टित होती हुई दो पक्षों का यानी भीतर बोध और बाहर अबोध इन दो पक्षों का

अवलम्बन करती है। इसी प्रकार सुषुप्ति में अज्ञानमात्र की साक्षिणी एवं 'मैंने कुछ भी नहीं जाना' इस प्रकार उठे हुए पुरुष के स्मरण से सदसदात्मक होती हुई भी चिति असत्प्राय होकर अबोधपक्ष का ही अवलम्बन करती है ॥२२॥ जिस प्रकार साधु हुआ पुरुष भी दुर्जन–संगति से चिरकाल तक चित्त के संस्कृत होने पर दुर्जन की इच्छाएँ लेकर असाधु हो जाता है, उसी प्रकार अत्यन्त स्वच्छ परा चिति ही देहादि में तादात्म्याभिमान करने से तदनुकूल–प्राप्ति की और प्रतिकूल परिहार आदि की चिन्ता करती है (और स्वयं जड़ देहादिरूप हो जाती है।)॥२३॥

इसीलिए चित्त के पुनः ब्रह्मरूपता से भावित होने पर वह ब्रह्मरूप ही हो जाता है, इस आशय से दृष्टान्त कहते हैं।

जिस प्रकार मालिन्य से सुवर्ण ताम्ररूप हो जाता है और मल का शोधन करने से फिर सुवर्णरूप हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञानरूप मल का शोधन करने से परमचिति अपने विशुद्ध स्वरूप में हो जाती है ॥२४॥ जिस प्रकार सुन्दर दर्पण अपने ऊपर आरोपित मल की शान्ति से प्रतिमा स्थिति (बार–बार प्रतिबिम्ब की अभिव्यक्ति के योग्य स्वच्छतारूप स्थिति) प्राप्त करता है, उसी प्रकार अज्ञान से जड़ता, जीवता आदि सृष्टि मानों प्राप्तकर स्थित हुई चिति भी तत्त्वज्ञान से अपना स्वच्छतारूप कैवल्यपद प्राप्त करती है ॥२५॥ असत्–रूप अज्ञान के लाभ से चिति का संसार बढ़ता जाता है और सच्चिदानन्दस्वरूप चितिस्वभाव के ज्ञान से यह संसार असत्–रूप ही होकर शान्त हो जाता है ॥२६॥ चयनस्वभाव होने के कारण जब चिति अपने भीतर असत्–रूप भिन्नता का संचय करती है, तब मानों अहन्ता प्राप्तकर स्वयं अविनश्वरस्वभाव होती हुई भी यह एक तरह से नष्ट हो जाती है ॥२७॥ जैसे थोड़े से स्पन्दन से यानी डण्ठल के वियोजक प्रच्युतिमात्र से पर्वत के तट प्रान्त–प्रदेश में स्थित वृक्ष से फल नीचे गिरता है, वैसे ही अज्ञान के स्पन्दन से संवित्ति का यह जीवभाव भी एक तरह का महान अधःपतन है ॥२८॥ रूप आदि विषयों की जो यह सत्ता है, वह चिति की ही है। चिति स्वयं निर्मल ही है। भेद और अभेदाध्यास तो एकमात्र अज्ञान से जनित हैं और वे ज्ञान से विलीन हो जाते हैं ॥२९॥ चित्तसाक्षी की केवलसत्ता से ही चित्त, इन्द्रिय आदि में ज्ञान ऐसे होता है, जैसे केवल आलोक–सत्ता से क्रियाओं में व्यवहार होता है ॥३०॥

सामान्यरूप से कथित विषय का विशेषरूप से चक्षु आदि इन्द्रियों में विभागशः उपपादन कर रहे भगवान शंकरजी सर्वत्र चिति की ही फलरूपता बतलाते हैं।

चिति–सन्निधि से प्रेरित हुए व्यानवायुरूप निमित्त से चक्षु की कनीनिकाओं में स्पन्द होता है। उसमें अवस्थित प्रकाश (तैजस इन्द्रिय) चक्षु कही जाती है। उस चक्षु के द्वारा, नाली के सदृश, बाहर की ओर प्राप्त कराये गये अन्तःकरण से व्याप्त घट आदि में उसी के समान आकारवाले नील, पीत आदि रूप एवं उसकी (घट आदि की) आकृति का जो बोध होता है, वह परा चिति ही है ॥३१॥ इस प्रकार स्पर्शेन्द्रिय से होनेवाले त्रिपुटी–भानस्थल में भी त्वगिन्द्रिय और वायु दोनों जड़ एवं तुच्छ (स्वतः सत्तास्फूर्तिशून्य) हैं, इसलिए चिति की सत्तास्फूर्ति के बल से ही त्वचा और पवन का सम्बन्ध होता है और वही सम्बन्ध स्पर्शेन्द्रिय–कल्पना का निमित्त होने से स्पर्श कहा जाता है। उसके द्वारा उससे सम्बद्ध शीत–उष्ण आदि द्रव्यों में जो शीतादि आकार की मनोवृत्ति होती है, वह स्पर्शज्ञान कहा जाता

है और स्पर्शज्ञान से युक्त विषयपर्यन्त जो त्रिपुटी का प्रकाश है, वह परा साक्षी चिति है ॥३२॥ इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय और गन्धरूप से विभक्त हुए गन्ध-तन्मात्रा का नासापुट में प्रवेश करनेवाले पवन द्वारा किया गया जो उनका सम्बन्ध है, वही गन्धाकार अन्तःकरणवृत्तियों का निमित्त होने से गन्ध-संवित् कहलाती है। गन्धाकार अन्तःकरण वृत्तियों की त्रिपुटियों का अन्तःकरण से शून्य (विविक्त) जो प्रकाशात्मक ज्ञान है, वह साक्षी चैतन्य ही है ॥३३॥ शब्दतन्मात्रा और श्रवणेन्द्रिय का व्यानवायु के संसर्ग से उत्पन्न मनोवृत्ति रूप शब्दसंवित्तियों में मन का अंश छोड़कर सुषुप्ति के सदृश निर्विकार साक्षीरूपा जो संवित्ति है, वही परम चिति उदाहृत है। इसी प्रकार रसनेन्द्रियजनित त्रिपुटी के साक्षात्कारफल में भी साक्षी चैतन्य का पृथक्करण कर अनुभव करना चाहिए ॥३४॥

इसी प्रकार कर्मेन्द्रियों की प्रवृत्तियों में हेतुभूत संकल्पस्वरूप मनोवृत्ति, उसके मालिन्य के साक्षीरूप से भी आत्मचैतन्य ही स्थित है, ऐसा विवेक करना चाहिए, यों कहते हैं।

कर्मेन्द्रियों की प्रवृत्ति में तत्परता संकल्प से होती है, वह संकल्प मननजनित है, वह मनन चित्त की कलुषता के कारण होता है और उन सबका साक्षी आत्मरूपा चिति सर्वविध मलों से निर्मुक्त है ॥३५॥

ऐसी स्थिति में जब कि आन्तर और बाह्य समस्त द्वैतप्रकाश साक्षिचैतन्यमात्रस्वरूप ही है, तब सम्पूर्ण द्वैतप्रपंच उसी साक्षी चैतन्य में अध्यस्त है, यह अनायास फलित हुआ, यह कहते हैं।

जिस प्रकार स्फटिक-शिला अपने भीतर अरण्य पर्वत, नदी आदि का प्रतिबिम्ब धारण करती है, उसी प्रकार अपने स्वरूप में ही स्थित प्रकाशस्वरूप नित्य चिति भी अपने भीतर यह जगत धारण करती है ॥३६॥ किसी तरह के विकार आदि के बिना इस जगत को धारण कर रही अद्वितीया यह चिति न अस्त होती है, न उदित होती है, न स्पन्दित होती है और न बढ़ती ही है ॥३७॥ संकल्पशून्यस्वरूप यह चिति अपने-आप, संकल्प से जीवरूपता प्राप्त कर जड़ जगत का स्वरूप चैतन्य ही है, यों भावना करती हुई अपने स्वरूप में ही स्थित हो जाती है ॥३८॥

अब चैतन्य के बाहर निर्गमन में रथ-परम्परा की कल्पना करते हुए कहते हैं।

इस चिति का रथ जीव है, जीव का रथ अहंकार है, अहंकार का रथ बुद्धि है और बुद्धि का रथ मन है ॥३९॥ मन का रथ प्राण है, प्राण का रथ इन्द्रिय समूह है, इन्द्रियसमूह का रथ देह है और देह का रथ कर्मेन्द्रिय-समुदाय है ॥४०॥ सभी रथों का कर्म संसार में परिभ्रमण ही है। जरा एवं मरणधर्मवाले देहरूपी पिंजड़े से युक्त जीवरूपी पक्षी का यह दोलाचक्र इसी प्रकार घूमता रहता है ॥४१॥

मायिकत्व का ही उपपादन करते हैं।

इस प्रकार का असदात्मक यह जगद्रूप चक्र विशाल स्वप्न की नाईं आत्मा में ही प्रतिभासित होता है, मृगतृष्णिका-जल के सदृश आभासरूप से स्थित यह तनिक भी सत्य नहीं हो सकता ॥४२॥

'मन का रथ प्राण है' यह जो कहा गया है, उसमें वक्ष्यमाण अर्थोपयोगी कुछ वैशिष्ट्य कहने के लिए उपपत्ति कहते हैं।

हे मुनीश्वर, मानस कल्पना का निमित्त होने से यहाँ पर मन का रथ प्राण कहा गया है। जहाँ पर प्राण-वायु रहता है, वहीं पर मननात्मक संकल्प की स्थिति रहती है ॥४३॥ जहाँ पर प्रकाशलक्ष्मी

स्थित रहती है, वहीं पर रूप प्रकाशित होता है। सूत्ररूप होने के कारण सबका धारण और संचालन करने में समर्थ बलवान प्राण–वायु जहाँ स्थित रहता है, वहीं स्पन्दित होता है। ठीक ही है, जिस वन की ओर आँधी जाती है, वही वन कम्पित होता है ॥४४॥

इसी प्रकार मन भी प्राण–क्रिया का निमित्त है, यों व्यतिरेक सहचर के प्रदर्शन द्वारा कहते हैं।

मन के हृदय–आकाश में विलीन हो जाने पर प्राण–वायु उस प्रकार कम्पित नहीं होता, जिस प्रकार तेज का अभाव हो जाने पर रूप प्रकाशित नहीं होता ॥४५॥

इसी प्रकार प्राण के निरोध से भी मन का निरोध होता है, यह कहते हैं।

प्राण–वायु के भली प्रकार शान्त हो जाने पर मन भीतर उस प्रकार तनिक भी कम्पित नहीं होता, जिस प्रकार आँधी के शान्त हो जाने पर धूलि ॥४६॥

इसीलिए मन का रथ प्राण है, यह कहा गया है, यों कहते हैं।

जहाँ पर प्राण–वायु जाता है, वहीं पर मन रहता है। ठीक ही है, जहाँ–जहाँ रथ गमन करता है, वहीं सारथि भी रहता ही है ॥४७॥ जिस प्रकार क्षेपण–यन्त्र से (गोफन से) फेंका गया पाषाण तत्काल देशान्तर में चला जाता है, उसी प्रकार प्राण के द्वारा प्रेरित हुआ चित्त उसी क्षण देशान्तर में चला जाता है। वहाँ प्राण का निरोध होने पर मन क्षीण हो जाता है ॥४८॥ जहाँ पुष्प रहता है, वहाँ गन्ध रहती है; जहाँ आग रहती है, वहाँ उष्णता रहती है; जहाँ समष्टि–व्यष्टि प्राण रहता है, वहाँ मन जाता है एवं जहाँ पर चन्द्र और चन्द्रांश मन रहता है, वहीं चाँदनी और मनोवृत्तियाँ रहती हैं ॥४९॥

इसीलिए चाक्षुष आदि संवित्तियों में प्रत्येक संवित्ति के प्रतिवायु भी निमित्त है, यह मैंने पहले ही बतला दिया था, इस आशय से कहते हैं।

संवित्ति वायु के स्पन्दन से होती है, उस वायु का समस्त अंगों में अन्नरस के प्रवेश के लिए सब नाड़ियों के साथ स्पर्श होता है और चित्त एवं मन से युक्त लिंग शरीररूप प्राण कोटर में चिति का, बिम्ब–प्रतिबिम्बभाव से द्विगुणीकरण द्वारा, जो विस्पष्ट रूप होता है, वह भी उसी वायु से होता है ॥५०॥ आकाश की नाईं अत्यन्त स्वच्छ संवित् सभी जड़ और अजड़ स्थलों में रहती है, परन्तु लिंग शरीर में प्राणों के स्पन्दन से स्पष्ट अभिव्यक्ति द्वारा वह एक तरह से संचलन कर रही–सी अनुभूत होती है ॥५१॥ सामान्यसत्तामात्रस्वरूप से सब जड़ पदार्थों में भली प्रकार स्थित हुई भी वह चिति एकमात्र जड़ देह में ही प्राण–वायु द्वारा उद्‌बोधित होकर आध्यासिक चित्तादात्म्य की सामर्थ्य से सृष्टि आदि को ज्ञानरूप से जानती है ॥५२॥ जो देह जीवनदशा में अनेक विस्तृत चमकीले उल्लासों से व्यवहार करती है, वही प्राण–वायु के चले जाने पर मन के न रहने से तत्क्षण ही कम्पनशून्य हो जाती है ॥५३॥ हे मुने यह परम चैतन्य अपने (☙) पुर्यष्टक में प्रतिबिम्बित होता है। ठीक ही है, स्वच्छ दर्पण में ही प्रतिमा दिखलाई पड़ती है न कि मलिन पत्थर आदि में ॥५४॥

यदि शंका हो कि मन में प्राण के कारण चित् का प्रतिबिम्ब होता है, यह पहले कहा गया और अब

(☙) भूतान्तःकरणप्राणज्ञानकर्मेन्द्रियैर्युतम्। अविद्याकामकर्माढ्यं लिगं पुर्यष्टकं विदुः॥

पाँच भूत, अन्तःकरण, प्राण, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों से युक्त तथा अविद्या, काम एवं कर्मों से भरा लिंग शरीर पुर्यष्टक कहा गया है।

पुर्यष्टक में चैतन्य का प्रतिबिम्ब होता है, यह कहते हैं, ऐसी स्थिति में पूर्वापर विरोध क्यों नहीं होता ? तो इस पर कहते हैं।

महर्षे, समस्त कार्यों का एकमात्र कारण मन ही पुर्यष्टक है, यह जान लीजिए उसीको अन्य आचार्यों ने अपने अभिप्राय से कल्पित शिष्य बोधोपयोगी उपायों से पुर्यष्टक कहा है ॥५५॥

अब जीव, उसकी उपाधि तथा उसके भोग्यरूप विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय चिदेकरस सन्मात्र ब्रह्म के ही अधीन हैं, इसलिये परमार्थरूप से वे ब्रह्मस्वरूप ही हैं, यों अनुभव कराते हुए शंकरजी उपर्युक्त विषय का उपसंहार करते हैं।

महर्षे, चूँकि अनेक प्रकार की कल्पनाओं से ग्रस्त यह दृश्यसमूह चिति में ही उदित होता है, चूँकि उसी में स्थित और लीन हो जाता है एवं चूँकि मन ही देह दृष्टि से भ्रमग्रस्त होता है, यों ज्ञानियों द्वारा अनुभूत है, इसलिए यह सम्पूर्ण विश्व परब्रह्मस्वरूप ही है, दूसरा नहीं, यह जानिए ॥५६॥

इकतीसवाँ सर्ग समाप्त

बत्तीसवाँ सर्ग

पुर्यष्टक में प्रविष्ट हुई यह चिति जिस प्रकार देहादि को क्रियाशील बनाती है तथा जिस प्रकार देहान्तर को प्राप्त होती है, उन सबका वर्णन।

श्रीमहेश्वर ने कहा : हे मुने, पूर्वोक्त प्रकार से पुरुषों के पुर्यष्टक में प्रविष्ट हुई यह श्रेष्ठ चिति किस प्रकार ऐहिक एवं पारलौकिक कार्य करनेवाली होती है और उन कर्मों के अनुकूल देहादि में स्पन्दनशील होती हुई किस प्रकार अभिधा (जाती है, नहाती है, खाती है और याग करती है तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं देवदत्त आदि शब्दों से व्यवहार करने की योग्यता) प्राप्त करती है, वह सब मैं कहता हूँ, आप सुनिए ॥१॥

देह-स्पन्दन में चित्प्रतिबिम्बभूत जीव का चलन कारण है और जीव के चलन में जीवोपाधिभूत पुर्यष्टकात्मक मनोरूप से परिणत हुई, चिति के वास्तविक स्वभाव का तिरोधान करनेवाली मायाशक्ति कारण है। उस मायाशक्ति की मनोरूप परिणति में पूर्व-पूर्व देहों के अन्तिम परिणाम से संचित कर्म-समूह ही कारण है, बृहदारण्यक में भी 'कर्म हैव तदूचतुः कर्मैव तत्प्रशशंसतुः (卐)' इत्यादि श्रुतियों से कर्म ही ग्रह (✎), अतिग्रहरूप बन्धन का कारण निश्चित किया गया है, इस आशय से कहते हैं।

हे ब्रह्मन्, अनादिमायारूप यह ब्रह्मशक्ति अपनी आवरणशक्ति द्वारा पहले अपने आश्रय ब्रह्म को 'नाऽस्ति', 'न भाति' इस प्रकार प्रतीति के योग्य बना ही देती है, तदनन्तर प्राक्तन परिपुष्टता को प्राप्त (अनादिकाल से लेकर किये गये संचय से परिपुष्टता को प्राप्त) विविध काम-वासनाओं से युक्त

(卐) विचारकाल में एकान्त में स्थित उन दोनों ने कर्म को ही कार्यकारण का उपादानकारण कहा। केवल कहा ही नहीं, अपितु काल और ईश्वर आदि से स्वीकृत अन्य कारणों में कर्म की ही उन्होंने प्रशंसा की यानी उसे ही प्रधान कारण माना। *(बृह.३।२।१३)*

(✎) उपनिषदों में मुक्ति के प्रतिबंधक ग्रह और अतिग्रह बतलाये गये हैं। उनमें प्राण, जिह्वा, वाक् चक्षु, श्रोत, मन, हाथ और त्वचा ये आठ ग्रह तथा अपान, रस, नाम, रूप, शब्द, काम, कर्म एवं स्पर्श ये आठ अतिग्रह नाम से परिगणित है।

एवं अपने मन से किये गये मननों से चेष्टित कायिक–वाचिक चेष्टारूप विहित–निषिद्ध कर्मसमूहात्मक कारणवश पुर्यष्टकरूप मनोभाव से परिणत होती हुई वह अपने अधिष्ठानभूत चित्–सत्ता से चित् की नाईं और अपने स्वभाव के बल से जड़ की नाईं यों मिश्र–भाव को प्राप्त होती है। तदनन्तर ज्ञान और कर्म के व्यवहार योग्य होती हुई वह मायाशक्ति ही अपनी शक्तिभूत इस ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय आदि इन्द्रिय–प्रणालिका से द्रष्टा, दर्शन और दृश्य आदि नव तरह के संसाररूप में नाचती है, इससे और दूसरा कुछ नहीं है ॥२,३॥ हे मुने, इसी मायाशक्ति के विचार एवं अविचारस्वरूप प्रसाद से इस संसार में क्रमशः कलंकयुक्त होती हुई वह चिति जगतरूपी गन्धर्वनगर का निर्माण करती है और नहीं भी करती है यानी अविचार से निर्माण करती है और विचार से निर्माण नहीं भी करती ॥४॥

तब ब्रह्म–चिति के सान्निध्य से देह ही सबका निर्माण करेगा, चित्त आदि की कल्पना की क्या आवश्यकता है ? इस पर कहते हैं।

चित्त, मन, बुद्धि और अहंकार के न रहने से यह देह दीवार की नाईं जड़ होकर मूक रहती है और उनके रहने से तो, आकाश में फेंके गये पत्थर की नाईं, यह स्फुरित (व्यापारशील) होती है ॥५॥

जीव के प्राण एवं कर्मेन्द्रियों से होनेवाले व्यापारों में सन्निधानमात्र से ब्रह्म साधारण कारण है, यों कहते हैं।

जिस प्रकार अत्यन्त जड़ लोहा लोह चुम्बक के सान्निध्य से स्फुरित (संचरणशील) होता है, उसी प्रकार सर्वव्यापी सदात्मक इस परब्रह्म के सान्निध्य से यह जीवात्मा प्रस्फुरित होता है ॥६॥

बुद्धि आदि के प्रकाश और ज्ञानेन्द्रियों के प्रयोजनों में (विषयों के ज्ञानों में) अपने प्रतिबिम्ब के समर्पण द्वारा चिति असाधारण कारण है, इस आशय से कहते हैं।

सर्वत्र स्थित आत्मरूप इस चित्शक्ति से ही यह जीव पर्याप्तरूप से अपने और दूसरे के प्रकाशन में समर्थ होता है। (यदि शंका हो कि भौतिक होने से द्रव्यस्वभाव में अवस्थित जीव का उपाधिभूत यह लिंग शरीर अद्रव्यस्वभाव *(गुण और कर्म के अनाश्रय) ब्रह्म का प्रतिबिम्ब कैसे ग्रहण करेगा, क्योंकि द्रव्य में द्रव्य का ही प्रतिबिम्ब पड़ता है, ऐसा नियम है, तो इस पर कहते हैं।)* द्रव्यस्वभाव में अवस्थित न हुए भी गुण, क्रिया, जाति आदि से दर्पणरूप द्रव्य प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है। अतः द्रव्य द्रव्य से ही प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है, यह नियम नहीं है ॥७॥

शंका हो कि यदि ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ही जीव है तो उसे अज्ञान, निद्रा आलस्य आदि जाड्य का अनुभव कैसे होता है, सूर्य के प्रतिबिम्ब में अभास्वररूपता (अंधकार) का अनुभव कभी नहीं हो सकता तो इस पर कहते हैं।

चूँकि यह जीव अपना विशुद्ध चैतन्यात्मक स्वरूप भूल गया है, इसलिए उसने उस प्रकार जड़ता प्राप्त की है, जिस प्रकार मोह से अपना स्वभाव भूल जाने के कारण अभक्ष्यभक्षण आदि में प्रवृत्त सद्ब्राह्मण शूद्रता प्राप्त करता है ॥८॥ मोह से चित्त का तिरोधान हो जाने के कारण अपना स्वरूप भूल गये गाधि, लवण, हरिश्चन्द्र आदि बड़े–बड़े लोगों ने जिस प्रकार दीनता प्राप्त की है, उसी प्रकार अपना विशुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव भूल जाने के कारण इस चिति ने चित्तत्व (चित्त के जड़ता, मलिनता आदि धर्म) प्राप्त किया है ॥९॥

चित्त के साथ अभेदाध्यास से चिति में जिस प्रकार चित्त के धर्म दैन्य आदि की प्राप्ति हो जाती है, उसी प्रकार प्राण के साथ तादात्म्याध्यास से चिति में प्राणधर्म देह संचालन हेतुता की भी सिद्धि हो जाती है, ऐसा कहते हैं।

वातशक्ति (प्राण) के साथ एकता की प्राप्ति होने से प्राण के सदृश पराधीनता को प्राप्त हुई जड़रूप इस चिति के द्वारा यह देह उस प्रकार संचालित होती है, जिस प्रकार तरंग-पंक्ति से पानी संचालित होता है ॥१०॥ जिस प्रकार पाल आदि उपाधि के वशीभूत हुए वायु के द्वारा नाव में स्थित पत्थर अपने अभीष्ट स्थान की ओर संचालित किये जाते हैं, उसी प्रकार उक्त रीति से क्रियास्वभाव को प्राप्त, मनन-शक्तियुक्त इस जीव के द्वारा, जो कि उपाधि-परवश होने से अत्यन्त दीन है, देहरूप यन्त्र संचालित किये जाते हैं ॥११॥ हे ब्रह्मन्, परमात्मा ने ही शरीररूपी गाड़ी खींचने के लिए मनःशक्ति और प्राण-शक्ति ये दो सुदृढ़ नौकर या बैल उत्पन्न किये हैं ॥१२॥

स्वाप्निक व्यवहारों का भी संग्रह हो जाय इसलिए मन की ही रथरूप से कल्पना करनी चाहिए, मुख्य एवं अमुख्य प्राणों की तो घोड़ों के रूप से इस आशय से कहते हैं।

महर्षे, पहले जड़रूप स्वीकार कर और तदनन्तर जीव रूप प्राप्तकर प्राणरूप घोड़ों से खींचे जा रहे मनरूपी रथ पर आरूढ़ होकर यह चिति कहीं (जाग्रत एवं स्वप्न-अवस्था में) आविर्भूत पदार्थों की स्वरूपता, कहीं (उन्हीं अवस्थाओं में) बहुपदार्थता, कहीं (सुषुप्ति-अवस्था में) तिरोभूत समस्त पदार्थों की स्वरूपता एवं कहीं (उसी अवस्था में) एकमात्र अविद्यारूपपदार्थ-स्वरूपता को प्राप्त हुई-सी भिन्न-भिन्न-सी होकर स्थित रहती है। *(तब जैसे दधिरूपता प्राप्तकर दूध विनष्ट हो जाता है, वैसे ही वह क्या जीव और जगत-रूप प्राप्तकर नष्ट हो जाती है ? इस पर नहीं, ऐसा उत्तर देते हैं।)* इस प्रकार परिणत होने पर भी अपना पारमार्थिक स्वरूप न छोड़ती हुई यह चिति उस प्रकार स्थित रहती है, जिस प्रकार तरंग अपनी पारमार्थिक जलरूपता न छोड़ता हुआ स्थित रहता है और वही चिति तत्त्वदृष्टि से असत् जाग्रत-अवस्था की नाईं एवं व्यावहारिक दृष्टि से भी असत् स्वप्न की नाईं किंचित् विकसित होती है ॥१३-१५॥

आत्मा में अध्यस्त होने के कारण आत्मसत्ता का ही आश्रय कर मानसिक वृत्तियों में प्रतिबिम्बित आत्मचैतन्य के बल से मनोरूप जीव-जगत स्फुरित (प्रकाशित) होता है, यह कहते हैं।

जैसे इस सूर्य आदि प्रकाश का आश्रय कर घटादि पदार्थों में स्थित रूप शोभा प्रस्फुरित होती है, वैसे ही मन की वृत्तियों में प्रतिफलित आत्मा की चैतन्यसत्ता का आश्रय कर यह जीव-जगत प्रस्फुरित होता है ॥१६॥ पारमार्थिक चिन्मात्रस्वरूप से युक्त, विकाररहित परमात्मा की स्थिति रहने पर ही यह जीव अपना प्रकाशमय जीवन उस प्रकार धारण करता है, जिस प्रकार दीपक की स्थिति रहने पर घर प्रकाशमय जीवन धारण करता है ॥१७॥

अब तक चिति देह-चेष्टा के प्रति कारण है, इसका उपपादन किया गया। अब उसकी देहान्तर में प्राप्ति का प्रकार बतलाने तथा वैराग्य उत्पन्न कराने के लिए देह से होनेवाले दुःखों का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

अज्ञान-अवस्था में इस जीव की आधियाँ एवं व्याधियाँ उस प्रकार उत्तरोत्तर स्थूलता प्राप्त करती

हैं, जिस प्रकार जल का तरंगरूप और उस तरंगरूप का फेनरूप उत्तरोत्तर स्थूलता प्राप्त करता है ॥१८॥ जैसे तरंगरूप के होने पर जल विषमता प्राप्त करता है, वैसे ही आधि एवं व्याधि से आक्रान्त शरीररूपी कमल का भ्रमर यह जीव दैन्य, दुःख आदि विषमता प्राप्त करता रहता है ॥१९॥ जिस प्रकार सूर्य दर्शक की दृष्टि में अपने ही द्वारा प्रकाशित हुए मेघों से अदर्शनीयता, मलिनता आदि विवशता प्राप्त करता है, उसी प्रकार सर्वशक्तिरूप होने पर भी वही चित्शक्ति मैं चित् नहीं हूँ' इस भावना से इस देह में दीनता आदि विवशता प्राप्त करती है ॥२०॥ उपर्युक्त मलिनता आदि विवशता के कारण ज्ञान की अनधिकारिणी योनियों में जन्म-ग्रहण कर रही यह चित्शक्ति मूढ़ता से अपना स्वरूप उस प्रकार नहीं जानती, जिस प्रकार मदिरा आदि के घन मद से आक्रान्त हुआ पुरुष खड्ग आदि से अपना अंगच्छेदन नहीं जानता ॥२१॥

तब चिति का मोह कब नष्ट होता है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

जिस प्रकार मद आदि से जनित घनीभूत मोह में फँसा हुआ जीव कुछ समय के बाद अपने कर्मों का स्मरण कर मोहरहित हो जाता है, उसी प्रकार अपने स्वरूप का स्मरण कर इस चित्शक्ति का मोह नष्ट हो जाता है ॥२२॥

अब देहत्याग का प्रकार बतलाने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

जिस प्रकार कोढ़ी पुरुष अपने गलित अंगुलि आदि अंगों के स्पन्दन की इच्छा नहीं करता, उसी प्रकार जब प्राण की स्पन्दनशक्ति अंग संवित्तियों का (नखाग्रपर्यन्त लिंगोपाधि द्वारा प्रविष्ट हुए जीवविज्ञानों का) हृदय में लिंगोपसंहार से प्रमोष हो जाने के कारण हाथ, पैर आदि का अनुसन्धान नहीं करती तब देह के हृदय में स्थित भुशुण्डोपाख्यान में वर्णित पद्म-पत्र, देह में संवित्तियों का स्पन्दन न होने से प्राण-संचालन के अनुकूल होकर, वैसे कम्पित नहीं होता, जैसे कि लोक में यज्ञ में ऋत्विजों द्वारा अस्पृष्ट काष्ठपात्र कम्पित नहीं होता ॥२३,२४॥ हृदय-प्रदेश में स्थित उस पद्म-पत्र के कम्पनशून्य हो जाने पर ये प्राण भीतर तेज में उस प्रकार विलीन हो जाते हैं, जिस प्रकार लोक में पंखे के कम्पनशून्य हो जाने पर पवन की शक्तियाँ विलीन हो जाती हैं ॥२५॥ प्राण-वायु का दूसरों के साथ सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाने पर यह जीव निष्पूर्ण-मूकता को (रूपात्मक उपाधियों के विलय से निराबाध पूर्ण तथा नामात्मक उपाधियों के विलय से मूक कारणात्मा के स्वरूप को) ऐसे प्राप्त होता है, जैसे आकाश-वायु के शान्त हो जाने पर रजःकण कारणरूपता को प्राप्त हो जाता है ॥२६॥ हे मुने, रजोगुणप्रधान अपने आधारभूत प्राण-वायु के शान्त हो जाने से ही रजोगुण से शून्य और आधाररहित हुआ मन भी प्राण के ही साथ कारणरूप पद को प्राप्तकर उसी रूप से अवशिष्ट रह जाता है। *(तब क्या वह सर्वथा नष्ट नहीं हुआ ? इस पर कहते हैं।)* जल आदि भूतमात्राओं से मिश्रित पार्थिव वृक्ष-बीज जिस प्रकार दूसरा अंकुर उत्पन्न करने के लिए तत्पर होकर स्थित रहता है, उसी प्रकार यह मन भी दूसरी देह का आविर्भाव करने के लिए तत्पर होकर स्थित रहता है ॥२७॥

वही जीव का देह-त्याग है, यह कहते हैं।

हे महर्षे, इस प्रकार चारों ओर से कारण-समूहों के विलीन हो जाने के कारण पुर्यष्टक के शान्त हो जाने पर यह देह निश्चेष्ट होकर गिर जाती है ॥२८॥

तब पुर्यष्टक का किस हेतु से उद्भव होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि हृदयकमल के स्पन्दन से उसका उद्भव होता है । हृदय-कमल का स्पन्दन पूर्व-पूर्वभोक्ता आदि के स्वरूपों के स्मरण से होता है । उक्त स्मरण वासना के स्पन्दन से होते हैं और वासना का स्पन्दन स्वरूप के अज्ञान से उत्पन्न चिति के चेत्याकारक ज्ञान से होता है, इसलिए तत्त्व की ओर अभिमुख होने के लिए पुरुष को ज्ञानात्मक बहिर्मुखतारूप चिति की चेत्याकारता ही पहले अपने प्रयत्न से रोकनी चाहिए, इस आशय से कहते हैं ।

मोह से यानी अपने स्वरूप के अज्ञान से उत्पन्न चिति में विषयाकारता के ज्ञान से वासनाएँ स्पन्दित होती हैं । उनसे (स्पन्दित वासनाओं से) प्रेरित हुई यह चिति अपने भीतर पूर्व-पूर्व काल के भोक्तृत्व आदि का स्मरण करती है और दूसरा अपना स्वरूप स्वयं भूल जाती है ॥२९॥ हृदयरूप पद्म-पत्र के स्फुरण से यह पुर्यष्टक विस्पष्ट हो जाता है और हृदय-कमलरूप यन्त्र जब चलने से रुक जाता है यानी निश्चल हो जाता है, तब वह भी विनष्ट हो जाता है ॥३०॥ हे द्विज, जब तक देह में पुर्यष्टक विद्यमान रहता है, तब तक देह जीवित रहती है (और जब) देह में से पुर्यष्टक विलीन हो जाता है, तब देह 'मृत' कही जाती है ॥३१॥ परस्पर विरुद्ध वात, पित्त और कफ नामक मलों तथा वासना के मलभूत राग, द्वेष आदि दोषों के प्रकोप से एवं शस्त्र आदि से किये गये देह के छेदनभेदन आदि अवस्थावश जब यह हृदयकमलरूप यन्त्र देह के अन्दर स्पन्दित नहीं होता तब यह पुर्यष्टक धीरे-धीरे उस प्रकार विलीन हो जाता है, जिस प्रकार पंखा रोक देने पर हवा की परम्परा आकाश में विलीन हो जाती है ॥३२,३३॥ जब शरीर का हृदय-कमलरूपी यन्त्र सदा चलता रहता है तब यह जीव अपने संकल्पवश मरण आदि हजारों दुःख प्राप्त करता रहता है ॥३४॥

इसीलिए भोग की वासना से रहित पुरुषों में भोगसंकल्प का अभाव होने से वे मृत्यु के अधीन नहीं होते हैं, यह कहते हैं ।

राग, द्वेष आदि मलों से रहित वासना जिनके हृदय से हटती नहीं, वे अटल एवं समान रूपवाले जीव जीवन्मुक्त होकर दीर्घायु रहते हैं ॥३५॥ पद्म-यन्त्र के रुक जाने तथा तेज में प्राण के विलीन हो जाने पर धृतिशून्य हुई यह देह पृथ्वी पर लकड़ी और ढेला आदि की नाईं गिर जाती है ॥३६॥ हे मुने, ज्यों ही हृदयाकाश के वायु में अर्थात् प्राण में यह पुर्यष्टक लीन हो जाता है, त्यों ही मन वहीं (प्राण में ही) विलय को प्राप्त हो जाता है ॥३७॥

उस प्रकार ही विलीन हुए पुनः स्वर्ग, नरक आदि का भोग करानेवाले अदृष्ट द्वारा बोधित हुए मन का हृदयाकाश में चक्षु से, मूर्धा से अथवा अन्य शरीर-प्रदेशों से निकलना; यमलोक आदि में जाना; स्वर्ग और नरक का भोग करना आदि उसकी अपनी कल्पना ही है, वास्तव में स्वर्ग आदि नाम के कोई दूसरे पदार्थ बाहर हैं ही नहीं, इस आशय से कहते हैं ।

हे महर्षे, तत्-तत् भोग करने के योग्य शरीर आदि पदार्थों का चिरकाल से अभ्यास किया हुआ तथा वासना से परिपूर्ण यह मन जहाँ-तहाँ घूमता फिरता स्वर्ग, नरक आदि देखता रहता है ॥३८॥ जिस प्रकार घर के लोगों के घर छोड़कर दूर चले जाने पर घर शून्य हो जाता है, उसी प्रकार मन एवं प्राण से शून्य हुआ यह शरीर शवरूप हो जाता है ॥३९॥

अब चिति के शरीरान्तर–ग्रहण में क्रम बतलाते हैं।

सर्वव्यापक चिति ही मन में स्थित होकर चेतन से 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (इसी जीवरूप आत्मा से जगत में प्रवेश कर मैं नाम एवं रूप का व्याकरण करूँ) इस श्रुति में कहे गये चेत्य के आकार में अनुप्रवेश से जीव बनकर मनोरूप में स्थित हो जाती है। तदनन्तर पुर्यष्टक शरीर धारण कर आतिवाहिक देहवाली हो जाती है ॥४०॥ पंचतन्मात्राओं के समूहभूत आतिवाहिक देह नामवाले पुर्यष्टक चित्त को गोद में लेकर स्थित हुई (बैठी हुई) यह चिति ही अपने संकल्प से, स्वप्न भ्रम की नाईं, अपनी स्थूल आकृति देखती है ॥४१॥ इसके बाद दृढ़ भावना के द्वारा उसी स्थूल शरीर में अहंकारशक्ति से युक्त होकर यह चिति क्षण में ही सम्पूर्ण आतिवाहिक देहता भूल जाती है ॥४२॥ असत्–स्वरूप उक्त लक्षणवाले स्थूल शरीर में ही कृत्रिम अहंभावना किये हुई यह चिति असत्यभूत इस जगत में आरोप द्वारा सत्यता प्राप्त कराती है और सत्यभूत अपने ब्रह्मभाव में 'नाऽस्ति', 'न भाति' इत्यादि प्रतीति–योग्यतारूप असत्यता प्राप्त कराती है ॥४३॥

चित्त के संसरण में क्रम बतलाते हैं।

सर्वगामिनी इस चिति ने ही बुद्धि में प्रतिबिम्बित अपने अंश से जीवरूप होकर मनरूपता प्राप्त की है। वह मन पुर्यष्टकरूपी रथ पर चढ़ जाता है। अनन्तर इस जगत में यत्र–तत्र घूमता रहता है ॥४४॥ और जब सूत्रात्मा प्राणवायु से भरे हुए इस पुर्यष्टकरूप शरीर को पर्याप्तरूप से और ऊपर उठाता है, तब हृदय में प्रवेशकर स्पन्दनशील हुए वेताल से युक्त शव की नाईं 'यह देह जीती है' यों लोगों द्वारा कहा जाता है ॥४५॥ एवं पुर्यष्टक के क्षीण हो जाने पर यह चित्त हृदयाकाश में जब विलीन हो जाता है तब यह देह काष्ठ, ढेला आदि की नाईं स्पष्ट अचेतन प्रतीत होती है और (उस समय) लोगों के द्वारा 'यह देह मर गई' यों भी कहा जाता है ॥४६॥ यह जीव अज्ञानवश अपनी अजर–अमर ब्रह्मरूपता भूलकर कालवश प्राप्त हुई वृद्धदेह में रहनेवाली अशक्तता स्वयं विवशता से उस प्रकार प्राप्त करता है, जिस प्रकार पत्ता जीर्णता को प्राप्त करता है ॥४७॥

इसके बाद वह पहले की तरह मर जाता है, यह कहते हैं।

हे मुने, जीवसम्बन्धिनी पूर्वोक्त पूर्व–पूर्व भोक्ता आदि भावों की स्मृतिरूप शक्ति से असम्बद्ध हो जाने पर, अतएव पद्म–यन्त्र के निश्चल हो जाने पर तथा प्राण के रुद्ध हो जाने पर यह मनुष्य मर जाता है ॥४८॥

पुनः पुनः नाना शरीरों का ग्रहण और उनमें संसरण जरा एवं मरण में ही पर्यवसायी है, यह जानना चाहिए – इस आशय से कहते हैं।

जिस प्रकार विभिन्न विभिन्न पत्ते उत्पन्न हो–होकर समय पाकर वृक्ष से झड़ जाते हैं, उसी प्रकार जीवों के ये शरीर भी झड़ जाते हैं ॥४९॥ जीवों के ये शरीर और वृक्षों के पत्ते उत्पन्न और नष्ट हुआ ही करते हैं (अतः) उनके विषय में शोक ही क्या है ? ॥५०॥ चैतन्य–समुद्र में ये देहरूपी बुद्बुदों की पंक्तियाँ यहाँ एक प्रकार की तो दूसरी जगह दूसरे प्रकार की होकर स्फुरित होती हैं, बुद्धिमान जन इनमें आस्था नहीं करते ॥५१॥

कथित अर्थ का ही उपसंहार करने के लिए अनुवाद करते हैं।

सर्वत्र व्याप्त भी यह चिति इसी चित्त में प्रतिबिम्बित होती है, क्योंकि दर्पण के बिना दूसरा कोई भी अपने भीतर पदार्थों का ग्रहण नहीं करता ॥५२॥ हे महर्षे, चारों ओर से परिपूर्ण इस निर्मल चैतन्याकाश में पहले के अपने शुभाशुभ प्रयत्नों के परिणामस्वरूप; अतएव सुख, दुःख आदि फलों के भोग-काल में हास्य, रोदन आदि कोलाहलों से मुखरित, चित् और अचित् से प्रचुर ये जीव-जगद्रूपी कल्पनाएँ आपाततः रमणीय होती हुई विविध शरीरों के द्वारा जन्म, मरण आदि भ्रान्ति से आत्मा को मोहित करने और संताप करने के लिए प्रतिभासित होती हैं ॥५३॥

बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

तैंतीसवाँ सर्ग

मोह एवं तज्जनित संकल्पों से कल्पित जीव-जगद्भेदों का,
विचार-कसौटी में जिस तरह वे नहीं ठहरते उस तरह, तर्कों से वर्णन।

'सर्वत्र व्यापक भी चिति इस चित्त में प्रतिबिम्बित होती है' तथा 'पीछे दृढ़ भावना से उसी चित्त में आनन्द मनाती है', इत्यादि जो कहा गया है, उन दोनों ही स्थलों में महाराज वसिष्ठजी अनुपपत्ति की आशंका करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : मस्तक में अर्धचन्द्र धारण करनेवाले हे भगवन्, व्यापकस्वरूप अनन्त एवं अद्वितीयरूप चैतन्य-तत्त्व में द्वित्व (भेद) कैसे प्राप्त (📖) हुआ ? ॥१॥ हे महादेव, दूसरा यह प्रश्न है कि अनेक बन्धनों से ग्रस्त चिरकालिक अनुवृत्ति से रूढ़ हुआ वह भेद दुःख-विनाश के लिए तत्त्वज्ञान से निवारित कैसे (🔔) होगा ? ॥२॥

हम जीव जगत् आदि द्वैतप्रपंच का प्रमाणों से उपपादन करने के लिए प्रवृत्त नहीं हुए हैं, किंतु मोह

(📖) तात्पर्य यह है कि जो चितितत्त्व अनन्त यानी दिक्कृत, कालकृत एवं वस्तुकृत इन तीन प्रकार के परिच्छेदों से शून्य एकरूप यानी सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेदों से शून्य है; उसमें सजातीय जीवरूप और विजातीय जड़-जगद्रूप द्वित्व (भेद) कैसे आया ? क्या वह स्वतः आया या परतः ? स्वतः भेद तो आ नहीं सकता, क्योंकि चितितत्त्व अविकारी एवं अनवयवी है। परतः भी नहीं आ सकता, क्योंकि द्वितीय वस्तु ही प्रसिद्ध नहीं है।

(🔔) इसका तात्पर्य यह है - यदि यह मान लिया जाय कि किसी तरह के निमित्त के बिना यों ही चितितत्त्व में यह भेद आ गया है तो संकोच में प्रमाण न होने के कारण कोटि-कोटि बन्धनों से व्याप्त तथा दीर्घकालीन अनुवृत्ति से रूढ़ वह भेद तत्त्वज्ञान से, जो एकत्व और आगन्तुकत्व से दुर्बलतम है, निवारित होकर आत्यन्ति दुःख का उपशम कैसे करेगा, क्योंकि निमित्त के बिना आकस्मिक हुए किसी एक पदार्थ का भी उच्छेद हो नहीं सकता, किसी तरह किसी एक पदार्थ का उच्छेद हो भी गया, तो भी दूसरे असीम बन्धनों के बच जाने के कारण बार-बार दूसरे निर्निमित्त बन्धनों की उत्पत्ति का निरसन हो नहीं सकता। यदि कहो कि पूर्वोक्त ब्रह्मशक्तिरूप माया-निमित्त से हुआ मिथ्यारूप ही वह द्वैत प्रपंच है, यह मानने पर किसी दोष की प्राप्ति नहीं हो सकती, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उस पर यह प्रश्न होता है कि क्या वह मायाशक्ति आगन्तुक है अथवा

के कारण अनादि काल से लेकर भ्रान्ति से प्राप्त हुए उस प्रपंच का, अध्यारोप अपवाद–न्याय का आश्रय लेकर, अपवाद करने के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं। अध्यारोप में जो सृष्टि के प्रारम्भ काल में काम, कर्म, वासना आदि निमित्तकारण; ब्रह्म, अविद्या आदि उपादान कारण; आकाश आदि पदार्थों की उत्पत्ति का क्रम; व्यष्टि, समष्टि, स्थूल, सूक्ष्म आदि विभाग एवं अन्नमय आदि कोश–भेदों की कल्पना की जाती है वह सब स्वयं यद्यपि असत्य है, तथापि सत्यवस्तु का परिचय कराने के लिए उपयोगी होने के कारण श्रुति ने उसकी कल्पना की है और परमार्थ सत्य वस्तुरूप प्रयोजन के सर्वसम्मत होने के कारण इतरवादियों की अपेक्षा उत्कृष्ट है। अतः श्रोताओं का विश्वास सम्पादन करने के लिए लोकदृष्टि से ही युक्तियों द्वारा शास्त्रों में उसका समर्थन किया गया है। जब सर्वात्मक प्रत्यगात्मा का परिचय हो जाता है, तब सर्वात्मा में अद्वितीयत्व के बोधन के लिए परमार्थ दृष्टि का आश्रय लेकर प्रपंच का अपवाद किया ही जाता है। इसलिए आत्मा में एकत्व का स्वीकार कर उससे विरुद्ध द्वित्व के असम्भव का प्रतिपादन तुम्हारे अपने स्वीकृत पक्ष से विरुद्ध और सिद्धान्त से विरुद्ध है, इसके ऊपर दृष्टि क्यों नहीं डालते, इस आशय से भगवान कहते हैं।

ईश्वर ने कहा : हे ब्रह्मन्, व्यवहार–दृष्टि से ब्रह्म सर्वशक्ति से समन्वित है और परमार्थ–दृष्टि से एक और सदात्मक ही है, यों जब व्यवस्थित दो दृष्टियों का अंगीकार किया जा चुका है, तब सर्वशक्तिरूप दृष्टि के एकदेश से उदित हुई द्वित्व–एकत्वरूप कल्पना से युक्त उक्त आक्षेप निर्मूल ही है। क्योंकि व्यवहार दृष्टि से परमात्मा में सब द्वित्व आदि कल्पनाओं का आरोप होता है और परमार्थदृष्टि से अपवाद होता है। व्यवहार–दृष्टि से 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' इत्यादि श्रुति से उपपादित सर्वज्ञ सर्वशक्तिसमन्वित परमात्मा से जीवजगद्रूप द्वैत का आविर्भाव मानने में कुछ भी अनुपपत्ति नहीं होती, क्योंकि धर्मिग्राहक प्रमाण से सर्वशक्ति का वैसा स्वभाव ही है, यह निर्णीत हो चुका है। 'तदेतद्ब्रह्मापूर्व,

---

स्वाभाविक है ? प्रथम पक्ष में (आगन्तुक पक्ष में) भी वह स्वयं उत्पन्न हुई या दूसरे के सम्बन्ध से, यों जब विचार करेंगे, तो अनिर्मोक्ष एवं अनवस्था आदि दोषों की ही प्रसक्ति होगी। मायाशक्ति के स्वाभाविकत्वपक्ष में, अग्नि में से उष्णता की नाईं, ब्रह्म में से उसका निवारण न कर सकने के कारण एक तो अनिर्मोक्ष दोष और दूसरा एकरसरूपता की प्रतिपादक श्रुतियों के साथ विरोध होगा। मायाशक्ति मिथ्या है, यह मान लिया जाय तो वह अत्यन्त असत्पदार्थरूप हो जायेगी। ऐसी स्थिति में असत् के कार्योत्पादक न हो सकने के कारण फिर वही घुमा–फिरा कर बात आ गई कि द्वैतोत्पत्ति निर्हेतुक ही है। यदि उसे सत्य मान लिया जाय तो, ज्ञान से उसकी निवृत्ति न हो सकने के कारण अनिर्मोक्षदोष, यों दोनों ओर से रस्सी कसी जायेगी। पदार्थस्वरूपता निष्कर्ष निकालने में कोई सद्रूप और कोई असद्रूप ही ठहरता है। इन दो प्रकारों से भिन्न कोई तीसरा प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए उक्त मायाशक्ति सत् और असत् से भिन्न कोई तीसरे प्रकार की नहीं हो सकती। यदि तीसरे प्रकार की मान ली जाय, तो भी उसी प्रकार से ज्ञानोत्तर भी द्वैत का निरसन नहीं हो सकता। कोई ज्ञानी यह चाहे कि उस तीसरे प्रकार का पहले या दूसरे प्रकार रूप में हम निर्माण कर लेंगे, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञान कारक नहीं है, अन्य अन्यरूप हो नहीं सकती, स्वरूप परिवर्तन देखा नहीं जाता, उत्पादित नश्वर होता है, अतः पुनर्बन्धन का निवारण भी नहीं हो सकेगा।

'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति' इत्यादि श्रुतिप्रदर्शित परमार्थदृष्टि से गम्य चैतन्य में तो कभी भी द्वित्व और द्वित्वविरोधी एकत्व की प्राप्ति हो ही नहीं सकती, इसलिए वहाँ द्वित्व और उसके विरोधी एकत्व आदि की अनुपपत्ति बतलाना भी अयुक्त ही है ॥३॥

'नेह नानाऽस्ति किंचन', 'न तु तदद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तम्', 'विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम्' इत्यादि श्रुतियों से द्वित्व का ही निषेध किया जाता है, एकत्व का नहीं। इसलिये अविरुद्ध एकत्व का, द्वित्वसमानकक्ष मानकर, कैसे निषेध करते हैं, इस आशय से कहते हैं।

सद्ब्रह्म में द्वित्व के प्रसिद्ध हो जाने पर उसका निषेध करने के लिए एकत्व की कल्पना की जाती है एवं उसी ब्रह्म में एकत्व के सिद्ध हो जाने पर वही एकत्व दूसरे एकत्व को लेकर द्वित्व के रूप में कल्पित होता है, यों उन दोनों की कल्पना परस्पर सापेक्ष होने के कारण वे दोनों ही तुल्य कक्ष ही हैं। वे दोनों कल्पनाएँ चिद्रूप ही हैं। चिद्रूप होने के कारण वह द्वित्व-कल्पना अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखती। एकत्व धर्म भी यदि चैतन्य से अतिरिक्त माना जाय, तो चिदेकरसस्वरूपता का व्याघात हो जायेगा। अतःदोनों असत्-रूप हैं, यह तात्पर्य है ॥४॥ यहाँ पर एक वस्तु का अभाव होने से एकत्व और द्वित्व दोनों का भी अभाव है, क्योंकि एक के बिना द्वितीय नहीं होता और द्वितीय के बिना एकता नहीं होती ॥५॥

अब उपदेश आदि व्यवहार के लिए व्यवहार-दृष्टि और परमार्थ-दृष्टि दोनों का संमिश्रण मानने पर भी दो तरह की सत्ताओं की कल्पना से परमार्थ सत्-स्वरूप वस्तु में व्यावहारिक सत्तावश से जीव-जगद्रूप द्वैत की स्थिति का स्वीकार करने में विरोध नहीं है, ऐसा कहते हैं।

कार्य और कारण दोनों में परमार्थतः अनुगत कारण ही एकमात्र तत्त्व है, अतः उन दोनों की एकरूपता ही रहती है। जैसे बीज आदि के भी, जो फिर फल में पर्यवसित हुए हैं, 'वही यह है' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञायमान अनुस्यूत द्रव्य में एकमात्र विकार से ही नानात्व की कल्पना होती है, वैसे ही प्रकृत में भी नानात्व की कल्पना होती है ॥६॥

यदि सब विकारों में पारमार्थिक सत्ता से भिन्न दूसरी व्यावहारिक सत्ता का स्वीकार नहीं करते तो द्वैत चिद्विकल्प ही है, यह फलित हुआ। ऐसी स्थिति में राहु और उसके मस्तक में द्वैत का विरोध उठाने के सदृश ही आपका आक्षेप है, यह कहते हैं।

चितितत्त्व जगद्रूप चेत्य के विकल्प से चेत्यमय होकर स्वयं स्फुरित होता है। विकार आदि जितने पदार्थ हैं, वे सबके सब तत्स्वरूप ही हैं, उससे भिन्न नहीं; क्योंकि उन विकारों का भीतरी तत्त्व वही चिति है। इसलिये माया और उनके कार्यों की पृथक् सत्ता है, यह पक्ष; अपृथक् सत्ता है, यह पक्ष; असत्ता है, यह पक्ष; या वे किसी तीसरे प्रकार के हैं, यह पक्ष; या अनेकवादियों द्वारा कल्पित वे प्रधान, परमाणु, क्षणिक, अक्षणिक, विज्ञान और शून्यरूप इनमें से चाहे जिस किसी पक्ष का भी तुम अवलम्बन करो, फिर भी असंग, अद्वय, चिन्मात्रवस्तु से तनिक भी स्पर्श न कर रहे सब पक्ष एकमात्र चैतन्य से ही सिद्ध हैं। इसलिए जहाँ चिति को कभी भी बन्धप्राप्ति ही नहीं होती, वहाँ (उस पक्ष में) अनिर्मोक्ष की शंका का उद्भावन तो दूर से ही निरस्त है, यह भाव है ॥७॥

उसकी सारता का ही उपपादन करते हैं।

यतः षड्भावविकारात्मक तथा उनके आश्रय घट आदि स्वरूप यह प्रपंच विकल्पात्मक है, अतः

वह एकमात्र सद्वस्तु से ही आविर्भूत होकर जलाहरण आदि अनेकविध कार्यकारणता आदि से वस्तुओं में सार्थकता प्राप्त करता है अर्थात् उसका भोग में पर्यवसान हो जाता है। चिति में पर्यवसानतारूप ही भोग पदार्थ है, इसलिये चिन्मात्र ही सारभूत वस्तु है, यह भाव है ॥८॥

उस तरह जब जगत एकमात्र विकल्पस्वरूप ही सिद्ध हो चुका, तब उसमें कोई पदार्थ (जल, तरंग आदि) व्यावहारिकरूप, कोई (मरु–मरिचिका, जलतरंग आदि) प्रातिभासिकरूप और कोई (वन्ध्यापुत्र, खरगोश के सींग आदि) अत्यन्त असत्स्वरूप ही हैं, यों जो अवान्तर विलक्षणता के विकल्प होते हैं, वे भी अज्ञानी को ही होते हैं, यह कहते हैं।

जिस तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में खरगोश के सींग से समुत्पन्न धान और जौ आदि के अंकुर भी ब्रह्मस्वरूप होने के कारण जब सत्यरूप हैं, तब उसकी दृष्टि में जल में प्रसिद्ध जो तरंग हैं, वे भी पर्वत के मस्तक पर कल्पित जल के तरंग सदृश ही हैं और वह पर्वत भी खरगोश के सींग के समान असद्रूप ही है; क्योंकि स्वतः असत्त्व और ब्रह्म की सत्ता से सत्ता की कल्पना तीनों में भी समान है, यह भाव है ॥९॥ हे विप्र, इस संसार में अज्ञानजनित सम्पूर्ण पदार्थों में परस्पर व्यावृत्तिस्वरूप (परस्पर एक–दूसरे से भिन्नतारूप) जो व्यवच्छेद (पार्थक्य) है, उसे तत्त्वसाक्षात्कार ही एकता में पर्यवसित कर देता है यानी टूटे–फूटे अनेक टुकड़ों को एक में जोड़ देने की नाईं एकता में पहुँचा देता है। (भाव यह है कि तत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर किसी प्रकार का भेद नहीं रहता।) ऐसे विषय में अनेकविध युक्तियों के उपन्यासों से भी कुछ होता नहीं। कारण यह है कि अज्ञान के निवृत्त न होने पर हजारों युक्तियों से भी अपरोक्ष (प्रत्यक्षात्मक) भ्रम से सिद्ध हुए व्यवच्छेद आदि द्वैत का उन्मूलन अत्यन्त असंभव है ॥१०॥ जैसे तरंग, कण, कल्लोल और जलप्रवाह जल से विभक्त नहीं रहते, वैसे ही तात्त्विक दृष्टि से देखने पर तो ब्रह्म की सर्वशक्तितता अर्थात् समस्त जगत के आकार में दृश्यमान मायिक रूपता वास्तव में ब्रह्म से विभक्त नहीं रहती यानी उसी में तिरोहित हो जाती है ॥११॥

तथाच 'अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्, इस श्रुति प्रदर्शित न्याय से लता आदि में ऐक्य का दर्शन होने पर जैसे उसके पुष्प पल्लव आदि भेदों में अनृतत्व (मिथ्यात्व) सिद्ध ही हो जाता है, वैसे ही आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होने पर जागतिक भेदों में अनृतत्व सिद्ध ही हो जाता है, इसलिए इस विषय में तुम्हारा प्रश्न निराधार है, ऐसा कहते हैं।

भद्र, जिस प्रकार फूल, कोंपल, पत्ता आदि लता से वास्तव में भिन्न नहीं हैं, वैसे ही द्वित्व, एकत्व, जगत्त्व, त्वन्त्व, अहन्त्व आदि भी चिति से भिन्न नहीं हैं ॥१२॥ चिति का देश काल, विकार आदि रूप जो भेद किया गया है, वह भेद चितिस्वरूप ही है। इसलिये जब चिति में द्वैत (भेद) है ही नहीं तब उसमें भेद आया कहाँ से ? यह तुमने असत् कहा है। ऐसे असद्विषय में तुम्हें प्रश्न करना उचित नहीं है ॥१३॥ चूँकि देश, काल और क्रिया की सत्ता एवं नियति आदि शक्तियाँ स्वयं चिति की सत्ता से ही सत्तायुक्त होकर स्थित हैं, इसलिए (वे सब) चिदात्मक (चितिस्वरूप) ही हैं ॥१४॥ जैसे जल, तरंग आदि में अनुगत जलसामान्य वीचि आदि नामयोग्य होकर स्थित है, वैसे ही चित्त, चेत्य और उनकी चेष्टाओं का समूहरूप रूपप्रपंच एवं ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त नामप्रपंच भी चितिस्वरूप होकर अवस्थित है, यह तत्त्वज्ञों का कथन है ॥१५॥ जिसमें तरंगों की तनिक भी सम्भावना नहीं है, ऐसे चिद्विलासरूपी

महासागर का, तरंगवत्ता की नाईं, जो विवर्तनव्यापार है, वही उसका चेत्य के साथ सम्बन्ध है ॥१६॥ वही यह चितितत्त्व परम ब्रह्म, सत्य ईश्वर, शिव आदि तथा शून्य, एक, परमात्मा आदि अनेकविध नामों से कहा जाता है ॥१७॥

पारमार्थिक मेरा तत्त्व वही है, यह कहते हैं।

उन पूर्वोक्त नामों एवं रूपों तथा सामने दिखाई दे रहे साकाररूपों से अतीत जो परमात्मा का स्वरूप है तथा जो अशेष मलों से रहित अहंपदार्थ है, वह वाणी और मन का विषय नहीं है ॥१८॥ जो यह संसार दिखाई दे रहा है, वह चूँकि उस महाचितिरूपी लता के तत्स्वरूप फल, पल्लव तथा पुष्प आदि रूप ही है, अतः उससे भिन्न नहीं है ॥१९॥ यदि विवेक-ज्ञान के लिए अनृत ही जीव-जगद्भाव पूछ रहे हो, तो सुनो वह चिति जब अविद्यारूपी विचित्र वर्णों (रंगों से) से रंगे गये उपनेत्र पहन लेती है, तब जीव नाम धारण करती हुई वह बाह्य जीव-जगद्भाव को, दो चन्द्रमा की नाईं, देखती है ॥२०॥ 'मैं ब्रह्म से भिन्न अचिद्रूप हूँ' यों अज्ञान से भावना करके चिति स्वयं ही अपना संकल्पात्मक अन्यरूप मानों प्राप्त कर लेती है ॥२१॥ यद्यपि चिति कलंक निर्मुक्त रूप से ही सदा अवस्थित है; तथापि कलंकयुक्त जिस पुर्यष्टक रूप की उसने कल्पना कर रक्खी है, उस रूप से संसाररूपी नदी में पहुँचकर उपाधियुक्त चेतन से ही स्फुरित होती है। अपने निष्कलंक चेतन से नहीं, यह भाव है ॥२२॥ यह चैतन्य शरीर चिति ही स्वयं इस पूर्ववर्णित पुर्यष्टक शरीर के द्वारा तादात्म्यअध्यासस्वरूप जीवता प्राप्त करती है और चित्तत्त्व के प्रकाश से चित्प्रचुर होता हुआ जीव जीता है यानी प्राणन आदि क्रिया प्राप्त करता है ॥२३॥

'सर्वव्यापक होती हुई भी चिति इस चित्त में प्रतिबिम्बित होती है' (नि.३२।५२) इस वचन पर किये गये आक्षेप का उक्त रीति से समाधान कर अब 'दृढ़ भावना से पश्चात उसी में चिति अहन्ताशक्तिवाली होती है' (नि. ३२।४२) इस वचन पर किये गये आक्षेप का समाधान करने के लिए चिति को स्थूल देह-प्राप्ति का क्रम बतलाते हैं।

जीवरूपता को प्राप्त हुई यह लोकान्तरगामी सूक्ष्मशरीररूप भी चितिपंचभूतात्मक-स्थूलदेहविषयक संस्कारस्वरूप होकर देह-प्राप्ति के लिए 'मैं धान, जव, तिल उड़द आदि द्रव्यरूप हो गई हूँ, यों भली प्रकार जानती है। इस विषय में 'त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति (♨) जायन्ते') क्षीण कर्मा अनुशयी लोग इस पृथिवी में धान, जव, औषधि, वनस्पति, तिल, उड़द आदि भाविशरीरानुकूल द्रव्यरूप से उत्पन्न होते हैं) यह छान्दोग्य-श्रुति (५।१०।६) प्रमाणरूप है ॥२४॥ प्राणियों द्वारा खाया गया वह द्रव्य तत्काल ही धातुरूप (वृक्ष आदि में बीज आदि रूप) हो जाता है। तदनन्तर अनुभवात्मक ब्रह्म ही स्त्रियों में सेचनक्रम से 'मैं स्थूल देह स्वरूप हूँ' यों जानता है ॥२५॥ (अनुभवात्मक ब्रह्म ही) उक्त अहन्ता आदि क्रम से तत्कालजनित स्थूलदेहानुभवरूप भ्रम के कारण चक्षु आदि के द्वारा स्थावर-जंगमरूप समस्त बाह्य जगत जानता है। पुनः उसकी वासना से स्वयं भी

(♨) प्रस्तुत श्रुति में इति शब्द भावी देह के अनुकूल द्रव्यमात्र का उपलक्षण है। उससे स्थावर, स्वेदज आदि देहस्थल में तत्तत् बीज के अनुकूल जल आदि द्रव्यरूप भी यह होता है, यह द्योतन करने के लिए प्रकृत में 'द्रव्यमस्मीति वेत्ति' यों सामान्यरूप से कहा गया है, यह जानना चाहिए।

पर्याप्तरूप से तत्–तत् पदार्थ–स्वरूप हो जाता है ॥२६॥

यदि शंका हो कि जिस स्थल में मच्छर आदि सूक्ष्म देह का त्याग हुआ है, उस स्थल में उक्त देहाकारवासनात्मना सूक्ष्मरूप से स्थित हुए पुर्यष्टक के दृढ़ अभ्यस्त मच्छर के आकार की और सूक्ष्मपन की निवृत्ति कैसे होगी तथा उसे अनभ्यस्त स्थूल हाथी के आकार का और स्थूलता का लाभ कैसे होगा ? तो इस पर कहते हैं।

जिस प्रकार कौए और तालवृक्ष के आकस्मिक सम्बन्ध में कौए के मरण में प्रयोजक हेतु कर्म ही है, दूसरा कोई नहीं, उसी प्रकार दृढ़ अभ्यस्त वासना के तिरोभाव में और चिरकाल से व्यवहित (दूर रहे) हाथी आदि में अहंभाव–वासना के आविर्भाव में कर्म ही निमित्त है। अतः वह अन्य उद्भूत हुई हाथी आदि की वासना के सम्बन्ध से चिरकाल से अभ्यस्त हुए भी सूक्ष्म मच्छर आदि आकार का त्याग करता है ॥२७॥

विरोधी वासना के आविर्भाव से पहले की वासना का तिरोभाव और उत्तरकालिक दूसरी वासना की अभ्यास से दृढ़ता होती है, इस विषय में दृष्टान्त कहते हैं।

अपने ही द्वैतसंकल्प से एक में ही द्वैत की ऐसे प्रवृत्ति हो जाती है, जैसे पुरुष की वेताल–कल्पना से उसमें भयंकर भासुर वेताल प्रवृत्त हो जाता है ॥२८॥ जिस प्रकार 'मैं कुछ नहीं करता' इस तरह के संकल्प से पुरुष में कर्तृत्व निवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा का भी द्वैत, अद्वैत–भावना से निवृत्त हो जाता है ॥२९॥ द्वैतसंकल्प से अद्वितीय वस्तु में भी द्वित्व की प्राप्ति हो जाती है और अद्वैतभावना से तो अनेकात्मक जगत का भी द्वित्व नष्ट हो जाता है ॥३०॥ भद्र, विकार आदि से शून्य, सदा सर्वगामी तथा परमात्मा का स्वरूपभूत होने से आत्मा में कभी द्वैतभाव नहीं रहता ॥३१॥ हे मुने, अपने संकल्प से निर्मित मनोराज्य और गन्धर्वनगर की नाईं जो वस्तु अपने संकल्प से बनायी गई है, वह संकल्प के अभाव से नष्ट हो जाती है, यह प्रसिद्ध बात है ॥३२॥ मानसिक प्रयत्न के द्वारा किसी की रचना करने में तो श्रम होता भी है, परन्तु संकल्प का विनाश करने में तो कुछ भी श्रम नहीं होता। *(क्योंकि एकमात्र उदासीनता का अवलम्बन करने से अपने–आप संकल्प विनाश सिद्ध हो जाता है। यह बात प्रसिद्ध ही है, यह कहते हैं।)* ठीक ही है मन के मनोरथों से रचित नगरों के निर्माण में एकमात्र संकल्प ही, असंभावित रचना में समर्थ होने के कारण, दिव्य शिल्पी प्रसिद्ध है, परन्तु उन नगरों के विनाश में नहीं ॥३३॥ केवल दृढ़ संकल्प से जो यह संसाररूपी दुःख प्राप्त हुआ है, वह केवल संकल्प के अभाव से ही नष्ट हो जायेगा, फिर इस विषय में क्लेश ही क्या ? ॥३४॥ तनिक भी संकल्प कर मनुष्य दुःख में डूब जाता है और कुछ भी संकल्प न कर वह अविनाशी सुख पाता है ॥३५॥ महर्षे, जब तक तुम्हारी बुद्धि संकल्परूप सर्प से निःशेष मुक्त नहीं होती, तब तक सर्वविध गुणों से उत्कृष्ट नन्दनवन में उच्च स्थान पर स्थित हुए भी तुम क्लेशरहित होकर शोभित नहीं हो सकते ॥३६॥

तब संकल्पनाश का क्या उपाय है ? इस प्रश्न पर उसका उपाय बतलाते हैं।

हे मुने, अपने विवेकरूपी पवन से संकल्परूप मेघों का विनाशकर, शरत्काल में आकाश–मण्डल की नाईं, तुम उत्तम निर्मलता प्राप्त करो ॥३७॥ अविवेकरूप प्रबल प्रवाह से उमड़ रही उन्मत्त संकल्परूप नदी तुम मणिमन्त्र से सुखा दो। और उसमें बह रहे आत्मा को धैर्य देकर मन से रहित हो जाओ ॥३८॥

संकल्परूप पवन से कम्पित हुए, पत्तों एवं तिनकों के टुकड़ों की नाईं प्राणीमात्र के हृदयाकाश में भ्रमण कर रहे इस चिदात्मा का, विवेक का आश्रय लेकर, साक्षात्कार करो ॥३९॥ अपने-आप अपनी संकल्पात्मक कालिमा का निवारण करके आत्मा की उत्तम विशुद्धता प्राप्तकर अविनाशी आनन्दरूप हो जाओ ॥४०॥ चूँकि, यह आत्मा समस्त शक्तियों से परिपूर्ण है, अतः जब कभी वह किसी वस्तु की जैसी भी पर्याप्तरूप से भावना करता है, अपने संकल्प के विलास से उस वस्तु को उसी समय वैसा ही देखता है ॥४१॥ हे ब्रह्मन्, यह उत्पन्न हुआ मिथ्यारूप जगत एकमात्र संकल्पात्मक ही है, अतः केवल संकल्प के अभाव से ही, न जाने, कहीं भी विलीन हो जाता है ॥४२॥ संकल्परूपी पूर्वी हवा से व्यथित जन्मस्वरूप मेघों का समूह असंकल्परूप पश्चिमी हवा के स्पर्श से ब्रह्माकाश में विलीन हो जाता है ॥४३॥ हे महर्षे, संकल्परूप जड़ उखाड़कर अत्यन्त दृढ़ता को प्राप्त हुई इस तृष्णारूपी करंज लता को तुम सुखा डालो ॥४४॥

अविद्या, काम और संकल्प का विनाश होने पर भी यदि जगत का अवभास होता हो, तो वह केवल प्रतिभासरूप ही ठहरा, ऐसी स्थिति में जीवन्मुक्तों के अनुभवों से सिद्ध दृष्टि सृष्टि -पक्ष ही अवशिष्ट रह जाता है, इस आशय से कहते हैं।

जिस प्रकार गन्धर्वनगर की उत्पत्ति और विनाश एकमात्र प्रतिभास स्वरूप ही है, उसी प्रकार यह संसाररूप विभ्रम की उत्पत्ति और विनाश भी एकमात्र प्रतिभासस्वरूप ही है ॥४५॥

जब तक अज्ञान है, तभी तक जगत का प्रतिभास शोक में कारण है, अज्ञान का विनाश हो जाने पर तो वह शोक में कारण नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

'मैं राजा हूँ' यों अपना असली स्वरूप भूलकर तभी तक राजा शोक करता है जब तक कि उसके हृदय में 'मैं राजा हूँ' यों अपने वास्तव स्वरूप की स्मृति उत्पन्न नहीं हो जाती ॥४६॥

यदि शंका हो कि पहले के दीर्घकाल से अभ्यस्त संसार के अनेक संस्मरण तत्त्वज्ञानी के भी वर्तमानकालीन 'मैं ब्रह्मरूप हूँ' इस स्मरण को ढक देंगे, ऐसी स्थिति में उसे पुनः संसार शोक बना ही रहेगा, तो इस पर कहते हैं।

हे ब्रह्मन्, जैसे उपस्थित शरद-ऋतु से निरस्त हुई वर्षाऋतु, मेघरूप जड़ता से शरद का आच्छादन करने में सामर्थ्य नहीं रखती, वैसे ही इस राजा और तत्त्ववेत्ता को गुरु के उपदेश से उत्पन्न हुई ' मैं राजा हूँ', 'मैं ब्रह्म हूँ' इस स्मृति से निरस्त प्राचीन दुःखों की स्मृति अपनी जड़ता से आच्छादन करने में सामर्थ्य नहीं रखती ॥४७॥

यही स्मृति प्रबल है, इसमें कारण क्या है ? तो मनन, निदिध्यासन के अभ्यासरूप पुरुष प्रयत्न से उसका सुदृढ़ बना रहना ही कारण है, इस आशय से कहते हैं।

चित्त की दो वृत्तियों में जो चित्तवृत्ति अकस्मात उत्तरोत्तर सुदृढ़रूप से होती जाती है, वही दूसरे को उस प्रकार दबाती जाती है, जिस प्रकार वीणा के तार और मन्द दो स्वरों में जो ही ऊँचा स्वर होता है, वही दूसरे को दबाकर कान पर आरूढ़ हो जाता है ॥४८॥

बिना विच्छेद के निरन्तर चल रही ' मैं ब्रह्म हूँ' यह स्मृति ही मेरी मुख्य मानस पूजा है, दूसरी नहीं, इस आशय से कहते हैं।

हे मुने, मैं अद्वितीय शिवरूप देव हूँ, वही देवस्वरूप अद्वितीय शिव तुम्हारे अहंकार से उपलक्षित, नित्य, अपरोक्ष, चिदेकरस–स्वरूप मैं ही हूँ, यों एकमात्र अविच्छिन्न स्मृतिधारा की तुम भावना करो। उस प्रकार की देवपूजारूप भावना से ही युक्त हुए तुम अवश्य ही उक्त शिवरूप हो जाओगे, दूसरी बाह्य–पूजा से नहीं ॥४९॥ महर्षे, उक्त रीति से (तुम अद्वितीय–ब्रह्मभावमयी ही पूजा करो, दूसरी बाह्यपूजा नहीं) यह बाह्य पूजा तुम्हारे जैसे ज्ञानियों को योग्य नहीं है, क्योंकि बाह्य पूजा तुच्छ फलों में इच्छा रखनेवाले अज्ञानी जनों के लिए ही प्रकाशमान है यानी उन्हीं के योग्य है। तुम्हारे योग्य उपास्य तो उत्तमपदस्वरूप परमार्थ सत्तात्मक परब्रह्म ही एकमात्र देव है, उसकी पूजा में पूजक (पूजा द्रव्यों का स्वामी), सुन्दर षोड़शोपचार से पूजन एवं पूज्य (प्रतिमा, लिंग आदि) कुछ भी नहीं है, वह सब उसके पूजन में तुच्छ पदार्थ–सा है, क्योंकि वह सामग्री मन की एकमात्र कल्पना ही है ॥५०॥

तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

चौंतीसवाँ सर्ग

सौषुप्त तुर्य और तुर्यातीत पद का उपदेश देकर तुर्यातीतपद में ईश्वर ने विश्राम किया इसका वर्णन।

ईश्वर ने कहा : महर्षे, यों इस देवपूजा से पूजित हो रहा यह जगत बाध–दृष्टि से असत् एवं अधिष्ठान–दृष्टि से सत् और देवस्वरूप होकर स्थित है, यह कहना ठीक है। तथा परमार्थदशा में यह विश्व द्वित्व और एकत्व से विनिर्मुक्त एवं व्यवहारदशा में द्वित्व और एकत्व से युक्त भी है, यह कहना भी ठीक है यों सर्वविध विरोधों का परिहार हो गया, यह भाव है ॥१॥

यह जगत क्यों द्वैत एवं एकरूप है और क्यों उनसे निर्मुक्त है, इस शंका पर कहते हैं।

चितितत्त्व ने मोहकृत जड़ता की कल्पना से अपने में संसाररूपता (द्वैतरूपता) प्राप्त की है तथा मोहरूपी कलंक से रहित हुआ वह असंसारी देखा जाता है। इसलिये वह अभिन्न और अद्वयात्मक है ॥२॥

उसी बात का स्पष्टीकरण करते हैं।

'मैं दृश्य देहादिस्वरूप हूँ' इस प्रकार मोह को प्राप्त हुई चिति संसार में फँस जाती है और दृश्य के प्रकाशन में समर्थ इसी चित्कला का, जो अपने से अभिन्नरूप है, अनुभव कर संसार के बन्धन से निर्मुक्त हो जाती है ॥३॥ अर्थाकार की भावना से द्वैतभाव प्राप्तकर यह चिति अपनी अखण्ड सत्ता भूल जाती है और देह के सुख–दुःख आदि से मिली हुई असत्यरूप ही अपनी स्थिति को क्षणभर में 'सत्यरूप है' यों अवधारण कर लेती है (यही इसकी कलंकयुक्त स्थिति है।)॥४॥

अब कलंकवर्जित स्थिति कहते हैं।

विमल, अवयवों से रहित, सत्य या असत्य इस तरह के भिन्न–भिन्न सभी कल्पित नाम–रूपों से निर्मुक्त यह चिति, व्यवहार–काल में सम्पूर्ण नाम–रूपात्मक होती हुई भी, शून्यस्वभाव ही है ॥५॥

उक्त निष्कलंक स्थिति की प्रतिष्ठा बढ़ाने के निमित्त सुषुप्ति आदि भूमिकाओं का भेद दिखलाने के लिए उपक्रम करते हैं।

पूर्ण, अनुपम एवं शान्त स्वभाव ब्रह्म ही आकाश की नाईं पहले विकसित होनेवाली ब्रह्मशक्ति से

(अपनी मायाशक्ति से) जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति; सृष्टि, स्थिति और संहार या आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन मार्गों से प्रवृत्त हुए इस जगत के रूप में मन के द्वारा विस्तार को प्राप्त हुआ है ॥६॥

इसलिए मन का उच्छेद होने पर ही इस जगत का उच्छेद हो जायेगा, यह कहते हैं।

महर्षे, मन के द्वारा सत्यभूत ब्रह्मतत्त्व के साक्षात्कार से अपनी चक्षु आदि इन्द्रियों के व्यापारों में हेतुभूत मन के छिन्न–भिन्न हो जाने पर प्रच्छन्न जगतरूपी जाल विलीन हो जाता है और तदनन्तर कल्पनारूप जर्जर इस संसार की कलना नष्ट हो जाती है। (इस प्रकार तत्त्वज्ञान से कल्पनाओं के साथ मन के विनष्ट हो जाने पर जीवन्मुक्त की पहले जिस भूमिका में स्थिति होती है, उसे लक्षण एवं नामों से दिखलाते हैं।) उस अवस्था में जीव की भूँजे गये बीज की नाईं 'इति'(卐) नामवाली सत्ता होती है ॥७,८॥

इस रीति से उस दशा में समस्त दृश्यों का बाध हो जाने के कारण एकमात्र अपरोक्ष दृष्टि के ही बच जाने से उसका दूसरा नाम 'पश्यन्ती' भी है, यों कहते हैं।

शरत्काल के आकाशमण्डल की नाईं मानसिक मोहरूपी बादलों से निर्मुक्त उक्त अवस्था चित्त के विषयों की चर्वणाका (बार–बार प्रीतिपूर्वक अनुस्मरण का) परित्याग कर रही 'पश्यन्ती' नाम से योगियों द्वारा व्यवहृत होती है ॥९॥ पहले चित्त के संकल्प आदि विषयों से उपहित चिति चंचलता को प्राप्त हुई भी इस उपर्युक्त अवस्था में वह अपने एकमात्र चैतन्य–स्वभाव में स्थित होकर समस्त उपाधियों से विनिर्मुक्त हो जाती है और समस्त पदार्थों की सत्तारूप से अवशिष्ट होकर जीवित अवस्था में ही संसाररूपी समुद्र पार कर जाती है ॥१०॥ अविनाशी निरतिशयानन्दस्वरूप आत्मप्राप्तिरूपी पाण्डित्य से स्थूल हुई वह चिति उक्त दशा में परमपद प्राप्तकर समस्त श्रमों से निर्मुक्त होती हुई व्यापक ब्रह्मपद में विश्राम करती है। (इससे उसका 'महासुप्तपद' नाम भी सूचित हुआ।) ॥११॥

अब दूसरे स्थान का वर्णन करनेवाले भगवान शंकर वर्णित प्रथम स्थान का उपसंहार करते हैं।

हे विप्रेन्द्र, मन के विनष्ट हो जाने पर जो सबसे पहली स्थिति प्राप्त होती है, वह तुमसे कही गई। अब तुम इस चितिशक्ति की परम पवित्र दूसरी स्थिति सुनो ॥१२॥ मन से वर्जित यही चिति शक्ति

(卐) 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः' (योगियों एवं कर्मियों के द्वारा सेवित, जीव से विलक्षण, सबके नियामक परमेश्वर को 'सर्वात्मरूप मैं ईश्वर हूँ' इस रूप से जब जानता है तब इस परमेश्वर की विभूति को 'ईश्वररूप मेरी ही यह जगद्रूपा विभूति है' यों जानता है, तब शोकरहित होकर कृतकृत्य हो जाता है।) इस श्वेताश्वतर श्रुति में तथा छान्दोग्य में 'स्वपिति' शब्द के निर्वचन समय में किये गये 'स्वम्' 'अपि' 'इति' इस विभाग में इस सत्ता का इतिपद से व्यवहार किया गया है, अतः इति' यह नाम ठीक है, यह जानना चाहिए। यद्यपि अज्ञ की सुषुप्ति में भी 'स्वपिति' शब्द का प्रयोग होता है, तथापि तत्त्वज्ञान से अज्ञान आदि का बाध हो जाता है, अतः जिस उपाधि का जिस अविद्या में लय होता है, उन दोनों के न रहने के कारण जब अप्यय–बोधक अपिशब्द की ही निवृत्ति हो गई तब स्वरूपप्राप्त्यर्थक इतिशब्द ही अवशिष्ट रह गया, अतः इति शब्द उसका नाम हो सकता है, यह भाव है।

शान्ति से राजित, सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतियों से एवं अन्धकार, अज्ञान आदि जड़ता से विनिर्मुक्त तथा विस्तृत आकाश की नाईं परम सुन्दर है ॥१३॥

दूसरी अवस्था में पहली अवस्था की अपेक्षा चितिशक्ति के जो विशेष धर्म हैं, उन्हें कहते हैं।

निबिड़ सुषुप्ति–स्थिति की झलक के सदृश, पाषाणशिला के भीतरी अवयवगठन के सदृश, सैंधव नमक के अन्दर स्थित रस के सदृश और वायु के अन्तर्गत विद्यमान स्पन्दनशक्ति के सदृश जब पहली भूमिका अभ्यास के द्वारा समय पाकर खूब परिपक्व हो जाती है तब आकाश में विद्यमान शून्यशक्ति की नाईं चिदेकघन ब्रह्माकाशभाव प्राप्तकर वह उस प्रकार विषयोन्मुखता का परित्याग करती है, जिस प्रकार (वायु आदि क्षोभक पदार्थों के अभाव में) जल चंचलता का, वायु–कला चलन का और पुष्प लेखा सुगन्ध का परित्याग करती है ॥१४–१६॥ क्रियारूप काल–कला से तथा अवकाश की अपेक्षा रखनेवाली परिच्छिन्न वस्तुरूप आकाश की कला से युक्त कालरूपता और आकाशरूपता का, उन कलाओं के परित्याग से ही, परित्याग कर समस्त दृश्यमात्र की कल्पना न करनेवाली, जड़ता और अजड़ता से शून्य विशुद्धस्वभाव उक्त चिति शब्दों से निर्वचन के अयोग्य–वक्ष्यमाण सत्ता धारण करती है ॥१७॥ देशकृत एवं कालकृत परिच्छेद से रहित, सर्वातिशायी, त्रिकालाबाधित सत्ता पद को प्राप्त हुई जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति से चतुर्थ जो विराट, हिरण्यगर्भ और अव्याकृत से चतुर्थांश है, उससे प्रकाशमान सर्वविध कलंकों और रोगों से रहित सत्ता का उक्त चितिशक्ति परिग्रह करती है ॥१८॥ हे विशालनेत्र, उक्त स्वरूपवाली किसी एक ऐसी अनिर्वचनीय सत्ता का चितिशक्ति परिग्रह करती है, जो साक्षी की नाईं प्रकाशमान होकर अवस्थित रहती है और सबकी हेतु, सब काल में विद्यमान समस्त वस्तुओं के प्रकाशों तथा आनन्दों से श्रेष्ठ और स्पृहणीयतर है ॥१९॥

उक्त तुर्यरूप द्वितीय भूमिका का उपसंहार करके तृतीय भूमिका का अवतरण करते हैं।

हे उत्तम व्रत का आचरण करनेवाले, तत्त्वज्ञों में श्रेष्ठ महर्षे, यह द्वितीय भूमिका आपसे कही गई। अब मैं तृतीय भूमिका का निरूपण करूँगा, आप सुनिये ॥२०॥

तृतीय भूमिका में पहले की भूमिकाओं की अपेक्षा जो विशेषधर्म हैं, उन्हें कहते हैं।

यह चिति तृतीय भूमिका में ब्रह्माकार अखण्डवृत्ति और उस वृत्ति का विषय ब्रह्म इन दोनों का नीरक्षीर न्याय से एकीकरण हो जाने के कारण ग्राहक अंश और ग्राह्य अंश से शून्यरूप स्थिति को प्राप्त हो जाती है, इसीलिए ब्रह्म, आत्मा इत्यादि शब्द और अर्थों से निर्मुक्त हुई विशुद्धरूप से उदित होती है। तात्पर्य यह है कि पहले की भूमिका संप्रज्ञातसमाधि से प्राप्य है और यह तृतीय भूमिका असंप्रज्ञात समाधि की सुदृढ़ स्थिति से प्राप्य है, यह विशेष हुआ ॥२१॥ यह तृतीय भूमिका जन्म आदि छः भावविकारों से शून्य होने के कारण काल से भी विचलित नहीं होती, अज्ञान आदि अन्धकार से विनिर्मुक्त वह स्वयं ही कलंकों से रहित है। तुर्यातीत आदि उनका नाम होने से भी वह सर्वातिशायी परमपुरुषार्थरूप है ॥२२॥ वह सभी उत्तमोत्तम अवस्थाओं की परम अवधि है, परम मंगलरूप होने के कारण समस्त मंगलों में प्रधान मंगल है, सर्वमुख्य विच्छेदशून्य चिति ही तृतीय पावनकारी स्थिति है ॥२३॥ इस भूमिका में जो चिरकाल तक स्थिति है, वह सब मार्गों से (शैवशास्त्रोक्त प्रसिद्ध छः मार्गों से और श्रुतिप्रसिद्ध धूम्र, अर्चि आदि मार्गों से) तथा उन मार्गों के द्वारा अपनी–अपनी उपासनाओं के अनुसार

तत्–तत् लोक को प्राप्त हुए उपासकों से भी दूरवर्ती है। इसलिए हे मुने, मेरी भी वाणी का वह विषय नहीं है, किन्तु वह स्वयं ही अनुभूत होती है ॥२४॥ हे मुने, जाग्रत् आदि तीन मार्गों से, कल्पना से तथा कल्पनासापेक्ष तुर्यत्व संख्या से अतीत पद तुमसे मैंने कहा, उसी पद में तुम सदा अवस्थित रहो। वह पद ही अविनाशी पूज्य देव है, दूसरा नहीं ॥२५॥ हे मुने, इस समस्त जगत् का उपादान वही (तृतीयपदरूप देव) है, इस विज्ञान से यह समस्त विश्व तन्मय ही बन जाता है। हे मुनीश्वर, उपादान से अतीत अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व के विज्ञान से यह नहीं है और यह नहीं भी नहीं है यानी 'अस्ति' और 'नास्ति' इन दोनों विकल्पों से वर्जित है ॥२६॥

उसीका स्पष्टीकरण करते हैं।

वास्तव में यह न कुछ प्रवृत्त होता है और न कुछ निवृत्त ही होता है। अपने उदर की नाईं केवल शान्त, एकरूप से प्रतीयमान आकाश आदि एकरूप पदार्थों की अपेक्षा से भी अधिक एकरूप भासित होनेवाला वह केवल प्रकाशित होता है ॥२७॥

क्यों वह समानों से भी अधिक समान भासता है ? इस प्रश्न पर समानाभास में हेतु बतलाते हैं।

द्वैत के साथ एकता का अभाव, उक्त घनीभूत चेतनरूप होने के कारण संक्षोभ का अभाव, विकार आदि का अभाव, चिरकालिक नित्य भी काल, आकाश आदि की अनित्यता की सम्पादक तथा चिद्घन होने के कारण (🕮) चिति के साथ सत्–पदार्थों का या असत्–पदार्थों का या बालकसदृश अज्ञानियों द्वारा कल्पित आकाश में शिलाकोश की नाईं अनिर्वचनीय सम्पूर्ण जगत् का तनिक भी भेद नहीं है। अतः समसमाभास जो कहा गया है, वह ठीक ही है ॥२८,२९॥

उक्त तुर्यातीतत्व का ही उपपादन कर रहे श्री महादेवजी उपसंहार करते हैं।

सम्पूर्ण संसार शान्त, सुशिव एवं वाणी के व्यापार से अतीत उक्त पदस्वरूप है। विराट् आदिरूप अकार आदि मात्रा–भेद से कल्पित चार पादों से विभक्त हुए 'ॐ' इस अक्षर की अर्धमात्रा की जो चार नाद, बिन्दु, शक्ति और शान्तानामक मात्राएँ हैं, उनमें जो चौथी शान्तानाम की मात्रा है, वही परमगति है ॥३०॥ श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : शंकरजी ने पूर्वोक्त प्रकार से उपदेश दिया, तदनन्तर इस वसिष्ठमुनि के तथा अन्य स्कन्द, नन्दी आदि सभी श्रोताओं के साथ जहाँ पर प्रणव की अर्धमात्रा का चरम भाग बिलकुल उपशान्त हो जाता है, ऐसे शान्तरवनामक सर्व–संसार के पारभूत तुरीय के तुरीय पद में भूमानन्दचितिरूपी विमलदृष्टि के साथ एकरसरूप हो जाने से परिणामतः वृत्तियों को विश्रान्त कर भगवान् शंकरजी उस वसिष्ठजी के आश्रम में क्षणभरतक निश्चेष्ट होकर चुपचाप बैठ गये, क्योंकि मन की परम पद में विश्रान्ति होने पर उसके अधीन सम्पूर्ण इन्द्रियों के व्यापार समाप्त हो गये थे ॥३१॥

चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त

(🕮) प्रलयकालीन समुद्र के समान द्वैत के साथ ऐक्य का अभाव होने पर भी स्वात्मा में संक्षोभ होगा, इस पर 'नहीं' ऐसा कहते हैं – 'असंक्षोभात्'। संक्षोभ क्यों नहीं होगा ? इस पर कहते हैं – 'घनचेतनया'। सैंधव–खण्ड के घनीभूत होने पर भी उसके रस में द्रवत्व आदि विकार जैसे देखा जाता है, वैसे ही यहाँ पर भी अवश्य कुछ विकार होगा, इस पर कहते हैं – 'अविकारादिमत्त्वाच्च'।

पैंतीसवाँ सर्ग

ब्रह्मा, विष्णु और शंकर आदि के जो परम पितास्वरूप महादेव हैं,
वे ही परमात्मा पूज्यों की चरम अवधि हैं इसका वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, तदनन्तर क्षण भर में गौरीरूप कमलिनी के सरोवरभूत महादेवजी ने भक्त के ऊपर अत्यन्त वात्सल्यभाव रखने के कारण मुझे ज्ञान देने के लिए उत्सुक होकर अर्थात् मेरे भाग्योदय से प्रेरित होकर अपनी इच्छा से नेत्रोन्मीलन का स्वीकार किया यानी उन्होंने अपनी आँखें खोल दीं ॥१॥ भद्र, जैसे मेघसंपुट से यानी मेघों के बीच से अथवा आकाश और पृथिवी के बीच से उदित हुआ किरणों का समूहस्वरूप सूर्य दिवस को अभिव्यक्त करता है, वैसे ही भगवान् शंकर के निर्मल और त्रिपुण्डरूपी शरत्कालीन अभ्ररेखा से अंकित होने के कारण मुखरूपी आकाशतल में उदित हुए चन्द्र, सूर्य और अग्निरूपी नेत्रों के समूह ने समाधि का व्युत्थान अभिव्यक्त किया ॥२॥

तत्त्वबोध में उपयोगी होने के कारण भगवान् पहले उपाय और उपेय रूप सार बतलाते हैं।

ईश्वर ने कहा : हे मुने, तुम पहले विचार को सन्निधि में लाकर अपने (प्रत्यगात्मा के) पारमार्थिक स्वरूप का ही प्रमाणों से शीघ्र निर्धारण करो। उक्त प्रत्यगात्मा में अनर्थभूत (बहिर्मुखता के आपादन द्वारा सम्पूर्ण अनर्थों के मूलभूत) त्वमर्थ का यानी युष्मत्-प्रत्यय के योग्य अचिदंश का ग्रहण मत करो, क्योंकि जैसे स्पन्दनशक्ति का नयन कर रहा पवन अचल ही आकाश को ताप, रज, जड़ता आदि से युक्त बनाता है, वैसे ही यह त्वमर्थ भी आत्मा को जड़ता आदि अनर्थों से युक्त बनाता है ॥३॥

त्वमर्थ में भी द्रष्टव्य, हेय और उपादेय बहुत है, फिर उसका आदर क्यों न किया जाय ? इस पर कहते हैं।

जो कुछ इस संसार में दर्शन योग्य है, उसे तत्त्वज्ञानी ने देख लिया; क्योंकि 'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातं भवति' (जिसका ज्ञान हो जाने पर अश्रुत श्रुत, अविचारित विचारित और न जाना गया जाना गया होता है) इत्यादि श्रुति के अनुसार आत्मदर्शन द्वारा ही सम्पूर्ण द्रष्टव्य पदार्थों का तत्त्वतः दर्शन हो ही जाता है। अतः उसे (तत्त्वज्ञ को) देखे गये या न देखे गये भ्रमों के साथ प्रयोजन ही क्या रहा ? भ्रम-विषयों में तत्त्वज्ञानी के लिए कोई हेय या उपादेय नहीं रहता, यह मैं ठीक जानता हूँ ॥४॥ स्वीकृत इष्ट और परिहृत अनिष्ट विषय जब चित्त के आश्वासन में हेतु होते हैं, तब वे शान्तिमय हो जाते हैं और जब विक्षेप के हेतु हो जाते हैं, तब वे ही अशान्तिमय हो जाते हैं। शान्तिमय और अशान्तिमय इन विकल्पों का यदि दलन करते हो, तो तुम धीर और तलवाररूप हो। यदि वैसा नहीं करते तो तुम धीर नहीं हो। इसलिए आस्था रखकर तुम आत्मदृक् और धीर बन जाओ (दृश्य आकारों का स्पर्श न करनेवाली चिदात्मस्वभाव से अवस्थिति ही मुख्य स्थिति है, यह भाव है।) ॥५॥

अथवा धीर-तलवार बनने में यदि तुम असमर्थ हो, तो उसकी प्राप्ति के लिए पुनः कुछ काल तक श्रवण आदि में अनुकूल कुछ थोड़ी-सी बाह्य-दृष्टि का अवलम्बन कर लगातार तत्त्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करो, प्रमाद से कभी भी प्रयत्न से विरत मत होओ, यही कहते हैं।

(यदि तुम तथोक्त धीर बनने में असमर्थ हो, तो) बाह्यज्ञान के (♨) यानी ब्रह्मज्ञान के लिए शीघ्र ही श्रवण आदि में अनुकूल इस बाह्यदृष्टि का आश्रय लेकर मेरे द्वारा जो कुछ कहा जाय उसे तुम सुनो। आत्मज्ञान के प्रयत्न के बिना चुपचाप बैठे रहने से कौन-सा पुरुषार्थ होगा ? ॥६॥

बाह्याकार दर्शनों के मध्य में देहात्मतादर्शन ही महान् अनर्थ और सम्पूर्ण अनर्थों का बीज है, अतः उसे ही मुझसे छुड़ाने के लिए भगवान् प्रवृत्त हुए, यों महाराज वसिष्ठजी कहते हैं।

त्रिशूलधारी भगवान् शंकर ने उस तरह का दूसरा कल्प कहकर आगे कहे जानेवाले देहात्मभ्रम के निरास के लिए फिर यह कहा कि तुम बाह्यदेह आदि में आत्मज्ञानी मत बनो। *(देह की क्रियाशक्ति जैसे पराधीन है, वैसे ही चेतनशक्ति भी पराधीन है। इसलिए देह में आत्मा की प्रसक्ति नहीं हो सकती, इस अभिप्राय से प्राण के अधीन देह की चेष्टा है, यह कहते हैं।)* यन्त्र की नाईं प्राण से ही यह देहरूपी घर स्फुरित होता है ॥७॥ प्राण-वायु से शून्य हुआ देहरूपी घर संचलन छोड़कर मूक के सदृश स्थित रहता है। देहरूपी घर में चलनानुकूल क्रियाशक्ति प्राणवायु प्रयुक्त है और संवेदन शक्ति तो आत्मचिति ही है ॥८॥

उनमें क्रियाशक्ति का मूल और आश्रय दोनों नष्ट हो जाते हैं, परन्तु चितिशक्ति नष्ट नहीं होती, यह कहते हैं।

वह चितिशक्ति अमूर्त और आकाश से भी स्वच्छ है। तीनों काल में कभी बाधित न होनेवाली उस चिति की सत्ता ही उसके अविनाश में हेतु है। क्रियाशक्ति का मूल प्राण और क्रियाश्रय देह दोनों नष्ट हो जाते हैं और देहवियोग से ही प्राण वायुस्वरूप हो जाता है ॥९॥ आकाश से भी स्वच्छ चिदात्मा नष्ट नहीं होता। (इसलिए अनेक प्रकार के) भ्रमों से क्या होगा ? *(चिदात्मा क्यों नष्ट नहीं होता ? इसमें उपपत्ति कहते हैं।)* क्योंकि लिंगदेह से संवलित मनःप्राणमय देह में आवरणरहित चितितत्त्व की ही अभिव्यक्ति होती है ॥१०॥

स्थूलदेहमात्र में तो मलिनता होने से चिति को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य नहीं है, इसका दृष्टान्त द्वारा उपपादन करते हैं।

हे मुनिनायक, निर्मल आभासवाले दर्पण में किसी तरह की प्रतिबिम्बक्रिया के बिना भी वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है और जैसे मलयुक्त दर्पण में सामने उपस्थित विद्यमान वस्तु का भी प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, वैसे ही देह के विद्यमान रहने पर भी प्राण के निकल जाने से उसमें चिति का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता ॥११,१२॥

अतएव सर्वव्यापक होती हुई भी चिति मायाकलंक से आवृत होने के कारण लिंगदेह को छोड़कर अन्यत्र बाह्यक्रियाओं में और अपना असली स्वरूप जानने में समर्थ नहीं होती और लिंगदेह में आवृत न

(♨) सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥ सम्पूर्ण लोकों के नेत्ररूप सूर्य जैसे बाह्य चक्षु के दोषों से लिप्त नहीं होता, वैसे ही एक और सब भूतों के अन्तरात्मा भी लोक दुःखों से लिप्त नहीं होता) इस श्रुति में अलेपकता के समर्थन के लिए समस्त प्रपंच के बाह्यरूप से बतलाया गया आत्मा 'बाह्य' शब्द का अर्थ है, उसके ज्ञान के लिए, यह 'बाह्यबोधाय' का अर्थ है।)

होने के कारण उनकी वृत्ति द्वारा उन दोनों में यानी बाह्य क्रियाओं में और अपना स्वरूप जानने में समर्थ होती है, यह कहते हैं।

सर्वव्यापक होती हुई भी चिति बाह्य घटादि–आकार से स्थूल हुई बुद्धिवृत्ति से देहस्पन्दन आदि के प्रति समर्थ होती है। और ब्रह्माकारज्ञान से तो मायाकलंक से निर्मुक्त होकर वह परमशिव यानी कैवल्यनामक परमकल्याणस्वरूप हो जाती है। अभिव्यक्त हुई वह चिति ही सम्पूर्ण पदार्थों की सत्तारूप स्फूर्ति का प्रदान करनेवाली है और वही देवतास्वरूप है ॥१३॥

चिति की अभिव्यक्ति में उत्कर्ष के कारण ही हरि, हर आदि देवताओं में भी उत्कृष्ट देवरूपता है, इस आशय से कहते हैं।

वही हरि है, वही शिव है, वही हिरण्यगर्भ है, वही चतुर्मुख ब्रह्मा है, वही देवताओं का पति इन्द्र है, वही वायु, अग्नि, चन्द्र एवं सूर्यरूप है और वही परमेश्वररूप है ॥१४॥ वही सर्वत्र व्यापक आत्मा है, सर्वचैतन्याकार चेतन है, देवेश देवभृत्, धाता, देवदेव और स्वर्गस्वामी है ॥१५॥ महाचैतन्य के जगदात्मक समुल्लास की ओर जो मुग्ध नहीं होते, ऐसे जो भी कोई हैं, वे ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि उत्तम देवताओं के स्वरूपों में प्रसिद्ध हैं ॥१६॥

जो परब्रह्मरूप देवता है, उसकी दृष्टि में तत्–तत् गुण में अभिमान रखनेवाले, ये ब्रह्मा आदि सृष्टि आदि कार्य के लिए आविर्भूत हुए हैं और अग्नि के विस्फुलिंग की नाईं लक्षित होते हैं, इस आशय से कहते हैं।

भद्र, परम चिति से चारों ओर से निकले हुए ये ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि तपे हुए लाल–लाल लोहे के गोले से निकले अग्नि–कणों की नाईं और समुद्र से निकले जलबिन्दुओं की नाईं परमचैतन्य के ही एक अंशरूप हैं ॥१७॥

यह जो कहा गया है, वह अशास्त्रीय व्यवहारदृष्टि से कहा गया है, शास्त्रीय दृष्टि से नहीं। विचार से (शास्त्रीय दृष्टि से) तो ब्रह्मा आदि के आविर्भाव से लेकर सर्ग आदि की चेष्टा, अनुग्रहपूर्वक उपदेश देना, ब्रह्माण्डों का आधिपत्य स्वीकार करना आदि जितने तिरोभावपर्यन्त व्यवहार हैं, वे सब अविद्याकृत भ्रान्तिस्वरूप ही हैं, वास्तविक नहीं, यह कहते हैं।

यथार्थ में परमपदरूप ब्रह्म से उत्पन्न नहीं हैं, तथापि अज्ञानवश परमपदस्वरूप ब्रह्म से उत्पन्न की तरह प्रतीयमान, एकमात्र भ्रमस्वरूप उन पदार्थों की तथा भ्रमों में हेतुभूत उन्हीं अनेक कल्पनाओं के करनेवाले मन की स्थितिदशा में ही हजारों शाखा–प्रशाखाओं में फैलकर वेद, वेदार्थ सृष्टि के आदिम क्रम, सांगोपांग क्रियाकला, उपासनाएँ एवं ब्रह्मतत्त्व के बोधोपयोगी उपाय और वेद आदि में अधिकारी जीव तथा उनकी काम, कर्म और वासना, जन्म, मरण आदि अनर्थरूप जटा इन सबकी स्वरूपभूत यह अविद्या उत्तरोत्तर स्थूलतम होकर स्फुरित होती है ॥१८,१९॥

अनन्त होने के कारण अविद्या के विलासों का वर्णन नहीं किया जा सकता, इस आशय से कहते हैं।

इसीसे देश और काल की सम्पत्ति के अनुसार बार–बार कोटि–कोटि पदार्थों के स्वरूप में फैली हुई असीम उस स्थूलतम अविद्या का वर्णन करने में कौन पुरुष समर्थ हो सकता है अर्थात् कोई नहीं।

अथवा उस प्रकार असीम अविद्या का वर्णन करने पर कौन प्रयोजन सिद्ध होगा अर्थात् कोई नहीं सिद्ध होगा ॥२०॥ चूँकि ब्रह्मा, हरि, हर आदि देवताओं का भी देहरूप उपाधि का परिग्रह आविद्यक ही है, इसलिए यह चैतन्यस्वरूप महादेव उनका भी परम पिता है। जिस तरह पल्लवों का मूल बीज वृक्ष है, उसी तरह चैतन्यात्मा महादेव उनका मूल बीज है ॥२१॥ हे मुने, जिसने उक्त चैतन्यात्मक महादेव-तत्त्व का परिचय कर लिया है, उसके लिए तो वही तत्त्व वन्दनीय और पूजनीय है, क्योंकि सब प्राणियों का बल और अभिधान वही है। वही सर्वात्मक, प्रकाशरूप, समस्त ज्ञानों का एकमात्र उत्पादक और सबमें सत्तास्फूर्ति का प्रदान करनेवाला है ॥२२॥ तत्त्वज्ञानी को प्रत्येक इन्द्रिय और प्रत्येक वस्तु में प्रकाशरूप होने के कारण वही विषय होता है, दूसरा नहीं। वह सर्वत्र ही सदा उदितस्वभाव है एवं ज्ञानात्मक होने के कारण सर्वविषयक है ॥२३॥ समीप में बैठाने के लिए आह्वान और प्रकाशन के लिए मन्त्र आदि कुछ भी उसके लिए उपयुक्त नहीं होते, क्योंकि वह सदा आहूत एवं सर्वत्र ही स्थित है, अतएव अपने चैतन्यरूप से चारों ओर उपलब्ध हो जाता है ॥२४॥ हे मुने, यह शिवात्मक चिति जिस-जिस वस्तुस्थिति की ओर जाती है, वहीं पर विषय, विषयप्रकाश, विषयमननात्मक मन और उनकी साक्षीभूत दृष्टि इनका स्वरूप स्वयं ही धारणकर लेती है, दूसरा कोई धारण नहीं करता ॥२५॥

महर्षे, इन्हीं सब कारणों से समस्त पूजा आदि व्यवहारों में प्रथमोपस्थित पूजायोग्य, नमस्कारयोग्य, स्तुतियोग्य, अर्घ्ययोग्य और निखिल देवताओं का सवामी वही चितितत्त्व है, यह तुम जान लो। यही बड़े-बड़े ज्ञातव्य पदार्थों की भी चरम सीमा है ॥२६॥ वार्द्धक्य, शोक एवं भय के विनाशक इस आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर मनुष्य फिर संसार में भूँजे गये बीज की नाईं अंकुरित नहीं होता ॥२७॥ हे विप्रेन्द्र, जो विदित हुआ समस्त जन्तुओं में अभय देता है, जो सबकी अपेक्षा आद्य है और जो अनायास उपासनायोग्य है, वह अज, परम एवं हस्तगत परमपदस्वरूप तुम्हीं हो, इसलिए बाह्य-दृष्टियों में क्यों मोह करते हो ? ॥२८॥

पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

छत्तीसवाँ सर्ग

समस्त विश्व की उत्पत्ति के निमित्त, सर्वाकार से स्थित तथा
किसी से स्पर्श न होने के कारण विशुद्ध उस चितितत्त्व के सर्वैश्वर्य का वर्णन।

ईश्वर ने कहा : हे मुने, चूँकि इस चितिरूप आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर पुरुष फिर संसार में उत्पन्न नहीं होता, इसलिए समस्त भावपदार्थों के भीतर रहनेवाले अपने अनुभवस्वरूप एकमात्र विशुद्ध प्रकाशमय चितितत्त्व को ही मुनिलोग संसार-रोग का अपहरण करनेवाला रुद्ररूप ईश्वर जानते हैं ॥१॥ हे मुने, तुम इसी निर्मल चितितत्त्व को अखिल बीजों का भी बीज, संसाररूप सृष्टि का परम सार और वेदोदित कर्मों में परम कर्म जानो ॥२॥ वह चितितत्त्व निखिल कारणों की क्रियाशक्तियों का कारण है और अपनी सत्ता से समस्त भावों में सत्ता प्रदान करनेवाला है। वास्तव में वह न किसी का कारण है और न किसी का कार्य है, क्योंकि वह विशुद्ध और अजन्मा है ॥३॥ वही समस्त बुद्धिवृत्तियों का प्रकाशक, जीव के भी अन्दर रहनेवाला सारभूत चेतन, बाह्य वेद्यों का भी चेतन यानी बुद्धिवृत्ति के

सम्बन्ध से जनित अभिव्यक्ति से विषयों का प्रकाश करनेवाला प्रत्यक् रूप चेतन है, चेत्यों का परम अधिष्ठानभूत तत्त्व है और अपने को ही माया से अनेक रूप में भावना कर लेनेवाला है ॥४॥ हे मुने उसी को मुनिलोग चक्षु आदि एवं सूर्य आदि प्रकाशों का प्रकाशक, स्वयं चक्षु, सूर्य आदि प्रकाशों से प्रकाशित न होनेवाला, अलौकिक, स्वयं अकेला ही समस्त बीजों के बीजरूप से स्थित, प्रकाश और निर्मल चिद्घन कहते हैं ॥५॥ उस चितितत्त्व में पृथिवी, अप्, तेजरूप सत् और वायु एवं आकाशरूप त्यत् नहीं रहते। वह सद्रूप, शान्त एवं व्यावहारिक और प्रातिभासिक अवस्थाओं से वर्जित है। हे भद्र, जगत्सत्यता और अव्याकृतसत्ता के बाध–काल में उसके (बाध के) साक्षीरूप से विद्यमान जो चिन्मात्रस्वरूप वस्तु है, वह वही चितितत्त्व है, दूसरा नहीं, यह तुम जानो ॥६॥ महर्षे, वही चितितत्त्व स्वयं ही रंजन बीजावस्था में रागात्मक, विषयस्मृतिकाल में चित्त–क्षोभक होने के कारण रंजकस्वरूप, विषयसम्बन्ध–दशा में रंजनरूप, विषयवियोग–दशा में चित्त की मलिनता का कारण होने से रजोरूप धूलरूप हो जाता है और वह स्वयं अमूर्तस्वरूप होते हुए भी शीघ्र ही चित्र आदि से रंजित मूर्तरूप हो जाता है ॥७॥ भद्र, इस चितिरूपी विशाल चित्त में पहले कोटि–कोटि जगद्रूपी मरुभूमियों की मरीचिकाएँ प्रस्फुरित हो गई हैं, आगे प्रस्फुरित होगी और वर्तमान काल में भी प्रस्फुरित हो रही हैं ॥८॥ इस स्वप्रकाशस्वरूप आत्मतत्त्व में अपनी एकमात्र सत्ता से जगत्नामधारी विलक्षणता यद्यपि प्रतीत हो रही है; तथापि वास्तव में वह कुछ भी नहीं है। जैसे अग्नि में ज्वाला, विस्फुलिंग, प्रकाश आदि विलक्षणता प्रतीत हो रही भी उष्णस्वभाव अग्नि से दूसरा कुछ भी नहीं है, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिए ॥९॥

इसी कारण 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' (आत्मतत्त्व सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु से भी सूक्ष्मतम और बड़े से बड़े आकाश से भी बड़ा है।) वह श्रुति उस आत्मतत्त्व में अखिल विरुद्ध धर्मों का समावेश बतलाती है, इस आशय से कहते हैं।

ब्रह्मन्, इस चितितत्त्व ने महान् मेरूपर्वत को अपने उदर में समा लिया है और परमाणु के सदृश वह परमसूक्ष्म है ऐसा मुनि लोग कहते हैं। इसने महान् मेरूपर्वत को ढक दिया है और परमाणु के सदृश अत्यन्त सूक्ष्म है ऐसा मुनि लोग कहते हैं ॥१०॥

इस चितितत्त्व में कालकृत दीर्घता और सूक्ष्मता का भेद नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

उस चितितत्त्व ने महान् कल्प जैसे काल को अपने उदर में समा लिया है और वह निमेषमात्र कालस्वरूप है, यह भी मुनिलोग कहते हैं। यद्यपि इसने महान् कल्परूपी काल के ऊपर अपना पैर जमा रक्खा है; तथापि अपनी निमेषमात्रस्वरूप कालरूपता का भी परित्याग नहीं किया है ॥११॥

उक्त अर्थ को ही विशदरूप से कहते हैं।

हे मुने, यद्यपि यह चितितत्त्व केश के अग्रभाग से भी सूक्ष्मतम है; तथापि इसने समस्त पृथिवी व्याप्त कर रक्खी है। सात समुद्ररूप वस्त्रवाली पृथिवी भी इसकी अन्तिम सीमा प्राप्त नहीं कर सकती ॥१२॥ कुछ न करते हुए ही उसने इस महान् संसार–रचना के प्रति कर्तृता प्राप्त की है और यह बड़ा कर्म कर रहा भी कुछ करता ही नहीं ॥१३॥ यह द्रव्यस्वरूप होता हुआ भी द्रव्यरहित, द्रव्यरहित होता हुआ भी द्रव्ययुक्त, शरीरवर्जित होता हुआ भी ब्रह्माण्डरूप शरीरवाला और ब्रह्माण्डशरीर वाला होता हुआ भी शरीररहित है ॥१४॥ यह साठ घड़ी का अद्यस्वरूप होता हुआ भी निरन्तर प्रातःकालरूप

(प्रारम्भ के त्रिमुहूर्तात्मक कालरूप) है। प्रातःकाल स्वरूप होता हुआ भी अद्यस्वरूपता प्राप्त करता है। वास्तव में न तो वह मुहूर्तरूप है, न अद्यरूप है और न प्रातःकालस्वरूप ही है, अथवा सदा अद्यस्वरूप और प्रातःकालस्वरूप ही है ॥१५॥

उसी प्रकार उन्मत्त, अज्ञानी आदि द्वारा भाषित निरर्थक अपशब्दस्वरूप भी वही है, ऐसा बतलाने के लिए उनमें से कुछ का अनुकरण कर दिखलाते हैं।

उन्मत्त पुरुष निरन्तर निरर्थक जैसे भिंडि-भिंडि, खिल-खिल, पुरुपित्, छिलि, सालघ, विवित्, चलित्, लास, गुलुगुलु, शिली इत्यादि वाक्यों का जो उच्चारण करते हैं, वे निरर्थक वाक्य भी तत्स्वरूप ही हैं तथा सत्य यानी साथर्क वेदशास्त्रादि शब्दसमूहस्वरूप भी वही है। वस्तुतः ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो इस चितितत्त्व में आरोपित होकर सत्ता प्राप्त न करता हो। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो चितितत्त्वस्वरूप न हो ॥१६,१७॥

इस चितितत्त्व का पहले साक्षात्कार कर प्रह्लाद ने उसे प्रणाम किया था, इसका स्मरण कराते हुए उपसंहार करते हैं।

जिस परमात्मा में यह समस्त प्रपंच विद्यमान है, जिससे यह सब उत्पन्न हुआ है, जो सर्वस्वरूप है, जो चारों ओर से व्याप्त है एवं जो सर्वमय है, उस सर्वात्मक परमात्मा को बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥१८॥

'जिसमें आरोप करने से असद्वस्तु की भी सत्ता हो जाती है' ऐसा जो पहले कहा गया था, उसे सम्भव बनाने के लिए जैसे जहाँ निरर्थक भी श्लोक सार्थक हो जाते हैं' यों दृष्टान्त-प्रदर्शन के अभिप्राय से निरर्थक श्लोक का उदाहरण देते हैं।

(इस श्लोक की लोकतः और परमार्थतः सत्यार्थता बतलाई गई है। लोकतः इससे किसी वृक्ष का या भगवान् विष्णु का वर्णन किया गया है। वृक्षपक्ष में) न मुर्झाये हुए पल्लवों और हरे पत्तों से मालित लताओं के प्रियतम अर्थात् चारों ओर लताओं से आलिंगित; अतएव तने, कोटर और शाखाओं के भीषण अन्तरालों में गहन यानी किसी के चढ़ने के अयोग्य एवं स्वयं म्लानि से वर्जित इस वृक्ष ने फूल, फल, कोंपल, भँवरा, पक्षी आदिरूप सम्पत्ति के कारण विलासपूर्ण अपनी शोभा से जिसने कि अपनी शोभा से अवहेलनापूर्वक मेघों के विद्युत्संवलन से स्निग्ध शिशिर-ऋतु की श्यामता से जनित सौन्दर्यातिशयरूप विभ्रम सर्जनों को तिरस्कृत कर दिया है – अन्य वृक्षों, अन्य वनों या समस्त जगत् में प्रसिद्ध लक्ष्मीलता को अपने अन्दर ही समा लेने के कारण उसे मानों बँधी मुट्ठी की नाईं संकुचित कर रक्खा है। (विष्णुपक्ष में) पल्लवों और पत्तों से जनित निर्मल माला से शोभित पुरुषों में श्रेष्ठ, परमार्थरूप से और वस्त्र, भूषण आदि से निर्मल, उदर में चौदह भुवनों को रखने के कारण अत्यन्त गहन भगवान् विष्णु ने जगन्मोहन, सौन्दर्य आदि विलासपूर्ण अपनी देहलक्ष्मी से जिसने कि अवहेलना पूर्वक मेघसर्जितों को तरलित कर दिया है। अपने को आलिंगन दे रही लक्ष्मीरूपी ललना भी बँधी मुट्ठी की नाईं अभिन्न कर रक्खी है। *(सर्जित के स्थान में गर्जितपाठ के अनुसार इसका पारमार्थिक अर्थ भी निकलता है, जो इस प्रकार है)* भीतर विचित्र काम, कर्म और वासना से गहन हुए अज्ञानस्वरूप मल से तथा पल्लवरूप सूक्ष्मभूतों, उनके कार्यरूप दलस्थानीय स्थूलभूतों और भुवन मदों से मालित जगत्

की जो लक्ष्मीलता है, उसे लीलावश आकाश में चंचल मेघों की गर्जना की नाईं गर्जन करनेवाली 'तत्त्वमसि' इस महाकाव्य श्रुति से विलास कर रही ब्रह्मविद्यारूपी हथिनी ने मल्ल के द्वारा प्रतिमल्ल को मारने के लिए बँधी हुई मुट्ठी की नाईं चिदेकरस स्वरूप कर दिया है (इसी तरह इस श्लोक के और भी अनेक अर्थ किये जा सकते हैं, जिन्हें विद्वान अपनी कल्पना से कर लें।) ॥१९॥

छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

सैंतीसवाँ सर्ग

सद्वस्तु के योग से सत् की सत्ता, परम शिव की अनन्त विभूतियाँ और प्रदानशक्तिरूप नियति का नृत्य इनका वर्णन।

ईश्वर ने कहा : महर्षे, जिस परब्रह्म परमात्मा में भिण्डि,'भिण्डि,' (📖) इत्यादि पूर्व सर्ग के

(📖) 'इत्यादिकानाम्' इस श्लोक में आदि पद से अनर्थरूप से अत्यन्त प्रसिद्ध जरद्गव और दशदाडिम आदि वाक्यों का भी ग्रहण करना चाहिए। वहाँ पर – जरद्गवः कम्बलपादुकाभ्यां द्वारि स्थितो गायति मद्रकाणि। तं ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकामा राजन् रुमायां लशुनस्य कोऽर्घः ॥

इस श्लोक का भी लौकिक या पारमार्थिक अर्थ एकमात्र ब्रह्मसत्ता से ही किया जा सकता है।

उनमें लौकिक अर्थ इस प्रकार है – कोई एक मद्रासी, जो कम्बल और उपानहों से (जूतों से) युक्त बूढ़े बैल के समान गुण-धर्मवाला होने से जरद्गव वाहीक था, अपने घर के द्वार पर बैठकर मद्र देश में प्रसिद्ध गीतों को गाता था। उसे कोई ब्राह्मणी जो कि लहसुन से शान्त होनेवाले रोगग्रस्त पुत्र के साथ किसी आवश्यक कार्य से समुद्र की ओर जानेवाली थी और साथ-साथ वहाँ पर पुत्र का जीवन भी चाह रही थी-'यह (मद्रासी) लवणसमुद्र की ओर से आया है' यों लोगों से सुनकर अत्यन्त आदरपूर्वक सम्बोधित करती हुई पूछती है : हे राजन्, लवणसमुद्र में लहसुन का भाव क्या है अर्थात् क्या वहाँ लहसुन सस्ता है या महँगा है ? इसी श्लोक का पारमार्थिक अर्थ इस प्रकार है – कम्बल के समान आवरण करनेवाली अविद्या से तथा पादुकाप्राय लिंग शरीर से चक्षु आदि द्वारों पर विषय-भोग के लिए स्थित हुआ बूढ़े बैल के समान यह जीव वैषयिक स्त्री, पुत्र आदि के मंगल-गीतों को ही बहिर्मुख होकर गाता है, अपने स्वरूप को बिलकुल ही नहीं देखता। उसे इस प्रकार पाकर पुंनामक संसार-नरक से उद्धार करनेवाले ब्रह्मात्मरूपताज्ञानस्वरूप पुत्र की इच्छा कर रही, ब्राह्मणी की नाईं, ब्रह्मसम्बन्धिनी श्रुति उससे पूछती है – हे राजन् अर्थात् स्वयं प्रकाशरूप से विराजमान और अपने चैतन्य से सम्पूर्ण जगत् को रंजित करनेवाले हे आत्मदेव, सभी विद्या, काम और कर्म के बीजों का विनाशक होने से समुद्र की नाईं ऊषरप्राय, परमशुद्ध तुम्हारे स्वरूप के रहते हुए अत्यन्त अपवित्र होने से ब्राह्मण द्वारा अभोग्य लहसुनतुल्य भोज्यों के विषय में तुम मूल्य ही क्या विचारते हो ? अतः बाह्य दृष्टि छोड़कर स्वात्माराम हो जाओ। इस आशय से वह पूछती है – 'यह आत्मा कौन है, जिसकी हम लोग उपासना करते हैं, वह कौन-सा आत्मा है। जगत् के कारण ब्रह्म का क्या स्वरूप है ? हम कहाँ से उत्पन्न हुए' इत्यादि। इसी प्रकार दश दाडिमादि वाक्यों में भी अर्थसत्ता समझनी चाहिए। 'भिंडि भिंडिम्'इत्यादि श्लोक की तो, जो कि बाल, मत्त आदि के अस्पष्ट कथन का अनुकरण करता है, अनुकार्य अर्थ से ही अर्थवत्ता जाननी चाहिए। अनुकार्य तो अव्यक्त ही है, अतः उसमें (अनुकार्य में) वाक्यता ही नहीं है।

अन्तिम भाग में दर्शित निरर्थक शब्दों की भी अर्थ श्री सत्यप्राय हो जाती है, समस्त जगत्सत्तास्वरूप मणि के पिटारी रूप मायाशबल सबके नियन्ता उस परमात्मा में जो बीजरूप शक्तियाँ अनेकविध चित्र-विचित्र जगत् का आरोप करती हैं, उनमें से ऐसी कौन हैं जो विस्पष्ट होकर आविर्भूत नहीं होती ? ॥१,२॥

उन्हीं शक्तियों का युक्तिपूर्वक उदाहरण देते हैं।

चावल आदि बीजकणों के अन्दर रहनेवाली यह दैवी चितिसत्ता खेत में परिष्कृत मिट्टी, काल, जल आदि सहकारी कारणों को प्राप्तकर पहले-पहल अंकुर पैदा करती है और तदनन्तर क्रमशः तण्डुल (चावल) होकर स्वशरीरमय साक्षात्-पुरुष के खाने योग्य ओदन (चावल) बनाती है ॥३॥ फेन एवं आवर्तरूप विवर्त (रूपान्तर) जिसके भीतर रहते हैं वह रसरूपा ईश्वरशक्ति अथवा फेन आदि में अनुगत रससामान्यरूपा ईश्वरशक्ति कठिन शिलातल के साथ या जिह्वा इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होने पर जल का निम्न प्रदेश में उपसर्पणरूप या उदर में उपसर्पणरूप स्पन्दन उत्पन्न करती है ॥४॥ पुष्पगुच्छों में मकरन्दयुक्त गन्धरूप से स्थित हुई यही ईश्वरशक्ति नासिका के पुटों में प्रकाशित होती है और उन्हें चारों ओर से आमोदित या विकसित कर देती है ॥५॥ मुने, जिस प्रकार विकारशून्य पर्वतराज तृण, वृक्ष, लता आदि कार्यों को धारण करता है, उसी प्रकार यह चित्सत्ता शिला के गर्भ में स्थित होकर शिला प्रतिमा की नाईं तत्त्वतः पृथक् सत्ता न होने पर भी व्यावहारिक सत्तावाली 'यह कार्य है और यह उसका आश्रय है' यों भेदविकल्पदशा को अविकृत होकर धारण करती है ॥६॥ जैसे पिता अपने पुत्र को अपने कार्य में प्रवृत्त कराता है, वैसे ही समस्त क्रियाओं के आधारभूत पवनप्राय हुई वह चितिशक्ति त्वगिन्द्रिय को स्पर्शग्रहण करने के लिए अनुकूल बना देती है। (इसी रीति से अन्य इन्द्रियों में भी प्रवृत्ति शक्तियाँ उसी चितिशक्ति के द्वारा होती हैं, यह जानना चाहिए।)॥७॥ जिस तरह वह चितिशक्ति प्रवृत्ति शक्तिवश संसारिणी होती है, उसी तरह निवृत्तिशक्तिवश समस्त जगत् की सत्ताओं के सघनरूप आत्मा को लेकर श्रवण, मनन आदि उपायों से अपने मोक्ष के लिए 'नेति नेति' इस प्रतिषेध से मानों सब जगत् को भलीभाँति शून्यात्मक आकाशरूप कर देती है ॥८॥ यही शक्ति महाकाश रूप दर्पण के अन्दर अपनी सत्ता के प्रतिबिम्ब के सदृश कल्प-निमेषनामक निर्मल कालात्मक शरीर धारण करती है ॥९॥

समस्त शक्तियों का एकीकरण कर उनके कार्यों की इयत्ता का निश्चय कराते हैं।

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और ईशान इन उत्तरोत्तर उत्कर्षवाले देवताओं में पंचम ईशानपर्यन्त (सदाशिवपर्यन्त) सब उस चितिशक्ति के ही परिणामरूप हैं। यह इस प्रकार हो और यह इस प्रकार न हो यों सब कार्यों की व्यवस्था करनेवाली मूलशक्ति भी स्वयं चितिसत्ता है ॥१०॥

वह चितिसत्ता स्वयं ही उनकी नियामिका क्यों होती है ? इस शंका पर नियमतः उनके प्रकाशन में हेतु होने के कारण ही नियामिका होती है, यों कहते हैं।

जैसे घर में दीपक के रहने पर समस्त घरभर की क्रियाएँ होती हैं, वैसे ही साक्षीरूपी उस प्रकाशात्मक अबाधित सत्यस्वरूप अपरिच्छिन्न चितितत्त्व के रहने पर ही जगद्-रूप चित्र की परम्पराएँ प्रकाशित होती हैं ॥११॥ वही चितिसत्ता गन्धर्वनगर के नाट्य-मण्डप की भूमिरूप जाग्रत् आदि अवस्थाओं में

अपनी शक्ति से जनित यह संसार देखती हुई साक्षी की नाईं उदासीन होकर अवस्थित रहती है ॥१२॥ महर्षि वसिष्ठजी ने कहा : हे जगत् के स्वामिन्, इस सदाशिव की सामान्यतः कौन–सी शक्तियाँ हैं, वे विशेषतः किस तरह से रहती हैं, उनकी क्या साक्षिता है, उनका वर्तन क्या है और वह कितना है ? ॥१३॥ ईश्वर ने कहा : हे उत्तम व्रत करनेवाले सौम्य, वास्तव में जिसका कोई भी आकार नहीं है, जो सर्वात्मक है तथा साधारण जन जिसका परिज्ञान नहीं कर सकते, उस शान्त, चिन्मात्ररूप सदाशिव परमात्मा की इच्छासत्ता, व्योमसत्ता उसी प्रकार तीसरी कालसत्ता तथा नियतिसत्ता और महासत्ता ये पाँच शक्तियाँ हैं। तात्पर्य यह है कि 'सोऽकामयत बहुस्याम्' इस श्रुति के अनुसार सबसे पहले इच्छासत्ता अभिव्यक्त हुई। तदनन्तर आकाश की अभिव्यक्ति होने पर आकाशसत्ता, तदनन्तर कालात्मक सूत्र की अभिव्यक्ति होने पर कालसत्ता, सद्रूप के नियत संस्थानवाले भूत, भौतिक पदार्थों का आविर्भाव होने पर नियतिसत्ता अभिव्यक्त हुई और तदनन्तर उनमें अनुगत महासत्ता अभिव्यक्त हुई ॥१४,१५॥

ईश्वर का असाधरण शक्ति–भेद बतलाकर अब जीवसाधारण शक्ति–भेद बतलाते हैं।

ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, प्रवृत्तिशक्ति और निवृत्तिशक्ति–इस प्रकार सामान्यतः गिनती होने पर भी सदाशिवस्वरूप परमात्मा की इन शक्तियों का अन्त नहीं है यानी प्रत्येकरूप से उनकी गिनती नहीं की जा सकती। (इसी से चतुर्थ प्रश्न का भी उत्तर हो गया, यह जान लेना चाहिए) ॥१६॥

अद्वितीय वस्तु में शक्ति और शक्तिमत्त्व के भेद में ही जब किसी कारण विशेष का निर्वचन नहीं कर सकते तब अवान्तर चित्र–विचित्र शक्तियों के भेद की कथा तो दूर ही रही, यों माननेवाले वसिष्ठजी आक्षेप करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे देव, ये उपर्युक्त शक्तियाँ ही किस निमित्त से हुई ? उनमें बहुत्व कैसे आया ? उनका उदय कैसे हुआ ? एवं शक्ति और शक्तिमान् दोनों में परस्पर विरुद्ध और अभेद किस युक्ति से रह सकते हैं ? ॥१७॥

मायिक विकल्पों से जनित कल्पनाओं से होनेवाले चितिभेद ही शक्तियाँ हैं, वे वास्तव में परमचैतन्यरूप सदाशिव से किसी तरह भिन्न नहीं हो सकती; अतः विरोध का अवसर ही नहीं है, इस आशय से ईश्वर समाधान करते हैं।

ईश्वर ने कहा : अनन्त असीम आकारवाले सदाशिवरूपी आत्मा की जो यह चिन्मात्ररूपता है, वही माया है और यही उसकी शक्ति कही जाती है। (यह मायाशक्ति स्वरूपतः अनन्त, सदाशिवरूपी आत्मा को गुण, शक्ति और कार्यों से व्यापक बना रही उसकी अनन्तता मानों बढ़ाती ही है, न कि उसका घात करती है।) इसलिए एकमात्र कल्पना से ही वह चिति से तनिकमात्र भिन्न–सी प्रतीत होती है, वास्तव में कुछ भी भेद नहीं है ॥१८॥ ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, साक्षित्व आदि कल्पनाओं से परमात्मा की ये शक्तियाँ उस प्रकार विविध स्वरूप धारण करती हैं, जिस प्रकार तरंग आदि भेदकल्पनाओं से जल विविधरूप धारण करता है ॥१९॥ गमनशील ब्रह्माण्डरूपी नृत्य–मण्डप में ऋतु, मास आदि काल–नियति–क्रम द्वारा महाकालरूपी नट से उत्तम रीति से शिक्षित हुई उस प्रकार की शक्तिरूपिणी नटियाँ नाचती हैं ॥२०॥ दो परार्ध कालरूप और अवान्तर कल्प तथा उसके अवयवकालरूप जो यह मायाशक्ति है, वही नियति कही जाती है। ईश्वर की क्रिया, कृति, इच्छा या

काल इत्यादि उसके नाम वादियों द्वारा रक्खे गये हैं। हम लोग तो कलनामात्ररूप होने के कारण काल और कल्पनारूप होने से कल्प – यों विकल्पप्रयुक्त ही उसके नाम मानते हैं ॥२१॥

उस कालशक्ति में नियतिपद का व्युत्पादन करते हैं।

ब्रह्मन्, नियम दो तरह के होते हैं एक आकार नियम और दूसरा विकार नियम। उन दोनों नियमों के आधार पर यह कालशक्ति तृण से लेकर महारुद्रपर्यन्त जितने भी पदार्थ हैं, उन सबमें 'इस पदार्थ को इस आकार के रूप में ही रहना चाहिए' एवं तृण से लेकर ब्रह्मापर्यन्त जितने पदार्थ हैं, उनमें 'इस पदार्थ में इस तरह का ही विकार होना चहिए' इस प्रकार आकार-स्थिति और विकार स्थिति का नियमन करने के कारण नियति कही जाती है ॥२२॥ ब्रह्मन्,जब तक नियति तत्त्वबोध से परिमार्जित नहीं होती, तब तक सर्वविध उद्वेगों को छोड़कर प्रतिदिन निरन्तर जगज्जालरूपी नाटकस्वरूप नाच नाचती रहती है ॥२३॥

उसके नृत्य में नाटक के लक्षण बतलाते हैं।

वह नृत्य नाना प्रकार के करुणा आदि रस-विलासों से परिपूर्ण और विवर्तरूप अभिनय से समन्वित है। प्रलय-क्षण में, जो कि उस नाट्य का उपसंहार काल है, विद्युत् के आघातों से बजाये गये पुष्करावर्तनामक मेघ ही वाद्य-विशेषों का कार्य करते हैं ॥२४॥ समस्त ऋतुरूपी कुसुमों से व्याप्त उस नियति का वह नाट्य वर्षा-धाराओं से ब्रह्माण्ड-गोलकरूपी महानाट्य-शाला में प्रवृत्त होता है। बार-बार गिर रहे वर्षण से जनित प्रचुर स्वेदरूपी जलराशि से वह निरन्तर आकुल रहता है ॥२५॥ मेघरूपी बड़े-बड़े किनारों से चंचल नील-आकाशरूपी वस्त्रों से दिन, रात्रि आदि अनेक तरह के वेष-भ्रम उसमें बनाये गये हैं और पूर्ण विशुद्ध सप्त-समुद्ररूप रत्नसमूहों से खचित कंकणों से उक्त नियति-नृत्य सदा ध्वनित होता रहता है ॥२६॥ उस नृत्य में आकाशमण्डल याम, पक्ष, दिन आदि प्रेक्षण-कटाक्षों से जगमगा रहा है। तिरोधान और उद्घाटन से व्यग्र कुलपर्वतरूप सिर के अग्रभाग के भूषण उसमें शोभित होते हैं ॥२७॥ घूम रहे चन्द्र और सूर्य से ग्रथित गंगारूपी मुक्तफलों के (मोतियों के) तीन हारों से युक्त तथा स्पष्ट और अस्पष्ट संध्याकालीन अभ्ररूपी चंचल कर पल्लवों से वह समन्वित है ॥२८॥ वह नृत्य निरन्तर शब्द कर रहे चंचल मनुष्य या चतुर्दश भुवनरूपी अलंकारों से अत्यन्त मंजुल लगता है। उसमें (नृत्य में) नियति-नटी के चरण-विन्यास का स्थान यह विस्तीर्ण भूतल, पाताल और नभस्तल है ॥२९॥ नियति-नृत्य में उदित और अस्तमित महान् चमकीले तारे ही स्वेद-बिन्दुओं का समूह है। वहाँ चन्द्र और सूर्यरूपी कुण्डलों के स्पन्दरूप हलकी मुस्कान से उस नटी का आकाशरूप मुखमण्डल झलक रहा है ॥३०॥ उस नृत्य में ब्रह्माण्डों की दीवारें ही कपाटक की नाईं परदे बनाये गये हैं। असुरों द्वारा व्याकुल किये गये ऊपर-नीचे के लोकों के समूह ही उस नृत्य की नर्तकी के शब्द कर रहे मोतियों से गुँथे हुए परिधानीय वस्त्र के भीतरी कपड़ों के पल्ले हैं। उसमें सुख-दुःख की आविर्भाव आदि दशा और उससे होनेवाले दोष ही स्थायिभाव, अनुभव, विभाव, संचारिभाव और शृंगार आदि रस के भेद हैं ॥३१॥

इस प्रकार नाटक का वर्णनकर उसे देखनेवाले परमात्मा को, जो कि विचार करने पर एकमात्र स्वयं ही अवशिष्ट रहता है, दिखलाते हैं।

महर्षे, नाट्यशास्त्र में प्रसिद्ध स्वेद, स्तंभ, रोमांच आदि विकारों से व्याप्त चिरकाल से प्रवृत्त हुए इस संसारनामक नाटक के नाट्यों में सारभूत नियति नटी के विलास में अधिपति होकर देखनेवाला सदा उदितस्वभाव यह प्रत्यक् रूप परमेश्वर अद्वितीय ही होकर स्थित है। वह परमार्थतः उस नटी और नाट्य से भिन्न नहीं है ॥३२॥

सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

अड़तीसवाँ सर्ग

अनन्त चिन्मात्रस्वरूप महादेवजी का बाह्य ध्यान से पूजन और
ज्ञान से महापुण्यात्मक मुक्तिरूप फल इसका वर्णन।

श्री महेश्वर ने कहा : महर्षे, नियति के नाटक का साक्षीभूत यह चिदात्मा ही सबसे बड़ा देव है, यही देव सदा साधुजनों के पूजनयोग्य है। यही समस्त वस्तुओं का आश्रय, सर्वव्यापी, चिन्मात्ररूप तथा अनुभवात्मक है ॥१॥

आगे कही जानेवाली रीति से किये गये उसके पूजन में सम्पूर्ण देवताओं का पूजन अन्तर्भूत हो जाता है, इस आशय से उसकी सर्वरूपता बतलाते हैं।

यही देव घड़े में, कपड़े में, वट में, दीवार में, शकट में और वानर में स्थित है। वही परम देव शिव, हर, हरि, ब्रह्मा, इन्द्र, कुबेर और यम स्वरूप है ॥२॥ सबके स्वरूपभूत, छः प्रकार के ऐश्वर्यों से परिपूर्ण इसी अपने आत्मदेव की आगे कहे जानेवाले बाह्य और आभ्यन्तर दो प्रकारों से तत्त्वज्ञों द्वारा निरन्तर पूजा की जाती है ॥३॥ हे महाबुद्धे, जिस बाह्य क्रम से इस आत्मदेव का पूजन किया जाता है, उसे पहले सुनो। और तदनन्तर हे तत्त्वज्ञ, तुम पूजन का आभ्यन्तर क्रम सुनोगे ॥४॥ महर्षे, पूजन के जितने क्रम हैं, उन सबमें पहले शास्त्रोक्त संस्कार एवं स्नान, आचमन आदि से पवित्र हुआ भी यह देहरूप घर प्रयत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिए और देह के साक्षी परम पवित्र चित्प्रकाशस्वरूप का, प्रयत्नपूर्वक परिशोधन कर ग्रहण करना चाहिए ॥५॥ हे महर्षे, भीतर का ध्यान ही इस आत्मदेव की पूजा है यानी ध्यान ही पूजा की सामग्री और स्वयं पूजन–क्रिया है, इसके सिवा दूसरी कोई भी वस्तु इसकी पूजनसामग्री या पूजा नहीं है, इसलिए तीनों भुवनों के आधारभूत इस आत्मदेव की ध्यान से निरन्तर पूजा करनी चाहिए ॥६॥ चिद्रूप, लाखों सूर्यों के समान देदीप्यमान, सूर्य आदि समस्त प्रकाशक तेजों एवं बुद्धिवृत्तियों के अवभासक, अहम्भाव के सारभूत स्व–स्वरूप यानी अहम्भाव के परित्याग से अवशिष्ट विशुद्ध आत्मस्वरूप तथा सबसे परे विद्यमान चित्प्रकाश का आश्रय करना चाहिए ॥७॥ इस नियति–नाटक के साक्षी परमात्मा का इतना बड़ा स्वरूप है कि असीम सबसे बड़े आकाश का जो विपुल विस्तार है, वह उसका कण्ठप्रदेश है; असीम नीचे के आकाश का जो विस्तार है, वह तो उसका चरण सरोज है ॥८॥ सीमाशून्य दिशाओं के किनारों का यह जो विस्तार है, वही उसका भुजमण्डल है और उसी से वह राजित है; उन हाथों में उसने विविध ब्रह्माण्डों में विद्यमान बड़े–बड़े सत्य आदि लोकरूप श्रेष्ठ आयुधों का ग्रहण किया है ॥९॥ उसके हृदय–कोश के एक कोने में ब्रह्माण्ड–समूहों की पंक्तियों की पंक्तियाँ छिपी हुई हैं; वह प्रकाशस्वरूप एवं तम से परे है और उसके स्वरूप का कहीं पार भी नहीं पाया जा

सकता ॥१०॥ वह नीचे-ऊपर, चारों दिशाओं एवं उपदिशाओं में ब्रह्मा, इन्द्र, हरि, हर, आदि प्रमुख देवस्वामियों से निरन्तर परिवृत है। महर्षे, उस असीम आत्मचैतन्य की यह चतुर्विध भूतों की शोभा एक तरह की रोम-राजियाँ हैं, यों जानना चाहिए ॥११॥ इस जगत्-त्रय में विभिन्न-विभिन्न प्रकार के पदार्थों का निर्माण करने के लिए विनिर्मित यन्त्र रज्जुओं की सी ये इच्छा आदि शक्तियाँ उसके शरीर में रहनेवाली नाडियाँ हैं, यों जानना चाहिए ॥१२॥ नियति के नाटक का साक्षीभूत यह चिदात्मा ही वह परम देव है। यही समस्त पदार्थों का आश्रय, सर्वव्यापक अनुभवात्मक और चैतन्यमात्रस्वरूप है। चिदात्मा ही सज्जनों द्वारा सर्वदा पूजनीय है ॥१३॥ वही देव घट में, पट में, वट में, दीवार में, शकट में और वानर में स्थित है। यही परमदेव शिव, हर, हरि, ब्रह्मदेव, इन्द्र, कुबेर और यम स्वरूप है ॥१४॥ अनेक विध घट, पट आदि आकृतियों को लेकर असंख्य पदों से बोधित होनेवाली तथा उन आकृतियों को छोड़कर एक पद से ('अस्ति' पद से) बोधित होनेवाली सत्तारूप एकमात्र देह से युक्त इस जगज्जाल का उत्पादक महाकाल इस आत्मदेव का द्वारपाल है यानी अविशुद्ध-दशा में आत्मा के अन्दर प्रवेश करते समय मन को रोक देनेवाला और विशुद्ध-दशा में प्रवेश करते समय अनुकूल रहनेवाला एक तरह से द्वाररक्षक है ॥१५॥ पर्वतों एवं चौदह भुवनों के असीम विस्तार से युक्त यह ब्रह्माण्ड-मण्डल इस आत्मदेव के किसी एक देहकोण में स्थित होकर उसके अंग में अवयवरूप हो गया है यानी उसका एकदेश हो गया है ॥१६॥

अथवा सभी प्राणियों के जो कान, आँख, मस्तक, हाथ आदि अवयव हैं, वे सब इस आत्मदेव के ही हैं यों इसके विश्वरूप का चिन्तन करना चाहिए, यह कहते हैं।

महर्षे, जिसे हजारों कान एवं आँखें हैं, हजारों मस्तक हैं और जो (स्वयं) हजारों भुजाओं से विभूषित है, ऐसे शान्तस्वभाव महादेवजी का चिन्तन करना चाहिए ॥१७॥ जो सभी जगह दर्शन-शक्ति से परिपूर्ण है यानी सर्वत्र देखता है; जो चारों ओर घ्राण-शक्ति से समन्वित है; जो सर्वतः स्पर्शन्-शक्ति से युक्त है, जो चारों ओर रसना-शक्ति से परिपूर्ण है, जो सर्वत्र मनन से अतीत है और जो सभी ओर सर्वश्रेष्ठ कल्याणस्वरूप है, उस आत्मदेव का चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार विश्वरूप से चिन्तन करने पर भी वास्तव में वह (आत्मदेव) असंग एवं अद्वितीय ही है, यह भूल नहीं जाना चाहिए यह 'सर्वतो मननातीतम्' से प्रकृत में कहा गया है ॥१८,१९॥ निरन्तर समस्त पदार्थों के कर्ता, सबको अपने-अपने संकल्पों के अनुसार समस्त पदार्थों का प्रदान करनेवाले, सब भूतों के भीतर रहनेवाले और सभी के एकमात्र साधन अर्थात् सत्तास्फूर्ति प्रदान करनेवाले सर्वस्वरूप उस आत्मदेव का चिन्तन करना चाहिए ॥२०॥ उक्त प्रकार से ध्यानकर तदनन्तर उस देवाधिदेव की विधिपूर्वक पूजा करनी चाहिए। हे ब्रह्मज्ञों में श्रेष्ठ महर्षे, अब मेरे द्वारा वक्ष्यमाण उस देव की पूजा का यह विधान तुम (सावधान होकर) सुनो ॥२१॥ महर्षे, स्वानुभवस्वरूप इस आत्मचैतन्य का पूजन न गन्ध आदि के उपहार से न दीप से, न धूप से और न तो फूल एवं धन के समर्पण से ही हो सकता है ॥२२॥ न तो अन्नदान आदि दानों से, न चन्दन के विलेपनों से, न कुंकुम, कर्पूर एवं नैवेद्यों से और न इतर यानी छत्र, चँवर, दर्पण आदि के समर्पण से ही इस देव की पूजा की जा सकती है ॥२३॥ महर्षे, किसी भी प्रकार के कष्ट के बिना प्राप्त होने योग्य शीतल, अविनाशी अमृतस्वरूप एकमात्र स्वरूप के

बोध से यानी साक्षात्कारात्मक अखण्डवृत्ति के प्रवाह में प्रतिबिम्बित स्वात्मस्वरूपबोध से ही सदा इस देव की पूजा की जा सकती है ॥२४॥

पूर्वोक्त चिन्तन भी इसी बोध का एक अंग है, अतः यही पूजा सर्वपूजाओं मे प्रधान है, इस आशय से कहते हैं।

जो यह हृदयप्रदेश में स्थित शुद्ध चैतन्यमात्रस्वरूप आत्मा का अविच्छिन्न संवेदन है, यही सब ध्यानों में श्रेष्ठ ध्यान है और यही सब पूजाओं में प्रधान पूजा कही गई है ॥२५॥

इस पूजा के लिए कालविशेष का नियम नहीं है, इसलिए वह सर्वदा ही अनुष्ठान योग्य है, यह कहते हैं।

देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूँघते, खाते, जाते, सोते, श्वास–प्रश्वास लेते, बोलते, मलादि छोड़ते और इष्ट का ग्रहण करते किसी भी समय पुरुष को शुद्ध संविदात्मक आत्मा के ध्यान में ही तत्पर रहना चाहिए ॥२६॥ उत्कृष्ट आस्वाद से युक्त (✎) तथा कुसुम समर्पण आदि बाह्य–चेष्टाओं से निर्मुक्त ध्यानरूप अमृत से ईश्वरस्वरूप अपने इस आत्मदेव की स्वयं ही पूजा करके शुद्ध चैतन्यात्मक हो जाना चाहिए ॥२७॥ चूँकि, इस आत्मदेव के लिए शुद्धसंवेदनरूप ध्यान ही प्रियतम वस्तु है, अतः ध्यान ही उसके लिए उपहार है। उक्त ध्यान ही उसका अर्घ्य और पाद्य है ॥२८॥ ध्यान से अभिव्यक्त हुआ चैतन्य ही पुष्प–प्रयोजनस्वरूप होने से पुष्प है, पूजा के अन्यान्य सम्पूर्ण उपचार ध्यान के पीछे हैं यानी ध्यान की बराबरी नहीं कर सकते, ऐसा मुनि लोग कहते हैं। अतः ध्यान को छोड़कर और किसी भी दूसरे उपाय से यह आत्मदेव प्राप्त ही नहीं किया जा सकता ॥२९॥

हे मुने, यह आत्मदेव ध्यान से ही अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति प्राप्त करता है और तदनन्तर वह मनुष्य से लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त सभी जीवों के विषयसुख की सम्पत्तियों का उस प्रकार उपभोग करता है, जिस प्रकार देहाभिमानी अपने घर में उक्त सम्पत्तियों का उपभोग करता है (देहाभिमानी को भी विषय सम्बन्ध से जनित वृत्ति में अभिव्यक्त आत्मसुख का ही अनुभव होता है, क्योंकि ब्रह्मात्मसुख में सभी सुख अन्तर्भूत हो जाते हैं।)॥३०॥

अब तत्त्व–साक्षात्कार के अभावकाल में एकमात्र पूर्वोक्त ध्यान से भी उसके उत्कर्षानुसार फल में उत्कर्ष होता है, यह बतलाते हैं।

हे सुमते, यदि अतत्त्वज्ञ पुरुष भी तेरह निमेष पर्यन्त इस ध्यान से आत्मदेव की पूजा करे, तो वह

(✎) यहाँ 'परमास्वादयुक्तेन' यह जो कहा गया है, उसका भाव यह है कि मनुष्य द्वारा भगवान् को जो फल आदि लौकिक विषयों का समर्पण है, वह साक्षात् अविच्छिन्न सुख का समर्पण नहीं है, किन्तु परम्परा से कुछ थोड़ा–सा उसका सुख अभिव्यक्त होता है। जैसे मुट्ठीभर धान देने से क्षुधा–पीड़ित की पूरी तरह से क्षुधा निवृत्त नहीं होती, किन्तु कुछ थोड़ी–सी उसे प्रसन्नता होती है, वैसे ही उक्त पूजा भी भगवान् को पर्याप्तरूप से प्रसन्न नहीं कर सकती। और यह पूजन तो जो कि प्रत्यगात्मा के स्वयं ही शोधन से उसमें उन निरतिशय आनन्दस्वरूपता का आविर्भाव कर नित्य, निरतिशय आनन्दैकरस रूप के साथ परम शिव को उसे समर्पण करनारूप है – परम आस्वादयुक्त है। अतः वही पूजन उस देव के लिए अनुरूप पूजन कहा गया है, न कि पुष्प आदि।

एक गो-दान करने का फल प्राप्त करता है ॥३१॥ एक सौ निमेषपर्यन्त इस प्रकार (इस ध्यान से) देव की पूजाकर मनुष्य अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त करता है ॥३२॥ उक्त प्रकार से आधी घड़ी पर्यन्त इस अपने आत्मरूप ईश्वर की पूजाकर मनुष्य हजार अश्वमेध यज्ञों का फल प्राप्त करता है ॥३३॥ ध्यानरूप बलि के उपहार से स्व-स्वरूप अपनी आत्मा की अपने-आप एक घड़ी भर जो पूजा करता है, वह राजसूययज्ञ (📖) फल प्राप्त करता है ॥३४॥ इसी प्रकार मध्याह्नकाल तक पूजन करने से एकलक्ष राजसूय यज्ञों का फल प्राप्त होता है। और इसी प्रकार दिनभर पूजन करने से तो मनुष्य परमधाम में वास करता है (क्योंकि चिरकाल तक एकाग्रता होने पर ज्ञान का उदय अवश्य ही होगा।)॥३५॥

महर्षे, जो यह आत्मदेव का उत्तम बाह्यपूजन मैंने तुमसे कहा है, यही परम योग है, यही वह परम (उत्तम) कर्म है ॥३६॥

उक्त बाह्य-पूजा की प्रशंसा कर रहे भगवान् शंकर उपसंहार करते हैं।

हे आत्मरूप, समस्त पापों के विनाश में हेतुभूत एवं पवित्र यह उक्त प्रकार का ध्यानरूप पूजन जो कोई मनुष्य विक्षेप और खेद से रहित होकर एक क्षण भी करेगा, क्रमशः समस्त बन्धनों से निर्मुक्त होकर ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त हुए उसकी जगत् में सुर एवं असुर लोगों का समूह जैसी मेरी वन्दना करता है वैसी ही वन्दना यानी अभिवादन, स्तुति आदि से पूजा करेगा ॥३७॥

अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त

(📖) शंका हो कि आधी घड़ी ध्यान करने से यदि हजार अश्वमेध का फल होता है, तो एक घड़ी ध्यान करने पर उससे अधिक फल बतलाना चाहिए। ऐसी स्थिति में एक घड़ी ध्यान का राजसूय फल कहना कैसे युक्तिसंगत होगा ? क्योंकि अश्वमेध फल की अपेक्षा राजसूय का फल कभी भी अधिक नहीं है। बृहदारण्यक के भुज्युप्रश्न में (३।३।२) 'क्व न्वश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति द्वात्रिंशतं वै देवरथाह्नयान्ययं लोकः' (अश्वमेघ यज्ञ करनेवाले यजमान कहाँ जाते हैं ? (इस प्रकार भुज्यु के प्रश्न करने पर उनकी गति बतलाने की इच्छा से महर्षि याज्ञवल्क्य भुवन-कोश का परिमाण बतलाते हैं।) यह लोक बत्तीस देवरथाह्नय-सूर्यरथ के अहोरात्र निरवच्छिन्न गमन से जितना देश नापा जा सकता है, वह एक देवरथाह्नय है, उसके बत्तीस गुने परिमाण का है) इत्यादि श्रुति से पृथिवी, समुद्र आदि का परिमाण बतलाकर उसके बाद 'तद्यावती क्षुरस्य धारा यावद्वा मक्षिकायाः पत्रं तावानन्तरेणाकाशः' (व्यवहार में छुरे का अग्रभाग जितने परिमाण का होता है अथवा मक्खी का पंख जितने परिमाण का होता है, उतने ही परिमाण का ब्रह्माण्ड के कपालों की सन्धि में अवकाश है) इस श्रुति से ब्रह्माण्ड के दो कपालों की संधि बतलाकर 'तानिन्द्रः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छत्तान्वायुरात्मनि स्थित्वा तत्रागमयद्यत्राऽश्वमेधयाजिनोऽभवन्' (उन अश्वमेधयाजियों को इन्द्ररूप परमेश्वर ने पक्षी का रूप धारणकर वायु को समर्पित किया। पश्चात् वायु ने उन्हें स्वात्मस्वरूप बनाकर वहाँ पहुँचाया, जहाँ पहले के अश्वमेधयाजी थे) इत्यादि श्रुति से अश्वमेधयाजियों को सूक्ष्म ब्रह्माण्डकपाल की संधि से वायु ने बाहर निकालकर समस्त कर्मफलों के उत्कर्ष से युक्त श्रेष्ठ स्थान में प्राप्ति कराई है, यह विरोध हो गया। इसी प्रकार 'ब्रह्महत्याश्वमेधाभ्यां न परं पुण्यपापयोः' (ब्रह्महत्या से बढ़कर कोई पाप नहीं और अश्वमेध से बढ़कर कोई पुण्य नहीं है) यह भी प्रसिद्ध है। पूर्व रामायण के इलोपाख्यान में श्रीरामजी ने 'नाऽश्वमेधात् परो यज्ञः प्रियश्चैव महात्मनः' (अश्वमेध से बढ़कर कोई दूसरा यज्ञ नहीं है और महात्माओं को भी उसे छोड़ दूसरा

उनतालीसवाँ सर्ग

प्राप्त हुए शब्द आदि विषयों से अंग-प्रत्यंगों के प्रकाशक
प्रत्यगात्मस्वरूप शिव की अन्तःपूजा का वर्णन।

ईश्वर ने कहा : महर्षे, जो पवित्र करनेवालों को भी पवित्र करनेवाला है तथा जो सम्पूर्ण अज्ञानों का नाश करनेवाला है, आत्मदेव का वह अन्तःपूजन अब मैं आपसे कहता हूँ॥१॥ यह पूजा भी ध्यानात्मिका ही है और जा रहे, बैठ रहे, जाग रहे तथा सो रहे पुरुष के सभी व्यवहारों में सर्वदा अनुगत है॥२॥ शरीर में स्थित, सन्निधिमात्र से समस्त ज्ञानों के उत्पादक एवं बोधक परमकल्याणस्वरूप इस आत्मदेव का अपने अन्तःकरण से नित्य ही ध्यान करना चाहिए॥३॥ सो रहे अथवा जागे हुए, जा रहे अथवा बैठे हुए और चारों ओर स्पर्श आदि विषयों का उपभोग कर रहे अथवा उद्वेग के कारण उन्हें छोड़ रहे; विपुलता और जड़ता से पूर्ण भोगों का उपभोग कर रहे या उनका त्याग कर रहे, अपने अध्यारोप द्वारा जाग्रत् आदि विषयों का निर्माण करनेवाले,समस्त कार्यों मे अपनी सत्ता देनेवाले और देहस्वरूप (✎) लिंगों में मिट्टी, लकड़ी, शिला आदिरूप विभिन्न लिंगान्तर आदि अन्य स्वरूपों का परित्याग कर विक्षेपरहित स्वरूप से अवस्थित हुए चैतन्यस्वरूप लिंग की प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त हुई अर्थज्ञानरूप सामग्री से पूजा करे॥४-६॥ प्रारब्ध के प्रवाह से प्राप्त हुए अर्थों में (भोगों में) स्थित, अशुद्धि के प्राप्त होने पर भी बार-बार असंग एवं विशुद्ध अपने ज्ञानस्वरूप स्नान से प्राप्त शुद्धि से युक्त होकर पुरुष निरन्तर ज्ञानरूप पूजा सामग्री से बोधात्मक लिंग की पूजा करे॥७॥

कोई यज्ञ प्रिय नहीं है) यह जो कहा है, उससे भी विरोध होगा। इसी प्रकार शारीरक भाष्य में भगवान् भाष्यकार ने 'इतरकर्मिणाम् धूमादिमार्गेण चन्द्रमण्डलप्राप्तिरेव, अश्वमेधयाजिन एकस्य त्वर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकावाप्तिः' इत्यादि सिद्धान्त किया है। अतः यह सिद्ध हुआ कि राजसूय की अपेक्षा अश्वमेध का फल अधिक है। तो उस पर यही समाधान किया जा सकता है कि बाद में कहे गये फल से पूर्व में कहे गये फल का बाध नहीं होता। इसलिए उपर्युक्त सभी वचनों की संगति लग सकती है। सारांश यह है कि जहाँ आधी घड़ी पूजन से हजार अश्वमेध यज्ञों का फल होता है, वहाँ एक घड़ी भर पूजन करने से उससे दुगुना यानी दो हजार अश्वमेघों का फल तो प्राप्त ही है और वहाँ राजसूय का स्वाराज्य-प्राप्तिरूप फल यदि कहा गया हो, तो वह इतर अश्वमेधयाजियों के ऊपर स्वाराज्य-प्राप्ति में पर्यवसित होता है। उससे तो जैसे प्रजाओं से राजा को भोग अधिक प्राप्त होता है, वैसे ही घटिकालपूजक का भोगोत्कर्ष ही सिद्ध होता है। इस पर शंका हो कि यहाँ 'तक्रकौण्डिन्य' न्याय का आश्रयण करेंगे तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि वाक्य व्यर्थ हो जायेगा। ऐसी परिस्थिति में महाभाष्य में कहा है कि निश्चय ही संभव न होने पर सामान्य का विशेष से बाध होता है और यदि संभव हो तो दोनों ही होंगे - 'असति खल्वपि संभवे बाधनं भवति अस्ति च संभवो यदुभयं स्यात्'। यहाँ पर 'अपच्छेदाधिकरण' न्याय का भी अवसर नहीं हो सकता, अदक्षिणत्व और सर्ववेदसदक्षिणत्व की तरह ब्रह्मलोक और वहाँ का स्वाराज्य इन दो फलों में परस्पर विरोध नहीं है, यही विशेष सूचित करने के लिए प्रस्तुत श्लोक में 'तु ' शब्द दिया गया है।

(✎) पद्मासन आदि आसन लगाकर स्थित हुई तथा सामने हाथ फैलाकर बद्धांजलि हुई यह देह शिवलिंग के आकार की हो जाती है, यह प्रसिद्ध है।

उस प्रकार के पूजन में यदि मन अन्धकार में डूबता हो, तो बाहर एवं भीतर सारे आकाश में व्याप्त अखण्डित और अद्वितीय आदित्यमण्डल की अपने में भावना कर लेनी चाहिए और यदि सन्ताप में वह (मन) डूबता हो, तो सम्पूर्ण आकाशमण्डल में उदित अखण्डित तादृश चन्द्रमण्डल की अपने में भावना कर लेनी चाहिए, यह कहते हैं।

अपने में आदित्यमण्डल की भावना करने के कारण कल्पित विस्तार से यानी विस्तृत अपने अवयव संस्थान से परिपूर्ण हृदय और बाह्य आकाश में देदीप्यमान, चन्द्रमण्डल की अपने में भावना करने के कारण कल्पित विस्तृत अपने अवयव संस्थान से परिपूर्ण उक्त आकाश में चन्द्ररूप से उदित हुए, बाह्य एवं आभ्यन्तर बुद्धिवृत्तिरूपी प्रतिभासों और उनसे प्रतिभासित हुए पदार्थसमूहों में अनुस्यूतरूप से निरन्तर अनुभूत हो रहे संविदात्मक ज्ञानरूप, शरीर के मुख आदि द्वारों से बाहर विषय-प्रदेशों में अपने आभासों को प्राप्त करानेवाले, मुख में प्राणस्वरूप, शब्द आदि विषयों को अपने आनन्दरूपी रस से ही मधुर बनाकर मानों स्वाद ले रहे, प्राण एवं मन रूपी दो उत्कृष्ट घोड़ों से युक्त, प्राण एवं अपानरूपी रथ पर आरूढ़, अन्दर से अत्यन्त गूढ़, हृदयरूपी गुहा में अवस्थित, ज्ञातव्य ज्ञानों के ज्ञाता, सम्पूर्ण कर्मों के कर्ता, सम्पूर्ण भोज्य पदार्थों के भोक्ता और समस्त ज्ञानों के स्मर्ता परम शिव का जिसने कि 'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥' (📖) भगवान् द्वारा कही गई इस रीति से सम्पूर्ण अंग समूहों का भली प्रकार ज्ञान कर लिया है, जो विषयों की भावना और अभावना से लक्षित है, सम्पूर्ण प्रकाशों से भी अधिक प्रकाशरूप है तथा सर्वव्यापी है – ध्यान करे॥८-१२॥ निष्कर्ष निकालने पर यानी परमार्थतः कलाशून्य और व्यवहारतः कला से युक्त, देह-स्थित, हृदयाकाश में विचरणशील, परमार्थतः रागशून्य और व्यवहारतः रागयुक्त तथा निरन्तर अंग-प्रत्यंगव्यापी बोधस्वरूप (इस बोधलिंगात्मक परमशिव की पूजा करे।)॥१३॥

उसीका विवरण करते हैं।

जो मन की मननात्मिका शक्ति में अवस्थित है; प्राण एवं अपान के मध्य में उदित है; हृदय, कण्ठ और तालु के मध्य में अवस्थित है अर्थात् मर्मस्थान होने के कारण वहाँ विशेषरूप से अभिव्यक्त होता है तथा भौं और नाक के अग्रभागरूप पीठ पर आसीन है यानी वहाँ पर उपास्य है (उस बोधरूप लिंग की उपासना करनी चाहिए)॥१४॥ जो शैवशास्त्र में प्रसिद्ध छत्तीस तत्त्वों के चरमस्थान में यानी अन्तिम कोटि में स्थित है; काली, रौद्री, कलविकरणी आदि शक्तियों के विभाग में मनोन्मनी-नामक शक्ति की अन्तदशा को भी जो लाँघ गया है, अथवा शिवयोग में प्रसिद्ध सबीज समाधिरूप उन्मन्यन्त-दशा को जो पार कर गया है यानी जो निर्बीज समाधिरूप है; जो भीतर शब्द आदि विषयों को उत्पन्न करता है और मनरूपी पक्षी को प्रेरित कर रहा है (उस बोधरूप लिंग की उपासना करनी चाहिए)॥१५॥ जो व्यवहाररूप विकल्पदशा में वाच्यरूप तथा निर्बीज समाधि और मोक्षदशा में लक्ष्यरूप यों दो प्रकार के शब्दमार्गों में स्थित है एवं जो तिल में तेल की नाईं सभी अंगों के अन्दर अवस्थित है (उस बोधात्मक

(📖) जैसे एक होता हुआ भी यह सूर्य सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है, वैसे ही महाभूतों से लेकर धृतिपर्यन्त कहे गये सभी क्षेत्रों को एक होता हुआ भी यह क्षेत्री परमात्मा प्रकाशित करता है। ***(गीता १३.३३)***

लिंग की उपासना करना चाहिए) ॥१६॥ जो कलाओं की कल्पनाओं से शून्य और स्थूल देह रूप से परिणत भूतमात्राओं से कठिन यानी मूर्त हैं, जो देह के एकदेशभूत सुन्दर हृदय–कमल में और सम्पूर्ण देह में स्थित है (उस बोधलिंग का चिन्तन करना चाहिए) ॥१७॥ जो चैतन्यमात्रस्वरूप और निर्मल आभासस्वरूप है,जो अध्यासरूप विकल्पों का अधिष्ठान है, जो सर्वत्र प्रत्यक्ष–दृश्य है तथा जो अपने अनुभव का स्वरूप है (उस बोधरूप लिंग की उपासना करनी चाहिए) ॥१८॥ जो स्वकीय प्रत्यगात्मस्वरूप है अपना स्वरूप भूल जाने के कारण जो भोगादिरूप से स्थित है और जो स्वयं ही अपने से अतिरिक्त पदार्थों का वेष धारण कर शीघ्र अपने संकेत से मानों द्वित्व प्राप्त कर स्थित है (ऐसे बोधलिंगस्वरूप शिव का ध्यान करना चाहिए)॥१९॥ यह परम शिवस्वरूप आत्मदेव हाथ, पैर आदि अवयवों से युक्त है, केश, नख एवं दाँतों से समलंकृत है और जिसकी स्वदेहसंवित्तियाँ ही परिचायिका हैं, ऐसे इस देव की उपासना करनी चाहिए ॥२०॥ बाह्येन्द्रियों की पृथक्–पृथक् व्यापारभूत, अतएव चित्र–विचित्र अनेक रूप, रस आदि का ग्रहण करने में सामर्थ्यरूप शक्तियाँ मेरी (समस्त इन्द्रियों में शक्ति एवं प्राण देनवाले जीवात्मारूप देव की) उस प्रकार सेवा करती हैं, जिस प्रकार पत्नी अपने पति की सेवा करती है ॥२१॥ जिसने तीनों लोक का वृत्तान्त विज्ञापित किया है, वह मन ही उक्त प्रकार के देवस्वरूप मेरा द्वारपाल यानी पहरेदार है और इस प्रकार बाह्यार्थविषयिणी चिन्ता ही द्वार पर स्थित सन्मात्रगोचर होने से शुद्धस्वरूपा अथवा परमविश्वसनीया मेरी अन्तःपुर पालिका है ॥२२॥ अपनी तरह दूसरों के भी प्रेम की विषय हुई ज्ञानशक्ति और प्राणशक्ति दो मेरी (जीवात्मा की) पत्नियाँ हैं। चित्र–विचित्र शास्त्रीय एवं लौकिक ज्ञान ही मेरे शरीरगत आभूषण हैं। बाह्य प्रदेश में गमन हेतु होने से ज्ञानेन्द्रिय–समूहों के साथ वाक् आदि कर्मेन्द्रियाँ ही मेरे घर के द्वार हैं ॥२३॥ अपरोक्षरूप से प्रतीयमान मैं (जीवात्मा) वही शिवस्वरूप हूँ, और परिच्छेदशून्य आकारवाला, अनन्तस्वरूप, सम्पूर्ण पदार्थों से परिपूर्ण, अन्तर्यामी होने के कारण सब वस्तुओं का पूरक एवं अखण्ड अद्वितीयरूप होकर मैं स्थित हूँ ॥२४॥ इस प्रकार स्वच्छ और अलौकिक प्रत्यक्तत्त्व का परिचय प्राप्तकर देवत्व से परिपूर्ण यह जीवात्मा भीतर खेदशून्य वस्तुस्वरूप होकर स्थित रहता है ॥२५॥

उस पूजा परिपाक के फल बतलाते हैं।

महर्षे, वह पूजक न तो अस्त होता है और न उदित ही होता है। वह न तो सन्तुष्ट होता है और न क्रुद्ध ही होता है। वह न तो तृप्ति को प्राप्त होता है और न क्षुधित ही होता है। वह न कुछ चाहता है और न कुछ छोड़ता ही है ॥२६॥ भीतर सम और बाहर जीवन्मुक्तों के समान आकारवाला, सब प्राणियों के चित्त में 'मेरा ही यह प्रिय है' यों एकरूप से अवभासमान, निर्विकार होने से सर्वदा समान आकृति से युक्त अतएव भली प्रकार जीवन्मुक्त–दशा को प्राप्त हुआ, चारों ओर सुन्दर आशय से शोभित और अद्वितीय ही यह जीवात्मा देहपातपर्यन्त अखण्ड तत्त्वज्ञान से युक्त होता हुआ चिरकाल तक रात–दिन यह देवपूजन करता ही रहता है ॥२७,२८॥

इसका कौन–सा देव है? और देहविनाश पर्यन्त किस प्रकार पूजा करता रहता है ? इस पर कहते हैं।

चैतन्यतत्त्व से परिचालित शरीर ही इसका देव कहा गया है ॥२९॥ और अनायास प्राप्त सम्पूर्ण त्रिपुटीरूप (ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानरूप) वस्तु से सम (रागादिशून्य) एवं सम्पूर्ण (सम्पूर्ण इन्द्रियों से

जन्य) ज्ञान के द्वारा इन्द्रियों की वृत्तियों में प्रतिबिम्बित चैतन्य से पर यानी उसके बिम्बभूत चैतन्यमात्ररूप उस देव की वह (जीवात्मा) पूजा करता है ॥३०॥ जैसे-तैसे प्राप्त व्यापारों से सिद्ध बाह्य एवं आभ्यन्तर वस्तुओं से उसकी भलीभाँति पूजा करनी चाहिए। इस देवपूजा में गन्ध, पुष्प आदि वस्तुओं को जुटाने के लिए किंचित् भी प्रयत्न नहीं करना चाहिए ॥३१॥ प्राप्त हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, आदि रूप अपने शरीर के लिए उचित शास्त्रानुसार इन व्यवहारों से और देह-धारण के निमित्तभूत अन्न-पान आदि से उस सुन्दर आत्मदेव की नित्य पूजा करनी चाहिए ॥३२॥ अनायास प्राप्त भक्ष्य, भोज्य और अन्नपान से तथा विविध ऐश्वर्य से युक्त शयन, आसन एवं सवारी से उस शिव की पूजा करे ॥३३॥ स्त्री, अन्न, पान आदि संभोग-सामग्री के विलास से युक्त सब प्रकार के सुखों से आत्मा को तत्त्वतः जानकर उसकी पूजा करे। तात्पर्य यह है कि जब तक उसका ज्ञान नहीं होता, तब तक विषय-सुखों में आसक्त नहीं होना चाहिए ॥३४॥

इसी प्रकार दैव प्राप्त दुःखों का उपभोग करते समय भी आत्म-पूजा की ही बुद्धि करना चाहिए, उद्वेग नहीं, यह कहते हैं।

आधियों एवं व्याधियों से व्याप्त, मोह तथा क्रोध से परिपूर्ण यथा प्राप्त समस्त उपद्रवों एवं दुःखों से उस आत्मदेव की पूजा करे ॥३५॥ यथाप्राप्त जगत्सम्बन्धी समस्त चेष्टाओं के फलों से तथा जीवन, मरण और स्वप्न आदि से उस आत्मदेव की पूजा करे ॥३६॥ प्रवाहपतितस्वरूप (प्रारब्ध-प्रवाह से प्राप्त) दरिद्रता अथवा राज्य से और चित्रविचित्र चेष्टारूप फूलों से विशुद्धस्वरूप उस आत्मदेव की पूजा करे ॥३७॥ नाना प्रकार के कलहों के तरंगों एवं कामिनियों के उल्लासों से शोभित राग और द्वेष के विलास से उस सौम्य आत्मदेव की पूजा करे ॥३८॥

तब क्या कलह करने में भी तत्पर होना चाहिए ? इस पर नहीं, ऐसा कहते हैं।

सज्जनों के हृदय में रहनेवाली, चन्द्रमा की नाईं, शीतल, मधुरस्वभाव रूढ़ मैत्री से हृदय-प्रदेश में स्थित उस आत्मदेव की पूजा करे ॥३९॥

कलह आदि के न होने में उपाय बतलाते हैं।

उपेक्षा से, दया से, हृदय में नित्य प्रसन्नता से, शुद्ध क्रोधादि के निग्रह की सामर्थ्य-पद्धति से और ज्ञान से उस आत्मदेव की पूजा करे ॥४०॥

इसी प्रकार विषय-भोगों में लम्पट भी न होना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

निर्निमित्त प्राप्त और अनियत स्थित भोग-समूहों के बीच प्राप्त हुए किसी एक के किसी समय के भोग से आत्मदेव की पूजा करे ॥४१॥

शास्त्र से अनिषिद्ध और निषिद्ध भोगों के सर्वदा त्याग से अथवा कहीं अनिषिद्ध भोगों में राग से शुद्धस्वरूप अपने आत्मदेव की पूजा करे (यहाँ पर पहला पक्ष मुख्य है और दूसरा पक्ष गौण है, यह जानना चाहिए।)॥४२॥ अयुक्तात्मा से छोड़े गये और युक्तात्मा से ग्रहण किये गये इष्ट-अनिष्ट समूहरूप विषयों से विषयों के भोक्ता उस आत्मदेव की पूजा करे ॥४३॥

अब मुख्य पूजा का सार बतलाते हैं।

नष्ट पदार्थ तो नष्ट ही है, अतः उसकी उपेक्षा करे यानी उसका सोच न करे। और प्राप्त पदार्थ

प्राप्त ही है, अतः उसका ग्रहण करे। महर्षे, निर्विकार होकर ऐसा करना ही आत्मदेव की पूजा है (यह तुम जानो) ॥४४॥ सम्पूर्ण इष्ट एवं अनिष्ट पदार्थों में सर्वदा ही परम समानता का आश्रय कर निरन्तर आत्म–पूजारूप व्रत करना चाहिए ॥४५॥ 'यह जगत् ब्रह्मरूप ही है' इस दृष्टि से सब पदार्थ शुभ ही हैं, यों जानना चाहिए। ब्रह्म संवलित मायारूपता की दृष्टि से तो सब शुभाशुभसंमिश्र है, यों जानना चाहिए। इस प्रकार दोनों ही तरह से समता होने के कारण वैषम्यदर्शन का कोई कारण न होने से 'यह सब आत्ममय है अथवा आत्मप्रचुर है' यों भावना करनी चाहिए। इस प्रकार सदा आत्म–पूजारूप व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए ॥४६॥ जो आपाततः (ऊपर–ऊपर से यानी दृष्टिमात्र से) रमणीय (सुख या सुखसाधन) प्रतीत होता हो और जो आपाततः दुःखरूप या दुःखसाधन प्रतीत होता हो, उस सबको उक्त रीति से भली प्रकार समानरूप जानकर निरन्तर आत्मपूजास्वरूप व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए ॥४७॥ 'यह वही मैं हूँ' और 'यह मैं नहीं हूँ' इस प्रकार के भेद को छोड़ देना चाहिए तथा 'यह सब ब्रह्म ही है' इस प्रकार निश्चय कर निरन्तर आत्मपूजारूप व्रत का आचरण करना चाहिए ॥४८॥ यथा प्राप्त सब तरह के आकाररूप विकारों से युक्त सभी प्रकारों एवं समस्त रूप और नामों से सर्वात्मक उस आत्मदेव का सदा पूजन करना चाहिए ॥४९॥ मिथ्यात्व–दृष्टि से अभीष्ट वस्तु का परित्याग कर और अनभीष्ट वस्तु का भी परित्याग कर एवं 'सभी आत्ममात्ररूप हैं' इस बुद्धि से उन दोनों का (अभीष्ट और अनभीष्ट का) स्वीकार करके भी नित्य आत्मदेव की पूजा करनी चाहिए ॥५०॥ अप्राप्त वस्तु की इच्छा न करता हुआ और प्राप्त वस्तु को न छोड़ता हुआ स्वभावतः दैव से प्राप्त सुख–दुःख के हेतुभूत विषयों का उस प्रकार अविकृत होकर उपभोग करे, जिस प्रकार अविकृत होकर समुद्र नदियों का उपभोग करता है (📖) ॥५१॥ तुच्छ यानी अपमान आदि की तथा अतुच्छ अर्थात् वध, बन्ध, सर्वस्वनाश आदि की परिस्थितियों में प्रसक्त उद्वेग को पुरुष उस प्रकार न प्राप्त होवे, जिस प्रकार चिरकाल से अनुवृत्त सरल, टेढ़े, शीत, दाह आदि चित्र–विचित्र पदार्थों में आकाश उद्वेग को प्राप्त नहीं होता ॥५२॥ देश, काल और कर्म के सम्बन्ध से शुभ या अशुभ जो भी कोई वस्तु प्राप्त हो जाती है, किसी प्रकार की विकृति के बिना गृहीत उसी वस्तु से आत्मदेव का पूजन करे ॥५३॥

यदि शंका हो कि विचित्र दुःख, राग, द्वेष आदि विकारों की हेतुभूत; मधुर, खट्टी, कटु, तिक्त आदि विषम–रसोंवाली भोग्य–द्रव्यरूपी लक्ष्मियों का किसी प्रकार के विकार के बिना आत्मा किसी प्रकार ग्रहण कर सकता है ? तो इसका समाधान यह है कि एक समरस से ही सभी में विषमता का निरासकर मधुरता बनाकर ही आत्मा उनका ग्रहण कर सकता है, इस आशय से कहते हैं।

महर्षे, इस आत्म–पूजा के विधान में जो द्रव्यसम्पत्तियाँ बतलाई गई हैं, वे सब एकमात्र समतारूप रस से भरी जानेपर न कोई खट्टी होती हैं और न कड़वी होती हैं, न तिक्त होती हैं और न कसैली ही होती हैं। ऐसी स्थिति में परस्पर विरुद्ध चित्र–विचित्र रसों से भरी हुई भी वे मधुर रसवती ही हो जाती हैं, यह आप निश्चित जानिए ॥५४,५५॥

(📖) इसी भाव में गीता में भी कहा है : आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशंति यद्वत्। तद्वत्कामा यं प्रविशंति सर्वे स शांतिमाप्नोति न कामकामी ॥ *(गीता : २.७०)*

एकमात्र आनन्दरसस्वरूप परब्रह्म का विवर्त होने से अथवा समता के दर्शन से उन द्रव्य-सम्पत्तियों का अविकृतरूप से ग्रहण हो सकता है, इस आशय से कहते हैं।

रसशक्ति यानी 'रसो वै सः' इस श्रुति से प्रदर्शित आत्मा समता से मधुर है, आस्वादन करने योग्य है और अतीन्द्रिय है। उससे जो चेत्य भावित होगा, वह तत्क्षण ही अमृततुल्य मधुर हो जायेगा ॥५६॥ समतारूप अमृत से जो-जो भावित होता है, वह सब, चन्द्रमा से टपके हुए अमृत की नाईं, परम मधुरता को प्राप्त होता है ॥५७॥ ब्रह्मैक्यदर्शनस्वरूप समता से स्वयं आकाश की तरह विकारशून्य होकर मन के लयपूर्वक जो अनायास अवस्थिति है, वही मुख्य देवार्चन कहा जाता है ॥५८॥ चैतन्यमात्रस्वरूप, अद्वितीय ज्ञानी को भी पूर्णचन्द्र की नाईं परिपूर्ण, समता से समानप्रकाशयुक्त, स्वच्छ और स्फटिकशिला की नाईं निर्मल एवं दृढ़ होना चाहिए ॥५९॥ भीतर आकाश की तरह विशाल और बाहर प्राकृत कार्यों को करनेवाला, रंजनारूप हिम से मुक्त एवं पूर्ण जो तत्त्वज्ञ है, वही मेरा मुख्य पूजक है ॥६०॥ अज्ञानरूप मेघों के नष्ट होने पर स्वप्न में भी जिसमें काम आदि नहीं देखे जाते तथा जिसका अहन्तारूप कुहरा शांत हो चुका है, वह तत्त्वज्ञ शरत्कालीन आकाश की नाईं शोभित होता है ॥६१॥ आनन्दामृत से परिपूर्ण होने के कारण स्वयं चन्द्रमारूप होता हुआ भी जो अपने निष्कलंक प्रकाश के आधिक्य से सूर्य हो गया है, जिसमें से मनोवृत्ति (प्रमा), प्रमाता और प्रमेय यह भेद चला गया है, तत्क्षण उत्पन्न हुए बालक के ज्ञान की नाईं विकल्प विस्तार से शून्य, चिदाभास एवं चेतन के मूलभूत उस स्वात्मशिव को प्रशान्तचित्तपूर्वक देखते हुए तुम अत्युत्तम जीवन्मुक्त-पद में स्थित होकर उसी रूप से अवस्थित हो जाओ (वही परापूजा है) ॥६२॥

विस्तारपूर्वक कही गई बातों का ही संक्षेप कर उपसंहार करते हैं।

महर्षे, देश, काल और करण के (पुरुष व्यापारों के) क्रमों से उत्पन्न सम्पूर्ण वस्तुओं के सुख-दुःखात्मक विलासों से शरीर के अधिपति इस आत्मदेव की पूजा करो और जिससे सम्पूर्ण मनोरथ चले गये हैं, ऐसी बुद्धि से उपलक्षित होकर स्थित हो जाओ (वही मुख्य शिव-पूजा है) ॥६३॥

उनतालीसवाँ सर्ग समाप्त

चालीसवाँ सर्ग

पूज्य, पूजक एवं पूजा आदि विकल्पों से शून्य, शिवस्वरूप,
शुद्ध पूर्ण चिदात्मा ही देवताओं में सार है यह वर्णन।

आत्मज्ञानी द्वारा विहित और अविहित सभी प्रकार के कर्म शिवार्चनरूप ही हैं, यह कहते हैं।

ईश्वर ने कहा : महर्षे, यथा समय और यथा शक्ति तुम जो भी कुछ कर्म करते हो अथवा नहीं भी करते, वह चैतन्यमात्रस्वरूप शिवात्मक आत्मा का अन्तःपूजन है ॥१॥

किस कारण यह आत्मा का पूजन होता है ? इस पर कहते हैं।

उस प्रकार के पूजन से ही आत्मा अपने पारमार्थिक निरतिशय आनन्दस्वरूप की अभिव्यक्ति प्राप्त करता है और स्व-स्वरूप से ही स्वयं यह ईश्वररूप जीवात्मा आविद्यक आवरणों का अभाव भी प्राप्त करता है ॥२॥

सभी स्वाभाविक चेष्टाएँ राग–द्वेष की मूल होने के कारण अनर्थ की हेतु हैं, फिर वे आत्म–पूजनरूप कैसे होगी ? इस शंका पर आत्मा से पृथक् राग–द्वेष आदि विकारों को न देखने से ही उक्त चेष्टाएँ आत्मपूजनरूप हैं, यह कहते हैं।

निर्मल आत्मा में राग, द्वेष आदि शब्द और उनके अर्थ आत्मा से अन्य होकर पृथक्–रूप से उस प्रकार नहीं रह सकते, जिस प्रकार अग्नि में अग्निकण ॥३॥ महर्षे, अपने और पराये सम्पत्ति, दरिद्रता (दीनता), सुख, दुःख, भूख, प्यास आदि का जो–जो वेदनरूप यानी अध्यारोपणरूप समर्पण है, वह सब इस आत्मदेव का पूजन ही है (तात्पर्य यह है कि देवता पर फूल, पत्ती आदि का आरोप (चढ़ाना) ही देव–पूजा इस नाम से प्रसिद्ध है, प्रकृत में भी उसी प्रकार जानना चाहिए।)॥४॥ ऐसी स्थिति में आकाश आदि स्वरूप एवं जाग्रत् आदि स्वरूप विश्व का जो अध्यारोप है, वही शिवस्वरूप आत्मा तथा प्रत्यगात्मा का पूजन है, (यह सिद्ध हुआ। क्योंकि) जिस प्रकार आकाशादि–क्रम से घटरूप होकर ब्रह्म उससे अलंकृत होता है, ठीक उसी प्रकार स्वयं प्रत्यगात्मा भी जाग्रत् आदि क्रम से घटादिस्वरूप होकर उससे अलंकृत होता है ॥५॥ शिव, शान्त, अन्य से प्रकाशित न होनेवाला स्वप्रकाश ब्रह्मरूप या प्रत्यगात्मरूप आत्मा ही मानों जगत्–शब्दों से व्यवहृत हुआ है, अतः जगद्रूप यह समस्त प्रपंच उसी आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित तथा उसीकी स्थिति से स्थित है ॥६॥ अत्यंत आश्चर्य है कि प्रत्यगात्मा ही अपने भीतर का मानों अपना वास्तव स्वरूप भूलकर और जीव आदि के स्वभावों को अपना स्वभाव समझकर घट, पट आदि जगत् के रूप में व्यवस्थित है ॥७॥

यों तात्त्विक विचार करने पर पूज्य, पूजक आदि सभी त्रिपुटियाँ बाधित हो जाती हैं, यह कहते हैं।

सर्वस्वरूप, असीम, कल्याणमय आत्मा के भीतर पूज्य, पूजक और पूजारूप परिच्छेदात्मक त्रिपुटी का विभ्रम आया कहाँ से ? अर्थात् उक्त त्रिपुटीविभ्रम असत् ही है ॥८॥ ब्रह्मन्, जिस परिच्छिन्न आकारवाली मूर्ति में पूज्य, पूजा आदि त्रिपुटी–क्रम की कल्पना की जाती है, उस मूर्ति आदि परिच्छिन्न संस्थान से (आकृति से) रहित ईश्वर में वह पूज्य, पूजा आदि का क्रम नहीं हो सकता ॥९॥ महर्षे, जो देव पूज्य, पूजा आदि त्रिपुटी से युक्त है, वह सदा निर्मलस्वरूप, समस्त शक्तियों से परिपूर्ण एवं अनन्तस्वरूप ईश्वरत्व का आधार नहीं हो सकता ॥१०॥ हे ब्रह्मन्, तीनों जगत् में फैले हुए स्वच्छातिस्वच्छ संविद्रूपी आत्मलक्षण ईश्वर की आकृति का वाणी से व्यवहार (व्यपदेश) भी नहीं किया जा सकता ॥११॥ हे विद्वान, जिन विद्वानों के मत में देश, काल आदि से परिच्छिन्न ईश्वर माना जाता है, वे हम लोगों के तत्त्वोपदेश के पात्र नहीं हैं ॥१२॥ इसलिए उनकी परिच्छिन्न दृष्टि का परित्याग कर और अपनी इस अपरिच्छिन्न दृष्टि का अवलम्बन कर सम, निर्मल मन, शान्त, रागशून्य, स्वस्थ और खेदशून्य बुद्धियुक्त होकर तुम विधिवश प्राप्त हुए सुख, दुःख, शुभ, अशुभ आदि कामोपभोगों से आत्मदेव की पूजा करते हुए स्थित रहो ॥१३,१४॥ हे मुने, जहाँ सब अंगों में स्फटिक शिलाएँ जड़ी गई हैं तथा पास में चारों ओर नील, रक्त आदि दूसरी कोई भी वस्तुएँ हैं ही नहीं, ऐसे नवीन मकान में प्रतिबिम्ब या लेप दोनों तरह से जैसे नील आदि रंगों से कलंक नहीं लगते, वैसे ही जिसने शोधन के द्वारा देह से पृथक् जीव समझ रक्खा है, ऐसे अमानित्व आदि गुणों से युक्त, अतएव अनुरूप अद्वितीय अपने तत्त्व को (स्व–स्वरूप के) ऊपर कहे गये पूज्य,

पूजक आदि तत्त्व के विमर्श के साथ पहचान लेनेवाले, मायाकलंक से वर्जित और सर्वतः माया के कार्यरूप प्रपंच से शून्य आपमें जन्म आदि के कोई कलंक लगते ही नहीं ॥१५॥

चालीसवाँ सर्ग समाप्त

इकतालीसवाँ सर्ग

शास्त्र एवं आचार्य आदि की सफलता, नामभेदों की कल्पना,
अध्यारोप का क्रम और तदनन्तर अपवाद इन सबका वर्णन।

'नेश्वरस्याऽऽकृतेर्ब्रह्मन् व्यपदेशो हि युज्यते' (यो.नि.४०।११) इत्यादि से जब पूज्यतत्त्व नीरूप और अव्यपदेश्य कहा गया है तब उसका 'शिव' आदि शब्दों से भला कैसे व्यपदेश (निरूपण) हो सकता है ? इस आशय से पूछते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे देव, यदि शिव आदि शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्तक किसी धर्म का वह (पूज्यतत्त्व) स्पर्श ही नहीं करता तो फिर 'शिव' यह नाम किस निमित्त से कहा जाता है एवं परब्रह्म इत्यादि शब्द भी किस निमित्त से कहे जाते हैं ? हे नाथ, आत्माशब्द कैसे कहा जाता है और परमात्मा कैसे कहा जाता है ? ॥१॥ हे तीनों लोकों के स्वामिन् भगवन्, 'ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मण स्त्रिविधः स्मृतः।' इत्यादि व्यपदेशों में 'तत्', 'सत्', 'किंचित्', 'न किंचित्', 'शून्य' और 'विज्ञान' आदि भेद यानी एक-दूसरे से एक दूसरे का भेद करनेवाले प्रवृत्ति निमित्त अर्थों से युक्त नामविशेष कैसे कहे जाते हैं (इसे कृपाकर बतलाइए) ॥२॥

पूछे गये नामों में 'सत्' इस नामका प्रवृत्तिनिमित्त (शक्ति अवच्छेदक धर्म) सत् से भिन्न कोई दूसरा मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि 'सत्' नाम के अर्थ में अन्य किसी दूसरे व्यावर्त्य (व्यावृत्ति के विषय) पदार्थ के प्रसिद्ध न होने से व्यावृत्ति की अपेक्षा ही नहीं है। और वह सत् स्वयं ही असत् से व्यावृत्त होने के कारण प्रवृत्तिनिमित्तक व्यावर्तक धर्म से की गयी व्यावृत्ति की भी अपेक्षा नहीं रखता। अन्यथा उस प्रवृत्ति निमित्त की भी, जो असद्रूप होने के कारण सत् की व्यावृत्ति नहीं कर सकता, सत्ता अवश्य माननी पड़ेगी, ऐसी स्थिति में तुल्यन्याय से उस सद्रूप प्रवृत्तिनिमित्त में भी सत्शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त कोई दूसरा अवश्य ही कहना पड़ेगा, इस प्रकार उत्तरोत्तर में भी अन्य-अन्य प्रवृत्ति-निमित्त के मानने पर अनवस्था होती जायेगी। एवं 'किंचित्' और 'न किंचित्' ये दो शब्द भी इन्द्रियावेद्यार्थक हैं, इसलिए इन्द्रियवेद्य धर्मों से उनका निर्देश नहीं कर सकते, अतः व्यावृत्ति से निरपेक्ष होकर ही उनकी इन्द्रियावेद्यरूप अर्थ में प्रवृत्ति हो सकती है। अव्यावृत्त और व्यावर्तक धर्म से शून्य शब्द अर्थबोध ही नहीं कराते – यह तो आप कभी कह नहीं सकते, क्योंकि अव्यावृत्त एवं निर्धर्मक इन दो शब्दों की बोधजनकता सर्वानुभवसिद्ध ही है। 'वहाँ निर्धर्मकत्व ही धर्म है और अव्यावृत्त ही व्यावृत्तों से व्यावृत्त है' यह भी आप कह नहीं सकते, क्योंकि 'मेरी माँ वन्ध्या है' इसकी तरह वैसा कहना वदतोव्याघात होगा। एवंच तुल्यन्याय से शिव आदि शब्दों की भी निर्दोष, निरतिशय आनन्दस्वरूपमात्र में निमित्तनिरपेक्ष ही प्रवृत्ति उपपन्न हुई। अथवा तथोक्त आनन्दस्वरूप प्रयुक्त ही शिव में दुःख आदि की व्यावृत्ति भी हो जा सकती है, यों नामभेदों में किसी

प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है, इस आशय से समाधान करते हैं।

ईश्वर ने कहा : हे मुने, आदि और अन्त के परिच्छेदों से (अवधि से) स्वतः पृथक्भूत प्रकाशान्तर की अपेक्षा न रखनेवाली, स्वयंज्योतिःस्वरूप जो सद्वस्तु अपनी महिमा में अपने आप विद्यमान है, वही किंचित् शब्दाभिधेय है यानी देश, काल, धर्म, जाति आदि दूसरों की अपेक्षा रखनेवाली सत्ता और पराधीन व्यावृत्ति से स्थित नहीं है। और चूँकि वह इन्द्रियों की गम्य नहीं है, इसलिए 'न किंचित्' शब्दाभिधेयरूप से भी स्थित है। यहाँ 'इव' शब्द मिथ्यात्व–प्रदर्शनार्थ है ॥३॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे ईशान, जो बुद्धि आदि से युक्त चक्षु, श्रोत्र आदि बाह्य इन्द्रियों की भी दृष्टि के बाहर चला गया है, उस परम ब्रह्म का अशंक (उपाय के असंभव की आशंका से रहित) अधिकारी द्वारा कैसे साक्षात्कार किया जाता है ? तात्पर्य यह है कि बुद्धि से भी गम्य न होने के कारण जिसके परिज्ञान में कोई उपाय ही नहीं है, उस ब्रह्म का सद्रूप होने पर परिज्ञान कैसे होगा ? ॥४॥

ईश्वर ने कहा : हे महर्षे, *(प्रमाणजन्य शुद्ध सात्विकभाग की परिणामस्वरूप जो ब्रह्माकारवृत्ति है, वह अविद्या का आवरण दूर कर देती है। अविद्या का परदा हट जाने पर तो स्वप्रकाशस्वरूप होने से ही ब्रह्म तत्त्वतः प्रकाशित होने लग जाता है। वही इसका साक्षात्कार है, बुद्धिवृत्ति में अभिव्यक्त चिद्व्याप्तिरूप नहीं।)* जो मोक्ष की चाह रखनेवाला मनःस्वरूप, शम, दम आदि साधन से परिशुद्ध होने के कारण केवल सात्त्विक अविद्यांश है, वह सत्शास्त्र, सद्गुरु और सत्संग आदि नामधारी सात्त्विक ही अविद्या–विभागों से सम्पादित श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से लेकर साक्षात्कारपर्यन्त अपनी वृत्ति–परम्परा से अनेक जन्मों के संचित यज्ञ दान आदि सुकृतों का संभार होने के कारण श्रेष्ठ स्वकार्यस्वरूप अविद्या का क्षालन करता हुआ इस संसार में चिरकाल तक उस तरह स्थित रहता है, जिस तरह युक्तिज्ञ (कपड़ा धोने में अत्यंत कुशल) धोबी मल से मल का अपहरण करता हुआ यानी गदहों की लीद, रेह (खाद युक्त मिट्टी) आदि से गन्दे कपड़ों को साफ करता हुआ संसार में स्थित रहता है ॥५,६॥

उससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

तदनन्तर चिरकाल तक अभ्यास करने के कारण, काकतालीय–न्याय की तरह भाग्य के परिपाक से उत्पन्न हुई पूर्णब्रह्माकारवृत्ति से अविद्या का निःशेष उच्छेद हो जाने पर आवरणशून्य आत्मा स्वयं ही अपना स्वरूप देखने लगता है यानी वास्तविक अपने प्रकाशस्वरूप में अवस्थित हो जाता है। आत्मा के स्वभाव का यही, उक्त स्वप्रकाशस्वरूप से परिशेष रहना ही, निश्चय यानी असंदिग्ध और अविपर्यस्त साक्षात्कार है, किसी दूसरे प्रकार का नहीं, यह अर्थ है। अथवा अविद्यास्वभाव का उक्त प्रकारवाला ही क्षय निश्चय है, किसी दूसरे प्रकार का नहीं, यह अर्थ है ॥७॥

अविद्यांश से ही अविद्या के क्षय तथा आत्मा से ही आत्मा की निर्मलता सिद्धि में दृष्टान्त कहते हैं।

कोयले के दो टुकड़ों को लेकर बालक, जो एक दूसरे को परस्पर घिसकर खेल खेलने का आदी है, खिलवाड़ करता हुआ उन दोनों कोयलों के नष्ट न होने तक हाथ साफ कर दिये जाने पर भी बार–बार उसे घिसते ही रहने के कारण हाथ की निर्मलता प्राप्त नहीं करता, परंतु यथाकथंचित् घिसने से उत्पन्न हुई धूलिपरम्परारूप कालिमा के साथ–साथ उन कोयलों के नष्ट हो जाने पर तो हाथ साफ

करता हुआ वही (लड़का) फिर दूसरे कोयलों के न मिलने से अपने आप हुई हाथ की निर्मलता (सुन्दरता) जैसे स्वतः ही प्राप्त कर लेता है; वैसे ही सात्त्विक और तामस अविद्याभाग अपने सहायक स्वरूप दूसरे शास्त्र आदि भागों से यथाकथंचित् यदि आत्मस्वरूप का विचार करें, तो दोनों भागों का नाश और निर्मल आत्मस्वरूप की प्राप्ति सिद्ध हो सकती है ॥८,९॥

यदि कोई शंका करे कि जब बुद्धि से आत्मा का विचारकर निश्चय किया जाता है, यह आप स्वीकार करते हैं तब आत्मा में बुद्धि दृश्यता क्यों नहीं है यानी आत्मा बुद्धि से ग्राह्य क्यों नहीं है ? तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि विचार आदि करने में जड़स्वरूप बुद्धि स्वतंत्र नहीं है, किंतु आत्मा ही बुद्धिआदिरूप उपायों से विचार आदि द्वारा अविद्या का बाध करके स्वयं ही प्रकाशित हो जाता है, यही कहते हैं।

आत्मा ही आत्मा को देखता है और आत्मरूप से उसका विचार करता है। इस संसार में एकमात्र आत्मा ही विद्यमान है, न कि अविद्या, इसे ही अविद्या का क्षय कहते हैं ॥१०॥

अतएव गुरु, शास्त्र आदि नाना प्रकार के जो भेद दिखाई पड़ते हैं, वे न आत्मस्वरूप हैं और न आत्मज्ञान के कारण ही हैं, क्योंकि आत्मस्वरूपभूत आत्मज्ञान को किसी साधन की अपेक्षा नहीं रहती, इसी आशय से कहते हैं।

जो कुछ यह नानाविध वस्तु है, उन्हें आत्मा न समझिए और इन गुरुउपदेश आदि क्रमों को आत्मज्ञान में कारण न समझिए ॥११॥

उसमें दूसरी युक्ति बतलाते हैं।

क्योंकि इन्द्रियों से घटित (युक्त) जो पुर्यष्टक है, तत्स्वरूप तो गुरु है और ब्रह्म तो सम्पूर्ण इन्द्रियों के क्षय से प्राप्य है। जो वस्तु जिसका नाश होने पर प्राप्त होती है, वह वस्तु उसके उपस्थित रहते कभी प्राप्त नहीं हो सकती ॥१२॥

तब क्या गुरु आदि सब व्यर्थ हैं ? इस पर 'नहीं' ऐसा कहते हैं।

हे विप्र, गले में पहने हुए विस्मृत हार की, उसे पुनः किसी अन्य के द्वारा जता दिये जाने पर हुई प्राप्ति की नाईं आत्मज्ञान के लाभ के लिए गुरु के उपदेश आदि क्रम कारणरूप न होते हुए भी अत्यन्त कारणता को प्राप्त हो गये हैं ॥१३॥ शिष्य के बोध के लिए गुरुउपदेशों का क्रम प्रवृत्त हो जाने पर अनिर्देश्य और अदृश्य भी आत्मा उसे स्वयं अभिव्यक्त हो जाता है ॥१४॥

इस तरह गुरु उपदेश आदि की आवश्यकता उपस्थित रहते उनमें अकारणता की उक्ति कैसे ? इस पर कहते हैं।

यह आत्मा न तो शास्त्रार्थों से और न गुरु के वचनों से ही अवगत होता है, किंतु यह स्वयं ही उक्त अपने बोधवश से जाना जाता है ॥१५॥ और गुरु के उपदेशों और शास्त्रार्थों के बिना भी यह आत्मा अवबुद्ध नहीं होता, क्योंकि इन सबके संयोग की सत्ता ही स्वात्मज्ञान की अभिव्यंजक है ॥१६॥ गुरु, शास्त्रार्थ और शिष्यों के चिर संयोग की सत्ता से, दिन में लोगों के आचार की नाईं, आत्मज्ञान प्रवृत्त होता है ॥१७॥

यही कारण है कि परमानन्दस्वरूप यह आत्मदेव, जिसने अपने बोध से सम्पूर्ण अमंगलों का नाश कर दिया है, अतएव शिव शब्द के योग्य है, प्रवृत्तिनिमित्त सापेक्ष नहीं ऐसा पहले कहा गया

है, यह कहते हैं।

कर्मेन्द्रिय, बुद्धीन्द्रिय आदि का नाश तथा सुख, दुःख आदि का क्षय होने पर 'तत्', 'सत्' इत्यादि नामों से शिवस्वरूप आत्मा ही कहा गया है ॥१८॥ जहाँ बाधकाल में यह सम्पूर्ण जगत् विद्यमान नहीं रहता और आरोप-काल में तद्रूप से ही विद्यमान रहता है, वह अधिष्ठान तत्त्व – जो व्यावहारिक सत् से विलक्षण होने के कारण सत् की नाईं त्रिकाल में भी विद्यमान है – आकाश से भी अत्यन्त स्वच्छ और अनन्त है ॥१९॥

जीवन्मुक्तों की 'शिव', 'ब्रह्म', 'सत्' इत्यादि नामों की कल्पना भी अधिकारियों के प्रबोधन के लिए ही है, यह कहते हैं।

परमार्थस्वरूप में विश्रान्त न होने के कारण अल्पज्ञानी, अधिकारी जीवों को सांसारिक बन्धनों से छुड़ाने की चाह रखनेवाले, विचित्र जगत् और शुद्धतत्त्व के मनन कलंक से युक्त मनवाले और परमार्थ के समीपवर्ती जीवन्मुक्त के दृष्टिपथ में स्थित हो रहे विशुद्ध अन्तःकरणवाले महापण्डित मुमुक्षु लोकपालों ने जिनमें ब्रह्मा, इन्द्र और रुद्र प्रमुख हैं – मोक्ष के लिए उपासना करनेवाले अपने भक्तों के बोध के लिए, शास्त्रार्थ की रचना के लिए (तत्त्व और तत्त्वज्ञान के उपायों के भलीभाँति उपपादन करने के लिए) एवं पुराण, वेद और भगवान वेदव्यास के सूत्रों की सार्थकता के लिए बिना संज्ञावाले इस ईश्वर में चिद्, ब्रह्म, शिव, आत्मा, ईश, परमात्मा और ईश्वर आदि पृथक्-पृथक् संज्ञाओं की कल्पना कर रक्खी है ॥२०-२३॥ हे वसिष्ठजी, इस तरह आकाश आदि जगत् के आरोप का अधिष्ठान होने से यह जगत्तत्त्व एवं तीनों अवस्थाओं के आरोप का अधिष्ठान होने से शिवनामक स्व-तत्त्व, जो सर्वदा सब तरह से सम्पूर्ण वस्तुओं के सब भावों का निर्वाहक है, केवल ब्रह्मसुखरूप ही है, अणुमात्र भी दूसरा नहीं है, यह निश्चय कर आप स्थित हो जाइए ॥२४॥ प्राचीन लोगों ने शिव, आत्मा और परब्रह्म इत्यादि नामों से भिन्नता की रचना की है, वस्तुतः उसमें कुछ भी भेद नहीं है ॥२५॥ हे मुनिनायक, इस प्रकार देवार्चन कर रहा ज्ञानी पुरुष उस परमपद में पहुँच जाता है, जिस परम शिवपद में एक-एक गुण के अभिमानी हम सभी अनुचरों की तरह सृष्टि आदि कर्मों में लगाये गये हैं ॥२६॥

अब शुद्ध चिति में जीवभाव और उसके संसरण आरोप क्रम की जिज्ञासा कर रहे महाराज वसिष्ठजी पूछते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे भगवन्, अविद्यमान ही यह जगत् विद्यमान की नाईं जिस प्रकार से स्थित है, वह सब कुछ संक्षेपरूप से मुझसे कहने की कृपा कीजिए ॥२७॥

उत्तरोत्तर आरोप में स्थूलता का आधिक्य (वृद्धि) कहने के लिए परम सूक्ष्मरूप मूल दिखलाते हैं।

ईश्वर ने कहा : हे मुने, जो यह अपरोक्षरूप से प्रतीयमान ब्रह्म, परमात्मा पर ज्योति इत्यादि शब्दों का अर्थ यानी प्रतिपाद्यवस्तु है, उसे विशुद्ध संवित् (चिति) ही समझिए। इसका प्रथम आरोपरूप आकाश इस प्रकार महान् है, जिस प्रकार अणु से मेरु (भाव यह है कि चिति की सूक्ष्मता और जड़ की सूक्ष्मता में मेरु और अणु के समान विस्पष्ट ही अन्तर है।) ॥२८॥

वास्तव में अवेद्यवती निर्विकल्प समाधि में प्रसिद्ध चिदानन्दैकरस-स्वभाव में स्थित होती हुई भी वह संवित् जब विषय-गोचर संस्कारों के उद्बोध से विषय कल्पनाओं में उन्मुख होती है तब

चेतनात् चित् यानी प्रकाशन करने से 'चित्' इस क्रिया निमित्तनाम के योग्य बन जाती है ॥२९॥ फिर तत्काल ही विषयों में तादात्म्यभावना से अहन्ता को (अहंकाररूप के) उस प्रकार प्राप्त कर लेती है, जिस प्रकार स्वप्न में पुरुष अपना पुरुषत्वधर्म छोड़कर हाथी की भावना से जंगली हाथी की रूपता को प्राप्त कर लेता है ॥३०॥ अहंकाररूपता को प्राप्त हुई इस चिति की पहले इयत्ता और पौर्वापर्य का अवगाहन करने के कारण देश-कालरूपता में प्राप्त हुई कल्पनाएँ उत्पन्न होती हैं। तदनन्तर वे शून्यरूप कल्पनाएँ स्वयं ही उसकी सखी के रूप में अवस्थित हो जाती हैं ॥३१॥ देश और काल की कल्पनाओं से संवलित वही चित्सत्ता 'अहम्' इत्याकारक अभिमान में हेतुभूत संस्कारों के उद्‌बोध से स्पन्दन और विज्ञान से युक्त होती हुई वायुलेखा के सदृश आभ्यन्तर प्राणस्पन्द-शक्ति से युक्त होकर 'जीव' संज्ञावाली हो जाती है ॥३२॥

इस तरह निश्चय के संस्कारों का उद्‌बोध होने पर बुद्धि आदि शब्दों की वाच्य भी वही शक्ति होती है, यह कहते हैं।

उस प्रकार की जीवशक्ति ही एकमात्र निश्चयरूप विलासवाली होकर बुद्धिरूपता का अनुसरण करती हुई अज्ञपद में स्थित हो जाती है ॥३३॥ तदनन्तर कायिक, वाचिक और मानसिक व्यवहारों के संस्कारों के उद्‌बोध से तात्त्विक आत्मस्वरूप को बिलकुल छिपा रखनेवाली शब्दशक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति (ॐ) ये तीनों ही शक्तियाँ अहन्ता का अनुगमन करती हैं यानी अहन्ता के पीछे-पीछे दौड़ती फिरती हैं, जिनमें प्रत्येक का हृदय के अन्दर स्फुरण हुआ करता है ॥३४॥ यह पूर्वोक्त अहंकारादि समूह शब्दशक्ति आदि से अनुगत होकर शीघ्र स्मरणशक्ति की भलीभाँति कल्पना करता हुआ संकल्परूपी वृक्ष का बीजभूत, पंचभूतात्मक मन बन जाता है ॥३५॥ ज्ञानी लोग उसे ही (मन को ही) 'आतिवाहिक देह है' इस उक्ति का विषय बतलाते हैं। वही भीतर में स्थित आवरणरहित साक्षीस्वरूप ब्रह्मशक्ति से व्याप्त होकर प्रमातृस्वरूप बन जाता है। और स्वसाक्षी आत्मा की स्वप्रकाशता के बल से आत्मा को जानता है ॥३६॥

इस प्रकार अन्दर की कल्पना बाह्य दृश्यसत्ता की कल्पना में कारण है, यह कहते हैं।

ये पूर्वोक्त कल्पनाएँ पहले इस चित्त में उत्पन्न होती हुई ही पीछे फिर इसमें, कहे जानेवाले बाह्य दृश्याकार में परिणत होकर, उदित न हुई भी उदित होती हैं ॥३७॥ तदनन्तर वायु की सत्ता तथा उसका प्रकाश करनेवाली स्पन्दसत्ता; स्पर्श की सत्ता और उसका प्रकाश करनेवाली त्वगिन्द्रिय की सत्ता एवं सम्पूर्ण तेजों की सत्ता और तेजःसत्ताओं का प्रकाश करनेवाली यानी प्रत्यक्ष ज्ञान करानेवाली चक्षुरिन्द्रिय की सत्तारूप हो जाती है ॥३८॥ एवं रूपसत्ता, जलसत्ता और वैसी ही स्वाद की सत्ता एवं स्वाद बतलानेवाली रसनेन्द्रिय की सत्ता और उसी प्रकार गन्ध की सत्ता बन जाती है ॥३९॥ एवं पृथ्वी की सत्ता, चाँदी और सुवर्णमय ब्रह्माण्डखप्परों की सत्ता एवं अत्यंत विपुल ब्रह्माण्ड-पिण्ड की सत्ता, देशसत्ता और समस्त आढ्य (सम्पन्न) आकारों से वर्जित काल की सत्ता बन जाती है ॥४०॥ इस उपर्युक्त इन सब सत्ताओं के समूह को अपने स्वरूप की नाईं गोद में लेकर

(ॐ) शब्द व्यवहार में हेतु है। शब्द शक्ति, ज्ञान व्यवहार में हेतु है - ज्ञानशक्ति और क्रियाव्यवहार में हेतु है क्रियाशक्ति।

यानी तादात्म्यभाव से इन सबका संग्रह कर जैसे बीज अपने उत्तरोत्तर परिणाम से अंकुर, काण्ड, शाखा और प्रशाखाओं में पहुँचकर (फैलकर) पत्ते आदि का आश्रय करता हुआ अर्थात् पत्ते आदि को अपने से पृथक् न समझता हुआ स्फुरित होता है; वैसे ही जो यह स्फुरित हो रहा है, इसे यानी उपर्युक्त सब सत्ताओं को अपने से अभिन्न समझकर बैठे रहनेवाले को हे मुने, आप स्थूलादि तीन देहवाला पुर्यष्टक जानिए। यही वासनात्मक होने से आतिवाहिक देह भी कहलाता है। अपरिच्छिन्न चित्स्वरूप ब्रह्म ही उक्त प्रकार के विभागवाला होकर स्फुरित हो रहा है, न कि और कोई दूसरा ॥४१,४२॥

इस रीति से आरोप के क्रम का विस्तार कर अब उसका अपवाद–क्रम दिखलाते हैं।

हे महर्षे, अज्ञानियों की दृष्टि से यों कहा गया सब कुछ सम्पन्न है, परंतु तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि से तो वह कुछ भी संपन्न नहीं है। वास्तव में तो न कोई ज्ञान है, न पुर्यष्टकरूप आकृति है और न चिदाभास से अचित् का चेतन ही होता है ॥४३॥ जैसे जल के आधारभूत समुद्र के उदर में जल ही जलतरंग के विलास में परिस्फुरित होता रहता है, वैसे ही परब्रह्म में अद्वितीय सद्रूप ब्रह्म ही केवल परिस्फुरित हो रहा है ॥४४॥

यह कैसे समझ में आया ? इस पर कहते हैं।

क्योंकि सब दृश्यसमूह संवित्‌रूप ही है, इस प्रकार का संवेदन (ज्ञान) होने पर सब एकात्मक है। संविद् से पृथक् कर दिये जाने पर तो यह दृश्यसमूह, संकल्पनगर की नाईं, अचेतन यानी भासकशून्य परिज्ञात होता है। तात्पर्य यह है कि दोनों प्रकार से इसमें जीवन नहीं है ॥४५॥

इसका ज्ञान होने पर इसमें वस्तुरूपता होगी या इसका ज्ञान न रहने पर वस्तुरूपता होगी ? दोनों तरह से भी नहीं हो सकेगी, ऐसा कहते हैं।

संवेदन से यानी यथार्थ परिज्ञान से सब दृश्य जगत् शिवरूपता को ही प्राप्त हो जाता है। जो ज्ञात है ही नहीं, वह वस्तुरूपता को कैसे प्राप्त करेगा ? ॥४६॥ इस पर यदि कोई कहे कि स्वतः चिन्मात्रस्वभाव होती हुई भी यह वस्तु 'बहु स्यां प्रजायेय' इस संकल्प के कारण अपने अन्दर ही दृश्यांशता को प्राप्त कर लेती है तो वह ठीक नहीं, क्योंकि संकल्पद्वारा कल्पित वस्तुएँ मिथ्या ही हुआ करती हैं, इसलिए परमसूक्ष्म उस आत्मा की सूक्ष्ममात्र स्वभाव से जो सत्ता है, वह प्रथमकल्पित सूक्ष्मदेह में ही चिरकाल के अभ्यास के कारण स्थूलता का अवलोकन करती है यह अर्थतः सिद्ध हो जाता है ॥४७॥ और स्थूलदेह के सम्बन्ध से सब आन्तरिक कोशचतुष्टय तथा बाह्य विषय समूहों का, जो स्थूलता को प्राप्त हो चुके हैं, ब्रह्म ही तत्काल अपनी कल्पना से अवलोकन किया करता है। बाह्यरूप आदि के दर्शन में वह उस देह के चक्षुरिन्द्रिय आदि स्वरूप छिद्रों का यानी द्वारों का भी जो विषयों के अनुसार अपने–अपने कार्यों में व्यवस्थित भी हैं, भलीभाँति अवलोकन किया करता है ॥४८॥ तदनन्तर हाथ, पैर आदि अवयव समूहों तथा आन्तर कोशों में पुरुष के आकार के साथ तादात्म्य की भावना करने के कारण अपने में पुरुष की आकृति देखता है और उसे काकतालीय–न्याय से अकस्मात् व्यवहार में समर्थ देखकर अत्यन्त हृष्ट–पुष्ट हो जाता है ॥४९॥ इस अवस्था में स्थित हुए जीवन धारण कर रहे इस असत् तुच्छ शरीर को, असत् ही स्वप्नावस्था

के मनुष्य और गन्धर्वनगर की नाईं, देखता रहता है ॥५०॥

'यह सारा संसार मिथ्या है' ऐसा ज्ञान होने पर भी यह जगत् दुःख पैदा करता रहता ही है, इसलिए दुःख की औषधि मिथ्याज्ञान के सिवा कोई दूसरी ही बतलानी चाहिए, यह मान रहे महाराज वसिष्ठजी पूछते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भगवन्, यह जगत् भले ही गन्धर्वनगर के आकार का हो तथा इसकी उपमा भले ही स्वप्न के नर से दी जाय, फिर भी दुःख के लिए उपस्थित तो है ही। इसलिए दुःख के परिक्षय के लिए यहाँ कौन–सी युक्ति है ? ॥५१॥

जब तक वासना का क्षय नहीं हो जाता, तब तक मिथ्यात्व का दृढ़तर निश्चय ही दुःख की निवृत्ति में एकमात्र उपाय है, आपाततः मिथ्यात्वज्ञान से कुछ नहीं हो जाता, इस आशय से उत्तर देते हैं।

ईश्वर ने कहा : महर्षे, वासना के कारण दुःख उत्पन्न होता है और वह वासना विद्यमान वस्तु में हुआ करती है। यह जगत् तो मृगतृष्णा के जल के तरंग समान अविद्यमान (मिथ्या) ही है ॥५२॥

जगत् में अत्यंत असत्त्व का दृढ़ निश्चय हो जाने पर आश्रय और उसके विषय आदि का बिलकुल अभाव हो जाने से ही वासना की पुनः उत्पत्ति नहीं होती, यह कहते हैं।

इसलिए किससे कौन वासित होगा और किसको कहाँ से वासना होगी ? हे महर्षे, स्वप्नावस्था का पुरुष भला कैसे मृगतृष्णा के जल का पान कर सकता है ? ॥५३॥ द्रष्टा के सहित, अहन्ता से युक्त और मन तथा मनन आदि के साथ इस जगत् का परिशेष में जब अस्तित्व ही नहीं रहता तब जो सद्वस्तु है, वही अवशिष्ट रह जाती है ॥५४॥ वहाँ पर न तो कोई वासना रहती है, न कोई वासक रहता है और न कोई वासना का विषय (वास्य) ही रहता है। किंतु एकमात्र केवलीभाव यानी चिन्मात्रस्वभाव ही रहता है, जिसमें कि कलना का भ्रम भलीभाँति शांत हो चुका है ॥५५॥ जिस प्रौढ़ की दृष्टि में व्यावहरिक या प्रातिभासिक दुष्ट संसारूप यक्ष शून्यस्वरूप होने के कारण नित्य विलीन ही है, उसकी दृष्टि में कैवल्य के सिवा कोई और दूसरा क्या अवशिष्ट रह सकता है ? ॥५६॥ इस प्रकार शून्य में ही वेताल की नाईं यह चित्तवासना उत्पन्न हुई है, जिसका नाम जगत् है। उसकी शांति हो जाने पर अक्षत शांति ही अवशिष्ट रहती है ॥५७॥ अहन्ता में, जगत् में तथा मृगतृष्णा के जल में जिस मनुष्य की आस्था बँधी हुई है, उस कलमुँहें को बार–बार धिक्कार है ! वह नालायक इस उपदेश के लायक नहीं है ॥५८॥

वह क्यों उपदेश के योग्य नहीं है ? इस पर कहते हैं।

इस जगत् में आत्मज्ञानी लोग विशिष्ट अधिकारप्राप्त जीव को ही उपदेश दिया करते हैं, न कि उस लड़के को, जो अधिकार प्राप्त न होने से अनेक प्रकार की भ्रान्तियों से ग्रस्त है, आर्यों द्वारा उपेक्षित है एवं असद्रूप देह आदि में अभिमान रखने के कारण असन्मय है। जो पुरुष ऐसे अनधिकारी अज्ञानी जीव को उपदेश देता है, वह मानों सोने–सी सुन्दरी कन्या स्वप्न में देखे गये पुरुष को देता है। वह भी एक बहुत बड़ा मूर्ख ही है, यह भाव है ॥५९॥

इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त

बयालीसवाँ सर्ग

ईश आदि से लेकर समष्टि-व्यष्ट्यात्मक जो संसार है, वह सब माया ही है,
यह उपदेश देकर भगवान् श्रीशंकर का अपने वासस्थान के प्रति गमन - यह वर्णन।

'जीवदेतदवस्थाकं स्थितं पश्यति देहकम्' इस वचन से पूर्व अध्याय के अन्त में जो अध्यारोप कहा गया है, उसके शेषांश की जिज्ञासा कर रहे महाराज वसिष्ठजी पूछते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे भगवन्, तदनन्तर सृष्टि के आदि में यानी कल्प के प्रथम अध्यासक्रम में देहविभ्रम को देख रहा वह जीव आकाश में स्थित होकर किस अवस्था को प्राप्त करता है ? ॥१॥

भगवान शंकर ने कहा : हे मुने, जिस प्रकार स्वप्नमनुष्य अतिसूक्ष्म नाड़ियों में अत्यंत विस्तृत ब्रह्माण्ड देखता है, उसी प्रकार वह जीव भी परम सूक्ष्म चिदाकाश में पूर्वोक्त क्रम के अनुसार बना हुआ शरीर देखता है ॥२॥

कथित दृष्टान्त के आशय का ही पुनः विवरण करते हैं।

जैसे आज भी स्वप्नमनुष्य चैतन्यघन आत्मा के सर्वत्र व्यापक होने से ब्रह्माण्डरूप कार्य करता है, वैसे ही शरीरधारी जीव भी ब्रह्माण्डरूप कार्य करता है ॥३॥

आदि सर्ग में वही जीव समष्ट्यात्मक उपाधि से युक्त होकर हिरण्यगर्भ नाम धारण कर अपने में और बाहर की वस्तुओं में नामभेदों का भी व्यपदेश (निरूपण) करता है, यह कहते हैं।

इसके बाद वह मैं सनातन अव्यक्त 'पुरुष' हूँ, इस प्रकार पुरुष-नाम का अपने ही स्वरूप में निर्माण करता है और उसी से प्राथमिक पुरुष के रूप में शीघ्र प्रकाशित होता है ॥४॥

वही सात्त्विक, राजस और तामस कल्पों में सदाशिव आदि मूर्तियों की पहले कल्पना कर फिर दूसरों की कल्पना करता है, ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार वही जीव किसी सर्ग में पहला पुरुष सदाशिव होता है, बाद में किसी सर्ग में विष्णु तो किसी तीसरे सर्ग में विष्णु की नाभि से उत्पन्न ब्रह्मा कहा जाता है ॥५॥

'आकाशप्रभवो ब्रह्मा' (ब्रह्मा आकाश से उत्पन्न होता है) इस पूर्व रामायण की उक्ति से पितामह नाभि से ही उत्पन्न होता है, यह कोई नियम नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

किसी सर्ग में वह पितामह कहा जाता है तो किसी सर्ग में दुर्गा, भैरव, विनायक आदि कहा जाता है, परंतु वह सदाशिव आदि पुरुष संकल्पमय है यानी 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इस श्रुति में उक्त मायिक संकल्परूप है और संकल्प से ही आकार प्राप्त करता है ॥६॥ सूक्ष्म भूतों की सृष्टि द्वारा पुष्ट हुआ प्रथम संकल्प ही उस समष्टिव्यष्टिस्वरूप मनोमय मूर्ति प्राप्तकर यानी हिरण्यगर्भ होकर जिस भुवन, प्रजा, सृष्टि आदि की जिस तरह से कल्पना करता है, उसे उसी तरह से व्यवहारयोग्य अनुभव करता है ॥७॥ जिस तरह शून्यस्वरूप वेताल तात्त्विक दृष्टि से असद्रूप और भ्रमदृष्टि से सद्रूप भासता है, उसी प्रकार यह समस्त प्रपंच तत्त्वदृष्टि से असत् और भ्रमदृष्टि से सद्रूप भासता है, इसलिए जगत् का विज्ञान केवल अहन्ता ही है ॥८॥ उक्त रीति से जो आदि पुरुष स्वरचित वस्तु के प्रति द्रष्टारूप हो जाता है, वह निमेषमात्र काल में ही एकमात्र अपने स्वरूप के पर्यालोचन से चिदाकाशस्वरूप

हो जाता है और स्वरूप का विस्मरण होने पर तो उसे निमेषमात्र काल ही अनन्त और असीम संसार के प्रति ले जाता है ॥९॥ वह निमेष ही कल्पना में समर्थ है, जो केवल प्रतिभास के विपर्यास से यानी पराक्प्रवणता से महाकल्पों की परम्परा का भलीभाँति अनुभव करता है ॥१०॥ परमाणु-परमाणु में, व्योम-व्योम में (महाकाश और सुई के छेद आदि आकाश में) तथा क्षण-क्षण में भी वे सृष्टि, कल्प और महाकल्प के आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करते हैं ॥११॥

वे सृष्टि-भेद जितने जीवों में समानसमय में समानविषयक वासना का प्रादुर्भाव होगा, उतने जीवों के परस्पर दर्शन आदि व्यवहारों से युक्त होंगे, दूसरों के लिए दर्शन आदि व्यवहारों से युक्त नहीं होंगे, यों ऐन्दव के उपाख्यान प्रकार का आश्रय लेकर कहते हैं।

कोई लोग वासनागति की समानता से अन्योन्य दर्शन आदि व्यवहार के योग्य देखे जाते हैं और कोई अधिष्ठान सद्रूप आत्मा के ज्ञात हो जाने से परस्पर व्यवहार योग्य नहीं देखे जाते ॥१२॥

उसमें युक्ति बतलाते हैं।

चूँकि सर्गरूप से स्थित जीव के द्वारा सम्भाव्यमान होकर ही वे सर्ग उत्पन्न होते हैं, इसलिए वे परमचिदाकाशस्वरूप परमात्मा में उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि वहाँ पर वे चिदाकाशस्वरूप में ही पर्यवसित हैं ॥१३॥

सर्ग ब्रह्मसत्ता से निरपेक्ष होकर अपनी सत्ता से ही या देश-कालसम्बन्ध के बल से प्राप्तसत्ता से ही रहें ? इस शंका पर कहते हैं।

ये सर्ग स्वप्नकालीन पर्वत की नाईं सद्रूप और असद्रूप होकर विलीन हो जाते हैं। इसी प्रकार देश और काल भी सर्गों से पहले आक्रान्त नहीं थे और न सर्गों की कर्तृता ही थी ॥१४॥

तब सभी सर्ग प्रलयपर्यन्त स्वयं ही सत्स्वरूप होंगे ? इस पर कहते हैं।

ये सर्ग सत्स्वरूप नहीं हो सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर 'सर्ग' और 'सत्' दोनों पद एक दूसरे के पर्याय हो जाने से सर्ग की अविनाशापत्ति हो जायेगी 'नाभावो विद्यते सतः' इससे भगवान् ने सत् पदार्थों का अविनाश ही सिद्ध किया है। (तब सर्ग में अध्यस्त ही सत्त्व मान लिया जाय ? इस पर कहते हैं।) सर्ग में अध्यस्त भी सत्त्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि स्वयं असद्-रूप सर्ग में सत्त्वाध्यास की अधिष्ठानरूपता ही सिद्ध नहीं हो सकती। (तब वैनाशिक-मत के सदृश धारारूप से अनुगत तत्-तत् क्षणरूप ही सत्त्व सर्ग में मानिये, इसमें क्या आपत्ति है ? इस पर कहते हैं।) सर्ग में क्षणरूप सत्त्व भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि क्षणरूप सत्त्व प्रतीतिकालपर्यन्त ठहर नहीं सकता। यदि अत्यन्त अप्रतीत में सत्ता मान ली जाय तो गगनकुसुम आदि अलीक (असत्) पदार्थों में भी सत्त्व की आपत्ति हो जायेगी। *(इससे आद्यक्षण और अन्तक्षण के सम्बन्धरूप जन्म और विनाश भी सर्ग में निरस्त हो गये, इस आशय से कहते हैं।)* न तो यह सर्ग कुछ उत्पन्न ही होता है और न कुछ विनष्ट ही होता है ॥१५॥

ऐसी परिस्थिति में हमारे सिद्धान्त की ही शरण लेनी चाहिए, इस आशय से पूर्वोक्त सिद्धान्त का स्मरण कराते हैं।

चिति ही सम्पूर्ण प्रपंच को संकल्परूप से अपने में उस प्रकार चमत्कृत करती है, जिस प्रकार स्वप्न में नगर का निर्माण, पतन और उत्पतन चमत्कृत होता है और तनिक भी देश और काल से

सम्बन्ध नहीं करता ॥१६॥

तब सर्ग में देश एवं काल दोनों से आक्रान्तत्व का अनुभव कैसे होता है ? इस पर कहते हैं।

जैसे संकल्पमय पर्वत से असीम देश, कालादि आक्रान्त होने पर भी वास्तव में वे आक्रान्त नहीं कहे जा सकते, वैसे ही व्यावहारिक सत्ता से युक्त इस जगत् से देश, काल आदि के आक्रान्त होने पर भी वे वास्तव में आक्रान्त नहीं कहे जा सकते ॥१७॥ जिस तरह उन्नतरूप से अवस्थित संकल्पमय मेरुपर्वत से वास्तव में आक्रान्त न हुए ही देश, काल आदि संकल्पकाल में आक्रान्त–से प्रतीत होते हैं, वैसे ही व्यावहारिक जगत् से अनाक्रान्त भी देश, काल आदि संकल्प–काल में आक्रान्त–से प्रतीत होते हैं ॥१८॥

इसीसे संकल्प के अनुसार ही पुरुष, कीट, स्थावर आदि जन्मवैचित्र्य होता है, ऐसा कहते हैं।

ऐहिक और आमुष्मिक सभी क्रियाओं में समर्थ जो यह पुरुष है, वह जिस क्रम से उत्पन्न होता है, उसी क्रम से यहाँ क्षण में कीट भी हो जाता है ॥१९॥ उसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड में स्थावरों की योनियाँ भी उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार अण्डज आदि चार प्रकार की जातियाँ और रुद्र से लेकर तृणपर्यन्त सभी पदार्थ मायाधिष्ठाता के संकल्पकाल में उत्पन्न हो जाते हैं ॥२०॥ कोई सर्ग वासना की सूक्ष्मता के कारण परमाणु के सदृश सूक्ष्म हैं और कोई सर्ग वासना के स्वल्प विकास से त्रसरेणु के सदृश बड़े हैं, यही क्रम भूत एवं भावी सर्ग के विषय में भी जानना चाहिए ॥२१॥

तब कैसे इस सृष्टि का उपरम होता है ? इस पर कहते हैं।

परमार्थतत्त्व का चिन्तन करने से अनिर्वचनीय इस संसारमाया का विभेद विनष्ट हो जाता है, तदनन्तर अभ्यास से शिवरूप पूज्यतत्त्व प्राप्त हो जाता है ॥२२॥

एक क्षण के सहस्रांश कालमात्र में भी यदि कहीं चिदात्मा बहिर्मुख हो जाय, तो करोड़ों कल्पों में फैले हुए असंख्य अनर्थ प्राप्त हो जाते हैं, यह कहते हैं।

निमेषमात्र के किये गये सौ भागों में से किसी एक के आधे भागमात्र कालपर्यन्त ही यदि परा चिति अपने वास्तव स्वरूप से गिर जाय, तो वही महान् अनर्थरूप से उदित हो जाती है ॥२३॥

चिति की स्वरूप प्रतिष्ठा ही ब्रह्मरूपता है, इसे कहते हैं।

तत्त्ववेत्ता पुरुषों के द्वारा अनुभूत होनेवाली, शिलाकाश की नाईं अपने स्वरूप में अवस्थित चिति ही सूर्य आदि प्रकाशों से प्रकाशित न होनेवाले जन्मशून्य ब्रह्मचैतन्यस्वरूप है, अतः वह ब्रह्मशब्द से कही जाती है ॥२४॥

अभिमान की अभिवृद्धि से उत्तरोत्तर ज्यों–ज्यों सृष्टि प्रौढ़ बनती जाती है, त्यों–त्यों चिदात्मा के प्रकाश का ह्रास और भेदाधिक्य से उत्पन्न क्षुद्रता आत्मा में प्राप्त होती जाती है, यों कहते हैं।

इस सर्ग के प्रौढ़ हो जाने पर महाचैतन्य का प्रकाश नहीं होता और मिथ्याभूत देश और काल से जनित परिच्छेदों से आत्मा में मशकपर्यन्त महान् सूक्ष्मता और क्षुद्रता प्राप्त हो जाती है ॥२५॥ हे प्रिय मुने, ब्रह्मचिति उपाधिवश जीवभाव को प्राप्त होकर देह, इन्द्रिय आदि के संवलन–क्रम से मृगी, लता, कीट, देव, असुर आदिरूप हो जाती है ॥२६॥

इसीलिए दृढ़ सूत्र में गुँथी गयी माला की नाईं यह विश्व सत् और असत्–रूप सूत्र में गुँथा गया

स्थित है, ऐसा कहते हैं।

नित्य, व्यापक, अनन्त, दृढ़ और विश्व के अन्दर रहनेवाले विश्व के कर्ता जिस परब्रह्म में माला की नाईं सत् एवं असत् से ग्रथित जगत् रहता है; विवेक होने पर वह न दूर है, न समीप है, न ऊपर है, न नीचे है, न तुम्हारा है, न मेरा है, न पहले था, न आज है, न प्रातःकाल में है, न सत् है, न असत् है और न सत् और असत् के मध्य में रहनेवाला यानी अनिर्वचनीय है ॥२७,२८॥

इसीलिए अपना अनुभव ही एकमात्र उसमें प्रमाण है, लौकिक प्रमाता, प्रमाण आदि की वहाँ गति है ही नहीं, ऐसा कहते हैं।

उक्त रीति से जब सभी विकल्प असद्रूप हैं तब इस आत्मतत्त्व का अनुभव करनेवाला स्वप्रकाश चैतन्य को छोड़कर दूसरा कोई पदार्थ नहीं हो सकता। इस परम तत्त्व में बड़े–बड़े व्यवहार–विभवों का प्रसव करनेवाली लौकिक प्रमाणमाला उस प्रकार अपनी स्थिति नहीं बना सकती, जिस प्रकार जल में अग्नि अपनी स्थिति नहीं बना सकता ॥२९॥ हे मुने, जैसा तुमने पूछा, वैसा ही मैंने उत्तर भी दिया। तुम्हारा कल्याण हो। अब हम लोग अपनी अभिमत दिशा की ओर जा रहे हैं। हे पार्वतीजी, आइये, उठिये ॥३०॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, ये नीलकण्ठ भगवान् शंकर ऐसा कहकर, जिनके ऊपर मैंने उस समय पुष्पांजलि समर्पित कर दी थी, अपने परिवार के साथ आकाश कोटर की ओर उड़ गये ॥३१॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, पहले से ही समाधि साधनों से सम्पन्न मैंने त्रिभुवन के अधिपति उमापति के जाने के बाद क्षणभर चुप रहकर उनके स्मरणपूर्वक उनके द्वारा उपदिष्ट नित्य अपरोक्ष आत्मरूप देवता का पूजन नवीन (परिष्कृत) और श्रद्धा आदि से पवित्र हुई बुद्धि से अंगीकृत किया और पहले का वह जड़ देवार्चन छोड़ दिया ॥३२॥

बयालीसवाँ सर्ग समाप्त

तैंतालीसवाँ सर्ग

वैराग्य से पूर्ण स्वात्मस्वरूप शिवजी का पूजन सुनकर श्रीरामचन्द्रजी प्रबुद्ध हो गये और स्वयं कृतकृत्य होकर शिवार्चन में तत्पर हो गये यह वर्णन।

तत्त्वसाक्षात्कार में पर्यवसित, ईश्वर द्वारा उपदिष्ट, स्वात्मरूप शिवजी के पूजन की श्रीरामजी को श्रद्धाधिक्य होने के लिए प्रशंसा कर रहे वसिष्ठजी स्वयं उसका पुनः उपदेश देते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, महादेव शंकरजी ने सर्वोत्कृष्ट यह स्वात्मशिवार्चनरूप पूजन मुझसे कहा और स्वयं मैं भी उसे जानता हूँ। जिस तरह का यह जगत् का स्वरूप अवस्थित है उसे आप भी जानते ही हैं ॥१॥ भद्र, जिस असद्रूप मायारूप भ्रम में असद्रूप उपाधि से घटित होने के कारण असद्रूप जीव असत् ही जगत् देखता है, उस असदात्मक संसारमाया में क्या सत्य हो सकता है और क्या असत्य हो सकता है ? ॥२॥

उसमें कवि द्वारा कल्पित मेरु–रूप से राजा आदि के वर्णन में उस प्रकार का अनुभव दृष्टान्त है, ऐसा कहते हैं।

अनेक तरह की कल्पना करनेवाले कवियों के द्वारा की गई जिन राजा आदि में मेरु आदि विविध

भावों की कल्पनारूप काव्य–रचना से जिस–जिस तरह कथन किया जाता है उस–उस तरह श्रवण कर वे राजा आदि अपने अन्दर मेरु–रूपता का या कल्पवृक्षता का भी अनुभव करते हैं। यदि उन्हें यह अनुभव नहीं होता तो काव्यार्थानुभव चमत्कार का आस्वाद नहीं होता और कवियों को अधिक द्रव्य लाभ, मान आदि भी नहीं होते, यह भाव है ॥३॥

विविधकल्पना अज्ञात आत्मा का स्वभाव ही है, इस आशय से और भी दूसरे दृष्टान्त बतलाते हैं।

जैसे जल में द्रवत्व स्वभाव है, जैसे वायु में स्पन्दनत्व स्वभाव है और जैसे आकाश में शून्यत्व स्वभाव है, वैसे ही आत्मा में सर्गत्वस्वभाव है ॥४॥

इस प्रकार स्वाभाविक ही विकल्परूप अध्यारोप में पूजनरूपता का चिन्तन मैं तभी से लेकर आज तक करता हुआ ही स्थित हूँ, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, तबसे लेकर आज तक उसी क्रम से मैं व्यग्रता छोड़कर आत्मा का अर्चन करता हुआ अवस्थित रहता हूँ॥५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस पूजन–विधान से इन व्यवहारपूर्ण दिनों को भी मैं अखिन्न होकर बिता रहा हूँ॥६॥ जाग्रत्–काल में दिन–रात समयानुसार प्राप्त हुए क्रियाचाररूप कुसुमों से आत्मा का पूजन करता हूँ। सुषुप्ति–काल में वह उच्छिन्न हुआ प्रतीत होने पर भी वास्तव में किसी भी समय वह उच्छिन्न हुआ ही नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति–काल में भी 'सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिषम्' उठने के बाद हुए इस स्मरण की हेतु अविद्यावृत्तिरूप पुष्प से अर्चन हो सकता ही है ॥७॥

तब तो अज्ञानियों को भी उक्त प्रकार का शिवार्चन सदा ही हो जाया करता है ? इस पर कहते हैं।

आयुष्मन्, सभी देहधारियों में यद्यपि ग्राह्य–ग्राहकसम्बन्ध साधारण ही है; तथापि योगियों की जो सावधानता है, वही आत्मा का अर्चन है। निष्कर्ष यह निकला कि हमारी सावधानता ही अज्ञानियों की अपेक्षा हममें विशेष है ॥८॥

वह सावधानता विषयासंग का त्याग करने पर ही प्राप्त होती है, यह बतला रहे महाराज वसिष्ठजी उक्त आत्मार्चन में दृष्ट–फलों की बहुलता बतलाकर श्रीरामजी को उसमें प्रवृत्त कराते हैं।

हे रघुपते, इस दृष्टि का अवलम्बन कर आसक्ति निर्मुक्त हुए चित्त से इस संसाररूपी विरल जंगल में विहार कीजिए, ऐसा करने पर आप खिन्न नहीं रह सकते ॥९॥

छोड़ी गई आसक्ति पुनः उत्पन्न न होने में विचार की दृढ़ता ही हेतु है, यह कहते हैं।

हे सुव्रत, धन और बन्धुओं के वियोग से जनित असीम दुःख के प्राप्त होने पर इस दृष्टि का अवलम्बन कर आप विचार कीजिए ॥१०॥ भद्र, धन और बन्धुओं का आगम और अपाय होने पर हर्ष और विषाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये सभी संसार के अनुभव सदा विनश्वर ही हैं ॥११॥ श्रीरामभद्र, वे व्यग्रता उत्पन्न करनेवाली विषयों की चित्र–विचित्र परिस्थितियाँ पहले जिस तरह आती हैं, जिस तरह जाती हैं और जिस तरह स्वासक्त पुरुष को पराजित करती हैं, यह आप जानते ही हैं ॥१२॥ इसी प्रकार अविचारित हेतुओं से प्रेम और धन आते रहते हैं और यों ही चले भी जाते हैं ॥१३॥ हे निर्मल, वे जगत् के व्यवहार न तो आपके अन्दर हैं और न आप ही उनके अन्दर हैं। इस प्रकार यह जगत् तुच्छ ही है, इसलिए आप क्यों व्यर्थ संतप्त होते हैं ? ॥१४॥

यदि आप जगत् की तुच्छता नहीं चाहते, तो 'आत्मा ही जगत् है' यह भावना कीजिए। वैसा करने

से भी बन्धु आदि का वियोग होने पर अपने अवयव परिवर्तन की नाईं आपमें हर्ष और शोक की प्रवृत्ति नहीं होगी, ऐसा कहते हैं।

चिन्मात्रस्वरूप विशाल आकृतिवाले श्रीरामभद्र, यहाँ आप जगद्रूप ही हैं, ऐसा अनुभव कीजिए। ऐसा अनुभव करने पर भी आपको अपने अवयवों के परिवर्तन की नाईं हर्ष और शोक का प्रसंग ही क्या है ? ॥१५॥ हे तात, आप चिन्मात्रस्वरूप हैं, यह जगत् आपसे पृथक् नहीं है। इसलिए आपको किस प्रकार और कहाँ हेय और उपादेय की कल्पना होगी ? ॥१६॥ उक्त रीति से चिन्मय जगत्-सागर में चिद्रूप जगदात्मक चक्र की चंचलता होने पर और समुद्र में तरंगसमूह होने पर हर्ष और शोक का प्रसंग ही क्या ? ॥१७॥

उक्त पूजन की अन्तिम सीमा में श्रीरामचन्द्रजी को स्थिर करते हैं।

हे श्रीरामजी, पहले एकमात्र चैतन्यस्वरूपता प्राप्तकर और तदनन्तर सुषुप्तिकालीन स्थिति प्राप्तकर आप आज ही से तुरीयावस्था स्वरूप हो जाइये॥१८॥ स्वयं सर्वविध वैषम्यों से निर्मुक्त, ब्रह्म के साथ एकरस स्वरूपतापन्न जगद्रूप आभासों से युक्त, तेजस्वी-शरीर और उदार बुद्धि होकर सदा आत्म-पूजन में तत्पर होते हुए आप समुद्र की नाईं परिपूर्णरूप से स्थित रहिये॥१९॥ हे रघुनन्दन, यह सब आपने सुना और परिपूर्ण बुद्धि होकर आप स्थित भी हैं। जो कोई दूसरा प्रश्न इस विषय में पूछना चाहते हों, तो उसे पूछिए और पहले विचारारम्भ में (वैराग्य-प्रकरण में) जो आपने प्रश्न किये थे, उनमें से यदि कोई उत्तर के बिना रह गया हो तो उसे भी आज आप पूछिये॥२०॥ श्रीरामजी ने कहा : ब्रह्मन्, आज मेरा संशय विशेषरूप से निवृत्त हो गया। मैंने समस्त ज्ञातव्य तत्त्व जान लिया और मुझे स्वाभाविक तृप्ति भी हो गई॥२१॥ हे मुने, अब मुझमें न अज्ञान है, न जीव और ब्रह्म का भेद है, न चेत्य है और न मन ही है। पहले मुझमें जो अज्ञान था, वह इस समय नष्ट हो गया॥२२॥ हे मुने, उक्त अज्ञानवश 'आत्मा में कलंक है' इस प्रकार की जो भ्रान्ति थी, वह आपके प्रसाद से इस समय निवृत्त हो गई॥२३॥ न तो आत्मा उत्पन्न होता है, न मरता है और न कलंकयुक्त ही रहता है। 'यह सब जगत् ब्रह्ममय है' इस प्रकार का साक्षात्कार हो जाने से मैं भलीभाँति उदय को प्राप्त हो गया हूँ॥२४॥ भगवन्, सब प्रकार के प्रश्नों से, संशयों से और इच्छित पदार्थों से यानी सभी ओर से निवृत्त हुआ मेरा मन निर्मल हो गया और उस प्रकार उज्ज्वल हो गया, जिस प्रकार बढ़ई द्वारा यन्त्र पर किये तक्षण (लकड़ी गढ़कर मूर्ति बनाने की क्रिया) से लकड़ी आदि सूर्य-बिम्ब से उज्ज्वल हो जाते हैं॥२५॥ महाराज, जिस प्रकार सुमेरुपर्वत सुवर्णों की अभिलाषा न करता हुआ स्थित रहता है, उसी प्रकार साधुओं द्वारा समीप में आये हुए शिष्यों को कहे गये सभी तरह से साधनोपदेशों की भीतर आकांक्षा न करता हुआ मैं भी स्थित हूँ॥२६॥ चराचरात्मक इस संसार में ऐसी कोई चिरलभ्य वस्तु नहीं है, जिसकी मुझे इच्छा हो, ऐसी कोई अनुपलभ्य वस्तु नहीं है, जिसकी मुझे अभिलाषा हो, ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो मेरे लिए हेय और उपादेय हो और ऐसी भी कोई वस्तु नहीं है, जो उपेक्ष्य ही हो॥२७॥ हे मुने, यह हेय है, यह उपादेय है, यह सत् है और यह असत् भी है, इस प्रकार का महान् चिन्तारूपी मेरा भ्रम निपुणतापूर्वक विलीन हो गया॥२८॥ मैं न स्वर्ग की अभिलाषा करता हूँ और न रौरव नरक के साथ द्वेष ही करता हूँ, किंतु मन्दराचल की नाईं भ्रमशून्य होकर अपनी आत्मा में ही स्थित हूँ॥२९॥ महाराज,

परमाणु की नाईं कण–कण बनाकर तीनों लोकों को नष्ट कर देनेवाले क्षीर–सागर की चारों ओर जो व्याप्ति है, उस व्याप्ति के सदृश व्याप्तिवाला यह रामरूप मन्दराचल जो चिरकाल से भ्रम में पड़ा था अब भ्रमशून्य होकर विश्रान्त हो गया है ॥३०॥ यह जगत् जिस स्वरूप का दिखाई देता है, उसी स्वरूप का है, उससे भिन्न उसका कोई दूसरा स्वरूप नहीं है यों जो मूर्ख जानता है, उसके हृदय में ज्वाला के सदृश अधिक सन्तापदायी, कुत्सित संशय–समूहों से होनेवाली 'यह वस्तु है और यह अवस्तु है' इस प्रकार की कल्पनाएँ पर्याप्तरूप से उदित होती रहती हैं। हे मुनीश्वर, मेरे द्वारा कहे गये इस अर्थ को आप अपने अनुभव से भी प्रमाणित कीजिए और देखिए। उस प्रकार का मूढ़ पुरुष जिन धन आदि विषयों के लिए कार्पण्य करता है, जगत्–सम्बन्धी वे वस्तुएँ तात्त्विक विचार से हम लोगों को प्राप्त ही नहीं होतीं ॥३१,३२॥ हे भगवन्, आपके प्रसाद से हम इस भाव–सागर से, जो कि चित्र–विचित्र भूख, प्यास आदि से जनित व्याकुलताओं से परिपूर्ण (काम आदि रूप छः) तरंगों से युक्त तथा विशुद्ध चिदाकारवृत्ति से शून्य होने के कारण जड़रूप है, पार पा गये ॥३३॥ हे परमेश्वर, हमने सम्पत्तियों की अवधि जान ली, आपत्तियों की सीमा का भी अन्त देख लिया। हमें सर्वसारभूत भूमानन्द में भी दीनता न रही और अब हम परिपूर्णस्वरूप हो गये ॥३४॥ महर्षे, अब हमारा मन इस संसाररूप समरक्षेत्र में आशारूपी हाथियों का विदलन कर शत्रुओं से अभेद्य उत्कृष्ट वीरता को प्राप्त हो गया है ॥३५॥

परिपूर्ण मनःस्थिति का ही वर्णन कर रहे श्रीरामजी उपसंहार करते हैं।

भगवन्, मेरे मन से समस्त विकल्प छिन्न–भिन्न हो गये हैं। इच्छाएँ भी निकल गयी। अकार्पण्य से उसकी स्थिरता भी दृढ़ हो गई है। तीनों लोकों में प्रसिद्ध पूर्णचन्द्र, क्षीर–सागर, शरदाकाश आदि जितने प्रसन्न–स्वरूप पदार्थ हैं, उन सबका उसने अतिक्रमण कर दिया है, भीतर से वह खिल उठा है। यही कारण है कि वह सर्वोत्तम होकर स्थित है ॥३६॥

तैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

चौवालीसवाँ सर्ग

ज्ञान की दृढ़ता के लिए इच्छा–त्याग से लेकर मनोविनाशपर्यंत आसक्तिविनाश के उपायों का कथन।

यद्यपि श्रीरामचन्द्रजी ने स्वकीय तत्त्वज्ञान–निष्ठा का वर्णन कर दिया तथापि उसकी परिपक्व–दशा के पहले प्रच्युति न हो जाय, इसलिए 'स्थाणुनिखनन' न्याय से जीवन्मुक्तलक्षणरूप पूर्वोक्त साधन परम्परा का ही प्रतिष्ठापन करनेवाले महाराज वसिष्ठजी पूर्वोक्त अयत्नलभ्य व्यवहारोपभोग आदिरूप शिवार्चन में भी 'सर्वारम्भा हि दोषेण' इत्यादि भगवदुक्ति के अनुसार प्रमाद से हिंसादि अनिष्टप्रसक्ति अवर्जनीयरूप से आ सकती है और उपभोग अनर्थ का बीज भी है, इसलिए पुनः जन्म आदि अनर्थों की प्राप्ति होगी इस आशंका का परिहार करते हुए कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, इन्द्रियों के साथ रागादि से शून्य तथा कर्तृत्वाभिमानरूप क्रियासम्बन्ध से वर्जित वर्तमानकालीन प्राप्त पदार्थों का व्यवहार करनेवाले अन्तःकरण से यदि आप कुछ करते हों, तो वह किया गया नहीं माना जाता ॥१॥

विषय तो नियमतः तुष्टि के साधन हैं, अतः उनमें राग का परित्याग कैसे किया जा सकता है ?

इस आशंका पर कहते हैं।

भद्र, पहले प्राप्ति-समय में वस्तु जिस तरह तुष्टिसाधन होती है, उस तरह प्राप्ति के एक क्षण बाद तुष्टिसाधन नहीं होती, इस विषय का किसने अनुभव नहीं किया है। निष्कर्ष यह निकला कि प्राप्ति-क्षण छोड़कर पूर्व और उत्तर काल में विषयों में तुष्टिसाधनत्व का व्यभिचार हो जाने के कारण विषय तुष्टिसाधन हैं, यह नियम नहीं रहा ॥२॥

इसी से चिर-कालिक अनर्थ देनेवाले क्षणिक सुख में आसक्ति करना भी ठीक नहीं है, यह कहते हैं।

जिस तरह लाभ-काल में विषय तुष्टि के लिए होता है, उसी तरह दूसरे काल में नहीं होता। इसलिए बालक ही क्षणिक सुख देनेवाले विषयों में आसक्ति बाँधता है, दूसरा नहीं ॥३॥

जब विषय की प्राप्ति से जनित क्षणिक भी इच्छानिरोध सुख का हेतु है तब इच्छा का आत्यन्ति उच्छेद निरतिशय आनन्द का हेतु है, यह तो अर्थतः सिद्ध हो ही जाता है; ऐसी स्थिति में इच्छा ही अनर्थरूप है, इस आशय से कहते हैं।

हे रामभद्र, इच्छाकाल में जो वस्तु आनन्दसाधन प्रतीत होती है, उसमें एकमात्र कारण इच्छा ही है। परंतु वह आनन्द तभी तक बना रहता है जब तक इच्छा रहती है यानी आनन्दविरोधी अभिलाषा से ही आनन्द का विच्छेद होता है, इसलिए आप इच्छा का परित्याग कर दीजिये ॥४॥

महाराज, मैंने तो पूर्णानन्द पद प्राप्त कर लिया है, फिर मुझे विषयाभिलाषात्याग का जो आप उपदेश दे रहे हैं, वह क्या अर्थ रखता है ? इस पर कहते हैं।

भद्र, यदि आप तत्पद प्राप्त कर चुके हैं, तो फिर किसी समय काल के विपर्यय से आप अहंभावनारूप कीचड़ में न फँस जायें। तात्पर्य यह है कि आप कालान्तर में भी अहंभावरूपी कीचड़ में फँस न जायें, इसलिए पूर्णानन्दस्वरूप पद में स्थिति की दृढ़ता के लिए मैं पुनः उपदेश दे रहा हूँ ॥५॥ हे श्रीरामजी, आपने आत्मज्ञानरूपी पर्वत की चोटी पर विश्राम कर लिया है, अतः अहंभावरूपी महागर्त में फिर गिरने योग्य नहीं हैं ॥६॥

दृढ़ता होने पर भी पुनः फँस जाने की आशंका क्यों नहीं करते हैं, इस पर कहते हैं।

उस प्रकार की आशंका न करने में कारण यही है कि जिसने निरंतर असीम सद्ब्रह्मदृष्टि का स्मरण कर लिया है और तत्त्वज्ञानरूप सुमेरुपर्वत के शिखर पर स्थान पा लिया है, उस पुरुष का गर्भानुसाररूप (गर्भ का अनुसरण कर जन्म आदि अनर्थ पैदा करनेवाले अहंभावरूप) अन्तःपाताल में पतन कैसे हो सकता है ? दृढ़ीभूत ज्ञान अविद्यारूपी अनर्थ बीज का अवश्य उच्छेद कर डालता है, यह भाव है ॥७॥

अथवा दूसरों के उपकार के लिए मैंने फिर यह उपदेश दिया है, आपका तो अज्ञान नष्ट हो चुका है, यह मैंने समता आदि हेतुओं से जान ही लिया है, इस आशय से कहते हैं।

रामभद्र, यह आपका जो समता एवं सत्यतामय स्वभाव मुझे दिखाई देता है, इससे मैं अनुमान करता हूँ कि आप विकल्परहित और अविद्यारहित हो चुके हैं ॥८॥ हे सौम्य श्रीरामजी, अपने चैतन्यस्वभाव में भलीभाँति अवस्थित हुए आप मानों मुझे यह प्रत्यक्ष करा रहे हैं कि पूर्ण सागर का

प्रख्यापन करनेवाली यानी पूर्ण सागर के सदृश निर्मल समता आपमें विद्यमान है ॥९॥ भद्र, अनासक्ति से जी रहे आपकी आशा निराशा में परिणत हो जाय, भावना अभावना में परिणत हो जाय और मन अमनोरूप में परिणत हो जाय ॥१०॥

हम मनोरथ के विनाश से निराशत्व आदि की अभिलाषा नहीं करते, किंतु चारों ओर से निरतिशय आनन्दरूप ब्रह्म के लाभ से उनकी आशा करते हैं, इस आशय से कहते हैं।

जिस–जिस वस्तुदृष्टि की ओर आप जाते हैं, उस–उस वस्तुदृष्टि में सामान्यसत्तास्वरूप से वृद्धिगत चिद्‌घनरूप ब्रह्म अवस्थित है ॥११॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आपको यदि आत्मा अज्ञात है तो आप पूरी तरह से बद्ध है और यदि आत्मा विज्ञात है तो आप बद्ध नहीं हैं, इसलिए मनन आदि की दृढ़ता से अपनी ही आत्मा द्वारा आत्मा को जागृत कीजिए ॥१२॥

अब वासनाशून्यता का स्वानुभवगम्य लक्षण बतलाते हैं।

जिस दशा में आत्मा भोगसुख का आस्वाद नहीं लेता और प्रारब्धवश प्राप्त हुए दुःख आदि का स्वाद लेता है, उसे आकाश के सदृश कोमल, समतारूप निर्वासनत्वदशा जानिये ॥१३॥ हे रामभद्र, आप भीतर से वासनारहित इन्द्रियों द्वारा व्यावहारिक क्रियाएँ कीजिए। ऐसा करने से आप सैकड़ों विक्षोभों के प्राप्त होने पर भी आकाश की नाईं विकार को प्राप्त नहीं होंगे ॥१४॥ शान्तात्मा होकर आप ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेयरूप इन तीनों को और दुःख आदि को भी उक्त त्रिपुटी में एकीकरण कर एकात्मरूप से अपनी आत्मा में अनुभव कीजिए। इससे आप (उनकी प्रतिकूलता नष्ट हो जाने के कारण) फिर संसार के भागी नहीं होंगे ॥१५॥

अथवा दुःख आदि में प्रतिकूलत्व की कल्पना मनोजनित ही है, इसलिए भुशुण्डोक्त युक्ति से मन का ही निरोध करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

मन के उन्मेष और निमेष से संसार की उत्पत्ति और विनाश होते हैं, इसलिए पहले वासना और प्राण का निरोधकर तदनन्तर आप मन का निरोध कर दीजिए ॥१६॥ प्राण के उन्मेष और निमेष से संसार का उदय और अस्त होता है, इसलिए उसे अभ्यास और प्रकृष्ट योग से आप निरुद्ध कर दीजिये ॥१७॥

अथवा प्रवृत्ति द्वारा अज्ञान ही सब अनर्थों का निदान है, इसलिए दृढ़ आत्मज्ञान से उसीका निरास करना चाहिए, यह कहते हैं।

अज्ञान के आगम और अपाय से कर्मों का आगम और अपाय होता है, इसलिए बल से गुरुउपदिष्ट शास्त्रार्थ और संयमों से आप उसका विलय कर दीजिए ॥१८॥

'चित्तोन्मेषनिमेषाभ्याम्' इससे जो अर्थ कहा गया था, उसका दृष्टान्त से स्पष्टीकरण करते हैं।

जैसे आकाश वायु और रज के सम्बन्ध एवं स्पन्दन से मलिन, चलन आदि स्वभाववाला ज्ञात हो जाता है, वैसे ही चिति के चित्तरूप स्पन्दन से चेत्य रूपी यह अनर्थजाल उपस्थित हो जाता है ॥१९॥

उक्त अर्थ में अन्वय–व्यतिरेक दिखलाते हैं।

रामभद्र, दृश्य और दर्शन के सम्बन्धरूप स्पन्दन से यह संसार की गति उस प्रकार स्फुरित होती है, जिस प्रकार अनेक छिद्रों से प्रविष्ट सूर्यप्रकाश और दीवार के सम्बन्ध से चित्रविचित्र वर्णबुद्धि स्फुरित

होती है ॥२०॥ दृश्य और दर्शन के सम्बन्धरूप स्पन्दन का अभाव होने पर हृदय में जगत्‌रूप आभास की भावना उस प्रकार उत्पन्न नहीं होती, जिस प्रकार चित्रलिखित पुरुष के हृदय में नहीं होती ॥२१॥

चित्त के स्पन्दन से जनित माया चित्तस्पन्दन का अभाव होने पर उस प्रकार विलीन हो जाती है, जिस प्रकार जलस्पन्दन से जनित तरंग जलस्पन्दन का अभाव होने पर विलीन हो जाता है ॥२२॥ वासनांश के त्याग से, बोध से अथवा प्राण के निरोध से चित्त के स्पन्दनरहित हो जाने पर कूटस्थत्वप्रच्युतिरूप स्पन्दन कहाँ से उत्पन्न होगा ? ॥२३॥ वृत्तिरूप चित्त-स्पन्दन के अभावमात्र से अथवा प्राण के निरोध से चित्त अचित्तरूपता प्राप्त करता है और वही परम पद है ॥२४॥

'बोधाद्वा' इससे जो मध्यम उपाय कहा गया था, उसका विवरण करते हैं।

विषय और इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर जो सुख अनुभूत होता है, वह परमार्थरूप से ब्रह्म-सुख ही है। उस सुख की परमावधिभूत निरतिशयानन्दपूर्ण आत्मा की एकान्त संवित्ति से यानी ब्रह्मदृष्टि से मन का क्षय सिद्ध हो जाता है ॥२५॥ जहाँ चित्त उदित नहीं होता वह सब सुख स्वाभाविक ब्रह्मसुखरूप ही है। मरूभूमि में ठण्डे जल से परिपूर्ण सरोवर की नाईं वह सुख स्वार्गादि भोगभूमियों में नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ चित्त काम, असूया आदि से कलुषित रहता है ॥२६॥ चित्तविलय से जनित विस्फारसुख वाणी से भी नहीं कहा जा सकता, केवल अपने अनुभव से ही जाना जा सकता है। विनाश और अतिशय से विनिर्मुक्त वह अनिर्वचनीय सुख न तो उदित होता है और न प्रशान्त ही होता है ॥२७॥ तत्त्वज्ञान से चित्त का अन्त होता है। भ्रान्तिवश से ही चित्त का सद्भाव ज्ञात होता है, बालकल्पित वेताल की नाईं भ्रान्ति से मोह भी घनरूपता प्राप्त करता है ॥२८॥

ज्ञानियों का भी व्यवहार दिखाई पड़ने के कारण उनका चित्त है ही, यह मानना पड़ेगा, फिर आप कैसे कहते हैं कि ज्ञान से चित्त नष्ट हो जाता है ? अस्तित्व और नष्टत्व ये दोनों विरुद्ध होने के कारण एक समय में एक स्थान पर रह नहीं सकते, इस पर कहते हैं।

विद्यमान भी ज्ञानी का चित्त बोध से विलीन हो जाता है और सुवर्णीकृत ताम्र की नाईं सत् होता हुआ भी असत्-सा भासता है ॥२९॥ ज्ञानी का चित्त चित्तनाम का नहीं कहा जाता, किंतु ज्ञानी का चित्त सत्त्व कहा जाता है। जैसे ताम्र सोना होकर नामतः और अर्थतः अन्य हो जाता है, वैसे ही बोध से ज्ञानी का चित्त नामतः और अर्थतःअन्य हो जाता है ॥३०॥ चित्त का स्वरूप वास्तव में किसी भी काल में नहीं है, उसका स्वरूप भ्रान्तिजनित है, इसलिए उसका विलय हो जाता है। भ्रान्ति तत्त्वज्ञान से शान्त हो जाती है। जो सद्रूप वस्तु होती है उसका विनाश कभी नहीं होता। इसलिए घट आदि का विनाश होने पर भी कपाल आदिरूप से उनका अवशेष दिखाई पड़ने के कारण सद्वस्तु का स्वरूपतः विनाश कहीं पर भी प्रसिद्ध है ही नहीं, यह कहना ठीक ही है ॥३१॥

वस्तु का तत्त्वज्ञान अवस्तुरूप कल्पितांशमात्र का बाधक होता है, इस प्रसिद्धि से भी सत्त्वांश के बाध की प्रसक्ति नहीं है, ऐसा कहते हैं।

खरगोश के सींग की नाईं विकल्परूप चित्त आदि अवस्तुभूत ही हैं, वे सब पारमार्थिकरूप आत्मा के विवर्त हैं, इसलिए उनका आत्मज्ञान से विलय हो जाता है ॥३२॥

तब क्या जीवन्मुक्त के चित्त में व्यवहार क्षमावस्था परमार्थसत्यरूप है ? इस शंका पर नहीं, यह

उत्तर देते हैं।

सांसारिक अवस्था में कुछ काल तक सत्त्वरूपता को प्राप्त हुआ यह चित्त तुरीयावस्था में विहारकर तदनन्तर तुर्यातीत हो जाता है। विहार, समाधि और तत्त्वसाक्षात्कार पर्यन्त उसकी अवस्था पारमार्थिक नहीं रहती, किंतु प्रारब्ध से प्रतिबद्ध अविद्यावश से जनित बाधितानुवृत्ति ही है। विदेह कैवल्य में आविर्भूत तुर्यातीतअवस्था ही उसकी परमार्थ सत्ता है, यह तात्पर्य है॥३३॥

तुर्यातीतस्वरूप ब्रह्म जब तक ज्ञात नहीं होता, तब तक चित्त, जगत् आदि मिथ्यावेष से स्थित होकर सर्वात्मक होता है। वास्तव में चित्त आदि कुछ भी दूसरी वस्तु नहीं है। इस प्रकार के ज्ञानमात्र से चित्त आदि का ब्रह्ममात्रस्वभाव से अवशेष युक्त ही है, इस आशय से कहते हैं।

हे प्रिय रामजी, जैसे मनोरथ से कल्पित महल, उपवन, वापी आदि का सन्निवेश हृदय में समावेश न हो सकने के कारण ही वास्तव में कुछ नहीं हैं, वैसे ही परम सूक्ष्म छिद्रशून्य चिदेकरसघन ब्रह्म में भी समावेश न हो सकने के कारण जगत् भी नहीं है। ब्रह्म ही अनेक भुवनरूप भ्रम-विभ्रमों के समूह से स्वयं सम, सर्वात्मक और एकरूप होता हुआ भी इस तरह अनेकरूप से स्थित हुआ है। वास्तव में दूसरा कुछ नहीं है॥३४॥

चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त

पैंतालीसवाँ सर्ग

स्व-स्वरूप आनन्दात्मक रस से परिपूर्ण,
तीनों लोकों की कल्पना के आश्रय परब्रह्म का बिल्वफलरूप से वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, तत्त्वज्ञान के लिए इस विषय में आप आश्चर्य और उल्लास की जनक, अपूर्व, रम्य यह बिल्वोपाख्यायिका संक्षेप से सुनिए॥१॥ श्रीरामजी, हजारों योजन विस्तृत विमल स्पष्ट एक बहुत बड़ा बिल्वफल है, जिसका स्वरूप युगों से भी जीर्ण-शीर्ण नहीं हुआ है॥२॥ वह बिल्वफल अविनाशी रसका आश्रय है, उसका सार अमृत की तरह अथवा अमृत से भी बढ़कर मधुर है, वह पुराना होने पर भी बालचन्द्र की प्रतिदिन बढ़नेवाली कलाओं की नाईं मृदुलता से त्वचा और नेत्रों को सुखकर स्पर्श देने के कारण सुन्दर है॥३॥ वह भुवन-समूहों के मध्य में स्थित मेरुपर्वत की नाईं प्रधान स्तम्भ है, मन्दराचल की नाईं दृढ़ है और महाप्रलय के प्रचण्ड वायु के वेग से भी चलित नहीं होनेवाला है॥४॥

पूर्वोक्त 'योजनानां सहस्राणि' इस में कहे गये सहस्रपद का 'असंख्य' अर्थ में व्याख्यान करते हैं।

सैकड़ों कोटि लक्ष गुने दस हजार करोड़ योजनों के विस्तार से भी अर्थात् असंख्यात योजनों के विस्तार से भी नापा नहीं जा सकनेवाला वही बिल्वफल इस जगत् के धारण एवं नियमन का आद्य मूल है॥५॥ भद्र, वह ऐसा बिल्वफल है कि जिसके समीप में उन्नत सभी ब्रह्माण्ड ऐसी शोभा धारण करते हैं, जैसी पर्वतों के नीचे सूक्ष्मभूत सरसों के कणों की पंक्तियाँ शोभा धारण करती हैं॥६॥ हे राघव, इस बिल्वफल से चू रहे रस से परिपूर्ण अत्यंत स्वादयुक्त रस चमत्कार का कोई भी षड्-रस यानी छः इन्द्रियों से भोग्य ब्रह्मलोकतक का सुखांश अथवा प्रसिद्ध षड्रस अतिक्रमण नहीं कर सकता॥७॥ वैसे

रस से परिपूर्ण होने पर भी पाक से वह कभी गिरता नहीं। *(तब क्या वह अपने स्थान में ही जीर्ण हो जाता है ? इस पर 'नहीं' ऐसा कहते हैं।)* भद्र, सर्वदा ही पके हुए भी उस बिल्वफल को जीर्णता बाधा नहीं पहुँचाती ॥८॥ ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, रुद्र आदि कोई भी चिरंजीवी लोग इस बिल्वफल की उत्पत्ति को नहीं जानते और न इसके मूल (जड़) और टहनी को ही जानते हैं ॥९॥ जिसका अंकुर और वृक्ष नहीं देखा गया है, जिसके फूलों का आकार भी नहीं देखा गया है, स्तम्भ, मूल और शाखा से रहित, महान् आकारवाले तथा एकमात्र पिण्डीभूत चिद्घनाकार अत्यंत विस्तृत स्वभाव इस फल की उत्पत्ति, विकार, परिणाम आदि कभी भी नहीं दिखाई पड़ते ॥१०,११॥ समस्त फलों एवं पुरुषार्थों में श्रेष्ठ, महान् आकारवाले इस फल में न गुद्दा है और न गुठली ही है, अतः अत्यंत विस्तृत यह निर्विकार एवं निरंजन ही है ॥१२॥ वह शिला के भीतरी प्रदेश की नाईं छिद्ररहित यानी घनीभूत (✎) है और अमृत का स्राव कर रहे चन्द्रबिम्ब की नाईं स्वानुभव से अमृत की तरह स्वाद लेने योग्य यह बिल्व निरतिशय आनन्दस्वरूप रस बहा रहा है ॥१३॥ यह बिल्वफल सम्पूर्ण सुखों का मानों एक निधि है, शीतल प्रकाश देनेवाला है, पर्वत के समान शोभा से युक्त है, अमृत के गोले की कांति धारण करता है और आत्मा के कर्मफलों की स्थिति का यानी मनुष्य के आनन्द से लेकर हिरण्यगर्भ के आनन्दपर्यन्त (🔔) कर्मफलों की स्थिति का सारभूत पदार्थ है ॥१४॥ हिरण्यगर्भ के आनन्द से भी बढ़कर जो आत्मा की चमत्कृति है, वही इस परम अव्यक्त की मज्जा है यानी सारभूत वस्तु है; देश, काल और वस्तु से जनित त्रिविध परिच्छेदों से शून्य स्वभाव से उसकी रक्षा हुई है। वास्तव में स्व-स्वरूप आत्मा ही इस बिल्वफलरूपता को प्राप्त हुआ है, अतः वह अद्वितीय ही है ॥१५॥

अनन्यत्व का (अद्वयता का) ही उपपादन करने के लिए चमत्कृतिपद का स्वारस्य प्रकट करते हैं।

(चूँकि) सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, महान् से भी महान्, पुराना होने पर भी वृद्धि आदि-विकारों के न होने से अत्यंत बालस्वरूप तथा अपने में अध्यस्त भेदमात्र की फलरूपता में पर्यवसित एकमात्र चैतन्यात्मक रस के सारभूत पारमार्थिक स्वकीय सन्निवेश (रचना) वैचित्र्य का त्याग न करती हुई उस स्वात्मचमत्कृति ने 'यह देहादि मैं हूँ' इस प्रकार की कल्पना के द्वारा (卐) असत् और अन्यता की आपादक अविद्यारूप मल का (📖) इस तरह के असंभावित भूत, भुवन आदि भेदों के रूप से स्वयं ही उत्पादन कर केवल भावना कर रक्खी है, वास्तव में भावनानाम की कोई वस्तु ही नहीं है। (अतः यह अद्वितीय (अनन्य) ही है, यह भाव है।) ॥१६,१७॥

(✎) इस विषय में 'विज्ञानघन एव' यह श्रुति प्रमाणतया उद्धृत की जा सकती है।

(🔔) इस विषय में 'एतस्यैवानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' यह श्रुति प्रमाण है।

(卐) यदि देह ही असत् है, तो उसकी उत्पत्ति कैसे होती है ? इस शंका पर 'इयमस्मि' यह कहा गया है। एवंच इदन्ताशून्य में इदन्ता का अध्यास ही भेदोत्पत्ति का प्रयोजक है, यह भाव है।

(📖) 'असंभवत्' इससे यह द्योतित किया गया है कि स्वयं प्रकाश एवं एकमात्र चैतन्यरसात्मक आत्मचमत्कृति में यदि मल यानी अविद्या का ही संभव नहीं है, तो सुतरां उस अविद्या के कार्यभेद का (पृथक्त्व का) भी संभव नहीं है।

वही आत्मचमत्कृति स्वोत्पादित भूत, भुवन आदि भेदों से अहन्ता के उत्पादन द्वारा आभिमानिक संवलन प्राप्त करती है, यह कहते हैं।

व्यष्टि–समष्टिरूप से अहंकार की उत्पत्ति होने के अनन्तर ही वह आत्मचमत्कृति आकाश और आकाश के गुण शब्दरूपी अंगों से युक्त समष्टिरूप शरीरों के परमाणुओं से संयुक्त हो जाती है ॥१८॥

अपने स्वरूप के त्याग के बिना उस प्रकार के स्वरूपों की प्राप्ति कर लेना ही इस चिति की बहुत बड़ी आत्मचमत्कृति है। इसीका मैंने पूर्वोक्त रीति से वर्णन किया है, यों उपसंहार करते हैं।

श्रीरामजी, अपने पहले के चैतन्यात्मक सारस्वरूप संनिवेश को (रचना को) न त्यागती हुई यह चिति इस प्रकार क्रमशः व्यवहार में समर्थ स्वरूपता को प्राप्त कर लेती है ॥१९॥ श्रीरामजी, व्यवहार समर्थ स्वरूपता प्राप्त करने के अनन्तर चंचल स्वरूपवाली उस चितिशक्ति ने अपने निर्विकार रूप में ही इस तरह की जगदाकार दृष्टि फैलाई है ॥२०॥

ऐसी स्थिति में आकाश आदि सभी कुछ चितिशक्तिस्वरूप ही है, इसे छोड़ दूसरा कुछ भी नहीं है यों जानना चाहिए, यह कहते हैं।

यही चितिशक्ति महान् एवं अनन्त आकाशरूप है, यही काल की क्षण, घड़ी, दिन, मास, वर्ष, कल्प आदिरूप कला है। यही 'नियति' इस नाम से कही गई है और यही स्पन्दनरूपिणी क्रिया है ॥२१॥

इसी प्रकार आध्यात्मिक विषय भी यह है, यह कहते हैं।

यही (*) (चितिशक्तिस्वरूप ब्रह्म) संकल्प का विस्तार है, यही दूसरी दिशा में दूसरी दिशा का भ्रम है, यही चितिशक्ति राग–द्वेष की अवस्था है और यही हेय और उपादेय बुद्धि है ॥२२॥ यही चितिशक्ति त्वत्ता यानी त्वद्रूप है, यही 'मत्ता' यानी अहंरूप है और यही स्वयं 'तत्ता' रूप अर्थात् ब्रह्मरूप होकर स्थित है। हे श्रीरामजी, यही चितिशक्तिस्वरूप आत्मा ऊपर के ब्रह्माण्डों का समूह है और स्वयं यह ऊपर तथा नीचे भी स्थित है ॥२३॥ यही चितिशक्तिस्वरूप आत्मा आगे है, यही दोनों ओर यानी दायें–बायें, पीछे, समीप और दूरतर है। यही ब्रह्मभूत एवं वर्तमान वस्तुरूप है और यही भविष्यत् भी है ॥२४॥ इसी ब्रह्म में कल्पनारूपी कमलों के आश्रय अनन्त जीव भीतर अवस्थित हैं, यही ब्रह्माण्ड–मण्डप का ऊपर का शिखाभूषण है और उसकी क्रीड़ा के मण्डप का मण्डल है ॥२५॥ यही चितिशक्ति अनन्त रचनाओं के रहस्यों से चारों ओर पल्लवित नारायण का हृदय–कमल और लोकरूपी कमलगट्टों की माला का छत्ता है ॥२६॥ इस चितिशक्ति के कोटर चारों ओर व्याप्त महारुद्र के गणों से भरे हैं, यही लम्बी आकाशरूपा सरणी (मार्ग) है और विषयों में लम्पट स्वर्गस्थ जनों के अधःपात में निमित्त होने के कारण उनके ऊपर प्रभाव जमानेवाली भी यही है ॥२७॥ यही इस उत्तर दिशा में स्थित मेरुपर्वत है और जगत्–रूपी कमल का वह छत्ता है, जहाँ स्फुरित हो रहे चन्द्ररूप मधु के अमृत–मकरन्द में देवतारूप भ्रमर लम्पट हैं ॥२८॥ रजोगुण के कार्य राग आदि से एवं नरकों से यानी दुःखों से जिसका मूल (जड़) बना है, ऐसे जगद्रूप पुराने वृक्ष के उत्कट सुगन्ध से युक्त स्वर्ग–शोकरूप फूलों की मंजरी यही चितिशक्ति है ॥२९॥ और यही चितिशक्ति तारा–गणरूप केसरों से

(*) चितिशक्ति के वर्णन–प्रसंग में उसके विशेषणों में जो लिंगभेद (पुलिंग एवं नपुंसकलिंग) जहाँ–तहाँ किया गया है; उसकी आत्मा, ब्रह्म आदि विशेष्य पदों का अध्याहार कर उपपत्ति कर लेनी चाहिए।

समन्वित, ब्रह्माण्डरूपी समुद्र के तीर पर स्थित, ऊपर और चारों ओर अपार सीमावाली मानों व्योमाकार कमलिनी अथवा सरोवर ही है ॥३०॥ जिसमें चारों ओर कर्मस्वरूप ही मगर विद्यमान हैं; तरंगों की नाईं चंचल, मास, ऋतु आदि की पँक्तियाँ जिसमें हैं; प्रजोत्पादनरूप भँवरों के कार्यों में स्थित भूत-परम्पराओं से जो युक्त है; प्राणियों के आयु:परिमाण से विस्तृत; क्षण, कल्प आदि पल्लवों से युक्त; तेजों से यानी अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि से केसरोंवाली और आकाशरूप कमलों से समन्वित कालरूपी नलिनी (सरोवर) यही चितिशक्ति है ॥३१,३२॥ ये जो भाव-विकारों से परिपूर्ण जरा-मरणरूपी विषूचिकाएँ (महामारियाँ) हैं, वे सब यह चितिशक्ति ही है। और विद्या एवं अविद्या के विलास से पूर्ण जो ये शास्त्रीयविषयों की दृष्टियाँ हैं, वे सब भी यही चितिशक्ति है ॥३३॥ श्रीरामजी, अभी तक वर्णित सभी प्रकार उस बिल्वफल के स्वकीय सार की चमत्कृति ही है अर्थात् वे सब प्रकार आत्मचमत्कृति स्वरूप ही हैं। और उसीने ऊपर कहे गये प्रकारों से व्यष्टि एवं समष्टि के संकल्प-सन्निवेश के भीतर ही अपनी स्थिति की है ॥३४॥ सर्वोपद्रवों से वर्जित, अपने स्वरूप में स्थित, सर्वविध पीड़ाओं से शून्य, सौम्य तथा कल्पनाओं से रहित यह चितिशक्ति वास्तव में पदार्थों की रचना न करने के कारण कृतिशून्य होती हुई भी मानों पदार्थ रचना कर कृतियुक्त-सी होकर अवस्थित है ॥३५॥

बिल्वाख्यायिका की समाप्ति कर अब चिति का स्वरूपतः वर्णन कर रहे महाराज वसिष्ठजी उपसंहार करते हैं।

वास्तव में एकस्वरूप (अद्वितीयस्वरूप) भी यह चितिशक्ति अज्ञानियों द्वारा नाना प्रकारकी-सी (सद्वितीय-सी) कल्पित की जा रही है। (एकत्व संख्या भी द्वित्व-संख्या की जननी होने से) वह न एकात्मिका है और न विविध ही है, किंतु वह (चितिशक्ति) एकत्वरूप है और एकत्व भी तत्स्वरूप ही है। अथवा सजातीय एवं विजातीय से रहित है। वह सत्यस्वरूप होकर अवस्थित है, द्वैत-विकल्पों की शांति हो जाने से सम, एकरूप और सर्वात्मिका है। हे श्रीरामजी, मैंने आपसे अत्यन्त महान् ब्रह्मशब्द से लक्षित होनेवाली चितिशक्ति का इस प्रकार वर्णन किया ॥३६॥

पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

छियालीसवाँ सर्ग

चित्रकार के मन की कल्पना से चित्रित,
कमलिनीवन से शोभित शिलागर्भ की नाईं प्रपंचरूप आभास से युक्त ब्रह्म का वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी अपना उक्त बिल्वोपाख्यान का तात्पर्य ज्ञान दिखलाते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : निखिल तत्त्व को जाननेवाले हे भगवन्, अभी आपने (जो बिल्वोपाख्यान कहा है, उसमें) बिल्वफल के रूप से महाचैतन्यघन की सत्ता का ही वर्णन किया है, ऐसा मैं समझता हूँ ॥१॥ महर्षे, जो कुछ विस्तार को प्राप्त ये अहन्ता आदि पदार्थ हैं, वे सब चैतन्यसारस्वरूप हैं, (अतः) द्वित्व-एकत्व की कल्पनारूप भेद तनिक भी नहीं है ॥२॥

केवल अहन्ता आदि ही चैतन्यात्मक बिल्वफल की मज्जारूप नहीं हैं, किंतु ब्रह्माण्ड आदि सभी पदार्थ उस चैतन्यात्मक बिल्वफल की मज्जारूप (सार) हैं, यों निःसंकोच समझिए, इस आशय से

महाराज वसिष्ठजी कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, जिस प्रकार ब्रह्माण्डरूप पेठे की मज्जा यानी सार मेरुपर्वत आदि की स्थिति है, उसी प्रकार चैतन्यात्मक इस बिल्वफल की मज्जा ब्रह्माण्ड आदि जगत् की स्थिति ही है ॥३॥

चैतन्यात्मक उस बिल्वफल की ब्रह्माण्ड आदि जगत्–स्थिति मज्जा है, ऐसा कहने पर किसीको यह भ्रम हो सकता है कि वह मज्जा भीतरी प्रदेश में स्थित अवयवों का रसमय परिणाम विशेष ही होगा, तो उसका निवारण करते हैं।

जैसे बिल्वफल का खप्पड़ उस फल की मजा का यानी गुद्दी का आधार होता है, वैसे ही सृष्टिस्वरूप चैतन्यात्मक इस बिल्वफल की मज्जारूप आधेय से खप्परस्थानीय स्वाधार यदि कोई दूसरा हो तो मज्जा उसके अन्दर की परिणामस्वरूप हो सकेगी। (परंतु स्थिति वैसी नहीं है; किंतु मज्जा और उसका आधार दोनों एक ब्रह्मरूप ही हैं)। यदि सर्वव्यापी इस चिदात्मा को सर्वावयव अवच्छेदेन अथवा एकदेशावच्छेन परिणामी मानेंगे तो उसकी नाशापत्ति कभी हटाई नहीं जा सकती। और इस निरवयव चिदात्मा में न कोई मुख्य अन्तःप्रदेश है और न परिणाम ही हो सकता है। अतः यहाँ मज्जा शब्द परिणाम का वाचक नहीं है, यह भाव है ॥४॥

तब मज्जाशब्द किंपरक है यानी किसका वाचक है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि विवर्त–स्वरूप चमत्कार का ही वह वाचक है, इस आशय से कहते हैं।

मिर्च–बीज की तरह चिति की जगत्–नामक यह चमत्कृति सुषुप्ति के सदृश विकार–रहित शांत चिति में एक शिल्पकार के मन से कल्पित शिला के अन्दर पद्म–वन की रचना की नाईं, विवर्तरूप से ही स्थित है ॥५॥

उक्त दृष्टान्त का ही विवरण करने के लिए ब्रह्मशिलाख्यान की भूमिका बाँधते हैं।

चन्द्र से बढ़कर आह्लादकारी मुखवाले हे श्रीरामजी, इस प्रसंग में कभी न सुनी गयी, अतएव आश्चर्यजनक, रमणीय और अन्य दूसरी इस आख्यायिका का (ब्रह्मशिलाख्यायिका का), जिसका अभी आगे मैं वर्णन करूँगा, आप (सावधान होकर) श्रवण कीजिए ॥६॥ चित्त–प्रेम का आस्पद होने से स्निग्ध (चिकनी), स्वयंप्रकाश होने से स्पष्ट प्रतीयमान सुख ही हेतु होने से मृदुल स्पर्शवाली, असीम होने के कारण महाविस्तार से युक्त, सन्तत होने से निबिड़, नित्य एवं अक्षुब्ध स्वभाववाली कहीं (📖) एक महती शिला है ॥७॥ उस महा–शिला के भीतर मनःकल्पनाओं से अनन्त वे सभी भुवनादिरूप कमल (🔔) वैसे विराज रहे हैं, जैसे सरसी में खिले हुए अधिक रमणीय कमल विराजते हैं ॥८॥ उनमें से कुछ तो परस्पर गुँथे गये पत्तों से युक्त हैं अर्थात् परस्पर सम्बद्ध हैं, कुछ परस्पर सम्बन्धरहित हैं और

(📖) इस ब्रह्म–शिला का आधार ब्रह्म से अतिरित कोई दूसरा कह ही नहीं सकते, अतः इस श्लोक में 'क्वचित्' कहा गया है। इस विषय में यह श्रुति प्रसिद्ध है– 'स भगवान् कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि' (वह भगवान् कहाँ प्रतिष्ठित हैं ?) (इस पर उत्तर है) अपनी महिमा में।

(🔔) प्रस्तुत श्लोक में 'पद्मानि' इससे पद्मसदृश भुवनादि ही विवक्षित है, क्योंकि वे भी संकोचविकासशाली हैं और जीवरूप भ्रमरों के आश्रय भी हैं, यह जानना चाहिए।

कुछ परस्पर एक-दूसरे से साक्षात् संश्लिष्ट (आलिंगित) हैं। वे कुछ गुप्त हैं तो कुछ प्रकट भी हैं॥९॥ उनमें कुछ नीचे मुँहवाले हैं, कुछ ऊर्ध्वमुखवाले भी हैं और कुछ तिरछे मुँहवाले भी हैं। कुछ परस्पर मिले हुए मूलों से युक्त हैं तो कुछ परस्पर गुँथे मुँहवाले भी हैं॥१०॥

दिखाई पड़नेवाले पदार्थों से विपरीत भी मन की कल्पना हो सकती है, अतः यह कहते हैं।

कुछ के मूल तो कमलों के छत्तों में (बीज कोशों में) हैं तो कुछ ऐसे हैं, जिनके मूल के अन्दर ही बीज कोश हैं। उन भुवनरूप कमलों के बीच किन्हीं के मूल ऊपर हैं, (क्योंकि स्वर्ग आदि भुवनों का आश्रय ऊपर स्थित ध्रुव-मण्डल ही है,) तो किन्हीं के मूल नीचे की ओर हैं (क्योंकि पाताल लोक, भूलोक आदि भुवनों का आश्रय बाह्य-स्थित कूर्म ही हैं।) (शिवलोक, विष्णुलोक आदि के नित्य होने से) कुछ मूलरहित हैं तो और कुछ दूसरे तिरछे मूलवाले हैं (क्योंकि कई ऐसे भी भुवन हैं, जिनका धारण तिर्यग्गति पवन ही करता है)॥११॥ और उन्हीं कमलों के समीप सैकड़ों-हजारों कमल-मुकुल के समान आकृतिवाले महाकार शंख हैं तथा विकसित कमल की नाईं आकृतिवाले बड़े बड़े चक्रसमूह भी हैं॥१२॥ (卐)

तीर्थयात्रा के समय शालग्राम-क्षेत्र में देखी गयी शिला का गुरुवसिष्ठजी के उपर्युक्त वचन से स्मरण कर रहे श्रीरामचन्द्रजी उसी शिला का यहाँ गुरुदेव भगवान् ने जगत् की कल्पना आदि से- वर्णन किया है', यों मानते हुए कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : गुरुदेव, आपने उक्त शिला का जो वर्णन किया है, वह सच है। (तीर्थ-यात्रा के प्रसंग में) शालग्रामनामक हरि के क्षेत्र में उपर्युक्त प्रकार की एक महाशिला स्थित है, जो कि पद्म-वन के चिह्न से युक्त है, वह मैंने अपनी आँखों से देखी है॥१३॥

दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक का सम्बन्ध आपने भलीभाँति जान लिया है, यों अनुमोदन कर रहे महर्षि वसिष्ठजी कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, मैंने जिस शिला का दृष्टान्त दिया है, वह मैंने देखी है, इस प्रकार आप जो स्मरण कर रहे हैं, वह ठीक ही है, और दार्ष्टान्तिक चिदात्मा जिस स्वभाव का है यानी जैसा छिद्रशून्य चिद्घन, सम, प्राण का भी प्राण-निरतिशयानन्दस्वरूप -है, उसके विषय में भी जो आपने देखा है, उसका भी आप स्मरण करते हैं॥१४॥

मैंने जिस शिला का दृष्टान्त दिया है, वह आपके द्वारा देखी गयी प्राकृत शिला नहीं है, किंतु ब्रह्म की ही शिलारूप से कल्पना कर प्रथमोपदिष्ट बिल्वफल की नाईं, किसी अपूर्व शिला का दृष्टान्त दिया है, इसलिए उपाय में तात्पर्य का विसंवाद होने पर भी उपेय में विसंवाद नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

भद्र, यहाँ पर मैंने यह कोई अपूर्व शिला ही दृष्टान्तरूप से आपके समक्ष उपस्थित की है, जिसकी महाकुक्षि के भीतर यह सब प्रपंच व्यवहारकाल में विद्यमान रहता है और बाधकाल में अविद्यमान भी

(卐) प्रस्तुत श्लोक में शंख शब्द से नक्षत्र, ग्रह, तारकागण आदि ज्योतिर्मण्डल ही विवक्षित हैं, क्योंकि समुद्र की नाईं नीले आकाश में वे शंख-समूह की नाईं भासते हैं। इसी प्रकार चक्रशब्द से मण्डलाकार द्वीप ही विवक्षित हैं, क्योंकि वे चक्रधारा की तरह आभासमान समुद्रों से उपलक्षित हैं, यह जान लेना चाहिए।

रहता है ॥१५॥ श्रीरामजी, आपसे उस चितिरूप शिला का ही मैंने कथन किया है, जिसके भीतर ये सब जगत् विद्यमान हैं। लौकिक शिला के सदृश इसमें निबिड़ता, एकरूपता, अभेद्यता आदि गुण होने के कारण यह चिति भी एक तरह की शिला ही है ॥१६॥ भद्र, जैसे आकाश में विपुल पवन रहता है, वैसे ही अत्यंत घनीभूत अंगोंवाली और छिद्रशून्यस्वरूपवाली होती हुई भी इस चितिरूप शिला के अन्दर मायावश यह जगत्–समूह रहता है ॥१७॥ यद्यपि मायावश उस चितिरूप शिला में स्वर्ग, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ विद्यमान हैं; तथापि उसमें तनिक भी छिद्र नहीं है ॥१८॥

उस शिला में जगत् की ही पद्म–वनरूप से मैंने उत्प्रेक्षा की है, यह कहते हैं।

इसी चितिरूप शिला में घनीभूत अवयवोंवाला जगद्रूपी कमल विकसित हो रहा है। वह यद्यपि उससे पृथक्–सा भासित होता है; तथापि वास्तव में उससे पृथक् नहीं है और न शुद्धचित्स्वरूप ही है, किंतु केवल मायारूप ही है ॥१९॥

'तेषां च निकटे सन्ति' यह जो ऊपर कहा गया है, उसका अब तात्पर्य बतलाते हैं।

श्रीरामजी, जैसे पत्थर में चित्रकार की मनःकल्पना से शंख, कमल आदि चित्र निर्मित किये जाते हैं, वैसे ही एकमात्र मन की कल्पना से इस चितिरूप शिला में, भूत, वर्तमान और भविष्यत्–सब प्रपंच चित्रित किया गया है। प्राकृत शिला में जैसे शालभंजिका (पुतली) आदि वास्तव–से प्रतीत होते हैं, पर वास्तव नहीं हैं, किंतु शिलारूप ही हैं; वैसे ही चिति–शिला में उक्त सभी संस्थान वास्तव–से प्रतीत होने पर भी वास्तव नहीं हैं, किंतु चितिरूप ही हैं ॥२०॥ भीतर स्थित शंख, कमल आदि आकारों से युक्त पत्थर अनेकरूप से प्रतीयमान हो रहा भी जैसे घनीभूत एकपिण्डरूपता को स्वीकार करता है, ऐसे ही कल्पित आकारों से युक्त होकर अनेक आकृतियों के रूप में प्रतीत हो रही भी यह चिति वास्तव में घनीभूत एकपिण्डरूपता को ही स्वीकार करती है ॥२१॥ जिस प्रकार पाषाण–शिला के भीतर शिल्पी द्वारा लिखित कमल, उस शिलाकोश से अभिन्न होने पर भी अपने परिच्छिन्न आकार से युक्त होकर उससे भिन्न–सा भासता है, उसी प्रकार चिति के स्वरूप से अभिन्न होने पर भी यह सर्ग (सृष्टि) उससे अन्य परिच्छिन्न आकारवाला होकर उससे भिन्न–सा भासता है, वास्तव में भिन्न नहीं है ॥२२॥ जैसे टाँकी से (पत्थर काटने की छेनी से) छेदन करने के पूर्व शिला के भीतर चक्र, पद्म आदि की पंक्तियाँ अनभिव्यक्त अवस्था से अवस्थित रहती हैं, वैसे ही मन की कल्पना से पूर्व इस चितिशिला के भीतर ये जगत्रूपी पंक्तियाँ अनभिव्यक्त (अव्याकृत) अवस्था से अवस्थित हैं ॥२३॥ जैसे शिला और मिर्च के रहते शिला के भीतर कल्पित पद्म–लेखा की पंक्ति एवं मिर्च के भीतर स्थित तीक्ष्णतारूप चमत्कृति (कटुरस की स्फूर्ति) स्वाभाविक होने से न उदित (उत्पन्न) होती है और न वह अस्त (नष्ट) ही होती है (क्योंकि अपने आश्रय शिला आदि की जब तक स्थिति रहेगी तब तक दोनों का न उदय ही हो सकता है और न नाश ही हो सकता है); वैसे ही इस चिति में भी यह सर्ग न उदित होता है और न अस्त ही होता है ॥२४॥ जिस प्रकार सच्चरित्र पतिव्रता स्त्री के मन में उसका प्रिय पति सदैव रहता है, अथवा बिल्वफल के अन्दर मज्जा सदैव रहती है वैसे ही इस चिति में अनंत विकारों से परिपूर्ण ब्रह्माण्ड–समूह सदैव रहता है ॥२५॥ भद्र, ब्रह्माण्ड के विकार आदि चैतन्यमात्रस्वरूप हैं – यह कहना अर्थशून्य है, अतः तथोक्ति व्यर्थ ही है क्योंकि जब विकारी ब्रह्माण्ड चैतन्यमात्रस्वरूप है तब ब्रह्माण्ड के विकारभूत

भुवन, शरीर आदि की चिन्मात्रस्वरूपता तो अर्थतः ही सिद्ध हो जाती है, फिर अर्थशून्य होने के कारण वैसा कहना निष्फल ही है। *(कैसे अर्थशून्य है ? इस पर कहते हैं।)* चूँकि ये विकार आदि तत्क्षण ही (ब्रह्माण्डों में चैतन्यमात्ररूपता का साक्षात्कार करने के क्षण में ही) जल में जलबिन्दु की नाईं चैतन्यमात्रस्वरूप हो जाते हैं, अणुमात्र भी उससे पृथक् नहीं रह जाते, इसलिए वह उक्ति अर्थशून्य ही है, यह भाव है ॥२६॥ और 'चिति के अनंतशक्ति होने के कारण विकार आदि की यह सृष्टि उस चिति से विकार आदि नामपूर्वक ही हुई हैं' इसलिए (♨) उक्तिमात्र से जो सिद्ध होगा, वह उक्ति के प्रलय से लीन हो जायेगा (कवि-वर्णित विचित्र गन्धर्वनगर आदि की तरह केवल उक्ति से सिद्ध हो जाने से भी विकार प्रमातृचैतन्यमात्ररूप ही हो जायेंगे, यह तात्पर्य है।)॥२७॥ ये भुवन आदि विकार विकारादि अर्थों से शून्य ब्रह्मरूप ही हैं। विषयों का ग्रहण और अग्रहण भी ब्रह्मरूप ही है, क्योंकि ब्रह्म अनन्त है ॥२८॥ विकार आदिरूप से ब्रह्म ही अवस्थित और ब्रह्म ही क्रमशः विकार आदि के रूप में उत्पन्न किया गया है। इस चिति-शिला के भीतर दूसरा जो यह विकारादि अर्थ प्रतीत हो रहा है, उसे आप मृगतृष्णा जल के सदृश ही जानिए यानी उसे असद्रूप ही जानिए ॥२९॥

फूल से लेकर फलपर्यन्त अपने कार्यों में बीज की अनुवृत्ति दिखलाई पड़ने के कारण जैसे फूल आदि बीजरूप ही होते हैं, वैसे ही सभी जगह चितिसत्ता की अनुवृत्ति दिखलाई पड़ने के कारण सब चितिस्वरूप ही हैं, यह कहते हैं।

फूल से लेकर फल तक अपने कार्यों में बीज अनुस्यूतरूप से रहता है, अतः बीज के भीतर फूल, फल आदि बीज को छोड़कर दूसरा कुछ भी नहीं है; क्योंकि अंकुर आदि पूर्व-पूर्व विकारों में जो बीजशक्ति विद्यमान रहती है, वही उसके बाद उत्तर-काल में काण्ड, शाखा, पल्लव आदि रूपों में परिणत हो जाती है ॥३०॥ चिद्घन इस आत्मा में जो चिद्घनत्व है, वही तीनों जगत् का बीज है; *(एकत्व-कल्पना के अधीन ही द्वित्व-कल्पना होने से भी अकल्पित चिन्मात्र ही तत्त्व है - यह कहते हैं।)* अतः चिद्घनरूप बीज और उसके कार्य जगत में एकत्व ही द्वित्व है, क्योंकि एक के अभाव में दोनों नष्ट हो जाते हैं ॥३१॥ बीज और उसके कार्य जगत की उत्पत्ति चिति से अतिरिक्त जाड्य की कल्पना से ही होती है। चिति का वह रूप तो कभी भी जड़स्वभाव हो नहीं सकता और न चिति ही कभी अचित् हो सकती है। अतः बिल्व के भीतर मज्जा आदि की नाईं ये बीज और कार्य एक-दूसरे से अभिन्न (अद्वितीय) ही हैं ॥३२॥ जैसे महाशिला के भीतर विद्यमान अनेक तरह का भेद लेखनात्मक ही है, वास्तव में नहीं, वैसे ही चिद्घन बिल्वफल में मज्जादिरूप त्रिजगत् कल्पनावश उससे भिन्न है, वास्तव में उससे अनन्य ही है ॥३३॥ जिस प्रकार रेखा एवं उपरेखाओं से संवलित एक ही स्थूलशिला दीखती है, उसी प्रकार अद्वितीय ब्रह्म ही त्रैलोक्य से संवलित प्रसिद्ध जगत्-रूप से दीखता है ॥३४॥ जैसे इस लौकिक शिला के भीतर सर्वदा स्थित शिल्पी के वासनास्वरूप कमल आदि न उदित होते हैं और न अस्त ही होते हैं, वैसे ही इस चितिशिला में अहंकार और जगत् की गति भी न उदित होती है और न अस्त ही होती है ॥३५॥ जिस तरह शिला के भीतरकी रेखा आदि शिला के आभ्यन्तर से भिन्न नहीं हैं,

---

(♨) भुवन आदि की सृष्टि नामपूर्वक ही है, इस विषय में यह श्रुति प्रमाणरूप है-'स भूरिति व्याहरत्, भुवमसृजत। एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजत असृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितन्'।

(किंतु शिलामय ही हैं); उसी तरह जीव एवं ईश्वर का रूप और कर्तृत्व आदि जगत् एकमात्र चैतन्यरूप होने से चिति से भिन्न नहीं हैं, किंतु चितिरूप ही हैं ॥३६॥ शिला के भीतर स्थित कमलों की गति एवं अगति, आविर्भाव और तिरोभाव शिला के तत्त्वसाक्षात्कार से जैसे शिला से पृथक् विषयता को प्राप्त नहीं होते यानी वे शिला से भिन्न सिद्ध नहीं होते, वैसे ही आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से जगत् के कर्ता जीव, ईश्वर आदि कोई भी उससे पृथक् सिद्ध नहीं होते ॥३७॥ वस्तुतः पर्वतकूट की नाईं उत्पत्ति, उल्लास एवं विलास रूप विकारों को प्राप्त न करनेवाला ब्रह्म का स्वरूपभूत यह जगत् न कभी किसी से किया गया है यानी उत्पादित है और न कभी नष्ट ही होता है ॥३८॥

इसलिए जैसे शिला अनेक शिल्पियों की विविध मानसिक कल्पनाओं के रहनेपर उस–उस रूप से स्थित रहती है, वैसे ही ब्रह्म भी नाना जीवों की अनेक विरुद्ध कल्पनाओं के रहने पर तत्–तत् रूप से अवस्थित रहता है, यह कहते हैं।

जिस तरह के जिस आकार में जहाँ कल्पना की जाती है, वहाँ पर उस तरह के उस आकार में ब्रह्म हो जाता है। यह सब जगत् ब्रह्मसत्तात्मक ही है और सुषुप्तस्थ की नाईं स्थित है यानी जैसे प्रत्येक जीव विचित्र स्वाप्निक विषयों की कल्पनाओं के भेदों को अविरोध से सहता है, वैसे ही वह ब्रह्म भी कल्पनाप्रयुक्त सब भेद सहन करता है ॥३९॥ प्रभूत भावविकारों से परिपूर्ण जो यह जगद्रूप महान् भ्रम है, उसे उस प्रकार अनुन्मिषित वासनामात्र ही जानिये, जिस प्रकार शिला के भीतर कमल आदि ॥४०॥

आख्यायिका के तात्पर्य का संक्षेप में उपसंहार करते हैं।

श्रीरामजी, यह जगत् का विलास सर्वदा अनुन्मिषित (सुषुप्त) वासनामात्र ही है, क्योंकि वह भलीभाँति शांत एवं सम चिद्घन ब्रह्माकाशस्वरूप ही है। शिला के भीतर स्थित कमलों की नाईं तुच्छ सर्गादि–दशाएँ आत्मा के भीतर देखी गयी भी कभी स्वरूप–स्थिति प्राप्त नहीं कर सकती ॥४१॥

छियालीसवाँ सर्ग समाप्त

सैंतालीसवाँ सर्ग

मोर के अण्डे के रस में उसके पँख, वर्ण तथा
अन्य अवयवों की रचना के भेद की नाईं बिल्वशिलाख्यान के तात्पर्य का वर्णन।

बिल्वफल का दृष्टान्त देने के कारण वह अचिद्रूप ही है, और उस बिल्वफल के भीतर के बीज, मज्जा आदि की तरह स्वगत–भेद से वहाँ चित्–समसत्ता ही सर्गोत्पत्ति है यानी जब तक चिति रहेगी तब तक सृष्टि की उत्पत्ति होती रहेगी, यह वर्णित है, यों तात्पर्य का भ्रम न हो, इसलिए उसका तात्पर्य बतलाते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, फलसदृश चितितत्त्व के गर्भ में स्थित यह जगत् प्रसिद्ध स्वाप (अज्ञान निद्रा) से अन्य एक तरह से चिति का स्वाप ही है, वह क्रम से यानी युग, वर्ष आदि क्रम से चितिसत्ताद्वारा कल्पित सन्निवेश से (अवयव–विन्यास से) प्रवृत्त है और वह चिति की समसत्तावाला चिद्गत भेद स्वरूप नहीं है। तात्पर्य यह है कि जब तक चिद्रूपतत्त्व स्व–स्वरूप के ज्ञान से रहित है तब तक ही उसके गर्भ में सर्ग है, यह बतलाने के लिए अचेतन फल का दृष्टान्त दिया गया है ॥१॥

तब क्या चिति-तत्त्व से अन्य ही सर्ग है ? इस पर 'यह भी नहीं कहा जा सकता, यह कहते हैं।

चूँकि देश, काल क्रिया आदि भी अपने अधिष्ठानभूत चैतन्यमात्रस्वरूप ही हैं, अतः 'यह अन्य है', 'यह अन्य है' इस प्रकार की कल्पना यहाँ नहीं की जा सकती ॥२॥

तब क्या ये सर्ग आदि असत् ही हैं ? इस पर 'यह भी नहीं कहा जा सकता', यह कहते हैं।

निखिल शब्दों, उनके अर्थों, उनकी वासनाओं और तत्प्रयुक्त संकल्प-विकल्प आदि कल्पनाओं को जाननेवाला जब तीनों अवस्थाओं में (जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति में) भी एकरूप होने के कारण सत्यस्वरूप है, तब 'यह सर्ग असत् ही है' यह भी कैसे कहा जा सकता है ? ॥३॥

इससे प्रातिभासिक अनुक्रमों के वैचित्र्य चिति के अधीन हैं, इस आशय से ही उसकी फलरूप से उत्प्रेक्षा की गई है, यह कहते हैं।

जैसे फल के भीतर वृक्ष, अंकुर आदि की रचना का अनुक्रम रहता है, वैसे ही चिति की अपनी चिद्घनरूप सत्ता अनाना और नानारूप होकर स्थित है ॥४॥

उनमें अनानात्व आदि अंश ही प्रथम होने से सत्य हैं, यह कहते हैं।

वह चिति अद्वितीय होने पर भी नाना-सी है और क्षोभरहित होती हुई भी क्षुब्ध-सी है। जैसे फल के भीतर विद्यमान अंकुर, मज्जा आदि की फल से अतिरिक्त सत्ता नहीं है, वैसे ही इस चिति के भीतर विद्यमान जगद्-रूप सिद्धियों की अतिरिक्त सत्ता नहीं है ॥५॥

शिलाख्यान का तात्पर्य दिखलाते हैं।

'*शिलान्तःसन्निवेशवत् जगत्*' (शिला के भीतर चित्रित कमल आदि की नाईं यह जगत् दीखता है) यह जो कहा गया है, उसका भी एकमात्र तात्पर्य यही है कि दर्पण में प्रतिबिम्बित नगर की नाईं चिति का अपना रूप ही प्रतिबिम्बित होता है, जो कि वास्तव में प्रतिबिम्बित भी नहीं होता ॥६॥

अथवा जैसे चिन्तामणि में चिन्तकों के सभी मनोरथरूप फल विद्यमान रहते हैं, वैसे ही चिति में मायिक अनन्त शक्तियों के रहने के कारण यह सम्पूर्ण जगत् विद्यमान है, यों उसका तात्पर्य लगाना चाहिए, यह कहते हैं।

जिस प्रकार चिन्तामणि में चिंतकों के अनन्त फल पर्याप्तरूप से समर्पित रहते हैं, उसी प्रकार परमचितिस्वरूप मणि में सौ करोड़ जगत् भी रहते हैं ॥७॥

किंवा, मोती के सीप के संपुट में कल्पित विकाररूप अंशांशिभाव से जैसे मोती रहते हैं, वैसे ही चिति में भी कल्पित अंशांशिभाव से जगत् रहता है, यह तात्पर्य है, ऐसा कहते हैं।

चितिरूप मुक्ता-कोष में ही यह विस्तृत जगत्-रूपी मोती उसी के गर्भ में मानों उत्पन्न होकर उसके अंशरूप होता हुआ भी अन्य-सा भासता है ॥८॥

जैसे सूर्य अपने में ही स्व-स्वरूपाविर्भावरूप दिन एवं स्व-स्वरूपतिरोभावरूप रात्रि का विभाग करता है, वैसे ही चितिरूप मणि-शिला भी जगदात्मक द्रव्यों का स्वसंवेदनरूप (स्वानुभवरूप) प्रकाश एवं स्व-असंवेदनरूप अप्रकाशन अपनी आत्मा में ही करती है, इस अर्थ में उसका तात्पर्य है, यह कहते हैं।

दैदीप्यमान यह चितिरूप सूर्य अनुभव और अननुभव रूप दिन-रात का विभागकर जगद्रूप द्रव्यों

को भलीभाँति प्रकाशित कर रहा अपनी आत्मा में ही स्थित है ॥९॥

अथवा, समुद्र के भीतर स्थित आवर्त (भँवर), तरंग आदि स्पन्द–भेद जैसे समुद्ररूप ही हैं, वैसे ही चिति के भीतर स्थित जगत् आदि भेद एकमात्र चितिरूप ही हैं, यों तात्पर्य जानना चाहिए, यह कहते हैं।

समुद्र के गर्भ में स्थित आवर्त, तरंग आदिरूप जलस्पन्दन के विलास की नाईं और शिला के भीतर खोदे गये कमल की नाईं अद्वितीय ही यह चिति जगद्रूप से नाना भासती है। तात्पर्य यह है कि वह जगदादि भेद चितिरूप ही है ॥१०॥

अथवा, वर्तमानकालीन सृष्टि और अतीत एवं अनागतकालीन (भूत एवं भविष्यत्कालीन) सृष्टि की परस्पर समानता होने से उनकी एकमात्र चैतन्यरूपता के प्रदर्शन में ही उसका तात्पर्य है, यह कहते हैं।

जो वर्तमानकालिक जगत् है, वह चिति में एक तरह से मानों पाषाण–शिला में खुदी गई प्रतिमा के सदृश है। और जो जगत् वर्तमानकाल में नहीं है यानी भूत एवं भविष्यत्कालिक जो जगत् है, वह एक तरह से मानों चिति में पाषाणशिला में न खुदी गयी प्रतिमा के सदृश है ॥११॥

इसी प्रकार बिल्वाख्यान का भी जगत् की चिन्मात्रसारता में ही तात्पर्य है, इस आशय से कहते हैं।

भावपदार्थ एवं अभावपदार्थ में जो सत्यभूत चिति–तत्त्व है, वह मज्जासदृश ही है। बिल्व आदि पदार्थों की जो शोभा है, उसका तत्त्व मज्जा ही है, इसलिए वह जगत् आदि मज्जामय ही है ॥१२॥

अथवा पद्म आदि शब्दों और उनके नाना अर्थों को शिलोदर से पृथक् करने पर जैसे उनकी कुछ भी सत्ता नहीं रहती, वैसे ही जगत् आदि नाना विकल्पों को चिति से पृथक् करने पर उनका अस्तित्व कुछ भी नहीं रहता, यों तात्पर्य जानिए, यह कहते हैं।

कमल आदि शब्द और उनके अनेक अर्थ शिलोदर को छोड़कर जैसे नाना–से प्रतीत होते हैं, वास्तव में शिलोदर से उनका पृथक् अस्तित्व नहीं है, वैसे ही अद्वय चितिशिला को छोड़कर यह जगदादिशब्द और उनके अर्थ नाना–से भासते हैं; वास्तव में चितिशिलोदर से पृथक् उनका अस्तित्व नहीं है, किंतु चितिशिलामय ही है ॥१३॥ यदि चिति से अविभक्तस्वरूप ही यह जगत् आदि है यानी इसे चिति से पृथक् नहीं करते तो नाना होने पर भी एकमात्र चिति–शिला के भीतर स्थित हुआ वह (जगत्) चैतन्यात्मा की एकता से उस प्रकार अद्वितीय हो जाता है, जिस प्रकार प्राकृत शिला के भीतर का पद्म–बिम्ब ॥१४॥ श्रीरामजी, मरु–मरीचिका मृग की दृष्टि में निर्मल जल–राशि ही है और 'यह स्थल ही है' यों विवेक–बुद्धिवाले विद्वानों की दृष्टि में तो वह सूर्य का प्रकाश ही है। वहाँ जैसे सत्स्वरूप ही प्रकाश आदि असत् जल–राशि आदिरूप से भासते हैं, वैसे ही सद्रूप चितिस्वभाव आप भी असत् जगत् आदिरूप से भासते हैं। परमार्थतः सद्रूप आप असत् जगद्रूप नहीं हैं ॥१५॥ जिस प्रकार समुद्र मध्य में द्रवत्व होने से भलीभाँति प्रस्पन्दित (संचलित) होता है, उसी प्रकार स्पन्दरहित भी चितिशिला का मध्य कल्पना से उन्मुख होकर संचलित–सा (स्पन्दित–सा) होता है ॥१६॥

तब जैसे वहाँ पद्म आदि शिलामय प्रतीत होते हैं, वैसे ही जगत् के शंख, पद्म आदि भी चिन्मय प्रतीत क्यों नहीं होते ? इस पर कहते हैं।

श्रीरामजी, कमल आदि पदार्थों से युक्त इस जगत् को चिति-शिला के भीतर ही स्थित जानिए। चिति-शिला के भीतर रहनेवाले ये शंख, पद्म आदि के संघात परमार्थतः चिन्मय होने पर भी अविद्यावश अचिन्मय-से भासते हैं ॥१७॥

दृष्टान्तरूप से कही गयी प्राकृत शिला भी परमार्थ-दृष्टि से चिति-शिला का उदर ही है यानी चितिरूप ही है, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, यह दृष्टान्तरूप से कही गयी महाशिला भी चिद्घन में स्थित शिलोदर है यानी चितिरूप ही है। (चूँकि उसके चितिरूप होने से शिल्पकार के हजार प्रयत्न करने पर भी उसमें छिद्र आदि की संभावना नहीं है, इसलिए) छिद्ररहित, अद्वितीय निर्मल, नित्य और शांतस्वरूप वह मिथ्या सन्निवेश की नाईं भासती है ॥१८॥

जिस प्रकार 'शरत्-काल तपता है', 'अमृत टपकानेवाला सोम स्फुरित हो रहा है' यों एकमात्र कालस्वरूप सूर्य और सोम में अवान्तर भेदों की कल्पना द्वारा क्रिया-कारणभाव से व्यवहार होता है, उसी प्रकार 'ब्रह्म जगत् को प्रकाशित करता है', 'वह (ब्रह्म) जगद्रूप से स्फुरित हो रहा है' यह व्यपदेश भी होता है, ऐसा कहते हैं।

'निर्मल यह ब्रह्म इस जगत् को प्रकाशित करता है' ऐसा जो व्यवहार होता है, वह शरत्काल की तरह है यानी 'शरत्-काल प्रकाशित करता है' इस व्यवहार के अनुसार ही होता है। और 'यह ब्रह्म जगद्रूप से स्फुरित होता है' यह भी जो व्यवहार होता है, वह नयनानन्दकारी अमृतद्रुत सोम के समान है यानी 'अमृत टपकानेवाला सोम स्फुरित होता है' इस व्यवहार के अनुरूप ही है ॥१९॥

ऐसी स्थिति में 'जगद्रूप से यह जगत् मानों सदा नष्ट है' अथवा 'ब्रह्मरूप से मानों सदा स्थित है' ऐसी उत्प्रेक्षा कर सकते हैं, इस आशय से कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी, जैसे शिला-कमल कमलरूप से नित्य ही असत् है, वैसे ही वासनामात्रस्वरूप होने से सुषुप्ततुल्य यह जगत् भी अपने जगद्रूप से ब्रह्म में नहीं है यानी असत् है एवं ब्रह्मरूप से सत् भी है, (क्योंकि) जिस प्रकार ब्रह्मत्व ब्रह्म में स्थित रहता है, उसी प्रकार यह जगत् भी ब्रह्मरूप होने से ब्रह्म में स्थित है ॥२०॥

चिदात्मरूप से जगत् का अस्तित्व मानने पर 'जगत्' और 'ब्रह्म' शब्द के अर्थ में भेद नहीं है, यह कहते हैं।

जिस तरह 'तरु' और 'पादप' (वृक्ष) शब्द के अर्थ में भेद नहीं है, उसी तरह 'जगत्' और 'ब्रह्म' शब्द के अर्थ में भी भेद नहीं है, क्योंकि यहाँ जो जगत् दीख रहे हैं, वे सब चिदात्मा से भिन्न अन्य कोई वस्तु नहीं हैं ॥२१॥ चिति के स्वरूप की नाईं जगत् के भी भाव, अभाव आदि विकार कभी नहीं होते, क्योंकि जिस प्रकार मरु-मरीचिका जलरूप से भासती है, उसी प्रकार ब्रह्म ही जगद्रूप से भासता है ॥२२॥ श्रीरामभद्र, चूँकि-जैसे धूप से बर्फ आदि केवल जलरूप ही हो जाते हैं, वैसे ही मेरु आदि अत्यंत स्थूल-पदार्थ भी तत्त्व-दृष्टि से देखने से शुद्धत्व एवं अस्थूलत्व आदि धर्मयुक्त ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं-इसलिए तृण, गुल्म आदि से लेकर ब्रह्माण्डान्त बाह्य-जगत् का और चित्त से लेकर हिरण्यगर्भान्त आन्तर जगत् का जो, जल के सदृश उत्तरोत्तर परमसूक्ष्मतम

भूतसूक्ष्म से अव्याकृत अक्षर तक के विभाग द्वारा, अंत में रूप अवशिष्ट रहता है; वही परब्रह्म है, यों ब्रह्मज्ञानी लोग जानते हैं ॥२३॥

विचार करने पर स्थूल पदार्थ भी एकमात्र सूक्ष्मरूप ही हो जाते हैं, इसमें युक्ति बतलाते हैं।

पंचीकृत मेरु, तृण आदि स्थूल–भूत अपंचीकृत सूक्ष्म–भूतों का समूह ही है और अपंचीकृत भूत तो चित्त ही है, यों जोरों से यानी दृढ़ता से क्रमशः विचार करने पर ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है। जो सूक्ष्म वस्तु में साररूप से अनुभूत होता है, वह निश्चय स्थूल वस्तु में सारतररूप से अनुभूत होता है ॥२४॥

इसीलिए जल–परमाणुगत रसशक्ति जिस प्रकार स्थूल–जल में प्रत्यक्षगोचर होती है, उसी प्रकार घट आदि में ब्रह्म–सत्ता भी प्रत्यक्षगोचर होती है, यह कहते हैं।

हे पापशून्य श्रीरामजी, परमाणुरूप से विद्यमान रसस्वरूपा जलशक्ति स्थूल जल में स्थित होकर जैसे प्रत्यक्ष विषय होती है, वैसे ही जगत् के स्थूलपदार्थों में स्थित होकर ब्रह्मशक्ति भी प्रत्यक्ष विषय होती है ॥२५॥

स्थूल पदार्थ के वैचित्र्य से सत्ता के अवान्तर धर्मरूपों से ही सत्ता का जो वैचित्र्य होता है, उसमें भी ऐसे दृष्टान्तों की कल्पना की जा सकती है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे तृण, गुल्म आदि पदार्थों में स्थित नाना जलों में पदार्थों के वैचित्र्य से रसशक्ति नानारूपों से उदित होती है, वैसे ही वही ब्रह्मरूपता नानारूपों से उदित होती है ॥२६॥ नील, पीत आदि चित्र–विचित्र रूपों में जो यह आलोक परमाणुता यानी सूक्ष्मभूत सत्ता है, वह ब्रह्मसत्तारूप ही है। ब्रह्मसत्ता भी इन घटादिव्यक्तियों के गुण, गुणी आदिस्वरूप अवान्तर विजातीयता की सिद्धि के लिए उपयुक्त सत्तारूप हो जाती है ॥२७॥

जैसे आविर्भाव–दशा में कार्यरूप से कारण ही स्थित रहता है, वैसे ही तिरोभावदशा में कारणस्वरूप से कार्य भी स्थित ही रहता है, यह भी दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं।

सर्वथा तिरोभाव–दशा में मायाशबलित चिति में और अर्ध–तिरोभाव–दशा में चित्त में, जो कि स्थूल–कार्यों के अभिव्यंजकस्वरूप है, मेरु आदि स्थूल–कार्यों का समूह उस प्रकार स्थित है, जिस प्रकार मोर के उपादान–कारणरूप अण्डे के रस में चित्र–विचित्र मोरपंखों का समूह एवं कठिनता स्थित रहती है ॥२८॥ जिस प्रकार मोर के अण्डे के रस में चित्र–विचित्र पंखों का समूह भासता है, उसी प्रकार जगत् के अभिव्यंजनस्वरूप चिति–तत्त्व में भी नानारूपता भासती है ॥२९॥ जैसे मोर के अण्डे का रस और मोर–पंख काल्पनिक भेद–दृष्टि से भिन्नरूप भासते हैं, वैसे ही जगत् और ब्रह्म भी काल्पनिक भेद–दृष्टि से भिन्नरूप भासते हैं, वास्तव में जगत् ब्रह्मरूप ही स्थित है ॥३०॥

ऐसी स्थिति में जैसे वहाँ (मयूराण्डरसरूप दृष्टान्त–स्थल में) कल्पित भेद वास्तव में अभेद का विरोधी नहीं है, वैसे ही यहाँ (दार्ष्टान्त–स्थल में) भी समझना चाहिए, यह कहते हैं।

जिस तरह वह मोर के अंडे में रसात्मक मयूर कल्पित नानारूप होने पर भी परमार्थतः एकरूप होने से द्वैताद्वैतात्मक होता है, उसी तरह ब्रह्मात्मक जगद्भ्रम भी कल्पित नाना रूप होने पर भी परमार्थतः एकरूप होने से द्वैताद्वैतात्मक है ॥३१॥ तब क्या ब्रह्म द्वैत एवं अद्वैत दोनों रूप है ? ऐसी शंका पर कहेंगे कि उसके दोनों रूप मानने में कोई आपत्ति नहीं दी जा सकती; क्योंकि जैसे ब्रह्म सत्यरूप है और

जगत् भ्रमरूप है, वैसे ही उसका द्वैत एवं अद्वैत रूप भी हो सकता है। ऐसा मानने से कोई विषमता भी नहीं आ सकती, क्योंकि जैसे सत्ता की समता में (सत्तासामान्यरूप में) सत् एवं असत् की अवस्थिति होती है, वह कहा ही जा चुका है। (इस पर कोई शंका करें कि विषमता का परिहार करने के लिए आप सत्ता की समता में ही अवस्थान क्यों मानते हैं, क्योंकि अभावमात्रता आपत्तिरूप शून्यता मानने पर भी विरोध का परिहार हो सकता है ? तो इस पर कहते हैं।) चूँकि अभाव का (असत् का) निरूपण भी सत्पदार्थ के बिना नहीं हो सकता, इसलिए सत्-असत् दोनों का तत्त्व सद्वस्तुरूप भाव में ही पर्यवसित है, न कि शून्यरूप में। और उस भाव को यानी सद्रूप में पर्यवसित को आप परब्रह्म ही जानिए ॥३२॥ और उस तत्त्व का स्वरूप, अद्वितीय होने के कारण, भिन्न एवं अभिन्न स्वभाव से अनुभूत जगत् हो नहीं सकता यानी वस्तुतः वह अनुपपन्न ही है। *(इस प्रकार उक्त जगद्रूपता की अनुपपत्ति होने पर भी मयूराण्डरस के दृष्टान्त से ही एकरूपता लानी चाहिए, इस आशय से कहते हैं।)* जैसे आप मयूराण्ड में रस और मयूर एकरूप और नानारूप देखते हैं, वैसे ही चैतन्य और जगदात्मक माया को एकरूप और नानारूप देखिए ॥३३॥ श्रीरामजी, जैसे जगत् में चैतन्यात्मक तत्त्व अनुस्यूत है, वैसे ही मयूर में मयूराण्डरस भी अनुस्यूत है और जैसे चिति-तत्त्व में जगत् लीन है, वैसे ही मयूराण्डरस में मयूर भी लीन है, यह आप देखिए। वह नानारूप भी है और अनानारूप यानी एकरूप भी है ॥३४॥

उपमा द्वारा कहे गये अर्थ को रूपक से एकीकरण कर दिखलाते हुए भेद का निरास करते हैं।

अनेकविध पदार्थ-भ्रमरूप पंखों से परिपूर्ण आद्य ब्रह्म-चिति ही जगद्रूप मोर के अण्डे का रस है। उसमें भासनेवाली मयूरस्वरूप जगदात्मक जो वस्तु है, उसे तो मयूर भिन्न सत्तास्वरूप परमार्थवस्तु ब्रह्म जानिए। वहाँ भेद का अवसर ही कहाँ है ? ॥३५॥

सैंतालीसवाँ सर्ग

अड़तालीसवाँ सर्ग

कल्पित जगत् में जिसकी सत्तास्फूर्ति और आनन्द प्रतिबिम्बित होते हैं,
सच्चिदानन्दघन उस ब्रह्म का असाधारणरूप से वर्णन।

मयूराण्ड-रस के दृष्टान्त से किसी को यह भ्रम न हो जाय कि जिसके गर्भ में जगद्रूप वैचित्र्य तिरोभूत है, ऐसा चित् और अचित् से संवलित, बीजशक्ति से युक्त अव्याकृत ही परमतत्त्व यानी ब्रह्म है, उससे ऊपर कोई दूसरा शुद्ध-तत्त्व नहीं है-इसलिए निर्विशेष भूमानन्दरूप जगत् के उस अधिष्ठान का असाधारणरूप से परिचय कराने के लिए महाराज वसिष्ठजी कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, मयूराण्ड के भीतर मयूर की नाईं पूर्व में वर्णित भीतरी अहंता आदि और बाह्य दिशा आदिरूप यह सब व्यापक जगत् जिस शुद्ध पदार्थ में तीनों काल में भी अनुत्पन्नस्वरूप होकर स्थित है। *(वही तत्त्व मेरे द्वारा दिये गये मयूराण्डरस-दृष्टान्त के तात्पर्य का विषय है, न कि मायाशबल अव्याकृत, यह आप जानिए।)* ॥१॥ जहाँ पर परमार्थतः कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ है, उसी में मायावश बाह्य, आन्तर आदि सब जगत् रहता है। और इस देह में भी वही तत्त्व अंगों का रसरूप प्राण होकर स्वर्ग आदि वैषयिक सुखों के सार से (चित्त-वृत्तियों के भेद से होने वाले

विचित्र भोगों के आकार से), स्फटिक, दर्पण आदि में चन्द्रबिम्ब की नाईं, निरतिशय आनन्द के अस्तित्व का अनुमान कर लेना चाहिए ॥२॥

उस तत्त्व के सद्भाव में सर्वसाधारणरूप से अनुमानप्रमाण बतलाकर अब विद्वानों का अनुभवरूप प्रमाण भी कहते हैं।

अपने आत्मस्वरूप भूमानन्द का आस्वाद ले रहे मुनि, देवता, गण, सिद्ध और महर्षि लोग सर्वदा तुरीय पद में स्थित हैं ॥३॥

तब सभी लोग क्यों उसका अनुभव नहीं करते ? यदि ऐसी शंका हो तो उसका समाधान यह है कि दृश्य और दर्शन के (इन्द्रियों के) सम्बन्ध से तथा प्राणस्पन्दन से जनित विक्षेप होने से उसका अनुभव नहीं करते। अतएव उन दोनों प्रतिबन्धकों का परिहार करने के लिए योगी लोग नासिका के अग्रभाग में निरुद्ध दृष्टि तथा प्राणनिरोध में तत्पर दिखाई देते हैं, यह कहते हैं।

निमेषरहित वे योगीजन, जिनके नेत्रगोलक तथा तद्गत इन्द्रियाँ स्थिर हैं, दृश्य एवं दृष्टि के सम्बन्धत्यागप्रयुक्त स्पन्द–त्याग के लिए सन्नद्ध हैं ॥४॥

यह तो उनके लिए कहा गया है, जो छठी आदि भूमिकाओं में नहीं पहुँचे हुए हैं। छठी और सातवीं भूमिका में पहुँचे हुए योगी लोग तो व्यवहार करते हुए भी पूर्व भूमिकाओं में प्राप्त हुए योगियों के समान आत्म–सुख का सर्वदा ही स्वाद लेते हैं, यह कहते हैं।

व्यवहार में निरत भी छठी आदि भूमिकाओं में स्थित जो लोग बाह्य विषयों में सत्यता की भावना तनिक भी नहीं करते, पूर्व भूमिकाओं में स्थित जो पुरुष विषयेन्द्रिय–सम्बन्धों के परित्यागरूप समाधि में निरत हैं, चित्रलिखित देहधारियों की नाईं जिनका प्राणस्पन्द नहीं होता और चित्रलिखित देहधारियों की नाईं जिनका मन भी गतिशील नहीं रहता; वे सब उस अपने भूमानन्दपद में जिसमें कि चित्त एवं चेत्य की आसक्ति का त्याग है–समान रूप से स्थित हैं ॥५,६॥ जैसे जगदीश्वर भीतर सर्वदा ही अपने स्वरूपानन्द में स्थित होता हुआ भी बाहर माया द्वारा जगत् की व्यवस्था का पालन करता है; वैसे ही षष्ठादि भूमिकाओं में पहुँचे हुए योगीजन भीतर ब्रह्माकार अखण्डवृत्ति–धारारूप स्पन्द से उसी अंश द्वारा निरतिशय आनन्द का आस्वादनस्वरूप परमपुरुषार्थ जिस प्रकार साधते हैं, उसी प्रकार बाहर भी चित्त, चेत्य आदि के स्पन्दन से व्यवहार–मर्यादा को चलाते ही हैं ॥७॥ उन लोगों के व्यवहार में बाह्य विषयों में बुद्धिवृत्तियों का संगम होने पर भी त्रिपुटी में अभिव्यक्त हुआ निरतिशय आनन्दरूप आत्मा उस प्रकार आह्लाद पहुँचाता है, जिस प्रकार चन्द्रकिरणें वृक्षों के पल्लवों के भीतर घुसकर आह्लाद पहुँचाती हैं। इससे ज्ञानी का समस्त व्यवहार सुखरूप ही है, यह भाव जानना चाहिए ॥८॥

उन महात्माओं का भीतरी स्वरूपसुख तो सुतरां विक्षेपरहित है, इस विषय में भी दृष्टान्त बतलाते हैं।

चन्द्ररूप बिम्ब से दूर तक फैली हुई तथा दीवार में अपतित, शुद्ध आकाश प्रदेश में रहनेवाली चन्द्रमा की ज्योत्स्ना का जो रूप है, वही परमात्मा के विक्षेपरहित आह्लाद का रूप है, उपर्युक्त योगी महात्मा उसी रूप का अनुभव करते हैं ॥९॥ आत्मा का वह शुद्ध चिद्रूप न तो दृष्टि का विषय है और न उपदेश के ही योग्य है, न तो अत्यन्त समीप है और न दूरवर्ती ही है; किंतु केवल योगियों के अनुभव से ही गम्य है ॥१०॥

वही रूप देह आदि समस्त उपाधियों से विनिर्मुक्त आत्मतत्त्व है, यह कहते हैं।

शुद्ध चिदात्मा का अनुभवगम्य वह रूप न देहस्वरूप है, न इन्द्रिय एवं प्राणरूप है, न चित्तस्वरूप है न वासनारूप है, न जीवरूप है, न स्पन्दस्वरूप है, न ज्ञानरूप है और न जगद्रूप ही है ॥११॥ वह रूप न सद्रूप है, न असद्रूप है और न सत् एवं असत् के मध्यवर्ती यानी अनिर्वचनीय ही है। वह न तो शून्यस्वरूप है और न अशून्यस्वरूप ही है। वह देश, काल एवं वस्तु से जनित परिच्छेद आदिरूप भी नहीं है, किंतु ब्रह्मस्वरूप ही है, उससे भिन्न कुछ नहीं है ॥१२॥ उपर्युक्त देह आदि समस्त पदार्थों से ब्रह्म विनिर्मुक्त है और अनन्त भूत एवं भावी देह-कोशों से युक्त चित्त में जिसके रहने पर यह दश्य जगत् आविर्भाव, तिरोभाव आदिरूप से स्पन्दित होता है, वह सन्मात्रस्वरूप आत्मपद (ब्रह्म) ही है, दूसरा नहीं, यह संभावित है ॥१३॥

इसी प्रकार कार्य-कारण से विलक्षण उसकी संभावना करनी चाहिए, यह कहते हैं।

वह ब्रह्म न महाकल्प के आदिकाल में विद्यमान अव्याकृत नामक कारणरूप है और न प्राकृतादि प्रलयस्वरूप ही है। सृष्टिकाल में भी इहलोक अथवा परलोक में वायु, अग्नि आदि से जनित शोषण, दहन, क्लेदन, भेदन आदि विकारों से कहीं भी सद्रूप से च्युत न होने के कारण वह सविकारवस्तुरूप और विकाररूप भी नहीं है ॥१४॥

यदि शंका हो कि देहादि विकारों से उसमें अनुगत सद्रूप ब्रह्म का भी विकार क्यों नहीं होता ? तो इस पर कहते हैं।

ये हजारों देहरूप घड़े उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी होते हैं, किंतु बाहर एवं भीतर व्याप्त इस आत्मस्वरूप आकाश का खण्डन यानी नाश नहीं होता ॥१५॥

तब क्या देह आदि ब्रह्म से पृथक् हैं ? इस पर 'नहीं' ऐसा कहते हैं।

आत्मज्ञानियों में श्रेष्ठ श्रीरामजी, वह देहादि सम्पूर्ण जगत् आत्मरूप ही है, वह एकमात्र बोध की विरूपता से यानी भ्रमात्मक ज्ञान से ही किंचित् पृथक्-सा स्थित भासता है, यह आप जानिए ॥१६॥

श्रीरामचन्द्रजी, चारों ओर से श्रवण, मनन आदि उपायों से परिष्कृत बुद्धि से आपने यह विश्व आत्मस्वरूप है, यह जान लिया है ॥१७॥

इसीलिए व्यवहार करते हुए भी आप निर्विकार आत्मा के दर्शन से (साक्षात्कार से) नित्यमुक्तस्वरूप होते हुए स्थित हो जाइए, यह कहते हैं।

अतएव अपने राज्य शासन के योग्य व्यवहारों में दीप्ति सम्पन्न होते हुए भी आप शांत एव ममताशून्य हो जाइए। स्थावर एवं जंगम स्वरूप जो कुछ यह जगत् दीखता है, वह सब धर्मशून्य, गुणरहित, निर्मलस्वरूप, निर्विकार, आदि एवं अंत से रहित, सर्वदा शांत तथा समस्वभाव ब्रह्मरूप ही है, यह जानिए ॥१८,१९॥ श्रीरामजी, 'काल, क्रिया, करण, कर्ता, कारण, कार्य, जन्म, स्थिति, प्रलय, स्मरण आदि सब जगत् ब्रह्म ही है' इस प्रकार आत्मदृष्टि से देख रहे आपका क्या फिर भी संसार में भ्रमण हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता; क्योंकि आप वस्तुतः समंग (सम ब्रह्म) ही हैं यानी सदा ही अविषम ब्रह्म-स्वरूप प्राप्त कर चुके हैं ॥२०॥

अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त

उनचासवाँ सर्ग

विकारों से विवर्त में विलक्षणता, प्रबोध के अभाव से अविद्या की स्थिति और प्रबोध हो जाने पर अविद्या का अभाव-इनका वर्णन।

विकार और कार्य से स्वरूपतः विवर्त में भेद की जिज्ञासा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, नित्य निरतिशय वृद्धि से युक्त यानी त्रिविध परिच्छेदों से शून्य ब्रह्म में यदि विकार और आरम्भ नहीं हैं तो भाव और अभाव स्वरूप इस संसार का भान कैसे होता है ? ॥१॥

कारण में कार्य की उत्पत्ति पाँच प्रकार की होती है, १-पहली में पूर्वावस्था तिरोहित नहीं होती, २-दूसरी में पूर्वावस्था प्रतिबद्ध हो जाती है, ३-तीसरी में पूर्वावस्था छिप जाती है, ४- चौथी में पूर्वावस्था छिप नहीं जाती और ५-पाँचवी में पूर्वावस्था विनष्ट हो जाती है। इनमें प्रथम-मिट्टी आदि में घड़े आदि की उत्पत्ति, द्वितीय-जल में हिमोत्पत्ति, तृतीय-रज्जु में सर्पोत्पत्ति, चतुर्थ-जल में तरंगोत्पत्ति और पंचम - दूध में दही की उत्पत्ति समझनी चाहिए। इनमें केवल अन्तिम ही जन्मादिभावविकार और परिणाम स्वरूप है, अवशिष्ट चार तो विवर्त के ही भेद हैं; इस आशय से महाराज वसिष्ठजी पहले-पहल विकार का लक्षण बतलाते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : तात, दूध आदि में दही आदिरूप जो कार्य पुनः दूध आदिरूप अपनी पूर्वावस्था से रहित तथा दूध आदि के स्वरूप से विपरीत रहते हैं, वे ही विकार, संस्कार और परिणाम आदि शब्दों से कहे जाते हैं॥२॥ दही बन जाने से दूध पुनः अपनी पयोरूपता में (दूधरूप पूर्वावस्था में) नहीं आता। *परब्रह्म में तो जगद्रूप कार्य विधर्मी होने से विकारादि शब्दवाच्य नहीं हैं, यह कहते हैं।* **आदि, मध्य और अंत किसी भी दशा में ब्रह्म तो निर्विकार ब्रह्मरूप ही अवगत होता है ॥३॥ इससे दूध आदि के समान ब्रह्म में विकारिता नहीं है।** *(जैसे परमाणुओं से द्व्यणुक आदि अवयवियों का आरम्भ होता है, वैसे ही यहाँ पर भी मान लिया जाय तो इस पर कहते हैं।)* **आदि और अंत के विभाग से रहित ब्रह्म में यह अवयवी का आरम्भ-क्रम भी नहीं हो सकता। आदि एवं अंत रूप देशकृत परिच्छेद तथा क्रिया, संयोग, विभाग आदि से युक्त अवयवों में ही अवयवियों का आरम्भ-क्रम (📖) होता है, न कि उनसे विलक्षण ब्रह्म में यह भाव है ॥४॥**

तो परिशेषात् यह सिद्ध हुआ कि जगत् ब्रह्म का विवर्त ही है, यही उसके लक्षण से दिखलाते हैं।

(📖) इससे वैशेषिक-मत में स्वीकृत आरम्भकत्व का लक्षण भी सूचित किया गया है। वे उसका इस प्रकार लक्षण कहते हैं- अनेक संयुक्तों या समवेतों का अपने में या अपने आश्रय में समवेत (समवायसम्बन्ध से विद्यमान) पदार्थों में समवायसम्बन्ध से किसी एक कार्य के प्रति जनक होना ही आरम्भकत्व है। जैसे पटात्मक कार्य का तंतु आरम्भक है। वहाँ संयुक्तद्रव्यभूत तन्तु अपने में समवाय सम्बन्ध से पटात्मक कार्य का जनक है। तंतु का रूप पटगत रूप का आरम्भक है। तंतुरूपाश्रय तंतु में समवेत पट में समवायसम्बन्ध से पटगतरूप के प्रति तंतु का रूप जनक है। इसी आशय को लेकर महर्षि कणाद ने यह सूत्र रचा है-'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्' (अवयवभूत द्रव्य अवयविभूत द्रव्यों के आरम्भक हैं और अवयवगत गुण अवयविगत गुणान्तरों के आरम्भक हैं)।

श्रीरामचन्द्रजी, समस्वरूप ब्रह्म का आदि और अंत में जो क्षणभर के लिए विकार (अन्यथाभाव) दिखलाई पड़ता है, उसे आप संवित् का संभ्रम (विवर्त) ही जानिए, क्योंकि अविकारी ब्रह्म में कोई विकार नहीं हो सकता (निष्कर्ष यह निकला कि आदि और अंत सभी दशाओं में एकरूप से रहनेवाले ब्रह्म में उसका स्पर्श न करनेवाली विषमता का प्रतिभास ही विवर्त है) ॥५॥

ब्रह्म में वैषम्य-संस्पर्श का अभाव दिखलाते हैं।

उस ब्रह्म में न तो संवेद्य (विषय) विद्यमान रहता है और न संवित्ति ही विद्यमान रहती है यानी ब्रह्म में दृश्य-दर्शन का तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्धरहित होने पर भी 'निःसम्बन्ध', 'चिदात्मा' आदि शब्दों की नाईं वह 'ब्रह्म' शब्द से भी कहा गया है ॥६॥

मध्य में ब्रह्म का विकार से स्पर्श नहीं होता, यह कैसे मालूम पड़ता है ? ऐसी यदि कोई शंका करे तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि आदि और अंत में विकार स्पर्श न करने का जो स्वभाव निश्चित है, वही मध्य में भी विकार के असंस्पर्श में हेतु है, यह कहते हैं।

आदि और अंत में जिस स्वरूप की वस्तु विद्यमान रहती है, उसी स्वरूप की वह कही जाती है। यदि मध्य में उसकी अन्यरूपता दिखलाई पड़ती है, तो वह केवल अज्ञान के कारण ही दिखाई देती है ॥७॥

स्वप्रकाशस्वभाव होने से आत्मा में तो समता सर्वानुभव सिद्ध है, अतः उसमें अनात्मरूपता की तनिक भी संभावना नहीं है, यह कहते हैं।

आत्मा तो आदि, अन्त और मध्य में सर्वत्र सदा एकरूप है। स्वस्वरूप आत्मतत्त्व कभी भी विषमभाव को प्राप्त नहीं होता ॥८॥ नीरूप, एक तथा नित्यस्वरूप होने के कारण यह परब्रह्म परमात्मा भावविकारों के वश में कभी भी नहीं जाता ॥९॥

चित्प्रकाशैकरस ब्रह्म में उससे विरुद्ध स्वभाववाली अविद्या की भला कैसे प्रसक्ति हो सकती है, जिससे कि उसमें जगद्रूप विवर्त की सिद्धि हो, यों ज्ञानियों की दृष्टि से श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, निरंतर एकरूप तथा अत्यंत निर्मलस्वरूप सदात्मक ब्रह्म में चिति-भ्रमरूप अविद्या का आगमन ही कैसे होगा ? ॥१०॥

हम ब्रह्म में अविद्या का सद्भाव ज्ञानियों की दृष्टि से नहीं कहते, किंतु अज्ञानियों को ज्ञानी बनाने के लिए केवल कल्पना से वैसा कहते हैं, इस अभिप्राय से महाराज वसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, विकाररहित, आदि और अंत से शून्य यह पूर्ण ब्रह्मतत्त्व पहले था, इस समय है और आगे चलकर भी रहेगा। अविद्या का तनिक भी अस्तित्व नहीं है, यह मेरा दृढ़ निश्चय है ॥११॥

'ब्रह्म' इस शब्द से वाच्य एवं वाचक का जो एक प्रकार से उपक्रम करते हैं, वहाँ पर भी हम अन्यरूपता का अस्तित्व नहीं कहते; किंतु उपदेश देने के लिए केवल इस क्रम की कल्पना करते हैं ॥१२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आप और मैं, यह संसार और दिशाएँ, आकाश और पृथ्वी अथवा अग्नि आदि (जो कुछ भी आप देख रहे हैं, वे) सबके सब आदि और अंत से शून्य केवल ब्रह्ममात्र हैं, अविद्या तो तनिक भी नहीं है ॥१३॥ मुनि लोग 'अविद्या' इस नाम को ही भ्रममात्र और असद्रूप कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी, जो विद्यमान ही नहीं है, भला वह किस तरह सत्य हो सकती है ? ॥१४॥

जब अविद्या का अस्तित्व ही नहीं है तभी तो आपने उपशम–प्रकरण में 'यथा भ्रान्तिरविद्येयं तथेत्थं च विचार्यते' – यों अविद्या का अस्तित्व स्वीकार कर कहा है । इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी आशंका करते हैं ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे प्रभो, कल के उपशम–प्रकरण में तो आपने कहा था कि मनुष्य को जैसी भ्रान्ति होती है,वैसी ही यह अविद्या है, इसका इस तरह मैं वर्णन करता हूँ ॥१५॥

वह तो आपकी अज्ञानता–दशा में आपकी बुद्धि के अनुसार कल्पना से मैंने कहा था । अब तो आप भलीभाँति प्रबुद्ध हो चुके हैं, इसलिए उस प्रकार की कल्पना करने का अब अवसर ही नहीं रहा; अतः पूर्वापर में कोई विरोध नहीं है, यह कहते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे रघूद्वह, इतने काल तक आप अज्ञानी होकर स्थित थे । अब तो कल्पित इन अपनी युक्तियों से ही आप प्रबुद्ध हो चुके हैं ॥१६॥ श्रीरामचन्द्रजी, वेदरूप वाणी का रहस्य जाननेवालों में सर्वश्रेष्ठ विद्वानों ने 'यह अविद्या है और यह जीव है' इत्यादि कलना–क्रम की जो कल्पना कर रक्खी है, वह अज्ञानी जनों को बोध देने के लिए ही है ॥१७॥ जब तक मन प्रबुद्ध नहीं हो जाता तब तक अविद्या आदि शास्त्रीय व्यवहारों की कल्पना के बिना सैकड़ों आक्रोशों से भी वह प्रबोध को प्राप्त नहीं होता ॥१८॥ केवल एकमात्र युक्ति से ही बोध कराकर इस जीव को आत्मा में नियुक्त कर सकते हैं, क्योंकि जो कार्य युक्ति से सुसम्पादित होता है, वह सैकड़ों अन्य उपायों से भी नहीं होता । भाव यह है कि पुरुषों में असंभावना आदि जो अनेक दोष विद्यमान रहते हैं, उनका एकमात्र युक्तियाँ ही भलीभाँति निरसन कर देती हैं ॥१९॥

दोषों के विद्यमान रहते तत्त्वोपदेश देना व्यर्थ है, इस आशय से कहते हैं ।

अज्ञानी दुर्मति के सम्मुख 'यह सब कुछ ब्रह्म है' यों जो विद्वान् उपदेश देता है मानों वह अपना मित्र समझकर एक ठूंठे वृक्ष के समक्ष दुःखनिवेदन करता है ॥२०॥ मूर्ख युक्ति से प्रबोधित होता है और प्राज्ञ तत्त्व से । युक्ति से बोध कराये बिना मूर्ख प्राज्ञदशा को प्राप्त नहीं होता ॥२१॥ श्रीरामचन्द्रजी, इतने काल तक अप्रबुद्ध रहे आपको मैंने युक्तियों से प्रबोधदशा में पहुँचा दिया है । प्रबुद्ध हुए आप अब जिस प्रकार के उपदेश से बोधित किये जायेंगे, उसे आप सुनिए ॥२२॥

वही कहते हैं ।

मैं ब्रह्म हूँ, तीनों जगत् ब्रह्म है, आप ब्रह्म हैं और यह दृश्य पृथिवी ब्रह्म ही है; ब्रह्म से पृथक् कोई दूसरी कल्पना ही नहीं है । इसलिए जैसा आप चाहें वैसा ही कीजिए । ('यथेच्छसि' इससे यह सूचित होता है कि ऐच्छिक व्यवहार से वास्तविक ब्रह्मरूपता में कोई हानि नहीं पहुँचती) ॥२३॥ समस्त भ्रान्तियों के बाध की चरमसीमाभूत, लौकिक ज्ञान की अविषय महाचिति के स्वरूपभूत ही ये तीनों जगत् हैं । श्रीरामचन्द्रजी, अपने हृदय के भीतर इस जगत् और उस महासंवित् में एक प्रतीति से युक्त होकर सांसारिक कार्यों का सम्पादन कर रहे भी आप उनसे लिप्त नहीं हो सकते । इस विषय में यह श्रुति भी प्रमाण है–'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'॥२४॥ हे श्रीराघव, स्थित हो रहे, जा रहे, श्वास ले रहे तथा शयन कर रहे आप अपने हृदय में 'सर्वव्यापी चैतन्य प्रकाश स्वरूप यह परमात्मा

मैं ही हूँ' ऐसा अनुभव कीजिए ॥२५॥ हे श्रीराघव, यदि उत्तम रीति से आप अभिमान से शून्य, ममता से रहित और बुद्धिमान हैं तो सम्पूर्ण प्राणियों में स्थित, सर्वोपद्रवशून्य, शांत, चिदेकरस ब्रह्मरूप हो जाइए ॥२६॥ सर्वव्यापी, एकरूप, शुद्ध संवित्स्वरूप हुए आप वह श्रुतिप्रसिद्ध, आदि और अन्त से रहित, प्रकाशात्मक परमपदस्वरूप होकर स्थित हो गये हैं ॥२७॥ ब्रह्म, तुरीय, आत्मा, अविद्या, प्रकृति तथा जगत् आदिरूप से जो प्रसिद्ध पदार्थ हैं; वे सबके सब उस प्रकार अभिन्न सन्मात्ररूप हैं, जिस प्रकार सैकड़ों घड़ों में मिट्टी ॥२८॥ जैसे घट से मृण्मयता पृथक् नहीं है वैसे ही आत्मा से प्रकृति पृथक् नहीं है। और जैसे घट के अन्दर रहनेवाली मृण्मयता सद्रूप मृत्तिकामात्र है, वैसे ही प्रकृति में रहनेवाली सद्रूपता आत्ममात्र ही स्थित है ॥२९॥ जल के आवर्त की नाईं जो यह आत्मा का विवर्तन है, वही प्रकृति शब्द से कहा गया है और सन्मात्रस्वभाव से अपने विवर्त में वह आत्मा ही है, दूसरा नहीं ॥३०॥ जैसे वायु और उसका स्पन्दन एक ही पदार्थ हैं और नाम से दोनों भिन्न होते हुए भी सत्ता से वे भिन्न नहीं हैं, वैसे ही आत्मा और प्रकृति ये दोनों एक हैं और नाम से भिन्न होते हुए भी वे सत्ता से भिन्न नहीं हैं ॥३१॥ जैसे अबोध से सन्मात्र सर्पभ्रम रज्जु में रूपान्तर को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही बोध न होने से इनमें भेद मालूम पड़ता है और वह भेद बोध से ही पुनः विलीन हो जाता है ॥३२॥ चिद्रूपी खेत में जो यह कल्पनारूपी बीज गिरता है, वही चित्तरूपी अंकुर होकर उससे स्फुरित होता हुआ भावी संसाररूपी जंगल का एक खण्ड तैयार हो जाता है ॥३३॥ आत्मज्ञान से दग्ध हुआ यही कल्पनारूपी बीज (चिद्रूपी खेत में) वासना रूपी जल से यत्नपूर्वक भलीभाँति सींचा गया भी अंकुर के उत्पादन में समर्थ नहीं होता ॥३४॥ यदि चिद्रूप खेत में कल्पनारूपी बीज न बोया जाय तो उससे उन चित्तरूपी अंकुरों की उत्पत्ति भी न हो, जिनसे आगे चलकर सुख-दुःखरूपी अनेक फल देनेवाले शरीररूपी वृक्ष बन जाते हैं ॥३५॥

प्रस्तुत उपदेश-रहस्य का उपसंहार करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी, चूँकि आप ज्ञान प्राप्त कर चुके है, इसलिए जगत् में भ्रांति से गृहीत असत् द्वित्व का (भेद का), जो अज्ञान से जनित और ज्ञान से विनाशी है, आप परित्याग कर दीजिए। भद्र, अब आप आत्मैकत्वरूप निरतिशयानन्दरूपी विभव से अभयात्मा हो जाइये। आपमें तो तीनों काल में भी दुःख है ही नहीं, यही हमारा उपदेश है ॥३६॥

उनचासवाँ सर्ग समाप्त

पचासवाँ सर्ग

कल्पना द्वारा जीव में लिंगदेहात्मक पुर्यष्टक की (सूक्ष्मशरीर की) उत्पत्ति तथा इन्द्रियों से उसके बाह्य विषयों का ग्रहण-क्रम- इनका वर्णन।

यद्यपि 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' इस श्रुति के अनुसार श्रीरामजी के सभी संशय तत्त्वसाक्षात्कार से नष्ट हो चुके थे; तथापि दूसरों के उपकार के लिए- दूसरों को जिस विषय में संशय है - उसे पूछने की इच्छा कर रहे श्रीरामभद्र पहले अपना अनुभव विशेषकथनपूर्वक दिखलाते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, मैंने निखिल ज्ञातव्य (जानने योग्य) पदार्थ जान लिये और अविनाशी द्रष्टव्य वस्तु का अवलोकन भी कर लिया। अब हम लोग आपके सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मज्ञानरूप अमृत से

(अमृत–पान से) भलीभाँति परिपूर्ण (तृप्त) हो चुके हैं ॥१॥

अपने अनुभव के साथ – पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ इस श्रुति का मेल भी है, यों बतलाते हैं।

पूर्णब्रह्म से निकलकर एवं शरीररूप उपाधि में प्रवेशकर नख के अग्रभागपर्यन्त व्याप्त हुआ यह जीव परमार्थतः पूर्णब्रह्मरूप ही है; क्योंकि पूर्ण से (ब्रह्म से) आकाशादि क्रमपूर्वक व्यष्टि–समष्टि–उपाधिरूप जो उत्पन्न होता है, वह पूर्णरूप ही उत्पन्न होता है। और महावाक्य से उत्पन्न 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस ज्ञान से उपाधिजनित परिच्छिन्नता का समूल विनाश हो जाने के कारण, जब पूर्णब्रह्म से पूर्ण ही जीवतत्त्व अखण्ड ऐक्य से पूरित हो जाता है, तब कल्पित अपूर्णता भ्रम के नष्ट हो जाने से पूर्ण की (ब्रह्म की) पूर्वस्थित पूर्णता ही अवस्थित रह जाती है ॥२॥ ब्रह्मन्, बहुत लोगों के ज्ञान की अभिवृद्धि के लिए लीलावश मैं आपसे यह प्रश्न पूछता हूँ। महाराज, बालक के लीलाप्रश्न में पिता के सदृश आपको क्रोध करना युक्त नहीं है ॥३॥

चूँकि अर्थों के अनुभवों का उल्लेख सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में ही देखा जाता है ('मेरे हृदय में अमुक अर्थ का अनुभव हुआ' यों सभी प्राणी अपने–अपने अनुभवों का उल्लेख करते हैं, ऐसा दिखाई पड़ता है), प्रियअप्रियदर्शनजनित सुख–दुःखों का अनुभव हृदय में ही होता है और दीर्घकाल के अनुभूत बाह्य विषयों का स्मरण भी हृदय में ही देखा जाता है; इसलिए यह कहना आवश्यक है कि बाह्य विषयों का अनुभव हृदय में ही होता है। इस स्थिति में चक्षु आदि जितनी इन्द्रियाँ हैं, उनमें बाह्य स्थित अर्थों को हृदय में लाने की शक्ति नहीं है, और वे स्वयं जड़ होने के कारण बाहर जाकर, अनुभव कर और फिर लौटकर बाह्य अर्थों का वर्णन करने में समर्थ भी नहीं हैं; अतः चक्षु आदि के गोलकों को छोड़कर इन्द्रियों का दूसरा स्वरूप मानना निरर्थक ही है। यहाँ पर यह मानना भी अयुक्त है कि अन्तःकरण से अवच्छिन्न जीवचैतन्य ही इन्द्रिय द्वारा बाहर निकलकर, घट आदि बाह्य विषयों से सम्बद्ध होकर उन बाह्य विषयों का अनुभव करेगा ? क्योंकि ऐसा मानने पर 'मेरे हृदय में विषयानुभव हुआ' यह न कहकर लोग ऐसा कहने लगेंगे कि 'मेरे बाहर विषयानुभव हुआ', इसी तरह प्रियअप्रियदर्शन प्रयुक्त सुखदुःखानुभव भी हृदय से बाहर ही होगा और कालांतर में अनुभूत बाह्य विषयों का हृदय में स्मरण न होकर बाहर ही होने लगेगा–जो सर्वथा विपरीत है, जब तक विषयों का हृदय में प्रवेश नहीं होगा तब तक उनका हृदय के अंदर अनुभव हो ही नहीं सकता। यदि इस विषय पर यह कहें कि बाहर निकली हुई अन्तःकरण वृत्ति विषयों के सम्बन्ध से विषयाकारता–लांछन, जिसका नाम संस्कार है, लेकर भीतर प्रवेशकर, नट के सदृश विषयाकार का अनुकरण कर रही विषयों का अनुभव अथवा स्मरण कराती है, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि घटादि विषयों का अनुभव यदि आपके कथनानुसार घटाकारक संस्काररूप लांछन से युक्त होगा तो भ्रम और प्रमा दोनों में कोई भेद न हो सकने से सर्वत्र ज्ञानों में विश्वास उठ जायेगा; और घट आदि विषयों में बाह्यत्व का जो अनुभव होता है, वह भी नहीं होगा। इन सब तर्कों से यह निष्कर्ष निकला कि अनुभव तो एक भीतरी पदार्थ है और घटादि बाहर के पदार्थ हैं, इन दो वस्तुओं का परस्पर सम्बन्ध न हो सकने के कारण बाह्यार्थों को किसी भी तरह अनुभव पर चढ़ाया नहीं जा सकता। इसीलिए नैयायिक आदि अनुभव का विषयों के साथ विषयविषयिभावरूप एक

स्वरूपसम्बन्ध मानते हैं, न कि संयोग आदिरूप; परंतु उनका यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि विषयविषयिभावरूप स्वरूपसम्बन्ध किसी खास विषय के साथ सम्बद्ध तो है नहीं, सबके साथ समानरूप है, इसलिए अमुक अनुभव में अमुक ही विषय है-इस प्रकार ज्ञान में विषयों की व्यवस्था नहीं हो सकती। इस पर यदि यह कहा जाय कि 'पहले आत्मा मन के साथ सम्बद्ध होता है, अनन्तर मन इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होता है और फिर इन्द्रियाँ विषयों के साथ सम्बद्ध होती हैं' - इस क्रम से ज्ञानाश्रय-आत्म-संयुक्तमनःसंयुक्त-इन्द्रियसंयोग आदि रूप परम्परासम्बन्ध से ज्ञान में विषयव्यवस्था हो सकती है, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का परम्परासम्बन्ध अनुगत न होने के कारण स्मृति, अनुमिति आदि में अनुगत तत्-तत् विषयों की व्यवस्था नहीं कर सकता। अपिच, यह परम्परासम्बन्ध बाह्य अर्थों में अपरोक्षत्व सम्पादक है, फिर भी आप जब उसे विषयव्यवस्थापक मानते हैं तब तथाकथित स्वरूपसम्बन्ध मानना व्यर्थ ही है। इसी युक्ति से सम्बन्ध द्वारा विषय जिस ज्ञान की अभिव्यक्ति करता है, वही अर्थ उस ज्ञान का विषय होता है-यह बात भी खण्डित हो जाती है, क्योंकि इन्द्रिय आदि जो भी ज्ञानाभिव्यक्ति में हेतु हैं, वे सब उस ज्ञान के विषय हो जायेंगे। इसलिए अघटित घटना में समर्थ मायाशक्ति की सामर्थ्य से ही हृदय में बाहर के विषयों का अनुभव होता है - यही कहना होगा; ऐसी स्थिति में चक्षु आदि गोलकों को छोड़कर अतिरिक्त इन्द्रियों को मानने में फल ही क्या है ? अतः अनुभवानुसार गोलक द्वारा ही चिदात्मा बाह्य अर्थों का अनुभव करता है, यही सिद्धान्त स्वीकृत होगा। इस परिस्थिति में मृत देह में भी चक्षु आदि गोलक एवं सर्वगतसदात्मा दोनों का अवस्थान रहने से वहाँ भी चिदात्मा बाह्य अर्थों का अनुभव क्यों नहीं करता ? - यों श्रीरामजी शंका करते हैं।

ब्रह्मन्, मृतप्राणी के शरीर में यद्यपि श्रोत्र-गोलक, चक्षुर्गोलक, त्वग्गोलक, रसना-गोलक और घ्राण-गोलक-सब विद्यमान और स्पष्ट दिखाई देते हैं, फिर भी वे अपने-अपने विषयों का ग्रहण कैसे नहीं करते और जी रहे प्राणी के शरीर में वे सब अपने-अपने विषयों का ग्रहण कैसे करते हैं ? ॥४,५॥ महर्षे, जडस्वरूप भी ये इन्द्रियाँ शरीर के भीतर घटादि बाह्य पदार्थों का अनुभव कैसे करती हैं और पुनः अनुभव क्यों नहीं करतीं ? तात्पर्य यह है कि यदि कोई कहे कि चक्षु आदि इन्द्रियाँ स्वयं बाहर निकलकर घट आदि की बाह्यता का अनुभव कर तदनन्तर भीतर प्रवेश कर फिर उन्हें कहती हैं तो इस पर यही समाधान है कि उनमें (इन्द्रियों में) न पृथक् चैतन्य है और न कहने की सामर्थ्य ही है, अतः आपका कथन असंगत ही है। इसी प्रकार यदि कोई यह भी कहे कि वे इन्द्रियाँ ही हृदय में बाह्यार्थों को लाकर स्थापित करती हैं तो इस पर भी यही समाधान है कि हृदय में बाह्यार्थों का स्थापन हो जाने पर तो पुनः पुनः उनका (घटादि बाह्यार्थों का) अनुभव होने लगेगा, क्योंकि फिर उनका (घटादि बाह्यार्थों का) बाहर निकलना नहीं देखा जाता ॥६॥

इस पर शंका हो कि पहले घट आदि बाह्य विषय चक्षु आदि इन्द्रियों को अपने प्रदेश में खिंचते हैं। बाद में खिंची गयी वे इन्द्रियाँ अपने विषयों को बाँधकर हृदय स्थित भोक्ता के लिए किसी अंशविशेष से भीतर ऐसे लाती हैं, जैसे घ्राणेन्द्रिय गन्ध को, यों कल्पना करेंगे तो इस पर कहते हैं।

भिन्न-भिन्न प्रदेश में गड़ी हुई दो लोह-शलाकाओं की नाईं परस्पर अत्यंत असम्बद्ध (न मिले हुए) घटादि विषय एवं इन्द्रियों की आपसे कही जा रही परस्पर आकर्षणशीलता और उसमें भी नेत्र

आदि अल्प विवरों के भीतर घट आदि स्थूल पदार्थों का प्रवेश होना, यह कैसे ? यानी सर्वानुभवविरुद्ध है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों के साथ संश्लिष्ट होकर ही विषय उनका (इन्द्रियों का) आकर्षण कर सकते हैं, असंश्लिष्ट होकर नहीं; क्योंकि घट आदिसे असंश्लिष्ट रज्जु कभी उनका (घटादि का) आकर्षण करती हुई दिखाई नहीं पड़ती। और गोलक प्रदेशों के समीप न जानेवाले घटादि का उनसे सम्बन्ध भी नहीं हो सकता तथा न तो रज्जु की नाईं इन्द्रियाँ घट आदि का संश्लेष या आकर्षण करती हैं – यह प्रसिद्ध ही है; क्योंकि भिन्न–भिन्न प्रदेशों में गड़ी हुई दो लोह–शलाकाओं की नाईं वे दोनों भिन्न देशस्थ हैं ॥७॥

यदि शंका हो कि तत्त्वज्ञान से समस्त संशयों से रहित हुए आपको मायामय, सब प्रकार की अनुपपत्तियों से ग्रस्त इन व्यवहारों में ऐसा संशय क्यों होता है ? तो उस पर कहते हैं।

महर्षे, यद्यपि मैं इन विशेषों को जान रहा हूँ; तथापि अज्ञानियों पर अनुग्रह करने के लिए ही फिर–पिर सैकड़ों बार आपसे जो पूछता हूँ, उसे आप कृपापूर्वक पूर्णरूप से कहिए ॥८॥

यह आप बहुत ही थोड़ा कहते हैं कि गोलकों से भिन्न दूसरी इन्द्रियाँ नहीं है; क्योंकि वास्तविक विचार करने पर तो चिति से भिन्न प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेयों का कोई भी विभाग किसी वादियों द्वारा निरूपित नहीं हो सकता, इस आशय से महर्षि वसिष्ठजी पहले समाधान करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, इस व्यवहार–भूमि में निर्मल चिति के सिवा इन्द्रिय आदि भी, चित्त आदि और घट आदि किसी भी अन्य पदार्थ का पृथक् संभव नहीं है ॥९॥

यदि कल्पना द्वारा द्रष्टा और दृश्य की उपपत्ति मानते हो तो इन्द्रिय आदि से घटित पुर्यष्टकरूप से भी पूर्व–पूर्व वासनाओं के अनुसार चित्स्वरूप की कल्पना युक्त हो जायेगी, ऐसी स्थिति में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं रह जाती, इस आशय से कहते हैं।

गगन से भी अत्यन्त निर्मल जो चिति है, उसने चित् होने के कारण मायाशबल–स्वभाव इन्द्रियादिघटित पुर्यष्टकरूप से अपने स्वरूप की पूर्व–पूर्व वासनाओं के अनुसार कल्पना की है ॥१०॥

कहे गये अर्थ में मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥ इस श्रुति को प्रमाणरूप से उपस्थित करते हैं।

वही मायाशबल कल्पितरूप जगत् के अवस्थान में प्रकृति बन गया है। उसी प्रकृति के अवयवों से इन्द्रिय आदि प्रमाण एवं घट आदि प्रमेय उत्पन्न हुए हैं ॥११॥

इन्द्रियों द्वारा बाहर निकला हुआ पुर्यष्टकघटक चित्त पहले घटादि से सम्बद्ध होता है। बाद में उस सम्बन्ध से हुई घटादि विषयाकार अपनी वृत्ति में प्रतिबिम्बित हुए घटादि को बाह्यत्वाकार से ही हृदय में ले जाकर वह उनका प्रदर्शन कराता है। उसी प्रकार कालान्तर में स्मरण होता है और स्वप्न में भीतर स्थित वस्तुओं का ही बाह्यरूप से अनुभव होता है, यों सबकी उपपत्ति हो जा सकती है; इस आशय से कहते हैं।

इस प्रकार पुर्यष्टकरूपता को प्राप्त हुआ जो चिद्रूप तत्त्व है, वही अपने चित्त आदि से घटित स्वभाव के कारण स्वयं ही चित्त वृत्ति नाम का अवयव हो जाता है। उस चित्तवृत्तिनामक अवयव में घटादि बाह्य विषय बाह्याकार से ही प्रतिबिम्बित होते हैं। मृत–देह में तो पुर्यष्टकघटित लिंग देहात्मक

जीव के अपनी कल्पना से ही लीलोपाख्यान में प्रदर्शित रीति के अनुसार बाहर निकल जाने के कारण दर्शन आदि की सामर्थ्य ही नहीं रहती; यों सर्वविध विरोध का परिहार हो जाता है, यह भाव है ॥१२॥

यदि ऐसा ही है तो उस पुर्यष्टक का ही स्वरूप क्या है ? जो पंचीकृत भूतांशरूप जगत् के आकार में परिणत हो रहा है और अपंचीकृत भूतों के कार्यरूप लिंगांश से उनका प्रतिबिम्ब ग्रहण कर रहा एक तरह से दर्पणतुल्य है–वही कहिए, यों श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, हजारों जगत् के निर्माण की महिमावाले और उन जगत् के लिए दर्पणभूत उस पुर्यष्टक का स्वरूप किस प्रकार का है ? यह आप कहिए ॥१३॥

उस पुर्यष्टक का स्वरूप बतलाने के लिए महाराज वसिष्ठजी पहले उसके मूलभूत अज्ञात ब्रह्मतत्त्व का निर्देश करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामभद्र, आदि और अन्त से शून्य, विकारवर्जित, प्रकाशस्वरूप, शुद्धचैतन्यमात्रस्वरूप, माया के आक्रमण से रहित तथा जगत् का कारण जो ब्रह्मतत्त्व है वह पहले आकाश आदि सूक्ष्मभूतों की रचनाकर अनन्तर अपंचीकृत उन भूतों से लिंगदेह और पंचीकृत उन भूतों से ब्रह्माण्ड की रचना करता है। अनन्तर वह ब्रह्मतत्त्व ही उस ब्रह्माण्ड के भीतर प्रतिबिम्बात्मक कल्पना की उन्मुखता प्राप्त कर अभिमानवश जब सूत्रात्म-प्राणों को धारण करता है तब वह 'जीव' यों कहा जाता है। अनन्तर वह इस देह में वासनाओं तथा अंगों के उपचय से पुष्ट होता है और पुष्ट हुआ वही जीव बाह्य एवं आभ्यन्तर व्यापाररूप चेष्टाएँ भलीभाँति किया करता है ॥१४,१५॥

अभिमान, मनन आदि व्यापारों के भेद से उसके अहंकार, मन आदि भिन्न-भिन्न नाम हैं, यह कहते हैं।

अपने शुद्ध चैतन्यमात्रस्वरूप का विस्मरण होने पर देह आदि में 'अहम्' अभिमान से वह 'अहंकार' कहा जाता है, संकल्प आदिरूप व्यापार से 'मन' कहलाता है, बोध के निश्चयात्मक व्यापार से 'बुद्धि' कहलाता है और इन्द्ररूप आत्मा द्वारा दृष्ट यानी तत्तत् कर्मों से उपार्जित होने के कारण 'इन्द्रिय (*) कहलाता है। वही देहरूप भावना से 'देह' बनता है और घटाकार भावना से घट। उक्त समस्त व्यापारों में साधारणस्वभावरूप यह आत्मा विद्वानों द्वारा 'पुर्यष्टक' कहा गया है ॥१६,१७॥ (**) अध्यासवश ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, साक्षित्व आदि धर्मों से युक्त (ज्ञानेन्द्रियों के व्यापारों से 'मैं ज्ञाता हूँ', कर्मेन्द्रियों के व्यापारों से 'मैं कर्ता हूँ', उन ज्ञान कर्मेन्द्रियों के व्यापारों से जनित सुख-दुःखों का आश्रय होने से 'मैं भोक्ता हूँ', उदासीन होकर सबका प्रकाशन करने से 'मैं साक्षी हूँ' इत्यादि अभिमानयुक्त) जो चैतन्य है, वही चैतन्यांश की प्रधानता से 'जीव' कहा गया है। और जडांश की प्रधानता से उसे ही विद्वान् लोग 'पुर्यष्टक' भी कहते हैं ॥१८॥

इसीलिए स्व-स्वरूपभूत समझी गई बुद्धिवृत्तियों का कालभेद से भेद होने के कारण जीव भी

(*) 'इन्द्रियमिन्द्रलिंगमिन्द्रदृष्ट इत्यादि (५-२-९३) सूत्र से इन्द्रियशब्द 'इन्द्रदृष्ट' इस अर्थ में ही निपातित है।

(**) 'अहंकारकलायुक्तं बुद्धिजीवसमन्वितम्। तत्पुर्यष्टकमित्युक्तं भूतहृत्पद्मषट्पदः ॥' इस लक्षण से लक्षित पुर्यष्टक का ही यह प्रकारान्तर से वर्णन है।

काम, क्रोध, हर्ष, विषाद आदि से युक्त होकर अनेक–सा हो जाता है, यह कहते हैं।

तदनन्तर अध्यासवश स्वात्मरूप जानी गई बुद्धिवृत्तियों से वही जीव समय–समय पर काम, क्रोध, हर्ष, विषाद आदि द्वारा स्वयं ही अनेकरूप–सा हो जाता है। और काल पाकर अपने पुर्यष्टक स्वभाव उस आकार को प्राप्त करता है, जिसमें अनन्त वासनारूपी कणिकाओं का उदय होता है ॥१९॥

जैसे बीजों के आकार अंकुर, काण्ड, पल्लव आदि होते हैं, वैसे ही उसी समष्टिव्यष्ट्यात्मक जीव के ये सब जगत् आकार होते हैं, इस आशय से कहते हैं।

जैसे सिंचन से बीज के पल्लव आदि आकार होते हैं, वैसे ही वासना के अनुसार समष्टि–व्यष्ट्यात्मक उस जीव के भी मैं, शरीर आदि, स्थावर आदि एवं जंगम आदि सब जगत् आकार होते हैं ॥२०॥ इसीलिए 'आद्य चिदात्मा मैं नहीं हूँ, किंतु शरीर आदि आकारवाला ही मैं हूँ', यों मिथ्याज्ञान से यह देखने लगता है ॥२१॥ वासनाओं से वेष्टित हुआ यह जीव चिरकाल तक स्वर्ग–नरक में आवागमनों द्वारा जगत् में उस प्रकार घूमता ही रहता है, जिस प्रकार समुद्र में तरंगों से ताड़ित काष्ठ ॥२२॥ सनक आदि के सदृश कोई तो विशुद्ध जाति के प्रभाव से कल्प के प्रारम्भ में ही यानी पूर्वकल्प के सांसारिक बन्धन के बाद प्रथम जन्म में ही आत्मा का तत्त्वतः ज्ञानकर आदि एवं अंत से शून्य परम पद को प्राप्त हो जाते हैं (🕭) ॥२३॥ बहुत काल तक अनेक योनियों में प्राप्त सुख–दुःखादि भोगों के अनंतर व्याकुल हुआ कोई पुरुष आत्मज्ञान द्वारा अपना परमपद प्राप्त करता है ॥२४॥

'कथं घटादिबाह्यत्वमिन्द्रियाणि जडान्यपि' यह जो प्रश्न श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा था, उसका सामान्यतः समाधान हो जाने पर भी विशेषरूप से समाधान करते हैं।

सुमते श्रीरामजी, शरीररूपता को प्राप्त हुआ उक्त–स्वरूप यह जीव नेत्र आदि द्वारा घटादि बाह्य विषयों का जिस रीति से भीतर अनुभव करता है, वह रीति (आप) सुनिए ॥२५॥ श्रीरामभद्र, पुर्यष्टक में प्रतिबिम्बित होने के कारण परिच्छिन्न आकार से युक्त तथा जीवरूपता को प्राप्त हुए चैतन्य का मन के साथ छः इन्द्रियों से समन्वित यह शरीर नख के अग्रभागपर्यन्त व्याप्ति में परिमाता होकर स्थित रहता है। उसी से जीवचैतन्य सर्वदा देहपरिमित होकर देह के अन्दर रहनेवाले सुख, दुःख आदि का सम्बन्धवश अनुभव करता है, देह से बाहर रहनेवाले का नहीं ॥२६॥ जब आन्तर वस्तुओं से अन्य बाह्य घट आदि पदार्थों का प्रत्यक्ष करना होता है तब तालाब से झटके से उछला हुआ जल नाली द्वारा क्यारियों में जिस प्रकार पहुँचता है, उसी प्रकार सब देहों से उद्रिक्त हुआ जीवचैतन्य चक्षु आदि इन्द्रियरूप द्वारों से घटादिपर्यन्त बाह्यविषय तक के आकाश में जाता है। उस स्थिति में उन घटादि विषयों का नेत्र आदि द्वारों से निकले हुए जीवचैतन्य के साथ स्वाकारवृत्तिव्याप्ति द्वारा सम्बन्ध हो जाने से वे विषयता (जीवचैतन्य के साथ अध्यासजनित चित्तादात्म्य) प्राप्त करते हैं ॥२७॥ श्रीरामजी, बाह्य विषयों के ज्ञान में इन्द्रियसन्निकर्ष ही सदा कारण है और वह इन्द्रियों का सम्बन्ध चित्त से युक्त जी रहे पुरुष में ही संभव है, मृत अथवा मुक्त पुरुष में कभी नहीं ॥२८॥

बाहर ऐसा ही होता है, यह हम मान लेते हैं, परंतु फिर भी उसका भीतर अनुभव कैसे होता है ?

(🕭) ये सब प्रकार के विभाग (भेद) उत्पत्ति प्रकरण के सात्विक, राजस आदि जीवों के भेद–वर्णन–प्रसंग में विस्तृतरूप से कहे जा चुके हैं।

यदि ऐसी शंका हो, तो उस पर कहते हैं।

अन्तःकरणवृत्तिरूप या नयनरश्मिरूप जो-जो अत्यंत स्वच्छ वस्तु है, उसी में बाह्याकाश में स्थित घटादि विषय प्रतिबिम्बित होते हैं, और वह प्रतिबिम्ब अन्तःकरणवृत्ति के अन्तर्गत जीव चैतन्य के साथ संश्लिष्ट हो जाता है। *(तब 'बाहर स्थित हुआ ही मैं घट का साक्षात्कार करता हूँ' यों सब लोग क्यों अनुभव नहीं करते ? इस पर कहते हैं।)* यद्यपि जीव बाहर विद्यमान है; तथापि वह बाहर प्राणों को धारण नहीं करता। तात्पर्य यह हुआ कि जहाँ प्राण की व्याप्ति रहती है, वहीं अहन्ताभिमान होता है, बाहर नहीं ॥२९॥

उक्त रीति से भले ही घट में ज्ञानरूप फल की उपपत्ति हो जाय, फिर भी हृदय के अन्दर घटाकार का प्रवेश कैसे होगा ? इस पर कहते हैं।

आवरण आदि दोषों से शून्य होने के कारण जब आँखों के तारे, सान पर घिसे गये नवीन नीलम-मणि की नाईं, चमकते रहते हैं तब उनमें घटादिप्रतिबिम्बयुक्त चित्तवृत्ति प्रवेश करती है, इसीसे बाहर-स्थित घटादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होता है, यह कहा जाता है ॥३०॥ श्रीराघव, तदनन्तर उस प्रकार आँखों के तारों में प्रविष्ट हुआ घटादि पदार्थ, हृदय में प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण अहमभिमानी जीव के साथ संयुक्त हो जाता है। इस रीति से बाहर ही भासमान घटादि बाह्य-वस्तु अहंकारी जीव द्वारा हृदय में ज्ञेय हो जाती है ॥३१॥

चेतन का अर्थ के साथ सम्बन्ध होने पर ज्ञान होता है, यह नियम बालक, पशु आदि में भी प्रसिद्ध है, यह कहते हैं।

जो वस्तु सम्बन्ध को प्राप्त होती है, उसे बालक भी अथवा पशु भी जान लेता है। किं बहुना ? जब स्थावर पदार्थ (*) भी अपने साथ सम्बद्ध वस्तु को जान लेता है तब जीव अपने से सम्बद्ध वस्तु को क्यों नहीं जान लेगा ? ॥३२॥

दूरस्थ विषयों का इन्द्रियगोलकों के साथ सम्बन्ध कैसे होता है ? इस प्रकार की पामर शंका का निरास कर रहे महाराज वसिष्ठजी कहते हैं।

पूर्वोक्त रीति से जीवचैतन्य के साथ सम्बद्ध हो रही गोलक से भिन्न, स्वच्छतम चक्षुरिन्द्रिय की रश्मियाँ पुरोवर्ती दृश्य घटादि विषयों का पूर्णरूप से आलिगंन कर लेती हैं, और तदनन्तर जीव उन्हें तत्त्वतः जान लेता है ॥३३॥

चक्षुरिन्द्रिय के विषय में कहे गये पूर्वोक्त क्रम का त्वगिन्द्रिय आदि में भी अतिदेश करते हैं।

त्वगिन्द्रिय आदि स्थल में जीव संस्पर्श से होनेवाला यह पूर्वोक्त प्रकार ही स्पर्श, रस और गन्ध का परिज्ञान कराने में सम्बन्ध यानी हेतु कहा गया है ॥३४॥

शब्द में विशेष बतलाते हैं।

और शब्द तो आकाश में रहता है, अतः तत्काल ही उसका वृत्तिप्रतिबिम्ब के बिना भी साक्षात्

(*) 'लजालु' नाम का एक पौधा स्पर्शमात्र से अपने पत्तों को सिकोड़ लेता है-यह देखा जाता है। इसीसे अनुमान कर यह जाना जा सकता है कि सब स्थावर अपने से सम्बद्ध वस्तुओं का परिज्ञान करते हैं।

श्रोत्र द्वारा भीतर जीवाकाश में प्रवेश हो जाता है। *(इसी रीति से गन्ध का भी पवन के द्वारा अन्तःप्रवेश कथंचित माना जा सकता है, इस आशय से यथासंभव उक्त न्याय का उपसंहार करते हैं।)* इसी रीति के अनुसार इन्द्रियों से विषयों का परिज्ञान होता है ॥३५॥

प्रसंगवश सभी प्रतिबिम्बों का स्वरूप जानने की इच्छावाले श्रीरामभद्र पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, मानसवृत्ति दर्पण, मणि, जल, और यन्त्र घृष्ट काष्ठ में घट, मुख, प्रभा आदि के जो प्रतिबिम्बि दिखाई पड़ते हैं, उनका स्वरूप क्या है ? यह आप मुझसे कहिए ॥३६॥

चैतन्य-प्रतिबिम्बभूत व्यष्टि-समष्टि रूप जीवों का भ्रान्तिमात्र से सिद्ध हुआ बिम्बातिरिक्त स्वरूप बिम्ब के सत्य होने पर भी जब हम नहीं कह सकते, तब अत्यन्त जड़स्वरूप मुख एवं दर्पण का या घट एवं चित्तवृत्तियों का परस्परसापेक्ष प्रतिबिम्बस्वरूप हम कह नहीं सकते-इसमें तो कहना ही क्या ? इस आशय से महाराज वसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : तत्त्वज्ञानियों में श्रेष्ठ श्रीरामजी, जिस प्रकार चिति के प्रतिबिम्बस्वरूप समष्टि-व्यष्ट्यात्मक जीवों का स्वरूप बिम्बभूत चित् के सत्य होने पर भी चैतन्यात्मा की भ्रान्ति है, उसी प्रकार अत्यन्त जड़स्वरूप मुख एवं दर्पण का या घट एवं चित्तवृत्ति का परस्परसापेक्ष प्रतिबिम्ब भी चैतन्यात्मा की भ्रान्ति ही है, यह आप जानिए ॥३७॥

केवल प्रतिबिम्ब ही भ्रान्ति नहीं है, किंतु जगत् भी भ्रान्ति है, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, यह जगत् भी भ्रान्तिमात्र ही है, इसलिए आपको इस जगत् में विश्वास नहीं करना चाहिए। यह अहंकार आदि प्रपंच एक तरह से तरंग स्थानीय है, अतः चिति-जल से पृथक् उसकी सत्ता कभी नहीं हो सकती; सत्तावान् तो सर्वदा चिति जल ही है ॥३८॥ परमचितिरूप समुद्र में तो देश, काल, क्रिया आदि सदा एकमात्र तद्रूप होने से पृथक् हैं ही नहीं। आत्मा सदा सब जगह सबमें रहनेवाला है ॥३९॥ श्रीरामभद्र, सदा विषयासक्त बुद्धि से शून्य, प्रसन्नात्मा, हृदय में मिथ्याभूत सुख-दुःख का अनुभव करनेवाली बुद्धि से रहित, समस्त संसाररूप रोगात्मक माया से वर्जित तथा ब्रह्मस्वभाव समता में प्रविष्टमति होकर अपने स्वरूप में स्थित रहिए ॥४०॥

पचासवाँ सर्ग समाप्त

इक्यावनवाँ सर्ग

अज्ञानवश ही जीव, इन्द्रिय, मन, देह पुर्यष्टक आदि भ्रम उत्पन्न होते हैं,
तत्त्वज्ञान होने पर तो एकमात्र ब्रह्म ही रह जाता है-यह वर्णन।

'पूर्व में असत् अहंकार, देह, इन्द्रिय आदि की कल्पना, जैसे जीवसमष्टिरूप हिरण्यगर्भ की है, वैसे ही व्यष्टिरूप आपकी भी है' ऐसा 'कलनोन्मुखतां यातम्' इत्यादि से वर्णित तात्पर्य आपने जान ही लिया, यों आगे कहे जानेवाले विषय के उपोद्घात के लिए अनुवाद करते हैं।

महराज वशिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, कमलजन्मा हिरण्यगर्भ की नाईं सृष्टि के पहले 'अनाद्यन्तम्' इस श्लोक से कहे गये ब्रह्मस्वभाव में स्थित आपके भी चक्षु आदि उत्पन्न नहीं हुए थे, यह सब मेरे कथन का तात्पर्य आपने जान ही लिया है ॥१॥

इस प्रकार पुर्यष्टक की कल्पना के अनन्तर व्यवहार योग्य अर्थों की कल्पना भी जैसे समष्टि की है, वैसे ही व्यष्टियों की भी है, यह कहते हैं।

जिस प्रकार हिरण्यगर्भात्मक समष्टिपुर्यष्टक का सर्ग के आदि में व्यवहार योग्य अर्थ-ज्ञान उदित होता है, उसी प्रकार सभी व्यष्टिपुर्यष्टकों का भी अर्थज्ञान सर्वदा उदित होता है ॥२॥

गर्भावस्था से लेकर उसीका दिग्दर्शन कराते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी, जो व्यष्टि-जीव छठे महीने में गर्भ में ही चक्षु आदि इन्द्रियों के प्रादुर्भाव से सम्पन्न पुर्यष्टकस्वरूप हो जाता है, वह तभी से लेकर जिस व्यवहर्तव्य वस्तु की जिस प्रकार भावना करता है; उसी प्रकार उसे अपनी भावना से तत्काल ही देखने लगता है, यह आप जानिए ॥३॥ एवंच, हिरण्यगर्भ के मनोव्यापार में उसका निजी संवेदन (चैतन्य) जिस प्रकार इन्द्रिय और इन्द्रियों का विषयस्वरूप हो जाता है, उसी प्रकार व्यष्टिजीवरूप आपका भी संवेदन हो जाता है, यही मैंने कहा – यह फलतः निकलता है, यह आप जानिए ॥४॥ श्रीरामचन्द्र, व्यष्टि एवं समष्टि के रूप में आ रही संवित् सृष्टि के पहले एकरूप और शुद्ध ही थी। तदनन्तर सृष्टिकाल में वह संवित् भले ही अहमभिमानी असंख्य जीवपुर्यष्टकों से समन्वित हो जाय; तथापि उसका संवेदनस्वरूप तो निष्कलंक ही रहता है ॥५॥

विषयों के दोषों से संवेदन का वह स्वरूप कलंकित क्यों नहीं होता ? इस शंका पर परमार्थतः वेद्यपदार्थ का अस्तित्व ही न होने से वह कलंकित नहीं होता, यह कहते हैं।

अद्वितीय, असीम और अवेद्य होने से निर्विकार इस चिति में दूसरे किसी पदार्थ का (अस्तित्व) है ही नहीं; क्योंकि वे दूसरे पदार्थ देशकृत, कालकृत और वस्तुकृत परिच्छेदों एवं स्थूलता से युक्त हैं ॥६॥

यदि शंका हो कि 'चिति ही मन आदिरूप हो जाती है' ऐसा जब आप कह चुके हैं तब मन आदि की असत्यता में चिति ही असत्य क्यों नहीं हो जाती ? तो इस पर कहते हैं।

श्रीरामजी, 'चिति मन आदिरूप हो जाती है' इत्यादि जो कुछ कहा गया है वह केवल चिन्तनीय, मननीय आदि वस्तुविषयक बुद्धिवृत्ति के अध्यारोप से ही कहा गया है; इसलिए चिति परमार्थतः मनोरूपता को प्राप्त कभी नहीं होती। इसी तरह वह न तो जीवरूपता को प्राप्त होती है और न पुर्यष्टकरूपता से ही युक्त होती है ॥७॥

तब तत्त्वज्ञान से आविर्भूतस्वरूप होने से पहले संवेदनस्वरूप भी असत् क्यों नहीं होता ? इस पर कहते हैं।

श्रीरामभद्र, तत्त्वज्ञानात्मिका विद्या और चरमप्रमाणभूत मनन आदि का विलास अपना कुछ भी अस्तित्व नहीं रखता; 'है ही नहीं' ऐसा अज्ञानियों द्वारा जो तर्कित होता है, वह सदा ही विद्यमान है; वही 'परमात्मा' इस नाम से कहा गया है और वही मन के साथ इन्द्रियों का अविषय है ॥८॥

यदि वह परमात्मा अद्वितीय ही है तो 'तस्मात् सर्व एव आत्मानो व्युवच्चरन्ति' (उसी परमात्मा से सभी जीवात्मा निकलते हैं) इस श्रुति से 'अग्नि-विस्फुलिंग' न्यायानुसार जीवसम्पत्ति कैसे कही गई ? इस शंका पर शिष्यों को समझाने के लिए कल्पना से वैसी कही गयी है, यह कहते हैं।

'उस परमात्मा से चैतन्यस्वरूप जीव उत्पन्न होता है' इत्यादि मननात्मक कल्पना एकमात्र शिष्यों

को समझाने के लिए ही कही गई है ॥९॥

अतएव आप अविद्यारूप रोग के मूल के विषय में चिन्तन न करें यानी उसकी जड़ खोजने में न लगें, किंतु उसकी समुचित चिकित्सा का ही चिन्तन करें; क्योंकि मूल की चिन्ता आदि चिकित्सा के वास्तव उपाय हैं ही नहीं, यह कहते हैं।

विचार द्वारा उपदेश्य को उपदेश देने के अनन्तर हुए चरमप्रमाण मननात्मक विचार से जिस किसी अज्ञात मूल से उत्पन्न अविद्या रूप रोग के शांत हो जाने पर उस दशा में सम्पूर्ण आकारों से वर्जित ऐसा स्वरूपज्ञान अवशिष्ट रहता है, जहाँ पर परमाणु में सुमेरु पर्वत की नाईं आकाश भी स्थूलरूप हो जाता है ॥१०,११॥ श्रीरामजी, निष्पन्न होनेवाले व्यवहारों के लिए क्रियाश्रय होने के कारण व्यावहारिक सत्यभूत भी पदार्थ जहाँ शून्य की नाईं स्थित हैं, उस निर्मल सत्यस्वरूप ब्रह्मपद में जगत् में उत्पन्न विषयों को छोड़कर आप जीवन्मुक्त होकर स्थित रहिए ॥१२॥

अब अविद्या का स्वरूप बतलाते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी, अतः भली प्रकार देखी जा रही भी अविद्या नहीं दीख पड़ती, किंतु नष्ट ही हो जाती है; इसलिए उस अविद्या का वही प्रसिद्ध असद्रूप ही स्वरूप है ॥१३॥

भद्र, (हम यह मानते हैं कि) मृगतृष्णा जल दिखाई दिया, पर उसे प्रयत्न से भी किन्हीं लोगों ने कहीं पाया क्या ? अर्थात् किसी ने कहीं नहीं पाया; ठीक इसी प्रकार (मृगतृष्णाजल के सदृश) जो अवस्तुभूत पदार्थ हैं, भ्रान्तिवश देखे गये भी वे किस तरह पाये जा सकते हैं ? वास्तव में तो दृष्टान्तभूत मृगतृष्णाजल भी अप्रसिद्ध है, यह भाव है ॥१४॥ असत् पदार्थ ही सत् भासित होता है। उसकी सत्यता असद्रूप अविद्या से ही है। ज्ञान से तो जो वस्तु जिस प्रकार की रहती है, वह उसी प्रकार की दिखाई देती है और भ्रान्ति नष्ट हो जाती है ॥१५॥ श्रीरामजी, सत्य आत्मा के सन्निधान से अत्यन्त असद्रूप भी अविद्या की जीव, पुर्यष्टक आदिरूप कल्पना की गई है, यह विचार भी अविद्या से होता है ॥१६॥ श्रीरामभद्र, आप जैसे अधिकारी जीवों को उपदेश देने के लिए उस अविद्या की ही जीव आदिरूप कल्पना शास्त्रों ने की है। इसलिए प्रबोध के लिए एकचित्त होकर आप उसे सुनिए ॥१७॥ जीवरूपता को प्राप्त हुई-सी, पुर्यष्टकरूप पद में स्थित, अतएव मायारूपी कलंक से वेष्टित तथा जीव को बाह्य विषयों का दर्शन कराने के लिए उत्सुक यह चिति जिसकी जैसी भावना करती है, भलीभाँति उसका वैसा ही अनुभव कर लेती है ॥१८॥ रात्रि में बालक द्वारा कल्पित यक्ष की नाईं, फिर वह सत्य हो या असत्य ही हो, यह जीवचिति 'पंचतन्मात्राओं के पंचीकरणरूप शरीर की कल्पना सत्य ही है' यों संभावना करती है ॥१९॥ और उस देहरूप आत्मा में उसी प्रकार उत्पन्न यानी उपर्युक्त दृष्टान्त की नाईं उत्पन्न इन्द्रिय द्वारों को भी उस प्रकार देखती है ॥२०॥ इन्हीं पंचतन्मात्राओं से उत्पन्न बाहर-स्थित पंचमहाभूतों को, जो परमार्थतः उससे दूसरे नहीं हैं यानी चितिरूप ही हैं, इन्द्रियरूप द्वारों से उस प्रकार वह अन्य-सा देखती है, जिस प्रकार सैकड़ों शाखाओं को अंकुर ॥२१॥ तदनन्तर यह जीव, जिसे 'ये इन्द्रिय, मन, प्राण आदि आन्तर पदार्थ हैं और ये घट आदि बाह्य पदार्थ हैं' यों निश्चय हो चुका है, जिसकी जैसी वासना कर लेता है, उसे वैसी ही यानी उसी रूप से दृढ़ कर लेता है ॥२२॥

वहाँ विषय एवं इन्द्रिय के सन्निकर्ष से अभिव्यक्त स्वात्मसुख की ही विषयसुख के रूप से वह

कल्पना करता है, यह कहते हैं।

चन्द्रमा की किरणों की नाईं आत्मा का जो सुखरूप से ज्ञान होता है, उसे ही इस जीव ने बाह्य विषयों के सुखानुभवरूप से शीघ्र स्वीकार कर लिया है ॥२३॥

उसी प्रकार वह स्वाभाविक आत्म-वेदन ही विषयसन्निकर्ष से अभिव्यक्त अहमाकार आत्मा का धर्म है, ऐसी भावना कर लेता है, यह कहते हैं।

मिर्च से अभिन्न मिर्च की प्रसिद्ध जो तीक्ष्णता है और आकाश से अभिन्न आकाश की प्रसिद्ध जो शून्यता है, इन दोनों के सदृश आत्मा से अभिन्न प्रसिद्ध जो आत्मा का ज्ञान है, वही अन्य-सा होकर स्थित है यानी स्वाभाविक आत्मज्ञान ही अज्ञानवश भिन्न-सा अहमाकार आत्मा का धर्म बनकर स्थित है ॥२४॥ सांसारिक विषयभोगों में ही पुरुषार्थ की परिसमाप्ति है, यह मत बाँधकर नश्वर सुख को लक्ष्यकर उसने 'इन लौकिक कर्मों से यह सुख होता है और इन पारलौकिक कर्मों से यह सुख होगा' इस नियम को सुदृढ़ कर दिया है ॥२५॥ श्रीरामजी, (उन दोनों प्रवृत्ति नियमों में एक तो स्वाभाविक राग आदि दोषों से जनित है और दूसरा शास्त्रजनित है। उक्त दोनों प्रकारों के भी ये नियम संकल्परूप हैं।) उन दोनों में से कदाचित् कोई एक ही स्वाभाविक पुरुषप्रयत्न से ही दूसरे को जीतकर होता है, अन्यथा नहीं, यह भाव है ॥२६॥

उन दोनों स्थलों में भी स्वभाव या शास्त्र इन दोनों में से किसी एक का अनुसरण करनेवाले अज्ञ आत्मा का ही तत्तत् व्यापारसाधनफलरूप से विवर्त होता है, यह कहते हैं।

श्रीरामभद्र, द्वैत एवं अद्वैत रूप यह सम्पूर्ण जगत् उस प्रकार आत्मा से ही बना है, जिस प्रकार ईख के रस से खाँड़ और मिट्टी से महाघट ॥२७॥

यद्यपि खाँड़ और घट ये दोनों अपने प्राक्तन द्रव और पिण्डावस्था के विनाश से विकारस्वरूप हैं; तथापि उनके माधुर्य और मिट्टी के स्वरूप का विनाश नहीं होता, अतः उतने अंश में ही वे विवर्त के दृष्टान्त हैं। ब्रह्म में तो उनकी तरह (किसी अंश में भी) विकार का संभव नहीं है, क्योंकि वह उनका विधर्मी है, यह कहते हैं।

खाँड़, घट आदि में- देश, काल आदि से परिच्छिन्न होने के कारण अवयव विन्यास, विकार आदि हो सकते हैं; परंतु ब्रह्म में तो देशकृत, कालकृत आदि परिच्छेदों के न होने से वे विकार आदि नहीं हो सकते ॥२८॥

अथवा 'खण्डो मधुरसेनेव' इस वाक्य में खण्डशब्द वनखण्ड का वाचक है और 'मधुरसेनेव' का अर्थ 'वसन्तद्रव की नाईं' ऐसा मानिए। एवंच वृक्ष विकार का हेतुभूत जलभाग, जो कि अविकारी रूप ही है, दृष्टान्तरूप से कहा गया है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे वृक्ष में प्रविष्ट जल, 'यहाँ मैं पत्र हूँ, यहाँ 'मैं फूल हूँ' इत्यादि विचित्ररूप से उदित होकर एक होने पर भी अनेकता को धारण करता हुआ देखा गया है, वैसे ही हम लोगों की आत्मा में प्रसिद्ध सत्तावाले ब्रह्म ने भी 'यहाँ मैं पट हूँ', 'यहाँ मैं दीवार हूँ' इत्यादि भेदों से सम्पूर्ण जगदाकार से आत्मा में द्वित्व को धारण कर लिया है, यह आप जानिए ॥२९,३०॥ जैसे मेघ कालभेद से - पहले ग्रीष्म-ऋतु में 'मैं सूर्यतापरूप हूँ' यों अभेदभावना कर सूर्यतापरूप से, फिर वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में वृष्टि करने के

समय 'मैं जल बरसानेवाला हूँ' यों जलप्रदरूप से और फिर पृथ्वी में प्रवेश द्वारा अंकुर के अन्दर जलरूप से उसका प्रवेश होने पर 'मैं अंकुररूप हूँ' यों अंकुररूप से स्थित रहता है; वैसे ही यह आत्मा भी कालभेद से भाव और अभाव का आकार होकर स्थित रहता है ॥३१॥

जगद्रूप विवर्त का नियम–क्रम यद्यपि कल्पित ही है; फिर भी कोई उसे अन्यथा नहीं कर सकता, यह कहते हैं।

इस वस्तु से यह कार्य इस प्रकार होवे (जैसे अग्नि से उष्णता और जल से शीतलता), यों परब्रह्म में कल्पित प्रसिद्ध क्रम को इस जगत् में ऐसा कौन जीव है, जो तोड़ सकता हो अर्थात् कोई तोड़ नहीं सकता ॥३२॥

इसी प्रकार वस्तुस्वभाव का नियम भी वस्तुभेद से भिन्न ही है और न उसे कोई अन्यथा ही कर सकता है, इस आशय से आकाशादि के स्वभाव की और अज्ञात ब्रह्म के स्वभाव की परस्पर विलक्षणता बतलाते हैं।

दर्पण की नाईं स्वच्छ आकाश में अपना भाग (आकाश–भाग) या अपना कार्य प्रतिबिम्बित नहीं ही होता, क्योंकि आकाश में या उसके कार्यभूत अन्य भूतों में आकाश का भेद नहीं रहता (भिन्न वस्तु में प्रतिबिम्ब पड़ता है–इस सिद्धान्त के अभिप्राय से यह कहा गया है), किंतु केवल आकाश प्रतिबिम्बशून्य दर्पण के मध्य के समान निर्मलरूप से शोभित होता है। *(अविद्या से समन्वित ब्रह्म तो वैसा नहीं है, यह कहते हैं।)* और अविद्या संवलित ब्रह्म में तो अपने स्वरूप से स्थित आत्मा ही समस्त वस्तुशक्ति आदि रूप से शोभित होता है, जीवरूप से प्रतिबिम्बित होता है और चूँकि वह स्वभावतः चिन्मय है, इसलिए देहरहित होता हुआ भी वह भेदबुद्धि से द्वितीय–सा होता है ॥३३,३४॥

ऐसा भले ही मान लिया जाय, परंतु उससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

सर्ग के आदि में जिस वस्तुस्वभाव से आत्मा का प्रकाश हुआ, असत्य भी उस स्वभाव को सत्य आत्मा द्वारा सत्यरूप से जानता है। और वह नियम कभी भी व्यभिचरित नहीं होता, अतः सभी प्रकार के नियम सिद्ध हो जाते हैं, यह भाव है ॥३५॥

सत्य और अमृत के मिथुनीभाव से 'वाचारम्भण' श्रुति में दर्शित न्याय से दृष्टान्त बतलाते हैं।

जिस प्रकार भूषण में स्थित सुवर्ण में यानी सुवर्ण के आभूषण में सत्य एवं असत्यरूप सुवर्णत्व और कटकत्व दोनों रहते हैं, उसी प्रकार आत्मा में भी चित्त्व और अचित्त्व दोनों रहते हैं ॥३६॥

इसीलिए उसके प्रथम कार्यभूत मन में चिद्रूपता तथा जड़ता–ये दोनों दिखाई पड़ती हैं। उनमें जो नित्य है, वही सत्य है, यह कहते हैं।

जिस प्रकार कटक में नित्य ही सुवर्णरूपता रहती है, उसी प्रकार चिति के सर्वव्यापी होने से उसके सर्वप्रथम कार्य मन में सर्वदा चितिरूपता रहती है। और जडरूपता तो किसी समय यानी अध्यास समय में विद्यमान रहती है ॥३७॥ चेतन और जडस्वरूप (🕭) यह चित्त स्वयं जब भी जिस किसी पदार्थ

(🕭) कहीं–कहीं 'चित्तजाड्यात्मकम्' ऐसा भी पाठ मिला है। उसके अनुसार चित्त का जाड्य यानी 'जड़देहविषयाकार, तत्स्वरूप' यह अर्थ समझना चाहिए।

की जिस प्रकार दृढ़ भावना करता है, यानी जभी देव, नर, स्थावर आदिरूप से देवादि के स्वरूप की भावना करता है, तभी उस प्रकार का वह हो जाता है ॥३८॥

अतएव कालभेद से जीव में अहमाकारभेद का अनुभव होता है, यह कहते हैं।

चैतन्य से भीतर वासनारूपी कलियों का विकास होता है; उसी से यह जीव विचित्र तरह से भावित आकारवाला होकर समय-समय पर स्वयं भिन्न-भिन्न रूप का हो जाता है ॥३९॥ जैसे स्वप्न में दिखाई पड़ा ग्राम वनादिसत्तारूपी भिन्नता के अवलोकन से वनादिभाव को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही देहभूत यह जीव भी एक देह से दूसरी देह को प्राप्त हो जाता है, क्योंकि यह स्वप्न के समान ही प्रतिभासात्मक है ॥४०॥ जैसे स्वप्न में दिखाई दे रहा मनुष्य शीघ्र ही दीवार बनकर पट बन जाता है, वैसे ही मरण-मूर्च्छा में भी प्रतिभासमान असत्यरूप ही यही शरीर वह दूसरा शरीर अपने-आप बन जाता है ॥४१॥

यदि कोई यह शंका करे कि देह तो प्रत्यक्ष ही मरती और भस्मीभूत हो जाती है, भला वह फिर दूसरी देह कैसे बन जायेगी ? तो इस पर कहते हैं।

स्वप्न में अपने प्रतिभास से अपनी दूसरी देह की तरह यह जीव असत्य ही मरता है और फिर असत्य ही उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि मरनेवाले का मरण और जन्म भी प्रातिभासिक ही है। जी रहे लोगों को तो अपनी अविद्या से कल्पित ही उसकी देह के दाह आदि का दर्शन होता है न कि उसकी वासनामय देह का ॥४२॥

तब क्या युवावस्था और वृद्धावस्था की नाईं देहान्तर-प्राप्ति भी इस देह का कालिक परिणाम ही है ? इस शंका पर 'नहीं' ऐसा कहते हैं।

देह का यह वर्तमान स्वरूप समय पाकर युवावस्था के सदृश देहान्तररूप हो जाता है ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वर्तमान शरीर बाल्य, यौवन आदि अवस्थाओं के भिन्न होने पर भी 'वह यही शरीर है' इस प्रत्यभिज्ञात्मक निश्चय का विषय होता है। परंतु ये भूत एवं भविष्यत् शरीर तो वैसी प्रत्यभिज्ञा के विषय नहीं हैं, उक्त प्रत्यभिज्ञा के न होने से दूसरों द्वारा 'कालतः अन्य हैं और वस्तुतः अन्य नहीं हैं' इत्यादि भ्रान्ति को प्राप्त होते हैं। अतः उनकी जीव से ही उत्पत्ति है यानी वासना से ही उनका उद्भव है ॥४३॥

यदि शंका हो कि जिन्हें पहले कभी देखा ही नहीं, उन देवादि शरीरों में इस जीव की वासना ही कैसी ? तो इस पर कहते हैं।

हे तत्त्वज्ञों में श्रेष्ठ श्रीरामभद्र, ('तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः' (☗) इस श्रुति के अनुसार) यह जगद्रूप तो जीवस्वप्न के अन्तर्गत ही है यानी जीव का एक स्वप्न ही है, यह आप जानिए। और चूँकि स्वप्न में इस जन्म में दृष्ट एवं अदृष्ट वस्तुओं का अनुभव होता है, (इसलिए पूर्व में अदृष्ट देवादि शरीरों की वासना होने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है।) (📖) ॥४४॥

(☗) उस स्रष्टा ईश्वर की पितृशरीर, मातृगर्भाशय और अपना शरीर ये तीन अवस्थाएँ एवं जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति नामक तीन स्वप्न हैं।)

(📖) वस्तुतः अनादि संसार में अननुभूत कुछ भी नहीं है, अतः मरणकाल में भावि देह के आरम्भक कर्मों से उद्बुद्ध हुई वासना के अनुसार देहान्तर की उत्पत्ति हो सकती है।

तब महावाक्यों से जनित ब्रह्मसाक्षात्कार से प्राप्य ब्रह्मभाव भी देहान्तर की नाईं वासनामय स्वप्न ही क्यों नहीं है ? इस पर कहते हैं।

जो 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' इस श्रुति में उक्त शिवादि स्वनाम आदि से कथित है और तुरीय दृष्टि से दृष्ट है, उस परमात्मा को उक्त तीनों लक्षणोंवाला स्वप्न ही नहीं हो सकता। जाग्रत् काल में कभी भी उसका अनुभव न होने से उसकी वासना ही अप्रसिद्ध है, अतः वह वासनामय नहीं हो सकता। इसलिए यह निर्मलात्मा एकमात्र चिति ही है ॥४५॥ वही चिदात्मा जीव होकर आज अभिनव वर्तमान विषय को जिस प्रकार चित्स्वभाव होने से ही देखता है, जड़स्वभाव होने से नहीं, उसी प्रकार आगे देखे जानेवाले विषयों को भी देखता है ॥४६॥

इसीलिए अदृष्ट विषय में भी भावनाओं के उपचय से दृढ़ हुई वासना पूर्व में दृष्ट विषयों की वासनाओं पर विजय पाती है, यों पुरुष प्रयत्न की प्रबलता दिखलाई गई है, यह कहते हैं।

जैसे कल के किये गये कुकर्म यानी अनुचित कर्म आज के प्रयत्न से सुकर्मता को प्राप्त होते हैं, वैसे ही आज भी पुरुषप्रयत्न से पहली वासना पर विजय प्राप्त की जा सकती है ॥४७॥

इस प्रकार अब तक जीव के वासनापरिणामस्वरूप देहादिबन्ध का वर्णन किया गया, अब उसकी शांति कब होगी ? इस जिज्ञासा पर कहते हैं।

प्राणियों की चक्षु आदि इन्द्रियाँ मोक्ष के बिना शांत नहीं होती। वे देशकृत और कालकृत भेदों से इस संसारसागर में उतराती और डूबती रहती हैं ॥४८॥

मोक्ष के बिना देहादि की निवृत्ति क्यों नहीं होती ? इस शंका पर कहते हैं।

चूँकि जब तक मोक्ष नहीं हो जाता तब तक इस चिति की अपनी देहाकार की कल्पना करनेवाली वासना सदा बनी ही रहती है, इसलिए इस जीव की अपनी वासना ही पांचभौतिक देह होकर उस प्रकार आगे खड़ी हुई–सी रहती है; जिस प्रकार बालक के आगे कल्पित असत्य महायक्ष खड़ा हुआ–सा रहता है, (अतः मोक्ष के बिना देहादि की निवृत्ति नहीं हो सकती) ॥४९॥

अब, कथंचित् पांचभौतिक स्थूलशरीर की निवृत्ति होने पर भी मोक्ष के बिना लिंगदेहात्मक पुर्यष्टक की निवृत्ति हो ही नहीं सकती, इस आशय से उसे दिखलाते हैं।

मन, बुद्धि, अहंकार एवं पाँच सूक्ष्म तन्मात्राएँ – इन आठों का समूह पुर्यष्टक कहा गया है और यही 'आतिवाहिक' देह कही गई है ॥५०॥

यदि शंका हो कि शास्त्रों में ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राण, पंचमहाभूत, अन्तःकरण, अविद्या, काम और कर्म–इन्हें पुर्यष्टक कहा गया है, वह पंचीकृत आकाश, वायु आदि लिंगघटित स्थूलान्त मूर्तरूप भी होगा। ऐसी स्थिति में आपने अमूर्त मन, बुद्धि आदि आठों का समूह ही 'पुर्यष्टक' है, यह कैसे कहा ? तो इस पर कहते हैं।

आप द्वारा कथित मूर्तरूप पुर्यष्टक तब होगा जब पंचीकरण से अमूर्तरूप तन्मात्राओं की स्थूलता होगी। यह सूक्ष्मतन्मात्रस्वरूप लिंगात्मा तो अमूर्त ही है। इसकी पंचीकृत आकाशरूपता, जो कि निरवधि स्थूल है, नहीं हो सकती, करोड़ों अमूर्त वासनाओं को मिलाने पर भी कहीं स्थूलता नहीं दिखाई पड़ती। जब इस पुर्यष्टक की आकाशरूपता ही दुर्लभ है तब उसकी स्थूल वायुरूपता बड़ी–

बड़ी तनोंवाले वृक्ष की नाईं अत्यन्त ही असंभावित है। एवं जब स्थूलभूतों का ही उसमें (पुर्यष्टक में) संभव नहीं है तब इसकी देहता उस प्रकार अत्यन्त असंभावित है, जिस प्रकार अतिसूक्ष्म परमाणु की सुमेरुता। अतः यह नहीं कह सकते कि भौतिक देह तक ही पुर्यष्टक है, यह भाव है ॥५१॥

मुक्ति में अनुपयोगी होने से भी इस मोक्षशास्त्र में स्थूल पदार्थों के अस्तित्व की कल्पना युक्त नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

यदि यह देहादि प्रपंच मनोमात्र ही है यानी एक कल्पना ही है तो वैराग्य आदि के अभ्यास से-उसे (मन को) राग-द्वेषशून्य कर देने पर यह जीव शमादि-साधन चतुष्टय से सम्पन्न हो जाता है। तदनन्तर महावाक्यों द्वारा ज्ञानोदयक्रम से मनःकल्पित स्वप्नप्राय प्रपंच और उसकी मूलभूत अविद्या का बाध हो जाने पर-अपनी कार्य एवं कारणस्वरूप अवस्थात्मक दोनों बन्धों से शून्य जीव को मुक्ति प्राप्त होती है। स्थूलभूत भौतिक मूर्तप्रपंच की भी सत्ता मानने पर तो उस प्रकार के प्रपंच का ज्ञान से बाध दिखाई न पड़ने पर मुक्ति हो नहीं सकती। *(एवं निष्कर्ष यही निकला कि स्वप्न और सुषुप्ति-ये दो ही अवस्थाएँ हैं, जाग्रत्नामक स्थूलविषयिणी दूसरी अन्य कोई अवस्था किसीसे सिद्ध नहीं की जा सकती, इस आशय से उन्हीं दोनों का विभागकर दिखलाते हैं।)* जिसने जड़स्वरूप देहादि सब प्रपंच को वासनारूप से उपसंहार कर गोद में कर लिया है, वह जीव की सुषुप्तता यानी सुषुप्तिनामक एक अवस्था है, और देहप्रतीति से समन्वित स्वप्ननाम की दूसरी अवस्था है। इस तरह दिखाई दे रहे प्रकारों से स्थावर एवं जंगम आकारों से यह आतिवाहिक देह ही मोक्ष-प्राप्तिपर्यन्त इस संसार में घूमती रहती है ॥५२,५३॥ श्रीरामजी, सबकी ही यह आतिवाहिक देह कभी तो सुषुप्तावस्था में स्थित रहती है और कभी स्वप्न की नाईं यानी स्वप्नावस्था में स्थित रहती है ॥५४॥ सुषुप्तावस्था में स्थित यह आतिवाहिक देह जब वासनारूप से भीतर प्रविष्ट हुए भविष्यत् दुःस्वप्नों से विद्ध-सी होकर स्मृतिशून्य और अनुदित आकारवाली हो जाती है, तब चिति के प्रतिबिम्ब से खचित होने से तथा अपने में सम्पूर्ण जगत् का उपसंहार कर लेने से वह प्रलयकालीन अग्नि के समान प्रदीप्त होकर स्थित रहती है ॥५५॥

उन स्थावर आदि निकृष्ट योनियों में जड़ता के आधिक्य से सुषुप्ति की प्रचुरता है, यह कहते हैं।

स्थावर आदि अवस्थाओं में तथा कल्पवृक्ष की अवस्थाओं में भी (♨) पाषाण-शिला के समान घनीभूत जड़तावाली (तमोयुक्त) यह आतिवाहिक देह सुषुप्ति-अवस्था में ही स्थित रहती है ॥५६॥

इसलिए चित्त की अधिक जड़ता ही इस देह की सुषुप्ति है, चित्त का भ्रमण ही संसार है, चित्त का तत्त्वज्ञान ही बन्ध से मुक्ति है, तुर्यता ही इसकी जाग्रदवस्था है, यही सिद्ध हुआ, यह कहते हैं।

श्रीरामभद्र, इस देह की सुषुप्तावस्था में स्थिति जड़ता है, स्वप्नावस्था से ही उत्पन्न यह संसार है, इसका जो तत्त्वज्ञान है, वह मुक्ति है और जो जाग्रदवस्था है, वही तुर्यरूपता है ॥५७॥ जीव की तत्त्वज्ञान से ही मुक्ति होती है और उसी तत्त्वज्ञान से वह वैसे परमात्मस्वरूपता को प्राप्त हो जाता है, जैसे मल धो दिये जाने पर विशुद्ध हुआ ताँबा सुर्वणरूपता को प्राप्त हो जाता है ॥५८॥ श्रीरामभद्र,

(♨) प्रस्तुत श्लोक में 'च' शब्द अप्यर्थक है यानी उसका 'भी' यह अर्थ है। एवंच, कल्पवृक्षों में पुण्य के आधिक्य से कृमि, कीट, क्षुधा, तृषा आदि दुःखों के न होने से यद्यपि आनन्द अधिक है; तथापि उनमें मनुष्य आदि के समान ज्ञान नहीं है, किंतु अत्यन्त तमोमयता ही है, यह भाव है।

जीव के तत्त्वज्ञान से जो मुक्ति प्राप्त होती है, वह शास्त्रों में दो प्रकार की बतलायी गई है – एक जीवन्मुक्ति और दूसरी देहपात से होनेवाली कैवल्यमुक्ति ॥५९॥ जीवन्मुक्ति ही तुरीयावस्था है। उसके परे तुरीयातीत ब्रह्मपद है। तत्त्वज्ञान होने से यह जीव प्रबोधस्वरूप हो जाता है यानी उत्कृष्ट चैतन्यात्मक ब्रह्मरूप हो जाता है और वह तत्वज्ञान या बोध पुरुष प्रयत्न से साध्य है ॥६०॥ इस व्यवहार–भूमि में जो जीव 'परमार्थतः मेरा यह परिमाण है और यह मेरा स्वरूप है' यों ज्ञान कर लेता है, वह सबके भीतर स्थित साक्षिभूत चिदात्ममय ही हो जाता है। और जो जीव उपर्युक्त ज्ञान से शून्य है, परमार्थतः उसके ब्रह्मनिष्ठ होने पर भी अज्ञानवश वह शिला की नाईं दृढ़ीकृत अपने हृदय में दीर्घतम संसारस्वप्न–भ्रान्तिरूप तीव्र भय को देखता रहता है ॥६१॥

तब क्या जीव के हृदय में वास्तविक भय है ? इस शंका पर 'नहीं' ऐसा कहते हैं।

जीव के भीतर चितिकला के सिवा और दूसरा कुछ भी नहीं है, वह उसे ही अन्यरूप से देखता हुआ व्यर्थ में सोच किया करता है ॥६२॥ जीवरूप परमाणु के भीतर तो परम महत् ब्रह्म के सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है, अहो ! जहाँ–तहाँ यह जो जगत् आँखों के सामने आ पड़ा है, वह माया का ही विलास है ॥६३॥ जिस प्रकार बटलोई के भीतर खौल रहे जल में नानात्व का भ्रम उत्पन्न होता है, उसी प्रकार जीवरूप परमाणु के भीतर मिथ्या ही संसार उत्पन्न होता है ॥६४॥ श्रीरामजी, वासनाओं का बन्ध ही इस जीवाणु का बन्ध है, वासनाओं का नाश ही इसका मोक्ष है और वासनाओं का अन्त यानी अवधि ही इसकी सुषुप्ति अवस्था है, (क्योंकि तुर्य और तुर्यातीत ये दोनों पद वासनाशून्य होते हैं।) और वह स्वप्न में चित्र–विचित्र रूप से स्फुरित होती है ॥६५॥

किस प्रकार स्फुरित होती है ? यह कहते हैं।

जब यह जीव घनीभूत वासनाओं के मोह से युक्त होता है तब वह स्थावर आदि योनियों का भागी होता है यानी स्थावर आदि योनियों में प्राप्त–सा दिखलाई पड़ता है, जब मध्यम प्रकार की वासनाओं से युक्त होता है तब पशु, पक्षी आदि योनियों का भागी होता है और जब तनुवासनाओं (क्षीण वासना) से समन्वित होता है तब मनुष्य, देव, गन्धर्व आदि योनियों में प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि वासनाओं के क्षय के तारतम्य से उत्तरोत्तर शुभयोनि की प्राप्ति होती है ॥६६॥

वासनाओं के क्षयतारतम्य से वैचित्र्य की अभिव्यक्ति बतलाने के पश्चात् ग्राह्य, ग्रहण आदि के वैचित्र्य से भी वैचित्र्याभिव्यक्ति बतलाते हैं।

सुषुप्ति की विच्युति के समय जब देह के भीतर नख के अग्रभाग से लेकर व्याप्त प्राणों में अहम्भाव से 'देहपरिमाणवाला ही मैं हूँ' यों जब परिच्छेद होता है तब घट आदि पदार्थ बाहर उत्पन्न हो जाते हैं। *(वे बाहर होवे, उससे क्या ? इस पर कहते हैं।)* वैसी स्थिति में चक्षु आदि द्वारों से निकले हुए अन्तःकरण द्वारा बाहर निकला हुआ अन्तःकरणवृत्तिअवच्छिन्न चैतन्यात्मा जीव बाह्य घटादि विषयों के साथ व्याप्ति करता है। पश्चात् 'मैं घट को जानता हूँ' यों ग्राह्य एवं ग्राहक की वासनात्मिका सत्ता तत्तत् वैचित्र्य से स्पष्टतः अभिव्यक्त हो जाती है ॥६७॥

उसीका स्पष्टीकरण करते हैं।

अन्दर रहनेवाला जीव बाहर अनात्म पदार्थों पर जब आरूढ़ हो जाता है, तब ग्राह्यग्राहकवासना,

मृगतृष्णा की नाईं, अध्यस्त विभाग से प्रकट हो जाती है ॥६८॥

इसी प्रकार हेय-उपादेय की विचित्रता भी वासनाध्यस्त ही है, वास्तविक नहीं, ऐसा कहते हैं।

आत्मा यहाँ न किसी का त्याग करता है और न किसी का ग्रहण ही करता है। वास्तव में आत्मा से भिन्न किसी का अस्तित्व है ही नहीं। अतः यहाँ बाह्य और आन्तर कलाओं के आकारवाला एकमात्र चिदात्मा ही प्रकाशता है ॥६९॥ ये तीनों जगत् चैतन्यात्मा की एक चमत्कृति ही है। इसलिए भेदक संकल्पों से प्रयोजन ही क्या रहा ? अब हम तत्त्वज्ञान से अपने चैतन्यस्वरूप में चिरकाल से विराजमान हैं। यह बाह्य-आन्तर जगत् तीनों काल में भी नहीं है ॥७०॥ तत्त्वतः विचारा गया समुद्र जैसे तरंग आदि समस्त विभेदों से शून्य हुआ-आकाश से भी स्वच्छ-सम्पूर्णरूप से केवल विशुद्ध द्रवात्मक जल स्वरूप ही है, वैसे ही यह जगत् भी तत्त्वतः ज्ञात हुआ वासनाकालीन समस्त विभेदों से शून्य विकारवर्जित केवल परमपद ब्रह्मस्वरूप ही है ॥७१॥

इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त

बावनवाँ सर्ग

आदि जीव हिरण्यगर्भ का स्वप्न ही जगत् है, उसमें अनासक्ति से उसका विनाश हो जाता है
इस अर्थ का दृढ़ीकरण करने के लिए महाराज वसिष्ठजी द्वारा अर्जुनाख्यान का उपक्रम।

सभी जीवों में प्रत्येक का स्वप्न अलग-अलग होता है, परंतु जाग्रत्-प्रपंच तो सबके लिए एक-सा ही है और स्वप्नरूप कैसे हो सकता है ? इस पर कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, सम्पूर्ण जीवसमष्टिस्वरूप हिरण्यगर्भ का अनेकविध कल्पनाओं से कोमल (रमणीय) जो प्रथम स्वप्न है, वही हम लोगों का 'जाग्रत् संसार' है, यह आप जानिए। वह संसार न सत्यरूप है और न असत्यरूप ही है ॥१॥

किसलिए ऐसी कल्पना करते हैं ? यदि यह पूछिए तो इसका उत्तर यही है कि व्यष्टि-जीव की तरह समष्टि-जीव का (हिरण्यगर्भ का) कोई दूसरा स्वप्न प्रसिद्ध ही नहीं है इसलिए, यही कहते हैं।

चूँकि व्यष्टि-जीवों के समान आदिपुरुष हिरण्यगर्भ का इस स्वप्न को छोड़कर दूसरा कोई स्वप्न कभी भी नहीं हो सकता, इसलिए व्यष्टिरूप हम लोगों के जाग्रत्-काल के प्रसिद्ध ये भूत-भुवनादिभाव उस हिरण्यगर्भ की भी जाग्रत् और स्वप्न दोनों अवस्थाओं में उदित हुए तत्त्वतः स्वप्न से भिन्न नहीं हैं, यह भाव है ॥२॥

असत्यत्व और अवस्तुत्व - इन दोनों हेतुओं से भी प्रपंच में स्वप्नरूपता का साधन कर रहे महाराज वसिष्ठजी स्वप्न-वैधर्म्यानुभव में कारण दिखलाते हैं।

तत्त्वज्ञों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में असत्यभूत और अवस्तुस्वरूप होने के कारण भी इस संसार को उस समष्टि-जीव का (हिरण्यगर्भ का) व्यष्टिरूप हम लोगों के स्वप्न के समान शीघ्र बाध का प्रतिभास न होने से एक लम्बा स्वप्न ही समझिए। प्रपंच में स्वप्न-वैधर्म्य का जो भ्रम होता है, उसमें उसकी दीर्घता ही एकमात्र कारण है, यह भाव है ॥३॥ हे अनघ, एक स्वप्न से मानों दूसरे स्वप्न का अनुभव कर रहे समष्टि-जीव के एकदेशभूत व्यष्टि-जीव असत्य वस्तु का ही अकाट्य

सत्यरूप से अवलोकन किया करते हैं ॥४॥

वस्तुस्वभाव से विपरीतता दिखाई पड़ने के कारण भी इसकी स्वप्नता सिद्ध होती है, यह कहते हैं।

हे तात, समष्टि–जीव के एकदेशभूत जो व्यष्टि–जीव हैं, उनके अनुभवस्वरूप भ्रान्ति से जड़ताशून्य ब्रह्म में भूत–भुवनादि की जड़ता, अहंकार से लेकर देहपर्यन्त सभी जड़–पदार्थों में आत्मत्वाभिमान से अजड़ता एवं असत्य में सत्यता उदित हुई है ॥५॥ प्रकाश के प्रकाशक ब्रह्मरूप सूर्य के भी भीतर सम्पूर्ण तीनों लोकों का भ्रम देख रहे स्वप्न में संभ्रान्त–से सब जीव भेद–कल्पनाओं की परम्पराओं से संसार में भ्रमण किया करते हैं ॥६॥

कल्पित भेदों में सत्यता के आरोप में कारण बतलाते हैं।

स्वयं व्यष्टिरूप होने के कारण ही समष्टि–जीव की अपेक्षा भी अत्यंत जीवभूत ये –परमार्थतः सर्वगामी और अनन्त, अतएव परिच्छेदशून्य–सत्यस्वरूप होने के कारण जिस –जिस की भावना करते हैं; उसीको – उसमें आसक्ति होने से अपनी सत्ता के आरोप द्वारा–शीघ्र ही सत्य–सा समझ लेते हैं ॥७॥

यही अर्थ भगवद्‌गीता में भगवान् द्वारा उपदिष्ट है, यह कहते हैं।

महाबाहो श्रीरामजी, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र से उपदिष्ट, शुभफलदायक उस अनासक्ति–योग का आप श्रवण कीजिए, जिसका अवलम्बनकर प्राणी जीवन्मुक्त महामुनि बन जाता है ॥८॥

उसके लिए अर्जुनोपाख्यान की भूमिका बाँधते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी, अर्जुन नामधारी महाराज पाण्डु का पुत्र जिस तरह जीवन्मुक्तिरूप सुख से युक्त होता हुआ अपना जीवन शीघ्र बिता देगा, उसी तरह आप भी दुःखरहित अपना जीवन बिता दीजिए ॥९॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, (कृपाकर आप मुझे बतलाइये कि) वह पाण्डुनन्दन (इस पृथ्वी पर) कब उत्पन्न होगा और उसकी अनासक्ति का वर्णन भगवान् श्रीकृष्ण किस तरह करेंगे ? ॥१०॥

अर्जुन अवतार में कारण बतलाने के लिए सबके मूलभूत ब्रह्म का उपक्रम करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, आकाश में महाकाश की नाईं परिकल्पित नामवाला सन्मात्रस्वरूप यह आत्मा आदि और अन्त से शून्य अपनी महिमा में ही प्रतिष्ठित है ॥११॥ जैसे सुवर्ण में कटक आदि तथा जल में तरंग आदि दिखाई पड़ते हैं, वैसे ही निर्मल सन्मात्रस्वरूप परमात्मा में यह संसार–विभ्रम (जगद्‌विलास) दिखाई पड़ता है ॥१२॥ जैसे जाल में फँसी हुई चिड़िया भागने में असमर्थ होकर एकमात्र अपने पंख फड़–फड़ाती रहती हैं, वैसे ही दृष्टिगोचर हो रहे इस संसाररूपी जाल में फँसी हुई चौदह प्रकार की जीवजातियाँ छुटकारा पाने में असमर्थ होकर आवश्यकता से अधिक फुदक रही हैं यानी उछल–कूद मचा रही हैं ॥१३॥ उन जीव–जातियों के बीच पांचभौतिक संसार में श्रुति, स्मृति आदि से वर्णित चरित्रवाले यम, चन्द्र, सूर्य, इन्द्र आदि तत्–तत् लोक के अधिपति हो चुके हैं ॥१४॥ चूँकि श्रुति, स्मृति और सदाचार से विहित होने से यह पुण्य है, इसलिए उपादेय है (ग्राह्य है) तथा श्रुति, स्मृति और सदाचार से निषिद्ध होने से यह पाप है, इसलिए हेय है यानी त्याज्य है–यों उन लोगों ने अपने–अपने अधिकार के अनुसार संकल्पघटित ज्ञान से मर्यादा बना रक्खी है ॥१५॥

ठीक है ? ऐसा ही सही, पर इससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

हे अनघ, उस यमराज का चित्त सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज तक प्रवाहपतित अपने अधिकार-कर्म में, पर्वत के सदृश अडिग होकर, ज्यों का त्यों अवस्थित है ॥१६॥ वे भगवान् यमराज, प्रति चतुर्युग में कुछ समय समाप्त हो जाने पर या द्वापर के अन्त में-जीवों के नाश से जनित पाप की आशंका होने से - कदाचित् कुछ तपस्या भी करते हैं ॥१७॥

यमराज की उस तपस्या में समय का नियम नहीं है, यह कहते हैं।

कभी तो आठ वर्ष, कभी दस अथवा बारह वर्ष, कभी पाँच या सात वर्ष और कभी सोलह वर्ष तक भी वे तपस्या करते रहते हैं ॥१८॥ उस यमराज के उदासीन के समान तपस्या में आसीन रहने पर संसाररूपी जाल में फँसे हुए किन्हीं जीवों का मृत्यु नाश नहीं करती ॥१९॥ उस समय किसी एक भी प्राणी की हिंसा न होने के कारण यह पृथिवी वर्षा-ऋतु में मच्छरों से पसीने से तरबर हाथी के समान-अनेकविध जीवसमूहों से संचार के अयोग्य बन जाती है ॥२०॥

श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर (जब यह पृथिवी प्राणियों के भार से दबने लगती है तब) उस पर पड़े बोझ की निवृत्ति के लिए भगवान् कृष्णचन्द्र आदि सब देवता अनेक प्रकार की युक्तियों से यानी अपने अंशावतार तथा महाभारत की लड़ाई आदि अनेक उपायों से इन विचित्र प्राणियों को मार डालते हैं ॥२१॥

और यह भार उतारने के लिए अवतारादि-व्यवहार भी अनेक बार हो चुका है, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, इस तरह हजारों युग, सैकड़ों व्यवहार तथा अनन्त जीव एवं जगत् व्यतीत हो चुके हैं ॥२२॥ हे साधो, यह जो वैवस्वत यम है, वह आज तो पितरों का (मृतजीवों का) नियामक है; (परंतु) अब इसे भी किन्हीं युगों के व्यतीत हो जाने पर (अपने) पापों के विनाश के लिए बारह वर्ष तक अहिंसादिघटित निर्विकल्प समाधिरूप व्रतचर्या (तपश्चर्या) करनी पड़ेगी, जिसमें मनुष्यों का उत्पीडन कोसों दूर निकल जायेगा यानी पापियों का कोई दण्डदाता न रहेगा, यह भाव है ॥२३,२४॥ उस व्रतचर्या के कारण यह पृथिवी मृत्युलोक में आये हुए, भारस्वरूप, मृत्युरहित प्राणियों से व्याप्त वन-गुल्मों से संकीर्ण-सी, अतएव दीन हो जायेगी ॥२५॥ उस समय मनुष्यों के भार से परिपीड़ित अंगोवाली यह दीन पृथिवी शरण पाने के लिए भगवान् विष्णु के समीप उस तरह आयेगी, जिस तरह लुटेरों से लूटी गई, अतएव कातर स्त्री अपने पति के समीप आती है ॥२६॥ तदनन्तर सम्पूर्ण देवांशों के साथ, जो नर और नारायण के सहायतार्थ उत्पन्न होंगे, विष्णुभगवान् दो शरीरों से पृथिवी पर अवतार लेंगे ॥२७॥ उनमें एक तो वसुदेव का पुत्र 'वासुदेव' इस नाम से विख्यात विष्णु का शरीर होगा और दूसरा शरीर होगा-पाण्डु का पुत्र 'अर्जुन' इस नाम से विख्यात ॥२८॥ और, चारों समुद्ररूपी करघनी पहनी हुई पृथिवी का अधिपति एवं धर्म का पुत्र 'युधिष्ठिर' इस नाम से प्रसिद्ध होगा। वह पाण्डुपुत्र 'धर्मज्ञ' होगा ॥२९॥ उसका चचेरा भाई 'दुर्योधन' नाम से विख्यात होगा। और उस दुर्योधन का वैसा ही प्रतिद्वन्द्वी योद्धा 'भीम' 'नामक द्वितीय पाण्डु-पुत्र होगा, जैसा सर्प का प्रतिद्वन्द्वी नेवला ॥३०॥ परस्पर पृथ्वी का अपहरण कर रहे, युद्ध करने में तत्पर उन दोनों की भयंकर अठारह अक्षौहिणी सेना कुरुक्षेत्र में होनेवाली महाभारत की लड़ाई में इकट्ठी होगी ॥३१॥ हे राघव, महान् गाण्डीवधनुर्धारी अर्जुन की देह से उन सेनाओं को नष्टकर विष्णु भगवान् पृथ्वी को भार से मुक्त कर देंगे ॥३२॥ युद्ध के प्रारम्भ में

अर्जुननामधारी भगवान् विष्णु का शरीर प्राकृत भाव में स्थित होकर हर्ष और शोक से युक्त मनुष्यधर्मा बनेगा यानी अज्ञप्राय हो जायेगा ॥३३॥ दोनों सेनाओं में पहुँचे हुए और मरने के लिए तैयार अपने बन्धुओं को देखकर वह अर्जुन विषाद को प्राप्त होगा और युद्ध के लिए उद्योग न करेगा ॥३४॥ हे राघव, तब उस अर्जुननामक देह को, उपस्थित कार्य की सिद्धि के लिए, श्रीविष्णु भगवान् स्वतः सिद्ध आत्मबोधवाली अपनी देह से यानी श्रीकृष्ण–देह से उपदेश देगें ॥३५॥

उपदेश के प्रकार का ही विस्तार से वर्णन करते हैं।

यह अज आत्मा न तो कभी उत्पन्न होता है और न कभी नष्ट ही होता है। ((卐) आदि और अन्त के विकारों का निषेध करने पर प्रसक्त हुए मध्यतन चार विकारों का अथवा भाविजन्म आदि का निषेध करते हैं।) यह न कभी जन्म पाकर पुनः अपने अस्तित्व को प्राप्त करता है और न कभी शरीर का खड्ग आदि से छेदन करने पर इसका छेदन ही होता है। यह अज, नित्य, शाश्वत और पुराण है ॥३६॥

जो पुरुष उक्तस्वभाव अहं पदार्थ आत्मा को हनन–क्रिया का कर्ता समझता है और जो पुरुष इसे (अहंपदार्थ आत्मा को) हनन–क्रिया का विषय मानता है वे दोनों आत्मा को तत्त्वतः नहीं जानते, क्योंकि आत्मा न तो मरता है और न मारा ही जाता है। उन दोनों की हन्तृ–हन्तव्यवता विषयक भ्रान्ति में अज्ञान ही निमित्त है, यह भाव है ॥३७॥ अनन्त, एकरूप, सदात्मक और आकाश से भी अत्यन्त सूक्ष्म परब्रह्म परमात्मा का किससे किस तरह क्या नष्ट होता है ? ॥३८॥ हे ज्ञानात्मक पार्थ, तुम अनन्त, आदि और मध्य से रहित एवं अव्यक्त अपने स्वरूप का अवलोकन करो। तुम अपरिच्छिन्न आकारवाले, अतएव किसी प्रकार के दोष को न प्राप्त किये हुए चैतन्यस्वरूप ही हो। यही कारण है कि तुम अज हो, नित्य हो और निरामय हो–यानी अज्ञान और उसके कार्य से निर्मुक्त; अतः बन्धुओं में आसक्ति और उनके मरण आदि की सम्भावना से दुःख करना तुम्हें उचित नहीं, यह भाव है ॥३९॥

बावनवाँ सर्ग समाप्त

तिरपनवाँ सर्ग

अहंकार का त्याग, संगत्याग आदि का लक्षण और दशाओं के भेद से व्यवस्थित उपास्य और ज्ञेय का स्वरूप–इन सबका वर्णन।

‘अपने बन्धुओं को मारनेवाला मैं हूँ’ इस प्रकार का अहन्ताभिमान तथा ‘ये मेरे ही बान्धव हैं’ इत्यादिरूप ममताभिमान ही तुम्हारे सब दुःखों के मूल कारण हैं, इसलिए सर्वप्रथम उन्हें ही तुम छोड़ दो, यह कहते हैं।

(卐) तात्पर्य यह है कि १. जन्म, २–स्थिति, ३– वृद्धि, ४– विपरिणाम, ५–अपक्षय और ६– नाश– ये छः भावविकार हैं, जो ब्रह्म में नहीं रहते। इसीलिए वह (आत्मा) नित्य, कूटस्थ, असंग आदि कहा गया है। प्रस्तुत श्लोक में यद्यपि ‘अज’ इस विशेषण से ब्रह्म में समस्त भावविकार–शून्यता अर्थतः सिद्ध हो जाती है; तथापि शब्दतः यहाँ प्रत्येक विकार का निषेध किया गया है। वहाँ ‘न जायते’ से पहले और ‘न म्रियते’ से अन्तिम भावविकार का ब्रह्म में निषेध कर चुके; अब मध्यपतित चार भावविकारों का निषेध करना भी प्रसंगप्राप्त है, जिसे ‘नाऽयम्’ से कर रहे हैं।

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा : हे अर्जुन, अतः तुम जन्म-मरण आदि छः ऊर्मियों से निर्मुक्त हो, अतएव नित्य हो और अपने भाई-बन्धुओं तथा सम्पूर्ण भूतों के स्वयं साक्षात् आत्मरूप हो, अतः तुम किसीको मारनेवाले नहीं हो। 'मैं हनन करनेवाला हूँ' इस प्रकार के अभिमान को भलीभाँति छोड़ दो ॥१॥

अभिमान-त्याग का फल कहते हैं।

वधादिप्रवृत्तिकाल में जिस पुरुष में 'मैं इसे मारता हूँ' यों अभिमान नहीं होता और उसके (वधादि के) उत्तरकाल में जिसकी बुद्धि उसके फल हर्ष, शोक आदि से लिप्त नहीं होती, वह पुरुष सम्पूर्ण चतुर्विध भूतजातियों को मारकर भी किसी एक को भी नहीं मारता; क्योंकि सर्वत्र वधादि विकारके स्पर्श से रहित शाश्वत एकात्मतत्त्व अविकारी ही है तथा मायामात्र होने से देह आदि के सदा असद्रूप होने के कारण वन्ध्यापुत्र की नाईं वध में उसकी प्रसक्ति नहीं है। इसलिए ईश्वर के समान तत्प्रयुक्त पापफल से भी वह निबद्ध नहीं होता, यह भाव है ॥२॥

हन्तृत्वादि धर्मवाले देहादि में तादात्म्य-भ्रम होने से ही देह के धर्म हन्तृत्वादिका आत्मा में प्रतिभास होता है, न कि स्वतः। अतः सबसे पहले उसीका त्यागकर दो, यह कहते हैं।

हृदय-स्थित आत्मा में देहादि अभिमानरूपा या और किसी दूसरी तरह की जो ही बुद्धिवृत्ति उत्पन्न होती है, वही अनुभूत होती है। अतः 'अयम्' यानी कार्यकरणसमूह, 'सोऽहम्' यानी मारनेवाला 'मैं', 'इदम्' यानी इस देह आदि के सम्बन्धी और 'तन्मे' यानी वे बन्धु आदि मेरे हैं, इस तरह की अन्दर उत्पन्न हुई भ्रान्तिवृत्ति का त्याग कर दो ॥३॥ हे भारत, इसी बुद्धिवृत्ति के कारण 'मैं हन्तृत्वादि धर्मों से युक्त हूँ, ' 'हन्तृत्वादिप्रयुक्त पापों से मैं नष्ट हूँ' तथा 'अपने बन्धुओं के नाशादिरूप ऐहिक अनर्थों एवं नरकपात आदि पारलौकिक अनर्थों से मैं ग्रस्त हूँ' इत्यादि भ्रान्तियों से पराधीन होकर तुम चारों ओर सुख-दुःखों से परितप्त हो रहे हो ॥४॥ अंशों के सदृश स्वात्मा के परिच्छेदक होने के कारण अंशरूप देह, इन्द्रिय आदि जो सत्त्वादि गुणों के विकार हैं, एकमात्र उन्हीं से ये सारे कर्मविभागशः किये जाते हैं। परंतु अहंकार से विमोहित अन्तःकरणवाला पुरुष 'मैं ही करनेवाला हूँ' यों मानता है ॥५॥

विचार करने पर तो रूपादि विषयों में आँख आदि इन्द्रियों की ही प्रवृत्ति है, न कि आत्मा की। इसलिए नेत्र आदि इन्द्रियों द्वारा किये गये कार्यों से आत्मा कर्ता नहीं कहा जा सकता, इस आशय से कहते हैं।

आँखें देखा करें, कान सुना करें, ये त्वचाएँ स्पर्श किया करें और जिह्वा रसास्वाद लिया करे, इनमें (चक्षुरादि-करणकार्यसमूह में) मै कौन हूँ ? अर्थात् उनमें मद्रूप तो कोई है ही नहीं,अतः उनमें मुझे 'मैं' इस रूप से स्थिति करना युक्त नहीं है। तात्पर्य यह है कि चक्षु आदि कार्यकरणसंघात ही सब कुछ करनेवाला है, उसमें मद्रूप कोई है ही नहीं; अतः 'मैं कर्ता हूँ' यह अभिमान करना सर्वथा अयुक्त है ॥६॥ इस मन आदि अन्तःकरण संघात के संकल्पादिरूप अपने कार्य में तत्पर रहने पर भी 'उसमें मैं कोई नहीं हूँ' यों देख रहे तुम महात्मा की दृष्टि में ऐसा कौन पदार्थ क्लेशभाग में प्रविष्ट है, जिसके विषय में तुम शोक कर रहे हो ? अर्थात् कोई है ही नहीं ॥७॥

किसी जनसमुदाय द्वारा कोई एक कार्य किया गया हो, वहाँ पर उस समुदाय का हर एक पुरुष

अपने में समुदायअभिमान कर यदि उस कार्य के विषय में जब शोक करता है तो उपहास्य हो जाता है, तब समुदाय में न रहनेवाला बाहर का कोई यदि उस विषय में शोक करे तो उसकी उपहास्यता में कहना ही क्या ? इस आशय से कहते हैं।

हे भारत, बहुतों ने मिलकर एक साथ जिस कार्य का सम्पादन किया हो, उसमें यदि किसी एक को 'मैंने ही किया है', यों अभिमानजन्य दुःख पकड़ लेता है तो वह हँसी के लिए ही होता है ॥८॥ (📖)

निरहंकारी पुरुष का फल की अभिलाषा से रहित, कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म चित्तशुद्धि द्वारा ज्ञान का उद्दीपक होने से परमपुरुषार्थ के लिए ही होता है। इसलिए हे अर्जुन, तुम्हें स्वधर्मस्वरूप युद्ध से दुःखप्रसक्ति नहीं है, यह कहते हैं।

योगी लोग (आरुरुक्षु या मुमुक्षु लोग) देह से, मन से, बुद्धि से और केवल इन्द्रियों से भी फल की अभिलाषा का त्यागकर आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते हैं ॥९॥ जिसका शरीर अहन्तारूपी विषचूर्ण से मारण के लिए व्यापारित नहीं हुआ है, यानी बारबार मरण के हेतुभूत भोगों में लम्पट नहीं हुआ है, ऐसे रागादिरूपी हैजे से निर्मुक्त योगी लौकिक एवं शास्त्रीय कर्म कर रहे तथा उसके आनुषंगिक फल का उपभोग कर रहे भी परमार्थतः न तो कर्म कर रहे हैं और न उसके फल का उपभोग ही कर रहे हैं ॥१०॥ प्राज्ञ होने पर भी, अतिबहुज्ञानी होने पर भी दुष्ट प्रकृति पुरुष जैसे कहीं (लौकिक या शास्त्रीय व्यवहारों में) नहीं शोभता, वैसे ही ममतारूपी दोष से दूषित शरीर कहीं (लौकिक या शास्त्रीय प्रसंगों में) नहीं शोभता यानी परम पुरुषार्थ के समर्थ नहीं होता ॥११॥

जो ममतारहित, अहंकार से शून्य, सुख और दुःख होने पर हर्ष–विषाद से रहित तथा क्षमावान्, है वह अवश्यकर्तव्य (शास्त्रीय कर्म) अथवा अनवश्यकर्तव्य (लौकिक कर्म) कर रहा भी उनसे लिप्त नहीं होता ॥१२॥ हे पाण्डुपुत्र, तुम्हारा यह उत्तम क्षात्र कर्म यानी क्षत्रियों के लिए शास्त्रविहित युद्ध में पीठ न दिखाना आदि अपना कर्म है। वह बन्धुवधरूप होने से क्रूर होता हुआ भी चित्तशुद्धि द्वारा ब्रह्मज्ञानादिरूप सुख का साधन तथा धर्म, यश, राज्य, स्वर्ग आदि अभ्युदय का साधन होने से अतिकल्याणरूप ही है ॥१३॥

तब तो बन्धुवध से अतिरिक्त द्रोण, भीष्म, कृपाचार्य आदि गुरुजनों का वधरूप जो कुत्सित कर्म है, वह भला मुझसे कैसे किया जा सकता है ? इस प्रकार की गुरुवध में हुई अर्जुन की अधर्मत्वशंका का सत्यशपथग्रहणपूर्वक आशीर्वाद देते हुए निवारण कर रहे भगवान् कहते हैं।

और दूसरा भी यानी पूजनीय महानुभावों के ऊपर उनके विरुद्ध शस्त्र उठाना आदि अधर्मप्रचुरक्रम से युक्त कुत्सित भी तुम्हारा युद्धकर्म, जैसे यानी जिस सत्यस्वरूप शास्त्रप्रामाण्य से श्रेष्ठ है, वैसे ही यानी उसी सत्य से तुम इस युद्ध में अमरणधर्मा विजयी बन जाओ ॥१४॥

जब अज्ञानी का भी स्वधर्म श्रेय के लिए है, तब तत्त्वज्ञानी को स्वधर्म से नरकादि–प्रसक्ति तो किसी तरह हो ही नहीं सकती; पतन को उत्पन्न करनेवाले करोड़ों भी महापातक अहंकाररहित पुरुष की बुद्धि को लिप्त नहीं कर सकते इस आशय से कहते हैं।

(📖) इस विषय में कहा भी गया है कि समुदाय से जनित दुःख के लिए समुदायवर्ती किसी एक को शोच करना ठीक नहीं होता – 'न सामवायिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति'।

जब मूर्ख का भी अपना कर्म श्रेय के ही लिए है तब बुद्धिमान् के स्वकर्म के लिए तो कहना ही क्या ? अहंकार से निर्मुक्त बुद्धिमान् की बुद्धि तो पतित होने पर भी महापातकों से लिप्त नहीं होती ॥१५॥

राज्यलाभ आदि लोभप्रयुक्त युद्ध में 'लोभमूलानि पापानि रसमूलास्तथा मयाः' इस न्याय से कदाचित् अधर्म की प्रसक्ति हो भी सकती है; परंतु योग में – जो कि सिद्धि और असिद्धि में समभाव रहना ही है–स्थित हुए योगी की तो फल में आसक्ति न रहने से प्रसक्ति ही नहीं है । इसलिए उस योगस्थिति का भगवान् उपदेश देते हैं ।

हे धनंजय, ब्रह्मभावापन्न होकर, संग का त्यागकर तुम कर्मों को करो, क्योंकि आसक्तिरहित होकर यथाप्राप्त कर्म करनेवाला उनके फलों से निबद्ध नहीं होता ॥१६॥

अथवा ब्रह्मार्पणबुद्धि से, जिसका लक्षण आगे चलकर किया जायेगा, सम्पादित हुआ वह शास्त्रीय कर्म तुम्हारे संसार-बन्धन के लिए नहीं होगा; यह कहते हैं ।

शांत ब्रह्मशरीर होकर कर्म को ब्रह्ममय कर दो । अपने सत्कर्मों को ब्रह्मार्पण कर देने पर तुम शीघ्र ब्रह्म ही हो जाओगे ॥१७॥

निर्विशेष ब्रह्मतत्त्व के ज्ञान से अथवा उसकी असामर्थ्य में (निर्विशेष ब्रह्म के तत्त्वज्ञान में समर्थ न होने पर) सगुण ईश्वर के प्रति कर्म-समर्पणबुद्धि से कर्म करो । उससे भी कर्मबन्ध नहीं होगा, यह कहते हैं ।

पार्थ, शुभ या अशुभ रूप अपने सब अर्थों को ईश्वर में समर्पित कर तथा अपनी आत्मा को भी ईश्वर में समर्पित कर निरामय (सांसारिक सुख, दुःख, राग, द्वेष, आदिरूप व्याधियों से रहित) होते हुए एवं सर्वभूतों की आत्मा बनकर इस भूतल को विभूषित करते हुए तुम ईश्वर हो जाओ ॥१८॥

अथवा, सर्वसंकल्पत्यागरूपी संन्यास योग में आत्मा को लगा देने से भी तुम्हें कर्मबन्धन की प्रसक्ति नहीं होगी, यह कहते हैं ।

अर्जुन, तुम सभी संकल्पों का त्याग कर चुके, इसलिए अब समस्वरूप, शान्तचित्त मुनि बनकर कर्मफलत्यागरूपी संन्यासयोग में आत्मा को युक्त करके कर्म कर रहे तुम मुक्त मति हो जाओ ॥१९॥

इस तरह उपदेश प्राप्त कर चुके अर्जुन, तत्-तत् लक्षणों से संग और त्याग आदिका विभाग जानने के इच्छुक होकर पूछते हैं ।

अर्जुन ने कहा : भगवन्, संग-त्याग का, ब्रह्मार्पण का, ईश्वरार्पणरूप का, सर्वथासंन्यास का तथा ज्ञान और योग का विभाग कैसा है ? हे प्रभो, मेरे महामोह की निवृत्ति के लिए यह सब क्रमशः कहिए ॥२०,२१॥

तत्त्वपरिज्ञान के बिना आत्यन्तिक संगत्याग नहीं हो सकता, इसलिए भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी लक्षण द्वारा पहले ब्रह्मात्मतत्त्व का ही निर्देश करते हैं ।

श्रीभगवान् ने कहा : सब संकल्पों की (कामनाओं की) संशान्ति हो जाने पर सघनवासनाओं से रहित, अतएव भावना करने योग्य कुछ भी रूप न रखनेवाला जो विशुद्ध चिन्मात्रतत्त्व है, वही परब्रह्म कहा गया है ॥२२॥ ब्रह्माकार से परिपूर्ण चित्त की वृत्ति को, जो कि अज्ञान की निवृत्तिरूप फल से उपहित है, परिपक्व बुद्धिवालों ने ज्ञान कहा है । और अज्ञाननिवृत्ति उपहित ब्रह्माकार के अनुकूल

प्रवाह मात्रस्वरूप चित्तवृत्ति को तो योग कहा है। *(अभिमान के विषय जगत् और अभिमान करनेवाले अहंकार का ब्रह्म में बाध ही मुख्य ब्रह्मार्पण है, यह कहते हैं)* तथा 'सम्पूर्ण संसार ब्रह्म ही है', और 'मैं ब्रह्मरूप हूँ' – इस प्रकार के बाध को ब्रह्मार्पण कहा है ॥२३॥

ब्रह्म में जगत् और अहंकार – इन दोनों के बाध की उपपत्ति के लिए उसमें अध्यस्तता कहने के लिए ब्रह्मस्वरूप कहते हैं।

वह ब्रह्म भीतर शून्य है, बाहर भी शून्य है और उसकी उपमा पत्थर के हृदय से दी जा सकती है। वह शान्तस्वरूप है, आकाश-कोश के समान अत्यन्त स्वच्छ है। वह दृश्यस्वरूप नहीं है। (*सम्पूर्ण दृश्यों का निषेध हो जाने पर दृश्यस्वरूप होने के कारण द्रष्टा का भी निषेध क्यों नहीं होगा ? ऐसी आशंका कर कहते हैं।)* और न है द्रष्टा से अलग। द्रष्टा में दृश्यता का निषेध उस समय हो सकता, जब द्रष्टा के अतिरिक्त कोई दूसरा द्रष्टा होता, वह तो है नहीं, यह भाव है ॥२४॥ तादृश्यभाव ब्रह्म से कुछ दूसरे रूप से उदित जो कुछ थोड़ा-सा समुत्थान है, वही यह जगत् का प्रतिभास है। और वह गन्धर्वनगर के आकाश की नाईं शून्यस्वरूप ही है ॥२५॥

संन्यास-वर्णन की उपपत्ति के लिए ब्रह्म में जगदारोप के समान ही ब्रह्म के अंशभूत प्रत्येक जीव में अहंभावाध्यास मानना युक्त है। इसलिए इस विषय में आग्रह करना ठीक नहीं जँचता, यह कहते हैं।

'मैं' इस प्रकार का कोई एक अनिर्वचनीय भाव यानी अहंकाराध्यास प्रत्येक जीव में उत्पन्न हुआ है, जो चिति के करोड़ों-करोड़ों अंशों से परिकल्पित है। इसके प्रति भला कौन-सा आग्रह ? ॥२६॥ 'मैं' इस प्रकार का यह अहंभाव अपने अधिष्ठानस्वरूप ब्रह्म से वास्तव में भिन्न है ही नहीं, केवल अज्ञान से उससे भिन्न-सा स्थित जान पड़ता है; क्योंकि पृथक्त्व का नाम है परिच्छेद, और वह ब्रह्म में है नहीं। और 'असद्रूप' मैं नहीं हूँ,' यों सब कोई जानता है। ऐसी स्थिति में अवगन्ता होने से पृथक्त्व की उपपत्ति और पृथक्त्व होने से अवगन्ता की उपपत्ति-इन दोनों में किसी एक के त्याग में उपपत्तिरहित पृथक्त्व का ही अवश्य त्याग कर देना चाहिए, यह भाव है ॥२७॥

अहन्ता के विषय में कहा गया न्याय घटादि विषयों में होनेवाले ममताभाव में भी लगाना चाहिए, यह दिखलाते हुए तन्मूलभूत अहन्ताध्यास के त्याग को ही दृढ़ करते हैं।

जैसे अहंभाव प्रत्यक्चैतन्य से पृथक् नहीं है, वैसे ही प्रत्यक् चेतन से घटादिविषयों में होनेवाला ममताभावरूप बन्दर भी पृथक् नहीं है। ऐसी परिस्थिति में दोनों प्रकार के भाव, सागर के समान, पूर्ण ब्रह्मरूप ही हैं; इसलिए अहन्ता के प्रति आग्रह ही क्या ? यानी अहन्ता का आग्रह युक्त नहीं है ॥२८॥ जब तत्-तत् विषयों की विचित्रता से चित्र-विचित्र होकर अहं तथा ममतादि स्वरूप सम्पूर्ण विकल्पभेदों का स्फुरण होता है, तब उनकी सत्ता की स्फूर्ति में निमित्त, तीनों अवस्थाओं में अनुगत, एकमात्र संवित्सारस्वभाव एवं सब विकल्पों के आगम और अपाय में साक्षी होकर स्थित रहनेवाले प्रत्यगात्मा में एकत्व का भी स्फुरण होता ही है। ऐसी अवस्था में उसमें भी आग्रह करना युक्त है, फिर वह क्यों नहीं किया जाता ? ॥२९॥ उक्त रीति से विचारकर सार और असार के विभाग का ज्ञान प्राप्त कर चुके पुरुष की बुद्धि में अहं और ममता के आग्रह का जो परिक्षय होता है, उसीसे सब फलों में अस्पृहारूप त्याग अर्थतः सिद्ध हो जाता है। उसे ही ज्ञानियों ने 'संन्यास' कहा है ॥३०॥

और उससे सब संकल्पों का त्यागरूप असंग सिद्ध होता है यह प्रथम प्रश्न का भी उत्तर हो चुका, यह कहते हैं।

संकल्पसमूहों का जो त्याग है, वही असंग (आसक्ति का अभाव) कहा गया है। *(चौथे प्रश्न का उत्तर देते हैं)* सभी संकल्प-विकल्पसमूहों में भेदावभासरहित जो ईश्वरमात्र की एक भावना है - सभी के उपादानकारण सर्वान्तर्यामी ईश्वर ही उस तरह कार्यों में प्रवृत्त कराते हैं, यह सब व्यवहार उसी के विलास हैं, इस तरह की जो ईश्वर में तन्मयता की भावना है-यही (उसमें सभी व्यवहारों को समर्पित कर देना ही) ईश्वरार्पण कहा गया है ॥३१॥ इस चिदात्मा में अज्ञान के कारण इन जीव, जगत् आदि का नाम से ही भेद है, परमार्थतः यह नामरूपात्मक सम्पूर्ण जगत् बोधात्मक है, अतः जगत् एक ब्रह्ममय ही है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥३२॥

उसे ही दृढ़ करने के लिए भगवान् अपनी सर्वात्मक विभूति का वर्णन करते हैं।

दिशाएँ मैं हूँ, जगत् मैं हूँ, कर्मों का आश्रय मैं हूँ और कर्म भी मैं ही हूँ। काल मैं हूँ, अद्वैत और द्वैत मैं हूँ तथा अद्वैत और द्वैतरूपी अपने पर और अपर दो रूप और उनसे नियम्य जगत् मैं ही हूँ॥३३॥ यों दो रूपोंवाले मुझमें अधिकार के तारतम्य से अपना मन लगाकर स्थित रहो, तादृश स्वरूपवाले मुझमें वैसे ही भक्त होओ यानी श्रवण, कीर्तन आदि नव प्रकार की भक्ति से युक्त होओ, ज्ञानयज्ञ से या कर्मयज्ञ से तादृशस्वरूप मेरे यजनशील होओ, उक्तस्वरूप मुझे नमस्कार करो और मेरी शरण में रहो। कहे गये दोनों प्रकारों से भी मुझमें चित्त लगाकर साक्षात् या परम्परया स्वात्मभूत मुझको ही प्राप्त करोगे ॥३४॥

यों भगवान् से कहे गये अर्जुन : उन दोनों रूपों की, उनकी प्राप्ति के लिए योग्य अधिकार की और काल के विभाग की - जिज्ञासा करते हुए पूछते हैं।

अर्जुन ने कहा : हे देवेश, आपके वे पर और अपर दो रूप कैसे हैं ? और अपनी सिद्धि के लिए किस समय किस रूप का आश्रय कर मैं स्थित रहूँ ? ॥३५॥ श्रीभगवान् ने कहा : हे पापशून्य अर्जुन, यह जान लो कि मेरे दो रूप हैं - एक तो सामान्य रूप यानी सर्वजनसाधारण (सुबोध) और दूसरा परम उत्कृष्ट यानी अशुद्ध चित्तवालों से दुरधिगम्य। हाथ आदि से युक्त, शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण करनेवाला मेरा सामान्यरूप है और जो मेरा विकारवर्जित, अद्वितीय, आदि और अन्त से रहित परमरूप है; वह ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा आदि शब्दों से कहा जाता है ॥३६,३७॥ पार्थ, जब तक तुम अप्रबुद्ध होकर अनात्मज्ञरूप से स्थित हो तब तक तो चतुर्भुजाकार देव की पूजा में ही तत्पर रहो ॥३८॥ तदनन्तर तुम चित्तशुद्धिक्रम से संप्रबुद्ध होकर परम उत्कृष्ट, आदि और अन्त से रहित मेरे उस रूप को जान जाओगे, जिसके ज्ञान से प्राणी इस संसार में फिर उत्पन्न नहीं होता ॥३९॥ हे अरिमर्दन, यह सगुण देव का भजन मैंने तुमसे चित्तशुद्धि के अभाव की संभावना करके ही कहा है। यदि तुम्हारा चित्त विज्ञानैकस्वभाव ब्रह्म के ज्ञान करने के योग्य हो गया है यानी अपने चित्त को विशुद्ध हुआ मानते हो, तब तो मुझ ईश्वर की आत्मा को (पारमार्थिकस्वरूपभूत शोधित तत्पदार्थ को) और अपनी आत्मा को (शोधित त्वं पदार्थरूप आत्मा को) एकरसकर अखण्ड परिपूर्णात्मा का तत्काल आश्रय करो अर्थात् इसका साक्षात्कार करके तन्निष्ठ हो जाओ ॥४०॥

'मैं दिशास्वरूप हूँ' 'मैं जगद्रूप हूँ' इत्यादि विभूतियों के उपदेश का भी उन –उन पदार्थों के अधिष्ठानभूत स्व–स्वरूप के संशोधन में ही तात्पर्य है, यह कहते हैं।

पार्थ, 'यह मैं हूँ' और 'यह भी मैं हूँ' इत्यादि जो कुछ मैं कहता हूँ, वह सब इस अपरोक्ष आत्मतत्त्व का ही मैं तुम्हें उपदेश देता हूँ ॥४१॥

मेरे उपदेश के ज्ञान से तत्काल ही अपने स्वरूप में तुम्हें विश्रान्ति प्राप्त हो जायेगी, यों उत्साहवृद्धि के लिए सिद्धवत् मानकर कहते हैं।

हे अर्जुन, मैं समझता हूँ कि मेरे उपदेश से तुम भली प्रकार प्रबुद्ध हो चुके हो, ब्रह्मपद में विश्रान्ति पा चुके हो और सर्व–संकल्पों से भी मुक्त हो चुके हो। अब तुम सत्य एवं अद्वितीय आत्मस्वरूप होकर स्थित रहो ॥४२॥ पार्थ, योग से युक्त अन्तःकरणवाले और चिरकाल के योगाभ्यास से सर्वत्र सन्मात्र का साक्षात्कार करनेवाले ब्रह्मज्ञ होकर तुम सम्पूर्ण भूतों में अधिष्ठानरूप से अनुगत आत्मा को तथा उस आत्मा में अध्यस्त सम्पूर्ण भूतों को देखो ॥४३॥ जो ब्रह्मज्ञ 'सब वह ब्रह्म ही है' यों ऐक्य का आश्रय कर सम्पूर्ण भूतों में स्थित आत्मा को भजता है, वह सब प्रकार से यानी समाधिवृत्ति या व्यवहारवृत्ति से स्थित रहता हुआ भी पुनः इस संसार में उत्पन्न नहीं होता ॥४४॥

स्वयं ही 'सर्वभूतस्थमात्मानम् इस श्लोक के तात्पर्य का वर्णन करते हैं।

हे अर्जुन, सर्वशब्द का अर्थ है एकत्व और वह एकशब्दार्थ आत्मा का (स्वभाव है)। वह आत्मा भी 'न सत् है और न असत् है' यों जिस किसीको जब अनुभूत होता है तब शीघ्र ही उसे कैवल्य प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जब सब भूतों में अधिष्ठानरूप से स्थित आत्मा को देखता है तब वह सर्वशब्द के अर्थ–अधिष्ठानस्वरूप से अतिरिक्त दूसरेका लाभ न होने से एकत्व ही होता है। वह एक शब्दार्थ प्रत्यगात्मा के स्वभाव में पर्यवसित होता है। वह आत्मा भी न सत् है यानी न तीन मूर्तभूतों के स्वभाववाला है और न असत् है यानी न अवशिष्ट दो सूक्ष्मभूतों के स्वभाववाला है, किंतु भूमानंद चिदेकरस स्वभाव ही है। उस प्रकार के स्वभाव से युक्त आत्मा जिसके अनुभवपथ में आता है, उसे तत्क्षण ही यानी उस प्रकार की ज्ञानोत्पत्ति के अव्यवहित उत्तरक्षण में ही जन्म आदि विकारों से रहित, भूमानंदस्वरूप कैवल्य प्राप्त हो जाता है ॥४५॥

किसी के द्वारा अनुभूत न होने से उस आत्मा में प्रसक्त हुई अत्यंत परोक्षता का निवारण करते हैं।

तीनों लोकों के चित्तों में भीतर प्रकाश करनेवाला जो आलोक है और ज्ञानियों की अनुभूति में साक्षीरूप से जो आरूढ़ है, वही अहंशब्द का लक्ष्य आत्मा है – यही निश्चय है यानी यथार्थ विचार है ॥४६॥ हे भारत, तीनों लोकों में स्थित जलों के भीतर जो रसानुभव विद्यमान है, गऊ के विकारस्वरूप दूध आदि के भीतर जो रसानुभव स्थित है, लवण आदि के भीतर जो रसानुभव स्थित है तथा ईख, मधु आदि के भीतर जो रसानुभव स्थित है; वही इदंपदार्थ यानी यह आत्मा है यही निश्चय है। तात्पर्य यह कि यों जो सबके अनुभवों का विषय होता है, उसमें तो अत्यंत परोक्षता की प्रसक्ति ही नहीं है ॥४७॥ सम्पूर्ण शरीरों के भीतर विषय समूहों से निर्मुक्त, अतएव सूक्ष्मरूप से जो अनुभव स्थित है, वही यह सर्वव्यापी आत्मा है ॥४८॥ जिस प्रकार सम्पूर्ण दूधों के भीतर घी स्थित ही है, उसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों के भीतर अधिष्ठानरूप से और सम्पूर्ण देहों के भीतर

प्रकाशकरूप से वह परमात्मा स्थित है ॥४९॥

दृष्टान्तों द्वारा आत्मा की देह के अन्दर स्थिति का विशदरूप से वर्णन करते हैं।

जैसे समुद्र के सम्पूर्ण रत्नों में स्थित तेज बाहर और भीतर प्रकाश करता है, वैसे ही बाहर-भीतर प्रकाश करनेवाला तेजस्वरूप मैं देहों के भीतर विद्यमान रहता हुआ भी अविद्यमान-सा हूँ ॥५०॥

'असंस्थित इव' इस कथन का तात्पर्य, जो कि आत्मा की अलेपकता बतलाना ही है, अन्य दृष्टान्तों द्वारा विशदरूप से कहते हैं।

जिस तरह हजारों घटों के बाहर और भीतर आकाश स्थित है, उसी तरह तीनों जगत् में स्थित शरीरों के भी बाहर और भीतर मैं स्थित हूँ। तात्पर्य यह है कि उन घटों के बाहर और भीतर स्थित होता हुआ भी आकाश जैसे अलेपक (निर्लेप) ही है, वैसे ही शरीरों के बाहर और भीतर स्थित हुआ आत्मा भी अलेपक ही है ॥५१॥

समस्त देहों के भीतर स्थित होकर अन्तर्यामीरूप से उनका विधारक होने पर भी वह (आत्मा) अलक्ष्य ही है, इसमें दृष्टान्त बतलाते हैं।

सैकड़ों मोतियों के समूहों के छिद्रों में स्थित प्रोत-आकारवाला तन्तु जैसे लक्षित नहीं होता, वैसे ही लाखों देहों के भीतर स्थित यह आत्मा लक्षित नहीं होता ॥५२॥

वहाँ अधिष्ठानरूप से निर्विकार आत्मा की जो स्थिति है, वही ब्रह्मरूपता है और वही त्रिकालाबाधित सत्य है। और जो मोतियों में तन्तु की नाईं अन्तर्यामीरूप से स्थिति है तथा जो रत्नों में प्रभा की नाईं प्रकट जीवरूप से स्थिति है, अध्यस्त पदार्थों की अपेक्षा करनेवाली वे दोनों स्थितियाँ जागतिक व्यवहारों के संचालन के लिए ही कल्पित हैं। इसलिए यथार्थ में न कोई मारने योग्य है, न मारनेवाला है, न मरणप्रयुक्त (हिंसाप्रयुक्त) पाप है और न कोई स्वात्मा से अतिरिक्त उसका (हिंसाप्रयुक्त पाप का) फलदाता ही है; इस आशय से कहते हैं।

ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त जितना भी पदार्थ-समूह है, उसमें सत्तासामान्यरूप से जो स्थित है; विद्वान् लोग उसे ही नित्य आत्मा जानते हैं ॥५३॥ इसलिए अनेकविध भ्रमोत्पादक अज्ञान से क्रमशः अहन्ता आदि तथा जगत्ता आदि से युक्त किंचित् स्फुरित आकारवाला वह ब्रह्म ब्रह्मरूप से ही स्थित रहता है, अन्यरूप से नहीं ॥५४॥ चूँकि यह जगद्रूप आत्मा ही है, अतः 'यह मारा जाता है' या 'यह मारता है' इसमें विषय ही क्या है ? अर्थात् न कोई मारता है या न कोई मारा ही जाता है। हे अर्जुन, शुभ एवं अशुभ स्वरूप जगत् के दुःखों से इसका क्या लिप्त होता है ? अर्थात् कुछ नहीं ॥५५॥

अध्यस्त हुए वधादि दोषों से आत्मा लिप्त नहीं होता, इसमें दूसरा दृष्टान्त बतलाते हैं।

प्रतिबिम्बों के सदृश नष्ट हो रहे पदार्थों में दर्पण-सदृश यानी प्रतिबिम्बों के नष्ट होने पर भी दर्पण की नाईं साक्षिस्वरूप से स्थित अविनाशी आत्मा को जो देखता है, वही सम्यग्दर्शी है ॥५६॥

समस्त देहों में 'मैं' यों भासमान चिदंश ही अहंपदार्थ है, जड़स्वरूप देह, इन्द्रिय विषयांश अहंपदार्थ नहीं है - यह विभागोक्ति भी दर्पण में प्रतिबिम्बित हुए दूसरे अनेक दर्पणों और घटादिकों में व्यावृत्त दर्पणस्वरूप का परिचय कराने के लिए दर्पण-अदर्पण-विभागोक्ति की नाईं ही है, यह कहते हैं।

हे पाण्डुनंदन, 'समस्त शरीरों में प्रकाशमान चेतनांश ही मैं हूँ' और 'देह, इन्द्रिय आदि जड़ अंश

मैं नहीं हूँ' – इस प्रकार का अर्थविभाग और शब्दविभाग जो मुझसे कहा जाता है, वह दर्पणस्वरूप का परिचय कराने के लिए दर्पणअदर्पण विभाग कथन के सदृश आत्मस्वरूप का परिचय कराने के लिए ही कहा जाता है। दर्पण के सदृश लिप्त न होनेवाला अद्वितीय आत्मरूप मै सर्वात्मा हूँ। उसी तरह का तुम मुझे तत्त्वतः जानो ॥५७॥ अर्जुन, ये अहमभिमानवाले चित्त में रहनेवाली सृष्टि–प्रलयात्मक सब तरह की क्रियाएँ वास्तव में आत्मा में ऐसे प्रवृत्त होती हैं, जैसे समुद्र में जल की तरंगादि स्पन्दन क्रियाएँ प्रवृत्त होती हैं ॥५८॥ जिस प्रकार पर्वतों का पारमार्थिक स्वरूप पाषाणता ही है, वृक्षों का स्वरूप काष्ठता ही है और तरंगों का स्वरूप जलता ही है; उसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों का पारमार्थिक स्वरूप आत्मता ही है ॥५९॥ सम्पूर्ण भूतों में अधिष्ठानरूप से स्थित आत्मा को, उस आत्मा में अध्यस्तरूप से स्थित सम्पूर्ण भूतों को तथा अकर्ता आत्मा को यानी प्रतिबिम्बों की चित्र–विचित्र चेष्टाओं से अलिप्त दर्पण की नाईं कर्तृत्व आदि धर्मों से शून्य आत्मा को जो देखता है, वही ब्रह्म का साक्षात्कार करता है ॥६०॥ हे अर्जुन, नाना प्रकार के आकारों एवं विकारों वाले तरंगों में जैसे जल अनुगत है या कटक आदि में सुवर्ण अनुगत है, वैसे ही विविध प्रकार के समस्त भूतों में आत्मा भी अनुगत है ॥६१॥ जिस प्रकार जल में नाना प्रकार के चंचल तरंगसमूह रहते हैं या सुवर्ण में कटक आदि रहते हैं, उसी प्रकार परमात्मा में ये समस्त भूत भी रहते हैं ॥६२॥ हे भारत, भूत आदि सम्पूर्ण पदार्थ और बृहद् ब्रह्म–इन सबको, दर्पण तथा उसमें के प्रतिबिम्ब की नाईं, एकरूप ही जानो; इनमें लेशमात्र भी पृथक्त्व नहीं है ॥६३॥ हे पार्थ, तीनों जगत् में जब एकमात्र निर्विकार ब्रह्म ही है, तब जन्म आदि भावविकारों का आश्रयभूत दूसरा क्या है ? अथवा तुम्हारे बन्धुवध आदि भावविकार भी कहाँ है ? किंवा यह जगत् भी ब्रह्म को छोड़कर दूसरा क्या है ? अर्थात् कुछ नहीं है। अतः तुम व्यर्थ ही इनमें मोह क्यों करते हो ? ॥६४॥

इस प्रकार के उपदेशों को सुनकर और निश्चयपूर्वक भीतर अभय ब्रह्म की भलीभाँति भावनाकर समचित्त महात्मा लोग जीवन्मुक्त होकर इस व्यवहार भूमि में विचरण करते हैं ॥६५॥

वक्ष्यमाण लक्षणों से युक्त उन जीवन्मुक्तों को विदेहमुक्ति भी प्राप्त होती है, इस आशय से कहते हैं।

हे पार्थ, मान और मोह से रहित, बाहर के विषयों में आसक्तिशून्य, आत्मज्ञान में निरत, विषयवासनाओं से रहित, सुख, दुःख आदि द्वन्द्वों से निर्मुक्त तथा 'अहम्' 'मम' इत्यादि भेद–प्रत्ययों से शून्य अमूढ़मति महात्मा उस अविनाशी परम–पद को प्राप्त होते हैं ॥६६॥

तिरपनवाँ सर्ग समाप्त

चौवनवाँ सर्ग

सुख, दुःख आदि के सम्बन्ध में हेतु, उनसे छुटकारा पाने का उपाय तथा
जिसके अवलम्बन से उनसे छुटकारा होता है–इन सबका वर्णन।

'सुख, दुःख आदि द्वन्द्वों से विनिर्मुक्त महात्मा ब्रह्मपद पाते हैं' यह जो पहले कहा गया है, उसमें द्वन्द्वों के सम्बन्ध में कारण क्या है ? उनसे छुटकारा पाने का उपाय क्या है ? तथा किसके अवलम्बन से छुटकारा होता है ? इन सब आशंकाओं का परिहार करते हुए आत्मतत्त्व का उपदेश देने की इच्छावाले

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी कहते हैं।

श्रीभगवान् ने कहा : हे महाबाहो, फिर मेरे उत्तम वचन सुनो, जिन्हें प्रेम से सुनने की इच्छा कर रहे तुमसे मैं केवल कल्याण की कामना से कहता हूँ ॥१॥

उसमें पहले 'विषय ही सुख-दुःखरूप हैं' यों अभेद-भ्रम का निरास कर रहे भगवान् कहते हैं।

हे कौन्तेय, इन्द्रियों के विषयसम्बन्ध ही शोतोष्णादि अनुभवों से जनित सुख-दुःख देते हैं। हे भारत, वे इन्द्रिय-विषय-सम्बन्ध सदा उत्पद्यमान और विनश्यमान हैं, अतःउन्हें तुम सहो ॥२॥ *(यहाँ शीत और उष्ण शब्द दृष्टान्तार्थक हैं यानी ग्रीष्मकाल में शीत सुखद है और उष्ण दुःखद है; शिशिरकाल में उष्ण सुखद और शीत दुःखद है; इसलिए विषय कभी सुख-दुःखरूप नहीं हो सकते। इसी तरह 'तितिक्षस्व' यह शब्द वैराग्य का भी उपलक्षण है। इससे निष्कर्ष यही निकला कि प्रिय विषयों से विरक्त हो जाओ और अप्रिय विषयों को सहो।)*

जिस बुद्धि से वैराग्य और तितिक्षा – ये दोनों सिद्ध होते हैं, उसे कहते हैं।

इन्द्रियाँ, इन्द्रियों का विषयसंसर्ग, सुख-दुःख आदि द्वन्द्व या इनसे भिन्न जो कुछ भी हैं वे सबके सब अद्वय, पूर्णानन्दस्वभाव स्वात्मा से तनिक भी पृथक् नहीं हैं। अतः उस प्रकार के सर्वत्र आत्मदर्शन से कहाँ सुख और कहाँ दुःख होगा ? *('प्रियतम धन आदि सम्पत्ति से मैं परिपूर्ण हूँ' इस भ्रान्ति से आभिमानिक सुख और उसके वियोग में या अप्रिय वस्तु की प्राप्ति में 'मैं खण्डित हुआ' इस भ्रान्ति से दुःख हो सकता है, परंतु वह भी निरवयव आत्मा में पूरण और खण्डन का असंभव ज्ञात होने पर निवृत्त हो जाता है, यह कहते हैं।)* आदि-अन्त से शून्य तथा अवयवरहित स्वात्मा में पूरण और खण्डन कैसे हो सकता है ? ॥३॥ जिस महामति की विषयों और इन्द्रियों में सत्यता-भ्रान्ति उपशान्त हो जाती है, वह इन्द्रियविषय भ्रमात्मक जीव तत्त्वदर्शी और तुल्य सुख-दुःख होकर अमृतपद के लिए योग्य हो जाता है ॥४॥

यदि शंका हो कि अप्रिय दुःख आदि अपने-अपने प्रतिकूल वेदनीयत्वस्वभाव का जब परित्याग करें, तभी तो वे सह्य होंगे; परंतु वे कैसे उसका परित्याग कर सकेंगे ? इस पर कहते हैं।

निरतिशय आनन्दरस से परिपूर्ण आत्मा ही सब कुछ है, इसलिए सुख, दुःख आदि सब विषयभेद एक तरह से सुभेदरूप यानी प्रियतम धन, पुत्र आदिस्वरूप होकर ही अवस्थित है। उन द्वन्द्वों में पूर्व-कालीन जो प्रतिकूल वेदनीयत्व है, उसरूप से तो वे असत्स्वरूप ही हैं, इसलिये वे क्यों नहीं सहे जा सकेंगे। अर्थात् सहे ही जा सकेंगे ॥५॥

उसीका स्पष्टीकरण कर समर्थन करते हैं।

सभी तरह से सुख-दुःखों का अस्तित्त्व तनिक भी नहीं है। आत्मतत्त्व ही तो सर्वस्वरूप है। इसलिए हे भद्र, अनात्मा की सत्ता कैसे होगी ? ॥६॥

असत् भी सुख, दुःख आदि आत्मा में उत्पन्न होते हैं, क्योंकि असत् का अपने कारण में समवाय, अपनी सत्ता का सम्बन्ध अथवा आद्यक्षणसम्बन्ध ही उत्पत्ति पदार्थ है, इस तरह की कणादोक्ति (कणाद मुनि के मत) का खण्डन करते हैं।

दुःख आदि असत् पदार्थों की सत्ता नहीं रहती और आत्मरूप अबाधित सत्-वस्तु की असत्ता

नहीं रहती । सत् और असत् वस्तुओं का यही स्वभाव है, विपरीत नहीं; यह वाचारम्भणश्रुति से निश्चित है । इस विषय में यदि यह शंका हो कि सब विकार असद्रूप होंगे तो पिण्ड आदि में से किसी एक विकार से अस्पृष्ट मृत्तिकारूप प्रकृति के न दीख पड़ने के कारण उसे भी असद्रूप मानेंगे तो परिशेष में शून्यतापत्ति हो जायेगी, तो यह शंका युक्त नहीं है । क्योंकि विकारों में अनुगत सद्बुद्धि निर्विषयक न हो सकने के कारण स्वतः विकारों के असत्त्व में भी परिशेष में शून्यता नहीं हो सकती । यदि अनुगत वस्तु असत् होती तो 'घटः असन्' यों घटादि में असत् की अनुवृत्ति होती; परंतु वह 'घटः सन्' यों सद्रूप से अनुवृत्त होती है । इसलिये सन्मात्र ही परिशेष में रहता है । जो विषयों में सद्अभिमान होता है, वह अधिष्ठान सत्ता को लेकर ही होता है, स्वतः नहीं; अतः दुःख आदि की सत्ता नहीं है और व्यापक परमात्मा की ही सत्ता है ॥७॥ जगत् सत्य है, और निरतिशय आनन्द–स्वरूप ब्रह्म असत्य है–इन बुद्धियों को छोड़कर तथा जगत् एवं आत्मा के अन्तराल में दोनों के संघटन में हेतुभूत मन और तम को, तुच्छत्व–बुद्धि से छोड़कर जो चिदात्मा अवशिष्ट रहता है, उसमें तुम प्रतिष्ठित हो जाओ ॥८॥ हे अर्जुन, यद्यपि आत्मा हर्ष, ग्लानि आदि दृश्य पदार्थों का साक्षिरूप से साक्षात्कार करनेवाला चितिस्वरूप है और शरीर के अन्दर रहता भी है, तथापि वह सुखों से न तो हर्षित होता है और न दुःखों से म्लान ही होता है । तात्पर्य यह है कि हर्ष आदि दृश्य पदार्थ द्रष्टा के धर्म नहीं हो सकते ॥९॥

तब फिर कौन दुःख, हर्ष आदि का भागी होता है ? इस पर कहते हैं ।

पार्थ, शरीररूपता को प्राप्त हुए जड़स्वरूप चित्त आदि ही दुःख के भागी होते हैं । इन चित्त आदि के नष्ट या क्षीण होने पर आत्मा का कुछ भी नष्ट नहीं होता ॥१०॥ प्रिय पार्थ, देह आदि दुःख आदि के भोक्तारूप से जो यह चित्तादिघटित जड़ताप्रधान जीवरूप अवस्थित है, उसे अज्ञानवश उत्पन्न मायाभ्रम ही तुम जानो ॥११॥ अतः आत्मा से पृथक्भूत देह आदि कुछ भी नहीं हैं और न दुःख आदि ही अपनी कुछ सत्ता रखते हैं, अतः कौन पदार्थ किसका अनुभव करेगा ? अर्थात् कोई किसीका अनुभव नहीं करेगा ॥१२॥ हे भारत, चूँकि दृश्यमान यह दुःख ब्रह्म के अज्ञान से जनित एक प्रकार की भ्रान्ति ही है, अतः तत्त्वज्ञान से वह नष्ट हो जाता है, इस विषय में मैं तुम्हें दृष्टान्त बतलाता हूँ ॥१३॥ जिस प्रकार रज्जु के अज्ञान से उत्पन्न हुआ रज्जु में सर्पभय रज्जु के यथार्थज्ञान से नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा के अज्ञान से उत्पन्न हुए देह आदि एवं दुःखादि भय आत्मा के तत्त्वज्ञान से नष्ट हो जाते हैं ॥१४॥

वह बोध किस प्रकार का है ? यह कहते हैं ।

यह विश्व नित्य एवं पूर्ण ब्रह्मरूप ही है, वह न तो नष्ट होता है और न उत्पन्न ही होता है, यही अकाट्य सत्य है, यह जानो और यही वह उत्तम बोध है ॥१५॥ कौन्तेय, ब्रह्मरूपी महान् सागर में कुछ तरंगरूप उत्पन्न होकर विलीन हो जाता है, आज बोधोदयकाल में ब्रह्मावर्त में तुम स्फुरित हो रहे हो, तुम सर्वविध विकारवर्जित ब्रह्मरूप ही हो, पृथक् नहीं ॥१६॥ काल, क्रिया, देश, तुम, मैं आदि जितने पदार्थ हैं, वे सबके सब उस सम्राट् के भी सम्राट् परब्रह्म के एक तरह से सैनिक हैं, वे सब ब्रह्मात्मा में एक तरह से परिस्पन्दनरूप हैं, अतः आत्मा में भाव–अभावविकल्प हैं ही नहीं ॥१७॥

अर्जुन, तुम मान, मद, शोक, भय, इच्छा, सुख, दुःख – यह सम्पूर्ण असद्रूप द्वैतप्रपंच छोड़ दो और एकमात्र अद्वितीय सद्रूप हो जाओ ॥१८॥ तुम्हारे द्वारा किया जानेवाला अक्षौहिणी सेना का विनाश भी ब्रह्मरूप ही है, अतः क्षयात्मना भी ब्रह्म ही विस्तीर्ण है, इसलिए तुम अनुभवरूप शुद्ध ब्रह्म को ही ब्रह्ममय कर दो ॥१९॥ हे भारत, सुख, दुःख, लाभ, हानि, जय और पराजय किसी पर भी दृष्टि न देकर युद्ध कर रहे तुम एकमात्र ब्रह्मरूप हो जाओ, क्योंकि तुम अवश्य ब्रह्मरूप समुद्र हो ॥२०॥ लाभ और अलाभ में समबुद्धि होकर तत्त्वनिश्चय से देहादिरूप न होकर, गुहापरिच्छिन्न वायु के सदृश, कम्पनशून्य होकर तुम उपस्थित कार्य करो ॥२१॥

सब कुछ ब्रह्मरूप ही है, इस निश्चय में स्थिर रहना ही समस्त कर्मों को मेरे अर्पण करना है, इस आशय से कहते हैं।

हे कौन्तेय, जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ होमते हो, जो कुछ देते हो और भविष्य में जो कुछ शास्त्रानुकूल अनुष्ठान करोगे; वह सब आत्मरूप ही है – इस प्रकार की बुद्धि में सुस्थिर हो जाओ ॥२२॥ जो पुरुष अपने हृदय के भीतर जिस किसी आकार से युक्त होता है यानी अपने चित्त में जिस स्वरूप की दृढ़ भावना कर लेता है, वह निःसंशय उसे प्राप्त कर लेता है – यह नियम है। इसलिए हे अर्जुन, ब्रह्मस्वरूप सत्य को प्राप्त करने के लिए तुम ब्रह्मरूप सत्यमय हो जाओ यानी निरंतर अपने हृदय में ब्रह्माकार की भावना करो ॥२३॥ पार्थ, जिसे ब्रह्मज्ञान हो चुका है, वह स्वयं ही – सम्पूर्ण कामनाओं की जिसमें परिसमाप्ति रहती है, ऐसा – पुरुषार्थरूप ब्रह्मफल बनकर प्रारब्धवश प्राप्त, 'ब्रह्म' इस भावना से बाधित ही चेष्टारूप कर्म करता है ॥२४॥ जो पुरुष, उक्त रीति से कर्म में अकर्म देखता है यानी निष्क्रिय ब्रह्म का अवलोकन करता है और अकर्म में (निष्क्रिय ब्रह्म में) अविच्युत-प्रतिष्ठारूप अवश्यकर्तव्यकर्म का अवलोकन करता है, वही मनुष्यों में विवेकी पुरुष है; और वही स्वरूपतः तथा फलतः अशेषकर्म करनेवाला है। इसलिए उसीको विद्वानों ने 'कृत्स्नकर्मकृत्' (अशेष कर्मों का कर्ता) कहा है ॥२५॥ हे धनंजय, प्रवृत्ति में निमित्तभूत लाभादिरूप कर्म-फल से युक्त मत होओ और अकर्म में यानी प्राप्त कर्म के न करने में तुम्हें आसक्ति न हो। योग में स्थित होकर (पूर्वकथित सिद्धि-असिद्ध में समदृष्टिरूपी योग में प्रतिष्ठित होकर) आसक्ति छोड़कर कर्म करते चलो ॥२६॥ कर्मों में आसिक्त का आश्रय न कर, तत्त्वदृष्टि में प्रमाद का आश्रय न कर और नैष्कर्म्य का भी आश्रय न कर सम होकर यथास्थित बैठे रहो ॥२७॥ कर्मफलों में आसक्ति छोड़कर जो पुरुष नित्यतृप्त और निराश्रय होकर स्थित रहता है, वह कर्म में भली-भाँति प्रवृत्त हुआ भी कुछ नहीं करता ॥२८॥ विद्वान् लोग आसक्ति को ही कर्तृत्व कहते हैं, मन में प्रमाद रहने पर कर्म न करनेवाले पुरुष को वह आसक्ति अवश्य होती है, अतः मूर्खता का परित्याग कर देना चाहिए, क्योंकि मूर्खता से ही अनर्थपरम्परा होती है ॥२९॥

तत्त्वज्ञान से प्रमाद नष्ट हो जाने पर तो आसक्ति नहीं टिकती, अतः आसक्तिरहित उस पुरुष में अकर्तृत्व स्वतः ही सिद्ध हो जाता है, यह कहते हैं।

परम तत्त्वज्ञान का आश्रय लेकर आसक्तिरहित हुए, सब कर्मों में तत्पर भी महात्मा में कभी भी

कर्तृत्व उदित नहीं होता ॥३०॥

अकर्तृत्व सिद्धि से भूमिका क्रम के अनुसार विदेह कैवल्य तक की सिद्धि हो जाती है, यह कहते हैं।

कर्तृत्वाभिमान न रहने से अभोक्तृत्व की सिद्धि होती है और भोक्तृत्व के अभाव से समैकरूपता की सिद्धि होती है। समैकरूपता की सिद्धि हो जाने से अनन्तता और उसके अनन्तर विस्तृत ब्रह्मरूपता की सिद्धि होती है ॥३१॥ हे अर्जुन, अनेकतारूपी मल का उत्सर्ग करके परमात्मा के साथ एकत्व प्राप्त कर तुम कार्य या अकार्य का (प्रमाद से निषिद्ध कर्मों का) सम्पादन कर रहे भी किसी के कर्ता नहीं होओगो ॥३२॥ जिस पुरुष, के सभी कर्म कामसंकल्प से वर्जित हैं अतएव ज्ञानरूपी अग्नि से दग्ध कर्मवाले उस पुरुष को सभी विद्वान 'पण्डित' कहते हैं ॥३३॥ जो सम, सौम्य, स्थिर, स्वस्थ, शांत और सब पदार्थों से निस्पृह होकर अवस्थित रहता है, वह कर्मयुक्त होता हुआ भी अकर्मता को प्राप्त होता है ॥३४॥ हे पार्थ, सुख–दुःख, राग–द्वेष आदि द्वन्द्वों से निर्मुक्त, नित्य सत्त्वस्थ, योग एवं क्षेम से शून्य यानी अलब्ध वस्तु के लाभ और लब्ध वस्तु का पालन – इन दोनों की चिन्ता से शून्य आत्मवान्, प्रारब्धप्राप्त विषयों या कर्मों का अनुसरण कर रहे तुम पृथिवी को अलंकृत करनेवाले हो जाओ ॥३५॥

सब कर्मों का त्याग करने पर भी यदि मन में विषयों के प्रति आसक्ति बनी रहे तो वह त्याग दाम्भिक त्याग ही है, यह कहते हैं।

हे अर्जुन, जो विमूढात्मा (कार्य–अकार्य के विवेक से शून्य) पुरुष (मुक्ति के साधन–भूत अपने वैदिक कर्मों को छोड़कर) बाहर से कर्मेन्द्रियों का निरोधकर (आँख आदि को जबरन मुँदकर) मन से इन्द्रियार्थों का (शब्दादि विषयों का) चिन्तन करता हुआ स्थित रहता है, वह सज्जनों द्वारा आत्मवंचक कहा जाता है ॥३६॥

और जो मनसहित सभी इन्द्रियों का निग्रह करता है, वह शास्त्रानुसार विहित कर्मों को करता हुआ भी, उनके फलों में आसक्ति न होने से, संन्यास के फल का भागी होता है, इस आशय से उसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं।

हे अर्जुन जो मुमुक्षु विद्वान् ज्ञानेन्द्रियों का मन से संयमकर यानी चक्षु आदि इन्द्रियों को राग, द्वेष आदि दोषों से दूरकर कर्मेन्द्रियों से (चित्तशुद्धि के उपयोगी) श्रौत–स्मार्त कर्मों को (ईश्वरार्पणबुद्धि से) करता है, वह पूर्वोक्त आत्मवंचक की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है ॥३७॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि सम्पूर्ण इन्द्रियों का निग्रह कर चुके संन्यासी को ही, सम्पूर्ण इच्छाओं के शान्त हो जाने से, परमपुरुषार्थ (मोक्ष) प्राप्त होता है, दूसरे को नहीं यों उपसंहार करते हैं।

जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में प्रविष्ट हो जाती हैं यानी समुद्रभाव प्राप्तकर उसी में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार अचल ब्रह्म में प्रतिष्ठित हुए जिस संन्यासी में सब कामनाएँ मिथ्यात्वबुद्धि से बाधितविषय होती हुई प्रविष्ट हो जाती हैं यानी आत्मा में ही विलीन होकर एकमात्र आत्मरूपता को प्राप्त हो जाती हैं; वही सम्पूर्ण अनर्थों की शांतिरूप मोक्ष प्राप्त करता है, न कि विषयों की कामना करनेवाला पुरुष यह भाव है ॥३८॥

चौवनवाँ सर्ग समाप्त

पचपनवाँ सर्ग

देह का नाश हो जाने पर भी अविनाशी आत्मा मूढ़ और तत्त्वज्ञ दोनों में समान है, परन्तु भ्रान्ति से मूढ़ जन्मादि का भागी बनता है और तत्त्वज्ञानी नहीं बनता – यह वर्णन।

श्रीभगवान ने कहा : हे पार्थ, बुद्धिमान् देहधारण के निमित्तभूत अन्नपानादिरूप भोगों का त्याग न करे और न करे भोगों की प्राप्ति के लिए चिन्ता यानी भोगसौन्दर्य–सम्पादन के लिए व्यसनिता। यथाप्राप्त भोगों का उपभोग करते हुए समभाव से स्थित रहे उनकी प्राप्ति और अप्राप्ति में एक भाव से स्थित रहे ॥१॥

इसी तरह देहात्मभावना (देह में आत्मा की भावना) भी न करे, यह कहते हैं।

हे अर्जुन, जन्मादिविकारस्वभाव अनात्मरूप देह में आत्मता की भावना मत करो, परन्तु जन्मादिविक्रियाशून्यस्वभाव सत्य आत्मा में ही आत्मा की भावना करो ॥२॥ हे महाबाहो, देह का नाश होने पर इसका कुछ भी नष्ट नहीं होता। आत्मा का नाश होने पर इसका कुछ नाश हो सकता है, किन्तु अविनाशी आत्मा का नाश नहीं होता ॥३॥

उक्त अर्थ में 'अशीर्यो नहि शीर्यते' इस श्रुति को प्रमाणरूप से उपस्थित कर रहे भगवान् शीर्णता आदि देह के धर्म हैं, इन्हें आत्मा में प्रसक्त करनेवाला आभिमानिक परिग्रह (अहंबुद्धि) ही है। अहंबुद्धि का त्याग हो जाने पर तो शीर्णतादि की प्रसक्ति नहीं होती, यह कहते हैं।

सम्पूर्ण परिग्रहों से रहित अतएव देहादि के परिग्रह में निमित्तभूत चित्त से विविक्त आत्मा नष्ट नहीं होता और युद्धादि कर्म में प्रवृत्त हुआ भी वह कुछ नहीं करता ॥४॥ मन के अज्ञता से युक्त रहने पर ही आसक्ति होती है, जिसे कर्तृत्व कहते हैं। वह आसक्ति कर्म न करनेवाले को भी मूर्खतापूर्ण चित्त रहने पर होती ही है, अतः मूर्खता छोड़ देना चाहिए ॥५॥

उसमें उपाय बतलाते हैं।

परम तत्त्वज्ञान का आश्रय करने के कारण आसक्तिरहित हुए महात्मा में, सम्पूर्ण कर्मों में तत्पर होने पर भी, कर्तृत्व किसी समय उदित नहीं होता। हे अर्जुन, यह आत्मा अविनाशी, आदि और अन्त से शून्य अजर कहा गया है इसलिए 'आत्मा नष्ट होता है' यह दुःखदायी दुर्बोध तुम्हें न हो। उत्तम आत्मज्ञानी लोग 'आत्मा नष्ट होता है, इस रूप से आत्मा को नहीं देखते। (क्यों नहीं देखते ? यदि यह पूछिये तो इसका उत्तर यह है) चूँकि वे आत्मा में ही आत्मा का अवलोकन किया करते हैं, इसलिए अपने आत्मा को अनात्म (देहादिरूप) नहीं देखते ॥६–८॥

ऐसी परिस्थिति में मूढ़ लोग आत्मबुद्धि से देहादि का अवलोकन किया करें, तथापि देहादि का नाश हो जाने पर आत्मा का नाश नहीं होता, इसलिए उनको मरणादिरूप अनर्थ वस्तु ही न रही, ऐसी अर्जुन शंका करते हैं।

अर्जुन ने कहा : मेरा सम्मान करनेवाले हे त्रिजगन्नाथ, ऐसी परिस्थिति में देह का नाश हो जाने पर भी मूर्खों की कोई प्रियतम वस्तु नष्ट तो नहीं हुई ॥९॥

यह जो तुम आपत्ति दे रहे हो, वह हमें इष्ट है, यों इष्टापत्ति से भगवान् उसका परिहार करते हैं।

श्रीभगवान ने कहा : हे महाबाहो, जैसा तुम कह रहे हो, ठीक वैसा ही है, कहीं किसी का कुछ नष्ट

नहीं होता, क्योंकि जब आत्मा अविनाशात्मा ही है, तब भला उसका कहाँ क्या विनष्ट हो सकता है ? अर्थात् कुछ नहीं, यह भाव है ॥१०॥

तब मूर्खों को देहनाश, पुत्रलाभ आदि में अनर्थत्व और अर्थत्व का व्यवहार कैसे होता है ? इस पर कहते हैं।

यह नष्ट हुआ और यह प्राप्त हुआ, इत्यादि मूढ़–व्यवहारों को मैं असत् मोहभ्रम के सिवा सद्रूप उस प्रकार नहीं देखता, जिस प्रकार असत् वन्ध्या स्त्री के पुत्र को। निष्कर्ष यह निकला कि स्वप्न में भी पुत्रमरण और पुत्रजन्म के भ्रम से अनर्थत्व और अर्थत्व व्यवहार जैसे देखा जाता है, वैसे ही मूढ़ों को भी भ्रम से व्यवहार होता है ॥११॥

अतएव मैंने पहले ही कह दिया था कि सत् भाव का असत्त्व के साथ विरोध होने से देहादि में सत्त्व नहीं है, यह कहते हैं।

सत् से विलक्षण असद्रूप इस जगत् का भाव (अस्तित्व) नहीं हो सकता और सत्स्वरूप ब्रह्म का अभाव यानी असत्त्व नहीं हो सकता है। इस प्रकार सत् और असत् इन दोनों के विषय में सत् सत् ही है और असत् असत् ही है, विपरीत नहीं यों तत्त्वदर्शियों ने निर्णय किया है, मूर्खों ने नहीं, यह भाव है ॥१२॥

इस तरह जो सद्वस्तु है, वह अविनाशी है और जो विनाशी है, वह असद्रूप ही है, इसलिए असद्रूप बन्धुओं के देहादि का युद्ध में नाश होने पर भी कोई अनर्थ नहीं हो सकता, इस आशय से कहते हैं।

हे पार्थ, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हुआ है, उस सूक्ष्मतम वस्तु को तुम अविनाशी समझो। इस अविनाशी वस्तु का कोई भी विनाश नहीं कर सकता। परिच्छेदशून्य, अप्रमेय और नित्य शरीरी आत्मा के ये शरीर अनित्य कहे गये हैं, इसलिए हे भारत, तुम युद्ध करने के लिए तैयार हो जाओ ॥१३,१४॥

अद्वय होने के कारण उसके विनाशकर्ता की अप्रसिद्धि से भी आत्मा के नाश की प्रसक्ति नहीं है, यह कहते हैं।

आत्मा एक है, और द्वैत है ही नहीं अतः सत् की उत्पत्ति ही कहाँ से हो सकती है। चूँकि सत् का नाश नहीं होता, इसलिए यह सद्रूप परमात्मा विनाशशून्य और अनन्त है। द्वित्व और एकत्व का यानी कारण और कार्य का परित्याग कर देने पर जो सत् (कारण) और असत् (कार्य) के मध्य में अधिष्ठानरूप सन्मात्र शेष बच जाता है, शान्तस्वरूप वह यहाँ परमपद आत्मा है ॥१५,१६॥

यों अपरिच्छिन्न आत्मा के मरणादि–परिच्छेद और दुःखादि–भ्रम में हेतु क्या है ?

अर्जुन ने कहा : हे भगवन्, तब तो 'मैं मृतक हूँ' इस प्रकार मनुष्यों की मरणस्थिति किस हेतु से प्राप्त होती है ? और उस स्थिति में हे प्रभो, लोगों को प्रसिद्ध स्वर्ग और नरक यानी सुख और दुःख कैसे होते हैं ? ॥१७॥

'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति' इस श्रुति का तात्पर्य लेकर भगवान् समाधान करते हैं।

श्रीभगवान ने कहा : हे अर्जुन, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन और बुद्धि इनसे युक्त

तन्मात्राओं का जो समूह है, तत्स्वरूप हुआ ही जीव देहों में स्थित रहता है। भाव यह है कि पाँच भूतमात्राओं से निर्मित, मन, बुद्धि आदि से घटित व्यष्टिसमष्टिरूप स्थूल-सूक्ष्मभूत देहों में जो तादात्म्यापत्ति है, वही उस परमात्मा का जीवभाव है और वही जन्म-मरण एवं सुख-दुःखादिरूप भ्रम की स्थिति में निमित्त है ॥१८॥

उस जीव के विचित्र देहों के परिग्रह तथा उन भिन्न-भिन्न देहों के अनुरूप होनेवाली विचित्र चेष्टाओं में निमित्त कहते हैं।

वह जीव वासना से इस तरह खींचा जाता है, जिस तरह रस्सी से बछड़ा। वह शरीर के अन्दर उस तरह बैठा रहता है, जिस तरह पिंजड़े में पक्षी ॥१९॥

पूर्व देह से दूसरी देह में जाने में वासना ही निमित्त है, यह कहते हैं।

देश और काल से जर्जर हुए शरीर से यह जीव वासना लेकर उस तरह निकल जाता है, जिस तरह देश और काल से जर्जर हुए वटवृक्ष के पत्ते से रस। कान, आँख, त्वचा, जिह्वा और नख इन इन्द्रियों को लेकर पूर्व शरीर से दूसरे शरीर में जीव उस तरह चला जाता है, जिस तरह फूलों से गन्ध लेकर वायु अन्यत्र चला जाता है ॥२०,२१॥

अतएव इसका स्थूलदेह भी वासनात्मक ही है, परन्तु चिरकालिक अनुवृत्ति से उसमें स्थूलता का भ्रम होता है, यह कहते हैं।

इसका स्थूल-शरीर भी एकमात्र वासनारूप ही है यानी केवल वासना से ही उत्पन्न हुआ है, अन्य किसी दूसरे कारण से नहीं। अतएव वासना का त्याग होने पर वह क्षीण हो जाता है और उसके क्षीण हो जाने पर वह स्वयं ही परमपदरूप हो जाता है। यह वासनावेष्टित जीव दूसरे से यानी आत्मभूत अन्नपानादि से ही परिपुष्ट होकर अथवा लिंगदेह में अवच्छेद और प्रतिबिम्ब भाव से द्विगुणित प्रवेश से परमात्मा द्वारा परिपुष्ट (अभिव्यक्त) होकर अनेक भ्रमों का भार ढोता हुआ अनेक योनियों में उस तरह भ्रमण करता है जिस तरह माया से ऐन्द्रजालिक पुरुष (जादूगर) आकाश में भ्रमण करता है। वासनावेष्टित यह जीव श्रोत्र आदि की सम्पूर्ण शब्दादि-ग्रहणशक्तियों को लेकर उस तरह इस शरीर से नूतन शरीर में जाता है, जिस तरह पुष्प से गन्ध लेकर वायु स्थानान्तर में जाता है ॥२२-२४॥

लोक में वही मरणरूप से प्रसिद्ध है, यह कहते हैं।

हे कौन्तेय, शरीर से जीव के निकल जाने पर देह उस प्रकार एकदम कम्पनशून्य हो जाती है, जिस प्रकार वायु के शान्त हो जाने पर स्पन्दनशून्य अपनी शाखा-प्रशाखाओं के विस्तार से युक्त वृक्ष कम्पनशून्य हो जाता है। छेदन, भेदन आदि दोषों से चेष्टारहित होकर जीवरहित हुआ शरीर जब अदृश्य हो जाता है तब उसी से वह 'मृतः' (मर गया) यों कहा जाता है। वह प्राणस्वरूप जीव चिदाकाश या भूताकाश में जहाँ-जहाँ यानी देह, देश, काल, भोग्य आदि जिस-जिस आकार में अवस्थित होता है (भोगजनक अदृष्ट से उद्भूत हुई वासना से युक्त होता है), विस्तृत उस-उस आकार का अपनी वासना के अभ्यास से अवलोकन किया करता है। हे अर्जुन, अतः जीव द्वारा असत्स्वरूप ही (मिथ्यारूप ही) यह शरीर देखा जाता है, इसलिए देहनाश भी तुम उसी तरह असद्रूप देखो। अथवा सुषुप्त पुरुष की नाईं उसे मत देखो अर्थात् जैसे सुषुप्त पुरुष कुछ भी नहीं देखता वैसे ही तुम भी देह, देहनाश

उसकी असत्यता आदि कुछ न देखो ॥२५-२८॥

जब प्रतियोगी ही वासना से कल्पित हैं, तब उनके नाश भी वासना कल्पित हैं, यह सृष्टि के आरम्भ से निश्चित है, यह कहते हैं।

सृष्टि के आरंभ में चतुर्मुख ब्रह्माजी ने इन गौ, अश्व आदि आकारवाले पदार्थों में पूर्वसृष्टियों के अनुभवों से जनित वासना द्वारा ही विभावनावश इस तरह के रूपों की केवल कल्पना ही की है, मिट्टी और दण्ड लेकर कुम्हार की नाईं किसी का निर्माण नहीं किया है, यह पुराणों में प्रसिद्ध है। वह जिस तरह इनके रूपों की कल्पना करता है, उसी तरह उनके नाशों की भी कल्पना करता है ॥२९॥

उत्पत्ति-काल में वासनामय जगत् भले ही मिथ्याभूत हो, परन्तु स्थितिकाल में अर्थक्रियासमर्थ होने एवं सर्वजनीन सत्यता का अनुभव होने से वास्तव ही है, ऐसी आशंका कर कहते हैं।

उत्पत्ति-काल में प्रथम क्षण में देह, घट आदि का जो आकार मिथ्याभूत या सत्यभूत सामने दीख पड़ता है, वह विनाशपर्यन्त उसी तरह का रहता है, किसी दूसरी तरह का नहीं, क्योंकि अधिष्ठानभूत यह संवित् जो जिस तरह की वस्तु उत्पन्न हुई हो, उसकी उसी तरह की स्थिति में हेतु है और संवित् के सिवा उनकी सत्ता ही नहीं रह सकती ॥३०॥

देहादि आकार भले ही वासनामय हों, उससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

पार्थ, पहले का वासनारूपी मूल पुरुषार्थ से (श्रवण, मनन आदि पुरुष प्रयत्नों से जनित ब्रह्माकार अखण्डवृत्ति से) उस प्रकार बाधित हो जाता है, जिस प्रकार आज के प्रायश्चित्त आदि प्रयत्नों से गत दिन का अधर्मानुष्ठान बाधित हो जाता है अथवा आज के दाहरूप प्रयत्न से गत दिन में निर्मित तृण-गृह नष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि अशुभ वासनाओं से कल्पित देहादि आकार का शुभ वासनाओं के अभ्यास से जनित ब्रह्माकारवृत्ति से समूल विनाश ही उसके वासनामय होने का फल है ॥३१॥

यदि शंका हो कि ज्ञान के निमित्त प्रयत्न कर रहे बहुत से लोगों का प्रयत्न पहले काम, क्रोध आदि प्रबल वासनाओं द्वारा नष्ट होता दिखलाई पड़ता है, अतः प्रबलता में उत्तरत्व को हेतु कह नहीं सकते ? तो इस पर कहते हैं।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में जो भी कोई एक पुरुषार्थ 'मेरे लिए यही पुरुषार्थ आवश्यक है' इस अभिनिवेश से देखा जाता है, वही पूवोत्तर प्रयत्नों में अपना विशेष महत्त्व रखता है और अन्य को जीत लेता है। (एवं पूर्वोक्त ज्ञान के लिए प्रयत्न करनेवालों में 'मोक्ष' का अभिनिवेश मन्द और 'भोग' का अभिनिवेश दृढ़ होने से ज्ञाननिमित्त प्रयत्नों का पराभव हो जाता है, यह भाव है) ॥३२॥

अतएव शास्त्रीय प्रयत्नों में दृढ़ अभिनिवेश करना चाहिए, यह कहते हैं।

इसलिए विन्ध्याचल के फूटने या प्रलयकालीन झंझावात के बहने पर भी बुद्धिमान् पुरुष को शास्त्रानुसारी प्रयत्न नहीं छोड़ने चाहिए अर्थात् सर्वदा उन्हीं का आश्रय करना चाहिए, यह भाव है ॥३३॥

शास्त्रीय प्रयत्नों के मन्द हो जाने पर पूर्ववासनाओं के वैचित्र्य से सुखदुःखात्मक अनर्थों की परम्परा किसी तरह रोकी नहीं जा सकती, इस आशय से कहते हैं।

अनादि अविद्या से मूढ़-बुद्धि यह जीव वासनावश अपने चारों ओर नरक, स्वर्ग, सृष्टि आदि

देखता रहता है जो कि उसे चिरकाल से अभ्यस्त हैं ॥३४॥

उसी आशय को 'अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा नरकं तु वा ॥' (अपने सुख-दुःखों में पराधीन, अज्ञानी यह जीव ईश्वर से प्रेरित होकर ही स्वर्ग या नरक में जाता है) इस व्यास-वाक्य आदि में प्रसिद्ध कारणान्तर की आशंका के निरास के साथ स्पष्टरूप से जानने की इच्छा कर रहे अर्जुन पूछते हैं ।

हे जगदीश, जगत् की स्थिति में निमित्तभूत इस जीव का स्वर्ग, नरक, सृष्टि आदि में जो भ्रमण होता है, उसमें कारण क्या है ? यह आप मुझसे कहिए ॥३५॥

दूसरा कोई कारण तो संभव नहीं है । ईश्वर, काम, कर्म आदि भी वासना के अनुसार ही सुख-दुःख आदि प्राप्त कराते हैं, अतः एकमात्र दीर्घकाल के अभ्यास से दृढ़ हुई वासना ही संसार के प्रति कारण है । इसलिए मोक्षार्थियों को उस वासना का क्षय ही सब प्रयत्नों से करना चाहिए, इसी आशय को स्पष्ट कर रहे श्रीभगवान् कहते हैं ।

श्रीभगवान् ने कहा : पार्थ, चूँकि शास्त्रीय प्रयत्नों की शरण न लेकर चिरकालिक अभ्यास से प्रोढ़ हुई स्वप्न-तुल्या यह वासना संसाररूप भ्रम को देनेवाली है, इसलिए तत्त्वज्ञान के अभ्यास से समूलवासना का क्षय ही यहाँ तुम्हारे कल्याण के लिए है ॥३६॥

वासना के मूल को जानने की इच्छावाले अर्जुन पूछते हैं ।

अर्जुन ने कहा : हे देवदेवेश, यह वासना किससे उत्पन्न हुई यानी इसका मूल क्या है और वह किस प्रकार नष्ट होती है ?

अज्ञान ही उस वासना का मूल है और ज्ञान से ही उसका समूल नाश होता है, यों भगवान् कहते हैं ।

श्री भगवान ने कहा : अनात्मभूत वस्तु में आत्मभावनारूप यह वासना अज्ञानस्वरूप मोह से उत्पन्न हुई है और महाबोधस्वरूप आत्मज्ञान से तो यह (वासना) विलय को प्राप्त हो जाती है ॥३७॥

उसमें तुम्हें विचार से आत्म-स्वरूप का परिचय तो हो गया है, अब तुम्हारे लिए उसकी दृढ़ता से देह और उसके सम्बन्धी बन्धु आदि में 'अहम्' 'मम' इत्यादिरूप वासना का क्षय करना ही एकमात्र कार्य अवशिष्ट रह जाता है, यह कहते हैं ।

हे कौन्तेय, तुम पवित्रात्मा हो चुके हो और सत्य का ज्ञान भी तुम्हें हो चुका है । अब तुम 'यह', 'वही मैं' और 'ये लोग मेरे बान्धव हैं' इत्यादिरूप वासना को छोड़ दो ॥३८॥

वासनामय ही लिंग शरीर है और उसमें प्रतिबिम्बस्वरूप जीव भी वासना से ही उत्पन्न है अतः वासना का क्षय होने पर जीव का क्षय ही हो जायेगा । एवं तत्त्वज्ञान और वासना का क्षय दोनों केवल अनर्थ के लिए ही होंगे ? इस आशय से अर्जुन शंका करते हैं ।

अर्जुन ने कहा : जो जिसकी सत्ता से स्थित रहता है, वह उसके नाश से नष्ट होता है, अतः वासना के विलीन हो जाने पर स्वयं जीव भी विलीन हो जायेगा । जीव के विलीन हो जाने पर तथा देश और काल का अन्यथाकरण होने पर (卐) जन्म (परमानन्द के आविर्भावस्वरूप परम पुरुषार्थ) एवं मरण

(卐) यहाँ पर 'जन्म-मरण' शब्द से प्रसिद्ध जन्म-मरण का ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि तत्त्वज्ञ में समूल वासना का नाश होने पर उनकी प्रसक्ति ही नहीं है और वह (उनका ग्रहण करना)

(आत्यन्तिक अनर्थनाश) का कौन भागी होगा अर्थात् कोई नहीं, यह भाव है ॥३९,४०॥

(तुम्हारे द्वारा उद्भावित उपर्युक्त) दोष तब होता जब प्रतिबिम्बमात्र संसारी जीव है और वह भी बिम्बभूत ब्रह्म से अन्य तथा भूतमात्राओं के अधीन जन्म आदि, देश एवं काल भेद से भिन्न है यह माना जाता, परन्तु वैसी तो बात नहीं है, किन्तु परमार्थतः शुद्ध ब्रह्म ही होकर असत्यभूत अपनी अविद्या से आवृत अपने वास्तविक तत्त्व को नहीं जान रहा वह अपनी आत्मा में ही जीव जगत् भेद की कल्पना द्वारा संसारी–सा बन जाता है। और वही श्रवण, मनन आदि शास्त्रीय प्रयत्नों से अपने वास्तविक तत्त्व का ज्ञानकर वासना के साथ अविद्या को धोकर स्वस्वभाव में स्थित हो जाता है। मानों वही इसकी मुक्ति है यही श्रुतिसम्मत सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त में तुम्हारे द्वारा उद्भावित कोई भी दोष नहीं आता, इस आशय से भगवान् समाधान करते हैं।

श्रीभगवान् ने कहा : हे महामते अर्जुन, ब्रह्म का जो रूप अपने ही कल्पित संकल्प से कलुषित (अविद्या से आवृत) हो जाता है, उसे ही वासनाकृति जीव जानो। हे भारत, दूसरे के अधीन न हुआ, संकल्परहित और अविनाशी जो यह आत्मरूप तत्त्वज्ञान के कारण वासना से शून्य हो जाता है, उसे ही तुम 'मोक्ष' जानो ॥४१,४२॥

और वही समूलवासना–निवृत्ति देहधारणपर्यन्त 'जीवन्मुक्ति' इस नाम से प्रसिद्ध है, उसका इसी लोक में तुम भी अनुभव कर सकते हो। इसलिए 'मुक्तिरूप फल का भाजन कौन होगा ?' ऐसा तुम्हें संशय नहीं करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

हे महाबाहो अर्जुन, वासनारूप रज्जुबन्धन से छुटा हुआ पुरुष 'मुक्त' यों कहा जाता है। अतः वासना से निर्मुक्त होकर जीते हुए ही (इसी वर्तमान देह में ही) यथास्थित उस तत्त्व को तुम देखो ॥४३॥

वह मोक्ष न कर्मों से प्राप्त किया जा सकता है और न बाह्य विषयों के पाण्डित्य से ही प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु एकमात्र आत्मज्ञान से ही पाया जा सकता है, इस आशय से कहते हैं।

जो वासना से निर्मुक्त नहीं है, भले ही वह समस्त धर्मों में परायण क्यों न हो, सर्वज्ञ यानी समस्त बाह्य विषयों का पण्डित ही क्यों न हो, फिर भी उस प्रकार वह चारों ओर से बद्ध है, जिस प्रकार पिंजरे में स्थित पंछी ॥४४॥

कहे गये समाधान का संक्षेप से उपसंहार करते हैं।

पार्थ, अपनी ही माया से आच्छादित हो जाने के कारण स्वरूप–दर्शन में अयोग्य हुए, वेदान्तप्रमाण को प्राप्त न किये हुए जिस परमात्मा के भीतर, आकाश में ऐन्द्रजालिक मोरपंख की नाईं, नाना प्रकार के भ्रमों को उत्पन्न करनेवाली सूक्ष्म वासना जीव–जगद्रूप से प्रस्फुरित होती है, वही (परमात्मा) अधिकारी शरीर में वेदान्तशास्त्र को प्राप्तकर उदित तत्त्वज्ञानवाला होता हुआ समूल वासनारूप बन्ध से मुक्त हो जाता है। क्योंकि इस परमात्मा में समूल वासना ही बन्ध (संसार) है और उसका क्षय ही मोक्ष है ॥४५॥

पचपनवाँ सर्ग समाप्त

पूर्वापरग्रन्थ के प्रतिकूल भी है।

छप्पनवाँ सर्ग

भगवान द्वारा अर्जुन को जीवन्मुक्तप्रतिष्ठा, चिति की अबाधित
सत्ता और मन के जगत्स्वरूप चित्र का सविस्तार उपदेश।

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा : हे अर्जुन, इस प्रकार वासनानिवृत्तिरूप जीवन्मुक्तत्वस्वरूप से तुम भीतर शीतलता (शान्ति) प्राप्तकर बन्धुवधप्रयुक्त दुःख का निःशेषरूप से परित्याग कर दो। हे पापशून्य अर्जुन, जरा और मरण की शंका से निर्मुक्त, आकाश की नाईं विशाल चित्तवाले तथा इष्ट एवं अनिष्ट विषयों को संकल्पों से रहित होकर तुम वीतराग हो जाओ। हे अर्जुन, शिष्ट व्यवहार–परम्परा से चला आ रहा, अवश्यकर्तव्यरूप भाग्यवश प्राप्त यह युद्ध–कर्म और अन्यान्य दूसरे आवश्यक याग, दान आदि कर्म तुम करो। उससे तत्त्वज्ञान की कुछ भी क्षति नहीं होगी, यह भाव है। शिष्ट व्यवहार–परम्परा से चला आ रहा स्वधर्मरूप कर्म जो किया जाता है, वह तो जीवन्मुक्तों का स्वभाव ही है और वही जीवन्मुक्तता है, केवल देह–चेष्टा का परित्याग करना जीवन्मुक्तता नहीं है। 'यह कर्म मैं छोड़ता हूँ' और 'इस कर्म का मैं अंगीकर करता हूँ' इस प्रकार का जो निर्णय है, वह तो एकमात्र अज्ञानियों के मन का स्वरूप है और ज्ञानियों की तो एक–सी स्थिति रहती है। प्रवाहपतित कर्म कर रहे, शान्तमना तथा सुषुप्त की नाईं अपनी आत्मा में स्थित हो रहे जीवन्मुक्त महात्मा लोग इस व्यवहार–भूमि में संकल्प–विकल्पों से शून्य होकर सुषुप्तात्मा के सदृश निर्विशेष स्वयंज्योति एकमात्र आत्मरूप होकर स्फुरित होते हैं ॥१–६॥

जीवन्मुक्त में दूसरा भी सुषुप्ति–साम्य है, यह कहते हैं।

पार्थ, जैसे थोड़ा भी विक्षेप होने पर कछुवे के सिर, पैर आदि अंग तत्काल ही भीतर प्रविष्ट हो जाते हैं, वैसे ही तत्त्वज्ञान से बाधित हो जाने के कारण तुच्छभूत विषयों से अनायास निवृत्त हुई जिसकी इन्द्रियाँ मन के साथ परमात्मा के अन्दर निश्चल स्थिति (एकरसता से स्थिरता) प्राप्त करती हैं, वही जीवन्मुक्त है ॥७॥

तब व्यवहार–काल में जीवन्मुक्त महात्मा लोग जगत् को किस रूप से देखते हैं ? तो इस पर 'मनोराज्य में परिकल्पित दीवार से रहित विचित्र चित्र की नाईं ही देखते हैं' यह बतलाने के निमित्त सृष्टि से लेकर प्रलयपर्यन्त सम्पूर्ण जगत् का मनोरचित चित्र के रूप में वर्णन करने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

चित्तरूपी चित्रकार विश्व के अधिष्ठानभूत आत्मा के ऊपर अनन्त उन–उन वैचित्र्यों से युक्त तीनोंकाल में उदित स्वभाव सम्पूर्ण त्रिजगत्रूपी चित्र का दीवार के बिना निर्माण कर देता है। स्वयं एकमात्र अज्ञानस्वरूप होने के कारण प्रकाशन के अयोग्य भी, चिदाभासयुक्त अन्तःकरणवृत्तिरूप बत्तियों द्वारा प्रकाशित हुए इस अद्‌भुत त्रिजगत्रूपी चित्र को अज्ञानरूपी आकाश में पहले–पहल चित्तरूप चितेरे ने ही इतने विशालरूप में परिणत किया है ॥८,९॥

प्रसिद्ध चित्र के वैधर्म्य से उसकी अद्‌भूतता ही दिखलाते हैं।

पार्थ, (आदिजीव हिरण्यगर्भ के समष्टि मन ने, सत्यसंकल्प होने के कारण, संकल्पसमकाल

में ही यह जगत्‌रूप चित्र बनाया) तदनन्तर उसने उस चित्र की आधारस्वरूप दीवार की, जो अमूर्त आकाशरूप होने के कारण चित्रधारण करने में सर्वथा अयोग्य ही है, रचना की यह महान् आश्चर्य है इसीलिए यह भ्रम ही है।

'अहो भ्रमः' इन दोनों पदों का विस्तृत व्याख्यान करते हैं।

यह रचना अपूर्ण और माया का भी तिरस्कार करनेवाली है, तृणदीवार के सदृश साररहित होने पर भी यह भ्रान्तिदृष्टि से शुभरूप प्रतीत होती है ॥१०॥

और भी आश्चर्य दिखलाते हैं।

(प्रसिद्ध चित्रस्थलों में चित्रों की आधारभूत दीवारें उन चित्रों से भिन्न होती हैं, परन्तु) ये जो चित्तरूप चित्रकार द्वारा उत्पन्न अज्ञानाकाशरूप दीवारें प्रतीत हो रही हैं, उनमें और चित्रों में आधार–आधेयरूप भेद स्पष्टतः प्रतीत होने पर भी परमार्थतः उनकी चित्तस्वरूपता होने के कारण परस्पर किंचित् भी भेद नहीं है (अहो ! यह भी एक दूसरा आश्चर्य है।) ॥११॥

'अहो भ्रमः' इसमें 'अहो' इस अंश की विस्तृत व्याख्याकर अब 'भ्रमः' इस अंश की विस्तारपूर्वक व्याख्या करते हैं।

हे कमलनयन, वे मानसिक चित्र–रचनाएँ आकाश से भी बढ़कर वैसे ही शून्यरूप हैं अर्थात् अत्यन्त असत् हैं, जैसे स्वप्न में क्षणमात्र में चित्त में होनेवाले तीनों लोकों के नाश और उदय, यह तुम जानो ॥१२॥

आत्मा, मन और उसका कार्य बाह्य और आभ्यन्तर यह सब जगत् स्वप्न की तरह शून्य है (असत् ही है)। तब मनुष्यों को इसमें सत्यत्व की प्रतीति कैसे होती है ? इस पर कहते हैं।

चूँकि यह सब चिरकालिक मनोराज्य है यानी इसकी दीर्घकालतक अनुवृत्ति होती है, इसलिए लोगों को इसमें सत्यत्व की प्रतीति होती है ॥१३॥

तब तत्त्व क्या है ? यह कहते हैं।

भ्रान्तिकल्पित पदार्थों में जिस सत्यसंकल्पता का तीनों काल में अभाव है, वह तत्त्वतः क्या अदृष्ट–दशा में (तत्त्वज्ञान से पहले) कभी रह सकती है अर्थात् कभी नहीं। जो वसन्तादि कालक्रम से, बाल्यादि अवस्थाक्रम से अथवा छः प्रकार के भावविकारक्रम से देखने पर अर्थक्रियासामर्थ्यरूप या और कोई दूसरा प्रसिद्ध व्यावहारिक सत्यत्व उनमें भासता है, वह तत्त्वज्ञानरूप प्रकाश से उस प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से दिखाई दे रहा शरत्काल का मेघमण्डल उसीसे खाया जाता हुआ नष्ट हो जाता है ॥१४॥

इस तरह इस मानसिक चित्र के भ्रान्तिमात्रस्वरूप हो जाने के कारण अपने भाई–बन्धुओं के वध की आशंका से उत्पन्न क्लेश से तुम्हें व्यग्र बनना उचित नहीं है, यह कहते हैं।

चित्तरूपी चितेरे के चित्र में अवस्थित त्रिभुवन आदि विचित्र पुतलियाँ आधारभूत दीवार के न रहने से बाहर आकाररहित ही हैं। हे अर्जुन, वास्तव में न तो उनका अस्तित्व है और न तुम्हारा ही अस्तित्व है, इसलिए कौन किससे मारा जाता है ? अतः नाश्य–नाशक का मोह छोड़कर तुम निर्मल बनकर ब्रह्मपद में स्थिर हो जाओ। क्योंकि चिदाकाश में वधादि की प्रवृत्ति ही नहीं है। और जो कहीं प्रातिभासिकी

प्रवृत्ति है, वह भी ब्रह्माकाश रूप ही है, इसलिए काल, क्रिया, जगद्रूप दीवार और उस पर चित्र बनाने की कला आदि सब कुछ निर्मल ब्रह्म ही है। हे अर्जुन, जैसे एकमात्र चित्त में रहनेवाला मनोराज्यरूप चित्र समस्त प्रपंचस्वरूप होता हुआ भी वास्तव में शून्यस्वरूप होने से असत् ही है, वैसे ही सामने दिखाई दे रहा यह जगत् भी आकाश से भी बढ़कर शून्यरूप है यह तुम जानो ॥१५-१८॥

अब तत्त्वतः अपरिचित चैतन्यात्मा चित्रकार है और उसके चित्र का आधार चित्तरूप दीवार है इस प्रकार उत्प्रेक्षा करने पर भी अन्त में शून्यता ही पर्यवसित होती है, यह कहते हैं।

अर्जुन, तत्त्वतः अपरिचित आत्मचैतन्यरूपी चित्रकार ने चित्तरूप दीवार के ऊपर जो चित्र रचा है, वह सर्वांश से शून्य होने के कारण असदाकाश से तनिक भी भिन्न नहीं है ॥१९॥

उसमें भी मनोराज्य का क्षणिक जगत् ही दृष्टान्त है, यह कहते हैं।

हे अर्जुन, जैसे चित्त में मनोराज्य के जगत् का निर्माण और विनाश क्षणभर में ही हो जाता है, वैसे ही ये चित्तात्मक दीवार के ऊपर अज्ञात चिति द्वारा चित्रित जगत् के निर्माण और विनाश क्षणभर के लिए ही प्रतीत होते हैं, यह तुम जानो ॥२०॥ पार्थ अनेक तरह के विषयानुभववाले मनोराज्य में क्षणिक मोह से परिकल्पित वध्यघातकभावादिरूप तुम्हारी कल्पना आज ही मेरे उपदेश से क्षीण हो जाती है ॥२१॥

शंका हो कि क्षणिक मोह अनादि एवं अनन्तर कल्पों में विस्तीर्ण संसाररूप मनोराज्य कैसे रचेगा ? तो इस पर कहते हैं।

जैसे असत् मनोराज्य का निर्माण करने के लिए मन अपने में शक्ति रखता है, वैसे ही क्षणरूप काल को कल्प बनाने में भी वह (मन) अपने में शक्ति रखता ही है। हे अर्जुन, क्षण को कल्प कर देता है और असत् को उत्पन्न कर देता है - यह जो मन के विषय में आश्चर्य है, वह तो बहुत ही थोड़ा है, उससे भी बढ़कर तो आश्चर्य यह है कि वह असत् जगत् को भी शीघ्र सद्रूप कर देता है ! इसलिए यह जगद्रूप भ्रान्ति इस प्रकार के आश्चर्य पैदा करनेवाले मन की सामर्थ्य से ही उत्पन्न हुई है ॥२२,२३॥

उसे ही कहते हैं।

क्षणभर के लिए ही अज्ञानवश जो यह चित्र-विचित्रस्वरूप प्रतीत हुआ मनोराज्य है, वही दृश्यमान इस प्रपंच-जाल के रूप में स्थित है ॥२४॥ पार्थ, यद्यपि ज्ञानियों की दृष्टि में स्वतः नित्यमुक्त आत्मा में अध्यस्त, अतएव एकमात्र कल्पना से उत्पन्न होने के कारण प्रतीतिकाल मात्रस्थायी यह तुच्छ जगत् क्षणिक ही है, तथापि इसी क्षणिक जगत् में इसके वास्तविक स्वरूप से अपरिचित अज्ञानी लोगों ने दुरुच्छेदता की कल्पना कर रक्खी है ॥२५॥

परन्तु वह ठीक नहीं है, यह कहते हैं।

चूँकि यह जगत् अज्ञाततत्त्व आत्मा का एकमात्र अन्यथा प्रतिभास ही है, इसलिए इस तरह के जगत् के आरोप या बाध में भला कौन-सी वह दुरुच्छेदता है ? अर्थात् कोई है ही नहीं ॥२६॥

जो वस्तु स्थित रहती है, उसीके निरास में प्रयत्न की अपेक्षा होती है, यह जगत् तो कभी स्थित ही नहीं है, यह कहते हैं।

पार्थ, भला बतलाओ तो सही, चिति में अध्यस्त चित्तरूप चित्र-निर्माता का जगद्रूप यह चित्र किस

समय स्थित रहता है ?

अपनी कारण–सामग्री से शून्य तथा स्वयं असद्रूप जगत्–चित्र आँखों के सामने प्रस्फुरित हो रहा है – यह एक महान् आश्चर्य है, यह कहते हैं।

तथापि यह महान् आश्चर्य है कि अपनी आधारभूत दीवार से रहित, चित्र के साधनभूत नील, पीत आदि रंग–द्रव्यों से शून्य यह जगत्–चित्र सामने विस्तृत–सा दिखाई दे रहा है ॥२७॥ अहो, अत्यन्त आश्चर्य है कि यह उज्जवल चित्र दीवार के बिना ही उत्पन्न होकर सामने दिखाई दे रहा है !

सामने किस प्रकार का है ? इस पर कहते हैं।

यह जगद्रूप चित्र भलीभाँति लोगों का अनुरंजन करनेवाला है, और दृष्टि, मन आदि को भी लुभानेवाला है ॥२८॥ यह नाना प्रकार के तमरूपी स्याही से लिखा गया है और नाना प्रकार के तेजःकिरणों से सुहावना है। यह नाना कल्प और उनके अंगभूत युग आदिरूप अवयवों से युक्त है तथा नाना प्रकार की अभिलाषाओं से रंगा गया है। यह नाना प्रकार के दृश्यों के विलासों से परिपूर्ण है, अनेक अनुभवरूप नेत्रों से समन्वित है तथा अनेक प्रकार के ग्रहों से अत्यन्त चमक रहा है। सूर्योदय और सूर्यास्त आदि कालों में इसकी पूर्व और पश्चिम दिशाएँ नाना आकारों से युक्त होती हैं ॥२९,३०॥

वहाँ पर चित्रपद्मवन आदि का वर्णन करते हैं।

इसमें आकाशरूप नील सरोवर में खिले हुए तारे, चन्द्र एवं सूर्यरूप कमल हैं। इस जगद्रूप चित्र में शरद् आदि कालभेदों द्वारा विचित्र रचनाओं से ऊपर सुशोभित मेघपंक्तिरूप पत्ते और मंजरियाँ लगी हुई हैं। इसके त्रिभुवानात्मक प्रकोष्ठों में (चित्रकोष्ठ–भेदों में) चारों ओर देव, असुर, मनुष्य आदिरूप पुतलियाँ लिखी गयी हैं। परम उत्कृष्ट सूर्य, चन्द्र आदि के आलोकस्वरूप सुधा लेप से तरुण की नाईं विराज रहे आकाशरूप दीवारों से यह समन्वित है ॥३१,३२॥

अब त्रिलोकी का ही देवनटी रूप से वर्णन करते हैं।

पार्थ, कामुक चित्तरूप इस चितेरे ने अधिष्ठानभूत ब्रह्माकाश में ही इस जगद्रूप मुग्ध मनोहर नटी का निर्माण किया है। इस नटी की मुख्य नृत्यशाला प्रतिभा (नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि) ही है, नृत्यशाला में दीपक का कार्य कर रहे साक्षिचैतन्य के प्रतिबिम्ब से युक्त और चक्र की नाईं परिभ्रमणशील बुद्धिवृत्तिरूप आभूषणों से इसने समस्त लोकों को प्रकाशित किया है और यह नृत्य, हाव, भाव, विलास आदि लीलाओं में सदा व्यस्त रहती है। सुवर्णमय ब्रह्माण्ड ही इस नटी की दृढ़ अंगलतिका (शरीरलता) है, मेघ ही इसके (नटी के) केशपाश हैं,तथा चन्द्र और सूर्य रूपी नेत्रों के संचालन से यह सम्पूर्ण लोकों का अवलोकन भी किया करती है। धर्म, अर्थ और काम के अनुकूल प्रवृत्तिनिवृत्तिशास्त्र ही इसके दो वस्त्र हैं, इसके पातालस्वरूप ऊरु,जानु, जंघा, गुल्फ, पाद, पार्ष्णी, और अंगुलि इन सात अवयवोंवाले दो चरण हैं और उन्नत पृथिवी ही इसका नितम्ब है। ब्रह्मा, इन्द्र, शंकर और विष्णु – इसकी चार भुजाएँ हैं और उनसे यह समर्थ है। सत्त्वगुणरूप कंचुकी से ढके हुए, उन्नत विवेक और वैराग्य स्वरूप दो कुचों से इसकी देह शोभती है, शेष आदि से वेष्टित पृथिवी तल ही इसकी पद्माकार पीठ है तथा गोरोचन, कस्तुरी आदि नानाविध वर्णों से पत्र रचना के स्थानरूप बनाये गये मेरु, अंजन, हिमालय आदि नानावर्णवाले पर्वतों से युक्त महाभुवन

(मध्यलोक) ही इस नटी का उदर है। इस त्रिलोकी नटी की चन्द्र-सूर्यरूप आँखों की चेष्टाएँ रात्रि के अन्धकार की चपलता को दूर करती हैं, जो कि मेरु प्रदक्षिणा करणरूप है। तारे ही इसके घने पुलक हैं, बिजली ही इसकी दन्तपंक्ति है, चंचल और परस्पर असमान, भुवन-भेद से चौदह प्रकार के प्राणी ही इसके रोमांच हैं और उन प्राणियों में प्रसिद्ध भूत, भुवन, आदि की प्रलय-कथाएँ ही चारों ओर सद्बुद्धिरूप केसरों को और श्रोताओं के लिए वैराग्य, सद्वासनारूप सुगन्धि को प्रसारित करने के कारण मानों इसकी पैर तक लटकनेवाली कदम्ब-माला के फूल हैं। यह समष्टि और व्यष्टिरूप जीव से समन्वित है, अद्भुत है, आकाश के समान शून्यरूप है और नाना प्रकार के विलासों से वेष्टित भी है। उपर्युक्त प्रकार से वर्णित त्रिलोकीरूप इस श्रेष्ठ चित्रमयी नटी का-चित्र के उपकरणभूत विचित्र वासना, काम एवं कर्मों को प्राप्त किये हुए, अतएव शीघ्र ही अद्भुत चित्रों का निर्माण करने में समर्थ चित्तरूप चित्रकारने अपने अधिष्ठानरूप चिदाकाश में ही-चित्रण किया है ॥३३-३७॥

छप्पनवाँ सर्ग समाप्त

सत्तावनवाँ सर्ग

जिस दृष्टि से मन शीघ्र ही वासनाशून्य हो जाता है और सुखस्वरूप
अद्वितीय आत्मा अवशिष्ट रह जाता है, उस दृष्टि का उपदेश।

वासना की शिथिलता में उपयोगी होने से पूर्व में प्रदर्शित जगत् में आश्चर्यतादृष्टि का ही वर्णन करते हैं।

श्रीभगवान् ने कहा : हे अर्जुन, इस संसार के विषय में सबसे बढ़कर यह आश्चर्य समझो कि पहले तो निराश्रय में जगद्रूप चित्र उत्पन्न होता है और उसके बाद आधाररूप भूत, भुवन आदि विराट् दीवार उत्पन्न होती है। (व्यष्टि-समूहस्वरूप समष्टिभूत विराट् की कल्पना व्यष्टिकल्पना के अधीन है, इसलिए भी उसकी बाद में उत्पत्ति है, यह जानना चाहिए) ॥१॥ हे अर्जुन, पहले निराश्रय चित्र के उत्पन्न हो जाने पर पीछे उसकी आश्रयभूत विशाल दीवार दीख पड़ती है : अहो ! यह एक अद्भुत माया है। इसका स्वरूप अत्यन्त असंभावित है, इसलिए यह माया है और अत्यन्त विरुद्ध होने से इसका स्वरूप असंभावित है, इस आशय से प्रसिद्ध इस प्रकार की माया का दृष्टान्त देते हैं।

यह उस तरह की है, जिस तरह तुम्बी जल में डूबती हो और पत्थर की चट्टान तैरती हो ॥२॥

जगद्रूप चित्र में तो एक आश्चर्यमयता है ही, परन्तु उससे भी बढ़कर आश्चर्य तो यह है कि शून्यरूप उसमें (जगत् में) चिदाकाशस्वरूप तुम्हें जो अहम्भाव हो रहा है, यह कहते हैं।

पार्थ, चित्त में स्थित चित्र के समान शून्यस्वरूप तीनों जगत् में चिदाकाश स्वरूप तुम्हें शून्यता रूप अहन्ता कैसे उदित हुई ? अर्थात् इसमें तो आश्चर्य की पराकाष्ठा हुई ॥३॥

यदि जगत् में भी चिदाकाशता का ही तुम अवलोकन करते हो तो वह दृष्टि इस रूप में पर्यवसित हुई, यह भी आश्चर्य ही है, यह कहते हैं।

चिदाकाश से निर्मित सब कुछ चिदाकाशस्वरूप ही है, चिदाकाश में चिदाकाश के द्वारा चिदाकाश विलीन होता है, चिदाकाश में ही चिदाकाश द्वारा चिदाकाश का उपभोग किया जाता है और

चिदाकाश द्वारा चिदाकाश में चिदाकाश ही विस्तृत हुआ है ॥४॥ हे अर्जुन, (जब तुम जगत् में चिदाकाशता की दृष्टि रखते हो तब तो) जिसमें दीर्घ भ्रमण है, ऐसा जगद्रूप यह चित्र रज्जु की नाईं फैली हुई वासनारूप रज्जु से यदि वेष्टित होता है, तो वह चिदाकाश भी इस जगत् में वासना के वेष्टन से वेष्टित होता ही है ॥५॥

इस वासना–वेष्टन की ज्ञान से अतिरिक्त किसी और उपाय से जो दुरुच्छेद्यता है, वह भी अधिष्ठान की दृढ़ता से ही है, न कि स्वतः उसकी दृढ़ता है, यह कहते हैं।

जैसे प्रतिबिम्ब अपने आधारभूत दर्पण में स्थित रहता है, वैसे ही यह जगत भी, जो कि अपने अधिष्ठानरूप ब्रह्म से भिन्न न होने के कारण छेदन एवं भेदन के अयोग्य है, अपने अधिष्ठानभूत ब्रह्म में ही स्थित है ॥६॥

इसीलिए 'ब्रह्मरूपता के अवलोकन से जगत् में छेदन, भेदन आदि सब व्यवहारों की अयोग्यता के दर्शन से समस्त वासनाओं का समूल उच्छेद करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

अर्जुन, जब ब्रह्म में प्रतिभासित छेदन, भेदन आदि सम्पूर्ण व्यवहार और उनका विषय जगत्– ये सब ब्रह्म से अभिन्न होकर एकमात्र चिदाकाशस्वरूप ही हो गये, तब किस कर्ता या करण से किस प्रकार से किस फल के लिए किस देश या किस काल में क्या छिन्न–भिन्न किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि छेदन आदि व्यवहारवाद ब्रह्म से अतिरिक्त विषयों में देखे गये हैं, इसलिए जब यह जगत् ब्रह्म से अभिन्न ही सिद्ध हो चुका है तब किसी कर्ता या करण से किसी प्रकार से किसी फल के लिए किसी देश या काल में कुछ भी छिन्न या भिन्न नहीं हो सकता। अतः इन वासनाओं को तुम समूल उखाड़कर फेंक दो ॥७॥

इस उपाय के द्वारा बोध से यहाँ पर तुम्हारी वासनाओं का भी ब्रह्मातिरक्तिरूप से अभाव सिद्ध ही है।

और यदि इस प्रकार का ज्ञान न हो तो वासनाबन्ध दुरुच्छेद ही है, यों पूर्वोक्त कथन का स्मरण कराते हैं। जो वासना से निर्मुक्त नहीं है, भले ही वह समस्त शास्त्रीय कर्मों में परायण रहा हो और समस्त बाह्य विषयों का पण्डित हो, फिर भी उस प्रकार वह चारों ओर से अत्यन्त बद्ध है, जिस प्रकार पिंजड़े में स्थित सिंह या तोता ॥८॥

वासना को हृदय में अणुमात्र भी स्थान न देना चाहिए, क्योंकि वह हजारों अनर्थों की बीज है, इस आशय से कहते हैं।

जिसकी चित्तरूपी भूमि में अणुमात्र भी वासनारूप बीज पड़ा रहता है, उसका (अनेक अनर्थों से भरा हुआ) संसाररूप जंगल पुनः बढ़ जाता है। अभ्यास से हृदय में रूढ, तत्त्वज्ञानस्वरूप अग्नि से निःशेष जल गया वासनारूपी बीज पुनः अंकुर–जनन की सामर्थ्य नहीं रखता। निःशेष जले हुए वासना–बीजों से युक्त तथा स्वच्छ मन जागतिक सुखदुःखादि वस्तुओं में वैसे ही नहीं डूबता, जैसे पानी में कमल का पत्ता ॥९–११॥

कथित उपदेश–क्रम का उपसंहार करते हुए श्रीभगवान् अर्जुन की निर्वासनिक स्थिति में प्रतिष्ठा कराते हैं।

हे अर्जुन, तुम असंख्य आशाओं को छोड़ते हुए प्रसिद्ध और पवित्र भगवद्गीतारूप मेरे उपदेश को भलीभाँति समझकर महान् मोह से शून्यमना और बन्धुवधादि क्लेशों से रहित होकर वासनारहित आत्मा में चित्त का विलयकर शान्त ब्रह्मस्वरूप होकर, अतएव भयशून्य एवं परम मुक्त होकर स्थित रहो ॥१२॥

सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठावनवाँ सर्ग

तत्त्वज्ञान से अविद्यासहित वासना का नाश तथा उसीसे अर्जुन की कृतार्थता-यह वर्णन।

अर्जुन ने कहा : हे अच्युत, तुम्हारे प्रसाद से (अनुग्रह प्रयुक्त तुम्हारे उपदेश से) वासनासहित अज्ञान नष्ट हुआ। भूले हुए कण्ठस्थित हार की नाईं स्वतःसिद्ध आत्मतत्त्व का साक्षात्कार मैंने पाया। और उससे सम्पूर्ण सन्देहों के बीजों का नाश होने के कारण बन्धुवध आदि के कर्तव्यताविषयक सन्देह से रहित होता हुआ मैं स्थित हूँ। अतः तत्त्व में अवस्थिति करना और यथाप्राप्त व्यवहारों को करना-इस विषय में आपका जो वचन (आदेश) है, उसका मैं (पूर्णतया) पालन करूँगा ॥१॥

इस प्रकार यद्यपि अर्जुन ने अपनी कृतार्थता दिखलाई, तथापि अपने उपदिष्ट तत्त्वज्ञान से समूल वासनाक्षय को युक्तियों से दृढ़ कर रहे श्रीभगवान् कहते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा : हे अर्जुन, तत्त्वज्ञान से तुम्हारे हृदय में रागादि वृत्तियाँ यदि अशेषरूप से शान्त हो चुकीं, तो वासनात्मक चित्त भी भीतर शान्त होकर निर्वासनिकता को प्राप्त हो गया, यह तुम जानो ॥२॥

इस विषय में श्रुति प्रमाण है : यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ (कठोप. ६।१४) (विषय सुखेच्छा आदिरूप काम, जो कि तत्त्वज्ञान से पूर्व विद्वान् के हृदय में स्थित हैं, जब सर्वत्र स्वात्मदृष्टि से क्षीण हो जाते हैं, तब मनुष्य मुक्त हो जाता है और इस शरीर में ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है अर्थात् ब्रह्मरूप हो जाता है।)

इस निर्वासनिकतारूप सत्त्वावस्था में वह प्रत्यक् चेतननामक ब्रह्म विषयों से रहित हो जाता है, जो कि व्यवहार में सर्वस्वरूप और परमार्थ में सर्वतः अशेष-विशेष से विनिर्मुक्त है। उस प्रत्यगात्मा के पद को ये चक्षु आदि इन्द्रियाँ और अज्ञानी लोग कोई भी उस प्रकार नहीं जान पाते, जिस प्रकार भूमि से आकाश में उड़कर दूर-देश में प्राप्त हुए पक्षी को। पार्थ, महाभूत आदि तेरह प्रकार के क्षेत्रों के अवभासक, शुद्धस्वरूप, संकल्परहित, निर्विषय इस प्रत्यगात्मा को इन्द्रियों से दूर (असन्निकृष्ट) सा जानो ॥३-५॥

उसके दर्शन में श्रवण आदि से परिपुष्ट की गयी भलीभाँति अभ्यस्त निदिध्यासन नाम की उसकी भावना ही आवश्यक है, यह कहते हैं।

पार्थ, अपनी वासना निदिध्यासननामक आत्मभावना के सिवा उस ब्रह्मपद को, जो सर्वातीत, चित्स्वभाव होने से अत्यन्त स्वच्छ और असंग होने के कारण शुद्ध हैं, वैसे नहीं देख सकती जैसे लोगों के नेत्र परमाणुओं को नहीं देख सकते ॥६॥

जिसमें घट, पट आदि स्थूल पदार्थों का भी बाध हो जाता है, उसमें परमसूक्ष्म वासनाओं की

स्थिति कहना तो अत्यन्त ही असंभावित है, यह कहते हैं।

जिसकी प्राप्ति में ये घट, पट आदि सभी स्थूल पदार्थ भी नष्ट हो गये, उस परमपद के विषय में बिचारी परमसूक्ष्म वासना क्या करे ?। जैसे ज्वालामुखी पर्वत को प्राप्तकर हिमलेश बिलकुल विलीन हो जाता है, वैसे ही शुद्ध चितितत्त्व को प्राप्त कर अविद्या भी विलीन हो जाती है। कहाँ भोगबन्धनरूप रजःकण की नाईं क्षुद्र बिचारी वासना, और कहाँ सम्पूर्ण जगत् को अपने में समा लेनेवाले चितितत्त्वरूप विपुल पवन ? पार्थ, नाना प्रकार के आकाररूप विकारोंवाली यह अविद्या तब तक प्रस्फुरित होती है, जब तक शुद्धस्वरूप यह अपना आत्मा तात्त्विकरूप से भलीभाँति जाना नहीं जाता। अपने उदर में सम्पूर्ण विश्व को निगल जानेवाले, आकाश की नाईं शून्यस्वरूप उस स्वात्मरूप ब्रह्मपद में दृश्यों की सम्पूर्ण दृष्टियाँ क्षीण हो गयी हैं तथा विशुद्धरूपता ही उदित हुई है। जो पूर्णरूप है, समस्त जगदाकारों से वर्जित है और वाणी से परे हैं, उस परमवस्तु की भला किससे उपमा दी जा सकती है ? हे अर्जुन, इसलिए तुम केवल पूर्ण आत्मा के साक्षात्कार से होनेवाली कामनाओं की निवृत्तिरूप मन्त्र–युक्ति से विषयात्मक विष से उत्पन्न महामारीरूप, निरन्तर प्रवृत्ति की हेतु अन्तःकरणस्थित वासना का निपुणतापूर्वक निराकरणकर संसारबन्धन से रहित तथा सम्पूर्ण अनर्थों की भूमि (अभयस्वभाव) मद्रूप ही हो जाओ। यों अन्त में भगवद्गीता के सम्पूर्ण तात्पर्य का संग्रह कर श्रीभगवान् ने अर्जुन को उपदेश दिया। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, इस प्रकार उपदेश दे चुके त्रिलोकी के अधिपति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के, श्वेत–कमल में भ्रमर की नाईं, क्षणभर के लिए मौन धारणकर सामने स्थित हो जाने पर वहाँ पाण्डुपुत्र अर्जुन पुनः यह वचन कहेगा। अर्जुन ने कहा : हे भगवन्, सम्पूर्ण लोकों का भरण–पोषण करनेवाले आपके वचन से (भगवद्गीतारूप उपदेश से) मेरी यह बुद्धि, जिसका समस्त शोक भार गल गया है, उस प्रकार परम विकास को प्राप्त हुई है, जिस प्रकार सूर्य से कमलिनी विकास को प्राप्त होती है। श्रीरामजी, उस प्रकार के वचन कहकर और उठकर गाण्डीवधनुर्धारी, श्रीकृष्णरूप सारथिवाला वह पाण्डुपुत्र अर्जुन सन्देहरहित होता हुआ रणलीला करेगा यानी युद्ध में जुट जायेगा। श्रीरामभद्र, वह अर्जुन धरातल को ऐसी महानदियों से आक्रान्त कर देगा, जिनमें आहत बड़े–बड़े हाथी, घोड़े, सारथि आदि तत्काल ही बह जायेंगे। और आकाश को भी ऐसा बना देगा कि उसका सूर्यरूप नेत्र बाणों के ढेरों के प्रसरणों से और बिखरी महाधूलियों से निर्मित स्थली से आच्छादित हो जायेगा॥७–१७॥

अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त

उनसठवाँ सर्ग

जिस दृष्टि से जीवन्मुक्त-पद में चिति की स्पन्दरहित,
विषयों से निर्मुक्त और निश्चल स्थिति होती है, उसका वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे राघव, मेरे द्वारा कही जानेवाली सम्पूर्ण पापों की विनाशक दृष्टि का अवलम्बनकर आप निःसंगतारूप त्वंपदार्थशोधभूत सर्वत्याग और सम्पूर्ण जगत् का ब्रह्म में बाधरूप तत्पदार्थशोधभूत ब्रह्मार्पण इन दोनों के अनन्तर परिशिष्ट अखण्ड महावाक्य के तात्पर्यविषयभूत

सच्चिदानन्दैकस्वरूप भूमात्मारूप होकर स्थित रहिए। श्रीरामजी, सृष्टिकाल में जिससे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है, स्थिति-काल में जिसमें सम्पूर्ण जगत् अवस्थित रहता है, संहारकाल में जो सम्पूर्ण जगत्स्वरूप हो जाता है, जो तीनों काल में चारों ओर विद्यमान है और इस रीति से अनित्य प्रपंचात्मक होता हुआ भी जो सनातन निरतिशय ब्रह्मरूप है, उसीको आप 'आत्मा' जानिए, न कि परिच्छिन्न स्वभाववाले को। श्रीरामभद्र समस्त प्रपंचों से बहिर्भूत होने के कारण वह आत्मा दूरस्थ होता हुआ भी सर्वान्तर्यामी होने से अदूरस्थ ही है, इसी तरह आकाश की नाईं सर्वव्यापी होने पर भी, जातिरूप धर्म के समान, वह तत्तत् वस्तुओं में ही रहता है। (यों सभी युक्तियों से वही एक वस्तु है दूसरी नहीं ऐसा सिद्ध हो जाने पर) जब परिच्छन्नरूप से भी उसमें स्थित हुए आप एकमात्र उसीकी सत्ता से अपनी सत्ता प्राप्त करते हैं, स्वतन्त्ररूप से नहीं, तब आपको परिच्छेदाभिमान से फल ही क्या मिला ? वास्तव में अपरिच्छिन्न सन्मात्रस्वरूप ही आप हैं, अतः परिच्छेद के संशय से रहित हो जाइए। विवेकी पुरुषों द्वारा चिदात्मा के अनुभूयमान दो रूप हैं एक तो चित्त और उसकी वृत्ति में प्रतिबिम्बित विषयार्थ प्रकाशन, जो कि चित्तनिर्मित है और दूसरा चित्त, उसकी वृत्ति और उसके विषयों के आगम, अपाय आदि सभी अवस्थाओं के साक्षिभूत संविद्रूप, जो कि नित्यसिद्ध है। वे दोनों यदि विषय और संवेद्य (त्रिपुटी) से विनिर्मुक्त हो जाय तो परमपद ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं, यह आप जानिये ॥१-४॥

चेत्य एवं संवेद्य से विनिर्मुक्त संवित् की वह परा स्थिति 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुतियों में उक्त आनन्द और उत्कर्ष की परम्परा की परम अवधि है, वही दृष्टियों में सर्वोत्तम दृष्टि है और वही महत्त्वों का परम महत्त्व है तथा वही मान्यों में परम मान्य है। तात्पर्य यह कि उससे श्रेष्ठ दूसरा कोई नहीं है। वही आत्मा है और वही विज्ञान है, वही शून्यस्वरूप है, वही पर ब्रह्म है, वही कल्याण है, वही शान्तस्वरूप शिव है, वही विद्या है और वही परास्थिति है। चिति के भीतर समस्त अनुभवस्वरूप जो यह आत्मा है, जिसमें सभी अपने पदार्थ सद्रूप से आस्वादित (अनुभूत) होते हैं, वही जगद्रूप तिलों का तैलस्वरूप है और वही जगद्रूपी घर का दीपक (प्रकाशक) है। वह जगद्रूप वृक्ष का रस यानी सार है, वह जगद्रूप पशु का पालक है, और प्राणीरूप मोतियों के हृदयाकाशरूप मध्य में पिरोया गया एक प्रकार का तन्तु भी वही है। वह भूतरूप मिर्च-समूहों की तीक्ष्णता है तथा वही पदार्थों में पदार्थत्व है यानी सम्पूर्ण पदार्थों का असाधारण स्वरूप है, जो सर्वोत्तम तत्त्व है वह भी वही है। वही सद्वस्तुओं में विद्यमान सत्त्व (सत्यत्व) है और स्वयं वही असद्वस्तु में प्रतिष्ठित असत्त्व भी है, जो आत्मतत्त्वज्ञानरूप अलौकिक उपाय से सबको और स्वयं अपने को आत्मरूप में ही पाता है, अन्य रूप में नहीं। सद्रूप परमात्मा के विकल्परूप सभी जगत्भाव, जो कि वस्तुतः अविद्यमान ही हैं, अविचार से सुन्दर प्रतीत होते हैं और विचार से क्षीण हो जाते हैं ॥५-११॥

किस प्रकार के विचार से वे जगद्रूप भाव विशीर्ण हो जाते हैं ? इस आशंका पर उन विचारों को दिखलाते हैं।

मिथ्याभूत अनेक भ्रमों से व्याप्त इस जगज्जाल में पहले शुद्धस्वरूप मैं कौन-सा औपाधिक रूपवाला होकर आस्था करूँ ? *(शंका हो कि शुद्धस्वरूप भी तुम्हारे आस्था-बन्धन में एकमात्र बुद्धिरूप उपाधि ही निमित्त होगी ? तो उस पर कहते हैं।)* असंग एवं अद्वय स्वरूप मुझे बुद्धिरूप उपाधि भी कैसे

प्राप्त हो सकती है ? उसकी प्राप्ति में कोई भी कारण नहीं है, यह भाव है ॥१२॥ वह बुद्धि किसी तरह प्राप्त भी हो जाय, फिर भी 'उससे जनित आदि, मध्य, अन्त आदि परिच्छेद और संकल्पकल्पनाएँ आदि और अन्त से शून्य ब्रह्माकाश मैं ही हूँ, मुझसे अतिरिक्त वे कुछ भी नहीं हैं' यों विचार करने पर ब्रह्मस्वरूप मुझमें इयत्ता (परिच्छिन्नता) ही कैसी ? ॥१३॥

इस प्रकार के विचारवान् पुरुष की वह स्थिति लोक–शास्त्र से अविरुद्ध व्यवहार काल में भी दूर नहीं होती, इस आशय से कहते हैं।

श्रीरामजी, जो पुरुष 'ब्रह्मस्वरूप मुझमें इयत्ता कैसी' इस प्रकार के अपने भीतर निश्चय से युक्त रहता है, बाहर से लोकशास्त्र के अविरुद्ध व्यवहारों से युक्त होने पर भी उसकी उस प्रकार की स्थिति सर्वदा भीतर उदय एवं अस्त से विनिर्मुक्त ही रहती है। जिसका मन समसे भी सम ब्रह्म में लीन होकर न उदित और न अस्त होता है एवं जिसकी दृष्टि में मन की आकाश के सदृश शून्यरूपता ही है वह महात्मा ही यहाँ ब्रह्मरूप है ॥१४,१५॥

व्यवहारकाल में उस प्रकार की स्थिति से महात्मा का पतन नहीं होता, इसमें युक्ति बतलाते हैं।

श्रीरामभद्र, एकमात्र ब्रह्मभावना से अद्वयरूप ब्रह्मपद पर आरूढ़ हुआ वह महात्मा सुषुप्त पुरुष की नाईं संकल्प–विकारों से रहित निर्विकार बुद्धि से व्यवहार कर रहा भी उस प्रकार क्षोभ प्राप्त नहीं करता, जिस प्रकार दर्पण में स्थित मनुष्य का प्रतिबिम्ब। तात्पर्य यह है कि यतः वह एकमात्र भावना से ही अद्वय ब्रह्मपदपर आरूढ़ हो चुका है, अतः व्यवहार से उस स्थिति से नहीं गिरता। (☙) व्यवहार कर रहे भी जिस पुरुष के हृदय में, दर्पणस्थ पुरुष की नाईं, तनिक भी मानापमान से जनित सुख–दुःख नहीं होते, वह पुरुष मुक्ति का भागी हो जाता है ॥१६,१७॥

चिन्मणिरूप उस जीवन्मुक्त में किस तरह व्यवहार होते हैं ? ऐसी यदि शंका हो तो इस पर वहाँ दर्पण ही दृष्टान्त है, यह कहते हैं।

दिखाई दे रहा मनुष्यों का व्यवहार दर्पण में जैसे किसी प्रकार का विकार न करके ही प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही चितिरूप मणि में यथाप्राप्त व्यवहार भी चिति में किसी तरह का विकार न करके ही प्रतिबिम्बित होता है, क्योंकि चिति समस्त विकार मलों से वर्जित है। श्रीरामजी, यह एकमात्र चिति का चमत्कार ही जगत्–रूप से भासता है। इस चिति में न तो एकत्व है और न द्वित्व ही है। वाच्य (अर्थ), वाचक (शब्द), शिष्य, ब्रह्मेहा, गुरु और गुरुवाक्यादिस्वरूप व्याख्यान आदि कल्पनारूप चमत्कारों से आपके प्रति दिया जा रहा यह मेरा उपदेश भी चिन्मयरूप ही है। परमार्थतः सर्वोपद्रवों से रहित ही यह चिति अपने–आप ही अपने स्वरूपभूत चिति में प्रतिबिम्बत होती है। चिति का विवर्त ही संसार है और उसका विवर्त न होना ही मुक्तिरूप परमपद है। चिति के विवर्त का उपशम हो जाने से ही यह संसार शान्त हो जाता है, अपरिच्छिन्न ब्रह्माकार में चित्त के एकरस हो जाने पर जीव–जगद्रूप परिच्छिन्न भावों का जो विनाश हो जाता है, वही परमपुरुषार्थ और भावना–क्षय है। चूँकि असद्रूप भी चितिविवर्त

(☙) अभियुक्तों ने भी कहा है : भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित्। अद्वैतं त्रिषु लोकेषु नाऽद्वैतं गुरुणा सह ॥ अर्थ : सर्वदा भावना से ही अद्वैत भाव करना चाहिए, कभी भी क्रिया से अद्वैत नहीं। तीनों लोकों में अद्वैतभाव करे, परन्तु गुरु से अद्वैत न करे।

उक्त जड़स्वभाव जगत् बनाता है, इसलिए विवर्तशून्यता ही चिति का अजड़ परमचैतन्यरूप शरीर (स्वरूप) है यों अनुभवनिष्ठ महात्मा लोग कहते हैं। श्रीरामजी, अनात्मदर्शनरूप जो संसार है, वह अनात्मभूत जगत् में तत्त्वभावना के अधीन है, इसी से वह तत्त्वरूप से अनुभूत होता है, उसमें तत्त्वकी एकमात्र अभावना से जब तत्त्वभावना का लय हो जाता है, तब वह जीवन्मुक्त का संसार बन जाता है, फिर वह जले हुए पट के समान बन्धन के लिए समर्थ नहीं होता ॥१८-२४॥

तब जीवन्मुक्त में वह संसार कैसे अवशिष्ट रहता है ? इस पर कहते हैं।

विवर्तशून्य केवल आत्मरूप बन जाने के कारण जीवन्मुक्तों को वह संसार चिद्रूप होकर ही अवशिष्ट रहता है। अतः मुनिलोग आत्मा के विवर्त को ही प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय आदिस्वरूप संसार-चक्र की परम्परा कहते हैं। जैसे सुवर्ण में कटक आदि सुवर्ण से पृथक् नहीं है, वैसे ही चिति का स्पन्द भी चिति से पृथक् नहीं है-जो संसार है। चित्त ही चितिका विवर्त है, इसलिए फलित यही हुआ कि चितिस्वरूप का अज्ञान ही संसार है। श्रीरामजी, अज्ञान-दशा में ही यह चितिस्पन्द, सुवर्ण में उत्थित कटकरूपता की नाईं, उत्पन्न हुआ है, अतः एकमात्र बोध से इस चितिस्पन्द के विलीन हो जानेपर शुद्धरूपा चिति ही अवशिष्ट रह जाती है। स्वात्मस्वरूप के बोधमात्र से ही भोगवासना क्षीण हो जाती है। भोगवासना का विनाश हो जानेपर अपने-आप सिद्ध हुआ विषयों का अचिन्तन ही यहाँ उत्तम जीवन्मुक्त का स्वरूप समझा गया है ॥२५-२८॥

ऐसा कौन कारण है, जिससे यह विषयों का चिन्तन नहीं करता ? इस पर कहते हैं।

श्रीरामभद्र, आत्मतत्त्वज्ञान के प्रभाव से ही स्वभावतः तत्त्वज्ञ पुरुष को सभी तरह के विषय अभीष्ट नहीं होते; क्योंकि ऐसा कौन अत्यन्त तृप्त पुरुष है, जो अस्वादु अन्न की इच्छा करता हो। श्रीरामजी, जीवन्मुक्तता का दूसरा ('को नु भूत्वाऽनुबध्नामि' इत्यादि श्लोकों से वर्णित विवेक आदि लक्षणों से भिन्न दूसरा) असाधारण लक्षण आप इसे ही समझिए, जो स्वभाव से ही विषयों की अनभिलाषा है ॥२९,३०॥

अब फिर दूसरा लक्षण बतलाते हैं।

'मेरा आत्मचैतन्य ही भोक्ता, भोग्य एवं भोगों के आकार से स्पन्दयुक्त होकर सर्वस्वरूप स्थित है' इस प्रकार का भीतर उत्तम अभ्यास से युक्त दृढ़ जो निश्चय है; वही ज्ञत्वशब्द से (जीवन्मुक्तत्वशब्द से) कहा गया है ॥३१॥

जनसाधारण की तरह उसकी जो देहधारण के साधन भोगों में प्रवृत्ति है, वह तो वृथा चेष्टा ही है, यह कहते हैं।

शरीर रक्षणार्थ लोगों का अनुरोध सिद्ध करने के लिए अन्न आदि विषयों का ऊपर-ऊपर से उपभोग कर रहा भी जो परमार्थतः उपभोग नहीं करता, वही वास्तव में तत्त्वज्ञ है और इस प्रकार लोकानुरोध-सिद्धि के लिए ऊपर-ऊपर से जो चेष्टाएँ करता है, वह मानों दण्ड से आकाश का ताड़न करता है। तात्पर्य यह निकला कि आकाशताड़न में प्रवृत्त अज्ञजनों का अनुरोध स्वीकार कर आकाशताड़न में प्रवृत्त बुद्धिमान् पुरुष की चेष्टा जैसे उसके किसी भी अर्थ के लिए नहीं होती, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिए ॥३२॥

शंका हो कि यदि वह वृथा चेष्टा है, तो 'सब लोगों द्वारा किया गया दण्डों से आकाश-ताडन

मेरा ही है' इस बुद्धि की तरह 'भोक्ता, भोग्य एवं भोगों के आकारों में परिणत स्वात्मचिति ही सर्वात्मक है' यह पूर्वोक्त बुद्धि भी भ्रान्तबुद्धि होने से कृत्रिम ही ठहरी; फिर वह जीवन्मुक्त के लक्षणरूप से कैसे कही गयी ?

कृत्रिम बुद्धि के ('मैं ही सर्वात्मा हूँ' इस प्रकार की सर्वात्मभावनारूप वृत्ति के) बिना निरतिशय आनन्दात्मक आत्मतत्त्व प्राप्त नहीं होता। तात्पर्य यह है कि कृत्रिम भी सर्वात्मदर्शन परिच्छिन्न आत्मदृष्टि के निरास द्वारा तत्त्वज्ञान में उपयोगी है; अतएव वह जीवन्मुक्त के लक्षणरूप से कही गयी है।

तब देहात्मबुद्धि के निरास द्वारा तत्त्वदर्शन के प्रति उपयोगी होने से हाथ, पैर आदि अपने अंगों के छेदन, भेदन आदि साहसिक कर्म भी उसके लक्षण क्यों नहीं होंगे ? इसपर कहते हैं।

कहीं पर यानी शास्त्रों या विद्वानों के अनुभवों में सर्वात्मदर्शन की तरह अपने अंगों के अवदलन आदि साहसों का भी यदि आत्मदर्शन में उपयोग प्रसिद्ध होता तो वह भी लक्षण हो सकता; परन्तु वैसी स्थिति नहीं है। (अथवा 'विनाकृत्रिमया' यहाँ 'अकृत्रिमया' ऐसा पदच्छेद कर तदनुसार यह अर्थ करना चाहिए कि) आत्मस्वरूप के आविर्भाव में अपरिच्छिन्न, आकार से शून्य ब्रह्माकार अखण्डवृत्ति को छोड़कर अपने अंगों के छेदन, भेदन आदि के सदृश कठिनतम साहसों का कुछ भी उपयोग नहीं प्रतीत होता ॥३३॥ यह चिति जब तक अज्ञान से आवृत्त रहती है तब तक स्वप्रकाश्य वृत्ति आदि के वर्ग में प्रविष्ट होकर स्वयं ही स्पन्दरूप-सी होती हुई बाह्य-विषयों की ओर जाती है और विभ्रम देखती है। जब भीतर उत्तम तत्त्वज्ञान का उदय हो जाता है तब स्पन्दअस्पन्द-दशा का यह क्रम, शान्त दीपक की नाईं, अपने नाम के साथ न जाने कहाँ चला जाता है ? वास्तव में स्वभावतः प्रशान्तस्वरूप, चितिरूपा दीपिका की यहाँ स्पन्द एवं अस्पन्द रूपा कुछ भी कथा नहीं हो सकती ॥३४-३६॥

प्राण-चेष्टा की आत्यन्तिक शान्ति भी वही है, यह कहते हैं।

स्पन्दरहित पवन का जो रूप न सत् है, न असत् है और न उनके मध्यग यानी अनिर्वचनीय ही है; उसे ही अज्ञान एवं स्पन्द से शून्य चिति का प्रशम अर्थात् 'मोक्ष' मुनि लोग जानते हैं। जब चिद्रूप चिति का यह स्पन्दन शुद्धचिति के बृहदाकार ब्रह्माकार को धारण करता है, तब केवल आत्मा में स्थित हुआ यह न बन्ध के लिए अर्थात् बन्ध का भागी और न मोक्ष के लिए ही अर्थात् मोक्ष का ही भागी होता है। यह चिति यदि व्यर्थभूत चित्ताकार और उसकी शान्तिरूप दो दशाओं को प्राप्त न करे तो इसमें बन्ध, मोक्ष आदि पक्षों की नाममात्र से भी सत्ता न रहे ॥३७-३९॥ श्रीरामजी, 'मुझे मोक्ष हो' यह बोध ही आत्मा की पूर्णता के नाश का हेतु है और 'वह (मोक्ष) न हो' यह भी आपके बन्ध के लिए हेतु है।

तब कल्याण के लिए क्या करना योग्य है ? इस शंका पर कहते हैं।

अतः इनका (बन्ध एवं मोक्ष का) अज्ञान ही कल्याण है। तात्पर्य यह निकला कि चूँकि मुझे 'मोक्ष हो' इस ज्ञान से भी आत्मा की पूर्णता नष्ट होती है और 'मोक्ष न हो' इससे भी बन्ध होता है, इसलिए बन्ध और मोक्ष का स्मरण न करना ही आपके लिए कल्याणकर है ॥४०॥ स्वयंप्रकाश, चैतन्यरूप, सब पदार्थों का आश्रय और विषयोन्मुखता से रहित चिति का जो स्वरूप है, उसे ही आप परमपद जानिए ॥४१॥

तब भला कौन-सा बन्ध, मोक्ष आदि व्यवहारों के योग्य पदार्थ है ? उसे कहते हैं।

संकल्पशब्द का वाच्यभूत महाचिति का जो स्पन्दन है, वही बन्ध, मोक्ष आदि व्यपदेशों का भागी है। और तत्त्वदृष्टि से देखने पर तो वह नष्ट भी हो जाता है ॥४२॥ श्रीरामभद्र, तत्त्वज्ञान से अहंकार के शान्त होने और आश्रयहीन होने पर तो मैं नहीं जानता कि किसका किससे क्या बद्ध होता एवं क्या मुक्त ही होता है ॥४३॥

तब चिति के संकल्परूप स्पन्द के त्याग का उपाय क्या है ? उसे कहते हैं।

यदि विवेकी पुरुष स्वरचित संकल्प में ही अविभागवान् है यानी 'यह मुझसे संकल्पित है और यह नहीं' इस प्रकार के पूर्वापर-विचार से विभागों को यदि छोड़ देता है तो (उत्पन्न हुआ भी संकल्प बाहर स्पन्दजनन में असमर्थ होता हुआ यों ही नष्ट हो जाता है; और अर्थतः ही) यह सब अवारित असंकल्प और अस्पन्द रूप हो जाता है ॥४४॥

इस प्रकार प्रबुद्ध चैतन्य के द्वारा स्पन्द और स्पन्दमय पवन के क्षीण कर दिये जानेपर तन्मूलक संसार भी क्षीण ही हो जाता है, यह कहते हैं।

चूँकि यह संसार स्पन्दमय ही है, इसलिए प्रबुद्ध चैतन्य के द्वारा स्पन्द एवं स्पन्दमय पवन के नष्ट हो जाने पर चिद्घन के स्पन्दरहित होकर सदा स्थित हो जानेपर तन्मूलक संसार भी नष्ट हो जाता है ॥४५॥

अथवा 'यह चिति का स्पन्द चित्प्रकाश से अतिरिक्त होकर दूसरा कोई पदार्थ नहीं है' इस दृष्टि से भी उसकी निवृत्ति होती है।

श्रीरामचन्द्रजी, 'चित्प्रकाश ही चिति का स्पन्द है' यों निरन्तर ज्ञान करने पर यह जीव-जगद्रूप चितिस्पन्द चिति से अतिरिक्त होकर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता। श्रीरामजी, दृश्यमय इस दीर्घस्वप्नरूप संसार में जन्मान्तर आदिरूप दूसरे स्वप्न में जा रहा भी तत्त्वज्ञ अपने चलन आदि भ्रम को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि संविद्रूप अपना तत्त्वज्ञान सर्वगामी ही है। श्रीरामभद्र, जिसमें ये सम्पूर्ण जगत् के आकारों के अनुभव, रोके जाने पर भी बलपूर्वक निरन्तर स्वजनित आनन्दास्वाद से सुन्दरतापूर्ण उत्पन्न होते हैं, उक्त संपूर्ण ज्ञानों की स्थिति भी जिसमें उत्पन्न होती है एवं उक्त संवित्तिरूप समस्त कल्पनाओं के आकारस्वरूप पंक जिसमें लीन हो जाते हैं, उस प्रत्यगात्मा को आप कथित रीति से विचार द्वारा देखिए ॥४६-४८॥

उनसठवाँ सर्ग समाप्त

साठवाँ सर्ग

अद्वितीय शुद्ध परमात्मा की अपनी माया द्वारा सर्वाकार से
जो स्थिति है, वह उसकी विभूति है-यह वर्णन।

वर्णित ब्रह्म की विभूतियों का विस्तार से वर्णन करने जा रहे महाराज वसिष्ठजी उनमें मुख्यों का पहले निर्देश करतें हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, इस तरह सबका आदि, परम तत्त्व चिद्घन ही परमपदरूप से स्थित है। उसी परमपद में स्थित हुए ही ये महान् आकारवाले ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि, मानुषानन्द-विभवों से परिपूर्ण सन्तुष्ट राजाओं की तरह, उन्नत विभूतियों से स्फुरित होते हैं। और

जैसे देवता लोग स्वर्ग में क्रीडा करते हैं, वैसे ही उस ब्रह्मपद में ही स्थित मनुष्य, गन्धर्व आदि जन आकाशगमन आदि क्रीडाओं से यहाँ चिरकाल तक क्रीडा करते हैं। सम्पूर्ण आनन्दों के उत्कर्ष की परमावधिरूप ब्रह्म को तत्त्वज्ञान से प्राप्त कर यह जीव न तो जीव धर्म क्षुधा आदि से मरता है और न उसे प्राप्त कर शोक करता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, उसे प्राप्त कर तृष्णा आदि से न पीडित होता है और न दीवार आदि से अवरुद्ध होता है। असीम परमाकाशस्वरूप उस परमात्मा के सर्वत्र अनुस्यूत सत्तासामान्यरूप तत्त्व की सांसारिक कर्म कर रहा साधारण जन्तु शरीर भी यदि क्षण भर स्वल्प भावना करता है, तो मुक्त मन होकर जब मुनि बन जाता है, फिर संसार में सन्तप्त नहीं होता, तब आप जैसे उत्तम शरीरवालों के लिए तो कहना ही क्या ? ॥१–५॥

जिस सामान्यरूप की भावना से जन्तु परितप्त नहीं होता, वह सत्तासामान्यरूप क्या निर्विशेष है या सविशेष ? यदि निर्विशेष कहें, तो विभूति का वर्णन असंगत होगा। यदि उसे सविशेष कहते हैं, तो उसे प्राप्त कर जन्तु पुनः परितप्त नहीं होता, यह जो आत्यन्तिक परिताप के उच्छेद का वर्णन किया गया है, वह युक्त नहीं है, इस आशय से श्रीरामजी पूछते हैं।

महर्षे, मन, बुद्धि, अहंकार और चित्तरूप सर्वद्वैत जहाँ नष्ट हो गया है, ऐसा विशेषरहित पूर्ण चिन्मात्र ही सत्तासामान्यरूप है, क्या यह आप कहते हैं या मन आदि सब विशेषों से युक्त सर्वात्मा ईश्वर सत्तासामान्यरूप है, यह कहते हैं ? ।६॥

प्रपंच का बाध होने के बाद परिशिष्ट सत्तासामान्य निर्विशेष है और उसके पूर्वकाल में रहनेवाला सत्तासामान्य सविशेष है, यों दोनों का विभाग करके हमने नहीं कहा है, किन्तु सम्पूर्ण जीवभावों में, ईश्वरभाव में और मुक्ति में जो अखण्ड एक लम्बे दण्डे की नाईं सन्मात्र अनुस्यूत है, वही हमने कहा है और वही जगत् का तत्त्व है। उसमें आपका अभिप्रेत कोई विरोध है ही नहीं, इस आशय से वसिष्ठजी समाधान करते हैं।

भद्र, जो ब्रह्म सब देहों में स्थित होकर खान, पान और गमन करता है, जो जाग्रत, स्वप्न और सृष्टिकाल में वस्तुओं का ग्रहण करता है, जो सुषुप्ति और प्रलय काल में उनका नाश कर देता है तथा जो तुरीयावस्था में संवित् और संवेद्य से वर्जित रहता है; सर्वव्यापी, आदि और अन्त से शून्य, और सर्वदा विद्यमान रहता हुआ भी, कण्ठस्थित विस्मृत हार की नाईं, बोध से प्राप्त हुआ अखिल वस्तुओं का सारभूत है वही यहाँ पर सत्तासामान्यशब्द से कहा गया है ॥७,८॥

आकाशादि कार्यों में अनुस्यूत उस ब्रह्म का ही, सर्वात्मता के प्रदर्शन के लिए, उनकी विभूतिरूप से वर्णन किया जाता है, यह कहते हैं।

वह आत्मा ही आकाश में आकाशरूप से स्थित है, शब्द में शब्दरूप से स्थित है, स्पर्श में स्पर्शरूप से स्थित है और त्वचा में त्वग्रूप से स्थित है। रस में रसरूप से लीन है और रसनेन्द्रिय में रसनेन्द्रियरूप से लीन है। रूप में रूपस्वरूप से दृष्ट है और नेत्र में नेत्ररूप से लीन है। घ्राणेन्द्रिय में घ्राणरूप से दृष्ट है और गन्ध में गन्धरूप से उदित है। शरीर में शरीररूप से पुष्ट है और पृथिवी में पृथिवीरूप से पुष्ट है। दूध में दूधरूप से स्थित है और वायु में वायुरूप से स्थित है। तेज में तेजोरूप से स्थित है और बुद्धि में बुद्धिरूप से स्थित है। मन में मनरूप से स्थित है और अहंकार में अहंकाररूप से स्थित है। बुद्धि में

बुद्धिरूप से आरूढ़ है और चित्त में चित्तरूप से उठा है। वृक्ष में वृक्षरूप से लगा है और पटमें पटरूप से उदित हुआ है। घट में घटरूप से स्थित है और वट में वटरूप से उत्थित है। स्थावर में स्थावररूप से स्थित है और जंगम में जंगमरूप से स्थित है। पाषाण में पाषाणरूप से स्थित है और चार प्रकार के प्राणियों में चेतनरूप से स्थित है ॥९-१५॥

वहाँ पर विशेषाकार सत्ता भी वही है, यह कहते हैं।

देवताओं में देवतारूप से स्थित है, मनुष्यों में मनुष्यरूप से। तिर्यक्‌योनियों में तिर्यग्‌रूप से स्थित है और कृमि योनियों में कृमिरूप से स्थित है। काल के क्रम में यानी युग, संवत्सर आदि भेदों में कालरूप से स्थित है और उसके अवान्तरभेदस्वरूप ऋत्तुओं में ऋतुरूप से स्थित है। त्रुटि, क्षण, निमेष आदि अत्यन्त सूक्ष्मभूत कालभेदों में भी वह व्यापक ब्रह्म ही तत्तत् रूप से स्थित है। शुक्ल वस्तु में शुक्लरूप से स्थित हुआ है और कृष्ण वस्तु में कृष्ण रूप से स्थित है। वह क्रियाओं में क्रियारूप से स्थित है और दैव में दैवरूप से स्थित है। वह परमेश्वर स्थिति में स्थितिरूप से स्थित है, संहार में संहाररूप से स्थित है तथा उत्पत्ति में उत्पत्तिरूप से स्थित है। बालरूप में बाल्यरूप से स्थित है, युवा में यौवनरूप से स्थित है, वृद्धरूप में वार्धक्यरूप से स्थित है एवं मृत में मरणरूप से स्थित है। इस प्रकार सब पदार्थों में तत्-तत् रूप से स्थित हुआ वह परमेश्वर सत्तासामान्यरूप से उस तरह उनसे अभिन्न है; जिस तरह समुद्र में स्थित कल्लोल, जलकण एवं ऊर्मियाँ जलसामान्यरूप से अभिन्न हैं ॥१६-२१॥

शंका हो कि एकरूप यह परमात्मा नानारूप होकर उनमें कैसे स्थित रहता है ? तो इसका समाधान यह है कि अपने अज्ञान से जनित भ्रान्तिकल्पना से ही वह नानारूप से स्थित रहता है, न कि वस्तुतः यह कहते हैं।

श्रीरामजी, सत्यस्वरूप चित्स्वभाव इस परमात्मा द्वारा कल्पित होने से इनकी नानारूपता उस प्रकार असत्य ही है; जिस प्रकार बालक द्वारा कल्पित वेताल। हे महात्मन्, सर्वत्र स्थिति रखनेवाले विकाररहित एवं चैतन्यस्वरूप मैंने स्वयं ही यह जगद्रूप कल्पना की है। यह सम्पूर्ण विश्व मेरे ही विविध विलासों से व्याप्त है। अतः 'यह मुझ आत्मा की ही विभूति है, मुझे छोड़कर और कुछ नहीं है' यों तत्त्वज्ञान प्राप्त कर शान्तचित्त होते हुए आप सुखपूर्वक स्थित रहिए। श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : मुनि वसिष्ठजी महाराज के ऐसा कहनेपर दिन बीत गया, सूर्यभगवान् अस्ताचल की ओर पधारे। सभा भी सायंकालीन विधि के लिए मुनिजी को नमस्कार कर उठ गयी और रात्रि बीतनेपर सूर्य-किरणों के साथ पुनः दूसरे दिन आ जुटी ॥२२-२४॥

साठवाँ सर्ग समाप्त

इकसठवाँ सर्ग

यह जगत् स्वप्न एवं माया के तुल्य है-इसका युक्ति से साधन तथा भ्रान्ति से,
बिना विरोध के, सब जगह सबकी उत्पत्ति सम्भव है, यह वर्णन।

दृश्यमान यह सब जगत् यदि परमात्मा की स्वप्नसदृश, भ्रान्तिकल्पित एक विभूति ही है तो ब्रह्मा आदि की दृष्टि में वह स्वप्न के सदृश भ्रान्ति ही अवभासित होती है और हम लोगों की दृष्टि

में तो वह स्वप्न के सदृश भ्रान्ति नहीं भासती, किन्तु दृढतर सत्यरूप ही भासती है। भगवन्, एक ही पदार्थ का इस प्रकार विषमता से भान होने में क्या कारण है ? यदि इस पर कहें कि दीर्घकाल से चले आने के कारण हम लोगों को सत्यरूप और दृढ़तर अनुभूत होती है, तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि फिर तो ब्रह्मा आदि को, जिनकी आयु दो परार्धवर्ष की है, हम लोगों की अपेक्षा संसारकी चिरकालतक अनुवृत्ति होने से उसमें (जगत् में) सत्यता एवं दृढ़ता की और भी अधिकता होने लगेगी, इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

हे मुने, जैसे हम लोगों की दृष्टि में स्वप्नकालीन नगर, राजधानी एवं देश भ्रान्तिरूप हैं; वैसे ही यदि हिरण्यगर्भ आदि की दृष्टि में देहधारण और उसी प्रकार उत्पन्न हुआ यह समस्त जगत् असद्रूप भ्रान्ति ही है, तो हम लोगों को ही इस प्रपंच में दृढ़तर सत्यत्वबुद्धि क्यों होती है और उन्हें (हिरण्यगर्भ आदि को) दृढ़तर सत्यत्वबुद्धि क्यों नहीं होती ? ॥१,२॥

चिरकालानुवृत्ति का बाध न होना ही सत्यता–भ्रम की दृढ़ता में हेतु है, न कि बाधित चिरकालानुवृत्ति, इस आशय से महाराज वसिष्ठजी समाधान करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, (जब यह ब्रह्मदेव पहले कभी उपासना कर रहे थे तब उन्हें तत्त्वज्ञान न रहने से) उनकी (प्रजापति की) उस समय की प्रथम सृष्टि, आज हम लोगों द्वारा अनुभूयमान सृष्टि के समान, यद्यपि चारों ओर से चार प्रकार भूत–समूहरूप जीवों के प्रतिभासस्वरूप हुई सत्य ही भासती थी; तथापि आज उसके तत्त्वज्ञान से बाधित हो जाने के कारण वह अपनी कुछ भी सत्यता (सद्रूपता) नहीं रखती। जब तक अज्ञान है तब तक चिति के सर्वव्यापी होने से जीव भी सर्वरूप होता है और सर्वत्र संसार भी सत्य–सा होता है; क्योंकि वह संसृति तत्त्वज्ञान के विरोधी अज्ञान से उत्पन्न होती है और तत्त्वज्ञान से नष्ट होती है। इसलिए हिरण्यगर्भ को यह जो तत्त्वज्ञान से बाधित, स्वप्नतुल्य यानी सुंदर प्रपंच का प्रतिभास उत्पन्न होता है; वही अज्ञानी हम लोगों को अहंता–बुद्धि से एकरूप होता हुआ अत्यन्त दृढ़ होकर स्थित है ॥३–५॥

शंका हो कि तब प्रजापतियों को तत्त्वज्ञान से स्वयं कल्पित प्रपंच की शीघ्र विनाशिता का अनुभव क्यों नहीं होता ? तो भोगजनक अदृष्ट ही उसमें प्रतिबन्धक है, इस आशय से समाधान करते हैं।

जिस प्रकार सो रहे पुरुष को स्वाप्निक भोगों के जनक कर्मों से प्रतिरूद्ध होने के कारण स्वप्न में विद्यमान भी शीघ्रविनाशिता नहीं दीखाई पड़ती, उसी प्रकार हिरण्यगर्भ के समष्टिस्वप्नरूप इस जगत् में पद्मजों को विद्यमान शीघ्रविनाशिता का बोध होने में भी भोगजनक अदृष्ट ही प्रतिबन्धक दिखाई पड़ता है ॥६॥ श्रीरामजी, इस शयनस्थ पुरुष को अनुभूयमान यह प्रसिद्ध हम, तुम आदि समस्त जीव जगत्–स्वरूप स्वप्न जैसा ही यानी अनादि अनन्त प्रवाहरूप है, वैसा ही प्रजापति का भी स्वप्न है ॥७॥

माना कि प्रजापति का समष्टि स्वप्न भी वैसा ही है, उससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

जो स्वाप्निक पुरुष से उत्पन्न हुआ है, वह उसी प्रकार स्वप्नपुरुषरूप है, जिस प्रकार आम के बीज से उत्पन्न हुआ आम का फल आम्रबीजरूप ही है, कोई दूसरा नहीं, वैसे ही स्वप्नपुरुष से उत्पन्न हुआ जीव–जगद्रूप संसार भी स्वप्नपुरुषरूप ही है, दूसरा नहीं ॥८॥

ऐसा ही सही, उससे भी प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

श्रीरामजी, असत्यभूत मनःकल्पित स्वप्नपुरुष से जो उत्पन्न किया जाता है, वह भी असत्यरूप ही उत्पन्न होता है। इसलिए जन्मान्तर, स्वर्ग, नरक आदि अर्थक्रियासमर्थ भी असत्यभूत अर्थों में (विषयों में) दृढ सत्यता की भावना करना युक्त नहीं है, यह जानिए। भद्र, चूँकि वह भावना युक्त नहीं हे, इसलिए स्वप्नपुरुष से उत्पन्न जो असत् पदार्थों की भावना है, दृढ़ सत्यरूप से प्रतीत हुई भी वह छोड़ ही देनी चाहिए॥९,१०॥ हम लोगों को भी स्वप्न में जिस सृष्टि का भान होता है, उसमें उस समय दृढ़रूपता का ही भान होता है अर्थात् उस समय उसमें मिथ्यात्वबुद्धि नहीं होती, इसलिए उसकी सत्यता नहीं मानी जाती। ठीक वैसी ही स्थिति हिरण्यगर्भ के समष्टिस्वप्नरूप सृष्टि की भी जानिए। प्रजापति सम्बन्धी सृष्टि की दीर्घकालस्थिति स्वीकारकर यह सब कहा गया है, वस्तुतः उसकी दीर्घता भी हरिश्चन्द्र के स्वप्न की दीर्घता की नाईं (📖) थोड़े समय तक भी हो सकती है, यह कहते हैं। वस्तुतः वर्षाकालीन जलप्रवाह की नाईं निमेषमात्र के लिए ही प्रजापति का यह सृष्टिस्वप्न सामने स्थित है और निमेषमात्रस्वरूप ही इस स्वप्न में कल्परूपता की केवल कल्पना की गयी है॥११॥

प्रजापति की नाईं सबको अपने-अपने स्वप्नों में उस समय दीर्घ-प्रपंचता का भान होता ही है, यह कहते हैं।

जिस प्रकार प्रजापति को सृष्टिनामक दीर्घतम स्वप्न का प्रतिभास होता है, उसी प्रकार सब प्राणियों में प्रत्येक को दीर्घ स्वप्न का प्रतिभास होता है॥१२॥

जिसकी प्रसिद्धि चिति के ही अधीन है, ऐसा दृश्यत्व मिथ्यात्व में ही प्रयोजक है, वह दृश्यत्व हम लोगों की स्वाप्निक सृष्टि तथा हिरण्यगर्भ की स्वाप्निक सृष्टि में समान है।

जिस प्रकार द्रवत्व के कारण आवर्तरूप परिवर्तनों से जल प्रस्फुरित होता है, उसी प्रकार चितितत्त्व के अस्तित्व से यह सृष्टि की परंपरा प्रस्फुरित होती है॥१३॥ श्रीरामजी, जब यह सृष्टिशोभा स्वप्नस्वरूप ही है, तत्त्वतः सत्यरूप नहीं है; तब सर्गादि के साथ वह प्राजापत्यपद भी प्रलय में ही चला गया यानी अत्यन्त असत्रूप ही हो गया। इसीलिए – न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्तिरित्येषा परमार्थता॥ (न प्रलय है, न उत्पत्ति है, न बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्ति ही है – यही परमार्थता है।) यह प्रसिद्ध श्रुति वचन अपना अस्तित्व रखता है॥१४॥

जब ये सम्पूर्ण पदार्थ अत्यन्त असत् ही हैं तो व्यवहार योग्य कैसे हुए ? ऐसी यदि आशंका हो, तो उसका- 'वैसा अनुभव होने से ही' यों समाधान है; अतः यहाँ कुछ प्रष्टव्य (शंका करने योग्य) ही नहीं है, यह कहते हैं।

इस संसार में जो वस्तु जिस प्रकार से जैसी देखी गयी है, वह उस प्रकार से वैसी ही विद्यमान है। अतः स्वप्न-भ्रम की रीतियों में किसी भी प्रकार की शंका-कुशंका न करनी चाहिए॥१५॥

अज्ञान की (अविद्या की) अघटित घटना में सामर्थ्य होने से भी शंका का अवसर नहीं है, यह कहते हैं।

(अविद्या के अघटित घटना में समर्थ होने के कारण) इस जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसका

(📖) राजा हरिश्चन्द्र को रात्रि में जो स्वप्न दीख पड़ा, वह उसे ऐसा प्रतिभासित हुआ कि मानों मैंने १२ वर्ष तक स्वप्न देखा हो-ऐसा पुराणों में प्रसिद्ध है।

भ्रम में संभव न हो। इस त्रिभुवन में चित्र–विचित्र आश्चर्यजनक वस्तुकी सृष्टियाँ दीख पड़ती है ॥१६॥

जगत् में असंभावित अनेक पदार्थों का दर्शन दृष्टान्तरूप से बतलाते हैं।

श्रीरामजी, (जगत् में चित्र–विचित्र ऐसे अद्‌भुत आश्चर्य दिखाई पड़ते हैं कि) जल के बीच आग जलती है, जैसे–समुद्र में वडवानल। और आकाश में अनेक नगर हैं, जैसे–देवताओं के स्वर्गादि निवास–स्थान। भद्र, देखिए जैसे, शिलाओं में कमल उत्पन्न होते हैं, हेमाद्रि–पर्वत में (मृत्तिकारहित प्रदेश में) वृक्ष उत्पन्न होते हैं। कल्पतरू में एक देश में सम्पूर्ण पुण्यों के फलस्वरूप वांछित पदार्थ रहते हैं (卐)। जैसे वृक्षों की नाईं शिलाएँ चिन्तामणियों के गुच्छे फलती है, शिलाओं के भी भीतर प्राणी रहते हैं, जैसे–शिला के मध्य में मेढक। पत्थर से पानी बहता है, जैसे–चन्द्रकान्तमणि के पत्थर से। और स्वप्न में क्षणभर में ही घट पटरूपता को प्राप्त हो जाता है। अत्यन्त असत् वस्तुओं का भी ज्ञान होता है, जैसे–स्वप्न में अपने मरण का। और पृथ्वी आदि भूतों में स्थित जल अकस्मात् आकाश में भी धारण किया जाता है। वितान (चँदोवा) के समान आकाश में भी जल स्थित रहता है, जैसे–मन्दाकिनी। स्थूल शिलाएँ भी उड़ती हैं, जैसे–पंखवाले पर्वत। इसमें सन्देह नहीं कि शिला के भीतर सब कुछ पाया जा सकता है, जैसे–चिन्तामणि में। इस संसार के भीतर सभी चिन्तित विषय शीघ्र वैसे ही फलते हैं, जैसे– नन्दनवन के भीतर। श्रीराघव, 'मोक्ष उत्पन्न हो', 'ब्रह्म नष्ट हो', 'प्रपंच सत्य हो', 'भोग शाश्वत हो जाय', 'मर्यादा भंग हो', वेद अप्रमाण हो जाय' इत्यादि मोक्ष आदि के विषय में सत्यसंकल्प लोगों के शीघ्र चिन्तित भी मनोरथ नहीं फलते यानी उत्पन्न नहीं होते। हे श्रीरामचन्द्रजी, अचेतन भी कर्म करता है, जैसे– यन्त्रपुरुष। श्रीरामजी, इत्यादि पूर्व में उक्त और दूसरे भी असंभावित विचित्र कार्यों के विभ्रम शम्बर (दैत्यविशेष) और गन्धर्वों की माया के विलासों से देखे गये हैं। जो देश और काल में मन्त्रप्रयोग आदि क्रियाओं से, औषधादि द्रव्यों से, मणियों से तथा पिशाच, आदि के संचारों से उत्पन्न हैं, वे विचित्र कार्यों के विभ्रम भी देखे गये हैं जो कि सत्य पदार्थों की नाईं अर्थक्रियाकारी अनन्त एवं गन्धर्वनगर के सदृश जनित हैं। यहाँ दूरत्वादि देश में चन्द्रमा का प्रादेशिकत्व आदि और काल में औत्पातिक नभःकबन्ध आदि विभ्रम उदाहरण समझने चाहिए। इस समय असंभव भी यह ब्रह्माण्ड–नाश आदि भविष्यत् में संभव हो जाता है। और इस समय संभव भी सृष्टिरूप स्वप्नविभ्रम प्रलय एवं तत्त्वबोध में असंभव होता हुआ स्वरूपविश्रान्ति के लिए समर्थ हो जाता है ॥१७–२७॥

एवं ब्रह्मरूप से देखने पर असत्य कुछ भी नहीं है और जगद्रूप से देखने पर तो कुछ भी सत्य नहीं है, यह फलित हुआ, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, (ब्रह्मरूप से देखनेपर) वैसा कुछ भी नहीं है, जो सत्य न हो; और (जगद्रूप से देखने पर तो) वैसा कुछ भी नहीं है, जो असत्य ही न हो। सृष्टिनामक हिरण्यगर्भ के इस स्वप्न में सर्वत्र सबसे सब कुछ होता ही है। जिस प्रकार स्वप्न में निमग्न बुद्धि प्राणी वस्तुओं की स्थिरता ही देखता है, उसी प्रकार सृष्टिरूप स्वप्न में भी निमग्नबुद्धि विषयों की स्थिरता देखता ही है। संसार में अत्यन्त स्थिरता–

(卐) यहाँ यदि 'पण्यानि' ऐसा पाठ हो तो 'पणन' यानी व्यवहार और उसके योग्य वस्तुएँ' यह अर्थ समझना चाहिए। यदि 'पुष्पाणि' यह पाठ हो, तो उसका अर्थ स्पष्ट है। सर्वत्र 'यथा' शब्द उदाहरणार्थक है।

बुद्धि रखनेवाला यह जीव एक भ्रम से दूसरे भ्रममें और एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में जाते हुए मोह को प्राप्त करता है। श्रीरामभद्र, जैसे मुग्धमृग गड्ढे में गिरानेवाले अपने मोहरूप दोष से एक गड्ढे में गिरकर पुनः दूसरे गड्ढे में गिरता है, वैसे संसार में गिरनेवाले राग, द्वेष आदि से मूढ यह जीव-जिसका गिरना ही एक स्वरूप है, मृग की तरह बीच में से निकल सकना संभव है ही नहीं ऐसे-मोह में यानी देहादिरूप गर्त में प्रवेश-भ्रम को प्राप्त होता है ॥२८-३१॥

इकसठवाँ सर्ग समाप्त

बासठवाँ सर्ग

जीवटाख्यान में विचित्र वासनाओं के कारण भिक्षु के
मनोव्यापार से घटित अनेक देहों की प्राप्तिरूप भ्रम का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे राघव, 'एक भ्रम से दूसरे भ्रम में जा रहे' इस कहे गये अर्थ में दृष्टान्तभूत यह एक ऐसा इतिहास, जो किसी एक साधारण मननशील भिक्षुक का वृत्तान्त है, कहता हूँ, आप उसे सुनिए। भद्र, समाधि के अभ्यास में निरत और शम, दम, वैराग्य आदि से सम्पन्न कोई एक परिव्राजक था। वह निरन्तर अपने आश्रमोचित श्रवण, मनन आदि व्यवहारों से पूरा दिन बिताता था। समाधि के (ध्येयाकार की दृढ़ता से चित्त को पूर्वरूप की शून्यता में परिणत कर देना स्वरूप समाधि के) अभ्यास से पहले की वासनाओं का त्याग कर देने में समर्थ हुए उस परिव्राजक का वह चित्त, क्षण में जिसका चिन्तन करता था शीघ्र ही वह उस भाव को वैसे प्राप्त हो जाता था; जैसे जल तरंगभाव को। किसी एक समय में समाधि से विरत होकर वह उठा और एकाग्रचित्त होकर अपने ही आसन पर बैठा। उस पर स्थित होकर वह किसी एक क्रियाक्रम का विचार करने लगा। उस प्रकार विचार कर रहे उस परिव्राजक को स्वतः ही यह संकल्प हुआ कि मैं तत्काल ही लीलावश शास्त्रसंस्कारों से हीन पामरजनों के चित्त की चेष्टाओं की भावना करूँ। श्रीरामजी, इस प्रकार विचार करने के बाद उस परिव्राजक का चित्त किसी एक यतिधर्म से अनियन्त्रित अन्य पामर पुरुष के रूप में उस प्रकार परिणत होकर स्थित हुआ, जिस प्रकार विलोडन करने पर जल अपने पूर्व प्रवाह तथा समस्थिति को छोड़कर नाभि के आकार के सदृश 'भँवर' नामक दूसरे रूप में परिणत होकर स्थित रहता है ॥१-६॥

उसमें अवश्यम्भावी नामकल्पना बतलाते हैं।

उसके बाद उस चित्तपुरुष ने स्वेच्छा से अपने नाम की 'मैं जीवट हूँ' इस प्रकार कल्पना की और सहसा काकतालीयन्याय से उसी रूप का होकर स्थित हो गया। तदनन्तर स्वप्नपुरुष वह जीवट (भिक्षु) स्वप्नरचित किसी नगर में नगर की गलियों में चिरकाल तक विहार करने लगा। वहाँ पर (निवास कर रहा वह जीवट एक दिन) लीलावश वैसा मद्यपान कर मत्त हुआ, जैसा भँवरा कमल-मधु का पान कर मत्त होता है। उस मद्यपान से हृष्ट हुआ वह गाढ निद्रा में सो गया। जिस प्रकार कल्पनामात्र से चित्त में देशान्तर की प्राप्ति देखी जाती है, उसी प्रकार उस जीवट ने स्वप्न में एकमात्र कल्पना से जनित, वेदाध्ययन तथा सत्कर्मानुष्ठान से सन्तुष्ट ब्राह्मणरूप में अपने को देखा। किसी दिन विविध दैनिक व्यवहारों में लगे रहने के कारण थका हुआ द्विजों में श्रेष्ठ वह जीवट, बीज में संस्काररूप से

स्थित वृक्ष की नाईं, चित्त में संस्काररूप से स्थित सभी व्यवहारों से युक्त होकर सो गया। इसके बाद (गाढ़ निद्रा को प्राप्त हुए) स्वयं उस द्विजराज ने स्वप्न में अपने को मेघमाला–सी घनी हाथी, घोड़े आदि सेनाओं से युक्त माण्डलिक राजा देखा। भोजन किये हुए उस माण्डलिक राजा ने किसी एक दिन गाढ़ निद्रा द्वारा स्वप्न में अपनी आत्मा में वह चक्रवर्तिता देखी, जो समस्त दिक्मण्डल का पालन करने में समर्थ और पुष्प–समुह से लता की नाईं भोग–समूह से युक्त थी। कारण में अपने कार्य की नाईं अर्थात् बीज में वृक्ष की नाईं भविष्य में फल देने के लिए उन्मुख हुए स्त्रीविषयक आसक्तिरूपी आचार से युक्त वह सम्राट किसी एक दिन स्वस्थ एवं समस्त चेष्टाओं से रहित होता हुआ सो गया। तदनन्तर स्वप्न में वह सम्राट अपनी आत्मा में बहुत पुरुषों द्वारा भोग करने पर भी अनिन्दित अप्सरारूपता को उस प्रकार देखने लगा, जिस प्रकार वृक्ष के कोश में स्थित रस का उल्लास (♨) अपने में आविर्भूत मंजरीत्व को देखता है। सुरत से श्रान्त, अतएव गाढ निद्रा को प्राप्त हुई उस देवांगनाने (मृगीनयनों की सौन्दर्याभिलाषा रूप वासना से) अपनी आत्मा में अभिलषित वैसे ही मृगीरूपता देखी, जैसे जल की साम्यावस्था आवर्तरूपता देखती है। तदनन्तर किसी दिन चंचल नेत्रा एवं गाढ निद्रा से आक्रान्त हुई उस मृगी ने स्वप्न में अपने में वल्लीत्व देखा, जो अभ्यासवश दृढ़ हुआ था ॥७–१७॥

'तिर्यक्–योनियों को भी स्वप्न दीखता है या नहीं' इस प्रकार सन्देह करनेवाले पुरुषों के प्रति निश्चय बतलाते हैं।

श्रीरामजी, चूँकि (दृष्ट एवं श्रुत विषयों के संस्कारों का ग्राहक होने से) चित्त दृष्ट एवं श्रुत विषयों का अनुपहत (अखण्डित) स्मरण किया करता है, इसलिए ये (तिर्यग्योनि जीव) भी चित्त के स्वभाव से संस्कारवश स्वप्न देखते हैं, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है, यह भाव है। फूल फल एवं पल्लवों में आसक्ति रखने के कारण वनदेवियों के वनोद्यान के मध्य में स्थित लतागृह की नाईं विलासों से युक्त वह मृगी लता हो गयी। उस लता ने कुछ समय तक साक्षिचैतन्य के द्वारा घनीभूत निद्रा का यानी सुषुप्ति का अनुभव कर, तदनन्तर, बीज के अन्दर स्थित भावी अंकुराकार बुद्धि के सदृश स्वरूपवाली बुद्धि से स्पष्ट अपना छेदन देखा तथा स्वप्न के प्रति उन्मुख उद्‌बुद्ध हुए भ्रमराकार संस्कार से समन्वित बुद्धि से सुषुप्ति में स्थित अपने को स्थिर भ्रमररूप में देखा। जिस प्रकार युवतियों में उनका प्रिय युवक विहार करता है, उसी प्रकार यह भँवरा भी वन में स्थित वनलताओं और खिली हुई कमलिनियों में विहार करने लगा। पुष्प–समूहरूप सुन्दर मोतियों की लताओं में विलास करनेवाले भ्रमरों के मध्य में घूम रहे उस भँवरे ने रमणी के अधरबिम्ब के सदृश स्वादयुक्त रसवाले कुसुमों के मधु का (मकरन्द का) पान किया। और वह भँवरा किसी एक कमलिनी में आसक्त होता हुआ कमल के नाल में संलग्न हो गया, क्योंकि जड़बुद्धि का चित्त कहीं पर अनुराग कर ही लेता है। श्रीरामजी, (एक समय की बात है) उस कमलिनी को उखाड़ फेंकने के लिए कोई एक हाथी आ धमका। ठीक ही है ! मूर्खों की इच्छाएँ रमणीय वस्तुओं का नाश करने में ही बढ़ती है। उस हाथी ने भ्रमर की आश्रय वह कमलिनी मर्दित कर ही डाली। और उसी कमलिनी के नाल

(♨) रसोल्लास में चेतनता की कल्पना कर अथवा लक्षणा से रसोल्लास पद से वृक्षजीव का ग्रहण कर दर्शन–क्रिया की उपपत्ति करनी चाहिए। इसी तरह अन्यत्र अचेतन को भी समझना चाहिए।

के साथ वह भँवरा भी हाथी के दाँतो के बीच में पड़कर धान के पौधे के साथ कृष्ण (काले) धान की नाईं चबाया जाता हुआ चूर-चूर हो गया। उस भँवरे ने हाथी के दर्शन से जनित हाथी के आकार की भावना से अपने को गन्धविशेष से (मद से) उन्मत्त हाथी के रूप में तैयार देखा। तदनन्तर शुष्क सागर के समान हाथियों को फँसाने वाले पीलवानों (महावतों) से निर्मित गम्भीर एक गड्ढे में वह हाथी ऐसे गिरा, जैसे अज्ञानान्धकार से श्रृंखलाबन्धन से भी कठोर शून्य संसार में परवशता आदि दुःखों का अनुभव कर रहा जीव गिरता है। शत्रुओं की महती सेना का नाश करनेवाला और सर्वदा मद के बल से उन्मत्त वह हाथी (जो किसी राजा के द्वारा उस गड्ढे से निकलवाकर शिक्षित किया जा चुका था, उस) राजा का अत्यन्त प्रीतिपात्र हुआ। किसी समय (उस राजा का किसी राजा से जब रात में ही युद्ध ठन गया तब) रात में निकलकर दीर्घ खड्गों एवं कृपाणों से उस प्रकार छिन्न-भिन्न होता हुआ मृत्यु को प्राप्त हो गया, जिस प्रकार आत्मा में जीव (जीवोपाधि-देहादि अभिमानवाला जीव) विवेकरूप पवन से छिन्न-भिन्न हो जाता है। हस्ति-समूहों से गण्डस्थलों के अग्रभागों से उड़ी हुई भ्रमर-पंक्तियों को देखता हुआ वह हाथी गण्डस्थित चिरसंगति के संस्कार से पुनः भी भँवरा हो गया। तदनन्तर वनलताओं का सेवन कर रहा वह भँवरा पुनः कमलिनी के पास आ पहुँचा, क्योंकि अज्ञानी जीवों की वासनाओं का दुरभ्यास सर्वथा दुस्त्याज्य ही होता है। वहाँ भी पुनः हाथी के खुरों से विताड़ित हुआ वह (भँवरा) चूर-चूर हो गया और समीप में स्थित हंस के दर्शन से यानी उससे उद्बुद्ध हुई वासना से मधुरभाषी हंस हो गया। बहुत समय तक अनेकविध योनियों में भटकता हुआ (🕭) वह कलहंस किसी समय एक बार पुनः हंसजन्म प्राप्त कर बहुत से हंसों के साथ विहार करने लगा। वहाँ हंसों की सभा में उसने ब्रह्मदेव के हंस के गुण, आकार आदि का वर्णन सुना। उससे उसी जन्म में हंसरूप इस भिक्षु के अन्तःकरण में नाम और आकार से समन्वित 'मैं भी ब्राह्महंस हो जाऊँ' इस तरह की वासना वैसे ही किंचित् घनीभूत हो गयी, जैसे पूर्व में वर्णित अण्डरस में स्थिर मोर। उसीका चिन्तन कर रहा वह (भिक्षु) व्याधिरूप घुन से दृढ आहत होकर मर गया और उस ब्रह्म हंसकी नाम एवं आकार उभयविषयक वासना के अनुसन्धान से ब्रह्म देवका वाहन हंस बन गया। श्रीरामजी, विपुल तथा सर्वदा अनुस्यूत विवेकवाले ब्रह्मदेव के अपने विवेक, वैराग्य, तत्त्वज्ञान आदि उपदेशों के विलासों से उसी जन्म में ब्रह्म-लोक में ही भलीभाँति बोधित, अतएव भोग्य पदार्थों में सारदृष्टि से शून्य होता हुआ वह हंस जीवन्मुक्त होकर स्थित हो गया। इस प्रकार जीवित रहते हुए ही जब उसने निरतिशय आनन्दरूप मोक्षसुख की प्राप्ति कर ली और - 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे। परस्याऽन्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥' - इस श्रुति के अनुसार दो परार्घवर्ष के अन्त में ब्रह्म देव के साथ ही विदेहमुक्त भी हो गया तब उस हंस के लिए इससे अधिक साध्य ही क्या शेष रहा ? यह विद्वान् ही सोचें। तात्पर्य यह निकला कि ज्ञान से इसी

(🕭) योनिष्वन्यासु संल्लुठन् इससे 'हंसः पद्मवने भूत्वा विन्ध्यकच्छे च वारणः। हरिणो देहयन्त्रादौ... इत्यादि वक्ष्यमाण रीति से बीच में इसके पचासी जन्म हुए हैं, ऐसा मालूम पड़ता है। तथा उक्त दो प्रकार के हंस जन्म ग्रहण कर लेने के बाद वह रुद्ररूप हुआ, यह - 'संसारशतपर्यन्ते रुद्रः सोऽहं व्यवस्थितः।' इत्यादि से आगे कहेंगे।

जन्म में समूल अनर्थों की निवृत्ति एवं निरतिशय आनन्दप्राप्ति के सम्पादित कर लेने और उससे अतिरिक्त पुरुषार्थ के शेष न रहने से वह कृतकृत्य हो गया ॥१८–३७॥

बासठवाँ सर्ग समाप्त

तिरसठवाँ सर्ग

रुद्ररूपता को प्राप्त हुए उस हंस को पूर्व-देहों का ज्ञान,
उनकी शतरुद्रता तथा एकरूपता-इनका वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, वह हंसपक्षी अनायास ही ब्रह्मदेव के आसनभूत कमलिनी के नाल में लीलाप्राप्त करने से यानी ब्रह्मदेव का वाहनरूप सामीप्य एवं मुक्तिरूप पद को प्राप्त करने से किसी एक समय ब्रह्मदेव के साथ रुद्रपुर में पहुँचा और वहाँ उसने भगवान् रुद्र को देखा ॥१॥ वहाँ पर भगवान् शंकर में ज्ञान, योग, ऐश्वर्य आदि सम्पूर्ण गुणों का आधिक्य देखने से उस हंस को 'मैं भी रुद्राहम्भावना से रुद्ररूप हो जाऊँ' यों दृढ़ बुद्धि हो गयी।

शंका हो कि जीवन्मुक्त, अतएव वासनाशून्य उस हंस को रुद्रत्व की इच्छा ही कैसे होगी और उस वासना के अभ्यास से देहत्याग के साथ पुनः उसका रुद्र शरीर धारण भी कैसे होगा ? यदि इस पर कहो कि 'भरतस्य त्रिजन्मभिः' इस न्याय के अनुसार नाना देहों से भोग्य प्रारब्ध कर्मों के अवशिष्ट रहने से वह देहान्तर धारण कर सकता था तो यह ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ पर रुद्रविषयक अहम्भाव धारण करने का जो वर्णन किया गया है, वह निरुपयोगी हो जायेगा। इसी प्रकार भगवान् रुद्र के ईश्वर होने के कारण रुद्ररूपता में कर्मफलत्व भी नहीं आ सकता ? इस पर कहते हैं।

उसकी वह इच्छित रुद्रता दर्पण में प्रतिबिम्ब की नाईं प्रतिबिम्बरूप ही थी। तात्पर्य यह है कि यह वर्णित रूद्रभाव मुख्य रूद्रभाव नहीं है, किन्तु प्रतिबिम्ब के समान सारूप्यमुक्ति ही है और वह कर्मोपासना का फल भी हो सकती है। तथा च, 'देवो भूत्वा देवानप्येति' यह श्रुति इस विषय में प्रमाण है ॥२॥

हंस का यह रुद्रदेहधारण जन्मान्तर नहीं है, किन्तु अवशिष्ट प्रारब्ध से उपनीत इच्छा के कारण योगियों के समान मानस देहान्तर की कल्पना द्वारा पूर्व देह का त्यागमात्र ही है, इस आशय से कहते हैं।

वहाँ पर उस हंस ने (रुद्रभावनावश) रुद्रशरीर धार कर अपने उस पूर्ववर्ती हंस शरीर का उस प्रकार त्याग कर दिया जिस प्रकार गन्ध पवनरूपता को प्राप्त कर पुष्प गुच्छों का त्याग कर देती है। वह रुद्र उस रुद्रभवन में गाणपत्यपद की प्राप्ति के कारण उन-उन शिवपुर के आचारों से यथेच्छ विहार करने लगा ॥३,४॥

सारूप्य-मुक्ति में यद्यपि जगत् का संहार आदि करने का अधिकार नहीं है; तथापि ज्ञान, ऐश्वर्य आदि से प्रसिद्ध रुद्रभगवान् का साम्य तो है ही, इस आशय से कहते हैं।

वहाँ पर परम श्रेष्ठ ज्ञान एवं ऐश्वर्य आदि के विलासों से प्रसिद्ध रुद्र भगवान् के साथ समता-विशिष्ट उस अलौकिक बुद्धि से उस रुद्र ने अपने पूर्वतन सम्पूर्ण वृत्तान्तों का भी अवलोकन कर लिया। उस समय आवरणरहित, एकमात्र ज्ञानाकार भगवान् रुद्ररूप उसने, अपने सैकड़ों स्वप्नों से आश्चर्यचकित होते हुए अपने मन में ही कहा : यह महान् आश्चर्य है कि चारों ओर फैली हुई यह माया

विश्व को मोहित करनेवाली है। मरूभूमि में जल की नाईं यह स्वयं असद्रूपा ही है; फिर भी सद्रूप-सी भासित हो रही है। आ! मुझे स्मरण आ गया कि सर्वप्रथम प्राक्तन पारमार्थिक स्थिति से मैं चिद्रूप ही था। तदनन्तर मायावश चित्तरूपता को ('एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय' इत्याकारक सृष्टिसंकल्प-वृत्तिता को) प्राप्त हुआ। उस तरह के संकल्प से ही मैं सम्पूर्णरूप से संपन्न होता हुआ चिदंश में सर्वज्ञ और गगन आदि की भावना से जडांश में गगन आदि विभागवान् भी हो चुका हूँ। तदनन्तर मेरा स्वेच्छा से व्यष्टि-समष्ट्यात्मक लिंगदेह में चिदात्मरूप से प्रवेश होने पर-स्थूलभूतों तथा सूक्ष्मतन्मात्राओं से और उन देहों से अभेदाध्यास होने के कारण-तद्गत वासनाओं के वैचित्र्य से चित्रपट की नाईं रंजित होता हुआ मैं जीवरूप होकर स्थित हुआ। और अनादिकाल से जन्म-परम्पराओं का अनुभव कर रहा वह जीव भी किसी एक सर्ग में वैराग्य एवं समाधि में पटुता होने के कारण चारों ओर से विषयों के क्षोभ से रहित होता हुआ संन्यासी हो गया ॥५-९॥

आत्मज्ञान से शून्य उस भिक्षु में रम्यवस्तुओं में इदन्त्व (यह) या अहन्त्व (मैं) बुद्धि रखने के कारण चित्तनिरोध के अभ्यास में पटुता होने से पूर्वदेहादि के आत्यन्तिक विस्मरणशक्ति की उत्पत्ति हुई, यह दिखलाते हैं।

बँधे हुए पद्मासन से स्थिरता रखनेवाले उस भिक्षु ने, स्थूल देह के अवयव तथा लिंगदेह के अवयव प्राण, इन्द्रिय आदि के निरोध द्वारा बाहर देवता आदि विषयों में चित्त की स्वैर विहार करनेवाली मानस-पूजा आदिरूप लीला 'यह सुन्दर है' इस भावना से ज्यों-ही अविकलरूप से प्रारम्भ की, त्यों ही वह (भिक्षु) उसके अभ्यासवश तत्-तत् विरुद्ध सम्पूर्ण भावों को दबाकर, दूसरे मननोदय को छोड़कर उसी लीला का अनुभव करने लगा ॥१०,११॥ क्योंकि पीछे जो चमत्कृति चित्त में आरूढ होती है, वही पूर्व चमत्कृति को दबाकर विलसित होती है। *(किस प्रकार दबाकर विलसित होती है, इसमें दृष्टान्त देते हैं 'वल्ली' से।)* उष्णता-चमत्कार से व्याप्त लता वसन्तकालीन पीये हुए भी जल को यानी हरेपन के चमत्कार को छोड़ देती है अर्थात् उसे दबाकर विलसित होती है ॥१२॥

परम सिद्ध होते हुए भी उस भिक्षुक को अशास्त्रीय मानस-क्रीडा में प्रवृत्ति होने पर अनर्थों की परम्परा प्राप्त हो गयी।

जिस प्रकार चींटी छिद्रों में घूमती-फिरती है, उसी प्रकार अपनी दृढ़ वासनाओं से युक्त (✍) भिक्षुरूप वह जीव जीवटनामधारी होकर उन योनियों में घूमने लगा ॥१३॥

उन्हीं योनियों का कारणप्रदर्शनपूर्वक विस्तार से वर्णन करते हैं।

तदनन्तर द्विज में अनुरक्ति होने के कारण वह जीवट अपने में द्विजत्व देखने लगा यानी वह द्विज हो गया; क्योंकि भाव और अभाव का वैपरीत्य सिद्ध करना हो अर्थात् उद्भूत भावना को अनुद्भूत और अनुद्भूत भावना को उद्भूत बनाना हो, तो जो भी वासनासमूह अभ्यास, पाटव आदि से बलवान् (दृढ़ीभूत) होगा, वही इतर का तिरोभाव कर स्वयं कार्यरूप से उत्पन्न होगा ॥ उसके बाद उस ब्राह्मण ने वह सामन्तता (माण्डलिकता) प्राप्त की, जिसका वह सदा चिन्तन कर

(✍) शास्त्रीय वासनाओं की शिथिलता होने पर अनादि अनर्थ वासनाओं का उद्भव होना अवश्यम्भावी है - यह 'जरठवासनः' इस पद से सूचित होता है।

रहा था। ठीक ही है, निरन्तर पीया गया पानी वृक्ष में फलरूप से परिणत होता ही है। पश्चात् राज्य के लिए धर्मानुष्ठान करने से वह राजा (चक्रवर्ती सम्राट्) हो गया। और उसके बाद धर्मसंचय से समन्वित कामुकवृत्ति होने के कारण वह राजा देवांगनारूप बन गया। मृग के लोचन–सौन्दर्य के लोभ से चंचल हुई वह देवांगना रंजित मृगी हो गयी। अहो ! प्राणियों में वासना–मोह एकमात्र दुःख के लिए ही है। खेद है कि वासनारूप से चित्त में स्थित वह मृगी लता की वासना से अरण्य में लतारूप हो गयी और उस लतिका ने यह समझ लिया कि मेरा छेदन अवश्यम्भावी है। इसके बाद वह लता, जो कि भ्रमर की भावना से भावित थी, छेदन तथा मर्दन से समन्वित लता देह से अपनी देह में भीतरी वासना से चिराभ्यस्त भ्रमरत्व देखने लगी। तदनन्तर वह भँवरा स्वयं भावित हाथी के खुर के आघात का अनुभवकर महासंसार के भ्रमों में पुनः पुनः (📖) घूमने लगा। अपने मनोमात्र से कल्पित इस संसाररूप संभ्रम में सौ जन्म धारण कर वही मैं भिक्षु रुद्ररूप होकर स्थित हुआ। इस प्रकार अत्यन्त विचित्र, तथा सत्य–सी प्रतीत हो रही अनेक संसाररूप अरण्य–भूमियों में मैंने अनेक बार दीर्घकाल तक भ्रमण किया। किसी सर्ग में मैं जीवटनामधारी हुआ, किसी में मैं विप्र (ब्राह्मण श्रेष्ठ) हुआ तो किसी सर्ग में पृथिवीपति राजा भी हुआ। किसी सर्ग में पद्मवन में हंस होकर विन्ध्य के कच्छ में हाथी और हिरन हुआ। इस प्रकार देहरूप यन्त्र में तथा मनोरूपयन्त्र में मैं पूर्व–वर्णित दशा को प्राप्त हुआ। आदि सर्ग से लेकर चिदेकरस परमपद से च्युत हुए मेरे आज तक इस संसार में हजारों वर्ष, सैकड़ों चतुर्युगी एवं अनन्त दिन, ऋतु आदि के चरित बीत गये। और परम पद से पहले ही विचलित हुए अपनी पूर्व भिक्षुअवस्था में रूढ़ भी तत्त्वज्ञान के योग्य श्रवण, मनन आदि के अभ्यासरूप योग्यताक्रम का प्रमादवश उल्लंघनकर मैं पुनः पुनः जन्म परंपरा से ब्रह्मदेव का हंस बन गया, वही मैं प्राक्तन अभ्यासक्रम भगवान् रुद्र का सान्निध्य पाने से रुद्ररूप में तत्त्वज्ञानरूप फल के साथ सफल हो गया ॥१४–२७॥

अतएव शास्त्रीय उपायों का अभ्यास ही सर्वश्रेष्ठ है, जो कि विरुद्ध अनेक जन्मों का व्यवधान होने पर भी पुनः आविर्भूत होकर परम पुरुषार्थ को सिद्ध ही कर देता है।

इस जीव का निर्विघ्नतापूर्वक शास्त्रीय साधनों में जो ही दृढ़ अभ्यास उदित होता है, वह अत्यन्त नीरस हजारों जन्मों के व्यवधानों से युक्त होता हुआ भी शीघ्र उस जीव के ही पीछे पीछे दौड़ता है ॥२८॥

यदि शंका हो कि तब तुल्ययुक्ति से अशुभ भी भावनाभ्यास शुभ भावनाभ्यास से व्यवहित होने पर भी पुनः उत्पन्न होगा ?

काकतालीय न्याय से कभी महात्माओं का अचानक समागम प्राप्त हो जाने से जीव का यह अशुभ भावनाभ्यास भलीभाँति नष्ट हो जाता है ॥२९॥

तब तो जैसे केवल पहले के संस्कारों से अशुभ वासनाभ्यास उत्पन्न होता है, वैसे ही शुभ वासनाभ्यास भी स्वयं ही उत्पन्न हो जायेगा और उसीकी सामर्थ्य से यह पुरुष (जीव) अशुभ वासनाओं को भी छोड़ देगा; अतः उसके लिए पुरुषप्रयत्न का विधान व्यर्थ ही है ? यदि ऐसी कोई आशंका करे, तो

(📖) प्रस्तुत श्लोक में 'भूयो भूयः' पद से बीच के हाथी, भँवरा, हंस आदि नब्बे जन्मों का भी उसे स्मरण हुआ, यह बतलाया गया है।

उस पर कहते हैं।

दुर्वासना-जाल को छोड़ने की इच्छा कर रहे पुरुष का यह पूर्वतनीय सद्वासना का अभ्यास कालान्तर में (विरुद्ध अनेक जन्मों के व्यतीत हो जाने पर) अपने उद्‌भव के प्रति सत्संगति से प्राप्त सत्पुरुषों के प्रयत्न की एकमात्र अपेक्षा रखता है, उसके बिना उत्पन्न नहीं होता, यह भाव है ॥३०॥

और वह पुरुषप्रयत्न भी जब अनेक जन्मों के अभ्यस्त एवं दृढ़ीभूत सद्वासना से समन्वित होगा तभी दुर्वासना का क्षय करने में समर्थ हो सकता है, सहसा नहीं इस आशय से कहते हैं।

जो इस देह में तथा दूसरे देहों में भी जाग्रत् एवं स्वप्न में निरन्तर अभ्यस्त किया जाता है, परमार्थतः असद्रूप भी वह सद्रूप से अनुभूत होता है। तात्पर्य यह निकला कि मिथ्यार्थविषय देवतोपासना आदिस्वरूप प्रयत्न भी जहाँ जाग्रत् एवं स्वप्न काल में सत्यतानुभव के योग्य देवताभाव आदि फल उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं; वहाँ पर श्रवण आदि प्रयत्न, जो कि परमार्थतः सत्यवस्तुविषयक है, प्रमाणगम्य परमार्थ-सत्यस्वभाव के लाभ के लिए समर्थ होंगे – इसमें कहना ही क्या ? ॥३१॥

यही सूचित करने के लिए श्लोक में 'असदपि' कहा गया है।

इसीलिए शास्त्रीय भी अनात्मविषयक भावना का अभ्यास दुःखमिश्रित सुख के लिए ही होता है; अतः सर्वविध भावनाओं का उच्छेद कर देना ही आत्यन्तिक अनर्थ को जीत लेना है, न कि बीच की देवतात्व की प्राप्ति, इस आशय से कहते हैं।

देवता शरीर और उनके भोग आदिरूप अर्थक्रिया के जनक अनात्मचिन्तन दुःख और सुख के लिए ही उदित होते हैं। अतः भावना की अभावना करना ही सम्पूर्ण अनर्थों पर विजय पाना है ॥३२॥

किंतु, जब यह अनर्थ अनात्मभावना से ही जनित है, तब भला वह अनर्थ से डरनेवालों द्वारा कैसे सेवनीय है ? इस आशय से कहते हैं।

यह भावना ही अपनी आत्मा को 'यह देह है' इस प्रकार ऐसे देखती है, जैसे अंकुर एकमात्र असद्रूप विस्तार से युक्त शाखा-प्रशाखावाली लतारूपता को देखता है ॥३३॥

वह एकमात्र तत्त्वदर्शन से भलीभाँति छिन्न हो जाती है, यह कहते हैं।

यह भावना तत्त्वदृष्टि से भलीभाँति देखी जाने पर यहाँ पर कुछ भी नहीं शेष रहती। अथवा उसका छेदन भी साध्य नहीं, क्योंकि असत् का सर्वदा उच्छेद हुआ ही है, यह कहते हैं। अथवा वह कुछ है ही नहीं, अतः उस प्रकार भ्रम करना हमें उचित नहीं है ॥३४॥ आकाश के वर्ण के समान उत्पन्न इस जगत्सम्बन्धी हम लोगों के भ्रम के परिमार्जन के लिए एकमात्र असंवेदन ही पर्याप्त होगा ॥३५॥

अथवा, इस प्रकार के भ्रमात्मक ज्ञान का अभाव न हो, क्योंकि तत्त्वज्ञान से बाधित वस्तु का संवेदन होनेपर भी – रज्जु में बाधित सर्प की नाईं भय उत्पन्न करने में असमर्थ होने के कारण – वह अनर्थ का जनक नहीं हो सकता, प्रत्युत क्रीडा का एक साधन ही होगा।

बाधित होने से असद्रूप, अधिष्ठानसत्तास्वरूप यह जगदाकार भावना, जो कि एकमात्र कौतुक का साधन है, यदि प्रातिभासिक सत्ता के कारण है, तो वह विनोद के लिए ही है। वह अणुमात्र भी अनर्थ की जननी न होगी। इसी कौतुकवश मैं नाना प्रकार के अपने उन संसारों को जाकर देखता हूँ। और उन्हें तत्त्वज्ञान के प्रदान द्वारा उपाधि से पृथग्भूत अपनी आत्मा को एक कर देता हूँ। इस प्रकार विचारकर यह

रुद्र उस सर्ग में चला गया, जहाँ मठ स्थित भिक्षु, मृतक की नाईं, निद्रा में स्थित था। तदनन्तर उस रुद्र ने उस जीवटनामधारी भिक्षु को जागृतकर स्वचित्तांश चित्त एवं अपने अंशभूत चिदाभासस्वरूप तत्त्वज्ञ जीव से संयुक्त किया। और वह भिक्षु भी अपने भ्रम का स्मरण करने लगा (📖)। अपने–आपको रुद्ररूप तथा जीवट आदि के शरीररूप में भी देखकर तत्त्वज्ञान होने के कारण आश्रय करने के अयोग्य भी वह भिक्षु (इतने थोड़े समय में चिरकाल के जन्मों के अनुभवरूप तथा स्वाप्निक रुद्रशरीरादि की अनुवृत्तिरूप आश्चर्य के अवलोकन से) आश्चर्यचकित हो गया। तदनन्तर वह रूद्र और भिक्षु दोनों ही उठकर चिदाकाश के एक कोने में स्थित कहीं ब्रह्माण्डान्तर में चले गये। उस जीवट के संसाररूप ब्रह्माण्डान्तर में लीलोपाख्यान में वर्णित रीति से प्रवेशकर उसके भूलोक में जाकर वहाँ भी उस जीवट के स्थानभूत द्वीप को और उस मण्डल को, उस मण्डल के अन्तर्गत देश को, उस पुर को और उस घर को तथा उस घर में स्थित हाथ में तलवार धारण किये हुए जीवट को उन दोनों ने देखा, जो कि शव की नाईं सुस्त और नष्टसंज्ञ होकर पड़ा था। वहाँ पर स्थित लोगों के लिए स्वयं दर्शन के अयोग्य होने के कारण रुद्र एवं भिक्षु के शरीर के भाव को (जीवटबोधनाभिप्राय को) तथा रुद्र के कोटिसूर्य के समान प्रभा के अन्तरूप सम्पूर्ण अपने प्रभाव को अन्तर्धानशक्ति से छिपाकर वे जीवट के संसृति प्रदेशों में पहुँचे और वहाँ उस जीवट को जगाकर शीघ्र ही उसे स्वचित्तांश चित्त से एवं स्वांशचिदाभासरूप तत्त्वज्ञ जीव से संयुक्त बनाकर के भीतर एकस्वरूप और बाहर तीन रूपवाले वे रुद्र, जीवट तथा भिक्षु तत्त्वदर्शन हो जाने से परमार्थतः तत्त्वज्ञ होते हुए भी अज्ञानी एवं विस्मयरहति होते हुए भी विस्मय से चकित होकर चित्रलिखित पुरुषों के समान क्षणभर तक चुपचाप स्थित रहे। उसके बाद वे तीनों चिदाकाश में कहीं अध्यस्त, चारों ओर प्राणियों से शब्दायमान और जीवट के चित्त के परिणामस्वरूप विप्र के संसार में चले गये। लीलोपाख्यान में वर्णित रीति से वे उस भूलोक में जाकर विप्र के स्थानभूत द्वीप में और उसके मण्डल में, मण्डलान्तर्गत देश एवं उस ग्राम में तथा वहाँपर भी उस ब्राह्मण के घर पहुँचे। उस ब्राह्मण के घर में अपने पोष्यवर्गों से समन्वित, बाहर निकले हुए प्रियतम प्राणकी नाईं स्थित तथा ब्राह्मणी द्वारा कण्ठप्रदेश में आलिंगित सोये हुए उस ब्राह्मण को उन लोगों ने देखा। उसे जगाकर और स्वचित्तांश चित्त एवं स्वांशचिदाभासस्वरूप तत्त्वज्ञ जीव से शीघ्र संयुक्तकर वहाँ पर वे और बहुत से दूसरे भी परमार्थतः विस्मयरहित होते हुए भी आश्चर्यचकित होकर स्थित हुए। तदनन्तर उन लोगों ने (रुद्र, भिक्षु, जीवट और ब्राह्मण ने) चिदाकाश में शोभित, चित्ताकार से विवृत्त चिति के परिणामस्वरूप और भ्रमण तथा सर्वविध भोगों से रमणीय सामन्त रूप राज–संसार के लिए प्रस्थान किया। पश्चात् वे सब उस सामन्त के भूलोक को, उसके द्वीप को तथा उसके मण्डल को पहुँच गये। वहाँ पर उन्होंने पलंगरूप कमल पर सोये हुए मदयुक्त उस मण्डलाधीश को देखा। वह सामन्त सुवर्ण के समान देदीप्यमान

(📖) प्रस्तुत श्लोक से यह सूचित होता है कि रुद्रांश जीवों के प्रवेश की कल्पना, उनका सत्यसंकल्प एवं विचित्र भोगों के जनक अवशिष्ट अदृष्ट के बल से बाधित हुए भी जीवट से लेकर रुद्रपर्यन्त सभी शरीरों तथा उनके प्रपंचों की कल्पपर्यन्त अनुवृत्ति हो सकती है, इस लिए भिक्षु के जागरण से हम लोगों के स्वाप्निक प्रपंच की नाईं उन शरीरों एवं उनके प्रपंचों का निरनुवृत्तिरूप बाध नहीं होगा।

देहवाला था। सुवर्णांगी पटरानी द्वारा अपने कुचरूप कोटर में वह ऐसा आलिंगित था, जैसे भ्रमरी से आलिंगित कमलकोश में सोया हुआ भँवरा। जैसे मंजरियों से वृक्ष वेष्टित रहता है, वैसे ही वह सामन्त अनेक रमणियों से वेष्टित था। और दीपकों के समूहों के बीच वह ऐसा स्थित था, जैसे रत्न समूहों के बीच सुवर्ण। (इस प्रकार उस सामन्त को देखकर) उन सबों ने उसे जगाकर और अपने चित्त एवं तत्त्वज्ञ जीव से शीघ्र संयुक्त बनाकर के वे रुद्र आदि तथा अन्य भी बहुत से वहाँ पर स्थित जन विस्मयरहित होकर भी विस्मय से युक्त हुए। तदनन्तर वे चक्रवर्ती राजा के संसार में गये और उसे जगाकर अपने चित्त एवं चेतन से संयुक्त किया। इस प्रकार उसे रुद्ररूप बनाने के बाद आतिवाहिक देह से ही अन्य संसारभूमियों में उन लोगों ने भ्रमण किया (卐) अन्त में वे सभी ब्रह्मदेव के हंसरूप वासना से युक्त चित्त के परिणामस्वरूप ब्राह्महंस के संसार में पहुंचकर रुद्ररूप हो गये। इस प्रकार रुद्र के चित्त एवं चेतन के अंशों से ही चित्त एवं चेतन से युक्त होने से तथा ज्ञान, ऐश्वर्य आदि से सम्पन्न होने से वे उत्तम शतरुद्ररूपता को प्राप्त हुए तथा शोभित होने लगे। परमेश्वर सम्बन्धी वह रुद्र का रूप ज्ञान से तो एक है, पर शरीर से भिन्न-भिन्न हैं, चित्रविचित्र चेष्टाओं से वेष्टित है, एकरूप भी है और अनेकरूप भी है। तदनन्तर प्रातिभासिक संसार के आधारभूत, सम्पूर्ण जगत् और उसके भीतर स्वयं अन्तर्यामीरूप से स्थित वे शतरुद्र आवरणशून्य चैतन्यरूप होकर स्थित हुए॥३६-५८॥

'सहस्राणि सहस्रंशो ये रुद्रा अधि भूम्याम्' इत्यादि श्रुतियों में प्रसिद्ध रुद्रों की इसी प्रकार की स्थिति है, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, आज तक यहाँ बहुत से बड़े-बड़े सौ शतरुद्रवाले संसार हो गये हैं। भिक्षु-रुद्र से कल्पित सौ जगत् के बीच में यह आप और मेरे द्वारा अनुभूयमान सामने स्थित जगत् ग्यारहवाँ भ्रामर रुद्र का संसार है, यह आप जानिये॥५९॥

यदि शंका हो कि भिक्षु के सभी स्वप्न संसार सब लोगों द्वारा क्यों नहीं अनुभूत होते ? तो उस पर कहते हैं।

कथित लक्षणवाले जीव के जो-जो संसार चारों ओर उदित होते हैं, उन-उन संसारों में अज्ञानी जीव-समूह निश्चय ही परस्पर एक-दूसरे को नहीं देख पाते। मन से प्रबुद्ध तत्त्वज्ञ, समुद्र में तरंग की नाईं, जीवों के साथ मिलते ही हैं। और अज्ञानी लोग तो अपने आश्रयमात्र में रहकर मिट्टी के ढेले की तरह स्थित रहते हैं॥६०,६१॥

और उनके (तत्त्वज्ञ के) मिलने में कारण एकमात्र स्थूलता का अभाव ही है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे द्रवत्व के कारण तरंग और जल परस्पर एकरूप से अच्छी तरह मिल जाते हैं, वैसे ही प्रबुद्ध हुए जीव-समूह, चिद्रूप होने के कारण, परस्पर एकरूप से भलीभाँति मिल जाते हैं॥६२॥

सम्पूर्ण जीवों के तत्त्वभूत ब्रह्म के साथ ऐक्यलाभ ही ब्रह्म के कल्पित रूपवाले सभी जीवों का मिलन है, इस आशय से कहते हैं।

(卐) इस बीच में उन्हें जो सोये हुए मिले, उनको तो केवल जगाया और पूर्वोक्त प्रकार से स्वात्मरूप बनाया, तथा जो मर गये थे, उन्हें तो जिलाया भी एवं पूर्वोक्त प्रकार से स्वात्मरूप बनाया यह ऊपर से समझना चाहिए।

प्रत्येक जीव के लिए उत्पन्न हुए संसार में ये जीव समूह, चित्सार ब्रह्म के सर्वव्यापी होने से, परमार्थतः असद्रूप होने पर भी सद्रूप–से स्थित हैं। पृथ्वी का जो–जो भाग खोदा जाता है, वह सब जिस प्रकार आकाशरूप से ही अवशिष्ट रह जाता है, उसी प्रकार सर्वव्यापी इस चिति से जो–जो तत्त्वज्ञान के द्वारा दूर किया जाता है, अर्थात् मिथ्या समझा जाता है वह सब कुछ एकमात्र चिद्रूप ही रह जाता है ॥६३,६४॥

आकाश की नाईं चिति की भी सर्वत्र सत्यता है, यह अनुभव से सिद्ध कराते हैं।

श्रीरामजी, विभागसहित सम्पूर्ण पंचभूतों का जैसे आप सर्वत्र अनुभव करते हैं, वैसे ही यहाँ भी सम्पूर्ण भूतसत्तारूप चितितत्त्व ही सर्वत्र विद्यमान है – इसका भी आप अनुभव कीजिये ॥६५॥

उसके सर्वव्यापी होने और वहाँपर सम्पूर्ण पदार्थों की कल्पना करने में दृष्टान्त बतलाते हैं।

श्रीरामभद्र, जैसे वृक्ष में, लकड़ी में, पर्वत में या शिलास्तम्भ में शिल्पियों द्वारा टाँकी के छेदन से तत्–तत् आकार की प्रतिमा के अनुकूल गड्ढा बनाने पर जब वे वृक्ष आदि पुरुष, हाथी, घोड़े, आदि का आकार परिच्छेद प्राप्त कर लेते हैं तब वे ही–पुरुष आदि विचित्र मूर्तियों के रूप में–हम लोगों को दिखाई देते हैं, वैसे ही एकात्मा सम्पूर्ण जगद्रूप से दिखाई देता है और चिद्रूप उस एकात्मा में जगत् भी वैसा ही स्थित दिखाई देता है ॥६६॥

वृक्ष आदि में तो छेनी द्वारा किये गये गड्ढे से जनित परिच्छेद है, परन्तु यहाँ पर वह किससे जनित है ? यदि ऐसी शंका हो, तो उस पर कहते हैं।

अविषय, शुद्ध ब्रह्म में जो विषयता का अन्यथा ज्ञान है, वही 'जगत्' इत्याकारक परिच्छेद का निमित्त होकर स्थित है। चिदेकरस उस ब्रह्म में जगदाकार जो अचैतन्य अर्थात् जड़ता है, वह निर्निमित्त ही है; अतः वह आकाश–जैसे शून्यरूप से स्थित है। [एवं उस प्रकार का ज्ञान करना ही इसका दृश्य से बन्ध है और उस प्रकार के ज्ञान की निवृत्ति ही मोक्ष है, यह फलित हुआ।(67-1)] श्रीरामजी, ब्रह्म में अन्यथा ज्ञान ही दृश्यों से बन्ध है और अन्यथा ज्ञान न होना ही मोक्ष है। इन दोनों में आपको जो भी अच्छा लगे, उसे ही शीघ्र दृढ़ कीजिये। सर्ग और सर्ग का अभाव एवं बन्ध और मोक्ष दोनों क्रमशः वेदन (अन्यथाज्ञान) तथा अवेदन (अन्यथाज्ञानका अभाव) स्वरूप हैं। ये दोनों अपने साक्षिभूत प्रत्यगात्मा से अभिन्न ही हैं। श्रीरामभद्र, अतः आप जैसा चाहें, वैसा करें। श्रीरामजी, एकमात्र न देखने से जो अपनी सत्ता नहीं रखता, ऐसे अनर्थ के नाश के लिए प्रयास ही क्या है ? और जो सुख निश्चेष्ट होकर स्थित रहने से पाया जा सकता है, वह भी शीघ्र प्राप्त ही है; वहाँ भी प्रयास की अपेक्षा नहीं है, यह आप जानिये।हे राघव, जो जगद्रूप एकमात्र अन्यथाज्ञानस्वरूप है, निश्चित है कि वह उस प्रकार का ज्ञान न करने से क्षीण हो जाता है। उस जगद्रूप वेदना का साक्षीरूप जो प्रत्यक्चैतन्य है, वह प्राप्त ही है। अतः आपको जो इष्ट हो, उसे कीजिए ॥६८–७१॥ श्रीरामजी, जैसे जल का स्पन्द तरंग है, वैसै ही चिति का स्पन्द ही जगत है। *(दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्तिक में जो विलक्षणता है, उसे दिखलाते हैं।)* हे रघुनन्दन, यहाँ पर (दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्तिक में) इतनी ही और विलक्षणता है कि देश और काल के स्वरूपों की स्थिति रहते ही जल में तरंग आदिरूपता देखी गयी है और यहाँ जगद्रूप विवर्त के उपादान ब्रह्म में तो देश आदि पहले न रहते हुए बाद में आरोपित हुए ही कार्यरूप जगत्कोटियों में देखे गये हैं। श्रीरामजी,

स्वप्रकाश आत्मरूप जो चैतन्य है, वही अविद्या के आवरण से थोड़े प्रकाश-सा सम्पन्न तीनों जगत्स्वरूप अन्यथा प्रतिभासित होता है। चिद्रूप-जो कि उसका पारमार्थिक स्वरूप है – ज्ञान ही है, न कि जड़। भेद से क्लिष्ट इन तीनों जगत् का आप 'अन्नेन सोम्य शुंगेनाऽऽपो मूलमन्विच्छ' (हे सौम्य, अन्नरूप कार्य से जलरूप कारण खोज लो) इत्यादि श्रुतियों में दर्शित उपायों से उपसंहार कर दीजिये। उस प्रकार उपसंहृत हुआ वह 'वाचा रम्भणं विकारो नामधेयम्' इस श्रुति द्वारा दर्शित रीति के अनुसार वाणी में ही स्थित होता है। वाणी जहाँ बिलकुल शांत हो चुकी है, ऐसा वह परम शिव ही परमात्मा है। श्रीरामभद्र, आत्मचिति और सम्पूर्ण जगत्-ये दोनों शब्दतः और अर्थतः अभिन्न ही हैं, कभी भी इन में द्वैत संभव नहीं है। उक्तस्वरूप आत्मा की अज्ञता-दशा में ही द्वैतज्ञान युक्त है, ज्ञान-दशा में तो वीचि और जल ये दोनों भिन्न हैं, यह उक्ति युक्त नहीं है ॥७२-७५॥

तिरसठवाँ सर्ग समाप्त

चौसठवाँ सर्ग

भिक्षु आदि का उन-उन देहों से अवशिष्ट प्रारब्ध-भोग,
रुद्रगणत्व की प्राप्ति और संकल्प की स्थिरता का वर्णन।

भिक्षु से लेकर रुद्रपर्यन्त शरीरों में मध्यवर्ती अट्ठानबे शरीर हैं, उनमें भोग-सम्पादक प्रारब्ध कर्म बचते हैं या नहीं, यों संशय होने से श्रीरामभद्र उनका वृत्तान्त पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनीश्वर, जीवट ब्राह्मण आदि और हंस आदि भिक्षु के स्वप्न शरीरों की उसके बाद क्या स्थिति हुई अर्थात् स्वप्नकालीन शरीर के सदृश उनका बाध हुआ या आगे उनका व्यवहार भी चलता रहा ? महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, रुद्र के साथ मिलकर वे सभी तत्त्वज्ञ हो गये और रुद्र के अंशस्वरूप हुए वे एक दूसरे के पूर्वोत्तर संसार को देख रहे कृतकृत्य होकर अपूर्व सुखानुभव करते हुए अवस्थित हो गये। कौतुक प्रदर्शन के लिए पहले पहल प्रवृत्त हुए रुद्र ने पूर्वोदित उस माया का अवलोकनकर फिर अपने अंशभूत उन रुद्रों को उसी जीवट आदि की संसार स्थिति की ओर भेज दिया। (और उस समय उनसे) श्रीरुद्र ने कहा : ऐ मेरे अंशभूत रुद्रो, तुम लोग इसी समय अपने-अपने स्थान की ओर जाओ। वहाँ जाकर कलत्रादि परिवार के साथ कुछ कालतक नाना प्रकार के भोगों का उपभोग कर मेरे पास फिर लौट आओ। मेरे अंशस्वरूप जो तुम लोग मेरे गण हो, मेरे नगर के भूषण हो जाओ। पीछे चलकर हम सब लोग दो परार्द्ध वर्षों की समाप्ति में अविद्यालेश के साथ प्रारब्ध का क्षय हो जाने पर उस परम पद को प्राप्त हो जायेंगे। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, यों कहकर वह भगवान् आदिरुद्र उनके सामने ही अन्तर्हित हो गये। उन अंशभूत सब रुद्रों के उस समय अन्तिम रुद्र संसार का जो साक्षिभूत चैतन्य था, वही साक्षी चैतन्य प्रत्येक मध्यवर्ती जीवट आदि के संसार में, जाग्रत में स्वप्न-साक्षी के सदृश, प्राप्त हुआ। भद्र, आदिरुद्र की आज्ञा के अनन्तर वे जीवट-ब्राह्मण आदि अपने-अपने स्थान की ओर चल दिये। अब काल पाकर अपने कलत्र आदि परिवारों के साथ देह नष्ट कर रुद्रलोक प्राप्तकर के बड़े-बड़े गण हो जायेंगे। जो कभी-कभी आकाश में तारों के आकार में परिणत हुए हम लोगों को दिखाई देते

हैं। श्रीरामभद्र ने कहा : भगवन्, वे जीवट–ब्राह्मण आदि, जो एक भिक्षु के संकल्परूप ही थे, कैसे सत्यस्वरूप बन गये ? काल्पनिक अर्थों में सत्यता कहाँ देखी गयी है ? महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, संकल्प की जो सत्यता है वह तो अधिष्ठानभूत चैतन्यांश में ही है। इसलिए विवेकपूर्वक अध्यस्त अंश में संकल्प की सत्यता छोड़ दीजिये। सत् और असत् से संवलित व्यावहारिक अर्थ में जो सद्भिन्न रूप पूर्वोत्तर काल में नहीं रहता वही तीनों काल में अस्तित्व से रहित है और अधिष्ठानभूत वह परम पद तो सभी काल में स्थित है, क्योंकि वह सर्वात्मक है। इन सब बातों से निचोड़ यह निकला कि भोगजनक अदृष्ट से उत्तेजित उन सांकल्पिक पदार्थों में अधिष्ठान की सत्यता से ही सत्यत्व है, स्वतः नहीं। आयुष्मन्, जो स्वप्न में दिखाई पड़ती है और जो संकल्पों द्वारा दिखाई पड़ती है वह चैतन्यात्मक वस्तु है; जो कि सब काल में सद्रूप अधिष्ठान होकर तत्–तत् देश–कालरूप से तत्–तत् स्थान में निरन्तर विद्यमान रहती है। इसमें दृष्टान्त है–जाकर प्राप्त किया गया देशान्तर। जैसे एक स्थान से दूसरा स्थान यानी मथुरा आदि स्थान से पटना आदि स्थान–गमन, स्वस्थ मन, चक्षु आदि इन्द्रियों की पटुता, दिवसरूप आदि काल, उपदेष्टा विवेकी पुरुष आदि हम लोगों की कारण–सामग्री के बिना–उपलब्ध नहीं होता, वैसे ही तत्–तत् देश–कालरूप से परिणत स्वप्न भी जाग्रत् और सुषुप्ति या स्वप्नान्तर में कारणसामग्री के बिना उपलब्ध नहीं होता। चिति के कोश में–कोशसदृश समस्त वासनाओं के भंडार अज्ञान में–सब कुछ भरा पड़ा है, इसलिए भोगजनक अदृष्ट से प्रदीप्त हुई वासनाओं द्वारा चिति जिस–जिस रूप से जिस–जिस वस्तु की कल्पना करती है उस–उस रूप से सम्पूर्ण विषयों को दृश्यरूप से प्राप्त कर लेती है, क्योंकि वह सर्वात्मक ही तो ठहरी ॥१–१३॥

समस्त स्वप्नसंकल्पादि के एक साथ अवलोकन में कौन–सा उपाय है ? ॥

हे प्रिय, जिस उपाय से संकल्प, स्वप्न आदि एक साथ दिखाई पड़ते हैं उस उपाय को आप सुनिये। अभ्यास और योग के बिना उनका एक साथ अवलोकन मिल नहीं सकता ॥१४॥

उत्तम अभ्यास के बिना भी अपने–आप ही योगसिद्धि का फल प्राप्त है यों विशेष बतलाते हैं।

हरि, हर आदि ईश्वरों को जिनकी योगविज्ञानदृष्टियाँ (समाधि और अध्यात्मशास्त्रज्ञान से जनित दृष्टियाँ) फलित होकर स्वयं ही स्थित हैं वे ये शंकर आदि, सब वस्तु को सर्वत्र देखते–रहते हैं ॥१५॥

संकल्पित अर्थ की प्राप्ति में अभ्यास और योग का जो उपयोग है वह चित्त की एकाग्रता के सम्पादन द्वारा ही है। एकाग्रता न होने पर चित्त अनेक अर्थों में आसक्त होकर किसी एक भी अपने संकल्पित अर्थ को प्राप्त नहीं कर सकता, यों असत्य संकल्पत्व ही इसमें प्राप्त हुआ।

यह सामने यद्यपि वस्तु उपस्थित है और संकल्पित भी है तथापि एकाग्रता के न रहने से उसे मैं प्राप्त नहीं कर सकता; क्योंकि संकल्पित और असंकल्पित दोनों का आश्रय करने से चित्त दोनों ओर से भ्रष्ट हो जाता है, कहीं एक जगह स्थिर नहीं हो पाता। अभीष्ट सब कार्य एकनिष्ठ पुरुष को ही प्राप्त होते हैं, अन्यनिष्ठ को नहीं। दक्षिण दिशा की ओर जा रहा कौन पुरुष उत्तर दिशा को प्राप्त कर सकता है ? संकल्पित अर्थों पर आरूढ़ हुए पुरुष ही संकल्पित अर्थ प्राप्त करते हैं और सामने स्थित अर्थों को जानते हैं। जो पुरुष सामने स्थित और बुद्धि में स्थित दोनों वस्तुओं

में संकल्प प्राप्त करने की इच्छा करता है वह एकनिष्ठता न रहने से उस समय उन दोनों का नाश कर देता है। इसीसे एकनिष्ठा के कारण भिक्षुक जीव ने प्रसिद्ध रुद्र की नाईं रुद्ररूपता प्राप्त कर सब कुछ सर्वात्मरूप से प्राप्त किया, क्योंकि इसकी भी स्थिति प्रसिद्ध रुद्र की स्थिति के सदृश ही थी। वे अट्ठानबे मध्यवर्ती जीवट आदि भिक्षुसंकल्परूप जीव प्रत्येक भिन्न-भिन्न रूप से अवस्थित थे और उनका अपना-अपना संसार भी अलग-अलग था, इसलिए वे अपने में रुद्रत्वसामान्य ज्ञान के बिना एक-दूसरे का साक्षात्कार नहीं कर पाते थे ॥१६-२१॥

तब वे रुद्र की सन्निधि में एक-दूसरे का साक्षात्कार कैसे कर पाये इस पर कहते हैं।

भद्र, एकमात्र रुद्र की इच्छा से ही वे संकल्पजीव तत्त्वज्ञान से रहित और जीवों के संसार विशेषों को जाननेवाले होते हैं तथा उसीकी इच्छा से वे यहाँ शीघ्र रुद्ररूप और अनेकरूप हो जाते हैं ॥२२॥

उन सबों के अपने-अपने संसारदर्शन में तो उनकी इच्छा ही कारण है।

यहाँ मैं यह विद्याधर हो जाऊँ, यहाँ मैं पण्डित हो जाऊँ, इस प्रकार की इच्छा ही उनके तत्-तत् रूप हो जाने में कारण है ॥२३॥ रामभद्र, इस रीति से किसी एक वस्तु की तदाकार भावना सफल हो जाती है (यह आपसे मैंने कहा)। दूसरे भी जीवों की प्रसिद्ध तत्-तत् व्यवहार स्थिति में यह भिक्षुसंकल्परूप सृष्टि ही दृष्टान्त है। देश, काल और क्रिया के क्रम से या एक साथ धारणा, ध्यान एवं प्रयत्न के अनुसार एकत्व, अनेकत्व, मूर्खत्व, पाण्डित्य, देवत्व और मनुष्यत्व प्राप्त किया जा सकता है। यतः परमार्थतः अनन्त होने से इस जीव में समग्र शक्तियाँ विद्यमान हैं और यतः एक-एक देहाभिमानरूप परिच्छेद से श्लिष्ट हो जाने के कारण इसमें एक कार्यमात्र की भी शक्ति विद्यमान है, इसलिए शक्तिस्वभाव के अनुसार जीवमें तत्-तत् कार्यस्वभाव व्यवस्थित ही है। इसीलिए प्राणियों के कर्मानुसार स्वर्ग और नरक आदि सैकड़ों अर्थ-अनर्थों की सृष्टिरूप से विकासवान् तथा सब प्राणियों के संहार द्वारा प्रलयरूप से संकोचवान् यह परमात्मा हिंसाजनित विषमता आदि दोषों से शून्य है, क्योंकि जीवसमुदाय स्वयं जिसकी इच्छा करता है इस चिदात्मा के संकल्प से तद्रूप हो जाता है; भद्र, इससे कुछ भी किसीका जगदीश्वर अनिष्ट नहीं करता ॥२४-२७॥

अब उदाहरण द्वारा धारण और ध्यानरूप प्रयत्न की फलभूत ऐच्छिक एकरूप और अनेकरूप स्थिति का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

स्वयं सम्पादित इन तत्-तत् देश और काल के अनुसार प्राणियों के अनुग्रह और निग्रह रूप क्रीडा आदि अधिकारपूर्ण क्रियाक्रमों से योगिनियाँ और योगी वे सब अपने घर में या अन्यत्र जहाँ भी चाहते वहाँ स्थित रहते हैं। इस लोक में अथवा परलोक में एक साथ वे प्रारब्धभोग से स्थित रहते हैं। इस प्रकार का योगियों का चरित्र अनेक जगह देखा गया है। देखिये, भगवान् दत्तात्रेय के प्रसाद से प्राप्त हुए योग के प्रभाव से घर में ही बैठे हुए कार्तवीर्य ने सब आततायियों के ऊपर तत्-तत् स्थान में पहुँचकर शासन किया। क्षीरसागर में सोये हुए ही भगवान् विष्णु पृथिवी पर जन्म आदि व्यापारों से व्यवहार करते हैं। स्वर्ग में योगिनियों के समुदाय में विराज रही ही योगिनियाँ पशु, पेय आदि उपहारग्रहण करने के लिए पृथिवी पर जाती हैं। स्वर्ग के आसन पर विराजमान ही इन्द्र यज्ञ के लिए पृथिवी पर जाते हैं। इस रामावतार में भगवान् जनार्दन चौदह हजार राक्षसों का नाश करने

के लिए हजार रूप के होते हुए भी फिर एक रूप धारण कर लेते हैं। भगवान् जनार्दन अपने अंशरूप अवतार–लीलाओं से जगत् की स्थिति बनाये रखते हैं और स्वयं एक ही होकर एक काल में सोलह हजार रमणियों के साथ उस प्रकार विहार करते हैं जिस प्रकार विदेहरूप को प्राप्त हुए राजा निमि सब प्राणियों के नेत्रों में रहकर एक साथ निमेष करते हैं ॥२८–३३॥

इसी रीति से प्रकृत में भी जान लेना चाहिए।

इस रीति से भिक्षु के संकल्पस्वरूप जीवट, ब्राह्मण आदि भगवान् रुद्र की अनुमति से अपने संकल्परूप नगर में चले गये। वहाँ पर चिरकाल तक नानाविध भोगों का उपभोग कर तदनन्तर रुद्रनगरी प्राप्त करके गणरूप में रहते हुए वे सबके सब परिवारसहित रहने लगे ॥३४,३५॥

उस समय उनका भी अपने घर में और सब भुवनों में अनेक देहों की कल्पना से इच्छानुसार विहार एक साथ चलता रहा।

वे सब गण भगवान् रुद्र के साथ अनेक रत्नमय गुच्छों से युक्त विकसित नवीन कल्पलताओं के घरों में, अनेक भुवनों में और कैलास, वैकुण्ठ, ब्रह्मलोक आदि कल्याणमय नगरों में विहार करते हुए तथा गीत, वादित्र (वाद्य), नाट्य आदि में कुशल विद्याधरियों के बीच में देवताओं द्वारा नमस्कृत होते हुए उस समय खूब सुशोभित हुए ॥३६॥

चौसठवाँ सर्ग समाप्त

पैंसठवाँ सर्ग

सम्पूर्ण जीवों में भिक्षुन्याय की समता, रात्रि में भिक्षु का अन्वेषण और सभा का उत्थान–यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, उस भिक्षु ने अपने चित्त में वर्णित प्रकारवाला जो भ्रम आपाततः विचारा, यह भिक्षु उसी भ्रम को अपने प्राक्तन शुभाशुभरूप प्रयत्न को ही फलावस्था में अपने से पृथक्–सा कर स्पष्ट देखता है; अणुमात्र भी दूसरा नहीं है। प्रतिभासित हो रहे सभी जीवों की मरण एवं जन्ममयी स्थिति, अन्य आकार को प्राप्त हुई–सी, एकमात्र चिदाकाशरूप ही होती है। इस संसारखण्ड का पृथक्करण कर अपना आत्मा परब्रह्म के साथ एकता प्राप्त करता है और पूर्वोक्त रीति से सभी मृत जीव मरणकाल में उद्‌बुद्ध अपने कर्म को ही स्वप्न के सदृश अपने से पृथक् जगद्रूप से देखते हैं। भिक्षु के आत्मा के सदृश अपरिच्छिन्नस्वरूप भी आत्मा देहपरिच्छिन्न–सा होकर मोक्षपर्यन्त दुःखी रहता है, इस विषय में मैंने इस भिक्षु की कथा से आपसे अनेक जीवों का वृत्तान्त कह दिया है। हे श्रीरामजी, सभी जीव पूर्णस्वरूप परमात्मा के प्रस्पन्दनस्वरूप हैं, केवल भिक्षु ही नहीं है। जीव एक मोह से दूसरे मोह को प्राप्त करता है, यह हम लोगों को प्रतिदिन स्वप्न में अनुभवसिद्ध है। परमात्मा से अलग हुआ जीव यह दृढ़ स्वप्न देखता है। केवल स्वप्न देखता है, यही बात नहीं, किन्तु इस स्वप्न से भी फिर दूसरे स्वप्न की ओर उस तरह जाता है; जिस तरह पर्वत के अग्रभाग से बिछड़ा हुआ पत्थर का टुकड़ा नीचे की ओर बराबर गिरता ही जाता है। एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में गिर रहा जीव असत्यभूत इस स्वप्नात्मक जगत् को भीतर अज्ञान से जर्जर होकर देखता है और जन्मादि दुःख का किसी कारणविशेष से किसी भी समय यहाँ कहीं पर स्वयं

अनुभव करता है। इन सब बातों से निष्कर्ष यह निकलता है कि देहनामक अहमभिमान ही स्वयं बद्ध और मुक्त होता है यानी उक्त अभिमान ही बन्ध है और स्वात्मलाभ ही मोक्ष है ॥१-८॥

कुछ पूछने की इच्छा से श्रीरामजी वर्णित अर्थ के परिज्ञान का आश्चर्यपूर्वक स्पष्टीकरण करते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : भगवन्, महान् आश्चर्य है कि इस जीव को विषम मोह होता है। जैसे साधारण श्रम आदि हेतुओं से सोये हुए पुरुष के मन में स्वप्नमायावश भीषण विषमता (दुःखादि संकट) उत्पन्न होती है, वैसे ही मिथ्याज्ञानात्मक उग्र रात्रि-रूपी माया से जीव में भयंकर विषमता आ जाती है और उसको जीव सत्य कहता है, यह महान् आश्चर्य है ॥९,१०॥

सर्वत्र सब कुछ सदा संभव है, यह मेरे मन में आ गया, ऐसा कहते हैं।

भगवन्, जैसा आपने कहा कि इस जगत्स्थिति में सदा सर्वत्र सब कुछ संभव है, ठीक वैसा ही मैं भी अनुभव करता हूँ ॥११॥

उस प्रकार उपदिष्ट अर्थ के अभिनन्दन से गुरु महाराज को सन्तोष देकर 'आपने मुझे बोध देने के लिए जिस भिक्षुक के विषय में कहा' वह भिक्षुक क्या कल्पित है या वास्तव में कहीं है भी ? इस प्रकार के सन्देह द्वारा कौतुकपूर्वक पूछते हैं।

महाराज, इस प्रकार के गुणों से युक्त तथा जीवटादि का मोहभूत वह भिक्षु कहीं है या नहीं ? इस विषय में हृदय के अन्दर विचारकर मुझसे कहिये ॥१२॥

भीतर योग से विचार कर आपको बोध देने के लिए यद्यपि कल्पना करके ही मैंने भिक्षु का वर्णन किया है तथापि मेरे वाक्यों में असत्यता न होने से कहीं उसकी संभावना है ही। इस समय योग से उसका अवलोकन करने में देर हो जायेगी, इस आशय से महाराज वसिष्ठजी तत्कालोचित वचन कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, आज रात में समाधिनिष्ठ मैं इस त्रिलोकीरूपी मठिया का निरीक्षणकर प्रातः काल में उस तरह का एक भिक्षुक है कि नहीं, यह कहूँगा। वाल्मीकिजी ने कहा : मुनिवर वसिष्ठजी के यों कहते ही बाहर मध्याह्न काल की सूचक डिण्डिम वाद्य की ध्वनि हुई। वह ध्वनि प्रलयकाल के विक्षुब्ध मेघों के गर्जन-सी पुष्ट थी। उस समय महाराज वसिष्ठजी के चरणों में राजाओं और नागरिकों ने पुष्पांजलियों की परम्परा उस प्रकार बिखेर दी, जिस प्रकार वायु से कम्पित वृक्ष पुष्प बिखेर देते हैं। अनन्तर अन्यान्य श्रेष्ठ-श्रेष्ठ मुनियों की पूजा कर वे सब अपने-अपने आसन पर से उठ कर खड़े हो गये। उसके बाद वह सारी सभा परस्पर प्रणामों के साथ उठ कर खड़ी हो गयी। और पहले दिन के क्रम के अनुसार भूचर-खेचर सब अपने-अपने स्थान को चल दिये। सबने अपने-अपने आश्रममें शास्त्रानुसार तत्पर होकर अपना-अपना आह्निक धर्म यथाक्रम पूरा किया। मुनिद्वारा कहे गये शास्त्र का विचार कर रहे भूचर-खेचर सबने कल्पतुल्य भी रात क्षणभर की नाईं बिता दी। भूचर-खेचर आदि प्राणिसमूह रात बिताकर प्रातःकाल, जबकि सब लोग अपने-अपने कार्यों में जुट गये थे, दशरथजी की सभा में आकर पहले दिन की नाईं फिर व्याख्यान सुनने के लिए योग्य सभापद्धति का निर्माणकर परस्पर संभाषण एवं पूज्य लोगों की पूजा करते हुए बैठ गये ॥१३-२०॥

पैसठवाँ सर्ग समाप्त

छासठवाँ सर्ग

प्रयत्नपूर्वक खोजे गये भिक्षु का तथा भिक्षुसदृश भूत-भावी अन्य मुनियों का दर्शन, यह वर्णन।

महर्षि वाल्मीकिजी ने कहा : मुनि वसिष्ठजी से समन्वित और विश्वामित्र आदि ऋषियों से युक्त आकाशचारी सिद्धगण पहले बैठ गये, तदनन्तर राजा लोग और उनके बाद सामन्त आदि नायक बैठ गये। अनन्तर श्रीरामजी और लक्ष्मण के साथ वह सभा पहले-जैसी ही सौम्य होकर शोभने लगी। वह ऐसी अच्छी लगती थी मानों वायु के सम्बन्ध से रहित चिक्कन बराबर आकृतिवाली तलैया हो। उसके पश्चात् मुनिराज श्रीवसिष्ठजी ने श्रीरामचन्द्रजी के नूतन प्रश्न की प्रतीक्षा न करके (पहले दिन किये गये प्रश्न का उत्तर देने की प्रतिज्ञा के अनुसार) कहना आरम्भ कर दिया, क्योंकि स्वभावतः दयाशील महात्मा लोग अधिकारी जनों को हठात् बोध दिया ही करते हैं। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे प्रकाशमान रघुकुलरूप आकाश के पूर्णचन्द्र श्रीरामजी, कल मैंने अपने ज्ञानचक्षु से उस भिक्षु का-चिरकाल तक अन्वेषण कर-अन्त में अवलोकन कर ही डाला। भद्र, ध्यान से उस तरह के भिक्षु का अवलोकन करने की अभिलाषा से सातों द्वीप, कुलशैल एवं पर्वतों से मण्डित विपुल भूमण्डलपर दीर्घकाल तक मैंने भ्रमण किया। और किसी भी तरह से मनःकल्पित वस्तु बाहर भी उपलब्ध हो सकती है या नहीं ? इस तरह का विचार करता हुआ मैं तब तक लगातार पर्यटन करता रहा, जब तक कि किसी ओर से वैसा भिक्षु मुझे प्राप्त न हुआ। आखिर में तृतीयांश रात्रि का शेष रह जानेपर समुद्र की ओर तटवर्ती वायु के सदृश मैं उत्तर प्रदेश की ओर जा पहुँचा और मन से मैंने विचार किया। भद्र, उस दिशा में वल्मीकनामक एक प्रदेश में ऊपर आगे जाकर एक दूसरा बड़ा प्रसिद्ध जिननामक रम्य जनपद है। उस बड़े देश में 'विहार' नामक एक स्थान है, जहाँ पर अनेक जन निवास करते हैं। उस विहार स्थान में समाधि की सिद्धि के लिए अपनी कुटी के भीतर 'दीर्घदृश' नामका एक भिक्षु स्थित है, जिसके केश बिलकुल पीले पड़ गये हैं। इस प्रकार समाधि में स्थितिवाले उस भिक्षु की आज इक्कीसवीं रात है। उसकी कुटिया दृढ़ सिक्कड़ों से बन्द है। उसके प्रिय नौकर भी ध्यानभंग के भय से भीत होकर उसके भीतर प्रवेश करने की चेष्टा नहीं करते। केवल वह भिक्षु उसी प्रकार की समाधि में लगा हुआ है। आज ही उसके विदेहकैवल्य की प्राप्ति का अन्तिम समय है, क्योंकि आयुष्यनियन्ता विधाता की ऐसी ही उसके लिए स्थिति है। यद्यपि ध्याननिमग्न उस भिक्षु की अब तक इक्कीस रातें ही बीती हैं तथापि पूर्ववर्णित रीति के अनुसार चित्त के द्वारा इन इक्कीस रातों को ही उसने हजारों वर्ष के रूप में समझ लिया है। भद्र, इस प्रकार का भिक्षु पहले किसी एक पूर्वकाल में हो चुका था और आज इस कल्प में उस प्रकार का यह द्वितीय है। इन दोनों को छोड़कर कोई तीसरा मुझे दिखाई न पड़ा। जब तीसरा मुझे दिखाई न पड़ा तब मैंने चतुरतापूर्ण चित्त से इस जगद्रूप कमल के अन्दर भ्रमर के समान खूब परिभ्रमण किया और उस परिभ्रमण में मैंने एक अन्य तीसरा ही भिक्षु पाया। हाँ, पाया तो सही, किन्तु इस सर्ग में नहीं; इसलिए इस सर्ग से भिन्न दूसरे अनेक सर्गों का लीलावश जब मैंने अवलोकन किया तब उन्हीं सर्गों में मुझे दूसरा भिक्षु मिला, जो कि ठीक पहले के समान स्वभाववाला ही है। चैतन्याकाश के एक कोने में लीन, जिस परिमाण के उस सर्ग में तृतीय भिक्षु विद्यमान है वहाँ पर वहाँ

के ब्रह्मा द्वारा निर्मित भुवन पद्धति इसी भुवन पद्धति के सदृश है ॥१-१६॥

यों ब्रह्माण्ड के भेद से जब पदार्थक्रम एक-सा है तब भिक्षु भी अनन्त हो सकते हैं।

भद्र, उसी प्रकार उसी-उसी अवयवविन्यास से अनेक पदार्थ होंगे और हो भी चुके हैं। इस सृष्टिपरम्परा में इसी क्रम से सब पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं ॥१७॥

इस अर्थ में मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणोक्त अर्थ का ही विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

श्रीरामजी, इस सभा में भी जो मुनि और ब्राह्मण हैं वे भी भिक्षु के सदृश आचरणवाले या अपने सदृश आचरणवाले होंगे तथा दूसरे भी अनेक मुनिसदृश आचरणवाले या भिक्षुसदृश आचरणवाले होंगे। यह भिक्षु आगे चलकर नारद के रूप में हो जायेगा और नारद भी दूसरे के रूप में हो जायेंगे, इस प्रकार ज्ञान और चरित्र से युक्त अन्य के रूप में यह हो जायेगा, यों अनेक तत्-तत् रूप में हो जाते हैं। इसी प्रकार जन्मादि द्वारा व्यास भी होंगे, शुक भी होंगे, फिर शौनक भी होंगे, क्रतु भी होंगे और पुलह भी होंगे। अगस्त्य, पुलस्त्य, भृगु और अंगिरस – ये एवं दूसरे इस प्रकार के स्वरूप और क्रिया के आश्रय चिर-चिर काल के अनन्तर होंगे, क्योंकि यह माया बड़ी व्यापक है। सृष्टि में सदृश आचार और जन्मवाले वे ही और अनेक दूसरे भी बारबार उस प्रकार आते जाते रहते हैं, जिस प्रकार जल में तरंग। कोई तो अत्यन्त सदृश, कोई अर्ध सदृश, कोई स्वल्प सदृश, कोई असदृश पदार्थ किसी समय बारबार उसी रूप में उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार यह बड़े-बड़े लोगों को भी मोह में डालनेवाली अति विस्तृत माया ही विलसित हो रही है जो निरवयव कालात्मा में न मानस चेष्टारूप है और न देहचेष्टारूप ही है, क्योंकि यह केवल भ्रान्ति ही विलसित हो रही है। हे पापशून्य, कहाँ इक्कीस अहोरात्र और कहाँ अनन्त जीवट आदि आकृतियाँ और उनकी उपलब्धियाँ। अहो, यह मनोवृत्ति बड़ी भयंकर है। भद्र, यह जगत् केवल प्रतिभास ही है और इस प्रकार विकसित होकर वैसे स्थित है, जैसे प्रातःकाल में जल में कमल। और जिस प्रकार उक्त काल में अनेक तरह के भ्रमरों के कलह और जलकल्लोल विद्यमान रहते है, उसी प्रकार इस प्रतिभासात्मक जगत् में भी अनेक तरह के जीवकलह और विषयानुभवजनित कल्लोल विद्यमान रहते हैं, यह आप देखिए। रामभद्र, जिस प्रकार अग्निकण से अर्चियों से युक्त महान् अग्नि उत्पन्न होता है, उसी प्रकार समस्त अशुद्धियों से निर्मुक्त विशुद्ध संवित्तिरूप परम ब्रह्म से ही अशुद्धात्मक यह सारा संसारजाल उत्पन्न हुआ है। हे रघुनन्दन, जिस तरह इस भिक्षु के मन में चित्र-विचित्र प्रतिभासात्मक अनेक जगत्खण्ड आविर्भूत हुए, उसी प्रकार प्रत्येक जीव के मन में भी चित्र-विचित्र प्रतिभासात्मक जगत्खण्ड आविर्भूत होते हैं, और उन-उन जीवों के मन में उदित हुए भिन्न-भिन्न जीवांशों में भी चित्र-विचित्र प्रतिभासात्मक जगत् अन्य-अन्य उत्पन्न होते हैं, इस रीति से उत्तरोत्तर मायालम्पट जीव के लिए जगत्स्थिति कहीं शान्त ही नहीं हो सकती। वे पहले के जगत्-खण्ड और उन जगत्-खण्डों के अन्तर्गत दूसरे जगत्खण्ड अपनी-अपनी व्यवहार की दृष्टि से सत्यरूप हैं और सर्वात्मक चैतन्यस्वरूप, कारणों के भी कारण इस परमात्मतत्त्व के तादात्म्यरूप से प्रस्फुरित होने पर तो सत्यरूप हैं ही नहीं ॥१८-२८॥

छासठवाँ सर्ग समाप्त

सड़सठवाँ सर्ग

समाधि में स्थित भिक्षु का देहनाश और भिक्षुभ्रम के सदृश दूसरे जीवों को
बन्धप्राप्ति और तत्त्वज्ञान से बन्ध की निवृत्ति-यह वर्णन।

राजा दशरथजी ने कहा : हे मुनिनायक, आप आज्ञा दीजिए, जिससे कि मेरे भेजे हुए ये मन्त्री आदि जन कुटी में स्थित भिक्षु के पास जाकर समाधि से उसे जगावें और यहाँ लावें ॥१॥

उसके लिए आज का ही दिन विदेहमुक्ति के लिए निश्चित है, यह जो मैंने पहले कहा था, उसे भूलकर आप यह कह रहे हैं, यह भावभंगी से सूचना कर रहे महाराज वसिष्ठजी कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे राजन्, उस भाग्यवान् भिक्षु की वह देह प्राणरहित हो गयी है, प्राणों को पकड़कर शरीर में रखनेवाला अन्नरस उसका सूख गया है, अतः अब वह किसी तरह जीवनशक्ति का भाजन नहीं रह गया ॥२॥

तब वह आपके सत्यसंकल्प के प्रभाव से जी जाय ?

महाराज, उस भिक्षु का तो जीव अब ब्रह्मदेव का सारस बनकर जीवन्मुक्त होकर अवस्थित हो गया, अतः फिर वह संसार का भागी नहीं हो सकता। निचोड़ यह है कि यदि उस शरीर के द्वारा **भोगोपयोगी प्रारब्ध बच जाता तो मेरा सत्यसंकल्प काम कर जाता, परन्तु वह है नहीं ॥३॥**

उस भिक्षु ने अपने सेवकों को यह आज्ञा दी है कि कोई मासभर घर का सिक्कड़ मत खोले, अतः उन सेवकों द्वारा दृढ़ सुरक्षित होने के कारण आपके मन्त्री आदि वहाँ जाकर कुछ भी नहीं कर सकते।

उसकी कुटी में मास के आखिरी दिन में उसकी आज्ञा के अनुसार सिक्कड़ खोलनेवाले, बाहर द्वार के अन्तराल में भिक्षु शरीर देखने की इच्छा कर रहे उसके सेवक बैठे हुए हैं। तदनन्तर मास के अन्त में अंगों की सन्धियों से शिथिल हुए शरीर को कुटी से बाहर निकालकर वे सेवक उसे जल में डूबा देंगे और कुटी के भीतर उसके शरीर के सदृश पत्थर-प्रतिमारूप, दृढ़ और मनःकल्पित देवतारूप दूसरे भिक्षु की प्रतिष्ठा करेंगे। राजन्, उक्त रीति से जब इस शरीर से मुक्त होकर वह भिक्षु अवस्थित है, तब भला प्राण, चेष्टा आदि व्यापारों से शून्य (मृत) उस शरीर को किस तरह प्रबोधित करेंगे ? ॥४-६॥

प्रासंगिक प्रश्न कहकर अब प्रस्तावित विषय का ही अवलम्बन करते हैं।

यह त्रिगुणात्मिका माया भ्रान्तियों की जननी विक्षेपशक्ति से किसी भी तरह पार नहीं की जा सकती। सदा-से ही एकमात्र सत्यतत्त्व के साक्षात्कार से सुखपूर्वक दूर की जा सकती है। माया स्वरूप से असद्रूप ही है और जगद्रूप कार्य का निर्माण करती है। जिस प्रकार सुवर्ण की कटकरूप से विपरीतरूपता होती है, उसी प्रकार प्रतिभास की जो विपरीतरूपता है, उसीके कारण उससे जगद्रूप विभ्रम का उदय होता है। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् (घट आदि विकार केवल **वाणीमात्र ही हैं, मृत्तिका ही सत्यरूप है) इस दृष्टान्तरूप श्रुतिवचन से दार्ष्टान्तिक यह माया परमात्मा में मिथ्यास्वरूप ही अनुमित होती है, इस प्रकार की अनुमित यह माया केवल तत्त्वसाक्षात्कार से जल में तरंगों की नाईं, तत्क्षण विलीन हो जाती है। अविवेक के कारण परमात्मा एक दीर्घस्वप्न से दूसरे दीर्घस्वप्न की ओर जाता है और जीवरूप बन जाता है। अपने विवेक से सबको अपना स्वरूप समझकर**

चिन्मात्ररूप हो जाता है। अपने तत्त्वसाक्षात्कार से जो जिसका प्रतिभास रहता है, वह आत्मस्वरूप ही बन जाता है और अपने तत्त्वज्ञान के न रहने से वही प्रतिभास, करंजवन के पौधों के सदृश, संसाररूप से उदित हो जाता है। प्रत्येक प्राणिसमुदाय के प्रति यह संसारमण्डल उस प्रकार भ्रान्ति से उदित होता है, जिस प्रकार भिक्षु के स्वप्न के अन्दर एक स्वप्न से दूसरा स्वप्न और जल में एक तरंग से दूसरा तरंग उदित होता है ॥७-१२॥

समष्टि हिरण्यगर्भ का यह जगद्रूप सर्ग केवल मनोनिर्मित होने के कारण जब स्वप्नरूप ही सिद्ध है तब व्यष्टिजीव का भी यह सर्ग स्वप्नरूप ही सिद्ध हो जाता है, इसमें संशय नहीं। परन्तु केवल अस्वच्छ चित्त से उत्पन्न होने के कारण व्यष्टि को वह दीर्घ एवं स्थिर-सा भासता है।

भद्र, प्रस्तुत जगद्रूप स्वप्न हिरण्यगर्भ से जैसा ही उदित है वैसा ही समस्त व्यष्टिजनों के प्रति अस्वच्छ चित्त से उत्पन्न हुआ जगत्-स्वप्न अवस्थित है। श्रीरामजी, पितामह के चित्त के सदृश चित्तशुद्धि होने पर तो यह सृष्टि स्वाप्निक विलास के समान असद्रूप चारों ओर से भासती है, यों उस तरह के भान से जाना जाता है। इसीसे यह निश्चय होता है कि यह प्रत्येक सर्ग ब्रह्माण्डों के समान करोड़ों रूपों में उदित हुआ है। यह जीव व्यष्टि-प्रपंचरूप से, समष्टि-प्रपंचरूप से अथवा साधारण-प्रपंचरूप से या प्रत्येक असाधारण-प्रपंचरूप से चाहे जिस किसी रूप से स्फुरित हो, तथापि इस हृदय में प्रतिभान के समर्थ, दीर्घ भीतरी विभ्रम को देखता है, इसलिए वह स्वप्न की नाईं मिथ्या ही है। अपने पारमार्थिक स्वरूप से च्युत हुआ यह जीव एकमात्र चितिसत्ता का अवलम्बनकर किसी देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की देहों में जरा, मरण आदि दुःखों का भागी बन जाता है। उस स्वप्न में चित्र-विचित्र कर्मोंवाली यह जीवचिति अपने चित्तांश के स्पन्दमात्र से नीचे पाताललोक या ऊपर ब्रह्मलोक की रचनाकर भोगों का उपभोग कर रही-सी स्थित है। परमात्मचिति ही प्राण की कल्पना से उसके अधीन स्पन्द से युक्त होकर उसीके द्वारा जीवनामक स्वरूप में परिणत होती है। उस प्रकार जीवरूप में परिणत हुई वह अपने भीतर देहाकार भ्रम और बाहर विषयाकार भ्रम को धारण करती हुई इधर-उधर लुढ़कती फिरती है ॥१३-१८॥

इस चिति का भ्रान्तिवश जीव आदि नामभेद भले ही हो, फिर भी यह परमात्मा ही है, क्योंकि हजारों अध्यासों से अधिष्ठान का भेद नहीं हो सकता, अतः परमपुरुषार्थ फल जीव-ब्रह्मैक्य ही है।

चित्तरूप-उपाधि आकार भ्रान्तिमात्र के अपराध से यह प्रत्यगात्मा क्या ब्रह्म नहीं है ? या ब्रह्म ही क्या प्रत्यगात्मा नहीं है ? और दर्पण में मुख के प्रतिबिम्ब के समान ब्रह्म में ही औपाधिक जीवनाम की, देवदत्त, यज्ञदत्त आदि देहनाम की योग्यता क्या नहीं है ? तात्पर्य यह निकला कि अभेद होने पर भी उपाधिवश सब कुछ सम्भव है। इस विषय में श्रुति भी प्रमाण है – 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' 'प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति वदन् वाक् पश्यंश्चक्षुः श्रृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मन इति, तान्येतस्य कर्मनामान्येव।' जैसे आकाश में शुद्धाकाश स्थित है, जल में विमल जल स्थित है, वैसे ही इस प्रकार ऐक्यदर्शन होने के कारण व्यवहारदृष्टि से भी जब परब्रह्म ब्रह्म में ही स्थित है तब परमार्थदृष्टि से समूल उपाधि का बाध होनेपर 'ब्रह्म ब्रह्म में स्थित है' यह कहना ही क्या। (किंतु, मुख से अत्यन्त भिन्न होने के कारण दर्पण आदि में स्थित मुख में कथंचित अन्यथाभ्रम हो भी

सकता है; परन्तु) जीवलोक तो आत्मभूत अभय ब्रह्म के मूर्त–अमूर्त–स्वरूप जगद्रूपों में स्थित है, इसलिए इसमें अन्यथाभ्रम की संभावना ही नहीं है, तथापि 'आत्मा से अन्य यह सब मेरे भय का कारण है' यों भ्रम कर यह इस प्रकार डरता है, जिस प्रकार बालक परछाईं से डरता है। और भेदज्ञान में बुद्धि का स्पन्दन कारण है, अतः समाधि के अभ्यास द्वारा बुद्धिस्पन्द के स्पन्दरहित कर दिये जानेपर भेदबुद्धिस्वरूप संज्ञा अपने–आप ही बुद्धि में विलीन हो जाती है। और वह बुद्धि भी पूर्णब्रह्माकार चरमसाक्षात्काररूप अपने परिणाम के द्वारा, अग्नि में हवन किये गये घी की तरह, उसीसे दीप्त ब्रह्म में विलीन हो जाती है ॥१९–२२॥

शंका हो कि करोड़ों कुदारियों से भी दुर्भेद्य यह जगत् भला एकमात्र बोध से कैसे विलीन हो जाता है ? तो इस पर 'वह असद्रूप चितिस्पन्दन होने से ही' यह समाधान करते हैं।

सर्वात्मक चितिस्पन्द में ही चितिस्पन्दरूप जगत् विकसित हुआ है। इसमें स्पन्दन, स्पन्दनाभाव, विकास आदि कल्पित ही हैं, तात्त्विक नहीं ॥२३॥

वे कल्पित हैं, यह भी कैसे जाना ? ऐसी शंका होनेपर 'तत्त्वदृष्टि से दिखाई न पड़ने से ही' यह समाधान करते हैं।

हे राघव, तत्त्वदृष्टि से देखने पर न स्पन्द है और न अस्पन्द ही है। न एकत्व है और न द्वित्व ही है। किन्तु शुद्ध एकमात्र चैतन्य स्वरूप जैसा है, उसी रूप से वह स्थित है। उत्तम विचार से सर्वशब्द और उसके अर्थों को एकरसस्वभाव जान लेनेपर तो एकमात्र चैतन्य ही परमार्थतः सत्य रह जाता है। उस समय अभावस्वरूप भी यह नहीं रहता, फिर भाव की कथा तो कोसों दूर रही, यह भाव है। भेदबुद्धि से ही मायाकलंकरूप भेद उदित होता है और अभेदबुद्धि से सबके शान्त हो जाने पर तो एकमात्र परब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है ॥२४–२६॥

वस्तु की सत्ता जैसी है वह उसी रूप में है, कोई भी उसे बदल नहीं सकता, यों महाराज वसिष्ठजी प्रतिज्ञा करते हैं।

श्रीरामजी, आप स्वस्वरूप के अज्ञान से ही नानारूप हैं। आप अज्ञानस्वरूप नानात्व को न देखने पर तो पूर्ण चिद्रूप ही हैं। इस विषय में जिसे चाहें, पूछिए। यही परमार्थ सत्य है। इसलिए आपकी, मेरी और अन्य की सर्वथा निःशंकता सिद्ध ही है ॥२७॥

उसी निःशंकता की सामर्थ्य से जाग्रत् आदि सभी अवस्थाओं के द्वैत का बाध प्रवृत्त हुआ है।

इसी निःशंकता से यह सिद्ध होता है कि परमार्थतः न तो स्वप्न है, न जाग्रत् है, न सुषुप्ति है, न तुर्यता है, न बन्ध है, न मोक्ष है और न अन्यथाकल्पना स्वरूप जगत् ही है। अज्ञान से ही द्रष्टा, दृश्य आदि त्रिपुटीरूप जगत् की सत्ता है। जब वह अज्ञान ही असत्य है तब तो शुद्धात्मस्वरूप वह शान्ति ही एकमात्र 'जगत्' नामवाली है, क्योंकि वह शान्ति ही 'गच्छति' यानी जो चारों ओर से व्याप्त करती है – इस व्युत्पत्ति के द्वारा 'जगत्' नाम से व्यवस्थित है। द्रष्टा, दृश्य, दर्शनरूप त्रिपुटी कहाँ है अर्थात् अत्यन्त अप्रसिद्ध है, इसलिए वह शान्ति 'जगत्' नामवाली नहीं हो सकती ॥२८,२९॥

केवल बोध से चित्त–प्राणादिस्पन्द की निवृत्ति कैसे होगी ? यदि ऐसी शंका हो तो इस पर उसके हेतुरूप संकल्प के क्षय से ही – यह समाधान करते हैं।

राजन्, आपके संकल्पशून्य हो जाने से स्पन्द भी स्पन्दशून्य ही सिद्ध हो जायेगा, क्योंकि संकल्पशून्य चिति स्पन्द और अस्पन्द से भिन्न कदापि नहीं है। चिति के अदर्शन से द्वैतता और एकतारूप संकल्प उदित होता है और वह संकल्प चिति के दर्शनमात्र से नष्ट हो जाता है, यों द्वैतता और एकता से रहित ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है। भद्र, चितिरूपी चन्द्रबिम्ब में जो एक तरह का संकल्परूपी कलंक स्फुरित हो रहा है, वह कलंक नहीं है; किन्तु चिदैकरस का घन शरीर है, यह आप जान लीजिये। हे श्रीरामचन्द्रजी, आप चिद्घन के विस्तृत पद में स्थित हो जाइये, क्योंकि आपके पूर्णरूप में स्थत हो जाने से संकल्पादि आपके साथ ऐक्य प्राप्तकर अलग अपना अस्तित्व नहीं रख सकते, यों आपके रूप से तो अपना अस्तित्व रखते ही है, इसी युक्ति से आत्मा के साथ सम्पूर्ण वस्तुओं में एकत्व का सम्पादन करनेवाले निर्दोष महा बोधसार का आप भलीभाँति अवलम्बन कीजिये। हे चित्चन्द्रबिम्ब, हे असंकल्पकलंक, भावाभावनाशस्वरूप भव्य बने हुए आपके द्वारा स्पृष्ट सब पदार्थ अमृतरूपी शरीरवाला हो जाता है। अहो, आपका माहात्म्य कैसा है। भद्र, आप चिति की भाव और अभाव स्वरूप कल्पना को चिन्मयरूप बना कर तथा अपने हृदय में उल्लास और विलास को एक-सा करके सुखपूर्वक विश्राम कीजिये। स्पन्द और अस्पन्द या संकल्प और विकल्प इत्यादि चित्त की भ्रान्ति का जितना भेद है सर्वाकारात्मक सुखैकरस शान्तिसत्ता ही तत्-तत् आकार से अवस्थित है। इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप आनन्दसागरनामक स्वरूप से स्थित हो करके ये पूर्ण और अपूर्ण जो दो दशाएँ हैं, इन्हें अपना एक ही रूप समझिये ॥३०-३६॥

सड़सठवाँ सर्ग समाप्त

अड़सठवाँ सर्ग

लक्षणों से चार तरह का मौन और उसमें भी सुषुप्तिसम्बन्धी
मौन तुर्यातीत पद में प्रतिष्ठित है - यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामभद्र, आप सुषुप्तमौनवान् होकर, चित्त की विलासिता छोड़कर तथा कल्पनारूपी मल से निर्मुक्त होकर उस परम पद में अवस्थित हो जाइये। श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्! वाणी का मौन, इन्द्रियमौन और काष्ठमौन तो मैं जानता हूँ लेकिन हे मौनेश, सुषुप्तमौन किसे कहते हैं, यह (मुझे मालूम नहीं है कृपाकर) कहिये। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, मुनिवरों ने दो तरह के मुनि बतलाये हैं - एक काष्ठतपस्वी और दूसरा जीवन्मुक्त। आत्मतत्त्व के पर्यालोचन से शून्य शुष्क (आत्मानुभवरस से शून्य कृच्छ-चान्द्रायणादि) क्रिया में बद्ध निश्चय और हठात् सम्पूर्ण इन्द्रियों को जीत रखनेवाला मुनि काष्ठतापस कहा गया है। और यथार्थ में यह संसार क्या है, यह अच्छी तरह जानकर जो आत्मज्ञानी आत्मा में अवस्थित होता हुआ व्यवहार में अन्य तपस्वियों के समान रहने पर भी नित्यनिरतिशयानन्दास्वाद से भीतर तृप्त रहता है वह जीवन्मुक्त कहा गया है ॥१-५॥

प्रकृत्यर्थ का व्युत्पादन कर अब प्रत्ययार्थ का व्युत्पादन करते हैं।

इन दोनों शान्तात्मा श्रेष्ठ मुनियों का जो चित्निश्चयरूपात्मक भाव है वह मौनशब्द से कहा

गया है। रामभद्र, मौनविद् लोगों ने चार प्रकार का बतलाया है–वाणी का मौन, इन्द्रियमौन, काष्ठमौन और सुषुप्तमौन ॥६,७॥

उनमें प्रत्येक का लक्षण बतलाते हैं।

वाणी का निरोध वाणी का मौन, हठात् इन्द्रियों का निग्रह इन्द्रियमौन और चेष्टाओं का त्याग काष्ठसंज्ञक मौन कहलाता है। इस तरह विभाग के पर्यालोचन से यद्यपि पंचम मनोमौन भी संभव है तथापि वह काष्ठतापस, मरण, मूर्च्छा और सुषुप्ति में ही संभव है, अन्य किसी दूसरे काल में नहीं। इसलिए मौनवेत्ताओं ने उसकी गणना अलग नहीं की है। हे श्रीरामजी, आत्मतत्त्वानुभव में जो जीवन्मुक्त निरन्तर लगा रहता है उसे सुषुप्तमौन कहते हैं। वाणी का मौन आदि तीनों मौनविशेषों में काष्ठतापस विषय (अधिकृत) है और सुषुप्त मौनावस्था में वह जो चतुर्थी अवस्था है वही जीवन्मुक्तों में स्थिति रखनेवाली है यानी वही मुक्तधी कहलाती है ॥८–१०॥

यद्यपि तीनों मौनों में मौनत्व सिद्ध है तथापि वे मलिन मन का जो दृढ़ निश्चय है तत्स्वरूप ही हैं, इसलिए वे तीनों जीव के बन्धन के लिए ही समर्थ हैं, यह कहते हैं।

यद्यपि वाणी का मौन मौन है, यह भलीभाँति सिद्ध हो चुका है तथापि वह मलिनमनोरूप ही है यानी मलिन मन का दृढ़ निश्चयरूप है; इसलिए वह जीवबन्धन के लिए समर्थ है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। अतः काष्ठतापस भी जीवबन्धन के लिए ही स्थित हुआ है ॥११॥

ऐसी परिस्थिति में मलिन मन के दृढ़ निश्चयरूप मौन से युक्त काष्ठतापस समाधि में स्थित कैसे रहता है?

भद्र, काष्ठमौनी तो समाधि में बलपूर्वक मनोनिग्रह करके अपने हृदय के अन्दर अहंभाव के अनुसन्धान का स्पर्श न करता हुआ और बाहर भी रूप एवं नाम प्रपंच का स्पर्श न करता हुआ तथा अज्ञान से आवृत्त हुए आत्मा का अवलोकन न करके सुषुप्तिवत् अविनाशी आत्मदृष्टि का अभाव न होने से भस्म से ढकी हुई अग्नि की नाईं साक्षिमात्रज्योति से अवलोकन करता हुआ अवस्थित रहता है। रामभद्र, यह जो तीन प्रकार का मौन कहा गया है वह व्युत्थान काल में प्रस्फुरित हो रहे चित्त का चलन ही है उस काल में वे ही पूर्वोक्त तीनों मौनी स्थित रहते हैं तथा उसके जाननेवाले तो चित्त का बाध हो जाने से वहाँ पर स्थित निरोध और व्युत्थानादि की लीला से नहीं ठहर पाते ॥१२,१३॥

अथवा पूर्णात्मस्थिति की लीला से पूर्वोक्त तीनों मौन बन्धनस्वरूप ही हैं, इसलिए इनका त्याग कर देना चाहिए – इस बुद्धि से वे भले ही क्रुद्ध हों या वे पूर्वोक्त मौन चिदानन्द के विलास ही हैं, इस बुद्धि से भले ही क्रुद्ध न हों; फिर भी उनमें यहाँ उपादेयताबुद्धि तो है ही नहीं; यही मेरे कहने का तात्पर्य है – यह कहते हैं।

वहाँ की निरोध और व्युत्थानादि की लीला से या पूर्णात्मस्थिति की लीला से तीनों मौन बन्धनस्वरूप होने के कारण त्याज्य हैं, यह जो मैंने कहा है, इससे भले ही तत्स्वरूप का ज्ञान रखनेवाले लोग क्रुद्ध हों या न हों; लेकिन हे श्रीरामचन्द्रजी, इसमें तो तनिक भी सन्देह नहीं है कि इन तीनों मौनों में उपादेयताबुद्धि बिलकुल नहीं है। और भद्र, यह सुषुप्तमौन तो जीवन्मुक्तों के

अनुभवपथ में स्थित है। इसमें स्थिति रखनेवाले जन्तु का पुनर्जन्म नहीं होता, इसलिए उसके श्रवण का यह भूषण है। अतः आप भी इसे सुनिये ॥१४,१५॥

तत्त्वसाक्षात्कार के सिद्ध हो जाने पर इसकी भी अनायास ही सिद्धि हो जाती है, अतः पूर्वोक्त मौन में जो क्लेश होता है उसकी इसमें अपेक्षा नहीं है, यह कहते हैं।

इस सुषुप्तमौन में न तो तीन तरह के प्राणों का संयमन (निरोध) किया जाता है और न संयोजन। इसमें सम्पूर्ण इन्द्रियसंवित्तियाँ न तो अपने विषयों के लाभ से उत्पन्न हर्ष से उल्लसित होती हैं और न निरोधजन्य क्लेश से ग्लानि को ही प्राप्त होती हैं ॥१६॥ इस अवस्था में यह अनेकता की कल्पना न तो उत्थित होती है और न शान्त ही होती है। *(ज्ञान से बाधित चित्त कैसे अवस्थित रहता है, यह कहते हैं।)* चित्त ज्ञान से बाधित होने से न चित्तरूप रहता है, न अचित्त रहता है तथा न सत्, न असत् और न अन्यस्वरूप ही रहता है। विभाग करनेवाले विकल्प के नाश से विभागशून्य अतएव अभ्यास की अपेक्षा से रहित, अपरिच्छिन्न आत्मस्वरूप होने से आदि और अन्त से शून्य जो ध्यान कर रहे या न कर रहे पुरुष का अवस्थित रूप है, वही सुषुप्तमौन कहा जाता है। संसाररूपी अनेक विभ्रमों के अधिष्ठानभूत इस आत्मतत्त्व को यथार्थरूप से जानकर सन्देहरहित जो रूप अवस्थित रहता है वही सुषुप्तमौन है। अनेक तरह के संविद्रूपों का आत्मा जो शिव है उसीसे यह सारा जगत् परिपूर्ण है, इस तरह के ज्ञान से युक्त जो अनन्त अवस्थान (स्थिति) है वह सुषुप्त मौन कहा जाता है। यह सम्पूर्ण जगत् चिदाकाश का विवर्त होने से आकाशरूप, मूर्तिमान् होने से आकाशस्वरूप से भिन्न, अधिष्ठानसत्ता की सद्रूप से प्रतीति होने से अस्तित्व से युक्त तथा कल्पित होने से नास्तित्व से युक्त है यानी यह सम्पूर्ण जगत् अधिष्ठानरूप से सत् और कल्पित होने से असत् है। यों ब्रह्म से अलग जगत् की सत्ता नहीं है, यह निश्चय करके जो एकाकार, निर्विकार चित्त अवस्थित रहता है वह सुषुप्त के तुल्य मौन कहा गया है। सर्वशून्य, आलंबनरहित, शान्तिस्वरूप, विज्ञानमात्र तथा जीवन्मुक्तदशा में जो न सद्रूप और न असद्रूप अवस्थान (स्थिति) है वह उत्तममौन कहा गया है। वितर्तरूप अज्ञान से उत्पन्न भावअभावस्वरूप दशा तथा देशविशेषों से जो संवित् का अविवर्त है, उसे परममौन कहते हैं। बाधित होने के कारण अत्यन्त असत् तथा बाह्याकार वृत्ति से शून्य चित्त से जो संविद्वृत्ति का भीतर अनावर्तन (अपरिवर्तन) है उसे अक्षयमौन कहते हैं। जिस दशा में 'न मैं हूँ, न अन्य है, न मन है और न मनका विकल्प है' – इस तरह के तत्त्वज्ञान से बाधित चित्त का जो संवित् से अविच्छिन्न (निरन्तर-लगातार) अप्रतिभास है उसे अतिमौनिता यानी उत्तममौनिता कहते हैं। और इस जगत् में अनामय, शब्दार्थमात्र यानी सर्वात्मक तथा सत्तासामान्यस्वरूप मैं ही हूँ- इस तरह की ज्ञान स्थिति को सुषुप्त मौन कहते हैं। चूँकि यह आत्मसंवित् अमा यानी सर्वबाधक स्वाकार चरमवृत्ति का भी ग्रास कर लेती है, इसलिए इसमें अपनी, दूसरे की या भेद की कल्पना ही कहाँ ? अतः सब कुछ व्याप्त अनन्त सौषुप्त मौन ही है। भद्र, प्रबोधयुक्त इस सुषुप्त मौन को ही अनन्त होने से निर्मल तुर्य पद या तुर्यातीत पद समझ लीजिये ॥१७-२८॥

पूर्व में जो सात प्रकार की ज्ञान भूमिकाएँ कही जा चुकी हैं उनमें समाधि भेदस्वरूप जो अन्तिम

तीन भूमिकाएँ हैं वे जाग्रत और स्वप्नावस्था में स्थित भी तत्त्वज्ञानियों को क्रमशः हुआ करती हैं, यह कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी, सौषुप्तैकसमाधि, तुरीयसमाधि या तुर्यातीत समाधि – ये तीनों ही क्रमशः जाग्रत् और स्वप्नावस्था में स्थित भी तत्त्वज्ञानी को हुआ करती हैं। ब्रह्मभूत हे साधो श्रीरामभद्र, जाग्रदवस्था में चारों ओर भलीभाँति व्यवहार कर रहा अथवा सब व्यवहारों को छोड़ कर के समाधि में स्थित हो रहा देहयुक्त भी जीवन्मुक्त सम्पूर्ण निर्मल शान्तिवृत्ति से युक्त तुरीयावस्था में (♨) ही स्थित एवं विदेहस्वरूप ही है। हे श्रीरामजी, यह स्थिति उसीकी है जो स्थूल और आकारों के बाध से निर्मल आकाशस्वरूप होकर स्थित हो गया है अथवा हे श्रीरामजी, यह स्थिति आपकी ही है, क्योंकि आप निर्मल आकाशस्वरूप से स्थित हो चुके हैं। हे श्रीरामचन्द्रजी, 'ॐ' इत्यादि माण्डूक्योपनिषद् में कही गयी रीति से विराट् आदि पादमात्राओं के प्रविलापन द्वारा सांसारिक वासनाओं का उच्छेद कर आप एक तुरीयपदरूप हो जाइये। इस संसार में न आप, न मैं और न कोई दूसरी वस्तु ही सत्य है। इस संसार में सब कुछ विद्यमान है, यह जो प्रसिद्धि हो चुकी है इसे नाडी के भीतर अनुभूयमान स्वप्न की नाईं मिथ्या समझ कर जीवन्मुक्त होते हुए आप चिदाकाशकोश की कला में स्थित हो जाइये ॥२९–३१॥

अड़सठवाँ सर्ग समाप्त

उनहत्तरवाँ सर्ग

गणों की रुद्ररूपता, मुक्त लोगों की स्थिति, योग से प्राणों का
विलय तथा मरण से पुनः उत्पत्ति– इन सबका वर्णन।

प्राप्य तां ब्रह्महंसेहां रुद्रतां सर्व एव ते। समाजग्मुर्विरिजुश्च रुद्राणामुत्तमं शतम् ॥

इस श्लोक से सौ रुद्रों की उत्तम रूद्रता कही जा चुकी है। उसके बाद के सर्ग में भगवान् आदि रुद्र की आज्ञा से तत्–तत् देहों में प्रारब्धशेष का उपभोग कर रहे रुद्रों के विषय में – तत्र भुक्त्वा

(♨) यह तुरीयावस्था उपनिषद् में इस प्रकार वर्णित है : नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ अर्थात् तुरीय उस पद का नाम है जो स्वप्नावस्था में मनोविरचित विषयज्ञान से शून्य है, जाग्रत अवस्था में इन्द्रियजन्य विषयज्ञानशून्य है, जाग्रत् और स्वप्न की सन्धि में बोधरहित है, सुषुप्तावस्था में होनेवाले जाग्रत् और स्वप्न के ज्ञानों के घनीभाव से शून्य है, युगपत् सर्व विषयों के ज्ञातृत्व से शून्य है, ज्ञानाभावरूप नहीं है, ज्ञानेन्द्रिय का अविषय है, अर्थक्रियारहित है, कर्मेन्द्रिय का अगम्य है, अननुमेय है, अन्तःकरणवृत्ति का अविषय है, शब्दशक्ति का अविषय है, जिसमें जाग्रदादि अवस्थाओं में एक आत्मा ही है, इस प्रकार का ज्ञान ही प्रमाण है, जहाँ प्रपंच का अभाव विद्यमान है, जो विक्रियारहित है, आनन्दस्वरूप है, भेदशून्य है, स्वयं संख्याशून्य होता हुआ भी विश्वतैजसप्राज्ञरूप तीन पादों की अपेक्षा चौथे रूप से शास्त्रवेत्ताओं के द्वारा कल्पित है। 'मैं' इस प्रतीति का विषय वह आत्मा मुमुक्षुजनों को साक्षात् करने योग्य है।

चिरं भोगान् प्राप्य रुद्रपदं ततः । गणतामावसन्तस्ते स्थास्यन्ति सपरिच्छदाः ॥ इत्यादि जो कहा गया है, उसमें क्या सौ रुद्रों की मूर्तियों में गणत्व था या एक ही रुद्र की मूर्ति थी ? यों सन्देह कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं ।

हे मुनिनायक, आपने पहले कहा था कि वे भिक्षु के संकल्पस्वरूप जीवट आदि सौ रुद्र हो गये, सो उनमें शतरुद्रता कैसे आई ? यानी वे सौ रुद्र कैसे हुए ? क्या गणों के साथ परिगणन करने से या उन गणों से अतिरिक्त रुद्रों की गणना करने से ? जो आपके द्वारा गण कहे गये थे क्या वे ही रुद्र भी कहे गये थे या नहीं ? यह आप शीघ्र मुझसे कहिये ॥१॥

इसमें प्रथम विकल्प का अवलम्बन कर महाराज वसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, भिक्षु ने शतशरीररूप सौ स्वप्न देखे थे, उन्हें आपने मेरे द्वारा पहले कहे गये तत्-तत् जन्मादि के प्रस्ताव से जान ही लिया था; इसीलिए मैंने नामतः विशेषरूप से नहीं कहा ॥२॥

भिक्षु के स्वप्न में जो जीवटादि आकार देखे गये थे वे ही शत गण कहे गये हैं। वे ही भोग और ऐश्वर्य के द्वारा रुद्रतुल्य होने तथा रुद्र के अंशस्वरूप होने से रुद्र कहे गये हैं। रुद्र की सेवा करनेवाले पार्षद गण कहे जाते हैं, तब वे मुख्यरुद्र गण कैसे हुए ? क्योंकि स्वामिभाव और सेवकभाव- इन दोनों का एकत्र रहना सर्वथा असम्भव है । किंतु, यह निश्चित है कि शततमरूद्र के मुख्य होने के कारण वह तो गण हो नहीं सकता, फिर सौ गण हुए, यह कहना भी ठीक नहीं बनता, यदि ऐसी कोई शंका करे, तो उस पर कहते हैं ।

सौ रुद्र होते हुए भी सबके सब पूर्वसिद्ध ईश्वरकोटिभूत रुद्र की परिचर्याविधि में गण ही हैं, क्योंकि उनकी कर्मफलस्वरूप भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति उसीके अधीन है ॥३॥

'बोधयित्वा तु तं भिक्षुं चेतसा चेतनेन च' इत्यादि से भिक्षु के स्वप्नकृत शततम रुद्र द्वारा अपने चित्त से चैतन्यप्रदान होने से भिक्षु आदि का जो बोधन पहले कहा गया है उसका, और कहीं दूसरी जगह दर्शन न हो सकने से, असम्भावन कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

भगवन्, भिक्षु के स्वप्नप्रकृत रुद्र ने एक ही दीप से सौ दीप की नाईं एक चित्त से सौ चित्त कैसे कर दिये ? ॥४॥

अज्ञानियों में उसका दर्शन न होने पर भी मुक्तों में उसकी असम्भावना करना युक्त नहीं है, यों खण्डन करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानैश्वर्य से आवरणशून्य तथा योगरूप ऐश्वर्य से सत्यसंकल्पवाले महानुभाव जो कुछ जिस प्रकार से संकल्प करते हैं उसका वैसा ही-संकल्पित अर्थ के लाभ के लिए भूमानन्द को स्वीकार करनेवाली सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वनामक मायाप्रतिबिम्बित संवित्ति के बल से-अनुभव करते हैं ॥५॥

सर्वात्मस्वरूपता के बल से भी उन्हें सर्वविध अर्थों की सिद्धि होती है, यह कहते हैं।

सर्वात्मस्वरूप आत्मा के सर्वगामी होने से जिस वस्तु की जहाँ-कहीं जैसे भावना की जाती है, उसकी वहीं पर वैसे ही जीवन्मुक्तता बुद्धि से अनुभव किया जाता है ॥६॥

इस तरह के ऐश्वर्य के रहते हरि, हर आदि मनुष्ययोनियों में अवतार तथा श्मशान में निवास आदि का कष्ट क्यों करते हैं ? अपने लिए सर्वदा सुखकी ही कल्पना क्यों नहीं करते ? इस अभिप्राय से श्रीरामजी पूछते हैं।

ब्रह्मन्, सर्वविध शक्तियों से सम्पन होते हुए भी भगवान शंकरजी भस्मशाली, कपालमालाभूषण से युक्त, दिगम्बर, श्मशानवासी तथा महाकामी क्यों बने हुए रहते हैं ? अपने लिए शुभदायक सुन्दर कल्पना क्यों नहीं करते ? महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, महेश्वर, सिद्ध तथा जीवन्मुक्त शरीरियों के लिए संसार में क्रियाविषयक कोई नियम नहीं बना हुआ है यानी शास्त्रीय, मंगलात्मक तथा सुखभोग फलवाली क्रियाएँ ही करनी चाहिए, अन्य नहीं, ऐसा कोई नियम उनके लिए नहीं बना हुआ है, क्योंकि वे लोग विधिवाक्यों के दास नहीं है यानी विधि–निषेधवाक्यों से वे परे हैं। वह क्रियाविषयक नियम तो अज्ञजनों के लिए ही कल्पित हुआ है। तात्पर्य यह है कि अज्ञानियों की दृष्टि में प्रसिद्ध मंगलस्वरूप जो क्रियाएँ हैं, वे ही तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में अत्यन्त अमंगलरूप हैं, क्योंकि अशुभ कर्मों के अभाव से दुःख की सामग्री के रहते भी दुःखदायक भोगों की उत्पत्ति नहीं होती और उनकी दृष्टि में सभी पदार्थ सुखरूप ही मालूम पड़ते हैं। राग, द्वेष, लोभ आदि हजारों दोषों से चित्त के खण्डित हो जाने के कारण अज्ञानी पुरुष क्रिया के नियमन के बिना मात्स्यन्याय से जन्मपरम्पराजनित नरक आदि नानाविध दुःख प्राप्त करता है, यह शास्त्रों में प्रसिद्ध है। और आत्मज्ञानी पुरुष तो जितेन्द्रिय, ज्ञानी तथा वासनारहित होने के कारण इष्टअनिष्ट वस्तुओं में कभी नहीं डूबता यानी न तो वह कभी इच्छित वस्तुओं में निमग्न होता है और न अनिच्छित वस्तुओं से उद्विग्न होता है। वे ज्ञानी लोग सदा काकतालीयन्याय से अकस्मात् प्रादुर्भूत् हुई क्रिया करते और नहीं भी करते हैं, क्योंकि इन लोगों को किसीमें भी आग्रह नहीं होता। काकतालीयन्याय से ही भगवान् विष्णु ने पूर्व में मनुष्यादि जन्मोचित कर्म का सम्पादन किया। ऐसे ही भगवान् शंकर और ब्रह्मा ने भी किया। हे श्रीरामचन्द्रजी, कोई कर्म न निन्द्य है, न अनिन्द्य है और न उपादेय है। किसी कर्म में हेयता नहीं है। ऐसा कोई भी कर्म न आत्मीय है और न परकीय, जो सिद्ध पुरुषों का विषय हो यानी जो सिद्ध महात्माओं को फँसावे ॥७–१३॥

तो भला बतलाइये तो सही, भगवान् शंकर के लिए प्रसिद्ध उनके चरित्र के अनुकूल वेष तथा क्रिया का नियम कैसे बना है अथवा विष्णुभगवान् के लिए ही उनके चरित्र के अनुकूल वेष और क्रिया का नियम कैसे बना है या आप–जैसे महानुभावों के लिए उत्तम व्रतचर्या का नियम कैसे बना है ? क्योंकि काकतालीयन्याय से उनका निर्माण बिलकुल असम्भव है, ऐसी आशंका करते हैं।

भद्र जैसे सृष्टि के आदि में अग्नि आदि के उष्णता आदि प्रसिद्धि को प्राप्त हो चुके हैं वैसे ही भगवान् शंकर आदि के कर्म तथा द्विजातियों के भी तत्–तत् जाति के योग्य कर्मों के विधान दृढ़ता को प्राप्त हो चुके हैं। तात्पर्य यह है कि मुख्य ईश्वर की इच्छा स्वरूप अनादि नियति ही कर्मों की व्यवस्थापिका है। लेकिन अज्ञानी लोगों की दिनचर्याएँ अग्नि आदि क्रियाओं की नाईं सृष्टि के आदि में अभिव्यक्त होती हुई भी नियत नहीं है। वे सृष्टि के प्रौढ़ होने पर ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि तत्–तत् वर्णविभागों में संकेत के वश से अलग–अलग ऐहिक और पारलौकिक सुख–दुःखादि की अनुभूतिस्वरूप फल देनेवाली हैं। जिनमें कुछ तो शास्त्रीय हैं और कुछ स्वाभाविक हैं, जो कि राग–द्वेष आदि के कारण स्वयं प्राणियों

द्वारा कल्पित हुई हैं। बस, यही दोनों में भिन्नता है ॥१४,१५॥

इस तरह प्रश्न का समाधान देकर प्रस्तुत मौन के विषय में अवशिष्ट वक्तव्य दिखलाते हैं।

हे रघूद्वह, प्रसिद्ध चार प्रकार के मौनों से परे जो तुर्य मौन है, वह विदेहमुक्तों का विषय है और आप हैं सदेह, इसलिए आपसे वह मैंने नहीं कहा। अब कहता हूँ, सुनिये। भद्र, आकाश से भी अत्यन्त स्वच्छ चित्स्वरूप आत्माकाश है और उस आत्माकाशभाव की प्राप्ति ही परम श्रेय (मोक्ष) है। वह कैसे प्राप्त की जाती है, (यह मैं बतलाता हूँ, आप) सुनिये ॥१६,१७॥

सांख्य और योग उसकी प्राप्ति में उपाय हैं, यह आगे चलकर कहने की अभिलाषा से महाराज वसिष्ठजी सांख्ययोगियों का लक्षण बतलाते हैं।

भलीभाँति ज्ञान के अवबोध और नित्य एक समाधि से जो विवेकविचारप्रयुक्त राजयोग के द्वारा प्रबुद्ध (ज्ञानी) हुए हैं वे सांख्ययोगी कहे गये हैं ॥१८॥

कर्मयोगियों का लक्षण कहते हैं।

जो प्राणादि वायु के शान्त हो जाने पर पूर्ववर्णित हठयोग से अनामय, आदि-अन्त से रहित परमपद को प्राप्त हो गये हैं वे योगयोगी कहे गये हैं। वह शान्त, अकृत्रिम पद दोनों तरह के भी योगियों के लिए उपादेय है यानी फलीभूत तत्त्वसाक्षात्कार से प्राप्तव्य है। कुछ लोग उस पद को राजयोग द्वारा प्राप्त हो चुके हैं और कुछ लोग इसी देह से हठयोग के द्वारा प्राप्त हो चुके हैं। भद्र, जो सांख्य और योग को एक देखता है, वही देखता है यानी जो सांख्य और योग को एक समझता है वस्तुतः वही विद्वान् है, क्योंकि जो उत्कृष्ट स्थान सांख्यों से प्राप्त किया जाता है वही योगों से भी प्राप्त किया जाता है ॥१९-२१॥

विभिन्न रूपवाले उन दोनों का भला एक फल कैसे हो सकता है, यदि ऐसी शंका हो, तो उस पर कहते हैं।

जहाँ प्राण और मन की वृत्ति बिलकुल उपलब्ध नहीं होती और जो वासनारूपी जाल से निर्मुक्त हो गयी है वही स्थिति परमपद है, तात्पर्य यह है कि प्राण और मन इन दोनों की भी वृत्तियों के आत्यन्तिक विलय से उपलक्षित होने के कारण उभय-वासनारूपी जाल से जो स्थिति छुटकारा पा चुकी है वही परमपद है, हे श्रीरामजी, यह आप जान लीजिये ॥२२॥

यदि उनका फल एक ही है, तो भात की सिद्धि में आग और जल के समुच्चय के सदृश सांख्य और योग का समुच्चय मानना ही युक्त है, विकल्प मानना युक्त नहीं है; यदि ऐसी कोई आशंका करे, तो उस पर कहते हैं।

बाहर की इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और प्राण आदि की चेष्टाएँ ही संसार है, उसका वासनापुंजस्वरूप मन ही कारण कहा गया है। वह मन सांख्य या योग दोनों में किसी एक से विलीन होकर तत्त्वज्ञानरूप से परिणत हो करके इन्द्रिय और प्राण दोनों के व्यापारों में अकारण बन जाता है। इस तरह एक-एक से दोनों के फल की सिद्धि हो जाती है; अतः सांख्य और योग-इन दोनों का समुच्चय नहीं है, किन्तु विकल्प ही है, यह भाव है ॥२३॥

देह में अहन्तादर्शनपूर्वक ही सब संसृतियाँ उत्पन्न होती हैं और अहन्तादर्शन में मन कारण है।

मन की शान्ति हो जानेपर सब तरह की संसृतियों की शान्ति हो जाती है, यह कहते हैं।

मन देह को उस तरह देखता है जिस तरह बालक वेताल को। स्वात्मा को विनष्ट करके तो मन फिर उसे नहीं देखता ॥२४॥

तब आत्मदर्शन से मन का नाश कैसे होता है, यदि ऐसी कोई शंका करे तो इस पर 'आत्मा के अदर्शन से जन्य होने के कारण' यह कहते हैं।

आत्मदर्शन के अभाव से असद्रूप ही मन मिथ्या ही उदित होता है। स्वप्न में अपने मरण के सदृश दिखाई देता भी यह विद्यमान नहीं है ॥२५॥

ज्ञान से मन का नाश होने पर उसके कार्य अहन्ता, ममता आदि बन्धन से लेकर मोक्षपर्यन्त सब कल्पनाएँ बाधित हो जाती हैं, यह कहते हैं।

यह संसार मन से उत्पन्न हुआ है। ज्ञान से मन का नाश हो जानेपर उसके कार्य ममता, अहन्ता, संसृति, उपदेश्य, उपदेशादि, बन्ध और मोक्ष कहाँ किससे उत्पन्न हो सकते हैं ॥२६॥

अब उत्तम, मध्यम और अधम अधिकारियों के भेद से तीन मोक्ष के साधन हैं, यह शास्त्रार्थों के तात्पर्यसंग्रह द्वारा दिखलाते हैं।

एक तत्त्व का (परब्रह्म का) दृढ अभ्यास, प्राणों का विलय तथा मन का विनिग्रह – यही मोक्षशब्द के अर्थ का संग्रह है यानी ये ही तीन मोक्ष के साधन हैं, यह सब शास्त्रों का निचोड़ है ॥२७॥

इन तीनों में मध्यम के ऊपर श्रीरामचन्द्रजी आक्षेप करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुने, यदि मोक्ष का कारण प्राण का नाश ही है तब तो मैं समझता हूँ कि मरे हुए सभी प्राणी मुक्त हो जाते हैं ॥२८॥

उक्त तीनों भी उपाय मन के विनाश द्वारा ही मोक्ष के कारण होते हैं, मरण में मनोनाश या प्राणनाश नहीं होता, किन्तु वहाँ पर मूर्च्छाकाल में, विलीन सैन्धव की नाईं, अविद्या में वासनारूप से उनकी स्थिति रहती है और उत्क्रमणकाल में फिर उनका आविर्भाव हो जाता है। एवं 'सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति' इस श्रुति से तथा तृणजलायुका का दृष्टान्त होने से विलीन प्राण चक्षु आदि द्वारों से निकल नहीं सकते। यदि शंका हो कि स्थूल देहरूप आश्रय न होने के कारण बाहर में निकले हुए प्राणों का विलय हो जायेगा तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि बाह्याकाश में साथ–साथ निकली हुई भूतमात्राओं से तात्कालिक व्यवहारयोग्य देह की कल्पना हो सकती है, इस आशय से वसिष्ठजी समाधान करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, इन तीनों उपायों में मनोविनाश ही मुख्य साध्य है। मनोविनाश जितना ही शीघ्र होगा उतना ही शीघ्र कल्याण होगा, यह आप जान लीजिये। प्राण जब घर–घर आदि शब्दों से शून्य इस शरीर का परित्याग करते हैं तब वासना एवं कर्म से होनेवाले भावी देहस्वरूप का अनुभव कर बाह्याकाश में उसी देह के उत्पादन में समर्थ भूतमात्राओं से वे सम्बन्ध करते हैं (📖) ॥२९,३०॥

(📖) इस विषय में श्रुति प्रमाण भी है – 'सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति' 'तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुते एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते'

तब वे भूतमात्राएँ बाहर के अन्यजीवों के प्राणों के साथ सम्बद्ध क्यों नहीं होतीं ? इस शंका पर कहते हैं।

तत्-तत् जीववासनामात्रस्वरूप वे भूतमात्राएँ हैं। अतः उक्त वासनावाले मनोविशिष्ट प्राणों से ही वे सम्बद्ध होती हैं, दूसरों से नहीं, अतः उक्त शंका का प्रकृत में कुछ भी अवसर नहीं है। दूसरे शरीर में जो प्राण उत्पन्न होते हैं, वे पूर्व शरीर की वासनाओं से युक्त होकर ही उत्पन्न होते हैं। और पूर्व देह का जो परित्याग करते हैं, वे भी भावी देह की वासनाओं से युक्त होकर ही परित्याग करते हैं। देहान्तर में उसके हृदयाकाश और उसके अन्तर्गत वायुओं से उस प्रकार श्लिष्ट होते हैं, जिस प्रकार पुष्पों की गन्ध तिल में प्रविष्ट होकर तेल के साथ श्लिष्ट हो जाती है। इसी प्रकार यन्त्रनिष्पीडन दुःख की नाईं केवल दुःख ही है ॥३१,३२॥

इसलिए केवल मरण से न मनोनाश होता है अथवा न प्राणनाश ही होता है, यह कहते हैं।

जिस प्रकार समुद्र में डूबा हुआ जलयुक्त घट जनों द्वारा न देखा गया भी नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार वासनायुक्त मन कभी भी नष्ट नहीं होता। जिस प्रकार सूर्य किरणों के बिना नहीं रहता, उसी प्रकार प्राण मन के बिना कभी उत्पन्न नहीं होते। ज्ञान के बिना उस प्रकार मन प्राणों को कभी नहीं छोड़ता, जिस प्रकार तित्तिर पक्षी तृण के बिना पहले तृण के अंग को नहीं छोड़ता। तत्त्वज्ञान से अवासनीभावरूप (वासनारहित हो जानारूप) अपने नाश को मन प्राप्त करता है और प्राण से स्पन्द को प्राप्त नहीं करता। परिशेष में शान्ति ही अवशिष्ट रहती है ॥३३-३५॥

ज्ञान से वासना का नाश कैसे होता है, इस शंका पर उसके हेतुभूत द्वैत के बाध से, यह उत्तर देते हैं।

ज्ञान से सभी पदार्थों में असत्यत्व भलीभाँति पहले सिद्ध हो जाता है और तदनन्तर हे भद्र, वासना के विनाश से प्राण और चित्त का विनाश हो जाता है। अनन्तर प्रशान्त मन फिर देहरूपता नहीं देखता, अपने (मन के) विनाश से ही पूर्ण पद प्राप्त हो जाता है, अतः मुनिगण वासना को ही मन जानते हैं। यतः चित्त का स्वरूप केवल वासना ही है, अतः (तत्त्वज्ञान से) चित्त का बाध हो जाने पर उत्तम स्थिति प्राप्त हो जाती है। तत्त्वज्ञान भी वासना के साथ-साथ सभी पदार्थों का बाध करते आत्मतत्त्वरूप बन जाता है और आत्मतत्त्व भी अविचल ज्ञानरूप ही है, यह अनुभवी विद्वानों का मत है। हे रामभद्र, इन सब बातों से निचोड़ यह निकला कि रज्जु में सर्पभ्रम के सदृश मिथ्यारूप इस संसार का स्वयं ही विवेकज्ञानमात्र से अच्छी तरह विनाश हो जाता है ॥३६-३९॥

अब प्रस्तुत विषय का अवलम्बन करते हैं।

भद्र, श्रवण आदि से अद्वय तत्त्व का अभ्यास, प्राणनिरोध और मनोविनाश – ये जो तीन उपाय हैं, इनमें से किसी एक की ही सिद्धि हो जाने पर एक दूसरे सिद्ध हो जाते हैं। ताल के पत्तों से निर्मित पंखे का स्पन्द जब शान्त हो जाता है, तब अपने-आप जैसे पवन शान्त हो जाता है, वैसे ही जब प्राणरूप वायु का स्पन्दन शान्त हो जाता है, तब मन भी अपने-आप शान्त हो जाता है ॥४०,४१॥

देह के अस्तित्व में जब प्राण का उत्क्रमण हो तब आपका यह क्रम भले ही रहे परन्तु शाप, छेदन आदि से जब देह का अस्तित्व ही न हो तब कौन-सा क्रम माना जायेगा ?

शरीर का विलय हो जाने पर बाह्याकाश में अवस्थित वायु में मिल जाने के कारण प्राण

बाह्याकाशस्थ वायुरूप हो जाते हैं और वहाँ पर (बाह्याकाश में) वासनानुसार ही इन सब पदार्थों को देखते हैं। बाह्याकाश में देहशून्य प्राण मनसे युक्त होकर कर्मजनितवासनारूप जिस तरह के पशु–पक्षी, मनुष्य आदि शरीरों को देखते हैं, उसी तरह के व्यवहारों का भी अनुभव करते हैं। जैसे वायु का चलन रूक जाने पर गन्ध रुक जाती है, वैसे ही मन का चलन रुक जाने पर प्राण–वायुओं का चलन भी रुक जाता है। हे रामभद्र, सब प्राणियों के प्राण और चित्त दोनों उस प्रकार एक दूसरे से निरन्तर मिले–जुले रहते हैं, जिस प्रकार आक्रान्त कुसुमसुगन्धवाले तिल और तेल एक दूसरे से निरन्तर मिले–जुले रहते हैं। मन का जो चलन है, वही प्राण है और प्राण का जो चलन है, वही मन है, क्योंकि रथ और सारथि की नाईं वे दोनों एक दूसरे के स्पन्दन का सम्पादन करते हैं। आधार और आधेय के सदृश अर्थात् अग्नि और उष्णता के सदृश दोनों में से किसी एक का विनाश हो जाने पर मन और प्राण दोनों विनष्ट हो जाते हैं और अपने विनाश के द्वारा वे दोनों एक महान् मोक्षनामक कार्य सम्पादन कर देते हैं। अद्वय ब्रह्मतत्त्व के घनीभूत (दृढ़) अभ्यास से वासनाशून्य हुआ मन पर्याप्तरूप से शिथिल हो जाता है और इससे प्राण भी शिथल हो जाता है, क्योंकि प्राण का स्वभाव मन के साथ मिल जाना ही है। रामभद्र, जो असीम आत्मतत्त्व है उसका विचारकर पहले आप मन को तद्रूप बना डालिये, फिर तो उस आत्मतत्त्व में मन के लय से वह आत्मरूपता ही स्थिर हो जाती है। अज्ञान और अज्ञानबाधक ब्रह्माकारवृत्ति–इन दोनों की भी निवृत्ति हो जाने पर जो अत्यन्त कल्याणरूप चिन्मात्र अवशिष्ट रह जाता है, उस चिन्मात्रस्वरूप अवशेष ब्रह्म में आप प्राणधारण द्वारा स्थिर हो जाइए ॥४२–५०॥

कितने काल तक एकतत्त्व में भावना करनी चाहिए, इस पर कहते हैं।

भद्र, एक सुदृढ़ आत्मतत्त्व में तब तक तदाकारवृत्तिधारा करनी चाहिए जब तक कि वह वृत्तिधारा अभ्यासजनित अन्तिम साक्षात्कार से पूर्व अभावरूप न बन जाय। निग्रहवृत्ति से युक्त पुरुषों का चित्त, आहारक्षय से शरीरक्षय की नाईं, स्वयं ही प्राणों के साथ विलीन हो जाता है और परमतत्त्व अवशिष्ट रह जाता है ॥५१,५२॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार इन योग के पाँच अंगों से पहले मन के बाह्याकार का विनाश हो जाने पर, अनन्तर धारणा, ध्यान और समाधि – इन तीनों से ब्रह्मैकाग्रता की प्राप्ति द्वारा निर्विकल्प समाधि के परिपाक से ब्रह्मरूपता की सिद्धि हो जाती है।

चित्त जिस किसी वस्तु में रम जाता है, तद्रूप ही वह शीघ्र बन जाता है, अतः दीर्घकाल तक आत्मतत्त्व के अभ्यासस्वभाव से वह समस्त विशेषों से शान्त होकर निर्विशेष ब्रह्मरूप ही हो जाता है। जो कभी सुना नहीं गया है, जो कभी माना नहीं गया है, उसमें ध्यान, धारणा, आदि से अभ्यास नहीं हो सकता, इसलिए श्रवण और मनन से पहले 'समस्त द्वैतप्रपंच अविद्यारूप ही है, यह सर्वथा असत् है, तत्त्वज्ञान से ही आत्मतत्त्व की प्राप्ति होती है', इसका तब तक परिज्ञान करे जब तक कि प्रमाणप्रमेय के असम्भावनादि दोष निरस्त न हो जाय। अनन्तर ध्यान, धारण आदि से ज्ञानाभ्यास करना चाहिए। चित्त के शान्त हो जाने पर यह संसाररूपी मृगतृष्णा उस प्रकार विलीन हो जाती है, जिस प्रकार शरत्–काल में मेघमण्डल के शिथिल हो जाने पर मेघ मण्डल से आगत तन्मय कुहरा

विलीन हो जाता है। हे रामजी, केवल चित्त तो अविद्यारूप है, इसलिए ब्रह्माकार से परिणत चित्त से ही उसका विनाश कीजिये। चित्त के क्षय का असली स्वरूप चित्ताधिष्ठान आत्मा ही है, शून्यता नहीं; इसलिए चित्त का अभाव परम पुरुषार्थ नहीं हो सकता। यदि परमपद में चित्त मुहूर्तमात्र भी विश्रान्त हो जाय, तब तो वह ब्रह्मरूप में ही परिणत हो गया, यह आप जान लीजिए। अध्यस्त पदार्थ का अधिष्ठान से पृथक् स्वरूप नहीं होता, इसलिए ब्रह्मरूप अधिष्ठान में ही निरतिशय स्वप्रकाश और आनन्द का अनुभव कर रहा वह कभी भी व्युत्थान नहीं चाहता (卐) ॥५३-५७॥

यही प्रस्तुत सांख्य और योग का अभिन्न फल है, यह कहते हैं।

हे रामभद्र, यदि आपका चित्त सांख्योपाय से या योगोपाय से क्षणमात्र भी परमपद में विश्रान्त हो चुका है तो वह सत्त्वरूप बन गया है; फिर वह इस संसार में आनेवाला नहीं है ॥५८॥

अब महाराज वसिष्ठजी स्वयं ही सत्त्वशब्द का निर्वचन करते हैं।

जिसमें से अविद्या गल चुकी है, ऐसा विशुद्ध चित्त सत्त्वशब्द से कहा जाता है। जिसमें संसारबीज वासना दग्ध हो गयी है वह चित्त फिर कभी भी ब्रह्मरूपता से विच्छेद नहीं करता ॥५९॥

सांख्ययोग द्वारा आत्मदर्शन में तत्पर मनुष्य विरले ही हैं, ऐसा कहते हैं।

कोई एक-आध ही-जिसकी अविद्या निवृत्त हो चुकी है, जो सत्त्वभाव में अवस्थित है, जो वासनारहित हो चुका है-परमतत्त्व को, जो अज्ञानियों की दृष्टि में शून्योपम और ज्ञानियों की दृष्टि में (📖) ज्योतिःस्वरूप है, देखता है और तत्काल मुक्त हो जाता है ॥६०॥

उक्तार्थ का ही अनुवादपूर्वक उपसंहार करते हैं।

हे भाग्यवान्, पूर्वोक्त तीनों उपायों के अभ्यास से जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्तिरूप भ्रान्ति और तज्जनित अन्य-अन्य दर्शनों से रहित तथा अविद्या के विनाश से दग्धवस्त्र के सदृश प्रतिभासमात्ररूप से स्वयं अवशिष्ट मन जीवन्मुक्तावस्था में 'सत्त्व' कहा जाता है। वह वासनारूप बीजशक्ति के विनष्ट हो जाने से राग-द्वेष, अभिमान आदि कलाओं से मलिन संसारपद को उस प्रकार प्राप्त नहीं होता, जिस प्रकार पारसमणि के सम्बन्ध से सुवर्णरूपता को प्राप्त हुआ ताम्र फिर कलंकरूप कला से मलिन ताम्ररूपता को प्राप्त नहीं होता ॥६१॥

उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

(卐) इस विषय में शिवधर्मोत्तर में कहा है : ज्ञानामृतरसो येन सकृदास्वादितो भवेत्। विहाय सर्वकार्याणि मनस्तत्रैव धावति ॥ (जिस मन ने एक बार भी ज्ञानरूपी अमृतरस का पान कर लिया है वह मन सब कार्य छोड़कर वहीं पर दौड़ता है।)

(📖) जो पुरुष अज्ञानी हैं, वे भ्रम आदि अनेक दोषों से दूषित होने के कारण विद्यमान वस्तु को भी असम्भावना, विपरीत भावना आदिवश अविद्यमान एवं शून्योपम ही समझते हैं, उसमें तनिक भी आस्था नहीं करते और जो पुरुषधुरीण प्रणिपात, परिप्रश्न आदि से विधिवत् गुरुसमीप में जाकर अज्ञाननिवृत्त्यर्थ प्रयत्न करते हैं; वे दयालु गुरु द्वारा उपदिष्ट मार्ग से श्रवण, मनन आदि द्वारा असम्भावना आदि समस्त दोषों को दूर कर अज्ञानकाल में प्रतीयमान अविद्यमान वस्तु को भी ज्ञानकाल में विद्यमान एवं ज्योतिःस्वरूप समझते हैं। इन द्विविध पुरुषों की दृष्टियों का अवलम्बनकर एक ही वस्तु को शून्योपम और ज्योतिःस्वरूप कहा गया है।

सत्तरवाँ सर्ग

चैतन्यात्मा की शुद्धि के लिए अज्ञानजनित भ्रान्तिपरम्परा में किसी एक वेताल और राजा का संवादकथन ।

'चित्ते शान्ते शाम्यतीयं संसारमृगतृष्णिका' इससे संसाररूपी मृगतृष्णा की शान्ति में जो चित्त शान्तिरूप उपाय बतलाया गया है उस चित्तशान्ति में ज्ञान के आविर्भावतक किया गया विचार ही हेतु है ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, तत्त्वविचार से जीव तत्काल अजीवरूप हो जाता है और चित्त अचित्तरूप हो जाता है; इसलिए विचाररूप उपाय से उत्पन्न हुआ कार्य–कारणरूप अविद्या का विनाश मोक्ष है, यह तत्त्वज्ञानियों द्वारा कहा जाता है ॥१॥

उक्त अर्थ की असम्भावना में हेतुभूत जो प्रपंच में दृढ़ताभ्रम है, उसका निवारण करते हैं ।

मृगतृष्णाजल की नाईं असद्रूप ही मन तथा अहन्ता आदि प्रपंच क्षणभर के लिए ही दिखाई पड़ते हैं और उक्त विचार से विलीन हो जाते हैं ॥२॥

'असदेव मनागेव' इस अर्थ का समर्थन करने के लिए कथा का आरम्भ करते हैं ।

भद्र, इस संसाररूपी स्वप्नविभ्रम में वेताल द्वारा किये गये इन उत्तम प्रश्नों का आप श्रवण कीजिये, जो प्रसंगवश स्मृतिगोचर हुए हैं ॥३॥ विन्ध्याचल की महाटवी में एक दीर्घाकृति वेताल था । किसी समय वधयोग्य अज्ञानीजनों में अनादर के कारण उनको मार डालने की इच्छा से वह किसी मण्डल में गया ॥४॥

संक्षेपतः प्रतिज्ञात वस्तु का विस्तार करने के लिए पुनः पहले से आरम्भकर कहते हैं ।

पहले वह वेताल किसी एक सज्जननामक राजा के देश में रहता था । उस किरातराज्य में ककड़ी की नाईं राजा द्वारा किये गये अनेक वध्यजनों के बलियों के उपहार से सदा तृप्त होकर किसी प्रकार के विक्षेप के बिना समाधिसुख में चूर रहता था । किसी कारण के बिना सामने आये हुए निरपराधी पुरुष को वह क्षुधित होने पर भी मारता नहीं था, क्योंकि सन्त पुरुष न्याय के ही दर्शक होते हैं । किसी समय की बात है कि जंगल में वध्यजन उसे प्राप्त न हुए । उस समय अरण्यवासी वह वेताल क्षुधा से प्रेरित होकर न्यायप्राप्त मनुष्य का भक्षण करने के लिए नगर के भीतर चला गया । उस नगर में, मध्य रात में दुष्टजनों के परिज्ञान और चोर आदि के विनाश के लिए कर्तव्यार्थ निकला हुआ राजा उसे मिला । उस राजा से यह उग्र निशाचर घनघोर शब्द से कहने लगा । वेताल ने कहा : हे राजन्, इस समय मुझ भयंकर वेताल के द्वारा तुम पकड़ लिये गये हो । कहाँ जा रहे हो ? अब तुम मर गये । आज तुम मेरा भोजन बन जाओ । राजा ने कहा : हे निशाचर, यदि यहाँ बलपूर्वक अन्यायमार्ग से मुझे खा जाओगे तो तुम्हारा मस्तक हजारों टुकड़ों में फट जायेगा, इसमें तनिक भी सन्देह तुम्हें नहीं करना चाहिए । वेताल ने कहा : हे राजन्, मैं तुम्हें अन्यायपूर्वक नहीं खाऊँगा, परन्तु तुम्हें मैं यह न्याय बतलाता हूँ कि तुम राजा हो, इसलिए तुम्हें अर्थियों के सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण करने चाहिए ॥५–११॥

यदि यह राजा अज्ञानी होगा तो उसमें सैकड़ों अपराध मिल सकते हैं और यदि ज्ञानी होगा तो वह अपराध कर ही नहीं सकता । सैकड़ों अपराध होने पर भी ज्ञानी की रक्षा करनी चाहिए, ऐसा मन में

निश्चय कर वेताल राजा की परीक्षा करने के लिए प्रश्नोत्तर की प्रार्थना करता है।

हे राजन्, मेरी इस अर्थिता को, जिसका अर्थ बाधित नहीं है, आप ठीक तरह से पूर्ण कीजिये। मैं जिन प्रश्नों का कथन कर रहा हूँ इन का भलीभाँति व्याख्यान कीजिए। भद्र, किस सूर्य की किरणों के ये ब्रह्माण्डरूपी छोटे अणु हैं और किस पवन में महागगनरूपी त्रसरेणु परिस्फुरित होते हैं ? एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में जा रहा पुरुष पहले के सैकड़ों या हजारों स्वप्नों की सत्यता छोड़ता हुआ भी किस प्रकाशक स्वच्छ सत्यात्मस्वरूप का परित्याग नहीं करता ? जिस प्रकार केले का खम्भा भीतर के भी भीतर और उसके भी भीतर बार-बार (देखने से) केवल वल्कलमात्र ही रहता है, दूसरा नहीं, उसी प्रकार सबके भीतर के भीतर और उसके भी भीतर ऐसा कौन अणु है, जो प्रकाशक स्वच्छ आत्मस्वरूप है ? ब्रह्माण्ड, आकाश, भूतों के आधारभूत भुवन, सूर्यमण्डल तथा मेरू-ये सब जो बड़े-बड़े महान् पदार्थ प्रसिद्ध हैं-ये अणुत्व धर्म न छोड़नेवाले ऐसे किस अणु की (सूक्ष्म की) अपेक्षा अत्यन्त क्षुद्र पदार्थ हैं ? किस परमाणु महागिरि की (स्वयं सूक्ष्म होते हुए भी महान् पर्वत की), जो असल में निरवयव ही है, शिला के भीतर यह त्रिजगती है, जिसका सार घनीभूत अव्यभिचरित सत्तामात्र है। यदि इन छः प्रश्नों का उत्तर मुझे न दोगे, तो हे देहात्मबुद्धे, हे आत्मघातक, तुम्हें पहले फल की नाईं निगलकर फिर तुम्हारे मण्डलस्थजनों को बलपूर्वक प्राप्त कर उन्हें उस प्रकार निगल जाऊँगा, जिस प्रकार यमराज जगत् को निगल जाता है ॥१२-१८॥

सत्तरवाँ सर्ग समाप्त

इकहत्तरवाँ सर्ग

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डरूप फल और वृक्ष आदि की कल्पनाओं से सविस्तर प्रथम प्रश्न का समाधान।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे रामभद्र, जब ऐसा कहकर वेताल चुप हो गया तब हँसकर (📖) वह राजा, जिसके वस्त्र और आकाश दाँतों की किरणों से धवल हो गये थे, वचन बोला ॥१॥

'कस्य सूर्यरश्मीनाम्' इत्यादि प्रथम प्रश्न का उत्तर देने के लिए पहले वेताल का पाण्डित्याभिमान निरासकर रहे राजा कुछ कल्पना चमत्कार बतलाते हैं।

राजा ने कहा : हे वेताल, किसी समय यह (तुम्हारा और मेरा आधार) जीर्णताशून्य ब्रह्माण्डरूपी फल उत्तरोत्तर दशगुण पृथिवी, जल आदि आवरणों से वेष्टित था ॥२॥

१-यह ब्रह्माण्ड, २-ऐसे-ऐसे सैकड़ों ब्रह्माण्ड जिनके पेट में हैं-ऐसे पंचीकृत महाभूत, ३-ये महाभूत जिसके पेट में है वह गन्धतन्मात्रा, ४-७ उत्तरोत्तर गन्धादिमात्राओं को पेट में रखनेवाली रसादिमात्राएँ, ८-तन्मात्राओं को उदर में रखनेवाला हिरण्यगर्भ का मन, ९-अतीत और अनागत अनन्त पदार्थों को पेट में रखनेवाली भूतमात्राओं की राशियाँ, १०-इनको पेट में रखनेवाले कल्पकाल, ११-१३ इनको उत्तरोत्तर गर्भ में रखनेवाले ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के आयुकाल, १४-इन अनन्तकोटि

(📖) प्रसिद्ध ब्रह्माण्डों में त्रसरेणुत्व जो तुमने कहा, वह तो अत्यन्त साधारण बात कही, किन्तु कही जानेवाली कल्पना के अनुसार जिन गर्भ में कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड हैं, उनमें भी त्रसरेणुत्व है, इस आशय से वेताल के कथन पर राजा को कुछ हँसी आ गयी।

पदार्थों में सत्तास्फूर्ति व्यवहार का प्रवर्तक मायाशबल ब्रह्म–इन चौदह पदार्थों का यहाँ पर क्रम से फल–शाखा आदि कल्पनाओं द्वारा निर्देश करते हैं।

वैसे हजारों फल जहाँ विद्यमान हैं और उन्हींके अनुरूप चंचल पल्लवों की नाईं भुवनों से युक्त वहाँ पर बड़ी ऊँची एक शाखा है। दस, बीस शाखाएँ नहीं हैं किन्तु उस प्रकार की बड़ी–बड़ी हजारों शाखाएँ जहाँ विद्यमान हैं, ऐसा पामरों द्वारा दुर्लक्ष्य विपुलाकृति एक महान वृक्ष है। इसी प्रकार के हजारों वृक्ष जिसमें हैं ऐसा एक वन है, जिसमें ऊँचे–ऊँचे असीम वृक्ष और गुल्म विद्यमान हैं। और उसी प्रकार के हजारों वन जहाँ पर हैं ऐसा, उन्नत शिखरों से युक्त चारों ओर से परिपूर्ण आकारवाला एक विशाल पर्वत है। वैसे हजारों जहाँ पर पर्वत हैं ऐसा अत्यन्त विस्तीर्ण विपुल कोटरवाला एक देश है। वैसे हजारों देश जहाँ पर विद्यमान हैं ऐसा बड़े–बड़े ह्रद और नदियों से युक्त एक बहुत बड़ा द्वीप है। वैसे अनन्त द्वीप जिसमें हैं ऐसा एक महीपीठ है, जिसमें चित्रविचित्र नामादिक रचनाएँ विद्यमान हैं। उस प्रकार के हजारों महीपीठ जिसमें विद्यमान हैं ऐसा एक अत्यन्त विस्तृत महाभुवनरूप प्रपंच है। उस तरह के असंख्य महाभुवन जिसमें विद्यमान हैं ऐसा विस्तृत आकाशपीठ के सदृश एक महान प्रचण्ड अण्डा है। इस–इस तरह के असंख्य अण्डरूपी करण्डक जिसमें विद्यमान हैं ऐसा एक चंचलतारहित असीम जलनिधि–एक सागर है। उस तरह के लाखों सागर जिसमें कोमल तरंगरूप हैं, ऐसा एक अपने स्वरूप में विलास करनेवाला निर्मल महार्णव है। उस प्रकार के हजारों महार्णव जिसके उदर के जलरूप हैं, ऐसा एक कोई बड़ा भारी परिपूर्णाकृति पुरुष (विष्णु) है। ऐसे–ऐसे लाखों पुरुषों की माला जिसके वक्षःस्थल में अवस्थित है ऐसा एक परम पुरुष (रुद्र) है, जो सब सत्ताओं का प्रधान यानी आधारभूत अधिष्ठान है। इस प्रकार के महान् आत्मशाली असंख्य पुरुष जिसके मण्डल में शरीररोमजाल के (♨) सदृश स्फुरित हो रहे हैं, ऐसा एक महान् आदित्य है। पराग् दृष्टिवाले जीवों मे रुद्र से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त होनेवाले जो कोटि–कोटि प्रतिभास हैं ये ही सब प्राणियों को प्रत्यक्ष इस आदित्य की रश्मियाँ हैं। इसी आदित्य की दीप्तियों के ब्रह्माण्ड ही त्रसरेणु हैं। मैंने तुमसे जिस सूर्य का कथन किया था वह यही चित्सूर्य है और इसके प्रभाव से सारा जगत् प्रकाशित होता है। हे वेताल, पूर्वोक्त असंख्य पदार्थ जिससे प्रकाशित होते हैं, ऐसा विज्ञानस्वरूप परमसूर्य है और ये जो विस्तृत ब्रह्माण्ड हैं, वे उसी सूर्य के त्रसरेणु हैं। सर्वोत्तम विज्ञानरूपी सूर्य की दीप्ति से ही, कहीं साधारण सूर्य से दिनलक्ष्मियों के सदृश, ये जगद्रूपी दिवालक्ष्मियाँ स्फूर्ति और सत्ता प्राप्त करती हैं। हे वेताल, मैंने जिस मायाशबल ब्रह्म का वर्णन किया है, उस त्रैलोक्यमण्डपमणि के (सूर्य के) पारमार्थिक स्वरूपभूत, मुख्य अधिकारियों में शास्त्रजनित अखण्डाकार साक्षात्कारमात्र द्वारा

(♨) जैसे साधारण पुरुष के शरीर में उत्पद्यमान रोम अत्यन्त छोटे हैं, उनके स्वल्पतम परिमाण की शरीर–परिमाण से तुलना नहीं हो सकती, ठीक वैसे ही व्यापकशरीर आदित्यवत् प्रकाशमान आत्मा से उत्पद्यमान असंख्य पुरुष रोम के सदृश अत्यन्त छोटे हैं, उनके परिमाण की उस आत्मारूपी आदित्यपरिमाण से तुलना नहीं हो सकती, यह बतलाने के लिए 'स्वतनूरुहजालवत्' कहा। श्रुति भी है–'यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्संभवतीहविश्वम्' जैसे जीवित चेतन पुरुष से अचेतन केश उत्पन्न होते हैं, वैसे ही अक्षर चेतन से अचेतन केशवत् विश्व उत्पन्न होता है।

स्वात्मरूप से प्रकाशित हो रहे, अनधिकारी जन्तुओं में स्पष्टरूप से प्रकाशित न हो रहे इस प्रत्यगात्मा में, चिनगारियों के सदृश काल्पनिक जीव जगत् की पृथक् सत्ता और कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि असंख्य संभ्रमों के उल्लेख हैं। वास्तव में परमार्थदृष्टि से तो तनिक भी परमात्मा में भ्रम का अवकाश नहीं है, इसलिए तुम निरर्थक प्रश्नों का आडम्बर छोड़ दो ॥३-२१॥

इकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

बहत्तरवाँ सर्ग

उत्तर सुनने के लिए सावधान वेताल को राजा द्वारा अवशिष्ट पाँच प्रश्नों का क्रमशः उत्तर देना।

इस तरह प्रथम प्रश्न का उत्तर देकर 'कस्मिन् स्फुरति पवने महागगनरेणवः' इस द्वितीय प्रश्न का राजा समाधान करते हैं। उसमें 'महागगनरेणवः' इस पद में स्थित गगनशब्द से तुम प्रसिद्ध आकाश का ग्रहण करो अथवा 'महत्' पद से विशेषित होने के कारण गौणीवृत्ति से महाकालस्वरूप चित्संवलित महाकाश का ग्रहण करो या स्पन्दशक्तिप्रधान सूत्रात्माकाश का ग्रहण करो अथवा उससे निर्मुक्त शुद्धचिदाभासस्वरूप जीवाकाश का ग्रहण करो या और किसी दूसरे का ग्रहण करो, फिर भी उन सभी विकल्पों में अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण तत्-तत् सत्ता का ही तुमने महागगनरेणुरूप से वर्णन किया है, यह कहते हैं।

राजा ने कहा : हे वेताल, कालसत्ता, आकाशसत्ता, क्रियाशक्तिप्रधान सूत्रात्मा की सत्ता तथा क्रियाशक्तिप्रधान चेतन से निर्मुक्त जो चिदाभासरूप शुद्ध चेतन है, उसकी चिन्मयी सत्ता-इत्यादि सब सूक्ष्म होने से निर्दोष रज है, वह परमात्मारूपी महावायु में कल्पित अनेक विकारों से चंचल होकर स्फुरति होता है।

सकल पदार्थों में अनुगत सत्तारूप जब परमात्मा ही है, तब परमात्मारूपी महावायु में कालादि की सत्ता स्फुरित होती है -इस तरह अभिन्न में आधारआधेयभाव का व्यपदेश (निरूपण) कैसे हुआ ? यदि ऐसी कोई आशंका करे, तो उस पर कहते हैं।

जैसे पुष्प स्वयं अपने अंग मे आमोदनामक भेद की (सुगन्ध की) अपने ही द्वारा कल्पना कर पुष्पों में आमोदरूपवाला वह आधेयरूप से अवस्थित है वैसे ही परमात्मसत्ता ही अपने कालादिसत्ता के भेद की कल्पना करके अवस्थित है ॥१,२॥

'स्वप्नात् स्वप्नान्तरं गच्छन्' इत्यादि तृतीय प्रश्न का उत्तर कहते हैं।

'जगत्'नामक महास्वप्न में एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में जा रहा तत्-तत् स्वप्नगत दोषों से शून्य अर्थात् असंगज्योतिरूप ब्रह्म बोधमात्र से ही शान्तत्व को बढ़ानेवाले अपने रूप को नहीं छोड़ता ॥३॥

'रम्भास्तम्भो यथा पत्रम्' इस चौथे प्रश्न का उत्तर देते हैं।

जैसे केले का स्तम्भ भीतर-भीतर ज्यों-ज्यों नोंचा जाता है त्यों-त्यों उसमें केवल पत्र ही मिलता जाता है वैसे ही ब्रह्म में विवर्तनशील तथा अवान्तर कारणों में परिणामशील यह विश्व ज्यों-ज्यों भीतर-भीतर देखा जाता है, त्यों-त्यों उसमें ब्रह्ममात्र मिलता जाता है अतः वह अणु है ॥४॥

विवर्तभूत जगत् के बृंहण (विकास) आदि में निमित्त होने से ही वह परमात्मा सत्, ब्रह्म, आत्मा

आदि शब्दों का विषय है, वस्तुतः वह सब धर्मों से शून्य होने के कारण सत्, ब्रह्म आत्मा आदि शब्दों का विषय नहीं है ।

विवर्तभूत जगत् आदि में निमित्त होने पर वह परमात्मा सत्, ब्रह्म, आत्मा आदि शब्दों से कहा जाता है और सर्वधर्मातीत होने से 'शून्यम्, अव्यपदेश्यम्' आदि शब्दों से कहा जाता है, इसलिए कुछ है और कुछ नहीं भी है यानी विषय और अविषय दोनों है । अतएव पटसत्ता तन्तुसत्ता में, तन्तुसत्ता कपास की सत्तामें, कपास की सत्ता कपास के फल की सत्ता में, फल की सत्ता गुल्म की सत्ता में और गुल्म की सत्ता बीज, मिट्टी, जल आदि की सत्ता में पर्यवसित होती है–इत्यादि क्रम से जो–जो सत्ता विभावित होती है यानी जिस–जिस सत्ता की भावना की जाती है वह सब तत्–तत् अनुभव से निर्मित आकारों को छोड़कर अन्त में केले के स्तम्भ के तुल्य तत्–तत् अनुभवरूप चिन्मात्र में ही पर्यवसित होती है, इसलिए जगदाकार से वही एक निर्मल चिन्मात्र वस्तु विस्तृत हुई है ॥५,६॥

अणुपद की प्रवृत्ति में कारण बतलाते हैं । सूक्ष्म तथा अलभ्य होने के कारण परमात्मा परमाणुस्वरूप है । इस तरह परमात्मा के सूक्ष्म होनेपर भी उसके पूर्णस्वरूपता में कुछ भी हानि नहीं आती, इसलिए ब्रह्माण्डादि भी उस परमात्मा की दृष्टि से यानी उस परमात्मा की अपेक्षा अतिपरिच्छिन्न होने के कारण परमाणुप्राय ही हैं । इस रीति से 'ब्रह्माकाशभूतौध०' । इस पंचम प्रश्न का भी उत्तर हो गया, इस अभिप्राय से कहते हैं ।

अनन्त होने के कारण परमात्मा ही मेरूपर्वतपर्यन्त ब्रह्माण्ड आदि का आधार हुआ है । परमाणुस्वरूप होते हुए भी अनन्तात्मक इस पुरुष के (परमात्मा के) ब्रह्माण्ड से लेकर मेरुपर्यन्त पाँचों पदार्थ परमाणु से भी अत्यन्त सूक्ष्म तत्–तत् आकारों की वृत्तियों से परिच्छिन्न चितिकणों से परिच्छेद्य होने के कारण स्वाप्निक ब्रह्माण्ड की नाईं स्वरूपरहित हैं और वे अत्यन्त सूक्ष्म नाडियों के छिद्रों में भासमान होने के कारण परमाणु के सदृश हैं ॥७,८॥

'कस्याऽनवयवस्यैव परमाणुमहागिरेः' इस छठे प्रश्न का उत्तर देते हैं ।

चक्षु आदि इन्द्रियों से ग्राह्य न होने से यह परमात्मा परमाणु है, लेकिन पूरक होने से चारों ओरसे व्याप्त महापर्वत है (卐) । यह परमात्मा (पुरुष) अध्यारोपदृष्टि से मूर्त और अमूर्त सर्वविध पदार्थों का अवयवस्वरूप होता हुआ भी 'नेति–नेति' इस अपवाद से अवयवों से शून्य है ॥९॥

'शिलान्तर्निबिडैकान्तरूपमज्जा जगत्त्रयी' इस अंश को प्रकट करते हैं ।

हे साधो, यह जगत्त्रयी ज्ञानमात्र परमात्मा की केवल मज्जा है, क्योंकि 'द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' इत्यादि श्रुतियों में हृदयाकाशरूप विज्ञानमात्र का मध्य मज्जा की नाईं प्रसिद्ध है, यह समझ लो । हे अज्ञानी वेताल, ये जो जगत् हैं वह विज्ञानस्वरूप आत्मा के अनेकविध कौशलों का विलास है ।

(卐) परमात्मा असल में न तो रुपादिमान् होकर महान् है और न रूपादिस्वरूप ही है, इसलिए चक्षु आदि इन्द्रियों से उसका किसी तरह भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । इस स्थिति में परमाणु में इन्द्रियग्राह्यत्व के सदृश इसमें इन्द्रियग्राह्यत्व नहीं है, यह बतलाने के लिए परमात्मा को 'परमाणु' कहा गया है । ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ परमात्मा की सत्ता न हो, सभी जगह परमात्मा की सत्ता है, इसलिए सबसे बड़ा होने के कारण महान् कहा गया है, यह तात्पर्य है ।

अनन्तस्वरूप, शान्तस्वभाव एवं अत्यन्त सुकुमार उस मदुक्त आत्मविज्ञान का तुम खंडन नहीं कर सकते, इसलिए मेरे वचनों के अनुसार तुम स्वयं उक्तस्वभाव आत्मा को अपने अनुभव पर चढ़ाओ और दर्प छोड़कर शान्त हो जाओ ॥१०,११॥

बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

तिहत्तरवाँ सर्ग

वेताल के प्रश्नों का निर्णय देकर दूसरे भगीरथ के वृत्तान्त का कथन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, राजा के मुख से उस प्रकार प्रश्नों का समाधान सुनकर वेताल शान्त हो गया, क्योंकि विचारदक्ष बुद्धि से उसने अनुमान कर लिया कि राजा में तत्त्वज्ञता विद्यमान है। भद्र, मनोविकारों से निर्मुक्त होकर अनिन्दित आत्मा का मननकर और विषयक्षुधा भूलकर वह निश्चल समाधि में निरत हो गया। हे श्रीरामजी, आपको मैंने इन वेतालप्रश्नों का दिग्दर्शन कराया। भद्र, राजा द्वारा वर्णित उक्त क्रम से ही चिद्रूपी अणु में यह समस्त जगत् विद्यमान है। चिद्रूपी अणु के एक कोश में स्थित यह विश्व विचार के द्वारा, बालक द्वारा भ्रान्ति से कल्पित वेतालशरीर की नाईं, विलीन हो जाता है और जो परमार्थभूत पद (☙) है, वह बच जाता है। हे रामजी, अविचल अन्तरात्मा से चित्त को सब विषयों की ओर से हटाकर परमात्मा में प्रतिष्ठित करते हुए शान्तबुद्धि आप निरीह (सर्वविध इच्छाओं से निर्मुक्त) होकर स्थित हो जाइये। हे मननशील रामजी, मन से ही मन को आकाश के सदृश विशद बनाकर एक वस्तु में समस्त वृत्तियों का लयकर उपरतचित्त और सर्वत्र ब्रह्मदर्शन से युक्त होकर स्थित हो जाइये। भद्र, निश्चलबुद्धि और मूढ़ता से शून्य होकर आप स्थिर रहिये। देहयात्रार्थ प्रारब्धवश प्राप्त हुए अर्थ से सन्तुष्ट (♨) रहनेवाले प्रयत्नशील पुरुष के लिए, भगीरथ राजा की नाईं, दुःसाध्य अर्थ भी प्राप्त हो जाते हैं। भद्र, जिसका पूर्णरूप से मन शान्त हो गया है, जिसकी वृत्तियाँ पर्याप्तरूप से तृप्त हो गयी हैं, जिसकी आनन्दघनस्वरूप सम ब्रह्म में निरन्तर निष्ठा है, उस महापुरुष को आखिर में दुर्लभतर भी अभीष्ट अर्थ उस प्रकार सिद्ध होते हैं, जिस प्रकार शान्ति आदि गुणविशिष्ट भगीरथ को सगरपुत्रों के लिए और समुद्र के लिए संजीवनमणिप्राय गंगाअवतरणरूप अत्यन्त दुर्लभ अर्थ सिद्ध हुआ ॥१-८॥

तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

चौहत्तरवाँ सर्ग

भगीरथ के गुण, उसकी विचारजनित चिन्ता और उसका
त्रितल के साथ हुआ संवाद-इन सबका वर्णन।

श्रीरामभद्र ने कहा : हे प्रभो, राजा भगीरथ को चित्त की पूर्णतादिरूप चमत्कृति से गंगाअवतरणरूप

(☙) परमार्थभूत पद यानी प्राप्त करने योग्य त्रिकालाबाधित ब्रह्मरूप स्थान।

(♨) शरीर की रक्षा के लिए अपने पूर्वकर्म के अनुसार जो भी कुछ प्राप्त हो जाय, उससे शरीर की रक्षामात्र करनी चाहिए और उसी प्राप्त अर्थ में सदा सन्तोष करना चाहिए।

दुःसाध्य अर्थ भी जिस रीति से सिद्ध हुआ वह मुझसे कहिए। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, चारों समुद्रों से युक्त पृथिवी का अत्यन्त धार्मिक एक भगीरथ नाम का राजा हुआ। वह अपनी कोशलमण्डली में तो तिलक के समान था॥१,२॥

उसकी दान में प्रसिद्धि बतलाते हैं।

चन्द्रमा की नाईं प्रसन्न मुखवाले, चिन्तामणि के सदृश अभीष्ट अर्थों को देनेवाले इस राजा से याचक गण अपने संकल्प के उत्तरकाल में समीपगमन, शब्दोच्चारण आदि परिश्रम के बिना अभीष्ट अर्थ प्राप्त कर लेते थे। वह साधुओं की रक्षा के लिए निरन्तर धन देता था, आयस्थानों में से अपने धर्म के अनुसार प्राप्त हुए तृण को भी लेता था। वह अर्थियों के लिए तो कामधेनु सदृश था। वज्र के सदृश कठिन पदार्थों को छेदन करनेवाली ऊपर की मणि लोहे से बँधी दूसरी नीचे की मणि को – अपनी कान्ति से यन्त्रचक्रनेमि को चमकाती हुई – छेदकर तागे में गुँथने के योग्य जैसे बना देती है, वैसे ही राजा भगीरथ ने अत्यन्त बलशाली भी सब दुर्जनों के देशों पर आक्रमण द्वारा उनके मण्डलों को अपने प्रताप से उज्ज्वल एवं रथनेमि से चिन्हित बनाते हुए उनके शस्त्रास्त्रों को छीन करके उनके पैरों में बेड़ी पहनाकर उनकी काली करतूतों को एक तरह से नष्ट करके उन्हें गुणयुक्त बनाया था। धूम्ररहित अग्नि के समान शरीर की कान्ति से युक्त वह राजा प्रजाओं की रक्षा के लिए रात–दिन चारों ओर खूब घूमने–फिरने से स्वयं थका हुआ भी मनुष्यों के अधर्म में प्रवृत्ति की हेतुभूत घर की अन्धकारस्वरूप दरिद्रता का पूर्णरूप से उस तरह अपहरण करता था, जिस तरह रात की अन्धकाररूपी दरिद्रता का सूर्य। अपने प्रताप से जनित अग्निकिरणों की चारों ओर घनघोर वृष्टि करता हुआ वह शत्रुओं के ऊपर उस तरह प्रज्वलित रहता था, जिस तरह मध्याह्नकाल में सूर्यकान्तमणि से उत्पन्न अग्नि तृणादि के ऊपर प्रज्वलित रहती है। मृदु और शीतल स्पर्शवाला वह ब्रह्मतत्त्वज्ञानियों की सन्निधि में उनके चित्त को आह्लादित करता हुआ उस प्रकार पिघल जाता था, जिस प्रकार स्निग्ध चन्द्रमा की सन्निधि में चन्द्रकान्तमणि। उसने स्वर्ग और पाताल में बहनेवाले गंगा के प्रवाहरूपी जगत् के यज्ञोपवीत का तीसरा तन्तु इस पृथिवी पर गंगा के अवतरण से पूरा किया। उसने अगस्त्यमुनि से शोषित सागर को गंगा के प्रवाह से उस तरह पूरा किया, जिस तरह सब दिशाओं में एक छोर से दूसरे छोर तक भटक रहे दुष्पूरभूत याचकों के समूह को धन से पूरा किया। संसार के प्राणियों के द्रोही तथा ब्रह्मशाप से भस्मीभूत होने के कारण अधोगति को प्राप्त हुए अपने भाइयों को उस लोकबन्धु ने गंगारूपी सोपानपद्धति से अर्थात् गंगारूपी सीढ़ी लगाकर ब्रह्मलोक में पहुँचाया। अपनी तपस्या से ब्रह्मा, शंकर और जह्नु को प्रसन्न रखता हुआ वह अविच्छिन्न दृढ़ निश्चय से युक्त अपने मन से बार–बार क्लेश को प्राप्त हुआ।

हे श्रीरामजी, युवावस्था में वर्तमान आप ही के समान भयंकर इस लोकयात्रा का खूब विचार कर रहे उस राजा को युवावस्था में ही, अचानक मरुस्थल में लता की नाईं उत्तम वैराग्यरूपी चमत्कार से परिपूर्ण विचार की कणिका उत्पन्न हुई। वह राजा एकान्त में असमंजस में पड़कर व्याकुल होकर के इस संसारयात्रा का प्रतिदिन यों विचार करने लगा। फिर दिन और फिर वही रात, फिर वही सैकड़ों दान देना और लेना तथा सभी प्राणियों का वही भुक्त और नीरस कर्म दिखाई पड़ता है जिसे वे पुनः पुनः करते हैं, कोई अपूर्व कर्म तो दिखाई पड़ता नहीं, जिसका फल परम पुरुषार्थ हो। इस संसार में जिसके

प्राप्त हो जाने से दूसरा कोई प्राप्य पदार्थ अवशिष्ट नहीं रहता, मैं उसी कृत को सुकृत समझता हूँ। अवशेष कर्म तो विसूचिका है यानी तत्-तत् फलप्राप्ति के साधनभूत किये गये कर्मों का फल विसूचिका की नाईं अशुद्धि से ग्रस्त दुःख ही है। पुनः पुनः पर्युषित अनविन कर्म कर रहा मूढबुद्धि प्राणी लज्जित नहीं होता। बुद्धिशून्य कोई प्राणी तो अवश्य ही बालक की तरह बार-बार एक ही कर्म करता रहेगा। इस तरह चिन्ता करने के अनन्तर संसार से अत्यन्त डरे हुए उद्विग्न मन होकर किसी एक दिन राजा भगीरथ ने अपने गुरु त्रितल से पूछा। भगीरथ ने कहा : विभो, खूब भ्रमण कर रहे जीवों के सारहीन राग, द्वेष आदि से युक्त सांसारिक व्यवहारों में तथा उन व्यवहारों के फलभूत इन स्वर्ग-नरक-मनुष्यादि-स्वरूप बड़े-बड़े जंगलों में भटक रहे हम सब अत्यन्त खिन्न हो गये हैं। भगवन्, संसार में फँसानेवाले जरा-मरण-मोहादिरूप सब दुःखों का अन्त कैसे होता है ? त्रितल ने कहा : हे पापशून्य राजन्, साधनचतुष्टयसम्पन्न श्रवण, मनन आदि उपायों के द्वारा चिरकाल से अभ्यस्त हुई विक्षेप और विभिन्नता से शून्य समाधि से तथा अनादिसिद्ध ब्रह्माकारवृत्ति से आविर्भूत विशेषरहित स्फुरित हो रहे, अखण्ड और व्याप्त प्रत्यक्तत्त्व के अवबोध से सब दुःख नष्ट हो जाते हैं, चारों ओर से ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं, सब संशय तथा सब कर्म समता को प्राप्त हो जाते हैं। इसके बाद सुनो, हे राजन्, तत्त्वज्ञानियों ने शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा को ही ज्ञेय बतलाया है और वह आत्मा सर्वव्यापी तथा नित्य है। न तो वह अस्त होता है और न उदय को ही प्राप्त होता है ॥३-२४॥

यों गुरु द्वारा उपदेश ग्रहण कर चुके राजा भगीरथ विवेक से अपने-आप आत्मतत्त्व का हृदय में पर्यालोचन करके आपाततः निश्चय कर उसमें विक्षेप होने के कारण चित्त की स्थिति न प्राप्त कर रहे, जिस अंश का उन्हें ज्ञान हो गया था उसे गुरुजी को निवेदन करके उसके स्फुट होने के तथा उसमें जो विक्षेप पड़ता है उसकी शान्ति में उपाय पूछते हैं।

भगीरथ ने कहा : हे मुनीश्वर, यह तो मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि चिन्मात्र, निर्गुण, शान्त, निर्मल और अच्युत आत्मा है तथा देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और अविद्यापर्यन्त अन्य कुछ भी आत्मा नहीं है – यह भी आपके वचन में विश्वास होने तथा अपने अनुभव से मैं जानता हूँ ॥२५॥

अभान का उपपादक जो अज्ञानांश तथा अन्य का अवभासक जो विक्षेपांश है वह नष्ट नहीं हुआ है, यह दिखलाते हैं।

किन्तु सत् और असत् के विवेकज्ञान के बीच में पहली सदात्मबोधरूपा जो मेरी प्रतिपत्ति है (सत्स्वरूप आत्मा के बोध में जो मेरा ज्ञान है) वह हस्तगत आमलक की तरह बिलकुल स्पष्टता को प्राप्त नहीं हो रही है, (स्थिर प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं हो रही है) इसमें क्या कारण है ? भगवन्, मैं किस उपाय से सम्पूर्ण विक्षेपों की शान्ति से युक्त केवल चिन्मात्रानुसन्धानमय होऊँ ? (कृपाकर उस उपाय को बतलाइये) ॥२६॥

राज्यादि में अभिमान होने से तत्-तत् विषयों में चित्त के बराबर दौड़ते रहने के कारण भगीरथ को विक्षेप होता है, इसलिए अभिमान आदि के प्रबल होने से ही उन्हें स्पष्ट आत्मज्ञान नहीं हो पाता, यह निश्चय करके भगीरथ के गुरु त्रितलजी महाराज गीतोक्त अमानित्वादि साधनों का उपदेश देते हैं।

त्रितल ने कहा : हृदयाकाश में यह चित्त अमानित्वादि ज्ञान से 'ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि' इत्यादि

भगवान् द्वारा दिखलाये गये ज्ञेय में स्थिरता प्राप्त करता है यानी ज्ञेय में स्थिर हो जाता है। उसके अनन्तर पूर्णस्वभाव होकर यह जीव फिर उत्पन्न नहीं होता अर्थात् पूर्णस्वभाव से च्युत नहीं होता ॥२७॥

अमानित्व आदि में से कुछ साधनों को पृथक्कर उनका अनुवाद और व्याख्यान करते हैं।

विषयों में आसक्ति का (राग का) अभाव; पुत्र, स्त्री, घर, धन आदि विषयों में ममता का अभाव तथा इष्ट या अनिष्ट वस्तुओं की प्राप्ति में निरन्तर हर्ष और विषाद का अभाव ॥२८॥

'मयि चाऽनन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी' इसका तात्पर्यार्थ दिखलाते हैं।

अनन्ययोग से यानी अभेदभाव से (आत्मा ही ब्रह्म है आत्मातिरिक्त दूसरा कोई पदार्थ है ही नहीं, इस प्रकार की अभेदभावना से) अविच्छिन्न आत्मा में निरन्तर ब्रह्मभावना, पवित्र निर्जनदेश का सेवन, पामर अज्ञानियों की सभा में अनास्था, आत्मज्ञान के साधन वेदान्तशास्त्र में तत्परता, तत्त्वज्ञान का फलभूत जो मोक्षरूप अर्थ है उसकी सिद्धि के लिए प्रक्रिया का निरन्तर अनुसाधन, ये सब तत्त्वज्ञान के साधन होने से ज्ञानरूप कहे गये हैं। इनसे भिन्न अन्यान्य विषयज्ञानसाधन आत्मज्ञान के उत्पादक न होने के कारण अज्ञान कहे गये हैं। हे राजन्, अहंभाव की शान्ति हो जाने पर ही राग–द्वेष का विनाश कर देनेवाला तथा संसाररूपी व्याधि की औषधि आत्मतत्त्वज्ञान प्राप्त होता है। आत्मज्ञान के जितने साधन हैं, उन सबकी प्राप्ति में मूल तो अनहंभाव ही है। यदि अहंभाव बना रहा तो कोई भी पुरुष अमानित्व आदि साधनों की प्राप्ति नहीं कर सकता ॥२९–३१॥

तब अहंकार–परित्याग का उपाय ही पहले मुझसे कहिये, इस अभिप्राय से राजा भगीरथ पूछते हैं।

भगीरथ ने कहा : हे महाभाग, पर्वत में दीर्घकाल से सुदृढ हुए वृक्ष की नाईं अपने शरीर में दीर्घ काल से सुदृढ़ हुआ अहंभाव मैं किस उपाय से छोड़ सकता हूँ। त्रितल ने कहा : हे राजन्, ज्ञानाभ्यासरूपी पौरुष प्रयत्न से नानाविध तुच्छ लौकिक विषयों की भावना का पहले परित्याग कर, फिर विषयाभिलाषा का अभाव होने से परिस्फुट हुई शुद्ध आत्माकारता की प्राप्तिकर व्यवस्थित हुए पुरुष में अहंभाव विलीन हो जाता है। हे महाराज, 'राज्य का परित्याग कर देनेसे जनता मेरा आदर नहीं करेगी, शत्रु लोग हँसेंगे, सबकी अभिलाषा पूर्ण करनेवाला में लोगों से कैसे भिक्षा माँगूँगा, खराब अन्न, पान आदि से कैसे जीऊँगा' इत्यादि चिन्ता से जनित लज्जा, अभिमान आदि से बना हुआ घर में पूर्ववत् नियन्त्रणारूपी पिंजड़ा जब तक सर्वत्याग से पूरी तरह टूट–फूट नहीं जाता, तब तक यह अहंकृतिरूपी नर्तकी अत्यन्त विकसित होकर नाचती रहती है। हे राजन्, यदि विचारबुद्धि से उन सबका परित्याग कर तुम निश्चल होकर स्थित रहोगे, तो अहंकार का विलय हो जाने पर तुम्हीं स्वयं परमपदस्वरूप (ब्रह्मस्वरूप) बन जाओगे ॥३२–३५॥

सर्वत्याग ही अवश्य कर्तव्य है, इसलिए उसीका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन करते हैं।

हे राजन्, यदि तुम्हारे छत्र, चामर आदि समस्त राजचिह्न निवृत्त हो गये हैं, यदि तुम लज्जा के भय से निर्मुक्त हो गये हो, यदि तुमने समस्त धनादि की इच्छाओं का परित्याग कर दिया है, यदि तुम अकिंचन भाव को प्राप्तकर और शत्रुओं के लिए ही सर्वविध ऐश्वर्य का परित्याग कर अहम्भाव से निवृत्त हो गये हो, यदि तुम अपने देह के अभिमान से रहित होकर उन सब शत्रुओं में ही भिक्षार्थ अटन कर रहे हो, यदि परिपूर्णभाव की प्राप्ति के कारण मुझ गुरु को भी प्रश्नों से छुटकारा दे रहे

हो, तो तुम समस्त मुमुक्षुगणों से ऊँचे होकर सर्वोपरि ब्रह्मस्वरूप मुक्त ही हो। अब फिर तुम्हारे लिए संसार की संभावना कभी हो ही नहीं सकती ॥३६॥

चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

पचहत्तरवाँ सर्ग

राजा भगीरथ का यज्ञ के व्याज से सर्वस्वत्याग, भिक्षाटन और त्रितल के साथ कहीं पर्वत में सहवास – यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, तदनन्तर उन गुरुजी के मुख से उस प्रकार का उपदेश सुनकर राजा भगीरथ मन में कर्तव्य निश्चित कर अपने व्यापार में तत्पर हो गये। तदनन्तर कुछ ही दिन के व्यतीत हो जाने पर राजा भगीरथ ने एकमात्र सर्वत्याग की सिद्धि के लिए अग्निष्टोम यज्ञ का (विश्वजित् तक के सभी सोमसंस्थाओं का) अनुष्ठान किया। विलम्ब हो जाने के भय से उसने गुणी और अगुणी का कुछ विचार न कर ब्राह्मणों तथा अपने बन्धुओं को गौ, पृथ्वी, घोड़े, सुवर्ण आदि समस्त धन दे दिया। केवल तीन दिन में ही सब कुछ दे डालनेवाले उस भगीरथ राजा के पास प्राणमात्र ही बच गये थे। तदनन्तर उसने समस्त अर्थों से रहित तथा खिन्न मन्त्री, नागरिक प्रजा आदि से युक्त अपना राज्य सीमा की समाप्ति में स्थित पास के अपने शत्रु को तृण की नाईं दे दिया। भद्र, जब महल, मण्डल और राज्य पर शत्रु ने अधिकार कर लिया तब मननशील यह राजा एकमात्र कौपीन धारण कर अपने मण्डल से निकल गया। अपने मण्डल से निकलकर धैर्यवान् उस राजा ने ऐसे दूर के अरण्य और गाँवों में निवास किया जहाँ पर देख लेने पर भी जनता यह नहीं जानती थी कि यह भगीरथ नामवाला राजा है, और न जनता के मुख से वह राजा अपना नाम ही सुनता था। इस प्रकार व्यवहार कर रहा राजा थोड़े ही समय में समस्त एषणाओं से निर्मुक्त होकर उत्तम शमता के कारण आत्मा में विश्रान्ति को प्राप्त हो गया। इस भूपीठ के अनेक द्वीपों पर चक्कर लगा रहा वह भगीरथ किसी समय काल की महिमा से परवश होकर शत्रु द्वारा आक्रान्त उस अपने ही नगर में प्राप्त हुआ। वहाँ जितेन्द्रिय राजा ने क्रम प्राप्त उन अनेक घरों, नागरिकों और मन्त्रियों से भिक्षा की याचना की। उन नागरिकों और मन्त्रियों ने राजा भगीरथ को जान लिया और उन्होंने विषादयुक्त होकर पूजन–सामग्री से विधिवत् उसकी पूजा की। 'हे प्रभो, 'आप अपना राज्य ले लीजिये' इस प्रकार शत्रु द्वारा प्रार्थित भी वह मननशील राजा, जिसने समस्त राज्य का परित्याग कर दिया था, भोजन के सिवा तृणमात्र का भी ग्रहण नहीं करता था। कुछ दिन वहाँ पर बिताकर वह अन्यत्र चला गया। लोगों ने उस समय 'क्या ये ही भगीरथ राजा हैं, ये ही हम लोगों को छोड़कर चले गये', अहो महान् कष्ट है, इस प्रकार उसके विषय में शोक किया। तदनन्तर दूसरे स्थानों में विचरण कर रहे, शान्तचित्त, एकमात्र आत्मा में मन को लगा रहे परम सुखी उस राजा ने किसी समय अपने आत्मारामी त्रितलनामक गुरु को प्राप्त किया। प्रणाम आदि से अपने गुरु का समर्चन कर उनके साथ में कुछ काल तक पर्वत वन, गाँव, नगर और अनेक सत्पुरुषों में निवास किया। ब्रह्मरूपता को प्राप्त हुए वे दोनों गुरु–शिष्य एकरूप से स्थित रहे और अपने स्वरूप में स्थित होकर वे दोनों 'देहधारण एक कौतुकमात्र है' यों विचार करते थे। यह

शरीर यदि धारण किया जाय, तो इससे हम लोगों की कौन–सी भलाई है अथवा यदि यह परित्यक्त हो जाय, तो इससे हम लोगों की कौन–सी बुराई है ? यह शास्त्रोक्त क्रम और वृद्धप्राप्त आचार का अनुसरण कर भले ही यथास्थित पड़ा रहे। यों विचारकर अवस्थित हुए वे एक वन से दूसरे वन में जा रहे गुरु–शिष्य विषयानन्दों से निर्मुक्त ऐसे परानन्द (ब्रह्मानंद) को प्राप्त कर रहे थे, जो दुःखरहित तथा सुख–दुःख की मध्यवर्ती अवस्था से भिन्न है ॥१–१८॥

उन दोनों का मानुष भोगों के सदृश दिव्य भोगों में भी वैराग्य बतलाते हैं।

उन दोनों ने उत्तम धन घोड़े आदि वैभवों को तथा चरितों से सन्तुष्ट ब्रह्मा आदि सिद्धों द्वारा दिये गये अणिमादि आठ तरह के ऐश्वर्यों को जर्जर तृण के सदृश तुच्छ समझ रक्खा था। प्रारब्ध कर्म के अनुसार ही जब तक आयु है तब तक अनिच्छा से भी यह धारण करना चाहिए, ऐसा निश्चय कर वे अपने कर्म में स्थित थे। भद्र, वे उत्तम दोनों मुनि अपने पूर्व के आचरणक्रम से उत्पन्न यथासमय प्राप्त सुख और दुःख दोनों का अभिनन्दन करते थे। वे सर्वविध इच्छाओं से वर्जित थे और समसे भी समरूप ब्रह्म में एकरसस्वरूप होकर ब्रह्मस्वभाव से ही परम शान्ति से युक्त हो गये थे ॥१९–२१॥

पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

छिहत्तरवाँ सर्ग

भगीरथ को पुनः राज्यप्राप्ति और ब्रह्मा, रुद्र आदि की
आराधना करने से गंगाजी का भूतल पर अवतरण।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : किसी एक अन्य मण्डल में विद्यमान किसी एक उत्तम नगर में पुत्ररहित राजा को मृत्यु ने उस प्रकार मार डाला, जिस प्रकार क्षुद्र मत्स्य को महामत्स्य मार डालता है। जिनके देश की पालन मर्यादा नष्ट हो चुकी थी, ऐसे उस देश के उदासीन अमात्य जन आदि प्रजावर्ग पालनयोग्य उदार गुण–लक्ष्मी से युक्त किसी एक सुन्दर राजा के अन्वेषण में थे। योग्य राजा के अन्वेषण में तत्पर वे अमात्यादि प्रकृतिवर्ग भिक्षाचरण में निरत स्थिर भगीरथ मुनि के पास आकर 'प्रजापालनयोग्य समस्त शुभ गुणों से यह समन्वित है' यह निश्चय कर वहाँ पर आये हुए सैन्य में अभिषेककर उसे महीपति बना दिया। वर्षाकाल में जिस प्रकार सरोवर क्षणभर में ही जल से परिवृत्त हो जाता है उसी प्रकार राजा भगीरथ भी बड़े सैन्य से परिवृत्त हो गये और तत्काल ही हाथी पर चढ़ गये। 'जगत्–स्वामी महाराज भगीरथ की जय हो, जय हो', इस प्रकार जनों के जयघोषों से पर्वतराजों की बड़ी–बड़ी गुफाएँ व्याप्त हो गई ॥१–५॥

उसी समय दैववश कोशलराज्य का अपहरण करनेवाला राजा भी मर गया, इसलिए अयोध्यावासी जन भी भगीरथ के पास आकर प्रार्थना करने लगे, यह कहते हैं।

वहाँ पर उस राज्य का परिपालन कर रहे राजा भगीरथ के पास आदरयुक्त पहले के अयोध्यावासी मन्त्री, पुरोहित आदि प्रकृतियाँ आई और राजाधिराज से यों कहने लगीं। प्रकृतियों ने कहा : राजन्, राज्य छोड़ते समय आपने सीमा की समाप्ति में स्थित अपने शत्रु राजा को राज्यदान से पुरस्कृत किया था उसे मृत्यु ने उस प्रकार निगल लिया, जिस प्रकार कोमल छोटे मत्स्य को महामत्स्य निगल

जाता है। हे महाराज, इस कारण से अपने पूर्व राज्य की रक्षा करने के लिए आप दया कीजिये। बिना अभिलाषा के प्राप्त हुए अर्थों का त्याग करना उचित नहीं है। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, इस प्रकार प्रकृतिवर्ग से भलीभाँति प्रार्थित हुआ राजा भगीरथ उनके वचन तथा उक्त राज्य का अंगीकार कर सात समुद्रों के चिन्हों से युक्त पृथिवी का स्वामी हुआ। वह सर्वत्र समभाव रखता था। उसके मन में शान्ति विराज रही थी। उसकी मित, हित और सत्य वाणी थी। उसकी समस्त विषयों से प्रीति हट गयी थी। उसमें मत्सर का तो नाम-निशान नहीं था। प्राप्त हुए कार्यों को एकमात्र कर डालना ही उसका स्वभाव था। बड़े-बड़े कौतुकपूर्ण अर्थों में उसे तत्त्वज्ञान के कारण कभी आश्चर्यबुद्धि होती ही नहीं थी। अश्व का अन्वेषण करने के लिए भूमि खोदकर सागर के सदृश गर्त निर्माण करने का जिनका स्वभाव था और जो कपिल के उद्दाम क्रोधाग्नि से पातल तल में भस्मीभूत हो चुके थे ऐसे अपने पितामहों का तारण करने में गंगाजल ही स्नान और जलांजलिप्रदान द्वारा समर्थ है, प्राकृत नहीं, यों उसने जनपरम्परा से ताक्ष्र्यवचन सुना ॥६-११॥

उस समय भूतल पर गंगाजी तो थीं ही, फिर वहीं पर पितामहों को जलांजलि उसने क्यों नहीं दी, ऐसी आशंका कर कहते हैं।

भद्र, उस समय इस भूतल पर गंगाजी नहीं बहती थीं। इसीलिए भगीरथ द्वारा ही दूसरों के पितरों के लिए भी गंगाजल की अंजलि देना प्रसिद्ध हो गया। उक्त जनश्रुति जिस दिन उसके कान में आई, उसी दिन से पृथिवीपालक राजा भगीरथ ने गंगाजी को स्वर्ग से पृथिवी पर लाने के लिए कठोर नियम धारण किया। तदनन्तर भूतल पर गंगाजी को लाने के लिए कठोरतम उपाय का अवलम्बन करने के लिए चेष्टा रखनेवाला जितेन्द्रिय पृथिवीपति भगीरथ मन्त्रियों के सिरपर समस्त राज्यभार छोड़कर तप के लिए निर्जन अरण्य में चला गया। उस निर्जन अरण्य में हजार वर्ष तक ब्रह्माजी, शंकरजी और जह्नु की बार-बार आराधना कर उसने इस पृथिवीतल पर गंगाजी का सम्बन्ध कराया। तबसे लेकर यह पुण्यतोया त्रिपथगा गंगाजी, जो निर्मल तरंगमालाओं से रंजित, जगत्पति शशिभूषण शिवजी के मस्तक में सुशोभित तथा स्वर्गवासियों की बड़ी पुण्यसन्ततिरूपा है आकाशतल से पृथिवी पर गिरती हैं। चंचल तरंगमालाओं से सुशोभित, अपने फेनपुंजरूप हास से युक्त, प्रसन्नपुण्यरूपा मंजरी से समन्वित तथा धर्म की सन्ततिस्वरूप यह त्रिमार्गगामिनी गंगा उसी समय से लेकर इस पृथिवीपर पृथिवीपति भगीरथ के लिए समुद्रपर्यन्त कीर्ति प्रसारार्थ एकतरह की वीथिका ही बन गयी हैं ॥१२-१७॥

छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

सतहत्तरवाँ सर्ग

कथित अर्थ की दृढ़ता के लिए चूडाला का आख्यान,
शिखिध्वज का माहात्म्य तथा विवाहक्रीडा का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामभद्र, महाराज भगीरथ ने पीछे के राज्यकाल में जिस विचारपूर्णबुद्धि से दृष्टि धारण की थी, उसी दृष्टि का अवलम्भन कर आप शम, स्वस्थ और प्रशान्तबुद्धि होकर प्रारब्धवश प्राप्त हुए कार्यों का निर्वाह कीजिए। पहले इस अपने वैभव का परित्यागकर और

मनरूप पक्षी का हृदय में निरोधकर, अविचल शिखिध्वज की नाईं, आप शान्तिपूर्वक अपने स्वरूप में स्थित रहिये। श्रीरामजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, यह शिखिध्वज कौन था और उसने परम पद कैसे प्राप्त किया ? गुरुवर, बोधवृद्धि के लिए उसका चरित्र फिर मुझसे कहिए। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, पहले कल्प में द्वापर में पति–पत्नी का एक जोड़ा हुआ था। अब इस अट्ठाइसवें चतुर्युग के अग्रिम द्वापर में उसी रूप का वही एक दूसरे के प्रति स्निग्ध प्रेम रखनेवाला फिर पति–पत्नी का दूसरा जोड़ा उत्पन्न होगा। श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, जो पूर्व में जिस रूप का था, वह उसी रूपका फिर कैसे होगा ? हे वक्ताओं में श्रेष्ठ, आप उसका कारण मुझसे कहिए। तात्पर्य यह है कि भूत और भविष्यत् कालिक वस्तुओं के सादृश्य में हेतु क्या है ? महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, इस जगत् के निर्माण में नियतिरूप ब्रह्मादि की जो सत्यसंकल्परूपा संविित्ति है, उसकी अनिवार्यस्वभावजनित ऐसी ही निरन्तर स्थिति है यानी नियति का अनिवार्यस्वभाव ही उनके सादृश्य में कारण है ॥१–६॥

इसी अर्थ का स्पष्टीकरण करते हैं।

क्योंकि देखिये – एक ही आम के वृक्ष में पहले अनेक फल उत्पन्न होकर फिर कालान्तर में उसी रूप के अनेक फल उत्पन्न होते हैं और उसी आम के स्कन्धपर वटवृक्ष अभूतपूर्व ही उत्पन्न होता है। काट दिये जाने पर तो फिर वहाँ नहीं उत्पन्न होता। ऐसी स्थिति में जैसे सरोवर में तरंग सदृश, विसदृश एवं पूर्व के तरंग अन्यरूप दिखाई पड़ते हैं वैसे ही शिखिध्वज आदि के संसार में भी स्थिति है। इसलिए भूतकालीन शिखिध्वज राजा के सदृश दूसरा महातेजस्वी राजा फिर भी होगा। वही कही जानेवाली कथा का नायक है। उसका यह वृत्तान्त आप सुनिये। अतीत कालीन सातवें मनु की चतुर्थ चतुयुर्गी के द्वापर युग में कुरुवंश में इसी सृष्टि में शिखिध्वज नाम का राजा हुआ था। जम्बुद्वीप में प्रसिद्ध विन्ध्याचल के समीप में स्थित मालवदेश की उज्जैनी नगरी में वह ऐश्वर्यसंपन्न शिखिध्वजनाम से प्रसिद्ध होकर समस्त देश का नियन्त्रण करता था। वह धैर्य, औदार्य आदि धर्मों से युक्त था, उसमें क्षमा, शम, दम, विद्यमान थे, वह वीरता से परिपूर्ण था, शुभ कर्मों के अनुष्ठान में निरन्तर लगा रहता था, आत्मश्लाघा आदि दोषों से वर्जित था, थोड़े में यों कहिये कि समस्त गुणगणों का भंडार था। समस्त यज्ञों का निरन्तर अनुष्ठान करता था, उसने बड़े–बड़े धनुर्धारियों का दर्पदलन किया था, वापी, कूप, तडाग आदि लोकोपयोगी अनेक शुभ कार्यों का निर्माण किया था और पूर्वरूप पृथिवी का पालन करता था। वह देखने में कोमल, सम्बन्ध में स्निग्ध और वाणी में मधुर था, लोक और शास्त्र में निष्णात था, प्रेम का समुद्र था। वह सुन्दर, शान्त, भाग्यवान्, प्रतापी और धर्मवत्सल था। दूसरों के लिए विनय आदि शिक्षाप्रद वाक्यों का प्रयोग करता था, अर्थियों को अभीप्सित समस्त अर्थसम्पत्तियाँ देता था। वह उत्तम अर्थों का भोक्ता, सत्संग से युक्त और समस्त वेद–शास्त्रों का उत्तम श्रोता था। वह शिखिध्वज सब कुछ जानता था, तथापि उसमें तनिक भी विज्ञता का अभिमान नहीं था। स्त्रीव्यसन आदि का तो तृणवत् उसने त्याग कर दिया था। बाल्यकाल में ही उसके पिता स्वर्ग चल दिये थे। तभीसे अपने बाहुबल से जितेन्द्रिय उस शिखिध्वज ने सोलह वर्ष तक स्वयं ही दिग्विजयकर अखिल भूमण्डल को अपनी साम्राज्यसम्पत्ति में परिणत कर दिया। अनन्तर समस्त चोर आदि प्रजापीडक शत्रुओं की शंका से निर्मुक्त होकर धर्म से प्रजा का पालन कर रहा वह बुद्धिमान् शिखिध्वज मन्त्रियों के साथ अपने यश

से दिशाओं को धवलित करते हुए स्थित था। अनन्तर उसके बाल्यकाल के वर्ष समाप्त हो गये और यौवनकाल के वर्ष प्रारम्भ हो गये। इधर वसन्त ऋतु ने भी अपना स्वरूप भलीभाँति विकसित किया। वन-उपवन में फूल खिल रहे थे, आकाश में चांदनी खिल रही थी। वृक्षों की शाखारूप अन्तःपुर भीतर-जो रजरूपी कर्पूर से धवलित; संवरणशील पत्ररूप कपाटों से युक्त तथा आमोद से विलास कर रहे पुष्प-गुच्छों के चँदुए से युक्त था-विद्यमान मंजरियों के हिंडोलों पर भ्रमरों के जोड़े मिलकर गहनतम गीत गा रहे थे। एवं शशी और सीकरों से शीतल तथा कदली और कन्दलियों के कच्छतल एवं पल्लवों पर नृत्य कर रहा मधुर वायु चारों ओर बह रहा था। ऐसे समय में इस शिखिध्वज का (किसी एक समस्तरमणीगुणोपेत पूर्वश्रुत चूडाला में) अनुरक्त हुआ चित्त कमनीय कामिनी के प्रति उत्कण्ठित हो उठा। वसन्तयुक्त वन के सदृश कुसुमसमूहों के सौगन्ध्यरूप मधुर आसवों से मत्त उसका रागपल्लवित मन रमणी को छोड़कर दूसरे किसी भी विषय में नहीं लगता था। उसकी उत्सुकता इतनी बढ़ गयी थी कि रात-दिन यह चिन्तन करता था-हेमकमलों के मुकुलों के सदृश स्तनवाली मुग्ध उस प्रणयिनी कामिनी को मैं कब लीलार्थ निर्मित सरोवरों में, उद्यान-वन के हिंडोलों पर और पर्यंक पर अपने अंक में कुंकुमांकित करूँगा। कमल वल्लियों के दोलाओं पर, अलिनी को अलि के सदृश, अतिचपल उस बाला को मैं अपनी भुजलता में अनुगत कब करूँगा॥७-२६॥

मेरे सदृश उस बाला को भी स्वाभिलाषाजनित सन्ताप कब होगा, जिससे कि हम दोनों का संघटन शीघ्र हो जाय।

मृणाल, हार, कुन्द और इन्दु सदृश प्रस्फुरित लताघरों के रूप से पुंजीतभूत वल्लियों की अभिलाषिणी होकर मेरे लिए वह इन्दुसुन्दरी कान्ता मदनसन्तप्त कब होगी ? इस प्रकार की चिन्ता से व्याकुल होकर कुसुमों के संग्रह में उन्मुख हो बनों में और कुसुमपूर्ण उपवनों में विहार करने लगा। उसने अनेक वन और उपवनों में, लीलासरोवरों में, लतागृहों में तथा विविध उद्यान-भूमियों में विहार किया। उन्मना होकर उसने वन और उपवन के गुणवर्णन में सम्बद्ध और श्रृंगाररस से परिपूर्ण कथाओं में रमण किया। उसने सुवर्णकलश के सदृश स्तनवाली, हार से चमक रहे शरीर तथा चंचल मंजरियों से युक्त कुमारियों को अपने मन में बड़ा ऊँचा स्थान दिया। चतुर मन्त्रियों ने इस प्रकार के राजा का अभिप्राय जान लिया, क्योंकि चेष्टा और आकृति से अभिप्राय जान लेना ही मन्त्री का दोषों से निर्मुक्त लक्षण है। अनन्तर राजा के विवाह के लिए विचार कर रहे मन्त्रियों ने सौराष्ट्र देश के राजा से युवतीसमूह से मण्डित कन्या की याचना की। राजा शिखिध्वज ने नवीन वय से सम्पन्न तथा प्रतिमा के सदृश स्वानुरूप उस उत्तम कन्या का विधिपूर्वक भार्यारूप में स्वीकार किया। राजा शिखिध्वज की सुन्दरी पृथिवीतल पर चूडाला नाम से विख्यात थी। वह अपने अनुरूप पति प्राप्तकर, विकसित पद्मिनी के सदृश, राजित हो रही थी। वह शिखिध्वज राजा नीलकमलसदृश नेत्रवाली उस चूडाला को स्नेह से उस प्रकार प्रसन्न रखता था, जिस प्रकार भगवान् सूर्यदेव कमलिनी को विकास द्वारा प्रसन्न रखते हैं। एक दूसरे के प्रति अर्पित चित्तवाले उन दोनों की प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती थी। हाव, भाव, विलास आदि-श्रृंगार चेष्टाविशेषों से परिपूर्ण अंगों के कारण वह चूडाला सुन्दर नवलता-सी शोभती थी। शिखिध्वज राजा को राजचित्तानुवर्ती अनुरक्त मन्त्रियों द्वारा सभी उपभोगसामग्री समय-समयपर

समर्पित की जाती थी अथवा धार्मिक मन्त्रियों द्वारा उसके याचकों को वांछित अर्थों की पूर्ति की जाती थी, उसकी प्रजा सुव्यवस्थित थी, अतएव परम सुखी वह राजा कमलिनी के साथ राजहंस के सदृश उस दयिता के साथ रमण करता था। अन्तःपुर में, दोलाओं में, लीलासरोवरों में, उद्यानों में, विहारों में, लता और पुष्पों से शोभित घरों में, कदम्बवन की श्रेणियों में, चन्दन और अगरु से सुगन्धित वीथियों में, मन्दारमाला सी चंचल कदली और कन्दलियों में, नगर–प्रान्तों में, वनप्रान्तों में, दिगन्तों में, सरोवरों में तथा जामुन, नींबू एवं जातिवृक्षों से युक्त निर्जन बनों में उस कमनीय दम्पती की प्रमोदजनक सभी ऐसी परस्पर चेष्टाएँ हुईं, जैसी बैलों द्वारा हल से जोते गये खेतों के लिए लाभदायक वृष्टिवाले, मेघ एवं शस्य सम्पति से कमनीय आकाश और पृथिवी की लोकप्रमोदजनक अन्योन्य चेष्टाएँ होती हैं। वे दोनों निरन्तर एक दूसरे से मिले हुए थे, एक दूसरे की चेष्टाएँ उन्हें प्रिय लगती थीं। एक दूसरे से शिक्षाग्रहण और एक दूसरे की समान–अर्थिता होने से वे दोनों अशेष कलाओं के विज्ञाता हो गये थे ॥२७–४३॥

इसीलिए सब गुणों की समानता होने से और अनुराग के कारण तद्रूपता आ जाने से वे दोनों मानों एक ही जीव थे।

परस्पर अत्यन्त मित्रता को प्राप्त हुए वे दोनों एक दूसरे के हृदय में बस जाने के कारण दो देहों में संक्रान्त (प्रविष्ट) अविनाशी एक ही जीवस्वरूप धारण करते थे। जैसे बटुक 'द्वादश वर्षपर्यन्त वेद के लिए ब्रह्मचर्य है' इस शास्त्र से निर्धारित नियत काल तक गुरुमुख से अध्ययन द्वारा समस्त शास्त्रार्थ में विशेषज्ञता प्राप्त कर पण्डित हो जाता है, वैसे ही कुछ नियत काल तक अपने स्वामी के मुख से अध्ययन कर समस्त शास्त्रार्थ में विशेषज्ञता और तत्–तत् शिल्पशास्त्रों के पण्डितों के मुख से चित्रकला आदि में भी चातुर्य प्राप्त कर चूडाला अशेष अर्थों में पण्डिता हो गयी थी तथा चूडाला के मुख से इस शिखिध्वज ने भी नृत्य, वाद्य आदि जितने कलाकौशल हैं उन सबका शिक्षण ग्रहण किया और कलाओं का पारंगत महाविद्वान् हो गया। अमावस्या प्राप्त कर जैसे सूर्य और चन्द्र एक दूसरे में अपनी–अपनी कला का संमिश्रण कर एकरूप हो जाते हैं, वैसे ही एक–दूसरे के हृदय में स्थित हो रहे वे दोनों भी एकरूप हो गये थे। वे दोनों परस्पर एक दूसरे के प्रेमी, मिश्रित क्षीर और नीर की नाईं, एकरस–स्वरूप होकर अवस्थित थे और पुष्प और सुगन्ध की नाईं अभिन्नस्वरूप वे भूतल पर अवतीर्ण गौरी और शंकर के सदृश लगते थे (卐)। उन दोनों की बुद्धि लोक और शास्त्र के चातुर्य से अत्यन्त परिष्कृत थी। समस्त शास्त्रीय विषयों में उनके पाण्डित्य की धाक जमी थी। केवल किसी एक खास कार्य के लिए, कमला और कमलापति की नाईं, पृथिवी पर वे दोनों अवतीर्ण हुए थे। वे दोनों स्नेह से प्रसन्न और मधुर लगते थे। पूछे गये सन्दिग्ध विषयों के और शास्त्ररहस्यों के निर्णयार्थ एक ही काल में उन दोनों का एक ही ज्ञानतत्त्व का कथन करने का स्वभाव था। निरन्तर वे दोनों एकमात्र गुरु, द्विज और विद्वानों की अनुवृत्ति करते थे। उनसे प्रिय, हित, विनय आदि सदाचार का व्यवहार करते थे। लोकवृत्तान्त एवं

(卐) भगवान् शंकर का अर्धनारीश्वर नाम है, चूडाला और शिखिध्वज भी स्वरूपतः, स्वभावतः एक दूसरे से मिलजुल गये थे, इसलिए वे भी ठीक भगवान् शंकर और गौरी से मिश्रित अर्धनारीश्वरस्वरूप के जैसे लगते थे।

एकमात्र शास्त्र से बोधित होनेवाले धर्मरहस्य का वे दोनों ही परिपक्व परिज्ञान रखते थे। वे समस्त कलाओं से परिपूर्ण थे। श्रृंगार आदि नवरसरूपी रसायनों से वे राजित थे। उनका अंग शीतल, स्निग्ध और मोहक था, इसलिए वे ऐसे लगते थे मानों दो चन्द्रमा उदित हुए हों। भद्र, जिनकी शोभा अनुपम थी तथा जो रतिभोगों के विलासों से कमनीय थे उन चूडाला और शिखिध्वज दोनों का मनोहर जोड़ा अन्तःपुर में ऐसे शोभित हो रहा था जैसे ब्रह्माण्डखण्डरूप सत्यलोक के गम्भीर सरोवरों में चमक रहा मद एवं मन्मथ से मन्द-मन्द गमन कर रहा राजहंसी और राजहंस का जोड़ा ॥४४-५२॥

सतहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

अठहत्तरवाँ सर्ग

क्रम से उनके वैराग्य, सत्शास्त्र के अभ्यास में उनकी निष्ठा तथा चूडाला के विवेक और ज्ञानलाभ का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे रामभद्र, इसी प्रकार अनेक वर्षों तक दृढ़ प्रेम से सम्पन्न उस दम्पती ने दिन-पर-दिन होनेवाली यौवन की अमन्द लीलाओं से रमण किया। अनन्तर एक के पीछ एक यों आवृत्तिशील अनेक वर्ष बीत गये और फूटे हुए घड़े से जल की नाईं धीरे-धीरे गल रहा तारुण्य देखकर उन्होंने विचार किया। तरंगसमूहों के सदृश अतिचपल आकृतिवाले, भंगुर शरीर से व्यवहार कर रहे जीव का, पक्व फल के पतन की नाईं, देहवियोग किसी भी प्रकार हटाया नहीं जा सकता। कमल पर हिमरूपी वज्र की नाईं इस देह पर अब जरा गिरने के लिए उन्मुख हो ही रही है, क्योंकि करतल से जल की नाईं निरन्तर आयु गलती ही जाती है। वर्षाकाल में कटु तुम्बी लता के सदृश एकमात्र भोग और उसके साधनों की तृष्णा बढ़ती जाती है और पर्वत नदी के वर्षाकालिक पूर की नाईं वेगपूर्वक यौवन बहता ही जाता है। यह जीर्ण स्थितिवाला शरीर आदि रूप जीवन, इन्द्रजाल के सदृश, असत्य ही है और धनुष से छूटे हुए बाणों के सदृश विषयसुख दूर-दूर भागते जा रहे हैं। आमिष (मांस) के ऊपर झपट-झपट कर गीध उसे जैसे नोचते हैं वैसे ही आध्यात्मिक आदि दुःख और तृष्णा चित्त के ऊपर झपट-झपटकर उसे नोचते हैं और यह शरीर वर्षाकाल में जल के बुद्बुद के सदृश क्षणभर में ही विलीन हो जानेवाला है। विचारकोटि में प्रविष्ट हुआ यह व्यवहार कदलीगर्भ के सदृश निःसार ही ठहरता है और सपत्नी चाहनेवाले पुरुष की प्रियतमा के सदृश यह यौवनावस्था शीघ्र छोड़कर भागती जाती है। वृक्ष में रसशोषण के सदृश जबरदस्ती इष्ट विषयों के अलाभ से जनित दौर्मनस्य प्राप्त होता है, इसलिए इस संसार में ऐसी कौन वस्तु है जो शुभाकृति, सुस्थिर एवं अत्यन्त सुन्दर हो और जिसकी प्राप्ति कर यह चित्त फिर जन्म-मरण आदि दशाओं में पीड़ित न हो। उस दम्पती ने इस प्रकार विचारकर यह निश्चय किया कि संसाररूपी व्याधि का असली औषध अध्यात्मशास्त्र ही है, इसलिए उसीका दीर्घकाल तक विचार किया। केवल आत्मज्ञान से ही संसाररूपी महामारी शान्त हो जाती है, यह निर्णय कर वे दोनों आत्मा का ज्ञान सम्पादन करने के लिए तत्पर हो गये। अध्यात्मशास्त्र में ही उनका चित्त लग गया था, प्राण भी उसीमें थे, उसीमें उनकी निष्ठा थी, अध्यात्मशास्त्रवेत्ता की ही उन्होंने शरण ली थी, उसीकी अर्चना में निरत रहते थे, उनकी इच्छा भी अध्यात्मशास्त्र की ही रहती थी और

उस समय इस संसार से वे दोनों विरक्त हो उठे थे। उन्होंने अध्यात्मशास्त्र में ही दृढ़ अभ्यास बढ़ा लिया था, वे एक दूसरे को अध्यात्मशास्त्र का ही स्मरण कराते थे, उनकी प्रीति उसी शास्त्र में थी एवं परस्पर उनका समस्त आरम्भ (श्रवण, प्रबोधन आदि) उसीमें होता था। हे श्रीरामजी, तदनन्तर वह चूडाला– अध्यात्मशास्त्र के तत्त्ववेत्ताओं के मुख से संसार दुःखसमुद्र से पार करने में समर्थ सुन्दर आत्मज्ञानोपयोगी रमणीय पदक्रमों से संयुक्त शास्त्रार्थों का निरन्तर श्रवण कर–बाह्य शरीर के व्यापारों का परित्यागकर और धवल उग्र बुद्धि से युक्त होकर अपनी आत्मा के विषय में इस प्रकार अहर्निश विचार करने लगी। अब मैं स्वयं विवेक कर अपने आत्मा को देखती हूँ कि मैं क्या हूँ यानी इस कार्यकरण–संघातरूप शरीर में ऐसा कौन पदार्थ है, जो चेतन हो सकता है। यह संसाररूप मोह किसको प्राप्त होता है यानी मोह जिसको प्राप्त होता है, वही उसके निवारण में समर्थ होगा, परन्तु वह कौन है, किस हेतु से कहाँ मोह प्राप्त हुआ, मोह का मूल क्या है, क्योंकि मूलका ज्ञान होनेपर ही मूलोच्छेद द्वारा मोह का निरास अनायास सिद्ध हो जाता है। देह तो जड़ और अत्यन्त मूढ़ है, इसलिए वह चेतन नहीं हो सकती, यह अटल निश्चय है, इस प्रकार का निश्चय साधारण बालक तक को भी अवगत है और मैं स्थूल हूँ, गौर हूँ, इत्यादि बुद्धिवृत्ति होनेपर ही देहादि का अनुभव होता है, स्वतः नहीं, इसलिए उसमें जड़ता स्वतःसिद्ध ही है। हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रिय समुदाय भी इस शरीर से अभिन्न अवयवरूप ही हैं। कभी अवयव और अवयवी में भेद नहीं रहता, इसलिए शरीररूप अवयवी के सदृश वह भी जड़ ही है। ज्ञानेन्द्रियसमुदाय भी शरीर के अवयवरूप ही है, इसलिए वह भी जड़ ही है, (♠) यह दीख पड़ता है, क्योंकि मन आदि से जड़ देह आदि में प्रेरणा मिलने के कारण उनके साथ संयोगयोग्यद्रव्यरूपता होने से, पृथिवी पर ढेले की प्रेरक यष्टि के सदृश, उनमें जड़ता ही है। संकल्पात्मक शक्ति रखनेवाला जो मन है उसे भी मैं जड़ ही मानती हूँ। जैसे गोफन से पाषाण प्रेरित होता है वैसे ही मन भी बुद्धि के निश्चयों से प्रेरित होता है। इस तरह निश्चयरूपा बुद्धि जड़तास्वभाव से ओतप्रोत है, यह अटल निश्चय है। दो तटों के मध्यवर्ती ढालू प्रदेश से जैसे नदी बहती है वैसे ही अहंकार से वह बुद्धि बहती है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। अहंकार भी सारशून्य तथा मुर्दे के सदृश है, इसलिए वह जड़ ही है; क्योंकि बालक द्वारा जनित भ्रमरूप यक्ष के सदृश प्राणयुक्त चिदाभास द्वारा वह जनित है। चेतनाकाशरूप जीव प्राणरूप उपाधि से युक्त होकर हृदय में रहता है। वह भीतर इतना सुकुमार है कि दूसरे अपने अन्तर्यामी दिव्य चैतन्य से दीप्त होकर जीता है। अहा, मैं समझ गयी। साक्षी का स्वरूप धारण कर विषयों का प्रकाशन करना ही इस चेतन का चेत्योल्लेख कलंक है, इस कलंक से दूषितप्राय हो करके यह सबको जान लेता है और अनादिभूत चैतन्यरूप से ही यह जीव प्रस्फुरित होता रहता है। जैसे सुगंध पवन से और नदी का वेग पुष्करिणी से परिचालित होता है, वैसे ही यह जीव चेत्यभ्रमों से युक्त चैतन्य से ही परिचालित होता है। चैतन्य शरीर आत्मा मिथ्याभूत जड़ विषयों के साथ अध्यास (संसर्गाध्यास और तादात्म्याध्यास)

(♠) यद्यपि 'अणवश्च' इस सूत्र में सूत्रकार बादरायण ने सूक्ष्मभूत इन्द्रिय, प्राण आदि लिंगदेह के अवयव बतलाये हैं, इसलिए वे स्थूल शरीर के अवयव नहीं हो सकते, तथापि ज्ञानी और अज्ञानी सभी जन उनका देहावयवरूप से एवं देहसम्बन्धिरूप से अनुभव करते हैं, इसलिए उनमें जड़ता है ही, यह भाव है।

करके ही जड़ जैसा बन जाता है और अपने असली प्रकाशमान धवलस्वरूप का उस प्रकार परित्याग कर देता है, जिस प्रकार तप्तजल या समुद्रजल में गिरा हुआ अग्नि अपने भास्वर प्रकाशमान स्वरूप का परित्याग कर देता है (इसलिए सत्तांश में चैतन्यभिन्नता के सदृश प्राप्त हुई 'घट सत् है, पट सत् है' इस प्रकार की सत्ता अचित् घटादिविषयों के साथ एकता का अनुभव करती है और घटादि का लय होनेपर 'घट नष्ट हो गया' पट नष्ट हो गया' इस प्रकार सत्ता के अभाव का भी अनुभव करती है)। विषयों के साथ एकाग्रता होने पर जो भी कोई-चाहे वह सद्रूप हो या असद्रूप हो-वासनावेष्टित होकर स्वतः दीख पड़ता है, वही एक क्षण में पूर्णस्वरूप का परित्याग कर तत्स्वरूप हो जाता है। उक्त रीति से परमार्थतः चित्स्वरूप भी अविद्या के आवरण से अध्यास परम्परा से जड़शून्य और असत्सदृश उत्पन्न जगत् का स्वरूप बुद्धि में अनावृतस्वभाव चैतन्य से ही तत्तदाकारवृत्तिव्याप्ति एवं मूलाविद्यारूप आवरण के भंग द्वारा जाना जाता है। उस तरह का पहले विचारकर फिर उस चूडाला ने यह विचारा कि किस उपाय से मूलअविद्या के आवरण से रहित चिति दृश्यस्वप्न का परित्यागकर प्रबुद्ध होवे और तदनन्तर दीर्घकाल के बाद कहे जानेवाले प्रकार से आत्मतत्त्व को उसने पहचाना। उसे बड़ा ही आनन्द मिला और कहने लगी कि अहो, दीर्घकाल के बाद मैंने सर्वविध उपद्रवों से शून्य ऐसी ज्ञातव्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया, जिसे जान लेनेपर पुरुष फिर पुरुषार्थ से च्युत नहीं होता अथवा किसी भी काम्य अर्थ की हानि नहीं होती, क्योंकि उसकी प्राप्ति से समस्त कामनाओं की परिपूर्ति हो जाती है अथवा दुःख का साधन समझकर किसी पदार्थ का परित्याग नहीं करता, क्योंकि उस समय सभी पदार्थों में आनन्दात्मक परब्रह्मरूपता ही प्राप्त हो जाती है ॥१-३०॥

अहो, ये जितने मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि पदार्थ हैं, वे सबके सब चिद्विलास को परिच्छिन्न बना देने में केवल कारणरूप ही हैं, वे स्वयं असत्स्वरूप ही हैं और उनका स्थान नेत्रपर अंगुली रखने पर दिखाई दे रहे द्वितीय चन्द्रमा का ही है अर्थात् वे भ्रान्तिमात्र से परिकल्पित हैं। वास्तव में सर्वविध आवरणादि से निर्मुक्त अकेली महाचिति ही इस संसार में सब काल में अपना अस्तित्व रखती है। जिसको महासत्ता भी कहते हैं। यह कलंकों से शून्य, समानरूप, विशुद्ध और अहंकारवर्जित स्वरूपवाली है। उसका स्वरूप शुद्ध विज्ञान ही है, भूमानन्दरूप होने से वह परम मंगलात्मक सन्मात्ररूप है। भूमानन्दरूप स्वभाव से वह कभी भी च्युत नहीं होती। मूलअविद्यारूप आवरण के भंग से एक बार उसका यदि साक्षात्कार हो जाय, तो वह फिर कदापि आवृत्त नहीं होती। इसलिए वह वेदान्त आदि अध्यात्मशास्त्रों में लक्षणावृत्ति से नित्य उदयवती कही जाती है। उसीका ब्रह्म, परमात्मा आदि नामों से सर्वत्र गान किया जाता है। चेत्य (ज्ञेय) आदि त्रिपुटीसमूह इससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु ही नहीं है, क्योंकि यह त्रिपुटी साक्षीरूप उसीसे प्रकाशित होती है। यह साक्षीस्वरूप चिति किसी दूसरे प्रमाण से सिद्ध नहीं होती, क्योंकि त्रिपुटी प्रवृत्ति के पहले ही वह स्वयंसिद्ध है, अतः वह आद्या चिति कही गयी है। चेत्यशून्य जो यह चिद्रूपता है, वह उसका अविनाशी रूप है। मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि पदार्थों के स्वरूपों से वह चिति ही विवर्तित होती है। मन, बुद्धि आदि विवर्तों से चैतन्यात्मा जब प्रमातृरूपता प्राप्त करता है, तब उसमें तरंगकणों के कल्लोलों के सदृश यह जगद्रूप भूत-भौतिक पदार्थों की अस्तिता स्फुरित होती है। जो यह जगत्सत्ता का रूप प्रसिद्ध है, वही अधिष्ठानभूत महाचिति का दूसरा स्वरूप है, क्योंकि वह सत्तारूप

चिति स्फटिकमणि के सदृश जगत् का प्रतिबिम्ब असंग होकर ही धारण करती है, और यह जगत्सत्ता तो व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक पदार्थों में अपने–अपने अधिष्ठान के अनुसार उदित है ॥३१–३८॥

इन कारणों से जगत् की सत्ता का अधिष्ठानसत्ता से पृथक् निरूपण न हो सकने के कारण यह केवल मायारूप ही है, यह कहते हैं।

जगत् का निर्माण करनेवाली ब्रह्म से अभिन्न शक्ति से जो अधिष्ठानसत्ता विद्यमान है, उसीसे जगत्–सत्ता अतिरिक्त–सी भासती है, यहाँ माया से अतिरिक्त किसी दूसरी सत्ता का संभव है ही नहीं ॥३९॥

इसीलिए नाम, रूप, विशेषों का प्रलय होनेपर जगत्–सत्ता मायाशबल ब्रह्मात्मना ही अवस्थित रह जाती है और माया का बाध होनेपर आनन्दैकरसस्वरूप सन्मात्रात्मक आत्मतत्त्वका वह स्वयं अनुभव करती है, ऐसा कहते हैं।

अलंकार आदि की जो विचित्रता है, वह जैसे अलंकारों का विनाश हो जानेपर सुवर्णसत्तात्मना ही उदित होती है, वैसे ही जगत् का विलय हो जानेपर जगत् की सत्ता मायाशबल ब्रह्मात्मरूप से उदित होती है और माया का बाध हो जानेपर सच्चिदानन्दरूप आत्मसत्ता का स्वयं अनुभव करती है। जैसे स्वप्न तथा इन्द्रजाल आदि में द्रवरूप से परिणत अपने चित्त से सिद्ध समुद्र के जल में तरंग आदि वास्तव में अनुदित भी उदित होते हैं, वैसे ही महाचिति में वास्तव में अनुदित भी जगत् आदि समष्टिचित्त के कारण उदित होते हैं। जैसे स्वप्न में चिद्रूप आत्मा ही जलधि में द्रव के कारण चित्तकल्पित जलरूप से तरंग आदि रूपवान् पदार्थ होता है, आत्मा से अतिरिक्त वहाँ कुछ नहीं रहता, वैसे ही चिन्मात्र ही मैं जगद्रूप से सम्पन्न हूँ, परमार्थतः पूर्णचिदात्मक मुझ से अतिरिक्त अणुमात्र भी नहीं है, इस प्रकार अहंभाव का भी परिशेष न रहने से अनहंभाव चिन्मात्र ही विस्तीर्ण है। इस चिन्मात्रस्वरूप आकाश के जन्म, मरण, सद्गति, असद्गति (स्वर्ग–नरक) या नाश का कहीं सम्भव ही नहीं है। यह आत्मा छेदन के योग्य नहीं है, दाह के योग्य नहीं है, यह चितिरूपी आदित्य अतिनिर्मल है। अहा, मैं दीर्घकाल के बाद शान्त होकर चारों ओर से परम सुखी हुई हूँ। अब मैं सर्वविध भ्रमों से निर्मुक्त होकर विचरण कर रही हूँ, मन्दराचल से शून्य प्रशान्त सागर के सदृश अवस्थित हूँ। ब्रह्मा से लकर स्तम्बपर्यन्त जितने भी प्राणियों के कर्मफल हैं, जितने भी उनके साधनभूत व्यापार हैं एवं जो भी निष्फल वृथा चेष्टाएँ हैं, वे सब उस अनन्त आकाशस्वरूप चैतन्यात्मा के स्वरूप हैं; जो दृश्याभास से शून्य, अत्यन्त स्वच्छ, अनन्त, अज, अच्युत, कालपरिच्छेद से शून्य, देश और वस्तुकृत परिच्छेद से शून्य, आकाशरूप, निर्मल, बाधरहित और परम है। कुलाल आदि पुरुष जाति से बनाई गयी मृत्तिका की सेना जैसे मृत्तिकारूप ही है, वैसे ही सुर, असुर आदि से युक्त यह विश्व अकृत्रिम परब्रह्मस्वरूप ही है। उसी प्रकार द्रष्टा एवं दृश्यरूप सत्ता भी एकमात्र चैतन्यरूप ही है। यह ऐक्य है, यह द्वैत है, यह मैं हूँ, यह मैं नहीं हूँ, इत्यादि भ्रमजनित मोह कौन चीज है; वह किस तरह हुआ, किसको हुआ और कहाँ से आया ? अर्थात् यह सब मिथ्या ही है। अपने अन्दर अनन्त पारमार्थिक स्वरूप की अनायास प्राप्तिकर अब शान्त होकर अवस्थित हूँ। अब मैं मोक्षसुख में अच्छी तरह विश्रान्त हूँ, संसाररूप ज्वर से वर्जित भूले हुए हार की प्राप्ति के सदृश प्राप्त हुए स्वरूप में अब बैठ गयी हूँ। अचेतन या चेतन जो भी कुछ जगत् प्रकाशित होता है

अथवा जो भी कुछ उसके भोक्तारूप से प्रकाशित हो रहा है वे दोनों भासमान आत्मा से अभिन्न जो ब्रह्म है, तद्रूप आकाशस्वरूप ही हैं। न तो इदं है, न अहं है और न दूसरा है एवं न तो भाव और अभाव का संभव है। सब कुछ शान्त, निरालम्ब केवल परब्रह्मरूप ही होकर स्थित है। इस प्रकार आत्मा के विचार में परायण वह चूडाला मोहरूपी निद्रा का आत्यन्तिक विनाश हो जाने के कारण यथास्थित इस परम आत्मतत्त्व का भलीभाँति परिज्ञानकर राग, भय, मोह आदि अज्ञानविलासों के शान्त होने से उस प्रकार शान्त हो गयी, जिस प्रकार शरत्-कालीन आकाश की लेखा ॥४०-५२॥

अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

उन्नासीवाँ सर्ग

अपूर्वशोभासम्पन्न देखकर राजा शिखिध्वज से पूछी गईं
चूडाला द्वारा अपनी शोभा में हेतु आत्मज्ञान का वर्णन।

इस प्रकार विचार से उत्पन्न तत्त्वज्ञान की – अभ्यास द्वारा उत्तरोत्तर भूमिकाओं में – प्रतिष्ठा हुई, यह कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, उस प्रकार की यह चूडाला दिनक्रम से अभ्यास द्वारा अपने स्वाभाविक स्वरूप में अवस्थित हो गयी, क्योंकि वह निरन्तर अन्तर्मुखवृत्ति से युक्त और प्रसिद्ध आत्माराम से सम्पन्न थी। उसके रागादि दोष निकल गये थे। उसका समीपस्थ किन्हीं पदार्थों से संग नहीं था। सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से वह निर्मुक्त हो चुकी थी, वह स्वर्गादि की इच्छाओं से और तदनुकुल चेष्टाओं से विरत हो चुकी थी, वह न किसी पदार्थ का ग्रहण करती थी और न किसीका परित्याग करती थी। केवल समयानुसार प्राप्त आचारमात्र को निभाती थी। संसाररूपी महासमुद्र को वह तैर गयी थी, सन्देहरूपी जाल उसके कट गये थे। उसका प्रत्यगात्मा परमात्मा के महान् लाभ से परिपूर्ण हो गया था। दीर्घकाल से संसार में भ्रमण करने से श्रान्त हुई वह चूडाला ज्ञानलब्ध आनन्दघन परमपद में अब विश्राम कर रही थी। संसार की सभी उपमाओं से परे हो जाने के कारण वह अव्यपदेश्य हो गयी थी। इस प्रकार सुन्दरवर्णवाली उस शिखिध्वज की उत्तम पत्नी वह चूडाला स्वल्पकाल में ही विदितवेद्य बन गयी ॥१-५॥

अल्पकालिक बोध से अनादि महत्तम भ्रम की निवृत्ति कैसे होगी ? इस पर कहते हैं।

जैसे अनिर्वचनीयस्वरूप स्पन्दविभ्रम अज्ञानी में अकस्मात् ही आ जाता है वैसे ही तत्त्वज्ञानी पुरुष में सबकी अकस्मात् ही निःशेषरूप से निवृत्ति हो जाती है। जहाँ पर समस्त द्वैत दृष्ट नहीं होता, ऐसे सर्वोपद्रवशून्य परम पद में विश्रान्ति पाकर वह चूडाला भ्रमशून्य होती हुई शरत्कालीन स्वच्छ मेघपंक्ति की सदृश शोभने लगी। दुःखपूर्वक चढ़ने योग्य, तृण और जल से युक्त तथा धूप एवं चन्द्रिका से युक्त शैलशिखर को विधिवश प्राप्तकर बूढ़ी गाय जैसे स्वास्थ्यपूर्वक स्थित रहती है वैसे ही चूडाला भी जाग्रदादि सम्पूर्ण अवस्थाओं में एकरूप से प्रकाशित हो रहे प्रत्यगात्मा को जाग्रदादि अवस्थाओं से सम्बद्ध न होनेवाले स्वभाव से प्राप्तकर उसी आत्मा में अनाकुलतापूर्वक स्थित हुई। अपने विवेक के दृढ़ अभ्यास से जनित आत्मतत्त्वदर्शन से हुए पूर्णानन्द स्वरूप के

आविर्भाव से वह नवीन उत्पन्न सुन्दर पुष्पलता के सदृश शोभने लगी। अनन्तर किसी एक समय उस पूतांगी अपूर्वशोभासम्पन्न चूडाला को देखकर विस्मय से प्रसन्नवदन वह शिखिध्वज कहने लगा। हे तन्वि, इस समय तुम पुनः यौवनयुक्त–सी तथा पुनः पुनः आभूषणों से भूषित–सी होकर उस प्रकार अधिक शोभ रही हो, जिस प्रकार पूर्णचन्द्र से युक्त पृथिवी। हे प्रिये, इस समय तुम ऐसे परिपूर्णरूप से शोभित हो रही हो, जैसे कि मानों तुमने अमृत का सार पी लिया हो या अलभ्य पद की ही तुमने प्राप्ति कर ली हो। आनन्दप्रवाह से तुम परिपूर्ण हो गयी हो। हे कामिनि, शान्तिसम्पन्न तथा कान्तिपूर्ण सुन्दर शरीर धारण कर रही तुम चन्द्रमा का भी तिरस्कार कर किसी अपूर्व शोभा की ओर जा रही हो। हे प्रिये, इस समय भोग के कार्पण्य से रहित, शान्त, विवेक से बलिष्ठ, समता को प्राप्त, गम्भीर और चंचलतारहित तुम्हारा चित्त मैं देख रहा हूँ। हे प्रिये, त्रिभुवन को तृण बना करके जगत्रसायन का पान करनेवाला, अनन्त, उच्चतायुक्त तथा सौम्य तुम्हारा मन मैं देखता हूँ। हे महाभागे, मरु और क्षीरसागर के सदृश सुन्दर तुम्हारा मन किसी भी विभावानन्द की वस्तु से उपमा को प्राप्त नहीं होता। हे बाले, अचपलता को प्राप्त हुए उन्हीं पूर्वोक्त अवयवों से, जो बालकदली, मृणाल एवं बालांकुर के सदृश कोमल हैं, तेज की अधिकता से मानों वृद्धिगत हो गयी हो। शिशिर ऋतु का अतिक्रमण हो जाने पर जिस प्रकार लता प्राक्तन अवयवों से युक्त होती हुई भी अन्यरूप हो जाती है उसी प्रकार उन–उन प्राक्तन अवयवों से अवस्थित होती हुई भी तुम अन्यरूप हो गयी हो। भद्रे, क्या तुमने अमृत तो नहीं पी लिया है या किसी साम्राज्य की ही तो प्राप्ति नहीं कर ली है या रसायन आदि के प्रयोग तथा मन्त्र आदि की सिद्धि, राजयोग आदि उपायों से क्या अमृत्यु का ही तो लाभ नहीं कर लिया है ? हे नीलकमल के सदृश नेत्रवाली, क्या तुमने राज्य, चिन्तामणि और त्रैलोक्य से भी ऊँचा कोई अप्राप्त पदार्थ तो प्राप्त नहीं कर लिया है ? ॥६–२०॥

इस प्रकार राजा द्वारा पूछी गयी चूड़ाला परिच्छिन्न देहात्मतात्याग और पूर्ण अद्वितीय ब्रह्मात्मलाभ अपनी अधिक शोभा में हेतु है, यों गूढोक्ति से पहला उत्तर देती है।

चूडाला ने कहा : आर्य, मैं इस मूढ़जनों में प्रसिद्ध सम्पूर्ण देहात्मरूपता का परित्याग कर तत्त्वज्ञान से अशेष नामरूपाकारों से निर्मुक्त, परम ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गयी हूँ। मन्त्र, रसायनादि साधनों से तुच्छ तत्तत् सिद्धि को प्राप्त मैं नहीं हूँ, इसलिए मैं दिव्यातिदिव्य श्रीसम्पन्न होकर स्थित हूँ। इस समस्त परिच्छिन्न वस्तु का परित्याग कर अपरिच्छिन्न अबाधित मूर्त और अमूर्त से रहित जो अन्य सब वस्तु है उसका मैंने आश्रय किया है, इसलिए कान्तिमती होकर मैं अवस्थित हूँ॥२१,२२॥

'न किंचित् किंचिदाकारं' इस अपनी उक्ति का प्रकारान्तर से वर्णन करती है।

सृष्टि का अतिक्रमण न कर जो वस्तु है अर्थात् सृष्टिदृष्टि से दृश्यमान जो किंचित् परिच्छिन्न वस्तु और जो प्रलयदृष्टि से दृश्यमान न किंचिद्रूप वस्तु है उसको कूटस्थभूमानन्दस्वभाव से स्थित मैं जानती हूँ, इसलिए शोभायुक्त होकर मैं स्थित हूँ। हे प्रिय, भुक्त भोगों के सदृश दूरवर्ती अभुक्त भोगों से भी मैं सन्तुष्ट रहती हूँ। न तो मैं कुपित होती हूँ और न मैं हृष्ट होती हूँ, इसलिए मैं श्रीसम्पन्न होकर स्थित हूँ। एकमात्र आकाशसदृश विमल अद्वितीय केवल हार्द ब्रह्म में अकेली ही मैं रमण करती हूँ। राजलीलाओं में रमण नहीं करती, इसलिए मैं श्रीमती होकर स्थित हूँ। आसन, उद्यान और घरों में देह

के स्थित होनेपर भी मैं पूर्णात्मरूप में ही स्थित रहती हूँ। कभी भी भूषण, सम्मान आदि शारीरिक-मानसिक भोगों में या उनकी अप्राप्ति से जनित लज्जा में स्थित मैं नहीं रहती हूँ' इसी से मैं शोभायुक्त होकर स्थित हूँ। मैं समस्त भुवनों की नियामिका हूँ, तुच्छ विषयरूप नहीं हूँ, ऐसा विचार कर मैं अपनी आत्मा में ही सन्तुष्ट रहती हूँ; इसलिए शोभासम्पन्न होकर स्थित हूँ। ये देह आदि अधिष्ठानदृष्टि से (卐) मेरे स्वरूप ही हैं और आरोपितदृष्टि से मेरे स्वरूप नहीं है। मैं पारमार्थिक दृष्टि से सत्यस्वरूप हूँ और अपारमार्थिक दृष्टि से मैं नहीं भी हूँ। मैं सर्वस्वरूप हूँ और किंचित्स्वरूप भी नहीं हूँ; इस विचार से मैं श्रीमती बनकर बैठी हूँ। मैं सुख नहीं चाहती, अर्थ नहीं चाहती, अनर्थ का परिहार नहीं चाहती और दूसरी किसी प्रकार की भी स्थिति नहीं चाहती। प्रारब्धवश प्राप्त किसी भी अर्थ से सन्तुष्ट रहती हूँ, इसीसे मैं श्रीमती होकर स्थित हूँ। राग और विद्वेष को क्षीण कर देनेवाली आत्मबुद्धि और शास्त्रदृष्टिरूपी सखियों के साथ मैं खेल करती हूँ, इसलिए मैं श्रीमती होकर स्थित हूँ। हे स्वामिन्, इस जगत् में नेत्ररश्मियों से, दूसरी इन्द्रियों से या चित्त से जो कुछ भी मैं देखती हूँ वह अनृत रहता ही नहीं यानी वह सब कुछ सत्य ही रहता है। उन इन्द्रियादिदृश्य पदार्थों से भिन्न निष्प्रपंच वस्तु को मैं अपने भीतर देखती हूँ। इस रीति से चूँकि मैं बाहर-भीतर अबाधितवस्तुस्वरूप निरन्तर देखती रहती हूँ, इसलिए हे नाथ, सतत परमअभ्युदयरूप अपूर्व शोभा से मैं शोभित हूँ॥२३-३१॥

उन्नासीवाँ सर्ग समाप्त

अस्सीवाँ सर्ग

अज्ञ राजा द्वारा चूडाला के वचनों में असम्बद्धत्व और खेचरत्व आदि सिद्धियों के बीज का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, उस रीति से अपनी शोभा की अधिकता में कारण बतला रही, अपने स्वरूपभूत आत्मा में विश्रान्त कान्तवदन उस चूडाला के प्रति हँसकर उसके वचनों का भाव न जानकर राजा शिखिध्वज बोला। हे सुरूपे, राजपुत्रि ! तुम प्रौढ़ नहीं हुई हो दूसरे को समझाने में उपयोग वाक्य बोलने में अपटु हो, इसीलिए असम्बद्ध प्रलाप करती हो। तुम जिन राजलीलाओं से रमण करती हो उन्हीं से रमण किया करो॥१,२॥

'नाकिंचित् किंचिदा.' इत्यादि वाक्य में असम्बद्धप्रलापत्व बतलाते हैं।

भद्रे, बतलाओ तो सही, जो वस्तु आकारसामान्य का परित्याग कर कभी प्रत्यक्ष न होनेवाली निराकारता को प्राप्त हो चुकी है, वह प्रत्यक्ष और अस्तित्व से शून्य वस्तु कैसे शोभित हो सकती है ? ॥३॥

(卐) वेदान्तशास्त्र में अधिष्ठान वह वस्तु है जिसमें भ्रम का आरोप हो, जैसे रज्जु में सर्प और शुक्ति में रजत का। यहाँ पर रज्जु और शुक्ति - ये दोनों अधिष्ठान हैं, क्योंकि इन्हीं में सर्प और रजत का भ्रम होता है। देखिये शेषनागविरचित परमार्थसार-'मृगतृष्णायामुदकं शुक्तौ रजतं भुजङ्गमो रज्ज्वाम्। तैमिरिकचन्द्रयुगवद् भ्रान्तमखिलं जगद्रूपम्॥'

वेदान्तशास्त्र में आरोप का अर्थ है - (१) मिथ्याध्यास, (२) झूठी कल्पना, (३) एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ के धर्म की कल्पना। जैसे-असंग जीवात्मा में कर्तृत्व धर्म का आरोप। (४) एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ के आरोप से उत्पन्न मिथ्या ज्ञान।

'भोगैरभुक्तैस्तुष्यामि' यह तुम्हारा वचन भी असम्बद्ध ही है, ऐसा कहते हैं।

जो पुरुष क्रोध से आसन, शय्या आदि के परित्याग की नाईं भोगों का 'अभुक्त भोगों से ही मैं तुष्ट हूँ' इस बुद्धि से परित्याग करता है, वह कैसे शोभित हो सकता है ? 'एकैवाकाशसंकारो केवले हृदये रमे' यह जो तुमने कहा है वह भी असंगत है। साक्षात् भोजन और मित्र, सेवक आदि का भोजन–इनका परित्याग कर तथा भोजनसाधन धनादि समस्त वस्तुओं का परित्याग कर जो एक शून्य आकाश में ही पिशाचवत् रमण करता है, वह शोभित होता है; यह कहना कैसे संगत हो सकता है ? क्रोध की नाईं धैर्यमात्र का अवलम्बन कर शीत, उष्ण, क्षुधा, तृष्णा आदि का सहन करनेवाला पुरुष वसन, अशन, शय्या आदि सर्वविध साधनों का परित्याग कर जो अकेला स्वरूप से ही स्थित रहता है, वह कैसे शोभित हो सकता है ? ॥४–६॥

'इदं चाहमिदं नाहम्' इत्यादि वचन में भी असम्बद्धत्व बतलाते हैं।

मैं देह नहीं हूँ, मैं कुछ और ही हूँ, घटादि पदार्थ हैं ही नहीं, सब कुछ परिपूर्णात्मक है – इस प्रकार जिसका प्रलाप है, वह कैसे शोभित हो सकता है ? ॥७॥

'पश्यामि यन्नयनरश्मिभिः' यह जो तुमने अन्त में कहा है वह भी बिलकुल असंगत है, इसलिए तुम्हारे द्वारा उक्त ये अर्थ शोभा के हेतु नहीं हैं।

जो मैं इन्द्रियवृत्तियों से यह देखती हूँ उसे पारमार्थिकरूप से नहीं देखती हूँ। जिसे मैं पारमार्थिकरूप से देखती हूँ वह कोई और ही चीज है। इस प्रकार का जो प्रलाप है, उसे त्यागे बिना वह कौन है, जो शोभित हो सकता है ? इसलिए हे सुन्दरी, तुम बाला हो, मुग्धा हो और चपल हो। हे विलासिनि, अनेक प्रकार के आलापविलासों से जिस तरह मैं क्रीड़ा करता हूँ, उसी तरह तुम भी क्रीड़ा करो। राजा शिखिध्वज ने उस प्रकार अपनी प्रिया चूडाला के प्रति अट्टहास–से हँसकर मध्याह्न में स्नान करने के लिए उठकर चूडाला के घर से प्रस्थान किया। बड़े दुःख का विषय है कि अभी तक राजा अपने स्वरूप में स्थित नहीं हुआ है। मेरे वचनों को भी वह न समझ सका–इस प्रकार विचार से खिन्न हुई वह चूडाला अपने कार्य में संलग्न हो गयी। हे रामभद्र, तदनन्तर वहीं पर उस प्रकार के भिन्न–भिन्न आशय से युक्त उन दोनों का उस समय भी पहले की पार्थिवलीलाओं से उसी तरह बहुत काल चला गया। एक समय की बात है कि नित्यतृप्त और निरीह भी चूडाला को लीलावश आकाश में देवताओं के सदृश गमनागमन करने की स्वयं इच्छा हुई। तदनन्तर वह राजकन्या आकाश में यथेष्ट संचार की सिद्धि के लिए सर्वविध विषयों का अनादर कर और निर्जन स्थान में आकर स्वयं अकेली ही एकान्त में निरत तथा अपने आसन के ऊपर उचित अंगों से अवस्थित हो ऊर्ध्वगामी प्राणपवन का दीर्घ आकाशसंचार की सिद्धि के लिए अनुकूल भ्रूमध्य आदि देश में निरोध करने के लिए अभ्यास करने लगी ॥८–१५॥

खेचरसिद्धि में हेतुभूत क्रिया के प्रसंग से श्रीरामभद्र सामान्यक्रिया में निमित्त की जिज्ञासा से आक्षेप करते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : गुरुवर, यह जो कुछ स्थावर और जंगम जगत् है वह सब क्रिया से ही उत्पादित मालूम होता है (क्योंकि कर्ता आदि कारकों की क्रिया के बिना किसी की उत्पत्ति देखी नहीं जाती है, ऐसी स्थिति में यह एक स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि) क्रियानामक स्पन्द की उत्पत्ति किससे हुई ?

उसकी उत्पत्ति सक्रिय से होगी, यह तो कह नहीं सकते, क्योंकि इस समाधान में आत्माश्रय और अनवस्था दोनों दोष स्थित हैं। यदि कूटस्थ से उसकी उत्पत्ति होती है, यह कहकर समाधान करें, तो उसमें व्याघात, अविराम और फलनावस्था – ये तीन दोष आ जायेंगे। इसलिए हे महाराज, क्रियानामक वस्तु की उत्पत्ति अनुभवपथ पर कैसे आती है ? उसे कहिये ॥१६॥

इस प्रकार आक्षेप कर प्रस्तुत विषय पूछते हैं।

हे ब्रह्मन्, यह जो आकाशगमन आदि सिद्धियाँ हैं वे घनाभ्यस्त किस प्रयत्नशाली स्पन्दविलास के फल हैं, यह मुझसे कहिये। हे प्रभो, जो अनात्मज्ञ पुरुष हैं वे अपनी सिद्धि के लिए अथवा जो आत्मज्ञ हैं वे एकमात्र लीला के लिए किस क्रम से इन सिद्धियों को सिद्ध करते हैं, वह जैसा है, मुझसे कहिये ॥१७,१८॥

रामभद्र, जो आपने क्रिया की उत्पत्ति के विषय में आत्माश्रय, अनवस्था आदि दोषों का उद्भावन किया है वह तब घटता, जब केवल क्रियास्वरूप की सिद्धि के लिए कारकों की अपेक्षा होती। परन्तु यहाँ बात वैसी नहीं है। बात यह है – क्रियासाध्य फल के लिए कारकों की अपेक्षा होती है। फल की उत्पत्ति के लिए प्रवृत्त हुए कारक नान्तरीयकरूप से क्रिया का अवलम्बन करते हैं। इसी क्रिया के आधारपर फल में साध्यता और कारकों में साधनता कही जा सकती है। इस रीति से निष्कर्ष यह निकला कि साध्य और साधन दोनों से विलक्षण क्रिया साध्य में अपेक्षित साधनों से भिन्न किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं करती, इसलिए क्रिया में सक्रिय कारण है या कूटस्थ ? इस विकल्पका प्रसंग ही नहीं आता, इस आशय से वसिष्ठजी आगे के प्रश्नों के समाधान में गौण-मुख्यसाधारण क्रियासाध्य को विभाग पूर्वक दर्शाते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे प्रिय राघव, इस जगत् में सभी जगह साध्य वस्तु तीन तरह की होती है – उपादेय, हेय और उपेक्ष्य (♨) ॥१९॥

उनमें फल की विलक्षणता दर्शाते हैं।

अपने अनुकूल उपादेय अर्थ का प्रयत्नपूर्वक निष्पादन किया जाता है। अपने प्रतिकूल जानकर हेय वस्तु का त्याग किया जाता है। हेय और उपादेय दोनों के बीच का अर्थ उपेक्ष्य होता है। हे सद्बुद्धे, जो वस्तु साक्षात् या परम्परा से सुख के अनुकूल होती है वह उपादेय होती है और जो वस्तु सुखविघातक होती है वह हेय होती है एवं जो वस्तु इन दोनों के बीच की होती है वह उपेक्ष्य होती है, ऐसा अनुभवी लोगों का कहना है ॥२०,२१॥

ये तीनों साध्यभेद अज्ञानियों के लिए ही हैं, यह कहते हैं।

सन्मति तत्त्वज्ञ विद्वान् की दृष्टि में जब यह सब आत्मस्वरूप हो जाता है तब इन तीनों पक्षों में से कोई भी पक्ष नहीं ठहरता ॥२२॥

ज्ञानी के लिए यदि तीसरा विकल्प मान भी लिया जाय, तो भी कोई दोष नहीं होता, इस आशय से कहते हैं।

(♨) ग्रहणबुद्धि की विषयभूत वस्तु उपादेय है, यह प्रवृत्ति की विषय है। त्यागबुद्धि की विषय वस्तु हेय कहलाती है, यह निवृत्ति की विषय है। उपेक्षाबुद्धि की विषय वस्तु उपेक्ष्य है।

किसी समय ज्ञानी उस लीला से ही इस समस्त जगत् को उपेक्षापक्ष में रखकर केवल देखता है और नहीं भी देखता है ॥२३॥

एक ही वस्तु एक पुरुष के बोध, राग और वैराग्य अवस्था के भेद से तीन प्रकार की हो जाती है, ऐसा कहते हैं ।

एक ही वस्तु ज्ञानी की दृष्टि में उपेक्षात्मक, मूढ़ की दृष्टि में उपादेयात्मक और उत्तमवैराग्यसम्पन्न पुरुष की दृष्टि में हेयात्मक हो जाती है । हे रामभद्र, आकाशगमनसिद्धि आदि का क्रम कैसा है, उसे आप अब सुनिये ॥२४॥

सिद्धि के तारतम्य में तथा चिरकालिक एवं अचिरकालिक प्रयत्न की आवश्यकता में उपाय बतलाते हैं ।

देश, काल, क्रिया एवं द्रव्य की अपेक्षा रखनेवाली सब तरह की सिद्धियाँ यहीं पर, भूतल को वसन्त के सदृश, जीव को मोहित करती हैं ॥२५॥

ये जो देश आदि सिद्धि के चार साधन हैं उनमें श्रीशैल आदि उत्तमोत्तम देश आदि चार साधनों के मिल जानेपर शीघ्र सिद्धियों का लाभ हो जाने से योग, मन्त्र, जप आदि क्रियाओं में दूसरे देश में अनुष्ठित क्रियाओं की अपेक्षा प्रधान उत्कर्ष की कल्पना होती है और तद्नुसार ही फलोत्कर्ष भी होता है, यह कहते हैं ।

हे साधो, सिद्धि आदि के साधन में ये जो चार हेतु हैं उनमें श्रीशैल आदि में अनुष्ठित योग आदि क्रिया में उत्कर्ष की कल्पना होती है, क्योंकि फलोत्कर्षक्रम जितने हैं वे सभी उन क्रियाओं के उत्कर्ष के अनुसार ही होती हैं ॥२६॥

ठीक है, हमने वैसा मान लिया, इससे प्रकृत में क्या आया, इस पर कहते हैं ।

उड्डामरतन्त्र, योगिनीकल्प आदि बड़े–बड़े अनेक ग्रन्थों में आकाशगमन आदि के साधन ये भी प्रसिद्ध है – सिद्धगुटिका, सिद्धांजन, सिद्धखड्ग, सिद्धपादुका आदि । 'कथं संसाधयत्येतत्' यह जो आपने प्रश्न किया है उसका अभिप्राय यदि उन क्रियाक्रमों का निरूपण करने में है, तो अविस्तृत कथन से उनका निरूपण न हो सकने के कारण कथन का विस्तार अवश्य करना होगा । उससे सिद्धियों के विषय में जिज्ञासा न रखनेवाले अतत्त्वज्ञ श्रोताओं की दैववश इच्छा हो जायेगी और उनमें वे प्रवृत्ति करने लग जायेंगे, इससे बड़ा अनर्थ हो जायेगा । आपके लिए भी वह विस्तार प्रकृत आत्मश्रवण में विघ्नरूप हो जाने से विघातक ही है, इसलिए प्रकृत में उसका निरूपण उचित नहीं है ॥२७॥

यही न्याय मणि, मन्त्र आदि से होनेवाले सिद्धिक्रम के निरूपण में तथा श्रीशैल आदि सिद्ध देश में निवास से सिद्ध होनेवाले सिद्धिक्रम के निरूपण में भी लगाना चाहिए, यह कहते हैं ।

हे रामभद्र, मणि, औषधि, तप, मन्त्र और क्रिया से होनेवाली सिद्धि के क्रम का निरूपण भी दूर ही रहे, क्योंकि उसका विस्तारपूर्वक निरूपण करना भी प्रकृत आत्मतत्त्वरूप अर्थ का विघातक ही है । हे कृतार्थ श्रीरामजी, सिद्ध देश से प्रसिद्ध श्रीशैल अथवा मेरू पर्वत पर निवास कर रहे पुरुष को सिद्धि होती है–इसका भी विस्तारपूर्वक वर्णन करना आपके जैसे सिद्धियों में तुच्छत्व बुद्धि रखनेवाले पुरुषों के लिए प्रकृत आत्मचिन्तनरूप अर्थ का विघातक ही सिद्ध होगा ॥२८,२९॥

तब तो मेरा प्रश्न बिलकुल निरर्थक ही है-इस विचार से श्रीरामचन्द्रजी को किसी तरह का दुःख न हो, इसलिए प्रस्तुत ज्ञान की दृढ़ता में उपयोगी, आनुषंगिक आकाशगमनादि सिद्धियों में साधनभूत तथा वर्णन की जा रही कथा से सम्बद्ध प्राणायामक्रम संक्षेप से सुनाते हैं।

इसलिए हे श्रीरामजी, शिखिध्वज की कथा के प्रसंग से प्राप्त सिद्धिरूपी फल से युक्त इस प्राणादि वायु की अभ्यासक्रिया का आप श्रवण कीजिये। साध्यार्थ और साधनार्थ अखिल अन्तस्थ वासनाओं का त्यागकर गुदा आदि द्वारों के संकोच से, सिद्धादि आसन, काय, मस्तक और गर्दन की समता, निश्चलता, तथा नासिका के अग्रभाग में अवलोकनादि योगशास्त्रोक्त क्रियाक्रमों से; भोजन और आसन की शुद्धि से, भलीभाँति योगशास्त्र के परिशीलन से, उत्तम आचार से, सज्जनों के संग से, सर्वत्याग से, सुखासन से, कुछ काल तक प्राणायाम के दृढ़ अभ्यास से, क्रोध, लोभ आदि के बिलकुल त्याग से तथा भोगों के त्याग से हे सुव्रत श्रीरामचन्द्रजी, रेचक, पूरक और कुम्भक का अच्छी तरह अभ्यास हो जाने पर प्राणों का स्वामी हो जाने के कारण योगियों के सब प्राण उस तरह उनके अधीन हो जाते हैं, जिस तरह राजा के नौकर ॥३०-३४॥

प्राणों के अपने अधीन हो जानेपर यानी प्राणों के ऊपर अपना सब नियन्त्रण हो जाने पर उनसे सम्बद्ध सिद्धियाँ भी अपने अधीन हो जाती हैं - यह कहते हैं।

हे राघव, देह के वायु के अपने अधीन हो जाने से यानी देहस्थ वायु के ऊपर अपना नियन्त्रण हो जाने से राज्य से लेकर मोक्षपर्यन्त सभी सम्पत्तियाँ सबको सुखसाध्य हो जाती हैं ॥३५॥

अब, देहस्थ वायु के अपने अधीन हो जाने से सम्पूर्ण सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, यह जो कहा गया, इसका उपपादन करने के लिए सम्पूर्ण शरीर में फैली हुई बहत्तर हजार शाखाओंवाली प्रधान सौ नाड़ियों की आश्रित, मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त सात चक्रों में प्रविष्ट होकर निकली हुई तथा मूलाधार में साढ़े तीन वलय के वेष्टन के भीतर सोई हुई कुण्डलिनी की शक्ति से सम्पन्न सुषुम्ना नाडी का वर्णन करते हैं।

चारों ओर से फैली हुई शाखाओं से परिवेष्टित होने के कारण मण्डलित आकार से युक्त, मर्मस्थान में समाश्रित, सौ नाडियों की आश्रय आन्त्रवेष्टनिका (सुषुम्ना) नाम की नाडी है (चूँकि आँतों की नाडियों से वह बिलकुल घिरी हुई है, इसलिए उसका नाम आन्त्रवेष्टनिका पड़ा है) ॥३६॥

मूलाधार में स्वान्तर्गत कुण्डलिनी के स्थान की अनुकूलता से उसका वर्णन करते हैं।

वीणादण्ड के मूलभाग में प्रसिद्ध रेखास्वरूप आवर्त के (तन्त्री के मूल में परिवर्तनरूप जो आवर्त होता है उसके तुल्य अथवा जलपरिवर्तनस्वरूप जो आवर्त होता है) उसके तुल्य, द्रविडाक्षर में लिखकर देखने में ॐकार के पूर्वार्द्ध के समान और नागरी लिपि में तो ॐकार के उत्तरार्द्ध के समान तथा कुण्डल एवं आवर्त के तुल्य वह सुषुम्ना नाडी स्थित है ॥३७॥

यह केवल मनुष्यों के ही शरीर में होती हो, यह बात नहीं है, किन्तु सभी जीवों के शरीरों में यह एक-सी होती है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, देव, असुर, मनुष्य, मृग, मगर, खग आदि में, कीट, पतंग आदि से लेकर ब्रह्मापर्यन्त सब प्रकार के प्राणियों में वह नाडी उदित है। शीतजन्य पीड़ा के निवारण के लिए गेंडुरी

मारकर (गोलाई बाँधकर) सोये हुए सर्पराज के शरीर की नाईं बद्धमण्डल, शुभ्र तथा प्रलयाग्नि से गल रहे चन्द्रमा के तुल्य बद्धकुण्डली वह नाडी है। गुदा से लेकर भौंह के बीच तक सब छिद्रों का स्पर्श कर रही वह सुषुम्ना नाडी मन की वृत्तियों से भीतर चंचल और बाहर प्राणादि से स्पन्दयुक्त होकर सदा अवस्थित रहती है ॥३८–४०॥

उसके मूल में साढ़े तीन वलय के आकार से युक्त कुण्डलिनी संज्ञावाली चित्शक्ति है।

उसके आभ्यन्तर में यानी कदलीकोश के सदृश मूलाधार में वीणा के मूल में दुर्लक्ष्य तारों के वेग से विलास कर रही–सी परम–सूक्ष्म पराशक्ति नाम की सकल शब्दों की मूलभूत शब्दब्रह्मात्मिका जो स्फूर्ति है वही प्राणसंग से नाभि, हृदय और कण्ठ प्रदेशों में उतरोत्तर को अत्यन्त व्यक्त होकर देखती हुई मध्यमा, वैखरी इत्यादि भेदों को प्राप्त करती है (🕭)। चूँकि वह कुण्डलाकारवाहिनी है, इसलिए कुण्डलिनी नाम से कही गयी है। वह सब प्राणियों की परमाशक्ति है तथा प्राण, इन्द्रिय, बुद्धि आदि सब शक्तियों की सत्तास्फूर्ति की प्रवृत्ति में निर्वाहक होने से वेगप्रदान करनेवाली है ॥४१,४२॥

उनमें प्राणशक्ति वेगप्रदान करनेवाली कैसे है, यह कहते हैं।

वही अपने मुख से प्राणवायु को ऊपर फेंकती है और अपान को नीचे खींचती है, इसलिए सदा साँस खींचती हुई स्पन्दन में हेतु बनी हुई ऊपर की ओर मुँह करके क्रुद्ध साँपिन की नाईं अवस्थित रहती है ॥४३॥

बुद्धिशक्ति को वेगप्रदान कनेवाली कैसे है, यह कहते हैं।

जब हृदय में स्थित प्राणवायु कुण्डलिनी से आकृष्ट होकर अपानवृत्ति द्वारा कुण्डलिनी पद को प्राप्त होता है तब अपंचीकृत भूतों से जनित अन्तःकरण में विद्यमान जीवसंवित् स्मृति, संकल्प, अध्यवसाय, अभिमान, राग आदि वृत्तियों के भेदों से अन्दर उदित होती है ॥४४॥

कैसे इन्द्रियशक्ति को वेगप्रदान करती है, यह बतलाते हैं।

इस तरह प्राण और बुद्धि को ज्ञान और क्रिया शक्ति प्रदान करनेवाली कुण्डलिनी कोमल स्पर्शवाली (विषय सन्निकर्षवाली) चक्षु आदि इन्द्रियों से उदय प्राप्त करती हुई, कमल में भ्रमर की नाईं, देह में जैसे–जैसे (जिस तरह के भोजक के अदृष्ट या दृष्ट सामग्री के वैचित्र्य से) स्फुरित होती है वैसे–वैसे अन्तःकरण में तत्–तत् इन्द्रियों से अर्थविशेषों में स्फूर्तिस्वरूप तत्–तत् फलभोगादिरूप संवित् उदित होती है ॥४५॥

कैसे वह इन्द्रियसन्निकर्षों की वशवर्तिनी है, यह कहते हैं।

ज्यों–ज्यों चक्षु आदि इन्द्रियों के साथ विषयस्पर्श प्रथम उत्पन्न होता जाता है त्यों–त्यों कार्यकरणसंघातरूप यन्त्र के प्रेरक वृत्ति द्वारा बाहर निकले हुए प्रमाता की बाह्य विषयों के साथ परस्पर

(🕭) ऐसा ही मन्त्रशास्त्र में कहा गया है :

चैतन्यसर्वभूतानां शब्दब्रह्मेति यद्विदुः। तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम् ॥
वर्णात्मनाऽऽविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः ॥' इत्यादि।

साम्ब ने भी कहा है :

या स. मित्रावरुणसदनादुच्चरन्ती त्रिषष्टिं वर्णानत्र प्रकटकरणैः प्राणसंगात् प्रसूते।
तां पश्यन्तीं प्रथममुदितं मध्यमां बुद्धिसंस्थां वाचं वक्त्रे करणविशदां वैखरीं च प्रपद्ये ॥

आलिंगन करानेवाली संवित् कुण्डलिनी अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है ॥४६॥

मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी की सब नाड़ियाँ चक्षु आदि इन्द्रियों के प्रवर्तन में द्वार हैं, इस आशय से कहते हैं।

उस कुण्डलिनी में हृदयकोश की समस्त नाड़ियाँ सम्मिलित हैं। वे सब नाड़ियाँ, सागर में नदियों की नाईं, उसीसे बारबार उत्पन्न होती हैं तथा उसीमें विलीन हो जाती है ॥४७॥

वे कैसे बारबार उसीसे उत्पन्न होती है तथा उसीमें विलीन हो जाती हैं, यह कहते हैं।

प्राणरूप से उसके ऊर्ध्वगमन में उत्सुक होने तथा अपानरूप से अधःप्रवेश की ओर उन्मुख होने से सम्पूर्ण ज्ञानों की एक वही साधारण बीज कही गयी है ॥४८॥

अपरिच्छिन्न चिति का–मूलाधार नाड़ीमूल में परिच्छिन्न कुण्डलिनी नामक अपने अंश से–उदय कैसे और किस लिए होता है, यह श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

महर्षे, जब वस्तु और काल से (卐) अपरिच्छिन्न सर्वात्मक चितिसंवित् है, तब उस कुण्डलिनीकोश से ही सब तरह की संवित् का स्फुट उदय होता है, यह कैसे और किसलिए ? ॥४९॥

जब देशकृत परिच्छेद का अभाव वस्तुकृत परिच्छेद के अभाव में अन्तर्भूत है तब तो कालकृत परिच्छेद के अभाव भी वस्तुकृत परिच्छेद के अभाव में अन्तर्भूत ही है, फिर उसका पृथक् उपादान व्यर्थ है। यदि यह कहिये कि स्पष्टीकरण के लिए उसका अलग उपादान किया गया है, तो देशकृत परिच्छेद का अभाव में भी यह कह सकते हैं – यों तीनों के अनुवाद के व्याज से दिखलाते हुए, निराकार और निर्विषयक चिति की–जीवाकारस्वरूप से या घटादि विषयकस्वरूप से–अभिव्यक्ति बतलाने के लिए 'तदा संविदुदेत्यन्तर्भूततन्मात्रबीजभूः' इत्यादि जो पहले कहा गया था उसी अर्थ की विस्तार से व्याख्या करने की इच्छा कर रहे महाराज वसिष्ठजी – स्थूल और सूक्ष्म दोनों देहों के आकार में परिणत भूतों से सापेक्ष ही चिति की विशेषाभिव्यक्ति होती है – यह बतलाते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे निष्पाप रामजी, यद्यपि सब जगह सदा चितिसंवित् ही सब कुछ है, तथापि भूततन्मात्राओं के कारण इसका उदय कहीं पर ही होता है ॥५०॥

संवित् में देशकृत परिच्छेद का अभाव होनेपर वह सर्वत्र भासित होने लगेगी, ऐसी आशंका करके केवल उपाधि के कारण ही उसका उदय होता है, यह दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं।

सर्वत्र विद्यमान रहता हुआ भी सूर्य का प्रकाश जैसे दीवार, दर्पण, जल आदि में विशषरूप से अवभासित होता है वैसे ही सर्वत्र देहों में विद्यमान रहती हुई भी चितिसंवित् बुद्धि के चांचल्य से चंचल अवभासित होती है ॥५१॥ वह चितिवस्तु कहीं मिट्टी, पत्थर आदि वस्तुओं में अविद्यारूपी जड़ता से तिरोहित हो जाने के कारण गरम जल में छोड़े गये ठंडे जल की नाईं अदृष्ट है। कहीं देव, मनुष्य आदि लिंगों में तो वह स्पष्ट ही अभिव्यक्त है और कहीं वृक्षादि लिंगों में विवेकज्ञान से शून्य तथा तत्-तत् पदार्थों की सत्तारूप से विलासित दृष्ट है ॥५२॥

जो अभिव्यक्तितारतम्य अभी कहा गया है, उसीका इस सर्ग की समाप्तितक क्रमशः निरूपण

(卐) देशकृत परिच्छेद के अभाव का भी वस्तुकृत परिच्छेद के अभाव में ही अन्तर्भाव है, इस आशय से यहाँ काल और वस्तुकृतपरिच्छेद के अभाव का उपादान किया गया है।

करने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं।

हे पापशून्य श्रीरामजी, पशुओं से लेकर स्थावर आदि देहों में तथा मनुष्यादि शरीरों में जिस तारतम्य से संविन्मयक्रम उदित होता है, यह फिर मैं आपसे क्रमशः कहता हूँ, आप खूब सुनिये ॥५३॥

स्थूल और सूक्ष्म भूतों के अध्यास का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के लिए उपोद्घात द्वारा सबके अधिष्ठान, सच्चिदेकरस, समस्त प्रपंच और उसके धर्मों से शून्य उस आत्मतत्त्व का सबसे पहले निर्देश करते हैं।

जैसे आकाश शून्यमात्र है वैसे ही यह सम्पूर्ण चेतन और अचेतन भूतों का समूह तथा आकाश जो कुछ भी भासता है वह सब असंग, विभु और सूक्ष्म चिन्मात्र ही है ॥५४॥

उस चिन्मात्र के उसी तरह से स्थित रहनेपर माया द्वारा कल्पित एक देश में आकाशादि सूक्ष्म भूतों का अध्यास होने से वही भूततन्मात्ररूप से अवस्थित है, यह कहते हैं।

वह सन्मात्र, चिन्मात्र, विकारशून्य और अनामय संवित् ही कहीं माया द्वारा कल्पित एक देश में भूत और पंचतन्मात्राओं के रूप से अवस्थित है। प्राण, मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय– इस पंचप्रकार को प्राप्त लिंगशरीर में प्रतिबिम्बरूप से प्रवेश करके सम्पन्न हुए हे श्रीरामचन्द्रजी, जन्मादि विकार तथा जाग्रदादि अवस्थाओं के भेद जिसमें अन्तर्भूत हैं ऐसे स्वसंविद्रूप जीवभाव को आप उस तरह लक्षित करते हैं, जिस तरह एक दीप से सौ दीप। लिंगारम्भ से कुछ ऐसे भी तन्मात्रपंचक हैं, जो इस संसार में देवमनुष्यादि आकार की वासनाओं के अनुसार कुछ संकल्पस्वरूप अपनी सत्तामात्र से ही केवल पंचीकरण द्वारा स्थूल देहभाव को प्राप्त होते हैं। कोई तन्मात्रपंचक पशु–पक्षी आदि तिर्यग्देहभाव को प्राप्त होते हैं; कोई सुवर्ण, रजत और खप्पर से उपलक्षित ब्रह्माण्डभाव तथा उसके अन्तर्गत भुवनादिभोग्यभाव को प्राप्त होते हैं, कोई देशादिभाव को और कोई द्रव्यादिभाव को प्राप्त होते हैं ॥५५–५८॥

ठीक है, बात ऐसी ही है, किन्तु इससे प्रकृत में आया क्या ? इसपर कहते हैं।

हे रघुनन्दन्, इस तरह यह संसार पंचतन्मात्रा का केवल स्पन्दनमात्र ही सिद्ध है। *ठीक है, तब तो अधिष्ठानचैतन्य सर्वत्र विद्यमान है, फिर घटादि चेतन क्यों नहीं है ? इस शंका पर कहते हैं।* और वह चितिसंवित् ही यहाँ सर्वत्र विद्यमान है ॥५९॥ किन्तु केवल चैतन्याभिव्यंजक प्राणादिपंचक (प्राण, मन, बुद्धि, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय) के कारण लिंगशरीर की प्रधानता से मनुष्यादि देहों में मुख्यचेतन नामवाली, कहीं (तिर्यगादि में) लिंग और स्थूल देह की प्रधानता में समता होने से जड़चेतननामवाली और स्थावरादि में तो लिंगशरीर के अन्तःसंवेदनमात्र होने से बाहर मनुष्यों द्वारा चैतन्य की भावना न होने से वह चितिसंवित् केवल जड़नामवाली प्रसिद्ध है ॥६०॥

तीनों में भी वह चिति किस तरह तारतम्य से स्थित है ? इसमें दृष्टान्त बतलाते हैं।

जैसे दिन में पिघला हुआ घी का समुद्र सायंकाल में शीतल पवन के स्पर्श से तट पर धीरे–धीरे गाढ़ हो जाने से निश्चल होकर द्रवस्थान में तरंग के समान चंचल, कुछ घनीभूत प्रदेश में कुछ चंचल और अत्यन्त घनीभूत प्रदेश में स्थल की नाईं अचल स्थिर रहता है, वैसे ही यह चितिसंवित् नर, तिर्यक् और स्थावरादि देहरूप पंचकों में क्रम से चंचल, कुछ चंचल तथा अत्यन्त जड़ता से युक्त अर्थात् बिलकुल

निश्चल स्थित रहती है ॥६१॥

जैसे कहीं घनीभाव होने से चांचल्य के अभाव में भी सागर के सागरत्व में क्षति नहीं होती, वैसे ही स्थावरादिभाव में भी चिति की चिद्रूपता में कुछ भी क्षति नहीं होती, यह कहते हैं।

सागर कहीं से शान्त और कहीं से चंचल रहे, तो क्या वह सागर नहीं कहा जाता ? अर्थात् वह जैसे सागर ही कहा जाता है, वैसे ही सुर, नर, पशु, पक्षी आदि योनियों में चंचलता का न्यूनाधिकभाव होनेपर भी चैतन्य सब जगह अक्षत है, क्योंकि यह सम्पूर्ण भूततन्मात्रपंचक जड़ और अजड़ है। तात्पर्य यह है कि यह जड़अजड़विकल्प, चिति में अध्यस्त भूततन्मात्रपंचक का धर्म है, चितिका धर्म नहीं है; क्योंकि वह चिति तो निर्धर्मक है ॥६२॥

भूततन्मात्रपंचक में स्वभाव के वश से इस तरह के अनेकों विकल्प देखे गये हैं।

हे पापशून्य श्रीरामजी, देहादि आकार में परिणत पंचक-प्राणधारण के अधीन स्पन्दन और चैतन्य के कारण-जीव (चेतन) कहलाता है, उससे स्पन्द होता है और शैल आदि तो केवल जड़ ही है। स्थावरादि शरीर तो बाहर की वायु से स्पन्दनशील (चेष्टावान्) होते हैं तथा अन्तःकरण ही चेतन है, इत्यादि स्वभाव के ही वश से होते हैं। हे रघुनन्दन, यदि आप यह आक्षेप करे कि जो स्वभाव यानी स्वात्मक भाव है वह विरुद्धविकल्पात्मक कैसे हो सकता है, क्योंकि विरोध परसापेक्ष और स्वभाव अनन्यापेक्ष होता है। यदि आप यह कहें कि स्वीय यानी अपना जो भाव वह स्वभाव है, तो भी वह स्वमात्रसापेक्ष ही हुआ, परसापेक्ष नहीं; इसलिए वह परसापेक्ष विकल्प का स्वरूप या निमित्त कैसे हो सकेगा ? तो मैं आपसे यह पूछता हूँ कि स्वभाव को छोड़कर (स्वभाव के विषय में किसी तरह का आक्षेप न कर) पहले आपको वाणियों के विषय में ही आक्षेप करना चाहिए, क्योंकि वे चित्-जड़ादिशब्दस्वरूप ही हैं। अपने पुनरुक्तिदोष की निवृत्ति के लिए वे स्वार्थ की व्यावृत्ति करती हुई चैतन्य और जाड्य को विरुद्ध बनाती हैं एवं शीतोष्णादि धर्मपरक और हिमअग्नि आदि धर्मिपरक सम्पूर्ण वाणियाँ भी, जो इसी तरह की हैं, सर्वत्र दिखाई पड़ती है ॥६३,६४॥

अथवा वाणी के विषय में भी आपको आक्षेप न करना चाहिए, क्योंकि वह वासनाकल्पित विकल्प की नाईं पंचकार्थानुवादी होने के कारण पराधीन बन चुकी है। किन्तु तत्-तत् विरुद्ध विकल्पभाव से वासनांश का ग्रहण करनेवाले विकारयुक्त लिंगात्मक पंचकों की केवल स्थिति के विषय में ही आक्षेप करना चाहिए।

अथवा हे श्रीरामचन्द्रजी, जिन्होंने वासनांश का ग्रहण किया है ऐसे परिपुष्ट विरुद्धविकारों से युक्त पंचकों की स्थिति के विषय में ही आक्षेप करने में आपको अधिक योग देना चाहिए। अथवा उन पंचतत्त्वों की स्थिति का भी कोई अपराध नहीं है, क्योंकि वे पूर्व-पूर्व हजारों विरुद्ध विकल्पों की वासनाओं का अनुसरण करनेवाली हैं; चित्त को इधर-उधर दौड़ाने में समर्थ तथा चारों ओर खूब बिखरी हुई वासनाओं के ही विषय में विरुद्ध विकल्प कल्पनाओं की जड़ खोज रहे बुद्धिमान् पुरुष आनन्दपूर्वक आक्षेप कर सकते हैं, स्वभावादि के विषय में नहीं। देवादि शुभभाव में प्रबुद्धवासनायुक्त तथा तिर्यक् स्थावर आदि अशुभभाव में सुप्तवासनायुक्त अन्य पंचक अवस्थित रहता है, इसलिए वासना ही पंचकों की स्थिति में कारण है, ऐसा आक्षेप कर सकते हैं। जिस वासना

के विषय में आक्षेप करने से उसका क्षयरूप फल अच्छी तरह अनुभूत होता है उसी के विषय में आक्षेप करना चाहिए, मुट्ठी में धूलि उठाकर आकाश में नहीं फेंकना चाहिए। तात्पर्य यह कि स्वभावादि के विषय में किसी तरह के आक्षेप करनेका कोई फल नहीं है। यही कारण है कि वासना का क्षय हो जानेपर पूर्णात्मलाभ होने से मेरु आदि सुवर्ण की राशियाँ भी तिनके के समान तुच्छ मालूम पड़ने लगती हैं और विवेकनिष्ठ को ये सब स्थावर–जंगम आदि भी कीट, पतंग आदि के समान अत्यन्त तुच्छ भासित होने लगते हैं ॥६५–६९॥

वासना के स्वाप और प्रबोध के तारतम्य से पंचकों में स्थावरादि की विचित्रता कैसे उत्पन्न होती है, यह उदाहरण दिखलाते हैं।

और इन में कोई–कोई जैसे स्थावरादिजाति प्रसुप्तवासनावाले हैं और कोई–कोई जैसे नर–सुर आदि प्रबुद्ध वासनावाले हैं। कोई–कोई जैसे ये पशु, पक्षी आदि वासनाओं के कारण अस्वच्छ चित्त से युक्त हैं और कोई–कोई जैसे ये मोक्षगामी, वासनाओं को त्याग चुके हैं। वासना की विचित्रता से ही देव, नर आदि पंचतत्त्वराशि, आकाश तथा भूमिपर गमन आदि विचित्र व्यवहार के योग्य हस्त, पाद आदि तथा इनसे कल्पित कर्मेन्द्रियों से युक्त देव, नर आदि पंचकराशियों द्वारा अपनी–अपनी संवित् में मनुष्यादिव्यवहार के योग्य मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, चक्षु, कर्ण, घ्राण, रसना, त्वक् आदि आभ्यन्तर और बाह्य करण रूप संज्ञाएँ की गयी हैं, यही कारण है कि प्रत्येक प्राणी में विचित्र स्वभाव की वे संज्ञाएँ दिखाई देती हैं। पशु आदि ने अन्य ही संज्ञाओं की कल्पना की है अर्थात् चार पैर, दो सींग तथा एक पुच्छ की; पक्षियों ने चोंच, पाँख, पूँछ और पैरों की; साँपों ने फन, भोग और पूँछ की तथा कृमि, कीट, दंश, मशक आदिने अपनी–अपनी वासनाओं के अनुरूप व्यवहार के योग्य अवयवादि संज्ञाओं की कल्पना की है। इसी तरह स्थावरादि दूसरों ने भी अन्यान्य संविदों की कल्पनाएँ की हैं। हे साधो श्रीरामचन्द्रजी, इसी तरह काल्पनिक स्वस्वरूप से आदि, अन्त और मध्य में विकारी और जड़ तथा अधिष्ठानसद्रूप से अचल और अजड़रूप से ये विचित्र भूतपंचकों की राशियाँ स्फुरित हो रही हैं ॥७०–७४॥

यों अनन्त पंचकभेदों का वर्णन करके अब महाराज वसिष्ठजी–उनमें कर्मोपासनाओं के समूहों के अनुष्ठान के फलस्वरूप समष्ट्यहंभाव को प्राप्त हुए किसी एकका कोई एक संकल्पपरमाणु ही इस संसाररूपी आकाशवृक्षों का बीज है–यह बतलाते हैं।

हे महीपते, समष्टिविषयक होने के कारण इन में किसी–एकका सर्वत्र अभिव्याप्त संकल्पात्मक कोई एक परमाणु ही सृष्टिरूपी आकाशवृक्षों का बीज है और उन सृष्टिरूपी आकाशवृक्षों में ही ये भूत पंचक हैं ॥७५॥

सृष्टियों में जो आकाशवृक्षता कही गयी है, उसका–फल और गन्ध आदि की कल्पना द्वारा–उपपादन करते हैं।

उनमें इन्द्रियाँ विषयरूपी सुगन्धप्रधान पुष्प आदि हैं, इच्छाएँ भौंरियाँ हैं और चंचल कर्मेन्द्रियों की क्रियाएँ मंजरियों के रूप में शोभित होती हैं। स्वच्छ स्वर्गादि लोकान्तर वृक्ष हैं, सुमेरुसहित सभी पर्वत मूल हैं। काले बादल पल्लव हैं और दसों दिशाएँ चंचल लताएँ हैं। हे रघुनन्दन, वर्तमान और भविष्यत्

चार प्रकार के जो शरीर हैं वे सब उस वृक्ष के अनन्त फल के रूप में विराजमान हैं। हे श्रीरामजी, इस तरह ये पंचबीज तथा पंचवृक्ष अपने विवेकशून्य आत्मा से स्वयं उत्पन्न होते हैं और समय पाकर स्वयं नष्ट भी हो जाते हैं। ये स्वयं नानाभावको प्राप्त होते हैं, जड़ता के कारण चिरकालतक स्फुरित होते रहते हैं और समुद्र में तरंग की नाईं अपने से विवेकदृष्टि से दिखने पर शान्त हो जाते हैं। हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे समुद्र में एक ओर तरंग उत्पन्न होते हैं और दूसरी ओर स्वयं नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही ये सब जड़ता के कारण एक ओर उन्नति को प्राप्त होते हैं और दूसरी ओर विवेक के कारण स्वयं नष्ट हो जाते हैं। हे श्रीरामजी, जो पंचकविलास की राशियाँ निर्वासन नाशपर्यन्त विवेक के वश में चली गयी हैं वे इस संसार में पुनः जन्म-मरण देहधारणादिरूप संस्थिति को प्राप्त नहीं होती और दूसरी पंचकविलास की राशियाँ तो निरन्तर इस संसार में भ्रमण किया करती हैं ॥७६-८२॥

अस्सीवाँ सर्ग समाप्त

इक्यासीवाँ सर्ग

कुण्डलिनी के प्रसंग से रोगों की उत्पत्ति और उनके नाश के क्रम तथा
सिद्धि और सिद्धों के दर्शन के उपाय आदि का वर्णन।

यदा प्राणानिलो याति हृदि कुण्डलिनीपदम्। तता संविदुदेत्यन्तर्भूततन्मात्रबीजभूः॥ (हृदय में जब प्राणवायु कुण्डलिनी स्थानतक पहुँच जाती है, तब भीतर में भूत और तन्मात्रा की बीजभूमि संवित् उदित होती है) इससे बुद्धिशक्तियों में स्फूर्तिप्रदातृत्व का उपपादन करते समय (भूततन्मात्रबीजभूः) इस अंश को स्पष्ट समझाने के लिए जो स्थूल और सूक्ष्म पंचभूतों का विचार किया गया था, उसकी संगति दिखलाते हुए आकाशगमनादि सिद्धियों में बीजभूत प्राणाभ्यास में उपयुक्त, प्रस्तुत कुण्डलिनी में प्राणादि की उत्पत्ति का प्रकार दिखलाते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, स्थूलशरीरात्मक पंचक के मूलाधार उस कुंडलिनी में, जिसका हमने पहले वर्णन किया था, इस लिंगात्मक पंचक का उपादान कारण भूतसूक्ष्म सदा पांच प्राणवायुओं के रूप से स्फुरित होता है ॥१॥

प्राणरूप से अन्दर स्फुरित हुई वह कुण्डलिनी वायुधर्म और स्वधर्म से स्पन्द, स्पर्श और संवित्-इन तीन रूपों की कल्पनास्वरूप बनकर कला, चित्, जीव, मन, संकल्प, बुद्धि, अहंकार, पुर्यष्टक, लिंग-इत्यादि नामों को कलनादि व्यापारों की उपाधियों से प्राप्त करती है, यह कहते हैं।

वह कुण्डलिनी प्राणरूप से अन्दर स्फुरित होकर वायु के धर्म से तथा अपने धर्म से स्पन्द, स्पर्श और संवित्-इन तीन रूपों की निर्मल कल्पनास्वरूप बनकर शीघ्र संकल्प करने से कला और चेतन से चित् कही गयी है। जीवनधारण करने से वह जीवस्वरूपता को प्राप्त है तथा मनन करने से मनरूप से वह स्थित है। संकल्प करने से संकल्प और बोध करने से बुद्धि कही गयी है। यह अहंकार करने के कारण अहंकारस्वरूपता को प्राप्त हो चुकी है। पुर्यष्टकनामधारिणी यह कुण्डलिनी देह में सर्वोत्तम जीवशक्तिरूप से स्थित है ॥२-४॥

शरीर में प्रधानरूप से स्पन्दशक्ति कहाँ रहती है, इस अभिप्राय से उसके तीन स्थान दिखलाते हैं।

अपानवायु होकर वह सदा नीचे की ओर बहती है। समाननाम से नाभि के बीच में तथा उदाननाम से ऊपर स्थित रहती है ॥५॥

वृत्तिभेद का यानी भिन्न-भिन्न स्थानों में उसके रहने का प्रयोजन कहते हैं।

अधोदेश में बहने से वह अपानस्वरूप है। मध्यदेश में अपान और उदान से स्वयं खीची जा रही भी वह सदा निश्चल ही रहती है तथा इन दोनों से अवष्टब्ध (संसक्त) रहने के कारण ही वह पुष्ट (बलवती) होती हुई भी पुरुष के लिए उदानस्वरूपा होकर स्वस्थ ही रहती है, तात्पर्य यह कि लिंग का बाहर उत्क्रमण नहीं कराती। उसके भिन्न-भिन्न देश में रहने का प्रयोजन केवल अपानन आदि ही समझना चाहिए। यदि सामान्यवृत्ति उसे न पकड़ रक्खे, तो अपानवृत्ति से सब प्रयत्नपूर्वक खूब खींची जा रही भी वह जीवसंवित् अधोमार्ग से बाहर निकल जाती है और बलपूर्वक उसके निकल जाने से तो मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। यदि युक्तिपूर्वक सामान्यवृत्ति से पकड़ न रक्खी जाय, तो वह पूरी जीवसंवित् सर्वप्रयत्न से ऊपर चली जाती है तथा बलपूर्वक उसके निकलजाने से तो मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हो जाता है ॥६-८॥

अतएव प्राण और अपान वायु के गतिनिरोध के अभ्यास से सब अंगों के अन्दर सामान्यवृत्ति से अन्यवृत्ति के ऊपर विजय होने पर सम्पूर्ण व्याधियों का नाश किया जा सकता है तथा मृत्यु पर भी विजय पायी जा सकती है, यह कहते हैं।

सर्वथा अन्तर्वायु के निरोध से ऊपर-नीचे का गमनागमन छोड़कर यदि सामान्यवृत्ति से जीव संवित् शरीर में स्थित रहे, तो जन्तु की सब व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं ॥९॥

एक सौ प्रधान नाड़ियाँ हैं और सामान्यनाड़ियाँ तो उनकी शाखाएँ हैं, उनमें अन्नरस पहुँचानेवाली नाड़ी का कफ और पित्त बढ़ जाने से जहाँ पर व्यापार रुक जाता है वहीं पर इतर वायुओं से विषमता आ जाने के कारण अन्नरस को खींच लेने से छोटे और बड़े रोगों की उत्पत्ति होती है, यह कहते हैं।

सामान्य नाड़ियों के व्यापार का अभाव हो जाने से अन्नरस की अपरिपक्वता से सामान्य रोगों की उत्पत्ति होती है और प्रधान नाड़ियों के व्यापार का अभाव हो जाने से प्रधान रोगों की उत्पत्ति होती है। श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनीश्वर, इस शरीर में शारीरिक और मानसिक रोग किससे उत्पन्न होते हैं तथा किससे विनष्ट होते हैं ? यह शीघ्र मुझसे ठीक-ठीक आद्योपन्त कहिये। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्दजी, आधि और व्याधि ये दोनों दुःख के कारण हैं और औषधादि द्वारा इनकी निवृत्ति से सुख प्राप्त होता है तथा ज्ञान द्वारा इनका समूलनाश ही मोक्ष कहलाता है। शरीर के अन्दर आधि और व्याधियाँ कदाचित् परस्पर एक दूसरे के कारण बन जाने से उत्पन्न होती हैं, कदाचित् एक साथ और कदाचित् सुख के अनन्तर क्रम से उत्पन्न होती हैं। शारीरिक दुःख को व्याधि कहते हैं और वासनामय मानसिक दुःख को आधि। हे रामजी, यह जान लेना चाहिए कि अज्ञान ही इन दोनों का मूल कारण है। तत्त्वज्ञान होने पर इनका नाश अनिवार्य है ॥१०-१४॥

आधियों की उत्पत्ति में कारण बतलाते हैं।

तत्त्वज्ञान और इन्द्रियनिग्रह के अभाव से चित्त में निश्चलतारूप स्वास्थ्य की हेतु सूक्ष्मता का त्यागकर राग-द्वेष में फँस जाने से तथा यह प्राप्त हो गया लेकिन यह अभी बाकी है इस तरह रात-दिन

चिन्ता करने से जड़ता के कारण महामोहदायिनी आधियाँ (मानसिक व्यथाएँ) ऐसे प्रवृत्त होती हैं, जैसे वर्षा ऋतु में पत्थर-ओले ॥१५,१६॥

अब शारीरिक व्याधियों की उत्पत्ति में कारण बतलाते हैं।

प्रबल इच्छाओं के पुनः पुनः स्फुरित होने से, मूर्खता से, चित्त के न जीतने से, दुष्ट अन्न खाने से तथा श्मशान आदि निकृष्ट जगहों में निवास करने से शरीर में व्याधि प्रवृत्त होती है। आधी रात में तथा प्रदोषादि काल में भोजन एवं मैथुनादि व्यवहार से, दुष्कर्म करने से, दुर्जनों की संगतिरूप दोष से तथा विष, सर्प, व्याघ्र और चोर आदि की मन में शंका करने से शरीर में व्याधि प्रवृत्त होती है। और छिद्रों में अन्नरस का प्रवेश न होने के कारण नाड़ियों के क्षीण होने से अथवा छिद्रों में अन्नरस, वात आदि का द्विगुणित प्रवेश हो जाने के कारण नाड़ियों के परिपूर्ण हो जाने से कफ, पित्त आदि के प्रकोप से प्राण के व्याकुल होने से तथा चोर आदि के द्वारा शरीर के विकल हो जाने से अनेक दोषों के द्वारा अस्वस्थता के कारण शरीर के आकार का विपर्ययरूप रोग उस प्रकार देह में प्रवृत्त होता है, जिस प्रकार वर्षा और गरमी में नदियों के आकार का विपर्यय। पूर्वजन्म या इस जन्म की शुभ या अशुभ जो बुद्धि अधिक होती है वही उस व्याधि के क्रम में नियुक्त करती है। हे रघुकुल श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह भूतपंचक में आधि और व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। अब वे कैसे नष्ट होती हैं ? वह भी सुनिये। इस संसार में दो तरह की व्याधियाँ होती हैं। एक सामान्य यानी कोमल और दूसरी सार यानी दृढ़तर। इनमें क्षुधा, तृष्णा, स्त्री-पुत्र आदि की लालसा से उत्पन्न जो व्यवहार है वह सामान्य व्याधि कही गयी है तथा जो जन्मादि विकारों की जड़ है वह सार (दृढ़तर) व्याधि कही गयी है। अभिमत पदार्थों की प्राप्ति होने से क्षुधा, तृष्णा तथा स्त्री-पुरुष आदि जनित व्यावहारिक व्याधियाँ तथा आधि के क्षय से आधिभव (मानसिक) व्याधियाँ भी भलीभाँति नष्ट हो जाती हैं। हे राघव, आत्मज्ञान के बिना जन्मादिविकारों की जड़ सार व्याधि नष्ट नहीं होती, क्योंकि रज्जु के भलीभाँति अवबोध से ही रज्जु का सर्प नष्ट होता है। हे श्रीरामजी, जैसे वर्षाकाल की नदी अपने तट के सभी वृक्षों को जड़ से उखाड़ फेंकती है वैसे ही सम्पूर्ण आधि और व्याधियों के विलासों को जड़ से उखाड़ फेंकनेवाला जन्मादि विकारों का मूल अज्ञानरूपी व्याधि का क्षय ही है। सामान्य व्याधियाँ तो आयुर्वेदोक्त औषधियों तथा मन्त्रादि शुभ कर्मों से अथवा वृद्धों की परम्परा से कथित औषधों से नष्ट होती हैं। हे श्रीरामजी, लोलार्क आदि तीर्थों में स्नान, मन्त्र, औषध आदि उपाय, वृद्धजनों से प्राप्त हुई औषधियाँ तथा आयुर्वेदशास्त्र तो आप स्वयं खूब जानते हैं। इनसे अतिरक्त और मैं क्या आपको उपदेश दूँ॥१७-२८॥

आधियों से (मानसिक पीड़ाओं से) व्याधियाँ कैसे उत्पन्न होती हैं और उनकी कैसे चिकित्सा की जाती है, यह श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

गुरुवर, आधि से कैसे व्याधि उत्पन्न होती है और औषध से भिन्न मन्त्र, पुण्य आदिरूप युक्ति से वह कैसे नष्ट होती है ॥२९॥

आधि से व्याधि कैसे उत्पन्न होती है ? पहले यही बतलाते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, मानसिक पीड़ाओं से चित्त के व्याकुल हो जाने पर शरीर अत्यधिक क्षुब्ध हो जाता है, इसीलिए क्रोधी जन्तु अपने आगे का प्रशस्त मार्ग नहीं देख पाता।

सम्मुख मार्ग को न देखकर कुमार्ग की ओर उस तरह दौड़ता है जिस तरह बाण से घायल हुआ हरिण अपने प्रकृत मार्ग को छोड़कर अन्य मार्ग की ओर दौड़ता है। मानसिक पीड़ाओं से संक्षुब्ध हुए प्राणवायु अपनी समता को छोड़कर शरीर में विरुद्ध मार्ग में ऐसे बहते हैं जैसे हाथी के प्रवेश से क्षुब्ध हुए जल नदी के तट में विरुद्ध मार्ग में बहते हैं। प्राणवायु के विषम बहने पर कफ, पित्त आदि के भर जाने से विषम स्थान में नाड़ियाँ ऐसे पहुँच जाती है जैसे राजा के अव्यवस्थित हो जाने पर वर्णाश्रम की मर्यादा विषम स्थान में पहुँच जाती है। प्राणवायु की विषमता द्वारा शरीर के विह्वल कर दिये जाने पर नदी के स्रोत की नाईं कोई नाड़ियाँ तो अत्यधिक पूर्ण हो जाती हैं और कोई बिलकुल खाली पड़ जाती हैं। प्राणवायु के संचार का क्रम बिगड़ जाने से भोजन किया गया अन्न कुजीर्णता, अजीर्णता या अतिजीर्णतारूप दोष को ही प्राप्त होता है। समाननामक प्राणवायु भुक्त अन्नों को रस बनाकर सम्पूर्ण शरीर में अपनी अपनी जगह में ठीक तरह से ऐसे पहुँचा देता है जैसे नदी का वेग पूर्वदिशा में काष्ठ को पहुँचा देता है। निरोध से जो अन्न शरीर के भीतर स्थित रहते हैं वे ही व्याधिरूप में परिणत हो जाते हैं, क्योंकि धातु की विषमतारूप परिणाम कर देना उनका स्वभाव है। इस तरह आधि से व्याधि उत्पन्न होती है और आधि के अभाव से व्याधि भी नष्ट हो जाती है। और हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस प्रकार मन्त्रों से व्याधियाँ विनष्ट होती हैं वह भी क्रम आप सुन लीजिये। जिस तरह हर्रे (हरड़) के फल स्वभावतः विरेचनरूप कार्य करते हैं यानी दस्त पैदा करते हैं उसी तरह वायु, अग्नि, पृथिवी, जल आदि के बीजरूप य र ल व आदि मन्त्रों के वर्ण भी मान्त्रिक भावना के वश से नाड़ियों में रोगाकार परिणत अन्नरसों का उत्सारण, पाचन आदि कार्य करते हैं ॥३०–३९॥

आधियों के उपशम का उपाय बतलाते हैं।

हे साधो, शुद्ध और पवित्र साधुसेवनरूप क्रिया से मन ऐसे निर्मलता को प्राप्त होता है, जैसे कसौटी से सुवर्ण। हे राघव, चित्त के शुद्ध हो जाने पर शरीर में आनन्द ऐसे बढ़ता है, जैसे पूर्णचन्द्रमा के उदित होने पर इस भुवन में निर्मलता। सत्त्व की (अन्तःकरण की) शुद्धि से ये प्राणवायु अपने क्रम से बहते हैं और अन्न का परिपाक करते हैं, इससे सब व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं ॥४०–४२॥

प्रासंगिक प्रश्न का उत्तर देकर अब जो प्रकृत सिद्धि में हेतु है, उसका निरूपण आरम्भ करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, कुण्डलिनी के कथा प्रसंग से आधि और व्याधि के नाश तथा उत्पत्ति के क्रम का वर्णन मैंने आपसे इस तरह कर दिया, अब आप प्रकृत प्रसंग सुनिये। हे राघव, पुर्यष्टकनामक लिंगात्मक जीव की आधारभूत कुण्डलिनी को आप सुगन्ध की आधारभूत पुष्पमंजरी की नाईं जानिये। पूरक के अभ्यास से जब प्राणी कुण्डलिनी को भर करके यानी कूर्माकार नाड़ी में प्राणवायु को रोक करके समरूप से स्थित होता है तब मेरुपर्वत के समान स्थिरता अर्थात् भैरवी सिद्धि तथा काय की गुरुता (गरिमा नामक सिद्धि) उसे प्राप्त होती है। जिस समय पूरक से पूर्ण शरीर के भीतर मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त लम्बा करके प्राणवायु को ऊपर खींचकर प्राणवायु के निरोध से उत्पन्न गरमी और तत्प्रयुक्त शारीरिक और मानसिक कष्ट सहन करने के लिए संवित् (कुण्डलिनी) ऊपर की ओर पहुँचाई जाती है, उस समय प्राणवायु को ऊपर खींचने से डण्डे की नाँई लम्बी होकर वह कुण्डलिनी देह में बँधी हुई, लता के समान सब नाड़ियों को अपने साथ लेकर अधिक अभ्यास होने के कारण साँपिन की तरह शीघ्र

ऊपर चली जाती है ॥४३–४७॥

वह कुण्डलिनी ऊपर कैसे चली जाती है, यह कहते हैं।

और उस समय नाड़ियों में वायु भर जाने से अवकाशरहित पैर से लेकर मस्तक तक बिलकुल हलके हुए इस शरीर को कुण्डलिनी इस तरह ऊपर उठा ले जाती है जिस तरह पवनपूर्ण जलगत भाथी (धौंकनी) नर को जल के ऊपर उठा ले जाती है, यही योगियों का आकाशगमन है। इस तरह अभ्यासरूप विलास से युक्त आकाशगामी योग से (☙) अर्थात् आकाश के साथ शरीर का सम्बन्ध रखने के लिए किये गये संयमरूप योग से योगी लोग ऊपर गति को ऐसे प्राप्त हो जाते हैं, जैसे भिखारी लोग (किसी पुण्य के योग से) इन्द्रपदवी को। तात्पर्य यह है कि जैसे गरीब आदमी किसी पुण्य के योग से इन्द्रपदवी प्राप्त कर मारे आनन्द के उड़ने लगता है वैसे ही योगी लोग अपने योग के बल से आकाश में जाकर आनन्द से उड़ने लगते हैं ॥४८,४९॥

आकाशगामी सिद्धों के दर्शन में उपाय बतलाते हैं।

जिस समय दूसरी नाडियों के व्यापार को रोक देनेवाले रेचक प्राणायाम के प्रयोग से ऊपर की ओर खींच ली गयी कुण्डलिनीरूपा प्राणशक्ति सुषुम्ना नाड़ी के भीतर प्राणवायु के प्रवाह से मस्तक के दोनों कपालों की सन्धिरूप कपाट (केवाड़ी) के बाहर बारह अंगुल के षोडशान्तनामक स्थान में मुहूर्तभर के लिए स्थित रहती है, उस समय आकाशगामी सिद्धों का दर्शन होता है (❧)। श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, हम लोगों की इन्द्रिय से अदिव्यता के कारण ही सन्निकर्ष रहने पर भी जब सिद्धों का दर्शन नहीं होता तब (आप कृपाकर बतलाइये कि) चाक्षुषप्रभासन्निकर्ष के बिना षोडशान्तनामक स्थान में केवल प्राणधारण से सिद्धों का दर्शन कैसे होगा और फिर वह किस तरह का होगा ॥५०–५२॥

इन दोनों में पहले 'कैसे होगा ?' इस अंश का इष्टापत्ति से महाराज वसिष्ठजी परिहार करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे महाबाहो, यह तो आपने ठीक ही कहा है कि अज्ञान का आश्रय करनेवाले मलिन पुरुषेन्द्रियों से या दूसरे किसी अदिव्य उपाय से इस पृथिवी पर विचरण करनेवाला कोई भी पुरुष वायुस्वरूप आकाशगामी सिद्धों को कभी नहीं देख सकता ॥५३॥

तो फिर वे किससे दिखाई देते हैं, कहते हैं।

हे राघव, योग के अभ्यास से मन के संस्कृत हो जाने के कारण विषयों से दूर संस्थित बुद्धिरूपी नेत्र से स्वप्न की नाईं आकाशगामी सिद्ध दिखाई देते हैं और वे अभीष्ट अर्थों को देते भी हैं ॥५४॥

सिद्धों का वह दर्शन 'किस तरह का होगा' इस प्रश्नांश का उत्तर कहते हैं –

जिस तरह स्वप्न में पदार्थों का अवलोकन होता है उसी तरह सिद्धों का भी अवलोकन होता है केवल स्वप्न की अपेक्षा विशेष यही है कि सिद्धों की प्राप्ति में संवाद, वरदान आदि फलरूप पदार्थों की प्राप्ति होती है ॥५५॥

जिस उपाय से दूसरों के शरीर में प्रवेश की सिद्धि होती है, अब वह उपाय बतलाते हैं।

(☙) देखिये भगवान् पतंजलिमुनि का योगसूत्र :

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाऽऽकाशागमनम् ।

(❧) देखिये योगसूत्र : 'मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनन्' ।

रेचक प्राणायाम के अभ्यासरूप युक्ति से मुख से बाहर बारह अंगुलपरिमित देश में प्राण को चिरकालतक स्थित रखने पर योगी अन्य शरीर में प्रवेश कर सकता है ॥५६॥

'केवलोऽथ विशेषोऽयं सिद्धप्राप्तौ स्थिरार्थता' यह जो आपने कहा, उसमें स्वभाव ही कारण है, यह कहना चाहिए और आप ही पहले अनेक बार 'घटस्य पटता दृष्टा' इत्यादि श्लोकों से यह भी कह चुके हैं कि मायामय होने के कारण सम्पूर्ण जगत् की स्थिति अनियत है, तो फिर इस विषय में आप कृपाकर बतलाइये कि एकमात्र स्वभाव की स्थिति नियत कैसे है ? यह श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

ब्रह्मन्, एक स्वभाव की चिरकाल तक अचल स्थिति कैसे रहती है, यह कृपाकर आप बतलाइये, क्योंकि अपने शिष्यों के ऊपर दया रखनेवाले प्रवचनशील महात्मा लोग कठिन प्रश्न पूछने पर भी खेद नहीं करते ॥५७॥

सत्यसंकल्प परमेश्वर की सृष्टिकाल में संकल्पप्रयुक्त वस्तुस्वभाव की नियति भी सृष्टिकाल तक ही नियत रहती है, फिर प्रलय होने पर वह नहीं रहती – इस तरह सम्पूर्ण पदार्थों के स्वभाव की नियति के भंग में किसी तरह का विरोध नहीं है, इस आशय से अपने पूर्वोक्त का स्मरण दिलाते हुए महाराज वसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न का उत्तर देते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, सत्यसंकल्प परमात्मा की स्वभावनामक शक्ति जो सर्गादि में जिस तरह स्फुरित होती है उसी तरह वह सर्ग के प्रलय तक स्थित रहती है, यह निश्चय है ॥५८॥

काल और देश के भेद से भी वस्तुओं की शक्ति में अनियतता (अनिश्चितता) देखी गयी है, इसे कहते हैं।

हे रामजी, अविद्या के अवस्तुरूप होने से वस्तुओं की शक्ति भी कहीं–कहीं अर्थात् कामरूपदेश आदि में भिन्न–भिन्न स्वरूप की होती है, वसन्त ऋतु में शरत्कालीन व्रीहि आदि फल भी दिखाई देता है। नाना और अनानारूप अनियत स्वभाव से स्थित यह सब कुछ ब्रह्म ही है। तात्पर्य यह कि ब्रह्मस्वभाव से ही यह सम्पूर्ण जगत् निश्चित एकरूपवाला है, न कि दूसरे स्वभाव से। प्राणियों के कर्म और उनके फलोपभोग–व्यवहार के लिये केवल अज्ञात ब्रह्म ही कुछ काल तक नियत स्थिति धारण करके विकसित होता है ॥५९,६०॥

अब, अणिमा और महिमा नामक सिद्धि की किस उपाय से सिद्धि होती है, यह श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

हे ब्रह्मन्, सूक्ष्म छिद्रों में गमन करने के लिए इस देह को अणु तथा आकाश को पूर्ण करने के लिए इस देह को स्थूल योगी लोग कैसे बना डालते हैं ॥६१॥

अगले सर्ग में इस प्रश्न का उत्तर विस्तारपूर्वक बतलाने की अभिलाषा रखते हुए उसकी भूमिकारूप से वहीं पर देह में अग्निषोमव्याप्ति का निरूपण करने के लिए प्राण और अपान वायु के संघर्ष से मध्य में जठराग्नि की निष्पत्ति में दृष्टान्त देते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, जिस तरह लकड़ी और आरे के संघर्ष से लकड़ी के दो हिस्से हो जाते हैं उसी तरह प्राण और अपानवायु के संघर्ष से जठराग्नि स्वभावतः उत्पन्न हो जाती है ॥६२॥

प्राण और अपानवायु के संघर्ष की उपपत्ति के लिए परस्पर एक दूसरे को अपनी ओर जो खींचते हैं, उसमें कारण कहते हैं।

कुत्सित इस देहरूप यन्त्र के उदर-प्रदेश में नाभि के ऊपर तथा नीचे मिल रहे अतएव परस्पर जुट रहे मुखवाले आमाशय और पक्वाशयरूपी दो भाथी के सदृश स्थूलमांस काँपता हुआ ऐसे स्थित है जैसे ऊपर आकाश में स्थित तथा नीचे जल में निमग्न परस्पर जुट रहे अपने दो हिस्सों से युक्त नीचे जल और ऊपर वायु से खींचा जा रहा बेंतों का कुंज ॥६३॥

ठीक है, उससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

उस मांस के नीचे के हिस्से में स्थित जो भाथी के सदृश एक भाग है उसके मूलभागस्वरूप मूलाधार में सब कार्यकारणसंघात की प्राणप्रद होने से लक्ष्मी के सदृश पूर्वोक्त कुण्डलिनी भीतर उस तरह निलीन रहती है जिस तरह पद्मराग की पिटारी के भीतर मुक्तावली। जप काल में घुमाई जा रही रुद्राक्षमाला की नाईं वह सदा सरसराती रहती है यानी प्राणों के ऊर्ध्वगमन द्वारा कम्पन से अव्यक्त ध्वनि करती है तथा दण्ड से आहत साँपिन की तरह वह ऊर्ध्वमुख से परिवर्तन किया करती है। पृथिवी और आकाश के मध्य में प्राणियों की ऊर्ध्व और अधोगति की हेतु विहित और निषिद्ध क्रिया की नाईं प्राण और अपान वायु की ऊर्ध्व और अधोगति की हेतु होने से वह स्पन्द-धर्मिणी है यानी संचरणशील है; चाक्षुषादि संविद्रूपी मधु का यानी रूपादि विषयों के आस्वाद का परिज्ञान कराने में सूर्य है और हृदयरूपी कमल सम्पुटक के भीतर की वह भ्रमरी है। वे सब ज्ञान और कर्मेन्द्रिय आदि की शक्तियाँ, पूर्वोक्त हृदयकमल एवं नाड़ी समूह आभ्यन्तर के वातों द्वारा हृदय में चारों ओर उस तरह कम्पित की जाती हैं जिस तरह चारों ओर बाहर के पवन द्वारा वृक्षों के पत्तों के समूह। हे श्रीरामचन्द्रजी, जो यह विशाल बाह्याकाश स्फुरित हो रहा है, उसमें बलवान काष्ठ, पाषाण आदि तथा कोमल पत्तों और तृण आदि को जैसे वायु स्वभावतः जीर्ण बना डालती है वैसे ही हृदयाकाश में भी प्राणवायु भुक्त अन्नादि को जीर्ण यानी परिपक्व बना डालती हैं ॥६४-६८॥

जीर्ण बनाने की विधि बतलाते हैं।

पूर्वोक्त हृदयपद्म तथा नाड़ीरूपी भाथी प्राणवायु से आहत होकर लोहार की भाथी की नाईं कम्पित होती है, काँप रही उस भाथी के भीतर प्रविष्ट अन्न का पहले रस बनता है, रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से त्वचा, त्वचा से मेदा, मेदा से मज्जा, मज्जा से हड्डियाँ और हड्डियों से शुक्र तैयार होता है यों विचित्र ढंग से अन्य पदार्थ की अन्य परिणति ऐसे होती है जैसे वसन्त ऋतु में वृक्ष के भीतर प्रविष्ट पृथिवी के रस की पल्लव, मंजरी, पुष्प और फल आदि ॥६९॥

उन सातों धातुओं के स्थान में उत्तरोत्तर परिणाम की सिद्धि के लिए परस्पर एक दूसरे के संघर्ष से जठराग्नि की अभिव्यक्ति होती है, इस आशय से कहते हैं।

देह में प्राणवायु प्रतिदिन सब रसों के अन्तिम धातु शुक्र के परिणाम तक यानी जब तक शुक्र तैयार नहीं हो जाता तब तक, परस्पर संघर्ष से अग्नि उत्पन्न करनेवाले जंगली बाँस की नाईं, अग्नि उत्पन्न करती है। सारे शरीर में प्रदीप्त उस जठराग्नि से स्वभावतः शीत-वातात्मक वह शरीर ऐसे उष्णता को प्राप्त होता है जैसे सूर्य से तीनों लोक ॥७०,७१॥

सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त उसी जठराग्नि की योगी लोग हृदय–कमल में तारों के आकार से उपासना करते हैं, यह कहते हैं।

तारों के आकार के समान तथा हृदयपद्म में सुवर्णभ्रमर के सदृश वह तेज इस शरीर में चारों ओर विचरता है, जो योगियों की चिन्त्यदशा को प्राप्त है अर्थात् जिसकी योगी लोग उपासना करते हैं ॥७२॥

चिद्रूप से उपास्यमान वही तेज व्यवहित और दूर दूर के सम्पूर्ण पदार्थों को देखने की सामर्थ्य उत्पन्न करता है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उपासित हुआ वह तेज वह प्रकाशस्वरूप ज्ञान प्रदान करता है, जिससे लाख योजन की दूरी पर स्थित वस्तु सदा आँखों के सामने दिखाई देती है ॥७३॥

उस अग्नि का इन्धन बतलाते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस तरह बड़वाग्नि का इन्धन समुद्र का जल है उसी तरह मांसरूपी सरोवर के भीतर रहनेवाली उस जठराग्नि का भी जलने योग्य इन्धन शरीर में वर्तमान अन्न रसरूप जल है ॥७४॥

देह में स्थित इन्धनभूत चन्द्रांश का लक्षण से विभाग करके 'यह शरीर अग्नि और सोम स्वरूप है' यह कहते हैं।

इस शरीर में जो स्वच्छता और शीतलता वर्तमान है, उसकी आत्मा चन्द्रमा ही कही जाती है, यानी वे चन्द्रमा के अंश हैं चन्द्रमा से वह अग्नि उत्पन्न है, इसलिए यह शरीर अग्नि और चन्द्रस्वरूप है ॥७५॥

शरीर के बाहर भी संसार में प्रकाश और गर्मी से तथा शीतता और जड़ता से अग्नि और चन्द्र का ज्ञान करना चाहिए, यह कहते हैं।

बाहर यह जो सब कुछ उष्णस्वरूप दिखाई देता है इसे तेज, सूर्य या अग्नि नाम से विद्वान लोग जानते हैं तथा जो कुछ शीतात्मक वस्तु दिखाई देती है उसे चन्द्र नाम से। इन्हीं दोनों से यह संसार बनाया गया है ॥७६॥

अथवा चित् और जड़ इन दोनों से मिला हुआ, सत् और असत् स्वरूप, विद्याशबल ब्रह्म ही जगद्रूप बन गया है, अतः वही इस तरह प्रकाश और जड़ स्वरूपता के कारण अग्नि और चन्द्र के रूप से विभक्त किया गया है, यह कहते हैं।

अथवा हे श्रीरामचन्द्रजी, विद्या और अविद्या स्वरूप सद् और असद्रूप जो ब्रह्म सम्पूर्ण जगद्रूप बन गया है, वही इस तरह अग्नि और सोम के रूप से विभक्त किया गया है। आत्मतत्त्वस्फूर्तिरूप संवित्प्रकाश तथा बाह्य पदार्थों के प्रकाश को पण्डित लोग सूर्य और अग्नि कहते हैं तथा असत् जड़ता, तम, अविद्या आदि को विद्वान लोग चन्द्रमा कहते हैं। श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे वक्ताओं में सर्वश्रेष्ठ मुनीश्वर, 'देहेष्वाजरणं सर्वरसानां पवनोऽन्वहम्। जनयत्यग्निमन्योऽन्यसंघर्षाद्वनवेणुवत् ॥' इत्यादि आपके कथन से और प्रत्यक्ष अग्नि और सूर्य आदि की उत्पत्ति वायु के अधीन देखी भी जाती है, इससे वायुस्वरूप चन्द्रमा से अग्नि उत्पन्न होती है, यह तो मुझे अच्छी तरह मालूम हो गया; अब आप कृपाकर सोम की उत्पत्ति मुझसे कहिये। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, अग्नि और चन्द्रमा परस्पर कार्यकारणरूप से व्यवस्थित हैं तथा वे दोनों क्रमशः या एक साथ परस्पर एक दूसरे के उपजीवक हैं। इन दोनों की उत्पत्ति में बीज और अंकुर की नाईं परस्पर एक दूसरा उपादानकारण तथा दिन और

रात के तुल्य परस्पर एक दूसरा निमित्त कारण है। परन्तु इन दोनों की स्थिति तो छाया और धूप के समान परस्पर एक दूसरे की हत्या करनेवाली है ॥७७-८१॥

दृष्टान्त भेद के उपन्यास का यानी भिन्न-भिन्न दृष्टान्त देने का दूसरा तात्पर्य बतलाते हैं।

एक ही समय में इन दोनों की उपलब्धि यदि हो जाय तो इन दोनों की स्थिति छाया और धूप के समान समझनी चाहिए और यदि केवल एक की ही उपलब्धि हो जाय तो रात और दिन के समान इनकी स्थिति समझनी चाहिए ॥८२॥

दो दृष्टान्त कार्यकारणभाव के लिए हैं, इस पक्ष में भी अवान्तर दो भेदों में दो तात्पर्य हैं ही, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इन दोनों में जो कार्यकारणभाव है वह भी दो तरह का कहा गया है – एक सद्रूप परिणाम से उत्पन्न और दूसरा विनाशरूप परिणाम से उत्पन्न ॥८३॥

उपर्युक्त दो कार्य-कारणभावों में पहले का उपपादन करते हैं।

जहाँ पर अंकुर बीज की नाईं एक से दूसरे की उत्पत्ति होती है वह कार्यकारणभाव सद्रूप परिणाम से उत्पन्न कहा जाता है ॥८४॥

दूसरे का उपपादन करते हैं।

जहाँ एक का नाश होनेपर दूसरे की दिन और रात की नाईं उत्पत्ति होती है वह कार्य-कारणभाव विनाशरूप परिणाम से उत्पन्न कहा जाता है ॥८५॥

प्रथम पक्ष में, कार्य की उत्पत्तिदशा में कारण की सत्ता विद्यमान रहती है, इसमें 'अयं घटः मृदात्मकः' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण दिखलाते हैं।

क्रमशः मिट्टी से घट की जो स्थिति होती है, उस स्थितिरूप सद्रूप परिणाम को जानने में इन्द्रियोपलब्धि के सिवा-इन्द्रिय सन्निकर्ष के सिवा-अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से (📖) अतिरिक्त और कोई दूसरा प्रमाण उपयुक्त नहीं है ॥८६॥

इसी प्रकार दूसरे पक्ष में भी, कार्य की उत्पत्ति-दशा में कारण की सत्ता विद्यमान नहीं रहती, इसमें 'हम दिन में रात की उपलब्धि नहीं करते' इत्यादि अनुपलब्धि प्रमाण दिखलाते हैं।

दिन और रात के क्रम की जो स्थिति है तद्-रूप विनाशपरिणाम में मुख्य प्रमाण एक वस्तुमात्र का ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्ष प्रमाण से अविरूद्ध अभाव ही है। तात्पर्य यह कि विनाशरूप परिणाम में एकमात्र अनुपलब्धि ही प्रमाण है ॥८७॥

जो वस्तु कार्य का सम्पादन करती हुई दिखाई पड़ती है, उसे ही कारण कहते हैं और कारण में कार्यकर्तृत्व कार्याभिनिवेशरूप आस्था के रहते ही देखा जाता है। केवल प्रकाशन कर उपक्षीण हुए दिन

(📖) यद्यपि अनुमानादि का भी संभव है तथापि प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध पदार्थों में उनकी खोज नहीं की जाती। इस विषय में, न्यायवाचस्पत्य में कहा है – 'न हि करिणि दृष्टे चीत्कारेण तमनुमिमते मिमातारः' (अनुमान करनेवाले विद्वान् लोग अपनी आँखों से हाथी देख लेने पर उसके चीत्कार से उसका अनुमान नहीं करते कि यह हाथी है), क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा पदार्थों की सिद्धि हो जाने से वहाँ पक्षतारूप कारण का अभाव रहता है, यह तात्पर्य है।

में रात के निर्माण के लिए आस्था नहीं है, इस लिए दिन में रात्रि–निर्माणकर्तृत्व सिद्ध नहीं होता, ऐसे ही रात में भी दिननिर्माणकर्तृत्व सिद्ध नहीं होता–इस रीति से अचेतन मिट्टी आदि में भी घटादि के निर्माण करने की आस्था नहीं रह सकती, क्यों कि वह आस्था तो चेतन का धर्म है। किंतु, पैरों से खूब नहीं रौंदे गये मिट्टी के पिंड से घट की निष्पत्ति कभी नहीं होती। पैरों से रोंदनेपर तो मिट्टी का पिंड नष्ट ही हो जाता है, इसलिए कौन वस्तु सद्रूप से परिणत होगी। यह तो आप कह नहीं सकते कि उस मिट्टी के पिण्ड और घट से अलग एक तीसरी ही दोनों में अनुगत मिट्टी नाम की चीज है। किंतु, यदि आप यह कहें कि बीज तो अंकुर पैदा करेगा ही चाहे वह भले ही किसी एक जगह रख दिया गया हो, नष्ट होना चाहता हो, नष्ट हो रहा हो या बिलकुल नष्ट ही हो गया हो; तो इसमें आपका प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि आपके मत से कोठार में रखा हुआ बीज भी अंकुर पैदा करने लगेगा। दूसरा और तीसरा भी नहीं बनता, क्योंकि जो स्वयं अपनी रक्षा करने में समर्थ नहीं है, वह दूसरा बच्चा पैदा करेगा–यह आपकी कौन–सी युक्ति है ? अब रह गया एक चौथा पक्ष, वह तो संसार में सबके अनुभव से बाधित है; इसलिए यह सिद्ध है कि किसीसे किसीकी उत्पत्ति या विनाश नहीं होता, किन्तु स्वभावतः सब पदार्थ उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं। इसमें पूर्वापर का अवलोकन करने से अविवेकियों को ही कार्यकारणभाव के विषयमें विकल्प होते हैं, विवेकियों को नहीं, अतः दुर्युक्तिपूर्वक बोलनेवालों को स्वानुभव विरोध के उद्भावन से ही विद्वत्समाज से निकालकर बाहर कर देना चाहिए, यह कहते हैं।

चूँकि आस्था नहीं है, इसलिए कर्तृत्व भी नहीं है, इत्यादि दुर्युक्तिपूर्वक बोलनेवालों को, जो स्वयं अपने अनुभव का अपलाप करते हैं, तिरस्कार के साथ यानी कान पकड़कर विद्वानों की भरी सभा से बाहर कर देना चाहिए, क्योंकि उनके मत में भी अनास्थादियुक्तिबुद्धि अकर्तृत्वादिबुद्धि उत्पन्न करती है, यह कार्यकारणभाव अन्त में निकल ही जाता है ॥८८॥

अनुपलब्धि प्रमाण नहीं है–इस संदेह का निवारण करते हैं।

हे रघुनन्दन, प्रत्यक्ष के समान अभाव भी प्रमाण ही है, क्योंकि यह सब जन्तुओं को भलीभाँति विदित है कि शीत के परिज्ञान में तेज का अभाव भी प्रमाण होता है ॥८९॥

शरीर के बाहर जगत् में सद्रूपपरिणाम से चन्द्र का कारण अग्नि है, इसमें उदाहरण देते हैं।

धूम्ररूप से विभक्त हो जाने के कारण अग्नि जो चन्द्रात्मक जलरूपता को प्राप्त हो जाती है, उसमें सद्रूप परिणाम से अग्नि चन्द्र का कारण है ॥९०॥

अभावपरिणाम से भी उसका उदाहरण देते हैं।

नष्ट होने से शीतता को प्राप्त होने के कारण वही अग्नि जो वायुरूपता को प्राप्त होती है वहाँ भी विनाशरूप परिणाम से अग्नि ही चन्द्र का कारण है (🙏) ॥९१॥

सद्रूप परिणाम से अग्नि और चन्द्र – ये दोनों परस्पर एक दूसरे के कारण हैं, इनका एक–एक जगह उदाहरण देते हैं।

बडवानल सातों समुद्र का जल पीकर धूम्र के उद्गार द्वारा मेघ बन करके उसी मेघरूप से फिर सातों समुद्र में जलात्मक चन्द्र को ही उत्पन्न करता है ॥९२॥ सूर्यात्मक तेज अमावास्या तक

(🙏) इसमें 'यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति' यह श्रुति प्रमाण है।

चन्द्रमा को बारबार यानी बिलकुल पीकर शुक्ल पक्ष में उस तरह उगल देता है, जिस तरह सारस कमलदण्ड को ॥९३॥ मुख के सदृश सुशोभित हो रहे चन्द्रमा से युक्त वसन्त और ग्रीष्म ऋतु के आनेपर गरमी से युक्त वायु पृथिवी का अमृत के तुल्य शीतल जल पीकर वर्षाऋतु में मेघ के आगमन से (उसका वेश धारण करने से) स्थूल होकर वृष्टि से जगत् के शरीर को परिपूर्ण कर देता है। अथवा-आध्यात्मिक प्राण ही (△) सोम-सुख से अन्नपानादि का उदर में आगमन होने पर अमृत के तुल्य उनका रस पीकर परिपुष्ट होकर अभ्र के समान व्याप्त सम्पूर्ण नाडियों में आगमन करके शरीर को भर देता है। यही इसका पुनः सोम परिणाम है - यह अर्थ है ॥९४॥

यदि आप यह समझते हों कि वायु पृथिवी का रस नहीं सोखता, किन्तु सूर्य की किरणें ही उसे पी जाती हैं, क्योंकि रात में भी उनकी उष्णरूप से सत्ता रहती ही है। तब तो ऐसी दशामें वे ही उदाहरण हैं, यह कहते हैं।

सूर्य की किरणों से जलपान किया जाता है, यदि यह कल्पना की जाय, तो भी इस कल्पना में यह मानना चाहिए कि जल सूर्य की किरणता को सद्रूप परिणाम से प्राप्त करता है, इसलिए वह जलरूप चन्द्रमा अग्नि का कारण हुआ ॥९५॥

और उसमें जो शैत्य और द्रवत्व का नाश तथा उष्णता और रूक्षता की जो उत्पत्ति है, उस अंश में विनाशपरिणामता भी है ही, इसलिए यह उदाहरण दोनों परिणामों का है।

नाशात्मकरूप से उष्णस्वरूप होने के कारण जल भी अग्निरूपता को प्राप्त हो जाता है, अतः विनाशपरिणाम से वह जलरूप चन्द्रमा अग्नि का कारण है ॥९६॥

सर्वत्र अग्नि और चन्द्रस्वरूप परिणाम में उभयरूप संकीर्णता भी सूक्ष्म दृष्टि से अच्छी तरह देखी जा सकती है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

और अग्नि के विनाश में सद्रूप परिणाम चन्द्रमा है तथा चन्द्रमा के विनाश में सद्रूप परिणाम अग्नि है। जैसे दिन नाश को प्राप्त होकर रात हो जाता है वैसे ही अग्नि नाश को प्राप्त होकर चन्द्र हो जाता है। तम (अंधकार) और प्रकाश, छाया और धूप तथा दिन और रात के बीच में विलक्षण सद्रूप ब्रह्म बड़े-बड़े बुद्धिमानों को भी प्राप्त नहीं होता ॥९७-९९॥

तम और प्रकाश की जो सन्धि है, वह तो उभयविलोपात्मक एक शून्यरूप ही है, अतः उसमें उन दोनों से विलक्षण तीसरा कोई रूप नहीं रहता, ऐसी आशंका करके कहते हैं।

तम और प्रकाश इन दोनों की सन्धि भी अशून्यस्वरूप ही है, क्योंकि वह सन्धि इन दोनों का ही परस्पर संलग्नस्वरूप है। यह बात समझ लेने की है कि शून्य वस्तुओं की सन्धि नहीं होती और न सद्रूप वस्तुओं में निमित्तरहित शून्यता ही रहती है। वे दोनों सन्धि में वर्तमान कैसे हैं, यदि ऐसी आशंका हो, तो उसका

(△) 'सोमं सुखागमे' इस पाठ में तो - अग्निस्वरूप यजमानरूपी प्राण यज्ञ में अमृत के तुल्य शीतल सोमरस का पान करके अन्त में धूमादिमार्ग से स्वर्ग पहुँचने में चन्द्रमा के समीप आकाशरूपी मार्ग की सन्धि मिल जाने से चन्द्रमा को प्राप्त करके चन्द्रस्वरूप बन जाता है और कलाओं से अपना शरीर भर लेता है, वही इसका पूर्णिमा के दिन पुनः स्थूल बना हुआ सोमपरिणाम है, यह अर्थ है।

उत्तर यह है। जैसे भाव और अभावरूप से निरूपित तम और प्रकाश (ॐ) के दो दो स्वरूप एक वस्तुरूप होने से एक स्थान में वर्तमान हैं वैसे ही वे दोनों सन्धि में भी वर्तमान हैं, अणुमात्र भी अन्यथाभूत नहीं है; यह भाव है। जैसे पृथिवी पर तम और प्रकाश से रात और दिन हो रहे हैं वैसे ही चेतनता और जड़ता इन दोनों से संसार के जीव स्फुरित हो रहे हैं। जैसे मिश्रित जल और अमृत से चन्द्रमा की शीतल देह निर्मित है वैसे ही चिद्रूप और जडरूप से यह जगत् की स्थिति निर्मित है ॥१००–१०२॥

प्रकाश और अप्रकाश रूप से आविर्भूत हुए चित् और जड़ इन दोनों के अंशों से ही जगत् अग्नि और चन्द्रस्वरूप है, यह कहते हैं।

हे राघव, अग्नि, प्रकाश या सूर्य को आप चिद्रूप समझिये तथा चन्द्रमा को जडात्मा और तमोरूप जानिये ॥१०३॥

बाहर सूर्य के उदय से जैसे तम की निवृत्ति होती है वैसे ही अन्दर चरमवृत्ति से चिदादित्य के उदय से जगत् के बीजभूत अज्ञानरूप तम की निवृत्ति होती है, यह कहते हैं।

जिस तरह बाहर आकाश में सूर्य के दिखाई पड़ने पर काली रात का अन्धकार नष्ट हो जाता है उसी तरह निर्मल चित्सूर्य के अन्दर दिखाई पड़ने पर जगत् के मूल कारण अज्ञान का नाश हो जाता है। भद्र जैसे आधी रात में कमल के अन्दर चन्द्र के विलास करने पर कमल के अन्दर प्रवेश कर स्फुरित हो रहा सूर्यप्रकाश चन्द्रधर्म चन्द्रिकात्वरूप से संपन्न होकर चन्द्रसत्ता से सत् होता हुआ अपनी सत्ता से असत्–सा हो जाता है वैसे ही प्रत्यगात्मा के जड़ सोमात्मक देह के अन्दर दृष्ट हो जाने पर जड़देहतादात्म्य से स्फुरित हो रही भी चिति शरीरगुणरूपता को प्राप्त होकर गुणान्तरों के सदृश शरीरगुणसत्ता से सत् होती हुई भी अपनी सत्ता से असत्–सी हो जाती है ॥१०४,१०५॥

दृष्टान्त और दार्ष्टान्त दोनों में युक्ति और फल बतलाते हैं।

चन्द्रमण्डल में प्रविष्ट हुई सूर्यप्रभारूप अग्नि जलमय चन्द्रबिम्ब को प्रकाशमय कर देती है और देह में जीवभाव से प्रविष्ट हुई चिति जीवनपर्यन्त देह को अहम्भावादिरूप से प्रकाशित करती है, यों एक दूसरे का सम्मेलन होने पर तादात्म्यअध्यास से सूर्यमण्डल–जनित प्रभामण्डलात्मकरूप चन्द्रस्वरूप हो जाता है और चिति अपने संवित्स्वरूप 'अहं मनुष्यः अहं चेतनः' इत्यादि अनुभव के अनुसार देहस्वरूप हो जाती है ॥१०६॥

इससे भी चिति को देहधर्मों का भ्रम हो जाता है, यह कहते हैं।

क्रिया और उपाधि से शून्य वह केवल चिति उपलब्ध नहीं होती। जैसे दीप द्वारा प्रकाश का भान होता है वैसे ही देह द्वारा ही चितिका भान होता है। अज्ञान से आवृत्त चिति को विषयों की ओर उन्मुख होने से अनर्थप्राप्ति होती है, वही अनर्थप्राप्ति संसृति (संसार) है तथा विषयशून्य चिति का जो स्वरूप है वही शुभ, लाभ या मोक्ष है। हे श्रीरामजी, उक्त रीति से यह आप को जान लेना चाहिए कि दीवार और सूर्यप्रकाश की नाईं परस्पर मिले हुए रहने के कारण सद्रूप से वाग्व्यवहार के विषय बने हुए देह

(ॐ) अर्थात् परस्पर निरपेक्ष निरूपण करने से भावरूप तथा परस्पर सापेक्ष निरूपण करने से अभावरूप तम एवं प्रकाश अभावस्वरूप एक ही वस्तु है और इसी तरह प्रकाश एवं अन्धकारअभाव भी एक वस्तु है।

और देही (चिति) ये दोनों अग्नि और चन्द्रस्वरूप हैं ॥१०७-१०९॥

इन दोनों की परस्पर न मिली हुई स्थिति कहाँ प्रसिद्ध है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उपाधि की निवृत्ति से आत्यन्तिक आनन्द का आविर्भाव होने पर अग्नि की तथा आत्यन्तिक जाड्य का आविर्भाव होने पर चन्द्र की केवल (न मिली हुई) स्थिति होती है ॥११०॥

प्राण और अपान वायु अग्नि और चन्द्र स्वरूप हैं, यह जो पहले कहा गया था, उसका प्रकृत में उपयोग के लिए स्मरण दिलाते हैं।

उष्णप्रकृति प्राणवायु अग्निस्वरूप है तथा शीतलप्रकृति अपानवायु चन्द्रस्वरूप है। छाया और धूप की नाईं ये दोनों मुखरूप मार्ग में स्थित रहते हैं ॥१११॥

दीवार और प्रकाश के तुल्य इन दोनों की परस्पर तादात्म्यस्थिति का अवलोकन कराते हैं।

अपान वायु के शीतल होने पर उष्णप्रकृति प्राणरूप अग्नि अपनी सत्ता को प्राप्त होती है और दर्पण में प्रतिबिम्ब की नाईं प्राणवायु के उष्ण होने पर अपान भी सत्ता को प्राप्त होता है। मूल प्राण कुण्डलिनीरूप चिदग्नि मूलाधार से लेकर कण्ठपर्यन्त चार दलवाले कमल में स्थित परा से लेकर वैखरीपर्यन्त वाणीरूप चन्द्रमा को अर्थप्रकाशनरूप शक्ति से (अनुभव से) इस तरह उत्पन्न करती है, जिस तरह बाहर दीवारप्रकाश को सूर्य। जैसे सर्ग के प्रारम्भ में मायाशबल कोई ब्रह्म-संवित् शीतोष्णरूप ब्रह्माण्डाकार से अग्नि और चन्द्र नाम को प्राप्त हो गयी है वैसे ही मनुष्यों के यानी व्यष्टि देहों के सर्ग में भी वही संवित् व्यष्ट्याकार से अग्नि और चन्द्र नाम को प्राप्त हो गयी है ॥११२-११४॥

ठीक है, ब्रह्माण्ड की नाईं अग्नि और चन्द्रस्वरूप शरीर भी रहे, लेकिन उससे कौन कार्य सिद्ध होगा ? इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जहाँ मुख से बाहर सूर्य से ग्रस्त हुई ध्रुवा नामक सोम की (अपान की) सोलहवीं कला (☙) प्राण (सूर्य) से उगल दी गयी कलाओं से पूर्ण होकर क्षण भरमें, पूर्वदिशा में पूर्णिमा के चन्द्र की नाईं, एक बित्ते की तैयार हो जाती है वहीं पर बाह्य कुम्भक से आप स्थिर हो जाइये। तथा जहाँ

(☙) जैसे आकाश में कृष्णपक्ष में अग्निस्वरूप सूर्य चन्द्रमा की शीतल पन्द्रह कलाओं का प्रतिपदा आदि तिथियों में क्रमशः ग्रासकर केवल एक ध्रुवा नामक कला छोड़ देता है। उसके बाद शुक्लपक्ष में फिर क्रमशः उष्णकलाएँ उगिल देता है, उनसे क्रमशः पूर्ण होती हुई ध्रुवानाम की कला पूर्ण चन्द्रस्वरूप हो जाती है, वैसे ही हृदय में स्थित प्राणरूपी सूर्य अपानरूप चन्द्र की मुख और नासिका द्वारा प्रविष्ट हुई शीतल पन्द्रह कलाओं का ग्रास करके मुख से बाहर ध्रुवानामक केवल एक कला को छोड़कर फिर उन उष्ण कलाओं को उगल देता है। उनसे परिपूर्ण होती हुई ध्रुवा नाम की कला बाहर चन्द्रस्वरूप हो जाती है जिसका दूसरा नाम अपान है। बाहर प्राण और अपान की जो सन्धि है वह पूर्णिमा तथा हृदय में अमावास्या कहलाती है। अन्तराल देश में इडा और पिंगला की प्रत्येक ऊपर-नीचे स्थित शाखाओं की छः नाड़ियों में प्राणरूपी सूर्य के प्रवाह से दो अयन होते हैं। मेष, वृष आदि बारह महीने और इन दोनों के बीच में संक्रान्तियाँ होती हैं। अपानरूपी चन्द्र के प्रवाह से चैत्र, वैशाख आदि महीने, विष्कम्भ आदि योग तथा भिन्न-भिन्न नाम के पर्व हुआ करते हैं-यह योगियों को प्रत्यक्ष है। दूसरे विद्वानों को भी, जिन्हें योगशास्त्र का ज्ञान नहीं है, स्वरोदयादि शास्त्रों से इनका परिज्ञान कर लेना चाहिए।

हृदयाकाश में कलाग्रास द्वारा क्रमशः ग्रसित हो रहा चन्द्रमा सूर्य के स्थान में पहुँचकर, जैसे कि अमावास्या आने पर, केवल यानी शुद्धचिद्रूप ध्रुवा नाम की कलात्मक स्थिति से स्थित रहता है वहाँ पर अन्तःकुम्भक से आप स्थिर हो जाइये ॥११५,११६॥

अब अधरेचक या अर्धपूरक से मध्य में दोनों ओर से प्राण के निरोध द्वारा बिम्ब और प्रतिबिम्ब की तरह उनकी तुल्यरूपता कहकर धारणा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, चिदादित्य उष्ण और अग्निस्वरूप तथा चन्द्रमा शीतल कहा गया है जहाँ पर अर्थात् अर्धरेचक और अर्धपूरक से अन्तराल में ये दोनों अग्नि और चन्द्र या प्राण और अपान प्रतिबिम्बरूप में स्थित हैं वहाँ पर आप स्थिर हो जाइये। हे पापशून्य श्रीरामजी, जैसे वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा और शरद ऋतुओं में क्रमशः शीत का उष्णता से ग्रास हो जाने के कारण सोम (चन्द्र) की अग्नि संक्रान्ति होती है और शरद हेमन्त तथा शिशिर ऋतुओं में क्रमशः उष्णता का शीत से ग्रास हो जाने के कारण अग्नि की चन्द्रसंक्रान्ति होती है एवं इन दोनों की सन्धि में सूर्य की मेषादि संक्रान्ति होती है वैसे ही इस शरीर में भी अपान की शीतता का जठराग्नि से ग्रास होने पर चन्द्रमा की अग्निसंक्रान्ति होती है और प्राण की उष्णता का बाह्य शीतता से ग्रास होने के कारण अग्नि की चन्द्रसंक्रान्ति होती है। सूर्य की संक्रान्तियाँ तो पहले ही बतला दी गयी हैं, इसलिए हे श्रीरामजी, आप इनके विशेषज्ञ हो जाइये, क्योंकि इस शरीर के अन्दर मुख्य संक्रान्तिकाल ये ही हैं, बाह्यसंक्रान्तिकाल तो तृण के समान कहे गये हैं। हे श्रीरामजी, बाहर प्रसिद्ध संवत्सर में स्थित संक्रान्ति, उत्तरायण, दक्षिणायन, संवत्सरात्मक काल तथा विषुवत् रेखा आदि की नाईं इस शरीर के अन्दर भी स्थित संक्रान्ति, उत्तरायण, दक्षिणायन, संवत्सरात्मक काल तथा विषुवत् रेखा आदि को देह के प्राण और अपान वायु के द्वारा स्थित यदि आप योगाभ्यास के कारण प्रत्यक्ष अनुभूत घट, पटादि के समान भलीभाँति जानते हैं, तो योगियों की कथाओं में शोभते हैं। यदि मेरे उपदेश के ऊपर ध्यान न देकर कहीं अन्यत्र प्रवृत्त हैं, तब तो फिर आप नहीं शोभते ॥११७-११९॥

इक्यासीवाँ सर्ग समाप्त

बयासीवाँ सर्ग

अणुता और स्थूलता सिद्धि के उपाय, ज्ञानसाध्य वस्तु, योगियों के परकाय में प्रवेश तथा भोग आदि का युक्तिपूर्वक वर्णन।

इस तरह देह आदि अग्नि और चन्द्रस्वरूप हैं, इसका परिज्ञानकर तीनों धारणाओं के अभ्यास से परिष्कृत हुए प्राण, मन और शरीर से युक्त; चन्द्र, सूर्य और अग्नि के संक्रमण आदि का अवलोकन करनेवाले योगी को देहमें अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति कैसे होती है, यह कहने के लिए महाराज वसिष्ठजी प्रतिज्ञा करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, योगियों की देह जिस तरह अणुता या स्थूलता को प्राप्त होती है, वह सब अच्छी तरह मैं कहूँगा, आप सुनिये ॥१॥

उनमें सबसे पहले, अणुत्व की प्राप्ति के लिए देह का विलोप कर देना अत्यन्त आवश्यक है,

इसलिए हृदय-कमल-नाल के सूक्ष्म छिद्रों द्वारा हृदयाकाश में प्रवेशकर नाभि के ऊपर जलती हुई जठराग्नि की-हृदयकमल के छत्ते में परमात्मा की आसनस्वरूप-शिखा दिखलाते हैं।

हृदय में कमलचक्र की कर्णिका के (छत्ते के) ऊपर अग्नि का कण उस तरह चमकता है, जिस तरह सुवर्ण का भ्रमर या सायंकाल को बादल में बिजली की लेखा। जैसे लौकिक अग्निकण झंझावात से शीघ्र वृद्धि प्राप्त करता है और सारे शरीर में व्याप्त होकर उसे जला देता है, वैसे ही झंझावात के सदृश प्रवर्द्धन के उपायभूत ज्ञान से वह संविद्रूप अग्निकण शीघ्र बढ़ता है और वह बढ़कर लौकिक अग्निकण की तरह देह को जलाता नहीं, किन्तु संविद्रूप होने से सूर्य के समान देह को अतिशय प्रकाश से युक्त बना देता है। प्रातःकाल में आकाश में सबसे पहले उदित सूर्य की कान्ति के समान क्षणभर में ही वृद्धि को प्राप्त होकर वह अग्निकण हाथ, पैर आदि अंगों के साथ सम्पूर्ण शरीर को इस तरह गला देता है, जिस तरह सुवर्ण को अग्नि। अर्थात् वह पार्थिव गन्ध और कठिनता का जल में उपसंहार कर देता है। इस तरह पैर के अग्रभाग तक को भी वह युक्ति से गला देता है। उसके बाद शोषणयुक्ति से अपने अग्निस्वभाव के कारण जलस्पर्श को न सह सकनेवाला वह अग्नि अपनी उष्णता के बल से द्रवत्वोपसंहाररूप युक्ति से जल को भी सुखा देता है। इस रीति से देह से बाहर हुआ वह मनोरूप आतिवाहिक देहमात्र में अवस्थित रहता है। यों पार्थिव तथा जलमय दोनों शरीरों को गलाकर वह अग्नि पीछे विक्षोभित प्राणवायु के द्वारा उपसंहृत होकर कहीं इस तरह विलीन हो जाती है, जिस तरह झंझावात से नीहार। उस समय कुण्डलिनी शक्ति भी मूलाधारस्थ सुषुम्ना नाड़ी से हीन होकर सुषुम्ना के संस्कार से युक्त आतिवाहिक देहाकाश में ऐसे अवस्थित हो जाती है, जैसे अग्नि से निकली हुई धूम्र की लेखा और आतिवाहिक देहाकाश में स्थित हुई; मन, बुद्धि, जीव आदि से घटित लिंग शरीर में अहंकार को संकलित करनेवाली तथा आभ्यन्तर में स्वेच्छाविहारशक्ति एवं चित्-चमत्कार से युक्त वह कुण्डलिनी इस तरह शोभित होती है, जिस तरह नगर की धूमलेखा तथा कमलनाल, पर्वत, तृण, दीवार, पत्थर, स्वर्ग और भूतल आदि जिस किसी जगह जिस रीति से प्रविष्ट होकर निकल जाने के लिए उद्युक्त की जाती है उस जगह उस रीति से वह प्रविष्ट होकर ठीक तरह निकल जाती है॥२-९॥

यों सूक्ष्म शरीर कैसे किया जाता है, यह कहकर स्थूलभाव से अपनी इच्छा के अनुसार नानाविध शरीरों की कैसे कल्पना की जाती है, यह बतलाते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, वही कुण्डलिनी शक्ति (योगी की जीवशक्ति) अग्नि में पहले उपसंहृत (संचित) जलभाग को जब छोड़ देती है तब पुनः रस से उस तरह पूर्ण हो जाती है, जिस तरह कूएँ में छोड़ दिया गया मोट (चर्म का पात्र)। इस तरह रस से परिपूर्ण हुई वह कुण्डलिनी पहले उपसंहृत (संचित) पार्थिव भाग को जिस आकार में परिणत करने के लिए भावना करती है, योगशक्ति से वैसा ही आकार बनाकर शीघ्र उसे धारण कर लेती है॥१०,११॥

हड्डी आदि की कल्पना का प्रकार बतलाते हैं।

और उसके बाद वही कुण्डलिनी दृढ़ भावना के वश से भीतर हड्डी आदि को इस तरह प्राप्त हो जाती है, जिस तरह माता के गर्भ में विद्यमान कललों में (卐) स्थित अस्थि, हाथ, पैर आदि अंकुरों की

(卐) कलल = गर्भाशय में रज और वीर्य की वह अवस्था, जिसमें एक पतली झिल्ली-सी बन

आधारभूत अगम्य अत्यन्त सूक्ष्म बीजशक्ति। हे राघव, अपनी इच्छा के अनुसार वह जीवशक्ति सुमेरु आदि के तुल्य महान् या तृण आदि के तुल्य लघु आकार या परिमाण की भावना करती है तद्नुसार सुमेरु आदि या तृणादिरूप हो जाती है ॥१२,१३॥

योगसिद्धि के अनुसार कहे गये स्थूल और सूक्ष्म भावप्राप्तिक्रमों का उपसंहार कर उनसे विलक्षण प्रकृत में परमोपयोगी ज्ञानसाध्य क्रम का श्रवण कराते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, योग से साध्य अणिमादि पदार्थों का साधन आप सुन चुके, अब श्रवणभूषण ज्ञानसाध्य क्रम आप सुनिये। एक, शुद्ध, सौम्य, अलक्षित, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और शान्त चिन्मात्र वस्तु इस संसार में है और न यह जगत् है न इसकी कोई क्रिया है। वह चिन्मात्र जब अध्यास से अपने को स्वयं संकल्प की ओर उन्मुख करता है उस समय कलुषता को प्राप्त हुआ 'जीव' कहा जाता है। और वही जीव असत्य ही इस शरीर को संकल्पभ्रम से उस तरह देखता है, जिस तरह मूढात्मा बालक उद्धत यक्ष को। जब ज्ञानदीप से उत्तम प्रकाश हो जाता है तब इस जीव का संकल्प मोह उस तरह क्षीण हो जाता है, जिस तरह शरत्काल में मेघ। हे राघव, तब संकल्प के क्षय से यह स्थूल शरीर सर्वथा उस तरह शान्ति को प्राप्त हो जाता है, जिस तरह तैल का क्षय होनेपर दीपक। निद्रा का नाश होने पर जैसे प्राणी स्वप्न नहीं देखता, वैसे ही सत्य का साक्षात्कार होनेपर जीव देह को नहीं देखता। अतत्त्वभूत शरीर आदि में तत्त्व की भावना से यह जीव देह से आवृत्त होकर स्थित रहता है और एक ब्रह्मतत्त्व की भावना से देहशून्य श्रीमान् और सुखी रहता है। हे रामभद्र, अनात्म शरीर आदि में जो आत्मा की भावना है वह हृदयगत भयंकर अंधकार है। वह सूर्य आदि के प्रकाश से दूर नहीं किया जा सकता ॥१४–२२॥

तब किस सूर्य से उसका नाश होता है, उसे कहते हैं।

आत्मा में ही आत्मभावना से 'सर्वव्यापक, निरंजन और निर्मल चिन्मात्र मैं ही हूँ' इस ज्ञानरूपी सूर्य से ही नष्ट होता है ॥२३॥

इस ज्ञानसिद्धि के दृढ़ हो जाने पर भी जीवन्मुक्त महात्माओं को ऐच्छिक विनोद के लिए स्थूल सूक्ष्म प्रातिभासिक देह की कल्पना सिद्ध होती है, यह कहते हैं।

अन्य तत्त्वज्ञानी महात्मा लोग जिस पदार्थ की जिस रीति से भावना करते हैं, वे उस पदार्थ को उसी रीति से शीघ्र अपनी उस दृढ़ भावना के बल से देख लेते हैं। हे राघव, दृढ़ भावना के अनुसन्धान से विमूढ़ (विषकीट आदि) प्राणी भी विष को अमृत के समान आहाररूप में पहुँचा देते हैं और अमृत को भी यानी अमृत के समान दुग्ध, अन्न आदि को भी 'इन में विष मिला हुआ है' इस दृढ़ भावना से विष बना डालते हैं। तात्पर्य यह है कि विष को अमृत समझकर पी जाते हैं और अमृत को भी विष समझकर छोड़ देते हैं। इस तरह दृढ़ भावना से जिस प्राणी के द्वारा जिस पदार्थ की जिस रीति से भावना की जाती है, शीघ्र वह प्राणी उसी रीति से वही बन जाता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, इसके अनेक उदाहरण इस संसार में देखे गये हैं। सत्य की भावना से देखा गया यह शरीर ठीक शरीर हो जाता है असत्य की भावना से

जाती है और जो कलन के उपरान्त होती है। सुश्रुत के अनुसार जब ऋतुमती स्त्री का स्वप्न मैथुन द्वारा रज उसके गर्भाशय में प्रवेश करता है, तब भी उससे हड्डी आदि से रहित एक बुलबुला-सा बनकर रह जाता है, वह भी कलल कहलाता है।

देखा गया यही शरीर ब्रह्माकाशता को प्राप्त हो जाता है ॥२४-२७॥

वह ब्रह्माकाशता ही इसकी निरतिशय अणिमादि सर्वसिद्धियाँ है, इस अभिप्राय से उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, अणिमादि पद की प्राप्ति में साधु-स्वभाव आपने इस प्रकार से ज्ञानयुक्ति तो सुन ली, अब आप यह दूसरी युक्ति यानी दूसरे के शरीर में प्रविष्ट होकर भोग प्राप्ति कैसे होती है, यह युक्ति सुनिये ॥२८॥

सर्वप्रथम पूर्व देह के परित्याग में उपाय बतलाते हैं।

जिस तरह पवन से पुष्प में से मोद (सुगन्ध) खींचकर घ्राणेन्द्रिय में सम्बद्ध किया जाता है उस तरह रेचक के अभ्यासरूप योग से कुण्डलिनीरूप घर से बाहर निकालकर ज्यों ही दूसरे शरीर में जीव सम्बद्ध किया जाता है, त्यों ही यह शरीर परित्यक्त हो जाता है, जीवरहित यह देह अनेकविध चेष्टाओं से निवृत्त होकर काठ और मिट्टी के ढेले के सदृश जड़ हो जाती है। जैसे सिंचन करनेवाला पुरुष अपने हाथ में लिये हुए जलपूर्ण कुम्भ से जिस वृक्ष और लता को सींचने की इच्छा करता है उसे ही सींचता है, वैसे ही अपनी रुचि के अनुसार देह, जीव, बुद्धि, स्थावर और जंगम सबमें भी उनकी सम्पत्ति का भोग करने के लिए अपना जीव प्रवेशित किया जाता है और उनमें आदर करता है। उक्त प्रणाली से पर देह में सिद्धि श्री का उपभोगकर अवस्थित हुआ योगी यदि अपना पहला शरीर विद्यमान रहा तो उसमें प्रविष्ट हो जाता है और यदि न रहा तो दूसरे शरीर में जब तक उसकी रूचि रहती है, तबतक उसमें प्रविष्ट होकर स्थित रहता है। अथवा यह भी एक बात हो सकती है – परदेह में उपभोग के बाद योगी अपने अन्तःकरण में विपुलता सम्पादन द्वारा समस्त जगत् को व्याप्त कर स्थावर-जंगम समस्त देह आदि प्रतिबिम्बोपाधि, उन स्थावर आदि उपाधियों में पड़े हुए प्रतिबिम्बभूत जीव, बिम्बभूत चैतन्य की उपाधिरूप सत्त्व आदि गुण एवं सत्त्वादि गुणों से युक्त चैतन्यरूप बिम्ब – इन सभीको व्याप्त करनेवाली अपनी आत्मसंवित्ति से पूर्णात्मना होकर स्थित रहता है। रामभद्र, योगरूप ऐश्वर्य से संपन्न जीवात्मारूप चित्प्रकाश सदा उदित सनातन स्वप्रकाशस्वरूप सर्वविध दोषशून्य आत्मतत्त्व को जानकर जो भी कुछ जैसा चाहता है वह वैसा ही उसे तत्काल प्राप्त कर लेता है, इसलिए तत्त्वज्ञ लोग छोटी-छोटी सिद्धियों को अधिक महत्त्व नहीं देते, किन्तु अनावरणतारूप निरतिशयानन्द उत्तम पद को ही महत्त्व देते हैं, यों अनुभवी लोग कहते हैं ॥२९-३४॥

बयासीवाँ सर्ग समाप्त

तिरासीवाँ सर्ग

चूड़ाला सिद्धि का वैभव, राजा शिखिध्वज का अज्ञान तथा
गुरु के उपदेश की सफलता में किराट् का आख्यान।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, पूर्वोक्त रीति से प्राणधारणादि के घनाभ्यास से युक्त वह राजपत्नी सती चूड़ाला अणिमादि सिद्धियों के गुणों के ऐश्वर्य से सम्पन्न हो गयी ॥१॥

उसके ऐश्वर्य का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

मोहरूप कालिमा और तीनों तापों का उपशम (नाश) हो जाने से गंगा की नाईं विमल और शीतल वह चूडाला कभी आकाश मार्ग से गमन करती थी, कभी समुद्र के कोटर में प्रवेश करती थी तथा अपनी इच्छा के अनुसार कभी इस पृथिवी के ऊपर विचरण करती थी ॥२॥

उसके कल्पित कायव्यूहादि ऐश्वर्य का वर्णन करते हैं।

वह अपने पति के वक्षःस्थल तथा चित्त से क्षणभर के लिए भी अलग नहीं होती थी तथा सब राज्यों एवं सम्पूर्ण भुवनों में लक्ष्मी की नाईं निवास करती थी। बिजली के उन्मेष की नाईं चमक रहे आभूषणों से युक्त वह श्यामा चूड़ाला आकाशगामिनी होकर उस तरह घूमती-फिरती थी, जिस तरह गिरिमालाओं से युक्त पृथिवी पर श्यामा मेघमाला। काष्ठ, तृण, पत्थर, भूत, आकाश, वायु, अग्नि और जल सब में निर्विघ्नतापूर्वक उसने, मोतियों में धागे की नाईं, प्रवेश किया। सुमेरू पर्वत के ऊपर चोटियों पर, लोकपालों के नगरों में तथा दिशा और आकाश के उदर में जितने भुवन-छिद्र प्रसिद्ध हैं उन सबों में उसने सुखपूर्वक विहार किया। पशु-पक्षी, भूत, पिशाच आदि; नाग, देव, असुर, विद्याधर; अप्सरा और सिद्ध पुरुषों के साथ उसने सम्भाषण आदि व्यवहार किये। और बड़े यत्न के साथ, अनेक बार उस चूडाला ने अपने स्वामी को ज्ञानामृत का उपदेश दिया, परन्तु वह कुछ भी समझ न सका। उस चूडाला के विषय में-सम्पूर्ण कलाओं में विदग्धा, मुग्धा तथा यह मेरी गृहिणी है, केवल इतना ही वह राजा शिखिध्वज जानता था। इतना लम्बा समय निकल जाने पर भी इस तरह अनेक अणिमादि सिद्धिरूप गुणों से सुशोभित उस चूड़ाला को वह राजा उस तरह नहीं जान पाया, जिस तरह वेदाध्ययन करते समय बालक वेदविद्या को गुणशालिनी यानी सम्पूर्ण पुरुषार्थों में अनुकूल अर्थप्रकाशन आदि गुणों से शोभित नहीं जान पाता। आत्मविश्रान्ति न पाये हुए राजा को उस चूड़ाला ने भी अपनी अणिमादि सिद्धियों की वह अलौकिक श्री उस तरह नहीं दिखलायी, जिस तरह शूद्र को यज्ञक्रिया नहीं दिखलायी जाती। श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे प्रभो, बहुत बड़ी सिद्धयोगिनी उस चूडाला के भी यत्न से जब राजा शिखिध्वज को ज्ञान प्राप्त न हो सका, तब भला दूसरे को कैसे ज्ञान प्राप्त हो सकता है ? महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, गुरुजी द्वारा उपदेश प्राप्त करनेका क्रम तो केवल 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' (आत्मविज्ञान के लिए गुरु के ही समीप पहुँचे) इत्यादि शास्त्रीय मर्यादा का पालनमात्र ही है, अतः यह अनधिकारी पुरुष में जबरदस्ती ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकता। हे राघव, ज्ञान का कारण तो शिष्य की विशुद्ध बुद्धि ही है। तर्कादि अनात्मशास्त्रों में प्रवीणता से, किसी पुण्य से यानी चित्तशुद्धि के अंगभूत श्रौत कर्म वर्ग से अपना तत्त्वभूत ज्ञेय ब्रह्म नहीं जाना जाता-इतर वस्तुओं की तरह विषयीभूत नहीं किया जाता। तात्पर्य यह हुआ कि जैसे काम्य पुण्यकर्मों से बिना विचार के ही स्वर्ग मिल जाता है, वैसे हजारों पुण्यकर्म करने पर भी बिना आत्मविचार के ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। किन्तु तर्कादि अनात्मशास्त्रों में प्रवीणता तथा निष्काम पुण्यकर्म – इन दोनों से आत्मविचार के उत्पन्न हो जाने पर चरमवृत्ति में आरूढ़ हुआ आत्मा ही आत्मा को उस तरह जानता है जिस तरह सर्प सर्पबिल को जानता है। श्रीरामजी ने कहा : हे मुने, जब ऐसी स्थिति विद्यमान है, तब भला आप ही बतलाइये कि इस जगत् की स्थिति में स्वात्मज्ञान का कारण गुरुपदेश का क्रम है, यह किस तरह उपपन्न होगा ॥३-१५॥

स्थूलारुन्धतीन्याय से शिष्य की बुद्धि को आत्मा में व्यस्त कर गुरु का उपदेश ज्ञान का कारण होता है, यह कहने के लिए महाराज वसिष्ठजी किराटोपाख्यान कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, विन्ध्याचल के प्रदेश में धनधान्य से सम्पन्न अत्यन्त कृपण कोई एक किराट (देहाती बनिया) उस तरह रहता था, जिस तरह कोई एक सपरिवार ब्राह्मण रहता हो। हे श्रीरामजी, विन्ध्याचल के जंगल में जाते हुए उसकी एक कौड़ी किसी तृणसमूहों से संवृत्त स्थान में गिर पड़ी। अपनी कृपणता के कारण उस एक कौड़ी के लिए वह बड़े प्रयत्न से तीन दिन तक चारों ओर तृण-फूस आदि सबकी सफाई करता रहा ॥१६-१८॥

वह किस अभिप्राय से एक कौड़ी इतने परिश्रम से ढूँढ़ रहा था, यह बतलाते हैं।

यदि यह कौड़ी मेरे हाथ में आ जाय तो इस एक कौड़ी से मैं कोई चीज खरीद लेता और उसे बेच डालता, उस खरीद और बिक्री से चार कौड़ियाँ मेरे पास हो जाती। उनसे फिर समय पाकर आठ, उनसे सौ, सौ कौड़ियों से हजार और फिर उनसे दो हजार कौड़ियाँ मेरे पास आ जातीं; यों अपने चित्त से विचार करता हुआ वह कृपण रात-दिन आलस्यरहित होकर जंगल में उस एक कौड़ी की खोज करता रहा। उसने मनुष्यों के हजारों हास्यों की तनिक भी परवा न की। तदनन्तर तीन दिन के कड़े परिश्रम के अन्त में उसी जंगल में उसने पूर्ण चन्द्रबिम्ब के सदृश एक महान् चिन्तामणि की प्राप्ति की। उस चिन्तामणि को ले करके सन्तुष्ट हृदय हो घर आकर वह कृपण किराट सांसारिक सम्पूर्ण भोगसमूहों की प्राप्ति हो जाने तथा अपने सब दारिद्र्यादि अनर्थों की समाप्ति हो जाने के कारण सुख-पूर्वक स्थित रहने लगा। इस तरह रात-दिन घोर परिश्रम के साथ खेदरहित किराट ने जिस तरह एक कौड़ी खोजने में चिन्तामणि रत्न पाया, जिसका मूल्य जगत् ही है, उसी तरह श्रुतोपदेश से स्वात्मज्ञान भी प्राप्त किया जाता है। गुरु के उपदेशक्रम से दूसरे शब्दजन्य परोक्ष ज्ञान का अन्वेषण होता है और दूसरे नित्य अपरोक्ष आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। हे पापशून्य श्रीरामजी, ब्रह्म सम्पूर्ण इन्द्रियवृत्तियों से अतीत है और उपदेश से तो शब्द-श्रवण एवं श्रवण-जन्य शाब्दबोध आदि इन्द्रियसम्प्रयोज्य चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। गुरु के उपदेश से जो शाब्दवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन में अत्यन्त स्वच्छ चरमवृत्ति में नित्य अपरोक्ष ब्रह्म का जो स्फुरण होता है वह तो शिष्यों की स्वच्छ बुद्धि और ब्रह्मस्वभाव प्रयुक्त ही होता है। इसलिए गुरु के उपदेश से आत्मतत्त्व प्राप्त नहीं किया जाता अर्थात् आत्मज्ञान में उपदेश कारण नहीं है ॥१९-२५॥

तथापि 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यादि श्रुति से गुरु का उपदेश आवश्यक है।

फिर भी गुरु के उपदेश के बिना आत्मतत्त्व की प्राप्ति भी नहीं होती, क्योंकि कौड़ी की खोज के बिना चिन्तामणि की प्राप्ति किसने की। इस महान् अर्थरूप तत्त्व में गुरु का उपदेश कारण न होता हुआ भी कारणता को उस तरह प्राप्त हो गया है, जिस तरह चिन्तामणि का कौड़ी। तात्पर्य यह है कि कौड़ी के अन्वेषण की नाईं मनन द्वारा गुरु का उपदेश, कारण न होता हुआ भी, अवश्य फल के दर्शन से कारणता को प्राप्त हो गया है। हे राघव, देखिये-यह माया महात्माओं को भी मोहित करनेवाली है। बड़े यत्न से अन्य वस्तु का अन्वेषण किया जाता है और फल प्राप्त होता है कोई दूसरा ही ॥२६-२८॥

इस तरह कारण न होता हुआ भी गुरुउपदेश आदि आत्मलाभ में कारण बन गया है। आत्मलाभ

हो जाने पर तो प्रारब्धशेष से जो कुछ जागतिक भ्रम अवशिष्ट रहता है उसका एकमात्र उपेक्षा से ही नाश सिद्ध है, इसलिए उसके नाश के लिए किसी तरह के दूसरे यत्न की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, मनुष्य बड़े परिश्रम के साथ अन्य कार्य करता है और उस कार्य का फल उसे प्राप्त होता है अन्य ही। चूँकि तीनों जगत् में ऐसा ही देखा और सुना जाता है, इसलिए आत्मलाभ के अनन्तर प्रारब्धशेष रहने से उपस्थित जागतिक भ्रमको असंग और अनिच्छा से ढोते चलना ही कल्याणप्रद है ॥२९॥

तिरासीवाँ सर्ग समाप्त

चौरासीवाँ सर्ग

शिखिध्वज का वैराग्य, चूडाला का आश्वासन, रात में राजा शिखिध्वज का सोई हुई अपनी प्रिया को छोड़ कर चुपचाप जंगल में भाग जाना और मन्दराचल में स्थिति – इन सबका वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, उसके बाद राजा शिखिध्वज तत्त्वज्ञानरूप विश्रान्तिस्थान के बिना परम मोह को उस तरह प्राप्त हो गया, जिस तरह सन्ततिशून्य पुरुष शोकादिरूप तमसे अन्धता को। दुःखरूप अग्नि से सन्तप्त मनवाला वह शिखिध्वज सामन्त आदि प्रियवर्ग द्वारा लाई गयी रत्नादि बहुमूल्य सम्पत्तियों में, अग्निशिखा की नाईं, तनिक भी रमण नहीं करता था। व्याध द्वारा बाण छोड़े जाने पर भी भाग्यवश घायल न हुआ हरिण व्याध से डरकर जैसे एकान्त स्थल में निवास के लिए प्रेम करता है वैसे ही वह राजा एकान्त दिगन्तों में, निर्झरों में और गुहाओं में निवास के लिए प्रेम करने लगा। हे राघव, तुम्हारे समान सान्त्वन, अनुनय एवं बोधन से चाकरों द्वारा प्रार्थित वह राजा समस्त दिवस कर्म का सम्पादन करता था। प्रतिदिन उसका वैराग्य तीव्रतम होता जाता था, वह एक तरह से संन्यासी–सा स्थित था, उसकी बुद्धि अत्यन्त शान्त थी, इसलिए बड़े–बड़े भोग और विषयों का उपभोग करने में उसका चित्त खिन्न हो जाता था। हे मानद, उसने गो, भूमि, सुवर्ण आदि का देवताओं, ब्राह्मणों और स्वजनों को खूब दान दिया। तप करने के लिए कृच्छ, चान्द्रायण आदि व्रतों का आचरण किया। उसने तीर्थों में, वनों में और आश्रमों में परिभ्रमण किया। जिस प्रकार निधि चाहनेवाला पुरुष निधिशून्य भूमि को खोदकर निधि प्राप्त नहीं करता, उसी प्रकार वह राजा तप एवं अरण्यादि भ्रमण करने पर भी शोक शून्य स्थिति को तनिक भी प्राप्त नहीं हुआ। रात–दिन की चिन्तारूपी अग्नि से वह महान् राजा शिखिध्वज भी सूखने लगा और संसाररूप व्याधि का औषध विचारने लगा। चिन्तापरवश होकर वह दीन बन गया। अपना राज्य उसे विष के सदृश मालूम पड़ने लगा। सामने बड़े–बड़े रखे गये विभवों को भी खिन्न बुद्धि के कारण वह नहीं देख पाता था। अनन्तर एकान्त में स्थित और अंकारूढ़ चूडाला से वह शिखिध्वज राजा मधुर शब्दों से यह कहने लगा। शिखिध्वज ने कहा : भद्रे, चिरकालपर्यन्त राज्य का उपभोग किया। तरह तरह के विभवपूर्ण पदों का भी भोग किया। अब मैं विराग से युक्त हो गया हूँ, इसलिए अरण्य की ओर जाता हूँ। हे तन्वंगि, अरण्य निवासी मुनि को न सुख, न दुःख, न आपत्तियाँ और न सम्पत्तियाँ ही कुछ कर पाती हैं। न तो उन्हें देश के विनाश से कोई मोह होता है और

न संग्राम में जन का क्षय ही होता है, इसलिए अरण्यवासी मुनियों के सुख को राज्य की अपेक्षा भी मैं अधिक मानता हूँ ॥१-१४॥

अब वनराजि का चूडाला की उपमा से वर्णन करते हैं।

(हे वरानने, अब हमें तुम्हारे सदृश वनपंक्तियाँ ही रमण कराती हैं, वे वनपंक्तियाँ) पुष्पों के गुच्छे रूप स्तन धारण करती हैं, रक्त पल्लव ही उनके हाथ हैं, नानाविध मंजरियाँ ही उनके हार हैं, चंचल धवल मेघ ही उनके चीनाम्बर हैं। अपना पराग ही उनका अंगराग है, कुसुमों से वे अपना अलंकार निर्माण करती हैं। उपभोग करने योग्य सुवर्णशीलारूप नितम्बतटों से वे सुहावनी लगती हैं, वे तरंगरूप मोतियों से पिरोयी गयी सरितरूपी मुक्तालताओं से परिवृत्त रहती हैं, उनके चारों ओर लतारूपी सखियाँ राजित रहती हैं, उनके शिशु मुग्ध-मुग्ध मृग हैं, वे स्वभावतः ही उत्कट सौगन्ध से परिपूर्ण रहती हैं, क्षुधितों को भोजन के लिए निरन्तर फल प्रदान करती हैं, भ्रमरपंक्तियाँ ही उनके नेत्र हैं, कुसुमपूर्ण लताएँ ही उनके बाहु आदि अंग हैं। तुम्हारे अधर के सदृश पान के योग्य तरंगपूर्ण झरनों के रूप में परिणत हुई वे निरन्तर शीतल और निर्मल गात्रों से अत्यन्त कमनीय लगती हैं, इसलिए हे सुमुखि, वनराजियाँ ही तुम्हारे सदृश मुझे रमण कराती हैं। हे तन्वि, विरक्त हुआ मन जैसा एकान्त में सुखानुभव करता है वैसा न तो शशिबिम्बों में और न ब्रह्मा एवं इन्द्र के आश्रय स्थानों में सुखानुभव करता है। हे कोमलांगि, यह जो मैंने वन जाने का उत्तम विचार किया है, उसमें तुम किसी प्रकार की बाधा मत पहुँचाओ, क्योंकि कुलीन स्त्रियाँ स्वप्न में भी पति की इच्छा का विघटन नहीं करतीं ॥१५-२१॥

पति को वैराग्य दृढ़ हुआ है या नहीं, इसकी परीक्षा कर रही चूडाला पहले की कामासक्ति का ही, अवस्थानुरूपता वर्णन द्वारा मानों अनुमोदन करती हुई स्थूणानिखनन न्याय से, निरास करती है।

चूडाला ने कहा : हे नाथ, जिसके लिए समय आ चुका हो वही कार्य यदि किया जाय तो शोभित होता है, दूसरा नहीं। फूल वसन्त में ही शोभता है और फल शरत्काल में ही भला लगता है। वृद्धावस्था से ठिठुरे हुए शरीरवाले पुरुषों के लिए ही वन का आश्रय लेना युक्त है, परन्तु आपके सदृश युवकों के लिए कदापि युक्त नहीं है, इसलिए आपका यह विचार मुझे पसन्द नहीं हैं। महाराज, पुष्पसमूहों से वृक्षों की नाईं जब तक हम लोग यौवन से त्यक्त नहीं होते, तब तक घर में ही शोभित रहें-निवास करें। पुष्पों को धारण करनेवाली लताओं के मस्तक पर झूम रहे सफेद फूलों से उपमित बुढ़ापा के साथ यानी वृद्धावस्था आने पर जब हम दोनों के मस्तक के केश पुष्पयुक्त लताओं के समान बिलकुल सफेद हो जायेंगे, तब हम दोनों एक ही साथ, सरोवर से हंसों की नाईं, गृह से निकलकर जंगल में चलेंगे। हे राजन्, बिना समय आये प्रजापालन का त्याग कर रहे राजा को राज्यविनाशनिमित्तक बहुत बड़ा पाप लगेगा ही। समयप्राप्ति के बिना कार्य करने वाले राजा को प्रजाएँ अवश्य ही रोकती हैं और अकार्यों से नौकर अपने स्वामी को तथा स्वामी नौकरों को, यों परस्पर रोकते ही हैं ॥२२-२७॥

इस तरह विचलित किये जानेपर भी अविचलित वैराग्य से सम्पन्न राजा शिखिध्वज अपनी प्रियभार्या चूडाला से अनुनय करते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे कमलपत्राक्षि, मेरे अभिमत कार्य में विघ्न मत डालो। अब तुम मुझे

यहाँ से दूर एकान्त जंगल में गया हुआ ही समझो। हे अनिन्दित अंगवाली, तुम अभी बिलकुल बच्ची हो, तुम्हें जंगल में नहीं आना चाहिए, क्योंकि हे कोमलांगि, जंगली प्रदेश में प्रवेश पुरुषों के लिए भी अति कठिन है। कठोर से भी कठोर अंगवाली स्त्रियाँ जंगल के निवास में किसी तरह समर्थ नहीं हो सकतीं, क्या कहीं उपवन में उत्पन्न पुष्पमंजरियाँ शस्त्रों को सहन कर सकती हैं ? ॥२८–३०॥

यह जो तुमने कहा है कि समय प्राप्त हुए बिना प्रजापालन का त्याग करनेवाले राजाओं को राज्यविनाशनिमित्तक बहुत बड़ा पाप लगेगा सो इस दोष का परिहार भी तुम्हें ही करना पड़ेगा, इस अभिप्राय से कहते हैं।

हे उत्तमे, प्रजाओं का भलीभाँति पालन करती हुई तुम राज्य में स्थित रहना, क्योंकि पति के चले जाने पर कुटुम्ब के भार का उद्वहन करना स्त्रियों का धर्म है। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, शशिमुखी उस अपनी दयिता से इतनी बातें कहकर जितेन्द्रिय राजा शिखिध्वज स्नान करने के लिए उठ गया और उसने अपने सम्पूर्ण दैनिक कार्यों का सम्पादन किया। इसके अनन्तर सब प्रजाओं की चेष्टाओं का त्यागकर भगवान् सूर्य अस्ताचल को उस तरह चल पड़े, जिस तरह राजा शिखिध्वज अपनी सम्पूर्ण प्रजाओं की चेष्टाओं का त्यागकर समस्त जनों से दुर्गम जंगल को। अपने व्यापक रूप का उपसंहार कर अनुरागिणी प्रभा भी भगवान् सूर्य के पीछे–पीछे उस तरह चली गयी, जिस तरह राजमहल से निकले हुए अपने स्वामी के पीछे–पीछे अनुरागिणी चूडाला। भस्म से (धूलि से) धूसर भुवन के पास श्यामा (काली) रात्रि उस प्रकार आ गयी, जिस प्रकार अपनी प्रियसखी गंगा को धारण किये हुए भगवान् शंकर के पास स्वयं काम से वशीभूत होकर आलिंगन करने की इच्छा से मानों यमुना आ गयी हो। सब दिशाओं के–सन्ध्याकालीन मेघरूप दाँतों से युक्त तथा तमालरूपी बच्चों को अपनी गोद में लेकर यमुना के चरित्र के अवलोकन से मानों चाँदनीरूपी हास से समन्वित तथा चारों ओर घेरा बाँधकर–स्थित होने पर, दिनश्री और दिननाथरूपी दम्पतियों के देवताओं के उद्यानमय मेरु पर्वत के उत्तरार्ध में रमण करने के लिए चले जानेपर तथा धर्मरूपी पापों एवं तन्निमित्तक तीक्ष्ण किरणों से त्यक्त निशा और निशानायकरूपी दम्पतियों के मेरु पर्वत के इस पार में विहार करने के लिए आ जाने पर, दिशारूपी स्त्रियों द्वारा फेंकी गयी मांगलिक लावों की नाईं, आकाशरूपी फर्श के (गच के) ऊपर बिखरे हुए तारों के गण दीख पड़े। चन्द्ररूपी आनन से सुशोभित, अन्धकार से श्यामवर्णा, अपने प्रिय चन्द्र के अन्वेषण तथा उनके उदय की प्रतीक्षा से श्रान्त हुई, कुमुद आदि कुसुमों से हासवती तथा रात्रि कमल रूपी स्तनों से सुशोभित रात्रि अपनी युवावस्था के फल को प्राप्त हुई। सन्ध्याकालीन सब कार्यों का सम्पादन करके वह राजा शिखिध्वज अपनी प्रिय–पत्नी चूडाला के साथ शयनस्थान में उस तरह गाढ़ सो गया, जिस तरह मैनाक पर्वत समुद्र में। इसके बाद आधी रात के समय जब राजा सारा देश निःशब्दता को प्राप्त हो गया तथा जब सघननिद्रारूपी पाषाणकोश के भीतर सकल जन विलीन हो गये, तब उस राजा शिखिध्वज ने, कमल के ऊपर सोई हुई निद्रा से अत्यन्त विमूढ़ भ्रमरी के समान, कोमल वस्त्रों से सुसज्जित पलंग पर सोई हुई उस चूडाला के निद्रा से अत्यन्त विमूढ़ हो जाने पर धीरे–धीरे अपनी गोद से सोई हुई प्रिया को उस तरह त्याग दिया, जिस तरह राहु का मुख पूर्व दिशा में चन्द्रमा की प्रभा को। वह राजा उस पलंग से, जिसके ऊपर बिछाये गये चादर के आधे हिस्से पर उसकी प्रिय

पत्नी गाढ़ निद्रा में सोई हुई थी, उस तरह उठ गया; जिस तरह लक्ष्मी की कान्तियों से युक्त चंचल तरंगों से समन्वित क्षीरसागर से भगवान् विष्णु उठ जाते हैं। चोर आदि दुष्ट लोगों को पकड़ने के लिए 'मैं बाहर जा रहा हूँ' यह कहकर तथा अपने अनुचरों को भी उसी कार्य में नियुक्त करके वह निःस्पृह राजा शिखिध्वज नगर से निकलकर चल दिया। हे राजलक्ष्मि, तुम्हें नमस्कार है, यों कहकर वह अकेला अपने मण्डल से चला और चलते-चलते एक भयंकर बहुत बड़े जंगल में उस तरह प्रविष्ट हो गया, जिस तरह, नद महासमुद्र में। घनान्धकार और गुल्मों से पूर्ण तथा क्षुद्र जीवों से अत्यन्त कर्कश उस बड़े जंगल तथा रात्रि को उसने साथ-साथ पार किया। और सबेरा होने पर वह उस शून्य बड़े जंगल में खूब चलता रहा। चलते-चलते सम्पूर्ण विस्तृत दिन गँवाकर भगवान् सूर्यदेव के साथ ही कहीं जंगल की भूमि में उसने विश्राम किया। भगवान् भास्कर के अदृश्य हो जाने पर वहाँ स्नान, सन्ध्यावन्दन आदि कर लेने के बाद कुछ फलादि खा करके उसने वह रात गँवा दी। फिर प्रातःकाल होने पर बड़े वेग से चलता हुआ वह राजा शिखिध्वज बड़े-बड़े नगरों, मण्डलों, पर्वतों तथा नदियों को बारह दिन में लाँघ गया। तदनन्तर वह मन्दराचल के तट पर स्थित मनुष्यों से दुर्गम एक वन में पहुँचा, जहाँ से जनसमूह और नगर बहुत ही दूर स्थित थे। जहाँ पर वापियों द्वारा, जिससे बाँसों की नालियों से शब्दपूर्वक जल बह रहे थे, अत्यन्त बलवान् बनाये गये असंख्य वृक्ष उपस्थित थे; जहाँ पर जीर्णशीर्ण वेदियों और घरों से सहज में यह अनुमान हो रहा था कि यहाँ पर पहले ब्राह्मणों के अवश्य ही अनेक आश्रम थे। और जो क्षुद्र जन्तुओं से शून्य, सिद्ध लोगों से सेवनीय, लताघरों से समन्वित तथा प्राणवृत्ति करनेवाले फलों से नीचे से ऊपरतक परिपूर्ण वृक्षों और लताओं से भरा हुआ था। उसी जंगल में किसी एक चौरस, शुद्ध, जल से वेष्टित, शीतल, हरे-हरे घासों से युक्त प्रदेशों से श्याम, स्निग्ध, तथा फलसम्पन्न वृक्षों से युक्त स्थान में मंजरीसहित लताओं से उस राजा ने एक पर्णशालारूपी घर उस तरह बनाया, जिस तरह वर्षाकाल बिजलीसहित नील मेघों से पंजर बनाता है। बाँस का दण्ड, फल-भोजन पात्र, अर्घपात्र, पुष्पपात्र, कमण्डलु, रूद्राक्ष की माला, शीत से अपनी रक्षा के लिए कन्था, और व्रतियों का आसन मृगचर्म-ये सब वस्तुएँ लाकर उस राजा ने अपने मठिकारूपी मन्दिर में सजा दीं। इनके अतिरिक्त और भी दूसरी कोई वस्तु, जो तापसकर्मोपयोगी मालूम पड़ी, राजा ने लाकर अपनी कुटिया में उस तरह स्थापित की, जिस तरह विधाता अपने द्वारा सृष्ट ब्रह्माण्ड में व्यवहार-साधनों को स्थापित करता है। उसने दिन के प्रथम प्रहर में प्रातःकाल सन्ध्यापूर्वक जप, द्वितीय प्रहर में पुष्प आदि का संचय और उसके बाद स्नान, देवार्चन आदि कार्य किये। तदनन्तर जंगली फल, कन्दमूल तथा कमलदण्डादि खाकर जप में तत्पर होकर जितेन्द्रिय उस राजा ने अकेले रात बितायी। हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह मन्दराचल के तट पर विरचित पर्णशाला के भीतर स्थित उस मालवेश शिखिध्वज ने खेदशून्य होकर जपादि करते हुए अनेक दिन बिता दिये। उसने पूर्वानुभूत अपने नूतन राजविलासों का तनिक भी स्मरण नहीं किया, क्योंकि हृदय में विवेक के स्फुरित होने पर राज्यलक्ष्मियाँ ईच्छा की उत्पत्ति के द्वारा क्या किसी दरिद्र को भी अपने वश में कर सकती हैं ? तात्पर्य यह कि वे किसी भी विवेकी को वश में नहीं कर सकतीं ॥३१-६२॥

चौरासीवाँ सर्ग समाप्त

पचासीवाँ सर्ग

सोकर उठी हुई चूडाला द्वारा राजा का अन्वेषण, मार्ग में दर्शन,
राजा के भावी अर्थों का अवलोकन तथा समय पाकर ज्ञान दिलाना – इन सबका वर्णन।

कही गयी बातों का अनुवाद करके आगे कही जानेवाली कथा से मेल दिखलाते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह राजा शिखिध्वज एक तपस्वी को जिन वस्तुओं की अत्यन्त आवश्यकता पड़ती है उन सब वस्तुओं से पूर्ण अपनी जंगल की कुटिया में स्थित रहा, अब उस चूडाला ने घर में क्या किया ? सो आप सुनिये। उस आधी रात के समय राजा शिखिध्वज के बहुत दूर निकल जाने पर, गाँव में सोई हुई हरिणी की नाईं, वह चूडाला भय से अचानक जाग गयी। पति से त्यक्त उस चूडाला ने अपने शून्य शयन को, सूर्य से शून्य तथा अपूर्ण चन्द्रमा से युक्त आकाश की नाईं, शोभाहीन देखा। कुछ मलिनवदन, खेदयुक्त तथा उत्साहहीन, अंगरूपी पल्लवों से युक्त वह चूडाला, क्षार और कर्दम आदि से मिश्रित जल से सींची गयी महावल्ली की नाईं, अपने बिस्तर से उठी। व्याकुलता को प्राप्त वह चूडाला प्रसन्न न थी, विमल न थी, किन्तु नीहार से धूसर दिन की शोभा की नाईं वह अवस्थित थी। अपनी शय्यापर बैठी हुई ही चिन्ता से व्याकुल उस चूडाला ने क्षणभर तक विचार किया कि – बड़े दुःख की बात है कि आज मेरे पति राज्य छोड़कर घर से जंगल में चले गये। इसलिए अब मुझे यहाँ क्या करना है, मैं भी अपने स्वामी के समीप चलूँ, क्योंकि शास्त्र द्वारा पति ही स्त्री का प्रथम शरणस्थान विहित है। तात्पर्य यह कि पति के न रहने पर ही पुत्र आदि स्त्री के शरणस्थान कहे गये हैं। यों विचार करके अपने पति के समीप जाने के लिए चूडाला उठी, वह छोटी खिड़की के रास्ते निकलकर आकाश में चली गयी। सिद्ध समूहों को अपने मुख से द्वितीय चन्द्रभ्रान्ति पैदा करती हुई वायु द्वारा उस योगिनी ने आकाशमार्ग से भ्रमण किया। अनन्तर रात में खड्ग लेकर जा रहे तथा एकान्त स्थान में वेतालों के घूमने योग्य समय में यानी रात में प्रकाशमान अकेले भ्रमण कर रहे अपने पति को उसने देखा। आकाशकोटर में स्थित होकर उस तरह अकेले निर्जन वन में भटक रहे अपने स्वामी को देखकर वह चूडाला भलीभाँति अपने स्वामी के भविष्यत्कालीन सब पदार्थों के विषय में विचार करने लगी। हे राघव, जैसे, जिस निमित्त से, जिस देश और जिस काल में, जितने कार्य का जिस रीति से अभ्युदय और जिस प्रकार निरतिशय भूमानन्दविश्रान्ति प्राप्त करनी होगी – इत्यादि जो कुछ अपने पति का अवश्य भवितव्य था, सबको योगबल से प्रत्यक्ष देखकर वह चूडाला उसीके अनुकूल आचरण करने के लिए आकाश से लौट आई। अब आगे मेरा गमन न हो, क्योंकि अति चिरकाल के बाद मुझे अपने पति के पास जाना पड़ेगा, यही नियति का निश्चय है। यों सोचकर चूडाला ने फिर अपने अन्तःपुर में प्रवेश कर, भगवान् शंकर के मस्तकपर चन्द्रकला की नाईं, अपने बिस्तर पर आकर सो गयी। किसी कारणविशेष से यह राजा इस समय कहीं बाहर चले गये हैं – यों सब नागरिक जनों को आश्वासन देकर वह अंगना निश्चिन्त अवस्थित हो गयी। जिस तरह धान की रखवाली करनेवाली स्त्री समय से पके हुए धान के खेत की रक्षा करती है, उसी तरह वह चूडाला समदृष्टि से अपने स्वामी के उसी क्रम से राज्य की रक्षा करने लगी। हे श्रीरामचन्द्रजी, उस समय एक दूसरे का मुख न देखनेवाले, राज्य और जंगल के

पालन में तत्पर हुए उस तरह से स्थित उन दोनों स्त्री और पुरुष का काल व्यतीत हो रहा था। राजा शिखिध्वज का जंगल में तथा चूडाला का अपने घर में दिन के पीछे पक्ष, पक्ष के पीछे मास और मास के पीछे वर्ष बीतता चला जा रहा था। हे रामभद्र, अधिक यहाँ आपसे कहने की क्या आवश्यकता ? अट्ठारह वर्ष तक अँगना चूडाला ने अपने सदन में और राजा शिखिध्वज ने वन के गुच्छों में निवास किया। इसके बाद अनेक वर्षों के लगातार व्यतीत हो जाने पर महाशैल तट के कोटर में निवास कर रहे राजा शिखिध्वज को वृद्धावस्था ने आकर घेर लिया। अपने स्वामी की रागादि वासनाओं के पाक को दृष्टि में रखकर चूडाला ने उतने काल की खूब प्रतीक्षा की। इसके बाद वृद्धावस्था से युक्त राजा शिखिध्वज के अनेक वर्ष वन में जब व्यतीत हो गये तब पति के बोधनरूप आत्मकार्य की वैसी भवितव्यता से उसको यह विचार हुआ कि पति के समीप गमन का मेरा यही समय है। ऐसा सोचकर उसने मन्दराचल के वन में जाने के लिए विचार किया और रात में अन्तःपुर से निकलकर आकाशमार्ग में उड़ गयी। वायुमण्डल में होकर वह गयी। आकाशमार्ग में जा रही उसने कल्पवृक्ष के वस्त्रों से आच्छन्न तथा रत्नस्तम्बकों से विभूषित, नन्दनवन की निवासिनी अपने प्रेमियों में अनुरक्त सिद्धों की अभिसारिकाओं का अवलोकन किया। चन्द्रकलाओं का स्पर्श करनेवाले, हिमकण के वर्षी, उत्तम सिद्धों द्वारा मन्दारमाला, हरिचन्दन, कस्तूरी आदि की सुगन्धता का ग्रहण करनेवाले मारुतों का उसने स्पर्श किया। चन्द्रबिम्बरूपी पीयूषसिन्धु की महातरंगों की परम्पराभूत निर्मल ज्योत्स्ना का आकाश के बीच में जाकर-उसने अवलोकन किया। मेघों के भीतर से जा रही उस चूडाला ने मेघों में संलग्न तथा अपने स्वामी से अवियुक्त विद्युतों का उसने बार-बार अवलोकन किया। और अपने मन-ही-मन वह बोलने लगी - अहों, जीवनपर्यन्त देहधारियों का स्वभाव कभी शान्त नहीं होता। आज मेरा भी मन उत्कण्ठित हो ही गया। अहो, प्रेम में प्रवण तथा मृगेन्द्र की नाईं स्कन्धवाले अपने कान्त को पुनः मैं कब देखूँगी ? अहो, विवेकादि के द्वारा बोधित हो रहा भी मेरा मन आज यों उत्कण्ठित हो रहा है। अहा, मंजरियों के जालों से वेष्टित लताएँ अपने वृक्षरूपी पति को क्षणभर के लिए भी नहीं छोड़तीं, इसलिए मेरा भी मन उत्कण्ठित हो रहा है। जैसे देवयोनि में उत्पन्न यह सिद्धाभिसारिका (अप्सरा) अपने कान्त के पास जा रही है, वैसे ही मैं भी कब अपने कान्त के पास जाऊँगी ? इसी विचार में मेरा भी मन लगा हुआ है। अहो, ये मन्द-मन्द पवन, ये चन्द्रकिरण और ये वन की राजियाँ मुझे भी उत्कण्ठित कर रही हैं। हे अज्ञ चित्त, व्यर्थ ही हृदय में ताण्डवित होकर तू क्यों स्थित है ? हे साधो, तुम्हारी आकाश की तरह निर्मल विवेकता कहाँ चली गयी ? अथवा हे सखे चित्त, तुम्हारा यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि तुम अपने स्वामी के प्रति उत्कण्ठित हो रहे हो। हे चित्त, तुम उत्कण्ठा से परिपूर्ण बैठे रहो, तुम्हारे उत्कण्ठित होने से मेरा क्या ? (अब अपने शरीर से कहती है।) हे स्त्री शरीर, जिसे आलिंगन के लिए समुत्सुक हो रहे हो, वह तुम्हारा स्वामी तुम्हारी तनिक भी परवा न कर अब बिलकुल वृद्ध हो गया होगा। वह तपस्वी कृश शरीर तथा वासनाशून्य हो गया होगा। मैं समझती हूँ, अब उसका मन राज्यादि के अभोग के लिए निर्मूलता को पहुँच गया होगा। तथा जैसे वर्षाकाल की क्षुद्र नदी महानद में मिलकर उससे पृथक् नहीं रहती, वैसे ही उसकी वासनारूप लतिका महान् आत्मा में मिलकर अब उससे पृथक् नहीं रहती होगी। वह एकान्त में आसक्त अतएव एकात्मा हो गया होगा, उसकी इच्छाएँ समाप्त हो गयी होगी तथा वह वासनाओं से

शून्य हो गया होगा। मैं समझती हूँ, यद्यपि मेरा स्वामी अब शुष्क वृक्ष के समान स्थितिवाला हो गया होगा यानी वह बिलकुल बोधशून्य हो गया होगा, तथापि हे चित्त, तुम्हें उत्कण्ठित होने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि मैं योग से यानी आगे कहे जानेवाले उपाय से स्वामी की बुद्धि को तत्त्वज्ञ बनाकर प्रारब्धशेषोपभोग की उत्कण्ठा से युक्त उन्हें तुम्हारे साथ संश्लिष्ट करा दूँगी, तुम उत्कण्ठा मत करो। मैं अपने मुनि हुए स्वामी के मन को सम बनाकर राज्य करने में ही नियुक्त करूँगी और उसके बाद हम दोनों सुख से चिरकाल तक निवास करेंगे। अहो, चिरकाल के बाद मैं इस शुभ मनोरथ को प्राप्त करूँगी, क्योंकि मैं अपने स्वामी को तत्त्वबोध से अपने ही समान आभ्यन्तर और बाह्य अर्थों में विचारयुक्त प्राप्त करूँगी। जो समान मन की वृत्तियों के संगम के आस्वादन में सुख मिलता है वही समग्र आनन्दसमूहों के ऊपर स्थित है। यों चिन्तन कर रही चूडाला आकाशमार्ग से पर्वतों, देशों, मेघों तथा दिगन्तों को लाँघ करके मन्दराचल की कन्दरा में जा पहुँची। अदृश्यरूप से आकाश में स्थित हुई ही वह चूडाला जंगल के मध्य में उस तरह प्रविष्ट हो गयी, जिस तरह वृक्षों और लताओं के स्पन्द से अनुमेय गमनागमनवाली वायुमंडली। वन के किसी एक कोने में पर्णकुटी बनाकर ठहरे हुए अपने पति को देखकर उसने समाहित चित्त से अन्य शरीर में स्थित–जैसा समझा। हे श्रीरामचन्द्रजी, जो पहले हार, केयूर, कटक और कुण्डल आदि से विभूषित सुमेरू के समान कान्तियुक्त रहता था, उसीको यहाँ उस चूडाला ने कृशगात्र, कृष्णवर्ण और जीर्णपत्र–सा अवस्थित देखा। काजलमय जल में स्नान किये हुए–जैसे, इच्छाओं से शून्य, भगवान् शंकर के प्रसिद्ध द्वारपाल भृंगीश के सदृश अवस्थित, वल्कल वस्त्रधारी, शान्त, अकेले जमीन पर बैठकर देवताओं और अतिथियों की पूजा के लिए फूलों की माला गुँथ रहे, जटाओं से चिह्नित उस अपने पति को देखकर सर्वांगसुंदरी तथा स्थूल स्तनवाली चूडाला कुछ उदास–सी होकर अपने मन–ही–मन यों कहने लगी – अज्ञानभरी कैसी विषम मूर्खता है। मूर्खता के प्रसाद से ऐसी ही दशाएँ आया करती हैं। चूँकि यह लक्ष्मीवान् राजा मेरा अतिप्रिय पति हृदय में गाढ़ मोह से आहत इस दशा को प्राप्त हो गया है, इसलिए इस पर्णकुटी में आज ही अवश्य अपने नाथ को आत्मज्ञानी बनाऊँगी तथा भोग और मोक्षश्री दिलाऊँगी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इस रूप को छोड़कर अन्य किसी दूसरे रूप से सर्वोत्तम ज्ञान देने के लिए अब मैं इन के समीप चलती हूँ॥१–५३॥

इस रूप का क्यों परित्याग कर देना चाहिए, इस पर कहते हैं।

यदि मैं इसी रूप से इसके पास जाती हूँ तो यह बाला मेरी कान्ता है, यह समझकर मेरा कहना अच्छी तरह नहीं करेगा, इसलिए तपस्वी के रूप से सामने जाकर क्षणभर में ही पति को बोधित करती हूँ ॥५४॥

पहले ही तपस्वी के वेष से उसे क्यों नहीं बोधित किया, इस पर कहते हैं।

अब मेरा स्वामी रागादि वासनाओं के परिपाक से परिपक्वमति होकर स्थित है। इसके विमल चित्त में आत्मतत्त्व भलीभाँति प्रतिबिम्बित होगा, यों विचाकर चूडाला ब्राह्मणपुत्र बन गयी॥५५,५६॥

वह चूडाला ब्राह्मणकुमार कैसे बन गयी, यह बतलाते हैं।

पूर्वोक्त अग्नि और चन्द्र की धारणारूप किंचित् ध्यान से एक ही क्षण में जलतरंग की नाईं पुरुषरूपता को प्राप्त हो गयी और ब्राह्मणकुमार का रूप धारण करके वह चूडाला उसी जंगल में जा

गिरी। मन्द मुस्कान से शोभ रहे मुखवाली वह चूडाला अपने स्वामी के आगे आ धमकी और शिखिध्वज ने अपने सामने आकर खड़े हुए उस ब्राह्मणकुमार को देखा, जो एक दूसरे जंगल से आए हुए मूर्तिमान् तप के सदृश अवस्थित, पिघल रहे सुवर्ण के समान गौरांग, मोतियों के हार से विभूषित, शुक्ल यज्ञोपवित से विराजमान, शुक्ल दो वस्त्रों से आवृत्त, कमण्डलधारी तथा अत्यन्त कान्ति से युक्त सामने आकर खड़ा था। मणिबन्ध से नीचे द्विगुण बाह्य प्रदेश को व्याप्त करनेवाली, हस्तप्रमाण, बहुत लम्बी न होने के कारण भूमि में न लगी हुई सुन्दर अक्षमाला से सुशोभित, भ्रमरों की माला से व्याप्त कमल की नाईं कुन्तलों (सिर के बालों) से व्याप्त मस्तकवाले, शरीरके दीप्तिमण्डलों से उस प्रदेश को प्रकाशित कर रहे, कुण्डलों से विभूषित मुखवाले, नवीन उदित सूर्य के समान, अपनी शिखा में मन्दार की माला पिरोये हुए, अतएव जिसके शिखर पर चन्द्रमा स्थित है ऐसे पर्वत की नाईं स्थित, कान्त तथा उपशान्त शरीरधारी, बलशाली जितेन्द्रिय, हिम के समान कान्ति से युक्त भस्मतिलक से सुशोभित, अतएव भूषित आलोक की नाईं सुन्दर तथा सुमेरू पर्वत की सुवर्णतटी में अवस्थित गंगाप्रवाह में प्रतिबिम्बित पूर्ण चन्द्रमा की नाईं चंचल उस ब्राह्मण कुमार को देखकर राजा शिखिध्वज उठ खड़ा हो गया। देवपुत्र के आगमन की बुद्धि से अपनी खड़ाऊँ छोड़कर राजा शिखिध्वज ने कहा : हे देवपुत्र, आपको नमस्कार है, यह आपके लिए आसन है, कृपाकर इस पर बैठ जाइये। यों कहकर अपने हाथ से उसको पत्रनिर्मित आसन दिखलाया और उस ब्राह्मणकुमार के करतल में पुष्पमुष्टि उस तरह दी, जिस तरह कुमुदखण्ड के पल्लव में चन्द्रमा हिमकणजाल देता है। उस ब्राह्मणकुमार ने भी कहा : हे राजर्षे, तुम्हें नमस्कार है। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे महाभाग देवपुत्र, आपने कहाँ से आगमन किया ? मैं आज का दिन सफल समझता हूँ, क्योंकि आज मैंने आपका दर्शन किया है। हे मानद, यह अर्घ्य है, यह पाद्य है, ये फूल हैं और गुँथी हुई ये मालाएँ हैं, लीजिए, आपका कल्याण हो। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे पापशून्य श्रीरामचन्द्रजी, यों कहकर ब्राह्मण-कुमार वेषधारी उस अपनी प्रियतमा को राजा शिखिध्वज ने अर्घ्य, पाद्य, माला और पुष्पादि शास्त्रोक्त विधि से दिये। चूडाला ने कहा : हे राजर्षे, इस भूतल पर मैंने अनेक जगहों में परिभ्रमण किया परन्तु जैसी पूजा मैंने तुमसे प्राप्त की, वैसी किसी दूसरे से नहीं। हे अनघ, तुम्हारे इस कोमल अनुरूप विनय से मैं समझता हूँ कि तुम निश्चय अत्यन्त चिरंजीवी होओगे। हे साधो, क्या शान्त मन से उदार तप तुमने मोक्ष के लिए संचित किया है, जहाँ फल के संकल्प बहुत दूर फेंक दिये गये हैं। हे सौम्य, यह जो तुमने अपने विस्तृत राज्य को छोड़ कर इस महा जंगल का सेवन किया है वह क्रोधशून्य, वनस्थ यतियों का व्रत तलवार की धार के समान है ॥५७-७५॥

राज्य का परित्याग और मोक्ष के लिए तपस्या का आचरण - इन दोनों की अज्ञात दशामें प्रशंसा नहीं हो सकती, इसलिए तपस्या द्वारा उसमें सर्वज्ञता की सम्भावना करता हुआ राजा शिखिध्वज रूपादिसम्पत्ति से उस ब्राह्मणकुमार की प्रशंसा करता है।

राजा शिखिध्वज ने कहा : भगवन्, आप देव हो, सब कुछ जानते हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? अपने लोकोत्तर चिह्नयुक्त सौन्दर्य से ही आप महाप्रभावशाली मालूम पड़ते हो। मेरी बुद्धि तो यह कह रही है कि ये आपके सब अंग अमृतमय चन्द्रमा से विरचित हैं अथवा मेरा अधिक कहना व्यर्थ है, आप अपने सम्यक् वीक्षण और देह की कान्ति से मानों अमृत से मुझे सींच रहे हो। हे सुन्दर, मेरी प्रियपत्नी

है, जो आजकल मेरे उस राज्य की रक्षा कर रही है। उसके समान आपके ही वे अंग मुझे यहाँ दीख पड़े हैं। मस्तक से लेकर पैर तक यह आपका उपशान्त तथा कमनीय शरीर है, इसे आप मेरे द्वारा दी गयी माला से, शुभ्र मेघ से मेरुशिखिर की नाईं, ढक दीजिये। कलंकशून्य चन्द्रमा के समान तथा पुष्पदल की नाईं कोमल आपका यह अंग सूर्य के तेज से ग्लानि को प्राप्त हो रहा है, ऐसा मैं समझता हूँ। हे सुन्दर, यह ऐसी सफेद फूल की माला मैंने देवार्चन के लिए गुँथी है, वह आपके अंग के संग से कृतार्थता को प्राप्त हो जाय ॥७६–८१॥

अतिथिपूजन देवार्चन से भी बढ़कर है, इसलिए अकेला अतिथिपूजन ही जन्मसाफल्य में हेतु है, फिर आपकी पूजा में तो मुझे दोनों की प्राप्ति एक साथ हो गयी, अतः मेरा जीवन तो सफल है ही, इस आशय से कहते हैं।

अपने निकट आये हुए अतिथि की पूजा से जीवन सफल हो जाता है, क्योंकि सज्जनों को अभ्यागत जन देवता से भी अधिक पूज्य हैं। हे विमलचन्द्र के तुल्य मुखवाले, मेरे द्वारा समर्पित पूजा ग्रहण के बाद, आप मेरे इस सन्देह को दूर कीजिये कि आप कौन हैं, किसके पुत्र हैं और इस दीन के ऊपर दया करके कहाँ से किसलिए आये हैं ? ब्राह्मण ने कहा : हे राजन्, जैसा आपने मुझसे पूछा है वह सब मैं आपसे कहता हूँ, आप सुनिये। भला ऐसा कौन पुरुष है, जो एक विनम्र प्रश्नकर्ता को ठगे – धोखा दे। पुण्यलक्ष्मी के कमनीय मुख में सुगन्धित कर्पूर के तिलक के सदृश गौरांग शुद्धात्मा नारद मुनि इस जगती कोश में हैं। वह देवमुनि (नारद) सुमेरु पर्वत की गुहा में किसी समय ध्यानावस्थित थे। वहीं सुमेरुतट में विशाल तरंगवाली गंगाजी बहती हैं। जो मेरु के सौन्दर्य से प्रकाशमान रूपवाली गंगा हारलता की नाईं भासित होती हैं। उसी गंगा नदी के तट पर एक समय ध्यान के अन्त में नारदमुनि ने शब्द कर रहे कंकणों से युक्त जलक्रीडा की कोलाहल ध्वनि सुनी और यह क्या सुनाई दे रहा है, यों कुछ कौतूहल से युक्त हो गये। कौतुक से नदी की ओर देखते हुए उन्होंने जलसेचनादि क्रीड़ा करके जल से निकले हुए रम्भा, तिलोत्तमा आदि ललनाओं का (अप्सराओं का) समूह देखा। स्वर्णकमल के कुंडलों के सदृश स्तनमण्डलों से अलंकृत वह पुरुषरहित प्रदेश में वस्त्र छोड़कर क्रीड़ा कर रहा था। परस्पर एक दूसरे से मिल जाने के कारण वह फलों से सुशोभित वृक्ष की नाईं, प्रतीत हो रहा था, पिघले हुए सुवर्णरस के प्रवाहातिशय के सदृश कान्तिसंस्थान से प्रकाशमान जंघाओं से अपने काममन्दिर के लिए मानो खम्भों का संचय कर रहा था। वह अपने जल की निर्मलता से निर्मल बनाये गये चन्द्रमा से सर्वत्र व्याप्त व्योमविलासिनी मन्दाकिनी को भी अपने देहलावण्यरसप्रवाह से मानों तिरस्कृत कर रहा था। नन्दनवन में कामदेव की क्रीडा के साधनभूत रथ के चक्रभूत नितम्बतटरूप सेतुओं से प्रवाह का निरोध हो जाने के कारण वह गंगाजल को भी उलटे मार्ग में पहुँचा रहा था। उस यूथ में विद्यमान प्रत्येक अप्सरा इतनी निर्मल थी कि एक दूसरे के लिए दर्पण बन गयी थी। अतएव उनके समस्त अंग चारों ओर एक दूसरे में प्रतिबिम्बित हो गये थे। सभी जगह उनके समस्त अंग दिखाई पड़ते थे। इसलिए 'सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोक्षिशिरोमुखम्' इसमें प्रसिद्ध कालात्मा भगवान् से उत्पन्न विश्वरूप से वह स्थित था। समस्त संकल्पित फलों का दाता होने से गीतोक्त कालात्मा भगवान् का कल्पतरुरूप से वर्णन करते

हैं। कालात्मारूपी कल्पतरु के प्रभव आदि साठ संवत्सर ही शाखा हैं, पक्ष ही पल्लव हैं, विविध ऋतु उसकी लताएँ हैं, दिनश्री उसकी कलिकाएँ हैं, आलोक ही कुसुम रज हैं, गगनकानन में (नन्दन वन में) वह उत्पन्न है, वह चमकीले जलमय शरीरवाले देवरूप पक्षियों से चारों ओर व्याप्त है, सात समुद्र ही उसकी क्यारियाँ हैं, ऐसे कल्पतरुरूप व्यापक विष्णु से उत्पन्न विश्वरूप-सा वह ललनागण स्थित था। एक दूसरे के स्तनरूपी पुष्प गुच्छों में तथा कमलमुकुलों में समान सौन्दर्य का अनुभव होने के कारण उत्पन्न स्पर्धा से नालदण्ड से उखाड़-उखाड़ कर हिलाने के कारण अतिरसपूर्ण कमल-पल्लवों को उस यूथ ने विदलित कर दिया था। उसके मुखरूप कमलों में चंचल लट, दीर्घकेश, अक्षितारे तथा ललाट में गुँथे हुए नीलमणि भ्रमररूप से राजित थे। अमृतनिधि का संचय करना ही जिनका स्वभाव है, ऐसे देवताओं द्वारा अमृत का अपहरण करनेवाले राहु आदि द्वारा – सम्भावित विपत्ति का विनाश करने के लिए एकान्त सुमेरुगुहा के अन्दर; जो गुहा साधारण प्राणि की अगम्य, खिल रहे सुवर्ण कमल के सदृश सुशोभित, पद्मिनी के पल्लवों से ढकी, शीतल गंगाजी के किनारे पर विद्यमान तथा उसके जल से क्षालितमल थी; – मानों एकत्र बटोरे गए चन्द्रबिम्ब की कलाओं के पुंजरूप से स्थित उन सुन्दर स्त्रियों का अवलोकन कर तत्काल ही मुनि का मन उनमें आसक्त हो गया और विवेक की मात्रा का परित्याग कर प्रमत्त हो स्फुरित होने लगा। हे राजन्, जब मुनि का चित्त आनन्द से सराबोर हो गया और चित्तविकृति के कारण प्राणवायु में क्षोभ हुआ, तब उस हृष्टचित्त नारद का वीर्य उस प्रकार स्खलित हो गया, जिस प्रकार रस से परिपूर्ण फल ग्रीष्म की समाप्ति में मेघ तथा विच्छिन्न शाखा-मूल वाला नवीन वृक्ष अपने स्थान से स्खलित हो जाता है। जल कण बरसानेवाले चन्द्रमा के सदृश वह मुनि उस प्रकार गलित शुक्र हुए, जिस प्रकार द्विधा खण्डित मृणालतन्तु गलितशुक्र (सार) होता है। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे ब्रह्मन्, नारदजी समस्त लोक में विख्यात भी हैं, सर्वज्ञ भी हैं, जीवन्मुक्त भी हैं, निरीह भी हैं, रागरहित भी हैं, मुनियों में उनकी बराबरी का कोई है भी नहीं, बाहर और भीतर आकाश के सदृश विशद भी हैं, फिर ऐसे मुनि दर्शनमात्र से विकृतचित्त होकर स्खलित वीर्य कैसे हुए ? ॥८२-१०६॥

प्रबलतर प्रारब्ध से तत्त्वज्ञानियों की भी विवेकमात्रा तिरोहित हो जाती है, इसलिए किसी समय देहधर्मों के वशवर्ती वे हो ही जाते हैं, ऐसा कहते हैं।

चूडाला ने कहा : हे राजर्षे, तीनों जगत् में सभी भूतजाति का, देव आदि का भी यह शरीर स्वभावतः दो रूपवाला ही है। हे प्रिय, इस जगत् में चाहे अज्ञानी हों या ज्ञानी। अपने विनाशपर्यन्त सभी शरीर सुख-दुःखात्मक ही कहे जाते हैं ॥१०७,१०८॥

सुख-दुःखरूपता ही दृष्टान्त से बतलाते हैं।

राजन्, तृप्ति आदि के साधन किसी पदार्थ से सुख उस प्रकार बढ़ता है, जिस प्रकार दीपक से प्रकाश और चन्द्रमा से महासागर। क्षुधा आदि किसी पदार्थ से दुःख उस प्रकार बढ़ता है, जिस प्रकार मेघरूपी पट से रात में अन्धकार बढ़ता है, इन सब विषयों में केवल स्वभाव ही एकमात्र कारण है ॥१०९,११०॥

जब ज्ञानियों को भी क्षणभर आत्मविस्मृति होने पर ऐसी अनर्थपरम्परा आती है तब अज्ञानियों की

तो बात ही क्या है, इस आशय से कहते हैं।

एक निमेष मात्र के लिए भी सत्य निर्मल स्वरूप यदि विस्मृत हो जाय, तो वर्षाकाल में मेघ के सदृश यह दृश्यरूप अनर्थ उल्लसित हो उठता है। निरन्तर आत्मतत्त्व का अनुसन्धान करने से जब उन्मेषमात्र भी आत्मतत्त्वस्वरूप विस्मृत नहीं होता, तब यह दृश्यरूपी पिशाच चित्त में उल्लसित नहीं होता। निष्कर्ष यह निकला कि किसी समय भी दृश्य उल्लसित न हो जाय, इसलिए निरन्तर ही समाधि से अपने स्वरूप का स्मरण करते रहना ही चाहिए। जैसे अन्धकार और प्रकाश के कारण दिन और रात अपनी–अपनी स्थिति प्राप्त किये हुए हैं वैसे ही सुख और दुःख से यह शरीर अपनी स्थिति किये हुए हैं ॥१११–११३॥

यों ज्ञानी और अज्ञानी दोनों में प्रारब्ध फलभोग एक–सा होने पर भी राग–अरागजनित विशेष है ही, इसका दृष्टान्त द्वारा उपपादन करते हैं।

यों देह में ही आत्मरूपता का अवलोकन करने के कारण सुख–दुःख दोनों अज्ञानीयों मे ऐसे दृढ़रूपता को प्राप्त हो गये हैं; जैसे पट में केसर दृढ़रूपता को प्राप्त हो जाता है। हे प्रिय, आत्मतत्त्वज्ञान के प्रभाव से तत्त्वज्ञानी में तनिक भी ये सुख–दुःख उस प्रकार नहीं लगते, जिस प्रकार स्फटिक मणि में केसर आदि रंगों का सम्बन्ध होने पर भी केसर आदि रंग नहीं लगते ॥११४,११५॥

अब स्फटिक की अपेक्षा भी ज्ञानी में अधिक स्वच्छता होने से विशेष बतलाते हैं।

राजन्, जैसे समीप में विद्यमान जपाकुसुम आदि रंजक द्रव्यों के कारण स्फटिक मणि लालिमा आदि कुछ काल के लिए धारण करता है, वैसे आत्मतत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त मुनि बोध के प्रभाव से समीप में पदार्थों के रहने पर भी उनसे सुख–दुःख आदिका सम्बन्ध प्राप्त नहीं करता ॥११६॥

अज्ञानियों को सुख–दुःख घनरूप से प्राप्त होते हैं, यह जो पहले कहा था उसका वर्णन करते हैं।

चूँकि अज्ञानियों की बुद्धि वस्तुओं के हट जाने पर भी अत्यन्त सन्तप्त रहती है, इसलिए वस्तुओं के सम्बन्धमात्र से उनकी बुद्धि दृढ़ आसक्त हो जाती है, यह निश्चित ही है। जैसे केसर का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाने पर भी वस्त्र उसका रंग नहीं छोड़ता, वैसे ही वस्तुका सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाने पर भी विषयों का अनुराग अज्ञानी नहीं छोड़ता। हे राजन्, इसी क्रम से ये बन्ध और मोक्ष दोनों अवस्थित हैं। विषयभावना का विनाश ही मोक्ष है और विषयों की दृढ़ भावना ही बन्ध है। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे प्रभो, दूरस्थ या समीपस्थ राज्य या पुत्र आदि के लाभ से सुख और उनके विनाश से दुःख होता है। सुख और दुःख की उत्पत्ति में हेतुभूत इष्टप्राप्ति और इष्टविनाश रूप कारण का लाभ होने पर उत्पन्न होनेवाले सुख और दुःख जीव में कैसे आ जाते हैं ? यह मुझसे कहिए। हे प्रभो, आपका वचन अनेक अर्थों से परिपूर्ण, अत्यन्त उदार और अतिस्वच्छ (अतिस्पष्टार्थक) होता है, इसलिए घनगर्जन में मयूर की नाईं आपके वचनों के श्रवण में तृप्ति ही नहीं होती ॥११७–१२१॥

सबसे पहले सुखोत्पत्ति का प्रकार बतलाते हैं।

चूडाला ने कहा : समीपस्थल में शरीर, चक्षु, हाथ आदि साधनों से तथा दूर स्थान में अनुमान आदि साधनों से अपनी उत्पत्ति में कारणभूत अभीष्ट वस्तु का लाभ कर अपने व्यापकस्वरूप को न जाननेवाली यह बाला सुखसंवित्ति अपने आप ही उल्लसित होती है। बुद्धि में अवस्थित आत्मसुखसंवित्ति बुद्धि के क्षोभ से स्वयं क्षुब्ध होकर कुण्डलिनीगत जीव के प्रति स्वयं ही चिनगारी के सदृश आर्विभूत हो जाती है।

जीव के लिए देह में अवस्थित नाडियाँ पृथक् रूप से नियत हैं। प्राण से पूरित हुई उन नाड़ियों के अन्दर, विषयस्पर्श से प्रबुद्ध हुआ स्फुरणशील जीव उस प्रकार प्रविष्ट हो जाता है, जिस प्रकार मूल में सींचा गया जल नाली द्वारा समस्त द्रुमलताओं के अन्दर प्रविष्ट हो जाता है। सुखसंवित्ति के संचरण में तथा दुःखसंवित्ति के आगमन में देह में विद्यमान नाड़ीमार्ग अलग-अलग ही जीव के लिए नियत हैं, एक नहीं। निरन्तर सुखानुभव करनेवाले राजा आदि में यह स्वस्थता जैसी स्फुरित होती है, वैसी दुःखानुभव करनेवाले पुरुष में स्फुरित नहीं होती। ठीक ही है, लोक में भी देखा जाता है – शोभन वेषवाले राजा आदि के लिए कपूर, चन्दन आदि से सुगन्धित जल से सींचे गये जो मनोहर मार्ग होते हैं वे अशोभन वेषवाले निम्न श्रेणी के जीवों के लिए नहीं होते। जिस समय यह जीव उन तरलतर नाड़ी मार्गों में प्रविष्ट न होकर अस्फुरणशील हो जाता है, उस दशा में ही सर्वविध प्रपंच दुःखों से निर्मुक्त इसे मुक्त जानिये। और जब तक तरलतर नाड़ी मार्गों में प्रविष्ट होकर क्षुब्ध-प्राण हो खूब स्फुरित होता रहता है तभी तक सर्वविध प्रपंच दुःखों से बद्ध इसे बद्ध जानिये। राजन्, सुख और दुःख के अनुभव के लिए चित्त का बाहर जो स्पन्दन है वही जीव का बन्ध है, दूसरा नहीं, इसलिए इस स्पन्द का अभाव हो जानेपर जीव का मोक्ष हो ही जायेगा, यों संसरण और असंसरण द्वारा बन्ध और मोक्ष की दो तरह से व्यवस्थिति है, यह मैंने कहा। इन शठ इन्द्रियों द्वारा जब तक सुख और दुःख की अवस्था लायी नहीं जाती तब तक जीव शान्त-सा सुखपूर्ण और सौम्य रहता है। सुख और दुःख को देखकर यह स्वप्रकाशात्मा जीव चंचलरूप होकर उस प्रकार भीतर उल्लसित हो उठता है, जिस प्रकार चन्द्र को देखकर समुद्र। हे प्रिय, इस सुख आदि की सामग्री से या सुख-साधन धन आदि में प्रियत्वज्ञान से जीव, मांस से बिल्ली की नाईं, जो क्षुब्ध हो उठता है, इसमें कारण केवल अपने स्वरूप को न जानना ही है। विशुद्ध, स्वात्मज्ञानस्वरूप अवश्य ज्ञातव्य आत्मा के बोध से सुख और दुःख आदि का अस्तित्व उड़ जाता है, इसलिए उसीसे यह जीव विश्रान्ति की ओर जा सकता है। न तो वास्तव में वे सुख आदि हैं, न वे मुझको लगते ही हैं। निरर्थक ही यह मैं उनके चक्कर में आकर स्थित हूँ, यों तत्त्वज्ञान से जब जीव प्रबुद्ध हो जाता है तब वह मुक्ति प्राप्त करता है और शान्त हो जाता है। सुख आदि कोई वस्तु है ही नहीं, इसलिए वे आत्मस्वरूप कभी नहीं हो सकते, इस प्रकार के भीतरी आत्मबोधरूप संवित्ति से जब जीव सुखादि की ओर ताकता नहीं, तब वह विशुद्धरूप से शान्त हो जाता है। यह सब कुछ चिदाकाश ब्रह्मरूप ही है, इस प्रकार का अखण्ड निश्चय जब स्थिति प्राप्त कर लेता है तब, तेलशून्य दीपक की तरह, जीव निर्वाण को प्राप्त हो जाता है। सुख आदि स्नेह का विनाश हो जानेपर दीपक के समान जीव शान्त हो जाता है। यह दृश्यमान समस्त जगत् ब्रह्मस्वरूप है, इस प्रकार की अखंडाकारवृत्ति से जनित जो ऐक्य भावना है, उस भावना से पुरुष सम्पूर्ण जगत् में शून्यरूपता का अनुभव कर कदापि क्षोभ को प्राप्त नहीं करता॥१२२-१३८॥ अद्वितीय ब्रह्मभावना के कारण भेदशून्यत्व और बन्धशून्यत्वरूप से जाने गये जीव में क्षोभविभ्रम हो ही कैसे सकता है? *(तब जीव में क्षोभविभ्रम आया कहाँ से? इस प्रश्न पर कहते हैं।)* हे प्रिय, इस प्रकार के कल्पित प्रथम जीवात्मा हिरण्यगर्भ ने ही 'सब जीवों के रूप में यों मैं संसारी होऊँगा एवं अपने तत्त्वज्ञान से मैं क्रमशः मुक्त भी हो जाऊँगा' इस तरह की अपनी कल्पना से बन्ध और मोक्षमार्ग की कल्पना कर आदि सर्ग से जो प्रथा चलाई है, उसीका यह व्यष्टि जीव भी अनुकरण करता है। हे देवपुत्र, सुखपूर्वक संचरण करने

योग्य नाडियों में जब जीव संचरण करता है, तब उसका वीर्य गिरता ही कैसे है ? अर्थात् इस सामान्य प्रश्न के व्याज से प्रकृत में नारदजी का वीर्यक्षरण कैसे हुआ ? यह विशेष प्रश्न पूछा गया। चूडाला ने कहा : राजन्, स्त्रीपिण्ड के अवलोकन के बाद रागवासना के उद्बुद्ध हो जाने के कारण क्षुब्ध हुआ जीव, सेना को राजा के समान, अधिष्ठानभूत भोक्तृचैतन्य की सम्मतिमात्र से प्राण आदि वायुओं को क्षुब्ध कर देता है ॥१३९–१४१॥ तदनन्तर मेद, अस्थि आदि के अन्दर संचरण करनेवाले व्यानवायु की प्रेरणा से समस्त अंगों में विद्यमान मेदा का अन्तर्गत सारभूत सार मज्जासार उत्तम सौगन्ध्य के सदृश अनुगत रजोभाग को (सूक्ष्म अंश को) तत्क्षण उस प्रकार छोड़ देता है, जिस प्रकार डंठल से तोड़ा गया पत्र, फल आदि अपने अन्दर स्थित जलभाग को अन्दर के वायुस्पन्द से छोड़ देता है ॥१४२॥ वह छोड़ा गया रज (सूक्ष्म अंश) सब अंगों से विचलित होकर नाडियों द्वारा नीचे मूलाधार स्थान तक ऐसे आता है, जैसे आकाश में विद्यमान मेघ आदि पुरोवात से वर्षणोन्मुख होकर नीचे भूतल पर आते हैं। फिर मूलाधार में आने के बाद नाडी द्वारा स्वभावतः ही बाहर निकल जाता है ॥१४३॥

यह जो आपने पहले कहा था, उसमें स्वभाव शब्दार्थ क्या है ? यों राजा पूछते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे देवपुत्र, वचनों से जाने जाते हैं कि आप बड़े ही तत्त्वज्ञानी हैं, आत्मज्ञान होने के पूर्व की जो संसार की स्थिति थी, उसे भी तर्कादि से आप जानते हैं, इसलिए आप कृपाकर बतलाइए कि 'स्वभाव' शब्द से क्या कहा जाता है ॥१४४॥

सृष्टि के आरम्भ में सृष्टि के उत्पादन में उत्सुक ब्रह्म प्राणियों के प्राक्तन कर्मों के अनुसार जिस–जिस धर्मवाले जिस–जिस पदार्थ के रूप से अपने आप में स्फुरित होता है, उस उस पदार्थ का प्रलय तक उस उस धर्म से युक्त रहना ही स्वभाव शब्द का अर्थ है, यह कहते हैं।

चूडाला ने कहा : प्रिय, सृष्टि के आरम्भ में सृष्टि के उत्पादन के लिए उन्मुख हुआ ब्रह्म अपने आप में जिस घट, कुण्ड, पट आदि रूप से प्रस्फुरित हुआ था, उसी रूप से आज भी व्यवस्थित है ॥१४५॥

वर्तमान समय में घट आदि में स्वभाव का वैचित्र्य कारण–सामग्री के वैचित्र्य से कदाचित् हो सकता है, परन्तु सृष्टि के आरम्भ में तो कारण–सामग्री का निरूपण कर ही नहीं सकते, इसलिए 'तालवृक्ष के नीचे कौए के आगमनकाल में ही दैववश तालफल का गिरना और उससे तत्काल उसका मर जाना जैसे अदृष्ट–जनित है, वैसे ही, वह सब आद्यवैचित्र्य अदृष्टअधीन है, इसे बतलाने के लिए ही आदि सर्ग का यहाँ कथन किया गया है, इस आशय से कहते हैं।

काकतालीय न्याय के सदृश या जल में बुलबुलों की उत्पत्ति और विनाश के सदृश या घुणाक्षर (घुन के कारण लकड़ी आदि पर बने हुए अक्षरों के समान चिह्न) के सदृश सर्गारम्भ में घट, पट आदि चित्र–विचित्र पदार्थों के रूप में जिस किसी वस्तुविशेष से ब्रह्म प्रस्फुरित हुआ, उसीको विद्वान् स्वभाव कहते हैं (📖)। उक्त अनिर्वचनीय स्वभाव के बल से उत्पन्न हुए इस जगत् में अण्डज आदि चार प्रकार

(📖) इस श्लोक में वर्तमानकालिक प्रत्येक वस्तु में जो नियत स्वभाववैचित्र्य है, उसमें सामग्री की इयत्ता का निरूपण नहीं कर सकते, इस अभिप्राय से 'वारिबुद्बुद' यह दूसरा दृष्टान्त दिया गया है। अथवा मायारूप होने से वैचित्र्योत्पत्ति आकस्मिक है, इस अभिप्राय से घुणाक्षर का तीसरा दृष्टान्त दिया गया है।

के विविध विकारात्मक जो देह यत्र तत्र चारों ओर घूम रहे हैं, उनमें कोई ज्ञानवान् देह समस्त वासनाओं के क्षीण हो जाने के कारण फिर जन्म धारण नहीं करते और अज्ञानयुक्त देह तो फिर जन्म-धारण करते हैं, क्योंकि अज्ञानी भोगों में ही दृढ़ आस्था रखते हैं ॥१४६,१४७॥

पचासीवाँ सर्ग समाप्त

छियासीवाँ सर्ग

कुम्भ से कुम्भ की उत्पत्ति, वृद्धि, ब्रह्मा के साथ उसका समागम
तदनन्तर उसकी सर्वज्ञता आदि का वर्णन।

चूडाला ने कहा : हे राजन्, मैंने प्रलयपर्यन्त सब वस्तुओं में रहनेवाले जिस स्वभाव का वर्णन किया है तथा मायाशबल आत्मा के जिस स्वभाव की श्रुतियों में प्रसिद्धि है, उस स्वभाव के वश से यह असीम जगत् उत्पन्न हुआ है। केवल वासना से अपना अस्तित्व प्राप्त कर पुण्य-अपुण्य कर्म के अधीन होकर वह स्थित रहता है ॥१॥ हे मुने, अनेक तरह की ये जो वासनाएँ हैं, उनका विनाश कर देने से प्राणी धर्म या अधर्म के फंदे में नहीं फँसता और उससे वह इस संसार में उत्पन्न नहीं होता, यह हम लोगों का साक्षात् अनुभव है ॥२॥

वासनाओं के विनाश से जन्तु संसार में नहीं आता, इस अनुभव में विशेष जानने की इच्छा से प्रस्तावित कथा की संक्षेपतः समाप्ति के लिए प्रार्थना करते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे बड़े बड़े वाग्मियों में श्रेष्ठ, आप जो वचन कहते हैं, वह अत्यन्त उदार भाव से भरा, अर्थ रखनेवाला, गूढ़, अनुभवपर तत्क्षण चढ़ जानेवाला और पारमार्थिक होता है। हे रमणीय, आपका वचनवैभव आज जो सुना गया है, उससे मैं अपनी आत्मा के भीतर उत्तम शान्ति का अनुभव उस प्रकार कर रहा हूँ, जिस प्रकार अमृत का पान करने पर आत्मा के अन्दर शान्ति का अनुभव होता है। इसलिए आप अपनी प्रसिद्ध उत्पत्ति के विषय में मुझसे कुछ कहिए, तदनन्तर प्रयत्नपूर्वक आपकी ज्ञानगर्भित वाणी का मैं श्रवण करूँगा। और ब्रह्माजी के पुत्र, उन आर्य नारद मुनि ने उस निर्गत वीर्य का किस स्थान में स्थापन किया ? यह भी यथावत् आज मुझसे कहिए। चूडाला ने कहा : हे मुने, तदनन्तर अपने मनरूपी उन्मत्त हाथी को विशुद्ध बुद्धिरूपी सुदृढ़ चर्मरज्जु से विशाल विवेकरूपी आलान में (गजबन्धन-स्तम्भ में) बाँध रहे उन नारदजी ने उस द्रवीभूत वीर्य को-जो कल्पकाल की अग्नि से गलित हुए चन्द्र के द्रव के सदृश और पारद, सुवर्ण आदि शम्भु के दिव्य वीर्य के सदृश था - पास में पड़े हुए कान्तिमान् अद्भुत स्फटिक कुम्भ में उस प्रकार स्थापित किया, जिस प्रकार चन्द्र में दूसरा चन्द्र स्थापित किया जाय। उस विशाल कमनीय मेरुपर्वत पर पड़ा हुआ वह कुम्भ कक्ष के अधोभागों में चारों ओर विपुल, गम्भीर पेटवाला, सुदृढ़ तथा पत्थरपर टक्कर लग जाने पर भी न टूटनेवाला था। नारद मुनि ने उस कुम्भ को संकल्पजनित उस क्षीररूप वीर्य से उस प्रकार भर दिया, जिस प्रकार अपने संकल्प से रचित पृथक् अमृत-प्रवाह से ब्रह्माजी ने ब्रह्मलोक के अमृत-सागर को भर दिया था। कुछ ही दिनों में उस घट में स्थित, हवन आदि क्रियाओं में नारद मुनि को मन्द कर देनेवाला वह शुभ गर्भ, अमृत-सागर में चन्द्रमा के

प्रतिबिम्ब के सदृश बढ़ने लगा ॥३–१२॥ समय पाकर उस घटने कमलपत्र के सदृश नेत्रवाले गर्भ का उस प्रकार प्रसव किया, जिस प्रकार पूर्णमास परिपूर्ण चन्द्रमा का और वसन्त कुसुमों का प्रसव करती है। कुम्भ से वह गर्भ समस्त अंगों से परिपूर्ण होकर उस प्रकार निकला, जिस प्रकार घटादिपरिच्छिन्न क्षीरसागर से क्षयवर्जित दूसरा चन्द्रमा। वह कुछ ही दिनों में शुक्लपक्ष में चन्द्रमा की नाईं बढ़ गया। उसके अंग प्रत्यंग में ऐसा सौन्दर्य निखर रहा था, जिसका निरूपण नहीं हो सकता। जब उसके सभी जातकर्म आदि संस्कार हो चुके, तब उन नारदजी ने उस बालक में विद्यारूपी धन उस प्रकार उछाल दिया, जिस प्रकार एक पात्र से दूसरे पात्र में धन। थोड़े ही दिनों में उसने यावत् विद्यास्थानों का भलीभाँति ज्ञान कर लिया। थोड़े में मुनिश्रेष्ठ नारदजी ने उस बालक को ठीक अपने प्रतिबिम्ब के समान बना डाला। पुत्ररूपी दूसरे मुनि के साथ मुनिनायक नारदजी उस प्रकार सुशोभित होने लगे, जिस प्रकार स्फटिक पर्वत में पड़े हुए प्रतिबिम्ब के साथ सन्ध्याकाल के पूर्णचन्द्र सुशोभित होते हों ॥१३–१८॥ अनन्तर वे नारदजी अपने पुत्र को लेकर ब्रह्मलोक में गये और अपने पिता ब्रह्माजी को उससे अभिवादन कराया। अभिवादन कर चुके पौत्र को ब्रह्माजी ने लेकर उससे सब वेदादि शास्त्रों के विषय में परीक्षार्थ प्रश्न पूछे। उनका समुचित उत्तर सुनकर उसे अपनी गोद में स्वयं बैठा लिया। तदनन्तर ब्रह्माजी ने उस कुम्भनामक पौत्र को केवल आशीर्वाद से सर्वज्ञ और तत्त्वज्ञान में परिनिष्ठित बना डाला। हे साधो, वह जो ब्रह्माजी का पौत्र कुम्भ हुआ, वही यह तुम्हारे सामने उपस्थित है। मैं ही नारदजी का पुत्र कुम्भ नाम का हूँ और कुम्भ से उत्पन्न हुआ हूँ। साधो, मैं ब्रह्मलोक में पिताजी के साथ सब सुखों से पूर्ण होकर रहता हूँ। क्रीडा के समय विलास कर रहे चार वेद मेरे मित्र हैं। मेरी मौसी गायत्री है मेरी माँ सरस्वती है, मेरा घर ब्रह्मलोक में है, वहीं भगवान् ब्रह्मा का पौत्र होकर मैं सुस्थिर रहता हूँ। इच्छा के अनुसार सब लोक में मैं विहार करता हूँ। सब इच्छाओं से परिपूर्ण होने के कारण घूमने में मेरा प्रयोजन केवल लीला ही है। किसी कार्यविशेष से मैं विहार नहीं करता। जब मैं भूलोक में विचरण करता हूँ तब मेरे पैर भूमि में नही लगते, अंग धूलिकणों का स्पर्श नहीं करते और मेरा शरीर कभी ग्लानि नहीं करता। हे प्रिय, आज मैं जब आकाशमार्ग से जा रहा था, तब मैंने आपको सामने देखा, इसलिए यहाँ मैं आ गया और आप से पूर्व का सब वृतान्त कहा ॥१९–२७॥

अब अपनी उक्ति का उपसंहार करते हैं।

वनवास के गुणों को तथा उसके फल चित्तशुद्धि को जाननेवाले हे महात्मन्, आपने जो कुछ पूछा, उन सबका ही मैंने अनुभव के अनुसार आपसे वर्णन किया। हे भाग्यशालिन्, उत्तम आर्यजनों के प्रश्न करने पर सत्पुरुष संभाषण करते ही हैं, क्योंकि वे आर्यजनों के साथ प्रश्न और उत्तर करने के व्यवहार में बड़े ही पटु होते हैं। वाल्मीकिजी ने कहा : भद्र, तदन्तर वसिष्ठ मुनिजी के ऐसा कहने पर दिवस बीत गया, सूर्य भगवान् अस्ताचल की ओर चले गये, वसिष्ठ मुनि को नमस्कार कर सायंकाल की विधि के लिए सभा स्नानार्थ चली गयी और रात बीत जानेपर सूर्य की किरणों के साथ–साथ ही सभामण्डप में वह फिर आ गयी ॥२८,२९॥

छियासीवाँ सर्ग समाप्त

सत्तासीवाँ सर्ग

राजा शिखिध्वज द्वारा कुम्भ की प्रशंसा, अपना दुःख रोना,
शिष्यत्व स्वीकार तथा उपदेश्य अर्थ में विश्वासप्रदर्शन आदि का वर्णन।

राजा शिखिध्वज ने कहा : महात्मन्, अनेक जन्मात्मक संसार में अनुष्ठित - एक साथ परिपक्व हो जाने के कारण फलदान के लिए स्फुरित हो रहे मेरे संचित अप्रत्यक्ष-पुण्यों द्वारा ही सचमुच इस मन्दराचल पर्वत पर, पूर्वी वायु द्वारा मेघ के सदृश, आप भेजे गये हैं, यह मैं मानता हूँ ॥१॥

आपके उपदेश से मैं अवश्य कृतार्थ हो जाऊँगा, यह सूचित करने के लिए 'मैं कृतार्थ हो ही गया' यों सिद्ध-सा मानकर कहते हैं।

हे साधो, चूँकि अमृत बहानेवाली वाणी बोलनेवाले आपके साथ मेरा समागम हुआ, इसलिए आज तो मैं बड़े-बड़े धर्मानुष्ठान से धन्य हुए पुरुषों में सबसे प्रथम स्थान में अवस्थित हो गया हूँ। सज्जनों का समागम अन्तरात्मा में जैसी शान्ति पहुँचाता है, वैसी शान्ति ये राज्य लाभ आदि बड़े-बड़े कोई भी पदार्थ नहीं पहुँचाते ॥२,३॥

राज्य-लाभ आदि की अपेक्षा साधुसमागम में महत्त्व दिखलाते हैं।

साधु पुरुषों का समागम होने पर तत्काल ही अपरिमित ब्रह्मानन्दरूप सुख-धनी, दरिद्र आदि सबमें सर्वसाधारणरूप से - स्फुरित होने लग जाता है, वहाँ राग, द्वेष आदि का विचार ही नहीं रहता। राज्यलाभ आदि तो तुच्छ सुख प्रदान करता है, यहाँ अपरिमित आनन्द की न संभावना है और न सर्वसाधारण को सुलभ ही है। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, शिखिध्वज यों कह ही रहे थे कि बीच में ही उस राजा के वाक्य को रोककर नारद मुनि के बच्चे के रूप में विद्यमान चूडाला बोलने लगी। चूडाला ने कहा : साधो, अब मेरी प्रशंसार्थ जो कुछ वचन आप कह रहे हैं, उसे रहने दीजिए। आपने जो कुछ पूछा, उसका मैंने वर्णन किया। अब मुझसे कहिए कि आप हैं कौन और इस पर्वत पर क्या कर रहे हैं ? आपका यह अरण्यवास कितने काल का हुआ यानी आपको अरण्यवास करते करते कितना समय बीत गया। वनवास कर कौन कार्य सिद्ध करना चाहते हैं, यह सत्य सत्य कहिए, छिपाइए मत, क्योंकि तपस्वी लोग असत्य बोलना जानते ही नहीं ॥४-७॥

राजा शिखिध्वज ने कहा : मुनिवर, आप देवपुत्र हैं, सभी कुछ ठीक-ठीक जानते हैं। लोकवृत्तान्त और परमार्थवृत्तान्त भी जानते हैं, फिर भी आपके जानने योग्य और दूसरी कौन-सी वस्तु कहूँ ॥८॥

हे आर्य, केवल संसाररूपी भय से भीत हो जाने के कारण मैं इस वन के अन्दर रहता हूँ। यद्यपि आप तो मुझे जानते ही हैं, फिर भी मैं आपसे कुछ संक्षेपतः कह रहा हूँ। मैं शिखिध्वजनामक राजा हूँ, राज्य छोड़कर यहाँ पर वास करके तप कर रहा हूँ । हे तत्त्वज्ञ, मैं संसार में पुनर्जन्म से अत्यन्त डर गया हूँ। पहले सुख फिर दुःख, पहले मरण फिर जन्म-यह फिर-फिर उत्पन्न हुआ ही करता है। इसलिए हे तत्त्वज्ञ, संसार से सन्तप्त होकर इन वनवीथियों में तप कर रहा हूँ ॥९-११॥ चारों ओर दिशाओं में घूम भी रहा हूँ, कठोर तप भी कर रहा हूँ, फिर भी जैसे निर्धन निधि प्राप्त नहीं करता, वैसे ही मैं असल शान्ति प्राप्त नहीं कर रहा हूँ ॥१२॥ यद्यपि यहाँ पर मेरा प्रयत्न कुण्ठित हो गया है, मैंने कोई फल भी

प्राप्त नहीं किया है, मैं असहाय भी हूँ, राज्यकाल की साधुसंगति आदि से वंचित भी हो गया हूँ, फिर भी इस वन में घुन से क्षीण वृक्ष की नाईं सूख रहा हूँ। उपवास, देवता और अतिथि की पूजा आदिरूप यह नियतक्रिया ठीक–ठीक रूप से करते–करते भी एक दुःख से दूसरे अनेक दुःखों की ओर जा रहा हूँ। हे तत्त्वज्ञ, शास्त्रानुमोदित उक्त क्रिया–विश्रान्तिरूप अमृत की हेतु होने पर भी उसे न देकर–मेरे लिए जो विष बनकर स्थित है, उसमें कारण क्या है, उसे कहिए अर्थात् कर्मसमुच्चित उपासना अमृत की हेतु है, यह 'विद्यां चाविद्यां च' इत्यादि श्रुति से जाना जाता है, उसीके आधार पर मैंने भी विश्रान्ति के लिए कर्मों के साथ–साथ उपासना का अवलम्बन किया पर उससे विश्रांति न मिलकर दुःखपरम्परा ही मिल रही है, मेरे लिए कर्मसमुच्चित उपासना विष ही बनकर बैठ गयी, अतः उसके विषरूप बनने में हेतु क्या है, कहिए ॥१३,१४॥

कर्मसमुच्चित उपासना से मुक्ति होती है, यह जो राजा को भ्रम हो गया है, वह जब तक निवृत्त नहीं किया जाता, तब तक आत्मा का उपदेश देने पर भी आत्मा जानेगा नहीं, इसलिए भ्रमनिवारणार्थ अपने को जिस क्रम का पितामह ने उपदेश दिया था, उसका श्रवण कराते हैं।

चूडाला ने कहा : साधो, किसी समय पहले मैंने अपने पितामह ब्रह्माजी से यह प्रश्न किया था कि हे प्रभो, ज्ञान और कर्म–इन दोनों में जो भी कोई एक मुक्ति का कारण हो, उसे मुझसे कहिए ॥१५॥

ब्रह्माजी ने कहा : हे पौत्र, ज्ञान ही परम श्रेय है यानी उत्तम आत्मतत्त्व का कारण हैं। केवल उसीसे भलीभाँति आत्मा का साक्षात् अनुभव हो जाता है। श्रुतियों में जो क्रियाओं का उल्लेख किया गया है, वह तो कालयापनार्थ विनोदमात्र के लिए ही है। तात्पर्य यह है कि स्वर्गादि सुखभोगरूप विनोद के लिए यद्यपि क्रियाएँ प्रवृत्त होती हैं, तथापि परिणाम में स्वर्गभोग के विरस होने के कारण वह मुख्य पुरुषार्थ नहीं हो सकता, अतः किन्हीं दूसरे प्रकार के भयंकर अनर्थों की उत्पत्ति के निवारणार्थ आयुष्यकालयापन करने के लिए ही उक्त श्रुति में क्रिया का उल्लेख किया गया है ॥१६॥

इसलिए 'विद्यां चा विद्यां च' इत्यादि श्रुति ज्ञान के अधिकारी जनों के लिए ही प्रवृत्त है। उस श्रुति में 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' यह जो मृत्युतरण तथा अमृतत्व कहा गया है, उसका अभिप्राय स्वाभाविक दुश्चेष्टानिवृत्ति में तथा आपेक्षिक अमृतत्व में है, इस आशय कहते हैं।

पौत्र भी पुत्ररूप होता है, इस अभिप्राय से ब्रह्माजी कहते हैं।

हे पुत्र कुम्भ, जिन जीवों को ज्ञानरूपा दृष्टि प्राप्त नहीं हुई है, उन लोगों के लिए क्रिया ही सबसे बढ़–चढ़कर अवलम्बन है। जिसके पास में पट्ट अम्बर (महर्घ पट्टू) नहीं रहता, क्या वह साधारण कम्बल कहीं छोड़ सकता है ? ॥१७॥

तत्त्वज्ञानी भी वर्णाश्रमक्रमानुसार कर्मकलाप करते देखे जाते हैं, फिर आप कैसे कहते हैं कि कर्मकलाप अज्ञानियों के लिए सबसे बढ़–चढ़कर शरण है ? इस पर कहते हैं।

हाँ, ज्ञानी कर्म करता है, परन्तु उसकी क्रियाएँ निष्फल हैं यानी जन्म–मरण आदि के चक्कर में उसे नहीं डालती क्योंकि उसकी समस्त वासनाएँ नष्ट हो चुकी हैं और जो अज्ञानी हैं उसके सभी कर्म सफल हैं यानी जन्म–मरण आदि के चक्कर में उसे डालते ही हैं, क्योंकि कर्मों की सफलता में प्रयोजक वासनाएँ उसमें बनी हुई है ॥१८॥

क्या तब ज्ञानी की अशुभ क्रियाएँ भी वैसी ही हैं, यों कहते हैं।

सभी क्रियाएँ चाहे वे शुभ हों चाहे अशुभ, वासना के अभाव में निष्फल ही हो जाती हैं। फलदान में तत्पर भी अशुभ क्रियाएँ एकमात्र बाधितानुवृत्ति से, सिंचन के अभाव से सफल शुष्क लता के सदृश, शुष्क ही है। तात्पर्य यह निकला कि जिस ज्ञानी में प्रारब्धफलक भी क्रियाएँ बाधितानुवृत्ति के कारण सफल शुष्क लता के सदृश रहती हैं, उस ज्ञानी में अनारब्धफलक क्रियाएँ शुष्क रहती हैं, इसमें तो कहना ही क्या ? जहाँ बड़े बड़े वृक्ष दग्ध हो जाते हों, वहाँ साधारण तृण के विषय में तो कहना ही क्या ? जिस प्रकार दूसरी ऋतु में पहले की ऋतु में होनेवाले नीहार आदि विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार वासना का विनाश हो जाने पर सभी क्रियाओं के फल विलीन हो जाते हैं ॥१९,२०॥

वासना से शून्य क्रिया क्यों फल पैदा नहीं करती ? इस प्रश्नपर काशलता के सदृश स्वभाव से ही, यों उत्तर देते हैं।

हे पुत्र, जैसे काश की लता स्वभाव से ही कोई फल नहीं देती, वैसे ही वासनाशून्य क्रिया स्वभाव से ही कोई फल नहीं देती ॥२१॥

सुख–दुःख के भोग के लिए मैं योग्य हूँ, इस प्रकार की वासना ही, बालभ्रान्ति में हेतु यक्ष वासना के सदृश, तत्– तत् सुख आदि में कारण हैं, यों कहते हैं।

जब बालक यक्ष की वासना से युक्त रहता है, तभी यक्ष को देखता है, अन्यथा नहीं, बस इसी रीति से जब पुरुष दुःख आदि की वासना से युक्त रहता है, तभी दुःख आदि का अनुभव करता है, अन्यथा नहीं। उन्नत और आकार–प्रकार से धवल भले ही शुभाशुभ क्रिया हो, परन्तु आत्मज्ञानी को वह ऐसे फल नहीं देती, जैसे विकसित धवल शरलता फल नहीं देती ॥२२,२३॥

अज्ञदशा में अर्थक्रिया में समर्थ सत्यभूत वासना का ज्ञान से बाध कैसे होगा, इस पर कहते हैं।

हे साधो, अज्ञानदशा में भी वासना वास्तव में नहीं रहती, परन्तु मूर्खता के कारण अहंकार आदि का रूप धारण कर असत्यरूप से ऐसे उदित हुई है, जैसे मरुभूमि में असत्यरूप से जल ॥२४॥

पहले की वासना का नाश होने पर भी ज्ञान की उत्पत्ति के समय उत्पन्न हुई वासना तो क्रियारूप फल का प्रसव करेगी ही, इस पर कहते हैं।

'सब कुछ ब्रह्मरूप ही है' इस भावना से जिसकी अज्ञानरूपिणी मूर्खता विनाश को प्राप्त हो गयी, उसको वासना ऐसे उत्पन्न नहीं होती, जैसे मरुभूमि के स्वरूप को जाननेवाले प्राज्ञ पुरुष को मरुभूमि में जलसागर की भ्रान्ति नहीं होती ॥२५॥ अपने अन्दर एकमात्र वासना का त्याग कर देने से ही जरा और मरण से रहित तथा पुनर्जन्म से रहित परमार्थ वस्तुरूप जीव बन जाता है ॥२६॥

पितामह की उक्ति का उपसंहार करते हैं।

वासनायुक्त मन ज्ञेय है और वासनाशून्य मन ज्ञान है, यह जानना चाहिए। जब ज्ञान द्वारा ज्ञातव्य ब्रह्म वस्तु प्राप्त हो जाती है, तब जीव दूसरी बार जन्मधारण नहीं करता ॥२७॥ चूडाला ने कहा : हे राजर्षे, प्रसिद्ध बड़े–बड़े ब्रह्मा आदि भी जब ज्ञान ही परम मोक्ष का साधन होने से कल्याणरूप है, यह निःसंदिग्ध कहते हैं, तब आप ज्ञान छोड़कर 'तप ही मोक्ष का हेतु है' यों निश्चय कर क्यों अवस्थित हैं ? ॥२८॥

विवेकशून्य बहिर्मुख जो पुरुष हैं, उनके लिए दण्ड, कमण्डलु आदि साधारण वस्तुएँ भी, ममता उत्पन्न कर, पर्याप्त अनर्थफल दे सकती हैं, इस आशय से कहते हैं।

हे महीपते, यहाँ दण्ड है, यहाँ कमण्डलु है, यहाँ आसन है इत्यादि विचार से अनर्थों से पूर्ण इस संसार में क्यों भ्रान्त हो रहे हैं ? ॥२९॥

यदि तपश्चर्या अनर्थ और हेय है, तो किसका अवलम्बन करना चाहिए, इस पर कहते हैं।

हे राजन्, मैं कौन हूँ, यह अनर्थात्मक जगत् किस तरह उत्पन्न हुआ, इसकी शान्ति किस उपाय से होगी, इस तरह तो आप विचार नहीं करते और अज्ञानी की तरह क्यों रहते हैं ? ॥३०॥

विचार के सदृश गुरु के पास जाना, उनकी सेवा करना, उनसे आत्मा के विषय में प्रश्न करना आदि भी उपादेय हैं, यह दिखलाते हैं।

यह संसार कैसे उत्पन्न हुआ, मोक्ष किस उपाय से होगा इत्यादि प्रश्न करते हुए आप पर तत्पदार्थ और अपर त्वंपदार्थ को एकरूप से जाननेवाले तत्त्वज्ञ गुरुओं के पास जाकर उनके चरणों की सेवा क्यों नहीं करते ? व्रत, उपवास, शीत, उष्ण आदि सुख–दुःखात्मक प्रवृत्ति में उत्सुक आत्मचैतन्य जिसमें रहता है, ऐसी इस तपरूप क्रिया से पर्वतकोटर में, शास्त्र के कीट के सदृश, आप अपनी आयु क्यों व्यतीत कर रहे हैं ? सम (ब्रह्म) दृष्टि साधु पुरुषों के पास आत्मकल्याणार्थ प्रश्न, उनकी सेवा तथा समागम करने से वह युक्ति (आपकी अभीष्ट विश्रान्तिसुखदायिनी ज्ञानयुक्ति) प्राप्त हो जाती है, जिससे तत्काल संसारबन्ध से पुरुष मुक्त हो जाता है ॥३१–३३॥

तो अब मुझे कैसे रहना चाहिए ?

हे राजन्, तपश्चर्या आदि बहिर्मुख दुःखप्रद चेष्टाओं से विरत होकर आप गुरुजी के साथ ही आहार खाते हुए इस वनकोटर में, धरा छिद्र में रहनेवाले कीट के समान, निश्चल होकर स्थित रहिए। वसिष्ठजी ने कहा : हे रामजी, देवता का रूप धारण की हुई उस कान्ता (चूडाला) द्वारा प्रबोधित वह राजा शिखिध्वज आँसुओं से पूर्ण मुख होकर यह वचन कहने लगा। शिखिध्वज ने कहा : देवपुत्र, आश्चर्य है कि बहुत समय के बाद आज आपके द्वारा मैं जगाया गया हूँ। मूर्खता से ही साधुसमागम छोड़कर मैं इतने समय तक वन में रहा। अहो, मेरा पाप सम्पूर्ण नष्ट हो गया, ऐसा मैं मानता हूँ, क्योंकि आप ही यहाँ आकर मुझे जगा रहे हैं। हे सुन्दरानन, आप ही मेरे गुरु हैं, आप ही मेरे पिता हैं, आप ही मेरे मित्र हैं, शिष्यरूप मैं आपके चरणों को प्रणाम करता हूँ, कृपा कीजिए। जिस उदारतम वस्तु को आप जानते हैं, जिसके ज्ञात हो जाने पर प्राणी फिर शोक नहीं करता, जिससे मैं सुख में विश्रान्त हो जाऊँ, उस ब्रह्मरूप वस्तु का मुझे उपदेश दीजिए। मुनिवर, ज्ञान में तो घटज्ञान, पटज्ञान आदि अनेक तरह के भेद पाये जाते हैं, इसीलिए आपने 'ज्ञान ही कल्याणकारक है' इससे जो परम तारकज्ञान कहा वह घटज्ञानादि में से कौन ज्ञान है ? ॥३४–४०॥ चूडाला ने (कुम्भ ने) कहा : हे राजर्षे, यदि मैं उपादेय वाक्य हूँ, यानी मेरे वाक्य में तुम्हें श्रद्धा है, तो तारक ज्ञान जैसा है, वैसा ही मैं तुमसे कहूँगा, यदि मेरे वाक्य में तुम्हे श्रद्धा नहीं है, तो मैं नहीं कहूँगा, क्योंकि श्रद्धाशून्य जनों के सामने कहा गया उत्तम वाक्य भी ठुँठ के सामने कहे गये कौए के शब्द के समान निरर्थक एवं निन्दनीय होता है। अतः तुम्हें पहले श्रद्धालु हो जाना चाहिए ॥४१॥ जिसके वाक्य में श्रोता को श्रद्धा नहीं रहती ऐसे लीलावश से पूछे गये

वक्ता के वाक्य उस प्रकार निष्फल हो जाते हैं, जिस प्रकार अन्धकार में इन्द्रियों के सम्बन्ध निष्फल हो जाते हैं ॥४२॥ राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुने, जिस तरह श्रुति की 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि निर्दोष प्रामाण्य से निश्चित विधि शिष्ट पुरुषों द्वारा निःसन्देह गृहीत की जाती है, उसी तरह आप जो कुछ भी कहेंगे, उसे मैं तत्काल ही ग्रहण कर लूँगा, यह मेरा वाक्य आप सत्य ही जानिये ॥४३॥ चूडाला ने कहा : राजन्, जैसे बालक हेतुओं से उपपत्तिशून्य अपने पिता के वचनों को प्रमाणबुद्धि से ग्रहण करता है, वैसे ही आप मेरे इन वचनों को ग्रहण किजीए ॥४४॥ राजन्, सुनने के बाद 'इसमें मेरा हित ही है' इस प्रकार की बुद्धिपूर्वक भावना करते हुए आप तर्कवाद का परित्याग कर 'मधुर गीत की नाईं' मेरे इन वचनों को प्रीति से सुनिये और उनको प्रामाण्यबुद्धि से ग्रहण कीजिए ॥४५॥

देहादि में अभिमान का त्याग कराने के लिए तथा दुःखों का निदान दिखलाने के लिए मणि-काँच के उपाख्यान तथा हस्तिपक के आख्यान का श्रवण कराने के लिए चूडाला अवतरण बाँधती है।

राजन्, मैं एक ऐसा मनोहर कथाक्रम कहता हूँ, जो आपके चरित के सदृश है, मन्दमतियों की भी चिरकाल के बाद विचारोदय द्वारा उदय को प्राप्त कर रही बुद्धि को बोध देनेवाला है तथा महामतियों को तो शीघ्र ही संसार के भय से पार कर देनेवाला है, आप उसे सुनिये ॥४६॥

सत्तासीवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठासीवाँ सर्ग

चिरकाल की तपस्या से प्राप्त हुए चिन्तामणि को किसी ने अपनी
मूर्खता से छोड़कर मणि की भ्रान्ति से काँच को अपनाया, यह कथा।

चूडाला ने कहा : कोई एक श्रीमान् पुरुष था। वह अनादि काल से ही एक दूसरे के स्थान में न रहनेवाले अत्यन्त विरुद्ध गुण और लक्ष्मी का आश्रय था यानी उसके पास औदार्य, वैराग्य, सर्वस्वत्याग आदि उत्तम गुण और धन-धान्यादि प्रचुर सम्पत्तियाँ थीं। संसार में गुण और सम्पत्ति दोनों का एक ही स्थान विरल रहता है। जहाँ गुण रहता है वहाँ सम्पत्ति नहीं रहती और जहाँ सम्पत्तियाँ रहती हैं वहाँ गुण नहीं रहते। इसलिए वह वड़वाग्नि और जल – इन परस्पर विरुद्ध दोनों के आश्रय सागर के सदृश प्रतीत हो रहा था ॥१॥ वह चौसठ कलाओं से पूर्ण था, अस्त्रविद्या में पटु था, व्यवहारशास्त्र में विचक्षण था और संकल्पित समस्त कार्यों के पार हो जाता था यानी वह जिन- जिन कार्यों का संकल्प करता था, उन्हें तत्काल ही कर डालता था। उसके लिए कोई भी असाध्य कार्य नहीं था। इतना सब होते हुए भी वह परम पद को नहीं जानता था ॥२॥

उसने क्या किया यह कहते हैं।

तदनन्तर जैसे वडवाग्नि समुद्र का पूरी तरह से शोषण करने में प्रवृत्त हुआ था, वैसे ही वह तप, जप, देवतास्तवन आदि अनन्त उपायों से सिद्ध होनेवाले चिन्तामणि की प्राप्ति के लिए तपश्चर्या में प्रवृत्त हुआ। दृढ़ निश्चयवाले उस पुरुष के तीव्र प्रयत्न से थोड़े ही समय में चिन्तामणि सामने उपस्थित हो गयी। उद्योगी पुरुषों के लिए ऐसी कौन-सी वस्तु है जो सिद्ध न हो जाय। दुःख को न गिनता हुआ यदि पुरुष उत्तम बुद्धि का अवलम्बन कर प्रवृत्ति और उद्यम करता है, तो वह दरिद्र होता हुआ भी

निर्विघ्नतापूर्वक बड़ी भारी सामर्थ्य प्राप्त करता है। सामने उपस्थित हुए हाथ से ग्रहण करने योग्य चिन्तामणि को उसने उस प्रकार देखा, जिस प्रकार मेरु पर्वत पर उदय शिखर के ऊपर स्थित मुनि उदित चन्द्रमा को। बड़े–बड़े मणिराजों के ईश्वर उस चिन्तामणि के विषय में यह उस प्रकार निश्चय न कर सका, जिस प्रकार दरिद्रतम पामर तत्काल प्राप्त राज्य के विषय में निश्चय नहीं कर सकता। दीर्घकाल के दुःख से भ्रान्त तथा विस्मय से युक्त मन से–प्राप्त भी चिन्तामणि की उपेक्षा कर–उसने यह विचार किया। क्या यह चिन्तामणि है या चिन्तामणि नहीं है। यदि चिन्तामणि होता, तो मुझे वह प्रत्यक्ष ही नहीं होता। क्या मैं इसे छूउँ या न छूऊँ ? यदि मैं इससे छू जाऊँ, तो भाग्यहीन मेरे स्पर्श से यह अदृश्य हो जायेगा। इतने थोड़े समय में ही मणियों का राजा चिन्तामणि सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि इतिहास परम्परा यही है कि जीवनपर्यन्त यत्न करने से ही चिन्तामणि सिद्ध होता है। मैं कृपण हूँ, इसलिए भ्रान्तिसंकुचित नेत्र से चंचल अलातचक्र में कल्पित लता के सदृश रत्नप्रकाश को, भ्रम से दो चन्द्रमा की नाईं, देखता हूँ। मेरी इतनी विशुद्ध भाग्यसम्पत्ति ही कहाँ से आयी, जिससे मैं समस्त सिद्धियों के दाता चिन्तामणि को इतने थोड़े समय में ही प्राप्त कर लूँ। थोड़े ही ऐसे बड़े भाग्यवान् महात्मा होते हैं, जिनके सामने सम्पत्तियाँ स्वल्प समय में उपस्थित हो जाती हैं। मैं तो साधारण ही तपवाला हूँ, साधुओं में तुच्छ मनुष्य हूँ, इसलिए भाग्यरहित मेरे यहाँ सिद्धियाँ कैसे आ सकती है। इस प्रकार संकल्प–विकल्पों से दीर्घकाल तक विचारविमर्श कर रहे उस अज्ञानी पुरुष ने मूर्खता से मुग्ध होकर मणि लेने में कुछ भी यत्न नहीं किया ॥३–१५॥

उसने क्यों नहीं यत्न किया, इस पर कहते हैं।

जो वस्तु जिस समय जिसको प्राप्त होने योग्य नहीं रहती, वह वस्तु उस समय वह प्राप्त कर सकता ही नहीं। अतः प्राप्त हुआ भी चिन्तामणि दुर्बुद्धि के कारण उपेक्षा से उसने छोड़ दिया। उस प्रकार अज्ञानजनित विचारविमर्श में जब वह पुरुष स्थित ही रहा तब अन्त में वह मणि उड़कर वहाँ से चला गया, क्योंकि अवहेलना करनेवाले को सिद्धियाँ उस प्रकार छोड़ देती हैं, जिस प्रकार धनुष से निर्मुक्त बाण डोरी को छोड़ देता है ॥१६,१७॥

आपने तो कथा के आरम्भ में कहा था कि वह पुरुष व्यवहार में निपुण था, फिर मणिप्राप्तिकाल में उसकी वह निपुणता कहाँ चली गयी, इस पर कहते हैं।

सिद्धियाँ प्राप्त होकर पुरुष को विचक्षणता देती हैं और उपेक्षा करनेवाले पुरुष के पास आकर भी वापस चली जाती हैं तथा वापस जाती हुई वे सिद्धियाँ पुरुष में रहनेवाली विचक्षणता का विनाश कर डालती हैं, इस विषय में प्राचीन लोगों ने कहा है कि न देवा दण्डमादाय दण्डयन्त्यपराधिनम्। बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति तेनाऽसौ दण्ड्यते स्वतः ॥ (देवता दण्ड लेकर अपराधी पुरुष को दण्ड नहीं देते, किन्तु उसकी बुद्धि हर लेते हैं, इससे स्वयं ही वह दण्डित हो जाता है।) ॥१८॥ वह पुरुष फिर चिन्तामणि के साधन में कर्म और यत्न करने लगा, क्योंकि अटल निश्चयवाले लोग अपने कार्यों में उद्वेग नहीं प्राप्त करते। तदनन्तर चमकीले रूप से युक्त अखण्डित काँच का एक टुकड़ा उसने देखा। वह टुकड़ा परिहास में तत्पर वंचक अलक्षित सिद्धों ने उसके सामने रख दिया था। यही चिन्तामणि है, ऐसा निश्चय कर उस अज्ञानी पुरुष ने उसमें उपादेयता जान ली, क्योंकि मोहग्रस्त अज्ञानी मिट्टी को सोने

के रूप में देखता है। हे साधो, चित्त में रहनेवाला मोह किसी समय आठ पदार्थों को छः; शत्रु को मित्र, डोरी को सर्प, स्थल को जल, एक चन्द्र को दो चन्द्र और अमृत को विष बना देता है। उस दरिद्र मणि को लेकर उसने अपनी पूर्व की सारी सम्पत्ति छोड़ दी, क्योंकि मोहवश उसने यह समझ लिया कि अब इस चिन्तामणि से ही सब कुछ प्राप्त हो जायेगा, इन सम्पत्तियों से क्या प्रयोजन। यह देश, सुख से शून्य, स्नेहीजनों से रहित और पापात्मा जीवों से आक्रान्त है, जीर्ण-शीर्ण वह घर भी निष्प्रयोजन है और मेरे बन्धु भी क्या हैं यानी इनसे क्या प्रयोजन है। अब तो दूर जाकर यथेच्छ सुखपूर्वक सम्पत्तियों से युक्त होकर रहूँगा, यों विचारकर उस काँचखण्ड को लेकन निर्जन अरण्य में वह मूढ़ चला आया। हे प्रिय, वहाँ जंगल में जाकर उस काँच के खण्ड से वह मूढ़ ऐसी विपत्ति में फँस गया, जो कज्जल पर्वत की कान्ति के सदृश गहरी नीलिमा से युक्त और मूर्खता के अनुरूप थी ॥१९-२६॥

इन सब बातों से यह निष्कर्ष निकला कि एकमात्र मूर्खता ही दुःख में सबसे बढ़-चढ़कर कारण है, ऐसा उपसंहार करते हैं।

मूर्खता के विभव से जो दुःख उत्पन्न होते हैं वे दुःख सर्वस्वनाश आदि बड़ी-बड़ी आपत्तियों से या बुढ़ौती से या मरण से नहीं होते, तत्त्ववेत्ताओं को सैकड़ों आपत्तियों के आने पर भी दुःख दिखाई नहीं देता और सोने के पलंगों पर सो रहे राजाधिराज को भी मूर्खता के कारण सैकड़ों दुःख दिखाई देते हैं, इससे सम्पूर्ण आपत्तियों के सिर पर एकमात्र मूर्खता उस प्रकार अवस्थित रहती है, जिस प्रकार पुरुष के सिर पर काला केशजाल ॥२७॥

अट्ठासीवाँ सर्ग समाप्त

नवासीवाँ सर्ग

विन्ध्याचल में बाँधे गये हाथी का बन्धन प्रयत्नपूर्वक
काट दिये जाने पर भी उपस्थित शत्रु को न मारने के कारण उसका गड्ढे में पतन।

प्रकृत विषय में हाथी का उपाख्यान भी दृष्टान्त है, इसलिए उसे भी सुनिये, यह कहते हैं।

चूडाला ने कहा : हे राजन्, अब यह दूसरा सुन्दर उपाख्यान आप सुनिये। हे साधो, यह आपके ही अनुरूप तथा बुद्धि में उत्तमरूप से स्फूर्ति देनेवाला है। विन्ध्याचल के अरण्य में बड़े-बड़े झुण्डपतियों के झुण्डों का स्वामी एक हाथी रहता था। दीर्घकाल तक आज्ञा का परिपालन करने के कारण अनुग्रहयुक्त हुई अगस्त्य महामुनि की बुद्धि से अपने पूर्व उन्नतरूप से प्रकट हुआ वह विन्ध्याचल ही मानों लगता था। उसके दो धवल दीर्घ दाँत वज्र की ज्वाला के समान तीक्ष्ण थे, महाप्रलय की अग्निशिखा के सदृश पर्वतराज सुमेरु को भी उखाड़ फेंकने में वे समर्थ थे। महावत ने चारों ओर से लोहमय जाल से उसको उस तरह बाँध रखा था, जिस तरह अगस्त्य ने विन्ध्याद्रि को और उपेन्द्र ने बलिराज को बाँध रखा था। लोहजाल में बाँधा गया तथा अंकुश आदि शस्त्रों से गण्डस्थल में पीड़ित किया गया वह हाथी बड़ी यन्त्रणा को प्राप्त हुआ और धीर उस हाथी ने वह व्यथा प्राप्त की, जो महादेवजी की बाणाग्नि लगने पर त्रिपुरासुर ने प्राप्त की थी। दूरी के कारण उसका शत्रु महावत उसे नहीं देख रहा था, इस दशा में उस हाथी ने लोहमय जाल में तीन दिन बिताये। तदनन्तर तीन दिनों के बाद अत्यन्त खेद से वह हाथी जाल

तोड़ने में प्रयत्न करने लगा और मुख के उन्नत आघातों से घण्टी के सदृश ध्वनि करने लगा ॥१–७॥ दो मुहूर्तों में बड़े प्रयत्न से उस हाथी ने अपने उन समर्थ दो दाँतों से उस शृंखलाजाल को उस प्रकार छिन्न–भिन्न कर दिया, जिस प्रकार बलिराज ने स्वर्गपुरी अमरावती के किवाड़ के सिक्कड़ को छिन्न–भिन्न कर दिया था। दूर से शत्रु ने उसका वह जाल–छेदन उस प्रकार देखा, जिस प्रकार श्रीहरि ने मेरुतल से बलि का स्वर्ग–छेदन देखा था। जिसका फन्दा विच्छिन्न हो गया था, उस हाथी के सिर पर वह शत्रु तालवृक्ष के ऊपर पहले चढ़कर फिर वहीं से उस प्रकार गिरा, जिस प्रकार क्रम से (📖) मेरुपर्वत पर से भगवान वामन बलि के सिर पर गिरे थे। गिर रहा वह अपने चरण कमलों से हाथी का सिर न प्राप्त कर व्याकुल होता हुआ पृथिवी पर उस प्रकार गिरा, जिस प्रकार वायु से आहत पका फल पृथिवी पर गिरता है ॥८–११॥ सामने गिरे हुए उस शत्रु को देखकर महान् हाथी करुणा से भर गया, क्योंकि तिर्यक् योनियों में जाने पर भी सन्त लोग प्रकाशशील अपने विशुद्ध गुण से युक्त ही रहते हैं। 'गिरे हुए को यदि मैं मार डालूँ, तो उसमें मेरा पुरुषार्थ ही क्या ?' इस प्रकार उस हाथी ने विचारकर उस शत्रु को न मारा। एकमात्र लोहमय जाल का विदारण कर वह उस प्रकार चला गया, जिस प्रकार विस्तृत पुल का विदारण कर जल का महान् प्रवाह चला जाता है। दया का आश्रय कर शृंखला जाल का भेदनकर हाथी ऐसे चला गया, जैसे आकाश में मेघों का भेदनकर सूर्य चला जाता है। जब हाथी चला गया तब महावत स्वस्थमति होकर उठा। उसकी व्यथा हाथी के साथ–साथ ही दूर भाग गयी। उत्तुंग ताल वृक्ष के शिखर से उस प्रकार गिरा हुआ भी वह सिर, पैर आदि अंगों से विकृत न हुआ। मेरा मत है कि दुष्ट चेताओं की देह दुर्भेद्य ही होती है। वर्षाकाल में मेघों की नाईं कुकर्मों में असत् पुरुषों का बल बढ़ता है। वह पैरों से चलने में अत्यन्त उत्साही था। हाथी का शत्रु वह महावत अपने उपायों में निष्फल सिद्ध हुआ। उसके हाथ से हाथी चला गया। वह उस प्रकार दुःखी हुआ, जिस प्रकार हाथ में निधि के आकर चले जाने पर व्यापारी वैश्य दुःखी होता है। अन्त में बहुत परिश्रम से वह अरण्य में झाड़ियों में छिपे हुए हाथी का उस प्रकार अन्वेषण करने लगा, जिस प्रकार खा जाने के लिए आकाशमण्डल में मेघों से छिपे हुए चन्द्रमा का राहु अन्वेषण करता है। बहुत काल के बाद युद्धभूमि से मानों निकला हुआ किसी एक जंगल में स्थित वृक्ष के नीचे विश्राम कर रहा वही गजेन्द्र उसे फिर मिला। तदनन्तर जहाँ वह हाथी खड़ा था, वहीं पर समीप में अनेक गजलम्पट जनों से युक्त उत्तम गड्ढा खोदने की राजसामग्री से उस महावत ने गजबन्धन में समर्थ चारों ओर गोल जंगल में गड्ढे का निर्माण किया। वह ऐसा लगता था, मानों भूमि में ब्रह्माजी द्वारा निर्मित सर्वदिग्व्यापी गोल समुद्र हो। उस वंचक महावत ने उस गड्ढे को कोमल लताओं से उस प्रकार ऊपर से ढक दिया, जिस प्रकार शरत्काल शुभ्र मेघपटल से आकाश को ढक देता है। कुछ ही दिनों के अनन्तर वन में विहार कर रहा वह हाथी, शुष्क सागर में पर्वत की नाईं, उस गड्ढे में गिर गया। गजरूप रत्न के आश्रय तथा पातालतल के सदृश अतिभीषण वलयाकार कुएँ के शुष्क सागर–जैसे गड्ढे के नीचे भाग में इस रीति से पुनः उसने उस हाथी को सुदृढ़रूप से बाँध दिया, जो आज भी बलि के

(📖) बलिराज से यज्ञ में तीन पैर मात्र भूमि का प्रतिग्रह कर पहले पैर से समस्त पृथिवी, दूसरे से स्वर्ग इस प्रकार क्रमशः तीसरे पैर की पूर्ति के लिए मेरु से बलि के सिर पर भगवान् वामन जैसे गिरे, वैसे ही महावत क्रमशः पहले तालवृक्ष पर चढ़ा और फिर हाथी के सिर पर गिरा, यह तात्पर्य है।

सदृश भूगर्भ में दुःखपूर्वक अवस्थित है। यदि पहले यह हाथी अपने सामने गिरे हुए शत्रु को मार डालता, तो कूपबन्धनरूप दुःख प्राप्त नहीं करता ॥१२-२८॥

इसलिए बुद्धिमान् पुरुष को इसी समय शास्त्रीय पुरुषप्रयत्नों से दुःखोत्पादक बीजों को दूर कर आगामी काल का शोधन करना चाहिए, यों कहते हैं।

मूर्खता के कारण जो पुरुष वर्तमान समय में शास्त्रीय क्रियाक्रमों से भविष्यकाल का शोधन नहीं करता, वह विन्ध्यगज के सदृश दुःख पाता है ॥२९॥

जब तक सब दुःखों का मूल अज्ञान नष्ट नहीं होता, तब तक सैकड़ों प्रयत्नों से किया गया दुःख विनाश भी व्यर्थ ही है, इस आशय से कहते हैं।

मैं श्रृंखलाबन्धन से निर्मुक्त हो गया, इस बुद्धि से सन्तुष्ट हुआ हाथी दूर भाग जाने पर भी फिर अज्ञान के कारण बन्धन में पड़ गया। मूर्खता कहाँ बाधा नहीं पहुँचाती अर्थात् सर्वत्र बाधा पहुँचाती ही है ॥३०॥

इससे अज्ञान ही मूलभूत बन्ध है, उसकी निवृत्ति अद्वितीय आत्मतत्त्वज्ञान से ही होती है, यह दिखलाते हुए उपसंहार करते हैं।

हे महात्मन्, 'सदा बन्धनशून्य भी मैं बद्ध हूँ' इस प्रकार की चित्तगत मूर्खता को ही आप सबसे बढ़ा-चढ़ा बन्धन समझिये। अतः उससे विमुक्त होने के लिए आत्मा से उत्पन्न आध्यात्मिक आदि समस्त तीनों जगत् को आत्मस्वरूप ही समझिये। इस तरह समझ जाने पर आत्मातिरिक्त किसी वस्तु के न रहने से पुरुष नित्य मुक्त हो जाता है। जिसे इस तरह का ज्ञान नहीं है और जो मूर्खता में ही अवस्थित रहता है उस पुरुष के लिए तो स्वयं आत्मा ही तत्काल समस्त बन्धनों के बीजों की भूमि हो जाती है ॥३१॥

नवासीवाँ सर्ग समाप्त

नब्बेवाँ सर्ग

कुम्भरूपिणी चूड़ाला द्वारा चिन्तामणि और काँच के सुन्दर आख्यान का विस्तार से तात्पर्यवर्णन।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे देवपुत्र, चिन्तामणि के साधक तथा विन्ध्याचल के हाथी के बन्धन आदि का जो कथाजाल आपने सूचित किया है, उसे फिर मेरे सामने प्रकट कीजिये, क्योंकि वह मेरे चरित्र से कुछ मिलता-जुलता-सा है, इस तरह की पूर्वोक्ति से आपने सूचित किया कि वह मेरे ज्ञान का उपायस्वरूप है। चूडाला ने कहा : राजन्, आपके हृदयरूपी घर में चित्तरूपी दीवारों के ऊपर मैंने वाक्यार्थज्ञानसम्पादन द्वारा विचित्र कथारूपी चित्र की केवल रेखा ही खींच दी थी, अब उसे मैं व्याख्यारूपी विचित्र वर्णों से (रंगों से) रंग रहा हूँ, आप स्वयं सुनिये ॥१,२॥

उन कथाओं में सर्व प्रथम 'अस्ति कश्चित पुमान् श्रीमान्' (कोई एक श्रीमान् पुरुष था) इत्यादि से मैंने जिस चिन्तामणिसाधक का आपसे वर्णन किया है, वह आप ही हैं।

हे राजन्, शास्त्रार्थ में कुशल, किन्तु तत्त्वज्ञान में अपण्डित जिस चिन्तामणिरत्न के साधक का मैंने आपसे वर्णन किया है वह आप ही हैं ॥३॥

'कलावान् शास्त्रकुशलः' इत्यादि जो कुछ लक्षण मैंने कहे हैं, वे सब आपमें घटते हैं।

जिस तरह भगवान् सूर्य सुमेरु के तटों के विषय में तत्त्वज्ञ हैं उसी तरह आप शास्त्रों के विषय में तो तत्त्वज्ञ हैं ही, किन्तु आत्मतत्त्वज्ञान में उस तरह विश्रान्त नहीं हैं, जिस तरह जल में पत्थर ॥४॥

भला बतलाइये तो सही, वह चिन्तामणि कौन है, जिसके साधन में मैं प्रवृत्त हूँ, उसे कहते हैं।

हे साधो, अकृत्रिम सर्वत्याग को ही आप चिन्तामणि जानिये। सम्पूर्ण दुःखों के विनाशक उसी चिन्तामणि को तो आप सिद्ध कर रहे हैं ॥५॥

सर्वत्याग में चिन्तामणित्व का उपपादन करते हैं।

हे निष्पाप राजन्, शुद्ध सर्वत्याग से ही सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि सर्वत्याग ही साम्राज्य–आत्यन्तिक पूर्णकामता है। चिन्तामणि से क्या होता है ? ॥६॥ हे साधो, साधना करते हुए आपका वह सर्वपरित्याग सिद्ध हो चुका है, जो जगत् के प्रसिद्ध ऐश्वर्य–परम्पराओं से लेकर हिरण्यगर्भ के पद तक के ऐश्वर्य को भी तुच्छ कर देनेवाला तथा जो विद्यारूपी निरतिशयानन्द आत्मज्ञान का उदयकारक है ॥७॥

कैसे सिद्ध हो गया, यह कहते हैं।

आपने स्त्री, धन और बन्धुओं के साथ–साथ अपने सम्पूर्ण राज्य का परित्याग उस तरह कर दिया, जिस तरह अपनी रात आने पर ब्रह्मा जागतिक सृष्टि के व्यापार का परित्याग कर देते हैं ॥८॥ स्वदेश से बहुत दूर में स्थित आप मेरे आश्रम में विश्रान्ति के लिए ऐसे आ गये हैं, जैसे कच्छप, गज आदि भोजन के साथ गरुड़ भगवान् विश्रान्ति के लिए पृथिवी की अन्त सीमा में आ गये थे (📖) आपने सर्वत्याग में केवल अभिमानरूप अविद्या को ही उस तरह बचा रखा है, जिस तरह मेघ, नीहार आदि सब कलंकों को धो डालनेवाला शरत्कालीन वायु आकाश में अपनी सत्ता को ॥९,१०॥

अहंकार का परित्याग हो जाने पर अवशिष्ट रहा पूर्णानन्दस्वरूप परमपुरुषार्थ अपने–आप हृदय में साक्षात् स्फुरित होने लगता है, इसलिए सर्वत्याग ही मोक्ष सिद्ध हुआ। परमानन्द ही चिन्तामणि है। चिन्तामणि मिल जाने पर उसकी उपेक्षा करके किसी और दूसरी वस्तु का अन्वेषण नहीं करना चाहिए, यह कहते हैं।

हृदय से मनोमात्र के त्यक्त हो जाने पर सारा संसार पूर्णानन्द ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, लेकिन आप तो मेघों से आवृत आकाश की नाईं त्याग और अत्याग के विकल्पों से आवृत हैं, क्योंकि 'मैंने सब कुछ छोड़ दिया' यह अभिमान तो अभी आपमें बचा ही है ॥११॥ विकल्पवश के ही कारण तो सर्वत्याग होने पर भी आपको अभी तक अविश्वास बना हुआ है कि यह सर्वत्याग प्रसिद्ध महोदय स्वरूप और परमानन्दस्वरूप नहीं है। महान् तो कोई बहुत उन्नत चिरकालसाध्य अन्य ही है ॥१२॥ इस चिन्ता से संकल्पग्रहण के वृद्धिगत हो जाने पर आपका वह सर्वत्याग उड़कर कहीं उस तरह चला गया, जिस तरह आँधी से जंगली वृक्षों के हिल जाने पर उनके पक्षी वहाँ से उड़कर कहीं अन्यत्र निर्वात प्रदेश में आश्रय पाने के लिए चले जाते हैं ॥१३॥ उस पुरुष का त्याग भला कैसे सिद्ध हो सकता है, जो चिन्ता को तनिक भी अपनाता है। पवन के स्पन्द से युक्त वृक्ष में निश्चलता कैसे हो सकती है। ।१४॥

(📖) महाभारत आदि में भगवान् गरुड़ की यह कथा प्रसिद्ध है।

चित्तत्याग ही मुख्य सर्वत्याग है, लेकिन चिन्ता के रहते चित्त का त्याग अत्यन्त कठिन है। चित्त ने तो अपने संकल्प द्वारा जगत् को ही बटोर लिया है, इसलिए हे राजन्, अभी आपने किसीका भी त्याग सिद्ध नहीं किया, इस अभिप्राय से कहते हैं।

चिन्ता को ही चित्त कहते हैं, इसीका दूसरा नाम संकल्प है। उस चिन्ता के स्फुरित रहते चित्त का त्याग कैसे हो सकता है ? हे साधो, तीनों जगत् के जाल के आधारभूत चित्त के क्षण भर में ही चिन्ता से गृहीत हो जाने पर निरंजन सर्वत्याग की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? हे राजन्, जैसे गाँव के पक्षी कबूतर आदि शब्द श्रवण से उड़कर कहीं चले जाते हैं, वैसे ही आपका त्याग आन्तरिक संकल्प के ग्रहण से उड़कर चला गया है ॥१५-१७॥

उड़कर भाग रहा त्याग सर्वत्याग के फल निश्चिन्तता को लेकर मानों चला गया, यह उत्प्रेक्षा करते हैं।

हजारों प्रार्थना करने के बाद आया हुआ आपका त्याग पूजित न होने से आपकी उत्कृष्ट सारी निश्चिन्तता लेकर चला गया, क्योंकि निमन्त्रण देकर बुलाया गया प्राणी पूजित न होने पर क्या वह दुःख नहीं देता। तात्पर्य यह है कि दक्षप्रजापति के यज्ञ में बिना निमन्त्रण के पहुँचे हुए पूज्य की पूजा न होने पर जब अनर्थ प्राप्ति प्रसिद्ध ही है, तब हजारों प्रार्थनाओं से बुलाये जानेपर आये हुए पूज्य की पूजा न होने पर अनर्थ की प्राप्ति होती है, इसमें तो कहना ही क्या ? जिसका अनादर हुआ वह अवश्य दुःख उत्पन्न करेगा ही, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥१८॥

अच्छा, तो अब आप मुझे यह बतलाइये कि काँच का वह कौन टुकड़ा था, जिसे मैंने चिन्तामणि देख कर ले लिया था; यह बतलाते हैं।

हे कमललोचन, इस तरह सर्वत्यागरूपी चिन्तामणि के चले जाने पर आपने अपने संकल्परूपी नेत्र से तपरूपी काँच को चिन्तामणि देखा। जैसे दृष्टि के भ्रम से उदित हुए जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा में सत्यचन्द्रमा की भावना बाँध ली जाती है वैसे ही आपने दुःख के हेतु होने से दुःखरूप उस तप में ही 'मुझे यही ग्राह्य है' ऐसी दृढ़ भावना बाँध ली है। पहले वासना से शून्य सर्वत्याग का अनासक्तियोग से उपक्रम कर पीछे वासनायुक्त अनन्त तप की जो क्रिया आपने की है, वह बिलकुल व्यर्थ है, क्योंकि आदि में गृह, धन, दारा आदि के त्याग से, अन्त में फल की आसक्ति से और मध्य में वनवास, शीत आदि के सहने से वह अत्यन्त विषम (भयंकर) हो गयी है, अतः वह एकमात्र दुःख के लिए ही है। अपरिमित आनन्द देनेवाले और सुसाध्य सर्वत्याग को छोड़कर परिमित और दुःसाध्य तप आादि वस्तु में जो पुरुष प्रवृत्त होता है वह शठ, अपरिमित आत्मस्वरूप का विघातक होने से, आत्मघाती कहा जाता है। जंगली घर के अन्दर उपर्युक्त तपस्याजन्य दुःखों से तथा दुःखों के साथ एकता के प्रयोजक अज्ञान से बँधे हुए आपने सर्वत्याग का आरम्भ करके इसे फिर सिद्ध नहीं किया। हे साधो, प्रतिदिन आगे बढ़ रहे दुःखों से भरे हुए राज्यरूप बन्धन से भलीभाँति निकलकर आप वनवासनामक दृढ़ बन्धनों से बँध गये हैं। शीत, वात, धूप आदि की आपको द्विगुण चिन्ता है। इसलिए मैं तो ऐसा समझता हूँ कि पहले से अनुभव न रखनेवाले सुकुमार पुरुषों का वनवास बन्धन से भी अधिक दुःखदायी है। मैंने चिन्तामणि पाया, यह तो आप अच्छी तरह समझ चुके हैं, परन्तु हे साधो, (यह भी समझ लीजिये कि)

अभी तक आपने स्फटिक का एक टुकड़ा भी नहीं पाया ॥१९–२६॥

पूर्वोक्त चिन्तामणि के साधक के चरित्र की समता का उपसंहार करते हैं।

हे पद्मनेत्र महीपते, इस तरह चिन्तामणि के प्रयत्न की कथा के समान आपके चरित्र को मैंने अच्छी तरह प्रकट कर दिया, अब आप मेरे कहने के अनुसार स्वयमेव अपनी बुद्धि से निर्मल उस बोध्य वस्तु का तत्त्वतः विचारकर सर्वत्याग या तप–इन में चिन्तामणि के समान जिसे निर्दोष समझिये, उसीको अपने चित्तकोश के भीतर रखकर फलप्राप्तिपर्यन्त परिणति में पहुँचाइये ॥२७॥

नब्बेवाँ सर्ग समाप्त

इक्यानबेवाँ सर्ग

तत्त्वज्ञानसम्पादक सर्वत्याग की सिद्धि के लिए विन्ध्यगजवृत्तान्तरूपी दृष्टान्त का राजा शिखिध्वज के चरित्र में समन्वय।

चूडाला ने कहा : हे राजशार्दूल, पूर्णतत्त्वबोध के लिए अब आप विन्ध्याचल के हाथी के वृत्तान्त की विस्मय उत्पन्न करनेवाली विवृत्ति सुनिये। विन्ध्यवन में रहनेवाले जिस हाथी का मैंने आपसे पहले वर्णन किया था, वह इस पृथिवीतल पर आप ही हैं। उस हाथी के जो सफेद दो दाँत हैं वे ही आपके वैराग्य और विवेक हैं। हाथी की आक्रान्ति में यानी हाथी पकड़ने में तत्पर जो वह महावत स्थित था, वह आपकी आक्रान्ति में तत्पर आपको दुःख देनेवाला आपका अज्ञान है ॥१–३॥ हे राजन्, आप अत्यन्त शक्तिसम्पन्न हाथी के सदृश रहते हुए भी दुर्बल मूर्खतारूपी महावत के द्वारा एक दुःख से दूसरे दुःख में तथा एक भय से दूसरे भय में पहुँचाये जा रहे हैं। जो मोहवज्रसार से हाथी बाँधा गया था, सो आशापाशजाल से पैर से लेकर मस्तक तक आवृत्त हुए (बाँधे गये) आप ही हैं। आशा तो लोहे की जंजीर से भी बढ़कर भयंकर, विशाल और दृढ़ है, क्योंकि काल पाकर लोहे की जंजीर टूट जाती है, परन्तु तृष्णा तो बढ़ती ही जाती है ॥४–६॥

'रिपौ हस्तिपके दूरादपश्यति स वारणः' (दूरी के कारण न देख रहा उसका शत्रु महावत जब चिन्तन कर रहा था, तब उस हाथी ने) इससे सूचित उसके चिन्तन का उदाहरण देते हैं।

जो एकान्त में छिपकर शत्रु महावत हाथी का चिन्तन कर रहा था वह आपका अज्ञान ही (📖) एकान्त में अकेले बँधे हुए क्रीडा के लिए आपका चिन्तन कर रहा था ॥७॥

'दन्ताभ्यां यत्नतस्ताभ्याम्' (बड़े प्रयत्न से उस हाथी ने अपने समर्थ उन दोनों दाँतों से) इस उक्ति का तात्पर्य कहते हैं।

जो अपने शत्रु के श्रृंखलाजाल बन्धन को हाथी ने तोड़ दिया, वह आपने भोगभूमि अकण्टक अपने राज्य का त्याग कर दिया ॥८॥ हे साधो, कदाचित् शस्त्र और श्रृंखला बन्धन का भेदन सहज में हो सकता है, परन्तु भोगों की आशा का निवारण इस मन से सहज में नहीं हो सकता ॥९॥

'स पतन्पादपद्माभ्यामप्राप्य करिणः शिरः' (गिर रहा वह अपने चरण–कमलों से हाथी का सिर न प्राप्त कर) इससे जो कहा गया है वह भी अज्ञान में दिखलाते हैं।

(📖) यह अज्ञान में चेतनत्व का आरोप करके कहा है।

हाथी के दृढ़ बन्धन तोड़ देने पर जो महावत गिर पड़ा था वह आपके राज्य छोड़ देने पर अज्ञान ही गिराया गया था। जब विरक्त पुरुष भोगों की आशा छोड़ देना चाहता है तब अज्ञान, काटे जा रहे वृक्ष के ऊपर रहने वाले पिशाच की नाईं, खूब काँपने लगता है। जब विवेकी पुरुष भोगों का बिलकुल त्याग कर बैठ जाता है तब अज्ञान, वृक्ष कट जाने पर पिशाच की नाईं, भाग जाता है। भोगसमूह के उन्मुक्त होने पर अज्ञान की संस्थिति वैसे गिर जाती हैं, जैसे वृक्ष के आरे से कट जाने पर उसके ऊपर बना हुआ चिड़ियों का घोंसला। जिस समय आप जंगल को चले, उसी समय आपने अज्ञान को घायल कर दिया, लेकिन घायल होकर गिरे हुए उसको आपने तत्त्वज्ञान के द्वारा मन के त्यागरूप महा खड्ग से मार नहीं डाला। तात्पर्य यह है कि उसी समय आपको चूडाला के उक्तिश्रवण के बाद तत्त्वज्ञान के लिए एक बहुत सुन्दर अवसर मिला था, लेकिन आपने उसे खो दिया। यही कारण है कि उस अज्ञान ने फिर उठकर आपके द्वारा की गयी अपनी पराजय का स्मरण करके इस तपःप्रपंचरूपी (विस्तृत तपरूपी) गहन गड्ढे में आपको ढकेल दिया है। राज्य का त्याग करते समय ही घायल होकर गिरे हुए अज्ञान को यदि आपने जान से मार दिया होता, तो उसी समय बिलकुल नष्ट हुआ वह अज्ञान आपको यों तपरूपी गड्ढे में ढकेलकर नहीं मारता ॥१०–१६॥

'स खातवलयं चक्रे' (उस महावत ने गोल गड्ढ़े का निर्माण किया) इस उक्ति का तात्पर्य कहते हैं।

हे राजन्, हाथी के शत्रु उस महावत ने जो गोल गड्ढे का निर्माण किया था, वह आपके अज्ञान ने तपरूपी सम्पूर्ण दुःखों का एक गोल गड्ढा अर्पित किया है ॥१७॥

'परया राजसामग्र्या गजलम्पटभूमया' इससे सूचित अनेक गजलम्पट जनों में युक्त उत्तम राजसामग्री को स्पष्ट रूप से बतलाते हैं।

हे श्रेष्ठ राजन्, जो उस हाथी के शत्रु की उत्तम राजसामग्री है, वह अज्ञानरूपी राजा की अन्तःकरण में चारों ओर घूमनेवाली चिन्ता है और वह राजा हैं आप। हे साधो, गज न होते हुए भी आप उक्त विवेक से सम्पन्न गजेन्द्र हैं। इस दीर्घ जंगल में इस अज्ञानरूपी शत्रु महावत ने आपको तपरूपी गड्ढे में बहुत शीघ्र फेंक दिया है ॥१८,१९॥

'उपर्यस्थगयद्बाललतौघेन स तं शठः' (उस वंचक महावत ने उस गड्ढे को कोमल बाललताओं से उस प्रकार ऊपर से ढक दिया) इसका स्पष्टरूप से तात्पर्य कहते हैं।

कोमल लताओं से जो गोल गड्ढा ढका है वह आपका तपोदुःख ही शान्ति आदि गुणों और सज्जनों के समागमों से थोड़ा–सा आवृत्त है ॥२०॥

'इति भूयो दृढं बद्धस्तेन हस्तिपकेन सः। तिष्ठत्यद्यापि दुःखेन भूसद्मनि यथा बलि॥' (इस रीति से पुनः उस महावत ने उस हाथी को सुदृढ़रूप से बाँध दिया, जो आज भी बलि के सदृश भूगर्भ में अवस्थित है) इस उपसंहार का तात्पर्य कहते हुए उपसंहार करते हैं।

हे नृप, इस तरह आज भी अतिदारुण और दुःखदायक तपरूपी खन्दक में आप ऐसे बँधे हुए अवस्थित हैं, जैसे पातालतल में राजा बलि ॥२१॥

कहे या न कहे गये सबको एक में मिलाकर कहते हैं।

हे राजन्, आप हैं गज; आशाएँ हैं जंजीर, शत्रु महावत है मोह, उग्र तपस्या में आग्रह है गड्ढा,

विन्ध्याचल है यह महीतल । इस तरह आपका वृत्तान्त मैंने हाथी के आख्यान द्वारा कह दिया । इसे अच्छी तरह जानकर तपस्यारूपी गड्ढे से निकलकर उस अपने शत्रु के नाश के लिए जो कुछ कर सकते हैं, उसी शीघ्र कीजिये, देरी मत कीजिये ॥२२॥

इक्यानबेवाँ सर्ग समाप्त

बानबेवाँ सर्ग

कुम्भरूपिणी चूडाला की ऐसी बातें सुनकर सर्वत्याग में तत्पर हुए उस राजा ने वन आदि का त्याग कर तपस्या में उपयोगी अपने सम्पूर्ण पापों को अग्नि में झोंक दिया–यह वर्णन ।

'जब आप जंगल को चले, उसी समय मूर्च्छित होकर गिरे हुए अज्ञान को आपने जान से नहीं मारा' यह जो आपने कहा, यह ठीक है, परन्तु उस समय मुझे मनस्त्याग का किसने उपदेश दिया ? जिसकी कि मैंने उपेक्षा की ? इस प्रकार राजा की शंका का तर्क कर रही कुम्भरूपिणी चूडाला कहती है ।

चूडाला ने कहा : हे राजन्, नीतिनिपुण उस चूडाला ने, जिसने ज्ञेय वस्तु का अच्छी तरह ज्ञान कर लिया था, उस समय जिस ज्ञान का आपको उपदेश दिया, आपने उसे क्यों नहीं स्वीकार किया ? ॥१॥

इसलिए नहीं किया कि वह अतत्त्ववित् और मिथ्यावादिनी थी, इस शंका का वारण करते हैं ।

हे राजन्, वह तत्त्वविज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ है । वह जो–जो कहती और करती है, वह सब सत्य ही रहता है, अतः आपको आदर के साथ उसका अनुष्ठान करना चाहिए था ॥२॥

आत्मबुद्ध्या चिरं जीवेद् गुरुबुद्ध्या विशेषतः । पर बुद्धिर्विनाशाय स्त्रीबुद्धिः प्रलयंकरी ॥ इस वचन के अनुसार स्त्रीबुद्धि की उपेक्षाकर अपनी बुद्धि से निश्चित सर्वत्याग को ही यदि आपने महत्त्वपूर्ण समझा, तो फिर आपने उसीको स्थिर क्यों नहीं किया ?

हे नृप, यदि आपने उस चूडाला के कथन का पालन नहीं किया, तो फिर सर्वत्याग का ही पूर्णरूप से आश्रय क्यों नहीं लिया ? ॥३॥

सिद्धः सर्वपरित्यागः साधो संसाध्यतस्तव । खर्वीकृतजगद्भूतिर्विद्यास्वात्मोदयस्तथा ॥ (हे साधो, साधना कर रहे आपका वह सर्वपरित्याग सिद्ध हो चुका, जो जगत् के प्रसिद्ध हिरण्यगर्भपद तक के ऐश्वर्यों को भी तुच्छ कर देनेवाला तथा विद्यारूपी निरतिशयानन्द आत्मज्ञान को उत्पन्न करनेवाला है ।) इत्यादि से तो आपने ही कहा था कि राज्यादि के परित्यागमात्र से आपका सर्वत्याग सिद्ध हो चुका और जिस राज्य आदि का परित्याग कर दिया है उसका फिर मैंने स्वीकार भी नहीं किया, ऐसी स्थिति में आप बतलाइये कि मैंने सर्वत्याग का पूर्णरूप से अवलम्बन क्यों नहीं किया ? यों राजा शिखिध्वज पूछते हैं ।

हे प्रिय, यद्यपि राज्य छोड़ा, घरबार छोड़ा, उसी प्रकार सारा देश छोड़ दिया, स्त्री भी छोड़ दी, तथापि आप कहते हैं कि आपने सर्वपरित्याग नहीं किया, यह क्यों ? ॥४॥

'केवलं सर्वत्यागे शेषिताहंमतिस्त्वया' (आपने सर्वत्याग में केवल अभिमानरूप अविद्या को उस तरह बचा रखा है) इससे तो मैंने पहले ही इसका उत्तर दे दिया है । परन्तु विवेक न होने के कारण यह उसे समझ नहीं सका, इसलिए जंगल में निवास, कमंडलु आदि अवशिष्ट परिग्रह का भी पूर्णरूप से

त्याग करा दिये जाने पर किसी तरह विवेक प्राप्त कर अहंकारग्रन्थि तोड़ करके यह परिपूर्ण ब्रह्मस्वरूप हो जायेगा–ऐसा सोचती हुई धीरे–धीरे राजा शिखिध्वज की बुद्धि को विचार पथ पर उतार रही कुम्भरूपिणी चूडाला गूढ़ अभिप्राय से कहती हैं।

हे राजन्, धन, स्त्री, गृह, राज्य, भूमि, छत्र और बान्धव – ये सब आपके तो हैं ही नहीं, फिर आपका सर्वत्याग हुआ कौन ? तात्पर्य यह कि जो अपना सम्बन्धी और सब है उसीका त्याग होने पर सर्वत्याग की सिद्धि होगी, परन्तु राज्यादि तो न आपके सम्बन्धी हैं न और सब हैं, क्योंकि 'राज्य आदि मेरे हैं' ऐसी कल्पना कर रहा अहंकार ही अपने को इनका स्वामी मानता है, आत्मा नहीं मानता; अतः आप में सम्बन्धिता न होने से आपका सर्वत्याग सिद्ध नहीं हुआ ॥५॥

अहंकार में तादात्म्य से आत्मा ही राज्यादि सबका स्वामी बन बैठा है, यदि आप यह कहें, तब तो एक उसीके त्याग से सर्वत्याग सिद्ध हो जायेगा, दूसरे के त्याग से नहीं। और आपने तो उस अहंकार का त्याग अभी तक किया ही नहीं, इस आशय से कहते हैं।

हे राजन्, सबसे उत्तम भाग जो आपका मन या अहंकार है वह तो अभी तक अपरित्यक्त ही है। उसका पूर्णरूप से परित्याग कर आप शोकशून्य होंगे ॥६॥

कथित आशय को न जानकर राजा शिखिध्वज चूडाला का यह आशय समझ रहे हैं कि मैंने पहले राज्य आदि का त्याग कर दिया है, इसलिए इस समय राज्यादि का सम्बन्ध न होने से वे त्याग के पात्र हैं ही नहीं और पर्वत, वृक्ष आदि का इस समय सम्बन्ध होने के कारण उनके त्याग के बिना सर्वत्याग की सिद्धि नहीं हो सकती, यह कहते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : यदि आप मानते हैं कि मेरा राज्य सब कुछ नहीं है तो यह पर्वत, वृक्ष, गुल्म आदि से भरपूर वन ही मेरा इस समय सब कुछ है, इसलिए इसका मैं त्याग करता हूँ। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, कुम्भ के वाक्य से प्रेरित होकर उस तरह कह रहे वीर जितेन्द्रिय शिखिध्वज ने दूसरे ही निमेष में उस वनासक्ति को ऐसे धो डाला, जैसे वर्षा का प्रवाह तटगत धूलिलेखा को, क्योंकि ऐसा करने के लिए उसने दृढ़ निश्चय कर लिया था। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे प्रिय, अनेक जंगली वृक्षों, पर्वतों और गड्ढों से युक्त जंगल से भी मैंने अपनी वासना का (ममता का) परित्याग कर दिया, अब तो मेरा सर्वत्याग सम्पन्न है न ? कुम्भ ने कहा : हे राजन्, यह पर्वत का तट, वन, वापी (बाउली), गुल्म और वृक्षों के नीचे की सुन्दर भूमि – ये सब तो आपके हैं ही नहीं, फिर आपका सर्वत्याग कैसे सम्पन्न हुआ। हे राजन्, सबसे उत्तम भाग का तो आपने अभी परित्याग ही नहीं किया है, उसका आप भलीभाँति त्याग करके उत्कृष्ट अशोकता को प्राप्त होंगे ॥७-१२॥

यद्यपि त्याग करने के कारण वन आदि आपके सब हैं नहीं, यह मैं मानता हूँ, तथापि आश्रम का अस्तित्व होने से आपका सर्वत्याग सम्पन्न हुआ कैसे, यह कुम्भ मुनि अब मुझसे कह रहे हैं, यों मान रहे राजा शिखिध्वज कहते हैं।

त्याग के कारण यदि ये वन आदि मेरे सब नहीं हैं तो यह जो वापी, स्थल, पर्णकुटी आदि से युक्त मेरा अपना आश्रम तो सब कुछ है, उसका भी अभी मैं त्याग कर देता हूँ ॥१३॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, ऐसा कहते हुए कुम्भवाक्य से प्रबोधित जितेन्द्रिय वीर राजा

शिखिध्वज ने निमेषभर ध्यान करके हृदय में स्फुरित हो रही उस आश्रम की अपनी ममता को शुद्ध संवित् से उस प्रकार धो डाला, जिस प्रकार पवन स्फुरणमात्र से धूलिलेखा को धो डालता है। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे प्रिय, वृक्ष, पर्णकुटी, लता आदि से सम्पन्न इस अपने आश्रम से भी अपनी ममता मैंने छोड़ दी। अब तो मेरा सर्वत्याग सिद्ध हो गया न ? कुम्भ ने कहा : हे राजन्, वृक्ष, वापी, स्थल, गुल्म, पर्णकुटी और ये लताएँ – ये सब तो आपके कुछ भी नहीं हैं, फिर आपका सर्वत्याग कैसे सिद्ध हुआ। सबसे उत्तम भाग का तो अभी आपने त्याग ही नहीं किया है, उसका पूर्णरूप से परित्यागकर आप उत्कृष्ट अशोकता को प्राप्त होंगे। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे प्रिय, यदि ये सब मेरे नहीं हैं, तो पात्र आदि तथा मृगचर्म, दीवार, कुटीर आदि तो मेरे सब हैं, इन्हींको पहले छोड़ता हूँ। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, यह कहकर अविक्षुब्धमति, शमी तथा शुद्धात्मा वह राजा शिखिध्वज अपने आसन से उस तरह उठ गया, जिस तरह पर्वत के श्रृंग से शरत्कालीन मेघ ॥१४–२०॥ अपने आसन पर स्थित वह कुम्भ ऋषि मुसकुराता हुआ राजा शिखिध्वज की सारी क्रियाएँ उस तरह देख रहा था, जिस तरह अपने रथ पर अवस्थित हुए भगवान् सूर्यदेव लोक के कार्य देखते रहते हैं। जो यह करता है, यह करे। इसके लिए यही परम पावन है, ऐसा विचार कर चुपचप अवस्थित हो वह कुम्भ ऋषि राजा शिखिध्वज की ओर देखता रहा। राजा शिखिध्वज ने भाण्डादि उन सब वस्तुओं को अपने आश्रम के भीतर से लाकर उन्हें एक ही जगह उस तरह रख दिया, जिस तरह समुद्र के उदर की नीची भूमि उन्नत पृथिवी से नदी आदि के जल को। उन्हें एक जगह करके सूखी लकड़ियों के द्वारा अग्नि को उस तरह प्रज्वलित किया, जिस तरह अपनी किरणों से संक्रान्त सूर्य सूर्यकान्तमणि के स्थान में अग्नि को। भाण्डे आदि उन सब वस्तुओं को अग्नि में छोड़कर वह अपने आसन पर उस तरह आसीन हो गया, जिस तरह मन्वन्तर के सन्धिप्रलय में भगवान् सूर्यदेव स्वप्रज्वलित अग्नि में संसार का हवनकर सुमेरु शिखर पर आसीन हो गये थे ॥२१–२५॥

अब अक्षमाला छोड़ने की इच्छा से किये गये उपकार को भूल जाना जो एक दोष है उसका परिहार कर रहे राजा शिखिध्वज उस अक्षमाला से कहते हैं।

हे पतिप्रिये, मेरे इस कार्य से दूसरे को अवश्य क्लेश होगा, ऐसा विचारकर मैंने अपनी स्वार्थसाधन की बुद्धि का कभी उच्छेद न करके तुम्हें इतने समय तक जो परिवर्तनरूपी श्रम में पहुँचाया, उसीसे आवश्यकता से अधिक तुम मेरी सेवा कर चुकी हो, अतः उतनी ही रहे। अब तो तप, जप आदि कर्तव्यरूपी भ्रान्ति के दूर चले जाने पर तुम मेरा उपकार नहीं कर सकती, इसलिए तुम्हें श्रम देना मैं उचित नहीं समझता। मैं तुम्हारे साथ मन्त्ररूपी जंगल में तथा क्रियासे साध्य होनेवाली छोटी–छोटी सिद्धियों के पथ पर बहुत दिनों तक भटकता रहा ॥२६,२७॥ हे सखि, मैंने अनेक धर्मस्थान देख लिये, अब विश्राम ले रहा हूँ – यह कहकर राजा शिखिध्वज ने अक्षमाला आग में उस तरह फेंक दी, जिस तरह प्रलयकालाग्नि में पवन आकाश की नक्षत्रमाला (✍) फेंक देता है ॥२८॥ हे मृगचर्म, मनुष्यरूपी मृग मैंने जंगली मृग से प्राप्त हुए तुम्हें बहुत दिनों तक अपने अज्ञान से इस कुशासन के ऊपर बिछाया,

---

(✍) नक्षत्रमाला की उपमा से मालुम पड़ता है कि यह अक्षमाला स्फटिक की थी।

अब यही तुम्हारा उपकार मेरे जीवन में सदा के लिए बना रहे। अब तुम अपने मूलकारण माया स्वभाव के लिए चले जाओ, तुम्हारे अवान्तर कारणप्रविलयस्वरूप मार्ग तुम्हें कल्याणदायक हों। तुम सफेद बिन्दुओं से चित्रित हो, अतः अग्नि के रास्ते तुम आकाशस्वरूप में मिल जाओ, यह आकाश भी तुम्हारे ही सदृश सफेद चमकीले तारों से चित्रित है, यह कहकर उस राजाने कुशासन से उस मृगचर्म को खींचकर अपने दोनों हाथों से अग्नि में उस तरह छोड़ दिया, जिस तरह प्रलयकालीन वायु पर्वतों को समुद्र से खींचकर दावाग्नि में छोड़ देता है ॥२९–३१॥

अब कमण्डलु छोड़ने की इच्छा कर रहे राजा शिखिध्वज अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करने के लिए उसकी प्रशंसा करते हैं।

हे साधो कमण्डलो, तुम सुन्दर गोल–मटोल आकार से युक्त बनकर मेरे लिए जल रखते रहे। तुम्हारी इस सुन्दर मैत्री और स्थिर सौजन्य का मैं अच्छी तरह प्रत्युपकार न कर सका – बदला न चुका सका। सम्पूर्ण साधुत्व का परम आस्पद तुम्हीं हो। हे मित्र, जिस अग्निपथ से देह को शोधित कर मेरे पास आये हो, उसी पथ से फिर चले जाओ। मित्र, तुम्हारे मार्ग सुखदायक हों। यह कहकर उसी समय राजा शिखिध्वज ने श्रोत्रिय ब्राह्मण को कमण्डलु दे दिया (🕭)। जो कोई अच्छी वस्तु हो, वह किसी महात्मा को दे देनी चाहिए या अग्नि में जला देनी चाहिए, ऐसा नियम है। हे आसन, जिस तरह मूर्ख पुरुष की बुद्धि अधोगति के हेतु प्रच्छन्न पाप में गिरती है, उसी तरह तुम भी सदा अपने से प्रच्छन्न अधोदेश में ही गिरते हो, इसलिए हे आसन, तुम्हारी भी वही दाहसन्तापगति उचित है, अतः भस्मरूप हो जाओ, यह कहकर उस राजाने उस कोमल आसन को चित्त की शुद्धि के लिए तथा ब्रह्मचैतन्य में विश्रान्ति के लिए धधकती आग में छोड़ दिया ॥३२–३७॥ हे साधो, जो वस्तु त्याज्य है उसका सदा शीघ्र त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि विद्यमान उन सभी वस्तुओं से संग्रह करने योग्य दूसरी वस्तु में भी विस्तार किया जाता है, ऐसी लोक में वस्तुस्थिति प्रसिद्ध है; इसलिए मैं इन सभी वस्तुओं को शीघ्र ही आग में छोड़ देता हूँ। यदि इन सबको आग एक ही बार में जला देती है, तो मेरे सर्वत्यागरूपी सन्तोष के लिए बिलकुल ठीक है ॥३८,३९॥ हे साधो कुम्भ, मैं निष्क्रिय होने के लिए क्रियोपयोगी सभी वस्तुओं को छोड़ रहा हूँ, इसलिए मेरे द्वारा किये गये सर्वत्याग के विषय में मित्र, तुम खेद न करना; क्योंकि इस संसार में अयोग्य वस्तु को (बिना काम के पदार्थ को) कौन ढोते–फिरता है – अयोग्य की कहीं पूछ नहीं रहती। हे श्रीरामजी, यह कहकर सम्पूर्ण भोजनपात्र आदि उस भाण्डसमूह को, जो वनवासविलास के योग्य था, एक ही साथ आग में राजाने उस तरह हवन कर दिया, जिस तरह धधक रही कल्पान्त की आग में काल सम्पूर्ण संसार को एक ही साथ हवन कर देता है ॥४०,४१॥

बानबेवाँ सर्ग समाप्त

(🕭) राजा शिखिध्वज ने अग्नि में शुद्ध करके किसी एक श्रोत्रिय ब्राह्मण से वह कमण्डलु लिया था, अब फिर अग्नि में उसे शुद्ध करके किसी एक दूसरे श्रोत्रिय ब्राह्मण को दे दिया, यह 'येनैव' इत्यादि से मालूम पड़ता है।

तिरानबेवाँ सर्ग

सारी सामग्री जलाकर छोड़ देने के लिए तैयार राजा शिखिध्वज को रोककर कुम्भ द्वारा चित्तत्याग के लिए उपदेश देना।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, इसके बाद उठकर राजा शिखिध्वज ने अज्ञानी अपने मिथ्याभूत मन से संकल्प द्वारा समर्थित उस कुटीरूप शुष्क तृणमन्दिर को जला दिया। जो कुछ वस्तुएँ वहाँ बच गयी थीं उन सबको – शांतचित्त मौनी उस राजा शिखिध्वज ने क्रमशः समान बुद्धि से युक्त होकर – जला डाला, इधर-उधर फेंक दिया, किसी को दे दिया तोड़-फोड़कर नष्ट कर दिया। हे श्रीरामजी, आपसे क्या कहूँ, अन्त में उसने अपनी लँगोटी तथा भोजनपात्र को भी नहीं रहने दिया। राजा शिखिध्वज के उस आश्रम से, जहाँ अनेक जन पहले देखे गये थे, आज वे सब लोग विलुप्त हो गये; वह वीरभद्र के बल से ध्वस्त दक्ष के यज्ञ के आश्रम के सदृश हो गया। वे मृगों के झुण्ड जुगाली छोड़-छोड़कर आश्रम से उस प्रकार भागने लगे, जिस प्रकार अग्निदाह से युक्त किसी श्रेष्ठनगर से अत्यन्त भयभीत होकर मनुष्य भागने लगते हैं। सूखी लकड़ी के साथ जब वह सम्पूर्ण पात्र आदि अग्नि में जल रहा था तब देहमात्र अवशिष्ट, स्नेहशून्य और सन्तुष्ट राजा बोलने लगा ॥१-६॥

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे देवपुत्र, अहो, चिरकाल के बाद आपसे ज्ञान पाकर सब वस्तुओं में ममता छोड़कर अब में सर्वत्यागी बनकर स्थित हो गया हूँ। अब मैं केवल, शुद्ध सुख से सम्पन्न ज्ञानवान् हो गया हूँ। ममतासंकल्पप्रयुक्त संग्रहक्रम जिसमें उपस्थित है, ऐसा यह सब सामान किस काम का ? कहने का तात्पर्य यह है कि जिस पदार्थ में कुछ सार नहीं है वह पास में रखने योग्य नहीं है ॥७,८॥

वस्तुओं के त्याग से जो सुख हुआ, उसका अभिनय कर रहे राजा शिखिध्वज कहते हैं।

ज्यों-ज्यों विविध बन्धन के हेतु विषय छूटते जाते हैं, त्यों-त्यों मेरा मन परम आनन्द को प्राप्त होता जाता है। हे भगवन्, मैं शान्ति प्राप्त कर रहा हूँ, परमानन्द स्वरूप को प्राप्त कर रहा हूँ और विजयी हो रहा हूँ, अतः मैं अब खूब सुखी हूँ। मेरे विविध बन्धन नष्ट हो चुके। अब मैंने सर्वत्याग किया। हे देवपुत्र, देखिये, अब मैं दिगम्बर हूँ, दिक्सदन हूँ और दिशाओं के समान यह स्थित हो गया हूँ। कहिए, महात्याग करने से अब और अधिक क्या बाकी बचा है ? ॥९-११॥

बाह्य पदार्थों के त्यागमात्र से, भ्रान्ति से बालक की नाईं, उस राजा शिखिध्वज के सर्वत्यागजन्य सुखाभिनय को न सह रहे कुम्भ कहते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे राजन्, शिखिध्वज, अभी आपने सभी पदार्थों का अच्छी तरह त्याग नहीं किया। सर्वत्यागजन्य परमानन्द में झूठ-मूठ का अभिनय मत कीजिए। सबसे उत्तम भाग का तो अभी आपने त्याग ही नहीं किया, जिसका त्याग कर आप परम निःशेष विशोकता को प्राप्त होंगे। महाराज श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे महाबाहो, हे राजीवलोचन श्रीरामजी, यह सुनकर उस महीपति ने कुछ सोचकर यह कहा। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे देवपुत्र, इन्द्रियरूपी दुष्ट साँपों के समूह से युक्त तथा रक्त-मांसमय आकारवाला यह मेरा शरीर अभी सर्वत्याग में बाकी रह गया है, इसलिए फिर उठकर बिना विघ्न के इस शरीर को भृगुपात से विनाशरूपता में पहुँचाकर मैं सर्वत्यागी हो रहा हूँ। महाराज वसिष्ठजी

ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, यह कहकर अपना शरीर छोड़ने के लिए सामने स्थित खन्दक में गिरने के लिए ज्यों ही राजा शिखिध्वज उठ कर झोंक से बढ़े, त्यों ही कुम्भ ऋषि बोले। कुम्भ ऋषि ने कहा : हे राजन्, क्यों इस निरपराधी देह को इतने बड़े भयंकर खंदक में छोड़ रहे हैं। आप तो, उस अज्ञानी क्रोधी बैल के सदृश मालूम पड़ते हैं, जो अपने बछड़े को ही मारता है ॥१२-१८॥

शरीर का कोई अपराध नहीं है, यह दिखलाते हैं।

यह बेचारा तपस्वी शरीर तो जड़ और मूकात्मा है। इसने आपका कोई अपराध नहीं किया है, अतः व्यर्थ ही इस शरीर का त्याग मत कीजिये। यह मूकात्मा अपने आत्मा में ही ध्यानवान् होकर अवस्थित रहता है। यह दूसरे के ही द्वारा उस तरह संचालित किया जाता है, जिस तरह तरंग से काष्ठ ॥१९,२०॥

जिसका अपराध है, उस अन्य व्यक्ति को दिखलाते हैं।

जैसे एकान्त में अवस्थित तपस्वी को उन्मत्त चोर बलपूर्वक बारबार क्षोभ पहुँचाता है, वैसे ही इस आत्मा को भी कोई दूसरा ही बार बार बलपूर्वक उन्मत्त चोर क्षोभ पहुँचाता है, अतः वही दण्ड देने योग्य है ॥२१॥

सुख और दुःख की उत्पत्ति का स्थान होने से शरीर अपराधी क्यों नहीं है, इस पर कहते हैं।

सुख, दुःख आदि का उद्भवस्थान होने मात्र से शरीर अपराधी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसमें दृष्टान्त है-फलवान् वृक्ष। वायु द्वारा आत्मस्पन्दन (फल आदि का पतन) होनेपर फलवान् वृक्ष के अभिमानी आत्मा का कोई अपराध माना नहीं जा सकता। स्पन्दनशील वायु ही, फल, ऊपर के पल्लव, पुष्प आदि को बलपूर्वक गिरा देता है, इसलिए वायु का ही अपराध मानना चाहिए, बेचारे साधु वृक्ष का क्या अपराध ? बस, इसी तरह साधु शरीर ने साधु आत्मा का कौन अपराध किया ? ॥२२,२३॥

हे कमलनेत्र, शरीर का त्याग करने से भी तुम्हारा सर्वत्याग सिद्ध नहीं हो जाता, क्योंकि वह विषम है अर्थात् देहत्यागरूप सर्वत्याग करनेपर अधिकारी देह न मिलने के कारण ज्ञान की सम्भावना हो ही नहीं सकती, इसलिए उसका त्याग करना नितान्त अयोग्य है। हे साधो, आप निरपराधी इस शरीर को व्यर्थ ही खन्दक में फेंक रहे हैं, क्योंकि देह छोड़ देने पर देहक्षोभक अहंकार का त्याग सिद्ध नहीं होता। मत्त हाथी जैसे वृक्ष को क्षुब्ध करता है वैसे ही देह आदि सब कुछ अपने-आप परित्यक्त हो जाता है। यदि उसका परित्याग नहीं करते, तो भृगुपात आदि से नाशित भी देह आदि उस देहक्षोभक जन्मादि के हेतु पापात्मा अहंकार से बार-बार उत्पन्न होता ही रहेगा। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे सुन्दर, यह देह किसके द्वारा चलित होती है, जन्मादिविकारों का बीज क्या है, और किसका त्याग कर देने पर सब कुछ परित्यक्त हो जाता है ? कुम्भ ऋषि ने कहा : हे साधो, हे राजन्, देह के त्याग से, राज्य के त्याग से और कुटिया नष्ट कर देने से सर्वत्याग सिद्ध नहीं होगा। परन्तु जो समस्त वासनाओं का आश्रय होने के कारण सर्वात्मक है, सब विषयों में जिसकी पहुँच होने के कारण जो सर्वव्यापी है, उस संकल्प के द्वारा सबके एकमात्र कारणभूत सर्वात्मा का परित्याग कर देने पर सर्वत्याग सिद्ध होगा ॥२४-३०॥ राजा शिखिध्वज ने कहा : हे सर्व तत्त्वविदों में श्रेष्ठ ऋषे, सब जगह छोड़ने योग्य और सर्वदा त्यागने योग्य जो सर्वगत सर्वात्मक वस्तु है, वह सर्वात्मक वस्तु कौन कही जाती है, उसे कहिए ॥३१॥ कुम्भ ऋषि ने कहा : हे साधो, सर्वव्यापी आकारवाला तथा जीव, प्राण आदि नामवाला (चिति की प्रधानता से

जीवनामवाला और क्रिया की प्रधानता से प्राणनामवाला) जो चित्त है, यह सर्वशब्द से कहा गया है। यह चित्त न जड़ है, न अजड़ है, किन्तु अनेक भ्रमों से व्याप्त है। हे राजन्, आप चित्त को ही भ्रम जानिये, चित्त को ही व्यवहार करनेवाला पुरुष समझिये और चित्त को ही जगज्जाल जानिए। यह चित्त ही सर्वात्मक वस्तु कही गयी है। हे महीपते, जिस तरह वृक्ष का बीज वृक्ष है उसी तरह यह मन राज्य आदि, देह आदि तथा आश्रम आदि सबका बीज है। हे भूप, सबके बीजभूत उस मन का त्याग हो जाने पर सबका बिलकुल त्याग हो जाता है। उसके त्याग से सर्वत्याग का संभव है और उसके अत्याग से सर्वत्याग का संभव नहीं है। हे राजन्, समस्त धर्म या अधर्म, राज्य या जंगल आदि – ये सब सचित्त पुरुष के लिए केवल दुःखरूप ही हैं और चित्तहीन पुरुष के लिए तो ये सबके सब परम सुखस्वरूप हैं। सम्पूर्ण जगत् तथा देहादि आकार के समूहरूप से यह सब चित्त ही उस तरह परिणत होता है, जिस तरह वृक्षरूप से बीज परिणत होता है। जिस तरह पवन से वृक्ष, भूकम्प से पर्वत और लोहार से धौंकनी संचालित होती है, उसी तरह चित्त से यह देह संचालित होती है। सम्पूर्ण जीवों के उपभोग, जरा, मरण आदि देह के धर्मों और महामुनियों के शम, दम आदि धर्मों की सुदृढ़ पिटारी आप चित्त को ही जानिये। हे राजन्, जगत् तथा देहादि आकार के समूहरूप से यह सब चित्त ही परिणत होता है। चित्त ही मनोमय जीव है। तात्पर्य यह है कि अशान्त चित्त ही मनन करने से मनोमय और आभ्यन्तर प्राण की चेष्टा से जीव बनकर बाहर स्थूल शरीर तथा शारीरिक व्यवहारादि आकार के समूहरूप से परिणत होता है। वही अन्तःकरण शान्त, बुद्धि, महत्,अहंकार, प्राण और प्राज्ञात्मा इत्यादि क्रिया के अनुरूप नाम–व्यापारों से लोक में कहा जाता है। हे महीपते, चूँकि चित्त ही सब कुछ कहा गया है, अतः उसके त्यक्त हो जाने से समस्त आधि और व्याधि की सीमा का विनाशरूप सर्वत्याग सिद्ध हो जाता है ॥३२–४२॥
हे त्यागविदों में श्रेष्ठ राजन्, चित्त के त्याग को सर्वत्याग कहते हैं, इसलिए हे महाबाहो, उसके सिद्ध हो जाने पर परमार्थभूत भूमानन्दस्वरूप सत्य पदार्थ का क्या अनुभव नहीं होता ? अर्थात् अवश्य ही होता है। चित्त के त्यक्त हो जाने पर कार्यविभाग के आविर्भाव की परम्परारूप द्वैत और कारण में तिरोभाव का क्रमरूप ऐक्य भी चारों ओर से लय को प्राप्त हो जाता है और परम शान्त, स्वच्छ तथा निरामय एक पद अवशिष्ट रह जाता है। चित्त को ही इस संसाररूपी धान का खेत कहते हैं। यदि खेत अखेतरूप में परिणत हो जाय तो धान की उत्पत्ति कहाँ से होगी ? विचित्र चेष्टाओं से युक्त यह चित्त ही भाव और अभाव का आकार धारण करनेवाले पदार्थों के रूप से उस तरह परिणत होता है, जिस तरह जल तरंगरूप से परिणत होता है। हे भूपते, चित्तनाशरूप सर्वत्याग से सर्वदा सब कुछ अच्छी तरह ऐसे प्राप्त किया जा सकता है, जैसे साम्राज्य से ॥४३–४७॥

वह सर्वत्याग परिच्छिन्न आत्मा का ग्रहण करने पर सिद्ध नहीं होता, इस आशय से कहते हैं।

हे त्यागी राजा, परिच्छिन्नात्मक आपके सर्वत्याग का विषय जैसे अन्य है, वैसे ही आपको त्याग देनेवाले किसी दूसरे त्यागी के त्याग के विषय आप भी हैं। ऐसी दशा में त्याज्य का ही आत्मरूप से आप ग्रहण कर रहे हैं, इसीसे आपका सर्वत्याग सिद्ध नहीं होता ॥४८॥

अपरिच्छिन्न आत्मा का ग्रहण करने पर तो आप ही सब की आत्मा ठहरते हैं, इसलिए किसी दूसरे के द्वारा आपका त्याग न होने के कारण त्याज्यकोटि में अप्रविष्ट आप जब सर्वत्याग करने लगेंगे, तब

सबको आपने अधीन बनाकर ग्रहण कर ही लिया, यह कहते हैं।

जैसे मुक्ताफल सूत को अपने अन्दर कर लेता है वैसे ही जिसने सर्वत्याग किया है उसने तीनों काल के समस्त जगत् को अपने भीतर कर लिया है ॥४९॥

जो सब छोड़ रहा है उसने तो सबकी शून्यता ही मान ली, फिर सब उसके अधीन बनकर लब्ध कैसे होंगे, इस पर कहते हैं।

जिसने सर्वत्याग किया है उस शून्यस्वरूप में, तन्तु में मोतियों की तरह, तीनों कालों में अवस्थित सम्पूर्ण जगत् अवस्थित है। निष्कर्ष यह है कि सब कुछ छोड़कर वह त्यागी यद्यपि सर्वशून्यस्वरूप हो गया है, तथापि उसके द्वारा छोड़ा गया जगत्–अन्य आश्रय न मिलने के कारण – उसीका आश्रय कर व्यवहारपर्यन्त सत्तास्फूर्ति प्राप्त करता है, इसलिए व्यवहारियों की दृष्टि से त्रिकाल में रहनेवाले सब पदार्थों को वही प्राप्त करता है, यों कहा जाता है ॥५०॥

इसीलिए सर्वत्याग होने पर सबका बाध हो जाने के कारण परमार्थदृष्टि से आत्यन्तिक स्नेह का क्षय होने से बुझे हुए दीपक का दृष्टान्त तथा सर्वगतस्वरूप की ज्योति से सम्पूर्ण व्यवहारों का प्रकाश होने के कारण व्यवहारदृष्टि से तैलसहित दीपक का दृष्टान्त कहते हैं।

तैलरहित दीपक की नाईं निर्वाणपद को प्राप्त हुए जिसने अनासक्ति से सबको छोड़ दिया, तैलसहित दीपक की नाईं प्रकाशमान ज्योतिःस्वरूप उसने सबको प्रकाशित किया। प्रतीयमान सबका परित्याग करके जो तैलरहित दीपक की नाईं निर्वाणपद में अवस्थित रहता है, सर्वरूप प्रकाशात्मा वह तैलसहित दीपक की नाईं प्रकाशता है ॥५१,५२॥

सर्वत्याग में शून्यतापत्ति का वारण करते हैं।

राज्यादि सम्पूर्ण वस्तुओं का त्याग कर देने पर जैसे अकेले आप अवशिष्ट रह गये हैं वैसे ही सबका त्याग कर देने पर विज्ञानात्मा ही एक अवशिष्ट रह जाता है ॥५३॥

परिशिष्ट चिति अपने से अतिरिक्त है, अतः उससे अपना कौन-सा पुरुषार्थ सिद्ध होता है, इस पर कहते हैं।

हे राजन्, समस्त वस्तुओं के जल जाने पर भी जैसे आप अन्य नहीं हुए, वैसे ही सर्वत्याग से होनेवाला परम पुरुषार्थरूप मोक्ष भी आपसे भिन्न नहीं होगा, ऐसा हम कहते हैं ॥५४॥

पुरुषार्थ के परित्यक्त सब प्रपंचों से शून्य होने पर भी सम्पूर्ण संविदों का उसमें अन्तर्भाव है ही, इसलिए उसमें जाड्य की प्रसक्ति नहीं है, यह कहते हैं।

समस्त प्रपंचों का त्याग कर देने पर शून्यात्मक हुआ वह चितिस्वरूप मोक्ष सम्पूर्ण संविदों (ज्ञानों) का आश्रय उस प्रकार है, जिस प्रकार अनन्त, उदार, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि देवतों का आश्रयस्थान यह आकाश है। सर्वत्यागरूपी रस का थोड़ा भी आस्वाद लेने पर पुरुष को जरा-मरण की भीतियाँ उस तरह किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचातीं, जिस तरह असंग और उदासीन आकाश को कोई भी टँकियाँ (छेनीयाँ) किसी तरह की बाधा नहीं पहुँचातीं। हे राजन् जिससे निर्मल स्वरूपस्फूर्ति प्राप्त होती है उस महत्त्व का कारण सर्वत्याग ही है। चूँकि आप सबका त्याग कर रहे हैं, इसीलिए आपकी बुद्धि में बहुत भारी स्थिरता आ रही है। सर्वत्याग ही परमानन्द है, इसके

अतिरिक्त और सब कुछ भयंकर दुःखरूप है – इसे विचारपूर्वक ॐ यों स्वीकार कर आप उसी का आचरण कीजिए, जिसे चाह रहे हैं ॥५५–५८॥

सर्वत्याग में वैभव की हानि होती है, इसका खण्डन करते हैं।

जो पुरुष सबका त्याग कर देता है उसके पास प्रारब्ध द्वारा सम्पूर्ण विभव–समूह उस तरह उपस्थित होता है, जिस तरह ज्यों–ज्यों वड़वाग्नि में जल प्रविष्ट होता है, त्यों–त्यों समुद्र में नदियों से जल आता ही रहता है। अज्ञान और उसके कार्य का जो त्याग है उसके भीतर आत्मप्रसादक ज्ञान अवश्य उपस्थित रहता है। हे राजन्, यह प्रसिद्ध है कि पात्र के भीतर जो शून्य स्थान होता है वहीं रत्नादि रहता है। अत्यंत पापिष्ठ कलिकाल में भी वेदों से बहिष्कृत होने के कारण अति नीच भी वह शाक्य मुनि सर्वत्याग के कारण ही निःशंक होकर सुमेरु के समान अवस्थित था। हे राजन्, तब तो इस पुण्यमय द्वापर काल में वेदमार्ग का अवलम्बन करनेवाले पुण्यतम आपको निःशंक होकर आकाश के समान अवस्थित रहना ही चाहिए, इस विषय में अधिक हम क्या कहें ॥५९–६१॥ हे महाराज, सर्वत्यागसम्पूर्ण सम्पत्तियों का निवासस्थान है, क्योंकि जो कुछ नहीं लेता उसे सब कुछ दिया जाता है। हे भूपते, सबका परित्याग करके शान्त, स्वस्थ और आकाश के समान सौम्य जो रूप आप हो रहे हैं तद्रूप ही हो जाइये। हे भूमिपाल, आप पहले जो त्याज्य पदार्थ हैं उन सबका मनसे परित्याग कर, अनन्तर जिस मन से परित्याग कर रहे हैं उस मन का त्यागकर उसके बाद त्यागाभिमानरूप अहंकार मल का भी त्यागकर जीवन्मुक्तरूप हो जाइये ॥६२–६४॥

तिरानबेवाँ सर्ग

चौरानबेवाँ सर्ग

चित्त का परित्याग करने के लिए उसके मूल की परिशुद्धि करने पर
देह आदि वेद्य पदार्थों का बाध और तदनन्तर पूर्ण चिति का अवशेष यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह चित्त के परित्याग का उपाय कुम्भ ऋषि के बतलाने पर अपने अन्तःकरण में बार–बार विचार कर रहा वह सौम्य राजा शिखिध्वज यह वचन बोला। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुने, हृदयरूपी आकाश का पक्षी और अन्तःकरणरूपी वृक्ष का बन्दर यह मन बार–बार मेरे द्वारा दूर कर दिये जाने पर भी फिर समीप में आ ही जाता है। हे उत्तम, जाल जैसे व्याकुल मछली पकड़ लेता है वैसे ही इस चित्त को पकड़ लेना तो मैं जानता हूँ, परंतु इसका त्याग मैं द्रव्य की नाईं इसमें मूर्तत्व का अभाव होने से, नहीं जानता। हे भगवन्, सबसे पहले तो आप मुझसे चित्त का क्या स्वरूप (त्याग के योग्य निष्कृट सामान्यरूप) है, यह ठीक–ठीक कहिये। इसके बाद हे प्रभो, चित्त के परित्याग की यथावत् विधि बतलाइये ॥१–४॥

कुम्भ ऋषि उसीको कहते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे महाराज, वासना ही चित्त का स्वरूप है, यह जान लीजिये। चित्तशब्द तो वासना का पर्याय कहा गया है। उसका त्याग अत्यंत सुकर है यानी केवल उदासीनता का अवलम्बन करनेमात्र से उसकी सिद्धि हो जाती है, अतएव स्पन्दन की अपेक्षा भी वह सुखसाध्य है, राज्य की अपेक्षा उसमें

अधिक आनन्द है और कुसुम की अपेक्षा अधिक सुन्दर भी है ॥५,६॥

तब क्यों उसका सब लोग सम्पादन नहीं करते, इस पर कहते हैं।

मूर्ख के लिए तो चित्त का परित्याग करना उतना दुःसाध्य है, जितना पामर के लिए साम्राज्य और तृण के लिए सुमेरुरूपता प्राप्त करना दुःसाध्य है ॥७॥ राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुने, आपके वचन से चित्त का स्वरूप वासनामय तथा विविध उपद्रवोपपादक है, यह तो जानता हूँ, परंतु उसका परित्याग वज्र को निगल जाने की अपेक्षा भी अत्यंत दुष्कर मानता हूँ, क्योंकि मूर्खता की स्थिति में उदासीनता का अवलम्बन किसी तरह हो ही नहीं सकता ॥८॥ हे मुने, यह चित्त संसाररूपी सुगन्ध युक्त पुष्प और दुःखरूपी दाहजनक अग्नि है तथा जगत् रूप कमल का मृणाल है, मोहरूपी वायु का आकाश है, शरीररूपी यन्त्र का चालक है और हृदयरूपी कमल का भ्रमर है। इसका अनायास त्याग जिस तरह होता हो, वह कहिये। कुम्भ ने कहा : हे साधो, अंकुर, शाखा, पल्लव आदि से युक्त मूलसहित इस चित्त का नाश ही संसार का भी नाश है, वही चित्त का सम्यक् त्याग है। बाह्य पदार्थों के त्याग के सदृश केवल ममता की निवृत्ति चित्त का सम्यक् त्याग नहीं है – ऐसा अपरिच्छिन्न आत्मदर्शियों ने कहा है ॥९-११॥

उक्त अर्थ का विमर्श कर अनुवादपूर्वक उसका अनुमोदन कर रहे राजा शिखिध्वज उसमें उपपत्ति बतलाते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुने, उत्तम सिद्धि के लिए मैं चित्तत्याग से तो अच्छा चित्तनाश ही समझता हूँ, परंतु सैकड़ों व्याधि का मूलस्थान इस चित्त का अभाव कैसे अनुभूत होता है सो कहिए अर्थात् चित्त एक तरह की व्याधि है और व्याधि का अभाव सैकड़ों बार ममतानिवृत्तिरूपी त्याग से किसी तरह दूर हुआ अनुभूत नहीं होता, किंतु चिकित्सा द्वारा नाश कर देने से ही अनुभूत होता है अतः उसके विनाश के लिए उसके मूल, शाखा और पल्लव आदि सब कहिए ॥१२॥ कुम्भ ने कहा : हे राजन्, शाखा, फल और पल्लवों से युक्त चित्तरूपी वृक्ष का अज्ञात आत्मा ही बीज है। अतः आप समूल उस वृक्ष को उखाड़ फेंकिये और अपना हृदय आकाश के सदृश आवरणशून्य बना डालिये ॥१३॥ राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुने, चित्त का मूल क्या है, अंकुर क्या है और इसका कौन-सा खेत है। इसकी शाखाएँ और स्कन्ध कौन हैं तथा यह भी कहने की कृपा कीजिये कि यह समूल कैसे उखाड़ कर फेंक दिया जाता है ॥१४॥ कुम्भ ने कहा : हे महामते, अहमर्थ से – अज्ञातात्मा से उदित जो यह हृदयवेदनात्मक अभिमानी प्रसिद्ध है, वही इस चित्तरूपी वृक्ष का बीज (मूल) है, इसे आप जान लीजिये ॥१५॥ परमात्मा की माया ही इस मायामय प्रपंच का खेत है। चूँकि सब मायामय प्रपंच का खेत वह है, इसलिए इस चित्त का भी वही खेत है। परमात्मपद यानी माया, यह भाव है। *(इसका कौन अंकुर है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।)* इस प्रथम उत्पन्न मूल से परिच्छिन्न 'मैं' इस तरह का निश्चयरूप, चिदाभास से व्याप्त होने के कारण, अनुभव ही इसका अंकुर होता है ॥१६॥

उस अंकुर की ही वृद्धि से चित्तरूपी वृक्ष के रूप में परिणति होती है, यह कहते हैं।

निर्विकार निश्चयात्मक जो अनुभव है वही बुद्धि कही जाती है। इस बुद्धिनामधारी अंकुर की जो संकल्पस्वरूप पीनता (स्थूलता) उत्पन्न होती है उसका चित्त और मन नाम पड़ा हुआ है। परमार्थतः विकाररहित होने से सर्वविकारशून्यस्वरूप अतएव पत्थर की उपमावाला यानी पत्थर के सदृश तथा

मिथ्याभूत चित्त और चित्त के धर्मों के सम्बन्ध का जो साक्षी है वही इसका साक्षी है। इसका स्तम्भ यानी मूल से लेकर शाखापर्यन्त मध्य–प्रदेश यह शरीर ही है, जो कि नाड़ियों, हड्डियों और रसों–(रक्तों) से रंजित है। मूलस्तम्भप्रदेश से आगे प्रदेश में स्कन्ध, शाखा आदि के प्ररोह के लिए अंकुरारम्भ करने की इच्छा होने पर वसन्तादिकाल की नाईं तत्–तत् भोगप्रद कर्मों के परिपाक काल में राग, द्वेष, प्रवृत्ति आदि अंकुर, पल्लव आदि के आकार में जोर से स्पन्दित होता है वह इसकी वासना ही है। इस चित्तरूपी वृक्ष की जो लम्बी–लम्बी दूर तक पहुँची हुई विस्तृत शाखाएँ हैं वे तो इन्द्रियाँ हैं और जन्म–मरणात्मक हजारों अनर्थों के कारण शुभ और अशुभरूप फलों से परिपूर्ण जो तुच्छ भोग हैं वे इसकी बड़ी–बड़ी अवान्तर शाखाएँ हैं। इस तरह के इस दुष्ट चित्तरूपी वृक्ष की शाखाओं का प्रतिक्षण छेदन (विषयभोगों में आसक्ति का छेदन) कर रहे आप उसके मूल को उखाड़ फेंक देनेवाले आत्मदर्शन में खूब प्रयत्न कीजिए ॥१७–२१॥

अब शाखाओं के छेदन और मूल के छेदन मे उपाय पूछते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुने, चित्तरूपी वृक्ष की शाखा आदि का छेदन कर रहा मैं उसके मूल का अशेषरूप से छेदन किस तरह करूँ ॥२२॥

शाखाओं के छेदन का उपाय बतलाते हैं।

फल और स्पन्दन आदि से समन्वित विविध वासनाएँ ही चित्तरूपी वृक्ष की शाखाएँ हैं। आसक्ति के परित्याग द्वारा अनुद्बुद्ध की गयी वे वासनारूपी शाखाएँ भीतर सदसद् विचार जनित संवित्ति के बल से विच्छिन्न हो जाती हैं ॥२३॥

उक्त अर्थ का ही जीवन्मुक्तों में लक्षणरूप से दिग्दर्शन कराते हैं।

जिसका मन किसी विषय में आसक्त नहीं है, जिसका अनुचित वाग्व्यापार सर्वदा निवृत्त रहता है, जो जय–पराजय की अभिलाषा से शून्य होकर प्रशान्त वाद विचार में निरत रहता है, जो प्राप्त हुए कार्य को कर डालता है उस पुरुष की चित्तरूपी लता भीतर विच्छिन्न हो जाती है ॥२४॥

शाखाच्छेदन का अभ्यास दृढ़ हो जाने पर पुरुष मूलोच्छेदन में योग्य हो जाता है, यह कहते हैं।

जो पुरुष अपने पुरुषार्थ से चित्तरूपी लताओं को कतरता हुआ स्थित रहता है वह मूल का उच्छेद करने के लिए योग्य हो जाता है। चित्त की शाखाओं का छेदन करना तो गौण है और मूल का छेदन करना प्रधान है, इसलिए आप मूल का उच्छेद करने में तत्पर हो जाइये ॥२५,२६॥ हे महाबुद्धे, मुख्यरूप से इस चित्तरूपी करंजवन का निःशेष मूल दाह कीजिए, ऐसा करने से अचित्तता हो जायेगी ॥२७॥

मूलदहन प्रसिद्ध अग्नि से नहीं हो सकता, इसलिए दूसरी अग्नि जानने की इच्छा से राजा पूछते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुने, अहंभावात्मक चित्तरूपी वृक्ष के बीज के दहन नामक इस कर्म में कौन–सी अग्नि समर्थ होगी अर्थात् चित्तरूपी दुष्ट वृक्ष के बीज को जलाने में कौन अग्नि समर्थ होगी ? कुम्भ ने कहा : हे राजन् 'मैं यह कौन हूँ' इस तरह का आरम्भ से लेकर आत्मसाक्षात्कारपर्यन्त स्वात्मविचार ही चित्तरूपी निकृष्ट वृक्ष के बीज के दहन में अग्नि कही गयी है ॥२८,२९॥

यद्यपि मैंने अपनी बुद्धि से बाह्य पदार्थों का तथा देह से लेकर अहंकार तक आध्यात्मिक पदार्थों का अनात्मस्वरूप से तथा मिथ्यारूप से ज्ञान कर लिया है तथापि आन्तरिक आत्मतत्त्व का परिचय न होने

से जड़ भी इस अहंकार में पुनः पुनः जो मुझे आत्मताभ्रान्ति हो रही है वह किसी तरह दूर नहीं होती और इसीसे मुझे विश्रान्ति नहीं मिल रही है, यह कहते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुने, मैंने अनेक बार अपनी बुद्धि से सारे जगत् के विषय में अच्छी तरह विचार कर लिया है – मैं अहंकार नहीं हूँ और न पृथ्वी और उसके अन्तर्गत वनमण्डलादि से मण्डित जगत् ही हूँ। जड़ होने के कारण मैं पर्वत का तट नहीं हूँ, वन नहीं हूँ, पत्र, स्पन्दन आदि नहीं हूँ, देहादि मैं नहीं हूँ, मांस नहीं हूँ, हड्डी नहीं हूँ और रक्त आदि भी मैं नहीं हूँ। मैं न तो कर्मेन्द्रिय हूँ और न ज्ञानेन्द्रिय हूँ। मैं मन नहीं हूँ, बुद्धि नहीं हूँ और जड़ होने के कारण न मैं अहंकार ही हूँ॥३०-३२॥

अहंकार में जड़ता नहीं है, इस शंका का विवर्तत्व हेतु से निवारण कर रहे राजा शिखिध्वज : जड़ में स्वतः सिद्ध होने की शक्ति न होने से चिति के अध्यास से उसकी सिद्धि होने पर उसमें मिथ्यात्व ही अन्त में चलकर आ जाता है – यह कहते हैं।

हे मुने, जैसे सुवर्ण में कटकत्व है यानी सुवर्ण से अलग कटक कोई पदार्थ नहीं है, किंतु सुवर्ण का ही विवर्त कटक है; वैसे ही चिदात्मा में अहन्ता है यानी चिदात्मा से अलग अहन्त्व कोई पदार्थ नहीं है, विवर्त अहन्त्व है और जड़ (शुक्ति-रजत, मृगतृष्णा आदि) तो असद्रूप से प्रसिद्ध हैं ही, इससे यानी जड़त्व हेतु से अहन्त्वादि नहीं है अर्थात् मिथ्या ही हैं॥३३॥

उक्त ब्रह्माण्ड आदि जड़वर्ग, अधिष्ठान सद्रूप से अन्य होने के कारण भी, असत् है।

आकाश में आकाश से भिन्न दूसरे महावृक्ष की नाईं परमपद चिति में चैतन्य से भिन्न कोई दूसरा ब्रह्माण्ड आदि पदार्थ, अन्यत्वहेतु से ही नहीं रहता। यदि यह कहिये कि ऐसा क्यों, तो इसका उत्तर यह है। ब्रह्माण्डादि जड़ वर्ग-चौदह भुवन आदि अवयवों का आधार तथा समस्त शब्द आदि विषयों का – कारण है और चिदात्मा तो विभागशून्य सत्तासामान्यस्वरूप होने के कारण विभक्तस्वभाव नहीं है॥३४॥ हे भगवन्, इस तरह अहन्तारूपी मल का परिमार्जन जान रहा भी मैं प्रत्यक् एकरस जो साक्षिचैतन्य है उसको नहीं जानता। यही कारण है कि हे मुने, मैं अधिक दिन से सन्तप्त हो रहा हूँ॥३५॥

अब एकमात्र परिशेष से ही साक्षिचैतन्य का परिचय दिलाने की इच्छा कर रहे कुम्भ कहते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे निष्पाप, हे महीपते, आप यदि जड़रूप होने के कारण अहंकारपर्यन्त दृश्यसमूहस्वरूप नहीं हैं तो हे महाबुद्धे, आप जिस रूप के हैं, उस रूप को मुझसे कहिये। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे विद्वर, मैं उस चिन्मात्र स्वच्छ आत्मसंवेदन का स्वरूपभूत हूँ, जिस अज्ञातृत्व, अभोक्तृत्व आदिरूप से प्रसिद्ध अवान्तर अवान्तर कोश परम्परा की अवधिभूत आनन्दैकरस चिन्मात्रस्वरूप के रहते आनन्दशून्य शब्द आदि विषय आस्वादित होते हैं और जिसके बुद्धि वृत्ति पर चढ़ जाने से शब्दादि विषयों में इष्टअनिष्ट विभाग निर्णीत होते हैं। विवेकदृष्टि से पर्यालोचन करने पर ऐसे शुद्धस्वरूप मुझे देह आदि कोशों में अहमभिमानरूप मल लग गया है वह सकारण है या अकारण ? उसे मैं नहीं जानता और न परब्रह्म को ही जानता हूँ॥३६-३८॥ हे मुने, यह असत्यस्वरूप और आत्मा के साथ तनिक भी सम्बन्ध न रखनेवाले मल को धो डालने में मैं समर्थ नहीं हो रहा हूँ, इसलिए दारुणरूप से मैं सन्तप्त हो रहा हूँ। कुम्भ ने कहा : हे महाबाहो, सत्यस्वरूप हो अथवा असत्यस्वरूप हो, जिस मल के प्रभाव से आप संसारी बनकर बैठे हैं वह लगा हुआ आप

में बड़ा मल क्या है, उसे बतलाइये। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे भद्र, वह मल सत्य है या असत्य, इसे तो नहीं जानता हूँ, परन्तु समस्त अनर्थरूप फल देनेवाले चित्तरूपी वृक्ष का वह मूल है, यों सामान्यरूप से उसे तो मैं जानता ही हूँ, विशेषरूप से भी वह अहंभाव एवं ममभाव रूप है, यों जानता हूँ। इस तरह सामान्य और विशेषरूप से जानता हुआ भी उस मल को छोड़ने के लिए मैं कोई उपाय नहीं जानता। यद्यपि 'अहं, 'मम' बुद्धि के अभाव से उस मल का बार–बार मैंने परित्याग किया, तथापि उसके मूल का उच्छेद न होने के कारण बार–बार आकर वह मुझे लग जाता है, अतः उसके मूल के उच्छेद का उपाय मुझसे कहिए, यह निष्कर्ष है ॥३९–४१॥

'कूटस्थ होने से सत्य वस्तु कारण हो ही नहीं सकती, असत्य वस्तु कारण है', यह कहना तो असत्यभूत कारण में कार्य उत्पन्न हुआ, इस अर्थ में पर्यवसित होकर कार्य की असत्यता को ही सिद्ध करता है। इस तरह पर्यवसित हुए आत्मा के एकत्वरूप रहस्य को राजा की बुद्धि के अनुसार ही समझानेवाले कुम्भ–लोकप्रसिद्धि के अनुरूप अहंकार का कारण आप ही अपनी बुद्धि से खोज कर कहिए – यह कहते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे राजन्, जो कार्य कारण से उत्पन्न होता है वह सर्वत्र ही उत्पन्न होगा, क्योंकि भलीभाँति विचार करने से ऐसे कार्य की सत्ता प्रतीत ही नहीं होती ॥४२॥ जैसे अहम्भावरूप कारण से मन आदि रूप संसार का अंकुर कार्य उत्पन्न होता है वैसे अपनी बुद्धि से विचार कर अहम्भावरूप कार्य जिस कारण से होता है वह कारण अब मुझसे कहिए ॥४३॥

इस प्रकार पूछे गये राजा ने बहुत देर तक अपनी बुद्धि से अन्वेषण कर यह निश्चय किया कि देहादि आकृतिओं का परिज्ञान न होने पर उनमें अहन्ताभिमान किसी तरह नहीं हो सकता, इसलिए उनका परिज्ञान ही अहन्ताभिमान में कारण है, यही कहते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुने, शरीर आदि में अहन्ताभिमानरूप जो दोष है उसका कारण शरीर आदि का परिज्ञान ही है, यह मैं जानता हूँ। हे मुनीश्वर, वह जिस उपाय से शान्त हो जाय, वह उपाय मुझसे कहिए। चिति को चेत्योन्मुख बनाकर (दृश्य की ओर आकृष्ट कर) अहम्भाव से अवस्थित हुए ये देह आदि केवल दुःख के लिए ही तत्पर हैं, इसलिए हे मुनीश्वर, चेत्योन्मुखताजनित दुःख की शान्ति के लिए चेत्यवर्ग की जिस उपाय से शान्ति होती हो, वह मुझसे कहिये। कुम्भ ने कहा : साधो, 'चिति की चेत्योन्मुखता में देह आदि वेद्य पदार्थ ही कारण हैं' इस प्रकार का कारणज्ञान आप यदि रखते हैं, तो आप मुझे शीघ्र बतलाइये कि वह आपका अभिमत कारण कौन है ? तदनन्तर आपका अभिमत कारण जिस क्रम से अकारणरूप ही बन जायेगा उस क्रम को मैं आपसे कहूँगा ॥४४–४६॥

स्पष्टीकरण के लिए पूछे गये अर्थ का फिर अनुवाद करते हैं।

सामान्यतः विषयज्ञान का स्वरूप और विशेषतः विषयज्ञान का स्वरूप–इन दोनों के प्रति मिथ्या होने से कारणता के लिए सर्वथा असमर्थ ही विषय कारणता को प्राप्त हुआ है, इसलिए यहाँ पर जो आपका अभिप्रेत कारण है, उसे कहिए ॥४७॥

पूछे जाने पर राजा शिखिध्वज अपना अभिप्रेत बतलाते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुने, सामान्यतः विषयज्ञान का स्वरूप और विशेषतः विषयज्ञान का

स्वरूप – इन दोनों के प्रति यह देह आदि बाह्य आध्यात्मिक पदार्थ–सत्ता ही यहाँ कारण है ॥४८॥

ज्ञान के प्रति देह आदि की सत्ता कैसे कारण होगी, इस पर कहते हैं।

असत्यरूप से भासित होनेवाली शरीर आदि वस्तु की सत्ता से ज्ञान ऐसे उत्पन्न होता है (📖) जैसे वायु की लेखा से वृक्षादि में संचलन। अहन्ताज्ञानस्वरूप चित्त का बीज जिस रीति से देहादिसत्ता में असत्त्व मैं नहीं जानता (अतः वह असत्त्व जिस रीति से जाना जाता हो, उस रीति का मुझे उपदेश दीजिए, यह प्रकृत में राजा का भाव है) ॥४९,५०॥

इस तरह पूछे गये कुम्भ – विषयाकार से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, इस तरह का जो भ्रम राजा शिखिध्वज के हृदय में बैठा हुआ है उसका निवारण करने के लिए देहादि दृश्य पदार्थों में सत्त्व नहीं है, यों प्रतिज्ञा करते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे राजन्, यदि देहादि वस्तुओं की सत्ता रहती तब तो आपका अभिमत ज्ञान अपने निमित्तभूत देहादि आकारवाला होता यानी देहादि आकार से ज्ञान की उत्पत्ति होती, किन्तु देहादि की सत्ता का अभाव होने से वह ज्ञान किंविषयक होगा ? अर्थात् जब देह आदि की सत्ता ही नहीं है तब उस ज्ञान का विषय होगा ही कौन ? अर्थात् ज्ञान निर्विषयक ही होगा ॥५१॥

प्रत्यक्ष उपलब्ध हो रहे देहादि का आप कैसे अपलाप करते हैं ? यों राजा शिखिध्वज पूछते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुने, जिस पदार्थ का प्रत्यक्षात्मक कोई एक स्वरूप उपलब्ध हो रहा है वह असत्स्वरूप कैसे है ? *(सद्रूप से उपलब्ध हो रहे पदार्थ में असत् की प्रतिज्ञा विरुद्ध है – इसको दृष्टान्त से भी बतलाते हैं।)* आप कहिये तो, प्रकाश भला तम कैसे हो सकता है ? ॥५२॥ हे मुने, हाथ, पैर आदि से संयुक्त तथा क्रिया–फलरूप विलास आदि से समन्वित सदा हम लोगों से अनुभूत हो रहा यह शरीर कैसे नहीं है ? ॥५३॥

भ्रान्तिग्रस्त उपलब्ध हुए पदार्थों में व्यभिचार होने के कारण एकमात्र उपलब्धि से दृश्य पदार्थों की सत्ता का निर्णय नहीं किया जा सकता, किन्तु कारणों के विद्यमान रहते जिस कार्य की उपलब्धि होती है उसीकी सत्ता मानी जाती है और वे कारण इसमें विद्यमान नहीं हैं, यह कहते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे भूमिपाल, इस संसार में जिस कार्य का कारण विद्यमान नहीं है वह कार्य भी अपना अस्तित्व नहीं रखता, फिर उसका ज्ञान तो विभ्रम ही है ॥५४॥ बिना कारण के यह शरीररूपी कार्य नहीं रह सकता। जिस द्रव्य का बीज नहीं है उसकी उत्पत्ति कहाँ कभी होती है ? ॥५५॥ हे राजन्, बिना कारण के जो कार्य सामने सत् की नाईं अनुभूत होता है उसे मृगतृष्णाजल के सदृश देखनेवाले के विभ्रम से उत्पन्न समझिए ॥५६॥ मिथ्याभ्रम से उदित हुए शरीर आदि को आप अविद्यमान ही जानिये, क्योंकि अत्यधिक यत्नशील मनुष्य को भी यह मृगतृष्णाजल लब्ध नहीं होता ॥५७॥

तब क्या ये देह आदि वन्ध्यापुत्र की देह की नाईं अत्यन्त असत् ही होंगे, यह राजा शिखिध्वज आशंका करते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुने, असद्रूप दो चन्द्रबिम्ब आदि के कारण का न दिखाई पड़ना तो

(📖) निमित्तभूत शरीर आदि वस्तुओं की सत्ता से स्वयं ज्ञान भी, सोना आदि गलाने की घरिया में निषिक्त धातुओं के द्रव की नाईं, शरीर आदि आकार से उदित होता है, यह तात्पर्य है।

युक्त ही है, क्या किसीके सामने वन्ध्यापुत्र के सारे अंगों में आभूषण शोभित होते हैं ? ॥५८॥

'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्' इत्यादि श्रुतिरूप प्रमाण होने से तथा वैसा ही विद्वानों का अनुभव होने से एवं कारण का निरूपण न होने से यह आपके द्वारा की गई आपत्ति इष्ट है, ऐसा कुम्भ कहते हैं ।

कुम्भ ने कहा : हे राजन्, शरीर आदि अस्थिपंजररूपी यह कार्य बिना कारण के ही अनुभूत हो रहा है, इसलिए असंभव (किसीसे उत्पन्न न) होने के कारण इसे अविद्यमान ही जानिये ॥५९॥

इतिहास, अनुमान, आप्त पुरुषों की उक्ति तथा अनुगत स्थानसाम्यरूप हेतु आदि प्रमाण से इस शरीर का कारण पिता तो अवश्य ज्ञात है, फिर इसका आप कैसे अपलाप करते हैं ? यों राजा शिखिध्वज आशंका करते हैं ।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुनीश्वर, हाथ, पैर आदि से युक्त प्रतिदिन दिखाई दे रहे इस शरीर का भला पिता कारण कैसे नहीं है ? ॥६०॥

उसकी भी कोई सत्ता नहीं है, दोनों में एक ही न्याय समानरूप से लगता है, इस गूढ़ अभिप्राय से युक्त कुम्भ ऋषि उसी उत्तर को फिर कहते हैं ।

कुम्भ ने कहा : हे राजन्, कारण का अभाव होने से सचमुच पिता भी नहीं है । जो पदार्थ असत् से उत्पन्न हुआ रहता है वह भी असद्रूप ही कहा जाता है । कार्यभूत पदार्थों का कारण बीज कहा जाता है । हे राजन्, इस संसार में बिना बीज के अंकुर नहीं उत्पन्न होता । इसलिए जिस कार्य का कारण नहीं है वह कार्य भी बीज का अभाव रहने से नहीं है । जो उसका ज्ञान मनुष्य को होता है वह तो बिलकुल विभ्रम है । अवश्य ही जो वस्तु बीजशून्य है वह है ही नहीं । अतः उसका जो मनुष्य को ज्ञान होता है वह – दो चन्द्र, मरुभूमि में जल और वन्ध्यापुत्र की दशा के समान – बुद्धिविभ्रम है ॥६१–६४॥

गूढ़ अभिप्राय को न समझ रहे राजा शिखिध्वज आशंका करते हैं ।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुनीश्वर, तीनों लोक में प्रजा उत्पन्न करनेवाले दक्ष प्रजापति आदि पितामहों, उनके लड़कों और पिता आदि पूर्वों की उत्पत्ति में आद्य पितामह (हिरण्यगर्भ) कारण क्यों नहीं है ? अर्थात् सूक्ष्मभूत लिंगसमष्टिरूप वह हिरण्यगर्भ पुत्र, पिता और पितामह आदि सम्पूर्ण व्यष्टि और समष्टिरूप स्थूलों की उत्पत्ति में कारण क्यों नहीं है ? ॥६५॥

उसका भी कारण बतलाना अत्यन्त कठिन है, हम कह नहीं सकते, अनिर्वचनीय है, अतः उसकी भी असत्ता में समान ही न्याय लगता है, इस अत्यन्त गूढ़ अभिप्राय को उत्तररूप से कहते हैं ।

कुम्भ ने कहा : हे भूपते, जब कारण के अभाव में किसीका भी भाव नहीं रहता यानी किसीकी भी सत्ता नहीं ठहरती, यह सदा नियम है तब पितामह यानी हिरण्यगर्भ जो कारण है, वह भी है ही नहीं ॥६६॥

'यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः । हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं स नो देवः शुभया स्मृत्या संयुनक्ति ॥' (जो महर्षि रुद्र सम्पूर्ण देवताओं का प्रभव और उद्भव है, विश्व में सबसे श्रेष्ठ तथा जो उत्पन्न हो रहे हिरण्यगर्भ को देखता है वही देव हम लोगों को शुभ स्मृति से संयुक्त करता है) इत्यादि मन्त्रवर्णों में उसका उत्पादक तथा उत्पन्न हो रहे उसको कृपादृष्टि से देख रहा ईश्वर कारण प्रसिद्ध ही है, फिर उसका अपलाप कैसे करते हैं, इस आशंका का परिहार करते हुए

गूढ़ अभिप्राय को खोलते हैं।

ठीक है, यद्यपि ईश्वर है तथापि माया द्वारा अपने में भेद की उसने कल्पना कर ली है अतः माया द्वारा भ्रम हो जाने के कारण अन्यरूप से दिखाई दे रहा भी वह पितामह उस ईश्वर से अन्य नहीं है। यदि आप पूछें कि ऐसा क्यों ? तो इसका उत्तर हम आगे चलकर आपको बतलायेंगे कि सत्यस्वरूप चिदंश के परिणामी न होने से वह कारणशून्य है। परिशेष में मायांश जड़ को ही उसका कारण कहना पड़ेगा, क्योंकि अविद्यारूप उस अपने कारण के नित्य उदित विद्या द्वारा बाधित होने के कारण उसका ईश्वर में सदा ही अभाव रहता है ॥६७॥

इस रीति से पितामह की भुवनादि सर्गों में जो अर्थक्रियाकारिता का प्रतिभास है उसकी भी व्याख्या हो चुकी, यह कहते हैं।

इस रीति से आपके पितामह की जो भुवनादि सृष्टि में अर्थक्रियाकारिता है वह भी मृगतृष्णाजल की नाईं भ्रान्तिरूप ही अवभासित होती है, क्योंकि वह बिलकुल भ्रमात्मक है। इस तरह मेरी युक्तिपूर्ण उक्ति से जनित – पितामह के शरीर तक यह सम्पूर्ण कार्यपरम्परा प्रबन्ध मिथ्या है, इस तरह के तुम्हारे यौक्तिक बोध से – उसकी सत्यत्वेन अत्यन्त दृढ़ बनाई गई स्थिति बहुत दूर हटा दी गई। अब दूसरा जो प्रतिभासमात्ररूप से अवशिष्ट अंश है उसका भी तत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्त आपको उपदेश देकर परिमार्जन करता हूँ ॥६८,६९॥

उक्त अर्थ का ही संग्रह कर उपसंहार करते हैं।

हे भूमिप, मेरी कही गई युक्ति से चिति से व्यतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता न होने के कारण चिद्रूप ही यह देवाधिदेव पूर्वोक्त ईश्वर हिरण्यगर्भ से लेकर स्तम्बपर्यन्त सृष्टिपरम्परारूप से जो स्फुरित होता है वह चिदात्मकरूप से अपने स्वरूप में ही स्फुरित होता है, अणुमात्र भी न तो किसी दूसरे का सम्पादन करता है और न स्वयं किसी दूसरे से सम्पादित होता है। उसीने स्वयं अपने–आपको आत्मा, स्वरूप, पद्मज आदि नाम और रूपों की कल्पना से 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन्यदास्ते' (सम्पूर्ण रूपों का विरचन करके उनका फिर नामकरण कर व्यवहार कर रहा जो धीर स्थित है) इत्यादि श्रुतियों से कहा है। इस तरह पर्यालोचन करने पर यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि यह समस्त द्वैतप्रपंच शान्त ब्रह्म ही अवस्थित है ॥७०॥

चौरानबेवाँ सर्ग समाप्त

पंचानबेवाँ सर्ग

अविद्या की शान्ति का उपाय तथा आत्मज्ञान से चिर विश्रान्ति का वर्णन।

पहले यह जो कहा गया था कि यह सारा प्रपंच मृगतृष्णाजल के सदृश भ्रान्तिरूप ही प्रतीत होता है, इस पर यह शंका होती है कि यह दृष्टान्त देना बिलकुल असंगत है, क्योंकि मृगतृष्णाजल से न स्नान होता है या न तो उसका पान ही होता है, किसी तरह उसमें अर्थक्रियाकारिता है नहीं और इस प्रपंच में तो सब तरह की अर्थक्रियाकारिता प्रसिद्ध है, यों राजा प्रश्न करते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे ब्रह्मवित्, ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब तक जो कुछ यह संसार प्रतिभासित

होता है, वह यदि भ्रमरूप है, तो वह अर्थक्रियासमर्थ और दुःख का कारण कैसे है, भ्रमात्मक वस्तु तो अर्थक्रियासमर्थ और दुःख हेतु दिखाई नहीं पड़ती ॥१॥

सत्यसंकल्पभावना से दृढ़ किया गया मिथ्याभूत अर्थ–क्रियासमर्थ और दुःख का उत्पादक होता है, यह बात देव या असुरों की माया से निर्मित शस्त्र, अस्त्र, हाथी, घोड़ा, सेना आदि में जब प्रसिद्ध ही है, तब जगदीश्वर की माया से बनाये गये प्रपंच के लिए तो कहना ही क्या ? इस आशय से कहते हैं।

कुम्भ ने कहा : भद्र, यह जो सृष्टिरूपी जगत् की भ्रान्ति है, उसमें प्राणियों के प्राक्तन कर्मों की उपभोगार्थता होने से, आपकी कथित प्रणाली के अनुसार अर्थक्रियासामर्थ्य और दुःख आदि की हेतुता है, क्योंकि सत्यसंकल्प परमात्मा की भावना ही तत्–तत् अर्थक्रियादिरूप से तथाकथित सृष्टि में परिणत हुई है, इसमें दृष्टान्त है – जल। जैसे जल में रुक्षता या पीठ बनने की योग्यता है नहीं, परन्तु शीत के कारण पत्थररूप (बर्फरूप) बने हुए जल में, दीर्घकाल के बाद स्फटिक आदिरूप में परिणाम हो जाने पर रूक्षता, पीठ आदि बन जाने की अर्थक्रिया प्रसिद्ध है। बस यही प्रकार इस भ्रमात्मक सृष्टि के विषय में भी जानना चाहिए ॥२॥

यही कारण है कि ज्ञानाभ्यास के परिपाक क्रम से मूलअज्ञान का शैथिल्य हो जानेपर जगत् की क्रमशः सूक्ष्मता हो जाने से अज्ञान के साथ–साथ जगत् का भी नाश हो जाता है, यह कहते हैं।

यदि अज्ञान ज्ञानादि के अभ्यास से शिथिल हो गया, तो उस प्रकार का अज्ञानजनित भ्रमात्मक संसार भी नष्ट ही हो गया, यह ज्ञानियों का मत है। क्योंकि अज्ञान का विनाश न होने पर जगत्–रूप आकार का विच्छेद किसी काल में नहीं हो सकता ॥३॥

अज्ञान को शिथिल बना देने में एकमात्र कारण है–इन्द्रियनिरोध के अभ्यास से बाह्यवृत्तियों का शिथिलीकरण, यह कहते हैं।

समस्त बाह्याकार वृत्तियों का जो अपक्षय है, वही क्रमशः तत्त्वज्ञान के सम्पादन द्वारा परम पद का साक्षात्कार हो जाने पर इस भ्रमात्मक प्रपंच की शान्ति में कारण हो जाता है ॥४॥

लोक में भी अपक्षयपूर्वक ही स्थूल भावों का विनाश प्रसिद्ध है, यह कहते हैं।

व्यवहार में भी जिन देह आदि का अपक्षय हो जाता है, क्रमशः उनका, पूर्व अवयवों के विनाश से, स्वयं विनाश भी उपपन्न हो जाता है ॥५॥

दर्शित रीति से क्रमशः अज्ञान की शिथिलता द्वारा जगत् का बाध हो जाने पर ही अपने नित्यसिद्ध पूर्णतारूप पुरुषस्वभाव में प्रतिष्ठा हो जाती है, यह कहते हैं।

हे राजन्, इसी अज्ञाननाशक्रम से ही पूर्णतास्वभाववाले आप आदि पुरुष हैं। अतः यह सारा प्रपंच मृगतृष्णाजल की नाईं केवल भ्रम के स्वरूप में उदित होकर अवस्थित है, यह आप जानिए ॥६॥

शंका के बाद उपसंहार कर प्रस्तुत विषय का निगमन करते हुए कहते हैं।

वास्तव में जो सृष्टि बनानेवाले आदि ब्रह्मा पितामह हैं, उनकी भी सत्ता है नहीं, इसलिए उनके द्वारा निर्मित प्रपंच की सत्ता हो ही कैसे सकती है ? जो वस्तु असत् वस्तु से सिद्ध की जाती हो, वह त्रिकाल में भी सिद्ध नहीं हो सकती ॥७॥

उसका फल दिखलाते हैं।

हे भद्र, यह जो भूत-सृष्टि दिखाई पड़ती है, वह मृगतृष्णाजल के सदृश मिथ्या ही उदित हुई है, इसलिए शुक्ति में रजतज्ञान के सदृश विचार से ही उसका विलय हो जाता है ॥८॥

यही कारण है कि जगत् का स्वरूप भ्रान्ति ही है, दूसरा नहीं – यह कहते हैं।

कारण का अस्तित्व न होने से कार्य की सत्ता हो ही नहीं सकती, असत् कारण से असत् कार्य की जो उत्पत्ति होती देखी जाती है, उसका स्वरूप मिथ्याज्ञान के सिवा और कोई दूसरा हो ही नहीं सकता ॥९॥

इसलिए विचार द्वारा मिथ्यारूप से देखा गया पदार्थ अर्थक्रिया के साथ स्वरूप से भी वंचित हो जाता है, यह कहते हैं।

मिथ्याज्ञान के कारण दिखाई पड़नेवाला पदार्थ किसी काल में भी अस्तित्व नहीं रख सकता, क्या कहीं किसीने मृगतृष्णाजल से घड़े भरे हैं ? ॥१०॥

तब तो पितामह के प्रति निर्विशेष ब्रह्म ही कारण क्यों नहीं होता ? यदि कहो कि परिणामी होने पर वह अनित्य हो जायेगा, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि क्रमशः हुए सब परिणामों में अनुवृत्ति होने के कारण घटत्वादिरूप जाति के सदृश उसकी नित्यता आ सकती है, यों राजा शंका करते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुनिश्वर, आदि सर्जक हिरण्यगर्भ का अनन्त, अजन्मा, अव्यक्त, चिदाकाश, अविनाशी, सर्वोपद्रवशून्य, सर्वातिशायी, निर्विशेष ब्रह्म कारण क्यों नहीं है ? ॥११॥

श्रुति, युक्ति और अनुभव का विरोध होने से हिरण्यगर्भ का कारण निर्विशेष ब्रह्म नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे राजन्, शुद्ध निर्विशेष ब्रह्म न तो कार्य है और न कारण ही है, क्योंकि 'तदेतद्ब्रह्मा पूर्वमनपरम्' इस श्रुति से पूर्वत्वरूप कारणत्व का और अपरत्वरूप कार्यत्व का निषेध किया गया है। 'नेह नानास्ति किंचन' इस श्रुति से द्वैतमात्र का निषेध किया गया है। 'असंगो ह्ययं पुरुषः' इस श्रुति से उसकी अनुवृत्ति का निषेध किया गया है और कूटस्थ का परिणाम न बनने के कारण वह सर्वप्रपंच से निर्मुक्त है ॥१२॥

अन्य कारकों की अप्रसिद्धि होने से उनको लेकर इसमें स्वातन्त्र्यरूप अकर्तृत्व भी नहीं आ सकता, यह कहते हैं।

ब्रह्म न कर्ता है, न कर्म है और न कारण ही है। उसका न कोई निमित्त है और न कोई उपादान है। उसमें न तर्कों का स्थान है और न इन्द्रियवृत्तियाँ ही गमन कर सकती हैं। ऐसी परिस्थिति में आप बतलाइये तो ब्रह्म किस तरह कारण बनेगा ? ब्रह्म निर्धर्मक होने से ही यदि अकारण है, तो इससे वह कार्यत्वरूप लक्षण या धर्म से शून्य ही होगा। ऐसी परिस्थिति में यदि आप यह सम्भावना करें कि कार्यकारणात्मक जगत् ही है, तब तो वह जगत् वस्तुकृतपरिच्छेद और देश-काल कृतपरिच्छेद से रहित होकर चिदेकरसस्वरूप ब्रह्म ही बन गया, यह भी साथ-साथ भावना कर लीजिए। फिर जगत्भाव और कार्यकारणता रही ही कहाँ ? ॥१३,१४॥

इसी रीति से जीवरूपता की भ्रान्ति के कारण उसमें प्राप्त हुए कर्तृत्व-भोक्तृत्व का भी निरास करना चाहिए, यह कहते हैं।

जो अतर्क्य, अविज्ञेय, शान्त, विकारशून्य और कल्याणरूप है उसमें कर्तुत्व और भोक्तृत्व किस तरह, किसका, किससे और किस समय होगा ? बतलाइये ॥१५॥

निष्कर्ष बतलाते हैं।

इसलिए यह जगत् न किसीसे कुछ किया गया है और न इसकी सत्ता ही है। परिपूर्णस्वभाववाले आप न कर्ता हैं और न भोक्ता हैं। जहाँ हाथ डालिए वहाँ आपको सब कुछ शान्त अजन्मा, आनन्दात्मक केवल ब्रह्म ही ब्रह्म है, यह मिलेगा। कारण की सत्ता ही नहीं है, इसलिए यह जगत् किसीका भी कार्य नहीं है। कारण का स्वरूप न रहने से जो कार्यस्वरूप दिखायी देता है वह केवल भ्रम से ही, इसलिए यह जगत् भ्रमात्मक ही है, यह जानिये। किसीका कार्य न होने से यह सारी सृष्टि तीनों काल में असत् है। इस रीति से यह जगत् जब किसी भी कार्य का कारण नहीं है तब अनायास समस्त पदार्थों की असत्ता सिद्ध हो जाती है। पदार्थों की असत्ता सिद्ध हो जाने पर फिर ज्ञान किसका और इस रीति से जब ज्ञान का ही अभाव सिद्ध हो गया तब अहंकार का कोई कारण ही नहीं रहता। *इस रीति से अहम्भाव का निरास करने के लिए उपाय बतलाकर अन्त में अवशिष्ट हुए आत्मतत्त्व का अनुभव कराते हैं।* इसलिए हे राजन्, आप सर्वविध मलों से निर्मुक्त परममुक्त ही हैं। बन्ध और मोक्ष की कथा से आपको प्रयोजन ही कौन है ॥१६–१९॥

उपदिष्ट अर्थ का अपने अनुभव से अनुमोदन कर रहे राजा – युक्तिपूर्वक आपने उपदेश दिया – यों कहते हुए अनुवाद करते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे भगवन्, असलियत मैं जान गया। आपने बहुत ही उत्तम और युक्तियुक्त कहा। कारण न होने से यह ब्रह्म जगत् का उत्पादक नहीं हो सकता है, यह भी जानता हूँ। कर्ता के अभाव से जगत् का अभाव है, जगत् के अभाव से नाम–रूपात्मक दृष्टि का अभाव है, इससे उसके बीज चित्त आदि का भी अभाव है और इसीसे अहन्ता आदि कुछ भी सत्ता नहीं रखते। इस प्रकार की स्थिति होने पर मैं निर्मल ही हूँ, सर्वज्ञ हूँ और दिव्यस्वरूप हूँ। मैं अपने आपको ही प्रणाम करता हूँ, क्योंकि चितिस्वरूप से भिन्न दूसरा चेत्यविषय है ही नहीं, यह आपने मुझे बतला दिया। आपकी बतलाई हुई युक्ति से विचारपूर्वक सब पदार्थों का स्वरूप जानने से 'अहम्' आदि से लेकर अनन्त तक के जितने दृश्य पदार्थ हैं वे सब असद्रूप ही भासते हैं, इसलिए सब द्वैत के बाध से मैं आकाशमण्डल की नाईं विक्षेपशून्य होकर अवस्थित हूँ ॥२०–२३॥

उसी स्थिति का अभिनयपूर्वक उपसंहार करते हैं।

अत्यन्त आश्चर्य है कि, देश, काल, कला एवं क्रियाओं से युक्त यह जो जगत् के पदार्थों की विभक्त दृष्टि थी वह दीर्घकाल के अनन्तर शान्त हो गई। अब विकारशून्य केवल ब्रह्म ही बच गया। अब मैं शान्ति का अनुभव करता हूँ, मुक्त हो गया हूँ, सब ओर से पूर्ण स्वभाव होकर स्थित हूँ, न जाता हूँ, न उदित होता हूँ और न अस्त होता हूँ। हे भगवन्, मैं जैसे इस रूप में हूँ वैसे आप भी चिदेकरस यथास्थित आत्मस्वरूप होकर स्थित हो जाइये, क्योंकि उस प्रकार की स्थिति में आपका स्वरूप बनकर मैं परम पुरुषार्थरूप शुद्ध वाणी से अगम्य निरतिशय सुख ही बनकर विराजित हूँ ॥२४,२५॥

पंचानबेवाँ सर्ग समाप्त

छियानबेवाँ सर्ग

प्रबुद्ध हुए राजा को दृश्य-सत्ता का परिमार्जन, जिस उपाय से हो सकता है उस उपाय का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, राजा शिखिध्वज पूर्वोक्त रीति से परब्रह्म में विश्रान्ति पाकर वायुशून्य प्रदेश में स्थित दीप के सदृश मुहूर्त काल तक निश्चलरूप से स्थित हो गये। अखण्ड ब्रह्माकारवृत्ति का उदय होने से उनका मन तुच्छ बाह्य वृत्तियों से निर्मुक्त होकर प्रसन्न हो गया था। अनन्तर राजा शिखिध्वज ने, जो निर्विकल्प समाधि में तत्पर थे, अखण्डाकारवृत्तिरूप विकल्प को भी तिरस्कृत कर-क्षीरसमुद्र में गिरे हुए जलबिन्दु के सदृश, अन्तःकरण को ब्रह्मरूप बनाकर ब्रह्म में एकरूप से जब प्रविष्ट होने की इच्छा की, तभी उस अवस्था को ताड़कर अपनी सहज लीलाभरी वाणी से कुम्भ ने उन्हें तत्काल जगाया ॥१,२॥

समस्त दृश्यों के, अधिक क्या कहें, अखण्डाकार वृत्ति के भी विलय के साथ हम निरतिशय ब्रह्मानन्द के सागर में प्रविष्ट होने की इच्छा कर रहे थे, आपने बीच में व्यर्थ ही व्युत्थित कर विघ्न डाला, अब हमें वहाँ प्रवेश मिलेगा ही नहीं, इस तरह राजा की कहने की इच्छा जानकर कुम्भ कहते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे राजन्, अब आप अज्ञानरूपी निद्रा से जाग गये हैं और निरतिशयानन्दरूप बनकर स्थित हैं, इसलिए अब न तो आपको समस्त दृश्यों के विनाश से कोई मतलब है और न उनके अविनाश से ही कोई मतलब है, अर्थात् अज्ञान रहने पर परब्रह्मरूपी आनन्दसमुद्र में प्रवेश नहीं हो सकता। जब अज्ञान का विनाश हो गया, तब तो दृश्यों का विनाश हो चाहे न हो, एक बार देखा गया ब्रह्म सदा ही अनावृत्त और सुलभ रहता है। हे प्रिय, एक बार विस्पष्टरूप से देखा गया आत्मा समस्त अनिष्टकारक वस्तुओं का आश्रय नहीं रहता यानी उस आत्मा में दुःखप्रद प्रपंच का सम्बन्ध रहता ही नहीं, अब आप समस्त कल्पनारूपी कलनों से निर्मुक्त होकर जीवन्मुक्त बन गये हैं। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामभद्र, जब मुनिश्रेष्ठ उस कुम्भ ने राजा शिखिध्वज को उस तरह समझाया, तब वह बोधपूर्ण हो गया और महामोहरूपी पिटारी से बाहर निकल कर खूब शोभने लगा। यद्यपि उसकी बुद्धि पूर्ण विश्रान्त हो चुकी थी, व्युत्थानकाल में भी क्षणमात्र में ही उसने समस्त दृश्यों की असत्यता जान ली थी, तथापि उस मुक्तात्मा ने लीला से यानी कुम्भ के परिपक्व बोध के साथ अपने बोध की तुलना करने की लीला से कुम्भ से कहा। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मानदी, हे आनन्ददायक, यद्यपि यह सब कुछ मेरा एक तरह से ज्ञातप्राय ही हो गया है, तथापि बोध की दृढ़ता के लिए मैं आपसे जो कुछ प्रश्न करता हूँ, उसे फिर मेरे समक्ष कहिए। ब्रह्मरूप पद निरतिशय सुखरूप, दुःखशून्य और अशुद्ध चेताओं से अगम्य है, उस पद के अविद्या से आवृत्त होने पर उसमें द्रष्टा, दृश्य और दर्शन नामक यह विश्वरूप ज्ञान किस निमित्त से होता है ? क्या वह सत् निमित्त से होता है या असत् निमित्त से ? सत् निमित्त से तो हो नहीं सकता, कारण कि सत्-वस्तु में विकार आदि नहीं रहते, असत् से भी नहीं हो सकता, क्योंकि उस बोध में सत्त्वका जो परिज्ञान होता है, वह होगा ही नहीं ॥३-८॥

उस प्रकार पूछे गये, तथा अध्यास द्वारा उन दोनों की उपपत्ति करनेवाले कुम्भ मुनि – आपका प्रश्न

युक्ति–पूर्ण है और प्रश्नकर्ता आप कहे जानेवाले अर्थ के अवधारण में पटु भी हैं, यों प्रशंसा करते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे महाराज, मैंने पहले जिस आत्मतत्त्व का उपदेश दिया था उसे ग्रहण कर अज्ञानरूपी आवरण से निर्मुक्त हो जाने के कारण आप देदीप्यमान होकर खूब शोभ रहे हैं। अब आपको जानने के लिए जो यह कुछ बच गया है उसे सुनिये ॥९॥

सबसे पहले अध्यास की सामग्री बतलाने के लिए अध्यारोप कर संस्कारसहकृत अज्ञानशबल अधिष्ठान का दिग्दर्शन करानेवाले कुम्भमुनि पूर्वसृष्टि का प्रलय दर्शाते हैं।

राजन्, यह जो कुछ भी स्थावर, जंगम नानाविध आकार–प्रकार से भरा हुआ जगत् दिखाई पड़ता है वह सब कल्प की समाप्ति में विनष्ट हो जाता है ॥१०॥

कल्पान्त में एकमात्र बाकी बचे हुए अधिष्ठान को दिखलाते हैं।

तदनन्तर जब कि महाकल्प का ताण्डव समाप्त हो जाता है, तब एकमात्र प्रसन्न गम्भीर व्यापकरूप सारवस्तु (परब्रह्म–तत्त्व) अवशिष्ट रह जाती है, वह न तो तेज से तुलित की जा सकती है और न घन अन्धकार से तुलित की जा सकती है। वह वस्तु चिन्मात्रस्वरूप है, उसमें किसी तरह का मल नहीं है, शान्ति का आधार है, चारों ओर चमकता निरवधि आकाश है, उसमें किसी प्रकार की कल्पना की ही नहीं जा सकती। जिसके विषय में मैं कुछ कह रहा हूँ, वह केवल स्वस्वरूप का साक्षात्कार करनेवाली बुद्धि से युक्त होकर जब प्रकाशित होने लग जाती है, तब अज्ञानकाल में प्रतीत अज्ञान आदि मल उसमें नहीं रहते, अतः अत्यन्त स्वच्छ हो जाती है। क्रोधादिविकार उसमें रहते नहीं, चारों ओर उसकी सत्ता है, उज्ज्वल परमात्मस्वरूप वही प्रसन्न ज्ञानरूप तेज है। उसमें अनुमानादि तर्कों का प्रसार होता नहीं। वह बाह्य इन्द्रियों की विषय नहीं है, वह सम, शिव और अनिन्दित है। जिसको ब्रह्मनिर्वाण कहते हैं, वह वही है। सर्वत्र पूर्णरूप से उदित आत्म–ज्ञान से नितान्त पूर्ण है ॥११–१४॥ जितने छोटे–से–छोटे पदार्थ हैं, उनमें सबसे छोटा (सूक्ष्म) यही है, जो स्थूल से भी स्थूल पदार्थ हैं, उनमें सबमें स्थूल यही है। गुरुतम पदार्थों में सबसे गुरुतम और श्रेष्ठों में सबसे बढ़कर श्रेष्ठ भी यही है। महात्मन्, यह इस प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म है कि इसके सामने यह जो आकाश है, वह अणु के सामने स्थित स्थूलरूप महामेरु के समान स्थूल मालूम पड़ता है। और वह इतना अत्यन्त स्थूल है कि उसके सामने यह सारा ब्रह्माण्ड परमाणु के सदृश सूक्ष्मरूप से कहीं भासता है और कहीं भासता भी नहीं। इस तरह का मायाशबल जो अधिष्ठानरूप पद है, उसमें पूर्व के संस्कारों के उद्बोधन से उद्भूत हुआ तत्–तत् प्राणियों के कर्म को अनुसरण करनेवाला अध्यासजनित जो विश्वरूप का प्रकाश है वही नारायण से उत्पन्न हिरण्यगर्भ का अहंभावरूप ज्ञानाध्यास है, यह आप जानिए। उस ज्ञानाध्यास में विषयरूप से स्थित् जगत् ही विराट्रूपी विषयाध्यास है ॥१५–१८॥

अध्यासपक्ष में अधिष्ठान की सत्ता ही से कार्य और कारण दोनों में सत्ता का निर्वाह हो जाने के कारण उसमें सत्ता की प्रतीति, ज्ञान से उसका बाध और सत् वस्तु की कूटस्थता अनुपपन्न नहीं हो सकती, यह आशय रखकर दृष्टान्तपूर्वक अध्यस्त की अधिष्ठान से अभिन्नता बतलाते हैं।

महात्मन्, जैसे वायु और वायु का स्पन्दन–इन दोनों में भेद नहीं है, वैसे ही शून्यरूपता और

आकाशरूपता के सदृश चैतन्यरूपता और अहंरूपता में भेद नहीं है (▲) ॥१९॥

यह असत्-कार्यवादियों के मत में दीक्षित न हो जाय, इस अभिप्राय से केवल अधिष्ठानसत्ता से ही कार्य की ब्रह्म में त्रैकालिक सत्ता है, यह भी दृष्टान्त देकर बतला रहे कुम्भ विशेष ज्ञातव्य दर्शाते हैं।

देश और काल से परिच्छिन्न (भेद प्राप्त) जल में विद्यमान तरंग आदि जलरूप कारण को लेकर जैसे सहेतुक हैं, उनकी जलसत्ता से अतिरिक्त सत्ता जैसे नहीं है, वैसे देश और काल से अपरिच्छिन्न ब्रह्म में प्रतीयमान जगत् सहेतुक नहीं है, क्योंकि तरंगादिस्थल में आन्तरालिक जलकारणता के सदृश यहाँ कोई आन्तरालिक कारण नहीं है, ब्रह्म तो मूलकारण ही है, अतः निर्हेतुक की पृथक् सत्ता कैसे होगी ? किसी भी प्रकार से नहीं हो सकती। देश-काल-परिच्छिन्न सुवर्ण में कटक आदि सुवर्णरूप कारण को लेकर सकारण हैं, उनकी जैसे पृथक् सत्ता नहीं है, वैसे ही देशकालादि परिच्छेद से शून्य ब्रह्म में विद्यमान निर्हेतुक जगत् की भी ब्रह्म से पृथक् सत्ता नहीं हो सकती। इसी तरह वह ब्रह्मरूप सारवस्तु श्रेष्ठ है, उसका समस्त जगत् के ऊपर साम्राज्य है, वह अविनाशी, अद्वैत, निर्मल और परम शान्त है, समस्त जगत् उसके सामने तिनके के टुकड़े के सदृश अति तुच्छ है। इसी प्रकार यह पर वस्तु ऐसी कल्याणरूप है, ईश्वररूप जिसके अस्तित्व से प्रसिद्ध यह जगत्पदार्थों की शोभा अस्तित्व धारण करती है। हे राजन्, कल्पप्रलय के अनन्तर अवशिष्ट रहनेवाली वह सारभूत वस्तु इस समस्त ब्रह्माण्ड में एक ही है, केवल वह चिन्मात्रत्वरूप है, निरुपाधि प्रेम का आस्पद है। द्वितीय की सहिष्णुता न होने से यद्यपि वह एक है, तथापि एकत्व की आश्रय नहीं है। इसलिए हे राजन्, कोई भी दूसरी कल्पना इस संसार में है ही नहीं। जो आपको निर्मल आत्मतत्व अवगत हुआ है, वही परिपूर्ण और अविनाशी है। सम्पूर्ण आकार-प्रकारों से युक्त होकर मानों उदित हुआ वह सर्वस्वरूप होकर सदा ही स्थित रहता है। इन्द्रियों से दृश्य न होने के कारण तथा हाथ आदि से प्राप्य न होने के कारण वह न कार्य (ज्ञान और कर्म से जनित अतिशय का आधार) है और न कारण (ज्ञान और कर्म का सम्पादक) है। प्रत्यक्ष आदि लौकिक प्रमाणों से वेद्य न होने के कारण वह स्वानुभवमात्रगम्य कुछ अनिर्वचनीय ही उत्तम (निरतिशयानन्दात्मक) वस्तु है, वह सबकी आत्मा है और सब इसकी आत्मा है। अतिसूक्ष्म, स्वच्छ तथा अनुभवमात्ररूप है ॥२०-२७॥ व्यवहार की दृष्टि में शब्द और शब्दार्थभूत समस्त पदार्थों का ही वह स्वरूपभूत है, अतः अपने आप ही अपना कारण कैसे होगा ? परमार्थदृष्टि में अगम्य अति उत्कृष्ट अद्वितीय प्रकाश का स्वरूपभूत है, अतः अद्वितीय वस्तु कारण किस द्वितीय के लिए होगी ? एवं व्यवहार में अद्वैत असत् है और द्वैत सत् है, परमार्थ में तो अद्वैत सत् और द्वैत असत् है, ऐसी परिस्थिति में सत् और असत् का परस्पर कार्यकारणभाव हो ही कैसे सकता है ? वास्तव में जो किसीका बीज नहीं है और जो शब्द से अगम्य होने के कारण कारण नहीं होता, उस व्यापक वस्तु से प्रमाण-प्रमेयरूप जगत् कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। वह न कर्ता है, न कर्म है और न कारण ही है। केवल वह सत्य, चिद्घन

(▲) यहाँ पहला संसर्गाध्यास में दृष्टान्त है और दूसरा तादात्म्याध्यास में दृष्टान्त है, निरपेक्ष होने के कारण वायु और आकाशत्व अधिष्ठान के दृष्टान्त हैं तथा देशसापेक्ष होने के कारण स्पन्द और शून्यता अध्यस्त के दृष्टान्त हैं, यह जानना चाहिए।

और विकृतिशून्य है। आत्मरूप, अन्यप्रमाणों से अगम्य तथा अविनाशी स्वात्मानुभवरूप भी वही है ॥२८–३०॥

इन सब बातों से अध्यासपक्ष में किसीको भी जन्म आदि विकार की प्रसक्ति नहीं होती, केवल कूटस्थत्व ही सिद्ध होता है, यह कहते हैं।

हे मुने, इससे यह सिद्ध हुआ कि परब्रह्म से किसीकी भी उत्पत्ति नहीं होती, क्या कोई भी पुरुष किसी तरह से क्या सकारण तरंग आदि को जलादि से पृथक् प्राप्त कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता, बस इसी तरह देशकाल के परिच्छेद से शून्य ब्रह्म में अकारण जगत भी ब्रह्म से पृथक् नहीं रह सकता। निष्कर्ष यह है कि लोक में यह प्रसिद्ध है कि तरंग के प्रति जल कारण है, परन्तु विमर्शकाल में सकारण तरंग जल से भिन्न नहीं ठहरता, इसी प्रकार परिच्छेदशून्य ब्रह्म में विचारकाल में जगत्कारणता ठहर नहीं सकती ॥३१॥

'जलेस्ति देशकालान्ते' इत्यादि जो पहले कहा गया था, उसीका आपने यहाँपर उपसंहार किया, परन्तु उसमें ऊपर नीचे उक्ति का जो वैषम्य आपने किया है, उसका तात्पर्य क्या है, यों राजा पूछते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : मुनिश्रेष्ठ, जल आदि में जो तरंग आदि हैं, वे तो सकारणक हैं, यह मैं मानता हूँ, परन्तु यह नहीं मानता कि परब्रह्म में अहन्ता आदि जगत् अकारणक है ॥३२॥

समुद्र पंचीकृत जल का कार्य है, अतः पंचीकृत जल के कारण भूतों के द्वारा तथा वायु आदि अन्य निमित्तों के द्वारा जलके परिणामभूत तरंग आदि सकारणक हैं, परन्तु ब्रह्म का तो कोई कारण प्रसिद्ध है नहीं और न कोई उसका सहकारी कारण है, इसलिए ब्रह्मविवर्त जगत् अकारणक कहा, यही वैषम्य मेरा अभिप्रेत है। इस तरह वैषम्य तत्त्वज्ञान के पूर्व कोई समझ नहीं सकता, परन्तु आपने तो तत्त्व अब जान लिया है, अतः आपके लिए वह सुबोध है, इस आशय से कुम्भ कहते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे राजन्, आपका कथन सत्य है, परन्तु आपने तो अब तत्त्वतः सब कुछ जान लिया है, इसलिए उस वैषम्य का परिज्ञान आपसे दूर नहीं रह सकता। यह अहन्ता आदि जगत् इस ब्रह्म में कुछ अस्तित्व ही नहीं रखता ॥३३॥

सब द्वैत का बाध हो जाने के कारण यदि आप 'जगत् अकारणक है' यों कहते हैं, तो 'ब्रह्म में जगत् है' यह क्यों कहते हैं, ऐसा कहने में तात्पर्य क्या है' इस पर कहते हैं।

'जगत्' शब्द का प्रसिद्ध जो अर्थात्मकस्वरूप है, उससे निर्मुक्त परम शान्त कल्याणमय परमात्मा ही जगत् है, उससे अतिरिक्त कुछ है नहीं। आकाश में सूक्ष्मतर आकाश ने ही उसका निर्माण किया है अर्थात् जैसे आकाश में सूक्ष्मभूत मायारूप आकाश से गन्धर्वादि नगर निर्मित होते हैं, वैसे ही ब्रह्माकाश में भी सूक्ष्मभूत माया से जगत् का निर्माण हुआ है, वास्तव में कुछ नहीं है। जैसे आकाश शून्यरूप नहीं है, परन्तु प्रतीयमान विरुद्ध शून्यत्व आकाश की सत्ता से सत्ता प्राप्त करता है, वैसे ही परमेश्वर में अविद्यमान जगत् उसकी सत्ता से सत्ता प्राप्त करता है, वह चैतन्यैकरूप से सदृश और जड़रूप से विसदृश भी है। उस प्रकार का यह जगत् भलीभाँति जान लिये जाने पर परम शिवरूप हो जाता है, क्योंकि उत्तमज्ञान के प्रभाव से विष भी अमृत हो जाता है। यदि जगत् भलीभाँति न जाना गया तो वह भयंकर दुःख देनेवाला होता है, ठीक ही है – विषबुद्धि यदि अमृत में हो जाय, तो वह खाया गया भी विष

के रस में ही परिणत हो जाता है – खानेवाले को मार डालता है। विद्या की सहायता से या अविद्या की सहायता से युक्त होकर जो कोई भी पुरुष जिस प्रकार से जिस-जिस वस्तु को चैतन्य परमात्मारूप जानता है, उस पुरुष को वह वह वस्तु तत्काल ही उक्तरूप ईश्वरात्मक बन जाती है ॥३४-३८॥ जैसे नेत्रों के दोष-विभ्रमों से ज्वाला केशोण्ड्रक आदि रूपों में चित्र-विचित्ररूप से आविर्भूत हुई भी वास्तव में वह अपने ही स्वरूप से रहती है, वैसे ही दोष-विशेष से अन्यान्य रूपों में आविर्भूत भी ब्रह्मसत्ता अपने ही असलीरूप से अवस्थित रहती है। साधो, जो सर्वोत्कृष्ट परब्रह्म चैतन्यस्वरूप से अवस्थित है, वही अपने विषय में मन्दबुद्धि बनकर उस मन्दबोध के कारण देह, देही आदि जगत् के रूप में मानों लक्षित होता है। चूँकि अबोधवश ही इस जगद्रूप से विशुद्ध परम आनन्दरूप परमात्मा भासता है, इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि अहन्ता आदि जगत् को लेकर प्रश्न करना प्रकृत में अनुचित है। जो वस्तु सत् होकर विद्यमान है, उसीके विषय में प्रश्न करना शोभता है, परन्तु भलीभाँति विचारा गया भी जो विद्यमान है नहीं, उसके विषय में विचारार्थ प्रश्न ही क्या ? जिस प्रकार अवयवों की असत्ता-दशा में सुवर्ण की स्थिति के विषय में प्रश्न करना अयोग्य है, वैसे ही अहम्भाव आदि जगत् की असत्ता-दशा में ईश्वर की स्थिति के विषय में प्रश्न करना भी अयोग्य है। विमर्श करने पर जगत् का कोई भी कारण नहीं है, अतः यह तीनों काल में है ही नहीं। केवल अज्ञान के कारण इस तरह जगत् के रूप में ब्रह्म ही स्फुरित होता है। ब्रह्म का स्वरूपतः जब परिज्ञान नहीं रहता, तब अपरिज्ञात ब्रह्म ही जड़ जगत् का यह बृहदाकार धारण कर अवस्थित हो जाता है ॥३९-४४॥

यदि पृथिवी आदि का वास्तव में अस्तित्व है नहीं, तो 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादि श्रुति से प्रतिपादित जो यह सिद्धान्त है कि अन्तर्यामी ईश्वर द्वारा प्रेरित हुए ही सम्पूर्ण पदार्थ एक दूसरे के कार्य में समर्थ होते हैं, उसकी उपपत्ति कैसे होगी ?

मायाशबल परमात्मा के स्वरूपभूत समस्त पदार्थ उसीसे (मायाशबल परमात्मा से) माया द्वारा परस्पर मिलने के लिए सामग्रीरूप से प्रेरित होकर पंचभूतात्मक पिंड में मायिक ही तत्-तत् कार्यरूप चमत्कार उस प्रकार करते रहते हैं, जिस प्रकार यौवन में स्त्री-पुरुष के जोड़े काम से प्रेरित होकर पुत्रादि कार्यरूप चमत्कार करते रहते हैं ॥४५॥ आवृत चैतन्यभाव ही मायिक नानारूप से अनेक-सा बनकर तत्-तत् कार्यरूप से उस प्रकार परिच्छिन्न हो जाता है, जिस प्रकार वही आवृत चैतन्यमात्र स्वात्मज्ञानरूपत्व से व्याप्त होकर परमार्थरूप से चमत्कार करता है ॥४६॥

ब्रह्म के ही ब्रह्मभूत मायिक चमत्कार में और तत्त्वज्ञान से परमार्थिकरूप की प्राप्तिरूप चमत्कार में 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' इत्यादि श्रुति का उदाहरण देते हैं।

प्रलयकाल में केवल वासना छोड़कर जब सब उपाधियाँ विलीन हो जाती हैं, तब मायाशबल ब्रह्म में एकीभूत हुए जीव कल्प के प्रारम्भ में भोगजनक अदृष्ट का परिपाक होने पर फिर अपनी-अपनी व्यष्टि-समष्टि उपाधियों का सृष्टि द्वारा जो उद्धार करते हैं, वह अपरिच्छिन्न ब्रह्म से अपरिच्छिन्न ब्रह्मरूप ही कार्यों का माया से उद्धार करते हैं, स्थितिकाल में वे जीव अवान्तर कार्यों को ऐहिक आमुष्मिक भोग-साधन जो बनाते हैं, वह भी पूर्ण अपरिच्छिन्न ब्रह्म से पूर्णरूप ही बनाते हैं। अनन्तर जो तत्त्वज्ञान से मुक्त होते हैं, वह भी पूर्ण से ही, माया के अपच्छेद से; पूर्णरूप हो जाते हैं, क्योंकि माया का विनाश

हो जाने पर पूर्ण ही अवशिष्ट रह जाता है। हे साधो, जो चिन्मात्ररूप वस्तु में चिन्मात्र ही सृष्टिज्ञान प्रथित होता है, वह वास्तव में प्रथित न होकर ही प्रथित होता है, यह महान् आश्चर्य है। अहं प्रत्यगात्मरूप चिति ही सृष्टि के आरम्भ में अपना निर्विकार, तेजोमय आदिअन्तशून्य स्वरूप न छोड़ती हुई ही और न होती हुई ही स्वयं चैतन्य के द्वारा अनन्त मनोरूप मानों बन जाती है। तदनन्तर स्थूलता की कल्पना से आभासशील होकर वह स्वतः स्वयंभू का विराट्–रूप संसार बन जाती है। तदनन्तर व्यष्टिजीव का स्वरूप धारण कर भ्रान्ति से जगत् में सत्यता ही देखती है और परमार्थदशा में अधिष्ठान की सत्यता देखती है। पृथ्वी आदि भूतों की भावना से पृथ्वी आदि चार प्रकार के भूत बन जाती है और दृश्यभावना से तत्क्षण दृश्यरूप बन जाती है। हे महात्मन्, प्रशान्त, स्वभाव से ही शब्दों और अर्थों से निर्मुक्त, अतएव व्यपदेशशून्य, स्वप्रकाशरूप अनुभवात्मक, अद्वितीय वस्तु माया एवं मायिक अवलोकरूप हो रही जगत् के विस्ताररूप से जगत्–सी होकर अवस्थित है ॥४७–५२॥

छियानबेवाँ सर्ग समाप्त

सत्तानबेवाँ सर्ग

पूर्व सर्ग में कारणशून्य दृश्य उत्पन्न ही नहीं हुआ है, यह कहकर दृश्य का परिमार्जन किया गया, अब चिति के दृश्यज्ञानत्व का प्रयत्नपूर्वक परिमार्जन किया जाता है।

इस प्रकार पूर्व सर्ग के बीसवें श्लोक में कहा गया समुद्रतरंगदृष्टान्त और उसका अवान्तर वैषम्य दृश्यमार्जन में उपयोगी है, यों कहकर उसका उपपादन किया, अब इक्कीसवें श्लोक में उक्त सुवर्णकटक दृष्टान्त और उसके अवान्तर वैषम्य का उसी प्रकार उपपादन करना चाहिए, यह कहने के लिए कुम्भ अनुवाद करते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे महाराज, देश और काल से परिच्छिन्न सुवर्ण में इसी तरह का कल्पित जन्यजनक क्रम है यानी कटकादि को लेकर जन्यजनकभाव की उपपत्ति की गई है। शान्त स्वभाव से विचारने पर तो न कुछ उत्पन्न होता है और न कुछ विलीन ही होता है। अपनी ही सत्ता में अवस्थित ब्रह्म न किसीका उपादान कारण है और न किसीका निमित्त कारण है, वह केवल विशुद्ध अनुभवरूप है, अनुभवरूप उससे भिन्न दूसरा कुछ भी पदार्थ है नहीं, जो कुछ अहन्ता आदि जगत् पदार्थ भासता है, वह भी असीम ब्रह्मरूप ही है ॥१,२॥

दृश्य की असत्ता भले ही हो, परन्तु उसकी असत्ता होने पर विशुद्ध चैतन्य में दृश्यानुभवरूपता की जो प्रतीति होती है, उसकी उपपत्ति कैसे होगी ? यों राजा प्रश्न करते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : मुनिवर, मैं मानता हूँ कि आनन्दात्मक चैतन्य में अहन्तादि दुःखप्रचुर जगत् नहीं रहता, परन्तु उसमें जो सर्गवेदन भासित होता है, वह किस कारण से होता है, उसे शीघ्र मुझसे कहिए ॥३॥

आकाश में विस्तृत सूर्यप्रकाश में अध्यस्त गन्धर्वनगर आदि की प्रकाशरूपता जैसे प्रतीत होती है, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिए, इस आशय से कुम्भ कहते हैं।

कुम्भ ने कहा : साधो, असीम जगत् का विस्तार करनेवाला जो अधिष्ठान सद्रूप अनादि अनन्त

ब्रह्म है, वह सृष्टि के ज्ञान के सदृश बनकर अवस्थित है, अतः उसमें अध्यस्त भुवन विशुद्ध अधिष्ठान्मात्रस्वरूप है, इसीलिए वही जगत्-शरीर कहा जाता है ॥४॥

इस विषय में विज्ञानवादी बौद्धों का यह मत है – भुवन आदि जितने पदार्थ हैं, वे सब भीतरी ज्ञान के परिणामरूप हैं, अज्ञानवश उनका बाह्यार्थवत् ज्ञान होता है, वास्तव में बाह्यार्थरूप हैं नहीं। गौतम, कणाद आदि पृथ्वी आदि पाँच भूतरूप बाह्य अर्थों को परमार्थ में भी सत्यरूप मानते हैं, माध्यमिक का कहना है कि शून्य ही बाह्य-आभ्यन्तर ग्राह्यग्राहकरूप से अज्ञानवश स्फुरित होता है, वास्तव में कुछ भी है नहीं – इन मतों का खण्डन कर रहे कुम्भ कहते हैं।

भद्र, न तो विज्ञानरूप अर्थ है, न बाह्य अर्थ है और शून्यरूप ही अर्थ है, क्योंकि सभी वादियों की कल्पनाएँ ज्ञान के रहते ही हो सकती हैं, ज्ञान के अभाव में नहीं, इसलिए ज्ञान की शून्यता, क्षणिकता, जन्यता, विनाशिता या परिणति कोई भी किसी तरह से नहीं कह सकता, अतः वही सारभूत वस्तु है। चैतन्यसार का जिस तरह से उपपादन किया जा सकता है, उस तरह से मैं उपपादन करता हूँ, आप उसमें दृष्टान्त का श्रवण कीजिए ॥५॥ जिस तरह जल में द्रवत्व सारभूत वस्तु है, उसी तरह सब पदार्थों की सारभूत वस्तु चैतन्य ही है। यदि चैतन्य नाम की वस्तु नहीं होगी, तो साधक के अभाव से सब जगत् 'है या नहीं है' इस प्रकार के व्यपदेश के लिए क्या अयोग्य होगा, यह विचार करने की बात है। इसी तरह रसभूत चिति की अचितिता कारण के बिना निरूपित नहीं की जा सकती। वह अनन्त चितिरूप माया द्वारा अपने स्वरूप में जगत् के आकार से या परमार्थ चैतन्यमात्ररूप से प्रकाशित करने में समर्थ है, अतः वह विद्यायुक्त या अविद्यायुक्त जैसा भी रहता है, वैसा ही प्रतीति से भी अवस्थित है ॥६॥

यदि वह स्वच्छ और अस्वच्छ दोनों स्वभावों से रहता है, तो उसमें स्वच्छस्वभावमात्रता की व्यवस्था कैसे होगी, इस पर कहते हैं।

सत्त्वमात्र का जो स्वभाव है, वही स्वच्छभाव है और सत्त्व का विरुद्धभाव अस्वच्छभाव है, अस्वच्छभाव अपने विरोधी सत्त्व का हनन करे चाहे न करे – दोनों ओर से उसकी सिद्धि ही नहीं है अतः सत्त्व और उसके विरोधी अस्वच्छभाव एवं असत्त्व की, प्रतियोगी और व्यवच्छेद का अभाव होने से, अस्वच्छता न होने के कारण परा चिति में स्वच्छभाव की व्यवस्था स्वभावतः सिद्ध हो जाती है ॥७॥

यदि शंका हो कि अस्वच्छभाव का सर्वथा अपलाप क्यों करते हैं – स्वच्छ चिद्रूप ही अस्वच्छ जगत्भाव के प्रति कारण बनने योग्य है, यों कल्पना क्यों नहीं करते, तो इस पर कहते हैं।

भद्र, यदि प्रशान्त ब्रह्मरूप पद अस्वच्छ जगत् के प्रति कारण बनने के लिए योग्य है, तो श्रुति आदि में निष्क्रिय, अगम्य, अप्रतर्क्य आदि शब्दों से जो वह कहा गया है, उसकी उपपत्ति किस तरह होगी ? इन सब युक्तियों से यह निश्चित होता है कि ब्रह्म किसी भी कार्य का न निमित्त कारण है और न उपादान कारण ही है, अतः इस सर्ग का अस्तित्व किसी काल में है ही नहीं ॥८,९॥

चिति के अध्यास के बिना दूसरे किसी भी उपाय से सृष्टि की उपपत्ति नहीं हो सकती, यह कहते हैं।

चैतन्य के अध्यास के बिना इस सृष्टि की दूसरी कोई उपपत्ति है ही नहीं, जिससे कि उसका उपपादन किया जाय, इससे जड़ सर्ग का अस्तित्व रहता ही नहीं। जो भी कुछ यह नेत्र के सामने नृत्य

करता है, वह एक तरह से अज्ञानवश चैतन्यघन ही स्फुरित हो रहा है। वही अहम्भाव, जगत् आदि शब्द और शब्दार्थरूप रसों से रंजित–सा होकर भासता है ॥१०,११॥

तब अकारणक ही यह जगत् माना जाय, इस तरह के यदृच्छावादिपक्ष का निरास करते हैं।

कारण का अभाव रहने पर किसी भी पदार्थ में कार्य उत्पन्न नहीं होता। जगत् में द्वित्व, एकत्व आदि का जो भान होता है, वह आकाशपुष्प के सदृश विकल्पमात्र ही है ॥१२॥

तब चिद्रूप ही जगत् और उसका कारण चिद्रूप ही ब्रह्म है। यदि कहो कि चिद्रूप की एकता में यह कार्य और यह कारण, यों विभाग करनेवाला कौन होगा, तो जन्म और नाश ही कार्य–कारण का विभाग करनेवाले होंगे, इस पर कहते हैं।

घट, पट आदि जागतिक वस्तु चिद्रूप नहीं हो सकती, क्योंकि जागतिक वस्तुओं का नाश अवश्यम्भावी है। चिति का नाश चिति से तो हो नहीं सकता, क्योंकि नाशकाल में यदि चिति की सत्ता मान ली जाय, तो 'चितिनाश' शब्द का कोई विषय ही नहीं होगा। जड़वस्तु से भी चिति का नाश नहीं माना जा सकता, क्योंकि जड़वस्तु चितिनाश में समर्थ नहीं है। यदि कहो कि चिति का नाश भी चिद्रूप ही है, अतः अपने और दूसरे के प्रकाशन में दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि चिद्रूप चितिविनाश स्वोत्पत्ति और स्वप्रतियोगी का प्रकाशक किस तरह हो सकेगा ? अपनी उत्पत्ति और उत्पत्तिपूर्वकालिक प्रतियोगी चैतन्य दोनों का उक्त नाश परिज्ञान कर नहीं सकता। अपनी उत्पत्ति और प्रतियोगी के ज्ञान के सिवा उसका नाश स्वयं उत्पन्न हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। साक्षी से स्वोत्पत्ति और स्वप्रतियोगी का ज्ञान तो हो नहीं सकता, क्योंकि चिति का विषय चिति नहीं होगी, अतः उसके वेद्यभूत उत्पत्ति विनाश और जगत् में जड़ता ही सिद्ध है, इस प्रकार जगत् में जड़ता सिद्ध हो जाने पर कारण का निरूपण न होने से कारण के बिना यदि उत्पत्ति मानी जाय, तो सदा ही जन्म और सदा ही विनाश होने लगेगा, क्योंकि जन्म और विनाश का निवारक तो कोई है नहीं। यदि आप (स्वभाववादी) पदार्थों को यों ही प्रमाणशून्य एवं अनुभवविरुद्ध नित्य–उत्पत्तिस्वभाव और नित्य विनाशस्वभाव मानते हैं, तो श्रुतिप्रमाणानुसार एवं विद्वानों के अनुभव से सिद्ध अखण्ड चैतन्यैकरूप स्वीकार करने में आपको कौन पीड़ा है, यह बतलाइये ॥१३,१४॥

यदि सब कुछ चैतन्यैकरसरूप है, तब चित् और अचित् यों द्विविध उपलम्भ कैसे होता है, इस पर कहते हैं।

साधो, यह चित् है और यह अचित् है, इस प्रकार का यह जो उपलम्भ होता है वह केवल चित्त की चमत्कृति है, दूसरा कुछ भी नहीं है। संसार में केवल चितित्त्व की ही सत्ता है। द्वित्व और एकत्व कुछ नहीं है, केवल कल्पनामात्र है। हे राजन्, इससे पदार्थसत्ता का अभाव होने पर उनकी भावना की असत्ता अनायास सिद्ध हो जाती है। सम्पूर्ण भावनाओं की असत्ता होने पर तो आपकी अहम्भावना का अस्तित्व कैसे रह सकता है ? अहम्भाव के असम्भव से फिर दूसरा बचता ही कौन है ? जिसे कि चित्त कहा जाय। इसलिए चित्त ही अहंरूप है, अहमर्थ से भिन्न दूसरा चित्तनामक पदार्थ है ही नहीं और जीव–ब्रह्मभेद तथा दृश्य–दृक् का भेद भी नहीं है। अतः वासना से रहित, शान्त मन से युक्त और बाहर की वाणी से रहित हो जाने पर आप परम चिदाकाशमय होकर अवशिष्ट हो जाते हैं, आप सदेह

होवें, चाहे विदेह होवें, चाहे अनेक पदार्थों के बीच में रहें, तो भी पर्वत के समान अटलरूप ही हैं, आपमें कुछ भी विक्रिया नहीं है। शुद्ध चैतन्यदृष्टि के सम्बन्ध से, जड़ पदार्थ की कदापि सिद्धि न होने के कारण, जड़ पदार्थों की भावना का भी अभाव हो जाने से भावनाजनित जीवरूप रहता ही नहीं, केवल स्वयं आत्मा ही अवशिष्ट रहता है। 'सब ब्रह्मस्वरूप ही है' इत्यादि वेदार्थभावना से जनित ब्रह्मसाक्षात्कार द्वारा केवल ब्रह्मरूप अर्थ के ही प्रकाशित हो जाने पर फिर बेचारी चिन्ता का अस्तित्व ही कहाँ रहा ? । सब द्वैत का बाध हो जाने के कारण आप ब्रह्मरूप ही हैं, वह ब्रह्म निर्मल, कारणशून्य और आरम्भ से मुक्त हैं, वह शाश्वत है, निरामय है, आदि और मध्य से रहित है। वह एक होता हुआ भी अनेकरूप हुआ है, वास्तव में जगत् असत् और शून्य है। जगत्प्रतिभासरूप चिति भी अविकृत ब्रह्म ही है, अतः अन्त में वही अवशिष्ट रहता है, यह तात्पर्य है ॥१५-२१॥

सत्तानबेवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठानबेवाँ सर्ग

चित्त है ही नहीं, इस ज्ञान को दृढ़ बनाने के निमित्त विषय की असत्ता से चित्त का अभाव और अन्त में अकेले सत् ब्रह्म की सत्ता का सविस्तर वर्णन।

प्रकाश के रहते ही रूप आदि का जैसे प्रकाश देखा जाता है, वैसे ही चित्त के रहते ही चिति का या दूसरे पदार्थ का प्रकाश देखा जाता है, अन्यथा नहीं; इस परिस्थिति में यदि ब्रह्माकारवृत्तियुक्त चित्त बाधित हो जायेगा, तो दीपनाश होने पर जैसे अन्धकार हो जाता है, वैसे ही अन्धकार हो जायेगा। दूसरी बात यह है - जो सचित्त हैं, वे ही सचेतन हैं और जो अचित्त हैं, वे चेतनशून्य हैं, यह लोक में प्रसिद्ध है, अतः जीवन्मुक्त यदि नष्ट चित्त होंगे, तो मृत्तिका के सदृश अचेतन ही हो जायेंगे, परन्तु वैसा देखा तो जाता नहीं। अपितु चित्त के रहते ही निरतिशयानन्दरूपी परमपुरुषार्थ-शास्त्रफल-का अनुभव किया जा सकता है, चित्त के अभाव में नहीं, अननुभूत कोई भी पुरुषार्थ नहीं होता। किंतु, एक प्रश्न भी होता है, वह यह कि क्या ब्रह्माकार चित्त ही चित्त का बाध करेगा या दूसरा ? पहला तो कर नहीं सकता, क्योंकि स्वात्मा में क्रियाविरोध है; यह कहीं नहीं दृष्ट है कि काठ आदि दाह्य वस्तु का दहन कर रही अग्नि अपने-आपका भी दहन करे। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसके द्वारा बाधित होनेवाला जगत् उसका बाधक हो नहीं सकता। चित्तवृत्ति से अतिरिक्त लोक में बाधक अप्रसिद्ध होने से सुन्दोपसुन्दन्याय का अवसर भी नहीं लाया जा सकता। ब्रह्म तो अनादि है, अतः वह सबका साधक होने के कारण बाधक नहीं हो सकता, इसलिए चित्तबाध निरर्थक, दुष्कर और सर्वानुभव से विरुद्ध है, इत्यादि आशंकाओं के निरसन द्वारा बोध की दृढ़ता चाहनेवाले राजा शिखिध्वज पूछते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : मुनिवर, चित्त का अस्तित्व ही नहीं है, इस प्रकार का बोध मुझे युक्ति से जिस तरह विस्पष्ट हो, उसे कहिए। चाहे वह युक्ति पूर्वोक्त ही हो चाहे दूसरी हो, क्योंकि अभी तक चित्त नहीं है, यह हमने दृढ़तापूर्वक नहीं जाना है ॥१॥

समस्त दोषों का परिहार कर जो युक्ति चित्त की बाधक है, उसे कहने के लिए कुम्भ मुनि चित्त का असत्त्व है और चित्त के अधिष्ठानभूत ब्रह्म का ही केवल सत्त्व है, यों प्रतिज्ञा करते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे राजन्, चित्तनाम का पदार्थ किसी काल में, किसी देश में या किसी वस्तुरूप में कहीं है ही नहीं और जो यह चित्त–सा मालूम पड़ रहा है, वह ब्रह्मनाम की अविकारी वस्तु ही है ॥२॥ चूँकि सम्पूर्ण चित्त आदि प्रपंच अज्ञानात्मक है, इसलिए उसका अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि जो अज्ञानात्मक वस्तु रहती है, उसका ज्ञान से बाध हो जाता है। अतः अधिष्ठान ब्रह्म में अहम्, त्वम्, तत् इत्यादि कल्पित सजावट कैसे रह सकती है ? निचोड़ यह है – स्वात्मा में तभी क्रियाविरोध होता, जब कि अज्ञानबाध के सिवा दूसरा कोई चित्तादि का बाध होता। किन्तु ऐसा तो है नहीं, क्योंकि अज्ञानबाध ही अज्ञानकार्य आदि की निवृत्तिरूप है, अतः अज्ञानबाध की स्थिति में चित्त का अस्तित्व ठहर सकता ही नहीं। अतएव फिर अन्धत्व आदि दोष हो भी सकते नहीं, क्योंकि अज्ञान ही सर्वान्धत्व का प्रयोजक है; अज्ञानबाध होने पर स्वप्रकाश पूर्णानन्द का अवशेष रहने से निरतिशय पुरुषार्थ सिद्ध ही हो जाता है। चित्त के अधीन चैतन्य है भी नहीं, किन्तु अभिव्यक्त चिति के अधीन चैतन्य है, इस प्रकार का चैतन्य जीवन्मुक्तों में, चित्त का नाश होनेपर भी है ही; अतः जीवन्मुक्त अचेतन नहीं हो सकते। चित्त का विनाश हो जाने पर चित्तकृत चिति की अभिव्यक्ति भाग जायेगी, यह कहना तो सुविचारमूलक हो नहीं सकता, क्योंकि अनभिव्यक्त अज्ञानरूप आवरण के ही कारण रहती है। जब आवारक अज्ञान ही हट गया, तब चिति की अभिव्यक्ति स्वाभाविक होने से उसकी अनभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती, मेघ के आवरण का विनाश कर वायु द्वारा की गई सूर्य की अभिव्यक्ति शरत्काल में वायु के न रहने पर क्या नष्ट हो जाती है ? अर्थात् नहीं, सूर्याभिव्यक्ति बनी ही रहती है, बस यही न्याय प्रकृत में है ॥३॥ जो कुछ भी यह उदित जगत् है, वह कुछ है ही नहीं, यहाँ यदि कुछ है, तो सब ब्रह्म ही है, अतः किससे क्या किस तरह जाना जाय ॥४॥

उक्त अर्थ में 'न निरोधो न चोत्पत्तिः' इत्यादि श्रुति का प्रमाणरूप से उद्धरण करते हैं।

प्राकृत प्रलय के अनन्तर पुराण आदि में प्रसिद्ध जो सृष्टि है, उस सृष्टि के आरम्भ में ही यह चित्त आदि जगत् उत्पन्न नहीं है, इसलिए मैंने 'यह चित्त–सा मालूम' पड़ता है, इत्यादि रूप से जो कहीं–कहीं निर्देश किया है, वह केवल आपके बोध के लिए ही किया है ॥५॥

प्रकृत अर्थ के साधन में पूर्वोक्त युक्ति भी समर्थ है।

उपादान आदि कारणरूप से जो प्रसिद्ध हैं, उनका भी अस्तित्व नहीं है और जितने भावरूप से प्रसिद्ध हैं, उनका भी अस्तित्व नहीं है, इसलिए ब्रह्म कारण नहीं है और इस जगत् का भी कोई कारण नहीं है। यों अज्ञानजनित भ्रान्तिरूप ही जगत् है, इसलिए उसकी किसी काल में सत्ता नहीं है। अतः यह जो दिखाई पड़ता है, वह भासनात्मक ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं ॥६,७॥

यदि सर्ग आदि वास्तव में नहीं है, तो 'तदात्मानं स्वयमकुरुत', 'एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा', 'एकं बीजं बहुधा यः करोति', 'कर्ता भोक्ता महेश्वरः' इत्यादि श्रुति–स्मृति–वचनों का प्रयोजन क्या ? यदि यह शंका हो, तो उसका समाधान यह है कि 'नेह नानास्ति किंचन' इस श्रुति में अपेक्षित निषेध्य का समर्पण कर अद्वैततत्त्व का व्युत्पादन करना ही उनका प्रयोजन है, तत्त्वार्थता उनमें नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

जो देव नामरहित और रूपरहित है, उस ब्रह्मरूप देव के विषय में कहना कि यह देव इस असदात्मक जगत् का निर्माण करता है वह न तो युक्त्यात्मक है, न सत्य है और वैसा न तो लोगों

का अनुभव है। जो स्वात्मा ईश्वर है, वह निराकार, अनाम और किसी दूसरे से आहत न होनेवाला है, इसलिए वह जगत् करता है, इत्यादि जो तात्पर्यशून्य अर्थवादों की सर्वज्ञ के विषय में उक्ति है, वह केवल उपहास के लिए ही है॥८,९॥

इस प्रकार जगदुत्पत्ति की असिद्धि होने पर प्रतिज्ञात अर्थ की सिद्धि अनायास सिद्ध है, यह कहते हैं।

हे राजन्, इसी प्रयोग से चित्त का अस्तित्व नहीं रहता, हे साधो, जब जगत् का ही अस्तित्व है नहीं, तब जगत् के अन्तर्गत चित्त का अस्तित्व तो कैसे रह सकता है ? ॥१०॥

जगत् की असत्ता में विषयों की असत्ता से भी चित्त की सत्ता नहीं है, यह कहते हैं।

चित्त तो वासनामात्ररूप है, वासना तब होती है, जब कि वास्य यानी वासना का कर्म (विषय) रहे। परन्तु वासना का कर्म जो जगत् है, वह तो स्वयं असत् है, अतः चित्त का अस्तित्व ही कहाँ ? ॥११॥

तब चित्तादि व्यवहार का विषय कौन है ? माया से उपहित ब्रह्म ही है, यह कहते हैं।

जो यह स्वयं ब्रह्मस्वरूप आत्मा अपने ही स्वरूप से अपने में स्फुरित होता है, उसीके चित्त आदि नाम हैं और उसीने उनकी रचना भी की है॥१२॥

'चेतो हि वासनामात्रम्' इत्यादि श्लोक की व्याख्या करते हैं।

पहले तो कारण के अभाव से ही यह दृश्य वासना का विषय जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ है, अतः चित्तरूपता आई कहाँ से ? ॥१३॥

'यदिदं कचति' इत्यादि श्लोक का भी, परमार्थदृष्टि से उसके फल-वर्णन में तात्पर्य है, यों व्याख्यान करते हैं।

अतः केवल चिदाकाशस्वरूप परमाकाश नामक विशुद्ध विज्ञान ही यह स्फुरित हो रहा है, इसलिए जगत् की सत्ता कहाँ से आई ? ॥१४॥

मायातत्त्वदृष्टि से भी उसकी व्याख्या करते हैं।

परमाकाशस्वरूप चितिदर्पण में जो कुछ अनिर्वचनीय मायारूप थोड़ा-सा स्फुरित हो रहा है, वह चित् रूपी दर्पण के कारण ही उत्पन्न है, अतः असल में न चित्त है और न जगत्-क्रिया है। समस्त अनर्थों को उत्पन्न करनेवाली अहम्, त्वम्, जगत् इत्यादि जो यह प्रतिपत्ति (ज्ञान) होती है, वह वास्तविक नहीं है, किन्तु साक्षीरूप मुझ में स्वप्न के सदृश मिथ्यारूप ही भासती है। चूँकि वासना के विषय जगत् की असत्ता होने से वासना की सत्ता नहीं है, इसलिए वासनात्मक चित्त ही कैसा, कहाँ, किससे और किस तरह से हो सकता है ? जिन्हें तत्त्वज्ञान नहीं है, वे ही चित्त और इस दृश्य जगत् को सद्रूप जानते हैं, वस्तुतः चित्त असत् है, उसका कोई आकार नहीं है और न पहले उत्पन्न ही हुआ है। चित्त इसलिए पहले उत्पन्न नहीं हुआ कि सर्ग के आरम्भ में ही उसे पैदा करनेवाला कोई कारण न था और लोक, शास्त्र और अनुभव से दृश्य वस्तु में अनादिता, अजता और स्थिरता की उपपत्ति कभी हो नहीं सकती। साकार, स्थूल तथा प्रतिघातयोग्य आकृतिवाले इस जगत् के लोक, शास्त्र और अनुभव से सिद्ध जो ये महाप्रलय आदि यानी प्रलयान्त विकार हैं, उनका निराकरण करना योग्य नहीं है, क्योंकि निराकरण करने में उपपादक जो हेतु हो सकते हैं, वे हैं ही नहीं। शास्त्र, अनुभव और वेदार्थ सिद्धान्तों के ऊपर दृष्टिपात करने से वे प्राकृत आदि तीन प्रलय

हैं ही नहीं, यह कहनेवाला उन्मत्त ही हो सकता है। जिसकी बुद्धि में लोक, शास्त्र और वेद प्रमाण नहीं हैं, वह केवल लोक का आश्रय करनेवाले असत् चार्वाक आदि से भी अत्यन्त मूर्ख है, अतः सज्जन को उसका कभी अवलम्बन नहीं करना चाहिए ॥१५–२३॥

तब श्रुति में उक्तब्रह्मकारणतापक्ष का ही अवलम्बन कीजिए, इस पर कहते हैं।

साकार तथा प्रतिघातयुक्त इस दृश्य जगत् का कहीं पर भी निराकार प्रतिघातशून्य ब्रह्म कारण नहीं हो सकता ॥२४॥

निराकार ब्रह्म में कारणत्व का प्रतिपादन करनेवाली श्रुति का तात्पर्य 'तदनन्यत्वमारम्भण–शब्दादिभ्यः' इत्यादि बादरायणन्याय से जगत् तत्त्वतः ब्रह्मरूप ही है, इस अर्थ में पहले कहा ही जा चुका है। इस तरह ब्रह्मरूप से लक्ष्यमाण जगत् व्यवहार में, मूर्तरूपता का विनाश न होने से, अर्थक्रिया में समर्थ है ही, इसलिए लोकविरोध नहीं हो सकता। परमार्थ से तो ब्रह्मरूप ही जगत् है, मूढदृष्टिवालों के मत में प्रसिद्ध जो उसका रूप है, तद्रूप नहीं, अतः वेदविरोध भी नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

हे मुने, इस तरह अप्रसिद्धरूप से (अकारणत्वादिरूप से) लक्ष्यमाण ब्रह्म सदा ही तत्स्वरूप है। इस तरह सिद्धान्त होते हुए भी व्यवहार में जगत् अर्थक्रिया में समर्थ नहीं है, यह भी नहीं है और परमार्थ में जगत् ब्रह्मरूप नहीं है, यह भी नहीं हो सकता ॥२५॥

अब समस्त सृष्टिप्रतिपादक श्रुतियों का और 'नेति नेति' इत्यादि सृष्टिनिराकरण करनेवाली श्रुतियों का तात्पर्य, मिलाकर, कहते हैं।

इससे अंशशून्य, प्रतिघातरहित, चिदाकाश, निराकार, अनन्त, पूर्व से पूर्व होते हुए भी निरंश, पूर्णस्वभाव, सदाप्राप्त ब्रह्मका–जो यह समस्वरूप स्वतः अपना कचन है, वह अपना स्वरूप ही सर्ग–प्रलयरूपधारी जगत् के रूप में जब तक अज्ञान रहता है तब तक जाना जाता है, यह सृष्टि–श्रुतियों का तात्पर्य है और वही एकक्षण के बाद 'तत्त्वमसि' आदि शास्त्रों के अनुसार ज्ञात हुआ सत् ब्रह्मरूप होकर द्वैत–निर्मुक्त स्वभाव में स्थित हो जाता है, यह सृष्टिनिराकरण करनेवाली श्रुतियों का तात्पर्य है। शास्त्रीय बोध से सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है, न तो कहीं जगत् आदि का ज्ञान है, न कहीं चित्त का अभाव है, न कहीं चित्त आदि हैं और न कहीं द्वैत–ऐक्य आदि की कल्पना ही है। उस प्रकार जाना गया समस्त जगत् उपद्रवनिर्मुक्त होकर निराधार, अजन्मा, अनादि, स्वात्मरूप यथास्थित सद्ब्रह्मरूप ही हो जाता है। यह जो अज्ञानियों द्वारा देखे गये रूप से युक्त जगत् है, वह न नाना है और न अनाना ही है, अतः यथास्थित का व्यवहार कर रहे आप उत्तम काठ के सदृश वाग् आदि व्यापारों से निर्मुक्त होकर स्थित रहिए ॥२६–३०॥

अट्ठानबेवाँ सर्ग समाप्त

निनानबेवाँ सर्ग

स्थूणानिखनन न्याय से बोध को सुदृढ़ बनाने के लिए प्रबुद्ध हुए भी
राजा शिखिध्वज को कुम्भ द्वारा पुनः बोधित करना।

इस तरह बोधित हुए राजा शिखिध्वज–उपदेशजन्य ज्ञान से सम्पूर्ण सन्देह आदि का बीज मेरा अज्ञान नष्ट हो गया – यों शब्दोच्चारण कर दिखलाते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे महामुने, आपकी दया से मेरा मोह नष्ट हो गया, मुझे स्मृति (विस्मृत हुए आत्मा का साक्षात्कार) लब्ध हो गई, मेरा सन्देह दूर हो गया; मेरी बुद्धि विश्रान्त हो गई, मैं आत्मवान् होकर अब स्थित हूँ। भगवन्, अब मैंने ज्ञेय वस्तु का ज्ञान कर लिया, महामौनी हो गया, मायारूपी महासमुद्र को पार कर गया; अब मैं शान्त हूँ, मैं अहंकारस्वरूप नहीं हूँ, आत्मज्ञानी बनकर सर्वविध विकारों से शून्य होकर अवस्थित हूँ। अहो, अति चिरकाल तक मैं भवसागर में परिभ्रमण करता रहा, परन्तु अभी मैं अक्षुब्ध अक्षय स्थान को प्राप्त हुआ हूँ। हे मुने, इस तरह अवस्थित होने पर मूर्खों से अवबुद्ध अहन्तासहित ये तीनों जगत् नहीं हैं। जो कुछ यह भासित हो रहा है उसे मैं ब्रह्मरूप ही जानता हूँ ॥१-४॥

राजा शिखिध्वज द्वारा कही गई बातों का अनुमोदन कर रहे कुम्भ ऋषि कहते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे राजन्, आपका कथन सत्य है। जिस चिदाकाश में यह जगत् ही नहीं है वहाँ इस तरह का 'अहं त्वम्' आदि भानात्मक गन्धर्व-नगर-व्यवहार कैसा ? कहाँ, किस निमित्त से और किस प्रकार हो सकता है ? हे राजन्, आप यथाप्राप्त व्यवहार करते हुए शान्तमना, मौनी मुनि बनकर प्रशान्त सागर के उदर में शान्त हुए आवर्तपरिस्पन्दन के सदृश अवस्थित रहिये। यह सब यथास्थित शान्त ब्रह्म-स्वरूप ही इस तरह अवस्थित है। मैं और यह सब जगत्-शब्दार्थस्वरूप आकाशमय ही है यानी शून्य ही है। यह सब संसार आदि और अन्त से शून्य चित्चमत्कृतिनामक जो आत्मस्वरूप आकाश है वही अपने चाकचक्य से दीपित हो रहा है। जैसे कुण्डल आदि रचनाविशेषदृष्टि के शान्त हो जाने पर सुवर्णमात्र अवशिष्ट रह जाता है वैसे ही जगदादि अर्थों के शान्त हो जाने पर एकमात्र ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है। जैसे समष्टि-अहंकारात्मक स्वयंभू संकल्पमात्र हैं वैसे ही स्वयं व्यष्टि-अहंकार भी संकल्पमात्र है। समष्टि और व्यष्टि का बन्ध और मोक्ष-ये दोनों क्रमशः अभिमान और अभिमान-परित्याग से जनित आत्म-वेदन के अधीन होकर व्यवस्थित हैं ॥५-१०॥

उसीको स्पष्टरूप से बतलाते हैं।

'देह आदि मैं हूँ' इस तरह का संकल्प अत्यन्त विनाशी बन्धन के लिए होता है तथा 'देहादिरूप मैं नहीं हूँ' इस तरह का संकल्प विमलात्मक मोक्ष के लिए होता है ॥११॥

मोक्ष क्या है, यह कहते हैं।

सदा क्रमशः हो रहे बन्ध-मोक्ष तथा संकल्पादि शब्दार्थों का साक्षिभूत जो स्वरूप-ज्ञान है वही सद्ब्रह्म और कैवल्य कहा जाता है। अहंकारज्ञान का अज्ञान मोक्ष है तथा अहंकारज्ञान ही बन्ध है। इसलिए हे राजन्, 'मैं वह ब्रह्म ही हूँ, अहं पदार्थ मैं नहीं हूँ' इस तरह के शुद्ध कैवल्यात्मक बोध से युक्त होकर आत्मवान् बन जाइये ॥१२,१३॥

शुद्ध कैवल्यात्मक बोध संकल्प के क्षय से सिद्ध होता है, यह कहते हैं।

सम्यग् ज्ञानोदय में हेतुभूत संकल्प के त्यागमात्र से मोक्ष की सिद्धि के लिए असदात्मक संकल्प अपने आप ही नष्ट हो जाता है ॥१४॥

शुद्ध ब्रह्म कारण नहीं हो सकता, इससे दृश्य पदार्थों का अभाव है - दृश्य पदार्थों का अभाव निश्चित होने से संकल्प का क्षय हो जाता है, संकल्प के क्षय से अहंभाव का क्षय हो जाता है और

अहंभाव के क्षय से जीवभावादिरूप संसार का क्षय हो जाता है; उसके बाद एकमात्र ब्रह्म अवशिष्ट रह जाता है, इस क्रम को बतलाते हैं।

अप्रतर्क्यस्वरूप शिव में कारणता नहीं है, कारण के अभाव से कार्य पदार्थ भी नहीं है, कार्य पदार्थों के अभाव की सिद्धि होने पर उनका ज्ञान (संकल्प) सिद्ध नहीं है और संकल्परूप कारण के अभाव से अहंभाव का भी उदय नहीं हो सकता। अहम्भाव का उदय न होने से किसका कैसा संसार ? और संसार के अभाव से सर्वात्मक केवल परब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है। ज्ञान से पहले भी जो यह जगद्रूप से अवभासित होता था वह परमार्थरूप से ब्रह्म ही उस तरह से अवस्थित था। तत्त्वबोध से कोई अपूर्व नहीं प्रकट होता, किन्तु परब्रह्मस्वरूप स्वभाव में स्थित परब्रह्म ही परब्रह्म से अपूर्व स्वरूप ही प्रकट होता है। उस (सदैकरूपत्व) हेतु से जो सर्वात्मक वस्तु है, वह वज्रशिला से निबिडित (परिपूर्ण) यानी वज्रशिला के उदर की नाईं दृढ़ और स्थिर है, उसमें स्थित जो जगत् है, उसे वज्रमणि के रश्मिमय हजारों प्रतिबिम्बों के आकारों के सदृश जानिये ॥१५–१९॥

अब वह मुक्ति में कैसे स्थित है, उसे कहते हैं।

संकल्प के नष्ट हो जाने पर सामने स्थित संकल्पनगर का जो रूप रहता है उसे आप आकाश से भी बढ़कर अत्यन्त स्वच्छ सत्असत्मय इस जगत् का रूप समझिये ॥२०॥

तब अचल ब्रह्म में जगत्–स्पन्दन का प्रत्यय कैसे होता है, इस पर कहते हैं।

जैसे वज्रशिला के उदर में प्रतिबिम्बात्मक पुरुष स्पन्दनशील न होता हुआ भी स्पन्दित होता है वैसे ही स्पन्दनशील, मनन–रहित शान्त और जगत्–शब्दार्थ से रहित इस जगत् को जो देखता है वही देखता है। सम्यग् ज्ञान का उदय होने पर ब्रह्म रूपदर्शन तथा आन्तरिक मानसिक कल्पनाएँ निःसार हैं, ऐसी आगमप्रमाण से उत्पन्न जो स्थिर भावना उत्पन्न होती है उसीको विद्वान् लोग निर्वाण की हेतु होने से निर्वाण (मोक्ष) कहते हैं ॥२१,२२॥

'जगच्छब्दार्थरहितं यः पश्यति स पश्यति' यह जो कहा है उसकी दृष्टान्तपूर्वक व्याख्या करते हैं।

जैसे स्पन्दशून्य वायु, दीपादि आकारविशेष से शून्य आकाशगत प्रकाश अथवा कटकादि रचनाविशेष से शून्य सुवर्ण है वैसे ही जगत् भी किसी रचनाविशेष से शून्य ब्रह्म ही है, ऐसी सम्भावना अवश्य करनी चाहिए ॥२३॥

'रूपालोकमनस्काराः' इसकी भी व्याख्या करते हैं।

बोध से ब्रह्मरूप जगत् के ये बाह्य रूपदर्शन तथा आन्तरिक मानसिक कल्पनाएँ, जो जगत् की प्रतीति करानेवाली है; नितान्त असद्रूप से अवभासित हो जाती हैं। जिस तरह समुद्र में अनेक भी तरंग आदि तरंगशब्दार्थ से रहित जलमात्र ही हैं; उसी तरह बहुत–सी वस्तुएँ ज्ञान का उदय होने पर सर्गशब्दार्थ से रहित सर्गशून्य एकमात्रब्रह्म ही हैं ॥२४,२५॥

'सर्ग' शब्द के अर्थभूत भेद का बाध हो जानेपर सृष्टि और परब्रह्म में ऐक्य ही भासित होता है, इसको व्यतिरेक से दृढ़ करते हैं।

यह सृष्टि ही सृष्टिशब्द के अर्थ से (भेद से) रहित परब्रह्म है और परब्रह्म ही सृष्टि है, क्योंकि यह शाश्वत 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इसी श्रुति का वाक्यार्थ है। सबका उपबृंहण (विकास) करता है, इसलिए

'ब्रह्म' है, इस प्रकार ब्रह्मशब्द की अर्थसम्पत्ति होने पर ही लोक में सर्गशब्दार्थ की बुद्धि की गई है और सर्गशब्दार्थ की संसिद्धि होने पर यानी सर्ग-नाम और रूप का विसर्ग (त्याग)-इस तरह सर्ग-शब्दार्थ की सम्पत्ति होने पर त्रिविध परिच्छेद की निवृत्ति हो जाने से 'बृह' धातु के अनुसार ब्रह्मशब्द का अर्थ निकलता है, इसलिए सर्गशब्द और ब्रह्मशब्द दोनों एकार्थक ही हैं ॥२६,२७॥

तब अशब्द वस्तु में ब्रह्मशब्द की प्रवृत्ति कैसे होती है, इस पर कहते हैं।

समस्त शब्दभावना और समस्त शब्दार्थभावना से अभिव्यक्त शुद्ध चिदाकाश ही अवस्थित रहता है वही ब्रह्मशब्द से कहा जाता है। थोड़े भी परिच्छेद का स्वीकार कर लेने पर 'बृह' धातु के अर्थ में संकोच हो जायेगा, अतः अशब्द शब्द से जैसे कहा जाता है वैसे ही ब्रह्मशब्द से भी वही कहा जाता है, यह भाव है। अथवा जगत्-शब्द के सदृश ब्रह्मशब्द का जो वाच्यभूत अर्थ है उसको जान लेने के बाद लक्षणा द्वारा अखण्डार्थरूप सम्यग्ज्ञान सिद्ध हो जाने पर जो अवशिष्ट अज, शान्त आत्मवस्तु रहती है उससे ब्रह्मशब्दादि वाणी भी निवृत्त हो जाती है। हे राजन्, तत्त्वज्ञान हो जानेपर यह समस्त जगत्स्वरूप जो यथास्थित है, वह अतिदृढ़ वज्रपाषाणरूप परब्रह्मस्वरूप ही है और जिस दशा में अज्ञान के कारण 'मैं सर्वात्मक हूँ' यह ज्ञान नहीं हुआ, उस दशा में भी एकात्मक स्वस्वरूप होकर रहता ही है, इसलिए ब्रह्म और जगत् की एक ही सत्ता है ॥२८-३०॥

निनानबेवाँ सर्ग समाप्त

सौवाँ सर्ग

ब्रह्म सत्ता से ब्रह्म के सदृश जगत् की पृथक सत्ता का निषेध
तथा जन्म आदि विकारों से रहित ब्रह्म की स्वतः सत्ता का विधान।

यदि ब्रह्म और जगत् इन दोनों की एक ही सत्ता है तब उसी सत्ता से ब्रह्म की नाईं जगत् भी परमार्थ सत्य क्यों नहीं होगा, मिथ्या वस्तु के कारण का तो निरूपण अत्यन्त कठिन है, परन्तु सत्य वस्तु का तुल्यस्वरूप होने के कारण ब्रह्म कारण हो सकता है, यों राजा शिखिध्वज आशंका करते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे महाबुद्धे, यदि ऐसी बात है तो जिस तरह परब्रह्मरूप कारण सत्य है वैसे ही यह जगत् कार्य भी सत्य है, यह मैं जानता हूँ। कुम्भ ने कहा : हे राजन्, जिसमें कारणता है उसका वैसा कार्य हो सकता है। परन्तु जो निर्गुण ब्रह्म है वह तो पहले से ही कारण नहीं है, फिर उससे कार्य होगा ही कैसे ? ॥१,२॥

ठीक है, तब निर्विशेष ब्रह्म में स्थित मायाशबल ही जगत् का कारण है, यदि ऐसा कहें, तो इस पर कहते हैं।

इस निर्विशेष ब्रह्म में कोई मायाशबल कारण और कोई उसका कार्य जगत् किसी समय है ही नहीं। मायादृष्टि से ही माया, मायाशबल और उसके कार्यों की स्थिति रहती है। परमार्थदृष्टि से तो यह सम्पूर्ण विद्यमान जगत् सर्वात्मक शान्त और अज ही है। इस विषय में वार्तिक में कहा गया है - 'अविद्यास्तीत्यविद्यायामेवासित्वा प्रकल्प्यते। ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं न कथंचन युज्यते॥ यानी अविद्या है, यह भी अविद्या में रहकर ही कल्पना की जाती है, ब्रह्मदृष्टि से तो यह अविद्या किसी तरह युक्तिसिद्ध

हो ही नहीं सकती ॥३॥

अजन्मा होने से इसमें सादृश्यप्रसक्ति अवश्य होगी, यह कहते हैं।

जो कार्य कारण से उत्पन्न होता है वह कारण के सदृश होता है। जो यहाँ उत्पन्न ही नहीं होता, उसमें भला सादृश्य आयेगा ही कहाँ से ? ॥४॥

उत्पन्न क्यों नहीं होता, इस पर कहते हैं।

हे राजन्, भला आप बतलाइये तो सही, जिसका कोई बीज है ही नहीं, वह उत्पन्न कैसे होगा ?

बीज के अभाव से वही बीज क्यों नहीं होगा, इस पर कहते हैं।

हे राजन्, जो वस्तु अप्रतर्क्य और अगम्य है, उसमें बीजता ही कहाँ ठहरेगी ? ॥५॥

उसमें बीजादि हेतुओं का अभाव कैसे है, यदि ऐसी शंका हो, तो इसका उत्तर यह है कि प्रमाण से सिद्ध उसके उचित देश और काल नहीं है, इसीको कहते हैं।

देश और काल के वश से सभी पदार्थ कारण से युक्त और प्रमाण से गम्य होते हैं। तब तो ब्रह्मविषयक प्रमा में ही निमित्त और उपादान कारण विषय रहें; तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि विरोध है, यह कहते हैं।

जिस प्रमाण का कर्ता आदि कारकमात्र का विरोधी ब्रह्म विषय है, उससे हेतु और उपादान कारण की प्रमा उत्पन्न होती है, यह कैसे बोल सकते हैं ? ॥६॥ चूँकि कर्ता, कर्म और कारणशून्य परमशिव में कारणता नहीं है, इसलिए जगत् शब्दार्थज्ञान का वह कारण नहीं है ॥७॥ अतएव हे राजन्, शुद्ध आकाशसदृश, सदात्मक निर्विशेष जो ब्रह्मवस्तु स्थित है उसीको आप अपने हृदय में 'मैं वही शुद्ध ब्रह्म हूँ' यों तत्त्वदृष्टि से धारण कीजिये। वही असम्यग् दर्शियों का विषय असीम जगत् है ॥८॥

चिन्मात्ररूप प्रमा से ही यह जगत् ब्रह्मरूप बन जाता है और अतत्त्वाकार मन की भ्रान्ति से ब्रह्म जगद्रूप बन जाता है, यह कहते हैं।

चिन्मात्र अजर शान्त जो एक वस्तु है वही प्रमा की विषय की जाती है, उसीसे यह जगत् सत्, शान्त ब्रह्मरूप जाना जाता है (तथा ब्रह्म ही अतत्त्वाकार मन की भ्रान्ति से जगद्रूप से अवबुद्ध होता है) ॥९॥ हे पृथिवीपते, चित्त का जो अन्यथाभाव है वही ब्रह्मस्वरूपहानि कही गयी है, जो पण्डितों से स्वानुभूत है ॥१०॥

उसीको स्पष्ट बतलाते हैं।

हे नृप, नाशस्वभाव उस चित्त को नाशात्मक जानिये, क्योंकि क्षणभर के लिए भी आत्मस्वरूपविस्मरणरूप वह नाश कल्पकालपर्यन्त विस्मृत चित्तशब्द से कहा जाता है ॥११॥

असंकल्प द्वारा पर्यवसित तत्त्वज्ञान से वह चित्त नष्ट हो जाता है, यह कहते हैं।

सम्यग् ज्ञानोदय के हेतुभूत असंकल्पमात्र से असदात्मक संकल्पस्वरूप चित्त स्वयं ही मोक्षसिद्धि के लिए क्षीण हो जाता है ॥१२॥

ठीक है, संकल्प का नाश हो जाय, फिर भी विश्व की निवृत्ति कैसे होगी, यदि ऐसी आशंका की जाय, तो उसका उत्तर यह है कि मिथ्या होने से ही। 'विशति परमात्मन्येकीभवति न वस्त्वन्तरतयाऽवतिष्ठत इति विश्वम्' (जो परमात्मा में प्रविष्ट हो जाता है – एकरूप से मिल जाता है, न कि किसी दूसरी वस्तु के रूप से रहता है उसका नाम है – विश्व) ऐसे विश्वशब्द के निवर्चन को हृदय

में रखकर कहते हैं।

अपने अधिष्ठान ब्रह्म में प्रविष्ट होनेवाला, यह विश्वशब्द का अर्थ है - इसके अनुसार यदि अपने नाम से ही अपना अभाव स्वीकार करनेवाला यह विश्व कहा जाता है, तो हे कमलनेत्र, (आप बतलाइये तो सही) यह विद्यमान कैसे हो सकता है ? ॥१३॥

इसमें लोकवृत्त को प्रमाणरूप से उपस्थित करते हैं।

हे राजन्, दोनों हाथ उठाकर जो ऊँचे स्वर से बार-बार यह कहता है कि मैं शूद्र हूँ, वह भला विप्र कैसे हो सकता है और उसका विप्रत्व है कैसा ? सन्निपात से कुपित धातुवाला जो मनुष्य बार-बार ऊँचे स्वर से चिल्लाता है कि मैं मर गया, मैं मर गया; हे राजन्, उसे आप जान लीजिये कि वह मृत्यु की गोद में सो गया है, उसका जीवन एक भ्रममात्र है ॥१४,१५॥

तब चित्त आदि हैं, इस अनुभव की क्या दशा होगी, यदि ऐसी आशंका हो, तो उसका उत्तर यह है कि वह सब बिलकुल भ्रान्तिमात्र है, इसे अनेक दृष्टान्तों से बतलाते हैं।

अलातचक्र के सदृश भ्रमाकृति जो यहाँ जगत्, चित्त आदि दिखाई देता है वह मृगतृष्णाजल, दो चन्द्र आदि की भ्रान्ति तथा बालकल्पित वेताल आदि की नाईं है ॥१६॥

ठीक है, तब तो भ्रान्ति के एक बहुत बड़े पुंजरूप उसे सत् ही मान लीजिये। नहीं, ऐसा कहते हैं।

हे महीपते, जो सर्वथा भ्रमपुंजस्वरूप है वह भला सत्य नाम से कैसे कहा जा सकता है ? अज्ञानजनित भ्रान्ति ही अन्तःकरण और चित्तादिशब्दों से कही जाती है। सत् की नाईं अवस्थित असत् अज्ञान ही चित्त कहा जाता है। अज्ञान असंवेदनस्वरूप है और ज्ञान है संवेदनरूप ॥१७,१८॥

तब अज्ञानरूप से ही चित्तादि को सत्य कहा जाय, इस पर कहते हैं।

संवेदनरूप ज्ञान से अज्ञान में सत्त्वबुद्धि का नाश हो जाता है, हे साधो, मरुमरीचिका में जलज्ञान व्यर्थ भ्रान्ति ही है। जैसे मरुमरीचिका में हुआ जलज्ञान 'यह जल नहीं है', इस ज्ञान से नष्ट हो जाता है वैसे ही 'यह चित्त है' इस रूप से हृदय में हुआ संवित् का जो प्रौढ़ अज्ञानात्मक मल है वह 'यह चित्त नहीं है' इस ज्ञान से समूल विनष्ट हो जाता है। जैसे अज्ञानभ्रम से उत्पन्न हुई रज्जु में सर्परूपता 'यह सर्प नहीं है' इस तरह के हृदय में आरूढ़ ज्ञान से नष्ट हो जाती है, वैसे ही आत्मा में अज्ञानभ्रम से उत्पन्न हुआ मनोरूप चित्त 'यह चित्त नहीं है' इस तरह के हृदय में आरूढ़ विज्ञान से विनष्ट हो जाता है। चित्त, मन, अहंकार आदि सकल पदार्थ हृदय में अज्ञान से उत्पन्न हुए हैं। वस्तुतः इस जगत् में चित्त नहीं है और इसी तरह अहंकारादि से संयुक्त देहादि कुछ भी नहीं है, किन्तु एकान्त निर्मल एक संवित् ही है। विमूढ़ उस संवित् के द्वारा ही संकल्प, चित्त आदि की रचना की गई थी। आज प्रबुद्ध हुई संवित् ने संकल्प के अभाव से उन सबका परित्याग कर दिया। हे महाबाहो, जैसे पवन से अग्नि में ज्वालाजाल ऊपर उठता है और उसके अभाव से फिर नष्ट हो जाता है वैसे ही संकल्प से जो पदार्थ आता है वह संकल्प के अभाव से चला जाता है। जैसे जल से समुद्र ग्रस्त है वैसे ही आत्मतत्त्व से अत्यन्त घनीभूत विस्तृत ब्रह्मसत्ता से यह सारा संसार व्याप्त (ग्रस्त) है। मैं नहीं हूँ, अन्य नहीं है, न आप हैं, न ये सब पदार्थ हैं, न चित्त है, न इन्द्रियाँ हैं और न आकाश ही है। केवल एक निर्मल आत्मा ही है ॥१९-२८॥

तब जीवन्मुक्त लोग घटादि–आकार किसको देखते हैं, इस पर कहते हैं।

घटादि के आकाररूप से एक वह आत्मा ही जीवन्मुक्तों को दिखाई देता है। यह चित्त है, यह मैं हूँ, इत्यादि कुकल्पना उन्हें कैसी ? हे महीपते, इस त्रैलोक्य में न कोई जन्म लेता है और न कोई मरता ही है। सत् और असत् भावनारूप यह केवल चिति का उल्लासमात्र है। यह सर्वात्मक व्यापक ब्रह्म परमात्मा ही जब एक बार प्रकट हुआ, तब द्वित्व और एकत्व रहता ही नहीं। भ्रम तथा मृत्यु आदि का भय भी नहीं रहता। इसलिए हे मित्र, आप सम्पूर्ण इन्द्रियों में तथा इन्द्रियों से ग्राह्य अग्नि आदि के आकारों में सन्मात्रस्वरूप से व्याप्त हैं, अतः हे महाबुद्धे, आप दाह हेतु आध्यात्मिकादि भावों से दग्ध नहीं हो सकते और न आप कहीं लिप्त ही हो सकते हैं। हे मित्र, निर्मल आकाशस्वरूप तथा कैवल्यानन्तरूप आपका न तो कुछ विनष्ट हो सकता है और न कुछ बढ़ ही सकता है। इच्छा और अनिच्छा स्वरूप शक्तियाँ तथा क्रियाशक्ति भी आप ही हैं, क्योंकि हे मित्र, अपनी कलाओं से पृथक् चन्द्रमा उपलब्ध नहीं होता। हे महीपते, अजन्मा, अजर, अनादि अजस्वभाव (📖) निर्मल, सदा एकरूप, सकृत् प्रकाशस्वरूप, कलनारहित, अपने स्वरूप का परिचय करानेवाली लीला से युक्त, सन्मात्र से उदित, सम्पूर्ण व्यवहारों से पूर्व सिद्ध जो अज वस्तु है वही आत्मतत्त्व है ॥२९–३५॥

सौवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ एकवाँ सर्ग

ज्ञान की दृढ़ता से राजा शिखिध्वज की कृतकृत्यता,
जीवन्मुक्ति में अचित्तता तथा तत्त्व की स्थिति का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह अकृत्रिम कुम्भ के उस कथन का विचार कर रहे राजा शिखिध्वज अपने पूर्व भाव को छोड़कर क्षण भर स्वयं उस आत्मपद में प्राप्त हो गये। शिलातल में खोदी गई स्पन्दनशून्य अवयवों से युक्त आकारवाली प्रतिमा की नाईं वह राजा मन और नेत्र के व्यापारों को बन्दकर शान्तवाक् मुनि हो गये। हे महाबाहो, उसके बाद एक मुहूर्त में प्रबुद्ध हुए अतएव विकसित नेत्रवाले उस राजा से कुम्भरूपिणी चूडाला बोल उठी। कुम्भ ने कहा : हे महाबाहो, महान, शुद्ध, विस्तृत, निर्मल तथा योगियों की सुन्दर शय्या के समान इस निरतिशयानन्द पद में क्या आप विश्रान्त हो चुके ? राजन्, क्या आप अन्तःकरण से प्रबुद्ध हो चुके ? क्या आपने अपनी भ्रान्ति छोड़ दी ? क्या आपने ज्ञेय पदार्थ का अच्छी तरह ज्ञान कर लिया ? क्या आपने द्रष्टव्य वस्तु देख ली ? राजा शिखिध्वज ने कहा : हे भगवन्, आपकी दया से मैंने वह महती आत्मपदवी देख ली, जो निरतिशयानन्दरूपी भूमिका तथा हिरण्यगर्भ के आनन्दतक विषयानन्दसमूह के ऊपर (उत्कर्ष की पराकाष्ठा में) अवस्थित है। अहो, वेद्य वस्तु को जान लेनेवाले सज्जन महात्माओं का संग इस अनादि संसार में कभी भी अनुभूत न होनेवाला जो निरतिशयानन्द है तत्प्रचुर है, अतः सर्वोत्कृष्ट फल का प्रदाता है ॥१–७॥

(📖) यहाँ पर तीन 'अज' पदों से जन्म, वृद्धि और विपरिणाम का खण्डन किया गया है तथा 'सदा एकरूप' इस विशेषण से अन्य विकारों का खण्डन किया गया है, यह समझ लेना चाहिए।

सामान्यरूप से कही गई बात की विशेषरूप से व्याख्या करते हैं।

भगवन्, जिस महाअमृत की प्राप्ति महा अमृतस्वरूप ही मैंने अज्ञानवश सारे जन्म में नहीं की, आज आपके समागम से उसकी मैंने स्वयं अनायास ही प्राप्ति की। हे कमललोचन, अनन्त और आद्य इस अमृतरूपी आत्मपद को मैंने पहले ही क्यों नहीं प्राप्त किया ? ॥८,९॥

चित्तगत कषायों का (वासनाओं का) परिपाक न होने से पहले आप ज्ञान प्राप्त न कर सके, इस समय तो तपस्या के द्वारा उनका परिपाक हो जाने से आपने प्राप्त कर लिया, इस आशय से कुम्भ उत्तर देते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे राजन्, भोग की इच्छाओं का त्याग कर चुके मन के उपशान्त होकर अवस्थित हो जाने पर सम्पूर्ण इन्द्रियों और मन के भोगरूप कषायों का पाक सम्पन्न हो जाने से चित्त में उपदेश की विमल उक्तियाँ उस तरह स्थिति को प्राप्त होती हैं, जिस तरह सफेद शुद्ध वस्त्र के ऊपर कुंकुम जल के बिन्दु (☙)। हे राजन्, आपके अनन्त स्ववासनास्वरूप कषायों का, जो अनेक जन्म के शरीरों द्वारा एकत्र किये गये थे, आज परिपाक उदित हुआ है। हे कमललोचन साधो, काल से पककर लिंग देह से सम्पूर्ण मल (卐) उस तरह गिर जाते हैं, जिस तरह काल से पककर वृक्षों से उनके फल नीचे गिर जाते हैं। हे मित्र, वासनात्मक मलों के शरीर से दूर चले जाने पर गुरु जो विमल उपदेश देते हैं, वह अन्तःकरण में उस तरह शीघ्र प्रविष्ट हो जाता है, जिस तरह कमल के दंड रूप लक्ष्य में बाण। हे महामते, कषायों का पाक सम्पन्न हो जानेपर आज आप मेरे द्वारा विबोधित हुए हैं, इसलिए आज ही आपके अज्ञान का सर्वथा नाश हुआ। आज आपके कषायों का खूब परिपाक हो गया। आज ही आपने ज्ञानार्थ उपदेश का तात्पर्यरूप से अवधारण किया है। उपदिष्ट अर्थों का अपने हृदय में धारण करने से आप इस समय इस संसार में उपदेश से समन्वित हो गये। उपदेश-फलस्वरूप साक्षात्कार ज्ञानवान् भी अभी आप हुए हैं। हे राजन्, सत्संग के बहाने आज आपके शुभ और अशुभ सब तरह के कर्मों का बिलकुल क्षय सम्पन्न हो गया ॥१०-१७॥

आपका अज्ञान आज ही मध्याह्नकाल में क्षीण हुआ है, यह मुझे अच्छी तरह मालूम है, यह कहते हैं।

हे महीपते, जब तक आज के दिन का यह पूर्वभाग अवशेष था, तभी तक आपको चित्त में 'अहं, मम' इत्यादिरूप अज्ञान भी बना हुआ था, यह मुझे खूब मालूम है। हे भूपते, आज ही मध्याह्न में मेरे वचनों के ज्ञान से हृदय से बिलकुल हटा दिये गये आपके चित्त के क्षीण होने पर आप प्रबुद्ध (आत्मज्ञान से सम्पन्न) हुए हैं। जब तक हृदय में मन की सत्ता बनी रहती है तब तक अज्ञान की संस्थिति जमी रहती है। अचित्तरूप से (निःस्वरूपताबुद्धि से) चित्त का परित्याग हो जाने पर ज्ञान का अभ्युदय होता है। द्वित्व और एकत्व की दृष्टि ही चित्त है वही अज्ञान कहा जाता है। परमात्मा की अभिव्यक्ति से जो इन दोनों का लय है वही ज्ञान है और वही परा गति है। हे राजन्, अब आप प्रबुद्ध हो चुके, विमुक्त हो चुके, क्योंकि आत्मा में एक दूसरे के परस्पर अध्यास से सत् और असद्रूप चित्त का आपने

(☙) देखिये स्मृति :

कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञाने तु परमा गतिः। कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रजायते॥

(卐) रागादि कषाय और पाप।

परित्याग कर दिया, जो जगत् की कल्पना का स्थान है। हे महीपते, अब आप शोकशून्य, आयासरहित, निःसंग, अनन्य, आत्मज्ञानसम्पन्न और महान् उदय से युक्त मौनी बनकर निर्मल स्वरूप में अवस्थित रहिये ॥१८–२३॥

चित्त का परित्याग हो जाने पर जीवन्मुक्त पुरुषों को किस अन्तःकरण से व्यवहार की सिद्धि होती है, यह पूछने के लिए राजा भूमिका बाँधते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : मुनिवर, यों आपके कहने के अनुसार मूर्ख जन्तु के लिए ही चित्त की भूमि है, प्रबुद्ध हुए के लिए नहीं। हे प्रभो, यदि आत्मज्ञानी के लिए चित्त नहीं है तो कृपाकर बतलाइये कि ये अविद्यमान मनवाले जीवन्मुक्त–आपसे लेकर और दूसरे पुरुष–इस संसार में कैसे विहार करते हैं तथा हे मुनीश्वर, आप मुझे अच्छी तरह समझाकर इसको पूर्ण रीति से कहिए और इस तरह की दूसरी यानी सूर्य आदि की किरणों से विलक्षण अपनी वचनरूपी किरणों से मेरे हृदय के अन्धकार को, जो प्रसिद्ध अन्धकार से विलक्षण है, भलीभाँति दूर कर दीजिये। कुम्भ ने कहा : हे तत्त्वज्ञ, जैसा आप कह रहे हैं, ठीक वह वैसा ही है उससे विपरीत तनिक भी नहीं है। जिस तरह पत्थर में अंकुर नहीं रहता वैसे ही जीवन्मुक्तों में चित्त नहीं रहता। पुनः उत्पन्न होने योग्य जो घनवासना रहती है वह चित्तशब्द से कही जाती है, वह आत्मज्ञानी में नहीं रहती। हे राजन्, जिस वासना से तत्त्वज्ञानी यहाँ कर्मों में विहार करते हैं, पुनर्जन्म से रहित उसे आप सत्त्वनामधारिणी जानिये। तात्पर्य यह है कि जैसे भूना हुआ तथा छिलकारहित धान धानशब्द से नहीं कहा जाता और वह अंकुर पैदा करने में समर्थ भी नहीं रहता वैसे ही तत्त्वज्ञान से भूना गया आवरण शून्य सत्त्व मनशब्द से नहीं कहा जाता और न वह पुनर्जन्म के समर्थ ही रहता है ॥२४–२९॥

जीवन्मुक्तों के व्यवहाराभास में वही कारणाभास है, यह कहते हैं।

जितेन्द्रिय जीवन्मुक्त महात्मा लोग सत्त्व में स्थित होकर आसक्ति छोड़ करके विहार करते हैं, चित्त में स्थित होकर कभी नहीं। मूढ़ चित्त को चित्त कहते हैं और प्रबुद्ध चित्त को सत्त्व कहते हैं, अप्रबुद्ध (अज्ञानी) लोग चित्त में स्थित रहते हैं और महाबुद्धिमान् (ज्ञानी) लोग सत्त्व में स्थित रहते हैं। चित्त पुनः उत्पन्न होता है, लेकिन सत्त्व फिर उत्पन्न नहीं होता। हे भूपते, अप्रबुद्ध को बन्ध है, प्रबुद्ध को नहीं ॥३०–३२॥

आपका भी सत्त्व के बल से ही जीवनपर्यन्त व्यवहार चलता रहेगा, इस आशय से कहते हैं।

हे महीपते, महात्यागी बनकर आप सत्त्वसम्पन्न हो चुके हैं। आज आपने पूर्णरूप से अपने चित्त का परित्याग कर दिया, यह मैं जानता हूँ। हे राजन्, आज ही तो आप सम्पूर्ण वासनाओं से निर्मुक्त होकर सुशोभित हो रहे हैं। हे मुने, अब आपका मन आकाश के समान स्वच्छ हो गया, यह मैं मानता हूँ। हे राजन्, आप परम शम को प्राप्त हो चुके हैं। आप सिद्ध होकर सम से भी सम स्थिति में पहुँच गये हैं। जो महात्याग आपको पहले वांछित था वह यही है कि सर्वस्वरूप उस चित्त का आपने परित्याग कर दिया ॥३३–३५॥

चित्त के परित्याग में तप, दान, आदि सम्पूर्ण कर्म अन्तर्भूत हैं और उसके फल में धन, स्वर्ग, अपवर्ग आदि सब तप आदि के फल अन्तर्भूत हैं, इस अभिप्राय से कहते हैं।

हे साधो, उपदिष्ट अर्थ ग्रहण करने में अतिसमर्थ अतएव परम बोधवती अपनी बुद्धि से किया गया चित्त का परित्याग ही तप, दानादि तथा उनके फल स्वर्ग, अपवर्ग, धन आदि भी है ॥३६॥

तप आदि के फल में ज्ञान के फल का अन्तर्भाव नहीं हो सकता, इस आशय से कहते हैं।

हे भूपते, तप कितने दुःखों का नाश कर सकता है, क्योंकि चित्तत्यागरूप समता से प्राप्त जो ज्ञान का फल मोक्षसुख है वह क्षय से अतिशय निर्मुक्त है यानी उसमें क्षय का अत्यन्त अभाव है ॥३७॥

असत्य और अनित्य वस्तु में सत्य और नित्य वस्तु के अन्तर्भाव की संभावना भी नहीं है।

ज्ञान का फल सत्य और शाश्वत है। जो कुछ थोड़ा-बहुत स्वर्गादि फल है वह तो सत्य है ही नहीं, वह क्षणभंगुर है। वह आविर्भाव और तिरोभाव से – उत्पत्ति और विनाश से – आक्रान्त होने के कारण भूत और भविष्यत् काल में अनुभूत नहीं होता, केवल वर्तमानकाल में अवस्थित हुआ ही स्वप्नवत् अनुभूत होता है ॥३८॥

तुच्छ और अत्यन्त परिश्रम से प्राप्त होनेवाला स्वर्गादि सुख है, वह अज्ञानियों को बड़ा लगता है। वह तत्त्वविदों को नहीं, इस आशय से कहते हैं।

हे महीपते, स्वर्गनाम का कौन-सा सुख है ? वह भी तो हजारों अवर्जनीय धर्मकीर्तन आदि अपराधों द्वारा सन्देह से ही स्थित है। जिस पुरुष को आत्मज्ञान की सिद्धि प्राप्त नहीं है उसीको क्रियाकाण्ड शुभफल प्रदान करनेवाला होता है ॥३९॥

ज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ होने से अज्ञानियों को तुच्छ स्वर्गादि फल के लिए यत्न करना ठीक ही है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

हे राजन्, जिसने सुवर्ण की प्राप्ति नहीं की वह क्या पित्तल छोड़ देगा ? *(आपको तो पहले ज्ञान दुर्लभ नहीं था, तथापि आप व्यर्थ ही तपरूपी क्लेश में फँस गये, यह कहते हैं।)* आपको तो चूडाला आदि की सत्संगति से सुखपूर्वक ज्ञान मिल सकता था ॥४०॥ फिर आप क्यों इस कृच्छ्चान्द्रायण आदि तपःक्लेशप्रचुर अनर्थ में अभी तक निमग्न हैं, जो कि वानप्रस्थ आश्रमआदि के अभिमान आदि हजारों विकल्पविक्षेपांशों से साध्य कुत्सित कर्म का ही एक सम्बन्धी है ॥४१॥

स्वर्गादि महासुख की हेतु तपस्या अनर्थरूप कैसे है, इस पर कहते हैं।

हे सुमते, इस तपस्या का आदि भाग आचरणावस्था है और अन्तिम भाग फलक्षयावस्था है, इसलिए इसके आदि और अन्त दोनों भाग दुःखरूप हैं। केवल इसका मध्य जो स्वर्गादि भोगावस्था है उसीमें कुछ सुख है। तब क्या मैंने व्यर्थ ही तपस्या की, इस पर 'नहीं' ऐसा कहते हैं। चूँकि तपस्या के द्वारा ही आपके चित्तगत कषायों का परिपाक होने से इस समय तत्त्वज्ञान का समय प्राप्त हुआ है, इसलिए सभी तपोरूप विकल्पांश जिस अविकल्प तत्त्वज्ञान में परिणत होते हैं और जिसके फल से फलवान् भी बनते हैं, उस ज्ञान में आप स्थिर हो जाइये। भाव यह है कि 'विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा' इत्यादि श्रुतिप्रमाण होने से तत्त्वज्ञानप्राप्तिरूप फल से ही आपकी तपस्या की सफलता है ॥४२॥

ज्ञान के फल चिदाकाश का लाभ होने से सभी का लाभ हो गया, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् की एक उसीसे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है, ऐसी श्रुति है, इस आशय से कहते हैं।

आकाश से भी अति स्वच्छ उस चिदाकाश से सभी पदार्थ समुत्पन्न होकर दिखाई पड़ते हैं तथा

उसी चिदाकाश में विलय को भी प्राप्त हो जाते हैं। हे मित्र शिखिध्वज, यद्यपि यह कार्य है और यह कार्य नहीं है इत्यादि सभी तरह के संकल्प ब्रह्मरूपी समुद्र के बिन्दु ही हैं तथापि तुच्छ होने से वे निष्फल हैं, इसलिए इन सबको छोड़कर पूर्ण का ही (समुद्रस्थानीय निर्विशेष का ही) समाश्रय कीजिये। हे सखे, जैसे कोई स्त्री, जिसको अभी तक पति प्राप्त नहीं हुआ है, प्राप्त करने योग्य पति के प्रति 'मेरे इष्ट की सिद्धि के लिए थोड़ी-सी प्रार्थना कर दो' यों दूसरी प्रार्थना करती है, वैसे ही स्वयं उस पति की ही क्यों नहीं प्रार्थना करती ? तात्पर्य यह कि स्वाधीनतापूर्वक उस पतिका लाभ हो जाने पर तो उसके अधीन में रहनेवाली वस्तुओं का अपने-आप ही लाभ हो जायेगा ॥४३-४५॥

आत्मातिरिक्त इच्छित पदार्थों में पुरुषार्थता स्वीकार कर, लब्ध होने के कारण ही, वे अप्रार्थनीय हैं, यों बतलाया। वस्तुतस्तु तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में तुच्छ होने के कारण वे अग्राह्य ही हैं, यह कहते हैं।

हे मित्र, संकल्प से रचित हुए आपत्ति की नाईं अरमणीय इन पदार्थों का आत्मज्ञानी महात्मा लोग, जल में प्रतिबिम्बित सूर्य के समान, ग्रहण नहीं करते ॥४६॥

ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर स्वर्गादि-साधनों के समान अपवर्ग के साधन भी हेय ही हो जाते हैं, इस आशय से कहते हैं।

स्वर्ग और मोक्ष आदि फल प्रदान करनेवाले जो कुछ कर्म हैं, उन सबका त्यागकर सबमें समानरूप से भासमान जो आप हैं वही आप निश्चित बने रहिये ॥४७॥

चित्त की चंचलता के बिना समस्त पदार्थों में सद्-अंश का सत्त्वरूप से और असद्-अंश का नित्य नष्टस्वरूप से ग्रहण करना चाहिए, इसे कहते हैं।

हे राजन्, समस्त अभिलाषाओं को छोड़कर इन सब पदार्थों में सत्त्व का सत्त्वरूप से और नाश्य का नाशरूप से ग्रहण करते हुए आप अपने चित्त को परिस्पंदशून्य बनाकर अवस्थित रहिये ॥४८॥

'अस्पन्दितचित्तभूः' इस कथन का प्रयोजन बतलाते हैं।

क्योंकि अपरिस्पन्दित चित्तवाले पुरुष को संसार की प्राप्ति उस तरह नहीं होती, जिस तरह विवेकज्ञान का उदय होने पर स्वाभाविक प्रवृत्तिरूपी पुरुष के अपराध से उत्पन्न विपत्ति प्राप्त नहीं होती। हे महीपते, इन तीनों जगत् में जो-जो दुःख मनुष्यों के निकट पहुँचते हैं वे सबके सब चित्त की चपलता से ही उत्पन्न हुए रहते हैं। इसलिए जिसका चित्त स्थिर, शान्त, स्पन्दनशून्य और अचपल है वही पुरुष सदा परमानन्दी है तथा वही आवरणशून्य होने के कारण साम्राज्य का (आत्मसाक्षात्कार का) भाजन है। हे तत्त्वज्ञ, आप स्पन्द और अस्पन्द को साक्षिमात्रस्वरूप के अवलोकन से एक बनाकर उस साक्षी को भी शाश्वत ब्रह्मात्मा के साथ एकता में पहुँचाकर भूमानन्दभाव से पूर्णकाम होकर अवस्थित रहिये ॥४९-५२॥

स्पन्द और अस्पन्द विरुद्ध धर्मवाले इन दोनों को एकत्र कैसे किया जा सकता है, यह राजा शिखिध्वज पूछते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे सम्पूर्ण संशयों का विच्छेद करनेवाले विभो, आप कृपाकर मुझे शीघ्र बतलाइये कि स्पन्द और अस्पन्द ये दोनों ऐक्य को कैसे प्राप्त होते हैं ॥५३॥

इन दोनों में स्वरूपतः ऐक्य विरोध होनेपर भी अधिष्ठान साक्षिचिन्मात्ररूप से विरोध नहीं है, यों

अपना अभिप्राय प्रकाशित करते हुए कुम्भ ऋषि कहते हैं।

कुम्भ ऋषि ने कहा : जैसे सागर जलरूप से एक है वैसे ही यह सम्पूर्ण जगत् चिन्मात्रस्वरूप से एक वस्तु है। जैसे शुद्ध जल ही तरंगों से स्पन्दित होता है वैसे ही वही अधिष्ठानचिन्मात्र बुद्धिवृत्तियों से स्पन्दित होता है, अर्थात् स्पन्दस्वरूप से विवर्तित होता है। हे राजन्, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों ने जिसे ब्रह्म, चिन्मात्र, अमल, सत्त्व इत्यादि नामों से कहा है उस ब्रह्म को ही मूढ़ लोग जगद्रूप से देखते हैं ॥५४,५५॥

स्पन्द और अस्पन्द में एकता का उपपादन करते हैं।

इस सृष्टि में जो सर्वस्व है वह चिति का स्पन्द ही है, क्योंकि उसीसे संसार उत्पन्न होता है। संसार में विन्ध्यादिरूप जो परिस्पन्द है वह द्वितीय शब्दस्पन्द के समान है। तात्पर्य यह कि वह केवल नाममात्र का परिस्पन्द है और कुछ नहीं ॥५६॥

ठीक है, ऐसा ही सही। फिर भी स्पन्द और स्पन्दशून्य में एकता कैसे, इस पर कहते हैं।

यदि तत्-तत् साक्ष्यात्मा ही चिति का स्पन्द और अस्पन्द है तथा एकरूप से भावित है तो ऐसी स्थिति में वहाँ केवल यह निर्मल आत्मस्वरूप शिव ही अवशेष रहता है ॥५७॥

तब सृष्टि कहाँ जायेगी, इस पर कहते हैं।

यह सर्ग चिति का स्पन्दमात्रस्वरूप है। चूँकि यह असम्यक् दृष्टिवाले पुरुषों को भ्रान्ति से, रज्जु में सर्पभ्रम की नाईं, उदित होता है, अतः सम्यग् दृष्टि से ही इसका विलय होता है ॥५८॥ स्पन्दनयुक्त चिति सर्गनाम से कही जाती है और स्पन्दनशून्य चिति तो तुर्यातीतपद में आरूढ़ है। इस व्यापक चिति को हम वाणी से कहने में पार नहीं पा सकते ॥५९॥

वह कब उदित होती है, उसे कहते हैं।

शास्त्रों के निरन्तर अभ्यास के योग से तथा सज्जन पुरुषों के सम्पर्क से जैसे तिमिर दोष के विनाश से नेत्र के निर्मल बन जानेपर नित्य सिद्ध ही चन्द्रैकता उदित होती है वैसे ही समय से चित्त के निर्मल बन जाने पर यह चिति उदित होती है ॥६०॥

यदि आप इस चिति का वाणी से कथन करने में समर्थ नहीं है तो फिर आप मेरे सदृश लोगों से कहते ही कैसे हैं, इस पर कहते हैं।

जिन लोगों ने स्वयं अपने स्वरूप का अनुभव किया है उन लोगों से अपनी अनुभूतियों के द्वारा ही एकमात्र प्रकाशित इस विस्तृत आत्मस्वरूप का अपने-आप लोकदृष्टि से वर्णन किया जाता है ॥६१॥

आप भी स्वानुभूति की प्राप्ति कर चुके हैं, इसलिए मेरे वचन से केवल उसे स्थिर कर लीजिये, यह कहते हैं।

आदि और मध्य से शून्यस्वरूप को आप प्राप्त हो चुके हैं, अतः आप अपने इसी पद में निविष्ट होकर अवस्थित रहिये। भेदक देहादिरूपों का अभाव होने से ही सब देहों में आपका भेद नहीं है। यही कारण है कि आप महान् चितिस्वरूप तत्त्वबोध से प्रादुर्भुत हुए हैं। इसीलिए हे साधो, आप शोकशून्य हैं ॥६२॥

एक सौ एकवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ दोवाँ सर्ग

अनुज्ञा लेकर कुम्भ ऋषि के अन्तर्हित हो जाने पर विस्मित हुए
राजा शिखिध्वज की चिरकाल तक विचार करने के बाद समाधि में विश्रान्ति।

कुम्भ ऋषि ने कहा : हे महीपते शिखिध्वज, जिस तरह यह सब विश्व उत्पन्न होता है तथा जिस तरह प्रलय को प्राप्त होता है, वह सब कुछ अध्यारोप और अपवाद से पूर्ण ब्रह्मतत्त्व ही मैंने आपसे कहा है। हे मुनिनायक, इसको गुरु और शास्त्र से सुनकर तथा अपने विचार से मननकर भलीभाँति समझ करके साक्षात् दृष्ट तथा आवरण का नाश हो जाने से स्पष्ट हुए परमपद में किसी समय समाधि की प्रधानता से तथा किसी समय व्यवहार से जैसा आप चाहें वैसा ही अवस्थित रहिये। अब तो मैं इन्द्र की सभा में जा रहा हूँ। इस पर्वकाल में भगवान् नारदमुनि इन्द्र की सभा में ब्रह्मलोक से आ गये होंगे। यदि वहाँ मुझे वे न देख पायेंगे, तो बहुत क्रुद्ध होंगे। भव्य पुरुष को कभी भी गुरुओं को उद्वेजित (क्रुद्ध) नहीं करना चाहिए। संकल्प की लेखा छोड़कर किसी भी वस्तु की अभिलाषा न रखते हुए आप सदा आत्मदृष्टि में ही अवस्थित रहियेगा, क्योंकि यही एक परम पवित्र दृष्टि है, जिसका मैंने आपको उपदेश दिया है। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, यों कहकर वह कुम्भरूपिणी चूडाला – हाथ में फूल लेकर कुम्भ को प्रणाम करने के लिए राजा शिखिध्वज ज्यों ही प्रतिवचन बोलना चाहते हैं त्यों ही – अन्तर्हित हो गई (♨)। जैसे स्वप्न आदि में प्रतिभा में आयी हुई धानादि वस्तु अन्त में (जागने पर) दिखाई नहीं देती वैसे ही राजा शिखिध्वज ने अपने आगे अवस्थित कुम्भ को नहीं देखा। कुम्भ ऋषि के चले जाने पर राजा शिखिध्वज परम विस्मय को प्राप्त हो गया। उसी आश्चर्य को सोच रहा वह चित्रलिखित की नाईं स्थित हो गया। राजा शिखिध्वज ने यह विचार किया कि यह विधाता की ही विचित्र लीला है कि कुम्भ के ब्याज से सदा अभ्युदयस्वरूप ब्रह्म का मुझे बोध कराया गया। कहाँ तो नारदमुनि का पुत्र कुम्भ और कहाँ मैं तुच्छ शिखिध्वज ? केवल यह भाग्योदयकाल के संयोग से ही वह मैं भली–भाँति बोधित हुआ। अहो, देवपुत्र ने कैसा सर्वांग सुन्दर युक्तियुक्त कहा, अहो, मोहनिद्रा में व्याकुल पड़ा हुआ मैं अब चिरकाल के बाद प्रबुद्ध हुआ। मैं कहाँ क्रियाजालरूप कुत्सित कीचड़ में फँस गया था, जो यह करना चाहिए, यह नहीं करना चाहिए, इत्यादि विभ्रम का चक्ररूप था। अहो, यह प्रत्यक्ष की गई आत्म–स्वरूप विशुद्ध और शीतल साम्राज्यपदवी अमृतोद्भव सुधाकर की आकृति से युक्त है। वह वासनाशून्य मेरे मन को यहाँ खूब शीतल कर रही है॥१–१३॥

उसीसे अपनी पूर्णकामता का वर्णन करते हैं।

मैं शान्ति का अनुभव कर रहा हूँ, मैं खूब तृप्त हो रहा हूँ तथा एकमात्र सुख से अवस्थित हूँ। तृण का अग्रभाग भी अब मैं नहीं चाहता। मैं जैसा हूँ वैसा ही अपने स्वरूप में अवस्थित हूँ। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि यों सोच रहा, वासनाओं से शून्य अन्तःकरण से युक्त वह राजा शिखिध्वज, पत्थर में खुदी गई प्रतिमा के समान, वागादि चेष्टाओं से रहित होकर समाधि में अवस्थित हो गया। उसके बाद

(♨) 'साध्वी स्त्रियों द्वारा पतिकृत नमस्कार के ग्राह्य न होने से' वह कुम्भरूपिणी चूड़ाला नहीं चाहती थी कि मेरा स्वामी मुझे नमस्कार करें, इसलिए वह स्वयं प्रणाम कर शीघ्र अन्तर्हित हो गई।

निर्विकल्प और उसी समाधि में अचल प्रतिष्ठा प्राप्त कर वह राजा शिखिध्वज पर्वत के शिखर के सदृश अवस्थित हो गया। वह राजा शिखिध्वज उस समाधि में अपने निर्मल स्वरूप को प्राप्त कर समरस बन करके चिरकाल के बाद विश्रान्तमति होने से शीघ्र ही समस्त भयों से छुटकारा पाकर चिरकाल से चले आ रहे योग के द्वारा परिपूर्णस्वभाव होकर सो गया अर्थात् सुषुप्त की नाईं विश्राम करने लगा ॥१४-१७॥

एक सौ दोवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तीनवाँ सर्ग

चूडाला का अपने घर में जाकर पुनः तीन दिन के बाद वहाँ से लौट आना,
बड़े यत्न के साथ समाधि से राजा को उठाना तथा तत्त्ववर्णन करना।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, उक्त रीति से वह राजा शिखिध्वज तो निर्विकल्प समाधि में अवस्थित होने से काष्ठ और भीत के सदृश अवस्थित हो गया, परन्तु उस चूडाला की क्या दशा हुई, अब उसे आप सुनिये। उस कुम्भ ऋषि के वेष से वह चूडाला अपने पति उस राजा शिखिध्वज को प्रबोधित करके स्वयं अन्तर्हित हो आकाश में बड़े वेग से उड़ गई। माया से विरचित देवपुत्र की आकृति को उसने आकाश में ही छोड़ दिया और सुन्दर विदग्ध मुग्ध स्त्रीशरीररूप आकार को धारण कर लिया। आकाश मार्ग से अपने नगर में पहुँचकर शीघ्र ही अन्तःपुर के भीतर प्रविष्ट हो गई। बाद में, सबके सामने प्रकट हुई और प्रजानुरंजनरूप राज्य कार्य करने लग गई। तदन्तर तीन दिन के बाद वह फिर आकाश में आकर योग से कुम्भ ऋषि बन गई और कुम्भ ऋषि का वेष धारणकर राजा शिखिध्वज के जंगल में पहुँची। जंगल की भूमि पर उतरकर चूडाला ने उसी तरह उसी रूप से उस राजा को निर्विकल्प समाधि में स्थित प्रतिमाकार-निर्मित काठ की नाईं निश्चल देखा। अहो, यह बड़े सौभाग्य की बात है कि यह राजा शान्त, सम और स्वस्थरूप से आत्मा में विश्रान्ति लाभकर अवस्थित है', यों उसने बार-बार कहा। इसलिए इसे परमपद से बोधित कर दूँ-जगा दूँ, क्योंकि प्रारब्धकर्म के अवशेष रहते अभी यह देह का त्याग क्यों करे। राज्य के साथ या जब तक जंगल के भोगजनक कर्म का क्षय नहीं हो जाता तब तक जंगल के साथ कुछ दिन और चेष्टाएँ किया करे। फिर तो हम दोनों देह छोड़कर तुल्यस्वभाव हो करके एक ही साथ कैवल्य धाम को प्राप्त होंगे। मैंने इसको जो पहले उपदेश दिया है वह विषम हो जायेगा, क्योंकि उसका अभी देह छोड़ने से परिणाम (सप्तम भूमिका में अवस्थिति तक परिपाक) नहीं हो सकता अतः जीवन्मुक्तिसुखानुभव के लिए इसे जगाना उचित है। इसलिए इस समाधि के अभ्यासयोग से इसे मैं अब उठाती हूँ। यों विचारकर उस चूडाला ने अपने स्वामी के आगे वनचरों को भी भयप्रदान करनेवाला बार-बार सिंहनाद किया। बार-बार किये गये उस सिंहनाद से भी वह राजा पर्वत में शिला की नाईं जब विचलित नहीं हुआ, तब उस चूडाला ने उसको हाथ से खूब इधर-उधर हिलाया-डुलाया। हाथ से इधर-उधर खूब हिलाने-डुलाने और गिराने पर भी जब राजा न जाग सका तब कुम्भरूपिणी चूडाला सोचने लगी - अहो, यह साधु भगवान् अपने स्वरूप में सप्तभूमिका-प्रवेश तक परिणत हो चुका है, इसको किस युक्ति से अब मैं जगाऊँ। अथवा इस महात्मा

को मैं क्यों जगाऊँ ? विदेहमुक्ति प्राप्तकर सुखपूर्वक अवस्थित रहे न। मैं भी अब यह महिला का शरीर छोड़कर अपुनर्जन्म के लिए साथ ही चली जाऊँ, इस जीवन में कौन–सा अधिक सुख रखा है। यों सोचकर अपना शरीर छोड़ने के लिए वह सती चूडाला जब बिलकुल तैयार हो गई तब एक बार फिर उसने विचार किया, क्योंकि वह एक महा–बुद्धिमती (☸) थी। पहले राजा के इस शरीर को तो देख लूँ कि इसमें बोध के बीजभूत वासनाशून्य मन का संस्कारलेशरूप से कुछ शेष यदि प्रारब्ध से बची हुई माया के लेश से उपहित हार्द ब्रह्म में है तब तो उसके उद्‌भव का समय आने पर यह भगवान स्वयं प्रबोध को उस प्रकार प्राप्त होगा, जिस प्रकार वसन्त के आरम्भ में वृक्ष के मूलप्रदेश में अवस्थित पृथिवी के रस में सूक्ष्मभाव से लीन भावि पुष्प समूह। इसलिए मेरे द्वारा प्रबोधित होकर मेरे ही समान जीवन्मुक्तरूप से विहार कर रहा यह स्थित रहे। यदि यह मैं समझ लेती हूँ कि यह मुक्त हो गया है तो मैं अभी इसके साथ चली जाती हूँ। यों विचारकर सुन्दरवर्णवाली, उस चूडाला ने स्पर्शरूप हेतु द्वारा देह की गरमी जानकर अभी जीता है – यों अपने पति को आशंकापूर्वक देखकर जागने के जो कारण होते हैं उनके लाभ से जान लिया कि इसमें सत्त्व अभी अवशिष्ट है। और उसने यह कहा कि इसके हृदय में अभी सत्त्व तो बचा हुआ है ॥१–२२॥

'स्पर्शनेन नयेन च' – यह जो कहा गया इसमें नयशब्दार्थ की जिज्ञासा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, अत्यन्त शान्तचित्त, काष्ठ और लोष्ट के समान स्थितिवाले ध्यानशाली प्राणी का सत्त्वशेष कैसे जाना जाता है ॥२३॥

देह में वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय आदि विकारों का अनुदय सत्त्वशेष में हेतु है, ऐसा उत्तर देने के लिए हेतुगम्य का अनुवाद करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, जैसे बीज के अन्दर पुष्प और फल दुर्लक्ष्य अणु के सदृश ही विद्यमान रहता है वैसे ही जिस किसी ध्यानशाली प्राणी में जगाने के कारण हैं उसके हृदय में अणु की नाईं अगम्य सत्त्वशेष विद्यमान रहता है। चित्त के विकार से शून्य, निश्चल सत्–चिद्रूप बन गये, निर्विकल्प, सर्वस्वरूप और अचल पर्वत की नाईं संस्थितिवाले उस पुरुष का शरीर, सबमें एकरूप से रहनेवाले आत्मा में सदा तृप्त रहने के कारण, न तो आनन्दित होता है, न ग्लानि को प्राप्त होता है, न अस्त होता है और न उदय को ही प्राप्त होता है, किन्तु समानरूप होकर अवस्थित रहता है। द्वित्व और एकत्व आदि से युक्त जिस पुरुष का मन चंचल रहता है उसीका शरीर अन्यरूपता को प्राप्त हो जाता है, चंचलतारहित पुरुष का कभी नहीं ॥२४–२७॥

वह क्यों, इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जगत् के व्यवहार के हेतुभूत सम्पूर्ण भावविकारों का कारण चित्तस्पन्द उस तरह है, जिस तरह कुसुमों का वसन्त। हे श्रीरामजी, इसलिए इस देह से देहान्तर में जानेवाले चित्त का इस देह में बार–बार प्रयत्नपूर्वक निगृहीत किया जा रहा भी हर्ष, कोप और सम्मोह रोका नहीं जा सकता, यही

(☸) अवश्य भोक्तव्य उसके शेष प्रारब्ध कर्म को अपनी बुद्धि से देखकर उस चूडाला ने फिर विचार किया, यह सूचित करने के लिए 'महामति' यह विशेषण दिया गया है।

दूसरे जन्म में हेतु है ॥२८,२९॥

चित्त में हर्षादि विकारों का उपशम हो जानेपर शरीर में भी विकार निवृत्त हो जाते हैं।

चित्त की शान्ति हो जानेपर निर्वासनिक चित्त द्वारा अस्मरण से त्यागी गई भी भावविकारों की जननी यह देह आकाश की नाईं पुरुष को बाधित नहीं करती। निष्कर्ष यह निकला कि चित्त का अहन्त्वरूप से स्वीकार ही देह में वृद्धि आदि विकारों का कारण है। जैसे समान जलसन्तति में तरंग आदि की उत्पत्ति नहीं होती वैसे ही समान वासनारहित चित्तसन्ततिदशा में जरा आदि विकार या राग आदि दोष नहीं दिखाई पड़ते ॥३०,३१॥

कितने समय तक जीवन्मुक्त निर्वासनिक मन को देखते हैं, ऐसी यदि शंका हो, तो अवशिष्ट प्रारब्ध के क्षय द्वारा जबतक उसका विनाश न हो तब तक, यों उत्तर देते हैं।

सत्त्व के उपशम के बिना सत्त्व का अनुपलम्भ नहीं होता। जब प्रातिभासिक वैषम्य से निर्मुक्त तत्त्व दिखाई पड़ता है तभी अवशिष्ट प्रारब्धविनाशकाल में वह पूर्णरूप से विलीन हो जाता है ॥३२॥

निर्वासनिक मन का विनाश हो जाने पर मृत देह भी विलीन हो जाती है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जिस देह में न तो चित्त और न निर्वासनिक मन ही रहता है वह ताप में हिम की नाईं मरण द्वारा विलीन हो जाती है ॥३३॥

शिखिध्वज की देह में तो जीवनहेतुओं का चूडाला ने अवलोकन किया, यह कहते हैं।

शिखिध्वज की वह देह चित्तशून्य तो थी, परन्तु वह गरमी से युक्त और निर्वासनिक मन से युक्त थी, इससे वह ग्लानि की पात्र नहीं थी ॥३४॥

प्रश्न का समाधान कर प्रस्तुत विषय का अनुसन्धान करते हैं।

अपने स्वामी की उस तरह से अवस्थित देह को देखकर अपने शरीर का त्याग न करती हुई सुन्दर अंगों से सुशोभित उस चूडाला ने शीघ्र विचार किया। सर्वव्यापक विशुद्ध चितितत्त्व में प्रविष्ट होकर अर्थात् अपने स्वामी की काया में प्रवेश द्वारा स्वामी के ही हार्द ब्रह्म में प्रविष्ट होकर वहाँ स्थित होती हुई मैं चिरकाल के बाद जागनेवाले अपने स्वामी को जगाती हूँ॥३५,३६॥

चिरकाल के बाद तो यह स्वयं समाधि से उठ जायेगा, इसे जगाने के लिए शीघ्रता करने की मुझे क्या आवश्यकता, इस पर कहते हैं।

यदि मैं इसे न जगाती हूँ तो भी यह चिरकाल के बाद स्वयं जाग जायेगा, लेकिन मैं यों अकेली हो क्यों अवस्थित रहूँ, इसलिए इसे जगाती हूँ। यों विचारकर इन्द्रियपंजररूपी अपनी देह को छोड़ करके स्वामी की देह में प्रविष्ट होकर आदि और अन्त से वर्जित अपने स्वामी के हार्द ब्रह्मस्वरूप चितितत्त्व में चूडाला स्थिति को प्राप्त हो गई। वहाँ पहुँचकर सत्त्वसम्पन्न अपने स्वामी की निर्विकल्प समाधि से जल और दूध की नाईं एकरस बनी हुई चेतना का स्पन्दन कर वह चूडाला फिर अपनी देह में उस तरह प्रविष्ट हो गई, जिस तरह अपने घोंसले में चिड़िया। तदनन्तर कुम्भस्वरूपिणी वह चूडाला वहाँ से उठकर कुसुमपूर्ण स्थान में जाकर बैठ गई और वहीं बैठी हुई भ्रमरियों के गुंजार को तिरस्कृत कर रही वह चूडाला सामगान में प्रवृत्त हो गई। उस सामस्वर को सुनकर सत्त्वगुण से सम्पन्न चिदाभास से युक्त राजा की बुद्धि नखाग्र से लेकर मस्तक तक देह में अहंभाव की व्याप्ति से युक्त होकर ऐसे अवबुद्ध हुई,

जैसे वसन्त में पद्मिनी। जिस तरह सूर्य कमलिनी को विकसित करते हैं वैसे ही सत्त्वसम्पत्ति से युक्त राजा शिखिध्वज ने समाधि में निमीलित अपने नेत्र को विकसित किया। राजा शिखिध्वज ने साम के गान में तत्पर अपने आगे स्थित कुम्भऋषि को दिव्य शरीर से युक्त दूसरे सामवेद–जैसा देखा। अहो, हम धन्य हैं कि यह मुनि स्वयं यहाँ पुनः प्राप्त हैं, इतनी बात कह रहे राजा शिखिध्वज ने कुम्भ को पुष्पांजलि समर्पित की (🕭)। भगवन्, यह हमारे सौभाग्य की बात है कि आपके पावन चित्त में हम पुनः उदित हुए हैं। अथवा हे मुने, हम अपने भाग्य की क्या सराहना करें, भला ऐसे महासत्त्वशाली कौन हैं, जो अपने आप ही दूसरों के ऊपर अनुग्रह करने के लिए सदा प्रस्तुत नहीं रहते ? हे भगवन्, हमें पवित्र करने के लिए ही आपका यहाँ आगमन हुआ है यदि यह बात न हो, तो फिर आप ही कृपाकर बतलाइये कि यहाँ आपके आने में दूसरा कौन–सा कारण है ? कुम्भ ने कहा : हे राजन्, अनिन्दित होकर मैं आपके यहाँ से जबसे गया तभी से मेरा चित्त आपके साथ यहीं स्थित रहा। यही कारण है कि मैं रम्य स्वर्ग में भी नहीं ठहर सका और आपके समीप इस समय ठहरा हुआ हूँ। हे महीपते, बहुत–सी रम्य वस्तुओं के बीच में चित्त को जो सबसे अच्छी मालूम पड़ती है वह बड़े उद्योग से ही प्राप्त होकर सामने स्थित मिलती है, बिना उद्योग के कभी नहीं, इसलिए आपके दर्शन के उद्योगवश से ही यहाँ मेरा आगमन हुआ है ॥३७–४८॥

मुझमें जो आपकी इतनी प्रीति बढ़ गई है, इसका अतिशय कारण क्या है ?

हे राजन्, इस जगत् में मेरा आपके सदृश बन्धु, आप्ता, सुहृत्, मित्र, सखा अथवा विश्वनीय कोई शिष्य भी नहीं है, ऐसा मैं समझता हूँ। राजा शिखिध्वज ने कहा : अहो, आज इस मन्दराचल के ऊपर हमारे पुण्यवृक्ष फल गये, क्योंकि असंग हुए भी आप हमारा समागम चाह रहे हैं। हे प्रभो, मुझमें प्रीति होने के कारण यदि आपको स्वर्ग अच्छा नहीं जान पड़ता, तो यहीं मेरे निकट रहिये। आपके लिए यह जंगल है, ये वृक्ष हैं और यह मैं हूँ उपस्थित आपका आदृत सेवक ॥४९–५१॥

आपके द्वारा बतलाई गई समाधि से जनित जो सुख है, उससे तृप्त मुझे भी स्वर्ग की इच्छा नहीं होती।

आपके द्वारा बतलाई गई योगयुक्ति से जैसे मैं विश्राम ले रहा हूँ, हे साधो, मैं समझता हूँ कि स्वर्ग में भला वैसा विश्राम कहाँ से होगा। जिस भूमानन्द संस्थिति का आपने मुझे उपदेश दिया है उसी स्वच्छ स्वप्रकाशस्वरूप स्थिति का अवलम्बनकर आप यहाँ यथेच्छ स्वर्ग या भूतल में विहार कीजिये। कुम्भ ने कहा : हे राजन्, परमानन्द परमपद में क्या आप विश्राम ले चुके ? क्या इस भेदमय दुःख का आप भलीभाँति त्याग कर चुके ? हे राजन्, ऊपर–ऊपर से रमणीय दिखाई दे रहे इन संकल्पों से भोगों की नीरसतापूर्वक आपका प्रेम क्या बिलकुल निर्मूलता को प्राप्त हो गया ? हेय और उपादेय दशा को अतिक्रान्त कर गया ? शम से समस्थिति से युक्त शान्त आपका मन क्या प्रारब्धवश प्राप्त विषयों में उद्वेगशून्य होकर अवस्थित हो गया ? राजा शिखिध्वज ने कहा : हे भगवन्, आपकी दया से मैंने वह गति देख ली, जो दृश्यों को अतिक्रान्त कर चुकी है; मैंने संसार की सीमा का अन्त पाया और लाभ करने योग्य वस्तु का लाभ कर लिया। चिरकाल के बाद थोड़े समय तक ही यानी केवल तीन दिन तक

(🕭) इससे तपस्या के प्रभाव से पूर्वसंचित फूलों में अम्लानता प्रकट होती है।

ही निरामय होकर मैंने विश्राम किया, प्राप्त करने योग्य सब प्राप्त कर लिया, अब मैं तृप्त होकर चिरकाल के लिए स्थित हूँ। अब हमें किसी तरह का उपदेश देना उपयुक्त नहीं है। सर्वत्र ही मैं अतितृप्त हो गया हूँ। सन्तापादि सांसारिक ज्वर से शून्य होकर मैं अवस्थित हूँ। मैंने अज्ञात का ज्ञान कर लिया, अप्राप्त की प्राप्ति कर ली, छोड़ने योग्य वस्तु छोड़ दी तथा मेरा मन वासनाशून्य हो गया और मैंने आत्मा के तत्त्वरूपी परत्व का आश्रय कर लिया। अब मुझसे अतिरिक्त कोई अवशिष्ट नहीं है ॥५२-६०॥

यदि आपसे भिन्न कोई दूसरा है ही नहीं, तो आप फिर किस स्वरूप से अवशिष्ट हैं, इस पर कहते हैं।

संसारशून्य, मोह और भय से रहित, रागादि दोषों से मुक्त, नित्यप्रकाशरूप, सर्वत्र एकरूप की भावना से युक्त, सब तरह से सौम्य, सर्वस्वरूप, सकल कल्पनाओं से निर्मुक्त, आकाशकोश के समान स्वच्छ मैं एकरूप होकर स्थित हूँ ॥६१॥

एक सौ तीनवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चारवाँ सर्ग

कुम्भ के रमण से राजा की संभोगेच्छा, स्वर्ग के बहाने नगर में जाना
और खिन्न होकर वहाँ से फिर लौट आना।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, यों अध्यात्मविषयक विचित्र कथाओं को परस्पर कह रहे वे दोनों तत्त्वज्ञानी तीन मुहूर्त तक वन में स्थित रहे। उसके बाद वहाँ से उठकर फल-मूल आदि के द्वारा रक्षा करनेवाले, आनन्ददायक किसी पर्वत की चोटीपर जाकर विहार करने लगे, जहाँ सरस कमल और सारस पक्षियों के जोड़े सुशोभित हो रहे थे। फिर वहाँ से उठकर उस महाअरण्य की उन वनवीथियों में जीवन्मुक्तों के प्रसिद्ध आचार के अनुसार व्यवहार करते हुए तथा अध्यात्मविषयक विचित्र कथाओं से परस्पर संलाप करते हुए उन दोनों ने आठ दिन गँवा दिये। उसके अनन्तर कुम्भ ने कहा : राजन्, चलिए, किसी दूसरे जंगल में किसी पर्वत के ऊपर चलें। राजा ने उसे स्वीकार कर लिया, तब वे दोनों वहाँ से चल पड़े। अनेक तरह के वनों, जंगलों, नदी के तटों, अनेक तालाबों, गुल्मसमूहों (कुंजों), गहन पर्वत की चोटियों, बहुत-सी नदियों, नाना देशों, ग्रामों, नगरों, उपवनों, मनोहर शब्दवाले पर्वतों, कुंजों, तीर्थों और आश्रमों में पहुँचकर समानस्नेह से युक्त, वे दोनों मिलकर तुल्यचित्तवृत्ति से युक्त होकर परस्पर एक दूसरे से अपना अनुभव कहते थे, वे दोनों समानचित्त तथा समान उत्साहवाले थे। हे राघव, वे दोनों पितर और देवताओं की एक साथ पूजा करते थे, एक ही साथ वे दोनों भोजन करते थे। सन्तप्त तथा जलार्द्र शीतल प्रदेशों में उन दोनों की बुद्धि समान थी। स्निग्धहृदय वे दोनों मित्र स्त्री-पुरुष तमालवनखण्डों में और मन्दार के जंगलों में विहार करते फिरे ॥१-९॥

बिना घर की स्थिति का लक्षण बतलाते हैं।

हे श्रीरामजी, यह घर है, यह घर नहीं है, इस तरह की विकल्प-कल्पना उन दोनों के मन को उस प्रकार न हर सकी, जिस प्रकार झंझावात सुमेरु पर्वत को ॥१०॥

उनमें प्रिय और अप्रिय का विकल्प भी नहीं था, इसे कहते हैं।

वे दोनों मित्र कहीं तो धूलि से घूसरगात्र, कहीं चन्दन से चर्चित अगर कहीं पर तो भस्म से विभूषितगात्र होकर विचरण करते–फिरते थे। वे दोनों कहीं दिव्य वस्त्र धारण किये हुए; चित्रविचित्र वस्त्र से शोभित हुए, कहीं पल्लवों से आच्छन्न और कहीं कुसुमों से मण्डित हुए विचरते थे। हे श्रीरामजी, कुछ इने–गिने ही दिनों में समानचित्त हो जाने से तथा उस निर्वासन मन के कारण उत्कृष्ट हो जाने से राजा शिखिध्वज कुम्भ के समान शोभित होने लगा। अनन्तर, देवसन्तान के समान कान्ति से युक्त तथा अपूर्व शोभा को प्राप्त उस राजा शिखिध्वज को देखकर मानिनी चूडाला विचार करने लगी। एक ओर तो सामने यह उदारात्मा मेरे स्वामी हैं और दूसरी ओर ये मनोहर कानन की भूमियाँ हैं, फिर यह अनायास प्राप्त जो हम लोगों की स्थिति है, वह काम से (रतिसुख से) वंचित नहीं रह सकती। प्रारब्ध–प्राप्त भोगों के प्रति अनिवृत्त गतिवाले यानी बे–रोक–टोक प्रारब्ध से प्राप्त हुए सुख–दुःखों का अनुभव करनेवाले जीवन्मुक्त महात्मा यदि केवल एक भोगनिवृत्ति करने में ही आग्रह कर लें, तो वह उनकी तुच्छ मूढ़ता ही होगी ॥११–१६॥

अधर्म, रोग और श्रम आदि के कारणभूत भोगों से लोकसंग्रह के लिए दूर हट जाना चाहिए, यह ठीक है, परन्तु यहाँ उनकी प्रसक्ति है ही नहीं, इस आशय से कहते हैं।

यह अपना स्वामी उदारात्मा है, रोगनिर्मुक्त है, इसकी नयी अवस्था है और ये सब कुसुमसमूह घर हैं, इस तरह की सब सामग्रियों के उपस्थित रहते भी जो स्त्री अपने स्वामी में अनुरागवती नहीं होती वह यदि अजीवन्मुक्ता है तो अपने स्वामी के उपभोग के विनाश से जनित पाप से बिलकुल नष्ट हो चुकी है और यदि वह जीवन्मुक्ता है, तो लोकसंग्रह के भंग से जनित निन्दा आदि के द्वारा नष्ट हो चुकी है। वनपुष्पलताओं के घर में स्वाधीन पति के रहते जो प्रिया सुखपूर्वक रमण नहीं करती वह दुष्ट अंगना मर चुकी है। एकान्त स्थान में सर्वांगसुन्दर रमणीय अपने विवाहित पति को पाकर जो सती स्त्री रमण नहीं करती उस दुष्ट महिला को धिक्कार है। उदार अर्थ से भरे यथाप्राप्त भी अनिन्द्य अपने भोग का सदा त्याग कर रहे, वेद्य पदार्थ का ज्ञान रखनेवाले तत्त्वज्ञानी पुरुष ने कौन–सा अधिक फल उत्पन्न किया ? ॥१७–२०॥

तात्पर्य यह कि यथाप्राप्त भोगों का त्याग करके ज्ञानी कुछ भी अधिक फल उत्पन्न नहीं कर सकता।

इसलिए मैं अपनी बुद्धि से इस कानन में शीघ्र कुछ प्रपंच की रचना करूँ, जिससे कि यह मानप्रदान करनेवाला मेरा पति राजा मुझमें रति सुख का लाभ करे। यों विचारकर काननकुंज में बैठी हुई कुम्भवेषधारिणी चूडाला ने अपने पति से उस तरह कहा, जिस तरह कोकिला अपने पति कोकिल से कहती हो। कुम्भ ने कहा : हे राजन्, यह चैत्रमास का शुक्ल पक्ष है और महान् प्रतिपदा दिवस है। आज स्वर्ग में इन्द्र की समारोहपूर्वक बड़ी सभा होगी, जिसमें सब देवर्षियों का समागम होगा। मुझे अपने पिताजी के सामने वहाँ पहुँच कर उनका साक्षात्कार करना ही चाहिए, क्योकि यथास्थित नियति का कभी भी परित्याग नहीं करना चाहिए। हे राजन्, नवीन पुष्पों से शोभित इस वन–भूमि में किसी तरह के उद्वेग को न प्राप्त कर विहार करते हुए आप सायंकाल तक मेरी अवश्य प्रतीक्षा कीजियेगा। हे राजन्, आज सायंकाल को स्वर्ग से मैं निश्चित आ जाऊँगा, क्योंकि मेरे आत्मसन्तोष के लिए आपका साथ

मुझे स्वर्ग से भी बढ़कर प्रिय है। यों कहकर अपनी प्रीति-जैसी कल्पतरू के कुसुम की मनोहर मंजरी कुम्भ ने अपने मित्र राजा शिखिध्वज को उसकी प्रसन्नता के लिए दे दी। हे प्रिय मित्र, यहाँ शीघ्र आना, यों राजा शिखिध्वज के कहते ही वह कुम्भ वन से आकाश में, शरत्कालीन निर्जल मेघ की नाईं, उड़ गये। आकाश में जा रहे उस कुम्भ ने पुष्पमाला की पुष्पांजली, जो वनवायु से चारों ओर प्रसरण शील हो रही थी, ऐसे छोड़ दी, जैसे हिमकाल का मेघ हिम। जैसे मयूर तब तक मेघ को लगातार देखते ही रहता है जब तक कि वह मेघ उसकी आँखों से ओझल नहीं हो जाता, वैसे ही उस समय आकाश में जा रहे अपने मित्र को राजा शिखिध्वज तब तक उन्निद्र होकर देखते रहे जब तक कि कुम्भ आँखों से ओझल नहीं हो गये, क्योंकि बुद्धिमानों की प्रीति दुस्त्याज्य होती है – छोड़ते नहीं बनती ॥२१-३०॥

शिखिध्वज की दृष्टि के बाहर जाकर आकाश में चूडाला ने अपने कुम्भशरीर का परित्याग कर दिया और वह मुग्धा अपने पूर्वरूप में उस तरह आ गई जिस तरह आवर्त के शान्त हो जाने पर जलश्री। आकाश-पथ से वह चूडाला स्वर्ग के समान रमणीय अपने नगर में पहुँच गई, जहाँ पताका फहरा रही थी अतएव जो मंजरीयुक्त आकारवाले कल्पवृक्ष के सदृश मालूम हो रहा था। स्त्रियों से भरे हुए अपने अन्तःपुर में अदृश्यरूप से वह चूडाला उस तरह प्रविष्ट हो गई, जिस तरह लताओं से शोभित वृक्ष में वसन्त की महालक्ष्मी। वहाँ झटपट सब राज्यकार्यों का सम्पादन कर वह चूडाला, जैसे वृक्ष से फल या पुष्प गिरता है, वैसे ही राजा शिखिध्वज के आगे आकर गिरी। हिमयुक्त चन्द्र जैसे कमल को खिन्न बना देता है वैसे ही अत्यन्त खिन्न मनवाली श्यामा उस चूडाला ने अपने स्वामी की सन्निधि में अपने मुख को श्यामद्युति से युक्त खिन्न बना दिया। उस तरह के आकार से युक्त उसे देखकर राजा शिखिध्वज उठकर खड़ा हो गया और खिन्न चित्त हो गया। खिन्न चित्त उस राजा ने बड़े आदर के साथ यह कहा : देवपुत्र, आपको नमस्कार है। आपके मुख में ग्लानि झलक रही है, अतः आप खिन्न चित्त दीख रहे हैं। आप तो कुम्भ हैं। इस मानसिक ताप को दूर कर दीजिए और इस आसन पर बैठ जाइये। मित्र, कमल जैसे जल की आर्द्रता का आश्रय नहीं करते, वैसे ही जो अपने स्वरूप में स्थित सन्त महानुभाव वेद्य वस्तु का ज्ञान किये हुए रहते हैं वे हर्ष और विषाद जनित स्थिति का आश्रय नहीं करते। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, यों राजा शिखिध्वज के कहने पर आसन पर बैठते-बैठते कुम्भ ने फटे बाँस की ध्वनि के समान विषादभरी वाणी से कहा ॥३१-३९॥

वेद्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त किये हुए पुरुष हर्ष और विषाद जनित स्थिति का आश्रय नहीं करते' यह जो राजा ने कहा है उसमें कुछ विशेष कहने की इच्छा कर रहे कुम्भ कहते हैं।

जब तक देह की स्थिति रहती है तब तक आनेवाली हर्ष-शोक आदि अवस्थाओं में ज्ञानजनित समचित्तता के कारण कर्मेन्द्रियों की चेष्टाओं में जो अवस्थित नहीं रहते वे तत्त्वज्ञानी प्रारब्धप्राप्त कर्मेन्द्रियों की चेष्टाओं का उद्भव हो जानेमात्र से शठ नहीं हो जाते ॥४०॥

अतत्त्वज्ञों में ऐसी बात नहीं है, यह कहते हैं।

हे राजन्, जो अततत्त्वज्ञानी मूढ़ हैं वे बालचित्त होने से ही यानी उनमें समचित्तरूपता का अभाव होने से ही हठात् गृहीत तत्-तत् कर्मेन्द्रियों की निग्रहावस्थाओं से स्वभावतः (अज्ञानस्वभाव से ही) च्युत हो जाते हैं ॥४१॥

जब तक देह रहेगी तब तक प्रारब्धप्रयुक्त कर्मेन्द्रियों में हर्ष–ग्लानि आदि दशा ज्ञानी और अज्ञानी दोनों में एक–सी रहेगी ही, इसी आशय से दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं।

जैसे जब तक तिल है तब तक तेल भी है, वैसे ही जब तक देह रहेगी तब तक कर्मेन्द्रियों द्वारा प्राप्त हर्ष और ग्लानि आदि की दशा रहेगी ही।

उसीको व्यतिरेकी दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं।

जो देहदशा को प्राप्त नहीं होता वह खड्ग से आकाश का छेदन करता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानियों को भी देहदशा का अतिक्रमण होता ही नहीं, अतः मैं भी उसका अनुकरण करूँ तो क्या दोष है ॥४२॥

ऐसी स्थिति में चित्त की समता से देहगत दुःखों का समाधि के कारण अदर्शन होना ही उनका परित्याग है, जबर्दस्ती कर्मेन्द्रियों के निग्रह से उन्हें सहन करना उनका परित्याग नहीं, यह निष्कर्ष है, इसे कहते हैं।

समाधि से चित्त की जो समता है यही देह में प्राप्त दुःखों का सर्वोत्तम परित्याग है। कर्मेन्द्रियों की संस्थिति से यानी कर्मेन्द्रियों के निग्रह से उन्हें सहन करना उनका परित्याग नहीं है ॥४३॥ हे राजन्, तत्त्वज्ञानी को तब तक सभी दशाओं में यथाप्राप्त सदाचार का कर्मेन्द्रियों के द्वारा परिपालन करते हुए ही अवस्थित रहना चाहिए, जब तक कि इस देह की स्थिति बनी हुई है। ज्ञानेन्द्रियों तथा मन आदि से तो सदा समचित्त होकर ही अवस्थित रहना चाहिए, कभी भी वैषम्यभाव को प्राप्त होकर नहीं ॥४४॥

कर्मेन्द्रियों के द्वारा देहदशाओं में अनिषिद्ध का अनुवर्तन ब्रह्मा आदि सम्पूर्ण जीवन्मुक्तों में प्रसिद्ध ही है, यह कहते हैं।

ब्रह्मा आदि सभी उदित हृदय से युक्त (जीवनमुक्त) ज्ञानी लोग देह की अवस्थाओं में अवस्थित रहते हैं, यही प्रारब्धकर्मरूप नियति का निश्चय है ॥४५॥

प्रारब्धकर्मरूपी नियति का उल्लंघन अज्ञ या तत्त्वज्ञ किसीसे नहीं किया जा सकता, इसे कहते हैं।

अज्ञ या तत्त्वज्ञ सर्वविध प्राणियों से समन्वित जो यह दृश्यसमूह है वह सब नियति की ही ओर उस तरह दौड़ता है, जिस तरह जल सागर की ओर ॥४६॥

तब क्या तत्त्वज्ञानी और मूर्ख दोनों बराबर ही हैं, नहीं, ऐसा उत्तर देते हैं।

तत्त्वज्ञानी लोग बुद्धि आदि के साम्य तथा हाथ, पैर आदि के संचालन से जब तक प्राप्त एक अन्तिम देह का पतन नहीं हो जाता तब तक इस नियति को पूर्णतः बिताते चलते हैं ॥४७॥

परन्तु अज्ञानी वैसा नहीं करते, यह कहते हैं।

परन्तु अज्ञानी सब तरह के क्षोभ से सुख–दुःख की दशाओं में आहत होकर लाखों शरीरों के द्वारा नियति को अपूर्णरूप से बिताते चलते हैं ॥४८॥

प्रारब्धकर्मरूपी नियति के स्वरूप को दिखला रहे कुम्भ ऋषि उसकी सबसे दुर्लंध्यता का अनुवाद कर उपसंहार करते हैं।

हे राजन्, इस प्राणी को इस जन्म में इस रीति से सुखों में और इस रीति से दुःख की दशाओं में अवस्थित रहना चाहिए। अपने–अपने कर्मों के अनुसार जीवों को जैसा ललाटाक्षर प्राप्त है तत्–

तत् विषय में अज्ञ या ज्ञानी सब भूतों में वैसा ही यह नियति (प्रारब्धकर्म) का नियत विकास है, जो पूर्वोक्त रीति से दुर्लंघ्य है ॥४९॥

एक सौ चारवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पाँचवाँ सर्ग

दुर्वासा मुनि के शाप से रात्रि में स्त्रीत्वप्राप्ति का कुम्भ द्वारा कथन तथा परस्पर समाधानों से सन्तुष्ट हुए उन दोनों की स्थिति का वर्णन।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे महाभाग, हे वेद्यविदों में श्रेष्ठ, अपने–अपने भाग्यचक्र के अनुसार जो ये सब जीव स्थित हैं, उनमें यद्यपि आप देवता हैं, तो भी इस तरह के विषाद के हेतु उद्वेग को किस कारण प्राप्त किये हैं, यह आप मुझसे कहिए। कुम्भ ने कहा : हे भूमिपाल, यह मेरा चित्त जो विकृत हुआ है, उसके विषय में आज इस संसार में मेरे लिए जो घटना घटी, उसे पूरी तरह मैं आपसे कहता हूँ, सुनिये। भद्र, घन, जड़ और काला होते हुए भी मेघ मुक्तवृष्टि होकर जैसे हलका हो जाता है, वैसे सुहृदजनों में प्रकाशित किया गया दुःख अत्यंत हलका हो जाता है। पूछ रहे मित्र के कारण अन्तःकरण भलीभाँति प्रसन्नता (स्वच्छता) उस तरह प्राप्त करता है, जिस तरह स्वच्छता के लिए प्राप्त हुए कतक–रज के कारण जल स्वच्छता को प्राप्त करता है। आपको पुष्पांजलि समर्पित कर यहाँ से पहले निकला और फिर आकाश को लाँघकर मैं स्वर्ग में पहुँच गया। वहाँ पहुँचकर पिताजी के साथ महेन्द्र के सभा स्थान में क्रमानुसार बैठ गया और तदनन्तर उत्थान–समय में पिताजी से अलग हुआ मैं उठकर यहाँ आने के लिए स्वर्ग का परित्याग कर आकाशमण्डल में आ गया। मैं सूर्य के घोड़ों के साथ साथ अपने अनुकूल प्रवह नामक वायु के मार्ग के उसके प्रवाह से ही अभिमत देश में आया। अपने अभिमत देश में आने के बाद प्रवहनामक वायु द्वारा आगे ले जाये जा रहे भगवान् सूर्य एक मार्ग से एक ओर गये और मैं दूसरे मार्ग से समुद्र में मानों तैरता हुआ आकाश की ओर जा रहा था। अनन्तर मैंने जलपूर्ण मेघों के मध्यमार्ग से वेगपूर्वक सामने चले आ रहे महान् दुर्वासा मुनि को देखा। दुर्वासा मुनि को मेघसदृश नीलेवस्त्रों ने ही ढाँक रखा था और विद्युत् के सदृश चमकीले कंकण ने उन्हें सुशाभित किया था। जिस दशा में मैंने उन्हें देखा, उस दशा में ठीक अभिसारिका (प्रेमिका) – से लगते थे। उनके अंगों के चन्दन को यानी अंगराग को ओस की धारा ने धो डाला था। भूमि पर राजित अतएव तीरस्थ वृक्षों की सुन्दर छाया से समन्वित अपनी प्रिय तपोलक्ष्मी के सदृश अवस्थित प्रसिद्ध भागीरथी की ओर वेग से वे इसलिए दौड़े जा रहे थे कि सन्ध्यावन्दन का समय बीत न जाय। आकाश में विचरण कर रहे मैंने उन मुनि को नमस्कार कर कहा कि हे मुनिवर, नीलमेघ के सदृश वस्त्र धारण करने के कारण आप अँधेरी रात की अभिसारिका के सदृश लगते हैं। हे मानद, महाराज दुर्वासा ने उस वाक्य को सुनकर मेरे ऊपर शाप छोड़ा, जाओ, तुम इस दुरुक्ति के कारण हाव–भावविलासों से पूर्ण, स्तन केशवाली कमनीय रमणी आज से प्रत्येक रात में हो जाया करोगे। जीर्ण–शीर्ण ब्राह्मण दुर्वासा मुनि के मुख से निकले उस अशुभ वाक्य को सुनकर ज्यों–ही मैं कुछ विचारता हूँ, त्यों–ही वे मुनि अन्तर्हित हो गये। हे साधो, उस प्रकार मैं आकाशतल से ही उद्विग्न–मन होकर यहाँ आया हूँ। आपसे मैंने सब कुछ कह दिया कि मैं रात्रि

में अंगना हो गया हूँ। यह स्त्रीभाव रात्रियों में मैं कैसे निभा सकूँगा। हा ! मैं रात में स्तनधारिणी घोषित हो जाऊँगा। पिताजी के सामने मैं क्या कहूँगा। अहो, इस संसार में भवितव्यों की बड़ी ही विचित्र गति है, क्योंकि मैं भी आज दैव से युवकों के लिए मांस बन गया यानी गृध्रामिषन्याय से अनेक युवकों में परस्पर कलह को पैदा करनेवाला हो गया ॥१–१७॥

उसी न्याय का स्पष्टीकरण करते हैं।

महान् कष्ट यह हो गया कि अब मेरे अपहरण के लिए यहाँ स्वर्ग में कामव्याकुल मति देवकुमारों में संघर्ष छिड़ जायेगा। गुरुजन, देवता एवं ब्राह्मणों के सामने रात में लज्जापरवश स्त्रीरूप मैं किस तरह से निराबाध वास कर सकूँगा। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामभद्र, उस तरह कहकर वह कुम्भ एक क्षण तक चित्त की एकाग्रता में चुपचाप स्थित होकर इस विषय में धैर्य धारणकर फिर बोलने लगा। अज्ञानी की तरह मैं क्यों सोच रहा हूँ, मेरी आत्मा का इससे क्या बिगड़ा। प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त हुए स्त्रीभाव का मुझसे अन्य यह शरीर ही अनुभव करेगा। इससे असंग चिन्मात्रस्वरूप मेरी क्षति क्या हुई ॥१८–२१॥

राजा भी उसके कथन का अनुमोदन कर कहते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे देवपुत्र, उस तरह की इस व्यर्थ चिन्ता से कौन अर्थ सिद्ध होनेवाला है। प्रारब्धवश जो आता है, उसे आने दीजिए, उससे देह की आत्मा लिप्त नहीं हो सकती। जो भी कुछ सुख या दुःख आते जाते हैं, वे सब देह के लिए ही आते–जाते हैं, उनमें से कोई भी देही आत्मा के (देहोपलक्षित चैतन्यात्मा के) लिए नहीं। मुनिवर, अवश्य प्राप्त होनेवाले प्रारब्धकर्म–फलों के विषय में कभी खेद न करनेवाले आप भी यदि खेद करने लग जायेंगे, तो अविवेकी पुरुषों को अविवेकजनित खेद की चिकित्सा के लिए आपके सदृश शास्त्रीय तत्त्व का अनुभव करानेवाला दूसरा कौन चिकित्सक शरण देगा अर्थात् कोई भी नहीं देगा ॥२२–२४॥

मैं तो समझता हूँ कि यह आपका खेद नहीं है, किन्तु केवल खेदोचित वाणी का ही लोकाचार का वर्णन करने के लिए उपयोग कर रहे हैं, यह कहते हैं।

खेद के विषय में खेदोपयोगी कुछ कहना चाहिए, इस अभिप्राय से आपने कुछ कहा, यह मेरा मन्तव्य है। अब आप समता धारण कर प्रकृतिस्थ हो अखिन्नरूप से स्थित हो जाइए। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामभद्र, उस तरह के अनेक वाक्यों के द्वारा वे दोनों परस्पर अपने–आप आश्वासन कर स्थित हो गये। उन दोनों को अरण्य से बड़ा प्रेम था, वे एक दूसरे के अभिन्न मित्र थे और परस्पर एक दूसरे के दुःख से दुःखी रहनेवाले थे। परस्पर आश्वासन ग्रहण करने के बाद कुम्भ में स्त्रीरूपता का मानों उत्पादन कर रहे जगत् के दीपकरूप भगवान् सूर्य भी, तेल के क्षय से दीपक की नाईं, अस्ताचल की ओर चल दिये। जगत् के समस्त व्यवहारों के साथ–साथ कमल संकुचित होने लगे, पथिकों के साथ–साथ मार्ग अन्धकार के कारण अस्फुट होने लगे, पथिक और पथिकस्त्रियों के अन्तःकरण वियोगशोकरूप अन्धकार से आक्रान्त होने लगे। समुद्र के द्वीप में रहनेवाले धीवर लोग जालों से पक्षी, मछलियों और समुद्रस्थ रत्नों को एकत्रित करते हैं, इसलिए समुद्रद्वीप में रहनेवाले धीवरों के सदृश एक जगह सब पक्षियों को बटोर रहा नीचे का भुवन और एक जगह तारकरूपी रत्नों को इकट्ठा कर रहा

ऊपर का भुवन – ये दोनों एक दूसरे की समता करने लग गये। विकसित कुमुदों के भंडार अतएव हँस रहे पुरुष के सदृश स्थित तारों से परिपूर्ण आकाश की ओर चक्रवाक और घूम रहे भ्रमरों के झुण्ड-के-झुण्ड उत्ताल निनादध्वनि करते हुए उड़ने लगे। वे दोनों मित्र उठकर उदयोन्मुख निशाकर से युक्त सन्ध्या को अभिवादन कर तथा जपकर्म कर एक गुल्म के (लतागृह के) भीतर बैठ गये। तदनन्तर, वहाँ धीरे-धीरे क्रमशः स्त्री के अंगों में परिवर्तित होनेवाले कुम्भ सामने बैठे हुए राजा शिखिध्वज से गद्‌गद् होकर कहने लगे। हे राजन्, अब मुझे ऐसा मालूम पड़ता है कि मैं अपने शरीर की अंगलताओं के साथ भूमि पर मानों गिर रहा हूँ, स्फुरित हो रहा हूँ और विगलित होने लग गया हूँ। अब मानता हूँ कि आपके सामने लज्जा के साथ ही मैं स्त्रीरूप बनता जा रहा हूँ। हे राजन्, देखिये, ये मेरे केश – दिन की समाप्ति में बढ़नेवाले घने अँधेरे के सदृश – स्फुरणशील तारों की माला से मालित होकर यानी मोती आदि की मालाओं से समन्वित होकर – बढ़ रहे हैं। महाराज, देखिये तो सही, वसन्तकाल में गगन की ओर मुख किये कमलिनी के कोरकों के (कलियों के) सदृश मेरी छाती में उर्ध्वमुख स्तन निकल रहे हैं। हे मित्रवर, यह देखिये, मेरी देह से ही स्त्रियों के – जैसे धीरे धीरे एड़ी तक मेरे लिए लम्बे-लम्बे वस्त्र निकल रहे हैं। हे प्रिय मित्र, देखिये, मेरे अंगों से ही, वृक्ष से उसके अंगों से (शाखाओं से) फूलों की नाईं, भूषण, रत्न और विविध मालाएँ निकल रहीं हैं। प्रिय, यह देखिये, हिमांशु की किरणों के सदृश मनोहर मेरे मस्तक पर अपने आप ही, पर्वत पर कुहरे की नाईं, पट्टवस्त्र निकल रहा है। हे मानद, मुझे सभी तरह के स्त्रियों के चिह्न उत्पन्न हो गये, मुझे धिक्कार है, महान् कष्ट है, मैं महान् विषाद का अनुभव करता हूँ, क्या करूँ, अब मैं स्त्री बन गया। हे साधो, हा धिक्कार है, कष्ट है, अब मैं पूर्ण स्त्रीरूप ही होकर स्थित हूँ, प्रत्यक्षतः भीतर नितम्ब और मांसल इन जंघाओं का मैं अनुभव करता हूँ॥२५-४०॥ उस तरह कहकर जंगल में खिन्न हो वह कुम्भ चुपचाप हो गया। उसे देखकर राजा भी उसी तरह विषादयुक्त होकर अवस्थित थे। मुहूर्तकाल तक विचार कर राजा शिखिध्वज यह वचन बोले – कष्ट का विषय है कि प्रसिद्ध यह निर्मलचित्त महामुनि कुम्भ वरवर्णिनी (रमणी) बन गये। हे साधो, आप तो जानने योग्य सब कुछ जानते हैं, इसलिए भावी की गति आपसे अपरिचित है नहीं। अतः इस अवश्यंभावी विषय में आप अपने हृदय में खेद मत कीजिए। हे ज्ञानपूर्ण, तत्-तत् जो अवश्यंभाविनी सुख-दुःखात्मक दशाएँ हैं, वे तत्त्ववेत्ताओं को केवल शरीर में ही आती हैं, अन्तःकरण में नहीं और अज्ञानियों को तो ये दशाएँ शरीर में तथा वासनारूप से अन्तःकरण में भी आती है। कुम्भ ने कहा : हे राजन्, आपका कथन सत्य है, अवश्यंभावी आया हुआ स्त्रीपन अब तो रातों में निभा ही लेता हूँ और खेद छोड़ देता हूँ, क्योंकि भाग्यचक्र का उल्लंघन कौन कर सकता है। उस प्रकार निर्णयकर और उस खेद को कुछ हलका-सा बनाकर एक ही शय्यापर उन दोनों ने उस रात्रि को बहुत देर में बिताया (ॐ)। अनन्तर कुम्भ प्रातःकाल में युवती स्त्री के स्वरूप का परित्याग कर कुम्भसदृश स्तनों से रहित शरीरवाले असली कुम्भ बन गये। इस तरह राजरानी वरवर्णिनी (सुरूपा) चूडाला अपने पति के सामने पहले कुम्भ मुनि के रूप में बनी और पीछे स्त्री के रूप में बनी। वनों के अन्दर रात में कुमारी धर्म से युक्त वह चूडाला विचरण करती रही

(ॐ) राजा को कुम्भ के ऊपर आई हुई विपत्ति की चिन्ता से और रानी चूडाला को अपने स्वामी के समागम की उत्कण्ठा से निद्रा न आने के कारण उन्होंने रात्रि बहुत देर में बिताई, यह तात्पर्य है।

और दिन में कुम्भ का रूप धारण कर मित्र पति के साथ विचरण करती रही ।।४१–४९।।

किस–किस स्थान में किस–किस तरह उसने विहार किया ?

कैलास, मन्दराचल, महेन्द्राचल, सुमेरु तथा सह्याद्रि आदि पर्वतों के शिखरों पर योगबल से अस्खलित गमनागमन कर रही अपने अनुकूल वर्ताव कर रहे प्रिय मित्र पति के साथ वह नारी चूडाला पुष्प मालाओं और हारों से अलंकृत होकर इच्छानुसार विहार करती थी ।।५०।।

एक सौ पाँचवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ छठा सर्ग

महेन्द्रपर्वत पर अग्नि के सामने उन दोनों का विवाह और सुवर्ण
गुफा में पुष्पशय्या पर समागम–यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, तदनन्तर कुछ ही दिनों के बीत जाने पर वह कुम्भरूपधारिणी चूडाला अपने पति से यह कहने लगी। कमलपत्र के सदृश विशाल नेत्रवाले हे राजन्, मेरा यह वचन आप सुनिये। प्रतिदिन मैं रात में स्त्री ही बनकर रहता हूँ। इसलिए मैं ऐसा स्त्रीरूप को सफल बनाना चाहता हूँ, अतः किसी स्वामी को मैं उस अपने स्त्री शरीर का विवाह द्वारा प्रदान करूँगा। इस त्रिलोकी में आप ही एक भर्ता के रूप में मुझे पसन्द पड़ रहे हैं। अतः रात में विवाह द्वारा अपनी भार्या के रूप में मेरा सदा स्वीकार कीजिए। हे साधो, अपने प्रियमित्र के साथ अनायास प्राप्त हुआ स्त्रीसुख भोगने की इच्छा कर रहा हूँ, अतः आप मेरी प्रार्थना का खण्डनकर मेरे विघ्नकारक मत बनिये। राजन्, सृष्टि के आरम्भ से लेकर आज तक देवता, ऋषि आदि सबमें चले आ रहे और बिना बाधा के हो रहे इस प्रस्तुत विवाह कार्य को यदि आप करें, तो वैसा कर रहे आपको क्या दोष लगेगा अर्थात् कुछ नहीं। सब वस्तुओं में इच्छा, अनिच्छा और तज्जनित फलों का चारों ओर से त्याग करके हम लोग न तो इच्छावाले हैं और न अनिच्छावाले हैं, इसलिए इस अभीष्ट कार्य को करें, कुछ भी बिगड़ेगा नहीं। शिखिध्वज ने कहा : हे सखे, इस विवाह कार्य को करने से न शुभफल या न अशुभ फल देखता हूँ, इससे हे महाबुद्धे, आप जैसा चाहें, वैसा करें। समरूप बन गये इस चित्त में मैं ये तीनों जगत् अपना ही रूप जानता हूँ, अतः जैसा चाहें, वैसा करें। कुम्भ ने कहा : हे महीपाल, यदि यह बात है, तो आज ही शुभ लग्न है। यह चल रहे श्रावण की पूर्णिमा है। कल ही मैंने विवाहलग्न आदि सबका गणित कर लिया है। हे महाबाहो, आज रात में ही जब कि समस्त कलाओं से परिपूर्ण निर्मल चन्द्रमा उदित होंगे, तब ही अपने दोनों का गान्धर्वविधि से विवाह होगा। हे कान तक के लम्बे–लम्बे नेत्रोंवाले महाराज, यह जो मनोरम, महेन्द्रपर्वत के माथे के ऊपर सींग–जैसा उन्नत शिखर है, जहाँ रत्नरूपी दीपकों का पूर्ण प्रकाश पड़ता है, मणिमय कन्दरारूपी अनेक मन्दिर है, जो पुष्पों के बोझों से झुके हुए ऊँचे–ऊँचे अनेक वृक्षों से सुशोभित है, जंगली फूलों की लताओं के विलासपूर्ण रमणीय–नृत्यों से लुभावना लगता है, उस शिखरपर अपने प्रिय पति पूर्णचन्द्र के साथ आकाशगत तारिकाएँ रात में हम दोनों का विवाह देखें। हे राजन्, अब आप उठिये, जंगल के कोटरों से विवाह के लिए हम लोग रत्नों के साथ चन्दन, पुष्प आदि सामग्री को एकत्र करें। यों कहकर कुम्भ उठे और उस राजा के साथ फूलों को बिनने तथा रत्न आदि का संचय करने लग

गये। तदनन्तर एक मुहूर्त में उन दोनों ने सुन्दर चिकने उस रत्नप्रचुर शिखर पर एक स्थान में देवता, अग्नि आदि का पूजन करने के लिए पुष्पों के ढेर के ढेर बना डाले। दूसरे स्थान में भी हार, अम्बर मणि आदि के यथेच्छ ढेर के ढेर उस प्रकार लगा दिये, जिस प्रकार पुण्य के परिपाक-काल से मानों सौभाग्य के यथेच्छ ढेर के ढेर लगा दिये गये हों। उस प्रकार सुवर्ण की गुफा में विवाह की सामग्री एकत्रित कर वे दोनों महामित्र गंगानदी में स्नान के लिए चले गये। वहाँ कुम्भ ने गजराज के गण्डस्थल के सदृश सुदृढ़ कन्धों वाले महाराज शिखिध्वज को बड़े ही आदर से दही, दूध, अक्षत आदि मंगल द्रव्यों से स्नान कराया। भविष्यकाल की दयिता कुम्भरूप धारण की हुई प्रिय अंगना चूडाला को भविष्य के स्वामी राजा शिखिध्वज ने भी मंगलस्नान कराया। अनन्तर, वहाँ पर स्नान किये उन दोनों नें देवता, पितर और ऋषियों की पूजा की। ज्ञानी होते हुए भी उनकी पूजा में प्रवृत्ति इसलिए हुई कि वे जैसे क्रियाजनित फलों में अनिच्छा रखते थे, वैसे ही क्रियाफलों के त्याग में भी अनिच्छा रखते थे। यद्यपि वे शाश्वत आत्मज्ञानरूपी रस से पूरी तरह तृप्त थे, तथापि इस जगतीस्थिति की व्यवस्था के लिए उन्होंने सिद्धि के प्रभाव से निर्मित अन्न आदि का भव्य भोजन किया। तदनन्तर धवल, कल्पवृक्ष के वस्त्रों का परिधान कर वे दोनों कल्पवृक्ष के फल खाकर शास्त्रोक्त क्रम से विवाह की वेदी की ओर बढ़ आये। इधर इतने समय से विवाह के लिए उत्कण्ठित हो रहे उन दोनों का मानों प्रिय करने के लिए तत्काल ही भगवान् भास्कर ने अस्ताचल की ओर प्रस्थान किया। अनन्तर उनकी सन्ध्यावन्दन आदि विधि समाप्त हो गई, मन्त्र-जप, अघमर्षण आदि भी उन्होंने कर लिया। इधर उनका विवाह देखने के लिए आकाशमण्डल में समस्त तारे भी आ धमके ॥१-२६॥ इधर स्त्री-पुरुष के जोड़ों में प्रीति पैदा करनेवाली सखी त्रियामा रात्रि भी कुइयों के हास से युक्त हो तुषारसमूह बरसाती हुई आ गई। जिस तरह आकाशमण्डल में ब्रह्माजी ने चन्द्र और सूर्य से संयुक्त ज्योतिश्चक्र की योजना की है, उसी तरह मुनिवर कुम्भ ने भी इधर शिखर पर अनेक जाति के रत्नों से दीपकों की योजना की। रात्रि के आगमन पर स्त्रीरूप धारण करनेवाले कुम्भ ने राजा को अनेक भूषणों से सजाया। उसे चन्दन और कपूर से मिलित केसर और कस्तूरी से; हार, केयूर और कंकणों से; कल्पलता से उत्पादित वस्त्रोंसे; मालाओं के कारण उत्कृष्ट शोभावाले रत्नगुच्छे आदि उत्तम आभूषणों से; विविध भूषणों के लिए योग्य कण्ठादि मालाओं से; कल्पलताओं के गुच्छों से; मन्दार, पारिजात और सन्तान नामक देवतरू के फूलों से; बड़े बड़े अनेक रत्नों से तथा चन्द्र के सदृश कान्तिमान् चूड़ामणि से खूब सजा दिया। इतने ही समय में महामुनि कुम्भ वधूरूप में परिणत हो गये, घन स्तनमण्डल के भार से भरित और तत्क्षण ही विलासी हो गये। अनन्तर उन्होंने विचारा कि मैं यह वधू अब बन गया, अब यह कामरूप वर को शरीर दे देना चाहिए और कालोचित कृत्य अवश्य कर देना चाहिए ॥२७-३३॥

इसीलिए कामरूप से स्वामी की कल्पना कर मन में कहते हैं।

यह मैं कमनीय वधू हूँ और हृदयस्थ आप भर्ता के रूप में सामने अवस्थित हैं, अतः हे कामरूप, आप आइये, मुझे स्वीकार कीजिए, यह आपका अवसर है। यों मन में विचारकर सामने वनवेदी-प्रदेश में अवस्थित उदीयमान आदित्य के सदृश तेजस्वी भर्ता की ओर, काम की ओर रति के सदृश, बढ़ गई। हे मानद, आपकी मैं मदनिका नाम की भार्या हूँ, आपके चरणों में अनुरागपूर्वक प्रणाम करती हूँ। यों

कहकर निर्दोष अंगोवाली तथा लज्जा से विनम्र मुखवाली उस मदनिकाने चंचल केशवाले मस्तक से अपने शोभ रहे पति को प्रणाम किया। फिर उसने कहा : हे स्वामिन्, पहले मुझे अलंकारों से अलंकृत कीजिए तदनन्तर अग्नि प्रज्वलित कर शास्त्रोक्त प्रक्रिया से मेरा पाणिग्रहण कीजिए। हे राजन्, आप इस समय खूब सुन्दर लग रहे हैं, मुझे कामपीड़ित कर रहे हैं। अधिक क्या कहूँ ? रति के विवाह में प्रसिद्ध कामदेव का भी अपनी शोभा से तिरस्कार कर आप स्थित हैं ॥३४–३९॥

राजा की उक्त शोभा का ही वर्णन करते हैं।

हे राजन्, आपकी प्रसिद्ध जो ये मालाएँ हैं, वे इन्दु की किरणों–सी मालूम पड़ती हैं और आपके गले का यह जो हार है, वह मेरुपर्वत पर के गंगाप्रवाह की शोभा धारण कर रहा है। हे नृप, मन्दार–पुष्पों से गूँथे गये केशों से आप ऐसे शोभित हो रहे हैं, जैसे केशरों से युक्त चंचल भ्रमरों से सुवर्ण कमल शोभते हों। हे प्रभो, रत्नकिरणों, कुसुमों तथा स्थिर तेजोलक्ष्मी के कारण आप रत्नों के स्थानभूत मेरूपर्वत का भी अतिक्रमण कर अवस्थित हैं। उस तरह के विविध वर्णन कर रहे वे कुछ ही क्षण में होनेवाले दम्पती, जिनका कि पहले से ही गुप्त दाम्पत्य था, एक दूसरे से अत्यन्त सन्तुष्ट हो रहे थे। इधर सुवर्णपत्थर के आसन पर बैठे हुए महाराज शिखिध्वज ने महारानी मदनिका को स्वयं खूब सजाया। तत्–तत् विभूषण के लिए उपयोगी अंगों में समर्पित नानाविध अलंकारों से, चमकीले मणि, रत्न आदि विभूषणों से युक्त मालाओं से, वस्त्रों से, अंगरागों से तथा फूलों से वह कोमलांगी, मददायिनी मदनिका विवाह के लिए उत्कण्ठित गिरिजा और काम की पत्नी कामिनी रति के सदृश शोभने लगी। महारानी मदनिका को सजाकर महाराजा शिखिध्वज ने कहा : हे मृग के बच्चे सदृश नेत्रोंवाली, अब तुम नवोत्पन्न लक्ष्मी की नाईं शोभित हो रही हो। इन्द्र के साथ इन्द्राणी का जो सौभाग्य है, भगवान् विष्णु के साथ लक्ष्मी का जो सौभाग्य है, शम्भु के साथ गौरी का जो सौभाग्य है, वही सौभाग्य मेरे साथ तुम्हारा होवे। स्तन के पद्मकोश और अनुराग के सदृश अंकुरों से युक्त हृदयवाली; नेत्रों के सदृश चंचल नीलोत्पलवाली और आमोदों के कारण मधुर भ्रमरझांकारोंवाली विख्यात पद्मिनी के सदृश तुम अवस्थित हो ॥४०–४९॥

अब कल्पलता के रूप में उसका वर्णन करते हैं।

हे मदनिके, तुम्हें मैं कल्पतरू वृक्ष की लता ही मानता हूँ, क्योंकि तुम्हारे हाथ ही सुन्दर लाल पल्लव हैं, ये स्तन ही तुमसे स्तवकों के रूप में धारण किये गये हैं और तुम अनेक फलों से लदी हो। भद्रे, तुम्हारे अंग हिम के सदृश शीतल और निर्मल हैं, तुम्हारा हास्य ज्योत्स्ना का अनुकरण कर रहा है – इन सबके कारण तुम उदित पूर्णचन्द्र की शोभा के सदृश हृष्ट होकर सुन्दर आह्लाद दे रही हो। हे वरारोहे, अब चलो, तुम स्वयं ही विवाह की वेदी को अलंकृत करो। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामभद्र, तदनन्तर उन दोनों ने वेदी में लगे हुए जो खम्भे थे, उन्हें फूलवाली लताओं से सजाया। उन लताओँ में फलों के गुच्छों की तरह दिखाई पड़नेवाले हीरा, मानिक आदि नव तरह के रत्नपाषाणों के गुच्छे लगाये गये थे। उसकी चारों दिशाएँ चार नारियल के फलों से तथा गंगाजल से परिपूर्ण नवरचित चार घड़ों से सुशोभित की गई थी। उसके बाद वेदी के बीच में विवाह के लिए अग्नि की स्थापना कर के उसे चन्दन की लकड़ियों से उन्होंने प्रज्वलित किया। ज्वाला के प्रज्वलित हो जानेपर दाहिने ओर

स्थित उसकी प्रदक्षिणा की। फिर उसके आगे पल्लवों के आसनपर पूर्वाभिमुख होकर वे स्वयं बैठ गये। उस समय वे दोनों दम्पती बड़े ही कमनीय लगते थे। दोनों में से उस शिखिध्वज ने स्वयं तिल और लाजा का अग्नि में होमकर बारबार उठ कर अपने हाथों से उस कान्ता मदनिका का परिग्रह किया। अरण्य में गौरी और शंकर की नाईं परस्पर सुशोभित हो रहे मंगलस्वरूप उस दम्पती ने अग्नि की प्रदक्षिणा की ॥५०-५७॥

एक दूसरे को शरीर देने में उन्होंने एक दूसरे को दान क्या दिया ? इस पर कहते हैं।

एक दूसरे के प्रेम के लिए लोलुप, ज्ञानरूप सर्वोपरि धन से परिपूर्ण अपना-अपना हृदय ही उन्होंने एक दूसरे को अपने-अपने दाय के रूप में दान दिया। एक दूसरे के प्रति किये गये स्मित हास से उनके कमनीय मुखमण्डल में महती शोभा झलक रही थी। उन्होंने अग्नि की पहले तीन प्रदक्षिणाएँ कीं, फिर उसमें लाजा होम किया। इस वैवाहिक विधि से बराबर सन्तुष्ट होकर उस वर-वधू ने एक दूसरे द्वारा ग्रहण किया गया अपना-अपना हाथ छुड़ा लिया। उनके कान्तिपूर्ण, स्मित कर रहे मुख नवीन उदित दो चन्द्रमा के सदृश लग रहे थे। अनन्तर पहले से निर्मित नूतन फूलों के पलंग पर वे सोने के लिए चले गये। इसी बीच चन्द्र ने, आकाशतल से मानों इनकी शोभा निहारने के लिए, धीरे-धीरे रात्रि के चतुर्थभाग पर आक्रमण किया यानी वैवाहिक कृत्य करते-करते रात्रि का प्रथम प्रहर व्यतीत हो गया। जैसे चपल कामुक जनकी दृष्टि ललनाओं का छिद्र देखने के लिए एकान्त में अपनी किरणें फेंकती है, वैसे ही चपल चन्द्रमा ने ललना का छिद्र देखने के लिए लतागृह में पुष्पशय्यापर अपनी किरणें फेंकी। अनन्तर पूर्णरूप से चन्द्र के उदित हो जाने पर संगम के लिए शुभ मुहूर्त की प्रतीक्षा कर रहे उस सुशोभित दम्पती ने प्रसिद्ध-प्रसिद्ध नवीन वार्तालापों से स्वल्प समय तक विश्राम लिया। अनन्तर उठकर उन दोनों प्रेमियों ने सुवर्णमय गुफा में, जिसमें कि चमकीले रत्नरूपी दीपक जल रहे थे, प्रवेश किया। इस गुफा का पहले से ही उन्होंने स्वयं निर्माण कर रखा था। वह इतनी गुप्त थी कि इसमें चन्द्र के किरणों की गति भी नहीं हो सकती थी। प्रवेश करने के बाद उन्होंने वहाँ पर कुसुमों से बना हुए एक नवीन पलंग देखा। वह चारों ओर खोदे गये सुवर्णमय कमलों से, दूसरे मन्दार आदि अम्लान पुष्पों से, शय्या जितनी ऊँची होती है, उतने ऊँचे सुन्दर बराबर सजाये गये कुसुमों से-जो कि शय्या के सदृश लम्बे चन्द्रबिम्ब के सदृश प्रतीत हो रहे थे और तुषार-स्थली के सदृश शीतल थे - व्याप्त था। अधिक क्या कहें, वह सुन्दर शैय्या क्षीरसागर की जलधारा के सदृश धवल थी, चन्द्रज्योत्सना के पिण्ड के समान सुन्दर आह्लाद उत्पन्न करनेवाला था, भीत में पड़ा हुआ कामदेव का मानों प्रतिबिम्ब ही था, उसमें सुगन्ध तो भरी पड़ी थी, यथा-प्रमाण ऊँचा था, बड़ा ही रमणीय था। पूर्णरूप से निर्मल उस पुष्पराशि पर (पलंग पर) वह नवीन जोड़ा - जो कि राज छोड़ने के समय से लेकर अभी तक वह भ्रान्तिसुखानुभव देनेवाले उस पलंग पर वे, क्षीरसागर में मन्दराचल की नाईं, शोभ रहे थे ॥५८-६९॥ भद्र, परस्पर अनिर्वचनीय प्रेमभरी मनोहर उन-उन वाणी के विलासों से तथा उस समय के लिए उचित आलिंगन आदि कृत्यों से सुहावने गन्ध, माल्य, ताम्बूल के समर्पण आदि शुभ आचारों से जनित नवीन-नवीन संभोगसुख से उस निर्मल दम्पती की लम्बी वह रात मुहूर्त के सदृश बीत गई ॥७०॥

एक सौ छठा सर्ग समाप्त

एक सौ सातवाँ सर्ग

अनेक पर्वतों पर विहार, राजा की अनासक्ति की परीक्षा के लिए माया से इन्द्रदर्शन करना तथा स्वर्ग को बुलाना आदि - इन सबका वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, रात बीत जाने के बाद, जब कि प्रभात में अंशुमाली सूर्य के लाल रंगने समस्त भूवन का कोना-कोना रँग दिया, तब शिखिध्वज की भार्या मदनिका अपने पहले के कुम्भरूप में आ गई। श्रीरामजी, मैंने आपसे जैसे कहा, वैसे वे दोनों कुम्भ और शिखिध्वज स्वतः विवाहित हो गये और देवताओं के सदृश भोगसामग्री से पूर्ण होने के कारण वे प्रिय देवदम्पती ही बन गये। प्रतिदिन ऐसी चित्रविचित्र वनपंक्तियों में विलास करते थे, जहाँ कि पके-पके फलों के समूह भरे पड़े रहते थे और पल्लवों की अनोखी शोभा निखरती रहती थी। दिन में तो वे अत्यन्त प्रिय मित्र बन जाते थे और रात में प्रिय पतिपत्नी बन जाते थे। प्रभा और दीपक की नाईं इतने वे मिले-जुले थे कि कभी अलग होते ही नहीं थे। उन्होंने अरण्य के कुंजों में, पर्वतों की गुफाओं में, मन्दारवृक्षों से अतिगहन (घने) तमालवृक्षों की झाड़ियों में, सह्याद्रि, दर्दुर, कैलास, महेन्द्र, मलय, गन्धमादन, विन्ध्याचल तथा लोकालोक पर्वत और नदियों के तटों मे रमण किया। तीन दिन बीत जाने के बाद जब कि उसके पति निद्रा ले रहे थे, तब वह चूडाला अपने नगर की ओर जाकर वहाँ राजकार्यों का सम्पादन कर फिर वापस आ गई। वे कुम्भ और शिखिध्वज, जो दिन में स्वच्छहृदय मित्र और रात के प्रिय पति-पत्नी थे, अनेक तरह के पुष्पों से मालित होकर परस्पर अत्यन्त मुदित रहते थे ॥१-८॥

किस-किस स्थान में कितने-कितने समय तक वे रहे, यह बतलाते हैं।

महीनेभर तो उन्होंने महेन्द्र पर्वत के उपर के गुफाघर में निवास किया। वह घर अत्यन्त रमणीय था, उसके चारों ओर चीड़ के ऊँचे वृक्ष लगे थे, उसकी दीवारें रत्नशिलाओं की बनी थीं। वहाँ पर देवता और किन्नर उनका आगत-स्वागत खूब किया करते थे। उसके बाद उन्होंने उसी तरह पन्द्रह दिन तक शुक्तिमान् पर्वत के पृष्ठ के, जो कि हाथों से लेने योग्य, अनेक दुःखों के विनाशक फल, पुष्प आदि से युक्त मन्दारों के कारण वनमाला से मालित हो गया था, कल्पवल्ली के कुंज में निवास किया ॥९॥ दो मास तक मैनाक पर्वत के दक्षिण के तट पर पारिजात वन में, जो कि देवताओं में भोग्य फूलों के गुच्छों का मण्डप ही था, रह कर विहार किया। तदनन्तर मेरूपर्वत के दक्षिण भाग की ओर स्थित जामुन के वृक्षों के वनखण्ड के नीचे विद्यमान जम्बू नदी के किनारे, जो कि हाथी के जैसे बड़े-बड़े जामुनों के रसरूपी आसवों के कारण जामुनों का नदरूप हो गया था, मासभर निवास किया। उत्तरी कुरुओं के मण्डल में वे दस दिन तक रहे और सत्ताईस दिन तक उत्तर के कोशल देश में रहे। रात में पति-पत्नीरूप हो जानेवाले उन महाभाग्यवान् मित्रों ने उसी तरह दूसरे-दूसरे चित्र-विचित्र देशों में और पर्वतों पर रहकर खूब विहार किया। तदनन्तर धीरे-धीरे कुछ महीनों के व्यतीत हो जाने के पश्चात् देवपुत्र का स्वरूप धारण की हुई वह चूडाला विचार करने लगी। अब मैं सुन्दर-सुन्दर नानाविध उपभोगों से शिखिध्वज की परीक्षा करूँगी। परीक्षा के द्वारा इसकी अनासक्ति मैं जब दृढ़ कर दूँगी, तभी यह फिर कभी भोगों में प्रेम नहीं करेगा। यों विचार कर चूडाला ने जंगलभूमि में अपनी माया से देवताओं और

अप्सराओं के साथ-साथ आये हुए इन्द्र को दिखलाया। अपने परिवार के साथ आये हुए इन्द्र को देखकर वन में वास किये हुए राजा शिखिध्वज ने पहले उनकी यथाविधि अर्घ्य, पाद्य आदि से पूजा की (फिर उनसे प्रश्न किया) ॥१०-१८॥

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे देवराज, आपने स्वयं इतने दूर से यहाँ आने का परिश्रम क्यों उठाया। जिस प्रयोजन को लेकर आप यहाँ पधारे हों, उसे प्रसन्नतापूर्वक कहिए। इन्द्र ने कहा : हे राजन्, हम लोगों के हृदय में लगे हुए सूत्ररूपी आपके सद्‌गुणों के आधिक्य से वशीभूत होकर ये हम यहाँ उस तरह आ गये हैं, जिस तरह हृदय मे बँधे हुए सूत्र से वशीभूत होकर अरण्य के पक्षी आ जाते हैं। राजन्, उठिये और स्वर्ग चलिये, क्योंकि वहाँ पर आपके गुणों के श्रवण से जनित महान् आश्चर्य से चकित हुए समस्त देवता और देवांगनाएँ आपके आगमन की प्रतीक्षा कर रही हैं ॥१९-२१॥

आकाश में गमन करने की तो मुझ में शक्ति है नहीं, फिर मैं स्वर्ग में कैसे आऊँ, इस पर कहते हैं।

राजन्, और भी इन सिद्धपादुका, गुटिका, खड्‌ग, पारद आदि का स्वीकार कर सिद्धों के मार्ग से आप स्वर्गमण्डल में आने का अंगीकार कीजिए। हे तत्त्वज्ञ, आपके सरीखे जो साधु महात्मा हैं, वे अपने पास आई हुई लक्ष्मी का अस्वीकार कर अपमान नहीं करते और अप्राप्त लक्ष्मी की अभिलाषा भी नहीं करते। महात्मन्, जिस तरह भगवान् नारायण के आगमन से तीनों लोक पवित्र होते हैं, वैसे ही निर्विघ्न सुखपूर्वक विहार कर रहे आपके आगमन से आज ही स्वर्ग पवित्र हो जाय। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे देवताओं के अधिनायक, मेरा मन्तव्य तो यह है कि सभी स्थल (देश) स्वर्ग के सदृश ही सुखप्रद हैं; क्योंकि मैं जिस भूमानन्दात्मक परम आत्मा को स्वर्ग मानता हूँ, उसकी सर्वत्र सत्ता है। मेरे लिए कहीं पर परिच्छिन्न है नहीं ॥२२-२६॥

पूर्णकाम होने से भी मेरे लिए सर्वत्र सुख है, यों कहते हैं।

हे प्रभो, मैं सभी जगह सन्तुष्ट रहता हूँ, सभी जगह विहरण करता हूँ। मेरे मन में कोई भी इच्छा नहीं हैं, क्योंकि जहाँ-जहाँ मैं जाता हूँ, वहाँ सर्वत्र ही मैं आनन्द से परिपूर्ण रहता हूँ। हे इन्द्र, इन सब बातों से मैं परिच्छिन्न किसी एक स्थान में रहनेवाले ऐसे तुच्छ स्वर्ग के प्रति जाने की सम्भावना ही नहीं कर सकता। अतः लाचारी है कि मैं आपकी आज्ञा का पालन नहीं कर सकूँगा। जो विषय असम्भव है, उसके लिए आपको आज्ञा देना ही अनुचित है, अतः आज्ञापालन न करना मेरा अपराध नहीं हो सकता, यह तात्पर्य है। इन्द्र ने कहा : हे साधो, जिन लोगों ने जानने योग्य तत्त्व जान लिया है और जिनकी बुद्धि परिपूर्ण हो गई है, वे भोग भोगें चाहे न भोगें, दोनों ही बराबर हैं। ऐसा होने पर भी विषयोपभोग सज्जनों ने अपने प्रारब्ध का क्षय करने के लिए किया ही है और मैं भी उसे अच्छा ही मानता हूँ। यद्यपि इस तरह दूसरी बार इन्द्र ने राजा से कहा तथापि स्वर्ग जाने की इच्छा न रहने के कारण राजा शिखिध्वज प्रत्युत्तर न देकर जब चुपचाप मौन ही रहे, तब पुनः सखेद देवराज ने कहा : राजन् यदि आप स्वर्ग के लिए निरपेक्ष ही हैं, तो मैं ही यहाँ से क्यों न चला जाऊँ। क्योंकि मेरे आने में जो प्रयोजन रहा, उसकी सिद्धि तो आपसे हो नहीं रही है। उसके बाद जब कि राजा अपनी अर्ध स्वीकृति दे कर कह रहे थे कि मैं आज तो स्वर्ग नहीं आऊँगा, परन्तु फिर राज्यगद्दी पर बैठकर पहले की तरह आपके शत्रुओं को मारने के लिए स्वर्ग में आ जाऊँगा। तब 'हे राजन्, आपको राज्यप्राप्तिरूप कल्याण शीघ्र हो' यों आशीर्वाद

देते हुए देवराज इन्द्र अन्तर्हित हो गये। देवराज इन्द्र के अदृश्य हो जाने पर उनके साथ का दूसरा देवसमूह भी ऐसे अदृश्य हो गया, जैसे समुद्र में वायु के अदृश्य हो जाने पर व्याकुल हुए मगर, फेन, सर्प आदि से युक्त तरंगसमूह अदृश्य हो जाता है ॥२७–३२॥

एक सौ सातवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ आठवाँ सर्ग

क्रोध की परीक्षा करने के लिए माया से चूडाला का राजा को उपपतिसमागम दिखलाना तथा अन्त में अपना असली रूप दिखलाना – यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, इन्द्र के आने की माया का उपसंहार कर चूडाला विचारने लगी – सौभाग्य का विषय है कि यह भूमिपति विषयभोगों की लालसाओं से आकृष्ट तो नहीं हुआ। इन्द्र के आने पर भी यह इस प्रकार शान्त रहा और उसके मुख आदि अवयवों की स्थिति भी आकाश के सदृश विशुद्ध रही। इसने इन्द्र का अर्घ्य, पाद्य आदि से पूजन भी किसी तरह के क्षोभ के बिना शिष्टों के–जैसा उचितरूप से किया। अब मैं दूसरी बार भी इसकी राग–द्वेष से भरे, बुद्धि में क्षोभ पैदा करानेवाले किसी मायाप्रपंच को रचकर आदरपूर्वक परीक्षा करती हूँ (देखें, उत्तीर्ण होता हैं कि नहीं) उस प्रकार विचार कर वह रात्रि में चन्द्रमा का उदय हो जाने पर कमनीय सती मदनिका के रूप में परिवर्तित हो गई। उस समय जब कि अरण्य में खिले फूलों से युक्त वृक्ष और लताओं की समृद्धि से परिपूर्ण, मधुर सुगन्ध से भरपूर मलयपर्वत की वायु बह रही थी, राजा शिखिध्वज भी सन्ध्याकाल के जपकर्म में तत्पर होकर भागीरथी के तट पर स्थित थे, तब सघन फूलों के गुच्छों से युक्त, वनदेवियों के अन्तःपुररूपी देवतरुओं के छोटे–छोटे लताकुंज में उसने काममद से युक्त होकर प्रवेश किया। वहाँ मालाओं से अलंकृत होकर वह मदनिका संकल्प से रचित पुष्पशय्या पर माया से बनाये गये अपने अनुरूप युवा जार पुरुष को – जिसको कि दाढ़ी–मूँछ निकली नहीं थी अतएव जो दाढ़ी–मूँछवाले शिखिध्वज की अपेक्षा अधिक सुन्दर लगता था, जिसे लताकुंज में प्रवेश के पहले से ही उसने अपने गले लगाया था– लेकर लेट गई। जपकर्म के अनन्तर सन्ध्या के स्थान कुंज से उठकर राजा ने मदनिका का अन्वेषण आरम्भ किया। अन्वेषण करने पर उसने लताकुंज में मदनिका को और उसके गले में लगे सुन्दर जार पुरुष को देखा। उस जार युवा के कन्धे मदनिका के केशों से और उसके अपने दीर्घ केशों से वेष्टित हो गये थे। उसका सारा शरीर चन्दनों से अवलिप्त था। उसके माथे पर के केश–भूषण शय्यापर बार–बार इधर–उधर के परिवर्तन एवं परस्पर के मर्दनों से अस्त–व्यस्त हो गये थे। सुवर्ण सदृश कान्तिवाले, मोड़ने के कारण आकार में द्विगुण हुए मदनिका के भुजरूपी तकिये पर वह जार अपना कान, आँख का आखिरी भाग, कपोलतल और केश रखकर लेट रहा था। शिखिध्वज ने तदनन्तर यह भी देखा कि स्त्री–पुरुष दोनों के मुख परस्पर के हास से पूर्ण है। एक दूसरे का मुख एक दूसरे के मुख से लगा हुआ है। इन्होंने कल्पलता के वस्त्र पहिने हैं। उन्होंने चंचल माल्ययुक्त पुष्पशय्यापर शयन किया है, ये काम से आतुर और पूर्ण व्याकुल हैं, अपने अंगों के आलिंगन के बहाने एक दूसरे को अपना प्रेम समर्पण कर रहे हैं ॥१–१२॥ ये एक दूसरे के सामने ही मुख किये हुए हैं, बड़े आनन्द में मस्त हैं, प्रबल काममद के

कारण इनको बाह्यवस्तु की ओर कुछ भी ध्यान नहीं है, फूलों से एक दूसरे का ताडन कर रहे हैं और छातियों से ही स्तनों का मर्दन कर रहे हैं। यह सब देखकर राजा क्रोधरूपी विकार से रहित अन्तःकरण से अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ और उसने यह कहा : बहुत ही आनन्द का विषय है कि ये दोनों व्यभिचारी कैसे आनन्दपूर्वक अवस्थित हैं। अकस्मात् आये हुए अपने को देखकर डरे हुए उन दोनों के प्रति राजा ने कहा : हे प्रिये, तुम दोनों अपनी इच्छा के अनुसार सुख से जैसे स्थित हो, उसी तरह स्थित रहो, मैं तुम लोगों के कार्य में विघ्न क्यों डालूँ। यों कहकर वे राजा वहाँ से हट गये। तदनन्तर एक मुहूर्तमात्र में उस मायाजाल का उपसंहार कर प्रिय उपपति के साथ संभोग करने के कारण विकसित शरीर को दिखलाती हुई वह चूड़ाला लताकुंज से बाहर निकल आई। इस राजा को उसने सुवर्ण की शिला पर बैठे हुए देखा। वे एकान्त में समाधि लगाकर बैठे थे, उनके नेत्र कुछ-कुछ विकसित (खुले हुए) थे। जहाँ राजा बैठे हुए थे, उस प्रदेश में जाकर लज्जा से विनम्रमुख होकर अंगना मदनिका क्षणभर चुपचाप खड़ी हो गई। उस समय उसके मन में अपने पापकर्म के लिए भारी खेद था और उसका मुख फीका पड़ गया था। एक क्षण के बाद ध्यान से उठकर राजा शिखिध्वज उस मदनिका के प्रति क्षोभरहित अन्तःकरण से अन्यन्त मधुर यह वाक्य बोले : हे तन्वि, क्या शीघ्र ही किसीने तुम्हारे आनन्द में बाधा पहुँचाई, अच्छा कहो, तुमने आनन्द का उपभोग तो किया न। समस्त प्राणी केवल एकमात्र आनन्द के लिए ही जिस-किसी वस्तु के ग्रहण में प्रयत्न करते हैं। हे विलासिनि, जाओ, फिर उस अपने कान्त को प्रेमभरी चेष्टाओं से सन्तुष्ट करो, क्योंकि तीनों जगत् में परस्पर स्वाभाविक स्नेह बड़ा दुर्लभ होता है ॥१३-२१॥

हे मानिनि, तुम्हारे इस कार्य से मैं किसी तरह के उद्वेग का अनुभव नहीं करता, क्योंकि संसार की वस्तुस्थिति जो जानते हैं, उन्होंने जानना चाहिए - इस संसार में जो जो वस्तु इष्टतम (अति प्यारी) है, वह सब वस्तु तुम्हारे सदृश ही है यानी दूसरे के उपभोग के योग्य है। इसलिए तुम्हारे कार्य से मेरी कुम्भ में श्रद्धा नष्ट नहीं हो सकती। हे कोमलांगि, मैं और कुम्भ दोनों तो यहाँ किसी तरह के राग से छूये ही नहीं गये। तुम तो उन दोनों से भिन्न कोई तीसरी दुर्वासा मुनि के शाप से पैदा हुई बाला हो। अतः तुम जो चाहो, वह बे-रोक-टोक कर सकती हो। मदनिका ने कहा : हे महाभाग, आप जो कह रहे हैं, वह सब ठीक ही कह रहे हैं, क्योंकि यह स्त्री का स्वभाव ही महान् चंचल है। स्त्रियों में आठगुना काम रहता है, अतः महाराज, आप मेरे ऊपर क्रोध न करें। महाराज, मैं तो अबला हूँ, आप जब सन्ध्या-जप में बैठे हुए थे, तब इस गहन कानन में रात्रि में इस कामी पुरुष ने मुझसे प्रार्थना की। मैं बेचारी दीन अबला क्या कर सकती हूँ। राजन्, जिसका विवाह हो गया है, वह पति-पराधीन होने के कारण स्वातन्त्र्यबल से हीन ही है - इस तरह की अबला और अविवाहित तारूण्ययुक्त कुमारी-दोनों भी एकान्त में कामी जनको पाकर रति का निरोध नहीं कर सकतीं, यह स्त्रियों का स्वभाव है। यदि दैववश रति में बाधा पहुँची, तो कामी पुरुष अपने शरीर में मन आदि की स्थिरता नहीं कर सकता यानी चंचलतर हुए मन आदि से युक्त वह सन्तप्त होने लगता है। ऐसी स्त्रियाँ परपुरुष का समागम नहीं कर सकतीं, जिनके पास पुरुषों को वश में करनेवाला सौन्दर्य नहीं है और जिनके पास वैसा सौन्दर्य है, वे यदि एकान्त में परपुरुष के सामने हो जाय, तो उनका समागम न होने में कोई कारण ही मालूम नहीं पड़ता। ऐसी स्थिति में स्वामी का क्रोध; शास्त्रीय निषेध, जनापवाद, सतीत्व आदि क्या कर सकेंगे यानी प्रबलतर

रतिराग से बाधित हुए वे क्रोध आदि एकान्त में जार के साथ नाता जोड़ने में बाधक नहीं हो सकते। हे स्वामिन्, मैं अबला स्त्री हूँ, बाला हूँ, मूर्ख हूँ, मैंने भयंकर अपराध किया है; आप क्षमा प्रदान कीजिए, क्योंकि साधु पुरुष क्षमाशील ही हुआ करते हैं ॥२२–२८॥

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे बाले, मेरे अन्तःकरण में तो तुम्हारे कृत्य से, आकाश में वृक्ष की नाईं, तनिक भी क्रोध नहीं है। केवल शिष्टजनों की निन्दा के भय से मैं तुम्हें अपनी वधू के रूप में अब नहीं चाहता। हे अंगने, अब हम दोनों केवल मित्रता से इन वनप्रान्तों में पहले की नाईं रागनिर्मुक्त होकर निरन्तर साथ–साथ ही सुखपूर्वक खेल–कूद किया करेंगे। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, वहाँ पर उस तरह अविकृत रूप से अब राजा शिखिध्वज स्थित थे, तब परीक्षित उसके राग–द्वेष की वासनाओं से निर्मुक्त अन्तःकरण से अत्यन्त प्रसन्न हुई वह चूडाला अपने मन में विचार करने लगी। हो ! निश्चय ही ये मेरे भगवान् शिखिध्वज सर्वोच्च समभाव को प्राप्त हो गये हैं। राग से निर्मुक्त हो जाने के कारण इन में क्रोध का तो नामो–निशान नहीं रहा, ये सचमुच जीवन्मुक्त होकर स्थित हैं। इन्द्र के द्वाश्चय हरा जो उत्तमोत्तम भोग और बड़ी–बड़ी सिद्धियाँ दी जा रही थीं, उन भोगों ने और सिद्धियों ने इनको अपनी ओर तनिक भी नहीं खींचा। इन को न सुख, न दुःख, न आपत्तियाँ और न सम्पत्तियाँ ही अपनी ओर खींच सकती हैं। मैं जिन्हें जीवन्मुक्तों का लक्षण मानती हूँ वे सब शान्ति, क्षमा, धीरज, तृप्ति आदि प्रशंसित और कमनीय बड़ी–बड़ी ऋद्धियाँ इस समय अकेले इन्हीं का आश्रय कर रही हैं। अब मैं इन्हें दूसरे नारायण के रूप में मान रही हूँ। बड़े–बड़े विशिष्ट गुणों की स्थिति हो जाने के कारण इन्हें मेरे वृत्तान्त का यदि स्मरण दिलाया जाय, तो बहुत अच्छा हो। चूँकि ये पूर्णरूप से योग्य हो चुके हैं, इसलिए मैं अपना समस्त वृत्तान्त इन्हें स्मरण कराती हूँ। अब मैं इस कुम्भरूप का परित्याग कर चूडाला बन जाती हूँ। ऐसा विचारकर अटल निश्चयवाली चूडाला ने मदनिका के शरीर का त्याग कर राजा को वहाँ पर तत्क्षण ही चूडाला शरीर बतलाया। उस समय ऐसा मालूम पड़ने लगा, मानों मदनिका के शरीर से चूडाला निकली हो और राजा के सामने योगधारणा से युक्त वह ऐसी शोभने लगी जैसे किसी पिटारी में से निकली हुई कोई रत्नश्री किसी के सामने शोभती हो। राजा शिखिध्वज ने निर्मल अंगों से सुशोभित, फिर स्वामी के चित्त को अनुरक्त करने में चतुर, कमनीय मदनिका को ही, अपनी पूर्व–प्रियभार्या चूड़ाला के रूप में देखा। वसन्तकाल में खिली हुई सुन्दर पद्मिनी की नाईं (अथवा आविभूर्त विष्णु की पद्महस्ता लक्ष्मी की नाईं), जब रामावतार की समाप्ति हो जाने पर श्रीरामचन्द्र विष्णुरूप बन गये थे तब पहले सीता के रूप में भूमि के गर्भ में प्रविष्ट हुई और फिर उससे निकली हुई लक्ष्मी की नाईं तथा पिटारी से प्रकट हुई रत्नशोभा की नाईं उस राजा ने अपनी भार्या चूडाला को देखा ॥२९–३९॥

एक सौ आठवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ नौवाँ सर्ग

बार बार देखकर और ध्यान से सब कुछ जानकर अत्यन्त आश्चर्यचकित और सन्तुष्ट हुए राजा का प्रशंसापूर्वक चूडाला को आलिंगन करना और रात्रि बिताना।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामजी, तदनन्तर अपनी पहले की भार्या देखकर आश्चर्य के

मारे राजा शिखिध्वज के नेत्र विकसित हो गये और वह विस्मययुक्त वाणी से यह कहने लगे : कमल के पत्तों के समान विशाल नेत्रवाली हे सुन्दरि, तुम कौन हो, कहाँ से आई हो, क्या तुम ही कुम्भ आदि का रूप धारण कर यहाँ रहती हो, कितने समय तक यहाँ रहोगी और मेरे पास आने का क्या प्रयोजन है ? हे सुन्दरि, अवयवों के गठन से, उनकी चेष्टाओं से, स्मित से, प्रेमभरी वाणी बोलने की शैली से और मेरी भार्या के जैसे तुम्हारे विलास से तुम चूडाला की मूर्ति के ही सदृश दिखाई दे रही हो। चूडाला ने कहा : प्रभो, हाँ ऐसा ही जानिए, मैं बिना किसी संशय से चूडाला ही हूँ। स्वाभाविक शरीर से ही मैंने आज आपकी प्राप्ति की है। महाराज, इस अरण्य में कुम्भ आदि के शरीरों के निर्माण द्वारा मेरा जो माया प्रपंच सैकड़ों शाखा-प्रशाखाओं के रूप में आपके सामने आया, वह केवल आपको बोध देने के लिए ही मैंने रचा था। मोहवश राज्य छोड़कर जबसे तप के लिए वन में आप आये, तभी से मैं आपको ज्ञान देने के लिए प्रयत्नशील रही। राजन्, इस कुम्भ के शरीर से मैंने ही आपको बोधित किया है। मैंने माया से जिन कुम्भ आदि शरीरों का निर्माण किया था, वह केवल आपको ज्ञान देने के लिए ही था। वास्तव में कुम्भ आदि कुछ भी सत्य नहीं थे। हे महाराज, अब तो आप ज्ञेय वस्तु को जान चुके हैं, इसलिए आप पूर्वोक्त योग-धारणा से अविकल सब देख लेंगे। हे तत्त्वज्ञ, आप शीघ्र ही ध्यान लगाकर देखिए। जब चूडाला ने वैसा राजा से कहा तब योगधारणा के अनुकूल आसन बाँधकर ध्यान से अपना विशेष सब हाल अच्छी तरह से जान लिया। राज्यपरित्याग से लेकर चूडाला के साक्षात्कार तक जितनी अपने लिए घटनाएँ घटीं थीं, उन सबका राजा ने मुहूर्तमात्र के ध्यान से प्रत्यक्षतः ज्ञान कर लिया ॥१-१०॥

राज्यत्याग से लेकर वर्तमान क्षणपर्यन्त हुई यावत् घटनाओं का साक्षात्कार कर लेने के बाद राजा समाधि से विरत हो गये। जब समाधि टूट गई, तब हर्ष के मारे विकसित हुए नेत्रकमलवाले राजाने वेगपूर्वक रोमांचों के कारण उज्ज्वलता प्राप्त किये हाथों को फैलाकर अपनी कान्ता चूडाला को दीर्घ काल के बाद ऐसे आलिंगन किया, जैसे नेवला-नेवली का आलिंगन करे। उस समय उसके अंग विदीर्ण हो रहे थे, घन-स्नेह टपक रहा था, आँसुओं की धारा बह रही थी और अनुराग स्फुरित हो रहा था। हर्ष से पूर्ण उनके उस आलिंगन में जो अनिर्वचनीय परमानन्दरूप श्रृंगार का भाव व्यक्त हो रहा था, उसका शेषनाग भी अपनी जिह्वाओं से वर्णन नहीं कर सकते। जैसे अमावास्या के दिन सूर्य और चन्द्रमा एक दूसरे के शरीर में मिले हुए रहते हैं वैसे; गीली मिट्टी से बनाये गये मिले जोड़े के - जैसे, पाषाणशिला पर बनाई गई परस्पर आलिंगन की हुई दो श्लिष्ट मूर्त्तियों के-जैसे परस्पर आलिंगन किये हुए वे दोनों प्रीतिपूर्ण पति-पत्नी बहुत देर तक मिलित ही रहे। एक मुहूर्त के बाद जिन में से स्वेदजल टपक रहा था, जो रोमांचों से स्थूल हो गये थे, ऐसे अपने दोनों हाथों को उस स्निग्ध दम्पत्ति ने (पति-पत्नीने) धीरे धीरे कुछ शिथिल किया। उनके हृदय आनन्दामृत से पूर्ण थे, आनन्द के आधिक्य से उनका मन ऐसा जड़ बना था कि उसका परिज्ञान करने में कोई हेतु दूसरा प्रतीत नहीं हो रहा था अतएव वे एक तरह से ठीक शून्यहृदय हो गये थे। अपना-अपना हाथ छुड़ाकर और किसी खास लक्ष्य स्थान में नयनों को न लाकर यों ही वे कुछ कालतक स्थित रहे। घने आनन्द से विभोर क्षणभर मौन रहकर राजा शिखिध्वज चिबुकपर हाथ लगा कर चूडाला से प्रेममृदु वाणी कहने लगे : अहा ! अत्यन्त मधुर और स्नेहप्रचुर, कुलीन स्त्रियों का अनुराग कितना व्यापक रहता है, इसका वर्णन किसी तरह नहीं हो सकता, वह बड़ा

सुन्दर और अमृत से भी स्वादिष्ट रहता है, साक्षात् पुण्य ही अनुराग के रूप में अनुभूत होता है ॥ हे भद्रे, तुम्हारे सूक्ष्म अंग हैं, तुम बाल चन्द्रमा के सदृश अत्यन्त मुग्ध हो, अपने स्वामी के हेतु तुमने दीर्घकालतक कितना बड़ा दारुण क्लेश सहा। प्रिये, इस तरह तुम्हारी जिस बुद्धि के द्वारा (स्वामी के प्रति स्नेहबुद्धि के द्वारा) दुस्तर उस संसाररूपी अन्धकार से मैं पार करा दिया गया, उसकी उपमा किससे दी जा सकती है अर्थात् किसीसे भी नहीं ॥११–२१॥ हे कृशांगि, अरुन्धती, इन्द्राणी, गौरी, गायत्री, लक्ष्मी, सरस्वती आदि बड़ी–बड़ी पुण्यस्त्रियाँ कोमल अंगवाली तुम्हारी गुणसम्पत्ति से सब नीचे ही हैं। हे सुन्दरि, स्त्रियों में अपने अलौकिक सौन्दर्य के कारण प्रसिद्ध हुई जो धी, श्री, कान्ति, क्षमा, मैत्री, करूणा आदि सर्वोत्तम दक्ष कन्याएँ हैं, उनमें भी तुम, सती की नाईं, सर्वप्रथम ही मालूम हो रही हो। बड़ा भारी सतत प्रयत्न करके जो तुमने अलौकिक बोध देकर मेरा उपकार किया है, उसके लिए किस प्रत्युपकार से तुम्हारा मन सन्तुष्ट होगा। तुम कृतार्थ हो चुकी हो, तुम्हारा मन जिस प्रत्युपकार से सन्तुष्ट हो सकता है, वैसा प्रत्युपकार ही संसार में दुर्लभ है। अनादिकाल से चले आ रहे अनन्त गहन से भी गहन मोह से संसार–सागर में गिरे हुए स्वामी को प्रयत्नशील कुलस्त्रियाँ ही पार करा देती हैं। स्वामी के लिए कुलीन स्त्रियाँ ही सखा, बन्धु, सुहृद्, चाकर, गुरु, मित्र, धन, सुख, शास्त्र, घर, दास आदि सब कुछ हैं। सब तरह के प्रयत्नों से कुलीन स्त्रियों का निरन्तर पूजन करना चाहिए, क्योंकि इहलोक और परलोक–दोनों का सम्पूर्ण सुख स्त्रियों में ही भलीभाँति निहित है ॥२२–२८॥

निरीह और कृतकृत्य तुम्हारा प्रत्युपकार करने में मैं असमर्थ हूँ, यों राजा कहते हैं।

सब प्रकार की इच्छाओं से रहित और संसाररूपी महान् दुस्तर सागर से पार हो चुकी तुम्हारे लिए इस महान् उपकार का प्रत्युपकार किस तरह मैं कर सकूँगा ? हे प्रिये, तुम्हें मैं कुलांगना मानता हूँ, इस लोक में लोकप्रसिद्ध जितनी कुलांगनाएँ हैं, उनके ऊपर इस समय तुमने विजय पा ली। अबसे स्त्रियों के सौजन्य की जब प्रशंसा होगी, तब तुम्हारी ही सर्वप्रथम गणना होगी। हे मानिनि, अपनी अपेक्षा उत्तम गुणों में बढ़ जानेवाली तुम्हारी रचना करनेवाले ब्रह्माजी के ऊपर निश्चय ही अरुन्धती आदि स्त्रियाँ क्रुद्ध होती होंगी, यह मैं मानता हूँ। रूप, सौजन्य और उत्तमोत्तम गुणरूपी रत्नों की निधिभूत हे चूडाले, तुम सती (पतिव्रता) हो, आओ, तुम्हारे गुणों से उत्साहित हुए मेरा तुम फिर आलिंगन करो। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामभद्र, उस प्रकार कहकर राजा शिखिध्वज ने – मृग के बच्चे के सदृश विशाल नेत्रवाली उस चूडाला का – फिर गाढ़ ऐसे आलिंगन किया, जैसे नेवले का नेवली। चूडाला ने कहा : हे देव, शुष्क क्रियाओं के चक्कर में निरत और व्याकुलमति आपको बार–बार देखकर मैं अत्यन्त दुःखित होती थी। इसलिए हे देव, आपको तत्त्वज्ञान देकर मैंने वह अपना स्वार्थ ही सिद्ध किया है। इस विषय में आप मेरा गौरव व्यर्थ ही बढ़ा रहे हैं। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे वरारोहे, तुम जिस तरह से शुभ स्वार्थ सिद्ध कर रही हो, उसी तरह से अब सभी कुलीन स्त्रियाँ स्वार्थ सिद्ध करें, यह मैं चाहता हूँ। चूडाला ने कहा : हे कान्त, हे विभो, अब आप इस जगत्–रूपी जाल के एकदम किनारेपर आकर विश्रान्त हो गये हैं। आज अपना वह पयोव्रत, उपवास आदि पहले का तुच्छ मोह क्या आप देख रहे हैं ? यह करूँ, यह न करूँ, यह प्राप्त करूँ – इस तरही बुद्धि की अपक्वदशाजनित कोमलतारूप जो स्थिति थी , उसके प्रति क्या आप अपने मन में अब हँसते हैं कि नहीं। हे देव, जैसे आकाश में पर्वत

नहीं दिखाई देते, वैसे अब आप में वे पहले की तुच्छ तृष्णाओं के संग्रह और तुच्छ संकल्परूपी कल्पनाएँ नहीं दिखाई देतीं। प्रिय आज आप किसके स्वरूप बन गये हैं, किस वस्तु में आपकी निष्ठा है, आप क्या चाहते हैं। हे विभो, आप पहले की शारीरिक चेष्टाओं को सत्य देखते हैं या असत्य (तुच्छ) देखते हैं ? राजा शिखिध्वज ने कहा : सुमनों से (फूलों से) पूर्ण नीलकमलमाला का अनुसरण करनेवाले नेत्रों से सुशोभित हे चूडाले, मेरे आत्मस्वरूपभूत हुई तुम जिस-जिसके अन्दर (मोह, विवेक, तत्त्वज्ञान आदि के अन्दर) प्रकाशकरूप से विद्यमान हो; उस-उसके अन्दर मैं भी प्रकाशकरूप से विद्यमान हूँ, इसलिए अब तुम जिस तरह देखती हो, वैसे ही मैं भी देखता हूँ, अपने अनुभव से ही तुम्हें मेरी निष्ठा जान लेनी चाहिए ॥२९-४१॥

उसीका विस्तार पूर्वक वर्णन करते हैं।

मुझे किसी विषय की इच्छा नहीं है, मेरा कोई अंश नहीं है, मैं आकाश के सदृश अत्यन्त निर्मल हूँ, निस्पृह हूँ, शान्त हूँ, परमार्थ सत्स्वरूप हूँ, देह आदि में अहंभाव का भ्रम छोड़कर, बहुत काल बीत जाने के पीछे, वास्तव में, मैं जिस रूप का था, उस रूप का ही बनकर अब स्थित हूँ। आत्मा में निरन्तर आसक्त हुए चित्तपर ही मैं अवलम्बित रहता हूँ, इसलिए मैंने वह अलौकिक आनन्ददशा प्राप्त कर ली है, जिससे कि हजारों प्रयत्नों से हरि, हर आदि महामहिमशाली देवता भी मुझे अलग नहीं कर सकते। हे भ्रमरलोचने, समस्त परिच्छेदों से निर्मुक्त यानी परिपूर्ण विशुद्ध चिन्मात्र आत्मा में मैं स्थित हो गया हूँ, मैं अब अपने वास्तवरूप में स्थित होकर बैठा हूँ और संसाररूपी भ्रम से एकदम अलग हो गया हूँ। हे सुन्दरि, न तो मैं तुष्ट हुँ, न खिन्न हूँ, न कार्य हूँ, न कारण हूँ, न स्थूल हूँ और न सूक्ष्म हूँ, किन्तु मैं केवल अबाधित (जिसका किसी काल में बाध नहीं होता) वस्तु ही हूँ। हे चूडाले, सूर्यबिम्ब से निकले हुए तथा भीत पर न गिरे हुए यानी केवल आकाश में फैले हुए, क्षय और अतिशय से रहित विशुद्ध प्रकाश के समान अब मैं बन गया हूँ। हे पतिव्रते, मैं शान्त हूँ, जगत् का वैषम्य निकालकर साम्य प्राप्त किये हूँ, स्वरूपनिष्ठ हूँ, बिना मन का हूँ, व्यापक मोक्ष भी मैं हूँ और सम हूँ। तरंग के सदृश चंचल कटाक्षवाली हे प्रिये, जो 'तत्' वस्तु है, वही मैं हूँ, अब दूसरा कुछ नहीं कह सकता हूँ, तुम मेरी गुरु हो, तुम्हें मैं नमस्कार करता हूँ। विशाल नेत्रवाली तुम्हारे प्रसाद से ही मैं भवसागर से पार उतर गया। अब मैं, अग्नि में सौ बार शुद्ध किये गये सोने के सदृश फिर मल ग्रहण नहीं कर सकता। शान्त, स्वस्थ, कोमल, स्वरूपस्थिति में अत्यन्त उद्योगी, वीतराग, वासनाशून्य अन्तःकरण से युक्त, सबसे परे और सर्वव्यापक होकर, आकाश की नाईं, यह मैं तुम्हारे सामने अवस्थित हूँ।४२-५०॥

चूडाला ने कहा : हे महासत्त्व, हे प्राणेश, हे हृदयप्रिय, हे प्रभो, हे महामते, जब कि आप उस प्रकार की स्थिति में स्थित हैं। तब अब आपको क्या रूचता है, कहिए। शिखिध्वज ने कहा : हे तन्वि, यह अच्छा नहीं लगता, इस प्रकार जिस वस्तु का निरादर किया जाता है, उस वस्तु को मैं नहीं जानता और यह अभीष्ट है, इस प्रकार जिस वस्तु की चाहना की जाती है उसे भी मैं नहीं जानता। तुम जिस तरह से जो आचरण करती हो, व्युत्थानकाल में उसे मैं उसी तरह का जानता हूँ। हे प्रिये, जो जो वस्तु जिस तरह से तुम्हें अभिमत है, वह सब उसी तरह की अविकलरूप से रहे। मैं तो आकाश के सदृश निर्लेप, उदासीनता और पूर्णतारूप सौन्दर्य से युक्त हो गया हूँ, इसलिए किसी भी वस्तु का अनुसन्धान करना

नहीं जानता। हे सुन्दरि, जो ही कुछ तुम कर्तव्यरूप से जानती हो, उसीको तुम करो। मैं भी मणि जिस तरह अपने भीतर प्रतिबिम्ब धारण करता है उसी तरह उसे अपने हृदय में धारण करूँगा। इच्छा, अनिच्छा और उनके विषयों से निर्मुक्त चित्त के कारण मैं प्रारब्धप्राप्त अनिन्दित या निन्दित वस्तु की न स्तुति करता हूँ और न निन्दा ही करता हूँ, इसलिए तुम जैसा चाहो वैसा करो। चूडाला ने कहा : हे महाबाहो, यदि ऐसी बात है, तो पहले आप मेरा मत सुनिये और हे जीवन्मुक्तस्वरूप, सुनने के अनन्तर उसीका आप आचरण कीजिये। महाराज, अज्ञान का विनाश करनेवाले सर्वत्र अद्वैतबोध से सम्पन्न हम लोग सभी तरह की इच्छाओं से निर्मुक्त और आकाश के सदृश विशद होकर अवस्थित हो गये हैं। हे राजन्, हम लोगों के लिए जैसी अनुपकारक राज्यभोगादि की अपेक्षा है वैसी ही अनुपकारक उनकी उपेक्षा भी है, क्योंकि चक्षु आदि बाह्येन्द्रिय और मुख्य प्राण अपने–अपने उचित विषयों की यदि अनिच्छा करें, तो उससे आत्मा में कौन–सा उपकार होगा ? ज्ञानियों को अज्ञानियों की तरह देहादि–अध्यास तो है नहीं, जिससे कि विषयोपभोग से देहादि के मलिन हो जानेपर आत्मा भी मलिन हो जाय। जो तत्त्ववित् है वह तो निष्क्रिय असंग चिन्मात्रस्वरूप ही है, इसलिए ऐसा कौन तत्त्वज्ञानी होगा, जो विषयोपभोगों का अभ्यास करेगा। इसलिए हे पुरुषोत्तम, प्रारब्ध के केवल उपभोग से आत्मा में मलिनता की प्राप्ति न होने के कारण प्रारब्धभोग के आरम्भ में, अन्त में और मध्य में हम लोग जिस स्वभाव के हैं, उसी स्वभाव के होकर केवल अवशिष्ट प्रारब्ध का भोग से विनाशकर स्थित रहें, इससे न तो हम विपरीत हो जायेंगे और न दूसरे ही बन जायेंगे। हे प्रभो, वर्तमान समय में यह जो अपना अवशिष्ट आयुकाल है, उसको राज्यभोग से बिताकर क्रमशः कुछ समय के बाद हम लोग विदेहमुक्त हो जायेंगे ॥५१–६०॥

'तस्मादाद्यन्तमध्येषु' इस उक्ति के अर्थान्तर की भी संभावना कर रहे राजा शिखिध्वज जिज्ञासु होकर पूछते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे चंचले, प्रारब्धभोग के आदि, मध्य और अन्त में हम लोग किस तरह के हैं और अवशिष्ट प्रारब्ध का भोग द्वारा विनाश कर किस तरह से स्थित रहेंगे, यह कहो ॥६१॥

राजा के अभिप्राय के अनुसार ही चूडाला भी उस उक्ति का अर्थ कहती है।

चूडाला ने कहा : हे राजश्रेष्ठ, हम लोग आदि, अन्त और मध्य में राजा ही हैं, इसलिए केवल मोह छोड़कर फिर उस राजरूप में ही हो जायेंगे। अपने ही नगर में सिंहासन पर आरूढ़ आप राजा बन जाइये और अन्तःपुर की सब स्त्रियों की भूषणरूप मैं आपकी पटरानी बन जाऊँ और हे राजन्, अपनी जो नगरी है वह दीर्घकाल के बाद अनेक राजाओं से युक्त, प्रसन्न प्रजावर्ग से पूर्ण, नाच रही नई–नई अंगनाओं से शोभित, ध्वजाओं एवं बज रहे नगाड़ों से व्याप्त और नानाविध फुलवाड़ियों से सुहावनी होकर अब फिर लहलहा रही लता, मंजरी, एवं गुंजार कर रही मकरन्दासक्त भ्रमरपंक्तियों से युक्त वसन्त की लतालक्ष्मी के सदृश हो जाय। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, चूडाला ने उस प्रकार जब राजा शिखिध्वज से कहा, तब वे हँसकर निःशंक हो चूड़ाला से क्षोभरहित और मधुरवाक्य कहने लगे। हे विशालाक्षि, हे प्रिये, यदि यही बात है, तो स्वर्ग में हम लोगों को जो स्वाधीन सिद्ध भोगलक्ष्मियाँ मिल रहीं हैं, उन्हींमें निवास क्यों न करें ? चूडाला ने कहा : हे राजन्, हमको तो न भोगों

की इच्छा है और न विभूतियों की ही इच्छा है। मेरी स्थिति तो स्वभाव के वश से जो भी कुछ प्राप्त हो जाता है, उसीके अनुसार रहती है। मेरे सुख के लिए न तो स्वर्ग है, न राज्य है और न क्रियाकलाप ही है। केवल अपने स्वरूप में स्थिति के अनुकूल व्यापारों से युक्त होकर मैं स्थिति के अनुसार किसी तरह के क्षोभ के बिना स्थित रहती हूँ। यह सुख है और यह दुःख है, इस तरह के द्वन्द्वों का जब विनाश ही हो गया है, तब उसीके साथ-साथ इस शान्त पद में सुखपूर्वक स्थित ही हूँ। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे विशालाक्षि, निर्विकार बुद्धि से तुमने जो यह कहा है वह ठीक ही है, क्योंकि राज्य का ग्रहण करें या त्याग करें आत्मा का कौन-सा उपकार होगा। हे भद्रे, सुख-दुःख की अवस्थाओं के विषय में चिन्ता का परित्याग कर मात्सर्य से रहित होकर हम लोग जिस तरह से स्थित हैं उसी तरह से अपने स्वरूप में निष्ठ होकर स्थित रहें। इस प्रकार वहाँ पर परस्पर वार्तालाप के कथन से रमणीय उन दोनों पति-पत्नी का दिन समाप्तप्राय हो गया। तदनन्तर उठकर दोषनिर्मुक्त उन दोनों शास्त्रविहित सायंसन्ध्या की। वे परस्पर अभीष्ट भोग के लिए उत्कण्ठित होते हुए भी वासना न रहने के कारण उत्कण्ठा से रहित थे और तत्-तत् समय में प्राप्त कार्य के ज्ञाता थे। स्वर्ग की सिद्धि का अनादर कर पूर्णचित्त होकर वे दोनों एक ही शय्यापर सो गये और उन-उन प्रणय चेष्टाओं से जीवन्मुक्त उन दोनों की वह रात्रि व्यतीत हो गई। परस्पर के अनुभव से सिद्ध जो भोग और मोक्षरूप सुख था, उसकी-प्रणय-वचनों के विलासों के संमिश्रण से – प्रशंसा कर रहे उत्तम प्रेमी उस दम्पती की बुद्धि में उत्कण्ठा पैदा करानेवाली वह लम्बी रात भी मुहूर्त की नाईं व्यतीत हो गई ॥६२-७६॥

एक सौ नौवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ दसवाँ सर्ग

संकल्प की सेना और हाथी के साथ वे दोनों अपने नगर में आ गये तथा
चिरकाल तक राज्य करने के बाद वे दोनों विदेहमुक्ति को प्राप्त हो गये, यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, रात बीत जाने पर पिटारी से निकले हुए जगत् के प्रकाशक मणि के सदृश प्रसिद्ध सूर्य भगवान् का उदय हो जाने पर जब आकाश बिलकुल अन्धकार से शून्य हो गया – साफ हो गया, जब मनुष्यों के लाल-लाल नेत्रों के सदृश कमलों का वन खिलने लगा और सम्पूर्ण लोकों में फैले हुए आचारों की नाईं जब सूर्य की किरणें चारों ओर दूर तक फैल गई तब वे दोनों स्त्री-पुरुष उठ गये। उठकर सन्ध्याक्रम का सम्पादन करके वे दोनों कांचन की गुफा में जाकर कोमल, चिकने तथा मनोहर पत्तों के बनाये गये आसन पर बैठ गये ॥१-३॥ तदनन्तर उठकर राजा शिखिध्वज की कान्ता चूड़ाला ने अपने सामने स्थित सात समुद्रों के जल से पूर्ण रत्नकुम्भ को राज्याभिषेक के लिए संकल्पित किया। पूर्व की ओर मुँह करके बैठे हुए अपने स्वामी राजा शिखिध्वज को जलसे भरे हुए उस मंगल घड़े से राजपत्नी चूडाला ने अपने निष्कण्टक स्वराज्य में अभिषिक्त किया। संकल्पमात्र से उपस्थित अपने सुवर्ण के सिंहासन पर अभिषिक्त होकर बैठे हुए राजा से देवरूपिणी पतले सुन्दर अंगोंवाली उस चूडाला ने कहा : हे प्रभो, केवल मुनियों के योग्य इस शान्त तेज को छोड़कर अब आपको शासन करने के योग्य इन्द्रादि अष्टपालों का तेज धारण करना चाहिए।

चूडाला द्वारा वन में यों कहने पर ठीक है, ऐसा ही करता हूँ – इस तरह बोल रहे राजा शिखिध्वज ने महाराज के स्वरूप को धारण कर लिया ॥४–८॥ तदनन्तर पट्टाभिषेक न होने के कारण द्वारपाल के स्थान पर बड़े विनय के साथ स्थित उस मानिनी चूडाला से राजा ने कहा : हे मनोरमे, अब तुम्हें महारानी के पद पर अभिषिक्त कर पटरानी बनाता हूँ। इस तरह कहकर तालाब में स्नान कराकर तथा महारानी के पद पर अभिषिक्त करके राजा ने अपनी उस प्रिया से कहा : हे कमलपत्र–सी आँखोंवाली प्रिये, तुम योगसिद्धि के द्वारा अपने सत्यसंकल्प से उत्पन्न, नानाविध अलंकार, शस्त्रास्त्र आदि महाविभव से युक्त बड़ी भारी सेना क्षणभर में एकत्र कर सकती हो। अपने स्वामी का ऐसा वचन सुनकर सुन्दर रंगवाली उस चूडाला ने, वर्षाकाल के मेघ के सदृश, रणवीरों के सैन्य का संकल्प किया। तदनन्तर उन दोनों ने वह सेना देखी, जो हाथी–घोड़ों से व्याप्त थी, जिसने पताकाओं से आकाश को भर दिया था और जिसने सारे जंगल को अवकाश से शून्य बना दिया था। जिसके तुरही आदि के शब्दों से पर्वत की गुफाएँ तथा गहनकोटर प्रतिध्वनि कर रहे थे और मस्तक के रत्नों के महाप्रकाश से अन्धकार के समूह को जिसने चूर्णचूर्ण बना दिया था। राजाओं के बनाये गये अनेक समूहों से युक्त उस सेना में, जिसके मदगन्ध को दूसरे हाथी नहीं सह सकते, ऐसे एक सुन्दर मदगन्धवाले हाथी के ऊपर वे राजदम्पती (वे राजा और रानी) सवार हुए। तदनन्तर अपनी प्रियतमा महारानी के साथ महाबलवान् वह राजा शिखिध्वज पैदल और रथ से व्याप्त उस बड़ी भारी सेना को खींचता हुआ तथा पर्वतों को हिला देनेवाली उस सेना से, भूमि से उठी हुई महावायु–जैसी, रसाशैल को (पृथ्वीरूप पहाड़ को) भेदन करता हुआ उस वन से शीघ्र चल दिया ॥९–१७॥

उस महेन्द्र पर्वत से राजा शिखिध्वज चल पड़ा। रास्ते में पर्वतों, अनेक देशों, नदियों और जंगलों के साथ–साथ अनेक गाँवों को देख रहे तथा राज्यपरित्याग कर अपने नगर से बाहर निकलने पर तत्–तत् देशवासियों के साथ जो–जो घटनाएँ जहाँ पर अपने ऊपर घटी थीं उन्हें अपनी प्रिया को दिखला रहे राजा शिखिध्वज ने थोड़े ही समय में स्वर्ग–सी सुन्दरी अपनी नगरी में प्रवेश किया। वहाँ उसके संमानित उन सामन्तों (सरदारों) ने जय शब्द से उसके आगमन को जाना और जानते ही वे उत्कण्ठितचित्त होकर उसकी अगवानी के लिए नगर से शीघ्र बाहर निकल आये। नगाड़े आदि की उन्नत ध्वनि से युक्त तथा एक दूसरे में मिल गई उन दोनों सेनाओं के साथ वह राजा शिखिध्वज अपने नगर में प्रविष्ट हुआ ॥१८–२१॥ नगर की स्त्रियों द्वारा जिसके ऊपर लाजांजलियों और पुष्पांजलियों से वृष्टि की गई थी, ऐसे उस राजा ने व्यापारियों के मार्ग को, जो उत्तरोत्तर अत्यन्त रमणीय था, देखते हुए अपने राजमहल में – जो छोटी–छोटी पताकाओं तथा ध्वजाओं से खूब सजाया गया था, मोतियों के तोरणों से मनोहर था, जहाँ पर स्त्रियाँ नृत्य और गान कर रहीं थीं, जो अपने स्थान पर कैलास पर्वत की नाईं उन्नत था – प्रवेश कर उसने लोक–शास्त्र प्रसिद्ध दही, दूर्वा, अक्षत, शंख, वीणा, छत्र, चँवर आदि राजा के योग्य मांगलिक तत्–तत् वस्तुओं से युक्त विनीत अपने अमात्य आदि प्रकृति समूह का भलीभाँति सम्मान किया। सात दिन तक नगर में खूब उत्तम उत्सव करके अपने अन्तःपुर में राजा ने अपने राजकार्यों का सम्पादन किया। हे श्रीरामजी, इस पृथिवीतल के ऊपर दस हजार वर्षों तक चूडाला के साथ राज्य करके वह राजा शिखिध्वज इस देहधारण से विरत हो गया। हे श्रीरामचन्द्रजी,

इस शरीर का त्याग कर फिर जन्म न लेने के लिए, तेलरहित दीपक की नाईं, वह महामति राजा शिखिध्वज निर्वाण को (कैवल्य मुक्ति को) प्राप्त हो गया। उस तरह की समदृष्टि से दश हजार वर्षों तक राज्य करके तथा उस अपनी प्रिया चूडाला के साथ खूब रमण करके वह राजा निर्वाण को प्राप्त हो गया। हे श्रीरामजी, भय और विषाद से शून्य, मान और मात्सर्य से मुक्त तथा उपस्थित सहज कर्मों का सम्पादन करनेवाले, भोगों में वैराग्यबुद्धि रखकर सबमें समरूप ब्रह्मदृष्टि से युक्त होते हुए उस आर्य शिखिध्वज ने उपर्युक्त बोध के द्वारा कामस्वरूप मृत्यु को जीतकर दस हजार वर्षों तक जम्बूद्वीप में एकछत्र राज्य किया ॥२२-२९॥

श्लोक के पूर्वार्ध से शिखिध्वज की स्थिति का अनुवाद करके उत्तरार्ध से उसी स्थिति का रामचन्द्र के लिए कर्त्तव्यरूप से उपदेश करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, इस तरह सम्पूर्ण राजाओं के मस्तक के चूडामणिरूप से स्थित होकर दीर्घकालतक इस भूतलपर नानाविध अनेक भोगों का उपभोग कर सन्मात्ररूप अवशिष्ट वह राजा शिखिध्वज अजर परमपद में अवस्थित हो गया। हे श्रीरामचन्द्रजी, इसी तरह आप भी प्रारब्ध-प्राप्त प्रकृत कार्यों का अनुसरण करते हुए शोक-शून्य होकर समाधि में स्थित रहिये अथवा स्वयं खूब भोग-मोक्षलक्ष्मी का अनुसरण करते हुए आप सभी व्यवहारों में स्थित रहिये। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि आप की समाधि और व्युत्थान के फल में कोई भेद नहीं है ॥३०॥

एक सौ दसवाँ सर्ग समाप्त

चूडाला का आख्यान समाप्त

एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग

जैसे चूडाला रानी ने राजा को सबका त्याग कराया, वैसे ही कचनामक अपने पुत्र को बृहस्पति ने सबका त्याग कराया और अन्त में अहंकार के त्याग से वह पूर्ण आत्मज्ञानी बन गया-यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, यह शिखिध्वज की छोटी-सी कहानी मैंने आपसे आद्योपान्त कही। इस मार्ग का अनुसरण कर रहे आप कभी भी खिन्न नहीं होंगे यानी आपकी सारी चिन्ताएँ निकल जायेगी। भद्र, राग और द्वेष का नामों-निशान मिटा देनेवाली, शिखिध्वज की वृत्ति का अवलम्बन कर राग-द्वेष से निर्मुक्त बुद्धि से प्रत्यक्ष किये गये पारमार्थिक पूर्णानन्द पद से सुशोभित होकर निरन्तर स्थित रहिए। हे रामभद्र, जिस प्रकार राजा शिखिध्वज ने उस तरह व्यवहार करते हुए राज्य किया, उसी प्रकार से आप भी राज्य में व्यवहार करते हुए भोग और मोक्ष से भरपूर रहिए। हे राघव, शिखिध्वज के प्रसिद्ध सर्वत्यागरूप उपाय से ही जैसे बृहस्पति के पुत्र कच ने ज्ञान प्राप्त किया, वैसे ही आप भी ज्ञान प्राप्त कीजिए। श्रीरामजी ने कहा : भगवन्, बृहस्पति के पुत्र समस्त वैभवों से परिपूर्ण कच ने जिस क्रम से ज्ञान प्राप्त किया उस क्रम को संक्षेपतः मुझसे कहिए ॥१-५॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे रामजी, देवताओं के आचार्य बृहस्पति के पुत्र श्रीमान् कच ने राजा शिखिध्वज की नाईं ही सर्वोत्तम ज्ञान प्राप्त किया, इसकी कथा आप सुनिये। कच का अभी बाल्यकाल समाप्त ही हुआ था और ज्यों ही यौवन आरम्भ हुआ, त्यों ही वह संसारसागर को तर

जाने के लिए कटिबद्ध हो गया। वह पद और पदार्थ का उत्तम ज्ञाता था। वह अपने पिता बृहस्पति से कहने लगा। कच ने कहा : हे भगवन्, हे सब धर्मों का ज्ञान रखनेवाले पिताजी, तन्तु के सदृश हजारों बन्धनों को देनेवाले जीव से युक्त मेरे–जैसा जन्तु इस संसाररूपी पिंजड़े से कैसे बाहर निकल सकता है, यह आप कहिये। बृहस्पति ने कहा : हे पुत्र, अनर्थरूप हजारों मगरों के निवासस्थानभूत इस संसाररूपी सागर से किसी तरह के उद्वेग के बिना किये गये सर्वत्याग से तत्काल ही जन्तु निकल जा सकता है। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, अपने पिता का परम पवित्र उस तरह का वचन सुनकर कच सभीका परित्याग करके एकान्तवन में चला गया। पुत्र के चले जाने से बृहस्पति को चित्त में कुछ भी उद्वेग नहीं हुआ, क्योंकि जो महान् होते हैं, वे संयोग और वियोग दोनों में सुमेरु पर्वत के सदृश निश्चल मनवाले होते हैं यानी उन दोनों दशाओं में महात्माओं के मन में कुछ भी उद्वेग आदि विकार नहीं होते। हे पापशून्य, वन में जाने के अनन्तर उसे जब आठ वर्ष व्यतीत हो गये, तब किसी महाअरण्य में उस कच ने अपने पिताजी को फिर प्राप्त किया जो कि उसके चित्त का परिपाकतारतम्य जानकर बचे हुए का त्याग कराने के लिए ही आये थे। कच ने पहले अपने पिताजी की विधिपूर्वक पूजा की, फिर उन्हें प्रणाम किया। बृहस्पति ने भी अपने पुत्र का आलिंगन किया। इतना होने के बाद अत्यन्त मधुरवाणी से उस कच ने बृहस्पति से पुनः पूछा। कच ने कहा : हे तात, मैंने जो सर्वत्याग किया है, उसका आज यद्यपि आठवाँ वर्ष है, तथापि निर्मल शान्ति मैं प्राप्त नहीं कर रहा हूँ। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, अरण्य में उस तरह के दीन वचन कच बोल रहा ही था की 'सभी का त्याग करो' यों कहकर बृहस्पति आकाश में अदृश्य हो गये। बृहस्पति के चले जाने के अनन्तर कच ने अपने शरीर पर से वल्कल आदि का भी परित्याग कर दिया और यह चन्द्र, बादल, तारे और सूर्य से रहित शरत् काल के आकाश की (जब सूर्योदय काल समीप रहता है, तब के आकाश की) नाईं दिगम्बर हो गया ॥६–१६॥ शरत्–काल में आकाशतल की नाईं उसने वर्षाकाल में गुफा आदि का आश्रय कर मेघवर्षण आदि का परित्याग कर दिया। शरद् आदि ऋतुओं में गुफा आदि का परिहार कर अनावृत दिशाओं में रहने लगा। उसका शरीर शान्त और सुन्न हो गया था तथा वह साँसमात्र ले रहा था। तीन वर्ष के बाद किसी एक जंगल में फिर अपने गुरु उसी पिताजी को खिन्न–चित्त उसने प्राप्त किया। भक्ति से उसने अपने पिताजी का पूजन, अभिवादन आदि किया, पिता ने भी अपने पुत्र का आलिंगन किया, अनन्तर खेद के कारण गद्गद वाणी से वह कच पूछने लगा। कच ने कहा : तातचरण, मैंने सबका त्याग कर दिया। कन्था, दण्ड, कमण्डलु आदि का भी त्याग कर दिया तथापि अपने आत्मपद में मेरी स्थिति नहीं हुई, अब मैं क्या करूँ ? बृहस्पति ने कहा : पुत्र, चित्त ही सब कुछ है, अतः उसीका त्यागकर तुम अपने स्वरूप में विराजित हो जाओगे। सर्वज्ञ लोग चित्तत्याग को ही सर्वत्याग कहते हैं। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, पुत्र से ऐसा कहकर बृहस्पति शीघ्रता से आकाश में उड़ गये, अनन्तर अन्तःकरण से खेद निकाल कर वह कच छोड़ने के लिए चित्त की खोज करने लगा। खोज करने पर भी जब उसे चित्त की प्राप्ति नहीं हुई, तब वह सोचने लगा और बुद्धि से ही अपने पिताजी के समीप गया यानी पिताजी का स्मरण किया ॥१७–२३॥

त्रिपुर का दाह करने पर जैसे असुरों का स्वयं दाह हो गया, उस तरह देह, इन्द्रिय आदि का त्याग

करने पर चित्त का स्वयं त्याग हो जायेगा, इस पर कहते हैं।

देह आदि जो कुछ ये प्रसिद्ध पदार्थ हैं, वे तो चित्त नहीं कहे जा सकते और उनमें चित्त कहाँ रहता है, इसका भी निरूपण नहीं हो सकता, इसलिए बेचारे अपराधशून्य देह आदि का मैं व्यर्थ क्यों त्याग करूँ ? इस परिस्थिति में अब चित्तस्वरूप महाशत्रु को जानने के लिए पिताजी के पास ही जाता हूँ। जानकर मैं उसका त्याग करूँगा। तदनन्तर जल्द ही समस्त शोकों से निर्मुक्त हो जाऊँगा। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : रघुवर, ऐसा विचार कर वह कच स्वर्ग में चला गया तथा बृहस्पति के पास जाकर स्नेहपूर्वक वन्दना और प्रणाम किया। एकान्त में उसने उनसे पूछा : हे भगवन्, चित्त क्या है, इसका आप मुझे उपदेश दीजिए और चित्त का स्वरूप भी बतलाइये, जिससे कि मैं उसका त्याग करूँ। बृहस्पति ने कहा : आयुष्मन्, चित्ततत्त्वज्ञ महानुभाव अपने अहंकार को ही चित्त जानते हैं, अतः जन्तु का जो यह भीतरी अहम्भाव है, वही चित्त कहा जाता है। कच ने कहा : हे तेंतीस करोड़ देवताओं के गुरो, हे महामते, अहम्भाव ही चित्तरूप कैसे हो सकता है, उसे मुझसे कहिए, क्योंकि लोक में अहंकार की आत्मा के रूप में प्रसिद्धि है, यदि उसका त्याग कर देंगे, तो शून्यता ही हो जायेगी ॥२४-२९॥

और आत्मा का त्याग भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह त्याग का विषय है ही नहीं, इस आशय से कहते हैं।

हे योगियों में श्रेष्ठ, मैं तो मानता हूँ कि इसका त्याग इतना असम्भव-सा है कि किसी तरह सिद्ध हो ही नहीं सकता, इसलिए इसका त्याग कैसे होगा ? ॥३०॥

सत्य है, जब तक उसके साक्षी का परिचय नहीं हो जाता, तब तक उसका परित्याग करना असम्भव है, परन्तु जब साक्षी का परिचय हो जाता है, तब उसका त्याग कर सकते हैं, इस आशय से कहते हैं।

बृहस्पति ने कहा : हे पुत्र, अहंकाररूप चित्त का त्याग तो फूलों के मर्दन से भी और नेत्रों के मीलन से भी अत्यन्त सुलभ है, अतः इसके त्याग में तनिक भी क्लेश नहीं है। हे तनय, इसका त्याग जिस उपाय से सुलभ होता है, उस उपाय को कहता हूँ, सुनो। जो वस्तु केवल अज्ञान से उत्पन्न होती है, उसका ज्ञान से विनाश हो जाता है, यह अहंकार शुद्ध साक्षी के अपरिचयरूप मोह से उत्पन्न हुआ है, अतः साक्षी का परिचय हो जाने पर नष्ट हो जायेगा। हे पुत्र, जैसे मिथ्या भ्रम कुछ वस्तु नहीं है, वैसे ही अहंकार भी वास्तव में कुछ है ही नहीं। अज्ञानियों की दृष्टि से यह उस प्रकार असत् होता हुआ उत्पन्न हुआ है, जिस प्रकार बालक की दृष्टि से असत् वेताल उत्पन्न होता है। जैसे डोरी में अज्ञान से साँप मिथ्या भासता है अथवा जैसे शुष्क मरुभूमि में अज्ञान से मिथ्या पानी का ज्ञान होता है, वैसे ही अज्ञान से अहंकार भी मिथ्या ही भासता है। जैसे चन्द्रमा एक ही है, परन्तु उसमें मोह से असत्य द्वित्व दिखाई देता है, वेसे ही यह अहंकार मोह से ही दिखाई देता है। वह न तो सत्य है, न असत्य ही है और न सत्य-असत्य ही है ॥३१-३५॥

सब प्रपंच यदि मिथ्या है, तो कौन-सी चीज सत्य है, इसे कहते हैं -

एक, आदि और अन्त से रहित, चैतन्यमात्र, सभी ओर से निर्मल, आकाश से भी अत्यन्त स्वच्छ सर्वानुभवरूप आत्मा ही सत्य वस्तु है ॥३६॥

यदि उसकी सत्ता न मानी जाय, तो जगत् का प्रकाश ही नहीं हो सकेगा, अतः उसका अस्तित्व

है, यह कहते हैं।

सभी जगह और सभी प्राणियों में निरन्तर सब ओर से प्रकाश करनेवाला वही एक आत्मवस्तु उस प्रकार चमकता है, जिस प्रकार चंचल, समुद्र की तरंगों में जल ही जल चमकता है ॥३७॥

ऐसी स्थिति में द्रष्टा और दृश्यों के बीच में यह अहंकार है कौन, किस निमित्त से उत्पन्न हुआ, और किस तरह का है, यह कहना अत्यन्त ही विचारणीय है यानी कह ही नहीं सकते, ऐसा कहते हैं।

द्रष्टा और दृश्य के बीच में यह कौन–सी अहंकार नाम की वस्तु है, किस हेतु से उत्पन्न हुई और उसका स्वरूप क्या है ? कोई कह सकता है ? कोई भी नहीं। क्या कहीं जल में शुष्क धूलिराशि या अग्नि से उत्पन्न जल किसीने देखा ? अर्थात् किसीने भी नहीं। हे पुत्र, यह पिता आदि से उत्पन्न हुआ देह आदि मैं हूँ, इस व्यर्थ बुद्धि को छोड़ दो जो कि तुच्छ, परिमिताकार और देश–काल के द्वारा हुए वृद्धि आदि विकारों से परिणत हुई है ॥३८,३९॥

तब मैं कौन हूँ ?

देश, काल आदि परिच्छेदों से शून्य, स्वच्छ, निरन्तर उदयस्वभाव, व्यापक सब पदार्थों के रूप से भासमान, निर्मल अद्वय चिन्मात्रस्वरूप तुम हो ॥४०॥

'सर्वार्थमयम्' इस शब्द का सब पदार्थों का सारभूत भी अर्थ है, इसको दृष्टान्तपूर्वक दर्शाते हुए प्रकृत का उपसंहार करते हैं।

जैसे चारों दिशाओं में स्थित फल, पुष्प और पत्तों का हेतुभूत एवं सारभूत वृक्षों में रहनेवाला रस है, वैसे ही तुम समस्त जगत् का कारणभूत और सारभूत भीतर रहनेवाला सर्वदा ही स्थित, अत्यन्त विमल, अनन्त, नित्य चिदात्मस्वरूप ही हो। हे कच, अखण्ड–अद्वय सन्मात्रस्वरूप बने हुए तुम्हारी यह परिच्छिन्न अहंबुद्धि कौन–सी चीज है अर्थात् कोई नहीं।४१॥

एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बारहवाँ सर्ग

कच की आख्यायिका से प्रबुद्ध हुए रामजी के प्रश्न से वसिष्ठजी द्वारा
आकाश की रक्षा करनेवाले मिथ्यापुरुष का आख्यान–कथन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, उस देवगुरु से अपनी आत्मा को परमात्मा के साथ एकरूपता से सम्पन्न करानेवाला उत्तमोत्तम उस प्रकार का परम उपदेश पाकर उनका पुत्र जीवन्मुक्त हो गया। हे रामजी, जिस प्रकार बृहस्पति का पुत्र कच ममतारहित, अहंकारशून्य, मोहरूपी गाँठ से निर्मुक्त और शान्तबुद्धि होकर स्थित रहा उसी प्रकार आप भी निर्विकार होकर स्थित हो जाइए। भद्र, इस अहंकार को आप असत् जानिये, इसका न तो आश्रय कीजिए और न त्याग ही कीजिए, क्योंकि असत् खरगोश के सींगों का कहीं आश्रय और त्याग किसी से किया जा सकता है ? ॥१–३॥

यत्न से जब तक उसका निवारण नहीं किया जायेगा, तब तक कैसे जन्म–मरण का भय निकलेगा, इस पर कहते हैं।

जब अहंकार ही असम्भव है, तब आपके जन्म–मरण ही कैसे ? ऐसा कौन है, जो आकाश में पेड़

लगाकर फल बटोरता हो। अहंकाररूपी खेत के रहने पर ही कामादि वासनाएँ अंकुरित हो सकती हैं, परंतु उसका बाध हो जाने पर वे कुछ नहीं कर सकतीं, यह भाव है ॥४॥

अहंकार का बाध हो जाने पर अवशिष्ट हुआ मैं किस प्रकार का हूँ, इस पर कहते हैं।

जब अहंकार का बाध हो जाता है, तब आप अंशशून्य, संकल्प-विकल्पों से रहित, समस्त पदार्थरूप, व्यापक, परमाणु से भी सूक्ष्म, मन से रहित चिन्मात्रस्वरूप होकर रह जाते हैं ॥५॥

उक्त चिन्मात्ररूप मैं अहम्भाव से युक्त होकर किस तरह का हो गया। इस पर कहते हैं।

जैसे जल के तरंग आदि जलरूप होते हुए भी जल से भिन्न की नाईं भासते हैं अथवा जैसे सुवर्ण के कटक आदि सुवर्णरूप होते हुए भी सुवर्ण से भिन्न की नाईं भासते हैं, वैसे ही आप चिन्मात्र होते हुए भी अहम्भाव से युक्त होकर उससे भिन्न की नाईं भासने लग गये हैं। हे पापशून्य, सम्पूर्ण जगत् आत्मा के अज्ञान से ही मायामय बनकर मानों स्थित हो जाता है और आत्मा के ज्ञान से वह सब ब्रह्मरूप बनकर स्थित हो जाता है। श्रीरामजी, यह कार्य है और यह कारण है – इन दोनों बुद्धियों का त्याग कर उनमें अनुगत सन्मात्र को बचाकर उसी में अपनी स्थिति बनाइए और सुखी हो जाइए। जिस तरह मिथ्यापुरुष अनुगत बची हुई वस्तु में प्रतिष्ठित न होकर दुःखी हुआ, उस प्रकार व्यर्थ दुःखी मत होइए। यह अत्यंत गाढ़ जो संसार की माया है, उसका पार पाना यद्यपि अत्यंत कठिन है, तथापि जैसे शरद् ऋतु कुहरे को काट डालती है, वैसे ही उसे आत्मज्ञान शीघ्र काट डालता है। श्रीरामजी ने कहा : गुरुवर, आपके ज्ञानरूपी अमृत से मैं अपने अन्दर ऐसे परम सन्तुष्ट हो गया हूँ, जैसे वृष्टि के प्रतिबन्ध से (अभाव से) भयभीत हुआ चातक दैव से प्राप्त हुई वृष्टि से सन्तुष्ट हो जाता है। महाराज, अमृत के सदृश ज्ञान से अभिषिक्त हुआ मैं भीतर शीतलता का महान् अनुभव कर रहा हूँ और हिरण्यगर्भ की सम्पत्तिपर्यन्त जितनी उत्तमोत्तम सम्पत्तियाँ हैं उन सबके सिर पर रहनेवाली निरतिशय आनन्दरूपी सम्पत्ति के ऊपर मैं अपना आधिपत्य जमा कर स्थित हूँ। परंतु मधुर वचन कह रहे आपकी उक्तियों के आस्वाद से मुझे ऐसे तृप्ति नहीं होती, जैसे चन्द्रमा की किरणों के आस्वाद से प्यासे चकोर को तृप्ति नहीं होती। भगवन्, ज्ञातव्य तत्त्व के ज्ञान से यद्यपि मैं तृप्त तो हो गया हूँ, तथापि आपसे यह प्रश्न पूछता हूँ। भला बतलाइये तो सही कि कौन ऐसा प्राणी है, जो तृप्त होता हुआ भी सामने पड़े हुए अमृतरूपी पेय को न पीता हो ? ॥६-१३॥

इस प्रकार प्रशंसा से अभिमुख किये गये गुरुजी के प्रति 'मा दुःखितो भव व्यर्थं त्वं मिथ्यापुरुषो यथा' इत्यादि से पहले सूचित हुए मिथ्यापुरुष का कुतूहल से श्रीरामजी आख्यान पूछते हैं।

हे मुनिश्रेष्ठ, मुझसे शीघ्र कहिए कि कौन वस्तु मिथ्यापुरुष नाम की कही जाती है, जिसने कि वस्तु को अवस्तु बना दिया और अवस्तुभूत समस्त जगत् को वस्तु बना डाला ॥१४॥ महाराज वसिष्ठ ने कहा : हे राघव, मिथ्यापुरुष को जानने के लिए यह सुन्दर आख्यायिका आप सुनिये, जो मेरे द्वारा कही जाती है और हास्यप्रद है ॥१५॥ हे महाबाहो, कोई एक मायायन्त्र से भरा पुरुष था, वह केवल बालक के सदृश कोमल बुद्धि से विक्षिप्त और अज्ञान से आवृत था ॥१६॥

मनुष्यों की जहाँ दृष्टि नहीं जाती, ऐसे एकान्त स्थान में भी वह स्वरूपतः मिथ्या ही था, यह कहते हैं।

वह किसी एक निर्जन एकान्त प्रदेश में उत्पन्न हुआ था और उसी शून्य प्रदेश में रहता था। वह वास्तव में आकाश में केशोण्ड्रक सदृश और मरुभूमि में मृगतृष्णाजल के सदृश मिथ्या ही था। उस मिथ्यापुरुष को छोड़कर उस स्थान में दूसरा कुछ है नहीं और जो कुछ भी वहाँ पर यदि प्रतीत होता है, तो अकेला वही प्रतीत होता है। यदि वह किसी दूसरे को देखता है, तो वह भी उसीकी भ्रान्ति से ही देखता है, यह सब होते हुए भी वह 'मै ही यहाँ सब कुछ हूँ' यों नहीं देखता, क्योंकि वह दुर्मति है। वहाँ वृद्धि को प्राप्त हुए उस मिथ्यापुरुष को मन में एक संकल्प हुआ, वह यह कि इस आकाश का मैं ही कारण हूँ और आकाश मेरा कार्य है, अतः आकाशरूप मैं ही निश्चल होकर उसको व्याप्तकर उसकी रक्षा करता हूँ। मेरी प्रिय से प्रिय वस्तु आकाश है, अतः उसे कहीं पर रखकर स्वयं मैं ही उसकी बड़े आदर से रक्षा करूँ, इस तरह विचारकर आकाश की रक्षा के लिए उसने एक घर का निर्माण किया। हे रघुनन्दन, तदनन्तर उस घर के अन्दर उसने यह आस्था बाँध ली कि यह आकाश मेरा है और इसकी मैंने रक्षा की है और गृहाकाश से वह सन्तुष्ट हो गया। अनन्तर कुछ काल के बाद उसका वह घर उस प्रकार नष्ट हो गया, जिस प्रकार दूसरी ऋतु से यानी शरत् ऋतु से मेघ या वायु से छोटे-छोटे तरंग नष्ट हो जाते हैं। जब वह नष्ट हो गया तब मिथ्यापुरुष इस प्रकार शोक करने लगा, हा गृहाकाश, तुम नष्ट हो गये, अरे तुम एक ही क्षण में कहाँ चले गये, हा हा, तुम टूट गये, तुम बड़े अच्छे रहे। इस प्रकार सैकड़ों बार शोक कर फिर उस दुर्बुद्धि मिथ्यापुरुष ने वहाँ पर आकाश की रक्षा करने के लिए एक कूप का निर्माण किया और उसी कूपाकाश में पहले के-जैसी आस्था बाँधकर रहने लगा। अनन्तर कुछ समय के बाद उसका वह कूप भी नाश को प्राप्त हो गया यानी मिट्टी आदि से ढह गया। जब कूपाकाश नष्ट हो गया, तब वह उससे महान् शोकसागर में निमग्न हो गया। कूपाकाश के लिए शोक कर चुकने के अनन्तर उसने तत्काल ही एक घड़े का निर्माण किया और घटाकाश की रक्षा में तत्पर होकर स्वयं उसके अभिमान-सुख को प्राप्त हुआ॥१७-२६॥ हे रघुकुलश्रेष्ठ, काल से उसका वह घर भी नष्ट हो गया। भाग्यहीन जिस किसी दिशा का ग्रहण करता है, वह नष्ट ही हो जाती है। घड़े के आकाश का शोक कर लेने के बाद उसने आकाश की रक्षा के लिए कुण्ड का निर्माण किया और उसी प्रकार उसी अभिमान से कुण्डाकाश की रक्षा के लिए तत्पर हो गया। कुछ काल के बाद वनगज आदि के गिरने आदि से इसका कुण्ड भी विनाश को उस प्रकार प्राप्त हो गया, जिस प्रकार तेज से अन्धकार विनाश को प्राप्त हो जाता है। कुण्डाकाश के विषय में भी उसने महान् शोक किया। कुण्ड के आकाश का शोक करने के बाद उसने आकाश की रक्षा के लिए एक ऐसे घर का निर्माण किया, जिसमें चारों दिशाओं में कमरे तथा बीच में एक समाकार कमरा था। फिर उसीके आकाश की रक्षा में तन्मय हो गया। जिसने अनेक प्रजाओं का ग्रास कर लिया है, उस काल ने इसका भी ऐसे अपहरण कर लिया, जैसे वायु जीर्ण पत्ते का अपहरण कर लेती है। उससे भी वह शोकनिमग्न हो गया। उस चतुःशाल घर के शोक के बाद उसने आकाश की रक्षा के लिए मेघाकार कुसूल (धान्य रखने का कोठार) बनाया और फिर उसीके आकाश की रक्षा में निरत हो गया। उसके उस कुसूल को भी काल ने ऐसे अपहृत कर दिया जैसे वायु मेघ को अपहृत कर देता है। उस कुसूलविनाश के शोक से वह खूब ही सन्तप्त

हो गया । इस प्रकार घर, चतुःशाल, कुण्ड और कुसूल आदि से आकाश की रक्षा कर रहे उस मिथ्यापुरुष का यह कभी समाप्त न होनेवाला काल बीतता ही जाता था । हे श्रीरामचन्द्रजी, उस रीति से गहन घर, कूप, कुण्ड आदि उपाधियों से आकाश को आत्मबुद्धि से उदर में पकड़कर स्थित रहा वह मिथ्यापुरुष गमनागमन की आसक्ति से मूढ़ अतएव विवश होकर उनके अभिमान से ही घर आदि का निर्माण, रक्षण और विनाश होनेपर एक दुःख से अति कठिन दूसरे दुःख में आता और जाता रहता है ॥२७-३५॥

एक सौ बारहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तेरहवाँ सर्ग

'मिथ्यापुरुष' शब्द आदि का अर्थ और उक्त आख्यायिका का साम्यवर्णन द्वारा तात्पर्य-कथन ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे प्रभो, मिथ्यापुरुष के प्रसंग से आपने जिस मायामय पुरुष का कथन किया, वह किस अभिप्राय से किया है और उसके द्वारा किये आकाशरक्षण का भी क्या अभिप्राय है, यह मुझसे कहिए । महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, सुनिए, अभी जो मैंने मिथ्यापुरुष की कथा आपसे कही है, उसका असली तात्पर्य आपसे प्रकट करता हूँ । हे रघुनन्दन, मैंने मायायन्त्रमय जिस पुरुष का उस कथा में उल्लेख किया है, इसे आप अहंकार ही जानिए, वही मायारूप आकाश में उत्पन्न हुआ है । हे साधो, जिस इस मायामय आकाश के एक कोने में यह जगत् अवस्थित है, वह स्वयं सृष्टि के पहले भी असीम, असत् और शून्यरूप ही रहता है ॥१-४॥

क्या अधिष्ठानरहित मायाकाश से यह जगत् उत्पन्न होकर उसमें स्थित है ? नहीं, ऐसा कहते हैं ।

भद्र, उस मायाकाश के अन्दर पामरों से अत्यन्त अगम्य परमब्रह्म अधिष्ठान रूप से विराजित है और आकाश से शब्द की नाईं उस ब्रह्मरूप अधिष्ठानवाले मायारूप आकाश से सबसे पहले अहंकार का ऐसे उदय होता है, जैसे वायु से सबसे पहले स्पन्दन का उदय होता है । वास्तव में अहंकार आत्मा तो है नहीं, परन्तु भ्रान्ति से स्वयं अपने को आत्मा ही समझकर अपने कारणभूत मायाकाश में बढ़ जाता है और अनेक संकल्पविकल्पों से किसीको इष्ट और किसीको अनिष्ट मानने लगता है । तदनन्तर उसी कल्पित 'अहम्' इस अपने अभिधान से यह इष्ट वस्तु की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के लिए सतत प्रयत्न करता-रहता है । अनात्मा होते हुए भी आत्मा की रक्षा करने में व्याकुलमति हुआ यह अहंकार पूर्व-पूर्व शरीरों का नाश हो जाने पर उत्तरोत्तर काम, कर्म तथा वासना के अनुसार बार-बार अनेक तरह के शरीरों की रचना किया करता है । वह अहंकार ही पूर्वोक्त कथा का मायापुरुष है और वही मिथ्यापुरुष है, क्योंकि माया से जो अहंकार उत्पन्न हुआ है, वह अस्त एवं मिथ्यारूप ही है ॥५-८॥

कुआँ, घड़ा आदि शब्दों से भी ऊँच-नीच शरीर ही लक्षणा से मैंने कहे हैं, यह कहते हैं ।

कुआँ, कुण्ड, चतुःशाल, घड़ा आदि यानी ऊँच-नीच शरीरों की रचा कर मैंने आत्मा की रक्षा की, यों चैतन्ययुक्त मायामय आत्मा में आत्मभावना कर लेता है । हे राघव, जिन-जिन जगदाकाररूप विभ्रमों से यानी क्रियारूप उपाधियों से यह अहंकार आत्मा को मोहित करता है, उसके नानाविध

क्रियाओं के कारण पड़े हुए ये यौगिक नाम आप सुनिए। (ॐ) जीव, बुद्धि, मन, चित्त, माया, प्रकृति संकल्प (卐) तथा कलना, काल और कला इत्यादि प्रसिद्ध नामों से एवं दूसरे भी अनेक नामों से हजारों रूपों को धारण किया हुआ अहंकार कल्पित अर्थों को लेकर इस संसार में अपनी धाक जमाकर अवस्थित है ॥९–१२॥

'तस्मादन्यं न तत्राऽस्ति' यह जो पूर्व सर्ग में कहा गया है उसे अनुभव पर चढ़ाते हैं।

पूर्णात्मा परब्रह्म में अपने से ही सर्व प्रथम शून्यस्वरूप भूताकाश जब विस्तृत हुआ है, तब उसमें वायु आदि की कल्पनाओं से कल्पित हुआ जगत् युक्तिपूर्वक विचार करने से गन्धर्वनगर के सदृश दीवार आदि आवरण से शून्य ही निश्चित होता है। छिद्ररहित ब्रह्म से ब्रह्म में छिद्ररूप आकाश की पहले उत्पत्ति नहीं हो सकती। शून्यस्वरूप अतिविस्तृत अचल आकाश तदनन्तर चलनात्मा वायु कैसे हो सकता है ? नीरूप अनुष्ण वायु भी स्वविरुद्ध तेजोरूप कैसे हो सकती है ? दाहस्वभाव उष्ण तेज स्वविरुद्ध जलस्वरूप कैसे हो सकता है ? एवं जल भी कठिन पृथिवीरूप कैसे हो सकता है ? इन सब बातों से यही निष्कर्ष निकलता है कि वास्तव में इस जगत् की कोई नींव है ही नहीं। उसीमें वह पुरुष मिथ्या ही सुख–दुःख का अनुभव करता हुआ स्थित था। श्रीरामजी, जिस तरह आकाश में आत्मबुद्धि की शंका से आकाश की रक्षा करते हुए उस मिथ्यापुरुष ने घट आदि का निर्माण कर उनके आकाशों का रक्षण करने में अनेक तरह के क्लेशों का अनुभव किया, उस तरह आप क्लेशों का अनुभव न कीजिये। भद्र, जो आत्मा है वह तो आकाश से भी बड़ा है, परमशुद्ध है, अत्यन्त सूक्ष्म है, परम कल्याणरूप तथा शुभ है। उसको कौन पकड़ सकता है और कौन उसकी रक्षा कर सकता है ? जब इस शरीररूप आश्रय का विनाश हो जाता है, तब आत्मा नष्ट हो गया, इस शंका से केवल हृदयाकाश के लिए ये प्राणी निरर्थक शोक किया करते हैं। जैसे घट आदि के विनष्ट हो जाने पर घटादि का आकाश कभी नष्ट नहीं होता वैसे ही देहों के नष्ट हो जाने पर देही का यानी देहउपलक्षित आत्मा का कभी विनाश नहीं होता। हे रामजी, चूँकि यह आत्मा शुद्ध चैतन्यरूप आकाश और अणु से भी सूक्ष्म तथा अहंकार से निर्मुक्त केवल स्वप्रकाश चित् ही है, इसलिए आकाश के समान उसका नाश नहीं होता। कहीं किसी समय न कुछ उत्पन्न होता है और न मरता ही है, केवल जगदात्मक विवर्तरूप से वह ब्रह्म ही चमकता है। श्रीरामजी, आत्मा सत्यरूप है, एक है, प्राप्य स्थान है, शान्त है, आदि मध्य और अन्त से निर्मुक्त है तथा सत्ता और असत्ता से रहित है, ऐसा निश्चय कर परम सुखी हो जाइये ॥१३–२०॥

पूर्व सर्ग में वर्णित मिथ्यापुरुषरूप अहंकार का परित्याग कराते हुए श्रीवसिष्ठजी आखिर में बचे हुए चैतन्यमात्र में आप स्थिर हो जाइये, इस तरह के उपदेश के साथ–साथ उपसंहार करते हैं।

(ॐ) प्राणधारण से जीव, बाह्य अर्थों के निश्चय से बुद्धि, उनके मनन से मन, उनके चिन्तन से चित्त, असत्कल्पना से माया, परिणामी स्वभाव से प्रकृति, संकल्पन से संकल्प, संकल्पित अर्थ के आकलन से कलन, संकल्पित अर्थ के विपरिणाम आदि में हेतु होने से काल तथा उसमें एकदेशरूप भेद की कल्पना से कला – यों तत्–तत् क्रियाभेद के कारण अहंकार के ये नाम पड़े हैं, वह जान लेना चाहिए।

(卐) काम, संकल्प, विचिकित्सा आदि श्रुति–स्मृति प्रसिद्ध नामों से।

हे श्रीरामजी, सम्पूर्ण आपत्तियों के आधार, चंचल, परतंत्रता के उत्पादक, तत्क्षण ही नरक में गिरानेवाले विवेक के शत्रु, निन्द्य, अज्ञान से भरे अहंकार स्थान को देह, इन्द्रिय आदि कलाओं के साथ-साथ तत्त्वज्ञान से मूलोच्छेदपूर्वक छोड़कर यदि आप अवशिष्ट विशुद्ध चिन्मात्रस्वरूप में दृढ़तापूर्वक स्थित हो जायेंगे, तो सबसे उत्तमता प्राप्त करेंगे ॥२१॥

एक सौ तेरहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चौदहवाँ सर्ग

अनेक दृष्टान्तों से सत् और असत् का स्वरूप बतलाकर
असद्रूप के निरास द्वारा सद्रूप में स्थिरता का वर्णन।

समस्त जगत् केवल मन का संकल्प-विकल्प ही है, इसलिए निर्विकल्प चैतन्यवस्तु के प्रदर्शन से ही उसका निरास सुलभ है, यह समझाने के लिए पहले परब्रह्म में मन की कल्पना कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे राघव, सृष्टि के आदिकाल में समस्त कल्पनाओं से पहले संकल्प-विकल्पात्मक इस विशाल जगत् की रचना में समर्थ मन उत्पन्न हुआ। वह तभी से उस परब्रह्म में अभिन्न सत्ता से स्थित हुआ ही अनेक भिन्न-भिन्न कल्पनाओं का निमित्त बनकर आज तक विद्यमान है ॥१॥

अभिन्नसत्ता से परब्रह्म में हुई उसकी स्थिति में दृष्टान्त बतलाते हैं।

हे राघव, फूलों में जैसे सुगन्ध, सागर में जैसे बड़े-बड़े तरंग और सूर्य में जैसे किरणें अभिन्न सत्ता से रहती हैं, वैसे ही ब्रह्म में मन भी अभिन्न सत्ता से रहता है। हे श्रीरामजी, इन्द्रियों से अगम्य उस आत्मतत्त्व के एकमात्र अज्ञान से ही मन ने उसमें समस्त जगत् के कारणरूप से स्थिति प्राप्त की है। इसलिए यह जगत् रज्जुसर्प के सदृश कहीं किसी दूसरे कारण से प्राप्त नहीं हुआ है ॥२,३॥

ऐसी परिस्थिति में जगत् की जब चिन्मात्र से अलग भावना की जाती है तब वह अलग ही भासता है और जब चिन्मात्ररूप से भावना की जाती है तब चिद्रूप ब्रह्म ही हो जाता है, यों दृष्टान्तों से उपपादन करते हैं।

हे राघव, जो पुरुष इन किरणों की सूर्य से अलग भावना करता है उस पुरुष के लिए ये किरणें सूर्य से अलग ही हो जाती है। जिसने केयूर की सुवर्ण से पृथक्रूप से भावना की, उसकी दृष्टि में सुवर्ण से पृथक् ही केयूर प्रतीत होता है, क्योंकि उसकी भावना में केयूर सुवर्ण नहीं है। जिसने किरणों की सूर्यस्वरूप से ही भावना की, उसकी दृष्टि में वे किरणें सूर्यरूप ही ठहरती हैं और वह यह कहता है कि सूर्य रश्मि भेदों से शून्य ही है यानी सूर्य और किरणों का परस्पर कोई भेद नहीं है। जिसने तरंग की जलभिन्नरूप से भावना की, उसमें एकमात्र तरंगबुद्धि ही स्थित रहती है, जल बुद्धि नहीं। जो पुरुष तरंग की जलरूपता से भावना करता है उसे सामान्य जलबुद्धि ही होती है। ऐसा पुरुष जल और तरंग के भेद से निर्मुक्त निर्विकल्प कहा जाता है। जो पुरुष केयूर कनक से भिन्न नहीं है, ऐसी भावना करता है वह सामान्य कनकबुद्धिवाला भेदशून्य निर्विकल्प कहा जाता है। ज्वालापंक्ति अग्नि से भिन्न है, ऐसी जो पुरुष भावना करता है उसे अग्निबुद्धि उत्पन्न नहीं

होती, केवल ज्वालाबुद्धि ही रहती है ॥४–१०॥

कल्पित आकारों से युक्त बुद्धि कल्पित आकारों में ही आस्था बाँधकर अनेक तरह की कल्पना करती है, यह कहते हैं।

अभ्रपंक्ति के सदृश ज्वालापंक्ति के आकार को प्राप्त हुई उक्त बुद्धिवृत्ति ज्वाला में आस्था बाँधती है, ज्वालापंक्ति में स्थित चलन, ऊर्ध्वगमन आदि की कल्पना करती है तथा व्याकुल हो जाती है। ज्वाला की पंक्ति अग्नि से भिन्न नहीं है, इस तरह की जो भावना करता है उसको केवल अग्निबुद्धि ही रहती है और वह निर्विकल्प कहा जाता है। जो पुरुष निर्विकल्प यानी ग्राह्य और ग्राहक की द्विधा से निर्मुक्त हो जाता है वही महान् है। उसकी आत्मबुद्धि कभी क्षीण नहीं होती। इस जगत् में प्राप्त करने के योग्य जो कुछ भी है, वह सब उसने प्राप्त कर लिया। वह इन मन के विकल्पों से जनित पदार्थों में सत्यत्वबुद्धि से कभी नहीं फँसता ॥११–१३॥

दृष्टान्त में जो विकल्पत्याग की शैली युक्तिपूर्वक सिद्ध की गई है, उसका दार्ष्टान्त में उपदेश देते हैं।

हे रामभद्र, सम्पूर्ण नानारूपता का (द्वैतभाव का) परित्याग कर विषय–सम्बन्ध से निर्मुक्त चेतनतत्त्वभूत विशुद्ध चिन्मात्र जो भीतर का आत्मतत्त्व है उसमें स्थित हो जाइये। स्वप्रकाश स्वयमात्मा ही अपने–आप जब, स्पन्दनशक्ति को वायु के सदृश, संकल्पनात्मक शक्ति को उत्पन्न करता है तब भिन्न की तरह भासनेवाला संकल्पकलनात्मक मनरूप हो जाता है और विश्वाकार अपनी आकृति की भावना कर रहा वह समष्टि मन बन जाता है। वह विश्वाकार संकल्परूप समष्टिचित्त इस जगत् की जिस रूप से कल्पना करता है तत्क्षण ही संकल्पों से उस रूप का हो जाता है। वही मन कीटरूप, ब्रह्मरूप, सुमेरुरूप एवं मरुभूमिरूप हो जाता है, उसीके जीव, अहंकार, बुद्धि, चित्त आदि नाम हैं। वही चित्त संकल्प से द्वित्व और एकत्व प्राप्त कर जगत् की व्यवस्था बनाता है और उसके बाद उसीमें नानारूप स्वयं हो जाता है। यह जो जगद्रूप विशाल आकार देखा जाता है, वह सब मन का संकल्प ही है, वह न सत्य है और न असत्य ही है, किन्तु स्वप्नों के सदृश अनिर्वचनीय ही उत्पन्न हुआ है। जैसे साधारण प्राणी का मनोराज्य विविध सामग्री रचनाओं से सुन्दर है, वैसे ही हिरण्यगर्भ का भी यह व्यापक मनोराज्य सुन्दर है ॥१४–२१॥

मिथ्या होने से ही जब तत्त्वज्ञान से 'जगत् ब्रह्मरूप है', ऐसी भावना की जाती है तब उसका मायिक रूप नष्ट हो जाता है, यह कहते हैं।

जगत् परब्रह्मस्वरूप है, इस प्रकार की भावना करने पर प्रसिद्ध यह जगत् विलीन हो जाता है। परमार्थतः जगत् यदि देखा जाय, तो कुछ भी नहीं है ॥२२॥

तत्त्वसाक्षात्कार न होने पर जगत् का क्या स्वरूप रहता है, उसे कहते हैं।

यदि दृश्य जगत् को अपरमार्थतः देखा जाय, तो हजारों शाखा–प्रशाखाओं में विभक्त हो जाता है। जैसे समुद्र जलरूप ही होता हुआ ऊर्मि, तरंग आदि कल्पनायोग्य रूप का परिग्रहण कर प्रत्यक्ष समुद्रस्वरूप धारण करता है, वैसे ही हजारों कर्म कर रहा भी पुरुष चिदाभासयुक्त मन के स्पन्दन के बिना कूटस्थ चैतन्य का अपूर्व कुछ भी विकार आदि नहीं कर सकता, इसलिए आप भी तुच्छतर

दृश्यभेद का त्यागकर जाना, सुनना, स्पर्श करना, सूँघना, बोलना, व्यवहार करना, सोना आदि व्यवहार करते हुए भी अभिनव जगद्रूप कुछ सत्य नहीं है, किन्तु पूर्वसिद्ध ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है, इस प्रकार की भावना कीजिये और स्थित रहिये। आप जो कुछ करते हैं उसे निर्मल चिन्मात्रस्वरूप ब्रह्म ही जानिये, क्योंकि ब्रह्म ही जगत् के रूप में विवर्तित होकर उपबृंहित (विकसित) है। अतः जगत् उससे भिन्न नहीं है। समस्त पदार्थ जब चैतन्य-साररूप ही स्थित है तब समस्त जगत् संवित्‌रूप ही है, यह मानना चाहिए, दूसरी कल्पना नहीं है। जगज्जाल के नाम से जब यह केवल संवित् का स्फुरण ही विद्यमान है तब यह दूसरा है, यह उससे भिन्न है, इत्यादि मिथ्याज्ञान कहाँ से उत्पन्न हुआ। जितने आकार हैं उन सबमें एक संवित् का ही अस्तित्व होने से न संवेद्य का अस्तित्व है और न उसके मूल का ही अस्तित्व है, इसलिए बन्ध और मोक्ष ही किस तरह के ? हे श्रीरामजी, यह मोक्ष है, यह बन्ध है इत्यादि समस्त निष्फल अभिमानरूप चिन्ताओं का बलपूर्वक त्यागकर वाक् आदि समस्त इन्द्रियों के ऊपर विजय पाकर मौनी, जितेन्द्रिय तथा मान और मद से रहित होकर अपने योग्य राज्य आदि कार्यों को करते हुए अहंकाररहित आप महात्मा ही बनकर स्थित रहिये ॥२३-३०॥

एक सौ चौदहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पन्द्रहवाँ सर्ग

महाकर्ता आदि शब्दों की व्याख्याओं से भृंगीश के प्रति
महादेवजी के द्वारा जीवन्मुक्तों के लक्षणों का निरूपण।

महाराज श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे अनघ, आप पुण्य-पाप आदि की शंकाओं का परित्याग कर और निर्भय अविनाशी कूटस्थ आत्मभाव का अवलम्बन कर महाकर्ता महाभोक्ता एवं महात्यागी हो जाइये। श्रीरामजी ने कहा : हे प्रभो, किस लक्षण की प्राप्ति होने पर पुरुष महाकर्ता कहा जाता है, किस लक्षण की प्राप्ति होने पर पुरुष महाभोक्ता कहा जाता है तथा किस लक्षण की प्राप्ति होने पर पुरुष महात्यागी कहा जाता है, यह भलीभाँति मुझसे कहिये। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, पहले भगवान् महादेवजी ने ये तीन व्रत भृंगीश से कहे थे और इन्हीं तीनों व्रतों के प्रभाव से भृंगीश संसारज्वर से निर्मुक्त हो गया था। किसी समय की बात है कि सुमेरु पर्वत के अग्नि सदृश उत्तरीय शिखर पर अपने समस्त परिवार से युक्त होकर भगवान् शंकर विराजमान थे। हे श्रीरामजी, अपने परिवार के साथ बैठे हुए उमापति से साधारण आत्मज्ञान रखनेवाला महान् तेजस्वी विनम्र भृंगीश ने, जो वहीं पर उपस्थित था, अंजलि बाँधकर पूछा। भृंगीश ने कहा : हे भगवन्, हे देवताधीशों के स्वामी, हे सर्वज्ञ, हे परमेश्वर, जो मैं आपसे पूछता हूँ, उसे कृपाकर मुझसे शीघ्र कहिये। हे नाथ, तरंग के सदृश थोड़े समय में नष्ट हो जानेवाली इस सृष्टि रचना का अवलोकन कर मैं बड़ा मुग्ध हो गया हूँ। यद्यपि साधारणरूप से तत्त्व का परिज्ञान होते हुए भी उससे विश्रान्ति मुझे नहीं मिल रही है। महाराज, इस जगद्रूपी जीर्ण-शीर्ण घर के अन्दर विश्रान्तिसुख से रमणीय किस आन्तरनिश्चय का अवलम्बन कर मैं समग्र चिन्ताज्वर से निर्मुक्त होकर निश्चलरूप से स्थित रह सकता हूँ ? ईश्वर ने कहा : हे अनघ, तुम यत्र-तत्र की समस्त शंकाओं का पिण्ड छोड़कर अविनाशी निर्भय कूटस्थ आत्मभाव का अवलम्बन कर

महाभोक्ता, महाकर्ता और महात्यागी हो जाओ। भृंगीश ने कहा : हे प्रभो, ऐसे कौन से लक्षण हैं, जिनकी प्राप्ति हो जाने पर पुरुष महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागी कहा जा सकता है, उन्हें मुझसे भलीभाँति कहिये ॥१–१०॥

'समस्त शंकाओं का पिण्ड छोड़कर', यह जो अंश कहा गया है, उसीकी विशद व्याख्या करते हैं।

हे महाभाग, आत्मा न तो कर्ता है और न भोक्ता ही है, इस प्रकार के निश्चय से कर्तृत्व आदि शंकाओं से रहित मनवाला होकर समयानुसार प्राप्त धर्म और अधर्म का जो पुरुष अनुष्ठान करता है, वह महाकर्ता कहा जाता है। जो पुरुष राग–द्वेष पैदा करनेवाली चेष्टा और सुख–दुःख की प्रयोजक धर्म–अधर्मरूप क्रियाका–फलाफल की इच्छा से रहित मन से–एकमात्र लोकसंग्रहार्थ आचरण करता है, वह महाकर्ता कहा जाता है। अहम्भाव से शून्य, निर्मल और मात्सर्यनिर्मुक्त जो पुरुष उद्वेग को छोड़कर मुनि की क्रियाओं से युक्त होकर मनन आदि क्रियाओं का अनुष्ठान करता है, वह महाकर्ता कहा जाता है। प्रारब्ध से अनुष्ठित हुए अश्वमेध आदि सत्कर्म और कलंजभक्षण आदि असत्कर्मों की दशा में 'मैं धार्मिक हूँ, मैं अधार्मिक हूँ', इत्यादि कुशंका से कल्पित धर्म और अधर्म के द्वारा जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह महाकर्ता कहा जाता है। जो कहीं पर भी स्नेह नहीं रखता, जो साक्षी के सदृश निर्विकार रहता है, और जो प्राप्त कार्य का निरीह (निर्वासनिक) होकर बर्ताव करता है, वह पुरुष महाकर्ता कहा जाता है। उद्वेग और आनन्द से रहित जो पुरुष निर्मल समबुद्धि से शोकजनक परिस्थितियों में शोक नहीं करता और हर्षजनक परिस्थितियों में हर्ष नहीं करता, वह महाकर्ता कहा जाता है। अपने प्रारब्ध से जिस समय में जो भी कोई उचित कार्य प्राप्त हो जाय, उस समय में उस कार्य के लिए चेष्टा करने में तत्पर रहनेवाला, आसक्तिशून्य जो बुद्धिमान् मुनि है, वह महाकर्ता कहा जाता है। उदासीन होकर विहित और निषिद्ध कर्मों का स्वयं आचरण या दूसरों को आचरण कराने के लिए प्रेरणा कर रहा जो पुरुष–मन में आत्मा के अकर्तृत्वनिश्चय से–दोनों जगह समभाव से युक्त रहता है, वह महाकर्ता कहा जाता है। जो स्वभाव से ही शान्त है, जो मित्र और शत्रुओं में शुभाशुभ का आचरण करने पर भी समता नहीं छोड़ता, वह महाकर्ता कहा जाता है। जन्म, स्थिति, विनाश आदि भावविकारों में तथा वृद्धि एवं ह्रास से युक्त शरीरों में आत्मबुद्धि के कारण जिसका मन एकरूप ही रहता है, वह महाकर्ता कहा जाता है ॥११–२०॥

महाभोक्ता के लक्षण कहते हैं।

जो किसीसे द्वेष नहीं करता, जो किसीकी अभिलाषा नहीं करता और जो प्रारब्ध से प्राप्त हुए सुख, दुःख आदि सबका उपभोग करता है–वह महाभोक्ता कहा जाता है। जो पुरुष इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण कर रहा भी अद्वय, असंग आत्मा में निष्ठा के कारण वास्तव में ग्रहण नहीं करता; हाथ, पैर आदि से लेनदेन, गमन आदि का आचरण कर रहा भी जो आत्मबुद्धि से आचरण नहीं करता एवं उपभोग कर रहा भी नित्यतृप्त आत्मा के दर्शन के कारण उपभोग नहीं करता–वह महाभोक्ता कहा जाता है। जो पुरुष खिन्नबुद्धि न होकर उदासीन साक्षी के सदृश समस्त लोकव्यवहारों को किसी प्रकार की इच्छा के बिना देखता रहता है – वह पुरुष महाभोक्ता कहा जाता है ॥२१–२३॥ विक्षेप के हेतु सुख–दुःखों से; जय, पराजय आदि क्रिया–योगों से तथा लाभअलाभों से जिस पुरुष का चित्त

विक्षेप को प्राप्त नहीं होता – वह महाभोक्ता कहा जाता है। जो पुरुष जरा, मरण, आपत्ति, राज्य और दारिद्र्य आदि सबको ब्रह्मदृष्टि से रम्य ही समझता है – वह महाभोक्ता कहा जाता है। जैसे समुद्र भिन्न-भिन्न जलों को समानरूप से ग्रहण करता है वैसे ही जो मनुष्य बड़े-बड़े सुख-दुःखों को भोग के लिए समानरूप से (तुल्यवृत्ति से) ग्रहण करता है – वह महाभोक्ता कहा जाता है। चन्द्रबिम्ब से जैसे किरणें उदित न होती हुई भी उदित होती हैं वैसे ही जिस पुरुष से अहिंसा, समता, सन्तुष्टि आदि गुण वस्तुतः उदित न होते हुए भी उदित होते हैं – वह महाभोक्ता कहा जाता है। कडुआ, खट्टा, नमकीन, तीखा, अदिव्य, दिव्य, उत्तम (सुस्वाद) या अधम (अस्वादु निकृष्ट) भी अन्न जो पुरुष समान बुद्धि से खा लेता है – वह महाभोक्ता कहा जाता है। सरस और नीरस तथा सुरत और विरत को (रतिविघात को) जो सौम्य पुरुष एक सा देखता है – वह महाभोक्ता कहा जाता है। क्षारयुक्त तथा चीनी से बनाये गये नानाविध भक्ष्य पदार्थों में एवं शुभ या अशुभ वस्तुओं में जिस पुरुष की निश्चल समता रहती है, वह महाभोक्ता कहा जाता है। यह पदार्थ भोजन करने योग्य है और यह भोजन करने योग्य नहीं है, इस तरह की विकल्पभावना को छोड़ करके जो पुरुष अभिलाषाओं से शून्य होकर भोजन करता है – वह महाभोक्ता कहा जाता है। आपत्ति, सम्पत्ति, मोह तथा आनन्ददायक उत्कृष्ट एवं अपकृष्ट अन्न या वस्तु का जो – सर्वत्र एकरूप ब्रह्मदृष्टि से – उपभोग करता है – वह पुरुष महाभोक्ता कहा जाता है। धर्म, अधर्म, सुख, दुःख तथा जन्म एवं मरण का जिस पुरुष ने निरतिशयानन्द पूर्णाद्वयात्म बुद्धि से त्याग कर दिया है – वह महात्यागी कहा जाता है। सम्पूर्ण इच्छाओं, समस्त शंकाओं, वाणी, मन और शरीर की सभी चेष्टाओं तथा सर्वविध निश्चयों का जिस पुरुष ने अपनी बुद्धि से भलीभाँति त्याग कर दिया है – वह महात्यागी कहा जाता है। देह, मन, इन्द्रियों तथा मन की स्थिति की सत्ता का तत्-तत् दुःखों के साथ जिसने मिथ्यात्वबुद्धि से परित्याग कर दिया है – वह महात्यागी कहा जाता है। शरीर मेरा नहीं है, मेरा जन्म भी नहीं हुआ है, इष्ट और अनिष्ट के आचरणरूप विहित और निषिद्ध कर्म भी मेरे नहीं है – यों अपने हृदय में जिस पुरुष ने दृढ़ निश्चय कर लिया है –वह महात्यागी कहा जाता है। जिस पुरुष ने धर्म और अधर्म (शारीरिक) तथा वाणी आदि द्वारा चेष्टित (मानसिक) सब विषयों का परित्याग कर दिया है, वह महात्यागी कहा जाता है। जितनी यह सम्पूर्ण दृश्य कलना दिखाई दे रही है उसका जिस पुरुष ने अच्छी तरह से त्याग कर दिया है – वह महात्यागी कहा जाता है ॥२४-३८॥

अब उपसंहार करते हैं।

हे अनघ, देवदेवेश भगवान् शंकर ने बहुत दिन पहले भृंगीश को इस तरह का (पूर्वोक्त रीति का) उपदेश दिया था। हे रामजी, आप भी इसी दृष्टि का अवलम्बन कर सांसारिक तापों से शून्य होकर अवस्थित रहिये ॥३९॥

जिस भावना से पुरुष अनायास महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागी बन जाता है, उस भावना का श्रीरामजी को उपदेश देते हैं।

हे श्रीरामजी, अज्ञानरूप अंजन से शून्य निर्मल स्थिति को प्राप्तकर आप यह भावना कीजिये कि सदा प्रकाशमान, निर्मलस्वरूप, आदि और अन्त से शून्य केवल परब्रह्म ही अन्त में विद्यमान रहता है, ब्रह्म से अतिरिक्त कल्पनाजनित कुछ भी पदार्थ नहीं है। इस प्रकार की निरन्तर भावना कर कल्पनारूपी

मलों से निर्मुक्त वृत्तिवाले होकर निर्वाण पद को प्राप्त कीजिये ॥४०॥ हे प्रिय, इस संसार में जो कुछ भी दिखाई पड़ता है, वह सब कल्पों में प्रसिद्ध कार्य और कारण का मूल कारण निर्विकार परमात्मस्वरूप परब्रह्म ही है। वह बड़े–बड़े अनेक सर्गों से विशाल आकारवाला होनेपर भी असल में आकाशरूप ही है, यानी सम्पूर्ण विकल्पों से निर्मुक्त ही है। चूँकि कहीं पर कुछ भी पदार्थ चाहे वह स्थूल हो, चाहे सूक्ष्म हो या चाहे कारणरूप हो, सदैकरस परब्रह्म से भिन्न किसी तरह नहीं हो सकता, इसलिए हे साधो, आप 'मैं सद्रूप ब्रह्म हूँ', इस प्रकार का अपने अन्दर निश्चय करके सर्वप्रथम समाधि के अभ्यास का बल प्राप्त कर स्थित रहिये। तदनन्तर फिर क्रम से सप्तम भूमिका के ऊपर चढ़कर सम्पूर्ण आशंकाओं के विलास को छोड़कर बैठ जाइये ॥४१,४२॥ हे साधो, यदि आप अन्तर्मुख होकर अहंकारशून्य स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं, तो बाहर के समस्त कार्यों का निरन्तर सम्पादन करते हुए भी आप कभी भी खेद को नहीं प्राप्त होते हैं ॥४३॥

एक सौ पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सोलहवाँ सर्ग

गल रहे तथा गलित हुए चित्त के लक्षणों का वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे सर्वधर्मज्ञ, हे भगवन्, अहंकार नामक चित्त जिस समय गलित हो जाता है या गलने लग जाता है उस समय हुए वासनाशून्य मन का क्या स्वरूप होता है ? ।१॥

यों श्रीरामचन्द्रजी के द्वारा पूछे जाने पर, मोह आदि दोषों का क्षय ही पहले मुख्य स्वरूप है, ऐसा महाराज वसिष्ठजी कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, शुभ्र (वासनाशून्य) मन को परीक्षा करने के लिए दूसरों के द्वारा जबर्दस्ती पैदा कराये गये भी – लोभ, मोह आदि दोष उस तरह लिप्त नहीं कर सकते, जिस तरह जल कमल को लिप्त नहीं कर सकते ॥२॥

सदा मुख की प्रसन्नता भी उसका लक्षण है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, ज्ञानाग्नि से विवादहेतु पापरूप अहंकारनामक चित्त के विलीन हो जाने पर प्रसन्नता आदि शोभाएँ मुख को नहीं छोड़ती ॥३॥

कही हुई बातों का विस्तारपूर्वक वर्णन कर रहे महाराज वसिष्ठजी दूसरे लक्षण भी कहते हैं।

(चित्त के नष्ट हो जाने पर) वासनाओं की गाँठे छिन्न–भिन्न–सी होकर धीरे–धीरे बिलकुल टूटने लग जाती है। क्रोध कम होने लग जाता है और मोह तो निःसन्देह मन्दता को प्राप्त हो जाता है। काम थक जाता है और लोभ तो न जाने कहाँ भाग जाता है, इन्द्रियाँ खूब उल्लसित नहीं होतीं और न खेद ही अधिक स्फुरित होता है। उस समय दुःख बढ़ते नहीं और सुख अभिमानी बनाते नहीं है। हृदय में ठण्डक पहुँचानेवाली समता सब जगह उदित होती है ॥४–६॥

ज्ञानियों के मुख पर भी सुख–दुःख के चिह्न प्रसाद और मालिन्य आदि किसी समय दिखाई देते हैं जैसे कि दुर्वासा ऋषि का शाप सुनने पर कुम्भ तथा राजा शिखिध्वज के मुख पर अथवा विश्वामित्र के द्वारा हरिश्चन्द्र को ठगने पर तथा पुत्र को मारने पर वसिष्ठजी के मुख पर उदासी साफ झलक रही थी,

ऐसी दशा में 'प्रसन्नता आदि शोभाएँ मुँह को नहीं छोड़ती' यह आपका लक्षण कैसे घटता है ? यदि ऐसी आशंका की जाय, तो उस पर कहते हैं।

ये सुख, दुःख आदि यदि दिखाई देते भी हैं, तो फिर वे दिखाईमात्र ही देते हैं, क्योंकि ऐसे पुरुष की दृष्टि में तुच्छ होने के कारण उसके मन को वे लिप्त नहीं कर पाते हैं। भोग करानेवाले प्रबल प्रारब्ध से दुःख और दुःख के चिह्न मालिन्य की आभा का कभी उदय होने पर भी अगले क्षण में ही मिथ्यात्वबुद्धि से उनके बाधित हो जाने पर ज्ञानी पुरुष के चित्त को वे लिप्त नहीं कर पाते, इसलिए ज्ञानियों के मुख पर जो स्वाभाविक प्रसन्नता रहती है, उसका विघात नहीं होता, यह तात्पर्य है ॥७॥ चित्त गल जाने पर साधु पुरुष देवताओं का भी स्पृहणीय बन जाता है। इस पुरुष के हृदय में शीतल चांदनीरूपी समता उदित होती है ॥८॥ ऐसा साधु पुरुष यों ही स्वभावतः उपशान्त, कमनीय, सेव्य, अप्रतिरोधी (दूसरे की अभिलाषा का विघात न करनेवाले) विनीत, बलशाली, स्वच्छ और महान् शरीर को धारण करता है। विभव और दरिद्रता से विषम, विचित्र और महान् होता हुआ भी यह संसारविभ्रम गलित-अहंकारवाले सज्जनों के प्रति न तो आनन्द के लिए है और न खेद के लिए है ॥९,१०॥

अब आत्मलाभ की अत्यन्त सुलभता दर्शा रहे महाराज वसिष्ठजी उसके लिए प्रवृत्त न हुए पुरुषों की निन्दा करते हैं।

बुद्धिरूपी प्रकाश से लभ्य इस परमात्मवस्तु में, जिसका लाभ होने पर समस्त आपत्तियाँ अस्त हो जाती हैं, जो मनुष्य मोह के कारण प्रवृत्त नहीं होता, उस नराधम को धिक्कार है ॥११॥

तब उसकी प्रवृत्ति में कौन-सा प्रथम उपाय है, यदि ऐसी कोई आशंका करे, तो उस पर-विवेक और वैराग्य ही उसकी प्रवृत्ति में प्रथम उपाय है-यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, दुःखरूपी रत्नों का भंडार, जन्म और मरण से युक्त संसारसागर को पार करने की इच्छा रख रहे पुरुष के लिए निरतिशयानन्द आत्मा में चिरकाल तक समुचित विश्रान्ति पाने में 'मैं कौन हूँ' 'यह जगत् क्या है, परमात्मतत्त्व कैसा है ? इन तुच्छ भोगों से कौन-सा फल मिलेगा' यों निरन्तर खूब अभ्यस्त हुई विचार और वैराग्यरूपिणी मति ही परम उपाय अभिमत है, इसलिए उसीका आश्रय करना चाहिए, यह भाव है ॥१२॥

एक सौ सोलहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सत्रहवाँ सर्ग

मैं कौन हूँ, यह जगत् क्या है, इस विचार में दृष्टान्तभूत मनु भगवन्
द्वारा वर्णित इक्ष्वाकु के विवेक का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इक्ष्वाकु वंश में समुत्पन्न आप के मूलपुरुष इक्ष्वाकुनामक राजा जिस तरह के विचार से मुक्त हो गये, उस विचार को आप सुनिये। अपने राज्य का परिपालन कर रहे इक्ष्वाकु नामक राजा किसी समय एकान्त में जाकर अपने मन से स्वयं यह विचार करने लगे। बुढ़ापा, मृत्यु, संक्षोभ, सुख, दुःख तथा नानाविध भ्रमों से पूर्ण स्थितिवाले इस दृश्य प्रपंच

का हेतु क्या है ? विचार कर रहे भी वह राजा जब जगत् के कारण को न समझ सके तब उन्होंने एक दिन ब्रह्मलोक से आये हुए सभा में बैठे तथा पूजित हुए अपने पिता प्रजापति मनु से पूछा ॥१–४॥

इक्ष्वाकु ने कहा : हे भगवन्, आपकी दया ही आपसे धृष्टतापूर्वक पूछने के लिए मुझे प्रेरित कर रही है। हे करुणानिधे, यह सृष्टि कहाँ से आई है, इसका स्वरूप कैसा है, यह संख्या और परिमाण से कितनी बड़ी है, किस भोक्ता तथा स्वामी की यह भोग्य बनी हुई है। कब किसने इसकी रचना की है इत्यादि सब आप वैदिक रीति से अच्छी तरह कहिये। अर्थात् वेद आदि के आधार पर चले आ रहे उपदेशपरम्परारूप सम्प्रदाय के अनुसार जो आपको मालूम हुआ हो उसी का आप वर्णन कीजिये, तर्क से नई कल्पना करके कुछ कहने की दया न कीजिये। हे भगवन्, सघन दूर तक बिछाये गये जाल से पक्षी की नाईं इस विषम संसारजाल से मैं किस तरह मुक्त हो सकूँगा ? मनु ने कहा : हे राजन्, अहो चिरकाल के बाद सुन्दर विकासयुक्त विवेक होने पर तुमने यह ऐसा प्रश्न किया है, जो मिथ्याभूत अनर्थों का उच्छेद कर देनेवाला तथा सब प्रश्नों का सार है ॥५–८॥

उन प्रश्नों में सर्वप्रथम तत्त्वोपदेश में अत्यन्त उपयोगी होने के कारण 'स्वरूपं चास्य की दृशम्' (इस जगत् का स्वरूप कैसा है) इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

हे महीपते, जो कुछ यह दिखाई दे रहा है, वह वस्तुतः कुछ भी नहीं है। यह गन्धर्वनगर तथा मरुस्थल में जल जैसा अवस्थित है। भाव यह कि मिथ्याभूत जगत् का जो असत्स्वरूप है वह सर्वथा असत् ही है ॥९॥

अपने उपादान कारण में परमसूक्ष्मरूप से स्थित कार्य ही अपने कारणों के द्वारा आविर्भूत होता है – ऐसा सांख्यवादी लोग कहते हैं और वेदान्ती लोग कहते हैं कि सद्ब्रह्म ही जगद्रूप से सृष्टि में सम्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में यह कैसे कहते हैं कि जगत् कुछ भी नहीं है ? इन दोनों में सांख्यवादी के प्रति कहते हैं।

साक्षी या इन्द्रियों के द्वारा जो वस्तु दिखाई नहीं देती वह किसीभी रूप से, प्रमाण न होने के कारण, अपने उपादान कारण में स्थित नहीं है। षष्ठ मननामक इन्द्रिय से अतीत होने के कारण उसकी सम्भावना भी नहीं है ॥१०॥

वेदान्ती के प्रति कहते हैं।

हाँ, इस सृष्टि में अविनाशी जो पर वस्तु है, वह तो स्थित है ही, वही 'सत्', 'आत्मा' इत्यादि नामों से कही जाती है ॥११॥ हे राजन्, यह सम्पूर्ण दृश्यों से भरी हुई सृष्टिपरम्परा उसी सदात्मस्वरूप महान् दर्पण में प्रतिबिम्ब को प्राप्त हो गयी है (♨) ॥१२॥

तब 'बहुस्यां प्रजायेय' इत्यादि संकल्प करके ब्रह्म में जगत् और जीवभाव का प्रतिपादन करनेवाली श्रुति का क्या अभिप्राय है, इस आशंका पर कहते हैं।

तेज के स्वभाव से उत्पन्न हुई ब्रह्म की स्फुरणशील कोई शक्तियाँ तो स्थूल समष्टि के अभिमान

(♨) दर्पण की सत्ता जैसे प्रतिबिम्बों में है वैसे ही संसर्गाध्यास से ब्रह्म की सत्ता से अनुविद्ध यद्यपि जगत् है, तथापि इसकी स्वतः सत्ता नहीं ही है, इसलिए 'तन्नास्ति नृप किंचन' यह जो कहा गया है वह बिलकुल ठीक ही है, यह भाव है।

से ब्रह्माण्डरूप में विवर्तित हो जाती हैं; कोई पृथिवी आदि के अभिमान से प्राणिरूपता को प्राप्त हो जाती हैं और इनसे अतिरिक्त जो कोई शक्तियाँ हैं वे अन्यता को यानी चार तरह के प्राणियों के रूप में प्राप्त हो जाती हैं इस तरह जगत् की स्थिति होती है ॥१३॥

मिथ्याभूत उपाधियों में भ्रान्ति के कारण चिदाभासों की कल्पना की गयी है, वस्तुतः उनकी प्रसक्ति नहीं है, इसको कहते हैं।

इस संसार में न तो किसीका बन्ध है और न मोक्ष है, केवल एकमात्र सब विकारों से शून्य ब्रह्म ही है। इसमें न तो ऐक्य है और न द्वित्व ही है, केवल संवित्सार ही विलसित हो रहा है।।१४॥

उक्त द्वितीय प्रश्न के उत्तर का उपसंहार करते हैं।

जैसे एक जल तरंगभेदों से स्फुरित होता है वैसे ही चिद्रूप ब्रह्म भी जगत् के नानाभेदों से स्फुरित होता है और वह मायामात्र होने से कुछ भी नहीं है, इसलिए हे राजन् बन्ध और मोक्ष के भ्रम को दूर फेंककर जिसको संसार का भय है ही नहीं, ऐसा तुम अभयरूप ब्रह्मसार ही हो जाओ ॥१५॥

एक सौ सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ अठारहवाँ सर्ग

कहाँ से कब किसकी किसके द्वारा यह सृष्टि हुई है
इत्यादि प्रश्नों का उत्तर तथा आत्मदर्शन के उपायों का मनु द्वारा वर्णन।

सबसे पहले शुद्ध संवित् के जीवभाव में निमित्त बतलाते हैं।

मनु ने कहा : हे राजन्, जैसे जल तरंगरूपता को प्राप्त होता है, वैसे ही तत्-तत् संस्कारों से विचित्र अविद्या में शुद्धचैतन्य की प्रतिबिम्बस्वरूप संवित्तियाँ संकल्प की ओर उन्मुख होती हुइ जीवस्वरूपता को प्राप्त होती हैं ॥१॥ उपाधिरूप से आविर्भूत हुए इस संसार में (समष्टि और व्यष्टिरूप मन के कार्य में) वे जीव चक्कर काटते-फिरते हैं। यदि सचमुच पूछा जाय तो सुख-दुःख की दशाओं का मोह मन में रहता है, आत्मा में नहीं ॥२॥

अदृश्य आत्मा दृश्य मन में या सांसारिक दुःखों से पूर्ण प्राणी अविवेक रहने पर अथवा विवेक होने पर संसार के दुःखों से विमुक्त हुआ जीव कैसे दिखाई देता है, यदि ऐसी आशंका की जाय, तो उस पर कहते हैं।

जैसे ग्रसित हुए चन्द्रमा के कारण अदृश्य भी राहु दिखाई देता है वैसे ही दृश्य अन्तःकरण तथा चरमसाक्षात्काररूप उसके परिणाम के कारण अनुभवमात्रस्वरूप आत्मा भी दिखाई देता है। परमेश्वर न तो अनेक शास्त्रों के द्वारा दिखाई देता है और न गुरु के द्वारा ही दिखाई देता है वह तो अपनी सत्त्वस्थ (अहन्ता-ममता से शून्य) बुद्धि से ही अपने आप दिखाई देता है ॥३,४॥

देहेन्द्रियादि में अहन्ता और ममता की शून्यता किस तरह देखनी चाहिए, इसे दृष्टान्तपूर्वक स्पष्ट बतलाते हैं।

जैसे मार्ग में राग-द्वेषशून्य बुद्धि से पथिक देखे जाते हैं वैसे ही अपनी सत्त्वस्थ बुद्धि से ही इन अपनी इन्द्रिय आदि का अवलोकन करना चाहिए। सज्जनों को इनमें आदर बुद्धि कभी न रखनी

चाहिए और न इन्हें उपवास आदि के द्वारा सताना चाहिए। पदार्थमात्रता में आविष्ट (जैसे वे हैं वैसे) वे सुखपूर्वक रहा करें। हे राजन्, अपनी बुद्धि से देहादि पदार्थमात्र का (उदासीन पदार्थ साधारण का) दूर से ही त्यागकर अपने अन्तःकरण को शीतल बनाकर शुद्ध आत्मदृष्टि से आत्मभाव प्रचुर हो जाओ। 'देह मैं ही हूँ' यह जो बुद्धि है वह संसार में फँसानेवाली है, इसलिए मुमुक्षु पुरुषों को ऐसी बुद्धि कभी नहीं अपनानी चाहिए। किंचिन्मात्र भी कलंक जिसमें नहीं है ऐसा जो चिन्मात्रस्वरूप है उसी रूप का मैं आकाश से भी सूक्ष्म हूँ – यह जो नित्य बुद्धि है वह संसार में फँसानेवाली नहीं है ॥५–९॥

बाहर और भीतर असंग चिति के प्रवेश से जड़ जगत् के स्फुरण में अनुरूप दृष्टान्त बतलाते हैं।

जैसे निर्मल जल के बाहर और भीतर सब जगह प्रकाशक तेज रहता है, वैसे ही सब वस्तुओं में बाहर और भीतर सब जगह आत्मा रहता हैं। जैसे अंगद (केयूर) आदिरूप आभूषणों का आकार सुवर्ण के ही अवयवों का एक वैचित्र्य है, वैसे जगत् तथा इसकी जड़ मायारूप आकार भी आत्मा की ही कलाओं का एक वैचित्र्य है ॥१०,११॥

कालरूपी समुद्र के लिए आत्मा में अगस्त्य मुनि का आरोप करना अत्यन्त आवश्यक है, इसलिये काल को ही जगद्रूपी नदियों का उपसंहारस्थान (समुद्र) कहते हैं।

विनाशरूपी बडवाग्नि से आक्रान्त भयंकर कालरूपी सागर में प्राणिसमूहरूपी तरंगोंवाली जगज्जालरूपी नदियाँ यद्यपि मिल जाती हैं। तथापि सम्पूर्ण जगज्जाल का भक्षक होने पर भी आज तक जिसकी तृप्ति न हो सकी, ऐसे कालरूपी सागर का जो पानकर्ता है, उस आत्मस्वरूपी महाअगस्त्य की हे राजन्, आप सदा–भावना करते रहिये। अनात्मभूत इस देहादि दृश्यसमूह में आत्मता का त्यागकर यानी इस देहादि दृश्यसमूह को आत्मा न समझकर निर्वासनिक भाव में उपारूढ़ हो करके गूढ़रूप से सुखपूर्वक स्थित रहिये ॥१२–१४॥

नित्यस्वरूप आत्मा का लाभ होने पर भी उसकी अलब्धताकी भ्रान्ति से मनुष्य को शोक होता है, इसको कहते हैं।

जैसे स्तनकोटर के ऊपर सोये हुए बच्चे को भूलकर उसकी माँ अपने बच्चे के लिए रोती है वैसे ही आत्मा के लिए यह मनुष्य रोता है। शरीर के नष्ट हो जाने पर यह प्राणी आत्मा को अजर और अमर न जानकर 'हा, मैं मर गया, मैं अनाथ हो गया, हा अब तो मैं बिलकुल नष्ट ही हो गया' यों विलाप करता है। जैसे परिस्पन्द के कारण एक ही जल नाना प्रकार के आकारों में दिखाई देता है वैसे ही संकल्पवश से यह चिद्रूप ब्रह्म ही नाना प्रकार के आकारों में कार्यपरम्परा से बढ़ता है। हे पुत्र, तुम संकल्परूपी कलंकों से निर्मुक्त चित्त को आत्मा में स्थापित करके फिर उपशान्त–से होते हुए (क्योंकि उस समय समूल सम्पूर्ण संसार की उपशान्ति हो जाने पर भी प्रारब्ध भोगके उपयोगी उसके प्रतिभास का अवशेष रह जाता है) व्यवहार के लिए देहेन्द्रियादि का स्पन्दन होने पर भी उसकी आभासमात्रता होने से संस्पन्दशून्य ब्रह्म की नाईं इस व्यवहारपूर्ण भूमि में स्वस्थ और सुखी होकर स्थित रहो और इस राज्य का परिपालन करते रहो ॥१५–१८॥

एक सौ अठारहवाँ सर्ग मसाप्त

एक सौ उन्नीसवाँ सर्ग

विद्या और अविद्यारूपी आत्मशक्तियों के द्वारा सत्य और
असत्य का निश्चय हो जाने से बन्ध और मोक्ष में पुरुष की स्वतन्त्रता रहती है, यह वर्णन।

'स्पन्देऽप्यसंस्पन्दमिवेह तिष्ठ' (इस व्यवहारभूमि में देहेन्द्रियादि स्पन्द होने पर भी स्पन्दशून्य ब्रह्म के सदृश स्वस्थ और सुखी बनकर रहो) इत्यादि जो कहा गया है सो यहाँ पर ब्रह्म माया द्वारा किसलिए स्पन्दित होता है और किसलिए स्पन्द से शून्य स्थित रहता है, इस तरह की इक्ष्वाकु की जिज्ञासु को चेष्टाओं से समझकर मनु महाराज कहते हैं।

मनु ने कहा : सर्वव्यापक यह परमात्मा प्रसवधर्मिणी अविद्याशक्ति से अविद्वानों के सामने स्वयंसृष्टिरूप क्रियाओं से बच्चों की नाईं क्रीड़ा किया करता है और विद्वानों के सामने सृष्टिसंहाररूप विद्याशक्ति से समूल सृष्टि का संहार करके कूटस्थ अद्वय आत्मा में सदैव स्थित रहता है ॥१॥

राग से प्रवृत्त हुए चेतन में जैसे सृष्टिशक्ति का उदय अपने आप होता है वैसे ही वैराग्य से निवृत्त हुए चेतन में संहारशक्ति का उदय भी अपने आप ही होता है, इसे कहते हैं।

राग से प्रवृत्त इसमें स्वयं ही ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिससे कि यह संसार के बन्धन में फँस जाता है तथा स्वयं ही वैराग्य से निवृत्त हुए उसमें ऐसी भी शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिससे कि यह मुक्त हो जाता है ॥२॥

जिस ज्ञातात्मा की जीव, जगत् दोनों मे साधारण एक सत्तारूप से संभावना की जा रही है, उसमें होनेवाली विशेष बाह्य, आध्यात्मिक पदार्थों की कल्पना में दृष्टान्त देते हैं।

चन्द्र, सूर्य, अग्नि, तप्तलोह एवं रत्न आदि की प्रभा या ज्वाला; वृक्षों के पत्ते आदि तथा झरनों के कण जैसे कल्पित हैं, वैसे ही बृहत् इस ब्रह्म में जगत् की तथा जगत्-ग्राहक बुद्धि की विचित्रता भी कल्पित ही हैं। वही ब्रह्म अब्रह्म -जैसा होकर अज्ञानियों के लिए दुःखप्रद होकर अवस्थित है ॥३,४॥

सर्वव्यापक स्वयंप्रकाश आत्मा का दर्शन न होना तथा असद्रूप एवं प्रकाशशून्य जगत् का दर्शन होना, यह एक बड़ा भारी आश्चर्य है और इस तरह का आश्चर्य एकमात्र अघटितघटनापटीयसी माया के बल से ही हुआ है, इसे कहते हैं।

हे तात, अहो ! विश्व को मोह में डाल देनेवाली यह माया कैसी विचित्र है, जिसके बल से सम्पूर्ण अंगों में (बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थों में) भीतर और बाहर सब जगह व्याप्त भी आत्मा को यह जीव नहीं देख पाता ॥५॥

तब किस भावना से आत्मा को देखकर यह जीव सुखी होगा ? ऐसा प्रश्न होने पर उस भावना को कहते हैं।

यह सारा संसार चिद्रूपी दर्पण है, (दर्पण में जैसे नगर आदि प्रातिभासिक हैं वैसे ही ब्रह्म में यह जगत् प्रातिभासिक ही है वास्तविक नहीं है।)

इस तरह की भावना कर रहा जो प्राणी अपनी सारी इच्छाएँ नष्ट कर मोहरूपी हजारों बाणों से कभी भी न छूटनेवाली ब्रह्मरूपी कवच पहिने हुए रहता है वही सुखी है ॥६॥ (इस दुस्तर संसारसागर

को पार कर जाने की इच्छा रखनेवाले प्रत्येक प्राणी को चाहिए कि वह) अहमर्थ से यानी अहंकार से विमुक्त तथा निर्मलसात्त्विक अन्तःकरण से 'सभी पदार्थ आकाश के सदृश निराधार चिद्रूप ब्रह्म ही है' ऐसी भावना करें ॥७॥ भद्र, यह अच्छा है और यह अच्छा नहीं है, इस प्रकार की भावना ही आपके दुःख की कारण है। जब वह भावना सर्वत्र समदृष्टिरूपी अग्नि से जल गयी, तब दुःख की प्राप्ति ही कहाँ ? ॥८॥ हे राजन्, समाधि के अभ्यास से सभी पदार्थों की विस्मृति हो जाती है, इस विस्मृतिरूपी शस्त्र से प्रियअप्रियरूप विषमता की कल्पना को समदृष्टि की दृढ़ता द्वारा आप स्वयं ही काट डाले, क्योंकि वही राग-द्वेष की हेतु है ॥९॥ हे राजन्, तुम पहले समाधि से बाह्य अर्थों की भावना का और उसके हेतु धर्मअधर्म के जंगल का छेदन करो फिर उत्तम सूक्ष्मता (ब्रह्मभाव) प्राप्त कर शोकरहित हो जाओ ॥१०॥ हे पुत्र, सबसे पहले तुम सदसद्वस्तु के विवेक के विलास से युक्त होकर समाधि से समस्त बाह्य कल्पनाओं से निर्मुक्त हो जाओ तथा समस्त इन विशाल भुवनों को अपने पूर्ण आत्मा के स्वरूप से ओत-प्रोत कर दो। तदनन्तर असीम ब्रह्मरूप सुख के अभ्युदय को प्राप्त होकर उसके साथ एकरूप होते हुए संसाररूप रोग से शून्य होकर पाँचवीं और छठी भूमिकाओं में दीर्घकालतक स्थिर रहो और अन्त में सातवीं भूमिका में विक्षेपरूप विषमता की आत्यन्तिक शान्ति से जनित सम, शुभ्र और निर्मलाकार से युक्त हो तुम निर्भय चैतन्यशरीर बन जाओ ॥११॥

एक सौ उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बीसवाँ सर्ग

मुक्ति चाहनेवाले पुरुष के लिए आरम्भ की तीन, मुक्त होनेवाले के लिए चौथी और
मुक्त हुए पुरुष के लिए आगे की तीन-यों सात भूमिकाओं का वर्णन।

'परं समेत्य तानवम्' इस पहले सर्ग के श्लोकांश से भूमिका के अभ्यास का जो फल कहा गया है उस फल की प्राप्ति में कारणभूत जो अलग-अलग भूमिकाएँ हैं उनका वर्णन करते हैं।

मनु महाराज ने कहा : हे राजन्, सबसे पहले शास्त्र और सज्जनों की संगति से अपनी बुद्धि बढ़ानी चाहिए, यही योग की या योगी की पहली भूमिका कही गयी है। निष्कर्ष यह है कि साधनचतुष्टय की प्राप्ति तथा गुरु एवं सतीर्थ्य (सहपाठी) आदि की सहायता लेकर किया गया श्रवण ही पहली भूमिका है और यही उत्पत्ति प्रकरण में दर्शायी गयी है। मनन दूसरी भूमिका है, असंग अद्वितीय आत्मा की भावना यानी निदिध्यासन तीसरी भूमिका है और तत्त्वसाक्षात्कार से अज्ञान आदि निखिल प्रपंच की निवृत्ति करनेवाली विलापनी नाम की चौथी भूमिका है, यही चौथी भूमिका अविद्याविलयरूप कही जाती है। समाधि के परिपाक से हुआ विशुद्ध संविद्रूप प्रकाशमय जो आनन्द है उस आनन्द की स्वरूपभूत पाँचवीं भूमिका है, इस भूमिका में जीवन्मुक्त पुरुष आधे सोये या जागे हुए पुरुष के सदृश रहता है; जैसे निद्राशेष से आधा सोया हुआ पुरुष या आधा जागा हुआ पुरुष बाहर के शब्द आदि को जानते हुए भी भीतर से निद्रासुख में आसक्त होकर उत्तर-प्रत्युत्तर करने की इच्छा नहीं करता वैसे ही व्यवहारदशा में भी योगी इस भूमिका में आसक्त होकर बाह्य व्यवहारों से उदासीन ही रहता है ॥१-३॥ छठी भूमिका स्व-संवेदनरूप होती है यानी छठी भूमिका का स्वरूप स्वभावतः ही नष्ट न होनेवाली ब्रह्माकारानुभववृत्ति

है। इसका आकार एकमात्र आनन्दघन है और इसकी स्थिति सुषुप्त पुरुष की-सी रहती है। ब्रह्माकारानुभवात्मक वृत्तिरूप तुर्यावस्था (♨) (छठी भूमिका) भी जिसमें विलीन हो जाती है, ऐसी मुक्तिरूप अवस्था ही सप्तम भूमिका है, यही अवस्था समता, स्वच्छता और परिपूर्णतारूप है, इसमें केवल पूर्णस्वप्रकाशस्वरूप परब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है। सबसे उत्तम मुक्तिरूप जो तुर्यातीत अवस्था है, वह जब विदेहमुक्ति में पर्यवसित हो जाती है, तब जीवित योगियों की विषय नहीं होती। इन सातों में जो पहले की तीन भूमिकाएँ विद्यमान हैं, वे जाग्रत्‌रूप ही हैं और चौथी जो भूमिका है वह तो स्वप्न ही कही गयी है, क्योंकि उसमें जगत् स्वप्न के सदृश रहता है। आनन्द के साथ एकीभाव हो जाने से पाँचवीं अवस्था सुषुप्तरूप है तथा अन्य पदार्थों के ज्ञान से रहित एकमात्र स्वसंवेदनरूप छठी भूमिका तुर्यशब्द से कही जाती है। तुर्यातीत शब्द से कहलानेवाली अवस्था सातवीं भूमिका सबसे अन्तिम है। यह अवस्था मन और वाणी से परे है तथा केवल स्वप्रकाशपरब्रह्मरूप ही है ॥४-९॥

सातवीं भूमिका में सब दृश्यों का प्रत्यगात्मा में ठीक-ठीक विलय हो जाने के कारण आत्यन्तिक जीवन्मुक्तता है, यह कहते हैं।

हे राजन्, प्रसिद्ध सप्तम भूमिका के अवलम्बन से सब दृश्यों का प्रत्यगात्मा में विलयकर तुमने यदि चेत्य की भावना न की तो निश्चय मुक्त ही हो जाओगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं ॥१०॥ क्योंकि शरीर रहे चाहे शरीर न रहे, इस निश्चय से विषय और विषयसंग से जनित सुख दुःखों से जिसकी बुद्धि आकृष्ट नहीं होती, वह जीवन्मुक्तमति पुरुष है, यह अटल सिद्धान्त है ॥११॥

सातवीं भूमिका में जीवन्मुक्त को कैसा अनुभव होता है, इसे कहते हैं।

मैं न तो मरता हूँ न जीता हूँ, यह मैं न तो सत् हूँ या न असत् हूँ, ऐसे सुदृढ़ अनुभव से अपने स्वरूप में ही आराम करता हुआ वह पुरुष सप्तम भूमिका में स्थित रहता है। यही उसका मुक्त स्वरूप कहा गया है ॥१२॥ व्यवहार करता हो, चाहे व्यवहार से विरत हो, गृहस्थ हो, चाहे अकेला विचरण करनेवाला यति हो, परंतु पुरुष 'मैं असत् दृश्यरूप नहीं हूँ, किंतु विशुद्ध चैतन्यरूप हूँ' ऐसा निश्चय करने से सदा शोक से निर्मुक्त ही रहता है ॥१३॥ मैं लिप्त नहीं हूँ,अजर हूँ, नीराग हूँ, वासनाओं से शून्य हूँ और निर्मल चैतन्यरूप आकाश हूँ, ऐसा मानकर पुरुष शोक से छूट जाता है। मैं अन्त और आदि से रहित हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञानी हूँ, अजर हूँ, अमर हूँ, शान्त हूँ, सम-विषम सभी पदार्थों में एकरूप से प्रकाशमान हूँ, ऐसा मानकर पुरुष शोक से परे हो जाता है ॥१४,१५॥ अत्यन्त तुच्छ तृणों के अग्रभाग में, असीम आकाश में अत्यन्त प्रकाशशील सूर्य में, मनुष्यों में, नागों में, देवताओं में जो प्रसिद्ध सन्मात्रस्वरूप है, प्रत्यक्‌चिन्मात्रस्वरूप वही मैं हूँ, यों जानकर फिर इस संसाररूप शोक से ग्रस्त नहीं होता। ऊपर, नीचे एवं अगल-बगल सर्वत्र चिद्रूप मेरी ही महिमा व्यापकरूप से विद्यमान है, इस प्रकार असीम विलासोंवाले उस परमात्मा की महिमा जानकर कौन ऐसा पुरुष होगा, जो जन्म-मरण आदि दुःखों से युक्त रहेगा? ॥१६,१७॥

जो जीवन्मुक्त पुरुष हैं, उनका भी जीवन विषयोपभोग के अधीन है, अतः विषय का नाश होने

(♨) आरम्भ की तीन भूमिकाओं को एक मानकर छठी भूमिका के लिए चतुर्थार्थक तुर्यशब्द का प्रयोग किया गया है।

पर जैसे अज्ञानी को दुःख प्राप्त होता है वैसे ही ज्ञानी को भी दुःख प्राप्त होगा, ऐसी आशंका कर कुछ विशेष कहने के लिए विषय का नाश होने पर ज्ञानी को दुःख की उत्पत्ति किस रीति से होती है, उसे बतलाते हैं।

दृढ़ आसक्ति लेकर अज्ञानी पुरुष जिस अर्थ का सेवन करता है वह उसे आपाततः सुख देता है। जो ऐसा अर्थ आपाततः सुखजनक होता है वह तत्क्षण ही नाश से दुःखजनक भी हो जाता है। इस रीति से यह बात सिद्ध हो गयी कि सुख और दुःख साथ–साथ ही चलते हैं ॥१८॥ चतुर्थादि भूमिकाओं में स्वल्प वासना से युक्त हो या सप्तम भूमिका में बिलकुल वासनारहित होकर जो पुरुष जिस अर्थ का सेवन करता है वह अर्थ उस पुरुष के लिए न सुखजनक होता है और न नाशकाल में दुःखजनक ही होता है ॥१९॥ हे अनघ, वासनानिर्मुक्त बुद्धि से जो कर्म किया जाता है वह कर्म जले हुए बीज के सदृश रहता है वह फिर अंकुर पैदा नहीं करता ॥२०॥ हे प्रिय, देह, इन्द्रिय आदि भिन्न–भिन्न जो कारण हैं उन्हीं के द्वारा कर्म किये जाते हैं। ऐसी स्थिति में एक कर्ता और एक भोक्ता की उपपत्ति कैसे हो सकती है यानी जो समुदाय कर्म करता है वह समुदाय ही उस कर्मफल का भोक्ता हो सकता है, असंग अद्वितीय एक आत्मा नहीं ॥२१॥ समस्त देह, इन्द्रिय आदि पदार्थों से अहन्ताध्यास को भलीभाँति हटाकर अलग हुआ चन्द्र के सदृश शीतल परिपूर्ण ज्ञानीपुरुष दीप्ति से सूर्य के सदृश चमकने लग जाता है ॥२२॥ देहरूपी सेमल के वृक्ष से की जा रही और की गयी कर्मरूपी रुई की राशि ज्ञानरूपी वायु से कम्पित होकर न जाने उड़कर कहाँ चली जाती है ॥२३॥ राजन्, जितने अज्ञान के अंश हैं (कलाएँ), वे सब यदि बार–बार उनका परिशीलन न किया जाय तो, नष्ट हो जाते हैं, यह प्रसिद्ध है ॥२४॥ किंतु यह जो ज्ञानकला है, वह यदि भीतर एक बार उत्पन्न हो जाय, तो उर्वरा भूमि में बोये गये धान के सदृश बलपूर्वक दिन पर दिन बढ़ती ही जाती है, नष्ट नहीं होती ॥२५॥ जैसे सरोवरों में या समुद्र में तरंग आदि के रूप में केवल स्वच्छ जल ही जल स्फुरित होता है, वैसे ही समस्त वस्तुओं में विश्वरूप एक आत्मा ही स्फुरित होता है, दूसरा नहीं, अतः हे प्रिय, यह जो सारा संसार है, उसे तुम तत्त्वज्ञान से अशेष संकल्पों से रहित सत्यरूप अद्वितीय ब्रह्म ही जानो ॥२६॥

एक सौ बीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ इक्कीसवाँ सर्ग

जिस भावना से आकृष्ट होकर जीव संसार में फँस जाता है और जिस भावना से दूर होकर जीव संसार से मुक्त हो जाता है उन दोनों भावनाओं का मनुमहाराज द्वारा उत्तम निरूपण।

यदि आत्मा निरतिशयानन्दरूप ब्रह्म ही है, तब उसका जीव नाम कब तक रहता है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

मनु महाराज ने कहा : हे राजन्, पुरुष को (आत्मा को) जब तक विषयभोग की अभिलाषा बनी रहती है, तभी तक उसका जीवनाम रहता है। यह अभिलाषा भी अविवेक के कारण ही उसे होती है, वास्तव में नहीं। जब विवेक से विषयभोग की अभिलाषा नष्ट हो जाती है, तब आत्मा अपना जीवरूप छोड़कर निर्विकार होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है ॥१,२॥

एकमात्र भोग की अभिलाषा ही जीव को स्वर्ग, नरक आदि में खींच ले जाती है, अतः उसे छोड़ देना चाहिए, यों कहते हैं।

हे राजन्, कर्मवश से ऊपर के लोक से नीचे के लोक में तथा नीचे के लोक से ऊपर के लोक में दीर्घ काल तक आवागमन कर रहे तुम संसाररूपी रहट की भोगचिन्तारूपी रज्जु में घड़े के सदृश फँस मत जाओ ॥३॥

चिन्ता रज्जु का विषयों के साथ बन्धन बतलाते हैं।

'ये पुत्र, कलत्र आदि मेरे हैं और मैं इन पुत्र, कलत्र आदि का हूँ' इस तरह के मोह से व्यवहाररूपी दृढ़ भ्रम का जो मूर्ख सेवन करते हैं, वे नीचे से भी नीचे की ओर जाते हैं ॥४॥

बन्धन का अनुवाद कर, उसके मूल कारण तादात्म्यअध्यास को भी छुड़ा रहे मनु महाराज अध्यासत्याग का फल सर्वोत्कर्ष बतलाते हैं।

'पुत्र, कलत्र आदि का मैं सम्बन्धी हूँ और पुत्र, कलत्र आदि परिवार मेरा सम्बन्धी है, मैं ऐसा हूँ' इस तरह का मोह जिन लोगों ने बुद्धिपूर्वक छोड़ दिया है, वे महानुभाव ऊपर से भी ऊपर की ओर जाते हैं। हे नृप, अपने आप ही प्रकाशित हो रहे अपने स्वरूप का शीघ्र ही आश्रय कर बैठ जाओ और समस्त जगत् को परिपूर्ण चिदाकाशरूप ही देखो। जिस समय में ही तुम उस प्रकार के पूर्ण तथा अखण्डित चैतन्यात्मा का स्वरूप जान जाओगे, उसी समय संसार तर जाओगे और परमेश्वररूप हो जाओगे ॥५-७॥

जीवात्मा जगत् का तो कर्ता है नहीं, फिर वह परमेश्वररूप कैसे बन जायेगा ? इस शंका पर कहते हैं।

ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु और वरुण जिस-जिस वस्तु का निर्माण करने के लिए उद्यत हैं, उन सबका चिद्रूप मैं ही निर्माण करता हूँ, ऐसी भावना करनी चाहिए ॥८॥

ये जितनी क्रियाएँ हैं, वे सब असत्य हैं, उनमें तत्त्ववेत्ता पुरुष अपनी कर्तृत्व की कैसे भावना करेगा, ऐसी यदि किसी को आशंका हो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि जितनी कल्पनाएँ हैं, वे आत्मा की सत्यता से सत्य हैं, इस आशय से कहते हैं।

जो-जो दर्शनशास्त्र हैं, चाहे वे वैदिक हों चाहे अवैदिक, उनमें जिस समय जिस-जिस मत का प्रतिपादन किया जाता है, हे पुत्र, वह सब सत्य ही है, क्योंकि चिद्-विलास पर किसी तरह का अंकुश नहीं है ॥९॥

संसार के पार हो जाने से कौन-सा लाभ है, इस पर कहते हैं।

जो पुरुष ब्रह्मचैतन्यस्वरूप बन गया है, अतएव जो संसाररूपी मृत्यु से पार हो चुका है और जिसका चित्त विलीन हो गया है, ऐसे महापुरुष को जो परमानन्द प्राप्त होता है, उसकी उपमा किस आनन्द से दी जा सकती है यानी उसकी उपमा हो ही नहीं सकती। निष्कर्ष यह हाथ लगा कि संसार के पार हो जाने से पुरुष को निरूपम परमानन्द की प्राप्ति उत्तम लाभ है ॥१०॥

ब्रह्म की सत्यता को लेकर यदि आप जगत् को शून्यरूप नहीं मानते, तो द्वैतरूप आपत्ति आ जायेगी। यदि 'नेति नेति' इत्यादि श्रुति के आधार पर जगत् को शून्यरूप मानते हैं, तो सबको पैदा

करनेवाले परमेश्वर की रूपता नहीं बन सकती। और यदि जगत् चैतन्य का रूप नहीं है, तो चैतन्य का कभी ज्ञान ही नहीं हो सकेगा, क्योंकि नीरूप का कहीं पर भी ज्ञान नहीं होता। यदि जगत् को चैतन्य का रूप मान लिया जाय, तो चैतन्य सविकार हो जायेगा। यदि जगत् आत्मरूप न माना जाय, तो असंग आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध न हो सकने से आत्मा की सत्ता और स्फूर्ति जगत् में हो नहीं सकेगी। यदि आत्मरूप मानें, तो जगत् का ज्ञान से बाध नहीं हो सकेगा, इत्यादि दोषों का – अनिर्वचनीयतावाद का अवलम्बनकर परिहार करते हैं।

यह जगत् न तो अशून्यरूप है, न शून्यरूप है, न अचिद्रूप है, न चिद्रूप है, न आत्मरूप है और न अनात्मरूप ही है, किंतु अनिर्वचनीय है, यों भावना करते हुए तुम स्थित रहो ॥११॥

तब जगत् किस तरह से शान्त हो जाता है, इस पर कहते हैं।

इस आत्मा का पारमार्थिकस्वरूप प्राप्त कर यानी प्रत्यक्ष कर अविद्या शान्त हो जाती है। कोई मोक्ष नामका न तो प्रदेश है, मोक्ष नाम का न कोई काल है और न कोई स्थिति ही मोक्ष नामवाली है। यह जो वासनारूपी प्रकृति (अविद्या) है, वह अहंकाररूपी मोह के विनाश से विलीन हो जाती है और यह अविद्या विलय ही प्रसिद्ध मोक्ष है ॥१२,१३॥

जब अविद्या का नाश हो जाता है, तब पुरुष की स्थिति कैसी रहती है, इस पर कहते हैं।

जब योगी पुरुष की अविद्या नष्ट हो जाती है, तब उसकी नाना प्रकार के शास्त्रार्थों के विचार की चंचलता नष्ट हो जाती है, काव्य, नाटक आदि विषयों की उत्कण्ठा नष्ट हो जाती है और उसके सारे विकल्पविभ्रम विलीन हो जाते हैं। वह केवल समभाव में निष्ठा रखकर ब्रह्मरूप होकर सुखपूर्वक अवस्थित रहता है ॥१४॥

एक सौ इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बाईसवाँ सर्ग

सुदृढ़ आत्मबोध से सम्पन्न तथा तुरीयातीत पद में स्थित
जीवन्मुक्त यति की दिनचर्या का लक्षणों से मनु द्वारा वर्णन।

'निरस्तनिःशेषविकल्पविप्लवा' (उसके सारे विकल्पविभ्रम विलीन हो जाते हैं।) इत्यादि से जो योगी की स्थिति कही गयी है, उसीका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

मनु ने कहा : जिस किसी पुरुष के द्वारा वस्त्रों से ढक दिया गया, जिस किसी पुरुष के द्वारा खिला दिया गया तथा जहाँ–कहीं सो जानेवाला योगी, सम्राट् की नाईं, (📖) सुशोभित होता है ॥१॥

उसके अर्थ सिद्ध विद्वत्संन्यास का वर्णन करते हैं।

(📖) सम्राट की नाईं यानी मनुष्यों के आनन्द की परमावधि में पहुँचे हुए राजा नी नाईं। यह उपमा अज्ञानियों की दृष्टि से दी गयी है, तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि से तो उस तरह के जीवन्मुक्त यति के आनन्द की उपमा ही नहीं है; क्योंकि 'यतो वाचो निर्वतन्ते' इत्यादि श्रुति से हिरण्यगर्भ के आनन्द तक विषयानन्दरूपी जलबिन्दुओं का महासागर बतलाकर उस परमानन्द की कोई सीमा है ही नहीं, यह प्रतिपादन किया गया है।

वर्णों एवं आश्रमों, धर्मों तथा आचारों से रहित और शास्त्रों के नियमन से वर्जित वह संन्यासी जगज्जाल से यानी ऐहिक और पारलौकिक क्रियाओं के कर्तृत्व की तथा उनके फल भोक्तृत्व की वासनाओं से, पिंजड़े से सिंह की नाईं निकल जाता है। एकमात्र निरतिशयानन्द के अनुभव का विषय यानी निरतिशयानन्दरूप अतएव विषय की आशादशाओं से निर्मुक्त यानी अत्यंत विरक्त हुआ पुरुष, शरत्-काल में आकाश की नाईं, किसी निरूपाधिक शोभा को प्राप्त हो जाता है। पर्वत के ऊपर स्थित महासरोवर की तरह गम्भीर और प्रसन्न तथा निरन्तर ब्रह्मानन्द के आस्वादन से च्युत न हुआ योगी अपनी आत्मा में ही अपने स्वरूप से रमण करता रहता है। सम्पूर्ण कर्मों के फलों का त्याग करनेवाला नित्यतृप्त और निराश्रय वह योगी पुरुष न तो पुण्य से, न पाप से और न हर्ष-विषाद आदि से ही लिप्त होता है। जैसे स्फटिक मणि किसी प्रतिबिम्बभूत नील, पीत आदि द्रव्यविशेष से रंजन को प्राप्त नहीं होता यानी प्रतिबिम्बभूत किसी द्रव्य के रंग को धारण नहीं करता वैसे ही ब्रह्मज्ञानी भी कर्मफल से अपने अन्तःकरण में किसी के रंग को धारण नहीं करता ॥२-६॥

उसीको स्पष्ट बतलाते हैं।

भिन्न-भिन्न जाति के जनसमूह के व्यूह में विहार कर रहा, भेद और अभिमान से रहित ब्रह्मज्ञानी, प्रतिबिम्ब में किये गये छेदन पूजन की नाईं, अपनी देह के छेदन और गन्ध-पुष्प आदि के द्वारा पूजन से खेद और आह्लाद को नहीं जानता। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मज्ञानी देह के छेदन से किसी तरह के खेद का या गन्धादि के द्वारा पूजन से किसी तरह के आह्लाद का अनुभव नहीं करता, कारण कि वह छेदन और पूजन दोनों को देह के प्रतिबिम्ब के समान मिथ्या समझता है। ब्रह्मज्ञानी पुरुष पूजित होने पर भी पूजा करनेवाले की स्तुति (प्रशंसा) नहीं करता तथा पूजा से रहित हुआ भी वह किसी तरह के विकार को प्राप्त नहीं होता। वह सम्पूर्ण आचारों और सब नीतियों के क्रमों से कभी संयुक्त और कभी वियुक्त भी रहता है। उस ब्रह्मज्ञानी पुरुष से संसार उद्विग्न नहीं होता – भय नहीं करता और न वही संसार से उद्विग्न होता है। राग-द्वेष के कारण विषयों से उत्पन्न भय और आनन्द से वह कदाचित् प्रबल प्रारब्ध रहने के कारण संयुक्त और वियुक्त भी रहता है। वह महान् आशयवाला ब्रह्मज्ञानी कुशलबुद्धि पुरुष के भी प्रमितिविषय में स्वयं अन्तर्भूत नहीं होता अर्थात् बड़े-बड़े तीक्ष्ण बुद्धिवाले पुरुष भी तत्त्वतः उस ब्रह्मज्ञानी की सीमा जान नहीं सकते। किंतु व्यवहारतः तो एक छोटा बच्चा भी उसे प्रमिति का विषय बना डालता है यानी थोड़े से भी अनुवर्तन से उसको अपने वश में कर डालता है। इसमें कारण यह है कि शुद्ध चित्त होने के कारण वह ब्रह्मवेत्ता अत्यन्त सरल है ॥७-१०॥

ज्ञानकाल में ही मुक्ति तथा देहादि का बाध हो जाने से ज्ञानी को फिर मुक्ति के लिए किसी तीर्थ आदि की या देह-त्याग की चिन्ता ही नहीं रहती, यह कहते हैं।

हे राजन्, वह ज्ञानी पुरुष अपने शरीर का किसी पुण्य तीर्थ में त्याग कर दे या किसी चाण्डाल के घर में भी जाकर त्याग कर दे अथवा कभी भी शरीर का त्याग न करे या वर्तमान क्षण में ही त्याग कर दे, फिर भी वह अन्तःकरणशून्य पुरुष ज्ञानप्राप्तिकाल में पहले ही मुक्त और विदेह हो चुका है ॥११॥

उसके उपपादन के लिए बन्ध और मोक्ष का स्वरूप कहते हैं।

क्योंकि अहंकार की भ्रान्ति सांसारिक बन्धन के लिए है यानी अहंभ्रान्ति बन्ध है और ज्ञान से

अहंकार का नाश मोक्ष है। विभूति और वैभव चाहनेवाले पुरुष को यत्नपूर्वक उस ब्रह्मज्ञानी की पूजा, स्तुति, नमस्कार, दर्शन और अभिवादन करना चाहिए ॥१२,१३॥

उस जीवन्मुक्त ज्ञानी का पूजन ही परम पुरुषार्थ दिलानेवाले ज्ञान में हेतु भी है, यह कहते हैं।

हे प्रिय पुत्र, जिनके सांसारिक रोग क्षीण हो गये हैं, ऐसे जीवन्मुक्त सज्जनों के पूजन से जो परम पवित्र पद ज्ञान द्वारा प्राप्त किया जाता है वह न तो यज्ञों और तीर्थों से प्राप्त किया जाता है एवं न तपस्याओं तथा दानों से ही प्राप्त किया जाता है ॥१४॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, यों कहकर मनु भगवान् मेरुशिखर के ऊपर चले गये और इक्ष्वाकु भी उस दृष्टि का अवलम्बन कर स्थिर हो गये ॥१५॥

एक सौ बाईसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तेईसवाँ सर्ग

अज्ञानी अन्य सिद्धों की अपेक्षा ज्ञानी के परिपूर्ण होने से उसको आकाशगमन और अणिमादि सिद्धियों की इच्छा ही नहीं होती, इस विशेष बात का वर्णन।

कहे गये लक्षणोंवाले जीवन्मुक्त पुरुष में मणि, मन्त्र आदि के द्वारा सिद्ध हुए पुरुषों की नाईं आकाशगमन आदि सिद्धिरूप भी कोई विशेष है या नहीं इस तरह के सन्देह से युक्त श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

हे आत्मज्ञानियों में श्रेष्ठ भगवन्, जैसा कि आपने जीवन्मुक्तों के लक्षणों का वर्णन किया है वैसा ही यदि है, तो आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष में (अन्य सिद्धों की अपेक्षा) कौन–सा विशेष रहता है ? ॥१॥

उस जीवन्मुक्त पुरुष में अन्य सिद्धों द्वारा अनुभूत न होनेवाला निरतिशयानन्द अनुभव ही विशेष है, इस आशय से उत्तर देते हैं।

जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी पुरुष की बुद्धि अन्य सिद्धों के अगम्य विषय में (परमात्मतत्त्वांश में ही) दृढ़रूप से जम जाती है, यही कारण है कि नित्यतृप्त शान्तचित्त होकर वह अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है और कुछ नहीं चाहता ॥२॥

मन्त्रसिद्धि आदि से सिद्ध हुए पुरुषों के रूप से भी मैं ही अवस्थित हूँ, इस तरह की सर्वात्मबुद्धि होने के कारण उन सिद्धों द्वारा प्राप्त आकाशगमन आदि सिद्धियों की भी ज्ञानी ने प्राप्ति कर ही ली है, इसलिए उन सिद्धियों में उसे कुछ भी अपूर्वता प्रतीत नहीं होती, यह कहते हैं।

मन्त्र की सिद्धि से, तप की सिद्धि से एवं तन्त्र की सिद्ध से युक्त सिद्धों के द्वारा प्राप्त की गयी जो नानाविध आकाशगमन आदि सिद्धियाँ हैं उनमें सर्वात्मभाव रखनेवाले ज्ञानी के लिए कौन–सी अपूर्व बात है ? ॥३॥

यदि अणिमा आदि सिद्धियों को दूसरे प्राप्त नहीं कर सकते, इसलिए उनमें अपूर्व शब्द का अर्थ (अनन्यप्राप्तत्व) भी घटता है, तथापि अनेक मन्त्रसिद्ध आदि पुरुषों द्वारा उनकी प्राप्ति की गयी है; इसलिए उनमें भी अपूर्वता नहीं है, यह कहते हैं।

मन्त्रसिद्धि आदि से युक्त उन्हीं नानाविध सिद्धों ने प्रयत्नपूर्वक साधन कर जिन अणिमा आदि

सिद्धियों की प्राप्ति की है उन सिद्धियों की भी आत्मज्ञानी विद्वान् ने अनायास ही प्राप्ति कर ली है, इसलिए उनमें भी अपूर्वता नहीं है ॥४॥

तब तत्त्ववेत्ता पुरुष में सिद्धों की अपेक्षा विशेष क्या है, इस प्रश्न पर कहते हैं।

यही इसमें विशेष है कि वह मूढ़बुद्धि पुरुषों के समान नहीं रहता यानी तत्त्वज्ञान ही इसमें विशेष है। इस प्रसिद्ध महाबुद्धि का मन सर्वत्र बाह्य वस्तुओं में आसक्ति के परित्याग से निरन्तर रागशून्य तथा निर्मल ही बना रहता है और वह ज्ञानी पुरुष कभी भी भोग्य विषयों में नहीं फँसता ॥५॥

रागशून्य होने से जो फल होते हैं उनका तत्त्वज्ञानी के लक्षणों के रूप में वर्णन करते हुए महाराज वसिष्ठजी उपसंहार करते हैं।

जिसका स्वरूप समस्त धर्मों से रहित ब्रह्मचैतन्य बन गया है तथा तत्त्वज्ञान से दीर्घकालिक सांसारिक भ्रम की निवृत्ति हो जाने के कारण जो विश्रान्त हो चुका है ऐसे तत्त्वज्ञ महापुरुष का इतना ही लक्षण है कि उसमें काम, क्रोध, विषाद, मोह, लोभ आदि आपत्तियों का प्रतिदिन अत्यन्त अपक्षय ही रहता है ॥६॥

एक सौ तेईसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चौबीसवाँ सर्ग

जीवों की निष्कारणता, राग से बद्धता तथा अवस्था आदि का वर्णन।

दूसरी सिद्धियों की अपेक्षा आत्मज्ञान का उत्कर्ष इसलिए है कि वह नित्य निरतिशयानन्दानुभवरूप है और प्रत्यगात्मा की निरतिशयानन्दरूपता इसलिए है कि वह ब्रह्मरूप है, इस बात को युक्तिपूर्वक सिद्ध करने के लिए ब्रह्म ही अपने स्वरूप की उपेक्षा से जीवरूप को प्राप्त करता है, यह कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे रामभद्र, जैसे कोई ब्राह्मण अपने स्वभावसिद्ध सात्त्विक ब्राह्मणधर्म का धीरे-धीरे उल्लंघन कर दीर्घकाल के बाद नीच स्त्री की नीचरूपता का अंगीकार करता है वैसे ही परब्रह्म परमात्मा भी बुद्धि आदि के संग से बुद्धिजनित भोग की इच्छा से अपने नित्यसिद्ध पूर्णानन्द स्वभाव का उल्लंघन कर जीवरूपता का अंगीकार करता है। प्रत्येक सृष्टि में दो तरह के (उपाधि की प्रधानता से भोग्य और उपहित की प्रधानता से भोक्ता - यों दो तरह के) पदार्थ आविर्भूत होते हैं। वे दोनों तरह के पदार्थ माया में रहनेवाले अनादि दो तरह की संस्कार परम्परा का अनुसरण कर रहे हिरण्यगर्भ के प्रथम स्पन्द से उत्पन्न होते हैं और मिथ्यारूप होने के कारण वे किसी प्रकार की असली सामग्री की अपेक्षा नहीं करते। ठीक ही है कि स्वप्न के घट आदि पदार्थ दण्ड, चक्र आदि अपनी उत्पत्ति में सामग्री की अपेक्षा नहीं रखते ॥१,२॥

श्रुतियों में जन्म और कर्म का, बीजांकुर के सदृश, अनादि परस्पर कार्यकारणभाव बतलाया गया है। ऐसी परिस्थिति में कर्मशून्य ईश्वर का जीवरूप से प्रथम सृष्टि में प्रादुर्भाव कैसे होता है, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं।

हे प्रिय, उपहित चैतन्य के द्वारा सम्पादित कर्मों से ही प्राणी ईश्वर से निकलकर भिन्न-भिन्न अनेक तरह के जन्मों का अनुभव करते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि ईश्वर को जीवरूप बनने में कर्मों की

अपेक्षा नहीं होती, किंतु जीवरूप बन जाने के बाद शरीरआदि के उत्पादन में पूर्व-पूर्व देह आदि से जनित कर्मों की अपेक्षा होती है। जल में प्रतिबिम्ब पड़ने में सूर्य को चलनादि क्रिया की आवश्यकता नहीं होती, किंतु सूर्य प्रतिबिम्ब को भिन्न-भिन्न तरंगों में संक्रान्त होने के लिए या तत्-तत् तरंग आदि गत प्रतिबिम्ब के विकार का अनुभव करने के लिए उपाधिक्रिया की अपेक्षा होती है, यह नियम है। इसी नियम के अनुसार ईश्वर को प्रकृत में कर्म की अपेक्षा नहीं होती॥३॥

उसी को स्पष्टरूप से कहते हैं।

जन्म और कर्म का परस्पर यह कार्यकारणभाव इसी तरह का है। समस्त जीव परमपिता परमात्मा से निष्कारण ही चले आ रहे हैं। परमपिता परमात्मा से निकलने के बाद उन जीवों के अपने-अपने जो कर्म हैं वे सुख और दुःख के कारण होते हैं तथा अपने-अपने ज्ञान के अनुसार उत्पन्न हुआ जो संकल्प और विकल्प रहता है वही दुःखादिजनक कर्मों का कारण होता है। भद्र, चूँकि इस संसाररूपी बन्धन का एकमात्र संकल्प ही कारण है, इसलिए आप उसका परित्याग कर दीजिये और चूँकि संकल्प का अभाव ही मोक्ष है, इसलिए आप संकल्पविनाश के अभ्यास में तत्पर हो जाइये। श्रीरामजी, धीरे-धीरे निरन्तर संकल्प-विकल्प की अवस्थाओं का परिहार करते हुए आप विषय और इन्द्रियों के विभ्रमों से सावधान हो जाइये, क्योंकि विषय और इन्द्रियों का विभ्रम होने पर ही किसी में अनुकूलता और किसी में प्रतिकूलता समझ कर प्रवृत्ति और निवृत्ति का संकल्प हुआ करता है तथा फिर पुरुष विषय बन्धनों में फँस जाता है, इसलिए संकल्प की जड़ खोदने में सावधान होना परम आवश्यक है। राघव, न तो आप अपने को ग्राह्य विषयरूप समझिये और न ग्राहक इन्द्रिय आदि रूप ही समझिये। आप समस्त विषयों की चिन्ता का परित्याग कर परम सीमा में विद्यमान रहनेवाला जो साक्षी स्वरूप है तद्रूप बन जाइये॥४-८॥

यदि असावधानी रखेंगे, तो अनुकूल विषय में प्रीति अवश्य होगी; इस बात को दर्शाते हुए महाराज वसिष्ठजी वैराग्य के अभ्यास की भी आवश्यकता बतलाते हैं।

हे निष्पाप रामभद्र, जो इन्द्रियों का समुदाय है वह जिस-जिस अर्थ की ओर निरन्तर दौड़ता है उस-उस अर्थ में राग द्वारा बद्ध हो जाता है, इसलिए उन-उन अर्थों में राग न करनेवाला पुरुष ही मुक्त होता है॥९॥

राग और विराग का अलग-अलग स्वरूप बतलाते हुए उनसे क्रमशः बन्ध और मोक्ष होता है, यह बतलाते हैं।

हे श्रीरामजी, इस संसार स्थिति में यदि आपको कोई चीज अच्छी लगती है, तो आप बद्ध हैं और यदि आपको अपने चित्त में कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती है, तो आप मुक्त हैं, यह जान लीजिये॥१०॥ इसलिए हे रामभद्र, तुच्छातितुच्छ तृण से लेकर उत्कृष्ट से भी उत्कृष्ट हिरण्यगर्भ-शरीर तक के जितने स्थावर-जंगमरूप पदार्थ हैं उनमें से कोई भी आपको रुचिकर न हो॥११॥

यह मान लिया कि उत्तमवैराग्य से भोक्तृत्वजनित बन्ध के ऊपर मनुष्य विजय पा सकता है, तथापि जीवित पुरुष स्नान-भोजन आदि क्रियाओं का किसी तरह परित्याग नहीं कर सकता। ऐसी परिस्थिति में स्नान आदि क्रियाओं से जनित बन्धन तो रहेगा ही, इस प्रश्न पर कहते हैं।

जो कुछ आप करते हैं, जो कुछ आप खाते हैं, जो कुछ होमते हैं, जो कुछ देते हैं; उन सब क्रियाओं में जितेन्द्रिय और कूटस्थ-आत्मा में प्रविष्टमति हो जाने पर न आप कर्ता होते हैं और न भोक्ता ही होते हैं ॥१२॥

इष्ट वस्तु के वियोग से अनिष्ट की संभावना है और उससे उत्पन्न शोक से बन्धन की प्राप्ति – यों आशंका कर कहते हैं।

जो उत्तम पुरुष हैं वे न तो गयी-गुजरी वस्तु के विषय मे शोक करते हैं और न भविष्य के विषय में चिन्ता ही करते हैं। वे तो वर्तमानकाल में जो कुछ कर्म प्राप्त हो जाता है उसी का यथावत् अंगीकार कर लेते हैं ॥१३॥

सब बन्धनों पर विजय पाने के लिए एकमात्र मन पर विजय पाना ही उपाय है और मन पर विजय मन से ही हो सकती है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, तृष्णा, मोह, मद आदि जितने हेयभाव हैं वे सब मन में ही गुँथे हुए रहते हैं, इसलिए बुद्धिमान पुरुष को अपने मन से ही मन को कुचल देना चाहिए ॥१४॥

जिस उपाय के द्वारा मन से मन के ऊपर विजय पायी जाती है उस उपाय को कहते हैं।

जैसे अति तीक्ष्ण लोहे से लोहा काटा जाता है वैसे ही सब भ्रमों की शान्ति के लिए अतितीक्ष्ण विवेकयुक्त मन से दोषयुक्त मन काटा जाता है ॥१५॥

मन से मन पर विजय पाने में प्राप्त आत्माश्रय दोष का वारण करते हैं।

मल हटाने का विज्ञान रखनेवाले विद्वान् लोग मल से ही मल को धो डालते हैं, अस्त्र से अस्त्रों का वारण करते हैं और विष से विष को दूर करते हैं ॥१६॥

जीव तो मन से वेष्टित रहता है, उसमें से कितना अंश अलग करके मन से काट देना चाहिए, यह बतलाने के लिए जीव के स्वरूपों का विभाग करते हैं।

जीव के तीन रूप हैं – एक स्थूल दूसरा सूक्ष्म और तीसरा पर। उनमें से इसका तीसरा जो पररूप है उसका तो आप आश्रय कीजिये और बाकी बचे दो रूपों को मन से काट दीजिये ॥१७॥

उन्हीं रूपों को दिखलाते हैं।

हाथ-पैरवाला जो यह शरीर भोग के लिए निरन्तर लालायित रहता है वही यहाँ भोगार्थ इस जीव का स्थूलस्वरूप स्थित है ॥१८॥ हे रामजी, संकल्पप्रचुररूप धारण करनेवाला तथा संसारस्थिति तक रहनेवाला जो चित्त है उस चित्त को ही इस जीव का आतिवाहिक दूसरा रूप समझिये। भद्र, आदि और अन्त से निर्मुक्त, अबाधित, चैतन्यमात्र, समस्त विकल्पों से निर्मुक्त तथा समस्त विश्व का प्रकाश करनेवाला जो रूप है वही इसका तीसरा रूप है, यह आप जानिये। हे राघव, यही परमपवित्र तुर्यपद है। इसीमें आप अपनी स्थिति बाँध लीजिये, पहले के दो रूपों का परित्यागकर उनमें आत्मबुद्धि मत कीजिये ॥१९-२१॥

जाग्रत् और स्वप्न में जीव के स्थूल और सूक्ष्म दो रूप प्रसिद्ध हैं ही। उनका परित्याग कर देने पर भी तो जीव की भलीभाँति परिशुद्धि नहीं हो सकती, इसलिए जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति – इन तीनों अवस्थाओं से परे की जिज्ञासा करते हुए श्रीरामजी पूछते हैं।

हे मुनिनायक, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति – इन तीनों अवस्थाओं में स्थित (संकीर्ण) अतएव स्पष्टरूप से न देखा गया जो तुर्यरूप है उसे विशेषरूप से खूब अच्छी तरह विचार करके कहिये। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे रामभद्र, अहंभाव तथा सत् और असत् का त्याग करके जो आसक्त, सम और स्वच्छ स्वरूप स्थित रहता है वही तुर्यरूप है। जीवन्मुक्तों में जिसकी अन्तिम स्थिति है, जो स्वच्छ, समरूप और शान्त है, जो व्यवहारकाल में 'साक्षी की अवस्था' प्रसिद्ध है वही तुर्यावस्था कही जाती है ॥२२–२४॥

जाग्रत् आदि अवस्थाओं से उसके सांकर्य का निवारण करते हैं।

संकल्पों का अभाव रहने से यह अवस्था न जाग्रत् है, न स्वप्न है और अज्ञान का अभाव रहने से यह न सुषुप्ति ही है ॥२५॥

अद्वितीय तुरीय अवस्था जाग्रतादि द्वैतकाल में जीवन्मुक्तों को भी कैसे हो सकती है ? यदि ऐसी कोई आशंका करे, तो उस पर कहते हैं।

सामने दिखाई दे रहा यह जो जगत् है, उसकी ज्ञान से हुई जो निवृत्ति है, उसी को शान्त एवं अच्छी तरह प्रबुद्ध हुए (ज्ञानी) पुरुषों का तुर्यपद कहते हैं, यही संसार अप्रबुद्ध (अज्ञानी) पुरुषों के लिए स्थिररूप से अवस्थित है। अहंकार का त्याग होने पर जब समता की उत्पत्ति हो जाती है तब जल में विलीन हुए नमक के टुकड़ों के समान चित्त के गल जाने पर तुर्यावस्था उपस्थित हो जाती है। हे देवोपम श्रीरामजी, इसके अनन्तर अब आप इस दृष्टान्त को सुनिये, जो मैं कह रहा हूँ, उससे प्रबुद्ध हुए भी आप और अधिक बोध को प्राप्त हो जायेंगे। किसी एक विस्तृत घने जंगल में महामौन धारण कर बैठे हुए किसी एक अद्‌भुत मुनि को देखकर बाण से विद्ध अतएव भागे हुए मृग के पीछे दौड़े जा रहे एक व्याध ने उस मुनि से यह पूछा : हे मुने, मेरे बाण के द्वारा घायल हुआ एक मृग यहाँ आया था, वह कहाँ चला गया ? इस तरह का उस व्याध का प्रश्न सुनकर उस मुनि ने उस व्याध को उत्तर दिया। हे साधो, हम जंगल के निवासी मुनि सब समान शीलवाले होते हैं। व्यवहारों में समर्थ जो अहंकार रहता है वह हम लोगों में है नहीं। हे सखे, सम्पूर्ण इन्द्रियों का कार्य अकेला अहंकाररूप मन ही करता है और वह मेरा मन निःसन्देह चिरकाल से बिलकुल गलित हो चुका है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति नामक किसी भी दशा को मैं नहीं जानता, एकमात्र उसी तुर्यपद में मैं अवस्थित रहता हूँ, जहाँ दृश्य नहीं रहता। हे राघव, उस मुनिश्रेष्ठ का ऐसा वचन सुनकर वह बहेलिया उसके अर्थ को न समझकर अपनी अभीष्ट दिशा की ओर चला गया। इसीलिए मैं कहता हूँ कि हे महाबाहो, तुर्य से अन्य कोई दशा नहीं है। निर्विकल्प चित् ही तुर्य है और वही यहाँ पर विद्यमान है, अन्य कुछ नहीं ॥२६–३५॥ क्योंकि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति – ये तीनों चित्त के रूप हैं। (रज आदि गुणों की प्रधानता से तीन विभाग करके तीन अवस्थाओं को दर्शाते हैं) घोर, शान्त और मूढ़ – यों तीन रूप से अपना चित्त यहाँ पर अवस्थित है ॥३६॥ जाग्रत् अवस्था का चित्त घोर है, स्वप्न–अवस्था का चित्त शान्त है और सुषुप्त भाव में स्थित है मूढ़ चित्त। रज आदि तीन गुणोंवाली माया का उच्छेद हो जाने पर इन तीनों से हीन हुआ चित्त मृत है ॥३७॥

योगियों के अवशिष्ट प्रारब्ध को भोग के लिए, भस्म में शुक्लता की नाईं, मृतचित्त में केवल सत्त्वांश ही बच जाता है, रज और तम के अंश का तो लेश भी नहीं रहता, यह कहते हैं।

जो मृत चित्त है उसमें एकमात्र सत्त्व ही, भस्म में शुक्लता की नाई, समरूप से स्थित रहता है। इसी का समस्त योगी जन समाधि के अभ्यास से बड़े यत्न के साथ सम्पादन करते हैं – उपार्जन करते हैं, क्योंकि वैसे चित्त में निर्मलता अधिक रहने से स्वात्मसुख का सदा ही आविर्भाव रहता है ॥३८॥ हे रामचन्द्रजी, समस्त संकल्पों के विलासों से मुक्त उस तुर्यपद में अपनी सांसारिक आत्मा को सब विकारों से शून्य बनाकर आप स्थित रहिये; जिसमें भलीभाँति स्थित रहकर अनेक बड़े-बड़े मुनिजन भेद को शान्त करके सदा ही मुक्त हो चुके हैं ॥३९॥

एक सौ चौबीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पचीसवाँ सर्ग

द्वैत के अपलापरूप तथा सिद्धान्तभूत तुर्यपद में,
जहाँ सभी वादियों को भ्रम होता है, स्थिरता का उपायपूर्वक वर्णन।

आत्मा को ले करके प्रवृत्त हुए श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि समस्त शास्त्रों का परम सिद्धान्त सम्पूर्ण द्वैत का अपलाप करना ही है, वह द्वैत चाहे जीव का अविद्या के साथ अवस्थात्रयरूप हो, चाहे ईश्वर का माया के साथ आकाश आदि प्रपंचरूप हो, न कि उनका सिद्धान्त वस्तुतत्त्व को प्रकाशित करना है, क्योंकि स्वप्रकाशस्वरूप आत्मवस्तु के स्वतःसिद्ध होने से उसकी सिद्धि के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं है, यही कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे राघव, समस्त द्वैत का अपलाप करना ही सकल अध्यात्म शास्त्रों का परम सिद्धान्त है। यहाँ न तो अविद्या है और न माया ही है, किन्तु शास्त्रों से (☗) जिसका परिज्ञान नहीं हो सकता, ऐसा सम्पूर्ण उपद्रवों से रहित नित्य अपरोक्ष ब्रह्म ही है ॥१॥

श्रुति आदि के सिद्धान्तों का परिज्ञान न होने से ही अपनी बुद्धि के वैभव से जगत् के मूल का अन्वेषण करनेवाले वादियों की शब्द से वाच्य सम्पूर्ण शक्तिआत्मक मायाशबल ब्रह्म के विषय में बुद्धि में विचित्र दोष आ जाने के कारण अनेक तरह की – कल्पनाएँ हुआ करती हैं, यह कहते हैं।

शान्त, चिदाभासरूप, स्वच्छ, सर्वत्र एकरूप से विद्यमान तथा समग्र शक्तियों से समन्वित 'ब्रह्म' इस कल्पित नाम में ही अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार अनेक तरह के सिद्धान्तों की कल्पना करके कोई शून्य, कोई विज्ञानमात्र और कोई ईश्वररूप कहते हुए आपस में विवाद किया करते हैं। हे अनघ, मायापर्यन्त सभी इस दृश्य समूह का परित्याग करके मन के साथ-साथ सम्पूर्ण इन्द्रियों के व्यापारों के उपरम से महामौनी बन जाइये। तदनन्तर मननरहित, क्षीणचित्त और प्रशान्त बुद्धि होकर पूर्णानन्दरूप चिदात्मा में एकरूप होते हुए गूँगे, अन्धे और बधिर के सदृश शान्तात्मा बनकर आप अपने स्वरूप में स्थित रहिये। हे राघव, अपने-आप नित्य अंतर्मुख तथा अपने अन्दर पूर्णबुद्धि होकर पंचमादि भूमिकाओं को जीत लेने के कारण जाग्रत अवस्था में स्थित होते हुए भी सुषुप्त – जैसे स्थित होकर आप कर्म करते चलिये। भीतर से सबका परित्याग करते हुए आप बाहर से प्रारब्ध-प्राप्त कार्यों को करते रहिये।

(☗) इसमें 'यतो वाचो निवर्न्त अप्राप्य मनसा सह' यह श्रुति प्रमाण है। द्रविड़ाचार्य ने भी इस विषय में कहा है : 'यद्यप्रमेयं ब्रह्म किमर्थं शास्त्रमिति चेत्, सिद्धं तु निवर्तकत्वात्।'

चित्त की सत्ता ही परम दुःख और चित्त की असत्ता ही परम सुख है, इसलिए हे राघव, चिदेकरूप होते हुए आप प्रिय और अप्रिय का अनुसन्धान न करके चित्त का नाश कर दीजिये ॥२–७॥

प्रिय और अप्रिय का अनुसन्धान न करके यह जो कहा है, उसीको स्पष्ट करते हैं।

रम्य या अरम्य वस्तु को देखकर पत्थर के समान समभाव में स्थित रहना चाहिए। बस, इतने ही अपने यत्न से यह संसार जीत लिया जाता है ॥८॥ सुख–दुःख और इन दोनों के साधनों की (संसार–सागर को पार कर जाने की इच्छा रखनेवाले प्राणी को) कभी भी चिन्ता न करनी चाहिए। बस, इतने ही अपने यत्न से अनन्त सुख प्राप्त होता है ॥९॥ जिसने तीनों लोकों की सभी वस्तुओं के सारका ज्ञान कर लिया है अतएव जो चारों ओर स्वतः फैले हुए प्रकाश से शोभायमान निरतिशय सुखस्वरूप तथा अमृतमय बन गया है, अतएव जो खूब परिपुष्ट हुए मण्डलवाले शशांक के यानी पूर्णचन्द्र के सदृश हो गया है, ऐसा परमात्मस्वरूप को प्राप्त हुआ तत्त्वज्ञ अपने अन्दर जीवन्मुक्ति सुख को प्राप्त करता है। प्रारब्धप्राप्त कार्यों का बाहर से सम्पादन करता हुआ भी वह भीतर से कुछ नहीं करता ॥१०॥

एक सौ पचीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ छब्बीसवाँ सर्ग

योगभूमिकाओं का अभ्यासक्रम तथा लक्षण,
मध्य में मृत्यु हो जाने पर भोग एवं जन्मान्तर में जय आदि का वर्णन।

'जाग्रत्येव सुषुप्तस्थः कुरुकर्माणि राघव' (हे राघव, जाग्रत् काल में ही सुषुप्ति में स्थित–जैसे होकर आप सभी कर्म करते चलिए) इत्यादि से चतुर्थ भूमिका में आरूढ़ हुए रामजी को पंचमादिभूमिकाओं में स्थिति सम्पादन करने की जो सलाह दी गयी है, तदनुसार उन भूमिकाओं में अपनी स्थिति बनाने की इच्छा करते हुए श्रीरामचन्द्रजी अपने से जीत ली गयी या जीती जानेवाली भूमिकाओं का विभाग जानने के लिए उनके लक्षण और अभ्यासक्रम को पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुने, सातों भूमिकाओं का अभ्यास कैसे किया जाता है तथा प्रत्येक भूमिका में योगी के चिह्न किस तरह के होते हैं ॥१॥

पूछे गये भूमिकाओं के अभ्यासक्रम को कहने की इच्छा रखनेवाले महाराज वसिष्ठजी 'उसका अधिकारी प्रवृत्तिशास्त्र के अधिकारी से भिन्न हैं, यों दिखलाने के लिए दोनों अधिकारियों का विभाग करके उनके भिन्न–भिन्न लक्षण कहने की प्रतिज्ञा करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे रामजी, वेदमार्ग में स्थित पुरुष दो तरह के होते हैं – एक प्रवृत्त और दूसरा निवृत्त। (प्रवृत्तिमार्ग का पथिक स्वर्ग की अभिलाषा रखनेवाला तथा निवृत्तिमार्ग का पथिक मोक्ष का अभिलाषी होता है।) स्वर्ग और अपवर्ग की ओर उन्मुख हुए इन दोनों का लक्षण (मैं कहता हूँ) आप सुनिये ॥२॥

पहले रागादि दोषों के कारण विपरीत बुद्धिवाले कर्मों में प्रवृत्त हुए पुरुष का लक्षण कहते हैं।

जो सम्पूर्ण विषयों से शून्य है, वह प्रसिद्ध निर्वाण पदार्थ चीज ही क्या है ? तात्पर्य यह कि भोगों में प्रेम रखनेवाले पुरुष उसे कुछ नहीं समझते। थोड़ा–बहुत उत्तम या अधम भोगों से सम्पन्न यह संसार

ही मेरे लिए सबसे अच्छा है। (✍) यों निश्चयकर वेदप्रतिपादित नित्य, नैमित्तिक, काम्य कर्मों को जो करता है वह पुरुष प्रवृत्त कहा गया है ॥३॥

निवृत्त पुरुष का लक्षण कहने की इच्छा रखते हुए महाराज वसिष्ठजी निवृत्ति में हेतुरूप विवेक का वर्णन करने के लिए उसकी दुर्लभता बतलाते हैं।

जैसे लवणसागर में स्थित बड़े कछुए की गर्दन अनेक बार कण्ठ के छेद में प्रविष्ट होकर उससे बाहर निकलने पर भी लवणसमुद्र के रस का ही आस्वाद लेती तथा उसी को सर्वश्रेष्ठ रस मानती हुई क्षीरसागर के रस को कुछ नहीं जान पाती, किंतु प्रलयकाल के समय क्षार और क्षीर दोनों सागरों के एक जगह मिलने का अवसर आने पर उन दोनों के उदररूपी छिद्र में ग्रीवा का प्रवेश होने पर क्षीर सागर के रस का आस्वाद लेकर 'क्षारसागर के रस की अपेक्षा क्षीरसागर का रस कहीं अधिकस्वादयुक्त है' – यों विवेकसम्पन्न होकर वह ग्रीवा उस क्षीरसागर के रस में ही आसक्त हो जाती है; वैसे ही जीव भी पहले विषयरसास्वाद को ही सर्वश्रेष्ठ रसास्वाद मानता हुआ अनेक जन्मों के बाद अंत में भाग्योदय होने पर अध्यात्मशास्त्र के रस का आस्वाद लेकर विवेकी बनकर उसमें आसक्त हो जाता है ॥४॥

इसको किस तरह का विवेक उत्पन्न होता है, यह कहते हैं।

अहो, संसार की यह व्यवस्था बिलकुल असार है। इस व्यवस्था से मुझे क्या मतलब है, अनुचित परिणामवाले इन कर्मों से ही मैं अपना दिन क्यों गँवाता हूँ। क्रियाजनित उत्पत्ति, प्राप्ति और विकृतिरूप संस्कारों से निर्मुक्त (कूटस्थ) परम विश्रान्ति का स्थान कौन हो सकता है ? यों विचारकर जो अपने अन्तःकरण में 'मुझे इसका अवश्य सम्पादन करना चाहिए' – इस तरह के निश्चय से युक्त रहता है वह पुरुष निवृत्त कहा गया है ॥५,६॥

निवृत्त पुरुष की प्रथम भूमिका प्राप्ति का क्रम कहते हैं।

मैं विरागी बनकर किस तरह संसारसागर को तैर जाऊँ, इस तरह के विचार में तत्पर जब सद्बुद्धि प्राणी होता है, तब भोग और उसके साधनों की चिन्ताओं में प्रतिदिन हृदय के अन्दर उसको नीरसता उत्पन्न होती है, चित्त शुद्धि के अनुकूल शौच, सत्संग, ईश्वरोपासना, जप आदिरूप क्रियाओं में वह पुरुष संसक्त होता है और प्रतिदिन चित्त शुद्धि की वृद्धि से तृष्णा का क्षय हो जाने के कारण वह प्रसन्न होता है। ग्राम्य जड़ चेष्टाओं में वह निरन्तर घृणा करने लग जाता है, दूसरों के छिपे हुए दोषों का वह उद्घाटन नहीं करता और स्वयं पुण्य कर्मों का ही सेवन करता है।अपने तथा दूसरों के मन में उद्वेग न पहुँचानेवाले एवं थोड़े परिश्रम से महाफलवाले यम, नियम आदि कर्मों का वह सेवन करता है, पाप से सदा डरता है और भोगों में पाप अवश्य होने के कारण वह उनकी कभी अभिलाषा नहीं करता। वह स्नेह और प्रणय से पूर्ण, कोमल, सत्य, प्रिय और हितकारक तथा देश और काल के उपयुक्त वचन बोलता है ॥७-११॥

इस तरह के गुणों से विशिष्ट पुरुष सत्शास्त्रश्रवणाधिकाररूप प्रथम भूमिका में अवतरित होता है, यह कहते हैं।

(✍) इस विषय में एक बड़ी अच्छी उक्ति है, सुनिये :

'अपि वृन्दावने शून्ये शृंगालत्वं स वांछति। न तु निर्विषयं मोक्षं कदाचिदपि गौतम ॥'

जिस समय पूर्वोक्त गुणों से युक्त होता है उस समय वह पहली शुभेच्छा नामक एक भूमिका में प्राप्त होता है तथा मन, कर्म एवं वाणी से शान्ति, दान्ति, ज्ञान और विज्ञान से सम्पन्न सज्जन पुरुषों की सेवा करता है। जिस-किसी जगह से उन सज्जनों की सेवा के अनुकूल धन आदि साधन जुटाकर उनकी सेवा करता हुआ वह उनके मुख से ज्ञानदायक शास्त्रों का यानी पुराणों एवं मोक्षधर्म का प्रतिपादन करनेवाली अध्यात्म-संहिताओं का श्रवण करता है। संसारसागर को तैर जाने के लिए इस तरह के विचार से सम्पन्न जो पुरुष होता है वह प्रथम भूमिका में प्रविष्ट हुआ कहा गया है, किंतु उक्त साधनचतुष्टय आदि सम्पत्ति से जो हीन पुरुष है वह तो अध्यात्मशास्त्रों के अवलोकन में आसक्त होता हुआ भी राग आदि के कारण अनधिकारी पुरुष को ठग-ठग कर उनके द्वारा प्राप्त धनादि से अपना केवल पेट पालन करता है, इसलिए वह वंचक कहा गया है। इसके बाद अधिकार की प्राप्ति होने से वह विचारनामक दूसरी योगभूमिका में अवतीर्ण होता है ॥१२-१४॥

वहाँ वह क्या करता है, सो बतलाते हैं।

उस समय वह श्रुति, स्मृति, सदाचार, धारणा, ध्यान और कर्मों में तत्पर रहनेवालों के मध्य में अध्यात्म शास्त्रों की प्रशस्त व्याख्या करने के कारण जिन्होंने अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली है ऐसे श्रेष्ठ पण्डितों का आश्रय करता है अर्थात् श्रवण-मननादि विचार के लिए आत्मतत्त्व के अनुभव और उपदेश में अत्यन्त कुशल होने के कारण सर्वश्रेष्ठ गुरुओं की (♨) शरण में जाता है। स्वयं व्याकरण आदि षडंगों का अच्छा ज्ञाता होने के कारण पदों तथा वाच्यलक्ष्य आदिरूप उनके अर्थों एवं लक्षणा, व्यंजना आदि उनके विभागों का जिसे खूब ज्ञान हो चुका है - ऐसा विवेकी शिष्य अपने गुरु के मुख से अध्यात्मशास्त्र का श्रवण कर कार्य और अकार्य का विनिर्णय तत्त्वतः ऐसे जान लेता है, जैसे घर का मालिक अपना घर। लोक मर्यादा के अनुसार बाहर जो कुछ भी थोड़ी-सी आश्रित मद, अभिमान, मात्सर्य, मोह और लोभ की अधिकता रहती है उसे भी वह उस तरह छोड़ देता है, जिस तरह साँप केंचुल को। यों पूर्वोक्त सद्वासनाओं से वासित अन्तःकरणवाला वह पुरुष, जो कि दूसरी भूमिका में पहुँच चुका है, शास्त्र, गुरु और सज्जनों की सेवा से पूर्ण परमतत्त्व को अच्छी तरह जान जाता है ॥१५-१८॥

इस तरह दूसरी भूमिका में पहुँचे हुए पुरुष का तीसरी भूमिका में प्रवेश बतलाते हैं।

इसके अनन्तर असंगनामक अन्य तीसरी योग्य भूमिका में वह पुरुष ऐसे प्रविष्ट होता है, जैसे कान्त अपनी कान्ता की निर्मल पुष्पशय्या पर ॥१९॥ अध्यात्मविषयक शास्त्रों के अद्वैत आत्मरूप वाक्यार्थ में ('अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यार्थ में) अपनी बुद्धि को निश्चलतापूर्वक स्थापित कर तपस्वियों के आश्रमों में विश्रामों से, अध्यात्मशास्त्रों की कथाओं के क्रमों से तथा वैसे ही संसार की निन्दा करनेवाले वैराग्य के साधनक्रमों से पत्थर की चट्टानरूपी शय्या पर आसीन हो अपनी सारी आयु गँवाता है (✎)। चित्त के उपशम से शोभित होनेवाले तथा असंगता के सुख से सौम्य वनवास के विहार

(♨) देखिये श्रुति-'तद्विज्ञानार्थ स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।' इत्यादि।

(✎) ये दोनों श्लोक पूर्वभूमिकाओं के अनुवादरूप हैं।

से वह नीतिमान् अपने काल को बिताता है, क्योंकि गाँव में रहने पर अधिक विक्षेप होने के कारण समाधि के अभ्यास का भलीभाँति निर्वाह नहीं हो सकता है ॥२०-२२॥

चित्त के प्रसन्न होने पर व्युत्थानकाल में पूर्व की दो भूमिकाओं के धर्मों का अनुसरण भी अत्यन्त आवश्यक है, इसे दिखलाते हैं।

अध्यात्म विषयक सत्-शास्त्रों के अभ्यास से तथा पुण्यकर्मों के निमित्त से जीव की यह आत्मदृष्टि यथार्थ प्रफुल्लित होती है ॥२३॥

'असंगता के सुख से सौम्य' इस उक्ति की विभाग कर व्याख्या करते हैं।

तीसरी भूमिका में पहुँचकर ज्ञानी पुरुष दो तरह के असंग का स्वयं अनुभव करता है। हे श्रीरामजी, आप उसके इन भेद को सुनिये ॥२४॥ यह असंग दो तरह का है - एक सामान्य (पूर्व भूमिका के समान साधारण) और दूसरा श्रेष्ठ। अपनी देह की क्रियाओं का कर्ता तथा उन क्रियाओं के फलों का भोक्ता मैं नहीं हूँ, क्योंकि मैं निष्क्रिय तथा नित्यतृप्त हूँ। दूसरों की क्रियाओं तथा उनके फलों का भी मैं बाध्य और बाधक नहीं हूँ, क्योंकि व्यापारशून्य हूँ॥२५॥ इस तरह के निश्चय से दृश्य पदार्थों में संसक्त न होना ही सामान्य असंग कहा गया है। सुख या दुःख सब कुछ पूर्वकर्म से निर्मित और ईश्वर के अधीन है। इसमें मेरा कर्तृत्त्व कैसा ? ये विस्तृत भोग (विषय) अन्त में परितापी होने के कारण महारोग हैं तथा ये सारी सम्पत्तियाँ परम आपत्तियाँ हैं, क्योंकि इनके उपार्जन और रक्षण के लिए मनुष्यों को नाना प्रकार के क्लेश सहने पड़ते हैं। संयोग सब वियोग के लिए ही हैं और ये मानसिक चिन्ताएँ बुद्धि की व्याधियाँ हैं, सब पदार्थों को विनाश के गड्ढे में ढकेल रहा काल तो उन्हें निगल जाने के लिए ही सदा प्रस्तुत रहता है। इस तरह अनास्था होने से 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्यार्थों में संलग्न चित्तवाले पुरुष की सम्पूर्ण पदार्थों में जो आन्तरिक अभावना है वही सामान्य असंग कहलाता है ॥२६-२९॥

पूर्व भूमिकाओं में सत्संग आदि उपायों से इसी असंग का भलीभाँति अभ्यास करना चाहिए, यह कहते हैं।

इसी पूर्वोक्त अभ्यासयोग से, महात्माओं की संगति, दुर्जनों की असंगति से, श्रवण-मननात्मक आत्मविचारों के अन्तःकरण में प्रयोग से (आवर्तन से) (🕭) तथा लगातार अभ्यासयोग द्वारा अपने पुरुष प्रयत्न से संसारसागर के पार, सबके सार, परमकारणभूत आत्मतत्त्व के - प्रमाण और प्रमेय की असंभावना के निरास द्वारा हस्तामलकवत् दृढ़रूप से खूब स्पष्ट हो जाने पर यानी ठीक ऐसा ही आत्मवस्तु है, इस विश्वास का विषय हो जाने पर मैं कर्ता नहीं हूँ, किंतु ईश्वर ही कर्ता है; पूर्व जन्म में किया गया या वर्तमानकाल में किया जा रहा मेरा कोई कर्म नहीं है इत्यादि अभाव और उसके प्रतियोगी आदि के विषय में विकल्प करनेवाली शब्दार्थ भावना को भी बहुत दूर फेंककर जो शान्त मौनरूप से रहना है वही श्रेष्ठ असंग कहलाता है ॥३०-३३॥ न भीतर, न बाहर, न ऊपर, न नीचे, न दिशाओं में, न आकाश में, न पदार्थों में, न अपदार्थों में, न जड़ में और न चिदाभास में यानी बाहर या भीतर आदि सभी वस्तुओं में आलम्बनशून्य होकर स्थित जो स्वप्रकाशचिद्रूप, शान्त, अन्यप्रकाशक से शून्य आकाश के समान स्वच्छ, एकरस और गम्भीर, आदि - अन्त से रहित तथा

(🕭) देखिये भगवान् बादरायण का सूत्र : 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्'।

जो अत्यन्त कान्त ब्रह्म है वही श्रेष्ठ असंग कहा जाता है ॥३४,३५॥

यह समाधि सदाचार से उपवर्धित विवेक–ज्ञान का फल है, यह कहने के लिए विवेक का पद्मरूप से निरूपण करते हैं।

सन्तोषरूपी सुगन्ध से मधुर (अथवा सन्तोषजनित हर्ष से मधुर–मकरन्दवाला), उपासना, गुरुशुश्रुषा, श्रवण आदि निष्काम कर्मरूपी निर्मल पल्लवों से युक्त और चित्तरूपी नाल के अग्र भाग में संलीन हुए रागादि वासनाओं से उत्पन्न अनेक तरह के विघ्नरूपी कण्टकों से संकीर्ण विचाररूपी सूर्य से विकास को प्राप्त हुआ यह विवेकरूपी कमल हृदय में रूढ़ होकर असंगनामक यह तृतीय भूमिकारूप फल फलता है ॥३६,३७॥

अनेक जन्मों के संचित सुकृतों के परिपाक तथा इस लोक के पुण्यों के संचय से दैववश कहीं पहली भूमिका ही यदि अंकुरित हो गयी, तो बड़े प्रयत्न के साथ सज्जनों की संगति आदि करके उसकी रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि यदि वह कहीं रक्षित रह गयी तो, फिर वही द्वितीय आदि भूमिकाओं में अनायास परिणत हो जायेगी, इसलिए उसी की रक्षा में अधिक यत्न करना चाहिए, यह उपदेश देते हैं।

तत्त्वज्ञानी पुरुषों के समवाय से यानी दान, मान, भजन आदि उपायों के द्वारा सम्मेलन से तथा पुण्यकर्मों के संचय से दैववश कहीं पहली भूमिका उत्पन्न होती है। थोड़ी सी शुभ प्रवृत्ति में उन्मुख होने के कारण, मेघों से अंकुरित भूमि की नाईं, तत्त्वज्ञानियों में अंकुरित उस प्रथम भूमिका की प्रतिदिन विवेकउपदेशरूपी जल के सिंचन से इस तरह प्रयत्नपूर्वक रक्षा और पालन करना चाहिए कि वह म्लान न होने पावे। शुभेच्छानामक यह पहली भूमिका चार साधनों के मध्य में वैराग्यरूपी या शान्ति आदिरूपी जिस अंश से सर्वप्रथम अंकुरित होकर उल्लसित होती है उसी अंश को बड़े यत्न के साथ प्रतिदिन अभिवृद्धि में ऐसे पहुँचाना चाहिए, जैसे कृषक धान आदि के अंकुर को अभिवृद्धि में पहुँचाता है ॥३८–४०॥

अभिवर्द्धित वह एक ही अंश अन्य उत्तर की भूमिकाओं का स्वयं साधन करेगा, यह कहते हैं।

अन्तःकरण में विचार द्वारा उदय को प्राप्त हुई यह पहली भूमिका ही अन्य भूमिकाओं की उत्पत्ति का स्थान बन जाती है। इसी भूमिका के कारण द्वितीय और तृतीय भूमिका को भी यत्न से विवेकी पुरुष प्राप्त कर सकता है ॥४१॥

उपायों के साथ वर्णित सफल तृतीय भूमिका का उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यही श्रेष्ठ असंगनामक तीसरी भूमिका है। इस भूमिका में वर्तमान पुरुष सम्पूर्ण संकल्प की कल्पनाओं से शून्य हो जाता है ॥४२॥

प्रसंगवश, बीच में मूर्खों के ऊपर दया आ जाने से श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, असत्कुल में उत्पन्न, कामोपभोग के लिए प्रवृत्त, अधम तथा योगियों के संग को न प्राप्त किये हुए मूढ़ पुरुष का उद्धार कैसे होगा ? (♠) हे भगवन्, पहली, दूसरी,

---

(♠) सत्कुल में उत्पन्न होना आदि जो वेदान्तशास्त्र के अधिकारियों के लक्षण हैं उस सब विशेषणों से रहित, अध्यात्मशास्त्र की कथाओं से सदा विमुख रहनेवाले तथा कामोपभोग के लिए ही प्रवृत्तिमार्ग के पथिक बने हुए अधम पुरुषों को किसी दूसरे उपाय से मोक्ष हो सकता है या नहीं, यही इस प्रश्न का आशय है।

तीसरी या अन्य किसी भूमिका में आरूढ़ होकर मर गये प्राणी की कैसी गति होती है ? यह कहिये ॥४३,४४॥

पहले प्रश्न का उत्तर देते हैं।

प्रवृद्ध रागादि दोषों वाले मूढ़ पुरुष को काकतालीययोग से यानी दैवगति से सैकड़ों जन्मों के बाद जब तक अपने विचार से या साधुओं की संगति से वैराग्य उत्पन्न नहीं हो जाता, तब तक उसका यह विस्तृत संसार रहता ही है ॥४५॥ वैराग्य उत्पन्न हो जाने पर प्रथम भूमिका का उदय प्राणी को अवश्य होता है और तदनन्तर उसका संसार नष्ट हो जाता है, यही शास्त्रों के अर्थों का संग्रह है शास्त्रों का परम सिद्धान्त है ॥४६॥

द्वितीय प्रश्न का उत्तर देते हैं।

प्रथमादि भूमिकाओं में पहुँचकर अपना जीवन (देह) उत्सर्ग करनेवाले प्राणी का भूमिकाओं के प्रकर्ष के अनुसार ही पूर्वजन्म का – दुष्कृत नष्ट हो जाता है। तदनन्तर वह योगी देवताओं के विमानों में, लोकपालों के नगरों में तथा सुमेरु पर्वत के उपवनों की झाड़ियों में रमणियों (अप्सराओं) को साथ लेकर खूब रमण करता है। उसके बाद पूर्व जन्म में किये गये पुण्यों और पापों का भोगसमूहों के द्वारा नाश हो जाने पर वे योगी लोग पवित्र, गुणवान् और लक्ष्मीपात्र सज्जनों के सुरक्षित घर में जन्म लेते हैं और जन्म लेकर ये लोग योग की वासना से वासित अन्तःकरणवाले होने के कारण योग का ही सेवन करते हैं। वहाँ पर पूर्वजन्म में की गयी भावनाओं से अभ्यस्त हुए योग भूमिकाओं के क्रम का स्मरण करके वे बुद्धिमान् लोग आगे के भूमिका क्रम का खूब अभ्यास करने लग जाते हैं ॥४७-५१॥

दोनों प्रश्नों का उत्तर देकर अब प्रकृत का अनुसरण कर रहे हैं।

हे श्रीरामजी, ये पूर्वोक्त तीनों भूमिकाएँ जाग्रत् कही गयी हैं, क्योंकि इन भूमिकाओं में यथावत् भेदबुद्धि रहने से यह सम्पूर्ण दृश्यसमूह उस जाग्रत्काल की नाईं ही दिखाई पड़ता है। इन तीनों भूमिकाओं में योगयुक्त पुरुषों को केवल पूज्यता उदित होती है, जिसे देखकर 'यद्यदाचरति श्रेष्ठः' इस न्याय से मूढ़बुद्धि पुरुषों को भी मुक्त होने की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है ॥५२,५३॥

उसी आर्द्रता का सबसे पहले लक्षण करते हैं।

नित्य-नैमित्तिक सब कामों को भलीभाँति करता हुआ तथा अकर्तव्यों को न करता हुआ जो प्राकृत आचार में स्थित रहता है वह आर्य कहा गया है। अपने वृद्ध पुरुषों के आचारों के अनुसार, शास्त्रोक्त तथा चित्त को प्रसन्न रखनेवाले यथास्थित व्यवहारों का जो ग्रहण करता है वह आर्य कहा गया है। योगी का वही आर्यत्व शुभेच्छानामक प्रथम भूमिका में अंकुरित, द्वितीय भूमिका में श्रवण आदि के द्वारा विकास को प्राप्त तथा तृतीय भूमिका में चित्त की एकाग्रतारूप फल से फलित होता है ॥५४-५६॥

इस तीसरी भूमिका की प्राप्ति के बीच में ही मृत्यु को प्राप्त कर चुके निष्काम कर्मों के अनुष्ठान से पापशून्य हुए योगियों को 'कर्मणा पितृलोकः विद्याया देवलोकः' इत्यादि श्रुतियों में बतलाया गया उपभोग भी देवलोक आदि में करना पड़ता है, परंतु यह भोग शुभ संकल्पों से उत्पन्न सब वासनाओं से युक्त होने के कारण, काम्यकर्म का अनुष्ठान करनेवाले पुरुषों की नाईं, रागादि दुर्वासनाओं के द्वारा अधःपतन

का हेतु नहीं होता, इसी आशय से कहते हैं।

इस तीसरी भूमिका की प्राप्ति के बीच में ही मृत्यु को प्राप्त हुआ योगी पुरुष शुभ संकल्पजनित उत्तम वासनायुक्त भोगों का चिरकाल तक उपभोग कर पुनः योगी ही होता है। तीन भूमिकाओं का अभ्यास करने से अज्ञान के नष्ट हो जाने पर सम्यक्ज्ञान का उदय होने के बाद जब पूर्णचन्द्रोदय के सदृश चित्त हो जाता है तब चौथी भूमिका में पहुँचे हुए युक्तचित्त योगी लोग सम्पूर्ण जगत् को विभागशून्य आदि और अन्त से रहित आनन्दैकरस देखते हैं। द्वैत के बिलकुल शान्त हो जाने पर जब अद्वैत स्थिर हो जाता है तब चौथी भूमिका में गये हुए योगी लोग सब लोकों को स्वप्न के समान देखने लगते हैं। तीन भूमिकाओं को जाग्रत् कहते हैं, क्योंकि जैसे जाग्रत् में व्यावहारिक सत्ता से जगत् का भान होता है, वैसे ही इनमें भी व्यावहारिक सत्ता से जगत् का भान होता है और चौथी भूमिका को स्वप्न कहते हैं, क्योंकि जैसे स्वप्न में प्रातिभासिक सत्ता से जगत् का भान होता है, वैसे ही इसमें भी भान प्रातिभासिक सत्ता से ही होता है *(पंचम भूमिका के लिए सुषुप्तिपद का प्रयोग होने में कारणभूत सुषुप्ति का सादृश्य बतलाते हैं।)* शरत्काल में विच्छिन्न मेघ के विलीन हो जाने पर जैसे केवल शुभ्र आकाशरूप बच जाता है वैसे ही पंचम भूमिका में सम्पूर्ण व्यापारों के विलीन हो जाने पर केवल शुद्ध चिन्मात्र ही बच जाता है। एवं, पंचम भूमिका के लिए जो सुषुप्ति शब्द का प्रयोग आता है इसमें कारण यही है कि सुषुप्तिकाल में जैसे समस्त व्यावहारिक भान विलीन हो जाते हैं, वैसे ही इस पंचम भूमिका में व्यावहारिक और अवशिष्ट प्रातिभासिक त्रिपुटीभान भी विलीन हो जाते हैं, अतः पंचम भूमिका एक तरह से सुषुप्ति के सदृश ही ठहरी, इसलिए सुषुप्ति और पंचम भूमिका में समानता होने से पंचम भूमिका के लिए सुषुप्ति शब्द का प्रयोग यत्र-तत्र श्रुति आदि में किया गया है, यह निष्कर्ष है ॥५७-६१॥ जो पुरुष पंचम भूमिका में पहुँच गया है, वह केवल चैतन्य सत्तारूप बनकर रह जाता है। सुषुप्तरूप अमुख्य नाम से कही जा रही पंचम भूमिका प्राप्त कर पुरुष समस्त विकारांशों से निर्मुक्त हो जाता है और अद्वैत परब्रह्मरूप तत्त्व में स्थित हो जाता है। जो पाँचवीं भूमिका में पहुँच चुका है, वह द्वैतज्ञान से रहित होकर गाढ़ सुषुप्त के सदृश स्थित रहता है, उसका अपना पूर्णस्वरूप प्रकाशित हो जाता है और भीतर से ज्ञानी रहता है। पाँचवी भूमिका में स्थित पुरुष अन्तर्मुख वृत्ति से रहता है। यद्यपि बाह्य व्यापार में तत्पर रहता है तथापि निरन्तर चारों ओर से शान्त होने के कारण निद्रालु के सदृश दिखाई देता है। इस भूमिका में वासनाशून्य हो अभ्यास करता हुआ पुरुष क्रमशः तुर्यनाम की अन्य छठी भूमिका में चला जाता है ॥६२-६५॥

छठी भूमिका का लक्षण बतलाते हैं।

जहाँ पर न तो सत्, न असत्, न अहंकार और न अहंकार का अभाव ही रहता है, किंतु क्षीण मनन होने के कारण यानी निर्विकल्प होने के कारण योगी केवल द्वैत और अद्वैत से शून्य ही रहता है। अहंकाररूप गाँठ के (🔔) विच्छिन्न हो जाने से उस योगी के सभी सन्देह नष्ट हो जाते हैं और वासनाओं से शून्य जीवन्मुक्त वह योगी निर्वाण को न प्राप्त हुआ भी (देह धारण कर रहा भी) अहंकार और

(🔔) इसमें 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' (उसके हृदय की गाँठ टूट जाती है और सब सन्देह दूर हो जाते हैं। यह श्रुति प्रमाण है।

वासनाओं से शून्य होने के कारण निर्वाण को प्राप्त हुआ, चित्रलिखित दीप की नाईं, स्थित रहता है। जीवन्मुक्त वह योगी जड़ जगत् के स्वभाव से बाहर और भीतर से शून्य, आकाश में शून्य घट की नाईं, स्थित रहता है तथा आनन्दपरिपूर्ण स्वभाव होने के कारण बाहर और भीतर से पूर्ण होकर, सागर में परिपूर्ण घट के समान, स्थित रहता है। उसके अद्वितीय रूप की संसार-दशा में कभी प्रसिद्धि न होने से वह किसी उत्तम आश्चर्यमय अपूर्व रूप से सम्पन्न रहता है अथवा वास्तविक दृष्टि से तो वह किसी भी रूप से कुछ भी सम्पन्न न हुआ रहता है। छठी भूमिका में स्थित होकर वह योगी सातवीं भूमिका में पहुँचता है ॥६६-६९॥ सातवीं योगभूमिका विदेहमुक्तता कही गयी है। वह शान्तस्वरूप, वाणी का अगम्य (♨) और संसार की भूमिकाओं की सीमा है। कोई लोग (शैव लोग) उसे शिव कहते हैं, कोई लोग (वेदान्ती) उसे ब्रह्म कहते हैं और कोई लोग (सांख्य, योगी) उसे प्रकृति से पुरुष का विवेक कहते हैं। इस तरह भिन्न-भिन्न लोगों ने अपनी बुद्धि के अनुसार कल्पित रूपों से सप्तम भूमिका की भावना की है। यद्यपि यह भूमिका सर्वथा उपदेश योग्य नहीं है, तथापि किसी तरह इसका उपदेश किया जाता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, ये सातों भूमिकाएँ मैने आपसे कह दीं। इनके अभ्यासयोग से मनुष्य दुःख का अनुभव नहीं करता ॥७०-७३॥

उत्तम वैराग्य होने पर ही भूमिकाओं में प्रवेश होता है, अन्यथा नहीं; इसका मदोन्मत्त हथिनी की आख्यायिका के बहाने वर्णन करते हैं।

धीरे-धीरे खूब झूम-झूमकर चलनेवाली, अत्यन्त मदोन्मत्त, लड़ाई करने में सदा तत्पर, अपने बड़े-बड़े दाँतों से प्रख्याति को प्राप्त कर चुकी तथा अत्यन्त अनर्थ को पैदा करनेवाली एक हथिनी है। यदि वह किसी तरह मार दी जाती है, तो इन समस्त भूमिकाओं में मनुष्य विजयी बन सकता है। वह मदोन्मत्त हथिनी जब तक पराक्रम से जीत नहीं ली जाती, तब तक कौन ऐसा वीर है जो उससे आक्रान्त क्षुद्र सांसारिक सम्पत्तिरूपी युद्ध भूमियों में प्रवेश करने के लिए भी समर्थ हो सकता है ? श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, वह कौन प्रमत्त हथिनी है, वे युद्ध भूमियाँ कौन हैं, कैसे यह मारी जाती है तथा कहाँ यह चिरकाल तक रमण करती है। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, मुझे यह मिल जाय, ऐसी जो इच्छा है उसीका नाम हथिनी है, वह शरीररूपी जंगल में रहती है और मत्त होकर अनेक तरह के शोक, मोह आदि उल्लासों को पैदा करने में तत्पर रहती है। मतवाले इन्द्रियों के समूह ही उसके उग्र प्रकृति के बच्चे हैं, वह जीभ से मनोहर भाषण करती है, शुभाशुभ कर्मरूपी दो दाँतों से युक्त वह मनरूपी गहन स्थान में लीन रहती है। चारों ओर दूर तक फैल रहे शरीर से युक्त वासनाओं का समूह ही इस हथिनी का मद है और हे श्रीरामजी, संसारदृष्टियाँ इसकी युद्ध भूमियाँ हैं। यहाँ पर पुरुष बार-बार जय और पराजय का अनुभव करता है। यह इच्छा नामवाली हथिनी कृपण प्राणि समूहों को मारती

(♨) यानी वह योगियों के मानस अनुभव से ही एकमात्र गम्य है। जीवित ज्ञानी पुरुष के लिए यदि सातवीं भूमिका ही नहीं है, तो फिर वह योगियों के मानस अनुभव से गम्य कैसे होगी, ऐसा किसी को भ्रम न करना चाहिए, क्योंकि 'सा सीमा भवभूमिषु' इत्यादि से उसमें संसार की भूमियों की सीमारूपता जो बतलाई गयी है, उससे विरोध होने लगेगा तथा 'आसामभ्यासयोगेन' इत्यादि उत्तरोत्तर भूमिकाओं के अभ्यास का जो निर्देश किया गया है, उससे भी विरोध होने लगेगा।

है। वासना, चेष्टा, मन, चित्त, संकल्प, भावना और स्पृहा इत्यादि इसके नामों का समूह है, यह समूह चित्तरूपी कोश के अन्दर रहता है ॥७४–८२॥

'कथं निहन्यते चैषा' (यह कैसे मारी जाती है) इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

अन्य सभी अस्त्रों का तिरस्कार कर धैर्यनामक सर्वश्रेष्ठ अस्त्र से बहुत दूर तक फैली हुई तथा सम्पूर्ण विषयों के साथ तादात्म्यभाव को प्राप्त हुई इस इच्छारूपी हथिनी को सब तरह से जीत लेना चाहिए। 'यह वस्तु मुझे इस तरह प्राप्त हो जाय' यह इच्छा जब तक अन्तःकरण के भीतर विकसित रहती है तभी तक यह महाभयंकर कुत्सित संसाररूपी महाविष से उत्पन्न महामारी बनी रहती है। 'यह मुझे मिल जाय' यह जो संकल्प है, बस इतना ही संसार है तथा इसका शान्त हो जाना मोक्ष है, यही ज्ञानोपदेश-संग्रह है ॥८३–८५॥

तृष्णारूपी संसार का नाश ही मोक्षभूमिका के उदय में हेतु होने से मोक्ष है, भूमिकाओं के उदय में वैराग्य कारण कैसे है, इसको दिखलाते हैं।

पुरुषों के राग आदि अपराध से मलिन हुए मन में श्रुतियों के अनुकूल आचार्य आदि का उपदेश, कमल के पत्तों के ऊपर जलबिन्दु की नाईं, तनिक भी नहीं जमता, लेकिन वैराग्य आदि साधनों से सम्पन्न इच्छारहित विमल आकृतिवाले पुरुष में स्वयं निर्मल अतः दूसरे का चित्त प्रसन्न करने में कारणरूप गुरुउपदेशवाक्य, दर्पण में तैलबिन्दु की नाईं, संक्रान्त हो जाता है – खूब जम जाता है ॥८६॥

राग आदि की उत्पत्ति न होने में तथा उत्पन्न हुए राग आदि के छेदन में उपाय बतलाते हैं।

एकमात्र विषयों की स्मृति का परित्याग कर देने से इच्छारूपी संसार का अंकुर उत्पन्न नहीं होता। विषवृक्ष के अंकुरों की पंक्ति – जैसी अनेक तरह का अनर्थ पैदा करनेवाली, इस इच्छा को तनिक भी बढ़ते ही विषयों के विस्मरणरूप शस्त्र से काट देना चाहिए, इच्छा से व्याप्त हुआ जीव अपने वांछित अर्थ की सिद्धि के लिए दीनता को कभी नहीं छोड़ सकता ॥८७,८८॥

असंवेदन के स्वरूप का व्युत्पादन करते हैं।

सुन्दर असंवेदन में यानी उत्तमरूप से विषयों का स्मरण न होने में श्रेष्ठ प्रयत्न यही है कि चित्त अपने भीतर समस्त व्यापारों से निर्मुक्त होकर अवधानशून्य सोये हुए सैकड़ों मृतकों की नाईं बैठा रहे। हे श्रीरामजी, अनर्थ पैदा करनेवाली उस इच्छारूप मछली को आप सब लोग प्रत्याहाररूपी बंसी में फँसाकर बाँध रखिये ॥८९,९०॥

कल्पनाओं के त्याग से ही मुक्ति होती है, यह आपने पहले अनेक बार कहा है, अब आप इच्छा के त्याग से मुक्ति होती है, यह कैसे कहते हैं, यदि ऐसी आशंका की जाय, तो उस पर कहते हैं।

यह मुझे मिल जाय, इस तीव्र इच्छा को ही उत्तम पुरुष कल्पना कहते हैं और बाह्य पदार्थों का जो विस्मरण है, उसको कल्पना का त्याग कहते हैं ॥९१॥

संकल्प ही सम्पूर्ण अनर्थों का मूल है, यह जो पहले कहा गया है, उसका भी यही अभिप्राय है, यह इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामजी, संकल्प को ही आप स्मरण समझिये और विस्मरण को तो विद्वान् लोग शिवस्वरूप समझते ही हैं। संकल्प में पहले के अनुभूत पदार्थों की तथा अननुभूत पदार्थों की भी भावना की जाती

है ॥९२॥ अनुभूत और अननुभूत सब तरह की स्मृति का शीघ्र ही विस्मरण कर काष्ठ के समान मूढ़ एवं महामति होकर स्थित रहिये ॥९३॥

सभी प्राणियों को विषय संकल्पों के त्याग के बिना मोक्ष की सिद्धि नहीं होती, इसलिए उनका त्याग अवश्य कर देना चाहिए, इस अपने समस्त उपदेश रहस्य को अब परम कारुणिक महाराज वसिष्ठजी चिल्लाकर दृढ़ करने की अभिलाषा से कहते हैं।

मैं ऊपर हाथ उठाकर बार-बार ऊँचे स्वर से चिल्लाकर यह कह रहा हूँ, लेकिन कोई उसे सुनता नहीं कि संकल्पत्याग ही परम श्रेय का सम्पादक है, उसकी भावना तुम लोग अपने हृदय में क्यों नहीं करते ॥९४॥ हे श्रीरामजी, यह श्रुतियों से (♨) उक्त और लोक में भी प्रसिद्ध है कि सम्पूर्ण इन्द्रियों और मन के व्यापारों को छोड़कर केवल चुपचाप बैठा हुआ ही पुरुष उस परम पद को प्राप्त करता है, जिस भूमानन्दरूप परम पद में हिरण्यगर्भ तक का भी साम्राज्य तृण की नाईं तुच्छ बन जाता है ॥९५॥

सर्वथा संकल्पत्याग होने पर देहादि-स्पन्दन के अभाव से व्यवहार का लोप हो जाने पर कैसे जीवन रह सकता है, यदि ऐसी कोई आशंका करे, तो उस पर कहते हैं।

अपने गन्तव्यस्थान (गृह आदि) की ओर जाने के लिए अविच्छिन्न चित्तवृत्तिधारा से युक्त पथिक के पैर में जैसे बिना संकल्प के ही स्पन्दन प्रतिक्षण होते रहते हैं यानी उस पथिक के पैर अपने अभीष्ट स्थान की ओर जाने के लिए बे-रोक-टोक उठते जाते हैं, वैसे ही योगी के भी पूर्वजन्म में किये गये अभ्यासरूपी अदृष्ट के वश से ही अनिषिद्ध अपने कर्मों में स्पन्दन होता रहेगा ॥९६॥ हे श्रीरामजी, इस विषय में अधिक कहने की क्या आवश्यकता है ? संक्षेप से मैं इतना ही कहता हूँ कि संकल्प ही सबसे बढ़कर बन्धन है और उसका न रहना ही मोक्ष है ॥९७॥

किस दृष्टि से संकल्प का परित्याग होगा, उस दृष्टि को कहते हैं।

इस तरह सम्पूर्ण संसार को अज, शान्त, अनन्त, ध्रुव, अव्यय तथा नित्यसिद्ध परमार्थचिद्रूप देखते हुए आप शान्त होकर सुखपूर्वक स्थित रहिये। 'अहं' और 'मम' इस अध्यस्त सम्पूर्ण भेदों के विस्मरण को ही ब्रह्मज्ञानी लोग जीव-ब्रह्मैक्य रूप योग कहते हैं और वह योग शान्त, अक्षय और सुदृढ़रूप से स्थित है। हे श्रीरामजी, आप इस योग में स्थित होकर सब कार्य करते रहिये। यदि आप समाधि में तत्पर हो चुके हैं, तो फिर आप कर्म मत कीजिये। हे श्रीरामजी, विषयों के विस्मरण को ही स्वाभाविक चित्त का क्षय तथा जीवब्रह्मैक्यरूप योग कहते हैं, इसलिए आप उसमें अत्यन्त तन्मय होकर जैसे हैं वैसे ही स्थित रहिये ॥९८-१००॥

चूडाला द्वारा दिखलाया गया सर्वत्याग भी सम्पूर्ण प्रपंचों की निवृत्तिरूप होने के कारण उक्त स्थिति रूप ही है, इसको कहते हैं।

हे श्रीरामजी, शिव, सर्वगत, शान्त, ज्ञानात्मक, अज और कल्याणरूप ब्रह्म के साथ जो एकत्व की भावना है यानी यह सम्पूर्ण दृश्य ब्रह्मस्वरूप है, यह जो परिपूर्ण भावना है वही सर्वत्याग कहा गया है। हे राघव, आप निरन्तर अपने हृदय के अन्दर उसकी भावना करते हुए अपना कर्तव्य कर्म करते

(♨) देखिये श्रुति :

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तमाहुः परमां गतिम्॥

चलिये ॥१०१॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, 'अहं,' 'मम' (यह मैं हूँ, यह मेरा है) यह भावना कर रहा पुरुष दुःख से छुटकारा नहीं पाता तथा 'अहं' 'मम' यह भावना न कर रहा पुरुष मुक्त हो जाता है, अब आपको जो अच्छा लगे वही कीजिये ॥१०२॥

एक सौ छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सत्ताईसवाँ सर्ग

रामजी की विश्रान्ति, भरद्वाज मुनि की उत्कण्ठापूर्वक उक्तियाँ,
जाग्रत् आदि अवस्थाओं के लक्षण तथा तुरीय पद – इनका वर्णन।

यहाँ तक श्रीवसिष्ठ मुनि और श्रीरामजी का परस्पर संवाद हुआ उसे सुनाकर वाल्मीकि मुनि रामजी की विश्रान्ति का स्मरण कर स्वयं आप भी पूर्णानन्द आत्मा में विश्रान्त हो गये। उस समय वे बिलकुल चुपचाप हो गये थे। इस प्रकार की अपने गुरु की स्थिति देखकर भरद्वाज, परमानन्द में अपनी स्थिति न पाकर, आगे और कुछ सुनने की इच्छा से पूछते हैं।

भरद्वाज ने कहा : हे गुरो, रघुकुल में सर्वश्रेष्ठ, विशुद्धमति श्रीरामभद्र ने अपने गुरु महाराज वसिष्ठजी के द्वारा अनेक प्रकारों से उपदिष्ट इस अतिप्राचीन (आदिम ब्रह्मा से लेकर महर्षियों के सम्प्रदाय में चले आ रहे) ज्ञानरूपी सार का श्रवणकर क्या और भी कुछ जिज्ञासु होकर पूछा था या वे उतने ही उपदेश से सम्पूर्ण सन्देहों से रहित एवं तारतम्यशून्य प्रत्यक्ष अनुभूत आत्मसुख से परिपूर्ण होकर पूर्णज्ञानरूप आत्मा बनकर स्थित हो गये, यह मुझसे कहिए ॥१॥

जितना उपदेश रामजी ने सुना उतना तुमने भी तो सुना, यदि तुम्हें सन्देह की निवृत्ति हुई है, तो उन्हें भी सन्देह की निवृत्ति हो गयी। यदि नहीं हुई है तो उन्हें भी नहीं हुई, यों तुम स्वयं ही क्यों नहीं जान लेते, इस आशंका पर भरद्वाजजी अपने में और श्रीरामभद्र में महान् अन्तर बतलाते हैं।

असल में श्रीरामभद्र तो महान् योगी, सबके वन्द्य, देवों के स्वामी, जनम–मरण से रहित, विशुद्ध ज्ञानमय, समस्त गुणों की खान, समस्त ऐश्वर्यों के आधार तथा तीनों लोकों के उत्पादन, रक्षण एवं अनुग्रह आदि में सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र थे। वे केवल लोगों पर अनुग्रह के लिए ज्ञानशास्त्र की प्रवृत्ति करने के उद्देश्य से स्वेच्छा से ही अपने अज्ञान की कल्पना कर श्रवणार्थ प्रवृत्त हुए, मैं तो आरम्भ से ही अज्ञानी हूँ, मुमुक्षु हूँ और मेरे पास साधनों की भी कमी है, अतः हम दोनों में महान् अन्तर है, यह तात्पर्य है ॥२॥

यों पूछे गये वाल्मीकिजी प्रश्न की द्वितीय कोटिका कथाशेष से समर्थन करते हुए उत्तर देते हैं।

वाल्मीकिजी ने कहा : भरद्वाज, समस्त वेदान्तशास्त्र का जिसमें संग्रह भरा था, ऐसे वसिष्ठमुनि के पूर्वोक्त वचनों का श्रवणकर कमललोचन तथा अखिल विज्ञानों के ज्ञाता श्रीरामभद्र मुहूर्तपर्यन्त अपने आत्मस्वरूप में जाग्रत और विकसित हो उठे। शक्तिपात के (📖) प्रभाव से उनके अविद्या के पुट खुल

(📖) 'तत्त्वमसि' आदि उपनिषद् के महावाक्यों से उत्पन्न जो अखण्ड आकारवाली चित्त की वृत्ति है, उसमें हुआ नित्य–निरतिशय आनन्दरूप आत्मतत्त्व का आविर्भाव ही यहाँ 'शक्तिपात' शब्द का अर्थ समझना चाहिए। अथवा योगशास्त्र में वर्णित – सुषुम्ना के मार्ग में षट्चक्रों का भेदनकर कुण्डलिनी का ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश होकर जो शिवशक्ति का संयोग होता है, यही संयोग 'शक्तिपात'

गये और उनका निर्मल चैतन्य प्रकाशित हो उठा। उस समय वे अपने–आप प्रकाशित हो रहे आत्मानन्द से पूर्ण हो गये थे। उस समय प्रश्न, उत्तर और विभाग (उक्त एवं अनुक्त अंश का विवेचन) आदि करने की जो पद्धति होती है, इससे विरत हो गये थे। उनका चित्त आनन्दरूप अमृत से पूर्ण हो गया था। उनके अंगों में रोमरूपी कण्टक हो गये थे। वे सर्वाधिष्ठान चैतन्यरूप बन गये थे, इससे वे चारों ओर से परिपूर्ण होकर विराजित थे। अणिमा आदि आठ सिद्धियों की प्राप्ति करने की इच्छाएँ उनमें तृण के तुल्य हो गयी थीं यानी उनका नामनिशान नहीं था। उन्होंने उस समय वसिष्ठजी से कुछ भी नहीं कहा। वे शिवपद में परिणत हो गये थे ॥३–६॥

इस प्रकार उत्तम अधिकारी श्रीरामचन्द्रजी को ज्ञान की प्राप्ति हुई, यह वर्णन कर अब मन्द, मध्यम अधिकारियों को चित्तशुद्धि के लिए विशिष्ट उपासना और मनन के उपायभूत तीन अवस्थाओं के विवेक एवं दृश्य प्रपंच के विवेक आदि कहने के लिए उनका उपक्रम करने में हेतु भरद्वाज की उत्कण्ठा आदि का वाल्मीकिजी वर्णन करते हैं।

भरद्वाज ने कहा : हे मुनियों के नायक, अहो, मैं आश्चर्यचकित हूँ कि श्रीरामभद्र तो, महान् आत्मपद प्राप्त कर चुके, परंतु हम लोगों को उस तरह के आत्मपद की प्राप्ति कैसे होगी। मेरे जैसे मूर्ख, स्तब्ध, अल्पज्ञ पापी कहाँ और ब्रह्मा आदि द्वारा चाही जा रही दुर्लभ रामजी की स्थिति कहाँ ? हे बड़े–बड़े मुनियों के गुरो, अहो, मैं किस तरह आत्मपद में विश्रान्ति पा सकूँगा और इस दुस्तर संसाररूपी महासागर के मोहरूपी जल से पार किस तरह हो सकूँगा, यह शीघ्र मुझसे कहिए ॥७–९॥

इस प्रकार पूछे गये वाल्मीकि मुनि 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' न्याय से सिद्ध श्रुत ग्रन्थों की बार–बार आवृत्ति करना ही प्रथम उपाय है, यह उपदेश देते हैं।

वाल्मीकि महाराज ने कहा : हे शिष्य आरम्भ से अन्त तक सम्पूर्ण रामवृत्तान्त, जो वसिष्ठजी के वाक्यों में रहा, मैंने तुमसे कहा। तुम अपनी बुद्धि से पहले विचार कर पीछे उसका अनुसन्धान करो। मैं भी इस प्रसंग में तुमसे तुम्हारे अनुभव में उपयोगी जो तीन अवस्थाओं के विवेचन आदि वक्तव्य हैं, उन्हें कहता हूँ, सुनो ॥१०॥

चूँकि यह सारा प्रपंच मिथ्याभूत अविद्या से उत्पन्न हुआ है, इसलिए प्रपंच झूठा है और आखिर में चैतन्यरूप अद्वैत तत्त्व का ही राज रहता है, यह बुद्धिमान् मनुष्य अनायास जान सकता है, यह कहते हैं।

भद्र, यह जो यहाँ अविद्या का प्रपंच है, वह तनिक भी सत्य नहीं है यानी समस्त संसाररूप प्रपंच एकदम मिथ्या ही है। उसमें अधिष्ठानभूत जो तत्त्व है, उसको अलग कर पण्डित लोग निकाल लेते हैं

शब्द का अर्थ समझना चाहिए। मन्त्रशास्त्र में शक्तिपात शब्द का अर्थ वर्णित है – गुरुजी की शिष्य के ऊपर जब अत्यन्त दया हो जाती है, तब वे अपनी देह छोड़कर शिष्य की देह में प्रवेश कर जाते हैं, तदनन्तर शिष्यदेह की प्रत्येक नाड़ी का शोधन कर उसकी कुण्डलिनी में सप्तचक्रों में संचारण द्वारा समस्त भुवनों का वृत्तान्त प्रत्यक्ष दिखलाते हैं, यह दिखलाना ही शक्तिपात है। परंतु इस मन्त्रशास्त्रवर्णित अर्थ का यहाँ ग्रहण करना अभीष्ट नहीं है; क्योंकि श्रीरामभद्र स्वयं ही ईश्वर हैं, अतः उनमें सर्वज्ञत्व आदि धर्म स्वतः सिद्ध हैं, इसलिए इन धर्मों की श्रीरामभद्र को न तो कोई आवश्यकता है और न उससे लोकोपकार की सिद्धि ही है।

और अपण्डित लोग उस मिथ्या संसार को लेकर परस्पर कलह करते हैं ॥११॥

मिथ्याभूत द्वैत प्रपंच से वास्तव अद्वैत वस्तु की हानि नहीं होती, यह कहते हैं।

हे प्रियमित्र, असल में चैतन्य वस्तु से कुछ भी अलग नहीं है, अतः मिथ्या प्रपंच से किसका अवरोध किया जा सकता है। प्रणव, महावाक्य आदि जो मैं रहस्य तुमसे आगे जाकर प्रकट करनेवाला हूँ, उनके अभ्यास से तुम अपने चित्त को विशुद्ध बना डालो ॥१२॥

सबसे पहले प्रणव की प्रथम मात्रा से बोधित होनेवाला जगत्प्रपंच का मिथ्यापन, उसके साक्षी का विवेक करने के लिए, सिद्ध करते हैं।

प्रपंच को ग्रहण करनेवाला जो जाग्रत व्यापार है, उसको निद्रा ही कहते हैं और जिसके भीतर चैतन्य दीपक प्रकाशित रहता है, उसे निरंजन (साक्षी) कहते हैं। हे मित्र, यह जो प्रपंच है, इसका मूल कारण झूठा अज्ञान ही है और अन्त भी झूठा अज्ञान ही है। मध्यकाल में भी विचारने पर इसकी कोई सत्ता न होने के कारण केवल प्रतीति ही रहती है, अतः उत्तम विद्वान् इसमें किसी तरह की आस्था नहीं करते ॥१३,१४॥

जो वस्तु असत् रहती है, वह भी अनादि वासनायुक्त अविद्या से, गन्धर्वनगर के सदृश, दिखलाई पड़ती है, यह कहते हैं।

अनादि वासना के दोष से असत् यह संसार दिखलाई देता है, उसका गन्धर्वनगर के सदृश मिथ्यास्वरूप है। यह अनेकविध भ्रमों से भरा पड़ा है। भद्र, तुम चैतन्यरूप अमृतकन्दली का अभ्यास न कर वासनारूपी विषवल्ली का आश्रय कर क्यों व्यर्थ मोह में फँसे हो ? जब तत्त्वज्ञान हो जाता है, तब स्पष्ट हो जाता है कि पहले यानी चित्त की स्थिरता के हेतु ज्ञानरूपी आलम्बन का आश्रय करने के पहले भी यह जाग्रत जगत् था ही नहीं और ऊपर की चतुर्थ अवस्था में भी जाग्रत आदि कुछ है नहीं। यह विषय उन सभी योगियों के अनुभव से सिद्ध है, जो सर्वस्वतन्त्र आत्मज्ञान से परिपूर्ण हैं ॥१५–१७॥

जब तक अज्ञान रहता है, तभी तक चितिरूपी नदी में जगत्–रूपी तरंगों का उद्भव होता रहता है, यह कहते हैं।

सुधास्वरूप रस से परिपूर्ण चितिरूपी महानदी तभी तक जगत्तरंगों से युक्त रहती है, जब तक उसमें आत्मरूप से प्रवेश नहीं किया जाता यानी मुख्य आत्मज्ञान नहीं होता ॥१८॥

जो वस्तु आदि और अन्तकाल में नहीं रहती, वह मध्य में भी नहीं रह सकती, क्योंकि जिसका जो स्वभाव होता है, वह किसी भी काल में बदल नहीं सकता। यह स्वप्न स्थल में सभी को ज्ञात है, इस तरह की अनुमान शैली दर्शाते हैं।

हे सखे, यह समस्त जगत् न तो आरम्भ में है और न अन्त में ही है। इसलिए तुम यह भी समझ लो कि मध्य में भी यह है ही नहीं। इस जगत् का सारा वृत्तान्त ऐसा है, जैसा कि स्वप्न का है। अविद्या से उत्पन्न हुए ये सारे भेद, जल में बुलबुलों की नाईं, क्षण–क्षण में उत्पन्न हो होकर एकमात्र ज्ञानरूप समुद्र में विलीन हो जाते हैं। उत्तम शान्ति देनेवाली आत्मसंवित्तिरूपी नदी पहले जानकर फिर उसमें गोता लगाकर वे बाह्यभ्रान्तिरूप निदाघ (गर्मी के काल) सुखपूर्वक निकल जाय ॥१९–२१॥

अब वाल्मीकिजी अज्ञान का लवणसागर के रूप में वर्णन करते हैं।

अकेला अज्ञानरूपी समुद्र ही समस्त जगत् को व्याप्त कर स्थित है। इस समुद्र में अनादि भ्रान्तिवासनारूप वायु से उत्पन्न हुआ सबसे बड़ा यह 'अहम्' नाम का तरंग है ॥२२॥

छोटे-छोटे तरंगों को दर्शाते हैं।

उन-उन विषयों में चित्त के गिरने के जो नानाविध प्रकार हैं, उनके हेतुभूत राग आदि दोष इस समुद्र के छोटे-छोटे तरंग कल्पित किये गये हैं। ममता ही इसमें आवर्त है, यह यथेष्ट जहाँ चाहता है, वहाँ प्रवृत्ति करने लग जाता है। इस समुद्र में राग और द्वेष बड़े-बड़े मगर हैं, उन्हीं दो मगरों से पहले तत्काल ही तुम पकड़ लिये जाते हो और तदनन्तर अनर्थरूपी पाताल में तुम्हारा प्रवेश निश्चित हो जाता है, यह प्रवेश किसी से भी रोका नहीं जा सकता ॥२३,२४॥

यदि तुम्हें समुद्र में ही डूबना है, तो आनन्दसमुद्र में क्यों नहीं डूबते, यह कहते हैं।

भद्र, (यदि तुम्हें समुद्र में डूबना ही है, तो) प्रशान्त तथा अमृतरूप तरंगों से पूर्ण केवल आनन्दामृत के समुद्र में ही क्यों नहीं डूबते ? व्यर्थ द्वैतरूप मगरों से पूर्ण लवणसागर के तरंगों में क्यों डूबते हो ? ॥२५॥

यह संसार श्रीरामजी के लिए तो तत्त्वज्ञान से चला गया, मेरे लिये तो गया ही नहीं, परंतु स्थित है, इस तरह के शोकहेतु मोह का कारण कहते हैं।

कौन स्थित है, किसके लिए कौन चला गया, किस हेतु से क्या फल मिला, इस तरह के शोक की हेतु माया में (मोह में) तुम क्यों गोते लगा रहे हो ? मैं तुमसे कहता हूँ कि ऐसे मोह में विवेकी बनकर गोते मत लगाओ। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादि वेदान्तवाक्य जब यह कहते हैं कि जो कुछ यह जगत् है, वह सब आत्मरूप एक तत्त्व ही है, तब हे प्रिय, ऐसी कौन दूसरी वस्तु चली गयी है, जो तुम्हारे नानाविध शोकों की विषय बन बैठी है। जिनको अज्ञान है, उन बालकों के प्रति तो ब्रह्म का जगत् के रूप में विवर्त होता है, परंतु जो पुण्यवान् पुरुष निरन्तर आनन्दरूप आत्मा में अपनी सुदृढ़ स्थिति बनाकर स्थित हैं, उनके प्रति ब्रह्म का जगत् के रूप में विवर्त होता ही नहीं ॥२६-२८॥

किसी समय तत्त्वज्ञानियों को मोह जो दिखाई पड़ता है, वह कैसे ? इस पर कहते हैं।

जिस पुरुष को तनिक भी विवेक नहीं है, वह शोक करता है और अकस्मात् प्रसन्न भी होता है, परंतु जिसको तत्त्वज्ञान हो गया है, वह निरन्तर हँसता ही रहता है, उसे जो किसी समय मोह दिखाई पड़ता है, वह केवल अज्ञानियों की चेष्टा का अनुकरण ही है ॥२९॥

यह बात अज्ञानियों में नहीं हो सकती, क्योंकि अविद्या से आक्रान्त अज्ञानियों को, जल में स्थलबुद्धि के सदृश, अनात्मा में आत्मबुद्धि रहती है, यह कहते हैं।

प्रसिद्ध जो सूक्ष्म तत्त्व है, वह अज्ञानी लोगों के लिए अविद्या से ढका रहता है, इसलिए उन्हें जल में स्थल और स्थल में जल का जैसे संशय बना रहता है, वैसे ही कल्पित अनात्मा में आत्मा का और आत्मा में अनात्मा का संशय बना रहता है, अतः अज्ञानियों के लिए उक्त बात हो नहीं सकती ॥३०॥

'जगत् परमाणु है' इत्यादि सिद्धान्त माननेवाले वादियों की रीति से भी विवेक हो जाने पर जब कि शोक चला जाता है, तब 'समस्त जगत् मायामय है' इस सिद्धान्त में विवेक हो जाने पर तो शोक न चला जाय, यह शंका तो हो ही नहीं सकती, इस आशय से कहते हैं।

पृथ्वी आदि जितने महाभूत हैं, वे सब परमाणुमय हैं, यह मत यदि मान लिया जाय, तो भी यहाँ ऐसी कौन आत्मा नष्ट हो गयी, जिसका शोक किया जाय, क्योंकि परमाणुवाद में भी देह आदि के अनात्मा होने के कारण उनके नाश से आत्मा का नाश तो होता नहीं ॥३१॥

अपनी प्रिय वस्तु के नाश से प्राणी को शोक अवश्य होता है। यदि वह प्रिय वस्तु सद्रूप है, तब तो वह कभी नष्ट नहीं हो सकती और यदि असद्रूप है, तो वह कदापि स्थित नहीं रह सकती, इस तरह दोनों प्रकारों से उस आत्म–वस्तु के नाश की किसी तरह भी सिद्धि न होने के कारण शोक का कोई हेतु है ही नहीं, इस आशय से कहते हैं।

हे मित्र, न तो असद्वस्तु की उत्पत्ति होती है और न सद्वस्तु का अभाव होता है, केवल माया द्वारा विरचित चित्र–विचित्र रचनाओं के ये आविर्भाव और तिरोभाव होते रहते हैं। यदि देहादि रचनाविशेष मायिक है, तो फिर ऐन्द्रजालिक द्वारा दिखाई गयी माया की नाईं इसे उदासीन और तटस्थ अवभासित होना चाहिए, शोक, मोह आदि दुःखों से भरे हुए हजारों अनर्थ उत्पन्न करने में इसके पास विशेष हेतु क्या है, यदि ऐसी तुम आशंका करो, तो उस पर हम कहते हैं, सुनो। हे मित्र, यह तुम्हारी आशंका सत्य है, आधुनिक कोई हेतु इसके पास उपस्थित नहीं है, किंतु पुण्य और पाप में प्रवृत्ति रूप जो अनेक पूर्व जन्मों का संचित पुरुषप्रयत्न है वही पुण्य–पापनामक विशेष हेतु इसके पास उपस्थित है। उसी से वह मायिक देह आदि पुष्यादि–फल के भोग के लिए विष के समान मरण–मूर्च्छा आदि हजारों हेतुओं के स्वरूप में परिणत हो जाता है और सैकड़ों बार उपदेश देने पर भी अध्यात्मज्ञान के प्रतिपादक शास्त्रों का अर्थ पाप के कारण इसके हृदय में स्थान नहीं कर पाता, इसलिए हे मित्र, उस पाप के विनाश के लिए अपने भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के वास्ते अर्धनारीश्वर आदि का वेष धारण किये हुए जगद्गुरु सगुण परमेश्वर की तुम उपासना करो। हे मित्र, अभी तक तुम्हारे समस्त पाप नष्ट नहीं हो गये हैं। प्राणियों द्वारा किये गये पुण्य–पापरूपी कर्म ही इस पशुपति भगवान् के प्राणीरूपी पशुओं के बंधन के लिए पाशरूप से विविध श्रुति आदि प्रमाणों के द्वारा प्रसिद्धि को प्राप्त कर चुके हैं। हे सखे, तुम तब तक साकार (📖) देव का भजन करो, जब तक तुम्हारा चित्त विशुद्ध नहीं हो जाता, क्योंकि उस भजन से विघ्नों द्वारा किसी तरह की बाधा न पहुँचाये जाने के कारण निराकार परमतत्त्व में तुम्हारी सहज स्थिति दृढ़ हो जायेगी। साकार महेश्वर की उपासना से प्राप्त विशुद्ध सत्त्व के बल से हजारों विविध व्यामोहों के द्वारा प्रचण्ड बने अज्ञान की इस व्यामोह–शक्ति को जीतकर गुरु और शास्त्रों के उपदेश में विश्वासयुक्त मन से इन्द्रियों के साथ–साथ मनोनिग्रहरूप योग के मार्ग का अनुसरण करो। अनन्तर क्षणभर की समाधि लगाकर अपने से ही प्रत्यगात्मा का अवलोकन करो, ताकि उस प्रत्यगात्मा के दर्शन से तमोगुण से आच्छादित तुम्हारी बुद्धिरूपी रात प्रभातरूप में परिणत हो जाय। केवल पुरुष प्रयत्नरूप कर्मों से कोई मतलब सिद्ध नहीं होता, भगवान् महेश्वर के एकमात्र अनुग्रह से ही मनुष्य प्राप्तव्य वस्तु की प्राप्ति कर लेते हैं ॥३२–३८॥

अच्छे कुल में उत्पत्ति, सदाचार, चान्द्रायणादि तप तथा अग्निहोत्रादि कर्मों का सम्पादन आदिरूप

(📖) देखिये, श्रुति भी कह रही है : उमासहायं परमेश्वरं प्रभं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्। ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात् ॥ इत्यादि।

वर्तमान काल के पुरुषप्रयत्न पूर्वजन्म के कर्मों की अपेक्षा प्रबल होते हैं, यह तो आप पहले ही सिद्ध कर चुके हैं, अब फिर आप ईश्वर के अनुग्रह की आवश्यकता क्यों बतला रहे हैं, इस आशंका पर कहते हैं।

हे मित्र, महेश्वर के अनुग्रह के बिना केवल कुलीनता, सदाचारिता, नीति और पराक्रम आदि कुछ भी नहीं काम कर पाते, क्योंकि पूर्वजन्म के कर्म अधिक बलवान् होते हैं। पूर्वजन्मों के कर्मों के अनन्त तथा इस जन्म के पुरुष प्रयत्नों के अल्प होने के कारण ईश्वर के अनुग्रह के बिना उनके ऊपर विजय नहीं पायी जा सकती, इसलिए ईश्वारानुग्रहरूपी सहायता हृदय में करके ही इस जन्म के पुरुष प्रयत्नों की प्रबलता पहले सिद्ध की गयी है, उसे छोड़कर नहीं, यह भाव है ॥३९॥

तब तो भगवान् महेश्वर की उपासना ही करनी चाहिए, यम, नियम, ज्ञान आदि की कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं।

सखे, ईश्वर की शरण में गये हुए भी तुम पुरुष के तर्कों से अगम्य तथा एकमात्र श्रुति से गम्य धर्मादिसहित ज्ञानरूप प्रतीकार से यानी मूलसहित सम्पूर्ण कर्मों के निरासोपाय से क्यों उद्विग्न हो रहे हो, क्योंकि उपासना द्वारा प्रसन्न किया गया ईश्वर भी ललाट के ऊपर लिखे गये अक्षरों को अपने हाथ से स्वयं नहीं मिटा सकता, किंतु ज्ञानकृत मूलोच्छेदोपाय से ही मिटा सकता है ॥४०॥

गुरु और शास्त्रों में शिष्य को बोध दिलाने की शक्ति, शिष्य में चित्त की शुद्धि द्वारा ऊहापोह में अधिक कुशलता के कारण समझने की शक्ति तथा रागादि में मूल सहित उखड़ जाने की योग्यतारूप परिपाक आदि सब सामग्रियों का मिलना भी ईश्वर की इच्छारूप नियति के वश ही रहता है, इसे कहते हैं।

कहाँ तो वाणी और मन के अगम्य अखण्ड ब्रह्मात्मचिति को बतलानेवाला गुरु, कहाँ उसके जानने की योग्यतारूप शिष्य का कौशल और कहाँ शम, दम आदि के क्रम से अपने सर्वनाश के लिए परिणत यह मोहरूप वल्लरी ? परंतु जिसके प्रभाव से यह सारी सामग्री परस्पर एक दूसरे में मिल गयी है, वह ईश्वर की इच्छा अचिन्तनीय है ॥४१॥

इसलिए ऐसी सामग्री उपलब्ध होने पर मोह को जीत लेने के लिए खूब उत्साह रखना ही युक्त है, बीच में आकर शोक करना ठीक नहीं, इसे कहते हैं।

हे भरद्वाज, तुम अपने विवेक से इस मोह का स्पष्टरूप से त्याग कर दो, फिर तो निःसन्देह तुम असाधारण ज्ञान को प्राप्त कर लोगे ॥४२॥

किसी बड़े कार्य में सामग्रीहीन पुरुष को ही शोक करना उचित है, महाराजों की नाईं सर्वसम्पन्न तुम्हें शोक करना तो ठीक नहीं, इस आशय से कहते हैं।

महाशक्ति सम्पन्न राजा युद्ध आदि महाविपत्तियों में फँस जाने पर भी धन, नौकर आदि सामग्रियों से सम्पन्न होने के कारण दूसरों के लिए अतर्कित भी पृथिवी परिपालन, दुष्टनिग्रह, शिष्टपरिपालन आदि कार्य केवल अज्ञान से ही करने में समर्थ होता है, किंतु अल्पशक्ति सम्पन्न पुरुष तो धनादिक्षतिरूप साधारण एक छोटी–सी आपत्ति आ जाने पर भी किंकर्तव्यविमूढ़ होकर शोक करने लगता है क्योंकि उसे पार करने में धैर्य आदि सामग्रीरूप हेतु उसके पास नहीं रहता ॥४३॥

जीवन्मुक्त पुरुषों को दृष्टान्त बनाकर पुण्य–सामग्री रहने पर मुझे बोध अवश्य ही हो जायेगा, यह

अनुमान करके सबसे पहले पुण्य कमाने में मनुष्य को प्रवृत्त होना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

भगवान् महेश्वर की दया से अनेक जन्मों के बाद आत्मज्ञान प्रकट होता है, यह आत्मज्ञान मुझे भी सामग्री रहने पर अवश्य होगा, ऐसा प्रत्येक पुरुष को अनुमान कर लेना चाहिए, क्योंकि यहाँ जीवन्मुक्त धीर पुरुषों में अनेक जन्मों के संचित पुण्य से आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ देखा जाता है, यह दृष्टान्त है ॥४४॥

पाप के समान पुण्य भी संसारबन्धन का कारण है, अतः शत्रुस्वरूप हुआ पुण्य क्यों कमाया जाय ? इस आशंका पर कहते हैं।

हे पुत्र, विषयों में अनुराग होने पर शत्रुस्वरूप हुए जिस पुण्यकर्म से तुम्हें इस तरह का बन्धन प्राप्त हुआ है, विषयों में अनुराग न होने पर मित्रस्वरूप हुए उसी पुण्यकर्म से तुम मोक्ष पा जाओगे ॥४५॥

अधिक पुण्य के द्वारा पूर्वजन्म के पापों का नाश होने पर शम, दम आदिरूप अमृत से शीतलता प्राप्त करनेवाले पुरुषों को आधिदैविक आदि तीनों तरह के तापों की शान्ति हो जाती है, इसे कहते हैं।

रागादि दोषों से शून्य सज्जनों का यह सत्कर्मों का संवेग प्राणियों के पूर्वजन्म के पापों को नष्ट करता हुआ उनके त्रिविध तापों को ऐसे शान्त कर देता है, जैसे वर्षा का समूह दावानल को ॥४६॥

पुण्योपार्जन के बाद दृढ़ वैराग्य होने पर जो कार्य करना चाहिए उसका उपदेश देते हैं।

हे मित्र, यदि अपना कल्याण चाहते हो, तो संसार चक्र के आवर्त में भ्रमण मत करो, (अथवा 'संसारचक्रावर्तभ्रमभ्रमम्' इस पाठ के अनुसार – संसार चक्र के आवर्तरूपी भ्रम में यदि तुम भ्रम करना नहीं चाहते, तो) सब कर्मों को छोड़-छाड़कर श्रवण आदि उपायों से तुम केवल ब्रह्म में आसक्त हो जाओ। जब तक बाह्य विषयों में आसक्ति है यानी जब तक ब्रह्म में आसक्ति नहीं है तभी तक विकल्प से उत्पन्न हुआ यह सब जगत् दिखाई देता है। हे मित्र, जल के तरंगयुक्त होने पर ही समुद्र अपने तट की ओर जाकर उससे टक्कर खा करके विक्षिप्त होता है, जल के निश्चल रहने पर तो वह केवल जलरूप ही दिखाई देता है। विवेकज्ञानरूप दृष्टि (चक्षु) को ढक देनेवाले इस शोक का तुम अवलम्बन क्यों कर रहे हो। हे मित्र, अभंगुर वह प्रज्ञारूपी यष्टि (छड़ी) ही इस तरह शोक से अन्धे बने हुए तुम्हारा तब तक निर्वाह करे जब तक कि तुम्हारी विवेक दृष्टि खुल नहीं जाती। हर्ष और शोक के आत्मज्ञान के उत्साह के विनाशक – तरंगों से, तृणों की नाईं, जो लोग इस संसारसागर में बहते हैं वे लोग महात्माओं की गणना में कभी नहीं गिने जाते। हे सखे, वह सारा जगत् (जीवसमूह) हर्ष, विषाद आदि अवस्थारूप झूले पर निरन्तर आरूढ़ है। इसे छः ऋतु रूप या काम, क्रोध आदि रूप छः झूलों से झुलाकर काल-क्रीड़ा करता है, अतः इसमें तुम खिन्न क्यों हो रहे हो अर्थात् खिलवाड़ करने के लिए कल्पित पदार्थों के संयोग और वियोग में खेद करना युक्त नहीं है। इस तरह की नानाविध क्रीड़ाओं में उत्कण्ठा रखनेवाला एकमात्र काल ही अनेक उपायों से एक के पीछे एक अनेक जगतों को उत्पन्न करता है, विनाश करता है, फिर तत्काल ही उत्पन्न करता है और फिर विनाश करता है ॥४७-५२॥

जैसे दूसरे प्राणियों के शरीर आदि का काल भोजन कर डालता है वैसे ही अपने शरीर आदि का भी काल भोजन कर डालता है, इस नियम को मानकर यह निश्चय कर लेना चाहिए कि जो जिसका खाद्य है, उसे वह अवश्य ही खा डालेगा। जब इस तरह का निश्चय हो जाता है, तब शरीर आदि में से अहन्ताभिमान का भी परित्याग हो जाता है और तदनन्तर शोक का प्रसंग नहीं आता, यह कहते हैं।

हे भद्र, केवल कालरूप सर्प द्वारा बलपूर्वक आक्रमण कर भक्षित किये जानेवाले जन्तुओं के बीच में वास्तव में न कोई विशेष ज्ञान है, न कोई ऐसे ज्ञान का विषय विशेषरूप धर्म है और न कोई ऐसे धर्म का आश्रय (धर्मी) ही है ॥५३॥ जो देवयोनि हैं वे भी जब दुष्ट काल के पिण्ड से छूटे हुए नहीं हैं यानी देवताओं को भी जब दुष्ट काल पचा जाता है, तब निमेषपर्यन्त रहनेवाले विनाशी शरीरों की तो कथा ही क्या ॥५४॥

वास्तव में तुम साक्षीरूप ही हो, इसलिए तुम्हें दूर से केवल संसारनृत्य का कौतुक ही देखना चाहिए, न कि शोक, मोह आदि विकारों से विकृत होकर स्वयं नृत्य करना चाहिए, यह कहते हैं।

भद्र, धन नाश आदि विपत्तियों में विकृत इन्द्रियों से युक्त होकर प्रेमपूर्वक क्यों स्वयं ही नृत्य करने लग जाते हो, क्षणभर चुपचाप बैठकर संसारनाटक तो देखो। हे भरद्वाज, अनेक रंगों से युक्त इस जगत् को क्षणभंगुर देखकर ज्ञानी पुरुष तनिक भी शोक नहीं करता। अमंगल देनेवाले शोक को छोड़ दो, मंगलमय वस्तुओं का विचार करो और चिदानन्दघन स्वच्छ परमात्मा की भावना करो ॥५५–५७॥

जो मंगलमय वस्तुएँ हैं, उन्हें बतलाते हैं।

जो पुरुष देव, द्विज और गुरुओं के ऊपर परिपूर्ण श्रद्धा रखकर निर्मल चित्तवाले हो गये हैं और जो वेदादि सत्–शास्त्रों में प्रमाण्यबुद्धि रखते हैं ऐसे पुरुषों के ऊपर महेश्वर का परम अनुग्रह होता है अर्थात् देव, द्विज आदि के ऊपर श्रद्धा आदि रखने से ईश्वरानुग्रहरूप परम मंगल प्राप्त होता है, इसलिए देवादि में श्रद्धा आदि ईश्वरानुग्रहरूप मंगल के साधन होने से मंगलरूप हैं और ईश्वरानुग्रह साक्षात् ज्ञान का साधन होने से उनसे भी बढ़कर मंगलरूप है। भरद्वाज ने कहा : भगवन्, आपके प्रसाद से मैंने पूर्णरूप से सब साधनों का रहस्य यह जान लिया कि वैराग्य से बढ़कर दूसरा इस संसार में उद्धार करनेवाला बन्धु नहीं है और संसार से बढ़कर दूसरा मारनेवाला कोई शत्रु नहीं है। अब मैं अनेक वाक्यरूप समस्त ग्रन्थ से महाराज वसिष्ठजी द्वारा कहे गये ज्ञानरूपी रहस्य का सम्पूर्ण निचोड़ थोड़े शब्दों में सुनना चाहता हूँ, कृपाकर कहिए। वाल्मीकिजी ने कहा : हे भरद्वाज, मुक्ति देनेवाले इस महाज्ञान को तुम सुनो, इसके केवल सुनने से ही फिर संसाररूपी सागर में तुम गोते नहीं लगाओगे ॥५८–६१॥

जगत् का लय करने में हेतुभूत अपवाद कहने की इच्छा से अध्यारोप द्वारा अनेक प्रकार से स्थित एक ही मंगलरूप देव को नमस्कार करते हैं।

जो देव वास्तव में एक होता हुआ भी अध्यारोप द्वारा उत्पत्ति, स्थिति और संहाररूप कार्यों से अनेक प्रकार का होकर स्थित है, उस सच्चिदानन्दरूप परमात्मा को नमस्कार है ॥६२॥

प्रश्न के अनुसार उत्तर कहने की प्रतिज्ञा करते हैं।

जब प्रपंच का लय किया जाता है तब जिस उपाय से परमतत्त्व प्रकाशित होता है उस उपाय को तुम्हें संक्षेप से श्रुतिकथित क्रम का अवलम्बन कर कहता हूँ ॥६३॥

अलग–अलग प्रकरणों में कहे गये तत्त्व को सूक्ष्मबुद्धिवाले पुरुष स्वयं ही पूर्वापर के विचार से जान सकते हैं, इस प्रकार समझने की तुममें सुबुद्धि विख्यात थी, परंतु इस समय वह कैसे नष्ट हो गयी, यों कहे जानेवाले अर्थ के ग्रहण में अवधानार्थ भरद्वाज को वाल्मीकि महाराज फटकार सुनाते हैं।

हे भरद्वाज, पूर्वापर ग्रन्थ के विचार में पटु तुम्हारी स्मृति कहाँ चली गई, उसीसे स्वयं ही सब कुछ हस्तामलकवत् जाना जा सकता है ॥६४॥ पहले अपने अन्तःकरण से तत्त्व का स्वयं ही विचार करना चाहिए, इसीसे वह आत्मवस्तु स्वयं प्राप्त की जा सकती है। इसके प्राप्त होने से पुरुष फिर शोक नहीं करता। हे भरद्वाज, सत्संग और सत्-शास्त्र से प्राप्त विवेक से वैराग्ययुक्त होकर पुरुष को इसी तत्त्व की बार-बार भावना करनी चाहिए ॥६५॥

एक सौ सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ अट्ठाईसवाँ सर्ग

प्रविलापनयुक्ति से भरद्वाज मुनि की कृतार्थता,
ज्ञानियों के कर्तव्य तथा राम के व्युत्थापन का क्रम-यह वर्णन।

'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति' इत्यादि श्रुति के तात्पर्य के वर्णन द्वारा साक्षात्कारपर्यंत सांगोपांग प्रपंच के प्रविलापन का प्रकार कहने के लिए उपक्रम करते हैं।

वाल्मीकिजी ने कहा : हे भरद्वाज, शम, दम, उपरति यानी काम्य और निषिद्ध कर्मों के परित्याग से एवं विषयों के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध से जनित सुख से (विषयासक्ति से) शून्य, श्रद्धा से युक्त मुलायम आसन पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को जीत करके योगी तब तक ॐकार का उच्चारण करता रहे अर्थात् दीर्घता से जप करता रहे, जब तक मन प्रसन्न न हो जाय। तदनन्तर अपने अन्तःकरण की शुद्धि के लिए प्राणायाम करे और उसके पीछे विषयों से इन्द्रियों को धीरे-धीरे खींच ले। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और क्षेत्रज्ञ इनमें जिस-जिस की जिस-जिस उपादान कारण से उत्पत्ति हुई है, उस उसको जानकर यानी श्रुति आदि के द्वारा अनुसन्धान कर पीछे उनके उपादान कारणभूत उन-उन भूतों और देवों में उन सबका लय कर दे। इस तरह आध्यात्मिक देह, इन्द्रिय आदि भाव को छोड़कर 'उनका कारणभूत देवतासमष्टिरूप अकारार्थ विराट् मैं ही हूँ' इस तरह की भावना से पहले विराट् में स्थित होकर; उसके बाद उसके कारणभूत उकारार्थ सूक्ष्मभूत लिंगसमष्ट्यात्मक हिरण्यगर्भ में उस विराट् का लय करके 'हिरण्यगर्भ मैं ही हूँ' इस भावना से स्थित रह जाय। तदनन्तर उसके कारणभूत त्रिगुणात्मक माया से उपहित मकारार्थ अव्याकृत में उस हिरण्यगर्भ का भी लय करके 'अव्याकृतस्वरूप मैं ही हूँ' इस भावना से स्थित हो जाय। उसके पश्चात् सम्पूर्ण जगत् के मूलकारणरूप से उपलक्षित अव्याकृतसहित सबके अधिष्ठानभूत अर्धमात्रा से लक्षित परमकारण शुद्धब्रह्म में उस अव्याकृत का भी लय करके स्थित हो जाय ॥१-५॥

देह, इन्द्रिय आदि में जिसकी जिससे उत्पत्ति हुई है, उसका उसमें लय कर दे, यह जो कहा गया है उसका विशेषरूप से फिर विवरण करते हैं।

मांस आदि जो पार्थिव भाग हैं उनका पृथिवी में, रक्त आदि जो जलीय भाग हैं उनका जल में तथा जो तैजस भाग हैं उनका तेज में, उनकी तन्मात्रारूपता जानकर लय कर दे। वायुभाग का महावायु में और आकाशभाग का आकाश में लय कर दे। इसी तरह घ्राण आदि इन्द्रियों का भी उनके आरम्भक

देवतोपाधिभूत सूक्ष्म पृथिवी आदि में लय करके 'दिशः श्रोतं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्' इत्यादि श्रुतिसिद्ध जीव के भाग की प्रसिद्धि के लिए कर्ण आदि गोलकों में प्रवेश द्वारा श्रोत्र आदिरूप इन्द्रियभाव को प्राप्त दिशा आदि देवताओं का क्रमशः उन देवताओं में ही लय कर दे ॥६,७॥ अपने श्रोत्रेन्द्रिय का दिशाओं में और त्वगिन्द्रिय का विद्युत् में लय कर दे। चक्षुरिन्द्रिय का सूर्य में तथा रसनेन्द्रिय का जल के देवता वरुण में लय कर दे। प्राण का वायु में, वाणी का अग्नि में और हस्तेन्द्रिय का इन्द्र में लय कर दे। अपने पादेन्द्रिय का विष्णु में तथा गुदा-इन्द्रिय का मित्र में लय कर दे। उपस्थेन्द्रिय का कश्यप में लय करके उसके बाद मन का चन्द्रमा में लय कर दे। इसी तरह बुद्धि का चतुर्मुख ब्रह्मा में लय कर दे। हे मित्र, इन्द्रियों के बहाने देवता ही सब स्थित हैं, इन्द्रियों के नाम से कोई दूसरी वस्तुएँ स्थित नहीं हैं, इनका मैं तुम्हें तत्त्वोपदेश द्वारा लय करने का आदेश 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (वाणी बनकर अग्नि मुख में प्रविष्ट हो गयी) इस श्रुतिवाक्य को प्रमाण मानकर ही दे रहा हूँ। स्वतः अपने मन से किसी तरह की कोई कल्पना करके मैंने इन अर्थों को तुझसे प्रकट नहीं किया है ॥८-११॥

देह, इन्द्रिय आदि को विलीन करने का तरीका बतलानेवाले संग्रह श्लोक को यों बतलाकर अब 'विराजि प्रथमं स्थित्वा' (विराट् मैं ही हूँ, इस भावना से पहले विराट्-रूप में स्थित होकर) इस उक्ति को और साफ करके बतला रहे हैं।

इस तरह अपनी देह को उसके कारण में विलीन करके 'मैं विराट् हूँ' ऐसा चिन्तन करे ॥१२॥

'अव्याकृते स्थितः पश्चात्' (अव्याकृत में स्थित होकर उसके पीछे) इसकी व्याख्या के प्रसंग में ब्रह्मविद्या के इच्छुक पुरुष को पहले उपास्यरूप से कही गयी, सारे ब्रह्माण्ड की आत्मा विराट् पुरुष के हृदयकमल के ऊपर सदा स्थित रहनेवाली और ब्रह्मविद्या से घटित अर्ध शरीर से युक्त मायाशबल सम्पूर्ण जगत् के अभिन्न निमित्तोपादान कारणरूप ब्रह्म की मूर्ति को दर्शा रहे महाराज वाल्मीकि मुनि वही सम्पूर्ण प्राणियों का माता-पिता के रूप से भी कारण है यह बतलाते हैं।

सारे ब्रह्माण्ड के भीतर जो यह अर्धनारीश्वर भगवान् स्थित है वही सम्पूर्ण भूतों का आधार तथा कारण कहा गया है ॥१३॥ वह सबका पिता होने से ही अपने विरचित, देव, मनुष्य आदिरूप समस्त जगत को अन्न-पान आदि के द्वारा जीवित रखने के उपाय में व्यवस्थित होकर हविष् तथा वृष्टि आदि से सबके पोषक श्रौत-स्मार्त यज्ञों की सृष्टिरूप से ब्रह्माण्ड के भीतर स्थित है। *(प्रासंगिक बात बतलाकर प्रस्तुत देहेन्द्रियादि का विलय बतलाने के लिए ब्रह्माण्ड का आवरण बतलाते हैं।)* इस ब्रह्माण्ड के घेरे से बाहर द्विगुण पृथिवी है और उस पृथिवी से द्विगुण जल है *('एभिरावरणैरण्डं व्याप्तं दशगुणोत्तरैः' इत्यादिरूप से ब्रह्माण्ड की अपेक्षा उत्तरोत्तर दस गुण अधिक पृथिवी आदि का आवरण यद्यपि पुरुषों में सुना जाता है तथापि द्विगुण ही उसे भी समझना चाहिए, क्योंकि चारों ओर से घेरकर पाँच कोश की प्रदक्षिणा करने पर जैसे पचीस कोश की प्रदक्षिणा हो जाती है वैसे ही एक के पचगुने को दो बार गुण देने से दसगुने की सिद्धि हो जाती है अथवा पुराणों में जो आवरण कहा गया मिलता है वह अपंचीकृत भूतों का आवरण है, किंतु यहाँ तो पंचीकृतभूतों के अभिप्राय से कहा गया है, यों किसी तरह का विरोध नहीं दीखता)* ॥१४॥ जल से द्विगुण तेज है, तेज से द्विगुण वायु है और वायु से द्विगुण आकाश है। यों क्रमशः एक दूसरे की अपेक्षा उत्तरोत्तर द्विगुण हैं। पंचीकृत या अपंचीकृत आकाश से यह सारा जगत् ग्रथित

है। योगी को चाहिए कि वह पृथिवी का जल में लय करके उस जल को फिर तेज में लीन कर दे। तेज को वायु में विलीन करके उस वायु को फिर आकाश में विलीन कर दे और आकाश को समस्त स्थूल प्रपंचों की उत्पत्ति के कारणभूत हिरण्यगर्भाकाश में विलीन कर दे। उस हिरण्यगर्भाकाश में एकमात्र लिंग शरीर धारणकर योगी क्षणभर स्थित रहे। *(योगी का वह लिंग शरीर क्या है, इस पर कहते हैं)* वासनाएँ, सूक्ष्मभूत, कर्म, अविद्या, दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि – इन सबको पण्डित लोग लिंग शरीर कहते हैं। तदनन्तर स्थूल उपाधि का लय हो जाने से अर्ध शरीर से सम्पन्न हुआ–सा वह योगी ब्रह्माण्डरूपता के अभिमान का त्याग करके उससे बाहर निकल कर सूक्ष्मभूतात्मक लिंगसमष्टिदेह में 'मैं' ही आत्मरूप अधिष्ठाता हिरण्यगर्भ हूँ' यों चिन्तन करे ॥१५–१९॥

चार मुखवाला शरीर ही हिरण्यगर्भनाम से लोक में प्रसिद्ध है, जिसकी कमल से उत्पत्ति हुई है, यह तो भूतसूक्ष्मसमष्ट्यात्मा चार मुखवाला नहीं है, फिर यह हिरण्यगर्भ कैसे हो सकता है, यदि यह आशंका हो, तो इस पर कहते हैं।

सूक्ष्मभूतों में अभिमान करके बैठा हुआ यही – ब्रह्माण्ड–प्रविलापन के पहले ब्रह्माण्डगत ऐश्वर्यों का भोग करने के लिए कमल से उत्पन्न अपने शरीर की कल्पना करके चारमुखवाला था। *(ऐसे हिरण्यगर्भ की आत्मभावना करने के अनन्तर कर्तव्य बतलाते हैं)* अपंचीकृत भूतों की भी अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म उपाधिरूप से अव्याकृत मायांश में तथा उपहित चिदाकार से अव्यक्त में लिंग शरीर को भी विलीन कर बुद्धिमान् योगी स्थित रहे। जिसमें यह समस्त जगत रहता है वह अव्याकृत और अव्यक्त नाम और रूपों से विनिर्मुक्त है। उसीको कोई (सांख्यवादी) प्रकृति, कोई (वेदान्ती लोग) माया तथा दूसरे (नैयायिक) परमाणु कहते हैं। तर्क से विभ्रान्त चित्तवाले कोई (बौद्ध लोग) उसे संवृतिरूप अविद्या कहते हैं। उस अव्याकृत में प्रलयकाल में सभी पदार्थ लय को (षष्ठभावविकार को) प्राप्त होकर अनभिव्यक्त स्वरूप को धारण करते हुए उसकी सत्ता से ही अवस्थित रहते हैं ॥२०–२२॥

कैसे स्थित रहते हैं, यह कहते हैं।

जब तक दूसरी सृष्टि नहीं होती तब तक परस्पर के सम्बन्ध से शून्य तथा चिति की भोग्यतारूप आस्वाद से रहित होकर उस अव्याकृत स्वरूप में ही स्थित रहते हैं और प्रलय के अनन्तर सृष्टिकाल में फिर उसी प्रकृतिभूत अव्याकृत से सब उत्पन्न होते हैं ॥२३॥ अनुलोमक्रम से यानी आकाशादि क्रम से सृष्टि होती है और प्रतिलोमक्रम से यानी सृष्टि के विपरीत क्रम से उसी में सबका संहार होता है। इसलिए तीनों स्थान को यानी विराट्, हिरण्यगर्भ और अव्याकृत या स्थूल, सूक्ष्म और कारण अथवा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति को छोड़कर (♨) अविनाशी तुरीय पद का तब तक ध्यान करे जब तक उसकी साक्षात् प्राप्ति न हो जाय। ध्यान से दीप्त हुई आखिरी साक्षात्कारात्मक वृत्ति से, ध्यान के कर्ता और कारणरूप लिंग का भी प्रविलापन कर निरतिशय परब्रह्म में उस प्रकार प्रविष्ट हो जाय, जिस प्रकार घट के विनष्ट हो जाने पर घटाकाश महाकाश में प्रविष्ट हो जाता है ॥२४॥

'नान्तः प्रज्ञम्' इत्यादि श्रुति में लिंग का बाध दिखाई नहीं देता, इसलिए कैसे उसकी निवृत्ति

(♨) अर्थात् 'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं न प्रज्ञानघनम्' इस श्रुति द्वारा दिखाये गये मार्ग से छोड़कर।

होगी, यह आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि तीनों स्थानों का बाध होने पर लिंग का बाध अर्थतः सिद्ध हो जाता है, क्योंकि स्थूलसूक्ष्मभूत और इन्द्रिय आदि में ही लिंग की स्थिति है, यह दिखलाते हैं।

शुद्ध ब्रह्म में जब कि अज्ञान का आवरण आ जाता है तब अव्याकृत के अस्तित्व में सूक्ष्मभूत द्वारा लिंग की उत्पत्ति होती है, इसलिए निष्कर्ष यह निकला कि किसी हालत में भी अज्ञान के बिना लिंग की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः अज्ञान ही लिंग का मूलाधार ठहरा। परम्परया स्थूलसूक्ष्मभूत, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वासना, कर्म और वायु भी उसके आधार हैं। ऐसी दशा में अज्ञानरूप मूल आधार की निवृत्ति हो जाने पर लिंगरूपी बेड़ी का भंग सिद्ध ही हो जाता है ॥२५॥

इस तरह वाल्मीकि महाराज ने भरद्वाज को प्रणव के अर्थ का विस्तार कर बोध किया और इससे वे ज्ञानी बन गये। अब भरद्वाज अपने अनुभव की परीक्षा करने के लिए उसे प्रकट करते हुए कहते हैं।

भरद्वाज ने कहा : महाराज, मैं अब सभी तरह से लिंगरूपी बेड़ी के बन्धन से निर्मुक्त हो गया हूँ और चूँकि मैं चैतन्य का अंश हूँ, इससे चैतन्यरूपी आनन्दसागर में प्रविष्ट हो गया हूँ। अंश और अंशवान् का असल में अभेद होने के कारण मैं समस्त उपाधियों से शून्य परमात्मा ही हूँ। मैं कूटस्थ, शुद्ध, व्यापक और चैतन्यरूप हूँ; चैतन्यशक्तिमान् नहीं हूँ ॥२६,२७॥

किस तरह के अभेद से तुम परमात्मारूप बन गये हो, इस पर कहते हैं।

जैसे एक ही घट का घट और कलश यों भिन्न-भिन्न नाम कल्पित है इसीसे घटयुक्त आकाश में घटाकाश और कलशाकाश यों भिन्न-भिन्न नाम कल्पित है और इसी से घटयुक्त आकाश में घटाकाश और कलशाकाश यों भिन्न-भिन्न व्यवहार कल्पित है, वैसे ही एक ही अज्ञान का भिन्न-भिन्न जगत नाम कल्पित है। इसी से जगद्युक्त मुझमें जीव, ईश्वर आदि भिन्न-भिन्न व्यवहारों की कल्पना की गयी थी। जैसे व्यवहार में एक घट के ही नाश से घट और कलश दोनों की निवृत्ति हो जाने से घटाकाश, कलशाकाश, महाकाश आदि भेद मिटकर शुद्ध आकाशरूप ऐक्य बन जाता है, वैसे ही एकमात्र अज्ञान की ही निवृत्ति हो जाने से सब नामों का भेद मिटकर एकमात्र चैतन्य का साम्राज्य मुझे प्राप्त हो गया है। इसी तरह की एकता के उद्देश्य से ही ब्रह्मभूत हुए मेरे विषय में 'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्यादि अनेक श्रुतियाँ बड़े आदर से कहती हैं ॥२८॥

'यथा जले जलं क्षिप्तं क्षीर क्षीरे घृते घृतम्। अविशेषो भवेत् तद्वज्जीवात्मा परमात्मनि॥' (जैसे जल मे डाला गया जल, दूध में डाला गया दूध और घी में डाला गया घी एकरूप हो जाता है वैसे ही परमात्मा में जीव एकरूप हो जाता है।) इत्यादि श्रुतियों से ऐसा ही ऐक्य दिखलाया गया है, इस आशय से उदाहरण देते हैं।

जैसे अग्नि में छोड़ा गया अग्नि उसी की समानता को (एकता को) प्राप्त होता है और तद्रूप एवं उसी नाम का होकर ही वह ज्ञात होता है, किसी विशेषरूप से वह ज्ञात नहीं होता तथा जैसे लवणसागर में फेंका गया तृण आदि लवणरूप ही हो जाता है वैसे ही चेतन में फेंका गया (लीन किया गया) अचेतन यह जगत् भी चेतन ही हो जाता है। जैसे लवणसागर में फेंका गया लवण का ढेला या सिन्धु में फेंका गया सैंधव समुद्र में वा सिन्धु में प्रविष्ट होकर अपने नाम-रूप से विनिर्मुक्त हो समुद्ररूपता या सिन्धुरूपता को प्राप्त कर लेता है या जैसे जल में छोड़ा गया जल, दूध में छोड़ा गया दूध और घी में

छोड़ा गया घी – ये सबके सब विनष्ट न होते हुए ही तद्रूप हो जाते हैं, किसी विशेषरूप से (पृथक्‌रूप से) गृहीत नहीं होते वैसे ही सब भाव से नित्य–आनन्दस्वरूप, सर्वसाक्षी, परमकारण, चिदेकरस परब्रह्म में प्रविष्ट होकर मैं तद्रूप ही हो गया हूँ, पृथक्‌रूप से मैं गृहीत नहीं होता ॥२९–३३॥

'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्' इत्यादि श्रुति के साथ अपना अनुभव मिलाकर बतलाते हैं।

नित्य, सर्वव्यापी, शान्त, सर्वदोषरहित, निरंजन, निष्कल, निष्क्रिय, केवल शुद्ध वह परब्रह्म मैं ही हूँ। हेय और उपादेय से निर्मुक्त सत्यस्वरूप, इन्द्रियरहित, एकमात्र अपने संकल्प से असद्रूप भी इस जगत् की सत्ता के सम्पादन में समर्थ सद्रूप, केवल शुद्ध परब्रह्म ही मैं हूँ। पुण्य और पाप से रहित, जगत् का परम कारण, अद्वितीय, आनन्दरूप, अविनाशी और ज्योतिःस्वरूप परब्रह्म ही मैं हूँ। इस तरह सत्यसंकल्पादिगुणों से युक्त, माया के सत्त्व आदि गुणों से शून्य, सर्वव्यापक और सर्वस्वरूप ब्रह्म का – अध्यात्मशास्त्रों के श्रवण तथा गुरु की शुश्रूषा (सेवा) आदि में तत्पर एवं अपने वर्णाश्रमधर्म में निष्ठा रखनेवाला योगाभ्यासी पुरुष सदा ध्यान करे। इस रीति से परब्रह्म का अभ्यास कर रहे साधक पुरुष का मन उसी ब्रह्म में अस्त हो जाता है और उसके मन के अस्त हो जाने पर आत्मा स्वयं प्रकाशित होने लग जाता है। प्रकाश होने पर सम्पूर्ण दुःखों का अन्त हो जाता है और आत्मा में सुख अवभासित होने लगता है तथा आत्मा स्वयं ही अपने–आप अपने आनन्दस्वरूप को प्राप्त होता है ॥३४–३९॥

कैसे आनन्दस्वरूप को प्राप्त होता है, इस पर कहते हैं।

मुझसे अतिरिक्त कोई दूसरा चिदानन्दमय प्रभु नहीं है। अकेला मैं ही परब्रह्म हूँ, यों आत्मा भीतर से प्रकाशित होता है ॥४०॥

इस तरह भरद्वाज के द्वारा कहे गये अनुभव को सुनकर सन्तुष्ट हुए वाल्मीकि मुनि भरद्वाज के अनुभव को दृढ़ करने के लिए अवश्य कर्तव्यरूप से 'त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक् परं पदम्' इत्यादि श्रुति से सिद्ध संन्यास का उपदेश देते हैं।

वाल्मीकि मुनि ने कहा : हे मित्र, संसारचक्र के आवर्त में भ्रमण करते हुए यदि तुम गृहस्थी में विश्रान्तिसुख की प्राप्ति नहीं कर रहे हो, तो सब कर्मों को छोड़कर एकमात्र ब्रह्म में ही बिना किसी विक्षेप के आसक्त हो जाओ, क्योंकि 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इस श्रुति के अनुसार यह निश्चित है कि किसी दूसरे व्यापार में तत्पर न रहकर केवल ब्रह्म में आसक्त हुए संन्यासी की ही मूल–सहित भ्रान्ति की शान्ति हो जाती है। तात्पर्य यह कि एकमात्र संन्यासी को ही शान्ति–सुख मिलता है ॥४१॥ भरद्वाज ने कहा : हे गुरो, आपके द्वारा कहा गया यह सब ज्ञान मुझे अवगत हो गया, मेरी बुद्धि एकदम निर्मल हो गयी, अब मेरा यह संसार चिरकाल तक नहीं टिक सकता। भगवन्, अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि ज्ञानियों के लिए कैसा कर्म विहित है, यानी क्या उन्हें कर्मों का अनुष्ठान नहीं करना चाहिए, यदि करना चाहिए तो, क्यों केवल प्रवृत्तिरूप कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए, या निवृत्तिरूप कर्मों का (📖) ॥४२,४३॥

(📖) 'पाठक्रम की अपेक्षा अर्थक्रम बलवान होता है' इस न्याय के अनुसार इस श्लोक में भरद्वाज ने दो प्रश्न किये हैं। उनमें पहला यह है – जीवन्मुक्त ज्ञानी को कर्मों का अनुष्ठान करना

सबसे पहले तुम्हें काम्य निषिद्ध कर्मों का एवं ज्ञानविरोधी विक्षेप आदि दोषों को पैदा करनेवाले अन्यान्य कर्मों का त्यागकर शास्त्र के अभ्यास द्वारा ज्ञानी बन जाना चाहिए। इसके बाद तुम स्वयं ही 'ज्ञानी के कर्म कैसे होते हैं' इस प्रश्न का उत्तर जान जाओगे। जब क्रमशः तत्-तत् भूमिका परिपक्व हो जाती है। तब तत्-तत् कर्मों की शान्ति जो होती है उसका उसी समय तुम अनुभव कर सकते हो और प्रारब्ध कर्मों की विचित्रता होने के कारण ज्ञानियों की एकरूप से स्थिति दिखाई न पड़ने से 'ज्ञानियों के कर्म प्रवृत्यात्मक ही हैं या निवृत्त्यात्मक ही हैं' – ऐसा नियम तो कोई नहीं कर सकता। इस आशय से वाल्मीकि महाराज उत्तर देते हैं।

वाल्मीकिजी ने कहा : इसलिए सम्पूर्ण कर्मों के त्याग के साथ ब्रह्म में एकमात्र आसक्त हो जाना ही संसारभ्रम के निवर्तक ज्ञान में उपाय है, इस मेरे उपदिष्ट अर्थ का अच्छी तरह ज्ञान कर लेने से तुम्हारे सदृश मुमुक्षु पुरुषों को – वही कर्म करना चाहिए, जिस कर्म का सम्पादन करने पर श्रवण आदि में कोई विघ्नरूप दोष न आ पड़े तथा चित्त में विक्षेप डालनेवाले मालिन्य पातकादि और किसी तरह का दूसरा दोष न उपस्थित हो जाय। विशेष करके मुमुक्ष को काम्य, निषिद्ध तथा दृष्टि के विक्षेप में साधनभूत कोई कर्म नहीं करना चाहिए ॥४४॥

सम्पूर्ण मानसिक गुणों के त्याग से पूर्णानन्द, अद्वय, विशुद्ध, असंग, चिदेकरसत्वादि ब्रह्म के गुणों की प्राप्ति होने पर ही यह जीव ज्ञानी बन सकता है, अन्यथा नहीं, यह कहते हैं।

मन के गुणों को छोड़कर जब जीव ब्रह्म के गुणों से युक्त हो जाता है तब इसकी सभी इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं और यह सर्वव्यापी प्रभु बन जाता है। देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि इन चार कोशों से

चाहिए, या नहीं। और दूसरा यह है, यदि उसके लिए कर्मों का विधान है तो उसे पहले के सदृश नित्य, नैमित्तिक और काम्य सभी कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए अथवा कामनारहित होकर अपने आश्रम के उचित कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए। यद्यपि 'सखे संन्यस्य कर्माणि' इस पूर्व के श्लोक से प्रतिपादित सर्वकर्मसंन्यास को भरद्वाज ने ज्ञानी के कार्यरूप से सुना ही है, इसलिए इस तरह के दोनों प्रश्नों को करना अयुक्त-सा प्रतीत हो रहा है, तथापि (यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति) (जीवनपर्यन्त अग्नि होत्र होम करे) इत्यादि श्रुतियों से जीवनपर्यन्त कर्तव्यरूप से बतलाये गये कर्मों का 'दीक्षितो न ददाति न जुहोति' इत्यादि वाक्यों से दीक्षा-करण में परित्याग कर दिये जाने पर भी दीक्षा की समाप्ति हो जाने पर जैसे उनका अंगीकार किया जाता है, वैसे ही 'त्यजतैव हि तज्ज्ञेयम्' 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' इत्यादि श्रुतिवाक्यों से ब्रह्मजिज्ञासा के निमित्त छोड़े गये कर्मों का भी ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के बाद निमित्त के हट जाने पर फिर अंगीकार का प्रसंग आ सकता है। यदि इस विषय मे यह शंका हो कि 'सखे संन्यस्य कर्माणि' इत्यादि वाक्यों से विद्वानों के लिए ही सब कर्मों का संन्यास विहित है, अतः ज्ञानियों को कर्मानुष्ठान की प्राप्ति ही नहीं हो सकती, तो यह भी शंका नगण्य है, क्योंकि जिन लोगों ने पूर्व जन्म में ज्ञान की इच्छा से सब कर्मों का संन्यास किया है, उनको उनसे ही गृहस्थ आदि आश्रमों में तत्त्वज्ञान हो जाता है, ऐसे विशेष पुरुषों के प्रति 'सखे संन्यस्य' इत्यादि से किसी प्राप्त संन्यास का ही विधान किया गया है, अतः उक्त वाक्य में ज्ञानेच्छा के लिए संन्यास परिपालन विधान की शक्ति ही नहीं रहती, इससे निचोड़ यह निकला कि श्री भरद्वाज ने जो प्रश्न किये हैं, वे युक्त पूर्ण है, युक्ति से रहित नहीं हैं।

परे जो आनन्दमय कोशात्मा है तथा उससे भी परे जो अधिष्ठान ब्रह्म है वही मैं हूँ, इस तरह जब जीव ध्यान करता है तब मुक्त होता है। कर्ता, कार्य और करण; भोग्य, भोक्ता और भोग; ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय – इनसे विनिर्मुक्त तथा इनके प्रयोजक सम्पूर्ण देहादि उपाधियों से एवं इनके फलस्वरूप सुख और दुःखों से जब जीव विनिर्मुक्त होता है तब बिलकुल पूर्णरूप से मुक्त होता है। सम्पूर्ण भूतों में अपने को तथा अपने में सम्पूर्ण भूतों को जब जीव अभेदरूप से देखने लगता है तब वह मुक्त होता है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों स्थानों को छोड़कर जब जीव तुरीय आत्मानन्दरूप में प्रवेश करता है तब मुक्त होता है। जाग्रत और स्वप्नावस्था की बीज तथा सुषुप्ति से रहित जो जीव की परमात्मा में स्थिति रूप चैतन्यसुखात्मिका तुरीयावस्था है वही योग की (निदिध्यासन के परिपाक से जन्य निर्विकल्प समाधि की अथवा मुख्य अधिकारी के विचारमात्र से जन्य साक्षात्कारात्मक ज्ञान की) परिसमाप्ति है, जो सबसे बड़ा सुखात्मक ज्ञान है। मन के अस्त हो जाने पर मनुष्यों को और किसी दूसरी वस्तु की उपलब्धि नहीं होती ॥४५–५१॥

उस अमृत के सागर में विश्रान्त हो जाने पर आपको द्वैतदर्शन की ही प्राप्ति नहीं है, फिर कर्मरूपी लवणसागर के तरंगों में डूबने की तो बात ही दूर रही, इस आशय से कहते हैं।

सखे, (यदि तुम्हें समुद्र में डूबना ही है, तो) प्रशान्त तथा अमृतमय तरंगों से पूर्ण केवल आनन्दामृत के समुद्र में क्यों नहीं डूबते ? व्यर्थ द्वैतरूप मकरों से पूर्ण लवणसागर के तरंगों में क्यों डूबते हो ? ॥५२॥

पूर्व में कहे गये महेश्वर की उपासना करके उससे दया प्राप्त कर लेने पर तुम्हें वसिष्ठजी के द्वारा कहे गये ज्ञानमार्ग से या योगमार्ग से तत्त्वज्ञान हो जाने के बाद एक के विज्ञान से सबका विज्ञान हो जाने पर तथा सम्पूर्ण संशयों के मूल अज्ञान का नाश हो जाने पर सब सन्देहों के विच्छेद से – विश्रान्ति अवश्य होगी, यह उपसंहार करते हैं।

हे प्रिय, अपने भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के वास्ते अर्धनारीश्वर आदि वेष धारण किये हुए जगद्गुरु सगुण परमेश्वर की उपासना करो, यह जो वसिष्ठ महाराज ने तुम्हें उपदेश दिया है, हे महाप्राज्ञ भरद्वाज, उनके इसी ज्ञानमार्ग या योगमार्ग से तुम सब कुछ जान जाओगे, यह बिलकुल निश्चित है – इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥५३,५४॥

उसमें शास्त्राचार्यों के उपदेश तथा अपने अनुभव की एकार्थनिष्ठता के निश्चय के लिए अर्थचिन्तनावृत्तिरूप परामर्श (विचार) और शब्दघोषणावृत्तिरूप (एक ही शब्द को बार–बार रटनारूप) अभ्यास अवश्य करना चाहिए, यह कहते हैं।

क्योंकि शास्त्रों के विचार से, गुरु के वाक्यों का अर्थ ठीक–ठीक समझने से तथा अभ्यास से सब कार्यों की सिद्धि होती है, यह वेदों का अनुशासन है। इसलिए हे भरद्वाज, तुम सब कुछ छोड़–छाड़कर केवल अभ्यास में अपना मन स्थिर करो। भरद्वाज ने कहा : हे मुने, श्रीरामचन्द्रजी तो ब्रह्म में अपने से ही परमयोग को यानी उपाधि के त्याग से ऐक्य को प्राप्त हो गये, किन्तु फिर महाराज वसिष्ठजी ने उन्हें व्यवहार में कैसे लगाया। यह जानकर मैं भी इसी तरह के अभ्यास के लिये यत्न करूँगा और समाधि से उठने के बाद मेरा भी वैसा ही व्यवहार चलेगा। वाल्मीकिजी ने कहा : हे भरद्वाज, जब महामना साधु–स्वभाव श्रीरामजी अपने स्वरूप में अवस्थित हो गये, तब ऋषियों में सर्वश्रेष्ठ वसिष्ठजी से विश्वामित्र कहने लगे : हे ब्रह्मपुत्र

महाभाग वसिष्ठजी, आप महान् हैं। पहले कहे गये शक्तिपात के द्वारा शिष्योद्धारसामर्थ्यरूप अपना गुरुत्व (शिक्षकत्व) आपने शीघ्र ही हम लोगों को दिखला दिया ॥५५-६०॥

अपना शरीर छोड़कर श्रीरामजी के शरीर में प्रविष्ट होकर मैंने कुण्डलिनी का संचार आदि तो किया है नहीं, फिर तुमने 'शक्तिपात' को समझ कैसे लिया, इस पर कहते हैं।

अपने दर्शन, स्पर्श और वाक्य प्रयोग से जो कृपा करके शिष्य के शरीर में शिव-स्वरूप परमात्मा का प्रवेश उत्पन्न कर दे, वही गुरु है। अमोघ संकल्पवाले आपके सदृश महापुरुषों की कृपादृष्टि से भी उत्तम शिष्य की कुण्डलिनी के षट्चक्रभेदन द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में परम शिव का प्रवेशरूप शक्तिपात सिद्ध हो जाता है, यह भाव है ॥६१॥

श्रीरामचन्द्रजी अच्छे शिष्य हैं, यह दर्शाते हैं।

आपके शिष्य श्रीरामचन्द्रजी भी विशुद्धात्मा और स्वयं विरक्त थे, केवल आत्मा में विश्रान्ति चाह रहे थे, सो आपके संवाद से परम पद को प्राप्त हो गये ॥६२॥ गुरुवाक्यश्रवण से होनेवाले बोध में शिष्य की बुद्धि ही कारण है। काम, कर्म और वासनारूप तीनों मलों का यदि परिपाक नहीं हुआ है, तो परिपक्व की नाईं फिर शिष्य कैसे जान सकता है ॥६३॥

अच्छे बुद्धिमान शिष्यों की उपस्थिति में शास्त्र सफल हुआ अवश्य देखा गया है, यह कहते हैं।

यह ज्ञान ही गुरु और शिष्य का प्रत्यक्ष प्रयोजन है, क्योंकि यदि गुरु और शिष्य दोनों योग्य होंगे, तो इस तरह के कैवल्यरूपी सब पुरुषार्थों के भी वे भाजन अवश्य होंगे ही ॥६४॥

यों महाराज वसिष्ठजी की प्रशंसा करके उपस्थित कर्तव्य बतलाते हैं।

भगवन्, हम लोगों के ऊपर दया करके अब आप श्रीरामचन्द्रजी को समाधि से उठा सकते हैं, क्योंकि आप तो परमपद में कृतकृत्य हो चुके हैं, लेकिन हम लोग अभी तक सांसारिक कार्यों में ही फँसे हुए हैं। हे विभो, बड़े कष्ट के साथ जिसके लिए मैंने स्वयं राजा दशरथ से प्रार्थना की है और जिस मतलब से यहाँ आपके पास आया हूँ उस मेरे निर्विघ्न यज्ञ सिद्धिरूप कार्य का स्मरण करते हुए आप श्रीरामचन्द्रजी को अब समाधि से उठाने की कृपा कीजिये। हे मुने, मेरे उस सब कार्य को आप अपने शुद्ध मन से व्यर्थ न बना डालें। श्रीरामचन्द्रजी के समाधि से उठने पर अन्य भी अवतार के प्रयोजन जो देवताओं के कार्य हैं उनका भी हम लोग सम्पादन कर लेंगे ॥६५-६७॥

दूसरे कार्यों को दिखलाते हुए स्पष्टरूप से देवकार्य बतलाते हैं।

जब मैं श्रीरामचन्द्रजी को अपने आश्रम ले जाऊँगा तब वे राक्षसों का नाश करेंगे और उसके बाद अहल्या को शाप से मुक्त करेंगे। तदनन्तर निश्चय करके भगवान् शंकर का धनुष तोड़कर जनकदुलारी सीता के साथ अपना विवाह करेंगे। और यह भी निश्चित है कि जमदग्नि के लड़के परशुराम की गति को (परलोकमार्ग को) वे नष्ट कर देंगे। इस संसार में पिता-पितामह के राज्य को छोड़-छाड़कर वनवास के बहाने जंगल में पहुँच करके जीवन्मुक्त होने के कारण ही अभय और निःस्पृह होते हुए श्रीरामचन्द्रजी दण्डकारण्य के निवासी मुनियों, अनेक तीर्थों तथा अन्यान्य प्राणियों का राक्षसों का वध करके भय से उद्धार करेंगे ॥६८-७०॥ सीताहरणप्रयुक्त हुई दुर्गति के बहाने रावण आदि का वध करके भी इस पृथिवी के ऊपर स्त्री में आसक्त हुए सभी पुरुषों की कैसी दुर्गति होती है, यह

दिखलायेंगे और तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजी इन्द्र के वरदान द्वारा युद्ध में मरे हुए वानर, रीछ आदि पुनः कैसे जी उठे – यह भी दिखलायेंगे। उसके बाद अग्नि में प्रवेश द्वारा सीता की शुद्धि की इच्छा कर रहे भगवान् श्रीरामचन्द्रजी शिष्ट पुरुषों में अपने उत्तम चरित्र की माननीयता दर्शायेंगे। तदनन्तर राज्य में अभिषिक्त होकर स्वयं जीवन्मुक्त तथा निःस्पृह होते हुए भी कर्म करने के अधिकारी पुरुषों को कर्मानुष्ठान से ही गति मिलती है, यह दिखलाने के लिए क्रियाकाण्ड में तत्पर होंगे एवं ज्ञान (उपासना) और कर्म दोनों के अधिकारी पुरुषों को ब्रह्मलोक आदि की गति दिखलाने के लिए उपासना और कर्म दोनों का समुच्चय करेंगे ॥७१-७३॥

कर्ममार्ग में प्रवृत्त होकर केवल वर्तमान काल के मनुष्य का ही भगवान उस पृथिवी पर उपकार नहीं करेंगे, बल्कि उत्तरकाल में स्मरण, कीर्तन तथा अपने चरित्र के प्रबोधन आदि के द्वारा अपने अनुगत भक्तों को जीवन्मुक्ति-सुख भी प्रदान करेंगे, यह कहते हैं।

जो लोग भगवान् का दर्शन करेंगे, उनके चरित्र का स्मरण तथा श्रवण करेंगे एवं जो लोग भगवान के स्वरूप का दूसरों को बोध करायेंगे, उन सम्पूर्ण अवस्थाओं में अनुगत अपने भक्तों को भगवान् श्रीरामचन्द्रजी जीवन्मुक्ति-सुख प्रदान करेंगे। इस तरह तीनों लोक का तथा मेरा भी हित इस महापुरुष महात्मा श्रीरामचन्द्रजी के द्वारा सम्पूर्णरूप से सम्पन्न होगा ॥७४,७५॥

अब सामाजिकों में श्रीरामचन्द्रजी की भक्ति बढ़ाते हुए श्री विश्वामित्रजी कहते हैं।

हे सत्पुरुषों,आप सब लोग इन भगवान् श्रीरामचन्द्रजी को नमस्कार कीजिये। एकमात्र इनके नमस्कार से ही आप लोग सबको जीत लेंगे अर्थात् आप लोगों को किसी दूसरे साधन की आवश्यकता न होगी। आप लोगों में कोई भी पुरुष श्रेष्ठ भगवान श्रीरामचन्द्रजी की नाईं ही जीवन्मुक्त होकर निर्विकल्प समाधि में विश्रान्ति पाकर सुखपूर्वक बढ़ता रहे। वाल्मीकिजी ने कहा : हे भरद्वाज, इस तरह का विश्वामित्र का भाषण सुनकर वे सिद्ध तथा वसिष्ठ आदि श्रेष्ठ योगीन्द्र सब श्री रामचन्द्रजी की उत्तरचरित्ररूप दुर्लभ कथा सुनकर पुनः भगवान श्रीराम के चरणकमलरज के आदर में यानी नमस्कार में तथा उनके स्मरण में आस्थायुक्त हो गये। मैथिलीपति श्रीराम की कथा सुनने से भगवान् वसिष्ठजी तथा और दूसरे महर्षि भी तृप्त न हो सके, इसलिए उन सबने दूसरों के द्वारा कहे गये गुण के सागर उनके गुणों का श्रवण किया तथा सुने गये गुणों का दूसरों से वर्णन किया। तदनन्तर भगवान वसिष्ठ ऋषि विश्वामित्र मुनि से कहने लगे : हे मुने विश्वामित्रजी, इन श्रोताओं को आप साफ-साफ बतला दीजिये कि ये राजीवलोचन रघुकुलसमुद्भव श्रीरामचन्द्रजी इस जन्म के पहले देव या मनुष्य क्या थे ? (🕮) विश्वामित्रजी ने कहा : हे सज्जनों, आप सब लोग इन्हीं श्रीरामचन्द्रजी में (✎) विश्वास कर लीजिये कि परमपुरुष साक्षात् भगवान् वासुदेव ये ही हैं, विश्व के कल्याण के लिए जिन्होंने क्षीरसागर का मंथन किया था तथा गूढ़ अभिप्राय से भरी उपनिषदों के तत्त्वगोचर ये ही हैं अर्थात् किसी अन्य प्रमाण के विषय ये नहीं हैं। परिपूर्णपरानन्द, समस्वरूप, श्रीवत्समणि के चिह्न से सुशोभित यही श्रीरामचन्द्रजी भक्ति से भलीभाँति प्रसन्न कर दिये जाने पर

(🕮) अज्ञजनों के अभिप्राय के अनुसार यह प्रश्न किया गया है।

(✎) अज्ञजनों के अभिप्राय के अनुसार ही यह उत्तर भी दिया गया है।

सब प्राणियों को सब पुरुषार्थों के प्रदाता होते हैं। कुपित होकर यही श्रीरामचन्द्रजी सबका संहार करते हैं और यही मिथ्या पदार्थों की सृष्टि करते हैं। यही विश्व के आदि तथा विश्व के उत्पादक हैं और यही विश्व के धाता, पालनकर्ता तथा महासखा भी हैं। जिन्होंने अपने विचार द्वारा निःसार और कोमल कार्यकारणबन्धरूप संसार का बाध कर दिया है ऐसे संसार की खिल्ली उड़ानेवाले वीतराग यति लोग इसी आनन्द के सागर में गोते लगाते हैं ॥७६–८४॥

यही भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ज्ञानयुक्त, नित्यमुक्त, माया के नियामक तथा माया के भीतर बद्ध – यों चार प्रकार से स्थित हैं, यह कहते हैं।

यही परम पुरुष भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कहीं पर ज्ञान से मुक्त, कहीं पर तुर्यपदाभिधेय अपने स्वरूप में स्थित अतएव नित्यमुक्त, कहीं पर प्रकृति (माया) के नियामक और कहीं पर माया के भीतर बद्ध हुए–से मालूम पड़ते हैं। यही भगवान् वेदमय शरीरधारी हैं, तीनों गुणों से परे अति गहन यही हैं और शिक्षा कल्प आदि छः अंगों से समन्वित वेदात्मा अद्‌भुत पुरुष यही हैं। विश्व का पालन करनेवाले चतुर्भुज विष्णु भगवान यही हैं, विश्व के रचयिता चतुर्मुख ब्रह्मा यही हैं और सारे संसार का संहार करनेवाले त्रिलोचन भगवान् महादेव भी यही हैं। ये अजन्मा होते हुए भी अपनी शक्ति के सम्बन्ध से जन्म लेते हैं, ये सबसे महान् हैं, मोहरूपी नींद में सोये हुए न रहने के कारण ये सदा जागरुक रहते हैं और रूपरहित होते हुए भी ये भगवान् इस विश्व को धारण करते हैं। जैसे पराक्रम से विजय प्राप्त की जाती है, तेज से जैसे भास्वररूप प्रकाश धारण किया जाता है, जैसे सुने गये शास्त्र से प्रज्ञा में उत्कर्ष प्राप्त किया जाता है वैसे ही ये भी भगवान् श्रीरामचन्द्रजी श्रीगरुड़जी से ढोये जाते हैं। ये राजा दशरथजी धन्य हैं, जिनके पुत्र परम पुरुष साक्षात् भगवान् हुए। वह दशकण्ठ रावण भी धन्य है, जिसका ये अपने चित्त से यानी यह रावण मेरा दुश्मन है – इस रूप से चिन्तन करेंगे। हा, विष्णुशरीरधारी इनसे शून्य स्वर्ग की दशा शोचनीय हो गयी है, और हा, शेषमूर्ति श्रीलक्ष्मणजी जो यहाँ पाताल से आ गये हैं, इसलिए उस पाताल की दशा भी अब शोचनीय हो गयी है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के यहाँ आ जाने से यह भूलोक श्रेष्ठता को प्राप्त हो गया है। क्षीरसागर में शयन करनेवाले विष्णु भगवान् ही श्रीरामचन्द्रजी के रूप में अवतीर्ण हुए हैं। ये ही श्रीरामचन्द्रजी चिदानन्दघन अविनाशी परमात्मा हैं। अपनी इन्द्रियों को रोक रखनेवाले योगी लोग ही श्रीरामचन्द्रजी को वस्तुतः जानते हैं, हम लोग तो इनके इस छोटे स्वरूप का ही निरूपण या दर्शन करने में समर्थ हैं ॥८५–९३॥

इन्होंने अपने अवतार से रघु के वंश को भी पवित्र कर डाला है, यह कहते हैं।

हे वसिष्ठजी, हम लोगों ने ऐसा सुना है कि ये ही भगवान् श्रीरामचन्द्रजी रघु के वंश के पापों का उच्छेद करनेवाले हैं। अब आप कृपाकर इन्हें व्यवहार में लगाइये। वाल्मीकिजी ने कहा : हे भरद्वाज, यों कहकर महामुनि विश्वामित्रजी चुपचाप बैठ गये, परंतु महातेजस्वी महाराज वसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी से कहने लगे : हे रामजी, हे महाबाहो, हे चिन्मय महापुरुष, यह आत्मा में विश्रान्ति का समय नहीं है। (उठिये, आइये) कुछ दिन तक अभी इस संसार के लिए आनन्दकारक बनिये। जब तक लोग उत्तम अधिकार प्राप्त नहीं करते तब तक योगी को निर्मल समाधि में बैठ जाना युक्त नहीं होता। इसलिए हे पुत्र, कुछ काल तक विनाशी राज्य आदि विषयों का अनुभव करके तथा देवताओं के कार्य आदि अपने

ऊपर लिये गये अधिकार भार को समाप्त करके पीछे समाधि लगाओ और सुखी रहो। वाल्मीकिजी ने कहा : इस तरह महाराज वसिष्ठजी के कहने पर ब्रह्म के साथ ऐक्य को प्राप्त हुए श्रीरामचन्द्रजी बाह्य अर्थों को न सुनने से तथा वाणी आदि इन्द्रियों की चेष्टाओं का उपरम हो जाने से जब कुछ भी न बोल सके तब वसिष्ठ महाराज उनके शरीर में संकल्प द्वारा प्रविष्ट होकर उनकी सुषुम्ना नाड़ी से धीरे–धीरे हृदयकमल में जा पहुँचे। वहाँ पहुँचकर उनके विलीन हुए जीवोपाधि लिंग शरीर को घनीभूत बनाकर उसे बाहर ऐसे खींच लाये, जैसे बीज के अन्दर प्रविष्ट होकर वायु बीजान्तर्गत अंकुर को बाहर खींच लाती है। पहले प्राण आदि बीजभूत आधारशक्ति में, उसके बाद प्राणों का आविर्भाव होने पर प्राणों में और तत्पश्चात् मन का आविर्भाव होने पर मन में चिदाभासरूप से क्रमशः प्रवेश करनेवाला प्रकाशात्मक जीव – प्राण द्वारा सम्पूर्ण नाड़ी रन्ध्रों में प्रवेश करके समस्त ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों को आविष्कृत करते हुए धीरे से आँखें खोलकर बाहर बैठे हुए अपने पूज्य वसिष्ठ आदि विद्वानों को देख करके स्वयं कृतकृत्य होने के कारण समस्त अभिलाषाओं से शून्य, कृत्य एवं अकृत्य (अवश्य कर्तव्य और त्याज्य) के व्यवहार के गुण और दोषों की चिन्ता से तथा इनको करने या न करने से होनेवाली हानि और लाभ की चिन्ता से रहित होते हुए 'अब ये लोग इस तरह मुझसे क्या कहते हैं', इस अभिप्राय से उन सबकी प्रतीक्षा कर – स्थित रहा। तदनन्तर हे राम, हे राम, हे महाबाहो, इत्यादि पहले जो कहा गया महाराज वसिष्ठजी का वचन था, वही फिर उन्हींके द्वारा सुनाया गया, उसे सुनकर एवं यह गुरुवाक्य अनुल्लंघनीय है – इस अपने पिता की तथा बन्धुओं की प्रार्थना को भी सुन करके सर्वज्ञ भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपने अवतार का मतलब समझते हुए सावधान होकर कहने लगे ॥९४–१०१॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, आपकी दया से यह जीव अब विधि और निषेध का पात्र नहीं रहा, साक्षात् प्रभुस्वरूप (ब्रह्मरूप) हो गया है; तथापि आपका वाक्य तो मुझे सर्वदा पालन करना ही होगा। हे महामुने, वेदों, आगमों, पुराणों और स्मृतियों में भी गुरुवाक्य ही विधि कही गयी है और उसके विरुद्ध आचरण करना निषेध कहा गया है ॥१०२,१०३॥

परमपुरुषार्थ दानरूप गुरु द्वारा किये गये उपकार की कोई दूसरी निष्कृति न देख रहे श्रीरामजी ने अब अपने सिर पर उनके चरण रखने के बहाने अपने को ही गुरु महाराज को समर्पित करके सबसे उत्कृष्ट ज्ञान की महिमा तथा स्वयं प्रत्यक्ष समनुभूत गुरु के माहात्म्य का वहाँ पर उपस्थित सब लोगों को उपदेश दिया, यह कहते हैं।

यों कहकर उस महात्मा वसिष्ठ महाराज के चरणों को अपने सिर पर रखकर सबकी आत्मा करुणासागर श्रीरामचन्द्रजी बोले : हे सभ्य पुरुषों, आप सब लोग हमारे इस निर्णय को अच्छी तरह सुन लीजिये, इससे आप लोगों का बड़ा कल्याण होगा। यह हमें बिलकुल निश्चित है कि आत्मतत्त्वज्ञान तथा आत्मतत्त्वज्ञानी गुरु से बढ़कर इस संसार में और कोई दूसरी वस्तु श्रेष्ठ नहीं है। सिद्ध आदि सब लोगों ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसा आप कह रहे हैं वैसा ही आपकी दया से हम लोगों के मन में स्थित था और अब तो वह सब आपके इस संवाद से बिलकुल दृढ़ हो गया ॥१०४–१०६॥ हे महाराज श्रीरामचन्द्रजी, आप सुखी होइये, आपको नमस्कार हैं। अब हम लोग वसिष्ठजी से भी अनुमति लेकर जहाँ से आये थे वहीं जा रहे हैं। वाल्मीकिजी ने कहा : हे भरद्वाज, यों कहकर भगवान्

श्रीरामचन्द्रजी की स्तुति करते हुए वे सबके सब चल दिये और श्रीरामचन्द्रजी के ऊपर फूलों की वृष्टि होने लगी। हे भरद्वाज, श्रीरामचन्द्रजी की यह सब पूरी कथा मैंने तुसे कह सुनायी, इसी क्रम से तुम भी अपना सब कार्य करते हुए सुखी रहो ॥१०७-१०९॥

अब उपसंहार करते हैं।

हे भरद्वाज, महाराज वसिष्ठजी की वचनपंक्तिरूपी रत्नमाला से भूषित यह जो श्रीरामचन्द्रजी की सिद्धि मैंने तुमसे कही है, वह निखिल कविकुलों और योगियों की सेवा के योग्य है तथा परम गुरु के कृपाकटाक्ष से श्रवणादि के द्वारा सेवित होती हुई वह मुक्तिमार्ग को देती है ॥११०॥ जो कोई इस वसिष्ठ और श्रीरामचन्द्रजी के संवाद प्रकार को प्रतिदिन सुनेगा, वह मोह-मालिन्य-राग-द्वेष-महापातक और उपपातक आदि सब दोषों से युक्त अवस्थाओं में रहते हुए भी एकमात्र श्रवण से ही सब दोषों से मुक्त हो जायेगा और शान्तिआदिगुणों की प्राप्ति द्वारा ब्रह्म को प्राप्त कर लेगा, फिर अधिकारी पुरुष के लिए तो कहना ही क्या ॥१११॥

एक सौ अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त

योगवासिष्ठ निर्वाणप्रकरण भाषानुवाद में पूर्वार्ध समाप्त